ATHARV VED KA SUBODH BHASHYA

(PART- 1)

(KAND - 1 to 3)

ॐ

अथर्ववेदके पहिले तीन काण्डोंका

परिचय

अथर्ववेदमें २० काण्ड है। इनमें प्रथम तीन काण्डोंका यह प्रथम भाग है। इसमें सूक्त और मंत्र संख्या इस तरह है -

प्रथम काण्ड

प्रथम अनुवाद

प्रथम प्रपाठक

सूक्त संख्या	शीर्षक	मंत्र संख्या	
१	बुद्धिसंवर्धन	४	
२	विजय	४	
३	आरोग्य, मूत्रदोष निवारण	९	
४	जल	४	
५	,,	४	
६	,,	४	२९
द्वितीय अनुवाक			
७	धर्मप्रचार	७	
८	,,	४	
९	वर्चःप्राप्ति	४	
१०	पापसे मुक्ति	४	
११	सुखप्रसूति	६	२५
तृतीय अनुवाक			
१२	रोगनिवारण	४	
१३	ईश्वरको नमन	४	
१४	कुलवधू	४	
१७	संगठन - महायज्ञ	४	
१६	चोरनाशन	४	२०
चतुर्थ अनुवाक			
द्वितीय प्रपाठक			
१७	रक्तस्राव बंद करना	४	
१८	सौभाग्यवर्धन	४	
१९	शत्रुनाशन	४	
२०	महानशासक	४	
२१	पजापालक	४	२०
पंचम अनुवाक			
२२	हृदयरोगनिवारण	४	
२३	श्वेतकुष्ठनाशन	४	
२४	कुष्ठनाशन	४	
२५	शीतज्वर दूरीकरण	४	
२६	सुखप्राप्ति	४	
२७	विजयी स्त्री	४	
२८	दुष्टनाशन	४	२८
षष्ठ अनुवाक			
२९	राष्ट्र संवर्धन	६	
३०	आयुष्यवर्धन	४	
३१	आशापालक	४	
३२	जीवन - रस - महासागर	४	
३३	जल	४	
३४	मधुविद्या	५	
३५	बल और दीर्घायुष्य	४	३१
		१५३	

इनसें ३० सूक्त ४ मंत्रोंके हैं अर्थात इनके मंत्र १२० है एक सूक्त ५ मंत्रोंका है, दो सूक्त ६ मंत्रोंके हैं अर्थात् ये १२ मंत्र है। ७ मंत्रोंवाला एक सूक्त है और ९ मंत्रोंवाला एक सूक्त इस तरह-

४ मंत्रवाले ३० सूक्त १२० मंत्र
५ ,, वाला १ ,, ५
६ ,, वाला २ ,, १२
७ ,, वाला १ ,, ७

९ ,, वाल्र १	,,	९	
		१५३	कुल मंत्र संख्या।

इस प्रथम काण्डकी प्रकृति ४ सुक्तवाले मंत्रोंकी है अब द्वितीय काण्ड देखिये-

अब द्वितीय काण्डकी प्रपाठक, अनुवाक, सूक्त, मंत्र संख्या इस तरह है वह देखिये -

द्वितीय काण्ड

तृतीय प्रपाठक

प्रथम अनुवाक

सूक्त संख्या	शीर्षक	मंत्र संख्या	
१	गुह्य अध्यात्मविद्या	५	
२	पूजनीय ईश्वर	५	
३	आरोग्य	६	
४	जङिङ्ग मणि	६	
५	क्षत्रियधर्म	७	२९
द्वितीय अनुवाक			
६	ब्राह्मणधर्म	५	
७	शापको लौटाना	५	
८	क्षेत्रियरोग दूर करना	५	
९	सन्धिवात दूर करना	५	
१०	दुर्गतिसे बचना	८	२८
तृतीय अनुवाक			
११	आत्माके गुण	५	
१२	मनका बल बढाना	८	
१३	वस्त्रपरिधान	५	
१४	विपत्तियोंको हटाना	६	
१५	निर्भयजीवन	६	
१६	विश्वंभरकी भक्ति	५	
१७	आत्मसंरक्षणका बल	७	४२
चतुर्थ अनुवाक			
चतुर्थ प्रपाठक			
१८	आत्मसंरक्षणका बल	५	
१९	शुध्दिकी विधि	५	
२०	,, ,,	५	
२१	,, ,,	५	
२२	,, ,,	५	
२३	,, ,,	५	
२४	डाकुओंकी असफलता	८	
२५	पृश्निपर्णी	५	
२६	गोरस	५	४८
पंचम अनुवाक			
२७	विजयप्राप्ति	७	
२८	दीर्घायुष्य	५	
२९	,,	७	
३०	पतिपत्नीका मेल	५	
३१	रोगोत्पादक कृमि	५	२९
षष्ठ अनुवाक			
३२	कृमिनाशन	६	
३३	यक्ष्मनाशन	७	
३४	मुक्तिका मार्ग	५	
३५	यज्ञमें आत्मसमर्पण	५	
३६	विवाहका मंगल कार्य	८	३१
		२०७	

इस काण्डमें ५ मंत्रोंवाले सूक्त २२ हैं और मंत्र ११० हैं।
,, ,, ६ ,, ,, ५ ,, ,, ३० ,,
,, ,, ७ ,, ,, ५ ,, ,, ३५ ,,
,, ,, ८ ,, ,, ४ ,, ,, ३२ ,,
द्वितीयकांडकी मंत्र संख्या २०७

इस द्वितीय काण्डकी प्रकृतित ५ मंत्रोंके सूक्तोंकी हैं क्योंकि ३६ सूक्तोंमें २२ सूक्त ५ मंत्रोंके हैं।

अब तीसरे काण्डके प्रपाठक, अनुवाक, सूक्त और मंत्र देखिये -

तृतीय काण्ड

पंचम प्रपाठक

प्रथम अनुवाक

सूक्त संख्या	शीर्षक	मंत्र संख्या	
१	शत्रुसेना - संमोहन	६	
२	,,	६	
३	राजाकी राज्यपर पुनः स्थापना	६	
४	राजाका चुनाव	७	
५	राजा और राजाके बनानेवाले	८	३३
द्वितीय अनुवाक			
६	वीरपुरुष	८	
७	आनुवंशिक रोगोंका दूर करना	७	
८	राष्ट्रीय एकता	६	
९	क्लेश प्रतिबंधक उपाय	६	

१०	कालका यज्ञ	१३	४०
तृतीय अनुवाक			
११	हवनसे दीर्घायुष्य	८	
१२	गृह - निर्माण	९	
१३	जल	७	
१४	गोशाला	६	
१५	वाणिज्यसे धनप्राप्ति	८	३८
चतुर्थ अनुवाक			
षष्ठ प्रपाठक			
१६	भगवानकी प्रार्थना	७	
१७	कृषिसे सुख	९	
१८	वनस्पति	६	
१९	ज्ञान और शौर्य	८	
२०	तेजस्विताके साथ अभ्युदय	१०	४०
पंचम अनुवाक			
२१	कामाग्निशमन	१०	
२२	वर्चःप्राप्ति	६	
२३	वीरपुत्रप्राप्ति	६	
२४	समृध्दिकी प्राप्ति	७	
२५	कामका बाण	६	३५
षष्ठ अनुवाक			
२६	उन्नतिकी दिशा	६	
२७	अभ्युदयकी दिशा	६	
२८	पशुस्वास्थ्यरक्षा	६	
२९	संरक्षक कर	८	
३०	एकता	७	
३१	पापकी निवृत्ती	११	४४
		२३०	

इसमें ६ मंत्रवाले १३ सूक्त हैं मंत्र संख्या ७८ है -

७ ,,	६ ,,	,,	४२
८ ,,	६ ,,	,,	४८
९ ,,	२ ,,	,,	१८
१० ,,	२ ,,	,,	२०
११ ,, वाला	१ ,, इसकी	,,	११
१३ ,,	१ ,,	,,	१३
	३१ सूक्त		२३० मंत्र

इसमें ६ मंत्रवाले १३ सूक्त हैं अतः इस काण्डकी प्रकृति ६ मंत्रवाले सूक्तोंकी है ऐसा कह सकते हैं। तीनों कांडोंकी मंत्र संख्या यह हैं -

१ काण्ड	सूक्त	३५	मंत्र संख्या	१५३
२ ,,	,,	३६	,,	२००
३ ,,	,,	३१	,,	२३०
				५९० कुल मंत्र संख्या

इन सूक्तोंके क्रमको देखनेसे ऐसा प्रती होता है कि, इन सूक्तोंकी स्थापना विषयानुसार नही है। इसको रचना विषयानुसार की जाय, तो पाठकोंको वेदका विषय समझनेमें सुगमता होगी। इन तीनों काण्डोंके सूक्त विषयानुसार इकट्ठे किये तो इस तरह होते हैं -

१. ईश्वर - १।१३ ईश्वरको नमन, २।१ अध्यात्मविद्या, २।२ पूजनीय ईश्वर, २।१६ विश्वम्भरकी भक्ति, ३।१६ भगवानकी प्रार्थना, २।११ आत्माके गुण।

२. मुक्ति - २।३४ मुक्तिका मार्ग।

३. शासक - १।२० महान् शासक, १।२१ प्रजा पालक, ३।३ राजाकी राज्यपर स्थापना, ३।४ राजाका चुनाव, ३।५ राजा और राजाके बनानेवाले, १।३१ आशापालक, १।२९ राष्ट्रसंवर्धन, ३।२९ संरक्षक कर।

४. युध्द - ३।१ -२ शत्रुसेना संमोहन।

५. विजय - १।२ विजय, २।२७ विजय प्राप्ति, २।५ क्षत्रियधर्म, ३।१९ ज्ञान और शौर्य, ३।२० तेजस्वितासे अभ्युदय।

६. बुध्दि - १।१ बुध्दिका संवर्धन, २।१२ मनका बल बढाना।

७. आरोग्य - १।३, २।३ आरोग्य, १।३२ जीवनरस, १।२ रोगनिवारण, १।२२ हृदयरोगनिवारण, १।२३ -२४ श्वेतकुष्ठ, कुष्ठनाशन, १।२५ शीतज्वर, २।९ संधिवातनाशन, २।८ क्षेत्रियरोगनाश, २।३१ रोगोत्पादककृमि, २।३२ कृमिनाशन, २।३३ यक्ष्मनाशन, ३।७ आनुवंशिक रोग दूर करना।

८. दीर्घआयु - १।३० आयुष्यवर्धन, १।३५ बल और दीर्घआयुष्य, २।२८ - २९ दीर्घआयुष्य, ३।११ हवनसे दीर्घआयुष्य।

९. धन - ३।१५ वाणिज्यसे धनकी प्राप्ति, ३।२४ समृध्दिकी प्राप्ति।

१०. पापसे मुक्ति - १।१० पापसे मुक्ति, ३।३१ पापसे निवृत्ति, २।१० दुर्गतिसे बचना, २।१४ विपत्तिको हटाना।

११. तेजस्विता - १।९, ३।२२ वर्चःप्राप्ति।

१२. यज्ञ - २।३५ यज्ञमें आत्मसमर्पण।

१३. **संगठन** - १।१५ संघठन यज्ञ, ३।८, ३।३० राष्ट्रीय एकता ।
१४. **सुखप्राप्ति** - १।२६ सुखप्राप्ति ।
१५. **आत्मरक्षण** - २।१७, १८ आत्मरक्षक बल।
१६. **निर्भयता** - २।१५ निर्भयजीवन ।
१७. **वीर** - ३।६ वीर पुरूष, ३।३३ वीरपुत्र ।
१८. **अभ्युदय** - ३।२७ अभ्युदयकी दिशा ।
१९. **क्लेशप्रतिबंध** - ३।९ क्लेश दूर करना ।
२०. **शुध्दता** - २।१९-२३ शुध्दि ।
२१. **गृहनिर्माण** - ३।१२; गृहनिर्माण; ३।१४ गोशाला ।
२२. **गौ** - २।२६ गोरस सेवन ।
२३. **उन्नति** - ३।२६ उन्नतिकी दिशा ।
२४. **विद्या** - १।३४ मधुविद्या
२५. **वस्त्र** - १।१३ वस्त्रधारण ।
२६. **वधू** - १।१४ कुलवधू, १।१८ सौभाग्य, १।२७ विजयी स्त्री ।
२७. **धर्म** - १।७ - ८ धर्मप्रचार ।
२८. **जल** - १।४; ५; ६; ३२;३।१३ जल ।
२९. **काम** - ३।२१ कामग्निका शमन, ३।३५ कामका बाण ।
३०. **कृषि** - ३।१७ कृषिसे सुख ।
३१. **प्रसूति** - १।११ सुख प्रसूति ।
३२. **मणि** - धारण - २।४ जंगिडमणि ।
३३. **शाप** - २।७ शापको लौटाना
३४. **वनस्पति** - २।२५ पृश्निपर्णी, ३।१८ वनस्पति ।
३५. **पशु** - ३।२८ पशुस्वास्थ्य रक्षण ।
३६. **पतिपत्नी** - २।३६ विवाह मंगल कार्य, २।३० पतिपत्नीका प्रेम ।
३७. **काल** - ३।१० कालका यज्ञ ।
३८. **रक्तस्राव** - १।१७ रक्तस्राव बंद करना ।
३९. **चोर डाकू** - १।१६ चोरनाशन, १।१९ शत्रुनाशन, १।२८ दुष्टनाशन, २।२४ डाकुओंकी असफलता ।

इस तरह सूक्तोंकी विषयानुसार व्यवस्था की जाय तो इस व्यवस्थासे वैदिक सूक्तोंका बोध शीघ्र और सुखसे हो सकता है । आशा है कि पाठकगण इसका विचार करेंगे । हमने इस समय जैसी सूक्तोंकी व्यवस्था है वैसी ही रखी है ।

वैदिक सूक्तियां

इस प्रथम विभागमें ३ कांण्डोंके सब सूक्त आगये हैं वे ऐसे हैं -

	सूक्त		मंत्रसंख्या		पृष्ठसंख्या
प्रथम काण्ड	३५	मंत्रसंख्या	१५३	पृष्ठसंख्या	१२०
द्वितीय ,, ,,	३६	,,	२०७	,,	१४८
तृतीय ,, ,,	३१	,,	२३०	,,	२४८
	१०२		५९०		५१६

इन तीनों काण्डोंमें मिलकर १०२ सूक्त हैं और ५९० मंत्र हैं और स्पष्टीकरणके साथ पृष्ठ ५१६ हैं । इन तीनों काण्डोंके ५९० मंत्रोंमें करीब करीब एक सहस्त्र सूक्तियां हैं। विषयवार इन सुभाषितोंका संग्रह हमने किया है जो हम यहां देते हैं । पाठक कई सुभाषितोंको अन्य स्थानपर भी रख सकते हैं । मंत्रोंके अन्दर सूक्तियां अथवा सुभाषित मुख्य गर्भरूप रहते हैं । जैसा बीजमे मगज होता है, वैसे मंत्रमें सुभाषित होते हैं । पाठक इनका विचार करें और पयोगमें भी ला सकते हैं । व्याख्यानोमें लेखोंमें तथा अन्यप्रकार इनका बहुत उपयोग होसकता है और जितना इनका उपयोग होगा उतना वेद व्यवहारमें लाया गया यह सिध्द हो सकता हैं ।

इसके नीचे हम इन तीनों काण्डोके सुभाषित देते हैं -

परमेश्वर

इन तीन काण्डोंमें परमेश्वर विषयक सुभाषित ये हैं -

यो देवानां नामधा एक एव तं संप्रश्नं भुवना यन्ति सर्वा । अ. २।१।३

वह ईश्वर सब अन्य देवोंके नामोंको धारण करता है, वह एक ही सबका प्रभु है । उस प्रश्न पूछने योग्य परमेश्वरके पास सब भुवन आश्रयार्थ जाते हैं ।

वेनस्तत् पश्यत् परमं गुहा यत् यत्र विश्वं भवत्येकरूपम् । अ. २।१।१

जहां सब विश्व एकरूप होता है और जो ह्रदयकी गुहामे रहता है उसको ज्ञानी भक्त जानता है ।

स नः पिता जनिता स उत बंधुर्धामानि वेद भुवनानि विश्व । अ. २।१।३

वह परमेश्वर हमारा पिता और जनक है, वही बंधु भी है । वह सब भुवनों और स्थानोंको जानता है ।

परि विश्वा भुवनान्यायमृतस्य तन्तुं विततं दृशे कम् । अ. २।१।५

सत्यके अमृतके सुखमय तन्तुको देखनेके लिये सब भुवनोंमें मैं घूम आया हूं। सर्वत्र इस सुखस्वरूप अमर आत्मरूप इस तन्तुको मैंने देखा है।

दिव्यो गंधर्वो भुवनस्य यस्पतिरेक एव नमस्यो विक्ष्वीड्यः। अ. २।२।१

भुवनका एक ही दिव्य गंधर्व स्वामी है जो नमस्कारके योग्य है और प्रजाजनोंको स्तुति करने योग्य है।

मृडाद्गन्धर्वो भुवनस्य यस्पतिरेक एव नमस्यः सुशेवः। अ. २।२।२

भुवनोंका एक ही स्वामी जो नमस्कारके योग्य है, जो संसेव्य है वही सबका आधार सबको सुखी करे।

यत्र देवा अमृतमानशानाः समाने योनावध्यैरयन्त। अ. २।१।५

जहां अमृत पीनेवाले देव उस एक आश्रय स्थानमें रहते हैं। (वह अमर परमेश्वरका आधार स्थान है।)

प्रातरग्निं प्रातरिन्द्रं हवामहे प्रातर्मित्रावरूणा प्रातरश्विना। प्रातर्भगं पूषणं ब्रह्मणस्पतिं प्रातः सोममुत रूद्रं हवामहे॥ अ. ३।१६।१

प्रातः समय अग्नि, इन्द्र, मित्र, वरूण, अश्विनौ, भग, पूषा, ब्रह्मणस्पति, सोम और रूद्रको बुलाते हैं, इनकी प्रार्थना करते हैं। (एक देवके ये अनेक गुणबोधक नाम हैं।)

उतेदानीं भगवन्तः स्यामोत प्रपित्व उत मध्ये अह्नाम्। उतोदितौ मघवत्सूर्यस्य वयं देवानां सुमतौ स्याम॥४॥ अ. ३।१६।४

हम अब भाग्यवान् हों, सायंकाल अथवा दिनके मध्यमें, सूर्यके उदयके समय भाग्यवान् हों। हम देवोंकी सुमतिमें रहें।

तं त्वा यौमि ब्रह्मणा दिव्य देव। अ. २।२।१

हे दिव्य देव। तेरे साथ ज्ञानसे मैं संयुक्त होता हूं।

अच्छ त्वा यन्तु हविनः सजाताः। अ. ३।४।३

सजातीय लोग हविष्य अन्नके साथ तेरे समीप आजावें।

उपसद्यो नमस्यो भवेह। अ. ३।४।१

यहां पास जाने योग्य तथा नमस्कार करने योग्य हों।

नमस्ते अस्तु दिवि ते सधस्थम्। अ. २।२।१

तेरा स्थान द्युलोकमें है, तुझे मैं नमस्कार करता हूं।

त्रीणि पदानि निहिता गुहास्य यस्तानि वेद स पितुष्पितासत्।

इसके तीन पाद हृदयकी गुहामें हैं, जो उनको जानता है वह पिताका भी पिता अर्थात् बडा होता है।

परि द्यावापृथिवी सद्य आयमुपातिष्ठे प्रथम जामृतस्य। अ. २।१।४

द्यावापृथिवीमें मै सर्वत्र घूम आया हूं और सत्यके प्रथम प्रवर्तक - परमेश्वरकी मैं उपासना सर्वत्र देखता हूं।

प्र तद्वोचेदमृतस्य विद्वान् गंधर्वो धाम परमं गुहा यत्। अ. २।१।२

जो हृदयकी गुहामें है वह अमृतका श्रेष्ठ स्थान विद्वान वक्ता ही जानकर उसका वर्णन कर सकता है।

स देवान् यक्षत्स उ कल्पयताद्विशः। अ. ३।४।६

वह देवोंका यजन करता है, वह निश्चयसे प्रजाओंको समर्थ करता हैं।

यक्षस्य चक्षुः, प्रभृतिर्मुखं च वाचा श्रोत्रेण मनसा जुहोमि। अ. २।३५।५

वह प्रभु यज्ञका आंख है, सबका भरण कर्ता, और यज्ञका मुख है। वाणी कान और मनसे मैं उसका यजन करता हूं।

दिवि स्पृष्टो यजतः सूर्यत्वक् अवयाता हरसो दैव्यस्य। अ. २।२।२

ईश्वर द्युलोकमें रहता है, वह पूज्य है, सूर्यके समान तेजस्वी है और दैवी आपत्तियोंको दूर करनेवाला वही प्रभु हैं।

ये सूक्तियां वारंवार पढनेसे, कण्ठ करनेसे, वारंवार मनन करनेसे परमेश्वर विषयक वैदिक सिद्धान्त तत्काल ध्यानमें आसकता है। देखिये -

यो देवानां नामधा - वह देवोंके नाम धारण करने वाला है।

तं सं प्रश्नं भुवना यन्ति सर्वा - सब भुवन उस पूछने योग्य प्रभुके पास जाते हैं।

वेनस्तत्पश्यत् - ज्ञानी उसको देखता है।

परमं गुहा यत् - जो हृदयके गुप्त स्थानमें रहता है।

स नः पिता जनिता - वह रक्षक और उत्पन्न करनेवाला है।

धामानि वेद भुवनानि विश्वा - सब भुवनों और स्थानोंको वह जानता है।

ऋतस्य तन्तुं विततं दृशे कं - सुखदायक फैला हुआ सत्यका तन्तु - परमात्मा है उसको मैं देखता हूं।

भुवनस्य यस्पतिः - वह भुवनोंका एक पति है।

एक एव नमस्यः - वह एकही नमस्कार करने योग्य है।

विक्ष्वीड्यः - प्रजाओंमे पूजनीय वही एक है।

वयं देवानां सुमतौ स्याम - हम देवोंकी सदिच्छामें रहें।

तं त्वा यौमि - उस तुझसे मैं युक्त होता हूं।

नमस्ते अस्तु - तुझे नमस्कार है।

प्रातर्भगं - प्रातःकाल भाग्यवान् प्रभुकी भक्ति करते हैं।

उपसद्यो भवेह - यहां पास जाने योग्य हो।

दिवि ते सधस्थं - आकाशमें तेरा स्थान है।

त्रीणि पदा निहिता गुहास्य - इसके तीन पाद बुद्धिमे हैं।

अमृतस्य विद्वान् - अमृतका जाननेवाला धन्य है।

धाम परमं गुहा यत् - परम धाम हृदयमें है।

स उ कल्पयताद्विशः - वह प्रभु प्रजाओंको समर्थ बनाता है।

अवयाता हरसो दैवस्य - दैवी दुःखोंको वह प्रभु दूर करता है।

यहां जो सूक्तियां दी हैं। उनके ये टुकडे हैं ये भी सूक्तियां ही हैं और ये वारंवार भजन करने योग्य हैं। **'एक एव नमस्यः'** प्रभु अकेला एकही नमस्कार करने योग्य है। **दिवि ते सधस्थं** आकाशमें तेरा स्थान है। **'अवयाता हरसो दैवस्य'** दैवी दुःखोंको दूर करनेवाला वह प्रभु है। ऐसे वेदमंत्रोंके टुकडे भजन करनेके होते हैं। अकेला अपनें मनमें इनका भजन करे, अथवा समाजमें सैकडों और हजारों मनुष्य अर्थके साथ इन वचनोंका भजन करें। इस तरहका भजन करनेके लिये ही ये टुकडे हैं। जिनकी वेदोंपर श्रध्दा है वे अर्थपर ध्यान रखते हुए इन वचनोंका भजन करें। यह भजन मनमें भी होता है और तालस्वरमें सामूहिक भी हो जाता है। ऐसे अर्थसहित भजन होने लगे तो ये मंत्रभाग सबके मनमें स्थिर होते हैं, और इनका उपयोग बोलने चालनेके समय होनेकी सुविधा होती है।

पाठक मनमें ऐसे भजन करके देखें, भजन करनेके समय अर्थको अपने मनमें पूर्ण रीतिसे भरपूर भरकर रखें, उस मंत्रके भावसे अपना मन भरपूर भरा ऐसा, ओतप्रो भरा है ऐसा भाव मनमें सुस्थिर रखें। ऐसा भजन मनमें करनेसे जैसा लाभ व्यक्तिको होता है वैसा ही लाभ ये ही वेदवचन सामुदायिक रीसि भजन करनेसे समुदायमें जो लोग ये वन बोलते रहेंगे, उनको लाभ होता है।

यह बात करके देखने योग्य है। वेदके वचन अपने जीवनमें इस तरह ढालनेका यत्न करना चाहिये। वेदका धर्म जीवित है यह समझनेका यह उपाय है। ईश्वर विश्वका शासक है, जो शासक होता है वह राजा ही होता है, ईश्वर शासक है और निर्दोष शासक है। अतः वह हमारे शासकोंके लिये आदर्श है। इस दृष्टिसे ईश्वरके गुण हमारे शासकमें देखने योग्य हैं। वे इस तरह देखे जा सकते हैं -

शासकका वर्णन

वेदमें जो वर्णन है उन मंत्रोंमें शासक, राजा अधिकारीका वर्णन करनेवाले सुभाषित ये हैं -

सर्वास्त्वा राजन् प्रदिशो ह्वयन्तु। अ. ३।४।१

हे राजन्! सब दिशा उपदिशा (ओंमे रहनेवाले प्रजाजन) तुम्हें (अपने रक्षणके लिये) बुलावें।

तास्त्वा संविदाना ह्वयन्तु। अ. ३।४।७

वे सब प्रजाएं मिलकर एकमतसे तुझे बुलावें।

त्वां विशो वृणतां राज्याय त्वामिमाः प्रदिशः पञ्च देवीः। अ. ३।४।२

तुझे ये प्रजायें, तुझे ये पांच दिशाओंमे रहनेवाली दिव्य प्रजाएँ राज्यरक्षणके लिये स्वीकार करे।

आ त्वा गन्राष्ट्रं। अ. ३।४।१

हे राजन्! तेरे पास राष्ट्र आगया है।

सजातानां श्रेष्ठ्य आ धेह्येनम्। अ. १।९।३

अपनी जातियोंमे उच्च स्थानपर इसको रखो।

वर्ष्मन् राष्ट्रस्य ककुदि श्रयस्व, ततो न उग्रो विभजा वसूनि। अ. ३।४।२

राष्ट्रके उच्च स्थानमें रहकर, और वहांसे सबके लिये धनोंका विभाग कर दो।

प्राड् विशांपतिरेकराट् त्वं विराज। अ. ३।४।१

प्रजाओंका मुख्य स्वामी एक राजा होकर, तूं

विराजमान् हो ।

स्वस्तिदा विशांपतिर्वृत्रहा विमृधो वशी ।

अ. १।२१।१

प्रजापालक कल्याण करनेवाला, शत्रुनाशक और घातकोंको वश करनेवाला हो !

ब्रह्मणस्पतेऽभि राष्ट्राय वर्धय । अ. १।२९।१

हे ज्ञानी पुरुष ! राष्ट्रके हित करनेके लिये बढाओ।

ये राजानो राजकृतः सूता ग्रामण्यश्च ये ।
उपस्तीन् पर्ण मह्यं त्वं सर्वान् कृण्वभितो जनान् ।

अ. ३।५।७

जो राजा और राजाओंको करनेवाले, सूत तथा ग्रामनेता हैं हे पर्णमणे ! उन सबको मेरे समीप उपस्थित कर (उनकी सहायता मुझे प्राप्त हो ऐसा कर ।)

अहं शत्रुहोऽसान्यसपत्नः सपत्नहा । अ.१।२९।५

मैं शत्रुका नाश करनेवाला, शत्रुओंका वध करनेवाला तथा शत्रुरहित होऊं ।

अहं राष्ट्रस्याभीवर्गे भूयासमुत्तमः । अ.३।५।२

मैं राष्ट्रके आप्त पुरूषोंमे उत्तम निज बनकर रहूं ।

अधा मनो वसुदेयाय कृणुष्व । अ. ३।४।४

अपना मन धनदानके लिये अनुकूल बनाओ ।

क्षत्रेणाग्ने स्वेन संरभस्व । अ. २।६।४

हे अग्ने! अपने क्षात्रतेजसे उत्साहित हो ।

अति निहो, अति सृधो, अत्यचित्ती, अतिद्विषः ।

अ. २।६।५

मारपीट करनेकी वृत्तिसे दूर रह, हिंसकोंसे दूर रह, पापीवृत्तीसे दूर हो, द्वेष करनेवालोंसे दूर रहो ।

तेन सहस्रकाण्डेन परि णः पाहि विश्वतः ।

अ. २।७।३

उस सहस्र काण्डवालेसे सब ओरसे हमारा रक्षण कर।

शप्तारमेतु शपथः । अ. २।७।५

शाप देनेवालेके पास ही उसका शाप चला जावे ।

संशितं म इदं ब्रह्म संशितं वीर्यं बलम् ।
संशितं क्षत्रमजरमस्तु जिष्णुर्येषाभस्मि पुरोहितः ।

अ. ३।१९।१

मेरा यह ज्ञान तेजस्वी है, मेरा वीर्य और बल तेजस्वी है । जिनका मैं विजयी पुरोहित हूं उनका तेजस्वी और क्षीण न होनेवाला क्षात्रतेज बढता रहे ।

क्षिणामि ब्रह्मणाऽमित्रानुन्नयामि स्वानहम् ।

अ. ३।१९।३

मैं ज्ञानसे शत्रुओंका नाश करता हूं और अपने लोगोंको मैं उन्नत करता हूं ।

एषां क्षत्रमजरमस्तु जिष्ण्वेषां चित्तं विश्वेऽ
वन्तु देवाः । अ. ३।१९।५

इनका क्षात्रतेज अक्षय हो । इनका विजयी चित्त सब देव सुरक्षित रखे ।

जायाः पुत्राः सुमनसो भवन्तु बहुं बलिं प्रति
पश्यास उग्रः। अ. ३।४।३

स्त्रियां और पुत्र उत्तम मनवाले हों । और उग्रवीर बनकर बहुत कारभारको देखें ।

पथ्या रेवतीर्बहुधा विरूपाः सर्वाः संगत्य
वरीयस्ते अक्रन् । अ. ३।४।७

सन्मार्गसे चलनेवाली अनेक प्रकारकी रंगरूपवाली प्रजायें मिलकर तुम्हें श्रेष्ठ स्थानपर स्थापित करती हैं ।

बली बलेन प्रमृणन् त्सपत्नान् । अ. ३।५।१

यह बलवान् वीर अपने बलसे शत्रुओंका नाश करता है ।

ये धीवानो रथकाराः कर्मारा ये मनीषिणः ।
उपस्तीन् पर्ण मह्यंत्वं सर्वान् कृण्वाभितो जनान् ॥

अ. ३।५।६

जो बुद्धिमान है, जो रथकार है, जो कर्म करनेवाले लुहार हैं, और विद्वान हैं ! हे पर्णपणे ! तू उन सब जनोंको मेरे समीप उपस्थित कर (बुद्धिमानोंकी सहायता मुझे प्राप्त हो ऐसा कर ।)

सजातानां मध्यमेष्ठा राज्ञामग्ने विहव्यो दीदिहीह ।

अ. २।६।४

सजातीयोंमे मध्यम स्थानमें बैठनेवाला हो, और राजाओं, राजपुरूषोंके द्वारा बुलाने योग्य होकर, यहा प्रकाशित होता रह ।

शास इत्था महां अस्यमित्रसादो अस्तृतः ।
न यस्य हन्यते सखा न जीयते कदाचन ॥

अ. १।२०।४

शत्रुओंका नाश करनेवाला, अपराभूत ऐसा यह महान् शासक है, जिसका मित्र मारा नहीं जाता और जिसका मित्र कभी पराभूत नहीं होता ।

उपोहश्च समूहश्च क्षत्तारौ ते प्रजापते ।
ताविहा वहतां स्फातिं बहुं भूमानमक्षितम् ॥
अ. ३।२४।७

हे प्रजापालक ! पास लाना और समूह करना ये दोनों कार्य तू कर, वे कार्य यहां वृद्धिको लावें और बहुत अक्षय भरपूरताको प्राप्त हों ।

यत्ते तपः० हरः०, आर्चि०, शोचिः०, तेजः ।
तेन तं प्रतितप योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ।
अ. २।१९-२३।१ -५

जो तेरी तापशक्ति, हरणशक्ति, तेजःशक्ति, प्रकाशशक्ति और तेजनशक्ति है, उससे उनको कष्ट दे जो हम सबको कष्ट देता है और जिसका हमसब द्वेष करते हैं ।

अभूर्गृष्टीनामभिशक्तिपावा उ । अ. २।१३।३
विनाशसे मनुष्योंका रक्षण करनेवाला हो ।

विश्वंभर विश्वेन मा भरसा पाहि । अ. २।१६।५
हे विश्वके भरण कर्ता! संपूर्णपोषण शक्तिसे मेरा रक्षण कर ।

यदू राजानो विभजन्त इष्टापूर्तस्य षोडशं
यमस्यामी सभासदः । अ. ३।२९।१

जिस रह नियमसे चलनेवाले राजाके सभाके ये सभासद इष्ट और पूर्तका सोलहवां भाग पृथक् कर रूपसे रखते हैं ।

यासां राजा वरूणो याति मध्ये सत्यानृते
अवपश्यन् जनानाम् । अ. १।३३।२

जिनका राजा वरूण लोगोंके सत्य वा अस्य आचरण देखता हुआ जाता है ।

ये ऐसे मंत्रभाग इस विषयमें विचार करने योग्य हैं। इनमें और छोटे ध्यानमें सदा रखने योग्य सुभाषित ये हैं।

त्वां विशो वृणतां राज्याय - सब प्रजा राज्यके लिये तुझे शासक करके स्वीकार करें ।

वर्ष्मन् राष्ट्रस्य ककुदिश्रयस्व - राष्ट्रके श्रेष्ठ स्थान पर रह ।

विशां पतिरेकराट् त्वं विराज - प्रजापालक एक राजा होकर तू सुशोभित हो ।

स्वस्तिदा विशांपति - यह प्रजापालक कल्याण करनेवाला हो ।

अभि राष्ट्राय वर्धय - राष्ट्रके हित करनेके लिये यत्न कर ।

त्वं सर्वान् कृण्वभितो जनान् - तू सब जनोंको अपने चारों ओर इकट्ठा कर ।

अहं शत्रुहोऽसानि - मैं शत्रुका नाश करनेवाला होऊंगा ।

अहं राष्ट्रस्याभीवर्गो निजो भूयासं - मैं राष्ट्रके उत्तम पुरूषोंमें निज होकर रहूंगा ।

अति द्विषः - द्वेष करनेवालोंको दूर करता हूं ।

अति स्त्रिधः - हिंसकोंको दूर करता हूं ।

परि णः पाहि विश्वतः - चारों ओरसे हमारी रक्षा कर ।

संशितं वीर्यं बलम् - हमारा वीर्य और बल तीक्ष्ण हो ।

संशितं क्षत्रमजरमस्तु - क्षात्रबल तीक्ष्ण होकर क्षीण न हो ।

क्षिणामि ब्रम्हणाऽमित्रान् - शत्रुओंको ज्ञानसे क्षीण करता हूं ।

उन्नयामि स्वानहम् - स्वकीयोंकी उन्नतित करता हूं ।

क्षत्रमजरमस्तु - क्षात्रतेज क्षीण न हो ।

जिष्णवेषां चित्तम् - इनका चित्त विजयी हो ।

जायाः पुत्राः सुमनसो भवन्तु - स्त्री, पुत्र उत्तम मनवाले हों ।

बली बलेन प्रमृणन् सपत्नान् - बलवान् बलसे शत्रुओंको मारे ।

सजातानां मध्यमेष्ठाः - स्वजातीयोंके मध्यमें बैठने वाला हो ।

शास इत्था महाँ असि - तू शासक ऐसा महान् है ।

अमित्रसादो अस्तृतः - शत्रुको पराभूत करनेवाला और स्वयं अपराजित हो ।

न यस्य हन्यते सखा - जिसका मित्र मारा नही जाता ।

उपोहश्च समूहश्च - पास लाना और समूह करना (ये दो कार्य करने योग्य हैं ।)

इस प्रकार इन सुभाषितोंमें मननीय वचन हैं । ये वारंवार उच्चारित करनेसे बडा आनंद प्राप्त हो सकता है । **'स्वस्तिदा विशांपतिः'** यह वचन वारंवार उच्चारनेसे राजाके कर्तव्य ध्यानमें आ सकते हैं और परमेश्वरके गुण भी मनमें स्थिर होते हैं । परमेश्वर स्वस्ति-दा है अर्थात्

कल्याण करनेवाला है। सबका कल्याण वह करता है। जो परमेश्वरका गुण है वही गुण राजामें तथा साधारण प्रजाजनमें भी देखना चाहिये ।अर्थात् हरएक मनुष्य स्वस्ति - दा कल्याण करनेवाला हो, राज्यका अधिकारी कल्याण करनेवाला हो, राजा भी प्रजाका कल्याण करनेवाला हो। परमेश्वर तो सबका कल्याण करनेवाला है ही।

'राष्ट्राय वर्धय' राष्ट्रका वर्धन कर। राष्ट्रकी उन्नति कर। राष्ट्रका अभ्युदय हो ऐसा कर। **'अहं शत्रुहो असानि'** मै शत्रुको मारुंगा। शत्रुको दूर करना हर एकका कर्तव्य है। शत्रुतो व्यक्तिके, समाजके, धर्मके तथा राष्ट्रके अनेक प्रकारके होते है। उन सब शत्रुओंको दूर करना योग्य है।

'जिष्णवेषां चित्त' सब मनुष्योंका चित्त जयशाली हो, विजयी हो। कभी चित्त निरुत्साही न हो। **'न यस्य हन्यते सखा'** जिसका मित्र मारा नही जाता ऐसा परमेश्वर है। राजा भी ऐसा हो, और मनुष्य भी ऐसा हो।

इस प्रकार इन सुभाषितोंका भजन, मनन तथा अपने जीवनमें ढालनेका यत्न करना चाहिये। ईश्वर, विश्वशासक है और राजाके गुणधर्म इनमें प्रकट हुए है। शासन हुआ तो वहां बुराइयोंसे, शत्रुओंसे युद्ध करना ही पडता है। इस कारण अब युद्धके विषयके सुभाषित देखिये -

युद्ध

दुष्टोंका शमन करनेके लिये जागृत रहकर युद्ध करना चाहिये, इस विषयके ये सुभाषित है -

स्वे गये जागृह्यप्रयुच्छन्। अ. २।६।३

अपने घरमें प्रमाद न करता हुआ जाग्रत रहे।

प्रेता, जयता, नर उग्रा वः सन्तु बाहवः।

ज. ३।१९।६

हे वीरो! आगे बढो, विजय कमाओ, आपके बाहू शौर्य करनेवाले हों।

तेऽधराञ्चः प्र प्लवतां छिन्ना नौरिव बन्धनात्।

अ. ३।६।७

जैसी नौका बंधनसे छूटनेपर बह जाती है, उस तरह वे शत्रु अधोमार्गसे नीचेकी और चले जाय।

अमी ये विव्रता स्थन ता्यः सं नमयामसि।

अ. ३।८।५

जो ये विरुद्ध कर्म करनेवाले हैं उनको मैं एक विचारवाले करता हूं।

नश्येतेतः सदान्वः। अ. २।१४।६

यहांसे दानववृत्तियां विनष्ट हों।

वि त्वमग्ने आरात्याः। अ. ३।३१।१

हे अग्ने! तू शत्रुसे दूर रहता है। शत्रु तुमारे पास नहीं आ सकता।

योऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः।

अ.३।२७।१-६

जो एक हम सबका द्वेष करता है और जिस अकेलेका हम सब द्वेष करते है उसको हे प्रभो! तुम्हारे जबडेमें देते है।

समहमेषां राष्ट्रं स्यामि सभोजो वीर्यं बलम्।
वृश्चामि शत्रूणां बाहूननेन हविषाऽहम्॥

अ. ३।१९।२

इनका राष्ट्र बल, वीर्य और सामर्थ्यसे मैं तेजस्वी बनाता हूं। इस हवनसे मैं शत्रुओंके बाहुओंको काटता हूं।

तीक्ष्णीयांसः परशोरग्नेस्तीक्ष्णतरा उत।
इन्द्रस्य वज्रातीक्ष्णीयांसो येषांमस्मि पुरोहितः॥

अ. ३।१९।४

जिनका मैं पुरोहित हूं उनके शस्त्र अस्त्र फरशीसे तीक्ष्ण, अग्निसे तीक्ष्ण और इन्द्रके वज्रसे भी तीखे बनाता हूं।

उद्धर्षन्तां मधवन् नाजिनान्युद्वीराणां जयतामेतु घोषः। अ. ३।१९।६

हे इन्द्र! उनके बल उत्तेजित हों। विजयी वीरोंका घोष ऊपर उठें।

तीक्ष्णेषवोऽबलधन्ववो हतोग्रायुधा अबलानुगबाहवः।

अ. ३।१९।७

ते तीक्ष्ण बाणवालो! उग्र आयुधोंवालो! उग्र बाहुवाले वीरों! निर्बल धनुष्यवाले निर्बल वीरोंको मारो।

एवा तान् सर्वान् निर्मेग्धि यानहं द्वेष्मि ये च माम्।

अ. ३।६।३

इस तरह सब शत्रुओंका नाश कर, जिनका मैं द्वेष करता हूं और जो मेरा द्वेष करते हैं।

प्र ते वज्रः प्रमृणन्नेतु शत्रून्। अ. ३।१।४

तेरा वज्र शत्रुओंको काटता हुआ आगे बढे ।

इन्द्र सेनां मोहयामित्राणाम् । अ. ३।१।५

हे इन्द्र शत्रुओंकी सेनाको मोहित कर ।

इन्द्र चित्तानि मोहयन्नर्वाङाकूत्या चर ।
अग्नेर्वातस्य ध्राज्या तान् विषूचो विनाशय ॥

अ. ३।२।३

हे इन्द्र ! शत्रुके चित्तोंको मोहित करके शुभ संकल्पके साथ हमारे पास आ । और अग्नि और वायुके वेगसे शत्रुको चारों ओरसे विनष्ट कर ।

स चित्तानि मोहयतु परेषां निर्हस्तांश्च कृणव जातवेदाः ।
अ ३।२।१

वह हमारा वीर शत्रुके चित्तको मोहित करे और उनको हस्तहीन जैसे करे । मोहित होने कारण कर्तव्य अकर्तव्यका विचार करनेकी शक्ति शत्रुमें न रहे ऐसा करे ।

अमीषां चित्तानि पतिमोहयन्ती गृणानाङ्गान्यप्वे परेहि।

अ. ३।२।५

हे व्याधी ! तू इनके चित्तोंको मोहित करके, इनके अवयवोंको जकड कर दूरतक चली जा ।

स सेनां मोहयतु परेषां निर्हस्तांश्च कृणवज्जात वेदाः ।
अ. ३।१।१

वह वीर शत्रुओंको सेनाको मोहित करे और उनको हस्तरहित करे ।

अयमग्निरमूमुहद्यानि चित्तानि वो हृदी ।
वि वो धमत्वोकसः प्र वो धमतु सर्वतः ।

अ. ३।२।२

शत्रुके हृदयके विचारोंको यह अग्रणी मोहित करे । शत्रुको घरसे बाहर निकाल देवे और शत्रुको सब ओरसे हटा देवे ।

अग्निर्नो दूतः प्रत्येतु विद्वान् प्रतिदहन्नभिस्ति - मरातिम् । अ. ३।२।१

हमारा तेजस्वी तथा विद्वान् दूत घातपात करनेवाली शत्रुसेनाकी जलाता हुआ चले ।

अभि प्रेहि, निर्दह हृत्सु शोकैर्ग्राह्यामित्रांस्त
मसा विध्य शत्रून् । अ. ३।२।५

आगे बढ, हृदयोंको शोकसे जला दो, जकडनेवाले रोगसे, तथा मुर्छासे शत्रुओंको वींध लो ।

यूयमुग्रा मरुत ईदृशे स्थाभि प्रेत मृणत सहध्वं ।

अ. ३।१।२

हे मरनेतक लडनेवाले वीरो ! तुम ऐसे उग्र वीर हो, इसलिये आगे बढो, काटो और जीत लो ।

भ्रातृव्यक्षयणमसि भ्रातृत्यक्षयणं मे दाः ।
सपत्नक्षयणमसि समत्नक्षयणं मे दाः ।
अरायक्षयणमसि अरायक्षयणे मे दाः।
पिशाचक्षयणमसि पिशाचक्षयणं मे दाः ।
सदान्वक्षयणमसि स्दान्वक्षयणं मे दाः ।

अ. २।१८।१-५

वैरियों, सपत्नों निर्धनताओं, मांस भक्षकों तथा आसुरी वृत्तियोंको नाशका सामर्थ्य तुझमे है, यह सामर्थ्य मुझे दो ।

भूतपतिर्निरजतु, इन्द्रश्चेतः सदान्वाः ।
गृहस्य बुध्न आसीनास्ता इन्द्रो वज्रेणाधि तिष्ठतु ।

अ. २।१४।४

भूतपति राजा राक्षसी वृत्तियोंको यहांसे दूर करे । धरकी जडमें जो बुराइयां हों उनको इन्द्र वज्रसे दूर हटा देवे ।

विषूच्येतु कृन्तती पिनाकमिव बिभ्रती ।
विष्वक् पुनर्भुवा मनः । अ. १।२७।२

धनुष्य धारण करती हुई, काटती हुई वीरसेना चले जो शत्रुसेनाका मनः विचिलित करे ।

आरे अस्मा यमस्यथ । अ. १।२६।१

किसीने मारा पत्थर हमसे दूर हो ।

अधमं गमया तमो यो अस्माँ अभिदासति ।

अ. १।२१।२

जो हमें दास करना चाहता है उसको हीन अंधकारमें पहुंचा दो ।

अपेन्द्र द्विषतो मनोऽप जिज्यासो वधम् ।

अ. १।२१।४

हे प्रभो ! हे वीर ! द्वेषीका मन बदल दे और हमारे नाश करनेवालेके शस्त्रको दूर कर ।

इदं विष्कंधं सहते इदं बाधे अत्रिणः ।
अनेन विश्वा ससहे या जातानि पिशाच्याः ॥

अ. १।१६।३

यह सीसा दुष्टका पराभव करता है, यह शत्रुको बाधा करता है, पिशाचोंकी सब जातिया इससे पराभूत

होती हैं । (सीसा-सीसेकी गोली शत्रुका नाश करती है ।)

आराच्छरव्याऽस्मद्विषूचीरिन्द्र पातय । अ. १।१९।१

हे इन्द्र ! चारों ओर फैलनेवाले बाण हमसे दूर जाकर गिरे ।

यो नः स्वो यो अरणः सजात उत निष्ठयो यो अस्मानभिदासति ।
रूद्रः शरव्ययैतान् ममामित्रान् विविध्यतु ।

अ. १।१९।३

जो अपना, जो परकीय, जो सजातीय, अथवा जो हीन जातीका हमको दास करना चाहा है, हमें दुःख देता है, ऐसे मेरे शत्रुओंको रूद्र अपने बाणोंसे वींधे ।

मा नो विददभिमा, मो अशस्तिः । अ. १।२०।१

पराभव हमारे पास न आवे, अप्रशस्तता हमारे समीप न आवे ।

इतश्च यदमुतश्च यद्वधं वरूण यायय ।

अ. १।२०।३

हे वरूण! यहांसे और वहांसे जो शस्त्र हैं उनको दूर कर ।

सीसं म इन्द्रः प्रायच्छत्तदंग यातु - वातनम् ।

अ. १।१६,२

सीसेकी गोली मुझे इन्द्रने दी, वह यातना देनेवाले दुष्टोंको दूर करती है ।

विलपन्तु यातुधाना अत्रिणो ये किमीदिनः ।

अ. १।७।३

जो यातना देनेवाले, सर्व भक्षक, घातक हैं वे विलाप करें । (दूसरोंको यातना देना, सब कुछ खा जाना, और सदा क्या खाऊं ऐसा बोलना विलाप करानेवाला है ।

त्वमग्ने यातुधानानुपबद्धां इहावह । अ. १।७।७

हे अग्ने ! तू यातना देनेवालोंको बांधकर यहां ला ।

यातुधानस्य प्रजां जहि नयस्व च । अ. १।८।३

यातना देनेवाले शत्रुकी प्रजाका पराभव कर और उसको ले चल

एवा मे शत्रोर्मूर्धानं विष्वग्मिन्धि सहस्व च ।

अ. ३।६।६

इस तरह मेरे शत्रुके सिर तोड दो और उसको जीत लो ।

स हन्तु शत्रून् मामकान् यानहं द्वेष्मि ये च माम् ।

अ. ३।६।१, ३।५

वह मेरे शत्रुओंका नाश करे, जिनका मै द्वेष करता हूं और जो मेरा द्वेष करते हैं ।

अमित्रसेनां मधवन्नस्माञ्छत्रूयीमभि ।
युवं तानिन्द्र वृत्रहन्नग्निश्च दहतं प्रति ॥ अ. ३।१।३

हे इन्द्र! शत्रुवत् आचरण करनेवाली शत्रुसेनाको इन्द्र और अग्नि तुम दोनो मिलकर जला दो ।

इन्द्रः सेनां मोहयतु, मरूतो घ्नन्त्वोजसा ।
चक्षूंष्यग्निरा दत्तां पुनरेतु पराजिता । अ. ३।१।६

इन्द्र (सेनापति) शत्रुसेनाको मोहि करें । मरूद (सैनिक) वेगसे हमला करें । अग्नि उनकी आंखे लेवें । इस तरह पराभूत होकर शत्रुसेना पीछे हटे ।

विष्वक् सत्यं कृणुहि चित्तमेषाम् । अ. ३।१।४

सत्य रीतिसे इन शत्रुओंका चित्त चारों ओरसे व्यग्र करो ।

अजषं सर्वाजाजीन् वः । अ. २।१४।६

सब युद्धोंमें मैंने विजय प्राप्त किया है ।

अहा अराति, अविदः स्योनं, अप्यभूः भद्रे सुकृतस्य लोके ।। अ. २।१०।७

कृपणताको तुमने छोडा है । सुखको प्राप्त किया है, कल्याणकारी पुण्यलोकमें तू आया है।

अरातीर्नो मा तारीन्मा नस्तारिपुरभिमातयः ।

अ. २।७।४

अनुदार शत्रु हमारे आगे न बढें । जो दुष्ट हैं वे आगे न बढें ।

चक्षुर्मन्त्रस्य दुर्हादः पृष्टीरपि श्रृणीमसि ।

अ. २।७।५

दुष्ट मनुष्यके आंख और पीठ हम तोड देते हैं ।

मा ते रिषम्नुपस त्तारंः । अ. २।६।२

तेरे अनुयायी विनष्ट न हों ।

देवैर्दत्तेन मणिना जङ्गिडेन मयोभुवा ।
विष्कंधं सर्वा रक्षांसि व्यायामे सहामहे ।

अ. २।४।४

देवोंने दिये, सुखदायक जंगिड मणिसे, शोषक रोगका तथा सब रोगकृमियोंको हम दबा सकते हैं ।

प्र वहा, याहि शूर हरिभ्याम् । अ. २।५।१

आगे बढ, दो घोडोंको जोतकर चलो ।

इन्द्रस्तुराषाण्मित्रो वृत्रं यो जघान यतीर्न । अ. २।५।३

यत्न करनेवालोंके समान, त्वरासे हमला करनेवाला इन्द्र घेरनेवाले शत्रुको मारता रहा ।

प्रतिदह यातुधानान् प्रति देव किमीदिनः ।
सं दह यातुधान्यः । अ. १।२८।२

यातना देनेवालोंको जला दो । सदा भूखोंको जला दो । यातना देनेवाली स्त्रियोंको भी जला दो ।

अभीवर्तो अभिभवः सपत्नक्षयणो मणिः ।
राष्ट्रायमह्यं बध्यतां सपत्नेभ्यः पराभुवे ॥ अ. १।२९।४

अभीवर्तमणि शत्रुका पराभव करनेवाला और दुष्टोंको दूर करनेवाला है, राष्ट्रहितके लिये तथा शत्रुओंको पराभूत करनेके लिये वह मणि मेरे शरीरपर बांधो ।

मेमं प्रापत्पौरूषेयो वधो यः । अ. १।३०।१

जो मनुष्यनाशक शस्त्र है वह इसके पास न आवे । (अर्थात् यह न मरे)

यसमृद्धा अघायव । अ. १।२७।२

पापी लोग समृद्ध न हों ।

आरे३सावस्मदस्तु हेतिः । अ. १।२६।१

शस्त्र हमसे दूर रहे ।

मा नो विदन् विव्याधिनो मो अभिव्याधिनो विदन् । अ. १।१९।१

विशेष वेधनेवाले शत्रु हमे न प्राप्त करें । चारों ओरसे वेधनेवाले शत्रु हमारे पास न आवे ।

यो अद्य सेन्यो वधोऽधायूनामुदीरते ।
युवं तं मित्रावरूणा अस्मद्यावयतं परि ॥ अ. १।२०।२

जो आज सेनाके शूर पुरूषोंका वध पापी शत्रुओंसे हो रहा है, हे मित्र वरूण ! तुम उसको हमसे दूर कर ।

वि न इन्द्र मृधो जहि, नीचा यच्छ पृतन्यतः । अ. १।२१।२

हे शत्रुनाशक वीर ! हमारे शत्रुओंको मार, सैन्य हमपर भेजनेवालोंको हीन स्थितिमें पहुंचाओ ।

वि मन्युमिन्द्र वृत्रहन् अमित्रस्याभिदासतः । अ. १।२१।३

हे शत्रुनाशक वीर ! हमारे घात करनेवाले शत्रुके उत्साहका नाश कर ।

वरीयो यावया वधम् । अ. १।२१।४

शत्रुके शस्त्रको हमारेसे दूर कर ।

दैवीर्मनुष्येषवो ममामित्रान् वि विध्यत । अ. १।१९।२

मनुष्योंसे फेंके गये दिव्य बाण, मेरे शत्रुओंको वींधे ।

यातुधानान् वि लापय । अ. १।७।६

यातना देनेवालोंको रूलाओ ।

नीचैः पद्यन्तामधरे भवन्तु ये नः सुरिं मधवानं पृतन्यान् । अ. ३।१९।३

जो शत्रु हमारे धनवान् और विद्वान पर सैन्य भेजते हैं वे नीचे गिरे और अवनत हों

एषामहमायुधा संस्याम्येषां राष्ट्रं सुवीरं वर्धयामि । अ. ३।१९।५

इनके आयुध मैं तीक्ष्ण करता हूं तथा इनका राष्ट्र उत्तम वीरोंसे युक्त करके उन्नत करता हूं ।

पृथग्घोषा उलूलयः केतुमन्त उदीरताम् । अ. ३।१९।६

झंडे लेकर हमला करनेवाले वीरोंके घोष पृथक् पृथक् ऊपर उठें ।

अवसृष्टा परा पत शरव्ये ब्रह्मसंशिते ।
जयामित्रान् प्र प्रद्यस्व, जह्येषां वरं वरं,
मामीषां मोचि कश्चन । अ. ३।१९।८

हे ज्ञानसे तेजस्वी बने शस्त्र ! तू छोडा जानेपर दूर जा, शत्रुओंको जीत लो, आगे बढ, शत्रुके वीरोंमेंसे श्रेष्ठ-श्रेष्ठ वीरोंको मार डाल, इनमेंसे किसीको न छोड ।

असौ या सेना मरूतः परेषामस्मानैत्यभ्योजसा
स्पर्धमाना । तां विध्यत तमसापव्रतेन यथै -
षामन्यो अन्यं न जानात् । अ. ३।२।६

हे मरूतो! यह जो शत्रुकी सेना वेगसे स्पर्धा करती हुई हमारे ऊपर आरही है, उसको अपव्रत तमसास्त्रसे वींधो जिससे उनमेंसे एक दुसरेको न जान सके ।

उग्रस्य मन्योरूदिमं नयामि । अ. १।१०।१

उग्र क्रोधसे इसको ऊपर मैं लेजाता हूं ।

सपत्ना अस्मदधरे भवन्तु । अ. १।९।२,४

शत्रु हमसे नीचे रहें । शत्रुका अधःपात हो ।

जहि एषां शततर्हम् । अ. १।८।४

इन दुष्टोंका सैंकडों कष्ट देनेका साधन दूर कर, शत्रुको पराजित कर ।

एषामिन्द्रो वज्रेणापि शीर्षाणि वृश्चतु । अ. १।७।७

इन्द्र वज्रसे इन दुष्टोंके सिर काट दे ।

ब्रवीतु सर्वा यातुमानयमस्मीत्येत्य । अ. १।७।४

'सब यातना देनेवाले आकर बोलेंकी हम यहां हैं ।'

दस्योः हन्ता बभूविथ । अ. १।७।१

तू दस्युका विनाशक है । (दस्युका विनाश करना योग्य है)

वि रक्षो विमृधो जहि विवृत्रस्य हनू रूज । अ. १।२१।३

राक्षसो, शत्रुओंको पराभूत करा घेरनेवाले शत्रुके जबडे तोड ।

यः सपत्नो योऽसपत्नो यश्च द्विषन् छपाति नः ।
देवास्तं सर्वे धूर्वन्तु ब्रह्मवर्म ममान्तरम् । अ. १।१९।९

जो सपत्न और जो असपत्न हैं, पर जो शाप देकर हमें द्वेष करके कष्ट पहुंचाता है, सब देव उसका नाश करें । मेरा आन्तरिक कवच ब्रह्मज्ञान है ।

ज्ञानरूप कवच जो पहनता है, उसका उत्तम रक्षण होता है ।

मा नो विदद् वृजिना द्वेष्या या । अ. १।२०।१

जो द्वेष करनेवाले कुटिल हैं वे हमारे पास न आवें ।

विष्वञ्चो अस्मत् छरवः पतन्तु ये अस्ता ये चास्याः । अथ. १।१९।२

जो फेंके गये हैं, और जो फेंके जानेवाले हैं वे बाण चारों ओर हमसे दूर जाकर गिरे ।

यत्त आत्मनि तन्वां घोरमस्ति ।
यद्वा केशेषु प्रतिचक्षणे वा ।
तत्सर्वं वाचाप हन्मो वयं । अ. १।१८।३

जो इसके शरीरमें, बुद्धिमें, केशोंमे, देखनेमें बुरा है, उस सबको हम वाणीकी प्रेरणासे दूर करते हैं । (वाणीसे सूचना देकर उस दोषको दूर करते हैं ।)

दृहन्नप द्वयाविनः यातुधानान् किमीदिनः । अ. १।२८।१

दुमखों, यातना देनेवालों और अब क्या खाऊं ऐसे बोलनेवाले दुष्टोंको अग्नि जला देता है ।

प्रेतं - आगे बढो ।

प्रस्फुरतं - फुरती करो ।

पृणतः गृहान् वदतं - संतोष देनेवालोंके घर जाओ । अ. १।२७।४

अभिवृत्य सपत्नान् अभि यो नो अरातयः ।
अभि पृतन्यन्तं तिष्ठाभि यो नो दुरस्यति ॥ अ. १।२९।२

शत्रुओंको पराभूत करके, हमारे अंदर जो कंजूस हैं उनको दूर करके, सेनासे जो चढाई करता है और जो हमसे दुष्टताका व्यवहार करता है, उन सबको पराभूत करो ।

विश्वा ह्यग्ने दुरिता तर । अ. २।६।५

सब पापवृत्तियोंको, पापियोंको दूर कर ।

स्वयुग्भिर्मत्स्वेह महे रणाय । अ. २।५।४

अपनी योजनाओंसे तू यहां आनन्दित होकर रह और बडे युद्धके लिये तैयार रह ।

ससहे शत्रून् । अ. २।५।३

शत्रुका पराभव करता हूं ।

प्रति तमभि चर योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः । अ. २।११।३

उसपर चढाई कर जो अकेला हम सबका द्वेष करता है । और जिसका हम सब द्वेष करते हैं ।

वृश्चामि तं कुलिशेन वृक्षं यो अस्माकं मन इदं हिनस्ति । अ. २।१२।३

जो हमारे इस मनको बिगाडता है, उसको कुठारसे वृक्ष काटनेके समान काटता हूं ।

सपत्नहाग्ने अभिमातिजिद् भव । अ. २।६।३

हे अग्ने! सापत्नोंका विनाशक हो तथा वैरियोंको जीतनेवाला हो ।

अग्नेर्वातस्य ध्राज्या तान् विषूचो वि नाशय । अ. ३।१।५

अग्नि और वायुके वेगसे जैसा नाश होता है वैसा नाश शत्रुओंका चारों ओरसे करो ।

जहि प्रतीचो अनूचः पराचः । अ. ३।१।४

सन्मुख रहे, पीछेसे आनेवाले और भागनेवाले शत्रुको

विनष्ट करो ।

अमीमृणन् वसवो नाथिता इमे, अग्निर्ह्येषां दूतः प्रेत्येतु विद्वान् । अ. ३।१।२

ये बलवान् बसानेवाले वीर काटते रहे हैं, इनका विद्वान् अग्नि समान तेजस्वी दूत चढाई करता हुआ आगे बढे।

अग्निर्नः शत्रून् प्रत्येतु विद्वान् प्रतिदहन्नभिशस्तिमरातिम् । अ. ३।१।१

विद्वान् तेजस्वी वीर घातपात करनेवाले शत्रुको जलाता हुआ हमारे शत्रुओंपर हमला करे ।

इन सूक्तियोंमें विशेष महत्व रखनेवाली ये हैं –

स्वे गये जागृहि - अपने घरमें जाग्रत रह । अपने राष्ट्रमें जाग्रत रह ।

उग्रा वः सन्तु बाहवः - आपके बाहु उग्र हों ।

प्रेत - शत्रुपर हमला कर ।

जयत - विजयी हो ।

नश्येतः सदान्वः - दानवोंका यहां नाश हो ।

समहमेषां राष्ट्रं स्यामि - इनका राष्ट्र मैं तेजस्वी बनाता हूं ।

वृश्चामि शत्रूणां बाहून् - शत्रुओंके बाहुओंको काटता हूं ।

उद्धर्षन्तां वाजिनानि - इनके बल उत्तेजित हों ।

तीक्ष्णेषवोऽबलधन्वनो हत - तुम्हारे तीखे बाणोंसे निर्बल शस्त्रवाले शत्रुको मारो ।

एवा तान् सर्वान् निर्भंग्धि - इस तरह उन सब शत्रुओंका नाश कर ।

सेनां मोहयामित्राणां - शत्रुकी सेनाको मोहित कर।

तान् विषूचो विनाशय - शत्रुको चारों ओरसे विनष्ट कर ।

स चित्तानि मोहयतु परेषां - वह शत्रुओंके चित्त मोहित करे ।

स सेनां मोहयतु परेषां - वह शत्रुकी सेनाको मोहित करे ।

अभि प्रेहि, निर्दह - आगे बढ, शत्रुको जला दो ।

अभि प्रेत, मृणत, सहध्वं - हमला करो, काटो और जीतलो ।

भूतपतिर्निरजतु - भूतोंका पति दुर्वृत्तियोंको दूर करे।

विषूच्येतु कृन्तती - काटती हुई सेना आगे बढे ।

आरे अश्मा - पत्थर हमसे दूर रहे ।

अपेन्द्र द्विषतो मनः - हे इन्द्र! शत्रुका मन बदल दे।

मा नो विददभिभा - पराभव हमारे पास न आवे ।

विलपन्तु यातुधानाः - यातना देनेवाले शत्रु रोते रहें।

यातुधानस्य प्रजां जहि - यातना देनेवाली प्रजाका पराजय कर ।

स हन्तु शत्रून् मामकान् - वह मेरे शत्रुओंका वध करे ।

अजैषं सर्वानाजीन् - सब युद्धोंमें मैं विजय प्राप्त करता हूं ।

अहा अरातिं - कृपणताको छोडो ।

अविदः स्योनं - सुखमार्गको जानो ।

अभूः भद्रे सुकृतस्य लोके - कल्याणकारी पुण्य लोकमें रहो ।

अरातीर्नो मा तारीत् - कंजूष हमारे पास न बढें ।

मा नस्तारिषुरभिमातयः - शत्रु हमारे आगे न बढें ।

प्र वह - आगे बढ ।

याहि शूर - हे वीर! आगे बढ ।

प्रतिदह यातुधानान् - यातना देनेवालोंको जला दो।

मेमं प्रापत्पौरुषेयो वधो यः - मनुष्यनाशक शस्त्र मेरे ऊपर न पडे ।

असमृद्धा आघायवः - पापी समृद्ध न हों ।

मा नो विदन् विव्याधिनः - वेध करनेवाले शत्रु हमें न जानें ।

मो अभिव्याधिनो विदन् - चारों ओरसे आक्रमण करनेवाले शत्रू हमें न जाने ।

वि न इन्द्र मृधो जहि - हे इन्द्र! हमारे शत्रुओंको मार ।

नीचा यच्छपृतन्यतः - सैन्यसे हमला करनेवालोंको हीन अवस्थामें पहुंचा दो ।

वरीयो यावया वधम् - शस्त्र हमसे दूर रख ।

इषवो ममामित्रान् वि विध्यत - बाण मेरे शत्रुओंको वींधे ।

यातुधानान् विलापय - यातना देनेवालोंको रूलाओ।

एषां राष्ट्रं सुवीरं वर्धयामि - इनके राष्ट्रको वीर

बनाकर बढाता हूं।

जयामित्रान् - शत्रुपर विजय प्राप्त कर।

जह्येषां वरं वरं - शत्रुवीरोंके प्रमुखोंको मार।

मामीषां मोचि कश्चन - शत्रुओंमेंसे किसीको न छोड।

विध्यत तमसापव्रतेन - शत्रुको अपव्रत तमसास्त्रसे वींधो।

सपत्ना अस्मदधरे भवन्तु - शत्रु हमसे नीचे रहें।

दस्योर्हन्ता बभूविथ - शत्रुका विनाशक बन।

वि रक्षो विमृधो जहि - राक्षसो और हिंसकोंका पराभव कर।

मा नो विदद् वृजिना द्वेष्या या - कुटिल और पापी मुझे न जाने।

दहन्नप द्वयाविनः - दुमुखोंको मैं जलाता हूं।

प्रेतं - हमला करो।

प्रस्फुरतं - फुरती बढाओ।

पृणतः गृहान् वहतं - संतोष देनेवालोंके घरोंसे पास जाओ।

अभि पृतन्यन्तं तिष्ठ - सेनासे हमला करनेवाले शत्रुका पराभव कर।

विश्वा दुरिता तर - सब पापोंको तैर जा।

मत्स्वेह महे रणाय - बडे युद्धके लिये आनन्दसे तैयार रह।

ससहे शत्रून् - शत्रुका पराभव करता हूं।

अभिमातिजिद्भव - शत्रुका पराभव करनेवाला हो।

शत्रून् प्रत्येतु विद्वान् - विद्वान् शत्रुपर चढाई करे।

इस तरह इन सूक्तियोंमें अनेक वाक्य भजनमें बोलने योग्य हैं। इस तरहके वचन तब बोलने होते हैं जब शत्रुके विरूद्ध अपने लोगोंको, अपने वीरोंको उठाना या तैयार करना होता है। ईश्वर भक्तिके वेदवचन उपासनाके समय बोलने होते हैं और ये वीरता बढानेवाले वचन वीरता बढानेके समय उच्चार करने होते हैं। विवेकी पाठक इसको अच्छी तरह समझ सकेंगे।

शत्रुपराजय करनेके लिये अपने राष्ट्रको तैयार रखनेके समय ये वचन बढे उपयोगी हैं। राष्ट्रको संजीवित करनेके लिये राष्ट्रमें एकता प्रस्थापित करनेकी आवश्यकता होती है। वह एकताका विषय अब देखिये -

एकता

एकता बढानेका उपदेश वेद इस तरह करता है -

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।

अ. ३।३०।१

सहृदयता और उत्तम मनवाला होना और विद्वेष न करना ये तुम्हारे अन्दर हों ऐसा मैं करता हूं।

अन्यो अन्यमभिहर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या।

अ. ३।३०।१

एक दूसरे पर ऐसा प्रेम करो जैसा नवजात बच्चेपर गौ प्रेम करती है।

अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः।

अ. ३।३०।२

पिताके अनुकूलव्रत धारण करनेवाला पुत्र हो और वह मातासे समान मनवाला हो।

जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवाम्।

अ. ३।३०।२

स्त्री पतिके साथ मधुर और शान्त भाषण करे।

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा।

अ. ३।३०।३

भाई भाईसे द्वेष न करे, बहन बहनसे द्वेष न करे।

सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया।

अ. ३।३०।३

मिलजुलकर एक व्रतपालन करनेवाले होकर कल्याण करनेवाला भाषण करो।

ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वि यौष्ट संराधयन्तः
सधुराश्चरन्तः। अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त
एत सध्रीचीनान्वः संमनसस्कृणोमि॥

अ.३।३०।५

वृद्धोंका संमान करनेवाले, और उत्तम विचार करनेवाले बनो, सिद्धितक यत्न करनेवाले, एक धुराके नीचे चलनेवाले होकर आपसमें विरोध न करो, परस्पर प्रेम पूर्वक भाषण करनेवाले और उत्तम विचार करनेवाला होकर रहो।

समानी प्रपा सह वो अन्नभागः समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि। अ. ३।३०।६

पानी पीनेका आपका स्थान एक हो, आपका अन्नभाग एक हो, एक जोतेके अन्दर साथ - साथ आपको जोतता हूं।

सम्यञ्चो अग्नि सपर्यतारा नाभिमिवाभितः ।

अ. ३।३०।६

सब मिलकर अग्निकी पूजा करो और चक्रकी नाभिके चारों ओर जैसे आरे होते हैं वैसे तुम परस्पर जुडकर रहो ।

सध्रीचीनाचः संमनसस्कृणोम्येक श्नुष्टीन्त्सं - वननेन सर्वान् । अ. ३।३०।७

परस्पर प्रेम भावका बर्ताव करनेवाले, साथ साथ पुरुषार्थ करनेवाले, उत्तम मनवाले और एक नेताकी आज्ञामें कार्य करनेवाले मैं तुमको बनाता हूं ।

देवा इवामृतं रक्षमाणाः सायं प्रातः सौमनसो वो अस्तु । अ. ३।३०।७

अमृतका रक्षण करनेवाले देव जैसे प्रेमसे रहते है वैसा परस्पर प्रेम आपके व्यवहारमें सबेरे और शामको होवे ।

सं वो मनांसि सं व्रता समाकूतीर्नमामसि ।

अ. ३।८।५

तुम्हारे मनोंको एक करो, तुम्हारे व्रत एक हों, तुम्हारे संकल्पोंको एक भावसे युक्त करता हूं ।

पम व्रतेषु हृदयानि वः कृणोमि
मम यातमनुवर्त्मान एत । अ. ३।८।६

मेरे व्रतोंमे तुम्हारे हृदय संलग्न हों ऐसा मैं करता हूं। मेरे चाल - चलनके अनुकूल तुम होकर चलो ।

अ- दार - सृद भवतु । अ. १।२०।१

आपसमें फूट उत्पन्न करनेवाला कोई न हो ।

अहं गृभ्णामि मनसा मनांसि
मम चित्तमनु चित्तेभिरेत । अ. ३।८।६

मैं अपने मनसे तुम्हारे मनोंको लेता हूं । मेरे चित्तके साथ अपने चित्तोंको चलाओ ।

यथा नः सर्व इज्जनः संगत्यां सुमना असत्
दानकामश्च नो भुवत् ।।अ. ३।२०।६

हमारे संपूर्ण लोग संगितमें उत्तम मनवाले हों और दान देनेकी भी इच्छा करें ।

सं चेन्नयाथो अश्विना, कामिना सं च वक्षथः ।
सं वां भगासो अग्मत, सं चित्तानि, समुव्रता ।।

अ. २।३०।२

हे परस्पर कामना करनेवाले अश्विदेवो ! मिलकर चलो, मिलकर बढो, ऐश्वर्यको मिलकर प्राप्त करो, तुम्हारे चित्त एक हो, तुम्हारे व्रत एक हों ।

शिवाभिष्टे हृदयं तर्पयाम्यनमीवो मोदिषीष्ठाः सुवर्चाः । सवासिनौ पिबतां मन्थमेतं अश्विनौ रूपं परिधाय मायाम् ।।अ. २।२९।६

कल्याणकारिणी विद्याओं द्वारा तेरे हृदयको तृप्त करता हूं । नीरोग और तेजस्वी होकर आनन्दमें रहो । साथ रहकर अश्विनौके रूपको कर्मकी कुशलताको प्राप्त होकर इस रसको पीओ ।

इस रीतिसे सबकी एकता करनेका उपदेश वेद करता है । घरकी तथा परिवारकी एकता करनेके लिये प्रथम कहा है -

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन् - भाई - भाईसे द्वेष न करे । वह आदेश यदि भाई - भाई मनमें रखते, तो कौरव पांडवोंकी एकता होती और आपसका कलह न होता और १८ अक्षौहिणी सेनाका नाश न होता । और भारत देश क्षात्र तेजसे हीन न होता ।

सम्यञ्चो अग्निं सपर्यत
आरा नाभिमिवाभितः । अ. ३।३०।६

जैसे चक्रके आरे नाभिके चारों ओर रहते हैं, इस तरह बीचमें अग्नि रहे और चारों ओर बैठकर हवन करो यह सामुदायिक उपासना कही है जो एकता बढानेवाली थी । सामुदायिक संध्या, सामुदायिक हवन होनेसे समुदायकी एकता होती थी । इस स्थानपर आज वैयक्तिक संध्या हो गयी है जो एक दूसरेको पृथक् करती है ।

अपनेमें 'अदारसृत भवतु'। आपसकी फूट बढानेवाला कोई न रहे । परंतु आपसकी एकता सब बढावें और सब सुसंगठित हों । इस कारण कहा है -

अहं गृभ्णामि मनसा मनांसि । अ. ३।८।६

मैं अपने मनसे तुम्हारे मनोंको एकत्रित करके लेता हूं अर्थात् मैं अपना मन ऐसा बनाता हूं कि जो सबके मनोंको आकर्षित करे और सबके विचार एक प्रकारके बनावे और सबको संगठित करे । इस रीतिसे राष्ट्रके सब लोगोंको संगठित किया जाय और राष्ट्रका बल बढाया जाय ।

इस तरह संघटनाके सूचक ये मंत्र हैं । पाठक इनका विचार करें और आपसमें सुसंगठीत होकर अपने राष्ट्रका बल बढावें इससे राष्ट्रका अभ्युदय होगा ।

अभ्युदय

इमा याः पञ्च प्रदिशो मानवीः पञ्च कृष्टयः ।
वृष्टे शापं नदीरिवेह स्फार्तिं समावहन् ॥

अ. ३।२४।३

जो ये पांच दिशाओंमे रहनेवाली मानवोंकी पांच जातियां है, वे समृद्धिको प्राप्त हों, जिस तरह वृष्टिसे नदी बढती है ।

जैसी वृष्टि होनेसे नदी बढती है उस तरह सब प्रजा-जनोंका अभ्युदय हो । मनुष्योंकी सब प्रकारकी ऐहिक तथा पारमार्थिक उन्नति हो, सब राष्ट्र एकतासे अपना अभ्युदय करने लगेगा तो ही राष्ट्रकी उन्नति हो सकती है । एकता मूलक सब उन्नति है ।

राष्ट्रकी एकता होनेके लिये राष्ट्रमें यज्ञ भावना होनी चाहिये । सज्जनोंका सत्कार, राष्ट्रकी एकता अर्थात् संघटना करना और दानका भाव ये गुण यज्ञमें हैं । इन गुणोंसे राष्ट्रका उत्कर्ष होता है ।

यज्ञ

ब्रह्म यज्ञं च वर्धय । अ. ३।२०।५

ज्ञान और प्रशस्ततम कर्मको बढाओ ।

इमं यज्ञं विततं विश्वकर्मणा देवा यन्तुसुमन-स्यमानाः ॥अ. २।३५।५

विश्वके रचयिताने यह यज्ञ फैलाया है । उत्तम मनसे सब देव इस यज्ञमें आवें ।

उतादित्सन्तं दापयतु प्रजानन् । अ. ३।२०।८

दान न देनेवालेको जानबूझकर दान देनेकी प्रेरणा कर ।

य ईशे पशुपतिः पशूनां चतुष्पदामुत यो द्विपदाम् । निष्क्रीतः स यज्ञियं भागमेतु, रायस्पोषा यजमानं सचन्ताम् ॥अ. २।३४।१

जो चतुस्पाद पशुओंका, तथा द्विपादों-मनुष्योंका स्वामी है, वह यज्ञके भागको प्राप्त हो, उसकी उपासना हो, धन और पोषण यजमानको मिले ।

विद्वानोंका सत्कार करना चाहिये, आपसकी उत्तम संघटना होनी चाहिये और जो दीन होंगे उनकी दीनता दूर करनेके लिये दान देना चाहिये । दानमें विद्यादान, बलका संवर्धन, धनका दान और कर्मशक्तिका उत्कर्ष यह चतुर्विध सहाय्य होना चाहिये । यह जहां होगा वहां यज्ञ होगा । और इससे राष्ट्रका परम उत्कर्ष होगा ।

मधुरता

मधुरतासे एकता होती है । इस विषयमें वेदमंत्रोंका स्पष्ट आदेश यह है -

मधोरस्मि मधुतरो मधुधान्मधुमत्तरः । अ. १।३४।४

मैं मधसे भी अधिक मीठा हूं, मधुर पदार्थसे भी अधिक मधुर हूं ।

वाचा वदामि मधुमद् भूयासं मधुसंदृशः ।

अ. १।३४।३

मैं वाणीसे मीठा भाषण करूंगा और मैं मधुरताकी मूर्ति बनूंगा ।

मधुमन्मे निष्क्रमणं मधुमन्मे परायणम् ।

अ. १।३४।३

मेरा आना और जाना मीठा हो ।

जिह्वया अग्रे मधु मे जिह्वामूले मधूलकम् ।

अ. १।३४।२

मेरी जिह्वाके मूलमें मधुरता रहे और जिह्वाके अग्रभागमें मीठास रहे ।

ऐसी मीठास होनेसे राष्ट्रमें प्रेम बढता है और प्रेमसे संगठना होती है । मित्रता बढती है । परस्पर सहायता करनेकी इच्छा बढती है । इससे सबका मिलकर कल्याण होता है ।

मित्रता

यः सुहार्त तेन नः सहः । अ. ३।७।५

जो उत्तम हृदयवाला है उसके साथ हमारी मित्रता हो ।

सखासावस्मभ्यमस्तु रातिः । अ. १।२६।२

दानरूपी मित्र हमारे साथ रहे ।

मित्रेणाग्ने मित्रधा यतस्व । अ. २।६।४

मित्रके साथ मित्रके समान व्यवहार कर ।

शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्तम् । अ. २।१०।१

तेरे लिये ये दोनों द्यु और पृथिवी लोग कल्याण करनेवाले हों ।

शरुमस्मद् यावय दिद्युं । अथर्व १।२।३

दिद्युं शरुं अस्मत् यावय - शत्रुके तेजस्वी बाणको हमसे दूर कर (शत्रुका बाण हमपर न आवे ।)

वसोष्पते ! नि रमय । अथर्व १।१।२

हे वसुओंके स्वामिन्! मुझे आनन्द युक्त कर ।

वयमक्ष्या३वपि व्ययामस्यधायोः परिपन्थिनः ।
अ.१।२७।१

पापी और दुष्टोंके आंख हम ढक देते हैं ।

पापी और दुष्ट दूर हों और उत्तम हृदयसे सबकी एकता बढे और एकतासे बल बढे ।

बल

अश्मानं तन्वं कृधि । अथर्व १।१।२

शरीरको पत्थर जैसा सुदृढ कर ।

एह्यश्मानमा तिष्ठ, अश्मा भवतु ते तनूः ।
अ. २।१३।४

आ, इस शिलापर चढ, तेरा शरीर पत्थर जैसा सुदृढ बने ।

वाचस्पतिः तेषां तन्वः बला मे अद्य दधातु ॥
अथर्व १।१।१

वाचस्पति उनके शरीरके बलोंको मुझमें आज धारण करे । (विश्वमें जो पदार्थ हैं उनके बल मुझे प्राप्त हों और मैं उनसे बलवान् बनकर इस विश्वमें विश्वसेवाका कार्य करता रहूं ।)

वीडुर्वरीयोऽरातीरप द्वेषांस्या कृधि ॥
अथर्व १।२।२

वीडुः धरीयः अरातीः द्वेषांसि अपाकृधि -

हमारे शरीर बलवान् और श्रेष्ठ बनें । शत्रुओं और द्वेष करनेवालोंको दूर कर ।

ओजोऽस्योजो मे दाः । सहोऽसि सहो मे दाः ।
बलमसि बलं मे दाः । आयुरसि आयुर्मे दाः ।
श्रोत्रमसि श्रोत्रं मे दाः । चक्षुरसि
चक्षु र्मे दाः । परिपाणमसि परिपाणं मे दाः ।
अ. २।१७।१-७

सामर्थ्य, शत्रुका पराभव करनेकी शक्ति, बल, आयु, कान, आंख, संरक्षण यह तुम्हारा रूप है अतः तू मुझे ये गुण दे ।

स्त्रक्त्योऽसि, प्रतिसरोऽसि, प्रत्याभिचरणोऽसि ।
अ. २।११।२

तू (आत्मा) गतिशील है, तू आगे बढनेवाला है, तू दुष्टताको दूर करनेवाला है ।

शुक्रोऽसि, भ्रातोऽसि, स्वरसि, ज्योतिरसि ।
अ. २।११।५

तू शुद्ध तथा वीर्यवान् है । तू तेजस्वी है, तू आत्मशक्ति है, तू ज्योति है ।

प्र च वर्धयेमम् । अ. २।६।२

इसको विशेष ऊंचा कर ।

सबका बल, तेज, ज्योति, वीर्य बढे और सब लोग तेजस्वी बने और सबका सामर्थ्य बढे ।

वीरता

प्रजां त्वष्टरधि निधेह्यस्मे । अ. २।२९।२

हे त्वष्टा! इसको सुप्रजा दे ।

आ वीरोऽत्र जायतां पुत्रस्ते दशमास्यः ।
अ. ३।२३।२

तेरे लिये दशवें मासमें जन्मनेवाला वीर पुत्र होवे ।

अथास्माकं सह वीरं रयिं दाः । अ. २।६।५

हमें वीरोंके साथ रहनेवाला धन दे ।

सुप्रजसः सुवीरा वयं स्याम पतयो रयीणाम् ।
अ. ३।१०।५

हम उत्तम प्रजावाले तथा उत्तम वीरोंसे युक्त होकर धनोंके स्वामी बनें ।

तनूपानः सयोनिर्वीरो वीरेण मया । अ. ३।५।८

तू सजातीय वीर मुझ वीरके साथ रहकर शरीर रक्षक है ।

वृषेन्द्रः पुर एतु नः सोमपा अभयंकरः ।
अ. १।२१।१

बलवान्, शान्ति करनेवाला, सोमरस पीनेवाला शत्रुनाशक वीर हमारा अगुवा बने ।

ज्ञान

घोरा ऋषयो, नमो अस्त्वेभ्यश्चक्षुर्यदेषां मन -
सश्च सत्यम् । अ. २।३५।४

ऋषि बडे तेजस्वीहैं, उनको हमारा प्रणाम प्राप्त हो, इनकी आंख और मन सत्यस्वरूप रहते हैं ।

येन देवा न वियन्ति नो च विद्विषते मिथः ।
तत्कृण्मो ब्रह्म वो गृहें संज्ञानं पुरुषेभ्यः ॥
अ. ३।३०।४

जिससे ज्ञानी आपसमें झगडते नहीं और आपसमें द्वेष भी नहीं करते, वह श्रेष्ठ ज्ञान आपके घरके पुरुषोंके लिये मैं करता हूं ।

ब्रह्माणस्ते यशसः सन्तु, मान्ये । अ. २।६।२

ज्ञानी ही तेरे यशके भागी बनें, न दूसरे ।

मयि एव अस्तु मयि श्रुतम् । अथर्व. १।१।२,३

पढा हुआ, सुना हुआ ज्ञान मेरे अन्दर स्थिर रहे । (प्राप्त किया ज्ञान भूला न जाय ।)

सं श्रुतेन गमेमहि । मा श्रुतेन विराधिषि ।। अथर्व. १।१।४

हम सब ज्ञानसे युक्त हों । हम कभी ज्ञानसे वियुक्त न हों ।

इमं वर्धयता गिरः । अ. १।१५।२

वाणियां इसका गुणवर्धन करें । गुणगान करें ।

अनागसं ब्रह्मणा त्वा कृणोमि । अ. २।१०।१

ज्ञानसे मैं तुझे निष्पाप करता हूं ।

उपास्मान् वाचस्पतिर्ह्वयताम् । अथर्व. १।१।४

ज्ञानी हमें बुलावें (और उपदेश करे, हमें मार्ग बतावें।)

सूर्य चक्षुषा मा पाहि । अ. २।१६।३

हे सूर्य! आंखसे मेरी सुरक्षा कर ।

विड्ढि, शक्र धिया इहि आ नः । अ. २।५।४

उत्तम राज्यशासन कर, हे इन्द्र! हमारे पास बुद्धिकी योजनासे आओ ।

एहि देवेन मनसा सह । अथर्व १।१।२

दिव्य मनके साथ इधर (मेरे समीप) आ । (मनमें दिव्य शक्ति है, उस दिव्य शक्तिसे प्रभावित हुए मनसे यहां आओ । मनमें दिव्य शक्ति धारण करके, जहां जाना हो, जाना चाहिये ।)

व्यापस्तृष्णयासरन् । अ. ३।३१।३

जल तृषासे दूर रहता है ।

इमामग्ने शरणिं मीमृषो नः । अ. ३।१५।४

हे अग्ने ! मेरी इस भूलकी क्षमा करो ।

तपूंषि तस्मै वृजिनानि सन्तु ब्रह्मद्विषं द्यौरभिसंतपाति । अ. २।१२।६

ज्ञानका द्वेष करनेवाले उस दुष्टको सब कार्य तापदायक हों । उस ज्ञानके द्वेष्टाको आकाश संतप्त करे ।

सूर्यमृतं तमसो ग्राह्या अधिदेवा मुञ्चतो असृजन्निरेणसः । अ. २।१०।८

देवांने अंधकारकी पकडसे तथा पापसे मुक्त करके सत्य स्वरूपी सूर्यको प्रकट किया है ।

प्रापेयं सर्वा आकूतीर्मनसा हृदयेन च । अ. ३।२०।९

मनसे और हृदयसे सब संकल्पोंको प्राप्त कर सकूं।

ब्रह्म वा यो निन्दिषत् क्रियमाणम् । अ. २।१२।६

जो हमारे ज्ञानकी निंदा करता है । (वह संतापको प्राप्त हो)

तेजस्विता

सह वर्चसोदिहि । अ. ३।४।१

तेजके साथ उदयको प्राप्त हो ।

तेन मामद्य वर्चसाग्ने वर्चस्विनं कृणु ।। अ. ३।२२।३

हे अग्ने! उस तेजसे मुझे आज तेजस्वी कर ।

देवासो विश्वधायसस्ते माजन्तु वर्चसा । अ. ३।२२।२

सबका धारण करनेवाले देव मुझे तेजसे तेजस्वी करें।

देवा इमं उत्तरस्मिन् ज्योतिषि धारयन्तु । अ. १।९।१

देव इस पुरूषको उत्तम प्रकाशमें धारण करें ।

ज्योक् च सूर्य दृशे । अ. १।६।३

सूर्यको मैं दीर्घकालतक देखूं । (मैं दीर्घायु बनूं ।)

उत्तमं नाकमधि रोहयमम् । अ. १।९।२,४

इसको उत्तम स्वर्गमें चढाओ, इसको उत्तम सुखमें रख।

नमस्ते हेतये तपुषे च कृण्मः । अ. १।१३।३

तेरे शस्त्रके लिये तथा तेरे तेजके लिये प्रणाम करता हूं।

सं दिव्येन दीदिहि रोचनेन, विश्वा आ भाहि प्रदिशश्चतस्रः । अ. २।६।१

दिव्य तेजसे तेजस्वी हो और संपूर्ण चारों दिशाओंको प्रकाशित करो ।

आप्नुहि श्रेयांसं अति समं क्राम । अ. २।११।१

परम कल्याणको प्राप्त करके अपने समान जो होंगे उनसे आगे बढ, उन्नत हो ।

अस्य देवाः प्रदिशि ज्योतिरस्तु । अ. १।९।२

हे देवों ! इसके चारों ओर प्रकाश रहे ।

आ रून्धां सर्वतो वायुः, त्वष्टा पोषं दधातु मे ।।

अ. ३।२०।१०

प्राणवायु सब ओरसे मुझे घेरे और त्वष्टा मुझे पुष्टि देवे।

इष्टापूर्तमवतु नः । अ. २।१२।४

इष्ट कर्म तथा पूर्त कर्म हमारी रक्षा करें। (इच्छापूर्वक किया कर्म इष्ट और अपूर्णको पूर्ण करनेका कर्म पूर्त है।)

धन

त्वं नो देव दातवे रयिं दानाय चोदय ।

अ. ३।२०।५

हे देव! तू दान देनेवालेके लिये दानके अर्थ धनको प्रेरित करो।

ये पन्थानो बहवो देवयाना अन्तरा द्यावा पृथिवी संचरन्ति । ते मा जुषन्तां पयसा घृतेन यथा क्रीत्वा धनमाहराणि ॥अ.३।१५।२

जो सज्जनोंके जाने आनेसे बहुतसे मार्ग द्यावा पृथिवीके बीचमें चल रहे हैं, वे मुझे घी और दूधसे तृप्त करें। जिनसे चलकर क्रयविक्रय करके मैं धनको प्राप्त करूं।

यमध्वानमगाम दूरम् ।

शुनं नो अस्तु प्रपणो विक्रयश्च प्रतिपणः फलिनं मा कृणोतु । अ. ३।१५।४

मैं दूर मार्गपर आया हूं। क्रयविक्रय हमें हितकारी हों। प्रत्येक व्यापार मुझे लाभदायी हो।

येन धनेन प्रपणं चरामि धनेन देवा धनामिच्छ - मानः । तन्मे भूयो भवतु मा कनीयो सातघ्नो देवान् हविषा निषेध ॥अ. ३।१५।५

हे देवो ! जिस धनसे मैं व्यापार करता हूं, वह धनसे धन कमानेकी इच्छा करके करता हूं। वह धन हमारे कार्यके लिये पर्याप्त हो, कम न हो। लाभमें हानि करनेवाले जो हों उनका निषेध तू कर।

येन धनेन प्रपणं चरामि धनेन देवा धनामि-च्छमानः । तस्मिन्म इन्द्रो रूचिमा दधातू प्रजापतिः सविता सोमो अग्निः ॥अ. ३।१५।६

हे देवों! धनसे धन प्राप्तिकी इच्छा करके जिस धनसे मैं व्यवहार कर रहा हूं, उसमें इन्द्र, प्रजापति, सविता, सोम, और अग्नि मेरी रूचि स्थिर रखे।

रायस्पोषेण समिषा मदन्तो मा ते अग्ने प्रति-वेशा रिषाम ॥अ. ३।१५।८

धनकी पुष्टी और अन्नसे आनंदित होते हुए, तेरे उपासक हम, हे अग्ने! कभी नष्ट न हों।

इन्द्र इवेन्द्रियाण्यधि धारयामो अस्मिन्तद्दक्ष-माणो बिभरद्धिरण्यम् । अ. १।३५।२

इन्द्रके समान हम इन्द्रियोंको धारण करते हैं जो दक्षतासे सुवर्ण धारण करता है। (उसमें उत्तम इंद्रिय शक्ति रहती है।)

नैनं रक्षांसि न पिशाचाः सहन्ते देवानामोजः प्रथमजं ह्येतत् । अ. १।३५।२

इस सुवर्णको राक्षस और पिशाच (सुक्ष्मरोग कृमि) नहीं सह सकते। क्योंकि वह देवोंका पहिला सामर्थ्य है।

तं जानन्नग्न आरोहाधा नो वर्धया रयिम् ।

अ. ३।२०।१

हे अग्ने! उस मार्गको जानकर ऊपर चढ़ और हमारे धन बढा दो।

नुदन्नरातिं परिपन्थिनं मृगं स ईशानो धनदा अस्तु मह्यम् । अ. ३।१५।१

मार्गपर लुटनेवाले, ढूंढते रहनेवाले शत्रुको दूर करके, वह ईश्वर मुझे धन देनेवाला होवे।

भग प्र णो जनय गोभिरश्वैर्भग प्र नृभिर्नृवन्तः स्याम । अ. ३।१६।३

हे भग! गौओं और अश्वोंके साथ हमारी संतान वृध्दि कर। हम अच्छे मानवोंके साथ रहकर मानवोंसे युक्त हों।

तं त्वा भग सर्व इज्जेहवीमि स नो भग पुर - एता भवेह । अ. ३।१६।५

हे भगवान् प्रभो! तुझको मैं सब प्रकारसे भजता हूं। वह तू हमारा अगुवा हो।

मयि पुष्यत यद्वसु । अ. ३।१४।२

हे गौओं ! जो धन है उससे मेरे साथ तुम हृष्ट - पुष्ट बनो।

अथास्मभ्ये सहवीरं रयिं दाः । अ. ३।१२।५

हमें वीर पुत्रोंके साथ धन दो।

रयिं देवी दधातु मे । अ. ३।२०।३

देवी मुझे धन देवे।

रयिं च नः सर्ववीरं नियच्छ । अ. ३।२०।८

हमें सब प्रकारके वीर भावसे युक्त धन दो ।

इन्द्रमहं वणिजं चोदयामि स न एतु पुरएता नौ अस्तु । अ. ३।१५।१

मैं वणिक् इन्द्रको प्रेरित करता हूं, वह हमारे पास आवे और वह हमारा अगुवा बने। (इन्द्र-शत्रुका विदारण करनेवाला)

यावदीशे ब्रह्मणा वन्दमान इमां धियं शतसेयाय देवीम् । अ. ३।१५।३

जिससे इस दिव्य बुद्धिका ज्ञान द्वारा सम्मान करता हुआ मैं सैंकडों सिद्धियोंको प्राप्त करने योग्य होऊं ।

शुनं नो अस्तु चरितमुत्थितं च । अ. ३।१५।४

हमारा चालचलन और उत्थान हमें लाभदायी होवे ।

भग प्रणेतर्भग सत्यराधो भगेमां धियमुदवाददन्नः । अ.३।१६।३

हे भग, हे बडे नेता, सत्य सिद्धि देनेवाले प्रभो! इस बुध्दिको देकर हमारा रक्षण कर ।

भग एव भगवाँ अस्तु देवस्तेन वयं भगवन्तः स्याम । अ. ३।१६।५

भाग्यवान् भगदेव मेरे साथ रहे, उसके साथ रहनेसे हम भाग्यवान् हों ।

भगस्य नावमारोह, पूर्णामनुपदस्वतीम् ।
तयोपप्रतारय, यो वरः प्रतिकाम्यः ॥अ. २।३६।५

पूर्ण तथा अटूट ऐश्वर्यकी नौकापर चढ, उस नौकासे उसके पास जा जो वर तेरी कामनाके योग्य हो ।

परि मां, परि मे प्रजां परिणः पाहि यद्धनम् । अ. २।७।४

मेरी रक्षा कर, मेरी प्रजाकी रक्षा कर, हमारे धनकी रक्षा कर ।

उच्च तिष्ठ महते सौभगाय । अ. २।६।९

बडे सौभाग्यके लिये ऊंचा होकर रह ।

अस्मिन् तिष्ठतु या रयिः । अ. १।१५।२

इसमें पर्याप्त धन रहे ।

धनका महत्व राष्ट्रकी उन्नतिमें तथा व्यक्तिको उन्नतिमें बहुत है । इसलिये वेदमें धनके विषयमें बहुत ही आदर प्रकट किया है । धनके संबंधमें ये सब वचन ध्यानमें धरने योग्य हैं परंतु उनमें ये वचन वारंवार मनन करने योग्य हैं ।

रयिं दानाय चोदय - धनको दानमें प्रेरित कर ।

दक्षमाणो बिभरद्धिरण्यम् - दक्ष सुवर्णका रक्षण करता है ।

नो वर्धया रयिं - हमारा धन बढाओ ।

ईशानो धनदा अस्तु मह्यं - परमेश्वर मुझे धन देनेवाला हो ।

मयि पुष्यतु यद्वसु - जो धन है वह मेरे पास बढता रहे ।

अस्मभ्यं सहवीरं रयिं दाः - हमें वीर पुत्रोंसहित धन दो ।

रयिं देवी दधातु मे - देवी मुझे धन देवे ।

रयिं च नः सर्ववीरं नियच्छ - धन और वीर पुत्र हमें दो ।

वयं भगवन्तः स्याम - हम धनवान् हों ।

भगस्य नावमारोह - ऐश्वर्यकी नौका पर चढ ।

परि णः पाहि यद्धनम् - हमारे धनका संरक्षण कर ।

उच्च तिष्ठ महते सौभगाय - बडे सौभाग्यके लिये उठकर खडा रह ।

अस्मिन् तिष्ठतु या रयिः - इसके पास धन रहे ।

ऐसे वचन हैं जो मनमें रखने योग्य होते हैं । इनमेंसे काई एक वचन मनमें १०।२० वार विचारपूर्वक रखिये। ऐसा करनेसे धनका महत्व ध्यानमें आ जायगा और धन पास रहनेसे कैसा सुख होगा, इसका भी पता लग जायगा ।

आरोग्य

तेना ते तन्वे शं करं, पृथिव्यां ते निषेचनं बहिष्टे अस्तु बालिति । अथर्व १।३।१-५

उससे तेरे शरीरका कल्याण करता हूं, पृथिवीपर तेरा सुखसे रहना हो । तेरे शरीरसे सब दोष दूर हों ।

अन्वांत्र्यं शीर्षण्यमथो पार्ष्टेयं कृमीन् ।
अवस्कवं व्यध्वरं क्रिमीन् वचसा जम्भयामसि ॥ अ. २।३१।४

आंतोंमें, सिरमें, पसलियोंमें रहनेवाले, रेंगनेवाले, बुरे स्थानमें रहनेवाले जो कृमि हैं, उनको मैं वचासे हटाता हूं ।

ये क्रिमयः पर्वतेषु वनेष्वोषधीषु पशुष्वप्स्व १न्तः ।
ये अस्माकं तन्वमाविविशुः सर्वे तद्धन्मि जनिम

क्रिमीणाम् ॥अ. २।३ १।५

जो रोगकृमि पर्वतों, वनों, औषधियों, पशुओं, जलोंमें तथा हमारे शरीरोंमें घुसे हैं, उन कृमियोंका जन्म मैं नष्ट करता हूं।

उद्यन्नादित्यः कृमीन्हन्तु, निम्रोचन्हन्तु रश्मिभिः ।
ये अन्तः क्रिमयो गवि॥ अ. २।३२।१

उदय होनेवाला सूर्य रोगकृमियोंका नाश करे, अस्त होनेवाला सूर्य किरणोंसे कृमियोंका नाश करे जो कृमि भूमि पर हैं।

विश्वरूपं चतुरक्षं क्रिमिं सारंगमर्जुनम् ।
श्रृणाम्यस्य पृष्टीरपि वृश्चामि यच्छिरः ॥ अ. २।३२।२

अनेक रूपोंवाले, चार आंखवाले, रेंगनेवाले, श्वेतरंगवाले ऐसे अनेक प्रकारके कृमि होते हैं, उनके पीठ और सिर मैं तोडता हूं।

अत्रिवद्वः क्रिमयो हन्मि कण्ववज्जमदग्निवत् ।
अगस्त्यस्य ब्रह्मणा सं पिनष्म्यहं कृमीन् ॥
अ. २।३२।३

अत्रि, कण्व, जमदग्निके समान मैं कृमियोंका नाश करता हूं। अगस्त्यकी विद्यासे मैं कृमियोंको कुचलता हूं।

हतो राजा कृमीणां उतैषां स्थपतिर्हतः ।
हतो हतमाता क्रिमिर्हतभ्राता हतस्वसा ॥
अ. २।३२।४

कृमियोंका राजा मारा गया, उनका स्थानपति मारा गया है। कृमिकी माता, बहिन और भाई मारा गया है।

हतासो अस्य वेशसो हतासः परिवेशसः ।
अथो ये क्षुल्लका इव सर्वे ते कृमयो हताः ॥
अ. २।३२।५

इस कृमिके परिचारक मारे गये, इसके सेवक पीसे गये, जो क्षुल्लक कृमि हैं वे सब मारे गये हैं।

प्र ते शृणामि शृङ्गे याभ्यां वितुदायसे ।
भिनद्मि ते कुषुम्भं यस्ते विषधानः ॥अ. २।३२।६

तेरे सींग काटता हूं जिनसे तू काटता है, तेरे विषधानको मैं तोडता हूं जिसमें तेरा विष रहता है।

पराच एनान् प्रणुद कण्वान् जीवितयोपनान् ।
तमांसि यत्र गच्छन्ति तत्क्रव्यादो अजीगमम् ॥
अ. २।२५।५

इन जीवनका नाश करनेवाले रोगक्रिमि दूर कर, जहां अंधेरा रहता है वहां इन मांसभक्षक कृमियोंको पहुंचा देते हैं।

तासु त्वान्तर्जरस्या दधामि, प्र यक्ष्म एतु
निर्ऋतिः पराचैः । अ. २।१०।५

तुझको वृद्धावस्थामें मैं धारण करता हूं। क्षय रोग तथा अन्य सब कष्ट तुझसे दूर चले जाय।

अग्नी रक्षोहामीवचातनः । अ. १।२८।१

अग्नि राक्षसोंका नाश करके रोगोंको दूर करनेवाला है। (रक्षः—रोगकृमि)

अनुसूर्यमुदयतां हृद्योतो हरिमा च ते ।
गोरोहितस्य वर्णेन तेन त्वा परिदध्मसि ॥
अ. १।२२।१

तुम्हारा हृदयविकार तथा कामिला या पीलापन सूर्योदयके साथ आनेवाले लाल किरणोंके लाल वर्णसे तुझे चारों ओर घेर कर मैं दूर करता हूं।

किलासं च पलितं च निरितो नाशय पृषत् ।
अ. १।२३।२

इस शरीरसे कुष्ठ व सफेद धब्बे दूर कर।

अस्थिजस्य किलासस्य तनूजस्य च यत्त्वचि ।
दूष्या कृतस्य ब्रह्मणा लक्ष्म श्वेतमनीनशम् ।
अ. १।२३।४

दोषके कारण त्वचापर उत्पन्न हुए, अस्थिसे तथा शरीरसे उत्पन्न हुए, कुष्ठका जो त्वचापर चिन्ह है उसको हम ज्ञानसे विनष्ट करते हैं।

शेरभक शेरभ पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः
किमीदिनः । यस्य स्थ तमत्त, यो वः प्राहैत्तमत्त,
स्वा मांसान्यत्त ॥ अ. २।२४।१

हे वध करनेवाले शस्त्र! तुम्हारे यातना देनेवाले शस्त्र, तथा हे खाऊ लोगों! तुम जिनके हो उसको खाओ, जिन्होंने तुम्हें भेजा है उनको खाओ, अपने ही मांस खाओ। (हम सुरक्षित रहें।)

गिरिमेनां आवेशय कण्वान् जीवितयोपनान् ।
अ. २।२५।४

इन जीवितका नाश करनेवाले, पीडा देनेवाले कृमियोंको पहाडपर पहुंचाओ (ये रोगकृमि हमें कष्ट न दें।)

क्षेत्रियात्वा निर्ऋत्या जामिशंसाद द्रुहो मुञ्चामि वरुणस्य पाशात् । अ. २।१०।७

आनुवंशिक रोग, कष्ट, संबंधियोंसे कष्ट, दाह तथा वरुणके पाशसे तुझे मैं छुडवाता हूं ।

दृष्टमदृष्टमतृहमथो कुरूरुमतृहम । अल्गाण्डून् त्सर्वाञ्छलुनान्क्रिमीन्वचसा जम्भयामसि ॥

अ. २।३१।२

दीखनेवाले, न दीखनेवाले कृमियोंको मैं मारता हूं । रेंगनेवाले कृमियोंको मै विनष्ट करता हूं । बिस्तरे पर रहनेवाले सब कृमियोंको बचासे मैं नष्ट करता हूं ।

निःशालां धृष्णुं धिषणमेकवाद्यां जिघत्स्वम् । सर्वाश्चण्डस्य नप्त्यो नाशयामः सदान्वाः॥

अ. २।१४।१

घरदार न होना, भयभीत होना, एकवचनी निश्चयात्मक बुद्धिका नाश करना, क्रोधकी सब संताने, दानववृत्तियां आदिका हम नाश करते हैं ।

ग्राहिर्जग्राह यद्येतदेनं तस्या इन्द्राग्नी प्रमुमुक्त - मेनम् । अ. ३।११।१

यदि जकडनेवाले रोगने इसको पकड रखा हो, तो उस पीडासे इन्द्र और अग्नि इसको छुडावे ।

आ त्वा स्वो विशतां वर्णः परा शुक्लानि पातय ।

अ. १।२३।२

तुम्हारे शरीरका निजवर्ण तुम्हें प्राप्त हो और श्वेत धब्बे दूर हों ।

अमुक्था यक्ष्मात् दुरितादवद्याद् द्रुहः पाशाद् ग्राह्याश्चोदमुक्थाः । अ. २।१०।६

क्षयरोग, पाप, निंद्यकर्म, द्रोहियोंके पाश और जकडनेवाले रोग आदिसे मैं तुम्हें छुडाता हूं ।

दूष्या दूषिरसि, हेत्या हेतिरसि, मेन्या मेनिरसि ।

अ. २।११।१

दोषको दूर करनेवाला, हथियारका हथियार, वज्रका वज्र तू (आत्मा) है ।

दशवृक्ष मुञ्चेमं रक्षसो ग्राह्या अधि यैनं जग्राह पर्वसु । अथो एनं वनस्पते जीवानां लोकमुन्नय । अ. २।९।१

हे दशवृक्ष ! इस राक्षसी गठियारोगसे इस रोगीको दूर कर । जो रोग इसको संधियोंमें पकड रखता है । हे वनस्पति ! इसको जीवित लोगोंमें ऊपर उठा ।

नमः शतिय तक्मने नमो रूराय शोचिषे कृणोमि । यो अन्येद्युरुभयद्युरभ्येति तृतीयकाय नमोऽस्तु तक्मने ॥ अ. १।२५।४

शीतज्वरके लिये नमस्कार, रूक्ष ज्वरके लिये नमस्कार जो एक दिन छोडकर आता है, जो दो दिन आता है, जो तीसरे दिन आता है उस ज्वरके लिये नमस्कार हो । अर्थात यह ज्वर हमसे दूर हो ।

यदिस्थ क्षेत्रियाणां यदि पुरुषेषिताः । यदि दस्युभ्यो जाता नश्यतेतः सदान्वाः ॥

अ. २।१४।५

यदि आनुवंशिक दोष है, यदि मनुष्यकी प्रेरणासे हुए हैं, यदि दस्युओंसे हुए है वे सब दोष यहांसे हटें ।

आसुरी चक्रे प्रथमेदं किलासभेषजमिदं किलासनाशनम् । अनीनशत् किलासं सरू - पासकरत्वचम् ॥ अ १।२४।२

आसुरीने पहिले यह कुष्टनाशक औषध बनाया । इससे कुष्ठ विनष्ट हुआ और त्वचा समान रंगवाली बनी ।

आरोग्यके विषयमें रोगकृमिका नाश करना मुख्य है। स्वच्छता की जाय, शुद्ध वायु आता रहे, सूर्यप्रकाश आजाय, हवन गौके घीका होता रहे ये सब बातें आरोग्यसंवर्धनके लिये अत्यावश्यक हैं ।

सूर्य रोगकृमियोंका नाशक मुख्यतया है । सूर्यप्रकाश साफसफाई करनेवाला है इसलिये रहनेके घरमें सूर्यप्रकाश विपुल आना चाहिये ।

अग्नी रक्षोहाऽमीवचातनः ।

अग्नि रोगकृमियोंका नाशक और रोग दूर करनेवाला है। इस रीतिसे इन मंत्रोंका विचार करना चाहिये ।

विजय

सपत्न - क्षणयो वृषाभिराष्ट्रो विषासहिः । यथाहमेषां वीराणां विराजानि जनस्य च ॥

अ. १।२९।६

मैं शत्रुका नाश करनेवाला, बलवान्, राष्ट्रहितकर्ता, दुष्टोंको दूर करनेवाला, इन वीरोंमें श्रेष्ठ होकर सब लोगोंका माननीय बनूं ।

पितेव पुत्रानभि रक्षतादिमम् । अ. २।१३।१

पिता पुत्रोंकी रक्षा करता है उस तरह इसकी रक्षा करो।

आशीर्ण, ऊर्जमुत सौप्रजास्त्वं, दक्षं धत्तं द्रविणं सचेतसौ । जयं क्षेत्राणि सहसायमिन्द्र कृण्वानो अन्यानधरान्त्सपत्नान् ॥ अ. २।२९।३

हमें आशीर्वाद दो, हे संतुष्ट मनावालो! बल, सुप्रजा, दक्षता तथा धन हमें दो। यह अपने बलसे विविध क्षेत्रोंमें जय प्राप्त करे और दूसरे शत्रुओंको नीचे करे।

विश्वा रूपाणि बिभ्रतः त्रिषप्ताः परियन्ति । अथर्व १।१।१

सब रूपोंको धारण करके, तीन गुणा सात (अर्थात् इक्कीस) पदार्थ सर्वत्र चलते हैं। (ये इक्कीस पदार्थ विश्वमें दीखनेवाले पदार्थोंके रूप धारण करते हैं।)

यः सहमानश्चरति सासहान इव ऋषभः । तेनाश्वत्थ त्वया वयं सपत्नान्त्सहिषीमहि । अ. ३।६।४

जो बलवान् शत्रुको दबानेवाला, सामर्थ्यवान् होकर चलता है, उस वीरसे हम शत्रुओंको पराजित करेंगे।

मनुष्यके जीवनमें शत्रुका पराभव करना और विजय प्राप्त करना मुख्य बातें हैं। इसीसे मनुष्य सुखी हो सकता है।

सुखप्राप्ति

स्वस्ति मात्र उत पित्रे नो अस्तु स्वस्ति गोभ्यो जगते पुरुषेभ्यः । अ. १।३१।४

माता, पिता, गौवें, पुरुष तथा चलनेवाले प्राणियोंको सुख प्राप्त हो।

ते विशि क्षेममदीधरन् । अ. ३।३।५

प्रजाजनोंमें तेरा क्षेम धारण करें।

मातेवास्मा अदिते शर्म यच्छ । अ. २।२८।५

हे अदिते ! माताके समान इसे सुख दे।

एतु प्रथमाजीतामुषिता पुरः । अ. १।२७।४

पहिली, अपराजित, न लुटी हुई होकर आगे बढे।

शर्म यच्छथाः सप्रथाः । अ. १।२६।३

हमें प्रयत्नशील होकर सुख दो।

व्यार्त्यो पवमानः । अ. ३।३१।२

शुद्ध मनुष्य पीडासे दूर रहता है।

मुञ्चामि त्वा हविषा जीवनाय कमज्ञात यक्ष्मा - दुत राजयक्ष्मात् । अ. ३।११।१

सुखपूर्वक जीवनके लिये तुझको हम अज्ञात रोगसे तथा राजयक्ष्मासे हवन द्वारा छुडाते हैं।

मृडया नरतनूभ्यो मयस्तोकेभ्यस्कृधि । अ. १।१३।२

हमारे शरीरोंको सुख हो, हमारे बालबच्चोंको सुख दो।

वि महच्छर्म यच्छ, वरीयो यावया वधम् । अ. १।२०।३

बडा शान्तिसुख हमें दो, शत्रुका शस्त्र हमसे दूर कर दो।

कामो दाता, कामः प्रतिग्रहीता । अ. ३।२९।७

काम दाता और काम ही लेनेवाला है।

कृतस्य कार्यस्य चेह स्फातिं समावह । अ. ३।२४।५

किये हुए कार्यकी यहां वृद्धि कर।

यत्रा सुहार्दः सुकृतो मदन्ति विहाय रोगं तन्वः स्वायाः । तं लोकं यमिन्यभिसंबभूव सा नो मा हिंसीत् पुरुषान् पशून् ॥ अ. ३।२८।५

जहां सुहृद तथा सत्कर्मकर्ता, अपने शरीरके रोगको त्याग कर आनंदसे रहते हैं, हे जुडवे बच्चे देनेवाली गौ ! उस स्थानपर जाकर रह, हमारे मनुष्यों और पशुओंकी हिंसा न हो।

सर्वान् कामान्पूरयत्याभवन् प्रभवन्भवन् । आकूतिप्रोऽविर्दत्तः शितिपान्नोप दस्यति ॥ अ. ३।२९।२

यह दिया हुआ करभार सब प्रजाके संकल्पोंको पूर्ण करता है। हिंसकोंको दबाता है। प्रजाका रक्षण करता है। प्रभावी बनकर, अस्तित्वका रक्षण करता है और विनाशसे बचाता है।

विश्वं सुभूतं सुविदत्रं नो अस्तु । अ. १।३१।४

हम सबके लिये यह विश्व उत्तम सहायक तथा ज्ञान देनेवाला हो।

अग्ने अच्छा वदेह नः प्रत्यङ् नः सुमना भव । अ. ३।२०।२

यहां हमारे साथ अच्छी तरह बोल। हमारे सन्मुख उत्तम मनवाला हो।

वि पन्थानो दिशं दिशम् । अ. ३।३१।४

मार्ग भिन्न दिशाओंमें भिन्न-भिन्न होकर जाते हैं।

ये बध्यमानमनु दीध्याना अन्वैक्षन्त मनसा

चक्षुषा च । अग्निष्टानग्रे प्रमुमोक्तु देवो विश्वकर्मा प्रजया संरराणः ॥ अ. २।३४।३

बद्धको जो मनसे और आंखसे प्रेमपूर्वक देखते हैं, उनको विश्वका बनानेवाला और प्रजाके साथ रहनेवाला अग्नि देव प्रथम मुक्त करे।

बृहस्पतये महिष द्युमन्नमो, विश्वकर्मन् नम - स्ते, पाह्यस्मान् ॥ अ. २।३५।४

महाशक्तिमान् ! ज्ञानी, तेजस्वी विश्वके रचयिता, आपको हमारा नमस्कार हो, आपको नमस्कार है, हमारी सुरक्षा कर।

स्वर्णोप त्वां मदाः सुवाचो अगुः । अ. २।५।२

स्वर्गीय आनंदके समान उत्तम भाषणसे होनेवाले आनंद तुम्हारे पास पहुंचे हैं।

सुषूदत, मृडत, मृडया नस्तनूभ्यो मयस्तोके - भ्यस्कृधि । अ. १।२६।४

आश्रय दो, सुखी करो, हमारे शरीरोंको सुखी रखो। हमारे बालबच्चोंके लिये आनंद प्राप्त हो ऐसा करो।

इमां देवा असाविषुः सौभगाय । अ. १।१८।२

इस कन्याको देवोंने सौभाग्यके लिये उत्पन्न की है।

शं मे चतुर्भ्यो अंगेभ्यः शमस्तु तन्वे मम । अ. १।१२।४

'मेरे चारों अंगोंके लिये आरोग्य हो, मेरे शरीरके लिये नीरोगिता हो।

अग्निं च विश्वशंभुवम् । अ. १।६।२

अग्नि सब प्रकारका सुख देनेवाला है।

यो ददाति शितिपादविं लोकेन संमितम् ।
स नाकमभ्यारोहति यत्र शुल्को न क्रीयते
अबलेन बलीयसे ॥ अ. ३।२९।३

जो लोगोंसे संमानित, हिंसकोंका नाश करनेवाले संरक्षक करभारको देता है, वह दुःख रहित स्थानको प्राप्त करता है, जहां निर्बलको बलवानके लिये धन नहीं देना होता है।

इस तरह सुख प्राप्त हुआ तो मनुष्यकी आयु दीर्घ होती है। रोद दूर हो, स्वास्थ्य प्राप्त हो, मन आनन्द प्रसन्न रहे तो मनुष्य दीर्घायु होता है।

दीर्घ आयु

इस प्रकरणमें आये मंत्रोंका विशेष उपयोग है। इन मंत्रभागोंका जप करनेसे लाभ होता है -

शरीरमस्याङ्गानि जरसे वहतं पुनः । अ. ३।११।६

इसका शरीर और इसके अवयव वृद्धावस्थातक पहुंचाओ।

ये देवा दिवि ष्ठ, ये पृथिव्यां, ये अन्तरिक्ष ओषधीषु पशुष्वन्तः । ते कृणुत जरसमायुरस्मै शतमन्यान् परि वृणक्तु मृत्यून् ॥ अ. १।३०।३

जो देव द्युलोक, अन्तरिक्ष और पृथ्वीपर हैं। जो औषधियों और पशुओंमें हैं। वे देव इसके लिये वृद्धावस्थातककी आयु करें। सैकडों अन्य प्रकारके मृत्यु दूर हों।

कृण्वन्तु विश्वे देवा आयुष्टे शरदः शतम् । अ. २।१३।४

सब देव तेरी आयु सौ वर्षकी करें।

तं प्रियासं बहु रोचमानो दीर्घायुत्वाय शत - शारदाय । अ. ३।५।४

उस प्रियंको प्राप्त कर, बहुत प्रकाशित होकर सौ वर्षका दीर्घायु प्राप्त करूं।

दशमीमुग्रः सुमना वशेह । अ. ३।४।७

तू यहां उग्रवीर तथा उत्तम मनवाला होकर दसवीं दशक तक सब राज्यको अपने वशमें (अर्थात अपने अनुकूल) कर।

परि धत्त, धत्त नो वर्चसेमं जरामृत्युं कृणुत दीर्घमायुः । ऋ. २।१३।२

हमारे इस पुरुषको धारण करो, तेजसे युक्त करके इसका धारण करो, दीर्घायु इसको देकर जरावस्थाके पश्चात् इसका मृत्यु हो ऐसा करो।

शतं च जीव शरदः पुरूची, रायस्पोषमुपसंव्ययस्व । अ. २।१३।३

सौ वर्षतक पूर्ण रीतिसे जीओ और धन और पोषण उत्तम रीतिसे प्राप्त करो।

इन्द्र एतां ससृजे विद्धो अग्र ऊर्जां स्वधाम - जरां, सा त एषा । तया त्वं जीव शरदः सुवर्चा, मा त आ सुस्रोद्भिषजस्ते अक्रन् ॥ अ. २।२९।७

इन्द्रने भक्ति करनेपर अन्न, बल, धारकशक्ति, अक्षीणता आदिको उत्पन्न किया, यह शक्ति तुम्हारे लिये है। इससे

तू युक्त होकर बहुत वर्ष जीवित रह, तेजस्वी बन, तेरे लिये न्यूनता न हो। वैद्योंने तेरे लिये यह रसयोग बनाया है।

अभि त्वा जरिमाहित गामुक्षणमिव रज्वा। अ. ३।११।८

जिस तरह गाय और बैलको रज्जुसे बांधते है वैसा वृद्धावस्था तेरे साथ बंधी रहे।

जराये त्वा परिददामि । अ. ३।११।७

वृद्धावस्थाके लिये तुझे देता हूं।

वि देवा जरसावृत्तन् । अ. ३।३१।१

देव जरासे दूर रहते हैं।

स्वस्त्येनं जरसे वहाथ । अ. १।३०।२

इसको वृद्ध आयुतक सुखसे पहुंचा दे।

विश्वेदेवा जरदष्टिर्यथासत् । अ. २।२८।५

सब देव यह वृद्ध होनेतक जीवे, ऐसा करें।

जरायै निधुवामि ते । अ. ३।११।७

वृद्धावस्थातक तुझे पहुंचाता हूं।

जरा त्वा भद्रा नेष्ट । अ. ३।११।७

तुझे वृद्धावस्था सुख देवे।

वि यक्ष्मेण, समायुषा । अ. ३।३१।१-११

यक्ष्मरोगसें मैं दूर रहूं। दीर्घायुसे मैं संयुक्त रहुं

मित्र एनं वरुणो वा रिशादा जरामृत्युं कृणुतां संविदानौ । अ. २।२८।२

मित्र तथा शत्रुनाशक वरुण जानते हुए इसको जराके पश्चात मृत्युको प्राप्त होनेवाला दीर्घायु करें।

दीर्घायुत्वाय महते रणायारिष्यन्तो दक्षमाणाः सदैव। मणिं विष्कन्धदूषणं जङ्गिडं बिभृमो वयम् ॥अ. २।४।१

दीर्घायु प्राप्त हो, बडा आनंद प्राप्त हो, शोषकरोग दूर हो इसके लिये जंगिड मणिको, हम सब विनष्ट न होनेवाले और अपना बल बढानेकी इच्छा करनेवाले सदैव धारण करते है।

रायस्पोषं सवितरा सुवास्मै शतं जीवाति शरदस्तवायम् । अ. २।२९।२

धन और पोषण, हे सविता ! इसे तू दे। और यह तेरा बनकर सौ वर्ष जीवित रहे।

इन्द्रो यथैनं शरदो नयात्यति विश्वस्य दुरितस्य पारम् । अ. ३।११।३

सब पापजनित दुःखके पार इसको इन्द्र ले जाय और वह सौ वर्षकी आयु इसे मिले ऐसा करे।

शतं जीव शरदो वर्धमाना शतं हेमन्तान् शतमु वसन्तान् । अ. ३।११।४

सौ वर्षतक बढता हुआ जीवित रह। सौ हेमन्त, सौ वसन्त और सौ शरद ऋतुतक जीवित रहे।

सहस्राक्षेण शतवीर्येण शतायुषा हविषा हार्षमेनम् । अ. ३।११।३

सहस्रों शक्तियोंसे युक्त, सौ वीर्योंसे युक्त, शतायु करने- वाले हवनसे इसको मैं मृत्युसे वापस लाया हूं।

शतायुषा हविषाहार्षमेनम् । अ. ३।११।४

सौ वर्षकी आयु देनेवाले हवनसे मैं इसे वापस लाया हूं।

शतं जीवाति शरदस्तवायम् । अ. १।१०।२

तुम्हारा यह मनुष्य सौ वर्ष जीवित रहे।

आयुरस्मै धेहि जातवेदः । अ. २।२९।२

हे जातवेद ! इसको दीर्घायु दे।

यस्त्त्वा मृत्युरभ्यधत्त जायमानं सुपाशया।
तं ते सत्यस्य हस्ताभ्यां उदमुञ्चद्बृहस्पतिः ॥ अ. ३।११।८

जिस मृत्युने तुझे उत्पन्न होते ही बांध रखा है उस तुझको बृहस्पति सत्यके हाथोंसे छुडा देता है।

तुभ्यमेव जरिमन् वर्धतामयं मेममन्ये मृत्यवो हिंसिषुः शतं ये । अ. २।२८।१

हे वृद्धावस्थे ! तेरी आयुतक यह मनुष्य बढे। ये जो सैकडों मृत्यु है वे इसकी हिंसा न करें।

इममग्न आयुषे वर्चसे नय प्रियं रेतो वरुण मित्र राजन् । अ. २।२८।५

हे अग्ने, हे वरुण, हे मित्र राजन् ! इसको वीर्यवान् करके दीर्घायु तथा तेजके प्रति ले जा।

यदि क्षितायुर्यदि वा परेतो यदि मृत्योरंतिकं नीत एव। तमा हरामि निर्ऋतेरुपस्थादस्पार्षमेनं शतशारदाय ॥अ. ३।११।२

यदि इसकी आयु समाप्त हुई हो, यदि यह मृत्युके समीप पहुंचा हो, तो भी विनाशके पाससे मैं इसको वापस लाता हूं और इसको सौ वर्षतक मैं जीवित रखता हूं।

यो बिभर्ति दाक्षायणं हिरण्यं स जीवेषु
कृणुते दीर्घमायुः । अ. १।३५।२

जो दाक्षायण सुवर्ण शरीरपर धारण करता है वह जीवोंमें दीर्घायु धारण करता है ।

परि त्वा रोहितैर्वर्णैर्दीर्घायुत्वाय दध्मसि ।
यथायमरपा असदथो अहरितो भुवत् । अ. १।२२।२

लाल रंगोंके किरणोंमें मैं तुझे दीर्घायु प्राप्त होनेके लिये धरता हूं । इससे यह नीरोग होगा और पीलिमा भी इससे दूर होगी ।

उदायुषा समायुषोदोषधीनां रसेन । अ. ३।३१।१०

आयुष्यसे उच्च बन, दीर्घायुसे युक्त हो, औषधियोंके रससे उन्नतिको प्राप्त हो ।

कृत्यादूषिरयं मणिरथो अरातिदूषिः ।
अथो सहस्वाञ्जङ्गिडः प्र ण आयूंषि तारिषत् ॥

यह जंगिड मणि हिंसासे बचानेवाला है, शत्रु भूत रोगोंको दूर करनेवाला है और बल बढानेवाला है, वह हमारी आयुको बढावे ।

यदा बन्धन्दाक्षायणा हिरण्यं शतानीकाय सुमनस्यमानाः । तत्ते बन्धाम्यायुषे वर्चसे बलाय दीर्घायुत्वाय शतशारदाय ॥ अ. १।३५।१

उत्तम मनवाले बलकी वृद्धि करनेकी कामना करनेवाले श्रेष्ठ पुरुष सैकडों बल प्राप्त करनेके लिये शरीरपर सुवर्ण (का आभूषण) रखते हैं । वह सुवर्ण दीर्घायु, तेजस्विता, जल, सौ वर्षकी दीर्घ आयु तुम्हें प्राप्त हो इसलिये तेरे शरीरपर बांधता हूं ।

व्यन्ये यन्तु मृत्यवो यानाहुरितरान् शतम् ।
अ. ३।११।५७

सैंकडों प्रकारके मृत्यु या दुःख इनसे दूर हो ।

आ पर्जन्यस्य वृष्ट्योदस्थामामृता वयम् ।
अ. ३।३१।११

पर्जन्यकी वृष्टिजलसे हम उन्नतिको प्राप्त हों और हम अमर बनें । हमें शीघ्र मृत्यु न आवे ।

इहैव स्तं प्राणापानौ माप गातमितो यूयम् ।
अ. ३।११।६

हे प्राण और अपान यहां ठहरो, तुम इससे दूर न जाओ ।

प्राणेन प्राणतां प्राणेहैव भव, मा मृथाः । अ. ३।३१।९

जीवित रहनेवालोंकी जैसी प्राणशक्ति प्राप्त कर और यहां जीवित रह, मत मर जा ।

प्राणापानाभ्यां गुपितः शतं हिमाः । अ. २।२८।४

प्राण तथा अपान द्वारा सुरक्षित होकर यह सौ हिमकाल सौ वर्ष जीवित रहे ।

आयुष्मतामायुष्कृतां प्राणेन जीव, मा मृथाः ।
अ. ३।३१।८

दीर्घ आयुवालों और आयुष्य बढानेवालोंकी जैसी प्राणशक्तिसे जीवित रह, मत मर जा ।

प्राणापानौ मृत्योर्मा पातं । अ. २।१६।१

हे प्राण और अपान ! मृत्युसे मेरी सुरक्षा करो ।

प्र विशतं प्राणापानावनड्वाहाविव व्रजम् ।
अ. ३।११।५

जैसे बैल गोशालामें जाते हैं वैसे प्राण और अपान इसके देहमें प्रविष्ट होते रहें ।

मेमं प्राणो हासीन्मो अपानो मेमं मित्रा वधिषुर्मो अमित्राः । अ. २।२८।३

इसको प्राण न छोडे, अपान न छोडे, इसका वध मित्र न करें और इसका वध शत्रु भी न करें ।

यथा ब्रह्म च क्षत्रं च न बिभीतो न रिष्यतः ।
यथा सत्यं चानृतं च न बिभीतो न रिष्यतः ।
यथा भूतं च भव्यं च न बिभीतो न रिष्यतः ।
एवा मे प्राण मां बिभेः ॥ अ. २।१५।४-६

ज्ञान और शौर्य, सत्या और ऋत, भूत और भविष्य डरते नहीं इसलिये विनष्ट नहीं होते, इस तरह मेरा प्राण न डरे और विनष्ट न हो ।

द्यौष्ट्वा पिता पृथिवी माता जरा मृत्युं कृणुतां संविदाने । अ. २।२८।४

द्यु पिता और पृथिवी माता ज्ञानपूर्वक इसको जराके पश्चात् मृत्यु हो ऐसा करें ।

मनुष्य दीर्घ आयु चाहता है । इसलिये दीर्घायु चाहनेवाला मनुष्य यहां दिये, वचनोंका जप करें, वारंवार उच्चारणकरें, वारंवार भजन करें । लाभ अवश्य होगा जैसा -

शरीरं अस्याङ्गानि जरसे वहतं - इसका शरीर और इसके अंग वृद्ध अवस्थातक पहुंचा दो ।

यह वचन अपने शरीरके विषयमें भी वारंवार बोला जा सकता है । मनके दृढ विश्वाससे लाभ होता है । तथा -

कृणुत जरसं आयुः अस्मै - इसकी आयु वृद्ध

अवस्थातक करो ।

कृण्वन्तु विश्वे देवा आयुष्टे शरदः शतं - सब देव सौ वर्षोंकी तुम्हारी आयु करें ।

दशमीं अग्रः समना वशेह - यह उग्रवीर बनकर दसवीं दशकतक जीवित रहे ।

जरामृत्युं कृणुत दीर्घमायुः - इसको दीर्घायु करके जराके पश्चात मृत्यु हो ।

शतं च जीव शरदः पुरूचीः - सौ वर्षकी दीर्घायु इसे मिले ।

त्वं जीव शरदः सुवर्चाः - उत्तम तेजस्वी होकर सौ वर्ष जीवित रह ।

जरायै त्वा परि दधामि - वृद्धावस्थातक तुझे पहुंचाता हूं ।

स्वस्त्येनं जर से वहाथ - सुखपूर्वक वृद्ध अवस्थातक इसे पहुंचा दो ।

जरायै नि धुवामि ते - तुझे वृद्धावस्थातक पहुंचाता हूं ।

जरा त्वा भद्रा नेष्ट - हितकर वृद्धावस्था तुझे प्राप्त हो ।

वि यक्ष्मेण, समायुष्य - तेरा रोग दूर हो और तुझे आयुष्य प्राप्त हो ।

शतं जीवाति शरदस्तवायम् - तेरा यह मनुष्य सौ वर्ष जीवे ।

शतं जीव शरदो वर्धमानः - बढता हुआ सौ वर्ष जीवित रह ।

शतायुषा हार्षमेनम् - सौ वर्षकी आयुके साथ इसे मै (मृत्युसे) वापस लाया हूं ।

आयुरस्मै धेहि - इसको आयु प्रदान करो ।

मेममन्ये मृत्यवो हिंसिषुः शतं ये - सैकडों मृत्यु इसका नाश न करें ।

इमग्न आयुषे वर्चसे नय - हे अग्ने ! इसे आयु और तेजके लिये ले जा ।

अस्पार्षमेनं शतशारदाय - सौ वर्षकी आयुके लिये मैं इसे स्पर्श करता हूं ।

तत्ते बन्धामि आयुषे - आयुष्यकी प्राप्तिके लिये तुझे यह मणि बांधता हूं ।

मा मृथाः - मत मर ।

प्राणेन जीव - प्राणसे जीवित रह ।

प्राणापानौ मृत्योर्मा पातं - प्राण और अपान मृत्युसे मुझे बचावे ।

जरा मृत्युं कृणुतां - जराके पश्चात् मृत्यु हो ।

इस तरह अन्यान्य वचनोंका भी उपयोग हो सकता है । कोई बीमार पडा हो, तो पवित्र होकर सिरकी ओरसे पांवतक अपने हाथोंको घुमाना और ये मंत्रभाग बोलना, मनमें ही निग्रहपूर्वक बोलना । वारंवार बोलना । अपने हाथोंमे बीमारी दूर करनेकी शक्ति है ऐसा मानकर इससे बीमारी दूर होगी ऐसे विश्वाससे यह करना । रोगीका भी साथ-साथ विश्वास हो तो लाभ शीघ्र होगा । अन्य वचन अन्य समय बोलनेके लिये हैं । यह विचार करके पाठक जान सकते हैं ।

वनस्पति

शं नो देवी पृश्निपर्ण्यशं निर्ऋत्या अकः ।

अ. २।२५।१

हे पृश्निपर्णी देवी, हमारे लिये कल्याण कर, और व्याधियोंको दुःख प्राप्त हो ।

अरायमसृक्पावानं यश्च स्फातिं जिहीर्षति।
गर्भादं कण्वं नाशय पृश्निपर्णि सहस्व च ॥

अ. २।२५।३

शोभा हटानेवाला, रक्त पीनेवाला, जो पुष्टिको हटाता है, गर्भको खानेवाला जो रोगबीज है उसका नाश कर। हे पृश्निपर्णि ! दुःखको दूर कर ।

वीरुत् क्षेत्रियनाशन्यप क्षेत्रियमुच्छतु । अ.२।८।२-५

आनुवंशिक रोगको दूर करनेवाली यह औषधि आनुवंशिक रोगको दूर करे ।

श्यामा सरूपं करणी पृथिव्या अध्युद्भृता ।
इदमूषु प्र साधय पुनः रूपाणि कल्पयं । अ. १।२४।४

श्यामा वनस्पति सरूप करनेवाली है, पृथिवीसे ऊपर उखाडी गयी है, इस कर्मका उत्तम साधन कर और पुनः पूर्ववत् शरीरका रंग कर ।

शं सोमः सहौषधीभिः । अ. २।१०।२

औषधियोंके साथ सोम कल्याण करनेवाला हो ।

इदं जनासो विदथ महद्‌ब्रह्म वदिष्यति ।
न तत्पृथिव्यां नो दिवि येन प्राणन्ति वीरुधः ।

अ. १।३२।१

हे लागों! यह जानो कि ज्ञान बडी घोषणा करके कहेगा। जिससे वनस्पतियां जीवित रहती हैं वह पृथिवीमें नहीं है और न द्युलोकमें है।

असितं ते प्रलयनमास्थानमसितं तव ।
असिक्न्यासि औषधे निरितो नाशया पृषत् ॥
अ. १।२३।३

तेरा लयस्थान कृष्ण है और आस्थान भी कृष्णवर्णका है। है औषधे ! तू काले वर्णवाली है, इसलिए तू इसके श्वेत धब्बे दूर कर।

सरूपकृत्त्वमोषधे सा सरूपमिदं कृधि । अ. १।२४।३

हे औषधे ! तू सरूप त्वचाको करनेवाली है। अतः तू त्वचाको सरूप कर।

वधू

सोमजुष्टं ब्रह्मजुष्टं अर्यम्णा संभृतं भगम् ।
धातुर्देवस्य सत्येन कृणोमि पतिवेदनम् ।
अ. २।३६।२

आत्मज्ञानीसे सेवित, ब्राह्मणों द्वारा सेवित, श्रेष्ठ मनवालेने इकट्ठा किया यह धन है, धाता देवके सत्य नियमानुसार पतिकी प्राप्तिके लिये मैं इसको सुयोग्य करता हूं।

इदं हिरण्यं गुल्गुल्वयमौक्षो अथो भगः ।
एते पतिभ्यस्त्वामदुः प्रतिकामाय वेत्तवे ।
अ. २।३६।७

यह उत्तम सुवर्ण है, यह बैल है, और यह धन है। ये पतिकी कामनाके लिये और तेरे लाभके लिये तेरे पतिको देते हैं।

आ नो अग्ने सुमतिं संभलो गमेदिमां कुमारीं सह नो भगेन । अ. २।३६।१

हे अग्ने ! धनके साथ उत्तम वक्ता पति इस उत्तम बुद्धि-मती कुमारीके प्रति आ जावे।

यदन्तरं तद्बाह्यं यद्बाह्यं तदन्तरम् ।
कन्यानां विश्वरूपाणां मनो गृभायौषधे ॥
अ. २।३०।४

जो अन्दर हो वही बाहर हो, जो बाहर हो वही अन्दर हो। विविध रूपवाली कन्याओंका मन ग्रहण कर।

या प्लीहानं शोषयति कामस्येषुः सुसन्नता ।
अ. ३।२५।३

कामका बाण लगनेपर प्लीहाको शोषित करता है।

यथेदं भूम्या अधि तृणं वातो मथायति ।
एवा मथ्नामि ते मनो, यथा मां कामिन्यसो,
यथा मन्नापगा असः ॥ अ. २।३०।१

हे स्त्री ! जैसा यह पृथ्वीपरका घास वायु हिलाता है वैसा मै तेरे मनको हिला देहा हूं, तू मेरी इच्छा करनेवाली हो, मुझसे दूर जानेवाली न हो।

शिवा भव पुरुषेभ्यो गोभ्यो अश्वेभ्यः शिवा ।
शिवास्मै सर्वस्मै क्षेत्राय शिवा न इहैधि ॥
अ. ३।२८।३

पुरुषों, गौवों, घोडोंके लिये तथा इस सब क्षेत्रके लिये कल्याण करनेवाली हो! कल्याण करनेवाली बनकर यहां रह।

एयमगन्पतिकामा, जनिकामोहमागमम् ।
अश्वः कनिक्रदद्यथा भगेनाहं सहागमम् ॥
अ. २।३०।५

यह कन्या पतिकी इच्छा करती हुई आ गयी है, स्त्रीकी इच्छा करता हुआ मैं आया हूं। जैसा हिनहिनानेवाला घोडा आता है, वैसा मैं धनके साथ आया हूं।

विन्दस्व त्वं पुत्रं नारि, यस्तुभ्यं शमसच्छमु तस्मै त्वं भव । अ. ३।२३।५

हे स्त्री ! तू पुत्रको प्राप्त कर, जो तुम्हारा कल्याण करनेवाला हो और तू भी उसके लिये कल्याण करनेवाली हो।

तास्त्वा पुत्रविद्याय देवी प्रावन्त्वोषधयः ।
अ. ३।२३।६

वे दिव्य औषधियां पुत्रप्राप्तिके लिये तेरी रक्षा करें।

एवा भगस्य जुष्टेयमस्तु नारी सम्प्रिया पत्याविराधयन्ती । अ. २।३६।४

ऐश्वर्यसे सेवित हुई यह स्त्री पतिको प्रिय और पतिसे विरोध न करती हुई यहां रहे।

पुमांस पुत्रं जनय तं पुमाननु जायताम् ।
भवासि पुत्राणां माता जातानां जनयाश्च यान् ॥
अ. ३।२३।३

पुरुष पुत्र उत्पन्न कर, उसके पीछे भी पुत्र ही होते रहें। तू पुत्रोंकी माता हो, जो हो चुके तथा जो होनेवाले सब पुत्र ही हों।

तं त्वा भ्रातरः सुवृधा वर्धमानमनु जायन्तां

बहवः सुजातम् । अ. २।१३।५

उस तुझ उत्तम जन्मे हुए बढते हुएके पीछेसे बहुतसे बढनेवाले भाई उत्पन्न हों ।

पति-पत्नी

परि त्वा परितत्नुनेक्षुणागामविद्विषे ।
यथा मां कामिन्यसो यथा मन्नापगा असः ॥

अ. १।३४।५

मैं फैले हुए ईखसे तुझे घेरता हूं । मीठा वायुमंडल चारों ओर बनाता हूं । इससे द्वेष दूर होगा, मेरी कामना तू करती रहेगी और मुझसे दूर नहीं होगी ।

जुष्टा वरेषु समनेषु वल्गुः । अ. २।३६।१

यह कुमारी वरोंमें–श्रेष्ठोंमें प्रिय है और उत्तम मनवालोंमें मनोरम है ।

सुवाना पुत्रान् महिषी भवाति गत्वा पतिं
सुभगा विराजतु ॥ अ. २।३६।३

पुत्रोंको उत्पन्न करके यह घरकी रानी होवे, यह पतिको प्राप्त होकर सौभाग्यवती होकर विराजे ।

आक्रन्दय धनपते, वरं आमनसं कृणु ।
सर्वं प्रदक्षिणं कुरू, यो वरः प्रतिकाम्यः ॥

अ. २।३६।६

हे धनपते ! वरको बुला! उस वरके मनके अनुकूल सब कार्य कर । सब कार्य उसके दाहिनी ओर कर, जो वर तेरी कामनाके अनुकूल है ।

देवा गर्भं समैरयन् तं व्यूर्णुवन्तु सूतवे । अ. १।११।२

देव इस गर्भको प्रेरणा करें, प्रसूतिके लिये उस गर्भको प्रेरित करें ।

अहमस्मि सहमानाथो त्वमसि सासहिः ।
उभे सहस्वती भूत्वा सपत्नीं मे सहावहै ॥

अ. ३।१८।५

मैं विजयी हूं और तू विजयी है । दोनों विजयी होकर सपत्नीका पराभव करेंगे ।

पत्या सौभगत्वमस्त्वस्मै । अ. २।३६।१

इस कुमारीको इस पतिसे सौभाग्य प्राप्त हो ।

इयमग्ने नारी पतिं विदेष्ट सोमो हि राजा
सुभगां कृणोति । अ. २।३६।३

हे अग्ने ! यह नारी पतिको प्राप्त करे, राजा सोम इसको उत्तम भाग्यवती करे ।

वृक्षं यद् गावः परिषस्वजाना अनुस्फुरं
शरमर्चन्त्यृभुम् । अथर्व १।२।३

वृक्षं परिषस्वजाना गावः ऋभुं शरं अनुस्फुरं अर्चन्ति-

वृक्ष (से उत्पन्न धनुष्यके साथ रहकर) गौ (चर्मसे बनी ढोरियां) सीधे बाणको स्फूर्तिके साथ जिस तरह फेंकती हैं (उस तरह पुरूषके साथ मिलकर रहनेवाली स्त्रियां फूर्तिले वीर पुत्रको शत्रुपर भेजें ।)

धनुष्यकी लकडी पुरूष है, डारी स्त्री है, इनका पुत्र बाण है । जिस तरह धनुष्य शत्रुपर बाण फेंकता है उस तरह गृहस्थ अपने पुत्रको बलवान् बनाकर शत्रुपर भेजे और शत्रुका पराभव करें ।

इहैवाभि वि तनु उभे आर्त्नीइ्व इव ज्यया ।

अथर्व १।१।३

(उभे आर्त्नी ज्यया इव) धनुष्यके दोनों नोंके जैसे दोरीसे बने रहते हैं, इस तरह (इह एव अभि वि तनु) यहां ही दोनोंको तनाओ । (धनुष्यकी डोरी धनुष्यके दोनों नोकोंको तनाकर रखती है, जिससे विजय मिलता है। इस तरह संसारमें दोनों - उच्च - नीच, श्रीमंत दरिद्र, विद्वान, अविद्वान - कार्य करनेके लिये जिस देशमें सिद्ध रहते हैं, वह देश विजयी होता हैं ।)

त्वष्टा दुहित्रे वहतुं (वि) युनक्ति । अ. ३।३१।५

पिता पुत्रोको दहेज देनेके लिये अलग करके रखता है ।

सुखप्रसूति

आ ते योनिं गर्भ एतु पुमान् बाण इवेषुधिम् ।

अ. ३।२३।२

जैसा बाण भातेमें आता है वैसा वह पुरूषका गर्भ तेरे गर्भाशयमें आवे । (बाण शत्रुनाश करता है वैसा यह गर्भ वीर बने, शत्रु नाश करे ।)

आ योनिं गर्भ एतु ते । अ. ३।२३।५

तेरे उदरसे पुरुष गर्भ होवें ।

रक्तस्राव दूर करना

तेभिर्मे सर्वैः संस्रावैर्धनं सं स्रावयामसि ।

अ. १।१५।३

उन सब स्त्रोतोंसे हम सब धनको सम्यक् रीतिसे इकठ्ठा करते हैं ।

नियमसे चलना

वाचस्पतिर्नियच्छतु । अथर्व १।१।३

विद्वान् नियमसे चलावे । (विद्वान्के नियमसे अन्य लोक चलें, जिससे उनकी उन्नति होगी ।)

मणि धारण

परीदं वासो अधिथाः स्वस्तये । अ. २।१३।३

इस वस्त्रको अपने कल्याणके लिये धारण करो ।

जङ्गिडो जम्भाद् विशराद् विष्कंधादभिशोचनात् ।
मणिः सहस्रवीर्यः परि णः पातु विश्वतः ॥

अ. २।४।२

यह जंगिड मणि सहस्र वीर्योंसे युक्त होनेके कारण जमुहाई, क्षीणता, शोषक रोग, तथा शोक करनेकी रोगप्रवृत्तीसे, सब ओरसे हमारा रक्षण करे ।

अयं विष्कन्धं सहतेऽयं बाधते अत्त्रिणः ।
अयं नो विश्वभेषजो डङ्गिडः पात्वंहसः ॥

अ. २।४।३

यह जंगिड मणि शोषक रोगसे बचाता है, यह रक्त भक्षण करनेवाले क्रिमियोंको बाधा पहुंचाता है, यह सब औषधी शक्तियोंसे युक्त है, यह पापसे हमें बचावे ।

शणश्च मा जंगिडश्च विष्कंधादभि रक्षताम् ।
अरण्यादन्य आभृतः कृष्या अन्यो रसेभ्यः ॥

अ. २।४।५

शण और जंगिड ये दोनों शोषक रोगसे मेरा रक्षण करें । एक वनसे लाया है और दूसरा खेतीके रसोंसे बनाया है ।

काम

कामेन त्वा प्रति गृह्णामि, कामैतत्ते । अ. ३।२९।७

कामसे तुझे लेता हूं । यह सब हे काम ! तेरा कर्तूत है ।

पापसे बचना

यदेनश्चकृवान्, वद्ध एष, तं विश्वकर्मन् प्रमुञ्चा स्वस्तये । अ. २।३५।३

इसने पाप किया, इसलिये यह बद्ध हुआ है । हे विश्वके रचना करनेवाले प्रभु ! उसको कल्याण प्राप्त हो इस लिये उसे मुक्त कर ।

पापमार्छत्वपकामस्य कर्ता । अ. २।१२।५

अनिष्ट कार्य करनेवाला पापको प्राप्त होवे ।

मातेव पुत्रं प्रमना उपस्थे मित्र एनं मित्रिया-त्पात्त्वंहसः । अ. २।२८।१

जैसी माता प्रेमसे पुत्रको गोदमें लेती है । उस तरह मित्र मित्रसंबंधि पापसे इसको बचावे ।

ते नो निर्ऋत्याः पाशेभ्यो मुञ्चतांहसो - अंहसः ।

अ. १।३१।२

वे देव विनाशके पाशोंसे तथा पापसे इसे मुक्त करें ।

विश्वं ह्युग्र निचिकेषि द्रुग्धम् । अ. १।१०।२

हे उग्र वीर ! सब पापको तू जानता है । पाप कहां रहता है यह तू जानता है ।

व्याकूतय एषामिताथो चित्तानि मुह्यत ।
अथो यदद्यैषां हृदि तदेषां परि निर्जहि ॥ अ. ३।२।४

इन शत्रुओंके संकल्पों और इनके चित्तोंको मोहित करो । और जो इनके हृदयमें विचार हैं उन सबका नाश करो ।

व्यहं सर्वेण पाप्मना । अ. ३।३१।१ -५, १०-११

सब पापोंसे मैं दूर रहता हूं ।

वि शक्रः पापकृत्यया । अ. ३।३१।२

समर्थ मनुष्य पापकर्मसे दूर रहता है ।

सजातानुग्रेहा वद ब्रह्म चाप चिकीहि नः ।

अ. १।१०।४

हे उग्र वीर! स्वजातियोंसे घोषणा करके कह दे कि हमारा ज्ञान ही दोषोंको दूर कर सकता है ।

आत्मरक्षण

तं त्वा विश्वेऽवन्तु देवाः । अ. २।१३।५

सब देव तेरी सुरक्षा करें ।

सुरिरसि, वर्चोधा असि, तनूपानोऽसि ।

अ. २।११।४

तू ज्ञानी है, तू तेजस्वी है, तू शरीरका रक्षण करने वाला है ।

अन्न-जल

तौलस्य प्राशान । अ. १।७।२

तोलकर खाओ । (मित भोजन करो)

क इदं कस्मा अदात् कामः कामयादात् । अ. ३।२९।७

किसने यह किसको दिया । काम ही कामके लिये देता है ।

दानाय चोदय । अ ३।२०।७

दानके लिये प्रेरणा कर ।

शतहस्त समाहर सहस्रहस्त सं किर । अ. ३।२४।५

शत हस्तोंसे प्राप्त कर और हजार हाथोंसे दान कर।

घृतं पीत्वा मधु चारू गव्यम् । अ. २।१३।१

मीठा सुन्दर गौका घी पीओ ।

इह पुष्टिरिह रसः इह सहस्रसातमा भव ।
पशून् यमिनि पोषय । अ. ३।२८।४

यहां पुष्टि और यहां रस है । यहां हजारों लाभ देनेवाली होकर रह । हे जुडवे बच्चे देनेवाली गौ ! यहां पशुओंको पुष्ट कर ।

सा ना आयुष्मतीं प्रजां रायस्पोषेण सं सृज । अ. ३।१०।३,८

वह तू हमारी दीर्घायुवाली प्रजाको धनकी पुष्टिसे युक्त कर।

अविस्तस्मात् प्र मुञ्चति दत्तः शितिपात्स्वधा । अ. ३।२९।१

यह (सोलहवां भाग कर) दिया हुआ रक्षक बनकर हिंसकोंसे रक्षण करनेवाला तथा अपनी धारणा करनेवाला होता है, और वह दुःखसे मुक्त करता है ।

दुह्रा मे पञ्च प्रदिशो दुन्हामुर्वी यथावलम् । अ. ३।२०।९

ये बडी पांच दिशायें यह पृथ्वी यथाशक्ति मुझे सामर्थ्य देवे।

एष वां द्यावापृथिवी उपस्थे मा क्षुधन् मा तृषत् । अ. २।२९।४

हे द्यावापृथिवी ! यह तुम्हारे समीप रहता हुआ क्षुधासे अथवा तृषासे दुःखी न हो ।

गृहनिर्माण

गृहानलुभ्यतो वयं संविशेमोप गोमतः । अ. ३।१०।११

हमारे घरोंमे बहुत गायें हों और किसी पदार्थकी न्यूनता न रहे ।

तं त्वा शाले सर्ववीराः सुवीरा अरिष्टवीरा उपसंचरेम । अ. ३।१२।१

हे घर! तेरे चारों ओर हम सब उत्तम वीर, उत्तम पराक्रम करते हुए संचार करते रहेंगे ।

इहैव ध्रुवा तिष्ठ शालेऽश्वावती गोमती सूनृतावती । ऊर्जस्वती घृतवती पयस्वत्युच्छ्रयस्व महते सौभगाय ॥ अ. ३।१२।२

हे घर ! तू यहीं रह, यहां खडा रह, गौओंसे युक्त, घोडोंसे युक्त, मधुर भाषणसे अन्नवान् घीसे युक्त, दूधसे युक्त होकर महान् सौभाग्यसे युक्त होकर यहीं खडा रह।

आ त्वा वत्सो गमेदा कुमार आ धेनवः साय-मास्पन्दमानाः ॥ अ. ३।१२।३

घरके पास बछडा और लडका तथा कूदती हुई गौवें सायंकाल आ जायं ।

धरूण्यसि शाले बृहछन्दा पूतिधान्या । अ. ३।१२।३

हे घर ! तू बडे छतवाला और पवित्र धान्यवाला होकर धारणशक्तिसे युक्त होकर रह ।

तृणं वसाना सुमना असस्त्वं । अ. ३।१२।५

घासकी पहनेवाला तू घर हमारे लिये उत्तम मनवाला हो।

मानस्य पत्नि शरणा स्योना देवी देवेभिर्नि-मितास्यग्रे । अ. ३।१२।५

संमानका रक्षक, रहने योग्य, सुखकर यह दिव्य घर देवोंद्वारा पहिले बनाया गया था ।

ऋतेन स्थूणामधि रोह वंशोग्रो विराजन्नप वृंक्ष्व शत्रून् । अ. ३।१२।६

हे बांस ! अपने सीधेपनसे अपने आधारपर खडा रह। उग्रवीर बनकर शत्रुओंको हटा दे ।

शाले शतं जीवेम शरदः सर्ववीराः । अ. ३।१२।६

हे घर! सब वीर पुत्रोंसे युक्त होकर हम सौ वर्षोतक जीवित रहेंगे ।

एमां कुमारस्तरूण आ वत्सो जगता सह ।
एमां परिस्रुतः कुम्भ आ दध्नः कलशैरगुः ॥ अ. ३।१२।७

इस घरके पास कुमार आवे, तरूण आवे, बछडेके

साथ चलनेवाले गौ आदि प्राणी आवें, इसकेपास मधुर रससे भरा घडा दहीके कलशोंके साथ आ जावे ।

असौ यो अधराद् गृहः तत्र सन्त्वराय्यः ।
तत्र सेदिर्न्युच्यतु सर्वाश्च यातुधान्यः ॥ अ. २।१४।३

जो यह नीच घर है, वहां विपत्तियां रहें, वहां क्लेश हो, सब यातना वहां रहे ।

मा ते रिषन्नुपसत्तारो गृहाणाम् । अ. ३।१२।६

हे घर ! तेरे आश्रयसे रहनेवाले विनष्ट न हों ।

पूर्ण नारि प्र भर कुम्भमेतं घृतस्य धाराममृतेन संभृताम् । इमां पातॄनमृतेना समङ्ग्धीष्टापूर्तमाभि रक्षात्येनाम् ॥ अ. ३।१२।८

हे स्त्री ! इस पूर्ण भरे घडेको तथा अमृतसे भरी घीकी धाराको अच्छी तरह भरकर ले आओ । पीनेवालोंकी अच्छी तरह भर दे । यज्ञ और अन्नदान इस घरका रक्षण करते हैं।

गौ

स नः प्रजास्वात्मसु गोषु प्राणेषु जागृहि ।

वह तू हमारी प्रजा, आत्मा, गौवों और प्राणोंके विषयमें जागता रह ।

इहैव गाव एतनेहो शकेव पुष्यत ।
इहैवोत प्रजायध्वं मयि संज्ञानमस्तु वः ॥
अ. ३।१४।४

हे गौवों ! यहां आओ, साकके समान पुष्ट बनो, यहां बच्चे उत्पन्न करो और आपका प्रेम मुझपर रहे ।

मया गावो गोपनिता संचध्वं अयं वो गोष्ट इह पोषयिष्णुः । रायस्पोषेण बहुला भवंती जींवा जीवन्तीरूप वः सदेम ॥ अ. ३।१४।६

हे गौवों! मुझ गोपतीके साथ मिली रहो । तुम्हारा पोषण करनेवाली यह गोशाला यहां है । शोभायुक्त वृद्धिके साथ बढती हुई, जीवित रहनेवाली तुमको हम सब प्राप्त करते हैं।

संजग्माना अविभ्युषीरस्मिन्गोष्ठे करीषिणीः ।
बिभ्रती सोम्यं मध्वनमीवा उपेतन ॥ अ. ३।१४।३

इस गोशालामें मिलकर रहती हुई, निर्भय होकर गोबरका उत्तम स्वाद उत्पन्न करनेवाली, शान्ति उत्पन्न करनेवाले रस- दूध का धारण करती हुई हमारे पास, हमारे समीप गौवें आ जाय ।

शिवो वो गोष्ठो भवतु शारिशाकेव पुष्यत।
इहैवोत प्रजायध्वं मया वः संसृजामसि ॥ अ. ३।१४।५

यह गोशाला तुम्हारे लिये हितकारिणी होवे, शालीकी लालके समान तुम यहां पुष्ट बनो, यहीं प्रजा उत्पन्न करो, मेरे साथ तुमको भ्रमणके लिये ले जाता हूं ।

सं वो गोष्ठेन सुषदा सं रय्या सं सुभूत्या ।
अ. ३।१४।१

हे गौवों ! तुमको उत्तम बैठने योग्य गोशालासे युक्त करता हूं, उत्तम ऐश्वर्य और उत्तम रहन - सहनसे संयुक्त रखता हूं।

इदं गोष्ठं पशवः सं स्त्रवन्तु । अ. २।२६।१

इस गोशालामें पशु रहें ।

अश्वावतीर्गोमतीर्न उषासो वीरवतीः सदमुच्छन्तु भद्राः । घृतं दुहाना विश्वतः प्रपीता यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ अ. ३।१५।७

कल्याण करनेवाली उषायें घोडों और गौवोंके साथ तथा वीर पुत्रोंके साथ हमारे घरोंको प्रकाशित करें। घी देवें, सब ओरसे संतुष्ट होकर आप सदा हमें कल्याणोंसे सुरक्षित रखें।

तीव्रो रसो मधुपृचामरंग आ मा प्राणेन सह वर्चसा गमेत् । अ. ३।१३।५

यह मधुरतासे भरा तीव्र जलरूप रस, प्राण और तेजके साथ मुझे प्राप्त हो ।

ऊर्जमस्मा ऊर्जस्वती धत्तं पयो अस्मै पयस्वती धत्तम् । ऊर्जमस्यै द्यावापृथिवी अधातां विश्वेदेवा मरुत ऊर्जमापः ॥ अ. २।२९।५

अन्नवाली (द्यावापृथिवी) इसे अन्न देवे, दूधवाली इसे दूध देवे, द्यावापृथिवी इसको बल देवे, सब देव, मरुत् और जल इसे शक्ति प्रदान करे ।

आ हरामि गवां क्षीरं आहर्षि धान्यं रसम् ।
आहृता अस्माकं वीरा आ पत्नीरिदमस्तकम् ॥
अ. २।२६।५

मैं गौओंका दूध लाता हूं, धान्य और रस लाता हूं। हमारे वीर आगये हैं, ये पत्नियां हैं और यह घर है ।

सं सिचामि गवां क्षीरं समाज्येन बलं रसम् ।
सं सिक्ता अस्माकं वीरा ध्रुवा गावो मयि गोपतौ ॥
अ. २।२६।४

मैं गौओंका दूध देता हूं, बलवर्धक रसको घीके साथ मिलाता हूं। हमारे वीर दूधसे सींचे गये। मुझ गोपतिमें गौवें स्थिर रहें।

या रोहिणीर्देवत्या गावो या उत रोहिणीः ।
रूपं रूपं वयो वयस्ताभिष्ट्वा परि दध्मसि ॥
अ. १।२२।३

जो लाल रंगकी गौवे है और जो लालके समान रंगकी गौवे हैं। रूप, आकार तथा आयुके अनुसार उनके साथ तुम्हारा संयोग करता हूं जिससे तू नीरोग होगा।

यदि नो गां हंसि यद्यश्वं यदि पूरूषम् ।
तं त्वा सीसेन विध्यामो यथा नोऽसो अवीरहा ॥
अ. १।१६।४

यदि हमारी गौका वध तू करेगा, यदि घोडेका या यदि पुरूषका वध करेगा, तो तुझे सीसेकी गोलीसे वेध करूंगा, जिससे हमारे समीप कोई वीरोंका नाश करनेवाला नहीं रहेगा।

कृषि

सीते वन्दामहे त्वार्वाची सुभगे भव ।
यथा नः सुमना असो यथा नः सुफला भुवः॥
अ. ३।१७।८

हे हलकी रेषा! तुझे हम वन्दन करते हैं, तू संमुख हो, और भाग्यशाली हो। तू उत्तम इच्छावाली हो और सुफल देनेवाली हो।

शुनं वाहाः, शुनं नरः, शुनं कृषतु लांगलम् ।
शुनं वस्त्रा बंध्यन्तां शुनमष्ट्रामुदिङ्गय ॥अ. ३।१७।६

बैल सुखी हों, मनुष्य प्रसन्न रहें, हल सुखसे जमीन खोदें, रस्सियां सुखसे बांधी जाय, और चाबूक सुखसे चलाया जाय।

घृतेन सीता मधुना समक्ता विश्वैर्देवैरनुमता मरूद्भिः । सा नः सीते पयसाभ्याववृत्स्वोर्जस्वती घृतवत्पिन्वमाना ॥ अ. ३।१७।९

घी और मधसे सिंचित हलकी रेषा सब देवों और वायुओंसे अनुमोदित हुई। हे हलकी रेषा! तू घीसे सिंचित होकर हमें बल देनेवाली होकर दूधसे युक्त कर।

शुनं सुफाला वि तुदन्तु भूमिं शुनं कीनाशा अनुयन्तु वाहान् । शुनासीरा हविषा तोशमाना सुप्पिला ओषधीः कर्तमस्मै ॥ अ. ३।१७।५

सुन्दर हलके फाल भूमिको उत्तम रीतिसे खोदें। किसान सुखसे बैलोंको चलावें। हे वायु और सूर्य! तुम हविसे सन्तुष्ट होकर इसके लिये उत्तम फलयुक्त धान्य देवें।

इन्द्रः सीतां नि गृह्णातु तां पूषाभि रक्षतु ।
सा नः पयस्वती दुहामुत्तरामुत्तरां समाम् ॥
अ. ३।१७।४

इन्द्र हलकी रेषाकी रक्षा करे, पूषा उसकी चारों ओरसे रक्षा करे। वह रसयुक्त होकर आगेके वर्षोंमें हमें अधिक अधिक रस प्रदान करें।

नेदीय इत् सृण्यः पक्वमावन् । अ. ३।१७।२

हंसूये परिपक्व धान्यको हमारे निकट ले आवें।

विराजः श्नुष्टिः सभरा असन्नः । अ. ३।१७।२

अन्नकी उपज हमारे लिये भरपूर हो जावे।

सीरा युञ्जन्ति कवयो युगा वितन्वते पृथक् ।
धीरा देवेषु सुम्नयौ ॥ अ. ३।१७।१

जो ज्ञानियोंमें उत्तम मनवाले बुद्धिमान् कवि है वे हल जोतते हैं। और जुओंको पृथक् करते हैं।

भगो नो राजा नि कृषिं तनोतु। अ. ३।१२।४

राजा भग हमारे लिये कृषिको बढावे।

युनक्त सीरा, वियुगा तनोत, कृते योनौ वपतेह बीजम् ॥ अ. ३।१७।२

हल जोतो, जुओंको फैला दो, भूमि तैयार करनेपर बीज वहीं बो दो।

जल

अप्सु मे सोमोऽब्रवीत् । अन्तर्विश्वानि भेषजा ॥
अथर्व १।६।२

सोमने मुझे कहा कि जलमें सब औषधियां हैं।

अप्स्वन्तरमृतं अप्सु भेषजम् । अथर्व १।४।४

जलमें अमृत है, जलमें औषधि गुण है।

आपः पृणीत भेषजं वरूथं तन्वे मम । अ. १।६।३

हे जलो! मुझे औषध दो और मेरे शरीरको संरक्षण दो।

ईशाना वार्याणाम् । क्षयन्तीश्चर्षणीनाम् ।
अपो याचामि भेषजम् ॥अथर्व १।५।४

वरणीय सुखोंका स्वामी जल है। प्राणियोंका निवासक जल है। इस जलसे मैं औषधकी याचना करता हूं।

आप इद्वा उ भेषजीरापो अमीवचातनीः ।
आपो विश्वस्य भेषजीस्तास्त्वा मुञ्चन्तु क्षेत्रियात् ।
अ. ३।७।५

जल औषधी है, जल रोग दूर करनेवाला है, जल सब रोगोंकी औषधी है, इस जलसे आनुवंशिक रोगसे तुझे मुक्त करता हूं।

अपां तेजो ज्योतिरोजो बलंच वनस्पतीनामुत
वीर्याणि । अस्मिन्नधि धारयामः । अ. १।३५।३

जलका तेज, प्रकाश, ओज, बल और वनस्पतियोंके वीर्य (इस सुवर्णमें हैं) उनका हम धारण करते हैं।

(आपः) महे रणाय चक्षसे (दधातन) ।
अथर्व १।५।१

जल बडी रमणीयताके दर्शनके लिये हमें धारण करे। (हमारे अन्दर रमणीयता रखे।)

ता न आपः शं स्योना भवन्तु । अ. १।३३।१-४

ये जल हमारे लिये सुखशान्ति देनेवाले हों।

इमा आपः प्रभराम्ययक्ष्मा यक्ष्मनाशिनीः ।
गृहानुपप्रसीदामि अमृतेन सहाग्निना ॥अ. ३।१२।९

ये रोगनाशक और रोगरहित जल मैं भर लाता हूं। अमृत, अन्न और अग्निके साथ मैं घरोंमें जाकर बैठता हूं।

शं नः खनित्रिमा आपः । अ. १।६।४

खोदकर निकाला जल हमें सुख देवे।

शिवा नः सन्तु वार्षिकीः । अ. १।६।४

वृष्टिसे प्राप्त जल हमें कल्याण करनेवाला हो।

शमु सन्तु अनूप्याः । अ. १।६।४

जलपूर्ण प्रदेशका जल हमें शान्ति देवे।

शमु या कुम्भ आभृताः । अ. १।६।४

जो जल घडेमें रखा है वह हमें शान्ति देवे।

शं न आपो धन्वन्याः । अ. १।६।४

रेतीले प्रदेशका जल हमें कल्याण करनेवाला हो।

घृतश्चुतः शुचयो याः पावकास्ता न आपः
शं स्योना भवन्तु । अ. १।३३।४

तेजस्वी, पवित्र, शुद्धता करनेवाला जल हमारे लिये सुखदायी हों।

शंयोरभिस्रवन्तु नः । अथर्व १।६।१

जल हमें शान्ति और इष्ट प्राप्ति देनेवाला होवे।

शिवया तन्वोप स्पृशत त्वचं मे ।अ.१।३३।४

अपना कल्याण करनेवाले शरीरसे मेरी त्वचाको स्पर्श करो।

(हे आपः !) यो वः शिवतमो रसः तस्य
भाजयते ह नः । अथर्व १।५।२

हे जलो ! जो आपमें कल्याण करनेवाला रस है, उसका हमें भागी करो। (हमें वह कल्याण करनेवाला तुम्हारा भाग मिले।)

आपो जनयथा च नः । अथर्व १।५।३

हे जलो ! हमें बढाओ।

आपो भवन्तु पीतये । अथर्व १।६।१

जल हमारे पीनेके लिये, रक्षणके लिये हो।

शिवेन मा चक्षुषा पश्यतापः । अ. १।३३।४

हे जलो ! कल्याणकारी नेत्रसे आप मुझे देखो।

आपो हि ष्ठा मयो भुवः ता न ऊर्जे दधातन ।
अथर्व १।५।१

जल सचमुच सुखदायी है, वह जल हमें शक्ति दें।

शं नो देवीरभिष्टये । अथर्व १।६।१

दिव्य जल हमें शान्तिसुख देवे।

तस्मा अरंगमाववो यस्य क्षयाय जिन्वथ !!
अथर्व १।५।३

जिसके निवासके लिये आप यत्न करते हैं, आपसे प्रर्याप्त मात्रामें (वह बल) प्राप्त हों।

अपामुत प्रशस्तिभिरश्वा भवथ वाजिनः ।
गावो भवथ वाजिनीः ॥अथर्व १।४।४

जलके प्रशंसनीय गुणोंसे घोडे बलवान् होते है और गौवें बलशालिनी होती हैं।

सुभाषितोंका उपयोग

अथर्ववेदके पहिले तीन काण्डोंके सुभाषित यहाँ दिये हैं। ये इतने ही है ऐसा नहीं। संख्यामें ये सुभाषित अधिक भी हो सकते हैं। ये किस तरह अधिक हो सकते है यह इस लेखमें बताया ही है। व्यवहारमें उपयोगी सार्थ मंत्र भाग सुभाषित कहा जाता है।

सूरिरसि, वर्चोधा असि, तनूपानोऽसि।

अ. २।११।४

तू ज्ञानी है, तू तेजस्वी है, तू शरीर रक्षक है। यह एकमंत्र है, पर इसमें तीन सुभाषित है।

सीसेकी गोली

'तं त्वा सीसेन विध्यामः' उस तुझको सीसेसे हम वेध करेंगे। सीसेसे वेध करनेका अर्थ सीसेकी गोलीसे वेध करेंगे। गौका वध करनेवालेको या पुरुषका वध करनेवाले को सीसेकी गोलीसे वेध करनेका दण्ड कहा है। सीसा था, सीसेकी गोली थी और गोलीसे वेध करनेका साधन बंदूक जैसा कुछ था ऐसा यहां पता लगता है।

जलचिकित्सासे सब रोग दूर होते हैं ऐसा पाठक जलके सुभाषितोंमे देखेंगे। सुभाषितोंका उपयोग करनेकी रीति यहां बताई है। वेदके उपदेशको मानवी आचार और व्यवहारमें लानेकी रीति यह है। पाठक इसका उपयोग करके वैदिक जीवनसे व्यवहार करके अपना लाभ प्राप्त करें।

ॐ

अथर्ववेद

का

सुबोध भाष्य ।

प्रथमं काण्डम् ।

ब्रह्म और जेष्ठ ब्रह्म ।

ये पुरु॑षे॒ ब्रह्म॑ वि॒दुस्ते विं॑दुः परमे॒ष्ठिनं॑म् ।
यो वेदं॑ परमे॒ष्ठिनं यश्च॒ वेदं॑ प्र॒जाप॑तिम् ।
ज्ये॒ष्ठं ये ब्राह्मं॑णं वि॒दुस्ते स्क॒म्भमं॑नु॒संविं॑दुः ॥

(अथर्व. १०।७।१७)

''(ये) जो (पुरूषे ब्रह्म) पुरूषमें ब्रह्म (विदुः) जानते हैं, वे (परमेष्ठिनं) परमेष्ठीको जानते हैं, जो परमेष्ठीको जानता है, और जो प्रजाणतिको जानता है, तथा जो (ज्येष्ठं ब्राह्मणं) श्रेष्ठ ब्रह्माको जानते हैं, वे स्कम्भको (अनुसंविदुः) उत्तम प्रकार जानते हैं।''

ॐ

अथर्ववेद के विषयमें

स्मरणीय कथन ।

(१) अथर्ववेदका महत्त्व ।

अथर्ववेदका नाम "ब्रह्मवेद, अमृतवेद, आत्मवेद" आदि है, इससे यह आत्मज्ञानका वेद है, यह स्पष्ट है। इसी लिये कहा है, कि–

श्रेष्ठो ह वेदस्तपसोऽधि जातो ब्रह्मज्ञानां हृदये संबभूव ॥
(गोपथ ब्रा. १।९)

एतद्वै भूयिष्ठं ब्रह्म यद् भृग्वङ्गिरसः येऽङ्गिरसः स रसः ।
येऽथर्वाणस्तद्भेषजम् । यद्भेषजं तदमृतम् ।
यदमृतं तद्ब्रह्म ॥ (गोपथ ब्रा ३।४)
चत्वारो वा इमे वेदा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदो ब्रह्मवेदः॥
(गोपथ ब्रा २।१६)

"(१) यह श्रेष्ठ वेद है, ब्रह्मज्ञानियोंके हृदयमें यह प्रसिद्ध रहता है। (२) भृग्वंगिरस बडा ब्रह्मज्ञान है, जो अंगिरस हैं वही रस अर्थात् सत्त्व है, जो अथर्वा है वह भेषज (दवा) है, जो भेषज है वह अमृत है, जो अमृत है वही ब्रह्म है। (३) ऋक, यजु, साम और ब्रह्म ये ही चार वेद है।"

अथर्ववेदको इस वचनमें 'भेषज' अर्थात् रोगदोष दूर करनेवाली औषधि, 'अमृत' अर्थात् मृत्युको दूर करनेका साधन, तथा 'ब्रह्म' बडा ज्ञान कहा है। ये तीन शब्द अथर्ववेदका महत्त्व स्पष्ट रीतिसे व्यक्त कर रहे हैं। और देखिये -

अथर्वमन्त्रसम्प्राप्त्था सर्वसिद्धिर्भविष्यति ॥
(अथर्वपरिशिष्ट २।५)

"अथर्ववेद मंत्रकी संप्राप्ति होनेसे सब पुरूषार्थ सिद्ध होंगे।" यह अथर्वमंत्रोंका महत्त्व है, इस वेदमें (शांतिक कर्म) शांति स्थापनके कर्म, (पौष्टिक कर्म) पुष्टि बलवृद्धि आदिकी सिद्धिके कर्म, (राजकर्म) राज्यशासन, समाज-व्यवस्था आदि कर्मके आदेश होनेके कारण यह वेद प्रजाहितकी दृष्टिसे विशेष महत्त्व रखता है। इस विषयमें देखिये–

यस्य राज्ञो जनपदे अथर्वा शान्तिपारगः ।
निवसत्यपि तद्राष्ट्रं वर्धते निरुपद्रवम् ॥
(अथर्वपरिशिष्ट. ४।६)

"जिस राजाके राज्यमें अथर्ववेद जाननेवाला विद्वान् शांति स्थापनके कर्मपर निरत रहता है, वह राष्ट्र उपद्रवरहित होकर बढता जाता है।

(२) अथर्व-शाखा ।

१. पैप्पलाद, २. तौद, ३. मौद, ४. शौनकीय, ५. जाजल, ६. जलद, ७. ब्रह्मवाद, ८. देवदर्श, ९. चारणवैद्य ये अथर्वके नौ शाखाभेद हैं। इनमें इस समय पिप्पलाद और शौनक ये दो संहितायें उपलब्ध हैं, अन्य उपलब्ध नहीं हैं। इनमें थोडासा मंत्रपाठभेद और सूक्त क्रमभेद भी है, अन्य व्यवस्था प्रायः समान है।

(३) अथर्वके कर्म ।

१ **स्थालीपाकः** - अन्नसिद्धि ।
२ **मेधाजननम्** - बुद्धिकी वृद्धि करनेका उपाय ।
३ **ब्रह्मचर्यम्** - वीर्य रक्षण, ब्रह्मचर्यव्रत आदि ।
४ **ग्राम - नगर- राष्ट्र - वर्धनम्** - ग्राम, नगर, कीले, राज्य आदि की प्राप्ति और उनका संवर्धन ।
५ **पुत्रपशुधनधान्यप्रजास्त्रीकरितुरगरथान्दोलिकादि-सम्पत्साधकानि-** पुत्र, पशु, धन, धान्य, प्रजा, स्री, हाथी, घोडे, रथ, पालकी आदि ऐश्वर्यके साधनोंकी सिद्धि करनेके उपाय ।

६ **साम्मनस्यम्** - जनतामें ऐक्य, मिलाप, प्रेम, एकता आदिकी स्थापना के उपाय ।
७ **राजकर्म** - राजाके लिये करनेयोग्य कर्म ।
८ **शत्रुत्रासनम्** - शत्रुको कष्ट पहुंचानेका उपाय ।
९ **संग्रामविजयः** - युद्धमें विजय संपादन करना ।
१० **शस्त्रनिवारणम्** - शत्रुओंके शस्त्रोंका निवारण करना ।
११ **परसेनामोहनोद्वेजनस्तंभनोच्चाटनादीनि** - शत्रुसेनामें मोह भ्रम उत्पन्न करना, उनमें उद्वेग, भय उत्पन्न करना, उनकी हलचलको रोकना, उनको उखाड देना आदिका साधन ।
१२ **स्वसेनोत्साहपरिरक्षणाभयार्थानि** - अपनी सेनाका उत्साह बढाना, और उसको निर्भय करना ।
१३ **संग्रामे जयपराजयपरीक्षा** - युद्धमें जय होगा या पराजय होगा इसका विचार ।
१४ **सेनापत्यादिप्रधानपुरूषजयकर्माणि** - सेनापति मंत्री आदि मुख्य ओहदेदारोंके विजयका उद्योग ।
१५ **परसेनासंचरणम्** - शत्रुकी सेनामें संचार करके गुप्त रीतिसे सब ज्ञान प्राप्त करना और वहांके अपने ऊपर आनेवाले अनिष्टोंको दूर करना ।
१६ **शत्रूत्सादितस्य राज्ञः पुनः स्वराष्ट्रप्रवेशनम्** - शत्रु द्वारा उखडे गये अपने राजाको पुनः स्वराष्ट्रमें स्थापन करनेके उद्योग ।
१७ **पापक्षयकर्म** - पतनके साधनोंको दूर करना ।
१८ **गोसमृद्धिकृषिपुष्टितराणि** - गौ बैल आदिकोंका संवर्धन और कृषिका पोषण करना ।
१९ **गृहसम्पत्कराणि** - घरकी शोभा बढानेके कर्म ।
२० **भैषज्यानि** - रोगनिवारक औषधियां ।
२१ **गर्भाधानादि कर्म** - (सब संस्कार)
२२ **समाजयसाधनम्** - सभामें जय, विवादमें जय और कलह शांत करनेके उपाय ।
२३ **वृष्टिसाधनम्** - योग्य समयपर वृष्टि करानेका उपाय।
२४ **उत्थानकर्म** - शत्रुपर चढाई करना ।
२५ **वाणिज्यलाभः** - क्रय विक्रय आदिमें लाभ ।
२६ **ऋणविमोचनम्** - ऋण उतारना ।
२७ **अभिचारनिवारणम्** - नाशसे अपना बचाव करना।
२८ **अभिचारः** - शत्रुके नाशका उपाय ।
२९ **स्वस्त्ययनम्** - सुखसे देशदेशांतरमें भ्रमण ।
३० **आयुष्यम्** - दीर्घ आयुष्यकी प्राप्ति ।
३१ **यज्ञयाग आदि ।**

इत्यादि अनेक विषय इस वेदमें आनेके कारण इसका अध्ययन विशेष सूक्ष्म दृष्टिसे करना आवश्यक है । ये सब उपाय और कर्म मनुष्यमात्रके अभ्युदय निःश्रेयसके साधक होनेके कारण मानव जातिके लिये लाभदायक हैं, इसमें कोई संदेह नहीं हो सकता । परन्तु यहां विचार इतनाही है कि, ये सब विषय अथर्ववेदके सूक्तोंसे हम किस रीतिसे जानकर अनुभवमें ला सकते हैं । निःसंदेह यह महान् और गंभीर तथा कष्टसे ज्ञान होनेयोग्य विषय है । इसलिये यदि सुविज्ञ पाठक इसमें अपना सहयोग देंगे तोही इस गंभीर विषयका कुछ पता लग सकता है, और गुप्त विषय अधिक खुल सकता है। क्योंकि किसी एक मनुष्यके प्रयत्नसे इस कठिन विषयकी उलझन होना प्रायः अशक्य ही है ।

(४) मनका संबंध ।

अथर्ववेदद्वारा जो कर्म किये जाते हैं वे मनकी एकाग्रतासे उत्पन्न हुए सामर्थ्यसे ही किये जाते हैं, क्योंकि आत्मा, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार आदि अंतःशक्तियोंसे ही अथर्ववेदका विशेष संबंध है, इस विषयमें देखिये -

मनसैव ब्रह्मा यज्ञस्यान्यतरं पक्षं संस्करोति (गोपथ ब्रा. ३।२)

तद्वाचा त्रय्या विद्ययैकं पक्षं संस्कुरुते । मनसैव ब्रह्मा संस्करोति ॥ (ऐतरेय ब्रा. ५।३३)

अर्थात् "ऋग्वेद यजुर्वेद और सामवेद द्वारा वाणीपर संस्कार होकर एक भाग सुसंस्कृत होता है और अथर्ववेद द्वारा मनपर संस्कार होकर दूसरा भाग सुसंस्कृत होता है ।" मनुष्यमें वाणी और मन ये ही मुख्य दो पक्ष हैं । उन दोनोंसे ही मानवी उन्नतिके साधक अभ्युदय निःश्रेयस विषयक कर्म होते हैं ।

शरीरके रोग दूर करना हो अथवा राष्ट्रका विजय संपादन करना हो, तो ये सब कर्म मानसिक सामर्थ्यसे ही हो सकते हैं । इसी लिये अथर्ववेदने मनःशक्तिकी अभिवृद्धि द्वारा उक्त कर्म और विविध पुरुषार्थ सिद्ध करनेके उपाय बताये हैं ।

(५) शांतिकर्मके विभाग ।

समाज तथा राष्ट्रमें शांति स्थापन करना अथर्ववेदका मुख्य विषय है । वैमनस्य, शत्रुता, द्वेष आदि भावोंको दूर

करके मित्रता, एक विचार, सुमनस्विता आदिकी वृद्धि करना अथर्ववेदका साध्य है । इसी कार्यकी सिद्धिके लिये अथर्ववेदका शांति प्रकरण है । इस प्रकरण में कई प्रकारकी शांतियां हैं, जिनका थोडासा वर्णन यहां करना उचित है -

१ भूचाल, विद्युत्पात आदिके भय निवारण करनेके लिये महाशान्ति ।
२ आयुष्य प्राप्ति और वृद्धिके लिये वैश्वदेवी शांति।
३ अग्न्यादि भयकी निवृत्तिके लिये आग्नेयी शांति ।
४ रोगादि निवृत्तिके लिये भार्गवी शान्ति ।
५ ब्रह्मवर्चस - ज्ञानका तेज प्राप्त करनेके मार्गमें आनेवाले विघ्न दूर करनेके लिये ब्राह्मी शान्ति ।
६ राज्यलक्ष्मी और ब्रह्मवर्चस प्राप्त करनेके लिये अर्थात् क्षात्र और ब्राह्म तेज की वृद्धि करनेके लिये बार्हस्पत्य शान्ति ।
७ प्रजा क्षय न हो और प्रजा पशु अन्न आदिकी प्राप्ति हो इसलिये प्राजापत्या शान्ति ।
८ शुद्धि करनेके लिये सावित्री शान्ति ।
९ ज्ञानसम्पन्नताके लिये गायत्री शान्ति ।
१० धनादि ऐश्वर्य प्राप्ति करने, शत्रुसे होनेवाला भय दूर करने और अपने शत्रुको उत्साड देनेके लिये अङ्गिरसी शान्ति ।
११ परचक्र दूर हो और अपने राष्ट्रका विजय हो तथा अपना बल, अपनी पुष्टि और अपना ऐश्वर्य बढे इसलिये ऐन्द्रि शान्ति ।
१२ राज्यविस्तार करनेके लिये माहेन्द्री शान्ति ।
१३ अपने धनका नाश न हो और अपना ऐश्वर्य बढे इसलिये करनेयोग्य कौबेरी शान्ति ।
१४ विद्या तेज धन और आयु बढानेवाली आदित्या शान्ति।
१५ अन्नकी विपुलता करनेवाली वैष्णवी शान्ति ।
१६ वैभव प्राप्त करानेवाली तथा वस्तु संस्कारपूर्वक ग्रहादिकी शान्ति करनेवाली वास्तोष्पत्या शान्ति ।
१७ रोग और आपत्ति आदिके कष्टोंसे बचानेवाली रौद्री शान्ति ।
१८ विजय प्राप्त करानेवाली अपराजिता शान्ति ।
१९ मृत्युका भय दूर करानेवाली याम्या शान्ति ।
२० जलभय दूर करनेवाली वारुणी शान्ति ।
२१ वायुभय दूर करनेवाली वायव्या शान्ति ।
२२ कुलक्षय दूर करनेवाली और कुलवृद्धि करनेवाली सन्तति शान्ति ।
२३ वस्त्रादि भोग बढानेवाली तथा कारीगरीकी वृद्धि करनेवाली त्वाष्ट्री शान्ति ।
२४ बालकोंको हृष्टपुष्ट करके उनको अपमृत्युसे बचानेके लिये कौमारी शान्ति ।
२५ दुर्गतिसे बचानेके लिये नैर्ऋति शान्ति ।
२६ बलवृद्धि करनेवाली मारुद्गणी शान्ति ।
२७ घोडोंकी अभिवृद्धि करनेके लिये गान्धर्वी शान्ति ।
२८ हाथियोंकी अभिवृद्धि करनेके लिये पारावती शान्ति ।
२९ भूमिके संबंधी कष्ट दूर करनेके लिये पार्थिवी शान्ति ।
३० सब प्रकारका भय दूर करनेवाली अभया शान्ति ।

ये और इस प्रकारकी अनेक शान्तियां अथर्ववेदसे सिद्ध होती हैं । इनके नामोंका भी यदि विचार पाठक करेंगे, तो उनको पता लग जायगा कि मनुष्यका जीवन सुखमय करनेके लिये ही इनका उपयोग निःसंदेह है । वेदमंत्रोंका मनन करके प्राचीन ऋषि मुनि अपनी उन्नति की विद्याएं किस रीतिसे सिद्ध करते थे, इसकी कल्पना इन शान्तियोंका विचार करनेसे हो सकती है । कई शान्तियोंके नामोंसे पता लग सकता है कि किस ऋषिकी खोजसे किस शांतिकर्मकी उत्पत्ति हुई । यदि वैदिक धर्म जीवित और जाग्रत रूपमें फिर अपने जीवनमें ढालना है तो पाठकोंको भी इसी दृष्टिसे विचार करना अत्यावश्यक है ।

विविध इष्टियां, याग, क्रतु, मेध आदिकी जो योजना वैदिक धर्ममें है, वह उक्त बातकी सिद्धता करनेके लिये ही है । इन सबका विचार कैसा है और इनकी सिद्धी किस रीतिसे की जा सकती है इसका यथामति विचार आगे किया जायगा । परन्तु यहां निवेदन है कि पाठक भी अपनी बुद्धियोंको इस दृष्टिसे काममें लावें और जो खोज होगी वह प्रकाशित करें । क्योंकि अनेक बुद्धियोंके एकाग्र होनेसे ही यह विद्या पुनः प्रकट हो सकती है अन्यथा इसके प्रकट होनेका कोई संभव नही है ।

(६) मन्त्रोंके अनेक उद्देश्य ।

अथर्ववेदके थोडेसे मन्त्रोंसे इतने विविध कर्म किस प्रकार सिद्ध हो सकते हैं, यह शंका यहां उत्पन्न हो सकती हैं । इसके उत्तरमें निवेदन है, कि वेदके मन्त्र और सूक्त "अनेक मुख" होते हैं अर्थात् एकही सूक्त और

एकही मंत्रसे अनेक उद्देश्योंकी सिद्धि होती है। मंत्रका उत्तानार्थ एक भाव बताता है, अंदरका गूढ आशय कुछ विशेष उपदेश देता है, व्यंग्य अर्थ श्लेषार्थ आदि अनेक रीतिसे अनेक उपदेश प्रकट होते हैं। इस कारण एकही मंत्र और एकही सूक्त अनेकविध उपदेश देते हैं, और इस ढंगसे अनेकानेक विद्याएं और अनेकानेक कर्म वेदसे प्रकट होते हैं और इन सबके द्वारा मनुष्यके ऐहिक और पारलौकिक सुखवृद्धिके साधन सिद्ध हो जाते हैं।

(७) सूक्तोंके गण।

अथर्ववेदके सूक्तों और मंत्रोंके कई गण हैं, जिनके नाम "अभय गण, अपराजित गण, सांग्रामिक गण" इस प्रकार अनेक हैं। प्रथम कांडमें अपराजित गणके सूक्त निम्नलिखित हैं -

१ विद्या शरस्य पितरं ०	(१। २)
२ मा नो विदन् वि व्याधिनः०	(१। १९)
३ अदारसृद्भवतु देव ०	(१। २०)
४ स्वस्तिदा विशां पतिः ०	(१। २१)

इसके पश्चात् पष्ठकाण्डमें अपराजित गणके सूक्त निम्नलिखित है -

५ अव मन्युः ०	(६। ६५)
६ निर्हस्तः शत्रुः०	(६। ६६)
७ परिवर्त्मानि ०	(६। ६७)
८ अभिभूर्यज्ञः ०	(६। ९७)
९ इन्द्रो जयाति ०	(६। ९८)
१० अभि त्वन्द्र ०	(६। ९९)

कौनसा सूक्त किस गणमे है, यह समझनेसे उसका अर्थ करना, उसके अर्थका मनन करना और उससे बोध लेना, बडा सुगम हो सकता है। तथा गणोंके मंत्रोंके अंदर परस्पर संबंध देखना भी सुगम हो जाता है। इसलिये इस गणोंका विचार वेद पढनेके समय अवश्य ध्यानमें धरना चाहिये। हम आगे बतायेंगे कि कौनसा सूक्त किस गणमें आता है और उसका परस्पर संबंध किस पद्धतिसे देखना होता है।

पुर्वोक्त शांतियोंमे जिन जिन शान्तियोंका संबंध राज्यव्यवस्थासे है, उन शान्तिकर्मोके साथ अपराजित गणके मंत्रोंका संबंध है, इस एक बातसे पाठक बहुत कुछ बोध प्राप्त कर सकते हैं। एक एक गणके विषयमें हम स्वतंत्र निबंध लिखकर उसका अधिक विचार आगे करेंगे। उसका अनसुंधान पाठक करें इसी लिये यह बात यहां दर्शायी है।

जब इन सब गणोंका विचार हो जायगा तब ही वेद की विद्या ज्ञात हो सकती है, अन्यथा नहीं। यहां यह भी स्पष्ट कहना आवश्यक है कि कई सूक्त किसी गणके साथ सम्बन्ध नहीं रखते अर्थात् वे स्वतंत्र है अथवा उनका सम्बन्ध गणसूक्तोंके समान किसी अन्य सूक्तोंसे नहीं है।

"स्वतंत्र-सूक्त" और "गण-सूक्त" इनका विचार करनेके समय स्वतंत्र सूक्तके मंत्रोंका मनन स्वतंत्र रीतिसे करना चाहिये, और गणसूक्तोंके मंत्रोंका मनन संपूर्णगणोंके संबंधका विचार करके ही करना चाहिये।

(८) अथर्ववेदका महत्त्व।

ऋग्वेदसे ज्ञान, यजुर्वेदसे उत्तम कर्म और सामवेदसे उत्तम पुरूषकी उपासना, इन तीन काण्डोंका अभ्यास होनेके पश्चात् आत्माका ज्ञान और बल प्राप्त करनेके मार्ग बतानेका कार्य अथर्ववेद करता है। इस कारण इसको "ब्रह्मवेद" अथवा "आत्मवेद" भी कहते हैं।

उत्तम ज्ञान, प्रशस्त कर्म और उत्तम पुरूषकी उपासना द्वारा अंतःशुद्धि होनेके पश्चात् ब्रह्मका ज्ञान संभवनीय है, इसलिये यह पूर्वोक्त वेदत्रयीसे भिन्न यह "चतुर्थवेद" कहा जाता है।

उपासक लोग आत्माको जगत्में ढूंढते ढूंढते थक गये, उस समय उनको साक्षात्कार हुआ कि "आत्माको जगत्मे कहां ढूंढते हो ? यहां आओ और अपने पासही उसे ढूंढो !"

अथार्वाङेनमेतास्वेवाऽप्स्वन्विच्छेति, तद्यदब्रवीदथार्वाङ्‌ेन मेतास्वेवाप्स्वन्विच्छेति, तदथर्वाऽभवत् ॥

(गोपथ-ब्राह्मण १-४)

"अब पासही उसे ढूंढो!" वह पासही है। यह बात इस अथर्व (अथ + अर्वाक् = अथर्वा (क)) वेदने कही, इसी लिये इसका नाम "अथर्ववेद " हुआ है। यह गोपथ ब्राह्मणका कथन अथर्ववेदका ज्ञानक्षेत्र कहांतक है इसका वर्णन स्पष्ट शब्दोंमें कर रहा है। आत्माका पता अपने पासही लगना है, यह बताना अथर्ववेदके ज्ञानक्षेत्रमें है। इसी लिये इसका नाम "ब्रह्मवेद" है क्योंकि यही ब्राह्मका ज्ञान बताता है।

"थर्व" शब्द चंचलताका वाचक है। और "अ-थर्व"

शब्द शांतिका अथवा एकाग्रताका द्योतक है। आत्मानुभव अथवा ब्रह्मसाक्षात्कार जो होना है, वह चित्तकी चंचलता हटनेके पश्चात् और चित्तवृत्तियोंका निरोध होकर उसमें शांति आनेके पश्चात् ही होना है। यह आत्मज्ञानके मार्गकी सूचना इस प्रकार अपने नामसे ही इस अथर्ववेदने बता दी है। वेदके नामोंका महत्त्व पाठक यहाँ देख सकते हैं।

"अथर्वन्" (अथ + अर्वन्) इस शब्दका अर्थ "अब इस ओर" ऐसा होता है। जगत्में दो पदार्थ हैं, एक मैं और दूसरा मेरेसे भिन्न संपूर्ण जगत्। हरएक मनुष्य समझता है कि मेरेसे भिन्न पदार्थोंसे ही मुझमें शक्ति आती है, मैं स्वयं अशक्त हूं और शक्ति दूसरोंसे प्राप्त होती है। इस सर्वसाधारण विचारसे भिन्न परंतु अत्यंत सत्य विचार जो अथर्ववेद जनताके सन्मुख रखना चाहता है, वह यह है कि "अब शक्तिके लिये अपनी ओर" ही देखो। सब जगत्में यह नियम देखो कि वृद्धि अंदरसे होती है, वृक्ष अंदरसे बढते हैं, बालक अंदरसे बढते हैं, अर्थात् शक्तिकी वृद्धि अंदरसे हो रही है, इसलिये अपने अंदर अपनी ओर देखकर विचार करो। बाह्य जगतमें न देखते हुए, परंतु उसके साथ अपनी शक्तियोंको जोडकर अपनी उन्नतिके हेतु अपने अंदर देखो, शक्ति अपने अंदर है न कि बाहर है। यह अथर्ववेदकी शिक्षा अत्यंत महत्त्वकी है।

इस अथर्ववेदका स्वाध्याय करना है। ब्रह्मवेद होनेके कारण यह वेद संपूर्ण रीतिसे समझना कठिन है, इसलिये इस वेदके जितने मंत्र समझमें आवेंगे, उनकाही स्वाध्याय करना है। जिनका ठीक प्रकार ज्ञान नही हुआ उनके विषयमें हम कुछ भी नही लिखेंगे। तथा जो मंत्र स्वाध्यायके लिये यहां लेंगे उनके विषयमें थोडेसे थोडे शब्दोंमेंही जो कुछ लिखना हो वह लिखेंगे अर्थात् बहुत विस्तार नहीं करेंगे। परंतु जहांतक हो सके वहांतक कोई बात संदिग्ध नहीं छोडेंगे। इससे स्वाध्याय करनेवालोंकी बडी सुविधा होगी।

अथर्ववेद ।

प्रथम-काण्ड ।

इस प्रथम कांडमे छः अनुवाक, पैतीस सूक्त और १५३ मंत्र हैं ।

१ **प्रथम अनुवाकमें छः सूक्त है,** तीसरे सूक्तमें ९ मंत्र हैं, शेष पांच सूक्तोंमें प्रत्येकमें चार चार हैं । इस प्रकार इस अनुवाकमें २९ मंत्र हैं ।

१ **द्वितीय अनुवाकमें (७ से ११ तक) पांच सूक्त हैं ।** सप्तम सूक्तमें ७ और ग्यारहवें में ६, शेष तीनमें प्रत्येकमें चार चार मंत्र हैं । इस प्रकार कुल २५ मंत्र हैं ।

३ **तृतीय चतुर्थ और पंचम अनुवाकों (१२ से २८ तक सूक्तों) के प्रत्येक सूक्तमें चार मंत्रवाले क्रमशः पांच, पांच और सात सूक्त हैं ।** इन तीनोंकी मंत्रसंस्या ६८ है ।

४ **पष्ठ अनुवाकमें सात (२९ से ३५ तक) सूक्त हैं ।** २९ वें सूक्तमें छः मंत्र और ३४ वे में पांच मंत्र हैं, शेषमें चार चार हैं । इस प्रकार कुछ मंत्रसंस्या ३१ है ।

इस ३५ सूक्तोंमें चार मंत्रवाले सूक्त ३७ हैं, पांच मंत्रवाला एक,छः मंत्रवाले दो, सात मंत्रवाला एक और नौ मंत्रवाला एक है । यह सूक्त और मंत्रविभाग देखनेसे पता लगता है कि यह अथर्ववेदका प्रथम काण्ड प्रधानतया चार मंत्रवाले सूक्तोंका ही है । इसका प्रथम सूक्त यह है इसमें बुद्धि बढानेका विषय कहा है जिसका नाम "मेधा- जनन" है -

ॐ

मेधाजनन

(१) बुद्धिका संवर्धन करना ।

(ऋषिः-अथर्वा । देवता - वाचस्पतिः ।)

ये त्रिषप्ताः परियन्ति विश्वा रूपाणि बिभ्रतः । वाचस्पतिर्बला तेषां तन्वोऽद्य दधातु मे ॥१॥

अन्वयः विश्वा रुपाणि बिभ्रतः, ये त्रि- सप्ताः परियन्ति, तेषां तन्वः बला वाचस्पतिः अद्य मे दधातु ॥१॥

अर्थ - सब रुपोंको धारण करके, जो तीन-गुणा-सात पदार्थ सर्वत्र व्यापते है, उनके शरीरके बल वाणीका स्वामी आज मुझे देवे ॥१॥

पदार्थ दो प्रकारके हैं एक रूपवाले और दूसरे रूपरहित। आत्मा परमात्मा रूपरहित है और संपूर्ण जगत् रूपवाले पदार्थोंसे भरा है । पदार्थोके विविध रूप जो मनुष्य पशु पक्षी वृक्ष वनस्पति पाषाण आदि में दिखाई देते हैं - कौन धारण करता है, ये रूप कैसे बनते हैं ? इस शंकाके उत्तरमें वेद कह रहा है, कि जगत्के मूलमें जो सात पदार्थ-पृथ्वी, आप, तेज, वायु, आकाश, तन्मात्र और अहंकार-है ये ही संपूर्ण जगत् में दिखाई देनेवाले विविध रूप धारण करते हैं । ये सात पदार्थ तीन अवस्थाओंमें गुजरते हुए जगत् के रूप और आकार धारण करते है । (१) सत्त्व अर्थात् समावस्था, (२) रज अर्थात् गतिरूप अवस्था और (३) तम अर्थात् गतिहीन अवस्था, इन तीन अवस्थाओंमे पूर्वोक्त सात पदार्थ गुजरनेसे कुल इक्कीस पदार्थ बनते हैं, जो संपूर्ण सृष्टिका रूप धारण करते हैं।

सृष्टिके हरएक आकारधारी पदार्थमें बडी शक्ति है । हमारा शरीर भी सृष्टिके अंतर्गत होनेसे एक रूपवान पदार्थ है और इसमें भी पूर्वोक्त "तीन गुणा सात" पदार्थ है। और इसी कारण शरीरके अंदरके इन इक्कीस तत्त्वोंका संबंध बाह्य जगत् के पूर्वोक्त इक्कीस तत्त्वोंके साथ है । शरीरका स्वास्थ्य या रोगीपन इन संबंधके ठीक होने और न होनेपर अवलंबित है ।

शरीरान्तर्गत इन तत्त्वोंको बाह्य जगत्के तत्त्वोंके साथ योग्य संबंध रखने द्वारा अपना आरोग्य स्थिर करके अपना बल अंदरसे बढानेकी सूचना इस मंत्रद्वारा यहां मिलती है । जैसे बाह्य शुद्ध वायुसे अपना प्राणका बल, बाह्य सूर्य-प्रकाशसे अपने नेत्र का बल, इसी प्रकार अन्यान्य बल बढा कर अपनी शक्ति पराकाष्ठा तक बढानी चाहियें । यह अथर्ववेदका मुख्य विषय है ।

जगत्का तत्त्वज्ञान जानकर, जगत् का अपने साथ संबंध अनुभव करके, अपना बल बढानेकी विद्याका अध्ययन करके, उसका अनुष्ठान करना चाहिये । यह उन्नतिका मूल मंत्र इस प्रथम मंत्रमें बताया है । यहां प्रश्न होता है, कि यह विद्या कौन दे सकता है ? उत्तरमें मंत्रने बताया है कि "वाचस्पति" ही उक्त ज्ञान देनेमें समर्थ है।

"वाचस्पति" कौन है ? वाक्, वाच्, वाणी, वक्तृत्त्व, उपदेश, व्याख्यान ये समानार्थक शब्द है । वक्तृत्त्व करनेवाला अर्थात् उत्तम उपदेशक गुरु ही यहां वाचस्पतिसे अभिप्रेत है । इस अर्थको लेनेसे इस मंत्रका अर्थ निम्न प्रकार हुआ-

"मूल सात तत्त्व तीन अवस्थाओंसे गुजर कर सब जगत्के संपूर्ण पदार्थोंके रूप बनाते हुए सर्वत्र फैले हैं । इनके बलोंको अपने अंदर धारण करनेकी विद्या व्याख्याता गुरु आजही मुझे पढावे ।"

अथर्ववेदकी पिप्पलाद-संहिताका पाठ ऐसा है -

"ये त्रिषप्ता पर्यन्ति...। ... तेषां तन्वमभ्यादधातु मे ॥"

इसका अर्थ निम्न पकार होता है-"जो मूल सात तत्त्व तीन अवस्थाओंमे गुजरकर सब जगत्के संपूर्ण पदार्थोंके रूप बनाते हुए सर्वत्र (पर्यन्ति) घूमते है, व्याख्याता गुरु ही आज उनके बलोंको मेरे (तन्वं) शरीरमें (अभ्यादधातु) धारण करावे, अर्थात् धारण करनेके उपाय बतावे ।"

पुनरेहि वाचस्पते देवेन मनसा सह । वसोष्पते नि रमय मय्येवास्तु मयि श्रुतम् ॥२॥
इहैवाभि वि तनूभे आर्त्नी इव ज्यया । वाचस्पतिर्नि यच्छतु मय्येवास्तु मयि श्रुतम् ॥३॥

अन्वयः - हे वाचस्पते ! देवेन मनसा सह पुनः एहि । हे वसोष्पते ! निरमय । श्रुतं मयि मयि एव अस्तु ॥२॥ ज्यया उभे आर्त्नी इव, इह एव उभौ अभि वि तनु । वाचस्पतिः नि यच्छतु । श्रुतं मयि मयि एव अस्तु ॥३॥

अर्थ - हे वाणीके स्वामी ! दिव्य मनके साथ सन्मुख आओ । हे वसुओंके स्वामी ! मुझे आनंदित करो । पढा हुआ ज्ञान मुझमें स्थिर रहे ॥२॥

डोरीसे धनुष्यकी दोनों कोटीयोंकी तरह, यहांही (दोनोंकी) तनाओ । वाणीका पति नियमसे चले । पढा हुआ ज्ञान मेरेमें स्थिर रहे ।

इस मंत्रमें प्रारंभमें ही "पुनः" शब्द है । इसका अर्थ "वारंवार, पुनः पुनः अथवा संमुख" है । शिष्य विद्याकी एक ओर और गुरु दूसरी ओर होता है, इसलिये गुरु शिष्यके सन्मुख और शिष्य गुरुके सन्मुख होते हैं । इन दोनोंको इसी प्रकार रहना चाहिये । यदि ये परस्पर सन्मुख न रहे तो पढाई असंभव है ।

गुरु (देवेन मनसा) दैवी भावनासे युक्त मनसेही शिष्यके साथ बर्ताव करे । मन दो प्रकारके हैं - एक देव मन, और दूसरा राक्षस मन । राक्षस् मन जगत् में झगडे उत्पन्न करता है और देव मन जगत्में शांति रखता है । गुरु-देवमनसे ही शिष्यको पढावे ।

गुरु शिष्यको (नि रमय) रममाण करे, अर्थात् ऐसा पढावे कि जिससे शिष्य आनंदके साथ पढता जाय । इस शब्दके द्वारा पढाईकी "रमण पद्धति" वेदने प्रकट की है । इससे भिन्न "रोदन पद्धति" है जिसमें रोते हुए शिष्य पढाये जाते है ।

गुरुके दो गुण इस मंत्रने बताये है । एक गुण (वाचस्पतिः) अर्थात् वाणीका प्रयोग करनेमें समर्थ, शिष्यको विद्या समझा देनेमें निपुण, उत्तम वक्ता । तथा दूसरा गुण (वसोष्पतिः) वसुओंका पति अर्थात् अन्यादि पदार्थोका प्रयोग करनेमें निपुण शब्दों द्वारा (Theoretical) ज्ञान जो कहेगा, उसको वस्तुओंद्वारा (Practical) साक्षात् प्रत्यक्ष करा देनेमें समर्थ गुरु होना चाहिये ।

शिष्य भी ऐसा हो कि जो (मयि श्रुतं अस्तु) अपनेमें ज्ञान स्थिर रहनेकी इच्छा करनेवाला हो । अर्थात् दिलसे पढनेवाला और सच्चा (विद्यार्थी-विद्या + अर्थी) विद्या प्राप्त करनेकी इच्छा करनेवाला हो ।

इन अर्थोको ध्यानमें धरनेसे इस मंत्रका अर्थ निम्न प्रकार होता है -

"हे उत्तम उपदेश करनेवाले गुरु ! देव भावसे युक्त मनसे ही शिष्यके सन्मुख जा । हे अग्न्यादि वसुओंके प्रयोग कर्ता गुरु ! तू शिष्यको रमाता हुआ उसे विद्या पढाओ । शिष्य भी कहे कि पढा हुआ ज्ञान अपने अंदर स्थिर रहे ।"

अथर्ववेद पिप्पलाद-संहितामें मंत्रका प्रारंभ "उप नेह" शब्दसे होता है और "वसोष्पते" के स्थानपर "असोष्पते" पाठ है । असुपति (असोः पति) का अर्थ प्राणोंका पति गुरु । "प्राणोंका पति" अर्थात् योगादि साधनद्वारा प्राणोंको स्वाधीन रखनेवाला उत्तम योगी गुरु हो । यह शब्द भी गुरुका एक उत्तम लक्षण बता रहा है ।

धनुष्यकी दोनों कोटीयाँ डोरीसे तनी रहती है इस तनी हुई अवस्थामें ही धनुष्य विजयका साधन हो सकता है । जिस समय दोनों कोटियोंसे डोरी हट जाती है उस समय वह धनुष्य शत्रुनाश या विजय प्राप्त करनेमें असमर्थ हो जाता है । इसी प्रकार जाति या समाजरूपी धनुष्यकी दो कोटियां गुरु और शिष्य है, इन दोनोंको विद्यारूपी डोरी बांधी गयी है और इस डोरीसे यह धनुष्य तना हुआ अर्थात् अपने कार्यमें सिद्ध रहता है । समाजको यह धनुष्य सदा सिद्ध रखना चाहिये । इसीकी सिद्धतासे जाति, समाज या राष्ट्र जीवित, जाग्रत और उन्नत रहता है । जिस समय विद्याकी डोरी गुरु शिष्यरूपी धनुष्यसे हट जाती है उस समय अज्ञान-युग शुरु होनेके कारण जाति पतित हो जाती है ।

(वाचस्पतिः) उत्तम वक्ता गुरुही स्वयं (नि यच्छतु) नियममें चले और शिष्योंको नियमके अनुसार चलावे । गुरुकुल आचार्यकुल अथवा विद्यालयादि संस्थाएं नियमोंके अनुसार चलायी जांय । वहां स्वेच्छा विहार न हो ।

शिष्य प्रयन्त करें और पढा हुआ ज्ञान अपने अंदर

उप॑हूतो वा॒चस्पति॒रुपा॒स्मान्वा॒चस्पति॑र्ह्वयताम् । सं श्रु॒तेन॑ गमेमहि॒ मा श्रु॒तेन॒ वि रा॑धिषि ॥ ४ ॥

अन्वय :- वाचस्पतिः उपहूतः । वाचस्पतिः अस्मान् उपह्वयताम् । श्रुतेन सङ्गमेमहि । श्रुतेन मा वि राधिषि ! ॥ ४ ॥

अर्थ - वाणीका स्वामी बुलाया गया । वह वाणीका स्वामी हम सबको बुलावे । ज्ञानसे हम सब युक्त हों । हम ज्ञानके साथ कभी विरोध न करें ॥४॥

सदा स्थिर रखनेके लिये अति दक्ष रहें । पहिले पढा हुआ ज्ञान स्थिर रहा तो ही आगे अधिक ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है । यह भाव ध्यानमें धरनेसे इस मंत्रका अर्थ निम्न प्रकार होता है -

"जिस प्रकार डोरीसे धनुष्यकी दोनों कोटियां विजयके लिये तनी होती हैं, उसी प्रकार गुरु और शिष्य ये समाजकी दो कोटियां विद्यासे सज्ज रखिये । आचार्य स्वयं नियमानुसार चलें और शिष्योंको नियमानुसार चलावें। शिष्य अध्ययन किया हुआ ज्ञान दृढ करने आगे बढे ॥"

"उपहूतं" का अर्थ "बुलाया, पुकारा, आह्वान किया अथवा पूछा गया" है । उत्तम व्याख्याता गुरुको हमने बुलाया और उसे प्रश्न पूछे गये अर्थात् विद्याका व्याख्यान करनेके लिये उसे आह्वान किया गया है । गुरु भी शिष्यके प्रश्न सुनकर उनके प्रश्नोंका उचित उत्तर देकर उनका समाधान करे । अर्थात् गुरु कोई बात शिष्यसे छिपाकर न रखे । इस प्रकार दोनोंके परस्पर प्रेमसे विद्याकी वृद्धि होती रहे ।

हरएक अपने मनमें यह इच्छा रखे कि "हम सब ज्ञानसे युक्त हों, ज्ञानकी वृद्धि करते रहें और कभी ज्ञानकी प्रगतिमें बाधा न डालें, ज्ञानका विरोध न करें और मिथ्या ज्ञानका प्रचार न करें ।"

इस स्पष्टीकरणका विचार करनेसे इस मंत्रका अर्थ निम्न प्रकार प्रतीत होता है-

"हम तत्त्व व्याख्याता गुरुसे प्रार्थना करते हैं। वह हमें योग्य उत्तर देवे । इस (प्रश्नोत्तरकी रीतिसे हम सब) ज्ञानसे युक्त होते रहें और कभी हमसे ज्ञानकी उन्नतिमें बाधा उत्पन्न न हो ।"

मनन ।

इस अथर्ववेदके प्रथम सूक्तके ये चार मंत्र शिष्यके मुखमें रखे हैं, इसका अतिसंक्षेपसे तात्पर्य यह है -

"जो इक्कीस (पदार्थ जगत्की वस्तुओंके) आकार धारण करते हुए (सर्वत्र) फैले है, उनकी शक्तियां मेरे (शरीरके अंदर स्थिर करनेकी विद्या) गुरु हमें सिखावे ॥१॥ हे गुरु ! तू मनमें शुभ संकल्प धारण करके हमारे सन्मुख आ, हमें रमाते (हुए पढा) प्राप्त किया हुआ ज्ञान हममें स्थिर रहे ॥२॥ डोरीसे दोनों धनुष्कोटियोंके तनावके समान यहां तू (विद्यासे हम दोनोंको) तना (कर बांध दे) गुरु नियमसे चले और हमें चलावे । ज्ञान हममें स्थिर रहे ॥३॥ हम गुरुसे प्रश्न पुछते हैं, वह हमें उत्तर देवे । हम सब ज्ञानी बनें । कोई भी ज्ञानका विरोध न करे ॥४॥

इन मंत्रोका जितना मनन होगा, इनपर जितना विचार होगा, उतना ज्ञान बढानेका उपाय-(मेधाजनन)-हो सकता है । आशा है कि पाठक इसका योग्य विचार करें और अपनी परिस्थितीमें अपने ज्ञानकी वृद्धि करनेके उपाय सोचें । इसमें निम्नलिखित पांच बातोंका अवश्य विचार हो -

१. विद्या - जिनसे जगत् बनता है उन मूलतत्त्वोंका ज्ञान प्राप्त करना और उनका अपनी उन्नतिसे संबंध देखना तथा उसका अनुष्ठान करनेका विधि जानना, यही सीखनेयोग्य विद्या है ।

२. गुरु - उक्त विद्या सिखानेवाला गुरु (वाचस्पतिः) वाणीका उत्तम प्रयोग करनेमें समर्थ उत्तम रीतिसे विद्या पढानेवाला हो, (वसोष्पतिः) अग्न्यादि मूलतत्त्वोंका प्रयोग यथावत् करनेवाला हो, (असोष्पतिः) प्राणविद्याका ज्ञाता हो । "पति" शब्द यहां "प्रभुत्व" (mastership) का भाव बताता है ।

३. पढानेकी रीति - गुरु अपने (देवेन मनसा) मनके शुभ संकल्पके साथ पढावे । (निरमय) रमणपद्धतिसे पढावे, शिष्योंका आनंद पढाता हुआ पढावे । स्वयं (नियच्छतु) सुनियमोंसे चले और शिष्योंका सुनियोंसे चलावे। शिष्योंके प्रश्नोंका (उपह्वयतां) आदरपूर्वक उत्तर देकर उनका समाधान करे ।

४. शिष्य - शिष्य सदा प्रयत्नपूर्वक इच्छा करे कि (श्रुतेन सं गमेमहि) हम ज्ञानी बनें, (श्रुतं मयि अस्तु) प्राप्त ज्ञान मेरे अंदर स्थिर रहे । तथा (श्रुतेन मा वि राधिषि) ज्ञानका विरोध कभी न करें ।

विजय-सूक्त ।

(२)

यह "अपराजित गण" का प्रथम सूक्त है जिसका ऋषि "अथर्वा" और देवता "पर्जन्य" है ।

विद्मा शरस्य पितरं पर्जन्यं भूरिधायसम् । विद्मो ष्वस्य मातरं पृथिवीं भूरिवर्पसम् ॥१॥
ज्याके परि णो नमाश्मानं तन्वं कृधि । वीडुर्वरीयोऽरातीरप द्वेषांस्या कृधि ॥२॥
वृक्षं यद्गावः परिषस्वजाना अनुस्फुरं शरमर्चन्त्यृभुम् । शरुमस्मद्यावय दिद्युमिन्द्र ॥३॥
यथा द्यां च पृथिवीं चान्तस्तिष्ठति तेजनम् । एवा रोगं चास्रावं चान्तस्तिष्ठतु मुञ्ज इत् ॥४॥

अर्थ - **(शरस्य)** शरका, बाणका पिता **(भूरि - धायसं पर्जन्यं)** बहुत प्रकारसे धारण पोषण करनेवाला पर्जन्य है यह **(विद्म)** हम जानते है । तथा **(अस्य)** इसकी माता **(भूरि-वर्पसं)** बहुत प्रकारकी कुशलताओंसे युक्त पृथिवी है, यह हमें **(सुविद्म)** उत्तम प्रकारसे पता है ॥१॥ हे (ज्याके) माता ! (नः) हम सब पुत्रोंको **(परि नम)** परिणत कर अर्थात् हमारे **(तन्वं)** शरीरको **(अश्मानं)** पत्थर जैसा सुदृढ **(कृधि)** कर **(वीडुः)** बलवान बनकर **(अ-रातीः)** अदानके भआवोंको तथा **(द्वेषांसि)** द्वेषोंको अर्थात् सब शत्रुओंको **(वरीयः)** पूर्ण रीतिसे **(अप कृधि)** दूर कर ॥२॥ **(यत्)** जिस प्रकार **(वृक्षं)** वृक्षके साथ **(परिषस्वजानाः)** लिपटी हुई या बंधी हुई **(गावः)** गौएं अपने **(ऋभुं शरं)** तेजस्वी पुत्र शरको **(अनुस्फुरं)** फुर्तीके साथ **(अर्चन्ति)** चाहती है, उसी प्रकार हे इन्द्र ! **(अस्मत्)** हमसे **(दिद्युं शरुं)** तेज पुत्र बाणको **(यावय)** दूर बढा ॥३॥ जिस प्रकार **(द्यां)** द्युलोक और पृथ्वीके **(अन्तः)** बीचमें **(तेजनं)** तेज **(तिष्ठति)** होता है, **(एव)** इसी प्रकार यह **(मुञ्जः)** मुंज **(रोगं च आस्रावं च)** रोग और स्रावके **(अन्तः)** बीचमें **(इत् तिष्ठतु)** निश्चयसे रहे ॥४॥

भावार्थ– धारण-पोषण उत्तम प्रकारसे करनेवाला पिता पर्जन्य है, कुशलतासे अनेक कर्म करनेवाली माता पृथ्वी है, इन दोनोंसे शर-सरकंडा-पुत्र उत्पन्न होता है । ॥१॥ माता पुत्रके शरीरपर ऐसा परिणाम करावे कि जिससे वह बलवान बनकर शत्रुओंको पूर्ण रीतिसे दूर करनेमें समर्थ हो सके ॥२॥ जिस प्रकार वृक्षके साथ बंधी हुई गौवे अपने बछडे को वेगसे प्राप्त करना चाहती है, उसी प्रकार हे ईश्वर ! तेज शर हमसे आगे बढे ॥३॥ जिस प्रकार द्युलोक और पृथ्वीके बीचमें प्रकाश होता है, उसी प्रकार रोग और स्राव-घाव के बीचमें शर ठहरे ॥४॥

---

५ गुरू शिष्य - सज्ज धनुष्यके दोनों नोक जिस प्रकार डोरीसे तने रहते हैं, उस प्रकार विद्यारूपी डोरीसे समाजके गुरू-शिष्य-रूपी दोनों नोक एक दूसरेसे पूर्णतया सुसंबंध रहें । कभी उनमें ढीलेपन न आजावे ।

यह सब सूक्त शिष्यके मुखद्वारा उच्चारित होनेके समान है, इससे अनुमान होता है कि गुरूको लाने, रखने आदिके प्रबंधादि व्ययका उत्तरदातृत्व शिष्यों या शिष्योंके संरक्षकोंपर ही पूर्णतया है ।

अनुसन्धान

इस प्रथम सूक्तमें "मेधाजनन" अर्थात् बुद्धिका संवर्धन करनेके मूलभूत नियम बताये हैं । गुरू, शिष्य तथा विद्यालय आदिका प्रबंध किस रीतिसे करना चाहिये, गुरू किस प्रकार पढावे, शिष्य किस ढंगसे पढे और दोनों मिलकर राष्ट्रकी उन्नति किस रीतिसे करें इसका विचार किया गया ।

इसके पश्चात् विद्याकी पढाई शुरू होती हैं, जिसमें अपराजित गणका सूक्त "विद्या शरस्य पितरं" यह है। अथर्ववेदमें यह द्वितीय सूक्त है । तृतीय सूक्त भी इसी वाक्यसे प्रारंभ होता है । इन दोनों सूक्तोंका विचार अब करेंगे ।

यह भावार्थ भी परिपूर्ण नही क्योंकि इन मंत्रोंके हरएक आगे पीछेका संबंध देखकर जो भाव व्यक्त होता

है, वह जानकर ही मंत्रोंका सच्चा भावार्थ जानना चाहिये। वह भाव, देखनेके लिये आगेका स्पष्टीकरण देखिये

(१) वैयक्तिक विजय।

इस सूक्तमें पहिला वैयक्तिक प्राप्त करनेके उपदेश निम्न प्रकार बताये हैं -

१ **उत्तम मातापितासे जन्म प्राप्त हो, (मंत्र १)**
२ **शरीर बलवान बनाया जावे, (मंत्र २)**
३ **रोगादि शत्रुओंको दूर रखा जावे, (मंत्र २)**
४ **शरीरमें फुर्ती लाई जावे, (मंत्र ३)**
५ **जगत्में अपना तेज फैलानेका यत्न किया जावे, (मंत्र ४)**
६ **शोधनों से रोगोंको दूर किया जावे, (मंत्र ४)**

पाठक विचारको दृष्टिसे इन मंत्रोंका विचार करेंगे तो इनकी उक्त छः भाव वैयक्तिक उन्नतिके साधन पूर्वोक्त चारों मंत्रोंके अन्दर गुप्तरूपसे दिखाई देंगे। इनका विशेष विचार होनेके लिये यहां मंत्रोंके शब्दार्थ और स्पष्टीकरण दिये जाते हैं -

(२) पिताके गुण-धर्म-कर्म।

पूर्वोक्त मंत्रोंमे पिताके गुणधर्म बतानेवाले ये शब्द आये हैं - "पिता, पर्जन्य, भूरिधायस्, वृक्ष, द्यौः।" इनके अर्थोका बोध होनेसे पिताके गुण - धर्म - कर्मोका बोध हो सकता है, इसलिये इनका आशय देखिये -

१ **पिता** - (माता) रक्षक, संभालनेवाला।
२ **पर्जन्यः** (पूर्ति + जन्यः) पूर्ति करनेवाला, पूर्णता करनेवाला। न्यूनताको दूर करनेवाला।
३ **भूरिधायस्** - (भूरि) बहुत प्रकारसे (धायस्) धारण पोषण करनेवाला, दाता, उदारचरित।
४ **वृक्षः** - आधार, स्वयं धूप सहकर दूसरोंको छाया देनेवाला।
५ **द्यौ** : - प्रकाश देनेवाला, अंधकारका नाश करनेवाला।

मुख्यतः ये पांच शब्द हैं जो उक्त मंत्रोंमें पिताके गुणधर्म कर्मोका प्रकाश कर रहे हैं। इनका आशय यह है- "पिता ऐसा हो कि जो अपने पुत्रादिकोंका उत्तम पालन करे उनके अंदर जो जो न्यूनताएं हों उनकी पूर्णता करे अर्थात् अपनी संतानको पूर्ण उच्च गुणोंसे युक्त बनानेमें अपनी पराकाष्ठा करे, उनका हर प्रकारसे पोषण करे और उनको दृष्ट पुष्ट तथा बलिष्ठ बनावे, वह स्वयं कष्ट सहन करके भी अपनी संतान की उन्नति करे, तथा अपने पुत्रों और लडकियोंको ज्ञान देकर उनको उत्तम नागरिक बनावे।"

(३) माताके गुण-धर्म-कर्म।

"माता, पृथिवी, भूरिवर्पस् ज्याका, गौ" ये पांच शब्द पूर्वोक्त मन्त्रोमें माताके गुणधर्मकर्मोको प्रकट कर रहे हैं। इनका अर्थ देखिये -

१ **माता** - बालकोंका हित करनेवाली।
२ **पृथिवी** - क्षमाशील, सहनशील, पुत्रोंकी उन्नतिके लिये आवश्यक कष्ट सहन करनेवाली।
३ **भूरिवर्पस्** - (भूरि) बहुत (वर्पस्) कुशलतासे कर्म करनेमें समर्थ, कर्ममें अत्यंत कुशल, सदा कर्म करनेमें दक्ष, परिवारकी उन्नतिके लिये उत्तम कर्म करनेवाली।
४ **ज्या,** ज्याका - (ज्या - जया) जयका साधन करनेवाली, माता, पृथिवी, रस्सी, बलशालिनी।
५ **गौः** - प्रगतिशील, दुग्धादिद्वारा पुत्रोंकी पुष्टी करनेवाली। किरण, स्वर्ग, रत्न, वाणी, सरस्वती, माता, जल, नेत्र, आकाश सूर्य आदिके शुभगुणोंसे युक्त।

माताके गुणधर्म इन शब्दोंद्वारा व्यक्त हो रहे हैं। **अर्थात्** - "बालबच्चोंका हित करनेवाली, क्षमाशील, पुत्रोंकी उन्नतिके लिये करनेयोग्य कर्मोंमें सदा दक्ष रहनेवाली, बहुतही कुशलतासे अपने कुटुंबकी उन्नति करनेमें समर्थ, बलशालिनी, गौके समान दुग्धादिद्वारा बालकोंकी पुष्टि करनेवाली, किरणोंके समान प्रकाश करनेवाली, स्वर्गके समान सुखदायिनी, रत्नके समान घरकी शोभा बढानेवाली, शुभ भाषण करनेमें चतुर, विदुषी, जलके समान शांति बढानेवाली, नेत्रके समान मार्ग दर्शानेवाली, आकाशके समान सबको आश्रय देनेवाली, सूर्यके समान अज्ञानान्धकार दूर करनेवाली माता होनी चाहिये।"

पिताके गुणधर्म कर्म पहिले बताये, और यहां माताके गुण धर्म बताये हैं। ये आदर्श माता पिता हैं, इनसे जो पुत्र पैदा होगा और पाला तथा बढाया जायगा, वह भी सच्चा वीर पुत्रही होगा तथा पुत्री भी उसी प्रकार वीरा बनेगी इसमें क्या संदेह है?

(४) पुत्रके गुण-धर्म-कर्म।

पूर्वोक्त मंत्रोमें पुत्रके गुणधर्मकर्म बतानेवाले ये शब्द हैं– "शरः, अश्मा-तनुः, वीडुः, ऋभुः, शरूः, दिद्युः, तेजनं, मुञ्जः" इनके अर्थ ये हैं -

१ **शरः** - (शृणाति) जो शत्रुका नाश कर सकता है।
२ **अश्मा** - तनुः- पत्थर के समान सुदृढ शरीरवाला।
३ **वीडुः** - बलिष्ठ, शूर।
४ **ऋभुः** - बुद्धिमान्, कुशल, कारीगर, तेजस्वी।
५ **शरूः** - शत्रुका नाश करनेवाला।
६ **विद्युः** - तेजस्वी
७ **तेजनः** - प्रकाशमान।
८ **मुञ्जः** - (मुञ्जति मार्जयति) शुद्धता और पवित्रता करनेवाला।

पुत्र ऐसा हो कि जो "शत्रुका नाश करनेमें समर्थ हो, सुदृढ अंगवाला हो, शूर, बुद्धिमान, कुशल, कारीगर, तेजस्वी, यशस्वी और पवित्र आचारवालाहो।" माता पिताको उचित है, कि वे ऐसा यत्न करें कि पुत्रमें ये गुणधर्म और कर्म बढें और इन गुणोंके द्वारा कुलका यश फैले।

यह बात स्पष्ट ही है कि पूर्वोक्त गुणधर्म कर्मोंसे युक्त मातापिता होंगे तो उनके पुत्रों और पुत्रियोंमें ये गुणधर्म आ सकते हैं।

(५) एक अद्‌भूत अलंकार

पिता
माता
पुत्र
बाण
धनु
ज्या

इस सूक्तमें बाण, धनुष्य और डोरीके अलंकारसे एक महत्त्वपूर्ण बातका प्रकाश किया है। धनुष्यका सख्त भाग जिसपर डोरी चढाई जाती है वह पुरुषरूप समझिये, डोरी मातारूप है और पुत्र बाणरूप है। पिताका बल और माताकी प्रेरणा इनसे युक्त होकर पुत्र संसारमें फेंका जाता है। वह संसारमें जाकर अपने शत्रुओंका नाश करके यशका भागी होता है। इस अलंकारका विचार पाठक करेंगे तो उनको बडाही बोध प्राप्त हो सकता है। पुत्रकी उन्नतिमें माता पिताका कार्य कितना होता है इसकी ठीक कल्पना इस अलंकारसे पाठकोंके मनमें आ सकती है।

डोरीके बिना केवल धनु जैसा शत्रुनाश करनेमें असमर्थ है उसी प्रकार स्त्रीके बिना पुरुष असमर्थ है। तथा जिस प्रकार धनुके बिना डोरी कार्य करनेमें असमर्थ है उसी रीतिसे पुरुषके बिना स्त्री असमर्थ है। माता पिता की योग्य प्रेरणा और योग्य शिक्षाद्वारा सुशिक्षित बना पुत्रही जगत्में यशस्वी होता है। यह अलंकार गृहस्थियोंको बडाही बोधप्रद हो सकता है।

पिताके सूचक "पर्जन्य, वृक्ष" आदि शब्द तथा माताके सूचक "पृथिवी" आदि शब्द उनका ऋतुगामित्व होकर ब्रह्मचारी होनेकी सूचना कर रहे हैं। (इस विषयमें स्वाध्याय मंडलद्वारा प्रकाशित "ब्रह्मचर्य" पुस्तकके अंदर अथर्ववेदीय ब्रह्मचर्य-सूक्तकी व्याख्यामें पृथ्वी, पर्जन्य और वृक्षोंके ब्रह्मचर्यका प्रकरण अवश्य देखिये)

(६) कुटुम्बका विजय।

व्यक्तिकी उन्नतिके विषयमें पहिले बतायाही है कि वैयक्तिक विजय की सुचनाएं इस सूक्तमें किस रूपमें है। कुटुंबके या परिवारके विजयका संबंध पूर्वोक्त अलंकार तथा स्पष्टीकरणके देखनेसे स्पष्ट हो सकता है। कुटुंबका विजय माता पिताके उत्तम कर्तव्य पालन करने और सुप्रजा निर्माण करनेसे ही प्राप्त होना है।

(मंत्र १) जैसा "अनेक प्रकारसे पोषण करनेवाला पर्जन्य पिता ऋतुगामी होकर वर्षा ऋतुमें अपने जलरूपी वीर्यका सिंचन उत्तम उपजाऊ भूमिमें करता है और शररूपी विजयी संतानकी उत्पत्ति करता है," तद्वत् माता पिता ऋतुगामी होकर वीर पुत्र उत्पन्न करें।

(मंत्र २) "हे जयका साधन करनेवाली माता। अपने पुत्रोंका शरीर पत्थर जैसा सुदृढ बना, जिससे पुत्र बलवान बनकर अपने शत्रुओंको दूर कर सके।"

(मंत्र ३) - "जिस प्रकार वृक्षके साथ बंधी हुई गौवें अपने तेज बछडेको चाहती हैं" (उसी प्रकार पिताके साथ रहती हुई माता भी अपने लिये तेजस्वी पुत्र उत्पन्न करनेकी ही इच्छा करे।) अथवा - (वृक्ष) धनुष्यके साथ रहनेवाली डोरी तेजस्वी (शरं, बाण ही वेगसे छोडती है। (उसी प्रकार पतिकी उपासना करनेवाली स्त्री वीर पुत्र उत्पन्न होनेकी ही अभिलाषा करे।) "हे (इन्द्र) परमात्मन्।

हमसे तेजस्वी (शरूः) बाणके समान तेजस्वी पुत्र चले अर्थात् उत्पन्न हो।" (मातापिता परमात्माकी प्रार्थना ऐसी करें कि हे ईश्वर! हमारा ऐसा पुत्र हो कि जो दूर दूर जाकर जगत्में विजय प्राप्त करे ।)

(**मंत्र ४**) - "जिस प्रकार (पिता) द्युलोक और (माता) पृथिवीके मध्यमें विद्युत आदि तेजस्वी पदार्थ (पुत्ररूपसे) रहते हैं, (उसी प्रकार माता पिता के मध्यमें तेजस्वी सुंदर बालक चमकता रहे।) जैसा मुञ्ज शर रोग और स्रावके घावके बीचमें रहता है" अर्थात् उनको दूर करता है उसी प्रकार (यह पवित्रता करनेवाला पुत्र रोग घावके मध्यमें रहता हुआ भी स्वयं अपना बचाव करे और कुलका भी उद्धार करे)

यह भाव पहिलेकी अपेक्षा अधिक विस्तृत है और इसमें स्पष्टीकरणके लिये पूर्वापर संबंध रखनेवाले अधिक वाक्य जोड दिये हैं, जिससे पाठकोंको पता लग जायगा, कि यह सूक्त कुटुंबके विजयका उपदेश किस ढंगसे दे रहा है । जातिके या राष्ट्रके विजयकी बुनियाद इस प्रकार कुटुंबकी सुस्थितिपर तथा सुप्रजा निर्माणपर ही अबलंबित है। जो लोग राष्ट्रकी उन्नति चाहते हैं, वे अपनी उन्नतिकी बुनियाद इस प्रकार कुटुंबमें रखें । आदर्श कुटुंब-व्यवस्था ही सब विजयका मुख्य साधन है।

(७) पूर्वापर-सम्बन्ध

पहिले सूक्तमें विद्या पढानेका उपदेश किया है। इस द्वितीय सूक्तसे पढाईका प्रारंभ हो रहा है । विद्याका प्रारंभ बिलकुल साधारण बातसे ही किया गया है। घास की उत्पत्तिका विषय हरएक स्थानके मनुष्य जानते हैं। "मेघसे पानी गिरता है और पृथ्वीसे घास उगता है इसलिये घासका पिता मेघ और माता भूमि है।" इतना ही विषय इस सूक्तके प्रारंभमें बताया है। इतनी साधारण घटनाका उपदेश करते हुए "पिता-माता-पुत्र" रूपी कुटुंबकी उन्नतिकी शिक्षा किस ढंगसे वेदने बतायी है यह पाठक यहां देख चुके हैं । घासके अंदर मुञ्ज या शर एक जातिका घास है । यह सरकंडा स्वयं शत्रुका वध करनेमें समर्थ नहीं होता। क्योंकि कोमल रहता है। परंतु जब उसके साथ कठिन लोहेका संयोग किया जाता है और पीछे पर लगाये जाते हैं, तब वही कोमल सरकंडा धनुष्यपर चढकर डोरीकी गति प्राप्त करके शत्रुका नाश करनेमें समर्थ होता है। इसी प्रकार कोमल बालक गुरू गृहकी कठिन तपस्या करता हुआ ब्रह्मचर्य पालनरूपी कठिन वज्रसे युक्त होकर उन्नतिके नियमोंके पालनसे अपनी गतिको एक मार्गमें रखता हुआ आपने, कुटुंबके, जातिके तथा राष्ट्रके शत्रुओंको भगा देनेमें समर्थ होता है।

पहिले सूक्तके तृतीय मंत्रमें धनुष्यकी उपमा देकर बताया है कि "गुरू शिष्यरूपी धनुष्यकी दो कोटियां विद्यारूपी डोरीसे तनी हैं।" प्रथम सूक्तमें यह अलंकार भिन्न उपदेश दे रहा है और इस सूक्तका धनुष्यका दृष्टांत भिन्न उपदेश दे रहा है । दृष्टांतमें एकदेशी बातको ही देखना होता है, इसलिये एक ही दृष्टांतसे भिन्न उपदेश देना कोई दोष नहीं है। प्रथम सूक्तके दृष्टांतमें भी डोरीका स्थान विद्या माता अर्थात् सरस्वती देवीको दिया है उसमें मातृत्व का सादृश्य है ।

जंगलमें वृक्षके साथ बंधी हुई गाय भी अपने बछडेका स्मरण करती रहती है, गायका बछडेके ऊपर का प्रेम सबसे बढिया प्रेम है। इस प्रकारका प्रेम अपने बालकके विषयमें माताके हृदयमें होना चाहिये । अपना बालक अति तेजस्वी हो, अति यशस्वी हो, यही भावना माता मनमें धारण करे और इस भावनाके साथ यदि माता अपने बालकको दूध पिलावेगी, तो उक्त गुण पुत्रमें निःसंदेह उतरेंगे। इस विषयमें तृतीय मंत्र मनन करनेके योग्य है ।

(८) कुटुम्बका आदर्श ।

चतुर्थ मंत्रमें आदर्श कुटुंबका नमूना सन्मुख रखा है। द्युलोक पिता, भूमि माता और इनके बीच का तेजस्वी गोलक इनका पुत्र है। अपने घरमें भी यही आदर्श होवे। आकाश और पृथ्वीमें जैसा सूर्य होता है उसी प्रकार पिता और माताके मध्यमें बालक चमकता रहे । कितना उच्च आदर्श हैं। हरएक गृहस्थी इसका स्मरण रखें ।

(९) औषधिप्रयोग

मुञ्ज घास अपने रस आदिसे अनेक रोगों और अनेक स्रावोंको दूर करता है, क्योंकि मुञ्ज शोधक, सुद्धता तथा निर्मलता करनेवाला है । इसलिये स्पष्ट है कि यदि शोधकता और पवित्रता का गुण अपने अंदर बढाया जाय तो रोगादि दूर रह करते हैं। हरएकके लिये यह सूचना अपनाने योग्य है ।

मुञ्ज या शर औषधिका प्रयोग करके स्रावके रोग तथा मूत्राघात आदि रोग दूर होते हैं। इस विषयका सूचक उपदेश इस सूक्तके अन्तमें हैं। वैद्य लोग इसका विचार करें ।

(१०) राष्ट्रका विजय ।

व्यक्ति, कुटुंब, जाति, देश तथा राष्ट्रके विजयपूर्ण अभ्युदयके नियमोंमे समानता है । पाठक इस बातको अच्छी प्रकार जानते ही है । व्यक्तिका कार्यक्षेत्र छोटा और राष्ट्रका विस्तृत है,छोटेपन और विस्तृतपन की बातको छोडनेसे दोनों स्थानोंमें नियमोंको एकरूपताका अनुभव आ सकता है ।

कुटुंबका ही विस्तृत रूप राष्ट्र है, ऐसा मान ले और पूर्वस्थानमें एक घर या एक परिवारके विषयमें जो उपदेश बताया है, वही विस्तृत रूपसे राष्ट्रमें देखेंगे तो पाठकोंको राष्ट्रीय उन्नति का विषय पूर्वोक्त रीतिसे ही ज्ञात हो जायगा ।

घरमें पिता शासक है, राष्ट्रमें राजा शासक है, घरमें माता प्रबंधकर्त्री है, राष्ट्रमें प्रजाद्वारा चुनी हुई राष्ट्रसभा प्रबंधकर्त्री है । घरमें पुत्र वीर बनाया जाता है और राष्ट्रमें बालचमुओंमें वीरता बढाई जाती है । इत्यादि साम्य देखकर पाठक जानसकते हैं कि यह सूक्त राष्ट्रीय विजयका उपदेश किस ढंगसे देता है । पूर्वोक्त स्थानमें वर्णन किये हुए पिता, माता और पुत्रके गुणधर्मकर्म यहां राष्ट्रीय क्षेत्रमें अतिविस्तारसे देखनेसे इस क्षेत्रकी बात पाठकोंको अतिस्पष्ट ही जायगी । इस भावको ध्यानमें धारण करनेसे इस सूक्तका राष्ट्रीय भाव निम्न लिखित प्रकार होगा -

"प्रजाका उत्तम धारण पोषण और पूर्णता करनेवाला राजा ही शूरका सच्चा पिता और उसकी माता बहुत कर्मोकी प्रेरणा करनेवाली मातृभूमि ही है ॥१॥ हे मातृभूमि! हम सबके शरीर अति सुदृढ हों, जिससे हम सब उत्तम बलवान बनकर अपने शत्रुओंको भगा देंगे ॥२॥ जिस प्रकार गौ अपने बछडेका हित सदा चाहती है, उसी प्रकार हे ईश्वर ! मातृभूमिके प्रेमसे बढे हुए वीर आगे बढें ॥३॥ जिस प्रकार आकाश और भूमिके बीचमें तेजोगोलक होते हैं उसी प्रकार राजा और प्रजाके मध्यमें वीर चमकते रहें । तथा वे पवित्रता करते हुए रोगादि भयसे दूर हों ॥४॥

साधारणतः यह आशय अतिसंक्षेपसे है । पाठक इस प्रकार विचार करें और वेदके आशयको समझनेका यत्न करें ।

आरोग्य सूक्त ।

(३)

पूर्ण सूक्तका अभ्यास करनेसे यह ज्ञान हुआ कि पर्जन्य पिता है, पृथ्वी माता है और इनके पुत्र वृक्षवनस्पति आदि सब हैं । यहां शंका उत्पन्न होती है कि, क्या पर्जन्यके समान सूर्य, चंद्र, वायु आदि भी वृक्षवनस्पतियोंके लिये पितृस्थानीय हैं वा नहीं क्या इनके न होते हुए, केवल अकेला एक ही पर्जन्य तृणादि की उत्पत्ति करनेमें समर्थ हो सकता है? इसके उत्तरमें यह तृतीय सूक्त हैं -

[ऋषि - अथर्वा । देवता - (मंत्रोंमें उक्त अनेक) देवताएँ]

वि॒द्मा श॒रस्य॑ पि॒तरं॑ प॒र्जन्यं॑ श॒तवृ॑ष्ण्यम् ।
तेना॑ ते त॒न्वे॒३॒॑ शं क॑रं पृथि॒व्यां ते॑ नि॒षेच॑नं ब॒हिष्टे॑ अस्तु बा॒लिति॑ ॥ १ ॥

वि॒द्मा श॒रस्य॑ पि॒तरं॑ मि॒त्रं श॒तवृ॑ष्ण्यम् ।
तेना॑ ते त॒न्वे॒३॒॑ शं क॑रं पृथि॒व्यां ते॑ नि॒षेच॑नं ब॒हिष्टे॑ अस्तु बा॒लिति॑ ॥ २ ॥

वि॒द्मा श॒रस्य॑ पि॒तरं॒ वरु॑णं श॒तवृ॑ष्ण्यम् ।
तेना॑ ते त॒न्वे॒३॒॑ शं क॑रं पृथि॒व्यां ते॑ नि॒षेच॑नं ब॒हिष्टे॑ अस्तु बा॒लिति॑ ॥ ३ ॥

विद्मा शरस्य पितरं चन्द्रं शतवृष्ण्यम्।
तेना ते तन्वे३ शं करं पृथिव्यां ते निषेचनं बहिष्टे अस्तु बालिति ॥ ४ ॥
विद्मा शरस्य पितरं सूर्यं शतवृष्ण्यम्।
तेना ते तन्वे३ शं करं पृथिव्यां ते निषेचनं बहिष्टे अस्तु बालिति ॥ ५ ॥

अर्थ - **(विद्या)** हमें पता है कि शरके पिता **(शत - वृष्ण्यं)** सैकडों बलोंसे युक्त पर्जन्य,... मित्र,... वरूण,... चंद्र,... सूर्य... (ये पांच) हैं। **(तेन)** इन पांचोंके वीर्यसे **(ते तन्वे)** तेरे शरीरके लिये मैं **(शं करं)** आरोग्य करूं। **(पृथिव्यां)** पृथिवीके अन्दर **(ते निषेचनम्)** तेरा सिंचन होवे और सब दोष **(ते)** तेरे शरीरसे **(बाल् इति)** शीघ्रही **(बहिः अस्तु)** बाहर हो जावे ॥१-५॥

भावार्थ - तृणादि मनुष्यपर्यंत सृष्टिकी माता भूमि है और पिता पर्जन्य, मित्र, वरूण, चंद्र, सूर्य ये पांच हैं। इनमें अनंत बल हैं। उनके बलोंका योग्य उपयोग करनेसे मनुष्यके शरीरमें आरोग्य स्थिर रह सकता है, मनुष्यका जीवन दीर्घ हो सकता है और उसके शरीरसे सब दोष बाहर हो जाते हैं।

आरोग्यका साधन।

पांच मंत्रोंका मिलकर यह एकही गणमंत्र है और इसमें मनुष्यादि प्राणियों तथा वृक्षवनस्पतियोंके आरोग्यके मुख्यसाधनका दिये हैं। "शर" शब्द घास वाचक होता हुआ भी सामान्य अर्थसे यहां उपलक्षण है और तृणसे लेकर मनुष्यतक सृष्टिका आशय उसमें है। विशेष अर्थमें "शूर" संज्ञक वनस्पतिका गुणधर्म बताया जाता है यहबात भी स्पष्ट ही है।

इन मंत्रोंमें "पांच" पिता कहे हैं। "पिता" शब्द पाता अर्थात् रक्षा, संरक्षण करनेवाला इस अर्थमें यहां प्रयुक्त है। तृणादिसे लेकर मानव - सृष्टिपर्यंत सब की सुरक्षा करनेका कार्य इनका ही है। ये पांचो सब सृष्टिकी रक्षा कर ही रहे हैं। देखिये -

१ पर्जन्य वृष्टिद्वारा जलसिंचन करके सबका रक्षण करता है।
२ मित्र प्राणवायु है और इस वायुसे ही सब जीवित रहते हैं।
३ वरूण जलकी देवता है और वह जल सबकाजीवन ही कहलाता है।
४ चंद्र औषधियोंका अधिराजा है और औषधियाँ खाकर ही मनुष्य पशुपक्षी जीवित रहते हैं।
५ सूर्य सबका जीवनदाता प्रसिद्ध ही है। सूर्य न रहे तो सब जीवन नष्ट ही होगा।

इन पांचोंकी विविध शक्तियां हमारे जीवनके लिये सहायक हो रही हैं, इसलिये ये पांचो हमारे संरक्षक हैं, और संरक्षक होनेसे ही हमारे पितृस्थानीय हैं। इनसे आरोग्य किस प्रकार प्राप्त किया जा सकता है ? यह प्रश्न बडा गहन और बडी अन्वेषणाकी अपेक्षा रखता है। परंतु संक्षेपसे यहां इस विधिकी सूचना दी जाती है, पाठक विचार करें और लाभ उठावें -

पर्जन्यसे आरोग्य।

पर्जन्यका शुद्ध जल जो स्वाती आदि मध्य नक्षत्रोंसे प्राप्त किया जा सकता है वह बडा आरोग्यप्रद है। दिनके पूरे लंघनके समय यदि इसका पान किया जाय तो शरीरके संपूर्ण दोष दूर हो जाते हैं और पूर्ण नीरोगता प्राप्त हो सकती है। वृष्टि जलके स्नानसे शरीरके शुष्क खुजली आदिका निवारण होता है। अंतरिक्षमें शुद्ध प्राण विराजमान है वह वृष्टिके जलबिंदुओंके साथ भूमिपर आता है। इसलिये वृष्टिजलका स्नान आरोग्य वर्धक है।

मित्र (प्राण) वायुसे आरोग्य।

प्राणायामसे योगसाधनमें आरोग्यरक्षणका जो उपाय वर्णन किया है वह यहां अनुसंधेय है। दोनों नासिका - रन्ध्र- सूत्रनेतिसे, भस्त्रिकासे अथवा जलकी नेतिसे स्वच्छ और मलरहित रखनेसे प्राणवायु अंदर जाता और उत्तम पवित्रता स्थापित करता है। खुली वायुमें सब कपडे उतार कर रहनेसे भी होनेवाला वायुस्नान बडा आरोग्यवर्धक है। जो सदा वस्त्ररहित रहते हैं उनको रोग कम होते हैं इसका यही कारण है। वस्त्रादि बढनेसे भी रोग बढे हैं इसका कारण इतना ही है कि वस्त्राके कारण प्राणवायुका संबंध शरीरके साथ जैसा होना चाहिये वैसा नही होता और इस कारण आरोग्य न्यून होता है।

वरूण (जल) देवसे आरोग्य।

वरूण मुख्यतः समुद्रका देव है। समुद्रके खारे पानीके स्नानसे संपूर्ण चर्मदोष दूर होते हैं, रूधिराभिसरण उत्तम होता है, पाचनशक्ति बढती है और अनेक प्रकारसे

आरोग्य प्राप्त होता है। अन्य जल अर्थात् तालाब, कुए, नदी आदिकोंके जलके स्नानसे उनमें उत्तम प्रकार तैरनेसे भी कई दोष दूर हो जाते हैं। जलचिकित्साका यह विषय है वह पाठक यहां अनुसंधान करके देखे। यह बडा ही विस्तृत विषय है क्योंकि प्रायः सभी बीमारियां जलचिकित्सासे दूर हो सकती हैं।

चन्द्र (सोम) देवसे आरोग्य।

चंद्र औषधियोंका राजा है, इसका दुसरा नाम सोम है। सोमादि औषधियोंसे आरोग्य प्राप्त करनेका साधन चरकादि आचार्योंने अपने वैद्य ग्रंथोंमे लिखा ही है। इसी साधनका दूसरा नाम "वैद्यक" है।

सूर्यदेवसे आरोग्य।

सूर्य पवित्रता करनेवाला है। सूर्यकिरणसे जीवनका तत्त्व सर्वत्र फैलता है। सूर्यकिरणोंका स्नान नंगे शरीरसे करनेसे अर्थात् धूपमे अपना शरीर तपानेसे आरोग्य प्राप्त होता है। सूर्यकिरणोंसे चिकित्सा करनेका भी एक बडाभारी शास्त्र है।

पञ्चपाद पिता।

ये पांच देव अनेक प्रकारसे मनुष्य, पशुपक्षी, वृक्ष, वनस्पति आदिकोंका आरोग्य साधन करते हैं। वृक्षवनस्पति और आरण्यक पशु उक्त पंचपाद पितरां अर्थात् पाचों देवोंके साथ पांचो पिताओंके साथ-पांचो रक्षकोंके साथ नित्य रहते हैं, इसलिये सदा आरोग्यसंपन्न होते हैं। नागरिक पशुपक्षी मनुष्यके कृत्रिम-बनावटी जीवनसे संबंधित होनेके कारण रोगोंसे अधिक ग्रस्त होते हैं। जंगली लोग प्रायः सीदे सादे रहनेके कारण अधिक नीरोग होते हैं। परंतु नागरिक लोग कि जो सदा तंग मकानोंमे रहते हैं, सदा तंग वस्त्रोंसे वेष्टित होते हैं और जल, वायु तथा सुर्यप्रकाश आदिकोंसे अपने आपको दूर रखते हैं, अर्थात् जो अपने पंचपिताओंसे ही विमुख रहते हैं वेही अधिकसे अधिक रोगी होते हैं और प्रति दिन इन तंगीसे पीडित नागरिक लोगोंमे ही विविध रोग बढ रहे हैं और अस्वाथ्यसे ये ही सदा दुःखी होते हैं।

इसलिये वेद कहता है कि पर्जन्य, मित्र (प्राण) वायु, जलदेव वरूण, चंद्र, सुर्यदेव इन पांच देवोंको अपना पिता अर्थात् अपना संरक्षक जानो और–

तेना ते तन्वे शं करम्।

"इन पांचो देवोके विविध बलोंसे अपने शरीरका आरोग्य प्राप्त करो" अथवा "मैं उक्त देवोंकी शक्तियोंसे तेरे शरीरका आरोग्य करूं।" आरोग्य इनसेही प्राप्त होता है। आरोग्यका मुख्य ज्ञान इस मंत्रमें स्पष्टतया आ गया हैं। पाठक इनका विचार करें और इस निसर्गनियमोंका पालन करके अपना आरोग्य प्राप्त करें।

पृथ्वीमें जीवन।

पृथ्वीमें प्राणिमात्रका सामान्यतः और मनुष्यका उच्च जीवन विशेषतः उक्त पांचो शक्तियोंपर ही निर्भर है। मंत्रका "निषेचन" शब्द "जीवनरूप जल" का सूचक है। इसलिये –

ते पृथिव्यां निषेचनम्।

इस मंत्रभागका आशय "तेरा पृथ्वीमें जीवन" पूर्वोक्त पांचो देवताओंके साथ संबंधित है यह स्पष्ट है। जो शरीर का आरोग्य, शरीरका कल्याण करनेवाले हैं वेही जीवन अथवा दीर्घ जीवन देनेवाले निश्चयसे हैं। इनके द्वारा ही-

ते बालू इति बहिः अस्तु।

"तेरे शरीरके दोष शीघ्र बाहर हो जांय॥" पूर्वोक्त पांचो देवोंके योग्य संबंधसे शरीरके सब दोष शरीरसे बाहर हो जाते हैं। देखिये -

१) वृष्टिजल-पान-पूर्वक लंघन करनेसे मूत्रद्वारा शरीर दोष बाहर हो जाते हैं।
२) शुद्ध प्राणके अंदर जानेसे रक्तशुद्धि होती है और उच्छ्वासद्वारा दोष दूर होते हैं।
३) जलचिकित्साद्वारा हरएक अवयवके दोष दूर किये जा सकते हैं।
४) सोम आदिक औषधियोंका औषधि नाम इसलिये है, कि वे शरीरके (दोष -धो) दोषोंको धोती हैं।
५) सूर्यकिरण पसीना लाने तथा अन्यान्य रीतियोंसे शरीरके रोग बीज दूर कर देते हैं।

इस रीतिसे पाठक अनुभव करें कि ये पांच देव किस प्रकार शरीरका (शं करें) कल्याण करते हैं। आरोग्य देते है, (निषेचन) जीवन बढाते हैं, और (बहिः) दोषोंको बाहर निकाल देते हैं।

"शं" शब्द "शांति" का सूचक है। शरीरमें "शांति, समता, सुख" आदि स्थापन करना आरोग्यका भाव बता रहा है। ये देव "शं" करनेवाले हैं, इसका तात्पर्य यही है कि, ये आरोग्य बढानेवाले हैं। आरोग्य बढानेके कारण जीवन बढानेवाले अर्थात् दीर्घ जीवन करनेवाले हैं और सदा सर्वदा दोषोंको शीघ्र बाहर करनेवाले हैं। पाठक इस मंत्रके मननसे अपने आरोग्यके मुख्य सिद्धान्तका ज्ञान स्पष्टतया प्राप्त कर सकते हैं। इस प्रकार आरोग्यके मुख्य साधनका सामान्यतया उपदेश करके मूत्रदोष निवारणका विशेष उपाय बताते हैं -

मूत्रदोष - निवारण।

यदान्त्रेषु गवीन्योर्यद्वस्तावधि संश्रुतम्। एवा ते मूत्रं मुच्यतां बहिर्बालिति सर्वकम् ॥६॥
प्र ते भिनद्मि मेहनं वर्त्रं वेशन्त्या इव। एवा ते मूत्रं मुच्यतां बहिर्बालिति सर्वकम् ॥७॥
विषितं ते वस्तिबिलं समुद्रस्योदधेरिव। एवा ते मूत्रं मुच्यतां बहिर्बालिति सर्वकम् ॥८॥
यथेषुका परापतदवसृष्टाऽधि धन्वनः। एवा ते मूत्रं मुच्यतां बहिर्बालिति सर्वकम् ॥९॥

अर्थ - **(यत्)** जो **(आन्त्रेषु)** आंतोमे **(गवीन्योः)** मूत्र नाडियोंमे तथा जो **(वस्तौ)** मूत्राशयमें मूत्र **(संश्रुतं)** इकठ्ठा हुआ है। वह तेरा मूत्र **(सर्वकं)** सबका सब एकदम बाहर **(मुच्यताम्)** निकल जावे ॥६॥ **(वेशन्त्याः)** झीलके पानीके **(वर्त्रं)** बंधको **(इव)** जिस प्रकार खोल देते हैं तद्वत् तेरे **(वेहनं)** मूत्रद्वारको **(प्र भिनद्मि)** मैं खोल देता हूं ...॥७॥समुद्रके अथवा **(उदधेः)** बडे तालावके जलके लिये मार्ग खुला करनेके समान तेरा **(वस्ति-बिलं)** मूत्राशयका बिलं मैंने **(विषितं)** खोल दिया है .. ॥८॥जिस प्रकार धनुष्यसे छुटा हुआ **(इषुका)** बाण **(परा अपतत्)** दूर जाता है, उस प्रकार तेरा सब-मूत्र शीघ्र बाहर निकल जावे ॥९॥

भावार्थ - तालाव आदिसे जिस प्रकार नहर निकाल देते हैं जिससे तालावका पानी सुखपूर्वक बाहर जाता है उसी प्रकार मूत्राशयसे मूत्र मूत्रनाडियों द्वारा मूत्रेंद्रियसे बाहर निकल जावे।

मूत्र खुली रीतिसे बाहर जानेसे शरीरके बहुत दोष दूर हो जाते हैं। शरीरके सब विष मानो इस मूत्रमें इकठ्ठे होते हैं और वे मूत्र बाहर जानेसे विष भी उसके साथ बाहर जाते हैं और आरोग्य प्राप्त होता हैं। इसलिये किसी रोगी का मूत्र अंदर रूक जानेसे मूत्रके विष शरीरमें फैलते हैं और रोगी शीघ्रही मर जाता है। इस कारण आरोग्यके लिये मूत्रका उत्सर्ग नियमपूर्वक होना अत्यंत आवश्यक है। यदि वह मूत्र मूत्राशयमें रूक जाय तो मूत्र नलिकाको खोल कर मूत्रका मार्ग खुला करना आवश्यक है। इस कार्यके लिये शर या मुञ्ज औषधिका प्रयोग बडा सहायक हे। वैद्य लोग इसका उपयोग करें। इसपर दूसरा उपाय मूत्रद्वार खोलनेका है, इसके लिये लोह शलाका, बस्तियंत्र (Catheter कैथेटर) का प्रयोग करनेकी सूचना इन मंत्रों की उपमाओंसे मिलती है। यह मूत्राशय यंत्र सोनेका, चांदीका या लोहेका बनाया जाता है, यह बारीक नलिका आरंभमें गोल सी होती है, आजकल यह रबर आदि अन्यान्य पदार्थोंका भी बनाबनाया मिलता हैं। इस समय इसको हरएक डाक्टरके पास पाठक देख सकते है। यह मूत्र इंद्रियसे मूत्राशयमें योग्य रीतिसे डाला जाता है। यह वहां पहुंचनेसे अंदर रूका हुआ मूत्र इसके अंदर की नलीसे बाहर हो जाता है।

योगी लोग इसकी सहायतासे वज्रोली आदि क्रियाएं साध्य करते हैं मूत्रद्वारसे कोसा दूध अथवा जल आदि अंदर मूत्राशयमें खींचने और उसके द्वारा मूत्राशयको शुद्ध करनेका सामर्थ्य अपनेमे बढाते हैं। इसका अभ्यास बढानेसे न केवल मूत्राशयपर प्रभुत्व प्राप्त होता है, परंतु संपूर्ण वीर्य नाडियोंके समेत संपूर्ण वीर्याशयपर भी प्रभुत्व प्राप्त होता है। ऊर्ध्वरेता होनेकी सिद्धि इसीके योग्य अभ्याससे प्राप्त होता है। योगी लोग इस अभ्यासको अतिगुप्त रखते हैं और योग्य परीक्षा होनेके पश्चात् ही यह अभ्यास शिष्यको सिखाया जाता है। पूर्णब्रह्मचर्य रहना इसी अभ्याससे साध्य होता है। गृहस्थ धर्म पालन करते हुए भी पूर्ण ब्रह्मचर्य पालन होनेकी संभावना इस अभ्याससे हो सकती है।

जिस प्रकार तालाव या कूवेके अंदरसे पहिला जल निकालनेसे उसकी स्वच्छता हो सकती है, और शुद्ध नया जल उसमें आनेसे उसका अधिकसे अधिक लाभ हो सकता है इसी प्रकार मूत्राशयका पूर्वोक्त प्रकार योगादि साधनद्वारा बल बढानेसे बडा ही आरोग्य प्राप्त हो सकता है।

सामान्य मनुष्योंके लिये मुञ्ज औषधिके प्रयोगसे, अथवा मूत्राशयमें मूत्रबस्ति यंत्रके प्रयोगसे लाभ होता है। योगियोंको वज्रोली आदि अभ्याससे मूत्रस्थानकी सब नस नाडी बलवती और शुद्ध करनेसे आरोग्य प्राप्त होता है।

पूर्वापपर सम्बन्ध

द्वितीय सूक्तमें आरोग्य साधनका विषय प्रारंभ किया था। उसी आरोग्यप्राप्तिका विस्तृत नियम इस तृतीय सूक्तके प्रथम पांच मंत्रोंके गणमें कहा है। सबके आरोग्यका मानो यह मूलमंत्र ही है। हरएक अवस्थामें सुगमतया आरोग्यसाधन करनेका उपाय इस गणमंत्रमें वर्णन किया है। इस तृतीय सूक्तके अंतिम चार मंत्रोंमें मूत्राशयके दोषेको दूर करनेका साधन बताया है।

इस सूक्तका "शत - वृष्ण्यं"शब्द अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। "वृष्ण्य" शब्द बल, वीर्य, उत्साह, प्रजननसामर्थ्य आदिका वाचक है। ये सैकडों बल देनेवाले पूर्वोक्त पांचों देव हैं यह यहां इस सूक्तसे स्पष्ट हुआ है। वीर्यवर्धक अन्य उपायोंका अवलंबन न करके पाठक यदि इन पांचोंको ही योग्य रीतिसे वर्तते रहेंगे तो उनको अनुपम लाभ हो सकता है।

द्वितीय सूक्तमें, "भूरि-धायस" शब्द है जिसका अर्थ "अनेक प्रकारसे धारण पोषण करनेवाला" पूर्व स्थानमें दिया है। यह भी पर्जन्यके साहचर्यके कारण इस सूक्तमें अनुवृत्ति से आता है और पांचों देवोंका विशेषण बनता है। पाठक इस शब्दको लेकर मंत्रोंका अर्थ देखें और बोध प्राप्त करें।

"भूरि-धायस" शब्दका "शत-वृष्ण्य" शब्दसे निकट संबंध है, मानो ये दोनों शब्द एक दूसरेके सहायक है। विशेष प्रकारसे धारण पोषण करनेवाला ही सैकडों वीर्योंको देनेवाला हो सकता है। क्योंकि पुष्टिके साथ ही बलका संबंध है। इस प्रकार पूर्व सूक्तसे इस सूक्तका संबंध देखिये।

शरीरशास्त्रका ज्ञान।

इस सूक्तके मननसे पाठकोंने जान ही लिया होगा कि शरीरशास्त्रका ज्ञान अथर्वविद्याके यथावत् जाननेके लिये अत्यंत आवश्यक है। मूत्राशयमें शलाकाका प्रयोग बिना वहांके अवयवोंके जाननेसे नहीं हो सकता। शरीरशास्त्रको न जाननेवाला मनुष्य योगसाधन भी नहीं कर सकता, तथा अथर्ववेदका ज्ञान भी यथा योग्य रीतिसे प्राप्त नहीं कर सकता।

यह अंगि-रस का विषय है, अर्थात् अंगोंके रसोंकाही यह अथर्वशास्त्र है। अर्थात् जिसने अंगीका ज्ञान नहीं प्राप्त किया है, अंगोंको अंदरके जीवन रसोंका जिसको कुछ भी ज्ञान नही है वह अथर्वविद्यासे बहुत लाभ प्राप्त नही कर सकता।

डाक्टर लोग जिस प्रकार मुर्दोंकी चीर फाड करके शरीरांगोंका यथावत् ज्ञान प्राप्त करते हैं उसी प्रकार योगियों और अथर्वांगिरसविद्याके पढनेवालोंको करना उचित है।

हमने यहां सोचा था कि इस सूक्तमें वर्णित शलाकाके प्रयोगके लिये आवश्यक अवयवोंका परिचय चित्रोंद्वारा किया जावे, परंतु इससे कई लोग अधिक भ्रममें भी पड सकते हैं और जो चित्रोंको ठीक प्रकार समझ नहीं सकते वे उलटाही प्रयोग करके दोषके भागी हो सकते हैं। इस भयको सामने देखकर इस बातको चित्रोंसे स्पष्ट करनेका विचार इस समयके लिये दूर कर दिया है। और हम यहा पाठकोंसे निवेदन करना चाहते हैं कि वे इस प्रयोगका ज्ञान सुविज्ञ डाक्टरोंसे ही प्राप्त करें तथा ऊपर दिये हुए योग - प्रक्रियाका ज्ञान किसी उत्तम योगोंके पास जाकर सीखें, क्योंकि अंगरस चिकित्सामें इन बातोंकी आवश्यकता है। इनके विना केवल मंत्रार्थ पढनेसे अथवा शाब्दिक ज्ञान समझने मात्रसे भी उपयोग नहीं हो सकता।

जल-सूक्त।

पूर्व सूक्तमें आरोग्यसाधक जलका संक्षेपसे वर्णन किया है इसलिये अब उसी जलका विशेष वर्णन क्रमसे आगेके तीन सूक्तोंमे करते हैं -

(४)

(ऋषिः- सिन्धुद्वीपः। देवता [अपांनपात्, सोमः--] आपः।)

अम्बयो यन्त्यध्वभिर्जामयो अध्वरीयताम्। पृञ्चन्तीर्मधुना पयः ॥ १॥

अमूर्या उप सूर्ये याभिर्वा सूर्यः सह। ता नो हिन्वन्त्वध्वरम् ॥ २॥

अपो देवीरुप ह्वये यत्र गावः पिबन्ति नः । सिन्धुभ्यः कर्त्वं हविः ।। ३ ।।
अप्स्व१न्तरमृतमप्सु भेषजम् । अपामुत प्रशस्तिभिरश्वा भवथ वाजिनो गावो भवथ वाजिनीः ।।४।।

अर्थ - (अध्वरीयतां) यज्ञकर्ताओंके (जामयः) बहिनोंके समान और (अम्बयः) माताओंके समान जलकी नदिया (अध्वभिः यन्ति) अपने मार्गोंसे जाती हैं जो (मधुना) मधु-शहदके साथ (पयः) दूध या जल (पृञ्चन्तीः) मिलाती है ।।१।। (याः) जो (अमूः) ये नदियां (उप सूर्ये) सूर्यके सम्मुख होती हैं अथवा (याभिः) जिनके साथ सूर्य होता है । वे हम सबका (अध्वरं) यज्ञ (हिन्वन्ति) सांग करती हैं ।।२।। (यत्र) जहां हमारी (गावः) गौवे पानी (पिबन्ति) पीती है उन (देवीः आपः) दिव्य जलोंकी (सिन्धुभ्यः) नदियोंके लिये हवि करनेके कारण (उप ह्वये) मैं प्रशंसा करता हूं ।।३।। (अप्सु अन्तः) जलमें अमृत है, (अप्सु भेषजं) जलमें दवाई है । (उत) और (अपां प्रशस्तिभिः) जलके प्रशंसनीय गुण धर्मोसे (अश्वाः वाजिनः) घोडे बलवान् (भवथ) होते और गौवें बलयुक्त होती हैं ।।४।।

भावार्थ - जल उनके लिये माता और बहिनके समान हितकारक होता है जो उनका उत्तम उपयोग करना जानते हैं । जलकी नदियां वह रही हैं, मानो वह दूधमें शहद मिला रही हैं । जो जल सूर्यकिरणसे शुद्ध बनता है अथवा जिसकी पवित्रता सूर्य करता है वह जल हमारा आराग्य सिद्ध करे । जिन नदियोंमें हमारी गौवें जल पीती हैं और जिनके लिये हवि बनाया जाता है उनके जलका गुणगान करना चाहिये । जलमें अमृत हैं, जलमें औषध हैं, जलके शुभ गुण से घोडे बलवान् बनते हैं और गौवें भी बलवती बनती हैं ।

---

(५)

आपो हि ष्ठा मयोभुवस्ता न ऊर्जे दधातन । महे रणाय चक्षसे ।। १ ।।
यो वः शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह नः । उशतीरिव मातरः ।। २ ।।
तस्मा अरं गमाम वो यस्य क्षयाय जिन्वथ । आपो जनयथा च नः ।। ३ ।।
ईशाना वार्याणां क्षयन्तीश्चर्षणीनाम् । अपो याचामि भेषजम् ।। ४ ।।

अर्थ - हे (आपः) जलो! (हि) क्योंकि आप (मयोभुवः) सुखकारक(स्थ) हो इसलिये (ताः) सो तुम (नः ऊर्जे) हमारे बलके लिये तथा (महे रणाय चक्षसे) बडी रमणीयताके दर्शनके लिये हमें (दधातन) पुष्ट करो ।।१।।(यः) जो (वः) आपके अंदर (शिवतमः रसः) अत्यन्त कल्याणकारी रस है (तस्य) उसका (नः इह भाजयत) हमें यहां भागी करो (इव) जैसी (उशतीः मातरः) इच्छा करनेवाली माताएं करती हैं ।।२।।हे जलो! जिसके (क्षयाय) निवासके लिये आप (जिन्वथ) तृप्ति करते हो (तस्मै) उसके लिये हम (वः अरं गमाम) आपको पूर्णतया प्राप्त करेंगे । और आप (नः) हमें (जनयथ) बढाओ ।।३।।(वार्याणां) इच्छा करनेयोग्य सुखोंके (ईशाना) स्वामी इसलिये (चर्षणीनां) प्राणिमात्रके (क्षयन्तीः) निवासके हेतु ऐसे (अपः) जलोंसे(भेषजं याचामि) औषधकी याचना करता हूं ।।

भावार्थ - जल सुखकारक है, उससे बल बढता है, रमणीयता प्राप्त होती है और पुष्टि भी है । जिस प्रकार पुत्रको माताके दूधसे पुष्टिका भाग मिलता है, उसी प्रकार जलके अंदरके उत्तम सुखवर्धक रस हमें प्राप्त हों ।। जिससे प्राणिमात्रकी स्थिति होती है, वह रस हमें प्राप्त हो और उससे हमारी वृद्धि होती रहे ।।जलसे इष्ट सुख प्राप्त होते हैं और प्राणिमात्रकी स्थिति होती है, उस जलसे हमें औषधरस प्राप्त होता रहे ।।

(६)

[ऋषिः- सिन्धुद्वीपः । देवता (अपांनपात्) आपः, २ आपः सोमो अग्निश्च]

शं नो॑ दे॒वीर॒भिष्ट॑य॒ आपो॑ भवन्तु पी॒तये॑ । शं योर॒भि स्र॑वन्तु नः ॥ १ ॥

अ॒प्सु मे॒ सोमो॑ अब्रवीद॒न्तर्विश्वा॑नि भेष॒जा । अ॒ग्निं च॑ वि॒श्वशं॑भुवम् ॥ २ ॥

आपः॑ पृणी॒त भे॑ष॒जं वरू॑थं त॒न्वे३॒॑ मम॑ । ज्योक् च॒ सूर्यं॑ दृ॒शे ॥ ३ ॥

शं न॒ आपो॑ धन्व॒न्या॒३॒॑ः शमु॑ सन्त्वनू॒प्या॑ः ।

शं नः॑ खनि॒त्रिमा॒ आपः॒ शमु॒ याः कु॒म्भ आभृ॑ताः शि॒वा नः॑ सन्तु॒ वार्षि॑कीः ॥ ४ ॥

अर्थ – (देवीः आपः) दिव्य जल (नः शं) हमें सुख दे और **(अभिष्टये)** इष्ट प्राप्तिके लिये तथा **(पीतये)** पीनेके लिये हो और हमपर शान्तिका **(अभि स्रवन्तु)** स्रोत चलावे ॥१॥ (मे) मुझे **(सोमः अब्रवीत्)** सोमने कहा कि **(अप्सु अन्तः)** जलमें **(विश्वानि भेषजा)** सब औषधिया है और अग्नि **(विश्व शं भुवं)** सब कल्याण करनेवाला है ॥२॥ **(आपः)** जलो ! **(भेषजं पृणीत)** औषध दो और **(मम तन्वे)** मेरे शरीरके **(वरूथं)** संरक्षण दे जिससे मैं सूर्यको **(ज्योक् दृशे)** दीर्घकालतक देखूं ॥३॥ (नः) हमारे लिये **(धन्वन्याः आपः)** मरूदेशका जल **(शं)** सुखकारक हो, **(अनूप्याः)** जलपूर्ण प्रदेशका जल सुखकारक हो, **(खनित्रिमाः)** खोदे हुए कूवे आदिका जल सुखदायक हो, **(कुंभे)** घडेमें भरा जल सुखदायक हो, **(वार्षिकीः)** वृष्टिका जल सुखदायक होवे ॥४॥

भावार्थ – दिव्य जल हमें पीनेके लिये मिले और वह हमारा सुख बढावे ॥१॥जलमें सब औषध रहते हैं और अग्नि सुख बढानेवाला है ॥२॥जलसे हमारी चिकित्सा होवे और शरीरका बचाव रोगोंसे होकर हमारा दीर्घ आयु बने ॥३॥मरूदेशका, जलमय देशका, कूवेका, वृष्टिका तथा घडोमें भरा हुआ जल हमारा सुख बढानेवाला होवे ॥४॥

ये तीन सूक्त जलको वर्णन कर रहे हैं । तीनों सूक्त इकट्ठे हैं इसलिये तीनोंका विचार यहां इकट्ठाही करेंगे ।

जलकी भिन्नता ।

जल निम्नप्रकारका है यह बात पूर्व सूक्तोंमें कही है-

१ **देवीः (दिव्याः) आपः** (४।३) - आकाशसे अर्थात् मेघोंसे प्राप्त होनेवाला जल, इसी का नाम "वार्षिकी" भी है ।

२ **वार्षिकीः आपः** (६।४) - वृष्टिसे प्राप्त होनेवाला जल।

३ **सिंधुः** (४।३)–नदी तथा समुद्रसे प्राप्त होनेवाला जल।

४ **अनूप्याः आपः** (६।४) - जलमय प्रदेशमें प्राप्त होनेवाला जल ।

५ **धन्वन्याः आपः** (६।४) - मरूदेश, रेतीले देशमें अथवा थोडी वृष्टि होनेवाले देशमें मिलनेवाला जल ।

६ **खनित्रिमाः आपः** (६।४) - खोदकर बनाये हुए कुए बावलीसे प्राप्त होनेवाला जल ।

वृष्टिसे प्राप्त होनेवाला जल भी रेतीले स्थान, कीचडकी मिट्टीके स्थान आदिमें गिरनेसे भिन्न गुण धर्मोसे युक्त होता है । जिस स्थानमें सालों साल कीचड बना रहता है, उसमें पडे हुए पानीकी अवस्था भिन्न होती है और रेतीमेंसे प्राप्त हुए पानीके गुणधर्म भिन्न है । इसी कारण ये सब जल विभिन्न गुणधर्मसे युक्त होते हैं । जलका उपयोग आरोग्यके लिये करना हो, तो प्रथम सबसे उत्तम शुद्ध और पवित्र जल प्राप्त करना आवश्यक है ।

उक्त जल जो बाहर प्राप्त होता है वह घरमें लाकर घडोंमे रखनेके कारण उसके गुणधर्ममें बदल होता है । अर्थात् कूवेका ताजा पानी जो गुणधर्म रखता है, वही घरमें लाकर (कुंभे आभृताः ६।४) घडेमें कई दिन रखनेपर भिन्न गुणधर्मोसे युक्त होना संभव हैं । तथा प्रभावी नदीका पानी और कुवेके स्थिर पानीके गुणधर्म भी भिन्न हो सकते हैं।

इसी प्रकार एक ही जल विभिन्न स्थानमें और विभिन्न गुणधर्मोसे युक्त होता है । यह दर्शानेके लिये निम्नलिखित मंत्रमें कहा है -

अमूर्या उप सूर्ये याभिर्वा सूर्यः सह । (४।२)

"वह जल जो सूर्यके सन्मुख रहता है, अथवा जिसके साथ सूर्य रहता है।" अर्थात् सूर्यकिरणोंके साथ स्पर्श करनेवाला जल भिन्न गुणधर्मवाला बनता है और सदा

अंधेरेमें रहनेके कारण जिसपर सूर्यकिरण नहीं गिरते उसके गुणधर्म भिन्न होते है । जिन कूवोंपर वृक्षादिकी हमेशा छाया होती है और जिनपर नहीं होती उनके जलोंके गुणधर्म भिन्न होते हैं । तथा -

अम्बयो यन्त्यध्वभिः । (४।१)

"नदियां अपने मार्गसे चलती है।" इसमें जलमें गतिका वर्णन है । यह गतिमान जल और स्थिर जल विभिन्न गुणधर्मोंसे युक्त होता है । स्थिर जलसे कृमिकीटक तथा सडावट होना संभव है उस प्रकार गतिवाले जलमें नहीं । इसी प्रकार गतिकी मंदता और तेजीके कारण भी जलके गुणधर्मोंमें भेद होते हैं । तथा -

पृञ्चन्तीर्मधुना पयः । (४।१)

"मधु अर्थात् पुष्प - पराग आदिसे जलमें मिलावट होती है।" इससे भी पानीके गुणधर्म बदलते हैं । नदी तालावके तटपर वृक्षादि हाते हैं और उस जलमें वृक्षवनस्पतियोंसे फूल, फूलके पराग, पत्ते आदि गिरते हैं, जलमें सडते या मिलते हैं। यह कारण है कि जिससे जलके गुणधर्म बदलते हैं तथा -

यत्र गावः पिबन्ति । (४।३)

"जिस जलाशयमें गौवे पानी पीती हैं," जहां गौवें, भैंसे आदि पशु जाते हैं, जलपान करते हैं । उस पानीकी अवस्था भी बदल जाती है ।

जल लेनेके समय इन बातोंका विचार करना चाहिये । जो जलकी अवस्थाएं वर्णन की हैं, उनमें सबसे उत्तम अवस्थावाला जल ही पीने आदि कार्यके लिये योग्य है। हरएक अवस्थामें प्राप्त होनेवाला जल लाभदायक नहीं होगा । वेदने ये सब जलकी अवस्थाएं बताकर स्पष्ट कर दिया है कि जलमें भी उत्तम मध्यम अधम अवस्थाका जल हो सकता है और यदि उत्तम आरोग्य प्राप्त करना हो तो उत्तमसे उत्तम पवित्र जलही लेना चाहिये । पाठक इन अवस्थाओंका उत्तम विचार करें ।

जलमें औषध ।

जलका नामही "अमृत" है अर्थात् जीवन रूप रस ही जल है यही बात मंत्र कहता है -

अप्सु अमृतम् । (४।४)

अप्सु भेषजम् । (४।४)

"जलमें अमृत है, जलमें औषध है," जल अमृतमय है और औषधिमय है । मरनेसे बचानेवाला अमृत कहलाता है, और शरीरके दोषोंको धोकर शरीरकी निर्दोषता सिद्ध करनेवाला भेषज कहलाता है । जल इन गुणोंसे युक्त है। इसी लिये जलको कहा है -

शिवतमः रसः । (५। २)

"जल अत्यंत कल्याण करनेवाला रस है। "केवल"शिवो रसः" कहा नहीं है, परंतु "शिवतमो रसः" कहा है, इससे स्पष्ट है कि इससे अत्यंत कल्याण होना संभव है। यही बात अन्य शब्दोंसे भी वेद स्पष्ट कर रहा है -

आपः मयोभुवः । (५।१)

"जल हितकारक है ।" यहांका "मयस्" शब्द "सुख, आनंद, समाधान, तृप्ति" आदि अर्थका बोध कराता है। यदि जल पूर्ण आरोग्य साधक न होगा तो उससे आनंद बढना असंभव है । इसलिये जल अमृतमय है यह स्पष्ट सिद्ध होता है इसीलिये कहा है ।-

अप्सु विश्वानि भेषजानि । (६।२)

"जलमें सब दवाइयां हैं ।"जलमें केवल एकही रोग की औषधि नहीं प्रत्युत सब प्रकारकी औषधियां हैं । इसीलिये हर एक बीमारीका जलचिकित्सासे इलाज किया जा सकता है । योग्य वैद्य और पथ्यपालन करनेवाला रोगी होगा, तो आरोग्य निःसंदेह प्राप्त होगा । इसलिये कहा है -

आपः पृणीत भेषजम् । (६।३)

अपो याचाभि भेषजम्। (५।४)

"जल औषध करता है । जलसे औषध मांगता हूं ।" अर्थात् जलसे चिकित्सा होती है । रोगोंकी निवृत्ति जलचिकित्सा से हो सकती है । रोगोंके कारण शरीरमें जो विषमता होती है उसे दूर करना और शरीरके सप्त धातुओंमे समता स्थापित करना जलचिकित्सासे संभवनीय है ।

समता और विषमता ।

शरीरकी समता आरोग्य है और विषमता रोग है । समता स्थापन करनेकी सूचना वेदके "शं,शांति" आदि शब्द करते हैं और विषमता दूर करनेका भाव "योः" शब्द वेदमें कर रहा हैं । दोनों मिलकर "शं-योः" बनता है । इसका संयुक्त तात्पर्य "समताकी स्थापना और विषमताका दूर करना" है । इसलिये कहा है -

शं योरभि स्रवन्तु नः । (६।१)

समताकी स्थापना और विषमताको दूर करना हमारे लिये जलकी धाराएं करे ।" किंवा जलधाराएं उक्त दोनों बातोंका प्रभाव हमपर छोडें । जलसे उक्त दोनों बातोंकी सिद्धता होती है यह बात यहां सिद्ध ही है । तथा -

शं नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु । (६।१)

"दिव्य जल हमारे लिये शान्तिकारक हो" इसमें भी वही भाव है। (सूक्त ६, मं. ४) यह मंत्र तो कई बार शान्ति या समताका उल्लेख करता है। समताकी स्थापना और विषमताका दूर करना, ये दो कार्य होनेसे ही उत्तम रक्षा होती है, इसीलिये मंत्रमें कहा है -

वरूथं तन्वे मम । (६।३)

"मेरे शरीरका रक्षण" जलसे हो। "वरूथ" का अर्थ संरक्षक कवच है। जलका वर्णन "रक्षक कवच" से किया है अर्थात् जल कवचके समान रक्षा करनेवाला है। यह भाव स्पष्ट है।

बलकी वृद्धि ।

उक्त प्रकार आरोग्य प्राप्त होनेके पश्चात् शरीरका बल बढानेका प्रश्न आता है। इस विषयमें मंत्र कहता है -

नः ऊर्जे दधातन । (५।१)

"हमें बलके लिये पुष्ट करो।" अर्थात् जलसे धारण पोषण होकर उत्तम प्रकार बल बढना भी संभव है। विषमता दूर होकर समताकी स्थापना हो गई तो बल बढ सकता है। जलसे रमणीयता भी शरीरमें बढती है। देखिये -

महे रणाय चक्षसे । (५।१)

"बडी (रणाय) रमणीयताके लिये" जलका उपयोग होता है। जलसे शरीरकी रमणीयता बढ जाती है। शरीरकी बाह्य शुद्धि होकर जैसी सुंदरता बढ जाती है उसी प्रकार जल अंतःशुद्धि करता है इसलिये आरोग्य बढानेद्वारा शरीरका सौंदर्य बढानेमें सहायक होता है। आरोग्यके साथ सुंदरताका विशेष संबंध है। तात्पर्य यह जल मनुष्यकी यहां की सुस्थिती के लिये कारण होता है, इसलिये कहा है -

क्षयाय जिन्वथ । (५।३)

क्षयन्तीश्चर्षणीनाम् । (५।४)

"निवासके लिये तृप्ति करते हो। प्राणियोंके निवासका कारण है। "इन मंत्रोंका स्पष्ट कथन है कि जल मनुष्यादि प्राणियोंकी यहां सुस्थिति करनेका मुख्य हेतु है। इसी लिये कहते हैं -

ईशाना वार्याणाम् । (५।४)

"स्वीकारने योग्य गुणोंका अधिपति जल है।" अर्थात् प्राणियोंको जिन जिन बातोंकी आवश्यकता होती है उनका अस्तित्व जलमें है, इसी कारण जल निवासका हेतु बनता है।

दीर्घ आयुष्यका साधन ।

मनुष्यादि प्राणियोंके दीर्घ आयुका साधक जल है यह बात इस भागमें देखिये -

ज्योक् च सूर्य दृशे । (६।३)

"बहुत दिनतक सूर्यका दर्शन करूं !" यह एक महाबरा है। इसका अर्थ है कि -

"मैं बहुत दीर्घ आयुतक जीवित रखूं" अर्थात् जलके उपयोगसे दीर्घ आयु प्राप्त करना संभव है। "ज+ल" वह कि जो जन्मसे लेकर लयतक उपयोगी है।

प्रजनन-शक्ति ।

जल का नाम वीर्य है। इसकी सूचना भिन्न मंत्रभागसे मिलती है -

आपो जनयथा च नः । (५।३)

"जल हमें उत्पन्न करता है।" अर्थात् इसके कारण हममें किंवा प्राणियोंमें प्रजनन शक्ति होती है। आरोग्य, बल, दीर्घ आयुष्य, धातुओंकी समता आदिका प्रजननशक्तिके साथ निकट संबंध है, यह बात पाठक जान सकते हैं। इसलिये इस विषयमें यहां अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं है। इस प्रजनन शक्तिका नाम वाजीकारण है और इसका वर्णन मंत्र में निम्न प्रकार हुआ है -

अपामुत प्रशस्तिभिरश्वा भवथ वाजिनो
गावो भवथ वाजिनीः ॥ (४।४)

"जलके प्रशस्त गुणोंसे अश्व (पुरुष) वाजी बनते हैं और गौवें (स्त्रियें) वाजिनी बनती हैं।" वाजी शब्द प्रजननशक्तिसे युक्त होनेका भाव बता रहा है। अश्व और गौ शब्द यहां पुरुष और स्त्री जातिका बोध करते हैं। जलके प्रयोगसे वाजीकरण की सिद्धि इस प्रकार यहां कही है। तथा और देखिये -

अम्बयो यन्त्यध्वभिर्जामयोऽध्वरीयताम् । (४।१)

"यज्ञकर्ताओंकी माताएं और बहिनें अपने मार्गोसे जाती हैं।" जो स्त्रियोंके लिये उचित मार्ग है उसीसे जाती हैं। अर्थात् नियमानुकूल बर्ताव करती हुई प्रगति करती हैं। स्त्री पुरुष अपने योग्य नियमोंसे चलेंगे तोही उत्तम प्रजनन होना संभव है, इस बातकी सूचना यहां मिलती है।

इस रीतिसे इन तीनों सूक्तोंमें जलविषयक महत्वपूर्ण ज्ञानका उपदेश दिया है।

(अथर्ववेद प्रथमकांडमें प्रथम अनुवाक समाप्त ।)

धर्म-प्रचार सूक्त ।

(ऋषिः - चातनः । देवतः - अग्नि : (जातवेदाः), ३ अग्नीन्द्रौ)

(७)

स्तुवानमग्न आ वह यातुधानं किमीदिनम् । त्वं हि देव वन्दितो हन्ता दस्योर्बभूविथ ॥१॥
आज्यस्य परमेष्ठिन् जातवेदस्तनूवशिन् । अग्ने तौलस्य प्राशान यातुधानान् वि लापय ॥२॥
विलपन्तु यातुधाना अत्त्रिणो ये किमीदिनः । अथेदमग्ने नो हविरिन्द्रश्च प्रति हर्यतम् ॥३॥
अग्निः पूर्व आ रभतां प्रेन्द्रो नुदतु बाहुमान् । ब्रवीतु सर्वो यातुमानयमस्मीत्येत्य ॥४॥
पश्याम ते वीर्यं जातवेदः प्र णो ब्रूहि यातुधानान्नृचक्षः ।
त्वया सर्वे परितप्ताः पुरस्तात्त आ यन्तु प्रब्रुवाणा उपेदम् ॥५॥
आ रभस्व जातवेदोऽस्माकार्थाय जज्ञिषे । दूतो नो अग्ने भूत्वा यातुधानान् वि लापय ॥६॥
त्वमग्ने यातुधानानुपबद्धाँ इहा वह । अथैषामिन्द्रो वज्रेणापि शीर्षाणि वृश्चतु ॥७॥

अर्थ - हे अग्ने ! **(स्तुवानं)** स्तुति करनेवाले **(यातुधानं किमीदिनं)** घातक शत्रुओंको भी **(आ वह)** यहां ले आ। **(हि)** क्योंकि हे देव! **(वन्दितः त्वं)** नमनको प्राप्त हुआ तू **(दस्योः)** डाकूका **(हन्ता)** हनन या प्राप्ति करनेवाला **(बभूविथ)** होता है ॥१॥ हे **(परमेष्ठिन्)** श्रेष्ठ स्थानमें रहनेवाले **(जातवेदः)** ज्ञानको प्राप्त करनेवाले और **(तनू - वशिन्)** शरीरका संयम करनेवाले अग्ने ! तू **(तौलस्य आज्यस्य)** तोले हुए घी आदि का **(प्राशान)** भोजन कर और **(यातुधानान्)** दुष्टोंको **(वि लापय)** विलाप कर ॥२॥ **(ये)** जो **(यातुधानाः)** दुष्ट **(अग्निणः)** भटकनेवाले और **(किमीदिनः)** घातक हैं वे **(विलपन्तु)** विलाप करें। **(अथ)** और अब, हे अग्ने ! **(इदं हविः)** यह हवि तू और **(इन्द्रः च)** इन्द्र **(प्रतिहर्यतम्)** स्वीकार करो ॥३॥ **(पूर्वः अग्निः आरभतां)** पहिला अग्नि आरंभ करे, तथा पश्चात् **(बाहुमान् इन्द्रः प्र नुदतु)** बाहुबलवाला इन्द्र विशेष प्रेरणा करे, जिसे **(सर्वः यातुमान)** सब दुष्ट लोग **(एत्य)** आकर **(ब्रवीतु)** बोले, कि **(अयं अस्मि इति)** यह मैं हूं ॥४॥ हे **(जातवेदः)** ज्ञानी ! **(ते वीर्यं पश्याम)** तेरा पराक्रम हम देखें । हे **(नृ-चक्षः)** मनुष्योंके मार्ग दर्शक ! **(यातुधानान्)** दुष्टोंको **(नः)** हमारा आदेश **(प्र ब्रूहि)** विशेष रूपसे कह दे । **(त्वया)** तुझसे **(पुरस्तात्)** पहिले **(परितप्ताः)** तपे हुए **(ते सर्वे)** वे सब **(इदं ब्रुवाणाः)** यह कहते हुए **(उप आयन्तु)** हमारे पास आजावें ॥५॥ हे **(जातवेदः)** ज्ञानी ! **(आरभस्व)** आरंभ कर **(अस्माक+अर्थाय)** हमारे प्रयोजनके लिये तू **(जज्ञिषे)** उत्पन्न हुआ है। हे अग्ने! तू हमारा दूत बनकर यातुधानोंको विलाप करा ॥६॥ हे अग्ने ! तू **(यातुधानान्)** दुष्टोंको **[उपबद्धान्]** बांधे हुए अर्थात् बांधकर **[इह आ वह]** यहां लेआ । **[अथ]** और इन्द्र अपने वज्रसे **[एवांशीर्षाणि]** इनके मस्तक **[वृश्चतु]** काट डाले ॥७॥

इनका भावार्थ हम सबसे पीछे लिखेंगे क्योंकि इस सूक्तके कई शब्दोंके अर्थोंका विचार पहिले करना चाहिये। इस सूक्तके कई शब्द भ्रम उत्पन्न करनेवाले हैं, और जबतक इनका निश्चित ठीक अर्थ ध्यानमें न आवेगा, तब तक इस सूक्तका उपदेश समझमें नहीं आसकता। सबसे प्रथम "अग्नि" कौन है इसका निश्चिय करना चाहिये -

अग्नि कौन है।

इस सूक्तमें अग्निपद से किसका ग्रहण करना चाहिये, इसका निश्चय कराने वाले ये शब्द इस सूक्त में हैं -

"जातवेदः, परमेष्ठिन्, तनूवशिन्, नृचक्षः, वन्दितः, दूतः, देवः, अग्निः ।" इन शब्दोंका अर्थ देखकर अग्निका स्वरूप सबसे प्रथम हम देखेंगे -

१ जातवेद :- [जातं वेत्ति] जो बनी हुई सृष्टिको ठीक ठीक जानता है । [ज्ञात-वेदः] जिसने ज्ञान प्राप्त किया है । अर्थात् ज्ञानी सृष्टिविद्या और आत्मविद्या का यथावत् जानने वाला ।

२ परमेष्ठिन् - (परमे पदे स्थाता) परमपदमें ठहरनेवाला अर्थात् समाधिकी अंतिम अवस्थाको जो प्राप्त है, आत्मानुभव जिसने प्राप्त किया है, तुर्या - चतुर्थ अवस्थाका अनुभव करनेवाला ।

३ तनूवशिन् - (तनू - वशिन्) अपने शरीर और इन्द्रियोंको स्वाधीन करनेवाला, इन्द्रिय संयम और मनोनिग्रह करनेवाला, आसनादि योगाभ्याससे जिसने अपनी कायासिद्धि की है। यही मनुष्य "परमेष्ठिन्" होना संभव है ।

४ नृ -चक्षः - "चक्षस्" शब्द स्पष्ट शब्दोंद्वारा उपदेश देने का भाव बता रहा है । मनुष्योंको जो योग्य धर्म मार्गका उपदेश देता है ।

ज्ञानी उपदेशक

ये चार शब्द अग्निके गुण धर्म बता रहे हैं । ये शब्द देखनेसे स्पष्ट होता है कि यहांका अग्नि "धर्मोपदेशक पण्डित" ही है । सृष्टि विद्या जाननेवाला, अध्यात्म शास्त्रमें प्रवीण, योगाभ्याससे शरीर, इन्द्रिय और मनको वशमें रखनेवाला, समाधिकी सिद्धि जिसको प्राप्त है, वह ही ब्राह्मण पण्डित "नृचक्षः" अर्थात् लोगोंको धर्मोपदेशक करनेके लिये योग्य है । उपदेशक बननेके पूर्व उपदेशककी तैयारी कैसी होनी चाहिये, इसका बोध यहां प्राप्त हो सकता है । ऐसे उपदेशक हो, तो ही धर्मका ठीक प्रचार होना संभव है ।

५ वन्दितः - इस प्रकारके उपदेशककी ही सब लोग वन्दन कर सकते हैं ।

६ दूतः - जो सन्देश पहुंचाता है वह दूत होता है । यह उपदेशक पण्डित धर्मका सन्देश सब जनता तक पहुंचाता है इस लिये यह "धर्मका दूत" है । दूत शब्दका दूसरा अर्थ "नौकर, भृत्य" है वह अर्थ यहां नहीं है । धर्मका सन्देश स्थान स्थानपर पहुंचाने वाला यह दूत धर्मका उपदेशक ही है।

७ देवः - प्रकाशमान, तेजस्वी ।

८ अग्निः - प्रकाश देकर अन्धकारका नाश करनेवाला, ज्ञानकी रोशनी बढाकर अज्ञानान्धकार का नाश करनेवाला। उष्णता (गर्मी) उत्पन्न करके हलचल करनेवाला ।

ये सब शब्द योग्य उपदेशक का हीवर्णन कर रहे हैं। इस प्रकार वेदमें "अग्नि" शब्द ज्ञानी उपदेशक ब्राह्मणका वाचक है । तथा "इन्द्र" शब्द क्षत्रियका वाचक है ।

ब्रह्म क्षत्रिय ।

"ब्रह्म क्षत्रिय" शब्द ब्राह्मण और क्षत्रिय का बोध करता है । वेदमें ये दो शब्द इकट्ठे कई स्थानपर आगये हैं । यही भाव "अग्नि-इन्द्र" ये दो शब्द वेदमें कई स्थानोंपर व्यक्त कर रहे हैं । अग्नि शब्द ब्राह्मणका और इन्द्र शब्द क्षत्रियका वाचक है । अग्नि शब्दका ब्राह्मण अर्थ हमने देखा, अब इन्द्र शब्दका अर्थ देखेंगे -

इन्द्र कौन है ?

स्वयं इन्द्र शब्द क्षत्रिय वाचक है, क्योंकि इसका अर्थ ही शत्रु नाशक है -

१ इन्द्रः - (इन्+द्रः) शत्रुओंको छिन्न भिन्न करनेवाला।

२ बाहुमान् - बाहुवाला, भुजावाला, अर्थात् बाहुबलके लिये सुप्रसिद्ध । हरएक मनुष्य भुजावाला होता ही है, परन्तु क्षत्रियको ही "बाहुमान्" इसलिये कहा है, कि उसका कार्य ही बाहुबल का होता है ।

३ इन्द्रः वज्रेण शीर्षाणि वृश्चतु - क्षत्रिय तलवारसे शत्रुओंके सिर काटे । यह क्षत्रियका कार्य इस सूक्तके अंतिम मंत्रमें वर्णन किया है । युद्धमें शत्रुओंके सिर काटनेका कार्य, तथा दुष्टोंके सिर काटनेका कार्य क्षत्रियोंका ही प्रसिद्ध है ।

इससे सिद्ध है, कि इस सूक्तमें "इन्द्र" शब्द क्षत्रिय का भाव सूचित करता है । अग्नि शब्दसे ब्राह्मण उपदेशक और इन्द्र शब्दसे शासन का कार्य करनेवाले क्षत्रियका बोध लेकर इस सूक्तका अर्थ देखना चाहिये ।

धर्मोपदेशका क्षेत्र ।

पाठक यह न समझें, कि साप्ताहिक या वार्षिक जलसोंमे व्याख्यान देना ही धर्मोपदेशक का कार्य क्षेत्र है । वहां तो धार्मिक लोग ही आते हैं । पहिलेसे जिनकी प्रवृत्ति धर्ममें होती है, वे ही धार्मिक लोग जलसोंमे आते हैं, इस लिये ऐसे धार्मिकोंको धर्मोपदेश देना धोये हुए कपडे वो फिर धोनेके समान ही है । वास्तव में मलिन कपडे को ही धोकर स्वच्छ करना चाहिये, इसी तरह अधार्मिक वृत्तिके लोगों को ही धर्मोपदेशद्वारा सुधारना चाहिये, यही सच्चा धर्म प्रचार है, यह बतानेके लिये इस सूक्तमें धर्म प्रचार करने योग्य लोगोंका वर्णन निम्न लिखित शब्दोंसे किया है- "यातुधान, किमीदिन्, दस्यु, अत्रिन् ।" अब इनका आशय देखिये

१ यातु - "यातु" भटकनेवाले का नाम है । जिसको घरदार कुछभी नहीं है और जो वन्य पशुके समान इधर उधर भटकता रहता है उसका नाम "यातु" है । भटकने का अर्थ बतानेवाला "या" धातु इसमें है ।

२ यातुमान् - यातुमान्, यातुवान्, यातुमत्, शब्दका भाव "यातुवाला" है अर्थात् जिसके पास बहुतसे यातु (भटकनेवाले) लोग होते हैं । अर्थात् भटकने वालों के जमाव का मुखिया ।

३ यातुमावान् - बहुतसे यातुमानों को अपने काबूमें रखनेवाला ।

४ यातुधानः - यातुओंका धारण पोषण करनेवाला, अर्थात् भटकनेवालोंको अपने पास रखकर उनको पोषण करनेवाला । "यातु धान्य" भी इसी भावका वाचक है।

पाठकोंने जान लिया होगा कि ये शब्द विशेष बातको व्यक्त कर रहे हैं! जिसको घरदार स्त्रीपुत्र आदि होते हैं, और जो कुटुंबमें रहता है, वह उतना उपद्रव देनेवाला नहीं होता, जितना कि जिसका घरदार कुछभी न हो, और जो भटकने वाला होता है । यह सदा भूखा रहता है, किसी प्रकारका मनका समाधान उसको नहीं होता, इसलिये हरएक प्रकारका उपद्रव देनेके लिये वह तैयार होता है, इसीकारण "यातु" शब्द "बुरी वृत्ति वाला" इस अर्थमें प्रवृत्त होता है । दुष्ट, डाकु, चोर, लुटेरे, बटमार, आदि इसी शब्दके अर्थ आगे जाकर बने हैं । ये चोर डाकु, जबतक अकेले अकेले रहते हैं, तब तक उनका नाम "यातु" है, ऐसे दोचार डाकुओंको अपने वशमें रखकर डाका डालनेवाला "यातु-मान्, यातु-वान्, यातुमत्" अर्थात् यातुवाला किंवा डाकुवाला कहा जाता है । पहिले की अपेक्षा इससे समाजको अधिक कष्ट पहुंचते हैं । इस प्रकारके छोटे डाकुओंके अनेक संघोंको अपने आधीन रखने वाला "यातुमा-वान्" अर्थात् डाकुओंकी कई जमातोंको अपने आधीन रखनेवाला। यह पूर्वकी अपेक्षा अधिक कष्ट ग्रामों और प्रांतोंको भी पहुंचा सकता है । इसीके नाम "यातु-धान, यातु-धान्य" है । पाठक इससे जान सकते हैं, कि ये वैदिक शब्द जो कि वेदमें कई स्थानोंमें आते है, हीन और दुष्ट लोगोंके वाचक हैं। अब और देखिये -

५ अत्रिन् - अत्री (अतति) सतत भटकता रहता है । यह शब्द भी पूर्व शब्द का ही भाव बताता है । इसका दूसरा भाव (अत्ति) खानेवाला, सदा अपने भोगके लिये दूसरोंका गला काटनेवाला । जो थोडेसे धनके लिये खून करते हैं, इस प्रकारके दुष्ट लोगोंका वाचक यह शब्द है ।

६ किमीदिन् - (किं इदानी) अब क्या खांय, इस प्रकार की वृत्तिकाले भूखे किंवा पेटके लिये ही दूसरोंका घात पात करनेवाले दुष्ट लोग ।

७ दस्यु - (दसु उपक्षये) घातपात करनेवाले, दूसरोंका नाश करनेवाले हर प्रकारके दुष्ट लोग ।

ये सब लोग समाजके सुखका नाश करते हैं, इनके कारण समाजके लोगोंको कष्ट होते हैं । ये ग्राममें आगये, तो ग्राममें चोरी, डकैती, खून, लुटमार होती है, स्त्री विषयक अत्याचार होते हैं, सज्जनोंको अनेक प्रकारके कष्ट होते है, इसलिये इन लोगोंको धर्मोपदेशद्वारा सुधारना चाहिये, यह इस सूक्तका आदेश है । जो घरदारसे हीन है, जो जंगलों और बनों में रहते हैं, जो चोरी, डकैती आदि दुष्ट कर्म करते हैं । उनको धर्मोपदेश द्वारा सुधारना चाहिये । अर्थात् जो नागरिक है, जो पहिलेसेही धर्मके प्रेमी है उनमें धर्म की जागृति करनी योग्य है, परंतु जिनके पास धर्म की आवाज नहीं पहुंची और जिनका जीवनक्रम ही धर्मबाह्य मार्गसें सदा चलता रहता है, उनका सुधारकरकेही उनको उत्तम नागरिक बनाना चाहिये । धर्मोपदेशक यह अपना कार्य क्षेत्र देखें ।

धर्मोपदेशक के गुण, शासन कार्य में नियुक्त क्षत्रिय के गुण, और जिन लोगोंमे धर्म प्रचारकी अत्यंत आवश्यकता है उनके गुणकर्म हमने इस सूक्तके आधारसे देखे । अब इन शब्दार्थोंके प्रकाश में यह सूक्त देखना है -

दुष्टोंका सुधार ।

प्रथम मंत्र - "हे धर्मोपदेशक ! तुम्हारी प्रशंसा करनेवाले दुष्ट डकैतों को यहां ले आ, क्योंकि तू वंदना प्राप्त करनेपर दस्युओंका नाशक होता है " ॥१॥

इस पहिले मंत्रमें दो विधान हैं -

१) स्तुति करनेवाले डाकुको यहां ले आ, और

२) उनका नमस्कार प्राप्त करके उनका नाशक हो।

इसका तात्पर्य यह है - "धर्मोपदेशक ऐसे दुष्ट डाकु बटमार आदिकों में धर्मोपदेशक करनेके लिये जावे. उनको सत्य धर्मका उपदेश करे, चोरी आदि पाप कर्म हैं यह उनको ठीक प्रकार समझा दे, उन दुष्ट कर्मो से उन को वह निवृत्त करे, जब वे ठीक प्रकार जानेंगे कि चोरी आदि उनके व्यवसाय बुरे हैं और मानवोंकी रक्षा करनेवाला सत्य धर्म भिन्न है और वह सत्य धर्म इस धर्मोपदेशकसे प्राप्त हो सकता है, तब वे इसके पास श्रद्धा भक्तिसे आवेंगे, इसकी प्रशंसा करेंगे और इसके सामने सिर झुकायेंगे अर्थात् इनको प्रणाम करेंगे । जब

उनमें इतनी श्रद्धाभक्ति बढेगी, तब उनका डाकूपनका नाश या हनन स्वयं ही हो जायगा। इसलिये मंत्र कहता है कि "धर्मोपदेशक दुष्ट मनुष्योंको अपने उपदेशद्वारा अपनी प्रशंसा करनेवाले बनाकर अर्थात् अपने अनुगामी बनाकर, अपने समाजमें ले आवे, और उनसे नमस्कार प्राप्त करके उनका घातक बनें।"

"जिनसे नमस्कार प्राप्त करना उनकाही घात करना" प्रथम विचित्र सा प्रतीत होता है, परन्तु अधार्मिक दुष्ट मनुष्यों के सुधार करनेवालेसे ऐसाही बनता है। जब दुष्ट मनुष्य धार्मिक बन जाता है उस समय वह पहिले धर्मोपदेशक के सामने अपना सिर झुकाता है और सिर झुकाते ही दुष्ट मनुष्यके रूपसे मर कर धार्मिक नवजीवन प्राप्त करने द्वारा वह मानो नया ही मनुष्य बनता है। यदि एक डाकु धर्मोपदेशक सुनकर धार्मिक बनगया, तो उसकी समाजिक दृष्टिसे सत्य अर्थ यही है कि एक डाकु मर गया और एक सच्चा धार्मिक मनुष्य नया पैदा हुआ। अब दुसरा मंत्र देखिये -

मित भोजन करो।

द्वितीय मंत्र - "हे परम श्रेष्ठ अवस्थामें रहनेवाले, शरीर वशमें रखनेवाले ज्ञानी धर्मोपदेशक ! घी आदि पदार्थ तोल कर अर्थात् प्रमाणसे भक्षण कर। और दुष्टोंको रूलादो" ॥१२॥

इस द्वितीय मंत्रमें दो आदेश हैं -

१) तोलकर घी आदि भोजन खा और

२) दुष्टोंको रूला।

धर्मोपदेशकों को ये दोनों बाते ध्यानमें धरनी चाहिये। धर्मोपदेशक जिस समय बाहर प्रचारके लिये जाते हैं उस समय भगत लोग उनको मेवा, मिठाई, घी, मक्खन, दूध आदि पदार्थ आवश्यकतासे भी अधिक देते हैं। तथा जो नये धर्ममें प्रविष्ट होते हैं, उनकी भक्तिकी तीव्रता अत्याधिक होनेके कारण वे ऐसे उपदेशकों का अधिक ही आदर करते हैं। इस समय बहुत संभव है कि जिह्वाकी लालचमें आकर उपदेशक अधिक खाये, और जीगर की बिगाडके कारण बिमार पडे। इसलिये वेदने उपदेश दिया कि धर्मोपदेशकोंको तोलकर ही खाना चाहिये। ये उपदेशक सदा भ्रमणमें रहनेके कारण तथा जलवायुके सदा परिवर्तन होनेसे इनकी पाचक शक्तिमें बिगाड होना संभव है, अतः जितनी पाचक शक्ति होती है, उससे भी कम ही खाना इनके लिये योग्य है। इस कारण वेद कहता है, कि "उपदेशक तोलकर ही घी आदि पदार्थ खावे" कभी अधिक न खावे।

मंत्रमें दुसरी बात "दुष्टोंको रूलाने" की है। यदि उपदेशक प्रभावशाली होगा, और यदि उसके उपदेशसे श्रोताओंको अपने दुराचारका पता लगा तथा उनके अंतःकरणमें धर्म भावना जागृत हो गई तो उनके रो पडनेमें तथा अपने पूर्व दुराचारमय जीवनके विषयमें पूर्ण पश्चाताप होनेमें कोई सन्देहही नहीं है। इस प्रकार द्वितीय मंत्रका भाव देखनेके पश्चात् अब तीसरा मंत्र देखिये—

दुष्टजीवनका पश्चाताप

तृतीय मंत्र - "दुष्ट लोग रो पडें, और हे धर्मोपदेशक ! तेरे लिये यह हमारा दान है, क्षत्रिय भी इसका स्वीकार करे" ॥३॥

सच्चे धर्मोपदेशक के धर्मोपदेश सुनकर दुष्ट लोगोंको अपने दुराचारका पश्चाताप होवे और वे रो पडें। तथा जनता ऐसे धर्मोपदेशकोंको तथा उनके सहायक क्षत्रियोंको भी यथा शक्ति दान देती रहे। जनताकी धनादिकी सहायतासे ही धर्मोपदेशका कार्य चलता रहे। अब चतुर्थ मन्त्र देखिये -

धर्मोपदेशक कार्य चलावे।

चतुर्थ मन्त्र - "पहिले धर्मोपदेशक अपना कार्य प्रारंभ करे। पीछेसे क्षत्रिय उसकी सहायता करे। इसका परिणाम ऐसा हो कि सब दुष्ट आकर 'मैं यहां हूं' ऐसा कहें" ॥४॥

धर्मोपदेशक देशदेशान्तरमें, जहां जहां वे पहुंच सकें, वहां निडर होकर जाकर, अपना धर्मप्रचारका कार्य जोरसे करते जाय। कठिनसे कठिन परिस्थितीमें भी न डरते हुए वे अपना कार्य जोरसे चलावें। पीछेसे क्षत्रिय उनकी उचित सहायता करे। परन्तु ऐसा कभी न होवे कि धर्मोपदेशक पहिले ही क्षत्रियोंकी सहायता प्राप्त करके क्षात्रबलके जोरपर धर्मप्रचार का कार्य चलावें, यह ठीक नहीं। इसीलिये वेदका कहना है कि धर्मोपदेशक ब्राह्मण क्षात्र बलके भरोंसेसे अपना धर्म प्रचारका कार्य न करें, प्रत्युत धर्मप्रचारको अपना आवश्यक कर्तव्यसमझ कर ही अपना कर्तव्य करता रहे। इस धर्मप्रचारका परिणाम ऐसा हो, कि सब दुष्ट दुराचारी मनुष्य अपना आचरण सुधारलें और खुले दिलसे उपदेशकोंके पास आकर कहें कि "हम अब आपकी शरणमें आगये हैं।" यही धर्म प्रचारका साध्य है। धर्म प्रचारसे दुराचारी डाकु सुधर जांय और अच्छे धार्मिक बनें, वे अपने पूर्व दुराचारका

पश्चाताप करें, तथा जब पूर्व दुराचारका उनको स्मरण आवे उस समय उनको रोना आवे । क्षत्रियके बल की अपेक्षा न करते हुए केवल ब्राह्मण ही अपनी धार्मिक और आत्मिक शक्तिसे यह कार्य करें । पिछेसे क्षत्रिय उनको मदत पहुंचावे । क्षत्रियके जोरसे जो धर्म प्रचार होता है, वह सत्य नहीं है, परन्तु ब्राह्मण अपने सात्विक वृत्तिसे जो हृदय पलटा देता है, वही सच्चा धर्मपरिवर्तन है । इस प्रकार चतुर्थ मंत्रका आशय देखनेके पश्चात् अब अगला मंत्र देखिये -

दुष्टोंकी पश्चातापसे शुद्धि ।

पंचम मंत्र -"हे ज्ञानी उपदेशक! हम तुम्हारा पराक्रम देखेंगे । हे मनुष्योंको सन्मार्ग बतलानेवाले! तुम दुष्टोंको हमारे धर्मका उपदेश करो । तुम्हारे प्रयत्नसे पश्चाताप को प्राप्त हुए सब दुष्ट लोग हमारे पास आवें और वैसाही कहें ।" ॥५॥

पूर्वोक्त प्रकारका सच्चा धर्मोपदेशक जिस समय धर्मोपदेशक के लिये चलने लगता है, उस समय उसका गौरव कहते हुए लोग कहते हैं कि "हे उपदेशक! अब तु उपदेश करनेके लिये जा रहा है, हम देखेंगे कि तुम अपने परिशुद्ध सदुपदेशसे कितने लोगोंके हृदयमें पलटा उत्पन्न करते हो और कितनों को सत्य धर्मकी दीक्षा देते हो । इसीसे तुम्हारे पराक्रमका हमें पता लग जायगा । तुम जाओ, हम तुम्हारा गौरव करते हैं । सत्यधर्मका संदेश सब जनता तक पहुंचाओ तेरे उपदेश की ज्ञानाग्निसे तपे हुए और पश्चाताको प्राप्त हुए लोग हमारे अंदर आवें और कहें "कि हमने अब धर्मामृत पाया है । और अब हम आपके बने हैं ।"

"तप्त, संतप्त, परितप्त" ये शब्द पश्चाताप के सूचक हैं । तप शब्द तपकर शुद्ध होनेका सूचक है । अग्नि तपाकर सोना, चांदी, तांबा आदि धातुओंको शुद्ध करता है अर्थात् उनके मलोंको दूर करता है । इसी प्रकार यहांका अग्नि जो ज्ञानी धर्मोपदेशक है । वह अपनी ज्ञानाग्निमें सब दुष्टोंको तपाता है और अच्छी प्रकार उनके मलोंको दूर करता है । शुद्धिकी यही विधि है । भोगके जीवनको छोडकर तपके जीवनमें आना ही धार्मिक बनना है । इस दृष्टिसे इस मंत्रका "परि-तप्ताः" शब्द बडे भावका सूचक है । अब छठे मंत्रका भावार्थ देखिये -

धर्मका दूत ।

षष्ठ मंत्र - "हे ज्ञानी पुरूष! अपना कार्य आरंभ कर । हमारे कार्य के लिये ही तुम्हें आगे किया है । हे उपदेशक! तू हमारा धार्मिक संदेश पहुंचाने वाला दूत बन कर दुष्टोंको पश्चातापसे रूला दे" ॥६॥

धर्म प्रचारके लिये बाहर जानेवाले उपदेशकको लोग कहते हैं कि - "अब तू अपना धर्म प्रचारका कार्य आरंभ कर दो । बिना डर देशदेशांतरमें जा और वहा सत्यधर्मका प्रचार कर । यही हमारा कार्य है और इसी कार्यके लिये तुम्हें आगे भेजा जाता है, अथवा आगे रखा जाता है । हमारा धार्मिक संदेश जगत्में फैलाना है, इस संदेशको स्थान स्थानमें पहुँचानेवाला दूतही तू है । अब जा और धार्मिक संदेशको चारों दिशाओंमें फैला दो और इस समय तक जो लोग अधार्मिक वृत्तिसे रहते हैं, उनको अपने सदुपदेशद्वारा शुद्ध करो और उनको अपने पूर्व दुराचारका पूर्ण पश्चाताप होने दो । उनके दिलोंको ऐसा पलटा दो कि जिससे वे अपने पूर्वाचरणका स्मरण करके रोने लगें ।" इस प्रकार जगत्का सुधार करनेके लिये धर्मोपदेशकोंको भेजा जाता है ।

डाकुओंको दण्ड ।

इतना धर्मोपदेश होकर भी जो सुधरेंगें नही और अपना दुराचार जारी रखेंगे अथवा पूर्वोक्त प्रकारके श्रेष्ठ धर्मोपदेशकोंके पराकाष्ठाके प्रयत्न करनेपर भी जो अपना दुष्ट आचरण नहीं छोडते और जनताको चोरी डकैती आदिसे अत्यंत कष्ट देते ही रहेंगे, उनको योग्य दण्ड देना ब्राह्मणका कार्य नहीं, वह कार्य क्षत्रियका है यह आशय अगले मंत्रमें कहा है -

सप्तम मंत्र - "हे धर्मोपदेशक ! तुम्हारे प्रयत्न करनेपर भी दुष्ट डाकु आदि अपने दुराचार छोडते नहीं उनको बांध कर यहां ला और पश्चात् क्षत्रिय उनके सिर तलवारसे काट दे" ॥७॥

श्रेष्ठ धर्मोपदेशक अपना धर्मोपदेशका प्रयत्न करे और दुष्टोंको पवित्र धार्मिक बनानेका यत्न करे । जो सदाचारी बनेंगे वे अपनेमें संमिलित हो जायेंगे । परंतु जो वारंवार प्रयत्न करनेपर भी अपना दुष्ट आचार जारी रखेंगे उनको दण्ड देना आवश्यक ही है । क्योंकि सब शासन संस्था समाज की शांतिके लिये ही है । परंतु दुष्टोंको भी सुधारनेका पूरा अवसर देना चाहिये । जब वारंवार प्रयत्न करनेपर भी वे सुधरेंगे नही तो क्षत्रिय आगे बढे और अपना कठोर दण्ड आगे करे । क्षत्रिय उन अत्याचारी दुष्टोंको बांधकर उनके सिर ही काटदे, इससे अन्योंकी भी यह उपदेश मिल सकता है, कि हम भी

धार्मिक बननेसे बच सकते हैं, नहीं तो हमारी भी यही अवस्था बनेगी ।

ब्राह्मण और क्षत्रियोंके प्रयत्नका प्रमाण ।

इस सूक्तमें ब्राह्मणके प्रयत्न के लिये छः मंत्र है और एकही मंत्रमें क्षत्रियका कठोर दण्ड आगे करनेको सुचित किया है । इससे स्पष्ट है कि कमसे कम छः गुणा प्रयत्न ब्राह्मण अपने सदुपदेशसे करें, इतने प्रयत्न करनेपरभी यदि वे न सुधरे, कमसे कम छः वार प्रयत्न करनेपर भी न सुधरे , छःवार अवसर देनेपर भी जो लोग दुष्टता नहीं छोडते, उनपर ही क्षत्रियका वज्र प्रहार होना योग्य है । क्योंकि जिनको जन्मसे ही दुष्टता करने का अभ्यास होगा वे एक वारके उपदेशसे पलट जायेंगे अथवा सुधरेंगे यह कठिन अथवा अशक्य है । इसलिये भिन्न उपायोंसे उनको अधिक अवसर देने चाहिये । इतना करनेपर भी जो नहीं सुधरते उनको या तो बंधन में डालना या शिरच्छेद करना चाहिये ।

ब्राह्मण भी हनन करता है और क्षत्रियभी करता है परन्तु दोनोंके हननों में बडा भारी भेद हैं । पहिले मन्त्र में ब्राह्मण की रीति बताई है और सप्तम मन्त्रमें क्षत्रिय की पद्धति बतादी है । क्षत्रिय की रीति यही है कि तलवार लेकर दुष्टका गला काट डालना, अथवा दुष्टोंको कारागृहमें बान्धकर रखना । ब्राह्मण की रीति इससे भिन्न है, ब्राह्मण उपदेश करता है, उपदेश द्वारा श्रोताओंके दिलोंको पलटा देता है, उनको अनुगामी बना देता है, उनके मनकी दुष्टता का नाश करता है । दोनोंका उद्देश्य दुष्टोंकी संख्या कम करने का ही होता है, परन्तु ब्राह्मण दुष्टोंको सुधारनेका प्रयत्न करता है, हृदय शुद्ध बनाता है और दुष्टोंकी संख्या घटाता है । और क्षत्रिय उनकी कतल करके उनकी संख्या घटाता है । इसीलिये ब्राह्मण के प्रयत्न श्रेष्ठ और क्षत्रियके दूसरे दर्जेके है ।

वेदमें जहां "हनन, दहन, परिताप, विलाप" आदि शब्द आते हैं वहां सर्वत्र एकसाही अर्थ लेना उचित नहीं । वे शब्द ब्राह्मण के लिये प्रयुक्त हुए हैं वा क्षत्रिय के लिये हुए हैं यह देखना चाहिये । हनन से शत्रुकी संख्या घटती है, ब्राह्मण, क्षत्रिय दोनों अपने अपने शस्त्रसे हनन करते हैं, परन्तु ऊपर बतायाही है कि ब्राह्मण विचार परिवर्तन द्वारा शत्रुको घटाता है । इसी प्रकार "विलाप" भी दो प्रकार का है । क्षत्रिय शत्रुकी कत्तल करता है उस समय भी शत्रुके लोग विलाप करते हैं और रोते पीटते ही है । उसी प्रकार ब्राह्मण धर्मोपदेश द्वारा जिस समय श्रोताओंके हृदयमें भक्तिभाव और धर्मप्रेम उत्पन्न करने द्वारा कृत दुराचारका पश्चात्ताप उत्पन्न करता है उस समस भी वे लोग रोते हैं और आंसू बहाते हैं । इन दोनों आंसू बहाने में बडा भारी भेद है । जो इष्ट परिवर्तन ब्राह्मण कर सकता है , वह क्षत्रिय कदापि नहीं कर सकता । यहीबात "परिताप, सन्ताप" आदिके विषयमें समझनी चाहिये ।

इस सूक्तका अर्थ करनेवाले विद्वानोंने इस ब्रह्मक्षत्रिय प्रणालिके भेदको न समझने के कारण इन शब्दोंके अर्थोका बडा अनर्थ किया है । इसलिये पाठक इस भेदको पहिले समझें और पश्चात् मन्त्रोंके उपदेश जाननेका यत्न करें । यह बात एकबार ठीक प्रकार समझमें आगई, तो मन्त्रोंका आशय समझनेमें कोई कठिनता नहीं होती, परन्तु ब्राह्मणों और क्षत्रियोंके क्रमशः कोमल और तीक्ष्ण मार्गोका भेद यदि ठीक प्रकार समझमें नहीं आया, तो अर्थका अनर्थ प्रतीत होगा । इसलिये दुष्टोंकी संख्या ब्राह्मण किस प्रकार घटाता है और क्षत्रिय किस प्रकार घटाता है, इसी प्रकार ये दोनों शत्रुओंको किस रीतिसे रूलाते हैं, तपाते हैं और जलाते है, यह पाठक अपने विचार से और यहां बताये मार्गसे ठीक समझें और ऐसे सूक्तोंका तात्पर्य जानें ।

---

(८)

(ऋषिः - चातनः । देवता - अग्निः, बृहस्पतिः)

इदं हविर्यातुधानान् नदी फेनमिवा वहत् । य इदं स्त्री पुमानकरिह स स्तुवतां जनः ॥१॥

अयं स्तुवान आगमदिमं स्म प्रति हर्यत । बृहस्पते वशे लब्ध्वाग्नीषोमा वि विध्यतम् ॥२॥

यातुधानस्य सोमप जहि प्रजां नयस्व च । नि स्तुवानस्य पातय परमक्ष्युतावरम् ॥३॥

यत्रैषामग्ने जनिमानि वेत्थ गुहा सतामत्त्रिणां जातवेदः ।
तांस्त्वं ब्रह्मणा वावृधानो जह्येषां शततर्हमग्ने ॥४॥

अर्थ - **(नदी फेनं इव)** नदी फेन को जैसी लाती है उस प्रकार **(इदं हविः)** यह दान **(यातुधानान् आवहत्)** दुष्टोंको यहां लावे । **(यः पुमान्)** जो पुरुष अथवा जो स्त्री **(इदं अकः)** यह पाप करती रही है । **(सःजनः)** वह मनुष्य तेरी **(स्तुवतां)** प्रशंसा करे ॥१॥ **(स्तुवानः अथः)** प्रशंसा करनेवाला यह डाकु **(आगमत्)** आया है, **(इमं)** इसका **(स्म प्रति हर्यत)** अवश्य स्वागत करो । हे **(बृहस्पते)** ज्ञानी उपदेशक ! इस को **(वशे लब्ध्वा)** वशमें रखकर, हे **(अग्नीषोमौ)** अग्नि और सोम ! **(वि विध्यतं)** इसका **विशेष निरीक्षण करो** ॥२॥ हे **(सोमप)** सोमपान करनेवाले ! **(यातुधानस्य प्रजां)** दुष्टकी सन्तान के प्रति **(जहि)** जा, पहुंच और **(च नयस्व)** उन्हें ले जा अर्थात् सन्मार्गसे चला । तथा **(स्तुवानस्य)** प्रशंसा करनेवालेका **(परं उत अवरं)** श्रेष्ठ और कनिष्ठ **(अक्षि)** आंखे **(नि पातय)** नीचे कर दो ॥३॥ हे **(अग्ने जातवेदः)** तेजस्वी ज्ञानी पुरूष ! **(यत्र गुहा)** जहां कहां गुफामें **(एषां)** इन **(अत्रिणां सतां)** भटकनेवाले सज्ञनों के **(जनिमानि)** कुलो और संतानो को **(वेत्थ)** तू जानता है **(तान् ब्रह्मणा वावृधानः)** उनको ज्ञानसे बढाता हुआ **(एषां शततर्ह जहि)** इनके सैकडों कष्टोंका नाश कर ॥४॥

यह सूक्त भी पूर्वसूक्त काही उपदेश विशेष रीतिसे बताता है । दुष्ट लोगोंको किस रीतसे सुधारना योग्य है इसका विचार इस सूक्तमें देखने योग्य है । इस सूक्तमें ब्राह्मण उपदेशक का एक और विशेषण आगया है वह "बृहस्पतिः" हे । इसका अर्थ ज्ञानप्रति प्ररिद्ध है, बृहस्पति देवोंका गुरू ब्राह्मण ही है, इसलिये इस विषयमें शंका ही नहीं है ॥ "सोम" शब्द इसीका वाचक इस सूक्त में है। "सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा ।" ब्राह्मणोंका मुखिया सोम है, उसी प्रकार बृहस्पति भी श्रेष्ठ ज्ञानी ब्राह्मण ही है । पाठक इन शब्दोंको पूर्वोक्त सूक्तके ब्राह्मण वाचक शब्दोंको साथ मिलाकर देखें और सबका मिलकर मनन करें, तो उनको पता लग जायगा कि धर्मोपदेशक ब्राह्मण किन गुणोंसे युक्त होना चाहिये । अब क्रमशः मन्त्रोंका आशय देखिये -

धर्मोपदेशका परिणाम ।

प्रथम मन्त्र - "जिस प्रकार नदी फेन को लाती है, उस प्रकार यह दान दुष्टोंको यहां ले आवे । उनमें से स्त्री या पुरूष जो कोई इस प्रकारका पाप करता है वही आदमी स्तुति करनेवाला बने ।" ॥१॥

वृष्टिजलसे भरी हुई नदी जिस प्रकार अपने साथ फेनको लाती है उसी प्रकार धर्मप्रचार के लिये अर्पण किया हुआ यह हमारा दान दुष्ट लोगोंको यहां शीघ्र लावे। अर्थात् इस दानका विनियोग धर्मप्रचारमें होकर उस धर्मप्रचारसे इतना प्रचारका कार्य होवे, कि जिससे सब दुष्टलोग अपनी दुष्टता छोडकर उत्तम नागरिक बननेके लिये हमारे पास आजावें । उनमें स्त्रियां हों या पुरूष हो, जो कोई उनमें पापाचरण करनेवाला हो, वह उपदेश सुनते ही धर्म भावसे प्रेरित होकर तथा धर्ममें आनेके लिये उत्सुक होकर, धर्मकी प्रशंसा करे और अर्धाचरण की निंदा करे । पाठक ध्यान रखें, कि हृदयके भाव परिवर्तित होनेका यह पहिला लक्षण है। धर्ममें प्रविष्ट होनेके पश्चात् धर्मसंघके लोग उससे किस प्रकार आचरण करें इस विषयका उपदेश द्वितीय मंत्रमें देखिये -

नवप्रविष्टका आदर ।

द्वितीय मंत्र - "यह स्तुति करता हुआ आगया है, इसका स्वागत करो । हे ज्ञानी पुरूष! उसको अपने वशमें रख कर, ब्राह्मण और उनका मुखिया ये उस पर ध्यान रखें ॥२॥"

उपदेश श्रवण करके धर्मकी ओर आकर्षित होकर धर्मकी प्रशंसा करता हुआ यह पुरूष आया है । अर्थात् जो पहिले अधार्मिक दुराचारी डाकु या उसका मनधर्मकी ओरझुका है और वह खुले दिलसे कहता है कि धर्म मार्गसे जाना ही उत्तम है । धर्मकी श्रेष्ठता वह जानने लगा है और अधर्माचरणसे मनुष्यकी जो गिरावट होती है वह उसके मनमें अब अच्छी प्रकार आगई है । उस गिरावटसे बचनेके कारण वह अब धर्मसंघमें प्रविष्ट होना चाहता है और उसी उद्देशसे वह धार्मिक लोगों के पास आ गया है । इस समय धार्मिक लोगोंको चाहिये कि वे उसका स्वागत करें, उसका स्वीकार आदर पूर्वक करें अर्थात् उसको अपनाये । बृहस्पति अर्थात् जो ज्ञानी ब्राह्मण हो उसके पास वह रहे, वह उनके कहे नियमोंके अनुसार चले, तथा अन्य समय उनपर निरीक्षण,

उपदेशक और ब्राह्मणोंका मुखिया करते रहें, और वारंवार उनको धर्मपथका बोध कराते रहे।

इस प्रकार उसकी योग्यता बढाई जाय और उसके धार्मिक भावका पोषण किया जाय। नहीं तो धर्मसंधमें प्रविष्ट हुआ नवमानव सत्संगियोंकी उदासीनताके कारण उदासीन होकर चला जायगा और अधिक विरोधी बनेगा, इसलिये नवीन प्रविष्ट हुए मनुष्यको अपनानेके विषयमें सत्संगियोंपर यह बडा भारी बोझ है। इस विषयमें वेदके चार आदेश ध्यानमें धरने योग्य हैं।

१ यह नवीन प्रविष्ट हुआ है,
२ इसका गौरव करो,
३ प्रविष्ट होते ही ज्ञानी इसे नियममें चलानेकी शिक्षा दे और
४ अन्य विद्वान् उसका निरीक्षण करें।

इस मंत्रमें "विध्यतं" शब्द है, उसका प्रसिद्ध अर्थ निशाना मारना है, निशाना मारनेका तात्पर्य उसपर वेधक दृष्टि रखना, उसकी विशेष निग्राणी करना है। उसका विशेष ख्याल रखना, उसका सदा भला करनेका यत्न करना। अस्तु। अब तीसरा मंत्र देखिये -

दुष्टोंकी संतानका सुधार।

तृतीय मंत्र - **"हे सोमपान करनेवाले ! दुष्ट लोगोंकी प्रजाको अर्थात् उनके बालबच्चोंको प्राप्त करो और उनको उत्तम मार्गसे चलाओ। जो तुम्हारी प्रशंसा करेगा उसकी दोनों आंखे नीचे करो ॥३॥"**

सोम - पान करनेवाला अर्थात् यज्ञकर्ता ब्राह्मण यज्ञद्वारा धर्मप्रचारका बडा कार्य करता है। दुष्टोंका सुधार करनेके महत्व पूर्ण कार्यमें विशेष महत्त्वकी बात यह है कि,धर्मके प्रचारके आयुसे बडे वृद्ध आदमियोंकी अपेक्षा नवयुवकोंके सुधारका अधिक यत्न करें। नवयुवकोंके संघ बनावें, उनका आचार सुधारें, उनकी रूचि सदाचारकी ओर करें अर्थात् हरएकरीतिसे उनको धार्मिक बनानेका सबसे पहिले उद्योग करें। क्योंकि आयुसे बडे लोग अपने दुराचारमें ही मस्त रहते हैं अथवा उनको वही आचार प्रिय और लाभदायक प्रतीत होता है, अतः उसको पलटाना कठिन कार्य है। परंतु नवयुवकोंके कोमल मन होते हैं, उनमें उतने दृढ कुसंस्कार नहीं होते, इसलिये नवयुवकोंका सुधार अति शीघ्र हो सकता है। इसके अतिरिक्त यदि नव युवक सुधर गये, तो उनका आगेका वंशही एकदम सुधर जाता है। इसलिये नवयुवकोंको सुधारनेका प्रयत्न विशेष रीतिसे करना चाहिये। दुष्टोंके बालकोंको जमा करके उनको धर्मनीति अर्थात् धार्मिक आचारको शिक्षा देना चाहिये। उनमें जो तुम्हारे धर्म की प्रशंसा करेगा उसकी आंखे पहिले नीचे करो, अर्थात् उनकी जो आंखे ऊंची होती है वह नीच हो जांय। इसका आशय यह है कि उनकी घमंडी दृष्टि दूर करके उनमें नम्र भाव युक्त दृष्टि स्थापित करो। अधार्मिक दुष्ट लोगोंकी आंखें लाल और मदोन्मत होती है, भौंहे टेढी और चढी हुई होती है, दुसरे मनुष्यकी जान लेना उनकी एक सहज बात होती है, यह टेढी दृष्टिका भाव है। नीची दृष्टिका आशय चालचलनकी नम्रता, श्रद्धा, भक्ति, आत्मपरीक्षा, आत्मसुधार आदि है। (अक्षि निपातय) आंख नीचे करना, यह दृष्टिमें भेद है। साधारण मनुष्यकी दृष्टि ओर प्रकारकी होती है, चोरकी दृष्टी और होती है, साधुकी दृष्टि ओर होती है। तथा डाकूकी दृष्टि भी और होती है। बालककी दृष्टि, तथा तरूण और वृद्धोंकी दृष्टिमें भेद है। इसलिये वेदमें कहा कि उनकी दृष्टि नम्र करदो। धार्मिक आचार जीवनमें ढाले गये तो ही यह दृष्टि बनती है अन्यथा नही। अस्तु। इस प्रकार तृतीय मंत्रका भाव देखनेके पश्चात् चतुर्थ मंत्रका आशय अब देखिये -

घरोंमें प्रचार।

चतुर्थ मंत्र - **"हे ज्ञानी उपदेशक! जहां कहां गुफाओंमें इन भटकने वालोंमेंसे किंचित् भले पुरूषोंके कुल या संतान होंगे, वहां पहुंच कर ज्ञानकी उनमें वृद्धि करते हुए, उनसे होनेवाले सैकडों कष्टोंको दूर करदो" ॥४॥**

चोर डाकु आदिओंके सुधारका विचार करते समय उनको संघोंमें उपदेश करना यह साधारण ही बात है, इससे अधिक परिणाम कारक बात यह है, कि उनके परिवारोंमें जाकर वहां उनको धर्मोपदेश करना चाहिये। ऐसा करनेके समय उन दुष्ट लोगोंमे जो कुछ भी भले आदमी (सतां अत्रिणां) होंगे, उनके घरोंमें पहिले जाना चाहिये, क्योंकि उनके दिल किंचित् नरमसे होनेके कारण उनपर शीघ्र परिणाम होना संभव है। इनके घरोंमें जाकर उनको, उनकी स्त्रियोंको तथा उनके बाल बच्चोंको योग्य उपदेश देना चाहिये। उनकी उन्नति (ब्रह्मणा वावृधानः) ज्ञान द्वारा करनेका यत्न करना चाहिये, अर्थात् उनको ज्ञान देना चहिये। सच्चा धर्मज्ञान देनेसे ही इनका उद्धार हो सकता है। एकबार धर्मज्ञानमें इनकी रूची बढ गयी, तो इनसे होनेवाले सैकडों कष्ट दूर हो जायेंगे और इनका भी कल्याण होगा।

इस प्रकार इन दो सूक्तोंका उपदेश विशेष मनन करने योग्य है। धर्म प्रचार करनेवाले उपदेशक तथा उपदेशकोंको नियुक्त करनेवाले सज्जन इन वैदिक आदेशोंका मनन करें और उचित बोध लेकर अपने आचरणमें ललानेका यत्न करें।

वर्चःप्राप्ति - सूक्त ।

यह सूक्त "वर्चस्व-गण" का प्रथम सूक्त है । वर्चस्वगणके सूक्तोंमें "तेज संवर्धन", बलसंवर्धन, धनकी प्राप्ति, शरीरकी पुष्टि, समाज या राष्ट्रमें सम्मानप्राप्ति" आदि अनेक विषय होते हैं । वर्चस्वगणमें कई सूक्त हैं, उनका निर्देश आगे उसी स्थानपर किया जायगा -

(९)

(ऋषिः अथर्वा । देवता - वस्वादयो नानादेवताः)

अस्मिन्वसु वसवो धारयन्त्विन्द्रः पूषा वरुणो मित्रो अग्निः ।
इममादित्या उत विश्वे च देवा उत्तरस्मिन् ज्योतिषि धारयन्तु ॥ १ ॥
अस्य देवाः प्रदिशि ज्योतिरस्तु सूर्यो अग्निरुत वा हिरण्यम् ।
सपत्ना अस्मदधरे भवन्तूत्तमं नाकमधि रोहयेमम् ॥ २ ॥
येनेन्द्राय समभरः पयांस्युत्तमेन ब्रह्मणा जातवेदः ।
तेन त्वमग्न इह वर्धयेमं सजातानां श्रैष्ठ्य आ धेह्येनम् ॥ ३ ॥
एषां यज्ञमुत वर्चो ददेऽहं रायस्पोषमुत चित्तान्यग्ने ।
सपत्ना अस्मदधरे भवन्तूत्तमं नाकमधि रोहयेमम् ॥ ४ ॥

अर्थ - (अस्मिन्) इस पुरूषमें (दसवः) वसु देवता तथा इन्द्र, पूषा, वरुण, मित्र, अग्नि ये देव (**वसु**) धनको (**धारयन्तु**) धारण करें । आदित्य और विश्वे देव (**इमं**) इस पुरूषको (**उत्तरस्मिन् ज्योतिष**) अति उत्तम तेजमें धारण करें ॥१॥ हे (**देवाः**) देवो ! (**अस्य**) इस पुरूषके (**प्रदिशि**) आदेशमें ज्योति, सूर्य, अग्नि और हिरण्य (**अस्तु**) होवे । (**सपत्नाः**) शत्रु (**अस्मत् अधरे**) हमारे नीचे (**भवन्तु**) होवें और (**इमं**) इसको (**उत्तमं नाकं**) उत्तम सुखमें (अधिरोहय) तुम चढाओ ॥२॥ हे (**जातवेदः**) ज्ञानी उवदेशक! (**येन उत्तमेन ब्रह्मणा**) जिस उत्तम ज्ञानसे इन्द्रके लिये (**पयांसि समभरः**) दुग्धादि रस दिये जाते हैं (**तेन**) उस उत्तम ज्ञानसे, हे (**अग्ने**) तेजस्वी पुरूष । (**इमं**) इसको (**इह**) यहां (**वर्धय**) बढाओ और (**एनं**) इसको (**सजातानां श्रैष्ठ्ये**) अपनी जातिमें श्रेष्ठ स्थानमें (**आ धेहि**) स्थापित कर ॥३॥ हे (**अग्ने**) तेजस्वी पुरुष ! (**एषां**) इनके यज्ञ, (**नर्चः**) तेज, (**रायः पोषं**) धनकी वृद्धि और चित्त आदिको (**अहं आ ददे**) मैं प्राप्त करता हूं । (**सपत्नाः**) शत्रु हमारे नीचेके स्थानमें रहे और (**इमं**) इस मनुष्यको उत्तम सुखमें (**अधि रोहय**) पहुंचा दो ॥४॥

इस सूक्तका भावार्थ देखनेके पूर्व सूक्तकी कई बातोंका स्पष्टीकरण करनेकी आवश्यकता है, अन्यथा सूक्तका भावार्थ समझमें ही नहीं आवेगा । सबसे प्रथम सूक्तमें वर्णित देवताओंका मनुष्यसे क्या संबंध है इसका ठीक ठीक ज्ञान होना आवश्यक है, इसलिये उसका विचार सबसे प्रथम करेंगे -

देवताओंका सम्बन्ध ।

जो ब्रह्माण्डमें है, वह पिण्डमें है, तथा जो पिण्डमें है वह ब्रह्माण्डमे है अर्थात् जो विश्वमें है, उसका सब सत्व एक व्यक्तिमें है और जो व्यक्तिमें है उसका विस्तारसब विश्वमें है, इसका विशेष ज्ञान निम्नलिखित कोष्टकसे हो सकता है ।

व्यक्तिमें देवतांश	समाजमें देवता	विश्वमें देवता
निवासकशक्तियां	समाजस्थितिका आठ शक्तियां	वसवः (अष्ठः)
स्थूलशरीर	मातृभूमि	पृथ्वी
रक्तादि धातु	जल नदी नद आदि	आप्
शरीरका तेज	अग्नि विद्युत् आदि	तेजः ज्योतिः
प्राण	शुध्द वायु	वायुः
कान	स्थान	आकाशः
अन्नपान	औषधि,वनस्पति धान्यादि	सोमः
प्रकाश	प्रकाश	अहः
इन्द्रिय गण	साधारण जनता	नक्षत्राणि, देवाः
ज्ञान	ब्राह्मण, ज्ञानी मनुष्य	ब्रह्मन्
क्षात्रतेज	क्षत्रिय वीर	इन्द्रः
पुष्टि	राष्ट्रपोषक अधिकारी	पूषा
शांतभाव	जलाधिकारी	वरुणः
मित्रभाव	मित्र जन	मित्रः
वाणी	ज्ञानी उपदेशक	अग्निः
स्वातंत्र्य	स्वतंत्र विचारके लोग	आदित्याः
नेत्र,दर्शनशक्ति	दार्शनिक विद्वान्	सूर्यः
सब दिव्य गुण	सब विद्वान, कारीगर	विश्वे देवाः
तेज	धन	हिरण्यं
दुष्ट विचार	शत्रु	सपत्नाः
आनंद	स्वाधीनता	नाक (स्वर्ग)
तेजी	"	उत्तमं ज्योतिः
सुख	"	मध्यमं "
		अधमं "

"ब्रह्मचर्य" पुस्तकमें अंशावतारका वैदिक भाव वर्णन किया है वह इस समय अवश्य पढिने ।

(स्वाध्याय मंडलद्वारा प्रकाशित ।)

इस कोष्टकसे पाठकोंको पता लग जायगा कि सूत्रोक्त देवता शरीरमे किस रूपमें हैं, राष्ट्रमें किस रूपमें हैं और जगत्में किस रूपमें हैं । सूर्यदेव जगत्में कहां है यह सब जानते हैं, वही अंशरूपसे शरीरमें है जिसको नेत्र या दर्शनशक्ति कहते हैं, राष्ट्रमें भी जो पुरुष विशेष विचारसे राष्ट्रकी अवस्थाका विचार करते हैं वे दार्शनिक पुरुष राष्ट्रके सूर्य हैं क्योंकि उनके दर्शाये मार्गसे जाता हुआ राष्ट्र उत्तम अवस्थामें पहुंच सकता है । इसी प्रकार अन्यान्य देवताओंके विषयमें देखना योग्य है ।

इस सूक्तमें प्रारंभमें ही "अस्मिन्" पद हैं इसका अर्थ "इस मनुष्यमें" ऐसा है । प्रश्न होता है कि किस मनुष्यके उद्देश्यसे यह शब्द यहां आया है । पूर्व सूक्तके साथ इस सूक्तका संबंध देखनेसे स्पष्टतापूर्वक पता लगता है कि इस शब्दका संबंध पूर्व सूक्तमें वर्णित "नवप्रविष्ट शुद्ध हुए" मनुष्यके साथ ही है । जो मनुष्य मनकी वृत्ति बदलेनेके कारण अपने धर्ममें प्रविष्ट हुआ है, उसकी सबसे अधिक उन्नति करनेकी इच्छा करना प्रत्येक मनुष्यका आवश्यक कर्तव्यही है । अपने धर्ममें जो श्रेष्ठसे श्रेष्ठ प्राप्तव्य है, वह उसको शीघ्र प्राप्त हो, इस विषयकी इच्छा मनमें धारण करनी चाहिये, अर्थात् उसको विशेष तेजप्राप्त हो ऐसी इच्छा धरनी चाहिये । यद्यपि इस सूक्तका पूर्वापर संबंध देखनेसे यह सूक्त नव प्रविष्टकी तेजवृद्धिके लिये है ऐसा प्रतीत होता है, तथापि हरएक मनुष्यकी तेज वृद्धिके सामान्य निर्देश भी इसमें हैं और इस दृष्टिसे यह सामान्य सूक्त सब मनुष्योंके उपयोगी भी है । पाठक इसका दोनों प्रकारसे विचार करें ।

अब यहां पूर्वोक्त मंत्रोंका भावार्थ दिया जाता है और वह भावार्थ देनेके समय व्यक्तिमें जो देवतांश है उनको लेकरही दिया जाता है । पाठक इसकी तुलना पूर्वोक्त कोष्टकसे करें -

उन्नतिका मुलमन्त्र ।

प्रथम मंत्र - "इस मनुष्यमें जो निवासक शक्तियां हैं तथा क्षात्र बल, पुष्टि, शांति, मित्रता तथा वाणी आदिकी शक्तियां हैं, ये सब शक्तियां इसमें धन्यता स्थापित करें। इसके स्वतंत्र विचार और इसकी सब इंद्रियां इसको उत्तम तेजमें धारण करें ॥१॥"

मनुष्यमें अथवा जगत्के हरएक पदार्थमें कुछ निवासक (वसु) शक्तियां हैं जिनके कारण वह पदार्थ या प्राणी अपनी अवस्थामें रहते हैं । जिस समय निवासक वसु शक्तियां बढती रहती हैं, उस समय पोषण होता है और घटती जाती हैं, उस समय क्षीणता होती है, तथा निवासक शक्तियोंके नाश होनेपर मृत्यु निश्चित है । इसी प्रकार अन्यान्य शक्तियोंके बढने घटनेसे वे वे गुण बढते या घटते हैं। मनुष्यमें वसुशक्तियां आठ हैं और अन्य देवताओंसे प्राप्त अन्य शक्तियां भी हैं । इन शक्तियोंके विकसित रूपमें प्रकाशित होनेसेही मनुष्य वसु अर्थात् धन प्राप्त करता है और अपने आपको धन्य कर सकता है । सारांश रूपसे उन्नतिका यही मूल मंत्र है । (१) अपनी

निवासक वसुशक्तियोंका विकास करना, तथा (२) अपने अंदर क्षात्रतेजकी वृद्धि करना (३) अपनी पुष्टि करना, (४) अपने अंदर समता और शांति रखना, (५) मनमें मित्रभाव बढाना और हिंसक भाव कम करना, तथा (६) वाणीकी शक्ति विकसित करना । इन छः शक्तियोंके बढ जानेसे मनुष्य हरएक प्रकारका धन प्राप्त कर सकता है और उससे अपने आपको धन्य बना सकता है । यहां का "वसु" शब्द धनवाचक है परंतु यह धन केवल पैसाही नहीं, परंतु यह वह धन है, कि जिससे मनुष्य अपने आपको श्रेष्ठ पुरूषांमें धन्य मान सकता है। इस वसुमें सब निवासक शक्तियोंके विकाससे प्राप्त होनेवाली धन्यता आ जाती है । (१) "निवासक शक्ति, (२) क्षात्रतेज, (३) पुष्टि, (४) समता, (५) मित्रभाव, (६) वक्तृत्व," इन छः गुणोंकी वृद्धि करनेकी सूचना इस प्रकार प्रथम मंत्रके प्रथमार्धमें दी है और दूसरे अर्धमें कहा है कि (७) इसके स्वतंत्र विचार और (८) इसकी इंद्रिय शक्तियां इनको उत्तमोत्तम तेजस्वी स्थानमें पहुंचायें। मनुष्यके स्वतंत्र विचारही मनुष्यको उठाते या गिराते है, उसी प्रकार इंद्रियां स्वाधीन रहीं तो ही वह संयमी मनुष्य श्रेष्ठ बनता है अन्यथा इंद्रियोंके आधीन बनकर दुर्व्यसनी बना हुआ मनुष्य प्रतिदिन हीन होता जाता है। मनुष्यकी निःसंदेह उन्नति करनेका यह अष्टविध साधन प्रथम मंत्रने दिया है । वह हरएक मनुष्यको देखनेयोग्य है । अब दुसरा मंत्र देखिये -

विजयके लिये संयम ।

द्वितीय मंत्र - "हे देवो ! इस मनुष्यकी आज्ञामें तेज, नेत्र वाणी और धन रहे । हमारे शत्रु नीचे हो जांय और इसको सुखकी उत्तम अवस्था पाप्त हो ॥२॥"

इस मंत्रमे "(अस्य प्रदिशि सूर्यः अस्तु) इसकी आज्ञामें सूर्य रहे" यह वाक्य है । पाठक जान सकते हैं कि किसी भी मनुष्यकी आज्ञामें सूर्य रह ही नहीं सकता, क्योंकि वह मनुष्यकी शक्तिसे बाहर हैं, परन्तु सूर्यका अंश जो शरीरीमें नेत्र स्थानमें रहता है और जिसको नेत्र इन्द्रिय कहते हैं वह तो संयमी पुरुषके आधीन रह सकता है । इससे पूर्व कोष्टककी बात सिद्ध होती है कि व्यक्तिके विषयमें विचार करनेके समय देवताओंके शरीरस्थानीय अंशही लेने चाहिये जैसा कि पहले मंत्रमें किया है और इस मंत्रमें भी करना है ।

मनुष्य के अंदर बाह्य ज्योतिका अंश तेजी, सूर्यका अंश नेत्र, अग्निका अंश वाणीके रूपमें रहता है । इसी प्रकार अन्यान्य देवोंके अंश यहां रहते हैं, वे ही इन्द्रिय शक्तियां हैं । मनुष्यकी स्फूर्ति, आंख और वाणी तथा उपलक्षणसे अन्य इन्द्रियां भी उसकी आज्ञामें रहें, अर्थात् इन्द्रियां स्वतंत्र न बनें । तात्पर्य-मनुष्य इन्द्रिय-संयम और मनोनिग्रह करके अपनी शक्यिोंको अपने आधीन रखे । अपनी इन्द्रियोंको अपने आधीन रखना आत्मविजय प्राप्त करना हैं । इस प्रकारका आत्मविजयी मनुष्यही शत्रुओंको दबा सकता और उत्तम सुख प्राप्त कर सकता हैं । यदि जगत्में विजय पाना है, शत्रुओंको दबाना है, तथा उत्तम सुख कमाना है, तो अपनी शक्तियोंको सबसे प्रथम स्वाधीन करना चाहिये, यह महत्त्वपूर्ण उपदेश यहां मिलता है । अब तृतीय मंत्र देखिये -

ज्ञानसे जातिमें श्रेष्ठताकी प्राप्ति ।

तृतीय मंत्र - "जिस उत्तम ज्ञानसे क्षत्रियको उत्तमोत्तम रस प्राप्त होते हैं, हे धर्मोपदेशक ! उसी उत्तम ज्ञानसे यहां इस मनुष्यकी वृद्धि कर और अपनी जातिमें इसे श्रेष्ठता प्राप्त हो ॥३॥

क्षत्रियकों, इन्द्रको अथवा राजाको जिस ज्ञानमें उत्तम भोग प्राप्त होते है और जिस ज्ञानसे वह सबसे श्रेष्ठ समझा जाता है, वह ज्ञान इस मनुष्यको प्राप्त हो और यह मनुष्य भी वैसाही अपनी जातिमें अथवा अपने राष्ट्रमें श्रेष्ट बने । राष्ट्रके हरएक पुरुषको श्रेष्ठ ज्ञान प्राप्त करनेके सब साधन खुले रहने चाहियें । वह मनुष्य नूतन प्रविष्ट हो वा उसी जातिमें उत्पन्न हुआ हो । तथा हरएक मनुष्यमें यह महत्वाकांक्षा होनी चाहिये कि मैं भी उस ज्ञानको प्राप्त करके वैसाही श्रेष्ठ बनूंगा । मैं अपनी जातिका नेता बनूंगा और अपने देशमें श्रेष्ठता प्राप्त करुंगा । यह मंत्रका आशय हरएकको नित्य स्मरणमें रखना उचित है । अब अगला मंत्र देखिये -

जनताकी भलाई करना ।

चतुर्थ मंत्र - इन सबके चित्त मैं अपनी ओर खींचता हूं और इनके धनकी वृद्धि मैं करुंगा, तथा इनके सत्कर्म मैं फैलाऊंगा । हमारे शत्रु नीचे दब जांय और इसको उत्तम सुखका स्थान प्राप्त हो ॥४॥

(१) पहिले मंत्रके उपदेशानुसार आचरण करनेसे अपनी शक्तियोंकी उन्नति की, (२) दूसरे मंत्रके

उपदेशानुसार अपने इन्द्रिय संयम द्वारा आत्मविजय प्राप्त किया, (३) तीसरे मंत्रके उपदेशानुसार अपनी ज्ञानवृद्धि द्वारा प्रशस्त कर्म करके अपनी जातिमें बहुमान प्राप्त किया, तब ४) इस चतुर्थ मंत्रमें वर्णित जनताकी भलाई करनेके उत्तमोत्तम कर्म करने और करानेका योग्य अवसर प्राप्त होता है । पाठक यहां चार मंत्रोंमें वर्णित यह चार सीढियां देखें और विचारें, तो पता लग जायेगा कि यहां इस सूक्तमें वेदने थोडे शब्दोंमें मानवी उन्नतिका अत्यंत उत्तम उपदेश किया है, इसका पाठक जितना विचार करें उतना थोडाही है । देखिये -

उन्नतिकी चार सीढियां ।

"अपनी शक्तियोंका विकास ॥"

प्रथम मंत्र - शरीरकी धारक शक्तियों, इन्द्रियों और अवयवों की सब शक्तियों, तथा मनकी विचार शक्तियोंका उत्तम विकास करो ॥

"स्वशक्तियोंका संयम ॥"

द्वितीय मन्त्र - अपने आधीन अपनी सब शक्तियां रखो, संयम द्वारा आत्मविजय प्राप्त करके शत्रुको दूर करो और सुखी हो जाओ ।

"ज्ञानवृद्धिद्वारा स्वजातिमें संमान ॥"

तृतीय मन्त्र - ज्ञानकी वृद्धिद्वारा विविध रस प्राप्त करो, और अपनी वृद्धिद्वारा स्वजातिमें श्रेष्ठ बनों ।

"जनताकी उन्नतिके लिये प्रयत्न"

चतुर्थ मन्त्र - लोगोंके चित्त अपनी ओर आकर्षित करो, लोगोंके धनोंकी वृद्धि करो और उनके प्रशस्त कर्मोको फैला दो । इससे शत्रुओंको दूर करके सुखके स्थानमें विराजो ॥

ये चार मन्त्र महत्त्वपूर्ण चार आदेश दे रहे हैं (१) स्वशक्ति-संवर्धन (२) आत्मसंयम (३) ज्ञानके कारण स्वजातिमें श्रेष्ठत्व और (४) जनताकी भलाईके लिये प्रयत्न, ये संक्षेपसे चार आदेश है । इन चार मन्त्रोंपर चार विस्तृत व्याख्यान हो सकते हैं इतना इनके उपदेशोंका विस्तार और महत्त्व हैं ।

चतुर्थ मन्त्रमें "एषां" शब्द है, यह "इन सब लोगोंका" यह भाव बता रहा है । इन सब लोगोंके चित्त में अपनी ओर खीचता हूं, इनके धनोंकी वृद्धि करनेके उपाय मैं करता हूं, इनके प्रशस्त कर्मोको बढाता हूं, और इनके सब शत्रुओंको नीचे दबाकर इन सबका सुख बढानेका प्रयत्न करता हूं । यह इस चतुर्थ मन्त्रका भाव अति स्पष्ट और सुगम है । पाठक इसका मनन करें और इस सूक्तको अपने आचरणमें ढाल दें ।

वर्चस्य-गणके सूक्तके उत्तम उपदेशका अनुभव पाठकोंको यहां आया ही होगा । इसी प्रकार आगे भी कई सूक्त इस गणके आवेगे । उस समय सूचना दी जायगी । पाठक गणोंके अनुसार सूक्तोंका विचार करें और लाभ उठावें ।

इन सूक्तोंका स्मरणीय उपदेश

१ **तौलस्य प्राशान**- तोलकर खाओ । मित भोजन करो।

२ **प्रजां नयस्व** - सन्तानको ठीक मार्ग बताओ ।

३ **ब्रह्मणा वावृधानः**- ज्ञानसे (बढनेवाला तथा दूसरोंको) बढानेवाला (बनो)

४ **उत्तरस्मिन् ज्योतिषि धारयन्तु** - अधिक श्रेष्ठ तेजमें (इसकी) धारणा करें ।

५ **अस्य प्रदिशि ज्योतिः सूर्यः अग्निः उत हिरण्यं अस्तु**- इसकी आज्ञामें तेज, सूर्य, अग्नि और धन रहे, (अर्थात्) इस (मनुष्य) की आज्ञामें जगत्के पदार्थ रहें और कभी मनुष्य उनकी आज्ञामें जाकर पराधीन न बने ।

६ **सपत्ना अस्मदधरे भवन्तु**- शत्रु हमारे नीचे रहे ।

७ **उत्तम नाकमधि रोहयैनम्**- इसे उत्तम स्थानमें चढाओ ।

८ **सजातानां श्रेष्ठ्य आ धेह्येनम्**- इसको अपनी जातिमें श्रेष्ठ बनाओ ।

असत्यभाषणादि पापोंसे छुटकारा ।

(१०)

(ऋषिः-अथर्वा । देवताः १ असुरः, २-४ वरुणः ।)

अयं देवानामसुरो वि राजति वशा हि सत्या वरुणस्य राज्ञः ।
ततस्परि ब्रह्मणा शाशदान उग्रस्य मन्योरुदिमं नयामि ॥ १ ॥
नमस्ते राजन्वरुणास्तु मन्यवे विश्वं ह्युग्र निचिकेषि द्रुग्धम् ।
सहस्रमन्यान्प्र सुवामि साकं शतं जीवाति शरदस्तवायम् ॥ २ ॥
यदुवक्थानृतं जिह्वया वृजिनं बहु । राज्ञस्त्वा सत्यधर्मणो मुञ्चामि वरुणादहम् ॥ ३ ॥
मुञ्चामि त्वा वैश्वानरादर्णवान्महतस्परि । सजातानुग्रेहा वद ब्रह्म चाप चिकीहि नः ॥ ४ ॥

अर्थ - **(अयं)** यह **(देवानां असूरः)** देवांको भी जीवन देनेवाला ईश्वर **(वि राजति)** प्रकाशता है । **(हि)** क्योंकि **(राज्ञः वरुणस्य)** राजा वरुण देव अर्थात् ईश्वर की **(वशा)** इच्छा **(सत्या)** सत्य है । **(ततः परि)** इतना होनेपर भी **(ब्रह्मणा)** ज्ञानसे **(शाशदानः)** तीक्ष्ण बना हुआ मैं **(उग्रस्य मन्योः)** प्रचंड ईश्वरके क्रोधसे **(इमं)** इस मनुष्यको **(उत् नयामि)** ऊपर उठाता हूं ॥१॥ हे **(वरुण राजन्)** ईश्वर ! **(ते मन्यवे)** तेरे क्रोधको **(नमः अस्तु)** नमस्कार होवे । हे **(उग्र)** प्रचंड ईश्वर ! तू **(विश्वं द्रुग्धं)** सब द्रोहादि पापोंको **(निचिकेषि)** ठीक प्रकार जानता है । **(सहस्रं अन्यान्)** हजारों अन्योंको **(साकं)** साथ साथ मैं **(प्रसुवामि)** प्रेरणा करता हूं । **(अयं)** यह मनुष्य **(तव)** तेरा बनकर ही **(शतं शरदः)** सौ वर्ष **(जीवाति)** जीता रह सकता है ॥२॥हे मनुष्य । **(यत्)** जो **(अनृतं वृजिनं)** असत्य और पाप वचन **(जिह्वया)** जिह्वासे **(बहु उवक्थ)** बहुतसा तू बोला है, उससे तथा **(सत्यधर्मा)** सच्चे न्यायी **(राज्ञः वरुणात्)** राजा वरुण देव ईश्वरसे **(अहं)** मैं **(त्वा)** तुझको **(मुञ्चामि)** छुडाता हूं ॥३॥ हे मनुष्य ! त्वा तुझको **(महतः वैश्वानरात् अर्णवात्)** बडे समुद्रके समान गंभीर विश्वनायक देवसे **(परि मुञ्चामि)** छुडाता हूं । हे **(उग्र)** वीर ! **(इह)** यहां **(सजातान्)** अपनी जातिवालोंको **(आ वद)** सब कह दे और **(नः)** हमारा **(ब्रह्म)** ज्ञान **(अप चिकीहि)** तू जान ॥४॥

भावार्थ - यह सूर्यादि देवताओंको शक्ति प्रदान करनेवाला प्रभु ईश्वर जगत्पर विराजता है, सबका सर्वोपरि शासक वही है, इसलिये उसकी इच्छा ही सर्वदा सत्य होती है । अर्थात् उसकी इच्छाके प्रतिकूल कोई भी जा नही सकता । तथापि ज्ञानसे सत्यमार्गोंको जाननेवाला मैं इस पापी मनुष्यको निम्नलिखित मार्गसे उस ईश्वरके क्रोधसे छुडाता हूं ॥१॥ हे ईश्वर ! तेरे क्रोधके सामने हम नम्र होते है, तेरे सामने सिर झुकाते है । क्योंकि तू हम सबके पापोंको यथावत् जानता है । इसलिये हम अपने पापोंको तेरे सामने छिपा नही सकते । हे प्रभो ! यह बात मैंने हजारो मनुष्यों की सभाओंमे घोषित की है । यह संदेहरहित बात है कि यदि यह मनुष्य तेरा भक्त बनेगा तो ही सौ वर्ष जीवित रह सकेगा, अन्यथा इसको कौन बचा सकता है ? ॥२॥ हे पापी मनुष्य ! तू अपनी जबानसे बहुत असत्य और बहुत पाप वचन बोलता है । इस पापसे दूसरो कोई तुझे बचा नही सकता । मैं तुम्हे उसकी शरणमें ले जाता हूं और उसकी कृपासे तेरा बचाव कर सकता हूं ॥३॥ हे पापी मनुष्य ! तुझको विश्वेश्वरके क्रोधसे इस प्रकार छुडाता हूं । हे वीर ! तू अपनी जातिमें सब बातें कह और हमारे ज्ञानको जानकर अपना ॥४॥

पापसे छुटकारा पानेका मार्ग ।

यद्यपि यह सूक्त अति सरल है तथापि पाठकोंके विशेष सरल बोधके लिये यहां थोडासा स्पष्टीकरण किया जाता है।

इस सूक्तमें पापसे छुटकारा पानेका जो मार्ग बताया है वह निम्नलिखित है -

एक शासक ईश्वर ।

(१) **"देवानां असुरो विराजति"** - सूर्यचंद्रादि देवोंको विविध शक्ति देनेवाला एक प्रभु ईश्वरही सब जगत्का परम शासक है । इससे अधिक शक्तिशाली दूसरा कोई नहीं है। (मंत्र १)

(२) **"राज्ञो वरुणस्य वशा हि सत्या"** - उस प्रभु ईश्वरका सत्य शासन है। उसीकी इच्छा सर्वोपरि है। उसके अपूर्व शासनका कोई उल्लंघन कर नही सकता । (मंत्र १)

(३) **"विश्वं ह्युम निचिकेषि द्रुग्धम्"**- हे प्रभु ईश्वर ! तू हम सबके पापोंको यथावत् जानता है । अर्थात् कोई मनुष्य अपने पाप उससे छिपा नहीं सकता । क्योंकि वह सर्वज्ञ है इसलिये हम सबके बुरे भले कर्म वह यथावत् उसी समय जानता है । (मंत्र २)

ईश्वरको सर्वोपरि मानना, सबसे सामर्थ्यशाली वह है यह स्मरण रखना और उससे छिपाकर कोई मनुष्य कुछ कर नही सकता, यह निश्चित रीतिसे समझना, पापसे बचनेके लिये आवश्यक है । पापसे बचानेवाले ये तीन महत्त्वपूर्ण विश्वास इस सूक्तमें कहे हैं, पाठक इनका मनन करें और इनको अपने अंदर स्थिर करें । येही तीन भाव मनुष्यका पापसे बचाव कर सकते हैं ।

ज्ञान और भक्ति ।

मनुष्यको पापसे बचानेवाले ज्ञान और भक्ति ये दो ही हैं। इनका वर्णन इस सूक्तमें निम्नलिखित रीतिसे किया है -

(१) **"ब्रह्मणा शाशदानः ।"** ज्ञानसे तीक्ष्ण बना हुआ मनुष्य पापसे बच जाता है और दूसरोंको भी बचाता है। सृष्टिके तथा आत्माके यथार्थ विज्ञानको "ब्रह्म" कहते हैं। यह ब्रह्म अर्थात् सृष्टिविद्या और आत्मविद्याका उत्तम ज्ञान मनुष्यको तीक्ष्ण बनाता है । अर्थात् तेज बनाता है। जिस प्रकार तेज शस्त्र शत्रुका नाश करता है उसी प्रकार ज्ञानका तेज शस्त्र भी अज्ञान पाप आदि शत्रुओंका नाश करता है । मनुष्यकी सच्वी उन्नतिका यही साधन है। (मंत्र १)

(२) **"नमस्ते राजन् वरुणास्तु मन्यवे ।"** - हे ईश्वर ! तेरे क्रोधके सामने हम नमन करते है, तेरे शासनके सामने हम अपना सिर झुकाते है । अर्थात् हम तेरी शरणमें आकर रहते हैं, हम अपने आपको तेरी इच्छामें समर्पित करते हैं। तू ही हमारा तारनेवाला है। तेरे बिना हम किसी अन्यको शरण आनेयोग्य समझते नहीं । (मंत्र-२)

(३) **"शतं जीवाति शरदस्तवायम् ।"**- सौ वर्ष जीवित रहेगा जो तेरा बनेगा । जो परमेश्वरका भक्त बनकर रहेगा उसका नाश कौन कर सकता है ? (मंत्र २)

पाठक इन तीन मंत्रभागोंमें ज्ञान और ईशभक्तिसे पाप मोचनकी संभावना देख सकते है । सृष्टिविद्याके नियमोंको जानकर तदनुकूल आचरण करना, आत्मविद्याको जानकर परमात्माको सार्वभौम सत्ताधारी मानना, भक्तिसे ईश्वरके सन्मुख नम्र बनना और ईश्वरका भक्त बनकर आनन्दसे उसका होकर रहना यही पापमोचनका सीधा और निश्चित मार्ग है । पाठक इस सूक्तमें यह मार्ग देखें। इस सूक्तमें जिस मार्गसे पापमोचनकी संभावना कही है वह यही मार्ग है और यही निश्चित और सीधा मार्ग है।

प्रायश्चित्त ।

पापसे बचनेके लिये प्रायश्चित्त भी यहां कहा है और वह यहां देखनेयोग्य है -

(१) **"ब्रह्म अपचिकीहि ।"** - पूर्वोक्त ज्ञान जानकर अपना उत्तम ज्ञान प्राप्त करना, तता संक्षेपसे जो नियम ऊपर बताये है उनको जानना यह उन्नतिका निश्चित साधन है । जब इस ज्ञानसे अपने अवगुणोंका पता लगेगा, अपने दुराचारका ज्ञान होगा तब पश्चातापसे शुद्धि करनेका मार्ग है, वह इस प्रकार है - (मंत्र-४)

(२) **"सजातानुग्रेहा बद ।"** - हे वीर ! तू अपनी जातिके पुरुषोंके सामने अपने सब अपराध कह दे । यही प्रायश्चित है । अपनी जातिके स्त्री पुरुषोंके सम्मुख अपने अपराधों को न छिपाते हुए कहना, यह बडा भारी प्रायश्चित है और इससे मनुष्यके मनकी शुद्धि होती है। (मंत्र-४)

ज्ञान प्राप्त करनेके पश्चात या जिस समय पश्चाताप हो उस समय अपने सब अपराध अपनी जातिके सम्मुख

कहना बडा धैर्यका तथा मनकी पवित्रताका ही कार्य है। हरएक मनुष्य इस प्रकार प्रायश्चित नहीं कर सकता। प्रायः मनुष्य अपने अपराधोंको छिपानेका ही यत्न करते हैं परंतु जो लोग अपने दोषोंकों जनताके सम्मुख कह देते है वे शुद्ध बनकर शीघ्रही बडे महात्मा बन जाते है।

इस सूक्तमें "वरुण" आदि शब्दों द्वारा परमात्माका वर्णन हुआ है, "मश्वामि" आदि शब्दोंसे पापियोंको पापसे छुडानेवाला महोपदेशक का वर्णन है और "इमं" आदि शब्दोंसे पापी मनुष्योंका भी वर्णन हुआ है। धर्मोपदेशक पापियोंको पापसे बचानेका उपदेश परमेश्वरभक्तिका मार्ग बताकर कर रहा है, यह बात इस सूक्तके शब्दोसे स्पष्ट होती है अर्थात् धर्मोपदेशक इसी मार्गसे स्वयं पापसे बचें और दूसरोंको पापसे बचावें !

पापी मनुष्य।

पापी मनुष्य सहस्रों प्रकारके पाप करता है, परंतु इस सूक्तमें कुछ मुख्य पापोंकाही उल्लेख किया है, वह भी यहां देखनेयोग्य है -

(१) "विश्वं द्रुग्धं।" - सब द्रोह अर्थात् सब प्रकारका धोखा। धोखा देना, काया-वाचा-मनसे विश्वासघात करना, बडा पाप है। इसमें बहुतसे पाप आ जाते है। (मं. २)

(२) "यदुवक्थानृतं जिह्वया वृजिनं बहु।" - जिह्वासे असत्य तथा पापभावसे युक्त वचन बोलना भी बडा पापका कर्म है (मं. ३)

द्रोह करना और असत्य बोलना, इन दोनोंमे प्रायः सब पाप समा जाते है। इन पापी मनुष्योंका सुधार पूर्वोक्त रीतिसे ही होना संभव है। धर्मोपदेशक तथा साधारण जन यदि इस सूक्तका विचार करेंगे तो उनको पापमोचनके विषयमें बहुतही योग्य बोध मिल सकता है।

॥ यह पापमोचन प्रकरण समाप्त ॥

सुख-प्रसूति-सूक्त।

(११) - (ऋषिः - अथर्वा। देवता - पूषादया नाना देवताः)

वषट् ते पूषन्नस्मिन्त्सूतावर्यमा होता कृणोतु वेधाः।
सिस्रतां नार्यृतप्रजाता वि पर्वाणि जिहतां सूतवा उ　　॥ ॥
चतस्रो दिवः प्रदिशश्चतस्रो भूम्या उत। देवा गर्भं समैरयन् तं व्यूर्णुवन्तु सूतवे ॥ २ ॥
सूषा व्यूर्णोतु वि योनिं हापयामसि। श्रथया सूषणे त्वमव त्वं बिष्कले सृज ॥ २ ॥
नेव मांसे न पीबसि नेव मज्जस्वाहतम्।
अवैतु पृश्नि शेवलं शुने जराय्वत्तवेऽव जरायु पद्यताम्　　॥ ४ ॥
वि ते भिनद्मि मेहनं वि योनिं वि गवीनिके।
वि मातरं च पुत्रं च वि कुमारं जरायुणाव जरायु पद्यताम्　　॥ ५ ॥
यथा वातो यथा मनो यथा पतन्ति पक्षिणः।
एवा त्वं दशमास्य साकं जरायुणा पताव जरायु पद्यताम्　　॥ ६ ॥

अर्थ - हे (पूषन्) पोषक ईश्वर ! (ते वषट्) तेरे लिये हम अपना अर्पण करते हैं। (अस्मिन् सूतौ) इस प्रसूतिके कार्यमें (अर्यमा होता वेधाः) आर्य मनवाला दाता विधाता ईश्वर सहायता (कृणोतु) करे। (ऋतप्रजाता) नियमपूर्वक

बालकौंको जन्म देनेवाली **(नारी)** स्त्री **(सिस्रतां)** दक्षतासे रहे । तथा अपने **(पर्वाणि)** अंगोंको **(सूतवै उ)** सुखप्रसूतिके लिये **(विजिहतां)** ढालं करे ॥१॥ **(दिवः)** आकाशकी **(उत)** तथा **(भूम्याः)** भूमि की **(चतस्रः प्रादेशः)** चारों दिशाओंमें रहनेवाले **(देवाः)** देवोंने **(गर्भं समैरयन्)** गर्भ को बनाया, इसलिये वेही **(सूतवे)** उसकी सुखप्रसूतिके लिये **(तं वि ऊर्णुवन्तु)** उसकी प्रकट करें, उसको बाहर खुला करें ॥२॥ **(सूषा)** उत्तम संतान उत्पन्न करनेवाली माता **(न्यूर्णोतु)** अपने अंगोको खुला करे । हम **(योनिं)** योनिकों **(विहापयामसि)** खोलते है । हे **(सूषणे)** प्रसूत होनेवाली स्त्री ! (त्वं) तू भी **(श्रथय)** अंदरसे प्रेरणा कर । और हे **(विष्कले)** वीर स्त्री ! (त्वं) तू **(अवसृज)** बालकको उत्पन्न कर ॥३॥ **(न इव मांसे)** नही तो मांसमें, **(न पीबसि)** न चर्बीमे, और **(न इव मज्जसु)** न तो मज्जामें वह **(आहतं)** लिपटा है । **(पृश्नि शेवलं)** नरम सेवारके समान **(जरायु)** जेली **(शुने अत्तवे)** कुत्तेके लिये खानेको **(अवैतु)** नीचे आवे, **(जरायु)** जेली **(अवपद्यताम्)** नीचे गिर जावे ॥४॥ **(ते मेहनं)** तेरे गर्भके मार्गको, **(योनिं)** योनिको तथा **(गवीनिके)** दोनों नाडियोंको **(वि वि वि भिनद्मि)** विशेष रीतिसे खुला करता हूं। **(मातरं पुत्रं च)** माता और पुत्रको **(वि)** अलग करता हूं तथा **(कुमारं जरायुणा वि)** बच्चेको जेरीसे अलग करता हूं। **(जरायु)** जेरी **(अव पद्यताम्)** नीचे गिर जावे ॥५॥ जैसे वायु, जैसे मन और जैसे पक्षी **(पतन्ति)** चलते हैं **(एव)** इसी प्रकार हे **(दशमास्य)** दश महिनेवाले गर्भ ! तू **(जरायुणा साकं)** जेरीके साथ **(पत)** नीचे आ तथा **(जरायु अवपद्यताम्)** जेरी नीचे गिर जावे ॥६॥

भावार्थ - हे सबके पोषण करनेवाले जगदीश ! तेरे लिये हम अपना अर्पण करते हैं । इस प्रसूतिके समय सब जगत्का निर्माता तूही हमारा सहायक बना । यह स्त्री भी दक्षतासे रहे और इस समय अपने अंगोंको ढीला करे ॥१॥ आकाश और भूमिकी चारों दिशाओंमे रहनेवाले सूर्यादि सम्पूर्ण देवोंने इस गर्भको बनाया है । और वे ही इस समय अपनी सहायतासे इसको सुख पूर्वक गर्भस्थानसे बाहर लावे ॥२॥ स्त्री अब अपने अंग खुले करें, सहाय करनेवाली धाई योनि को खोले। हे स्त्री ! तूही मनसे अंदरसे प्रेरणा कर और सुखसे बालकको उत्पन्न कर ॥३॥ यह गर्भ मांस, चर्बी या मज्जामें चिपका नहीं होता है । वह पानीमें पत्थरोंपर बननेवाले नरम सेवारके समान अति कोमल थैलीमें लिपटा हुआ होता है, वह सब थैलीकी थैली एकदम बाहर आवे और वह नालके साथ जेली कुत्तोंको खानेके लिये दी जावे ॥४॥ योनि, गर्भस्थान और पिछली नाडियोंको ढीला किया जावे, प्रसूति होतेही मातासे बच्चा अलग किया जावे और बच्चेसे जेली नाल समेत अलग की जावे । नाल समेत सब जेली पूर्णतासे बाहर निलक आवे ॥५॥ जिस प्रकार मन वेगसे विषयोंमें गिरता है, जैसे वायु और पक्षी वेगसे आकाशमें चलते है उसी प्रकार दसवें महिनेमें गर्भ जेरीके साथ गर्भस्थानसे बाहर आवे और जेरी आदि सब नीचे गिर जावे अर्थात् माताके गर्भस्थानमें उसका कुछ भाग अवशिष्ट न रहे ॥६॥

प्रसूति प्रकरण ।

इस सूक्तसे नया प्रकरण प्रारंभ हुआ है । यह प्रकरण विशेषतः स्त्रियोंके लिये और सामान्यतः सबके लिये विशेष लाभकारी है । स्त्रियोंको प्रसूतिके जितने कष्ट सहने पडते हैं उनका दुःख स्त्रियांही जानती है । प्रसूतिके समय न्यून कष्ट होना प्रयत्नसे साध्य है । गर्भधारणासे लेकर प्रसूतिके समयतक अथवा गर्भधारणासे भी पूर्व समयमें भी जो नियम पालन करनेयोग्य होते हैं, उनका योग्य रीतिसे पालन करनेसे प्रसूतिके कष्ट बहुतसे दूर होना संभव है । इस विषयमें आगे बहुत उपदेश आनेवाला है । यहां इस सूक्तमें जितना विषय आया है, उसको अब यहां देखिये -

ईशभक्ति ।

परमेश्वरकी भक्तिही मनुष्यको दुःखोंसे पार कर सकती है। गृहस्थी स्त्रीपुरुष यदि परमेश्वरके उत्तम भक्त होंगे, तो उस परिवारकी स्त्रियोंको प्रसूतिके कष्ट न होंगें, यह बतानेके लिये इस सूक्तके प्रथम मंत्रके पूर्वार्धमें ही सबसे पहिले ईश्वरकी मानसपूजाका वर्णन किया है ।

"वषट्" शब्द "स्वाहा" अर्थमें अर्थात् "आत्मसमर्पण,' के अर्थमें प्रयुक्त होता है । (हे पूषन् ! ते वषट्) हे ईश्वर ! तेरे लिये हम अपने आपको समर्पण कर रहे हैं । तू ही (अर्यमा) श्रेष्ठ सज्जनोंका मान करनेवाला अर्थात् हितकर्ता है, तू ही (वेधाः) सब जगत्का रचयिता और निर्माता है

और तूही (होता) सब सुखोंका दाता है ! इसलिये हम तेरे आश्रयसे रहते है और तेरे लियेही पूर्णतया समर्पित होते है ।

यहां पूर्व सूक्तमें वर्णन किये ईश्वरके गुण अनुसंधानसे देखने योग्य है। "सब सूर्यादि देवताओंको शक्ति देनेवाला एक ईश्वर है और उसका शासनही सर्वोपरि है ।" इत्यादि भाव जो पूर्व सूक्तमें कहे हैं, यहां देखिये । "सबसे समर्थ प्रभु ईश्वर मेरा सहायकारी है, और मैं उसकी गोदमें हूं" इत्यादि भक्तिके भाव जिसके हृदयमें अकृत्रिम प्रेमके साथ रहते हैं, वह मनुष्य विशेष शक्तिसे और आरोग्यसे युक्त होता है और प्रायः ऐसा मनुष्य सदा आनंदमें रहता है ।

काम विकारका संयम करनेके लिये परमेश्वर भक्तिही एक दिव्य औषधि है । कामविकारका नियमन हुआ तो स्त्रियोंके प्रसूतिके दुःख सौमे नौव्वे कम होंगे, क्योंकि कामकी अति होनेसेही स्त्रियां अशक्त बनती है और अशक्तताके कारण प्रसूतिके कष्ट अधिक होते हैं तथा प्रसूतिके पश्चातके क्षयादि रोग भी कष्ट देते है । इसलिये काममोगका नियमन परमेश्वर भक्तिसे करनेका उपदेश हरएक स्त्रीपुरुषको यहा अवश्य ध्यानमें धरना चाहिये ।

देवोंका गर्भमें विकास ।

सूर्यादि देवताएं अपना अपना अंश गर्भमें रखती है, सब देवताओंका अंशावतार गर्भमें होनेके पश्चात् आत्मा उसमें आता है । इत्यादि विषय वेदमें स्थान स्थानपर आया है । (इस विषयमें स्वाध्यायमंडल द्वारा प्रकाशित "ब्रह्मचर्य" पुस्तकमें "देवोंका अंशावतार" शीर्षक विस्तृत लेख अवश्य पढिये । वहां विविध वेदमंत्रोद्वारा यह विषय स्पष्ट कर दिया है ।) तात्पर्य गर्भमें अंशरूपसे अनेक देवताएं रहती है और उनका संबंध बाह्य देवताओंके साथ है । भूमि और आकाशकी चारों दिशाओंमें रहनेवाली सब देवताएं अपने गर्भमें अंशरूपसे आगई है, मानो उनका संमेलन (समैरयन्) ही गर्भमें हुआ है और उनका अधिष्ठाता आत्मा भी उसी गर्भमें है । यह दृढविश्वास गर्भ धारण करनेवाली माताका होना चाहिये । अर्थात् जो गर्भ अपने अंदर है वह अपने केवल कामोपभोग काही फल नही है, परंतु उसमें और विशेष महत्त्वपूर्ण आत्मशक्तिका और दैवी शक्तिका संबंध है । ऐसा भाव गर्भवती स्त्रीमें स्थिर रहनेसे गर्भवतीका स्वास्थ्य तथा गर्भका पोषण भी उत्तम होता है । गर्भाधानके समयमें भी देवताओंका आह्वान किया जाता है । उस समयके मंत्र इस दृष्टिसे पाठक देखेंगे तो उनको पता लगेगा कि गर्भाधान कामविकारके पोषणके लिये नही है परंतु उच्च शक्तियोंकी धारणा के लिये ही है । अस्तु । गर्भिणी स्त्री अपने गर्भके विषयमें इतना उच्च भव मनमें धारण करे और समझे कि जिन देवताओंके अंश गर्भमें इकट्ठे हुए है वेदी देवताएं गर्भका पोषण और सुख प्रसूतिमें अवश्य सहायता देगी। अर्थात् इस प्रकार देवताओंकी सहायता और परमात्मा का आधार मुझे है इसलिये मुझे कोई कष्ट नहीं होंगे । पाठक इस दृष्टिसे इस सूक्तका द्वितीय मंत्र पढे ।

गर्भवती स्त्री ।

पूर्वोक्त भाव गर्भवती अपने अंदर दृढतासे धारण करें। अब गर्भवती स्त्री अथवा गृहस्थाश्रममें रहनेवाली स्त्री निम्न बातोंका विचार करें -

१. नारी - जो धर्मनीतिसे (नृणाति) चलती है अर्थात् धर्म नियमोंसे अपना आचरण करती है, तथा (नर) पुरुषके साथ रहती है, वह नारा कहलाती है । अर्थात् विशेष गृहस्थधर्माके नियमोंका पालन करनेका भाव इस शब्दसे सूचित होता है । (मंत्र १)

२ ऋत + प्रजाता - (ऋत) सत्यनियमानुकूल (प्रजाता) प्रजनन कर्मसे युक्त । अर्थात् गर्भ-धारण, गर्भ-पोषण और प्रसूति आदि सब कर्म जिसके सत्य धर्मनियमोंके अनुकूल होते है । ऋतुगामी होना, गर्भ धारणके पश्चात् तीन वर्षके नपरान्त अथवा बालक दूध पीना छोड दे तत्पश्चात् ऋतुगामी होना, इत्यादि सब नियमोंका पालन करनेवाली स्त्री सुखसे प्रसूत होती है । (मंत्र १)

३. सूषा, सूषणा- जिस स्त्रीको प्रसूतिके कष्ट नही होते, अर्थात् जो सुखसे प्रसूत होती है ! स्त्रियोंको योग्य नियमोंके पालन द्वारा यह गुण अपनेमें लाना चाहिये । (मंत्र ३)

४. विष्कला- वीर स्त्री अर्थात् धैर्यवती स्त्री । स्त्रियोंको अपने अंदर धैर्य बढाना आवश्यक है । थोडेसे कष्ट होने लगे तो घबराना नही चाहिये । धैर्यसे उनको सहना चाहिये । (मंत्र ३)

गर्भवती स्त्रियोंको इन शब्दों द्वारा प्राप्त होनेवाला

बोध अपने अंदर धारण करना उचित है, क्योंकि सुखप्रसूतिके लिये इन गुणोंकी आवश्यकता है।

गर्भ।

इस सूक्तमें गर्भका नाम **"दश-म स्य"** आया है। इसका अर्थ "दस मासकी आयुवाला" ऐसा है। यह शब्द परिपूर्ण गर्भका समय बता रहा है। दसवे महिनेमें प्रसूतिका ठीक समय है। दसवें महिनेसे पूर्व जो प्रसूति होती है, वह गर्भकी अपक्व अवस्थामें होनेके कारण माताके कष्ट बढाती है। योग्य समयके पूर्व होनेवाले गर्भपात और गर्भस्राव ये सब माताके कष्ट बढानेवाले है और ये सब दुःख गृहस्थाश्रमी स्त्रीपुरुषोंके नियमरहित बर्तावसे ही होते है। जो गृहस्थाश्रमी स्त्रीपुरुष योग्य नियमोंका पालन करते है, उनकी स्त्रियोंकी सुखसे प्रसूति होती है।

सुख-प्रसूतिके लिये आदेश।

१. स्त्री परमेश्वरकी भक्ति करे। (मंत्र १)

२. अपने गर्भमें देवताओंका अंशावतार हुआ है ऐसा भाव मनमें धारण करे। (मंत्र २)

३. **(सिस्रतां)** दक्षतासे अपना व्यवहार करे। (मंत्र १)

४. प्रसूतिके समय (पर्वाणि विजिहतां) अपने अंगोंको ढीला करे। (मंत्र १)

५ **(सूषा व्यूर्णोतु)** सुखप्रसूति चाहनेवाली स्त्री अपने अंगोको ढीला अथवा खुला करे अर्थात् सख्त न बनावे। (मंत्र ३)

६. **(सूषणे ! त्वं श्रथय)** सुख-प्रसूति चाहनेवाली स्त्री मनकी इच्छा-शक्तिसे भी अंदरसे प्रेरणा करे, तथा मनसे प्रसूतिके अंगोकी प्रेरित करे। यह प्रेरणा स्वयं उस स्त्री को ही अंदरसे करनी चाहिये। (मंत्र ३)

धाईकी सहायता।

१. प्रसूतिके समय धाई की सहायता आवश्यक होती है। वह धाई भी प्रसूत होनेवाली स्त्रीको उक्त सूचनाएं देता रहे और धीरज देती रहे। "परमेश्वर तेरा सहायक है और सब देवही तुम्हारे गर्भमें है अतः उनकी भी सहायता तुम्हे है" इत्यादि वाक्योंसे उसका धीरज बढावे।

२. आवश्यकता होनेपर योनिस्थान उचित रीतिसे खुला करे। (मंत्र ३)

३. जेरीके अंदर गर्भ होता है। गर्भके साथ जेरी नाल आदि सब बाहर आजाय और कोई उसका पदार्थ माताके गर्भाशयमें न रह जाय इस विषयमें धाई दक्षतासे अपना कार्य करे। वह पदार्थ अंदर रहनेसे बहुतही दुःख होना संभव है। (मंत्र ४)

४. प्रसूतिके समय गर्भमार्ग, योनि और पिछले अवयव खुले करने चाहिये। उनको यथायोग्य रीतिसे खुले करे, ताकि प्रसूति सुखसे होवे। (मंत्र ५)

५. प्रसूति होतेही माताके पाससे पुत्रको अलग करके उसपरका जेरीका वेष्टन हटाकर जो आवश्यक कार्य करना हो वह सब योग्य रीतिसे करे। (मंत्र ५)

सूचना।

यह विषय शरीरशास्त्रका है, केवल पांडित्यका नहीं है। इस सूक्तक शब्दोंका अर्थ भी शरीरशास्त्रके प्रसूति प्रकरणके अनुकूलही समझना उचित है। इसलिये जो वैद्य या डाक्तर है, जिन्होंने सुख-प्रसूति शास्त्रका विचार किया है, तथा जिन स्त्रियोंको इस शास्त्रके ज्ञानके साथ अच्छा अनुबव भी है, उनको इस सूक्तका अधिक विचार करना चाहिये। वेही इस सूक्तके "सिस्रतां, विजिहतां, व्यूर्णोतु" आदि शब्दोंको ठीक प्रकार समझते हैं और वेही इस सूक्तकी ठीक व्याख्या कर सकते है।

आशा है कि प्रसूति -शास्त्रके अभ्यासी इसका अभ्यास करेंगे और अधिक निर्दोष व्याख्या कर सकेंगे।

(इति द्वितीय अनुवाक समाप्त)

श्वासादि-रोग-निवारण-सूक्त ।

(१२)

(ऋषिः - भृग्वंगिराः । देवता - यक्ष्मनाशनम्)

जरायुजः प्रथम उस्रियो वृषा वातभ्रजा स्तनयन्नेति वृष्ट्या ।
स नो मृडाति तन्व ऋजुगो रुजन् य एकमोजस्त्रेधा विचक्रमे ॥ १ ॥
अङ्गेअङ्गे शोचिषा शिश्रियाणं नमस्यन्तस्त्वा हविषा विधेम ।
अङ्कान्त्समङ्कान् हविषा विधेम यो अग्रभीत्पर्वास्या ग्रभीता ॥ २ ॥
मुञ्च शीर्षक्त्या उत कास एनं परुष्परुराविवेशा यो अस्य ।
यो अभ्रजा वातजा यश्च शुष्मो वनस्पतीन्त्सचतां पर्वतांश्च ॥ ३ ॥
शं मे परस्मै गात्राय शमस्त्ववराय मे । शं मे चतुर्भ्यो अङ्गेभ्यः शमस्तु तन्वे मम ॥ ४ ॥

अर्थ : **(वात+ भ्र + जाः)** वायु और मेघसे उत्पन्न होकर **(प्रथमः जरायु + जः)** पहिला जेरीसे उत्पन्न होनेवाला **(उस्रिया वृषा)** तेजस्वी बलवान् सूर्य **(वृष्ट्या स्तनयन्)** वृष्टिके साथ गाजता हुआ **(एति)** चलता है । **(स ऋजुगः)** वह सीधा चलनेवाला और **(रुजन्)** दोष दूर करनेवाला **(नः तन्वे)** हमारे शरीरको **(मृडाति)** सुख देता है । **(यः)** जो **(एकं ओजः)** सामर्थ्यको **(त्रेधा)** तीन प्रकारसे **(विचक्रमे)** प्रकाशित करता है ।।१।। **(अंगे अंगे)** प्रत्येक अवयवमें **(शोचिषा शिश्रियाणं)** अपने तेजसे आश्रय करनेवाले **(त्वा)** तुझको **(नमस्यन्तः)** नमन करते हुए **(हविषा विधेम)** अर्पण द्वारा पूजा करते हैं । **(यः)** जो **(ग्रभीता)** ग्रहण करनेवाला **(अस्य पर्व)** इसके जोड को **(अग्रभीत्)** ग्रहण करता है उसके **(अंकान् समंकान्)** चिन्होंको और मिले हुए चिन्होंको **(हविषा विधेम)** हवनके अर्पणसे पूजे ।।२।। **(शीर्षक्त्याः)** सिरदर्दसे **(उत)** और **(यः कासः)** जो खांसी है उससे **(एनं मुञ्च)** इसको छुडा । तथा **(अस्य)** इसके **(परुः परुः)** जोड जोडमें जो रोग **(आविवेश)** घुस गया है । उससे भी छुडा । **(वा अभ्रजाः)** जो मेघोंकी वृष्टिसे उत्पन्न हुआ है अथवा जो **(वात + जाः)** वायुसे उत्पन्न हुआ है तथा जो **(शुष्मः)** उष्णताके कारण उत्पन्न हुआ है, उसके दूर करनेके लिये **(वनस्पतीन् पर्वतान् च)** वृक्ष वनस्पति और पर्वतोंके साथ **(सचतां)** संबंध करें ।।३।। **(मे परस्मै गात्राय शं)** मेरे श्रेष्ठ अवयवोंका कल्याण हो । **(अवराय शं अस्तु)** मेरे साधारण अवयवों के लिये कल्याण हो । **(मे चतुर्भ्यः अंगेभ्यः शं)** मेरे चारों अंगोंके लिये आरोग्य प्राप्त हो । **(मम तन्वे शं अस्तु)** मेरे शरीरके लिये सुख होवे ।।४।।

भावार्थ - वायु और मेघसे प्रकट होकर मेघोंके आवरणसे प्रथम बाहर निकला हुआ तेजस्वी सूर्य वृष्टि और मेघगर्जनाके साथ आ रहा है । वह अपनी सीधी गतिसे दोषों अथवा रंगोंको दूर करता हुआ हमारे शरीरों की निरोगता बढाता है और हमें सुख देता है । वह सूर्यका एकही तेज तीन प्रकारसे कार्य करता है ।।१।। वह शरीरके प्रत्येक अंगमे अपने तेजके अंशसे रहता है, उसका महत्त्व जानकर, हम हवन द्वारा उसका सत्कार करते हैं । जो मनुष्यके हरएक जोडमें रहता है उसके प्रत्येक चिन्हका भी हवन द्वारा हम सत्कार करते हैं ।।२।। इसकी सहायतासे सिरदर्द हटाओ, खांसी हटाओ, जोडके अंदरकी पीडा को हटाओ । जो रोग मेघोंकी वृष्टिसे अर्थात् कफसे, वायुके प्रकोपसे अर्थात् वातसे और गर्मीके कारण अर्थात् पित्तसे होते है उनको भी हटाओ । इसके लिये वनस्पतियों और पर्वतोंका सेवन करो ।।३।। इससे मेरे उत्तम अंग साधारण अंग तथा मेरे चारों अंग अर्थात् मेरा सब शरीर निरोग होवे ।।४।।

यह भावार्थ मंत्रोके अर्थोंके अनुसंधानसे पाठक ेंगे तो उनके ध्यानमें सूक्तका तात्पर्य आज. ्गा, क्योंकि यह सूक्त सरल और सुगम ही है। तथापि पाठकोंके विशेष बोधके लिये यहां विशेष बातोंका स्पष्टीकरण किया जाता है। यह "तक्मनाशन ग"का सूक्त है अर्थात् रोगादिनाशक भाव इसमें है।

महत्त्वपूर्ण रूपक।

सबसे पहले प्रथम मंत्रमें वर्णित महत्त्वपूर्ण रूपक विचार करने योग्य है। पूर्वसूक्तमें "**(जरायुजः दशमास्यः पुत्रः)** जेरीसे वेष्टित उत्पन्न होनेवाले दशमासतक गर्भमें रहनेवाले पुत्र" का वर्णन है। उसके साथ इस सूक्तका संबंध बतानेके लिये इस सूक्त के प्रारंभमें ही "जरायुजः प्रथमः" ये शब्द आगये हैं। यहां सुपुत्रका वर्णन बडे महत्त्वपूर्ण रूपकसे किया है। इस रूपकमें सूर्य ही "पुत्र" है सूर्यके पुत्र होनेका वर्णन वेदमें अनेक स्थानमें आगया है। यहांका यह वर्णन समझमें आनेके लिये कुछ निसर्गकी ओर ध्यान देनेकी आवश्यकता है।

बरसातके दिनोंमे जब कई दिन आकाश मेघोंसे आच्छादित होता है और सूर्यदर्शन नहीं होता, वृष्टि होती है, वायु चलता है, बिजली चमकती है तब कभी कभी ऐसा होता है कि थोडा वायु चलनेसे बीचका आकाश मेघरहित हो जाता है और स्वच्छ सूर्यमंडल दिखाई देता है। मानो यही पुत्र-दर्शन है। पुत्रजन्मके समय में भी प्रसूति होते ही गर्भ के उपर जेरीआदि का वेष्टन होत है, जलादि प्रवाह प्रसूतिके समय होते है, यह सब मानो सूर्यपर वेष्टित मेघ और उनकी वृष्टि है। इस प्रकार इस उपमामें साम्य देख सकते हैं।

बहुत दिनोतक मेघाच्छादित आकाशके पश्चात् जब सूर्य दर्शन होता है, हवा साफ हो जातीं है तब मनुष्योंको अत्यंत आनंद होता है, मनुष्य प्रसन्नचित्तसे उत्सव मनाते हैं। इसी प्रकार जब गर्भिणी स्त्रीको पुत्र प्रसव होता है, उसपरकी जेरी अलग की जाती है, उसको स्वच्छ किया जाता है, तब उसका मुखरूपी सूर्य देखकर जो आनंद माताके हृदयमें चमक उठता है उसका वर्णन क्या कभी शब्दोंसे होना संभव है? माताका आनंद इन्ही शब्दोसे व्यक्त हो सकता है कि" यह पुत्र घरका सूर्य है, यह माताके हृदय की ज्योति है, यही माताकी आंखोका प्रकाश है। जिस प्रकार सूर्य अंधेरा हटाता है उसी प्रकार पुत्र घरको, कुलको और जातिको उज्वल बनाता है।" इस प्रकार बालक के मुखकी रोशनीका वर्णन माता अपने शब्दरहित भावोंसे ही कर सकती है। पाठक अपनी काव्यमय आंख खोलकर ही इसको पढकर समझनेका यत्न करें। परंतु यहां नूतनोत्पन्न बालकका वर्णनही करना नहीं है, किंतु जीवनदाता सूर्यकाही वर्णन अर्थात् सूर्यके जीवन - पोषक रश्मि- रसायन का वर्णन करना है। वह करनेका प्रस्ताव इस प्रकार इस सूक्त के प्रारंभमे किया है। और इस प्रस्तावसे पूर्व सूक्त के साथ इस सूक्तका संबंध जोड दिया है।

प्रायः प्रसूतिके समय तथा पश्चात् स्त्रीयोंमें अशक्तता आ जाती है और नाना रोगोंकी संभावना उत्पन्न होती है। इसलिये इस कष्टको दूर करना सुगमतासे किस रीतिसे साध्य होता है, यही बताना सूक्तका मुख्यतया विषय है। मानो इस मिषसे आरोग्य का विषय इस सूक्तमें प्रदर्शित किया है।

आरोग्यका दाता।

सूर्य ही आरोग्यका दाता है यह बात इस सूक्तके प्रथम मंत्रके उत्तरार्धमे स्पष्ट कही है

स नो मृडाति तन्वे ऋजुतो रुजन्। (मंत्र-१)

"वह (सूर्य) हमारे शरीरोंको आरोग्य देता है, सीधा जानेवाला दोषोंको नाश करनेके," इस मंत्र भागका स्पष्ट आशय यह है कि वह सूर्य दोषोंको दूर करता है और आरोग्य बढाता है। यदि यह सत्य है तो यह भी सत्य है कि सूर्य प्रकाश जहां नहीं पहुंचता वहां ठीक आरोग्य रहना संभव ही नहीं है। इस आरोग्यके वैदिक नियम को ध्यानमें रखकर आप अपने घरोंका और प्रसूतिके कमरेका विचार किजिये। आरोग्यदाता सूर्य-प्रकाश हमारे कमरोंमें कितना आता है? प्रसूतिके स्थानमें भी विपुल प्रकाश आना चाहिये, तभी माता और नूतन उत्पन्न बालक का उत्तम स्वास्थ्य रह सकता है। घरके कमरोंमें विपुल प्रकाश आता रहेगा तो घरवालोंका स्वास्थ्य ठीक रहेगा। इस प्रकार वेद कहता है कि सूर्य प्रकाश सबके स्वास्थ्यके लिये आवश्यक है। पाठक अपने अपने व्यवहारमें इस ज्ञानका उपयोग करें।

प्रथम मंत्रका अंतिम कथन है कि। (एकमोजस्त्रेधा विचक्रमे) अर्थात् एकही शक्ति तीन प्रकारसे प्रकाशित हो रही है। यह बात कई स्थानोंमें सत्य है। सूर्य का ही तेज द्युलोकमें सूर्य प्रकाशसे, अंतरिक्षमें विद्युत् रूपसे और भूलोकमें अग्निके रूपसे प्रकाशित हो रहा है। यही बात शरीरमें देखिये-मस्तिष्कमें मज्जारूपमें, हृदयमें, पाचनशक्तिके रूपमें और सब शरीरमे उष्णताके रूपमें सूर्यका तेज प्रकाशता है और विविध कार्य करता है। आरोग्यका विचार करनेके समय इस बातका अवश्य

विचार करना चाहिये । सूर्य प्रकाशसे इन तीनों शारीरिक स्थआनोंमें योग्य परिणाम होकर शरीरका आरोग्य होता है, बुद्धिका तेज बढता है और सुखकी वृद्धि होती है । यह है संक्षेपसे सूर्यका हमारे आरोग्यसे संबंध । पाठक विचार करें और अधिक ज्ञान प्राप्त करें ।

इस रीतिसे प्रथम मंत्रमें आरोग्यका मूलमंत्र बताया है और उपमाने यह भी कहा है कि जिस प्रकार घरमें बालकरूपी सूर्यका उधय होता है उसी प्रकार विश्वमे दिवस्पुत्र सूर्यका उदय होता है । घर छोटा विश्व है तथा विश्वही बडा घर है । इसलिये इस घरके सुर्यका और विश्वके सूर्यका संबंध देखना चाहिये । आरोग्यके लिये तो इस घरके सूर्यका विश्वके साथ संबंध करना चाहिये अर्थात् जहांतक हो सके वहांतक बालक को घरमें बंद न रखते हुए विश्वसूर्यके खुले प्रकाशमें शनैः शनैः लानेका यत्न करना चाहिये, जिससे घरका सूर्य भी नीरोग और बलवान बन सके ।

सूर्यकिरणोंसे चिकित्सा ।

आगे द्वितीय मंत्रमें कहा है कि (अंगे अंगे शोचिषा शिश्रियाणं) शरीरके प्रत्येक अंगमें तेजके अंशसे यह सूर्य रहता है,उनको (नमस्यन्तः) नमन करना चाहिये, अर्थात् उसका आदर करना चाहिये, सूर्यके तेजसे अपने तेजको बढाना चाहिये । जो लोग घरके अंधेरे कमरेमें अपने आपको बंद रखते हैं वे निस्तेज होते हैं, परंतु जो खुली हवामें घुमते हुए सूर्यप्रकाशसे अपना तेज बढाते हैं वे तेजस्वी होते जाते हैं ।

शरीरके प्रत्येक (पर्व) जोडमें यह अंश रहता है, इस सूर्यके अंशने इस स्थानपर (ग्रभीता) अपना अधिकार जमाया है । हरएक अवयवमें इसके (अंकान्) चिन्होंको पहचानना चाहिये और (समंकान्) मिले जुले चिन्होंको भी पहचानना चाहिये । जैसा आंखमे तेजरूपसे सूर्यका निवास है, अन्य स्थानोंमें अन्य अंशोसे है । यह सब जानना चाहिये । और जिस स्थानमें अनारोग्य या बीमारी हुई हो उस स्थानका आरोग्य सूर्य- प्रकाशक उचित रीतिसे प्रयोग करके प्राप्त करना चाहिये । सवेरेके मंद सूर्यके प्रकाशमें खुली आंखसे सूर्य बिंब देखते रहनेसे प्रायः नेत्ररोग दूर होजाते हैं । विशेष नेत्ररोगोंके लिये विशेष युक्तिसे सूर्य-किरणका प्रयोग करना चाहिये । विशेष अंगके लिये भी विशेष युक्तिसे ही सूर्य किरणका प्रयोग करना होता है । साधारण आरोग्यके लिये वह विशेष अवयव सूर्यकिरणोंमें तपानेसे भी बहुतसा कार्य हो जाता है । इस युक्तिसे केवल सूर्य किरणचिकित्सासे बहुतसे रोग दूर करना संभव है । यदि सहन हो सके इतने उष्ण सूर्य प्रकाशमें नंगा शरीर कुछ देरतक तपाया जाय तो भी सर्वसाधारण शरीर की नीरोगता बढती है। शीतकालमें यह करना उत्तम है, परंतु गर्मीके दिनों और उष्ण देशोंमें विचारसे और युक्तिसे ही इसका प्रयोग करना चाहिये । नहीं तो आरोग्यके स्थानपर अनारोग्य भी होगा इसलिये यह सब अन्याय युक्तिसे ही बढाना चाहिये ।

तृतीय मंत्रमें (शीर्षक्त्याः) सिरदर्द, (कासः) खांसी (परुः) संधिस्थानके रोग उक्त प्रकार हटानेकी सूचना दी है । (वातजाः) वात, (शुष्मः) पित्त, (अभ्रजाः) कफके प्रकोपके कारण उत्पन्न हुए ये तथा अन्य रोग भी उसी युक्तिसे दूर करनेकी सूचना तृतीय मंत्रमें है । (पर्वतान् सचतां) तथा पर्वतों पर रहकर (वनस्पतीन् सचतां) उचित वनौषधियोंका सेवन करनेका भी उपदेश इसी मंत्रमें है। वनौषधियोंका सेवन दो प्रकारसे होता है, एक वृक्षादिकोंके नीचे रहना और दूसरा योग्य औषधियोंके रसादिका उपयोग करना । पर्वतोंके उच्च शिखरोंपर निवास और वृक्षोंके नीचे बैठना उठना बडा आरोग्यदायक है, यह बाते हमने कई रोगियोंपर युक्तिसे अजमाई है और हमारे अनुभवसे बडी लाभदायक सिद्ध हुई है । पाठक भी इससे लाभ उठावे ।

चतुर्थ मंत्रमें सिर आदि उत्तमांग तथा पांव आदि अधरांग तात्पर्य सब शरीरका स्वास्थ्य -पूर्वोक्त रीतिसे प्राप्त करनेकी सूचना प्रार्थना मंत्रद्वारा दी है ।

सर्वसाधारण उपाय ।

इस सूक्तसे सर्व साधारणके लिये भी बडा बोध प्राप्त हो सकता है । मुख्य बात यह है कि जो नंगे शरीर सूर्यके किरणोमें घूमते है अर्थात् अपने शरीरको सूर्यकिरणोंसे तपाते है उनको चर्म रोग, खांसी, दमा तथा क्षय आदि रोग होतेही नहीं । ये सब रोग उनको होते है कि जो नंगे शरीरपर सूर्यकिरण नहीं लेते, अर्थात् सदा वस्त्रोंसे वेष्टित होकर तंग मकानोंमे बैठते हैं । जो इससे बोध लेंगे वे इस सूक्तसे बहुत लाभ प्राप्त कर सकते हैं । वेदमें इसीलिये घरका नामही "क्षय" आता है । यदि पाठक अपने घरको "क्षय" का कारण समझेंगे तो वे उससे बाहर अधिक देरतक रहेंगे और सूर्यकिरणसे मिलनेवाला आरोग्य प्राप्त कर सकेंगे ।

अन्तर्यामी ईश्वरको नमन।

(१३)

(ऋषिः- भृग्वङ्गिराः। देवता - विद्युत्)

नमस्ते अस्तु विद्युते नमस्ते स्तनयित्नवे । नमस्ते अस्त्वश्मने येना दूडाशे अस्यसि ॥१॥
नमस्ते प्रवतो नपाद्यतस्तपः समूहसि । मृडया नस्तनूभ्यो मयस्तोकेभ्यस्कृधि ॥२॥
प्रवतो नपान्नम एवास्तु तुभ्यं नमस्ते हेतये तपुषे च कृण्मः ।
विद्म ते धाम परमं गुहा यत्समुद्रे अन्तर्निहितासि नाभिः ॥३॥
यां त्वा देवा असृजन्त विश्व इषुं कृण्वाना असनाय घृष्णुम् ।
सा नो मृड विदथे गृणाना तस्यै ते नमो अस्तु देवि ॥४॥

अर्थ - **(विद्युते ते)** विशेष प्रकाशमान तुझको **(नमः)** नमस्कार **(अस्तु)** होवे ।**(स्तनयित्नवे ते नमः)** गडगडानेवाले तुझको नमस्कार होवे । **(अश्मने ते नमः अस्तु)** ओले रूप तुझको नमस्कार होवे । **(येन)** जिससे तू **(दूडाशे अस्यासि)** दुःखदायिको दूर फेंकता है ॥१॥ हे **(प्रवतः नपात्)** उच्चताको न गिरानेवाले ! **(ते नमः)** तेरे लिये नमस्कार होवे । **(यतः)** क्योंकि तू **(तपा समूहसि)** तपको इकट्ठा करता है । **(नः तनूभ्यः मृडय)** हमारे शरीरको सुख दे और **(तोकेभ्यः मयः कृधि)** बच्चोंके लिये सुख प्रदान कर ॥२॥ हे **(प्रवतः नपात्)** उच्चतासे न गिरानेवाले! **(तुभ्यं एव नमः अस्तु)** तुम्हारे लिये ही नमस्कार होवे । **(ते हेतये तपुवे च नमः कृण्मः)** तेरे वज्र और तेजके लिये नमस्कार करते हैं । **(यत् ते धाम)** जो तेरा स्थान **(परमं गुहा)** परम गुहा अर्थात् हृदयरूपी गुहामें है वह हम **(विद्म)** जानते हैं । उस **(समुद्रे अंतः)** समुद्रके अंदर **(नाभिः निहिता असि)** तू नाभिरूप रहा है ॥३॥ हे **(देवि)** देवी! **(असनाय)** शत्रुपर फेंकनेके लिये **(घृष्णुं इषुं कृण्वानाः)** बलवान सुदृढ बाण करनेवाले **(विश्वे देवाः)** सब देव **(यां त्वा)** जिस तुझको **(असृजन्त)** प्रकट करते हैं, **(तस्यै ते नमः अस्तु)** उस तेरे लिये नमस्कार होवे । **(सा)** वह तू **(विदथे गृणाना)** युद्धमें प्रशंसित हानेवाली **(नः मृड)** हमें सुख दे ॥४॥

भावार्थ - हे देवि ! ईश्वरी ! तू बिजली आदिमें अपना तेज प्रकट करती है, मेघोमे गर्जना कराती है और अपनी शक्तिसे ओले भी बरसाती है, इन सब बातोंसे तू हमारे सब दुःखोंको दूर करती है, इसलिये तुझे हम सब प्रणाम करते हैं ॥१॥ हे उच्चतासे न गिरानेवाली देवी ईश्वरी ! तू तपोमय जीवनको हमारे अंदर इकट्ठा करती है अर्थात् हमारेमें तपःशक्ति बढाती है, उस तपसे हमें तथा हमारी संतानोंको सुखी कर, तेरे लिये प्रणाम करते हैं ॥२॥ हे उच्चतासे न गिरानेवाली देवी ईश्वरी ! हम जानते हैं कि तेरा स्थान हृदयरूपी श्रेष्ठ गुफामें है, वहांके समुद्रके अंदर तू भव्य आधाररूप होकर रहती है, इसलिये तेरा तेज और तेरे दुष्ट विघातक शस्त्रास्त्र अथ तू तेरी शक्तिके सन्मुख हम सिर झुकाते हैं ॥३॥ हे देवी ईश्वरी ! शत्रुको दूर करनेके लिये शस्त्रास्त्र बनानेवाले सब विजयेच्छु लोग सदा तेरी भक्ति करते हैं इस कारण युद्धोंमे प्रशंसित होनेवाली तू हमें सुख दे । हम सब तुझे प्रणाम करते हैं ॥४॥

सूक्त की देवता।

इस सूक्तकी देवता "विद्युत्" है । यद्यपि विद्युतका अर्थ बिजली है, और इस सुक्तका प्रारंभ मेघस्थानीय विद्युतके वर्णन से ही हुआ है, तथापि विद्युत् का वर्णन करना मुख्य उद्देश्य इस सूक्तमें नहीं है । जिस प्रकार अन्यान्य सूक्तोमें अग्नि आदि देवताओंके मिषसे परमात्माका वर्णन होता है, उसी प्रकार विद्युत् रूप स्त्री देवताके मिषसे ईश्वरका, जगन्माता, आदिमाता देवीके रूपमें,

परमात्माका ही वर्णन यहां हुआ है, इस बातको स्पष्ट व्यक्त करनेवाले इसी सूक्तके निम्न मंत्रभाग यहां देखनेयोग्य हैं।

१ **"प्रवतः न-पात्"**- "प्रवत्" शब्दका अर्थ उच्च स्थान है। उच्च अवस्था, उच्चता आदि भाव इस शब्दसे प्रकट होते हैं। उच्चतासे न गिरानेवाले यह "प्रवतो न पात्" का भावार्थ है। परमात्मा ही मनुष्यमात्रको उच्च अवस्थामें रखनेवाला और वहासे न गिरानेवाला है ॥ (मंत्र - २,३)

२ **"ते परमं धाम गुहा"** - तेरा परम धाम हृदय की गुफामें है। हृदयमें आत्माका निवास है, वही उसका परम पवित्र निवास स्थान है, यह उपनिषदादिमें अनेक बार आगया है।

३ **"समुद्रे अन्तः नाभिः निहिताऽसि।"** - उसी समुद्रमें मध्यभाग तू है। हृदय गुफामें मानस सरोवर है, समुद्र है, विचारोंका अथवा भावनाओंका महासागर है। उसकी नामी उसका आधार स्थान, वही आत्मा है। क्योंकि इस समुद्रकी सब लहरें उसकी ही प्रेरणासे अथवा शक्तिसे उठती है और उसीकी भक्तिसे इस समुद्रमें शांति स्थापित होती है।

४ **"यां त्वा देवा असृजन्त विश्वे।"** - जिस तुझको सब देव प्रकट करते हैं। आत्माका देवोंद्वारा प्रकाशित होना वेदमें अनंत स्थानमें स्पष्ट हुआ है। शरीरमें नेत्रादि सब इंद्रियोंद्वारा आत्माका प्रकाशन हो रहा है। यदि नेत्रादि इंद्रियाँ न हों, तो आत्माका अस्तित्व भी ज्ञान नहीं हो सकता। इस प्रकार सब इंद्रियादि देव शरीरमें आत्माको प्रकट करते हैं। विश्वमें सूर्यचंद्रादि देव परमात्माकी महिमा प्रकट कर रहे हैं। मनुष्य समाजमें सब विद्वान् परमेश्वरकी प्रशंसा कर रहे हैं। इस प्रकार सर्वत्र देवोंद्वारा आत्मा प्रकाशित होता है।

५ **"विदथे गृणाना।"** युद्धके समय उसकी भक्ति की जाती है। मनुष्य संकटमें पडनेपर उसकी सहायताके लिये प्रार्थना करता है। थोडे सज्जनोंको छोड दिया जाय तो प्रायः साधारण मनुष्य संकट समयमेंही ईश्वरकी भक्ति करने लगते हैं। मनुष्यपर संकट न आजाय तो वह ईश्वरकी पर्वाह भी नहीं करेगा। युद्धमें सच्ची भक्ति होती है। मुख्य युद्ध जीवनयुद्ध है। मनुष्य युद्ध करके ही जीवित रहता है। विरोधीशक्तिसे सामना करना युद्ध है।

इन सब मंत्रभागोंका वर्णन देखनेसे पता लगता है, कि इस सुक्तको परमात्माकी तेजस शक्तिकाही मुख्यतया वर्णन करना है। और वह वर्णन स्त्रीरूप देवीके वर्णनद्वारा यहां किया है।

जिस प्रकार मनुष्यका नेत्र देखता है, परंतु अपनी शक्तिसे वह देख नहीं सकता, किंतु हृदयस्थानीय आत्माकी शक्तिसे ही देख सकता हैं, इसी प्रकार अन्यान्य इंद्रियाँ आत्माकी शक्तिसे प्रेरित होकर ही अपना कार्य करती हैं। जैसी यह बात शरीरमें है, उसी प्रकार जगत्की सूर्यादि देवताएँ तेज फैलाना आदि कार्य अपनी शक्तिसे नही कर सकती। विश्वव्यापी परमात्माकी शक्ति लेकर ही सूर्य प्रकाशता, विद्युत् चमकती और वायु बहता है। इसलिये सूर्यप्रकाशसे, विद्युत्की चमकाहटसे अथवा वायुके वेगसे न केवल इन देवताओकी शक्तियां प्रकट हो रही है, परंतु परमात्माकी ही विविध शक्तियां प्रकट हो रहीं है। यह भाव ध्यानमें रखकर यदि पाठक इस सूक्तका विचार करेंगे, तो उनको इस सूक्तमें विद्युतकी चमकाहटसे परमात्माका तेज फैल रहा है यही भाव विदित होगा। इसी रीतिसे इस सूक्तका विचार करना चाहिये।

प्रथम मंत्रमें विद्युत्की चमकाहट, मेघोंकी प्रचंड गर्जना, मेघोंसे बर्फकी वृष्टि अथवा जलकी वृष्टि आदिद्वारा परमात्माका प्रचंड कार्य देखना उचित है। इसीसे परमात्मा प्राणिमात्रके दुःख दूर करता है। वृष्टिसे अन्न और जल प्राप्त होनेके कारण प्राणियोंके अनंत क्लेश दूर हो रहे हैं। यही परमात्माकी कृपा है।

तपका महत्त्व।

द्वितीय मंत्रमें तपका महत्त्व वर्णन किया है। तप अपने हरएक शक्तिसे किया जाता है, वाणीका तप, मनका तप,शरीरका तप, ब्रह्मचर्यका तप, हरएक इन्द्रियका तप आदि अनेक तप मनुष्यको करने चाहिये। इन सब तपोंका जितना बडा (तपःसमूहसि) समूह होगा, उतना उच्च स्थान उस मनुष्यको प्राप्त होगा। अर्थात् तपके जीवनपर मनुष्यका महत्त्व अवलंबित है।

जिस कारण तपके प्रभावसे मनुष्य उच्च होता है, उसी कारण तपके प्रभावसे ही मनुष्य नहीं गिरता। इसलिये इस द्वितीय मंत्रमें उच्चतासे न गिरनेका हेतु तपका प्रभाव (प्रवतः न - पात्, यत्, तपः समूहसि) कहा है। यहां पाठक इनका परस्पर संबंध देखे और गिरावटसे बचनेका कारण जान अपने आपको गिरावटसे बचावें। जो स्वयं अपने आपको गिरावटसे बचा सकता है, वह दूसरोंको सुखी कर सकता है।

परमधाम ।

तृतीय मंत्रमें परमेश्वरके परम धामका पता दिया है । परमेश्वरका परम धाम हरएक के हृदयमें है, विशेषतः भक्तके हृदयमें ही है । परमेश्वरके भक्त ही उस धामको जानते हैं और वर्णन करते हैं । कौन दूसरा उसको जान सकता है और वर्णन कर सकता है ? यही स्थान जानना और इसका अनुभव लेना मनुष्यका साध्य है ।

मनुष्य समुद्रके अंदर गिर पडा है, इस समुद्र की लहरें बडी भारी लहरा रही है, प्रचंड वायु चल रहा है, धूवांधार मेघ बरस रहे हैं, बिजलियां चकमका रही हैं, और यह मनुष्य ऐसे प्रक्षुब्ध समुद्रमें सहायताके लिये पुकार रहा है । उसका ख्याल है, कि सहायता बाहरसे आनेवाली है। यही मनुष्यका भ्रम है, यही अज्ञान है और यही कमजोरी है ।

यह तृतीय मंत्र स्पष्ट शब्दोंसे कह रहा है, कि उस प्रक्षुब्ध समुद्रका केन्द्र वही परमात्मा है और वह भक्तके हृदयमें विराजता है । हे भक्त ! यदि तू सचमुच उसकी सहायताके लिये पुकार रहा है तो अपने हृदयमेंही उसे ढूंढनेका यत्न कर, वही उसका परम धाम है । और वहांही वह अपने वैभवसे प्रकाश रहा है ।

पाठको ! आप यह ध्यानमें रखिये कि आपमेंसे हरएक के हृदयमें वह आत्मज्योति है । वही सब उन्नति की सहायक शक्ति है । आप उसे पकड लीजिये, तो आपकी उन्नति निः-संदेश हो जायगी । सब जगत् अंदरसे बढ रहा है, बाहरसे नहीं । आपकी उन्नतिका भी यही नियम हैं ।

युद्धमे सहायता ।

युद्धके समय, शत्रुका हमला होनेके प्रसंगमें, डरके समयमें इस परमात्माकी सहायता सब चाहते हैं। मरण, दुःख आदिके कारण मनुष्य परमात्माकी खोज करते हैं। इसीलिये बडे सत्पुरूष दुःखको स्वीकारते हैं और अन्योंको सुख देते है । यही दुःखका महत्त्व है ।

चतुर्थ मंत्रमें कहा है, कि "सब देव उसको प्रकट करते हैं । "इसीका स्पष्टीकरण इससे पूर्व किया जा चुका है ।" युद्धमें उसकी प्रशंसा या स्तुति प्रार्थना होती है "इसका भी कारण स्पष्टतापूर्वक हमने देखा है । यह सब इसलिये करते हैं कि "शत्रुको दूर भगानेके लिये प्रबल शक्ति प्राप्त हो ।" जो परमात्माके सच्चे भक्त होते है, या तो उनके सन्मुख कोई शत्रु नहीं ठहर सकता, अथवा जो उनकी शत्रुता करता है, वह स्वयं नष्ट हो जाता है। अर्थात् परमेश्वर भक्तिही एक बडी भारी शक्ति है, जो संपूर्ण शत्रुओंका नाश कर सकती है।

नमन ।

इस चार मंत्रोंके सूक्तमें परमेश्वरको सात बार नमन किया है , अर्थात् यहांका अनेक बारका नमन सिद्ध कर रहा है, कि परमेश्वरकी सार्वभौम सत्ताके सामने सिर झुकाना, उसको सर्वत्र उपस्थित समझना, उसीको सर्वतोपरि समझना मनुष्यकी उन्नतिके लिये अत्यावश्यक है । उसको छोडकर किसी दूसरेको नमन न करनेके संबंधनमें "तुभ्यं एव नमोऽस्तु" (मंत्र३) यह मंत्रभाग देखने योग्य है ।"मैं तुझे ही नमन करता हूं ।" तेरेसे भिन्न किसी अन्यकी उपासना मैं नहीं करता, हे ईश्वर ! तेरे सामने ही मै सिर झुकाता हूं । मुझे अनुगृहीत कर और कृतार्थ कर । इस सूक्तमें सर्वोत्कृष्ठ उपासना कही है, पाठक इसका उपयोग उपासनाके समय कर सकते हैं ।

कुलवधू - सूक्त

(ऋषिः - भृग्वङ्गिराः । देवता - यमः)

(१४)

भगमस्या वर्च आदिष्यधि वृक्षादिव स्रजम् । महाबुध्न इव पर्वतो ज्योक् पितृष्वास्ताम् ॥१॥
एषा ते राजन्कन्या वधूर्नि धूयतां यम । सा मातुर्बध्यतां गृहेऽथो भ्रातुरथो पितुः ॥२॥
एषा ते कुलपा राजन्तामु ते परि दद्मसि । ज्योक् पितृष्वासाता आ शीर्ष्णः समोप्यात् ॥३॥
असितस्य ते ब्रह्मणा कश्यपस्य गयस्य च । अन्तःकोशमिव जामयोऽपि नह्यामि ते भगम् ॥४॥

अर्थ- **(वृक्षात् अधि स्त्रजं इव)** वृक्षसे जिस प्रकार फूलोंकी माला लेते हैं, उस प्रकार **(अस्याः भगं वर्चः आदिषि)** इस कन्याका ऐश्वर्य और तेज मैं स्वीकारता हूं। **(महाबुध्नः पर्वतः इव)** बडे जडवाले पर्वतके समान स्थिरतासे यह कन्या **(पितृषु ज्योक् आस्तां)** मातापिताके घर बहुत समयतक रहे ॥१॥ हे **(यम राजन्)** नियमपालन करनेवाले स्वामिन् ! **(एषा कन्या)** यह कन्या **(ते वधूः)** तेरी वधू होकर **(निधूयतां)** व्यवहार करे। **(अथो)** अथवा **(सा)** वह माताके, भाईके **(अथो)** किंवा पिताके **(गृहे बध्यताम्)** घरमें रहे ॥२॥ हे **(राजन्)** हे स्वामिन् ! **(एषा)** यह कन्या **(ते कुल -पा)** तेरे कुलका पालन करनेवाली है। **(तां)** उसको **(उ ते परिदद्मासि)** तेरे लिये देते हैं। यह **(ज्योक)** उस समयतक **(पितृषु आसातै)** मातापिताके घरमें निवास करे **(आ शीर्ष्णः समोप्यात्)** जबतक सिर न सजाया जाये ॥३॥ **(असितस्य)** बंधन रहित, **(कश्यपस्य)** द्रष्टा **(च)** और **(गयस्य)** प्राण साधन करनेवालें **(ते)** तेरे **(ब्रह्मणा)** ज्ञानके साथ मैं **(ते भगं अपि नह्यामि)** तेरे ऐश्वर्यको बांधता हूं, **(जामयः अंतः कोशं इव)** स्त्रियां अपनी पिटारीको जैसे बांधती हैं ॥४॥

भावार्थ - (१) वृक्षसे फूल और पत्ते निकाल कर जैसी माला बनाकर लोग पहनते हैं उसी प्रकार इस कन्याका सौंदर्य और तेज मैं स्वीकारता हूं और उससे अपने आपको सजाना चाहता हूं। जिस प्रकार बडी जडवाला पर्वत अपने ही आधारपर स्थिर रहता हैं, उस प्रकार कन्या भी अपने मातापिताओंके घरमें निडर होकर देरतक सुरक्षित रहे ॥१॥ (२) हे नियमपालक पति ! यह हमारी कन्या तेरी वधू होकर नियमपूर्वक व्यवहार करे। जिस समय वह आपके घर न रहेगी उस समय वह पिता, माता अथवा भाईके घर रहे, परंतु किसी अन्यके घर जाकर न रहे ॥२॥ हे पति! यह हमारी कन्या तेरे कुलका पालन करनेवाली है, इसको तेरे लिये हम समर्पण करते हैं। जबतक इसका सिर सजाने का समय न आवे तबतक यह मातापिताके घरमें रहे ॥३॥ बंधनरहित, द्रष्टा और प्राणोंको स्वाधीन करनेवाले तेरे ज्ञानके साथ इस कन्याके भाग्यका संबंध मैं करता हूं। जिस प्रकार स्त्रिया अपने जेवर संदूकमें बंद रखती है , उस प्रकार इसका भाग्य सुरक्षित रहे ॥४॥

पहला प्रस्ताव ।

इस सूक्तमें चार मंत्र हैं। पहले मंत्रमें भावी पतिका प्रस्तावरूप भाषण है। पति कन्याके रूपको और तेजको पसंद करता है और उस तेजका स्वीकार करना चाहता है। इस विषयमें मंत्रका रूपक अतिस्पष्ट है -

"वृक्षवनस्पतियोंसे पत्ते फूल और मंजरियां लेकर लोग माला बनाते हैं, और उस मालाको गलेमें धारण करते हैं। इस प्रकार यह कन्या सुगंधित फुलोंवाली वल्ली है, इसके फूल और पत्ते (मुखकमल और हस्तपल्लव) अथवा इसका सौंदर्य और तेज मैं लेता हूं और उससे मैं सुशोभित होना चाहता हूं। अर्थात् मैं इस कन्याके साथ गृहस्थाश्रम करनेकी इच्छा करता हूं। जैसा पर्वत अपने विशाल आधारपर रहता है, उस प्रकार यह कन्या अपने मातापिताओंके सुदृढ आधारपर रहे। अर्थात् मातापिताओंसे सुशिक्षा पाकर यह कन्या सुयोग्य बने और पश्चात् मेरे (पतिके) घर आजावे।"

यह भाव प्रथम मंत्रका है। इसमें भावी पतिका प्रथम प्रस्ताव है। भावी पति कन्याका सौंदर्य और तेज पसंद करता है और उसके साथ विवाह करनेकी इच्छा प्रकट करता है। अर्थात् भावी पति कन्याकी प्रार्थना उसके माता पिताके पास करता है। और साथ यह भी कहता है कि, कन्या कुछ समयतक माता पिताके घर ही रहे अर्थात् योग्य समय आनेतक कन्या मातापिताके घर रहे, तत्पश्चात् पतिके घर आवे। योग्यसमय की मर्यादा आगे तृतीय मंत्रमें कही जायगी।

इस मंत्रके विचारसे पता लगता है कि, पुरूष अपनी सहधर्मचारिणी को पसंद करता है। पुरूष अपनी रूचि के अनुसार कन्याको चुनता है और अपना मानस कन्याके मातापिताओंसे निवेदन करता है। कन्याके मातापिता इस प्रस्ताव का विचार करते हैं और भावी पतिको योग्य उत्तर देते हैं।

इस सूक्तसे यह स्पष्ट नहीं होता है, कि कन्याको भी अपने पतिके विषयमें पसंदगी नापसंदगीका विचार प्रदर्शित करनेका अधिकार है वा नहीं। प्रस्ताव होनेपर भी कन्याका मातापिताके घरमें देरतक वास्तव्य (पितृषु कन्या ज्योक् आस्तां) बता रहा है कि, यह प्रस्ताव कन्याके रजोदर्शन के पूर्व ही अथवा उपवर होनेके पूर्व

ही होना है। आजकल जिसको मंगनी कहते हैं, उसके समान ही यह बात दीखती है। इस सूक्तमें कन्याका एक भी भाषण नहीं है, परंतु भावी पति और कन्याके मातापिता या पालकोंका ही भाषण है। इससे अनुमान होता है कि, कन्याको उतना अधिकार नही है, कि जितना पतिको है।

तीसरे मंत्रमें कन्याके पालन कहते हैं कि, हम (ते तां परि दद्मसि) तेरेलिये इस कन्याको समर्पण करते हैं।" यह मंत्रभाग स्पष्ट बता रहा है कि, कन्या इस विषयमें परतंत्र है। मंत्रमें दो बार आया है कि "कन्या पिता माता अथवा भाईके घरमें रहे" अथवा आगे जाकर हम कह सकते हैं कि विवाह होनेपर वह पतिके घर रहे। परन्तु वह कभी स्वतन्त्रतासे न रहे।

जिस प्रकार वृक्षका आधार उसकी जडे है, अथवा पर्वतका आधार उसकी अति विस्तृत बुनियाद है, उसी प्रकार कन्याका पहला आधार माता पिता अथवा भाई है, और पश्चात्‌का आधार पति ही है। इससे भिन्न किसी अन्यका आधार स्त्रीको लेना उचित नही है।

प्रस्तावका अनुमोदन।

प्रथम मंत्रमें कथित भावी पतिका प्रस्ताव सुननेके पश्चात् कन्याके माता पिता विचार करके भावी पतिसे कहते हैं, कि-

"हे नियमसे चलनेवाले स्वामिन्! यह कन्या तेरे साथ नियमपूर्वक व्यवहार करे। तबतक यह माता पिता अथवा भाईके घरमें रहे॥ हे स्वामिन्! यह कन्या तेरे कुलका पालन करनेवाली है, इसलिये हम तेरे लिये इसका प्रदान करते हैं। यह तबतक मातापिताके घर रहे, जबतक इसके सिर सजानेका समय आजाय॥ तू बंधनरहित, द्रष्टा और प्राणशक्तिसे युक्त है, इसलिये तेरे ज्ञानके साथ इस कन्याके भाग्यका सम्बन्ध हम जोडे देते हैं। जैसी स्त्रियां अपने जेवर संदूकमें बंद रखती हैं उस प्रकार इसके साथ तेरा भाग्य सुरक्षित रखता हूं॥"

यह तीनों मंत्रोंका तात्पर्य है, यह बहुतसी विचार करनेयोग्य है। पाठक इसका बहुत विचार करें। यहां उनकी सुविधाके लिये कुछ विचार किया जाता है -

वरकी परीक्षा।

इस सूक्तमें पतिके गुण धर्म बताये हैं वे यहां प्रथम देखने योग्य हैं -

१ यमः - यमनियमोंका पालन करनेवाला, धर्मनियमोंके अनुकूल अपना आचरण रखनेवाला।

२ राजन् - राजा (रञ्जयति।) अपनी धर्मपत्नीका रंजन करनेवाला। (यहां पत्नी के विषयका अर्थ होनेसे 'राजन्' शब्दका अर्थ यह लेना योग्य है।) राजा शब्दका अर्थ "प्रकृतिका रंजन करनेवाला।" गृहस्थधर्ममें धर्मपत्नी पुरूष की प्रकृति ही है। उस धर्मपत्नीका संतोष बढानेवाला।

३ असितः - (अ- सितः अबद्धः) बंधनरहित। अर्थात् जिसका मन स्वतंत्रताका चाहनेवाला है। गुलामीके भाव जिसके मनमें नहीं हैं।

४ कश्यप :- (पश्यकः) देखनेवाला। अपनी परिस्थितीको उत्तम रीतिसे जाननेवाला और अपने कर्तव्यकों ठीक प्रकार समझनेवाला।

५ गयः - (प्राणबलयुक्तः) प्राणायाक्षादि योगसाधनद्वारा जिसने अपने प्राणोंका बल बढाया है।

६ ब्रह्मणा युक्तः - ज्ञानसे युक्त। ज्ञानी।

ये छः शब्द इस सूक्तमें पतिके गुणधर्म बता रहे हैं।

पतिके गुणधर्म।

धर्मनियमोंके अनुकूल आचरण करना, धर्मप्तनीको संतुष्ट रखना, स्वाधीनताके लिये यत्न करना, अपनी परिस्थितीको ठीक प्रकार जानना, योगादि साधनद्वारा अपनी दीर्घ आयु नीरोगता तथा सुदृढताका संपादन करना, तथा ज्ञान बढाना, ये गुण पतिकी योग्यता प्रदर्शित कर रहे हैं।

यहां स्त्रीको संतुष्ट रखना धर्मानुकूल चलनेसे जितना हो सकता है उतनाही कहा है, क्योंकि "यम राजन्" ये दोन शब्द मंत्रमें इकट्ठे प्रयुक्त हुए हैं।

अपनी कन्या के लिये वर ढूंढना हो तो उक्त छः गुणोंकी कसौटीसे ही ढूंढना तथा पसंद करनाचाहिये। जिसका आचरण धर्मानुकूल हो, जो धर्मपत्नीके साथ प्रेमपूर्ण बर्ताव करनेवाला हो, जो स्वाधीनताके लिये प्रयत्नशील हो, जो अपनी अवस्थाको जाननेवाला और तदनुकूल कार्य व्यवहार करनेवाल हो, जो बलवान तथा नीरोग हो और स्वास्थ्य रक्षा कर सकता हो, तथा जो ज्ञानवान और प्रबुद्ध हो, तो उस वरको अपनी कन्या प्रदान करना योग्य है।

तथा जो धर्मानुकूल आचरण नहीं करता, जो किसीके साथ प्रेममय आचरण नहीं करता, जो पराधीनतामें रहता है, जो अपनी अवस्थाके प्रतिकूल आचरण करता है, तथा जो निर्बल और रोगी हो, तथा जो ज्ञानी न हो, उसको किसी भी अवस्थामें अपनी कन्याके लिये वर रूपमे पसंद नहीं करना चाहिये। पाठक वर परीक्षाके विषयमें इन बातोंका ध्यान रखें । अब वधू परीक्षा करनेके नियम देखिये -

वधू-परीक्षा

इस सूक्तमें वधूपरीक्षाके निम्नलिखित मंत्र भाग है -

१ कन्या - (कमनीया) कन्या ऐसी हो, कि जिसको देखनेसे मनमें प्रेम उत्पन्न हो । रूप तेज, अवयोंकी सुंदरता, स्वच्छता, ज्ञान आदि सब बातें, जिससे देखनेवालेंके मनमें प्रेम उत्पन्न होता हो, इस शब्दसे ज्ञात हो जाती हैं ।

२ वधू - (उह्यते पतिगृहं) जो पतिके घर जाकर रहना पसंद करती है । जो पतिके घरको ही अपना सच्चा घर मानती है ।

३ कुलूपा - कुलका पालन करनेवाली । पिताके तथा पतिके कुलोंकी मर्यादाओंका पालन करनेवाली । जो अपने सदाचारसे दोनों कुलोंका यश बढाती है ।

४ ते (पत्युः) भगम् - धर्मपत्नी ऐसी होनी चाहिये, कि जो पतिका भाग्य बढावे । जिसने पतिको धन्यता अनुभव हो ।

५ पितृषु आस्ताम् - विवाहके पूर्व अथवा आपत्कालमें मातापिता अथवा भाई इनके घरमें रहनेवाली और विवाहके पश्चात् पतिके घर रहनेवाली । किसी अन्यके घर जाकर रहनेकी इच्छा न करनेवाली कन्या होनी चाहिये ।

६ वृक्षात् स्रक् - वृक्षसे पुष्पमालाके समान कन्या हो, पिताके कुलरूपी वृक्षको पुष्पमालारूप कन्या सुगंधित करे।

ये छः मंत्रभाग कन्याकी परीक्षा करनेके नियम बता रहे हैं । पाठक इनका उत्तम विचार करें और इन उपदेशोंके अनुकूल कन्याकी परीक्षा करें ।

कन्याके गुणधर्म ।

कन्या सुरूप तथा तेजस्विनी हो, पतिके घर प्रेमपूर्वक रहनेवाली हो, दोनों कुलोंका यश अपने सदाचरणसे बढानेवाली हो, पतिका भाग्य बढानेवाली, यौवनके पूर्व पिताके घरमें तथा यौवन प्राप्त होने पश्चात् पतिके घर रहनेवाली, तथा पुष्पमालाके समान अपने कुलकी शोभा बढानेवाली हो । इस प्रकारकी जो सुलक्षणी कन्या हो उसकोही पसंद करना योग्य है ।

परंतु जो फीकी, निस्तेज, दुर्मुखी, पतिके घर जानेकी इच्छा करनेवाली, दुराचारिणी, पतिके भाग्यको घटानेवाली तथा दोषयुक्त हो, वह कन्या विवाहके लिये योग्य नहीं है।

मंगनीका समय ।

इस सूक्तसे विवाहके समयका ठीक ज्ञान नहीं होता, क्योंकि उसका ज्ञापक कोई प्रमाण यहां नहीं है ।। "कन्या सिर सजानेके समयके पूर्व माताके घर देरतक रहे" इस तृतीय मंत्रके कथनसे मंगनीका समय ऋतुप्राप्त होनेके पूर्व कुछ वर्ष अधिकसे अधिक एक दो वर्ष होना संभव है । तथापि वधूपरीक्षाके जो छः लक्षण ऊपर बताये हैं, वे लक्षण स्पष्टतया व्यक्त होनेके लिये प्रौढ दशाकी प्राप्तिकी अत्यंत आवश्यकता है । "पतिके घर जानेकी कल्पना" जिस अवस्थामें कन्याके मनमें आती है वह अवस्था मंगनीकी प्रतीत होती है । ये छः शब्द अच्छी, प्रौढ, प्रबुद्ध, करीब उपवर, कन्याकी अवस्था बता रहे हैं। पाठक सब शब्दोंका विचार अच्छी प्रकार करेंगे, तो उनको कन्या की किस आयुमें मंगनी होनी चाहिये इस विषयका निश्चय हो सकता हैं ।

भावी पति मंगनी करे और कन्याके माता पिता पूर्वोक्त लक्षणोंका खूब विचार करके भावी पतिके प्रस्तावका स्वीकार या अस्वीकार करें । इस सूक्तमें वरके मातापिताके तथा कन्याको अपना मत देनेका अधिकार है ऐसा माननेके लिये एक भी प्रमाण नहीं है । यह बात यदि किसी अन्य सूक्तमें आगे मिल जायगी, तो उस समय कही जायगी ।

सिरकी सजावट ।

तृतीय मंत्रमें कहा है "ज्योक् पितृ-वासाता आ शीर्ष्णः समोप्यात् ।" (देरतक मातापिताके घरमें कन्या रहे, जब तक सिर सजानेका समय आजावे ।) यहां एक बात कहना आवश्यक है, कि जिस समय स्त्री ऋतुमती होती है, उस समय उसको "पुष्पवती" कहते हैं । पुष्पवतीका अर्थ फूलोंसे अपने आपको सजाने योग्य । प्रथम रजोदर्शन,

प्रथम ऋतुप्राप्ति अथवा प्रथम पुष्पवती होते ही उसको फूलोंद्वारा सजानेकी प्रथा विशेषतः उसका सिर फूलोंसे सजानेकी प्रथा भारतवर्षमें इस समय में भी है। मैसूर और मद्रासकी ओरतो पहले गर्भाधानके प्रसंगके लिये सैकडों रूपयोंके फूल इस पुष्पवती स्त्रीकी सजावट के लिये लाये जाते हैं। मुंबईमें भी कई जातियोंमें यह प्रथा है। अन्य जातियोंमें कम है, परंतु सिरमें फूल पहननेका रिवाज इस ऋतुप्राप्तिके समयके लिये विशेष है। यह रिवाज प्रतिदिन कम हो रहा है। एक धनाभावक कारण और दूसरा उत्साहके अभाव के कारण यह रिवाज न्यून हो रहा है। धनी लोग इस प्रसंगके लिये सोने और रत्नोंके भी फूल बनाते हैं और पुष्पवती स्त्रीके चतुर्थ दिनमें उसका सिर बहुत सजाते हैं। जिन प्रांतोंमें घुंगट निकालनेका रिवाज है, उन प्रांतोंमें यह रिवाज कम है ऐसा हमारा ख्याल है, परंतु सच्ची बात वहां के लोग ही जान सकते हैं। इससे हम अनुमान कर सकते हैं कि घुंगटकी प्रथा अवैदिक कारणोंसे हमारे समाजमें घुस गई है।

मंगनीके पश्चात् विवाह।

इस सूक्तके देखनेसे ऐसा प्रतीक होता है कि, मंगनीके पश्चात् विवाह का समय बहुत दूर का नहीं है। प्रथम मंत्रमें वरसे पहला प्रस्ताव अर्थात् मंगनीका प्रस्ताव हुआ है। और द्वितीय तथा तृतीय मंत्रमें ही कन्याके अर्पण का विषय आगया है। देखिये -

१ एषा कन्या ते वधूः निधूयताम् - यह हमारी कन्या तेरी पत्नी बनकर निःशेष व्यवहार करे। तथा -

२ एषा (कन्या) ते कुलपा, तां उ ते परिदद्मसि - यह हमारी कन्या तेरे कुलका पालन करनेवाली है, इसलिये उसको तेरे लिये हम प्रदान करते हैं।

३ ते भगं अपिनह्यामि - तेरा भाग्य (इस कन्या के साथ) बांधता हूं, अर्थात् इससे तू अलग न हो।

ये मंत्रभाग स्पष्ट बता रहे हैं कि मंगनीका स्वीकार होनेके पश्चात् शीघ्र ही विवाहका समय होता है। यद्यपि इसमें समय का साक्षात् उल्लेख नहीं है, तथापि (१) मंगनी, (२) कन्या दान की संमति, (३) सिर सजानेके समयतक अर्थात् पुष्पवती होनेतक कन्याके पितृघरमें निवास का विधान स्पष्ट बता रहा है, कि मंगनी के पश्चात् विवाह होनेके बाद ऋतुमती और पुष्पवती होनेके नंतर कन्याका पतिके घर निवास होनेका क्रम दिखाई देता है। पाठक इस विषयमें अधिक विचार करें। यह विषय अन्यान्य सूक्तोंके साथ संबंधित है, इसलिये इस विवाह प्रकरणके सूक्त जहां जहां आवेंगे वहां वहां इसके साथ संबंध देखकर ही सब बातोंका निर्णय होगा। पाठक भी इस विषयमें अपने विचारों की सहायता देंगे, तो अधिक निर्दोष निश्चय होना संभव है।

संगठन-महायज्ञ-सूक्त।

(ऋषिः अथर्वा। देवता - सिंधुः)

(१५)

सं सं स्रवन्तु सिन्धवः सं वाताः सं पतत्रिणः।
इमं यज्ञं प्रदिवो मे जुषन्तां संस्राव्येण हविषा जुहोमि ॥१॥
इहैव हवमा यात म इह संस्रावणा उतेमं वर्धयता गिरः।
इहैतु सर्वो यः पशुरस्मिन् तिष्ठतु या रयिः ॥२॥
ये नदीनां संस्रवन्त्युत्सासः सदमक्षिताः। तेभिर्मे सर्वैः संस्रावैर्धनं सं स्रावयामसि ॥३॥
ये सर्पिषः संस्रवन्ति क्षीरस्य चोदकस्य च। तेभिर्मे सर्वैः संस्रावैर्धनं सं स्रावयामसि ॥४॥

अर्थ - (**सिंधवः**) नदियां (**सं सं स्रवन्तु**) उत्तम रीति से मिलकर बहती रहें, (**वाताः सं**) वायु उत्तम रीतिसे मिलकर बहते रहें, (**पतत्रिणः सं**) पक्षी भी उत्तम गतिसे मिलकर उडते रहें। इसी प्रकार (**प्र दिवः**) उत्तम दिव्य जन (**मे इमं यज्ञं**) मेरे इस यज्ञको (**जुषन्तां**) सेवन करें, क्योंकि मैं (**संस्राव्येण हविषा**) संगठनके अर्पणसे (**जुहोमि**) दान कर रहा हूं ॥१॥ (**इह एव**) यहां ही (**मे हवं**) मेरे यज्ञके प्रति (**आयात**) आओ (**उत**) और हे (**संस्रावणाः**) संगठन करनेवाले (**गिरः**) वक्ताओ ! (**इमं वर्धयत**) इस संगठनको बढाओ (**यः पशुः**) जो सब पशुभाव है वह (**इह एतु**) यहा अवि और (**अस्मिन्**) इसमें (**या रयिः**) जो संपत्ति है, वह (**तिष्ठतु**) रहे ॥२॥ (**नदीनां**) नदियोंके जो (**अक्षिताः उत्सासः**) अक्षय स्रोत इस (**सदं**) संगठन स्थानमें (**संस्रवन्ति**) बह रहे हैं, (**तेभिः मे सर्वैः संस्रावैः**) उन मेरे सब स्रोतोंसे हम सब (**धनं**) धन (**संस्रावयामसि**) इकट्ठा करते हैं ॥३॥ (**ये**) जो (**सर्पिषः**) घीकी (**क्षीरस्य**) दूधकी (**च उदकस्य**) और जलकी धाराएं (**संस्रवन्ति**) बह रही हैं, (**तेभिः मे सर्वैः संस्रावैः**) उन सब धाराओंसे हम (**धनं संस्रावयामसि**) धन इकट्ठा करते हैं ॥४॥

भावार्थ :- नदियाँ मिलकर बहती हैं, वायु मिलकर बहते हैं, पक्षी भी मिलकर उडते हैं, उस प्रकार दिव्य जन भी इस मेरे यज्ञमें मिल जुलकर संमिलित हों, क्योंकि मैं संगठनके बढानेवाले अर्पणसे ही यह संगठन का महायज्ञ कर रहा हूं ॥१॥ सीधे मेरे इस संगठनके महायज्ञमें आजाओ और हे संगठनके साधक वक्ता लोगो ! तुम अपने उत्तम संगठन बढानेवाले वक्तृत्वोंसे इस संगठन महायज्ञको फैला दो। जो हम सबमें पशुभाव हो, वह यहां इस यज्ञमें आवे और हम सबमें धन्यताका भाव चिरकालतक निवास करे ॥२॥ जो नदियोंके अक्षय स्रोत इस संगठन महायज्ञमें बह रहे हैं उन सब स्रोतोंसे हम अपना धन संगठनद्वारा बढाते हैं ॥३॥ क्या घी, क्या दूध और क्या जलकी जो धाराएं हमारे पास बह रही हैं, उन सब धाराओंसे हम अपना धन इस संगठनद्वारा बढाते हैं ॥४॥

संगठनसे शक्तिकी वृद्धि।

यह संगठन महायज्ञका सूक्त है। इसके प्रथम मंत्रमें संगठनसे शक्ति बढनेका वर्णन है वह संगठन करनेवालोंको देखना और उसपर खूब विचार करना चाहिये। देखिये -

१ सिंधवः - नदियां। जो जल बहती हैं उसको स्रोत कहते हैं। इस प्रकारके सैकडों और हजारों स्रोत जब इकट्ठे होते हैं और अपना भेदभाव छोडकर एकरूप होकर बहते हैं, तब उसका नाम "नदी" होता है। नदी भी जिस समय महापूरसे बहती है, उस मसय विविध छोटे स्रोतोंके एकरूप होकर बहनेके कारण जो महाशक्ति प्रकट होती है, वह अपूर्व ही शक्ति है। यह नदी इस समय बडे बडे वृक्षोंको उखाड देती है, जो उसके सामने आजाते हैं उनको भी अपने साथ बहा देती है। बडे वृक्ष, बडे मकान, बडे पहाड भी महानदीके वेगके सामने तुच्छ हो जाते हैं। यह वेग कहांसे आता है ?

पाठक विचार करेंगे तो पता लग जायगा कि यह वेग छोटे स्रोतमें नहीं होता, परंतु जब अनंत छोटे स्रोत एकरूप होकर और अपना भेदभाव नष्टकर एकरूपसे बहने लगते हैं, अर्थात् अनंत छोटे स्रोत अपना संगठन करते हैं, तभी उनमें यह अश्रुतपूर्व शक्ति उत्पन्न होती है। इस प्रकार नदियां मनुष्यको "संगठन द्वारा अपनी शक्ति बढानेका उपदेश" दे रही हैं।

२ वातः - वायु भी इसी प्रकार मनुष्योंको संगठनके उपदेश दे रहे हैं। छोटे छोटे वायु जिस समय बहते हैं उस समय वृक्षके पत्ते भी नहीं हिलते, परंतु वही सब एक होकर प्रचंड वेगसे जब बहने लगते हैं तब महावृक्ष टूट जाते हैं और मनुष्य भी डर जाते हैं। पाठक इन झंझावातोंसे भी संगठनके बलका उपदेश ले सकते हैं। इस प्रकार वायु भी संगठनका उपदेश मनुष्योंको दे रहा है।

३ पक्षी - पक्षी भी संगठन करते हैं। जब एकएक पक्षी होता है तो उसको दूसरा कोई भी मार सकता है, परंतु जब सैकडों और हजारों चिडियां एक कलापमें रहकर अपना संगठन करती है, तब उनकी शक्ति बडी भारी होती है। इस प्रकारके पक्षियोंके कलाप बडे बडे खेतोंका धान अल्प समयमें प्राप्त करके खा जाते हैं। यह संगठनका सामर्थ्य पाठक देखें और अपना संघ बनाकर अपना ऐश्वर्य बढावें। पक्षी यह उपदेश मनुष्योंको अपने आचरणसे दे रहे हैं।

इस प्रकार पहिले मंत्रमें ये तीन उदाहरण मनुष्योंके संमुख रखकर संगठनका महत्त्व बताया है। यदि पाठक

इन उदाहरणोंका उत्तम मनन करेंगे, तो उनको पता लग जायगा कि अपना संगठन किस प्रकार किया जाय।

यज्ञमें संगतिकरण।

"यज्ञमें संगठन होता ही है। कोई यज्ञ ऐसा नहीं है कि जिसमें संगतिकरण न हो। यज्ञका मुख्य अर्थ संगठन ही है। प्रथम मंत्रके द्वितीयार्धमें इसीलिये कहा है, कि नदियोंमें, वायुओंमें और पक्षियोंमें संगठनकी शक्ति अनुभव करके उसप्रकार उपने संगठन बनानेके उद्देश्यसे हमारे समाजके अथवा हमारे देश, जाति या राष्ट्रके लोग, इस संगठन महायज्ञमें संमिलित हों। एक स्थानपर जमा होना पहिली सीढी है। इसके पश्चात् परस्पर समर्पण करनेसे संगठनकी शक्ति बढने लगती है। हवनमें सात प्रकारकी समिधाएं एकत्रित होती हैं और अग्निद्वारा प्रकाश करती हैं। यदि एक एक समिधा अलग होगी तो अग्नि बुझ जायगा। इसी प्रकार जातिके सब लोग संगठित होनेसे उस जातिका यश चारों दिशाओंमें फैलता है, परंतु जिस जातिमें एकता नहीं होती, उसकी दिन प्रति दिन गिरावट होती जाती है। इससे यहां स्पष्ट हुआ कि संगठन करनेवाले लोगोंमें परस्परके लिये आत्मसमर्पणका भाव अवश्य चाहिये।

इस प्रकार प्रथम मंत्रमें संगठन करनेके मूल सिद्धातोंका उत्तम उपदेश दिया है।

संगठनका प्रचार।

"सब लोग यहां आजांय, उनकी एक परिषद् बने और संगठन बढानेवाले उत्तम वक्ता अपने ऐक्यभाव बढानेवाले वक्तृत्वसे इस संगठन महायज्ञका फैलाव करें।" यह द्वितीय मंत्रके पूर्वार्धका भाव है।

सभा, परिषद्, महासभा आदि द्वारा जातियोंका संगठन करनेकी रीति इस मंत्रार्धमें कही है। सब लोग इसका महत्त्व जानते ही है। आगे जाकर इसी द्वितीय मंत्रमें एक महत्त्वपूर्ण बात कही है वह अवश्य ध्यानसे देखने योग्य है -

पशुभावका यज्ञ।

"जो सब पशुभाव हम सबमें हों वह इस यज्ञमें आजावे, और यहीं रहे अर्थात् फिर हमारे साथ वह पशुभाव न रहें।" पशुभावकी प्रधानता जिन मनुष्योंमें होती है, उनमें ही आपसके झगडे होते हैं। यदि पशुभाव संगठनके लिये दूर किया जाय और मनुष्यत्वका भाव बढाया जाय, तो आपसके झगडे नहीं होंगे। इसलिये पशुभाव ही यज्ञमें समाप्ति करनेकी सूचना इस द्वितीय मंत्रके तृतीय चरणमें दी है और संगठनके लिये वह अत्यंत आवश्यक है। इसके बिना कोई संगठन हो ही नहीं सकता।

पशुभाव छोडनेका फल।

पशुभाव छोडने और मनुष्यत्वका विकास करनेसे तथा संगठनसे अपनी शक्ति बढानेसे जो फल होता है उसका वर्णन द्वितीय मंत्रके चतुर्थ चरणमें किया है–

"जो धन है वह इस हमारे समाजमें स्थिर रहे।"

संगठनका यही परिणाम होना है। जिससे मनुष्य धन्य होता है उसका नाम धन है। मनुष्यको धन्य बनानेवाले सब धन मनुष्यको अपने संगठन करनेके पश्चात् ही प्राप्त हो सकते हैं। इस द्वितीय मंत्रमें संगठनके नियम बताये हैं, वे ये हैं -

१ एक स्थानपर संमिलित होना, सभा करना,
२ उत्तम वक्ता जनताको संगठनका महत्त्व समझा देवे,
३ अपने अंदरका पशुभाव छोडकर, पशुभावसे मुक्त होकर, लोग वापस जांय, सब लोग मनुष्य बनकर परस्पर बर्ताव करें।

इन बातोंके करनेसे संगठन होना संभवनीय है। इस प्रकार जो लोग संगठन करेंगे, वे जगत्में धन्य हो जायेंगे।

तृतीय और चतुर्थ मंत्रमें फिर नदियोंके और जलोंके स्रोतों का वर्णन आया है, जो पूर्वोक्त रीतिसे एकताका उपदेश पुनः पुनः कर रहा है। संगठन करनेवालोंको घी, दूध, दही आदि पदार्थ भरपूर मिल सकते हैं, मानो उनमें इन पदार्थोंकी नदियां ही बहेंगी। इसीलिये संगठन करना मनुष्योंकी उन्नतिका एकमात्र प्रधान साधन है।

इस कारण तृतीय और चतुर्थ मंत्रोंके उत्तरार्धमें कहा है, कि "इन संघटित प्रयत्नोंसे हम अपना धन बढाते हैं।" संघटित प्रयत्नोंसे ही यश, धन और नाम बढता है।

आशा है कि पाठक इस सूक्तका अधिक विचार करेंगे और संगठनद्वारा अपनी पुरुषार्थ शक्ति बढाकर अपना यश चारों दिशाओंमें फैलायेंगे।

■ ■ ■

चोर-नाशन-सूक्त ।

(ऋषिः चातनः । देवताः अग्निः, इन्द्रः, वरुणः)

(१६)

येऽमावास्यां३ रात्रिमुदस्थुर्व्राजमत्रिणः । अग्निस्तुरीयो यातुहा सो अस्मभ्यमधि ब्रवत् ॥१॥
सीसायाध्याह वरुणः सीसायाग्निरुपावति । सीसं म इन्द्रः प्रायच्छत्तदङ्ग यातुचातनम् ॥२॥
इदं विष्कन्धं सहत इदं बाधते अत्रिणः । अनेन विश्वा ससहे या जातानि पिशाच्याः ॥३॥
यदि नो गां हंसि यद्यश्वं यदि पूरुषम् । तं त्वा सीसेन विध्यामो यथा नोऽसो अवीरहा ॥४॥

अर्थ - **(ये अत्रिणः)** जो डाकू चोर **(अमावस्यां रात्रौ)** अमावसकी रात्रिके समय हमारे **(व्राजं)** समूहपर **(उदस्थुः)** हमला करते हैं, उस विषयमें **(यातुहा सः तुरीयः अग्निः)** चोरों का नाशक वह चतुर्थ अग्नि **(अस्मभ्यं)** हमें **(अधि ब्रवत्)** सूचना दें ॥१॥ वरुणने सीसेके विषयमें **(अध्याह)** कहा है । अग्नि सीसेको **(उपावति)** रक्षक कहता है । इन्द्रने तो **(मे)** मुझे सीसा **(प्रावच्छत्)** दिया है । हे **(अंग)** प्रिय ।**(तत् यातुचातनम्)** वह डाकू हटानेवाला है ॥२॥ **(इदं)** यह सीसा **(विष्कंध)** रूकावट करनेवालोंको **(सहते)** हटाता है । यह सीसा **(अत्रिणः)** डाकुओंको **(बाधते)** पीडा देता है । **(अनेन)** इससे **(पिशाच्या या विश्वा जातानि)** पिशाचों की जो जातियां है, उनको **(ससहे)** मैं हटाता हूं ॥३॥ **(यदि नः गां हंसि)** यदि हमारी गायको तू मारता है, **(यदि अश्वं)** यदि घोडेको और **(यदि पुरूषं)** यदि मनुष्यको मारता है **(तं त्वा)** तो उस तुझको **(सीसेन विध्यामः)** सीसेसे हम वेधते हैं, **(यथा)** जिससे तू **(नः अ - वीर - हा असः)** हमारे वीरोंका नाश करनेवाला न होवे ॥४॥

भावार्थ - अमावस्या की अंधेरी रात्रिके समय जो डाकू हमारे संघपर हमला करते हैं, उस विषयमें हमें ज्ञानीसे उपदेश मिला है ॥१॥ जलके रक्षक तथा उपदेशक सीसेकी गोली का प्रयोग करनेकी प्रेरणा देते हैं । शूर वीरने तो सीसेकी गोली हमें दे रखी है । हे बंधुओ! यह डाकुओंको हटानेवाली है ॥२॥ यह सीसेकी गोली डाकुओंको हटाती है और प्रतिबंध करनेवालोंको दूर करती है । इससे खून पीनेवाली सब जातियों को दूर भगाया जाता है ॥३॥ हे चोर ! यदि तू हमारी गाय, हमारा घोडा अथवा मनुष्यका वध करेगा, तो तुझपर हम गोली चलावेंगे, जिससे तू हमारा नाश करनेके लिये फिर जीवित न रह सकेगा ॥४॥

सीसेकी गोली ।

इस सूक्तमें सीसेकी गोली का प्रयोग डाकुओंपर करनेको कहा है । सूक्तमें केवल "सीस" शब्द है, गोली का वाचक शब्द नहीं है । तथापि "सीसेन विध्यामः" (सीसेके द्वारा वेध करेंगे) इस प्रयोगसे सीस शब्दसे सीसेकी गोली का भाव समझना उचित है । केवल सीसेका उपयोग डाकुओंके नाशमें किसी अन्य प्रकार संभवनीय नही दीखता है ।(विध्यामः) वेध करनेका भाव दूरसे चांदमारीके समान निशाना मारना है । आजकल सीसेकी गोली बंदूककी नलीमें रखकर दूरसे शत्रुको वेधते हैं । बाण भी धनुष्यपरसे दूरसे ही निशाने पर फेंका जाता है । तात्पर्य इस मंत्रके शब्द बता रहे हैं कि सीसेकी गोलीसे दूरसे ही डाकुओंका वेध करना चाहिये । लाठी सोटीके समान यह पाससे नहीं प्रयोग होता है इतना ही यहां बताना है ।

शत्रु ।

"अत्रिन्, यातु" आदि शब्दोंके अर्थ सप्तम - सूक्तके विवरणमें किये हैं, पाठक वहां ही देखें । ये सब शब्दडाकू चोर लुटेरे अर्थात् समाजके शत्रूओंके वाचक हैं । इनसे भिन्न जिन शब्दोंका इससे पूर्व विचार नहीं हुआ उनका

विचार यहां करते हैं -

१ विष्कम्भ - प्रतिबंध करनेवाला, रूकावटे उत्पन्न करनेवाला, हरएक बातमें विघ्न डालनेवाला ।

२ पिशाच - पिशाची-रक्त पीनेवाले और कच्चा मांस खानेवाले क्रूर लोग, जो मनुष्यका मांस भी खाते हैं ।

ये सब तथा (अत्रिन्) भूके डाकू (यातूः) चोर ये सब समाजके शत्रु हैं । इनको उपदेशद्वारा सुधारनेका विषय पूर्व आये हुए (कां०१, सू. ७,८) धर्मप्रचारके सूक्तोंमें आचुका है । जो नहीं सुधरते उनको दंडके लिये क्षत्रियोंके आधीन करनेकी आज्ञा भी सप्तम सूक्तके अंतमें दी है । उपदेश और दण्ड इन दो उपायोंसे जो नहीं सुधरते उनपर सीसेकी गोलीका प्रयोग करनेका विधान इस सूक्तमें आया है। अपने संगठन करनेका उपदेश पूर्व सूक्तमें करनेके पश्चात् इस सूक्तमें शत्रुपर गोली चलानेकी आज्ञा है यह विशेष ध्यानसे देखना चाहिये । जिनका आपसमें उत्तम संगठन नही है यदि ऐसे लोग शत्रुपर हमला करेंगे, तो संभव है कि वे स्वयं ही नष्टभ्रष्ट हो जायंगे । इसलिये "प्रथम अपना संगठन और पश्चात् शत्रुपर चढाई" यह नियम ध्यानमें रखना चाहिये ।

आर्य वीर ।

अग्नि, इन्द्र आदिके विषयमें सूक्त सातके प्रसंगमें वर्णन आया ही है । (अग्निः) ज्ञानी उपदेशक, (इन्द्रः) शूरवीर ये आर्यवीर हैं यह पहिले बताया है। इन दो शब्दोंसे ब्राह्मण और क्षत्रियोंको बोध होता है यह बात पहिले बतायी जाचुकी है ।

इस सूक्तमें "वरूण" शब्द आया है । वरूण समुद्र अथवा जलका अधिपति वेदमें तथा पुराणोंमें प्रसिद्ध है । जलस्थान, नदी आदि तथा समुद्र परसे जो शत्रुओंके हमले होते हैं उनसे रक्षा करनेका यह ओहदेदार है। जिस प्रकार "अग्नि" शब्द ब्राह्मणत्ववाचक, "इन्द्र" शब्द क्षात्रधर्मका बोधक है उसी प्रकार "वरूण" शब्द जलमार्गसे आनेजानेवाले और देशांतरोंमें व्यापार करनेवाले वैश्योंका अथवा वैश्यत्वका सूचक यहां प्रतीत होता है । इसलिये गोली चलानेके विषयमें **(अग्नि)** ब्राह्मण, **(इन्द्र)** क्षत्रिय और **(वरूण)** वैश्यने भी संमति दी है और **(इन्द्र)** क्षत्रिय ने तो सीसेकी गोलियां हमारेपास दे रखी हैं, इत्यादि द्वितीय मंत्रका भाव इस प्रकार स्पष्ट हो जाता हैं । सप्तम सूक्तमें दिये उपदेशानुसार ब्राह्मण प्रचारकोंने प्रयत्न किया और उन्होंने कहा कि ये डाकू सूधरते नहीं हैं, क्षत्रियोंने भी कहा कि अनेक वार देहदंड देनेपर भी इन दुष्टोंका सुधार नहीं हुआ, वैश्य तो लुटे जानेके कारण कहते ही रहे, इस प्रकार तीनों वर्णोंकी परिषद्ने जब गोली चलानेकी आज्ञा दी, तब इस सूक्तके आधारपर गोली चलायी जा सकती है । पाठक यह पूर्वापर संबंध अवश्य ध्यानमें रखें । सूक्तकी शेष बातें स्पष्ट हैं। इसलिये अधिक विवरणकी आवश्यकता नहीं है ।

॥ यहां तृतीय अनुवाक और पहिला प्रपाठक भी समाप्त हुआ ॥

रक्तस्राव बंद करना ।

(ऋषिः ब्रह्मा । देवता- योषित्)

(१७)

अमूर्या यन्ति योषितो हिरा लोहितवाससः । अभ्रातर इव जामयस्तिष्ठन्तु हतवर्चसः ॥१॥
तिष्ठावरे तिष्ठ पर उत त्वं तिष्ठ मध्यमे । कनिष्ठिका च तिष्ठति तिष्ठादिद्धमनिर्मही ॥२॥
शतस्य धमनीनां सहस्रस्य हिराणाम् । अस्थुरिन्मध्यमा इमाः साकमन्ता अरंसत ॥३॥
परि वः सिकतावती धनूर्बृहत्यक्रमीत् । तिष्ठतेलयता सु कम् ॥४॥

अर्थ - (अमूः याः) यह जो (लोहित - वाससः) रक्त लाल कपडे पहनी हुई **(योषितः)** स्त्रियां हैं अर्थात् लाल रंगका सून ले जानेवाली **(हिराः)** घमनियां शरीरमें हैं वे (तिष्ठन्तु) ठहर जांय अर्थात् अपना चलना बंद करें, (इव)

जिस प्रकार **(अ - भ्रातरः)** विना भाईके **(हत -वर्चसः)** निस्तेज बनी **(जामयः)** बहिनें ठहर जाती हैं ॥१॥ **(अवरे तिष्ठ)** हे नीचेकी नाडी! तू ठहर ! **(परे तिष्ठ)** हे ऊपरवाली नाडी ! तू ठहर **(उत मध्यमे)** और बीच वाली **(त्वं तिष्ठ)** तू भी ठहर । **(कनिष्ठिका च तिष्ठति)** छोटी नाडी भी ठहरती है तथा **(धमनिः इत् तिष्ठात्)** बडी नाडी भी ठहर जावे॥२॥ **(धमनीनां शतस्य)** सैकडों धमनियोंके और **(हिराणां सहस्रस्य)** हजारों नाडियोंके बीचमें **(इमाः मध्यमाः अस्थुः)** ये मध्यम नाडियां ठहर गई हैं । **(साकं)** साथ साथ **(अंताः)** अंत भाग भी **(अरंसत)** ठीक हुए हैं ॥३॥ **(बृहती धनूः)** बडे धनुष्यने **(वः परि अक्रमीत्)** तुमपर हमला किया है, अतः (सिकतावतीः तिष्ठत) रेतवाली अथवा शर्करावाली बनकर ठहर जाओ, जिससे **(कं)** सुख **(सु इलयत)** प्राप्त करोगे ॥४॥

भावार्थ - शरीरमें लाल रंगका शरीरभर पहुंचानेवाली धमनियां हैं । जब घाव लग जावे तब उनकी गति रोकनी चाहिये, जिस प्रकार दुर्भाग्यको प्राप्त हुई भाई रहित बहिनोंकी गति रूक जाती है ॥१॥ नीचेवाली, ऊपरवाली, तथा बींचवाली छोटी और बडी सब नाडियोंको बंद करना चाहिये ॥२॥ सैंकडों और हजारों नाडियोंमेंसे आवश्यक नाडियां ही बंद की जावें अर्थात् उनके फटे हुए अंतिम भाग ठीक किये जावें ॥३॥ बडे मनुष्यके बडे बाणोंसे धमनियोंपर हमला होकर नाडियां फट गई हैं, उनको शर्कराके साथ संबंध करनेसे शीघ्र आरोग्य प्राप्त हो सकता है ॥४॥

घाव और रक्तस्राव ।

शरीरमें शस्त्रादिसे घाव होनेपर घावके ऊपरकी और नीचेकी नाडियोंको बंदसे बांधनेसे रक्तका स्राव बंद हो जाता है । घाव देखकर ही निश्चय करना चाहिये, कि कौनसे भागपर बंद लगाना चाहिये । यदि रक्तस्राव इस प्रकार बंद किया जाय तो ही रोगीको शीघ्र आरोग्य प्राप्त हो सकता है, अन्यथा रक्तके बहुत स्राव होनेके कारण ही मनुष्य मर सकता है । इसलिये इस विषयमें सावधानता रखनी चाहिये।

इससे पूर्व सूक्तमें शत्रुको गोलीसे मारनेकी सूचना दी है। इस लडाईमें शरीरपर घाव होना संभव है, इसलिये इस रक्तस्रावके बंद करनेके विषयमें इस सूक्तमें उपदेश दिया है "सिकतावती" अर्थात् रेतवाली अथवा शर्करावाली धमनी करनेसे रक्तस्राव बंद होता है । बारीक मिश्रीका बारीक चूर्ण लगानेसे स्राव बंद होता है, यह कथन विचार करनेयोग्य है ।

दुर्भाग्यकी स्त्री ।

(हत - वर्चसः जामयः) जिनका तेज नष्ट हुआ है ऐसी स्त्रियां, दुर्भाग्यको प्राप्त हुई स्त्रियां अर्थात् पति मरनेके कारण जिनकी भाग्यहीन अवस्था हुई है ऐसी स्त्रियां पिता, माता अथवा भाईके घर जाकर रहें, किसी अन्य स्थानपर न जावें यह उपदेश पूर्व आये चतुर्दश सूक्त (कां.१, सू. १४) में कहा है । परंतु यदि वही स्त्रियां (अ. भ्रातरः) भ्रातासे हीन हों अर्थात् उनको भाई न हो तो उनकी गति रूक जाती है, अर्थात् ऐसी स्त्रियां कहीं भी जा नहीं सकती । जिस प्रकार पति जीवित रहनेपर स्त्रियां बडे बडे समारंभोंमें और उत्सवोंमें जा सकती है, उस प्रकार पति मर जानेके पश्चात् वे जा नहीं सकती अर्थात् उनकी गति रूक जाती है । पहले उनकी गति सर्वत्र होती थी, परंतु दुर्भाग्य वश होनेके पश्चात् उनका भ्रमण नहीं हो सकता ।

यहां स्त्रीविषयक एक वैदिक मर्यादाका पता लगता है कि पति मरनेके पश्चात् स्त्री उस प्रकार नहीं घूम सकती और पतिके होनेके समय घूम सकती है । घरमें रहना, –कि आनंद प्रसंगोंमें न जाना, मंगलोत्सवोंमें भाग न लेना इत्यादि मृतपति स्त्रीके व्यवहार की रीति यहां प्रतीत होती है ।

मृतपतिकी स्त्री भाई होनेपर भाईके घर जा सकती है, भाई न रहनेपर किंवा पिता माता न रहनेपर उनको दुःखमें ही रहना होता है । इस समय वह दुर्भाग्यवती स्त्री परमेश्वर भक्तिसे अपना समय गुजारे और परोपकार का कार्य करे ॥

विधवाके वस्त्र ।

"हतवर्चसः जामयः लोहितवाससः योषितः।" ये शब्द विधवा स्त्रीके कपडोंका लाल रंग होना बता रहे हैं । "निस्तेज दुर्भाग्यमय बहिनें लालवस्त्र पहनेवाली स्त्रियें" ये शब्द दुर्भाग्यमय स्त्रियोंके लाल रंगके कपडे होनेकी सूचना दे रहे हैं । दक्षिण भारतमें इस समय भी यह

वैदिक प्रथा जारी है, इसलिये विधवा स्त्रियां यहां केवल लाल रंगके कपडे पहनती हैं। पतियुक्त स्त्रियां केवल लाल रंगका कपडा नहीं पहनती, परंतु अन्य रंगोंकी लकीरोंसे युक्त कपडे अर्थात् लालके साथ अन्यान्य रंग मिले जुले हैं तो वैसे सब रंगके कपडे पहनती हैं। केवल श्वेत वस्त्र भी विधवा स्त्रियां पहनती है, यह श्वेत वस्त्रका रिवाज संपूर्ण भारतवर्षमें एक जैसा ही है।

पाठक इस विषयमें अधिक विचार करें, क्योंकि इस विषयका निश्चय होनेके लिये कई अन्य प्रमाणोंकी आवश्यकता है।

सौभाग्य - वर्धन - सूक्त।

(१८)

(ऋपिः - द्रविणोदाः । देवता - वैनायकं सौभगम्)

निर्लक्ष्म्यं ललाम्यं निरराति सुवामसि ।
अथ या भद्रा तानि नः प्रजाया अरातिं नयामसि ॥ १ ॥
निररणिं सविता साविषक् पदोर्निर्हस्तयोर्वरुणो मित्रो अर्यमा ।
निरस्मभ्यमनुमती रराणा प्रेमां देवा असाविषुः सौभगाय ॥ २ ॥
यत्त आत्मनि तन्वां घोरमस्ति यद्वा केशेषु प्रतिचक्षणे वा ।
सर्वं तद्वाचाप हन्मो वयं देवस्त्वा सविता सूदयतु ॥ ३ ॥
रिश्यपदीं वृषदतीं गोषेधां विधमामुत ।
विलीढ्यं ललाम्यं ता अस्मन्नाशयामसि ॥ ४ ॥

अर्थ - **(ललाभ्यं)** सिरपर होनेवाले **(लक्ष्म्यं)** बुरे चिन्हको **(निः)** निःशेषतासे दूर करते हैं, तथा **(अ- रातिं)** कंजूसी आदि **(निःसुवामसि)** निःशेष दूर करते हैं। **(अथ या भद्रा)** और जो कल्याणकारक चिन्ह हैं **(तानि नः प्रजायै)** ये सब हमारी संतानके लिये हम प्राप्त करते हैं और **(अरातिं)** कंजूसी आदिको **(नयामसि)** दूर भगाते हैं ॥१॥ सविता, वरूण, मित्र और अर्यमा **(पदोः हस्तयोः)** पावों और हातोंकी। **(अरणिं)** पीडाको **(निः निः साविषत्)** दूर करें। **(रराणा अनुमतिः)** दानशील अनुमतिने **(अस्मभ्यं निः)** हमारे लिये निःशेष प्रेरणा की है। तथा **(देवाः)** देवोंने **(इमां)** इस स्त्रीको **(सौभगाय)** सौभाग्यके लिये **(प्र असाविषुः)** प्रेरित किया है ॥२॥ **(यत् ते आत्मनि)** जो तेरी आत्मामें तथा **(तन्वां)** शरीरमें **(वा यत् केशेषु)** अथवा जो केशोंमें **(वा प्रतिचक्षणे)** अथवा जो दृष्टिमें **(घोरं अस्ति)** भयानक चिन्ह है **(तत् सर्व)** वह सब **(वयं वाचा हन्मः)** हम वाणीसे हटा देते हैं। **(सविता देवः)** सविता देव **(त्वा सुदयतु)** तुझे सिद्ध करे अर्थात् परिपक्व बनावे ॥३॥ **(रिश्यपदीं)** हरणके समान पांववाली, **(वृषदतीं)** बैलके समान दांतवाली, **(गोषेधां)** गायके समान चलनेवाली, (विधमां) विरूद्ध शब्द बोलनेवाली, जिसका शब्द कठोर है ऐसी स्त्री (उत ललाभ्यं विलीढयं) और सिरपरका कुलक्षण यह सब हम **(अस्मत् नाशयामसि)** अपनेसे नाश करते हैं ॥४॥

भावार्थ - सिरपर तथा शूरीरपर जो कुलक्षण होंके उनको दूर करना चाहिये तथा अंतःकरणें कंजुसी आदि जो दुर्गुण हैं उनको भी दूर करना चाहिये, और जो सुलक्षण हैं उनको अपने तथा अपने संतानोंके पास स्थिर करना अथवा बढाना चाहिये। तथा कंजूसी आदि मनके बुरे भावोंको हटाना चाहिये ॥१॥ सविता, वरूण, मित्र, अर्यमा, अनुमति आदि सब देव और देवता हाथों और पावोंकी पीडाको दूर करें, इस विषयमें ये हमें उपदेश दें। क्योंकि देवोंने स्त्री और पुरूषको उत्तम भाग्यके लिये ही बनाया है ॥२॥ तुम्हारे आत्मा अथवा मनमें, शरीरमें, देशोंमें तथा

दृष्टिमें जो कुछ कुलक्षण हो, जो कुछ भी दुर्गुण हो उनको हम वचनसे हटाते हैं। परमेश्वर तुम्हे उत्तम लक्षणोंसे युक्त बनावे ॥३॥ हरिणके समान पांव, बैलके समान दांत, गायके समान चलनेकी आदत, कठोर बुरा आवाज होना तथा सिरपरके अन्य कुलक्षण यह सब हमसे दूर हों ॥४॥

कुलक्षण और सुलक्षण।

इस सूक्तमें शरीरके तथा मन, बुद्धि, आत्मा आदिके भी जो कुलक्षण हों उनको दूर करने तथा अपने आपको पूर्ण सुलक्षण युक्त बनानेका उपदेश किया है इस सूक्तमें वर्णित कुलक्षण ये हैं -

(१) **ललाम्यं लक्ष्म्यं** - सिरपरका लक्षण, कपाल छोटा होना, भालपर होने, बुद्धिहीन दर्शन आदि कुलक्षण। (मंत्र १)

(२) **ललाम्यं विलीढ्यं** - सिरपर बालोंके गुछे रहने और उससे सिरकी शोभाका बिगाड आदि कुलक्षण। (मंत्र ४)

(३) **रिश्यपदी** - हरिणके समान कृश पांव। (मंत्र ४)

(४) **वृषदती** - बैलके समान बडे दांत। (मंत्र ४)

(५) **गोषेधा** - गायके समान चलना। (मंत्र ४)

(६) **वि - धमा** - कानोंको बुरा लगनेवाला आवाज, जिसका मीठा मंजुल आवाज नहीं। (मंत्र ४)

ये अंतिम (३-६) चार कुलक्षण स्त्रीलिंग निर्देशसे स्त्रियोंके लिये बहुत बुरे हैं अर्थात् स्त्रियोंमें ये न हो। वधू पसंद करनेके समय इन लक्षणोंका विचार करना योग्य है।

(७) **केशेषु घोरं** - बालोंमें क्रूरता, अथवा भयानकता दिखाई देना अर्थात् बालोंके कारण मुख क्रूरसा दीखना। (मंत्र ३)

(८) **प्रतिचक्षसे क्रूरं** - नेत्रोंमें क्रूरता, भयानक नेत्र, भयानक दृष्टि। (मंत्र ३)

(९) **तन्वा क्रूरं** - शरीरमें भयानकता, अर्थात् शरीरके अवयवके टेढामेढा होनेके कारण भयानक दृश्य। (मं.३)

(१०) **आत्मनि क्रूरं** - मन, बुद्धि, चित्त आत्मामें क्रूरताके भाव होना। (मंत्र ३)

(११) **अ - रातिं** - कंजूसी, उदारभावका अभाव। (मं.१)

(१२) **पदोः हस्तयोः अ - रणिः** - पांव और हाथों की पीडा अथवा कुछ विकार। (मं. २)

ये बारह कुलक्षण इस सूक्तमें कहे हैं। इस सूक्तका विचार करनेके समय इससे पूर्व आया हुआ "कुलवधूसूक्त" (अथर्व. १।१४) भी देखनेयोग्य है। अर्थात् इन दोनोंका विचार करनेसे ही वधूवर परीक्षा करनेका ज्ञान हो सकता है। इसलिये पाठक इन दोनों सूक्तोंका साथ साथ विचार करें। इन कुलक्षणोंमेंसे कई लक्षण केवल स्त्रियोंमें और कई पुरूषों तथा कई दोनोंमें होगे। अथवा सब लक्षण न्यूनाधिक भेदसे स्त्री पुरूषोंमें दिखाई देना भी संभव है।

ये कुलक्षण दूर करना और इनके विरोधी सुलक्षण अपनेमें बढाना हरएकका कर्तव्य है। इन कुलक्षणोंका विचार करनेसे सुलक्षणोंका भी ज्ञान हो सकता है। जिससे शरीर सुडौल दिखाई देता है वे शरीरके सुलक्षण समझने चाहिये। इसी प्रकार इंद्रियाँ, मन, बुद्धि, वाचा आदिके भी सुलक्षण हैं। इन सबका निश्चित ज्ञान प्राप्त करके अपनेमेंसे कुलक्षण दूर करना और सुलक्षण अपनेमें बढाना हरएकका आवश्यक कर्तव्य है।

वाणीसे कुलक्षणोंको हटाना।

मंत्र ३ में "सर्व तद्वाचाप हन्मो वयं।" अर्थात् हम ये सब कुलक्षण वाणीसे दूर करते हैं, अथवा वाणीसे इन कुलक्षणोंका नाश करते हैं, कहा है, तथा साथ साथ "देवस्त्वा सविता सूदयतु" अर्थात् सविता देव तुम्हें पूर्ण सुलक्षणयुक्त बनावें, कहा है। परमेश्वर कृपासे मनुष्य सुलक्षणोंने युक्त हो सकता है, इसमें किसीको संदेह नहीं हो सकता, परंतु वाणीसे कुलक्षणोंको दूर करनेके विषयमें बहुत लोगोंको संदेह होना संभव है, अतः इस विषयमें कुछ स्पष्टिकरणकी आवश्यकता है। वेदमें यह विषय कई सूक्तोमें आचुका है। इसलिये पाठक इसका खूब विचार करें।

वाणीसे प्रेरणा।

वाणीसे अपने आपको अथवा दुसरेको भी प्रेरणा या सूचना देकर रोग दूर करना, तथा मन आदिके कुलक्षण दूर करना संभवनीय है, यह बात वेदमें अनेक स्थानोंमें प्रकाशित हुई है। यह सूचना इस प्रकार दी जाती है - मेरे अंदर... यह कुलक्षण है, यह केवल थोडी देर रहनेवाला है, यह चिरकाल नहीं रहेगा, यह कम हो रहा है, अतिशीघ्र कम होगा। मेरे अंदर सुलक्षण बढ रहे हैं, मैं सुलक्षणोंसे युक्त होऊंगा। मै निर्दोष बन रहा हूं। मै निरोगी रहूंगा। मैं दोषोंको हटाता हूं और अपनेमें

गुणोंको विकसित करता हूं ।"

इत्यादि रीतिसे अनेक प्रकारकी सूचनायें मनको देने और उनका प्रतिबिंब मनके अंदर स्थिर रखनेसे इष्ट सिद्धि होती है । वेदका यह मानसशास्त्रका सिद्धांत हरएकको विचार करने योग्य है । "मैं हीन हूं, दीन हूं" आदि विचार जो लोग आजै कल बोलते है, वे विचार मनमें प्रतिबिंबित होनेसे मनपर कुसंस्कार होनेके कारण हमारी गिरावटके कारण हो रहे हैं । इसलिये शुद्ध वाणीका उच्चारही हमेशा करना चाहिये, कभी भी अशुद्ध गिरे हुए भावोंसे युक्त शब्दोंका उच्चार नहीं करना चाहिये । वाणीकी शुद्ध प्रेरणाके विषयमें साक्षात् उपदेश देनेवाले कई सूक्त आगे आनेवाले है, इसलिये इस विषयमें यहां इतना ही लेख पर्याप्त है । अस्तु इस प्रकार शुद्ध वाणीद्वारा और परमेश्वर भक्तिद्वारा अपने कुलक्षणोंको दूर करना और अपने अंदर सुलक्षणोंको बढाना हरएक मनुष्यको योग्य है ।

हाथों और पावोंका दर्द ।

द्वितीय मंत्रमें कहा है कि सविता (सूर्य), वरूण (जल), मित्र (प्राणवायु), अर्यमा (आगका पौधा) ये हाथों और पावोंके दर्दको तथा शरीरके दर्दको दूर करें । सुर्यप्रकाश, समुद्र आदिका जल, शुद्ध वायु, आकके पत्तोंका सेक आदिसे बहुतसे रोग दूर हो जाते हैं । इस विषयमें इससे पूर्व बहुत कुछ कहा गया है और आगे भी यह विषय वारंवार आनेवाला है । आरोग्य तो इनसे ही प्राप्त होता है ।

सौभाग्यके लिये ।

"इमां देवा असाविषुः सौभगाय ।" इसको देवोंने सौभाग्यके लिये बनाया है । विशेष करके स्त्रीके उद्देश्यसे यह मंत्रभाग है, परंतु सबके लिये भी यह माना जा सकता है । अर्थात् मनुष्य मात्र स्त्री हो या पुरूष हो वह अपना कल्याण साधन करनेके लिये ही उत्पन्न हुआ है और वह यदि परमेश्वर भक्ति करेगा तथा शुद्ध वाणीकी सूचनासे अपने मनको प्रभावित करेगा तो अवश्यमेव सौभाग्यका भागी बनेगा । हरएक मनुष्य इस वैदिक धर्मके सिद्धांतको मनमें स्थिर करे । अपनी उन्नतिको सिद्ध करना हरएकके पुरूषार्थपर अवलंबित है । यदि अपनी अवनति हुई है तो निश्चय जानना चाहिये कि पुरुषार्थमें त्रुटी हुई है ।

सन्तानका कल्याण ।

यदि अपनेमें कुछ कुलक्षण रहे भी, तथापि अपनी संतानोंमें सब सुलक्षण आजांय (या भद्रा तानि नः प्रजायै) यह प्रथम मंत्रका उपदेश हरएक गृहस्थीको ध्यानमें धरना चाहिए । अपनी संतान निर्दोष और सुलक्षणोंसे तथा सद्‌गुणोंसे युक्त बने यह भाव यदि हरएक गृहस्थीमें रहेगा, तो प्रति पुश्तमें मनुष्योंका सुधार होता जायगा और राष्ट्र प्रतिदिन उन्नतिकी सीढीपर चढेगा । यह उपदेश हरएक प्रकारसे कल्याण करनेवाला है इसलिये इसको कोई गृहस्थी न भूले ।

इस प्रकार पाठक इस सूक्तका विचार करें और अपने कुलक्षणोंको दूर करके अपने अंदर सुलक्षण बढानेका प्रयत्न करें ।

शत्रु-नाशन-सूक्त ।

(१९)

(ऋषिः- ब्रह्मा । देवता - ईश्वरः, ब्रह्म)

मा नो विदन् विव्याधिनो मो अभिव्याधिनो विदन् । आराच्छरव्या अस्मद्विषूचीरिन्द्र पातय ॥ १ ॥

विष्वञ्चो अस्मच्छरवः पतन्तु ये अस्ता ये चास्याः । दैवीर्मनुष्येषवो ममामित्रान् वि विध्यत ॥ २ ॥

यो नः स्वो यो अरणः सजात उत निष्ट्यो यो अस्माँ अभिदासति ।
रुद्रः शरव्ययैतान् ममामित्रान् वि विध्यतु ॥ ३ ॥

यः सपत्नो योऽसपत्नो यश्च द्विषञ्छपाति नः । देवास्तं सर्वे धूर्वन्तु ब्रह्म वर्म ममान्तरम् ॥ ४ ॥

अर्थ - (वि- व्याधिनः) विशेष वेधनेवाले शत्रु (नः मा विदन्) हमतक न पहुंचे । (अभिव्याधिनः) चारों ओरसे मारने काटनेवाले शत्रु (नः मो विदन्) हमतक कभी न पहुंचे । हे (इन्द्र) परमेश्वर! (विषूचीः शरव्याः) सब ओर फैलनेवाले

बाण समूहोंको **(अस्मत् आरात् पातय)** हमसे दूर गिरा ॥१॥ **(ये अस्ताः)** जो फेंके हुए और **(ये च अस्याः)** जो फेंके जांयगे, वे सब **(विष्वञ्च शरवः)** चारों ओर फैले हुए बाण आदि शस्त्र **(अस्मत् पतन्तु)** हमसे दूर जाकर गिरे **(दैवीः मनुष्येषवः)** हे मनुष्योंके दिव्य बाणो ! **(मम अमित्रान्)** मेरे शत्रुओंको **(विविध्यत)** वेध कर डालो ॥२॥ **(यः नः स्वः)** जो हमारा अपना अथवा **(यः अरणः)** जो दूसरा परकीय हो, किंवा जो **(स - जातः)** समान उच्च जातिका कुलीन **(उत)** अथवा जो **(निष्ट्यः)** भिन्न जातिवाला या संकर जातिका हीन **(अस्मान् अभिदासति)** हमपर चढाई करके हमें दास बनानेकी चेष्टा करे, **(एतान् मम अमित्रान्)** इन मेरे शत्रुओंको **(रूद्रः)** रुलानेवाला वीर **(शरव्यया विविध्यतु)** बाणोंसे वेध करे ॥३॥ **(यः)** जो **(सपत्नः)** विरोधी और **(यः अ - सपत्नः)** जो प्रकट विरोधी नहीं है। **(च यः द्विषन्)** और जो द्वेष करता हुआ **(नः शपाति)** हमको शापता है **(तं)** उसका **(सर्वे देवाः)** सब देव **(धूर्वन्तु)** नाश करें। **(मम अन्तर वर्म)** मेरा आंतरिक कवच **(ब्रह्म)** ब्रह्मज्ञान ही है ॥४॥

भावार्थ - हमारे वीरोंका शौर्य ऐसा हो कि हमारा नाश करनेकी इच्छा करनेवाले सब शत्रु हमसे सदा दूर रहें और हमतक वे कभी न पहुंच सके। उनके शस्त्र भी हमसे दूर रहें ॥१॥ सब शस्त्र हमसे दूर गिरें। और हमारे शत्रुओंपर ही सब शस्त्र गिरते रहें ॥२॥ कोई हमारा मित्र या शत्रु, हमारी जातिवाला वा परजातीका, कुलीन या हीन, कोई भी क्यों न हो, यदि वह हमें दास बनाने या हमारा नाश करनेकी चेष्टा करता है तो उसका नाश शस्त्रोंसे करना योग्य है ॥३॥ जो प्रकट या छिपा हुआ शत्रु हमारा नाश करना चाहता है या हमें बुरे शब्द बोलता है सब सज्जन उसको दूर करें। मेरा आंतरिक कवच सत्य ज्ञान ही है ॥४॥

यह "सांग्रामिक गण" का सूक्त है, इसकारण "अपराजित गण" के सूक्तोंके साथ भी इसका संबंध है, अतः पाठक इस गणके सूक्तोंके साथ इसका भी विचार करें।

आन्तरिक कवच।

इस सूक्तमें जो सबसे महत्व पूर्ण बात कही है वह आंतरिक कवचकी है। देशके कवच पर्वत, दुर्ग और समुद्र होते हैं, इनके होनेके कारण बाहरके शत्रु देशमें घुस नहीं सकते। ग्रामक कवच किले होते हैं इनके कारण शत्रु ग्राममें घुस नहीं सकते। शरीरके कवच लोहेके अथवा तारके बनाये जाते हैं जिनके कारण शत्रुके शस्त्र शरीरपर लगते नहीं और शरीर सुरक्षित रहता है। शरीरके अंदर आत्मा और अंतःकरण है, मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार मिलकर अंतःकरण होता है, इसकी साथ आत्माके लिये रहती है। इस "अन्तःकरण" के लिये "अंतःकवच" अवश्य चाहिये, जो इस शत्रुनाशन सूक्तने "ब्रह्म वर्म ममान्ताम्" शब्दोंद्वारा बताया है। "ज्ञानरूप कवच ही मेरा आंतरिक कचव" है। जिसके आत्मा और अंतःकरणका ज्ञानरूप कवचसे संरक्षण होता है, उनको किसी शत्रुसे डर नहीं हो सकता, वह अजात शत्रु ही बन सकता है। इस ज्ञानरूप कवचके बतानेमें जो ज्ञानवाचक "ब्रह्म" शब्द सूक्तमें प्रयुक्त किया है। वही परमेश्वर या परब्रह्मका वाचक है और इसलिये इस 'ब्रह्म' शब्दसे "परमात्मविषयक आस्तिक्य बुद्धियुक्त ज्ञान" इतना अर्थ इस शब्दसे समझना योग्य है।

इस सूक्तके दो विभाग।

इस सूक्तके दो विभाग होते हैं, प्रथम विभागमें प्रारंभसे चतुर्थ मंत्रके तृतीय चरणतकके सब मंत्र आते हैं और द्वितीय विभागमे चतुर्थ मंत्रके चतुर्थ चरणका ही समावेश होता है। इन विभागोंको देखकर इस सूक्तका विचार करनेसे बडा बोध मिलता है।

वैदिकधर्मका साध्य। ब्राह्म कवच।

"परमात्माकी भक्तिसे परिपूर्ण सत्य सनातन ज्ञान ही मेरा कवच है" इस ब्राह्म कवचसे सुरक्षित होनेपर मुझे किसी भी शत्रुका भय नहीं, यह आत्मविश्वास मनुष्यमें उत्पन्न करना वैदिक धर्मका साध्य है। यह भाव मनुष्यमात्रमें स्थापित करनेके लिये ही वैदिक धर्मकी शिक्षा है। परंतु यह ज्ञान समय समयपर थोडेसे परिशुद्ध महात्माओंमें उत्पन्न होता है और उनसे भी थोडे संतोंमें इसका साक्षात् अनुभव होता है, यह बात हम इतिहासमें देखते हैं। इसलिये यद्यपि वेदका यह साध्य है, तथापि सब मनुष्योंमें यह साध्य साक्षात् प्रत्यक्षमें आना कठिन है इसमें भी संदेह नहीं है। इसीलिये सर्व साधारण मनुष्य आत्मिक दिव्य शक्तिको शरण जानेकी अपेक्षा मतभेदका निश्चय करनेके समय शारीरिक पाशवी शक्तिका ही आश्रय

करते है। अतः हम कहते हैं प्रथम विभागके मंत्र पाशवी शक्तिका विचार करते हुए साधारण जनोंका मार्ग बता रहे हैं और द्वितीय विभागका मंत्रभाग आत्मिक दिव्य शक्तिका मानवी अंतिम ध्येय बता रहा है।

"आत्मिक शक्ति या आत्मिक ज्ञान ही मेरा सबसे बडा कवच है, जिससे मैं सब प्रकारके शत्रुओंसे सुरक्षित रह सकता हूं मेरे अंदर अहिंसाका भाव पूर्ण रूपसे स्थिर रहा, तो जो जो मेरे पास आवेंगे उनके अंदरसे भी शत्रुताका भाव दूर हो जायगा"

इत्यादि वैदिक धर्मकी शिक्षा अन्तिम साध्य है, मनुष्यको यही बात अंतमे स्वीकारनी है, परंतु यह स्वीकार बाह्य दबावसे नहीं होना चाहिये, परंतु अंतःस्फूर्तिसेही होना चाहिये, अपना स्वभाव ही ऐसा बनाना चाहिये। इसी भावसे मनुष्यका सबसे अधिक कल्याण है।

अन्य कवच। क्षात्र कवच।

शरीरके, नगरोंके तथा देशोंके अन्यान्य कवच उक्त विश्वासके अभावमें आवश्यक ही हैं। स्वसंरक्षणके शस्त्रास्त्र आदि सब इस अवस्थामें ही सहायक हैं। अर्थात् जबतक जनता पूर्वोक्त अधिकारके लिये योग्य नहीं होती, तबतक शूरवीर क्षत्रियगण राष्ट्रका संरक्षण इन शस्त्रास्त्रोंसे करें। ये क्षात्र साधन हैं। ज्ञान कवचसे सुरक्षित होना ब्राह्म - साधन है और लोहेके कवचों तथा शस्त्रास्त्रोंसे सुरक्षित होना क्षात्र - साधन है। ब्राह्मसाधन स्वीकारने योग्य जनजाती उन्नति धर्मसाधनसे करनी चाहिये और जबतक उतनी उन्नति नहीं होती, तबतक क्षात्रसाधनसे शत्रुओंका प्रतिकार करना योग्य है। क्षात्रसाधनोंसे युद्धोंके बहुत होनेसे ही मनुष्य इन साधनोंकी क्रूरताका अनुभव करता है और ब्राह्मसाधनको स्वीकारनेका यत्न करता है।

इस प्रकार युद्ध भी मनुष्यको ब्राह्मसाधनतक पहुंचानेवाले मार्गदर्शक बनते हैं।

दासभावसा नाश।

तृतीय मंत्रमें कहा है कि "जो अपना या पराया हमें दास बनाने की चेष्टा करता है उसका नाश करना चाहिये।" राष्ट्रीय पारतंत्र्य शारीरिक दास भावका द्योतक है, इसके आंतरिक्त मानसिक, बौद्धिक तथा वाचिक, पारतंत्र्य भी है और ये सबसे अधिक घातक हैं। किसी प्रकार भी पारतंत्र जो अपे नाशका कारण हो वह स्वीकारना नहीं चाहिये। परंतु उसके कारणको दूर करना चाहिये। आर्योंका दास कभी नहीं बनना चाहिये। स्वाधीनता ही मनुष्यका साध्य है। ज्ञान और पुरूषार्थसे स्वाधीनता - बंधनसे मुक्ति - प्राप्त होती है, इसका भी आशय यही है। मनुष्यके सब दुःख दासत्वके कारण है। इसलिये कोई मनुष्य या कोई राष्ट्र दूसरे मनुष्यको या राष्ट्रको दासत्वमें दबानेका यत्न न करे और यदि किसीसे ऐसा प्रयत्न हुआ तो सब मनुष्य उसका विरोध करें।

दासभावको हटानेका उपदेश पाठक इस सूक्तमें विशेष प्रकारसे देखें और उसको अपने जीवनमें घटावें। पाठक इस सूक्तके इस प्रकार विचार करनेसे बहुत ही बोध प्राप्त कर सकते हैं।

महान् शासक।

(२०)

(ऋषिः - अथर्वा। देवता - सोमः)

अदारसृद् भवतु देव सोमास्मिन्यज्ञे मरुतो मृडता नः।
मा नो विददभिभा मो अशस्तिर्मा नो विदद् वृजिना द्वेष्या यः ॥ १ ॥
यो अद्य सेन्यो वधोऽघायूनामुदीरते। युवं तं मित्रावरुणावस्मद्यावयतं परि ॥ २ ॥
इतश्च यदमुतश्च यद्वधं वरुण यावय। वि महच्छर्म यच्छ वरीयो यावया वधम् ॥ ३ ॥
शास इत्था महाँ अस्यमित्रसाहो अस्तृतः। न यस्य हन्यते सखा न जीयते कदा चन ॥ ४ ॥

अर्थ - हे **(देव सोम)** सोम देव ! **(अ-दार-सृत् भवतु)** आपसकी फूट उत्पन्न करनेका कार्य न हो। हे **(मरुतः)** मरुतो ! **(अस्मिन् यज्ञे)** इस यज्ञमें **(नः मृडत)** हमें सुखी करो। **(अभि- भाः नः मा विदद्)** पराभव हमारे पास न आवे, **(अशस्तिः मो)** अकीर्ति हमें प्राप्त न हो, **(या द्वेष्या वृजिना)** जो द्वेष बढानेवाले कुटिल कृत्य हैं वे भी **(नः मा विदद्)** हमारे पास न हों ॥१॥ **(अघायूनां)** पापमय जीवनवालोंका **(यः सेन्यः वधः)** जो सेनाके शूरवीरोंसे वध **(अद्य उदीरते)** आज हो रहा है। हे मित्र और वरुणो ! **(युवं)** तुम **(तं अस्मत् परि यावतं)** उसको हमसे सर्वथा हटा दो ॥२॥ हे **(वरुण)** सर्व श्रेष्ठ ईश्वर ! **(यत् इतः च यत् अमुतः)** जो यहांसे और जो वहांसे वध होगा उस **(वधं यावय)** उसको भी दूर कर दे। **(महत् शर्म वियच्छ)** बडा सुख अथवा आश्रय हमें दे और **(वधं वरीयः यावय)** वधको अतिदूर कर दे ॥३॥ **(इत्था महान् शास)** इस प्रकार सत्य और महान् शास ईश्वर **(अ-मित्र-साहः अस्तृतः)** शत्रुका पराजय करनेवाला और कभी न हारनेवाला **(असि)** तू है। **(यस्य सखा)** जिसका मित्र **(कदाचन न हन्यते)** कभी भी नहीं मारा जाता और **(न जीयते)** न पराजित होता है ॥४॥

भावार्थ - हे ईश्वर ! आपसकी फूट बढानेवाला कोई कार्य हमसे न हो। इस सत्कर्मसे हमें सुख प्राप्त हो। पराजय, अपकीर्ति, अयश, द्वेष और कुटिलता हमारे पास न आवें ॥१॥ हे देव ! शूरवीरोंके द्वारा जो पापियोंके वध हो रहे है, वैसे वधोंके प्रसंग भी हमारे अंदर न उत्पन्न हो ॥२॥ हे प्रभु ! हमारे अंदर अथवा दूसरोंके अंदर वध करनेका भाव न रहे। वधका भाव ही हम सबसे दूर कर और तेरा बडा आश्रय-सुखपूर्ण आश्रय हमें दो ॥३॥ इस रीतिसे तेराही महान् सत्य शासन सबके ऊपर है, तूही सच्चा शत्रुओंका दूर करनेवाला और सर्वदा अपराजित है, तेरा मित्र बनकर जो रहता है न उसका वध कभी होगां और नही उसका कभी पराजय होगा ॥४॥

पूर्व सूक्तसे संबंध।

पूर्व सूक्तके अंतमे "ईश्वरभक्तिसूक्त सत्यज्ञान ही मेरा सच्चा कवच है" यह विशेष बात कही है, उसीका विशेष वर्णन इस सूक्तमें हो रहा है। सबसे पहिले आपसकी फूटको दूर करनेकी सूचना दी है।

आपसकी फूट हटा दो।

"अ-दार-सृत् भवतु" हमारा आचरण फूट हटानेवाला हो, यह इस उपदेशका तात्पर्य है। देखिये -

दार = फूट (दृ = फटना धातु)

दार + सृट = फूटका प्रयत्न, फूटका कार्य।

अ + दार + सृत् = फूट हटानेवाले कार्य।

"अ + दार + सृत् भवतु" अर्थात् "आपसकी फूट हटानेवाला कार्य हम सबसे होता रहे।" आपस की फूटके कारण शत्रु हमला करते है और शत्रुओंके हमले हो जानेपर हमें शत्रुओंको भगानेका यत्न करना पडता है। इसलिये युद्धका कारण आपस की फूट है। यदि आपसकी फूट न होगी और सब लोग एक मतसे रहेंगे तो दूसरे लोग हमला करनेके लिये भी डरेंगे। जहां आपसमें फूट होती है। वही शत्रुओंका हमला होता है। इसलिये युद्धोंका कारण आपसकी फूटमें देखना और आपस की फूटको दूर करना चाहिये। राष्ट्रीय सुखकी यही बुनियाद है।

आपसकी फूट हट जानेके पश्चात् ही (मृडत) सुख होने की संभावना है। अन्यथा सुखकी आशा नही है। आपसकी फूट हटानेसे जो लाभ होगा वह निम्नलिखित प्रकारसे प्रथम मंत्रके उत्तरार्धमें वर्णन किया है।

१ **अभिमा नः मा विदत्**=पराजय हमारे पास न आवे,

२ **अशस्तिः मो** = दूष्कीर्ति हमारे पास न आवे,

३ **वृजिना नः मा** = कुटिल कृत्य हमसे न हों,

४ **द्वेष्या नः मा विदत्** = द्वेष भाव हमारे पास न आवें।

जिस समय हम आपसकी फूट हटायेंगे, उस समय हमें किसीके द्वेष करनेका कोई कारण नहीं रहेगा, किसीसे कपटयुक्त कुटिल व्यवहार करनेकी आवश्यकता नहीं पडेगी, हमारा कभी पराभव न होगा अथवा हमपर कोई आपत्ति नहीं आवेगी और हमारी अपकीर्ति भी नही होगी, अर्थात् जब हम आपसकी फूट हटाकर अपना उत्तम संगठन करेंगे और एकता के बलसे आगे बढेंगे, उस समय सब लोग हमारे मित्र बनकर हमारे साथ मित्रताका व्यवहार करेंगे, हम भी सबके साथ सरल व्यवहार करते जायेंगे, एकताके कारण हमारा बल बढेगा और उस हेतुसे कभी पराभव नही होगा तथा हमारा यश फैलता जायगा। (मंत्र १)

द्वितीय और तृतीय मंत्रमें जो सैनिक वीरोंसे होनेवाले दुष्टोंके संहारका वर्णन है, वह वर्णन भी हमारी आपसकी फूट के कारण ही दुष्ट लोग हमें सताते है और उनका वध करनेका प्रयोजन उत्पन्न होता है, अर्थात् यदि हमारा समाज सुसंगठित होगा तो उस वधकी जडही नष्ट होनेसे वह वध भी नही होंगे और हमें (महत् शर्म) बडा सुख प्राप्त होगा । "शर्म" शब्दका अर्थ "सुख और आश्रय" है। पूर्वापर संबंधसे यहां परमेश्वरका आश्रय अभीष्ट है । क्योंकि सच्चा सुख भी परमात्माके आश्रयसे ही होता है। (मंत्र २, ३)

बडा शासक ।

एक ईश्वर ही सबसे बडा शासनकर्ता है, उसके ऊपर किसी अन्यका अधिकार नहीं है, सब उसीके शासनमें कार्य करते है, वही सर्वोपरि है । वह शत्रुताका सच्चा नाशक और कभी पराजित न होनेवाला है । यदि ऐसे समर्थ प्रभुका मित्र बनकर कोई रहे तो उसका कभी नाश न होगा, और कभी पराजय भी न होगा । अर्थात् प्रभुका मित्र बनकर व्यवहार करनेवालेका यश सर्वत्र फैलेगा और उसका ही नाम सर्वत्र होगा । (मंत्र ४)

पूर्व सूक्तमे जिस "ज्ञान-कवच, ब्रह्म-वर्म" का वर्णन किया है वह ब्रह्म-कवच यही है कि "परमेश्वरका शासन सर्वोपरि मानना और उसका सखा बनकर व्यवहार करना ।"

आशा है कि पाठक इस प्रकार प्रभुके मित्र बननेका यत्न करेंगे,

प्रजा-पालक-सूक्त ।

(२१)

(ऋषिः - अथर्वा । देवता - इन्द्रः)

स्वस्तिदा विशां पतिर्वृत्रहा विमृधो वशी । वृषेन्द्रः पुर एतु नः सोमपा अभयंकरः ॥ १ ॥
वि न इन्द्र मृधो जहि नीचा यच्छ पृतन्यतः । अधमं गमया तमो यो अस्माँ अभिदासति ॥ २ ॥
वि रक्षो वि मृधो जहि वि वृत्रस्य हनू रुज । वि मन्युमिन्द्र वृत्रहन्नमित्रस्याभिदासतः ॥ ३ ॥
अपेन्द्र द्विषतो मनोऽप जिज्यासतो वधम् । वि महच्छर्म यच्छ वरीयो यावया वधम् ॥ ४ ॥

अर्थ - (स्वस्ति-दा) मंगल देनेवाला (विशां पतिः) प्रजाओंका पालक, (वृत्र हा) घेरनेवाले शत्रुका नाश करनेवाला, (वि- मृधः वशी) विशेष हिंसकोंको वशमे करनेवाला, (वृषा) बलवान् (सोम पाः) सोमका पान करनेवाला, (अभयं- करः) अभय देनेवाला (इन्द्रः) प्रभु राजा (नः) हमारे (पुरः एतु) आगे चले, हमारा नेता बने ॥१॥ हे इन्द्र ! (नः मृधः) हमारे शत्रुओंका (विजहि) मार डाल । (पृतन्यतः) सेनाके द्वारा हमपर हमला चढानेवालोंको (नीचा यच्छ) नीचेही प्रतिबंध कर । (अः अस्मान् अभिदासति) जो हमें दास बनाना चाहता है, या हमारा घात करना चाहता है, उसको (अधमं तमः गमय) हीन अंधकारमें पहुंचा दें ॥२॥ (रक्षः मृधः वि विजहि) राक्षसों और हिंसकोंको मार डाल, (वृत्रस्य हनू विरुज) घेरकर हमला करनेवाले शत्रुके दोनों जबडोंको तोड दे । हे (वृत्रहन् इन्द्र) शत्रुनाशक प्रभो ! (अभिदासतः अमित्रस्य) हमारा नाश करनेवाले शत्रुके (मन्युं विरुज) उत्साहको तोड दे ॥३॥ हे (इन्द्र) प्रभो राजन ! (द्विषतः मनः अप) द्वेषीका मन बदल दे । (जिज्यासतः वधं अप) हमारी आयुका नाश करनेवालेको दूर कर (महत् शर्म वियच्छ) बडा सुख हमें दे और (वधं वरीयः यावय) वधको दूर कर ॥४॥

भावार्थ - प्रजाजनोंका हित और मंगल करनेवाला प्रजाओंका उत्तम पालन करनेवाला, घेरकर नाश करनेवाले शत्रुको दूर करनेवाला, बलिष्ठ, अमृतपान करनेवाला, प्रजाको अभय देनेवाला राजा ही हमारा अग्रगामी बने ॥१॥हे राजन्! प्रजाके शत्रूका नाश कर, सेना लेकर हमला करनेवाले शत्रुको दबा दे, जो घातपात और नाश करना

चाहता है उसको भगा दे ॥२॥ हिंसक क्रूर शत्रुओंको मार डाल, घेर कर सतानेवाले दुष्टोंको काट दो, सब प्रकारके शत्रुओंका उत्साह नाश कर दे ॥३॥ शत्रुओंके मन ही बदल दे अर्थात् वे हमला करनेका विचार छोड दें, नाश करनेवालोंको दूर कर दे, घातपात आदिकी दूर कर और सब प्रजाको सुखी कर ॥४॥

क्षात्रधर्म ।

यह "अभयगण" का सूक्त है । इस सूक्तमें क्षात्रधर्मका उपदेश और राजाके कर्तव्योंका वर्णन है उसका मनन पाठक करें । उत्तम राजाके गुण प्रथम मंत्रमें, वर्णन किये है । इस मंत्रकी कसौटीसे राजा उत्तम है या नही इसकी परीक्षा हो सकती है । अन्य तीन मंत्रोमें विविध प्रकारके शत्रुओंका वर्णन है और उनका प्रतिकार करनेका उपदेश है । सब प्रकारके अंतर्बाह्य शुत्रओंका प्रतिकार करके प्रजाको अधिकसे अधिक सुखी करना राजाका मुख्य कर्तव्य है । यह सूक्त अति सरल है इसलिये इसका अधिक स्पष्टीकरण आवश्यक नही है ।

॥ चतुर्थ अनुवाद समाप्त ॥

हृदयरोग तथा कामिलरोग

की चिकित्सा

(२२)

(ऋषिः ब्रह्मा । देवता - सूर्यः, हरिमा, हृद्रोगः)

अनु सूर्यमुदयतां हृद्द्योतो हरिमा च ते । गो रोहितस्य वर्णेन तेन त्वा परि दध्मसि ॥ १ ॥
परि त्वा रोहितैर्वर्णैर्दीर्घायुत्वाय दध्मसि । यथाऽयमरपा असदथो अहरितो भुवत् ॥ २ ॥
या रोहिणीर्देवत्याऽ गावो या उत रोहिणीः । रूपं-रूपं वयो-वयस्ताभिष्ट्वा परि दध्मसि ॥ ३ ॥
शुकेषु ते हरिमाणं रोपणाकासु दध्मसि । अथो हारिद्रवेषु ते हरिमाणं नि दध्मसि ॥ ४ ॥

अर्थ - **(ते हृद्-द्योतः चर हरिमा)** तेरे हृदयकी जलन **(और पीलापन सूर्य अनु उदयताम्)** सूर्यके पीछे चला जावे । गौके अथवा सूर्यके **(रोहितस्य तेन वर्णेन)** उस लाल रंगसे **(त्वा परि दध्मसि)** तुझे सब प्रकारसे पुष्ट करते हैं ॥१॥ **(रोहितैः वर्णैः)** लाल रंगोसे **(त्वा)** तुझको **(दीर्घायुत्वाय परि दध्मसि)** दीर्घ आयुके लिये घेरते है । **(यथा)** जिससे **(अयं)** यह **(अ-रपा असत्)** नीरोग हो जाय और **(अ-हरितः भुवत्)** पीलक रोगसे मुक्त हो जाय ॥२॥ **(याः देवत्या रोहिणीः गावः)** जो दिव्य लाल रंगकी गौवें है **(उत या रोहिणीः)** और जो लाल रंगकी किरणें है **(ताभिः)** उनसे **(रूपं रूपं)** सुंदरता और **(वयः वयः)** बलके अनुसार **(त्वा परि दध्मसि)** तुम्हें घेरते हैं ॥३॥ **(ते हरिमाणं)** पीलक रोगको **(सुकेषु रोपणाकासु च)** तोते और पौधोंके रंगोमें **(दध्मसि)** धारण करते हैं **(अथो)** और ते **(हरिमाणं)** तेरा फीकापन हम **(हारिद्रवेषु)** हरी वनस्पतियोंमें **(नि दध्मसि)** रख देते हैं ॥४॥

भावार्थ - तेरा हृदयरोग और पीलक रोग सूर्यकिरणोंके साथ संबंध करनेसे चला जायगा । लाल रंगकी गौवे और सूर्यकी लाल किरणें होती है, इनके द्वारा नीरोगता हो सकती है ॥१॥ लाल रंगके प्रयोगसे दीर्घ आयुष्य प्राप्त

होता है, पीलक रोग दूर होता है और नीरोगता प्राप्त होती है ॥२॥ लाल रंगकी गौवे और लाल रंगकी सूर्यकिरणे दिव्य गुणांसे युक्त होती है। रूप और बलके अनुसार उनके द्वारा रोगी घेरा जावे ॥३॥ इस लाल रंगकी चिकित्सासे रोगीका पीलापन तथा फीकापन दूर होगा और वह हरे पक्षी और हरी वनस्पतियोमें जाकर निवास करेगा, अर्थात् रोगीके पास फिर नही आवेगा ॥४॥

वर्णचिकित्सा।

यह सूक्त "वर्ण चिकित्सा" के महत्त्वपूर्ण विषयका उपदेश दे रहा है। मनुष्यको हृदयका रोग और कामिला नामक पीला रोग कष्ट देते है। अपचन, पेटके विकार, तमाखू, मद्यप्राशन आदि अनेक कारण है, जिनके कारण हृदयके दोष उत्पन्न होते है। तरुण अवस्थामें वीर्यदोष होनेके कारण भी हृदयके विकार उत्पन्न होते है। कामिला रोग पित्तके दूषित होनेके कारण उत्पन्न होता है। इन रोगोंके कारण मनुष्य कृश, निस्तेज, फीका, दुर्बल और दीन होता है। इसलिये इन रोगोंको हटानेका उपाय इस सूक्तमें वेद बता रहा है। सूर्यकिरणों द्वारा चिकित्सा तथा लाल रंगवाली गौओंके द्वारा चिकित्सा करनेसे उक्त दोष दूर होते है और उत्तम स्वास्थ्य मिलता है।

सूर्यकिरण - चिकित्सा

सूर्यकिरणोमें सात रंग होते है अथवा रंगवाली शीशेंकी सहायतासे इष्ट रंगके किरण प्राप्त किये जा सकते है। नंगे शरीरपर इन किरणोंको रखनेसे आरोग्य प्राप्त होता है और रोग दूर होते है। यह रंगीन सूर्यकिरणोंका स्नान ही है। यह नंगे शरीरसे ही करना चाहिये। छतपर लाल रंगके शीशे रखनेसे कमरेमें लालरंगकी किरणें प्राप्त हो सकती है, इसमें नंगे शरीरसे रहनेसे यह चिकित्सा साध्य हो सकती है।

जिस प्रकार उक्त रोगोंके लिये लाल रंगकी किरणोंसे चिकित्सा होती है उसी प्रकार अन्यान्य रोगोंके लिये अन्यान्य वर्णोंकी सूर्यकिरणोंसे चिकित्सा होना संभवनीय है। इसलिये सुयोग्य वैद्य इसका अधिक विचार करें और सूर्यकिरण चिकित्सासे रोगियोंके रोग दूर करके जनता के सुखकी वृद्धि करें।

परिधारण विधि।

सूर्यकिरण-चिकित्सामें "परिधारण विधि" का महत्त्व है इस सूक्तमें "परि दध्मसि" शब्द चार वार, "निदध्मसि" शब्द एक वार और "दध्मसि" शब्द एक वार आया है। "चारों ओरसे धारण करना" यह भाव इन शब्दोंसे व्यक्त होता है। शरीरके चारों ओरसे संबंध करनेका नाम "परिधारण" है। जिस प्रकार तालावके पानीमें तैरनेसे शरीरके साथ जलका परिधारण हो सकता है, उसी प्रकार लाल रंगकी सूर्यकिरणें कमरेमें लेकर उसमें नंगे शरीर रहना और शरीरको उलट पुलट करके सब शरीरके साथ लाल रंगके सूर्यकिरणोंका संबंध करना परिधारण विधिका तात्पर्य है।

१ **रोहितैः वर्णैः परिदध्मसि।** (मंत्र-२)
२ **दीर्घायुत्वाय परिदध्मसि।** (,, ,,)
३ **गो रोहितस्य वर्णेन त्वा परिदध्मसि।** (मंत्र १)
४ **ताभिष्ट्वा परिदध्मसि।** (मंत्र ३)

ये सब मंत्रभाग रक्त वर्णके सूर्यकिरणोंका स्नान अर्थात् "परिधारण" करनेका विधान कर रहे हैं। रोगीको नंगे शरीर पूर्वोक्त रक्त वर्णके शीशेवाले कमरेमें रखने और उसके शरीरका संबंध रक्त वर्णकी सूर्यकिरणोंके साथ करनेसे यह परिधारण हो सकता है ओर इससे नीरोगता, दीर्घ आयुष्यप्राप्ति तथा बलप्राप्ति भी हो सकती है। अन्यान्य रोगोंके निवारणके लिये अन्यान्य वर्णोंके किरणोंकी स्नानोंकी योजना करना चतुर वैद्योंकी बुद्धिमत्तापर निर्भर है।

रूप और बल।

रूप और बलके अनुसार यह चिकित्सा, यह परिधारण-विधि अथवा किरण-स्नान करना योग्य है यह सूचना तृतीय मंत्रके उत्तरार्धमें पाठक देख सकते है। रूपका अर्थ शरीरका सौंदर्य, शरीरका रंग और शरीरकी सुकुमारता है। यदि गोरा शरीर हो, यदि सुकुमार नाजुक शरीर हो तो उसके लिये कितना किरण स्नान देना चाहिये, उसके लिये सवेरेको कोलम प्रकाश, या दोपहरका कठोर प्रकाश बर्तना चाहिये, इत्यादिका विचार करना वैद्योंका कार्य है। जो काले शरीरवाले तथा सुदृढ या कठोर शरीवाले होते है उनके लिये किरणस्नानका

प्रमाण भी भिन्न होना योग्य है । तथा जो घरमें बैठनेवाले लोग होते है और जो धूपमें कार्य करनेवाले होते है उनके लिये भी उक्त प्रमाण न्यूनाधिक होना उचित है । इस विचारका नाम ही 'रूप और बलके अनुसार विचार" करना है । (रूपं रूपं वयो वयः) यह प्रमाण दर्शानेवाला मंत्रभाग अत्यंत महत्वका है । रोगीकी कोमलता या कठोरता, रोगीका रंग, रोगीका रहना सहना, रोगीका पेशा, उसकी आयु तथा शारीरिक बल इन सबका विचार करके किरणस्नानकी योजना करनी चाहिये । नही तो कोमल प्रकृतिवालेकी अधिक स्नान देनेसे आरोग्यके स्थानपर अनारोग्य होगा । अथवा कठोर प्रकृतिवाले अल्प प्रमाणमें देनेसे उसपर कुछ भी परिणाम न होगा । इस दृष्टीसे तृतीय मंत्रका उत्तरार्ध बहुत मनन करने योग्य है ।

रंगीन गौके दूधसे चिकित्सा ।

इसी सूक्तमें रंगीन गौके दूधसे रोगीकी चिकित्सा करनेकी विधी भी बता दी है । गौवे सफेद, काले, लाल, भूरे, नसवारी, बादामी तथा विविध रंगके धब्बोंवाली होती है । सूर्यकिरणे गौकी पीठपर गिरता है और उस कारण रंगके भेदके अनुसार दूधपर भिन्न परिणाम होता है । श्वेत गौके दूधका गुणधर्म भिन्न होगा, काले रंगकी गौका दूध भिन्न गुणधर्मवाला होगा, लाल गौका दूध भिन्न गुणधर्मवाला होगा, उसी प्रकार अन्यान्य रंगवाली गौओंके दूधके गुणधर्म भिन्न होंगे । एक वार वर्णचिकित्सा का तत्व माननेपर यह परिणाम मानना ही पडता है । इसीलिये इस सूक्तके मंत्र ३ में 'रोहिणीः गावः" अर्थात् लाल गौवोंके दूधका तथा अन्यान्य गोरसोंका उपयोग हृदयविकार और कामिला रोगकी निवृत्तिके लिये करनेका विधान है । यह विधान मनन करनेसे बडा बोधप्रद प्रतीत होता है । और इसके मनन करनेसे अन्यान्य रोगोंके लिये अन्यान्य गौवोंके गोरसोंका उपयोग करनेका उपदेश भी प्राप्त होगा वर्ण चिकित्सा का ही तत्व गोदुग्ध-चिकित्साके लिये बर्ता जायेगा । दोनोके बीचमें तत्व एक ही है ।

पथ्य ।

वर्ण-चिकित्साके साथ साथ गोरस सेवनका पथ्य रखनेसे अंत्यधिक लाभ होना संभवनीय है । अर्थात लाल रंगके किरणोंके परिधारण करनके दिन लाल गौके दूधका सेवन करना इत्यादि प्रकार यह पथ्य समझना उचित है ।

इस प्रकार उस सूक्तका विचार करके पाठक बहुत लाभ प्राप्त कर सकते है ।

श्वेतकुष्ठ-नाशन-सूक्त

(२३)

(ऋषिः-अथर्वा । देवता- ओषधिः)

नक्तंजातास्योषधे रामे कृष्णे आसिक्नि च । इदं रजनि रजय किलासं पलितं च यत् ॥ १ ॥
किलासं च पलितं च निरितो नाशया पृषत् । आ त्वा स्वो विशतां वर्णः परा शुक्लानि पातय ॥ २ ॥
आसितं ते प्रलयनमास्थानमसितं तव । असिक्न्यस्योषधे निरितो नाशया पृषत् ॥ ३ ॥
अस्थिजस्य किलासस्य तनूजस्य च यत्त्वचि । दूष्या कृतस्य ब्रह्मणा लक्ष्म श्वेतमनीनशम् ॥ ४ ॥

अर्थ - हे रामा कृष्णा और असिक्नि औषधि ! तू **(नक्तं जाता असि)** रात्रिके समय उत्पन्न हुई है । हे **(रजनि)** रग देनेवाली ! **(यत् किलासं पलितं च)** जो कुष्ठ और श्वेत कुष्ठ है **(इदं रजय)** उसको रंग दे ॥१॥ **(इतः)** इसके शरीरसे **(किलासं पलितं)** कुष्ठ और श्वेत कुष्ठ तथा **(पृषत्)** धब्बे आदि सब **(निः नाशय)** नष्ट कर दे । **(शुक्लानि परा पातय)** श्वेत धब्बे दूर कर दे **(स्वःवर्ण)** अपना रंग **(त्वा)** तुझे **(आविशतां)** प्राप्त हो ॥२॥ **(ते पलपनं)** तेरा

लयस्थान **(असित)** कृष्ण वर्णन है तथा **(तव अवस्थानं)** तेरा स्थान भी **(असितं)** काला है हे औषधे ! तू स्वयं **(असिक्नी असि)** काले वाली है इसलिये **(इतः)** यहांसे **(पृषत्)** धब्बे **(निः नाशय)** नष्ट कर दे ॥३॥ **(दूष्या कृतस्य दोष के कारण उत्पन्न हुए (ऐवजस्य तनूजस्य च)** हड्डीसे तथा शरीरसे उत्पन्न हुए **(किलासस्य यत् त्वचि श्वेतं लक्ष्म)** कुष्ठका जो त्वचापर श्वेत चिन्ह है उसका **(ब्रह्मणा अनीनशम्)** इस ज्ञानसे मैने नाश किया है ॥४॥

भावार्थ - रामा, कृष्णा, असिक्नी ये औषधियां है, इनका पोषण रात्रिके समय होता है, इनमें रंग चढानेका सामर्थ्य है। इसलिये इनके लेपनसे श्वेतकुष्ठ दूर होता है ॥१॥ शरीरपर जो श्वेत कुष्ठके धब्बे होते है, उन श्वेत धब्बोंको इस औषधिके लेपनसे दूर कर दे और अपनी चमडीका असली रंग शरीरपर आने दें ॥२॥ यह वनस्पति नष्ट होनेपर भी काला रंग बनता है, उसका स्थान काले रंगका होता है और वनस्पति भी स्वयं काले रंगवाली है, इसी कारण यह वनस्पति श्वेत धब्बोंको दूर कर देती है ॥३॥ दुराचारके दोषोंसे उत्पन्न, हड्डीसे उत्पन्न, मांससे उत्पन्न हुए सब प्रकारके श्वेत कुष्ठके धब्बोंकोइस ज्ञानसे दूर किया जाता है ॥४॥

श्वेतकुष्ठ ।

शरीरका रंग गन्नमी सा होता है । गोरे कालेका भेद होनेपर भी चमडी का एक विलक्षण रंग होता है। जो रंग नष्ट होनेसे चमडीपर श्वेतसे धब्बे दिखाई देते है । उनका नाम ही श्वेत कुष्ठ होता है । यह श्वेत कुष्ठ शरीरपर होनेसे शरीरका सौंदर्य नष्ट होता है और सुडौल सुंदर मनुष्य भी कुरूपसा दिखाई देता है, इसलिये इस (श्वेत लक्ष्म) श्वेत चिन्ह-श्वेत कुष्ठ दूर करनेका उपाय वेदने यहां बताया है ।

निदान ।

वेद इस श्वेत कुष्ठके निदान इस सूक्तमें निम्न प्रकार देता है -

१) **दूष्या कृतस्य** - दोषयुक्त कृत्य अर्थात् दोषपूर्ण आचरण । सदाचार न होनेसे अथवा आचारविषयक कोई दोष कुलमें रहनेसे यह कुष्ठ होता है । जिस प्रकारसे व्यक्तिदोषसे तथा कुलके दोषसे भी यह कुष्ठ होता है ।

२) **अस्थिजस्य** - अस्थिगत दोषसे यह होता हैं ।

३) **तनूजस्य** - शारीरिक अर्थात् मांसके दोषसे होता है।

४) **त्वचि**-चमडीके अंदर कुछ दोष होनेसे भी यह होता है।

ये दोष सबके सब हो या इनमेंसे थोडे हों यह कुष्ठ हो जाता है ।

दो भेद और उनका उपाय ।

इस कुष्ठमें दो भेद होते है, एक किलास और दूसरा पलित । पलित शब्दमें केवल श्वेतत्वका ही बोध होता है इस कारण यह श्वेत धब्बोंका वाचक स्पष्ट है । इसको छोडकर दूसरे कुष्ठका नाम किलास प्रतीत होता है, जिसमें चमडी विरूपसी बनती है । सुयोग्य वैद्य इन शब्दोंका अर्थ निश्चय करें ।

"रामा, कृष्णा, असिक्नी" इन औषधियोंका इस कुष्ठपर उपयोग होता है । ये नाम निश्चयसे किन औषधियोंके करनेके लिये हो सकता है, यह निश्चय केवल शब्द शास्त्रज्ञ नही कर सकता, न यह विषय केवल कोशोंकी सहायतासे हल हो सकता है । इस विषयमें केवल सुयोग्य वैद्य ही निश्चित मत दे सकते है, तथा वे ही योग्य मार्गसे खोज कर सकते है। इसलिये इस लेखद्वारा वैद्योंको प्रेरणा देना ही यहां हमारा कार्य है। वेदमें बहुत विद्याएं होनेसे अनेक विद्याओंके पंडित विद्वान मिलनेपर ही वेदकी खोज हो सकती है । अतः सुयोग्य वैद्योंको आयुर्वेदविषयक वेदभागकी खोज लगानी चाहिये और यह प्रत्यक्ष विषय होनेसे इन औषधादिका प्रयोग करके ही इसका सप्रयोग प्रतिपादन करना चाहिये । आशा है कि वैद्य और डाक्टर इस विषयमें योग्य सहायता देंगे ।

रंगका घुसना ।

कई लोग समझते है कि ऊपर ही ऊपर वनस्पतिका रस आदि लगानेसे चमडीका ऊपरका रंग बदल जाता है, परंतु यह सत्य नही है । इस सूक्तके द्वितीय मंत्रमें -

आ त्वा स्वो विशतां वर्णः ।

"अपना रंग अंदर घुस जाय" यह मंत्रभाग बता रहा है कि इन औषधियोंका परिणाम चमडीके अंदर ही होना अभीष्ट है, न कि केवल ऊपर ही ऊपर । ऊपर परिणाम हो परंतु "विशतां" किया "अंदर घुसने" का भाव बता रही है । इसलिये चमडीके अंदर रंग घुस जाता है और वहां वह स्थिर हो जाता है । यह मंत्रका कथन स्पष्ट है।

औषधियोंका पोषण ।

औषधियोंका पोषण दिनके समय होता है या रात्रिके समय, यह प्रश्न बडे शास्त्रीय महत्त्वका है । औषधियोंका राजा सोम-चंद्र-है, इसलिये औषधियोंका पोषण और वर्धन रात्रिके समय होता है । यही बात "नक्तं जाता" शब्दोंसे इस सूक्तमें बतायी है । रात्रिके समय बनी बढी या पुष्ट हुई औषधि होती है । प्रायः सभी औषधियोंके संबंधमें यह बात सत्य है ऐसा हमारा स्याल है । वनस्पति विद्या जाननेवाले लोग इस कथनका "सौभाग्यवर्धन" के (१८ वे) सूक्तमें सौंदर्यवर्धनका यदि किसीको हो, तो उसको दूर करना आवश्यक ही है । अतः पाठक इस सूक्तको पूर्वोक्त १८ वे सूक्तके साथ पढें । आशा है कि पाठक इस प्रकार पूर्वापर सूक्तोंका संबंध देखकर सूक्तार्थ अधिकसे अधिक लाभ उठावें ।

कुष्ठ-नाशन सूक्त

(२४)

(ऋषिः - ब्रह्मा । देवता - आसुरी वनस्पतिः ।)

सुपर्णो जातः प्रथमस्तस्य त्वं पित्तमासिथ । तदासुरी युधा जिता रूपं चक्रे वनस्पतीन् ॥ १ ॥
आसुरी चक्रे प्रथमेदं किलासभेषजमिदं किलासनाशनम् । अनीनशत्किलासं सरूपामकरत्त्वचम् ॥२॥
सरूपा नाम ते माता सरूपो नाम ते पिता । सरूपकृत्त्वमोषधे सा सरूपमिदं कृधि ॥ ३ ॥
श्यामा सरूपंकरणी पृथिव्या अध्युद्भृता । इदमू षु प्र साधय पुना रूपाणि कल्पय ॥ ४ ॥

अर्थ - सुपर्ण (**प्रथमः जातः**) सबसे पहिले हुआ । (**तस्य पित्तं**) उसका पित्त (**त्वं आसिथ**) तूने प्राप्त किया है। (**युधा जिता**) युद्धसे जीती हुई वह आसुरी (**वनस्पतीन्**) वनस्पतियोंको (**तत् रुपं चक्रे**) वह रूप करती रही ॥१॥ (**प्रथमा आसुरी**) पहिली आसुरीने (**इदं किलास - भेषजं**) यह कुष्ठका औषध (**चक्रे**) बनाया । (**इदं**) यह (**किलासनाशनं**) कुष्ठ रोगका नाश करनेवाला है । इसने (**किलासं**) कुष्ठका (**अनीनशत्**) नाश किया और (**त्वचं**) त्वचाके (**स-रूपां**)समान रंगवाली (**अकरत्**) बना दिया ॥२॥ हे औषधे ! तेरी माता (**सरूपा**) समान रंगवाली है तथा तेरा पिता भी समान रंगवाला है । इसलिये (**त्वं स-रूप-कृत्**) तू भी समानरूप करनेवाली है (**सा**) वह तू (**इदं सरूपं**) इसको समान रंगरूपवाला (**कृधि**) कर ॥३॥ श्यामा नामक वनस्पति (**सरूपं करणी**) समान रूपरंग बनानेवाली है । यह (**पृथिव्याः अध्युद्धृता**) पृथ्वीसे उखाडी गई है । (**इदं उ सु प्रसाधय**) यह कर्म ठीक प्रकार सिद्ध कर और (**पुनः रूपाणि कल्पय**) फिर पूर्ववत् रंगरूप बना दे ॥४॥

भावार्थ - सुपर्ण नाम सूर्य है उसकी फिर से पित्त बढानेकी शक्ति है । सूर्यकिरणों द्वारा वह पित्त वनस्पतियोंमें संचित होता है । योग्य उपायोंसे स्वाधीन बनी हुई वनस्पतियां रूप रंगका सुधार करनेमें सहायक होती है ॥१॥ आसुरी वनस्पतिसे कुष्ठ रोगके लिये उत्तम औषध बनता है । यह निश्चयसे कुष्ठ रोग दूर करती है और इससे शरीर की त्वचा समान रंग रूपवाली बनती है ॥२॥ जिन पौधोंके संयोगसे यह वनस्पति बनती है, वे पौधे (अर्थात् इसके माता पितारूपी पौधे) भी शरीरका रंग सुधारनेवाले हैं । इसलिये यह वनस्पति भी रंगका सुधार करनमें समर्थ है ॥३॥ यह श्यामा वनस्पति शरीरकी चमडीका रंग ठीक करनेवाली है । यह भूमिसे उखाडी हुई यह कार्य करती है । अतः इसके उपयोगसे शरीरका रंग सुधारा जाय ॥४॥

वनस्पतिके माता पिता ।

इस सूक्तके तृतीय मंत्रमें वनस्पतिके मातापिताओंका वर्णन है अर्थात् दो वृक्ष वनस्पतियोंके संयोगसे बननेवाली यह तीसरी वनस्पति है । दो वृक्षोंके कलम जोडनेसे तीसरी वनस्पति विशेष गुणधर्मसे युक्त बनती है, यह

उद्यानशास्त्र जाननेवाले जानते ही है। कुष्ठनाशक श्यामा आसुरी वनस्पति इस प्रकार बनायी जाती है। शरीरके रंगका सुधार करनेवाली दो औषधियोंके संयोगसे यह श्यामा बनती है। जो आधारका पौधा होता है उसका नाम माता और जिसकी शाखा उसपर चिपकायी या जोडी जाती है वह उसका पिता तथा उस संयोगसे जो नयी वनस्पति बनती है वह उक्त दोनोंका पुत्र है। पाठक इस उद्यान-विद्याको इस मंत्रमें देखे। (मंत्र ३)

सरूप - करण।

शरीरके वास्तविक रंगके समान कुष्ठरोगके स्थानके चमडेका रंग बनाना "सरूपकरण" का तात्पर्य है आसुरी श्यामा वनस्पति यह करती है इसलिये कुष्ठरोगपर इसका उपयोग होता है। (मं २-३)

वनस्पतिपर विजय।

"युद्धसे जीता हुई आसुरी वनस्पति औषध बनाती है।" यह प्रथम मंत्रका कथन विशेष मननीय है। वैद्यको हरएक दवापर इस प्रकार प्रभुत्व संदापन करना पडता है। औषधि उसके हाथमें आनेकी आवश्यकता है। वनस्पतिके गुणधर्मोसे पूर्ण परिचय और उसका उपयोग करनेका उत्तम ज्ञान वैद्यको होना आवश्यक है। नही तो औषध सिद्ध नही कहा जा सकता। (मं. १)

सूर्यका प्रभाव।

सूर्यमें नाना प्रकारके वीर्य है। वे वीर्य किरणों द्वारा वनस्पतियोंमें जाते है। वनस्पतिद्वारा वे ही वीर्य प्राप्त होते है और रोगनाश अथवा बलवर्धन करते हैं। इस प्रकार यह सब सूर्यका ही प्रभाव है। मं. १)

सूर्यसे वीर्य-प्राप्ति।

सूर्यसे नाना प्रकारसे वीर्य प्राप्त करनेकी यह सूचना बहुत ही मननन करनेयोग्य है।

सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च (ऋ ग्वेद १।११५।१)

सूर्य ही स्थावर जंगम का आत्मा है" यह वेदका उपदेश भी यहां मनन करना चाहिये। जब सूर्यसे नाना प्रकारसे वीर्य प्राप्त करके हम अधिक वीर्यवान हो जायेंगे तभी यह मंत्रभाग हमारे अनुभवमें आ सकता है।

नंगे शरीर सूर्यकिरणोंमे विचरनेसे और सूर्यकिरणोंद्वारा अपनी चमडी अच्छी प्रकार तपानेसे शरीरके अंदर सूर्यका जीवन संचारित होता है इसी प्रकार सूर्यसे तपा हुआ वायु प्राणायामसे अंदर लेनेके अभ्याससे क्षयरोगमें भी बडा लाभ पहुंचता है। इसी प्रकार कई रीतियोंसे हम सूर्यसे वीर्य प्राप्त कर सकते है। पाठक स्वयं इसका अधिक विचार करेंगे तो उनकी बहुत बोध प्राप्त हो सकता है।

वैद्योंको उचित है, कि वे खोजसे श्यामा वनस्पतिको प्राप्त करें और उसके योगसे कुष्ठ रोग दूर करें। तथा सूर्यसे अनेक वीर्य प्राप्त करनेके उपाय ढूंढकर निकाल दें और उनका उपयोग आरोग्य बढानेमें करते रहें।

शीत-ज्वर-दूरीकरण सूक्त।

(२५)

(ऋषिः भृग्वाङ्गिराः। देवता-अग्निः तक्मा।)

यदग्निरापो अदहत्प्रविश्य यत्राकृण्वन् धर्मधृतो नमांसि।
तत्र त आहुः परमं जनित्रं स नः संविद्वान् परि वृङ्ग्धि तक्मन् ॥१॥

यद्यर्चिर्यदि वासि शोचिः शकल्येषि यदि वा ते जनित्रम्।
ह्रूडुर्नामासि हरितस्य देव स नः संविद्वान् परि वृङ्ग्धि तक्मन् ॥२॥

यदि शोको यदि वाऽभिशोको यदि वा राज्ञो वरुणस्यासि पुत्रः।
ह्रूडुर्नामासि हरितस्य देव स नः संविद्वान् परि वृङ्ग्धि तक्मन् ॥३॥

नमः शीताय तक्मने नमो रूराय शोचिषे कृणोमि ।
यो अन्येद्युरुभयद्युरभ्येति तृतीयकाय नमो अस्तु तक्मने ॥ ४ ॥

अर्थ - **(यत्र)** जहां **(धर्म-धृतः)** धर्मका पालन करनेवाले सदाचारी लोग **(नमांसि कृण्वन्)** नमस्कार करते है, वहां **(प्रविश्य)** प्रवेश करके **(यत् अग्निः)** जो अग्नि **(आप अदहत्)** प्राणधारक जलतत्त्वको जलाता है **(तत्र)** वहां **(ते परमं जनित्रं)** तेरा परम जन्म स्थान है, ऐसा **(आहुः)** कहते है। हे **(तक्मन्)** कष्ट देनेवाले ज्वरे ! **(सः संविद्वान्)** जानता हुआ तू **(नः परि वृंग्धि)** हमको छोड दे ॥१॥ **(यदि अर्चिः)** यदि तू ज्वालारूप, **(यदि वा शोचिः असि)** अथवा याद तापरूप हो, **(यदि ते जनित्रं)** यदि तेरा जन्मस्थान **(शकल्य-इषि)** अंगप्रत्यंगमें परिणाम करता है, तो तू **(ऱ्हूडः नाम असि)** ऱ्हुड **(अर्थात् गति करनेवाला)** इस नामका है। अतः हे **(हरितस्य देव तक्मन्)** पीलक रोगको उत्पन्न करनेवाले ज्वर देव ! **(सः संविद्वान्)** वह तू यह जानता हुआ **(नः परि वृंग्धि)** हमें छोड दे ॥२॥ **(यदि शोकः)** यदि तू पीडा देनेवाला अथवा **(यदि अभि शोकः)** यदि सर्वत्र पीडा उत्पन्न करनेवाला हो, **(यदि वरुणस्य राज्ञः पुत्रः असि)** किंवा वरुण तू पुत्र ही क्यों न हो, तुम्हारा नाम ऱ्हुड है। हे पीलक रोगके उत्पन्न करनेवाले ज्वर देव ! तू हम सबको यह जानकर छोड दे ॥३॥ **(शीताय तक्मने नमः)** शीत ज्वरके लिये नमस्कार, **(रूराय शोचिषे नमः कृणोमि)** रुसे तापको भी नमस्कार करता हूं। **(यः अन्येद्युः)** जो एक दिन छोटकर आनेवाला ज्वर है, **(उभयद्युः)** जो दो दिन आनेवाला **(अभ्येति)** होता है, जो तृतीयकाय) तिहारी है, उस **(तक्मने नमः अस्तु)** ज्वरके लिये नमस्कार होवे ॥४॥

भावार्थ : धार्मिक लोक जगां प्राणायामद्वारा पहुचंते और प्राणशक्तिका महत्त्व जानकर उसको प्रणाम भी करते हैं उस प्राणके मूलस्थानमें पहुंचकर यह ज्वरका अग्नि प्राणधारक आप् तत्त्वको जला देता है। यही इस ज्वरका परम स्थान है। यह जानकर इससे मनुष्य बचे ॥१॥ यह ज्वर बहुत जोरकी तपिश चढानेवाला हो किंवा अंदर ही अंदर तपनेवाला हो, किंवा हरएक अंग-प्रत्यंगको कमजोर करनेवाला हो, वह हरएक जीवनके अणुको हिला देता है इसलिये इसको "ऱ्हूडु" कहते है, यह पांडुरोग अथवा कामिल रोगको उत्पन्न करता है, यह जानकर हरएक मनुष्य इससे अपना बचाव करें ॥२॥ कई ज्वर विशेष अंगमें दर्द उत्पन्न करते है और कई संपूर्ण अंगप्रत्यंगोंमें पीडा उत्पन्न करते है, जलराज वरुणसे इसकी उत्पत्ति होती है, यह हरएक अंग प्रत्यंगको हिला देता है और पीलक रोग शरीरमें उत्पन्न कर देता है। इसलिये हरएक मनुष्य इससे बचता रहे ॥३॥शीत ज्वर, रूक्ष ज्वर, प्रतिदिन आनेवाला, एकदिन छोडकर आनेवाला, दो दिन छोडकर आनेवाला, तीसरे दिन आनेवाला ऐसें अनेक प्रकारके जो ज्वर है उनको नमस्कार हो अर्थात् ये हम सबसे दूर रहें ॥४॥

ज्वरकी उत्पत्ति ।

यह "तक्मनाशन गण" का सूक्त है और इस सूक्तमें ज्वरकी उत्पत्ति निम्नलिखित प्रकार लिखी है।

वरुणस्य राज्ञः पुत्रः । (मंत्र ३)

यह "वरुण राजाका पुत्र है। "अर्थात् वरुणसे इसकी उत्पत्ति है। ज़लका अधिपति वरुण है यह सब जानते ही है। वरुण राजाके जलरूपी साम्राज्यमें यह जन्म लेता है। इसका सीधा आशय यह व्यक्त हो रहा है कि जहां जल स्थिररूपसे रहता या सडता है वहांसे इस ज्वरकी उत्पत्ति होती है। आजकल भी प्रायः यह बात निश्चितसी हो चुकी है कि जहां जल प्रवाहित नही होता परंतु रुका रहता है, वहां ही शीतज्वरकी उत्पत्ति होती है और शीतज्वर ऐसेही स्थानोसे फैलता है।

यहि यह ज्ञान निश्चित हुआ तो ज्वरनाशक पहिला उपाय यहि हो सकता है कि अपने घरके आसपास तथा अपने ग्राममें अथवा निकट कोई ऐसे स्थान नहीं रखने चाहिये कि जहां जल रुकता और सडता रहे। पाठक ज्वरनाशक इस प्रथम और सबसे मुख्य उपायका विचार करें। और इससे अपना लाभ उठावें।

ज्वरका परिणाम ।

इस सूक्तमें ज्वरका नाम "ऱ्हूडु" लिखा है। इसका अर्थ "गति करनेवाला" है। यह ज्वर अब शरीरमें आता

है तब शरीरके खूनमें तथा अंगप्रत्यंगोंके जीवन-तत्त्वमें गति उत्पन्न करता है । और इसी कारण अंगप्रत्यंका जीवनरस आप् तत्त्व) जल जाता है । यही बात प्रथम मंत्रमें कहा है -

अग्निः आपः अदहत् ॥ (मंत्र. १)

"यह ज्वर जीवनरसको ही जला देता है ।" इसी कारण ज्वरके शरीरकी शक्ति कम होती है । आप् तत्त्व प्राणशक्ति का धारण करनेवाला है । (आपोमयः) आप्तत्त्वमय प्राण है यह उपनिषदोंका कथन है । प्राणक आश्रयका शरीरस्थ आप् तत्व इस ज्वरके द्वारा जल जाता है, इसी कारण ज्वर आनेपर जीवन शक्ति कम हो जाती है । इसी कारण इस ज्वरको पीलक रोगका उत्पादक कहा है । देखिये -

हरितस्य देव ! (मंत्र २,३)

"पीलापन उत्पन्न करनेवाला" फीका निस्तेज बनानेवाला, पीलकरोग, कामिला, पांडुरोग, जीवनरसका क्षय करनेवाला रोग" इन सबका उत्पादक ज्वर है । यह ज्वर इतने भयानक रोगोंको उत्पन्न करनेवाला है, इसीलिये इससे मनुष्यको अपने आपका बचाव करना चाहिये । यह ज्वर प्राणको मूल स्थानपर हमला करके उसीको कमजोर करता है । इस विषयमें यह मंत्र देखिये -

यदग्निरापो अदहत् प्रविश्य यत्राकृण्वन्
धर्मधृती नमांसि ॥(मंत्र १)

"जहां धार्मिक लोग जाकर मनन करते हैं वहां प्रविष्ट होकर यह अग्नि-ज्वर-प्राण धारक जीवनरसको जलाता है ।"

योगादि साधनद्वारा धार्मिक लोग समाधि अवस्थामें हृदय कमलमें प्रविष्ट होते हैं, उसी हृदयमें जीवनका रस है, वही रस ज्वरसे जलता है । अर्थात् ज्वरका हृदयपर बहुत बुरा परिणाम होता है, जिससे बहुत कमजोरी भी उत्पन्न होती है । इसी कारण यह ज्वर पीलक रोग अथवा पांडुरोग उत्पन्न करता है ऐसा सूक्तके द्वितीय मंत्रमें कहा है । यह हिमज्वर जिसको आजकल "मलेरिया" कहा जाता है बहुत बहुत ही हानिकारक है । इसलिये उसको हरएक प्रयत्नसे दूर रखना चाहिये, यही निम्नलिखित मंत्रभागमें सूचित किया है -

स नः संविद्वान् परिवृंग्धि तक्मन् ॥ (मंत्र १,२,३)

"यह बात जानता हुआ ज्वर दूर रखा जाय" अर्थात् ज्वरके कारण दूर करके उसका हमला मनुष्यपर न हो इस विषयमें योग्य प्रयत्न किये जाय । ज्वर आनेके बाद उसके प्रतिकारका यत्न करना चाहिये इसमें किसीका विवाद नहीं हो सकता, परंतु इस सूक्तद्वारा वेद यही उपदेश देना चाहता है, कि अपने घरकी और ग्रामकी व्यवस्था मनुष्य इस प्रकार रखे कि यह मलेरिया ज्वर आवेही न और उसके निवारणके लिये दवाइयां पीनी न पडें । क्योंकि यह विष इतना घातक है कि एक बार आया हुआ हिमज्वर अपना परिणाम स्थिर रूपसे शरीरमें रख जाता है और उसके निवारणके लिये वर्षोंतक और बडे व्ययसे यत्न करने आवश्यक होते हैं ।

हिमज्वरके नाम ।

इस सूक्तमें हिमज्वरके निम्नलिखित नाम दिये हैं -

१ न्हूडु - गति उत्पन्न करनेवाला, शरीरमें कंप उत्पन्न करनेवाला, ज्वरका शीत जिस समय प्रारंभ होता है, उस समय मनुष्य कांपने लगता है । मराठी भाषामें इस हिम ज्वरका नाम "हुडहुडा ताप" है, यह शब्द भी वैदिक "न्हुडु" शब्दके साथ मिलता जुलता है । यही शब्द विभिन्न हस्तलिखित पुस्तकोंमें निम्नलिखित प्रकार लिखा हुआ मिलता है न्हूडु, न्हूडु, न्हूडु, हुडु, रूडु, न्हुडु, रूद्ब, न्हूडू" । अथर्ववेदकी पिप्पलाद शाखा की संहितामें "हुडु" पाठ है । यह "हुडु" शब्द मराठी "हुडहुडा" शब्दकेही सदृश शब्द है । (मंत्र २,३)

२ शातिः - जो ज्वर शीतलग कर प्रारंभ होता है ॥ यह प्रतिदिन आनेवाला समझना उचित है । (मंत्र ४)

३ अन्येद्यु : - एक दिन छोडकर आनेवाला । (मं. ४)

४ उभयद्युः - दूसरे दिन आनेवाला अथवा दो दिन छोडकर आनेवाला । (मं. ४)

५ तृतीयकः - तीसरे दिन आनेवाला किंवा तीन दिन छोडकर आनेवाला अथवा नियत दिन बीचमें छोडकर आनेवाला । (मं. ४)

६ तक्माः० - जीवन दुःखमय बनानेवाला ज्वर ।

७ अर्चिः - अग्निकी ज्वालाएं भडकनेके समान जिसकी उष्णता बाहर बहुत होती है । (मं. २)

८ शोचिः, शोकः - जिसमें शरीरमें पीडा होती है (मं. २)

९ शकल्य - इषिः - अंग - प्रत्यंग अलग अलग होनेके समान शिथिलता आती है । (मं. २)

१० अभिशोकः- जिसमें सब शरीर बडा दर्द

करता है। (मं. ३)

इन नामोंका विचार करनेसे इस ज्वरके स्वरूपका पता लग सकता है और निश्चय होता है कि यह वर्णन शीतज्वर जिसे मलेरिया आजकल कहते हैं इसका ही है।

घरके पास जल सडता न रहे, घरके पासकी भूमि अच्छी रहे और किसी भी स्थानमें इस रोगकी उत्पत्ति होने योग्य परिस्थिती न हो, इसी प्रकार ग्राममें और ग्रामके आसपास भी स्थान योग्य और आरोग्य कारक हों, जिससे यह रोग उत्पन्न ही न होगा। क्योंकि यह ज्वर जलके दलदलसे उत्पन्न होता है। इसलिये "जल देवताका पुत्र" इसका एक नाम इसी सूक्तमें दिया है। यदि पाठक इसका योग्य विचार करेंगे तो उनको इससे बचनेका उपाय ज्ञात हो सकता है। आशा है कि वे इसका विचार करेंगे और अपने आपको इससे बचायेंगे॥

नमः शब्द ।

इस सूक्तके अंतिम मंत्रमें "नमः" शब्द तीनवार आया है। यहांका यह नमनवाचक शब्द घातक मनुष्यको दूर रखनेके लिये किये जानेवाले नमस्कारके समान उस ज्वरसे बचनेका भाव सूचित करता है ऐसा हमारा ख्याल है। कोशोंमें "नमस्कार, नमस्कारी" शब्द औषधियोंके भी वाचक हैं। यदि "नमः" शब्दसे किसी औषधीका बोध होता हो तो वह खोज करना चाहिये। "नमः" शब्दके अर्थ "नमस्कार, अन्न, शस्त्र, दण्ड" इतने प्रसिद्ध है, "नमस्करी, नमस्कार, नमस्कारी" ये शब्द औषधियोंके भी वाचक हैं। अतः इस विषयका अन्वेषण वैद्य लोग करें।

सुख प्राप्ति सूक्त ।

(२६)

(ऋषिः - ब्रह्मा । देवताः - इंद्रादयः)

आरे ३ सावस्मदस्तु हेतिर्देवासो असत् । आरे अश्मा यमस्यथ ॥ १ ॥
सखासावस्मभ्यमस्तु रातिः सखेन्द्रो भगः सविता चित्रराधाः ॥ २ ॥
यूयं नः प्रवतो नपान्मरुतः सूर्यत्वचसः । शर्म यच्छाथ सप्रथाः ॥ ३ ॥
सुषूदत मृडत मृडया नस्तनूभ्यो मयस्तोकेभ्यस्कृधि ॥ ४ ॥

अर्थ-हे **(देवासः)** देवो ! **(असौ हेतिः)** यह शस्त्र **(अस्मत् आरे अस्तु)** हमसे दूर रहे। और **(यं अस्यथ)** जिसे तुम फेंकते हो वह **(अश्मा आरे असत्)** पत्थर भी हमसे दूर रहे ॥१॥ **(असौ रातिः)** यह दानशील, **(भगः)** धनयुक्त सविता, **(चित्रराधः इन्द्रः)** विशेष ऐश्वर्यसे युक्त इन्द्र हमारा **(सखा अस्तु)** मित्र होवे ॥२॥ हे **(प्रवतः नपात्)** अपने आपका रक्षण करनेवालेको न गिरानेवाले ! हे **(सूर्यत्वचसः मरुतः)** सूर्यके समान तेजस्वी मरूत् देवो ! **(यूयं)** तुम **(नः)** हमारे लिये **(सप्रथः शर्म)** विस्तृत सुख **(यच्छाय)** दो ॥३॥ **(सुषूदत)** तुम हमें आश्रय दो **(मृडत)** हमें सुखी करो, **(नः तनूभ्यः मृडय)** हमारे शरीरोंको आरोग्य दो तथा **(तोकेभ्यः मयः कृधि)** बालबच्चोंके लिये आनन्द करो ॥४॥

भावार्थ - हे देवो ! आपका दंडरूप शस्त्र आदि हमारे ऊपर प्रयुक्त होनेका अवसर न आवे, अर्थात् हमसे ऐसा कोई कार्य न हो कि जिसके लिये हम दण्डके भागी बनें ॥१॥ इन्द्र सविता भग आदि देवगण हमारे सहायक हो ॥२॥ मरूत देव हमारा सुख बढावें ॥३॥ सब देव हमें उत्तम आधार दें, हमारे शरीरका आरोग्य बढावें, हमारे मनकी शांति वृद्धिंगत करें, हमारे बाल बच्चोंको कुशल रखें और सब प्रकारसे हमारा आनंद बढावें ॥४॥

देवोंसे मित्रता ।

इन्द्र, सविता, भग, मरुत् आदि देवोंसे मित्रता करनेसे सुख मिलता है और उनके प्रतिकूल आचरण करनेसे दुःख प्राप्त होता है। इसलिये प्रथम मंत्रमें प्रार्थना है कि उन देवोंका दंड हमपर न चले, और दूसरे मंत्रमें प्रार्थना है कि ये सब देव हमारे मित्र, हमारे सहायक बनकर

विजयी स्त्री का पराक्रम ।

(२७)

(ऋषिः - अथर्वा । देवता -इन्द्राणी)

अमूः पारे पृदाक्वस्त्रिषप्ता निर्जरायवः ।
तासां जरायुभिर्वयमक्ष्या३वपि व्ययामस्यघायोः परिपन्थिनः ॥ १ ॥
विषूच्येतु कृन्तती पिनाकमिव बिभ्रती । विष्वक्पुनर्भुवा मनोऽसमृद्धा अघायवः ॥ २ ॥
न बहवः समशकन्नार्भका अभि दाधृषुः । वेणोरद्गा इवाऽभितोऽसमृद्धा अघायवः ॥ ३ ॥
प्रेतं पादौ प्र स्फुरतं वहतं पृणतो गृहान् । इन्द्राण्येतु प्रथमाजीतामुषिता पुरः ॥ ४ ॥

अर्थ - **(रअमूः पारे)** वह पारमें **(निर्जरायवः)** झिल्लीसे निकली हुई **(त्रि - सप्ताः)** तीन गुणा सात **(पृदाकः)** सर्पिणियोंके समान अनाद हैं । **(तासां)** उनकी **(जरायुभिः)** केंचुलियोंसे **(वयं)** हम **(अघ- आयोः परिपंथिनः)** पापी दुष्टशत्रुकी **(अक्ष्यौ)** दोनों आंखे **(अपि व्ययामसि)** ढके देते हैं ॥१॥ **(पिनांक इव बिभ्रती)** धनुष्य धारण करनेवाली, और शत्रुको **(कृन्तती)** काटने वाली वीरसेना **(विषुची एतु)** चारों और आगे बढे । जिससे **(पुनर्भुवाः)** फिर इकट्ठी की हुई शत्रुसेनाका **(मनः विष्वक)** मन इधर उधर हो जावे । और उससे **(अघायवः)** पापी शत्रु **(असमृद्धाः)** निर्धन हो जावें ॥२॥ **(वहवः न समशकन्)** बहुत शत्रु भी उनके समाने ठहर नहीं सकते । फिर **(अर्भकाः)** जो बालक हैं वे **(न अभि दाधृषुः)** धैर्यही नहीं कर सकते । **(वेणोः अद्राः इव)** बांसके अंकुरोंके समान **(अभितः)** सब ओरसे **(अघायवः)** पापीलोग **(असमृद्धाः)** निर्धन होवें ॥३॥ हे **(पादौ)** दोनों पांवो ! **(प्रेतं)** आगे बढो **(प्र स्फुरतं)** फुरती करो, **(पृणतः गृहान् वहतं)** संतोष देनेवाले घरोंके प्रति हमें पहुंचाओ । **(अजीता)** विना जीती, **(अमुषिता)** विना लुटी हुई और **(प्रथमा)** मुखिया बनी हुई **(इन्द्राणी)** महारानी **(पुरः एतु)** सबके आगे बढे ॥४॥

भावार्थ - केंचुलीसे बाहर आयी हुई सर्पिणीके समान चपल सेनाएं तीन गुने सात विभागोंमें विभक्त होकर युद्धके लिये सिद्ध हैं, उनकी हलचलोंसे हम सब पापी दुष्टोंकी आंखे बंद कर देते हैं ॥१॥ शस्त्र धारण करनेवाली और शत्रुको काटनेवाली वीरोंकी सेना चारों दिशाओंमें आगे बढे, जिससे शत्रुसेनाका मन तितर बितर हो जावे और सब पापी शत्रु निर्धन हो जावें ॥२॥ ऐसी शूर वीरोंकी सेनाके सन्मुख बहुत शत्रु भी ठहर नहीं सकते फिर कमजोर बालक कैसे ठहर सकेंगे? बांसके कोमल और अशक्त अंकुरके समान चारों ओरसे पापी शत्रु धनहीन होकर नाशको प्राप्त होंगे ॥३॥ विजयी अपराजित और न लुटी गई वीर स्त्री महारानी मुखिया बनकर आगे बढे, इतर लोग उसके पीछे चलें, हरएक वीरके पांव आगे बढें, शरीरमें फुर्ती चढे और सब लोग संतोष बढानेवालोंके घरोंतक पहुंच जाय ॥४॥

इन्द्राणी ।

"इन्द्र" शब्द राजाका वाचक है जैसा - नरेन्द्र (मनुष्योंका राजा) मृगेन्द्र (मृगोंका राजा), खगेन्द्र (पक्षियोंका राजा) इत्यादि । केवल इन्द्र शब्द भी राजाका ही वाचक है, और "इन्द्राणी" शब्द इन्द्रकी रानी, राजाकी रानी, महारानी, रानी" का वाचक है । यह इन्द्राणी सेनाकी प्रेरक देवी है यह बात तैत्तिरीय संहितामें कही है देखिये -

इन्द्राणी वै सेनायै देवता । तै. सं. २।२।८।१ "इन्द्राणी सैन्यकी देवता है ।" क्योंकि इसकी प्रेरणासे सैनिक अपना पराक्रम दिखाते और विजय प्राप्त करते हैं ।

वीर स्त्री ।

"इन्द्राणी अर्थात् रानी सेनाकी मुखिया बनकर सेनाको प्रोत्साहन देती हुई आगे चले, हरएकके पांव आगे बढें,

हर एकका मन उत्साहसे युक्त रहे, संतोष बढानेवाले सज्जनोंके घरोंमें ही लोग जायं।" परंतु जो लोग संतोषको कम करनेवाले, उत्साहका नाश करनेवाले, और मनकी आशाका घात करनेवाले हों उनके पास कोई न जावे, क्योंकि ऐसे लोग अपने हीन भावोंसे मनुष्योंको निरुत्साहित ही करते हैं। यह मंत्र ४ का भाव विचार करने योग्य है।

जिस राष्ट्रमें स्त्रियांभी ऐसी शूर और दक्ष होंगी, वह राष्ट्र सदा विजयी ही होगा इसमे क्या संदेह है ? जिस देश में स्त्रियां सेनाको चला सकेंगी उस देशके पुरूष कितने शूर और कैसे वीर होंगे। क्या ऐसी वीर स्त्रियोंको कोई हीन मनवाला आदमी धमका सकता है और ऐसी शूर स्त्रियोंकी किसी स्थानपर कोई बेइज्जती कर सकता है। इसलिये आत्मसंमान रखनेकी इच्छा करने वालोंको उचित है, कि वे स्वयं मर्द बनें और अपनी स्त्रियोंको भी ऐसी शिक्षा दें कि वेभी शूरवीर बनकर अपने संमान की रक्षा कर सकें।

"हाथमें शस्त्र धारण करती हुई, शत्रुको काटती हुई आगे बढे, जिसका वेग देखकर शत्रुका मन उत्साहरहित होवे और शत्रु निर्धन अर्थात् परास्त हो जावें।" यह द्वितीय मंत्रका भाव भी चतुर्थ मंत्रके साथ देखने योग्य हैं। क्योंकि यह मंत्र भी वीर स्त्रीका पराक्रम ही बता रहा है। यह सेना का वर्णन करता हुआ भी वीर स्त्रीका वर्णन करता है। (मंत्र २)

वीरस्त्रियोंको उपमा केंचुलीसे निकली हुई सर्पिणीकी इस सूक्तमें दी है। स्वभावतः सर्पिणी बडी तेज रहती ही है और अति फुर्तीसे शत्रुपर हमला करती है। परंतु जिस समय वह केंचुलीसे बाहर आती है उस समय अतितेजस्वी और अतिचपल रहती है क्योंकि इस समय यह नवजीवनसे युक्त होती है। वीर स्त्री ऐसी ही होती है। स्त्री स्वभावतः चपल होती है, परंतु जिस समय कार्यवश राष्ट्रीय आपत्तिसे प्रेरित होकर, आत्मसंमानकी रक्षाके लिये कोई वीरा स्त्री अपने अंतर्गृह रूपी कैंचुलीसे बाहर आती है, उस समय उसकी तेजस्विताका वर्णन क्या करना है ? वह उस समय सचमुच सर्पिणीकी भांतति चमकती हुई, बिजलीके समान तेजस्विनी बनकर वीरसेनागणोंको प्रेरित करती है। उस समयका उत्साह वीर पुरूष ही कल्पनासे जान सकते हैं। "उसके तेजसे शत्रुकी आंखे ही अंधी बन जाती हैं " और उसके सब शत्रु निःसत्व हो जाते हैं। (मंत्र १)

जहां ऐसी वीरांगनाएं समर्थ हैं उन लोगोंके सामने बडे बडे शत्रु भी ठहर नहीं सकते, फिर अल्प शक्तिवाले कमजोर मनुष्योंकी बात ही क्या है ? घासके अंकुरोंके समान उनके शत्रु नष्टभ्रष्ट ही हो जाते हैं।" (मंत्र ३)

शत्रुवाचक शब्द।

इस सूक्तमें शत्रुवाचक कुछ शब्द है उनका विचार यहां करना आवश्यक है -

१ अघायुः - आयु भर पाप कर्म करनेवाला।

२ परिपन्थिन् - बटमार, बुरे मार्गसे चलनेवाला।

पापीलोग ये हैं और इनके बुरे आचरणके कारण ही वे शत्रुत्व करने योग्य हैं। "असमृद्धा अघायवः" यह शब्द प्रयोग इस सूक्तमें दोवार आया है। "पापी समृद्धिसे रहित होते हैं।" यह इसका भाव है। पापसे कभी वृद्धि नहीं होगी। पापसे मनुष्य गिरता ही जाता है। यह भाव इसमें देखने योग्य है। जो मनुष्य पाप कर्म द्वारा धनाढ्य बनना चाहते हैं उनको यह मंत्र भाग देखना योग्य है। यह मंत्र उपदेश दे रहा है कि "पापी कभी उन्नत नहीं होगा," यदि किसी अवस्थासे वह धनवान् हुआ, तो भी वह उसका धन उसके नाशका ही हेतु निःसंदेह बनेगा। तात्पर्य परिणामकी दृष्टिसे यह स्पष्ट ही समझना चाहिये कि पापी लोग अवश्य ही नाशको प्राप्त होंगे।

तीन गुणा सात।

सेनाके तीन गुणा सात विभाग हैं। रथयोधी, गजयोधी, अश्वयोधी, पदाती, दुर्गयोधी, जलयोधी तथा कुटयोधी ये सात प्रकारके सैनिक होते हैं। प्रत्येकमें अधिकारी, प्रत्यक्ष युद्धकारी, और सहायक इन तीन भेदोंसे तीन गुणा सात सैनिक होते हैं।

निर्जरायु।

"जरायु शब्द झिल्ली, जेरीका वाचक है, परन्तु यहां श्लेषार्थसे प्रयुक्त है। यहां इसका अर्थ (जरा+आयु) वृद्धावस्था अथवा जीर्णता किंवा थकावट, तथा आयुष्य (निः+जरा .. आयुः) जो जीर्णता, थकावट, वृद्धावस्था अथवा आयुकी पर्वा न करनेवाले होते हैं, अर्थात् जो अपने जीने मरनेकी पर्वाह न करके लडते हैं, जो अपनी अवस्थाकी तथा सुखदुःख की पर्वाह न करते हुए अपने यशके लिये ही लडते रहते हैं उनको "निर्जरायु" अर्थात्

"जरा और वायुके विचारसे मुक्त" कहते हैं। जीवित की आशा छोडकर लडनेवाले सैनिक।

इस सूक्तके मंत्र वीरा स्त्री-विषयक तथा सेना विषयक अर्थ बताते हैं, इसलिये ये मंत्र विशेष मननके साथ पढने योग्य हैं। तथा इसमें कई शब्द द्वेष अर्थ बताने वाले भी हैं जैसा कि ऊपर बताया है। इन सब बातोंका विचार करके यदि पाठक इस सूक्तका अभ्यास करेंगे तो उनको बहुत बोध मिल सकता है।

आशा है कि इस प्रकार पाठक अपने राष्ट्रमें वीरा स्त्री और वीर पुरुष उत्पन्न करेंगे और अपना यश बढानेका परम पुरुषार्थ करेंगे।

यह सूक्त "स्वस्त्ययन गण" का है इसलिये इस गणके अन्य सूक्तोंके साथ पाठक इसका विचार करें।

दुष्ट नाशन सूक्त।

(२८)

(ऋषिः - चातनः। देवता स्वस्त्ययनम्।)

उप प्रागाद्देवो अग्नी रक्षोहामीवचातनः। दहन्नप द्वयाविनो यातुधानान्किमीदिनः॥ १॥

प्रति दह यातुधानान्प्रति देव किमीदिनः। प्रतीचीः कृष्णवर्तने सं दह यातुधान्यः॥ २॥

या शशाप शपनेन याघं मूरमादधे। या रसस्य हरणाय जातमारेभे तोकमत्तु सा॥ ३॥

पुत्रमत्तु यातुधानीः स्वसारमुत नप्त्यम्।
अधा मिथो विकेश्यो ३ वि घ्नतां यातुधान्यो ३ वि तृह्यन्तामराय्यः॥ ४॥

अर्थ - **(अमीव - चातनः)** रोगोंको दूर करनेवाला और **(रक्षोहा)** राक्षसोंका नाश करनेवाला अग्निदेव **(किमीदिनः)** सदा भूखोंको **(यातुधानान्)** लुटेरों को तथा**(द्वयाविनः)** दुमुखे कपटियोंको **(अप दहन्)** जलाता हुआ **(उप प्रगात्)** पास पहुंचा है ॥१॥ हे अग्निदेव ! **(यातुधानान् प्रति दह)** लुटेरों को जलादे तथा **(किमीदिनः प्रति)** सदा भूखोंको भी जलादे। हे **(कृष्णवर्तने)** कृष्ण मार्गवाले अग्निदेव !**(प्रतीचीः यातुधान्यः)** संमुख आनेवाली लुटेरी स्त्रियोंको भी **(संदह)** ठीक जला दो ॥२॥ यह दुष्ट लुटेरी स्त्रियां **(शपनेन शशाप)** शापसे शाप देती हैं, **(या अघं मूरं आदधे)** जो पाप ही प्रारंभसे स्वीकारती हैं, **(या रसस्य हरणाय)** जो रस पीनेके लिये **(जातं तोकं आरेभे)** जन्मे हुए बालकको खाना आरंभ करती हैं और **(सा अत्तु)** वह पुत्र खाती है ॥३॥ **(यातुधानीः)** पापी स्त्री **(पुत्रं अत्तु)** पुत्र खाती है। **(स्वसारं उत नप्त्यं)** बहिन को तथा नाती को खाती है। **(अथ)** और **(विकेश्यः)** केश पकड पकड कर **(मिथः घ्नतां)**, आपसमें झगडती हैं। **(अराय्यः यातुधानीः)** दानभाव - रहित घातकी स्त्री **(वितृह्यन्तां,)** आपसमें मारपीट करती हैं ॥४॥

भावार्थ - रोग दूर करनेमें समर्थ अर्थात् उत्तम वैद्य, आसुर भावको हटाने वाला, अग्निके समान तेजस्वी, उपदेशक स्वार्थी लुटेरे तथा कपटियोंको दूर करता हुआ आगे चले ॥१॥ हे उपदेशक ! तु लुटेरे स्वार्थी दुष्टोंको नाश कर, तथा सामने आनेवाली दुष्ट स्त्रियोंकी भी दुष्टता दूर कर दे ॥२॥ इन दुष्टोंका लक्षण यह है कि ये आपसमें गालियां देते रहते हैं, हरएक काम पाप हेतुसे करते हैं, यहांतक ये क्रूर होते हैं कि रक्त पीनेकी इच्छासे नये उत्पन्न बालकको ही चूसना आरंभ कर देते हैं ॥३॥ इनकी स्त्री अपने पुत्रको खाती है, बहिन तथा नातीको भी खाती है, तथा एक दूसरेके बाल पकडकर आपसमें ही लडती रहती हैं ॥४॥

पूर्वापर संबंध।

इसी प्रथम कांडके ७ तथा ८ वें सूक्तकी व्याख्याके प्रसंगमें धर्मप्रचार प्रकरणमें अग्निदेव किस प्रकार ब्राह्मण उपदेशक ही है तथा वह किस प्रकार जलाता है अर्थात्

दुष्टोंको सुधारता है, इत्यादि सब विषय अतिस्पष्ट कर दिया है। इसलिये इन ७ और ८ वें सूक्तके स्पष्टीकरण पाठक यहां पहिले पढें और पश्चात् यह सूक्त पढें

संस्कृतमें "वि-दग्ध" (विशेष प्रकारसे जलाहुआ) यह शब्द "अति विद्वान्" के लिये प्रयुक्त होता है। यहां अज्ञानका दहन जलन आदि अर्थ समझना उचित है। जिस प्रकार अग्नि लोहे आदिको तपाकर शुद्ध करता है उसी प्रकार उपदेशक द्वारा प्रेरित ज्ञानाग्नि अज्ञानी मनुष्योंके अज्ञानको जला कर शुद्ध करता है। इस कारण "ब्राह्मण" के लिये वेदमें "अग्नि" शब्द आता है। ब्राह्मण और क्षत्रियके वाचक वेदमें "अग्नि और इन्द्र" शब्द प्रसिद्ध हैं। ब्राह्मणधर्म अग्नि देवताके और क्षात्रधर्म इन्द्र देवताके सूक्तोंसे प्रकट होता है। इत्यादि बातें विस्तारसे ७ और ८ वें सूक्तकी व्याख्याके प्रसंगमें स्पष्ट कर दी हैं। वही धर्म प्रचार की बात इस सूक्तमें है इसलिये पाठक उक्त पूर्व सूक्तोंके साथ इस सूक्तका संबंध देखें।

इस सूक्तमें "अमीव - चातनः" (रोगोंका दूर करनेवाला) यह शब्द विशेषण रूपमें आया है। यह यहां चिकित्सा द्वारा रोग दूर कर सकने वाले उत्तम वैद्यका बोध करता है। उपदेशक जैसा शास्त्रमें प्रवीण चाहिये वैसाही वह उत्तम वैद्य भी चाहिये। वैद्य होनेसे वह रोगोंकी चिकित्सा करता हुआ धर्मका प्रचार कर सकता है। धर्म प्रचारकके अन्य गुण सूक्त ७, ८ में देखिये।

दुर्जनोंके लक्षण।

इस सूक्तमें दुर्जनोंके पूर्वकी अपेक्षा कुछ अधिक लक्षण कहे हैं जो सूक्त ७, ८ में कहे लक्षणोंकी पूर्ति कर रहे हैं, इसलिये उनका विचार यहां करते हैं -

१ द्वयाविन - मनमें एक भाव और बाहर एक भाव ऐसा कपट करनेवाले। (मं. १) "किमीदिन्, यातुधानु" इन शब्दोंका भाव सूक्त ७, ८ की व्याख्याके प्रसंगमें बताया ही है। इस सूक्तमें दुर्जनों के कई व्यवहार बताये हैं, वेभी यहां देखिये -

२ शपनेन शशाप - शापसे शाप देना, बुरे शब्द बोलना, गालियां देना इ.। मं. ३

३ अघं मूरं आदधे - प्रारंभमें पापका भाव रखता है। हरएक काममें पाप दृष्टिसे ही उसका प्रारंभ करना।

४ रसस्य हरणाय जातं तोकं आरेभे - रक्त पीनेके लिये नवजात बच्चेको खाती है।

५ यातुधानी पुत्रं स्वसारं नप्त्यं अत्ति - यह दुष्ट आसुरी स्त्री बच्चा, बहिन अथवा नाती को खाती है।

६ विकेश्यः मिथः विघ्नतां, वितृह्यन्तां - आपसमें केश पकड कर परस्पर मार पीट करती है।

ये सब दुर्जन स्त्रीपुरुषोंके लक्षण हैं। बालबच्चोंको खानेवाले लोग इस समय अफ्रिकामें कई स्थानोंपर हैं, परंतु अन्य देशोंमें अब ये नहीं हैं। जहां कहीं यें हों, वहां धर्मोपदेशक चला जावे और उनको उपदेश देकर उत्तम मनुष्य बना देवे, ज्ञानी बनावे, उनकी दुष्टता दूर करके उनको सज्जन बना देवें।

ऐसे मनुष्य भक्षक दुष्ट, क्रूर, हिंसक, मनुष्योंमें भी जाकर धर्मोपदेश देकर उनको सुधारनेका यत्न करनेका उपदेश होनेसे इससे कुछ सुधरे हुए किंचित् ऊपरली श्रेणीके मनुष्योंमें धर्म जागृति करनेका आशय स्वयंही स्पष्ट हो जाता है।

दुष्टोंका सुधार।

दुष्ट लोगोमें दुष्टता होनेके कारण ही वे असभ्य समझे जाते हैं। उनती दुष्टता उपदेश आदि द्वारा हटाकर उनको सभ्य बनाना ब्राह्ममार्ग है और उनको दंड देकर डरावेसे उनका सुधार करनेका यत्न करना क्षात्र मार्ग है। वेदमें अग्निदेवता से ब्राह्ममार्ग और इन्द्र देवतासे क्षात्र मार्ग बताया है। जलाते या तपाते तो दोनों ही है, परंतु एक उपदेशद्वारा उनके अज्ञान को जलाता है। और दुसरा शस्त्र दण्ड और इसीप्रकार के कठोर उपायोंसे पीडा देकर उनको सुधारता है।

सुधार तो दोनोंसे होता है, परंतु क्षत्रियोंके दंडद्वारा तपाने के उपायसे ब्राह्मणोंके ज्ञानाग्निद्वारा तपानेका उपाय अधिक उत्तम है और इसमें कष्ट भी कम हैं।

पाठक अग्नि शब्द से आगका ग्रहण करके उससे दुष्टोंको जलानेका भाव इस सूक्तसे न निकालें, क्योंकि इस सूक्तका संबंध आगेपीछेके अनेक सूक्तोंसे है और अग्निके गुणोंके प्रमाण देकर ज्ञानी उपदेशक ही अग्निशब्दसे ऐसे सूक्तोंमें अभीष्ट है यह सूक्त ७, ८ के प्रसंगमें स्पष्ट बताया ही है। इसके अतिरिक्त "रोग दूर करनेवाला अग्नि" इस सूक्तमें कहा है यदि यह उन लोगोंको जलाही देवे तो उसके रोगमुक्त, करनेके गुणसे क्या लाभ हो सकता है। इसलिये यह अग्निका जलाना

"ज्ञानाग्निसे अज्ञानताका जलाना' ही है। दुष्ट गुणधर्मोंको हटाना और वहां श्रेष्ठ गुण धर्म स्थापित करना ही यहा अभीष्ट है और इसीलिये रोगमुक्त करनेवाला उत्तम वैद्यही धर्मोपदेशकका कार्य करे, यह सूचना इस सुक्तमें हमें मिलती है। क्योंकि रोगीके मनपर वैद्यके उपदेशका जैसा असर होता है वैसा वक्ताके व्याख्यानसे श्रोताओंपर नहीं होता। रोगीका मन आतुर होता है इसलिये श्रवण की हुई उत्तम बात उसके मनमें जम जाती हैं और इस कारण वह शीघ्र ही सुधर जाता है ॥

(यह तृतीय और चतुर्थ मंत्रमें "अत्तु" शब्द है जिसका अर्थ 'खावे' ऐसा होता है परंतु "शशाप आदधे" इन क्रियाओंके अनुसंधानसे "अत्तु" के स्थानपर "अत्ति" मानना युक्त है। क्योंकि यहां यातुधानोंकी रीति बताई है जैसे (शशाप) शाप देते रहते हैं, (अर्थ आदधे) पाप स्वीकारते रहते हैं, (तोके अत्ति) बच्चेको खाते रहते हैं अर्थात् यह उनकी रीति है। पूर्वापर संबंधसे यह अर्थ यहां अभीष्ट है ऐसा हमें प्रतीत होता है। तथापि पाठक अधिक योग्य और कोई अन्य बात इस सूक्तमें देखेंगे, तो अर्थकी खोज होनेमें अवश्य सहायता होगी।

॥ इति पंचम अनुवाक समाप्त ॥

राष्ट्र-संवर्धन-सूक्त।

(२९)

(ऋषिः - वसिष्ठः । देवता - अभीवर्तो मणिः)

अभीवर्तेन मणिना येनेन्द्रो अभिवावृधे । तेनास्मान् ब्रह्मणस्पतेऽभि राष्ट्राय वर्धय ॥ १ ॥

अभिवृत्य सपत्नानभि या नो अरातयः । अभि पृतन्यन्तं तिष्ठाभि यो नो दुरस्यति ॥ २ ॥

अभि त्वा देवः सविताभि सोमो अवीवृधत् । अभि त्वा विश्वा भूतान्यभीवर्तो यथाससि ॥ ३ ॥

अभीवर्तो अभिभवः सपत्नक्षयणो मणिः । राष्ट्राय मह्यं बध्यतां सपत्नेभ्यः पराभुवे ॥ ४ ॥

उदसौ सूर्यो अगादुदिदं मामकं वचः । यथाहं शत्रुहोऽसान्यसपत्नः सपत्नहा ॥ ५ ॥

सपत्नक्षयणो वृषाभिराष्ट्रो विषासहिः । यथाहमेषां वीराणां विराजानि जनस्य च ॥ ६ ॥

अर्थ - हे **(ब्रह्मणस्पते)** ज्ञानी पुरुष! **(येन इन्द्रः अभिवावृधे)** जिससे इन्द्रका विजय हुआ था **(तेन अभिवर्तेन मणिना)** उस विजय करनेवाले मणिसे **(अस्मान्)** हमको **(राष्ट्राय अभिवर्धय)** राष्ट्रके लिये बढा दो ॥१॥ **(याः नः अरातयः)** जो हमारे शत्रु हैं उनको तथा अन्य **(सपत्नान्)** वैरियोंको **(अभिवृत्य)** पराभूत करके, **(यः नः दुरस्यति)** जो हमसे दुष्टताका आचरण करता है तथा जो **(पृतन्यन्तं)** सेनासे हमपर चढाई करता है इससे **(अभि अभि तिष्ठ)** युद्ध करनेके लिये स्थिर हो जाओ ॥२॥ **(सविता देवः)** सूर्य देवने तथा **(सोमः)** चंद्रमा देवने भी **(त्वा)** तुझें **(अभि अभिअवीवृधत्)** सब प्रकारसे बढाया है। **(विश्वा भूतानि)** सब भूत **(त्वा अभि)** तुझे बढा रहे हैं, जिससे तू **(अभिवर्तः असंसि)** शत्रुको दबानेवाला हुआ है ॥३॥ **(अभिवर्तः)** शत्रुको घेरनेवाला, **(अभिभवः)** शत्रुका पराभव करनेवाला, **(सपत्नक्षयणः)** प्रतिपक्षियोंका नाश करनेवाला यह **(मणिः)** मणि है। यह **(सपत्नेभ्य पराभुवे)** प्रतिपक्षियोंका पराभव करनेके लिये तथा **(राष्ट्राय)** राष्ट्रके अभ्युदयके लिये **(मह्यं बध्यतां)** मुझपर बांधा जावे ॥४॥ **(असौ सूर्यः उदगात्)** यह सूर्य उदयको प्राप्त हुआ है, **(इदं मामकं वचः उत्)** यह मेरा वचन भी प्रकट हुआ है, **(यथा)** जिससे **(अहं शत्रुहः)** शत्रुका नाश करनेवाला, **(सपत्नहा)** प्रतिपक्षिका घात करनेवाला होकर मैं **(असपत्नः असानि)** शत्रुरहित होऊं ॥५॥ **(यथा)** जिससे **(अहं)** मैं **(सपत्न - क्षयणः)** प्रतिपक्षियोंका नाश करनेवाला, **(वृषा)**

बलवान् और (**विषासहिः**) विजयी होकर (**अभिराष्ट्रः**) राष्ट्रके अनुकूल बनकर तथा राष्ट्रकी सहायता प्राप्त करके (**एषां वीराणां**) इन वीरोंका (**जनस्य च**) और सब लोगोंका (**वि राजानि**) विशेष प्रकारसे रंजन करनेवाला राजा होऊं ॥६॥

भावार्थ - हे राष्ट्रके ज्ञानी पुरूषो ! जिस राजचिन्ह रूपी मणिको धारण करके इन्द्र विजयी हुआ था, उसी विजयी मणिसे हमें राष्ट्रके हितके लिये बढाइये ॥१॥ जो अनुदार शत्रु हैं और जो प्रतिपक्षी हैं उनको परास्त करनेके लिये, तथा जो हमसे बुरा व्यवहार करते हैं और जो हमपर सेना भेजकर चढाई करते हैं उनको ठीक करनेके लिये अपनी तैयारी करके आगे बढो॥२॥ सूर्य चन्द्र आदि देव तथा सब भूतमात्रा तुझे सहायता देकर बढा रहे है, जिससे तू सब शत्रुओंको दबानेवाला बन गया है ॥३॥ शत्रुको घेरनेवाला, वैरीका पराभव करनेवाला, प्रतिपक्षियोंको दूर करनेवाला यह राजचिन्ह रूपी मणि है। इसलिये, प्रतिपक्षियोंका पराभव करनेके लिये और अपने राष्ट्रका अभ्युदय करनेके लिये मुझपर यह मणि बांध दीजिये ॥४॥ जैसा यह सूर्य उदय हुआ है, वैसा यह मेरा वचन भी प्रकट हुआ है, अब तुम ऐसा करो कि जिससे मैं शत्रुका नाश करनेवाला, प्रतिपक्षियोंको दूर करनेवाला होकर शत्रु रहित हो जाऊं ॥५॥ मैं प्रतिपक्षियोंका नाश करके बलवान बनकर, विजयी होकर अपने राष्ट्रके अनुकूल कार्य करता हुआ अपने वीरोंका और अपने राष्ट्रके सब लोगोंका हित साधन करूंगा ॥६॥

अनुसन्धान

यह सूक्त राज प्रकरणका है इसलिये इसी कांढके अपराजित गणके सब सूक्तोंके साथ इसका विचार करना योग्य है। तथा आगे आनेवाले राज प्रकरणके सूक्तोंके साथ भी इसका संबंध देखने योग्य है। इससे पूर्व अपराजित गणके सूक्त २, १९, २०, २१ ये आये हैं, इसके अतिरिक्त अभय गण, सांग्रामिक गणके सूक्तोंके साथ भी इन सूक्तोंका विचार करना चाहिये।

अभीवर्त मणि।

जिस प्रकार राजाके चिन्ह राजदंड, छत्र, चामर आदि होते है उसी प्रकारका 'अभीवर्त मणि" भी एक राजचिन्ह है। इसके धारण करनेके समय यह सूक्त बोला जाता है।

देवोंका राजा इन्द्र है, उसका पुरोहित बृहस्पति ब्रह्मणस्पति। यह पुरोहित इन्द्रके शरीरपर यह अभीवर्त मणि बांधता। अर्थात् राज पुरोहित ही राजाके शरीरपर यह राजचिन्ह रूपी मणि बांध देवे। यहां संबंध देखनेसे स्पष्ट प्रतीत होता कि यह सूक्त संवाद रूप है। यह संवाद इस प्रकार है। देखिये-

इस सूक्तका संवाद।

राजा - हे पुरोहित जी! जो अभीवर्त मणि इन्द्रके शरीरपर देव गुरू बृहस्पतिने बांध दिया था और जिससे इन्द्र दिग्विजयी हुआ था, वह राजचिन्हरूपी मणि मेरे शरीरपर आप धारण कराइये, जिससे मैं राष्ट्रका वर्धन करनेमें समर्थ हो जाऊं ॥१॥

पुरोहित - हे राजन् ! जो अनुदार शत्रु हैं और जो प्रतिपक्षी हैं तथा जो हमारे राष्ट्रके साथ बुरा व्यवहार करते हैं और हमपर सैन्यसे चढाई करते हैं उन्हींको परास्त करनेकी तैयारी करो ॥२॥ सूर्य, चंद्र, तथा सब भूत तुम्हारी सहायता कर रहे है, जिससे तू शत्रुको दबा सकता है ॥३॥

राजा- पुरोहित जो ! यह राजचिन्ह रूपी मणि शत्रुको घेरने, वैरीका पराभव करने और प्रतिपक्षियोंको हटानेका सामर्थ्यदेनेवाला है। इसलिये विरोधियोंका पराभव और अपने राष्ट्रका अभ्युदय करनेके कार्यमें मुझे समर्थ बनानेके लिये मुझपर यह मणि बांध दीजिये ॥४॥ जैसा सूर्य उदयको प्राप्त होता है वैसाही मेरेसे शब्दोंका प्रकाश होता है, इसलिये आप ऐसा करें कि जिससे मैं शत्रुका नाश कर सकूं ॥५॥ मैं बलवान् बनकर प्रतिपक्षियोंको दूर करूंगा और विजयी होकर अपने राष्ट्रके अनुकूल कार्य करता हुआ अपने वीरोंका और राष्ट्रका हित करूंगा ॥६॥

पाठक यह संवाद विचारसे पढेंगे तो उनके ध्यानमें इस सूक्तका आशय शीघ्रतासे आसकेगा। राजा राजचिन्ह धारण करता है, उस समय पुरोहित राजासे प्रजाहितकी कुछ बातें करनेके लिये कहते हैं और राजा भी राष्ट्रहित करनेकी प्रतिज्ञा उस समय करता है। पुरोहित ब्राह्मशक्तिका और राजा क्षात्र शक्तिका प्रतिनिधि है। राष्ट्रकी ब्राह्मशक्ति पुरोहित मुखसे राजकर्तव्यका उपदेश राजाको कराती है, राजगद्दीपर राजाको रखना या न रखना राष्ट्रकी ब्राह्मशक्तिके आधीन रहना चाहिये। अर्थात् ब्राह्मशक्तिके आधीन क्षात्रशक्ति रहनी चाहिये। यह बात यहां प्रकाशित होती है। ज्ञानी लोगोंपर शुरोकी

हुकूमत न रहे, परंतु शूर ज्ञानीलोगोंके आधीन, कार्य करें। राष्ट्रकी (Civil and military) ब्राह्म तथा क्षात्र शक्ति एक दूसरेके साथ कैसा बर्ताव करे, यह इस सूक्तमें स्पष्ट हुआ है। ब्राह्मशक्ति द्वारा संमत हुआ राजा ही राजगद्दीपर आसकता है अन्य नहीं।

राजाके गुण।

इस सूक्तमें राजाके गुण बताये हैं, वे निम्न शब्दोंद्वारा पाठक देख सकते हैं -

१ अस्मान् राष्ट्राय अभिवर्धय - हमारी शक्ति राष्ट्रकी उन्नति के लिये बढे अर्थात् राजाके अंदर जो शक्ति बढती है वह राष्ट्रकी उन्नतिके लिये हीं सार्थकमें लगे, यही भाव राजाके अंदर रहे। अपनी बढी हुई तन मन धन आदि सब शक्ति अपने भोगके लिये नहीं है प्रत्युत राष्ट्रकी भलाईके लिये ही है यह जिस राजाका निश्चय होगा वही सच्चा राजा कहा जासकता है॥ (मंत्र १॥)

२ राष्ट्राय मह्यं बध्यतां सपत्नेभ्यः पराभुवे - राष्ट्रकी उन्नति और वैरियोंका पराभव करनेके लिये राजचिह्नरूपी मणि मेरे (राजाके) शरीरपर बांधा जावे। मणि आदि रत्न तथा अन्य राजचिन्ह जो राजा धारण करता है वह अपनी शोभा बढाने के लिये नहीं है, प्रत्युत वे केवल दो ही उद्देश्य के लिये हैं, १) राष्ट्रकी उन्नति हो, और २) जनताके शत्रु दूर किये जांय। राजाके अंदर यह शक्ति उत्पन्न करनेके लिये ही उसपर राजचिन्ह चढाये जाते हैं। (मंत्र ४)

३ अभिराष्ट्रः - (अभितः राष्ट्रं यस्य) जिसके चारों ओर राष्ट्र है, ऐसा राजा हो। अर्थात् राजा अपने राष्ट्रमें रहे,राष्ट्रके साथ रहे, राष्ट्रका बनकर रहे। राजाका हित राष्ट्रहित ही हो, और राष्ट्रका हित राजहित हो, अर्थात् दोनोंके हित संबंधमें फरक न रहे। राजाके लिये राष्ट्र अनुकूल रहे और राष्ट्रके लिये राजा अनुकूल हो। राष्ट्रहितका उच्च ध्येय अपने सामने रखनेवाले राजाका बोध इस शब्दसे होता है। जिस राजाके लिये अपनी जान देनेके लिये राष्ट्र तैयार होता है उस राजाका यह नाम है। यह शब्द आदर्श राजाका वाचक है। मंत्र ६)

४ शत्रुहः - शत्रुका नाश करनेवाला। (मं. ५)

५ असपत्नः - अंदरके प्रतिपक्षी या विरोधी जिसको न हों। (मं. ५)

६ सपत्न हा - प्रतिपक्षीका नाश करनेवाला, अर्थात् प्रतिपक्षियोंका पराभव करने वाला। (मंत्र ५) 'सपत्न क्षयणः' यह शब्दभी इसी अर्थमें (मं. ६ में) आया है।

७ वृषा - बलवान्। सब प्रकारके बलोंसे युक्त राजा होना चाहिये, अन्यथा वह परास्त होगा। (मं. ६)

८ विषासहिः - शत्रुके हमले होनेपर उनको सहन करके अपने स्थानसे पीछे न हटने वाला। (मं. ६)

९ वीराणां जनस्य च विराजानि - राष्ट्रके शूरवीर तथा राष्ट्रकी संपूर्ण जनता इन सबको संतुष्ट करनेवाला। (मं. ६)

१० प्रतिपक्षियोंको दबाना, वैरियोंका नाश करना, सेनाके साथ चढाई करनेवालेका प्रतिकार करना और जो दुष्ट व्यवहार करता है उसको ठीक करना आदि राजाके कर्तव्य (मंत्र २) में कहे हैं।

ये दश कर्तव्य राजाके इस सूक्तमें कहे हैं ये सब मनन करने योग्य हैं। ये सब कर्तव्य वही भाव बता रहेहैं कि राजा अपने भोगके लिये राजगद्दीपर नहीं आता है, प्रत्युत राष्ट्रका हित करनेके लिये ही आता है। यदि राजालोग इस सूक्तका अधिक मनन करके अपने लिये योग्य बोध लेंगे तो बहुत ही उत्तम होगा।

राजचिह्न।

छत्र, चामर, राजदण्ड, मणि, रत्न, रत्नमाला, मुकुट, विशेष कपडेलत्ते, राजसभाका ठाठ, हाथी, घोडे आदि सब जो राजचिन्ह रुपमें समझे जाते हैं, इन चिन्होंके धारण करनेसे जनतापर कुछ विशेष प्रभाव पडता है और उस प्रभाव के कारण राजाके इर्द गिर्द शक्ति केन्द्रीभूत हो जाती है। यद्यपि इस प्रत्येक चिन्हमें कोई विशेष शक्ति नहीं होती, तथापि राजचिन्ह धारण करनेवाले साधारण सिपाहीमें भी अन्य सामान्य जनोंकी अपेक्षा कुछ विशेष शक्ति होनेका अनुभव हरएक करता है, इसी प्रकार उक्त चिन्होंके कारण अमूर्त राज शासनका एक विशेष प्रभाव जनतापर पडता है जिस कारण राजा शक्तियोंका केन्द्र बनता है। जिस समय अपने चिन्होंसे और संपूर्ण ठाठसे राजा जाता है उस समय उसका बडाभारी प्रभाव सामान्यजनता पर पडता है, इसी कारण राजामें शक्ति इकट्ठी होती है। इस सूक्तके चतुर्थ मंत्रमें 'यह मणि ही शत्रुनाश करनेवाला, प्रभाव बढानेवाला, राष्ट्रहित साधन करनेवाला है" इत्यादि कहा है, उसका भाव उक्त प्रकार ही समझना योग्य है। सिपाहीकी शक्ति उसके चिह्नोंसे ही उसमें आती है। और यह शक्ति वास्तविक नहि प्रत्युत एक विशेष भावनासे ही उत्पन्न होती है। संपूर्ण राजचिह्नोंकी शक्ति इसी प्रकार भावनात्मक है। अस्तु, अब शत्रूके लक्षण देखीये–

शत्रुके लक्षण।

इस सूक्तमें निम्नलिखित प्रकारमें शत्रू के लक्षणोंका वर्णन किया है -

१. **यः दुरस्यति** - जो दुष्ट व्यवहार करता है। (मं.२)

२. **सपत्नः** - भिन्न पक्षका मनुष्य। राष्ट्रमें जितने पक्ष होंगे। उतने पक्षवाले आपसमें सपत्न होंगे। सपत्न शब्द (Party Politics) पक्षभेद का राजकारण बता रहा है।

३. **अरातिः**-अनुदार, जो मनमें श्रेष्ठ भाव नहीं रखता।

४. **पृतन्यन्** - सैन्यसे चढाई करनेवाला।

इन शब्दोंके विचारसे शत्रुका पता लग सकता है। इनमें कई अंदरके शत्रु है और कई बाहर के है।

सबकी सहायता।

तृतीय मंत्रमें कहा है की "सूर्य-चन्द्र और सब भूतमात्रा जिस राजाके सहायक होते हैं वह शत्रुको पराजित करता है ॥" (मं ३) इसमें सूर्य चंद्र आदि शब्द बाह्य सृष्टिकी सहायता बता रहे हैं, (Nature's help) निसर्गकी सहायता राजाकी शक्तिका एक महत्त्वपूर्ण भाग है। राष्ट्रकी रचना ही ऐसी हो कि जहां शत्रुका प्रवेश सुगमतासे न हो सके। यह एक शक्ति ही है।

दूसरी शक्ति (विश्वा भूतानि) सब भूत मात्रसे प्राप्त होती है। पंचमहाभूतोंसे शक्ति प्राप्त करनेकी भी बात इसमें सुगमतासे ज्ञात हो सकती है। "भूत" शब्दका दूसरा प्रसिद्ध अर्थ"प्राणी, मनुष्य" ऐसा होता है। जिस राजाको राष्ट्रके सब प्राणी और सब मनुष्य सहायक हों, उसकी शक्ति विशेष होगी ही, इसमें क्या संदेह है? यही सब जनताकी शुभ इच्छासे प्राप्त होनेवाली शक्ति है जो राजाको अपने पास रखनी चाहिये क्योंकि इसीपर राजाका चिरस्थायित्व अवलंबित है ॥

वैदिक राजप्रकरणके विषयमें इस सूक्तमें बडा अच्छा उपदेश है। यदि पाठक अधिक मनन करेंगे तो उनको राजप्रकरणके बहुत उत्तम निर्देश इस सूक्तमें मिल सकते हैं।

केवल राष्ट्रके लिये।

इस सूक्तके अंदर कई सामान्य निर्देश भी हैं जिनका यहां विचार करना आवश्यक है। इससे पाठकोंको इस बातका भी पता लग जायगा कि वेदके विशेष उपदेशोंसे भी सामान्य निर्देश कैसे प्राप्त होते हैं। देखिये प्रथम मंत्रमें कहा है -

अस्मान् राष्ट्राय अभिवर्धय। (मंत्र १)

इसका अर्थ - "हमें राष्ट्रके लिये बढाओ" अर्थात् हमारी उन्नति इसलिये करो कि हम राष्ट्रहित साधन करनेके योग्य बनें। हमारा शरीर सुदृढ हो, हमारी आयु दीर्घ हो, हमारे इंद्रिय अधिक कार्यक्षम बनें, हमारा मन मननशक्तिसे युक्त हो, हमारी बुद्धि ज्ञानसे परिपूर्ण हो, हममें आत्मिक बल बढे, तथा हमारी कौटुंबिक, सामाजिक तथा अन्यान्य शक्तियां बढें। ये सब शक्तियां इसलिये बढें कि इनके योगसे हमारा राष्ट्र अभ्युदयसे युक्त हो। इन शक्तियोंकी वृद्धि इसलिये नहीं करनी है कि इनसे केवल व्यक्तिका ही सुख बढें, केवल एक जातीके हाथमें अधिकार रहे, या किसी एक कुलके पास परम अधिकार हो जाय, परंतु ये शक्तियां इसलिये बढानी चाहिये कि इनके संयोगसे राष्ट्रकी प्रगति हो, राष्ट्रकी उच्चता हो।

सामान्य अर्थ देखनेके समय इस प्रथम मंत्रका "अस्मान्" शब्द बडा महत्त्व रखता है। इसका अर्थ होता है "हम सबको"। अर्थात् हम सबको मिलकर राष्ट्र हितके लिये वृद्धिंगत करो। इसका स्पष्ट तात्पर्य यह है कि किसी एककी ही उन्नति या किसी एककी शक्तिका विकास ही यहां अपेक्षित नहीं है, परंतु सबकी शक्तिका विकास यहां अपेक्षित है। राष्ट्रीय उन्नतिके लिये जो प्रजाजनोंकी शक्तिका विकास करना है वह हरएक प्रजाजनका, किसी प्रकार भी पक्षपात न करते हुए, करना चाहिये। अर्थात् जातिविशिष्ट या संघविशिष्ट पक्षपातके लिये यहां कोई स्थान रहना नहीं चाहिये।

जो मैं करता हूं वह राष्ट्रके लिये समर्पित हो यही भाव हरएकके मनमें रहना चाहिये।

राष्ट्राय मह्यं बध्यतां।
सपत्नेभ्यः पराभुवे ॥ (मं. ४)

"मुझे राष्ट्रके लिये बांध दे ताकि मैं राष्ट्रके शत्रुओंका पराभव कर सकूं।" यह भाव मनमें धारण करना चाहिये। मैं राष्ट्रके साथ बांधा जाऊँ, मेरा अपने राष्ट्रके साथ ऐसा संबंध जुड जाय कि वह कभी न टूटे, राष्ट्रका हित और मेरा हित एक बने, मैं राष्ट्रके लिये ही जीवित रहूं, इत्यादि प्रकारके भाव उक्त मंत्रमें है। जो जिसके साथ बांधा जाता है वह उसीके साथ रहता है। यदि स्वराष्ट्रभिमानसे मनुष्य राष्ट्रके साथ एक बार अच्छी प्रकार कसकर बांध जाय तो वह वहांसे नहीं हटेगा। इसी प्रकार मनुष्य अपने राष्ट्रके साथ बांधे जाय और ऐसा परस्पर संबंध जुडनेके कारण राष्ट्रमें अपूर्व संघ शक्ति उत्पन्न हो यह बात वेदको अभीष्ट है।

हरएक मनुष्य 'अभिराष्ट्र' (मं ६) बने अर्थात् राष्ट्रहित करनेका ध्येय अपने सन्मुख रखे। वह मनुष्य कहीं भी जाय, कुछ भी कार्य करे, उसके सन्मुख अपने राष्ट्रके अभ्युदयका विचार जाग्रत रहे। इस प्रकार जिसके

मनके सामने राष्ट्रका विचार सदा जाग्रत रहता है, उसीको वेद 'अभिराष्ट्र' कहता है (अभितः राष्ट्रं) अपने चारों ओर अपना राष्ट्र है ऐसा माननेवाला हरएक अवस्थामें अपने संमुख अपने राष्ट्रको देखनेवाला जो होता है उसका यह नाम है ।

'राष्ट्र' का अर्थ

राष्ट्र शब्द केवल देश अथवा केवल जनताका वाचक वेदमें नहीं है, केवल भूमिके एक विभागपर रहनेवाले मनुष्य समाजका बोध 'राष्ट्र' शब्दसे वेदमें नहीं होता है। इस प्रकारके राष्ट्र भूमिपर बहुत होंगे, परंतु वेद जिसको राष्ट्र कहता है, वैसे राष्ट्र कितने होंगे इसका विचार पाठकोंको अवश्य करना चाहिये वेदमें राष्ट्र शब्द (राजते तत् राष्ट्रं) जो चमकता है, वह राष्ट्र है, इस अर्थका बोधक है । जो मनुष्योंका समुदाय भूमंडल पर अपने कमाये यशसे चमकता है और सब अन्य लोगोंकी आंख अपनी ओर खींच सकता है वही वैदिक दृष्टिसे राष्ट्र है । अन्य मानवी समुदाय राष्ट्र नहीं है । इस प्रकारके राष्ट्र विस्तारसे छोटा हो या बडा हो, वह राष्ट्र ही कहलायेगा । परंतु जो विस्तारसे अति प्रचंड हो, परंतु यशकी दृष्टिसे जिसमें चमकाहट न हो तो वह राष्ट्र नहीं होगा । वैदिक धर्मियोंको अपने परिश्रमसे अपने राष्ट्रमें इस प्रकारका तेज उत्पन्न करना चाहिये और बढाना चाहिये, तभी उनके देशका नाम वैदिक रीतिसे राष्ट्र होगा । वेदमें राष्ट्रवर्धन विषयक अनेक सूक्त हैं और उनका परस्पर निकट संबंध भी है। पाठक जिस समय इन सूक्तोंका विचार करने लगें उस समय आगे पीछेके राष्ट्रीय सूक्तोंका संबंध अवश्य देखें और सब उपदेशका इकट्ठा मनन करें ।

पाठक इस प्रकार मंत्रोंके सामान्य उपदेशोंसे अधिक मनन करके बोध उठावें । वेदमें राष्ट्रहितके उपदेश किस प्रकार स्पष्ट रूपमें हैं यह इस रीतिसे पाठक देख सकते हैं।

आयुष्य-वर्धन-सूक्त ।

(३०)

(ऋषिः - अथर्वा आयुष्यकामः । देवता विश्वे देवाः)

विश्वे देवा वसवो रक्षतेममुतादित्या जागृत यूयमस्मिन् ।
मेमं सनाभिरुत वान्यनाभिर्मेमं प्रापत् पौरुषेयो वधो यः ॥ १ ॥
ये वो देवाः पितरो ये च पुत्राः सचेतसो मे शृणुतेदमुक्तम् ।
सर्वेभ्यो वः परि ददाम्येतं स्वस्त्यैनं जरसे वहाथ ॥ २ ॥
ये देवा दिवि ष्ठ ये पृथिव्यां ये अन्तरिक्ष ओषधीषु पशुष्वप्स्वन्तः ।
ते कृणुत जरसमायुरस्मै शतमन्यान्परि वृणक्तु मृत्यून् ॥ ३ ॥
येषां प्रयाजा उत वानुयाजा हुतभागा अहुतादश्च देवाः ।
येषां वः पञ्च प्रदिशो विभक्तास्तान्वो अस्मै संत्रसदः कृणोमि ॥ ४ ॥

अर्थ - हे **(विश्वे देवाः)** सव देवो ! हे (वसवः) वसुदेवो! **(इमं रक्षत)** इसकी रक्षा करो । **(उत)** और हे **(आदित्याः)** आदित्य देवो ! **(यूयं अस्मिन् जागृत)** तुम इसमें जागते रहो । **(इमं)** इस पुरुषको **(सनाभिः)** अपने बंधुका **(उत वाअन्य - नाभिः)** अथवा किसी दुसरेका **(वधः मा प्रापत्)** वधकारक शस्त्र न प्राप्त करे, न प्रहार करे तथा **(यः पौरुषेयः वधः)** जो पुरुष प्रयत्नसे होनेवाला घातपात है वह भी **(इमं मा प्रापत्)** इसको प्राप्त न करे ॥१॥ हे **(देवाः)** देवो **(ये वः पितरः)** जो आपके पिता है तथा **(च ये पुत्राः)** जो पुत्र हैं वे सब **(स - चेतसः)** सावधान

होकर **(मे इदं उक्तं श्रृणुत)** मेरा यह कथन श्रवण करें **(सर्वेभ्यो वः एतं परिददामि)** सब आपकी निगरानीमें इसको मैं देता हूं **(एनं जरसे स्वस्ति वहाथ)** इसको वृद्ध आयुतक सुखपूर्वक पहुंचा दो ॥२॥ **(ये देवाः दिवी स्थ)** जो देव द्युलोकमें हैं, **(ये पृथिव्यां, ये अन्तरिक्षे)** जो पृथ्वीमें और अंतरिक्षमें हैं और जो **(ओषधीषु पशुषु अप्सु अन्तः)** औषधि, पशु और जलोंके अंदर हैं **(ते अस्मै जरसं आयुः कृणुत)** वे इसके लिये वृद्धावस्थावाली दीर्घ आयु करें ।यह पुरूष **(शतं अन्यान् मृत्यून् परिवृणक्तु)** सैंकडों अन्य अपमृत्युको हटा देवे ॥३॥ **(येषां)** जिन तुम्हारे अंदर **(प्रयाजाः)** विशेष यजन करनेवाले, **(उत वा अनुयाजाः)** अथवा अनुकूल यजन करनेवाले तथा **(हुत - भागाः अहुतादः च देवाः)** हवनमें भाग रखनेवाले और हवन किया हुआ न खानेवाले जो देव हैं , **(येषां वः पञ्च प्रदिशः विभक्ताः)** जिन आपकी ही पांच दिशायें विभक्त की गई हैं, **(तान् वः)** उन तुमको **(अस्मै)** इस पुरूषकी दीर्घ आयुके लिये **(सत्र-सदः कृणोमि)** सदस्य करता हूं ॥४॥

भावार्थ - हे सब देवो, हे वसुदेवो ! मनुष्यकी रक्षा करो! हे आदित्य देवो ! तुम मनुष्यमें जाग्रत रहो । मनुष्यको उसीके बंधुसे अथवा कोई अन्य मनुष्यसे अथवा कोई पुरूषसे वध न हो ॥१॥ हे देवो ! जो तुम्हारे पिता हैं और जो तुम्हारे पुत्र हैं वे सब मेरा कथन सुनें । मनुष्यको पूर्ण दीर्घ आयुतक ले जाना तुम्हारे आधीन है, अतः मनुष्यकी दीर्घ आयु करो ॥२॥ जो देव द्युलोक, अंतरिक्षलोक, भूलोक, औषध, पशु, जल आदिमें हैं वे सब मिलकर मनुष्यकी दीर्घ आयु करें । तुम्हारी सहायतासे मनुष्य सैंकडों अपमृत्युसे बचें ॥३॥ विशेष याजन करनेवाले, अनुकूल याजन करनेवाले, हवनका भाग लेनेवाले तथा हवन किया हुआ न खानेवाले जो देव हैं और जिन्होंने पांच दिशाएं विभक्त की है, वे सब आप देव मनुष्यकी आयुष्यवर्धक सभाके सदस्य बनें और मनुष्यकी आयु दीर्घ बनानेमें सहायता करें ॥४॥

आयुका संवर्धन ।

मनुष्यका आयुष्य न केवल पूर्ण होना चाहिये प्रत्युत अतिदीर्घ होना चाहिये । पूर्ण आयुष्यकी मार्यादा तो १२० वर्षोंकी हे इससे कम १०८ वर्षकी और इससे कम १०० सौ वर्षकी है । सौ वर्षकी मर्यादा तो हरएकको प्राप्त होनी ही चाहिये, परंतु उसके प्रयत्न इससे अधिक आयुष्य प्राप्त करनेकी और होने चाहिये इसका सूचक मंत्र यह है -

भृगश्च शरदः शतात् । यजुर्वेद. ३६।२४

सौ वर्षोंसे भी अधिक आयु प्राप्त हो । १२० वर्षोंसे अधिक आयु जितनी भी होगी वह दीर्घ या अतिदीर्घ संज्ञाको प्राप्त होगी । अर्थात् अति दीर्घ आयु प्राप्त करनेका पुरुषार्थ करना वैदिक धर्मके अनुकूल है । इस दीर्घ आयुष्यकी प्राप्तिकी वैदिक रीति इस सूक्तमें दर्शाई है, इसलिये पाठक इस सूक्तका विचार करें तथा जो जो सूक्त इस विषयके साथ संबंध रखनेवाले हैं उनकाभी मनन इसके विचारके साथ करें।

सामाजिक निर्भयता ।

दीर्घ आयुष्यकी प्राप्तिके लिये समाजमें - सामाजिक, तथा राष्ट्रीय दृष्टिमें, तथा धार्मिक और अन्यान्य दृष्टियोंसे निर्भयता रहनी अत्यंत आवश्यक है। निर्भयता - सुरक्षितता न रहेगी तो मनुष्य दीर्घायु हो नही सकते । समाजमें कोई एक दुसरेपर हमला करनेवाला न हो, इस प्रकारका समाज बनना चाहिये। राजनैतिक कारणसे हो, धर्मके नामपर हो, अथवा किसी दूसरे निमित्तसे हो, कानून अपने हाथमें लेकर एक दूसरेपर हमला करना किसीको भी उचित नहीं है, यह दर्शानेके लिये प्रथम मंत्रका उत्तरार्ध है, इसका आशय यह है -

"इस मनुष्यका वध कोई सजातीय, अन्य जातीय या कोई अन्य मनुष्य किसी साधनसे न करे ॥" (मंत्र १)

यह वेदका उपदेश मनुष्य मात्रके लिये है, हरएक मनुष्य यह ध्यानमें रखे और अपने आचरणमें ढालनेका प्रयत्न करे। "मैं किसीका वध न करूंगा, किसी दूसरेकी हिंसा मैं नही करूंगा। मैं अहिंसा वृत्तिसे आचरण करूंगा।" यह प्रतिज्ञा हरएक मनुष्य करे और तदनुकूल आचरण करें ।

इस मंत्रमें जो शांति वर्णन की है वह मनुष्य मात्रमें स्थिर रहनी चाहिये, यह बुनियाद है और इसी अहिंसा वृत्तिपर दिर्घायुका मंदिर खडा होना है। जबतक मनुष्यमें हिंसक वृत्ति रहेगी तब तक वह दीर्घायु बन नहीं सकता। घातपात करनेकी वृत्ति, क्रोधकी लहर, दूसरे का खून करनेकी वासना, दूसरेको दबाकर अपनी धनसंपत्ति बढानेकी अभिलाषा जबतक रहेगी तब तक मनुष्यकी आयु क्षीण ही होती जायगी। इसलिये वध करनेकी वृत्ति

अपने समाजमें से दूर करनेका यत्न मनुष्य प्रथम करें ।

देवोंके आधीन आयुष्य ।

मनुष्यका समाज जितना अहिंसावृत्तिवाला होगा उतनी उसकी आयुष्यमर्यादा दीर्घ होसकती है । यह बात जितनी सिद्ध होगी उतनी सिद्ध करके आगेका मार्ग आक्रमण करना चाहिये । आगेका मार्ग यह है कि - "अपना आयुष्य देवोंके आधीन है, देव हमारी रक्षा कर रहे हैं" यह भाव मनमें धारण करना । इसकी सुचना प्रथम मंत्रके पूर्वार्धने दी है, उसका आशय यह है -

"हे सब वसुदेवो ! मनुष्यकी रक्षा करो । हे सब आदित्यो ! मनुष्यमें जागते रहो ।" (मंत्र १)

इस मंत्रमें भी दो भाग हैं । पहिले भागमें वसु देवोंकी रक्षक शक्तिके साथ संबंध बताया है और दूसरे भागमें आदित्य देवोंको मनुष्यके अंदर, मनुष्यके देहमें, जाग्रत रहनेकी सूचना दी है । ये दोनों बातें दीर्घ आयु करनेके लिये अत्यंत आवश्यक हैं । अब इनका संबंध देखिये -

सबसे पहिले मनुष्य यह विचार मनमें धारण करे कि संपूर्ण देव मेरी रक्षा कर रहे हैं, परब्रह्म परमात्मा सर्वेश्वर सर्व समर्थ प्रभु मेरी रक्षा कर रहा है और उसकी आधिनता में सूर्यादि सब देव सदा मेरी रक्षा कर रहे हैं। मैं परमात्माका अमृत पुत्र हूं इसलिये मेरा परमपिता परमात्मा मेरी रक्षा करता था, करता है और करताही रहेगा । परमात्माके आधीन अन्य सब देव होनेके कारण वे भी उस परमात्माके पुत्रकी रक्षा अवश्य करेंगे ही ।

इस प्रकार संपूर्ण देव मेरा संरक्षण करते हैं इसलिये मैं निर्भय हूं यह विचार मनमें दृढ करके मनके अंदर जो जो चिन्ताके विचार आयेंगे उनको हटाना चाहिये और विश्वाससे मनकी ऐसी दृढ अवस्था बनानी चाहिये कि जिसमें चिंताका विचार ही न उठे और चिंतारहित निर्भय होनेके भाव आनंद वृत्तिके साथ मनमें रहें । दीर्घायुष्यके लिये इस प्रकार परमात्मा पर तथा अन्यान्य देवोंकी संरक्षक शक्तिपर अपना पूर्ण विश्वास रखना चाहिये, अन्यथा दीर्घ आयुष्य प्राप्त होना असंभव है ।

कई पाठक शंका करेंगे कि अन्यान्य देव हमारी रक्षा किस प्रकार कर रहे हैं । इस विषयमें इससे पूर्व कई स्थानोंपर उल्लेख आगया है । तथापि संक्षेपसे यहांभी इसका विचार करते हैं । पाठक जानते ही हैं कि प्रथम मंत्रमें 'वसु' देवोंका उल्लेख है, ये सब जगत्के निवासक देव होनेके कारण ही इनको "वसु" कहते हैं । सबके जो निवासक होते हैं वे सबकी रक्षा अवश्य ही करेंगे ।

सब वसुओंका भी परम वसु परमात्मा है क्योंकि वह जैसा सब जगत् को वसाता है इसी प्रकार जगत्के संरक्षक सब देवोंको भी बसाता है । उसके बाद पृथ्वी, आप, अग्नि, वायु, आकाश, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, ये अष्टवसु हैं ऐसा कहा जाता है । भूमि, जल, अग्नि, वायु, आकाश, सूर्य आदि के साथ हमारे क्षणक्षणके आयुष्यका संबंध है, इनमें से एकका भी संबंध हमसे टूट गया तो हमारा नाश होगा । इतना महत्त्व इनका है और इसी कारण इनके रक्षणमें सदा मनुष्य रहता है ऐसा ऊपरवाले मंत्रमें कहा है । इससे स्पष्ट हुआ कि मनुष्य की रक्षा इन देवोंके कारण हो रही है और अति निःपक्षपातसे हो रही है । ये देव कभी किसीका पक्षपात नहीं करते हैं । सूर्य सबपर एकसा प्रकाशता है, वायु सबके लिये एकसा बह रहा है, जल सबके लिये आकाशसे गिरता है, पृथ्वी सबको समानतया आधार दे रही है, इस प्रकार ये सब देव न केवल सबकी रक्षा कर रहे हैं प्रत्युत सबके साथ निःपक्षपातका भी बर्ताव कर रहे हैं ।

हमारे जीवनके साथ इनका संबंध इतना घनिष्ट है कि इनके बिना हमारा जीवन ही अशक्य है । वायुके बिना प्राण धारण कैसी होगी ? सूर्यके बिना जीवन ही असंभव होगा, इत्यादी प्रकार पाठक देखें और मनमें निश्चयपूर्वक यह बात धारण करें कि परमात्माके नियमके आधीन रहते हुए ये सब देव हमारी रक्षा कर रहे हैं ।

हम क्या करते हैं ?

सब देव तो हमारी रक्षा कर ही रहे हैं, परंतु हम क्या कर रहे हैं, हम उनकी रक्षामें रहनेका यत्न कर रहे हैं या उनकी रक्षासे बाहर होनेके यत्नमें हैं ? इसका विचार पाठकोंको करना चाहिये । देखिये, परमात्माकी और देवोंकी रक्षासे हम कैसे बाहर जाते हैं । परमात्मापर जो विश्वास ही नहीं रखते वे परमात्माकी रक्षासे बाहर हो जाते है । दयामय परमात्मा तब भी उनकी रक्षा करता ही रहता है यह उनकी ही अपार दया है, परंतु ये अविश्वासी लोग उनकी अपार दयासे लाभ नहीं उठाते। अविश्वासके कारण जितनी हानि है, किसी अन्य कारणसे नहीं हो सकती । दीर्घ आयुकी प्राप्तिके लिये इसी कारण मनमें परमात्मविषयक दृढ विश्वास चाहिये ।

इसके बाद सूर्य अपने प्रकाशसे सबको जीवनामृत देकर सबकी रक्षा कर ही रहा है, परंतु मनुष्य सूर्य

प्रकाशसे दूर रहते है, तंग गलियोंके तंग मकानोंमें रहते हैं, दिनभर कमरोंमें अपने आपको बंद रखते हैं और इस प्रकार सूर्यदेवकी संरक्षक शक्तिसे अपने आपको दूर रखते हैं। इनके लिये भगवान् सहस्ररश्मी सूर्यदेव क्या कर सकते हैं? इसी प्रकार वायु और जल आदि देवोंके विषयमें समझना उचित है। ये देव तो सबकी रक्षा कर ही रहे हैं परंतु मनुष्योंको भी चाहिये कि वे इनकी उत्तम रक्षासे अपने आपको दूर न रखें और जहांतक होसके उतना प्रयत्न करते उनकी रक्षामें अपने आपको अधिक रखें।

पाठक यहां समझ ही गये होंगे कि संपूर्ण देव मनुष्यमात्रकी किस रीतिसे रक्षा कर रहे है और मनुष्य उनकी रक्षासे किस प्रकार दूर होते हैं और स्वयं अपना नुकसान किस प्रकार कर रहे हैं।

आदित्य देवोंकी जाग्रती।

इस प्रथम मंत्रमें दीर्घ आयुष्य वर्धक एक महत्त्वपूर्ण बात कही है वह यह है - "हे अदित्य देवो! इस मनुष्यमें जाग्रत रहो।" मनुष्यके अंदर आदित्यसे ही सब जीवन शक्ति आरही है। यह जीवन शक्ति जैसी मनुष्यमें कार्य करती है उसी प्रकार सब जगत्में कार्य कर रही है, इसी शक्तिसे सब जगत् चल रहा है। परंतु यहां मनुष्यका ही हमें विचार करना है। मनुष्यमें यह आदित्य शक्ति मस्तिष्कमें रहती है, नेत्रमें रहती है, और पेटमें रहती है। मस्तिष्कमें, नेत्रमेंमज्ञा केंद्र चलाती है, पेटमें पाचक केंद्रको चेतना देती है और नेत्रमें देखनेका व्यापार कराती है। इनमेंसे कोई भी आदित्य शक्ति कम हुई तो भी मनुष्यका आयुष्य घटता जायगा। मस्तिष्कका मज्ञाकेंद्र आदित्य शक्तिसे हीन होगया तो संपूर्ण शरीर चेतना रहित हो जाता है पेटका पाचक केंद्र आदित्य शक्तिसे हीन होगया तो हाजमा बिगड जाता है, नेत्रकी आदित्यशक्ति हटगई तो मनुष्य अंधा बनता है और उसके सब व्यवहार ही बंद हो जाते हैं। इतना महत्त्व इस आदित्य शक्तिका मनुष्यके अथवा प्राणीके शरीरमें है। इसलिये वेदमें कहा है कि -

सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च। ऋग्वेद. १।११५।१

"यह आदित्य सूर्य ही स्थावर जंगम जगत्का आत्मा है।" पाठक इस मंत्रका आशय ध्यानमें रखें और अपने अंदरकी आदित्य शक्ति सदा जाग्रत रखनेका अनुष्ठान करें। सूर्यभेदन व्यायाम और सूर्यभेदी प्राणायाम द्वारा पेटके स्थानमें रहनेवाली आदित्य शक्ति जाग्रत हो जाती है, ध्यान धारणा द्वारा मस्तिष्ककी आदित्य शक्ति जाग्रत होती है, तथा त्राटक आदि अभ्यास द्वारा नेत्रकी आदित्य शक्ति जाग्रत हो जाती है। इस प्रकार योगाभ्यास द्वारा अपने अंदरकी आदित्य शक्ति जाग्रत और बलयुक्त करनेसे मनुष्य दीर्घजीवी हो सकता है।

इस प्रथम मंत्रके ये उपदेश यदि पाठक ध्यानमें धारण करेंगे और इन उपदेशोंका योग्य अनुष्ठान करेंगे तो उनकी आयु बढ जायगी इसमें कोई संदेह ही नहीं है।"समाजमें निर्भयता, परमेश्वरपर दृढनिष्ठा, वायु जल सूर्य आदि देवताओंसे अधिक संबंध करना और अपने अंदर आदित्य शक्तियोंकी जाग्रती करना" यह संक्षेपसे दीर्घायु प्राप्त करनेका मार्ग है।

इसी मार्गका थोडासा स्पष्टीकरण आगेके मंत्रोंमें है, वह अब देखिये -

देवोंके पिता और पुत्र।

इस आयुष्यवर्धन सूक्तके द्वितीय मंत्रमें कहा है, कि "हे देवो! जो तुम्हारे पिता है और तुम्हारे पुत्र हैं वे मेरी बात सुनें! मैं तुम्हारे ही आधीन इस मनुष्यको करता हूं, तुम इसको दीर्घ आयुष्य तक सुखसे पहुंचाओ।" (मंत्र २)

इस द्वितीय मंत्रमें "देव, देवोंके सब पिता और देवोंके सब पुत्र ये सब मनुष्यको सुखसे दीर्घ आयुष्य तक पहुंचानेवाले हैं" ऐसा कहा है, यह सुचना मनन करने योग्य है। यह मंत्र ठीक समझमें आनेके लिये देव कौन हैं, उनके पिता कौन हैं और उनके पुत्र कौन हैं, इसका विचार करना यहां अत्यंत आवश्यक है। अथर्ववेदमें इन पिता पुत्रोंका वर्णन इस प्रकार आया है -

दश साकमजायन्त देवा देवेभ्यः पुरा।
यो वै तान्विद्यात्प्रत्यक्षं स वा अद्य महद्वदेत् ॥३॥
प्राणापानौ चक्षुःश्रोत्रमक्षितिश्च क्षितिश्च या।
व्यानोदानौ वाङ्मनस्ते वा आकूतिमावहन् ॥४॥
कुत इन्द्रः कुतः सोमः कुतो अग्निरजायत।
कुतस्त्वष्टा समभवत्कुतो धाताऽजायत ॥८॥
इन्द्रादिन्द्रः सोमात्सोमो अग्नेरग्निरजायत।
त्वष्टा ह जज्ञे त्वष्टुर्धातुर्धाताऽजायत ॥९॥
ये त आसन्दश जाता देवा देवेभ्यःपुरा।
पुत्रेभ्यो लोकं दत्वा कस्मिंस्ते लोक आसते ॥१०॥

(अथर्व. ११।८।१०)

(पुरा) सबसे प्रथम (देवेभ्यः दश देवाः) देवोंसे दश देव (साकं अजायन्त) साथ साथ उत्पन्न हुए। जो इनको प्रत्यक्ष जानेगा, (सः अद्य महत् वदेत्) वह बडे ब्रह्मके विषयमें बोलेगा। वही ब्रह्मका ज्ञान कहेगा ॥३॥ प्राण,

अपान, चक्षु, श्रोत्र, (अ-क्षितिः) अविनाशी बुद्धि, और (क्षितिः) नाशवान चित्त, व्यान, उदान, वाचा और मन ये दस देव तेरे (आकूतिं आवहन्) संकल्पको उठाते हैं ॥४॥ से इन्द्र, सोम, और अग्नि होगये ? कहांसे त्वष्टा हुआ, और धाताभी कहांसे हो गया ? ॥८॥ इन्द्रसे इन्द्र, सोमसे सोम, अग्निसे अग्नि, त्वष्टासे त्वष्टा, और धातासे धाता हुआ है ॥९॥ (ये पुरा देवेभ्यः दश देवाः) जो पहिले देवोंसे दश देव हुए हैं, (पुत्रेभ्यो लोकं दत्वा) पुत्रोंको स्थान देकर वे स्वयं (कस्मिन् लोके आसते) किस लोकमें बैठे हैं? ॥१०॥

इन मंत्रोंमें देव, देवोंके पिता और पुत्र कौनसे हैं इसका वर्णन है। प्राण अपानादि दश देव इन्द्रादि देवोंसे बने हैं और वे पुत्र रूप देव इस शरीरमें रहते हैं, इन पुत्रदेवोंके पिता देव इस जगत्में है और उनके भी पिता परमात्मामें रहते हैं, इसका स्पष्टीकरण यह है - प्राणरूप देव मनुष्य शरीरमें हैं, वह जगत्में संचार करनेवाले वायुका पुत्र है, और इस वायुकाभी पिता - वायुका भी वायु- परमपिता परमात्मा है । इसी प्रकार चक्षुरूपी पुत्रदेव शरीरमें रहता है, उसका पिता सूर्यदेव द्युलोकमें है, और सूर्यका पिता - सूर्यका भी सूर्य -परमपिता परमात्मा है । इसी प्रकार अन्यान्य देवोंके विषयमें जानना योग्य है । यह विषय इससे पूर्व आचुका है, इसलिये यहां अधिक विवरण की आवश्यकता नहीं है ।

सबका सारांश यह है कि पुत्र रूपी देव प्राणियोंके इन्द्रियों और अवयवोंमें अर्थात् शरीरमें रहते हैं । इनके पितादेव भूः भुवः स्वः इस त्रिलोकीमें रहते हैं और इन सूर्यादि देवोंके भी पिता विशेष शक्तिके रूपसे परमात्मामें निवास करते हैं ।

हमारी आंख सूर्यके विना कार्य करनेमें असमर्थ हैं और सूर्य परमात्माकी सौर महाशक्तिके विना अपना कार्य करनेमें असमर्थ है । इसी प्रकार संपूर्ण देवों और उनके पिता पुत्रोंके विषयमें जानना योग्य है । इन सबके आधीन मनुष्यका दीर्घायु बनना है ।

इसलिये जो दीर्घ आयुष्यके इच्छुक हैं, वे भक्तियुक्त अंतःकरणसे अपना संबंध परम पिता परमात्मासे दृढ करें। यह परम पिता परमात्मा सूर्यका भी सूर्य, वायुका भी वायु, प्राण का भी प्राण, अर्थात् देवोंका भी देव है और वही हम सबका पिता है । इसकी भक्ति यदि अंतःकरणमें दृढ हो गई तो मनकी समता स्थिर रह सकती है और उससे दीर्घ आयु प्राप्त होती है । इस प्रकार देवोंके पितासे मनुष्यका संबंध होता है और यह संबंध अत्यंत लाभकारी है ।

वायु सूर्य आदि देवोंसे हमारा संबंध किस प्रकार है और उसका हमारे आरोग्य और दीर्घ आयुसे कितना घनिष्ट संबंध है, यह हमने प्रथम मंत्रके व्याख्यानके प्रसंगमें वर्णन किया ही है इसलिये उनको दुहरानेकी यहां आवश्यकता नहीं है ।

प्राण, चक्षु, कर्ण आदि देवपुत्र हमारे शरीरमें ही रहते हैं। योगादि साधनोंसे इनका बल बढ सकता है । इसलिये इनके व्यायामके अनुष्ठानसे पाठक इनकी शक्ति विकसित करें और अपना शरीर नीरोग और बलवान बनाकर दीर्घायुके अधिकारी बनें ।

इस प्रकार मनुष्यका दीर्घ आयुष्यके साथ देवों, देवोंके पितरों और देवोंके पुत्रोंका संबंध है । यह जानकर योग्य अनुष्ठान द्वारा आयुष्यवर्धन का प्रयत्न करें ।

परमपिता परमात्मा यद्यपि एक ही है तथापि वह संपूर्ण सूर्य, चंद्र, वायु, रुद्र आदि अनेक देवताओंकी विविध शक्तियोंसे युक्त है, इसलिये संपूर्ण देवताओंका सामुदायिक पितृत्व उसमें है, ऐसा काव्यमय वर्णन मंत्रमें किया है वह उचितही है । इस प्रकार इस मंत्रमें मनुष्यके दीर्घ आयुष्यके अनुष्ठान का मार्ग इस मंत्रमें उत्तम और स्पष्ट शब्दोंद्वारा बताया है। पाठक इसका विशेष विचार करें।

देवोंके स्थान ।

तृतीय मंत्रमें देवोंके स्थान कहे हैं । यह तृतीय मंत्र यह आशय प्रकट करता है, कि "द्युलोक, अंतरिक्ष, पृथिवी, औषधि, पशु, जल, इन स्थानोंमें देव रहते हैं, वे मनुष्यके लिये दीर्घ आयु करते हैं और जिनकी सहायतासे सेंकडों अपमृत्यु दूर हो जाते हैं ।" (मंत्र ३) यह मंत्र बडा विचार करने योग्य है ।

द्युलोकमें सूर्यादि देव, अंतरिक्षमें वायु, रुद्र, इन्द्र, चन्द्र आदि देव, पृथ्वीमें अग्नि आदि देव, औषधियोंमें रसात्मक सोमदेव, पशुओंमे दुग्धादिरूपसे अमृत देव, जलमें वरुण आदि देव निवास करते हैं । ये सब देव मनुष्यकी आयु बढानेके कार्यमें सहायक होते हैं । सूर्य देव जीवन देता है, वायु प्राण देता है, इन्द्र और चन्द्र क्रमशः सुषुप्ति और जाग्रतिके व्यापक और अव्यापक मनके संचालक देव हैं, रुद्र स्वयं प्राणोंका चालक है, अग्नि वाणीसे संबंध रखता है, औषधिवनस्पतियोंसे अन्न

तथा दवाइयां बनकर मनुष्यकी सहायता करती है, पशुओंसे दुग्ध रूपी अमृत मिलता है, जल देवसे वीर्य बनता है, इस प्रकार अन्यान्य देव मनुष्यके सहायक हैं। परंतु प्रयत्न द्वारा मनुष्यने उनसे लाभ उठानेका पुरूषार्थ करना आवश्यक हैं।

इन सब देवोंसे अपना संबंध सुरक्षित करके, उनसे यथायोग्य लाभ लेनेका यत्न करनेसे आयुष्य बढ सकता है। इन देवोंसे नाना प्रकारकी चिकित्साएं बनी है, द्युलोकके देवोंसे सौरचिकित्सा, वर्णचिकित्सा, प्रकाशकिरण -चिकित्सा, अंतरिक्ष स्थानीय देवोंसे वायुचिकित्सा, विद्युचिकित्सा, मानसचिकित्सा अथवा चांद्रचिकित्सा, पृथ्वीस्थानीय देवोंसे अग्निचिकित्सा, खनिजपदार्थोंसे रसचिकित्सा, शस्त्रचिकित्सा, औषधियोंसे तथा वनस्पतियोंसे भैषज्यचिकित्सा, पशुओंके दूधसे दुग्धचिकित्सा अर्थात् पशुओंको विविध औषधियां खिलाकर तथा विविध रंगोंकी गौओंके दूधका उपयोग करनेसे, तथा पशुके मूत्रादिके उपयोगसे विविध चिकित्साएं सिद्ध होती है, जलसे जल चिकित्सा, इस प्रकार अनेकानेक चिकित्साएं होती हैं।

इन सब चिकित्साओंका अर्थ ही यह है कि विविध रीतिसे इन सब देवोंकी दिव्य शक्तियोंसे लाभ उठाना। प्राचीन कालके ऋषिमुनियोंने इन सब देवोंसे लाभ उठानेके जो जो प्रयत्न किये, उनका फल ही ये सब चिकित्साएं है। आजकल भी इस दिशासे विविध प्रयत्न हो रहें हैं। इन देवताओंमें विविध और अनंत शक्तियां है, उनकी समाप्ति नहीं होगी, इसलिये मनुष्योंको विविध रीतिसे यत्न करके इन देवताओंसे विशेष लाभ उठानेके लिये यत्न करना चाहिये। इतने प्राचीन कालमे ऋषिलोग यह उद्योग करते थे और लाभ उठाते थे और दीर्घजीवी भी बने थे। यह सिलसिला टूट गया है, तथापि आजकल प्रयत्न करनेपर उसी मार्गसे बहुत खोज होना संभव है। जो पाठक इस क्षेत्रमें कार्य कर सकते हैं कार्य करें और विद्याकी उन्नति करें तथा यशके भागी बनें। अस्तु। इस प्रकार इन देवताओंकी शक्ति अपने अंदर लेने और उस शक्तिको अपने अदंर स्थिर करनेसे मनुष्य दीर्घ आयुष्य प्राप्त कर सकता है।

साधारणसे साधारण प्रयत्नसे भी बडा लाभ हो सकता है। जैसा सूर्य किरणों में अपना नंगा शरीर तपानेसे, वायुमें नगें शरीर घुमनेसे, जलमें तैरनेसे उत्तम औषधियोंका रस पीनेसे और गोदुग्ध आदिके सेवनसे साधारण परिस्थितीमें रहनेवाले मनुष्य भी बहुत लाभ उठा सकते हैं। फिर जो विविध यंत्र निर्माण द्वारा इन दैवी शक्तियोंसे अधिक लाभ उठानेका पुरुषार्थ करेंगे उनके विषयमें क्या कहना है। इस प्रकार ये देवताएं गौके समान हैं, इससे जितना दूध दोहना चाहो आप उतना दुह सकते हैं। इनमें अखंड अमृत रस भरा है। जो जितना पुरूषार्थ करेगा, उसको उतना अमृत मिलेगा और वह उतना अमर होगा।

देवताओंके चार वर्ग।

इस प्रकार तीन मंत्रोंमें देवताओंसे अमृतरस प्राप्त करके अमरत्व प्राप्त करके अर्थात् दीर्घायु बननेके अनुष्ठानका स्वरूप बतानेके पश्चात् चतुर्थ मंत्रमें देवताओंके चार वर्गोका वर्णन किया है और इन देवताओंके अपने सहकारी सदस्य बनानेका उपदेश किया है। इस चतुर्थ मंत्रका आशय यह है-

"देवोंमे प्रयाज, अनुयाज, हुतभाग और अहुताद ये चार वर्गके देव हैं। इन देवोंसे ये पांचो दिशाएं विभक्त हुई हैं। ये सब देव मनुष्यके सहकारी सभ्य बनें।" (मंत्र ४)

इन चार वर्गोके देवोंके लक्षण इनके वाचक शब्दोंसे ही व्यक्त होते हैं। ये लक्षण देखिये -

१ **प्रयाजाः** - विशेष यजन करनेवाले,
२ **अनुयाजाः** - अनुकूल यजन करनेवाले,
३ **हुतभागाः** - हवन का भाग लेने वाले,
४ **अहुतादः** - हवनका भाग न खानेवाले।

पाठक इन देवोंको अपने शरीरमें सबसे प्रथम देखें - (१) जिनपर इच्छा शक्तिका परिणाम नहीं होता, परंतु जो अवयव अपनी ही गतिसे कार्य करते हैं उन अवयवोंका नाम प्रयाज है, जैसे हृदय आदि अवयव। (२) जो अवयव अपनी इच्छा शक्तिसे अनुकूल कार्यमें लगाये जा सकते हैं उनको अनुयाज कहते हैं, जैसे हाथ, पांव, आंख आदि। (३) हुतभाग वे इन्द्रियां हैं जो भोग की इच्छुक हैं और कार्य करनेसे थकती हैं और विश्रामसे तथा अन्नरस मिलनेसे पुष्ट होती हैं। (४) शरीरमें अहुताद केवल ग्यारह प्राण ही है, क्योंकि ये प्राण शरीरमें सदा कार्य करते हैं और स्वयं कुछभी भोग नहीं लेते, जन्मसे लेकर मरनेतक बराबर कार्य करते हैं।

इस प्राणका वर्णन तथा अन्य इन्द्रियोंका वर्णन इसी प्रकार उपनिषदोंमें किया है। प्राणाग्निहोत्र उपनिषदमें शरीर यज्ञके प्रयाज और अनुयाज का वर्णन इस प्रकार है.

शरीरयज्ञस्य ... के प्रयाजाः केऽनुयाजाः ॥
महाभूतानि प्रयाजाः ॥
भूतान्यनुयाजाः ॥ प्राणाग्निहोत्र. ॥३-४

शरीरमें चले हुए यज्ञके प्रयाज और अनुयाज कौन हैं ? महाभूत प्रयाज और भूत अनुयाज हैं। इसीप्रकार हुतभाग और अहुताद विषयक वर्णन उपनिषदोंमें तथा

ब्राह्मणोंमें लिखा है जिसका तात्पर्य ऊपर दिया ही है ।

इसी आभ्यंतर यज्ञका नकशा बाह्ययज्ञमें किया जाता है, उसका वर्णन यहां करनेकी आवश्यकता नहीं है । अनुयाजों से प्रयाज अधिक महत्त्व के हैं तथा हुतभागों से अहुताद विशेष महत्त्व रखते हैं । जो शरीरशास्त्र जानते हैं उनको इसका अधिक विस्तार करनेकी आवश्यकता नहीं है क्योंकि वे जानते ही हैं कि इच्छा शक्तिकी नियंत्रणासे चलनेवाले हस्तपादादि अवयवोंकी अपेक्षा अनिच्छासे कार्य करनेवाले हृदयादि अंतरवयव अधिक महत्त्वके हैं । तथा अहुताद अर्थात् कुछ भी भोग न लेते हुए जन्मसे मरनेतक अविश्रान्त कार्य करनेवाले प्राणादिक अधिक श्रेष्ठ हैं और नेत्र, कर्ण आदि अवयव जो श्रमसे थकते हैं, विश्राम करते हैं और भोग भी भोगते हैं ये उनसे गौण हैं ।

यह मुख्य गौणका भेद देखकर दीर्घायु प्राप्तिका अनुष्ठान करनेवाले को उचित है, कि वह अपने अंदर के मुख्य देवों अर्थात् इंद्रियशक्तियोंको अधिक बलवान् करे और अन्यों को भी बलवान करे, परंतु यह ख्याल रखे कि गौण अवयवों की शक्ति बढानेके कार्य करते हुए मुख्य अवयवोंकी क्षीणता न होने दें । उदाहरण के लिये पहलवानोंके व्यायाम ही लीजिये । पहलवान लोग अपने शरीरके पुट्ठोंको बलवान बनानेके यत्न बहुत करते हैं, परंतु हृदय आदि अंतरवयवोंका ख्याल नहीं करते हैं, इससे ऐसा होता है कि उनका स्थूल शरीर बडा बलशाली होता है, परंतु हृदयादि विशेष महत्त्वके अवयव कमजोर हो जाते हैं । इसका परिणाम अल्पायुमें उनकी मृत्यु हो जाती हैं ।

यदि ये लोग साथ हृदयको भी बलवान बनानेका यत्न करेंगे तो ऐसा नहीं होगा इसलिये यहां कहना यह है कि अपने अंदर जो देवताओंके अंश रहते हैं उनमें मुख्य अवयवोंका विशेष ख्याल करना, उनकी शक्ति बढानेका और उनकी कमजोरी न बढे इसका विशेष विचार करना चहिये । इसके पश्चात् गौण अवयवोंका विचार करना उचित है। श्वाससंस्थान, मज्जासंस्थान और हृदयसंस्थान आदि महत्त्वपूर्ण संस्थानोंका बल बढना चाहिये और स्नायु आदि उनके अनुकूल रहनेयोग्य शक्तिशाली बनने चाहियें ।

मंत्रका प्रयाज शब्द मुख्यका भाव और अनुयाज शब्द गौणका भाव बताता है । ये सब देव हमारे चारों और सब दिशाओंमें विभक्त हुए हैं और उन्होंने संपूर्ण स्थानको विभक्त किया है। ये सब देव हमारे शरीरमें चलनेवाले शतसांवत्सरिक सत्रके भागी बनें, अर्थात् ये इस सौ वर्ष चलनेवाले जीवन रूपी महायज्ञके हिस्सेदार हैं ही, परंतु ये अपना कार्य करनेमें समर्थ बनकर अपना यज्ञका भाग उत्तम रीतिसे पूर्ण करनेमें समर्थ हो, अपना यज्ञका भाग उत्तम रीतिसे पूर्ण करें और निर्विघ्नतासे यह शतसांवत्सरिक यज्ञ चलानेमे हमारे सहकारी बनें ।

इस प्रकार इन मंत्रोंका आशय है, ये मंत्र स्पष्ट है और बहुत बोधप्रद है । यदि पाठक इस ढंगसे अनुष्ठान करेंगे तो उनको निःसंदेह लाभ हो सकता है । यह "आयुष्य गण" का सूक्त है और पाठक इस विषयके अन्य सूक्तोंके साथ इसका विचार करें ।

आशा-पालक-सूक्त ।

(३१)

(ऋषिः - ब्रह्मा । देवता - आशापालाः, वास्तोष्पतिः)

आशानामाशापालेभ्यश्चतुर्भ्यो अमृतेभ्यः । इदं भूतस्याध्यक्षेभ्यो विधेम हविषा वयम् ॥ १ ॥

य आशानामाशापालाश्चत्वार स्थन देवाः । ते नो निर्ऋत्याः पाशेभ्यो मुञ्चतांहसो-अंहसः ॥ २ ॥

अस्रामस्त्वा हविषा यजाम्यश्लोणस्त्वा घृतेन जुहोमि ।
य आशानामाशापालस्तुरीयो देवः स नः सुभूतमेह वक्षत् ॥ ३ ॥

स्वस्ति मात्र उत पित्रे नो अस्तु स्वस्ति गोभ्यो जगते पुरुषेभ्यः ।
विश्वं सुभूतं सुविदत्रं नो अस्तु ज्योगेव दृशेम सूर्यम् ॥ ४ ॥

अर्थ - **(भूतस्य अध्यक्षेभ्यः)** जगत्के अध्यक्ष **(अमृतेभ्यः)** अमर **(आशानां चतुर्भ्यः आशापालेभ्यः)** दिशाओंके चार दिशापलकोंके लिये **(वयं)** हम सब **(हविषा इदं विधेन)** हविर्द्रव्यसे इस प्रकार अर्पण करते हैं।।१।। हे **(देवाः)** देवो ! **(ये आशानां चत्वारः आशापालाः स्थन)** जो तुम दिशाओंके चार दिशापालक हो **(ते नः)** वे तुम हम सबको **(निर्ऋत्याः पाशेभ्यः)** अवनतिके पाशोंसे तथा **(अंहसः अंहसः)** हरएक पापसे **(मुञ्चतां)** छुडाओ ।।२।। **(अ स्रामः)** न थका हुआ मैं **(हविषा त्वा यजामि)** हविर्द्रव्यसे तेरा यजन करता हूं । **(अ- श्लोणः त्वा घृतेन जुहोमि)** लंगडा न होता हुआ तुझको घीसे अर्पण करता हूं । यह **(आशानां आशापालः तुरीयः देवः)** जो दिशाओंका दिशापाल चतुर्थ देव है **(सः नः सुभूतं इह आवक्षत्)** वह मह सबको उत्तम प्रकारसे यहां पहुंचावे ।।३।। **(नः मात्रे उत पित्रे स्वस्ति अस्त)** हम सबकी माताके लिये तथा हमारे पिताके लिये आनंद होवे । तथा **(गोभ्यः जगते पुरूषेभ्यः स्वस्ति)** गौवोंके लिये, चलने फिरनेवालोंके लिये और पुरूषोंके लिये सुख होवे । **(नः विश्वं सुभूतं सुविदत्रं अस्तु)** हम सबके लिये सब प्रकारका ऐश्वर्य और उत्तम ज्ञान हो और हम **(सूर्य ज्योक् एव दृशेम)** सूर्यको बहुत कालतक देखते रहें अर्थात् हम दीर्घायुषी हों ।।४।।

भावार्थ - चार दिशाओंके चार अमर दिक्पाल है, वे इस बने हुए जगत्के अध्यक्ष हैं । उनकी पूजा हम करते हैं ।।१।। चार दिशाओंके चार दिक्पाल हैं, वे हमें हरएक पापसे बचावें और दुर्गतिसे भी हमारा छुटकारा करें ।।३।। मैं न थकता हुआ उनका सत्कार करता हूं, लंगडा लूला न बनकर मैं उनको घी देता हूं, जो इन चार दिक्पालोंके चतुर्थ देव है वह हमें सुखपूर्वक उत्तम अवस्थातक पहुंचावे ।।५।। हमारे माता, पिता, हमारे अन्य इष्टमित्र, हमारे गाय, घोडे आदि पशु तथा जो भी हमारे प्राणी हो वे सब इस इस प्रकार सुखी हों । हमारा सब प्रकारसे अभ्युदय होवे और हमारा ज्ञान उत्तम प्रकारसे बढे तथा हम दीर्घायु हो ।।४।।

दिक्पाल ।

पूर्व, पश्चिम, दक्षिण और उत्तर ये चार दिशाएं है । उनकी रक्षा करनेवाले चार दिक्पाल है, वे अपनी अपनी दिशाका संरक्षण कर रहे हैं । ये विश्वके रक्षक इतने दक्ष हैं कि इनको न समझते हुए कोई मनुष्य किसी भी प्रकार बुरा कार्य कर नहीं सकता । हरएक मनुष्यको उचित है कि वह उक्त बात मनमें धारण करे और इन दैवी लोकपालोंके दण्डके योग्य कोई आचरण न करे ।

राजा अपने राज्यकी व्यवस्था और राज्यका सुशासन करनेके लिये अपने राज्यमें चार विभाग करके उनपर एक एक मुख्य शासक अधिकारी नियत करे, वह अधिकारी दक्षतासे अपने विभागका योग्य शासन करे । दुष्टोंको दंड दे और सुष्टोंका प्रतिपालन करे । और कहीं भी अनाचार होने न दें । यह राष्ट्रनितिका पाठ इस सूक्तसे हमें मिलता है ।

विश्वके अंदर राष्ट्र और राष्ट्रके अंदर व्यक्तिका देह है। और इन तीनों स्थानोंमें नियम एक जैसा ही है । इसलिये राष्ट्रशासनका विचार होनेक पश्चात् जिन व्यक्तियोंका राष्ट्र बनता है उन व्यक्तियोंके अन्दर चार दिशाओंके चार दिक्पाल किस रूपमें है और उनका शासन इस अध्यात्मभूमिकासे कैसा चल रहा है और उससे हमें वैयक्तिक सदाचारके विषयमें कौनसा बोध लेना है, इसका विचार अब करना चाहिये ।

देहमें चार दिक्पाल ।

देहमें मुखको "पूर्व द्वार" कहते हैं और गुदाको "पश्चिम द्वार" कहते हैं । ये द्वार एक दुसरेके साथ संबंधित भी है । पूर्व द्वारसे अर्थात् मुखसे अन्न पान शरीरके अंदर घुसता है, वहां का कार्य करता है और शरीरके मदिके रूपमें परिवर्तित होकर पश्चिम द्वारसे अर्थात् गुदासे बाहर हो जाता है । अर्थात् पोषक अन्नका प्रवेश पूर्व द्वारसे इस शरीरमें होता है और मलको दूर करनेका कार्य पश्चिम द्वारसे होता है ।दोनों कार्य शरीरके स्वास्थ्य के लिये अत्यंत आवश्यक ही हैं । परंतु यह तो स्थूल शरीरके स्वास्थ्य के साथ का संबंध है, इससे और दो द्वार हैं जिनका संबंध मनुष्यकी उन्नति या अधोगतिके साथ अधिक है, वे दो द्वार मनुष्यके शरीरमें ही है, जिनको "उत्तर द्वार ' तथा "दक्षिण द्वार" कहते हैं ।

"उत्तर द्वार" मस्तकमें है जिसका नाम "विदृति द्वार" उपनिषदोंमें कहा है, इस द्वारसे शरीरमें जीवात्माका प्रवेश होता है और इसी द्वारसे अपने प्रयत्नसे जिस

समय यह बाहर जाता है उस समयसे यह जन्ममरण के दुःखसे छुटता है और पुनः शरीरके बंधनमें पडता नहीं। बालकके मस्तकमें छोटेपनमें इस स्थानपर हड्डी नहीं होती । इसका नाम उत्तरद्वार है क्योंकि इस द्वार से जानेसे उच्चतर अवस्था प्राप्त होती है ।

यह द्वार मज्जा केन्द्रके साथ संबंधित है । इसी मज्जा केन्द्रके साथ संबंध रखनेवाला निचला द्वार शिश्न है जिससे वीर्यका पात होता है । इसके योग्य नियम पालनसे सुयोग्य संतति उत्पन्न होती है, परंतु इसके अनियम में चलानेसे मनुष्यकी अधोगति होती है। ये दो द्वार मनुष्यको उच्च और नीच बनानेमें समर्थ हैं। ब्रह्मचर्य पालनद्वारा उत्तर मार्गसे जानेका उपनिषदोंका वर्णन इसी उत्तर मार्गको सूचित करता है, इसीका नाम "उत्तरायण" (उत्तर+अयन) अर्थात् उत्तर मार्गसे जाना है। इसके विरूद्ध "दक्षिणायण" अर्थात् दक्षिण मार्गसे जाना है, जिसके संयमसे उत्तम गृहस्थधर्मपालनपूर्वक उन्नति होना संभव है, परंतु असंयमसे मनुष्य इतना गिरता है कि उसका कोई ठिकाना ही नहीं होता । ये दो मार्ग मज्जातंतुओंके साथ संबंध रखनेवाले हैं ।

इस प्रकार पूर्वद्वार और पश्चिमद्वार ये शरीरमें अन्ननलिका के साथ संबंध बताते हैं तथा उत्तर द्वार और दक्षिण द्वार ये दो मार्ग मज्जातंतुओंके साथ संबंध रखते हैं । ये चार द्वारोंके चार संरक्षक देव हैं परंतु ये देव राक्षसोंके हमलेके अंदर दबने नहीं चाहिये ।

आशा और दिशा ।

इस सूक्तमें दिशावाचक "आशा" शब्द है और, उसके पालकका नाम "आशापाल" मंत्रोमें आया है । "आशा" शब्दके दो अर्थ हैं । एक 'दिशा' और दूसरा "आशा, महत्त्वाकांक्षा, उम्मीद" । मनुष्यकी जैसी आशा, इच्छा, महत्त्वाकांक्षा और उम्मीद होती है उसी प्रकारकी उसकी कार्य करनेकी दिशा होती है। मनुष्य जिस समय आशाहीन हो जाता है, निराश होता है, हताश होता है, उस समय वह इस जगत्से हटनेका या मर जानेका इच्छुक होता है। यह विचार यदि पाठकोंके मनमें जम जायगा, तो उनको पता लग जायगा कि यह सूक्त मनुष्यके साथ कितना घनिष्ठ संबंध रखता है।

जिस समय "आशा" शब्दका अर्थ "आशा, आकांक्षा," आदि किया जाता है उस समय यही सूक्त मनुष्यका अभ्युदयका मार्ग बताता है । तथा जिस समय इसी "आशा" शब्दका अर्थ "दिशा" किया जाता है, उस समय यही सूक्त बाह्य जगत् तथा राष्ट्रके प्रबंधका भाव बताता है । सूक्तकी यह शब्दरचना विशेष गंभीर है और वह हरएक को वेदकी अद्भुत वर्णन शैलीका स्वरूप बता रही है ।

सूक्तका मनुष्यवाचक भावार्थ ।

मनुष्यकी चार आशाएँ हैं, उनके चार अमर पालक हैं। इन भूताध्यक्षोंकी हम हवनसे पूजा करते हैं ॥१॥ मनुष्यकी चार आशाओंके चार पालक हैं, वे हमें पापसे बचावें और दुष्ट अवस्थासे भी बचावें ॥२॥ मैं न थकता हुआ और अंगोसे दुर्बल न होता हुआ हविसे तथा घृतसे इनको तृप्त करता हूं इन चार आशाओंके पालकोंमें से चतुर्थ पालक जो है वह हमें उत्तम आनंदको प्राप्त करनेमें सहायक होवे ॥३॥ इनकी सहायतासे हमारे माता, पिता, इष्ट, मित्र, गाय,घोडे आदि सब सुखी हों । हमारा अभ्युदय होवे और हम ज्ञानी बनकर दीर्घायु बनें ।

केवल एक "आशा" शब्दका अर्थ ठीक प्रकार ध्यानमें आनेसे व्यक्तिविषयक उन्नतिके मार्गके संबंधमें कैसा उत्तम उपदेश मिल सकता है यह पाठक यहां देखें । यह उपदेश इतना महत्त्वपूर्ण है कि इसके अनुसार चलनेसे मनुष्य ऐहिक अभ्युदय तथा पारमार्थिक निःश्रेयस प्राप्त कर सकता है । इस सूक्तपर बहुत लिखा जा सकता है, परंतु यहां संक्षेपसे ही इसका विवरण करेंगे ।

मनुष्यमें

चार द्वारोंकी चार आशाएँ ।

मनुष्यके शरीरमें चार द्वार है, इस बातका वर्णन इससे पूर्व कियाही है । इन चार द्वारोंके कारण चार आशाएं मनुष्यके मनमें उत्पन्न होती हैं । जिस प्रकार घरके जितने द्वार होते हैं उनसे बाहर जाने और उन

दिशाओंसे कार्य करनेकी इच्छा घरके मालिक की होती है। उसी प्रकार इस शरीररूपी घरके स्वामी आत्मदेवकी आशाएं इस घरके द्वारोंसे जगत्में गमन करके वहांके कार्यक्षेत्रमें पुरुषार्थ करनेकी होती हैं। वास्तवमें इस शरीरमें अनेक द्वार हैं, इसमें नौ द्वार हैं, ऐसा अन्यत्र कई स्थानोंमें कहा है। देखिये -

अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या।
तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषाऽऽवृतः ॥
(अथर्व. १०।२।३१)

"आठ चक्र और नौ द्वारोंसे युक्त यह देवोंकी अयोध्या नामक नगरी है, इसमें सुवर्णमय कोश है वही तेजस्वी स्वर्ग है।"

इस अथर्व श्रुतिमें शरीरका और हृदय गुहांका वर्णन करते हुए कहा है, कि इस शरीरमें नौ द्वार हैं। ये द्वार हैं इसमें कोई संदेह ही नहीं है। दो नाक, दो आंख, दो कान, एक मुख, गुदा और शिश्न ये नौ द्वार यहां कहे हैं। इनमें से मुख पूर्व द्वार, गुदा पश्चिम द्वार, शिश्न दक्षिणद्वार इन तीनोंका संबंध इस अपने प्रचलित सूक्तके मंत्रमें है। जो चतुर्थद्वार है वह आठ चक्रवाले पृष्ठवंशके ऊपर मस्तिष्कसे भी ऊपर के भागमें विदृति नामसे प्रसिद्ध है। इसका वर्णन अथर्ववेदमें इस प्रकार है -

मूर्धानमस्य संसीव्याथर्वा हृदयं च यत्।
मस्तिष्कादूर्ध्वः प्रैरयत् पवमानोऽधि शीर्षतः ॥(अथर्व. १०।२।२६)

"मस्तक और हृदय को सीकर अर्थात् एक केन्द्रमें लीन करके मस्तकसे भी ऊपर सिरके बीचमें से प्राण फेंका जाता है।"

विदृति-द्वारसे प्रवेश।

विदृति द्वारसे तैंतीस देवोंके साथ आत्माका शरीरमें प्रवेश। अंदर आनेपर यह द्वार बंद होता है। पश्चात् प्राणसाधन द्वारा अपनी इच्छासे इसी द्वारसे वापस जानेपर मुक्ति । साधारण जन देहत्याग करनेके समय किसी अन्य द्वारसे बाहर जाते हैं, परन्तु केवल योगी ही अथर्ववेदके कहे मार्गसे मस्तिष्कके परे इसी द्वारसे जाता है और मुक्त होता है।

इस मंत्रमें "मस्तिष्कात् ऊर्ध्वः । अधि शीर्षतः।" आदि शब्दों द्वारा मस्तकके ऊपर ले उत्तर द्वारका वर्णन किया है । अर्थात् जो चार द्वार हमने इस मंत्रके व्याख्यानके प्रसंगमें निश्चित किये हैं उनका वेदमें अन्यत्र वर्णन इस प्रकार आता है । नौ द्वारोंमेंसे तीन और इस मज्जा - संस्थानका एक मिलकर चार द्वार हैं और उनकी चार आशाएं अथवा दिशाएं है । अब ये आशाएं देखिये -

द्वार			आशा
१ पश्चिमद्वार	= गुदा	=	की आशा विसर्जन करना। शरीरधर्म ।
२ पूर्वद्वार	= मुख	= ,,	,, मधुर भोजन करना । अर्थप्राप्ति ।
३ दक्षिणद्वार	= शिश्न	= ,,	,, भोगका उपभोग करना। काम ।
४ उत्तरद्वार	= विदृति	= ,,	,, बंधनसे मुक्त होना । मोक्ष ।

आरोग्यका आधार

इसमें पश्चिमद्वारसे जो आशा है वह केवल "शरीरधर्म" पालन करने की ही है तथापि इस शौच धर्मसे अर्थात् पवित्र बनने के कर्मसे शरीर शुद्धि होनेके कारण इससे शरीर स्वास्थ्यकी प्राप्ति होती है । सब अन्य भोग इसके आश्रयसे हैं यह बात हरएक जान सकते हैं । इस द्वारका कार्य बिगड जानेसे शरीर रोगी होता है और अन्य द्वारोंकी आशाएं पूर्ण होनेकी असमर्थता होती है । इसके उत्तम प्रकार कार्य करनेपर अन्य आशाएं सफल होनेकी संभावना है । इसलिये हम कह सकते हैं, कि इस पश्चिम द्वारकी आशा मनुष्यके मनमें "आरोग्यकी प्राप्ति" रूपसे रहती है । इस आशाका कार्यक्षेत्र बहुत बडा है, मनुष्य इस विषयमें जितना कार्य करेगा उतना वह स्वस्थता प्राप्त करेगा और वह यदि ऐसे व्यवहार करेगा कि इस

मस्तकमें विदृतिद्वार

पृष्ठवंश

विदृतिद्वार

सहस्रा
आज्ञा
विशुद्धि
अनाहत
सूर्य
मणिपूरक
स्वाधिष्ठान
(कुंडलिनी)
मूलाधार

सहस्रार चक्र
पृष्ठवंशमें चक्रोंके स्थान ।

पश्चिम द्वारके व्यवहार ठीक न चलें तो उसके रोगी होनेमें कोई शंका ही नहीं है ।

खानपान ।

अब पूर्वद्वारकी आशा देखिये । संक्षेपसे इतना कहनी इस विषयमें पर्याप्त होगा कि इस द्वारसे मनुष्य उत्तम अन्न और उत्तम पान करने की इच्छा करता है । मधुरताका प्रेम करते करते मनुष्य इनता अधिक खोता है कि वह अजीर्णसे बीमार हो जाता है । इसलिये इस विषयमें प्रयत्नपूर्वक संयम रखना चाहिये । रुचिका गुलाम और जिह्वाका दास जो बनता है उसकी आयु कष्टप्रद ही होती है । हरएक इंन्द्रियके विषयमें यही बात है । इस प्रकार इंद्रिय भोगके लिये धनकी आवश्यकता है इस हेतु इस द्वारकी आशा "अर्थकी प्राप्ति" ही है । यह आशा अत्यधिक बढानेसे कष्ट होंगे और संयम द्वारा अत्यावश्यकताके अनुसार भोग लेनेसे सुख बढेगा, उन्नति होगी । मुखद्वारसे शब्द बोलनेका भी एक काम होता है। उत्तम शब्द-प्रयोगसे जगत्में शांति फैलती है और कुशब्दके प्रयोगसे अशांति फैलती है । इस विषयमें भी जिह्वापर संयम रहना आवश्यक है । अन्यथा अनर्थ होनेमें कोई देर नही लगेगी । इस प्रकार इस द्वितीय द्वारकी आशाका संबंध मनुष्यकी उन्नतिके साथ है ।

कामोपभोग ।

तीसरा दक्षिण द्वार है । इस शिस्नद्वारा जगत्में उत्तम प्रजनन अर्थात् सुप्रजानन करना आवश्यक है । परंतु जगत् में इसके असंयमसे जो अनर्थ हो रहे है, वे किसीसे छिपे नहीं है । इसका संयम महत्प्रयाससे साध्य होता है । उर्ध्वरेता होना ही वैदिक धर्मका साध्य है । इसके विचारसे इस द्वारकी आशाका पता लग जायगा। यह केंद्र अत्यंत महत्त्वका है, परंतु जनता का लक्ष्य इसके कार्यमें बिगाड करनेकी ओर अधिक है और सुधारके मार्गमें प्रयत्न अति कम है ।

बंधनका नाश ।

अब चतूर्थ विदृति द्वारपर हम आते है । यह विदृति-द्वार है । इससे जीवात्मा इस शरीरमें घुसा है, परंतु इसी द्वारसे बाहर जानेका मार्ग इसको मिलता नहीं है । युध्दभूमिमें प्रवेश करना यह जानता है, परंतु सुरक्षित वापस फिरनेकी विद्या इसे पता नहीं है । चक्रव्यूहमें घुसनेकी विद्या जाननेवाला, परंतु चक्रव्यूहमें घुसकर युद्धमें विजय प्राप्त करने और सुरक्षित वापस आनेकी विद्या न जाननेवाली अभिनव कुमार अभिमन्यु यही है । यदि यह सुरक्षित वापस आनेकी विद्या जानेगा तो यह विजय-अर्जुन-होगा, फिर इसको डर किसका है ? "विजयी" बननेके लिये ही ये सब धर्ममार्ग है । जिस समय आये हुए मार्गसे यह जीवात्मा वापस जानेकी शक्ति प्राप्त कर सकेगा उस समय इसको कोई बंधन कष्ट नही पहुंचा सकता । हरएक बंधन को दूर करनेकी इच्छा इसमें इस द्वारके कारण है ।

इस प्रकार चार द्वार की चार आशाएं है और हरएक मनुष्य इन आशाओंके कार्यक्षेत्रमें बुरा या भला कार्य करता है और गिरता है या उठता है । इन आशाओंके कार्यक्षेत्रकी कल्पना पाठकोंको ठीक प्रकार हो गई, तो इस .सूक्तके मंत्रोंका विचार समझनेमें कोई कठिनता नही होगी । इसलिये प्रथम इन चार द्वारोंका विचार पाठक बारबार मननद्वारा करें और यह बात ठीक प्रकार ध्यानमें धारण करें । तत्पश्चात् निम्नलिखित स्पष्टीकरण पढे -

अमर दिक्पाल ।

इस सूक्तके प्रथम मंत्रके कथनमें तीन बाते कहीं है -"(१) चार आशाओंके चार अमर आशा पालक है । (२) वेही चार भूताध्यक्ष है । (३) उनकी पूजा हम हवनसे करते है ।"

मनुष्यमें चार आशाएं कौनसी है, उन आशाओंका स्वरूप क्या है और उनके साथ मनुष्यके पतन अथवा उत्थापनका किस प्रकार संबंध है, यह पूर्व स्थलमें बताया ही है । चार आशाएं मनुष्यके अंदर सनातन है, (१) शरीरधर्मका ख्याल करना, (२) भोग प्राप्त करना, (३) कामका भोग करना और (४) बंधनसे निवृत्त होना, ये चार भावनाएं अथवा कामनाएं मनुष्यमें सदा जागती है, मूढमें तथा प्राज्ञमें ये समानतासे रहती है । पशुपक्षियोंमें भी अल्पांशसे ये रहती है अर्थात् भूतमात्रमें ये सदा रहती है, इसलिये इनका सनातन अधिकार प्राणीमात्रपर है, मनो ये ही भूतोंके अध्यक्ष है । इनको अध्यक्ष इसलिये कहा कि है इनकी प्रेरणासे ही प्राणी अपने अपने सब व्यवहार करते हैं । यदि ये आशाएं प्राणियोंके अंदर न रहीं तो उनकी हलचल भी बंद हो जायगी । मनुष्यके संपूर्ण प्रयत्न इनकी आधीनतामें ही हो रहे हैं । इसलिये ये ही चार आशा-पालक मनुष्यके चार अधिकारी है ।

इनकी आधीनतामें रहता हुआ मनुष्य अपने व्यवहार करता है और उनका बुरा या भला परिणाम भोगता है।

हवनसे पूजन ।

इनका पूजन हवनसे ही हो रहा है। पूर्वद्वार मुख है, उसमें अन्नपानका हवन हो रहा है। कौन प्राणी ऐसा है कि जो यह हवन नहीं करता। इसी प्रकार दक्षिणद्वार शिस्न देवके पूजक सब ही प्राणी है, इतनाही नही परंतु इस कामदेव की अति पूजा से लोग अपना ही घात कर रहे है। इतनी बात सत्य है कि उत्तरद्वार जिसका नाम विदृति है उसके पूजत अत्यंक अल्प हैं और पश्चिमद्वार की पूजा करना थोडे ही जानते है। पश्चिमद्वार की पूजा योगमें प्रसिद्ध "अपानायाम" से की जाती है। जिस प्रकार नासिका द्वारसे करनेका प्राणायाम होता है उसी प्रकार पश्चिम गुद द्वारसे अपानायाम किया जाता है। इसकी क्रिया भी थोडे लोग जानते है। यह क्रिया योगशास्त्रमें प्रसिद्ध है और इससे नाभिके निचले भागका आरोग्य प्राप्त होता है। उत्तरद्वार विदृतिके उपासक खास योगी होते हैं वे इस स्थानकी चालना करके अपनी मुक्तता प्राप्त करते है। इनकी हवनसे पूजा यह है -

१ पूर्वद्वार -	**(मुख)**	**- अन्नपानादिके हवनसे पूजा**
२ दक्षिणद्वार -	**(शिस्न)**	**- भोगादिद्वारा कामदेवकी पूजा।**
३ पश्चिमद्वार -	**(गुदा)**	**- अपानायाम-अपानका प्राणमें हवन करके पूजा। इसका उल्लेख भगवद्गीतामें भी है ... अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथा परे। (भ. गी. ४।२९)**
४ उत्तरद्वार -	**(विदृति)**	**- मस्तिष्कके मज्जाकेन्द्रके सहस्रारचक्रमें ध्यानादिसे पूजा।**

यहां पाठक जान गये होंगे, कि पहिली दो उपासनाएं जगत् में अधिक हैं और दूसरी दो कम हैं। परंतु बीजरूपसे हैं। प्रथम मंत्रमें "हम चारों अमर आशापालोंकी हवनद्वारा पूजा करेंगे" ऐसा स्पष्ट कहा है। यह इसलिये कि हरएक मनुष्य चारोंकी उपासनाद्वारा अपना उद्धार करे।

यहां नियमन की बात पाठकोंको ध्यानमें धारण करनी चाहिये। यह नियमन इस प्रकार हैं -

पूर्वद्वार ○ मुख
आंत | अन्नस्रोत
पश्चिमद्वार ○ गुदा

उत्तरद्वार ○ सिरमें विदृति
पृष्ठवंश | मज्जास्रोत
दक्षिणद्वार ○ शिस्न

पूर्व तथा पश्चिमद्वार ये हमारे आंतोंके विरुद्ध दिशाके मुख है। मुखका अतिरेक होनेसे गुदाका कार्य बिगडता है, और गुदाका कार्य ठीक रहनेसे मुखकी रुचि ठीक रहती है। इस प्रकार ये एक दूसरेपर नियमन करते हैं। इसी प्रकार मस्तिष्क और शिस्न ये परस्परका नियमन करते है। यदि शिस्नदेवने अतिरेक किया तो मस्तिष्क हलका होता है, और मनुष्य बुद्धिका कार्य करनेमें असमर्थ होता है, पागल बनता है, निकम्मा होता है। तथा मस्तिष्कमें सुविचारोंको स्थिर करनेसे वे सुविचार शिस्नदेवका संयम करनेमें सहायक होते है। इस प्रकार ये परस्पर उपकारक भी है और घातक भी है। पाठक सोचकर जाननेका प्रयत्न करें कि ये किस प्रकार उपकारक होते है और कैसे घातक होते हैं तथा इनकी उपासना किस प्रकार करनी चाहिये और इनके प्रकोपसे किस प्रकार बचना चाहिये। अब द्वितीय मंत्रका विचार करेंगे..

पापमोचन।

द्वितीय मंत्रका आशय यह है - "चार आशाओंके चार आशापालक देव हैं वे हमें पापसे तथा अधोगतिके पाशसे बचावें।"

पूर्वोक्त वर्णनसे पाठकोंने जान लिया होगा कि ये चार देव हमें किस प्रकार बचा सकते हैं और किस प्रकार गिरा सकते हैं। देखिये -

१. पूर्वद्वार- मुख = जिह्वाकी गुलामीसे खानपानमें अतिरेक होकर, पेटका बिगाड और स्वास्थ्यका नाश। इसी जिह्वाके संयमसे आरोग्यप्राप्ति।

२. पश्चिमद्वार - गुदा = पूर्वोक्त संयम और असंयमसे ही इसका लाभ या हानि प्राप्त होनेका संबंध है।

३. दक्षिणद्वार- शिस्न = ब्रह्मचर्यद्वारा संयमसे उन्नति, संयमपूर्वक गृहस्थधर्म पालनसे सुप्रजाप्राप्ति और असंयमसे क्षय।

४. उत्तरद्वार - विदृति - पूर्वोक संयम और असयंमसे इसके लाभ और हानि प्राप्त होनेका संबंध है।

इसका मनन करनेसे ये किस नियमसे पापसे छुडा

सकते है इसका ज्ञान हो सकता है। पापसे छुडानेसे ही निर्ऋति के पाशसे मनुष्य छुट जाता है। निर्ऋ तिका अर्थ नाश है। पाप करनेवालेंको निर्ऋ तिके अर्थात् विनाशके पाश बांध देते है। और पुण्यवानोंको उनसे कोई कष्ट नहीं होता। इस मंत्रका यह कथन बडा बोधप्रद है कि ये चार द्वारकी चार आशाएं मनुष्यको पापसे छुडा सतती है और बंधनसे भी मुक्त कर सकती हैं। पाठक अपनी अपनी अवस्थाका विचार करें और आत्मपरीक्षाद्वारा जाननेका यत्न करें कि उनके शरीरमें क्या हो रहा है। यदि कोई आशापालक उनके विरुद्ध कार्य करता हो, या शत्रुके आधीन हुआ हो, तो सावधानीसे अपने बचावका यत्न करें। इस प्रकार द्वितीय मंत्रका विचार करनेसे इतना बोध मिला। अब तृतीय मंत्र देखते है।

चतुर्थ देव।

तृतीय मंत्रका आशय यह है.. "मैं न थकता हुआ और अंगोंसे दुर्बल न होता हुआ हवनसे, तथा घीसे इनकी तृप्ति करता हूं। इन चार आशापालोंमें जो चतुर्थ आशापलक देव है वह हमे सुखसे यहां आनंद स्थानमें पहुंचावे।"

इस मंत्रमें कहा हुआ "तुरीयः देवः" अर्थात् चतुर्थ देव विदृतिद्वारका रक्षक मोक्षकी आशाका पालक है। इसी देवकी कृपासे अन्य सब द्वारोंका नियमन हो सकता है। इसी दृष्टिसे अन्य सब कार्य व्यवहारका नियमन होना चाहिये। वैदिक धर्मके संपूर्ण कार्य-व्यवहार इसी दृष्टिसे रचे गये हैं। मोक्षके मार्गके ध्यानसे जगत्के सब व्यवहार हाने चाहियें। इसीका नाम धर्म है। बंधनसे मुक्त होना मुख्य साध्य है, उसके सहायकारी सब अन्य व्यवहार होने चाहिये। अन्यथा जगत्के व्यवहारकी अधिक महत्त्व देनेसे और मोक्षधर्मको कम महत्त्व देनेसे मनुष्यमें लोभवृद्धि होनेके कारण बडा अनर्थ होगा। त्यागपूर्ण जीवन और भोगपूर्ण जीवनका भेद यहां स्पष्ट होता है।

मंत्रमें कहा है कि न थकता हुआ और अवयवोंसे विकल न होता हुआ मैं इन देवोंकी पूजा करुंगा। इस कथनका भाव स्पष्ट है कि मनुष्य प्रयत्न करके अपना शरीर सुदृढ बनावे और अनेक पुरुषार्थ करनेका उत्साह मनमें स्थिर करे।

इन चार देवोंकी अन्नादिसे तथा घी आदिसे तृप्ति करनी चाहिये। जिसका जो हवन है उसीके अनुकूल उसका घी भी है। वह जैसा जिसको देना है वह यथायोग्य रीतिसे देकर उसकी तृप्ति करनी चाहिये। इस विषयमें थकावट करना योग्य नहीं। न थकते हुए और न श्रांत होते हुए ये भोग प्राप्त करने और योग्य प्रमाणसे उनका स्वीकार भी करना चाहिये। अर्थात् बडी दक्षतासे जगत् का व्यवहार करना उचित है। परंतु सब व्यवहार करते हुए चतुर्थ देवकी कृपा संपादन करनेका अनुसंधान रखना चाहिये। क्योंकि उसीकी कृपासे आनंद, उन्नति, यश आदि की यहां प्राप्ति होती है और सद्गति भी मिल सकती है।

दीर्घ आयु।

पूर्वोक्त प्रकार तीन मंत्रोका विचार करनेके पश्चात् अब चतुर्थ मंत्र इस प्रकार हमारे सम्मुख आता है - "इन आशापालोंकी सहायतासे हम तथा हमारे माता, पिता, इष्ट, मित्र गाय, घोडे आदि सब सुखी हों। हमारा अभ्युदय होवे तथा हम ज्ञानी बनकर निःश्रेयसके भागी बनें और दीर्घायु बने।" इस मंत्रमें चार बाते कही हैं -

१. **स्वस्ति (सु + अस्ति)** = सबका उत्तम अस्तित्व हो अर्थात् इस लोकका जीवनसुखपूर्वक हो।

२. **सुभूतं = (सु + भूति)** = उत्तम ऐश्वर्य प्राप्त हो, यह उत्तम अभ्युदयका सूचक विधान है।

३. **सुविदत्रं = (सु + विद + त्रं)** = उत्तम ज्ञान मिले। आत्मज्ञान ही सब ज्ञानोंमें उत्तम और निःश्रेयसका हेतु है। वह हमें प्राप्त हो।

४. **ज्योक्** = दीर्घकाल जीवन हो। यह तो अभ्युदय और निःश्रेयससे सहज ही प्राप्द हो सकता है।

वेदमंत्रोंमे वारंवार "ज्योक् च सूर्य दृशेम" अर्थात् "दीर्घकालतक सूर्यको हम देखते रहे।" यह एक मुहावरा है, इसका तात्पर्य" हमारी आयु अतिदीर्घ हो" यह है। परंतु यहां ध्यानमें विशेषतया धारण करनेकी बात यह है कि अति दीर्घ आयु प्राप्त करनेका संबंध सूर्यसे अवश्यही है। जहां जहां दीर्घ आयु प्राप्त करनेका उपदेश वेदमें आया है वहां वहां सूर्यका संबंध अवश्य बताया है। इसलिये जो लोग दीर्घ आयु प्राप्त करना चाहते है वे सूर्यके साथ आयुष्यवर्धनका संबंध है यह बात न भूलें। ब्रह्मकी कृपासे दीर्घ आयु प्राप्त होती है इस विषयमें अथर्ववेदमें अन्यत्र कहा है -

यो वै तां ब्रह्मणो वेदामृतेनावृतां पुरम्।
तस्मै ब्रह्म च ब्राह्माश्च चक्षुः प्राणं प्रजां ददुः ॥२९॥
न वै तं चक्षुर्जहाति न प्राणो जरसः पुरा।
पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते ॥३०॥

(अथर्व १।२)

"जो निश्चयसे ब्रह्मकी अमृतसे परिपूर्ण नगरीको जानता

है उसको स्वयं ब्रह्म और ब्रह्मके साथी अन्य देव चक्षु, प्राण और प्रजा देते हैं ॥२९॥ अति वृद्धावस्थासे पूर्व उसकी प्राण और चक्षु छोडते नहीं जो ब्रह्मपुरीको जानता है और जिस पुरीमें रहनेके कारण इसको पुरुष कहते हैं ॥३० ॥"

भाव स्पष्ट है कि ब्रह्मकी कृपासे दीर्घ आयु, सुसंतान और आरोग्य पूर्ण इंद्रियोंसे युक्त उत्तम शरीर प्राप्त होता है। यही भाव संक्षेपसे अपने प्रचलित सूक्तके चतुर्थ मंत्रमें कहा है इस प्रकार यह ज्ञानी मनुष्य इस परलोकमें यशस्वी होता है। यही इस सूक्तका उपदेश है।

विशेष दृष्टि ।

यह सूक्त केवल बाह्य दिशाएं और उनके पालकोंका ही वर्णन नहीं करता है। बाह्य दिशाओंका वर्णन इस सूक्तमें है, परंतु दिशा शब्द न प्रयुक्त करते हुए "आशा" शब्द का प्रयोग इसमें इसीलिये हुआ है कि मनुष्य अपनी आशाओं और उनकी पालक शक्तियोंको अपने अंदर अनुभव करे और उनके संयम, नियमन, और योग्य उपासन आदिसे अपना अभ्युदय और निःश्रेयस सिद्ध करे।

इस सूक्तका यह श्लेषालंकार बडा ही महत्त्व पूर्ण है। और जो इस सूक्तको केवल बाह्य दिशाओंके लिये ही समझते है वे इसके महत्त्वपूर्ण उपदेशसे वंचित ही रहते है। पाठक इस दृष्टिसे इसका अध्ययन करें।

इस सूक्तका संबंध आयुष्य गण, अपराजित गण आदि अनेक गणोंसे विषयकी अनुकूलतासे है। यह सूक्त स्वयं वास्तोष्पति गण अथवा वसु गण का है। इसलिये "यहांके निवास" के साथ इसका अपूर्व संबंध है। इस प्रकारकी दृष्टिसे विचार करनेसे पाठक इससे बहुत बोध प्राप्त कर सकते है और उसको आचरणमें ढालकर अपना अभ्युदय और निःश्रेयस प्राप्त कर सकते हैं।

जीवन-रसका महासागर ।

(३२)

(ऋषिः - ब्रह्मा । देवता -द्यावापृथिवी)

इदं जनासो विदथं महद्ब्रह्म वदिष्यति । न तत्पृथिव्यां नो दिवि येन प्राणन्ति वीरुधः ॥ १ ॥
अन्तरिक्ष आसां स्थाम श्रान्तसदामिव । आस्थानमस्य भूतस्य विदुष्टद्वेधसो न वा ॥ २ ॥
यद्रोदसी रेजमाने भूमिश्च निरतक्षतम् । आर्द्रं तदद्य सर्वदा समुद्रस्येव स्रोत्याः ॥ ३ ॥
विश्वमन्यामभीवार तदन्यस्यामधिश्रितम् । दिवे च विश्ववेदसे पृथिव्यै चाकरं नमः ॥ ४ ॥

अर्थ - हे (**जनासः**) लोगों ! (**इदं विदथ**) यह ज्ञान प्राप्त करो। वही ज्ञानी (**महत् ब्रह्म वदिष्यति**) बडे ब्रह्मके विषयमें कहेगा। (**येन वीरुधः प्राणन्ति**) जिससे औषधियां आदि प्राण प्राप्त करती है, (**तत् पृथिव्यां न, नो दिवि**) वह पृथ्वीमें नहीं और नही द्युलोक में है ॥१॥ (**आसां अन्तरिक्षे स्थाम**) इन औषधि आदिकोंका अन्तरिक्षमें स्थान है, (**श्रान्तसदां इव**) थक कर बैठे हुओंके समान (**अस्य भूतस्य आस्थानं**) इस बने हुएका स्थान जो है (**तत् वेधसः विदुः वा न**) वह ज्ञानी जानते हैं वा नही ? ॥२॥ (**यत् रेजमाने रोदसी**) जो हिलनेवाले द्यावापृथिवाने और (**भूमिः च**) केवल भूमिने भी (**निरतक्षतं**) बनाया (**तत् अद्य सर्वदा आर्द्रं**) वह आजतक सदासर्वदा रसमय है (**समुद्रस्य स्रोत्याः इव**) जैसे समुद्रके स्रोत होते है ॥३॥ (**विश्वं**) सब ने (**अन्यां अभीवार**) दुसरीको घेरलिया है, (**तत्**) वह (**अन्यस्यां अधिश्रितम्**) दुसरीमें आश्रित हुआ है। (**दिवे च**) द्युलोक और (**विश्ववेदसे च पृथिव्यै**) संपूर्ण धनोंसे युक्त पृथिवीके लिये (**नमः अकरं**) नमस्कार मैंने किया है ॥४॥

भावार्थ - हे लोगो ! यह समझो कि जो तत्वज्ञान समझेगा वही ज्ञानी उसका विवरण करेगा। तत्वज्ञान यह है कि - जिससे बढनेवाली वनस्पतियां आदिक अपना जीवन प्राप्त करती है वह जीवनका सत्त्व पृथ्वीपर नहीं है

और नहीं द्युलोक में है ॥१॥ इन वनस्पति आदिका स्थान अंतरिक्ष है। जैसे थकेमांदे विश्राम करते हैं उसप्रकार ये वनस्पति आदिक अंतरिक्षमें रहते हैं। इस बने हुए जगतका जो आधार है उसको कौनसे ज्ञानी लोग जानते हैं और कौनसे नहीं जानते ? ॥२॥ हिलने जुलनेवाले द्युलोक और पृथ्वीलोक के द्वारा जो कुछ बनाया गया है, वह सब इस समयतक बिलकुल नया अर्थात् जीवन रससे परिपूर्ण जैसा है, जैसे सरोवरसे चलनेवाले स्रोत रससे परिपूर्ण होते है ॥३॥यह सब जगत् दूसरी शक्तिके ऊपर रहा है और वह भी दूसरी के ही आश्रयसे रही है। द्युलोक और धनोंसे युक्त पृथ्वी देवीको मैं नमन करता हूं। (क्योंकि ये दो देवताएं इस जगत् का निर्माण करनेवाली है।) ॥४॥

स्थूल सृष्टि।

जो सृष्टि दिखाई देती है वह स्थूल सृष्टि है, इसमें मिट्टी पत्थर आदि अतिस्थूल पदार्थ, वृक्षवनस्पत्यादि बढनेवाले पदार्थ, पशुपक्षी आदि बढने और हिलनेवाले प्राणी तथा मनुष्य बढने हिलने और उन्नत होनेवाले उच्च कोटीके प्राणी है। पत्थर मिट्टी आदि स्थिर सृष्टीको छोडा जाय और वनस्पति पशु तथा मानव सृष्टिमें देखा जाय, तो ये उत्पन्न होते है, बढते है और प्राण धारण करते है यह बात स्पष्ट दिखाई देती है। इसमें दिखाई देनेवाला जीवनतत्व कौनसा तत्व है ? क्या यह स्थूल ही है या इससे भिन्न और कोई तत्व है इस का विचार इस सूक्तमें किया है।

सब लोग इस जीवन रसका ज्ञान प्राप्त करें। यदि उनकी जीवनसे आनंद प्राप्त करना है तो उनकी उचित है कि वे इस (जनासः ! विदथ) ज्ञानको प्राप्त करें। यह मनन करने योग्य सूचना प्रथम मंत्रके प्रारंभमें ही दी है। (मंत्र १)

यह जीवन रसकी विद्या कौन देगा ? किससे यह प्राप्त होगी ? यह शंका यहां आती है, इस विषयमें प्रथम मंत्रने ही आगे जाकर कहा है कि, जो इस विद्याको जानता होगा, वही (महत् ब्रह्म वदिष्यति) बडे ब्रह्मके विषयमें अर्थात् इस महत्त्वपूर्ण ज्ञानके विषयमें कहेगा। जिसको इस विद्याकी प्राप्ति करनेकी इच्छा हो, वह ऐसे विद्वानके पास जावे और ज्ञान प्राप्त करे। किसी अन्यके पास जानेकी कोई आवश्यकता नहीं है।

जीवन का रस

सारांश रूपसे यह समझो कि "जिस जीवनतत्त्वके आश्रयसे बढनेवाले वृक्ष वनस्पति प्राणी आदि प्राण धारण करते हैं यह जीवनका आधारतत्व न तो पृथ्वीपर है और नहीं द्युलोकमें है। " (मंत्र १) वह किसी अन्य स्थानमें है इसलिये उसको इस बाह्य द्यावापृथिवीसे भिन्न किसी अन्य स्थानमें ही ढूंढना चाहिये।

इस प्रथम मंत्रमें स्पष्ट शब्दोंसे कहा है कि जिससे जीवनका रस मिलता है वह तत्त्व इस स्थूल संसारसे बाहर अर्थात् वह अतिसूक्ष्म है। वह कहां है इसका पूर्ण उत्तर आगे के मंत्रोंमें आजायगा।

भूतमात्रका आश्रय।

द्वितीय मंत्रमें कहा है कि - "इस सृष्टिगत संपूर्ण पदार्थोंका आश्रय स्थान अंतरिक्ष है। इन स्थूल पदार्थ मात्रका जो अंतरिक्षमें आश्रय स्थान है वह ज्ञानी भी जानते है वा नही ?" अर्थात् इसका ज्ञान सब ज्ञानियोंको भी एकसा है वा नहीं। ज्ञानियोंमें भी जो परिपूर्ण ज्ञानी होते हैं वे ही केवल जानते है। सृष्टि विद्याके जाननेवाले इस बातको नहीं जान सकते, परंतु आत्मविद्याका ज्ञान जाननेवाले ही इसको यथावत् जानते हैं। (मंत्र २)

इस द्वितीय मंत्रमें "भूत" शब्द है, इसका अर्थ "बना हुआ पदार्थ।" जो यह बनी हुई सृष्टि है इसीका नाम भूत है और इसकी विद्या नाम भूतविद्या है। इस सब सृष्टिका आधार देनेवाला एक सूक्ष्मतत्व है जिसका ज्ञान अध्यात्मविद्या जाननेवाले ही जान सकते हैं। इसलिये जीवनरस विद्याका अध्ययन करनेवाले ऐसे सद्गुरुके पास जावें, कि जो इसका ज्ञाता हो और उसके पाससे वह जीवनकी विद्या प्राप्त करें। यह ही ज्ञानी (महत् ब्रह्म वदिष्यति) बडे ब्रह्मका ज्ञान कहेगा। इस प्रकार द्वितीय मंत्रका प्रथम मंत्रके साथ संबंध है।

सनातन जीवन।

तृतीय मंत्रमें कहा है कि - "जो इस द्यावापृथिवी के अंदर बना हुआ पदार्थ मात्र है वह सदा सर्वदा, जिस समय बना है उस समयसे लेकर इस समयतक बराबर जीवन रससे परिपूर्ण हानेके कारण नवीन सा रहा है, इसमें जीवन रस ऐसा भरा है जैसा सरोवरसे चलनेवाले विविध स्रोतोंमें सरोवरका जल चलता है।"

जगत्के माता पिता।

अदिति भूमी जगत् की माता है और द्यौष्पिता जगत् का पिता है। भूलोक और द्युलोक, भूमि और सूर्य, स्त्रीशक्ति और पुरुष शक्ति, ऋण शक्ति और धन शक्ति, रयि शक्ति और प्राण शक्ति, प्रकृति और पुरुष, प्रकृति और आत्मा इस प्रकारके दो शक्तियोंसे यह जगत् बना है, इसलिये इनको जगत्के माता पिता कहा है। विविध ग्रंथकारोंने उक्त द्वन्द्व शक्तियोंके विविध नामोंमेंसे किसी नामका प्रयोग किया है और जगत्की मूल उत्पादक शक्तियोंका वर्णन किया है।

जीवनका एक महासागर।

वेदमें द्यावा पृथिवी - द्युलोक और पृथ्वीलोग - को जगत् के माता पिता करके वर्णन किया है क्योंकि संम्पूर्ण जगत् इन्हिके अंदर समाया है। यह बना हुआ जगत् यद्यपि बननेके पश्चात् बढता और बिगडता भी है तथापि बने हुए संपूर्ण पदार्थोंमें जो जीवन तत्त्व व्याप रहा है वह एक रुपसे व्यापता है, इसलिये संपूर्ण जगत्के नियम अटल और एक जैसे हैं। हजारों वर्षोंके पूर्व जैसा जीवन संसारमें चलता था वैसा ही आज भी चल रहा है। इससे जीवनामृतकी अगाध सत्ता की कल्पना हो सकती है।

जिस प्रकार ही सागरसे अनेक स्रोत चलते हीं तो उनमें एक ही जीवन रस सबमें एकसा प्रवाहित होता रहता है, उसी प्रकार इस संसारके अंदर बने हुए अनंत पदार्थोमें एक ही अगाध जीवनके महासागरसे जीवन रस फैल रहा है, मानो संपूर्ण पदार्थ उस जीवनामृतसे ओतप्रोत भरपूर हो रहे हैं।

पाठक क्षणभर अपने आपको भी उसी जीवन महासागरमें ओतप्रोत भरनेवाले एक घडेके सामान समझें और अपने अंदर वही जीवन स्रोत चल रहा है इसका ध्यान करें। जिस प्रकार तैरनेवाला मनुष्य अपने चारोंओर जलका अनुभव करता है उसी प्रकार मनुष्य भी उसी जीवन महासागरमें तैरनेवाला एक प्राणी है, इसलिये इस प्रकार ध्यान करनेसे उस जीवनामृतके महासागर की अल्पसी कल्पना हो सकती है। यह जीवन सदा ही नवीन है, कभी भी यह पुराना नही होता, कभी बिगडता नहीं। अन्य पदार्त बनने और बिगडने पर भी यह एकसा नवीन रहता है। और यही सबको जीवन देता है। (तत् अद्य सर्वदा आर्द्रं) वह आज और सदा सर्वदा एक जैसा अभिनव रसपूर्ण रहता है। सबको जीवन देने पर भी जिसकी जीवन शक्ति रतिमात्र भी कम नहीं होती, इतनी अगाध जीवन शक्ति उसमें है।

सबका एक आश्रय।

चतुर्थ मंत्रका कथन है कि - "संपूर्ण विश्व अर्थात् यह स्थूल जगत् एक दूसरी शक्तिके ऊपर रहता है और वह शक्ति और दूसरी शक्ति के आश्रयसे रही है। वही आधारका तत्त्व पृथ्वी और द्युलोकके स्वरूपमें दिखाई दे रहा है। इसलिये मैं द्युलोकमें उसकी प्रकाशशक्तिकी और पृथ्वीमें उसकी आधार शक्तिको नमस्कार करता हूं।" अर्थात् संपूर्ण जगत्में उसकी शक्ति ही जगत् के रुपमें प्रकट हो गेई है ऐसा जानकर, जगत्को देखकर उस शक्तिका स्मरण करता हुआ उस विषयमें अपनी नम्रता प्रकट करता हूं।

स्थूल सूक्ष्म और कारण।

इस मंत्रमें विश्व "शब्द" स्थूल जगत्का बोधक है इस स्थूलका आधार (अन्या) दूसरा है, इससे सूक्ष्म है और वह इसके अंदर है अथवा उसके बाहर यह सब विश्व है। प्रत्येक स्थूल पदार्थके अंदर यह सूक्ष्म तत्त्व है और यह भी तीसरे अतिसूक्ष्म तत्त्व पर आश्रित् है। यह तीसरा तत्त्व ही सबका एक मात्र आधार है और इसीका जीवन अमृत सबमें एक रस होकर व्याप रहा है। इसी जीवनके समुद्रमें सब विश्वके पदार्थ तैर रहे हैं अथवा संपूर्ण पदार्थ रूपी छोटे बडे स्रोत उसी एक अद्वितीय जीवनमहासागर से चल रहे हैं। इनमें उसीका जीवन कार्य कर रहा है यह बताना इस सूक्तका उद्देश्य है। अनेकों में एक ही जीवन भरा है इसका अनुभव यहां होता है।

यह सूक्त केवल पढनेके लिये नहीं है, प्रत्युत यह मनकी धारणा करके अपने मनमें धारणासे स्थिर करनेके अनुष्ठानके लिये ही है। जो पाठक इसकी उक्त प्रकार धारणा कर सकेंगे वे ही इससे योग्य लाभ प्राप्त कर सकेंगे। पाठक यहां देखें कि छोटेसे छोटे सूक्तों द्वारा वेद कैसा अद्‌भुत उपदेश दे रहा हैं। निःसंदेह यह उपदेश जीवन पलटादेनेमें समर्थ है। परंतु यह लाभ वही प्राप्त करेगा कि जो इसको जीवनमें ढालनेका यत्न करेगा।

●●●

जलसूक्त

(३३)

(ऋषिः शन्तातिः । देवता आपः । चन्द्रमाः)

हिरण्यवर्णाः शुचयः पावका यासु जातः सविता यास्वग्निः ।
या अग्निं गर्भं दधिरे सुवर्णास्ता न आपः शं स्योना भवन्तु ॥१॥
यासां राजा वरुणो याति मध्ये सत्यानृते अवपश्यन् जनानाम्।
या अग्निं गर्भं दधिरे सुवर्णास्ता न आपः शं स्योना भवन्तु ॥२॥
यासां देवा दिवि कृण्वन्ति भक्षं या अन्तरिक्षे बहुधा भवन्दि ।
या अग्निं गर्भं दधिरे सुवर्णास्ता न आपः शं स्योना भवन्तु ॥३॥
शिवेन मा चक्षुषा पश्यतापः शिवया तन्वोप स्पृशत त्वचं मे ।
घृतश्चुतः शुचयो याः पावकास्ता न आपः शं स्योना भवन्तु ॥४॥

अर्थ - जो (हिरण्यवर्णाः) सुवर्णके समान चमकनेवाले वर्णसे युक्त (शुचयः पावकाः) शुद्ध और पवित्रता बढानेवाला (यासु सविता जातः) जिनमें सविता हुआ है और (यासु अग्निः) जिनमें अग्नि है, (याः सुवर्णाः) जो उत्तम वर्णवाला जल (अग्निं गर्भं दधिरे) अग्निको गर्भमें धारण करता है (ताः आपः) वह जल **(न शं स्योनाः भवन्तु)** हम सबको शांति और सुख देनेवाला होवे ॥१॥ **(यासां मध्ये)** जिस जलके मध्यमें रहता हुआ **(वरुणः राजा)** वरुण राजा **(जनानां सत्यानृते अवपश्यन्)** जनोंके सत्य और असत्य कर्मोंका अवलोकन करता हुआ **(याति)** चलता है। **(याः सुवर्णाः)** जो उत्तम वर्णवाला जल अग्निको गर्भमें धारण करता है वह जल हम सबको शाति और सुख देनेवाला होवे ॥२॥ **(देवाः दिवि)** देव द्युलोकमें **(यासां भक्षं कृण्वन्ति)** जिनका भक्षण करते हैं, और जो **(अन्तरिक्षे बहुधा भवन्ति)** अन्तरिक्षमें अनेक प्रकार से रहता है और जो उत्तमवर्णवाला जल अग्निको गर्भमें धारण करता है वह जल हम सबको शांति और सुख देनेवाला होवे ॥३॥ हे (आपः) जल ! **(शिवेन चक्षुषा मा पश्यत)** कल्याणकारक नेत्र द्वारा मुझको तुम देखो ! **(शिवया तन्वा मेत्वचं उपस्पृशत)** कल्याणमय अपने शरीरसे मेरी त्वचाको स्पर्श करो । जो (घृतश्चुतः) तेज देनेवाला (शुचयः पावकाः) शुद्ध और पवित्र (आपः) जल है **(ताः नः शं स्योनाः भवन्तु)** वह जल हमारे लिये शांति और सुख देनेवाला होवे ॥४॥

भावार्थ - अंतरिक्षमें संचार करनेवाले मेघमंडलमें तेजस्वी पवित्र और शुद्ध जल है, जिन मेघोंमेंसे सूर्य दिखाई देता हो, जिनमें विद्युत् रूपी अग्नि कभी व्यक्त और कभी गुप्त रूपसे दिखाई देता हो, वह जल हमें शांति और आरोग्य देनेवाला होवे ॥१॥ जिनमेंसे वरूण राजा घूमता है और जाते जाते मनुष्योंके सत्य और असत्य विचारों और कर्मोंका निरीक्षण करता है जिन मेघोंने विद्युत् रूपी अग्निको गर्भके रूपमें धारण किया है उन मेघोंका उदक हमें सुख और आरोग्य देवे ॥२॥ द्युलोक के देव जिसका भक्षण करते है और जो विविध रुपरंगवाले अंतरिक्षस्थानीय मेघोंमें रहता है तथा जो विद्युतका धारण करते है उन मेघोंका जल हमारे लिये सुख और आरोग्य देवे ॥३॥ जल हमारा कल्याण करे और उसका हमारे शरीरके साथ होनेवाला स्पर्श हमें आल्हाद देनेवाला प्रतीत हो । मेघोंका तेजस्वी और पवित्र जल हमें शांति और सुख देनेवाला होवे ॥४॥

वृष्टिका जल ।

इन चारो मंत्रोंमें वृष्टिजलका काव्यमय वर्णन है। इन मंत्रोंका वर्णन इतना काव्यमय है और छंद भी ऐसा उत्तम है कि एक स्वरसे पाठ करनेपर पाठकको एक अद्भुत आनंदका अनुभव होता है। इन मंत्रोंमें जलके विशेषण "शुचि, पावक, सु-वर्ण" आदि शब्द वृष्टि जलकी शुद्धता बता रहे है। वृष्टि जल जितना शुद्ध होता है उतना, कोई दूसरा जल नहीं होता। शरीर शुद्धिकी इच्छा करनेवाले दिव्यलोग इसी जलका पान करें और आरोग्य प्राप्त करें। इसके पानसे शरीर पवित्र और निरोग होता है। सामान्यतया वृष्टि जल शुद्ध ही होता है परंतु जिस वृष्टिमें सूर्यकिरणें भी प्रकाशती हैं उसकी विशेषता अधिक है। इसी प्रकार चंद्रमाकी किरणोंका भी परिणाम होता है!

इस सूक्तके चतुर्थ मंत्रमें उत्तम स्वास्थ्यका लक्षण बताया है वह ध्यानमें धारण करने योग्य है - "जलका स्पर्श हमारी चमडीको आल्हाद देवे।" जबतक शरीर नीरोग होता है तबतक ही शीत जलका स्पर्श आनंद कारक प्रतीत होता है, परंतु शरीर रुग्ण होते ही जल स्पर्श बुरा लगने लगता है।

मधु-विद्या ।

(३४)

(ऋषिः - अथर्वा । देवता -मधुवल्ली)

इयं वीरुन्मधुजाता मधुना त्वा खनामसि । मधोरधि प्रजातासि सा नो मधुमतस्कृधि ॥ १ ॥

जिव्हाया अग्रे मधु मे जिव्हामूले मधूलकम् । ममेदह क्रतावसो मम चित्तमुपायसि ॥ २ ॥

मधुमन्मे निक्रमणं मधुमन्मे परायणम् । वाचा वदामि मधुमद् भूयासं मधुसंदृशः ॥ ३ ॥

मधोरस्मि मधुतरो मदुघान्मधुमत्तरः । मामित्किल त्वं वनाः शाखां मधुमतीमिव ॥ ४ ॥

परि त्वा परितत्नुनेक्षुणागामविद्विषे । यथा मां कामिन्यसो यथा मन्नापगा असः ॥ ५ ॥

अर्थ - (इयं वीरुत् मधुजाता) यह वनस्पति मधुरताके साथ उत्पन्न हुई है, मै (त्वा मधुना खनामसि) तुजे मधुसे खोदता हूं। (मधोः अधि प्रजाता असि) शहदके साथ तू उत्पन्न हुई है अतः (सा) वह तू (नः मधुमतः कृधि) हम सबको मधुर कर ॥१॥ (मे जिह्वाया अग्रे मधु) मेरी जिह्वाके अग्र भागमें मधुरता रहे। (जिह्वामूले मधूलकं) मेरी जिह्वाके मूलमें भी मीठास रहे। हे मधुरता! तू (मम क्रतो इत् अह असः) मेरे कर्ममें निश्चयसे रह। (मम चित्तं उपायसि) मेरे चित्तमें मधुरता बनी रहे ॥२॥ (मे निक्रमणं मधुमत्) मेरा चालचलन मीठा हो। (मे परायणं मधुमत्) मेरा दूर होना भी मीठा हो। मैं (वाचा मधुमत् वदामि) वाणीसे मीठा बोलता हूं जिससे मैं (मधुसन्दृशः भूयासं) मधुरताकी मूर्ति बनूंगा ॥३॥ मैं (मधोः मधुतरः अस्मि) शहदसे भी अधिक मीठा हूं। (मधुघात् मधुमत्तरः) मधुरपदार्थसे अधिक मधुर हूं। (मां इत् किल त्वं वनाः) मुझपर ही तू प्रेम कर (मधुमतीं शाखां इव) जैसे मधुर रसवाली वृक्ष शाखासे प्रेम करते हैं ॥४॥ (अ-विद्विषे) वैर दूर करने के लिये (परितत्नुना इक्षुणा त्वा परि अगाम्) फैले हुए ईखके साथ तुझे घेरता हूं। (यथा मां कामिनी असः) जिससे तू मेरी कामना करनेवाली होवे और (यथा मत् न अपगाः असः) जिससे तू मुझसे दूर न होनेवाली होवे ॥५॥

भावार्थ - यह ईख नामक वनस्पति स्वभावसे मधुर है और उसको लगानेवाला और उखाडनेवाला भी मधुरता की भावनासे ही उसको लगाता है और उखाडता है। इस प्रकार यह वनस्पति परमात्मासे मीठास अपने साथ लाती है, इसलिये हम चाहते हैं कि यह हम सबको मधुरतासे युक्त बनावे ॥१॥ मेरी जिह्वाके अग्रभागमें मधुरता रहे, जिह्वाके

मूल में और मध्यमें मधुरता रहे । मेरे कर्ममें मधुरता रहे, और मेरा चित्त भी मधुर विचारोंका मनन करे ॥२॥ मेरा चालचलन मीठा हो, मेरा आना जाना मीठा हो, मेरे इशारे और भाव तथा मेरे शब्द भी मीठे हो । ऐसा होनेसे मैं अंदर बाहरसे मीठास की मूर्ति ही बनूंगा ॥३॥ मैं शहदसे भी मीठा बनता हूं मैं मिठाईसे भी मीठा बनता हूं, इसलिये जिस प्रकार मधूर फलवाली शाखापर पक्षी प्रेम करते हैं इस प्रकार तू मुझपर प्रेम कर ॥४॥कोई किसीका द्वेष न करे इस उद्देश्यसे व्यापक मधुरवल्लियोंका अर्थात् व्यापक मधुर विचारोंकी बाढ चारों और बनाता हूं ताकि इस बाढमें सब मधुरता ही बढे और सब एक दूसरेपर प्रेम करें और विद्वेषसे कोई किसीसे विमुख न हो ॥५॥

मधुविद्या ।

वेदमें कई विद्याएं है अध्यात्मविद्या, वेदविद्या, जन विद्या, युद्ध विद्या, इसी प्रकार मधुविद्या भी वेदमें है । मधुविद्या जगत् की ओर किस प्रकार देखना चाहिये यह दृष्टिकोण ही मनुष्यमें उत्पन्न करती है । उपनिषदों में भी यह मधुविद्या वेद मंत्रोंसे ली है । यह जगत् मधुरूप है अर्थात् मीठा है ऐसा मानकर जगत् की ओर देखना इस बातका मधु विद्या उपदेश करती है । दूसरी विद्या जगत् को कष्टका आगर बताती है, इसका पाठक कटुविद्या कह सकते हैं । परंतु यह कटुविद्या वेदमें नहीं है । वेद जगत् की ओर दुःख दृष्टिसे देखता नही, न ही दुःख दृष्टिसे जगतको देखनेका उपदेश करता है । वेदमें मधुविद्या इसीलिये है कि इसका ज्ञान प्राप्त करके लोग जगत् की ओर मधुदृष्टिसे देखनेकी बात सीखें । इस विद्याके मंत्र अथर्ववेदमें भी बहुत हैं और अन्य वेदोंमें भी है, उनका यहां विचार करने की कोई आवश्यकता नहीं है। इस सूक्तके मंत्र ही स्वयं उक्त विद्याका उत्तम उपदेश देते हैं । पाठक इन मंत्रोकां विचार करें और उचित बोध प्राप्त करें ।

जन्म स्वभाव ।

वृक्षोमें क्या और प्राणियोंमे क्या हरएक का व्यक्तिनिष्ठ जन्मस्वभाव रहता है जो बदलता नहीं । जैसा सूर्यका प्रकाशना, अग्निका उष्ण होना, ईखका मीठा होना, करेलेका कडवा होना, इत्यादि ये जन्मस्वभाव है । ये जन्मस्वभाव कहांसे आते है यह विचारणीय प्रश्न है । ईख मिठास लाता है और करेला कडवाहट लाता है । एक ही भूमिमें उगी ये दो वनस्पतियां परस्पर भिन्न दो रसोंको अपने साथ लाती है। कभी करेलेमें मीठा रस नहीं होता और नही ईखमें कडुवा । ऐसा क्यों होता है ? कहांसे ये रस आते है ?

कोई कहेगा कि भूमिसे क्योंकि भूमिका नाम "रसा" है। इस भूमिमें विविध रस होते है । जो जो पौधा उसके पास जाता है । वह अपने स्वभावके अनुसार भूमिसे रस खींचता है और जनताको देता है । करेलेका स्वभाव कडुवा है और ईखका मीठा है । ये पौंधे भूमिके विविध रसोंमें से अपने स्वभावके अनुकूल रस लेते हैं और उनको लेकर जगत् में प्रकट होते है।

मनुष्यमें भी यही बात है । विभिन्न प्रकृतिके मनुष्य विभिन्न गुणधर्म प्रगट कर रहे है, उनको एक ही खजानेसे एकही जीवनके महासागरसे जीवन रस मिलता है, परंतु एकमें वही जीवन शान्ति बढानेवाला और दूसरमें अशान्ति फैलानेवाला होता है । ये स्वभाव धर्म हैं । एकही जल मेघोंमें जाता है और मीठ बनकर वृष्टिसे परिशुद्ध स्थितिमें प्राप्त होता है, जिसको पीकर मनुष्य तृप्त हो सकता है वही जल समुद्रमें जाता है और खारा बनता है, जिसको कोई पी नहीं सकता नहीं यह स्वभाव भेद है ।

अन्य पदार्थ अथवा अन्य योनियां अपने स्वभाव बदल नहीं सकती । मरनेतक उनमें बदल नहीं होता । परंतु मनुष्य योनि ही एक ऐसी योनि है कि जिस योनिके लोग सुनियमोंके आचरणसे अपना स्वभाव बदल सकते हैं । दुष्टके सुष्ट बन सकते है, मुर्खके प्रबुद्ध बन सकते है, दुराचारियोंके सदाचारी हो सकते है, इसीलिये वेद मनुष्योंकी भलाई के लिये इस मधुविद्याका उपदेश दे रहा है । मनुष्य अपनी कडवाहट कम करे और अपनेमें मिठास बढावे यही यहां इस विद्याका उद्देश्य है ।

अब मधुविद्याका प्रथम मंत्र देखिये - "यह ईख नामक वनस्पति मिठास के साथ जन्मी है, मनुष्य मीठी भावनाके साथ उसे खोदते है । यह मधुरता लेकर आगई है, इसलिये हम सबको यह वल्ली मिठाससे युक्त करे ।" (मंत्र १)

यह प्रथम मंत्र बडा अर्थपूर्ण है । इसमें चार बातें है - (१) स्वयं मीठे स्वभाव का होना, (२) मीठे स्वभाव वालोंसे संबंध करना, (३) स्वयं मधुर जीवनको व्यतीत करना, और (४) दूसरोंको मीठा बना देना । पाठक देखें

कि - (१) ईख स्वयं स्वभावसे मीठा होता है, (२) मीठा उत्पन्न करनेकी इच्छा वाले किसानोंसे उसकी मित्रता होती है, (३) ईख स्वयं मीठा जीवन रस अपने साथ लाता है और (४) जिस चीज के साथ मिलता है उसको मीठा बनाता है। क्या पाठक इस आदर्श मीठे जीवनसे बोध नहीं ले सकते ?

ये चार उपदेश है जो मनुष्यको विचार करने चाहियें। यह ईख अपने व्यवहारसे मनुष्यको उपदेश दे रहा और बता रहा है कि इस प्रकार व्यवहार करनेसे मनुष्य मीठा बन सकता है। इसके मननसे प्राप्त होनेवाले नियम ये है -

(१) अपना स्वभाव मीठा बनाना। अपनेमें यदि कोई कटुता, कठोरता यां तीक्ष्णता हो तो उसको दूर करना तथा प्रति समय आत्मपरीक्षा करके, दोष दूर करके, अपने अंदर मीठा स्वभाव बढानेका यत्न करना।

(२) मनुष्यको उचित है कि वह स्वयं ऐसे मनुष्यों के साथ मित्रता करे कि जो मीठे स्वभाव वाले हों अथवा मधुरता फैलाने के इच्छुक हो।

(३) अपना जीवन ही मीठा बनाना, चालचलन, बोलना चालना मीठा रखना। अपने इशारेसे भी कटुताका भाव व्यक्त न करना।

(४) प्रयत्न इस बातका करना कि दूसरोंके भी स्वभाव मीठे बनें और कठोर प्रकृतिवाले मनुष्य भी सुधर कर उत्तम मधुर प्रकृतिवाले बनें।

पाठक प्रथम मंत्रका मनन करेंगे तो उनको ये उपदेश मिल सकते है। "ईख स्वयं मीठा है, मीठा चाहनेवाले किसान से मित्रता करता है, अपनेमें मधुर जीवन रस लाता है और जिसमें मिल जाता है उनको मीठा बना देता है। " इस प्रथम मंत्रके चार पादोंका भाव उक्त चार उपदेश दे रहे है। पाठक इन उपदेशोंको अपनानेका प्रयत्न करें। (मंत्र १)

यहां अन्योक्ति अलंकार है। पाठक इस काव्यमय मंत्रका यह अलंकार देखें और समझें। वेदमें ऐसे अलंकारोंसे बहुत उपदेश दिया है।

मीठा जीवन।

पूर्वोक्त प्रथम मंत्रके तीसरे पादमें अन्योक्ति अलंकारसे सूचित किया है कि "मनुष्य मिठास के साथ जीवन व्यतीक करें।" अर्थात् अपना जीवन मधुर बनावे। इसी बातकी व्याख्या अगले तीन मंत्रोंमें स्वयं वेद करता है। इसलिये उक्त तीन मंत्रोंका भाव थोडा विस्तार से यहां देते हैं-

(दूसरा मंत्र)- "मेरी जिह्वाके मूल, मध्य और अग्रभागमें मिठास रहे अर्थात् मैं वाणीसे मधुर शब्द ही बोलूंगा। कभी कटु शब्दका प्रयोग बोलनेमें आरै लेखमें नहीं करूंगा, कि जिससे जगत्में कटुता फैले। मेरा चित्त भी मीठे विचारोंका चिंतन करेगा। इस प्रकार चित्तके विचार और वाणीके उच्चार एक रूपता से मीठे बन गये तो मेरे (ऋ तु) आचार व्यवहार अर्थात् कर्म भी मीठे हो जायंगे। इस प्रकार विचार उच्चार आचारमें मीठा बना हुआ मैं जगत् में मधुरता फैलाउंगा। मेरे विचार से, मेरे भाषणसे और मेरे आचार व्यवहार से चारों ओर मिठास फैलेगी।"

(तीसरा मंत्र)- "मेरा आचार व्यवहार मीठा हो, मेरे पासके ओर दूरके व्यवहार मीठे हों, मेरे इशारे मीठे हों, मै वाणीसे मधुर ही शब्द उच्चरूंगा और उस भाषणका आशयभी मधुरता बढानेवाला ही होगा। जिस समय मेरे विचार उच्चार और आचार में स्वाभाविक और अकृत्रिम मधुरता टपकने लगेगी, उस समय मैं माधुर्य की मूर्ति ही बनूंगा।"

(चतुर्थ मंत्र) -"जब शहदसे भी मैं अधिक मीठा बनूंगा, और लड्डूसे भी मैं अधिक मीठा बनूंगा तब तुम सब लोग निःसंदेह मुझपर वैसा प्रेम करोगे कि जैसा पक्षिगण मीठे फलोंसे युक्त वृक्षशाखापर प्रेम करते हैं।"

ये तीन मंत्र कितना अद्भुत उपदेश दे रहे हैं इसका विचार पाठक अवश्य करें। ऊपर भावार्थ देते समय ही भावार्थ ठीक व्यक्त करने के लिये कुछ अधिक शब्द रखें हैं, उनके कारण इनका अब अधिक स्पष्टीकरण करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है।

प्रतिज्ञा।

ये मंत्र प्रतिज्ञा के रूपमें हैं। मैं प्रतिज्ञा इस प्रकार करता हूं यह भाव इन मंत्रोमें हैं। जो पाठक इन मंत्रोंसे अधिकसे अधिक लाभ उठानेके इच्छुक हैं वे यही प्रतिज्ञा करें, यदि उन्होंने ऐसी प्रतिज्ञा की और उस प्रकार उनका आचरण हुआ तो उनका यश सर्वत्र फैल जायगा। यह पूर्ण अहिंसा की प्रतिज्ञा है। अपने विचार, उच्चार, आचारसे किसी प्रकार किसीकी भी हिंसा न हो, किसीका द्वेष न हो, किसीका वैर न हो, किसीकी शत्रुता न हो, इस प्रकार अपना आदर्श जीवन बननेपर

जगत्में आनंदका ही साम्राज्य बन जायगा। इस आनंदका साम्राज्य स्थापन करना वैदिक धर्मियोंका परम धर्म ही है और इसलिये इस मधुविद्याका उपदेश इस सूक्तमें हुआ हैं।

मीठी बाड ।

खेतको बाड लगाते हैं जिससे खेतका नाश करनेवाले पशु उस खेततक पहुंच नहीं सकते और खेत सुरक्षित रहता है। इसी प्रकार स्वयं मीठा और मधुरता फैलानेवाला मनुष्य अपने चारों ओर मीठा बाड बनावे। जिससे उसके विरोधी शत्रु - क्रौर्य द्वेष भाव आदि शत्रु - उस तक न आसकें। यह बाड अपने मनमें सुविचारोंकी हो, अपने इंद्रियोंके साथ संयम की हो, अपने घरमें परस्पर प्रेमकी हो, समाजमें परस्पर मित्रताकी हो। अपने सब मित्रभी उत्तम मीठे विचार जीवन में लाने और मधुरता फैलानेवाले हों ऐसी बाड होगई तो अंदरका मिठासका खेत बिगडेगा नहीं। इस विषयमें पंचम मंत्र देखने योग्य हैं -

(पंचम मंत्र) - "मैं विद्वेषको हटानेके लिये चारों ओर फैलनेवाले मीठे ईखोंकी बाड तुम्हारे चारों ओर करता हूं जिससे तू मेरी इच्छा करेगी और मुझसे दूर भी न होगी।"

यह जितना स्त्री पुरुषके आपसके अविद्वेषके लिये सत्य है उतना ही अन्य परिवारों और मित्रजनोंके अविद्वेष और प्रेम बढानेके विषयमें सत्य हैं। परंतु अपने चारों ओर मीठी बाड करनेकी युक्ति पाठकोंको अवश्य जाननी चाहिये। अपने साथ ईख की गंडेरियां लेनेसे यह कार्य नहीं होगा। यह कार्य करनेके लिये जो ईख चाहिये वे विचार, उच्चार और आचारके तथा मनोभावना की ईख चाहिये। जो पाठक अपने अंतःकरणके क्षेत्र में ईख लगायंगे और उसकी पुष्टि अपने मीठे जीवन से करेंगे, वे ही ये वैदिक उपदेश आचरणमें ढाल सकते हैं।

ये मंत्र स्पष्ट हैं। अधिक स्पष्टीकरण की आवश्यकता नहीं है, परंतु पाठक इनको काव्य की दृष्टिसे समझनेका यत्न करेंगे तभी वे लाभ उठा सकेंगे।

तेजस्विता बल और दीर्घायुष्य की प्राप्ति।

(३५)

(ऋषिः - अथर्वा। देवता - हिरण्यं, इन्द्राग्नी, विश्वेदेवाः)

यदाबध्नन्दाक्षायणा हिरण्यं शतानीकाय सुमनस्यमानाः ।
तत्ते बध्नाम्यायुषे वर्चसे बलाय दीर्घायुत्वाय शतशारदाय ॥१॥
नैनं रक्षांसि न पिशाचाः सहन्ते देवानामोजः प्रथमजं ह्येतत् ।
यो बिभर्ति दाक्षायणं हिरण्यं स जीवेषु कृणुते दीर्घमायुः ॥२॥
अपां तेजो ज्योतिरोजो बलं च वनस्पतीनामुत वीर्याणि ।
इन्द्र इवेन्द्रियाण्यधि धारयामो अस्मिन्तद्दक्षमाणो बिभरद्धिरण्यम् ॥३॥
समानां मासामृतुभिष्ट्वा वयं संवत्सरस्य पयसा पिपर्मि ।
इन्द्राग्नी विश्वे देवास्तेऽनु मन्यन्तामहृणीयमानाः ॥४॥

अर्थ :- (सुमनस्यमानाः दाक्षायणाः) शुभ मनवाले और बलकी वृद्धि करनेवाले श्रेष्ठ पुरुष **(शत अनीकाय)** बलके सौ विभागों के संचालक के लिये **(यत् हिरण्यं अबध्नन्)** जो सुवर्ण बांधते रहे (तत्) वह सुवर्ण **(आयुषे वर्चसे)** जीवन, तेज, **(बलाय)** बल और **(शतशारदाय दीर्घायुत्वाय)** सौ वर्षकी दीर्घ आयुके लिये **(ते बध्नामि)** तेरे

ऊपर बांधता हूं ॥१॥ **(न रक्षांसि, न पिशाचाः)** न राक्षस और न पिशाच **(एनं सहन्ते)** इस पुरुषका हमला सह सकते हैं **(हि)** क्योंकि **(एतत् देवनां प्रथमजंओजः)** यह देवोंसे प्रथम उत्पन्न हुआ सामर्थ्य है । **(यः दाक्षायणं हिरण्यं बिभर्ति)** जो मनुष्य दाक्षायण सुवर्ण धारण करता है **(सः जीवेषु दीर्घ आयुः कृणुते)** वह जीवोंमें अपनी दीर्घ आयु करता है ॥२॥ **(अपां तेजः ज्योतिः ओजः बलं च)** जलका तेज, कान्ति, पराक्रम, और बल **(उत)** तथा **(वनस्पतीनां वीर्याणि)** औषधियोंके सब वीर्य **(अस्मिन् अधि धारयामः)** इस पुरूषमें धारण कराते हैं **(इन्द्रे इन्द्रियाणि इव)** जैसे आत्मामें इन्द्रिय धारण होते हैं । इस प्रकार **(दक्षमाणः हिरण्यं बिभ्रत्)** बल बढाने की इच्छा करनेवाला सुवर्णका धारण करे ॥३॥ **(समानां मासां ऋतुभिः)** सम महिनोंके ऋ तुओं के द्वारा **(संवत्सरस्य पयसा)** वर्ष रूपी गौके दूधसे **(त्वा वयं पिपर्मि)** तुझे हम सब पूर्ण करते हैं । **(इन्द्राग्नी)** इन्द्र और अग्नि **(विश्वे देवाः)** तथा सब देव **(अ-हृणीयमानाः)** संकोच न करते हुए **(ते अनु मन्यन्तां)** तेरा अनुमोदन करें ॥४॥

भावार्थ - बल बढानेवाले और मनमें शुभ विचारों की धारणा करनेवाले श्रेष्ठ महात्मा पुरुष सेना संचालकके देहपर बलवृद्धि के लिये जिस सुवर्णके आभूषणको लटता देते हैं, वही आभूषण मैं तेरे शरीरपर इसलिये लटकाता हूं कि इससे तेरा जीवन सुधरे, तेज बढे, बल तथा सामर्थ्य वृद्धिंगत हो और तुझे सौ वर्षकी पूर्ण आयु प्राप्त हो ॥१॥ यह आभूषण धारण करनेवाले वीर पुरूषके हमलेको न राक्षस और नही पिशाच सह सकते हैं । वे इसके हमलेसे धबराकर दूर भाग जाते हैं , क्योंकि यह देवोंसे निकला हुआ सबसे प्रथम दर्जेका बल ही है। इसका नाम दाक्षायण अर्थात् बल बढानेवाला सुवर्णका आभूषण है । जो इसका धारण करता है वह मनुष्योंमें सबसे अधिक दीर्घ आयु प्राप्त करता है ॥२॥ हमसब इस पुरुषमें जीवन का तेज, पराक्रम, सामर्थ्य और बल धारण कराते हैं। और साथ साथ औषधियोंसे नाना प्रकारके वीर्यशाली बल भी धारण कराते हैं। जिस प्रकार इन्द्रमें अर्थात् आत्मामें इंद्रिय शक्तियां रहती है उसी प्रकार इस सुवर्णका आभूषण धारण करनेवाले मनुष्यके अंदर सब प्रकारके बल रहें, वे बाहर प्रगट हो जांय ॥३॥ दो महिनोंका एक ऋ तु होता है । प्रत्येक ऋतुकी शक्ति अलग अलग होती है, मानो संवत्सररूपी गौका दूध ही संवत्सरकी छह ऋ तुओंमें निचोडा हुआ है । यह दूध मनुष्य पीवे और बलवान् बने । इसकी अनुकूलता इंद्र अग्नि तथा सब देव करें ॥४॥

दाक्षायण हिरण्य ।

हिरण्य शब्दका अर्थ सुवर्ण अथवा सोना है, यह परिशुद्ध स्थितिमें बहुत ही बलवर्धक है । यह पेटमें भी लिया जाता है और शरीरपर भी धारण किया जाता है। श्री. यास्काचार्य हिरण्य शब्दके दो अर्थ देते हैं - हितरमणीयं, हृदयरमणीयं" अर्थात् यह सुवर्ण हितकारक और रमणीय है तथा हृदयकी रमणीयता बढानेवाली है। सुवर्ण बलवर्धक तथा रोग नाशक है इसलिये आरोग्य चाहनेवाले इसका उपयोग कर सकते हैं ।

इस सूक्तमें "दाक्षायण" शब्द (दक्ष - अयन) अर्थात् बलके लिये प्रयत्न करनेवाला इस अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। प्रथम मंत्रमें यह शब्द मनुष्योंका विशेषण है और द्वितीय मंत्रमें यह सुवर्णका विशेषण है । तृतीय मंत्रमें इसी अर्थका "दक्ष-माण" शब्द है जो शक्तिमानका वाचक है । पाठक विचार करेंगे तो उनको निश्चय होगा कि "दाक्षायण और दक्षमाण" ये दो शब्द करीब शक्तिमान् के ही वाचक हैं । दक्ष शब्द वेदमें बलवाचक प्रसिद्ध है।

इस प्रकार इस सूक्तमें बल बढानेका जो मार्ग बताया है, उसमें सबसे प्रथम हिरण्यधारण है । हिरण्यधारण दो प्रकारसे होता है, एक तो आभूषण शरीरपर धारण करना और दूसरा सुवर्ण शरीरमें सेवन करना। सुवर्ण शरीरमें स्वानेकी रीति वैद्यग्रंथोंमें प्रसिद्ध है। सब अन्य धातू तथा औषधियां सेवन करनेपर शरीरमें नहीं रहती, परंतु सुवर्ण की ही विशेषता है कि वह शरीरके अंदर हड्डियोंके जोडोमें जाकर स्थिर रूपसे रहता है और मृत्युके समय तक साथ देता है । इस प्रकारकी सुवर्णधारणासे अनेक रोगोंसे मुक्तता होती है । इस रीतिसे धारण किया हुआ सुवर्ण देह मृत होनेपर उसके जलानेके बाद शरीरकी राखसे सबका सब मिलता है । अर्थात् यदि किसी पुरुषने एक तोला सुवर्ण वैद्यकीय रीतिसे सेवन किया तो वह तोलाभर सुवर्ण मृत शरीरके दाह होनेके पश्चात् उसके संबंधियोंको प्राप्त हो सकता है। इस प्रकार कोई हानि न करता हुआ यह सुवर्ण बल और आरोग्य देता है।

जो वैद्य इस सुवर्ण धारण विधिकों जातने है उनका

नाम "दाक्षायण" प्रथम मंत्रमें कहा है । इस प्रकारका परिशुद्ध सुवर्ण बलवर्धक होनेसे उसका नाम भी "दाक्षायण" है यह बात द्वितीय मंत्रने बता दी है । जो मनुष्य इस प्रकार सुवर्ण धारण विधिसे अपना आयुष्य बढाना चाहता है उसका भी नाम वेदमे तृतीय मंत्रमें "दक्ष- माण" बताया है । इस प्रकार यह सूक्त बलवर्धन की बात प्रारंभसे अंत तक बता रहा है ।

दाक्षायणी विद्या ।

बल बढानेकी विद्याका नाम दाक्षायणी विद्या है ।(दक्ष +अयनः) बल प्राप्त करनेके मार्गका उपदेश इस विद्यामें होता है । इस विद्यामे मनके साथ विशेष संबंध रहता है(सु+मनस्यमानः) उत्तम मनसे युक्त अर्थात् मनकी विशेष शक्तिसे संपन्न । कमजोरीकी भावनासे मन अशक्त होता है और सामर्थ्य की भावनासे बलशाली होता है । मनकी शक्ति बढानेकी जो विद्या है उस विद्याके अनुसार मन सुनियमसे युक्त बनानेवाले श्रेष्ठ लोग "सुमनस्यमानाः दाक्षायणः" शब्दोंद्वारा वेदमें बताये हैं । पाठक अपने मनकी अवस्थाके साथ अपने बलका संबध देखें और इन शब्दों द्वारा जो सुमनस्क होने की सूचना मिलती है वह लेलें और इस प्रकार मानसिक धारणासे अपना बल बढावें ।

सुवर्ण धारण ।

यद्यपि प्रथम मंत्रमें केवल स्थूल शरीरपर सुवर्ण बांधनेका विधान किया है तथापि आगे जाकर पेटमें वीर्यवर्धक नाना रस पीनेका उपदेश इसी सूक्तमें आनेवाला है । सुवर्ण तथा अन्य कई रत्न हैं कि जो शरीरपर धारण करनेसे भी बलवर्धन तथा आरोग्यवर्धन कर सकते हैं । यह बात सूर्यकिरण चिकित्सा तथा वर्णचिकित्साके साथ संबंध रखनेवाली है अर्थात् सुवर्णरत्नादिका धारण करना भी शरीरके लिये आरोग्यप्रद है । औषधियोंकी जडोंके मणी शरीरपर धारण करनेसे भी आरोग्यकी दृष्टीसे बडा लाभ करते हैं । संसर्गजन्य रोगोंमें वचा-मणिक धारणसे अनेक लाभ हैं । यही बात सुवर्ण रत्नादि धारणसे होती है। परंतु इसके लिये शुद्ध सुवर्ण चाहिये।

इस विषयमें प्रथम मंत्रमें कहा है कि - "बल बढानेकी विद्या जाननेवाले और उत्तम मनःशक्तिसे युक्त श्रेष्ठ पुरूषोंके द्वारा शरीरपर लटकाया हुआ सुवर्ण जीवन, तेज, बल तथा दीर्घ आयुष्य देता है । "इसमें शरीरपर सुवर्ण लटकानेवाले मनुष्यों का उत्तम मनोभावना भी लाभदायक होती हैं यह सूचित किया है, वह मनन करने योग्य है ।

इस मंत्रमें "शतानीकाय हिरण्यं बध्नामि" का अर्थ "सैन्य विभागोंके संचालकके शरीरपर सुवर्ण लटकाता हूं" ऐसा किया है, परंतु इसमें और भी एक गूढता है वह यह है कि "अनीक" शब्द बल वाचक है । बल शब्द सैन्य वाचक और बल वाचक भी है । विशेषतः "अनीक" शब्दमें "अन् -प्राणने" धातु है जो जीवन शक्तिका वाचक प्रसिद्ध है । इसलिये जीवन शक्तिका अर्थ भी अनीक शब्दमें है । इस अर्थके लेनेसे "शतानीक" शब्दका अर्थ "सौ जीवन शक्तियां" अथवा सौ जीवन शक्तियोंसे युक्त होता है। यह भाव लेनेसे उक्त मंत्र भागका अर्थ ऐसा होता है कि -

शतानीकाय हिरण्यं बध्नामि । (मंत्र १)

"सौ जीवन शक्तियोंकी प्राप्तिके लिये मैं सुवर्णका धारण करता हूं ।" सुवर्णके अंदर सेकडो वीर्य हैं, उन सबकी प्राप्तिके लिये मैं उसका धारण करता हूं । यह आशय प्रथम मंत्र भाग का है । इस प्रथम मंत्रमें इनमेंसे कुछ गुण कहे भी हैं -

आयुषे । वर्चसे । बलाय । दीर्घायुत्वाय । शतशारदाय।

"आयु, तेज, बल, दीर्घ आयु, सौ वर्षकी आयु" इत्यादि शब्द जीवन शक्तियोंके ही सूचक है । इनका थोडासा परिगणन यहां किया है । इससे पाठक अनुमान कर सकते हैं और जान सकते हैं कि इसी प्रकार अनेक जीवन शक्तियां" है, उनकी प्राप्ति अपने अंदर करनी और उनकी वृद्धि भी करनी वैदिक धर्मका उद्देश है । इस विचारसे ज्ञात हो सकता है कि यहां "शतानीक" शब्दका अर्थ "जीवनके सौ वीर्य, जीवन की सैंकडों शक्तियां" अभीष्ट है । यद्यपि यह अर्थ हमने मंत्रार्थ करते समय किया नहीं है तथापि यह अर्थ हमें यहां प्रतीत हो रहा है । इसलिये प्रसिद्ध अर्थ ऊपर देकर यहां यह अर्थ लिखा है । पाठक इसका अधिक विचार करें।

इस प्रकार प्रथम मंत्रका मनन करनेके बाद इसी प्रकारका एक मंत्र यजुर्वेदमें थोडेसे पाठभेदसे आता है उसको पाठकोंके विचारके लिये यहां देते हैं -

यदाबध्नन्दाक्षायणा हिरण्यं शतानीकाय सुमनस्यमानाः ।
तन्म आबध्नामि शतशारदायायुष्माञ्जरदष्टिर्यथासम् ॥
(वा. यजु. ३४।५२)

"उत्तम मनवाले दाक्षायण लोग शतानीकके लिये जिस सुवर्ण भूषणको बांधते रहे, (तत्) वह सुवर्ण भूषण (मे आबध्नामि) मैं अपने शरीरपर बांधता हूं इसलिये कि मैं (आयुष्मान्) उत्तम आयुसे युक्त और (जरदृष्टिः वृद्ध अवस्थआका अनुभव करनेवाला होकर (यथा शतशारदाय आसं) जिस प्रकार सौ वर्षकी पूर्ण आयुको प्राप्त होऊं।"

इसका अधिक विवरण करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि पूर्वोक्त भावही इस मंत्रमें अन्य रीतिसे और भिन्न शब्दोंसे व्यक्त हुआ है। इस मंत्रका द्वितीय अर्थ ही भिन्न है। प्रथमार्ध वैसाका वैसा ही है। यहां प्रथम मंत्रका विवरण समाप्त हुआ, अब द्वितीय मंत्रका विचार करते हैं।-

राक्षस और पिशाच ।

नरमांस भोजन करनेवाले राक्षस होते हैं और रक्त पीनेवाले पिशाच होते हैं। ये सबसे क्रूर होनेके कारण सब लोग इनसे डरते रहते हैं। परंतु जो पूर्वोक्त प्रकार "सुवर्ण प्रयोग करता है उसके हमलेको राक्षस और पिशाच भी सह नहीं सकते।" इतनी शक्ति इस सुवर्ण प्रयोगसे मनुष्यको प्राप्त होती है। सुवर्णमें इतनी शक्ति है। क्योंकि "यह देवोंका पहिला ओज हैं।" अर्थात् संपूर्ण देवोंकी अनेक शक्तियां इसमें संगृहित हुई है। इसलिये द्वितीय मंत्रके उत्तरार्धमें कहा है कि - "जो यह बलवर्धक सुवर्ण शरीरमें धारण करता है वह सब प्राणियोंसे भी अधिक दीर्घ आयु प्राप्त करता है।" अर्थात् इस सुवर्ण प्रयोगसे शरीरका बल भी बढ जाता है और दीर्घ आयु भी प्राप्त होती है। यह द्वितीय मंत्रका भाव पहिले मंत्रका ही एक प्रकारका स्पष्टीकरण है, इसलिये इसका इतनाही मनन पर्याप्त है। यही मंत्र यजुर्वेदमें निम्न लिखित प्रकार है -

न तद्रक्षांसि न पिशाचास्तरन्ति देवानामोजः प्रथमजं ह्येतत् ।
यो बिभर्ति दाक्षायणं हिरण्यं स देवेषु कृणुते दीर्घमायुः
स मनुष्येषु कृणुतं दीर्घमायुः ॥ यजु. ३४।५१

'यह देवोंसे उत्पन्न हुआ पहिला तेज है, इसलिये राक्षस और पिशाच भी इसके पार नहीं हो सकते। जो दाक्षायण सुवर्ण धारण करता है वह देवोंमें दीर्घ आयु करता है और मनुष्योंमें भी दीर्घ आयु करत है।"

इस मंत्रके द्वितीयार्धमें थोडा भेद हैं और जो अथर्व पाठमें "जीवेषु कृणुते दीर्घमायुः" इतनाही था, वहां ही इसमें "देवेषु और मनुष्येषु" ये शब्द अधिक हैं। "जीवेषु" शब्दका ही यह "देवेषु, मनुष्येषु" आदि शब्दोंद्वारा अर्थ हुआ है। इस प्रकार अन्य शाखासंहिताओंके पाठभेद देखनेसे अर्थ निश्चय करनेमें बडी सहायता होती है।

यहां तक दो मंत्रोंका मनन हुआ। इन दो मंत्रोंमें शरीर पर सुवर्ण धारण करनेकी बातका उपदेश किया है अब अगले दो मंत्रोंसे जल वनस्पति तथा ऋतुकालानुसार उत्पन्न होनेवाले अन्य बलवर्धक पदार्थोंका अंतर्बाह्य सेवन करनेकी महत्त्वपूर्ण विद्या दी जाती है, उसका पाठक विशेष ध्यानसे मनन करें।

तृतीय मंत्रमें कहा है - "जल और औषधियोंके तेज, कांति, शक्ति बल और वीर्यवर्धक रसोंको हम वैसे धारण करते हैं कि जैसे आत्मामें इंद्रिय शक्तियां धारण हुई है। इसी प्रकार बल बढानेकी इच्छा करनेवाला मनुष्य सुवर्णका भी धारण करे।"

जलमें नाना औषधियोंके गुण है यह बात इसके पूर्व आये हुये जल सूक्तोंमें वर्णन हो चुकी है। वे सूक्त पाठक यहां देखे। औषधियोंके अंदर वीर्यवर्धन रस है, इसीलिये वैद्य औषधि प्रयोग करते हैं, अथर्ववेदमें भी यह बात आगे आजायगी। जिस प्रकार जल अंतर्बाह्य पवित्रता करके बल आदि गुणोंकी वृद्धि करता है, इसी प्रकार नाना प्रकारकी वीर्यवर्धक औषधियोंके पथ्य हित मित अन्न भक्षण पूर्वक सेवनसे मनुष्य बल प्राप्त करके दीर्घ जीवन भी प्राप्त करता है। सुवर्ण सेवनसे भी अथवा सुवर्णादि धातुओंके सेवनसे भी इसी प्रकार लाभ होते हैं, इसका वैद्यशास्त्रमें नाम "रस प्रयोग" है। यह रस प्रयोग सुयोग्य वैद्य ही के उपदेशानुसार करना चाहिये। यहां यजुर्वेदका इसी प्रकारका मंत्र देखिये -

सुवर्णके गुण ।

आयुष्यं वर्चस्यं रायस्पोषमौद्भिदम् ।
इदं हिरण्यं वर्चस्वजैत्रायाविशतादु माम् ॥

वा.यजु. ३४।५०

"(आयुष्यं) दीर्घ आयु करनेवाला, (वर्चस्यं) कान्ति बढानेवाला, (रायस्पोषं) शोभा और पुष्टि बढानेवाला (औद्भिदं) खानसे उत्पन्न होनेवाला अथवा ऊपर उठानेवाला,

मनुष्यके शरीरमें देवोंके अंश।

जगत्में जो अग्नि आदि देव हैं उनके अंश शरीर में हैं। इनके स्थान इस चित्रमें बताये हैं। इसके मननसे ज्ञात हो सकता है कि बाह्य जगत् के अग्नि आदि देवोंकी सहकारिताके साथ शरीरके स्वास्थ्यका कितना घनिष्ट संबंध हैं।

(वर्चस्वत्) तेज बढानेवाला (जैत्राय) विजयके लिये (इदं हिरण्यं) यह सुवर्ण (मां उ आविशतात्) मुझे अथवा मेरे शरीरमें प्रविष्ट हो।"

सुवर्णका सेवन।

यह मंत्र सुवर्णके अनेक गुण बता रहा है। इतने गुणोंकी वृद्धि करनेके लिये यह सुवर्ण मनुष्यके शरीरमें प्रविष्ट हो, यह इच्छा इस मंत्रमें स्पष्ट है। अर्थात् परिशुद्ध सुवर्णके सेवनसे इन गुणोंकी शरीरमें वृद्धि हो सकती है। इस मंत्रमें "हिरण्यं आविशत" ये शब्द "सुवर्णका शरीरमें घुस जाने" का भाव बताते हैं अर्थात् यह केवल शरीरपर धारण करना ही नहीं प्रत्युत अन्यान्य औषधियोंके रसोंके समान इसका अंदर ही सेवन करना चाहिये। शरीरपर सोनेका धारण करना और सुवर्णका अंदर सेवन करना, इन दोनों रीतियोंसे मनुष्य पूर्वोक्त गुण बढाकर अपना दीर्घ आयुष्य प्राप्त कर सकता है। अब चतुर्थ मंत्र देखिये -

काली कामधेनुका दूध।

इस चतुर्थ मंत्रमें कहा है - कालरूपी संवत्सरका

(काली कामधेनूका) दूध जो ऋतुओंके द्वारा मिलता है, उससे मनुष्यकी पूर्णता करते हैं। इस कार्यमें इन्द्र अग्नि विश्वेदेव आदि सब पूर्णतासे अनुकूल रहें।"

संवत्सर - वर्ष अथवा काल - यह एक कामधेनु है। काल संबंधी यह धेनु होनेसे इसको काली धेनु कहते हैं, यह इसलिये कामधेनु कही गई है कि मनुष्यादिकोंके इच्छित फल धान्य आदि पदार्थ ऋतुओंके अनुकूल देकर यह मनुष्यादि प्राणियों की पुष्टी करता है। प्रत्येक ऋतुके अनुकूल नाना प्रकारके फल और फूल संवत्सर देतै है इसलिये वेदमें संवत्सरको पिताभी कहा है और यहां मधुर दूध देनेवाली कामधेनू कहा है। हरएक ऋतुमें कुछ नवीन फल, फुल, धान्य आदि मिलता है, यहां इस धेनूका दूध है। यह दूध हर एक ऋतु इस संवत्सर रूपी गौसे निचोडकर मनुष्यादि प्राणियोंको देते हैं, यह अद्भुत अलंकार इस मंत्रमें बताया है। पाठक इस काव्यपूर्ण अलंकार का अस्वाद यहां ले।

प्रत्येक मासमें प्रत्येक ऋतुमें तथा प्रत्येक कालमें जो जो फल, फूल उत्पन्न होते हैं उनका योग्य उपयोग करनेसे मनुष्यके बल, तेज, वीर्य, आयुष्य आदि बढ सकते हैं। यह इस मंत्रका आशय हरएक मनुष्यको मनन करने योग्य है। मनुष्य अपने पुरूषार्थ व प्रयत्नसे ऋतुके अनुसार फल फूल धान्य आदिकी अधिक उत्पत्ति करे और उनके उपयोग से मनुष्योंको लाभ पहुंचावे।

पूर्व मंत्रमें (अपां वनस्पतीनां च वीर्याणि) जल तथा वनस्पतियोंके वीर्य धारण करनेका जो उपदेश हुआ है उसीका स्पष्टीकरण इस चतुर्थ मंत्रने किया है। जिस ऋतुमें जो जल और जो वनस्पति उत्तम वीर्यवान् प्राप्त होनेकी संभावना हो, उस ऋतुमें उसका संग्रह करके, उसका सेवन करना चाहिये। और इस प्रकार आयु, बल, तेज, कांति, शक्ति वीर्य आदि गुण अपने में बढाने चाहिये।

यह वेदका उपदेश मनन करने और आचरणमें लाने योग्य है। इतना उपदेश करनेपर भी यदि लोग निवीर्य, निःसत्व, निस्तेज, निर्बल रहेंगे और वीर्यवान बननेका यत्न नहीं करेंगे तो वह मनुष्योंका ही दोष है। पाठक इस स्थानपर विचार करें और निश्चय करें कि वेदका उपदेश आचरणमें लानेका यत्न वे कितना कर रहे हैं और कितना नहीं। जो वैदिक धर्मी लोग अपने वैदिक धर्मके उपदेशको आचरणमें नहीं ढालते वे शीघ्र प्रयत्न करके इस दिशासे योग्य सुधारे अवश्य करें और अपनी उन्नतिका साधन करे।

इस मंत्रके उत्तरार्धका भाव मनन करने योग्य है। "इन्द्र, अग्नि आदि सब देव इसकी अनुकूलतासे सहायता करें" अग्नि आदि देवताओंकी सहायताके विना कौन मनुष्य कैसे उन्नतिको प्राप्त हो सकता है ? अग्नि ही हमारा अन्न पकाता है, जल ही हमारी तृषा शांत करता है, पृथ्वी हमें आधार देती है, बिजली सबको चेतना देती है, वायु सबका प्राण बनकर प्राणियोंका धारण करता है, सूर्यदेव सबको जीवन शक्ति देता है, चंद्रमा अपनी किरणोंद्वारा वनस्पतियोंका पोषण करनेसे हमारा सहायक बनता है, इसी प्रकार अन्यान्य देव हमारे सहायक हो रहे हैं। इनके प्रतिनिधी हमारे शरीरमें रहते हैं और उनके द्वारा ये सब देव अपने अपने जीवनांश हमतक पहुंचा रहे हैं। इस विषयमें इसके पूर्व बहुत कुछ लिखा गया है, इसलिये यहां अधिक विचार करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है।

इतने विवरणसे यह बात पाठकोंके मनमें आगई होगी कि अग्नि आदि देवताओंकी सहायता किस रीतिसे हमें हो रही है और यदि इनकी सहायता अधिक से अधिक प्राप्त करने और उससे अधिकसे अधिक लाभ उठानेकी विधि ज्ञात हो गई, तो मनुष्योंका बहुत ही लाभ हो सकता है। आशा है कि पाठक इसका विचार करेंगे और अपना आयु, आरोग्य बल और वीर्य बढाकर जगत् में यशस्वी होंगे।

॥ यहां षष्ठ अनुवाक और प्रथम काण्ड समाप्त ॥

• • •

प्रथम काण्डका मनन ।

थोडासा मनन ।

इस प्रथम काण्डमें दो प्रपाठक, छः अनुवाक, पैंतीस सूक्त और १५३ मंत्र है। इस काण्डके सूक्तोंके ऋषि, देवता और विषय बतानेवाले कोष्टक यहां देते हैं - जो पाठक इस काण्डका विशेष मनन करना चाहते हैं उनको यह कोष्टक बहुत लाभदायक होगा -

अथर्व वेद प्रथम काण्ड के सूक्तों का कोष्टक ।

सूक्त	ऋषि	देवता	गण	विषय
१	अथर्वा	वाचस्पति	वर्चस्वगण	मेधाजनन
२	,,	पर्जन्य	अपराजितगण सांग्रामिक गण	विजय
३	,,	मंत्रोक्त (पृथ्वी,मित्र, वरूण, चंद्र, सूर्य)	-	आरोग्य
४	सिंधुद्विपः	आपः	-	,,
५	,,	,,	-	,,
६	,,	,,	-	,,
		(इति प्रथमोऽनुवाकः)		
७	चातनः	इन्द्राग्नी	-	शत्रुनाशन
८	,,	अग्निः, बृहस्पतिः	-	,,
९	अथर्वा	वस्वादयः	वर्चस्व गण	तेजकी प्राप्ति
१०	,,	असुरो वरूणः	-	पापनिवृत्ति
११	,,	पूषा	-	सुखप्रसूति
			(इति द्वितीयोऽनुवाकः)	
१२	भृग्वंगिराः	यक्ष्मनाशन	तक्मनाशनगण	रोगनिवारण
१३	,,	विद्युत्	-	ईशनमन
१४	,,	यमो वरूणो वा	-	कुलवधुविवाह
१५	अथर्वा	सिन्धु	-	संगठन
१६	चातनः	अग्नि, इन्द्र, वरूणः	शत्रुनाशन गण	शत्रुनाशन
	(इति चतुर्थोऽनुवाकः प्रथमः प्रपाठकश्च समाप्तः ।)			
१७	ब्रह्मा	योषित	-	रक्तस्राव दूरीकरण
१८	द्रविणोदाः	विनायक, सौभाग्यं	-	सौभाग्यवर्धन
१९	ब्रह्मा	ईश्वरः, ब्रह्म	सांग्रामिकगण	शत्रूनाशन
२०	अथर्वा	सोम	-	महान शासक
२१	,,	इन्द्र	अभयगण	प्रजापालन

		(इति चतुर्थोऽनुवाकः)		
२२	ब्रह्म	सूर्यः, हरिमा, हृद्रोगः	—	हृद्रोग तथा कामिला रोग नाशन
२३	अथर्वा	औषधिः	—	कुष्ठनाशन
२४	ब्रह्मा	आसुरी वनस्पतिः	—	,,
२५	भृग्वंगिराः	अग्निः, तक्मा	तक्मनाशनगण	ज्वरनाशन
२६	ब्रह्मा	इन्द्रादयः	स्वस्त्ययनगण	सुखप्राप्ति
२७	अथर्वा	इन्द्राणी	,,	विजयी स्त्री
२८	चातनः	स्वस्त्ययनं	,,	दुष्टनाशन
		(इति पंचमोऽनुवाकः)		
२९	वसिष्ठः	अभीवर्तमणिः	—	राष्ट्रवर्धन
३०	अथर्वा	विश्वेदेवाः	आयुष्यगण	आयुष्यवर्धन
३१	ब्रह्माः	आशापालाः, वास्तोष्पतिः	वास्तुगण	आशापालन
३२	,,	द्यावापृथिवी	—	जीवनतत्व
३३	शन्ताति	आपः । चन्द्रमाः	शांतिगण	जल
३४	अथर्वा	मधुवल्ली	—	मीठा जीवन
३५	,,	हिरण्यं, इन्द्राग्नी विश्वेदेवाः	—	दीर्घायु

(इति पष्ठोऽनुवाको द्वितीयः प्रपाठकश्च समाप्तः)

॥ इति प्रथमं काण्डम् ॥

इन सूक्तोंका मनन करनेके लिये ऋषि और गणोंका विभाग जाननेकी भी अत्यंत आवश्यकता है । इसलिये वे कोष्टक नीचे देते हैं -

---

ऋषि विभाग ।

१ अथर्वा ऋषिः - १.३, ९-११, १५, २०, २१, २३, २७, ३०, ३४, ३५, इन चौदह सूक्तोंका अथर्वा ऋषि है।

२ ब्रह्मा (किंवा ब्रह्म) ऋषिः - १७, १९, २२, २४, २६, ३१, ३२, इन सात सूक्तोंका ऋषि ब्रह्मा है।

३ चातन ऋषिः - ७, ८, १६, २८ इन चार सूक्तोंका चातन ऋषि है ।

४ भृग्वंगिरा ऋषिः - १२ - १४, २५ इन चार सूक्तोंका भृग्वंगिरा ऋषि है ।

५ सिंधुद्वीप ऋषिः - ४-६ इन तीन सूक्तोंका सिंधुद्वीप ऋषि है ।

६ द्रविणोदा ऋषिः - १८ वे एक सूक्तका यह ऋषि है।

७ वसिष्ठ ऋषिः - २९वे एक सूक्तका यह ऋषि है।

८ शन्ताती ऋषिः - ३३ वे एक सूक्तका यह ऋषि है।

इस प्रकार आठ ऋषियोंके देखे मंत्र इस काण्डमें हैं। यह जैसा ऋषियोंके नामसे सूक्त विभाग हुआ है, उसी प्रकार एक एक ऋषिके मंत्रोंमें किन किन विषयोंका विचार हुआ है यह अब देखिये -

१ अथर्वा ऋषि - मेधाजनन, विजयप्राप्ति, आरोग्यप्राप्ति, तेजःप्राप्ति, पापनिवृत्ति, सुखप्रसूति, संगठन, राजशासन, प्रजापालन, कुष्ठरोग - निवृत्ति, विजयी स्त्री, आयुष्यवर्धन, मीठा जीवन, आयुष्य बलादिसंवर्धन ।

२ ब्रह्माऋषि - रक्तस्राव दूर करना, शत्रुनाशन, संग्राम, हृदय तथा कामिला रोग दूरीकरण, कुष्टनाशन, सुखवर्धन, आशापालन, दीर्घजीवन ।

३ चातन ऋषिः - शत्रुनाशन, दुष्टनाशन ।
४ भृग्वंगिरा ऋषिः - रोगनिवारण, ज्वरनाशन, ईशनमन, विवाह ।
५ सिंधुद्वीप ऋषिः - जलसे आरोग्य ।
६ द्रविणेदा ऋषिः - सौभाग्यवर्धन ।
७ वसिष्ठ ऋषिः - राष्ट्रसंवर्धन
८ शान्ताती ऋषिः - वृष्टि जलसे स्वास्थ्य ।

इस प्रकार किन ऋषियोंके नामोंसे किन किन विषयोंका संबंध है यह देखना बडा शोधप्रद होता है । १) सिंधुद्विप ऋषिके नाममें "सिंधु" शब्द जल प्रवाह का वाचक है और यही जल देवताके मंत्रोंका ऋषि है(२) चातन ऋषिके नामका अर्थात् "चातन" शब्दका अर्थ "घबरादेना भगादेना, शत्रुको उखाड देना" है और इस ऋषिके सूक्तोंमें भी यही विषय है। इस प्रकार सूक्तोंके अंदर आनेवाला विषय और ऋषिनामोंका अर्थ इसका कई स्थानोंपर घनिष्ट संबंध दिखाई देता है । इसका विचार करना योग्य है।

सूक्तों के गण ।

जिन प्राचीन मुनियोंने अथर्व सूक्तोंपर विचार किया था, उन्होंने इन सूक्तोंके गण बना दिये है । एक एक गणके संपूर्ण सूक्तोंका विचार एक साथ होना चाहिये। ऐसा विचार करनेसे अर्थज्ञान भी शीघ्र होता है और शब्दोंके अर्थ निश्चित करना भी सुगम हो जाता है । इस प्रथम कांडक पैतीस सूक्तोंमें कई सूक्त कई गणोंके अंदर आगये हैं और कई गणोंमें परिगणित नहीं हुए हैं । जो गणोंमें परिगणित नहीं हुए हैं उनकी अर्थकी दृष्टिसे हम अन्यगणोंके साथ पढ सते हैं । इस प्रकार गणशः विचार करनेसे सूक्तोंका बोघ शीघ्र हो जाता है, देखिये -

१ वर्चस्व गण - इसके सूक्त १,९ ये हैं । तथापि तेज, आरोग्य आदि बढानेका उपदेश करनेवाले सूक्त हम इस गणके साथ पढ सकते हैं, जैसे - सूक्त ३-६, १८, २५, २६, ३०,३१, ३४, ३५ आदि ।

२ अपराजित गण, सांग्रामिकगण - इसके सूक्त २, १९ ये हैं तथापि इसके साथ संबंध रखनेवाले अभय गणकेसूक्त हैं । तथा राष्ट्रशासन और राज्य पालनके सब सूक्त इनके साथ संबंधित हैं, जैसे सूक्त ७, ८, १५, १६, १७, २०, २१, २७, २९, ३१ आदि ।

३ तक्मनाशन गण - इस गणके सूक्त १२, २५ ये हैं तथापि सब रोग नाशक और आरोग्यवर्धक सूक्त इस गणके सूक्तोंके साथ पढना चाहिये । जैसे सूक्त १-६, १७, २२, २३, २५, ३३, ३५, आदि -

४ स्वस्त्ययनगण - इस गणके सूक्त २६, २७ ये हैं ।

५ आयुष्यगण -इस गणके सूक्त ३०, ३५ ये हैं, तथापि स्वस्त्ययन गण, वर्चस्वगण, तक्मनाशन- गण तथा शांतिगणके सूक्तोंका इससे संबंध है ।

६ शांतिगण -जल देवताके सब सूक्त इस गणमें आते हैं।

७ अभयगण - इसका सूक्त २१ वा है, तथापि इसके साथ संबंध रखनेवाले गण स्वस्त्ययनगण, अपराजितगण, तक्मनाशनगण, चातन- सूक्त ये हैं ।

इस प्रकार यह सूक्तोंके गणोंका विचार है और इस रीतिसे सूक्तोंका विचार होनेसे बहुत ही बोध प्राप्त होता है ।

अध्ययन की सुगमता ।

कई पाठक शङ्का करते हैं कि एक विषयके सब सूक्त इकट्ठे क्यो नहीं दिये और सब विषयोंके मिलेजुले सूक्त ही सब काण्डोंमें क्यों दिये है ? इसका उत्तर यह है कि यदि जल आदि विषयोंके संपूर्ण सूक्त इकट्ठे होते, तो अध्ययन करनेवालेको विविधताका अभाव होनेके कारण अध्यन करनेमें बडा कष्ट हो जाता । अध्ययनकी सुविधाके लिये ही मिलेजुले सूक्त दिये हैं । अच्छी पाठशालाओंमें घण्टे दो घण्टेमें भिन्न भिन्न विषय पढाये जाते है, इसका यही कारण है कि पढनेवालोंके मस्तिष्कको कष्ट न हो । सबेरेसे शामतक एक ही विषयका अध्ययन करना हो तो पढने पढानेवालोंको अतिकष्ट होते हैं। इस बातका अनुभव हरएकको होगा ।

इससे पाठक जान सकते हैं कि विषयोंकी विभिन्नता रखनेके लिये विभिन्न विषयोंके सूक्त मिलेजुले दिये हैं ।

इसमें दूसरा भी एक हेतु प्रतीत होता है, वह यह है

कि, पूर्वापर संबंधका अनुमान करने और पूर्वापर संबंधका स्मरण रखनेका अभ्यास हो । यदि जलसूक्त प्रथम कांडमें आया हो तो आगे जहां जल सूक्त आजायं वहां वहां इसका स्मरण पूर्वक अनुसंधान करना चाहिये । इस प्रकार स्मरणशक्ति भी बढ सकती है । स्मरणशक्तिका बढना और पूर्वापर संबंध जोडनेका अभ्यास होना ये दो महत्त्वपूर्ण अभ्यास इस व्यवस्थासे साध्य होते हैं ।

इस प्रथम काण्डके दो प्रपाठक है, इस "प्रपाठक" का तात्पर्य ये दो पाठ ही हैं । दो प्र-पाठक अर्थात् दो विशेष पाठ है । गुरूसे एकवार जितना पाठ लिया जाता है उतना एक-प्र-पाठक होता है । इस प्रकार यह प्रथमकाण्ड दो पाठोंकी पढाई है । अथवा एक अनुवाकका एक पाठ अल्पबुद्धिवालोंकेलिये माना जाय तो वह प्रथमकाण्डकी पढाई छः पाठोंकी मानी जा सकती है । एक अनुवाकमें भी विषयोंकी विविधता है और एक प्रपाठकमें भी पाठ्य विषयोंकी विविधता है और इस विविधता के कारण ही पढने पढानेवालोंकी बडी रोचकता उत्पन्न हो सकती है।

आजकल इतनी पढाई नहीं हो सकती, यह बुद्धि कम होना या ग्राहकता कम होनेका प्रमाण है । यह अथर्ववेद प्रबुद्ध विद्यार्थीके ही पढनेका विषय है । इसलिये अच्छे प्रबुद्ध तथा अन्य शास्त्रोंमें कृतपरिश्रम उक्त प्रकार पढाई कर सकते हैं, इसमें कोई संदेह नहीं है ।

अथर्ववेदके विषयोंकी उपयुक्तता ।

जो पाठक इस प्रथम कांडके सब मंत्रोंको अच्छी प्रकार पढेंगे और थोडा मनन भी करेंगे तो उनको उसी समय इस बातका पता लग जायगा कि, इस वेदका उपदेश इस समयमें भी नवीन और अत्यंत उपयोगी तथा आज ही अपने आचरणमें लाने योग्य है । सूक्त पढनेके समय ऐसा प्रतीत होता है कि, यह उपाय आज ही हम आचरण में लायेंगे और अपना लाभ उठायेंगे । उपदेश की जीवितता और जाग्रतता इसी बातमें पाठकोंके मनमें स्पष्ट रूपसे खडी हो जाती है।

वेद सब ग्रंथोंसे पुराने ग्रंथ होनेपर भी नवीन से नवीन है और यही इनकी "सनातन विद्या" है, यह विद्या कभी पुरानी नहीं होती । जो जिस समय और जिस अवस्थामें पढेगा उसको उसी उवस्थामे और उसी समय अपनी उन्नतिका उपदेश प्राप्त हो सकता है । इस प्रथम कांडके सूक्त पढकर पाठक इस बातका अनुभव करें और वेद विद्याका महत्त्व अपने मनमें स्थिर करें ।

ये उपदेश जैसे व्यक्तिके विषयमें उसी प्रकार सामाजिक, राष्ट्रीय और धर्ण प्रचारके विषयमें भी सत्य और सनातन प्रतीत होंगे । इस समय जिनका उपयोग नहीं हो सकता ऐसा कोई विधान इसमें नहीं है । परंतु इन उपदेशोंका महत्व देखनेके और अनुभव करनेके लिये पाठकोंको इस काण्डका पाठ कमसे कम दस पांच बार मनन पूर्वक करना चाहिये ।

व्यक्तिके विषयमें उपदेश ।

प्रथम काण्डके ३५ सूक्तोंमें करीब १६ सूक्त ऐसे हैं कि जो मनुष्यके स्वास्थ्य, आरोग्य, नीरोगता, बल, आयुष्य, बुद्धि आदि विषयोंका उपदेश देनेके कारण मनुष्यके दैनिक व्यवहार के साथ संबंध रखते हैं । हरएक ननुष्य इस समय में भी इनके उपदेशसे लाभ उठा सकता है । आरोग्यवर्धनके वैदिक उपायोंगी ओर हम पाठकोंका विशेष ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं । जो इस गणके सूक्त हैं उनका मनन पाठक सबसे अधिक करे और अपनी परिस्थितीमें उन उपायोंको ढालनेका जितना हो सकता है उतना यत्न करें । आरोग्यवर्धनके उपयोंमें सारांशरूपसे इन उपायोंका वर्णन विशेष बलके साथ इस काण्डमें किया है -

जलसे आरोग्य - जलसे आरोग्य होता है, शरीरमें शांति, सुख, नीरोगता आदि प्राप्त होती है यह बात बतानेवाले जल देवता के चार सूक्त दिये है। अनेक प्रकारके जलोंका इन सूक्तोंमें वर्णन करनेके बाद 'दिव्य जल' अर्थात् मेघोंसे प्राप्त होनेवाले जलका महत्त्व बताया है वह कभी भूलना नही चाहिये । वृष्टिके दिनोंमें जिन दिनोंमें शुद्ध जलकी वृष्टि होती है उन दिनोंमें इस जलका संग्रह हरएक गृहस्थी कर सता है। जहां वृष्टि बहुत थोडी होती है वहांकी बात छोड दी जाय तो अन्यत्र यह जल सालभरके पीनेके लिये पर्याप्त प्रमाणमे मिल सकता है । परंतु स्मरण रखना चाहिये कि घरके छप्परपर जमा हुआ जल लेना नहीं चाहिये परंत छत पर खुले और बडे मुखवाला बर्तन रखकर उसमें सीधी वृष्टिधाराओं से जल संग्रहीत करना चाहिये । अर्थात् ऐसा इंतजाम करना चाहिये कि वृष्टिजल की धाराएं सीधी अपने बर्तनमें आजाय । बीचमें वृक्ष, छप्पर आदि किसीका स्पर्श न हो । इस प्रकारका इकठ्ठा किया हुआ जल

स्वच्छ और निर्मल बोतलोंमें भरकर रखनेसे सालभर रहता है और बिगडता नहीं । यह जल यदि अच्छा रखा तो दो वर्षतक रहता है और इसका यह न बिगडनेका गुण ही मनुष्यका आरोग्य वर्धन करता है।

उपवासके दिन इसका नाप करनेसे शरीरके सब दोष दूर होते हैं । चौवीस घंटोंका उपवास करके उसमें जितना यह दिव्य जल पिया जाय उतना पीना चाहिये । यह प्रयोग हमने आजमाया है और हर अवस्थामें इससे लाभ हुआ है । इस प्रकारके उपवासके पश्चात् थोडा थोडा दूध और घी खाना चाहिये और भोजन अत्यन्त लघु होना चाहिये। हरदिन भी पीनेके लिये इसका उपयोग करनेवाले बडा ही लाभ प्राप्त कर सकते हैं । इसका नाम 'अमरवारूणी का पान' है । इसीको 'सुरा' भी कहते हैं । सुरा शब्द केवल मद्य अर्थमें आजकल प्रयुक्त होता है, परंतु प्राचीन ग्रंथोंमें इसका अर्थ 'वृष्टि जल' भी था। वरूण का जन साम्राज्य मेघ मंडल में हैं और वही इस आरोग्य वर्धक वृष्टि जल को देता है । इसका वर्णन वेदके अनेक सूक्तोंमें हैं ।

वेदका यह आरोग्य प्राप्तिका सीधा, सुगम और व्ययके बिना प्राप्त होनेवाला उपाय यदि पाठक व्यवहारमें लायेंगे तो वे बडा ही लाभ प्राप्त कर सकते हैं । इसलिये हम सानुरोध पाठकों से निवेदन करते हैं कि वे इस विषयमें दत्तचित्त हो और अपना लाभ उठावें ।

आरोग्य साधनके अन्य उपाय।

जलके पश्चात् आरोग्य साधनके उपाय जो वेदने बताये वे अब देखिये -

२) तैजस तत्त्वोंसे आरोग्य - अग्नि, विद्युत् और सूर्य किरण ये तीन तैजस तत्त्व हैं । इनसे आरोग्य प्राप्त करनेके विषयमें वेदमंत्रोंमें वारंवार उपदेश आता है । इनमें से सूर्य प्रकाशको महत्त्व तो सबसे अधिक है, यहां तक इसका महत्त्व वर्णन किया है कि इसको प्राणदाता, जीवनदाता, इतना ही नहीं परंतु प्रत्यक्ष आत्मा भी कहा है। सूर्य प्रकाशसे आरोग्य और दीर्घ आयु प्राप्त होनेके विषयमें वेदका निश्चित और असंदिग्ध मत है । संपूर्ण आधुनिक शास्त्र भी आजकल इसकी पुष्टि कर रहे हैं ।

जिस प्रकार वृष्टिजल गरीबसे गरीबको और अमीरसे अमीरको प्राप्त हो सकता है, उसी प्रकार सूर्य प्रकाश भी हरएक को प्राप्त हो सकता है । धनसे प्राप्त होनेवाले आरोग्य साधक उपाय तो धनी लोग ही प्राप्त कर सकते हैं, गरीबोंको उनसे लाभ नहीं हो सकता। परंतु जो साधन वेद बता रहा है, वे उपाय गरीबको भी प्राप्त हो सकते हैं । यह इन साधनोंका महत्त्व देखे और इन उपदेशोंकी सच्चाई अनुभवमें लानेका यत्न करें ।

आजकल कपडे बहुत बर्ते जाते हैं इसलिये शरीरकी चमडी अति कोमल हो रही है । इस कारण व्याधियां शरीरमें शीघ्र सताती है । जो लोग नंगे शरीर खेत आदिमें काम करते हैं उनको उतनी व्याधियां नहीं होती, जितनी कमरोमें विविध तंग कपडे पहननेवाले बाबू लोगोंको होती है, इसका कारण यही है कि, जिनका शरीर सूर्य किरणोंके साथ संबध होनेके कारण नीरोग रहता है वे तन्दुरूस्त रहते हैं और जो नाना कपडे पहननेके कारण कमजोर चमडी वाले बनते हैं वे अधिक बीमार हो जाते हैं ।

रामायण महाभारतके समयमें रामकृष्णादि वीर अतिदीर्घ आयुवाले थे। वे वीर लोग धोती पहनते थे और धोती ही ओढते थे । प्रायः अन्य समय शरीरपर एक उत्तरीय पहनते थे । पाठक इनके वर्णन यदि पढेंगे तो उनके ध्यानमें यह बात आजायगी कि सभाओंमें भी ये लोग केवल धोती पहनकर ही बैठते थे । इसकारण इनके शरीरके साथ वायु और सूर्य प्रकाश का संबंध अच्छी प्रकार हो जाता था । अनेक कारणोंमें यह भी एक कारण है कि जिस हेतु वे अतिदीर्घायुवाले और अति बलवान् थे। वह सादगी इस समय नहीं रही है और इस समय बडी कृत्रिमता हमारे जीवन व्यवहारमें आगयी है इसीका परिणाम हमारे अल्पायु दुर्बल और रोगी होनेमें हो रहा है । पाठक वेदके उपदेशके साथ इस ऐतिहासिक बातका भी मनन करें ।

सूर्य प्रकाश इतने विपुल प्रमाणमें भूमिपर आता है कि वह आवश्यकतासे कई गुना अधिक है । इतना होते हुए भी तंग गलियों, तंग मकान, अंधेरे कमरे और उनमें अत्याधिक मनुष्योंकी संख्या होनेके कारण जीवन देनेवाला सुर्यनारायण हमारे आरोग्यवर्धनके लिये प्रतिदिन आता है, तथापि हमारे लिये वह उतना लाभ नहीं पहुंचा सकता जितना कि वह पहुंचाने में समर्थ है। ये सब दोष मनुष्यकृत हैं । ऋषिजीवनका हमें इस विषयमें बहुत विचार करना

चाहिये और जहांतक हो सके वहांतक यत्न करके वह सादगी हमारे खानपान, वस्त्राभूषण तथा अन्यान्य व्यवहारमें आनी चाहिये? वेदके उपदेशानुसार ऋषि अपना व्यवहार रखते थे, इसलिये ऋषि लोगोंको अतिदीर्घ आयु प्राप्त होती थी, और हम उसके बीलकुल उलटे आ रहे हैं, इसलिये मृत्युके वशमें हम अधिक हो रहे हैं।

(३) वायुसे आरोग्य - सूर्य प्रकाशके समान ही वायुका महत्त्व है। यही प्राण बनकर मनुष्यादि प्राणियोंके शरीरोंमें रहता है और इसीके कारण प्राणी प्राणधारण करते हैं। यदि वायु अशुद्ध हुआ तो मनुष्य रोगी होनेमें बिलकुल देरी नहीं लगेगी। यह बात सब लोग जानते हैं, मानते है, और बोलते भी है, परंतु इसका पालन कितने लोग करते है, इसका विचार करनेसे पता लग जायगा कि, इस विषयकी मनुष्योंकी उदासीनता निंदनीय ही है। खुली वायु और खुला सूर्य प्रकाश मनुष्योंको पूर्ण वायु प्रदान करनेमें समर्थ है, परंतु जो मनुष्य उनसे दूर भागते हैं उनका लाभ कैसे हो सकता है? वृष्टिजल, सूर्य प्रकाश और शुद्ध वायु ये तीन पदार्थ वेद मंत्रों द्वारा आरोग्य बढानेवाले बताये हैं और आजकलके शास्त्रभी उस बातकी पुष्टि कर रहे हैं, इतना ही नहीं परंतु युरोप अमेरिकामें जहां शीत अधिक होता है, उन देशोंमें भी ऐसी संस्थाएं स्थापित हुई है कि जहां आरोग्य वर्धनके लिये सूर्य प्रकाशमें करीब करीब नंगा रहना आवश्यक माना गया है। जिन लोगोंनें तंग कपडे पहननेके रिवाज जारी किये, वे ही युरोप अमरिकाके लोग इस प्रकार ऋषिजीवन की ओर झुक रहे हैं यह देखकर हमें वेदकी सच्चाईका जगत् में विजय हो रहा है यह अनुभव होनेसे अधिक ही आनंद होता है। विना प्रचार किये हुए ही लोग भूलते और भटकते हुए वैदिक सच्चाईका इस प्रकार ग्रहण कर रहे हैं, ऐसी अवस्थामें यदि हम अपने वेदका अध्ययन करेंगे, उन वेद मंत्रोंके उपदेशको अपने आचरणमें ढालेंगे, और अनुभव लेनेके पश्चात् अपने धार्मिक जीवनसे उस सच्चाईका जगत्में प्रचार करेंगे तो जगत्में इस सच्चाईका विजय होनेमें कोई देर नहीं लगेगी।

इसलिये हम पाठकोंसे निवदेन करना चाहते हैं कि वे वेदका पाठ केवल मनोरंजकताके लिये न करें, केवल पारलौकिक भावनासे भी न करें, प्रत्युत वह उपदेश इस जगत् के व्यवहार में किस प्रकार ढाला जा सकता है, इसका विचार करते हुए वेदका अध्ययन करें। तब इसके महत्त्वका पता विशेष रीतिसे लग जायगा।

राष्ट्रीय जीवन।

जैसे वैयक्तिक जीवनके लिये वैदिक उपदेशकी उपयोगिता है उसी प्रकार सामाजिक और राष्ट्रीय जीवनके लिये भी वेदके उपदेश अति मनन करने योग्य है। यह विषय आगेके कांडोंमें विशेष रीतिसे आनेवाला है, और वहीं इसका अधिक निरूपण होगा। इस प्रथम कांडके भी राष्ट्र विषयक मंत्र बडे ओजस्वी और अत्यंत बोधप्रद हैं।

उनत्तीसवे सूक्तमें ' राष्ट्रके लिये मुझे बढावो,' तथा राष्ट्रकी सेवा करनेके लिये यह आभूषण मेरे शरीरपर बांधा जावे इत्यादि ओजस्वी उपदेश हरएक समयमें और हरएक राष्ट्रके मनुष्यों और राजपुरूषोंके लिये आदर्श रूप हैं। राष्ट्रीय दृष्टिसे यह वसिष्ठ सूक्त हरएक मनुष्यको विचार करने योग्य हैं।

इस प्रथम कांडमें कई महत्त्वपूर्ण विषय आगये है उन सबका यहां विचार करनेके लिये स्थान नहीं है। उस उस सूक्तके प्रसंगमें ही विशेष बातका दिग्दर्शन किया है। इसलिये उसको दुहराने की यहां कोई आवश्यकता ही नहीं है। पाठक इस कांडका बारंवार मनन करेंगे तो मननसे उनके मनमें ही विशेष बाते स्वयं स्फुरित हो जायगी, जो ऊपरके विवरणमें लिखी नहीं है। वेदका अर्थ जाननेके लिये मनन ही करना चाहिये।

आशा है कि पाठक मनन पूर्वक इस कांडका अभ्यास करेंगे और इस उपदेशसे अधिक से अधिक लाभ प्राप्त करनेका यत्न करेंगे तथा जो विशेष बात अनुभवसे आ जायगी उसका प्रकाशन जनताकी भलाईके लिये करेंगे। इस प्रकार करनेसे सबका ही भला हो जायगा।

■ ■ ■

अथर्ववेदका सुबोध भाष्य ।

प्रथमकाण्डकी विषय - सूची ।

ॐ

अथर्ववेद

का

सुबोध भाष्य ।

द्वितीयं काण्डम् ।

सबका पिता

स नः पिता जनिता स उत बन्धुर्धामानि वेद भुवनानि विश्वा ।
यो देवानां नामध एक एव तं संप्रश्नं भुवना यन्ति सर्वा ॥३॥

(अथर्ववेद २।१।३)

"वह ईश्वर हम सबका पिता, उत्पादक और बन्धु है, वही सब स्थानों और भुवनोंको यथावत् जानता है । उसी अकेले ईश्वरको अन्य संपूर्ण देवोंके नाम दिये जाते हैं और सम्पूर्ण भुवन उसी प्रसंशनीय ईश्वरको प्राप्त करने के लिये घूम रहे हैं।"

अथर्ववेद का सुबोध भाष्य।

द्वितीय काण्ड ।

इस द्वितीय काण्डका प्रारंभ "वेन" सूक्तसे और "वेन" शब्दसे होता है । यह मंगल वाचक शब्द है । "वेन" शब्दका अर्थ "स्तुति करनेवाला, ईश्वरके गुण गानेवाला भक्त" ऐसा है । परमात्मा पूर्ण रीतिसे स्कुति करने योग्य होनेसे उसीके साक्षात्कारसे और उसीके गुण वर्णन के मन्त्रोंका यह सूक्त है । इस परमात्माकी विद्याके नाम "गुप्त विद्या, गूढ विद्या, गुह्य विद्या, परा विद्या, आत्मविद्या" आदि अनेक हैं । इस गुह्य विद्यामें परमात्माका साक्षात्कार करनेके उपाय बताये जाते हैं । यह इस विद्याकी विशेषता है । विद्याओंमे श्रेष्ठ विद्या यही है जो इस काम्डके प्रारंभमें दी गई है, इसलिये इसका अध्ययन पाठक इस दृष्टिसे करें ।

जिस प्रकार प्रथम काण्ड मुख्यतया चार मंत्रवाले सूक्तोंका है, उसी प्रकार यह द्वितीय काण्ड पांच मन्त्रवाले सूक्तोंका है । इस द्वितीय काण्डमें ३६ सूक्त हैं और २०७ मन्त्र हैं । अर्थात् प्रथम काण्डकी अपेक्षा इसमें एक सूक्त अधिक है और ५४ मन्त्र अधिक है । इस द्वितीय काण्डमें सूक्तोंकी मन्त्र संख्या निम्नलिखित प्रकार है ।

५	मंत्रोंके	सूक्त	२२	हैं,	इनकी	मंत्र	संख्या	११०	है
६	,,	,,	५	,,	,,		,,	३०	,,
७	,,	,,	५	,,	,,		,,	३५	,,
८	,,	,,	४	,,	,,		,,	३२	,,
	कुल सूक्त संख्या		३६		कुल मंत्र संख्या			२०७	

इस द्वितीय काण्डके ऋषि देवता छंद आदि निम्नलिखित प्रकार हैं -

सूक्त	मंत्र	ऋषि	देवता	छंद
प्रथमोऽनुवाकः				
१	५	वेनः	ब्रह्म,आत्मा	त्रिष्टुप्, ३ जगती
२	,,	मातृनामा	गंधर्व, अप्सराः	,, १विराडजगती, ४ त्रिपाद्विराण्नाम गायत्री ५ भूरिगनुष्टुप्

सूक्त	मंत्र	ऋषि	देवता	छंद	
३	६	अंगिराः	भैषर्ज्य, आयुः, धन्वन्तरिः	अनुष्टुप्,	६स्वराडुपरिष्टान्महाबृहती.
४	,,	अथर्वा	चन्द्रमाः, जङ्गिडः	,,	१ विराट् प्रस्तारपंक्तिः
५	७	भृगुः (आथर्वणः)	इन्द्रः	त्रिष्टुप्	१, २ उपरिष्टाद्बृहती (१निवृत्त, २विराट्) विराट् पथ्या बृहती, ४ जगती, पुरोविराट्
द्वितीयोऽनुवाकः					
६	५	शौनकः (संपत्कामः)	अग्निः	,,	४ चतुष्पदार्षी पंक्तिः ५ विराट् प्रस्तारपंक्तिः
७	,,	अथर्वा	भैषज्यं, आयुः, वनस्पतिः	अनुष्टुप्,	१भूरिक्, ४ विराडुपरिष्टाद्बृहती
८	,,	भृगुः (अंगिरसः)	वनस्पतिः यक्ष्मनाशनं,	,,	३ पथ्यापंक्तिः, ४ विराट् ५ निचृत् पथ्यापंक्तिः
९	,,	,, ,,	,, ,,	,, ,,	१ विराट् प्रस्तारपंक्तिः
१०	८	,, ,,	निर्ऋति, द्यावापृथिवी, नानादेवताः	१ त्रिष्टुप्	२ सप्तपादष्टिः ३ -५, ७, ८ (१) सप्तपदी धृतिः, ६ सप्तपदी अत्यष्टिः ८(२, ३) द्वौ पादौ उष्णिहौ ।
तृतीयोऽनुवाकः					
११	५	शुक्रः	कृत्यादूषणं, कृत्यापरिहरणं		१चतुष्पदा विराट्, २-५ त्रिपदा परोष्णिहः, ४ पिपीलिकमध्या निचृत्
१२	८	भरद्वाजः	नानादेवताः	त्रिष्टुप्	२ जगती, ७,८ अनुष्टुभौ
१३	५	अथर्वा	,,अग्निः	,,	४ अनुष्टुप्, ५ विराड् जगती
१४	६	चातनः	शाला, अग्निः मंत्रोक्तदेवताः	अनुष्टुप्,	२ भूरिक् ४ उपरिष्टाद्विराड्बृहती
१५	,,	ब्रह्मा	प्राणः, अपनाः, आयुः		त्रिपाद्गायत्री.
१६	७	,,	,,		१,३ एकपदासुरी त्रिष्टुप् २ एकपदासुरी उष्णिक् ४,५ द्विपदासुरी गायत्री
१७	,,	,,	,,	,,	१-६ एकपदासुरी त्रिष्टुप् ७ आसुरी उष्णिक्

चतुर्थोऽनुवाकः

१८	५	चातनः (सपत्न क्षयकामः)	अग्निः	साम्नी बृहती.
१९	,,	अथर्वा	,,	१-४ निचृद्विषमा गायत्री ५ भूरिग्विषमा.
२०	,,	,,	वायुः	,, ,,
२१	,,	,,	सूर्यः	,, ,,
२२	,,	,,	चंद्रः	,, ,,
२३	,,	,,	आपः	,, ,,
२४	८	ब्रह्मा	आयुर्ष्यं	पंक्तिः
२५	५	चातनः	वनस्पतिः	अनुष्टुप्, ४ भूरिक्
२६	,,	सविता	पशुः	त्रिष्टुप् ३ उपरिष्टाद्विराड्बृहती ४,५ अनुष्टुभौ (४ भूरिक)

पञ्चमोऽनुवाकः

२७	७	कपिञ्जलः	वनस्पतिः रूद्रः, इन्द्रः	अनुष्टुप्	
२८	५	शम्भुः	जरिमा, आयुः	त्रिष्टुप्,	१ जगती, ५ भूरिक्
२९	७	अथर्वा	बहुदेवता	,,	१ अनुष्टुप् ४ पराबृहती निचृत् प्रस्तारपंक्तिः
३०	५	प्रजापतिः	अश्विनौ	अनुष्टुप्,	१ पथ्यापंक्तिः, ३ भूरि
३१	,,	काण्वः	मही, चन्द्रमाः,	,,	२ उपरिष्टाद्विराड्बृहती ३ आर्षीत्रिष्टुप् ४ प्रागुक्ता बृहती ५ प्रायुक्ता त्रिष्टुप्

षष्ठोऽनुवाकः

३२	६	,,	आदित्यः	,,	१ त्रिपाद्भूरिग्गायत्री. ६ चतुष्पान्निचृगुष्णिक्
३३	७	ब्रह्मा	यक्ष्मविबर्हणं, चन्द्रमाः, आयुष्यं		३ ककुंमती, ४ चतुष्पा- द्भुरिगुष्णिग्, ५ उपरि- ष्टाद्विराड्बृहती, ६ उष्णिग्गर्भा निचृदनुष्टुभ् ७ पथ्यापंक्तिः

सुक्त	मंत्र	ऋषि	देवता	छंद	
३४	५	अथर्वा	पशुपतिः	त्रिष्टुप्	
३५	,,	अंगिराः	विश्वकर्मा	,,	१ बृहतीगर्भा,४, ५ भूरिक्
३६	८	पतिवेदनः	अग्नीषोमौ	,,	१ भूरिक् २, ५-७ अनुष्टुप् ८ निचृत्पुर उष्णिग्

इस प्रकार सूक्तोंके ऋषि देवता और छंद हैं। स्वाध्याय करनेके समय पाठकों को इनके ज्ञानसे बहुत लाभ हो सकता है। अब हम ऋषि क्रमसे सूक्तोंका कोष्टक देते हैं -

१ अथर्वा - ४,७,१३, १९-२३, २९,३४ ये दस सूक्त।
२ ब्रह्मा - १५-१७, २४,३३ ये पांच सूक्त।
३ आंगिरसो भृगुः - ८-१० ये तीन सूक्त।
४ चातनः - १४,१८,२५, ,, ,, ,,
५ अंगिराः - ३,३५ ये दो सूक्त।
६ काण्वः - ३१,३२, ,, ,, ,,
७ आथर्वणो भृगुः - ५ यह एक सूक्त।
८ वेनः - १ ,, ,,
९ मातृनामा - २ ,, ,,
१० शौनकः - ६ ,, ,,
११ शुक्रः - ११ ,, ,,
१२ भरद्वाज : - १२ ,, ,,
१३ सविता - २६ ,, ,,
१४ कपिञ्जलः - २७ ,, ,,
१५ शम्भू - २८ ,, ,,
१६ प्रजापतिः - ३० ,, ,,
१७ पतिवेदनः - ३६ ,, ,,

ये ऋषि क्रमानुसार सूक्त हैं। अब देवता - क्रमानुसार सूक्तों की गणना देखिये -

१ ब्रह्म, आत्मा - १ यह एक सूक्त।
२ गंधर्वः - २ ,, ,,
३ इन्द्रः - ५ ,, ,,
४ अग्निः - ६, १३, १४, १८, १९ ये पांच सूक्त।
५ वनस्पतिः - ३, ७-९, २५, २७ ये छः सूक्त।
६ दीर्घायुष्यं - ३, ७, १५-१७, २४, २८ ये सात सूक्त।
७ आरोग्यं - ८, ९, ११, १५-१७, २८ ये सात सूक्त।
८ चंद्रमाः - ४,२२,३१,३३ ये चार सूक्त।
९ जंगिडः - ४ यह एक सूक्त।
१० निर्ऋतिः - १० ,, ,,
११ वायुः - २० ,, ,,
१२ सूर्यः - २१ ,, ,,
१३ आदित्यः - ३२ ,, ,,
१४ आपः - २३ ,, ,,
१५ अश्विनौ : ३० ,, ,,
१६ विश्वकर्मा - ३५ ,, ,,
१७ अग्नीषोमौ - ३६ ,, ,,
१८ पशुपतिः - ३४ ,, ,,
१९ पशुः - २६ ,, ,,

अन्य सूक्तों में अनेक देवताएं हैं, जो प्रत्येक मंत्रके विवरण में पाठक देख सकते हैं। समान देवताके सूक्तोंका अर्थविचार एक साथ करना चाहिए। अर्थविचार करनेके समय ये कोष्टक पाठकोंके लिए बडे उपयोगी हो सकते हैं। इस कोष्टकसे कितने सूक्तों का विचार साथ साथ करना चाहिए। यह बात पाठक जान सकते हैं और इस प्रकार विचार करके मंत्रो और सूक्तोंका अनुसंधान कर सकते हैं।

इतनी आवश्यक बात यहां कहके अब इस द्वितीय काण्डका अर्थ विचार करते हैं -

• • •

अथर्ववेदका सुबोध भाष्य ।

द्वितीय काण्ड ।

गुह्य-अध्यात्म-विद्या ।

(१)

(ऋषिः वेनः । देवता - ब्रह्म, आत्मा)

वेनस्तत्पश्यत्परमं गुहा यद्यत्र विश्वं भवत्येकरूपम् ।
इदं पृश्निरदुहज्जायमानाः स्वर्विदो अभ्यनूषत व्राः ॥ १ ॥
प्र तद्वोचेदमृतस्य विद्वान् गन्धर्वो धाम परमं गुहा यत् ।
त्रीणि पदानि निहिता गुहास्य यस्तानि वेद स पितुष्पितासत् ॥ २ ॥
स नः पिता जनिता स उत बन्धुर्धामानि वेद भुवनानि विश्वा ।
यो देवानां नामध एक एव तं संप्रश्नं भुवना यन्ति सर्वा ॥ ३ ॥

अर्थ - (वेनः तत् परमं पश्यत्) भक्त ही उस परमश्रेष्ठ परमात्माको देखता है, (यत् गुहा) जो हृदय की गुफामें है और (यत्र विश्वं एकरूपं भवति) जिसमें सम्पूर्ण जगत् एकरूप हो जाता है । (इदं पृश्निः जायमानाः अदुहत्) इसीका प्रकृतिने दोहन करकेही जन्मलेनेवाले पदार्थ बनाये हैं और इसलिए (स्वर्विदः व्राः) प्रकाश को जनाकर व्रत पालन करनेवाले मनुष्यही इसकी (अभ्यनूषत) उत्तम प्रकारसे स्तुति करते हैं ॥१॥

(यत् गुहा) जो हृदयकी गुफा में है (तत् अमृतस्य परमं धाम) वह अमृतका श्रेष्ठ स्थान (विद्वान् गन्धर्वः प्रवोचत्) ज्ञानी वक्ता कहे । (अस्य त्रीणि पदा) इस के तीन पद (गुहा निहिता) हृदय की गुफामें रखे हैं, (यः तानि वेद) जो उनको जानता है (सः पितुः पिता असत्) वह पिताका भी पिता अर्थात् बडा समर्थ हो जाता है ॥२॥

(सः नः पिता) वह हम सबका पिता है, (जनिता) जन्म देनेवाला (उत सः बंधुः) और वह भाई है, वह (विश्वा भुवनानि धामानि वेद) सब भुवनों और स्थानोंको जानता है । (यः एकः एव) वह अकेलाही एक (देवानां नामधः) सम्पूर्ण देवोंके नाम धारण करनेवाला है, (तं सं - प्रश्नं) उसी उत्तम प्रकारसे पूजने योग्य परमात्मा के प्रति (सर्वा भुवना यन्ति) संपूर्ण भुवन पहुंचते हैं ॥३॥

भावार्थ - जिसमें जगत्की विविधता भेदका त्याग कर एकरूपताकी प्राप्त होती है और जिसका निवास हृदयमें है,उस परमात्माको भक्तही अपने हृदयमें साक्षात देखता है । इस प्रकृतिने उसी एक आत्माकी विविध शक्तियोंको निचोड कर उत्पन्न होनेवाले इस विविध जगत् को निर्माण किया है, इसलिए आत्मज्ञानी मनुष्य सदा उसी एक आत्माका गुणगान करते हैं ॥१॥

जो अपने हृदयमें ही है उस अमृतके परम धाम का वर्णन आत्मज्ञानी संयमी वक्ता ही कर सकता है । इसके तीन पाद हृदयमें गुप्त हैं, जो उनको जानता है, वह परम ज्ञानी होता है ॥२॥

वही हम सबका पिता, जन्मदाता और भाई भी है, वही संपूर्ण प्राणियोंकी सब अवस्थाओंको यथावत् जानता है । वह केवल अकेलाही एक है और अग्नि आदि संपूर्ण अन्य देवोंके नाम उसीको प्राप्त होते हैं, अर्थात् उसको

परि द्यावापृथिवी सद्य आयमुपातिष्ठे प्रथमजामृतस्य ।
वाचमिव वक्तरि भुवनेष्ठा धास्युरेष नन्वेषो अग्निः ॥ ४ ॥
परि विश्वा भुवनान्यायमृतस्य तन्तुं विततं दृशे कम् ।
यत्र देवा अमृतमानशानाः समाने योनावध्यैरयन्त ॥ ५ ॥

ही दिये जाते हैं । जिज्ञासू जन उसीके विषयमें वारंवार प्रश्न पूछते हैं और ज्ञान प्राप्त करते हुए अन्तमें उसीको प्राप्त करते हैं ॥३॥

अर्थ - (**सद्यः**) शीघ्र ही (**द्यावा - पृथिवी परि आयं**) द्युलोक और पृथ्वी लोकमें सर्वत्र मैं घूम आया हूं और अब (**ऋतस्य प्रथमजां उपातिष्ठे**) सत्यके पहिले उत्पादक की उपासना करता हूं । (**वक्तरि वाचं इव**) वक्तामें जैसी वाणी रहती है , उसी प्रकार यह (**भुवने - स्थाः**) सब भुवनोंमें रहता है, और (**एषः धास्युः**) यही सबका धारक और पोषक है, (**ननु एषः अग्निः**) निश्चयसे यह अग्नि ही है ॥४॥

(**यत्र**) जिसमें (**अमृतं आनशानाः देवाः**) अमृत खानेवाले सब देव (**समाने योनौ**) समान आश्रयको (**अध्यैर यन्त**) प्राप्त होते है, उस (**ऋतस्य**) सत्यके (**विततं कं तन्तुं दृशे**) फैले हुए सुखकारक धागेको देखनेके लिए मैं (**विश्वा भुनवानि परि आयं**) सब भुवनोंमें घुम आया हूं ॥५॥

भावार्थ - द्युलोक और पृथ्वी लोकके अंदर जो अनंत पदार्थ है, उन सबका निरीक्षण करनेके बाद पता लगता है, कि अटल सत्य नियमोंका पहिला प्रवर्तक एकही परमात्मा है, इसलिए मैं उसीका उपासना करता हूं। जिस प्रकार वक्तामें वाणी रहती है, उसी प्रकार जगत् के सब पदार्थो अथवा सब प्राणियोंमें वह सबका धारण पोषण कर्ता एक आत्मा रहता है, उसको अग्नि भी कह सकते है अर्थात् जैसा अग्नि लकडीमें गुप्त रहता है उसी प्रकार वह सब पदार्थोमें गुप्त रहता है ॥४॥

जिस एक परमात्मामें अग्नि वायु सूर्यादि देव समान रीतिसे आश्रित हैं और जिसकी अमृत मयी शक्ति संपूर्ण उक्त देवोंमें कार्य कर रही है, वही एक सर्वत्र फैला हुआ व्यापक सत्य है, उसी का साक्षात्कार करनेके लिए सब वस्तुमात्रका निरीक्षण मैंने किया है और पश्चात् सबके अंदर वही एक सूत्र फैला है यह मैंने अनुभव किया है ॥५॥

गूढ विद्या ।

गूढ विद्या का अर्थ है गूढ तत्त्वको जाननेकी विद्या । कई समझते हैं कि यह विद्या गुप्त रखनी है, इसलिए इसको गूढ अथवा गुह्य विद्या कहते हैं, परंतु वह ठीक नहीं है । दृश्य संसारके अंदर सबका आधारभूत एक तत्त्व है, संसारके पदार्थ दृश्य है और यह सर्वव्यापक आधारतत्त्व अदृश्य है । हरएक मनुष्य सब पदार्थोके रंग, रूप आकार तोल आदिको देख सकता है, परंतु उस पदार्थ के अंदर व्यापनेवाले तत्त्वको, जिससे कि उस पदार्थ का अस्तित्व अनुभव होता है, उस अदृश्य तत्त्वको, वह नहीं जान सकता, बहुत थोडे ही उसका अनुभव कर सकते हैं । मनुष्य का स्थूल देह सब देख सकते हैं, परंतु उसी देहमें रहनेवाले गुह्य अथवा गुप्त आत्माका दर्शन कौन करता है ? परंतु जितना देहका अस्तित्व सत्य है उससे भी अधिक सत्य देहधारी आत्माके अस्तित्वमें है । इसी प्रकार संपूर्ण जगत् के अंदर व्यापनेवाले गुह्यतत्त्व के विषयमें समझना चाहिए ।

दृश्य आकारवाला जगत् दिखाई देता है, इसलिए वह गुह्य नहीं है, परंतु इस दृश्य जगत् को आधार जिस गुह्य तत्त्वने दिया है, वह इस प्रकार स्पष्टतासे नही दिखाई देता है, इसको ढूंढना, इसका अनुभव लेना, इसका साक्षात्कार करना, इस गुह्य विद्या का कार्य क्षेत्र है । इसलिए इसको "गुह्यविद्या गुढविद्या, गुप्तविद्या, गुह्याद्‌गुह्यतर का ज्ञान, आत्मज्ञान, ब्रह्मविद्या, परविद्या, विद्या" आदि अनेक नाम है । इन सब शब्दोंका तात्पर्य "उस जगताधार आत्मतत्त्वका ज्ञान" यही है ।

वेदमंत्रोमें यह विद्या विशेष रीतिसे बतायी है। स्थान स्थानमें तथा विविध रीतियोंसे इसका वर्णन किया है। कई मंत्रोंमें स्पष्ट वर्णन है और कईयोंमें गुह्य वर्णन है। यह सूक्त स्पष्ट वर्णन करनेवाला है, इसलिए उपासकोंका इसके मननसे बडा लाभ हो सकता है।

गुढविद्याका अधिकारी।

सब विद्याओंमें यह गुह्य विद्या मुख्य है, इसलिए हरएक को इस विद्याकी प्राप्ति के लिये यत्न करना चाहिए। वास्तवमें देखा जाय, तो सभी मनुष्य इसकी प्राप्तिके मार्ग में लगे हैं, कई दूर के मार्गपर हैं और कईयोंने समीपका मार्ग पकडा है, इन अनेक मार्गोंमेंसे कौनसा मार्ग इस सूक्तको अभीष्ट है, यह बात यहां अब देखेंगे -

वेनः तत्पश्यत् ॥१॥

'वेनही उसको देखता है,' यह प्रथम मंत्रका विधान है। यहा प्रत्यक्ष देखता है, जिस प्रकार मनुष्य सूर्यको आकाशमें प्रत्यक्ष देखता है उस प्रकार यह भक्त इस आत्मा को अपने हृदयमें प्रत्यक्ष करता है, यह भाव स्पष्ट है। यह अधिकार 'वेन' का ही है यह 'वेन' कौन है? 'वेन' धातुके अर्थ - 'भजन पूजन करना, विचार से देखना, भक्ति करना, तथा इसी प्रकार के उपासनाके कार्य करनेके लिये जाना' ये हैं। ये ही अर्थ यहां वेन शब्द में हैं। ' जो ईश्वर का भजन पूजन करता है, हृदयसे उसकी भक्ति करता है, विचारकी दृष्टिसे उसको जाननेका प्रयत्न करता है,' इस प्रकारका जो ज्ञानी भक्त है, वह वेन शब्दसे यहां अभिप्रेत है। इसलिए केवल "बुद्धिमान" अर्थ ही यहां लेना उचित नहीं है। कितनी भी बुद्धिकी विशालता क्यो न हुई हो, जबतक उसके हृदयमें भक्ति की लहरे न उठती हो, तबतक उस प्रकारके शुष्क ज्ञानसे परमात्माका साक्षात्कार नहीं हो सकता, यह यहां इस सूक्तद्वारा विशेष रीतिसे बताना है।

द्वितीय मंत्रमें कहा है कि -

अमृतस्य धाम विद्वान् गंधर्वः ॥२॥

"अमृतके धाम को जाननेवाला गंधर्व ही उसका वर्णन कर सकता है।" इसमें "गंधर्व" शब्द विशेष महत्त्वपूर्ण है। गंधर्व शब्द का अर्थ "संत, पवित्रात्मा" कोशों में प्रसिद्ध है और यह शब्द वेन शब्दके पूर्वोक्त अर्थके साथ मिलता जुलता भी है। तथापि "गां वाणीं धारयति" अर्थात् "अपनी वाणीका धारण करनेवाला" यह अर्थ यहां विशेष योग्य हैं। वाणीका धारण तो सब करते ही है, परंतु यहां वाणीका बहुत प्रयोग न करते हुए अपनी वाक्शक्तिका संयम करनेवाला, अत्यन्त आवश्यकता होनेपर ही वाणीका उपयोग करनेवाला, यह अर्थ गंधर्व शब्दमें हैं। विशेष अर्थ से परिपूर्ण परंतु अल्प शब्द बोलनेवाला विद्वान गंधर्व शब्दसे यहां लिया जाता है। प्रायः आत्मज्ञानी वक्ताका वक्तृत्व मूकतासे ही होता है, किंवा थोडे परंतु अर्थपूर्ण शब्दोंसे ही आत्मज्ञानी पवित्रात्मा आप्त पुरूष जो कुछ कहना है, कह देता है। जबतक लौकिक विद्याका ज्ञान मनुष्यके मनमें खलबली मचाता रहता है, तब तक ही मनुष्य मेघगर्जनाके समान वक्तृत्व करता रहता है, परंतु इसका परिणाम श्रोताओंपर विशेष नहीं होता। जब आत्मज्ञान होता है और ईश्वर साक्षात्कार होता है, तब इसका वक्तृत्व अल्प होने लगता है। परंतु प्रभाव बढता जाता है। वाक्शक्तिपर संयम होने लगता है। यह गन्धर्व अवस्था समझिये।

यहां "वेन और गंधर्व" ये दो शब्द आत्मज्ञानके अधिकारीके वाचक शब्द हैं। उपासक, भक्त तथा गंभीर शब्दोंका प्रयोग संयम के साथ करनेवाला जो होता है, वही परमात्माका साक्षात्कार करता है और वही उसका वर्णन भी कर सकता है।

पूर्व तैयारी। (प्रथम अवस्था)

उक्त उपासक आत्मज्ञानी हो सकता है, परंतु इसके बननेके लिये पूर्व तैयारी की आवश्यकता है. यह पूर्व तैयारी निम्न लिखित शब्दों द्वारा उस सूक्तमें बताई है -

सद्यः द्यावापृथिवी परि आयम् ॥४॥
विश्वा भुवनानि परि आयम् ॥५॥

"एकवार द्युलोक और पृथ्वीलोकमें चक्कर लगाकर आया हूं। संपूर्ण भुवनोंमें घूमकर आया हूं।" अर्थात् द्युलोक और पृथ्वीलोक तथा अन्यान्य भुवनों और स्थानों में जो जो द्रष्टव्य, प्राप्तव्य और भोक्तव्य है, उसको देखा, प्राप्त किया और भोगा है। जगत् में खूब भ्रमण किया, कार्य व्यवहार किये, धनदौलत कमायी, राज्यादि भोग प्राप्त किये, विजय कमाये, यश फैलाया, सब कुछ किया, मनुष्यको जो जो अभ्युदय विषयक करना संभव है, वह सब किया। यह गूढतत्त्वके दर्शनकी प्रथम अवस्था है। इस अवस्थामें भोगेच्छा प्रधान होती है।

द्वितीय अवस्था।

इसके बाद दूसरी अवस्था आती है, जिस समय विचार उत्पन्न होता है, कि ये नाशवन्त भोग कितने भी प्राप्त किये, तथापि इनसे सच्ची तृप्ति नहीं होती, इसलिये सच्ची तृप्ति, सच्चा मनका समाधान प्राप्त करनेके लिये कुछ यत्न करना चाहिये। इस द्वितीय अवस्थामें भागोंकी और प्रवृत्ति कम होती है और अभौतिक तत्त्व दर्शन की ओर प्रवृत्ति बढती है, इसका निर्देश इस सूक्तमें निम्न लिखित प्रकार किया है -

अमृतस्य विततं कं तन्तुं दृशे विश्वा भुवनानि परि आयम् ॥५॥

"अमृतका फैला हुआ सुखकारक मूल सूत्र देखनेके लिए मैंने सब भुवनोंमें चक्कर मारा," अर्थात् इस द्वितीय अवस्थामें इसका चक्कर इसलिये होता है, कि इस विविधतासे परिपूर्ण जगत्के अंदर एकताका मूल स्रोत होगा तो उसे देखें, इस दुःख कष्ट भेद, लडाई, झगडों से परिपूर्ण जगत्मे सुख आराम ऐक्य और अविरोध देनेवाला कुछ तत्त्व होगा तो उसको ढूंढेंगे, इस उद्देश्यसे इसका भ्रमण होता है। यह जिज्ञासूकि दूसरी अवस्था है। इस अवस्था का मनुष्य तीर्थक्षेत्रों और पुण्यप्रदेशों में जाता है, वहां सज्जनोंसे मिलता है, देशदेशांतरमें पहुंचता है और वहांसे ज्ञान प्राप्त करता है इसका इस समय का उद्देश्य यही रहता है, कि इस विभेद पूर्ण दुःखमय अवस्थासे अभेदमय सुखकारक अवस्थाको प्राप्त करें। इतने परिश्रम करनेसे उसको कुछ न कुछ प्राप्त होता रहता है और फिर वह प्राप्त हुए ज्ञानको अपने में स्थिर करनेका यत्न करनेकी तैयारी करता है। इस प्रकार वह दूसरी अवस्थासे तीसरी अवस्थामें पहुंचता है। इस तीसरी अवस्थाका वर्णन इस सूक्तमें निम्न लिखित शब्दों द्वारा किया है -

तृतीय अवस्था।

द्यावापृथिवी परि आयं सद्यः ऋतस्य प्रथमजां उपातिष्ठे ॥४॥

"मैं द्युलोक और पृथ्वीलोक में खुब धूम आया हूं और अब मैं सत्यके पहिले प्रवर्तक की उपासना करता हूं।" जगत् भरमें घूमकर विचार पूर्वक निरीक्षण करनेसे इसको पता लगता है कि, इस विभिन्न जगत् में अक अभिन्न तत्त्व है और वहीं (कं) सच्चा सुख देनेवाला है। जब यह ज्ञान इसको होता है, तब यह उसके पास जानेकी इच्छा करता है। उपासनासे भिन्न कोई अन्य मार्ग उसको प्राप्त करनेका नहीं है, इसलिये इस मार्ग में अब यह उपासक आता है। ये अवस्थायें इस सूक्तके मंत्रों द्वारा व्यक्त होगई है, इन मंत्रों के साथ यजुर्वेद वाजसनेयी संहिताके मंत्र देखनेसे यह विषय अधिक खुल जाता है, इसलिये वे मंत्र अब यहां देते हैं -

परीत्य भूतानि परीत्य लोकान्परीत्य सर्वाः प्रदिशो दिशश्च।
उपस्थाय प्रथमजामृतस्यात्मनात्मानमभि सं विवेश ॥१॥
पदि द्यावापृथिवी सद्य इत्वा परि लोकान्परि दिशः परि स्वः।
ऋतस्य तन्तुं विततं विचृत्य तदपश्यत्तदभवत्तदासीत् ॥१२॥ वा. यजु. अ. ३२

"(भूतानि परीत्य) सब भूतोंको जानकर या भूतोंमें घूमकरके (लोकान् परीत्य) सब लाकोंमें भ्रमण करके (सर्वा दिशः प्रदिशः च परीत्य) सब दिशा और उपदिशाओंमें भ्रमण करके अर्थात् इन सबको यथावत् जानकर (ऋ तस्य

प्रथमजां उपस्थाय) सत्यके पहिले नियमके प्रवर्तक की उपासना करके (आत्मना आत्माने) केवल आत्मस्वरूपसे परमात्माके प्रति (अभिसं विवेश) सब प्रकारसे प्रविष्ट होता हूं ॥११॥

(सद्यः द्यावापृथिवी परि इत्त्वा) एक समय द्युलोक और पृथ्वीलोकके सब पदार्थोंको देखकर, (लोकान् परि) सब लोकोंको देखकर, (दिशः परि) दिशाओंका परीक्षण करके (स्वः परि) आत्म प्रकाशको जानकर (ऋतस्य विततं तन्तुं) अटल सत्यके फैले हुए धागेको अलग करके जब (तत् अपश्यत्) उस धागेको देखता है, तब (तत् अभवत्) वह वैसा बनता है कि, जैसा (तत् आसीत्) वह पहिले था ॥१२॥"

ये दो मंत्र उपासककी उन्नतिके मार्गका प्रकाश उत्तम रीतिसे कर रहे हैं । जगत्में घूम आनेकी जो बात अथर्ववेदने कही थी, उसका विशेष ही स्पष्टीकरण इन दो मंत्रोंके प्रथम अर्थोद्वारा हुआ है। "सब भूत, सब लोकलोकान्तर, सब उपदिशाएँ, और पृथ्वीके अंतर्गत सब पदार्थ अथवा अपनी सत्ता जहां तक जासकती है, वहां तक जाकर, वहांतक विजय करते, वहां पुरूषार्थ प्रयत्नसे यश फैलाकर तथा उन सबका परीक्षण निरीक्षण समीक्षण आदि जो कुछ किया जाना संभव है, वह सब करके देख लिया । इतने निरीक्षणसे ज्ञात हुआ कि अटल सत्यनियमोंको चलानेवाला एकही सूत्ररूप आत्मा सबके अंदर है, वही सर्वत्र फैला है, उसीके आधारसे सब कुछ है, उसके आधार के विना कोई ठहर नहीं सकता । जब यह जान लिया तब उसकी ही उपासना की, और केवल अपने आत्मासेही उसमें प्रवेश किया । जब वहांका अनुभव लिया, तब उपासक वैसा बन गया, जैसा पहिले था।

पाठक इन मंत्रोंके इस आशयको देखेंगे तो उनको पता लग जायगा, कि जो अथर्ववेदके इस सूक्तके मंत्रों द्वारा आशय व्यक्त हुआ है, वही बडे विस्तारसे इन मंत्रोंमें वर्णित हुआ है । और ये मंत्र उन्नतिकी अवस्थाएं भी स्पष्ट शब्दोंद्वारा बता रहे हैं, देखिये -

१ प्रथम अवस्था - (अज्ञानावस्था) - अपने या जगत् के विषय का पूर्ण अज्ञान ।

२ द्वितीय अवस्था - (भोगावस्था)- जगत् अपने भोग के लिये है, ऐसा मानना, और जगत्को अपने स्वाधीन करनेका यत्न करना । जगत् पर प्रभुत्व स्थापित करना । इसी अवस्थामें राज्यैश्वर्य भोग बढाये जाते हैं ।

३ तृतीय अवस्था - (त्यागावस्था) - जगत्के भोगोंसे असमाधान होकर विभक्तोंमें व्यापक अविभक्त सत्तावाली सद्वस्तुको ढूंढनेका प्रयत्न करना । वह जिज्ञासूकी अवस्था है ।

४ चतुर्थ अवस्था - (भक्तावस्था)- मनुष्य विभिन्न विश्वमें व्यापक एक अभिन्न आत्मतत्वको देखने लगता है और श्रध्दा भक्तिसे उसकी उपासना करने लगता है ।

५ पंचम अवस्था - (स्वरूपावस्था) - उपासना और भक्ति दृढ और सहज होनेपर वह तद्रूप हो जाता है, मानो उसमें एक रूप होकर प्रविष्ट होता है, या जैसा था वैसा बन जाता है । यही साक्षात्कार की अवस्था है, यहां इसको सब ज्ञान प्रत्यक्ष होता है ।

यही मार्ग इस अथर्व सूक्तमें वर्णन किया है । यहां पाठकोंको स्पष्ट हुआ होगा कि पूर्व तैयारी कौनसी है और आगेका मार्ग क्या है ।

पूर्णावस्था ।

पूर्वोक्त यजुर्वेदके मंत्रोंमें कहा ही है कि -

उपस्थाय प्रथमजामृतस्य
आत्मनात्मानमभि सं विवेश
ऋतस्य तन्तुं विततं विचृत्य ।
तदपश्यत्तदभवत्तदासीत् ॥१२॥ **वा.यजु. अ. ३२**

"सत्यके पहिले प्रवर्तक परमात्माकी उपासना करके आत्मासे परमात्मामें प्रविष्ट हुआ ।।सत्यके फैले हुए धागेको

अलग देखकर वैसा हुआ जैसा कि पहिले था।" यह सब वर्णन पूर्ण अवस्थाका है ॥इसीको निम्नलिखित शब्दोंद्वारा इस अथर्वसूक्तमें कहा है -

स्वर्विदः व्राः अभ्यनूषत ॥१॥
अमृतस्य धाम विद्वान् ॥२॥
यस्तानि वेद स पितुष्पिताऽसत् ॥२॥

"(व्राः) व्रत पालन करनेवाले (स्वर्विदः) आत्मज्ञानी उसी की स्तुति करते हैं। वे अमृतके धामको जानते हैं। जो ये धाम जानता है वह पिताका पिता अर्थात् सबमें अधिक ज्ञानी अथवा सबमें अधिक समर्थ होता है।" यह अंतिम फल है पूर्ण अवस्थामें पहुंचनेका निश्चय इससे हो सकता है।

प्रथम मंत्रमें "व्राः" शब्द बडा महत्त्व रखता है। व्रतों या नियमोंका पालन करनेवाला अपनी उन्नतिके लिये जो नियम आवश्यक होंगे उनको अपनी इच्छासे पालन करनेवालेका यह नाम है। नियम स्वयं देखकर स्वयंही उस व्रतका पालन करना बडे पुरूषार्थसे साध्य होता है। इसमें व्रतभंग होनेपर अपने आपको स्वयंही दंड देना होता है, स्वयं ही प्रायश्चित करना होता है। महान् आत्माही ऐसा कर सकते हैं। हरएक मनुष्य दूसरे पर अधिकार चला सकता है, परंतु स्वयं अपने पर अधिकार चलाना अति कठिन है। अपनी संपूर्ण शक्तियां अपने आधीन रखनी और कभी कुविचार आदि शत्रुओंके आधीन न होना इत्यादि महत्त्व पूर्ण बातें इस आत्मशासनमें आती हैं। परंतु जो यह करेगा, वही आत्मज्ञानी और विशेष समर्थ बनेगा और उसीका महत्त्व सब लोग मानेंगे।

सूत्रात्मा।

मणियोंकी माला बनती है, इस मालामें जितने मणि होते हैं, उन सबमें एक सूत्र होता है, जिसके आधारसे ये मणि रहते हैं। सूत्र टूट गया तो माला नहीं रहती और मणि भी बिखर जाते हैं। जिस प्रकार अनेक मणियोंके बीचमें यह एक सूत्र या तंतु होता है, उसी प्रकार इस जगत् के सूर्यचंद्रादि विविध मणियोंमें परमात्माका व्यापक सूत्र तन्तु या धागा है, जिसके आधारसे यह सूक्त विश्व रहा है, इसीका दर्शन नही होता, सब मालका नही वर्णन करते हैं, परंतु जिस धागेके आधार से ये सब मणि मालारूपमें रहे हैं, उस सूत्रका महत्त्व तत्त्वज्ञानी ही जान सकता है और वह उस जगदाधार को प्राप्त कर सकता हैं।

वेदमें "तन्तु, सूत्र" आदि शब्द इस अर्थमें आगये हैं। जगतके संपूर्ण पदार्थ मात्रके अंदर यह परमात्माका सूत्र फैला है कोईभी पदार्थ इसके आधारके विना नहीं है। यह जानना इस ज्ञानका प्रत्यक्ष करना और इसका साक्षात्कारसे अनुभव लेना गूढ विद्याका विषय है, जो इस सूक्त द्वारा बताया है।

अमृतका धाम।

यही आत्मा अमृतका धाम है, इसको ढूंढना हरएकका आवश्यक कर्तव्य है। इसको कहां ढूंढना यही प्रश्न बडा विचारणीय है, इसकी प्राप्तिके लिये ही संपूर्ण जगत् घूम रहा है, विचारकी दृष्टिसे देखा जाय, तो पता लग जायगा कि, सुख और आनंदके लिये हरएक प्राणी प्रयत्न कर रहा है, और हरएकका ख्याल है कि बाह्य पदार्थकी प्राप्तिसे सुख होता है। इसलिये मनुष्य क्या अथवा अन्य कीटपतंगादि प्राणी क्या, भ्रमण कर रहे हैं, एक स्थानसे दूसरे स्थानपर जा रहे हैं, इष्ट पदार्थ प्राप्त होनेपर क्षणभर सुखका अनुभव लेते हैं और पश्चात् दुःख जैसा का वैसा बना रहता है। इसका मनन करते करते मनुष्यके मनमें विचार आजाता है कि, आनंद कंद को अपने से बाहर ढूंढते रहने की अपेक्षा उसको अपने अंदर तो ढूंढकर देखेंगे। यही बात "मैंने द्यावापृथ्वीमें भ्रमण किया, मैंने संपूर्ण भूतोंमें चक्कर मारा, सब दिशाएं और विदिशाएं देख ली और अब मैं सर्वत्र व्यापक एक सूत्रात्माको जानकर उसकी उपासना करता हूं।" इत्यादि जो भाव चतुर्थ और पंचम मंत्र का है उसमें दर्शाई है। गूढ विद्याका प्रारंभ इसके पश्चात् के क्षेत्रमें है, यहांसे ही गूढ तत्त्वकी खोज शुरू होती है। जिस प्रकार आंख संपूर्ण पदार्थोंको देखती है परंतु आंखमें पडे कणको देख नहीं सकती, इसी प्रकार मनुष्य सब जगत् का विजय करता है, परंतु अपने अंदर का

निरीक्षण करना उसको कठीन होता है । यही गुप्त विद्याका क्षेत्र है । इसलिए इसको कहां ढूंढना है, यह देखना चाहिये। इस सूक्तमें इस विषयका स्पष्टीकरण करनेवाले शब्द ये हैं -

गुहा ।

यत् परमं गुहा ॥१॥यत् धाम परमं गुहा ॥२॥

'यह परम धाम गुहामें हैं ।' इसलिऐ इसको गुफा में ही ढूंढना उचित है। इसी हेतुसे बहुतसे लोग पर्वतोंकी गुफाओंसे जाते हैं, और वहां एकान्त सेवन करते हैं। योग्य गुरूके पास रहकर पर्वत केंदरामें एकान्त सेवन करने और अनुष्ठान करनेसे इस गुह्य विद्याका अनुभव लेनेके विषयमें बडा लाभ निःसंदेह होता है, परंतु यह एक बाह्य साधन है। सच्ची गुफा हृदय की गुहा ही है । हृदय की गुफा सब जानते ही है । इसी में इस गुह्यतत्वकी खोज करनी चाहिए ।

सब प्राणी तथा सब मनुष्य बाहर देखते हैं, इस बर्हिदृष्टिसे गुह्यतत्वकी खोज नहीं हो सकती । इस कार्य के लिए दृष्टि अंतर्मुख होनी चाहिए, अपनी इंद्रिय शक्तियों का प्रवाह अंदर की ओर अर्थात् उलटा शुरु होना चाहिए । तभी इस गुह्य तत्त्व की खोज हो सकती है । अपने हृदयमें ही उस गुह्य आत्माको देखना चाहिए । अर्थात् इसकी प्राप्तिके लिए बाह्य दिशाओंमें भ्रमण करनेकी आवश्यकता नहीं है, अंतर्मुख होकर अपनी हृदयकी गुफामें देखना चाहिए ।

चार भाग

यह अमृतका धाम हृदयमें है । यदि इस अमृत के चार भाग मान लिए जांय, तो तीन भाग अंदर गुप्त है और केवल एक भाग ही बाहर व्यक्त है । जो बाहर दिखता है, जो स्थूल दृष्टिसे अनुभवमें आता है वह अत्यंत अल्प है, परंतु जो अंदर गुप्त है, वह बहुत विस्तृत ही है । अपने शरीर में भी देखिये आत्मा - बुद्धि, मन, प्राण ये हमारी अंतःशक्तियां अदृश्य हैं और स्थूल शरीर वह दृश्य है । यदि शक्तिकी तुलना की जाय तो स्थूलशरीर की शक्ति की अपेक्षा आंतरिक शक्तियां बहुत ही प्रभावशाली हैं। अर्थात् स्थूल और व्यक्त की शक्तिकी अपेक्षा सूक्ष्म और अव्यक्त की शक्ति बहुतही बडी है । यही यहां निम्नलिखित शब्दोंद्वारा व्यक्त हुआ है -

त्रीणि पदानि निहिता गुहास्य यस्तानि वेद स पितुष्पिताऽसत् ॥२५॥

"इसके तीन पाद गुहामें गुप्त हैं, जो उनको जानता है वह समर्थसे भी समर्थ होता है।" अर्थात् स्थूलशरीरकी शक्तिकी स्वाधीनता होनेकी अपेक्षा आंतरिक शक्तियोंपर प्रभुत्व प्राप्त होनेसे अधिक सामर्थ्य प्राप्त होता है । इसी विषयमें ये मंत्र देखिये -

पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥३॥
त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाऽभवत्पुनः ॥४॥ — **ऋ. १०।९०। वा.य. ३१**
त्रिभिः पद्भिर्द्यामरोहत्पादोस्येहाऽभवत्पुनः ॥ — **अथर्व ११।६**
त्रिपाद्ब्रह्म पुरुरूपं वितष्ठे तेन जीवन्ति प्रदिशश्चतस्त्रः ॥ — **अथर्व. ९।१०।१९**

"उसके एक पादसे सब भूत बने हैं और तीन पाद अमृत द्युलोक में है । तीन पाद पुरूष का ऊपर उदय हुआ है, और एक पाद पुरुष यहां वारंवार प्रकट होता है । तीन पावोंसे स्वर्गपर चढा है और एक पाद यहां पुनः पुनः होता है।तीन पाद ब्रह्म बहुत रूप धारण करके ठहरा है, जिससे चारों दिशाएं जीवित रहती हैं ।"

इन सब मंत्रोंका तात्पर्य वही है, जो इस सूक्त के ऊपर दिए हुए भागमें बताया है । उस अमृतकी अल्पसी शक्ति स्थूल में प्रकट होती है, शेष अनंत शक्ति अप्रकट स्थितिमें गुप्त रहती है और उस गुप्त शक्तिसे ही इस व्यक्त में कार्य होता रहता है । पाठक मनकी शक्ति की शरीरकी शक्तिके साथ तुलना करेंगे, तो उक्त बातका पता उनको लग जायगा । मनकी शक्ति बहुत है उसका थोडासा भाग शरीरमें गया है और यहां कार्य कर रहा है । यह स्थूलमें कार्य करनेवाला अंशरूप मन वारंवार मूल गुप्तमनकी शक्तिसे प्रभावित होता है, नवजीवन प्राप्त करता है और

वारंवार शरीरमें आकर कार्य करता है। यही बात अधिक सत्यतासे अमृततत्वके साथ संगत होती है। उसका केवल एक अंश प्रकट है, शेष अनंत शक्ति गुप्त है, इसके साथ अपना संबंध जोडना गूढविद्याका साध्य है।

एक रूप।

जगत्में विविधता है और इस आत्मतत्त्वमें एकरूपता है। जगत्में गति है इसमें शांति है, जगत्में भिन्नता है इसमें एकता है, इस प्रकार जगत्का और आत्माका वर्णन किया जाता है, सब लोग इस वर्णन के साथ परिचित है, इस सूक्तमें भी देखिये -

वेनस्तत्पश्यत्परमं गुहा यद्यत्र विश्वं भवत्येकरूपम्
इदं पृश्निरदुहज्जायमानाः स्वर्विदो अभ्यनूषत व्राः ॥१॥

"ज्ञानी भक्त ही उसको देखता है, जो हृदयकी गुहामें है और जिसमें सम्पूर्ण विश्व अपनी विविधताको छोडकर एकरूप हो जाता है। इसकी शक्तिको प्रकृति खींचती है और जन्म लेनेवाले पदार्थ पैदा करती है। इसलिये आत्मज्ञानी व्रतपालन करनेवाले भक्त उस आत्माका ही गुणगान करते हैं।"

पाठक अपने अंदर इसका अनुभव देख लें, जाग्रतीमें जगत्की विविधता का अनुभव आता है, स्वप्नमें भी काल्पनिक सृष्टिमें विविधताका अनुभव आता है, परंतु तृतीय अवस्था गाढ निद्रा - सुषुप्ति में भिन्नताका अनुभव नहीं आता और केवल एकतत्वका अनुभव व्यक्त करना असंभव है, इसलिए उस समय किसी प्रकारका भान नहीं होता। सुषुप्ति, समाधि और मुक्तिमें "ब्रह्म रूपता" होती है, तम - रज - सत्व गुणोंकी भिन्नता छोड दी जाय तो उक्त तीनों स्थानोमें ब्रह्मरूपता, आत्मरूपता अथवा साधारण भाषामें ईशरूपता होती है और इस अवस्थामें भिन्नत्वका अनुभव मिट जाता है, इसलिए इस अवस्थाको "एक - त्व" कहते हैं। इसी उद्देशसे इस मंत्रमें कहा है कि -

यत्र विश्वं एकरूपं भवति ॥१॥

"जहां संपूर्ण विश्व एकरूप होता है।" अर्थात् जिसमें जगत् की विविधिता अनुभवमें नहीं आती, परंतु उस सब विविधता को एकताका रूप सा आजाता है। वृक्ष के जड, शाखा, पल्लव आदि भिन्न रूपताका अनुभव है, परंतु गुठली में इन भिन्नता की एक रूपता दिखाई देती है। इसी प्रकार इस जगद्रूपी वृक्षकी विविधता मूल उत्पत्तिकारण में जाकर देखनेसे एकरूपता में दिखाई देगी। इसी मुख्य आदि कारणसे विविध शक्तियां प्रकृति अपने अंदर धारण करके उत्पत्ति वाले पदार्थ निर्माण करती है। इस रीतिसे न उत्पन्न होनेवाले एक तत्वसे उत्पन्न होनेवाले अनेक तत्त्व बनते हैं। इनका ही नाम उक्त मंत्रमें 'जायमानाः' कहा है। इनमें मनुष्यभी संमिलित है और अन्य प्राणी तथा अप्राणी भी हैं। इनमें मनुष्यही (व्राः) व्रतपालनादि सुनियमोंसे अपनी उन्नति करके आदि मूलकी जानता और अनुभव करके (स्वर्विदः) प्रकाश प्राप्त करके प्रतिदिन अनुष्ठान करता हुआ समर्थ बनता जाता है।

अनुभव का स्वरूप।

आत्मज्ञानी मनुष्य को अमृत धामका अनुभव किस प्रकार होता है, उसके अनुभव का स्वरूप अब देखना - चाहिये - 'आत्मज्ञानी मनुष्य अमृतधाम को अपनी हृदयकी गुहामे अनुभव करता है, अनंत शक्तियां वहां ही इकट्ठी हुई है, यह उसका अनुभव है।' (मंत्र २ देखो)

और वह अनुभव करता है कि - 'वही परमात्मा हम सबका पिता, उत्पादक, और भाई है, वही सर्वज्ञ है।' (मंत्र३) इतनाही नहीं परंतु "वही हमारी माता और वही हमारा सच्चा मित्र है" यह भी उसका अनुभव है। यहां ऋग्वेद और अथर्व मंत्रोंकी तुलना कीजिये -

स नः पिता जनिता स उत बन्धुर्धामानि वेद भुवनानि विश्वा ॥
यो देवानां नामध एक एव तं सं प्रश्नं भुवना यन्ति सर्वा ॥ अथर्व. २।१।३
यो नः पिता जनिता यो विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा ॥

यो देवानां नामधा एक एव तं सं प्रश्नं भुवना यन्त्यन्था ॥ ऋग्वेद १०।८२।३
स नो बन्धुर्जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा ॥ वा. यजु. ३२।१०

इनमें कुछ पाठभेद है, परंतु सबका तात्पर्य ऊपर बताया ही है। यही ज्ञानी भक्त का अनुभव है। और एक अनुभव यजुर्वेदके मंत्रमें दिया है वहां भी यह देखिये -

जगत् का ताना और बाना !

वेनस्तत्पश्यत्परमं गुहा सद्यत्र विश्वं भवत्येकनीडम् ।
तस्मिन्निदं सं च विचैति सर्व९सओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु ॥ वा. यजु. ३२।८

'ज्ञानी भक्त उस परमात्माको जानता है जो हृदय की गुहामें है और जिसमें संपूर्ण विश्व एक घोसले में रहनेके समान रहता है, तथा जिसमें यह सब विश्व एक समय (सं एति) मिल जाता है या लीन होता है और दूसरी समय (वि एति) अलग होता है। (सः विभूः) वह सर्वत्र व्यापक तथा वैभवसे युक्त है और (प्रजासु ओतः प्रोतः) प्रजाओं में ताना और बाना किये हुए धागों के समान फैला है।"

धोती में जैसे ताने और बानेके धागे होते हैं, उस प्रकार परमात्मा इस जगत् में फैला है, यह उस ज्ञानीका अनुभव है।

बालक पर आपत्ति आती है उस समय वह बालक अपने माता,पिता, बडे भाई, चाचा, दादा, नाना आदिके पास सहायतार्थ जाता है। वही बालक बडा होनेपर आपत्ति आगई तो अपने समर्थ मित्रके पास जाता है और उससे सहायता लेता है। इसी प्रकार अन्य प्रसंगो में गुरू, राजा, आदिकों की सहायता लेता है। ये सब संबंध परमात्मामें ज्ञानी अनुभव करता है अर्थात् ज्ञानी भक्तके लिये परमात्माही सम्राट्, राजा, सरदार, शासक, शिक्षक, गुरू, माता,पिता, मित्र, भाई आदि रूप हो जाता है।

एकके अनेक नाम

एक ही मनुष्यको उसका पुत्र पिता कहता है, स्त्री पति कहती है, उसका भाई उसको बंधु कहता है, इस प्रकार विविध संबंधी उस एकही पुरुषको विविध संबंधोंके अनुभव होनेके कारण विविध नामोंसे पुकारते हैं। इस रीतिसे एक मनुष्यको विविध नाम मिलने पर भी उसके एकत्वमें कोई भेद नहीं आता है।

इसी ढंगसे परमात्मा एक होनेपर भी उसके अनंत गुणोके कारण और उसके ही अनंत गुण सृष्टीके अनंत पदार्थोंमें आनेके कारण उसको अनंत नाम दिये जाते हैं। जैसा अग्निमें उष्णता गुण है वह परमात्मा से प्राप्त हुआ है, इसलिये अग्निका अग्नि नाम वास्तविक गुणकी सत्ताकी दृष्टिसे परमात्माका ही नाम है, क्योंकि वह अग्निकाही अग्नि है। इसी प्रकार अन्यान्य देवोंके नामोंके विषयमें जानना योग्य है।

शरीरमें भी देखिये - आंख नाक कान आदि इंद्रिया स्वयं अपने कर्म नहीं कर सकती, परंतु आत्माकी शक्तिको अपने अंदर लेकर ही अपने कर्म करनेमें समर्थ होती है। इसलिये सब इंद्रियोंके नाम आत्मामें सार्थ होते हैं, अतः आत्माको आंखका, आंख, कानका कान कहते हैं। इसी प्रकार परमात्मा सूर्यका सूर्य, विद्युतका विद्युत है। देवोंके नाम धारण करनेवाला परमात्मा है ऐसा जो तृतीय मंत्रमें कहा है, वह इस प्रकार सत्य है।

वह एकही है।

परमात्मा एक ही है, यह बात इस तृतीय मंत्रमें 'एक एव' (यह एक ही है) इन शब्दों द्वारा जोरसे कही है। किसी को परमात्माके अस्तित्वके विषयमें यत्किंचित् भी शंका न हो, इसलिये 'एव' पदकी योजना यहां की है। भक्त को भी ईश्वरके एकत्वका अनुभव होता है, क्योंकि 'विभक्तोंमें अविभक्त' आदि अनुभव उसको होता है, इत्यादि विषय इससे पूर्व बताया ही है।

ज्ञानी भक्तका विशेष अनुभव यह है कि, वह परमात्मा "सं -प्रश्न" है अर्थात् प्रश्न पूछने योग्य और उससे उत्तर लेने योग्य है। भक्तिसे जब भक्त उसे प्रश्न पूछता है, तब वह उसका उत्तर साक्षात्कार से देता है। कठिन प्रसंगोमें

उसकी सहायता की याचना की, और एकान्त में अनन्य शरण वृत्ति से उसकी प्रार्थना की, तो वह प्रार्थना निःसंदेह सुनता है, और भक्तके कष्ट दूर करता है। अन्य मित्र सहायतार्थ समयपर आसकेंगे या नही इसका नियम नहीं, परंतु यह परमात्मा ऐसा मित्र है, कि वह अनन्य भावसे शरण जानेपर सदा सहायतार्थ सिद्ध रहता है और कभी ऐसा नही होता कि, वह शरणगत की सहायता न करे। इसलिये सहायतार्थ यदि किसीसे पूछना हो, तो अन्य मित्रोंकी प्रार्थना करनेकी अपेक्षा इसकी ही प्रार्थना करना योग्य है, क्योंकि हर समय यह सुननेके लिये तैयार है और इसका उदार दयामय हस्त सदा हम सबपर है।

यह सबका (धास्युः) धारण पोषण करनेवाला है और (भुवने - स्थाः) संपूर्ण स्थिरचर जगत्में ठहरा है अर्थात् हरएक पदार्थमें व्याप्त है। कोई स्थान उससे खाली नहीं है। वक्तामें जैसा वक्तृत्व है, उस प्रकार जगत्में यह है, सचमुच यह अग्नि ही है। (मंत्र ४) इसी प्रकार पाठक कह सकते हैं कि, यह सूर्य है और यही विद्युत् है, क्योंकि पदार्थ मात्रकी सत्ता ही यह है, फिर अग्नि वायु रवि यह है यह कहनेकी आवश्यकता ही क्या है ? परन्तु यहां सबकी सुबोधताके लिये ऐसा कहा है। मनुष्यका शब्द आत्मशक्तिसे उत्पन्न होता है उसी प्रकार सूर्य भी परमात्माकी शक्तिसे ही प्रकाशता है।

देवोंका अमृतपान।

इस सूक्तके पांचवे मंत्रमें कहा है, कि उस परमात्मामें देव अमृतपान करते हैं -

यत्र देवा अमृतमानशानाः समाने योनावध्यैरयन्त ॥५॥

"उस परमात्मामें देव अमृतपान करते हुए समान अर्थात् एकही आश्रयमें पहुंचते हैं।"

अर्थात् सब देव उसमें समान अधिकार से, समान रूपसे अथवा अपनी विभिन्नताको छोडकर एक रूप बनकर उसमें लीन होते हैं और वहां का अनुपमेय अमृत पीते हैं।

मुक्ति, समाधि और सुषुप्ति में यह बात अनुभवमें आती है मुक्ति और समाधि तो हरएक के अनुभवमें नहीं है, परंतु सुषुप्ति हरएकके अनुभवमें हैं। इस अवस्थामें सब जीव ब्रह्मरूप होते हैं। इस समय मानवी शरीरमें रहनेवाले देव - अर्थात् सब इंन्द्रियां - अपना भेदभाव छोडकर एक आदि कारणमें लीन होती हैं और वहां आत्मामें गोता लगाकर अमृतानुभव करती हैं। इस अमृतपानसे उनकी सब थकावट दूर होती है और जब सुषुप्ति से हटकर ये इंद्रियां जाग्रतावस्थामें पुनः लौट आती हैं, तब पुनः तेजस्वी बनती हैं। यदि चार आठ दिन सुषुप्ति न मिली, तो मनुष्य शरीर निवासी एक भी देव अपना कार्य करनेके लिये योग्य नहीं रहेगा। बीमारी में भी जबतक सुषुप्ति प्रतिदिन आती रहती है, तबतक बीमारी की अवस्था चिंताजनक समझी नहीं जाती। परंतु आदि चार पांच दिन निद्रा बंद हुई तो वैद्यभी कहते हैं कि यह रोगी असाध्य हुआ है। इतना महत्त्व तमोगुणमय सुषुप्ति अवस्थामें प्राप्त होनेवाली ब्रह्मरूपताका और उमसें प्राप्त होनेवाले अमृतपानका है। इससे पाठक अनुमान कर सकते है कि समाधि और मुक्ति में मिलनेवाले अमृतपानसे कितना लाभ और कितना आनंद होता होगा।

यजुर्वेदमें यही मंत्र थोडे पाठ भेदसे आगया है वह भी यहां देखने योग्य है-

यत्र देवा अमृतमानशानास्तृतीये धामन्नध्यैरयन्त ॥वा. यजु. ३२।१०॥

"वहां देव अमृत का भोग करते हुए तीसरे धाम में पहुंचते हैं।" पूर्वोक्त मंत्र में जहां 'समाने योनौ' शब्द है वहां इस मंत्रमें "तृतीये धामन्" शब्द है। समान योनी का ही अर्थ तृतीय धाम है। जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति यदि ये तीन अवस्थाएं मानली जांय, तो तीसरी अवस्था सुषुप्ति ही आती है जिसमें सब देव अपना भेद भाव छोडकर एक रूप होकर ब्रह्मरूप बनकर अमृतपान करते हैं। स्थूल, सूक्ष्म, कारण ये प्रकृतिके रूप यहां लिये जांय तो सब इन्द्र, चन्द्र सूर्यादि देव अपनी भिन्नता त्यागकर उस ब्रह्ममें लीन होकर अमृत रूप होते हैं। ज्ञानी भक्त महात्मा साधुसंत ये लोग अपने समान भावसे मुक्त अवस्थामें लीन होते हुए अमृत भोगके महानंदको प्राप्त होते हैं। इस प्रकार हरएक स्थानमें इसका अर्थ देखना चाहिये। (पाठक इस सूक्तका मनन कां. १। सू. १३ और २० इन दो सूक्तोंके साथ करें)

यहां इस प्रथम सूक्तका विचार समाप्त होता है। यदि पाठक इस सूक्तके एक एक मंत्रका तथा मंत्रके एक

एक भागका विचार करेंगे, और उसपर अधिक मनन करेंगे, तो उनके मनमें गूढविद्याकी बाते स्वयं स्फुरित होंगी। इस सूक्तमें शब्द चुन चुनके रखे हैं, और हरएक शब्द विशेष भाव बता रहा है। विशेष विचार करनेकी सुगमता के लिये ऋग्वेद और यजुर्वेद के पाठ भी यहां दिये हैं इससे पाठक इसका अधिक मनन कर सकते हैं। वेदकी यह विशेष विद्या है, इसलिये पाठक इस सूक्तके मननसे जितना अधिक लाभ उठावेंगे उतना अधिक अच्छा है।

एक पूजनीय ईश्वर।

(२)

(ऋषिः - मातृनामा। देवता - गंधर्वाप्सरसः)

दि॒व्यो ग॑न्ध॒र्वो भुव॑नस्य॒ यस्पति॒रेक॑ ए॒व न॑म॒स्यो᳡ वि॒क्ष्वीड्यः॑।
तं त्वा॑ यौमि॒ ब्रह्म॑णा दिव्य देव॒ नम॑स्ते अस्तु दि॒वि ते॑ स॒धस्थ॑म् ॥ १ ॥
दि॒वि स्पृ॒ष्टो य॑ज॒तः सूर्य॑त्वगवया॒ता हर॑सो॒ दैव्य॑स्य।
मृ॒डाद्ग॑न्ध॒र्वो भुव॑नस्य॒ यस्पति॒रेक॑ ए॒व न॑म॒स्यः᳡ सु॒शेवाः॑ ॥ २ ॥
अ॒न॒व॒द्याभिः॒ सम्उ॑ जग्म आ॒भिर॑प्स॒रास्वपि॑ गन्ध॒र्व आ॑सीत्।
स॒मु॒द्र आ॑सां॒ सद॑नं म आहु॒र्यतः॑ स॒द्य आ च॒ परा॑ च॒ यन्ति॑ ॥ ३ ॥

अर्थ - (यः दिव्यः गन्धर्वः) जो दिव्य पृथिव्यादिका धारक देव (भुवनस्य एक एव पतिः) भुवनोंका एक ही स्वामी (विक्षु नमस्यः ईड्यः च) जगत्में यही एक नमस्कार करने और स्तुति करने योग्य है। हे (दिव्य देव) दिव्य अद्भुत ईश्वर ! (तं त्वा) उस तुझसे (ब्रह्मणा यौमि) उपासनाद्वारा मिलता हूं। (ते नमः अस्तु) तेरे लिए नमस्कार हो। (ते संध- स्थं दिवि) तेरा स्थान द्युलोकमें है ॥१॥

(भुवनस्य एकः एव पतिः) भुवनोंका एकही स्वामी यह (गन्धर्वः) भूमि आदियोंका धारण कर्ता (नमस्यः सुशेवाः) नमन करने और सेवा करने योग्य है, वही (मृडात्) सबको आनंद देवे। यही दिव्य देव (दिवि स्पृष्टः) द्युलोकमें प्राप्त होता है, (यजतः) पूज्य है और (सूर्य -त्वक्) सूर्य ही जिसकी त्वचा है अर्थात् सूर्यके अंदर भी व्यापनेवाला, तथा (दैव्यस्य हरसः) दैवी आपत्तिको (अवयाता) दूर करनेवाला है। इसीलिए सबको वह पूजनीय है ॥२॥

भावार्थ - पृथ्वी सूर्य चन्द्र नक्षत्र आदि संपूर्ण जगत् का धारण करनेवाला और संपूर्ण जगत् का एकही अद्वितीय स्वामी परमेश्वर ही है और वही सब लोगोंका पूजा और उपासना करने योग्य है। स्तुति प्रार्थना उपासनासे अर्थात् भक्तिसे उसकी प्राप्ति होती है। यह ईश्वर अपने स्वर्गधाममें हैं, उसीको सब लोग नमस्कार करें ॥१॥

संपूर्ण जगत् का एक स्वामी और सब जगत् का धारण और पोषण कर्ता परमेश्वर ही सब लोगोंको नमस्कार करने और उपासना करने योग्य है, उसी की भक्ति और सेवा सबको करना चाहिए, क्योंकि वही सबको सच्चा आनंद देनेवाला है। यही दिव्य अद्भुत देव स्वर्गधाममें प्राप्त होता है। सबके अत्यंत पूजनीय ऐसा यही एक देव है, यह सबमें रहता है, यहां तक कि यह सूर्यके अंदर भी है, जब इसकी प्राप्ति होती है तब सब साधारण और असाधारण आपत्तियां हटा जाती हैं ॥२॥

अभ्रिये दिद्युन्नक्षत्रिये या विश्वावसुं गन्धर्वं सचध्वे ।
ताभ्यो वो देवीर्नम इत्कृणोमि ॥ ४ ॥
याः क्लन्दास्तमिषीचयोऽक्षकामा मनोमुहः ।
ताभ्यो गन्धर्वपत्नीभ्योऽप्सराभ्योऽकरं नमः ॥ ५ ॥

अर्थ - **(अन् - अवद्याभिः आभिः)** दोषरहित ऐसे इन प्राणशक्तियोंके साथ वह **(उस जग्मे)** निश्चयसे मिला रहता है और **(अप्सरासु अपि)** इन प्राणशक्तियोंमें भी **(गन्धर्वः आसीत्)** भूमि आदियोंका धारक देव विद्यमान हैं । **(आसां स्थानं समुद्रे)** इनका स्थान अन्तरिक्षमें हैं, (यतः) जहांसे (सद्यः) शीघ्र हो ये **(आ यन्ति)** आती है और **(परा यन्ति च)** परे जाती है । यह बात **(मे आहुः)** मुझे बतायी है ॥३॥

(अभ्रिये दिद्युत्) बादलोंकी विद्युत् में अथवा **(नक्षत्रिये)** नक्षत्रोंके प्रकाशमें भी **(बाः)** जो तुम **(विश्वावसुं गन्धर्व)** विश्वके वसानेवाले धारक देव को **(सचध्वे)** प्राप्त करती हो अथवा उसकी सेवा करती हो, इसलिए हे **(देवीः)** देवियो ! **(ताभ्यः वः)** उन तुमको **(इत् नमः कृणोमि)** निश्चय पूर्वक मैं नमन करता हूं ॥४॥

(या क्लन्दाः) जो बुलानेवाली या प्रेरणा करनेवाली, **(तमिषी - चयः)** ग्लानिको हटानेवाली, **(अक्ष - कामाः)** आंखोंकी कामना तृप्त करनेवाली, **(मनो - मूहः)** मनको हिलानेवाली हैं **(ताभ्यः गन्धर्व - पत्नीभ्यः अप्सराभ्यः)** धन गंधर्वपत्नीरूप अप्सराओंको - अर्थात् सर्वधारक आत्माकी प्राणशक्तियोंको **(नमः अकरम्)** मैं नमस्कार करता हूं ॥५॥

भावार्थ - इसके साथ जीवनकी अनंत कलाएं है, इतना ही नहीं परंतु वह उन जीवन शक्तियोंके अंदर भी है। इन सबका निवास मध्यलोक - अंतरिक्ष है, जहांसे ये सब शक्तियां प्रकट होती हैं और जहां फिर गुप्त हो जाती है ॥३॥

बादलोके अंदर चमकनेवाली विद्युत्में क्या और नक्षत्रोंके प्रकाशमें क्या यह सब जगत्का पालन कर्ता एक रस भरा है, और इसीको सेवा संपूर्ण जीवनकी शक्तिरूप देवियां कर रही हैं, इसलिए उनको भी नमन करना योग्य हैं ॥४॥

ये प्राणशक्तियां सबको प्रेरणा करनेवाली, सबको चलानेवाली, थकावटसे दूर करनेवाली, आंखोंकी कामना तृप्त करनेवाली और मनको हिलानेवाली हैं । यही आत्माकी शक्तियें हैं, इस दृष्टिसे मैं इनको नमस्कार करता हूं (अर्थात् वह इनको किया हुआ मेरा नमस्कार भी उस अद्वितीय ईश्वरको ही पहुंचेगा, क्योंकि ये शक्तियां उसीके आधारसे रहती हैं) ॥५॥

पूर्व सम्बन्ध

प्रथम सूक्तमें "गुह्य अध्यात्मविद्या" का वर्णन किया गया है, उस सूक्तमें जिस परमात्मा देवका वर्णन किया गया है, उसीका वर्णन यहां "गंधर्व" शब्द से किया गया है । उस प्रथम सूक्तके द्वितीय मंत्रमें भी "गंधर्व" शब्द है, इससे पूर्व सूक्तका इस सूक्तके साथ संबंध स्पष्ट हो जाता है ।

गन्धर्व और अप्सरा ।

"गंधर्व" शब्दका अर्थ पूर्व सूक्तके स्पष्टीकरणके प्रसंगमें किया ही है । (गां+धर्वः) अर्थात् (गां) भूमि, सूर्य, वाणी, इंद्रियां, अंतःकरण - शक्तियां आदिकों का (धर्वः) धारण पोषण करनेवाला आत्मा यह इसका अर्थ है । भूमि, सूर्य तथा अन्यान्य चराचर स्थूल, सूक्ष्म सब पदार्थोंका धारण पोषण करनेके कारण परमात्माका यह नाम है । उसी प्रकार लघु कार्य क्षेत्रमें शरीरके अंदर वाणी प्राणशक्ति इंद्रियशक्ति आदियोंका तथा स्थूलसूक्ष्मादि देहोंका धारण करनेके कारण जीवात्मा का भी यही नाम है । इस सूक्तमें मुख्यतया परमात्माका वर्णन है, परंतु अल्प अंश से यह वर्णन अर्थका संक्षेप करनेसे जीवात्मामें भी घटाया जा सकता है । वह गंधर्वका रूप पाठक ठीक प्रकार स्मरणमें रखें ।"गंधर्व" शब्द के अन्य अर्थ प्रथम सूक्तमें पाठक देखें ।

गंधर्वपत्नीभ्यः अप्सराभ्यः (मंत्र ५)

गंधर्वकी पत्नी ही अप्सराएं है । गंधर्व एक है परंतु उसकी अप्सराएं अनेक हैं । (अप्+सरस) अर्थात् (अप्) जलके आश्रयसे (सरस्) चलनेवाली, यह नाम जलाश्रित प्राणका वाचक है । 'आपोमयः प्राणः' - जलमय अथवा जलके आश्रयसे प्राण रहता है, यह उपनिषदोंका कथन है और वही बात इस शब्दमें है, इसलिए "अप्सराः" शब्द प्राण शक्तियोंका वाचक वेदमें है, श्वास और उच्छ्वास अर्थात् प्राण आयुष्यरूपी वस्त्रके ताने और बानके धागे बुन रहे हैं ऐसा भी वेदमें अन्यत्र वर्णन हैं -

यमेन ततं परिधिं वयन्तोऽप्सरस उप सेदुर्वसिष्ठाः ।

ऋग्वेद ७।३३।९

"(अस्परसः वसिष्ठाः) जलाश्रित प्राण (यमेन ततं) यमने फैलाई हुई (परिधिं) तानेकी मर्यादा तक (वदन्तः) आयुष्यरूपी कपडा बुनते हैं ।

'यम' - आयुष्यका फैलानेवाला जुलाहा ।

'ताना' - आयुष्यकी अवधि, आयुष्यमर्यादा ।

'प्राण' - कपडा बुननेवाले जुलाहे ।

'कपडा '- आयुष्य ।

'मनुष्य का आयुष्य एक कपडा है जो मनुष्य देहरूपी खुड्डीपर बुना जाता है, यहां बुननेवाले प्राण हैं । यहां 'अप्सरस्' शब्द और 'वसिष्ठ' ये दो शब्द प्राणवाचक आये हैं । (अप्सरस) जलाश्रयसे रहनेवाले (वसिष्ठ) निवासके हेतु प्राण हैं ।

इससे भी अनुमान हो सकता है, कि जलतत्त्वके आधार से रहनेवाला प्राण जो कि आत्माकी धर्मपत्नी रूप है ऐसा यहां कहा है, यह प्राणशक्ति, जीवन की कला ही निःसंदेह है । गंधर्व यदि आत्मा है तो उसकी धर्मपत्नी अप्सरा निःसंशय प्राणशक्ति अथवा जीवन शक्ति ही है । आत्मा और शक्ति ये दो शब्द यहांके 'गंधर्व और अप्सरा' के वाचक उत्तम रीतिसे माने जा सकते हैं । शरीर में छोटा प्राण और जगत् में विश्वव्यापक प्राण है, इस कारण गंधर्वका अर्थ आत्मा, परमात्मा माननेपर दोनों स्थानोंमें अर्थकी संगति हो सकती है ।

महान गंधर्व ।

इस सूक्तमें पहिले दो मंत्र बडे महान् गंधर्वका प्रेमपूर्ण वर्णन कर रहे हैं, यह वर्णन देखने से निश्चय होता है कि, यहां गंधर्व शब्द परमात्माका वाचक है । देखिये -

१ भुवनस्य एक एव पातः - भुवनोंका एकही स्वामी । इसके सिवाय और कोई भी जगत् का पति नहीं है । यही परमेश्वर सबका एक प्रभु है । (मं. १,२)

२ एक एव नमस्यः - यही एक अद्वितीय परमात्मा सब को नमस्कार करने योग्य है । इसके स्थानपर किसी भी अन्य की उपऐासना नही करनी चाहिये । (मं. १,२)

३ दिव्यः गंधर्वः - यही अद्भुत है, दिव्य पदार्थ है, यहां मनकी गति कुंठित हो जाती है, और यही (गां) भूमि से लेकर संपूर्ण जगत् का सच्चा । (धर्वः) धारक पोषक है । (मं. १)

४ विक्षु ईड्यः - सब जगत् में यही प्रशंसाके योग्य है ।

५ दिवि ते सधस्थं - स्वर्गधाम में, गुह्यधाममें, अथवा तृतीय धाममें उसका स्थान है(मं.१)। (इस विषयमें प्रथम सूक्तके मंत्र १, २ देखें, जिसमें इसके गुहामें निवास होनेका वर्णन है ।)

६ दिवि स्पृष्टः - इसका स्पर्श अर्थात् इसकी प्राप्ति पूर्वोक्त तृतीय गुह्य स्थानमें ही होती है । यह भी पूर्वोक्त

शब्दोंका ही स्पष्टीकरण है। (मं. २)

७ सूर्यत्वक् - महान् सहस्त्ररश्मी सूर्य भगवान् ही इसका देह है, अर्थात् यह उसमें भी है इतनाही नहीं, परंतु उसका बडा तेज भी इसीसे प्राप्त हुआ है। यह इसकी महिमा है (मं.२)। इसी प्रकार अन्यान्य पदार्थोमें इसकी सत्ता देखनी चाहिए। यह शब्द एक उपलक्षण मात्र है।

८ विश्वा - वसुः (गंधर्वः) - विश्वका यही निवासक है। (मं. ४)

ये लक्षण स्पष्ट कर रहे हैं कि यहांका यह गंधर्वका वर्णन निःसंदेह परमात्माका वर्णन है। किसीभी अन्य पदार्थ में ये सब अर्थ पूर्णरूपसे सार्थ नहीं हो सकते। इसलिए पाठक इन लक्षणों का मनन करके अपने मनमें इस परमात्मा देव की भक्ति स्थिर करें, क्योंकि यही एक सबके लिए पूजनीय देव हैं।

ब्रह्मकी ब्राह्म उपासना।

इस परमात्माकी प्राप्ति इसकी उपासनासे होती है। इस सूक्तमें इसकी 'ब्राह्म उपासना' करनेका विधान बडा महत्त्वपूर्ण है।

१ तं त्वा यौमि ब्रह्मणा। (मं.१)

२ नमस्यः। (मं. १,२) नमस्ते अस्तु। (मं. १)

३ विक्षु ईड्यः। (मं. १)

४ सुशेवाः। (मं. २)

ये चार मंत्र भाग इसकी ब्राह्म उपासना करनेके मार्ग की सूचना दे रहे हैं। ब्राह्म उपासना का अर्थ 'ब्रह्मयज्ञ' अथवा मनद्वारा करने की 'मानस उपासना' ही है। आत्मा बुद्धि चित्त मन आदि अंतःसाधनोंसे ही यह परमात्मा पूजा होती है, इन शक्तियोंका नामही शरीरमें ब्रह्म है। ब्रह्म शब्दका अर्थ मंत्र भी है और मंत्रका आशय 'मनन' है। मननसे यह उपासना करनी होती है, मनके मनन से ही यह हो सकती है, किसी अन्य रीतिसे यह नहीं होती है, वह स्पष्टतथा बतानेके लिए यहां 'ब्रह्मणा' शब्द इस मंत्र में प्रयुक्त हुआ है। यह बात ध्यान में धारण करके उक्त चार मंत्रभागोंका अर्थ ऐसा होता है -

१ तं त्वा यौमि ब्रह्मणा - उस तुझ परमात्माको मननसे प्राप्त होता हूं। (मनन)

२ मनस्यः (नमस्ते) - तू ही एक नमस्कार करने योग्य है। (नमन)

३ विक्षु ईड्यः - सब जगत्में तू ही प्रशंसा करनेके लिए योग्य है। (सर्वत्र दर्शन)

४ सु - शेवाः - तूही उत्तम सेवाके लिए योग्य है। (सेवन)

इन चार मंत्र भागोंके मननसे मानस पूजाकी विधि ज्ञात हो जाती है (१) प्रभुके गुणोंका मनसे मनन करना, (२) उसी को मनसे नमन करना, (३) प्रत्येक पदार्थमें तथा प्राणिमात्रामें उसका दर्शन करना और (४) सब कर्म उसकी सेवा करने के लिए करना, ये चार भाग उस प्रभुकी उपासना के हैं। इन चार भागोमे से जितने भागोंका अनुष्ठान हुआ होगा, उतनी उपासना उतनेही प्रमाण से हुई है, ऐसा मानना चाहिए। पाठक विचार करें और अपनी उपासनाकी परीक्षा इस कसौटीसे करें। हरएक मनुष्य अपने आपको परमात्माका उपासक मानताही है, परंतु उससे जो उपासना हो रही है, वह इस वैदिक मानस उपासना की उक्त कसौटीसे किस सीढीपर गिनी जा सकती है वह भी देखना चाहिये। इस दृष्टीसे ये चार मंत्र भाग विशेषही महत्त्व रखते हैं।

'मनन, नमन, सर्वत्र दर्शन और सेवन' ये चार नाम संक्षेप से मानस उपासना के चार अंगोंके दर्शक माने जा सकते हैं।

१ "मनन' से परमात्माके महत्त्वकी मनमें स्थिरता होती है। इस दृष्टीसे इसकी अत्यंत आवश्यकता है।

२"नमन" जब मननसे उसका महत्त्व ज्ञात हुआ, तब स्वभावतः ही मनुष्य उस प्रभुके सामने लीन होता है। मननके पश्चात् की यह स्वाभाविक ही अवस्था है।

३ "दर्शन" मननसे ही उसकी सार्वत्रिक सत्ता का भी अनुभव होता है। स्थिर चरमें एक रस व्यापक होनेका साक्षात्कार होनेकी यह तीसरी उच्च अवस्था है। जगत्‌के अंदर प्रभुका ही सर्वत्र साक्षात्कार इस अवस्था में होता है।

ये तीनों मानसिक क्रियाएं हैं। इसके पश्चात् यह भक्त अपने आपको परमात्माके परम यज्ञमें समर्पण करता है, वह सेवावस्था है।

४ "सेवन" यह इस अवस्थामें उसका सेवक बनता है। सेवन और 'भजन' ये दोनो शब्द समान अर्थके ही है - सेवन और भजन एकही अर्थ बताते हैं. प्रभुके कार्यके लिए अपने आपको समर्पित करना, यही भक्ति या सेवा है।

'दीनों का उद्धार' करना, साधुओंका परित्राण करना, सज्जनोंकी रक्षा करना, दुर्जनोंको दूर करना, ये ही परमात्मा के कर्म हैं। इन कर्मों को परमात्मार्पण बुद्धिसे करनेका नाम ही उसकी भक्ति या सेवा है।

नामस्मरण।

नामस्मरण का भी यही तात्पर्य है, जैसा "हरि" (दुःखोंका हरण करनेहारा) देव है, इसलिए मैं भी दुःखितोंका दुःख यथाशक्ति हरण करूंगा और दूसरों को सुख देने के कर्म से ईश्वर की सेवा करूंगा। 'राम' (आनंद देनेवाला) ईश्वर है इसलिये मैं भी दीन दुःखी मनुष्यों या प्राणियोंकी पीडा दूर करनेके यत्न द्वारा परमात्माकी भक्ति या सेवा करूंगा। 'नामस्मरण' का यही उद्देश्य है। यद्यपि आजकल केवल नामका स्मरणही रहा है और उससे प्राप्त होनेवाले कर्तव्य का पालन नहीं होता है, तथापि वस्तुतः इससे महान् कर्तव्य सूचित होते हैं, यह पाठक विचारसे जानें और परमेश्वरके इतने नाम कहनेका मुख्य उद्देश समझ लें। अनेक ग्रंथ पढने से जो कर्तव्य नहीं समझता, वह एक नाम के मननसे समझमें आता है, इसीलिये वेदादि ग्रंथोंमें परमात्माके अनेक नाम दिये होते हैं और वे सब बडे मार्गदर्शक है, परंतु देखनेवाला और कर्म करनेवाला भक्त चाहिये।

अस्तु। ईश्वर उपासना के ये चार भाग हैं, इसका अधिक विचार पाठक करें और इस मार्गसे चलें। यही सीधा, सरल और अतिसुगम मार्ग हैं।

ब्राह्म उपासना का फल।

पूर्वोक्त प्रकार मानस उपासना करनेसे जो फल प्राप्त होता है, उसका वर्णन भी इन मंत्रोंमें पाठक देख सकते हैं -

१ तं त्वा यौमि - परमेश्वरके साथ मिलना, ब्रह्मरूप अवस्था प्राप्त करना। (मं. १)

२ दैव्यस्य हरसः अवयाता - परमात्मा सब महापीडाओंको दूर करनेवाला है, इसलिये सब पीडा उसकी प्राप्ति से दूर हो जाती है। (मं. २)

३ मृडात् - वह आनंद देता है। (मं. २)

इन शब्दोंके मननसे पाठकोंको पता लग जायगा कि, उपासना का फल परमानंद प्राप्ति ही है। वह प्रभु सच्चिदानंद स्वरूप होनेसे उसके साथ मिल जानेसे वही आनंद उपासकमें आ जाता है और जितनी उपासनाकी दृढता और पूर्णता होगी, उतना वह आनंद दृढ और पूर्ण होता है। यह फल प्राप्त करनेकाही पूर्वोक्त वैदिक मार्ग है।

यहां पहिले दो मंत्रोंका विचार हुआ। इसके पश्चात् के तीन मंत्रोंका वर्णन ठीक प्रकार समझमें आनेके लिये उस वर्णनको प्रथम अपने शरीरमें अनुभव करना चाहिये और पश्चात् वही भाव विशाल जगत्‌में देखना चाहिये -

अपने अंदरकी जीवन शक्ति।

इससे पूर्व बताया गया कि, जलतत्त्वके आश्रयसे कार्य करनेवाली प्राणशक्ति या जीवनशक्ति ही 'अप्सराः'

शब्दसे इस सूक्तमें कही है, देखिये इसका वर्णन -

१ क्रन्दाः - पुकारनेवाली, बुलानेवाली, प्रेरणा देनेवाली । प्राणशक्ति अथवा जीवनशक्ति प्राणियोंको प्रेरित करती है, इस अर्थका वाचक यह नाम है ।

२ तमिषी - चयः - (तमिषी) ग्लानी अथवा थकावटको (चयः) दूर करनेवाली, थकावट को हटानेवाली प्राणशक्ति है । जो उत्साह प्राणीमात्र में है वह प्राणशक्ति का ही है, प्राणायाम से भी उत्साह बढने और थकावट दूर होनेका अनुभव है।

३ अक्ष - कामाः - (अक्षि +कामाः) आखोंकी कामना पूर्ण करनेवाली । पाठक देखें कि जबतक शरीरमें प्राण रहता है तभी तक शरीर आखोंको तृप्त कर सकता है । मुर्दा देखकर किसी मनुष्य के आंख तृप्त नहीं होते। इससे आखोंकी तृप्ति प्राण शक्तिसे होती है यह स्पष्ट है ।

४ मनो - मुहः - मनको मोहित करनेवाली । इसका भाव भी उक्त प्रकार ही है ।

ये चार शब्द शरीरमें प्राण शक्तियों अथवा जीवन की शक्तियोंके वाचक हैं । पाठक इन शब्दोंके अर्थोका अनुभव अपने अंदर करें । इनको (मंत्र ५ में) 'गंधर्व - पत्नी अप्सराः' कहा है । गंधर्व इस शरीरके अंदर जीवात्मा है और उसकी पत्नियें जीवन शक्तियां अथवा प्राण शक्तियां है, प्राण जलतत्त्वके आश्रयसे रहता है, इसलिये जलाश्रित होनेके कारण (अप् +सरः) यह शब्द प्राणमें अत्यंत सार्थ होता है । इन प्राणशक्तियों को नमन पंचम मंत्रमें किया है । प्राणके आधीन सर्व जगत् है यह देखनेसे प्राणका महत्त्व जाना जाता है । पाठक भी अपने शरीरमें प्राण का महत्त्व देखें, प्राण रहने तक शरीर की शोभा कैसी होती है और प्राण जानेके पश्चात् शरीरकी कैसी अवस्था हो जाती है, इसका मनन करनेसे अपने शरीरमें प्राणका महत्त्व जाना जा सकता है । जो नियम एक शरीरमें है वही सब शरीरों के लिये हैं । इस प्रकार प्राणकी दिव्य शक्तिका अनुभव करके इस मंत्र ५ में उस प्राणको नमन किया है।

प्राण का प्राण ।

यहां प्रश्न होता है, कि क्या यह पत्नियें स्वतंत्र है या परतंत्र। 'पत्नी' शब्द कहने मात्रसेही वह पतिके आधीन, पतिके साथ रहनेपर शोभा को बढानेवाली, पतिके रहित होनेसे दुःखी, पति ही जिसका उपास्य दैवत है, इत्यादि बातें ज्ञात होजाती है। वेदके धर्ममें पतिके साथ धर्माचरण करनेवाली सहधर्मचारिणी ही पत्नी होती है । इसलिये गंधर्व (आत्मा) और अप्सरा (प्राणशक्ति) उसी नातेसे देखने चाहिये । जिस प्रकार पतिसे शोभा प्राप्त करके पत्नी गृहस्थकार्य करती है, उसी प्रकार इस छोटे गंधर्व (जीवात्मा) से उसकी अप्सरा स्त्री (प्राणशक्ति) बल प्राप्त करके अपने गृह (शरीर) के अंदरके सब कामकाज चलाती है । इसलिये जो सौंदर्य अथवा शोभा धर्मपत्नीकी दिखाई देती है वह वास्तवमें पतिसे ही प्राप्त हुई होती है, इसलिये धर्मपत्नीको किया हुआ नमस्कार धर्मपत्नीके लिये नहीं होता है, परन्तु वह उसके पतिके लिये ही होता है, क्योंकि पति विरहित विधवा स्त्रीको अशुभ समझकर कोई नमस्कार नहीं करते । इसी प्रकार यहां बताना यह है कि प्राणशक्ति अथवा जीवनशक्ति जीवात्माके आश्रयसे कार्य करनेवाली है, उसके अभावमें वह कार्य नहीं कर सकती । इसलिये जो वर्णन, प्रशंसन या महत्त्व प्राणशक्तिका बताया जाता है वह प्राणका नहीं है, परंतु प्राणके प्राणका अर्थात् आत्माका है , यह बात भूलना नहीं चाहिये । इसी कारण यहांका प्राणशक्तिको किया हुआ नमन आत्माके ही उद्देश्यसे है न कि केवल प्राणके लिये ।

ऐसा क्यों कहा है ?

इतने लंबे ढंगसे यह बात क्यों कही है? यहां वेदको यह बताना है, कि संपूर्ण स्थूल विश्वके जो रंग, रूप, रस, आकार आदि हैं, वे सब आत्माकी शक्तिसे कारण बने हैं, यदि जगत्से आत्माकी शक्ति हटाई जाय, तो न जगत् रहेगा और न उसकी शोभा रहेगी । जिस प्रकार पति रहित स्त्री विधवा होकर शोभा रहित हो जाती है, उसी प्रकार आत्मा रहित शरीर मृत, मुर्दा और तेजोहीन हो जाता है, देखने लायक नहीं रहता । इसी प्रकार जगत्भी आत्मासे रहित होनेपर निःसत्त्व होगा । इसलिये जगत् की ओर देखनेके समय आत्मदृष्टि रखनी चाहिए, न कि स्थूल

दृष्टि । जिस प्रकार किसी सुवासिनी स्त्री की ओर देखनेसे उसमें पतिकी सत्ता देखनी होती है, पतिहीन स्त्री दुर्वासिनी समझी जाती है, इसी प्रकार आत्मारहित शरीर और परमात्मारहित जगत् है ।

गुलाब का फूल, आमका वृक्ष, सूर्यका प्रकाश, इसी प्रकार प्राणियोंका प्राण आदि सब देखते हुए सर्वत्र आत्माकी शक्ति अनुभव करनी चाहिये। वही सबका धारक "गंधर्व" सर्वत्र उपस्थित है और उसीके प्रभावसे यह सब प्रभावित हो रहा है, ऐसा भाव मनमें सदा जाग्रत रहना चाहिये। इस विचार से देखनेसे अप्सराओंको किया हुआ नमन गंधर्वके लिये कैसा पहुंचता है, यह बात स्पष्ट होंगी और यह गंधर्व भुवनोंका एक अद्वितीय पतिही है, वही सब के लिये (नमस्यः) नमस्कार करने योग्य है, यह जो प्रथम और द्वितीय मंत्रमें कहा है उस विधान के साथ भी इसकी संगति लग जायगी । नहीं तो पहिले दो मंत्रोंमें यह परमात्मा (नमस्यः) नमस्कार करने योग्य है ऐसा कहा है, परंतु आगे चतुर्थ और पंचम मंत्रमें अप्सराओंको नमस्कार किया है । यह विरोध उत्पन्न होगा । यह विरोध पूर्वोक्त दृष्टिसे विचार करनेसे नहीं रहता है -

विरोधालङ्कार ।

ताभ्यो वो देवीर्नम इत्कृणोमि ॥(मं. ४)

ताभ्यो गंधर्वपत्नीभ्यः अप्सराभ्यः अकरं नमः ॥(मं. ५)

'उन गंधर्व पत्नी अप्सरा । देवियोंको मैं नमस्कार करता हूं ।' पहिले दो मंत्रोमें 'एक ही जगत्पालक गंधर्व नमस्कार करने योग्य है' ऐसा कहकर अंतिम दो मंत्रोंमें उसको नमन न करते हुए' उसकी धर्मपत्नीयोंको ही नमस्कार किया है' यह विरोधालंकार है । पहिले कथन के बिलकुल विरूद्ध दुसरा कथन है । जो (नमस्यः) नमस्कार करने योग्य है उसको तो नमन किया ही नहीं, परंतु जिनके नमस्कार योग्य होनेके विषयमें किसी स्थानपर नहीं कहा, उनको नमस्कार किया है । इस सूक्तमें विरोध भी समबल है । पहिले दोनों मंत्रोमें गंधर्वके नमस्कार योग्य होने के विषयमें दोवार कहा है, इतनाही नहीं परंतु -

एक एव नमस्यः । (मं. १,२)

'यही एक नमस्कार करने योग्य देव है ।' ऐसा निश्चयार्थक वाक्यसे कहा है, जिससे किसीको संदेह नहीं होगा । परंतु आश्चर्य की बात यह है, कि जिस समय नमस्कार करनेका समय आगया, उस समय उसी प्रकार दो मंत्रोमें (मं. ४,५में) उसकी पत्नियोंका ही नमस्कार किया है और विशेष कर पतिको नमन नहीं किया। यह साधारण विरोध नहीं है। इसका हेतु देखना चाहिए ।

व्यवहारकी बात ।

जिस समय आप किसी मित्रको नमस्कार करते हैं उस समय आप विचार कीजिये कि क्या आप उसके आत्मो को नमस्कार करते हैं,या उसके शक्तिको, अथवा उसके प्राणोंको, या उसकी इंद्रियोंको करते हैं । आपके सामने तो उसका आत्मा रहता ही नहीं, न आप आत्माको देख सकते न उसको स्पर्श कर सकते हैं, जिसको देख भी नहीं सकते उसको आप नमस्कार कैसा कर सकते हैं ? विचार कीजिये, तो पता लग जायगा कि आपका नमस्कार आपके मित्रकी आत्मा के लिए नहीं है ।

परंतु यदि 'आत्माके लिए नमन नही है,' ऐसा पक्ष स्वीकारा जाय तो कहना पडेगा कि, कोई भी मनुष्य अपने मित्रके मुर्दा शरीरको - मृत शरीरको - नमस्कार नहीं करता । तो फिर नमस्कार किस के लिए किया जाता है ? यह बात हमारे प्रतिदिनके व्यवहार की है, परंतु इसका उत्तर हरएक मनुष्य नहीं दे सकता । परंतु हरएक मनुष्य दूसरे को नमस्कार तो करता ही है ।

जडचेतन का संधि - प्राण ।

यहां वास्तविक बात यह है, कि स्थूल शरीर और उसकी इंद्रियां, प्रत्यक्ष दिखाई देती है, और प्राण यद्यपि अदृश्य है तथापि श्वासोछ्वास की गतिसे प्रत्यक्ष होता है, परंतु मन बुद्धि और आत्मा अदृश्य है ।इनमें भी मनबुद्धि कर्मोंके अनुसंधानसे जानी जा सकती है, परंतु आत्मा तो सर्वदा अप्रत्यक्ष है । देखिये -

शरीर – इंद्रियां – 'प्राण' – मनबुद्धि – आत्मा
दृश्य - x ---- o -----x - अदृश्य

प्राण ऐसा स्थान रखता है कि जो एक और दृश्य और दूसरी ओर अदृश्य को जोडनेका बिंदु है। इसी लिए स्थूल दृश्यसे सूक्ष्म अदृश्य तक पहुंचनेके लिए योगादि शास्त्रों में प्राणका ही आलंबन कहा है, क्योंकि यही एक प्राण है कि, जो स्थूल सूक्ष्म, दृश्य अदृश्य, जड चेतन, शक्ति पुरुष इनकी जोड देता है। इस कारण यह भुवनका मध्य कहा जाता है। और आध्यात्मिक उन्नतिके साधन के लिए प्राणकाही आलंबन सबसे मुख्य माना गया है। क्योंकि यह अदृश्य होते हुए अनुभवमें आसकता है और इसीसे सूक्ष्मतत्त्वका अनुसंधान होता है।

साधारण अज्ञ लोग नमन तो स्थूलशरीर को देखकर ही करते हैं, उससे अधिक ज्ञानी प्राणका अस्तित्त्व जानकर करते हैं, उससे भी उच्च कोटीके ज्ञानी इसमें जो अधिष्ठाता है उसको देखकर उसे नमन करते हैं। यद्यपि नमन एकही है तथापि करनेवाले के अधिकार भेदके अनुसार नमन विभिन्न वस्तुओंके लिए होता है।

स्थूलसे सूक्ष्मका ज्ञान।

इसमें एक बात सत्य है और वह यही है, कि यदि जगत्में स्थूल शरीर - स्थूल पदार्थ - एकभी न रहा, तो चेतन आत्मा की कल्पना होना असंभव है, इसलिए चेतन आत्माकी शक्ति जाननेके लिए स्थूल विश्वकी रचना अत्यंत आवश्यक है। अतः स्थूल के आलंबन को सूक्ष्मकी कल्पना की जाती है और इसीलिए शरीरमें कार्य करनेवाली प्राणशक्तियोंको (मंत्र ४, ५) में नमन करके शरीरके मुख्याधिष्ठाता आत्मा तक नमन पहुंचाया है। यहां ध्यानमें धरने योग्य बात यह है कि जड शरीर को गमन नहीं किया, परंतु जडचेतन की संगति करनेवाली प्राणशक्तियोंको नमन किया है, अर्थात् स्थूलको पीछे रखकर जहां सूक्ष्मकी शक्तियां प्रारंभ होती है, वहां उन सूक्ष्म शक्तियों को नमन किया है। यहां बिलकुल स्थूल का आलंबन छोडनेका भी उपदेश मिलता है।

प्रत्यक्षसे अप्रत्यक्ष।

इस विवरणसे पाठक समझही गये होंगे कि प्रत्यक्ष वस्तुके निमित्तके अनुसंधानसेही अप्रत्यक्षको नमन किया जा सकता है। जो सब जगत्का एक प्रभु है वह सर्वव्यापक और पूर्ण अदृश्य है, वास्तवमें वही सबके लिए नमस्कार करने योग्य है, और कोई दूसरा नमस्कार के लिए योग्य नहीं है, तथापि जगत् के स्थूल - सूर्य चंद्रादि पदार्थोके प्रत्यक्ष करनेसे ही उसके सामर्थ्य का कुछ अनुमान हो सकता है, जगत् के कार्य देखने से ही उसके उद्भूत रचना चातुर्य का अनुमान होता है, इसलिए जगत्में - हरएक पदार्थमें - उसकी सत्ताका अनुभव करना चाहिये और प्रत्येक पदार्थ को देखकर प्रत्येक पदार्थका महत्त्व उसीके कारण है, यह जानकर उसमें उसको नमन करना चाहिए। तभी तो उसको नमन हो सकता है। सूर्यको देखकर उसके प्रकाश का तेज परमात्मासे प्राप्त है, यह जानकर उसकी अगाध सामर्थ्यका उसमें अनुभव करते हुए अंतःकरणसे उसको नमन करना चाहिए। यही बात हरएक वस्तुके विषयमें हो सकती है। यही बात इसी सूक्तके चतुर्थ मंत्रमें कही है -

अभ्रिये दिद्युन्नक्षत्रिये या
विश्वावसुं गन्धर्व सचध्वे ॥(मंत्र. ४)

'मेघोंकी विद्युत्में क्या और नक्षत्रोंके प्रकाशमें क्या तुम विश्वके बसानेवाले सर्वधारक परमात्माको प्राप्त करतीहै।' इस मंत्रमें वही बात कही है कि विद्युत की चमकाहट देखनेसे या तेजोगोलको को देखनेसे उस अद्वितीय आत्माकी सत्ताकी जागृति होनी चाहिये, उस परमात्माकी सामर्थ्य ध्यानमें आनी चाहिये, उस आदि देवका अद्भुत रचना चातुर्य मनमें खडा होना चाहिये। यही प्रभुको सर्वत्र उपस्थित समझना है, यही रीति है कि जिससे ज्ञानी उसका सर्वत्र साक्षात्कार करता है।

पाठक यहां देखें कि, प्रथम और द्वितीय मंत्रमें "वह प्रभु ही अकेला वंदनीय है" ऐसा कहा और नमन करनेके समय जगत्में कार्य करनेवाली प्राण शक्तियोंको (मंत्र ४, ५में) नमन किया, इसकी संगति पूर्वोक्त प्रकार है। इस

दृष्टिसे इसमें कोई विरोध नहीं है और विचार करनेसे पता लगता है कि यही सीधा मार्ग है । इसी उपासना मार्गसे जाना हर एक के लिये सुगम है । मेघोंसे चमकने वाली विद्युत्में तथा तेजो गोलकोके प्रकाशमें जब प्रभुकी सामर्थ्य देखना ही उसका साक्षात्कार करना है, यदि विश्वके अंतर्गत पदार्थोंका विचार करना ही छोड दिया जाय, तो उस प्रभुका सामर्थ्य कैसा समझमें आवेगा ?

यहां चतुर्थ और पंचम मंत्रोंका विचार समाप्त हुआ और इस विचार की प्रत्यक्षता हमने अपने अंदर देखी, क्योंकि यही स्थान है कि, जहां हमे प्रत्यक्ष अनुभव होता है । अब इसको जगत्में व्यापक दृष्टिसे देखना है, परंतु इसके पूर्व हमें तृतीय मंत्रका विचार करना चाहिये । इस तृतीय मंत्रमें दो कथन बडे महत्त्व पूर्ण हैं, वे अब देखिये -

प्राणोंका आना और जाना ।

समुद्र आसां स्थानं म आहुर्यतः सद्य आ च परा च यन्ति ॥(मं. ३)

'समुद्र इनका स्थान है, ऐसा मुझे कहा गया है, जहांसे बार बार इधर आती है और परे चली जाती है ।' इस मंत्रोंमें प्राणशक्तिका वर्णन उत्तम रीतिसे किया है । (आयन्ति, परायन्ति) इधर आती है और परे जाती है, प्राणकी ये दो गतियां हैं, एक 'आना' और दूसरी 'जाना' है । श्वास और उच्छ्वास ये दो प्राणकी गतियें प्रसिद्ध हैं । प्राण अपना ये भी दो नाम हैं । एक गति बाहरसे अंदर जानेका मार्ग बताती है और दूसरी अंदरसे बाहर जानेका मार्ग बताती है । ये दो गतियां सबको विदित हैं ।

इन प्राणोंका स्थान हृदयके अंदरका मानस समुद्र है, हृदय स्थान है, इस सरोवर या समुद्रमें जाकर प्राण डुबकी लगाता है और वहां स्नान करके फिर बाहर आता है। वेदोमें अन्यत्र कहा है कि -

एकं पादं नोत्खिदति सलिलांद्धंस उच्चरन् ।
यदङ्ग स तमुत्खिदन्नंवाद्य न श्वः स्यान्न रात्रीः नाऽहः स्यान्न व्युच्छेत्कदाचन ॥

अथर्व. ११।४ (६) २१

'यह (हं-सः) प्राण अपना एक पांव सदा वहां रखता है, यदि वह पांव वहांसे हटायेगा तो इस जगत्में कोई भी नहीं जीवित रह सकता । न दिन होगा और न रात्री होगी। (अथर्व. ११।४ (६) २१) 'प्राण अंदरसे बाहर जानेके समय अपना संबंध नहीं छोडता, यदि इसका संबंध बाहर आनेके समय छूट जायगा तो प्राणीकी मृत्यु होगी । यही बात इस सूक्त के तृतीय मंत्रमें कही है । हृदयका अंतरिक्षरूपी समुद्र इस प्राणका स्थान है, वहांसे यह एक बार बाहर आता है और दूसरी बार अंदर जाता है, परंतु बाहर आता है उस समय वह सदाके लिये बाहर नहीं रहता, यदि यह बाहर ही रहा और अंदर न गया, तो प्राणी जीवित नही रह सकता । यह प्राणका जीवन के साथ संबंध यहां देखना आवश्यक है । यह देखनेसे ही प्राणका महत्त्व ध्यानमें आसकता है । और प्राण की शक्ति का महत्त्व जाननेके पश्चात् प्राणका भी जो प्राण है, उस आत्माका भी महत्त्व इसके नंतर इसी रीतिसे और इसी युक्तिसे जाना जा सकता है ।

प्राणोंका पति ।

यह वास्तवमें एकही प्राण है तथापि विविध स्थानोंमें रहने और विविध कार्य करनेसे उसके विविध भेद माने जाते हैं ।मुख्य प्राण पांच और उपप्राण पांच मिलकर दस भेद नाम निर्देशसे शास्त्रकारोंने गिने हैं, परंतु यह कोई मर्यादा नही हैं, अनेक स्थानोंकी और अनेक कार्योंकी कल्पना करनेसे अनेक भेद माने जा सकते हैं । प्राणको अप्सराः शब्द इस सूक्तमें प्रयुक्त किया है और वह एक गन्धर्वके साथ रहती है ऐसा भी आलंकारिक वर्णन किया है । इसी दृष्टिसे निम्न मंत्र भाग अब देखिये -

अनवद्याभिः समु जग्म आभिः
अप्सरास्वपि गंधर्व आसीत् ॥(मं. ३)

'इन निर्दोष अनेक अप्सराओंके साथ वह एक गंधर्व संगति करता है और उन अप्सराओंमें वह

गंधर्व रहता है।'

यदि गंधर्व और अप्सराएं ये शब्द हटादिये और अपने निश्चित किये अर्थोंके अनुसार शब्द रखे, तो उक्त मंत्र भागका अर्थ निम्न लिखित प्रकार होता है - 'इन निर्दोष अनेक प्राण शक्तियोंके साथ वह एक आत्मा संगति करता है, संमिलित होता है और उन प्राणोंके अंदर भी यह सर्वधारक आत्मा रहता है।'

यह अर्थ अति सुबोध होनेसे इसके अधिक स्पष्टीकरण करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि इस के हरएक बातका विशेष स्पष्टीकरण इससे पूर्व आचुका है। इसलिये यह रूपक पाठक स्वयं समझ जायंगे। सब प्राण आत्मासे शक्ति लेकर शरीरमें कार्य करते हैं, और आत्मा भी प्राणोंके अन्दर रहता है। इस विषयमें यजुर्वेद कहता है -

सो असावहम्। यजु. अ. ४०।१७

'(सः) यह (असौ) असु अर्थात् प्राणके बीचमें रहनेवाला आत्मा (अहं) मै हूं।' अर्थात् प्राणोंके मध्यमें आत्मा रहता है और आत्माके बाहर प्राण या जीवन शक्ति रहती है और ये दोनों जगत् का सब व्यवहार कर रहे हैं।

ब्रह्माण्ड देह।

पाठक ये सब बातें अपने अंदर देखें। परंतु यहां केवल अपने अंदर देखकर और अनुभव कर के ही ठहरना नहीं है, जो बात छोटे क्षेत्रवाले अपने देहमें देखी है यही बडे ब्रह्मांड देहमें देखना है, अथवा विराट पुरुषमें कल्पना करना है। इस सूक्तमें विश्वव्यापक आत्मका वर्णन करना मुख्य उद्देश्य है। तथापि समझमें आनेके लिये हमने ये सब बातें अपने अंदर देखनेका विचार किया, अब इसी ढंगसे ब्रह्मांड देहकी कल्पना करनी चाहिये।

जिस प्रकार प्राणीके देहमें प्राण हैं उसी प्रकार ब्रह्माण्ड देहमें विश्वव्यापक प्राण का महासमुद्र है। इसी महाप्राण समुद्रसे हम थोडासा प्राणका अंश लेते हैं। इस प्रकार अन्यान्य शक्तियां भी ब्रह्माण्ड देहमें बडी विशाल रूपसे हैं। दोनों स्थानोंमें शक्तियां एकही प्रकारकी हैं, परंतु अल्पत्व और महत्त्व का भेद है। इसीलिये अपने अंदरकी व्यवस्था देखनेसे बाह्य व्यवस्था जानी जा सकती हैं।

सारांश

पाठक इस सूक्तमें परमात्माकी सर्व व्यापक सत्ता देख सकते हैं। वही एक उपास्य देव है, वही सबका आधार है। वह सबके दुःख दूर करता है और सबको सुख देता है।

इसकी प्राप्ती मानस उपासनासे करनी चाहिये। इसको सब स्थानमें उपस्थित मानकर, इसको नमन करना चाहिये। हरएक सृष्टिसे अंतर्गत पदार्थमें इसका कार्य देखनेका अभ्यास करनेसे इसके विषयमें ज्ञान होने लगता है और इसके विषयमें श्रद्धा बढती जाती है।

इसके साथ प्राणशक्ति रहती है जो जगत्में किसी समय प्रकट होती है और किसी समय गुप्त छिपी रहती है। यह कहां प्रकट होती है और कहां छिपी रहती है, यह देखनेसे जगत्में चलनेवाले इसके कार्यकी कल्पना हो सकती है।

यह जैसा मेघोंकी बिजुलीमें प्रकाश रखता है उसी प्रकार नक्षत्रोंमें भी प्रकाश रखता है। प्रकाशकोंका भी यही प्रकाशक है, बडोंमें भी वह बडा है, सूक्ष्मोंसे भी यह सूक्ष्म है, इस प्रकार इसको जानकर सब भूतोंमें इसका अनुभव करके इसको नमन करना चाहिये। इसके सामने सिर झुकाना चाहिये।

सब जगत्में जो प्रेरणा, उत्साह और प्रेम हो रहा है, वह इसकी जीवन शक्तिसे ही है। यह जानकर सर्वत्र इसकी महिमा देखकर इसकी पूजा करनी चाहिये।

'मनन, नमन, सर्वत्र दर्शन' करनेके पश्चात् इसकी सेवा करनेके लिये उसके कार्यमें अपने आपको समर्पित करना चाहिये। 'सज्जन पालन, दुर्जन निर्दलन' रूप परमात्माके कर्ममें पूर्वोक्त रीतिके अनुसार अपने कर्तव्यका भाग आनंदसे करना ही उसकी भक्ति करना है और यह करनेके लिये 'दुःखितोंके दुःख दूर करनेके कार्य अपने सिर पर आनन्दसे लेने चाहिये।' ईशप्राप्तिका यह सीधा उपाय इस सूक्त द्वारा प्रकाशित हुआ है। पाठक इसका अधिक विचार करें।

● ● ●

आरोग्य-सूक्त ।

(३)

(ऋषिः - अङ्गिराः । देवता - भैषज्यं, आयुः, धन्वन्तरिः ।)

अदो यद॑वधाव॑त्यवत्कमधि पर्व॑तात् । तत्ते॑ कृणोमि भेषजं सुभे॑षजं यथास॑सि ॥१॥
आदङ्ग कुविदङ्ग शतं या भे॑षजानि॑ ते । तेषा॑मसि त्वमु॑त्तमम॑नास्रावम॑रोगणम् ॥२॥
नीचैः खनन्त्यसु॑रा अरुस्राणमिदं महत् । तदा॑स्रावस्य॑ भेषजं तदु रोग॑मनीनशत् ॥३॥
उपजीका उद्भ॑रन्ति समुद्रादधि॑ भेषजम् । तदा॑स्रावस्य॑ भेषजं तदु रोग॑मशीशमत् ॥४॥
अरुस्राणमिदं महत्पृ॑थिव्या अध्युद्भृतम् । तदा॑स्रावस्य॑ भेषजं तदु रोग॑मनीनशत् ॥५॥

अर्थ - **(अदः यत्)** वह जो **(अवत्-कं)** रक्षक है और जो **(पर्वतात् अधि अवधावति)** पर्वतके ऊपरसे नीचेकी ओर दौडता है । **(तत् ते)** वह तेरे लिये ऐसा **(भेषजं कृणोमि)** औषध करता हूं **(यथा सुभेषजं असति)** जिससे तेरा उत्तम औषध बन जावे ॥१॥

हे **(अंग अंग)** प्रिय! **(आत् कुवित्)** अब बहुत प्रकारसे **(या ते)** जो तेरेसे उत्पन्न होनेवाले **(शतं भिषजानि)** सैकडों औषधें हैं, **(तेषां)** उनमेंसे **(त्वं)** **(अनास्रावं)** घावको हटानेवाला और **(अ- रोगणं)** रोगको दूर करनेवाला **(उत्तमं असि)** उत्तम औषध है ॥२॥

(असु - राः) प्राणोंको बचानेवाले वैद्य **(इदं महत् अरूस् - स्राणं)** इस बडे व्रणको पकाकर भर देनेवाले औषधको **(नीचैः खनन्ति)** नीचेसे खोदते हैं । **(तत् आस्रावस्थ भेषजं)** वह घावका औषध है, **(तत् उ रोगं अनीनशत्)** वह रोग का नाश करता है ॥३॥

(उपजीकाः) जलमें काम करनेवाले **(समुद्रात् अधि)** समुद्रसे **(भेषजं उद्धरन्ति)** औषध ऊपर निकालकर लाते है, **(तत् आस्रावस्य भेषजं)** वह घावका औषध है, **(तत् रोगं अशीशमत्)** वह रोगका शमन करता है ॥४॥

(इदं अरूस् -स्राणं) यह फोडेको पकाकर भरनेवाला **(महत्)** बडा औषध **(पृथिव्याः अधि उद्धृतं)** भूमीके ऊपरसे निकालकर लाया है । **(तत् आस्रावस्य भेषजं)** वह घावका औषध है, **(तत् ऊ)** वह **(रोगं अनीनशत्)** रोगका नाश करता है ॥५॥

भावार्थ - एक औषध पर्वतके ऊपरसे नीचे लाया जाता है उससे उत्तम से उत्तम औषधी बनती है ॥१॥ उससे तो अनेकाअनेक औषधियां बनायी जाती है, परंतु घावको हटाने अर्थात् रक्तस्रावको ठीक करनेके काममें वह औषधि बहुत ही उपयोगी है ॥२॥ प्राणको बचानेवाले वैद्य लोग इस औषध को खोद खोद कर लाते हैं, उससे घावको ठीक करने का औषध बनाते हैं जिससे रोग दूर हो जाता है ॥३॥ जलमें काम करनेवाले भी समुद्रसे एक औषध ऊपर लाते हैं वह भी घावको ठीक कर देता है और रोगको शान्त कर देता है ॥४॥ वह पृथ्वीपरसे लाया हुआ औषध भी फोडेको ठीक करता है, घावको भर देता है और रोगका नाश करता है ॥५॥

शं नौ भवन्त्वप ओषधयः शिवाः ।
इन्द्रस्य वज्रो अप हन्तु रक्षस आराद्विसृष्टा इषवः पतन्तु रक्षसाम् ॥ ६ ॥

अर्थ - (आपः) जल और (ओषधयः) औषधियां (नः) हमारे लिये (**शिवाः शं भवन्तु**) शुभ और शांतिदायक हों। (**इन्द्रस्य वज्रः**) इन्द्रका शस्त्र (**रक्षसः अपहन्तु**) राक्षसोंका हनन करे। तथा (**रक्षसां विसृष्टाः इषवः**) राक्षसोंद्वारा छोडे हुए बाण हमसे (**आरात् पतन्तु**) दूर गिरें ॥६॥

जल और औषधियां हमारे लिये आरोग्य देनेवाली हों। हमारे क्षत्रियों के शस्त्र शत्रुओंको भगादेवे और शत्रुओंके हमपर फेंके हुए शस्त्र हम सबसे दूर गिरें ॥६॥

औषधि

इस सूक्तका 'असु+र' शब्द 'प्राण रक्षक' वैद्यका वाचक है न कि राक्षस का।

पर्वतके ऊपरसे, समुद्रके अंदरसे, तथा पृथ्वीके ऊपरसे अनेकानेक औषधियां लायी जाती है, और उन से सेकडों रोगोंपर दवाइयां बनायी जाती है। इन औषधोंसे मनुष्योंके घाव, व्रण तथा अन्यान्य रोग दूर होकर उनको उनको आरोग्य प्राप्त होता है। जल और औषधियोंसे इस प्रकार आरोग्य प्राप्त करके मनुष्योंका कल्याण हो सकता है।

इस सूक्तमें यदि किसी विशेष औषधका वर्णन होगा तो वह हमारे ध्यानमें नहीं आया है।

सुविज्ञ वैद्य इस सूक्तका विशेष विचार करें। इस समय इस सूक्तमें सामान्य वर्णन ही हमें दिखाई देता है।

शस्त्रोंका उपयोग

क्षत्रियोंके शस्त्र शत्रुओंपर ही गिरे अर्थात् आपसमें लडाई न हो, यह अंतिम मंत्र का उपदेश आपसमें एकता रखनेका महत्त्वपूर्ण उपदेश दे रहा है, वह ध्यानमें धरने योग्य है।

इस सूक्तके षष्ठ मंत्रमें 'हमारे शूर पुरुषका शस्त्र शत्रुपर गिरे, परंतु शत्रुके शस्त्र हम तक न पहुंच जांय' ऐसा कहा है, इससे अनुमान होता है कि यह सूक्त विशेष कर उन रक्तस्रावोंके दूरीकरणके लिये है कि जो रक्तस्राव युद्धमें शस्त्रोंके आघातसे होते हैं। युद्ध करनेके समय जो एक दूसरेसे संघर्ष होता है और उसमें चोट आदि लगने तथा शस्त्रोंसे घाव होनेसे जो व्रण आदि होते है, उनसे जैसा रक्तस्राव होता है, उसी प्रकार सूजन होना और फोडे उत्पन्न होना भी संभव है। इस प्रकारके कष्टोंसे बचानेके उपाय बतानेके लिये यह सूक्त है। परंतु ऐसी पीडा दूर करने के लिये कौनसा उपाय करना अथवा किस युक्तिसे आरोग्य प्राप्त करना इत्यादि बातोंका पता इस सूक्तसे नहीं लगता है। इस लिये इस समय हम सूक्तका अधिक विचार करनेमें असमर्थ है।

●●●

जङ्गिड-मणि ।

(४)

(ऋषिः अथर्वा । देवता-चन्द्रमाः, जङ्गिडः)

दीर्घायुत्वाय बृहते रणायारिष्यन्तो दक्षमाणाः सदैव ।
मणिं विष्कन्धदूषणं जङ्गिडं बिभृमो वयम् ॥ १ ॥
जङ्गिडो जम्भाद्विशराद्विष्कन्धादभिशोचनात् ।
मणिः सहस्रवीर्यः परि णः पातु विश्वतः ॥ २ ॥
अयं विष्कन्धं सहतेऽयं बाधते अत्रिणः । अयं नो विश्वभेषजो जङ्गिडः पात्वंहसः ॥ ३ ॥
देवैर्दत्तेन मणिना जङ्गिडेन मयोभुवा । विष्कन्धं सर्वा रक्षांसि व्यायामे सहामहे ॥ ४ ॥

अर्थ - **(दीर्घायुत्वाय)** दीर्घ आयुकी प्राप्तिके लिये तथा **(बृहते रणाय)** बडे आनंद के लिये **(वि-स्कन्ध दूषणं)** शोषक रोग को दूर करनेवाले **(जङ्गिगडं मणिं)** जंगिड मणिको **(ण -रिष्यन्तः दक्षमाणाः वयं)** न सडनेवाले परंतु बलको बढानेवाले हम सब **(बिभृमः)** धारण करते है ॥१॥

यह **(सहस्र-वीर्यः)** हजारों सामर्थ्योंसे युक्त **(जङ्गिडः मणिः)** जंगिड मणि **(जम्भारात्)** जमुहाई बढानेवाले रोगसे **(वि-शरात्)** शरीर क्षीण करनेवाले रोगसे **(वि-स्कन्धात्)** शरीरको शुष्क करनेवाले शोषक रोगसे **(अभि-शोचनात्)** रोनेकी ओर प्रवृत्ति करनेवाले रोगसे **(विश्वतः)** सब प्रकारसे **(नः परि पातु)** हम सबका रक्षण करे ॥२॥

(अयं) यह जंगिड मणि **(विस्कन्धं सहते)** शोषक रोगसे बचाता है, **(अयं)** यह मणि **(अत्रिणः बाधते)** भक्षक भस्म रोगसे बचाता है । **(अयं जंगिडः)** यह जंगिड मणि **(विश्व-भेषजः)** सर्व औषधियोंका रस ही है, वह **(न अंहसः पातु)** हमें पापसे बचावे ॥३॥

(देवैः दत्तेन) दिव्य मनुष्यों द्वारा दिये हुए **(मयोभुवा)** सुख देनेवाले **(जंगिडेन मणिना)** जंगिड मणिसे **(विष्कन्धं)** शोषक रोगको और **(सर्वा रक्षांसि)** सब रोगजंतुओंको **(व्यायामें)** संघर्ष में **(सहामहे)** दबा सकते हैं ॥४॥

भावार्थ - दीर्घ आयुष्य प्राप्त करनेके लिये और नीरोगताका बडा आनंद अनुभव करनेके लिये जंगिड मणिको शरीर पर हम धारण करते है, इससे हमारी क्षीणता नहीं होगी और हमारा बल भी बढेगा, क्योंकि यह मणि शुष्कता अर्थात् शोषक रोगको दूर करता है ॥१॥

यह मणि साधारणतः हजारों सामर्थ्योंसे युक्त है, परंतु विशेष कर जमुदाई बढानेवाले, क्षीणता करने वाले, शरीरको सुखानेवाले, विना कारण आंखोंमें रोनेके आंसू लानेवाले रोगोंसे यह मणि बचाता है ॥२॥

यह मणि शोषक रोगको दूर करता है और जिसमें बहुत अन्न खाया जाता है, परंतु शरीर कृश होता रहता है, इस प्रकार के भस्म रोगसे भी बचाता है । इस मणिमें अनेक औषधियोंके गुण है, इस लिये यह हमें पापवृत्तिसे बचावे ॥३॥ थोर पुरुषोंसे प्राप्त हुआ और सुख देनेवाला यह जंगिड मणि शोषक रोग और रोग बीज भूत रोगजन्तुओंसे हमारा बचाव करे ॥४॥

शणश्च मा जङ्गिडश्च विष्कन्धादभि रक्षताम्। अरण्यादन्य आभृतः कृष्या अन्यो रसेभ्यः ॥५॥
कृत्यादूषिरयं मणिरथो अरातिदूषिः। अथो सहस्वाञ्जङ्गिडः प्र ण आयूंषि तारिषत् ॥ ६ ॥

अर्थ - **(शणः च)** सण और **(जंगिडः च)** जंगिड ये दोनों **(विष्कंधात्)** शोषक रोगसे **(मा अभिरक्षताम्)** मेरा बचाव करें । इन में से **(अन्यः)** एक **(अरण्यात आमृतः)** वन से लाया है और **(अन्यः)** एक **(अरण्यात् आभृतः)** वन से लाया है और **(अन्यः)** दूसरा **(कृष्याः रसेभ्यः)** खेतीसे उत्पन्न हुए रसोंसे बनाया है ॥५॥

(अयं मणिः) यह मणि **(कृत्या-दूषिः)** हिंसासे बचानेवाला है **(अथो)** और **(अ-राति-दूषिः)** शत्रुभूत रोगों को दूर करनेवाला है **(अयो)** ऐसा यह **(सहस्वान् जंगिडः)** बलवान जंगिड मणि **(नः आयूंषि तारिषत्)** हमारे आयुष्योंको बढावे ॥६॥

भावार्थ - सण और जंगिड ये दोनों शोषक रोगसे हमारा बचाव करें । इनमेंसे एक वनसे प्राप्त होता है और दूसरा खेतीसे उत्पन्न हुए औषधियोंके रसोंसे बनाया जाता है ॥५॥

यह मणि नाशसे बचाता है और आरोग्यके शत्रुरूपी रोगोंसे दूर रखता है । यह प्रभावशाली मणि हमारा आयुष्य बढावे ॥६॥

सण और जंगिड ।

इस सूक्तमें 'सण' और 'जंगिड' इन दो वस्तुओंका उल्लेख है (मं. ५) । शण अथवा सण यह प्रसिद्ध पदार्थ है, भाषामें भी इसका यही नाम है । सण के विषयमें राजवल्लभ नामक वैद्यक ग्रंथमें यह वचन है -

१. तत्पुष्पं रक्तपित्ते । हितं मलरोधकं च ।
बीजं शोणितशुद्धिकरम् ॥राजव ३ प.
२. अम्लः कषायो मलगर्भास्रपातनः वान्तिकृत्
वातकफघ्नश्च ॥राजनिघंटु व. ४

"(१) शणका फूल रक्तपित रोगमें हितकारक है, मलरोधक है और उसका बीज रक्तकी शुद्धि करनेवाला है । (२) शणके ये गुण है - खट्टा, कषाय रुचीवाला मल-गर्भ-रक्तका स्राव करानेवाला, वमन करनेवाला, तथा वात रोग और कफ रोगको दूर करनेवाला है ।"

वैद्य लोग इसका अधिक विचार करें । यह सण (कृष्याः रसेभ्यः आभृतः) खेतीसे उत्पन्न होनेवाले रसोंसे बना है (मं. ५) । यह वर्णन सण कौन पदार्थ है, इसका निश्चय कराता है । सण करके जो कपडा मिलता है उसीका धागा या कपडा या रस्सी यहां अपेक्षित है । रस्सी, धागा, या कपडा हो, हमारे ख्यालमें यहां सणका धागा अपेक्षित है, जो विविध औषधियोंके (रसेभ्यः ॥मंत्र ५) रसोंमें भिगोकर बनाया जाता है । इस सण का नाम 'त्वक्सार' है, इसका अर्थ होता है (त्वक् + सार) त्वचामें जिसका सत रहता है, इसलिये इसकी त्वचाका धागा बनाकर, उसको विविध औषधियोंमें भिगोकर हाथपर, कमरमें अथवा गलेमे यह धागा बांधा जाता है । व्यायाम करनेके समय जब पसीना जाता है, तब उस पसीनेसे उक्त सणके धागेके औषधिके रस शरीरपर लगते है और शरीर पर इष्ट प्रभाव करते है ।

इस सणके धागेपर कौन कौनसे रस लगाये जाते हैं और किस प्रकार यह तैयार किया जाता है, इसका विचार सुयोग्य वैद्योंको करना उचित है । क्योंकि इस संबंधमें इस सूक्तमें कुछ भी कहा नही है ।

शणः च मा जंगिडश्च अभिरक्षताम् । मं. ५)

'शण और जंगिडमणि मेरा एकदम रक्षण करें' यह पंचम मंत्रका कथन है, इस कथनसे स्पष्ट हो जाता है कि, शणके धागेमें जंगिडमणिको ग्रंथित करके गलेमें या शरीरपर धारण करनेका अभिप्राय इस सूक्तमें स्पष्ट है । उक्त प्रकार औषधिरसोंसे बनाया सणका धागा भी स्वयं गुणकारी है, और जंगिडमणि भी स्वयं गुणकारी है, तथा दोनो इकट्ठे हो गये, तो भी उन दोनोंका मिलकर विशेष लाभ होना संभव है । जबतक विशेष खोज नही हुई है, तबतक

हमं यही यहां समझेंगे कि, सणके सूत्रमें जंगिड मणि रखकर शरीर पर धारण करनेसे मंत्रोक्त लाभ प्राप्त हो सकते हैं।

जंगिड मणिके लाभ।

१. **दीर्घायुत्वं** - आयुष्य दीर्घ होता है। (मं. १)
आयूंषि तारिषत् - आयुष्य बढाता है। (मं. ६)

२. **महत् रणं (रमणीयं)** - बडा आनंद, बडा उत्साह रहता है, जो आनंद नीरोगतासे प्राप्त होता है वह इससेमिलता है। (मं. १)

३. **अरिष्यन्तः** - अपमृत्युसे अथवा रोगसे नष्ट न होना। (मं. १)

४ **दक्षमाणः** - (दक्ष) बल बढाना, बलवान् होना। (मं. १)

५ **विष्कंधदूषणः** - शोषक रोगको दूर करना। जिस रोगसे मनुष्य प्रतिदिन कृश होता है उस रोगकी निवृत्ति इससे हो जाती है। (मं. १)

६ **सहस्त्रवीर्यः** - इस मणिमें सहस्त्रों सामर्थ्य हैं। (मं. २)

७ **विश्व -भेषजः** - इसमें सब औषधियां है। (मं. ३)

८ **मयोभूः** - सुख देता है। (मं. ४)

९ **कृत्यादूषिः** - अपने नाशसे अथवा अपनी हिंसा होनेसे बचानेवाला यह मणि है। (मं. ६)

१० **अराति - दूषिः** - आरोग्यके शत्रुभूत जितने रोग हैं उनको दूर करनेवाला है। (मं. ६)

११ **सहस्वान्** - बलवान् है अर्थात् शरीरका बल बढाता है। (मं. ६)

इस जङ्गिड मणिसे निम्नलिखित रोग दूर होनेका उल्लेख-इस सूक्तमें है वह भी यहां इस स्थानपर देखने योग्य है -

१२ **जम्भारात् पातु** - जमुहाई जिससे बढती है वह शरीरका दोष इससे दूर होता है। (मं. २)

१३ **वि-शरात् पातु** - जिस रोगसे शरीर विशेष क्षीण होता है, उस रोगसे यह मणि बचाता है। (मं. २)

१४ **वि-ष्कंधात् पातु** - जिससे शरीर सूखता जाता है उस रोगसे यह बचाता है। (मं. २)

१५ **अभि-शोचनात्** - जिससे रोनेकी प्रवृत्ति हो जाती है उस बीमारीसे यह बचाता हैं। (मं. २)

१६ **अत्रिणः बाधते** - (अद्-त्रिन्) बहुत अन्न खानेकी आवश्यकता जिस रोग में होती है परंतु बहुत खानेपर भी शरीर कृश होता रहता है, उस भस्म रोगकी निवृत्ति इससे होती है। (मं. ३)

१७ **अंहसः पातु** - पापवृत्तिसे बचाता है, अथवा हीन भावना मनसे हटाता है। (मं. ३)

१८ **रक्षांसि सहामहे** - रोगबीज तथा रोगोत्पादक कृमियोंको रक्षस् (क्षरः) कहते है क्योंकि इनसे शरीरके पोषक सप्त धातुओंका (क्षरण) नाश होता रहता है। इन रोगबीजों या रोग जन्तुओंका नाश इससे होता है। (मं. ४)

ये सब गुण इस जङ्गिड मणिमें है। यहां रक्षस् शब्दके विषयमें थोडासा कहना है। (पाठक कृपा करके स्वाध्याय मंडल द्वारा प्रकाशित 'वेदमें रोग जन्तु शास्त्र' नामक पुस्तक देखें, इस पुस्तकमें बताया है कि ये राक्षस अतिसूक्ष्म कृमि होते है, जो चर्मपर चिपकते है तथापि आंखसे दिखाई नहीं देते। ये रात्रीमें प्रबल होते हैं। इस वर्णन के पढनेसे पाठकोंका निश्चय होगा कि रोग बीजोंका या रोगजन्तुओंका नाम राक्षस है। इसीको रक्षस् कहते है। क्षर् (क्षीण होना) इस धातुसे अक्षरकी उलट पुलट होकर रक्षस् शब्द बनता है, फैलनेवाले रोगोंके रोगजंतुओंको यह मणि नाश करता है यह यहां भाव है, अर्थात् यह (Highly disinfectant) उत्तम प्रकारका रोगकी छूतके दोष को दूर करनेवाला है यह बात इस विवरणसे वाचकोंके मनमें आ चुकी ही होगी।

यह जंगिड मणि किस वनस्पतिका बनाया जाता है। यह बडा प्रयत्न करने पर भी पता नहीं चला। तथापि जो गुण उक्त मंत्रोंमे बताये है, उनमें से बहुतसे गुण वचा वनस्पतिके गुण धर्मोंके साथ मिलते जुलते हैं, इस लिये हमारा विचार ऐसा होता है कि यह मणि वचाका होना बहुत संभवनीय है,स देखिये वचाके गुण -

१ वचागुणाः - तीक्ष्णा कटुः उष्णा कफामग्रंथिशोफघ्नी
वातज्वरातिसारघ्नी वान्तिकृत् उन्मादभूतघ्नी च । राजनिघण्टु व. ६
२ वचायुष्य वातकफतृष्णाघ्नी स्मृतिवर्धिनी ।
३ वचापर्यायाः 'मङ्गल्या । विजया । इक्षोघ्नी । भद्रा ।'

(१) वचाके गुण - तीक्ष्णता, कटुता, उष्णता से युक्त, कफ आम ग्रंथि और सूजन का नाश करनेवाली । वात ज्वर अतिसार का नाश करनेवाली । वमन करानेवाली । उन्माद और भूतरोग का नाश करनेवाली यह वचा है ।

(२) वचासे आयुष्य बढता है, वात - कफ-तृष्णाका नाश करती है । स्मरण शक्तिकी वृद्धि करती है ।

(३) वचाके पर्याय शब्दोंका अर्थ - (मंगल्या) मंगल करनेवाली, (विजया) विजय करनेवाली, (रक्षो-घ्नी) राक्षसोंका नाश करनेवाली, पूर्वोक्त रोगात्पादक कृमियोंका नाश करनेवाली, (भद्रा) कल्याण करनेवाली ।'

यह वचाका वैद्यकग्रंथोक्त वर्णन स्पष्ट बता रहा है कि इसकी जंगिडसे गुण धर्मोंमें समानता है । पाठक पूर्वोक्त मंत्रोंके शब्दोंके साथ इसकी तुलना करेंगे, तो पता लग जायगा कि इनमे गुणधर्म समान है । इस लिये हमारा विचार हुआ है, कि जंगिड मणि संभवतः इसका ही बनाया जाता होगा । यह समानता देखिये -

वैद्यक ग्रंथ के शब्द	(वचाके गुण)	इस सूक्तके शब्द
१ आयुष्या	-	१ दीर्घायुत्वात (मं. १) आयूंषि तारिवत् (मं. ६)
२ रक्षोघ्नी । भूतघ्नी	-	२ रक्षांसि सहामहे (मं. ४)
३ वातघ्नी, उन्मादघ्नी	-	३ जम्भात् पातु (मं. २) अभिशोचनात् पातु । (मं. २)
४ मंगल्या, भद्रा	-	४ अरिष्यन्त : (मं. २)
स्मृतिवर्धनी ।	-	दक्षमाणाः । सहस्रवीर्यः (मं. २)
५ विजया	-	५ अरातिदूषिः (मं. ६)
६ अतिसारघ्नी	-	६ विशरात् (वि-सारात्) पातु (मं. २)
७ शोफघ्नी, ज्वरघ्नी कफघ्नी, ग्रंथिघ्नी	-	७ विश्वभेषजः (मं. ३)

इस प्रकार पाठक देखेंगे तो उनको पता लग जायगा, कि वैद्यक ग्रन्थोक्त वचाके गुणधर्म और जंगिडमणि के गुणधर्म प्रायः मिलते जुलते है । इससे अनुमान होता है, कि संभवतः जंगिड मणि वचा से ही बनाया जाता होगा। केवल गुण साधर्म्यसे औषधि प्रकरणमें औषधियां नहीं बती जाती, अथवा नहीं बती जानी चाहिये, यह हमें पूरा पता है, तथापि किसी औषधिके अभावमें उस स्थानपर जो औषधि ली जाती है वह गुणसाधर्म्य देख कर ही ली जाती है ।

चरकादि ग्रंथोंमें जहा बडे बडे आयुष्य वर्धक और बलवर्धक रसायन प्रयोग लिखे है, वहां सोमादि दिव्य औषधियोंके अभावमें इसी प्रकार गुण साधर्म्यसे अन्य औषधि लेने का विधान किया है । इसलिये यदि जंगिड मणिका ठीक पता नही चलता, तो इस मणिके गुण धर्मोंके समान गुणधर्मवाली वनस्पतिका मणि बनाना और उसका धारण करना बहुत अयोग्य नही होगा । तथापि हम यह कार्य सुयोग्य वैद्योंपर ही छोड देते हैं, तथा इस विषयमें अधिक खोज होनी अत्यंत आवश्यक है यह भी यहां स्पष्ट कह देते हैं । सुयोग्य वैद्य इस महत्त्वपूर्ण विषयकी खोज अवश्य करें ।

मणि धारण ।

यहां कई पाठक कहेंगे कि यह क्या विश्वासकी बात है, कि केवल मणि धारणसे रोग मुक्त होनेका ही विधान किया जा रहा है ? क्या इससे तावीज, कवच, धागा, दोरा, आदिकी अंधविश्वास की बाते सिद्ध नहीं होगी ? इस प्रकारकी शंकाएं यहां उपस्थित होना संभव है, इसलिये इस बातका यहां विचार करना आवश्यक है -

इस सूक्तमें जो 'जंगिडमणि' का वर्णन है वह तावीज या धागा दोरा या जादूकी चीज नहीं है। यह वास्तविक औषधि पदार्थ है। इसके पूर्वके तृतीय सूक्त में पर्वत, और पृथ्वीके ऊपर होने तथा समुद्रके तलेमें उत्पन्न होनेवाली औषधि वनस्पतियों का वर्णन असंदिग्ध रीतिसे आया है, इस औषधिवनस्पतियोंकी अनुवृत्ति इस सूक्तमें है। ये दोनों सूक्त साथ साथ है और दोनोंका रोगनिवारण और आरोग्य साधन यह विषय समान ही है। इसलिये यह औषधीका मणि है यह बात स्पष्ट है।

मणिपर संस्कार ।

स्वयं यह मणि वनस्पतिका है अर्थात् वनस्पतिकी लकडीये यह बनता है तथा यह जिस धागेमें बांधा जाता है वह भी विशेष गुणकारी वनस्पतिका धागा होता है, यह बात पूर्व स्थलमें बतायी है। विशेष गुणकारी धागा और विशेष गुणकारी मणि इनके मिलापसे शरीरपर विशेष परिणाम होना संभव है। इसके नंतर -

अरण्यादन्य आभृतः ।
कृष्या अन्यो रसेभ्य : ॥(मंत्र ५)

'एक अरण्यकी वनस्पतिसे बनता है और दूसरा कृषिसे उत्पन्न हुए वनस्पतियोंके रसोंसे भरा जाता है।' यह पंचम मंत्रका विधान विशेष ही मनन करने योग्य है। इसमें 'आ-भृतः' शब्द है, इसका धात्वर्थ ' (आ) चारों ओर ये (भृतः) पूर्ण किया, चारों ओरसे भर दिया है, ' ऐसा होता है। अर्थात् मणि और धागा अनेक वनस्पतियोंके रसोंमें भिगोकर सुखानेसे वे सब रस उस धागे और मणिमें भर जाते है अथवा जम जाते है और इन सब रसोंका परिणाम शरीरपर हो जाता है। इसलिये जंगिडमणिका धारण यह एक वैद्य शास्त्रका महत्त्वपूर्ण और सशास्त्र विषय है इसमें अन्धविश्वासकी बात नहीं है।

आजकल जो तावीज, कवच, धागा दोरा, जादूका पदार्थ है वह केवल विश्र्वास की चीज है अथवा भावनासे उसकी कल्पना है। वैसा जंगिड मणि नहीं है। इस में औषधियोंका संबन्ध विशेष रीतिसे शरीरके साथ होता है। यद्यपि शरीरके अंदर औषधि नही सेवन की जाती तथापि शरीरके ऊपरके स्पर्शसे लाभ पहुंचाता है।

हमने यह बातें देखी है, कि तमाखूके पत्ते पेटपर बांध देनेसे वमन होता है। (इसी प्रकार हरीतकी (हिरड) की एक तीव्र जाती होती है, उस को हाथमें धरनेसे दस्त होते हैं, ऐसा कहते हैं, परंतु यह बात अभीतक हमने देखी नहीं है।) इसके अतिरिक्त हमने अनुभव की हुई बातें भी यहां निर्दिष्ट करना योग्य है, कोल्हापुर रियासतके अंदर बावडा (गगन बावडा) नामक एक छोटी रियासत है। वहां के श्री. नरेश के पास वनस्पतिके जडके मणि मिलते है, इस मणिके धारणसे दांतकी पीडा दूर होती है। इस विषयका अनुभव हमने कई वार अपने ऊपर लिया है और अपने परिचितों पर भी लिया है। यह मणि किसी वनस्पतिकी जडका बनाया जाता है, परंतु उस वनस्पतिका नाम अभीतक हमें पता नही है। इसके अतिरिक्त प्रवाल, सुवर्ण, ताम्र, विविध रत्न आदिके धारणसे बालकोंके शरीरोंपर विशेष प्रभाव होता है यह भी देखा है। इसलिये यदि रसी और मणि उत्तम वनस्पतियोंसे बनाकर उनको विशेष रसोंसे सुसंस्कृत करके धारण किये जाय तो रोगोंका दूर होना शास्त्रदृष्टिसे सुसङ्गत प्रतीत होता है।

वचा के विषयमें हमने कई वैद्योंकी संमती ली है, उनका कहना है, कि वचाका मणि उक्त प्रकार शरीरपर धारण किया जाय तो वह स्पर्शजन्य रोग (छूत से फैलनेवाले रोग) की बाधा से दूर रख सकता है, अर्थात् जो धारण करेगा उसको उक्त रोग होनेकी संभावना कम है। इस बातका हमने कई वार प्रयोग भी किया है और

लाभ ही प्रतीत हुआ है ।

इसी प्रकार ग्रंथिक सन्निपात रोगके दिनोंमें 'इग्नीशिया' नामक वनस्पतिके बीज धारण करनेसे कुछ लाभ होनेकी बात कई डाक्तर कहते हैं, तथापि हमें इसका विशेष अनुभव नही है । परंतु मुंबईमें हमने देखा था कि उक्त रोगके प्रादुर्भावमें इसका धारण कई लोग करते थे ।

इस थोडेसे अनुभवसे हम कह सकते हैं, कि जंगिड मणिका धारण भी एक शास्त्रीय महत्त्वका विषय है और इसमें कोई अंधविश्वासकी बात नहीं है । अब विशेष खोज करनेवालोंका यह विषय है कि वे जंगिडमणिकी ठीक सिद्धता करने की रीतिकी खोज करें और इसका उपयोग करके आरोग्य प्राप्त करनेका निश्चित उपाय सबके लिये सुप्राप्य करें । वैद्यशास्त्रोंके ग्रंथ देखनेसे बहुत कुछ पता लगना संभव है ।

खोजकी दिशा ।

यहां खोज करनेकी दिशाका भी थोडासा वर्णन करना अयोग्य न होगा । श्री. सायनाचार्यजीने अपने भाष्यमें लिखा है, कि काशी प्रांतमें जंगिड वृक्ष है इस वृक्षके विषयमें काशी प्रांतके लोग खोज करें और जो कुछ अनुभव हो वह प्रकाशित करें ।

वचा उग्रगंधी वनस्पति या चीज है । इसकी गंधसे अर्थात् उग्रवाससे जो इसके परमाणु हवामें फैल जाते है, वे रोगजन्तुओंका नाश करते है, तथा रोगके विषको भी दूर कर देते हैं । यही कारण है कि वचा का शरीरपर धारण करनेसे छूत से फैलनेवाले रोग दूर होते हैं, या उनकी बाधा नहीं होती है । प्रायः छूतसे फैलनेवाले रोग सूक्ष्म जंतुओं द्वारा फैलते है, वे रोगजंतु वचा की उग्रगंधिके कारण तत्काल मर जाते है । ऐसे उग्रगंधी पदार्थ अजवायन, पूदीना, लसूण, कपूर, पेपरमींट आदि अनेक है । आर्य वैद्यक शास्त्रमें इन पदार्थोंका परिगणन किया है और इनको कृमिनाशक भी कहा है । यदि खोज करनेवाले पूर्वोक्त रोगनाशक वनस्पतिकी जड या काष्ठके मणिपर सुयोग्य उग्रगंधीवाले अनेक रसोंसे योग्य संस्कार करेंगे, तो इस प्रयत्नसे जंगिडमणि अथवा तत्सदृश मणि अब भी प्राप्त होना संभवनीय है। इसलिये हम सुयोग्य वैद्योंको इस विषयकी खोज करनेके लिये सानुरोध प्रार्थना करते हैं।

जंगिड मणिसे दीर्घ आयुष्य ।

प्रथम मंत्रके प्रारंभसे ही 'जंगिडमणिसे दीर्घायुष्य प्राप्त होनेकी बात' कही है . यह दीर्घायुष्य प्राप्ति किस प्रकार होती है, यह बात यहां विचार करके देखनी आवश्यक है । इस विचार के लिये प्रथम आयुष्य की अल्पता क्यों होती है यह देखिये ।

रोग-आधि और व्याध-यह मुख्य कारण है जिससे आयुष्य क्षीण होता है । जंगिडमणि रोगोत्पादक विषों और रोगवर्धक जन्तुओंको दूर करता है अथवा नाश करता है, इससे नीरोगता प्राप्त होने द्वारा जो स्वास्थ्य प्राप्त होता है वह आयुष्य वर्धन करता है ।

कई लोग समझते है, कि आयुष्यकी वृद्धि नही होती है । परंतु वेदमें सेकडों स्थानोंपर दीर्घ आयुष्यके उपाय कहे हैं, इसलिये वैदिक दृष्टिकोणसे आयुष्यकी वृद्धि होनेके विषयमें कोई संदेह नहीं है । यदि दीर्घायुष्य होता है वा नहीं, इस विषयमें हम आर्य वैद्यक की साक्षी देखेंगे तो हमें वह साक्षी अनुकूल ही होगी, क्यों कि आयुष्य वर्धन के कई रसायन प्रयोग वैद्यशास्त्रमें कहे है । इसलिये आर्ष ग्रंथोंकी संमति आयुष्य की वृद्धि होती है इस विषयमें निश्चित है । इसलिये जो सर्व साधारण जनताका विचार है, कि आयुष्य वर्धन नही होता वह अशुध्द है और वैसा विचार वैदिक धर्मियोंको मनमें रखनेकी आवश्यकता नहीं है ।

जंगिडमणि (Disinfectant) स्पर्शजन्य दोषको हटानेवाला होनेके कारण यदि वह शरीरपर धारण किया जाय, तो उससे रोग दूर होनेमें शंका ही नहीं हो सकती और इस प्रकार यदि नीरोगता की सिद्धता हुई और आयुष्य वर्धक अन्य ब्रह्मचर्यादि वैदिक उपायोंका अवलंबन किया तो निःसंदेह आयुष्य वर्धन होगा । इसलिये पाठक इस बातका विशेष मनन करें ।

बडा रण ।

प्रथम मंत्रमें 'महते रणाय' शब्द हैं । इसमें जो 'रण' शब्द है उसका वास्तविक अर्थ रमणीयता शोभा इत्यादि होता है। यह अर्थ पूर्व स्थानमें दिया ही है । परंतु कईयोंके मतसे यहांके रण शब्दका अर्थ युद्ध है । इसलिये 'महत् रण' शब्द का अर्थ 'बडा युद्ध' है । यह अर्थ लेनेसे प्रथम मंत्रके इस भाग का अर्थ निम्नलिखित होता है ।

महते रणाय जङ्गिडं वयं बिभृमः ॥ (मं. १)

'बडे युद्धके लिए हम जङ्गिड मणिका धारण करते है ।' अर्थात् बडे युद्धमें हमारा विजय हो इसलिये हम जङ्गिड मणिका धारण करते हैं । जङ्गिड मणिके धारण से हमारे शरीरमें ऐसा बल बढेगा, कि जिससे हम उस बडे युध्दमें विजयी बनेंगे। यह युद्ध कौनसा है ? यह युद्ध अपना जीवनका ही है । मनुष्यका जीवन एक बडा भारी युद्ध है। शताब्दीतक चलनेवाला यह युद्ध है । सौ वर्ष इस युध्दमें व्यतीत होंगे । इसलिये यह साधारण युद्ध नहीं है । शरीर क्षेत्रमें जो कार्य आत्मा द्वारा चल रहा है, उसमें विविध रोग विघ्न डालते हैं और उनके साथ हमारा युध्द चल रहा है । अपना आरोग्य स्थापित करेनेसे ही इस युध्दमें हमें विजय प्राप्त होना है । जङ्गिड मणिसे रोगनिवृत्तिद्वारा आरोग्य प्राप्त होता है इस हेतुसे यह मणि इस बडे युद्धमें भी हमें सहायक है, ऐसा इस मंत्रमें जो कहा है वह योग्यही है।

बलवर्धन ।

इस प्रथम मंत्रमें और दो शब्द बडे महत्त्वपूर्ण हैं । 'अ-रिष्यन्तः । दक्षमाणाः' इन दो शब्दोंका क्रमशः अर्थ 'अहिंसित होते हुए, बलिष्ठ होनेवाले' यह है । रोगादिके हमलोंके कारण अथवा अन्य दुष्ट शत्रुओंके आक्रमण के कारण हम (अरिष्यन्तः) हिंसित न हों अर्थात् हम क्षीण दुःखी त्रस्त अथवा नष्ट न हों, यह प्रथम पद का अर्थ है । परंतु थोडासा विचार करने पर पाठकोंके मनमें यह बात स्पष्टताके साथ आजायगी कि केवल क्षीण न होने अथवा नष्ट न होनेसे ही अर्थात् केवल जीवन धारण करनेसे ही जगत् में कार्य चलना और विजय प्राप्त होना अशक्य है । विजय प्राप्त करने के लिये यह निषेधात्मक गुण विशेष सहायक नहीं होगा । इस कार्य के लिये विधेयात्मक गुण अवश्य चाहिऐ। यह गुण (दक्षमाणाः) बलवान् इस शब्दद्वारा बताया है । इसका अर्थ बलवान होना है । पाठक थोडासा विचार करेंगे तो उनके ध्यानमें यह बात आजायगी कि -

बल और विजय ।

इस गुणकी बडी आवश्यकता है । रोग नहीं हुए, अशक्त न हुआ, नष्ट नहीं हुआ तो भी कार्य नहीं चलेगा, विजयकी इच्छा है तो अपना बल सवर्ल दिशाओंसे बढानेका यत्न होना आवश्यक है । जितना बल बढेगा उतना विजय निश्चयसे प्राप्त होनेकी संभावना अधिक है । पाठक इन दो शब्दोंका परस्पर महत्त्व पूर्ण संबंध देखे और वेदकी शब्द योजनाकी गंभीरता अनुभव करें ।

दूषण ।

इस सूक्तमें 'दूषण, दूषि' इन शब्दोंका प्रयोग विलक्षण अर्थमें हुआ है । देखिये -

विष्कन्ध दूषण - विष्कन्धको बिगाडनेवाला

कृत्या दूषि - कृत्याको दोष लगानेवाला

अराति दूषि - अराति को दोष लगानेवाला

पाठक सूक्ष्म दृष्टिसे देखेंगे तो उनको इस शब्द प्रयोगमें यह बात स्पष्ट दिखाई देगी, कि 'शत्रुमें दोष उत्पन्न करना' यहां सूचित किया है । कई कहते हैं कि शत्रुको मारो काटो या शत्रुका नाश करो । वेदमें भी शत्रुका नाश करनेका उपदेश कईवार किया है । परंतु यहां दूसरी बातका उपदेश शत्रुको दूर करनेके विषयमें किया है। शत्रुमें दोष उत्पन्न करना, शत्रुमें हीनता उत्पन्न करना, शत्रुकी कार्यवाही में दोष उत्पन्न करना । जिस समय शत्रुका

शीघ्र नाश नही होता है उस समय अनेक उपायोंसे शत्रुके अंदर दोषोंको बढानेसे शत्रुका बल घटता जाता है और अपना जल बढता जाता है। यह जितना व्यक्तिगत रोगोंके विषयमें सत्य है उतनाही सामाजिक और राष्ट्रीय शत्रुओंके विषयमें भी सत्य है, शत्रुमें दोष उत्पन्न करनेसे थोडेसे प्रयत्नसे शत्रुका पराभव होता है और अपने लिये विजय प्राप्त होता है।

यह मणि शरीरपर धारण करनेसे शरीरके जो रोगादि शत्रु हैं उनकी शक्तिमें दोष उत्पन्न होता है, इससे उन शुत्रओंकी शक्ति क्षीण होती जाती है और अपना बल बढता जाता है।

यह शरीरके क्षेत्रका उपदेश पाठक राष्ट्रके क्षेत्रमें देखेंगे तो उनको राजनीतिके शत्रुदमन विषयक एक बडे सिद्धांत का ज्ञान हो सकता है।

अत्रि।

वेद मंत्रोंमें 'अत्रि' शब्द विभिन्न अर्थोंमें प्रयुक्त हुआ है। कई स्थान पर इसका अर्थ है ऋ षि, कई स्थानपर राक्षस और इस सूक्तमें यह एक रोग विशेषका नाम है। इतने भिन्न अर्थोंमें इसका उपयोग होनेसे इसके विषयमें पाठकोंके मनमे संदेह होना संभव है, इसलिये इस विषयमें थोडासा लिखना आवश्यक है।

'अद्' (खाना) इस धातुसे यह शब्द बनता है इसलिये इसका अर्थ 'भक्षक' है। दूसरा (अत्' (भ्रमण करना) इस धातुसे बनता है, इस समय इसका अर्त भ्रमण करनेवालाहोता है। पहिला अर्त हमने इससे पूर्व दिया है। यहां यह अत्रि शब्द रोगवाचक होनेसे भक्षक रोग अथवा भस्म रोग ऐसा किया है, जिसमें रोगी अन्न बहुत खाता है परंतु कृश होता जाता है। दूसरा रोग अत्रि शब्द 'भ्रमण करनेवाला' यह अर्थ बताता है, यह अर्थ रोगवाचक होनेकी अवस्थामें पागल का वाचक हो सकता है। मूर्ख मनुष्य जो मस्तिष्क बिगड जानेसे पागल हो जाता है, कारण के विना भी वह भटकता रहता है इसलिये इसका वाचक यह शब्द हो सकता है। इससे यह भी सिद्ध होगा कि यह जंगिडमणि मस्तिष्क बिगड जानेके रोगमें भी हितकारी होगा। परंतु पाठक यहां स्मरण रखें कि यह केवल व्युत्पत्तिकी बात है, इसलिये वैद्यशास्त्रमें इसका बहुत प्रमाण नहीं हो सकता, जबतक कि अनुभवसे जंगिड मणिका यह उपयोग सिद्ध न हो। तथापि यह अर्थ जंगिडमणिकी खोज करनेमें सहायक होगा इसलिये यहां दिया है। वचाके गुणधर्मोंमें स्मृतिवर्धिनी और उन्मादनाशनी ये दो गुण इस अर्थके साधक है, यह खोजके समय ध्यानमें धारण करने योग्य है।

इस प्रकार यह सूक्त महत्त्वपूर्ण अनेक बातोंका वर्णन कर रहा है। पाठक विचार करते रहेंगे तो उनको इस रीतिसे बडा बोध प्राप्त हो सकता है।

●●●

क्षत्रिय का धर्म ।

(५)

(ऋषिः भृगुः आथर्वणः । देवता - इन्द्रः)

इन्द्र जुषस्व प्र वहा याहि शूर हरिभ्याम् ।
पिबा सुतस्य मतेरिह मधोश्चकानश्चारुर्मदाय ॥ १ ॥
इन्द्र जठरं नव्यो न पृणस्व मधोर्दिवो न ।
अस्य सुतस्य स्वर्णोप त्वा मदाः सुवाचो अगुः ॥ २ ॥
इन्द्रस्तुराषाण्मित्रो वृत्रं यो जघान यतीर्न ।
बिभेद वलं भृगुर्न ससहे शत्रून्मदे सोमस्य ॥ ३ ॥
आ त्वा विशन्तु सुतास इन्द्र पृणस्व कुक्षी विड्ढि शक्र धियेह्या नः
श्रुधी हवं गिरो मे जुषस्वेन्द्र स्वयुग्भिर्मत्स्वेह महे रणाय ॥ ४ ॥

अर्थ - हे शूर इन्द्र ! **(जुषस्व)** तू प्रसन्न हो, **(प्र वह)** आगे बढ ! **(हरिभ्यां आ याहि)** घोडोंके साथ तू यहां आ। **(चकानः)** तृप्त होता हुआ तू **(मदाय)** हर्षके लिए **(इह)** यहां **(मतेः)** बुद्धिमान् पुरुषका **(सुतस्व मधोः चारुः)** निचोडा हुआ मधुर सुंदर रस **(पिब)** पिओ ॥१॥

हे इन्द्र ! **(नव्यः न)** प्रशंसनीयके समान और **(स्वः न)** स्वर्गीय आनंद के समान **(मधोः जठरं पृणस्व)** इस मधुर रससे अपना पेट भर दो । **(अस्य सुतस्य)** इस निचोडे रसकी **(स्वः न)** स्वर्गके आनंदके समान खुशी और **(सुवाचः मदाः)** उत्तम भाषणोंके साथ आनंद **(त्वा उप अगुः)** तेरे पास पहुंचते है ॥२॥

(यतीः न) यत्न करनेवाले पुरुषके समान **(यः तुराषाट् मित्रः इन्द्रः)** जिस त्वरासे शत्रुपर हमला करनेवाले मित्र इन्द्रने **(वृत्रं जघान)** घेरनेवाले शत्रुका नाश किया था, तथा **(भृगुः न)** भूननेवालेके समान जिसने **(बलं बिभेद)** शत्रुके बलका भेद किया था और **(सोमस्य मदे)** सोमरसके आनंदमें **(शत्रून् ससहे)** शत्रुओंका पराभव किया था ॥३॥

हे **(शक्र इन्द्र इन्द्र)** शक्तिमान् प्रभु इन्द्र ! **(सुतासःत्वा आ विशन्तु)** निचोडे हुए ये रस तुझमें प्रविष्ट हों । **(कुक्षी पृणस्व)** दोनों कुक्षियोंको तू भर और **(विड्ढि)** शासन कर **(धिया नः आ - इहि)** अपनी बुद्धिसे तू हमारे पास आ। हमारी **(हर्व श्रुधि)** पुकार सुन, **(मे गिरः जुषस्व)** मेरा भाषण स्वीकार कर । और **(इह)** यहां **(महे) रणाय)** बडे युद्ध के लिए **(स्वयुग्भिः)** अपनी योजनाओंके साथ **(आ मत्स्व)** हर्षित हो ॥४॥

भावार्थ - हे शूर वीर ! तू सदा प्रसन्न और आनंदित रह और उन्नतिके मार्गसे आगे बढ । अपने उत्तम घोडोंसे युक्त रथमें बैठकर इधर उधर जा ! और सदा संतुष्ट रहता हुआ अपने हर्षको बढानेके लिये बुद्धि वर्धक मधुर रसका पान कर॥ १॥

हे शूरवीर ! प्रशंसा के योग्य और हर्ष बढानेवाले मधुर रससें अपना पेट भर, ऐसा करनेसे ही उत्तम प्रशंसाकी वाणी ही तेरे पास सब ओरसे पहुंचेगी अर्थात् सब तेरी प्रशंसा करेंगे ॥२॥

पुरुषार्थी, उद्यमी पुरुषके समान प्रयत्नशील और शीघ्रवेगके साथ शत्रु पर हमला करनेवाला शूरवीर अपने शत्रुका नाश शीघ्र करता है । जिस प्रकार भूननेवाला मनुष्य धान्योंको भूनता है, उसी प्रकार यह शूरवीर शत्रुकी सेनाको भून देता है और सोमरस का पान करता हुआ हर्षित और उत्साहित होकर शत्रुका पराजय करता है ॥३ ॥

इन्द्र॑स्य॒ नु प्र वो॑चं वी॒र्या॑णि॒ यानि॑ च॒कार॑ प्रथ॒मानि॑ व॒ज्री ।
अह॒न्नहि॒मन्व॒पस्त॑तर्द॒ प्र व॒क्षणा॑ अभिन॒त्पर्व॑तानाम् ॥ ५ ॥
अह॒न्नहिं॒ पर्व॑ते शिश्रिया॒णं त्वष्टा॑स्मै॒ वज्रं॑ स्व॒र्यं॑ ततक्ष ।
वा॒श्रा इ॑व धे॒नव॒: स्यन्द॑माना॒ अञ्ज॑: समु॒द्रमव॑ जग्मु॒राप॑: ॥ ६ ॥
वृ॒षाय॑मा॒णो अ॑वृणीत॒ सोमं॒ त्रिक॑द्रुकेष्वपिबत्सु॒तस्य॑ ।
आ साय॑कं म॒घवा॑दत्त॒ वज्र॒मह॑न्नेनं प्रथम॒जामही॑नाम् ॥ ७ ॥

अर्थ - **(इन्द्रस्य वीर्याणि नु प्रवोचं)** इन्द्रके पराक्रम मैं अच्छी प्रकार वर्णन करता हूं । **(यानि प्रथमानि)** जो पहिले श्रेणीके पराक्रम **(वज्री चकार)** वज्रधारी इन्द्रने किए थे । उसने **(अहिं अहन्)** कम न होनेवाले शत्रुका नाश किया, और **(अपः अनुततर्द)** प्रवाहोंको खुला किया और **(पर्वतानां)** पर्वतोंके **(दक्षणाः प्र अभिनत्)** भाग तोड भी दिए ॥५॥

(पर्वते शिश्रियाणं अहिं) पर्वतके आश्रयसे रहनेवाले शत्रुको **(अहन्)** वध किया । **(अस्मै)** इसके लिए **(त्वष्टा स्वर्य वज्रं ततक्ष)** कारीगरने तेज शस्त्र बना दिया था । **(वाश्राः धेनवः इव)** रंभाती हुई गौवोंके समान **(स्वन्दमानाः आपः)** वेगसे बनहेवाले जलप्रवाह **(अञ्जः समुद्रं अवजग्मुः)** सीधे समुद्रतक जा पहुंचे ॥६॥

(वृषायमाणः) बलवान् वीर **(सोमं अवृणीत)** सोम रसको प्राप्त हुआ । **(सुतस्य त्रिकद्रुकेषु अपिवत्)** रसका तीन उच्च स्थानोंमें पान किया । **(मधवा सायकं वज्रं आ अदत्त)** इन्द्रने बाण रूप बज्र किया और **(अहीनां प्रथमजां एनं अहन्)** शत्रुओंके पहिले इस वीरको मार डाला ॥७॥

भावार्थ - हे शक्तिमान् शूरवीर ! सब मधुर रस तुम्हें प्राप्त हों और उससे तू अपना अपना पेट भर दे । उस समय तू अपने मनसे सब जनता की भलाईका विचार कर और उन की पुकार श्रवण कर तथा बडे जीवनकलह में विजय प्राप्त करनेके लिये अपनी योजक शक्तियोंके साथ आनंदसे तैयार रह ॥४॥

शूर पुरुषके पराक्रमों का मैं वर्णन करता हूं, जो कि उन्होंने किये थे । बढनेवाले शत्रुका उसने नाश किया और जलके प्रवाह सबके लिये खुले कर दिये, तथा पर्वतोंके भागोंके तोडकर जंगल भी साफ किया ॥५॥

पर्वतके भागोंपर छिपकर रहनेवाले शत्रुओंका उन्होंने वध किया, ऐसे शूरके लिये कारीगरों ने विशेष प्रकारके तीक्ष्ण शस्त्र तैयार कर दिये थे । जिस प्रकार गौवें रंभाती हुई अपने बछडेके पास जाती है उसी प्रकार उस वीरने खुले किये हुए जलके प्रवाह समुद्रतक जा पहुंचे ॥६॥

अपना बल बढानेवाला शूरवीर सोमरस का पान तीन समय और तीन स्थानोंमें करता है । घनी शूरवीर अपने शस्त्र सदा तैयार रखता है और बढने वाले शत्रुके अग्रगामी वीरका शीघ्र नाश करता है (और इस रीतिसे अपना विजय प्राप्त करता है ।) ॥७॥

क्षात्रधर्म ।

प्रायः इन्द्र सूक्तोंमें क्षत्रियधर्म बताया होता है । इन्द्र शब्द मुख्यतः शत्रुका नाश करनेवाले शूरवीरका द्योतक है और उसका वर्णन शूरवीरके क्षात्रधर्मका प्रकाशक होता है । इस सूक्तमें भी पाठक उक्त बात देख सकते हैं। इस सूक्तमें जिन शब्दों द्वारा शूरवीर का वर्णन होकर क्षात्र धर्मका प्रकाश हुआ है, उन शब्दोंका अर्थ देखिये -

क्षत्रियके गुण ।

१ इन्द्रः (इन्+द्र) - शत्रुका नाश करनेवाला, शत्रु सैन्यका नाश करनेवाला । (मं. १)

२ शूरः - शूरवीर । (मं. १)

३ चकानः - तृप्त, संतुष्ट, तेजस्वी, प्रकाशमान । शत्रुका प्रतिकार करनेमें समर्थ । (मं. १)

४ **मित्रः** - जनताका मित्र, जनताका हित करनेवाला । सूर्यवत्प्रकाशमान । (मं. ३)

५ **यतीः** - प्रयत्नशील, पुरूषार्थी । (मं. ३)

६ **भृगुः** - भूननेवाला, शत्रुको भूननेवाला । (मं. ३)

७ **तुराषांट्** - त्वरासे शत्रुपर हमला चढानेवाला । (मं. ३)

८ **शक्रः** - समर्थ, शक्तिशाली, बलवान् । (मं. ४)

९ **वज्री** - वज्र आदि शस्त्रोंसे युक्त । (मं. ५)

१० **वृषायमाणः** - अपना बल प्रतिदिन बढानेवाला, अपनी शक्ति सब प्रकारसे बढानेवाला । (मं. ७)

११ **मघवा (मघ-वान्)** - धनवान् (मं. ७)

ये ग्यारह शब्द इस सूक्तमें शूरवीर क्षत्रियके वाचक हैं । इन शब्दोंसे क्षत्रियके कर्तव्योंका भी बोध होता है । क्षत्रियके पास शौर्य वीर्य पराक्रम आदि गुण जैसे चाहिये उसी प्रकार पुनः पुनः प्रयत्न करनेका गुण और वेगसे शत्रुपर हमला चढानेका भी गुण अवश्य चाहिये । शत्रुसे अपना बल अधिक रखनेकी तैयारी भी क्षत्रियको करनी चाहिये, और इस सबके लिये उसके पास विपुल धन भी चाहिये, इत्यादि क्षात्रधर्मका उपदेश हमें यहां प्राप्त होता है । पाठक इस दृष्टिसे इन पदोंका विशेष मनन करें । अब वाक्यों द्वारा जो क्षत्रियके कर्म इन मंत्रोंमें वर्णन हुए हैं उनका विचार देखिये -

क्षत्रियके कर्तव्य । -

१ **शूर ! हरिभ्यां आयाहि** - हे वीर ! घोडोंपर सवारी कर । घोडोंकी सवारी करनेका अभ्यास क्षत्रियको करना चाहिये । (मं. १)

२ **प्र वह** - आगे बढ । क्षत्रियकी ऐसी तैयारी चाहिये कि जिससे वह शीघ्रतासे आगे बढ सके । चढाई में ढिलाई न रहे । (मं. २)

३ **वृत्रं जघान** - घेरनेवाले अथवा व्यूह बांधकर चढाई करनेवाले शत्रुका नाश करनेमें समर्थ क्षत्रिय हो । (मं.३)

४ **बलं बिभेद** - शत्रुके बलका भेद करे, शत्रुकी सेनामें भेद उत्पन्न करे, शत्रुकी सेनाकी संघशक्ति नष्ट करे, उस शत्रुसेनाको तितर बितर करे । (मं. ३)

५ **शत्रून् ससहे** - शत्रुका पराजय करे । शत्रुके हमलेको सहे अर्थात् शत्रुके हमलेसे पीछे न हटे । (मं. ३)

६ **विड्ढि (आ विड्ढि)** - उत्तम राज्य शासन कर। राज्यशासन करना अपना कर्तव्य है ऐसा क्षत्रिय समझे। (मं. ४)

७ **महते रणाय स्वयुग्भिः मत्स्व** - बढे युद्धके लिए अपनी योजक शक्तियोंके द्वारा आनंदसे तैयार रहे। शत्रु झगडा करता है, तो उसको अपनी योजना और युक्तियोंसे दूर करे । (मं. ४)

८ **अहिं अहन्** - शत्रुका नाश करे । (मं. ५)

९ **पर्वतानां नक्षणाः अभिनत्** - पर्वतो के उपरके घने जंगल तोड कर शत्रु छिप कर रहनेके स्थान हटा देवे। अथवा वहांसे बढनेवाले नदी प्रवाह खुले करे । (मं. ५)

१० **अपः अनु ततर्द** - जलके प्रवाह शत्रुकें अधिकार में हो तो उनको सबके लिए खुले करें । (मं. ५)

११ **पर्वते शिश्रियाणं अहिं अहन्** - पहाडियोंका आश्रय करके लडनेवाले शत्रुका नाश करें । (मं. ६)

१२ **अस्मै त्वष्टा स्वर्य वज्रं ततक्ष** - इसके लिए लुहार तीक्ष्ण शस्त्रास्त्र तैयार करके दे । अथवा राजा अपने कारगिरोंको

शस्त्र तैयार करनेके काम में नियुक्त करे और आवश्यक शस्त्रास्त्र तैयार करके लें । (मं. ६)

१३ **सायकं वज्रं आ अदत्त** - बाण और वज्र आदि शस्त्र हाथमें लेवे । (मं. ७)

१४ **अहीनां प्रथमजां एनं अहन्** - बढनेवाले शत्रुके मुख्य मुख्य वीरोंका अर्थात् सेनानायकोंका नाश करे । (मं. ७)

ये वाक्य क्षत्रियके कर्तव्य बता रहे हैं। इनकी विशेष व्याख्या करनेकी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि ये वाक्य स्वयं स्पष्ट है और थोडेसे मननसे इनका आशय ध्यानमें आ सकता है।

अब राज्यशासन विषयक कर्तव्योंकी सूचना करनेवाले वाक्योंको देखिए -

राज्य शासन।

१ मित्रः - प्रजाओंका मित्र बनकर राजा राज्य करे। कभी शत्रु बनकर राज्य न करे। (मं. ३)

२ हवं श्रुधि, गिरः जुषस्व - पुकार सुन, वाणीका स्वीकार कर अर्थात् प्रजाकी आवाज़ श्रवण कर। प्रजाकी इच्छाका आदर कर ((मं. ४)

३ अपः अञ्जः समुद्रं अवजग्मुः - समुद्रतक बहनेवाले नहर चलावे और उससे कृषिकी सहायता करे। (मं. ६)

इस प्रकारका राज्यशासन केवल प्रजाके हितकी वृद्धि करनेके लिए जो क्षत्रिय करता है, उसीकी प्रजा प्रशंसा करती है, इस विषयमें निम्न लिखित मंत्र भाग देखिए -

प्रजासे सन्मान।

१ त्वा मदाः सुवाचः उप अगुः - तेरे पास हर्षकी उत्तम वाणी पहुंचती है। अर्थात् हर्षित और आनंदित हुई प्रजा उसकी उत्तम वाणीसे प्रशंसा करती है। कृतज्ञतासे संमान करती है। मानपत्र अर्पण करती है। (मं. २)

प्रजा आनंदित होनेके पश्चात् ही उत्तम राजाकी इस प्रकार प्रशंसा कर सकती है। अन्यथा त्रस्त हुई प्रजा राजाकी निंदा या राजाका द्रोह करती रहेगी। इस प्रकार राजाके अथवा क्षत्रियके राष्ट्रीय कर्तव्य क्या है, इस विषयमें इस सूक्तने उपदेश दिया है। यहां ऊपर जो वाक्य उद्‌धृत किए है, उनमें अर्थकी सुबोधताके लिए शब्दोंके अर्थोंका पुरूषव्यत्यय करके थोडासा परिवर्तन जानबूझ कर किया है। यह बात संस्कृतज्ञ पाठक स्वयं जान सकते हैं। इतना परिवर्तन इस प्रकारके स्पष्टीकरणमें आवश्यकही होता है। इसलिए इस विषयमें कुछ न लिखकर अब क्षत्रियका व्यक्तिगत आचार भोग आदि कैसा रहना चाहिए इस विषयमें इस सूक्तका उपदेश देखते हैं -

भोग।

१ सुतस्य मधोः मदाय पिब - सोमादि वनस्पतिसे निचोडे मधुर रसका पान हर्षके लिए कर। (मं. १)

इस विधानमें मधुर रसका पान करनेका उपदेश है। यही मधुपर्क प्राशन है। वनस्पतिमें सोम मुख्य है। इसका ग्रहण करनेसे अन्य आरोग्य और हर्षवर्धक वनस्पतियों का ग्रहण स्वयं हुआ है। इस सूक्तके सप्तम मन्त्रमें सोम का नाम है और वही इस मंत्रसे संबंधित है। इस सूक्तमें इसके उल्लेख निम्न लिखित है -

२ सुतस्य मधोः जठरं पृणस्व। (मं. २)
३ सुतासः त्वा कुक्षीः आविशन्तु। (मं. ४)
४ सुतस्य सोमं त्रिकद्रकेषु अपिबत्ः (मं. ७)

इन मंत्र भागोंका भी वही भाव है। (२) सोम रससे पेट भर दे। (३) सोम रस से दोनो कुक्षियां भर दे, (४) निचोडा सोम रस तीन वर्तनों द्वारा तीन स्थानोंमें बैठ कर दिनमें तीन वार पिओ। यह सोम रस मधुर रूचिवाला, हर्ष और उत्साह वर्धक, थकावटको दूर करनेवाला, दीर्घ आयुष्य देनेवाला, बुद्धि बढानेवाला, और रोग बीजोंको शरीरसे हटाने वाला है।

सोम और मद्य

वेद प्रणालीके अनभिज्ञ लोग सोम को शराब मानते हैं, वे इतनी भूल करते हैं, कि उससे अधिक भूल कोई भी कर नहीं सकता। सोम, सुरा, वारूणी, आसव, अरिष्ट, मद्य और शराब ये शब्द समानार्थक नहीं है। मद्य और शराब ये शब्द समानार्थक हो गये हैं और सुरा शब्द भी उनमें संमिलित हुआ है, यह बात हमें पता है। इसलिये हम कहते हैं कि इन शब्दोंका आशय पाठक अवश्य स्मरण रखें।

१ सोम - सोम वल्लीका रस , जो दूध, मधु (शहद), मिश्री, भूने धान्यका आटा, दही आदि अनेक पदार्थोंके मिश्रणके साथ अच्छा स्वादिष्ट पेय बनाकर पीया जाता है और गौ आदि पशुओंको भी पिलाया जाता है। यह वनस्पतियोंका केवल रस होता है। इसके गुण ऊपर दिए हैं।

२ सुरा - किसी रसकी भांप बना कर फिर उसका शीतल देकर रस बनाया जाय, तो उसका यह नाम है, (Distilled Water) पानीकी भांप बनाकर फिर उस भांप का पानी बन जानेसे भी उस जलका वह नाम होता है, वृष्टिजल का भी यही नाम उक्त कारण ही है, क्योंकि भूमि परके जलकी भांप होकर मेघ बनते हैं और उससे वृष्टि होती है। किसी भी रसकी इस प्रकार शुद्धि होती है। यह शुद्धिकी रीति है। आजकल इस रीतिसे शराब बनाते हैं, इसलिए इस नामकी खराबी हुई है, यह बात सामायिक है। वास्तव में संस्कृतका केवल सुरा शब्द उक्तविधि से बनाये परिशुद्ध जल या रस का वाचक है।

३ वारुणी, अमरवारुणी - ये भी शब्द उक्त प्रकारके रसोंके या जलके वाचक हैं। इन पेयोंमें मादकता या दुर्गुण वास्तवमें नहीं है। परंतु आजकल इस रीतिसे शराब बनती है इसलिए ये सब नाम बुरे अर्थोंमें आजकल प्रयुक्त हुए है। प्राचीन समयमें भी क्वचित् बुरे और क्वचित् अच्छे अर्थोंमें इनका उपयोग दिखाई देता है।

४-५ आसव और अरिष्ट - ये नाम औषधि पेयोंके होते हैं। इनमें कुछ सडावट होनेके कारण मद्य उत्पन्न होना अपरिहार्य है , तथापि इनमे मद्यकि मात्रा प्रति शतक दो भागके करीब होती है। इसीलिए शराबमें इसकी गिनती नहीं होती।

अंग्रेज सरकारने इनकी चांज करके निश्चय किया है, कि यह मद्य नहीं है। इसीलिए देशी वैद्य ये आसव तथा अरिष्ट तैयार कर सकते हैं, अन्यथा सरकारी प्रतिबंध उनके पीछे लग जाता।

६-७ मद्य और शराब मादक होनेसे निःसंदेह बुरे हानिकारक पेय हैं।

पाठक इस विवरणसे समझ गये होंगे कि सोममें दोषकी कल्पना अथवा मद्यकी कल्पना यत्किंचित् भी नहीं हो सकती, दिनमें तीन वार रस निचोडा जाता है और उसी समय आहुतियां देकर पीया जाता है। सबेरे, दोपहरको और सायंकालको, रस निचोडना और पीना होता है, उसका वर्णन इस सूक्तके सप्तम मंत्रमें आचुका है। इसलिए जो लोक सोमरस को सुरा मानते हैं वे ही उक्तमत मद्यकी धुंदमें कहते हैं, ऐसा यदि किसिने कहा तो वह अशुद्ध न होगा।

इस सूक्तमें क्षत्रियका भोजन वनस्पतिका मधुर रस है यह बात स्पष्टतासे कहा है, जो शाकाहारकी पुष्टि करनेवाली है।

जीवन संग्राम।

वेदमें "महते रणाय" ये शब्द वारंवार आते हैं।"बडा युद्ध" चल रहा है, सावध रहकर अपना कर्तव्य करो, यह वेदका उपदेश जीवन संग्राममें बहनेवाले मनुष्य मात्रको मार्गदर्शक है। प्रत्येक मनुष्य सदा युद्धभूमिपर खडा है, किसी न किसी प्रकारके युद्धमें संमिलित हुआ है, उसकी इच्छा हो या न हो उसको युद्धमें रहना ही पडता है, फिर वह भागकर कहां जाय? इसलिए उसको अपने युद्धका स्वरूप जानना चाहिए और उस संबंधसे उत्पन्न होनेवाला अपना कर्तव्य अवश्य करना चाहिए। अन्यथा उसका जन्म निरर्थक हो जायगा। चाहे वह अहिंसावृत्तिसे युद्ध करे या हिंसा वृत्तिसे करे, युद्धके विना उसकी स्थिती नहीं है और इस युद्धमें विजय कमाने के विना उसकी उन्नति नहीं है। यह हुई सब मनुष्योंकी बात, क्षत्रिय की तो पूछना ही क्या है, उसका जीवन ही युद्ध रूप है उसको युद्ध तो अनिवार्य है।

इस प्रकार यह सूक्त क्षात्र धर्मका उपदेश करता है। पाठक इसका मनन करनेके समय प्रथम काण्डके २, १५, १९, २१, २८, २९ इन सूक्तोंको भी ध्यानमें रखे।

(यहां प्रथम अनुवाक समाप्त हुआ)

●●●

ब्राह्मण धर्मका आदेश।

(६)

(ऋषिः - शौनकः सम्पत्कामः । देवता - अग्निः)

(२) समास्त्वाग्न ऋतवो वर्धयन्तु संवत्सरा ऋषयो यानि सत्या ।
संदिव्येन दीदिहि रोचनेन विश्वा आ भाहि प्रदिशश्चतस्रः ॥ १
सं चेध्यस्वाग्ने प्र च वर्धयेममुच्च तिष्ठ महते सौभगाय ।
मा ते रिषन्नुपसत्तारो अग्ने ब्रह्माणस्ते यशसः सन्तु मान्ये ॥ २
त्वामग्ने वृणते ब्राह्मणा इमे शिवो अग्ने संवरणे भवा नः ।
सपत्नहाग्ने अभिमातिजिद्भव स्वे गये जागृह्यप्रयुच्छन् ॥ ३

अर्थ - हें अग्ने! (समाः ऋतवः संवत्सराः) मास ऋतु और वर्ष, (ऋषयः) ऋषि लोग तथा (यानि सत्या) जो सत्यधर्म हैं वे सब (त्वा वर्धयन्तु) तुझे बढावें । (दिव्येन रोचनेन) दिव्य तेजसे (दीदिहि) उत्तम प्रकार प्रकाशित हो और (विश्वाः चतस्रः प्रदिशः) सब चारों दिशाओं में (आ भाहि) प्रकाशित हो ॥१॥

हे अग्ने ! (सं इध्यस्व) उत्तम रीतिसे प्रज्वलित हो (च इमं प्र वर्धय) और इसको बहुत बढाओ । (च महते सौभगाय उत्तिष्ठ) बडे ऐश्वर्यके लिये उठकर खडा रह । हे अग्ने ! (ते उपसत्तारः) तेरे उपासक (मा रिषन्) नष्ट न हों । और (ते ब्रह्माणः) तेरे पास रहनेवाले ब्राह्मण (यशसः सन्तु) यशसे युक्त हों (मा अन्ये) दूसरे नहीं ॥२॥

हे अग्ने! (इमे ब्राह्मणाः त्वा वृणते) ये ब्राह्मण तेरा स्वीकार करते हैं । हे अग्ने! (नः संवरणे शिवः भव) हमारे स्वीकार में तू शूब हो । हे अग्ने! (सपत्नहा अभिमातिजित् भव) वैरियोंका नाश करनेवाला तथा अभिमानियोंको जीतनेवाला हो, तथा (अ- प्रयुच्छन्) भूल न करता हुआ (स्वे गये जागृहि) अपने घरमें जागता रह ॥३॥

भावार्थ - हे तेजस्वी ब्रह्म कुमार ! महिने ऋतु और वर्ष अर्थात् काल, ऋषि लोग अर्थात् तत्त्वदर्शी विद्वान् और जो सब सत्यधर्म नियम हैं वे सब तुझे बढावें, इस प्रकार दिव्य तेजसे युक्त होकर तूं सब दिशाओंमें अपना प्रकाश फैला दे ॥१॥

तेजस्वी होकर तू इस सबको वृद्धिंगत कर और बडा सौभाग्य अर्थात् ऐश्वर्य प्राप्त करनेकी तैयारी करके उठकर खडा हो और तेरे कारण तेरे साथी दुर्दशाको कभी प्राप्त न हो, इतनाही नहीं परंतु तेरे सम्बन्धमें आनेवाले ज्ञानी लोग यशसे युक्त बनें और ऐसा कभी न हो कि तेरे साथी तो दुर्दशामें जांय और तेरी गलतीसे दूसरे लोग उन्नति प्राप्त करें ॥२॥

ये ज्ञानी लोग तेरा सन्मानसे स्वीकार करते हैं, इसलिये तू शुभ विचारवाला हो । तेरे जो भी वैरी हों और जो तेरे साथ स्पर्धा करनेवाले हों, उनको जीत कर तू आगे बढ और कभी भूल न करते हुए अपने स्थानमें जागता रह ॥३॥

क्षत्रेणांग्ने स्वेन सं रंभस्व मित्रेणांग्ने मित्रधा यंतस्व ।
सजातानां मध्यमेष्ठा राज्ञांमग्ने विहव्यों दीदिहीह ॥ ४ ॥
अति निहो अति स्रुधोऽत्यचित्तीरति द्विषः ।
विश्वा ह्यंग्ने दुरिता तर त्वमथास्मभ्यं सहवीरं रयिं दाः ॥ ५ ॥

अर्थ - हे अग्ने! **(स्वेन क्षत्रेण)** अपने क्षात्रतेजसे **(सं रभस्व)** उत्तम प्रकारसे उत्साहित हो। हे अग्ने! **(मित्रेण मित्रधा यतस्व)** अपने मित्रके साथ मित्रकी रीतिसे व्यवहार कर। हे अग्ने ! **(सजातानां मध्यमें स्याः)** सजातीयोंकी मंडलीमें मध्यस्थानमें बैठनेवाला होकर **(राज्ञां वि - हव्यः)** क्षत्रियोंके बीचमें भी विशेष आदरसे बुलाने योग्य होकर **(इह दीदिहि)** यहां प्रकाशित हो ॥४॥

हे अग्ने! **(निहः अति)** मारपीट करनेके भावका अतिक्रमण कर, **(स्रुधः अति)** हिंसक वृत्तियोंका अतिक्रमण कर **(अ - चित्तीः अति)** पापी वृत्तियोंका अतिक्रमण कर, **(द्विषः अति)** द्वेष भावोंका अतिक्रमण कर। हे अग्ने **(विश्वा दुरिता तर)** सब पापवृत्तियोंको पार कर। **(अथ त्वं)** और तू **(अस्मभ्यं)** हम सबके लिए **(सहवीरं रयि दाः)** वीर पुरूषोंके साथ रहनेवाला धन दे ॥५॥

भावार्थ - अपना बल बढाकर सदा उत्साह धारण कर, मित्रके साथ मित्रके समान सीधा व्यवहार कर, अपनी जातीमें प्रमुख स्थानमें बैठनेका अधिकार प्राप्त कर, इतनाही नहीं-परंतु राजा लोग भी सलाह पुछनेके लिये तुम्हें आदरसे बुलावें ऐसी तू अपनी योग्यता बढा और यहां तेजस्वी बन ॥४॥

मारपीट अथवा घातपातके भाव दूर कर, नाशक या हिंसक वृत्ति हटा दे, पापवासनाओंको अपने मनसे हटा दे, द्वेष भावोंको समीप न कर, तात्पर्य सब हीन वृत्तियोंके परे जाकर अपने आपको पवित्र बनाओ, और हमारे लिये ऐसी संपत्ति लाओ, कि जिसके साथ सदा वीरभाव होते हैं ॥५॥

अग्निका स्वरूप।

अथर्ववेद काण्ड १ सू. ७ की व्याख्याके प्रसंगमें 'अग्नि कौन है' इस प्रकरणमें अग्नि पद ब्राह्मण अर्थात् ज्ञानी पुरुष के वाचक है यह बात विशेष स्पष्ट की है। पाठक कृपा करके वह प्रकरण यहां अवश्य देखें। उस प्रकरणसे अग्निका स्वरूप स्पष्ट होगा तत्पश्चात् अग्निका वर्णन करते हुए इस सूक्तने जो शब्द प्रयोग किये हैं उनका विचार देखिये -

हे अग्ने! त्वं सजातानां मध्यमेष्ठाः राज्ञां विहव्यः इह दीदिहि ॥ (मं. ४)

'हे अग्ने ! तू अपनी जातिमें मध्य स्थानमें बैठनेकी योग्यता धारण करनेवाला और राजा महाराजाओं द्वारा विशेष आदरसे बुलाने योग्य होकर यहां प्रकाशित हो।'

यह वाक्य इस मंत्रमें या इस सूक्तमें प्रतिपादित अग्नि केवल आग ही नहीं है, परंतु वह मनुष्यरूप है यह बात सिद्ध करता है। 'स्वजातिकी सभामें प्रमुख स्थान में बैठनेवाला (सजातानां मध्यमेष्ठाः) ये शब्द तो निःसंदेह उसका मनुष्य होना सिद्ध करते हैं। तथा इसी मंत्रके (राज्ञां विहव्यः) राजाओं या क्षत्रियों द्वारा विशेष प्रकारसे बुलाने योग्य ये शब्द उसका क्षत्रियजातिसे भिन्न जातीय होना भी अंश मात्रसे सूचित करते हैं। क्षत्रिय जातिसे भिन्न, ब्राह्मण, वैश्य, शूद्र, और निषाद ये चार जातियाँ है। क्या कभी क्षत्रिय अपनेसे निचली जातीका सहसा वैसा समादर कर सकते हैं ? इस प्रश्न का मनन करनेसे यहां इसका संभव दीखता है, कि यहां जिसका वर्णन हुआ है वह ब्राह्मण वर्णका मनुष्य ही होगा। अर्थात् इस सूक्तका अग्नि शब्द ब्राह्मण वाचक है। यह बात अथर्ववेद प्रथम काण्ड सू. ७ की व्याख्याके प्रसंगमें बताया है और उसी बातकी सिद्धि इस सूक्त के इस वाक्य द्वारा होगई है। इस प्रकार यहांका अग्नि शब्द ब्राह्मण का वाचक है, किंवा यह कहना अधिक सत्य होगा, कि 'ब्राह्मण कुमार' का वाचक

है। ब्राह्मण कुमार को इस सूक्त द्वारा बोध दिया है। वेदमें अग्नि देवताके सूक्तोंद्वारा ब्राह्मणधर्म और इन्द्र देवताके सूक्तोंद्वारा क्षत्रियधर्म विशेषतया बताया जाता है, यह बात पाठकोंनें इस समय तक कई बार देखी है, इसलिये अब इस विषयमें अधिक कहनेकी आवश्यकता नहीं है। अब अग्नि शब्दका यह भाव ध्यानमें धारण करके इस सूक्तके वाक्य देखिये -

दीर्घ आयु।

१ हे अग्ने! त्वा समाः ऋतवः संवत्सराः च वर्धयन्तु - हे ब्राह्मण कुमार! हे बालक! महिने ऋ तु और वर्ष तेरा संवर्धन करें अर्थात् उत्तम दीर्घ आयुष्यसे युक्त हो। योगादि साधनोंसे ऐसा यत्न कर कि तेरी आयु दिन के पिछे दिन, मास के पीछे मास, ऋ तु के पीछे ऋ तु और वर्षके पीछे वर्ष इस प्रकार बढती रहे। (मं. १)

ज्ञान प्राप्ति।

२ ऋषयः त्वा वर्धयन्तु - ऋ षिलोग विद्याके उपदेशसे तुझे बढावें। अर्थात् ऋ षि प्रणालीके अनुसार अध्ययन करता हुआ तू ज्ञानी बन। (मं. १)

सत्यनिष्ठा।

३ यानि सत्यानि तानि त्वा वर्धयन्तु - जो सब सत्य धर्म नियम हैं, वे सब तुझे बढावें। अर्थात् तू सत्य धर्मनियमोंका उत्तम प्रकारसे पालन कर और सत्यके बलसे बलवान् हों। सत्यपालनसे ही आत्मिक बल बढता है। (मं. १)

अपने तेजका वर्धन।

दिव्येन रोचनेन संदीदिहि - दिव्य तेजसे पहिले स्वयं प्रकाशमान हो। पूर्वोक्त तीनों उपदेशों द्वारा तीन बल बढानेकी सूचना मिली है, (१) दीर्घ आयुष्य और निरोग शरीरसे शारीरिक बल, (२) ऋषि प्रणालीके अध्ययनसे ज्ञानका बल और (३) सत्यपालनसे आत्मिक बलकी प्राप्ति होती है। इन तीनोंका मिल कर जो तेज होता है वह दिव्य तेज कहलाता है। यह दिव्य तेज सबके प्रथम अपने अंदर बढाना चाहिये, जिससे यह दिव्य तेज दूसरोंको देनेंका अधिकार अपने अंदर आ सकता है। (मं. १)

तेजका प्रकार।

५ विश्वाः चतस्रः प्रदिशः आभाहि - सब चारो दिशाएं प्रकाशित करो। उक्त तीन तेजोंसे स्वयं युक्त होकर चारों दिशाओंमें रहनेवाले मनुष्योंको उक्त तेजोंसे तेजस्वी करो, अर्थात् ऐसे उपाय करो, कि जिससे चारों दिशाओंमें रहनेवाले मनुष्य उक्त तीन दिव्य तेजोंसे युक्त बनें। स्वयं तेजस्वी होनेके पश्चात् दूसरोंको प्रज्वलित करना आवश्यक है। अर्थात् स्वयं दीर्घायु और बलवान बनकर उसकी सिद्धिके मार्ग दूसरोंको बताओ, स्वयं ज्ञानी बनकर दूसरोंको ज्ञानी करो और स्वयं सत्यनिष्ठासे आत्मिक शक्ति युक्त होकर दूसरोमें आत्मिक बल बढाओ। (मं. १)

६ सं इध्यस्व, इमं प्रवर्धयच - स्वयं प्रदीप्त हो और इसको भी बढाओ। पहिले स्वयं प्रदीप्त होते रहो और पश्चात् दूसरोंको प्रदीप्त करो। (मं. २)

ऐश्वर्य प्राप्ति।

७ महते सौभगाय उत्तिष्ठ - बडे ऐश्वर्यके लिये उठकर खडा रह, अर्थात् बडा ऐश्वर्य प्राप्त करनेके लिए आवश्यक पुरूषार्थ प्रयत्न करनेके उद्देश्यसे अपने आपको सदा उत्साहित और सिद्ध रखो। (मं. २)

स्वपक्षीयोंकी उन्नति।

८ ते उपसत्तारः मा रिषन् - तेरा आश्रय करनेवाले अवस्थामें न गिरें। तेरा पक्ष लेनेवालोंकी, तेरे अनुगामी होकर कार्य करनेवालोंकी अवनति न हो। तू ऐसा यत्न कर कि जिससे तेरे अनुगामी दुर्गतिको न प्राप्त हों। (मं.२)

९ ते ब्रह्माणः यशसः सन्तु, अन्ये मा - तेरे साथ रहनेवाले ज्ञानी जन यशस्वी हों, अन्य न हों। अर्थात् तेरे साथ रहनेवाले लोग यज्ञके भागी बनें, परंतु ऐसा कभी न हो कि तेरे साथ वाले लोग तेरी त्रुटीके कारण आपत्तिमें पढें, और तेरी गलतीके कारण तेरे प्रतिपक्षी ही सुख भोगे। तेरी गलतीका लाभ शत्रु न उठावे, अतः सावधानीसे अपना कार्य करते हुए स्वपक्षियोंका यश बढाओ। (मं. ३)

१० इमे ब्राह्मणाः त्वां वृणते। नः संवरणे शिवः भव - ये ज्ञानी तुझे चुनते हैं, इस चुनावमें तू सबके लिए कल्याणकारी हो। तू सदा जनताका हित करनेवाला हो जिससे सब ज्ञानी लोग विश्वास पूर्वक तेरा ही स्वीकार करें। जनताका हितकारी होंकर जनताका विश्वास संपादन कर। (मं. ३)

११ सपत्नहा अभिमातिजित् भव - प्रतिपक्षीका पराजय कर अर्थात् तू उन विरोधियोंको अपने ऊपर आक्रमण करने न दो। (मं. ३)

अपने घरमें जागना।

१२ अप्रयुच्छन् स्वे गये जागृहि - गलती न करता हुआ अपने घरमें जागता रह। अपना घर "शरीर, घर, समाज, जाती, राष्ट्र" इतनी मर्यादा तक विस्तृत है। हरएक घरमें जाग्रत रहना अत्यावश्यक है। घरका स्वामी जाग्रत न रहा तो शत्रु घरमें घुसेंगे और स्वामी को ही घरसे निकाल देंगे। इसलिए अपने घरकी रक्षा करने के उद्देश्यसे घरके स्वामीको सदा जागते रहना चाहिए। (मं. ३)

उत्साहसे पुरूषार्थ।

१३ स्वेन क्षत्रेण संरभस्व - अपने क्षात्र तेजसे उत्साह पूर्वक पुरूषार्थ आरंभ कर। शत्रुका प्रतिकार करनेका बल अपने में बढाकर उस बलसे अपने पुरूषार्थका आरंभ कर। (मं. ४)

मित्रभाव।

१४ मित्रेण मित्रधा यतस्व - मित्रके साथ मित्रके समान व्यवहार कर। मित्रके साथ कपट न कर। (मं.४)

१५ सजातानां मध्यमेष्ठाः भव - स्वजातीयों के मध्यमें - अर्थात् प्रमुख स्थानमें बैठनेकी योग्यता प्राप्त कर। अर्थात् स्वजातीमें तेरी योग्यता हीन समझी जावे। स्वजातीके लोग तेरा नाम आदर पूर्वक लें। (मं. ४)

१६ राज्ञां वि - हव्यः दीदिहि - क्षत्रियों अथवा राजाओंकी सभामें विशेष आदरसे बुलाने योग्य बन और प्रकाशित हो। अर्थात् केवल अपनी जाती में ही आदर पानेसे पर्याप्त योग्यता हो चुकी ऐसा न समझ, परंतु राज्यका कार्यव्यवहार करनेवाले क्षत्रिय भी तुझे आदरसे बुलावे, इतनी योग्यता प्राप्त कर। (मं. ४)

चित्तवृत्तियोंका सुधार।

१७ निहः सुधः अचित्तीः द्विषः अति तर - झगडा करनेकी वृत्ति, हिंसाका भाव, पाप वासना और द्वेष करनेका स्वभाव दूर कर। अर्थात् इन दुष्ट मनोभावोंको दूर कर और अपने आपको इनसे दूर रख। (मं. ५)

१८ विश्वा दुरिता तर - सब पाप भावोंको दूर कर। पाप विचारोंसे अपने आपको दूर रख। (मं. ५)

१९ त्वं सहवीरं रयिं अस्मभ्यं दाः - तू वीरभावोंसे युक्त धन हम सबको दे। अर्थात् हमें धन प्राप्त कर और साथ साथ धनकी रक्षा करनेकी शक्ति भी उत्पन्न कर। हरएक मनुष्य धन कमाने और धनकी रक्षा करनेका बल भी बढावे, अन्यथा उक्त बलके अभावमें प्राप्त किया हुआ धन पास नहीं रहेगा।

इस सूक्तमें उन्नीस वाक्य हैं। हरएक वाक्य का भाव ऊपर दिया है। प्रत्येक वाक्य का भाव इतना सरल है कि उसकी अधिक व्याख्या करनेकी आवश्यकता नहीं है। पाठक थोडासा मनन करेंगे तो उनको इस सूक्त का दिव्य उपदेश तत्काल ध्यानमें आजायगा। इस सूक्तका प्रत्येक वाक्य हृदयमें सदा जाग्रत रखने योग्य है।

अन्योक्ति अलंकार।

अग्निका वर्णन या अग्निकी प्रार्थना करनेके मिषसे ब्राह्मण कुमारको उन्नतिके आदेश किस अपूर्व ढंगसे दिए

है, यह वेदकी आलंकारिक वर्णन करनेकी शैली यहां पाठक ध्यानसे देखें। यहां अन्योक्ति अलंकार है। अग्निके उद्देश्यसे ब्राह्मण कुमारको उन्नतिका उपदेश किया है।

ज्ञानी मनुष्यके हृदयकी वेदीमें जो अग्नि जलते रहना चाहिये, वह इस सूक्तमें पाठक देखें। यदि इस सूक्तके अग्नि पदका अन्योक्तिद्वारा बोध होनेवाला अर्थ ठीक प्रकार ध्यानमें न आया, तो सूक्तका अर्थही ठीक रीतिसे ध्यानमें नही आसकता। और जो केवल आग के जलनेका भावही यहा समझेंगे, वे तो इस सूक्तसे योग्य लाभ कभी प्राप्त नहीं कर सकते।

अरणियोंसे अग्नि।

दो अरणियों – लकडियों – के संघर्षण से अग्नि उत्पन्न होता है। यज्ञमें इसी प्रकार अग्नि उत्पन्न करते हैं। अलंकारसे (अधर अरणि) नीचे वाली लकडी स्त्रीरूप और (उत्तर अरणि) ऊपरवाली लकडी पुरूषरूप मानी जाती है और उक्त अरणियोंसे उत्पन्न होनेवाला अग्नि पुत्र रूप माना जाता है। इस अलंकार से देखा जाय तो अग्नि पुत्ररूप हैं।

उत्तर अरणी पिता (ऊपरकी लकडी)

अग्नि (पुत्र)

अधर अरणि (नीचली लकडी) माता

यदि इस सूक्तमें सामान्यतया बालकोंको अग्नि रूप माना जाय और उन सबको इस सूक्तने उन्नतिका मार्ग बताया है ऐसा माना जाय, तो भी सामान्य रीतिसे चल सकता है। परंतु विशेष कर यहां का उपदेश ब्राह्मण कुमारके लिये हैं, इसके कारण पहिले बताये ही है। इस सूक्तके साथ प्रथम काण्डके ७ वे सूक्तका भी मनन कीजिये।

(सूचना - यजुर्वेद अ. २७ में इस सूक्तके पांचो मंत्र १-३, ५, ६ इस क्रमसे आगये हैं। कुछ शब्दोंका पाठ भिन्न है तथापि अर्थमें विशेष भिन्नता नहीं है, इसलिए उनका विचार यहां करनेकी आवश्यकता नहीं है)

●●●

शाप को लौटा देना।

(७)

(ऋषिः - अथर्वा । देवता - भैषज्यं, आयुः, वनस्पतिः)

अघद्विष्टा देवजाता वीरुच्छपथयोपनी ।
आपो मलमिव प्राणैक्षीत्सर्वान् मच्छपथाँ अधि ॥ १ ॥
यश्च सापत्नः शपथो जाम्याः शपथश्च यः ।
ब्रह्मा यन्मन्युतः शपात् सर्वं तन्नो अधस्पदम् ॥ २ ॥
दिवो मूलमवततं पृथिव्या अध्युत्ततम् ।
तेन सहस्रकाण्डेन परि णः पाहि विश्वतः ॥ ३ ॥
परि मां परि मे प्रजां परि णः पाहि यद्धनम् ।
अरातिर्नो मा तारीन्मा नस्तारिषुरभिमातयः ॥ ४ ॥

अर्थ - **(अघ- द्विष्टा)** पाप का द्वेष करनेवाली **(देव - जाता)** देवोंके द्वारा उत्पन्न हुई **(शपथ-योपनी वीरुत्)** शाप को दूर करनेवाली औषधि **(सर्वान् शपथान्)** सब शापोंको **(मत्)** मुझसे **(अधि-प्र-अनैक्षीत्)** धो डालती है **(आपः मलं इव)** जल जैसा मलको धो डालता है ॥१॥

(यः च सापत्नः शपथः) जो सपत्नोंका शाप, **(यः च जाम्याः शपथः)** और जो स्त्री का दिया शाप है तथा **(यत् ब्रह्मा मन्युतः शपात्)** और जो ब्रह्मज्ञानी क्रोधसे शाप देवे **(तत् सर्व नः अधस्पदं)** वह सब हमारे नीचे हो जावे ॥२॥

(दिवः मूलं अवततं) द्युलोकसे मूल नीचे आया है और **(पृथिव्याः अधि उत्ततं)** पृथिवीसे ऊपर को फैला है, **(तेन सहस्रकाण्डेन)** उस सहस्र काण्डवालेसे **(नः विश्वतः परि पाहि)** हमारी सब ओर से रक्षा कर ॥३॥

(मां परि पाहि) मेरी रक्षा कर, **(मे प्रजां परि)** मेरे संतानोंकी रक्षा कर, **(नः यत् धनं परि पाहि)** हमारा जो धन है उसकी रक्षा कर। **(अ - रातीः नः मा तारीत्)** अनुदार शत्रु हमसे आगे न बढे और **(अभिमातयः नः मा तारिषुः)** दुष्ट दुर्जन हमको पीछे न रखें ॥४॥

भावार्थ - यह वनस्पति पापवृत्तिको हटानेवाली, दिव्य भावोंको बढानेवाली, क्रोधसे शाप देनेकी प्रवृत्तिको कम करनेवाली है, यह औषधी शाप देनेके भावको हमसे दूर करे जैसे जल मलको दूर करता है ॥१॥

सापत्न भाईयोंसे, बहिनोंसे, स्त्रीपुरूषोंसे अथवा विद्वान् मनुष्योंसे क्रोधसे जो शाप दिया जाता है वह इससे दूर हो ॥२॥

इस वनस्पति का मूल तो द्युलोकसे यहां आया है जो पृथ्वीके ऊपर उगा है, इस सहस्रो काण्डवाली वनस्पतिसे हमारा बचाव सब प्रकारसे होवे ॥३॥

मेरा, मेरा संतान का, तथा मेरे धन ऐश्वर्य आदिका इससे संरक्षण हो। हमारे शत्रु हम सबके आगे न बढें और हम उनके पीछे न रहें ॥४॥

शप्तारमेतु शपथो यः सुहार्त्तेन नः सह ।
चक्षुर्मन्त्रस्य दुर्हार्दः पृष्टीरपि शृणीमसि ॥ ५ ॥

अर्थ - (शपथः सप्तारं एतु) शाप शाप देनेवाले के पास ही वापस चलाजावे । (यः सुहार्त तेन सह नः) जो उत्तम हृदय वाला है उसके साथ हमारी मित्रता हो । (चक्षुः-मंत्रस्य दुर्हार्दः) आंखोंसे बुरे इशारे देनेवाले दुष्ट मनुष्यकी (पुटीः अपि श्रृणीमसि) पसलियां ही हम तोड देते हैं ॥५॥

भावार्थ - शाप देनेवाले के पास ही उसका शाप वापस चला जावे । जो उत्तम हृदयवाला मनुष्य हो उससे हमारी मित्रता हो । जो आंखों से बुरे ईशारे करके फिसाद मचानेवाले दुष्ट हृदय के मनुष्य होते हैं उनको हम दूर करते हैं ॥५॥

शापका स्वरूप । शापको सब जानते ही हैं । गाली देना, आक्रोश करते हुये दूसरेका नाश होनेकी बात कह देना, बुरे शब्दोंका उच्चार करना इत्यादि सब घृणित बातें इस शापमें आती हैं । जिस प्रकार साधारण स्त्री पुरूष गालियां देते हैं, उसी प्रकार विद्यावान् मनुष्य भी क्रोधके समय बुरा भला कहते ही है । यह सब क्रोधकी लीला है । यदि क्रोध हट गया और उसके स्थानपर विचारी शांत स्वभाव आगया तो शाप देनेकी वृत्ति हट जायगी। इसलिये इस सूक्तमें 'सहस्र काण्ड' नामक वनस्पति की प्रशंसा कहते हुए सूचित किया है कि, इस वनस्पतिके प्रयोगसे शाप देनेकी क्रोधी वृत्तिको दूर किया जाय ।

दूर्वाका उपयोग - सहस्रकाण्ड वनस्पतिका प्रसिद्ध नाम 'दुर्वा' है । जहां पानी होता है, उस स्थानपर इसकी बहुत उत्पत्ति होती है । हरएक काण्डसे अर्थात् जोडसे यह बढती रहती है । पित्तरोग, मूर्च्छारोग, मस्तिष्ककी अशांति, मस्तष्ककी गर्मी, उन्मादरोग आदिपर यह उत्तम है । इसके सेवनसे क्रोधकी उछल शांत होती है । इसका रस जीरा और मिश्रीके साथ पीया जाता है, चाहे गायके ताजे दूध के साथ पिया जाय । सिर संतप्त होनेके समय इसको पीसकर सिरपर घना लेप देनेसे भी मस्तक की गर्मी हट जाती है । इसलिये इस सूक्तमें कहा है कि यह वनस्पति शाप देनेकी क्रोधवृत्तिको कम करती है अथवा इसके सेवन से क्रोध कम होता है ।

प्रथम मंत्रमें इसके वर्णन के प्रसंगमें '(अघ - द्विष्टा) पापका द्वेष करनेवाली' यह शब्द स्पष्ट बता रहा है, कि यह दूर्वा पापवृत्तिको भी रोकती है, अर्थात् अन्यान्य इंद्रियोंसे होनेवाले पाप भी इसके सेवनसे कम हो सकते हैं । मन ही शांत हो जानेसे अन्य इंद्रियां भी उन्मत्त नहीं होती, यह तात्पर्य यहां लेना है । काम क्रोध आदि दोष इसके सेवनसे कम होते हैं इसलिये संयम करनेकी इच्छा करनेवाले इसका सेवन करें । मन और इंद्रियोंके मलीन वृत्तिको यह दूर करती है । इसका सेवन करनेकी कई रीतियां है । इसका तैल या घृत बनाकर सिरपर मला जाता है, रस अंदर पिया जाता है, लेप ऊपर दिया जाता है । इस प्रकार वैद्य लोग इस विषयका अधिक विचार कर सकते हैं ।

यह पाप विचारको मनसे हटाती है, मनको शांत करती है, मनका मल दूर कर देती है । पहिले और दूसरे मंत्रोंका यही आशय है । शाप देना, गाली देना, आदि जो वाचाकी मलिनताके कारण दोष उत्पन्न होता है, वह इसके प्रयोगसे मेरे पांवके नीचे दब जाय, अर्थात् उस दोषका प्रभाव मेरे ऊपर न हो । यह द्वितीय मंत्रका आशय है। दूसरेने गाली दी, या शाप दिया, तो भी उसका परिणाम मेरे मन पर न हो, और मेरे मनमें वैसा विचार कभी न आवे, यह आशय है पांवके नीचे दोषोंके दबजानेका ।

तीसरे मंत्रमें, यह वनस्पति स्वर्गसे यहां आगई है और भूमिसे उगी है, वह पूर्वोक्त प्रकार मनकी शांतिकी स्थापना करने द्वारा मेरी रक्षा करे, यह प्रार्थना है ।

चतुर्थ मंत्रमें अपनी, अपनी संतान की और अपने धनादि ऐश्वर्यकी रक्षा इससे हो, यह प्रार्थना है । और शत्रु अपनेसे आगे न बढे, तथा हम शत्रुओंके पीछे न पडे, यह इच्छा प्रकट की गई है । इसका थोडासा स्पष्टीकरण करना चाहिये ।

मनोविकारोंसे हानि । काम क्रोधादि उछृंखल होनेवाली मनोवृत्तियां यदि संयमको प्राप्र न हुई तो वह असंख्य आपत्तिया लाती है और मनुष्यका नाश उसके परिवार के साथ करती है । एक ही काम के कारण कितने परिवार उध्वस्त हो गये है, और समयपर एक क्रोधके स्वाधीन न रहने से कितने कुटुंब मिट्टीमें मिले हैं । तथा अन्यान्य हीन मनोवृत्तियोंसे कितने मनुष्योंका नाश हो चुका है, इसका पाठक मनन करे, और मनमें समझें कि, मनकी असंयमित वृत्तियां मनुष्यका कैसा नाश करती है । यदि उक्त औषधि मनको शांत कर सकती है, तो उससे परिवार और धनदौलतके साथ मनुष्यकी रक्षा कैसी हो सकती है , यह स्वयं स्पष्ट हो जाता है ।

इसके प्रयोगसे मन शांत होता है, उछलता नहीं, और मन सुविचार पूर्ण होनेसे मनुष्य आपत्तियोंसे बच जाता है । और इसी कारण मनुष्य आपका, अपने संतान का और अपने ऐश्वर्यका बचाव कर सकता है ।

यदि मन पूर्ण सुविचारी हुआ, तो योग्य समयपर योग्य कर्तव्य करता हुआ मनुष्य आगे बढ जाता है और उन्नत होता जाता है । परंतु जो मनुष्य अशांत चंचल और प्रक्षुब्ध मनोवृत्तियोंवाला होता है वह स्थान स्थानपर प्रमाद करता है और गिरता जाता है, इस प्रकार यह पीछे रहता है और इसके प्रतिपक्षी उसको पीछे रखते हुए आगे बढते जाते हैं । परंतु जो मनुष्य मनका संयम करता है , मनको उछलने नहीं देता, कामक्रोधादियोंको मर्यादासे अधिक बहने नहीं देता, वह कर्तव्य करनेके समय गलती नही करता है । इस कारण सदा प्रतिपक्षियोंको पीछे डालकर स्वयं उनके आगे बढता जाता है । चतुर्थ मंत्रका यह आशय पाठक देखें और खूब विचार करें ।

शापको वापस करना । पंचम मंत्रमें तीन उपदेश हैं और येही इस सूक्तमें गहरी दृष्टिसे देखने योग्य है । संपूर्ण सूक्त में यही मंत्र अति उत्तम उपदेश दे रहा है । देखिये -

शपथः शप्तारं एतु ॥(मं. ५)

'शाप शाप देनेवाले के पास वापस जावे!' गाली गाली देनेवालेके पास वापस जावे !! यह किस रीतिसे वापस जाती है यह एक मानस शास्त्रके महान् शक्तिशाली नियमका चमत्कार है । मन एक बडी शक्तिशाली विद्युत है मनके उच्च नीच, भले या बुरे विचार उसी विद्युत्के न्यूनाधिक आन्दोलन या कंप है । 'ये कम्प जहां पहुंचने के लिए भेजे जाते हैं, वहां पहुंचकर यदि लीन न हुए या कृतकारी न हुए, तो उसी वेगसे भेजनेवाले के पास वापस आते हैं और उसी बलसे उसी भेजनेवालेका नाश करते हैं।' यह मानस शक्तिका चमत्कार है और गाली या शाप देनेवालेको इस नियमका अवश्य मनन करना चाहिए । इसका विचार ऐसा है -

१ एक 'अ' मनुष्यने गाली, शाप, या दुष्टभाव 'क' का नाश करनेकी प्रबल इच्छासे 'क' मनुष्यके पास भेज दिये,

२ यदि 'क' भी साधारण मनोवृत्तिवाला मनुष्य रहा, तो उसके मनपर उनका परिणाम होता है उसका मन क्षुब्ध हो जाता है और वह भी फिर 'अ' को गाली शाप या नाशक शब्द बोलने लगता है ।

इस प्रकार एक दूसरे के शाप परस्परके ऊपर जाने लगे, तो दोनोंके मन समानतया दूषित होते हैं और समान रीतिसे पतित भी होते हैं, परंतु -

३ यदि 'क' उच्च शांत मनोवृत्तिवाला मनुष्य रहा, तो 'अ' से आये हुए नीच मनोवृत्तिके कंपों को अपने मनमें रहनेके लिए स्थान नहीं देता, इसलिए आधार न मिलनेके कारण वे विकारके भाव लौटकर वापस होते हैं और वे सीधे भेजनेवाले 'अ' के पास जाते हैं । और उसका मन उसी जातिका होनेके कारण वे वहां स्थान पाते हैं।

इस प्रकार कुविचार वापस जानेसे चमत्कार यह हो जाता है कि, प्रथमसे कुविचार भेजनेवाले 'अ' का दुगणा नाश हो जाता है । पहिले जब कुविचार उत्पन्न हुए उस समय उसका नाश हुआ ही था, और इस प्रकार उसके ही कुविचार बाहर स्थान न पाते हुए जब वापस होकर उसीके पास पहुंचते हैं, तब फिर उसका और नाश होता है । एकही प्रकारके कुविचार दोवार उसके मनमें आघात करनेके कारण उसका दुगणा नाश हो जाता है । परंतु जो सज्जन शांतिसे अपने अंदर समता धारण करता हुआ, बाहरके कुविचार अपने मनमें आये तो भी स्थिर होने नहीं देता और उनको वापस भेजता है, वह अपना मन अधिकाधिक दृढ करता है । इसलिए इस शांत मनुष्यका कल्याण होता है ।

पाठक इससे जान गये होंगे कि, बुरे विचारकी लहरें वापस भेजनेसे अपनी उन्नति कैसी होती है और प्रतिपक्षी की दुगणी अवनति किस कारण होती है। इस पंचम मंत्रमें इसी कारण कहा है कि, यदि किसीको अपनी उन्नति करनेकी अभिलाषा हो, तो उसको 'शाप वापस करनेकी विद्या' अवश्य जानना चाहिए। अपने मनको पवित्र और सुदृढ बनानेका यही उपाय है। पाठक इसका खूब विचार करें और शाप वापस करनेका बहुत अभ्यास करें, तथा स्वयं कभी किसी भी कारण किसीको शाप गाली अथवा बुरे विचार न भेजे। क्योंकि यदि वे कुविचार वापस आगये तो प्रतिपक्षीकी अपेक्षा वे अपना ही अधिक अहित करेंगे। पाठको! मनःशक्तिका यह नियम ठीक तरह ध्यानमें रखिये। यह नियम इस पंचम मंत्रके प्रथम चरणसे सूचित हो गया है। जो इसको ठीक तरह समझेंगे वेही अपने कल्याणका साधन कर सकेंगे।

योग्य मित्र। मित्रता किससे करनी चाहिये, इस विषयका उपदेश पंचम मंत्रके द्वितीय चरणमें दिया है, देखिये -

'य :सुहार्त तेन नः सह। (मं. ५)'

'जो उत्तम हृदयवाला हो उसके साथ हमारी मित्रता हो,' उत्तम हृदयवालेके साथ मित्रता करनेसे, उत्तम हृदय वालोंकी संगतिमें रहनेसे ही मन शांत गंभीर और प्रसन्न रहता है और पूर्वोक्त प्रकार शाप वापस भेजने की शक्ति भी सत्संगतिसे ही प्राप्त होती है। इसलिये अपने लिये ऐसे सुयोग्य मित्र चुनने चाहिये कि, जिनका हृदय मंगल विचारोंसे परिपूर्ण हो।

दुष्ट हृदय। जो दुष्ट हृदयके मनुष्य होते हैं, उनकी संगतिसे अनगिनत हानियां होती हैं। दुष्ट मनुष्य किसी किसी समय बुरे शब्द बोलते हैं, शाप देते हैं, गालियां गलोज देते हैं, हीन आशयवाले कटु शब्द बोलते हैं, हाथसे अथवा अंगविक्षेपसे बुरे भावके इशारे करते हैं, तथा (चक्षुः मंत्रः) आंखकी हालचालसे ऐसे इशारे करते हैं, कि जिनका उद्देश बहुत बुरा होता है। ये आंखके इशारे किसी किसी समय इतने बुरे होते हैं, कि उनसे बडे भयानक परिणाम भी हो जाते हैं। इनका परिणाम भी शाप जैसा ही होता है। शापके वापस होनेसे जो परिणाम होते हैं, वैसे ही इनके वापस होनेसे परिणाम होते हैं। इसलिये कोई मनुष्य स्वयं ऐसे दुष्ट हृदयके भाव अपनेमें बढने न दें। किसी दूसरे मनुष्यने ऐसे दुष्ट इशारे किये तो उसकी सहायता न करें और हरएक प्रकारसे अपने आपको इन दुष्ट वृत्तियोंसे बचावें। आंखोंके इशारे भी बुरे भावसे कभी न करें। जो दुष्ट मनुष्य होंगे, उनकी संगतिमें कभी न रहें अच्छी संगतिमें ही रहें। इस विषयमें यह मंत्र भाग देखिये-

चक्षुर्मन्त्रस्य दुर्हार्दः पृष्टीरपिश्रृणीमसि। (मं. ५)

"आंखसे बुरे इशारे करनेवालेकी पीठ तोड देते हैं।" अर्थात् जो मनुष्य इस प्रकारके बुरे भाव प्रकट करता है उसका पीछा करके उसको दूर भगा देना चाहिये, अपने पास उसको रखना नहीं चाहिये, ना ही उसकी संगतिमें स्वयं रहना चाहिए। यह बहुमूल्य उपदेश है, पाठक इसका स्मरण रखें। बुरी संगतिसे मनुष्य बुरा होता है और भली संगतिसे भला होता है। इस कारण कभी बुरी संगतिमें न फंसे परंतु भली संगतिमें ही सदा रहे और पूर्वोक्त प्रकार बुरे विचारों को अपने मनमें स्थान न दे और उनको अपने मनसे दूर करता रहे। ऐसा श्रेष्ठ व्यवहार करनेसे मनुष्य सदा उन्नतिके मार्गसे ऊपर ही जाता रहेगा।

सूक्तके दो विभाग। इस सूक्तके दो विभाग है। पहिले विभागमें पहिले चार मंत्र हैं, जिनमें औषधि प्रयोगसे मनको क्षोम रहित करनेकी सूचना दी है, यह बाह्य साधन है। दूसरे विभागमें अकेला पंचम मंत्र है। जिनमें कुसंगतिमें न फंसने और सुसंगति धरनेका उपदेश है और साथ ही साथ अपने मनको पवित्र रखने तथा आये हुए बुरे विचारोंको उसी क्षणमें वापस भेजनेका महत्त्व पूर्ण उपदेश दिया है। सारांशसे इस उपदेशका स्वरूप यह है। यदि इस सूक्तके उपदेश मनन पूर्वक पाठक अपनायेंगे तो उनकी मनःशक्तिका सुधार होगा इसमें कोई संदेहही नहीं है, पाठक इस सूक्तके साथ प्रथम काण्डके १०, ३१ और ३४ ये तीन सूक्त देखें।

●●●

क्षेत्रिय रोग दूर करना ।

(८)

(ऋषिः - भृगुः आंगिरसः । देवता - यक्ष्मनाशनम्)

उदगातां भगवती विचृतौ नाम तारके । वि क्षेत्रियस्य मुञ्चतामधमं पाशमुत्तमम् ॥ १ ॥
अपेयं रात्र्युच्छत्वपोच्छन्त्वभिकृत्वरीः । वीरुत्क्षेत्रियनाशन्यप क्षेत्रियमुच्छतु ॥ २ ॥
बभ्रोरर्जुनकाण्डस्य यवस्य ते पलाल्या तिलस्य तिलपिञ्ज्या ।
वीरुत्क्षेत्रियनाशन्यप क्षेत्रियमुच्छतु ॥ ३ ॥
नमस्ते लाङ्गलेभ्यो नम ईषायुगेभ्यः । वीरुत्क्षेत्रियनाशन्यप क्षेत्रियमुच्छतु ॥ ४ ॥
नमः सनिस्रसाक्षेभ्यो नमः सन्देश्येभ्यः ।
नमः क्षेत्रस्य पतये वीरुत्क्षेत्रियनाशन्यप क्षेत्रियमुच्छतु ॥ ५ ॥

अर्थ - (भगवती) वैष्णवी औषधि तथा (विचृतौ नाम) तेज बढानेवाली प्रसिद्ध (तारके) तारका नामक वनस्पतियां (उदगातां) उगी हैं। वे दोनों (क्षेत्रियस्य अधमं उत्तमं च पाशं) वंशसे चले आनेवाले रोगके उत्तम और अधम पाशको (विमुञ्चताम्) खोल देवें ॥१॥

(इयं रात्री अप उच्छतु) यह रात्री चली जावे और उसके साथ (अभि कृत्वरीः अपोच्छन्तु) हिंसा करनेवाले दूर हों तथा (क्षेत्रियनाशनी वीरूत्) वंशसे चले आनेवाले रोगका नाश करनेवाली औषधी (क्षेत्रियं अप उच्छतु) आनुवंशिक रोगको दूर करे ॥२॥

(बभ्रोः अर्जुनकाण्डस्य ते यवस्य) भूरे और श्वेत रंगवाले यवके अन्नकी (पलाल्या) रक्षक शक्तिसे तथा (तिलस्य तिलपिञ्ज्या) तिलकी तिलमञ्जरीसे आनुवांशिकरोग दूर करनेवाली यह वनस्पति क्षेत्रियरोगसे मुक्त करे ॥३॥

(ते लांगलेभ्यः नमः) तेरे हलोंके लिए सत्कार है, (ईषायुगेभ्यः नमः) हलकी लकडीके लिये सत्कार है ॥४॥

(सनिस्रसाक्षेभ्यः नमः) जल प्रवाह चलानेवाले अक्षका सत्कार (सन्देश्यभ्यः नमः) संदेश देनेवाले का सत्कार, (क्षेत्रस्य पतये नमः) क्षेत्रके स्वामीका सत्कार हो । (क्षेत्रियनाशनी क्षेत्रियं अप उच्छतु) आनुवांशिक रोगको हटानेवाली औषधि आनुवांशिक रोगको हटा देवे ॥५॥

भावार्थ - दो प्रकारकी वैष्णवी और दो प्रकारकी तारका ये चारों औषधियां कान्तिको बढानेवाली है, जो भूमिपर उगती है। वे चारों आनुवांशिक रोगको दूर करें ॥१॥

रात्री चली जाती है, तो उसके साथ हिंसक प्राणी भी चले जाते हैं, इसी प्रकार यह औषधी आनुवांशिक रोगको उसके मूल कारणोंके साथ दूर करे ॥२॥

भूरे और श्वेतर रंगवाले जौ के अन्नके साथ तिलोंकी मंजरियोंके तिलोंके सेवनसे यह औषधि आनुवांशिक रोगको हटा देती है ॥३॥

हल और उसकी लकडियां जिससे भूमि ठीक की जाती है, उसके पूर्वोक्त वनस्पतियां तैयार होती है, इस लिए उनकी प्रशंसा करना योग्य है ॥४॥

जिसके खेतमें पूर्वोक्त वनस्पतियां उगाई जाती है, जो उनको जल देता है, अथवा जिस यंत्रसे पानी दिया जाता है, तथा जो इस वनस्पतिका यह संदेश जानता तक पहुंचाता है, उन सबकी प्रशंसा करना योग्य है । यह वनस्पति आनुवांशिक रोगसे मनुष्यको बचावे ॥५॥

क्षेत्रिय रोग।

जो रोग मातापिताके शरीरसे अथवा इनके भी पूर्वजोंके शरीरसे चला आता है, उस आनुवांशिक रोगको क्षेत्रिय कहते हैं। वैद्यशास्त्रमें क्षेत्रिय रोगको प्रायः असाध्य कहा जाता है। क्षेत्रिय रोग प्रायः सुसाध्य नहीं होता, इसलिए रोगी माता पिताओंको सन्तानोत्पत्तिका कर्म करना उचित नहीं है। प्रथमतः ऐसे व्यवहार करना चाहिये कि, जिनसे रोग उत्पन्न न हो, खानपान आदि आरोग्य साधक ही होना चाहिए। जो नीरोग होंगे उनको ही संतानोत्पत्ति करनेका अधिकार है। रोगी मातापिता संतान उत्पन्न करते हैं और अपने वंशजोंको क्षेत्रियरोगके कष्टमें डाल देते हैं। ऐसे असाध्य आनुवंशिक रोगोंकी चिकित्सा करनेकी विधि इस सूक्तमें बताई है, इसलिए यह सूक्त विशेष उपयोगी है।

दो औषधियां।

'भगवती और तारका' ये दो औषधियां है जो शरीरकी कान्ति बढाती है और क्षत्रिय रोगको दूर करती है, इन दो औषधियोंकी खोज वैद्योंको करनी चाहिए -

१ भगवती - इसको वैष्णवी, लधु शतावरी, तुलसी, अपराजिता, विष्णुक्रान्ता कहा जाता है, तथा -

२ तारका - इस औषधिको देवताडवृक्ष, और इन्द्रवारुणी कहा जाता है। इसका अर्थ पत्रक्षार और मोती भी है।

शब्दोंके अर्थ जानने मात्रसे इस औषधकी सिद्धि नहीं हो सकती और कोशों द्वारा शब्दार्थ करने मात्रसे ही औषध नहीं बन सकता। यह विशेष महत्त्वका विषय है और ये किस वनस्पतिके वाचक नाम यहां है, इसका निश्चय सुविज्ञ वैद्योंको करना चाहिए और इनके उपयोग की रीति भी निश्चित रूपसे कहना उनके ही अधिकारमें है। "भगवती और तारके" ये औषधी वाचक दोनों शब्द यहां द्विवचनी है, इससे बोध होता है कि, इस एक एक नामसे दो दो वनस्पतियां लेना है, इस प्रकार इन दो नामोंसे चार वनस्पतियां होती है, जो क्षेत्रियरोग को दूर करती है और शरीरकी कान्ति उत्तम तेजस्वी करती है अर्थात् क्षेत्रिय रोगको जडसे उखाड देती है। यह प्रथम मंत्रका स्पष्ट तात्पर्य हैं। (मं. १)

दूसरे मंत्रमें कहा है कि, जिस प्रकार रात्री जाने और दिन शुरू होनेसे हिंसक प्राणी स्वयं कम होते हैं उसी प्रकार इस औषधीके प्रयोगसे क्षेत्रिय रोग जडसे उखड जाता है। (मं. २)

तीसरे मंत्रमें इस औषधिके प्रयोग दिनोंमें करने योग्य पथ्य भोजन का उपदेश किया है। जिस जौंके काण्ड भूरे और श्वेत वर्णवाले होते हैं उस जौका पेय बनाना और उसमें तिलोंकी मंजरीसे प्राप्त किये ताजे तिल भी डालना। अर्थात् उक्त प्रकार के जौका पेय उक्त तिलोंके साथ बनाना। यही भोजन इस चिकित्साके प्रसंग में विहित है। इस पथ्यके साथ सेवन किया हुआ पूर्वोक्त औषध क्षेत्रिय रोगसे मुक्त करता है यह सूक्तका तात्पर्य है। (मंत्र ३)

चतुर्थ और पंचम मंत्रमें इन पूर्वोक्त औषधियोंको तथा इस पथ्य अन्नको उत्पन्न करनेवाले, किसान, इस खेतको योग्य समयमें पानी देनेवाले, इस खेतीके लिये हल चलानेवाले, हल के समान ठीक करनेवाले तथा इस औषध और पथ्यका संदेशा क्षेत्रिय रोगसे रोगी हुए मनुष्यों तक पहुंचाने वालोंका सत्कार किया है। यदि इस पथ्यसे और इन औषधियोंसे आनुवंशिक रोग सचमुच दूर होते हों, तो इन सबका योग्य आदर करना अत्यंत आवश्यक है। आज कल तो ये लोग विशेषही आदर करने योग्य है। (मं. ४-५)

ज्ञानी वैद्य इन औषधियोंका और इस पथ्यका निश्चय करें और इसकी योग्य विधि निश्चित करके आनुवंशिक अतएव असाध्य समझे हुए बीमारोंको रोग मुक्त करें।

●●●

सन्धिवातको दूर करना ।

(९)

(ऋषिः - भृगुः अङ्गिराः । देवता - वनस्पतिः, यक्ष्मनाशनम् ।)

दशवृक्ष मुञ्चेमं रक्षसो ग्राह्या अधि यैनं जग्राह पर्वसु ।
अथो एनं वनस्पते जीवानां लोकमुन्नय ॥ १ ॥
आगादुदगादयं जीवानां व्रातमप्यगात् । अभूदु पुत्राणां पिता नृणां च भगवत्तमः ॥ २ ॥
अधीतीरध्यगादयमधि जीवपुरा अगन् । शतं ह्यस्य भिषजः सहस्रमुत वीरुधः ॥ ३ ॥
देवास्ते चीतिमविदन्ब्रह्माण उत वीरुधः । चीतिं ते विश्वे देवा अविदन्भूम्यामधि ॥ ४ ॥

अर्थ - हे **(दश- वृक्ष)** दस वृक्ष! **(रक्षसः ग्राह्याः)** राक्षसी जकडनेवाली गठियारोग की पीडासे **(इमं मुञ्च)** इसे छुडादे, **(या एनं पर्वसु जग्राह)** जिस रोगने इसको जोडोमें पकड रखा है। हे **(वनस्पते)** औषधि! **(एनं जीवानां लोकं उन्नय)** इसको जीवित लोगोंके स्थानमें जानेयोग्य ऊपर ऊठा ॥१॥

(अयं) यह मनुष्य. **(जीवनां व्रातं)** जीवित लोगों के समूहमें **(अगात्, आगात्, उदगात्)** आया, आपहुंचा, उठकर आया है। अब यह **(पुत्राणां पिता)** पुत्रोंका पिता और **(नृणां भगवत्तमः)** मनुष्योंमें अत्यंत भाग्यवान् **(अभूत् उ)** बना है ॥२॥

(अयं) इसने **(अधीतिः अध्यगात्)** प्राप्त करने योग्य पदार्थ प्राप्त किए है। और **(जीवपुराः अधि अगन्)** जीवोंकी संपूर्ण आवश्यकतायें भी प्राप्त की हैं। **(हि)** क्योंकि **(अस्य शतं भिषजः)** इसके सेकडों वैद्य हैं और **(उत सहस्त्रं वीरूधः)** हजारों औषध हैं ॥३॥

(देवाः ब्रह्माणः उत वीरूधः) देव ब्राह्मण और वनस्पतियां **(ते चीतिं अविदन्)** तेरे आदान संदान आदिको जानती हैं **(विश्वे देवाः)** सब देव **(भूम्यां अधि)** पृथिवीके ऊपर **(ते चीतिं अविदन्)** तेरे आदान संदान को जानते हैं ॥४॥

भावार्थ - दशवृक्ष नामक वनस्पति गठिया रोगको दूर करती है। यह गठिया रोग संधियोंको जकड रखता है जिससे मनुष्य चलफिर नहीं सकता। इसकी चिकित्सा दशवृक्षसे की जाय तो वह रोगी शीघ्र आरोग्य प्राप्त करके अन्य जीवित मनुष्योंकी तरह अपने व्यवहार कर सकता है ॥१॥

वह आरोग्य प्राप्त करके लोकसभाओंमें जाकर सार्वजनिक कार्य व्यवहार करता है, घरमें अपने बालबच्चोंके संबंधके कर्तव्य करता है और मनुष्योंमें अत्यंत भाग्यशाली भी बन सकता है ॥२॥

वह नीरोग बनकर सब प्राप्तव्य पदार्थ प्राप्त कर सकता है, जीवोंकी जो जो आवश्यकताएं होती हैं उनको प्राप्त कर सकता है। यह रोग कोई असाध्य नहीं है क्योंकि इसके चिकित्सक सेंकडों है और हजारों औषधियां भी है ॥३॥

इसकी अनेक औषधियां तो पृथ्वीपर ही हैं, उनको कैसे लेना और उनका प्रयोग कैंसा करना यह सब दिव्यगुणधर्मोंसे युक्त ब्रह्मज्ञानी ब्राह्मण वैद्य जानते हैं ॥४॥

यश्चकार स निष्करत् स एव सुभिषक्तमः ।
स एव तुभ्यं भेषजानि कृणवद्भिषजा शुचिः ॥ ५ ॥

अर्थ - (**यः चकार स निष्कारत्**) जो करता रहता है वही निःशेष करता है और वही (**सु-भिषक् - तमः**) सब से उत्तम वैद्य होता है। (**स एव शुचिः**) वही शुद्ध वैद्य (भिषजा) अन्य वैद्यसे विचारणा करके (**ते भिषजानि कृणवत्**) तेरे लिए औषधोंको करेगा ॥५॥

भावार्थ - जो यह चिकित्साका कार्य करता रहता है वही इसको प्रवीणतासे निभा सकता है। वारंवार चिकित्सा करते रहनेसे ही जो प्रारंभमें साधारणसा वैद्य होता है, वही श्रेष्ठ धन्वन्तरी बन सकता है। ऐसा श्रेष्ठ धन्वन्तरी अन्य वैद्योंकी सम्मतिसे रोगीकी चिकित्सा उत्तम प्रकारसे कर सकता है ॥५॥

संधिवात ।

वेदमें संधिवात रोगका नाम "ग्राही" है क्योंकि यह (पर्वसु जग्राह) पर्वोमें किंवा संधिस्थानोंमें जकड कर रखता है, हिलने डुलने नहीं देता। संधियोंकी हलचल बंद होजाती है। "रक्षस्" अथवा पिशाच ये भी इसके नाम हैं। ये नाम रक्तके साथ इस रोगका संबंध बताते हैं क्योंकि ये नाम रूधिरप्रिय अर्थात् जिनको रक्तके साथ प्रेम है, ऐसोंके वाचक है। इसलिये 'रक्षः ग्राही' का अर्थ रक्तका बिगाड होनेवाला संधिवात है।

दशवृक्ष ।

उक्त संधिवातकी चिकित्सा दशवृक्षसे की जाती है। 'दशमूल' नामसे वैद्य ग्रथोंमें दश औषधियां प्रसिद्ध है। वातरोग नाशक होनेके विषयमें उनकी बडी प्रसिद्धी है। संभव है किये ही दशवृक्ष यहां अपेक्षित हों। इन दशवृक्षोंका तैल, घृत, कषाय, आसव, अरिष्ट आदि भी बनाया जाता है जो वातरोगको दूर करनेमें प्रसिद्ध है।

इस सूक्तके प्रथम मंत्रमें 'मुञ्च' क्रिया है, इस 'मुञ्च' धातुसे एक 'मोच' शब्द बनता है जो 'सोहिञ्जना' या मुञ्जेका झाड अर्थात् शोभाञ्जन वृक्षका वाचक है। यह वृक्षभी वात दोष दूर करनेवाला है। इस वृक्षको लंबी सेंग आती है जो साग आदिमें उपयोगी होती है। इस सोहिञ्जना वृक्षको अंतरत्वचा यदि जकडे हुए संधिपर बांधी जाय तो दोचार घंटोके अंदर जकडे हुए संधि खुल जाते हैं, यह अनुभवकी बात है। अन्य औषधियों से जो संधिरोग महिनोंतक दूर नहीं होता वह इस अंतस्त्वचासे कई घंटोमें दूर होता है। रोगीको घण्टा दोघण्टे या चार घण्टेतक कष्ट सहन करने पडते हैं, क्योंकि यह अन्तस्त्वचा जोडोंपर बांधनेसे कुछ समयके बाद उस स्थानपर बडी गर्मी या जलन पैदा होती है। दोचार घण्टे यह कष्ट सहनेपर संधिस्थानके सब दोष दूर होते हैं। यहां मंत्रमें "मुञ्च" शब्द है और वृक्षका नाम संस्कृतमें 'मोच' है, इसलिये यह बात यहां कही है। जो पाठक स्वयं वैद्य हो वे इस बातका अधिक विचार करें। हमने केवल दूसरोंपर अनुभवही देखा है, इसका शास्त्रीय तत्त्व हमें ज्ञान नहीं है।

इस प्रथम मंत्रके उत्तरार्धमें आगे जाकर कहा है कि 'इस वनस्पतिसे सन्धिवातसे जकडा हुआ रोगी नीरोगी लोगोंके समूहोंमें आता है और नीरोग लोगोंके समान अपने कर्तव्य करने लगता है। (मं.१)

मंत्र दो और तीन में कहा है कि इस औषधिसे मनुष्य नीरोग होकर लोक सभामें जाता है और घरके कार्य भी कर सकता है। अर्थात् वैयक्तिक, सामाजिक और राष्ट्रीय कर्तव्य कर सकता है। सब मानवी कर्तव्य करनमें योग्य होता है। इन मंत्रोंकी भाषा देखनेसे ऐसा प्रतीत होता है कि यह चिकित्सा अति शीघ्र गुणकारी है। जो अभी बिस्तरेपर जकडकर पडा है वही रोगी कुछ घण्टोंके बाद मनुष्यसमाजमें जाकर कार्य करने लगता है। पहिले तीन मंत्रोंका सूक्ष्म रीतिसे विचार करनेपर ऐसा आशय प्रकट होता है, इस शीघ्रताके दर्शक शब्द प्रयोग द्वितीय मंत्रमें पाठक अवश्य देखें -

अर्थ जीवानां व्रातं अप्यगात् । आगात् उदगात् ॥(मं. २)

"यह जीवोंके समूहोंमें गया, पहुंचा, उठकर खडा होकर गया !" अपने पांवसे गया अर्थात् जो वहां बिस्तरेपर

अकडा पडा था वही इतनी शीघ्रतासे मनुष्य समूहोंमें घूम रहा है!!! यह आश्चर्य व्यक्त करनेके लिये एकही आशयकी तीन क्रियाएं (आगात्, अप्यगात्, उदगात्) प्रयुक्त की हैं । इससे यह चिकित्सा शीघ्रगुणकारी है ऐसा स्पष्ट व्यक्त होता है ।

इस चिकित्साकी औषधियें सहस्रों है और इसके चिकित्सक भी सैंकडों हैं (मं. ३) यह तृतीय मंत्रका कथन बता रहा है कि यह सुसाध्य चिकित्सा है । असाध्य नहीं है । ऊपर जो 'मोच' वृक्षसे चिकित्सा बतायी है वह प्रायः यहांकि ग्रामीण भी जानते हैं और करते हैं इससे कुछ घण्टोंमें आरोग्य होता है ।

ये वृक्ष पृथ्वीपर बहुत हैं और उनको लाना और उनका प्रयोग करना (विश्वेदेवाः देवाः ब्रह्मणाः) सब भूदेव ब्राह्मण जानते हैं । अथवा ब्राह्मण तथा अन्य लोग भी जानते हैं । इस में 'चीति' शब्द (आदान संधान) लेना और प्रयोग करना यह भाव बता रहा है किंवा (आदान - संवरण) अर्थात् औषधका उपयोग करना और औषधके दुष्परिणामोंको दूर करना, यह सब वैद्य जानते हैं । (मं. ४)

उत्तम वैद्य ।

पंचम मंत्रमें उत्तम वैद्य कैसे बनते हैं इस विषयमें कहा है यह बहुत मनन करने योग्य है ।-

यः चकार, सः निष्करत् स एव सुभिषक्तमः ॥ (मं. ५)

'जो करता रहता है वही निःशेष कार्य करता है और वही सबसे श्रेष्ठ चिकित्सक होता है ॥'

जो कार्य करता रहता है वही आगे जाकर उत्तम प्रवीण बनता है । इस प्रकार अनुभव लेनेवाला ही आगे उत्तमोत्तम वैद्य बन जाता है ।

प्रवीणताकी प्राप्ति ।

प्रवीणताकी प्राप्ति करनेका साधन इस मंत्रमें वेदने बताया है । किसी भी बातमें प्रवीणता संपादन करना हो तो उसका उपाय यही है कि -

यः चकार, सः निष्करत् । (मं. ५)

'जो सदा कार्य करता रहता है वही परिश्रमी पुरूष उस कार्यको निःशेष करनेकी योग्यता अपनेमें ला सकता है । हम भी अनुभवमें यही देखते हैं, जो गानविद्यामें परिश्रम करते हैं वे गवइय्या बन जाते हैं, जो चित्रकारीमें दत्तचित्त होकर परिश्रम करते हैं वे कुशल चित्रकार होते हैं, इसी प्रकार अन्यान्य कारीगरीमें प्रवीण बननेकी बात है । एकलव्य नामक एक भील जातिका कुमार या उसकी इच्छा क्षात्रविद्या प्राप्त करनेकी थी, कौरव पाण्डवोंकी पाठशालामें उसको विद्या सिखाई नही गई, परंतु उसने प्रतिदिन अविश्रांत रीतिसे अभ्यास करके स्वयंही अपने दृढ निश्चय पूर्वक किये हुए परिश्रमसे ही क्षात्र विद्या प्राप्त की । यह बात भी इस नियमके अनुकूल ही सिद्धि हुई है । यह कथा महाभारतमें आदिपर्वमें पाठक देख सकते हैं ।

इसी नियमका जो उत्तम पालन करेंगे वेही हरएक विद्यामें प्रवीण बन सकते हैं । यहां चिकित्साका विषय है इसलिये इसकी प्रवीणता भी इसीमें कार्य करनेसे ही प्राप्त होती है । बहुत अनुभवसे ज्ञानी बना हुआ वैद्यही विशेष श्रेष्ठ समझा जाता है, अल्प अनुभव वैद्य उतना श्रेष्ठ समझा नहीं जाता, इसका कारण भी यही है ।

कर्म करनेसे ही सबको श्रेष्ठ अवस्था प्राप्त होती है यह नियम सर्वत्र एकसा लगता है ।

इस सूक्तके चतुर्थ मंत्रमें 'ब्रह्माणः' पद है । यह ब्राह्मणोंका वाचक है । इससे पता लगता है कि चिकित्साका यह व्यवसाय ब्राह्मणोंके व्यवसायोंमें संमिलित है । वेदमें अन्यत्र 'विप्रः स उच्यते भिषक् (वा. यजु. अ. १२।८०)' कहा है, इसमेंभी 'वह विप्र वैद्य कहलाता है,' यह भाव है । यहांके 'विप्र' शब्दके साथ इस मंत्रके 'ब्राह्मणः' शब्दकी संगति लगानेसे स्पष्ट हो जाता है, कि ब्राह्मणोंके व्यवसायोंमें वैद्यक्रिया संमिलित है । अंगिरसोंके वैद्य विद्यामें प्रवीणताके चमत्कार प्रसिद्ध ही है । इन सबको देखनेसे इस विषयमें संदेह नही हो सकता ।

यह सूक्त 'तक्म - नाशन - गण' का सूक्त है । इस लिये रोगनिवारक अन्य सूक्तोंके साथ इसका अध्ययन पाठक करें ।

दुर्गतिसे बचनेका उपया।

(१०)

(ऋषिः - भृगुः अङ्गिराः । देवता - निर्ऋतिः, द्यावापृथिवी, नानादेवताः)

क्षेत्रियात्त्वा निर्ऋत्या जामिशंसाद् द्रुहो मुञ्चामि वरुणस्य पाशात् ।
अनागसं ब्रह्मणा त्वा कृणोमि शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्ताम् ॥ १ ॥
शं ते अग्निः सहाद्भिरस्तु शं सोमः सहौषधीभिः ।
एवाहं त्वां क्षेत्रियान्निर्ऋत्या जामिशंसाद् द्रुहो मुञ्चा०।० ॥ २ ॥
शं ते वातो अन्तरिक्षे वयो धाच्छं ते भवन्तु प्रदिशश्चतस्रः । एवाहं०।० ॥ ३ ॥
इमा या देवीः प्रदिशश्चतस्रो वातपत्नीरभि सूर्यो विचष्टे । एवाहं०।० ॥ ४ ॥
तासु त्वान्तर्जरस्या दधामि प्र यक्ष्म एतु निर्ऋतिः पराचैः । एवाहं०।० ॥ ५ ॥

अर्थ - (त्वा) तुझको (क्षेत्रियात्) आनुवंशिक रोगसे, (निर्ऋत्याः) कष्टोंसे, (जामि-शंसात्) संबंधियोंके कारण उत्पन्न होनेवाले कष्टोंसे, (द्रुहः) द्रोहसे, (वरुणस्य पाशात् मुंचामि) वरुणके पाशसे छुडाता हूं। (त्वा ब्रह्मणा अनागसं कृणोमि) तुझे ज्ञानसे निर्दोष करता हूं, (उभे द्यावा - पृथिवी ते शिवे स्ताम्) दोनों द्युलोक और पृथ्वी लोक तेरे लिए कल्याणकारी हो ॥१॥

(ते अद्भिः सह अग्निः शं अस्तु) तेरे लिए सब जलोंके साथ अग्नि कल्याणकारी हो। तथा (औषधीभिः सह सोमः शं) औषधियोंके साथ सोम तेरे लिए सुखदायी हो, (एव अहं त्वां क्षेत्रियान्... मुञ्चामि) इस प्रकार ही मैं तुझको क्षेत्रिय रोगसे.... छुडाता हूं ॥२॥

(अंतरिक्षे जातः) अंतरिक्षमें संचार करनेवाला वायु (ते वयः शं धातु) तेरेलिए बलयुक्त कल्याण देवे। तथा (चतस्रः प्रदिशः ते शं भवन्तु) चारों दिशाये तेरे लिए कल्याणकारी हों। (एव अहं.....) इस प्रकार मैं तुझको बचाता हूं।० ॥३॥

(इमाः या देवीः चतस्रः प्रदिशः) ये दिव्य चारों उपदिशाएं जो (वात - पत्नीः) वायुकी रक्षा करती हैं, वे तथा (सूर्यः अभिविचष्टे) जो सूर्य चारों ओर देखता है वह तुझको कल्याणकारी होवे (एव अहं०....) इस रीतिसे मैं..... बचाता हूं।० ॥४॥

(तासु त्वा) उनमें तुझको (जरसि अन्तः आदधामि) मैं वृद्धावस्थाके अंदर धारण करता हूं। तेरे पास से (यक्ष्म निर्ऋतिः पराचैः प्र एतु) क्षयरोग तथा सब कष्ट नीचे मुंह करके दूर चले जांय (एव अहं...) इस प्रकार मैं .....तुम्हें बचाता हूं।० ॥५॥

भावार्थ - आनुवंशिक रोग,आपत्ति, कष्ट फैलनेवाले रोग, द्रोहसे होनेवाले कष्ट, ईश्वरीय नियम तोडनेसे होनेवाले बंधन आदि सब दुर्गतियोंसे निर्दोष होकर पवित्र बननेका एकमात्र उपाय ज्ञान ही है, दूसरा उपाय नहीं है ॥१॥

इस ज्ञान से ही द्युलोक, अंतरिक्षलोक और पृथ्वी लोक के अंतर्गत संपूर्ण पदार्थ अर्थात् जल, अग्नि, औषधियां, सोम, वायु सब दिशाओंमें रहनेवाले सब पदार्थ, सूर्य आदि सब देव हितकारक और सुखवर्धक होते हैं, आरोग्य बढाकर व्याधियोंसे होनेवाले कष्टोंको दूर करते हैं ॥२-४॥

अमुक्था यक्ष्माद् दुरितादवद्याद् द्रुहः पाशाद् ग्राह्याश्चोदमुक्थाः। एवाहं०।०॥ ६ ॥
अहा अरातिमविदः स्योनमप्यभूर्भद्रे सुकृतस्य लोके । एवाहं०।० ॥ ७ ॥
सूर्यमृतं तमसो ग्राह्या अधि देवा मुञ्चन्तो असृजन्निरेणसः ।
एवाहं त्वां क्षेत्रियान्निरृत्या जामिशंसाद् द्रुहो मुञ्चामि वरुणस्य पाशात् ।
अनागसं ब्रह्मणा त्वा कृणोमि शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्ताम् ॥ ८ ॥

अर्थ - **(यक्ष्मात्)** क्षय रोगसे, **(दुरितात्)** पापसे, **(अवद्यात्)** निंदनीय कर्मसे, **(द्रुहः पाशात्)** द्रोहके बंधनसे **(ग्राह्याः)** जकडने वाले संधिरोगसे तू **(अमुक्थाः)** मुक्त हुआ है, **(उत् अमुक्थाः)** तू छूट चुका है । **(एव अहं....)** ऐसे ही मैं .... तुम्हें छुडाता हूं ।० ॥६॥

(अ-रातिं अहाः) कृपणताको तूने छोडा है, **(स्योनं अविदः)** सुखको तूने पाया है । **(अपि सुकृतस्य भद्रे लोके अभूः)** और भी पुण्यकारक आनंददायी लोकमें तू आया है । **(एव अहं ......)** ऐसे ही मैं ..... तुम्हें बचाता हूं ।० ॥७॥

(देवाः) देवोंने **(तमसः ग्राह्याः)** अंधकारकी पकडसे तथा **(एनसः अधि मुञ्चन्तः)** पापसे मुक्त करते हुए **(ऋतं सूर्य निः असृजन्)** सत्य स्वरूपी सूर्यको प्रकट किया है, **(एव अहं....)** इसी प्रकार मैं .... तुम्हें बचाता हूं ।० ॥८॥

भावार्थ - इसी ज्ञानसे मैं तुम्हें वृद्धावस्थाकी पूर्ण दीर्घ आयुतक ले जाता हूं । इसी ज्ञानसे तेरे पाससे सब रोग दूर भाग जायंगे ॥५॥

क्षयरोग, पाप, निंद्यकर्म, द्रोहके पाश, संधिवात आदि सब आपत्तियांसे तू इसी ज्ञानसे मुक्त हो सकता है और मैं भी इसी ज्ञानसे तुम्हें छुडाता हूं ॥६॥

इस ज्ञानसे ही तू अपने अंदरकी कृपणता छोड और सुकृतसे प्राप्त होनेवाले सुखपूर्ण भद्रलोक को प्राप्त कर। मैं भी इस ज्ञानसे ही तुम्हें आपत्तिसे बचाता हूं ॥७॥

जिस प्रकार सूर्य अंधकारको हटाकर स्वयं अपना उदय करता है, इसी रीतिसे चन्द्रादि अन्य देव भी घन अंधकारकी पकडसे दूर करते हुए स्वयं अपने उदयसे प्रकाशित होते हैं, इसी तरह स्वयं अपने पुरूषार्थसे अपने पाश दूर करके ज्ञानकी सहायतासे अपना उद्धार करें क्योंकि यही एक उन्नतिका सबसे मुख्य साधन है ॥८॥

दुर्गतिका स्वरूप ।

इस सूक्तमें दुर्गतिका वर्णन विस्तारसे किया है और उससे बचनेका निश्चित उपाय भी संक्षेपसे परंतु विशेष जोर देकर कहा है । अनेक आपत्तियोंसे अपना बचाव करने और अपना अभ्युदय करनेका निश्चित उपाय थोडे शब्दोंमें कहनेके कारण यह सूक्त बडा महत्त्व पूर्ण सूक्त है । और यह हर एक को विशेष मनन करने योग्य है । इस सूक्तमें जो दुर्गतिका वर्णन किया है वह सबसे पहिले देखिये -

१ क्षेत्रियः - मातापितासे प्राप्त होनेवाले रोग, अशक्तता, अवयवोंकी कमजोरी आदि आपत्तियाँ । ये जन्मसे ही खूनके साथ ही शरीरमें आती है । (मं. १)

२ निर्ऋतिः - सडावट, विनाश, अधोगति, आपसकी फूट, सत्यनियमोंका पालन न होना, दुरावस्था, विरूध्द परिस्थिती, शाप, गाली, हीन विचार आदिके कारण होनेवाली हीन स्थिती । (मं. १)

३ जामिशंसः - इसमें दो शब्द हैं, जामिXशंस । इसके अर्थ ये हैं 'जामि'=वंश, नाता, संबंध । जल। अंगुली। सन्मान्य स्त्री । पुत्री, बहिन, बहु । ये जामि शब्दके अर्थ कोशोंमें दिए हैं । अब 'शंस' शब्दके अर्थ देखिए प्रशंसा, प्रार्थना, पाठ, सदिच्छा, शाप, कष्ट, आपत्ति, कलंक, लांछन, अपकीर्ति, इन दोनों अर्थोंका मेल करनेसे 'जामिशंस' का अर्थ निम्न लिखित प्रकार बन सकता है 'नातेके कारण आनेवाली आपत्ति या दुष्कीर्ति, स्त्री विषयसे होनेवाला लांछन या कलंक इत्यादि। इसी प्रकार अन्यान्य अर्थ भी पाठक विचार करके देख सकते हैं परंतु अर्थोमें आपत्ति

या कष्ट का संबंध अवश्य चाहिए, क्योंकि निर्ऋति द्रोह आदिके गणमें यह 'जामिशंस' शब्द आया है, इसलिए इसका आपत्ति दर्शक अर्थही यहां अपेक्षित है। (मं. १)

४ द्रुहः - द्रोह, घात, पात, विश्वास देकर घात करना। (मं. १)

५ वरूणस्य पाशः - वरूण नाम श्रेष्ठ परमेश्वरका है। सबसे जो 'वर' है उसको वरूण कहते हैं। उस जगदीशके पाश सब जगत्में फैले हैं और उनसे कुकर्मी पुरूष बांधे जाते हैं। जगत्में उस परतात्माकी ऐसी व्यवस्था है, कि बुरे कर्म स्वर्ग पाश रूप होकर दुराचारीको बांध देते हैं और उनसे बंधा हुआ वह मनुष्य आपत्तिमें पडता है। (मं. १)

६ यक्ष्मः - क्षय रोग, क्षीण करनेवाला रोग। (मं. ५)

७ दुरितं - (दुः+इत) जो दुष्टता अंदर घुसी होती है। मन बुद्धि इंद्रिय और शरीरमें जो विजातीय दुष्ट भाव या पदार्थ घुसे होते हैं जिनसे उक्त स्थानोमें बिगाड होकर कष्ट होते हैं उन का नाम दुरित है। यही पाप है (मं. ६)

८ अवद्यं - निंदा करने योग्य। जिनसे अधोगति होती हैं आपत्ति आती है, और कष्ट होते हैं उनका यह नाम है। (मं. ६)

९ ग्राही - जो जकड कर रखता है, छोडता नहीं, जिससे मुक्त होना कठीन है। शरीरमें संधिवात आदि रोग जो जोडों को जकड रखते हैं। मनमें विषयवासना आदि और बुद्धिमें आत्मिक निर्बलता आदि हैं। (मं. ६)

१० अराति - (अ+रातिः) अनुदारता, कृपणता, कंजूशी। (मं. ७)

११ तमः - अज्ञान, अंधकार, आलस्य। (मं. ८)

ये शब्द मनुष्यकी दुर्गतिका स्वरूप बता रहे हैं। इन शब्दोंका शारीरिक, इंद्रियविषयक, मानसिक, बौद्धिक और आत्मिक अवनतिके साथ संबंध यदि पाठक विचार पूर्वक देखेंगे तो उनको पता लग जायगा कि इस दुर्गतिका कितना बडा कार्य इस मानव समाजमें हो रहा है और इस अधोगतिसे बचनेके लिये कितनी दृढताके साथ कमर कसके तथा दक्षतासे कार्य करना चाहिये। मनुष्योंके मन बुद्धि चित्त अंहकार इंद्रियगण तथा शारीरिक व्यवहारमें इस दुर्गतिका नाना रूपोंका संचार देखकर विचारी मनुष्यका मन चक्करमें आता हैं और वह अपने कर्तव्यके विषयमें मोहित सा हो जाता है, उसको इस दुर्गतिके साम्राज्यसे बचनेका उपाय नहीं सुझता, ऐसी अवस्थामें यह सूक्त उस मूढ बने मनुष्यसे कहता है कि 'हे मनुष्य! क्यों मूढ बना है, मैं इस मार्गसे तुम्हें बचाता हूं और तुम्हें निर्दोष अर्थात् पवित्र भी बनाता हूं।' (मं. १)

एकमात्र उपाय।

आपत्तियां अनंत हैं। यद्यपि पूर्वोक्त ग्यारह शब्दोंद्वारा इस सूक्तमें आपत्तियोंका वर्णन किया गया है तथापि ग्यारह शब्दों द्वारा, मानो, अनन्त आपत्तियोंका वर्णन हो चुका है। इन अनन्त क्लेशोंसे बचनेका एकमात्र उपाय है और वह इस सूक्त के हर एक मंत्रने 'ब्रह्म' शब्दसे बताया है। प्रत्येक मंत्रमें -

मुञ्चामि त्वा ब्रह्मणा अनागसं कृणोमि।

'.... तुम्हें छुडाता हूं .... और तुम्हें ज्ञानसे निर्दोष करता हूं।' यह वाक्य पुनः पुनः कहा है। वारंवार कहनेके कारण इस बातपर विशेष बल दिया है यह स्वयं स्पष्ट है। दुर्गतिसे मनुष्यका बचाव करनेवाला एक मात्र उपाय 'ब्रह्म' अर्थात् 'सत्यज्ञान' ही है। ज्ञानसे ही मनुष्य बच सकता है और अज्ञानसे गिरता जाता है। जो उन्नति, जो प्रगति, जो बंधनसे मुक्ति होनी है वह ज्ञानसे ही होनी है। परम पुरूषार्थ द्वारा अपना उत्कर्ष साधन करना भी ज्ञानसे ही साध्य हो सकता है। ज्ञानहीन मनुष्य किसी भी प्रकार उन्नति नहीं कर सकता।

ज्ञानका फल।

ज्ञानसे क्या क्या हो सकता है इसका वर्णन करना कठिन है, क्योंकि ज्ञानसे ही सब कुछ उन्नति होती है। कोई उच्च ध्येय ऐसा नहीं है कि जो बिना ज्ञानके सिद्ध हो सकता है। तथापि इस सूक्तमें ज्ञानसे जो कुछ सिद्ध किया जा सकता है उसका संक्षेपसे वर्णन किया है। अब इसी बातका विचार करेंगे। सत्यज्ञानका पहिला फल यह है -

१ उभे द्यावापृथिवी ते शिवे स्ताम्। (मं. १)

'द्युलोक और पृथ्वी लोक ये तेरे लिये कल्याणकारी शुभ हो' अर्थात् जो सत्यज्ञानसे युक्त है उसके लिये पृथ्वीसे लेकर द्युलोक पर्यंतके सब पदार्थ शुभकारी होंगे। पृथ्वीसे लेकर द्युलोक पर्यंतके सम्पूर्ण पदार्थ अपने लिये कल्याणकारी बनानेकी विद्या अकेले ज्ञानी मनुष्यको ही साध्य होती है। पाठक विचार करेंगे तो उनको पता लग जायगा, कि यह बडी भारी प्रबलशक्ति है कि जो ज्ञानीको प्राप्त होती है। तृणसे लेकर सूर्य पर्यंतके सब पदार्थ उसके वशवर्ती होकर उसका हित करने में तत्पर रहते हैं। यह अद्भुत सामर्थ्य ज्ञानीही प्राप्त करता है।

२) अद्भिः सह अग्निः शम् ॥(मं. २)

'जलोंके साथ अग्नि कल्याणकारी होता है' ज्ञानी मनुष्य ही जलसे तथा अग्नि से-दोनोंके संयोगसे या वियोगसे अपना लाभ कर सकता है, जनताका भला कर सकता है।

३) औषधीभिः सह सोमः शम्। (मं. २)

'औषधियोंके साथ सोम सुखकारी होता है।' सोम एक बडी भारी प्रभावशाली औषधि है, यह वनस्पति सब औषधियोंका राजा कहलाती है। सोम और औषधियों से प्राणिमात्र का हित साधन करनेका ज्ञान वैद्यशास्त्र में कहा है। नानाप्रकार के रोग दूर करनेके विविध औषधियोग उस शास्त्र में कहे हैं और यह विद्या आजकल प्रचलित भी है। इसलिये इस विषयमें अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं है। पूर्वोक्त कष्टोंमें जो रोगविषयक कष्ट होते हैं, वे सब इस विद्यासे दूर होते हैं। जलचिकित्सा और अग्निचिकित्सा भी इसी मे संमिलित है।

३) अन्तरिक्षे वातः वयंः शं धात्। (मं. ३)

'अंतरिक्षमें संचार करनेवाला वायु आरोग्य पूर्ण सुख देनेवाला होता है।' विद्यासे ही वायु लाभकारी हो सकता है। योगसाधनका प्राणायाम इस विद्याका द्योतक है। प्राणायाम करनेवाले योगी वायुसे अत्यधिक बल प्राप्त करते हैं और दीर्घजीवी होते हैं। आरोग्य शास्त्रके सब नियम इस ज्ञानमें संमिलित हैं। वायुशुद्धि द्वारा आरोग्य साधन करने का विषय इसमें आता है। रोगनिवारक तथा रोग प्रतिबंधक होम हवन यज्ञ याग इस विद्याके प्रकाशक है।

४) देवीः चतस्रः प्रदिशः वातपत्नीः ते शम्। (मं. ३,४)

'दिव्य चारो दिशाएं, जिनमें वायुका पालन होता है, तेरे लिये सुखकारक होंगे।' चार दिशाएं और चार उपदिशाएं अर्थात् उनके अंदर रहनेवाले सब पदार्थ ज्ञानिसे ही मनुष्यके लिये लाभकारी होते हैं। इसका भाव पूर्ववत् ही समझना योग्य हैं।

५) सूर्यः अभिविचष्टे। (मं. ४)

'सूर्य जो चारों और प्रकाशता है' वह भी ज्ञानसे तेरे लिये अनुकूल हो सकता है। सूर्य प्रकाशसे मनुष्य मात्रको अनंत लाभ होते हैं। इस विद्याको जो जानते हैं वे इससे अपना लाभ कर सकते हैं।

६) त्वा जरसि अन्तः आदधामि। (मं.५)

'तुझे अतिवृद्ध आयुके अंदर धारण करता हूं' अर्थात् ज्ञानसे तेरी आयु अति दीर्घ हो सकती है। ज्ञानसे जीवनके सुनियम ज्ञात होते हैं और उनके पालनसे मनुष्य दीर्घायु हो जाता है।

७) यक्ष्मः निर्ऋतिः पराचैः एतु। (मं. ५)

'यक्ष्मा आदि रोग तथा अन्यान्य आपत्तियां ज्ञानसे दूर होंगी।' ज्ञानसे आरोग्य संपादन के सत्य नियम ज्ञात होते हैं और उनके पालन से मनुष्य नीरोग होकर सुखी होता है।

८) यक्ष्मात्, दुरितात्, अवद्यात्, द्रुहः, पाशात्, ग्राह्याःच अमुक्थाः, अदमुक्थाः। (मं.६)

'ज्ञानसे यक्ष्म, रोग, पाप, निंद्य कर्म, द्रोह, बंधन, जकडना आदिसे मुक्ती होती है।' अर्थात् इनके कष्ट दूर होते हैं। यह बात पाठकोंके ध्यानमें पूर्ववत् आजायगी।

(९) स्योनं अविदः (मं. ७)

'सुख प्राप्त होगा ज्ञानसे ही उत्तम और सत्य सुख प्राप्त होगा। पृथ्वीसे लेकर द्युलोक पर्यन्तके संपूर्ण पदार्थ

ज्ञानसे वशवर्ती होते है और उस कारण सुख प्राप्त होता है। यह मानवी अभ्युदय की परम सीमा है। इसको कहते है

१०) सुकृतस्य भद्रे लाके अभूः। (मं. ७)

'सुकृतके कल्याण पूर्व स्थानमें निवास होगा।' ज्ञान सेही सुकृत किये जायंगे और उन सुकृतोंके कारण मनुषअयकी उत्तम गति होगी, उसको श्रेष्ठसे श्रेष्ठ अवस्था प्राप्त होगी। ज्ञानसे ही सब जनताकी इतनी उन्नति होगी कि यही भूलोक स्वर्गधाम बन जायगा। सत्य ज्ञानके प्रचारसे इतना लाभ है इसलिये हरएक वैदिकधर्मी आर्यकों सत्यज्ञान प्राप्त करके उसका प्रचार करना चाहिये।

सत्य ज्ञानके ये दस फल इस सूक्तमें कहे हैं। सब उन्नतिका यह मुख्य साधन है। इसके बिना अन्य साधन रहे तो भी उनसे कोई लाभ नही होगा। इसलिये पाठक ज्ञानको उन्नति का मुख्य साधन मानकर ज्ञानार्जन और ज्ञानदान के विषयमें परिश्रम करें। अब इस सूक्तमें जो उन्नतिका मार्ग बताया है वह यहां देखिये -

उन्नतिका मार्ग।

अष्टम मंत्रमें एक विलक्षण अपूर्व अलंकार के द्वारा उन्नतिका मार्ग दर्शाया है वह भी यहां अब देखना चाहिये -

तमसो ग्राह्या अधिमुञ्चतः देवाः ऋतं सूर्य एनसः असृजन्॥ (मं. ८)

'जिस प्रकार अंधकारकी पकडसे छुडाते हुए सब देव स्वयं उठनेवाले सूर्यको अधोअवस्थासे ऊपर प्रकट करते हैं।'

अलंकार की भाषा।

इस अष्टम मंत्रमें एक अलंकार है। सूर्य और अन्य देवोंका अन्योक्ति अलंकार से रूपक बनाकर यहां वर्णन किया है। वेदमें सूर्य और चन्द्र विषयक कई रूपक आते हैं उनमें यह विशेष महत्त्व का रूपक है। यह रूपक इस प्रकार देखना चाहिये -

'चन्द्र रूपी पुत्रका पालन रात्री नाम्री माता करती है और सूर्य रूपी बालक का पालन दिनप्रभा नाम्री माता करती है। प्रारंभमें सूर्य अंधेरेमें दबा रहता है, उसी प्रकार चंद्र भी गाढ अंधकार में दबा रहता है। मानो इसको मार्ग दिखानेका कार्य अन्य देव अर्थात् सब नक्षत्र, द्युपिता, वायु, आदि संपूर्ण देवताएं करती है। सूर्य स्वयं ऊपर उठनेका यत्न करता ही रहता है, अंतमें वह ऊपर आता है, उदय को प्राप्त होता है, प्रतिक्षण अधिकाधिक चमकने लगता है और मध्यान्हमें ऐसा चमकता है कि उस समय उसके अप्रतिम तेजको कोई सहन कर नहीं सकता। इसी प्रकार चन्द्र भी अपनी क्षयी अवस्थासे प्रगति करता हुआ पूर्णिमामें अपना पूर्ण विकास करता है।'

अपने प्रयत्नसे उन्नति करनेवाले की इस ढंगसे उन्नति होती है, यह दर्शाना इस रूपक का प्रयोजन है। जो स्वयं यत्न नहीं करेंगें उनकी उन्नति होना कठिन है। दूसरोंकी सहायता भी तब तक सहायक नहीं होती जब तक कि अपना प्रयत्न उसमें संमिलित नहीं होता। यह उन्नतिका मूल मंत्र है।

स्वकीय प्रयत्न।

इस मंत्रमें 'ऋतं सूर्यं देवाः तमसः मुञ्चतः' अर्थात् 'स्वयं चलनेवाले सूर्य को ही देव अंधकारसे छुडा सकते हैं' ऐसा कहा है। यदि सूर्यमें स्वयं अपना प्रयत्न न होता तो वे उसकी अंधकारसे मुक्त कर नहीं सकते। इसी प्रकार मनुष्य भी जो स्वयँ अपने उद्धारका यत्न रातदिन करता रहता है, उसीको अन्य गुरूजन सहाय्यकारी होते हैं।

इस दृष्टिसे विचार करनेपर पता लग सकता है कि इस मंत्रमें 'ऋत' शब्द बहुत महत्त्वका भाव बता रहा है, देखिये इसका आशय। ऋत - "योग्य, ठीक, सत्य हलचल करनेवाला, गतिमान्, प्रयत्नशील, यज्ञ, सत्य नियम, ईश्वरीय नियम, मुक्ति, बंधननिवृत्ति, कर्मफल, अढल विश्वास, दिव्य सत्यनियम।'

जो (ऋतं) सत्य नियम पालन करता है, वही अंधकारसे परे जा सकता है, और जो स्वयं प्रयत्न करता है उसीको दूसरे सहायता कर सकते हैं। सूर्य स्वयं प्रकाशमान है, उदय होना चाहता है, नियम पूर्वक प्रयत्नशील है, इसलिये उदयंको प्राप्त होकर ऐसा तेजस्वी बनता है, कि तब अन्य तेज उसके सामने फीके हो जाते हैं। जा मनुष्य ऐसा प्रयत्न करेगा वह भी वैसा ही प्रभावशाली बनेगा।

वायु जल नक्षत्र आदि जगत्के देव, विद्वान शूर आदि मानवोंके अंदरके देव, तथा इंद्रियगण ये शरीरस्थानीय देव उसी

पुरूष की सहायता करते हैं कि जो स्वयं सत्यनियम पालनमें सदा दक्ष रहता है और स्वयं अपने पुरूषार्थसे अपनी उन्नति करनेका प्रयत्न करता रहता है । पापसे मुक्त होकर निर्दोष बनना, पारतंत्र्यके बंधसे मुक्त होकर स्वयं शासित होना, रोगमुक्त होकर नीरोग होना, अपमृत्युके बंधनसे छूटकर दीर्घायु होना आदि सबके लिये स्वयं 'ऋत - गामी' होना अत्यंत आवश्यक है । यही ऊपरके मंत्रमें 'ऋतं' शब्द द्वारा बताया है । जो ऋत - गामी होता है वही बंधनोंको निवृत्त कर सकता है, पापोंको दूर कर सकता है और सूर्यके समान अपने तेजसे प्रकट हो सकता है । इस प्रकार यह मंत्र अत्यंत महत्त्व पूर्ण उपदेश दे रहा है, इसलिये इस दृष्टिसे पाठक इसका अधिक विचार करें ।

प्रार्थना का बल ।

वेदमें 'ब्रह्म' शब्दका दुसरा अर्थ 'स्तोत्र, स्तुति, प्रार्थना' भी है । जो प्रार्थना वाचक वैदिक सूक्त है उनके पुरुष व्यत्ययसे दूसरे भी अर्थ होते हैं, परन्तु उनका स्तुत्यर्थ या प्रार्थनारूप अर्थ हटाया नहीं जा सकता । 'ईश प्रार्थना' से बल प्राप्त करना या अपने बलका विकास करना, प्रार्थनासे आत्मिक बल प्राप्त करना, वैदिक धर्मका प्रधान अंग है। इसलिये प्रारंभ से अंत तक वेदके सूक्तोमें सहस्रो सूक्त प्रार्थना के है । जो लोग एकान्तमें जाकर दिल खोलकर ईश प्रार्थना करना जानते हैं वेही प्रार्थना का महत्त्व समझ सकते हैं, अन्य लोग उसकी शक्ति नहीं जान सकते । इस लिये यहां कहना इतना ही है कि रोगादि आपत्तियोंकी निवृत्तिके लिये जितना उपयोग औषधादि प्रयोगों का हो सकता है उससे कई गुणा अधिक लाभ 'ईश प्रार्थना' से हो सकता है । यह मानों एक प्रार्थना योग ही है । 'औषधि योग' से 'प्रार्थना योग' अधिक बलवान है । दुःखकी बात आजकल यही हो रही है कि, लोग प्रार्थना का महत्त्व नही समझते और उस से होनेवाले लाभसे वंचित ही रहते हैं। यह बडी भारी हानि है ।

इस सूक्तमें 'ब्रह्म' शब्द विशेष कर स्तोत्र वाचक ही है । ईश गुणवर्णन, ईश गुणगान करते करते जिसका मन प्रभुके गुणोमें तल्लीन हो जाता है वह संपूर्ण आपत्तियोंसे दूर हो जाता है, क्योंकि वह उससमय अद्भुत अमृत रस का आस्वाद लेता हुआ दुःख मुक्त हो जाता है । पाठक इस दृष्टिसे इस बातका विचार करें और अनुभव भी लें।

मनको धीरज देना ।

वेदमें 'मैं छुडाता हूं' इत्यादि प्रकार कई वाक्य हैं 'वे वाक्य मानस चिकित्सा' या 'वाचिक चिकित्सा' के सूचक हैं । अपने अंदरके आरोग्य पूर्ण विचार अपनी मानस शक्तिकी प्रेरणासे अपने शब्दों द्वारा रोगीके निर्बल मनमें प्रविष्ट करनेसे यह चिकित्सा साध्य होती है । इसमें रोगीके निर्बल मनको धीरज देना होता है । इस समय -

१ त्वा क्षत्रियात् ... मुचामि । (मं.१)
२ त्वा ब्रह्मणा अनागसं कृणोमि । (मं. १)
३ त्वा जरसि अन्तः आदधामि । (मं. ५)
४ यक्ष्मात् अमुक्थाः (मं.६)
५ ग्राह्याः उदमुक्थाः ।(मं. ६)

ऐसे वाक्य बोलके रोगीके धीरज देना होता है जैसा '-(१) तुझको क्षेत्रिय रोगसे मुक्त करता हूं । (२) तुझे ईश प्रार्थनाद्वारा निर्दोष करता हूं । (३) तुझको अति दीर्घ आयुवाला करता हूं । (४) तू अब यक्ष्म रोगसे मुक्त हुआ है । (५) जकडनेवाले रोगसे तू अब पार हो गया है'। इत्यादि प्रकारके वाक्योंसे रोगीको धीरज देकर उसके मनका आत्मिक बल बढाकर और उसमें दृढ विश्वास पैदा करके आरोग्य उत्पन्न करना होता है । यह बडा भारी गहन विषय है । जो पाठक ईश प्रार्थना का बल जानते हैं, वेही इस बातको समझ सकते हैं ।

परमेश्वर पर जो दृढ विश्वास रखते हैं, उसकी उपासना करते हैं, उसकी भक्ति करने में जिनको प्रेम आता है, उनके पास बीमारियां कम आती है । पाठक देखेंगे तो उनको पता लग जायगा कि परमेश्वर के विश्वासी प्रायः आनंद में मस्त रहते हैं और अविश्वासी ही रोगी होते हैं ।

पाठक यह विश्वास का बल अपने में बढावें और अपना अत्याधिक लाभ करें ।

यह सूक्त भी तक्मनाशन गण का है और वह इस गणके अन्य सूक्तों के साथ पढने योग्य है ।

आत्माके गुण

(११)

(ऋषिः - शुक्रः । देवता - कृत्यादूषणम्)

दूष्या दूषिरसि हेत्या हेतिरसि मेन्या मेनिरसि । आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम ॥१॥
स्रक्त्यो॑ऽसि प्रतिसरो॑ऽसि प्रत्यभिचरणोऽसि । आप्नुहि० ॥ २ ॥
प्रति तमभि चर योई॒स्मान्द्वेष्टि यं व॒यं द्विष्मः । आप्नुहि० ॥ ३ ॥
सूरिरसि वर्चोधा असि तनूपानोऽसि । आप्नुहि० ॥ ४ ॥
शुक्रो॑ऽसि भ्राजो॑ऽसि स्वरसि ज्योतिरसि । आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम ॥ ५ ॥

अर्थ - **(दूष्याः दूषिः असि)** दोष को दूषित करनेवाला अर्थात् दोषका दोषीपन हटानेवाला तू है । **(हेत्याः हेतिः असि)** हथियारका हथियार तू है । **(मेन्याः मेनिः असि)** वज्रका वज्र तू है । इसलिये **(श्रेयांस आप्नुहि)** परम कल्याणको प्राप्तकर और **(सभं अतिक्राम)** अपने समानसे अधिक आगे बढ ॥१॥

(चक्त्यः असि) तु गतिशील है, **(प्रतिसरः असि)** तू आगे बढनेवाला है, **(प्रत्याभिचरणः असि)** तू दुष्टतापर हमला करनेवाला है ।० ॥२॥

(तं प्रति अभिचर) उसपर चढाईकर कि **(यः अस्मान् द्वेष्टि)** जो अकेला हम सबका द्वेष करता है तथा **(यं वयं द्विष्मः)** जिस अकेलेका हम सब द्वेष करते हैं ।० ॥३॥

(सूरिः असि) तू ज्ञानी है, **(वर्चोधाः असि)** तू तेजका धारण करनेवाला है तथा **(तनू पानः असि)** शरीरका रक्षक तूही है ।० ॥४॥

(शुक्रः असि) तू वीर्यवान् अथवा शुद्ध है, **(भ्राजः असि)** तू तेजस्वी है, **(स्वः असि)** तू आत्मिक शक्ति से युक्त है, **(ज्योतिः असि)** तू तेज स्वरूपी है इसलिये तू श्रेय प्राप्त कर और समानोंके आगे बढ ॥५॥

भावार्थ - आत्मा दोषोंका दोष हटानेवाला है, वही शस्त्रोंका महाशय और अस्त्रोंका महा अस्त्र है ।० ॥१॥

आत्मा प्रगति करनेवाला है, आगे बढनेका उसका स्वभाव है, और दुष्टताका दूर करनेवाला है ।० ॥२॥

जो अकेला दुष्ट सब सज्जनोंको सताता है, और जिस अकेले दुष्टका सब सज्जन विरोध करते हैं । उसको हटा दे ।० ॥३॥

तू ज्ञानी है, तेजका धारक है, शरीरका रक्षक तूही है ।० ॥४॥

तूही बलवान् है, तूही तेज है तथा आत्मिक बलसे युक्त है, तू स्वयं प्रकाशरूप है, इसलिये तू समान लोगोंके आगे बढ और निःश्रेयस अर्थात् मुक्ति प्राप्त कर ॥५॥

शरीरमें आत्माका कार्य ।

सगुणसाकार शरीरमें निर्गुण निराकार आत्माके गुण प्रत्यक्ष करनेका उपदेश इस सूक्तमें किया है । ये गुण अब देखिये-

(१) दूष्याः दूषिः असि - दोषमय को दोष देनेवाला अर्थात् दोषका दूर करनेवालाहै । देखिये, अपने शरीरमें ही इस बातका अनुभव लीजिये । अपना शरीर मलपूर्ण होता हुआ भी उसको जीवित रखता है और इसीका नन्दनवन इसने बनाया है । सडनेवाले शरीरको न सडानेवाला, मरनेवाले शरीरको जीवित रखनेवाला, दोषमय शरीरसे निर्दोष आनंदधाम प्राप्त करनेवाला यह आत्मा है । (मं.१)

(२) हेत्याः हेतिः, मेन्याः मेनिः असि - शस्त्रोंका शस्त्र और वज्रका वज्र यह आत्मा है । शत्रुका नाश शस्त्र करता है परंतु शस्त्रको चलानेवाला अर्थात् शस्त्रका भी शस्त्ररूप यह आत्मा शस्त्रके पीछे न होगा, तो शस्त्र कैसे शत्रुका नाश करेगा ? इससे आत्माकी प्रेरक शक्तिका महत्त्व ज्ञात हो सकता है । (मं. १)

(३) स्रक्त्यः असि - आत्मा गतिमान है । 'अत - सातत्यगमने' (सतत गति करना) इस धातुसे यह आत्मा शब्द बनता है। सतत प्रयत्नशीलताका वह द्योतक है । वही भाव इस शब्दमें हैं । छोटे बालकमें क्या अथवा बडे मनुष्यमें क्या सतत प्रयत्नशीलता है । कोई भी चुपचाप बैठना नहीं चाहता, उद्योगसे अपनी उन्नति करनेकी इच्छा हरएक प्राणीमें स्पष्ट हैं । (मं.२)

(४) प्रतिसरः असि - आगे बढनेवाला, शत्रुपर हमला करके उसको दूर करनेवाला, अपना अभ्युदय करनेवाला है । आत्मा 'इन्द्र' है और वह सदा अपने शत्रुका पराभव करता ही है । (मं. २)

(५) प्रत्यभिचरणः असि - दुष्ट शत्रुको पराभूत करनेवाला । (यह शब्द भी पूर्व शब्दके समान भाववाला ही है ।) (मं.२)

यहां तक इन दो मंत्रोंके इन पांच शब्दों द्वारा आत्माके उन गुणोंका वर्णन हुआ है कि जिनका बाहरके शत्रुओंसे संबंध है । अब आत्माके आन्तरिक स्वकीय निज गुणोंका वर्णन चतुर्थ और पंचम मंत्रके द्वारा करते हैं -

(६) सूरिः असि - तू ज्ञानी है । आत्मा चित्स्वरूप होनेसे ज्ञानवान है, अत एव उसे यह शब्द प्रयुक्त हुआ है । (मं.४)

(७) वर्चो - धाः असि - तेज बल ओज आदिका धारण करनेवाला है । शरीर में जब तक आत्मा रहता है तब तक ही इस शरीर में तेज बल ओज आदि रहता है, यह हरएक जान सकते हैं । (मं. ४)

(८) तनू - पानः असि - शरीरका रक्षक है । जबतक आत्माका निवास इस शरीरमें रहता है तबतक ही शरीरकी रक्षा उत्तम प्रकार होती है । जब यह आत्मा इस शरीरसे चले जाता है तब शरीर सडने लगता है । इससे स्पष्ट होता है कि शरीरका सच्चा रक्षक यह आत्मा है । (मं.४)

(९) शुक्रः असि - वीर्यवान्, बलवान् तथा शुद्ध है । आत्माको ही 'शुक्रं' (यजु० ४०।८ में) कहा है । इसलिये इसका अधिक विवरण करना आवश्यक नहीं है । (मं. ४)

(१०) भ्राजः असि - तेजस्वी है अर्थात् दूसरोंको प्रकाश देनेवाला है । आत्मा ही सबका प्रकाशक है, यह मध्यमें रहता हुआ सबको तेजस्वी बनाता है । (मं. ५)

(११) स्वः असि - आत्मिक बलसे युक्त है (स्व+र्) अपने निज बलसे युक्त है । अर्थात् यह स्वयं प्रकाश है । (मं.५)

(१२) ज्योतिः असि - स्वयं ज्योति है । प्रकाश स्वरूप है । (मं. ५)

ये सब शब्द आत्माका स्वभाव धर्म बता रहे हैं । मनुष्य स्वयं अपने आपको अत्यंत निर्बल, कमजोर और पूर्ण परावलंबी मानता है और अज्ञानसे वैसा अनुभव भी करता रहता है । इस सूक्तने आत्माके स्वभावगुणधर्म बताये हैं । जिनके विचारसे पाठकोंका निश्चय होगा कि यह आत्मा निर्बल नहीं है । इसमें भी वैसेही प्रभावशाली गुणधर्म है। जैसे परमात्मामें हैं । यह आत्मा ज्ञानी, पुरूषार्थी, प्रयत्नशील, स्वयंज्योति, प्रभावशाली, बलवान्, तथा शरीर रक्षक है । इसलिये अपने आपको सदा सर्वदा कमजोर मानना और समझना योग्य नहीं ।यद्यपि यह छोटा है तथापि इसकी शक्ति विकास की मर्यादा बहुत ही बडी है ।

जिस समय अपने अंदर निर्बलताकी लहर आती है, उस समय यदि पाठक इस सूक्तका मनन करेंगे और इन शब्दोंके भावोंको अपने आत्मामें प्रत्यक्ष देखेंगे, तो उनके मनकी कमजोरी दूर हो जायगी और वे इस सूक्तके बलसे निःसंदेह ही अभ्युदय निःश्रेयस प्राप्त करने योग्य बलवान् बन जायंगे । आत्मशक्तिका वर्णन करनेवाले जो अनेक

सूक्त हैं उनमें यह विशेष महत्त्वका सूक्त है। यह अत्यंत सरल और बडा भावपूर्ण होनेसे बहुत मनन करने योग्य हैं। यह सूक्त निर्बलोंको भी बलवान् बना सकता है।

चतुर्थ मंत्रमें कहा है कि 'उस शत्रुको दूर कर, जो अनेकों को सताता है।' इस मंत्रमें यह बात विचार करने योग्य है, कि शत्रुता करनेवाला एक है, सतानेवाला एक है और सताये जानेवाला अनेक हैं। अल्प संख्यावालों के द्वारा बहुसंख्यावालों को कष्ट होनेकी कल्पना इसमें हैं। ऐसे प्रसंगमें शत्रुको दूर करना ही योग्य है। जो दुर्जन अनेक सज्जनों को सताता है वह निःसंदेह दण्डनीय हैं।

श्रेयः प्राप्ति।

इस सूक्तके प्रत्येक मंत्रका द्वितीय चरण एकसा ही है। वह यह हैं -

आप्नुहि श्रेयासं समं अतिकाम ॥(मं. १-५)

'समान लोगोंके आगे बढ और परम कल्याण प्राप्त कर' यह इस वाक्यका सार है। 'श्रेय प्राप्त कर' यह तो वैदिकधर्म का ध्येय है, मुक्ति, मोक्ष, निर्वाण, श्रेय, निःश्रेयस आदि शब्द एक ही भाव बता रहे हैं। वैदिक धर्मने यही ध्येय सबके सामने रखा है। इस ध्येय की सिद्धि प्राप्त करनेके लिए ही इस सूक्तने आत्माके गुण उपासकोंको निवेदन किए हैं। इन गुणोंका मनन करता हुआ आत्मा उन्नतिके पथसे आगे बढता हुआ निःश्रेयस तक पहुंच जाय। इसका मार्ग यह है -

उन्नतिका मार्ग

इसकी उन्नतिका मार्ग एक ही वाक्यसे बताया है वह चिरस्मरणीय वाक्य यह है - -

समं अतिक्राम। (मं. १-५)

'अपने समान योग्यता वाले लोगोंके आगे बढा' यह मार्ग है। जब यह प्रथम श्रेणीमें पढता हो तो यह विचार मनमें रखे कि प्रथम श्रेणीमें रहनेवालोंके आगे बढूँ, जब द्वितीय श्रेणीमें पहुंचे तब यही विचार मनमें धारण करे कि मैं द्वितीय श्रेणीवालोंके आगे बढूँ। इस प्रकार अपनी श्रेणीवालोंसे आगे बढता हुआ यह अपनी उन्नतिका साधन करे।

अपनी उन्नतिका तो साधन हरएक को करना ही है, परंतु उस उन्नतिके साधन के लिये अपनी श्रेणीवालोंसे आगे बढनेका ध्येय सामने रखना ही उचित है। प्रथम श्रेणीमें पढनेवाला प्रथम श्रेणीवालोंसे आगे बढनेकी महत्त्वाकांक्षा मन में रखे, परंतु उस समय दशम श्रेणीसे आगे बढनेके विचार से अपना प्रथम श्रेणीसे कर्तव्य न भूले। प्रायः लोक असंभव ध्येय सामने रखकर अपने कर्तव्यसे वंचित रहते हैं। ऐसा कोई न करें, इस उद्देश्यसे यह मंत्र कह रहा है, कि अंतिम साध्य जो भी हो, उसका विचार न करते हुए, इस समय तुम जिस श्रेणीमें हो उस श्रेणीमें प्रथम स्थानमें स्थित रहकर, उस समय के अपने कर्तव्य परम दक्षतासे करो। इस प्रकार करते रहनेसे सबकी यथायोग्य उन्नति होती रहेगी और यथा समय सबभी उन्नतिके परम सोपानपर पहुंच जायंगे।

परंतु अपनी श्रेणीसे भिन्न श्रेणीवालोंसे स्पर्धा करते रहनेसे मनुष्यको सिद्धि मिलना कठिन होगा इतनाही नही परंतु अवनति होना ही अधिक संभव है। यदि छोटासा कुमार अपनी आयुवाले अन्य कुमारोंसे मल्लयुद्ध न करता हुआ यदि बडे पहिलवानोंसे मल्ल युद्ध करनेका साहस करेगा, तो न तो उसमें उसको सिद्धि मिल सकती है और नाही उसकी उन्नति हो सकती है। परंतु क्रमपूर्वक अपनी श्रेणीवालोंसे कुस्ती करता हुआ वह स्वयं आगे जाकर बडा मल्ल हो सकता है, इसी प्रकार अन्यान्य अभ्युदयोंके विषयमें समझना चाहिए। मुक्तिके पथके विषयमें भी यही मार्ग अधिक सुरक्षित है।

पाठक इसका अधिक विचार करें। हमारे विचार में यह उन्नतिके मार्गका उपदेश सबके लिये सर्वदा मनन करने योग्य है। अपनी अधोगति न होते हुए क्रमसे निःसंदेह उन्नतिकी प्राप्ति होना इसी मार्गसे साध्य है।

●●●

मनका बल बढाना ।

(१२)

(ऋषिः - भरद्वाजः । देवता द्यावापृथिव्यादिनानादैवतम् ।)

द्यावापृथिवी उर्व१न्तरिक्षं क्षेत्रस्य पत्न्युरुगायोऽद्भुतः ।
उतान्तरिक्षमुरु वातगोपं त इह तप्यन्तां मयि तप्यमाने ॥ १ ॥
इदं देवाः शृणुत ये यज्ञिया स्थ भरद्वाजो मह्यमुक्थानि शंसति ।
पाशे स बद्धो दुरिते नि युज्यतां यो अस्माकं मन इदं हिनस्ति ॥ २ ॥
इदमिन्द्र शृणुहि सोमप यत्त्वा हृदा शोचता जोहवीमि ।
वृश्चामि तं कुलिशेनेव वृक्षं यो अस्माकं मन इदं हिनस्ति ॥ ३ ॥
अशीतिभिस्तिसृभिः सामगेभिरादित्येभिर्वसुभिरङ्गिरोभिः ।
इष्टापूर्तमवतु नः पितॄणामामुं ददे हरसा दैव्येन ॥ ४ ॥

अर्थ - (द्यावापृथिवी) द्युलोक, और पृथिवी लोक, (उरू अंतरिक्षं) विस्तीर्ण आकाश, (क्षेत्रस्य पत्नी) क्षेत्रका पालन करनेवाली वृष्टि (अद्भुतः उरूगायः) अद्भुतः और बहुत प्रशंसनीय सूर्य (उत) और (वातगोपं उरू अन्तरिक्षं) वायुको स्थान देनेवाला अन्तरिक्ष आदि सब (मयि तप्यमाने) मैं तप्त होनेपर (इह ते तप्यन्तां) यहां वे सब सन्तप्त होवें ॥१॥

हे (देवाः) देवो! (ये यज्ञियाः स्थ) जो तुम सत्कार करने योग्य हो, वे सब (इदं शृणुत) यह सुनो, कि (भरद्वाजः मह्यं उक्थानि शंसति) बल बढाने वाला मुझको उत्तम उपदेश देता है। परंतु (यः अस्माकं इंद मनः हिनस्ति) जो हमारे इस मनको बिगाडता है, (सः दुरिते पाशे बध्दः नियुज्यताम्) वह पापके पाशमें बंधा जाकर नियममें रखा जावे ॥२॥

हे (सोम -ए इन्द्र) सोमपान करनेवाले इन्द्र ! (शृणुहि) सुन कि (यत् शोचता हृदा जोहवीमि) जो शोकपूर्ण हृदयसे मैं पुकारता हूं। (यः अस्माकं इदं मनः हिनस्ति) जो हमारा यह मन बिगाडता है, (तं) उसकी (वृक्षं कुलिशेन इव) वृक्षको कुठारीसे काटनेके समान (वृश्चामि) काट डालू ॥३॥

(तिसृभिः अशीतिभिः सामगेभिः) तीन छंदोसे अस्सी मंत्रोद्वारा सामगान करनेवालोंके साथ तथा (आदित्येभिः वसुभिः अङ्गिरोभिः) आदित्य वसु और अङ्गिरोंके साथ (पितॄणां इष्टापूर्तं नः अवतु) पितरों द्वारा किया हुआ यज्ञयागादि शुभ कर्म हमारी रक्षा करे । मैं (दैव्येन हरसा अमुं आददे) दिव्य क्रोध या बलसे इस को पकडता हूं ॥४॥

भावार्थ - द्युलोक, पृथ्वीलोक, अंतरिक्ष लोक तथा इस अवकाश में रहनेवाले सब लोक लोकान्तर मेरे अनुकूल हों अर्थात् मेरे संतप्त होनेसे वे संतप्त हों और मेरे शांत होनेपर वे भी शांत हो ॥१॥

हे सत्कार करने योग्य देवो ! सुनो। नियम यह है कि बल बढानेवाला ही दूसरों को उत्तम उपदेश करता है, परंतु बल घटानेवाला बुरे विचारों की प्रेरणासे मनको दूषित करता है, उस पापीको पकड कर बंधनमें रखना उचित है ॥२॥

हे इन्द्र ! सुन कि जो मनको बिगाडता है उसका नाश करना योग्य है यह बात मैं हृदयके जोशके साथ कहता हूं ॥३॥

द्यावापृथिवी अनु मा दीधीथां विश्वे देवासो अनु मा रभध्वम् ।
अङ्गिरसः पितरः सोम्यासः पापमार्छत्वपकामस्य कर्ता ॥ ५ ॥
अतीव यो मरुतो मन्यते नो ब्रह्म वा यो निन्दिषत्क्रियमाणम् ।
तपूंषि तस्मै वृजिनानि सन्तु ब्रह्मद्विषं द्यौरभिसंतपाति ॥ ६ ॥
सप्त प्राणानष्टौ मन्यस्तांस्ते वृश्चामि ब्रह्मणा ।
अया यमस्य सादनमग्निदूतो अरंकृतः ॥ ७ ॥
आ दधामि ते पदं समिद्धे जातवेदसि ।
अग्निः शरीरं वेवेष्ट्वसुं वागपि गच्छतु ॥ ८ ॥

अर्थ - **(द्यावापृथिवी मा अनुआदीधीथां)** द्युलोक और पृथ्वीलोक मेरे अनुकूल होकर प्रकाशित हों । हे **(विश्वे देवासः)** सब देवो ! **(मा अनु आ रभध्वं)** मेरे अनुकूल होकर कार्यारंभ करो । हे **(अङ्गिरसः सोम्यासः पितरः)** अंगिरस सोम्य पितरो । **(अपकामस्य कर्ता पापं आ ऋच्छतु)** अनिष्ट कार्यका करनेवाला पापको प्राप्त हो ॥५॥

हे **(मरुतः)** मरूतो! **(यः अतीव मन्यते)** जो अपने आपको ही बहुत भारी समझता रहे, **(यः वा नः क्रियमाणं ब्रह्म निन्दिषत्)** अथवा जो हमारे किये जानेवाले ज्ञान की निंदा करे । **(वृजिनानि तस्मै तपूंषि तन्तु)** सब कार्य उसके लिये तापदायक हो । तथा **(द्यौः ब्रह्मद्विषं संतपाति)** द्युलोक उस ज्ञानविरोधीको बहुत ताप देवे ॥६॥

(ते तान् सप्त प्राणान्) तेरे उन सात प्राणों को और **(अष्टौ मन्यः)** आठ मज्जाग्रंथियों को मैं **(ब्रह्मणा वृश्चामि)** ज्ञानके शस्त्रसे छेदता हूं या खोलता हूं । तू **(अग्निदूतः अरंकृतः यमस्य सादनं अयाः)** अग्निका दूत बनकर सिद्ध होकर यमके घरमें जा ॥७॥

(समिद्धे जातवेदसि) प्रदीप्त अग्निमें **(ते पदं आदधामि)** तेरा स्थान रखता हूं । **(अग्निः शरीरं वेवेष्टु)** यह अग्नि शरीर में प्रवेश करे **(वाक् अपि असुं गच्छतु)** वाणी भी प्राण को प्राप्त हो ॥८॥

भावार्थ - जिसमें तीन छन्दो के अस्सी मंत्रों द्वारा सामगान करते हैं, उस यज्ञमें वसु रूद्र आदित्यों के साथ पितरों द्वारा किया हुआ यज्ञ यागादि शुभ कर्म हमारा रक्षक होवे । उस सत्कर्मसे हमारा मन शुद्ध रहे । जो पापी हमारा मन निर्बल करनेका यत्न करता है उसको मैं दिव्य बलके साथ पकडता हूं ॥४॥

द्युलोक और भूलोक के अंतर्गत सब वस्तुमात्र मेरे अनुकूल हों, सब अग्न्यादि देव मेरे अनुकूल कार्य करें । हे पितरो! अनिष्ट कार्य करनेवाला पापी बनकर पतित होवे ॥५॥

हे मरूतो ! जो घमंडी मनुष्य अपने आपको ही सबसे बडा समझता है, इतना ही नहीं परंतु हम जो ज्ञान संग्रह करते है उसकी भी जो निंदा करता है, उसको सब कर्म कष्टप्रद हों, क्योंकि जो सत्यज्ञानका विरोध करता है उसको द्युलोक बहुत ताप देगा ॥६॥

तेरे सातों प्राणोंको और आठों मज्जास्थानोंको मैं ज्ञानसे खोलता हूं, तू अग्निदूत बनकर यमके घर जा ॥७॥

इस प्रदीप्त ज्ञानाग्निमें मैं तेरा स्थान रखता हूं । यह अग्नि तेरे अंदर प्रविष्ट होवे और तेरी वाणी भी प्राण को प्राप्त होवे ॥८॥

मानस शक्तिका विकास ।

मनकी शक्तिसे मनुष्य की योग्यता निश्चित होती है । जिसका मन शुद्ध और पवित्र वह माहात्मा होता है और जिसका मन अशुद्ध और मलीन विचारोंवाला वह दुष्ट कहलाता है । इसके पूर्व सूक्तमें आत्माके गुण वर्णन करने

द्वारा आत्मिक बल बढाने का उपाय कहा, उसी की पूर्ति करने के लिये इस सूक्तमें मानसिक शक्ति विकास का उपाय बताया है, क्योंकि आत्मिक शक्ति विकास के लिये मानसिक शुद्धताकी भी अत्यंत आवश्यकता है। मन मलिन रहा तो आत्मिक बल बढ ही नहीं सकता।

मानस शक्ति विकासके साधन।

त्यागभाव।

मानसिक बल बढानेवालेका नाम इस सूक्तमें 'भरद्वाज', अर्थात् (भरत्+वाजः'-वाजः+भरत्) बल भरनेवाला कहा है। 'वाजः' का अर्थ घी, अन्न, जल, प्रार्थना, अर्पण, यज्ञ, शक्ति, बल, धन, वेग, गति, युद्ध,शब्द' यह है। इसमें घी, अन्न, जल ये पदार्थ शारीरिक बल की पुष्टि करनेवाले हैं, परंतु येही शुद्ध सात्विक सेवन किये जांय तो मनको भी सात्विक बनाते हैं। जल प्राणां के बलके साथ संबंधित है। धन आर्थिक बलका द्योतक है। अर्पण, आत्मसमर्पण,यज्ञ जिसमें आत्मसर्वस्वकी आहुति देना प्रधान अंग होता है, ये यज्ञरूप कर्म आत्मिक बल बढाते हैं। युद्ध क्षात्र बल बढाता है। परमेश्वरकी प्रार्थना मानसिक बलकी वृद्धि करती है। वाज शब्दके जितने अर्थ हैं इनकी संगति इस प्रकार है। यहां बल बढानेवाले साधनोंका भी ज्ञान हुआ। पाठक यदि इस बातका विचार करेंगे तो उनको इससे अपना बल बढानेके उपाय ज्ञात हो सकते हैं। यह बल जो भर देता है, उसका नाम 'भरद्-वाजः' होता है। यह भरद्वाज आत्मिक बल बढाने का साधन इस प्रकार सब को कथन करता है -

शुभवचन।

भरद्वाजः मह्यं उक्थानि शंसति ॥(मं. २)

'बल बढानेवाला मुझे सूक्त कहता है' अर्थात् उत्तम वचन अथवा ईश गुणगानके स्तोत्र कहता है। ये शुभवचन कहनेसे, इनका मनन करनेसे, इनको अपने मनमें स्थिर करनेसे ही मनकी शक्ति बढ सकती है।परमेश्वर भक्ति, उपासना, सद्वचनका मनन यहीं सूक्तशंसन है। इससे मनकी पवित्रता होने द्वारा मानसिक शक्ति विकसित होती है।

ज्ञान।

इस 'ज्ञानाग्नि' को ही 'जात - वेद अग्नि' कहते हैं, जिससे वेद प्रकट हुआ है वही अग्नि जातवेद है। जिससे ज्ञान प्रकाशित हुआ है वही यह अग्नि है। इसीको ज्ञानाग्नि, ब्रह्माग्नि, आत्माग्नि, जातवेद, आदि अनेक नाम हैं। मानसिक शक्ति विकास, या आत्मिक बल वृद्धि करनेकी जिसको इच्छा है, उसको इस अग्निकी शरण लेना योग्य है। इस विषयमें अष्टम मंत्रमें कहा है -

आ दधामि ते पदं समिद्धे जातवेदसि।
अग्निः शरीरं वेवेष्ट्वसुं वागपि गच्छतु ॥(मं. ८)

"इस प्रदीप्त जातवेद नामक ज्ञानाग्निमें तेरा पांव मैं रखता हूं। यह ज्ञानाग्नि तेरे शरीरके रोम रोम में प्रविष्ट होवे और तेरी वाणी भी प्राणाग्नि के पास जावे।" जो मनुष्य अपना आत्मिक बल तथा मानसिक बल बढानेका इच्छुक है उसको अपने आपको ज्ञानसे संयुक्त होना चाहिये। जिस प्रकार लोहा अग्निमें पडनेसे वह थोडे समयमें अग्निरूप होजाता है, उसी प्रकार ज्ञानाग्निमें पडा हुआ यह मनुष्य थोडे ही समयमें अपने आपको ज्ञानाग्निसे - जातवेद अग्निसे - प्रदीप्त हुआ देखता है। यह ज्ञानावस्था है।

जीवित वाणि - इस समय इसके वाणीमें एक प्रकारकी प्राणशक्ति होती है, मानो इसकी वाणी जीवित सी हो जाती है। (वाक् असुं गच्छति) वाणी प्राणको प्राप्त करती है। सामान्य मनुष्योंकी वाणी मुर्दा होती है, परंतु इस ज्ञानीकी वाणी जीवित होती है। वह सिद्ध पुरूष जो कहता है वह बन जाता है यह जीवित वाणीका साक्षात्कार है।

शाखा छेदन - तेढी मेढी शाखाएं काट कर वृक्षको सुंदर बनाया जाता है। वृक्षपर वल्लियोंका भार बढ गया,तो वृक्षको बढनेके लिए उस भार से मुक्त करना आवश्यक होता है। अर्थात् उद्यानके वृक्षोंको जैसे चाहिये वैसे बढने देना उचित नहीं है। इसीप्रकार इस अश्वत्थ वृक्षके विषयमें जानना चाहिये। इस विषयमें श्री भगवद्गीतामें कहा है -

ऊर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥१॥
अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः ।
अधश्च मूलान्यनुसन्ततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ॥२॥
न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नाऽन्तो न चाऽऽदिर्न च संप्रतिष्ठा ।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्वा ॥३॥गीता अ. १५

'ऊपर मूल और नीचे शाखा विस्तार फैला है ऐसा यह अश्वत्थ वृक्ष है। ऊपर नीचे इसकी शाखाएं बहुत फैली है। इन शाखाओंको असंग शस्त्रसे छेद करके यहां इसको ठीक करना चाहिए' तत्पश्चात् उन्नतिका मार्ग विदित हो सकता है। इस विषयमें सप्तम मंत्रमें कहा है, वह अब देखिये -

सप्त प्राणानष्टौ मन्यस्तांस्त वृश्चामि ब्रह्मणा ।
अया यमस्य सादनमग्निदूतो अरंकृतः ॥ (मं. ७)

'सात प्राणोंको और आठ ग्रंथियोंको मैं ज्ञानसे काटता हूं या छेदता हूं अथवा खोलता हूं। तू इस अग्निका सिद्ध दूत बनकर यम के घरको जा।' इस सप्तम मंत्रमें सात प्राणोंको और आठ मज्जाग्रंथियोंको (वृश्चामि) काटनेका उल्लेख है। और यहां काटनेका शस्त्र 'ब्रह्म' अर्थात् 'ज्ञान, भक्ति, प्रार्थना, उपासना, स्तोत्र' इत्यादि प्रकार का है। ब्रह्म शब्दका ज्ञान आदि अर्थ प्रसिद्ध है। पाठक यहां विचार करें कि क्या कभी 'ज्ञान अथवा ईश उपासना' (ब्रह्मणा वृश्चामि) शस्त्र बनकर किसी को काट सकते हैं ? यदि ये शस्त्र बनकर किसीको काटते होंगे तो किसको काटते हैं ? यह विचार करना चाहिए।

असंगास्त्र और ब्रह्मास्त्र। - गीतामें 'असंगशस्त्र' से वृक्ष काटनेका उल्लेख है, वहां नाना वासनाओंको असंग शस्त्रसे काटनेका भाव है। वासनाएं भी भोग की इच्छासे ही फैलती है और भोग भी इंद्रियोंके विषयों के ही होते हैं। अर्थात् असंग शस्त्रसे जिन शाखाओंको काटना है, वे शाखाएं इंद्रियभोग की वृत्तिरूप ही है। भगवद्गीताका यह आशय मनमें लेकर यदि हम इस मंत्रके सप्त प्राणोंको ब्रह्मस्त्रसे काटनेका वर्णन देखेंगे तो स्पष्ट होगा कि यहां भी एक विशेष अलंकार ही है, दोनों स्थानोंमें क्रियाका अर्थ एक ही है -

अश्वत्थं.....असंगशस्त्रेण छित्वा ॥ (भ. गीता १५।३)
सप्त प्राणान् ... ब्रह्मणा वृश्चामि ॥ (अथर्व. २।१२।७)

'वृश्चामि' का अर्थ भी 'छेदन' ही है। दोनों स्थानोंके शस्त्र भी अभौतिक है। (असंग) वैराग्य, और (ब्रह्म) ज्ञान उपासना, यद्यपि वैराग्य और ज्ञान ये दो शब्द भिन्न हैं, तथापि एकही बातमें साथ होनेवाले हैं, आत्मसाक्षात्कारमें ये दोनों परस्पर उपकारक ही होते हैं। वैराग्य के विना आत्मज्ञान होना कठिन है या असंभव है। इस प्रकार विचार करनेसे पता लगता है कि जिस शाखाविस्तार को भगवद्गीता काटना चाहती है उसी शाखाविस्तारको यह वेद मंत्र काटना चाहता है। इसकी सिद्धता करनेके लिये हमें 'सप्त प्राण' कौन हैं इसकी खोज करना आवश्यक है -

सप्त प्राण -

१ प्राणा इंद्रियाणि ॥ताण्ड्यब्रा. २। १४।२, २२।४।३
२ सप्त शिरसि प्राणाः । ताण्ड्य ब्रा. २।१४।२, २२।४।३
३ सप्त शीर्षन् प्राणाः । शत. ब्रा . ९।५।२।८
४ सप्त वै शीर्षन् प्राणाः । ऐ. ब्रा. १।१७, तै.ब्रा. १।२। ३।३

'(१) प्राण ये इन्द्रियाँ ही है। (२-४) सिरमें सात प्राण अर्थात् इंद्रियाँ है।' इस प्रकार यह स्पष्टीकरण सप्तप्राणोंका वैदिक सारस्वतमें किया गया है। इससे सप्त प्राण ये सात इंद्रिय हैं इस विषयमें किसीको संदेह नहीं हो सकता। कईयोंके मतसे ये इंद्रिय दो आंख, दो कान, दो नाक और एक मुख मिलकर सात हैं और कईयोंके मत से कान,

त्वचा, नेत्र, जिव्हा, नाक, शिश्न और मुख है, इन सातोंके क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध, काम और भाषण ये सात भोग हैं। इनके कारण उत्तम मध्यम अथवा निकृष्ट गति इस मनुष्यकी होती है। दोनों मतोंका तात्पर्य इतनाही है, कि जिन इंद्रियोंके साधनसे यह मनुष्य वासनाओंके जालमें फंसता है और भोग भोगनेकी इच्छासे रोगके भयमें ग्रस्त होता है, वे सात इंद्रियोंकी शाखाएं ज्ञानके शस्त्रसे काटना चाहिये। जिस प्रकार माली अपने उद्यान वृक्षोंको तेढे मेढे बढने नहीं देता, उसी प्रकार इस शरीर के क्षेत्रमें कार्य करनेवाला यह जीवात्मा रूपी माली है, उसको अपने उद्यान के वृक्षोंको तेढे मेढे बढने देना उचित नहीं है, वैसे बढने लगे तो ज्ञानकी कैंचीसे मर्यादासे बाहर बढनेवाली शाखाओंको काटकर उनको अपनी मर्यादामें ही रखना उचित है।

इसका स्पष्ट आशय यह है कि ये ही इन्द्रिय यदि बुरे व्यवहार करने लगे तो उनकी असङ्गके नियमसे नियम बद्ध करके संयमपूर्णवृत्तिसे दमन करना चाहियें। इन्द्रिय दमन से ही आध्यात्मिक शक्ति विकसित हो सकती है। शाखा छेदन का तात्पर्य यही है।

आठ ग्रंथी - इस सप्तम मन्त्रमें (अष्टौ मन्यः) आठ ग्रंथि, या धमनियां है, उनको भी छेदन करने का विधान किया है। ये आठ मज्जा ग्रंथियां हैं उनसे विलक्षण जीवन रस शरीरमें प्रवाहित होते हैं। गुदा, नाभि, पेट, हृदय, कण्ठ, तालु, भ्रूमध्य, मस्तिष्क इन स्थानोंमें ये प्रधान आठ मज्जा ग्रंथियां है और इनसे जो जीवन रस आता है उससे उक्त स्थानमें जीवन प्राप्त होता है। इससे प्राप्त होनेवाला जीवन रस तो आवश्यकही है, परंतु यदि इसीसे हीन प्रवृत्ति होने लगी तो उस हीन वासना का नाश करना चाहियें। देखिये गुदाके पास की मज्जा ग्रंथीसे वीर्यके साथ जीवन रस प्राप्त होता है। इसीसे स्त्री पुरूष विषयक काम होता है और इसके अतिरेकसे मनुष्य गिरता भी है, तथापि धर्ममर्यादाके अंदर काम रहा और शेष ब्रह्मचर्य पालन हुआ तो यहां की ही दिव्य शक्ति ईशभक्ति में परिणत होती है। इसी प्रकार अन्यान्य ग्रंथियोंके विषयमें समझना चाहिये। इससे पाठक समझ गये होंगे कि जिस प्रकार बाहर दिखनेवाला इंद्रियोंका संयम आवश्यक है, उसी तरह इन ग्रंथियोंकी स्वाधीनता भी अत्यंत आवश्यक ही है। योगमें इसको 'ग्रंथिभेद, चक्रभेद' आदि संज्ञाएं हैं। इसका अर्थ इतना ही है कि जिस प्रकार अपनी मनकी प्रेरणासे हाथ पांवका हिलना होता है ,उसी रीतिसे इन अष्ट ग्रंथियोंका कार्य भी अपनी इच्छानुसार हो। इंद्रियोंको और इन केन्द्रोंको पूर्णतया अपने आधीन रखनेका नाम यहां शाखा छेदन है। यह श्रेष्ठ संयम है। और यही शाखाछेदन (ब्रह्मणा वृश्चामि) ज्ञान रूपी शस्त्रसे होना संभव है। अब यहां मंत्रोंकी संगति देखिये -

संयमका मार्ग - १ समिद्धे जातवेदसि पदं - जिसने प्रदीप्त जातवेद अर्थात् ज्ञान अग्निमें अपना स्थान स्थिर किया है (मं. ८)। **२ अग्निः शरीरं वेवेष्टु** - जिस के शरीरके रोमरोममें यह ज्ञानाग्नि भडक उठा है (मं. ८) ।३ **वाग् अपि असुं गच्छतु** - जिसकी वाणीभी प्राणमयताको अर्थात् जीवित दशाको प्राप्त हुई है। (मं. ८) ।४ **सप्त प्राणान् वृश्चामि** - सप्त प्राणोंका अर्थात् सप्त इंद्रियोंका शाखा छेदन जिसने किया है अर्थात् इंद्रियों को वशमें किया है (मंत्र ७)। ५ **अष्टौ मन्यान्वृश्चामि** - आठ मज्जा केन्द्रोंका भी छेदन किया है अर्थात् अष्ट चक्रभेद द्वारा उनको वशवर्ती किया है।

मरनेकी विद्या - वही आत्मिक बल से बलवान् होगा और वही मृत्युका भय दूर करेगा अथवा निडर होकर यमके घर जायगा। सब प्राणी मरते ही हैं, परंतु निडर होकर मरना और बात है और डर डर के मरना और बात है। सब लोग मृत्युसे डरते रहते हैं, मृत्युका डर हटानेकी विद्या इस सूक्तने कही है। देखिये मंत्र के शब्द -

अरंकृतः अग्निदूतः यमस्य सादनं अयाः (मं. ७)

'(अरंकृत) अलंकृत (अग्नि) ज्ञानाग्निका (दूतः) सेवक बनकर यमके घर जा।' क्योंकि अब तुम्हें यमका वह डर नहीं है जो अज्ञानावस्थामें था। यह मृत्युका डर हटानेकी विद्या है। मानो यह मरनेकी विद्या है। जीवित दशामें यह विद्या प्राप्त करना चाहिये। जिसने इंद्रियोंका संयम किया है, जिसने अपनी जीवन शक्तियोंको अपने आधीन किया है, जिसका जीवन ज्ञानसे परिशुद्ध प्रशस्ततम कर्ममय हुआ है, और जो सत्यज्ञानके प्रचारके लिये अपने आपको समर्पित करता हुआ अपना जीवनही ज्ञानाग्नि में समर्पण करता है, क्या कभी वह मृत्युसे डर सकता है? वह तो निडर होकर ही मृत्युके पास पहुंचेगा। इसी प्रकार देखिये -

निर्भय ऋषिकुमार - कठोपनिषदमें कथा है कि, नचिकेता ऋषिकुमार यम के पास गया था। वह तीन रात्री यमके घर रहा, उसको देखकर यमको भी भय मालूम हुआ। उसको प्रसन्न करनेके लिये यमने तीन वर दिये। ये तीन वर मानो तीन प्रचण्ड शक्तियां थी, परंतु इस ऋषिकुमारने इन तीन शक्तियोंसे अपने भोग नहीं बढाये, परंतु ज्ञान प्राप्तिमें ही इन शक्तियों का व्यय उसने किया। यमने नाना भोग उसके सन्मुख रखे, परंतु ऋषिकुमारने अपने ज्ञानास्त्रसे वासना रूपी शाखाओंका छेदन किया था, इसलिये भोगोंको स्वीकारनेकी रूची नही की, भोगोंको छोडकर ज्ञान प्राप्तिकी ही उसने इच्छा की और इस त्यागवृत्तिसे अन्त में उसने ज्ञान प्राप्त किया। यमके साथ बराबरीके नातेसे यह ऋ षि कुमार रहा, बराबरीके नातेसे बोला और बराबरीके साथ वहांसे वापस आया। ऐसा क्यों हुआ ? पाठको ! विचार तो कीजिये। नचिकेता ऋ षिकुमार अग्निका दूत बनकर, ज्ञानका सेवक बन कर भोगेच्छाका त्याग करके यमके पास गया था, इसलिये वह निडर था। जो लोग भोगेच्छासे यम के पास जायंगे वे डरते हुए जायंगे, इसलिये पकडे जायंगे। यही भेद है साधारण मृत्युमें और ज्ञानीकी मृत्युमें। यही वेदकी मृत्युविद्या है।

आत्मवद्भाव। एकके दुःखसे दूसरा दुःखी।

यहां तक जो आत्मोन्नतिका वर्णन किया है उसका विचार करनेसे ज्ञानीकी उच्चावस्थाकी कल्पना पाठकोंको हो सकती है। उस ज्ञानीके मनमें 'आत्मवद्भाव' इस समय जीवित और जाग्रत होता है, सब भूतोंको वह आत्मसमान भावसे देखने लगता है। जो जैसा सुख दुःख इसको होता है, वैसा ही सुख दुःख दुसरोंको होता है ऐसा इसका भाव इस समय बन गया है। वह अपनेमें और दूसरोमें भेद नहीं देखता, दूसरोंके दुःखो से अपनेको दुःखी और दूसरोंके सुखसे अपनेको सुखी मानने तक उसकी उच्च मनोऽवस्था इस समय बन चुकी होती है। इसलिए जिस समय वह सचमुच सन्तप्त होता है, उस समय सब अन्य प्राणीमात्र सन्तप्त हो जाते हैं। जब दूसरोंका दुःख ज्ञानी मनुष्य अपनेपर लेने लगता है, और सब जगत् के दुःखका भार आनंदसे स्वीकारता है, उस समय इसके दुःखमें भी सब जगत् हिस्सेदार होता है। यह नियम ही है। यह परस्पर संवेदनाका सार्वत्रिक नियम है। जिस प्रकार एक स्वरमें मिलायी हुई तन्तुवाद्यकी तारे एक बजाई जानेपर अन्य सब स्वयं बजने लगती है, इसी प्रकार यह ज्ञानीके 'सर्वात्मभाव के जीवन' से सब जगत्‌के साथ समान संवेदना उत्पन्न होती है। यह 'आत्मवद्भाव' की परम उच्च अवस्था है। यही इस सूक्तके प्रथम मंत्रने बताई है -

मयि तप्यमाने ते इह तप्यनतां (मं. १)

'मेरे सन्तप्त हो जाने पर वे यहां संतप्त हो।' पृथ्वी, अंतरिक्ष, द्युलोक, बीचका अवकाश, मेघमंडल, सूर्य आदि जितना भी कुछ स्थान है और उस संपूर्ण स्थानमें जो भी भूतमात्र है उनके क्लेशोंको मैं अपने ऊपर लेता हूं, जगत् को सुखी करनेके लिये मैं अपने आपको समर्पित करता हूं, मैं जगत् को दुःखी नही देख सकता, जगत् सुखी हो और उसका दुःख मुझपर आजाय, इस प्रकार की भावना जिस के रोम रोम में भरी है, जिसके दैनिक जीवन में ढाली गई है, वह अपने आपको जगत् के साथ एकरूप देखता है, जगत् को अपने आत्माके समान समझता है, या यौ कहो कि वह जगत् के दुःखसे दुःखी होता है। ऐसा महात्मा जिस समय संतप्त होता है उस समय सब भूत भी सन्तप्त हो जाते हैं। यह अवस्था प्रथम मंत्रद्वाराबतायी है।

यह मनुष्य की उन्नतिकी परम उच्च अवस्था है, इस अवस्थामें पहुंचा हुआ ज्ञानी दूसरोंके दुःखोंसे दुखी होता है और इसके दुःखसे भी सब दूसरे दुखी होते हैं। इस पूर्ण अवस्था में जगत् के साथ इसकी समान संवेदना होती है। मनका बल बढते बढते और आत्माकी शक्ति बढते बढते मनुष्य यहां तक ऊंचा हो सकता है। अब जो लोग इस ज्ञानमार्ग के विरोधी होते हैं उनकी भी क्या अवस्था होती है, वह देखना है -

ज्ञानके विरोधी - जो ज्ञानके विरोधी होते हैं, जो अपने मनको गिराने योग्य कार्य करते हैं, जो दूसरोंके मनोंको निर्बल करनेके उद्योगमें रहते हैं उनकी दशा क्या होती है, वह इस सूक्तके मंत्रोंके शब्दोंसे ही देखिये -

१ यः अतीव मन्यते - जो अपने आपको ही घमंडसे ऊंचा समझता है, अपने से और अधिक श्रेष्ठ कोई नही है ऐसा जो मानता है, (मं. ६)

२ क्रियमाणं नः ब्रह्म यः निन्दिषत् - किया जानेवाला हमारा ज्ञानसंग्रह जो निंदता है, हमारे ज्ञानसंपादन, ज्ञानरक्षण और ज्ञानवर्धनके प्रयत्नोंकी जो निंदा करता है , (मं. ६)

३ वृजिनानि तस्मै तपूषि सन्तु - सबकर्म उसके लिए तापदायक हों, उसको हरएक कर्मसे बडे कष्ट होंगे, किसीभी कर्म से उसको कभी शांति नहीं मिलेगी , (मं. ७)

४ द्यौः ब्रह्मद्विषं अभि सं तपाति - प्रकाशमान द्युलोक ज्ञानके विद्वेषीको चारों औरसे संतप्त करता है, ज्ञानके विद्वेषीको किसी ओरसे भी शांति नहीं मिल सकती (मं. ७)

ज्ञान के विरोधी (ब्रह्मद्विष्) का उत्तम वर्णन इस मंत्रमें हुआ है यह इतना स्पष्ट है कि इसका अधिक स्पष्टीकरण करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है । अत्यधिक घमंड करना भी अज्ञान या मिथ्या ज्ञानका ही द्योतक है, और यह अत्यंत घातक है । यदि स्वयं ज्ञान वर्धन का प्रयत्न कर नहीं सकते तो न सही, परंतु दुसरे कर रहे हैं, उनका तो विरोध करना नहीं चाहिये। परंतु यदि स्वयं मिथ्याज्ञानसे मलीन हुआ मनुष्य दूसरे ज्ञानियोंको सताने लगे, तो वह अधिक ही गिर जाता है । इस प्रकार के गिरनेवाले अज्ञानी मनुष्यका हरएक प्रयत्न कष्टवर्धक ही होता है, उसके कर्मसे जैसे उसके कष्ट बढते है वैसे जनताके भी कष्ट बढते हैं, क्योंकि उसके अज्ञान और मिथ्याज्ञानके कारण वह जो करता है वह भ्रांत चित्तसेही करता है, इस कारण जैसा उसका नाश होता है वैसा उसके साथ संबंध रखनेवालेका भी नाश हो जाता है । यह बात इस छठे मंत्रने बताई है । अब इस बुरे कर्मके कर्ताकी अवस्था बीचके चार मंत्रोंने बताई है, वह देखिए -

१ अपकामस्य कर्ता पापं आ ऋच्छतु । (मं. ५)
२ यः अस्माकं इदं मनः हिनस्ति स दुरिते पाषे बद्धः नियुज्यताम् । (मं. २)
३ अमुं दैव्येन हरसा आददे (मं. ४)
४ यः अस्माकं इदं मनः हिनस्ति तं कुलिशेन वृश्चामि । (मं. ३)

"(१) इस कुकर्मके करनेवालेको पाप लगे । (२) जो हमारा मन बिगाडता है उसको पापके पाशमें बांधकर नियममें रखा जावे । (२) उसको दिव्य क्रोध या बलसे पकड रखता हूं ।(४) जो हमारे इस मनको बिगाडता है उसको शस्त्रसे काटता हूं ।"

ये चार मंत्रोंके चार अंतिम वाक्य है ये एकसे एक अधिक दण्ड बता रहे हैं । पहिले वाक्य ने कहा है कि उसको पाप लगे । दूसरे वाक्य ने कहा है कि उसको बांधकर नियममें रखा जावे यहां नियममें रखनेका आशय कारागृहमें रखनेका है । तीसरे वाक्यमें देवताओंका कोप उसपर हो ऐसा कहा है और चतुर्थ वाक्यमें शस्त्रसे उसका सिर काटने की बात कही है । यह एकसे एक कडी सजा किसको दी जाय इस विषयका थोडासा विचार यहां करना चाहिए । मनको बिगाडनेका पाप बडा भारी है, परंतु जो एक बार ही इस पापको करता है और एक मनुष्यके संबंधमें करता है उसका अपराध न्यून है और जो मनुष्य अपने विशेष संघद्वारा दूसरी जातिका मन बिगाडनेका प्रयत्न करता है या जातिकी ज्ञान प्राप्तिमें बाधा डालता है उसका पाप बढ कर होता है । इस प्रकार तुलनासे पापकी न्यूनाधिकता समझनी योग्य है और अपराधके अनुकूल दण्ड देना उचित है । यह दण्ड भी व्यक्तिने देना नहीं होता प्रत्युत राजसभा द्वारा देना होता है ।

दूसरे की ज्ञानवृद्धिमें बाधा डालना बडाभारी पाप है, इससे जैसी दूसरेकी वैसी स्वयं अपनी भी अधोगति होती है । इसलिये कोई मनुष्य इस प्रकारका पापकर्म न करे ।

आनुवंशिक संस्कार - सबसे पहिली बात आनुवंशिक संस्कार की है । जिसका वंशशुद्ध होता है, जिसके वंशमें सत्पुरूष हुए है, जिसके मातापिता शुद्ध अंतःकरणके होते है, अर्थात् बचपन से जिसके घरमें शुद्ध धार्मिक वायु मंडल होता है वह अज्ञानमें फंस जानेका संभव कम है, इस विषयमें मंत्र कहता है -

तिसृभिः अशीतिभः सामगेभिः वसुभिः अङ्गिरोभिः आदित्येभिः
पितृणां इष्टांपूर्त नः अवतु ।। (मं. ४)

'वसु, रूद्र, आदित्य देवोंका सामगान पूर्वक हमारे पितरों द्वारा किया हुआ यज्ञ याग आदि शुभ कर्म हमें बचावें।' परिवारमें जो जो प्रशस्ततम कर्म होता है वह निःसंदेह पारिवारिक जनोंको बुरे संस्कारोंसे बचाता है ।

मातापिताओंका किया हुआ शुभ कर्म इसी प्रकार बालबच्चोंको शुभ धर्मपथपर सुरक्षित रखता है । येही आनुवांशिक शुभसंस्कार है । हम यह नहीं कहते कि जिनको ऐसेशुभ संस्कार नहीं होगे वे अधम मार्गपर ही जाते रहेंगे, परंतु हम यही कहते है कि ये शुभ कर्म अवश्य सहायक होते हैं । इसलिये परिवारों के मुख्य पुरूषों को उचित है कि वे स्वयं ऐसे कर्म करे कि जिनसे उनके पारिवारिक जनोंपर शुभ संस्कार ही होते रहें, यह उनका आवश्यक कर्तव्य है ।

ईश प्रार्थना ।

आनुवांशिक संस्कार अपने आधीन नही होते क्योंकि उन कर्मोको करनेवाले दूसरे होते हैं। इसलिये यदि वे अच्छे हुए तो अच्छा ही है, परंतु यदि वे बुरे संस्कार हुए तो भी कोई डरनेकी बात नहीं है । स्वयं अपनी शुद्धिका प्रयत्न करनेपर निःसंदेह सिद्धि मिलेगी । इस दिशासे आत्मशुद्धिके प्रयत्न करनेके लिये ईशप्रार्थना मुख्य साधन है, परन्तु यह प्रार्थना दिलके जलनेसे ही होनी चाहिये इस विषयमें, इस सूक्तके शब्द बडे मनन करने योग्य है-

हे सोमप इन्द्र ! श्रृणुहि । यत्वा शोचता ह्रदां जोहवीमि ॥(मं. ३)

'हे ज्ञानियोंके रक्षक प्रभु ! सुनो, जो मैं जलते हुए ह्रदय से तुमसे कह रहा हूं।' ह्रदयके अंदरसे आवाजा आना चाहिये, अपनी पूर्ण भावनासे प्रार्थना होनी चाहिये, ह्रदयकी उष्णतासे तपे हुए शब्द होने चाहिये, शोकपूर्ण ह्रदयसे प्रार्थना निकलनी चाहिये । ऐसी प्रार्थना अवश्य सुनी जाती है । तथा -

ये यज्ञियाः स्थ ते देवा इदं श्रृणुत । (मं. २)

'जिनका यजन किया जाता है वे देव मेरी प्रार्थना सुने!' इस प्रकार देवोंके विषयमें-श्रध्दाभक्तिके साथ दिलसे शब्द निकलेगे, तो वे सुने जाते हैं, तथा -

द्यावापृथिवी मा अनु दीधीथाम् । विश्वेदेवासो मा अन्वारभध्वम् ॥(मं. ५)

'द्यावापृथिवी मुझे अनुकूल होकर प्रकाशित हों और सब देव मुझे अनुकूल होकर कार्यारंभ करें ।' अर्थात् देवोंकी कृपासे मेरा मार्ग प्रकाशित हो और देवोंकी अनुकूलता के साथ मेरा कार्य चलता रहे । कोई भी ऐसा कार्य मुझसे न होवे, कि जो देवताओंके प्रतिकूल या विरोध हो। मेरे अंतःकरणमें देवताओं की कृपासे शुद्ध स्फूर्ति होती रहे, उस स्फूर्तिके अनुकूल ही मुझसे उत्तम कर्म होते रहें । देवोंके साथ अपने आपको एकरूप करना चाहिये और इस प्रकार अपने आपको देवतामय अनुभव करना चाहिये ।

अपने शरीरको देवोंका मन्दिर करना चाहिये, तभी वहां अशुभ विचार नहीं आवेंगे और सदा वहां दैवी शुभ विचार ही कार्य करेंगे । इस प्रकार देवोंका जाग्रत निवास अपने विचारोंके अंदर भावरूपसे होने लगा तो फिर अपने मानसिक बलकी वृध्दि होनेमें देरी नही लगेगी और जो जो फल मानसोन्नति और आत्मोन्नतिके इस सूक्तके प्रारंभिक विवरणमें कहे है वे सब उस उपासक को अवश्य प्राप्त होंगे ।

●●●

प्रथम वस्त्र - परिधान ।

(१३)

(ऋषिः - अथर्वा । देवता - अग्निः , नानादेवताः ।)

आयुर्दा अग्ने जरसं वृणानो घृतप्रतीको घृतपृष्ठो अग्ने ।
घृतं पीत्वा मधु चारु गव्यं पितेव पुत्रानभि रक्षतादिमम् ॥ १ ॥
परि धत्त धत्त नो वर्चसेमं जरामृत्युं कृणुत दीर्घमायुः ।
बृहस्पतिः प्रायच्छद्वास एतत्सोमाय राज्ञे परिधातवा उ ॥ २ ॥
परीदं वासो अधिथाः स्वस्तयेऽभूर्गृष्टीनामभिशस्तिपा उ ।
शतं च जीव शरदः पुरूची रायश्च पोषमुपसंव्ययस्व ॥ ३ ॥

अर्थ - हे (अग्ने अग्ने) तेजस्वी अग्ने ! तू (आयुः - दा) जीवनका दाता, (जरसं वृणानः) स्तुतिका स्वीकार करनेवाला, (घृत - प्रतीकः) घृतके समान तेजस्वी और (घृत - पृष्टः) घीका सेवन करनेवाला है । अतः (मधु चारु गव्यं घृतं पीत्वा) मीठा सुंदर गाय का घी पीकर (पिता पुत्रान् इव) पिता पुत्रोंकी रक्षा करनेके समान तू (इमं अभिरक्षतात्) इसकी सब ओरसे रक्षा कर ॥१॥

(नः इमं) हमारे इस पुरूषको (परिधत्त) चारों ओरसे धारण कराओ, (वर्चसा धत्त) तेजसे युक्त करो, इसका (दीर्घं आयुः जरामृत्युं कृणुत) दीर्घ आयु तथा वृद्धावस्थाके पश्चात् मृत्यु करो ॥ (बृहस्पतिः एतत् वासः) बृहस्पतिने यह कपडा (सोमाय राज्ञे परिधत्तवै) सोम राजाको पहननेके लिये (उ प्रायच्छत्) निश्चयसे दिया है ॥२॥

(इदं वासः स्वस्तये परि अधिथाः) यह वस्त्र अपने कल्याणके लिये धारण करो, (गृष्टीनां अभिशस्तिपाः उ अभूः) तू मनुष्योंको विनाशसे बचानेवाला निश्चयसे हुआ है । इस प्रकार (पुरूचीः शरदः शतं च जीव) परिपूर्ण सौ वर्षतक जीओ । और (रायः पोषं चं उप सं व्ययस्व) धन और पोषणका कपडा बुनो ॥३॥

भावार्थ - हे तेजस्वी देव! तू जीवन देनेवाला, स्तुतिको सुननेवाला, तेजस्वी और हवनादिसे घी का सेवन करनेवाला है, अतः मधुर सुंदर गायका घी पीकर इस बालक की ऐसी उत्तम रक्षा कर कि जैसी पिता अपने पुत्रोंकी उत्तम रक्षा करता है ॥१॥

इस बालक को चारों ओरसे वस्त्र धारण कराओ, इसका तेज बढाओ, और इसकी आयु अतिदीर्घ करो, अर्थात् अति वृद्धावस्थाके पश्चात् ही इसका मृत्यु हो । यह वस्त्र सबसे प्रथम कुलगुरू बृहस्पतिने सोम राजाके पहननेके लिये बनाया था, जो इस बालकको पहनाया जाता है ॥२॥

यह वस्त्र अपने कल्याणकी वृद्धि करनेके लिये धारण करो, मनुष्योंको विनाशसे बचानेका यही उत्तम साधन है। इसी प्रकार सौ वर्षका दीर्घ आयुष्य प्राप्त करो और धनका ताना और पोषणका बाना रूप यह वस्त्र उत्तम प्रकारसे बुनो ॥३॥

एह्यश्मा॑न॒मा ति॒ष्ठाश्मा॑ भवतु ते त॒नूः ।
कृ॒ण्वन्तु॒ विश्वे॑ दे॒वा आयु॑ष्टे श॒रदः॑ श॒तम् ॥ ४ ॥
यस्य॑ ते॒ वासः॑ प्रथमवा॒स्यं॑ ह॒राम॒स्तं त्वा॒ विश्वे॑ऽवन्तु दे॒वाः ।
तं त्वा॒ भ्रात॑रः सु॒वृधा॒ वर्ध॑मान॒मनु॑ जायन्तां ब॒हवः॒ सुजा॑तम् ॥ ५ ॥

अर्थ - (एहि, अश्मानं आतिष्ठ) आ, शिला पर चढ, (ते तनूः अश्मा भवतु) तेरा शरीर पत्थर जैसा दृढ बने। (विश्वे देवाः) सब देव (ते आयुः शरदः शतं कृण्वन्तु) तेरी आयु सौ वर्षकी करें ॥४॥

(यस्य ते प्रथमवास्यं वासः हरामः) जिस तेरे लिये पहले प्रथम पहनने योग्य ऐसा यह वस्त्र हम लाते हैं (तं त्वा विश्वे देवाः अवन्तु) उस तेरी सब देव उत्तम रक्षा करे। (तं त्वा सुजातं) उस तुझ उत्तम जन्मे हुए और (वर्धमानं) बढते हुए बालकके (बहवः सुवृधाः भ्रातरः अनु जायन्तां) पीछेसे बहुतसे उत्तम बढनेवाले भाई उत्पन्न हों ॥५॥

भावार्थ - यहां आ, इस शिलापर खडा रह, तेरा शरीर पत्थर जैसा सुदृढ बने, और इससे सब तेरी आयु सौ वर्षकी बनावें ॥४॥

हे बालक! तेरे लिये यह पहिले पहिनने के लिये वस्त्र हमने लाया है, सब देव तेरी पूर्ण रक्षा करें, तू इस उत्तम कुलमें जन्मा है और यहां तू उत्तम प्रकार से बढ रहा है, इसी प्रकार तेरे पीछे बहुतसे हृष्टपुष्ट और बलवान् भाई उत्पन्न हों, और तेरे कुलकी वृद्धि हों ॥५॥

प्रथम वस्त्र परिधान।

बालक के शरीरपर प्रथम वस्त्र परिधान करानेका समारंभ इस सूक्तद्वारा बताया है। इस सूक्तका प्रथम मंत्र घृतका हवन अग्निमें हो जानेका विधान करता है, अर्थात् हवनके पूर्वका सब विधान इससे पूर्व हो चुका है, ऐसा समझना उचित है। अग्निके अंदर परमात्माकी शक्ति है, इस अग्निको घी आदिसे प्रदीप्त किया जाता है ,और उसकी साक्षीमें वस्त्र परिधान आदि विधि किया जाता है। सभी संस्कार अग्निमें हवन करनेके साथ होते हैं। परमेश्वर स्तुति, प्रार्थना, उपासना, शांति, अभययाचनादि पूर्वक हवन होकर प्रथम मंत्रमें प्रभु की प्रार्थना की गई है कि वह परम पिता हम सब पुत्रोंकी रक्षा करें। इस प्रकार वस्त्र परिधानकी पूर्व तैयारी होनेके पश्चात् वस्त्र लाया जाता है -

पुत्रके लिये वस्त्र।

यहां स्मरण रखना चाहिये कि यह वस्त्र मूल्य देकर दुकानसे लाया नहीं रहता। परंतु अपने पुत्रके लिये माताही कपडा बुनती है, इस विषयमें वेदमें अन्यत्र कहा है वह यहां देखिये -

वितन्वते धियो अस्मा अपांसि वस्त्रा
पुत्राय मातरो वयन्ति ॥ऋग्वेद ५।४७।६

इस मंत्रमें दो वाक्य हैं और वे विचार करने योग्य हैं। देखिये इनका अर्थ -

(१) मातरः पुत्राय वस्त्राणि वयन्ति - माताएं अपने पुत्रके लिये कपडे बुनती हैं। और -

(२) अस्मै धियः अपांसि वितन्वते - इस बच्चेके लिये सुविचारों और सत्कर्मोंका उपदेश देती हैं।

यह मंत्र पुत्रविषयक माताओंका कर्तव्य बता रहा है। माताएं अपने पुत्रके लिये कपडा बुनती हैं इसमें प्रत्येक धागेके साथ कितना प्रेम उस कपडेके तन्तुओंमें बुना जाता है इसका विचार पाठक अवश्य करें। यह कपडा केवल कपडा नहीं हैं परंतु इसी सूक्तके तृतीय मंत्रमें कहा है, कि -

रायः च पोषं उपसंव्ययस्व। (मं. ३)

"यहां कपडेका ताना ऐश्वर्य है और बाना पुष्टि है। इस प्रकार यह कपडा बुना जाता है।" सचमुच ऐसाही होगा, यहां माता अपने पुत्रप्रेमसे अपने छोटे बालकके लिये कपडा बुनती होगी। धन्य है वह माता और वह बालक जो

इस प्रकार परस्पर प्रेमसे अपने कुटुंबके भूषणभूत होते हैं। इस प्रकार का कपडा उस छोटे बालक को पहनाया जाता है, उस समय का मंत्र यह हैं -

परिधत्त, धत्त, नो वर्चसा इमम्।
जरामृत्युं कृणुत, दीर्घमायुः ॥(मं. २)

"पहनाओ, पहनाओ इस हमारे बालकको यह वस्त्र, तेजके साथ यह दीर्घ आयु प्राप्त करे और इसकी वृद्धावस्थाके पष्चात् ही मृत्यु हो अर्थात् अकाल मृत्युसे यह कदापि न मरे।" जब माता अपने पुत्रके लिये प्रेमसे कपडा बुनकर तैयार करती है, तब वह प्रेमही उस बच्चेकी रक्षा करनेमें समर्थ होता है, इसलिये ऐसी प्रेममयी माताके पुत्र दीर्घायु ही होते हैं।

आगे इसी द्वितीय मंत्रमें कहा है कि "देवोंके कुलगुरू बृहस्पतिने सोमराजाको भी इसी प्रकार वस्त्र पहनाया था।" अर्थात् वह प्रथा सनातन है। कुलका पुरोहित माता का बनाया हुआ कपडा अपने आशीर्वाद पूर्वक बच्चेको पहनावे और सब उपस्थित सज्जन बालक का शुभ चिंतन करें। यह इस वैदिक रीतिका सारांशसे स्वरूप है। पाठक इसका विचार करके यह शुभ संस्कार अपने घरमें कर सकते हैं।

वस्त्र घरमें बुननेका प्रयोजन

वस्त्र घरमें क्यों बुना जावे और बाजारसे क्यों खरीदा न जावे, इस विषयमें तृतीय मंत्रका कथन मनन करने योग्य है, इसमें इस घरेलु व्यवसायसे चार लाभ होनेका वर्णन है।

१ स्वस्ति।

इदं वासः स्वस्तये अधि थाः। (मं. ३)

"यह कपडा अपनी स्वस्तिके लिये धारण करो।" स्वस्ति का अर्थ है 'सु+अस्ति' अर्थात् उत्तम अस्तित्व, उत्तम हस्ति। अपनी स्थिति उत्तम होनेके लिये अपना बुनाहुआ कपडा पहनना चाहिए। दुसरेका बुना हुआ कपडा पहननेसे अपनी स्थिती बुरी होती है, बिगड जाती है। अपना बुना कपडा पहननेसे अपना 'स्वस्ति' अर्थात् कल्याण होता है, इस लिये अपना बुना हुआ कपडा ही पहनना चाहिये।

२ विनाशसे बचाव।

गृष्टीनां अभिशस्ति - पा उ अभूः। (मं. ३)

'मनुष्य मात्रका नाशसे बचाव करनेवाला है।' अपना कपडा स्वयं बनाकर पहनना केवल अपनाही लाभ नहीं करता है परंतु संपूर्ण मनुष्योंका विनाशसे बचाव करता है। इससे हरएक उद्यमी होनेके कारण उस उद्यमसे ही उन सब मनुष्योंका बचाव हो जाता है। दुःस्थिति, हीन अवस्था, नाश आदिसे बचानेवाला यह वस्त्र बुननेका व्यवसाय है।

३ धन और पुष्टि।

यह घरका बुना कपडा केवल कपडा नहीं है, इसका ताना और बाना मानो केवल सूतका बना नहीं होता है, प्रत्युत-

रायः च पोषं उपसंव्ययस्व। (मं. ३)

"उसमें तानेके धागे ऐश्वर्य के सूचक और बानेके धागे पोषणके सूचक हैं।" ऐसा मानकर ही तुम कपडा बुनो अपना कपडा स्वयं बुननेसे ऐश्वर्य और पोषण स्वयं हो जाता है और जिस कुटुंबमे और जिस परिवारमें माता अपने बच्चोंके लिये कपडा बुनती है वहां तो उस परिवारका ऐश्वर्य और पोषण होनेमें कोई शंकाही नहीं है। जहां इस प्रकार सुख और शांति रहेगी वहां ही -

४ दीर्घ आयु।

शतं च जीव शरदः पुरूचीः (मं. ३)

"सौ वर्षकी दीर्घ आयु प्राप्त होगी" यह बात सहज ही से ध्यानमें आ सकती है। यह तृतीय मत्र वास्तव में बालक के लिये आशीर्वाद परक है, तथापि उसमें अपने बुने कपडेका महत्त्व इस प्रकार सूक्ष्म रीतिसे दर्शाया

है। पाठक इसका विचार करें और इससे बोध प्राप्त करें, तथा अपने घरमें इस महत्त्व पूर्ण बातका प्रचार करें। विशेषतः जो वैदिक धर्मी है उनको इसका आचरण अवश्य करना चाहिये।

सुदृढ शरीर।

हाथसे काते हुए सूतका कपडा पहननेसे शरीरमें कोमलता नहीं आती, जैसे अन्य नरम कपडे पहननेसे आती है। यह कोमलता बहुत बुरी है, इससे सौ वर्षकी दीर्घआयु प्राप्त नहीं होती। अतः अपना शरीर सुदृढ बनानेकी बहुत आवश्यकता है, बालकपनमें ही यह उपदेश इस सूक्त द्वारा सुनाया है, इस "प्रथमवस्त्र परिधारण" के समय ही एक विधि बनाया जाता है जिसमें वस्त्र पहनते ही उस बालकको पत्थरपर रखा जाता है और यह मंत्र बोला जाता है -

एहि, अश्मानं आतिष्ठ, ते तनूः अश्मा भवतु।
तं शरदः शतं आयुः विश्वे देवाः कृण्वन्तु ॥(मं. ४)

"यहां आ, इस पत्थरपर चढ, तेरा शरीर पत्थर जैसा सुदृढ हो, तेरी सौ वर्षकी आयु सब देव करें।"

बालक सुदृढांग हो इस विषयका उत्तम उपदेश इस मंत्रमें है। छोटेपनमें मातापिता अपने बालक और बालिकाओंको सुदृढांग बनानेका यत्न करें और कभी ऐस प्रयत्न न करें कि जिससे बालक नरम शरीरवाले हों। बडी आयु में कुमार और कुमारिका भी अपना शरीर सुदृढांग बनानेके प्रयत्नमें दत्तचित्त हों। इस प्रकार किया जाय तो जाती वज्रदेही बन जायगी। योगसाधन द्वारा भी वज्रकाया बनायी जाती है, इस विषयके प्रयोग योगसाधनमें पाठक देखें। शांति उष्ण आदि द्वद्वोंको सहन करनेके अभ्याससे भी मनुष्यका देह सुदृढ हो जाता है।

आगे पंचम मन्त्रके पूर्वार्ध में कहा है कि "हे बालक! तेरे लिये जो हम यह प्रथम परिधान करने योग्य वस्त्र (प्रथम वास्यं वासः) लाते हैं, उस तुझको सब देव सहायकारी हों।" इस मंत्रमें "प्रथम परिधान करने योग्य वस्त्र" का उल्लेख है। इससे बालककी आयुका अनुमान हो सकता है। जन्मसे कुछ मास तक विशेष वस्त्र पहिनाया ही नहीं जाता। चतुर्थ मंत्रमें "पत्थर पर खडा करने" का उल्लेख है। अपने पांवसे न भी खडा हो सके तो भी दूसरेकी सहायतासे खडा होने योग्य बालक चाहिये। इस मंत्रसे इतनी बात निश्चित है कि यह बालक कमसे कम दो तीन वर्षकी आयुवाला हो, जिस समय यह "प्रथम वस्त्रपरिधारण" किया जाता है। इसी आयुमें बालक क्षणभर दूसरेकी सहायतासे क्यों न सही पत्थर पर खडा हो सकता है। कमसे कम हम इतना कह सकते हैं, कि इससे कम आयु इस कार्यके लिये योग्य नहीं है। 'अश्मानं आतिष्ठ' ये शब्द प्रयोग अपने पांवसे पत्थर पर चढनेका भाव बताते हैं। इसलिये तीन वर्षकी आयु कमसे कम मानना अनुचित नहीं है। चार या पांच वर्षकी आयु मानना भी कदाचित् योग्य होगा। इस आयुमें यह वस्त्र धारण समारंभ किया जाता है। इस समय जो अंतिम आशीर्वाद दिया जाता है वह भी देखिये, वह बडा बोधप्रद है -

तं त्वा सुजातं वर्धमानम्
बहवः सुवृधाः भ्रातरः अनुजायन्ताम् ॥(मं. ५)

"उत्तम जन्मे और उत्तम प्रकार बढने वाले तुझ बालक के पीछे बहुतसे बढनेवाले भाई तुम्हारी माताजीको उत्पन्न हों "

कई माता पिता प्रतिवर्ष सन्तान, उत्पन्न करते हैं यह उचित है या नही इसका विचार इस आशीर्वाद वचनसे किया जा सकता है। तीन चार वर्ष की बालक की आयुमें यह "प्रथम वस्त्र धारण विधी" किया जाता है, इस विषयमें इससे पूर्व बताया ही है। इसी समय यह आशीर्वाद दिया जाता है, कि "जैसा यह बालक हृष्टपुष्ट और तेजस्वी बनता हुआ बढ रहा है, वैसे और भी बच्चे इसके पीछे उत्पन्न हों।" मानले कि यह आशीर्वाद प्रथम बालककी चतुर्थवर्षकी आयुके समय मिला है तो पंचम वर्षमें द्वितीय बालक के जन्मका समय आजाता है। इस प्रकार प्रत्येक दो बालकोंके जन्मोंके बीचमें पांच वर्षोका अंतर होता है। देखिये -

(१) प्रथम बालकका जन्म। (२) उसके चतुर्थ वर्षमें यह "प्रथम वस्त्र धारण विधि" करना है, (३) इसीमें बालक को पत्थर पर चढाकर खडा करना है और पत्थर जैसा सुदृढांग बन जानेका उपदेश सुनाना है। (४) इसी समय आशीर्वाद देना है कि तुम्हें हृष्टपुष्ट भाई भी पीछेसे हों।

यदि इसी प्रकार दूसरा बालक हो गया तो पहिले के पांचवे वर्ष दूसरे बालक का जन्म होना संभव है। अर्थात् पहिले बालकको माताका दूध अच्छीतरह मिलेगा जिससे पुत्रकी पुष्टि भी अच्छी प्रकार होगी, माताके अवयव भी द्वितीय गर्भ धारण के लिये योग्य होंगे और सब कुछ ठीक होगा। जहां प्रतिवर्ष गर्भ धारणा होती है, वहां दूध न मिलनेके कारण बच्चे कमजोर होते हैं बीचमें पूर्ण विश्राम न मिलनेके कारण माता भी कमजोर होती है और सब प्रकार भय ही भय होता है। इसलिये पाठक इसका योग्य विचार करें और यदि यह प्रथा अपने परिवारमें लाने योग्य प्रतीत हो, तो लानेका यत्न करें।

हमने प्रतिवर्ष, प्रति तीन वर्ष, प्रति पांच वर्ष और प्रति सात वर्ष संतानोत्पत्तिका कर्म करनेवाले कुटुंब देखे हैं। पहिले की अपेक्षा दुसरेकी और दूसरेकी अपेक्षा तीसरेकी शारीरिक निरोगता हमने अधिक देखी है। यह विचार विशेष महत्त्व पूर्ण है इसलिये कुछ विस्तारसे यहां किया है। पाठक इसे अश्लील न समझें क्योंकि इसके साथ परिवारके स्वास्थ्यका विचार संबंधित हैं

आशा है कि पाठक इस सूक्तका योग्य विचार करेंगे और लाभ उठावेंगे।

• • •

विपत्तियोंको हटानेका उपाय।

(१४)

(ऋषिः - चातनः। देवता - शालाग्निदैवत्यं।)

निःसालां धृष्णुं धिषणमेकवाद्यां जिघत्स्वम्। सर्वाश्चण्डस्य नप्त्यो नाशयामः सदान्वाः॥१॥
निर्वो गोष्ठादजामसि निरक्षान्निरुपानसात्। निर्वो मगुन्द्या दुहितरो गृहेभ्यश्चातयामहे॥२॥
असौ यो अधराद् गृहस्तत्र सन्त्वराय्यः। तत्र सेदिर्न्युच्यतु सर्वाश्च यातुधान्यः॥३॥

अर्थ - (**निःसालां**) घरदान न होना, (**घृष्णुं**) भयभीत रहना, अथवा दूसरोंको डराना, (**एकवाद्यां धिषणं जिघत्स्वं**) निश्चयपूर्वक एक भाषण करनेवाली निश्चयात्मक बुद्धिका नाश करनेवाली, तथा (**चण्डस्य सर्वा नप्त्यः**) क्रोधकी सब की सब सन्तानें और (**स-दान्वाः**) दानवोंकी राक्षस वृत्तियोंका हम (नाशयामः) नाश करते हैं॥१॥

(**वः गोष्ठात् निः अजामसि**) तुमको हमारी गोशालासे हम निकाल देते हैं, (**अक्षात् निः**) हमारी दृष्टिके बाहर तुमको करते हैं, (**उपासनात् निः**) अन्नपानके गड्डेके स्थानसे तुमको हटाते हैं, (**मगुन्द्याः वः निः**) मनके मोह से तुमको हटाते हैं। हे (**दुहितरः**) दूर रहने योग्य! तुम्हें (**गृहेभ्यः चातयामहे**) घरोंसे हटाते हैं॥२॥

(**असौ यः अधरात् गृहः**) यह जो नीच घराना है (**तन्त्र अराय्यः सन्तु**) वहां विपत्तियां रहें (**तत्र सेदिः**) वहां ही क्लेश (**नि उच्यतु**) निवास करे (**सर्वाः यातुधान्यः**) सब दुष्ट वहां ही जांय॥३॥

भावार्थ - आसुरी भावनाओंसे प्राप्त होनेवाली कई विपत्तियां हैं उनमें कुछ ये हैं -

(१) घरदार कुछ भी न होना,

(२) सदा औरोंका भव प्रतीत होना या दूसरोंको घबराना,

भूतपतिर्निरजत्विन्द्रश्चेतः सदान्वाः ।
गृहस्य बुध्न आसीनास्ता इन्द्रो वज्रेणाधि तिष्ठतु ॥४॥
यदि स्थ क्षेत्रियाणां यदि वा पुरुषेषिताः। यदि स्थ दस्युभ्यो जाता नश्यतेतः सदान्वाः॥५॥
परि धामान्यासामाशुर्गाष्ठामिवासरन् । अजैषं सर्वानाजीन्वो नश्यतेतः सदान्वाः ॥६॥

अर्थ - (**भूतपतिः इन्द्रः**) प्रजापालक राजा (**सदान्वाः इतः निरजतु**) राक्षसी वृत्तियोंको यहांसे दूर करे। (**गृहस्थ बुध्न आसीनाः**) घरकी जडमें निवास करनेवाली दुष्टताएं (**इन्द्रः वज्रेण अधितिष्ठतु**) इन्द्र अपने वज्रसे हटादेवे ॥४॥

हे (**स. दान्वाः**) आसुरी वृष्टिसे होनेवाली पीडाओ ! (**यदि क्षेत्रियाणां स्थ**) यदि तुम वंश संबंधी रोगसे उत्पन्न हुई हो, (**यदि वा पुरूषेषिताः**) यदि मनुष्य की प्रेरणासे उत्पन्न हुई हो (**यदि दस्युभ्यः जाताः**) यदि तुम डाकुओंसे हुई हो, तुम सब (**इतः नश्यत**) यहांसे हट जाओ ॥५॥

(**आशुः गाष्ठां इव**) जैसे घोडा अपने स्थान को पहुंचता है उसी प्रकार (**आसा धामानि परि सरन्**) इन विपत्तियोंके मूल कारणको ढूंढ कर निकाल दो। (**वः सर्वान् आजीन् अजैषं**) तुम्हारे सब संग्रामों को जीत लिया है जिसने हे (**स-दान्वाः**) पीडाओ ! (**इतः नश्यत**) यहां से हट जाओ ॥६॥

---

(३) निश्चयात्मक एक बुद्धि कभी न होना अर्थात् सदा संदेह रहना,

(४) मन सदा क्रोधवृत्तिसे युक्त होना, ये सब विपत्तियां है, इनको पुरूषार्थसे हटाना चाहिये ॥१॥

जिसप्रकार पुत्रियोंको विवाहादि करके घरसे दूर करते हैं उसी प्रकार इन विपत्तियोंको भी अपने पापसे दूर हटाना चाहिये। गोशालासे, घरोंसे, अपनी दृष्टिसे, अन्नपान या गाडी रथ आदिके स्थानसे तथा मनकी वृत्ति से विपत्तियोंको हटानेका पुरूषार्थ करना चाहिये ॥२॥

जो नीच वृत्तिवालोंके घर है वही विपत्ति, नाश तथा दुष्ट दुराचारीभी रहते. हैं ॥३॥

प्रजापालक राजाको चाहिये कि ऐसे दुष्टोंको अपने सुयोग्य शासनद्वारा दूर करे। किसी भी घरके अंदर दुष्टभाव आश्रय लेने न पावे ॥४॥

इन पीडाओंमें कई तो आनुवंशिक रोगसे होनेवाली पीडाएं होती है, कई तो मनुष्यके अपने व्यवहारसे उत्पन्न होती है, कई तो डाकुओंसे होती है इन सबको दूर करना चाहिये ॥५॥

जिसप्रकार घोडा अपना पांव उठा कर प्राप्तव्य स्थानपर पहुंचता है उसीप्रकार इन सब विपत्तियोंके मूल कारण देखकर, उन मूल कारणोंको अपनेमेंसे हटाना चाहिये। सब जीवनकलहोंमें अपना विजय निःसन्देह हो जावे, ऐसी अपनी तैयारी करने से और हरएक जीवनयुद्धमें जाग्रत रहते हुए विजय प्राप्त करनेसे ही ये सब पीडाएं हट सकती हैं ॥६॥

विपत्तियोंका स्वरूप।

इस सूक्तमें अनेक विपत्तियोंका वर्णन किया है वह क्रमशः देखिये -

१ निःसाला - शाला अर्थात् घरदार न होना, निवास स्थान न होना, विश्रामके लिये कोई स्थान न होना। (मं. १)

२ धृष्णु - सदा भयभीत रहना; दूसरेसे डरते रहना, अधिकारियोंसे या धर्मात्माओंसे डरना, ऐसे कुछ कुकर्म करना कि जिससे मनमें सदा डर रहे कि कोई आकर मुझे पकडे। इसका दूसरा प्रसिद्ध अर्थ दूसरोंको डराना भी है। दूसरोंको भय दिखाना, घबराना, दूसरोंको भयभीत करके अपना स्वार्थ साधन करना इ. (मं. १)

३ एकवाद्यां धिषणं जिधत्स्वं - एक निश्चय करनेवाली वृद्धिका नाश करनेवाला घात पातका स्वभाव। बुद्धिसे कार्याकार्यका निश्चय होता है, इस निश्चयात्मक बुद्धिका नाश करनेवाला स्वभाव। जिसको निश्चयात्मक बुद्धिही नहीं होती, सदा संदेहमें जो रहता है। (मं. १)

४ चण्डस्य सर्वा नप्त्यः-क्रोधकी सब संतान। अर्थात् क्रोधसे जो जो आपत्तियां आना संभव है वे सब

आपत्तियां। (मं. १)

५ स-दान्वाः (स-दानवाः)- असुरोंका नाम दानव है। दानवका अर्थ है घात पात करनेवाले, गीतामें आसुरी संपत्तिका वर्णन विस्तार पूर्वक है, उस प्रकारके लोक जो घात पात करते हैं उनका यह नाम है। दानव भावसे युक्त होना यह भी बडी भारी आपत्ति ही है। (म. १)

६ अ-राय्यः:- कंजूसीका भाव, निर्धनता, ऐश्वर्यका अभाव। (मं. ३)

७ सेदिः:- क्लेश, महाक्लेश। शारीरिक कृशता, दुर्बलता। कुछ भी कार्य करनेकी सामर्थ्य न होना। (मं. ३)

८ यातुधान्यः:- धन्यता न होना। चोर डकैति करनेवाले लोग और उनके वैसे घृणित भाव। (मं. ३)

ये सब आपत्तियां है। इनका विशेष विचार करनेकी भी कोई आवश्यकता नही है क्योंकि प्रायः सबका परिचय इनके साथ है, अंशतः सब इनके क्लेशोंसे परिचित है। इसलिये सभी चाहते होंगे कि ये सब क्लेश दूर हों। इनके तीन भेद होते हैं -

तीन भेद।

१ क्षेत्रिया- अर्थात् कई आपत्तियां ऐसी होती है कि जो मनुष्य के स्वभावमें क्षेत्रसे आयी होती है, वंशपरंपरासे प्राप्त होती है, जन्म स्वभावसे होती है। (मं.५)

२ पुरूषेषिता - दूसरी आपत्तियां ऐसी होती है कि जो (पुरूष – इषिताः) अन्य मनुष्योंकी कुटिल प्रेरणाओंकेकारण होती हैं। (मं. ५)

३ दस्युभ्यः जाताः - तीसरी आपत्तियां ऐसी है कि जो दस्यु चोर डाकु आदि दुष्टोंसे उत्पन्न होती हैं। (मं. ५)

आपत्तियोंके तीन भेद हैं (१) अपने जन्म स्वभावसे होनेवाली, (२) दूसरे पुरूषोंकी कुटिल प्रेरणासे होनेवाली और (३) दुष्टोंके कारण होनेवाली। इन सब आपत्तियोंको अवश्य दूर करना चाहिये।

कई आपत्तियां खानपान आदिके स्थानसे ही उत्पन्न होती हैं जैसे रोगादि आपत्तियां है, उनको दूर करनेके लिये उनके उद्गम स्थानमें ही प्रतिबंध करना चाहिये, इस विषयमें द्वितीय मंत्रका कथन देखिये -

आत्मशुद्धि और गृहशुद्धि।

१ गोष्टात् निः अजामसि - गोशालासे हटाता हूं अर्थात् गोशाला के कुप्रबंध में जिन रोगादि आपत्तियोंकी उत्पत्ति हो सकती है उसको दूर करता हूं। गोशालाकी पवित्रता करनेसे इन आपत्तियोंका नाश हो सकता है। (मं. २)

२ उपानसात् निः अजामसि - अन्नपानके गड्डे, अथवा वाहन आदिके स्थानमें जो कुछ दोष होनेसे आपत्तियां आसकती है उनकी शुद्धतासे इन आपत्तियोंको मैं हटाता हूं। (मं. २)

३ अक्षात् निः अजामसि - अपनी दृष्टिके दोषसे जो जो बुरे भाव पैदा होते हैं, उनकी शुद्धि करने द्वारा मैं अपने अंदरके दोषोंको दूर करता हूं। इस प्रकार संपूर्ण इंद्रियोंके शुद्धिकरण द्वारा बहुतसी आपत्तियोंको दूर किया जा सकता है। आत्मशुद्धि की सूचना यहां मिलती है।(मं. २)

४ मगुन्द्याः निः अजामसि - (म-गुन्द्याः- मन X गुन्द्रयाः) मनको मोहित करनेवाली वृत्तिसे तुमको हटाता हूं। मनकी मोहनिद्रा दूर करता हूं। यह मनकी शुद्धि है। (मं. २)

इस द्वितीय मंत्रमें अपने नेत्र आदि इंद्रियोंकी शुद्धि, मनकी शुद्धि, गोशालाकी शुद्धि, घरकी शुद्धि, गाडी आदि वाहन जहां रखे जाते हैं उन स्थानोंकी शुद्धि करने द्वारा आपत्तियोंका दूर करनेका उपदेश है। इस मंत्रके अंदर जिन बातोंका उल्लेख है उनसे जो जो शुद्धि स्थान अवशिष्ट रहे होंगे, उन सबका ग्रहण यहां करना उचित है। इसका तात्पर्य यही है कि जहांसे आपत्तिया उठती है और मनुष्योंको सताती है, उन स्थानोंकी शुद्धता करना चाहिये। पवित्रता करनेसे ही सब स्थानोंसे आपत्तियां हट जाती है। मलीनता आपत्तियों उत्पन्न करनेवाली और पवित्रता आपत्तियोंको दूर करनेवाली है। यह नियम पाठक प्रायः सर्वत्र लगा सकते और आपत्तियोंको हटा सकते हैं, तथा सम्पत्तियां प्राप्त भी कर सकते हैं।

नीचतामें विपत्तिका उगम ।

विपत्तियोंका उगम नीचतामें है इस बातको अधिक स्पष्ट करनेके लिये तृतीय मंत्रका उपदेश है । इसमें कहा है कि-'जो यह (अधरात् गृहः) नीच घराना है वहां ही सब कंजूसियाँ, विपत्तियाँ, नाश, क्लेश, कृशता और चोरी आदि दुष्ट भाव रहते हैं । नीच घरमें इनकी उत्पत्ति है । 'अधर' शब्द यहां नीचताका द्योतक है। जो ऊपरवाला नहीं वह नीचेवाला है । जहां हीनता होगी वही आपत्तियोंका उगम होगा, इसमें कोई संदेह ही नहीं है ।

राजाका कर्तव्य ।

चतुर्थ मंत्रमें कहा है कि '(भूतपतिः इन्द्रः) प्राणिमात्रोंका पालन कर्ता राजा अपने वज्रसे (सदान्वाः) सब डाकुओंको और (गृहस्थ बुध्न आसीनाः) घरके इंदर छिपे हुए सब दुष्टोंको हटा देवे ।' अर्थात् राजा अपने सुव्यवस्थित राजप्रबंधसे दुष्टोंको दूर करे और अपना राज्य सज्ञनोंका घर जैसा बनावे । इस प्रकार उत्तम राजशासन द्वारा दुष्टोंको प्रतिबंध होनेसे सज्ञनोंका मार्ग खुल जाता है । सुराज्य होना भी एक बडा साधन है कि जिससे आपत्तियां कम होती है, या दूर जाती हैं ।

जीवनका युद्ध ।

आपत्तियोंके साथ झगडा करना, विपत्तियांसे लडना और उनका पराभव करके अपना विजय संपादन करना, यह एक मात्र उपाय है, जिससे आपत्तियां दूर हो सकती है । पाठक विचार करेंगे , तो उनको पता लग जायगा कि यह युद्ध हरएक स्थानपर करना पडता है । शरीरमें व्याधियोंसे झगडना है, समाजमें डाकु तथा दुष्टोंसे लडना होता है, राष्ट्रमें विदेशी शत्रुओंसे युद्ध करना होता है और विश्वमें अतिवृष्टि अनावृष्टि अकाल आदिसे युद्ध करना पडता है । इस छोटे मोठे कार्यक्षेत्रोंमे छोटे मोटे युद्ध करने ही होते हैं । इन युद्धोंको किये बिना और वहां अपना विजय प्राप्त किये बिना सुखमय जीवन होना असंभव है । यही बात इस सूक्तके षष्ठ मंत्रमें कही है -

वः सर्वान् आजीन् अजैषम् ।(मं. ६)

'सब युद्धोमें मैं विजय पाता हूं ।' इस प्रकार सब युद्धोमें विजय पानेसे ही मनुष्यके पाससे सब विपत्तियां दूर हो जाती है और मनुष्य ऐश्वर्य संपन्न हो जाता है । प्रत्येक युद्धमें अपना विजय होने योग्य शक्ति अपने अंदर बढानी चाहिए । अन्यथा विजय होना अशक्य है । शत्रुशक्तिसे अपनी शक्ति बडी रही तभी विजय हो सकता है अन्यथा पराजय होगा । पराजय होनेसे विपत्तियां बढेंगी । इसलिये शत्रुशक्तिकी अपेक्षा अपनी शक्ति बढानी चाहिये। और अपना विजय संपादन करना चाहिये। विपत्तियों को दूर करनेका यह मुख्य उपाय है, इसका विचार पाठक करें और अपनी विपत्तियां हटानेके प्रयत्नमें कृतकार्य हों ।

पहिले जितनी भी आपत्तियां गिनी है उन सबके निवारण करनेके लिये यही एक मात्र उपाय है। इससे पहिले कई उपाय बताये हैं । राज शासन सुप्रबंध, आत्मशुद्धि, बाह्यशुद्धि, आदि सभी उपाय उत्तम ही हैं, परंतु सर्वत्र इस आत्मशुद्धि के उपाय की विशेषता है, यह बात भूलना नहीं चाहिये ।

जिस प्रकार घोडा चलकर अपने प्राप्तव्य स्थानपर पहुंचता है, उसी प्रकार मनुष्य भी प्रयत्न करके ही प्रत्येक शुभ स्थानपर पहुंचता है । इसलिये मनुष्य प्रयत्न करके ही पुरूषार्थसे सिद्धिको प्राप्त करे । प्रत्येक सुखस्थान मनुष्यको पुरूषार्थसे ही प्राप्त हो सकता है । पुरूषार्थ प्रयत्नके विना विपत्तियां दूर होना असंभव है ।

विपत्तियोंको हटानेके विषयमें यह सूक्त बडे महत्त्व पूर्ण आदेश दे रहा है। पाठक यदि इसका उत्तम विचार करेंगे तो उनको अपनी विपत्तियां हटानेका और संपत्तियां प्राप्त करनेका मार्ग अवश्य दिखाई देगा । आशा है कि पाठक इस सूक्तसे लाभ प्राप्त करेंगे ।

निर्भय जीवन।

(१५)

(ऋषिः- ब्रह्मा। देवता - प्राणः, अपानः, आयुः)

यथा द्यौश्च पृथिवी च न बिभीतो न रिष्यतः। एवा मे प्राण मा बिभेः ॥ १ ॥
यथाहश्च रात्री च न बिभीतो न रिष्यतः। एवा० ॥ २ ॥
यथा सूर्यश्च चन्द्रश्च न बिभीतो न रिष्यतः। एवा० ॥ ३ ॥
यथा ब्रह्म च क्षत्रं च न बिभीतो न रिष्यतः। एवा० ॥ ४ ॥
यथा सत्यं चानृतं च न बिभीतो न रिष्यत। एवा० ॥ ५ ॥
यथा भूतं च भव्यं च न बिभीतो न रिष्यतः। एवा मे प्राण मा बिभेः ॥ ६ ॥

अर्थ - (यथा द्यौः च पृथिवी च) जिस प्रकार द्यौः और पृथिवी (न बिभीतः) नहीं डरते इसलिये (न रिष्यतः) नहीं नष्ट होते, (एवा) ऐसे ही (मे प्राण) हे मेरे प्राण! (मा बिभेः) तू मत डर ॥१॥

जिस प्रकार (अहः च रात्री च) दिन और रात्री नहीं डरते इसलिये विनाशको प्राप्त नहीं होते . ॥२॥

जिस प्रकार सूर्य और चन्द्र ॥३॥

ब्रह्म और क्षत्र ॥४॥

सत्य और अनृत . ॥५॥

भूत और भविष्य नहीं डरते इसलिये विनाशको प्राप्त नहीं होते, इसी प्रकार हे मेरे प्राण ! तू मत डर ॥६॥

भावार्थ - द्युलोक पृथ्वी, दिन, रात्रि, सूर्य, चन्द्र, ब्रह्म, क्षत्र, ज्ञानीशूर, सत्य, अनृत, भूत भविष्य आदि सब किसीसे भी कभी डरते नहीं, इसीलिये विनाशको प्राप्त नहीं होते। इस से बोध मिलता है, कि निर्भय वृत्ति से रहनेसे विनाशसे बचनेकी संभावना है, अतः हे प्राण ! तू इस शरीरमें निर्भय वृत्तिके साथ रह और अपमृत्युके भय को दूर कर ॥१-६॥

निर्भयतासे अमरपन।

इस सूक्तका मुख्य उपदेश यह है कि 'जो नहीं डरते जो निर्भयतासे अपना कार्य करते हैं वे नाशको प्राप्त नहीं होते।' उदारणके लिये द्यौः, पृथ्वी, दिन, रात, सूर्यचन्द्र, इनका नाम इस सूक्तमें लिखा है। दिनरात या सूर्यचन्द्र किसीका भय न करते हुए निःपक्षपातसे अपना कार्य करते हैं। समय होते ही उदय होना या अस्तको जाना आदि इनके सब कार्य यथाकाम चलते रहते हैं। किसीकी पर्वा नहीं करते, किसीकी सिफारस नहीं सुनते, किसीपर दया नही करते अथवा किसीपर क्रोध भी नही करते। अपना निश्चित कार्य करते जाते हैं इसलिये ये किसीसे डरते नहीं, अतः ये विनाशको भी प्राप्त नहीं होते। इसलिये जो मनुष्य निडर होकर अपना कर्तव्यकर्म करेगा, वह भी विनाश को प्राप्त नहीं होगा। (मं. १-३)

ब्रह्म -क्षत्र।

आगे चतुर्थ मंत्रमें 'ब्रह्म और क्षत्र ' का उल्लेख है। इनका अर्थ 'ज्ञान और शौर्य' है किंवा ज्ञानी और शूर अर्थात् ब्राह्मण और क्षत्रिय भी है। सूर्यचन्द्रादिकोंका उदाहरण सन्मुख रखकर ब्राह्मण और क्षत्रियोंको चाहिये कि वे किसी मनुष्यसे न डरते हुए अपना कर्तव्यकर्म योग्य रीतिसे करते जांय। जिन ब्राह्मण क्षत्रियोंने ऐसे निडर भावसे

अपने कर्तव्य कर्म किये हैं वे अपने यश से इस समय तक जीवित रहे हैं। और आगेभी वे मार्गदर्शक बनेंगे। ऐसे आदर्श ब्राह्मणों और आदर्श क्षत्रियोंका उदाहरण सन्मुख रखकर अन्य लोग भी भय छोडकर अभयवृत्तिसे अपने कर्तव्य कर्म करते रहेंगे तो वे भी अमर बनेंगे।

सत्य और अनृत।

सत्य और अनृत भी इसी प्रकार किसीकी अपेक्षा नहीं करते। जो सत्य होता है वही सत्य होता है और जो असत्य होता है वही असत्य होता है। कई प्रसंगोमें सत्ताधारी मनुष्य अपने अधिकारके बलसे सत्यको असत्य और असत्य को सत्य कर देते हैं, परंतु वह बात थोडे समयके बाद प्रकट होजाती है और अधिकारीयोंकी पोल भी उसके साथ खुल जाती है। इसलिये क्षणमात्र किसीके दबावसे कुछ न कुछ बन जाय वह बात अलग है, परंतु अंतमे जाकर सत्य और अनृत अपने असलीरूपमें प्रकट होने विना नहीं रहते। इसलिये सदा सत्य पक्षका ही अवलंब करना चाहिये, जिससे मनुष्य निर्भय बनकर शाश्वत पदका अधिकारी होता है।

भूत और भविष्य।

षष्ठ मंत्रमें भूत और भविष्य इन दो कालोंके विषयमें कहा है कि, ये किसीसे डरते नहीं। यह बिलकुल सत्य है। सबका डर वर्तमान कालमें ही होता है। जो डरानेवाले बादशाह थे, जिन्होंने अपनी तलवारके डरावेसे लोगोंको सताया, वे अब भूतकालमें होगये हैं। उनका डर अब नही रहा है और वे अपने असली रूपमें जनताके सन्मुख खडे होगेय हैं। साधारणसे साधारण इतिहास तत्त्वका विचार करनेवाला भी उनको अपने मतसे दोषी ठहराता है और वे अब उसका कुछ भी बिगाड नहीं कर सकते। क्योंकि वे भूत कालमें दब गये हैं। इसलिये बडे प्रतापी राजा भी भूत कालमें दब जानेके पश्चात् एक साधारण मनुष्यके सदृश असहाय हो जाते हैं। इतना भूतकालका प्रभाव है। पाठक इस कालके प्रभाव को देखें। समर्थसे समर्थ भी इस भूत कालमें जब दब जाता है, तब उसका सामर्थ्य कुछ भी नहीं रहता। परंतु जो धर्मात्मा सत्यनिष्ठ सत्पुरूष होते हैं, उनकी शक्ति इसी भूतकालसे बढती जाती है। रावणका पशुबल उसी समय हरएकको भी दबा सकता था, परंतु भगवान् रामचंद्रजीका आत्मिक बल उस समयही विजयी हुआ, इतनाही नही प्रत्युत आज भी अनंत लोगोंको मार्गदर्शक हो रहा है। यह भूत कालका महिमा देखिये। भूतकाल निडर है किसीकी पर्वाह नहीं करता और सबको असली रूपमे सबके सामने कर देता है।

भविष्य कालभी इसी प्रकार है। अशक्तोंको भविष्य कालमें भी अपने सत्पक्षका विजय होनेकी आशा रहती है। अधर्मके शासनके अंदर दबे लोग भविष्य कालकी ओर देखकर ही जीवित रहते हैं क्योंकि वर्तमान कालका डर भविष्यमें नही रहता जैसा भूत कालका डर आज नहीं रहा है।

पाठक इससे जान गये होंगे कि,भूत और भविष्य इन दो कालोंके निडर होनेका तात्पर्य क्या है। इस बातको देखकर मनुष्य मात्र यह बात समझें कि सत्यका ही जय होता है, इसलिये सत्यके आधारसे ही मनुष्य अपना व्यवहार करें और निडर होकर अपना कर्तव्य पालन करें।

अभय वृत्तिसे ही अमरपन प्राप्त हो सकता है।

● ● ●

विश्वंभर की भक्ति ।

(१६)

(ऋषिः - ब्रह्मा । देवता - प्राणः, अपानः, आयुः)

प्राणापानौ मृत्योर्मा पातं स्वाहा ॥ १ ॥
द्यावापृथिवी उपश्रुत्या मा पातं स्वाहा ॥ २ ॥
सूर्य चक्षुषा मा पाहि स्वाहा ॥ ३ ॥
अग्ने वैश्वानर विश्वैर्मा देवैः पाहि स्वाहा ॥ ४ ॥
विश्वम्भर विश्वेन मा भरसा पाहि स्वाहा ॥ ५ ॥

अर्थ - हे प्राण और अपान ! तुम दोनों **(मृत्योः मा पातं)** मृत्युसे मुझे बचाओ **(स्वा-हा)** मैं आत्मा समर्पण करता हूं ॥१॥

हे द्युलोक और पृथ्वी लोक ! **(उपश्रुत्या मा पातं)** श्रवण शक्तिसे मेरी रक्षा करो ॥२॥

हे सूर्य ! **(चक्षुषा मा पाहि)** दर्शन शक्तिसे मेरी रक्षा कर ॥३॥

हे वैश्वानर अग्ने ! **(विश्वैः देवैः मा पाहि)** संपूर्ण देवोंके साथ मेरी रक्षा कर ॥४॥

हे विश्वंभर ! **(विश्वेन भरसा मा पाहि)** संपूर्ण पोषण शक्तिसे मेरी रक्षा कर, **(स्वा-हा)** मैं आत्मसमर्पण करता हूं ॥५॥

भावार्थ - प्राण और अपान मृत्युसे बचावें ॥१॥

द्यावापृथिवी श्रवण शक्तिकी सहायतासे, सूर्य दर्शन शक्तिसे मेरा बचाव करें ॥२-३॥

विश्वव्यापक पुरुष सब दिव्य शक्तियों द्वारा तथा विश्वंभर ईश्वर अपनी पोषण शक्ति द्वारा मेरी रक्षा करें । मैं अपने आपको उसीकी रक्षामें समर्पित करता हूं ॥४-५॥

विश्वंभर देव ।

इस सूक्तके अंतिम पंचम मंत्रमें 'विश्वं - भर' शब्द है, विश्वका भरण और पोषण करनेवाला देव यह इसका अर्थ है। सम्पूर्ण जगत्का भरण पोषण करनेवाला एक देव यहां 'विश्वंभर' शब्दसे कहा है । यह विश्वंभर शब्द परमात्मविषयक होनेमें शंकाही नहीं है । और इस शब्द द्वारा यहां जगत् के एक देव की उत्तम कल्पना व्यक्त की गई है ॥ मं. ५

इस जगत् के भरण पोषण करनेवाले इस देवके पास (विश्वेन भरसा) विश्यव्यापक पोषक रस है जिससे यह देव सब जगत् का पोषण करता है ।

वैश्वानर ।

चतुर्थ मंत्रमें इसीका नाम 'वैश्वा - नर' है इसका अर्थ है विश्वका नेता, विश्वका चालक, संपूर्ण जगत् का नर सब जगत् मुख्य, सब जगत् में मुख्य पुरुष । यही विश्वंभर नामसे आगे वर्णन किया गया है । जिस प्रकार अग्नि सर्वत्र

व्यापता है इसी प्रकार यह जगच्चालक मुख्य पुरूष भी सर्व जगत् में व्यापक हो रहा है। सूर्य चंद्रादि सब (विश्वैः देवैः) अन्य देव इसीके वशमें रहते है और अपना अपना कार्य करते हैं। इसीकी आज्ञा पालन करनेवाले सब अन्य देव हैं। ये अन्य देव इसीके सहचारी देव हैं।

एक उपास्य।

पाठक इस सूक्तके ये दो शब्द 'विश्वंभर और वैश्वानर' देखें और इनके मननसे अद्वितीय उपास्य परमात्म देवकी भक्ति करना सीखें। वह सब जगत्का भरण पोषण करनेवाला है इसलिये वह हमारा भी भरण पोषण करेगा ही इसमें क्या संदेह है। जिस ने जन्म देनेके पूर्व ही माताके स्तनोंमें बालकके लिये दूध तैयार रखा होता है, उसकी सार्वत्रिक भरण पोषण शक्ति कितनी विशाल है, इसकी कल्पना हो सकती है। ऐसे अनंत सामर्थ्यशाली विश्वंभरकी भक्ति करना ही मनुष्य मात्रका कर्तव्य है।

देवोंद्वारा रक्षा।

सूर्य नेत्र इन्द्रियमें दर्शन शक्ति रख कर मनुष्य की रक्षा कर रहा है, द्यावा पृथिवीमें चारों और फैली हुई दिशाएं कर्ण इंद्रियकी श्रवण शक्तिद्वारा मनुष्यकी रक्षा कर रही है। इसी प्रकार प्राण और अपान शरीरमें रक्षा कर रहे हैं यह बात हरएकको यहां प्रत्यक्ष हो सकती है। इसी तरह अन्यान्य देव अन्यान्य स्थानोंमें रहते हुए हमारी रक्षा कर रहे हैं।

यह सब उसी विश्वंभर की कृपासे होरहा है इस का अनुभव करके उसी एक अद्वितीय प्रभुकी भक्ति करना हरएक मनुष्यके लिये योग्य है। आशा है कि इस रीतिसे विश्वंभरकी भक्ति करके पाठक शाश्वत कल्याणके भागी होंगे।

•••

आत्मसंरक्षण का बल।

(१७)

(ऋषिः - ब्रह्मा। देवता - प्राणः, अपानः, आयुः)

ओजो॒ऽस्योजो॑ मे दाः स्वाहा॑ ॥ १ ॥
सहो॒ऽसि॒ सहो॑ मे दाः स्वाहा॑ ॥ २ ॥
बल॑मसि॒ बलं॑ मे दाः स्वाहा॑ ॥ ३ ॥
आयु॑र॒स्यायु॑र्मे दाः स्वाहा॑ ॥ ४ ॥
श्रोत्र॑मसि॒ श्रोत्रं॑ मे दाः स्वाहा॑ ॥ ५ ॥

अर्थ - (ओजः असि) तू शारीरिक सामर्थ्य है, (मे ओजः दाः) मुझे शरीर सामर्थ्य दे ॥१॥
तू (सहः असि) सहन शक्तिसे युक्त है (मे सहः दाः) मुझे सहनशक्ति दे ॥२॥
तू बल स्वरूप है मुझे बल दे ॥३॥
तू (आयुः असि) आयु अर्थात् जीवनशक्ति है मुझे वह जीवनशक्ति दे ॥४॥
तू (श्रोत्रं) श्रवणशक्ति है मुझे वह श्रवणशक्ति दे ॥५॥

चक्षुरसि चक्षुर्मे दाः स्वाहा ॥ ६ ॥
परिपाणमसि परिपाणं मे दाः स्वाहा ॥ ७ ॥
(इति तृतीयोऽनुवाकः ।)

अर्थ - तू (चक्षुः) दर्शन शक्ति है मुझे दर्शन शक्ति दे ॥६॥

तू **(परिपाणं असि)** सब प्रकारसे आत्मरक्षा करनेकी शक्ति है मुझे आत्मसंरक्षण करनेकी शक्ति दे । **(स्वा-हा)** मैं आत्मसमर्पण करता हूं ॥७॥

भावार्थ - हे ईश्वर ! तू सामर्थ्य, पराक्रम, बल, जीवन, श्रवण, दर्शन और परिपालन इन शक्तियों से युक्त है, इसलिए मुझे इन शक्तियोंका प्रदान कर ॥ (१-७)

(१८)

(ऋषिः - चातनः । देवता - अग्निः)

भ्रातृव्यक्षयणमसि भ्रातृव्यचातनं मे दाः स्वाहा ॥ १ ॥
सपत्नक्षयणमसि सपत्नचातनं मे दाः स्वाहा ॥ २ ॥
अरायक्षयणमस्यरायचातनं मे दाः स्वाहा ॥ ३ ॥
पिशाचक्षयणमसि पिशाचचातनं मे दाः स्वाहा ॥ ४ ॥
सदान्वाक्षयणमसि सदान्वाचातनं मे दाः स्वाहा ॥ ५ ॥

अर्थ - तू **(भ्रातृव्य-चातनं)** वैरियोंका नाश करनेकी शक्तिसे युक्त है मुझे वह बल दे ॥१॥

तू सपत्नोंका नाश करनेकी शक्तिसे युक्त है, मुझे वह बल दे ॥२॥

तूं **(अ राय- क्षयणं)** निर्धनताका नाश करनेका बल रखता है, मुझे वह बल दे ॥३॥

तू **(पिशाच - क्षयणं)** मांस चुसनेवालोंका नाश करनेकी शक्ति रखता है, मुझे वह बल दे ॥४॥

तू **(स-दान्वाक्षयणं)** आसुरी वृत्तियों को दूर करनेकी शक्ति रखता है, मुझे वह बल दे, मैं **(स्वा-हा)** आत्मसमर्पण करता हूं ॥५॥

भावार्थ - वैरी, शत्रु, कंजूस, खूनचूस और आसुरीवृत्तिवाले इनसे बचनेकी शक्ति तेरे अंदर है, यह शक्ति मुझमें स्थिर कर, मैं अपने आप को तेरे लिये अर्पण करता हूं ॥१-५॥

बलकी गणना ।

इन दो सूक्तोंमें आत्म संरक्षणके लिये आवश्यक बलोंकी गणना की है, वह बल ये हैं -

१ ओजः - स्थूल शरीरकी शक्ति, मुट्ठोंका बल,

२ सहः - शीत उष्ण अथवा अन्यान्य द्वन्द्व सहन करनेकी शक्ति । अपना कर्तव्य करनेके समय जो भी कष्ट सहन करनेकी आवश्यकता हो, वे कष्ट आनन्दसे सहन करनेकी सदा तैयारी रखनेका नाम सह है । शत्रुका हमला आगया तो उससे न डरना तथा अपना स्थान न छोडना, अर्थात् शत्रुका हमला आगया तो भी अपने स्थानमें ठहरना । यह भी एक सहन शक्ति ही है । सहज ही में शत्रुसे पराभूत न होना, इतना ही नहीं परंतु शत्रुसे कभी पराजित ही न होना । शत्रुके हमले **सहन करके स्वस्थानमें स्थिर रहना और शत्रुको परास्त करना या शत्रुके ऊपर आक्रमण करना ।**

३ बलं - सब प्रकारके बल । आत्मिक, बौद्धिक, मानसिक, इंद्रिय विषयक आदि जितने भी बल मनुष्यकी उन्नतिके लिये आवश्यक होते हैं वे सब बल।

४ आयुः - दीर्घ आयु, आरोग्य पूर्ण दीर्घायु ।

५ श्रोत्रं - कान आदि इंद्रियोंकी शक्तियां । श्रवणसे प्राप्त होनेवाली अप्रत्यक्ष शब्दविद्या ।

६ चक्षुः - चक्षु आदि इंद्रियोंकी शक्तियां । प्रत्यक्ष प्रयोगजन्य विज्ञान ।

७ परिपाणं - परित्राण की शक्ति । अपनी (पूर्ण) संरक्षण करनेकी शक्ति । (परि) सब प्रकारसे अपना (पाणं) संरक्षण करनेकी शक्ति।

८ भ्रातृव्य - क्षयणं - भ्रातृव्य शब्दका अर्थ यहां विशेष मननसे देखना चाहिये। दो भाईयोंके पुत्र आपसमें भ्रातृव्य कहलाते हैं । यह घरमें भ्रातृव्यपन है । इसी प्रकार दो राजा आपसमें भाई होते हैं और उनकी प्रजा आपसमें "भ्रातृव्य" कहलाती है । इनमें वारंवार युद्ध प्रसंग होते हैं । ऐसे राष्ट्रीय युद्धोमें शत्रु पक्षका निराकरण करनेकी शक्ति अपनेमें बढानी चाहिए तभी विजय होगा । अन्यथा पराभव होगा । राष्ट्रीय चतुरंग बलकी सिद्धता करनेकी बात इस शब्द द्वारा बताई है । यह राष्ट्रके बाहरके शत्रुसे युद्ध है ।

९ सपत्नक्षयणं - एक राज्यके अंदर पक्ष प्रतिपक्ष हुआ करते हैं । इन पक्ष भेदों का नाम "सपत्न" है क्योंकि ये एकही पतिके अंदर हुआ करते हैं । इनमें विविध प्रकारकी स्पर्धा होना स्वाभाविक है । इस स्पर्धामें विजय प्राप्त करने या अन्य सपत्नोंको हटाकर अपना विजय सिद्ध करनेका यह नाम है । यह राष्ट्रके अंतर्गत युद्ध है ।

१० अरायक्षयणं - राय शब्द धनका वाचक है और अराय शब्द निर्धनताका वाचक है । यह निर्धनता सब प्रकारसे दूर करना आवश्यक है । वैश्यों और कारीगरोंके उत्कर्षसे यह बात साध्य हो सकती है ।

११ पिशाचक्षयणं - रक्तमांस चूसनेवालोंका नाम पिशाच है । (पिशिताच् - पिशाच) रक्त पीनेवाले रोग भी है जिनमें रक्त की क्षीणता होती है । मनुष्योंमें वे लोग कि जो रक्त मांस भोजी होते हैं । इनमें भी कच्चा मांस खानेवाले विशेषकर पिशाच कहलाते हैं । समाज से इनको दूर रखना योग्य है ।

१२ स - दान्वाक्षयणं - (स - दानव - क्षयणं) असुर राक्षसोंका नाश करना, या उनको दूर करना । यह पुराणोमें "देवासुर युद्ध" नामसे प्रसिद्ध है । आज भी अपने समाजमें क्या तथा अन्य समाजोंमें क्या देवासुरोंके झगडे चलही रहे हैं और उनमें असुरोंका पराभव होना ही आवश्यक है यह सब बात स्पष्ट होनेके कारण इसका अधिक विचार यहां करनेकी आवश्यकता नहीं है ।

स्वाहा विधि ।

ये बारह बल अपने अंदर लाने चाहिये । इन बलोंका उपयोग करनेकी रीति भी विभिन्न हो सकती है । पाठक प्रत्येक बलका और उसके प्रयोग क्षेत्रका अच्छी प्रकार मनन करेंगे तो उनको इस बातका पता लग सकता है। दूसरोंका घातपात करनेके कार्य में अपने बलका उपयोग करना तो सब जानतेही है , परंतु इन दो सूक्तोमें इन बालों का उपयोग "स्वाहा" विधिसे करनेको कहा है । "स्वाहा" विधिका तात्पर्य 'आत्मसर्वस्वका समर्पण' करना है । पूर्णकी भलाईके लिये अंशका यज्ञ करना स्वाहाका तात्पर्य है ।

इस स्वाहा यज्ञ द्वारा उक्त शक्तियां अपने अंदर बढजांय और इसी स्वाहा विधि द्वारा उनका उपयोग किया जाय, यह उपदेश इन सूक्तोमें विशेष महत्त्व रखता है ।

स्व = अपना
हा = त्याग } - **आत्म-सर्वस्व-समर्पण ।**

यह विधि आत्मयज्ञका ही दूसरा ही नाम है । यह विधि शक्तियोंका उपयोग करनेकी ब्राह्मपद्धति बता रहा है। क्षात्रादि पद्धतिमें तो दूसरोंका विनाश मुख्य बात है और ब्राह्मपद्धतिमें स्वाहा अर्थात् आत्मसमर्पण मुख्य बात है । सब शत्रुनाश या शत्रुसुधार इसी विधीसे कैसा करना यह एक बडी समस्या है । परंतु पाठक इसका बहुत विचार करेंगे तो इस समस्याका हल स्वयं हो सकता है । क्योंकि यह स्वाहाविधि यज्ञका मुख्य अंगही है ।

दोनो सूक्तोंमें बारह मंत्र है। प्रत्येक मंत्र में जो शक्ति मांगी है, उसके साथ "स्वाहा" का उल्लेख हुआ है। पाठक विचार करेंगे तो उनको पता लग सकता है कि यह एक प्रचंड शक्ति है। यदि ये शक्तियाँ मनुष्यमें विकसित हो गई और साथ साथ उसमें स्वार्थ भी बढता गया तो कितनी हानी की संभावना है। एकही शारीरिक शक्तिकी बात देखिए। कोई बडा मल्ल है, बडा बलवान् है, यदि वह स्वार्थी खुदगर्ज हुआ तो वह बहुत कुछ हानि कर सकता है। परंतु यदि वह मल्ल अपनी विशाल शक्तिका उपयोग परोपकारके कर्ममें करेगा, अथवा अपने शारीरिक बलको परमात्मसमर्पणमें लगावेगा। तो कितना लाभ हो सकता है। इसी प्रकार अन्यान्य शक्तियोंके विषयमें जानना चाहिए। आत्म समर्पणसेही शक्तिका सच्चा उपयोग हो सकता है। और सच्चाहित भी हो सकता है।

इस लिए इन दो सूक्तोंमें बारह बार "स्वाहा" का उच्चार करके आत्मसमर्पण का सबसे अधिक उपदेश किया है। जो जो शक्ति अपनेमें बढेगी, उस उस शक्तिका उपयोग मैं आत्मसमर्पण की विधिसे ही करूंगा ऐसा निश्चय मनुष्य को करना चाहिए तभी उसकी उन्नति होगी और उसके प्रयत्नसे जनताकी भी उन्नति हो सकती है।

• • •

शुद्धि की विधि।

(१९ . २३)

(ऋषिः - अथर्वा। देवता १९ अग्निः, २० वायुः, २१ सूर्यः, २२ चन्द्र, २३ आपः)

(१९) अग्ने यत्ते तपस्तेन तं प्रति तप योऽ३स्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ १ ॥
अग्ने यत्ते हरस्तेन तं प्रति हर योऽ३स्मान्द्वेष्टि० ॥ २ ॥
अग्ने यत्तेऽर्चिस्तेन तं प्रत्यर्च यो० ॥ ३ ॥
अग्ने यत्ते शोचिस्तेन तं प्रति शोच यो० ॥ ४ ॥
अग्ने यत्ते तेजस्तेन तमतेजसं कृणु यो० ॥ ५ ॥
(२०) वायो यत्ते तपस्तेन तं प्रति तप यो० ॥ १ ॥
वायो यत्ते हरस्तेन तं प्रति हर यो० ॥ २ ॥
वायो यत्तेऽर्चिस्तेन तं प्रत्यर्च यो० ॥ ३ ॥
वायो यत्ते शोचिस्तेन तं प्रति शोच यो० ॥ ४ ॥
वायो यत्ते तेजस्तेन तमतेजसं कृणु यो० ॥ ५ ॥
(२१) सूर्य यत्ते तपस्तेन तं प्रति तप यो० ॥ १ ॥
सूर्य यत्ते हरस्तेन तं प्रति हर यो० ॥ २ ॥

सूर्य यत्तेऽर्चिस्तेन तं प्रत्यर्च यो० ॥ ३ ॥

सूर्य यत्ते शोचिस्तेन तं प्रति शोच यो० ॥ ४ ॥

सूर्य यत्ते तेजस्तेन तमतेजसं कृणु यो० ॥ ५ ॥

(२२) चन्द्र यत्ते तपस्तेन तं प्रति तप यो० ॥ १ ॥

चन्द्र यत्ते हरस्तेन तं प्रति हर यो० ॥ २ ॥

चन्द्र यत्तेऽर्चिस्तेन तं प्रत्यर्च यो० ॥ ३ ॥

चन्द्र यत्ते शोचिस्तेन तं प्रति शोच यो० ॥ ४ ॥

चन्द्र यत्ते तेजस्तेन तमतेजसं कृणु यो० ॥ ५ ॥

(२३) आपो यद्वस्तपस्तेन तं प्रति तपत यो० ॥ १ ॥

आपो यद्वो हरस्तेन तं प्रति हरत यो० ॥ २ ॥

आपो यद्वोऽर्चिस्तेन तं प्रत्यर्चत यो० ॥ ३ ॥

आपो यद्वः शोचिस्तेन तं प्रति शोचत यो० ॥ ४ ॥

आपो यद्वस्तेजस्तेन तमतेजसं कृणुत योऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः॥ ५ ॥

अर्थ - हे अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र, और आप् देवता! आपके अंदर जो (**तपः**) तपानेकी शक्ति है उससे (**तं प्रति तप**) उसको तुप्त करो (**यः अस्मान् द्वेष्टि**) जो अकेला हम सबका द्वेष करता है और (**यं वयं द्विष्मः**) जिसका हम सब द्वेष करते हैं ॥१॥

हे देवो! जो आपके अंदर (**हरः**) हरण करनेकी शक्ति है उससे उसका (**प्रतिहर**) दोष हरण करो जो हमारा द्वेष करता और जिसका हम द्वेष करते हैं ॥२॥

हे देवो ! जो आपके अंदर (**अर्चिः**) दीपन शक्ति है उससे उसका (प्रत्यर्च) संदीपन करो जो हमारा द्वेष करता है और जिसका हम द्वेष करते हैं ॥३॥

हे देवों ! जो आपके अंदर (**शोचिः**) शुद्ध करनेकी शक्ति है उससे उसको (**प्रति शोच**) शुद्ध करो जो हमारा द्वेष करता है और जिसका हम द्वेष करते हैं ॥४॥

हे देवो ! जो आपके अंदर (**तेजः**) तेज है उससे उसको (**अतेजसं**) अतेजस्वी करो जो हमारा द्वेष करता है और जिसका हम द्वेष करते हैं ॥५॥

भावार्थ - हे अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र और आप् देवो ! आपके प्रत्येकके अंदर तप, हर, अर्चि, शोचि, और तेज ये पांच शक्तियां हैं, इसलिये कृपा करके हमारे द्वेषोंको इन शक्तियोंसे परिशुद्ध करो, अर्थात् उनको तपाकर, उनके दोषोंको हटाकर, उन में आंतरिक प्रकाश उत्पन्न करके, उनकी शुद्धि करके और उनको आपके दिव्य तेज से प्रभावित करके शुद्धि करो । जिस से वे कभी किसीका द्वेष न करेंगे और मिलजुल कर आनंदसे रहेंगे ॥

पांच देव

इन पांच सूक्तोमें पांच देवताओंकी प्रार्थना की गई है अथवा दुष्टोंके सुधारके कार्य में उनसे शक्तियोंकी याचना की गई है। ये पांच देवताएं ये हैं -

"अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र, आपः"

अग्निमें तपानेकी शक्ति, वायुमें हिलानेकी शक्ति, सूर्यमें प्रकाश शक्ति; चन्द्रमें सौम्यता, और आप (जल) में पूर्ण शांति है। अर्थात् ये देवताएँ इस व्यवस्थासे एकके पश्चात् दूसरी आगई है कि पहिले तपानेसे प्रारंभ होकर सबको अन्तमें शांति मिल जावे। अंतिम दो देव चंद्र और आप् पूर्ण शांति देनेवाले हैं। अग्नि और सूर्य तपाने वाले हैं और वायु प्राणगति या जीवन गतिका दाता है। यदि पाठक यह व्यवस्था देखेंगे तो उनको दुष्टोंका सुधार करनेकी विधि निश्चयसे ज्ञान होगी।

पंचायतन।

सूर्य (उग्र प्रकाश)		चन्द्र (सौम्य प्रकाश)
	वायु (गति)	
(अग्निः (तप)		आप् (शांति)

पहिले अग्नि तपाता है, वायु उसमें गति करता है और ये दोनों सूर्यके उग्र प्रकाशमें उसे रख देते हैं। उसके पश्चात् चंद्रमाका सौम्य प्रकाश आता है और पश्चात् जल तत्त्वकी पूर्ण शांन्ति या शांतिमय जीवन उसे प्राप्त होता है। शुद्ध होनेका यह मार्ग है। यह क्रम विशेष महत्त्व पूर्ण है। और इसीलिए इन पांचो सूक्तोंका विचार यहां इकट्ठा किया है।

पांच देवोंकी पांच शक्तियाँ।

पांच देवोंकी पांच शक्तियां इन सूक्तोमें वर्णन की हैं। उनके नाम ये हैं।

"तपः, हरः, अर्चिः, शोचिः, तेजः" ये पांच शक्तियां है। ये पांचो शक्तियां प्रत्येक देवके पास हैं। इससे पाठक जान सकते हैं कि हरएक की ये शक्तियां भिन्न हैं। अग्निका तेज, सूर्यका तेज और जलका तेज भिन्न होनेमें किसीको भी शंका नहीं हो सकती। इसलिए प्रत्येक देवताके पास ये पांच शक्तियां हैं, परंतु उनका स्वरूप और कार्य भिन्न भिन्न ही है। जैसा 'हरः' नामक शक्तिके विषयमें देखिये। हरः का अर्थ है "हरण करना" हरलेना। यहां इस एकही शक्तिका उपयोग पांच देव किस प्रकार करते हैं, देखिये -

१ **अग्नि** - शीतताका हरण करता है, तपाता है।
२ **वायु** - आर्द्रता का हरण करता है, सुखाता है।
३ **सूर्य** - समय का हरण करता है, आयु घटाता है।
४ **चन्द्र** - मनस्तापका हरण करता है, मनकी प्रसन्नता देता है।
५ **जल** - शारीरिक मलका हरण करता है, शुद्धता करता है।

प्रत्येक देव हरण करता है, परंतु उसके हरण करनेके पदार्थ भिन्न है, इसी प्रकार "तपन, हरण, अर्चन, शोचन, और तेजन" के द्वारा इन देवोंसे मनुष्यका सुधार होता है। प्रत्येक देवताके ये पांच गुण है और पांच देवता हैं, इसलिए सुधार होनेके लिए पच्चीस छाननियोंसे छाना जानेकी आवश्यकता है, यह बात पाठक करनेसे सहज हीमें जान जायंगे ।

यह शुद्धिकी विधि देखनेके लिए हमें यहां इन पांच गुण शक्तियोंका अवश्य विचार करना चाहिये -

१ तपः तपाना, तपना । इसका महत्त्व बडा भारी है । सुवर्णादि धातु अग्निमें तपने से ही शुद्ध होते हैं । कायिक वाचिक मानसिक तपसे ही मनुष्यकी शुद्धि होती है । तपना अनेक प्रकारसे होता है । तप बहुत प्रकारके हैं उन सब का उद्देश्य शुद्धि करना ही है ।

२ हरः - हरण करना, हरलेना । दोषोंको हरण करना, दोषोंको दूर करना । सुवर्णादि धातुओंको अग्निमें तपानेसे दोष दूर होते हैं और उनकी शुद्धता होती है । इसी प्रकार अन्यान्य तप करनेसे दोष दूर होते हैं और शुद्धि होती है।

३ अर्चिः - अर्च् धातुका अर्थ 'पूजा और प्रकाश' है । पूर्वोक्त दो विधियों द्वारा शुद्धता होनेके पश्चात् यह पूजा या उपासना का प्रकाश उस मनुष्यके अंदर डाला जाता है। दोष दूर होनेके पश्चात् ही यह होना है इससे पूर्व नहीं।

४ शोचिः - शुच् धातुका अर्थ शोधन करना है । शुद्धता करना। तप, दोषहरण और अर्चनके पश्चात् शोधन हुआ करता है। शोधन का अर्थ बारीकसे बारीक दोषोंको हटाना । हरण और शोधन में जो भेद हैं वह पाठक अवश्य देखें । स्थूल दोषोंका हरण होता है और सूक्ष्म दोषोंका शोधन हुआ करता है इस प्रकार शोधन होनेके पश्चात् -

५ तेजः - तेजन करना है । तिज् धातुका अर्थ तेजकरना और पालन करना है । शस्त्र की धारा तेज की जाती है इस प्रकारका तेजन यहां अभीष्ट है । तीखा करना, तेज करना, बुद्धिकी तीव्रता संपादन करना ।

उदाहरण के लिये लोहा लीजिये । पहिले (तपः) तपाकर उसको गर्म किया जाता है, पश्चात् उसके दोष (हरः) दूर किये जाते हैं, पश्चात् उसको किसी आकारमें ढाला (अर्चिः) जाता है, नंतर (शोचिः) पानीमें बुझाकर जल पिलाया जाता है और तत्पश्चात् (तेजः) उस शस्त्रको तेज किया जाता है । यह एक चक्कू छूरी आदि बनानेकी साधारण बात है, इसमें भी न्यूनाधिक प्रमाणसे इन विधियोंकी उपयोगिता होती है । फिर मनुष्य जैसे श्रेष्ठ जीवकी शुद्धताके लिये इनकी उपयोगिता अन्यान्य रीतियोंसे होगी इसमें कहनेकी क्या आवश्यकता हैं ! तात्पर्य "तपन, हरण, अर्चन, शोधन, और तेजन" यह पांच प्रकारके शुद्धिका विधि है, जिससे दोषी मनुष्यकी शुद्धता हो सकती है। दुष्ट मनुष्य का सुधार करके उसको पवित्र महात्मा बनानेकी यह वैदिक रीति है । पाठक इसका बहुत मनन करें।

मनुष्यकी शुद्धि ।

अब यह विधि मनुष्यमें किस प्रकार प्रयुक्त होती है इसका विचार करना चाहिए । इस कार्य के लिए पूर्वोक्त देव मनुष्यमें कहां और किस रूपमें रहते हैं इसका विचार करना चाहिए । इसका निश्चय होनेसे इस शुद्धिकरण विधिका पता स्वयं लग सकता है । इस लिये पूर्वोक्त पांच देव मनुष्यके अंदर कहां और किस रूपमें विराजमान हैं यह देखिये

देवतापंचायतन ।

मनुष्यमें अग्नि, वायु, सूर्य, चंद्र, और आप् ये पांच देवताएं निम्नलिखित रूपसे रहती है -

१ अग्निः (अग्निर्वाक् भूत्वा मुखं प्राविशत्) - अग्नि वाणीका रूप धारण करके मनुष्यके मुखमें प्रविष्ट हुआ है। अर्थात् मनुष्यके अंदर अग्निका रूप वाक् है।

२ वायुः (वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्) - वायु प्राण का रूप धारण करके नासिकाद्वारा अंदर प्रविष्ट हुआ है। और यह प्राण एकादश विधि होकर सब शरीरमें व्यापता है ।

३ सूर्यः (सूर्यः चक्षुर्भूत्वा अक्षिणी प्राविशत्) - सूर्य नेत्रेन्द्रिय बनकर आंखोंमें प्रविष्ट हुआ है ।

४ चन्द्रः (चन्द्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविशत्) - चंद्र देव मनका रूप धारण करके हृदयमें आ वसा है।

५ आपः (आपो रेतो भूत्वा शिस्नं प्राविशन्) - जल रेत बनकर शिस्नके स्थानपर वसा है।

ये पांच देव इन पांच रूपोंमें अपने आपको ढालकर मनुष्यके देहमें आकर इन स्थानोंमें वसे हैं। यह बात विशेष विस्तार पूर्वक ऐतरेय उपनिषदमें लिखी है, वहांही पाठक देखें। यहां जो वाक्य ऊपर लिए हैं वे ऐतरेय उपनिषद् (ऐ. उ. १।२) मेसेही लिए हैं। इन वाक्योंके मननसे पता लगेगा कि इन देवोंका शरीरमें निवास कहां है। अब ये अर्थ लेकर पूर्वोक्त मंत्रोंसे अर्थ देखिए -

सूक्त १९ - (अग्नि - वाणी) - हे वाणी ! जो तेरे अंदर तप है उस तपसे उसको तप्त कर जो हमारा द्वेष करता है। तथा जो तेरे अंदर हरण शक्ति है, उससे उसीके दोष हरण कर, जो तेरे अंदर दीपन शक्ति है, उससे उसीका अंतःकरण प्रकाशित कर, जो तेरे अंदर शोधक गुण है उससे उसकी शुद्धी कर और जो तेरे अंदर तेज है उससे उसीको तेजस्वी बना ॥१-५॥

सूक्त २० - (वायु - प्राण) - हे प्राण ! जो तेरे अंदर तप, दोष हरण शक्ति, दीपन शक्ति, शोधन शक्ति और तेजनशक्ति है उन शक्तियोंसे उसके दोष दूर कर कि जो हम सबका द्वेष करता है ॥१-५॥

इसी प्रकार अन्यान्य सूक्तोंके विषयमें जानना योग्य है। प्रत्येक की पांच शक्तियां है और उनसे जो शुद्धता होनी है, उसके मार्ग निश्चित है, वह इस अर्थसे अब स्पष्ट हो चुका है। जो बाह्य देवताएं है उनके अंश हमारे अंदर विद्यमान है, उन अंशोंको अनुकूलता प्रतिकुलतासे ही मनुष्यका सुधार या असुधार होता है। यह जानकर इस रीतिसे अपनी शुद्धता करनेका यत्न करना चाहिये, तथा जो द्वेष करनेवाले दुर्जन होंगे उनके सुधारका भी इसी रीतिसे यत्न करना योग्य है।

शुद्धिकी रीति।

शुद्धिकी रीति पंचविध है अर्थात् पांच स्थानोंमें शुद्धि होनी चाहिए तब दोषयुक्त मनुष्यकी शुद्धता हो सकती है। इसका संक्षेपसे वर्णन देखिए -

१ वाणीका तप - सबसे पहले वाणीका तप करना चाहिए। जो शुद्ध होना चाहता है या जिसके दोष दूर करने हैं, उसको सबसे प्रथम वाणीका तप करना चाहिये। सत्य भाषण, मौन आदि वाणीका तप प्रसिद्ध है। वाणीके अंदर जो दोष होंगे उनको भी दूर करना चाहिये। वाणीमें प्रकाश या प्रसन्नता लानी चाहिए, जो बोलना है वह सावधानीसे परिशुद्ध विचारों से युक्त ही बोलना चाहिए। इस प्रकार वाणीकी शुद्धता करनेका यत्न करनेसे वाणीका तेज अर्थात् प्रभाव बहुत बढ जाता है और हरएक मनुष्य उसके शब्द सुननेके लिए उत्सुक हो जाता है। (सू. १९)

२ प्राणका तप - प्राणायामसे प्राणका तप होता है जिस प्रकार धोकनीसे वायु देनेसे अग्नीका दीपन होता है, उसी प्रकार प्राणायामसे शरीरके नसनाडीयोंकी शुद्धता होकर तेज बढ जाता है, शरीरके दोष दूर हो जाते हैं, प्रकाश बढता है, शोधन होता है और तेजस्विता भी बढजाती है। इस अनुष्ठानसे मनुष्य निर्दोष होता है। (सू. २०)

३ आंखका तप - आंख द्वारा दुष्ट भावसे किसी ओर न देखना और मंगलभावनासे ही अपनी दृष्टिका उपयोग करना नेत्रका तप है। पाठक यहां विचार करें कि अपने आंखसे किस प्रकार पाप होते रहते हैं और किस प्रकार पतन होता है। इससे बचनेका यत्न हरएक को करना चाहिए। इसी तरह अन्यान्य इंद्रियोंको संयम करना भी तप है जो मनुष्यकी शुद्धता कर सकता है। अपने इंद्रियोंको बुरेपथसे हटाना और अच्छे पथपर चलाना बडा महत्त्व पूर्ण तप है। इसीसे दोष हटते हैं, शोधन होता है और तेज भी बढता है। (सू. २१)

४ मनका तप - सत्य पालन करना मनका तप है। बुरे विचारोंको मनसे हटाना भी तप है। इस प्रकारके मनके तप करनेसे मनके दोष दूर हो जाते हैं, मन पवित्र होता है और शुद्ध होकर तेजस्वी होता है। (सू. २२)

५ वीर्यका तप – (ब्रह्मचर्य) शिस्न इंद्रियका, वीर्यका अथवा कामका तप ब्रह्मचर्य नामसे प्रसिद्ध है। ब्रह्मचर्यसे सब अपमृत्यू दूर होते हैं। और अनन्त प्रकारके लाभ होते हैं रोगादि भय दूर होते हैं और निसर्गका आरोग्य मिलता है। ब्रह्मचर्यके विषयमें सबलोग जानते ही है इस लिए इसके संबधमें अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं है। ब्रह्मचर्य सब प्रकारसे मनुष्यमात्र के उद्धार का हेतु है। (सू. २३)

अग्नि (वाणी), वायु (प्राण), सूर्य (नेत्र आदि इंद्रिय), चन्द्रमा (मन), आपः (वीर्य) इन देवोंके आश्रयसे मनुष्य की शुद्धि होनेका मार्ग यह है। प्रत्येक देवता की पांच शक्तियोंसे मनुष्यके दोष हटजाते और उसमें गुण बढते जाते हैं। इस प्रकार क्रमशः मनुष्य शुद्ध होता हुआ उन्नत होता जाता है।

द्वेष करना।

इन सूक्तोंके प्रत्येक मंत्रमें कहा है कि, जो (द्वेष्टि) द्वेष करता है, उसकी शुद्धता तप आदि द्वारा करना चाहिए। दूसरोंका द्वेष करना इतना बुरा है ? इससे अधिक बुरा और कोई कार्य नहीं है। यह सबसे बडा भारी पतन का साधन है।

आजकल अखबारों और मासिकोमें देखिए दुसरों का द्वेष अधिक लिखा जाता है और उन्नतिका सच्चा मार्ग क्रम लिखा जाता है। दो चार मित्र इकट्ठे बैठे या मिले तो उनकी जो बातचित, शुरू होती है, वह भी किसी आत्मोन्नतिके विषयपर नहीं होती, परंतु किसी न किसीकी निन्दा ही होती है। पाठक अपने अनुभव का भी विचार करेंगे तो उनको पता लग जायगा कि मनुष्य जितना कुछ बोलता है उनमेंसे बहुतसा भाग दूसरेकी निन्दा या दूसरेका द्वेष होता है। मनुष्योंके अवनतिका यह प्रधान कारण है। यदि मनुष्य यह द्वेष करना छोड दे, तो उसका कितना कल्याण हो सकता है। परंतु दूसरेका द्वेष करना बडा प्रिय और रोचक लगता है , इसलिए मनुष्य द्वेषही करता जाता है और गिरता जाता है।

इसलिये इन पांच सूक्तों के प्रत्येक मंत्र द्वारा उपदेश दिया है कि "जो (द्वेष्टि) द्वेष करता है, उसकी शुद्धि तप आदिसे होनी चाहिये।" क्योंकि सबसे अशुद्ध यदि कोई मनुष्य होगा तो दूसरोंका द्वेष करनेवाला ही है। यह स्वयंभी गिरता है और दूसरोंको भी गिराता है।

मन जिसका चिंतन करता है वैसा बनता है। यह मनका धर्म है। पाठक इसका स्मरण करें। जो लोग दूसरोंका द्वेष करते हैं वे दूसरोंके दुर्गुणोंका निरंतर मनन करते हैं, इस कारण प्रतिदिन इनके मनमें दुर्गुणोंकी संख्या बढती रहती है, किसी कारण भी वह कम नहीं होती। पाठक विचार करें कि मनही मनुष्यकी अवस्था निश्चित करता है। जैसा मन वैसा मानव यह नियम अटल है। अब देखिए, जो मनुष्य दूसरेके दुर्गुणोंका निरंतर मनन करता है उसका मन दुर्गुणमय बनता जाता है। अतः निन्दक मनुष्य दिन ब दिन गिरता जाता है।

इसीलिए द्वेष करनेवालेको पश्चात्ताप आदि तप अवश्य करना चाहिए। और अपनी शुद्धि करना चाहिए। तथा आगेके लिए निन्दावृत्ति छोडना भी चाहिए। अन्यथा धोये हुए कपडोंको फिर कीचडमें फेंकनेके समान दुरावस्थाका सुधार हो ही नहीं सकता।

पाठक इन सब बातोंका विचार करके अपनी परीक्षा करें और अपनी पवित्रता करने द्वारा अपने सुधारका मार्ग आक्रमण करें। जो धर्ममें नव प्रविष्ट या शुद्ध हुए मनुष्य होंगे उनकी सचमुच शुद्धि करनेका अनुष्ठान भी इन सूक्तोंके मननसे ज्ञात हो सकता है। नव प्रविष्टोंकी इस प्रकार अनुष्ठान द्वारा सच्ची शुद्धि करनेका मार्ग उनके लिए खुला होनेसेही उनकी सच्ची उन्नति हो सकती है और वैदिक धर्मकी विशेषता भी उनके मनमें स्थिर हो सकती है। पाठक इन सब बातोंका विशेष विचार करें और इन वैदिक आदेशोंसे लाभ उठावें।

●●●

डाकुओंकी असफलता ।

(२४)

(ऋषिः - ब्रह्मा । देवता - आयुष्यम्)

शेरभक शेरभ पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनः।
यस्य स्थ तमत्त यो वः प्राहैत्तमत्त स्वा मांसान्यत्त ॥ १ ॥
शेवृधक शेवृध पुनर्वो यन्तु ०।० ॥ २ ॥
म्रोकानुम्रोक पुनर्वो यन्तु ०।० ॥ ३ ॥
सर्पानुसर्प पुनर्वो यन्तु ०।० ॥ ४ ॥
जूर्णि पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनीः ।० ॥ ५ ॥
उपब्दे पुनर्वो यन्तु ०।० ॥ ६ ॥
अर्जुनि पुनर्वो यन्तु०।० ॥ ७ ॥
भरूजि पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनीः ।
यस्य स्थ तमत्त यो वः प्राहैत्तमत्त स्वा मांसान्यत्त ॥ ८ ॥

अर्थ - हे (**शेरभक शेरभ**) वध करनेवाले ! हे (**किमीदिनः**) लुटेरे लोगो! (**वः यातवः**) तुम्हारे अनुयायी और तुम्हारे (**हेतिः**) शस्त्र (पुनः पुनः यन्तु) लौटकर वापस जांय । (**यस्य स्थ**) जिसके साथी तू हो (**तं अत्त**) उसको खाओ । (**यः वः प्राहैत् तं अत्त**) जो तुम्हें लूटके लिये भेजता हैं उसीको खाओ अथवा (**स्वा मांसानि अत्त**) अपनाही मांस खाओ ॥१॥

हे (**शेवृधक शेवृध**) घातपात करनेवाले ०।०॥२॥

(**हे म्रोक अनुम्रोक**) हे चोर और चोरोंके साथी ! ०।०॥३॥

हे (**सर्प अनुसर्प**) हे सांपके समान छिपके हमला करनेवाले ! ०।०॥४॥

हे (**जूर्णि**) विनाशक ! ०।० ॥५॥

हे (**उपब्दे**) चिल्लानेवाले ! ०।० ॥६॥

हे (**अर्जुनि**) दुष्ट मनवाले ! ०।० ॥७॥

हे (**भरूजि**) नीच वृत्तिवाले ! तुम सबके (**यातवः**) अनुयायी ओर (**हेतिः**) शस्त्र तथा (**किमीदिनीः**) लूट करनेवाले जो हों सब तुम्हारे पास ही (**पुनः यन्तु**) वापस चले जाये । जिसके अनुयायी तुम हो (**तं अत्त**) उसीको खाओ जो तुम्हें भेजता है उसीको खाओ, अथवा अपना ही मांस खाओ ॥८॥ (परंतु किसी दूसरेको कष्ट न दो।)

भावार्थ - जो दुष्ट मनुष्य अथवा घातपात करनेवाले मनुष्य होते हैं वे शास्त्रास्त्रोंसे सज्ज होकर अपने अनुयायियोंके साथ दूसरोंपर हमला करके लुटमार करते हैं और सज्जनोंको सताते हैं । राजाकी सुव्यवस्थासे ऐसा प्रबंध किया

जावे कि इन दुष्टोंमेंसे कोई भी किसी दूसरे सज्जनोंको लूट न सके । इनके अनुयायी कृतकारी न होते हुए वापस लौट जाय, इनके शस्त्र व्यर्थ हो, ये डाकूसंघ भूखे मरने लगें । ये लोग कहीं भी सफलता को प्राप्त कर सकें। विफल मनोरथ होते हुए ये डाकू आपसमें मार पीट करके एक दूसरेको खाकर स्वयं ही नष्ट हो जांय ॥१- ८॥

दुष्ट लोग ।

नगरमें सज्जन नागरिक रहते हैं और जङ्गलोमें डाकू चोर लुटेरे रहते हैं। ये डाकू रात्रीके या दिन के समय नगरी पर हमला करते हैं और लूटमार करके भाग जाते हैं । इस प्रकार लूट मार पर ये अपना निर्वाह करते हैं ।

राजाका सुराज्यका प्रबंध ऐसा हो कि ये किसी भी समय सफल मनोरथ न हो सकें । सर्वदा इनका हमला निष्फल होवे । प्रतिसमय इनका हमला निष्फल होनेसे ये लोग भूखे मरने लगेंगे । पश्चात् आपसमें लढेंगे और आपसमें लड कर मर जायंगे । इनके शस्त्रास्त्र जो दूसरोंके लिये थे वेही इन पर गिरेंगे, ये जो दूसरोंके मांस खाते थे वेही अपने मांस खायेंगे, क्योंकि दूसरोंके मांस इनको मिलेंगे नही और दूसरोंकी संपत्तियां इनको लूटमार के लिये प्राप्त नहीं होगी ।

राज प्रबंधद्वारा ऐसी व्यवस्था होना और चोर लूटेरे भूखसे मरने लगना ही उन दुष्टोंके सुधारका मार्ग है । ऐसा सुप्रबंध होनेसे डाकू लोग नागरिक बनने लगते हैं और उनको डाकूके व्यवहार से हानि और उत्तम नागरिक बननेसे लाभ प्रतीत होता है । पाठक विचार करें और देखें कि यह भी एक दुष्टोंको सुधारनेका मार्ग है और जो विचार पूर्वक अमलमें लाया जाय तो निःसंदेह लाभकारी होगा ।

•••

पृश्निपर्णी ।

(२५)

(ऋषिः चातनः । देवता - वनस्पतिः)

शं नो॑ दे॒वी पृ॑श्निप॒र्ण्यशं॒ निर्ऋ॑त्या अकः । उ॒ग्रा हि क॑ण्व॒जम्भ॑नी॒ ताम॑भक्षि॒ सह॑स्वतीम् ॥ १ ॥
सह॑माने॒यं प्र॑थ॒मा पृ॑श्निप॒र्ण्य॑जायत । त॒याहं॒ दु॒र्णाम्नां॒ शिरो॑ वृ॒श्चामि॑ श॒कुने॑रिव ॥ २ ॥

अर्थ - **(देवी पृश्निपर्णी नः शं)** देवी पृश्निपर्णी, औषधी हमारे लिये सुख और **(निर्ऋत्यै अ-शं)** व्याधियोंके लिये दुःख **(अकः)** करती है। **(हि उग्रा कण्व जम्भनी)** क्योंकि वह प्रचंड रोग बीज - नाशक है। **(सहस्वतीं तां अभक्षि)** बलवती उस औषधिका मैं सेवन करता हूं ॥१॥

(इयं प्रथमा सहमाना पृश्निपर्णी अजायत) यह पहली विजयी पृश्निपर्णी प्रकट हुई है ।**(तया दुर्णाम्नां शिरः वृश्चामि)** उस वनस्पतिसे बुरे नामवाले रोगोंका सिर मैं कुटलता हूं **(शकुनेः इव)** जिस प्रकार छोटे पक्षीका सिर तोडते हैं ॥२॥

भावार्थ - पृश्निपर्णी औषधी मनुष्योंको सुख देती है और रोगोंको ही सताती है, यह रोगबीजोंको दूर करती है, रोगोंको भगाती है, इसलिये इसका सेवन करना योग्य है ॥१॥

इस कार्यके लिये यही मुख्य औषधी है, इससे मानो दुष्ट रोगोंका सिरही टूट जाता है ॥२॥

अरायमसृक्पावानं यश्च स्फातिं जिहीर्षति। गर्भादं कण्वं नाशय पृश्निपर्णि सहस्व च ॥३॥
गिरिमेनाँ आ वेशय कण्वाञ्जीवितयोपनान्। तांस्त्वं देवि पृश्निपर्ण्यग्निरिवानुदहन्निहि ॥४॥
पराच एनान्प्र णुद कण्वाञ्जीवितयोपनान्। तमांसि यत्र गच्छन्ति तत्क्रव्यादो अजीगमम् ॥५॥

अर्थ - हे पृश्निपर्णि ! (अ-रायं) शोभा हटानेवाले, **(असृक् पावानं)** रक्त पीनेवाले **(यः च स्फातिं जिंहीर्षति)** जो पुष्टिको रोकता है, उसको तथा **(गर्भ - अदं)** गर्भ खानेवाले, **(कण्व नाशय)** रोगबीजका नाश कर और **(सहस्व)** उसको जीत लो ॥३॥

हे **(देवि पृश्निपर्णी)** देवी पृश्निपर्णी औषधी ! तू **(एनान् जीवितयोपनान्)** इन जीवित का नाश करनेवाले **(कण्वान्)** रोगबीजोंको **(गिरिं आवेशय)** पहाडपर ले जाओ और **(त्वं तान् अग्निः इव अनुदहन्)** तू उनको अग्निके समान जलाती हुई **(इहि)** प्राप्त हो ॥४॥

(एनान् जीवित - योपनान्) इन जीवितका नाश करनेवाले **(कण्वान् पराचः प्रणुद)** रोगबीजोंको अधोमुखसे ढकेल दे। **(यत्र तमांसि गच्छन्ति)** यहां अंधकार होता है **(तत्)** वहां **(कव्यादः अजीगमं)** मांस भक्षक रोगोंको प्राप्त किया है ॥५॥

भावार्थ - जो रोग शरीरकी शोभा हटाते हैं, खून कम करते हैं, पुष्टिका नाश करते हैं, गर्भको सुखाते हैं, उन रोगोंका नाश पृश्निपर्णी करती है ॥३॥

जिनको ये रोगबीज सताते हैं उनको पहाडपर वसाओ और पृश्निपर्णी का सेवन उनसे कराओ जिससे वह पृश्निपर्णी उसके रोग बीजोंको जला देगी ॥४॥

प्राण नाश करनेवाले इस रोग बीजोंको नीचेके मार्गसे दूर करो। जहां अंधेरा रहता है वहां ही रक्त और मांसका नाश करनेवाले ये रोगबीज रहते हैं ॥५॥

पृश्निपर्णी।

इस पृश्निपर्णी को चित्रपर्णी कहते हैं। भाषामें इसको 'पीठवन, पीतवन, पठौनी' कहते हैं। इसके गुण ये हैं -

त्रिदोषघ्नी वृष्योष्णा मधुरा सरा।
हन्ति दाहज्वरश्वासरक्तातिसारतृड्वमीः ॥ भाव पू. १ भाग . गुडू. वर्ग .

'यह पीठवन औषधी त्रिदोषनाशक, बलवर्धक, उष्ण, मधुर और सारक है, इससे दाह, ज्वर, श्वास रक्तातिसार, तृष्णाा और वमन दूर होता है।' इस वनस्पतिका वर्णन इस सूक्तने किया है। इस सूक्तमें जिन रोगोंके नाश करने के लिये इस औषधी का उपयोग लिखा है उनका वर्णन अब देखिये -

रक्त दोष

इस सूक्तमें यद्यपि अनेक रोगमूलोंका वर्णन किया है तथापि प्रायः सभी रोगोंका मूल कारण रक्त दोष प्रतीत होता है। इस विषयमें देखिए -

१ असृक् पावानं - (असृक) रक्तको (पावानं) जो पीते हैं। अर्थात् जो रक्तको खा जाते हैं। जो रोग रक्तको शरीरमें कम करते हैं, रक्तकी शुद्धता हटाते हैं और रक्तका प्रमाण कम करते हैं (Animia) पांडुरोग जैसे रोग, जिनमें रक्तका मात्रा कम होती है। (मं. ३)

२ अ- रायं - (राय, रै) का अर्थ श्री, शोभा, कांति, ऐश्वर्य है। शरीरकी शोभा, शरीरका सौंदर्य यहां राय शब्दसे अभीष्ट है। वह इस रोगसे हटता है। शरीरका खून कम और अशुद्ध होनेसे इस पांडु रोग आदिमें शरीरकी शोभा हटजाती है और शरीर मरियलसा हो जाता है। (मं. ३)

३ स्फातिं जिहीर्षति - पुष्टि हटाता है । शरीरका मांस कम करता है, शरीरको सुखाता है । शरीर कृश होता जाता है । शरीर का सुडौलपन कम होता है । अर्थात् शरीर क्षीण होता है । (मं. ३)

४ गर्भादं (गर्भ - अदं)- गर्भको खानेवाला रोग । माताके गर्भमें ही गर्भको बढने न देनेवाला, सुखानेवाला, अशक्त करनेवाला अथवा गर्भको मृत करनेवाला रोग । (मं. ३)

५ कण्वः - जिस रोगमें रोगी अशक्तताका (कणति) शब्द करते हैं, आहे मारते हैं, हाय हाय करते हैं अथवा किसी प्रकार अपनी अशक्तता व्यक्त करनेवाला शब्द करते हैं । यह नाम रोग बीजका है जिससे पूर्वोक्त रोग ज्ञान होते हैं । (मं.१,३ -५)

६ निर्ऋतिः - (ऋति) सरल व्यवहार, योग्य सत्य रक्षाका मार्ग । (निः ऋतिः) तेढा चाल चलन, अयोग्य असत्य क्षयका मार्ग । इस प्रकारसे व्यवहारसे उक्त रोग होते हैं । (मं. १)

७ दुर्नामा - (दुः-नामा) दुष्ट यशवाली रोग । अर्थात् जो रोग दुष्ट व्यवहार से उत्पन्न होते हैं। (मं. २)

ये सात शब्द रोगोंके लक्षण बता रहे हैं अंतिम ((६ निर्ऋति, ७ दुर्नामा) ये दो शब्द रोगोत्पत्तिका कारण बता रहे हैं। अर्थात् ब्रह्मचर्यादि सुनियमोंका पालन न करने आदि तथा दुष्ट दुराचारके व्यवहार करनेसे रक्त दोष हुआ करता है और पाण्डुरोग, क्षयरोग, आदि होते हैं । ये दो कारण बता कर इस सूक्तने पाठकोंको सावध किया है कि वे इन घातक रोगोंसे अपना बचाव करें । अर्थात् जो लोग ब्रह्मचर्यादि सुनियम पालन करेंगे और धर्माचर से रहेंगे वे इन रोगोंसे बच सकते हैं।

रोगका परिणाम ।

इन रोगोंका परिणाम कितना भयानक होता है यह बात यहां बतायी है देखिए -

जीवित - योपनः ।।(मं. ४-५)

"जिवित का नाश करनेवाला यह रोग है ।" खून बिगडकर पांडुरोग क्षयरोग रक्तपित्त आदि रोग हुए तो उनके जीवित नष्ट होने की ही संभावना रहती है । ये रोग बडे कष्ट साध्य होते हैं । इसलिए अपने आपको बचाना ही योग्य है।

उत्पत्तिस्थान ।

इन रोग बीजोंका उत्पत्तिस्थान भी इस सूक्तमें स्पष्ट शब्दोंद्वारा कहा है, देखिए -

तमांसि यत्र गछन्ति
तत्क्रव्यादो अजीगमम् ।।(मं. ५)

"जहां अंधकार रहता है, ऐसे स्थानोंमें रक्त मांस खाने वाले ये रोग बीज प्राप्त होते हैं ।" जहां सदा अंधेरा रहता है। जहां वायु नहीं पहुंचता, जहां सूर्य प्रकाश नहीं जा सकता, ऐसे अंधेरे स्थानोंमें इन रोग बीजोंकी उत्पत्ति होती है अथवा ऐसे स्थानोंमें ये रोग बीज होते हैं । अर्थात् जो लोग सदा अंधेरे कमरोंमें निवास करते हैं, स्वच्छ वायु वाले कमरोंमें नही रहते सूर्य प्रकाश न पहुंचनेवाले कमरोंमें रहते हैं । अथवा जिनके निश्वास गृह ऐसे हैं उनको ये रोग होते हैं । परंतु जो लोग स्वच्छ वायुवाले स्थानमें तथा सूर्य प्रकाश प्रतिदिन आनेवाले स्थानोंमें निश्वास करते हैं उनको ये रोग कष्ट नहीं पहुंचा सकते इसलिए पाण्डुरोग क्षय आदि खून तथा मांस कम करनेवाले रोगोंसे बचाव करनेके लिए सूर्य प्रकाश और शुद्ध वायु जहां परिपूर्ण हो ऐसे परिशुद्ध स्थानोंमें निवास करना चाहिए ।

बचावका उपाय?

रोग होने के पश्चात् बचावका उपाय इस सूक्तने कहा है वह अब देखिए -

जीवितयोपनान् एनान् काण्वान् ।
गिरिं आवशेय ।।(मं. ४)

"जीवितका नाश करनेवाले ये रोगबीज जिनके अंतर प्रविष्ट हुए हो अर्थात् जिन को ये रोग हो गये है, उनको पहाड पर ले जाओ ।" पहिली बात यह है कि ऐसे रोगियों को उत्तम वायुवाले पर्वतके उत्तम स्थानपर ले जाओ। यह सबसे उत्तम उपाय है । इन रोगियोंको नगरोंमें मत रखो, जन समुहीमें मत रखो, परंतु पहाडपर ले जाओ । क्योंकि रोगबीज अंधेरे शुद्धवायुहीन और सूर्य प्रकाशहीन स्थानोमें उत्पन्न होते है, इसलिए इन रोगबीजोंका नाश भी ऐसे स्थानोंमें होना संभव है कि जहां विपुल प्रकाश शुद्धवायु और अंधेरा न हो । नगरोंमे मकान पास पास होनेके कारण यहांसे वायु योग्य नही होता, अतः रोगीको पहाडपर ले जानाही योग्य है । इस मंत्र में प्राणनाशक रोगबीज (जीवितयीपन कण्व) को पहाड पर ले जाने को कहा है, उसका अर्थ उक्त रोग बीजवाले रोगियोंकी पहाडपर ले जाना है । क्योंकि आगे इसी मंत्रमें रोगीके लिए औषधि उपयोग भी लिखा है, देखिए -

देवि पृश्निपर्णि ! त्वं तान् अग्निः इव
अनुदहन् इहि ॥(मं. ४)

"यह दिव्य औषधि पिठवन उन रोगबीजोंको अग्नि के समान जलाती हुई प्राप्त होगी ।" अर्थात् पहाडपर गये उक्त रोगीयोंको इस औषधिका सेवन करानेसे उनके अंदर प्रविष्ट हुए सब रोगबीज जल जायंगे और रोगबीज दूर होनेसे रोगी आरोग्य पूर्ण होगा । क्योंकि -

इयं प्रथमा पृश्निपर्णी सहमाना अजायत । (मं. २)

"यह पहली पिठवन विजयी होती है ।" किंवा रोगपर विजय प्राप्त करनेके लिए यह सबसे (प्रथमा) मुख्य औषधि है। इसके सेवनसे निःसंदेह विजय प्राप्त होगा और रोगबीज दूर होंगे ।

कण्वजम्भनी उग्रा हि
तां सहस्वतीं अभक्षि ॥(मं. १)

यह रक्त सुखानेवाले रोगका नाश करनेवाली अत्यंत प्रचण्ड औषधि है । इसका सेवन (सहस्वती) वीर्यवती या बलवती होनेकी अवस्थामें ही करना चाहिए ।" इस कारण भी रोगीका पर्वत पर होना आवश्यक है; क्योंकि योग्य समयमें ताजी वनस्पति पर्वत परसे ही निकालकर तत्काल उसका सेवन कराया जा सकता है । वहांसे वनस्पति उखाडकर नगरमें आनेतक वह रसहीन होना संभव है ।

देवी पृश्निपर्णी नः शं
निर्ऋत्या अ-शं अकः ॥(मं. १)

"यह दिव्य औषधी पीठवन मनुष्यको सुख देती है और रोगींको ही दुःख देती है ।" अर्थात् रोगोंको जडसे हटाती है तथा -

तया अहं दुर्णाम्ना शिरः वृश्चमि । (मं. २)

"इस औषधिसे मैं इन दुष्ट रोगोंका नाश करता हूं ।" मानी इनका सिर ही तोड देता हूं, ताकि ये रोग अपना सिर फिर ऊपर न उठा सकें ।

जीवित - योपनान् कण्वान्
एनान् पवाचः प्रणुद ॥(मं. ५)

"जीवित का नाश करनेवाले इन रोग बीजोको नीचेके द्वारसे ढकेल दो ।"नीचे मुख करके दूर करनेका अर्थ शौच शुद्धि द्वारा दूर करनेका है । पिठवनमें मल शुद्धि करनेका गुण है । उक्त रोग बीज नष्ट करके उनकी मलद्वारसे दूर कर देती है । यह इस वनस्पतिका गुण है ।

पृश्निपर्णीके सेवनसे रक्त दोष दूर होगा, शरीरमें रक्त बढने लगेगा, शरीर पुष्ट होने लगेगा, शरीर पर तेज आवेगा, गर्भकी कृशता दूर होकर गर्भ बढने लगेगा, और अन्यान्य लाभ भी बहुतसे होंगे । इसके सेवनका विधि ज्ञानी वैद्योंको निश्चित करना चाहिए ।

वेदमें जहांतक हमने देखा है एक औषधि प्रयोग (Singledrug systym) ही लिखा है। अर्थात् एकही औषधिका सेवन करना। साथ साथ अनेक औषधियां मिलाकर सेवन करनेका उल्लेख कम है। सेवन के लिए पानीमें घोलना या कदाचित् साथ मिश्रीमें मिलाना यह बात और है, परंतु एक समय रोगीको एकही औषधि सेवनके लिए देना तथा शुद्ध जल वायु, शुद्ध स्थान, सूर्य प्रकाश आदि निसर्ग देवताओंसे ही सहायता प्राप्त करना यह वैदिक चिकित्साकी पद्धति प्रतीत होती है। इसलिए जो पाठक उक्त रोगोंमें इस पीठवनका उपयोग करके लाभ उठाना चाहते है वे ज्ञानी वैद्यके निरीक्षणमें इसका प्रयोग करें और लाभ उठावें।

गो - रस।

(२६)

(ऋषिः सविता। देवता- पशवः।)

एह यन्तु पशवो ये परेयुर्वायुर्येषां सहचारं जुजोष।
त्वष्टा येषां रूपधेयानि वेदास्मिन् तान्गोष्ठे सविता नि यच्छतु ॥ १ ॥
इमं गोष्ठं पशवः सं स्रवन्तु बृहस्पतिरानयतु प्रजानन्।
सिनीवाली नयत्वाग्रमेषामाजग्मुषो अनुमते नि यच्छ ॥ २ ॥
सं सं स्रवन्तु पशवः समश्वाः समु पूरुषाः।
सं धान्यस्य या स्फातिः संस्राव्येण हविषा जुहोमि ॥ ३ ॥

अर्थ :- (पशवः इह आयन्तु) पशु यहां आजावे। (ये परा-इयुः) जो परे गये है। (येषां सहचारं वायुः जुजोष) जिनका साहचर्य वायु करता है। (येषां रूपधेयानि त्वष्टा वेद) जिनके रूप त्वष्टा जानता है। (अस्मिन् गोष्ठे तान् सविता नि यच्छतु) इस गोशालामें उनको सविता बांधकर रखे ॥१॥

(पशवः इमं गोष्ठं संस्रवन्तु) पशु इस गोशालामें मिलकर आ जांय। (बृहस्पतिः प्रजानन् आनयतु) बृहस्पति जानता हुआ उनको ले आवे। (सिनीवाली एषां अग्रं आनयतु) सिनीवाली इनके अग्रभागको ले जावे। हे (अनुमते) अनुमते! (आ जग्मुषः नियच्छ) आनेवालेको नियममें रख ॥२॥

(पशवः अश्वाः उ-पुरुषाः सं सं सं स्रवन्तु) पशु, घोडे और मनुष्यभी मिल जुलकर चलें। (या धान्यस्य स्फातिः सं) जो धान्य की बढती है वह भी मिलकर बढे। मैं (सं स्राव्येण हविषा जुहोमि) मिलानेवाले हविसे हवन करतां हूं ॥३॥

भावार्थ - जो पशु शुद्ध जलवायुमें भ्रमणके लिये गये हैं वे मिलकर पुनः गोशालमें आ जांय। इनके चिन्होंको त्वष्टा जानता है। सविता उनको गोशालामें बांधकर रखे ॥१॥

सब पशु मिलकर गोशालामें आजांय, जाननेवाला बृहस्पति उनको ले आवे। सिनीवाली अग्रभागको ले चले और अनुमति शेष आनेवालों को नियममें रखे ॥२॥

घोडे आदि सब पशु तथा मनुष्यभी मिल जुलकर चलें और रहें। धान्यभी मिलकर बढे। सबको मिलानेवाले हवनसे मैं यज्ञ करता हूं ॥३॥

सं सिञ्चामि गवां क्षीरं समाज्येन बलं रसम् ।
संसिक्ता अस्माकं वीरा ध्रुवा गावो मयि गोपतौ ॥ ४ ॥
आ हरामि गवां क्षीरमाहार्षं धान्यं१ रसम् ।
आहृता अस्माकं वीरा आ पत्नीरिदमस्तकम् ॥ ५ ॥

(इति चतुर्थोऽनुवाकः ।)

अर्थ - **(गवां क्षीरं सं सिञ्चामि)** गौओंका दूध सींचता हूं । **(बलं रसं आज्येन सं)** बलवर्धक रसको घीके साथ मिलाता हूं। **(अस्माकं वीराः संसिक्ताः)** हमारे वीर सींचे गये है। **(मयी गोपतौ गावः ध्रुवाः)** मुझ गोपतिमें गौवें स्थिर हों ॥४॥

(गवां क्षीरं आ हरामि) गौओंका दूध मैं लाता हूं । **(धान्यं रसं आहार्षं)** धान्य और रस मैं लाता हूं । **(अस्माकं वीरा आहृताः)** हमारे वीर लाये गये है । और **(पत्नीः इदं अस्तकं आ)** पत्नियां भी इस घरमें लायी गई है ॥५॥

भावार्थ - मैं गौओंसे दूध लेता हूं तथा बलवर्धक रसके साथ घी को मिलाकर सेवन करता हूं । हमारे वीरों और बालकोंको यही पेय दिया जाता है । इस कार्यके लिये हमारे घरमें गौवें स्थिर रहे ॥४॥

मैं गौओंसे दूध लेता हूँ वनस्पतियोंसे रस तथा धान्य लेता हूं । हमारे वीरों और बालोंको इकठ्ठा करता हूं, घरमें पत्नियां भी लाई जाती है और सब मिलकर उक्त पौष्टिक रसका सेवन करते हैं ॥५॥

पशुपालना ।

घरमें बहुत पशु अर्थात् गौवें, घोडे, बैल आदि बहुत पाले जायं । यह एक प्रकारका धन ही है । आज कल रुपयोंको ही धन माना जाता है, परंतु उपयोगकी दृष्टिसे देखा जाय तो गाय आदि पशु ही सच्चा धन है । इनकी पालना योग्य रीतिसे करने के विषय में बहुतसे आदेश इस सूक्तके पहले दो मंत्रोंमें दिये है । आजकल प्रायः घरमें गौ आदि पशुओंकी पालना नही होती है, क्वचित् किसीके घरमें एक दो गौएं होगी तो बहुत हुआ, नही तो प्रायः कोई नागरिक लोग पशु पालते ही नहीं । नगरके लोग प्रायः दूध आदि मोल ही लेते है । इतना रिवाज बदल जानेके कारण इस सूक्तके आदेश व्यर्थ से प्रतीत होंगे । परंतु पाठक जरा अपनी दृष्टि वैदिक कालमें ले जांय और यह देखें कि ऋषिकालमें ऋषिलोगोंके पास हजारहां गौवें होती थीं और उसी प्रमाणसे अन्यान्य पशुभी बहुतसे होते थे । ऐसे घरोंके लिये ये आदेश फलीभूत हो सकते है ।

भ्रमण और वापस आना ।

गाय आदि पुशओंको शुद्ध वायुमें भ्रमण के लिये लेजाना आवश्यक है, उनका संचार शुद्ध वायुमें होनेके विना तथा सूर्य प्रकाशमें उनका भ्रमण होनेके विना न तो उनका स्वास्थ्य ठीक रह सकता है । और न उनका दूध गुणकारी हो सकता है । इसलिये -

येषां सहचारं वायुः जुजोष । (मं. १)

"जिनका साहचर्य वायु करता है" यह प्रथममंत्रका वाक्य गौओंको आरोग्यके लिए उनका शुद्ध वायुमें भ्रमण अत्यंत आवश्यक है यह बात बता रहा है तथा -

ये पशवः परा ईयुः ते इह आयन्तु ॥(मं. १)

"जो पशु भ्रमणके लिए बाहर गये हैं वे मिलकर वापस आजावें" इस मंत्रभागमें भी वही बात स्पष्टतासे है । पशु अपने स्थानसे मिलकर बाहर जायं और मिलकर वापस आजाय । आगे पीछे रहनेसे उनको पुनः ढूंढना होगा । इस कष्टसे बचानेके लिए सब पशु क्रमपूर्वक जांय और सब इकट्ठे वापस आजांय ऐसा जो इस मंत्रमें कहा है वह बहुत उपयोगी आदेश हैं ।

जहां हजारों पशु होंगे वहां एक गोपालसे काम नहीं चल सकता । इस कार्य के लिए अपने अपने कार्यमें प्रवीण बहुतसे गोपाल होने चाहिये । उनका वर्णन सविता आदि नामोंसे इस सूक्तमें किया है -

१. त्वष्टा येषां रूपाणि वेद। (मं. १)
२. सविता अस्मिन् गोष्ठे तान् नियच्छतु। (मं. १)
३. बृहस्पतिः प्रजानन् आनयतु ॥(मं. २)
४. सिनीवाली एषां अग्र आनयतु। (मं. २)
५. अनुमते। आजग्मुषः नियच्छ। (मं. २)

इन मंत्रोंमें देवताओंके नाम प्रत्येक कार्यके लिए आ गये है। इन शब्दोंके देवता वाचक अर्थ प्रसिद्ध ही है, परंतु इनके मूल धात्वर्थ यहां देखिए -

१ त्वष्टा - सूक्ष्म करनेवाला, कुशल कारीगर। (त्वक्ष-तनूकरणे)
२ सविता - प्रेरक ! (सु-प्रेरणे) चलानेवाला।
३ बृहस्पतिः-ज्ञानवान् (बृहस्) बडेका (पति) स्वामी। पुरोहित, निरीक्षक।
४ सिनीवाली - (सिनी) अन्नके (वाली) बलसे युक्त। अन्नवाली स्त्री।
५ अनु-मतिः - अनुकूल मति रखनेवाली स्त्री।

इन पांच देवता वाचक शब्दोंके ये मूल शब्दार्थ है और इन अर्थोके साथ ही ये शब्द यहां प्रयुक्त हुए है। ये मूल अर्थ लेकर इन मंत्र भागोंका अर्थ देखिए -

'कुशल कारीगर गाय आदि पशुओंके आकारोंको जानता है। २ प्रेरक उनको गौशाला में क्रमपूर्वक नियममें रखे। ३ उनको जाननेवाला पशुओंको लावे। ४ अन्नवाली स्त्री पशुओंके आगे चले। और ५ अनुकूल कार्य करनेवाली आनेवाले पशुओंके साथ चले।

यहां पशु पालनेके आदेश मिलते है। इनका विचार यह है - "(१) पशुओंके पालन कर्ममें एक ऐसा अधिकारी होवे, कि जो पुशओंके सब लक्षण जानता हो, (२) दूसरा कार्यकर्ता ऐसा हो कि जो निरीक्षण करके देखे कि सब पशु यथा स्थानपर आगये है वा नही, तथा उनका अन्य खानपानका प्रबंध ठीक हुआ है वा नहीं, (३) तीसरा निरीक्षक ऐसा होवे कि जो पशुस्वास्थ्य विद्याको अच्छी प्रकार जाननेवाला हो, यही पशुओंको लाने लेजानेका प्रबंध देखे, (४) जब पशु घरमें आजांय तो उनको खान पान देनेवाली स्त्री हो जो सबसे आगे जावे, उनके साथ पशुओंको देने योग्य अन्न हो, (५) तथा उसके पीछे चलनेवाली पशुओंके अनुकूल कार्य करनेवाली पीछे पीछे चले।" इस रीतिसे सब पशुओंका योग्य प्रबंध किया जावे। पुरुषोंकी अपेक्षा स्त्रिया प्रेमपूर्वक उत्तम प्रबंध करती है इसलिए अंतिम दो कार्योंमें स्त्रियोंको नियुक्त करनेकी सूचना वेदने दी है वह योग्य ही है।

जहां सेंकडों और हजारो गौवे पाली जाती हों ऐसे स्थानोमें ऐसा सुयोग्य प्रबंध अत्यंत आवश्यक ही है। आजकल जहां गौवोंका अभाव सा हो गया है वहां ऐसे बडे प्रबंध की आवश्यकता नहीं है, यह स्पष्ट ही है। यह आजकलकी प्रगति है जो हमें पुष्टिसे दूर रखती है, इसका पाठक अवश्य विचार करें। जिस घरमें दश पांच गौवें कमसे कम हों उस घरके मनुष्य गोरस खा पीकर कैसे हृष्ट पुष्ट होते है और जिस घरमें गौवें नही होती, उस घरके मनुष्य कैसे मरियलसे होते है इसका विचार करनेसे गो पालनेके साथ तन्दुरुस्ती का संबध कितना घनिष्ठ इसका पता लग सकता है। यहां तक पहिले दो मंत्रोका विचार हुआ। तृतीय मंत्रमें सबके मिलजुलकर रहनेसे लाभ होगा यह बात कही है। पशु क्या और मनुष्य क्या सब मिलजुलकर परस्पर उपयोगी होकर अपनी वृद्धि करे, सब मिलकर धान्य प्राप्त करें अर्थात् खेती करके धान्य की उत्पत्ति करें। इस प्रकार धान्य, वनस्पतिरस और गोरस विपुल प्रमाण में प्राप्त करके उस के द्वारा अपनी पुष्टिको बढाते हुए अपनी उन्नति करें। (मं. ३)

दूध और पोषक रस।

दूध, दही मक्खन, घी, छाछ आदि सब प्रकारके गोरस तथा अन्यान्य पोषक रस विपुल प्रमाणमें प्राप्त करने चाहियें, और उनका सेवन भी पर्याप्त प्रमाणमें करना चाहिये, इस विषयमें मंत्र ४ और ५ स्पष्ट शब्दोंद्वारा आदेश

दे रहा है । इन मंत्रोंमे 'वीराः' शब्द है, इस शब्दका प्रसिद्ध अर्थ शूरवीर है, परंतु वेदमें इसका अर्थ, 'पुत्र, बालबच्चे संतान' भी है । यहा इन मंत्रोंमें 'पत्नी' के साहचर्यके कारण यही अर्थ विशेषतः अनीष्ट है ।

'मैं गौओंसे दूध लाता हूं, वनस्पतिओंका बलवर्धक रस और धान्य लाता हूं, घी भी लाया है। घरमें धर्मपत्नियां है और बालबच्चे भी इकट्ठे हुए है अथवा इष्ट मित्र वीर पुरुष भी जमा हुए है, इन सबको इच्छाके अनुसार यह सब खाद्यपेय दिया जाता है । (मं. ४-५)

इन दो मंत्रोका यह आशय है । 'संसिक्ता अस्माकं वीराः' हमारे वीर या बालबच्चोंके ऊपर यह रस सींचा गया, जिस प्रकार वृष्टिमें जानेसे सब भींग जाता है उस प्रकार बालबच्चोंपर दूध घी आदि सब रसोंकी वृष्टि की गई है । 'संसिच्'धातुका अर्थ उत्तम प्रकारसे सिंचन करना, भिगोना है । बालबच्चे दूध दही मक्खन घी, रस आदिमें पुरे पुरे भींग जायं इतना गोरस घरमें चाहिये । हृष्टपुष्टता तो तब आ सकती है । वैदिक धर्म वैदिक धर्मीयोंको यह उपदेश दे रहा है कि अपनी गृहव्यवस्था ऐसी करो कि जिससे घरमें इतना विपुल गोरस प्राप्त हो और उसका सेवन करके सब बालक हृष्टपुष्ट हों । आजकल नाना प्रकारकी बीमारियां बढनेका कारण ही यह है कि गोरस न्यून होनेके कारण मनुष्यमें जीवन शक्ति ही कम हो गई है । पाठक इसका विचार करें और इस विषयमें जो हो सकता है करके अपनी जीवन शक्ति बढावे । सब अन्य आरोग्य जीवन शक्तिकी वृद्धि होनेसे ही प्राप्त होंगे । गोरक्षण, गोवर्धन तथा गोसंशोधन करनेकी कितनी आवश्यकता है और राष्ट्रीय किंवा जातीय जीवन की दृष्टिसे भी इष विषयकी कितनी आवश्यकता है इसका पाठक विचार करें ।

वैदिक आदेश व्यवहारमें लानेका विचार जो लोग कर रहे है उनको इस सूक्तका बहुत मनन करना योग्य है, क्योंकि यह आदेश ऐसा है कि इसके व्यवहारमें लाते ही लाभ होनेका प्रत्यक्ष अनुभव आवेगा ।

•••

विजय प्राप्ति ।

(२७)

(ऋषिः - कपिञ्जलः । देवता- १.५ वनस्पतिः, ६रुद्रः, ७ इन्द्रः ।)

नेच्छत्रुः प्राशं जयाति सहमानाभिभूरसि ।
प्राशं प्रतिप्राशो जह्यरसान्कृण्वोषधे ॥ १ ॥
सुपर्णस्त्वान्वविन्दत्सूकरस्त्वाखनन्नसा । प्राशं० ॥ २ ॥

अर्थ - **(शत्रुः प्राशं न इत् जयाति)** प्रतिपक्षी मेरे प्रश्नपर नहीं निश्चयसे विजय प्राप्त कर सकता । क्योंकि तू **(सहमाना अभिभूः असि)** जयशील और प्रभावशाली है । **(प्राशं प्रतिप्राशः जहि)** प्रत्येक प्रश्नपर प्रतिवादीको जीत लो । **(औषधे! आसान् कृणु)** हे औषधे! तू प्रतिपक्षियोंको नीरस कर ॥१॥
(सुपर्णः त्वा अनु अविन्दत्) गरूडने तुझे प्राप्त किया है और **(सूकरः त्वा नसा अखनत्)** सुअरने तुझे नाकसे खोदा है ॥२॥

भावार्थ - मेरे प्रश्नसे प्रतिपक्षी का पराजय होगा । क्योंकि मेरी यह शक्ति जय शालिनी और प्रभावयुक्त है । इसीलिये प्रत्येक प्रश्नसे प्रतिपक्षीका पराभव होगा । औषधि भी प्रतिपक्षियोंको शुष्क बनावे ॥१॥
इस वनस्पतिको गरूडपक्षी प्राप्त करता है और सूअर खोदता है ॥२॥

इन्द्रो ह चक्रे त्वा बाहावसुरेभ्य स्तरीतवे । प्राशं० ॥ ३ ॥
पाटामिन्द्रो व्याश्नादसुरेभ्य स्तरीतवे । प्राशं ॥ ४ ॥
तयाहं शत्रून्त्साक्ष इन्द्रः सालावृकाँ इव । प्राशं० ॥ ५ ॥
रुद्र जलाषभेषज नीलशिखण्ड कर्मकृत् ।
प्राशं प्रतिप्राशो जह्यरसान्कृण्वोषधे ॥ ६ ॥
तस्य प्राशं त्वं जहि यो न इन्द्राभिदासति ।
अधि नो ब्रूहि शक्तिभिः प्राशि मामुत्तरं कृधि ॥ ७ ॥

अर्थ - (इन्द्रः असुरेभ्यः स्तरीतवे त्वा बाहै ह चक्रे) इन्द्रने असुरोंसे अपनी रक्षा करनेके लिये तुझ बाहूपर धारण किया था ॥३॥

(असुरेभ्यः स्तरीतवे) असुरों से बचाव करनेके लिये (इन्द्रः पाटां व्याश्नात्) इन्द्रने इस पाटा वनस्पतिको खाया था ।०॥४॥

(अहं तया शत्रून् साक्षे) मैं उस वनस्पतिसे शत्रुओंको परास्त करता हूं (इन्द्रः सालावृकान् इव) जैसे इन्द्र भेड आदियोंको दूर करता है ॥५॥

हे (जलाष- भेषज) जलसे चिकित्सा करनेवाले (नील - शिखण्ड) नील शिखावाले (कर्मकृत् रूद्र) पुरूषार्थी रूद्र! (प्राशं प्रतिप्राशः) प्रत्येक प्रश्नके प्रति प्रतिवादीको (जहि) जीत लो । (औषधे अरसान् कृणु) हे औषधे! तूं प्रतिपक्षीको शुष्क कर ॥६॥

हे इन्द्र! (यः नः अभिदासति) जो हमें दास बनाना चाहता है (तस्य प्राशं त्वं जहि) उसके प्रश्नको तूं जीत लो (शक्तिभिः नः अधिब्रूहि) शक्तियों के साथ हमें कह और (प्राशि मां उत्तरं कृधि) प्रश्नप्रतिप्रश्नमें मुझे अधिक उत्तम कर ॥७॥

भावार्थ - इन्द्रने यह औषधि असुरोंके पराभव करानेके लिये अपने शरीरपर धारण की थी ॥३॥
तथा उसीने इसका सेवन भी किया था ॥४॥
उसीसे शत्रुओंको भगा देता हूं ॥५॥
हे जल चिकित्सक नील शिखाधारी उत्तम पुरूषार्थी रूद्रदेव । प्रति प्रश्नसे प्रतिवादीको परास्त कर और हे औषधे! तू प्रतिपक्षीको शुष्क बना दे ॥६॥
हे इन्द्र! जो हमें दास बनानेकी चेष्टा करता है उसको प्रतिपश्न में जीत लो, प्रतिप्रश्नमें मेरा विजय कर और शक्तियोंके साथ हमें कथन कर ॥७॥

विजय के क्षेत्र ।

एक विजय वाद विवादमें होता है, दूसरा युद्धमें होता है । इन दोनो विजयोंकी प्राप्ति करनेके लिये विभिन्न शक्त्योंकी आवश्यकता रहती है ।

वादी और प्रतिवादी ।

प्रश्न करनेवाला 'प्राश' अर्थात् वादी होता है और उसके प्रतिपक्षीको 'प्रतिपाश्' कहते हैं । 'वादी और प्रतिवादी' इन दो शब्दोंके समानही ये 'प्राश और प्रतिपाश' शब्द हैं । पाठक इनमें समानता देखें । पहिला मंत्र तथा आगेभी कई मंत्रोंमें कहा है कि प्रश्नकर्ता यों समझिये कि उत्तर दाता भी अपने पक्षका ज्ञान इतना रखे, और इस प्रकार

कुशलतासे प्रश्न करे कि एक दो या थोडेसे प्रश्नोंसेही प्रतिपक्षीका मुख फीका पडजाय । कई चतुर लोग ऐसे होते हैं कि वे शांतिसे एक दो प्रश्न ऐसे ढंगसे पूछते हैं कि उन प्रश्नोंको उत्तर देते देते प्रतिपक्षी स्वयं परास्त हो जाते हैं। अपने विषयका ज्ञान इतना प्राप्त करना और प्रश्न पूछनेका कौशल्य अपनेमें ऐसा बढाना कि जिससे सहज ही मैं वाद विवादमें विजय प्राप्त हो सके । इस सूक्तके मंत्र भागोमें ऐसी तैयारी करनेकी सूचना कई बार दी है । वाद विवादमें विजय प्राप्त करनेका आत्म विश्वास अपने अंदर हो और किसी प्रकारका संदेह न हो । यह वाद विवादके विजय के विषयमें हुआ ।

युद्धमें विजय ।

अब दूसरा विजय युद्धमें शत्रुओंपर प्राप्त करनेका है इसमें भी अपनी आवश्यक पूर्व तैयारी करना योग्य ही है । जिस तैयारी से अपने विजय का निश्चय हो सके और कदापि संदेह न रहे ।

दोनों युद्धोममें पूर्व तैयारी अत्यंत आवश्यक है और जितनी पूर्व तैयारी अधिक होगी उतनी ही विजयकी संभावना अधिक होगी ।

पाटा औषधी ।

इस सूक्तमें उक्त विजयके लिये एक औषधि प्रयोग लिखा है । इस औषधिका नाम 'पाटा या पाठा' (मं. ४) है इस औषधिके गुण ये हैं -

तिक्ता गुरुरुष्णा वातपित्तज्वरघ्नी ।
भग्नसंधानकरी पित्तदाहातीसारशूलघ्नी च । राज नि० व. ६
श्रेयसी मुखवाचिक । कफकण्ठरुजावहा । भावप्र ०।

'यह पाटा या पाठा वनस्पति तिक्त, गुरू, उष्ण है, वात पित्त ज्वर नाशक, टूटेहुएको जोडनेवाली, पित्त दाह अतिसार का नाश करनेवाली है । यह श्रेयकारिणी, मुखमें वाणीके दोष दूर करनेवाली, तथा कण्ठकी पीडाको हटानेवाली है ।' भाषामें इस पाठा वनस्पतिको 'चक्रपाठा, आकनामी, निमुखा' कहते हैं ।

वादविवाद के समय यह वल्ली मुखमें धरनेसे या कण्ठपर बांधनेसे बोलनेके समय कण्ठ उत्तम रहता है और वक्तृत्वसे होनेवाले कष्ट नहीं होते । यह बात भावप्रकाशादि ग्रंथोंमें भी कही है । कण्ठमें कफ होने या अन्य प्रकार शब्द स्फुट न होने आदिके जो कष्ट होते हैं वे इसके प्रयोगसे नहीं होते । इसलिये इस औषधिसे वादविवादमें विजय प्राप्त होनेका वर्णन इस सूक्तमें किया है । इसके अतिरिक्त यह और उत्तेजक होनेसे थकावटभी नहीं होती । इससे भी विजय होनेमें सहायता होती है ।

युद्धमें भी यह वनस्पति इसलिए उपयोगी है कि इससे टुटे हुए अवयव जोडे जाते हैं, घाव शीघ्र भर जाते हैं। महाभारतमें भी देखते हैं कि वहांके वीर युद्धसमाप्तिके नंतर कुछ वनस्पति सेवन करते थे तथा शरीरपर लेपन भी करते थे । जिससे रात्री व्यतीत होते ही वीर पुनः युद्ध करनेके लिए सिद्ध हो जाते थे । नही तो पहिले दिनमें युद्धमें घायल हुए वीर दूसरे दिन फिर किस प्रकार युद्ध कर सकते थे, इस शंकाका उत्तर इस वेद मंत्रमें बताया है । महाभारतमें कही औषधिका नाम नहीं दिया, केवल औषधि जडी बूटी सेवन की जाती थी इतनाही लिखा है । इस सूक्तने "पाठा" नाम दिया है । ज्ञानी वैद्य इसका अन्वेषण करें कि यह वनस्पति कौनसी है और उसका उपयोग कैसा किया जाता था ।

यह औषधि अपने पास रखना, बाहुपर या गलेमें लटकाना, मुखमें धारण करना अथवा पेटमें सेवन करना उक्त रीतिसे लाभकारी है, देखिये -

१ इन्द्रः बाहौ चक्रे । (मं.३)
२ इन्द्रः पाटां व्याश्नात् । (मं. ४)

इन मंत्र भागोमें शरीरपर धारण करने और पेटमें सेवन करनेकी बात लिखी है । यदि ज्ञानी वैद्य इस वनस्पतिकी योग्य खोज करेंगे, और सेवनविधिका निश्चय करेंगे तो बडे उपकार हो सकते हैं । भारतीय युद्धके समय वीर लोग

इसका उपयोग करते थे और लाभ उठाते थे। बाणोंसे रक्त पूरित हुए वीर तथा घोडे सायंकाल इसके सेवन करनेसे पुनः दुसरे दिन युद्ध करनेमें समर्थ हो जाते थे। यदि यह केवल कविकल्पना न होगी और यदि इस मंत्रमें भी वही बात हम देखते हैं तो इसका अन्वेषण होना योग्य है।

शक्तिके साथ वक्तृत्व।

सप्तम मंत्रमें एक बातविशेष महत्त्वकी कही है देखिए -

शक्तिभिः अधिब्रहूहि। (मं. ७)

"अनेक शक्तियोंको अपने साथ रखकर ही जो बोलना हो सो बोल दो।" अपने पास शक्तियां न रहते हुए बोलना और बडा वक्तृत्व करना कुछ प्रयोजन नहीं रखता, उस शक्तिहीन वक्तृत्वसे कुछ प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता, इस लिए अपने पास और अपने पीछे कार्यकारिणी शक्ति कितनी है, इसका विचार करके ही जो कुछ वक्तृत्व करना हो तो वह उस शक्तिके प्रमाणसे ही करना योग्य है। अपनी शक्तिसे अत्याधिक किया हुआ वक्तृत्व न शत्रुपर प्रभाव उत्पन्न कर सकता है और नाही अपना बल बढा सकता है। इसलिए वेदकी यह महत्त्व पूर्ण सूचना पाठक अवश्य स्मरण रखें। तथा -

यः नः अभिदासति तं जहि। (मं. ७)

"जो हमें दास बनाना चाहता है उसे जीत लो।" यह उपदेश भी पूर्वोक्त आदेशके अनुसंधानसे कार्यमें ाया जाय तो बडा लाभकारी हो सकता है। अपना बल बढाना, उतना ही बोलना कि जितना करके दिखाया जा सकता है, इतना होनेके पश्चात् अपने को दास बनानेवालेका पराभव करना। यह अपनी शक्ति बढाकर अपने कार्यक्षेत्रका विस्तार करनेका योग्य मार्ग है।

अभिदासन का निषेध।

वेद में हम देखते हैं कि अभिदासन का पूर्ण और तीव्र निषेध स्थानपर किया है। यहां तक यह निषेघ है कि "अभिदास" का अर्थ "विनाश" ही माना है। पूर्ण नाश होना और दास बनाना यह वेदकी दृष्टिसे एकही बात है। किसी भी अवस्थामें वेद दास गुलाम बनना पसंद नही करता। पाठक इस बातका यहां मनन करें और धर्ममयी वीरवृत्ति अपने अंदर बढानेका यत्न करें।

जलचिकित्सक।

षष्ठ मंत्रमें जलचिकित्सक, नीलशिखावाले, पुरूषार्थी रूद्रका वर्णन है। "जलाष - भेषज" शब्द जलचिकित्साका भाव बता रहा है। जलाष का अर्थ जलही है। नील शिखण्डीका अर्थ नील शिखावाले हैं, यह तरूण ,जवान आरोग्य पूर्ण मनुष्य का बोध करता है। वृद्धकी शिखा श्वेत होती है, तरूणकी ही नीली या काली होती है। "कर्म - कृत्" शब्द पुरूषार्थीका वाचक है। अपने चिकित्सा कर्म में कुशल। "रूद्र" शब्द का अर्थही (रूदXद्र) रूलानेवाले रोगोंको हटानेवाला है। ये सब शब्द उत्तम चिकित्सकका भाव बताते हैं। यह चिकित्सक का नाम यहां इसलिये आया है कि यहां युद्धमें व्रणितांग वीरोंको आरोग्य प्राप्त करानेका संबंध है। तथा पाठा औषधिका प्रयोग भी करना है। इसलिए सुविज्ञ वैद्यकी आवश्यकता है।

यह सूक्त जिस विषयका प्रदिपादन कर रहा है वह प्रत्यक्ष अनुभवका विषय है, इसलिए ज्ञानी वैद्योंको ही इसकी प्रत्यक्षता करनेका यत्न करना चाहिये, अन्यथा यह विद्या केवल शब्दों में ही रहेगी।

●●●

दीर्घायुष्य प्राप्ति ।

(२८)

(ऋषिः- शम्भुः । देवता - जरिमा, आयुः)

तुभ्यमेव जरिमन्वर्धतामयं मेममन्ये मृत्यवो हिंसिषुः शतं ये ।
मातेव पुत्रं प्रमना उपस्थे मित्र एनं मित्रियात्पात्वंहसः ॥ १ ॥
मित्र एनं वरुणो वा रिशादा जरामृत्युं कृणुतां संविदानौ ।
तदग्निर्होता वयुनानि विद्वान् विश्वा देवानां जनिमा विवक्ति ॥ २ ॥
त्वमीशिषे पशूनां पार्थिवानां ये जाता उत वा ये जनित्राः ।
मेमं प्राणो हासीन्मो अपानो मेमं मित्रा वधिषुर्मो अमित्राः ॥ ३ ॥

अर्थ - हे **(जरिमन्)** वृद्धावस्था ! **(तुभ्यं एव अयं वर्धताम्)** तेरे लिये ही यह मनुष्य बढे । **(इमं ये अन्ये शतं मृत्यवः)** इसको जो ये सौ अपमृत्यु हैं **(मा हिंसिषुः)** मत हिंसित करें । **(प्र- मनाः माता पुत्रं उपस्य इव)** प्रसन्नमन वाली माता पुत्रको जैसे गोदमें लेती है उसी प्रकार **(मित्रः मित्रियात् एनसः एनं पातु)** मित्र मित्रसंबंधी पापसे इसको बचावे ॥१॥

(मित्रः रिशादसः वरुणः वा) मित्र और शत्रुनाशक वरुण **(संविदानो एनं जरामृत्युं कृणुतां)** दोनों मिलकर इसको वृद्धावस्थाके पश्चात् मरनेवाला करें । **(होता वयुनानि विद्वान् अग्निः)** दाता और सब कर्मोंको यथावत् जाननेवाला अग्नि **(तत् विश्वा देवानां जनिमा विवक्ति)** उसको सब देवोंके जन्मों को कहता है ॥२॥

(ये जाताः उत वा ये जनित्राः) जो जन्मे हैं और जो जन्मनेवाले है उन **(पार्थिवानां पशूनां त्वं ईशिषे)** पृथ्वी के ऊपर प्राणियोंका तू स्वामी है । **(इमं प्राणः मा, अपानः च मा हासीत्)** इसको प्राण और अपान न छोडदें । तथा **(मित्राः इमं मा वधिषुः)** मित्र इसे न मारें और **(मः अमित्राः)** शत्रु भी न मारें ॥३॥

भावार्थ - मनुष्य पूर्ण वृद्धावस्थातक दीर्घायुषी होवे । बीचमें सैंकडों अपमृत्यु प्रयत्न करनेपर भी इसे न मार सकें। जिस प्रकार अपने प्रियपुत्र को माता गोदमें लेकर प्रेमके साथ पालती है, उसी प्रकार सबका मित्र देव इस पुरुषको मित्र संबंधी पापसे बचावे ॥१॥

शत्रुनाशन मित्र और वरुण ये मिलकर इसको अतिदीर्घ आयुवाला करें । सब चारित्र्य जाननेवाला तेजस्वी देव इसके सब देवताओंके जीवन चरित्र कहे ॥२॥

हे ईश्वर! तू पृथ्वीपर के संपूर्ण जन्मे हुए और जन्मनेवाले सब प्राणियोंका स्वामी है, तेरी कृपासे प्राण और अपान इसे बीचमें ही न छोडे तथा मित्रोंसे या शत्रुओंसे इसका वध न होवे ॥३॥

द्यौष्ट्वा पिता पृथिवी माता जरामृत्युं कृणुतां संविदाने ।
यथा जीवा अदितेरुपस्थे प्राणापानाभ्यां गुपितः शतं हिमाः ॥ ४ ॥
इममग्न आयुषे वर्चसे नय प्रियं रेतो वरुण मित्रराजन् ।
मातेवास्मा अदिते शर्म यच्छ विश्वे देवा जरदष्टिर्यथासत् ॥ ५ ॥

अर्थ - **(द्यौ पिता पृथिवी मात संविदाने)** द्योपिता और पृथ्वी माता मिलकर **(त्वा जरामृत्युं कृणुतां)** तुझको वृद्धावस्थाके पश्चात् मरनेवाला करें । **(यथा अदितेः उपस्ये)** जिससे मातृभूमिकी गोदमें **(प्राणापानाभ्यां गुपितः)** प्राण और अपानसे सुरक्षित होकर **(शतं हिमाः जीवाः)** सौ वर्षतक जीवित रह ।।४।।

हे **(अग्ने मित्र वरूण राजन्)** अग्ने और मित्र तथा वरूण राजा ! **(प्रियं रेतः)** प्रिय भोग और वीर्य का बल देकर **(इमं आयुषे वर्चसे नय)** इसको दीर्घ आयुष्य और तेज प्राप्तिके लिये ले जा । हे **(अदिते)** आदिशक्ति ! तू **(माता इव अस्मै शर्म बच्छ)** माता के समान इसे सुख दे । हे विश्वे देवो! **(यथा जरदिष्टः असत्)** यह मनुष्य जिससे वृद्धावस्था तक जीवित रहे वैसी सहायता करो ।।५।।

भावार्थ - द्युपिता सूर्य और मातृभूमि ये दोनों मिलकर इसको अति दीर्घ आयुष्यतक जीवित रखें और यह मनुष्य अपनी मातृभूमिकी गोदमें प्राण और अपानोंसे सुरक्षित होता हुआ सौ वर्षकी दीर्घ आयुतक जीवित रहे ।।४।।

हे अग्ने वरूण मित्र राजन् ! इसको प्रिय भोग और वीर्यका बल देकर दीर्घआयुसे युक्त तेजस्वी जीवन प्राप्त कराओ आदिशक्ति माता के समान इसे सुख देवे । और अन्यान्य सब देव इसको ऐसी सहायता करें कि यह सुख से अतिदीर्घ आयुष्य प्राप्त कर सके ।।५।।

दीर्घ आयुष्यकी मर्यादा ।

"शतायु" शब्द दीर्घ आयुष्यकी मर्यादा बता रहा है। इस सूक्तके (मं. ४) में भी (शतं हिमाः जीवाः) "सौ वर्षतक जीवो" कहा है इससे सौ वर्षका दीर्घायु प्राप्त करना, इस सूक्तका उद्देश्य है । छोटी आयुके बालक को यह आशीर्वाद दिया जाता है, और सब दिलसे चाहते हैं कि वह सौ वर्षतक जीवित रहे । तथा -

ये अन्ये शतं मृत्यवः ते इमं मा हिंसिषुः । (मं. १)

"जो सेकडों अपमृत्यु है ये इसको बीचमें ही न मार सकें ।" अर्थात् सौ वर्षके पूर्व कोई अपमृत्यु इसका नाश न कर सके । बीचमें किसी किसी समय कोई अपमृत्यु इसके पास आ भी गया, तो वह इसके पास सफल मनोरथ न हो सके, यह यहां कहना है । लोग अपनी दीर्घ आयु करनेके लिए ऐसे दृढवती हों, और खानपान भोग व्यवहारादिके नियम ऐसे दक्षतासे पालन करें कि वे बीनहीमें मृत्युके वशमें कभी न चले जांय ।

साधन ।

दीर्घजीवन प्राप्त करनेका साधन चतुर्थ मंत्रमें संक्षेप से कहा है, देखिए -

प्राणापानाभ्यां गुपितः शतं हिमा जीवाः । (मं. ४)

"प्राण और अपानसे रक्षित होता हुआ सो वर्ष जीओ ।" इस मंत्र भागमें दीर्घ जीवन का साधन कहा है । यदि इसका विचार मनुष्य करेगा, तो प्रायः यह दीर्घायु प्राप्त कर सकेगा । प्राण और अपानसे अपनी सुरक्षितता प्राप्त करना चाहिए । अर्थात् प्राणका और अपान का बल अपनेमें बढाना चाहिए । नाभिके ऊपर प्राणका राज्य है और नीचे अपानका राज्य है । ये इस शरीरमें मित्र और वरूण हैं । इनका उल्लेख इसी सूक्तमें अन्यत्र (मं. २,५ में) पाठक देख सकते हैं। इसी एक साधनासे मनुष्य दीर्घ आयु प्राप्त कर सकता है ।

इनका कार्य क्षेत्र ।

श्वास और उच्छ्वास रूप प्राणका कार्य हमें प्रत्यक्ष दिखाई देता है । प्राणायामसे इस प्राणका बल बढता है और इनकी सब क्रियाएं भी ठीक प्रकार चल सकती है । साधारण भस्रा और उज्ञायी प्राणायाम इस अनुष्ठानके लिए पर्याप्त है । भस्रा प्राणायाम धोंकनीकी गतिके समान वेगसे श्वास उच्छ्वास करनेसे होता है । यह थोडे समय तक ही होता है । अधिक होनेवाला सुगम प्राणायाम उज्ञायी है । जो स्वरयुक्त और शांत वेगसे श्वासोच्छ्वास नाकसे करनेसे होता है। श्वासका भी शब्द हो और उच्छ्वास का भी हो । इच्छानुसार कुंभक किया जावे या न किया जावे । यह अतिसुगम और सुसाध्य प्राणायाम है और विना आयास जिस समय चाहे हो सकता है । यह सौम्य होता हुआ भी इस कार्यके लिए अति उपयोगी है ।

इस प्रकार प्राणका बल बढानेका अनुष्ठान होनेसे इसी का परिणाम अपान क्षेत्र पर भी होता है । और अपानके कार्यभी उत्तम रीतिसे होने लग जाते हैं । अपानके कार्य मलमूत्रोत्सर्ग और कोष्ठगत वायुका नीचे भागसे गमन आदि है, वे इसके होते हैं । अन्यान्य योगसाधन भी सुविज्ञ साधकसे जाने जा सकते हैं ।

इस योजनासे प्राण और अपानका बल बढानेसे दीर्घआयु प्राप्त करनेका हेतु सिद्ध हो सकता है । हित मित पथ्य भोजन, संयमवृत्ति, ब्रह्मचर्य आदि जो धर्ममार्गके साधन है, वे हरएक अवस्थामें आवश्यक है वे सर्व साधारण होनेसे उनका विचार यह करनेकी आवश्यकता नहीं है । प्राणअपानके बलसे अपने आपको सुरक्षित करना यह एक मात्र अनुष्ठान यहां इस कार्यके लिए इस सूक्तने बताया है और वह योग्य ही है ।

ये दोनों कार्य ठीक प्रकार होने लगे, तो शौचशुद्धिके संबंधमें कोई क्लेश नहीं होंगे, भूख उत्तम लगेंगी, छातीमें भी कोई कफादिकी बाधा नहीं होगी । इस प्रकार शरीरके सब व्यवहार विना कष्ट होने लगेंगे, तो समझना कि दीर्घायुकी प्राप्ति के मार्गपर अपना पग है । परंतु यदि इनके कष्ट होने लगे तो समझना योग्य है, कि अपना पग दूसरे मार्गपर पडा है । यही तृतीय मंत्रमें कहा है ।

इमं प्राणः मा हासीत्, मा अपानः (मं. ३)

"प्राण अथवा अपान इसे बीचमें ही न छोड दें ।" अर्थात् यह मनुष्य सौ वर्षकी पूर्ण आयुतक उत्तम प्रकार जीवित रहे और इसके शरीरमें अन्ततक प्राण और अपान अपना कार्य ठीक रीतिसे करते रहें । जो पाठक अपने स्वास्थ्यके संबंधमें विचार करते हैं उनको अपने अंदरके प्राण और अपानके कार्यका विचार करना चाहिए, क्योंकि ये कार्य ठीक चलते रहे तो ही शरीरका स्वास्थ्य ठीक रहेगा ।

स्वास्थ्य की तथा दीर्घ आयु प्राप्त होने की यह कुंजी है । (प्राणापानाभ्यां गुपितः) प्राण और अपान द्वारा जो सुरक्षित होता है, वह निश्चयसे सौ वर्ष जीवित रहेगा । इसलिए दीर्घायुष्य के इच्छुक लोग अपने शरीरके अंदर इन दोनों बलोंको बढावें ।

वध ।

प्राण अपान भी बलवान् हुए और शरीर स्वास्थ्य भी उत्तम रहा तो भी वध, कतल, अपघात आदि आपत्तियां है जिनसे मनुष्यकी मृत्यु हो सकती है । धर्मयुद्धादि प्रसंग छोड दिए जांय, क्योंकि वहां जाकर मरना तो धर्म ही होता है, अन्य वधभी कम नहीं है । परंतु इनको हटाना मनुष्य के स्वाधीन नहीं होता है । कई प्रसंगोंमें अपने अंदर अहिंसा भाव बढाने और सार्वत्रिक प्रेमदृष्टिकी वृद्धि करनेसे घातक लोगों के मन का भी सुधार होता है, परंतु यह सिद्धि योगानुष्ठानसे और दीर्घ आत्मसंयमसे साध्य है । इसलिए सबको यह प्राप्त होना कठिन है । अतः सर्वसाधारणके लाभार्थ ईशप्रार्थना ही एक सुगम साधन है, इसलिए मंत्र ३ में कहा है कि -

ईशप्रार्थना ।

इमं मित्राः मा वधिषुः मा अमित्राः (मं.३)

"हे ईश्वर ! तेरी कृपासे मित्र इसका वध न करें और अमित्र भी न करें ।" तृतीयमंत्र परमेश्वर प्रार्थना विषयकही है, "भूत भविष्य कालके सब प्राणियों का एक ईश्वर है, सबका पालन वही करता है, उसी की कृपासे इस मनुष्यका वध न होवे और इसका स्वास्थ्य भी उत्तम रहे ।" यह तृतीय मंत्रका भाव ईश प्रार्थनाका बल प्राप्त करनेकी सूचना देता है । सब चराचर जगत् का पालनहारा परमात्मा है, उसकी भक्ति करनेसे जो श्रध्दाका बल बढता है, वह अपूर्व है । श्रद्धावान् लोग ही उस बलका अनुभव करते हैं । और प्रायः यह अनुभव है कि श्रद्धा भक्तिसे परमात्मा भक्ति करनेवाले उपासक उत्तम स्वास्थ्यसे संपन्न होते हैं । इसलिये इस दीर्घायुष्य प्राप्तिके सूक्तमें (त्वं ईशिषे) इस तृतीय मंत्रद्वारा जो ईश भक्तिका पाठ दिया है वह दीर्घआयु प्राप्त करनेके लिए अत्यन्त आवश्यक है । पाठक इस बलसे वंचित न रहें । इस बलके प्राप्त होने पर अन्य साधन लाभकारी हो सकते हैं परन्तु इस बलके न होने की अवस्थामें अन्य साधन कितने भी पास हुए तो भी वे इतना लाभ नहीं पहुंचा सकते । पाठक इसका विचार करके ईशभक्तिका बल अपने अंदर बढावें जिससे सब विघ्न दूर हो सकते हैं ।

देवचरित्र श्रवण ।

दीर्घ आयु प्राप्त करनेके लिए श्रवण अथवा पठन देवताओंके चरित्रोंका ही करना चाहिए । देवों अर्थात् देवताके समान सत्पुरूषोंके जीवन चरित्र श्रवण करने चाहिए, उन्ही ग्रंथोंका पठन करना चाहिए और उनके चरित्रोंकाही मनन करना चाहिए।

आजकल उपन्यास आदि पुस्तकें ऐसे घृणित कथा कलापोंसे युक्त प्रकाशित हो रही हैं कि जिन के पठन पाठनसे पढनेवालोंमे रागद्वेष बढते हैं, वीर्य भ्रष्ट होता है, ब्रह्मचर्य टूट जाता है, और नाना प्रकारकी आपत्तियां बढ जाती हैं । परंतु ये पुस्तक आजकल बढ रहे हैं, अपने देशमें क्या और इतर देशोंमें क्या हीन दर्जेके लोग लेखन व्यवसाय में आनेके कारण हीन सारस्वत प्रचलित हुआ है, इससे सब प्रकारकी हानि ही हानि हो रही है, इस से बचने के उद्देश्यसे इस सूक्तने सावधानी की सूचना द्वितीय मंत्रमें दी है, देखिए -

वयुनानि विद्वान् होता अग्निः
तत् विश्वा देवानां जनिमा विवक्ति ॥(मं. २)

"सब कर्मोंका यथावत् जाननेवाला दाता अग्निके समान तेजस्वी उपदेशक सब देवोंके जीवन चरित्र उसे सुनावे ।" यह मंत्र कई दृष्टियोंसे मनन करने योग्य है। इस मे सबसे पहिले उपदेशक के गुण कहे हैं, उपदेशक दाता उदार मनवाला हेवे, अपने सर्वस्वका (होता) हवन करनेवाला हो, (अग्निः) अग्नि के समान तेजस्वी हो और (वयुनानि विद्वान्) कर्तव्याकर्तव्य को यथावत् जाननेवाला हो । इसी प्रकारका प्रबुद्ध उपदेशक लोगोंका मार्गदर्शक बने, लोगोंको धर्म मार्गका उपदेश करें और लोगोंको (देवानां जानिमानि देवताओंके जीवनचरित्र सुनावे । देवोंने अपने जीवन में कैसे शुभ कर्म किये हैं, रीतिसे परोपकार किया, जनताका उद्धार कैसा किया, इत्यादि सभी बातें लोगोंको समझा देवे । राक्षसों और पिशाचोंके जीवन चरित्र पढने नहीं चाहिए अपितु देवोंके दिव्य चरित्रही अपने सामने रखने चाहिए । आदर्श जीवन देवोंका हुआ करता है । राक्षस और पिशाचों, धूर्तो और डाकुओंका जीवन तो न सुनने योग्य होता है । यही उच्च जीवन मनुष्य अपने सामने आदर्शके लिए रखेंगे तो उनके जीवनोंका भी सुधार होगा और उनकी आयु भी बढेगी । आयु बढानेके लिए भी यह एक उत्तम साधन है कि लोग श्रीरामचंद्रका जीवन अपने आदर्शके लिए ले और रावणका जीवन न लें । आजकल की उपन्यासादि पुस्तकें जो मानवी अंतःकरण का ही बिगाड कर रही हैं, उनसे बचने की सूचना यहां वेदने दी है । इसका पालन जितना हो सकता है उतना लाभकारी होगा ।

आजकल जो चरित्र मिलते हैं वे मनके विकार बढानेवाले मिलते हैं । संयम शीलता बढानेवाले चरित्र कम हैं । इस लिए सद्ग्रंथ पठन यह एक आजकल दुःसाध्य बात हो रही है । तथापि ऋ षियोंकी कृपासे रामायण महाभारत

ग्रंथ तथा अन्यान्य ऋषिप्रणीत चरित्र हैं, उनका मनन करनेसे बहुत लाभ हो सकता है। जो लोग इस बातको आवश्यक समझते हैं उन को उचित है कि वे ऐसे सच्चरित्र अथवा श्रेष्ठ ग्रंथ निर्माण करें और करावें कि जिनके पठन पाठन से आगामी संतान सुधारके पथपर सुगमतासे चल सके। अस्तु। इस मंत्र भागने "दिव्यचरित्रोंका श्रवण और मनन" यह एक साधन दीर्घायुष्य प्राप्तिके लिए कहा है वह अत्यंत आवश्यक है, इसलिए जो दीर्घायु प्राप्त करना चाहते हैं वे ऐसे चरित्रोंकाही मनन करें।

पापसे बचाव। दीर्घ आयुष्य प्राप्त करनेके लिए पापसे अपना बचाव करनेकी आवश्यकता है। पापसे पतन होता है। और रोगादि बढ जानेके कारण आयुष्य क्षीण ही होती है, इसलिए इस सूक्तके पहिले ही मंत्रने पापसे बचनेकी सूचना दी है, देखिए -

मित्र एनं मित्रियात् अंहसः पातु। (मं. १)

"मित्र इस मनुष्यको मित्रसंबंधी पापसे बचावे!" शत्रु संबंधसे होनेवाले पापसे तो बचना ही चाहिए। कई लोग मनसे ऐसा मानते हैं कि मित्र के लिए मित्रके हित साधनेके लिए कुछभी बुराभला किया जाय तो वह हानिकारक नहीं है। परंतु पाप जो है वह हमेशाही पाप होता है वह किसीके लिए किया जावे, जब पापाचरण होगा तब उसका गिरावटका परिणाम अवश्य ही भोगना होगा। इसलिए जो मनुष्य दीर्घ आयुष्य प्राप्त करनेके इच्छुक हैं उनको अपने आपको पापसे बचाना चाहिए। मित्र अपने मित्रको पापकर्मकरनेसे रोके और उसको सीधे धर्म मार्गपर चलाने की सलाह देवे। मनुष्य स्वयं भी विचार करके जाने कि पाप कर्मसे पतन अवश्य होगा, इसलिए हरएक मनुष्य अपना मित्र बने और अपने आपको बुरे मार्गसे बचावे। मनुष्य स्वयंही अपना मित्र और अपना शत्रु होता है इसलिए कभी ऐसा कार्य न करे कि जिससे स्वयं अपना शत्रु समान बन जाय तात्पर्य यह है कि दीर्घ आयुष्य प्राप्त करना हो तो अपने आपको पापसे बचाना चाहिए। पाप करते हुए दीर्घ आयुष्य प्राप्त करना असंभव है।

भोग और पराक्रम।

मनुष्यको भोग भी चाहिए और पराक्रम भी करना चाहिए। परंतु भोग बहुत भोगनेसे रोग बढते हैं और वीर्यका संयम करनेसे ही आरोग्य पूर्ण दीर्घ आयु प्राप्त हो सकती है। मनुष्यको भोग प्रिय लगते हैं। और भोगोंमें अपने वीर्यका नाश करना साधारण मनुष्यके लिए एक सहज ही सी बात है, इसलिए इसका योग्य प्रमाण होना चाहिए यह बात पंचम मंत्रमें स्पष्ट की गई है, देखिए -

इमं प्रियं रेतः आयुषे वर्चसे नय। (मं. ५)

"इस मनुष्यको प्रिय भोग देकर, तथा वीर्य पराक्रम भी देकर दीर्घ आयुष्यके साथ प्राप्त होनेवाले तेजके लिए ले चलो।" अर्थात् यह मनुष्य अपने लिए भोग भी योग्य प्रमाणमें भोगे और वीर्य रक्षण द्वारा पराक्रम भी करे, परंतु यह सब ऐसे सुयोग्य प्रमाणमें हो कि जिससे उसका आयुष्य और तेज बढता जाय। परंतु भोग भोगने और वीर्यके कार्यमें प्रमाणका अतिरेक कभी न हो, जिससे बीच हीमें उसका अकाल मृत्यु इसके प्राणोंको ले चले। अपना समय भोग और पराक्रमके कार्योंके लिए ऐसा बांटना चाहिए कि भोग भी प्राप्त हों और वीर्यके सब कार्य भी बन जांय, और यह सब दीर्घायु और तेजकी प्राप्तिमें बाधा न डाल सकें। अपने कार्य इस सूचनाके अनुसार करने चाहिए। रेतके योग्य उपयोगसे संतानोत्पत्ति भी होती है, बल भी बढता है, परंतु उसके अतिरेक से ब्रह्मचर्य नाश द्वारा नाना प्रकारके कष्ट उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार अन्यान्य भोग की बातोंके विषयमें समझना योग्य है। इस आशय को ध्यान में धारण करके यदि मनुष्य अपना व्यवहार करेंगे तो उनको भोगभी प्राप्त होंगे और दीर्घ आयु भी मिलेगा।

देवोंकी सहायता।

१ मित्रः रिशादसो वरुणः संविदानौ जरामृत्युं कृणुतां। (मं. २)

२ द्यौष्पिता पृथिवी माता संविदाने त्वा जरामृत्युं कृणुतां ॥(मं. ४)

३ आदिते। माता इव शर्म यच्छ। (मं. ५)

४ विश्वे देवाः ! जरदिष्टः यथा असत् । (मं. ५)

"मित्र और शत्रुनाशक वरूण ये दोनों मिलकर इसकी दीर्घ आयु करें ॥द्युलोक और मातृभूमि मिलकर इसकी दीर्घायु करें ॥हे अविनाशी आदि शक्ति ! तू माता के समान सुख दे ॥हे सब देवों ! इसको पूर्ण आयुवाला अतिवृद्ध करो॥"

यहां मित्र, वरूण, सूर्य, पृथिवी, अदिति और सब अन्य देव इसकी दीर्घ आयु करने में सहायक हों, यह प्रार्थना की है। इससे स्पष्ट होता है कि दीर्घ आयु चाहनेवाले मनुष्य को इन देवोंके साथ अविरोधी बर्ताव करना चाहिए। यदी इनकी अनुकूलतासे आयुष्यकी वृद्धि होनी है तो उनके साथ विरोध करना योग्य नहीं यह स्पष्ट ही हुआ। सूर्य देव अपने प्रकाशसे सर्वत्र शुद्धता करता है और हमें दीर्घ आयु देता है, परंतु सूर्य प्रकाशसे वंचित नहीं रहना चाहिए, अन्यथा वह हमें सहायता कैसी पहुंचायेगा ? वरूणदेव समुद्रका देव है, समुद्रजल, वृष्टिजल, सामान्य जल उसीके जीवन सागर हैं । यदि मनुष्य इन जलोंसे अपनी निर्मलता करें अथवा अन्य रीतिसे लाभ उठावे तब ही जलदेव वरूणसे लाभ प्राप्त हो सकता है । मातृभूमि की योग्य उपासना करनेसे जो राष्ट्रीय स्वातंत्र्य प्राप्त होता है, उससे मनुष्य कार्यक्षम और दीर्घजीवी हो सकता है, इसी प्रकार अन्यान्य देवोंका संबंध है जिसका विचार पाठक करें और उनसे लाभ प्राप्त करके दीर्घजीवी बनें ।

• • •

दीर्घायु, पुष्टि और सुप्रजा ।

(२९)

(ऋषिः - अथर्वा । देवता - नाना देवताः ।)

पार्थिवस्य रसे देवा भगस्य तन्वो३ बले ।
आयुष्यमस्मा अग्निः सूर्यो वर्च आ धाद्बृहस्पतिः ॥ १ ॥
आयुरस्मै धेहि जातवेदः प्रजां त्वष्टरधिनिधेह्यस्मै ।
रायस्पोषं सवितरा सुवास्मै शतं जीवाति शरदस्तवायम् ॥ २ ॥

अर्थ - हे **(देवाः)** देवो! अग्नि सूर्य और बृहस्पति **(अस्यै)** इस मनुष्य के लिये **(पार्थिवस्य तन्वः भगस्य)** पार्थिव शरीरके ऐश्वर्य संबंधी **(रसे बले)** रस और बलके अंदरसे प्राप्त होनेवाला **(आयुष्यं वर्चः)** दीर्घ आयुष्य और तेज **(आ धात्)** देवे॥१॥

हे **(जातवेदः)** ज्ञान देनेवाले देव ! **(अस्मै आयुः धेहि)** इसके लिये दीर्घ आयु दे । हे **(त्वष्टः)** रचना करनेवाले देव ! **(अस्मै प्रजां अधि निधेहि)** इसके लिये प्रजा दे । हे **(सवितः)** प्रेरक देव ! **(अस्मै रायः पोषं आ सुव)** इसके लिये धन और पुष्टि दे । **(तव अयं शतं शरदः जीवाति)** तेरा यह बनकर सौ वर्ष जीवित रहे ॥२॥

भावार्थ - हे देवो ! इस मनुष्यको अग्नि सूर्य बृहस्पति आदि देवताओंकी कृपासे ऐसा दीर्घ आयुष्य प्राप्त हो कि जिससे साथमें पार्थिव ऐश्वर्य युक्त अन्न रस बल तेर और नीरोग जीवन होते हैं ॥१॥

हे देवो ! इसको उत्तम सन्तान, ऐश्वर्य युक्त उत्तम, पुष्टि, और दीर्घ आयुष्य दो ॥२॥

आशीर्ण ऊर्जमुत सौप्रजास्त्वं दक्षं धत्तं द्रविणं सचेतसौ।
जयं क्षेत्राणि सहसायमिन्द्र कृण्वानो अन्यानधरान्त्सपत्नान् ॥ ३ ॥
इन्द्रेण दत्तो वरुणेन शिष्टो मरुद्भिरुग्रः प्रहितो न आगन्।
एष वां द्यावापृथिवी उपस्थे मा क्षुधन्मा तृषत् ॥ ४ ॥
ऊर्जमस्मा ऊर्जस्वती धत्तं पयो अस्मै पयस्वती धत्तम्।
ऊर्जमस्मै द्यावापृथिवी अधातां विश्वे देवा मरुत ऊर्जमापः ॥ ५ ॥
शिवाभिष्टे हृदयं तर्पयाम्यनमीवो मोदिषीष्ठाः सुवर्चाः।
सवासिनौ पिबतां मन्थमेतमश्विनो रूपं परिधाय मायाम् ॥ ६ ॥
इन्द्र एतां ससृजे विद्धो अग्र ऊर्जां स्वधामजरां सा त एषा।
तया त्वं जीव शरदः सुवर्चा मा त आ सुस्रोद्भिषजस्ते अक्रन् ॥ ७ ॥

अर्थ - (नः आशीः) हमारे लिये आशीर्वाद मिले तथा हे (सचेतसौ) उत्तम मनवालो ! (ऊर्ज उत सौप्रजास्त्वं) बल तथा उत्तम सन्तान, (दक्षं द्रविणं) दक्षता और धन हमें (धत्तं) दो। हे इन्द्र ! (अयं सहसा) यह अपने बलसे (क्षेत्राणि जयं) विविध क्षेत्रों और विजयको प्राप्त (कृण्वानः) करता हुआ (अन्यान् सपत्नान् अधरान्) अन्य शत्रुओंको नीचे दबाता है ॥३॥

यह (इन्द्रेण दत्तः) प्रभुने दिया है, (वरुणेन शिष्टः) शासकके द्वारा शासित हुआ है, (मरुद्भिः प्रहितः) उत्साही वीरों द्वारा प्रेरित हुआ है और इस कारण (उग्रः नः आगन्) उग्र बनकर हमारे पास आया है। हे (द्यावापृथिवी) द्युलोक और पृथिवी! (वां उपस्थे) आपके पास रहने वाला (एषः) यह (मा क्षुधत्, मा तृषत्) क्षुधा और तृषासे पीडित न हो ॥४॥

हे (ऊर्जस्वती) हे अन्नवाली ! (अस्मै ऊर्जं धत्तं) इसके लिये अन्न दो, (पयस्वती अस्मै पयः धत्तं) हे दूध वाली ! इसके लिये दूध दो द्युलोक और पृथ्वीलोक (अस्मै ऊर्जं अधत्तां) इसके लिये बल देते हैं। तथा (विश्वे देवाः मरुतः आपः) सब देव, अरुत्, आप ये सब इसके लिये (ऊर्जं) शक्ति प्रदान करते हैं ॥५॥

(शिवाभिः ते हृदयं तर्पयामि) कल्याणमयी विद्याओंद्वारा तेरे हृदयको मैं तृप्त करता हूं। तू (अनमीवः) निरोग और (सुवर्चाः) उत्तम तेजस्वी होकर (मोदिषीष्ठाः) आनन्दित हो। (सवासिनौ) मिलकर निवास करनेवाले तुम दोनों (अश्विनोः रूपं) अश्विदेवोंके रूपको और (मायां परिधाय) बुद्धि तथा कर्म शक्तिको प्राप्त होकर (एतं मन्थं पिबतां) इस रसका पान करो ॥६॥

(विद्धः इन्द्रः) भक्ति किया हुआ प्रभु (एतां अजरां ऊर्जां स्वधां अग्रे ससृजे) इस अक्षीण अन्नयुक्त सुधा को उत्पन्न करता है, देता है। (सा एषा ते) वह यह सब तेरे लियेही है। (तया त्वं सुवर्चाः शरदः जीव) उसके द्वारा तू उत्तम तेजस्वी बनकर बहुत वर्ष जीवित रह। (ते मा आसुस्रोत्) तेरे लिये ऐश्वर्य न घटे (ते भिषजः अक्रन्) तेरे लिये वैद्योंने उत्तम रसयोग बनाये हैं ॥७॥

भावार्थ - हे देव ! हमें आशीर्वाद दे, हमें बल, सुप्रजा, दक्षता और धन प्राप्त हो। मनुष्य अपने निजबलसे विविध कार्यक्षेत्रोंमें विजय प्राप्त करें, और शत्रुओंको नीचे मुख किए हुए भगा देवे ॥३॥

यह मनुष्य परमात्मा द्वारा बनाया, गुरूके द्वारा शिक्षित बना, वीरों द्वारा उत्साहित हुआ है, इसलिए यह शूरवीर बनकर हमारे अन्दर आया है और कार्य करता है। मातृभूमि की उपासना करनेवाला यह वीर भूख और प्याससे कभी नष्ट को प्राप्त न हो ॥४॥

सूर्य पिता और भूमि माता इसको अन्न, रस, बल और ओज देवें । जल आदि सब देव इसकी सहायता करें ॥५॥

शुभ विद्याओंद्वारा तेरे हृदयको तृप्त करता हूं । तू नीरोग और तेजस्वी बनकर सदा आनंदित हो जाओ । मिलकर रहो और अपना सौंदर्य, अपनी बुद्धि और कर्मकी शक्ति बढाकर इस रसको पीओ ॥६॥

प्रभुने ही यह बलवर्धक अमृतरस प्रारंभमें उत्पन्न किया है, इसका सेवन करके तेजस्वी और बलिष्ठ बनकर तू दीर्घ आयु की समाप्ति तक जीवित रह । तेरी आयु में ऐश्वर्य की न्यूनता कभी न हो । और तेरे लिए वैद्य लोग उत्तम योग तैयार करे, जिससे तू नीरोग और स्वस्थ रहकर उन्नतिको प्राप्त हो ॥७॥

रस और बल ।

हमारा स्थूल शरीर पार्थिव शरीर कहलाता है, क्योंकि यह पार्थिव परमाणुओंका बना है। पृथ्वीसे उत्पन्न होनेवाले विविध रसोंके सेवनसे इसकी पुष्टि होती है और उक्त रस न मिलनेसे इसकी क्षीणता होती है । अर्थात् शरीर का बल बढाना हो तो पार्थिव रसोंका सेवन करना अत्यंत आवश्यक है । शरीरका ऐश्वर्य, बल, आयुष्य और तेज इस रससेवनपर निर्भर है ।

पार्थिव रसका पार्थिव शरीरके संवर्धनमें वह संबंध है इतना माननेसे अग्नि, सूर्य आदि देवताओंका संबंध इससे बिलकुल नहीं है ऐसा नही सिद्ध हो सकता, क्योंकि अग्निकी उष्णता, सूर्य किरणोंका रसायनगुण और जलका रस इन सबका संमिश्रण होकर ही पृथ्वीसे रस उत्पन्न होता है । इन सम्पूर्ण देवताओंके अंश इस रसमें होनेसे ही वह रस मानो देवतांशोंका ही रस है । इसलिये उसके सेवनसे देवताओंके सत्वांश का ही सेवन होता है । जिस प्रकार गौ घास खाकर दूध रूपी जीवन रस देती है, इसी प्रकार यह भूमि अपने योग्य पदार्थ सेवन करके धान्य ,फल,शाक, कंद मूल आदि रूपसे रस देती है । पाठक विचार करके देखेंगे तो उनको पता लग जायगा कि यद्यपि यह रस भूमिसे उत्पन्न होता है, तथापि उसके साथ आप, अग्नि, वायु, सूर्य, चंद्र आदि सब देवोंका घनिष्ठ संबंध है । यदि कोई वनस्पति सूर्य प्रकाशसे वंचित रखी जाय अर्थात् ऐसे स्थानपर रखी जाय कि जहां सूर्य प्रकाश नहीं है, तो वह दुर्बल हो जाती है । यह बात देखनेसे पाठक स्वयं जान सकते हैं कि पृथ्वीसे रस उत्पन्न होनेमें सूर्यादि देवोंका भी भारी संबंध है। पाठक यहां अनुभव करें कि, ये सब देव मनुष्य मात्रके लिए अन्नादि भोग तैयार करनेमें कैसे दत्तचित्त होकर कार्य कर रहे हैं ! । यही इन देवोंकी पालक शक्ति है, जो प्राणीमात्रका पालन कर रही है ।

"अग्नि सूर्य बृहस्पति आदि सब देव पार्थिव ऐश्वर्यके रससे और शारीरिक बलसे उक्त आयुष्य और तेज देते हैं।" यह प्रथम मंत्रका कथन उक्त तात्पर्य बताता है । इसलिए दीर्घायु आरोग्य और बलयुक्त तेज चाहनेवाले लोग सूर्यादि देवोंसे मिलनेवाले लाभ प्राप्त करें और उक्त गुणोंसे युक्त अन्नादि रस लेकर अपना बल बढावें । यह प्रथम मंत्रका बोध है । (मं.१)

शतायु बनो ।

द्वितीय मंत्र कहता है कि "जानवेदसे आयु, त्वष्टासे सुप्रजा, सवितासे पुष्टि और धन प्राप्त करके यह मनुष्य सौ वर्ष जीवित रहता है ।" (मं. २) इस मंत्रमें दीर्घायु प्राप्त करनेकी युक्ति बताई है । जातवेद, त्वष्टा और सविता ये तीन देव है कि जिनकी कृपासे दीर्घायु प्राप्त होनी है । इसलिए इनका विशेष विचार करना आवश्यक है -

१ जातवेदः - (जात- वेदस्) जिससे वेद अर्थात् ज्ञान बना है, जिससे ज्ञान का प्रवाह चला है । जिसके पास ज्ञान है और जिससे वह ज्ञान चारों और फैलता है । (जातं वेत्ति) जो बने हुए पदार्थ मात्रको जानता है अर्थात् पदार्थ मात्रके गुणधर्णोको जाननेवाला ज्ञानी । (जातस्य वेदः) उत्पन्न हुए वस्तु मात्र का ज्ञान । इस अर्थमें यह शब्द पदार्थविद्याका वाचक है । किसीभी प्रकार विचार किया जाय तो यह शब्द ज्ञानवाचक स्पष्ट है, मंत्रमें कहा है कि यह आयु देता है, इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि "ज्ञानी अथवा ज्ञानकी सहायतासे आयु बढाई जा सकती है ।" यदि आयु बढाना अभीष्ट हो तो वस्तुमात्रका ज्ञान अर्थात् पदार्थ विद्या प्राप्त करना चाहिए और उस विद्यासे अन्नरसादिकोंका योग्य सेवन करके अपनी आयु बढानी चाहिए ।

२ त्वष्टा - बारीक करना, बारिकाईसे कार्य करना, कुशलता से कार्य करना, कारीगरीका कार्य करना, इत्यादि कार्य करनेवालेका त्वष्टा नाम है। परमेश्वर सब जगत् का बडा भारी कारीगर है, इसलिए उसको त्वष्टा कहते है। अन्य कारीगर भी छोटे त्वष्टा है। "त्वष्टा इस मनुष्यके लिए प्रजा देवे" यह इस मन्त्रभागका कथन है। योग्य सन्तति बनाना इसीके आधीन है, परमात्माकी कृपासे इसको योग्य और उत्तम सन्तति प्राप्त हो। जो मनुष्य कारीगरीके कार्योंमें कुशल होता है, उसमें सुन्दरताका ज्ञान अन्योंसे अधिक होता है, इसलिए ऐसे मनुष्यको अन्योंकी अपेक्षा अधिक सुडौल सन्तान होना सम्भव है। मातापिताके अन्दर सुन्दरताकी कल्पना जितनी अधिक होगी उतनी सुन्दरता अथवा सुडौलपन सन्ततिमें आना सम्भव है। त्वष्टासे प्रजा का सम्बन्ध यह है।

३ सविता - प्रेरणा करनेवाला और रसका प्रदान करनेवाला। सूर्य सबको जगाता है और वनस्पतियोंमें रसका संच्चार करता है इसलिए उसका नाम सविता होता है। यह भूमिके ऊपर वनस्पति आदिकोंमें रस उत्पन्न करके प्राणियोंकी (पोषं पुष्टि करता है और उनकी (रायः) शोभा या ऐश्वर्य भाव बढाता है।

इस रीतिसे ये देव मनुष्यकी सहायता करते है और इसको दीर्घजीवन देते हैं। मनुष्योंको चाहिए कि वह इससे यह लाभ प्राप्त करें।

अन्न, बल, धन, सुसन्तान और जय।

आगे तृतीय मन्त्रमें मनुष्यकी सम्पूर्ण आकांक्षाओंका वर्णन संक्षेपसे किया है। 'हमें अन्न, बल, धन, सुसन्तान और जय प्राप्त हो और शत्रु नीचे दब जांय।' यही सब मनुष्योंकी मनकामना होना स्वाभाविक है। अन्नसे शरीर की भूख शान्त होती है, उससे बल बढता है, धन हर एक व्यवहार साधक होनेसे सब चाहते ही है, इसके पश्चात् वंशविस्तार के लिए सुसन्तानकी अभिलाषा मनुष्य करता है। इसके अनन्तर अपने विजयका इच्छुक होता है। यह प्रायः हरएक मनुष्यकी इच्छा है, परन्तु यह सिद्ध कैसे हो, इसका उपाय पूर्व दो मन्त्रोंमें कहा है। उसमें यह सब प्राप्त हो सकता है। इसके साथ साथ ध्यान रखने योग्य विशेष महत्त्वकी बात इस मन्त्रमें कही है, उसको बतानेवाला मन्त्रभाग यह है -

अर्थ सहसा जयं कृण्वानः क्षेत्राणि। (मं. ३)

'यह अपने बलसे विजय करता हुआ क्षेत्रोंको प्राप्त करे।' इस मंत्र भागमें (सहः) अपने अंदर के बलका उल्लेख है। 'सहः' नाम है 'निजबल' का। जिस बलसे शत्रु का हमला सहाजाता है, जिस बलसे शत्रु का हमला आनेपर भी अपना नुकसान कुछ भी नही होता है, उसका नाम सह है। मनुष्यको यह 'सह' संज्ञक बल अपने अंदर बढाना चाहिए। यह बल जितना बढेगा उतना ही विजय प्राप्त होगा और विविध कार्य क्षेत्रोंमें उन्नति हो सकेगी। और इसीके प्रभावसे शत्रु परास्त होंगे। इसके न होनेकी अवस्थामें अन्य साधनोपसाधन कितने भी पास हुए तो उनका कोई प्रभाव नहीं होगा। इसलिए इस मंत्रभागने जो "सह" संज्ञक बल अपने अंदर बढानेकी सूचना दी है, उसको ध्यानमें धारण करके, वह बल अपने अंदर बढावें और उसके आधारसे अन्न, बल, धन, सुसन्तान आदिके साथ विजय कमावें।

चतुर्थ मंत्रमें कहा है कि यह मनुष्य द्यावापृथिवी के अंदर जो आया है वह 'इन्द्रने आज्ञा दिया हुआ, वरूण द्वारा शासित बना हुआ, और मरूतों द्वारा चलाया हुआ आया है, इसलिए यह यहां आकर भूख और प्याससे दुखी न बने।' (मं. ४) प्रत्येक मनुष्य अपने आपको इन देवोंद्वारा प्रेरित हुआ समझे। अपने पीछे इतने देव प्रेरणा करने और रक्षा करनेवाले है, यह बात मनमें लानेसे मनकी शक्ति बडी प्रभावशाली बन जाती है। मेरे सहायकारी इतने देव है यह विश्वास बडा बल बढानेवाला है। जिस मनुष्य की उन्नति करने के लिए इतने देव कार्य करते हैं, भूमि आप अग्नि सूर्य आदि देव इसके लिए अन्न तैयार करते हैं, बृहस्पति इसे ज्ञान देता है, जातवेदा इसको विद्या देता है, सूर्य तेज देता है, अन्यान्यदेव इसकी अन्यप्रकार की सहायता करते है और रक्षा भी करते है, क्या ऐसा मनुष्य अपनी शक्तिसे चारों और विजय प्राप्त करके अपने शत्रुओंको दूर नहीं कर सकता ? कर सकता है, परंतु इसको कटिबद्ध होकर अपने पांवपर खडा होना चाहिए।

"अन्नवाली भूमि इसे अन्न अर्पण करती है, दूधवाली गौवे इसके लिए दूध देती है, द्यावा पृथिवी इसके लिए बल ढाती है और आप देवता इसे वीर्य प्रदान करती है।(मं. ५)

पाठक इसका अनुभव करें। इतनी देवताएं मनुष्यकी सहायता कर रही है, कुछ न मांगती हुई सहायता देती है। सभी सहायता परमात्माकी मंगलमयी योजनासे हो रही है। इसके बाद यदि मनुष्य अपना बल न बढावे और विजय न संपादन करे तो फिर दोष किसका हो सकता है ? कृपया सब पाठक इसका उत्तर दे और अपना उत्तरदातृत्व जानकर अपना पुरुषार्थ करनेके लिए कटिबद्ध हों। मनुष्य अपनी उन्नतिके लिए कटिबद्ध हुआ तो ये सब देव उसके सहायक होते हैं और उसकी अखंड उन्नति हो सकती है।

हृदयकी तृप्ति।

अन्न् प्राप्त हुआ, शरीरका बल भी बढा, संतति भी बहुत हुई, तथा अन्यान्य भोग और ऐश्वर्य भी मिले, तो भी हृदयकी तृप्ति नहीं हो सकती। जबतक हृदयकी तृप्ति नहीं होती, तबतक शान्ति भी नही मिल सकती। इसलिए पूर्वोक्त मंत्रोद्वारा अभ्युदयका मार्ग बताकर षष्ठ मंत्रमें निःश्रेयसका मार्ग बताया जाता है। हृदयकी तृप्तिका मार्ग यह है -

ते हृदयं शिवाभिः तर्पयामि। (मं.५)

"तेरा हृदय मंगल वृत्तियोंसे तृप्त करता हूं।" शिवा शब्द शुभता का वाचक है। जो मंगलमय है वह शिव है, फिर यह भावना हो सकती है, कामना हो सकती है और विद्या भी हो सकती है। कुछभी हो जो शिव है उसीसे हृदयकी सन्तुष्टि होती है, किसी अन्य बातसे नही। पाठक यहां अनुभव करले कि जब कभी बुरा विचार उनके मनमें आता है, तब मन कैसा शांत होता है और जब कभी शुभ भावना आती है तब मन कैसा प्रसन्न हो आता है। शुभ विचार, शुभ उच्चार और शुभ आचार ही मनुष्यके हृदयका संतोष कर सकता है। इनके मनमें स्थिर होनेसे मनुष्यका हृदय तृप्त शांत और मंगलमय हो जाता है। इस हृदयकी शोभन अवस्थासे मनुष्य दीर्घायु, नीरोग, तेजस्वी, वर्चस्वी, तथा बलवान् होता है और ऐसे शांतिपूर्ण मनुष्यको की सुसंतान होती है। पाठक यहां देखे कि हृदयकी शांतिका महत्त्व कितना है और हृदयकी अशांतिसे हानि कितनी है। यही बात आगेके मंत्रभागमें कही है -

अनमीवाः सुवर्चाः मोदिषीष्ठाः (मं. ६)

"नीरोग और उत्तम तेजस्वी होकर आनन्दित हो" अर्थात् पूर्वोक्त रीतिसे हृदयको शांन्ति स्थिर होनेसे मनुष्य नीरोग और उत्तम तेजस्वी होकर आनन्दित हो सकता है, इसलिए मनुष्यको उचित है कि वह अपने अंतःकरणको शान्त और मङ्गलय बनावे और अशान्तिसे दूर रहे। इतनाही नहीं परन्तु अशान्त अवस्था चारों ओर खडी होने पर भी अपना अंतःकरण शान्त और शुभ मंगल कामनाओंसे परिपूर्ण रखे। यह तो अंतःकरण के निश्चलत्व के विषयमें उपदेश हुआ। बाहरका व्यवहार कैसा करना चाहिए इस विषयमें इसी मन्त्रका उत्तरार्ध देखिए -

सवासिनौ मायां परिधाय मन्थं पिबतम्। (मं. ६)

"सब मिलकर एक स्थानपर रहते हुए कौशल्यको धारण करके रस का पान करो" इसमें निम्नलिखित उपदेशबोधक शब्द महत्त्व पूर्ण है -

१ स - वासिनौ - एकत्र निवास करनेवाले, समान अधिकारसे एक स्थानपर रहनेवाले। उच्चनीच भेदको न बढाते हुए समान विचारसे इकट्ठे रहनेवाले एक प्रकारके आचार व्यवहारसे रहनेवाले।

यह शब्द एकताका बल अपने समाज में बढानेका उपदेश दे रहा है। परस्पर विद्वेष न बढे, परन्तु एकताका बल बढे, यह भाव यहां स्मरण रखने योग्य है।

२ मायां परिधाय - माया का अर्थ कुशलता, हुनर, कर्म करनेकी प्रवीणता, कौशल आदि प्रकार का है। यह शब्द बुद्धि,शक्ति और कर्मशक्तिको समानतया प्रयुक्त होता है। कुशलतासे कार्य करनेकी बुद्धि और शक्ति धारण

करने की सूचना इस शब्दद्वारा मिलती है। जगत् का व्यवहार करनेके लिए यह कुशलता अत्यन्त आवश्यक है। कुशलताके विना कार्य करनेवाला यशका भागी नहीं हो सकता।

एकता के साथ, समताभावके साथ रहनेवाले और कुशलतासे कार्य व्यवहार करनेवाले लोग ही भोगरूपी रस पान कर आनंद प्राप्त कर सकते हैं। पाठक इस आशय को मनमें रखकर इस मंत्रका विचार करें और बोध प्राप्त करें।

स्वधा।

मंत्र ७ में 'स्वधा अजर और बलवती है, यह इन्द्रकी बनाई है, इसका सेवन करके तेजस्वी बनकर सौ वर्ष जीओ' यह उपदेश है। यह स्वधा क्या चीज है, इसका विचार करना चाहिए -

'स्व+धा' अपनी धारण शक्तिका नाम स्वधा है। जिस शक्तिसे अपने शरीरके विविध अणु इकट्ठे रहते हैं उसको स्वधा शक्ति कहते हैं। यह स्वधा शक्ति जितनी मनुष्यमें होती है उतनी ही उसकी आयु होती है। शरीरकी स्वधाशक्ति कम होनेपर कोई औषधि सहायक नहीं होती। जबतक यह स्वधाशक्ति शरीरमें कार्य करती है तबतक ही मनुष्य जीवित रह सकता, बढ सकता और विजय पासकता है। यह स्वधा शक्तिका महत्त्व है। इसके विना मृत्यु निश्चित है। इसीलिए सप्तम मन्त्र कहा है कि "यह स्वधाशक्ति अजर है" अर्थात् यह जरावाली नहीं है, इससे (जरा) बुढापा जलदी नहीं आता, वृध्द आयुमें भी जवानी रहती है। यह स्वधा (ऊर्जा) बल बढानेवाली है, इसीकी सहायतासे मनुष्य (सुवर्चाः) उत्तम कान्तिवाला तेजस्वी और प्रभावशाली होता है और (शतं जीव) सौ वर्षकी पूर्ण निरोग आयु प्राप्त कर सकता है।

इसलिए ब्रह्मचर्यादि सुनियमोंका पालन करके तथा आयुष्यगणके सूक्तोंमें कहे उपदेशोंके अनुकूल आचरण करके मनुष्य अपनी स्वधाशक्तिको बढावे और मनुष्यको प्राप्त होनेवाले अनेक कार्यक्षेत्रोंमें विजयकमावे तथा इस सूक्तके षष्ठ मन्त्रमें ... उपदेशानुसार अपने अन्तःकरणको शुभ भावोंसे शान्त और गंभीर बनावे और इह पर लोकमें कृतकृत्य बने। यही -

"नः आशीः "

"हमारे लिए आशीर्वाद मिले" और सर्वत्र निर्वैरता और शान्तिका बडा साम्राज्य हो !

●●●

पति और पत्नीका मेल ।

(३०)

(ऋषिः- प्रजापतिः । देवता - अश्विनौ)

यथेदं भूम्या अधि तृणं वातो मथायति ।
एवा मथ्नामि ते मनो यथा मां कामिन्यसो यथा मन्नापगा असः ॥ १ ॥
सं चेन्नयाथो अश्विना कामिना सं च वक्षथः ।
सं वां भगासो अग्मत सं चित्तानि समु व्रता ॥ २ ॥
यत्सुपर्णा विवक्षवो अनमीवा विवक्षवः ।
तत्र मे गच्छताद्धवं शल्य इव कुल्मलं यथा ॥ ३ ॥
यदन्तरं तद्बाह्यं यद्बाह्यं तदन्तरम् । कन्यानां विश्वरूपाणां मनो गृभायौषधे॥ ४ ॥

अर्थ - **(यथा वातः)** जैसा वायु **(भूम्याः अधि)** भूमिपर **(इदं तृण मथायति)** यह घास हिलाता है, **(एव ते मनः मथ्नामि)** वैसा ही तेरा मन मैं हिलाता हूं जिससे तू **(मा कामिनी असः)** मेरी इच्छा करनेवाली होवे और यथा **(मत् अप - गाः न असः)** मुझसे दूर जानेवाली न होवे ॥१॥

(हे कामिनौ अश्विनौ) परस्पर कामना करनेवाले दो बलवानो ! **(च इत् सं नयाथः)** मिलकर चलो, **(च सं वक्षथः)** और मिलकर आगे बढो । **(वां भगासः सं अग्मत)** तुम दोनों को ऐश्वर्य इकठ्ठे प्राप्त हों, **(चित्तानि सं)** तुम दोनोंके चित्त परस्पर मिले और **(व्रतानि सं)** तुम्हारे कर्म भी परस्पर मिल जुल कर हों ॥२॥

(यत्) जहां **(विवक्षवः सुपर्णाः)** बोलनेवाले सुंदर पंखवाले पक्षी जाते हैं और **(विवक्षवः अनमीवाः)** बोलनेवाले नीरोग मनुष्य जाते हैं, **(तत्र)** वहां **(मे हवं गच्छतात्)** मेरी प्रेरणानुसार जाओ, **(यथा शल्यः कुल्मलं इव)** जैसा बाण की नोक निशानेपर जाती है ॥३॥

(यत् अन्तरं तत् बाह्यं) जो अंदर है वही बाहर है और **(यत् बाह्यं तत् अन्तरं)** जो बाहर है वही अंदर है । हे औषधे ! **(विश्वरूपाणां कन्यानां)** विविध रूपवाली कन्याओंका **(मनःगृभाय)** मन ग्रहण कर ॥४॥

भावार्थ - जिस रीतिसे वायु घास हिलाता है उस रीतिसे मैं तेरा मन हिलाता हूं, जिससे तू मेरे ऊपर प्रीति करनेवाली होकर सदा मेरे साथ रहनेवाली तथा मेरेसे दूर न होनेवाली हो ॥१॥

हे परस्पर प्रेम करनेवाले स्त्री पुरुषो ! तुम दोनों मिलकर चलो, मिलकर आगे बढो, मिलकर ऐश्वर्य प्राप्त करो, तुम दोनोंके चित्त परस्पर मिल रहें और तुम्हारे कर्म भी मिल जुल कर होते रहें ॥२॥

जहां सुन्दर पङ्खवाले पक्षी शब्द करते है और जहां नीरोग मनुष्य भ्रमण करने जाते हैं ऐसे सुंदर स्थानपर तू मेरी प्रेरणासे चल ॥३॥

जो हमारे अंदर है वही बाहर है । और जो बाहर है वही अंदर है। मैं निष्कपट भावसे बर्ताव करता हूं और इस निष्कपट आचरणसे मैं विविध रूपवाली कन्याओंका मन आकर्षित करता हूं ॥४॥

एयमगन्पतिकामा जनिकामोऽहमागमम् ।
अश्वः कनिक्रदद्यथा भगेनाहं सहागमम् ॥ ५ ॥

अर्थ - **(इयं पति-कामा आ अगन्)** यह कन्या पतिकी इच्छा करती हुयी आयी है और **(जनि -कामः अहं आ अगमं)** जो की इच्छा करनेवाला मैं आया हूं । **(अहं भगेन सह आ आगमं)** मैं धनके साथ आया हूं **(यथा कनिकदत् अश्वः)** जैसा हिनहिनाता हुआ घोडा आता है ।।५।।

भावार्थ - पतिकी इच्छा करनेवाली यह स्त्री प्राप्त हुई है और स्त्री की इच्छा करनेवाला घोडेके समान हिनहिनाता हुआ मैं धनके साथ आया हूं । हम दोनोंका इस रीतिसे मेल अर्थात् विवाह हुआ है ।।५।।

अश्विनी देव ।

यह सूक्त विवाह के विषयमें बडे महत्त्वपूर्ण उपदेश दे रहा है । इस सूक्त की देवता 'अश्विनौ' है । ये देव सदा युग्ममें रहते है, कभी एक दूसरेसे पृथक् नहीं होते । विवाहमें भी स्त्रीपुरूष एकवार विवाह हो जानेपर कभी पृथक् न हों, आमरण विवाह बंधनसे बंधे रहें, इस उद्देश्यसे इस सूक्तकी यह देवता रखी है । जिस प्रकार अश्विनी देव सदा इकट्ठे रहते हैं कभी वियुक्त नहीं होते, उसी प्रकार विवाहित स्त्रीपुरूष गृहस्थाश्रम में इकट्ठे रहें और परस्परसे वियुक्त न हों अर्थात् विवाह बंधन तोडकर स्वैर वर्तन कभी करनेवाले न बनें ।

द्वितीय मंत्रमें "कामिनौ अश्विनौ" कहा है, अर्थात् परस्पर की कामना करनेवाले अश्विनी देव जिस प्रकार एक कार्यमें इकट्ठे रहते हैं, उसी प्रकार विवाहित स्त्री पुरूष गृहस्थाश्रममें मिल जुलकर रहें और एक दूसरे से विभक्त न हों । यहां "अश्विनी" शब्द 'अश्वशक्तिसे युक्त' होनेका भाव बता रहा है। पुरूष गर्भाधान करनेमें समर्थ होनेके लिये वैद्य शास्त्रमें 'वाजीकरण" के प्रयोग लिखे है । वाजीकरण, अश्वीकरण ये शब्द समानार्थक ही है । स्त्रीपुरूष अश्विनी हों, इसका अर्थ वाजीकरणसे प्राप्त होनेवाली शक्ति से युक्त हों, अर्थात् गर्भाधान करनेकी शक्तिसे युक्त पुरूष हो, और गर्भधारण करनेकी शक्तिसे युक्त स्त्री हो । "अश्वि" शब्दका यह श्लेषार्थ यहां पाठक अवश्य देखें। स्त्री पुरूष परस्पर "कामिनौ" अर्थात् परस्परकी इच्छा करनेवाले हों, स्त्री पुरूष की प्राप्तिकी इच्छा करे और पुरूष स्त्रीकी प्राप्तिकी इच्छा करे । इस शब्दसे विवाहका समय भी निश्चित हो सकता है । देखिए -

विवाह का समय ।

मंत्र पांचमें निम्नलिखित मंत्र भाग आता है, उससे विवाहका काल निश्चित हो सकता है -

इयं पतिकामा आ अगन् ॥
अहं जनिकामः आ अगमम् (मं.५)

"यह स्त्री पतिकी इच्छा करती हुई आगई है और मैं स्त्रीकी इच्छा करता हुआ आया हूं ।" यह समय है जो विवाहके लिए योग्य है । स्त्रीके अंदर पतिकी प्राप्तिकी इच्छा और पतिके अंदर स्त्री की प्राप्तिकी इच्छा प्रबल होनी चाहिए। इस समय विवाह करना चाहिए । परंतु यहां यह भी संभव माना जा सकता है कि यह गर्भधानका समय हो । सिर सजावट करनेके पूर्व विवाह करनेकी बात प्रथम काण्ड सूक्त १४ में लिखी है । यदि विवाह पहिले हुआ तो यह समय गर्भाधान का मानना पडेगा । तथापि निश्चय यही प्रतीत होता है कि ब्रह्मचर्य समाप्तिके पश्चात् प्रौढ और गृहस्थाश्रम योग्य स्त्री पुरूष होनेके पश्चात् ही विवाह करना चाहिये । इस विषयमें इसी मंत्रमें आगे देखिए -

यथा कनिक्रदत् अश्वः ।
अहं भगेन सह आगमम् ।।(मं. ५)

'जैसा हिनहिनाता हुआ घोडा आता है वैसा मैं धनके साथ आया हूं।' यहां उत्तम तारूण्य और गर्भाधान की अत्युत्तम शक्ति जिसके शरीरमे है ऐसे तरूणका वर्णन है, यही विवाह के लिए योग्य है । विवाह के लिए न केवल

तारूण्य और वीर्य की आवश्यकता है, प्रत्युत (भग) धनकी भी आवश्यकता है। कुटुंब का पालन पोषण करनेके लिए आवश्यक धन कमानेकी योग्यता पुरूष प्राप्त करे, धन कमाने लगे और तत्पश्चात् विवाह करे, यह बोध यहां मिलता है। पहले ब्रह्मचर्य पालन करे, तरूण बने, वीर्यवान और बलवान् हो, धन कमाने लगो और पश्चात् सुयोग्य स्त्रीसे विवाह करे। यह पंचम मंत्रका आशय सतत ध्यानमें धारण करने योग्य है।

द्वितीय मंत्रमें "कामिनौ अश्विनौ" शब्द है, इनका आशय इससे पूर्व बतायाही है। 'कामिनौ' शब्दका विशेष स्पष्टीकरण पंचम मंत्रके पूर्वार्धने किया है और 'अश्विनौ' का स्पष्टीकरण पंचम मंत्रके तृतीय चरण द्वारा हुआ है। यह बात पाठक मनन पूर्वक देखेंगे, तो 'अश्विनौ' शब्द यहां उत्तम तारूण्यके युक्त पतिपत्नीका वाचक है और 'अश्व' शब्द वाजीकरण सिद्ध वीर्यवान् पुरूष का विशेषतया वाचक है, यह बात स्वयं स्पष्ट हो जायगी।

पंचम मंत्रमें धन कमानेके पश्चात् विवाह करनेका उपदेश तो विशेष ही मनन करने योग्य है। 'धीः, श्रीः, स्त्रीः' यह वैदिक क्रम प्रसिद्ध है।

निष्कपट बर्ताव।

स्त्री पुरूषोंका परस्पर बर्ताव, पतिपत्नीका परस्पर व्यवहार निष्कपट भावसे और हृदय की एकता से ही होना चाहिए। तभी गृहस्थाश्रमी पुरूषों को सुख प्राप्त हो सकता है। इस विषयमें चतुर्थ मंत्रका उपदेश विशेष महत्त्वपूर्ण है -

यदन्तरं तद्बाह्यं यद्बाह्यं तदन्तरम्। (मं. ४)

'जो अंदर है वही बाहर, जो बाहर है वही अंदर है।' यह निष्कपट व्यवहारका परम उच्च आदर्श है। पति पत्नीके विषयमें तथा पत्नी पतिके विषयमें अंतर्बाह्य एक जैसा व्यवहार करें, अंदर एक भाव रखते हुएँ बाहर दूसरा भाव न रखें। गृहस्थियोंके लिए व्यवहारका आदर्श यहां वेदने सुबोध शब्दोंद्वारा बताया है। वैदिक धर्मका पालन करनेवाले गृहस्थी इसका अवश्य आचरण करे और अपना गृहस्थपनका सुख बढावें।

विश्वरूपाणां कन्यानां मनः गृभाय ॥ (मं. ४)

'विविध रूपवाली कन्याओंका मन इसी प्रकार आकर्षित किया जावे।' कोई तरूण किसी कन्याके साथ बातचीत करने तथा अन्य व्यवहार करनेके समय अपना अंदर बाहरका बर्ताव सीधा और कपट रहित रखे। कपट भावसे कन्याको धोखा देकर उसको फंसानेका यत्न कोई न करे। सरल निष्कपट भावसे ही अपनी धर्मपत्नी बननेके लिए किसी कन्याका मन आकर्षित किया जाय। कभी कोई छल या कपट न किया जाय। स्त्री पुरूष व्यवहारके विषयमें इस मंत्रका स्त्री यह उपदेश अत्यंत महत्त्वपूर्ण है, गृहस्थाश्रममें प्रवेश करनेवाले और प्रविष्ट हुए पाठक इस मंत्रका वारंवार मनन करें।

आदर्श पतिपत्नी।

चतुर्थ मंत्रमें परस्पर निष्कपट व्यवहार करनेका उपदेश दिया है, उस उपदेशके पालन करनेसे आदर्श कुटुंब बन सकता है इसमें कोई संदेहही नही है, इसका थोडासा नमूना द्वितीय मंत्रमें बताया है, इसमें पांच उपदेश है, देखिए -

१ **संनयथः** - सन्मार्गसे चलो और चलाओ। एक मत से चलो। एक मतसे संसार चलाओ। स्त्री और पुरूष एक दिलसे चले और परिवारको चलावें।

२ **संवक्षथः** - मिलकर आगे बढो। स्त्री और पुरूष एक विचारसे आगे बढने तथा उन्नति संपादन करनेका प्रयत्न करें।

३ **भगासः सं अग्मत** - सब मिलकर ऐश्वर्य प्राप्त करें। मिलकर ऐसा प्रयत्न करे कि जिससे विपुल धन प्राप्त हो जावे।

४ चित्तानि सं- आपके चित्त मिले हुए हों ।

५ व्रतानि सं - आपके कार्य भी मिलजुल कर किए जांय ।

अर्थात् पतिपत्नीमें वैर भाव, द्वेष भाव, या कठोर भाव न हो । यहांतक एकता का भाव हो कि ये दोनों मिलकर एकही शरीरके अवयव हैं ऐसा माना जावे । यहांके ये शब्द यद्यपि सामान्यतः पतिपत्नीके कर्तव्य बतानेके लिए प्रयुक्त हुए है, तथापि सामान्यतः ऐक्य प्रतिपादन परक भी इस मंत्रका भाव लिया जा सकता है और इस दृष्टिसे यह मंत्र सामाजिक ऐक्य भावका उत्तम उपदेश दे रहा है । पाठक इस दृष्टीसे भी इस मंत्रका विचार करें और आदर्श पतिपत्नीके विषयमें इसका उज्वल उपदेश स्मरण रखें ।

भ्रमण का स्थान ।

पतिपत्नीको मिलकर भ्रमण के लिए जाना हो, तो किस प्रकारके स्थानमें जांय इस बातका उपदेश तृतीय मंत्रमें किया गया है उसको भी यहां देखिये -

यत् सुपर्णा विवक्षवः ॥
अनमीवा विवक्षवः ॥
तत्र मे हवं गच्छतात् ॥(मं. ३)

"जहां सुंदर पंखवाले पक्षी शब्द करते है और जहां नीरोग पुरूष वार्तालाप करते हुए जाते हैं, वहां प्रेरणानुसार जांय।" ऐसे स्थानमें पतिपत्नी परस्परकी इच्छानुसार अथवा प्रेरणानुसार, परस्परकी रूचीके अनुकूल भ्रमण के लिये जांय । जहां सुंदर सुंदर पक्षी मंजुल शब्द कर रहे हैं और जहां नीरोग मनुष्य जानेके इच्छुक होते हैं वहां जाय। वह स्थानका वर्णन कितना मनोरम है ? पाठक ही इसका अनुभव अपने मनमें कर लें । उत्तम भाग्यसे ही ऐसे वन अथवा उद्यान स्त्री पुरूषोंको भ्रमण के लिए प्राप्त हो सकते हैं । यहा वेदने आदर्श स्थानही भ्रमण के लिए बताया है, यदि ऐसा स्थान हर एक परिवारके लिए न मिला, तो इसी प्रकारका कोई अन्य स्थान भ्रमण के लिए पसंद करें और निष्कपट भावसे उत्तम वार्तालाप करते हुए गमन करें ।

स्त्रीके साथ बर्ताव ।

पुरूष स्त्री के साथ कैसा बर्ताव करे और स्त्री भी पुरूषके साथ कैसा बर्ताव करे, इस विषयमें एक उत्तम उपमा प्रथम मंत्रमें ली है और इस विषयका उपदेश किया है । 'जिस प्रकार वायुसे घास हिलाया जाता है उस प्रकार स्त्रीका मन हिलाता हूं ।' (मं. १) यह कथन बडा बोधप्रद है । वायुके अंदर प्रचण्ड शक्ति है, वायु वेगसे चलने लगा, तो बडे बडे वृक्ष भी टूट जाते हैं, परंतु वही वायु कोमल घासको नहीं तोडता, परंतु केवल हिलाता है । इसी प्रकार वीर पुरूषका कोप प्रबल शत्रुको छिन्न भिन्न कर सकता है, परंतु वही वीर पुरूष स्त्रियोंसे वैसा क्रूरताका बर्ताव न करे । जिस प्रकार वृक्षोंको तोडनेवाला वायु घासको केवल हिलाता है, उसी प्रकार शत्रुको नष्टभ्रष्ट करनेवाला पुरूष भी स्त्रियोंसे कोमल रीतिसे ही बर्ताव करे । कठोर व्यवहार कभी न करे ।

स्त्रियां भी अपने अंदर घासके समान कोमलता धारण करें और प्रचण्ड वायु चलने पर भी जैसा घास टुटता नहीं, उसी प्रकार अपने कुटुंबके स्थानसे कभी विचलित न हों ।

यहां इस उपमासे दोनोंके उत्तम कर्तव्य बताये हैं । इस उपमाका विचार जितना अधिक किया जाय उतना अधिक बोध मिल सकता है । यह पूर्ण उपमा है, इतनी योग्य उपमा अन्यत्र नही मिल सकती । पाठक इसका विचार करें और बोध लें और वह बोध अपने परिवारमें ढाल दें ।

यह सूक्त पतिपत्नीके गृहस्थधर्मका आदर्श बता रहा है, यदि पाठक इसका अधिक विचार करेंगे, तो उनको बहुत उत्तम उपदेश मिल सकता है । विवाह विषयक अन्यान्य सूक्तोंके साथ पाठक इस सूक्तका विचार करें ।

●●●

रोगोत्पादक क्रिमि।

(३१)

(ऋषिः - काण्वः। देवता - मही)

इन्द्रस्य या मही दृषत्क्रिमेर्विश्वस्य तर्हणी।
तया पिनष्मि सं क्रिमीन्दृषदा खल्वाँ इव ॥ १ ॥
दृष्टमदृष्टमतृहमथो कुरूरुमतृहम्।
अल्गण्डून्त्सर्वाञ्छलुनान्क्रिमीन्वचसा जम्भयामसि ॥ २ ॥
अल्गण्डून्हन्मि महता वधेन दूना अदूना अरसा अभूवन्।
शिष्टानशिष्टान्नि तिरामि वाचा यथा क्रिमीणां नकिरुच्छिषातै ॥ ३ ॥
अन्वान्त्र्यं शीर्षण्यमथो पार्ष्टेयं क्रिमीन्।
अवस्कवं व्यध्वरं क्रिमीन्वचसा जम्भयामसि ॥ ४ ॥

अर्थ- (इन्द्रस्य या मही दृषत्) इन्द्रकी जो बडी शिला है जो (विश्वस्य क्रिमेः तर्हणी) सब क्रिमियोंका नाश करनेवाली है (तया क्रिमीन् सं पिनष्मि) उससे मैं क्रिमियोंको पीस डालूं (दृषदा खल्वान् इव) जैसे पत्थरसे चणोंको पीसते हैं ॥१॥

(दृष्टं अदृष्टं अतृहम्) दीखने वाले और न दिखाई देनेवाले इन दोनों प्रकारके क्रिमियोंका मैं नाश करता हूं। (अथो करूरू अतृहम्) और भूमिपर रेंगनेवाले क्रिमियोंको भी मैं नष्ट करता हूं। (सर्वान् अल्गण्डून्) सब बिस्तरे आदि में रहनेवाले तथा (शलुनान्) वेगसे इधर उधर चलनेवाले सब (क्रिमीन्) किमियोंको (वचसा जम्भयामसि) वचाके द्वारा हटाता हूं ॥२॥

(अल्गण्डून् महता वधने हन्मि) विविध स्थानोंमें रहनेवाले क्रिमियोंको बडे आघातसे मैं मारता हूं। (दूनाः अदूनाः अरसाः अभूवन्) चलनेवाले और न चलनेवाले सब क्रिमी रसहीन होगये। (शिष्टान् अशिष्टान् वाचा नि तिरामि) बचे हुए और न बचे हुए भी सब क्रिमियोंको वचासे मैं नाश करता हूं। (यथा क्रिमीणां नकिः उच्छिषातै) जिससे क्रिमियोंमेंसे कोई भी न बचे ॥३॥

(अन्वान्त्र्यं) आंतोंमें होनेवाले, (शीर्षण्यं) सिरमें होनेवाले (अथो पार्ष्टेयं क्रिमीन्) और पसलियोंमें होनेवाले क्रिमियोंको तथा (अवस्कवं) रेंगनेवाले और (व्यध्वरं) बुरे मार्गपर होनेवाले सब क्रिमियोंको मैं (वचसा जम्भयामसि) वचा औषधिसे हटाता हूं ॥४॥

भावार्थ - सब प्रकारके क्रिमियोंका नाश करनेमें समर्थ इन्द्र अर्थात् आत्माकी दृढ शक्ति है उससे मैं रोगोत्पादक क्रिमियोंका नाश करता हूं ॥१॥

आंखसे दिखाई देनेवाले और न दिखाई देनेवाले तथा भूमिपर रेंगनेवाले अनेक प्रकारके क्रिमियोंको वचा औषधिसे हटाता हूं ॥२॥

वचा औषधिसे मैं सब क्रिमियोंको हटाता हूं जिससे एक भी न बच सके ॥३॥

आंतोंमें, सिरमें, पसलीमें जो कृमि कुमार्ग के आचरणसे होते हैं उन सबको मैं वचा से हटाता हूं ॥४॥

ये क्रिमयः पर्वतेषु वनेष्वोषधीषु पशुष्वप्स्व१न्तः ।
ये अस्माकं तन्वमाविविशुः सर्वं तद्धन्मि जनिम क्रिमीणाम् ॥ ५ ॥
(इति पञ्चमोऽनुवाक ।)

अर्थ - (ये पर्वतेषु क्रिमयः) जो पहाडियोंपर क्रिमि होते हैं, **(वनेषु, औषधीषु, पशुषु, अप्सु अन्तः)** वन, औषधि, पशु, जल आदिमें होते है, और **(ये अस्माकं तन्वं आविविशुः)** जो हमारे शरीरमें प्रविष्ट हुए हैं **(तत् क्रिमीणां सर्व जनिम हन्मि)** वह क्रिमियोंका सम्पूर्ण जन्म मैं नष्ट करता हूं ॥५॥

भावार्थ - जो पर्वतोंमें, वनोंमें, औषधियोंमें, पशुओंमें तथा जलोंमें क्रिमि होते हैं तथा जो हमारे शरीरोमें घुसते हैं उन सब क्रिमियोंका मैं नाश करता हूं ॥५॥

क्रिमियोंकी उत्पत्ति ।

रोगोत्पादक क्रिमियोंकी उत्पत्ति 'पर्वत, वन, औषधि, पशु, और जल इनके बीचमें होती है' (मं.५) तथा ये क्रिमि-

अस्माकं तन्वं आविविशुः (मं. ५)

'हमारे शरीरमें घुसते हैं' और पीडा करते हैं, इसलिये इन क्रिमियोंको हटाकर आरोग्य साधन करना चाहिये। यह पंचम मंत्रका कथन विशेष विचार करने याग्य है । जलमें सडावट होनेसे विविध प्रकारके क्रिमि होते हैं, पशुके शरीर में अनेक जंतु होते हैं, हरी वनस्पतियोंपर अनेक क्रिमि होते हैं, वनों में जहां दलदलके स्थान रहते हैं वहां भी विविध जाति के क्रिमि होते हैं और इनका संबंध मनुष्य शरीरके साथ होनेसे विविध रोग उत्पन्न होते हैं । शरीरमें ये कहां जाते हैं इसका वर्णन मंत्र ४ कर रहा है ।

अन्वन्त्र्यं शीर्षण्यं अथो पार्ष्टेयं क्रिमीन् । (मं.४)

"आंतोंमें, सिरमें, पसलियोंमें ये क्रिमि जाते हैं और वहां बढते हैं ।" इस कारण वहां नाना प्रकारके रोग उत्पन्न होते हैं। इसलिये आरोग्य चाहनेवालोंको इनको दूर करना चाहिये। इनकी उत्पत्ति के विषयमें मंत्र ४ में दो शब्द बडे महत्त्व के हैं । -

"अवस्कवं , व्यध्वरं" (मं.४)

१ अवस्कव - (अव+स्कव) नीचे गमन । नीच स्थानमें गमन करनेसे इनकी उत्पत्ति होती है । यहां आचरणकी नीचता समझना योग्य है ।

२ व्यध्वर - (वि-अध्व-र) विरूद्ध मार्ग पर रमना। धर्म विरूद्ध व्यवहारके जो जो मार्ग है उनपर रमनेसे रोगके बीच उत्पन्न होते हैं। ब्रह्मचर्यादि नियमोंका न पालन करना आदि बहुतसे धर्म विरूद्ध व्यवहार है जो रोगउत्पन्न करनेमें हेतु होते हैं । इस दृष्टिसे ये दोनों शब्द बडे महत्त्वके हैं ।

दूर करनेका उपाय ।

इन क्रिमियोंको दूर करनेका उपाय दो प्रकारका इस सूक्तमें कहा है -

१ वचा - वचा नामक वनस्पतिका उपयोग करना। भाषामें इसको वच कहते हैं। क्रिमि नाशक औषधियोंमें इसका महत्त्व सबसे अधिक है । इसका चूर्ण शरीरपर लगानेसे क्रिमि बाधा नही होती, वचाका मणि गलेमें या शरीरपर धारण करनेसे भी क्रिमिपीडा दूर होती है और जलमें घोलकर भी इसका सेवन करनेसे पेटके अंदरके क्रिमिदोष दूर हो जाते हैं । औषधि अन्य उपायोंमें यह सुलभ और निश्चित उपाय है ।

२ इन्द्रस्य मही दृषत् - इन्द्रका बडा पत्थर । इस नामक कोई पदार्थ है या यह अध्यात्मिक शक्तिका नाम है, इस विषय में अभीतक कोई निश्चय नहीं हो सका । इन्द्र शब्दका अर्थ आत्मा है, उसका बडा पत्थर अर्थात् जिसपर

टक्कर खाकर ये रोग जन्तु मर जाते हैं वह उसकी प्रबल जीवन शक्ति है । आत्म शक्तिके मुकाबलेमें इन रोगक्रिमियोंकी क्षुल्लक शक्ति ठहर नहीं सकती। यह सब ठीक है, परंतु इस विषयमें अधिक खोज होनेकी आवश्यकता है । ये क्रिमि इतने सूक्ष्म होते है, कि आंखसे दिखाई नहीं देते है । (अदृष्ट) दूसरे ऐसे होते हैं कि जो आंखसे दिखाई देते है । कई शरीरपर होते हैं, कपडोंपर चिपकते हैं बिस्तरमें होते हैं, इस प्रकार विविध स्थानोंमें इनकी उत्पत्ति होती है। इनका नाश उक्त प्रकार करनेसे इनकी पीडा दूर होती है और आरोग्य मिलता है ।

क्रिमि - नाशन ।

(३२)

(ऋषिः - काण्वः । देवता - आदित्यः)

उद्यन्नादित्यः क्रिमीन्हन्तु निम्रोचन्हन्तु रश्मिभिः । ये अन्तः क्रिमयो गवि ॥१॥
विश्वरूपं चतुरक्षं क्रिमिं सारङ्गमर्जुनम् । शृणाम्यस्य पृष्टीरपि वृश्चामि यच्छिरः ॥२॥
अत्रिवद्वः क्रिमयो हन्मि कण्ववज्जमदग्निवत् ।
अगस्त्यस्य ब्रह्मणा सं पिनष्म्यहं क्रिमीन् ॥३॥
हतो राजा क्रिमीणामुतैषां स्थपतिर्हतः । हतो हतमाता क्रिमिर्हतभ्राता हतस्वसा ॥४॥

अर्थ- (उद्यन् आदित्यः क्रिमीन् हन्तु) उदय होता हुआ सूर्य क्रिमियोंका नाश करे । (निम्रोचन् रश्मिभिः हन्तु) अस्तको जाता हुआ सूर्य भी अपने किरणोंसे क्रिमियोंका नाश करे । (ये क्रिमयः गवि अन्तः) जो क्रिमि भूमीपर हैं ॥१॥

(विश्वरूपं) अनेक रूपवाले (चतुरक्षं) चार आंखवाले, (सारंगं अर्जुनं क्रिमि) रींगनेवाले श्वेतरंगके क्रिमि होते हैं । (अस्य पृष्टीः श्रृणामि) इनकी हड्डियोंको मैं तोडता हूं । (अपि यत् शिरः वृश्चामि) इनका जो सिर है वह भी तोडता हूं ॥२॥

हे (क्रिमयः) क्रिमियो ! (अत्रिवत्, कण्ववत्, जमदग्निवत्) अत्रि, कण्व और जमदग्नि के समान (वः हन्मि) तुमको मार डालता हूं । (अहं अगस्त्यस्य ब्रह्मणा) मैं अगस्तिकी विद्यासे (क्रिमीन् सं पिनष्मि) क्रिमीयोंको पीस डालता हूं ॥३॥

(क्रिमीणां राजा हतः) क्रिमियोंका राजा मारा गया । (उत एषां स्थपतिः हतः) और इनका स्थानपति भी मारा गया । (हत- माता, हतभ्राता, हत - स्वसा क्रिमिः हतः) क्रिमीका माता, भाई, बहीन तथा वह क्रिमि भी मारा गया है ॥४॥

भावार्थ - सूर्य उदय होनेके पश्चात् अस्त होने तक अपने किरणोंसे रोगोत्पादक क्रिमियोंका नाश करता है । ये क्रिमि भूमिपर रहते हैं ॥१॥

ये क्रिमि बहुत प्रकारके विविध रंगरूपवाले होते हैं, कई श्वेत होते हैं और कई अन्य रंगोंके होते हैं । इनमेंसे कईयोंको चार अथवा अनेक आंख होते हैं ॥२॥

अत्रि, कण्व, जमदग्नि और अगस्त्य इन नामों द्वारा सूचित होनेवाले उपाय है कि जिनसे इन रोग बीजोंका नाश हो जाता है ॥३॥

इन उपायोंसे इन क्रिमियोके मूल बीज ही नष्ट होते हैं ॥४॥

हतासो अस्य वेशसो हतासः परिवेशसः।
अथो ये क्षुल्लका इव सर्वे ते क्रिमयो हताः ॥ ५ ॥
प्र ते शृणामि शृङ्गे याभ्यां वितुदायसि। भिनद्मि ते कुषुम्भं यस्ते विषधानः ॥६॥

अर्थ - (अस्य वेशसः हतासः) इशके परिचारक मारे गये। **(परिवेशसः हतासः)** इसके सेवक पीसे गये। **(अथो ये क्षुल्लकाः इव)** अब जो क्षुल्लक क्रिमी है **(ते सर्वे क्रिमयः हताः)** दे सब किमी मारे गये ॥५॥

(ते श्रृंगे प्र श्रृणामि) तेरे दोनों सींग तोड डालता हूं **(याभ्या वितुदायसि)** जिनसे तू काटता है। **(ते कुषुमी भिनद्मि)** तेरे विषके आशयको मैं तोडता हूं **(यः ते विषधानः)** जो तेरा विषका स्थान है।

भावार्थ - इनके सब परिवार पूर्णतासे दूर ही जाते है ॥५॥

इनमें जो विषका स्थान होता है उसका भी पूर्वोक्त उपयोंसे ही नाश हो जाता है ॥६।

सूर्यकिरण का प्रभाव।

सूर्य किरणोंमे ऐसी जीवन शक्ति है कि जिससे संपूर्ण प्रकारके रोगबीज दूर होते हैं। इसलिए जिस स्थानपर रोग जन्तुओंके बढनेसे रोग उत्पन्न हुए हों, उस स्थानमें सूर्य किरण पहुंचानेसे वे सब रोग दूर हो जाते हैं। जिस घरमें रोग उत्पन्न हुए हों, उस घरके छप्परमें से सूर्य किरण विपुल प्रमाणमें उस घरमें प्रविष्ठ करानेसे वहांके रोग दूर हो जाते है। क्योंकि रोगबीजों को हटानेवाला सूर्यके समान प्रभावशाली दूसरा कोई भी नही है।

क्रिमियोंके लक्षण।

इस सूक्तके द्वितीय मंत्रमें इन क्रिमियोंके कुछ लक्षण कहे है, देखिए (मं. २)

१. **अर्जुन** : - श्वेत रंगवाला,

२. **सारंगः** - विविध रंगवाला, चित्रविचित्र वर्ण वाला, धब्बे जिसके शरीरपर हैं।

३. **चतुरक्षः** - चार नेत्रवाला, चारों तर्फ जिसके शरीरमें नेत्र है।

४. **विश्वरूपः** - विविध रंगरूप वाला।

इन लक्षणोंसे ये क्रिमि पहचाने जा सकते है।

रोग बीजोंके नाशकी विद्या।

इन रोग बीजोंका नाश करनेकी विद्या तृतीय मंत्रमें कही है। इस मंत्रमे इस विद्याके चार नाम आगये है, देखिए - (१) अत्रि, (२) कण्व, (३) जमदग्नि और (४) अगस्त्य के (ब्रह्मणा) ब्रह्मसे अर्थात् इनकी विद्यासे मैं रोग बीजभूत क्रिमियोंका नाश करता हूं। रोजबीजों का नाश करनेकी विद्याके ये चार नाम है। प्राचीन विद्याकी खोज करनेवालोंकी उचित है कि वे इन विद्याओंकी खोज करें। इस समय तक हमने जो खोज की उससे कुछभी परिणाम नही निकला है।

विषस्थान।

इन क्रिमियोंके शरीर में एक स्थान ऐसा होता है कि जहां विष रहता है, (मं. ६) यह विष ही मनुष्य के शरीरमें पहुंचता है और वहां विविध रोग उत्पन्न करता है। इसलिए इनसे बचने के उपाय की शक्ति ऐसी चाहिए कि जिससे यह विष दूर हो जाय और मनुष्य के शरीर पर यह विष अनिष्ट परिणाम न कर सकें।

●●●

यक्ष्म नाशन ।

(३३)

(ऋषिः ब्रह्मा । देवता - यक्ष्मविबर्हण, चन्द्रमाः, आयुष्यम् ।)

अक्षीभ्यां ते नासिकाभ्यां कर्णाभ्यां छुबुकादधि ।
यक्ष्मं शीर्षण्यं मस्तिष्काज्जिह्वाया वि वृहामि ते ॥ १ ॥

ग्रीवाभ्यस्त उष्णिहाभ्यः कीकसाभ्यो अनूक्यात् ।
यक्ष्मं दोषण्य१मंसाभ्यां बाहुभ्यां वि वृहामि ते ॥ २ ॥

हृदयात्ते परि क्लोम्नो हलीक्ष्णात्पार्श्वाभ्याम् ।
यक्ष्मं मतस्नाभ्यां प्लीह्नो यक्नस्ते वि वृहामसि ॥ ३ ॥

आन्त्रेभ्यस्ते गुदाभ्यो वनिष्ठोरुदरादधि ।
यक्ष्मं कुक्षिभ्यां प्लाशेर्नाभ्या वि वृहामि ते ॥ ४ ॥

ऊरुभ्यां ते अष्ठीवद्भ्यां पार्ष्णिभ्यां प्रपदाभ्याम् ।
यक्ष्मं भसद्यं१ श्रोणिभ्यां भासदं भंससो वि वृहामि ते ॥ ५ ॥

अस्थिभ्यस्ते मज्जभ्यः स्नावभ्यो धमनिभ्यः ।
यक्ष्मं पाणिभ्यामङ्गुलिभ्यो नखेभ्यो वि वृहामि ते ॥ ६ ॥

अर्थ - **(ते अक्षीभ्यां नासिकाभ्यां)** तेरे आंखोंसे और दोनों नथुनोंसे **(कर्णाभ्यां छुबुकात् अधि)** कानोंसे, और ठोडीमेंसे, **(ते मस्तिष्कात् जिह्वाया)** तेरे मस्तकसे तथा जिह्वासे **(शीर्षण्यं यक्ष्मं वि वृहामि)** सिर संबंधी रोग को हटाता हूं ॥१॥

(ते ग्रीवाभ्यः उष्णिहाभ्यः) तेरे गले से और गुद्दी की नाडीसे **(कीकसाभ्यः अनूक्यात्)** हंसली की हड्डियोंसे और रीढसे ओर **(ते भसाभ्यां, ते बाहुभ्यां)** तेरे कंधोसे और भुजाओंसे **(दोषण्यं यक्ष्मं वि वृहामि)** मुड्ढेके रोगको हटाता हूं ॥२॥

(ते हृदयात, क्लोम्नः, हलीक्ष्णात्) तेरे हृदयसे फेफडेसे और पित्ताशयसे **(पार्श्वाभ्यां परि)** दोनों कांखोंसे **(ते मतस्नाभ्यां)** तेरे गुर्दोंसे **(प्लीह्नः यक्नः)** तिल्ली और जगिरसे **(यक्ष्मं वि बृहामि)** रोग को हटाता हूं ॥३॥

(ते आत्रेभ्यः गुदाभ्यः) तेरी आंतोंसे और गुदासे **(वनिष्ठोः उदराद् अधि)** मलस्थानसे और उदरसे **(ते कुक्षिभ्यां प्लाशेः नाभ्याः)** तेरी कोखोंसे अंदर की थैलीसे और नाभिसे **(यक्ष्मं वि वृहामि)** रोग हटाता हूं ॥३॥

(ते उरुभ्यां अष्टीवद्भ्यां) तेरी जंघाओंसे और घुटनोंसे **(पाष्णिभ्यां प्रपदाभ्यां)** एडियोंसे और पैरोंसे, **(ते श्रोणिभ्यां)** तेरे कुल्होंसे **(भंससः भसद्यं भासदं)** गुह्यस्थानसे कटिके संबंधके गुह्य **(यक्ष्मं विवृहामि)** रोगको मैं हटाता हूं ॥५॥

(ते अस्थिभ्यः मज्जभ्यः) तेरी हड्डियोंसे और मज्जासे **(स्नावभ्यः धमनिभ्यः)** पुट्ठोंसे और नाडियोंसे **(ते पाणिभ्यां अंगुलिभ्यांः नखेभ्यः)** तेरे हाथ, अंगुलि और नाखूनोंसे (यक्ष्मं विवृहामि) रोग को हटाता हूं ॥६॥

अङ्गेअङ्गे लोम्निलोम्नि यस्ते पर्वणिपर्वणि ।
यक्ष्मं त्वचस्यं ते वयं कश्यपस्य वीबर्हेण विष्वञ्चं वि वृहामसि ॥ ७ ॥

अर्थ - (वः ते) जो तेरे (अङ्गे लोम्नि लोम्नि पर्वणि पर्वणि) प्रत्येक अंग प्रत्येक रोम और प्रत्येक गांठमें (ते त्वचस्यं विष्वश्र्चं यक्ष्मं) तेरी त्वचा संबंधी फैलनेवाले क्षय रोगको (कश्यपस्य विबर्हेण) कश्यपके उपायसे (वयं विवृहामसि) हम हटा देते हैं ॥७॥

भावार्थ - आंख नाक कान बाहु आदि स्थूल शरीरके मोटे अवयवोंसे, हृदय प्लीहा यकृत आदि आंतरिक अवयवोंसे, अस्थि मज्ञा आदि धातुओंसे अथवा जहां कहां रोग हो वहांसे कश्यप की विद्यासे हम रोगको हटा देते हैं १-७- ॥

कश्यप - विबर्हण ।

पूर्व सूक्तमें अत्रि, कण्व, जमदग्नि और अगस्त्य नामकी रोगदूरीकरण की विद्या आगई है । उसी प्रकारकी कश्यप विबहण नामक विद्याका उल्लेख इस सूक्तमें आगया है । खोज करनेवालोंको उन विद्याओंके साथ इस विद्याकी भी खोज करनी चाहिये । इस समय तो यह विद्या अज्ञात ही है ।

(यह सूक्त कुछ पाठ भेदसे ऋ. १०।१६३ में आया है)

मुक्ति का सीधा मार्ग ।

(३४)

(ऋषिः अथर्वा । देवता -पशुपतिः।)

य ईशे पशुपतिः पशूनां चतुष्पदामुत यो द्विपदाम् ।
निष्क्रीतः स यज्ञियं भागमेतु रायस्पोषा यजमानं सचन्ताम् ॥ १ ॥
प्रमुञ्चन्तो भुवनस्य रेतो गातुं धत्त यजमानाय देवाः ।
उपाकृतं शशमानं यदस्थात्प्रियं देवानामप्येतु पाथः ॥ २ ॥

अर्थ - (यः पशुपतिः) जो पशुपति (यः द्विपदां उत चतुष्पदां ईशे) द्विपाद और चतुष्पादोंका स्वामी है (सः निष्क्रीतः) वह पूर्ण रीतिसे प्राप्त हुआ हुआ (यज्ञियं भागं एतु) यजनीय विभागको प्राप्त होवे । (रायः पोषाः यजमानं सचन्ताम्) धन और पुष्टियां यज्ञ करनेवालेको प्राप्त हों ॥१॥

हे (देवाः) देवो ! (भुवनस्य रेतः प्र मुञ्चन्तः) भुवन के वीर्यका दान करते हुए (यजमानाय गातुं धत्त) यज्ञ करनेवाले के लिये सन्मार्ग प्रदान करो । (यत् शशमानं उपाकृतं देवानां प्रियं पाथः अस्यात्) जो सोमरुप सुसंस्कृत देवोंका प्रिय अन्न है वह हमें (एतु) प्राप्त हो ॥२॥

भावार्थ - जो द्विपाद और चतुष्पाद आदि सब प्राणियोंका स्वामी एक ईश्वर है, वह निःशेष रीतिसे प्राप्त होनेके पश्चात् पूज के स्थानमें पूजित होता है और उसकी कृपासे सब प्रकारके धन और पुष्टियां उपासक को प्राप्त होती हैं ॥१॥

सब देव इस उपासक को संसारकरा वीर्य प्रदान करते हुए सन्मार्ग बताते हैं और वनस्पति संबंधी सुसंस्कृत देवोंके लिए प्रिय ऐसा जो अन्न होता है वह इसको देते हैं ॥२॥

ये बुध्यमानमनु दीध्याना अन्वैक्षन्त मनसा चक्षुषा च ।
अग्निष्टानग्रे प्र मुमोक्तु देवो विश्वकर्मा प्रजया संरराणः ॥ ३ ॥
ये ग्राम्याः पशवो विश्वरूपा विरूपाः सन्तो बहुधैकरूपाः ।
वायुष्टानग्रे प्र मुमोक्तु देवः प्रजापतिः प्रजया संरराणः ॥ ४ ॥
प्रजानन्तः प्रति गृह्णन्तु पूर्वे प्राणमङ्गेभ्यः पर्याचरन्तम् ।
दिवं गच्छ प्रति तिष्ठा शरीरैः स्वर्गं याहि पथिभिर्देवयानैः ॥ ५ ॥

अर्थ - **(ये दीध्यानाः)** जो प्रकाशमान **(बध्यमानं अनु)** बंधे हुए को अनुकूलता के साथ **(मनसा च चक्षुषा अन्वैक्षन्त)** मनसे और आंखसे देखते है, **(विश्वकर्मा प्रजया संरराणः देवः अग्निः)** विश्वकर्ता प्रजासे रमनेवाला प्रकाशमान देव **(तान् अग्रे प्रमुमोक्तु)** उनको सबसे पहले मुक्त करे ।

(ये ग्राम्याः विश्वरूपाः पशवः) जो ग्रामीण विविधरंग रुपवाले पशु **(बहुधा विरुपाः संतः एकरूपाः)** बहुत करके अनेक रुपवाले होनेपर भी एक रूप होनेके समान ही हैं **(प्रजया संरराणः प्रजापतिः वायुः देवः)** प्रजाके साथ रमने वाला प्रजापालक प्राण देव **(तान् अग्रे प्रमुमोक्तु)** उनको पहले मुक्त करे ॥४॥

(पूर्वे प्रजानन्तः) पहले विशेष जाननेवाले ज्ञानी **(परिआचरन्तं प्राणं)** चारों स्थानोंमें भ्रमण करनेवाले प्राणको **(अंगेभ्यः प्रतिगृह्नान्तु)** सब अंगोंसे ग्रहण करें । **(शरीरैः प्रतितिष्ठ)** सब शरीरांगोंसे प्रतिष्ठित रह, पश्चात् **(देवयानैः पयिभिः स्वर्ग याहि, दिवं गच्छ)** देवोंके जाने योग्य मार्गोंसे स्वर्गको जा, प्रकाशमय स्थानको प्राप्त हो ॥५॥

भावार्थ - जो तेजस्वी ज्ञानी पुरुष अपने मनसे और आंखसे बद्ध स्थितिमें रहे हुए प्राणीको अनुकम्पा की दृष्टिसे देखते है, उनको - ही विश्वका निर्माण करनेवाला और प्रजाओं में रमनेवाला प्रकाशमय देव सबसे पहले मुक्त करता है ॥३॥

ग्राम्य पशु जो वास्तवमें विविध रंगरूपवाले होते हुए भी एक रुपवाले जैसे होते है, उनको भी सब प्रजाओंके साथ रहनेवाला प्राणोंका प्राणदेव मुक्त करता है ॥४॥

जो ज्ञानी लोग सब शरीरमें संचार करनेवाले प्राणकी सब अंगों और अवयवोंसे इकठ्ठा करके अपने अधिकारमें लाते हैं, वे शरीरसे सुदृढ होते हुए दिव्य मार्गसे सीधे स्वगको जाते है और प्रकाशका स्थान प्राप्त करते है ॥५॥

प्राणका आयाम ।

शरीरमें प्राण एक अद्भुत शक्ति है । वास्तवमें यह एकही प्राण शरीरके विभिन्न अवयवों और अंगोंमें कार्य करनेके कारण अनेक प्रकारका माना जाता है और इसी एकको अनेक नाम भी दिए जाते है । ईश्वरी नियमसे एक प्राण अनेक अवयवोंमें जाता है और वहांसे स्वेच्छासे निवृत्त होता है । यदि इस प्राणर मनुष्यकी इच्छाका स्वामित्व होगा अर्थात् होगा मनुष्यकी इच्छाके अनुसार प्राणका अंगो और यवयवोंमे गमन होगा, और इच्छानुसार इसकी शरीरमें स्थिति हो सकेगी, तो शरीरका कोई भी अवयव कभी रोगी न होगा और इच्छा मरण की सिद्धि भी प्राप्त होगी। यह सब बात प्राणपर प्रभुत्त्व, प्राप्त होनेपर ही निर्भर है । इसीलिए पञ्चम मंत्रमें कहा है -

प्रजानन्तः पूर्वे पर्याचरन्तं प्राणं अङ्गेभ्यः प्रतिगृह्णन्तु । (मं. ५)

"जाननेवाले बडे लोग संचार करनेवाले प्राणको सब अंगोंसे इकठ्ठा करके अपने स्वाधीन कर लेवें ।" इस मंत्रमें इस कर्मके अधकारी कौन है यह भी कहा है, प्राणका कार्य बताया है और प्राणको स्वाधीन करनेका भी उपदेश दिया है, इसका अनुसंधान देखिए -

१ प्र- जानन्तः पूर्वे - (प्र - जानन्तः) विशेष जाननेवाले अर्थात् शरीर शास्त्र और योगशास्त्रके विशेष ज्ञाता। प्राणायामके शास्त्रको उत्तम प्रकारसे जाननेवाले योगी (पूर्वे) पहले, अर्थात् नवीन सीखनेवाले नहीं, जो पुराने अनुभवी हैं। वे लोग अपने अंगों और अवयवोंसे प्राणको इकट्ठा करके अपने आधीन करें।

२ पर्याचरन्तं प्राणं - (परि+आचरन्) चारों और संचार करनेवाले प्राणको स्वाधीन करें। प्राण संपूर्ण शरीरमें संचार कर रहा है, स्वेच्छासे संचार कर रहा है, उसको अपनी इच्छासे कार्य करनेमें लगावें। प्राणका संचार जहां योग्य रीतिसे नहीं होता है वहां रोग होते हैं, इसलिए प्राणको अपनी इच्छासे प्रेरित करनेकी शक्ति प्राप्त होगई तो सब शरीर नीरोगी रखना और दीर्घ आयु प्राप्त करना भी संभवनीय है।

३ अङ्गेभ्यः प्राणं प्रतिगृह्णन्तु - शरीरके अंगो और अवयवोंसे प्राणको इकट्ठा करना और अपनी इच्छानुसार उसे शरीरमें प्रेरित करना यहां सूचित किया है।

योग शास्त्रमें प्राणायाम विधि कही है। इसके अनुष्ठान से यह सिद्धि प्राप्त हो सकती है। जो पाठक इस विषयमें अधिक परिश्रम करना चाहते हैं, वे अच्छे योगीके पास रहकर ब्रह्मचर्य आदि सुनियमोंका अनुष्ठान करके अपनी इष्ट सिद्धि प्राप्त कर सकते हैं। अपने शरीरके सब अंगो और अवयवोंसे प्राणको इकट्ठा करना और पुनः प्रत्येक अवयवमें उसको भेजना यह सब क्रिया अपने आधीन होनी चाहिए, इससे कौनसी सिद्धि हो सकती है इसका वर्णन इसी मंत्रमें देखिए -

शरीरैः प्रतितिष्ठ। (मं. ५)

"अपने शरीरोंके साथ स्थिर हो" यह पहिली सिद्धि है। स्थूल सूक्ष्म और कारण ये तीन शरीर हैं, इसी प्रकार सात शरीर भी गिने जा सकते हैं, अंगो और अवयवोंकी गिनती करनेसे बहुत सूक्ष्म विचारमें जाना पडेगा, इसलिये वह विचार हम छोड देते हैं। इन शरीरोंके साथ मनुष्य सदृढ और सुप्रतिष्ठित हो सकता है। जो पूर्वोक्त साधन करेगा और प्राणको अपने आधीन बनायेगा, वह शरीरसे नीरोग, सुदृढ तथा दीर्घायु हो सकता है। यह तो प्रत्यक्ष लाभ हुआ, परंतु प्राणायाम साधन करनेसे अप्रत्यक्ष भी बहुत से लाभ होते हैं। इस अप्रत्यक्ष लाभ के विषयमें यही मंत्र इस प्रकार कहता है -

दिवं गच्छ। देवयानैः पथिभिः स्वर्गे याहि। (मं. ५)

"प्रकाशमय स्थान प्राप्त कर। देवोंके मार्गसे स्वर्गमें जा" यह है अन्तिम सिद्धि, जो इस प्रकाशसे मार्गसे और प्राणके वशीकरणसे प्राप्त हो सकती है। योग साधनके द्वारा प्राप्त होनेवाली यह अन्तिम सिद्धि है, जो प्रायः सब धर्म ग्रंथोंमें वर्णित हो चुकी है।

पशुपति रूद्र।

पूर्वोक्त पंचम मंत्रमें प्राण का वर्णन किया है, उसके वशीकरणसे लाभ बताये और उसकी विधि भी कही है। इसी प्राणको वेदमें "रूद्र, पशुपति" आदि नाम आये हैं। प्राण शब्द परमात्माका वाचक हो, या शरीरस्थ प्राणका वाचक हों, दोनों अवस्थामें ये शब्द उसके वाचक होते है। यजुर्वेदके रूद्राध्यायमें ये रूद्रके वाचक कहे हैं और प्राण रूद्र है, यह बात शतपथादि ब्राह्मणोंमें अनेक वार कही जा चुकी है। इसलिये पशुपति शब्द रुद्र और प्राण एकही अर्थमें प्रयुक्त होनेमें किसीको संदेह नहीं हो सकता।

शरीरमें "पशुभाव" है, स्थूलशरीरमें पाशवी बल रहता है, इंद्रियोंमें भोगेच्छा, काम, क्रोध आदि पशुभाव हैं, मनमें कुवासना आदि पशुभाव हैं, इस प्रकार स्थूल सूक्ष्म कारण शरीरोंके क्षेत्रोंमें बहुतसे पशु विद्यमान हैं, उनको वशमें रखनेवाला, उनका स्वामी यह प्राणही हैं। प्राणके वशमें होनेसे ये सब पशु वशमें हो जाते हैं और कोई कष्ट नहीं देते। पशुपति होना यह भी एक बडी भारी सिद्धि है, जो प्राणको वश करनेसे प्राप्त हो सकती है। प्राणका वर्णन अन्यत्र इसी प्रकार हुआ है-

प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे।
यो भूतः सर्वस्येश्वरो यस्मिन्त्सर्वं प्रतिष्ठितम्। अथर्व. ११। (६)। ४।१

"प्राणके लिये प्रणाम है जिसके वशमें यह सब है, जो सबका स्वामी है और जिसमें सब ठहरा है।" यह प्राणका वर्णन देखिये और इस सूक्तका प्रथम मंत्र देखिये - "द्विपाद और चतुष्पाद पशुओंका जो पशुपति स्वामी है वह अपना बननेके पश्चात् वह पूज्य स्थानमें जाता है और धन तथा पुष्टियां उपासकको मिलती है॥" (मं.१)

द्विपाद और चतुष्पादोंके शरीरोंको चलानेवाला प्राणही है, इसके होनेसे सब इंद्रिय कार्य करते हैं और इसके चले जानेसे यह शरीर मुर्दा हो जाता है, इसलिए द्विपाद चतुष्पादोंका स्वामी प्राण है । यह प्राण (निः-क्रीतः) पूर्ण रीतिसे खरीदा जाय, तभी वह आधीन हो जाता है । कोई पदार्थ खरीदा जाने परही अपने स्वामीत्व में आ जाता है । यह प्राण किसी रीतिसे खरीदा जा सकता है, इसका विचार करना चाहिए ।

द्रव्य देकर अन्य पदार्थ खरीदे जाते हैं, वैसा यह प्राण धनसे खरीदा नहीं जा सकता । इसको योगानुष्ठानरूपी तपके द्वारा खरीदनेकी आवश्यकता है । वैराग्य और अभ्यास द्वारा यह खरीदा जाता है अर्थात् यह पूर्ण स्वाधीन हो जाता है । स्वाधीन होनेके पश्चात् "यह (यज्ञियं भागं) पूजाके स्थानमें प्राप्त होता है, "यज्ञ स्थलमें यह प्राप्त होता है, योगी जन इसकी प्राणयाम द्वारा उपासना करते हैं, जिससे -

रायस्पोषाः यजमानं सचन्ताम् । (मं. १)

"शोभा और पुष्टियां यजमानको मिलती है ।" मंत्रमें 'राय' शब्द है जो धन,शोभा' आदिका वाचक है। योगमार्गसे प्राणकी उपासना करनेसे यह प्रत्यक्ष फल प्राप्त होता है । इसके साथ "शरीर - प्रतिष्ठा" अर्थात् शरीर स्वास्थ्य रूप फल जो कि मंत्र ५ में कहा है, वह भी यहां देखने योग्य है, क्योंकि "शरीरकी प्रतिष्ठा" भी शरीरकी शोभा और पुष्टि होने से ही हो सकती है ।

बीजशक्ति ।

इस प्राणके अनुष्ठानसे और एक महत्त्व पूर्ण शक्ति प्राप्त होती है, उसका वर्णन द्वितीय मंत्र द्वारा हुआ है -

भुवनस्य रेतः प्रमुञ्चन्तः देवाः गातुं धत्त । (मं. २)

"त्रिभुवनका बीज फैलानेवाले देव इसको योग्य मार्ग देते हैं ।" त्रिभुवनके अंदर अनंत पदार्थ हैं और उन पदार्थोंके अनंत सूक्ष्म बीज हैं, यही त्रिभुवनका 'रेत' अथवा वीर्य है । यह वीर्य सूर्यादि देवोंके पास है। यह बीज शक्ति इन देवोंसे इस पुरुषको प्राप्त होती है जो प्राणको पूर्वोक्त प्रकार वश करता है। ब्रह्मचर्य प्रतिष्ठासे जो वीर्य लाभ होनेका वर्णन योगसूत्रोंमें है वह वीर्य यही है । पाठक विचार करके देखेंगे तो उनको पता लग जायगा कि बीजमें केन्द्रीभूत शक्ति होती है और वह बडी भारी शक्ति है, उसका विस्तार अपरिमित हो सकता है ।.यह बीजशक्ति यदि अपने अंदर आगई, बढी या वृद्धिंगत हुई, तो अपनी शक्ति बहुत ही बढ सकती है । योगीके अंदर जो विलक्षण शक्ति आती है उसका कारण यही है कि, वह सूर्यादि देवोंसे बीजशक्ति प्राप्त करता है और उसका उपयोग करता है।

योगीका अन्न ।

द्वितीय मंत्रके उत्तरार्धमें योगीके सेवन करने योग्य सात्विक अन्नका वर्णन हुआ है -

यत् शशमानं उपाकृतं देवानां प्रियं पायः अस्थात्
तत् अपि एतु ।।(मं.२)

"जो वनस्पति संबंधी उत्तम संस्कार किया हुआ देवोंको प्रिय अन्न होता है यह अन्न हमें प्राप्त हो ।" इसमें दिव्य अन्नका थोडासा वर्णन है। अन्न नरम अर्थात् सुपच हो, हाजमा बिगाडनेवाला न हो। "शशमान" शब्द चन्द्र या सोम औषधि का वाचक है । यह देवोंका अन्न है । सोम वनस्पतिका रस ही है । इस रसमें गौका ताजा दुध मिलाया जाता है और सत्तू भी मिला होता है । यह रस पुष्टि कान्ति और बल बढानेवाला है । अन्न (देवानां प्रियं) देवताओंके लिए प्रिय हो, देव शब्दका अर्थ इन्द्रिय भी है । यह अर्थ लेनेसे अन्न ऐसा हो कि जो इंद्रियोंका हित करनेवाला, अर्थात् इन्द्रियोंके लिए हितकारी हो, यह अर्थ इसी वाक्यसे मिलता है । कोई पदार्थ ऐसा नहीं लेना चाहिए कि जो शरीरकी हानि करनेवाला हो और इन्द्रियोंका निर्बल करनेवाला हो । इस मंत्रका "पाथः" शब्द भी पीने योग्य अन्नका बोध करता है । यह सब वनस्पतिजन्य रसरूप बलवर्धक और पुष्टिकारक अन्नका बोध करनेवाला वर्णन है । दूध के साथ सोमरस या अन्न, अथवा औषधिरस आदि सेवन करना योग्य है । सोमरस पानेकी विधि यज्ञप्रकरणमें प्रसिद्ध है ।

मुक्तिका मार्ग ।

तृतीय मंत्रमें मुक्तिका सीधा मार्ग बताया है, जो हरएक को मनमें धारण करना चाहिए -

ये दीध्यानाः मनसा चक्षुषा च वध्यमानं अनु अन्वैक्षन्त । (मं.३)

"जो तेजस्वी लोग बद्ध हुए को मनसे और आंखसे अनुकम्पाकी दृष्टिसे देखते हैं," वे मुक्तिके अधिकारी है । वेही बंधनसे छूट सकते है और कैवल्य धाम में पहुंच कर विराजमान हो सकते हैं ।

स्वयं (दीध्यानाः) तेजस्वी होते हुए, पूर्वोक्त तपोनुष्ठानसे अपना तेज जिन महात्माओंने बढाया है, उनको चाहिए, कि वे अपने (मनसा) मनसे, अपने अन्तःकरण के गहरे भावसे तथा अपने (चक्षुषा) आंखसे बंधनमें फंसें, गुलामीमें सडनेवाले, परतंत्र जीवोंपर दयाकी दृष्टीसे देखे अर्थात् यहां केवल आंखसेही देखना नहीं है, अपितु अंतःकरणसे उनकी हीन अवस्थाको सोचना है, उस अवस्थाका दिलसे मनन करना है और उनकी सहायता करनेके लिए अपनी ओरसे जहां तक हो सकता है वहां तक यत्न भी करना है । उनकी सहायताके लिए आत्मसमर्पण करना है । जो महात्मा दीनोंके उद्धारके लिए आत्म समर्पण करते हैं वेही मुक्तिके अधिकारी हैं । परमात्माको दीनोंके अंतःकरणमें अनुभव करके उनकी सेवा करना, अथवा दीनोंके उद्धारके प्रयत्नसे परमात्माकी उपासना करना, आदि कार्य जो करते हैं वे मुक्तिके अधिकारी है । इनकी सद्गते कैसी होती है यह भी देखिये -

प्रजया संरराणः विश्वकर्मा अग्निः देवः
अग्ने तान् प्रसुमोक्तु । (मं.३)

"प्रजाके साथ रहनेवाले विश्वका कर्ता तेजस्वी देव पहले उनको मुक्त करे ।" इस मंत्रमें स्पष्ट शब्दों द्वारा कहा है कि ईश्वर प्रजाके साथ रहता है, अर्थात् प्रजाजनोंके अन्तःकरणमें रहता है । दीन प्रजाओंमें उसको जो कष्ट होते हैं, वे कष्ट दीन प्रजाकी सेवा करनेसे ही दूर होनेके कारण दीन प्रजाबी सेवा करना ही परमात्माकी भक्ति करना है । इसलिये इस मंत्रके पूर्वार्धमे कहा है कि "बद्ध स्थितिमें दीन और दुःखी बने हुए जनोंको अनुकंपा की दृष्टिसे मनसे और आंखसे देखनेवाले सबसे पहले मुक्त होते हैं ।" पाठक यहां परमात्मोपासना का सच्चा मार्ग देखे और उस मार्गसे चलकर मुक्तिके अधिकारी बनें ।

विश्वरूपमें एकरूपता ।

विश्वका रूप अनेक प्रकारका है, विविधता इस विश्वमें स्थान स्थानपर दिखाई देती है, एकसे दूसरा भिन्न और दूसरे से तीसरा भिन्न, यह भेदकी प्रतीति इस जगत्में सर्वत्र है। विचार होता है कि क्या यह भेद सदा रहना है अथवा इसका अभेद होनेकी कोई युक्ति है। चतुर्थ मंत्र कहता है कि भेदमें अभेद देखनेका अभ्यास करो, जैसा -

विश्वरूपा विरूपाः सन्तः बहुधा एकरूपाः । (मं.४)

'विश्वमें दिखाई देनेवाले रूप विविध प्रकारके रूप होनेपर भी वे बहुत प्रकारसे एकरूप ही है ।' उदाहरण प्र. म्यपशुही लिजिये - गौवे रूप रंग और आकारसे भिन्न है, यह भेद दृष्टि है । इस दृष्टिसे देखनेसे भिन्नता अनुभवमें आती है । अब यह दृष्टि छोड दें और "गौ-पन" (गोत्व) की सामान्य दृष्टिसे सब गौओंको देखिये, इस दृष्टिसे सब विविध गौवे एक गोजातिमें मिल जाती है । जाति दृष्टिसे अभिन्नता और व्यक्ति-दृष्टिसे भिन्नता का इस प्रकार अनुभव आता है । अब ग्रामीण पशुओं में गौ, बैल, घोडी, घोडा, बकरी, मेंडी, गधा, आदि अनेक पशु आते हैं, ये परस्पर भिन्न है इसमें किसी को भी शंका नही हो सकती । परंतु यह सब जाति भेदकी भिन्नता 'पशुत्व' सामान्य में अर्थात् ये सब 'पशु' है, इस दृष्टिसे देखनेसे लुप्त हो जाती है और पशुभाव में सब एक दिखाई देते हैं। पशु और मनुष्य निःसंदेह भिन्न है, परंतु प्राणी होनेके कारण दोनोंकी एकता प्राणी भावमें होती है । इसी प्रकार भिन्नता और अभिन्नता का विचार करना उचित है और किस दृष्टिसे भिन्नता अनुभवमें आती है और किस दृष्टिसे अभिन्नता दिखाई देती है, इसका निश्चय करना चाहिये। चतुर्थ मंत्र कहता है कि 'विविध रूप होनेपर भी बहुत प्रकार से एक रूपता है' और इस एकरूपताका ही विचार करना चाहिए । अपने शरीरमें ही देखिये, प्राण दस स्थानोंमें विभक्त होनेके

कारण उसको दस नाम प्राप्त होते हैं, परंतु वह दस प्रकारका नही है, विभिन्न दस कार्य करने पर भी वह सब मिलकर एकही है। विभिन्न प्राणोंमें अभिन्न प्राणके कार्यको देखना ही शास्त्रकी दृष्टि है। इसी प्रकार विभिन्न इंद्रियोंमें अभिन्न इन्द्रकी (आत्माकी) शक्ति कार्य कर रही है, यह अनुभव करना शास्त्रकी दृष्टिसे देखना होता है। इंद्रियोंकी भिन्नता बच्चा भी जान सकता है, परंतु उनमें एक आत्माकी शक्ति समान नियमसे कार्य कर रही है, यह देखना विशेष अभ्यास से ही साध्य हो सकता है। इसी प्रकार जल, अग्नि, वायु, सूर्य आदि विभिन्न तैतीस देवताओंमें एक अभिन्न आत्माकी परम शक्ति कार्य कर रही है, विविध प्रकारके विभिन्न जगत्में अभिन्न रीतिसे वह ओतप्रोत हुई है, इस दृष्टिसे जगत् की ओर देखना यह एक उच्च दृष्टिकी अवस्था है, इस उच्च दृष्टिसे जगत्की ओर देखना यह एक उच्च दृष्टिकी अवस्था है, इस उच्च दृष्टिसे देखनेवाले महात्मा मुक्तिके अधिकारी है। इस विषयमें चतुर्थ मंत्रका उत्तरार्ध देखिये -

प्रजया संरराणः प्रजापतिः वायुः देवः
तान् अग्ने प्रमुमोक्तु ॥(मं. ४)

"प्रजाके साथ रहनेवाला प्रजाका पालक प्राण देव उन महात्माओंको पहले मुक्त करे" जो विविध प्रकारके विभिन्न जगत् में अभिन्न एक शक्तिके कार्यका अनुभव करते हैं। पूर्वोक्त मुक्तिके अधिकारीका यह भी एक लक्षण है। इस रीतिसे इस सूक्तने मनुष्यकी आत्मिक उन्नतिका मार्ग क्रमशः बताया है। यदि पाठक इस दृष्टिसे इस सूक्तका विचार करेंगे तो उनको बडा बोध प्राप्त हो सकता है। सबोधत्व के लिये यहां संक्षेपसे फिर सारांश कह देते हैं -

१ ज्ञानी योगी अपने सब शरीरमें संचार करनेवाले प्राणको अपने सब अवयवों और इंद्रियोंसे इकट्ठा करके अपने आधीन करे। इससे शरीरकी दृढता होगी और प्रकाशके दिव्य मार्गसे स्वर्गकी प्राप्ति भी होगी। (मं. ५)

२ प्राण सब द्विपाद चतुष्पादोंका संचालक है, वह स्वाधीन होनेपर पुष्टी और शोभा बढाता है।(मं. १)

३ प्राणको वशमें करनेसे विश्वचालक सूर्यादि देवोंसे बडी बीर्यकी शक्ति प्राप्त होती है, इसके लिये दिव्य सुसंस्कार किया हुआ भोजन करना योग्य है। (मं. २)

४ जो अपने मनसे और आंखसे दोनोंको अनुकंपा की दृष्टिसे देखता है और उनके उद्धार करनेके लिये आत्मसमर्पण करता है, उसको विश्वकर्ता देव सबसे पहले मुक्त करता है । (मं. ३)

५ जगत् की विविधतामें जो एक शक्तिकी अभिन्न एकताका अनुभव करता है, उसको प्रजापालक देव सबसे पहले मुक्त करता है । (मं. ४)

यह सारांशसे इस सूक्तका तात्पर्य है । पाठक यदि इस दृष्टिसे इस सूक्तका विचार करेंगे तो उनको इस दिव्य मार्ग संबंधी अनेक बोध प्राप्त हो सकते हैं ।

पशु ।

पशु वाचक शब्द प्रयोग द्वारा इस सूक्तमें बडाही महत्त्व पूर्ण उपदेश दिया है । यहां पशू शब्दसे गाय, घोडे आदि पशु ऐसा अर्थ समझने की आवश्यकता नही है । क्योंकि मनुष्य भी एक पशुही है । जबतक इसके पशु भावका पूर्णतया नाश नही होता है तब तक यह पशुही रहता है। जितने प्रमाण से इसका पशु भाव दूर होगा, उतने ही प्रमाणसे इसके मनुष्यत्व का विकास होगा। मनुष्य शरीरके अंदर सब इंद्रिया पशुरूप ही है । इस शरीररूपी रथको ये इतने पशु जोते है । इन पशुओंको उन्मत्त होनेसे इसका सर्वस्व नाश हो सकता है। इसलिये इन पशुओंको स्वाधीन करनेका प्रयत्न मनुष्यको करना चाहिये मनके अंदर भी काम क्रोधादि पशुभाव है । इन सब पशुओंको सुशिक्षासे वश करना चाहिये और मनुष्यत्व (मननशीलत्व) को विकास करना चाहिये । मनुष्य बननेका प्रारंभ होनेके पश्चात् ही इस सूक्तके उपदेशका अनुष्ठान करनेका अधिकार मनुष्यको प्राप्त हो सकता है । इत्यादि विचार पाठक करें और इस सूक्तसे अधिकसे अधिक लाभ प्राप्त करनेकी पराकाष्ठा करे ।

यज्ञमें आत्मसमर्पण ।

(३५)

(ऋषिः - अंगिराः । देवता - विश्वकर्मा)

ये भक्षयन्तो न वसून्यानृधुर्यानग्नयो अन्वतप्यन्त धिष्ण्याः ।
या तेषामवया दुरिष्टिः स्विष्टिं नस्तां कृणवद्विश्वकर्मा ॥ १ ॥
यज्ञपतिमृषय एनसाहुर्निर्भक्तं प्रजा अनुतप्यमानम् ।
मथव्यान्त्स्तोकानप यान्रराध सं नष्टेभिः सृजतु विश्वकर्मा ॥ २ ॥

अर्थ - **(ये भक्षयन्तः)** जो मनुष्य अन्न सेवन करते हुए भी **(वसूनि न आनृधुः)** अच्छी बातोंकी वृध्दि नहीं करते तथा **(यान् धिष्ण्या अग्नयः)** जिनके संबधमें बुद्धिके अग्नि **(अन्वतप्यन्त)** पश्चात्ताप करते हैं, **(तेषां या अवया दुरिष्टि)** उनकी जो अवनतिकारक सदोष इष्टिकी पद्धति है, **(विश्वकर्मा तां नः सु+इष्टिं कृणवत्)** विश्वका रचयिता देव उसको हमारे लिये उत्तम इष्टि बनावे ॥१॥

(प्रजाः अनुतप्यमानं) प्रजाओं के संबधमें अनुताप करनेवाले **(यज्ञपति ऋषयः एनसा निर्भक्तं आहुः)** यज्ञके पति को ऋषि पापसे पृथक् कहते हैं । **(यान् मथव्यान् स्तोकान् अप रराध)** जिन मथने योग्य रसभागोंको समर्पित करता रहा **(विश्वकर्मा तेभिः नः सं सृजतु)** विश्व की रचना करनेवाला उनके साथ हमें संयुक्त करे ॥२॥

भावार्थ - जो अन्न खाते हुए भी श्रेष्ठ कर्तव्योंको नही करते, जिसके कारण उनकी बुद्धियोंके अंदर रहनेवाले अग्नि भी बडा पश्चाताप करते हैं, उनसे जो दोष होते हैं वे सुधर जांय और विश्वकर्ताकी कृपासे वे हमारे सत्कर्ममें संमिलित हों ॥१॥

अदान्यान्त्सोमपान्मन्यमानो यज्ञस्य विद्वान्त्समये न धीरः
यदेनश्चकृवान्बद्ध एष तं विश्वकर्मन्प्र मुञ्चा स्वस्तये ॥ ३ ॥
घोरा ऋषयो नमो अस्त्वेभ्यश्चक्षुर्यदेषां मनसश्च सत्यम् ।
बृहस्पतये महिष द्युमन्नमो विश्वकर्मन् नमस्ते पाह्य१स्मान् ॥ ४ ॥
यज्ञस्य चक्षुः प्रभृतिर्मुखं च वाचा श्रोत्रेण मनसा जुहोमि ।
इमं यज्ञं विततं विश्वकर्मणा देवा यन्तु सुमनस्यमानाः ॥ ५ ॥

अर्थ - (सोमपानं अदान्यान् मन्यमानः) सोमपान - यज्ञ करनेवालों को दान देने अयोग्य समझनेवाला **(न यज्ञस्य विद्वान्)** न तो यज्ञ का ज्ञाता होता है और **(न समये धीरः)** न समयपर धैर्य धरनेवाला होता है । **(एषः बद्धः यत् एनः चकृवान्)** यह बद्ध हुआ मनुष्य जो पाप करता है, हे **(विश्वकर्मन्)** विश्वके रचयिता ! **(तं स्वस्तये प्रमुञ्च)** उसको कल्याणके लिये खुला कर दो ॥३॥

(ऋषयः घोराः) ऋषि लोग बडे तेजस्वी होते हैं, **(एभ्यः नमः अस्तु)** इनके लिये नमस्कार होवे । **(यत् एषां चक्षुः मनः च सत्यं)** क्योंकि इनका आंख और मन सत्यभावसे पूर्ण होता है । हे **(महिष विश्वकर्मन्)** विश्वके बलवान् रचयिता ! **(बृहस्पतये द्युमत् नमः)** ज्ञान पतिके लिये व्यक्त नमस्कार हो, **(अस्मान् पाहि)** हमारी रक्षा कर, **(ते नमः)** तेरे लिये नमस्कार हो ॥४॥

(यज्ञस्य चक्षु प्रभृतिः मुखं च) जो यज्ञका आंख, भरणकर्ता और मुखके समान है उसको **(वाचा श्रोत्रेण मनसा जुहोमि)** वाणी कान और मनसे मैं अर्पण करता हूं । **(सुमनस्यमानाः देवाः)** उत्तम मनवाले देव **(विश्वकर्मणा विततं इमं यज्ञं आयन्तु)** विश्वके कर्ताद्वारा फैलाये हुए इस यज्ञके प्रति आजांय ॥५॥

भावार्थ - दुखी प्रजाजनों के संबंध में हृदयसे तपनेवाले यज्ञकर्ता पुरुषको निष्पाप समझते हैं, जो सोम का मन्थन करके याग करता है उनके साथ विश्वकर्माकी कृपासे हमारा संबंध जुड जाय ॥२॥

जो यज्ञ करनेवाले ब्राह्मणोंको दान देनेके लिए अयोग्य समझता है, न उसको यज्ञका तत्त्व समझा होता है और न वह समयपर धैर्य दिखानेमें समर्थ होता है । यह अज्ञानी मनुष्य इस बद्ध अवस्थामें जो पाप करता है, उससे विश्वकर्ता ही उसे छुडावे और उसका कल्याण करे ॥३॥

ऋषि बडे तेजस्वी और प्रभावशाली होते हैं क्योंकि उनके मनमें और आंखमें सत्य चमकता रहता है । उस ज्ञानी के लिए हम प्रणाम करते हैं, हे सर्वशक्तिमान विश्वके कर्ता! हमारी सब प्रकारसे रक्षा कर, तेरे लिए हम नमन करते हैं ॥४॥

मैं अपनी वाणी कान और मनसे यज्ञ के चक्षु पेट और मुखमें आत्मार्पण करता हूं क्योंकि विश्वकर्ताने यह यज्ञ फैलाया है, जिसमें सबे देव आकर कार्य करते हैं ॥५॥

अयाजकोंकी निन्दा ।

प्रथम और तृतीय मंत्रमें अयाजकोंकी निंदा की है । कहा है कि - "जो अन्न खाते हुएभी यज्ञ जैसे सत्कर्मोंको करनेकी रूची नहीं रखते, अन्य सत्कर्म भी नही करते, सद्भावना भी नहीं फैलाते" (मं.१) उनकी सद्गति कैसी होगी ? मनुष्यकी बुद्धिमें कई प्रकारके अग्नि है, वे सत्कर्म, सद्भावना, और सद्विचारके अभाव के कारण, इसकी बुद्धिमें वसनेके कारण पश्चाताप करते हैं । क्योंकि दुष्ट मार्गमें यह मनुष्य सदा रत होनेके कारण उन बुद्धि शक्तियोंका विकास नहीं होता । "धिषणा" शब्द बुद्धिका वाचक है उसमें रहनेवाला "धिष्ण्यः अग्निः" है। हरएक मनुष्यकी बुद्धिमें यह रहता ही है। ऐसा मनुष्य जो दुष्कर्म करता है, उससे उसको परमात्मा ही बचावे और यह

सुधरकर प्रशस्ततम यज्ञकर्ममें रत हो जावे (मं.१)। यज्ञ करनेवाले ब्राह्मण श्रेष्ठ होते हैं, इस विषयमें किसीको भी संदेह नहीं हो सकता। परंतु "जो मनुष्य ऐसे श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको भी दानके लिए पात्र नही समझता, न तो उसको यज्ञका तत्त्व और न उसको समय का महत्त्व समझा होता है। यह उसकी बद्ध स्थिति है, इस स्थितिमे जो वह कुछ कर्म करता है वह तो पापमय होनेमें संदेह ही नहीं है, परमात्माही उसे इस पापसे बचावे और सन्मार्गपर चलावे। (मं. ३)"

इस रीतिसे इन दो मंत्रोंमें अजायकोंकी निन्दा की है।

याजकोंकी प्रशंसा।

द्वितीय मंत्रमें याजकोंकी प्रशंसा की है। "जो दीन और दुःखी प्रजाकी और अनुतापकी भावनासे देखता है और उनके कल्याणका चिंतन करता है वह याजक निष्पाप है, ऐसे याजकोंके साथ परमात्माकी कृपासे हमारा स्थिर संबंध होवे।" (मं.२) यज्ञसे ही पाप दूर होता है और दूसरोंकी भलाईके लिए आत्मसमर्पण करना यज्ञ है जो पाप दूर करनेमें समर्थ है।

ऋषियोंकी प्रशंसा।

चतुर्थ मंत्रमें ऋ षियोंकी प्रशंसा इस प्रकार की है - "ऋ षि बडे तेजस्वी है और उनके मनमें तथा आंखमें सत्य रहता है, इन ऋ षियोंके लिए नमस्कार है। " (मं.४)

इस वर्णनमें (घोरा ऋ षयः) ऋ षियोंके लिए 'घोर' यह विशेषण आया है। इसका अर्थ "उच्च" श्रेष्ठ उन्नत ऐसा होता है। ऋ षि उन्नत होनेका हेतु इस मंत्रमें यह दिया है कि-"उनके मनमें और आंखमें सदा सत्य रहता है।" वे असत्य विवार कभी मनमें नही लाते और उनकी दृष्टि सत्यसे उज्ज्वल हुई होती है। यह बात तो ऋ षियोंके विषयमें हुई। परंतु यहां हमें बोध मिलता है कि जिसके मनमें और आंखमें ओतप्रोत सत्य बसेगा, वह पुरुष भी ऋषियोंके समान उच्च बनेगा, उच्च होनेका यह उपाय है। सत्यकी पालना करनेसे मनुष्य उच्च होता है।

विश्वकर्ता की पूजा।

इस सूक्तकी देवता 'विश्वकर्मा' है। विश्वका कर्ता एक प्रभु है, उसकी उपासना करना मनुष्य मात्रका कर्तव्य है। "इसी प्रभुने यज्ञरूपी प्रशस्ततम सत्कर्मका प्रारंभ किया है।" (मं.५) इस प्रभुने, आत्मसमर्पण करके संपूर्ण जीवोंकी भलाईके लिए विश्वरूपी महान् यज्ञकी रचना सबसे प्रथम की है, इसको देखकर अन्यान्य महात्माओंने भी विविध यत्न करना प्रारंभ किया। इसलिए ऐसे "विश्वकर्ताको हम नमन करते हैं, वह हम सबकी रक्षा करे।' (मं.४) इस रीतिसे उस प्रभुकी उपासना और पूजा करना मनुष्य मात्रके लिए योग्य है।

इस प्रकार यह सूक्त यज्ञमें आत्मसमर्पण करनेका उपदेश दे रहा है। यह सूक्त प्रत्येक मनुष्यको कहता है कि -

वाचा श्रोत्रेण मनसा च जुहोमि। (मं. ५)

"वाणी, कान और मनसे अर्पण करता हूं।" यज्ञमें आत्मसमर्पण करनेकी तैयारी हरएक मनुष्य करे, समर्पण करने के समय पीछे न हटे। क्योंकि इस प्रकारके समर्पणसे ही उच्च अवस्था प्राप्त होती है।

●●●

विवाहका मंगल कार्य ।

(३६)

(ऋषिः - पतिवेदनः । देवता - अग्नीषोमौ)

आ नो अग्ने सुमतिं संभलो गमेदिमां कुमारीं सह नो भगेन ।
जुष्टा वरेषु समनेषु वल्गुरोषं पत्या सौभगमस्त्वस्यै ॥१॥
सोमजुष्टं ब्रह्मजुष्टमर्यम्णा संभृतं भगम्। धातुर्देवस्य सत्येन कृणोमि पतिवेदनम्॥२॥
इयमग्ने नारी पतिं विदेष्ट सोमो हि राजा सुभगां कृणोति ।
सुवाना पुत्रान्महिषी भवाति गत्वा पतिं सुभगा वि राजतु ॥३॥
यथाखरो मघवंश्चारुरेष प्रियो मृगाणां सुषदा बभूव ।
एवा भगस्य जुष्टेयमस्तु नारी संप्रिया पत्याविराधयन्ती ॥४॥

अर्थ - हे अग्ने! **(भगेन सह)** धनके साथ **(सं भलः)** उत्तम वक्ता पति **(इमां नः नः सुमतिं कुमारी)** इस हमारी उत्तम बुद्धिवाली कुमारी कन्याको **(आ गमेत्)** प्राप्त होवे । **(अस्यै पत्या सौभगं अस्तु)** इसको पतिके साथ सौभाग्य प्राप्त होवे । क्योंकि यह कन्या **(वरेषु जुष्टा, समनेषु वल्गु)** श्रेष्ठोंमें प्रिय और उत्तम मनवालोंमें मनोरम है ॥१॥

(सोमजुष्टं) सोम द्वारा सेवित, **(ब्रह्मजुष्टं)** ब्राह्मणों द्वारा सेवित, **(अर्यम्णा संभृतं भगं)** श्रेष्ठ मनवालोंसे इकट्ठा किया हुआ धन **(धातुः देवस्य सत्येन)** धारक देवके सत्य नियमसे **(पति-वेदनं कृणोमि)** पतिकी प्राप्ति के लिये योग्य करता हूं ॥२॥

हे अग्ने ! **(इयं नारी पतिं विदेष्ट)** यह स्त्री पतिको प्राप्त करे । **(हि सोमः राजा सुभगा कृणोति)** क्योंकि सोम राजा इसको सौभाग्यवती करता है । यह **(पुत्रान् सुवाना महिषी भवाति)** पुत्रोंको उत्पन्न करती हुई घरकी रानी होवे । यह **(सुभगा पति गत्वा विराजतु)** सौभाग्यवती पतिको प्राप्त करके शोभित हो ॥३॥

हे **(मघवन्)** इन्द्र! **(यथा एव आखरः)** जैसा यह गुहाका स्थान **(मृगाणां प्रियः सुषदाः बभूव)** पशुओंके लिये प्रिय और बैठने योग्य स्थान होता है **(एवा)** ऐसे ही **(पत्या अ-विराधयन्तो)** पतिसे विरोध न करती हुई और **(भगस्य जुष्टा इयं नारी)** ऐश्वर्यसे सेवित हुई यह स्त्री पतिके लिये **(सं प्रिया)** उत्तम प्रिय **(अस्तु)** होवे ॥४॥

भावार्थ - जिसने धन प्राप्त किया है, ऐसा उत्तम विद्वान् वक्ता पति हमारी बुद्धिमती कुमारीको प्राप्त होवे । यह हमारी कन्या श्रेष्ठोंको प्रिय और उत्तम मनवालोंमें सुंदर है, इस लिए इस कन्याको इस पतिके साथ उत्तम सुख प्राप्त होवे ॥१॥

सौम्यता, ज्ञान और श्रेष्ठ मन द्वारा संगृहित और सत्यमार्गसे प्राप्त किया हुआ यह धन केवल पतिके लिये है ॥२॥

यह स्त्री पतिको प्राप्त करे, परमेश्वर इसे सुखी बनावे, यह स्त्री घरमें रानीके समान बनकर पुत्रोंको उत्पन्न करती हुई सुखी होकर शोभित होवे ॥३॥

भगस्य नावमा रोह पूर्णामनुपदस्वतीम् । तयोपप्रतारय यो वरः प्रतिकाम्यः ॥५॥
आ क्रन्दय धनपते वरमामनसं कृणु। सर्वं प्रदक्षिणं कृणु यो वरः प्रतिकाम्यः ॥६॥
इदं हिरण्यं गुल्गुल्वयमौक्षो अथो भगः ।
एते पतिभ्यस्त्वामदुः प्रतिकामाय वेत्तवे ॥ ७ ॥
आ ते नयतु सविता नयतु पतिर्यः प्रतिकाम्यः। त्वमस्यै धेह्योषधे ॥ ८ ॥

इति षष्ठोऽनुवाकः ।

(इति द्वितीयं काण्डम् ।)

अर्थ - हे स्त्री! **(पूर्णा अनुप X दस्वतीं)** पूर्ण और अटूट **(भगस्य नावं आरोह)** ऐश्वर्य की इस नौकापर चढ और **(तथा उपप्रतारथ)** उससे उसके पास तैरकर जा कि **(यः वरः प्रतिकाम्यः)** जो वर तेरी कामना के योग्य है ॥५॥

हे धनपते! **(वरं आक्रन्दय)** अपने वरं को बुला और **(आ मनसं कृणु)** अपने मनके अनुकूल वार्तालाप कर। **(सर्व प्रदक्षिणं कृणु)** सब उसके दहिनी ओर कर कि **(यः वरः प्रतिकाम्यः)** जो वर तेरी कामना के योग्य है ॥६॥

(इदं गुल्गुलु हिरण्यं) यह उत्तम सुवर्ण है, **(अयं औक्षः)** यह बल है और **(अथो भगः)** यह धन है। **(एते त्वां पतिकामाय वेत्तवे)** ये तुझे पतिकी कामना के लिये और तेरे लाभ के लिये **(पतिभ्यः अदुः)** पतिको देते हैं ॥७॥

(सविता ते आ नयतु) सविता तुझे चलावे । **(यः प्रतिकाम्यः पतिः)** जो कामना करने योग्य पति है वह **(नयतु)** तुझे ले जावे । हे औषधे! **(त्वं अस्यै धेहि)** तू इसके लिये धारण कर ॥८॥

भावार्थ - यह स्त्री पतिसे कभी विरोध न करे और ऐश्वर्यसे शोभित होती हुई सबको प्रिय होवे ॥४॥

स्त्री इस गृहस्थाश्रम रूपी पूर्ण और सुदृढ नौका पर चढे और अपने प्रिय पतिके साथ संसार का समुद्र पार करे ॥५॥

जो वर अपने मनके अनुकूल हो उस वरको बुलाकर उसके साथ अपने मनके अनुकूल वार्तालाप करके उसके साथ सन्मान पूर्वक व्यवहार करे ॥६॥

यह उत्तम सुवर्ण है, यह गाय और बैल है, और यह धन है । यह सब पतिको देते हैं इसलिये कि तुझे पति प्राप्त होवे ॥७॥.

सविता तुझे मार्ग बतावे, तेरा पति तेरी कामनाके अनुकूल चलता हुआ तुझे उत्तम मार्गसे ले चले । औषधियोंसे तुझको पुष्टि प्राप्त हो ॥८॥

वरकी योग्यता ।

विवाहका कार्य अत्यंत मंगलमय है, इसलिये उसके संबंधके जो जो कर्तव्य है, वे भी मंगल भावना से करना उचित है । विवाहके मंगल कार्यमें वर और वधु का सबसे प्रधान स्थान होता है । इसलिये इनके विषयमें इस सूक्तके आदेश प्रथम देखेंगे । वरके विषयमें इस सूक्तमें निम्नलिखित बाते कही है -

१ संभलः - (सं+भलः) उत्तम प्रकार व्याख्यान करनेवाला । (मं.१) जो किसी विषयका उत्तम प्रतिपादन करता है । विशेष विद्वान् ।

यह शब्द वरकी विद्वत्ता बता रहा है । वर विद्वान् हो, शास्त्रका ज्ञाता हो, चतुर और सन्मान्य विद्वान हो, केवल विद्वत्ता होनेसे पर्याप्त नहीं है, कुटुंब पोषणके लिये आवश्यक धन कमानेवाला भी चाहिये, इस विषयमें कहा है -

२ भगेन सह कुमारी आगमेन् - धनके साथ आकर कन्याको प्राप्त करे (मं. १) । अर्थात् पहले धन कमावे और पश्चात् कन्याको प्राप्त करे, विवाह करे । धन प्राप्त न होने की अवस्था में विवाह न करे, क्योंकि विवाह होनेके

पश्चात् कुटुंबका परिवार बढेगा, इसलिये उसके पोषण करनेकी योग्यता इसमें अवश्य होनी चाहिये ।

३ पतिः नवतु - पति अपनी धर्मपत्नीको सन्मार्गसे चलावे । धर्मनीतिके मार्गसे चलावे, परंतु साथ साथ वह (प्रति -काम्यः) पत्नीकी मन कामनाके अनुकूल भी चले । इसका तात्पर्य यह है कि पति अपनी धर्मपत्नीके साथ अल्प कारणसे कभी झगडा न करे, धर्मपत्नीपर प्रेम करे, परंतु उसको सच्चे धर्म मार्गपर चलानेका यत्न करे। (मं. ८)

इस सूक्तमें इतने आदेश पतिके लिये दिये हैं । इससे पूर्व विवाह विषयक कई सूक्त आचुके हैं, उनमें पतिके गुणधर्म और कर्म बताये हैं, उनके साथ इस सूक्तके आदेशोंका विचार करना चाहिये ।

वधूकी योग्यता ।

वधूके विषयमें बहुतसे उपदेश इससूक्तमें कहे हैं जो पारिवारिक जगत्में रहनेवालोंके अवश्य मनन करना योग्य है। देखिये -

१ कुमारी - कुमार और कुमारी ये शब्द बडे महत्त्वपूर्ण है । पूर्ण ब्रह्मचर्य स्थिर होनेका भाव सूचित करनेवाले ये शब्द है । तरूण स्त्री पुरूषोंमें जो विकारी बाव मनके अंदर उत्पन्न होता है, वह जिनके मनमें उत्पन्न नहीं हुआ, उनको "कुमार" कहते हैं । यह शब्द अखंड स्थिर ब्रह्मचर्य धारण करनेवाले का द्योतक है । जब तक मनमें कुमार भाव रहता है, तबतक वीर्यदोष उत्पन्न होता ही नहीं । इस प्रथम मंत्रमें "कुमारी" शब्द आया है, जो कन्याका बोध कराता है । कन्या ऐसी हो कि जो कुमारी हो अर्थात् पुरुष विषयक काम विकार संबंधी चंचलभाव जिसके मनमें किंचित् भी उत्पन्न न हुए हों । यहां विवाह के लिये योग्य कुमारी का वर्णन किया है । जिससे तारूण्यके कारण उत्पन्न होनेवाले दोष जिस कन्यामें उत्पन्न न हुए हो उसका बोध होता है । इससे छोटी आयुमें विवाह करने की पद्धति बताई जाती है ऐसा मानना अयुक्त है, क्योंकि इससे पूर्व बताया ही है कि 'पतिकी इच्छा करनेवाली स्त्रीका विवाह है ।" (देखो कां. २ सू. ३०) इसलिये इस सूक्तमें छोटी आयुमें विवाह करनेकी संभावना नहीं है । इस कारण यहांका "कुमारी" शब्द ऐसी कन्याका बोध कराता है कि जो प्रौढ तो हो, पतिकी इच्छा तो करती हो, परंतु मनके चंचल विकारोंसे पूर्णतया अलिप्त हो । पाठक इससे समझेंगे कि वेदकी दृष्टिसे कन्याओंकी शिक्षा कैसी होनी चाहिये और विवाहके पूर्व उनके मन कैसे पवित्र रहने चाहिये । (मं.१)

२ सुमतिः - कन्या उत्तम मतिवाली हो, उत्तम बुद्धिवाली हो । जिसके मनपर सुसंस्कार हुए हैं ऐसी पवित्र मति धारण करनेवाली कन्या हो । (मं. १)

३ सुमनेषु वरेषु जुष्टा वल्गु - उत्तम मनवाले श्रेष्ठ पुरूषोंमें सेवा करने योग्य और सुंदर कन्या हो । समताके विचार मनमें रखनेवाले, विषम भावना मनमें न रखनेवाले जो श्रेष्ठ लोग होते है' उनमें जाकर विद्याका मनन करनेवाली और अपने स्त्रीत्वके कारण मनोहर ऐसी परिशुद्ध विचारवाली कन्या हो । 'श्रेष्ठोमें जाने योग्य' (वरेषु जुष्टा) इतना कहने मात्रसे कन्याका धार्मिक दृष्टिसे पावित्र्य बोधित होता है। कन्या ऐसी हो कि जिसका आचरण काया वाचा मनसे कभी बुरा नही हुआ है। शुद्ध आचारसे संपन्न हो और साथ साथ मनोरम तथा दर्शनीय भी हो । कन्याएं ऐसी बनें, इस प्रकारकी शिक्षा उनको मिलनी चाहिये । (मं. १)

इस रीतिसे कन्याके शुद्धाचारके विषयमें वेदका आदेश है । यह हरएक वैदिक धर्मोको सदा मनमें धारण करने योग्य है । कुमार और कुमारिकाओंकी पवित्रता रखकर उनको विवाह संबंधसे जोडना वेदको अभीष्ट है। इसलिये विवाह के पूर्व कुमार और कुमारिकाओंका इस प्रकारका मेल वेदको अभीष्ट नही है कि जो अनीतिके मार्गमें उनको ले जानेकी संभावना रख सकता है । पाठक इससे सब कुछ समझ लें ।

विवाहके पश्चात् ।

विवाह होनेके पश्चात् स्त्रीपुरूषोंका परस्पर बर्ताव कैसा हो इस विषयमें इस सूक्तने अत्यंत उत्तम उपदेश दिये हैं -

भगस्य जुष्टा इयं नारी, पत्या अविराधयन्ती,
सप्रिया अस्तु ।।(मं.४)

"ऐश्वर्य को प्राप्त हुई यह स्त्री, पतिसे विरोध न करती हुई, पतिको अत्यंत प्रिय हो" विवाह होनेके पश्चात् स्त्री अधिक ऐश्वर्य में जाती है, इसलिये यह मंत्र सूचित करता है, कि विशेष भाग्य और ऐश्वर्य मे पहुंचने के कारण यह स्त्री उन्मत्त न हो, परंतु पतिके साथ प्रेमसे रहे और पतिसे कभी विरोध न करे। घमंडमें आकर पितका अपमान कभी न करे, परंतु ऐसा आचरण करे कि जिससे दोनोंका प्रेम दिन प्रतिदिन बढजाय। तथा -

सर्व प्रदक्षिणं कृणु यो वरः प्रतिकाम्यः। (मं. ६)

"जो करना है वह पतिको प्रदक्षिणा करके कर जो वर तेरी कामना रूप है।" प्रदक्षिणा करनेका आशय है सन्मान करना आदर प्रदर्शित करना, सत्कार करना। पतिका सत्कार करते हुए जो करना है करना चाहिये। पत्नी का "प्रति - काम" पति ही होता है। अपने मनके अंदर जो (काम) इच्छा होती है उसका जो बाह्य स्वरूप होता है, उसको "प्रतिष्काम" कहते हैं। अपना रूप होता है और शीशेमें जो दिखाई देता है उसको "प्रतिरूप" कहते हैं, लेखकी दूसरी प्रति करने का नाम "प्रति लेख" है। इशी प्रकार स्त्रीके मनके अंदर के कामका 'प्रति काम' पति है। पत्नी अपने पतिको अपना "प्रतिकाम" समझे और उसका सत्कार करके हरएक कर्तव्य करे। तथा -

पत्या अस्यै सौभाग्यं अस्तु। (मं.३)

"पतिसे इसको शोभा प्राप्त हो।" स्त्री की शोभा पति ही है। पतिविरहित स्त्री शोभा रहित होती है।यह भाव मनमें रखकर धर्मपत्नी मनमें समझे कि अपनी संपूर्ण शोभा पतिके कारण ही है और उस कारण मनसे पतिका सदा सत्कार करे। तथा -

पति गत्वा सुभगा विराजतु ॥

पुत्रान् सुवाना महिषी भवाति। (मं. ३)

"यह स्त्री पतिको प्राप्त करके ऐश्वर्यसे विराजती रहे और उत्तम पुत्रोंको उत्पन्न करती हुई घरकी रानी बने।" यहां पतिको प्राप्त करके पतिके साथ रहना, पतिके ऐश्वर्यसे अपने आपको ऐश्वर्यवती समझना, पुत्रोंको उत्पन्न करना और घरकी स्वामिनी बनना स्त्रीका कर्तव्य बताया है। कई शिक्षित स्त्रियां संतान उत्पन्न करनेके अपने कर्तव्यसे परावृत्त होती है। यह योग्य नहीं है। स्त्रीको शरीर रचना ही इस कर्तव्यकी सूचना देती है और वही बात इस मंत्र द्वारा बताई है। सुसंतति, सुदृढ संतान उत्पन्न करना विवाहित स्त्रीका कर्तव्य ही है। यह बात ध्यानमें रखकर उत्तम संतति निर्माण करने योग्य अपना शरीरस्वास्थ्य रखनेमें स्त्रिया प्रथमसे ही दत्तचित्त हो। जो स्त्रियां पहलेसे अपने स्वास्थ्यका विचार नहीं करती, वे आगे संतानोत्पत्ति करनेमं असमर्थ हो जाती है। इसलिये स्त्रियोंके स्वास्थ्यका विचार प्रारंभसे ही करना योग्य है।

ऐश्वर्य की नौका।

पञ्चम मन्त्रमें गृहस्थाश्रमको ऐश्वर्यकी नौका की उपमा दी है। यह उपमा बडी बोधप्रद है। देखिये -

पूर्णा अनुप - दस्वतीं भगस्य नावं आरोह।

यः प्रतिकाम्यः वरः, तथा रूप प्रतारय ॥(मं. ५)

"सब प्रकारसे परिपूर्ण और कभी न टूटनेवाली ऐश्वर्यकी नौका यह है, उसपर चढ और जो तेरा पति है उसको इस नौका के आश्रयसे परतीर पर ले जा।" यह गृहस्थाश्रम रूपी नौका है, जिसपर पति पत्नी वस्तुतः इकट्ठी ही सवार होती है, परंतु स्त्री घरकी सम्राज्ञी होनेके कारण इस स्त्री को ही नौका चलानेवाली इस मंत्रने कहा है। यह स्त्रीका बडा भारी सन्मान वेदने किया है और साथा साथ स्त्रीके हाथमें बडा भारी अधिकार भी दिया है। वास्तविक घर गृहिणी ही है, इटोंका घर घर नहीं है। इसी प्रकार स्त्रीके होनेसे ही गृहस्थाश्रम होता है और स्त्रीके न होनेसे गृहस्थाश्रम नही रहता। इसलिए गृहस्थाश्रममें स्त्रीका महत्त्व विशेष ही है। इस हेतुसे इस मंत्रमें स्त्रीके उद्देश्यसे कहा है कि इस ह्रहस्थाश्रम रूपी नौकापर स्त्री चढे और इस नौका को ऐसे ढंगसे चलावे कि यह सब नौका अपने पहुंचनेके स्थानपर सीधी पहुंचे और मार्गमें कोई कष्ट न हों। इसी प्रकार स्त्रीके अधिकार के विषयमें

निम्न लिखित मंत्र भाग देखने योग्य है -

धनपते! वरं आक्रन्दय। आमनसं कृणु। (मं. ६)

"हे गृहस्थाश्रमके संपूर्ण धनके स्वामिनि! अपने पतिको बुलाकर उसकी अपने मनके अनुकूल कर।" यह अधिकार है गृहस्थाश्रममें प्रविष्ट स्त्रीका। यह स्त्री गृहस्थाश्रमके संपूर्ण ऐश्वर्य की स्वामिनी है और यदि पति हीन मार्गपर चलने लगे, तो उसको सन्मार्गपर लानेका उसका अधिकार ही है। स्त्रियोंको यह अपना अधिकार जानना चाहिए और इस अधिकारके चलाने की योग्यता अपने अंदर लानेका प्रयत्न भी उनको करना चाहिए।

पुरूषका स्थान।

जब स्त्रीको गृहस्थाश्रम में इतना अधिकार प्राप्त हुआ है, तब पुरूषका स्थान गृहस्थाश्रममें कहां है, इसका भी विचार करना यहां प्राप्त है, देखिए यह स्थान -

यः प्रतिकाम्यः पतिः नयतु। (मं. ८)

"कामनाके अनुकूल पति है वह चलावे" अर्थात् गृहस्थाश्रम का रथ चलावे। स्त्रीको सन्मार्गपर चलावे, गृहस्थाश्रममें यदि कुछ त्रुटियां रही, तो उनको ठीक करे, गृहव्यवस्थाको दोषयुक्त रहने न दे। यह पुरूष गृहस्थाश्रममें रहता हुआ -

सविता ते आ नयतु (मं. ८)

"यह पति सूर्यके समान स्त्रीको ले आवे।" यह पति घर में सूर्यके समान है। जिस प्रकार सूर्य अपनी ग्रह मालाका संचालक है, उसी प्रकार यह गृहस्थाश्रमका सूर्यपति संपूर्ण गृहस्थाश्रमका चालक है। यह पत्नीको साथ लेकर संपूर्ण गृहस्थाश्रमको चलावे। यहां पाठक स्मरण रखें कि गृहस्थाश्रम का चलाना तो केवल पतिसे नहीं हो सकता और ना ही केवल स्त्रीसे हो सकता है, दोनोंके द्वारा वस्तुतः यह गृहस्थाश्रम चलाया जाता है। इसीलिए इस सूक्तमें स्त्रीको भी कहा है कि वह गृहस्थाश्रम चलावे और पुरूषको भी वैसाही कहा है। इसका स्पष्ट तात्पर्य यह है कि, दोनों मिलकर परस्परों के विचार से गृहस्थाश्रम चलावें। दोनोंका समान अधिकार होनेसे दोनोंको समान आज्ञा द्वारा कहा है। यह देखकर गृहस्थाश्रममें स्त्री पुरूष अपने सम अधिकारों को जानकर मिलजुलकर समानतया अपना कार्यका बोझ उठावें और आनंदसे इस संसार यात्रा को पूर्ण करें। तथा -

सोमो हि राजा सुभगां कृणोति। (मं. ३)

"सोम राजा इस स्त्री को ऐश्वर्य युक्त करता है।" यह पति घरमें राजाके समान है। पत्नीको महारानी इससे पूर्व कहा है। जब पत्नी रानी है, तब पति राजा होनेमें कोई शंका नहीं है। यह राजा रानी एक मतसे इस गृहस्थाश्रमका राज्य चलावें। परस्पर में विरोध न होने दें। एक दूसरेके सहायक बनकर उन्नति करते जांय।

इस ढंगसे वेदने पतिका स्थान गृहस्थाश्रममें निश्चित किया है। दोनोंको उचित स्थान दिया गया है। इसका विचार करके दोनों अपने स्थानके योग्य व्यवहार करके आदर्श गृहस्थी बनें।

पतिके लिए धन।

पत्नीकी ओरसे अथवा वधूके घरसे कुछ धन वरको दिया जाता है। दहेजके रूपमें यह धन वधूके घरसे वरके पास जाता है, इस विषयमें सप्तम मंत्र बडास्पष्ट है -

इदं गुल्गुलु हिरण्यं, अयं औक्षः, अथो भगः,
एते त्वा पतिभ्यः अदुः ॥(मं. ७)

"यह सुंदर सुवर्ण है, ये गौवे और बैल हैं, यह धन है, यह सब पतिको दिया है।" यहां सन्मान के लिए पति शब्दका बहुवचन हुआ हैं। विवाहके मंगल कार्यमें पतिका ही विशेष सन्मान होना उचित है। यहां स्मरण रहे कि

यद्यपि यह दहेज रुपमें घरसे पतिके घर आनी है, तथापि यह धन कुमार्गसे कमाया नही होना चाहिए । इस विषयमें द्वितीय मंत्र

सोमजुष्टं, ब्रह्मजुष्टं, अर्यम्णा संभृतं भगम् ।
धातुर्देवस्य सत्येन पतिवेदनं कृणोमि ।। (मं.२)

"सौम्यवृत्तिसे, ज्ञानसे और श्रेष्ठ मनोवृत्तिसे प्राप्त और इकठ्ठा किया हुआ धन विधाता ईश्वरकी सत्यनिष्ठासे पतिको प्राप्त होने योग्य करता हूं ।"

"सोम, ब्रह्म और अर्यमा" ये तीन शब्द क्रमशः 'सौम्य वृत्ति, विद्या, ज्ञान और श्रेष्ठ मन' के बोधक है । अर्य - मन का अर्यमन् बना है, जो श्रेष्ठ मनवालेका द्योतक है । जिसका उच्च मन है वह अर्यमा कहलाता है । ब्रह्म शब्द ज्ञान और विद्याका वाचक प्रसिद्ध है, सोम शब्द सौम्यता का केन्द्र होनेमं शंका नही है । ये तीन शब्द शांत और श्रेष्ठ विद्यासे सुसंस्कृत मनोवृत्तिके वाचक है । इस मनोवृत्तिसे कमाया हुआ, संगृहित किया हुआ और बढाया हुआ धन परमेश्वर विषयक सत्यनिष्ठाके साथ पतिको समर्पित किया जाना चाहिए । अथवा इस प्रकार प्राप्त किया हुआ धन पतिको समर्पित करना चाहिए । हीन वृत्तिसे इकठ्ठा किया हुआ धन पतिको नहीं देना चाहिए । यहां कन्या विचार करे कि जो धन पतिको दहेजके रूपमें दिया जाता है, वह किस रीतिसे कमाया हुआ है । हीन वृत्तिसे कमाया धन पतिके घरमें हीनता उत्पन्न करेगा । इसलिए सावधानीसे और विचारसे दहेजका धन पतिको देना चाहिए । जो दिया जाय वह पवित्र विचारसे कमाया हुआ हो और पवित्र विचार के साथ दिया जाय।

इस प्रकार इस विवाहके मङ्गल कार्यका विचार इस सूक्तमें दर्शाया है। इस सूक्तका विचार विवाह विषयक अन्य सूक्तोंके साथ पाठक करेंगे, तो उनको बहुत बोध प्राप्त हो सकता है और ऐसे तुलनात्मक विचारसे वैदिक विवाहकी पद्धति भी ज्ञात हो सकती है ।

।। यहां षष्ठ अनुवाक और द्वितीय काण्ड समाप्त ।।

●●●

अथर्ववेद द्वितीय काण्ड का ।

थोडासा मनन ।

गणविभाग ।

अथर्ववेदके इस द्वितीय काण्डमें ३६ सूक्त, ६ अनुवाक और २०७ मंत्र हैं । प्रथम काण्डमें ३५ सूक्त, ६ अनुवाक और १५३ मंत्र थे । अर्थात् प्रथम काण्डकी अपेक्षा इस द्वितीय काण्डमें ५४ मंत्र अधिक है । इसमें गणोंके विचारसे सूक्तोंके ऐसे विभाग होते हैं -

१ शांतिगण - इस द्वितीय काण्डमें शान्तिगणके निम्न लिखित सूक्त है, - २,५-७,११, १४ ये छः सूक्त शांति गणके हैं । इनमें ७ वाँ सूक्त भार्गवी शांति, ११ वाँ सूक्त बार्हस्पत्या महाशांति और १४ वाँ सूक्त बृहच्छान्ति के प्रकरण बता रहे हैं । अन्य सूक्त सामान्यता "महाशान्ति"का विषय बताते हैं ।

२ तक्मनाशन गण - सूक्त ८-१० ये तीन सूक्त इस गणके हैं ।

३ आयुष्यगण - सूक्त १५, , १७, २८, ३३ ये सूक्त आयुष्य गणके हैं । इनमें ३३ वाँ सूक्त आयुष्यगणका होते हुए भी "पुरूषमेध" प्रकरणें समाविष्ट है । पाठक यहां इस सूक्तका विषय देखकर पुरूषमेधके वास्तविक स्वरूपका भी विचार कर सकते है । ३३ वाँ सूक्त "यक्ष्म नाशन" अर्थात् रोगको दूर करनेका विषय बताता है । मनुष्यके संपूर्ण शरीरके अवयवों से सब प्रकारके रोग दूर करनेका विषय इस सूक्तमें है और इस कारण यह सूक्त "पुरूषमेध" प्रकरण के अन्दर आगया है । जो लोग समझते हैं कि पुरुषमेध, नरमेध आदि मेघोंमें मनुष्यादि प्राणियोंका वध होता है, वे इस सूक्तके विचारसे जान सकते हैं कि मेधमें मनुष्यादि प्राणियोंके वधकी आवश्यकता नहीं है, प्रत्युत पुरूषमेध प्रकरणमें मनुष्य के संपूर्ण रोग दूर करके उसको उत्तम आरोग्य देनेका विचार प्रमुख स्थान रखता है। यदि पाठक यह बात इस सूक्तके विचारसे जानेंगे तो उनको न केवल पुरूषमेध प्रकरण प्रत्युत गोमेध आदि प्रकरण भी इसी प्रकार गौ आदिकोंके स्वास्थ्य साधनके प्रकरण होनेके विषयमें सन्देह नहीं रहेगा । पाठक इस दृष्टिसे इस सूक्तका विचार करें ।

४ अपराजित गण - २७ वाँ सूक्त अपराजित गणका है ।

पाठक इन गणोंके इन सूक्तोंका विचार प्रथम काण्डके इन गणोंके सूक्तोंके साथ करें और एक विषयके सूक्तोंका साथ साथ विचार करके अधिकसे अधिक बोध प्राप्त करें ।

विषय - विभाग ।

द्वितीय काण्डमें प्रथम काण्डके समान ही बडे महत्त्वपूर्ण विषय हैं । इनके विभाग निम्न लिखित प्रकार हैं -

१ अध्यात्मविद्या - इस द्वितीय काण्डमें अध्यात्मविद्याके साथ संबंध रखनेवाले आठ सूक्त हैं । प्रथम सूक्त में "गुह्य अध्यात्मविद्या" का अत्यंत उत्तम वर्णन हैं । द्वितीय काण्डके प्रारंभमें ही यह अत्यंत महत्त्वपूर्ण सूक्त आया है । पढते पढते मन अध्यात्मरसमें मग्न होता है और इसके मननसे जो आनंद होता है, उसका वर्णन शब्दों द्वारा नहीं हो सकता । यदि पाठक इसको कंठ करके प्रतिदिन ईश्वर उपासनाके समय इस का मननपूर्वक पाठ करेंगे , तो पाठक भी इससे वैसाही आनंद प्राप्त कर सकते हैं । द्वितीय सूक्तमें "एक पूजनीय ईश्वर" का गुणगान है । यह विषय भी आत्माके साथ ही सम्बन्ध रखनेवाला है । १६ वे सूक्तमें "विश्वम्भरकी भक्ति" करनेकी सूचना है । इस भक्तिसे ही आध्यात्मिक उन्नति होती है । इसके अतिरिक्त क्रमशः निम्नलिखित सूक्त इस अध्यात्मप्रकरण के साथ सम्बन्ध रखते हैं ।

	सूक्त		विषय
११	वाँ सूक्त	...	आत्माके गुण,
१२	,,	...	मन का बल बढाना,
१७,१८	,,	...	आत्मसंरक्षण का बल,
३४	,,	...	मुक्तिका सीधा मार्ग,
१५	,,	...	निर्भय जीवन,
३५	,,	...	यज्ञमें आत्मसमर्पण।

ये सात सूक्त और पूर्वोक्त तीन सूक्त मिलकर दस सूक्त अध्यात्म विषयक इस द्वितीय काण्ड में आगये हैं। प्रथम काण्डकी अपेक्षा यह विषय इस काण्डमें मुख्यतया विशेष प्रतिपादन किया है। पाठक इसलिये इन दस सूक्तोंका साथ साथ मनन करें और उचित बोध प्राप्त करें। अथर्ववेदका यही मुख्य विषय है, इसलिये पाठक इस विषयकी ओर उदासीनतासे न देखें।

सू. १२ "मानसिक बल बढाना," और सू. १५ "निर्भय जीवन" ये दो सूक्त अध्यात्म विषयके अतिरिक्त स्वतंत्र महत्त्व रखते हैं और आरोग्य विषयके साथ भी संबंध रखते हैं, तथापि इनका विशेष संबंध अध्यात्मविषयके साथ होनेसे ये यहां दिये हैं।

२ आरोग्य और स्वास्थ्य - द्वितीय काण्डका तीसरा सूक्त "आरोग्य" विषय का प्रतिपादन करता है। इसके साथ -

सूक्त			
सूक्त	४	...	जङ्गिड मणि से आरोग्य,
,,	८	...	क्षेत्रियरोग दूर करना,
,,	९	...	सन्धिवात ,, ,,
,,	२५	...	पृश्निपर्णीसे आरोग्य,
,,	३३	...	यक्ष्म नाशन,
,,	३१,३२	...	रोगोत्पादक क्रिमियोंका दूर करना।

आरोग्य और स्वास्थ्य से संबंध रखनेवाले इतने सूक्त इस द्वितीय काण्डमें हैं। पाठक इन सूक्तोंका इकट्ठा विचार करेंगे, तो उनको आरोग्य और स्वास्थ्यके साथ साथ वेदकी भैषज्य विद्या का भी पता लग सकता है। चतुर्थ सूक्तमें "जङ्गिड मणि" धारणसे आरोग्य प्राप्त होनेका अद्भुत उपाय कहा है। यह अर्थव वेदकी विशेष विद्या है। जो वैद्य इस विषयकी खोज करना चाहें वे अथर्ववेदमें इसी प्रकारके कई विषय देखेंगे। कई लोग "मणि" शब्दका अर्थ बदल कर इन सूक्तोंके अन्य अर्थ करना चाहते हैं। यह प्रयत्न उनके अज्ञानका प्रकाशक है। वेदके विषयका ऐसा विपर्यास करना किसीको भी उचित नहीं है। "मणिधारण विधि" यह शास्त्रीय उपाय है इसलिये पाठक इसकी खोज प्रेमके साथ करें। विशेष कर सुविज्ञ वैद्य यदि इसकी खोज करेंगे तो चिकित्साका एक नया मार्ग निकाल सकते हैं।

३ दीर्घायुष्य प्राप्ति - पूर्वोक्त विषयके साथ ही यह विषय संबंधित है। चिकित्साका अथवा वैद्यशास्त्रका नाम "आयुर्वेद" है। इससे भी वैद्य शास्त्र का संबंध "दीर्घ आयुष्य" के साथ कितना है यह बात पाठक जान सकते हैं। इस विषयके सूक्त इस काण्डमें निम्न लिखित हैं -

सूक्त			
सूक्त	२८	...	दीर्घायुष्य,
,,	२९	...	दीर्घायु, पुष्टि और सुप्रजा।

ये दो सूक्त इस विषयमें इकट्ठे पढने योग्य हैं ।

४ पुष्टि - पूर्वोक्त २९ वे सूक्तमें पुष्टिका संबंध है । इस पुष्टिके साथ २६ वाँ "गोरस" का वर्णन करनेवाला सूक्त बडा सबंध रखता है । गोरससे ही मनुष्योंकी पुष्टि होती है ।

५ विवाह - पूर्वोक्त २९ वें सूक्तमें सुप्रजाका वर्णन है, विवाहसे ही सुप्रजा निर्माण होना संभव है । इस विवाह विषयका उपदेश देनेवाले तीन सूक्त इस काण्डमें है -

सूक्त	३०	...	पति और पत्नीका मेल,
,,	३६	...	विवाहका मंगल कार्य,
,,	१३	...	प्रथम वस्त्र परिधान ।

इनमें सू. १३ "प्रथम वस्त्र परिधान" का वर्णन करनेवाला सूक्त विवाहित स्त्री पुरुषोंका कर्तव्य बताता है । इसलिये इन तीन सूक्तोंका विचार इकठ्ठा करना योग्य है ।

६ वर्णधर्म - वर्णधर्म का वर्णन करनेवाले निम्न लिखित दो सूक्त इस काण्डमें है

सूक्त	६	...	ब्राह्मण धर्णका वर्णन
..	५	...	क्षत्रिय धर्मका वर्णन,

इसीके साथ संबंध रखनेवाले निम्नलिखित चार सूक्त है, इस कारण इनका विचार इकठ्ठा ही होना योग्य है -

सूक्त	२७	...	विजय की प्राप्ति,
..	२४	...	डाकुओंकी असफलता,
,,	१४	...	विपत्तियोंको हटाना,
,,	१०	...	दुर्गतिसे बचना ।

ये चार सूक्त क्षत्रिय धर्मके साथ संबंध रखनेवाले हैं और ब्राह्मण धर्मसे संबंध रखनेवाले सूक्त निम्नलिखित छः है-

सूक्त	७	...	शापको लौटा देना
,,	१९-२३	...	शुद्धिकी विधि

इस प्रकार इन सूक्तोंका विषयानुसार विभाग है । जो पाठक वेदका अभ्यास मननपूर्वक करनेके इच्छुक है , वे इस प्रकार सूक्तोंका विषयानुरूप विभाग देखकर एक एक विषयके सूक्त साथ साथ मनन करते जायंगे, तो वेदके मर्मको अधिक शीघ्र जाननेमें समर्थ होंगे ।

विशेष द्रष्टव्य ।

निर्भय जीवन ।

विषयके महत्त्व की दृष्टिसे इस द्वितीय काण्डमें कई ऐसे विषय हैं, कि जिनकी ओर पाठकोंका ध्यान विशेष रीतिसे खींचना अत्यंत आवश्यक है । इस प्रकारका विषय सूक्त १५ में "निर्भय जीवन" नामसे आया है, वह पाठक अवश्य वारंवार मनन पूर्वक देखें ।

भयही मृत्यु है, जिसके मनमें भय है, जो सदा डरता रहता है, उस डरपोक मनुष्यको आनंद कहांसे प्राप्त हो सकता है? अर्थात् भय और आनंद कदापि इकठ्ठे नही रह सकते । मनुष्य तो आनंद प्राप्तिके लिए यत्न करनेवाला प्राणी है, इसलिये उसके अपने अंदरकी भयकी भावना दूर करना अत्यंत आवश्यक है, अन्यथा वह आनंद का भागी कदापि नही हो सकता। इस पंद्रहवे सूक्तमें कहा है कि 'निर्भय होनेका कारण सूर्य क्षीण नहीं होता' इसका अर्थ यह है कि जो कोई निर्भय होकर अपना कर्तव्य का पालन करेगा वह भी कदापि क्षीण, अशक्त अथवा दुर्बल नही होगा इतना ही नही, प्रत्युत बढता जायगा । शरीरकी पुष्टि, मन की बलिष्ठता, आत्माकी शक्ति सब प्रकारसे निर्भयतापर अवलंबित है । निर्भयता के विना मनुष्यकी उन्नति किसी रीतिसे भी नहीं हो सकती । चार वर्णोंके कर्तव्य, चार आश्रमोंके अथवा अन्य जो भी कर्तव्य मनुष्यको करने होते हैं वे ठीक प्रकार करनेके लिए सबसे

प्रथम निर्भयता की आवश्यकता है। पाठक इस गुणका इतना महत्त्व जानकर इस गुणको अपने अंदर बढावें और अपनी उन्नतिका साधन करे।

जो पाठक निर्भयता का संबंध मानवी उन्नतिके साथ देखते अथवा अनुभव कर सकते हैं वेही इस सूक्तका गंभीर संदेश जान सकते हैं।

शुद्धि करण।

इसी प्रकार 'शुद्धिकरण विधि' का अत्यंत महत्त्व है। सूक्त १९ से २३ तक के पांच सूक्त इस एकही विषयका प्रकाश कर रहे हैं। इनमें उपदेश देनेका ढंगही और है, अन्योक्ति अलंकार की अपूर्व झलक यहां पाठक देख सकते है। वैदिक उपदेश में 'अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र और आप' ये पांच देवताएं कितना महत्त्व रखती है, इसकी साक्षी इन सूक्तोंके मननसे मिल सकती है। वेदका उपदेश जिस समय होता है उस समय सूर्य, चन्द्र आदि देव जड नहीं रहते, वे जीवित और जाग्रत रूपमें उपदेशका अमृत देते हैं।

बाह्य देवताओंके अंशावतार अपने शरीरमें कहां और कैसे हैं और उनका बाह्य जगत् से तथा अपनी उन्नतिसे क्या संबंध है, इस बातका ज्ञान जिनको हुआ है, वेही इन पांच सूक्तोंका ठीक प्रकार समझ सकते हं। अन्य लोग उतना लाभ प्राप्त नहीं कर सकते। क्योंकि वेदका ज्ञानामृत पान करनेके पूर्व उक्त बात ठीक प्रकार समझमें आना अत्यंत आवश्यक है। इन सूक्तोंके स्पष्टीकरणमें इस अपूर्व वैदिक पद्धतिको थोडासा अविष्कार किया है। जो पाठक मननपूर्वक इन सूक्तोंका अभ्यास करेंगे वे इस पद्धतिको समझ सकते हैं।

मुक्तिका सीधा मार्ग।

द्वितीय काण्डके ३४ वे सूक्तमें इस मुक्तिके सीधे और सरल मार्गका उपदेश हुआ है। मुक्तिका मार्ग बतानेवाले ग्रंथ आर्य शास्त्रों में अनंत है, परंतु जो बात अन्य ग्रंथो में कही भी नहीं कही है, वह अपूर्व बात इस सूक्तमें कही है और इस दृष्टिसे इस सूक्त का महत्त्व अत्यंत है।

'दीन और दुःखी जनोंकी सेवा करके उनसे कष्टोंको दूर करना' यह एक मात्र सच्चा मार्ग है जो सीधा मनुष्य को मुक्ति धाम तक ले जाता है। परमेश्वर जैसा ज्ञानी शूर और धनी मनुष्यों के अंतःकरणोंमें रहता है, उसी प्रकार दीन, दुःखी और अनाथ जनोंके हृदयों में भी रहता है। परंतु पूर्वोक्त तीनों लोग समर्थ होनेके कारण वे दूसरोंसे सेवा अपने अधिकारसे हीले सकते हैं। परंतु जो दीन और अनाथ रहते हैं, उनके कष्ट कौन दूर कर सकता है ? वे तो दुःखमें सडते ही रहते है। दीन जनोंको जो अपने परिवारमें देखता है, नही नही, जो दीन जनोंको अपना ही समझता है, और अपना सुख देखनेके समान भावसे जो दीनोंको सुखी करनेका विचार करता है और तदनुकूल आचरण करता है वही मुक्तिके सीधे मार्गपर है। जो दीन और दुःखी मनुष्योंको अपना कहता है, वही महात्मा है और परमात्मा वही रहता है। किसी दीन मनुष्यको दुःखी देखकर जो सुखका अनुभव कर नहीं सकता, परंतु जिसका आत्मा तडफडता रहता है वही मुक्तिका अधिकारी है। निराश्रित, दीन और दुःखी मनुष्योंकी रक्षा करनेके लिए ही श्रेष्ठ पुरूषोंने आत्मार्पण किया और उसी कारण वे पूज्य बने हैं।

इस प्रकार स्पष्ट शैब्दोंद्वारा मुक्तिका सीधा मार्ग बतानेका वेद का ही अधिकार है। पाठक यहां वेदकी अपूर्वता देखे और इस सीधे मार्गपर चलते हुए मुक्तिका परम आनंद प्राप्त करें।

ओम् शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

●●●

अथर्ववेद का सुबोध भाष्य ।

द्वितीय काण्ड की विषय सूची ।

अथर्ववेदका

॥ द्वितीय काण्ड समाप्त ॥

●●●

अथर्ववेद

का

सुबोध भाष्य

तृतीय काण्डम्

अपने राष्ट्रका विजय !

समहमेषां राष्ट्रं स्यामि समोजो वीर्यं१ बलम् ।
वृश्चामि शत्रूणां बाहूननेनं हविषाहम् ॥ २ ॥
नीचैः पद्यन्तामधरे भवन्तु ये नः सूरिं मघवानं पृतन्यान् ।
क्षिणामि ब्रह्मणामित्रानुन्नयामि स्वानहम् ॥ ३ ॥
एषामहमायुधा सं स्याम्येषां राष्ट्रं सुवीरं वर्धयामि ।
एषां क्षत्रमजरमस्तु जिष्ण्वेषां चित्तं विश्वेऽवन्तु देवाः ॥ ५ ॥

अथर्व० का० ३।१९

"मैं इन अपने लोगोंको राष्ट्रको बल, वीर्य और प्रभावसे युक्त करता हूं,तथा मै शत्रुओंके बाहुओंको इस आह्वानके साथ काटता हूं ॥२॥

हमारे शत्रु नीचे गिर जांय, जो हमारे ज्ञानियों और धनिकोंपर सेनासे हमला चढाते हैं वे नीचे गिर जांय॥३॥

मैं इनके आयुधोंको तीक्ष्ण बनाता हूं, मैं इनका राष्ट्र उत्तम वीरतासे युक्त कराके बढाता हूं, इनका क्षात्रतेज अजर् और विजयी हो, इनके चित्तको सब देव सचेत करें ॥५॥"

अथर्ववेदका स्वाध्याय ।

तृतीय काण्ड ।

इस तृतीय काण्डका प्रारंभ 'अग्नि' शब्दसे हुआ है। यह अग्नि देवता प्रकाशकी देवता है। अंधेरेका नाश करना और प्रकाशको फैलाना इस देवताका कार्य है। प्रकाश मनुष्यका सहायक और मित्र है और अंधेरा मनुष्यका घातक और शत्रु है। प्रकाशमें मनुष्य बढता है और अंधेरेमें घटता है। इसलिये प्रकाशके देवताका महत्त्व अधिक है और इसलिये इसका नाम मंगलकारक समझा जाता है। ऐसे मंगल वाचक अग्नि शब्दसे इस काण्डका प्रारंभ हुआ है।

जिस प्रकार कांडमें चार मंत्रवाले सूक्त और द्वितीय काण्डमें पांच मंत्रवाले सूक्त अधिक थे, इसी प्रकार इस तृतीय काण्डमें छः मंत्रवाले सूक्त विशेष है, देखिये -

६ मंत्रवाले १३ सूक्त है, इनकी मंत्रसंख्या ७८ है,

७ मंत्रवाले ६ सूक्त है, इनकी मंत्रसंख्या ४२ है,

८ मंत्रवाले ६ सूक्त है, इनकी मंत्रसंख्या ४८ है,

९ मंत्रवाले २ सूक्त है, इनकी मंत्रसंख्या १८ है,

१० मंत्रवाले २ सूक्त है, इनकी मंत्रसंख्या २० है,

११ मंत्रवाले १ सूक्त है, इनकी मंत्रसंख्या ११ है,

१३ मंत्रवाले 1 सूक्त है, इनकी मंत्रसंख्या 13 है,

कुल सूक्तसंख्या ३१ कुल मंत्रसंख्या २३०

प्रथम, द्वितीय और तृतीय इन तीन काण्डोंकी तुलना मंत्रसंख्याकी दृष्टिसे अब देखिये -

काण्ड	प्रपाठक	अनुवाक्	सूक्त	काण्डप्रकृति	मंत्रसंख्या
१	२	६	३५	सूक्तमें ४ मंत्र	१५३
२	२	६	३६	सूक्तमें ५ मंत्र	२०७
३	२	६	३१	सूक्तमें ६ मंत्र	२३०

सूक्तोंमें मंत्रोंकी जो संख्या होती है वह उसकी प्रकृति होती है, जैसा प्रथम काण्डके सूक्तोंकी प्रकृति 'मंत्र चार' है अर्थात् इस काण्डके सूक्तोंमें चार मंत्रवाले सूक्त अधिक है और जो अधिक मंत्रवाले सूक्त है वे भी कई सूक्तोंमें चार मंत्रवाले बनाये जा सकते है, इसी प्रकार द्वितीय कांडकी प्रकृति पांच मंत्रकी है और तृतीय काण्डकी छः मंत्रकी है, इस विषयमें अथर्व सर्वानुक्रमणिका कथन यह है -

वेनस्तदिति प्रभृतिराकाण्डपरिसमाप्तेः

पूर्वकाण्डस्य चतुर्ऋचप्रकृतिरित्येवमुत्तरोगत्तर

काण्डेषु षष्ठं यावदेकैका तावत्सूक्तेष्वृगिति विजानीयात्। (अथर्व. बृ. सर्वानु. १।१३।१)

अग्निर्नः इति.... षड्चं प्रकृतिरन्या विकृतिरिति विजानीयात्। (अथर्व. बृ. सर्वानु. २।१२।१)

'पहिले काण्डकी चार ऋचाओंकी प्रकृति, द्वितीय काण्डकी पांच ऋचाओंकी प्रकृति इस प्रकार छठे काण्डतक एक एक ऋचा सूक्तमें बढती है। तृतीय काण्डकी छः ऋचाओंकी प्रकृतिं है, अन्य विकृति है।'

यद्यपि प्रथम, द्वितीय और तृतीय काण्डकी प्रकृति क्रमशः चार, पांच और छः ऋचाओंकी है, तथापि इन काण्डोंमें कई सूक्त ऐसे हैं कि जो इस प्रकृतिसे अधिक मंत्रसंख्यावाले हैं, इसको अथर्व बृहत्सर्वानुक्रमणिकारने विकृति नाम दिया है। विकृतिका अर्थ प्रकृतिमें कुछ विशेषता (विशेष कृति) है। यह विशेषता कई प्रकारची होती है और विशेष रीतिसे मंत्रोंका निरीक्षण करनेसे इसका पता भी लग सकता है, जैसा द्वितीय काण्डके दशम सूक्तकों देखिये। द्वितीय काण्डकी प्रकृति पांच मंत्रोंके सूक्तोंकी है, परंतु इस दशम सूक्तमें आठ मंत्र है, अर्थात् यह विकृति है। यह विकृति इस कारण हुई है कि

'एवाहं त्वा०-० स्ताम् ।' यह मंत्रभाग इस सूक्तमें वारंवार आगया है । यदि यह वारंवार आया हुआ मंत्रभाग अलग किया जाय और एक मंत्रके साथ ही रखा जाय और शेष मंत्रभागोंके दो दो चरणोंके मंत्र माने जाय तो केवल पांच मंत्रोंका ही यह सूक्त हो सकता है । इसी प्रकार कई अन्य रितियां है कि जो अन्य सूक्तोंकी लग सकती है और विकृतिकी प्रकृति बनाई जा सकती है । इससे पाठक जान सकते हैं कि यह विकृति भी बुद्धिपूर्वक ही हुई है और इसके होनेसे सूक्तकी प्रकृतिमें कोई दोष नहीं आता है । इस प्रकार इस काण्डकी प्रकृतिका विचार करनेके पश्चात् अब हम तृतीय काण्डके सूक्तोंके क्रमशः ऋषि, देवता और छन्द देखते है -

सूक्त	मंत्रसंख्या	ऋषि	देवता	छंद
प्रथमोऽनुवाकः । प्रथमः प्रपाठकः ।				
१	६	अथर्वा	सेनामोहनं, बहुदैवत्यं	त्रिष्टुप, २ विराड्गर्भा भूरिक् ३, ६ अनुष्टुभ् ५ विराट्पुरउष्णिग् ।
२	६	अथर्वा	बहुदैवत्यं	त्रिष्टुप, २-४ अनुष्टुभ् ।
३	६	अथर्वा	अग्निः नानादेवता	त्रिष्टुप, ३च, भूरिक् पंक्तिः, ५-६ अनुष्टुभ् ।
४	७	अथर्वा	इंद्रः	त्रिष्टुप, १ जगती, ४, ५ भूरिक्
५	८	अथर्वा	सोमः	अनुष्टूप, १ पुरोऽनुष्टूप् त्रिष्टुप, ८ विराड्उरोबृहती ।
द्वितीयोऽनुवाकः ।				
६	८	जगद् बीजं पुरुषः	वानस्पत्याश्वत्थदेवत्यं	अनुष्टूभ् ।
७	७	भृगुः-अंगिराः	यक्ष्मनाशनं बहुदेवता	अनुष्टुभ, ६ भूरिक्
८	६	अथर्वा	मित्रः, विश्वेदेवाः	त्रिष्टुभ, २, ६ जगती, ४ च. विराड्बृहतीगर्भा, ५ अनुष्टुभ् ।
९	६	वामदेवः	द्यावापृथिवी, विश्वेदेवाः	अनुष्टुप, ४ च, निचृद बृहती, ६ भूरिक् ।
१०	१३	अथर्वा	अष्टका	अनुष्टुप, ४,६,१२ त्रिष्टुप, ७ त्र्य. ष. विराड्गर्भातिजगती ।
तृतीयोऽनुवाकः ।				
११	८	ब्रह्मा-भृगु-अंगिराः	इन्द्रः, अग्निः, आयुष्यं, यक्ष्मनाशनं	त्रिष्टुप, ४ शक्वरीगर्भा जगती, ८ त्र्यं. प. बृहतीगर्भा जगती, ५-६ अनुष्टूप, ८ उष्णिग्बृहतीगर्भा पथ्यापंक्तिः ।
१२	९	ब्रह्मा	वास्तोष्पतिः, शाला	त्रिष्टुप, ३ बृहती, ६ शक्वरी गर्भा जगती, ७, आर्षीअनुष्टुपः ८ भूरिक् ९ अनुष्टुप्
१३	७	भृगुः	वरुणः, सिन्धुः	अनुष्टूप, १ निचृत्, ५ विराड्-जगती, ६ निचृदनुष्टुप्

सूक्त	मंत्रसंख्या	ऋषि	देवता	छंद
१४	६	ब्रह्मा	नानादेवताः गोष्ठदेवता	अनुष्टुप्, ६ आर्षीत्रिष्टुप्
१५	८	अथर्वा(पण्यकामः)	विश्वेदेवाः इन्द्राग्नी	त्रिष्टुप्,१, भुरिक्, ४ त्र्यं. ष. बृहतीगर्भा विराडत्यष्टिः, ५ विराड्जगती, ७ अनुष्टुप, ८ निचृत् ।
चतुर्थोऽनुवाकः । द्वितीयः प्रपाठक : ।				
१६	७	अथर्वा	बृहस्पतिः बहुदेवत्यं	त्रिष्टुप्, १ आर्षी जगती, ४ भूरिक्पंक्तिः ।
१७	९	विश्वामित्रः	सीता	अनुष्टूप्, १ आर्षी गायत्री, २,५ ९ त्रिष्टुभः, ३ पथ्यापंक्ति, ७ विराट्पुरउष्णिक् ८ निचृत्
१८	६	अथर्वा	वनस्पतिः	अनुष्टुप्, ४ अनुष्टुब्गर्भा चतु. उष्णिक्, ६ उष्णिगर्भा पथ्या पंक्तिः ।
१९	८	वसिष्ठः	विश्वदेवाः, चंद्रमाः, इन्द्रः	अनुष्टुप्, १ पथ्याबृहती, ३ भूरिग्बृहती, ६, त्र्य. ष. त्रि. क. गर्भातिजगती, ७ विराडस्तारपंक्तिः, ८ पथ्यापंक्तिः ।
२०	१०	वसिष्ठः	अग्निः मंत्रोक्तदेवताः	अनुष्टूप्, ६ पथ्यापंक्तिः, ८ विराड्जगती ।
पञ्चमोऽनुवाकः ।				
२१	१०	वसिष्ठः	अग्निः	त्रिष्टुप्, १ पुरोनुष्टूप्, २,३,८ भूरिक्, ५ जगती, ६ उपरिष्टाद्विराड्बृहती, ७ विराड्गर्भाः ९ निचृदनुष्टुप्ः १० अनुष्टुप् ।
२२	६	वसिष्ठः	बृहस्पतिः, विश्वदेवाः	अनुष्टुप् । १ विराट्त्रिष्टुप्, ३ पंचपदा परानुष्टुविराडतिजगती, ४ व्यवसानाषट्पदाजगती
२३	६	ब्रह्मा	चन्द्रमाः, योनिः	अनुष्टुप्, ५ उपरिष्टाद्भुरिबृहती, ६ स्कंधोग्रीवीबृहती ।
२४	७	भृगुः	वनस्पतिः प्रजापतिः	अनुष्टुप्, ५ निचृत्पथ्यापंक्तिः ।
२५	६	भृगुः(जायाकामः)	मित्रावरुणो कामेषुदेवता	अनुष्टुप्
२६	६	अथर्वा	रुद्रःअग्न्यादिबहुदेवत्यं	त्रिष्टुप, २ त्रिष्टुप्, २,५,६ जगती, ३,४ भूरिक्
२७	६	अथर्वा	रुद्रः	अष्टिः, २ अत्यष्टिः, ५ भूरिक् ।

षष्ठोऽनुवाकः।

२८	६	ब्रह्मा	यामिनी	अनुष्टुप्, १ अतिशक्वरीगर्भा च. अ. जगती, ४ यवमध्या विराट् ककुपः, ५ त्रिष्टुप्, ६ विराड्-गर्भा प्रस्तारपंक्तिः।
२९	८	उद्दालक,	शितिपादविः ७ कामः, ८ भूमिः	अनुष्टुप्, १, ३ पथ्यापंक्तिः, ७ त्र्य, ष. उपरिष्टाद्दैवीबृहती ककु. ग. विराड्जगती, ८ अपरिष्टाद्बृहती।
३०	७	अथर्वा	चन्द्रमाः सोमनस्यं	अनुष्टुप्, ५ विराड्जगती, ६ प्रस्तारपंक्तिः, ७ त्रिष्टुप्।
३१	११	ब्रह्मा	पाप्म-हा	अनुष्टुप्, ४ भुरिक्, ५ विराट् प्रस्तारपंक्तिः।

तृतीय काण्डके सूक्तोंके ये ऋषि देवता और छन्द है। अब इनका विभाग ऋषिक्रमानुसार देखिये -

१ अथर्वा - १-५,८,१०,१५,१६,१८,२६, २७,३० ये तेरह सूक्त।

२ ब्रह्मा - ११,१२,१४,२३,२८,३१ ये छः सूक्त।

३ वसिष्ठः- १९,२०,२१,२२ ये चार सूक्त

४ भृगुः- १३,२४,२५ ये तीन सूक्त।

भृगु-अंगिराः- ७,११ ये दो सूक्त।

५ जगद्बीजं पुरुषः- ६ वाँ एक सूक्त।

६ वामदेवः- ९ वाँ एक सूक्त।

७ विश्वामित्रः- १७ वाँ एक सूक्तः।

८ उद्दालकः- २९ वाँ एक सूक्त।

ये ऋषिक्रमानुसार सूक्त हैं। अब देवताक्रमानुसार सूक्त देखिये -

१ बहुदैवत्यं नाना देवताः - १,२,३,७,१४,१६,२६,२७ ये आठ सूक्त।

२ विश्वदेवा - ८,९,१५,१९, २२ ये पाँच सुक्त।

३ अग्निः - ३,११,२०,२१, ये चार सूक्त।

४ इन्द्रः - ४,११,१९ ये तीन सूक्त।

५ चन्द्रमाः- १९,२३,३० ये तीन सूक्त।

६ बृहस्पतिः - १६,२२ ये दो सूक्त।

७ रुद्रः -२६,२७ ये दो सूक्त।

८ वनस्पतिः - १८, २४ ये दो सूक्त।

९ यक्ष्म नाशनं - ७,११ ये दो सूक्त।

१० सेना मोहनं - १, २ ये दो सूक्त।

११ इन्द्राग्नी - १५ यह एक सूक्त।

१२ सोमः - ५ यह एक सूक्त।

१३ वनस्पत्यःश्वत्थः - ६ यह एक सूक्त।

१४ मित्रः - ८ यह एक सूक्त।

१५ द्यावापृथिवी - ९ यह एक सूक्त।

१६ वरुणः - १३ यह एक सूक्त।

१७ प्रजापतिः - २४ यह एक सूक्त।

१८ मित्रावरुमौ - २५ यह एक सूक्त।

१९ भूमिः - २९ यह एक सूक्त।

२० अष्टका - १० यह एक सूक्त।

२१ सिंधुः - १३ यह एक सूक्त।

२२ आयुष्यं - ११ यह एक सूक्त।

२३ वास्तोष्पतिः - १२ यह एक सूक्त।

२४ शाला - १२ यह एक सूक्त।

२५ गोष्ठः - १४ यह एक सूक्त।

२६ **सीता** - १७ यह एक सूक्त ।

२७ **योनि** - २३ यह एक सूक्त ।

२८ **कामेषुः**-२५ यह एक सूक्त ।

२९ **यामिनी** - २८ यह एक सूक्त ।

३० **कामः** - २९ यह एक सूक्त ।

३१ **सांमनस्यं** - ३० यह एक सूक्त ।

३२ **पाप्म-हा** - ३१ यह एक सूक्त ।

३३ **शितिपादविः** - ३१ यह एक सूक्त ।

३४ **मंत्रोक्ताः** - २० यह एक सूक्त ।

इस प्रकार इन सूक्तोंके मंत्रोकी देवताएं है । इनसे और भी देवताएं है जिनका संबंध पाठक विवरणके समय स्वयं समझ जायेंगे । अब इन सूक्तोंके गणोंका विचार देखिये -

सूक्तोंके गण ।

इस तृतीय काण्डके सूक्तोंके गण इस प्रकार लिखे है -

१ **अपराजितगण** - १९ वाँ सूक्त -

२ **तक्मनाशनगण** - ७,११ ये दो सूक्त ।

३ **वर्चस्यगण** - १६,२२ ये दो सूक्त ।

४ **आयुष्यगण** - ८,११ ये दो सूक्त ।

५ **रौद्रगण** - २६, २७ ये दो सूक्त ।

६ **अंहोलिंगगण** - ११ वाँ एक सूक्त ।

७ **पाप्म-हा-गण** - ३१ वाँ एक सूक्त ।

८ **बृहच्छान्तिगण** - २१ वाँ एक सूक्त ।

इस प्रकार ये सूक्त इन गणोंके साथ संबंध रखते है। इस काण्डके अन्य सूक्तोंद्वारा कुछ शांतियां सूचित होती है उनके नाम ये है -

१ आंगिरसी महाशान्ति - ५,६ ये दो सूक्त ।

२ कौमारी महाशान्ति - ७ वाँ एक सूक्त ।

३ ब्राह्मी महाशान्ति - २२ वाँ एक सूक्त ।

इन सूक्तोंका संबंध इन शान्तियोंके साथ हैं। इसलिये अध्ययन करनेके समय पाठक इस बातका विचार करें। खोज करनेवालोंको उचित है कि वे इस शांति प्रकरणकी खोज करे अर्थात् इन शांतियोंका तात्पर्य क्या है और इनकी विधी भी कैसी होती है इत्यादि खोजका विषय है । संभव है कि इस खोजसे अपूर्व ज्ञान प्राप्त होगा । इस काण्डमें शत्रुसेनाके संमोहनका विषय पहले दो सूक्तोंमें आया है और सांमनस्य अर्थात् एकताका विषय तीसवें सूक्तमें आया है -

शत्रुसेनासंमोहनं - १,२ ये दो सूक्त ।

सांमनस्यं - ३० वाँ एक सूक्त ।

ये सूक्त विशेष विचारपूर्वक इस दृष्टिसे पढने योग्य है । इसके अतिरिक्त इस तृतीय काण्डका १५ वा 'इन्द्र महोत्सव' के विषयका सूक्त है, ऐसा कौशीतकी सूत्रमें कहा है । इसलिये इस इन्द्र महोत्सवके विषयमें भी विचार होना चाहिये ।

ये सब विषय बडे गंभीर हैं इसलिये आशा है कि पाठक भी इसका विचार गंभीरताके साथ करेंगे । इतनी भूमिकाके साथ अब तृतीय काण्ड शुरु किया जाता है।

• • •

अथर्ववेद का सुबोध भाष्य ।

तृतीय काण्ड ।

शत्रुसेना का संमोहन ।

(१)

(ऋषिः- अथर्वा । देवता - सेनामोहनं, बहुदैवत्यम् ।)

अग्निर्नः शत्रून्प्रत्येतु विद्वान्प्रतिदहन्नभिशस्तिमरातिम् ।
स सेनां मोहयतु परेषां निर्हस्तांश्च कृणवज्जातवेदाः ॥ १ ॥
यूयमुग्रा मरुत ईदृशे स्थाभि प्रेत मृणत सहध्वम् ।
अमीमृणन्वसवो नाथिता इमे अग्निर्ह्येषां दूतः प्रत्येतु विद्वान् ॥ २ ॥

अर्थ - **(विद्वान् अग्निः)** विद्वान् अग्निसमान तेजस्वी वीर **(अमिशस्तिं अरातिं)** घातपात करोवाले शत्रुको **(प्रति दहन्)** जलाता हुआ **(नः शत्रून् प्रत्येतु)** हमारे शत्रुओंपर चढाई करे । **(सः जातवेदाः)** वह ज्ञानी **(परेषां सेनां)** शत्रुओंको सेनाको **(मोहयतु)** मोहित करे **(च निर्हस्तान् कृणवत्)** और उनको हस्तरहित करे ॥१॥

हे **(मर् - उतः)** मरनेके लिये तैयार वीरो ! **(ईदृशे यूयं उग्राः स्थ)** ऐसे समयमें तुम बडे वीर हो, इसलिये **(अभि प्र इत, मृणत, सहध्वम्)** आगे बढो, काटो और जीत लो । **(इमे नाथिताः वसवः)** ये बलवान् वसनेवाले वीर **(अमीमृणन्)** काटते रहे हैं । **(एषां दूतः विद्वान् अग्निः)** इनका दाहकर्ता ज्ञानी अग्निके समान तेजस्वी वीर **(प्रत्येतु)** विशेष चढाई करे ॥ २ ॥

भावार्थ - राजनीतिको जाननेवाले विद्वान् और तेजस्वी पुरुष घातपात करनेवाली शत्रुसेनाको जलाते हुए शत्रुओंपर चढाई करें । सेनासंमोहनकी विद्याको जाननेवाले ज्ञानी शत्रुसेनाको मोहित करें और उनको हस्तहीन जैसे बना देवें ॥१॥

हे मरनेके लिये सिद्ध हुए शूर वीरो ! ऐसे युध्द समयमें तुम बडे वीर हो, इस लिये आगे बढो, शत्रुको काटो और उनको जीत लो । ये बलवान् अपने देशनिवासी वीर शत्रुको काटते है, इनका साथी ज्ञानी तेजस्वी वीर भी शत्रुको जलाता हुआ शत्रुपर चढाई करे ॥२॥

अमित्रसेनां मघवन्नस्माञ्छत्रूयतीमभि ।
युवं तानिन्द्र वृत्रहन्नग्निश्च दहतं प्रति ॥ ३ ॥
प्रसूत इन्द्र प्रवता हरिभ्यां प्र ते वज्रः प्रमृणन्नेतु शत्रून् ।
जहि प्रतीचो अनूचः पराचो विष्वक्सत्यं कृणुहि चित्तमेषाम् ॥ ४ ॥
इन्द्र सेनां मोहयामित्राणाम् ।
अग्नेर्वातस्य ध्राज्या तान्विषूचो वि नाशय ॥ ५ ॥
इन्द्रः सेनां मोहयतु मरुतो घ्नन्त्वोजसा ।
चक्षूंष्यग्निरा दत्तां पुनरेतु पराजिता ॥ ६ ॥

अर्थ - हे **(मघवन् वृत्रहन् इन्द्र)** धनवान् शत्रुनाशक सम्राट तथा **(च अग्निः)** हे ज्ञानी ! **(युवं)** तुम दोनों मिलकर **(अस्मान् शत्रूयतीं अमित्र-सेनां)** हमारी शत्रुता करनेवाली शत्रुसेनाको **(अभि)** पराभूत करके **(तान् प्रति दहतं)** उनको जला दो ॥३॥

हे **(इन्द्र)** नरेन्द्र ! **(प्रवता के हरिभ्यां)** वेगसे तेरे हरणशील वेगी द्वारा **(प्रसूतः वज्रः)** चलाया हुआ वज्र **(शत्रून् प्रमृणन् प्र + एतु)** शत्रुओंको काटता हुआ आगे बढे। **(प्रतीचः, अनूचः, पराचः)** सन्मुख, पीछे और परे भागनेवाले शत्रुओंको **(जहि)** हनन कर दे और **(एषां चित्त)** इन शत्रुओंके चित्तको **(सत्यं विष्वक् कृणुहि)** ठीक प्रकार चारों ओर भटका दे ॥४॥

हे **(इन्द्र)** नरेश ! **(अमित्राणां सेनां मोहय)** शत्रुओंकी सेनाको घबराओ। **(अग्नेः वातस्य ध्राज्या)** अग्निके और वायुके प्रचंड वेगसे **(तान्)** उन शत्रुसैनिकोंको **(विषूचः विनाशय)** चारों ओर भटकाकर नाश कर डाल ॥५॥

(इन्द्रः सेनां मोहयतु) नरेश शत्रुसेनाको मोहित करे, **(मर् + उतः)** मरनेके लिये सिद्ध हुए वीर **(ओजसा घ्नन्तु)** वेगसे हनन करें। **(अग्निः चक्षूंषि आदत्तां)** अग्नि अर्थात् प्रकाश उनके आंखोंको ले लेवे। इस प्रकार शत्रुका **(पराजिता)** पराभूत हुई सेना **(पुनः एतु)** फिर भी पीछे हटे ॥६॥

भावार्थ - हे धनवान् शत्रुनाशक नरेश ! तथा हे तेजस्वी ज्ञानी वीर ! तुम दोनों मिलकर हमारी शत्रुता करनेवाली शत्रुसेनाको पराभूत करो और उनको जला दो ॥३॥

हे नरेश ! वेगसे चलाया हुआ तुम्हारा शस्त्रका समुदाय शत्रुओंको काटता हुआ आगे बढे। संमुखसे, पीछेसे और चारों ओरसे भागनेवाली शत्रुसेनाका हनन करके उनके चित्तमें ऐसी घबराहट उत्पन्न करो कि जिससे वे चारों दिशाओंमे भाग जाय ॥ ४॥

हे नरेश ! अग्न्यस्त्रके दाहसे और वायव्यास्त्रके वेगसे शत्रुसेनाको ऐसा घबराओ कि वे चारों दिशाओंमें भाग जांय और इस रीतिसे उनका नाश कर ॥५॥

नरेश शत्रुके सैन्यको घबरावे, शूर वीर वेगसे शत्रूसेनाका हनन करें और शत्रुसेनाकी ऐसी घबराहट करें कि जिससे उनको कुछ भी न दीख पडे और इस प्रकार शत्रुका पूर्ण पराजय होकर उनका पूर्ण नाश हो जावे ॥६॥

इसी विषयका द्वितीय सूक्त है इसलिये उस सूक्तका भी अर्थ हम यहां पहले देखते हैं, और पश्चात् दोनों सूक्तोंका मिलकर विचार करेगें। द्वितीय सूक्त यह है।

(२)

(ऋषिः अथर्वा । देवता - सेनामोहन, बहुदैवत्यम् ।)

अग्निर्नो दूतः प्रत्येतु विद्वान्प्रतिदहन्नभिशस्तिमरातिम् ।
स चित्तानि मोहयतु परेषां निर्हस्तांश्च कृणवज्जातवेदाः ॥ १ ॥
अयमग्निरमूमुहद्यानि चित्तानि वो हृदि ।
वि वो धमत्वोकसः प्र वो धमतु सर्वतः ॥ २ ॥
इन्द्र चित्तानि मोहयन्नर्वाङाकूत्या चर ।
अग्नेर्वातस्य ध्राज्या तान्विषूचो वि नाशय ॥ ३ ॥
व्याकूतय एषामिताथो चित्तानि मुह्यत ।
अथो यदद्यैषां हृदि तदेषां परि निर्जहि ॥ ४ ॥

अर्थ - (**नः दूतः विद्वान् अग्निः**) हमारा दूत ज्ञानी तेजस्वी ज्ञानी तेजस्वी वीर (**अभिशस्तिं अरातिं प्रतिदहन्**) घातपात करनेवाले शत्रुको जलाता हुआ (**प्रत्येतु**) चढाई करे । (**सः जातवेदाः परेषां चित्तानि मोहयतु**) वह ज्ञानी शत्रुओंके चित्तोंको मोहित करे और उनको (**निर्हस्तान् च कृणवत्**) हस्तहीन जैसे करे ॥१॥

(**यानि वः हृदि**) जो तुम्हारे हृदयमें संबंधित है वे (**चित्तानि**) चित्त (**अयं अग्निः अमूमुहत्**) यह तेजस्वी वीर घबराहटमें डालता है । वह (**वः ओकसः विधमतु**) तुमको-शत्रुको घरसे निकाल देवे और (**वः सर्वतः प्रधमतु**) तुमको-शत्रुको सर्व प्रदेशसे हटा देवे ॥२॥

हे (**इन्द्र**) नरेश ! शत्रुके (**चित्तानि मोहयन्**) चित्तोंको मोहयुक्त करता हुआ तू (**आकूत्या अर्वाङ् चर**) शुभसंकल्पसे हमारे पास आ । (**अग्नेः वातस्य ध्राज्या**) अग्नि और वायुके वेगसे (**तान् विषूचः विनाशय**) उनको चारों ओरसे भ्रष्ट कर दे ॥३॥

हे (**एषां**) इन शत्रुओंके (**आकूतयः**) संकल्पो ! (**विश्व**) तुम परस्पर विरुद्ध हो जाओ, पश्चात् तुम (**इत**) हट जाओ (**अथो चित्तानि**) और इनके चित्तो ! (**मुह्यत**) मोहित होओ । (**अथो अद्य**) और आज (**यत् एषां हृदि**) जो इनके हृदयमें संकल्प है (**एषां यत् परि निर्जहि**) इनका वह संकल्प पूर्णतासे नाश कर ॥४॥

भावार्थ - हमारे ज्ञानी स्वयंसेवक वीर घातपात करनेवाले शत्रुसेना पर चढाई करें, शत्रुओंको घबराहटमें डाले और उनको हस्तहीन जैसे बना देवें ॥१॥

शत्रुके चित्तोंको मोहित करे, उनको घरोंसे निकाल देवे और सब देशसे उनको हटा देवे ॥२॥

हे राजन् ! तू शत्रुसेनाके चित्तोंको मोहित कर, अग्न्यस्त्र वायुव्यास्त्रके वेगसे उनको चारों दिशाओंमें भगा दे और पश्चात् विजयपूर्ण शुभ संकल्पसे हमारे पास आ ॥३॥

शत्रुओंके संकल्प आपसमें एक दूसरेके विरोधी हो, उनके दिलोंमें घबराहट पैदा हो, और उनके दिलोंमे जो संकल्प आज हों वे संकल्प कल तक भी स्थिर न रहें ॥४॥

अमीषां चित्तानि प्रतिमोहयन्ती गृहाणाङ्गान्यप्वे परेहि।
अभि प्रेहि निर्दह हृत्सु शोकैर्ग्राह्यामित्रांस्तमसा विध्य शत्रून् ॥ ५ ॥
असौ या सेना मरुतः परेषामस्मानैत्यभ्योजसा स्पर्धमाना।
तां विध्यत तमसापव्रतेन यथैषामन्यो अन्यं न जानात् ॥ ६ ॥

अर्थ - **हे (अप्वे)** व्याधि ! **(अंमीषां चित्तं प्रतिमोहयन्ती)** इनके चित्तको मोहमें डालती हुई शत्रुसेनाके **(अंगानि गृहाण)** अवयवोंको पकडे रखो और **(परा इहि)** परे तक चली जा **(अभि प्र इहि)** सब प्रकारसे आगे बढे। **(हृत्सु शोकैः निर्दह)** हृदयके शोकोंके साथ शत्रुको जला दे। तथा **(ग्राह्या तमसा)** जकडनेवाले रोगसे और मूर्च्छा रोगसे **(अमित्रान् शत्रून् विध्य)** दुष्ट शत्रुओंको त्रस्त कर दे ॥५॥

हे **(मर् + उतः)** मरनेके लिये सिद्ध वीरो ! **(परेषां असौ या सेना)** शत्रुओंकी यह जो सेना **(स्पर्धमाना अस्मान् ओजसा अभि-सा-एति)** स्पर्धा करती हुई हमपर वेगसे चढाई करके आती है, **(तां अपव्रतेन तमसा विध्यत)** उसको कर्महीन करनेवाले अंधकारसे मोहित कर डालो, **(यथा)** जिससें **(एषां अन्य अन्यं न जानात्)** इनमेंसे एक दूसरेको भी न जान सके ॥६॥

भावार्थ - व्याधियां तथा अन्य भय भी शत्रुके दिलको भयभीत कर दे, शत्रुसैनिकोंके अंगप्रत्यंग व्याधियोंसे जकड जाय, शत्रुसैन्य रोगोंसे और नाना प्रकारके भयोंसे त्रस्त हो जाय। संधीवात और मूर्च्छा रोग शत्रुको घबरा देवे ऐसे कठिन समयमें उनपर हमला कर और शत्रुके हृदयोंको शोकसे जला दे ॥५॥

हे वीर पुरुषो ! जो सेना हमारे साथ स्पर्धा करती हुई हमपर चढाई करके आ रही है उसको ऐसा मोहित करो कि वे पुरुषार्थहीन होकर मूर्च्छितसे हो जाय और अनमेंसे एक मनुष्य दुसरेको जान भी न सके ॥६॥

सेनाका संमोहन।

ये दो सूक्त शत्रुसेनाके संमोहनका विषय बता रहे हैं। जो शत्रुकी सेना मारती और काटती हुई अपने राष्ट्रपर अथवा अपने सैनिकोंपर चढाई करके आ रही है, वह मोहित करके, घबराकसर पराभूत करनी चाहिये और उसको भगा देना चाहिये। इसका नाम है 'सेना संमोहन'।

कई लोग कल्पना करते है कि यह शत्रुकी सेनाका संमोहन मंत्र सामर्थ्यसे होता है, परंतु वास्तविक बात वैसी नहीं है। यह संमोहन केवल घबराहट ही है अर्थात् शत्रुसेना पर ऐसे हमले करने कि शत्रुसैनिकोंको कर्तव्यमूढ बन कर भाग जाना ही एक मार्ग जीव बचानेके लिये अवशिष्ट रहे।

ये दोनों सूक्त स्पष्ट है और इतने ही विषयका यहां अधिक विवरण करनेकी भी कोई आवश्यकता नहीं है।? तथापि इन सूक्तोंमें कई शब्दप्रयोग ऐसे किये गये है, कि जिनका विशेष स्पष्टीकरण करना अत्यंत आवश्यक है, अन्यथा संदेह उत्पन्न होना संभव है। इन सूक्तोंमें 'अग्नि, इन्द्र, मरुत्' आदि शब्द है, जिनके अर्थ देवता प्रसंगमें अग्नि, विद्युत, वायु आदि लिये जाते है, तथा अध्यात्म प्रसंगमें वाणी, मन और प्राण लिये जाते हैं, इस विषयका स्पष्टीकरण पूर्व काण्डोंमें आ चुका है। ये दोनों प्रसंग इन दोनों सुक्तोंमें नही है। इन सूक्तोंका विषय युद्ध है, शत्रुसेना मोहनका संबध है, अपनी सेनाी और शत्रुसेनाका झगडा होनेका अवसर है, इस लिये यह न अध्यात्मका विषय है और ना ही आधिदैवतका विषय है। प्राणियोंके परस्परके संबंधका वर्णन आधिभौतिक प्रकरणमें हुआ करता है। इस कारण आधिभौतिक प्रकरणको प्राणी समष्टि विषयका प्रकरण कहा जाता है और इस प्रकरणमें उक्त शब्दोंके अर्थ प्राणिविषयक होते है अर्थात् यहां मनुष्यप्राणि विषयक भाव समझना उचित है। अब उक्त शब्दोंके अर्थ देखिये -

१ इन्द्र।

(इन् + द्र) शत्रुसेनाका भेदन करनेवाला, यह इसका धात्वर्थ है परंतु मुखिया इस अर्थमें इस शब्दका प्रयोग होता है, जैसा मृगेन्द्र = मृगोंका मुखिया, सिंहः खगेन्द्र = पक्षियोंका मुखिया गरुड, नरेन्द्र = मनुष्योंमें मुख्य

राजा अथवा सम्राट इ. । इन्द्र शब्दके ये अर्थ प्रसिद्ध है, परंतु प्रायः लोग केवल 'इन्द्र' शब्दका अर्त 'राजा' करनेके समय डरते है । उनकों इन दो सूक्तोंका अच्छा मनन करना उचित है । इस मननसे उनको पता लग जायगा कि ऐसे प्रसंगोंमें मनुष्य विषयक ही इन्द्रादि शब्दोंका अर्थ लेना योग्य है । इस विषयको अच्छी प्रकार समझमें आनेके लिये इन दो सूक्तोंके कई वाक्य उदाहरणके लिये लेते है -

१ **इन्द्र ! ते प्रसूतः वज्रः शत्रून् प्रमृणन् एतु। प्रतीचः अनूचः जहि । एषां चित्तं विष्वक् कृणुहि** ॥(सू. १, मं. ४)

२ **इन्द्र ! अमित्राणां सेनां मोहय । अग्नेः वातस्य ध्राज्या विषूचः तान् विनाशय ॥** (सू. १, मं. ५)

३ **इन्द्र सेनां मोहयतु ॥** (सू. १, मं. ६)

४ **इन्द्र ! चित्तानि मोहयन् आकृत्या अर्वाङ्चर ॥** (सू. २. मं. ३)

'(१) हे राजन् ! तेरे द्वारा चलाया हुआ शस्त्र शत्रुओंको काटता हुआ आगे चले । सब ओरके शत्रुओंका हनन कर इन शत्रुओंके चित्तको चारों ओर भटकनेवाला कर ॥ (२) हे राजन् ! शत्रुकी सेनाको मोहित कर । अग्नि और वायुके प्रवाहसे शत्रुसेनाको चारों ओर भगा दे ॥(३) राजा शत्रुसेनाको घबरा देवे ॥(४) हे राजन् ! शत्रुसेनाको मोहित करके अपने शुभ संकल्पसे हमारे पास चला आ ॥'

इस प्रकारके ये मंत्र इन्द्र शब्द द्वारा राजाका कर्तव्य बता रहे है । यहां 'राजा, नरेन्द्र, सम्राट्' आदि प्रकारका ही इस शब्दका अर्थ है । यहां इन्द्र शब्द क्षात्रशिरोमणी वीर राजाका वर्णन कर रहा है, जो स्वयं युद्ध भूमिमें उपस्थित रहकर अपनी सेनाको चलाता है और केवल सेनापति पर ही निर्भर नहीं रहता है । इसी इन्द्रके अन्य पर्याय भी इन सूक्तोंमें आ गये है वे अब देखेंगे -

२ मघवन् ।

'(मघ) धन (वन्) वाला । जिसके पास धन है । जो राजा अपने पास बहुत धनसंग्रह रखता है वही युद्धमें विजय पा सकता है । युद्धमें विजय प्राप्त करनेका यह एक बडा भारी साधन है, धनहीन राजा यदि युद्धका प्रारंभ करेगा तो उसके पराभूत होनेमें कोई संदेह ही नही है । इस शब्दसे बोध होने वाला यह अर्थ पाठक देखे और राजाका बल धनकोशमें होता है यह बात जान लें।'

३ वृत्रहन् ।

'(वृत्र) घेरनेवाले शत्रुको (हन्) हनन', करनेवाला । अर्थात् जो शत्रु घेरकर हमला करता है अथवा मार्ग रोकता है उसको अपने शस्त्रोंके प्रभावसे मारता है, उसका यह नाम है।

इस प्रकार इन्द्रवाचक शब्द और उसके वर्णनपरक मंत्र वीर राजाके कर्तव्य बता रहे हैं । पाठक यह वैदिक शैली जानेंगे तो उनको बहुत मंत्रोंका गंभीर आशय इस रीतिसे स्पष्टतया ध्यानमें आ सकता है । इन्द्रके साथ 'मरुत्' रहते ही हैं, इनके विषयमें अब देखिये -

४ मरुतः ।

(मर् + उत्) मरनेके लिये जो उठकर खडे हुए हैं, मरनेके लिये जो तैयार हुए है, शत्रुका पराभव करनेके लिये अपने प्राणोंकी आहुती देनेके लिये जो कटिबद्ध हुए है, उन वीरोंका यह नाम है । इन्द्रकी सेनाके मरुत् नामक जो वीर है उनका अर्थ वर्णन भी इस अर्थकी सार्थकता बता रहा है । यह शब्द सैनिकोंका उत्साह बता रहा है । इस प्रकारके उत्साही वीर जिस सेनामें होंगे उनका विजय निःसंदेह हो सकता है । इस शब्दका प्रयोग जिन मंत्रोंमें है उनके उदाहरण यहां देखिये -

१ **हे मरुतः ! ईदृशे यूयं उग्राः स्थ । अभिप्रेत, मृणत, सहध्वम्** । (सू. १, मं. २)

२ **मरुतः ओजसा घ्नन्तु** । (सू. १, मं. ६)

३ **हे मरुतः ! या असो परेषां सेना स्पर्धमाना अस्मान् अभ्येति, तां अपव्रतेन तमसा विध्यत, यथा एषां अन्यः अन्यं न जानात् ॥** (सू. २, मं. ६)

'(१) हे मरनेके लिये तैयार वीरो ! ऐसे प्रसंगमें तुम सब बडे उग्र हो । इस लिये आगे बढो, काटो और वैरीको पराभूत करो ॥(२) वीर लोग बलके साथ वैरीको काटें ॥(३) हे वीरो ! यह जो वैरीकी सेना हमारे साथ स्पर्धा करती हुई हमपर धांवा कर रही है, उसको कर्महीन मोहमय तमसे विद्ध करो, जिससे उनका एक मनुष्य दूसरेको पहचान न सके ॥'

ये मरुतोंके मंत्र स्पष्टतया सैनिक वीरोंके कर्तव्य बता रहे हैं । युद्धमें सेनाके वीर कैसा उग्र कर्म करें, उसका उपदेश यहां इस प्रकार मिल रहा है । इसका मनन करके क्षात्रतेजसे युक्त वीर पुरुषोंको बडा उत्साह आ सकता है । इसके नन्तर 'वसवः' शब्द देखिये -

५ वसवः ।

वसनेवालोंका नाम 'वसु' है। जो अपने राष्ट्रमें अपने अधिकारसे वसना चाहते है, शत्रुके हमले होनेपर भी स्वयं अपने स्थानसे हिलना नहीं चाहते वे 'वसु' होते है। इन वसुओंके विषयमें अर्थववेदमें ही अन्य स्थानमें कहा है -

संवसव इति वो नामधेयं उग्रंपश्या राष्ट्रभृतो ह्यक्षाः ॥ (अथर्व. ७-१०९-६)

'आपका नाम संवसु (संवसवः) है, आप देखनेके लिये अति उग्र है और राष्ट्रका भरण पोषण करनेवाले हैं और आप राष्ट्रके (अक्षाः) आंख ही है।' इस मंत्रमें वसु उग्र राष्ट्रमृत्य है ऐसा कहा है। इसलिये हम यहां इस सूक्तके प्रसंगमें 'वसु' पदका अर्थ' उग्र राष्ट्रभृत्य' अर्थात् 'शूरवीर राष्ट्रीय स्वंयसेवक' करते है। यह अर्थ लेनेसे प्रचलित सूक्तके मंत्रभागका अर्थ निम्न लिखित प्रकार होता है देखिये -

इमे नाथिता वसवः अभीमृणन् ।
एषां दूतः अग्निः विद्वान् प्रत्येतु ॥(सू. १, मं. २)

'ये प्रभावशाली राष्ट्रभृत्य वैरी सेनाको काटते हैं। इनका विद्वान् दूत अग्नि वैरीपर चढाई करे।' इस मंत्रमें हमें पता लगता है कि यहांका अग्नि शब्द वसुओंमेंसे एक वसुका वाचक है अर्थात् यदि उक्त प्रकार 'वसु' राष्ट्रभृत्य है, तो 'अग्नि' भी वसुओंमेंसे एक राष्ट्रभृत्य अथवा राष्ट्रका दूत' है जो समयज्ञ है और बडा चतुर भी है। इन्द्र और अग्निमें यह भेद है, पाठक इसका मनन करें। इन्द्र स्वयं सम्राट अथवा राजा है, वह स्वयंसेवक या राष्ट्रभृत्य नही है और अग्नि राजा नहीं है परंतु राष्ट्रभृत्य है। अग्नि विद्वान् है और इन्द्र धनवान् है। ये विशेषणोंद्वारा बताये भेद पाठक मननपूर्वक देखे और सोचे। ये भेद ही वैदिक राज्यपद्धतिका स्वरुप स्पष्ट कर देते है। इस प्रकार वसु शब्दका अर्थ देखनेके पश्चात्, और अग्निको उनमेंसे एक जाननेके पश्चात् अब अग्निका अर्थ देखते है।

६ अग्निः ।

वसु शब्दके जो लक्षण पूर्व शब्दके वर्णनके प्रसंगके बताये हैं वे इसके साथ भी संगत होते है। यह प्रकाशका देव है, शत्रुको जलाता है और उपासकको तेजप्रदान करता है। यह (विद्वान्) ज्ञानी है, समयज्ञ है, कर्तव्य अकर्तव्यको ठीक प्रकार समझता है। यह (जात-वेदाः = जातं वेत्ति) बने हुए वस्तुस्थितिको यथावत् जाननेवाला है। पाठक देखे कि ऐसा योग्य राष्ट्रभृत्य (दूतः) राष्ट्रका दूत, कितना उपयोगी होगा, और ऐसे युद्धके प्रसंगमें इस प्रकारके राष्ट्रदूतकी सेवाका कितना लाभ राष्ट्रको हो सकता है।

अग्नि ब्राह्म तेज और इन्द्र क्षात्रतेज व्यक्त करता है, जिस समय राष्ट्रपर आपत्ति आती है उस समय ये दोनों मिलजुलकर राष्ट्रकार्य करें, इस विषयकी सूचना इन सूक्तोंमें मिलती है। इस विषयका मंत्र देखिये -

हे वृत्रहन् इन्द्र ! अग्निः च यूयं तान् प्रतिदहतम् । (सू. १, मं.३)

'हे वीर राजन् ! तू और ज्ञानी राष्ट्रभृत्य दोनों मिलकर शत्रुको जला दो।' यहां मिलकर कार्य करनेका उपदेश है। ब्राह्मतेज और क्षात्रतेज इकट्ठा होकर वैरीका नाश करे। ऐसा कभी न हो कि वैरी राष्ट्रके द्वारमें उपस्थित होवे और राष्ट्रके ये दोनों भाग आपसमें झगडते रहें। यह तो राष्ट्रघातकी अवस्था होगी, इसलिये ब्राह्मण क्षत्रियोंको अपना अभेद्य ऐक्य रखना चाहिये और अपने राष्ट्रकी उन्नतिमें ही अपनी उन्नति देखनी चाहिये।

शत्रुको घबरानेकी रीति ।

वैरीको घबराना, उसको मोहित करना, उसको भ्रमित करना और उसको परास्त करना, इत्यादिके उपाय इन दो सूक्तोंमें कहे है। जिनमेंसे हमले करनेकी कई विधियां इससे पूर्वके स्पष्टीकरणमें आचुकी है। अब कुछ विशेष साधनोंका उल्लेख करना है जो यहां करेंगे -

१ अग्न्यस्त्र और वायव्यास्त्र के प्रयोगसे वैरीका नाश करनेकी पहिली रीति इन सूक्तोंमें कही है -

अग्नेः वातस्य ध्राज्या तदान् विनाशय ॥ (सू. १, मं.५, सू. २, मं.३)

'अग्निके वेगसे और वायुके वेगसे उन शत्रुओंका नाश कर। यहां ध्राजी शब्द है, अग्निका (ध्राजी) महावेग और वायुका महावेग, इनके धक्केसे शत्रुका नाश करना लिखा है। ध्राजी शब्दका अर्थ केवल वेग, गति इतना ही नही है, जिस वेगके धक्केसे मनुष्य नष्टभ्रष्ट होते है, मनुष्य अपने स्थानपर ठहर नहीं सकते, उस महावेगके प्रबल धक्केका आशय इस 'ध्राजी' शब्दमें है। इसलिये ऐसा प्रतीत होता है कि यहांके 'अग्ने, ध्राजी, वातस्य ध्राजी' ये दो शब्द क्रमशः अन्यस्त्र और वायव्यास्त्र अथवा इसी प्रकारके शस्त्रास्त्र विशेषके वाचक होंगे। इसी

स्पष्टीकरणमें इससे पूर्व अग्नि शब्दका अर्थ मनुष्य वाचक बताया है, परंतु वह अर्थ यहां नहीं है। एकही सूक्तमें एकही अग्नि शब्दके दो परस्पर भिन्न अर्थ है यह बात यहां स्मरण रखना चाहिये, अन्यथा अर्थका विपर्यास होनेमें देरी नहीं लगेगी।

२ तमसास्त्र - तमसास्त्रका प्रयोग भी इसमें है ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है -

तां विध्यत तमसापव्रतेन यथैषामन्यो अन्यं न जानात् । (सू. २, मं. ६)

'उस शत्रुसेनाको पुरुषार्थहीन करनेवाले तमसास्त्रके प्रयोगसे विद्ध करो जिससे उनका एक सैनिक दूसरे सैनिकको न पहचान सके।' इस मंत्रमें 'अपव्रतं तमः' शब्दका प्रयोग है। तम शब्दका अर्थ 'अन्धकार' है। अपव्रतका अर्थ 'कर्महिन' है। दोनोंका तात्पर्य 'कर्महीन' करनेवाला अंधेरा है। इससे शत्रुसेनाको वेध करना है। वेध करनेके लिये शस्त्रास्त्र ही चाहिये, अन्यथा वेध नहीं हो सकता। इसलिये इस मंत्रमें तमसास्त्रका उल्लेख है ऐसा स्पष्ट दीख रहा है। अन्धकारास्त्रके प्रयोगसे ही सैनिक एक दूसरेको पहचांननेमें असमर्थ होंगे। इसी अर्थका एक मंत्रभाग प्रथम सूक्तमें है -

अग्निः चक्षूंषि आदत्ताम् । (सू. १. मं.६)

'अग्नि शत्रुकी आंखे ले लेवे ' इस वाक्यका भी आशय तमसास्त्र प्रयोगका ही है क्योंकि यहां हरएककी आंखे निकाल देनेका आशय नहीं है, परंतु उनको कुछ भी न दीख पडे यही आशय है। तथा और देखिये -

अमित्रान् शत्रून् तमसा विध्य । (सू. २, मं. ५)

'शत्रुओंको अन्धकारास्त्रसे विद्ध कर।' यहांका 'विध्य' शब्द भी अस्त्ररूप तमको सूचित करता है। यह मंत्र अन्यत्र आगया है वह भी यहां देखिये -

अन्धेन तमसा अमित्रान् सचन्ताम् ।

(ऋ. १०।१०३।१२, यजु. १७।४४, साम. उ. ९।३।५, निरु. ९।३३)

तां गूहत तमसापव्रतेन यथामी अन्यो अन्यंन जानात् । (यजु. १७।४७)

'शत्रुओंको अन्धतमसे ढांप दो' इत्यादि मंत्रभागोंमें भी किसी प्रकारके अस्त्रका ही उल्लेख है अन्यथा वेध करना असंभव है।

३ अप्वा, ग्राही - सूक्त २, मं. ५ में 'अप्वा और ग्राही' इन दो रोगोंके द्वारा शत्रुके चित्तोंको मोहित करने अथवा उनको त्रस्त करनेका उल्लेख है। 'ग्राही' शब्दका अर्थ संधिवात इसी अथर्ववेदमें इससे पूर्व अनेक वार आया है। यह अर्थ यदि यहां लिया तो संधिवात जैसे जकडनेवाले रोगद्वारा शत्रुको त्रस्त करनेकी बात व्यक्त हो सकती है। अप्वा शब्दका अर्थ रोग, व्याधि अथवा भय है। परंतु यह युद्ध प्रसंग है इस लिये इन शब्दोंके कोई दूसरे अर्थ भी होना संभव है। यद्यपि ठीक पता नहीं है तथापि 'ग्राही' शब्दका अर्थ 'पाश' होना संभव है, जिससे शत्रुको पकडा जाय और जकडकर बांधा जाय। 'अप-वे' धातुसे यदि 'अप्वा' शब्द बनाया जाय तो 'वे' धातुका अर्थ, 'तन्तु-संतान' होनेके कारण अप्वा शब्दका अर्थ 'जल अथवा जाला' होना संभव है। मंत्रमें -

अप्वे ! परेहि, अमीषां चित्तानि प्रतिमोहयन्ती अङ्गानि गृहाण ॥ (सू. २, मं. ५)

'हे अप्वे ! आगे बढ, इनके चित्तोंको मोहित करके उनके अंगोंको पकड रख।' यह अप्वा अस्त्रका वर्णन स्पष्ट बता रहा है कि इस नामका किसी प्रकारका जाला शत्रुपर फेंका जाता है, जिसमें पकडे जानेके कारण शत्रु मोहित हो जाते है और पश्चात् उनके शरीर पकड वा जकडकर बांधे जाते है। इस मंत्रमें 'परेहि, अंगानि गृहाण' आदि वर्णन यह 'अप्वा' कोई शत्रुपर फेंकने योग्य जालेका अस्त्र है ऐसा निश्चय करता है। अर्थात् 'ग्राही और अप्वा' ये दोनों जालेके समान शत्रुको पकडनेके कुछ साधन विशेष होंगे ऐसा हमारा तर्क है, इस विषयके अर्थके लिये इस समयतक कोई प्रमाण हमें मिला नहीं है। खोज करनेवाले पाठक इस विषयकी विशेष खोज करके अर्थनिश्चय करनेमें सहायता दे।

मंत्रोंकी समानता।

इन दोनों सूक्तोंमें मंत्रोंकी समानता है। दोनों सूक्तोंका पहला मंत्र कुछ थोडे पाठभेदसे करीब एक जैसा ही है। प्रथम सूक्तका ५ वाँ मंत्र और द्वितीय सूक्तका ३ रा मंत्र करीब एक जैसा ही है। प्रथमार्धमें थोडा पाठभेद है। यह समानता पाठक अवश्य देखें।

इन दोनों सूक्तोंके मननसे युद्ध विषयक बहुत ही बोध प्राप्त हो सकता है। आशा है कि इस दृष्टिसे पाठक इन सूक्तोंका अध्ययन करके लाभ उठावेंगे।

राजाकी स्वराज्यपर पुनः स्थापना ।

(३)

(ऋषिः-अथर्वा । देवता - अग्निः, नानादेवताः)

अचिक्रदत्स्वपा इह भुवदग्ने व्यचस्व रोदसी उरूची ।
युञ्जन्तु त्वा मरुतो विश्ववेदस आमुं नय नमसा रातहव्यम् ॥ १ ॥
दूरे चित्सन्तमरुषास इन्द्रमा च्यावयन्तु सख्याय विप्रम् ।
यद्गायत्रीं बृहतीमर्कमस्मै सौत्रामण्या दधृषन्त देवाः ॥ २ ॥
अद्भ्यस्त्वा राजा वरुणो ह्वयतु सोमस्त्वा ह्वयतु पर्वतेभ्यः ।
इन्द्रस्त्वा ह्वयतु विड्भ्य आभ्यः श्येनो भूत्वा विश आ पतेमाः ॥ ३ ॥
श्येनो हव्यं नयत्वा परस्मादन्यक्षेत्रे अपरुद्धं चरन्तम् ।
अश्विना पन्थां कृणुतां सुगं त इमं सजाता अभिसंविशध्वम् ॥ ४ ॥

अर्थ - (इह स्व-पाः भुवत्) यहां अपना रक्षण करनेवाला मनुष्य होवे ऐसा (अचिक्रदत्) पुकारकर कहा गया है । हे (अग्ने) अग्ने ! (उरुची रोदसी व्यचस्व) विस्तृत द्यावापृथिवीमें अपना तेज फैलाओ । (विश्ववेदसः मरुतः त्वा युञ्जन्तु) सब जाननेवाले मरुत् तुझे योग्य बनावें । (रात-हव्यं अमुं) हवनीय पदार्थोंको देनेवाले इस पुरुषको (नमसा आनय) नमस्कारपूर्वक यहां ला ॥१॥

(दूरे चित् सन्तं विप्रं इन्द्रं) दूर रहनेवाले प्राज्ञ इन्द्रको भी (अरुषासः सख्याय आच्यावयन्तु) तेजस्वी लोक मित्रताके लिये यहां ले आवें । (यत् देवाः) क्योंकि सब देव (सौ-त्रामण्या) सौत्रामणीके द्वारा (गायत्रीं बृहतीं अर्कं अस्मै दधृषत) गायत्री बृहती रुप अर्चन इसके लिये धारण करते है ॥२॥

(वरुणः राजा) राजा वरुण (अद्भ्यः त्वा ह्वयतु) जलके लिये तुझे बुलावे, (सोमः त्वा पर्वतेभ्यः ह्वयतु) सोम तुझे पर्वतोंके लिये बुलावे (इन्द्रः त्वा आभ्यः विड्भ्यः ह्वयतु) इन्द्र तुझे इन प्रजाओंके लिये बुलावे । (श्येनः भूत्वा इमाः विशः आपत) तू श्येन पक्षीके समान वेग धारण करके इन प्रजाओंमें आ जा ॥३॥

(अन्यक्षेत्रे अपरुद्धं चरन्तं हव्यं) अन्य देशमें छिपकर घूमनेवाले बुलाने योग्य राजाको (श्येनः परस्मात् आनयतु) श्येनवत् शीघ्रगामी दूसरे देशसे ले आवे । (अश्विनौ सुगं ते पन्थां कृणुतां) दोनों अश्विनी सुखसे जाने योग्य तेरा मार्ग बनावें। (सजाताः इमं अभि सं विशध्वं) सजातीय लोग इसको प्रविष्ट करें ॥४॥

भावार्थ - इस जगत्में मनुष्यको अपना संरक्षण स्वयं करना चाहिये, यह बात पुकार पुकारकर सब आप्तपुरुषोंने कही है । मनुष्य अग्निवत् तेजस्वी बने और अपना प्रकाश जगत्में फैलावे । ऐसे अपने राजाको सब जाननेवाले वीर शक्तिमान करें और उसको नमनपूर्वक अपने राज्यगद्दीपर स्थापित करें ॥१॥

राजा दूर भी क्यों न गया हो उसको अपने राज्यके हितके लिये तेजस्वी वीर पुनः ले आवें, उत्तम रक्षण करनेके योग्य प्रबंधसे उसका उत्तम सत्कार करें ॥२॥

जलस्थानकी रक्षाके लिये जलाधिपति, पर्वतोंकी रक्षाके लिये पर्वतोंका अधिकारी, जनोंकी रक्षाके लिये मनुष्योंका अधिपति किंवा मुखिया सम्राटको बुलावें, तब सम्राट् अपने प्रजाओंमें शीघ्रतासे जाकर विराजे ॥३॥

इयन्तु त्वा प्रतिजनाः प्रति मित्रा अवृषत ।
इन्द्राग्नी विश्वे देवास्ते विशि क्षेममदीधरन् ॥ ५ ॥
यस्ते हवं विवदत्सजातो यश्च निष्ट्यः ।
अपाञ्चमिन्द्र तं कृत्वाथेममिहाव गमय ॥ ६ ॥

अर्थ - **(प्रतिजनाः त्वा ह्वयन्तु)** प्रत्येक प्रकारके लोग तुझे बुलावें । **(मित्राः प्रति अवृषत)** मित्र तेरा बल बढावें । **(इन्द्राग्नी विश्वदेवाः)** इन्द्राग्नी और सब देव **(विशि ते क्षेमं अदीधरन्)** प्रजाजनोंमें तेरे लिये क्षेम धारण करें ॥५॥

हे **(इन्द्र)** नरेन्द्र ! **(यः सजातः)** जो सजातीय है **(च या निष्टयः)** और जो विजातीय है **(ते हवं विवदत्)** तेरे आदरणयिताके विषयमें विवाद करे, **(तं अपाञ्चं कृत्वा)** उसको बहिष्कृत करके **(अथ इमं इह अव गमय)** पश्चात् इसको यहां लाओ ॥६॥

भावार्थ - राजा संकट समयमें अन्य देशमें छिप छिपकर भी क्यों न रहता हो, उसको पुनः अपनी राजगद्दीपर लाकर बिठलाना उचित है, ज्ञानी उसका मार्ग सुगम करें और सजातीय लोग उसको अपनें राज्यमें प्रविष्ट करावें ॥४॥

मित्रजन उस राजाका बल बढावें और उसकी सहायता करें, सब देव प्रजाके समेत उस राजाका कल्याण करें ॥५॥

यदि सजातीय अथवा विजातीय कोई मनुष्य इस योग्य राजाका विरोध करनेवाला हो तो उसको राज्यसे बाहर करके बडे आदर सत्कारसे राजाका प्रवेश अपने राज्यमें कराना चाहिये ॥६॥

यहां तृतीय सूक्तका अर्थ और भावार्थ हुआ । इसीके साथ चतुर्थ सूक्तका अत्यंत घनिष्ठ संबंध है इसलिये उसका अर्थ और भावार्थ पहले देखकर पश्चात् दोनों सूक्तोंका मिलकर विचार करेंगे -

• • •

राजा का चुनाव ।

(४)

(ऋषिः- अथर्वा । देवता - इन्द्रः, नानादेवताः)

आ त्वा गन्राष्ट्रं सह वर्चसोदिहि प्राङ् विशां पतिरेकराट् त्वं वि राज ।
सर्वास्त्वा राजन्प्रदिशो ह्वयन्तूपसद्यो नमस्यो भवेह ॥ १ ॥

अर्थ - हे राजन् ! **(राष्ट्रं त्वा आगन्)** यह राष्ट्र तुझको प्राप्त हुआ है, अब **(वर्चसा सह उद् + इहि)** तेजके साथ उदयको प्राप्त हो । **(विशांपतिः प्राङ् एकराट् त्वं विराज)** प्रजाओंका स्वामी प्रमुख एक सम्राट् होकर तू विराजमान हो । **(सर्वाः प्रदिशः ह्वयन्तु)** सब दिशा और उपदिशाएं तुझे पुकारें और **(इह उपसद्यः नमस्यः भव)** यहां पास पहुंचने योग्य और नमस्कारके लिये योग्य हो ॥१॥

भावार्थ - हे राजन् ! यह राष्ट्र अब तुझको प्राप्त हुआ है अब अपने तेजको प्रकाशित कर, सब प्रजाओंका एक सम्राट् होकर विराजमान हो । सब दिशा और उपदिशामें रहनेवाले सब लोग तुझे ही चाहें और तू सबके लिये प्राप्त होनेवाला बनकर सबसे सुपूजित हो ॥१॥

त्वां विशो वृणतां राज्याय त्वामिमाः प्रदिशः पञ्च देवीः ।
वर्ष्मन्राष्ट्रस्य ककुदि श्रयस्व ततो न उग्रो वि भजा वसूनि ॥ २ ॥

अच्छ त्वा यन्तु हविनः सजाता अग्निर्दूतो अजिरः सं चरातै ।
जायाः पुत्राः सुमनसो भवन्तु बहुं बलिं प्रति पश्यासा उग्रः ॥ ३ ॥

अश्विना त्वाग्रे मित्रावरुणोभा विश्वे देवा मरुतस्त्वा ह्वयन्तु ।
अधा मनो वसुदेयाय कृणुष्व ततो न उग्रो वि भजा वसूनि ॥ ४ ॥

आ प्र द्रव परमस्याः परावतः शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्ताम् ।
तदयं राजा वरुणस्तथाह स त्वायमह्वत्स उपेदमेहि ॥ ५ ॥

अर्थ - (विशः त्वां राज्याय वृणतां) प्रजायें तुझको राज्यके लिये स्वीकार करें (इमाः देवीः पञ्च प्रदिशः) ये दिव्य पांच दिशायें (त्वां वृणतां) तुझको राज्यके लिये स्वीकार करें । तू (राष्ट्रस्य वर्ष्मन् ककुदि श्रयस्व) राष्ट्रके ऐश्वर्यमय उच्च स्थानपर आश्रय कर (ततः उग्रः) पश्चात् उग्र वीर बनकर (नः वसूनि वि भज) हम सबके लिये धनोंका विभाग कर ॥ २॥

(हविनः सजाताः त्वा अच्छ यन्तु) बुलानेवाले सजातीय लोग तुझको सन्मानपूर्वक मिलें (अग्निः अजिरः दूतः संचरातै) अग्नि वेगवान् दूत संचार करे । (जायाः पुत्राः सुमनसः भवन्तु) स्त्रियां और पुत्र उत्तम मनवाले हों । (उग्रः बहुं बलिं प्रति पश्यासै) उग्र होकर तू बहुत भेंटको देख ॥३॥

(अग्रे) आगे (अश्विनौ, मित्रावरुणौ, विश्वदेवाः, मरुतः) अश्विनी, मित्रावरुण, सब देव और मरुत् (त्वा त्वा ह्वयन्तु) तुझको बुलावे । (अध वसु-देयाय मनः कृणुष्व) पश्चात् तू धनका दान करनेके लिये अपना मन कर (ततः उग्रः नः वसूनि वि भज) पश्चात् उग्र होकर हम सबको धनका भाग दे ॥४॥

(परमस्याः परावतः आ प्रद्रव) अति दूर देशसे यहां आ। (उभे द्यावापृथिवी ते शिवे स्तां) दोनों द्यावापृथिवी तेरे लिये कल्याणकारी होवें । (तथा अयं राजा वरूणः) वैसा ही यह वरूण राजा (तत् आह) यह कहता है (सः अयं त्वा अह्वत्) वह यह तुझको बुलावे (सः इदं उप - आ - इहि) वह तू इस राष्ट्रको प्राप्त कर ॥५॥

भावार्थ - सब प्रजाएं राज्य चलानेके लिये तेरे ही स्वीकार करें । सब दिशा और उपदिशाओंमें रहनेवाले प्रजानन तुझे ही पसंद करें । तू राष्ट्रके परम उच्च ऐश्वर्यवान् राजपदपर आरूढ होकर, वीर बनकर, हम सबके लिये धनको योग्य विभागसे बांट दे ॥२॥

तेरी इच्छा करनेवाले सजातीय लोग सन्मानपूर्वक तेरे पक्षमें रहें, अग्निके समान तेरे तेजस्वी दूत चारों देशोंमें संचार करें। तेरे राष्ट्रमें धर्मपत्नियां और बालबच्चे उत्तम मनवाले हों । तू शूरवीर होकर बहुत भेंट प्राप्त कर ॥३॥

सब देवताएं तेरी सहायता करें । तू धनका दान करनेमें अपना मन स्थिर कर और शूरवीर होकर हम सबमें योग्य विभागसे धन बांट दे ॥४॥

यदि तू दूर देशमें भी गया तो भी अपने राष्ट्रमें शीघ्र ही वापस आ । सब देव तेरी सहायता करें । तू सदा अपने राष्ट्रमें ही रह ॥५॥

इन्द्रेन्द्र मनुष्याः परेहि सं ह्यज्ञास्था वरुणैः संविदानः ।
स त्वायमह्वत्स्वे सधस्थे स देवान्यक्षत्स उ कल्पयाद्विशः ॥ ६ ॥
पथ्या रेवतीर्बहुधा विरूपाः सर्वाः सङ्गत्य वरीयस्ते अक्रन् ।
तास्त्वा सर्वाः संविदाना ह्वयन्तु दशमीमुग्रः सुमना वशेह ॥ ७ ॥

अर्थ - हे **(इन्द्र - इन्द्र)** राजाओंके महाराजा ! **(मनुष्याः परेहि)** मनुष्योंके समान परे जा और **(हि वरुणैः संविदानः)** वरिष्ठोंसे मिलकर तू **(सं अज्ञास्थाः)** ठीक प्रकार जान सकता है । **(सः अयं स्व सधस्थे त्वा अह्वत्)** वह यह अपने घर तुझे बुलावे **(सः देवान् यक्षत्)** वह देवोंका यज्ञ करे, और **(स उ विशः कल्पयतात्)** वह निश्चयसे प्रजाओंके समर्थ करे ॥६॥

(पथ्याः रेवतीः) सन्मार्गसे चलनेवाली धनवाली **(बहुधा विरूपाः सर्वाः संगत्य)** बहुत प्रकारसे विविध रूपवाली सब प्रजाएं मिलकर **(ते वरीयः अक्रन्)** तेरे लिये श्रेष्ठ स्थान बनाती है । **(ताः सर्वाः संविदानाः त्वा ह्वयन्तु)** वे सब एकमत होकर तुझे बुलावे पश्चात् तू **(इह उग्रः सुमनाः दशमीं वश)** यहां उग्र और उत्तम मनवाला होकर दसवी दशकतक राज्यको वशवर्ती कर ॥७॥

भावार्थ - तू साधारण मनुष्योंके समान ही अपने आपको मानकर देशमें सर्वत्र भ्रमण कर और राष्ट्रके वरिष्ठ मनुष्योंमें मिलकर सब बातें ठीक प्रकार समझ लो । ऐसा करनेसे लोग अपने घरमें तुझे आदरसे बुलावेंगे और वे यज्ञयाग भी करेंगे। इस प्रकार प्रजाओके साथ मिलजुलकर सब प्रजाको सब प्रकारसे समर्थ कर ॥६॥

प्रजा सन्मार्गसे चलनेवाली हो, और धनवान् हो । बहुत प्रकारके रंगरूपोंसे विभिन्न रहनेपर भी सब प्रजा मिलकर एक भावसे तुझे श्रेष्ठ माने और सब एकमतसे तेरी प्रशंसा करे । इस प्रकार वीरतासे और शुभ मनोभावसे राज्य करता हुआ तू सौ वर्षतक राज्य अपने वशमें रख ॥७॥

पूर्व सम्बन्ध ।

इस तृतीय काण्डके प्रारंभके दो सूक्तोंमें युद्ध विषय है । शत्रुसेनाके साथ युद्ध करके उसका पूर्ण पराभव करनेका महत्त्वपूर्ण उपदेश इन दो सूक्तोंमे है । इस प्रकार विजय प्राप्त होनेके पश्चात् अपने राजाका राजधानीमें प्रवेश होता है, उस समयके उत्सवके ये मंत्र है, अथवा इस विजयको प्राप्त करके राजा वापस आगया तो उस समय उसे करने योग्य उपदेश इन दो सूक्तोंमें है । तृतीय और चतुर्थ सूक्त विशेष सूक्ष्म दृष्टिसे देखनेसे और एक बात प्रतीत होती है, वह यह है कि - 'किसी समय शत्रूसैन्य द्वारा परास्त हुआ राजा किसी दूसरे देशमें या जंगलोंमें छिपकर रहता है और उसके राज्यपर दूसरे विदेशी राजाका अधिकार होता है । ऐसे समयमें राज्यमें रहनेवाले लोग तथा पुराने समयके अधिकारसंपन्न वीर राज्यक्रान्ति करनेका यत्न करे, पुरुषार्थ प्रयत्नसे शत्रुका पराभव करें और अपने पुराने राजाको लाकर बडे सन्मानके साथ पुनः राजगद्दीपर स्थापित करे ।' यह भी उपदेश यहां दिखाई देता है । पुराणोंमें इन्द्रकी एक कथा भी इस प्रकारकी रची हुई है, कि असुरोंके द्वारा इन्द्रका पराभव हुआ, वह भाग गया और छिपकर किसी प्रदेशमें रहा, देवोंने अपने पुरुषार्थ प्रयत्नसे असुरोंका पराभव करके इन्द्रको ढूंढा और पुनः इन्द्रपदपर स्थापित किया । यह कथा महाभारत उद्योगपर्व अ. १० से १५ तक पाठक देख सकते हैं । पाठक इन सब राजकीय घटनाओंको मनमें रखते हुए इन दो सूक्तोंका अभ्यास करें और मनन करें । ऐसा करनेसे ही इन सूक्तों द्वारा राजनीतिका बहुतसा उपदेश मिल सकता है ।

आत्मरक्षा ।

तृतीय सूक्तने सबसे प्रथम आत्मरक्षाका बड़ा महत्त्वपूर्ण संदेश प्रारंभमें ही कहा है । यह संदेश हरएक वैदिकधर्मीको ध्यानमें धारण करना चाहिये -

इह स्व-पा भुवत् (इति) अचिक्रदत् ॥

(सू. ३, मं, १)

'यहां आत्मरक्षा करनेवाला मनुष्य बने, ऐसा पुकार पुकार कर कहा गया है ।' इस जगत्में यदि मनुष्यको संमानसे जीवित रहना है तो (स्पाः) आत्मरक्षा करना

उसके लिये अत्यावश्यक है । यह बात जैसी एक मनुष्यके लिये सत्य है वैसी ही एक समाज और एक राष्ट्रके लिये भी सत्य है । जिस समय एक समाज आत्मरक्षा करनेमें दक्ष नहीं रहता उस समय दूसरा समाज उसपर हमला चढानेमें प्रवृत्त होता है । इसी प्रकार जिस समय एक राष्ट्र आत्मरक्षा करनेमें समर्थ नहीं होता है, उसी समय दूसरा राष्ट्र उसपर आक्रमण करता है और उसको परतंत्र बनाकर उसपर अधिकार चलाने लगता है । आत्मरक्षा करनेकी असमर्थता बडा भारी अपराध है, जो राष्ट्र परतंत्र हुए है वे स्वानुभवसे इस वैदिक उपदेशका महत्त्व जान सकते हैं । आत्मरक्षाका अत्यंत महत्त्व है इसीलिये इस मंत्रने कहा है कि यह बात वारंवार पुकार पुकार कर कही है । जो बात अत्यंत महत्त्वकी होती है वही वारंवार पुकार पुकार कर कही जाती है । इस कारण जो बात वेदने अनेक वार पुकार पुकार कर कही है वह मनुष्यमात्रकी उन्नतिकी दृष्टिसे अत्यंत महत्त्वपूर्ण है इसमें कोई संदेह ही नही है । पाठक इस दृष्टिसे इस आत्मरक्षाके वैदिक उपदेशका स्मरण रखें।

आत्मरक्षाका सामर्थ्य न रखनेवाला राष्ट्र और उसका राजा ही परास्त होता है और आपत्तिमें गिरता है। आत्मरक्षा करनेवालेकी तेजोवृद्धि होती है इस विषयमें इसी मंत्रका अगला भाग देखिये

अहो ! उरुची रोदसी व्यचस्व ॥(सू. ३, मं. १)

'अग्निके समान तेजस्वी ! तू इस विशाल द्यावापृथिवीके अंदर फैल जाओ ।' आत्मरक्षा करनेवालेका आदर्श अग्नि है, यह अग्नि सदा उर्ध्व गतिसे जलता और प्रकाशता है । 'अग्नेः उर्ध्वज्वलंन ' अग्निकी ज्वलनकी गति उच्चगति है । उच्चगतिवाले सदा उन्नत ही होते रहेंगे और अपना तेज फैलायेंगे और संपूर्ण जगत्को प्रकाशमान करेंगे । आत्मरक्षा करनेवालोंका यश जगत्में चारों दिशाओंमें फैलता ही है । आत्मरक्षा करनेवालेकी गति तो अग्निके प्रचंड् प्रकाशसे बताई है । जिसकी नित्य देखकर वैदिकधर्मी आत्मरक्षा करनेके अपने कर्तव्यको कभी न भूलें । अब देखिये कि आत्मरक्षा न करनेवालेकी अवस्था क्या होती है -

अन्यक्षत्रे अपरुद्धं चरन्तं ॥(सू. १, मं. ४)

'दूसरेके देशमें प्रतिबंधमें भटकता है ।' जो आत्मरक्षा नही करता वह दूसरेके अधिकारमें प्रतिबंधमें पडता है, दूसरे देशमें छिपछिपकर रहता है, किसी न किसी प्रकार बंदिखानेमें सडता रहता है । यह आत्मरक्षा न करनेका परिणाम है । यह परवशताका भयानक परिणाम आत्मरक्षा न करनेसे प्राप्त होता है यह जानकर मनुष्य, समाज, राष्ट्र तथा राजा आत्मरक्षा का अपना परमश्रेष्ठ कर्तव्य कभी न भूले, यह आदेश वेद इस सूक्तद्वारा देता है और वारंवार उद्घोषित करता है कि मनुष्य इस आत्मरक्षाकी बातको कभी न भूले।

सौत्रामणी याग ।

'सौत्रामणी' नामक एक बडा भारी यज्ञ है । इसमें मुख्य ध्येय अथवा साध्य क्या है वह तैत्तिरीय संहिताके वचनसे स्पष्ट होता है -

इन्द्रस्य सुषुवाणस्य दशधेन्द्रियं वीर्यं परापतत् ।
तदेवाः सौत्रामण्या समभरन् ॥

(तै. सं. ५।६।३।४)

'इन्द्रका वीर्य दस दिशाओंमें विभिन्न मार्गोसे विभक्त हो गया था, वह देवोंने सौत्रामणी यागसे एकत्रित किया।' अर्थात् इस सौत्रामणी यागका साध्य बिखरी हुई शक्तिको इकठ्ठा करना है । 'सु + त्रामन्' शब्दका अर्थ है (सु) उत्तम (त्रामन) रक्षा करनेकी बुद्धिपूर्वक शक्ति । यह जिससे प्राप्त होती है उसको 'सौ-त्रा-मणी याग' कहते है । पूर्वोक्त तैत्तिरीय संहिताके वचनमें भी बिखरी हुई इन्द्रकी शक्ति इकट्ठी करनेके लिये ही सौत्रामणी याग बनाया गया और उस यागसे वह शक्ति केन्द्रीभूत होगई इत्यादि बात स्पष्ट है । अर्थात् सौत्रामणी यागसे संगठन होता है और राष्ट्रीय शक्ति बढती है। इसीलिये इस तृतीय सूक्तके द्वितीय मंत्रमें सौत्रामणी यज्ञके द्वारा राज्यभ्रष्ट राजाको फिर राज गद्दीपर लाते हैं, ऐसा कहा है -

दूरे सन्तं विप्रं इन्द्रं सख्याय अरुषासः
आच्यावयन्तु । (सू.३, मं. २)

'राज्यसे दूर हुए ज्ञानी नरेन्द्रको सख्यके लिये तेजस्वी लोग उस गुप्त स्थानसे यहां लावे ।' राज्यभ्रष्ट राजा जंगलोंमें या (अन्य-क्षेत्रे अपरुद्ध चरन्त । मं. ४) दूसरे देशमें छिप छिपकर रहता है उसको पुनः राज्यभर स्थापित करनेके लिये ज्ञानी लोग अपने राज्यमें ले आवें, उसका सख्य पुनः जनताके साथ पूर्ववत् हो, और ज्ञानी इन्द्रही राजगद्दीपर बैठ जावे, इसलिये यह सब प्रयत्न है । यह सब प्रयत्न करनेके लिये सौत्रामणी याग किया जाता है ऐसा इसी द्वितीय मंत्रके उत्तरार्धमें कहा है -

देवाः अस्मै गायत्रीं बृहतीं अर्के सौत्रामण्या दधृषन्त ।

(सू. ३, मं. २)

'देव इस राजाके लिये गायत्री, बृहती आदि रूप अर्चन सत्कार सौत्राणी यागके द्वारा करते है ।' राजगद्दीपर

राजाको बिठलानेका प्रबंध करनेके लिये सौत्रामणी याग करते है, इस यागसें अपनी बिखरी हुई शक्तिको इकट्ठी करते है और उस शक्ति द्वारा उस राजाको अपने राज्यमें लाकर उसका बडा सत्कार करते हैं । इस सत्कारका स्वरूप देखिये -

वरुणो राजा त्वा अद्भयः ह्वयतु ।
सोमः त्वा पर्वतेभ्यः ह्वयतु ।
इन्द्रः त्वा आभ्यः विड्भ्यः ह्वयतु ॥

(सू. ३, मं. ३)

अश्विना ते सुगं पन्थां कृणुताम् ॥

(सू. ३, मं. ३)

प्रतिजनाः त्वा ह्वयन्तु, मित्राः प्रति अवृषत ॥

(सू. ३, मं. ५)

'वरुण राजा जलस्थानोंके संरक्षणके लिये तुझे बुलावे, सोम राजा पर्वतोंकी रक्षाके लिये तुझे बुलावे, इन्द्र तुझे इन प्रजाजनोंकी सुव्यवस्थाके लिये बुलावे । अश्विदेव यहां आनेका तेरा मार्ग सुगम करें । प्रत्येक प्रजाजन आदरसे तुझे बुलावे और मित्र सदा तेरा बल बढावें ।'

राज्य प्रबंधमें समुद्र किनारेका प्रबंध, पर्वत स्थानोंका प्रबंध ये दो प्रबंध अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्वके हैं और प्रजाजनोंके सुप्रबंधका कार्य राष्ट्रके अंतर्गत व्यवहारका है । समुद्रमें नौका, जलदुर्ग आदिकी रक्षाका प्रबंध करना होता है और पर्वतोंपर भी कीले आदिका प्रबंध आवश्यक होता है । प्रजाकी सुव्यवस्थाका प्रबंध तो राज्यशासनका मुख्य भाग है ही, इसमें कोई संदेह नहीं है । इन प्रबंधोको करनेके लिये राजाको पुनः राजगद्दीपर स्थापित किया जाय, यह तात्पर्य यहां है । राजाके कर्तव्योंकी भी सूचना यहां मिलती है । सब देवताओंकी सहायता भी इस राजाको प्राप्त हो और इस प्रकार देवताओंकी सहायतासे बलवान बना हुआ अपने देशका राजा शत्रुके लिये असह्य हो, यह इच्छा प्रजाजनोंके नेताओंके अन्तःकरणमें रहना चाहिये । देखिये इस विषयमें अगला मंत्र ही कहता है -

इन्द्राग्नी विश्वे देवाः विशि ते क्षेमं अदीधरन् ।

(सू. ३, मं. ५)

'इन्द्र, अग्नि और संपूर्ण अन्य देव प्रजामें तेरा कल्याण संवर्धित करे ।' अर्थात् इन देवोंकी कृपासे तेरी प्रजाका भी कल्याण होवे और प्रजाके आनंदके साथ तेरा भी कल्याण होवे । यहां -

ते क्षेमं विशि । (सू. ३, मं. ५)

'तेरा (राजाका) कल्याण प्रजामें बसता है ।' अर्थात् प्रजाजनोंके कल्याण होनेसे ही राजाका कल्याण होना संभव है अन्यथा नही । जो राजा प्रजाके कल्याणके साथ अपने कल्याणका संबंध नही जानता वह सच्चा राजा ही नहीं है । यजुर्वेदमें भी कहा है कि -

विशि राजा प्रतिष्ठितः । (यजु. २०।९)

'प्रजाके आश्रयसे राजा सुप्रतिष्ठित होता है ।' प्रजा न हो तो राजा कहां रहेगा ? परन्तु राजा न होनेकी अवस्थामें प्रजा रह सकती है, इस कारण कहते है कि राजा प्रजाके आश्रयसे रहता है, परन्तु प्रजा राजाके आश्रयके बिना भी रह सकती है । अतएव राजाका कल्याण प्रजाके कल्याणमें है । **'ते क्षेम विशि'** इस अथर्व मंत्रका इस दृष्टिसे पाठक मनन करें । ऐसे राजाको सजातीय लोग अपने राज्यमें पुनः स्थापन करें, इस विषयमें इस सूक्तका चतुर्थ मंत्र देखिये -

सजाताः इमं (राजानं) अभि - सं - विशध्वम् ॥

(सू. ३, मं. ४)

'सजातीय लोग इस राजाको (अभि) चारों ओरसे (सं) ठीक प्रकार (विशध्वं) प्रवेश करावे ।' राजा अपने राष्ट्रमें आवे तो स्वजातीयोंके साथ ही आवे । वे उशकी सुरक्षितताका प्रबंध करें और चारों ओर उत्तम प्रबंध रखें, राजाकी सुरक्षितताके लिये उत्तम यत्न किया जाय और स्वराष्ट्रमें ऐसे सुप्रबंधके साथ उसका प्रवेश कराया जाय । स्वजायीत (सजाताः) लोग ही राजाके रक्षक हो सकते है, परजातीय लोग किस समय धोखा देंगे इसका कोई नियम नहीं है, इसलिये राजा भी स्वजातीय लोगोंके ऊपर अधिक विश्वास रखे और उनका योग्य सन्मान करता रहे । नहीं तो कई राजा ऐसे होते हैं कि जो विदेशियों और परकीयोंपर तो अधिक विश्वास रखते है और स्वदेशीयों तथा स्वजातीयोंपर अविश्वास करते हैं । इस आत्मघातके बर्तावका परिणाम उसको अंतमें बुरी तरह भोगना पडता है । इसलिये इस मंत्रभागने स्वजातीय लोगोंकी विश्वासमें लेनेकी सूचना की है जो राजनीतिमें विशेष महत्त्वकी है । जहां स्वजातीय लोग सहायताके लिये तैयार है वहा राजा विश्वाससे वेगपूर्वक जावे और अपना कार्य प्रारंभ करे, इस विषयमें यह मंत्र देखिये -

श्येनः भूत्वा इमाः विशः आपत ॥(सू. ३, मं. ३)

'श्येन पक्षीके समान वेगसे इस प्रजामें आ पड' अर्थात् जहां प्रजाजनोंके भद्र पुरुष सहायता करनेके तैयार है वहां राजाके त्वराके साथ पहुंचकर अपना प्रजापालनका कार्य करना चाहिये ।

विरोधी मनुष्य ।

सजातीय लोग प्रायः सदा राजाकी सहायताके लिये तैयार ही रहेंगे, क्योंकि राजाका गौरव बढनेसे उनका भी यश बढता ही है, तथापि कई लोग शत्रुपक्षको मिलकर उत्तम राजाको राष्ट्रमें पुनः स्थापित करनेके विरोधी भी होना संभव है, उनका क्या किया जाय, यह शंका यहां हो सकती है, इस शंकाका उत्तर इस सूक्तके षष्ठ मंत्रने दिया है, देखिये -

यः सजातः, यः च निष्ट्यः ते हवं विवदत्,
तं अपाञ्चं कृत्वा, अथ इमं इह अवगमय ॥

(सू. ३, मं. ६)

'कोई सजातीय अथवा कोई विजातीय या विदेशीय मनुष्य तेरे राज्यारोहणके शुभ प्रसंगके विरुद्ध विवाद खडा करनेवाला हो तो उसको बहिष्कृत करके, पश्चात् इस राजाको यहां ले आओ ।'

सर्व संमतिसे जिस राजाको राज्यकी गद्दी दी जाती है, उसके विरुद्ध कार्यवाही करनेवाला यदि कोई मनुष्य हो तो (अपाश्चं तं कृत्वा) उसको अलग करके ही अन्य श्रेष्ठ लोगोंको अपना प्रशस्त कर्तव्य करना चाहिये । राज्यकी अंतर्गत व्यवस्था करनेके प्रसंगमें इस प्रकारके कई झगडे होते ही रहते है, इस लिये उसको दूर करनेका एक उपाय यहां बताया है, इसके अनुसंधानसे पाठक अन्य उपद्रव दूर कर सकते हैं ।

चतुर्थ सूक्त ।

यहां तृतीय सूक्तका विचार समाप्त हुआ और अब इसी विषयसे संबंध रखनेवाले चतुर्थ सूक्तका विचार करते है । तृतीय सूक्तका संबंध बाहर रहनेवाले राजाको पुनः स्वराज्यमें लाकर राज्यपर स्थापित करनेके महत्त्वपूर्ण कार्यके साथ है और इस चतुर्थ सूक्तका संबंध सर्वसाधारण राजाको और विशेषतः प्रजाके चुने हुए राजाको राजगद्दीपर बिठलानेके कार्यके साथ है, इसलिये इस चतुर्थ सूक्तका संबंध एक रीतिसे तृतीय सूक्तके साथ है और दूसरे विचारसे देखा जाय तो यह चतुर्थ सूक्त स्वतंत्र भी है । राजाका राज्याभिषेक इस चतुर्थ सूक्तका मुख्य विषय है। इस सूक्तमें प्रजाद्वारा राजाका चुनाव होनेका वर्णन मुख्य स्थान रखता है, वही पहले देखेंगे -

राजाका चुनाव ।

राजाका पुत्र हो अथवा नया ही योग्य वीर हो, उसकी प्रजाकी संमतिसे ही राज्य प्राप्त होता था । श्रीरामचंद्र जैसे सर्वमान्य पुरुषोंको को राज्य प्राप्त होनेके लिये प्रजाकी अनुमति लेनी पडी थी, इस बातको देखनेसे प्रजाकी संमति प्रबल शक्ति रखती थी ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है, इस सूक्तने इस वैदिक रीतिपर बहुत ही उत्तम प्रकाश डाला है, देखिये -

प्रदिशः देवीः इमाः पञ्च विशः त्वां राज्याय वृणताम् ।

(सू. ४, मं. २)

'दिशा उपदिशाओंमें रहनेवाली यह दिव्य पांच प्रकारकी प्रजा तुझको राज्यके आधिपत्यके लिये चुनें ।' प्रजा राज्यशासन चलानेके लिये तेरा स्वीकार करे, ऐसा कहते, मात्रसे राजगद्दीपर राजाको रखने या न रखनेका अधिकार प्रजाके आधीन है यह बात स्वयं सिद्ध होती है। अथर्ववेदमें इस बातको बतानेवाले कई सूक्त हैं, उनका विचार उनके स्थानपर यथावकाश होगा, पाठक भी ऐसे स्थान स्थानपर आनेवाले उल्लेखोंको इकठ्ठा करके सबका मिलकर इकठ्ठा विचार करेंगे तो उनको वैदिक राजानीति शास्त्रका ज्ञान होगा । अस्तु । इस प्रकार राजाचा चुनाव करके उनको राज्यपदके लिये स्वीकार करनेका अधिकार प्रजाका है यह बात इस मंत्रभाग द्वारा सिद्ध होगई, अब इस सूक्तके इसी भावके पोषक मंत्रभाग यहां देखिये -

हे राजन् ! सर्वाः प्रदिशः (प्रजाः) त्वा ह्वयन्तु ।

(सू. ४, मं. १)

हविनः सजाताः त्वा अच्छ यन्तु । (सू. ४, मं.३)

बहुधा विरुपाः सर्वाः (प्रजाः) संगत्य ते वरीय अक्रन् ।

(सू. ४, मं. ७)

ताः संविदानाः सर्वाः (प्रजाः) त्वा ह्वयन्तु ।

(सू. ४, मं. ७)

'हे राजन् ! सब दिशाओंमें रहनेवाली सब प्रजा तुझे पुकारें । भेट लानेवाले स्वजातीय लोग तेरे संमुख आ जावे । बहुत करके विभिन्न रुपवाली सब प्रजा एकत्र सभा करके तुझे श्रेष्ठ बनावें । वह जाननेवाली सब प्रजा तुझे ही बुलावें । इत्यादि मंत्रभाग प्रजाकी अनुमति राजाके लिये अत्यंत आवश्यक है यही बात बता रहे हैं। इसलिये इस सूक्तका स्पष्ट आशय यही है कि प्रजाद्वारा स्वीकृत होकर ही राजा राजगद्दीपर आ जावे । किसी पुरुषको जन्मतः राजगद्दीका अधिकार नही हो सकता, परंतु जिसको प्रजा स्वीकृत करे वही राजपदके लिये योग्य हो सकता है । इस सूक्तके उपदेशमें यह महत्त्वपूर्ण बात पाठक अवश्य देखे और वैदिक धर्मके अनुकूल प्रजानियुक्त तथा प्रजासमंतही राजा है यह स्मरण रखें ।

प्रजाका पालन ।

राज्याभिषेकके समय ही प्रजाके चुने और पसंद किये राजाको राजगद्दीपर अभिषिक्त होनेके समय बताया जाता है कि अब तेरा प्रजापालनरूप कर्तव्य है । देखिये -

१. राष्ट्रं त्वा आगन्,
२ वर्चसा सह उदिहि,
३ विशां पतिः प्राङ् एकराट् त्वं विराज,
४ उपसद्यः नमस्यः च इह भव ॥(सू. ४, मं. १)

'हे राजन् ! (१) अब तेरे पास यह राष्ट्र आ गया है, (२) अपने प्रकाशके साथ उदयको प्राप्त हो, (३) प्रजाका पालक मुख्य एक राजा होकर तू विशेष प्रकाशमान हो, (४) तथा सब प्रजाओंको पास जाने योग्य और नमस्कार करने योग्य बन !' इस प्रथम मंत्रमें 'प्रजा-पति' बन, यह आदेश है । पति शब्दका यद्यपि प्रसिद्ध अर्थ स्वामी या मालिक है तथापि यह शब्द 'पा' धातुसे बननेके कारण (पाति रक्षति) पालन करनेवालेका वाचक ही मुख्यतया यह शब्द है । जो पालन करता है वही पति कहलाने योग्य है, इसलिये प्रजापति (विशापतिः) ये शब्द प्रजापालन रूप राजाका कर्तव्य बताते है। राजा शब्द भी वस्तुतः अनियंत्रित राजाका वाचक नही है, प्रत्युत (रंजयति) प्रजाका रंजन करनेवाले उत्तम राजाका वाचक है । इस प्रकार यहां प्रजापालन रूप राजाका मुख्य कर्तव्य बताया है । ऐसे राजाको ही प्रजा प्रेमसे (नमस्यः, नमन करती है अर्थात् उसीका सत्कार करती है । राजा ऐसा हो कि जो आवश्यकता पडनेपर प्रजाको (उपसद्यः) मिल सके। जिसका दर्शन प्रजा कर सके ऐसा राजा हो । जो राजा सदा मंत्रियोंसे घिरा रहता है और त्रस्त प्रजाका दर्शन भी नही कर सकता वह प्रजासे नमस्कार कैसा प्राप्त कर सकता है ? इससे स्पष्ट हो सकता है कि प्रजाका नमस्कार प्राप्त करनेके लिये प्रजाको मिलना आवश्यक ही है ।

इस मंत्रके (राष्ट्रं त्वा आगन्) राष्ट्र तेरे पास आ गया है इस वाक्यसे स्पष्ट हो रहा है कि राष्ट्र अपनी संमतिसे तेरे समीप आया है, अर्थात् राष्ट्रके पांच प्रकारके प्रजाजनोंने राजगद्दीके लिये तुझे चुना है इसलिये उनकी निज संमतिसे ही यह राष्ट्र तुझे प्राप्त हुआ है, इस कारण तुझे उचित है कि तू राष्ट्रका पालन ऐसा कर कि सदा सर्वदा भविष्य कालमें राष्ट्रकी संमति तेरे अनुकूल ही रहे और कभी प्रतिकूल न बने। इस मंत्रका विचार करके पाठक जानें कि राजाको प्रजाकी अनुकूल संमतिकी कितनी आवश्यकता है । प्रजाकी अनुमतिके विना राजा राजगद्दीपर रह ही नहीं सकता, यह स्पष्ट आशय यहां प्रतीत होता है।

धनोंका विभाग ।

प्रजाओंमें धनका विषम विभाग हुआ तो अति धनी बने हुए लोग निर्धनोंपर बडा दबाव डालते है और उस कारण निर्धन लोग पीसे जाते है । इसलिये राजाके आवश्यक कर्तव्योंमेंसे एक यह कर्तव्य वेदने बताया है कि वह प्रजाओंमें योग्य प्रमाणसे वसुविभाग करे । धनकी विषमता प्रजामें न हो इस विषयमें वेदमें स्थान स्थानपर आदेश है -

१ राष्ट्रस्य वर्ष्मन् ककुदि श्रयस्व
ततः उग्रः (भूत्वा) नः वसूनि वि भज ॥
(सू. ४, मं. २)

२ अध मनः वसुदेवाय कृणुष्व
ततः उग्रः (भूत्वा) नः वसूनि वि भज ॥
(सू. ४, मं. ४)

'(१) राष्ट्रके ऐश्वर्यमय उच्च स्थानपर चढकर, उग्र बनकर हमारे लिये धनको विभक्त कर । (२) पश्चात् अपना मन धनके दानके लिये अनुकूल कर, उग्र बनकर हमारे लिये धनका विभाग करके बांट दे ।' इन दो मंत्रभागोंमें पहले कहा है कि 'हे राजन् ! तू सबसे पहले राष्ट्रके अत्यंत उच्च स्थानपर अर्थात् राजगद्दीपर आरूढ हो, पश्चात उग्र बन अर्थात् नरम दिलवाला, न बन और प्रजामें धनका विभाग कर । यद्यपि अनुमतिसेही राज गद्दीपर बैठता है तथापि उसको गद्दी पर बैठनेके पश्चात् उग्र बनना चाहिये ! यदि वह नरम दिलवाला बनेगा तो उससे राजाके कर्तव्य ठीक प्रकार निभाये जाना अशक्य है । धर्माधर्मका निर्णय करके अधर्माचरण करनेवालेको योग्य शासन करनेका कार्य उग्र बननेके विना नहीं हो सकता। इसलिये राजाको उग्र बनना अत्यंत आवश्यक है । उग्र बनकर और पक्षपात छोडकर अपना कर्तव्य राजाको करना चाहिये ।

धनविभाग ठीक प्रकार करनेके लिये राजाको न तो धनिकोंका पक्षपात करना योग्य है और ना ही निर्धनोंका पक्ष लेना चाहिये । राष्ट्रमें धन विषम प्रमाणमें न बंट जाय यह देखते हुए अपना वसुविभागका कर्तव्य पूर्ण करना चाहिये । यह बडा कठिन है, परंतु राज्यकी सुस्थितिके लिये अत्यंत आवश्यक है । धनकी विषमता, अधिकारकी विषमता, ज्ञानकी विषमता और जातीकी उच्चनीताकी विषमता आदि अनेक विषमताएं होती हैं, उनमें धन और अधिकारकी विषमता बडी घातक होती है, इस विषमताके कारण दबे हुए मनुष्य उठना कठिन हो जाता है और जो

दबी जातीकी भयानक स्थिति होती है वह सब जानते ही है । इसलिये वसुविभाग नामक राजाके कर्तव्यमें धनविषयक विषमता दूर करनेका उपदेश किया है । इसका महत्व पाठक समझे ।

शुभसंकल्प ।

प्रजाजनोंको शुभसंकल्पवाले बनाना भी राजाका एक मुख्य कर्तव्य है, इसका प्रारंभ राष्ट्रकी माताओं और राष्ट्रके सुपुत्रोंसे होना योग्य है इस विषयमें देखिये -

जायाः पुत्राः सुमनसः भवन्तु । (सू. ४, मं. ३)

हे राजन ! तू अपने राज्यमें शिक्षाका प्रबंध ऐसा कर कि जिससे 'स्त्रियां और बालबच्चे उत्तम विचारवाले बनें ।' जिस राष्ट्रकी माताएं और बालबच्चे सब उत्तम विचारवाले बने हों उस राष्ट्रकी गणना स्वर्गमें ही हो सकती है । सुविचारवाली कन्याएं और शुभसंकल्पवाले कुमार राष्ट्रमें बढनेसे ही ब्रह्मचर्यका वायुमंडल बन सकता है, अन्यथा जो होना संभव है वह आजकल प्रत्यक्ष ही दिखाई दे रहा है । राष्ट्रमें विद्याके अधिकारी, शिक्षक तथा अन्य प्रबंधके शासनाधिकारी जिस समय उत्तम ब्रह्मचारी हो सकते है उस समय ही राष्ट्रकी सब कन्याएं और सब कुमार उत्तम संकल्पवाले हो सकते हैं । पाठक इस बातका खूब विचार करें । यह एक अपूर्व उपदेश वेदने यहां बताया है जो प्राचीन समय व्यवहारमें आया था, परन्तु अब वह फिर शीघ्र व्यवहारमें आवेगा ऐसा दिखाई नहीं देता । क्योंकि अवैदिक वायुमंडल बढ रहा है । इसलिये वैदिकधर्मी आर्योंको उचित है कि वे कुमारी और कुमारोंके अन्दर पवित्र विचारका वायुमंडल उत्पन्न करनेका प्रयत्न करें और यह आदर्श अपने मनमें सदा जाग्रत रखें ।

राजाका रहना सहना ।

राजाका व्यवहार सीधासादा हो, राजा साधारण मनुष्य जैसा बनकर किसी किसी समय राष्ट्रमें भ्रमण भी करे और प्रत्यक्ष जनताका सुख-दुःख अवलोकन करे । इस विषयमें आदेश देखिये -

इन्द्रेन्द्र ! मनुष्याः (वत्) परेहि,
वरुणैः संविदानः सं अज्ञास्थाः ॥
स अयं त्वा स्वे सध्यस्थे अह्वत,
स उ देवान् यक्षतः विशः कल्पयात् ॥ (सू. ४, मं. ६)

'हे राजन् । साधारण लोगोंके समान बनकर दूर दूरतक जनतामें भ्रमण कर, वहांके श्रेष्ठ मनुष्योंके साथ मिलजुलकर उनकी सच्ची अवस्थाको जान । वे तुझे अपने घर बुलावें और यज्ञ करें, इस प्रकार प्रजाओंकी उन्नति कर ।'

यह मंत्र बहुत दृष्टियोंसे मननपूर्वक देखने योग्य है । सबसे पहिले इसमें यह कहा है कि राजा किसी किसी समय अपने दरबारी थाटको अलग करके स्वयं साधारण मनुष्योंके वेषमें होकर साधारण मनुष्योंके समान बनकर नगरोंमें भ्रमण करे और अपने आंखोंसे देखे कि अपने प्रजाकी अवस्था कैसी है, क्या प्रजा किसी प्रकार कष्टमें है या सुखमें है । अपने कर्मचारी प्रजाके साथ कैसा व्यवहार करते है । वहांके जो (वरुणैः = वरैः) प्रमुख लोग हों जो विशेष समझदार हों उनसे मिलकर सब अवस्थाको जान लो कि किस बातमें सुधार करके प्रजाका सुख बढाना चाहिये । ऐसा स्वयं देखनेसे तुम्हे पता लग जायगा कि राज्यप्रबंधमें दोष कहां है और गुण कहां है ।

दूसरी बात इसी मंत्रमें जो कही है वह यह है कि प्रजाके लोग राजाको विशेष समय अपने घर बुलावें, राजा वहां जावे, उनके साथ मिलजुलकर बातचीत करे, सब मिलकर यज्ञ, याग आदि करें, इस रीतिसे राजा प्रजाकी समर्थ बनावे और प्रजाकी उन्नति करे ।

ये सभी उपदेश उत्तम है और जैसे राजाको वैसे ही राजपुरुषोंको भी सदा मनन करने योग्य है ।

दूतका संचार ।

राजा स्वयं अपने राज्यमें भ्रमण करे और सब व्यवस्था स्वयं अपने आंखसे देखे, इस विषयमें ऊपर कहा ही है, परंतु अकेला राजा कहांतक भ्रमण कर सकता है और कहांतक देख सकता है, राजा लोग दूतोंके आंखोंसे ही देख सकते है, इसलिये दूतोंका संचार करानेके विषयमें तृतीय मंत्रमें कहा है -

अजिरः दूतः संचराते । (सू. ४, मं. ३)

'युवा दूत संचार करें ।' राष्ट्रमें दूतोंका संचार कराके राजा सब जानने योग्य बातें जान लेवे । और इस ज्ञानसे अपने शासन संबंधमें जो कुछ न्यूनाधिक करना हो वह करता रहे । अर्थात् दूत संचार यह शासनका एक आवश्यक अंग है क्योंकि इससे राजाको शासन विषयक प्रजाके सुख-दुःखोंका पता लगता है । इस प्रकार ज्ञान प्राप्त करके अपना शासन चलानेवाला राजा प्रजाको अत्यंत प्रिय होता है, इसलिये प्रजा भी उस राजाका सत्कार विविध प्रकारकी भेंट देकर करती है । इस विषयमें देखिये -

(१) **हविनः सजाताः त्वा अच्छ यन्तु** ॥ (सू. ४, मं. ३)
(२) **उग्रः बहुं बलिं प्रति पश्यासै** ॥ (सू. ४, मं. ३)

(१) 'हवि लेकर स्वजातीके लोग तेरे सन्मुख उपस्थित हों। (२) उग्र बनकर बहुत भेंट तू देगा' । इत्यादि प्रकार प्रजासे बडा सत्कार राजा प्राप्त कर सकता है। तथा -

(१) ते द्यावापृथिवी शिवे स्ताम् (सू. ४, मं. ५)

(२) उग्रः सुमनाः इद दशमीं वश । (सू. ४, मं. ७)

(१) 'हे राजन् ! तेरे लिये द्यावापृथिवी कल्याणपूर्ण हों, और (२) तू उग्र तथा उत्तम मनवाला बनकर यहां सौ वर्षतक राज्यको अपने वशमें कर ।' इसी प्रकार ' सब देवोंकी सहायता इस राजाको मिले' (मं. ४) इत्यादि प्रकारकी इच्छा लोग उसी समय करेंगे कि जिस समय राजा भी प्रजाका सुख बढानेमें दत्तचित्त होता हो । जो राजा प्रजाके सुखकी पर्वाह न करता हो उसके हिताहितकी फिक्र प्रजा भी नहीं करती । इसलिये हरएक राजाको सदा ध्यानमें यह बात रखना चाहिये कि 'मेरे पास जो राजपद आया है वह प्रजापालन करनेके लिये आया है, न कि अपने सुखभोग भोगनेके लिये ।' यह भाव मनमें रखता हुआ राजा अपना कर्तव्य योग्य रीतिसे पालन करे।

वरुण ।

यहां एक वैदिक वर्णन शैलीकी विशेषता आ गई है वह अवश्य देखने योग्य है । इन्द्र, वरुण आदि शब्द देवतोंके वाचक ही होते है अन्य किसीके वाचक नहीं हो सकते । ऐसा सामान्य तथा साधारण लोग समझते है । परंतु ये शब्द कभी कभी विशेषण रुप होकर किसी अन्यके गुणबोधक होते है और कभी स्वयं किसी अन्य पदार्थके वाचक भी होते है। यहां वरुण शब्द बहुवचनमें आया है इसलिये यह वरुण देवता वाचक निःसंदेह नही है, क्योंकि जिस समय वरुण देवताका वाचक यह शब्द होता है उस समय यह सदा एकवचनमें ही होता है । यह बहुवचनमें होनेके कारण यह यहां प्रजाजनोंका वाचक है । 'वरुण, वरण, वर्ण' इस प्रकार यह 'चार वर्णोके लागों' का वाचक हो सकता है किंवा वर अर्थात् श्रेष्ठोंका भी वाचक हो सकता है । यहां हमारे मतसे 'वर्ण' अर्थ लेना अधिक योग्य है, तथापि इसका अधिक विचार पाठक करें ।

राजा और राजाके बनानेवाले।

(५)

(ऋषिः - अथर्वा । देवता - सोमः)

आयमगन्पर्णमणिर्बली बलेन प्रमृणन्त्सपत्नान् ।
ओजो देवानां पय ओषधीनां वर्चसा मा जिन्वत्वप्रयावन् ॥ १ ॥
मयि क्षत्रं पर्णमणे मयि धारयताद्रयिम् ।
अहं राष्ट्रस्याभीवर्गे निजो भूयासमुत्तमः ॥ २ ॥

अर्थ- **(अयं बली पर्णमणिः)** यह बलवान् पर्णमणि **(बलेन सपत्नान् प्रमृणन्)** बलसे शत्रुओंका नाश करता हुआ **(आ अगन्)** आया है। यह **(देवानां ओजः)** देवोंका बल और **(औषधीनां पयः)** औषधियोंका रस है। यह **(अप्रयावन् वर्चसा मा जिन्वतु)** विरोध न करता हुआ तेजसे मुझे संयुक्त करे ॥१॥

हे पर्णमणे! **(मयि क्षत्रं)** मुझमें क्षात्रबल और **(मयि रयिं धारयतात्)** मुझमें धन धारण कर। **(अहं राष्ट्रस्य अभीवर्गे)** मैं राष्ट्रके आप्तपुरुषोंमें **(उत्तमः निजः भूयासं)** उत्तम निज बनकर रहूं ॥२॥

भावार्थ - यह पर्णमणि बल बढानेवाला, अपने बलसे शत्रुओंका नाश करनेवाला, देवोंका शक्तिरूप और औषधियोंके रससे बननेवाला है, यह मुझे अपने तेजसे युक्त करे ॥१॥

इससे मुझमें क्षात्रतेज और ऐश्वर्य बढे और मैं राष्ट्रका हितसाधन करनेवाला, अर्थात् राष्ट्रका निजसंबंधी बनकर रहूंगा ॥२॥

यं निदधुर्वनस्पतौ गुह्यं देवाः प्रियं मणिम्।
तमस्मभ्यं सहायुषा देवा ददतु भर्तवे ॥ ३ ॥
सोमस्य पर्णः सह उग्रमागन्निन्द्रेण दत्तो वरुणेन शिष्टः।
तं प्रियासं बहु रोचमानो दीर्घायुत्वाय शतशारदाय ॥ ४ ॥
आ मारुक्षत्पर्णमणिर्मह्या अरिष्टतातये।
यथाहमुत्तरोऽसान्यर्यम्ण उत संविदः ॥ ५ ॥
ये धीवानो रथकाराः कर्मारा ये मनीषिणः।
उपस्तीन्पर्ण मह्यं त्वं सर्वान्कृण्वभितो जनान् ॥ ६ ॥
ये राजानो राजकृतः सूता ग्रामण्यश्च ये।
उपस्तीन्पर्ण मह्यं त्वं सर्वान्कृण्वभितो जनान् ॥ ७ ॥

अर्थ - (यं गुह्यं प्रियं मणिं देवाः वनस्पतौ निदधुः) जिस गुह्य और प्रिय मणिको देवोंने वनस्पतिमें धारण किया था, (तं देवाः अस्मभ्यं आयुषा सह भर्तवे ददतु) उस मणिको देव हमें आयुके साथ पोषणके लिये देवें ॥३॥

(इन्द्रेण दत्तः) इन्द्रने दिया हुआ, (वरूणेन शिष्टः) वरूण द्वारा संस्कृत बना (सोमस्य पर्णः) सोम देवताका यह पर्णमणि (उग्रं सहः आ अगन्) उग्र बलसे युक्त होकर प्राप्त हुआ है। (तं) उस मणिके लिये (बहु रोचमानः) बहुत तेजस्वी मैं (दीर्घायुत्वाय शतशारदाय) दीर्घ आयुके लिये और सौ वर्षके जीवनके लिये (प्रियासं) प्रिय करूं ॥४॥

(पर्णमणिः मह्यै अरिष्टतातये) यह पर्णमणि बडे कल्याणके फैलानेके लिये (मा आ अरूक्षत्) मुझपर आरूढ हुआ है। (यथा अहं मर्यम्णः) जिससे मैं श्रेष्ठ मनवाले (उत संविदः) और ज्ञानीसे भी (उत्तरः असानि) अधिक श्रेष्ठ हो जाऊं ॥५॥

(ये धीवानः रथकाराः) जो बुद्धिवान् और जो रथ करनेवाले हैं तथा (ये मनीषिणः कर्माराः) जो बुद्धिवान् लुहारा है (पर्ण) पर्णमणे! (त्वं सर्वान् जनान् अभितः मह्यं उपस्तीन् कृणु) तू सब जनोंको मेरे चारों ओर उपस्थित कर ॥६॥

(ये राजानः राजकृतः) जो राजा और जो राजाओंको बनानेवाले है, (येसूताः ग्रामण्यः च) और जो सूत और ग्रामके नेता है, हे पर्णमणे ! तू सब जनोंको मेरे चारों और उपस्थित कर ॥७॥

भावार्थ - जिस मणिको देवोंने वनस्पतिसे बनाकर धारण किया था, उस मणिको देव हमें आयु और पुष्टिकी वृद्धिके लिये देवें ॥३॥

यह वनस्पतिसे बना हुआ, वरुणने सुसंस्कारयुक्त किया हुआ और इन्द्रने हमें पहले दिया हुआ, वीर्य और बलकी वृद्धि करनेवाला मणि है। उस मणिको मैं सौ वर्षकी दीर्घ आयुके लिये प्रेमपूर्वक धारण करता हूं ॥४॥

यह मणि मेरे शरीरपर धारण करनेसे मेरा सुख बढावे और इससे मैं श्रेष्ठ मनवाले और ज्ञानी पुरुषसे भी अधिक श्रेष्ठ होऊंगा ॥५॥

जो बुद्धिमान् रथकार और कुशल लुहार है वे सब मेरे पास उपस्थित हों ॥६॥

जो सरदार और राजाका चुनाव करके राजाको बनानेवाले हैं और जो सूत और ग्रामके नेता हैं वे सब मेरे चारों ओर उपस्थित हों ॥७॥

पर्णोऽसि तनूपानः सयोनिर्वीरो वीरेण मया ।
संवत्सरस्य तेजसा तेन बध्नामि त्वा मणे ॥ ८ ॥

इति प्रथमोऽनुवाकः ॥ १ ॥

अर्थ - हे (मणे) पर्णमणे ! तू (**पर्णः तनूपानः असि**) पर्णरूप और शरीररक्षक है, (**मया वीरेण सयोनिः वीरः असि**) मुझ वीरके साथ समान उत्पत्तिवाला वीर है, इसलिये मैं (**त्वा संवत्सरस्य तेन तेजसा बध्नामि**) तुझको संवत्सरके उस तेजके साथ बांधता हूं ॥८॥

भावार्थ - यह मणि उत्तम शरीररक्षक है और वीरताका उत्साह बढानेवाला है, इसको मैं एक वर्षपर्यंत स्थिर रहनेवाला तेजके साथ धारण करता हूं ॥८॥

पर्ण मणि ।

इस सूक्तमें पर्णमणिके धारणकी उल्लेख है। अथर्ववेद काण्ड २ सू. ४ में जङ्गिड मणिका वर्णन है, उस प्रसंगमें मणिधारणके विषयमें जो लेख लिखा है वह पाठक यहां भी देखे । यह पर्णमणि इसलिये कहा जाता है कि यह औषधियोंके स्वरससे बनाया होता है , देखिये -

१ पर्णमणिः औषधीनां पयः। (सू. ५, मं.१)
२ पर्णः (पर्णमणिः) सोमस्य उग्र सहः । (सू. ५, मं. ४)
३ देवाः (पर्ण-) मणि वनस्पतौ निदधुः । (सू. ५, मं.३)

१ ' पर्णमणि औषधियोंका दूध ही है ! (२) यह पर्णमणि सोमवल्लीका उग्र बल है । (३) देवोंने पर्णमणिको वनस्पतिमें रखा है ।' ये इसके वर्णन स्पष्टतासे बता रहे हैं कि यह मणि वनस्पतियोंके दूधसे बनाया जाता है । 'पर्ण - मणि' यह शब्द भी स्वयं अपना अर्थ व्यक्त कर रहा है कि यह (पर्ण) पत्तोंका मणि है अर्थात् वनस्पतिके पत्तोंके रससे बना है । इसके धारणसे वनस्पति - रसके वीर्यके कारण शरीरपर बडा प्रभाव होता है, इस विषयमें देखिये -

१ अयं पर्णमणिः बली । (सू. ५, मं.१)
२ पर्णः तनूपानः । (सू. ५, मं.८)
३ बलेन सपत्नान् प्रमृणन् । (सू. ५, मं.१)
४ देवानां ओजः ... मा वर्चसा जिन्वतु । (सू. ५, मं.१)
५ मयि क्षत्रं मयि रयिं धारयतात् । (सू.५, मं.२)
६ आयुषे भर्तवे च तं अस्मभ्यं ददतु । (सू. ५, मं.३)
७ पर्णः उग्र सहः ... दीर्घायुत्वाय शतशारदाय । (सू.५,मं.५)
८ पर्णमणिः अरिष्टतातये मा आरूक्षत् । (सू. ५, मं.५)

(१) 'यह पर्णमणि बल बढानेवाला है, (२) यह (तनू - पानः) शरीरका रक्षक है,(३) यह अपने बलसे रोगरूपी शत्रुओंको नाश करता है, (४) यह (देवानां) इंद्रियोंका बल बढानेवाला है यह मेरा तेज बढावे, (५) यह मुझमें क्षात्रतेज और शरीरकी कान्ति बढावे,(६) दीर्घ आयुष्य और शरीरकी पुष्टि इससे बढे, (७) यह मणि बडा बल बढानेवाला है, इससे सौ वर्षकी दीर्घायु मुझे प्राप्त हो, (८) यह मणि शरीरपर धारण करनेपर मेरी शक्ति बढावे।

इस प्रकारके वर्णन बता रहे हैं कि इन 'पर्णमणि' के अंदर बडा प्रभाव है और इसके शरीरपर धारण करनेसे शरीरमें नित्य उत्साह रहता है, बलके कार्य करनेके योग्य शरीरकी शक्ति होती है, शरीरका तेज बढता है और मनुष्य बडा तेजस्वी होनेके कारण प्रभावशाली दिखाई देता है । यह वनस्पतिके रसोंका प्रभाव है । वैद्य लोग इस मणिकी खोज करें !

राष्ट्रका निज बनना ।

'राष्ट्रका निज' बनकर रहनेका उपदेश इस सूक्तमें विशेष मनन करने योग्य है । जो लोग राष्ट्रमें रहें वे निज बनकर रहेंगे तो ही राष्ट्रका भला हो सकता है, इस विषयमें द्वितीय मंत्र मनन करने योग्य है -

अहं राष्ट्रस्य अभीवर्गे निजो भूयासमुत्तमः । (सू.५, मं.२)

'मैं इस राष्ट्रके हितचिंतक वर्गमें उत्तम निज बनकर रहूंगा ।' यहां राजा, राजपुरूष, अधिकारी वर्ग आदि सब

राष्ट्रके निज बनकर रहें यह उपदेश स्पष्ट है। राष्ट्रमें रहता हुआ कोई मनुष्य राष्ट्रके लिये पराया बनकर न रहे। यहां निज बनकर रहनेका भाव क्या है और पराया बनकर रहनेका भाव क्या है यह अवश्य देखना चाहिये। अपने यहांका ही उदाहरण लिजिये। इस भारतवर्षमें जापानी, चीनी, अमरिकन और योरोपीयन आते हैं और रहते भी है, परंतु इनमेंसे कोई भी 'भारतवर्षका निज' बनकर नहीं रहता। जो ये आते हैं वे 'उपरी' बनकर आते हैं, उपरी बनकर यहां रहते हैं, उपरी बनकर यहांका कारोबार करते हैं और पश्चात् चले जाते हैं। इस कारण इनके उपरी भावसे भारतवर्षका अहित ही होता है। इसलिये उपरी भावसे रहना राष्ट्रके लिये घातक है। जो 'निजभाव' से रहेंगे, राष्ट्रका जो हित और अहित है वह अपना हित और अहित है, इस दृष्टिसे व्यवहार करेंगे उनसे राष्ट्रका अहित नहीं होगा। यह तो साधारण मनुष्योंकी बात होगई है, परन्तु जो राष्ट्रके कर्मचारी है, यदि वे उपरी या पराये भावसे राष्ट्रमें रहने लगे, तो राष्ट्रका नुकसान कितना होगा इसका हिसाब लगाना कठीन है। इस दृष्टिसे पाठक देखे कि 'राष्ट्रका निज' बनकर रहनेका भाव कितना उच्च है और राष्ट्रहितकी दृष्टिसे कितना आवश्यक है। 'निजभाव' से रहनेके कारण विदेशी लोग भी स्वदेशीके समान राष्ट्रहित करनेवाले बनेंगे और 'निजभाव' न रखनेवाले स्वदेशी लोग भी परदेशी लोगोंके समान राष्ट्रहितका घात करनेवाले बनेंगे। यहां पाठक 'राष्ट्रका निज' बनकर रहनेका कितना महत्त्व है यह देखे और अपने राष्ट्रके निज बनकर रहें।

राजाको निर्माण करनेवाले।

इस सूक्तके सप्तम मंत्रमें 'राज - कृतः' शब्द है इसका अर्थ 'राजाको निर्माण करनेवाले (King makers)' है। राजाको किस रीतिसे निर्माण करते हैं यह प्रा यहां उत्पन्न हो सकता है। इसीकी उत्तर इसके पूर्वके चतुर्थ सूक्तने ही दिया है, राजाका चुनाव प्रजा द्वारा होता है और राजगद्दीपर आता है, इसीकी प्रजा द्वारा राजाका निर्वाचन, राजाका स्वीकार, राजाका नियोजन, अथवा राजाका चुनाव कहते हैं। जिसका चुनाव प्रजा करती है, उसका मानो 'निर्माण' ही प्रजा करती है। इस प्रकार राजाके पितृ या मातृस्थानमें प्रजा होती है, इसीलिये राजसभाके सदस्य राजाके 'पितर' हैं ऐसा वेदमें ही अन्यत्र कहा है (देखो अथर्व. कां. ५, सू. १२, मं. १-२)। प्रजाके जो महाजन नेता अथवा शिष्ट लोग होते हैं वे राजाका चुनाव करते हैं और उसको निर्माण करते हैं, इसीलिये प्रजाकी रक्षा करना राजाका परम श्रेष्ठ कर्तव्य है। मातृरक्षाके समान ही प्रजारक्षाका यह राजधर्म है।

मंत्र ६ और ७ मैं कहा है कि रथकार, सुतार, लुहार, ज्ञानी पुरूष, मंत्री, सूत, ग्रामनेता, सरदार तथा राजाका चुनाव करनेवाले ये सब लोग राजाके पास रहें, राजाके अनुगामी बनें, राजाके साथ रहकर राजाको योग्य सलाह दें। इस प्रकार राज्यका शासन प्रजाके द्वारा नियुक्त किये राजपुरूषों द्वारा प्रजाके हितके लिये प्रजाकी अनुमतिसे चलाया जावे। इसीसे राष्ट्रका सच्चा हित हो सकता है।

यद्यपि यह सूक्त वस्तुतः पर्णमणिका वर्णन करता है, तथापि प्रसंगसे राष्ट्रका निज बनकर रहना, राजाका चुनाव प्रजाद्वारा करना इत्यादि महत्त्वपूर्ण बातोंका उपदेश होनेके लिये वैदिक राजनीति शास्त्रकी दृष्टिसे यह सूक्त बडे महत्त्वपूर्ण आदेश दे रहा है। इसलिये पाठकभी इसी दृष्टिसे इस सूक्तका मनन करें।

यहसंपूर्ण अनुवाक राजप्रकरणका ही उपदेश देता है।

॥ यहां प्रथम अनुवाक समाप्त ॥

●●●

वीर पुरुष ।

(६)

(ऋषिः - जगद्बीजं पुरुषः । देवता - वानस्पतिः, अश्वत्थः)

पुमान्पुंसः परिजातोऽश्वत्थः खदिरादधि ।
स हन्तु शत्रून्मामकान्यानहं द्वेष्मि ये च माम् ॥ १ ॥
तानश्वत्थ निः शृणीहि शत्रून्वैबाधदोधतः ।
इन्द्रेण वृत्रघ्ना मेदी मित्रेण वरुणेन च ॥ २ ॥
यथाश्वत्थ निरभनोऽन्तर्महत्यर्णवे ।
एवा तान्त्सर्वान्निर्भङ्ग्धि यानहं द्वेष्मि ये च माम् ॥ ३ ॥
यः सहमानश्चरसि सासहान इव ऋषभः ।
तेनाश्वत्थ त्वया वयं सपत्नान्त्सहिषीमहि ॥ ४ ॥

अर्थ - जैसा (**स्वदिरात् अधि अश्वत्थः**) खैरके वृक्षके ऊपर अश्वत्थ वृक्ष होता है इसी प्रकार (**पुंसः पुमान् परिजातः**) वीर पुरुषसे वीर पुरुष उत्पन्न होता है। (**सः मामकान् शत्रून् हन्तु**) वह मेरे शत्रुओंका वध करे (**यान् अहं द्वेष्मि, ये च माम्**) जिनका मैं द्वेष करता हूं और जो मेरा द्वेष करते हैं ॥१॥

हे (**अश्व-त्थ**) अश्वके समान बलिष्ठ वीर ! (**तान् वैबाधदोधतः शत्रून्**) उन विविध बाधा करनेवाले दोही शत्रुओंको (**निः श्रृणीहि**) मार डाल और (**वृत्रघ्ना इन्द्रेण मित्रेण वरुणेन च मेदी**) वृत्रका नाश करनेवाले इन्द्र, मित्र और वरुणसे मित्रता कर ॥२॥

हे अश्वत्थ ! (**यथा महति अर्णवे निरभनः**) जैसे बडे समुद्रमें तू भदन करता है, (**एव**) उसी प्रकार (**तान् सर्वान् निर्भङ्ग्धि**) उन सबको छिन्न भिन्न कर (**यान् अहं द्वेष्मि ये च मां**) जिनका मैं द्वेष करता हूं और जो मेरा द्वेष करते हैं ॥३॥

हे अश्वत्थ ! (**यः सहमानः सासहानः**) जो तू शत्रुको दबानेवाला बलवान् (**ऋषभः इव**) बैलके समान होकर (**चरसि**) विचरता है , (**तेन त्वया वयं सपत्नान् सहिषीमहि**) उस तेरे साथ हम शत्रुओंको पराजित करेंगे ॥४॥

भावार्थ - खैरके वृक्षपर अश्वत्थ वृक्ष उगता है और उसीपर बढता है, इसी प्रकार वीर पुरुषसे वीर संतान उत्पन्न होती है और वीरोंके साथ ही बढती है। ऐसे वीर हमारे वैरियोंको हटा देवें ॥१॥

हे वीर ! तू शत्रुनाश करनेवाले वीरोंके साथ मिलकर विशेष बाधा करनेवाले शत्रुओंको मार डाल ॥२॥

हे शूर ! जिस प्रकार नौकासे बडे समुद्रके पार होते हैं उसी प्रकार तू उन सब शत्रुओंका भेदन करके पार हो ॥३॥

हे बलवान् ! जो तू बलिष्ठ होकर शत्रुको दबाते हुए सर्वत्र संचार करता है, उस तेरी सहायतासे हम अपने सब शत्रुओंको पराजित कर सकते हैं ॥४॥

सिनात्वेनान्निर्ऋतिर्मृत्योः पाशैरमोक्यैः ।
अश्वत्थ शत्रून्मामकान्यानहं द्वेष्मि ये च माम् ॥ ५ ॥
यथाश्वत्थ वानस्पत्यानारोहन्कृणुषेऽधरान् ।
एवा मे शत्रोर्मूर्धानं विष्वग्भिन्द्धि सहस्व च ॥ ६ ॥
तेऽधराञ्चः प्र प्लवतां छिन्ना नौरिव बन्धनात् ।
न वैबाधप्रणुत्तानां पुनरस्ति निवर्तनम् ॥ ७ ॥
प्रैणान्नुदे मनसा प्र चित्तेनोत ब्रह्मणा ।
प्रैणान्वृक्षस्य शाखयाश्वत्थस्य नुदामहे ॥ ८ ॥

अर्थ - हे अश्वत्थ ! **(निर्ऋतिः मृत्योः अमोक्यैः पाशैः एनान् मामकान् शत्रून् सिनातु)** आपत्ति मृत्युके न टूटनेवाले पाशोंसे इन मेरे शत्रुओंको बांध देवे जिनका मैं द्वेष करता हूं और जो मेरा द्वेष करते हैं ॥५॥

हे अश्वत्थ ! **(यथा आरोहन् वानस्पत्यान् अधरान् कृणुषे)** जैसा तू ऊपर रहता हुआ अन्य वृक्षोंको नीचे करता है, **(एवा)** इसी प्रकार **(मे शत्रोः मूर्धानं विष्वक् भिन्धि)** मेरे शत्रुओंके सिरको सब ओरसे तोड दे और **(सहस्व च)** उसको जीत लो ॥६॥

(बन्धनात् छिन्ना नौः इव) बन्धनसे छूटी हुई नोकाके समान **(ते अधराञ्चः प्र प्लवतां)** वे अधोगतिके मार्गसे बहते चले जावे **(वैबाधप्रणुत्तानां पुनः निवर्तनं न अस्ति)** विशेष बाधा करनेवालोंका पुनः लौटना नहीं होता है ॥७॥

(एनान् मनसा प्र नुदे) इन शत्रुओंको मनसे मैं हटाता हूं । **(चित्तेन उत ब्रह्मणा प्र)** मैं चित्तसे और ज्ञानसे हटाता हूं । **(अश्वत्थस्य वृक्षस्य शाखया)** अश्वत्थ वृक्षकी शाखासे **(एनान् प्र नुदामहे)** इनको हम हटा देते हैं ॥८॥

भावार्थ - हे शक्तिमान् ! मेरे वैरी आपत्तियोंके पाशोंसे बांधे जावें अर्थात् वे आपत्तियोंमें पडें ॥५॥

जिस प्रकार पीपलका वृक्ष अन्य वृक्षोंपर उगता है और उनको नीचे दबाता है उसी प्रकार वीर मेरे शत्रुओंको नीचे दबा देवे और उनके सिर तोड देवे ॥६॥

विशेष बाधा करनेवाले शत्रु अधोगतिसे नीचेकी ओर गिरते जायंगे । ऐसे एक बार गिरे हुए फिर कभी उठते नहीं ॥७॥

मनसे, चित्तसे और अपने ज्ञानसे मैं शत्रुओंको दूर करता हूं ॥८॥

अश्वत्थकी अन्योक्ति ।

यह सूक्त अश्वत्थकी अन्योक्ति है । अन्योक्ति अलंकार पाठक जानते ही है । एकका प्रत्यक्ष उल्लेख करके दूसरेके ही विषयमें कहनेका नाम अन्योक्ति है । इसी प्रकार यहां अश्वत्थ वृक्षका वर्णन करते हुए वीर पुरुषका वर्णन किया है । इसलिये यह अश्वत्थान्योक्ति है ।

अश्वत्थ शब्दके बहुत अर्थ है - (१) पीपल वृक्ष, (२) (अश्व-त्थः) अश्वके समान बलवान् बनकर रहनेवाला वीर, (३) (अ - श्व - त्थ) जो कल रहेगा ऐसा निश्चय नहीं कहा जाता, नश्वर, (४) सूर्य (५) अश्विनी नक्षत्र इत्यादि अनेक अर्थ इस शब्दके हैं । यहां पहले दो अपेक्षित है ।

अश्वत्थ अर्थात् पीपल वृक्ष दूसरे वृक्षोंपर उगा हुआ दिखाई देता है -

यथा अश्वत्थ वानस्पत्यान् आरोहन् अधरान् कृणुषे । (सू.६, मं.६)

इस दृश्यपर काव्य दृष्टिसे यह अलंकार हो सकता है कि यह अश्वत्थ वृक्ष बडा भारी वीर है जो अन्य वृक्षोंको अपने पांवके नीचे दबाता है और अन्य वृक्षोंके सिरपर अपना पांव रखकर खडा हो जाता है । जिस प्रकार वीर पुरुष शत्रुके सिरको अपने पांवके नीचे दबाता है उसी

प्रकार मानों पीपलका यह कृत्य है । इसलिये अश्वत्थ वृक्षकी अन्योक्तिसे इस सूक्तमें शूर पुरुषका वर्णन किया है । पाठक इस दृष्टिसे यह सूक्त पढें ।

आनुवंशिक संस्कार ।

इस सूक्तके प्रथम ही मंत्रमें कहा है कि 'पुसः पुमान् परिजातः' वीरसे वीर संतान उत्पन्न होती है, वीरके कुलमें वीर उत्पन्न होते हैं । इसका यह तात्पर्य नहीं है कि अन्य कुलमें वीर उत्पन्न नहीं हो सकते, परन्तु यह वीर संतान उत्पन्न होनेके योग्य वायुमंडल कहा रहता है यही दिखाया है । बचपनसे वीरताकी बाते श्रवण करनेके कारण वीरके संतान वीरतासे युक्त होना अत्यंत स्वाभाविक है, यही यहा कहनेका तात्पर्य है ।

यह वीर सब प्रकारके शत्रुओंको हटा देवे, यही सब मंत्रोंमें कहा है और मंत्रोंका यह आशय सरल होनेसे इसका अधिक स्पष्टीकरण करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है ।

शत्रुका लक्षण ।

इस सूक्तमें 'वै - बाध' (विशेष बाधा करना) यही एक वैरी होनेका लक्षण कहा है (मं. २,७) । वैयक्तिक, सामाजिक, धार्मिक, राजकीय आदि अनेक प्रकारके शत्रु हो सकते हैं और इन केन्द्रोंमें ये शत्रु विशेष प्रकारकी बाधा भी करते हैं । यह अनुभव पाठकोंको है ही । ये सब शत्रु दूर करने चाहिये और जनताका सुख बढाना चाहिये। यह इस सूक्तके उपदेशका सार है । शत्रुको दूर करनेका उपाय इस प्रकार करना चाहिये -

मनसा, चित्तेन उत ब्रह्मणा एनान् प्र नुदे ।

(सू.६, मं.८)

'मन, चित्त और ज्ञानसे शत्रुओंको दूर करनेके उपाय सोचने चाहिये ' और उन उपायोंका मनन करना चाहिये । मनसे शत्रुनाश करनेका मनन करना चाहिये, चित्तसे इसी बातका चिंतन करना चाहिये, और अपना ज्ञान बढाकर उस ज्ञानसे ऐंसी योजनाएं करना चाहिये कि जिससे शत्रु शीघ्र ही नष्ट हो जावे । तात्पर्य हरएक प्रकारकी युक्ति करके शत्रुको हटाना चाहिये ।

गिरावटका मार्ग ।

जो विशेष बाधा करते हैं, जो जनताको सताते हैं, जो लोगोंको उपद्रव देते हैं वे स्वकर्मसे ही गिरते हैं । उनके बुरे कर्मके कारण वे स्वयं अधोगतिके मार्गसे गिरते रहते हैं, इस विषयमें सप्तम मंत्रका कथन हरएक मनुष्यके लिये मनन करने योग्य है -

बन्धनात् छिन्ना नौः इव, ते अधराञ्चः प्र प्लवताम् । वैबाधप्रणुत्तानां पुनः निवर्तनं नास्ति ॥

(सू. ६, मं.७)

'बंधनसे नौका जैसी छूटती है और जलप्रवाहसे बहती जाती है उस प्रकार वे जनताको विशेष कष्ट देनेवाले दुष्ट लोग अधोगतिसे नीचेकी और गिरते जाते हैं । उनके उठनेकी कोई आशा नही है। जो दुष्ट जनताको विशेष बाधा करते हैं और उस कारण पतित होते जाते हैं, उनके ऊपर उठनेकी कोई आशा नहीं है ।'

इस मंत्रने पाठकोंको सावधान किया है कि वे अपने चरित्रका अवलोकन करें और सोचे कि अपनी ओरसे तो किसीको कष्ट नहीं होते है ? क्योंकि जो दूसरोंको कष्ट देते हैं उनकी उन्नतिकी कोई आशा नहीं है । एक मनुष्य दूसरे मनुष्यको कष्ट देगा, एक जाती दूसरी जातीको कष्ट देगी, एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्रको सतायेगा, तो वह सतानेवाले अन्य रीतिसे गिरते जाते है और उनके उठनेकी कोई आशा नहीं होती है । जो राष्ट्र दूसरे देशोंको परतंत्रतामें रखते हैं वे इसी प्रकार गिरते जाते हैं । साम्राज्यपदके कारण भी इस प्रकार गिरावट होती जाती है । यदि किसीको दबाकर एक स्थानपर रखना हो तो जैसा दबे हुएको वहां दबकर रहना पडता है, उसी प्रकार दबाने वालेको भी वहां ही रहना पडता है । इसी प्रकार अन्य बातें पाठक जान सकते हैं । तात्पर्य यह है कि कोई भी जाती जो दूसरोंपर अत्याचार करती है, स्वयं अधोगतिके मार्गसे गिरती जाती है और जबतक वह अपना अत्याचार बंद नहीं करती, तबतक उसके उठनेका कोई मार्ग नहीं होता है । यह जानकर कोई किसी दूसरेपर कभी अत्याचार न करे । दूसरेपर अत्याचार न करनेसे ही उन्नतिका मार्ग खुला रह सकता है ।

विजयकी तैयारी ।

इस सूक्तमें 'सहमान सासहान' (मं.४) ये दो शब्द हैं, अन्य स्थानोंमें 'सहमान, असह्य' ये शब्द है, जो विजयकी तैयारीके सूचक है -

१ सहमान - शत्रुके हमले होनेपर जो अपना स्थान नहीं छोडता ।

२ असह्य, सासहान - इसके हमले शत्रुपर होनेपर शत्रु इसके संमुख ठहर नहीं सकता ।

विजय प्राप्त करना हो तो अपनी तैयारी ऐसी करनी चाहिये । तभी विजय होगा ।

पाठक इस सूक्तका इस दृष्टिसे विचार करें । और शत्रुको दूर भगानेके विषयमें योग्य बोध प्राप्त करें ।

आनुवंशिक रोगोंका दूर करना।

(७)

(ऋषिः - भृग्वङ्गिराः। देवता - हरिणः, तारके, आपः, यक्ष्मनाशनम्)

हरिणस्यं रघुष्यदोऽधि शीर्षणि भेषजम्।
स क्षेत्रियं विषाणया विषूचीनमनीनशत् ॥ १ ॥
अनु त्वा हरिणो वृषा पद्भिश्चतुर्भिरक्रमीत्।
विषाणे वि ष्यं गुष्पितं यदस्य क्षेत्रियं हृदि ॥ २ ॥
अदो यदवरोचते चतुष्पक्षमिव च्छदिः।
तेना ते सर्वं क्षेत्रियमङ्गेभ्यो नाशयामसि ॥ ३ ॥
अमू ये दिवि सुभगे विचृतौ नाम तारके।
वि क्षेत्रियस्य मुञ्चतामधमं पाशमुत्तमम् ॥ ४ ॥
आप इद्वा उ भेषजीरापो अमीवचातनीः।
आपो विश्वस्य भेषजीस्तास्त्वा मुञ्चन्तु क्षेत्रियात् ॥ ५ ॥

अर्थ - (रघुष्यदः हरिणस्य शीर्षणि अधि) वेगवान् हरिणके सिरके अंदर (भेषजं) औषध है। (सः विषाणया) वह सींगसे (क्षेत्रियं विषूचीनं अनीनशत्) क्षेत्रिय रोगको सब प्रकारसे नष्ट कर देता है ॥१॥

(वृषा हरिणः चतुर्भिः पद्भिः) बलवान् हरिण चारों पांवोंसे (त्वा अनु अक्रमीत्) तेरे अनुकूल आक्रमण करता है। हे (विषाणे) सींग ! तू (यत् अस्य हृदि गुष्पितं क्षेत्रियं) जो इसके हृदयमें गुप्त क्षेत्रिय रोग है उसको (वि ष्य) नाश कर दे ॥२॥

(अदः यत्) वह जो (चतुष्पक्षं छदिः इव) चार पक्षवाले छतके समान (अवरोचते) चमकता है (तेन ते अङ्गेभ्यः) उससे तेरे अंगोंसे (सर्वं क्षेत्रियं नाशयामसि) सब क्षेत्रिय रोगको हम नाश करते हैं ॥३॥

(अमू ये दिवि) वे जो आकाशमें (सुभगे विचृतौ नाम तारके) उत्तम प्रकाशमान् दो सतारे हैं - वनस्पतियां हैं। (क्षेत्रियस्य अधमं उत्तमं पाशं वि मुञ्चतां) क्षेत्रिय रोगके नीचे और ऊंचे पाशको छुडा देवें ॥४॥

(आपः इत् वै उ भेषजीः) जल निःसन्देह औषध है, (आपः अमीवचातनीः) जल रोगनाशक है (आपः विश्वस्य भेषजीः) जल सब रोगोंकी दवा है। (ताः त्वा क्षेत्रियात् मुञ्चन्तु) वह जल तुझे क्षेत्रिय रोगसे छुडा देवे ॥५॥

भावार्थ - वेगसे दौंडनेवाले हरिणके सींगमें उत्तम औषध है उस सींगसे क्षेत्रिय रोग दूर होते हैं ॥१॥

बलवान् हरिणके सींगसे हृदयमें गुप्त अवस्थासे रहा हुआ क्षेत्रिय रोग दूर हो जाता है ॥२॥

यह चार पंखवाले छतके समान हरिणका सींग चमकता है उससे सब अंगोंमें रहनेवाले क्षेत्रिय रोगका नाश होता है ॥३॥

ये जो प्रकाशमान् सतारोंके समान तारका नामक दो औषधियां है उनसे वंशके रोग दूर होते हैं ॥४॥

जल उत्तम औषधि है, उससे सब रोग दूर होते है, सब रोगोंके लिये यह एक औषध है उससे क्षेत्रिय रोग दूर होता है ॥५॥

यदासुतेः क्रियमाणायाः क्षेत्रियं त्वा व्यानशे ।
वेदाहं तस्य भेषजं क्षेत्रियं नाशयामि त्वत् ॥ ६ ॥
अपवासे नक्षत्राणामपवास उषसामुत ।
अपास्मत्सर्वं दुर्भूतमप क्षेत्रियमुच्छतु ॥ ७ ॥

अर्थ - **(यत् क्रियमाणायाः आसुतेः)** यदि बिगडनेवाले रससे **(क्षेत्रियं त्वा व्यानशे)** क्षेत्रियरोग तेरे अन्दर व्यापा है । तो **(तस्य भेषजं अहं वेद)** उसका औषध मैं जानता हूं और उससे मैं **(त्वत् क्षेत्रियं नाशयामि)** तुझसे क्षेत्रिय रोगको नाश करता हूं ॥६॥

(नक्षत्राणां अपवासे) नक्षत्रोंके छिपनेपर **(उत उषसां अपवासे)** उषाके चले जानेपर **(सर्वे दुर्भूतं अस्मत् अप)** सब अनिष्ट हम सबसे दूर होवे तथा **(क्षेत्रियं अप उच्छतु)** क्षेत्रिय रोग भी हट जावे ॥७॥

भावार्थ - यदि बिगडे जलके निमित्तसे तेरे अन्दर क्षेत्रिय रोग प्रकट हुआ है तो उसके लिये औषध मैं जानता हूं और उससे रोग भी दूर करता हूं ॥६॥

नक्षत्र छिपनेपर और उषा चली जाते ही सब रोगबीज हम सबसे दूर होवे और हमारा क्षेत्रिय रोग भी दूर होवे ॥७॥

मातापितासे संतानमें आये क्षेत्रिय रोग ।

जो रोग मातापितासे संतानमें आते हैं उनको क्षेत्रिय रोग कहते हैं । ये क्षेत्रिय रोग दूर होना कठिन होता है। इनकी चिकित्सा इस सूक्तमें कही है ।

हरिणके सींगसे चिकित्सा ।

जो कृष्ण मृग होता है, जिसके सींग बडे भारी होते हैं, उन सींगोंमें क्षेत्रिय रोग दूर करनेका गुण होता है । 'हरिणके सिरमें औषध है जो सींगमें आता है जिसके कारण क्षेत्रिय रोग दूर होते हैं । (मं.१)' हरिणके सींगके विषयमें वैद्यकग्रंथका -

मृगश्रृङ्गं भस्महृद्रोगे त्रिकशूलादौ शस्तम् ।

- वैद्यक शब्दसिंधु।

'मृगका सींग भस्मरोग, हृदयरोग और त्रिक शूलादि रोगोंके लिये प्रशस्त है।' यह कथन इस सूक्तके कथनके साथ संगत होता है ।

हृदय रोग ।

इस सूक्तके द्वितीय मंत्रमें **'हृदि गुष्पितं क्षेत्रियं'** (मं.२) हृदयमें रहनेवाला गुप्त क्षेत्रिय रोग, यह प्रायः हृदयरोग ही होगा । तृतीय मंत्रमें **'अंगेभ्यः क्षेत्रियं'** (मं.३) सब अंगोंसे क्षेत्रिय रोग दूर करनेकी बात कही है । प्रथम मंत्रमें सामान्य क्षेत्रिय रोगका वर्णन है । ये सब रोग हरिणके सींगसे दूर होते हैं । हरिणका सींग चंदनके समान पत्थरपर जलमें घिसकर सिरपर लगाया जाता है अथवा थोडा थोडा अल्प प्रमाणमें पेटमें भी लेते हैं ।इस प्रांतमें छोटे बालकोंको उक्त प्रकार किंचित् जलमें घोलकर पिलाते भी है और माताएं कहती हैं कि इससे संतानोंको आरोग्य होता है । सिरमें गर्मी चढनेपर सिरपर लगानेसे गर्मी दूर होती है । मस्तिष्क पागल होनेकी अवस्थामें यह उत्तम औषध है ।

औषधि चिकित्सा ।

चतुर्थ मंत्रमें 'सुभगा और तारका' ये दो शब्द है । इसी प्रकारका मंत्र काण्ड २, सू.८ में आया है, देखिये -

भगवती और तारका ।

भग - वती विचृतौ नाम तारके ॥

(कां. २, सू.८,मं.१)

इसके साथ इस सूक्तका मंत्र भी देखिये -

सु - भगे विचृतौ नाम तारके ॥ (कां.३, सू.७, मं.४)

इसमें विधानकी समता है । इसलिये द्वितीय कांडके अष्टम सूक्तके प्रसंगमें 'भगवती और तारका' वनस्पतियोंके विषयमें जो लिखा है, वही यहां पाठक समझें । सुभगा और भगवती ये दो शब्द एक ही वनस्पतिके वाचक होंगे। और तारका शब्द दूसरी वनस्पतिका वाचक होगा। ये दो वनस्पतियां क्षेत्रियरोगको दूर करती है ।

इनसे किसका बोध लेना है इस विषयमें कां. २, सू.८, मं.१ का विवरण देखिये।

द्युलोक और भूलोकमें समान औषधियां।

वनस्पतियोंके साथ द्युलोकका संबंध बताया है। सोम द्युलोकमें है और पृथ्वीपर भी वनस्पतिरूप है। इसी प्रकार 'सुभगा (भगवती) और तारका' ये दो औषधियां भी वनस्पतिरूपसे पृथ्वीपर हैं और तेजरूपसे द्युलोकमें है। यह वर्णन वनस्पतिका प्रशंसापरक प्रतीत होता है।

जलचिकित्सा।

क्षेत्रिय रोग दूर करनेके लिये जलचिकित्सा करनेका उपदेश इस सूक्तके पंचम मंत्रमें है। इस मंत्रमें कहा है कि 'जल सब रोगोंकी एक दवा है इसलिये क्षेत्रिय रोग भी इससे दूर हो सकते हैं।' जलके आरोग्यवर्धक गुणके विषयमें कां.१, सू.४-६ ये तीन सूक्त देखिये।

षष्ठ मंत्रका आशय यह है कि यदि रोग अथवा क्षेत्रिय रोग बिगडे स्थान या पानसे हुए हों, तो पूर्वोक्त प्रकार दूर हो सकते हैं। अर्थात् पूर्वोक्त पांच मंत्रोंमें कहे उपाय ही सब रोग दूर करनेके लिये पर्याप्त हैं।

उक्त उपायोंसे अति थोडे समयमें रोग दूर हो सकते हैं। यदि रोगका प्रारंभ आज हुआ है तो रात्रीके तारागण छिप जानेके समय तथा उषःकाल दूर होकर दिनका प्रकाश शुरू होते ही ये सब रोग दूर होते हैं। यदि यह वर्णन काव्यपरक माना जाय तो उसका अर्थ इतना ही होगा कि 'अतिशीघ्र रोग दूर होंगे।'

•••

राष्ट्रीय एकता।

(८)

(ऋषिः- अथर्वा। देवता - मित्रः, विश्वेदेवाः, नानादेवता)

आ यातु मित्र ऋतुभिः कल्पमानः संवेशयन्पृथिवीमुस्रियाभिः।
अथास्मभ्यं वरुणो वायुरग्निर्बृहद्राष्ट्रं संवेश्यं दधातु ॥ १ ॥
धाता रातिः सवितेदं जुषन्तामिन्द्रस्त्वष्टा प्रति हर्यन्तु मे वचः।
हुवे देवीमदितिं शूरपुत्रां सजातानां मध्यमेष्ठा यथासानि ॥ २ ॥

अर्थ - **(उस्रियाभिः पृथिवीं संवेशयन्)** किरणोंसे पृथ्वीको संयुक्त करता हुआ **(ऋतुभिः कल्पमानः मित्रः)** ऋतुओंके साथ समर्थ होता हुआ **(मित्रः)** मित्र **(आयातु)** आवे **(अथ)** और **(वरुणः वायुः अग्निः)** वरुण, वायु और अग्नि **(अस्मभ्यं संवेश्यं बृहत् राष्ट्रं)** हम सबके लिये उत्तम प्रकार रहने योग्य बडे राष्ट्रको **(दधातु)** धारण करें ॥१॥

(धाता रातिः सविता) धारण कर्ता, दाता सविता **(मे इदं वचः)** मेरा यह वचन **(जुषन्ता)** प्रीतिसे सुनें और **(इन्द्रः त्वष्टा)** इन्द्र और त्वष्टा कारीगर **(मे इदं वचः प्रति हर्यन्तु)** मेरा यह वचन स्वीकार करें। **(शूरपुत्रां देवीं अदितिं हुवे)** शूरपुत्रोंवाली अदीन देवी माताको मैं बुलाता हूं **(यथा सजातानां मध्यमे - स्थाः असानि)** जिससे मैं स्वजातियोंमें मध्य - प्रमुख स्थानपर रहनेवाला होऊं ॥२॥

भावार्थ - अपने किरणोंसे पृथ्वीको प्रकाशित करनेवाला और ऋतुओंके साथ सामर्थ्य बढानेवाला सूर्य, वरुण, वायु और अग्नि ये सब देव हमें ऐसा बडा विशाल राष्ट्र देवे कि जो हमारे रहने योग्य हो ॥१॥

सबका धारणकर्ता, दाता सविता और इन्द्र तथा त्वष्टा ये मेरा वचन सुनें और मानें, तथा गै शूर पुत्रोंकी माता देवी अदितिको भी कहता हूं कि इन सबका ऐसा सहाय्य मुझे प्राप्त हो कि जिससे मै स्वजातियोंमें विशेष प्रमुख स्थानपर विराजमान होनेकी योग्यता प्राप्त कर सकूं ॥२॥

हुवे सोमं सवितारं नमोभिर्विश्वानादित्याँ अहमुत्तरत्वे ।
अयमग्निर्दीदायद्दीर्घमेव सजातैरिद्धोऽप्रतिब्रुवद्भिः ॥ ३ ॥
इहेदसाथ न परो गमाथेर्यो गोपाः पुष्टपतिर्व आजत् ।
अस्मै कामायोप कामिनीर्विश्वे वो देवा उपसंयन्तु ॥ ४ ॥
सं वो मनांसि सं व्रता समाकूतीर्नमामसि ।
अमी ये विव्रता स्थन तान्वः सं नमयामसि ॥ ५ ॥
अहं गृभ्णामि मनसा मनांसि मम चित्तमनु चित्तेभिरेत ।
मम वशेषु हृदयानि वः कृणोमि मम यातमनुवर्त्मान एत ॥ ६ ॥

अर्थ - **(अहं सोमं सवितारं विश्वान् आदित्यान्)** मैं सोम, सविता और सब आदित्योंको **(उत्तरत्वे)** अधिक श्रेष्ठताकी प्राप्तिके लिये **(नमोभिः हुवे)** अनेक सत्कारोंके साथ बुलाता हूं । **(अ - प्रति - ब्रुवाद्भिः सजातैः इद्धः)** विरूध्द भाषण न करनेवाले स्वजातियोंके द्वारा प्रदीप्त किया हुआ **(अयं अग्निः)** यह अग्नि **(दीर्घ एव दीदयत्)** बहुत कालतक प्रकाशित रहे ॥३॥

(इह इत् असाथ) यहां ही रहो, **(परः न गमाथ)** दूर मत जाओ । **(इर्यः गोपाः)** अन्नयुक्त गौका पालन करनेवाला **(पुष्टिपतिः वः आजत्)** पोषण करता हुआ तुमको यहां लावे । **(विश्वे देवाः)** सब देव **(अस्मै कामाय)** इस कामनाकी पूर्तिकी **(कामिनीः वः)** इच्छा करनेवाली तुम प्रजाओंको **(उप उप संयन्तु)** एकताके विचारसे संयुक्त करें ॥४॥

(वः मनांसि सं) तुम्हारे मनोंको एक भावसे युक्त करो, **(व्रता सं)** तुम्हारे कर्मोको एक भावसे युक्त करो **(आकूतिः सं नमामसि)** संकल्पोंको एक भावसे झुकाते हैं । **(अमी ये विव्रताः स्थन)** यह जो तुम परस्पर विरुद्ध कर्म करनेवाले हो **(तान् बः सं नमयामसि)** उन सब तुमको एक विचारमें हम झुकाते हैं ॥५॥

(अहं मनसा मनांसि गृभ्णामि) मैं अपने मनसे तुम्हारे मनोंको लेता हूं । **(मम चित्तं चित्तेभिः अनु आइत)** मेरे चित्तके अनुकूल अपने चित्तोको बनाकर आओ । **(मम वशेषु बः हृदयानि कृणोमि)** मेरे वशमें तुम्हारे हृदयोंको मैं करता हूं । **(मम यातं अनुवर्त्मानः आ इत)** मेरे चालचलनके अनुकूल चलनेवाले होकर यहां आओ ॥६॥

भावार्थ - मैं नमन पूर्वक सोम, सविता तथा सब आदित्योंको बुलाता हूं कि वे मुझे ऐसी सहायता दें कि मैं अधिक श्रेष्ठ योग्यताके योग्य होऊं । परस्पर विरोध न करनेवाले स्वजातीय लोगोंके द्वारा जो यह एक राष्ट्रीयताका अग्नि प्रदीप्त किया गया है वह बहुत देरतक हमारे लोगोमें जलता रहे ॥३॥

तुम सब यहां एक विचारसे रहो, परस्पर विरोध करके एक दूसरेसे दूर न हो जाओ । अन्न अपने पास रखनेवाला कृषक और गौओंका पालन करनेवाला, तुम्हारी पुष्टि करनेवाला वैश्य तुमको इकट्ठा करके यहां लावे । एक इच्छाकी पूर्तिके लिये प्रयत्न करनेवाली सब प्रजाओंको सब देव एकताके विचारसे संयुक्त करें ॥४॥

तुम्हारे मन एक करो, तुम्हारे कर्म एकताके लिये हों, तुम्हारे सङ्कल्प एक हों जिससे तुम सङ्घशक्तिसे युक्त हो जाओगे। जो ये आपसमें विरोध करनेवाले हैं उन सबको हम एक विचारसे एकत्र झुका देते हैं ॥५॥

सबसे प्रथम मैं अपने मनसे तुम्हारे मनोंको आकर्षित करता हूं । मेरे चित्तके अनुकूल तुम अपने चित्तोंको बनाकर यहां आओ । मैं अपने वशमें तुम्हारे हृदयोंको करता हूं । मैं जिस मार्गसे जाता हूं उस मार्गपर चलते हुए तुम मेरे पीछे पीछे चले आओ ॥६॥

अधिक उच्चता।

मनुष्यके अंदर अधिक उच्चताकी प्राप्ति करनेकी इच्छा स्वभावतः रहती है। कोई भी मनुष्य मनसे यह नहीं चाहता कि अपनी उन्नति न हो। हरएक मनुष्य जन्मतः उन्नति ही चाहता है। इस विषयमें तृतीय मंत्रका कथन विचारणीय है -

हुवे सोमं सवितारं नमोभिः
विश्वानादित्याँ अहमुत्तरत्त्वे ॥ (सू. ८, मं.३)

'सोम, सविता और सब आदित्योंको उच्च होनेकी स्पर्धामें सहायताके लिये बुलाता हूं।' अर्थात् मैं देवताओंसे ऐसी सहायता चाहता हूं कि जिससे मैं दिव्य मार्गसे उन्नतिको प्राप्त कर सकूं।

'उत्, उत्तर' ये शब्द एकसे एक बढकर अवस्थाके द्योतक हैं। साधारण अवस्थासे 'उत्' अवस्था बढकर और उससे 'उत्तर' अवस्था अधिक श्रेष्ठ होती है। मनुष्य सदा 'उत्तरत्व' की प्राप्तिका प्रयत्न करे यह तृतीय मंत्रकी सूचना है। अर्थात् मनुष्य अपनेसे उच्च अवस्थामें चढनेका यत्न तो अवश्य ही करे परंतु उससे भी एक सीढी ऊपर होनेका ध्येय अपने सन्मुख रखे। 'उत् - तर - त्व' शब्दमें यह सब अर्थ है जो पाठकोंको अवश्य देखना चाहिये।

यह अधिक उच्च अवस्था देवमार्गसे ही प्राप्त करना चाहिये। 'श्रेय और प्रेय' अथवा 'दैव और असुर' ऐसे मार्ग मनुष्यके सन्मुख आते हैं, उनमेंसे श्रेय अर्थात् दैव मार्गका अवलंबन करनेसे मनुष्यका कल्याण होता है और दूसरे मार्गपरसे चलनेसे मनुष्यकी हानि हो जाती है। आसुर मार्गको दूर करनेके लिये और श्रेय मार्गपर जानेकी प्रेरणा करनेके लिये ही इस मंत्रमें 'देवताओंकी नम्रतापूर्वक प्रार्थना' करनेकी सूचना दी है। देवताओंकी नम्रतापूर्वक प्रार्थना करनेवाला मनुष्य सहसा निकृष्ट मार्गपर अपना पांव नही रख सकता। देवताओंकी सहायताकी प्रार्थना इस प्रकार मनुष्यत्वके विकासका हेतु है। एक वार इस दैवी मार्गपर अपना पांव रखनेके बाद भी कई मनुष्य आसूरी लालसाओंमें फंस जाते हैं। इस प्रकारकी गिरावटसे बचानेके हेतु चतुर्थ मंत्र कहता है कि -

इह इत् असाथ, न परो गमाथ। (सू. ८, मं.४)

'इसी दैवी मार्गपर रहो, इसको छोडकर अन्य मार्गसे न जाओ।' यह सावधानीकी सूचना विशेष ध्यान देने योग्य है। कई वार ऐसा देखा गया है कि मनुष्य आत्मोन्नतिके पथसे उन्नत होता चला जाता है और फिर एकदम गिरता है। ऐसा न होवे इस लिये इस चतुर्थ मंत्रने यह सूचना दी है। यदि पाठक इस सूचनाको ध्यानमें धारण करेंगे तो निःसंदेह इससे उनका बचाव हो सकता है।

उन्नतिका मार्ग।

मनुष्यकी उन्नतिके लिये, मनुष्य सामाजिक प्राणी होनेके कारण, उसको सांधिक जीवनमें रहना आवश्यक है। यह अलग अलग रहकर उन्नत हो नहीं सकता। वैयक्तिक जीवनके लिये इतने स्वार्थत्यागकी आवश्यकता नहीं है जितनी कि सामुदायिक जीवनके लिये आवश्यकता है। इस कारण सामुदायिक जीवन व्यतीत करनेवाले मनुष्योंके लिये उचित है कि वे अपना व्यवहार ऐसा करे कि जिससे समाजमें परस्पर विरोध पैदा न हो, इस विषयमें पंचम मंत्रका उपदेश देखिये -

वः मनांसि सं. वः व्रतानि सं, वः आकूतीः सम्। (सू.८, मं.५)

'तुम्हारे मन, तुम्हारे कर्म और तुम्हारे संकल्प सम्यक् रीतिसे एकताको बढानेवाले हों।' इस मंत्रमें जो 'सं' उपसर्ग है वह 'उत्तमता और एकता' का द्योतक है। मनुष्योंके संकल्प, उनके मानसिक विचार और सब प्रकारके कर्म ऐसे हो कि जो एकताकी तथा उत्तमताकी वृद्धि करनेवाले हों। कई लोग बाहरसे कोई बुरा कार्य करेंगे नहीं, परन्तु मनसे ऐसे बुरे विचार और बुरे संकल्प करेंगे, कि जिनका परिणाम आपसमें फिसाद मचानेका हेतु बने। ऐसा नहीं होना चाहिये संकल्प , विचार और कर्म सभी सदा शुभ होने चाहिये और कभी वैरका भाव उसमें नहीं आना चाहिये। यदि अपने समाजमें कोई इसके विरूद्ध बर्ताव करनेवाला हो तो उसको भी समझाकर सन्मार्गपर लाना चाहिये, इस विषयमें पञ्चम मन्त्रका उत्तरार्ध देखने योग्य है -

अमी ये विव्रता स्थन तान्वः स नमयामसि ॥ (सू.८, मं.५)

'ये जो विरूद्ध आचरण करनेवाले हैं उनको भी एकताके मार्गपर हम झुका देते हैं।' इस प्रकार विरोधी लोगोंको भी समझाकर एकताके मार्गपर लाना चाहिये। समाजके शासनका ऐसा प्रबंध होना चाहिये कि जिसमें रहनेवाले लोग विरूद्ध मार्गपर चल ही न सकें। सज्जन तो सदा शुभ मार्गपरसे चलेंगे ही परन्तु दुर्जन भी विरोधके मार्गपर जाना छोड दें और शुभ मार्गपर चलनेमें ही अपना लाभ है इस बातको अच्छी प्रकार समझ जांय। इस प्रकार सब जनताको एकताके मार्गपर लानेसे और समाजसे दुर्वर्तन करनेवाले मनुष्योंको दूर कर देनेसे

अथवा उनकी सुधारनेसे जनताकी उन्नतिका मार्ग सीधा हो सकता है ।

सुधारका प्रारंभ ।

हमेंशा यह बात ध्यानमें धारण करना चाहिये कि सुधारका प्रारंभ अपने अन्तःकरणके सुधारसे होता है । जो लोग अपने अन्तःकरणके सुधार करनेके विना ही दूसरोंके सुधार करनेके कार्यमें लगते हैं, वे न तो उस कार्यको निभा सकते हैं और न स्वयं उन्नत हो सकते हैं। इसलिये वेदने इस सूक्तके छठे मंत्रमें अपने सुधारसे जगत्का सुधार करनेका उपदेश किया है, वह अवश्य देखिये -

अहं मनसा मनांसि गृभ्णामि ।
मम वशेषु वः हृदयानि कृणोमि ।। (सू. ८, मं.६)

'मैं अपने मनसे अन्य लोगोंके मन आकर्षित करता हूं ! इस प्रकार मैं अपने वशमें अन्योंके हृदयोंको करता हूं।'

इस मंत्रमें 'अपने शुभाचरणसे अन्योंके दिलोंको आकर्षित करनेका उपदेश' हरएकको ध्यानमें रखने योग्य है । पाठक ही विचार करें और अपने चारों और देखें कि कौन दूसरोंके मनोंको आकर्षित कर सकता है ? क्या कभी कोई दुराचारी अशुभ संकल्पवाला मनुष्य जनताके मनोंको आकर्षित कर सकता है ? ऐसी बात कभी नहीं होती। सत्पुरूष और शुभ संकल्पवाले पुण्यात्मा ही जनताके मनोंको आकर्षित कर सकते हैं । जीवित अवस्थामें ही नहीं प्रत्युत मरनेके पश्चात् भी उनके सद्भावप्रेरित शब्द जनताके मनोंका आकर्षण करते रहते हैं । यह उनमें सामर्थ्य उनके शुभ और सत्य संकल्पोंके कारण ही उत्पन्न होता है । ऐसे पुरूष जो बोलते हैं वैसा जनता करती है, यह उनकी तपस्याका फल है । हरएक मनुष्यको यह सामर्थ्य प्राप्त करनेका यत्न करना चाहिये। अपने संकल्पोंकी पवित्रता करनेसे ही यह बात सिद्ध हो जाती है । जो अपनी पवित्रता जितनी करेगा उतनी सिद्धि उसको प्राप्त होगी । इसके पश्चात् वह पुण्यात्मा कह सकेगा कि -

मम चित्तं चित्तेभिः अनु एत ।
मम यातं अनु वर्त्मान एत ।।(सू.८, मं.६)

'मेरे चित्तके अनुकूल अपने चित्तोंको बनाओ, मेरे अनुकूल चलते हुए मेरे मार्गसे चलो ।'

वस्तुतः जो पुण्यात्मा सत्य मार्गपर चलके अपने शुभ मंगल संकल्पोंसे जनताके मनोंको आकर्षित करते हैं उनके लिये यह सिद्धि अनायास ही प्राप्त होती है । अर्थात् उनके कहनेके विना ही अन्य लोग उनके अनुकूल अपने चित्तोंको करते हैं और उनके मार्गसे ही चलनेका यत्न करते हैं । यह स्वयं होता रहता है । परन्तु जनताको 'अपने मार्गसे चलो' ऐसा कहनेका यदि किसीको अधिकार होगा तो ऐसे पुण्यात्माओंको ही होता है, यह बात यहां कही है । इस प्रकार अपना सुधार करनेवाले पुण्यात्मा जनताके मार्गदर्शक होते हैं । जगत्का सुधार करनेका सच्चा मार्ग इस प्रकार आत्मसुधारमें ही है । इसलिये जो प्रयत्न अयोग्य पुरूष जनताके सुधारके लिये करते है, उतना प्रयत्न यदि ये आत्मसुधारके लिये करेंगे तो अधिक भला हो सकता है । जो शक्ति आती है वह आत्मसुधार करनेके कारण ही आती है । आत्मसुधार करनेके मार्गके विना सच्चे सुधारका कोई मार्ग नहीं है। जब इस मार्गसे शक्तिकी वृद्धि होती है और जब वह अपने मनसे दूसरोंके मनोंको आकर्षित कर सकता है, तभी उसकी जनताको 'अपने पीछे चलो' ऐसा कहनेका अधिकार आता है । वह कहता है कि -

'मेरे मार्गसे मेरे साथ साथ चलो । मेरे चित्तके अनुकूल अपने चित्तोंको बनाकर चलो (मं.६)।' अर्थात् जिस मार्गसमे मैं जाता हू उसी मार्गसे तुम आओ। इसी मार्गसे चलनेपर तुम्हारा भला होगा । इस प्रकार इस अवस्थामें यह मनुष्य जनताका मार्गदर्शक होता है । उसका आचरण और उसका जीवन अन्य जनोंके लिये मार्गदर्शक अर्थात् आदर्श होता है।

संवेश्य राष्ट्र ।

उक्त प्रकारके मार्गदर्शक आदर्श जीवनवाले धर्मात्मा और पुण्यात्मा जिस राष्ट्रमें अधिक होते हैं और जहांके लोग उनके अनुकूल अपने आचरण बनाकर चलते हैं, उस राष्ट्रको 'संवेश्य राष्ट्र' कहते हैं, क्योंकि उसमें (संवेशन) प्रवेश करके वहां रहने योग्य वह राष्ट्र होता है। मनुष्य वहां जाय और रहें और आनंद प्राप्त करें । इस प्रकारका राष्ट्र हमें देवताओंकी कृपासे प्राप्त हो यह प्रथम मंत्रमें प्रार्थना है, देखिये -

अस्मभ्यं ० बृहद्राष्ट्रं संवेश्यं दधातु । (सू.८, मं.१)

'हम सबके लिये देव प्रवेश करने योग्य बडा राष्ट्र देवें।' अर्थात् देवोंकी कृपासे हमें ऐसा उत्तम आदर्श राष्ट्र प्राप्त होवे अथवा हमारा राष्ट्र वैसा ही बने । इस प्रकारके राष्ट्रमें 'मैं प्रमुख बनूंगा' यह महत्त्वाकांक्षा जनताके अन्तःकरणमें रहेगी, क्योंकि इसमें किसी कारण भी किसीके साथ पक्षपात नहीं होगा, इसका सूचक वाक्य द्वितीय मंत्रमें है -

यथा सजातानां मध्यमेष्ठा असानि । (सू.८, मं.२)

'स्वजातियोंकी सभामें मुख्य स्थानमें बैठनेके योग्य मैं होऊंगा ।' यह इच्छा ऐसे राष्ट्रके लोगोंके अन्तःकरणमें रहेगी, इस विषयमें विशेष कहनेकी आवश्यकता नहीं है। जो पूर्वोक्त आत्मसुधारके मार्गसे अपनी शक्तिका विकास करेंगे वे उक्त स्थानमें जाकर विराजेंगे, अन्य लोग अपनी अपनी योग्यताके अनुसार अपने योग्य स्थानमें अपना कर्तव्य करेंगे । परन्तु किसीको भी उन्नतिके मार्गमें प्रतिबंध नहीं होगा । सब लोग अपने पुरुषार्थसे अपनी उन्नतिका साधन करेंगे और सब मिलकर अपने राष्ट्रको उन्नतिके शिखरपर ले जायंगे । इस विषयमें एक प्रकारकी सात्विक स्पर्धा ही होती है जिसको तृतीय मंत्रने 'उत्तरत्वकी स्पर्धा' कहा है । इस स्पर्धामें परस्परका घात नहीं होता प्रत्युत परस्परकी उन्नति होती है । सब जनताके मनुष्य एक भावसे इस राष्ट्रोन्नतिका अग्नि प्रदीप्त करते हैं और उसमें अपने अपने कर्मोंकी आहुतियां डालते हैं, इस विषयमें तृतीय मंत्रका उत्तरार्ध देखिये

राष्ट्रीय अग्नि ।

अयमग्निर्दीदायद्दीर्घमेव सजातैरिद्धोऽतिबुवद्भिः ।
(सू.८, मं.३)

'(अ- प्रति-बुवाद्भिः) आपसमें विरोधका भाषण न करनेवाले (स-जातैः) स्वजातियोंके द्वारा प्रदीप्त किया हुआ यह एक राष्ट्रीयताका अग्नि बहुत दीर्घ कालतक प्रदीप्त स्थितिमें रहे ।' अर्थात् यह बीचमें अथवा कल्पकालमें ही न बुझ जावे । क्योंकि इसी अग्निकी गर्मीसे सब राष्ट्रीय मनोरथ सफल और सुफल होते रहते हैं । इसलिये यह राष्ट्रीय अग्नि सदा प्रदीप्त रहना चाहिये । यह अग्नि वे ही मनुष्य प्रज्वलित रख सकते हैं कि जो (अ- प्रति - बुवत्) आपसमें विरोधके शब्द नहीं बोलते, आपसमें झगडा नहीं करते, आपसमें द्वेष नहीं बढाते, प्रत्युत आपसमें मेल मिलाप करनेकी ही भाषा बोलते हैं । ऐसे सज्जन ही राष्ट्रोन्नतिके महान् अग्निका चयन करते हैं ।

इस सूक्तमें 'सजात' शब्द आया है और यह शब्द वेदमंत्रोंमें अनेक वार आया है । 'सजातीय, समान जातीय, स्वजातीय' इत्यादि अर्थमें यह शब्द प्रयुक्त होता है। जिनमें जातिभेदकी भिन्नता नहीं है ऐसे एक जातिवाले, एक राष्ट्रीयतावाले लोग, यह अर्थ इस शब्दका है । जातीभेदके कारण एक दूसरेसे लडनेवाले लोग 'सजात' नहीं कहलायेंगे । एक राष्ट्रके लोग परस्पर 'सजात' ही होते हैं, परन्तु उनमें राष्ट्रीयताकी भावना प्रबल रहनी चाहिये और छोटी जातपातकी भावना गौण होनी चाहिये। ऐसे लोग जब आपसमें एकताके प्रेमसे कोई कार्य करते हैं तब उनमें एक विलक्षण शक्ति उत्पन्न होती है, वही अग्नि शब्द द्वारा तृतीय मंत्रमें कही है । यही राष्ट्रभक्तिका अग्नि है जो कि संपूर्ण राष्ट्रकी उन्नतिमें सहायक होता है।

राष्ट्रका पोषक ।

इस प्रकारके राष्ट्रके सच्चे पोषक दोही लोग होते हैं, उनका वर्णन चतुर्थ मंत्र द्वारा हुआ है -

इर्यो गोपा पुष्टपतिर्व आजत् । (सू.८, मं.४)

'(इर्यः) अन्नका उत्पन्न करनेवाला और (गो-पा) गौओंकी रक्षा करनेवाला ये दो आप लोगोंकी पुष्टि करनेवाले हैं ।' यह मंत्रभाग बहुत मनन करने योग्य है। अन्नकी उत्पत्ति करनेवाला किसान और गौओंकी रक्षा करनेवाला गवलिया ये दो वर्ग राष्ट्रकी पुष्टिके लिये आवश्यक हैं । राष्ट्रीक बुनियाद ठीक करनेका कार्य ये लोग करते हैं, इसलिये राज्यशासनमें इनकी स्थिति अच्छी करनेका विशेष प्रबंध होना अत्यंत आवश्यक है। यदि अन्न उत्पन्न करनेवाले किसान और गोरक्षक ये दो वर्ग राष्ट्रमें अवनत हुए तो राष्ट्रकी कदापि पुष्टि नहीं हो सकती । पाठक इस दृष्टिसे इनका महत्त्व जानें और यह उपदेश इस प्रसंगमें देनेमें वेदने कितनी महत्त्वपूर्ण बात कही है यह भी स्मरण रखें ।

शूरपुत्रोंवाली माता ।

राष्ट्रकी बुनियाद 'संतान' है । पुत्र और पुत्रियां ही राष्ट्रका भावी उत्कर्ष या अपकर्ष करनेवाली होती है । इनकी सच्ची शिक्षा माताके द्वारा होती है । माता अपने बालबच्चोंको किस प्रकार शिक्षा देवे इसकी सूचना द्वितीय मंत्रमें दी है । इस विषयके सूचक शब्द ये हैं -

शूरपुत्रां अदितिं देवी हुवे । (सू. ८, मं.२)

'शूर पुत्रोंकी अदीना देवी माताको मैं बुलाता हूं ।' अथवा उनकी मैं प्रशंसा करता हूं । यहांका 'अ-दिति' शब्द 'अदीन, प्रतिबंधमें न रहनेवाली, राष्ट्रके स्वाधीनताके विचार रखनेवाली' इत्यादि भाव रखता है ।'शूरपुत्रा' शब्दका भाव स्पष्ट है। राष्ट्रमें देवियां ऐसी हो जिनको अदीन और वीरपुत्रा कहा जावे। 'वीरसूर्भव' अर्थात् वीर पुत्र उत्पन्न कर यह वैदिक आशीर्वाद सुप्रसिद्ध है । वही बात अन्य रीतिसे यहां बताई है ।

राष्ट्रीय शिक्षा ।

इस प्रकारकी वीरमाताएं जहा होगीं वहा ही राष्ट्रीयताके भाव परम उत्कर्षलक पहुंच सकते हैं । देवियोंको, बहिनोंको और पुत्रियोंको किस ढंगसे शिक्षा देना चाहिये इसका विचार भी यहां निश्चित हो जाता है। जिस शिक्षासे

माताएं वीरपुत्र उत्पन्न करनेवाली हो ऐसी शिक्षा उनको देनी चाहिये ।

दैवी सहायता ।

उक्त राष्ट्रीयताके विचारोंकी पूर्णता होकर संपूर्ण जनता इस रीतिसे समर्थ राष्ट्रशक्तिसे युक्त होवे, इस विषयमें चतुर्थ मंत्र देखिये -

अस्मै कामायोप कामिनीर्विश्वे वो देवा उपसयन्तु ।। सू.८,मं ४)

' सब देव इस कामानाकी पूर्तिकी इच्छा करनेवाली तुम सब प्रजाओंकी एकताके विचारसे युक्त करें ।' अर्थात् तुम सब लोगोंमें एकताका विचार बढ जावे । यह एक प्रकारसे पूर्ण और उच्च आशीर्वाद है । जो पाठक परमेश्वर भक्तिपूर्वक राष्ट्रोन्नतिके लिये प्रयत्नशील होंगे वे ही इस आशीर्वादको प्राप्त करनेके अधिकारी हो सकते हैं ।

आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक ।

इस सूक्तके अन्य मंत्रभागमें 'मित्र, वरूणादि देवोंकी सहायता हमें राष्ट्रशक्ति बढानेके कार्यमें प्राप्त हों' यह आशय है। यह आशय आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक कार्यक्षेत्रमें देखकर अर्थबोध लेनेकी रीति इससे पूर्व कई प्रसंगोंमें वर्णन की है । (विशेषकर काण्ड १, सू.३०,३१ के विवरण देखिये) इसलिये उसका यहां पुनः विचार करनेकी आवश्यकता नहीं है । उक्त दृष्टिसे पाठक इस सूक्तका अधिक विचार करें और बोध प्राप्त करें ।

• • •

क्लेश - प्रतिबन्धक उपाय ।

(९)

(ऋषिः- वामदेवः । देवता - द्यावापृथिवी, देवाः)

कर्शफस्य विशफस्य द्यौः पिता पृथिवी माता ।
यथाभिचक्र देवास्तथाप कृणुता पुनः ।। १ ।।
अश्रेष्माणो अधारयन्तथा तन्मनुना कृतम् ।
कृणोमि वध्रि विष्कन्धं मुष्काबर्हो गवामिव ।। २ ।।

अर्थ- **(कर्श+फस्य =कृशस्य)** कृश अथवा निर्बलकी अथवा उसी प्रकार **(विश+फस्य)** प्रबलकी भी **(माता पृथिवी)** माता पृथ्वी है और उनका **(पिता द्योः)** पिता द्युलोक है । हे **(देवाः)** देवो ! **(यथा अभिचक्र)** जैसा पराक्रम किया था **(तथा पुनः अपकृणुत)** उसी प्रकार फिर शत्रुओंका प्रतिकार करो ।।१।।

जैसे **(अ - श्रेष्माणः अधारयन्)** न थकनेवाले ही किसीका धारण करते रहते हैं **(तथा तत् मनुना कृतम्)** उसी प्रकार वह कार्य मननशीलने भी किया होता है। **(मुष्काबर्हः गवां इव)** जैसा अण्डकोश तोडनेवाला मनुष्य बैलोंको निर्बल कर देता है उसी प्रकार मैं **(वि - स्कन्धं वध्रि कृणोमि)** रोगादि विघ्नको निर्बल करता हूं ।।२।।

भावार्थ - बलवान् और निर्बल इन दोनोंके माता - पिता भूमि और द्युलोक हैं । अर्थात् ये दोनों प्रकारके लोग आपसमें भाई हैं । देवता लोग पराक्रम करके शत्रुका पराभव करते हैं, शत्रुको हटा देते हैं और निर्बलोंका संरक्षण करते हैं ।।१।।

न थकते हुए परिश्रम करनेवाले ही विशेष कार्य करनेमें समर्थ होते हैं । मननशील मनुष्य भी वैसा ही पुरूषार्थ करते हैं । मैं भी उसी प्रकार शत्रुको तथा विघ्नोंको निर्बल करता हूं, जिस प्रकार अण्डकोश तोडनेवाला बैलका अण्डकोश तोडकर उसको निवीर्य कर देते हैं ।।२।।

पिशङ्गे सूत्रे खृगलं तदा बध्नन्ति वेधसः ।
श्रवस्युं शुष्मं काबवं वध्रिं कृण्वन्तु बन्धुरः ॥ ३ ॥
येना श्रवस्यवश्चरथ देवा इवासुरमायया ।
शुनां कपिरिव दूषणो बन्धुरा काबवस्य च ॥ ४ ॥
दुष्ट्यै हि त्वा भत्स्यामि दूषयिष्यामि काबवम् ।
उदाशवो रथा इव शपथेभिः सरिष्यथ ॥ ५ ॥
एकशतं विष्कन्धानि विष्ठिता पृथिवीमनु ।
तेषां त्वामग्र उज्जहरुर्मणिं विष्कन्धदूषणम् ॥ ६ ॥

अर्थ - (वेधसः) ज्ञानी लोग (पिशङ्गे सूत्रे) भूरे रंगवाले सूत्रमें (तत् खृगलं आबध्नन्ति) उस मणिको बांधते हैं। (बंधुरः) बंधन करनेवाले (श्रवस्युं शुष्मं काबवं) प्रसिद्ध प्रबल शोषक रोगको (वध्रिं कृण्वन्तु) निर्बल करें ॥३॥

हे (श्रवस्यवः) यशस्वी पुरूषो! (येन) जिससे (असुरमायया देवाः इव चरथ) जीवन दाताकी कुशलतासे युक्त देवोंके समान आचरण करते हो तथा (कपिः शुनां दूषणः इव) बंदर जैसा कुत्तोंको तुच्छ मानता है वैसे (बन्धुरा काबवस्य च) बंधन करनेवाले रोगका अथवा दुःखका प्रतिबंध करते हैं ॥४॥

(दुष्ट्यै हि त्वा भत्स्यामि) दुष्टताके हटानेके लिये मैं तुझे बांधूंगा । और (काबवं दूषयिष्यामि) विघ्नको निर्बल बना दूंगा । (आशवः रथाः इव) शीघ्र चलनेवाले रथोंके समान तुम (शपथेभिः उत् सरिष्यथ) शापोंके बंधनसे दूर हो जाओगे ॥५॥

(एकशतं विष्कन्धानि) एक सौ एक विघ्न (पृथिवीं अनु विष्ठिता) पृथ्वीपर रहे हैं । (तेषां अग्रे) उनके सामने (विष्कन्धदूषणं त्वां मणिं) कष्टनाशक तुझ मणिको (उत् जहरूः) ऊंचा उठाया है । सबसे बढकर माना है ॥६॥

भावार्थ - भूरे रंगके सूत्रसे ज्ञानी लोग मणिको बांधते हैं जिससे प्रसिद्ध शोषक रोगको निवीर्य बना देते हैं ॥३॥

यशस्वी पुरूष जीवनके दैवी मार्गसे जाते हैं और मृत्युको दूर करते हैं, बंदर वृक्षपर रहता हुआ कुत्तोंको तुच्छ मानता है, इसी प्रकार रोग प्रतिबंधकी विद्या जाननेवाले रोगको दूर करते हैं ॥४॥

दुष्ट स्थितिको दूर करनेके लिये योग्य प्रतिबंध करना चाहिये, उसी प्रकार रोगादि विघ्नोंको निर्बल करना चाहिये । जैसे वेगवाले रथसे मनुष्य पहुंचनेके स्थानपर शीघ्र पहुंच जाता है, उसी प्रकार उक्त मार्गसे मनुष्य दुष्ट अवस्थासे मुक्त हो जाता है ॥५॥

पृथ्वीपर सैंकडों विघ्न और दुःख है । उनके प्रतिबंधक उपायोंमें दुःखप्रतिबंधक मणि विशेष प्रभावशाली है जिसको धारण किया जाता है ॥६॥

यह सूक्त समझनेके लिये बडा कठिन और अत्यंत दुर्बोध है । इस सूक्तके 'कर्शफ, विशफ, खृगल, काबव' ये शब्द अत्यंत दुर्बोध है और बहुत प्रयत्न करनेपर भी इन शब्दोंका समाधानकारक अर्थ इस समयतक पता नहीं लगा ।जो पाठक वेदके अर्थकी खोज कर रहे हैं वे इस विषयकी खोज अवश्य करें ।

सबके माता पिता ।

प्रथम मंत्रके प्रथमार्धमें एक महत्त्वपूर्ण बात कही है वह सबके बंधुभावकी बात है ।

कर्शफस्य विशफस्य द्यौः पिता पृथिवी माता ।

(सू.९, मं.१)

जगत्में दो प्रकारके मनुष्य है, एक (कर्श+फ =कृश) अशक्त बलहीन अथवा जगत्की स्पर्धामें (कर्+शफ)

बुरे खुरवाले अर्थात् जो अपना बचाव कर नहीं सकते, और दूसरे (विश+फ) अपने आपका प्रवेश दूर दूरतक कर सकते हैं और दूसरोंका पराजय करके अपना अधिकार दूसरोंपर जमा देते हैं। इसी शब्दका दूसरा अर्थ यह है कि (वि+शफ) विशेष खुरवाले अर्थात् जो पशु दूसरोंको लाथे मारनेमें समर्थ होते हैं। 'विशफ' के दोनों अर्थोमें समान भाव यह है कि 'पाशवी शक्तिसे युक्त।'

विश्वबन्धुत्व ।

जगत्‌में ये दो प्रकारके लोग हैं, एक (वि+शफ) पाशवी शक्तिसे युक्त और दूसरे (कर्शफ) पाशवी शक्तिसे हीन। सदा ही ऐसा देखा जाता है कि पाशवी शक्तिसे बली बने हुए लोक निर्बल लोगोंको दबाते रहते हैं। इस कारण सामाजिक, राजकीय और धार्मिक विषमता बढ जाती है और उसी प्रमाणसे जनताके क्लेश बढते जाते हैं। इन क्लेशोंके निवारणका एक मात्र उपाय यह है कि 'सब लोग परस्पर भाई हैं और एक परम पिता और एक परम माताकी संतानें हैं,' इस उच्च भावको जाग्रत करना। यदि निर्बल और सबल दोनों मानेंगे कि 'हम सबका परम पिता और परम माता एक ही है, इसलिये हम सब मनुष्य आपसमें भाई भाई हैं' तो पश्चात् एक दूसरेसे झगडा करनेका कारण ही नहीं रहेगा। क्योंकि जो झगडा होता है वह परकीयताके भावसे होता है, वह परकीय भाव इस प्रकार हट गया तो झगडा ही नही रहेगा। सामाजिक, राजकीय और धार्मिक झगडे हटानेका पहला उपाय वेदने यह बताया है।

मातृभूमिको अपनी माता मानना और सूर्य, द्युलोक अथवा प्रकाशमय देवको अपना पिता समझना, यह झगडा मिटानेके लिये उत्तम उपाय है। मातृभूमिकी भक्ति यदि जनताके मनमें जाग्रत हो गई तो उन सबकी एकता होनेमें विलंब नहीं लगेगा। मातृभूमिकी भक्ति ही ऐस एक वस्तु है कि जो राष्ट्रीय एकताको विकसित कर देती है और सबमें अद्भुत सामर्थ्य उत्पन्न कर देती है। मातृभूमिकी भक्तिमें विशेषतः स्वदेशप्रेम ही आता है परन्तु भूमिमाताका विस्तृत अर्थ लेनेपर विश्वबंधुत्वकी कल्पना भी आती है।

पराक्रम ।

मातृभूमिका हित करनेका उद्देश्य अपने सन्मुख रखकर, उस संबंधमें उत्पन्न होनेवाले अपने कर्तव्य करनेके लिये और उस सब कार्य के लिये आवश्यक त्याग करनेके लिये मनुष्योंको् सिद्ध रहना चाहिये। जिस प्रकार देवासुर युद्धमें देव असुरोंको हटानेके कार्यमें बडा पराक्रम करते हैं, असुरोंपर आक्रमण करते हुए उनको हटा देते हैं, उसी प्रकार शत्रुओंको हटानेके कार्यमें बडा पुरूषार्थ करना चाहिये। शत्रुका पराभव करना और उनको दूर करना ये दो बातें इस पुरूषार्थमें मुख्य हैं -

यथाऽभिचक्र देवास्तथाऽप कृणुता पुनः ॥

(सू.९, मं.१)

'जैसा (अभिचक्र) शत्रुपर हमला करना चाहिये वैसा ही (अपकृणुत) उनको दूर करना चाहिये।' हमला करके शत्रुका पराभव करना चाहिये और उनको अपने स्थानसे परे भी हटाना चाहिये। इतना सब करके अशक्तोंका रक्षण करना चाहिये।

यह सब होनेके लिये, सब लोगोंका बंधुत्व व परमात्माको सबका माता पिता मानना, इन दो बातोंकी आवश्यकता है। पाठक इस अतिश्रेष्ठ उपदेशका अच्छी प्रकार मनन करें।

परिश्रमसे सिद्धि ।

परिश्रम करनेके विना कुछ भी सिद्धि प्राप्त नहीं होती है। जो सिद्धि होती है वह प्रयत्नसे साध्य होती है। जो भी विजयी लोग हुए हैं वे थकावटसे ग्रस्त नही होते थे। वे परिश्रम करनेके लिये डरते नहीं थे, इसीलिये उनमें धारक शक्ति उत्पन्न हुई और वे जातियों, समाजों और राष्ट्रोंका धारण कर सके। इसीलिये मंत्रमें कहा है -

अश्रेष्माणो अधारयन् तथा तन्मनुना कृतम् ॥ (सू.९,मं.२)

'जो परिश्रम करनेसे नहीं थकते वेही धारण करते हैं। मननशीलने भी वैसा ही कर लिया था।' परिश्रम करनेके विना धारक शक्ति नहीं आ सकती। और जो मननशील लोग हैं वे भी अपनी मनन शक्तिसे इसी परिणामतक पहुंचे हैं। प्रयत्न शीलता ही मनुष्य मात्रका उद्धार करनेवाली है। इस लिये हरएक मनुष्यको प्रयत्न शीलताका महत्त्व जानकर पुरूषार्थ प्रयत्नसे अपना उद्धार करना चाहिये और अपने राष्ट्रका भी अभ्युदय साधन करना चाहिये।

परिश्रमी पुरूष अपने प्रयत्नसे सब विघ्न दूर कर सकता है, उसके लिये सब ही अवस्थाएं प्रयत्न साध्य होती है, उसके लिये अशक्य और अप्राप्य ऐसा कोई स्थान नहीं होता है, वह निश्चयपूर्वक कहता है कि -

कृणोमि वघ्नि विष्कन्धं मुष्काबर्हो गुवामिव। (सू.९, मं.२)

'मैं निश्चयसे विघ्नको निर्बल करता हूं जिस प्रकार अण्डकोशको तोडनेवाले लोग बैलोंको निश्चयसे निवीर्य करते हैं।' पुरूषार्थ प्रयत्नसे सब विघ्न, सब प्रतिबंध, सब

आधिव्याधियोंके कष्ट दूर हो सकते हैं। पुरूषार्थ प्रयत्नके सन्मुख ये विघ्न ठहर ही नहीं सकते।

यहां बैलोंके अण्डकोश तोडकर उनको प्रजननके कार्यके लिये असमर्थ बनानेकी विद्याकी सूचना है। खेतीके लिये इसी प्रकारके बैलोंका उपयोग होता है।

असुर - माया।

'असुरमाया' का विषय चतुर्थ मंत्रमें आया है। 'माया' शब्दका अर्थ 'कौशल्य, हुनर, कला, प्रवीणताका कर्म' है। 'असुर' शब्दका अर्थ '(अ-सूर) दैत्य अथवा (असु-र) जीवनकी विद्या जाननेवाले और उस विद्याका प्रकाश करनेवाले है। इसलिये 'असुर माया' का अर्थ 'असुरोंके पारसा कला कौशल, हुनर अथवा जीवनके साधन प्राप्त करनेकी विद्या है। यह असुर माया अपनी अपनी ढंगकी देवोंके पास भी रहती है और दैत्योंके पास भी होती है। देव सम्पूर्ण प्रकारकी यह विद्या प्राप्त करते हैं और अपनी उन्नति सिद्ध करते हैं और श्रेष्ठत्व प्राप्त करते हैं, इस विषयमें कहा है -

असुरमायया देवा इव श्रवस्यवः चरथ। (सू.९,मं.४)

'इस जीवनकी विद्यासे जैसे देव चलते हैं, वैसे तुम भी यशस्वी और प्रशंसित होकर चलो।' देव जैसे इन जीवन विद्यासे यशस्वी होते हैं वैसे ही तुम भी होओ। यह चतुर्थ मंत्रका कथन मनुष्योंको पुरूषार्थके मार्गपर चलानेके लिये ही है। जो मनुष्य इस मार्गसे चलेंगे, वे देवोंके समान पूजनीय होंगे और यशके भी भागी बनेंगे।

सैंकडों विघ्न।

इस पृथ्वीपर विघ्न तो सैंकडों है, व्यक्ति, समाज, जाती और राष्ट्रकी उन्नतिमें सैंकडों किस्मके विघ्न होते हैं। जो भी पुरूषार्थ करनेका कार्य चला हो, उसमें विघ्न तो अवश्य ही होंगे, परंतु उनसे डरना नहीं चाहिये। इन विघ्नोंके विषयमें कहा है -

एकशतं विष्कन्धानि विष्ठिता पृथिवीमनु।
(सू.९, मं.६)

'सैंकडों विघ्न पृथ्वीपर हैं।' जब ये विघ्न हैं और हरएक कार्यमें ये रहेंगे ही तब उनसे डरनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। उनको प्रतिबंध करते हुए आगे बढना चाहिये। आगे बढनेके लिये अपना वेग बढाना चाहिये -

आशवो रथा इव शपथेभिः उत् सरिष्यथ। (सू.९,मं.५)

'शीघ्रगामी रथ जैसे शीघ्र आगे बढते हैं उसी प्रकार पुरूषार्थ प्रयत्न करनेसे तुम भी विघ्नोंको पीछे डालकर आगे बढ जाओगे।' अपना वेग बढानेसे विघ्न पीछे हटते हैं, परंतु जो अपना वेग कम करते हैं, वे विघ्नोंसे त्रस्त होते हैं। इसलिये अपनी पुरूषार्थ शक्ति बढानेसे मनुष्य विघ्नोंका परास्त करके विजयका मार्ग सुधर सकते हैं। इस विषयके उदाहरण देखिये -

शुनां दूषणः कपिः इव। (सू.९, मं.४)

'कुत्तोंका तिरस्कार करनेवाला बंदर जैसा होता है।' बंदर वृक्षपर रहते हैं इसलिये वे कुत्तोंकी पर्वाह नहीं करते। वे कुत्तोंको तुच्छ समझते हैं क्योंकि वे कुत्तोंकी अपेक्षा बहुत ऊंचे स्थानपर रहते हैं, अतः कुत्ते उन बंदरोंको कोई विघ्न कर नहीं सकते। इसी प्रकार जिन स्थानोंमें विघ्न होते हैं उन स्थानोंको छोडकर उनसे ऊंचे स्थानोमें रहनेसे कोई विघ्न, कष्ट नहीं दे सकते। जैसे बंदर वृक्षपर रहनेके कारण कुत्तोंके कष्टोंसे बचे रहते हैं, इसी प्रकार हरएक विघ्नसे मनुष्य अपने आपको बचावे। विघ्नका जो स्थान होगा उससे अपना स्थान ऊंच करनेसे मनुष्य उनसे सदा दूर रह सकता है। इसी विषयके सूचक निम्न लिखित मंत्र हैं -

अवस्युं शुष्मं काबवं वध्रिं कृण्वन्तु बन्धुरः॥
(सू.९, मं.३)
काबवस्य च बन्धुराः॥ (सू.९, मं.४)
काबवं दूषयिष्यामि॥ (सू.९, मं.५)

'विघ्नोंका प्रतिबंध करनेवाले लोग प्रसिद्ध शोषक विघ्नको निर्बल करें। विघ्नका प्रतिबन्ध करें। मैं विघ्नको परास्त करूंगा।'

ये सब विधान विघ्नोंका प्रतिबंध करनेके सूचक हैं। विघ्नोंको परास्त करना अथवा विघ्नोंको दूर करना यह मनुष्यका ध्येय हैं और इसके उपाय इससे पूर्व दिये ही है। शारीरिक व्याधियोंसे अपने आपका बचाव करनेके लिये मणि धारणका उपाय इससे पूर्व कई सूक्तोंमें कहा गया है।(देखो काण्ड२, सूक्त ४) इस प्रकारके मणि धारणसे रोगोंका प्रतिबंध हो जाता है इसलिये मणि धारणकी सूचना देनेके लिये इस सूक्तमें निम्नलिखित मंत्र भाग हैं -

पिशंगे सूत्रे खृगलं तदा बन्धन्ति वेधसः। (सू.९, मं.३)
दुष्टचै हित्वा भत्स्यामि। (सू.९, मं.५)

तेषां त्वामग्र उज्जहरुर्मणिं विष्कन्ध - दूषणम् ॥
(सू.९, मं.६)

'भूरे रंगवाले सूत्रमें ज्ञानी लो इस मणिको बांधते हैं। दुरवस्थां हटानेके लिये तुझे बांधूंगा। मणिको विघ्नोंका निर्बल करनेवाला सबसे मुख्य उपाय मानकर ऊपर उठाते और धारण करते हैं ।'

इन मंत्र भागोंसे स्पष्ट हो जाता है कि व्यक्तिके शारीरिक रोगरूपी आधिव्याधियोंको हटानेके लिये यह मणिधारण एक उत्तम उपाय है । सामाजिक और राष्ट्रीय विघ्नोंको दूर करनेके लिये विश्वबंधुत्वकी कल्पनाका फैलाव करनेका उपाय प्रमुख स्थान रखता है । तथा अन्यान्य संपूर्ण विघ्नोंको हटानेके लिये परिश्रम करने अर्थात् पुरुषार्थ करनेकी शक्ति मनुष्यमें पर्याप्त है । इस सूक्तका अच्छा मनन पाठक करेंगे तो उनको अपनी उन्नतिका मार्ग विघ्नरहित करनेका उपाय निःसंदेह प्राप्त हो सकता है ।

• • •

कालका यज्ञ ।

(१०)

(ऋषिः - अथर्वा । देवता - एकाष्टका, नानादेवता)

प्रथमा ह व्युवास सा धेनुरभवद्यमे ।
सा नः पयस्वती दुहामुत्तरामुत्तरां समाम् ॥ १ ॥
यां देवाः प्रतिनन्दन्ति रात्रिं धेनुमुपायतीम् ।
संवत्सरस्य या पत्नी सा नो अस्तु सुमङ्गली ॥ २ ॥
संवत्सरस्य प्रतिमां यां त्वा रात्र्युपास्महे ।
सा न आयुष्मतीं प्रजां रायस्पोषेण सं सृज ॥ ३ ॥

अर्थ - **(प्रथमा ह वि+ उवास)** पहली उषाकी वेला उदयको प्राप्त हुई । **(सा यमे धेनुः अभवत्)** वह नियममें धेनु जैसी हुई । **(सा पयस्वती)** वह दूध देनेवाली धेनु **(नः उत्तरां उत्तरां समां दुहां)** हमारे लिये उत्तरोत्तर अर्थात् आनेवाले वर्षोंमें दूध देती रहे ॥१॥

(देवाः) देव **(यां उपायतीं रात्रिं धेनुं)** जिस आनेवाली रात्री रूपी धेनुको देखकर **(प्रतिनन्दन्ति)** आनन्दित होते हैं । **(या संवत्सरस्य पत्नी)** जो संवत्सरकी पत्नीरूप है **(सा नः सुमङ्गली अस्तु)** वह हमारे लिये उत्तम मंगल करनेवाली होवे ॥२॥

हे **(रात्रि)** रात्री ! **(यां त्वा)** जिस तुझको **(संवत्सरस्य प्रतिमां)** संवत्सरकी प्रतिमा मानकर **(उपास्महे)** हम सब भजते हैं, **(सा नः आयुष्मतीं प्रजां)** वह हमारी दीर्घ आयुवाली प्रजाको **(रायः पोषेण संसृज)** धनकी पुष्टिसे संयुक्त कर ॥३॥

भावार्थ - पहली उषा उदयको प्राप्त हुई है । जो सुनियमोंका पालन करता है उसके लिये यह वेला कामधेनु जैसी अमृत रस देनेवाली बनती है । इसलिये यह वेला हमारी भविष्यकी आयुमें हमें भी अमृत रस देनेवाली बने ॥१॥

प्राप्त होनेवाली इस रात्री रूपी कामधेनुको देखकर देव आनंदित होते हैं । यह संवत्सरकी पत्नी रूपी वेला हमारे लिये उत्तम मंगल करनेवाली बनो ॥२॥

संवत्सरकी प्रतिमा रूप यह रात्री है, इसकी उपासना हम करते हैं, इसलिये यह हमारे संतानोंको दीर्घ आयु,धन और पुष्टि देवे ॥३॥

इयमेव सा या प्रथमा व्यौच्छदास्वितरासु चरति प्रविष्टा ।
महान्तो अस्यां महिमानो अन्तर्वधूर्जिगाय नवगज्जनित्री ॥ ४ ॥
वानस्पत्या ग्रावाणो घोषमक्रत हविष्कृण्वन्तः परिवत्सरीणम् ।
एकाष्टके सुप्रजसः सुवीरा वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥ ५ ॥
इडायास्पदं घृतवत् सरीसृपं जातवेदः प्रति हव्या गृभाय ।
ये ग्राम्याः पशवो विश्वरूपास्तेषां सप्तानां मयि रन्तिरस्तु ॥ ६ ॥
आ मा पुष्टे च पोषे च रात्रि देवानां सुमतौ स्याम ।
पूर्णा दर्वे परा पत सुपूर्णा पुनरा पत ।
सर्वान्यज्ञान्त्संभुञ्जतीषमूर्जं न आ भर ॥ ७ ॥

अर्थ - **(इयं एव सा)** यही वह है कि **(या प्रथमा व्यौच्छत्)** जो पहली प्रगट हुई,और जो **(आसु इतरासु प्रविष्टा चरति)** इन इतरोमें प्रविष्ट होकर चलती है । **(अस्यां अन्तः महान्तः महिमानः)** इसके अन्दर बडी महिमाएं हैं । **(नव -गत् वधूः जनित्री जिगाय)** यह नूतन कुलवधू जननी होती हुई विजय करती है ॥४॥

(परिवत्सरीणं हविः कृण्वन्तः) सांवत्सरिक हवनका अन्न बनानेवाले **(वानस्पत्याः ग्रावाणः घोषं अक्रत)** वनस्पतिके साथ संबंध रखनेवाले पत्थर शब्द कर रहे हैं । हे **(एकाष्टके)** एक अष्टका ! **(वयं सुप्रजसः सुवीराः)** हम सब उत्तम सन्तानवाले और उत्तम वीरोंवाले तथा **(रयीणां पतयः स्याम)** धनके स्वामी होवें ॥५॥

हे **(जातवेदः)** उत्पन्न पदार्थोंको जाननेवाले अग्नि ! **(इडायाः घृतवत् सरीसृपं पदं प्रति)** गौके घीसे युक्त स्रवनेवाले स्थानके प्रति **(हव्या गृभाय)** हव्यको ग्रहण कर । **(ये ग्राम्याः विश्वरूपाः पशवः)** जो ग्रामीण अनेक रूपवाले पशु हैं **(तेषां सप्तानां रन्तिः मयि अस्तु)** उन सातोंकी प्रीति मुझमें होवे ॥६॥

हे **(रात्रि)** रात्री ! **(पुष्टे च पोषे च मा आ भर)** पुष्टि और पोषणके संबंधमें मुझको भर दे । हम **(देवानां सुमतौ स्याम)** देवोंकी सुमतिमें रहें । हे **(दर्वे)** चमस ! तू **(पूर्णा परा पत)** पूर्ण भरी हुई दूर जा और **(सुपूर्णा पुनः आपत)** उत्तम पूर्ण होकर पुनः पास आ । **(सर्वान् संभुञ्जन्ती)** सब यज्ञोंका उत्तम प्रकार सेवन करती हुई **(नः इषं ऊर्जे आ भर)** हमारे लिये अन्न और बल लाकर भर दे ॥७॥

भावार्थ- यही वेला वह है कि जो पहले प्रकट हुई थी और जो अन्य वेलाओंके साथ संयुक्त होकर चलती है। इस वेलामें अनेक महत्त्वपूर्ण शक्तियां हैं । यह वेला विजय करती है जिस प्रकार नवीन कुलवधु प्रथम संतान उत्पन्न करती हुई कुलका यश बढाती है ॥४॥

आज सांवत्सरिक हवनकी सामग्री बनानेवाले - सोमरस निकालनेवाले - पत्थर और काष्ठयंत्र आवाज कर रहे हैं । हे एकाष्टके ! हम सब उत्तम संतान युक्त और उत्तम वीरोंसे युक्त होकर बहुत धनके स्वामी बनें ॥५॥

हे जातवेद ! तू गौके घीसे युक्त तथा जिसमेंसे गौका घी चू रहा है ऐसा घीसे पूर्ण भिगा हुआ हव्य ग्रहण कर। जो अनेक रंगरूपवाले ग्राम्य सात पशु हैं वे मेरे ऊपर प्रेम करते हुए मेरे साथ रहें ॥६॥

हे रात्री ! हमें बहुत पुष्टि और शक्ति दे । देवोंकी मंगलमयी मति हमें सहारा देती रहे । हे चमस ! तू घीसे पूर्ण होकर अग्निमें आहुति देनेके लिये आगे बढ, और वहांकी दैवीशक्तिसे पूर्ण होकर हमारे पास फिर लौट आ और हमारे लिये अन्न और बल विपुल प्रमाणमें दें ॥७॥

आयमगन्त्संवत्सरः पतिरेकाष्टके तव ।
सा न आयुष्मतीं प्रजां रायस्पोषेण सं सृज ॥ ८ ॥
ऋतून्यज ऋतुपतीनार्तवानुत हायनान् ।
समाः संवत्सरान्मासान्भूतस्य पतये यजे ॥ ९ ॥
ऋतुभ्यष्ट्वार्तवेभ्यो माद्भ्यः संवत्सरेभ्यः ।
धात्रे विधात्रे समृधे भूतस्य पतये यजे ॥ १० ॥
इडया जुह्वतो वयं देवान्घृतवता यजे ।
गृहानलुभ्यतो वयं सं विशेमोप गोमतः ॥ ११ ॥
एकाष्टका तपसा तप्यमाना जजान गर्भं महिमानमिन्द्रम् ।
तेन देवा व्यसहन्त शत्रून्हन्ता दस्यूनामभवच्छचीपतिः ॥ १२ ॥

अर्थ - हे (एकाष्टके) एकाष्टके ! (अयं संवत्सरः) यह संवत्सर (ते पतिः) तेरा पति होकर (आ अगन्) आया है। (सा) वह तू (नः आयुष्मतीं प्रजां) हमारी दीर्घायुवाली प्रजाको (रायः पोषेण सं सृज) धनकी पुष्टिसे युक्त कर ॥८॥

(मासान् ऋतून् आर्तवान् ऋतुपतीन्) मास, ऋतु, ऋतुसंबंधी ऋतुपतियोंको तथा (उत हायनान् समाः संवत्सरान् यजे) अयनवर्ष, समवर्ष और संवत्सरको अर्पण करता हूं और (भूतस्य पतये यजे) भूतके स्वामीके लिये यज्ञ करता हूं ॥९॥

(माद्भ्यः ऋतुभ्यः आर्तवेभ्यः संवत्सरेभ्यः) महिने, ऋतु, ऋतुसे संबंध रखनेवाले तथा वर्ष इन सबके लिये और (धात्रे, विधात्रे, समृधे) धाता, विधाता तथा समृद्धिके लिये (भूतस्य पतये यजे) भूतोंके पतिके लिये मैं अर्पण करता हूं ॥१०॥

(इडया घृतवता जुह्वतः) गौ द्वारा प्राप्त घीसे युक्त अर्पण द्वारा हवन करनेवाले (वयं देवान् यजे) हम सब देवोंका यजन करते हैं । (अलुभ्यतः गोमतः गृहान्) जिसमें न्यूनता नहीं है, जो गौओंसे युक्त हैं, ऐसे घरोंमें (वयं उपसं विशेम) हम प्रवेश करेंगे ॥११॥

(एकाष्टका तपसा तप्यमाना) यह एक अष्टका तपसे तपती हुई (महिमानं इन्द्रं गर्भं जजान) बडे महिमावाले इन्द्र रूपी गर्भको प्रकट करती रही । (तेन देवाः शत्रून् वि - असहन्त) उससे देवोंने शत्रुओंको जीत लिया। (दस्यूनां हन्ता शचीपतिः अभवत्) क्योंकि शत्रुओंका नाश करनेवाला शक्तिशाली प्रगट हुआ है ॥१२॥

भावार्थ - हे एकाष्टके ! यह संवत्सर तेरा पतिरूप है, उसकी पत्नीरूप तू हमारे बालबच्चोंके लिये दीर्घ आयुष्य, धन और पुष्टि दे ॥८॥

मैं अपने दिन, पक्ष, मास, ऋतु, काल, अयन और संवत्सर आदि कालवयवोंको भूतपति परमेश्वरके यजनके लिये समर्पित करता हूं अर्थात् अपनी आयुको यज्ञके लिये अर्पण करता हूं ॥९।.

मास, ऋतु, (शीत, उष्ण, वृष्टिसंबंधी तीन) काल, अयन, संवत्सर आदि मेरी आयुके कालविभागोंको धाता, विधाता, समृद्धिकर्ता भूतपति परमात्माके लिये अर्थात् यज्ञके लिये समर्पित करता हूं ॥१०।.

गौके घीसे मैं देवोंका यजन करता हूं और ऐसे यज्ञ करता हुआ मैं अपने घरोंमें प्रवेश करता हूं । हमारे घरोंमें बहुतसी दूध देनेवाली गौवे सदा रहें और हमारे घरोंमें कभी किसी पदार्थकी न्यूनता न हो ॥११॥

यह एकाष्टका तप करती हुई बडे प्रभावशाली इन्द्र नामक गर्भको धारण करती है और पश्चात् प्रकट करती है। इस इन्द्रके प्रभावसे शत्रु दूर भाग जाते हैं अथवा पूर्ण परास्त होते हैं। यह शक्तिशाली इन्द्र शत्रुओंका नाशक है ॥१२॥

इन्द्रपुत्रे सोमपुत्रे दुहितासि प्रजापतेः ।
कामानस्माकं पूरय प्रति गृह्णाहि नो हविः ॥ १३ ॥

इति द्वितीयोऽनुवाकः ॥ १ ॥

अर्थ - हे (इन्द्रपुत्रे) इन्द्र जैसे पुत्रवाली ! हे (सोमपुत्रे) चन्द्रमा जैसे पुत्रवाली ! तू (प्रजापतेः दुहिता असि) तू प्रजापतिकी दुहिता है, (नः हविः पति गृह्णीष्व) हमारा हवि तू स्वीकार कर (अस्माकं कामान् पूरय) और हमारी कामनाओंको पूर्ण कर ॥१३॥

भावार्थ - हे इन्द्रको जन्म देनेवाली ! और हे सोमको जन्म देनेवाली अष्टके ! तू प्रजापतिकी दुहिता है । इस यज्ञमें जो हवि हम अर्पण कर रहे हैं उसका स्वीकार कर और हमारी संपूर्ण इच्छाएं पूर्ण कर ॥१३॥

कामधेनु ।

काल अर्थात् समय अथवा वेला, यह एक बडी शक्तिशाली कामधेनु है । यह किस मनुष्यके लिये कामधेनु होती है और किसके लिये नहीं होती, इस विषयमें प्रथम मंत्रका कथन मनन करने योग्य है -

प्रथमा ह व्युवास, सा धेनुरभवद्यमे ॥

(सू.१०, मं.१)

'पहली उषा प्रकाशित हुई है, वही नियमोंका पालन करनेवालेके लिये दूध देनेवाली गौ जैसी होती है।' उषा ही वेलाकी सबसे प्रथम अवस्था है, इस उषासे कालके मापनका प्रारंभ होता है। यह वेला 'यम' के लिये ही दूध देनेवाली गोमाता बनती है । यह यम कौन है । यम यह है -

यम ।

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ।

(योगदर्शन)

'अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पांच यम हैं ।' ये मनुष्यके चालचलनके नियम हैं, इन्हींके साथ 'शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरभक्ति ये पांच नियम लगे हैं ।' इनका पालन करनेवाला अर्थात् इन नियमोपनियमोंके अनुसार अपना आचरण करनेवाला 'यम' कहलाता है । नियमसे चलनेवाला मनुष्य बडा प्रभावशाली महात्मा होता है, इसी मनुष्यके लिये यह 'समय' कामधेनु बनता है। परन्तु अनियमसे व्यवहार करनेवालेके लिये यह काल भयानक कालरूप बनता है। इसलिये उन्नति चाहनेवाला मनुष्य उत्तम नियमोंके अनुकूल चले, समयका उपयोग उत्तम रीतिसे करे और अभ्युदय तथा निःश्रेयस प्राप्त करके यशका भागी बने। हरएक मनुष्य चाहता है कि -

सा नः पयस्वती दुहामुत्तरामुत्तरां समाम् ॥

(सू.१०, मं.१)

'वह काल हमारे लिये उत्तरोत्तरकी आयुमें अमृत रस देनेवाला होवे ।' यह हरएककी इच्छा रहना स्वाभाविक है, क्योंकि सुख तो हरएकको चाहिये । परंतु बहुत थोडे लोग कालका उपयोग उत्तम रीतिसे करना जानते हैं और यमनियमोंका उत्तम रीतिसे पालन करनेवाले तो उनसे भी थोडे होते हैं । इसलिये हरएककी इच्छा होते हुए भी बहुतसे मनुष्योंके लिये काल प्रतिकूल होता है और जो पूर्वोक्त प्रकार यमनियमोंसे अपने आपका आचरण सुयोग्य बनाते हैं, उनके लिये ही यह अनुकूल होता है। पाठक यह नियम सबसे प्रथम ध्यानमें धारण करें, क्योंकि उन्नतिके लिये यह सबसे प्रथम आवश्यक है।

उषासे यह काल प्रारंभ होता है, कालका प्रारंभ उषामें है । सब यह जानते हैं कि उषासे दिनका प्रारंभ होता है, इसलिये कई स्थानोंमें उषाको दिनकी माता कहा है । रात्री प्रायः निद्रामें जाती है इसलिये 'नियमोंको आचरणमें लाना, कालका योग्य उपयोग करना' इत्यादि बातें प्रायः दिनके साथ संबंध रखती है । रात्रीका सात

आठ घण्टोंका समय निद्रामें जाता है, इसको छोडकर जो कार्यका समय अवशिष्ट रहता है, उसीका सदुपयोग अथवा दुरूपयोग मनुष्य करता है और उन्नत या अवनत होता है ।

एक पूर्ण दिनमें 'दिन और रात्री' ये दो विभाग है । इतने समयके आठ प्रहर होते हैं । आठ प्रहरोंका नाम 'अष्टक' अथवा अष्टका' है, एक पूरे दिनकी यह 'एकाष्टका' है अर्थात् प्रहरोंका समय है । दिनमें चार प्रहर और रात्रीमें चार प्रहर होते हैं, इन सबका मिलकर नाम 'एकाष्टका' है, यही इस सूक्तकी देवता है । दिनके आठ प्रहरोंका उत्तम उपयोग कैसा करना यह बताना इस सूक्तका उद्देश्य स्पष्ट है । प्रत्येक दिनका योग्य उपयोग होता रहा तो सब आयुका उत्तम उपयोग होगा । सब आयुका यज्ञ करनेका यही तात्पर्य है ।

अंधकारमयी रात्री ।

दिनमें प्रकाश रहता है इसलिये मनुष्य प्रायः निर्भय रहते हैं । रात्रीमें अन्धकार होनेके कारण मनुष्य भयभीत होते हैं इसलिये प्रकाशमय दिनके संबंधमें कुछ कथन करनेकी अपेक्षा अन्धकार पूर्ण रात्रीके विषयमें ही कुछ कहना आवश्यक होता है, यह कार्य द्वितीयसे चतुर्थतक तीन मंत्रों द्वारा हुआ है, इन मंत्रोंका आशय यह है -

'देव भयदायिनी अन्धकारमयी रात्रीका आनन्दसे स्वागत करते हैं, क्योंकि यह रात्री संवत्सरकी पत्नी है, वह हम सबके लिये उत्तम मंगल करनेवाली बने (मं.२) । इस रात्रीको संवत्सरकी छोटी प्रतिमा मानकर उसका स्वागत करना चाहिये, वह हमें दीर्घायु प्रजा, धन और पुष्टि देवे (मं.३) । यही वह है कि जिससे पहली उषा उदित हो गई थी, यही इतर वेला विभागोंमें प्रविष्ट होकर चलती है । इस रात्रीमें बडी महिमाएं है, यह वीर पुत्रको जन्म देनेवाली कुलवधुके समान यशस्विनी रात्री है (मं.४) ।

यह भावार्थ इन तीन मंत्रोंका है । इन मंत्रोंमें रात्रीकी भयानकता दूर करके उसकी मंगलमयता बतायी है । जिस रात्रीको साधारण लोग डरावनी मानते हैं, उसीको वेद ऐसी मंगलमयी, अनंत महिमाओंसे युक्त और कुलवधुके समान भावी यशकी सूचक बताता है । सृष्टिकी घटनाओंकी ओर देखनेका यह वेदका पवित्र दृष्टिकोन है । पाठक इसी दृष्टिकोनसे जगत्की और देखे और उसमें परमात्माकी महिमा अनुभव करें । जैसा दिनमें प्रकाशमय स्वरूप परमात्माका दिखाई देता है उसी प्रकार रात्रीमें उसीका शांत स्वरूप प्रकट होता है, दिनमें विविधताका अनुभव होता है और रात्रीमें वह विविधता मिट जाती है । इस प्रकार दिनमें और रात्रीमें परमात्माका मंगल स्वरूप देखना चाहिये यही वेदकी अभीष्ट है ।

संवत्सरकी प्रतिमा ।

तृतीय मंत्रमें रात्रीको संवत्सरकी प्रतिमा कहा है । संवत्सर वर्षका नाम हैं । वर्ष बडे आकारवाला है उसकी प्रतिमा यह रात्री है । प्रतिमाका अर्थ 'प्रति+मान' है अर्थात् मापनेका साधन । दिन रात्री या दोनों मिलकर अहोरात्र संवत्सरका माप करनेका साधन है, दिनसे ही वर्ष मापा जाता है । यही रात्री संवत्सरकी पत्नी है । संवत्सर पति है और रात्री उसकी पत्नी है । वार्षिक कालका विशाल रूप संवत्सर है और छोटा रूप दिन या रात्री है । यह रात्री -

सा नो अस्तु सुमंगली । (सू. १०, मं.२)

सा न आयुष्मतीं प्रजां रायस्पोषेण सं सृज । (सू.१०, मं.३)

महान्तो अस्यां महिमानो अन्तः । (सू.१०, मं.४)

'यह रात्री हमें मंगलमयी होवे । यह रात्री हमें धन और पुष्टिके साथ दीर्घायु प्रजा देवे । इस रात्रीमें बडे महिमा हैं ।' यह रात्रीका वर्णन निःसंदेह सत्य है । रात्री सचमुच सुमंगली है। इस रात्रीमें निद्रासे विश्राम लेते हुए मनुष्य इतना आराम प्राप्त करते हैं कि जिसका वर्णन नहीं हो सकता और जिसका अनुभव हरएकको है । 'जो रात्रीमें रतिक्रिडा करते हैं वे ब्रह्मचर्यका पालन करते हैं। (प्रश्न उप. १।१३)' यह उपनिषद्वचन कहता है कि गृहस्थी लोक गृहस्थधर्मके नियम पालनपूर्वक रात्रीकालमें रति करते हुए और उस आश्रमके योग्य आचरण करते हुए भी ब्रह्मचर्य ही पालन करते हैं । इससे उत्तम सुसन्तान उत्पन्न होती है जो दीर्घायु और तेजस्वी भी होती हैं । इस प्रकार इस रात्रीमें अनेक महिमाएं हैं और इस कारण रात्री बडी उपकारक है । पाठक इस रीतिसे रात्रीका उपकार देखें और इस रात्रीका स्वागत करें । कई कहेंगे कि रात्रीमें चोरादिकोंका तथा हिंसक प्राणियोंका उपद्रव होता है इसलिये रात्री भयदायक है, तो यह कथन भी

ठीक नहीं है, क्योंकि उसी कारण आत्मसक्षाकी शक्ति मनुष्योंमें उत्पन्न होती है और उससे धैर्य, शौर्य, वीर्य, पराक्रम आदि गुण बढते हैं। इस दृष्टिसे भी रात्रीके बडे उपकार ही हैं।

हवन।

आगे पंचम मंत्रमें पत्थरोंके द्वारा सोम औषधिका रस निकालना और यज्ञमें हवन करनेके लिये हवि तैयार करनेका वर्णन है। षष्ठ मंत्रमें हरएक प्रकारका हवि घीसे पूर्णतया भिगो कर, घी चूता है ऐसी अवस्थामें हवन सामग्रीकी आहुतियां डालनी चाहिये इत्यादि वर्णन है। यह सब याजकोंके लिये लक्ष्यपूर्वक देखने योग्य है। घीके अन्दर हवाका दोष दूर करनेका सामर्थ्य है, इस कारण हवा शुद्धिके लिये हवन इष्ट ही है। मनुष्य अपने व्यवहारसे अनेक प्रकारके विष हवामें फेंकता है, इसलिये उन रोगोत्पादक विषोंका उपशम करनेके लिये इस प्रकारका हवन करना अत्यंत आवश्यक है। इस प्रकार हवनादि द्वारा वायुकी शुद्धता करनेसे गृहस्थी लोग सुखी, बलवान्, नीरोग और सुप्रजासे युक्त होंगे, यह सूचना पंचम मंत्रके उत्तरार्धमें मिलती है, वह सूचना हरएक गृहस्थीको मनमें धारण करना चाहिये। षष्ठ मंत्रके 'उत्तरार्धमें ग्रामीण सप्त पशु मनुष्योंपर प्रेम करते हुए घरमें रहें' ऐसा कहा है। यह गृहस्थाश्रमका स्वरूप है। गृहस्थके घरमें गाय, बैल, घोडे, घोडीयां, भेड, बकरी आदि पशु और उनके बछडे रहें, यह घरकी शोभा है, इनका उपयोग भी है।

सप्तम मंत्रके द्वितीय भागसे आहुति डालनेवाले चमसका वर्णन करते हुए एक बडे महत्त्वपूर्ण बातका उपदेश किया है। 'आहुति देनेवाला चमस पूर्ण भरकर अग्निके पास चला जावे और वहांसे अग्निकी तेजस्विता लेकर वापस आवे और वह हवन करनेवालेंकी तेजस्विता बढावे।'

पूर्णा दर्वे परापत, सुपूर्णा पुनरा पत। (सू.१०, मं.७)

'चमस पूर्ण भरकर दान देनेके लिये आगे बढे और वापस आनेके समय भी वहांसे तेज भरकर वापस आवे।' इसमें चमसका भरकर जाना और भरकर आना लिखा है। दान देनेके समय चमस भरकर यज्ञके पास जाय और अपनी आहुती दे देवे, दान देनेके समय कंजूसी न की जावे, यह बोध यहां मिलता है। जिस देवताको दान दिया है उस देवताके प्रशंसित गुण उस चमसमें आते हैं, चमस खाली होते ही मानो वह देव अपने उस चमसमें भर देता है। उन गुणोंको ग्रहण करके वह चमस वापस आवे और दानदाताको गुणी बनावे। यह आशय यहां है। इस मंत्रके मननसे पाठक बहुत बोध प्राप्त कर सकते हैं। 'यज्ञ' का 'दान और आदान' इस मंत्रके मननसे अच्छी प्रकार ज्ञात हो सकता है। 'जो अपने पास है वह दूसरोंके हितार्थ दान देना और दूसरोंमें जो श्रेष्ठ गुण हों उनको अपनाना' यह यज्ञका तत्व इस मंत्रसे स्पष्ट हो रहा है। पाठक इसका मनन करें।

आगे अष्टम मंत्रका आशय द्वितीय और तृतीय मंत्रोंके आशयके समान ही है इसलिये इस मंत्रपर अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं है।

कालका यज्ञ।

नवम और दशम मंत्रोंमें कालके अवयवोंका नामनिर्देश करके उन कालावयवोंका यज्ञ करनेके संबंधमें बडा महत्त्वपूर्ण उपदेश हैं -

(१) **मास** - महिना। (२) **ऋतु** - दो मासका समय। (३) **आर्तव काल** - दो ऋतुओंसे बननेवाला काल, शीत काल, उष्णकाल, वर्षा काल। (४) **अयन**- तीन ऋतुओंका समय, वर्षके दो अयन होते हैं, दो अयनोंको मानसे गिने हुए वर्षका नाम 'अयन' होता है। (५) **समाः** - तीस दिनोंका एक मास, ऐसे बारह मासोंका अर्थात् ३६० दिनोंका एक वर्ष, 'समा' नामसे प्रसिद्ध है क्योंकि इस प्रकारके वर्षके महिनोंके दिन समसंख्यावाले होते हैं। (६) **संवत्सर** - सौर वर्ष, इस वर्षके ३६५ दिन होते हैं, और मासोके दिनोंमें न्यूनाधिकता होती है। (इसके अतिरिक्त चांद्रवर्ष होता है इसका उल्लेख यहां नहीं किया है उसके दिन ३५४ होते हैं, इसके महिनोंके दिनोंकी संख्या भी न्यूनाधिक होती है।)

इस प्रकारका 'जो मेरी आयुका काल है वह सब मैं सब भूतोंका पालन करनेवाला जो परमात्मा है उसके लिये समर्पित करता हूं।' अर्थात् मेरी आयुका यज्ञ मैं करता हूं। अपनी आयुका विनियोग जनताकी भलाई करनेके कार्यमें करनेका नाम ही आयुष्यका यज्ञ है। परमात्माका कार्य 'सज्जनोंका पालन और दुर्जनोंका दण्डन करना' है। यही जनताके हितका कार्य है, इस

कार्यके लिये अपना सर्वस्व तन, मन, धन अर्पण करना 'आत्म यज्ञ' करना ही है। इस प्रकारका अपनी आयुका यज्ञ करनेका उपदेश नवम और दशम मंत्रोंमें है, इसलिये ये मंत्र अत्यंत मनन करने योग्य हैं।

यज्ञका कार्य।

इन मंत्रोंमें जो यज्ञ करना है वह '(धात्रे, विधात्रे, समृधे, भूतस्य पतये । मं. ९-१०)' धारक, निर्माता, समृद्धिकर्ता, और भूतोंके पालनकर्ताके लिये करना है, अपनी आयु इन कार्योंके कर्ताके लिये समर्पित करना है। (१) जो प्रजाओंका धारण करता है, (२) जो जनताके लिये सुखसाधन निर्माण करता है (३) जो जनताकी समृद्धिकी वृद्धि करता है और (४) जो उन सबका पालन करता है उसके कार्यके लिये अपनी आयुका समर्पण करना आत्मयज्ञका तात्पर्य है। अर्थात् प्रजाहितके इतने कार्योंके लिये अपनी आयुका विनियोग करनेका नाम यज्ञ है। इस प्रकारका आत्मयज्ञ जो करते हैं वे लोकोत्तर दिव्य पुरूष सर्वत्र पूजनीय होते है।

ग्यारहवें मंत्रमें यज्ञका ही वर्णन करते हुए कहा है, कि -

अलुभ्यतः वयं गृहान् उप संविशेम।

(सू.१०, मं.११)

'लोभ न करते हुए अपने घरमें हम प्रवेश करेंगे।' अर्थात् हम लोभ न करते हुए घरोमें व्यवहार करेंगे, अथवा हमारे घरहोंका वायुमंडल ही ऐसा होगा कि वहां किसीका लाभ या स्वार्थ करनेकी आवश्यकता नहीं होगा। जो लोग अपनी आयुका पूर्वोक्त प्रकार यज्ञ करते हैं उनके घरोंका वायुमंडल ऐसा ही होगा इसमें कोई सन्देह नहीं है।

शत्रुनाशक इन्द्र।

बारहवें और तेरहवें मंत्रमें एकाष्टकाके गर्भधारण करनेका और इन्द्र नाम पुत्रको जन्म देनेका वर्णन है। एकाष्टका अहोरात्री है और इसीके गर्भमें सूर्य रहता है और रात्रीके प्रसूत होनेपर सूर्य बाहर आता है, जो प्रकाशके शत्रुओंका पूर्ण नाश करता है। जो लोग कालका यज्ञ पूर्वोक्त प्रकार करते हैं उनके प्रयत्नसे भी इन्द्र संज्ञक ऐसा विशाल तेज उत्पन्न होता है कि उससे उनके सब शत्रु परास्त होते हैं। यह बेला बडी महिमाएं अपने अन्दर रखती है, इसीका पुत्र (इन्द्र) प्रकाशका उग्र देव है और इसीका पुत्र (सोम) शांतिका देव भी है। (मं.१३)

रात्रीका अथवा उषाका पुत्र सूर्य है, इसीको दिवस्पुत्र भी वेदने कहा है। रात्रीका दूसरा पुत्र चन्द्र है इसको सोम भी कहते हैं। ये दोनों प्रकाशका फैलाव और अन्धकारका नाश करते हैं और जनताको प्रकाश देते हुए मार्ग बता देते हैं। वेदमें इनका विविध प्रकारसे वर्णन हुआ है और वह बडा बोधप्रद है।

इससे यह बोध लेना होता है कि मनुष्य स्वयं ज्ञान प्राप्त करे और दूसरोंको अपने ज्ञानका प्रकाश देवें। कलानिधि चन्द्रमाके समान मनुष्यभी स्वयं विविध कलाओंमें पूर्ण प्रवीणता संपादन करके स्वयं कलानिधि बन दूसरोंको कलाओंका अर्थात् हुनरोंका ज्ञान देकर जनताकी उन्नति करे। माताएं अपने संतानोंको इस प्रकारकी शिक्षा देकर बालकोंकी पूर्ण उन्नति करें।

यह इसकी महिमा जानकर प्रत्येक मनुष्य इस सूक्तके उपदेशके अनुसार अपनी आयुका उत्तम यज्ञ करे और यशका भागी बने।

॥यहां द्वितीय अनुवाक समाप्त॥

• • •

हवन से दीर्घ आयुष्य !

(११)

(ऋषिः - ब्रह्मा, भृग्वङ्गिराः । देवता - इन्द्राग्नी, आयुष्यं, यक्ष्मनाशनम्)

मुञ्चामि त्वा हविषा जीवनाय कमज्ञातयक्ष्मादुत राजयक्ष्मात् ।
ग्राहिर्जग्राह यद्येतदेनं तस्या इन्द्राग्नी प्र मुमुक्तमेनम् ॥ १ ॥
यदि क्षितायुर्यदि वा परेतो यदि मृत्योरन्तिकं नीत एव ।
तमा हरामि निर्ऋतेरुपस्थादस्पार्शमेनं शतशारदाय ॥ २ ॥
सहस्राक्षेण शतवीर्येण शतायुषा हविषाहार्षमेनम् ।
इन्द्रो यथैनं शरदो नयात्यति विश्वस्य दुरितस्य पारम् ॥ ३ ॥
शतं जीव शरदो वर्धमानः शतं हेमन्ताञ्छतमु वसन्तान् ।
शतं त इन्द्रो अग्निः सविता बृहस्पतिः शतायुषा हविषाहार्षमेनम् ॥ ४ ॥

अर्थ - (कं जीवनाय) सुखपूर्वक दीर्घ जीवनके लिये मैं (त्वा) तुझको (अज्ञात - यक्ष्मात् उत राज यक्ष्मात्) अज्ञात रोगसे और राजयक्ष्मा नामक क्षयरोगसे (हविषा मुञ्चामि) हवनसे छुडाता हूं । (यदि ग्राहिः एतत् एनं जग्राह) यदि जकडनेवाले रोगने इसको इस प्रकार पकड रखा हो तो (तस्याः इन्द्राग्नी एनं प्रमुमुक्त) उस पीडासे इन्द्र और अग्नि इसको छुडावें ॥१॥

(यदि क्षितायुः) यदि समाप्त आयुवाला अथवा (यदि वा परेतः) यदि मरनेके करीब पहुंचा हो किंवा (यदि मृत्योः अन्तिकं नीतः एव) यदि मृत्युके समीप भी पहुंचा हुआ क्यों न हो, (तं निर्ऋतेः उपस्थात् आहरामि) उसको मैं विनाशके पाससे वापस लाता हूं और (एनं शतशारदाय अस्पार्शम्) इसको सौ वर्षके दीर्घायुष्यके लिये सुरक्षित करता हूं ॥२॥

(सहस्राक्षेण शतवीर्येण शतायुषा हविषा एनं आहार्षे) सौ शक्तियोंसे युक्त सौ वीर्योंसे युक्त, शतायु देनेवाले हवनसे इसको मैंने लाया है । (यथा विश्वस्य दुरितस्य पारं) जिससे संपूर्ण दुःखोंके पार होके (एनं इन्द्रः शरदः अति नयति) इसको इन्द्र सौ वर्षकी पूर्णायुके भी परे पहुंचावे ॥३॥

(वर्धमानः शतं शरदः जीव) बढता हुआ सौ शरद ऋतुओं तक जीता रह (शतं हेमन्तान्, शतं उ वसन्तान्) सौ हेमन्त ऋतुओं तक तथा सौ वसन्त ऋतुओं तक जीवित रह । (इन्द्रः अग्निः सविता बृहस्पतिः ते शतं) इन्द्र, अग्नि, बृहस्पति और सविता, तेरे लिये सौ वर्षकी आयु देवें । (एनं शतायुषा हविषा आहार्षे) मैंने इसको सौ वर्षकी आयु देनेवाले हविसे यहां लाया है ॥४॥

भावार्थ - तुझे सुखमय दीर्घ आयुष्य प्राप्त हो इसलिये तुझे ज्ञात और अज्ञात रोगोंसे हवनके द्वारा छुडाता हूं। जकडनेवाले रोगोंने यद्यपि तुझे पकड रखा हो, तथापि इन्द्र और अग्निकी सहायतासे तू उन कष्टोंसे मुक्त हो सकता है ॥१॥

आयु समाप्त हुई हो, करीब मरनेकी अवस्था प्राप्त हुई हो, करीब करीब मृत्युके समीप भी पहुंचा हुआ हो, तो भी उसको उस विनाशकी अवस्थासे मैं वापस लाता हूं और सौ वर्षकी दीर्घ आयु प्राप्त करता हूं ॥२॥

हवनमें हजारों शक्तियां है और सैंकडों वीर्य हैं, ऐसे हवनसे इसको मैंने वापस लाया है । यह मनुष्य अब सम्पूर्ण कष्टोंसे पार हुआ है, अब इसको इन्द्र सौ वर्षके भी परे ले जायेगा ॥३॥

प्र विशतं प्राणापानावनड्वाहाविव व्रजम् ।
व्य१न्ये यन्तु मृत्यवो यानाहुरितरान्छतम् ॥ ५ ॥
इहैव स्तं प्राणापानौ माप गातमितो युवम् ।
शरीरमस्याङ्गानि जरसे वहतं पुनः ॥ ६ ॥
जरायै त्वा परि ददामि जरायै नि धुवामि त्वा ।
जरा त्वा भद्रा नेष्ट व्य१न्ये यन्तु मृत्यवो यानाहुरितरान्छतम् ॥ ७ ॥
अभि त्वा जरिमाहित गामुक्षणमिव रज्ज्वा ।
यस्त्वा मृत्युरभ्यधत्त जायमानं सुपाशया ।
तं ते सत्यस्य हस्ताभ्यामुदमुञ्चद्बृहस्पतिः ॥ ८ ॥

अर्थ - हे (प्राणापानौ) प्राण और अपान ! (प्र विशतं) प्रवेश करो (अनड्वाहौ व्रजं इव) जैसे बैल गोशालामें प्रवेश करते हैं। (अन्ये मृत्यवः वि यन्तु) दूसरे अनेक अपमृत्यु दूर हो जावें, (यान् इतरान् शतं आहुः) जिनको इतर सौ प्रकारके कहा जाता है ॥५॥

हे (प्राणापानौ !) प्राण और अपान ! (युवं इह एव स्तं) तुम दोनों यहां ही रहो, (इतः मा अप गातं) यहांसे मत दूर जाओ। (अस्य शरीरं) इसका शरीर और (अंगानि) सब अवयव (जरसे पुनः वहतं) वृद्धावस्थाके लिये फिर ले चलो ॥६॥

(त्वा जरायै परि ददामि) तुझे वृद्धावस्थाके लिये अर्पण करता हूं। (त्वा जरायै निधुवामि) तुझको वृद्धावस्थाके लिये पहुंचाता हूं। (त्वा जरा भद्रा नेष्ट) तुझे वृद्धावस्था सुख देवे, (अन्ये मृत्यवः वि यन्तु) अन्य अपमृत्यु दूर हो जावें , (यान् इतरान् शतं आहुः) जिनको इतर सौ प्रकारके कहा जाता है ॥७॥

(उक्षणं गां इव रज्ज्वा) जैसे बैलको अथवा गौको रस्सीसे बांध देते हैं उस प्रकार (जरिमा त्वा अभि आहत) बुढापेने तुझको बांधा है। (यः मृत्युः जायमानं त्वा सुपाशया अभ्यधत्त) जिस मृत्युने उत्पन्न होते हुए, ही तुझको उत्तम पाशसे बांध रखा है (ते तं) तेरे उस मृत्युको (सत्यस्य हस्ताभ्यां बृहस्पतिः उदमुञ्चत्) सत्यके दोनों हाथोंसे बृहस्पति छुडा देता है ॥८॥

भावार्थ - मैंने तुझे सौ वर्षकी आयु प्रदान करनेवाले हवनसे मृत्युसे वापस लाया है। इन्द्र, अग्नि, सविता और बृहस्पति तुझे सौ वर्षकी आयु देवें। अब तू सब प्रकारसे बढता हुआ सौ वर्षतक जीवित रह ॥४॥

हे प्राण और अपान ! तुम दोनों इस मनुष्यमें ऐसे प्रवेश करो जैसे बैल गोशालामें प्रवेश करते हैं। अन्य सैंकडो अपमृत्यु इससे दूर भाग जावें ॥५॥

हे प्राण और अपान ! तुम दोनों इसके शरीरमें निवास करो, यहांसे दूर मत जाओ। इसके शरीरको और संपूर्ण अवयवोंको पूर्ण वृद्ध अवस्थातक अच्छी प्रकार चलाओ ॥६॥

हे मनुष्य ! मैं अब तुझको वृद्धावस्थाके लिये समर्पित करता हूं। वृद्धावस्थातक मैं तुझको आयु देता हूं। तुझे आरोग्यपूर्ण बुढापा प्राप्त हो और सब अन्य अपमृत्यु तुझसे अब दूर हों ॥७॥

जैसे गाय या बैलको एक स्थानपर रस्सीसे बांध देते हैं वैसे अब तेरे साथ वृद्धावस्थाकी पूर्ण आयु बांधी गई है। जो अपमृत्यु जन्मते ही तेरे साथ लगा हुआ था उस अपमृत्युसे तुझको सत्यके हाथोंसे बृहस्पति छुडा देता है ॥८॥

हवनसे दीर्घायुष्यकी प्राप्ति ।

हवनकी बडी भारी शक्ति है, इससे आरोग्य, बल, दीर्घ आयुष्य आदि प्राप्त हो सकता है । यज्ञयागोंमें हवन होता है, ये यज्ञयाग ऋ तुओंकी संधियोंमे किये जाते हैं और इनसे ऋ तुपरिवर्तनके कारण होनेवाले रोगादि दूर हो जाते हैं इस विषयमें कहा है -

औषधियोंके यज्ञ ।

भैषज्ययज्ञा वा एते । तस्माद्दतुसन्धिषु प्रयुज्यन्ते। ऋतुसन्धिषु व्याधिजायते ।। (गो. ब्रा.उ.प्र. १।१९)

ये औषधियोंके महामुख्य है, इसलिये ऋतुसंधियोंमें ये यज्ञ किये जाते हैं इसका कारण यह है कि ऋतुसंधियोंमें व्याधियां होती है ।'

ऋतुपरिवर्तन के कारण हवा बिगडती है, इससे रोग होते हैं । इन रोगोंका प्रतिबंध करनेके लिये ये औषधियाग किये जाते है । रोगनाशक, आरोग्यवर्धक, और पुष्टिकारक तथा बलवर्धक औषधियोंका इनमें हवन किया जाता है। जो यज्ञ रोगनाशक, आरोग्यवर्धक, पुष्टिकारक और बलवर्धक होंगे वे दीर्घ आयु देनेवाले निःसंदेह होंगे इसमें किसीको भी संदेह नहीं हो सकता । इसलिये इस सूक्तमें जो हवनसे दीर्घ आयुष्य प्राप्त करनेका संदेश दिया है वह अवश्य विचार करने योग्य है ।

हवनसे रोग दूर करना ।

हवनसे रोग दूर करनेके विषयमें इस सूक्तका कथन मनन करने योग्य है -

अज्ञातयक्ष्मात् उत राजयक्ष्मात् त्वा मुञ्चामि ।
(सू.११,मं.१)

तस्याः (ग्राह्याः) इन्द्राग्नी एने प्रमुमुक्तम् ।
(सू.११,मं.१)

'अज्ञात रोग और ज्ञात रोग, या राजयक्ष्मा रोग इन रोगोंसे रोगमुक्त कर देते हैं । पकडनेवाले रोगसे इन्द्र और अग्नि इस रोगीको मुक्त कर देते हैं ।'

इस मंत्रमें हवनसे ज्ञात और अज्ञात रोगोंकी दूर हो जानेकी संभावना दर्शायी है । ज्ञात रोग वे होते हैं कि जिनकी पहचान संपूर्ण लक्षणोंसे आसानीसे होती है । तथा अज्ञात रोग उनको कहते हैं कि जो ठीक प्रकार पहचाने नही जाते अथवा जिनके विषयमें वैद्योंकी परीक्षामें मतभेद हुआ करता है । कोई वैद्य एक रोग बताता है तो दूसरा वैद्य दूसरा रोग बताता है । इस प्रकार रोग ज्ञात हो अथवा अज्ञात हो, उसको हवन द्वारा दूर किया जा सकता है,अर्थात् अग्निमें योग्य औषधियोंका हवन करनेसे रोगी रोगमुक्त हो जाता है । विविध रोगोंकी निवृत्तिके लिये अन्यान्य औषधियोंका हवन करनेकी आवश्यकता है और कुछ पदार्थ ऐसे भी हवनमें होते होंगे कि जिनसे सामान्यतया आरोग्य प्राप्त होता हो । ऐसे योग्य औषधियोंके संमिलित हवनसे मनुष्य पूर्ण नीरोग और दीर्घायुसे युक्त हो जाता है ।

हवनका परिणाम ।

हवनका परिणाम यहांतक होता है कि आसन्न मरण रोगी भी रोगमुक्त होकर आरोग्य प्राप्त करता है । इस विषयमें द्वितीय मंत्र स्पष्ट शब्दों द्वारा कहता है कि, 'यदि यह रोगी करीब मरनेकी अवस्थातक पहुंच चुका हो, मृत्युके पास भी गया हो, इसकी आयु भी समाप्त हो चुकी हो, तो भी हवनसे इसकी सब आपत्ति दूर हो सकती है और इसको सौ वर्षकी पूर्ण आयु प्राप्त हो सकती है ।' (मं.२)

शतायु करनेवाला हवन ।

इस वर्णनसे हवनका अपूर्व आरोग्यवर्धक परिणाम ज्ञात हो सकता है । तृतीय मंत्रमें हवनका नाम ही 'शतायू हवि' कहा है अर्थात् इस हवनसे सौ वर्षकी आयु प्राप्त हो सकती है । इस 'शतायु हवि' के अंदर शतवीर्य अर्थात् सौ प्रकारके बल होते हैं और (सहस्र - अक्ष) हजार प्रकारकी शक्तियां होती हैं । इससे-

नयात्यति विश्वस्य दुरितस्य पारम् ।
(सू.११, मं.३)

'सब दुरितको दूर किया जाता है।' दुरित नाम पापका है । यह 'दुरित' (दुः -इत) वह है कि जो दुःख उत्पन्न करनेवाला शरीरमें घुसा होता है, यह शरीरमें घुसकर नाना प्रकारकी पीडाएं उत्पन्न करता है । हवनसे यह दुरित अर्थात् रोगोत्पादके द्रव्य शरीरसे दूर किया जाता है ।

चतुर्थ मंत्रमें विश्वासपूर्वक कहा है कि अब तो 'हवन किया गया है, इन्द्र, अग्नि, सविता, बृहस्पति आदि देवताओंसे शक्तियां प्राप्त की गई है, अब तू विश्वासपूर्वक अपनी सब शक्तियां बढाता हुआ सौ वर्षतक जीता रह। अब तुम्हे मृत्युका भय नहीं है । (मं.४)' हवनका ऐसा सुपरिणाम होता है और इतना विश्वास उत्पन्न हो जाता

है । यह हवनका परिणाम मननपूर्वक देखने योग्य है ।

पंचम और षष्ठ मंत्रोंमें प्राण और अपानको आदेशपूर्वक कहा है कि - 'हे प्राण और अपान! तुम अब इसी पुरूषके देहमें घुसो, यहां ही अपने कार्य करो और इसके शरीरको तथा संपूर्ण इन्द्रियोंको पूर्ण आयुकी समाप्तितक अपने अपने कार्य करनेके योग्य रखो । तथा इसके शरीरसे पृथक् न होओ । तुम्हारे कार्यसे इसके संपूर्ण अपमृत्यु दूर हो जावें । (मं.५-६)' जब पूर्ण आरोग्य प्राप्त होता है और हवनसे शरीरमें नवजीवन संचारित होता है, तब शरीरमें स्थिर रूपसे प्राणापान रहेंगे ही । यह हवनका परिणाम है ।

सप्तम मंत्रमें कहा है कि - 'हे मनुष्य! अब मैं तुझको वृद्ध अवस्थाके लिये समर्पण करता हूं, तुझे सुखमयी वृद्ध अवस्था प्राप्त होवे और सब अपमृत्यु तुझसे दूर हो जावें ' (मं.७) । वृद्ध अवस्थाकी गोदमें समर्पण करनेका तात्पर्य यही है कि पूर्ण वृद्धावस्था होनेतक अर्थात् सौ वर्षकी पूर्ण आयुतक जीवित रहना ।

मरणका पाश ।

अष्टम मंत्रमें एक बडा भारी सिद्धांत कहा है कि हरएक मनुष्य जन्मते ही मृत्युके पाशसे बांधा जाता है -

यस्त्वा मृत्युरभ्याधत्त जायमानं सुपाशया ।

(सू.११, मं.६)

'मृत्यु तुझको अर्थात् हरएक प्राणिमात्रका जन्मते ही उत्तम पाशसे बांधकर रखता है ।' कोई मनुष्य अथवा कोई प्राणी मृत्युके इस पाशसे छुटा नहीं होता । जो जन्मको प्राप्त हुआ है वह अवश्य किसी न किसी समय मरेगा ही । सब उत्पन्न हुए प्राणिमात्रोंको मृत्युने अपने पाशोंसे ऐसा जकड कर बांधा है कि वे इधर उधर जा नहीं सकते और सब मृत्युके वशमें होते हैं ।

'सब जन्म लेनेवाले प्राणियोंको एक वार अवश्य मरना है' यह इस मंत्रका कथन हरएकको अवश्य विचार करने योग्य है । हरएकको स्मरण रखना चाहिये कि अपने सिरपर मृत्युने पांव रखा हुआ है । इस विचारसे मनुष्यको सत्य धर्मका पालन करना चाहिये । सत्य ही इस मृत्युसे बचानेवाला है।

सत्यसे सुरक्षितता ।

मृत्युके पाशसे बचानेवाला एकमात्र उपाय 'सत्य' है यह अष्टम मंत्रने बताया है -

तं ते सत्यस्य हस्ताभ्यामुदमुञ्चद् बृहस्पतिः ।

(सू.११, मं.८)

'बृहस्पति तुझे सत्यके संरक्षक हाथोंसे उस मृत्युसे बचाता है ।' अर्थात् जो मनुष्य सत्यका पालन करता है उसका बचाव परमेश्वर करता है । वस्तुतः सत्यसे ही उसका बचाव होता है । सत्यका रक्षण ऐसा है कि जिससे दूसरे किसी रक्षणकी तुलना नहीं हो सकती, अर्थात् एक मनुष्य अपना बचाव सत्यके हाथोंसे करता है और दूसरा मनुष्य अपना बचाव शस्त्रास्त्रोंसे करता है तो सत्यसे अपना बचाव करनेवाला मनुष्य अधिक सुरक्षित है, अपेक्षा उसके कि जो अपने आपको शस्त्रोंसे रक्षित समझता है । सत्याग्रहसे अपनी रक्षा करना ब्राह्मबल है और शस्त्रास्त्रोंसे अपनी रक्षा करना क्षात्रबल है । क्षात्रबलसे ब्राह्मबल अधिक श्रेष्ठ है इसमें किसीको संदेह ही नहीं है ।

सत्यपालनसे दीर्घायुकी प्राप्ति।

यहां हमें सूचना मिलती है कि दीर्घायुकी प्राप्ति करनेकी इच्छा करनेवालेको सत्यका पालन करना अत्यंत आवश्यक है । सत्यके संरक्षक हाथोंसे सुरक्षित हुआ मनुष्य ही दीर्घजीवी हो सकता है ।

इस मंत्रमें जो हवनका महत्त्व वर्णन किया है वह यज्ञशास्त्रमें प्रसिद्ध है । यज्ञमें जनताकी भलाई, आरोग्यप्राप्ति आदि होनेका वर्णन सब यज्ञ शास्त्र कर रहे हैं, इस दृष्टिसे यह सूक्त एक आरोग्यप्राप्तिका नवीन साधन बता रहा है ।

किस रोगके दूर करनेके लिये किस हवन सामग्रीका हवन होना चाहिये इस विषयमें यहां कुछ भी नहीं कहा है, परन्तु हवनका सर्वसामान्य परिणाम ही यहां बताया है । हरएक रोगके दूर करनेके लिये विशेष प्रकारके हवनोंका ज्ञान अन्यान्य सूक्तोंसे प्राप्त करना चाहिये । वैदिक विद्याओंकी खोज करनेवालोंके लिये यह एक बडा महत्त्वपूर्ण खोजका विषय है । खोज करनेवाले इसकी खोज अवश्य करें । इससे जैसा व्यक्तिका भला हो सकता है, वैसा ही राष्ट्रका भी भला हो सकता है ।

• • •

गृह निर्माण।

(१२)

(ऋषिः - ब्रह्मा। देवता - शाला, वास्तोष्पतिः)

इहैव ध्रुवां नि मिनोमि शालां क्षेमे तिष्ठाति घृतमुक्षमाणा।
तां त्वा शाले सर्ववीराः सुवीरा अरिष्टवीरा उप सं चरेम ॥ १ ॥
इहैव ध्रुवा प्रति तिष्ठ शालेऽश्वावती गोमती सूनृतावती।
ऊर्जस्वती घृतवती पयस्वत्युच्छ्रयस्व महते सौभगाय ॥ २ ॥
धरुण्यसि शाले बृहच्छन्दाः पूतिधान्या।
आ त्वा वत्सो गमेदा कुमार आ धेनवः सायमास्पन्दमानाः ॥ ३ ॥
इमां शालां सविता वायुरिन्द्रो बृहस्पतिर्नि मिनोतु प्रजानन्।
उक्षन्तूद्रा मरुतो घृतेन भगो नो राजा नि कृषिं तनोतु ॥ ४ ॥

अर्थ - (इह एव ध्रुवां शालां निमिनोमि) इसी स्थानपर सुदृढ शालाको बनाता हूं। वह शाला (घृतं उक्षमाणा क्षेमे तिष्ठाति) घी सींचती हुई हमारे कल्याणके लिये ठहरी रहेगी। हे (शाले) घर! (तां त्वा सर्ववीराः अरिष्टवीराः सुवीराः उप संचरेम) तेरे चारों ओर हम सब वीर विनष्ट न होते हुए उत्तम पराक्रमी बनकर फिरते रहेंगे ॥१॥

हे शाले! तू (अश्वावती गोमती सूनृतावती) घोडोंवाली, गौओंवाली और मधुर भाषणोंवाली होकर (इह एव ध्रुवा प्रतितिष्ठ) यहां ही स्थिर रह। तथा (ऊर्जस्वती घृतवती पयस्वती) अन्नवाली, घीवाली और दूधवाली होकर (महते सौभगाय उच्छ्रयस्व) बडे सौभाग्यके लिये उंची बनकर खडी रह ॥२॥

हे शाले! (बृहत् - छन्दाः पूतिधान्या) बडे छतवाली और पवित्र धान्यवाली तथा (धरुणी असि) धान्यादिका भण्डार धारण करनेवाली तू है। (त्वा वत्सः कुमारः आ गमेत्) तेरे अंदर बछडा और बालक आ जावे। (आस्पन्द - माना धेनवः सायं आ) कूदती हुई गौवें सायंकालके समय आ जावें ॥३॥

(इमां शालां) इस शालाको सविता, वायु, इन्द्र और बृहस्पति (प्रजानन् नि मिनोति) जानता हुआ निर्माण करे। (मरुतः उद्रा घृतेन उक्षन्तु) मरूत् गण जलसे और घीसे सींचे, तथा (भगः राजा नः कृषिं नि तनोतु) भाग्यवान् राजा हमारे लिये कृषिको बढावे ॥४॥

भावार्थ - इस उत्तम स्थानपर मैं उत्तम और सुदृढ घर बनाता हूं, जिसमें घी आदि खाने पीनेके पदार्थ बहुत रहें और जो सब प्रकारके स्वास्थ्य साधनोंसे परिपूर्ण हो। हम सब प्रकारके शौर्यवीर्यादि गुणोंसे युक्त होकर और किसी प्रकार कष्टोंको प्राप्त न होते हुए इस घरके चारों ओर घूमा करेंगे ॥१॥

इस घरमें घोडे, गौवें, बैल आदि पशु बहुत हों, यह घर उत्तम मीठे भाषणसे युक्त हो, अन्न, घी, दूध आदि खाद्य पेय इसमें बहुत हों और इसमें रहनेवालोंको बडे सौभाग्यकी प्राप्ति हो ॥२॥

इस घरमें धान्यादिका बडा भण्डार हो, उस भंडारमें शुद्ध और पवित्र धान्य भरा रहे। ऐसे घरमें बालक और बछडे घूमते रहें और सायंकालसे आनंदसे नाचती हुई गौवें आ जांय ॥३॥

इस शालाके निर्माणसे सविता, वायु, इन्द्र और बृहस्पति ये देव सहायता दें। मरूत् गण इस घरमें विपुल घी देनेमें सहायक हों तथा राज भग कृषि बढानेमें सहायता देवे ॥४॥

मानस्य पत्नि शरणा स्योना देवी देवेभिर्निमितास्यग्रे ।
तृणं वसाना सुमना असस्त्वमथास्मभ्यं सहवीरं रयिं दाः ॥ ५ ॥
ऋतेन स्थूणामधि रोह वंशोग्रो विराजन्नप वृङ्क्ष्व शत्रून् ।
मा ते रिषन्नुपसत्तारो गृहाणां शाले शतं जीवेम शरदः सर्ववीराः ॥ ६ ॥
एमां कुमारस्तरुण आ वत्सो जगता सह ।
एमां परिस्रुतः कुम्भ आ दध्नः कलशैरगुः ॥ ७ ॥
पूर्णं नारि प्र भर कुम्भमेतं घृतस्य धारामसृतेन संभृताम् ।
इमां पातॄनमृतेना समङ्ग्धीष्टापूर्तमभि रक्षात्येनाम् ॥ ८ ॥
इमा आपः प्र भराम्ययक्ष्मा यक्ष्मनाशनीः ।
गृहानुप प्र सीदाम्यमृतेन सहाग्निना ॥ ९ ॥

अर्थ - हे **(मानस्य पत्नि)** संमानकी रक्षक, **(शरणा स्योना देवी)** अंदर आश्रय करने योग्य, सुखदायक, दिव्य प्रकाशमान् ऐसी **(देवेभिः अग्ने निमिता असि)** देवों द्वारा पहले बनायी हुई है । **(तृणं वसाना त्वं सुमनाः असः)** घासको पहने हुए तू उत्तम मनवाली हो **(अथ अस्मभ्यं सहवीरं रयिं दाः)** और हम सबके लिये वीरोंसे युक्त धन दे ॥५॥

हे **(वंश)** वास! तू **(ऋतेन स्थूणां अधिरोह)** अपने सीधेपनसे अपने आधारपर चढ और **(उग्रः विराजन् शत्रून् अपवृङ्क्ष्व)** उग्र बनकर प्रकाशता हुआ शत्रुओंको हटा दे । **(ते गृहाणां उपसत्तारः मा रिषन्)** तेरे घरोके आश्रयसे रहनेवाले हिंसित न होवें । हे शाले ! हम **(सर्ववीराः शतं शरदः जीवेम)** सब वीरोंसे युक्त होकर सौ वर्ष जीते रहेंगे ॥६॥

(इमां कुमारः आ) इस शालाके पास बालक आवे, **(तरूणः आ)** तरूण पुरूष आवे, **(जगता सह वत्सः आ)** चलनेवालोंके साथ बछडा भी आवे । **(इमां परिस्रुतः कुम्भः)** इसके पास मधुररससे भरा हुआ घडा **(दध्नः कलशैः आ अगुः)** दहीके कलशोंके साथ आ जावे ॥७॥

हे **(नारि)** स्त्री! **(एतं पूर्णे कुम्भं)** इस पूर्ण भरे घडेको तथा **(अमृतेन संभृतां घृतस्य धारां)** अमृतसे भरी हुई घीकी धाराको **(प्र भर)** अच्छी प्रकार भरकर ला । **(पातृन् अमृतेन सं अङ्ग्धि)** पीनेवालोंको अमृतसे अच्छी प्रकार भर दे । **(इष्टापूर्ते एनां अभिरक्षति)** यज्ञ और अन्नदान इस शालाकी रक्षा करते हैं ॥८॥

(इमाः यक्ष्मनाशिनीः अयक्ष्माः आपः) ये रोगनाशक और स्वयं रोगरहित जल **(प्र आभराभि)** मैं भर लाता हूं । **(अमृतेन अग्निना सह)** अमृत अग्निके साथ **(गृहान् उप प्र सीदामि)** घरोंमें जाकर बैंठता हूं ॥९॥

भावार्थ - घर अंदर निवास करने योग्य, सुखदायक है, यह एक संमानका साधन भी है । पहले यह देवों द्वारा बनाया गया था । घासके छप्परसे भी यह बनता है । ऐसे घरसे हमारा मन शुभ संकल्पवाला होवे और हमें वीरोंसे युक्त धन प्राप्त हों ॥५॥

सीधे स्तंभ पर सीधे बांस रखे जावें और इस रीतिसे विरोधीयोंको दूर किया जावे । घरोंके आश्रयसे रहनेवाले दुःखी, कष्टी या विनष्ट न हों । इसमें रहनेवाले सब वीर होकर सौ वर्षतक जीवित रहें ॥६॥

इस घरके पास बालक, तरूण आदि सब आ जावें । बछडे और अन्य घरके पशु, पक्षी भी घूमते रहें । इस घरमें शहदके मीठे रससे भरे हुए घडे तथा दहीसे भरे हुए घडे बहुत हों ॥७॥

स्त्रियां इन घडोंको भरकर लावें और घीके घडे भी बहुत लावें और पीनेवालोंको यह दूध, दही, घी आदि सब रस भरपूर पिलावें । क्योंकि इनका दान ही घरकी रक्षा करता है ॥८॥

घरमें पीनेके लिये ऐसा जल लाया जावे कि जो रोगनाशक और आरोग्यवर्धक हो । घरमें अगटी भी हो जिसके पास जाकर लोग शीतका निवारण करके आनंद प्राप्त करें ॥९॥

घरकी बनावट ।

जो गृहस्थी हैं उसको घर बनाकर रहना आवश्यक है, फिर वह घर घाससे बनी हुई (तृणं वसाना । मं.५) झोपडीके समान हो अथवा बडा सीधा हो । घर किसी भी प्रकारका हो, परंतु गृहस्थीके लिये वह अवश्य चाहिये, नहीं ता गृहस्थका 'गृह - स्थ - पन' ही नहीं सिद्ध होगा ।

घर बनाने योग्य स्थान ।

घरके लिये स्थान भी योग्य होना चाहिये, रमणीय होना चाहिये और आरोग्यकारक होना चाहिये, इस विषयमें इस सूक्तमें निम्नलिखित निर्देश देखने योग्य हैं -

१ **क्षेमे** (मं.१) - सुरक्षित, शांति देनेवाला, सुखकारक, आरोग्यदायक, निर्भय ऐसा स्थान घरके लिये हो ।

२ **ध्रुवा** (मं. १,२) - स्थिर, सुदृढ, जहां बुनियाद स्थिर और दृढ हो सकती है ।

इस प्रकारकी भूमिपर घर बनाना चाहिये और वह घर अपनी सामर्थ्यके अनुसार सुदृढ, (ध्रुवा) स्थिर और मजबूत बनाना चाहिये, ताकि वारंवार उसकी मरम्मत करनेका व्यय उठाना न पडे ।

घर कैसा बनाया जावे ?

घरके कमरे जहांतक हो सकें वहांतक विस्तीर्ण बनाये जावें । **'बृहत् - छंदाः** (मं.३)' अर्थात् बडे बडे छतवाले कमरोंसे युक्त घर हों । घरमें संकुचित स्थान न हो क्योंकि छोटे छोटे कमरोंमें रहनेवालोंके विचार भी संकुचित बनते जाते हैं । इस लिये अपनी शक्तिके अनुसार जहांतक विस्तीर्ण बनाना संभव हो वहांतक प्रशस्त घर बनाया जावे, जहां बहुत इष्टमित्र अतिथि आदि (**शरणा**। मं.५) आ जांय और (**स्योना**। मं.५) विश्राम ले सकें ।

संमानका स्थान ।

घर गृहस्थीके लिये बडा संमानका (**शाला मानस्य पत्नी** । मं.५) स्थान है, अपना निजका घर होनेसे वह एक प्रतिष्ठाका स्थान हो जाता है । इष्टमित्रोंको सुख पहुंचानेका वह एक बडा स्थान होता है । इसलिये पूर्वोक्त प्रकार घर बनाना चाहिये । घर बनते ही घरमें अन्यान्य इकट्ठे करने चाहिये, इस विषयमें निम्न लिखित संकेत विचार करने योग्य हैं -

१ **अश्वावती** (मं.२) - घरमें घोडे हों, अर्थात् गृहस्थीके पास घोडे, घोडियां हों । यह शौर्यका साधन है ।

२ **गोमती** (मं. २) - घरमें गौएँ हो। यह पुष्टिका साधन है, गौसे दूध मिलता है जिसको पीकर मनुष्य पुष्ट होते हैं । बैलोंसे खेती होती है ।

धेनवः आस्पन्दमानाः सायं आ (मं.३) - सायंकालके समय गौवें आनंदसे नाचती हुई आ जावें ।

३ **पयस्वती** (मं.२)- घरमें बहुत दूध हों ।

४ **घृतवती** (मं.२) - घरमें विपुल घी हो ।

५ **घृतं उक्षमाणा** (मं.१) - घी देनेवाला, अर्थात् अतिथि आदिके लिये विपुल घी देनेवाला घर हो । घरके लोग अन्नदानमें कंजूसी न करें ।

६ **ऊर्जस्वती** (मं.२) - घरमें बहुत अन्न हो, खानपानके पदार्थ विपुल हों ।

७ **धरुणी** (मं.३) - जिसमें धान्यादिका बडा भंडार हों, जिसमें संग्रहस्थान हों, और वहां सब प्रकारके पदार्थ उत्तम अवस्थामें मिलें ।

८ **पूतिधान्या** (मं. ६) - घरमें पवित्र धान्य हो, जो रोगादि उत्पन्न करनेवाला न हो, उत्तम अवस्थामें हरएक प्रकारके पदार्थ हों, जो खानेसे शरीरकी पुष्टि और मनका समाधान हो । घरमें धान्य लानेके समय वह केवल सस्ता मिलता है इसलिये लाया न जाय, परंतु लानेके समय देखा जाय, कि वह पवित्र, शुद्ध, नीरोग और पोषक है वा नहीं ।

९ **परिस्रुतः कुम्भः** (मं.७) - मधुर शहदसे भरा हुआ घडा अथवा अनेक घडे घरमें सदा रहें ।

१० **दध्नः कलशैः** (मं.७) - दहीसे परिपूर्ण भरे हुए कलश घरमें हों ।

११ **घृतस्य कुम्भम्** (मं.८) - उत्तम घीसे भरे हुए घट घरमें हों ।

१२ **अयक्ष्मा यक्ष्मनाशिनीः आपः** (मं.९) - नीरोग और रोग दूर करनेवाले शुद्ध जल घडोंमें भर कर घरमें रखा जावे ।

इत्यादि शब्दों द्वारा इस सूक्तमें घरका वर्णन किया है । इन शब्दोंके मननसे पाठक स्वयं जान सकते हैं कि घरमें कैसी व्यवस्था रखना चाहिये और घर कैसा धनधान्यसंपन्न बनाना चाहिये । तथा -

१ वत्सः आगमेत् (मं. ३, ७) - घरमें बछडे खेलते रहे, घरके पास बछडे नाचते रहें।

२ कुमारः आ गमेत् (मं. ३,७) - घरमें और बाहर बालबच्चे, कुमार और कुमारिकाएं आनंदसे खेलकुद करते रहें।

३ तरूणः आं गमेत् (मं.७) - युवा, तरूण पुरूष और तरूणियां घरमें और बाहर भ्रमण करें।

प्रसन्नताका स्थान।

अर्थात् घर ऐसा हो कि जिसमें बालबच्चे खेलते रहें और तरुण तथा अन्यान्य आयुवाले स्त्री - पुरूष अपने अपने कार्यमें आनंदसे दत्तचित्त हों। सबके मुखपर आनंद दीखे और घरका प्रत्येक मनुष्य प्रसन्नताकी मूर्ति दिखाई देवे। हरएक मनुष्य ऐसा कहे कि -

गृहान् उप प्र सीदामि। (सू.१२, मं.९)

'मैं अपनी पराकाष्ठा करके अपने घरको प्रसन्नताका रमणीय स्थान बनाऊंगा।' यदि घरका प्रत्येक मनुष्य अपने घरको 'प्रसन्नाताका स्थान' बनानेका प्रयत्न करेगा तो सचमुच वह घर प्रसन्नताका केन्द्र अवश्यमेव बन जायगा।

पाठक इस उपदेशका अधिक मनन करें क्योंकि इससे हरएक पाठकपर एक विशेष उत्तरदायित्व आता है। अपने प्रयत्नसे अपने घरको 'प्रसन्नताका स्थान' बनान है, यह कार्य दूसरेपर सोंपा नहीं जा सकता, यह तो हरएकको ही करना चाहिये। यह उपदेश देनेके पश्चात् हरएक पाठकसे वेद पूछेगा कि 'क्या इस उपदेशानुसार अपना कर्तव्य तुमने किया ?' पाठक इसका योग्य उत्तर देनेकी तैयारी करें। घरको प्रसन्नताका स्थान बनानेके लिये ऊपर लिखे हुए साधन इकट्ठे तो करने ही चाहिये परंतु केवल इतनोंसे ही वह प्रसन्नता नहीं आवेगी कि जो वेदको अभीष्ट है, इसलिये वेदने और भी निर्देश दिये हैं, देखिये -

१ सुनृतावती (मं.२) - घरमें सभ्यताका सच्चा भाषण हो, प्रेमपूर्वक वार्तालाप होता हो, सच्ची उन्नतिका सत्य भाषण हो, छल, कपट, धोखा आदिके भाषण न हों।

२ सुमनाः (मं. ५) - उत्तम मनसे उत्तम व्यवहार करनेवाले मनुष्य घरमें कार्य करें।

घरको मंगलमय बनानेके लिये जैसे खानपानके अच्छे पदार्थ घरमें बहुत चाहिये उसी प्रकार घरके स्त्री पुरूषोंके अंतःकरण भी श्रेष्ठ विचारोंसे युक्त चाहिये। तभी तो घर प्रसन्नताका स्थान बन सकता है। घरमें धनदौलत तो बहुत रही, और घरवालोंके मन छली, घोर कपटी हुए तो उस घरको घर कोई नहीं कहेगा वह तो एक दुःखका स्थान होगा। इसलिये पाठक - जो अपने घरको प्रसन्नताका स्थान बनाना चाहते हैं वे - इन शब्दोंसे उचित बोध प्राप्त करें। शीत कालमें तथा वृष्टिके दिनोंमें सर्दी बहुत होती है, इसलिये शीतके निवारणके लिये घरमें अगटी रखना चाहिये जिससे शीतसे त्रस्त मनुष्य सेक लेकर आनंद प्राप्त कर सकता है। दूसरी बात यह है कि 'अमृत अग्नि' (मं.९) जो परमेश्वर है उसकी उपासनाका एक स्थान घरमें बनना चाहये, जहां अग्निहोत्र द्वारा अग्न्युपासनासे लेकर ध्यानधारणा द्वारा परमात्मोपासनातक सब प्रकारकी उपासना करके मनुष्य परम आनंदको प्राप्त करें। जिस घरमें ऐसी उपासना होती है वही घर सचमुच 'प्रसन्नताका केन्द्र' हो सकता है। इसी प्रकारका घर -

महते सौभगाय उच्छ्रयस्व। (सू. १२, मं.२)

'बडे शुभमंगलकी प्राप्तिके लिये यह घर उठकर खडा होवे।' अर्थात् यह घर इस प्रकारसे बडा सौभाग्य प्राप्त करे। जिस घरमें पूर्वोक्त प्रकार अन्तर्बाह्य व्यवस्था रहेगी वहां बडा शुभमंगल निवास करेगा इसमें कोई संदेह ही नहीं है।

वीरतासे युक्त धन।

सौभाग्य प्राप्तिके अन्दर 'भग' अर्थात् धन कमाना भी संमिलित है। परंतु धन कमानेके पश्चात् उसकी रक्षा करनेकी शक्ति चाहिये और उसके शत्रुओंको दूर करनेके लिये शौर्य, धैर्य, वीर्य आदि गुण भी चाहिये। अन्यथा कमाया हुआ धन दूसरे लोग लुट लेंगे। इसलिये इस सूक्तने सावधानीकी सूचना दी है -

अस्मभ्यं सहवीरं रयिं दाः। (सू. १२, मं.५)

'हमारे लिये वीरतासे युक्त धन दे।' धन प्राप्त हो और साथ साथ उसके संभालनेके लिये आवश्यक वीरता भी प्राप्त हो। हमारा घर वीरताके वायुमंडलसे युक्त हो -

१ सर्ववीराः सुवीरा अरिष्टवीरा उप सं चरेम। (सू.१२, मं.१)

२ शतं जीवेम शरदः सर्ववीराः। (सू.१२, मं.६)

'हम सब प्रकारसे वीर,उत्तम वीर, नाशको न प्राप्त

होनेवाले वीर, सौ वर्ष जीवित रहकर धर्मकी रक्षा करनेके लिये तैयार रहनेवाले वीर होकर अपने अपने घरोमें संचार करेंगे ।'

ये मंत्र स्पष्ट शब्दों द्वारा कह रहे हैं कि घरोंका वायुमंडल 'वीरताका वायुमंडल' चाहिये । भीरुताका विचारतक वहां आना नहीं चाहिये । घरोंके पुरूष धर्मवीर हो और स्त्रियां वीरांगनाएं हो, ऐसे स्त्री-पुरुषोंसे जो संतान होंगे वे 'कुमारवीर' ही होंगे इसमें क्या संदेह है ? इसीलिये वेदमें पुत्रका नाम 'वीर' आता है । पाठक इसका विचार करें और अपने घरका वायुमंडल ऐसा बनावें ।

अतिथि सत्कार ।

ऐसे मंगलमय वीरतासे युक्त घरोमें रहनेवाले धर्मवीर पुरूष अतिथि सत्कार करेंगे ही । इस विषयमें कहा है -

पूर्णं नारि प्र भर कुम्भमेतं घृतस्य धारामः
घृतेन संभृताम् । इमां पातॄनमृतेना समङ्धी
ष्टापूर्तमभि रक्षात्येनाम् ॥ (सू. १२, मं.८)

'गृहपत्नी अतिथियोंको परोसनेके लिये घीका घडा लावे, मधुररससे भरा घडा लावे और पीनेवालोंको जितना चाहिये उतना पिलावे, कंजूसी न करे । इस प्रकारका अन्नदान करना ही घरकी रक्षा करता है ।'

अतिथि सत्कारमें अन्नपान अथवा अन्य पदार्थोंका दान खुले हाथसे देना चाहिये, उसमें कंजूसी करना योग्य नहीं है। क्योंकि दान ही घरका संरक्षण करता है। जिस घरमें अतिथियोंका सत्कार होता है उस घरका यश बढता जाता है।

यहां अतिथियोंके लिये अन्न परोसनेका कार्य करना स्त्रियोंका कार्य लिखा है । यहां पर्दा नहीं है । पर्देवाले घरोंमें अतिथियोंको भोजन देनेका कार्य या तो नौकर करता है अथवा घरका मालिक करता है । यह अतिथि सत्कारकी अवैदिक प्रथा है । अतिथिके लिये भोजन, खानपान आदि गृहपत्नीको देना चाहिये यह वेदका आदेश यहां है, जिसकी ओर घरमें पर्देकी प्रथा रखनेवाले पाठकोंका मन आकर्षित होना आवश्यक है ।

देवों द्वारा निर्मित घर ।

घर देवोंने प्रारंभमें बनाया इस विषयमें यह निम्नलिखित मंत्र देखना चाहिये -

शरणास्योना देवी (शाला) देवेभिर्निमितास्यग्रे।
तृणं वसाना सुमनाः ... ...॥ (सू. १२, मं.५)

'अन्दर आश्रय करने योग्य, सुखदायक, घासके छप्परवाला, परंतु उत्तम विचारोंसे युक्त दिव्य घर प्रारंभमे देवोंने बनाया।' दिव्य वीर पुरूषोंके द्वारा जो पहला घर निर्माण हुआ वह ऐसा था । यद्यपि इसपर घांसका छप्पर था तथापि उसके अन्दर उत्तम विचार होते थे, अन्दर जानेसे आराम मिलता था, और सुख भी होता था । इसका तात्पर्य यही है कि घर छप्परका ही क्यों न हो परंतु वह दिव्य विचारोंका दिव्य घर होना चाहिये, वह क्रूर विचारोंका 'राक्षसभवन' नहीं होना चाहिये। 'देवोंका घर' धनसे नहीं होता है प्रत्युत अन्दरकी शांति और प्रसन्नतासे होता है । पाठक प्रयत्न करके अपना घर ऐसा 'देव भवन' ही बनावे और वैदिक धर्मको अपने घरमें प्रकाशित रूपमें प्रकट करें ।

देवोंकी सहायता ।

घर ऐसे स्थानमें बनाया जावे कि जहां सूर्य, चंद्र, वायु, इन्द्र आदि देवोंसे सहायक शक्ति विपुल प्रमाणमें प्राप्त होती रहे -

इमां शालां सविता वायुरिन्द्रो बृहस्पतिर्नि
मिनोतु प्रजानन् । उक्षन्तूद्रा मरुतो घृतेन
भगो नो राजा नि कृषिं तनोतु ॥ (सू.१२, मं.४)

'सूर्य, वायु, इन्द्र, बृहस्पति जानते हुए इस घरकी सहायता करें । मरूत नामक बर्साती वायु जलसे सहायता करें और भग राजा कृषि फैलानेमें सहायक हों ।'

घरके लिये सूर्यप्रकाश विपुल मिले, शुद्ध वायु मिले, इन्द्र वृष्टि द्वारा सहायता करे, वृष्टि करनेवाले वायु योग्य वृष्टिसे सहायता करें और कृषिका देव भूमिसे कृषिकी योग्य उत्पत्ति करने द्वारा सहायक हो । घर ऐसे स्थानमें अथवा देशमें बनाना चाहिये कि जहां सूर्यादि देवताओं द्वारा योग्य शक्तियोंकी सहायता अच्छी प्रकार मिल जाय, भूमि उपजाऊ हो, वायु निर्दोष हो, जल आरोग्यदायक और पाचक हो, इस प्रकारके उत्तम देशमें गृहका निर्माण करना चाहिये ।

• • •

जल ।

(१३)

(ऋषिः - भृगुः । देवता - वरुणः, सिन्धुः, आपः, इन्द्रः)

यददः संप्रयतीरहावनदता हते ।
तस्मादा नद्यो नाम स्थ ता वो नामानि सिन्धवः ॥ १ ॥
यत्प्रेषिता वरुणेनाच्छीभं समवल्गत ।
तदाप्नोदिन्द्रो वो यतीस्तस्मादापो अनु ष्ठन ॥ २ ॥
अपकामं स्यन्दमाना अवीवरत वो हि कम् ।
इन्द्रो वः शक्तिभिर्देवीस्तस्माद्वार्नाम वो हितम् ॥ ३ ॥
एको वो देवोऽप्यतिष्ठत् स्यन्दमाना यथावशम् ।
उदानिषुर्महीरिति तस्मादुदकमुच्यते ॥ ४ ॥

अर्थ - हे **(सिन्धवः)** नदियो ! **(सं - प्र - यतीः)** उत्तम प्रकारसे सदा चलनेवाली तुम **(अहौ हते)** मेघके हनन होनेके पश्चात् **(अदः यत् अनदत)** यह जो बडा नाद कर रही हो, **(तस्माद् आ नद्यः नाम स्थ)** उस कारण तुम्हारा नाम 'नदी' हुआ है **(ताः वः नामानि)** वह तुम्हारे ही योग्य नाम हैं ॥१॥

(यत् आत् वरुणेन प्रेषिताः) जब दूसरे वरुण द्वारा प्रेरित हुए तुम **(शीभं समवल्गात)** शीघ्र ही मिलकर चलने लगी **(तत् इन्द्रः यतीः वः आप्नोत्)** तब इन्द्रने गमनशील ऐसे तुमको 'प्राप्त' किया, **(तस्मात् अनु आपः स्थन)** उसके पश्चात् तुम्हारा नाम 'आपः' हुआ ॥२॥

(स्यन्दमानाः वः) बहनेवाले तुम्हारी गतिका **(इन्द्रः हि अप- कामं कं अवीवरत)** इन्द्रने विशेष कार्यके लिये सुखपूर्वक नि 'वारण' किया **(तस्मात् देवीः वः वार् नाम हितं)** तबसे देवी जैसे तुम्हारा नाम 'वारि' रखा है ॥३॥

(एकः देवः यथावशं स्यन्दमानाः वः) अकेले एक देवने जैसे चाहे वैसे बहनेवाले तुमको **(अपि अतिष्ठत्)** अधिकारसे देखा और कहा गि **(महीः उदानिषुः)** बडी शक्तियां ऊपरको श्वास लेती हैं, **(तस्मात् उदकं उच्यते)** तबसे तुमको 'उदक' **(उत् - अक)** नामसे बोला जाता है ॥४॥

भावार्थ - मेघकी वृष्टिसे अथवा बर्फ पिघल जानेसे जब नदियोंको महापूर आ जाता है तब जलका बडा नाद होता है, यह 'नाद' होता है इसीलिये जलप्रवाहोंको 'नदी' (नाद करनेवाली) कहा जाता है ॥१॥

जब वरुणराजासे प्रेरित हुआ जल शीघ्र गतिसे चलने लगता है, तब इन्द्र उसे प्राप्त करता है, 'प्राप्त' होनेके कारण ही जलका नाम 'आपः' (प्राप्त होने योग्य) होता है ॥२॥

जब वेगसे बहनेवाले जलप्रवाहोंके मार्गको इन्द्रने विशेष कारणके लिये सुखपूर्वक बहनेके हेतु विशिष्ट मार्गसे चलनेके लिये निवारित किया, तब उस कारण जलका नाम 'वार्' (वारि - निवारित किया गया) हुआ ॥३॥

स्वेच्छासे बहते जानेवाले जल प्रवाहोंको जब एक देवने अधिकारमें लाया और उनको ऊर्ध्व गतिसे ऊपरकी ओर चलाया, तब इस जलका नाम 'उदक' (उत् अक- ऊपरकी ओर प्राण गति करना) हो गया ॥४॥

आपो भद्रा घृतमिदाप आसन्नग्नीषोमौ बिभ्रत्याप इत्ताः ।
तीव्रो रसो मधुपृचामरंगम आ मा प्राणेन सह वर्चसा गमेत् ॥ ५ ॥
आदित्पश्याम्युत वा शृणोम्या मा घोषो गच्छति वाङ् मासाम् ।
मन्ये भेजानो अमृतस्य तर्हि हिरण्यवर्णा अतृपं यदा वः ॥ ६ ॥
इदं व आपो हृदयमयं वत्स ऋतावरीः ।
इहेत्थमेत शक्करीर्यत्रेदं वेशयामि वः ॥ ७ ॥

अर्थ - (आपः भद्राः) जल कल्याण करनेवाला और (आपः इत् घृतं आसन्) जल निःसंदेह तेज बढानेवाला है । (ताः इत् आपः अग्नीषोमौ बिभ्रतः) वह जल अग्नि और सोम धारण करते हैं । (मधुपृचां अरंगमः तीव्रः रसः) मधुरतासे परिपूर्ण तृप्ति करनेवाला तीव्र रस (प्राणेन वर्चसा सह) जीवन और तेजके साथ (मा आगमेत्) मुझे प्राप्त होवे ॥५॥

(आत् इत् पश्यामि) निश्चयसे मैं देखता हूं (उत वा शृणोमि) और सुनता हूं (आसां घोषः वाक् मा आगच्छति) इनका घोष और शब्द मेरे पास आता है । हे (हिरण्यवर्णाः) चमकनेवाले वर्णवाली ! (यदा वः अतृपं) जब मैंनें तुम्हारे सेवनसे तृप्ति प्राप्त की (तर्हि अमृतस्य भेजानः मन्ये) तब अमृतके भोजन करनेके समान मुझे प्रतीत हुआ ॥६॥

हे (आपः) जलो ! (इदं वः हृदयं) यह तुम्हारा हृदय है । हे (ऋतावरीः) जलधाराओ ! (अयं वत्सः) यह मैं तुम्हारा बच्चा हूं । हे (शक्करीः) शक्ति देनेवालो ! (इत्थं इह आ इत) इस प्रकार यहां आओ । (यत्र वः इदं वेशयामि) जहां तुम्हारे अन्दर यह मैं प्रवेश करता हूं ॥७॥

भावार्थ - यह जल निःसंदेह कल्याणकारक है, यह निश्चयपूर्वक तेज और पुष्टिको बढानेवाला है । अग्नि और सोम इसका धारण करते हैं । यह जल नामक रस ऐसा मधुर रस है कि यह पान करनेसे तृप्ति करता है और जीवनके तेजसे युक्त करता है ॥५॥

मनुष्य जलको आंखसे देखता है, और जलका शब्द दूरसे सुन भी सकता है । शुद्ध निर्मल जल स्फटिकके समान चमकता है । जब मनुष्य इसको पीता है तब उसको अमृतपान करनेके समान आनन्द होता है ॥६॥

जलका यह आन्तरिक तत्त्व है, मनुष्य जलका ही पुत्र है, जल मनुष्यपर आता है और मनुष्य भी जलमें गोता लगाता है ॥७॥

जलके प्रवाह ।

इस सूक्तमें जलके प्रवाहोंका वर्णन है । जलके अनेक नाम है, उनमेंसे कौनसा नाम किस प्रकारके जलका होता है यह बात इस सूक्तके मंत्रो द्वारा बतायी गई है ।

मेघोंसे वृष्टि होती है और नदियोंको महापूर आता है। नदियां भरनेका यह एक कारण है । नदियोंके महापूरका दूसरा भी एक कारण है, वह है बर्फका पिघलना । पत्थर वाचक ग्रावा आदि जो शब्द मेघवाचक करके माने जाते हैं वे वस्तुतः मेघवाचक नहीं है, परन्तु पहाडोंपर या भूमिपर गिरनेवाले बर्फके तथा ओलोंके वाचक होते हैं। उसी प्रकारका अहिशब्द है । अतः इसका अर्थ पहाडी बर्फ मानना योग्य है और इसके पिघलनेसे नदियोंका भर जाना भी संभव है । इस प्रकार पूर्वोक्त दोनों कारणोंसे महापूर आनेसे जलप्रवाहोंका बडा नाद होता है, इसलिये नाद करनेके हेतु जलप्रवाहका नाम 'नदी' होता है, अर्थात् जिस जलप्रवाहका बडा शब्द न होता हो उसको नदी नहीं कहना चाहिये ।

नदीका प्रवाह अत्यंत वेगसे चलता हो और उस वेगमेंसे जल किसी युक्तिसे ऊपर या अन्य स्थानमें सींचकर प्राप्त किया हो तो उस जलको 'आप्' कह सकते हैं ।

अपनी इच्छासे जैसे चाहे वैसे प्रवाहित होनेवाले जलको नहर आदि कृत्रिम मार्गोंके द्वारा अपनी खेती आदिके विशेष कार्योंको सिद्ध करनेके लिये जो अपनी इच्छानुसार चलाया जाता है उसको 'वारि' (वार्, वारं) कहा जाता है ।

जो जल - सूर्यकिरणों द्वारा बनी भांपसे हो या अग्नि द्वारा बनी हुई भांपसे हो - पहले भांप बनकर फिर उस भांपको शीतलता लगाने द्वारा जो फिर उसका जल बनता है उसको 'उदक' कहते हैं । (उत्) भांप द्वारा ऊपर जाकर जो (आनिषुः) जो ऊपरले प्राणके साथ मिलकर वापस आता है उसका नाम उदक है । मेघोंकी वृष्टिसे प्राप्त होनेवाले उदकका यह नाम मुख्यतया है । कृत्रिम रीतिसे शुंडायंत्र द्वारा बनाये जलको भी यह गौण वृत्तिसे दिया जा सकता है ।

विविध प्रकारके जलोंके ये नाम हैं यह स्वयं इस सूक्तने ही कहा है, इसलिये इन शब्दोंके ये अर्थ लेना ही योग्य है । यद्यपि संस्कृत भाषामें ये सब उदक वाचक शब्द पर्याय शब्द माने जाते हैं और पर्याय समझकर उपयोगमें भी लाये जाते हैं, तथापि संस्कृत भाषामें एक वस्तुके वाचक अनेक शब्द वस्तुतः उस वस्तुके अन्तर्गत भेदोंके वाचक होते हैं, यह बात इस सूक्तके इस विवरणसे ज्ञान हो सकती है ।

यह जल (भद्राः । मं. ५) कल्याण करनेवाला है, बल, पुष्टि और तेज देनेवाला है, तथा जीवनका तेज बढानेवाला है। (मं.५)

शुद्ध स्फटिक जैसा निर्मल जल पीनेसे ऐसी तृप्ति होती है कि जो तृप्ति अमृत भोजनसे मिल सकती है ।

प्राणिमात्र जलके कारण जीवित रहते हैं इसलिये जलसे ही इनकी उत्पत्ति मानना योग्य है, अतः ये जलके पुत्र हो गये । जल इन सबकी माता है इसीलिये जलको 'माता' वेदमें अन्यत्र कहा है । इस माताका आश्रय करनेसे मनुष्य नीरोग पुष्ट और बलवान हो सकते हैं।

मनुष्य जलमें प्रविष्ट होकर नित्य स्नान करें अथवा वैसी तैरने आदिकी संभावना न हो तो अन्य प्रकारसे जल प्राप्त करके स्नान् अवश्य करें । यह जलस्नान बडा आरोग्यप्रद होता है । इत्यादि उपदेश पंचम और षष्ठ मंत्रोंके शब्दोंके मननसे प्राप्त हो सकते हैं ।

• • •

गोशाला ।

(१४)

(ऋषिः- ब्रह्मा । देवता - नानादेवता, गोष्ठदेवता)

सं वो॑ गो॒ष्ठेन॑ सु॒षदा॒ सं र॒य्या सं सुभू॑त्या ।
अह॑र्जातस्य॒ यन्नाम॒ तेना॑ वः॒ सं सृ॑जामसि ॥ १ ॥

अर्थ - हे गैओ ! (**वः सुषदा गोष्ठेन सं**) तुमको उत्तम बैठने योग्य गोशालासे युक्त करते हैं, (**रय्या सं**) उत्तम जलसे युक्त करते हैं और (**सु - भूत्या सं**) उत्तम रहने सहनेसे अथवा उत्तम प्रजननसे युक्त करते हैं । (**यत् अहर्जातस्य नाम**) जो दिनमें श्रेष्ठ वस्तु मिल जाय (**तेन वः सं सृजामसि**) उससे तुमको युक्त करते हैं ॥१॥

भावार्थ - गौओंके लिये उत्तम, प्रशस्त और स्वच्छ गोशाला बनायी जाय । गौओंके लिये उत्तम जल पीनेको दिया जाय, तथा गौओंसे उत्तम गुणयुक्त संतान उत्पन्न करनेकी दक्षता सदा रखी जाय । गौओंसे इतना प्रेम किया जाय कि दिनके समय गौके योग्य उत्तमसे उत्तम पदार्थ प्राप्त कराकर वह उनको अर्पण किया जाय ॥१॥

सं वः सृजत्वर्यमा सं पूषा सं बृहस्पतिः ।
समिन्द्रो यो धनञ्जयो मयि पुष्यत यद्वसु ॥ २ ॥
संजग्माना अबिभ्युषीरस्मिन् गोष्ठे करीषिणीः ।
बिभ्रतीः सोम्यं मध्वनमीवा उपेतन ॥ ३ ॥
इहैव गाव एतनेहो शकेव पुष्यत ।
इहैवोत प्र जायध्वं मयि संज्ञानमस्तु वः ॥ ४ ॥
शिवो वो गोष्ठो भवतु शारिशाकेव पुष्यत ।
इहैवोत प्र जायध्वं मया वः सं सृजामसि ॥ ५ ॥
मया गावो गोपतिना सचध्वमयं वो गोष्ठ इह पोषयिष्णुः ।
रायस्पोषेण बहुला भवन्तीर्जीवा जीवन्तीरुप वः सदेम ॥ ६ ॥

अर्थ - (अर्यमा वः सं सृजतु) अर्यमा तुमको मिलावे, (पूषा सं, बृहस्पतिः सं) पूषा और बृहस्पति भी तुम्हें मिलावे। (यः धनंजयः इन्द्रः सं सृजतु) जो धन प्राप्त करनेवाला इन्द्र है वह तुमको धनसे संयुक्त करे । (यत् वसु) जो धन आपके पास है वह (मयि पुष्यत) मुझमें तुम पुष्ट करो ॥२॥

(अस्मिन् गोष्ठे संजगमानाः अ - बिभ्युषीः) इस गोशालामें मिलकर रहती हुई और निर्भय होकर (करीषिणीः) गोबरका उत्तम स्वाद उत्पन्न करनेवाली तथा (सोम्यं मधु बिभ्रतीः) शांत मधुररस - दूध- का धारण करती हुई (अन् - अमीवाः उपेतन) नीरोग अवस्थामें हमारे पास आओ ॥३॥

हे (गावः) गौओ ! (इह एव एतन) यहां ही आओ । और (इहो शका इव पुष्यत) यहां साकके समान पुष्ट होओ। (उत इह एव प्र जायध्वं) और यहां ही बच्चे उत्पन्न करके बढो । (वः संज्ञानं मयि अस्तु) आपका लगन-प्रेम मुझमें होवे ॥४॥

(वः गोष्ठः शिव भवतु) तुम्हारी गोशाला तुम्हारे लिये हितकारी होवे । (शारि - शाका इव पुष्यत) शालिकी साकके समान पुष्ट होओ । (इह एव प्र जायध्वं) यहां ही प्रजा उत्पन्न करो और बढो । (मया वः सं सृजामसि) मेरे साथ तुमको भ्रमणके लिये ले जाता हूं ॥५॥

हे (गावः) गौओ ! (मया गोपतिना सचध्वं) मुझ गोपतिके साथ मिली रहो । (वः पोषयिष्णुः अयं गोष्ठः इह) तुमको पुष्ट करनेवाली यह गोशाला यहां है । (रायः पोषेण बहुलाः भवन्तीः) शोभाकी वृद्धिके साथ बहुत बढती हुई और (जीवन्तीः वः जीवाः उप सदेम) जीवित रहनेवाली तुमको हम सब प्राप्त करते हैं ॥६॥

भावार्थ - अर्यमा, पूषा, बृहस्पति तथा धन प्राप्त करनेवाला इन्द्र आदि सब देवतागण गौओंकी पुष्टि करें । तथा पुष्ट गौओंसे जो पोषक रस मिल सकता है वह दूध मेरी पुष्टिके लिये मुझे मिले ॥२॥

उत्तम स्वाद रूपी गोवर उत्पन्न करनेवाली, दूध जैसा मधुररस देनेवाली, नीरोग और निर्भर स्थानपर विचरनेवाली गौवें इस उत्तम गोशालामें आकर निवास करे ॥३॥

गौवे इस गोशालामें आवे, यहां बहुत पुष्ट हो, और यहां बहुत उत्तम संतान उत्पन्न करें और गौओंके स्वामिके ऊपर प्रेम करती हुई आनंदसे रहे ॥४॥

गोशाला गौओंके लिये कल्याणकारिणी होवे । यहां गौवें पुष्ट होवें और संतान उत्पन्न करके बढें । गौओंका स्वामी स्वयं गौओंकी व्यवस्था देखे ॥५॥

गौवें स्वामीके साथ आनन्दसे मिलजुलकर रहें । यह गोशाला अत्यन्त उत्तम है इसमें रहकर गौवे पुष्ट हों । अपनी शोभा और पुष्टि बढाती हुई यहां गौवें बहुत बढें । हम सब ऐसे उत्तम गौवोंको प्राप्त करेंगे और पालेंगे ॥६॥

गो संवर्धन ।

यह सूक्त अत्यंत सुगम है, इसलिये इसके अधिक विवरण करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है । इसमें जो बातें कही है उनका सारांश यह है कि 'गौओंके लिये उत्तम गोशाला बनाई जावे और वहां उनके रहने सहने, घास, दानापानी, आदिका सब उत्तम प्रबंध किया जावे । स्वामी गौवोंसे प्रेम करें और गौवे स्वामीसे प्रेम करें । गौवे निर्भयतासे रहें उनको अधिक भयभीत न किया जावे, क्योंकि भयभीत गौवोंके दूधपर बुरा परिणाम होता है । संतान उत्पन्न करानेके समय अधिक दूधवाली और अधिक नीरोग संतान उत्पन्न करानेके विषयमें दक्षता रखी जाय । गौवोंकी पुष्टि और नीरोगताके विषयमें विशेष दक्षता रखी जाय अर्थात् गौओंको पुष्ट किया जाय और उनसे नीरोग संतान उत्पन्न हो ऐसा सुप्रबंध किया जाय । गोपालनका उत्तमसे उत्तम प्रबंध हो, किसी प्रकारकी उनमें बीमारी उत्पन्न न हो । उनके गोवर आदिसे उत्तम खाद करके उस खादका उपयोग शाली अर्थात् चावल आदि धान्योंके लिये किया जावे ।'

इत्यादि प्रकारका बोध इस सूक्तके पढनेसे मिल सकता है । यह सूक्त अति सुगम है इसलिये पाठक इसका मनन करें और उचित बोध प्राप्त करें ।

• • •

वाणिज्य से धनकी प्राप्ति ।

(१५)

(ऋषिः - अथर्वा (पण्यकामः) । देवता - विश्वेदेवाः, इन्द्राग्नी)

इन्द्रमहं वणिजं चोदयामि स न ऐतु पुरएता नो अस्तु ।
नुदन्नरातिं परिपन्थिनं मृगं स ईशानो धनदा अस्तु मह्यम् ॥ १ ॥
ये पन्थानो बहवो देवयाना अन्तरा द्यावापृथिवी संचरन्ति ।
ते मा जुषन्तां पयसा घृतेन यथा क्रीत्वा धनमाहराणि ॥ २ ॥

अर्थ - **(अहं वणिजं इन्द्रं चोदयामि)** मैं वणिक् इन्द्रको प्रेरित करता हूं **(सः नः ऐतु)** वह हमारे प्रति आवे और **(नः पुर - एता अस्तु)** हमारा अगुवा होवे । **(परिपन्थिनं मृगं अरातिं नुदन्)** मार्गपर लुट करनेवाले पाशवी भावसे युक्त शत्रुको अलग करता हुआ **(सः ईशानः मह्यं धनदाः अस्तु)** वह समर्थ मुझे धन देनेवाला होवे ॥१॥

(ये देवयानाः बहवः पन्थानः) जो देवोंके जाने योग्य बहुतसे मार्ग **(द्यावापृथिवी अन्तरा सञ्चरन्ति)** द्यावापृथिवीके बीचमें चलते रहते हैं, **(ते पयसा घृतेन मा जुषन्तां)** वे दूध और घीसे मुझे तृप्त करें **(यथा क्रीत्वा धनं आ हरामि)** जिससे क्रयविक्रय करके मैं धन प्राप्त कर लूं ॥२॥

भावार्थ - मैं वाणिज्य करनेवाले इन्द्रकी प्रार्थना करता हूं कि वह हमारे अन्दर आवे और हमारा अग्रगामी बने। वह प्रभु हमें धन देनेवाला होवे, और वह हमारे शत्रुओंको अर्थात् बटमार, लुटेरे और पाशवी शक्तिसे हमें सतानेवालोंको हमारे मार्गसे दूर करे ॥१॥

द्युलोक और पृथ्वीके मध्यमें जाने - आनेके जो दिव्य मार्ग है वे हमारे लिये दूध और घीसे भरपूर हों, जिन मार्गोंसे जाकर और व्यापार करके हम बहुत लाभ प्राप्त कर सकें ॥२॥

इध्मेनाग्न इच्छमानो घृतेन जुहोमि हव्यं तरसे बलाय।
यावदीशे ब्रह्मणा वन्दमान इमां धियं शतसेयाय देवीम् ॥ ३ ॥
इमामग्ने शरणिं मीमृषो नो यमध्वानमगाम दूरम्।
शुनं नो अस्तु प्रपणो विक्रयश्च प्रतिपणः फलिनं मा कृणोतु।
इदं हव्यं संविदानौ जुषेथां शुनं नो अस्तु चरितमुत्थितं च ॥ ४ ॥
येन धनेन प्रपणं चरामि धनेन देवा धनमिच्छमानः।
तन्मे भूयो भवतु मा कनीयोऽग्ने सातघ्नो देवान्हविषा नि षेध ॥ ५ ॥
येन धनेन प्रपणं चरामि धनेन देवा धनमिच्छमानः।
तस्मिन्म इन्द्रो रुचिमा दधातु प्रजापतिः सविता सोमो अग्निः ॥ ६ ॥

अर्थ - हे अग्ने ! **(इच्छमानः इध्मेन घृतेन तरसे बलाय हव्यं जुहोमि)** मैं लाभकी इच्छा करेनवाला इन्धन और घीसे संकटसे बचनेके लिये और बल प्राप्तिके लिये हवन करता हूं। **(यावत् इमां देवी धियं ब्रह्मणा वन्दमानः शतसेयाय ईशे)** जिससे इस बुद्धिका ज्ञान द्वारा सन्मान करता हुआ मैं सैंकडो सिद्धियोंको प्राप्त करनेके योग्य होऊं ।।३।।

हे **(अग्ने)** अग्ने! **(नः इमां शरणिं मीमृषः)** इस हमारी अशुद्धिकी क्षमा कर। **(यं दूरं अध्वानं अगाम)** जिस दूरके मार्गतक हम आ गये हैं। **(नः प्रपणः विक्रयः च शुनं अस्तु)** वहांका हमारा क्रय और विक्रय लाभकारक हो। **(प्रतिपणः फलिनं नः कृणोतु)** प्रत्येक व्यवहार मुझको लाभदायक होवे। **(इदं हव्यं संविदानौ जुषेथां)** इस हविको जानकर सेवन करो। **(नः चरितं उत्थितं च शुनं अस्तु)** हमारा व्यवहार और हमारा उत्थान लाभदायक होवे ।।४।।

हे देवाः ! **(धनेन धनं इच्छमानः)** मूल धनसे लाभकी प्राप्तिकी इच्छा करनेवाला मैं **(येन धनेन प्रपणं चरामि)** जिस धनके व्यापार करता हूं **(तत् मे भूयः भवतु)** वह मेरे लिये अधिक होवे और **(मा कनीयः)** थोडा न होवे ! हे अग्ने! **(हविषा सातघ्रान् देवान् निषेध)** हवनसे युक्त होकर लाभका नाश करनेवाले खिलाडियोंका तू निषेध कर ।।५।।

हे देवो ! **(धनेन धनं इच्छमानः)** धनसे धन कमानेकी इच्छा करनेवाला मैं **(येन धनेन प्रपणं चराभि)** जिस धनसे व्यापार करता हूं **(तस्मिन् मे रूचिं)** उसमें मेरी रूचिको **(इन्द्रः प्रजापतिः सविता सोमः अग्निः)** इन्द्र, प्रजापति, सविता, सोम, अग्नि देव **(आ दधातु)** स्थिर कर देवे ।।६।।

भावार्थ - मैं लाभ तथा बल प्राप्त करना और संकटको दूर करना चाहता हूं, इसलिये मैं घी और समिधासे हवन करता हूं। इससे मैं ज्ञान प्राप्तिपूर्वक उत्तम बुद्धिसे प्रशस्त कर्मको करता हुआ अनेक व्यापारोंमें सिद्धियां प्राप्त करके लाभ प्राप्त करूंगा ।।३।।

हम अपने घरसे बहुत दूर विदेशमें आ गये हैं। हे प्रभो ! यहां कोई त्रुटि हमसे हो गई तो क्षमा कर। यहां जो व्यापार हम कर रहे हैं उसमें हमें बहुत लाभ प्राप्त हो, हमें क्रयमें भी लाभ हो और विक्रयसे भी हमें धन बहुत मिले, प्रत्येक व्यवहारसे हमें लाभ होता जाय। हमारा आना जाना और हमारा अभ्युत्थान अर्थात् स्पर्धाकी चढाई करना भी हमें लाभकारी होवे। इसके लिये हम यह हवन करते हैं, उसका सेवन कर ।।४।।

मैं मूल धनसे व्यापार करके बहुत लाभ प्राप्त करना चाहता हूं, इसलिये जितने धनसे मैं यह व्यवहार कर रहा हूं, वह धन मेरे कार्यके लिये पर्याप्त होवे और कम न होवे। मैं जो यह हवन कर रहा हूं इससे संतुष्ट होकर, हे प्रभो ! तू मेरे व्यवहारमें लाभका नाश करनेवाले जो कोई होंगे उनको दूर कर ।।५।।

उप त्वा नमसा वयं होतर्वैश्वानर स्तुमः ।
स नः प्रजास्वात्मसु गोषु प्राणेषु जागृहि ॥ ७ ॥
विश्वाहा ते सदमिद्भरेमाश्वायेव तिष्ठते जातवेदः ।
रायस्पोषेण समिषा मदन्तो मा ते अग्ने प्रतिवेशा रिषाम ॥ ८ ॥

इति तृतीयोऽनुवाकः ॥ ३ ॥

अर्थ - हे **(होतः वैश्वानर)** याजक वैश्वानर ! **(वयं नमसा त्वा उप स्तुमः)** हम नमस्कारसे तेरा स्तवन करते हैं । **(सः नः आत्मसु प्राणेषु प्रजासु गोषु जागृहि)** वह तू हमारे आत्मा, प्राण, प्रजा, और गौओंमें रक्षणके लिये जागता रह ॥७॥

हे **(जातवेदः)** जातवेद! **(विश्वाहा ते इत् सदं भरेम)** प्रतिदिन तेरे ही स्थानको हम भरेंगे **(तिष्ठते अश्वाय इव)** जैसा स्थानपर बंधे हुए घोडेको अन्न देते हैं । **(रायः पोषेण इषा सं मदन्तः)** धन, पुष्टि और अन्नसे आनंदित होते हुए **(ते प्रतिवेशा मा रिषाम)** तेरे उपासक हम कभी नष्ट न होवे ॥८॥

भावार्थ - अपने मूल धनसे व्यापार करके मैं बहुत धन कमाना चाहता हूं, इसके लिये धन लगाकर उससे जो व्यवहार मैं करना चाहता हूं, उसमें प्रभुकी कृपासे मेरी रूचि लाभ होनेतक स्थिर होवे ॥६॥

हे प्रभो ! मैं तुझे नमस्कार करता हूं और तेरी स्तुति करता हूं, तू संतुष्ट होकर हमारे आत्मा, प्राण, प्रजा और गौ आदि पशुओंकी रक्षा कर ॥७॥

हे प्रभो ! जिस प्रकार अश्वशालामें एक स्थानपर रखे हुए घोडेको खिलानेका प्रबंध प्रतिदिन किया करते हैं उसी प्रकार हम तेरे उद्देश्यसे प्रतिदिन हवन करते हैं । तेरी कृपासे हम बहुत धन, पुष्टि और अन्न प्राप्त करेंगे, बहुत आनंदित होंगे और कभी दुःखसे त्रस्त न होंगे ॥८॥

वाणिज्य व्यवहार ।

बनिया जो क्रय विक्रयका व्यवहार करता है उसका नाम वाणिज्य व्यवहार है । व्यापारके पदार्थ किसी स्थानसे खरीदना और किसी स्थानपर उसको बेंचना और इस क्रयविक्रयमें योग्य लाभ प्राप्त करना इस व्यापार व्यवहारसे होता है । कुशल बनिये इसमें अच्छा लाभ प्राप्त करते हैं ।

पुराना बनिया !

इस सूक्तके पहले मंत्रमें सब जगत्के प्रभु (इन्द्र भगवान्) को 'वाणिजं इन्द्रं' (वणिक् इन्द्र) कहा है, यह बहुत ही काव्यमय वर्णन है और इसमें अद्भुत उपदेश भरा है । परमेश्वर सर्वत्र छिपा है और प्रयत्न करनेपर भी दिखाई नहीं देता, इसलिये उसको एक मंत्रमें (तायु ! ऋ. १।६५।१) चोर भी कहा है । जिस प्रकार यह अद्भुत अलंकार है उसी प्रकार प्रभुको बनिया कहना भी अलंकार है ।

जिस प्रकार बनिया एक रू. लेकर उतने मूल्यका ही धान्य आदि देता है, न अधिक और न कम, इसी प्रकार यह 'पुराना सबसे बडा बनिया' मनुष्योंको सुखदुःख उसी प्रमाणसे देता है कि जितना भला बुरा कर्म मनुष्य करते हैं अथवा जितना अर्पण वे परोपकारार्थ करते हैं उतना ही उनको पुण्य मिलता है । इस प्रकार इस इन्द्र बनियाने जगत्के प्रारंभसे यह अपना व्यापार चलाया है, न यह कभी पक्षपात करता है और न कभी उधारका व्यवहार करता है। इस प्रकार यह सबसे पुराण पुरूष बनियाका व्यवहार करता है, उसको जितना दिया जाय उतना ही उससे वापस मिलेगा । इसलिये मनुष्यको यज्ञ आदि कर्म करने चाहिये जिनतो देकर उससे पुण्य खरीदा जाय, वह उपदेश यहां मिलता है ।

व्यापारका व्यवहार बताते हुए भी वेदने उसमें परमात्माके सत्य व्यवहारका उपदेश देकर बताया है कि व्यापार भी सत्यस्वरूप परमेश्वरकी निष्ठासे ही होना चाहिये और छल, कपट तथा धोखा उसमें कभी करना नहीं चाहिये।

हवनका निर्देश मं. ३ और ५ इन दो मंत्रोंमें है। हवनका अर्थ है 'अपना समर्पण'। अपने पासके पदार्थ परमार्थके लिये अर्पण करना और स्वार्थका भाव कम करना यही यज्ञ है। ऐसे यज्ञोंसे ही जगत्का उपकार होता है, इसलिये ऐसे सत्कर्म परमात्माके पास पहुंचते हैं और उनका यश कर्ताको मिलता है। इसलिये व्यापार - व्यवहारसे धन प्राप्त करनेपर उसका योग्य भाग परोपकारके लिये समर्पण करना चाहिये अर्थात् उसको यज्ञमें लगाना चाहिये। धन कमानेवाले इस आदेशका योग्य विचार करें। जो कमाया हुआ धन स्वयं उपभोग करता है वह पापी होता है। इसलिये कमाये धनमेंसे योग्य भाग परोपकारमें लगाना योग्य है।

व्यापारका स्वरूप।

इस सूक्तमें व्यापार विषयक जो शब्द आ गये हैं वे अब देखिये -

१ धनं - मूल धन, सरमाया, जिस मूल धनसे व्यापार किया जाता है। (मं. ५,६)

२ धनं - लाभ, लाभसे प्राप्त होनेवाली रकम। (मं.५,६)

३ वणिक् - व्यापारी, क्रयविक्रय करनेवाला। (मं. १)

४ धनदा - व्यापारके लिये धन देनेवाला धनपति, जिससे धन लेकर अन्य छोटे व्यापारी अपना काम धंदा करते हैं। साहुकार। (मं. १)

५ प्रपणः - सौदा, खरीद फरोख्त। (मं. ५)

६ विक्रयः - खरीदा हुआ माल बेचना। (मं. ४)

७ प्रतिपणः - प्रत्येक सौदा। (मं.४)

८ फली (फलिन्) - लाभ युक्त होना। (मं.४)

९ शुनं - कल्याणकारी, लाभकरी, हितकर। (मं.४)

१० चरितं - व्यवहार करनेके लिये हलचल करना (मं.४)

११ उत्थितं - उठाव, चढाई। प्रतिस्पर्धीके साथ स्पर्धाके लिये चढाई करना। (मं.४)

१२ भूयः (धनं) - व्यापारके लिये पर्याप्त सरमाया होना। (मं.५)

ये ग्यारह शब्द व्यापार विषयक नीतिकी सूचना देते हैं। इनके मननसे पाठकोंको पता लग सकता है कि बनियाके कार्यमें कौन कौनसे विभाग होते है और उन विभागोंमें क्या क्या कार्य करना चाहिये।

प्रथम मूल धन व्यापार - व्यवहारमें लगाना चाहिये। यदि अपने पास न हो तो किसी साहुकार (धन - दा) के पाससे लेकर उस धनपरसे अपना व्यवहार चलाना चाहिये। जिस पदार्थका व्यापार करना हो उस पदार्थका 'क्रय' कहा करना योग्य है और उसका 'विक्रय' कहां करनेसे अधिकसे अधिक लाभ हो सकता है इसका विचार करना चाहिये। किन दिनोंमें, किस देशमें खरेदी और किस स्थानपर विक्री (प्रतिपण) करनेसे अधिक लाभ होना संभव है, इसका योग्य अनुसन्धान करनेसे निःसन्देह लाभ हो सकता है। इसीका नाम ऊपर लिखे शब्दोंमें 'चरितं' कहा है।

इन सब शब्दोंमें 'उत्थित' शब्द बडा महत्त्व रखता है। उठाव, उठना, चढाई करना इत्यादि अर्थ इसके प्रसिद्ध है। मालका उठाव करनेका तात्पर्य सब जानते ही हैं। इस उत्थानके दो भेद होते हैं, एक 'वैयक्तिक उत्थान' और दूसरा 'सामुदायिक संभूय समुत्थान' है। एक व्यक्ति चढाईकी नीतिसे व्यापार करती है उसको वैयक्तिक उत्थान कहते हैं और जहां अनेक व्यापारी अपना संघ बनाकर उठाई करते हैं उसको 'संभूय समुत्थान' कहते हैं। व्यापारमें केवल ऊपर लिखा 'चरित' ही कार्य नहीं करता, परंतु यह दोनों प्रकारका उत्थान भी बडा कार्यकारी होता है। पाठक इसका उत्तम विचार करें।

व्यापारके विरोधी।

१ सातघ्नः - (सात) लाभका (घ्न) नाश करनेवाले। जिनके कारण व्यवहारमें हानि होती है। (मं.५)

२ सातघ्नः देवः - लाभका नाश करनेवाला जूवेबाज, खिलाडी, (दिव् - 'जुवा खेलना') इस धातुसे यह देव शब्द बना है। व्यवहारमें हानि होनेवाली आदतों-वाला मनुष्य। (मं.५)

३ परिपन्थिन् - बटमार, चोर, लुटेरे, मार्गपर ठहरकर आनेजानेवालोंको जो लूटते हैं। (मं.१)

४ **मृगः** - पशु, पशुभाववाला मनुष्य । (मं.१)

५ **अ- रातिः** - कंजूस, दान न देनेवाला । (मं.१)

६ **कनीयः (धनं)** - व्यापारके लिये जितना धन चाहिये उतना न होना, धनकी कमी । (मं.५)

इनके कारण व्यापार-व्यवहारमें हानि होती है, इसलिये इनसे बचनेका उपाय करना चाहिये ।

व्यापार-व्यवहार करनेमें जो विघ्न होते हैं उनका विचार इन शब्दोंद्वारा इस सूक्तमें किया है । पहले विघ्नकारी 'सातघ्न देव' है । पाठक देवोंको यहा विघ्नकारी देखकर आश्चर्यचकित हो जायगे । परंतु वैसा भय करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। 'देव' शब्दके अर्थ 'जुआडी, खेलमें समय बितानेवाला' ऐसा भी होता है। यह अर्थ 'दिव्' धातुका 'जुवा खेलना' अर्थ है उस धातुसे सिद्ध होता है । जो व्यापारी अपना समय ऐसे कुकर्मोमें खर्च करेंगे वे अपना नुकसान करेंगे और अपने साथियोंको भी डुबा देंगे । यह उपलक्षण मानकर जो जो व्यवहार व्यापारमें हानि करनेवाले होंगे उन व्यवहारोंको करनेवाले 'सातघ्न देव' समझना यहां उचित है। (सात) लाभका (घ्न) नाश करनेवाले (देव) व्यवहार करनेवाले लोग यह इसका शब्दार्थ है । 'देव' शब्द 'व्यवहार करनेवाले' इस अर्थमें प्रचलित है ।

'परिपंथि' शब्दका प्रसिद्ध अर्थ ऊपर दिया ही है। इसका दूसरा अर्थ यह होता है कि 'जो लोग कुमार्गसे जानेवाले हैं।' सीधे राजमार्गसे न जाते हुए अन्य कुमार्गसे जाना बहुत समय हानिकारक होता है । विशेष कर यह अर्थ यहां अभिप्रेत है ऐसा हमारा विचार है ।

व्यापारका मूल धन अथवा सरमाया भी कम नहीं रहनी चाहिये अन्यथा अन्य सब बाते ठीक होते हुए भी व्यापारमें लाभ नहीं हो सकता । इसलिये पंचम मंत्रकी सूचना कि **(मा कनीयः । मं. ५)** अत्यंत ध्यान देने योग्य है । बहुत व्यवहार लाभकारी होते हुए भी आवश्यक धनकी कमी होनेके कारण वे नुकसान करनेवाले होते हैं । जो नुकसान इस प्रकार होगा वह किसी अन्य युक्तिसे या बुद्धिकी कुशलतासे पूर्ण नहीं होता, क्योंकि यह कमी हरएक प्रसंगमें रूकावटे उत्पन्न करनेवाली होती है । व्यापार करनेवाले पाठक इससे योग्य बोध प्राप्त करें ।

दो मार्ग ।

व्यापार करनेके लिये देशदेशांतरमें जाना आवश्यक होता है । अन्यथा बडा व्यापार होना अशक्य है । देशदेशांतर और द्वीपद्वीपान्तरमें जानेके लिये उत्तम और सुरक्षित मार्ग चाहिये। देशान्तरमें जानेके कई मार्ग सुरक्षित होते हैं और कई भयदायक होते हैं । जो सुरक्षित मार्ग होते हैं उनको **'देवयानाः पन्थानः'** (मं.२) कहा है । देवयान मार्ग वे होते हैं कि जिनपर देवता सदृश लोग जाते आते हैं, इस कारण वे मार्ग रक्षित भी होते हैं ऐसे मार्गपर लुटमार नहीं होती, व्यापारी लोग अपना माल सुरक्षित रीतिसे ले जाते हैं, और ले आते हैं । जहां आनेजानेके ऐसे सुरक्षित मार्ग हों वहां ही व्यापार करना लाभदायक होता है ।

दूसरे मार्ग राक्षसो, असुरो और पिशाचोंके होते है जिनपर इन निशाचरोंका आना जाना होता है । ये ही 'परिपन्थी' अर्थात् बटमार, चोर, लुटेरे बनकर सार्थवाहोंको लुट देते हैं । इन मार्गोपरसे जानेसे व्यापार व्यवहार अच्छा लाभदायक नहीं हो सकता । इसलिये जहांके मार्ग सुरक्षित न हों वहांके मार्ग सुरक्षित करनेके लिये प्रयत्न होना आवश्यक है । वाणिज्यकी वृद्धि करनेके लिये यह अत्यंत आवश्यक कर्तव्य है ।

व्यापार अच्छी प्रकार होनेके लिये दूसरी आवश्यकता इस बातकी है कि मार्गमें जहां जहां मुकाम करना आवश्यक हो वहां खानपानके पदार्थ मनके अनुकूल सुगमतासे मिलने चाहिये । रहने सहने और खानपान आदिका सब प्रबंध बनाबनाया रहना चाहिये । उचित धन देकर सहनेका प्रबंध विना आयास होना चाहिये, इस विषयमें द्वितीय मंत्र देखिये -

ते (पन्थानः) मा जुषन्तां पयसा घृतेन ।
तथा क्रीत्वा धनमाहरामि ।।(सू. १५, मं.२)

'वे देशदेशान्तरमें जाने आनेके मार्ग मुझे सुखपूर्वक दूध, घी आदि उपभोगके पदार्थ देनेवाले हों, जिससे मैं क्रय आदि करके धन कमानेका व्यवहार कर सकूं ।' बात तो साफ है कि यदि देशदेशांतरमे भ्रमण करनेवालेको भोजनादिका सब प्रबंध अपना स्वयं ही करना पडे तो उसका समय उसीमे चला जायगा, अनेक कष्ट होंगे, विदेशमें स्थानका परिचय न होनेके कारण सब आवश्यक

सामान इकट्ठे करनेमें ही व्यर्थ समय चला जायगा। इसलिये मंत्रके कथनानुसार 'मार्ग ही उपभोगके पदार्थोंसे तैयार रहेंगे' तो अच्छा है। यह उपदेश बडा महत्त्व पूर्ण है और व्यापार वृद्धिके लिये सर्वत्र इस प्रबन्धके होनेकी अत्यंत आवश्यकता है।

ज्ञानयुक्त कर्म।

हरएक कार्य ज्ञानपूर्वक करना चाहिये। इस विषयमें तृतीय मंत्रका कथन अत्यंत विचारणीय है -

देवीं धियं ब्रह्मणा वन्दमानः शतसेयाय ईशे।

(सू.१५, मं.३)

'दिव्य बुद्धि और कर्मशक्तिका ज्ञानसे सत्कार करता हुआ मैं सैंकडो सिद्धियोंको प्राप्त करनेका अधिकारी बनता हूं।'

यहांका 'धी' शब्द 'प्रज्ञा, बुद्धि और कर्मशक्ति' का वाचक है। ज्ञानपूर्वक हरएक कर्म करना चाहिये। जो काम करना हो, उस विषयमें जितना ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है उतना पहले करना और पश्चात् उस कार्यका आरंभ करना चाहिये। तभी सिद्धि प्राप्त हो सकती है। यह सिद्धिका सरल मार्ग है। दूसरी बात जो सिद्धिके लिये आवश्यक है वह यह है कि आरंभ किये कार्यमें रूची स्थिर होनी चाहिये -

तस्मिन् रूचिं आ दधातु। (सू. १५, मं.६)

'उस कार्यमें रूची स्थिर होवे' यह बात अत्यंत आवश्यक है। नहीं तो कई लोगोंकी ऐसी चंचल वृत्ति होती है कि वे आज एक कार्य करते हैं, कल तीसरा हाथमें लेते हैं और परसूं पांचवेंका विचार करते हैं। ऐंसे चंचल लोग कभी सिद्धिको प्राप्त नहीं कर सकते।

परमेश्वर भक्ति।

सब कार्योंकी सिद्धिके लिये परमेश्वरकी भक्ति करनी चाहिये। इस विषयमें सप्तम और अष्टम मंत्रोंका कथन बडा मननीय है। 'ईश्वरकी नम्रतापूर्वक स्तुति, प्रार्थना, उपासना करना चाहिये।' क्योंकि वही शरण जाने योग्य है और उसीकी शक्तिद्वारा सबकी रक्षा होती है। प्रतिदिन नियत समयपर उसकी उपासना करनी चाहिये। जिससे वह सब कामधन्देमें यश देगा, और धन, पुष्टि, सुख आदि प्राप्त होंगे और कभी गिरावट नहीं होगी। ईश्वर उपासना तो सबकी उन्नतिके लिये अत्यंत आवश्यक है। संपूर्ण सिद्धियोंके लिये इसकी बहुत आवश्यकता है।

॥यहां तृतीय अनुवाक समाप्त॥

●●●

प्रातःकालमें भगवान्‌की प्रार्थना ।

(१६)

(ऋषिः - अथर्वा । देवता - बृहस्पतिः, बहुदेवत्यम्)

प्रातरग्निं प्रातरिन्द्रं हवामहे प्रातर्मित्रावरुणा प्रातरश्विना ।
प्रातर्भगं पूषणं ब्रह्मणस्पतिं प्रातः सोममुत रुद्रं हवामहे ॥ १ ॥
प्रातर्जितं भगमुग्रं हवामहे वयं पुत्रमदितेर्यो विधर्ता ।
आध्रश्चिद्यं मन्यमानस्तुरश्चिद्राजा चिद्यं भगं भक्षीत्याह ॥ २ ॥
भग प्रणेतर्भग सत्यराधो भगेमां धियमुदवा ददन्नः ।
भग प्र णो जनय गोभिरश्वैर्भग प्र नृभिर्नृवन्तः स्याम ॥ ३ ॥

अर्थ - **(प्रातः अग्निं)** प्रातःकाल अग्निकी, **(प्रातः इन्द्रं)** प्रातःकालमें इन्द्रकी, **(प्रातः मित्रावरुणौ)** प्रातःकालके समय मित्र और वरुणकी, तथा **(प्रातः अश्विनौ)** प्रातःकाल आश्विनी देवोंकी **(हवामहे)** हम स्तुति करते हैं । **(प्रातः पूषणं ब्रह्मणस्पतिं भगं)** प्रातःकाल पूषा और ब्रह्मणस्पति नामक भगवान्‌की **(प्रातः सोम उत रुद्रं हवामहे)** प्रातःकाल सोम और रुद्रकी हम प्रार्थना करते हैं ॥१॥

(वयं प्रातर्जितं अदितेः उग्रं पुत्रं भगं हवामहे) हम प्रातःकालके समय अदितिके विजयी शूर पुत्र भगकी प्रार्थना करते हैं, **(यः विधर्ता)** जो विशेष प्रकार धारण करनेवाला है। **(आध्रः चित्)** अशक्त भी और **(तुरः चित् यं)** बलवान् भी जिसको तथा **(राजा चित्)** राजा भी **(यं मन्यमानः)** जिसका सन्मान करता हुआ **('भगं भक्षि' इति आह)** 'धनका भाग मुझे दे 'ऐसा कहता है ॥२॥

हे **(भग)** भगवान्! हे **(प्र - नेतः)** बडे नेता ! हे **(सत्यराधः भग)** सत्य सिद्धि देनेवाले प्रभो ! **(इमां धियं ददत् नः उत् अव)** इस बुद्धिको देता हुआ तू हमारी रक्षा कर । हे **(भगं)** भगवन् ! **(गोभिः अश्वैः नः प्रजनय)** गौओं और घोडोंके साथ संतानवृद्धि कर । हे **(भग)** भगवन्। हम **(नृभिः नृवन्तः स्याम)** अच्छे मनुष्योंके साथ रहकर मनुष्योंसे युक्त होवें ॥३॥

भावार्थ - प्रातःकालमें हम अग्नि, इन्द्र, मित्रावरुणौ, अश्विनौ, पूषा, ब्रह्मणस्पति, सोम और रुद्र नामक भगवान्‌की प्रार्थना करते हैं ॥१॥

हम इस प्रातःकालके समय अदीनताके वीर भगवान्‌की प्रार्थना करते हैं, जो भगवान् सबका विशेष प्रकारसे धारण कनरेवाला है और जिसको अशक्त और सशक्त, रंक और राजा, सभी एक प्रकारसे परम पूज्य मानते हुए, 'अपनेको भाग्यवान्' करनेकी इच्छासे प्रार्थना करते हैं ॥२॥

हे हम सबके बडे नेता ! हे सत्य सिद्धि देनेवाले प्रभो ! हे भगवान् । हमारी इस शुद्ध बुद्धिकी वृद्धि करता हुआ तू हमारी रक्षा कर । गौओं और घोडोंकी वृद्धिके साथ साथ हमारी संतान वृद्धि होने दें । तथा हमारे साथ सदा श्रेष्ठ मनुष्य रहें, ऐस कर ॥३॥

उतेदानीं भगवन्तः स्यामोत प्रपित्व उत मध्ये अह्नाम्।
उतोदितौ मघवन्त्सूर्यस्य वयं देवानां सुमतौ स्याम ॥ ४ ॥
भग एव भगवाँ अस्तु देवस्तेना वयं भगवन्तः स्याम।
तं त्वा भग सर्व इज्जोहवीमि स नो भग पुरएता भवेह ॥ ५ ॥
समध्वरायोषसो नमन्त दधिक्रावेव शुचये पदाय।
अर्वाचीनं वसुविदं भगं मे रथमिवाश्वा वाजिन आ वहन्तु ॥ ६ ॥
अश्वावतीर्गोमतीर्न उषासो वीरवतीः सदमुच्छन्तु भद्राः।
घृतं दुहाना विश्वतः प्रपीता यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ ७ ॥

अर्थ - (उत इदानीं भगवन्तः स्याम) हम इस समय भाग्यवान होवें (उत प्रपित्वे उत मध्ये अह्नाम्) और सायंकालमें भी और दोपहरमें भी। हे (मघवन्) भगवन्! (उत सूर्यस्य उदितौ) और सूर्यके उदयके समय (वयं देवानां सुमतौ स्याम) हम देवोंकी सुमतिमें रहें ॥४॥

(भगवान् भगः देवः अस्तु) भगवान् भगदेव मेरे साथ होवे (तेन वयं भगवन्तः स्याम) उसकी सहायतासे हम भाग्यवान् होवें। (हे भग) भगवन्! (तं त्वा सर्वः इत् जोहवीमि) उस तुझको मैं सब रीतिसे भजता हूं (भग) भगवन्! (सः नः पुरएता इह भव) वह तू हमारा अगुवा यहां हो ॥५॥

(उषसः अध्वराय सं नमन्त) उषायें यज्ञके लिये उत्तम प्रकार झुकती रहें। (शुचये पदाय दधिक्रावा इव) जिस प्रकार शुद्ध स्थानपर पद रखनेके लिये घोडा चाहता है। (वाजिनः अर्वाचीनं वसुविदं भगं मे आ वहन्तु) घोडे इस और धनवाले भगवान्को मेरे पास ले आवें (अश्वा रथं इव) जैसे घोडे रथको लाते हैं ॥६॥

(अश्वावतीः गोमतीः वीरवतीः भद्राः उषासः) घोडे, गौएं और वीरोंसे युक्त कल्याणमयी उषायें (नः सदं उच्छन्तु) हमारे घरोंको प्रकाशित करें। (घृतं दुहानां) घीको प्राप्त करते हुए (विश्वतः प्रपीताः) सब प्रकार हृष्टपुष्ट होकर (यूयं स्वस्तिभिः सदा नः पात) तुम सब अनेक कल्याणोंके साथ सदा हमारी रक्षा कर ॥७॥

भावार्थ - हम प्रातःकाल, दोपहरके समय और सायंकालके समय ऐसे शुभकर्म करें कि जिससे हम भाग्यशाली बनते जांय। हम सूर्यके उदयके समय देवोंकी उत्तम मतिके साथ युक्त हों ॥४॥

भगवान् परमेश्वर हमें भाग्य देनेवाला होवे, उसकी कृपासे हम भाग्यशाली बनें। हे भगवन्! हम सब तेरा भजन करते हैं, इससे तू प्रसन्न हो और हम सबको योग्य मार्गपर चलानेवाला हमारा मुखिया बन ॥५॥

उषःकालका समय अहिंसामय, अकुटिल, सत्कर्मकी दिशाकी ओर झुक जाय और उन कर्मोंसे धनवान्, भगवान् हमारे अधिक सिन्नध होते जांय ॥६॥

जिन उषाओंके समय घोडे, गौएं और वीरपुरूष उत्साहसे कार्योंमें लगे होते हैं ऐसी उषाएं हमारे घरोंको प्रकाशित करें। और ऐसी ही उषायें घृतको प्राप्त करती हुई और सबको दुग्धपान कराती हुई अनेक कल्याणोंके साथ हम सबकी रक्षा करें ॥७॥

प्रातःकालमें भगवान्‌की प्रार्थना ।

प्रातःकाल उठकर प्रभुकी प्रार्थना करना चाहिये। अपना मन शुद्ध और पवित्र बनाकर एकाग्रताके साथ यह प्रार्थना होनी चाहिये। इस समय मनमें कोई विरोधका विचार न उठे और परमेश्वरकी भक्तिका विचार ही मनमें जागता रहे। ऐसे शुद्ध भावसे उषाके पवित्र समयमें की हुई प्रार्थना परमेश्वर देव सुनते हैं। इसलिये -

सबका उपास्य देव ।

आध्रश्चिद्यं मन्यमानस्तुरश्चिद्राजा चिद्यं भगं भक्षीत्याह ॥ (सू.१६, मं.२)

इस समय 'निर्बल और बलवान्, प्रजाजन और राजा समान भावसे प्रभुका आदर करते हुए उसकी प्रार्थना करते हैं और उसके पास अपने भाग्यका भाग मांगते हैं।' क्योंकि निर्बल और बलवान्, शासित और शासक ये उसके सन्मुख समान भावसे ही रहते हैं। इस मंत्रके शब्द अधिक विचारकी दृष्टिसे देखने योग्य हैं इसलिये उन शब्दोंके अर्थ अब देखिये-

१ **आध्रः** - आधार देने योग्य, जिसको दूसरेके सहारेकी आवश्यकता होती है, निर्बल, अशक्त, निर्धन।

२ **तुरः** - त्वरायुक्त, शीघ्रतासे कार्य करनेवाला, वेगवान् आगे बढनेवाला, बलवान्, सामर्थ्यवान्, धनवान्, अपनी शक्तिसे आगे बढनेवाला।

३ **राजा** - शासन करनेवाला, हुकुमत करनेवाला, दूसरोंपर अधिकार करनेवाला।

इस राजा शब्दके अनुसंधानसे यहां शासित होनेवाली प्रजाका भी बोध होता है। निर्बल, अशक्त, निर्धन, शासित आदि लोग तथा बलशाली, समर्थ, धनी और शासन करनेवाले लोग ये सब यद्यपि जगत्‌में साधारण दृष्टिसे नीच और उच्च समझे जाते हैं, तथापि जगन्नियन्ता प्रभुके सन्मुख ये समान भावसे ही रहते हैं, उसके समाने न कोई उच्च है और न कोई नीच है, इसलिये उस प्रभुकी प्रार्थना जैसा हीन मनुष्य करता है उसी प्रकार राजा भी करता है, और दोनों उसकी कृपासे अपने भाग्यकी वृद्धि होगी ऐसा ही समझते हैं। इस प्रकार यह भगवान् परमपिता सबका एक जैसा पालक है। यह-

यः विधर्ता । (सू.१६, मं.२)

'सबका विशेष रितीसे धारण करनेवाला है' अन्य साधारण धारणकर्ता बहुत हैं, परन्तु यह प्रभु तो धारकोंका भी आधार है, इसीलिये इसको विशेष धारक कहते हैं। यह-

प्रातर्जितं अदितेः पुत्रं भगं । (सू.१६, मं.२)

'(प्रातः जितं) प्रातःकालमें ही विजयी है, अर्थात् अन्य वीर तोयुद्ध करेंगे और पश्चात् विजयी होंगे, इस कार्यके लिये उनको विजय कमानेके लिये कुछ समय अवश्य लगेगा, वैसा इसके लिये नहीं है। यह तो सदा विजयी ही है, काल शुरू होनेका प्रारंभ उषःकालसे होता है, उस उषःकालके प्रारंभमें ही यह विजयी होता है अर्थात् पश्चात् तो इसका विजय होगा ही, परंतु इसका प्रारंभसे ही विजय हुआ है, यह बात यहा बतायी है।

अदीनताका रक्षक ।

'दिति' नाम पराधीनता या दीनताका है और 'अ - दिति' का अर्थ है स्वतंत्रता, स्वाधीनता या अदीनता। इस स्वाधीनताका यह (पु - त्र - पुनाति च त्रायते च इति पुत्रः) पवित्रता युक्त तारण करनेवाला है। इसलिये यह भाग्यवान् होनेसे 'भग' कहलाता है। जो कोई इस पवित्रताके साथ स्वाधीनताकी रक्षा करेगा वह भी भाग्यवान् होगा और ऐश्वर्यवान् भी होगा। 'अ-दितिका पुत्र' होना बडे पुरुषार्थका कार्य है, यह साधारण बात नहीं है। परमात्मा तो स्वयंसिद्ध स्वाधीनताका रक्षक है, इसलिये उसको यह सिद्धि स्वभावसे ही सिद्ध है अर्थात् विना प्रयत्न प्राप्त है। पुरूषार्थी मनुष्य अपने पुरूषार्थसे स्वाधीनताका रक्षक होता है, इसको यह सिद्धि परमात्मोपासनासे ही प्राप्त हो सकती है। इसकी उपासना कौन किस रूपमें करते हैं इसका वर्णन प्रथम मंत्रमें दिया है-

उपासनाकी रीति ।

'अग्नि, इन्द्र, मित्र, वरूण, अश्विनी, पूषा, ब्रह्मणस्पति, सोम, रुद्ररूप भगकी हम उपासना करते हैं। (१)' यह इस मंत्रका कथन है। एक ही परमात्म देवके ये गुणबोधक विशेषण हैं। इस सूक्तमें 'भग' अर्थात् ऐश्वर्यकी प्रधानता होनेसे इस सूक्तमें 'भग' शब्द मुख्य और अन्य शब्द उसके विशेषण हैं। परंतु यदि किसीको अन्य गुणोंकी उपासना करनी हो तो उस गुणका वाचक शब्द मुख्य मानकर अन्य शब्दोंको उसके विशेषण माना जा सकता है। जैसा -

(१) भाग्यप्राप्तिकी इच्छा करनेवाला 'भग' नामको मुख्य मानकर उपासना करे। (२) ज्ञानप्राप्तिकी इच्छा करनेवाला 'ब्रह्मणस्पति' नामको मुख्य मानकर उपासना करे। (३) प्रभुत्वका सामर्थ्य चाहनेवाला 'इन्द्र' नामको मुख्य मानकर उसीकी उपासना करे। (४) पुष्टि चाहनेवाला 'पूषा' नामको मुख्य मानकर उसकी उपासना करे। (५) शांति चाहनेवाला 'सोम' नामको मुख्य मानकर अन्य नामोंको उसके विशेषण माने और उपासना करे।

(६) उग्रताकी इच्छा करनेवाला 'रूद्र' नामको मुख्य मानकर उपासना करें, इसी प्रकार अन्यान्य नामोंको मुख्य या गौण अपनी कामनाके अनुसार माने और उसी प्रभुकी उपासना कर अपनेमें उस गुणकी वृद्धि करे। उसी एक प्रभुके ये नाम हैं, क्योंकि 'एक ही प्रभुके अग्नि आदि अनेक नाम होते हैं, एक ही सद्वस्तुका कवि लोग भिन्न भिन्न नामोंसे वर्णन करते हैं, इस वैदिक शैलिके अनुसार इस प्रथम मंत्रमें आये सब शब्द एक ही परमात्माके वाचक है। इस कारण किसी गुणको प्रधान मानकर प्रभुकी उपासना की जाय तो उसीकी उपासना होती है और जिस गुणका चिन्तन किया जाय उसीकी वृद्धि होती जाती है। मन जिसका ध्यास लेता है वह गुण मनमें बढता है, इस नियमके अनुसार यह उपासना होती है। इन गुणोंका चिंतन करनेकी सुविधा होनेके लिये यहां इन शब्दोंके विशेष अर्थ देते हैं -

- १ **अग्निः** - तेज, प्रकाश, उष्णता, और गति करनेवाला।
- २ **इन्द्रः** - शत्रुओंको दूर करनेवाला, ऐश्वर्यवान्, नियामक, शासन करनेवाला, राजा।
- ३ **मित्रः** - मित्र दृष्टिसे सबोंपर प्रेम करनेवाला, सबका हित करनेवाला.
- ४ **वरूणः** - श्रेष्ठ, निष्पक्षपाततासे सत्यासत्यका निरीक्षण करनेवाला, वरिष्ठ।
- ५ **अश्विनौ** - धन और ऋ ण शक्तिसे युक्त, वेगवान् ।सर्व व्यापक, सर्वत्र उपस्थित।
- ६ **भगः** - भाग्यवान् ,ऐश्वर्य युक्त, धनवान्।
- ७ **पूषा** - पोषक, पुष्टि करनेवाला।
- ८ **ब्रह्मणस्पतिः** - ज्ञानका स्वामी, ज्ञानी।
- ९ **सोमः** - शांत, आल्हाददायक, कलानिधि, कलावान्, मधुर, प्रसन्नता करनेवाला।
- १० **रूद्रः** उग्र, प्रचण्ड, भयानक, गर्जना करनेवाला, वीर, शूर, वीरभद्र, शत्रुविध्वंसक वीर, शत्रुको रूलानेवाला।

प्रथम मंत्रोक्त दस शब्दोंके ये अर्थ हैं। पाठक इन शब्दोंके मननसे प्रभुकी उपासना कर सकते हैं। जिस गुणको अपनेमें बढानेकी इच्छा हो उस गुणवाचक शब्दसे प्रभुका ध्यान करना और अन्य शब्द उसीके गुणबोधक विशेषण मानना यह उपासनाकी रीति है। इस प्रकार मनन और निदिध्यासन करनेसे मनका वायुमंडल ही उस प्रकारका बनता है और आवश्यक गुण मनमें विकसित होने लगता है। यहांपाठक स्मरण रखें कि, अपनी उन्नतिके लिये अपने मनके अंदरका वायु मंडल वैसा बनानेकी आवश्यकता है, इसीलिये तृतीय मंत्रमें कहा है -

धारणा।

इमां धियं ददन्नः उधव। (सू.१६, मं.३)

'इस बुद्धिको बढाते हुए हमारी उन्नत अवस्था करके हमारी रक्षा कर' यहाँ प्रार्थनामें धन नहीं मागा है, परन्तु 'बुद्धि' मांगी है, यह 'धारणावती बुद्धि' जो कर्म शक्तिसे युक्त रहती है वह है, यह बात विशेष रीतिसे ध्यानमें धरना आवश्यक है। भाग्य प्राप्त करना हो, धन ऐश्वर्य बढाना हो अथवा प्रभुत्त्व संपादन करना हो, तो इस सबके लिये पुरूषार्थ करनेमें समर्थ धारणावती बुद्धिकी आवश्यकता है, इसके विना उन्नति असंभव है। धी शब्दमें जैसा बुद्धिमत्ताका भाव है उसी प्रकार पुरूषार्थमयी कर्मशक्तिका भी भाव है यह भूलना नहीं चाहिये। यह धी जितनी बढेगी उतनी मनुष्यकी योग्यता बढ जाती है। जिस बुद्धिमें ज्ञानशक्ति पुरूषार्थ शक्तिके साथ संमिलित रहती है यह बुद्धि हमें चाहिये यह इच्छा 'इमां धियं' शब्दोंमें है। प्रथम और द्वितीय मंत्रोंमें जो बुद्धि और कर्मशक्ति विकसित करनेका उपदेश किया गया है वह बुद्धि यहां तृतीय मंत्रमें (इमां धियं ददन्) 'इस बुद्धिको दो' इन शब्दोंमें मांगी है। यहां प्रश्न होता है कि कौनसी बुद्धि प्रथम द्वितीय मंत्रोंमें कही है ? इसका उत्तर उक्त मंत्रोंके मननसे मिल सकता है। मनन करनेके लिये इससे पूर्व शब्दार्थ दिये ही हैं, परन्तु विशेष स्पष्टताके लिये यहां थोडासा स्पष्टीकरण करते हैं -

उपासना - (और उससे सिद्ध होनेवाली) - धारणा।

मंत्रका शब्दार्थ - (और उससे उद्दीपित होनेवाला) - बुद्धिका भाव।

प्रथम मंत्र।

(अग्नि) तेजस्वी, परन्तु (सोमं) शांत मोठए स्वभाववाले (मित्रा- वरूणौ) मित्र दृष्टिसे सबको देखनेवाले और निष्पक्ष-पाती होकर सत्यासत्य देखनेवाले (पूषणं) पोषणकर्ता (ब्रह्मणस्पति) ब्रह्मज्ञानी देवकी प्रार्थना मैं

(१)

(१) मैं तेजस्वी बनूंगा, परन्तु (२) शांत और मीठा स्वभाव धारण करके, (३) मित्रदृष्टिसे सब भूतमात्रको देखूंगा, (४) निष्पक्षतासे सत्यासत्यकी परीक्षा करूंगा(५) अन्योंको यथाशक्ति सहायता देकर उनका पोषण करूंगा

प्रातःकालमें करता हूं ।

(अश्विनौ) वेगवान् धनऋण शक्तिवाले और (रूद्रं) शत्रुको रूलानेवाले (भगं) भाग्य युक्त (इन्द्रं) शत्रुओंको दूर करनेवाला शासनकर्ता प्रभुकी मैं प्रातःकालके समय प्रार्थना करता हूं ।

द्वितीय मंत्र ।

(प्रातर्जितं) नित्य विजयी (उग्रं) उग्र शूरवीर प्रभुकी मैं प्रातःकाल प्रार्थना करता हूं । इसी प्रभुकी भक्ति अशक्त और सशक्त, रंक और राजा सभी करते हैं और अपने भाग्यका भाग उससे मांगते हैं, क्योंकि वह (विधर्ता) सबका धारक और (अदितेः) बंधन रहित अवस्थाका (पु-त्रः) पावनकर्ता और तारणकर्ता है ।

और (६) अपने अन्दर ज्ञान बढाऊंगा ।

(१) मैं अपना वेग बढाकर (२) शत्रुको रूलाने योग्य पराक्रम युद्धभूमिपर करूंगा और (३) भाग्यवान् बनकर अपने सब -शत्रुओंको दूर करके उत्तम व्यवस्था-से शासन करूंगा ।

(२)

मैं प्रातःकालमें अपने विजय साधनका विचार करता हूं, उसके लिये आवश्यक उग्रता धारण करूंगा और परमेश्वर भक्ति पूर्वक अपनी अदीनता और स्वाधीनताकी रक्षाके लिये अहर्निश यत्न करूंगा तथा अपने अन्दर सब प्रकारकी पवित्रता बढाता हुआ अपने अन्दर रक्षकशक्ति भी बढाऊंगा ।

उपासनाके मंत्रोंसे धारणा किस प्रकार होती है यह रीति यहां दी है । पुत्र पिताके समान बनता है, पिता कहता है वह पुत्र करने लगता है, यही बात परम पिताके गुणगानके संबंधसे होती है । क्योंकि इस जीवात्मारूप 'अमृत पुत्र' ने परमात्माके समान सच्चिदानन्द स्वरुपको प्राप्त करना ही है, उसी मार्गपर यह चल रहा है और इसीलिये वह उपासना करता है ।

(१) 'परमेश्वर ज्ञानी है' इतना वाक्य कहते ही मनमें भावना उठती है कि 'मैं भी ज्ञानी बनूंगा और अधिक ज्ञान प्राप्त करूंगा ।' (२) 'परमेश्वर शत्रुनिवारक है' इतना कहते ही मनमें भावना उठती है कि 'मैं भी शत्रुओंका निवारण करके शत्रुरहित हो जाऊं ।' (३) इसी प्रकार 'परमेश्वर ऐश्वर्यमय है' इतना कहते ही मनमें भावना उठती है कि 'मैं भी ऐश्वर्य कमानेका पुरूषार्थ करूं ।' (४) इसी रीतिसे 'परमेश्वर इस सब विश्वका कर्ता है ' इतना कहते ही मनमें यह भावना खडी होती है कि 'मैं भी कुछ हुनर बनाऊं' । इसी प्रकार अन्यान्य उपासनाका धारणासे संबंध है । यह जो बुद्धिमें स्थिर रूपसे विशिष्ट विचारकी भावना जम जाती है उसका नाम 'धी' है । पाठक अब समझ गये होंगे कि प्रथम और द्वितीय मंत्रकी उपासनासे जो धारणावती बुद्धि बनती है वह कर्ममयी ज्ञानशक्ति कैसी है और वह मनुष्य मात्रका उद्धार करनेके लिये किस प्रकार सहायता हो सकती है।

इमां धियं ददन् नः उत् अव । (सू. १६, मं.३)

'इस धारणावती बुद्धिको देकर हमारी उन्नती करते हुए हमारी रक्षा कर ।'

इस तृतीय मंत्रके उपदेशमें कितना महत्त्वपूर्ण भाग है, इसका विचार पाठक करें और इस ढंगसे मंत्रोंकी उपासनामय वाणीसे अपने उद्धारका मार्ग जानकर पाठक अपने अभ्युदय और निःश्रेयसका साधन करें ।

सत्यका मार्ग ।

तृतीय मंत्रमें 'प्रणेतः' और 'सत्यराधः' ये दो शब्द विशेष महत्त्वके हैं । 'प्र - नेता' का अर्थ 'उत्कर्षकी ओर ले जानेवाला नेता' तथा 'सत्य -राधः' का अर्थ 'सत्यके मार्गसे सिद्धि प्राप्त करनेवाला' है । ये दो शब्द परमात्माके गुण बता रहे हैं । परमात्मा सबको उन्नतिकी मार्गकी ओर ले जा रहा है और सत्यमार्गसे ही सबको सिद्धि देता है, इसलिये ये दो शब्द परमात्मामें सार्थ होते हैं । ये दो शब्द मनुष्योंके वाचक भी होते हैं, उस समय इनका अर्थ बडा बोधप्रद है । मनुष्य तथा मनुष्योंके नेता इन शब्दोंको अपने आचरणसे अपनेमें चरितार्थ करें । मनुष्योंके नेता अपने अनुयायियोंको उत्कर्षके मार्गसे ले जावें और सिद्धिके लिये सत्यके सीधे मार्गसे ही अपना कार्य करें और यश प्राप्त करें । ऐसे सत्य मार्गसे सिद्धि प्राप्त करनेवाले मनुष्योंको ही 'नृ अथवा नर' कहते हैं और ऐसे श्रेष्ठ सत्य नेताओंके साथ रहनेसे ही मनुष्यको मनुष्योंके साथ रहनेका सुख प्राप्त हो सकता है, इसलिये कहा है-

नृभिः नृवन्तः स्याम । (सू.१६, मं.३)

'श्रेष्ठ मनुश्योंके साथ होनेसे हम मनुष्य युक्त बनेंगे । यहांका 'नृवान्' शब्द 'मातृमान, पितृमान्' शब्दके समान अर्थवाला है, जैसा - (मातृमान्) प्रशंसनीय गुणवाली मातासे युक्त, (पितृमान्) प्रशंसनीय गुणवाले पितासे युक्त, इसी प्रकार (नृमान्, नृवान्) प्रशंसनीय श्रेष्ठ मनुष्योंसे युक्त । नहीं तो हरएक मनुष्यके साथ कैसे भी मनुष्य रहते ही है । चोरोंके साथ भी उनके साथी रहते ही है, तथापि उस चोरको 'नृमान्' नहीं कहा जा सकता ।

अच्छे मनुष्योंके साथ रहनेसे ही मनुष्यका उभ्युदय होना संभव है, इसलिये 'अपने साथ अच्छे मनुष्य रहें 'ऐसी इच्छा यहां प्रकट की गई है। इस प्रकार अच्छे मनुष्योंकी साथ मिलनेसे निःसंदेह मनुष्योंका कल्याण हो सकता है।

देवोंकी सुमति।

'हम प्रातःकाल, दोपहरके समय और सायंकाल ऐसे कर्म करें, कि जिससे हम (भगवन्तः) भाग्यवान बनते जांय। तथा हम देवोंकी उत्तम गतिमें रहे। (मं.४) यह चतुर्थ मंत्रका कथन है। यहां दिन भर पुरुषार्थ प्रयत्न करनेकी सूचना है। प्रातःकाल क्या, दोपहरके समय क्या और सायंकालके समय क्या अपना ऐश्वर्य बढानेका पुरुषार्थ करना चाहिये। सत्यमार्गसे चलते हुए ऐसे कर्म करना चाहिये कि जिससे भाग्य प्राप्त हो।

जहां भाग्य प्राप्त होना है, वहां मनुष्यमें स्वार्थ उत्पन्न हो सकता है और सत्य तथा असत्य मार्गका विचार भाग्यकी धुंदसे रह नहीं सकता, इसलिये भाग्यप्राप्तिका उद्यम करनेका उपदेश करनेवाले इस मंत्रमें कहा है कि -

वयं देवानां सुमतै, स्याम। (सू. १६, मं. ४)

'हम देवोंकी सुमतिमें रहे।' अर्थात् भाग्य प्राप्त करनेके समय हमसे ऐसा आचरण हो कि जिससे देव असंतुष्ट न हो, हमारे ऊपर अप्रसन्न न हो, प्रत्युत हमारे विषयमें उत्तम भाव ही उनके मनमें सदा रहे। हमसे ऐसे कर्म हों कि जिनसे वे सदा संतुष्ट रहें। इस मंत्रमें यह सावधानीकी सूचना अत्यंत महत्त्व रखती है, क्योंकि भाग्य और ऐश्वर्य ऐसे पदार्थ है कि जो प्राप्त होनेसे अथवा जिनकी प्राप्तिकी इच्छासे मनुष्य सुमार्गपर रहना कठिन है। परन्तु वेदको सुमार्गपरसे मनुष्योंको चलाते हुए ही उनको भाग्य देना अभीष्ट है, इसलिये जहां गिरनेकी संभावना होती है वहां ही इस प्रकारकी सावधानीकी सूचना दी होती है। ताकि मनुष्य न गिरें और भाग्य भी प्राप्त करें। पंचम मंत्रमें -

स नो भगः पुरएता भवह। (सू. १६, मं ५)

'वह भगवान ही हमारा अगुवा बने ' यह उपदेश कहा है वह भी इसी उद्देश्यसे है, कि मनुष्य परमात्माको ही अपना अग्रगामी समझे और अपने आपको उसके अनुयायी समझें और उसीके प्रकाशमें कार्य करते हुए अपनी उन्नतिके कार्य करते हुए अपनी उन्नतिके कार्य करें। गिरावटसे बचानेके हेतुसे यह उपदेश है। सर्वज्ञ परमेश्वर अपना निरीक्षक है यह विश्वास मनुष्योंको गिरावटसे बहुत प्रकारसे बचा सकता है।

अहिंसाका मार्ग।

षष्ठ मंत्रमें अध्वरके मार्गसे जानेका उपदेश है, यह अध्वरका मार्ग देखनेके लिये अध्वर शब्दका अर्थ ही देखना चाहिये -

अध्वर - (अ- ध्वरा) अकुटिलता, जहां तेढापन नहीं है, जहां सीधा भाव है, जहां हिंसा नहीं है जहां दूसरोंका घातपात करनेका भाव नहीं है, जहां दूसरोंको कष्ट देकर अपना स्वार्थ साधन करनेका विचार नहीं है।

ये 'अ- ध्वर' शब्दके अर्थ इस मार्गका स्वरूप बता रहे हैं। इस अहिंसाके मार्गसे जाना और पंचम मंत्रका 'परमेश्वरको अपना अगुवा बनाना' चतुर्थ मंत्रोक्त 'देवोंकी सुमतिमें रहना' और तृतीय मंत्रोक्त 'सत्य मार्गसे सिद्धि प्राप्त करना ' एक ही बात है। इस दृष्टिसे ये चारों मंत्र भिन्न भिन्न उपदेशसे एक ही आशय बता रहे हैं। पाठक यहां देखें कि इस सूक्तने यह एक ही बात कितने विविध प्रकारोंसे कही है, इससे स्पष्ट पता लग सकता है कि वेदका कटाक्ष अहिंसामय सत्यमार्गसे लोगोंको चलानेके विषयमें कितना अधिक है।

गौवें और घोडे।

इस सूक्तके तृतीय मंत्रमें 'गौओं और घोडोंके साथ हमें युक्त कर' ऐसा कहा है। सप्तम मंत्रमें भी वही बात फिर दुहराई है। इससे घरमें गौवे और घोडे रहना वेदकी दृष्टिसे घरका भूषण है, यह बात सिद्ध होती है।

सप्तम मंत्रमें (घृतं दुहानाः) 'घीका दोहन करनेवाली' और (विश्वतः प्रपीताः) 'सब प्रकार दुग्धपान करानेवाली' यह उषाका वर्णन सवेरेके समय दूधका दोहना करना, दोहन होते ही ताजा दूध पीना, मक्खनसे घी तैयार करना इत्यादि बातोंका सूचक है। घरमें गौवोंको इसीलिये रखना होता है कि उनका ताजा दूध पीनेके लिये मिले और कलके दूधके दहीसे आज निकाला हुआ मक्खन लेकर उसका आज ही घी बनाकर सेवन किया जाय। ऐसे घीको' हैयंगवीन घृत' कहते हैं। यह घृत खाने या पीनेसे शरीरकी पुष्टि होती है और इसके हवनसे हवा नीरोग भी होती है।

भ्रमण।

इस प्रकार दुग्धपान करनेके पश्चात् घोडोंपर सवार होकर भ्रमणके लिये बाहर जाना चाहिये और घण्टा दो घण्टे घोडेकी सवारी करके पश्चात् घर आकर अपने कार्यको लगना चाहिये। बहुत थोडे पाठक ऐसे होंगे जिनको सवेरे घरकी गौका ताजा दूध पीनेके लिये मिलता हो और अपने उत्तम घोडेपर सवार होकर सवेरेके प्राणप्रद पायुमें भ्रमण करनेका सौभाग्य प्राप्त होता हो। आजका समय विपरीत है। ऐसे समयमें ऐसी वैदिक रीतियां केवल स्मरणमें ही रखना चाहिये।

कृषिसे सुख - प्राप्ति ।

(१७)

(ऋषिः - विश्वामित्रः । देवता - सीता)

सीरा युञ्जन्ति कवयो युगा वि तन्वते पृथक् ।
धीरा देवेषु सुम्नयौ ॥ १ ॥
युनक्त सीरा वि युगा तनोत कृते योनौ वपतेह बीजम् ।
विराजः श्नुष्टिः सभरा असन्नो नेदीय इत्सृण्यः पक्कमा यवन् ॥ २ ॥
लाङ्गलं पवीरवत्सुशीमं सोमसत्सरु ।
उदिद्वपतु गामविं प्रस्थावद्रथवाहनं पीबरीं च प्रफर्व्यम् ॥ ३ ॥
इन्द्रः सीतां नि गृह्णातु तां पूषाभि रक्षतु ।
सा नः पयस्वती दुहामुत्तरामुत्तरां समाम् ॥ ४ ॥

अर्थ - **(देवेषु धीराः कवयः)** देवोमें बुद्धि रखनेवाले कवि लोग **(सुम्नयौ सीरा युञ्जन्ति)** सुख प्राप्त करनेके लिये हलोंको जोतते हैं और **(युगा पृथक् वितन्वते)** जुओंको अलग अलग करते हैं ॥१॥

(सीराः युनक्त) हलोंको जोडो, **(युगा वितनोत)** जुओंको फैलाओ, **(कृते योनौ इह बीजं वपत)** बने हुए खेतमें यहांपर बीज बोओ । **(विराजः श्नुष्टिः नः सभराः असत्)** अन्नकी उपज हमारे लिये भरपूर होवे । **(सृण्यः इत् पकं नेदीयः आयवन्)** हंसुये भी परिपक्क धान्यको हमारे निकट लावें ॥२॥

(पवीरवत् सुशीमं सोमसत्सरू लांगलं) वज्रके समान कठिन, चलानेके लिये सुखकारक, लकडीके मूठवाला हल **(गां अविं)** गौ और बकरी, **(प्रस्थावत् रथवाहनं)** शीघ्रगामी रथके घोडे या बैल, **(पीवरीं च प्रफर्व्यम्)** पुष्ट स्त्री **(इत् उद्वपतु)** निश्चयसे देवे ॥३॥

(इन्द्रः सीतां नि गृह्णातु) इन्द्र हलकी रेषाको पकडे, **(पूषा तां अभिरक्षतु)** पूषा उसकी रक्षा करे । **(सा पयस्वती नः उत्तरां उत्तरां समां दुहां)** वह हलकी रेषा रस युक्त होकर हमें आगे आनेवाले वर्षोंमें रसोंका प्रदान करे ॥४॥

भावार्थ - पृथिव्यादि देवताओंकी शक्तियोंपर विश्वास रखनेवाले कवि लोग विशेष सुख प्राप्त करनेके लिये हलोंको जीतते हैं अर्थात् कृषि करते हैं और जुओंको यथा स्थानपर बांध देते हैं ॥१॥

हे लोगो ! तुम हल जोतो, जूओंको फैलाओ, इच्छी प्रकार भूमि तैयार करनेके बाद उसमें बीज बोओ । इससे अन्नकी उत्तम उपज होगी, बहुत धान्य उपजेगा और परिपक्व होनेके बाद बहुत धान्य प्राप्त होगा ॥२॥

हलको लोहेका कठिन फार लगाया जावे और लकडीकी मूठ फकडनेके लिये की जावे, यह हल चलानेके समय सुख देवें । यह हल ही गौ - बैल, भेड - बकरी, घोडा - घोडी, स्त्री - पुरूष आदिको उत्तम घास और धान्यादि देकर पुष्ट करता है ॥३॥

इन्द्र अपनी वृष्टिद्वारा हलसे खुदी हुई रेषाको पकडे और धान्य पोषक सूर्य उसकी उत्तम रक्षा करे । यह भूमि हमें प्रतिवर्ष उत्तम रस युक्त धान्य देती रहे ॥४॥

शुनं सुफाला वि तुदन्तु भूमिं शुनं कीनाशा अनु यन्तु वाहान् ।
शुनासीरा हविषा तोशमाना सुपिप्पला ओषधीः कर्तमस्मै ॥ ५ ॥
शुनं वाहाः शुनं नरः शुनं कृषतु लाङ्गलम् ।
शुनं वरत्रा बध्यन्तां शुनमष्ट्रामुदिङ्गय ॥ ६ ॥
शुनासीरेह स्म मे जुषेथाम् ।
यद्दिवि चक्रथुः पयस्तेनेमामुप सिञ्चतम् ॥ ७ ॥
सीते वन्दामहे त्वार्वाची सुभगे भव ।
यथा नः सुमना असो यथा नः सुफला भुवः ॥ ८ ॥
घृतेन सीता मधुना समक्ता विश्वैर्देवैरनुमता मरुद्भिः ।
सा नः सीते पयसाभ्याववृत्स्वोर्जस्वती घृतवत् पिन्वमाना ॥ ९ ॥

अर्थ - (सु-फालाः भूमिं शुनं वि तुदन्तु) सुन्दर हलके फाल भूमिको सुखपूर्वक खोदें ।(कीनाशाः शुनं वाहान् अनु यन्तु) किसान सुखपूर्वक बैलोंके पीछे चलें । (शुनासीरौ) हे वायु और हे सूर्य ! तुम दोनों (हविषा तोशमानौ) हमारे हवनसे तुष्ट होकर (अस्मै सुपिप्पलाः ओषधीः कर्तम्) इस किसानके लिये उत्तम फल युक्त धान्य उत्पन्न करो ॥५॥

(वाहाः शुनं) बैल सुखी हो, (नरः शुनं) मनुष्य सुखी हों (लांगलं शुनं कृषतु) हल सुखसे कृषि करे । (वरत्रा शुनं बध्यन्तां) रस्सियां सुखसे बांधी जाय, (अष्ट्रां शुनं उदिंगय) चाबूक सुखसे ऊपर चला ॥६॥

हे (शुनासीरौ) वायु और सूर्य ! (इह स्म मे जुषेथां) यहां मेरे हवनका स्वीकार करें । (यत् पयः दिवि चक्रथुः) जो जल आकाशमें तुमने बनाया है (तेन इमां भूमिं उप सिञ्चतं) उससे इस भूमिको सींचते रहो ॥७॥

हे (सीते) जुती हुई भूमि ! (त्वा वन्दामहे) तेरा वन्दन करते हैं । हे (सुभगे) ऐश्वर्यवाली भूमि ! (अर्वाची भव) हमारे सन्मुख हो । (यथा नः सुमनाः असः) जिससे तू हमारे लिये उत्तम मनवाली होवे और (यथा नः सुफला भुवः) जिससे हमें उत्तम फल देनेवाली होवे ॥८॥

(घृतेन मधुना समक्ता सीता) घी और शहदसे उत्तम प्रकार सिंचित की हुई जुती भूमि (विश्वैः देवैः मरुद्भिः अनुमता) सब देवों और मरुतों द्वारा अनुमोदित हुई, हे (सीते) जुती भूमि ! (सा घृतवत् पिन्वमाना) वह घीसे सिंचित हुई तू (नः पयसा अभ्याववृत्स्व) हमें दूधसे चारों ओरसे युक्त कर ॥९॥

भावार्थ - हलके सुन्दर फार भूमिकी खुदाई करें, किसान बैलोंके पीछे चलें । हमारे हवनसे प्रसन्न हुए वायु और सूर्य इस कृषिसे उत्तम फलवाली रस युक्त औषधियां देवे ॥५॥

बैल सुखी रहें, सब मनुष्य आनंदित हों, उत्तम हल चलाकर आनंदसे कृषि की जाय । रस्सियां जहां जैसी बांधना चाहिये वैसी बांधी जांय और आवश्यकता होनेपर चाबूक ऊपर उठाया जाय ॥६॥

वायु और सूर्य मेरे हवनका स्वीकार करें और जो जल आकाशमंडलमें है उसकी वृष्टिसे इस पृथ्वीको सिंचित करें ॥७॥

भूमि भाग्य देनेवाली है, इसलिये हम इसका आदर करते हैं । यह भूमि हमें उत्तम धान्य देती रहे ॥८॥

जब भूमि घी और शहदसे योग्य रीतिसे सिंचित होती है और जलवायु आदि देवोंकी अनुकूलता उसको मिलती है, तब वह हमें उत्तम मधुर रस युक्त धान्य और फल देती रहे ॥९॥

कृषिसे भाग्यकी वृद्धि ।

कृषिसे भाग्यकी वृद्धि होती है । भूमिकी अवस्था, वायु और वृष्टिकी परिस्थिति, ऋतुमानकी अनुकूलता जो जानते हैं, वे कृषि करके लाभ उठा सकते है और सुखी हो सकते हैं।

सबसे पहले किसान हल जोतें, हलसे भूमि अच्छी प्रकार उखाडी जाय, हलकी लकीरें ठीक की जांय और उन लकीरोंके अंदर बीज बोया जाय, ऐसा करनेसे उत्तम धान्य पैदा हो सकता है ।

जब हलसे उत्तम कृषि की जाती है तब धान्य भी उत्तम उत्पन्न होता है, घास भी विपुल मिलता है और सब पशु तथा मनुष्य बहुत पुष्ट हो जाते हैं ।

हलसे खुदी हुई भूमिको (इन्द्रः सीतां निगृह्णातु) वृष्टि करनेवाला इन्द्र देव अपने जलसे पकडे, पश्चात् उसकी उत्तम रक्षा (पूषा) सूर्य अपनी किरणोंसे करे । इस प्रकार वृष्टि और सूर्य प्रकाश योग्य प्रमाणमें मिलते रहे तो उत्तम कृषि होगी और धान्यादि बहुत प्रमाणमें प्राप्त होगा ।

धान्य बोनेके पूर्व हवन ।

पश्चम मंत्रमें उत्तम कृषि होनेके लिये प्रारंभमें खेतमें हवन करनेका उल्लेख है । जो धान्य बोना है उसका हवन करना चाहिये और हवनके लिये घृतादि अन्य पदार्थ तो अवश्य चाहिये ही। इस प्रकारके हवनसे जलवायु शुद्ध होता है और शुद्ध कृषिसे शुद्ध धान्य उत्पन्न होता है । इस हवनसे दूसरी एक बात स्वयं हो जाती है, वह यह है कि जिसका हवन करना होता है वही बोना होता है, इस नियमसे हवनमें निषिद्ध तमाकू आदि घातक पदार्थ बोनेकी संभावना ही कम हो जाती है । इसस स्पष्ट है, कि यदि बोनेके पूर्व हवनकी वैदिक प्रथा जारी की जाय तो तमाकू जैसे हानिकारक पदार्थ जगत्में जनताका इतना घात करनेके लिये उत्पन्न ही नहीं होंगे और उत्तम धान्यादिकी विपुल उत्पत्ति होकर लोगोंका अधिक कल्याण होगा ।

स्वादके लिये घी और शहद !!

नवम मंत्रमें (घतेन मधुना पयसा समक्ता सीता) घी, शहद औ दूधका स्वाद वनस्पतीयोंको डालनेका उपदेश है । आजकल तो ये पदार्थ मनुष्योंको खानेके लिये भी नहीं मिलते तो स्वादके लिये, अल्प प्रमाणमें ही क्यों न सही, कहां मिलेंगे ? परंतु शुद्ध पौष्टिक फल उत्पन्न करनेके लिये दूध, घी और शहदका स्वाद अत्यंत आवश्यक है, यह बात सत्य है।

ऐतिहासिक उदाहरण ।

पूनाके पेशवाओंके समयमें कई आम इस पंचामृतका स्वाद देकर तैयार किये थे, उनमेंसे एक आमका वृक्ष इस समयतक जीवित है और ऐसे मधुर और स्वादु फल दे रहा है कि उसका वर्णन शब्दोंसे हो नहीं सकता !!! पंचामृत (दूध, दही, घी, शहद और मिश्री) के स्वादसे जो आम पुष्ट होता है उसके फल भी वैसे ही अद्भुत अमृत रूप अवश्य होंगे इसमें संदेह ही क्या है, यह प्रत्यक्ष उदाहरण है, तथा वाईके एक पण्डितने आर्य कृषि शास्त्रके अनुसार दूधका स्वाद देकर एक वर्ष ज्वारीकी कृषि की-थी, उससे इतना परिपुष्ट और स्वादु धान्य उत्पन्न हुआ कि उसकी साधारण धान्यसे तुलना ही नहीं हो सकती ।

यह वैदिक कृषि शास्त्रका अत्यंत महत्वका विषय है, जो धनी पाठक इसके प्रयोग कर सकते हैं अवश्य करते देखें । साधारण जनोंके लिये ये प्रयोग करना अशक्य ही है क्योंकि जिन लोगोंको पीनेके लिये दूध नहीं मिल सकता वे स्वादके लिये दूध, दही, घी,शहद और मिश्री कहांसे ले आयेंगे ।

पाठक ये वर्णन पढें और वैदिक कालकी कृषिकी मनसे ही कल्पना करें और मन ही मनमें उसका आस्वाद लेनेका यत्न करें !!

गौरक्षाका समय ।

वैदिककाल गौकी रक्षाका काल था, इसलिये गौवे विपुल थी और उस कारण स्वादके लिये भी दूध मिलता था । परंतु आज अनार्योंके भक्षणके लिये लाखोंकी संख्यामें गौवें कटती है, इसलिये पीनेके लिये भी दूध नहीं मिलता । यह कालका परिवर्तन है । यहां अब देखना है कि वैदिक धर्मीयोंके प्रयत्नसे भविष्यकाल कैसा आता है ।

● ● ●

वनस्पति ।

(१८)

(ऋषिः - अथर्वा । देवता - वनस्पतिः)

इमां खनाम्योषधिं वीरुधां बलवत्तमाम् ।
यया सपत्नीं बाधते यया संविन्दते पतिम् ॥ १ ॥
उत्तानपर्णे सुभगे देवजूते सहस्वति ।
सपत्नीं मे परा णुद पतिं मे केवलं कृधि ॥ २ ॥
नहि ते नाम जग्राह नो अस्मिन्रमसे पतौ ।
परामेव परावतं सपत्नीं गमयामसि ॥ ३ ॥
उत्तराहमुत्तर उत्तरेदुत्तराभ्यः ।
अधः सपत्नी या ममाधरा साधराभ्यः ॥ ४ ॥
अहमस्मि सहमानाथो त्वमसि सासहिः ।
उभे सहस्वती भूत्वा सपत्नीं मे सहावहै ॥ ५ ॥
अभि तेऽधां सहमानामुप तेऽधां सहीयसीम् ।
मामनु प्र ते मनो वत्सं गौरिव धावतु पथा वारिव धावतु ॥ ६ ॥

अर्थ - (इमां बलवत्तमां वीरुधां औषधिं खनामि) इस बलवाली औषधि वनस्पतिको मैं खोदता हूं । (यया सपत्नीं बाधते) जिससे सपत्नीको हटाया जाता है और (यया पतिं विन्दते) जिससे पतिको प्राप्त किया जाता है ॥१॥

हे (उत्तानपर्णे सुभगे देवजूते सहस्वति) विस्तृत पानवाली भाग्यवती देवों द्वारा सेवित बलवती औषधि । (मे सपत्नीं परा णुद) मेरी सपत्नीको दूर कर और (मे केवलं पतिं कृधि) मुझे केवल पति कर दे ॥२॥

हे सापत्न स्त्री ! (ते नाम नहि जग्राह) तेरा नाम भी मैंने लिया नहीं है अब तू (अस्मिन् पतौ नो रमसे) इस पतिमें रममाण नहीं होगी ! अब मैं (परां सपत्नीं परावतं गमयामसि) अन्य सपत्नीको दूर करती हूं ॥३॥

हे (उत्तरे) श्रेष्ठ गुणवाली औषधि ! (अहं उत्तरा) मैं अधिक श्रेष्ठ हूं (उत्तराभ्यः इत् उत्तरा) श्रेष्ठोंमें भी श्रेष्ठ हूं । (मम या अधरा सपत्नी) मेरी जो नीच सपत्नी है (सा अधराभ्यः अधरा) वह नीचसे नीच है ॥४॥

(अहं सहमाना अस्मि) मैं विजयी हूं और हे औषधि ! (अथो त्वं सासहिः असि) तू भी विजयी है। (उभे सहस्वती भूत्वा) हम दोनों जयशाली बनकर (मे सपत्नीं सहावहै) मेरी सपत्नीको जीत लेवे ॥५॥

(ते अभि सहमानां अधां) तेरे चारों ओर मैंने इस विजयिनी वनस्पतिको रखा है (ते उप सहीयसीं अधां) तेरे नीचे इस जयशालिनी वनस्पतिको रखा है । अब (ते मनः मां अनु प्र धावतु) तेरा मन मेरे पीछे दौडे । (गौः वत्सं इव धावतु) जैसी गौ बछडेकी और दौडती है और (वाः इव पथा) जैसा जल अपने मार्गसे दौडता है ॥६॥

सापत्नभावका भयंकर परिणाम।

इसका भावार्थ सुबोध है इसलिये देनेकी आवश्यकता नहीं है।

अनेक स्त्रियां करनेसे घरमें कलह होते हैं, सापत्नभाव उत्पन्न होनेसे स्त्रियोंमें परस्पर द्वेष बढते हैं, संतानोंमें भी वही कलहाग्नि बढता है, इसलिये ऐसे परिवारमें सुख नहीं मिलता है। यह बात इस सूक्तमें कही है। इस सूक्तका मुख्य तात्पर्य यही है कि कोई पुरुष एकसे अधिक विवाह करके अपने घरमें सापत्न भावका बीज न बोवे।

जिस घरका पुरुष एकसे अधिक विवाह करता है वहां द्वेषाग्नि भडकने लगता है और उसको कोई बुझा नहीं सकता। वहां स्त्रियोंमें कलह, संतानोंमें कलह और अंतमें पुरुषोंमें भी कलह होते हैं और अन्तमें उस कुटुंबका नाश होता है।

सपत्नीका नाश करनेका यत्न स्त्रियां करती है और उससे अकीर्ति फैलती है। इस सब आपत्तिको मिटानेके लिये एक पत्नीव्रतका आचरण करना ही एकमात्र उपाय है।

•••

ज्ञान और शौर्यकी तेजस्विता।

(१९)

(ऋषिः - वसिष्ठः। देवता - विश्वेदेवाः, चन्द्रमाः, इन्द्रः)

संशितं म इदं ब्रह्म संशितं वीर्यं१ बलम्।
संशितं क्षत्रमजरमस्तु जिष्णुर्येषामस्मि पुरोहितः ॥ १ ॥

समहमेषां राष्ट्रं स्यामि समोजो वीर्यं१ बलम्।
वृश्चामि शत्रूणां बाहूननेन हविषाहम् ॥ २ ॥

अर्थ - **(मे इदं ब्रह्म संशितं)** मेरा यह ज्ञान तेजस्वी हुआ है, और मेरा यह **(वीर्यं बलं संशितं)** वीर्य और बल तेजस्वी बना है। **(संशितं क्षत्रं अजरं अस्तु)** इनका तेजस्वी बना हुआ क्षात्रबल कभी क्षीण न होनेवाला होवे, **(येषां जिष्णुः पुरोहितः अस्मि)** जिनका मैं विजयी पुरोहित हूं ॥१॥

(अहं एषां राष्ट्रं संस्यामि) मैं इनका राष्ट्र तेजस्वी करता हूं, इनका **(ओजः वीर्यं बलं संस्यामि)** बल, वीर्य और सैन्य तेजस्वी बनाता हूं। और **(अनेन हविषा)** इस हवनसे **(शत्रूणां बाहून् वृश्चामि)** शत्रुओंके बाहुओंको काटता हूं ॥२॥

भावार्थ - मैं जिस राष्ट्रका पुरोहित हूं उस राष्ट्रका ज्ञान मैंने तेजस्वी किया है और शौर्य, वीर्य भी अधिक तीक्ष्ण किया है, जिससे इस राष्ट्रका क्षात्रतेज कभी क्षीण नहीं होगा ॥१॥

मैं इस राष्ट्रका तेज बढाता हूं और इसका शारीरिक बल, पराक्रम और उत्साह भी वृद्धिंगत करता हूं। इससे मैं शत्रुओंके बाहुओंको काटता हूं ॥२॥

नीचैः पद्यन्तामधरे भवन्तु ये नः सूरिं मघवानं पृतन्यान्।
क्षिणामि ब्रह्मणामित्रानुन्नयामि स्वानहम् ॥ ३ ॥
तीक्ष्णीयांसः परशोरग्नेस्तीक्ष्णतरा उत।
इन्द्रस्य वज्रात् तीक्ष्णीयांसो येषामस्मि पुरोहितः ॥ ४ ॥
एषामहमायुधा सं स्याम्येषां राष्ट्रं सुवीरं वर्धयामि।
एषां क्षत्रमजरमस्तु जिष्ण्वेषां चित्तं विश्वेऽवन्तु देवाः ॥ ५ ॥
उद्धर्षन्तां मघवन् वाजिनान्युद् वीराणां जयतामेतु घोषः।
पृथग् घोषा उलुलयः केतुमन्त उदीरताम्।
देवा इन्द्रज्येष्ठा मरुतो यन्तु सेनया ॥ ६ ॥

अर्थ - वे शत्रु (नीचैः पद्यन्ताम्) नीचे गिरे, (अधरे भवन्तु) अवनत हों, (ये नः मघवानं सूरिं पृतन्यात्) जो हमारे धनवान् और विद्वान पर सेनासे चढाई करें। (अहं ब्रह्मणा अमित्रान् क्षिणामि) मैं ज्ञानसे शत्रुओंका क्षय करता हूं और (स्वान् उन्नयामि) अपने लोगोंको उठाता हूं ॥३॥

(परशोः तीक्ष्णीयांसः) परशुसे अधिक तीक्ष्ण, (उत अग्नेः तीक्ष्णतराः) और अग्निसे भी अधिक तीक्ष्ण, (इन्द्रस्य वज्रात् तीक्ष्णीयांसः) इन्द्रके वज्रसे भी अधिक तीक्ष्ण इनके अस्त्र हों (येषां पुरोहितः अस्मि) जिनका पुरोहित मैं हूं ॥४॥

(अहं एषां आयुधा संस्यामि) मैं इनके आयुधोंको उत्तम तीक्ष्ण बनाता हूं, (एषां राष्ट्रं सुवीरं वर्धयामि) इनका राष्ट्र उत्तम वीरतासे युक्त करके बढाता हूं, (एषां क्षत्रं अजरं जिष्णु अस्तु) इनका क्षात्रतेज अक्षय तथा जयशाली होवे, (विश्वेदेवाः एषां चित्तं अवन्तु) सब देव इनके चित्तको उत्साहयुक्त करें ॥५॥

हे (मघवन्) धनवान्! उनके (वाजिनानि उद्धर्षन्तां) बल उत्तेजित हों, (जयतां वीराणां घोषः उत् एतु) विजय करनेवाले वीरोंका शब्द ऊपर उठे। (केतुमन्तः उलुलयः घोषाः) झंडे लेकर हमला करनेवाले वीरोंके संघ शब्दका घोष (पृथक् उत् ईरताम्) अलग अलग ऊपर उठे। (इन्द्रज्येष्ठा मरुतः देवाः) इन्द्रकी प्रमुखतामें मत् देव (सेनया यन्तु) अपनी सेनाके साथ चलें ॥६॥

भावार्थ - जो शत्रु हमारे धनिकोंपर तथा हमारे ज्ञानियोंपर सैन्यके साथ हमला करते हैं वे अधोगतिको प्राप्त होंगे। क्योंकि मैं अपने ज्ञानसे शत्रुओंका नाश करता हूं और उसीसे अपने लोगोंको उन्नत करता हूं ॥३॥

जिस राष्ट्रका मैं पुरोहित हूं उस राष्ट्रके शस्त्रास्त्र परशुसे अधिक तीक्ष्ण, अग्निसे भी अधिक दाहक और इन्द्रके वज्रसे भी अधिक संहारक मैंने किये हैं ॥४॥

मैं इनके शस्त्रास्त्रोंको अधिक तीक्ष्ण बनाता हूं, इनके राष्ट्रको उसमें उत्तम वीर उत्पन्न करके बढाता हूं, इनके शौर्यको कभी क्षीण न होनेवाला और सदा विजयी बनाता हूं। सब देवता इनके चित्तोंको उत्साह युक्त करें ॥५॥

हे प्रभो! इनके बल उत्साहसे पूर्ण हों, इनके विजयी वीरोंगा जयजयकारका शब्द आकाशमें भर जावे। झंडे उठाकर विजय पानेवाले इनके वीरोंके शब्द अलग अलग सुनाई दें। जिस प्रकार इन्द्रकी प्रमुखतामें मरुतोंकी सेना विजय प्राप्त करती है, उसी प्रकार इनकी सेना भी विजय कमावे ॥६॥

प्रेता जयता नर उग्रा वः सन्तु बाहवः ।
तीक्ष्णेषवोऽबलधन्वनो हतोग्रायुधा अबलानुग्रबाहवः ॥ ७ ॥
अवसृष्टा परा पत शरव्ये ब्रह्मसंशिते ।
जयामित्रान्प्र पद्यस्व जह्येषां वरंवरं मामीषां मोचि कश्चन ॥ ८ ॥

अर्थ - हे **(नरः)** लोगो ! **(प्र इत)** चलो, **(जयत)** जीतो, **(वः बाहवः उग्राः सन्तु)** तुम्हारे बाहु शौयर्स युक्त हों। हे **(तीक्ष्णेषवः)** तीक्ष्ण बाणवाले वीरो ! हे **(उग्रायुधाः उग्राबाहवः)** उग्र आयुधवालो और बलयुक्त भुजावालो ! **(अ - बल - धन्वनः अबलान् हत)** निर्बल धनुष्यवाले निर्बल शत्रुओंको मारो ॥७॥

हे **(ब्रह्म - संशिते शरव्यें)** ज्ञानद्वारा तेजस्वी बने शस्त्र ! तू **(अवसृष्टा परा पत)** छोडा हुआ दूर जा और **(अमित्रान् जय)** शत्रुओंको जीत लो, **(प्र पद्यस्व)** आगे बढ, **(एषां वरं वरं जहि)** इन शत्रुओंके मुख्य मुख्य वीरोंको मार डाल, **(अमीषां कश्चन मा मोचि)** इनमेंसे कोई भी न बच जाय ॥८॥

भावार्थ - हे वरो ! आगे बढो, विजय प्राप्त करो, अपने बाहु प्रतापसे युक्त करो, तीक्ष्ण बाणों, प्रतापी शस्त्रास्त्रों और समर्थ बाहुओंको धारण करके अपने शत्रुओंको निर्बल बनाकर उनको काट डालो ॥७॥

ज्ञानसे तेजस्वी बना हुआ शस्त्र जब वीरोंकी प्रेरणासे छोडा जाता है तब वह दूर जाकर शत्रुपर गिरता है और शत्रुका नाश करता है । हे वीरो ! शत्रुपर चढाई करो और शत्रुके मुख्य मुख्य वीरोंको चुन चुनकर मार डालो, उनकी ऐसी कतल करो कि उनमेंसे कोई न बचे ॥८॥

राष्ट्रीय उन्नतिमें पुरोहितका कर्तव्य ।

राष्ट्रमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और निषाद ये पांच वर्ग होते हैं । उनमें ब्राह्मणोंका कर्तव्य पुरोहितका कार्य करना होता है । पूर्णहित करनेका नाम पुरोहितका कार्य करना है । यजमानका पूर्णहित करनेवाला पुरोहित होना चाहिये। जब संपूर्ण राष्ट्रका विचार करना होता है उस समय सब राष्ट्र ही यजमान है और सब ब्राह्मण जाती उस राष्ट्रके पुरोहितके स्थानपर होती है । इससे संपूर्ण राष्ट्रका पूर्णहित करनेका भार सब पुरोहित वर्गपर आ जाता है । ज्ञानकी ज्योति सब राष्ट्रमें प्रज्वलित करके उस ज्ञानके द्वारा राष्ट्रका अभ्युदय और निःश्रेयस सिद्ध करना पुरोहितका कर्तव्य है, यह इस सूक्तमें स्पष्ट शब्दोंमें वर्णन किया है । राष्ट्रके ब्राह्मण इस सूक्तका मनन करें और अपना कर्तव्य जानकर उसको निभायें ।

इस सूक्तका ऋषि वसिष्ठ है, और वसिष्ठ नाम ब्रह्मनिष्ठ ब्राह्मणका सुप्रसिद्ध है । इस दृष्टिसे भी इस सूक्तका मनन ब्राह्मणोंको करना चाहिये । अब सूक्तका आशय देखिये -

ब्राह्मतेजकी ज्योति ।

राष्ट्रमें ब्राह्मतेजकी ज्योति बढाना और उस ज्योतिके द्वारा राष्ट्रकी उन्नति करनेका कार्य सबसे महत्त्वका और अत्यंत आवश्य है । इस विषयमें इस सूक्तमें यह कथन है -

मे इदं ब्रह्म संशितम् । (सू. १९, मं.१)
ब्रह्मणा अमित्रान् क्षिणामि । (सू. १९, मं.३)
उन्नयामि स्वान् अहम् । (सू. १९, मं. ३)
अवसृष्टा परा पत शरव्ये ब्रह्मसंशिते । (सू. १९, मं.८)
जय अमित्रान् ॥ (सू. १९, मं.८)

'मेरे प्रयत्नसे इस राष्ट्रका यह ज्ञानतेज चमकता है । ज्ञानके प्रतापसे शत्रुओंका नाश करता हूं । और उसी ज्ञानसे मैं अपने राष्ट्रके लोगोंकी उन्नति करता हूं । ज्ञानके द्वारा उत्तेजित हुआ शस्त्र दूरतक परिणाम करता है, उससे शत्रुको जीत लो ।'

ये मंत्रभाग राष्ट्रमें ब्राह्मतेजके कार्यका स्वरूप बताते हैं । ज्ञान राष्ट्रीय उन्नतिमें बडा भारी कार्य करता है । जगत्में अनेक राष्ट्र है उनमें वे ही राष्ट्र अग्रभागमें है कि जो ज्ञानसे विशेष संपन्न है । ज्ञान न होते हुए अभ्युदय होना अशक्य है। यदि उन्नतिका विरोधक कोई कारण होगा तो वह एकमात्र अज्ञान ही है । अज्ञानसे बंधन होता है और ज्ञानसे उस बंधनका नाश होता है । इसलिये

राष्ट्रमें जो ब्राह्मण होंगे उनका कर्तव्य है कि वे स्वयं ज्ञानी बनें और अपने राष्ट्रके सब लागोंको ज्ञान संपन्न करें। क्षत्रियों, वैश्यों और शूद्रोंको भी ज्ञान आवश्यक ही है। उनके व्यवसायोंको उत्तमतासे निभानेके लिये ज्ञानकी परम आवश्यकता है।

ज्ञानसे शत्रु कौन है और अपना हितकारी मित्र कौन है इसका निश्चय होता है। अपने ज्ञानसे राष्ट्रके शत्रुको जानना और उसको दूर करनेके लिये ज्ञानसे ही उपायकी योजना करना चाहिये। यह उपाय योजनाका कार्य करना ब्राह्मणोंका परम कर्तव्य है। शत्रुपर हमला किस समय करना, शत्रुके शस्त्रास्त्र कैसे हैं, उनसे अपने शस्त्रास्त्र अधिक प्रभावशाली किस रीतिसे करना, शत्रुके शस्त्रास्त्र जितनी दूरीपर प्रभाव कर सकते हैं उससे अधिक दूरीपर प्रभाव करनेवाले शस्त्रास्त्र कैसे निर्माण करना, इत्यादि बातें ज्ञानसे ही सिद्ध हो सकती है, अपने राष्ट्रमें इनकी सिद्धता करना ब्राह्मणोंका कर्तव्य है। अर्थात् ब्राह्मण अपने ज्ञानसे इसका विचार करें और अपने राष्ट्रमें ऐसी प्रेरणा करें कि जिससे राष्ट्रके अंदर उक्त परिवर्तन आ जावे। यही भाव निम्नलिखित मंत्रमें कहा है -

अवसृष्टा परा पत शरव्ये ब्रह्मसंशिते। (सू. १९, मं.८)

'ज्ञानसे तीक्ष्ण बने शस्त्रास्त्र शत्रुपर गिरें।' इसमें ज्ञानसे उत्तेजित, प्रेरित और तीक्ष्ण बनें शस्त्र अधिक प्रभावशाली होनेका वर्णन है। अन्य देशोंके शस्त्रास्त्र देखकर, उनका वेग जानकर और उनका परिणाम अनुभव करके जब उनसे अधिक वेगवान् और अधिक प्रभावशाली शस्त्रास्त्र अपने देशके वीरोंके पास दिये जायेंगे, तब अन्य परिस्थिति समान होनेपर अपना जय निश्चयसे होगा इसमें कुछ भी संदेह नहीं है।

पुरोहितकी प्रतिज्ञा।

'जिस राष्ट्रका मैं पुरोहित हूं उस राष्ट्रका ज्ञान, वीर्य, बल, पराक्रम, शौर्य, धैर्य, विजयी उत्साह कभी क्षीण न हो।' (मं.१)

'जिस राष्ट्रका मैं पुरोहित हूं उस राष्ट्रका पराक्रम, उत्साह, वीर्य और बल मैं बढाता हूं और शत्रुओंका बल घटाता हूं।' (मं.२)

'जो शत्रु हमारे धनी वैश्यों और ज्ञानी ब्राह्मणोंके ऊपर, अर्थात् हमारे देशके युद्ध न करनेवाले लोगोंपर, सैन्यके साथ हमला करेगा उसका नाश मैं अपने ज्ञानसे करता हूं और अपने राष्ट्रके लोगोंको मैं अपने ज्ञानके बलसे उठाता हूं।' (मं.३)

'जिनका मैं पुरोहित हूं उनसे शस्त्रास्त्र मैं अधिक तेज बनाता हूं।' (मं.४)

'इनके शस्त्रास्त्र मैं अधिक तीक्ष्ण करता हूं। उत्तम वीरोंकी संख्या इस राष्ट्रमें बढाकर इस राष्ट्रकी उन्नति करता हूं। और इनका शौर्य बढाता हूं।' (मं.५)

ये मंत्रभाग पुरोहितके राष्ट्रीय कर्तव्यका ज्ञान असंदिग्ध शब्दों द्वारा दे रहे हैं। पुरोहितके ये कर्तव्य है। पुरोहित क्षत्रियोंको क्षात्रविद्या सिखावे, वैश्योंको व्यापार, व्यवहार करनेका ज्ञान देवे और शूद्रादिकोंको कारीगरीकी शिक्षा देवे, और ब्राह्मणोंको इस प्रकारके विशेष ज्ञानसे युक्त करे। इस रीतिसे चारों वर्णोंको तेजस्वी बनाकर संपूर्ण राष्ट्रका उद्धार अपने ज्ञानकी शक्तिसे करे। जो पुरोहित ये कर्तवय् करेंगे वेही वेदकी दृष्टिसे सच्चे पुरोहित हैं। जो पंडित पुरोहितका कार्य कर रहे हैं वे इस सूक्तका विचार करें और अपने कर्तव्योंका ज्ञान प्राप्त करें।

युद्धकी नीति।

षष्ठ, सप्तम और अष्टम इन तीन मंत्रोंमें युद्धनीतिका उपदेश इस प्रकार किया है -

'वीरोंके पथक अपने अपने झंडे उठाकर युद्धगीत गाते हुए और आनंदसे विजय सूचक शब्दोंका घोष करते हुए शत्रुसेनापर हमला करें और विजय प्राप्त करें। जिस प्रकार इन्द्रकी प्रमुखतामें मरुतोंके गण शत्रुपर हमला करते और विजय प्राप्त करते हैं, इसी प्रकार अपने राजाके तथा अपने सेनापतिके आधिपत्यमें रहकर हमारे वीर शत्रुपर हमला करें और अपना विजय प्राप्त करें।' (मं.६)

'वीरो! आगे बढो, तुम्हारे बाहू प्रभावशाली हों, तुम्हारे शस्त्र शत्रुकी अपेक्षा अधिक तीक्ष्ण हों, तुम्हारी शक्ति शत्रुकी शक्तिसे अधिक पराक्रम प्रकाशित करनेवाली हो। इस प्रकार युद्ध करते हुए तुम अपने निर्बल शत्रुको मार डालो।' (मं.७)

'ज्ञानसे उत्तेजित हुए तुम्हारे शस्त्र शत्रुका नाश करें, ऐसे तीक्ष्ण शस्त्रोंसे शत्रुका तू पराभव कर।' (मं.८)

इन तीन मन्त्रोंमें इतना उपदेश देकर पश्चात् इस अष्टम मंत्रके अन्तमें अत्यंत महत्त्वकी युद्धनीति कही है वे

शब्द देखने योग्य हैं -

(१) **जह्येषां वरं वरं,**

(२) **माऽमीषां मोचि कश्चन ॥** (सू.१९, मं.८)

'इन शत्रुओंके मुख्य मुख्य प्रमुख वीरोंको मार दो और इनमेंसे कोई भी न बचे !' ये दो उपदेश युद्धके संबंधमें अत्यंत महत्त्वके हैं । शत्रुसेनाके पथकके जो संचालक और प्रमुख वीर हों उनका वध करना चाहिये । प्रमुख संचालकोंमेंसे कोई भी न बचे । ऐसी अवस्था होनेके बाद शत्रुकी सेना बडी आसानीचे परास्त होगी । यह युद्धनीति अत्यंत मनन करने योग्य है ।

अपनी सेनामें ऐसे वीर रखने चाहिये कि जो शत्रुके वीरोंको चुन चुनकर मारनेमें तत्पर हों । जब इन वीरोंके वेधसे शत्रुसेनाके मुखिया वीरोंका वध हो जावे, तब अन्य सेनापर हमला करनेसे उस शत्रुसैन्यका पराभव होनेमें देरी नहीं लगेगी ।

जो पाठक राष्ट्रहितकी दृष्टिसे अपने कर्तव्यका विचार करते हैं वे इस सूक्तका मनन अधिक करें और राष्ट्रविषयक अपने कर्तव्य जानें और उनका अनुष्ठान करके अपने राष्ट्रका अभ्युदय करें ।

तेजस्विताके साथ अभ्युदय ।

(२०)

(ऋषिः - वसिष्ठः । (देवता - अग्निः , मन्त्रोक्तदेवताः)

अयं ते योनिर्ऋत्वियो यतो जातो अरोचथाः ।
तं जानन्नग्न आ रोहाधा नो वर्धया रयिम् ॥ १ ॥
अग्ने अच्छा वदेह नः प्रत्यङ् नः सुमना भव ।
प्र णो यच्छ विशां पते धनदा असि नस्त्वम् ॥ २ ॥
प्र णो यच्छत्वर्यमा प्र भगः प्र बृहस्पतिः ।
प्र देवीः प्रोत सूनृता रयिं देवी दधातु मे ॥ ३ ॥

अर्थ - हे अग्ने ! **(अयं ते ऋत्वियः योनिः)** यह तेरा ऋ तुसे संबंधित उत्पत्तिस्थान है **(यतः जातः अरोचथाः)** जिससे प्रकट होकर तू प्रकाशित हुआ है । **(तं जानन् आरोह)** उसको जानकर ऊपर चढ **(अध नः रयिं वर्धय)** और हमारे लिये धन बढा ॥१॥

हे अग्ने ! **(इह नः अच्छ वद)** यहां हमसे अच्छे प्रकार बोल और **(प्रत्यङ् नः सुमनाः भव)** हमारे सन्मुख होकर हमारे लिये उत्तम मनवाला हो । हे **(विशांपते)** प्रजाओंके स्वामिन् **(नः प्रयच्छ)** हमें दान दे क्योंकि **(त्वं नः धनदाः असि)** तू हमारा धनदाता है ॥२॥

(अर्यमा नः प्र यच्छतु) अर्यमा हमें देवे, **(भगः बृहस्पतिः प्र प्रयच्छतु)** भग और बृहस्पति भी हमें देवे। **(देवीः प्र)** देवियां हमें धन देवें । **(उत सूनृता देवी मे रयिं प्र दधातु)** और सरल स्वभाववाली देवी मुझे धन देवे ॥३॥

भावार्थ - हे अग्ने । ऋतुओंसे संबंध रखनेवाला यह तेरा उत्पत्तिस्थान है, जिससे जन्मते ही तू प्रकाशित हो रहा है । अपने उत्पत्तिस्थानको जानता हुआ तू उन्नत हो और हमारे धनकी वृद्धि कर ॥१॥

हे अग्ने ! यहां स्पष्ट वाणीसे बोल, हमारे सन्मुख उपस्थित होकर हमारे लिये उत्तम मनवाला हो । हे प्रजाओंके पालक ! तू हमें धन देनेवाला है, इसलिये तू हमें धन दे ॥२॥

अर्यमा, भग, बृहस्पति, देवीयां तथा वाग्देवी ये सब हमें धन देवें ॥३॥

सोमं राजानमवसेऽग्निं गीर्भिर्हवामहे।
आदित्यं विष्णुं सूर्यं ब्रह्माणं च बृहस्पतिम् ॥ ४ ॥
त्वं नो अग्ने अग्निभिर्ब्रह्म यज्ञं च वर्धय।
त्वं नो देव दातवे रयिं दानाय चोदय ॥ ५ ॥
इन्द्रवायू उभाविह सुहवेह हवामहे।
यथा नः सर्व इज्जनः संगत्यां सुमना असद्दानकामश्च नो भुवत् ॥ ६ ॥
अर्यमणं बृहस्पतिमिन्द्रं दानाय चोदय।
वातं विष्णुं सरस्वतीं सवितारं च वाजिनम् ॥ ७ ॥
वाजस्य नु प्रसवे सं बभूविमेमा च विश्वा भुवनान्यन्तः।
उतादित्सन्तं दापयतु प्रजानन् रयिं च नः सर्ववीरं नि यच्छ ॥ ८ ॥

अर्थ - राजा सोम, अग्नि, आदित्य, विष्णु, सूर्य, ब्रह्मा और बृहस्पतिको **(अवसे गीर्भिः हवामहे)** हमारी रक्षाके लिये बुलाते हैं ॥४॥

हे अग्ने ! **(त्वं अग्निभिः)** तू अग्नियोंके साथ **(नः ब्रह्म यज्ञं च वर्धय)** हमारा ज्ञान और यज्ञ बढा । हे देव ! **(त्वं नः दातवे दानाय रयिं चोदय)** तु हमारे दानी पुरुषको दान देनेके लिये धन भेज ॥५॥ **(उभौ इन्द्रवायु)** दोनों इन्द्र और वायु **(सु - हवौ)** उत्तम बुलाने योग्य हैं इसलिये **(इह हवामहे)** यहां बुलाते हैं । **(यथा नः सर्वः इत् जनः)** जिससे हमारे संपूर्ण लोग **(संगत्यां सुमनाः असत्)** संगतिमें उत्तम मनवाले होवें **(च नः)** और हमारे लोग **(दानकामः भुवत्)** दान देनेकी इच्छा करनेवाले होवें ॥६॥

अर्यमा, बृहस्पति, इन्द्र, वायु, विष्णु, सरस्वती और **(वाजिनं सवितारं)** वेगवान् सविताको **(दानाय चोदय)** हमें दान देनेके लिये प्रेरित कर ॥७॥

(वाजस्य प्रसवे सं बभूविम) बलकी उत्पत्तिमें ही हम संगठित हुए हैं । **(च इमा विश्वा भुवनानि अन्तः)** और ये सब भुवन उसके बीचमें हैं । **(प्रजानन्)** जाननेवाला **(अदित्सन्तं उत दापयतु)** दान न देनेवालेके निश्चयपूर्वक दान देनेके लिये प्रेरणा करे । **(च नः सर्ववीरं रयिं नि यच्छ)** और हमें सब प्रकारके वीरभावसे युक्त धन देवे ॥८॥

भावार्थ - राजा सोम, अग्नि, आदित्य, विष्णु, सूर्य, ब्रह्मा और बृहस्पतिकी हम प्रार्थना करते हैं कि वे हमारी योग्य रीतिसे रक्षा करें ॥४॥

हे अग्ने ! तू अनेक अग्नियोंके साथ हमारा ज्ञान और हमारी कर्मशक्ति बढाओ । हे देव ! दान देनेवाले मनुष्यको दान देनेके लिये पर्याप्त धन दे ॥५॥

हम इन्द्र - वायु इन दोनोंकी प्रार्थना करते हैं जिससे हमारे सब लोग संगठनसे संगठित होते हुए उत्तम मनवाले बनें और दान देनेकी इच्छावाले होवें ॥६॥

अर्यमा, बृहस्पति, इन्द्र, वायु, विष्णु, सरस्वती और बलवान् सविता ये सब हमें दान करनेके लिये ऐश्वर्य देवें ॥७॥

बल उत्पन्न करनेके लिये हम संघ बनाते हैं, जैसे ये सब भुवन अंदरसे संघटित हुए हैं । यह जाननेवाला कंजूसको दान करनेकी प्रेरणा करे और हमें संपूर्ण वीरभावोंसे युक्त धन देवे ॥८॥

दुह्रां मे पञ्च प्रदिशो दुह्रामुर्वीर्यथाबलम् ।
प्रापेयं सर्वा आकूतीर्मनसा हृदयेन च ॥ ९ ॥
गोसनिं वाचमुदेयं वर्चसा माभ्युदिहि ।
आ रुन्धां सर्वतो वायुस्त्वष्टा पोषं दधातु मे ॥ १० ॥

इति चतुर्थोऽनुवाकः ॥ ४ ॥

अर्थ - (**उर्वीः पञ्च प्रदिशः**) ये बडी पांचो दिशाएं (**यथाबलं मे दुह्रा**) यथाशक्ति मुझे रस देवें । (**मनसा हृदयेन च**) मनसे और हृदयसे (**सर्वाः आकूतीः प्रापयेयम्**) सब संकल्पोंको पूर्ण कर सकूं ॥९॥

(**गोसनिं वाचं उदेयं**) इन्द्रियोंको प्रसन्नता करनेवाली वाणी मैं बोलूं । (**वर्चसा मां अभ्युदिहि**) तेजके साथ मुझे प्रकाशित कर । (**वायुः सर्वताः आ रून्धाम्**) प्राण मुझे सब ओरसे घेरे रहे । (**त्वष्टा मे पोषं दधातु**) त्वष्टा मेरी पुष्टिको देता रहे ॥१०॥

भावार्थ - ये बडी विस्तीर्ण पांच ही दिशाएं हमें यथाशक्ति पोषक रस देवें, जिससे हम मनसे और हृदयसे बलवान् बनते हुए अपने संपूर्ण संकल्पोंको पूर्ण करेंगे ॥९॥

प्रसन्नताको बढानेवाली वाणी मैं बोलूंगा । तेजके साथ मुझे अभ्युदयको प्राप्त कर । चारों ओरसे मुझे प्राण उत्साहित करे और जगद्रचयिता मुझे सब प्रकार पुष्ट करे ॥१०॥

अग्निका आदर्श ।

इस सूक्तमें अग्निके आदर्शसे मनुष्यके अभ्युदय साधन करनेके मार्गका उत्तम उपदेश किया है । इस सूक्तका ध्येय वाक्य यह है -

वर्चसा मा अभ्युदिहि। (सू. २०, मं.१०)

'तेजके साथ मेरा सब प्रकारसे उदय कर' यह हरएक मनुष्यकी इच्छा होनी चाहिये । यह साध्य सिद्ध होनेके लिये साधनके आवश्यक मार्ग इस सूक्तमें उत्तम प्रकार कहे हैं । उनका विचार करनेके पूर्व हम अग्निके आदर्शसे जो बात बताई है वह देखते हैं -

'यज्ञमें जो अग्नि लेते हैं, वह लकडियोंसे उत्पन्न करते हैं, लकडियां स्वयं प्रकाशित नहीं है परंतु उनसे उत्पन्न होनेवाला अग्नि (**जातः अरोचथाः** । मं.१) उत्पन्न होते ही प्रकाशित होता है । पश्चात् वह हवन कुण्डमें रखते हैं, वहां वह (**रोह** । मं.१) स्वयं बढता है और दूसरोंको भी प्रकाशित करता है । इस समय उसके चारों ओर ऋत्विज लोग (**गीर्भिः हवामहे** । मं.४) मंत्रपाठ करते हैं और हवन करते हैं । इस समय इस अग्निके साथ (**अग्निः अग्निभिः** । मं.५) अनेक हवन कुण्डोंमें अनेक अग्नि प्रज्वलित होते हैं और इससे (ब्रह्म यज्ञं च वर्धय । मं.५) ज्ञान और यज्ञकी वृद्धि होती है । यज्ञमें सब लोग (जनः संगत्यां सुमनाः । मं.६) मिलकर उत्तम विचारसे कार्य करते हैं । तथा (प्रसवे सं बभूविम । मं.८) ऐश्वर्य प्राप्तिके लिये एक होकर कार्य करते हैं और इस प्रकारके यज्ञसे तेजस्वी होकर अपना अपना अभ्युदय सिद्ध करते हैं ।'

सारांशसे यह यज्ञ प्रक्रिया है, इसमें लकडियोंसे उत्पन्न हुई छोटीसी अग्निकी चिनगारीका कितना यश बढता है और यह अग्नि अनेक मनुष्योंकी उन्नति करनेमें कैसा समर्थ होता है, यह बात पाठक देखें । यदि अग्निकी छोटीसी चिनगारीके तेजके साथ बढ जानेसे इतना अभ्युदय हो सकता है, तो मनुष्यमें रहनेवाली चैतन्यकी चिनगारी इसी प्रकार प्रकाशके मार्गसे चलेगी तो कितना अभ्युदय प्राप्त करेगी, इसका विचार पाठक स्वयं जान सकते हैं, इसीका उपदेश पूर्वोक्त अग्निके दृष्टान्तसे इस सूक्तमें बताया है ।

उत्पत्तिस्थानका स्मरण ।

सबसे प्रथम अपने उत्पत्तिस्थानका स्मरण करनेका उपदेश प्रथम मंत्रमें दिया है । 'यह तेरा उत्पत्तिस्थान है,

जहां उत्पन्न होते ही तू प्रकाशता है, यह जानकर स्वयं बढनेका यत्न कर और हमारी भी शोभा बढा।' (मं.१) यह उपदेश मनन करने योग्य है। उत्पत्तिस्थान कई प्रकारका होता है, अपना कुल, अपनी जाती, अपना देश यह तो स्थूल दृष्टिसे उत्पत्तिस्थान है। इस उत्पत्तिरस्थानका स्मरण करके अपनी उन्नतिकरना चाहिये। दूसरा उत्पत्तिस्थान आध्यात्मिक है जो प्रकृतिमाता और परमपितासे संबंध रखता है, यह भी आध्यात्मिक उन्नतिके लिये मनन करने योग्य है। उत्पत्तिस्थानका विचार करनेसे 'मैं कहांसे आया हूं और मुझे कहां पहुंचना है' इसका विचार करना सुगम हो जाता है। जहां कहां भी उत्पत्ति हुई हो वहांसे अपनी शक्तिसे प्रकाशना, बढना और दूसरोंको प्रकाशित करना चाहिये।

(इह अच्छा वद) यहां सबके साथ सरल भाषण कर, **(प्रत्यङ् सुमनाः भव)** प्रत्येकके साथ उत्तम मनोभावनासे वर्ताव कर, अपने पास जो हो, वह दूसरोंकी भलाईके लिये **(प्रयच्छ)** दान कर, यह द्वितीय मंत्रके तीन उपदेश वाक्शुद्धि, मनःशुद्धि और आत्मशुद्धिके लिये अत्यंत उत्तम हैं। इसी मार्गसे इनकी पवित्रता हो सकती है।

आगेके दो मंत्रोंमें हमें किन किन शक्तियोंसे सहायता मिलती है इसका उल्लेख है।

सबसे प्रथम **(देवीः)** देवियों अथवा माताओंकी सहायता मिलती है, जिनकी कृपासे विना मनुष्यका उद्धार होना अशक्य है, तत्पश्चात् **(सुनृता देवी)** सरल वाणीसे सहायता प्राप्त होती है। मनुष्यके पास सीधे भावसे बोलनेकी शक्ति न हो तो उसकी उन्नति असंभव है। इसके नंतर **(अर्य+मन् = आर्य+मन्)** श्रेष्ठ मनके भावसे जो सहायता होती है वह अपूर्व ही है। इसके पश्चात् **(बृहस्पतिः)** ज्ञानी और **(ब्रह्मा)** ब्रह्मज्ञानी सहायता देते हैं, इनमें ब्रह्मा तो अंतिम मंजिलतक पहुंचा देता हैं। ये सब उन्नतिके उपाय योग्य **(राजा अवसे)** राजाकी रक्षामें ही सहायक हो सकते हैं, सुराज्य हो अर्थात् राज्यका सुप्रबंध हो, तो ही सब प्रकारकी उन्नति संभवनीय है अन्यथा अशक्य है। इसके साथ साथ **(सोमः आदित्यः सूर्यः)** वनस्पतियां और सबका आदान करनेवाला सूर्यप्रकाश ये बल और आरोग्यवर्धक होनेसे सहायक है और अंतमें विशेष महत्त्वकी सहायता **(विष्णुः)** सर्वव्यापक देवताकी है, जो सर्वोपरि होनेसे सबका परिपालक और सबका चालक है और इसकी सहायता सभीके लिये अत्यंत आवश्यक है। जन्मसे लेकर मुक्तितक इस प्रकार सहायताएं मिलती है और इनकी सहायतायें लेता हुआ मनुष्य अपने परम उत्पत्तिस्थानसे यहां आकर फिर वहां ही पहुंचता है। इन शब्दोंसे सूचित होनेवाले अन्यान्य अर्थोंका विचार करके पाठक अधिक बोध प्राप्त कर सकते हैं।

सम्भूय समुत्थान।

इस सूक्तमें एकताका पाठ स्पष्ट शब्दों द्वारा दिया है। **(वाजस्य नु प्रसवे सं बभूविम।** मं.८) 'बलकी उत्पत्तिके लिये हम अपनी संघटना करते हैं।' संभूय - समुत्थानके विना शक्ति नहीं होती इसलिये अपनी सहकारिता करके शक्ति बढानेका उपदेश यहां किया है। **(सर्वः जनः संगत्यां सुमनाः असत्।** मं.६) 'सब मनुष्य सहकारिता करने लगेंगे उस समय परस्पर उत्तम मनके साथ व्यवहार करें।' ऐसा न करेंगे तो संघशक्ति बढ नहीं सकती। यह उत्तम सौमनस्यका व्यवहार सिद्ध होनेके लिये **(ब्रह्म यज्ञं च वर्धय।** मं.५) ज्ञान और आत्मसमर्पणका भाव बढाओ। संघशक्तिके लिये इनकी अत्यंत आवश्यकता है। मनुष्यकी उन्नति तो व्यक्तिशः और संघशः होनी है, इसलिये पहले वैयक्तिक उन्नतिके उपदेश देकर पश्चात् सांधिक उन्नतिके निर्देश किये हैं। इस प्रकार दोनों मार्गोंसे उन्नति हुई तो ही पूर्ण उन्नति हो सकती है।

'वाजस्य प्रसवे सं बभूविम' (मं.८) यह मन्त्र बहुत दृष्टिसे मनन करने योग्य है। यहां 'वाजः' शब्दके अर्थ देखिये - 'युद्धमें जय, अन्न, जल, शक्ति, बल, धन, गति, वाणीका बल' ये अर्थ ध्यानमें धारण करनेसे इस मन्त्रभागका अर्थ इस प्रकार होता है - 'हम युद्धमें विजय प्राप्त करनेके लिये संगठन करते हैं, अन्न, जल, खाद्य, पेय और धनादि ऐश्वर्योपभोगके पदार्थ प्राप्त करनेके लिये आपसकी एकता करते हैं, अपनी वाणीका बल बढानेके लिये अर्थात् हमारे मतका प्रभाव बढानेके लिये अपनी संघटना करते हैं, हमारे एक मतसे जो शब्द हम बोलेंगे वे निःसन्देह अधिक प्रभावशाली बनेंगे, तथा हमारी प्रगति और उन्नतिका वेग बढानेके लिये भी हम अपनी सहकारिता बढाते हैं।' पाठक इस मन्त्रका विचार करनेके प्रसङ्गमें इस अर्थका अवश्य मनन करें।

उन्नतिके लिये कंजूसीका भाव घातक है इसलिये

कहा है कि **(अ-दित्सन्तं दापयतु।** मं.८) 'कंजूसको भी, दान न देनेवालेको भी दान देनेकी ओर झुकाओ,' क्योंकि उदारतासे ही संघटना होती है और अनुदारतासे बिगडती है।अपने पास धन तो चाहिये परंतु वह **(सर्ववीरं रयिं नि यच्छ।** मं.८) 'संपूर्ण वीरत्वके गुणोंके साथ धन चाहिये ।' अन्यथा कमाया हुआ धन कोई उठाकर ले जायगा इसलिये वीरताके साथ रहनेवाला धन कमानेका उपदेश यहां किया है ।

इस रीतिसे उन्नत हुआ मनुष्य ही कह सकता है कि 'मुझे पांचों दिशाएं यथाशक्ति बल प्रदान करें और मनसे तथा हृदयसे जो संकल्प मैं करूं वे पूर्ण हो जांय । (मं.९)' इसके ये संकल्प निःसंदेह पूर्ण हो जाते हैं ।

हरएकके मनमें अनेक संकल्प उठते हैं, परंतु किसके संकल्प सफल होते हैं ? संकल्प तब सफल होंगे जब उन संकल्पोंके पीछे प्रबल शक्ति होगी, अन्यथा संकल्पोंकी सिद्धता होना असंभव है। इस सूक्तमें संकल्पोंके पीछे शक्ति उत्पन्न करनेके विषयका बडा आन्दोलन किया है इसका विचार पाठक अवश्य करें । सूक्तके प्रारंभसे यही विषय है -

'अपनी उत्पत्तिस्थानका विचार कर अपनी उन्नति करनेके लिये कमर कसके उठना, (मं.१), सीधा सरल भाषण करना, मनके भाव उत्तम करना (मं.२), ज्ञान और त्याग भाव बढना । (मं. ५), प्राप्त धन परोपकारमें लगांना (मं.५), सब मनुष्योंको उत्तम विचार धारण करने, एकता बढाने और परोपकार करनेकी और प्रवृत्त करना (मं.६), सामर्थ्य बढानेके लिये अपनी आपसकी संघटना करना (मं.८) अपने अंदर जो संकुचित विचारके होंगे उनको भी उदार बनाना (मं.८) इस पूर्व तैयारीके पश्चात् सब मानसिक संकल्पोंकी सफलता होनेका संभव है ।' संकल्पोंके पूर्व इतनी सहायक शक्ति उत्पन्न होनी चाहिये । तब संकल्प सिद्ध होंगे । इसका विचार करके पाठक इस शक्तिको उत्पन्न करनेके कार्यमें लग जांय । इसके नंतर - 'सब स्थानमें उसको प्राणशक्ति साक्षात् होती है, सब स्थानसे उसकी पुष्टि होती है, वह सदा प्रसन्नता बढानेवाली ही भाषा बोलता है इसलिये वह तेजस्विता के अभ्युदयको प्राप्त होता है । (मं.१०)

इस दशम मंत्रमें **'गोसनिं वाचं उदेयं'** यह वाक्य है। **'गो'** का अर्थ है - 'इंद्रिय, गौ, भूमि, प्रकाश, स्वर्गसुख, वाणी ।' इस अर्थको लेकर - 'इद्रियोंकी प्रसन्नता, वाणीकी प्रसन्नता, प्रकाशका विस्तार, मातृभूमिका सुख आदिकी सिद्धता होने योग्य मैं भाषण बोलता हूं' यह अर्थ इससे व्यक्त होता है । आगे 'तेजस्विताके साथ अभ्युदय' प्राप्त करनेका विषय कहा है, उसके साथ यह 'प्रसन्नता बढानेवाली वाणीसे बोलना' कितना आवश्यक है, यह पाठक यहां अवश्य देखें । इस प्रकार इस सूक्तके वाक्योंका पूर्वापर संबंध देखकर यदि पाठक मनन करेंगे तो उनको विशेष बोध प्राप्त हो सकता है।

इस सूक्तका संक्षेपसे यह विवरण है । पाठक जितना अधिक विचार करेंगे उतना अधिक बोध वे प्राप्त कर सकते हैं । अधिक विचार करनेके लिये आवश्यक संकेत इस स्थानपर दिये ही है, इसलिये यहां अधिक लेख बढानेकी आवश्यकता नहीं है। अग्निका वर्णन करनेके मिषसे किये हुए सामान्य निर्देश मनुष्यकी उन्नतिके निदर्शक कैसे होते हैं, इसका अनुभव पाठक यहां करें । वेदकी यह एक अपूर्व शैली है ।

॥ यहां चतुर्थ अनुवाक समाप्त ॥

●●●

कामाग्निका शमन।

(२१)

(ऋषिः - वसिष्ठः । देवता - अग्निः)

ये अग्नयो अप्स्व१न्तर्ये वृत्रे ये पुरुषे ये अश्मसु ।
य आविवेशौषधीर्यो वनस्पतींस्तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत् ॥ १ ॥
यः सोमे अन्तर्यो गोष्वन्तर्य आविष्टो वयःसु यो मृगेषु ।
य आविवेश द्विपदो यश्चतुष्पदस्तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत् ॥ २ ॥
य इन्द्रेण सरथं याति देवो वैश्वानर उत विश्वदाव्यः ।
यं जोहवीमि पृतनासु सासहिं तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत् ॥ ३ ॥
यो देवो विश्वाद्यमु काममाहुर्यं दातारं प्रतिगृह्णन्तमाहुः ।
यो धीरः शक्रः परिभूरदाभ्यस्तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत् ॥ ४ ॥

अर्थ - **(ये अग्नयः अप्सु अन्तः)** जो अग्नियां जलके अन्दर हैं, **(ये वृत्रे)** जो मेघमें, और **(ये पुरूषे)** जो पुरूषमें है, तथा **(ये अश्मसु)** शिलाओंमें हैं, **(यः औषधीः यः च वनस्पतीन् आविवेश)** जो औषधियोंमें और जो वनस्पतियोंमें प्रविष्ट हैं **(तेभ्यः अग्निभ्यः एतत् हुतं अस्तु)** उन अग्नियोंके लिये यह हवन होवे ।।१।।

(यः सोमेः अन्तः, यः गोषु अन्तः) जो सोमके अन्दर, जो गौओंके अंदर, **(यः वयःसु, यः मृगषु आविष्टः)** जो पक्षियोंमें और जो मृगोंमें प्रविष्ट है, **(यः द्विपदः यः चतुष्पदः आविवेश)** जो द्विपाद और चतुष्पादोंमें प्रविष्ट हुआ है, **(तेभ्यः अग्निभ्यः एतत् हुतं अस्तु)** उन अग्नियोंके लिये यह हवन होवे ।।२।।

(विश्वदाव्यः उत वैश्वानरः) सबको जलानेवाला परंतु सबका चालक अथवा हितकारी **(यः देवः इन्द्रेण सरथं याति)** जो देव इन्द्रके साथ एक रथपर बैठकर चलता है **(यं पृतनासु सासहिं जोहवीमि)** जो युद्धमें विजय देनेवाला है इसलिये जिसकी मैं प्रार्थना करता हूं **(तेभ्यः)** उन अग्नियोंके लिये यह हवन होवे ।।३।।

(यः विश्वाद् देवः) जो विश्वका भक्षक देव है, **(यं उ कामं आहुः)** जिसको 'काम' नामसे पुकारते हैं, **(यं दातारं प्रतिगृह्णन्तं आहुः)** जिसको देनेवाला और लेनेवाला भी कहा जाता है, **(यः धीरः शक्रः परिभूः अदाभ्यः)** जो बुद्धिमान्, शुक्तिमान्, भ्रमण करनेवाला और न दबनेवाला कहते हैं **(तेभ्यः)** उन अग्नियोंके लिये यह हवन होवे ।।४।।

भावार्थ - जो अग्नि जल, मेघ, प्राणियों अथवा मनुष्यों, शिलाओं और औषधिवनस्पतियोंमें है उनकी प्रसन्नताके लिये यह हवन है ।।१।।

जो अग्नि सोम, गौवों, पक्षियों, मृगादि पशुओं तथा द्विपाद चतुष्पादोमें प्रविष्ट हुआ है उसके लिये यह हवन है ।।२।।

सबको जलाकर भस्म करनेवाला परंतु सबका संचालक जो यह देव इन्द्रके साथ रथपर बैठकर भ्रमण करता है, जो युद्धमें विजय प्राप्त करानेवाला है उस अग्निके लिये यह हवन है ।।३।।

जो अग्नि विश्वका भक्षक है और जिसको 'काम' कहते हैं, जो देनेवाला और स्वीकारनेवाला है, और जो बुद्धिमान, समर्थ, सर्वत्र जानेवाला और न दबनेवाला है, उस अग्निके लिये यह हवन है ।।४।।

यं त्वा होतारं मनसाभि संविदुस्त्रयोदश भौवनाः पञ्च मानवाः ।
वर्चोधसे यशसे सूनृतावते तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत् ॥ ५ ॥
उक्षान्नाय वशान्नाय सोमपृष्ठाय वेधसे ।
वैश्वानरज्येष्ठेभ्यस्तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत् ॥ ६ ॥
दिवं पृथिवीमन्वन्तरिक्षं ये विद्युतमनुसंचरन्ति ।
ये दिक्ष्व१न्तर्ये वाते अन्तस्तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत् ॥ ७ ॥
हिरण्यपाणिं सवितारमिन्द्रं बृहस्पतिं वरुणं मित्रमग्निम् ।
विश्वान्देवानङ्गिरसो हवामह इमं क्रव्यादं शमयन्त्वग्निम् ॥ ८ ॥
शान्तो अग्निः क्रव्याच्छान्तः पुरुषरेषणः ।
अथो यो विश्वदाव्य१स्तं क्रव्यादमशीशमम् ॥ ९ ॥

अर्थ - **(त्रयोदश भौवनाः पञ्च मानवाः)** त्रयोदश भुवन और पांच मनुष्यजातियां **(यं त्वा मनसा होतारं अभि संविदुः)** जिस तुझको मनसे होता अर्थात् दाता मानते हैं, **(वर्चोधसे)** तेजस्वी **(सूनृतावते)** सत्य भाषी और **(यशसे)** यशस्वी तुझे और **(तेभ्यः०)** उन अग्नियोंके लिये यह हवन होवे ॥५॥

(उक्षान्नाय वशान्नाय) जो बैलको लिये और गौके लिये अन्न होता है और **(सोमपृष्ठाय)** औषधियोंको पीठपर लेता है उस **(वेधसे)** ज्ञानीके लिये और **(वैश्वानरज्येष्ठेभ्यः तेभ्यः ०)** सब मनुष्योंके हितकारी श्रेष्ठ उन अग्नियोंके लिये यह हवन होवे ॥६॥

(ये दिवं अन्तरिक्षं अनु, विद्युतं अनु संचरन्ति) जो द्युलोक और अंतरिक्षके अन्दर और विद्युतके अंदर भी अनुकूलतासे संचार करते हैं, **(ये दिक्षु अन्तः, ये वाते अन्तः)** जो दिशाओंके अंदर और वायुके अंदर है **(तेभ्यः अग्निभ्यः)** उन अग्नियोंके लिये यह हवन होवे ॥७॥

(हिरण्यपाणिं सवितारं) सुवर्ण भूषण हाथमें धारण करनेवाले सविता, इन्द्र, बृहस्पति, वरुण, मित्र, अग्नि, विश्वेदेव और अंगिरसोंकी **(हवामहे)** प्रार्थना करते हैं कि वे **(इमं क्रव्यादं अग्निं शमयन्तु)** इस मांसभोजी अग्निको शान्त करें ॥८॥

(क्रव्याद् अग्निः शान्तः) मांसभक्षक अग्नि शान्त हुआ, **(पुरुषरेषणः शान्तः)** मनुष्य हिंसक अग्नि शान्त हुआ **(अथ यः विश्वदाव्यः)** और जो सबको जलानेवाला अग्नि है **(तं क्रव्यादं अशीशमम्)** उस मांसभक्षक अग्निको मैंने शान्त किया है ॥९॥

भावार्थ - तेरह भुवनोंका प्रदेश और मनुष्यकी ब्राह्मण क्षत्रियादि पांच जातियां इसी अग्निको मनसे दाता मानती हैं, तेजस्वी, सत्यवाणीके प्रेरक, यशस्वी उस अग्निके लिये यह अर्पण है ॥५॥

जो बैलको और गौको अन्न देता है, जो पीठकर औषधियोंको लेता है, जो सबका धारक या उत्पादक है, उस सब मानवोंमें श्रेष्ठरूप अग्निके लिये यह अर्पण है ॥६॥

द्युलोक, अन्तरिक्ष, विद्युत्, दिशाएं, वायु आदिमें जो रहता है उस अग्निके लिये यह अर्पण है ॥७॥

सविता, इन्द्र, बृहस्पति, वरुण, मित्र, अग्नि और अंगिरस आदि सब देवोंकी हम प्रार्थना करते हैं कि वे सब देव इस मांसभक्षक अग्निको शान्त करें ॥८॥

यह मांसभोजी पुरुषनाशक और सब जगत्को जलानेवाला अग्नि शान्त हुआ है, मैने इसको शान्त किया है ॥९॥

ये पर्वताः सोमपृष्ठा आप उत्तानशीवरीः ।
वातः पर्जन्य आदग्निस्ते क्रव्यादमशीशमन् ॥ १० ॥

अर्थ - (ये सोमपृष्ठाः पर्वताः) जो वनस्पतियोंको पीठपर धारण करनेवाले पर्वत है, (उत्तानशीवरीः आपः) ऊपरको जानेवाले जो जल हैं, (वातः पर्जन्यः) वायु और पर्जन्य (आत् अग्निः) तथा जो अग्नि है (ते) वे सब (क्रव्यादं अशीशमम्) मांसभोजी अग्निको शान्त करते हैं ॥१०॥

भावार्थ - जहां सोमादि वनस्पतियां हैं ऐसे पर्वत, ऊपरकी गतिसे चलनेवाले जलप्रवाह, वायु और पर्जन्य तथा अग्नि ये सब देव मांसभक्षक अग्निको शांत करनेमें सहायता देते हैं ॥१०॥

कामाग्निका स्वरूप ।

इस सूक्तमें कामाग्निको शान्त करनेका विधान है। कामको अग्निकी उपमा देकर अथवा अग्निके वर्णनके मिषसे कामको शान्त करनेका वर्णन इस सूक्तमें बडा ही मनोरंजक है । यह सूक्त 'बृहच्छान्तिगण' में गिना है, सचमुच कामका शमन करना ही 'बृहच्छान्ति' स्थापित करना है । यह सबसे बडा कठिन और कष्टसाध्य कार्य है । इस सूक्तमें जो अग्नि है वह 'क्रव्याद' अर्थात् कच्चा मांस खानेवाला है, साधारण लोग समझते हैं कि इस सूक्तमें मुर्दे जलानेवाले अग्निका वर्णन है, परंतु यह मत ठीक नही है । कामरूप अग्निका वर्णन है, परंतु यह मत ठीक नही है । कामरूप अग्निका वर्णन इस सूक्तमें है और यही कामरूप अग्नि बडा मनुष्यभक्षक है । जितना अग्नि जलाता है उससे सहस्र गुणा यह काम जलाता है, यह बात पाठक विचारकी दृष्टिसे देखेंगे तो जान सकते हैं । इसलिये इस सूक्तके अग्निका स्वरूप पहले हम निश्चित करते हैं । इसका स्वरूप बतानेवाले जो अनेक शब्द इस सूक्तमें हैं उनका विचार अब करते हैं -

१ यो देवो विश्वाद् यं उ कामं आहुः । (सू. २१, मं.४)

जो अग्निदेव सब जगत्‌को जलानेवाला है और जिसको 'काम' कहते हैं ।

इस मंत्रभागमें स्पष्ट कहा है कि इस सूक्तमें जो अग्नि है वह 'काम' ही है । नाम निर्देश करनेके कारण इस विषयमें किसीको शंका करना भी अब उचित नहीं है । तथापि निश्चयकी दृढताके लिये इस सूक्तके अन्य मंत्रभाग अब देखिये -

२ क्रव्याद् अग्निः । (सू.२१, मं.९)

मांस भक्षक अग्नि ।

३ पुरुषरेषणः अग्निः । (सू. २१, मं.९)

पुरूषका नाशक (काम) अग्नि ।

कामकी प्रबलतासे मनुष्यका शरीर सुख जाता है और इस कामके प्रकोपसे कितने मनुष्य सहपरिवार नष्टभ्रष्ट हो गये हैं यह पाठक यहां विचारकी दृष्टिसे मनन करें, तो इन मंत्रभोगोंका गंभीर अर्थ ध्यानमें आ सकता है । इस दृष्टिसे

४ विश्वाद् अग्निः । (सू. २१, मं.४,९)

विश्वका भक्षक (काम) अग्नि ।

यह बिलकुल सत्य है। भगवद्गीतामें कामको -

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥
(भ. गी. ३।३७)

यह काम बडा (**महाशनः**) खानेवाला है । 'महाशन (**महा - अशनः**) और विश्वाद (विश्व - अद्)' ये दोनों एक ही भाव बतानेवाले शब्द है । सचमुच काम बडा खानेवाला है, इसकी कभी तृप्ति होती ही नहीं, कितना ही खानेको मिले यह सदा अतृप्त ही रहता है, इसका पेट सब जगत्‌को खा जोनेसे भी भरता नहीं, इसी अर्थको बतानेवाला यह शब्द है -

५ विश्व - दाव्यः । (सू.२१, मं.३,९)

सबको जलानेवाला (काम अग्नि)

यह काम सचमुच सबको जलानेवाला है, जब यह काम मनमें प्रबल होता है, तब यह अंदरसे जलाने लगता है । ब्रह्मचर्य धारण करनेवाला मनुष्य अंदरसे बढने लगता है और कामाग्निको अपने अंदर बढानेवाला मनुष्य अंदरसे जलने लगता है ! । जिसका अंतःकरण ही जलता रहता है, उसके लिये मानो सब जगत् ही जलने लगता है । जिसके मनमें कामाग्निकी ज्वालाएं भडक उठती है, उसको न जल शांति दे सकता है, न चंद्रमाकी अमृतपूर्ण किरणे शांति दे सकती है, वह तो

सदा अशांत और संतप्त होता जाता है ऐसी इस कामाग्निकी दाहकता है । इसके सामने यह अग्नि क्या जला सकता है ? कामाग्निकी दाहकता इतनी अधिक है, कि उसके सामने यह भौतिक अग्नि मानो शान्त ही है और इसीलिये मंत्र आठमें 'इस अग्निको कामाग्निकी शान्ति करनेको कहा है ।' यदि यह अग्नि कामाग्निसे शान्त न हो तो कामाग्निको शान्त कैसे कर सकता है ?

इस प्रकार इसका गुणवर्णन करनेवाले जो विशेषण इस सूक्तमें आये हैं, वे इसका स्वरूप निश्चित करनेमें बडे सहायक हैं । इनके मननसे निश्चय होता है, कि इस सूक्तमें वर्णित हुआ अग्नि साधारण भौतिक अग्नि नहीं है, प्रत्युत यह कामाग्नि है । भौतिक अग्निका वाचक अग्नि शब्द स्वतंत्र रीतिसे अष्टम मन्त्रमें आया है, इसका विचार करनेसे भी इस सूक्तमें वर्णित अग्निका स्वरूप निश्चित हो जाता है ।

काम और इच्छा ।

'काम' शब्द जैसा काम विकारका वाचक है उसी प्रकार इच्छा, कामनाका भी वाचक है । वस्तुतः देखा जाय तो ये काम, कामना और इच्छा मूलतः एक ही शक्तिके वाचक हैं । भिन्न भिन्न इन्द्रियोंके साथ सम्बन्ध हो जानेसे एक ही इच्छा शक्तिका रूप जैसा कामविकारमें प्रगट होता है और वैसा ही अन्य इंद्रियोंके साथ सम्बन्ध होनेसे कामनाके रूपमें भी प्रगट होता है । परन्तु इनके अंदर घुसकर देखा जाय तो 'मुझे चाहिये' इस एक इच्छाके सिवाय दूसरा इसमें कुछ भी नहीं है, अपने अन्दर कुछ न्यूनता है, उसकी पूर्तीके लिये बाहरसे किसी पदार्थकी प्राप्ति करना चाहिये, वह बाह्य पदार्थ प्राप्त होनेसे मैं पूर्ण हो जाऊंगा । इत्यादि प्रकारकी इच्छा ही 'काम अथवा कामना' है । यही इच्छा सबको चला रही है, इस लिये इसको विश्वकी चालक शक्ति कहा है। देखिये -

वैश्वानरः (विश्व - नेता) । (सू. २१, मं.६)

'यह (विश्व - नर) विश्वका नेता अर्थात् विश्वका चालक (काम) है । विश्वको चलानेवाली यह इच्छाशक्ति है । यह कामशक्ति न हो तो संसारका चलना असम्भव है । पदार्थ मात्रमें - क्रमसे कम चेतन और अर्ध चेतन जगत्में - यह स्पष्ट दिखाई देती है ।' इस विषयमें प्रथम और द्वितीय मंत्रका कथन स्पष्ट है ।

'इस कामरूप अग्निके अनेक रूप है और वे जल, मेघ, पत्थर, औषधि वनस्पति, सोम, गौ, पक्षी, पशु, द्विपाद, चतुष्पाद, मनुष्य आदि सबमें हैं । (मं. १,२) तथा 'पृथिवी, अन्तरिक्ष, विद्युत्, द्युलोक, दिशा, वायु, आदिमें भी है ।' (मं.७)

इस मंत्रसे स्पष्ट हो जाता है कि यह कामाग्नि पत्थर जल औषधियोंसे लेकर मनुष्योंतक सब सृष्टिमें विद्यमान है । औषधियां बढनेकी इच्छा करती है, वृक्ष फलना चाहते हैं, पक्षी उडना चाहते हैं, मनुष्य जगत्को जीतना चाहता है इस प्रकार हरएक पदार्थ अपनी शक्तिको और अपने अधिकार क्षेत्रको फैलाना चाहता है । यही इच्छा है और यही काम है । यही जब जननेन्द्रियके साथ अपना संबंध जोडता है तब उसको कामविकार कहा जाता है, परंतु मुलतः यह शक्ति वहीं है, जो पहले इच्छाके नामसे प्रसिद्ध थी । यही स्वार्थकी कामना 'गाय और बैलोंको पालती है और उनको खिलाती - पिलाती है, औषधियोंकी पालना करती है ।' (मं.६)

कामकी दाहकता ।

वस्तुतः भौतिक अग्नि जलाती है, ऐसा अनुभव हरएकको आता है, और काम या इच्छाकी वैसी दाहकता नहीं है ऐसा भी सब मानते हैं, परंतु साधारण इच्छा क्या, कामना क्या, और कामविकार क्या इतने अधिक दाहक है, कि उनकी दाहकताके साथ अग्निकी दाहकता कुछ भी नहीं है ॥

राज्य बढानेकी इच्छा कई राज्यचालकोंमें बढ जानेके कारण पृथ्वीके ऊपरके कई राष्ट्रोंको पारतंत्र्यकी अग्नि जला रही है, इस स्वार्थकी इच्छाके कारण इतने भयंकर युद्ध हुए है और उनमें मनुष्य इतने अधिक मर चुके हैं कि उतने अग्निकी दाहकतासे निःसंदेह मरे नहीं है । इसीलिये इसको तृतीय मंत्रमें **(पृतनासु सासहिं)** अर्थात् युद्धमें विजयी कहा है । किसी भी पक्षकी जीती हुई तो इसीकी वह जीत होती है !!!

एक समाज दूसरी समाजको अपने स्वार्थके कारण दबा रहा है, ऊपर उठने नही देता है, दबी जातियोंसे जितना चाहे स्वार्थसाधन किया जा रहा है, यह एक ही स्वार्थकी कामना का ही प्रताप है । धनी लोग निर्धनोंको दबा रहे हैं, अधिकारी वर्ग प्रजाको दबा रहा है, एक समर्थ राष्ट्र दूसरे निर्बल राष्ट्रको दबा देता है, इसी प्रकार एक भाई दूसरे भाईकी चीज छीनता है, ये सर्व कामके ही रूप है, जो मनुष्योंको अंदर ही अंदरसे जला रहे हैं।

आंख सुंदर रूपकी कामना करता है, कान मधुर स्वरकी अभिलाषा करता है, जिव्हा मधुर रसोंकी इच्छुक है, इसी प्रकार अन्यान्य इंद्रियां अन्यान्य विषयोंको चाहती है । इनके कारण जगत्में जो विध्वंस और नाश

हो रहे हैं, वे किसीसे छिपे नहीं है। इतनी विनाशक शक्ति इस भौतिक अग्निमें कहा है?

काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर ये मनुष्यके छः शत्रु है, इन शत्रुओंमें सबसे मुख्य शत्रु 'काम' है, सबसे बढकर इसके अंदर विनाशकता है। यह प्रेमसे पास आता है, सुख देनेका प्रलोभन देता है और कुछ सुख पहुंचता भी है। परंतु अंदर अंदरसे ऐसा काटता है, कि कट जानेवालेको अपने कट जानेका पता तक नहीं लगता !!! इस कामविकाररूपी शत्रुकी विनाशकता सब शास्त्रोंमें प्रतिपादन की है। हरएक धर्मपुस्तक इससे बचनेका उपदेश कर रहा है।

जिस समय कामविकारकी ज्वाला मनमें भडक उठती है, उस समय ऐसा प्रतीत होता है कि खून उबल रहा है। खूनके उबलनेका भान स्पष्ट होता है, शरीर गर्म हो जाता है, मस्तिष्क तपता है, अवयव शिथिल हो जाते हैं, मस्तककी विचारशक्ति हट जाती है और एक ही काम मनमें राज करने लगता है। खूनको पीसता है, शक्तीको नष्ट करता है, वीर्यका नाश करता है और आयुका क्षय करता है। ये सब लक्षण इसकी दाहकताके हैं। इसकी यह विध्वंसक शक्ति देखकर पाठक ही विचार कर सकते हैं कि इसकी विनाशकताकी अग्निके साथ क्या तुलना हो सकती है? इसलिये मंत्रमें कहा हुआ विशेषण **(विश्व - दाव्यः)** जगत्को जलानेवाला इसके अंदर बिलकुल सार्थ हो जाता है!!

इस सबका विचार करके पाठक 'कामकी दाहकता' जाने और इसकी दाहकतासे अपने आपको बचानेका उपाय करें।

न दबनेवाला।

चतुर्थ मंत्रमें इसके विशेषण **'विश्वाद्, दाता, प्रतिगृह्णन्, धीरः, शक्रः, परिभूः, अदाभ्यः'** आये हैं और इसीमें इसका नाम (यं कामं आहुः) 'काम' करके कहा है। अर्थात् इसी कामाग्निके ये गुणबोधक विशेषण हैं। इसलिये इनके अर्थ देखिये -

'यह काम **(विश्वाद्)** जगत्को खानेवाला, **(दाता)** दान देनेवाला, **(प्रतिगृह्णन्)** आयुष्यादि लेनेवाला, **(धीरः)** धैर्य देनेवाला, **(शक्रः)** शक्तिशाली, **(परिभूः)** सबसे बढकर होनेवाला, (अदाभ्यः) न दबनेवाला है।' (मं.४)

विचार करनेपर ये विशेषण कामके विषयमें बडे सार्थ है ऐसा ही प्रतीत होगा। जिस समय मनमें काम उत्पन्न होता है उस समय बुद्धीको मलिन करता है, अपनी इच्छा तृप्त करनेके लिये आवश्यक धैर्य अथवा साहस उत्पन्न करता है, अन्य समय भीरू दिखाई देनेवाला मनुष्य भी कामविकारकी लहरमें बडे साहसके कर्म करने लगता है, जब यह मनमें बढता है तब सब अन्य भावनाओंको दबाकर अपना अधिकार सबपर जमा देता है, दबानेका यत्न करनेपर भी यह उछल कर अपना प्रभाव दिखाई देता है! इस प्रकार पूर्वोक्त विशेषणोंका आशय यहां विचार करनेसे स्पष्ट हो सकेगा। इसके दाता और प्रतिग्रहीता (अथर्व. ३।२९।७) में भी **'कामो दाता कामः प्रतिग्रहीता'** कहा है) ये दो विशेषण भी विशेष मनन करने योग्य है। यह किंचित् सा सुख देता है और बहुत सा वीर्य हरण करता है, ये अर्थ पूर्वापर संगतिसे यहां अन्वर्थक दिखाई देते हैं। साधारण कामनाके अर्थमें देने और लेनेवाला कामनासे ही प्रवृत्त होता है, इसलिये यह काम ही देनेवालेको दानमें और लेनेवालेको लेनेमें प्रवृत्त करता है, यह इस मंत्रका आशय भी स्पष्ट ही है।

पंचम मंत्रमें 'त्रयोदश भुवनोंमें रहनेवाले पंचजन इसको मनसे मानते हैं, दाता करके पूजते हैं' ऐसा कहा है। संपूर्ण जनता कामकी ही उपासना करती है यह बात इस मंत्रमें कही है। कई विरक्त संत महन्त इस कामको अपने आधीन करके परमात्मोपासक होते हैं, अन्य संसारी जन तो कामको ही अपने सर्वस्वका दाता मानते हैं। इस प्रकार इस कामने ही सब जगत्पर अपना अधिकार जमाया है। जनता समझती है कि **(वर्चः)** तेज **(यशः)** यश और **(सूनृतं)** सत्य आदि सब कामके प्रभावसे ही सफल और सुफल होता है। सब लोग जो संसारमें मग्न है, इसीकी प्रेरणासे चले हैं मानो इसीके वेगसे घूम रहे हैं। जो सत्पुरूष इसके वेगसे मुक्त होकर इस कामको जीत लेता है वही श्रेष्ठ होता हुआ मुक्तिका अधिकारी होता है, मानो इसके वेगसे छूट जाना ही मुक्ति है परंतु कितने थोडे लोग इसके वेगसे अपने आपको मुक्त करते हैं? यही इस सूक्तके मननके समय विचार करने योग्य बात है।

इन्द्रका रथ।

तृतीय मंत्रमें कहा है कि 'यह काम इन्द्रके रथपर बैठकर **(इन्द्रेण सरथं याति)** जाता है।' (मं.३) यह देखना चाहिये कि इन्द्रका रथ कौनसा है। **'इन्द्र'** नाम जीवात्माका है और उसका रथ यह शरीर ही है। इस विषयमें उपनिषद्का वचन देखिये -

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्॥

(कठ. उ. ३।४)

'आत्मा रथमें बैठनेवाला है, उसका रथ यह शरीर है

और इन्द्रियां उस रथके घोडे हैं, जो विषयोंमें घूमते हैं।' इस वर्णनसे इन्द्रके रथका पता लग सकता है। इस उपनिषद्वचनके 'इन्द्रिय' पदका अर्थ 'इन्द्रकी शक्ति' है। हमारे इन्द्रिय इन्द्रकी शक्तियां ही है, यह देखनेसे आत्मा ही इन्द्र है इस विषयमें निश्चय हो सकता है।

इस इन्द्र अर्थात् आत्माके शरीररूपी रथमें यह 'काम' बैठता है यह विधान तृतीय मंत्रका है -

यः इन्द्रेण सरथं याति। (सू.२१. मं.३)

'जो कामरूप अग्नि इन्द्रके रथपर बैठकर जाता है' इस वाक्यका अर्थ अब स्पष्ट हुआ ही होगा। पाठक जान सकते हैं कि इस शरीरमें जैसा जीवात्मा है अथवा इन्द्र है, उसी प्रकार काम भी है, दोनों इसको चलानेवाले हैं। स्थूल दृष्टिसे देखा जाय तो काम अर्थात् इच्छा ही इसको चला रही है। इस प्रकार इस शरीरमें कामकी स्थिति है।

कामरूपी यह अग्नि प्राणियोंके शरीरमें जल रही है इसको अधिक प्रज्वलित करना उचित नहीं, प्रत्युत इसको जहांतक प्रयत्न हो सकता है, उतना प्रयत्न करके शांत करनेका ही उपाय करना चाहिये। इसको शांत करनेका उपाय अब देखिये -

कामशान्तिका उपाय।

नवम मंत्रमें इस कामाग्निके शान्त हो जानेका विधान है। देखिये वह मंत्र -

शान्तो अग्निः क्रव्याच्छान्तः पुरुषरेषणः।
अथो यो विश्वदाव्यस्तं क्रव्यादमशीशमम् ॥

(सू. २१, मं.९)

'यह मांसभक्षक कामरूपी अग्नि शान्त हुआ, यह मनुष्यका नाशक कामरूपी अग्नि शान्त हुआ, जो यह सबको जलानेवाला कामाग्नि है उसको मैने शान्त किया है।' इस मन्त्रमें इस कामाग्निको मैंने शांत किया ऐसा कहा है।' इस विधानसे शान्त करनेका कुछ उपाय है यह निःसन्देह सिद्ध होता है। यदि एक मनुष्य इसको शान्त कर सकता है तो अन्य मनुष्य भी उसी मार्गसे जाकर अपने शरीरमें जलते रहनेवाले इस कामाग्निको शान्त कर सकते हैं। हरएकको शरीरमें यह कामाग्नि जलता है इसलिये हरएकको चाहिये कि यह प्रयत्न करके इसको शान्त करनेका पुरूषार्थ करें और आत्मिक शान्ति प्राप्त करें। इसकी शान्त करनेका उपाय शेष रहे अष्टम मंत्रके भागमें और नवम मन्त्रमें कहा है -

'हिरण्यपाणि सविता, इन्द्र, बृहस्पति, वरूण, मित्र, अग्नि, विश्वेदेव, आङ्गिरस, इनका हम यजन करते हैं, ये इस मांस भक्षक कामाग्निको शांत करे।' (मं.८)

'सोमवल्ली जिनपर उगती है वे पर्वत, ऊपर गमन करनेवाले जल, वायु, पर्जन्य और अग्नि ये इस मांसभक्षक कामाग्निको शान्त करें।' (मं.१०)

इन दो मंत्रोमें जो मार्ग कहा है वह कामाग्नि शान्त करनेवाला है। ये मन्त्र उपायकथन करनेके कारण अत्यन्त महत्वके है और इनका इसी कारण अधिक मनन करना चाहिये। इन दो मन्त्रोंमें जो उपाय कहे हैं, उनका क्रमपूर्वक चिन्तन अब कहते हैं -

१ सोमपृष्ठाः पर्वताः - जिन पर्वतोंपर सोमवल्ली अथवा अन्यान्य औषधियां उगती है वे पर्वत कामाग्नि शान्त करनेमें सहायक होते हैं। इसमें पहली बात तो उन पर्वतोंको शान्त जलवायु कामको भडकने नहीं देता है। शीत प्रदेशकी अपेक्षा उष्ण प्रदेशमें कामाग्निको ज्वाला शीघ्र और अधिक भडक उठती है। उष्ण देशके लोग भी इसी कारण छोटी आयुमें कामाग्निसे उद्दीपित होते हैं। इस विषयमें दूसरी बात यह है कि सोम आदि शीतवीर्यवाली औषधियां सेवन करनेसे भी कामाग्निकी ज्वाला शान्त होती है। सोमवल्ली उगनेवाले पर्वतशिखर हिमालयमें हैं, वहां ही दिव्य औषधियां होती है। योगी लोग उनका सेवन करके स्थिरवीर्य और दीर्घजीवी होते हैं। तीसरी बात इसमें यह है कि ऐसी पहाडियोंमें प्रलोभन कम होते हैं, शहरों जैसे अत्याधिक नहीं होते, इसलिये भी कामकी उत्तेजना शहरों जैसी यहां नहीं होती है। इत्यादि अनेक उपाय इन पहाडोंके साथ सम्बन्ध रखते हैं। (मं. १०)

२ उत्तानशीवरीः आपः - जल भी कामाग्निका शमन करनेवाला है। शीत जलका स्नान, जलाशयोंमें तैरनेसे सम-शीतोष्णता होती है जिससे कामकी उष्णता दूर होती है, शीत जलसे मध्य शरीरका स्नान करना, जिसको कटिस्नान कहते हैं, ब्रह्मचर्य साधनके लिये बडा लाभदायक है। गुप्त इन्द्रियके आसपासका प्रदेश रात्रीके समय, या जिस समय कामका उद्रेक हो जावे उस समय धो देनेसे ब्रह्मचर्य साधनमें बडी सहायता होती है। इस प्रकार विविध रीतिसे जलकी सहायता कामाग्निकी शान्ति करनेके कार्यमें होती है। (मं.१०)

३ पर्जन्यः - मेघ अर्थात वृष्टिका जल इस विषयमें लाभकारी है। वृष्टि होते समय उसमें खडा होकर उस आकाशगंगाके जलसे स्नान करना भी बडा उत्तम है। इससे शरीरकी उष्णता सम हो जाती है। इसके अतिरिक्त वृष्टिजल पीनेसे भी शरीरके अंदरके दोष हट जाते हैं। और कामकी शान्ति होनेमें सहायता होती है। (मं. १०)

४ अग्नि :- आग, अग्नि यह वस्तुतः शरीरको अधिक

उष्ण बनानेवाला है। जो कोमल प्रकृतिके मनुष्य होते हैं यदि उनको अग्निके साथ कार्य करनेका अवसर हुआ तो उनके शरीरकी उष्णता बढनेसे उनका शरीर अधिक गर्म हो जाता है और उसके कारण उनको वीर्यदोषकी बाधा हो जाती है। इसलिये इस प्रकारकी अत्यधिक कोमलता शरीरसे हटानी चाहिये। अग्नि प्रयोगसे ही यह हट सकती है। होम हवन करते समय शरीरको अग्निका उत्ताप लगता है, अन्य प्रकारसे भी शरीरको अग्निकी उष्णतासे परिचित रखना चाहिये, जिससे किसी समय आगके साथ काम करना पडे, तो उस उष्णताको शरीर सह सकेगा। अग्निकी उष्णताका हानिकारक परिणाम शरीरपर न होनेके लिये इस प्रकार शरीरको सहनशक्तिसे युक्त बनाना चाहिये। (मं.१०)

५ वात :- वायु भी इस विषयमें लाभदायक है। शुद्ध वायु सेवन, तथा शुद्ध वायुमें भ्रमण करनेसे बडे लाभ हैं। प्राणायाम करना भी वायुसेवनकी एक लाभप्रद रीति है। प्राणायाम करनेसे वीर्यदोष दूर होते हैं। प्राणायामके अभ्याससे मनुष्य स्थिर वीर्य हो जाता है। इस कारण वायुको कामाग्निका शान्त करनेवाला कहा है। जो जगत्में वायु है वही शरीरमें प्राण है। (मं. १०)

६ सविता - सूर्य भी इस विषयमें बडा सहायक है। जो बात अग्निके विषयमें कही है, वही सूर्यके विषयमें भी सत्य है। कोमल प्रकृतिवाले मनुष्य सूर्यप्रकाशमें घूमने फिरनेसे वीर्यदोषी हो जाते हैं, यह इस कारण होता है कि सूर्यप्रकाश सहन करनेकी शक्ति उनमें नहीं होती। वस्तुतः सूर्यका प्रकाश शरीर स्वास्थ्यके लिये बडा लाभकारी है। सूर्यप्रकाशमें बडा जीवन है। थोडा थोडा सूर्य प्रकाशसे अपने शरीरको तपाते जानेसे शरीरकी सहनशक्ति बढती है और शरीरमें अद्भूत जीवनरस संचारने लगता है, आरोग्य बढ जाता है और थोडीसी उष्णतासे कामकी उत्तेजना शरीरमें होनेकी संभावना कम होती है। इस प्रकारकी सहनशक्ति बढानेका प्रयत्न करना हो तो प्रथम प्रातःकालके कोमल सूर्यप्रकाशमें भ्रमण करना चाहिये और पश्चात् कठोर प्रकाशमें करना चाहिये। यह सूर्यातपस्नान बडा ही लाभदायक है। मंत्रमें **'हिरण्यपाणि सविता'** ये शब्द नऊ बजेतकके सूर्यके ही वाचक है, सोनेके रंगके समान रंगवाले किरणोंवाला सूर्य प्रातः और सायं ही होता है। (मं. ८)

७ वरूण :- वरूणका स्थान समुद्र है। इसलिये समुद्रस्नान इस विषयमें लाभकारी है ऐसा हम यहां समझ सकते हैं। इसमें जलप्रयोग भी आ सकता है। (मं. ८)

८ मित्र :- सूर्य, इस विषयमें पूर्व स्थलमें कहा ही है। यदि 'हिरण्यपाणि सविता' पूर्वाह्नका है तो उसके बादके सूर्यका नाम मित्र है। पूर्वोक्त प्रकार यह भी लाभदायक है। मित्रकी प्रेमदृष्टिका उदय होनेसे भी अर्थात् जगतकी ओर प्रेमपूर्ण मित्र दृष्टिसे देखनेसे भी बडा लाभ होना संभव है। (मं.८)

९ विश्वे देवाः - अन्यान्य देवताओंके विषयमें भी इसी प्रकार विचार करके जानना चाहिये और उनसे अपना लाभ करना चाहिये। इस विषयमें बडा विचार करना योग्य है।

१० बृहस्पति :- यह ज्ञानकी देवता है। ज्ञानसे भी कामाग्निकी शांति साधन करनेमें सहायता हो सकती है। बृहस्पति नाम 'गुरू' का है। गुरूसे ज्ञान प्राप्त करके उस ज्ञानके बलसे अपनेको बचाना चाहिये अर्थात् कामाग्निका संयम करना चाहिये। यहां जो ज्ञान आवश्यक है वह शरीरशास्त्र, मानसशास्त्र, अध्यात्मशास्त्र इत्यादिका ज्ञान है। साथ ही साथ भक्तिमार्ग, ज्ञानमार्ग आदिका भी ज्ञान होना चाहिये। (मं. ८)

११ अङ्गिरस :- अंगरसकी विद्या जाननेवाले ऋषि। शरीरमें सर्वत्र संचार करनेवाला एक प्रकारका जीवनरस है, उसकी विद्या जो जानते हैं, उनसे यह विद्या प्राप्त करके उस विद्या द्वारा कामाग्निका शमन करना चाहिये। योगसाधनमें इस विषयके अनेक उपाय कहे हैं, उनका भी यहां अनुसंधान करना चाहिये। (मं.८)

१२ इन्द्र :- इन्द्र नाम जीवात्मा, राजा और परमात्मांका है। इन तीनोंका कामाग्निकी शान्ति करनेमें बडा संबंध है। जीवात्माका आत्मिक बल बढाकर शुभसंकल्पोंके द्वारा अपने अंदरके कामविकारका संयम करना चाहिये। राजाको चाहिये कि वह अपने राज्यमें ब्रह्मचर्य और संयमका वायुमंडल बढाकर कामाग्निकी शान्ति करनेकी सबके लिये सुगमता करे। राष्ट्रमें अध्यापकवर्ग और संरक्षक अधिकारी वर्ग ब्रह्मचारी रखकर राज्य चलानेका उपदेश अथर्ववेदके ब्रह्मचर्य सूक्त (अथर्व. १०।५ (७) १६) में कहा है। वह यहां अवश्य देखने योग्य हैं। इससे राजाके कर्तव्यका पता लग सकता है। यदि राज्यमें अध्यापक गण पूर्ण ब्रह्मचारी हों और राज्यशासनके अन्य ओहदेदार भी उत्तम ब्रह्मचारी हों तो उस राज्यका वायुमंडल ही ब्रह्मचर्यके लिये अनुकूल होगा और ऐसे राज्यमें रहनेवाले लोगोंका ब्रह्मचर्य रहना, संयम होना अथवा कामाग्निका शमन होना निःसन्देह सुसाध्य होगा। धन्य है ऐसे वैदिक राज्यकी कि जहां सब अधिकारी

वर्ग और अध्यापक वर्ग ब्रह्मचारी होते हों। वैदिकधर्मियोंको ऐसा प्रयत्न करना चाहिये कि ऐसे राज्य इस भूमंडलपर स्थापित हों और सर्वत्र ब्रह्मचर्यका वायुमंडल फैले। इसके नंतर इन्द्र शब्दका तीसरा अर्थ परमात्मा है। यह परमात्मा तो पूर्ण ब्रह्मचर्यका आदर्श है, इसकी भक्ति और उपासनासे कामाग्निका शमन होता ही है। सब ऋषिमुनि और योगी इसी परमात्मा भक्तिकी साधनासे मनःसंयम द्वारा कामाग्निका शमन करके अमर हो गये।

इस प्रकार उपायका वर्णन इस सूक्तमें किया है। यह सूक्त अत्यन्त महत्त्वका है। इसका पाठ 'बृहच्छान्तिगण' में किया है। सचमुच यह सूक्त बृहती शांति करनेवाला ही है। जो पाठक इसके अनुष्ठानसे इस शांतिकी साधना करेंगे वेही धन्य होंगे।

• • •

वर्चःप्राप्ति सूक्त ।

(२२)

(ऋषिः - वसिष्ठः । देवता - वर्चः, बृहस्पतिः, विश्वेदेवाः)

हस्तिवर्चसं प्रथतां बृहद्यशो अदित्या यत्तन्वः संबभूव ।
तत्सर्वे समदुर्मह्यमेतद्विश्वे देवा अदितिः सजोषाः ॥ १ ॥
मित्रश्च वरुणश्चेन्द्रो रुद्रश्च चेततु ।
देवासो विश्वधायसस्ते माञ्जन्तु वर्चसा ॥ २ ॥
येन हस्ती वर्चसा संबभूव येन राजा मनुष्येष्वप्स्वन्तः ।
येन देवा देवतामग्र आयन्तेन मामद्य वर्चसाग्ने वर्चस्विनं कृणु ॥ ३ ॥

अर्थ - **(यम आदित्याः तन्वः)** जो अदितिके शरीरसे **(संबभूव)** उत्पन्न हुआ है वह **(हस्तिवर्चसं बृहत् यशः)** हाथीके बलके समान बडा यश **(प्रथतां)** फैले। **(तत् एतत्)** वह यह यश **(सर्वे सजोषाः विश्वे देवाः अदितिः)** सब एक मनवाले देव और अदिति **(मह्यं सं अदुः)** मुझे देते हैं ॥१॥

(मित्रः च वरूणः च इन्द्रः च रूद्रः च) मित्र, वरूण, इन्द्र और रूद्र **(चेततु)** उत्साह देवें। **(ते विश्वधायसः देवाः)** वे विश्वके धारक देव **(वर्चसा मा अञ्जन्तु)** तेसजे मुझे युक्त करें ॥२॥

(येन वर्चसा हस्ती संबभूव) जिस तेजसे हाथी उत्पन्न हुआ है, और **(येन मनुष्येषु अप्सु च अन्तः राजा संबभूव)** जिसे तेजसे मनुष्योंमें और जलोंके अन्दर राजा हुआ है, और **(येन देवाः अग्ने देवतां आयन्)** जिस तेजसे, देवोंने पहले देवत्व प्राप्त किया, **(तेन वर्चसा)** उस तेजसे, हे अग्ने। **(मां अद्य वर्चस्विनं कृणु)** मुझे आज तेजस्वी कर ॥३॥

भावार्थ - जो मूल प्रकृतिके अन्दर बल है, जो हाथी आदि पशुओंमें आता है, वह बल मुझमें आवे, सब देव एक मतसे मुझे बल देवें ॥१॥

मित्र, वरूण, इन्द्र और रूद्र ये विश्वके धारक देव मुझे उत्साह देवें, ज्ञान देवें और मुझे तेजसे युक्त करें ॥२॥

जिस बलसे हाथी सब पशुओंमें बलवान् हुआ है, जिस बलसे मनुष्योंके अन्दर राजा बलवान् होता है और भूमि तथा जलपर भी अपना शासन करता है, जिस बलसे पहले देवोंनें देवत्व प्राप्त किया था, हे तेजके देव ! वह बल आज मुझे प्राप्त होवे ॥३॥

यत्ते वर्चो जातवेदो बृहद्भवत्याहुतेः ।
यावत्सूर्यस्य वर्च आसुरस्य च हस्तिनः ।
तावन्मे अश्विना वर्च आ धत्तां पुष्करस्रजा ॥ ४ ॥

यावच्चतस्रः प्रदिशश्चक्षुर्यावत्समश्नुते ।
तावत्समैत्विन्द्रियं मयि तद्धस्तिवर्चसम् ॥ ५ ॥

हस्ती मृगाणां सुषदामतिष्ठावान्बभूव हि ।
तस्य भगेन वर्चसाभि षिञ्चामि मामहम् ॥ ६ ॥

अर्थ - हे **(जातवेदः)** जातवेद ! **(ते यत् वर्चः आहुतेः बृहत् भवति)** तेरा जो तेज आहुतियोंसे बडा होता है **(यावत् सूर्यस्य, आसुरस्य हस्तिनः च वर्चः)** और जितना सूर्यका और आसुरी हाथी **(मेघ)** का बल और तेज होता है, हे **(पुष्करस्रजौ अश्विनौ)** पुष्पमाला धारण करनेवाले अश्वि देवो ! **(तावत् वर्चः मे आ धत्तां)** उतना तेज मेरे लिये धारण कीजिये ॥४॥

यावत् **(चतस्रः प्रदिशः)** जितनी दूर चारों दिशायें हैं, **(यावत् चक्षुः समश्नुते)** जितनी दूर दृष्टि फैलती है, **(तावत् मयि तत् हस्तिवर्चसं इन्द्रियं)** उतना मुझमें वह हाथीके समान इंद्रियोंका बल **(सं ऐतु)** इकट्ठा होकर मिले ॥५॥

(हि सुषदां मृगाणां) जैसा अच्छे बैठनेवाले पशुओंमें **(हस्ती अतिष्ठावान् बभूव)** हाथी बडा प्रतिष्ठावान् हुआ है, **(तस्य भगेन वर्चसा)** उसके ऐश्वर्य और तेजसे साथ **(अहं मां अभि षिञ्चामि)** मैं अपने आपको अभिषिक्त करता हूं ॥६॥

भावार्थ - हे बने हुएको जाननेवाले देव ! जो तेज अग्निमें आहुतियां देनेसे बढता है, जो तेज सूर्यमें है, जो असुरोमें तथा हाथीमें या मेघोंमें है, हे अश्विदेवो ! वह तेज मुझे दीजिये ॥४॥

चार दिशाएं जितनी दूर फैली है, जितनी दूर मेरी दृष्टि जाती है, उतनी दूरतक मेरे सामर्थ्यका प्रभाव फैले ॥५॥

जैसा हाथी पशुओंमें बडा बलवान् है, वैसा बल और ऐश्वर्य मैं प्राप्त करता हूं ॥६॥

शाकभोजनसे बल बढाना ।

शरीरका बल, तेज, आरोग्य, वीर्य आदि बढानेके संबंधका उपदेश करनेवाला यह सूक्त है । प्राणियोंमें हाथीका शरीर (**हस्तिवर्चसं** । मं. १) बडा, मोटा और बलवान् भी होता है । हाथी शाकाहारी प्राणी है, इसीका आदर्श वेदने यहां लिया है, सिंह और व्याघ्रका आदर्श लिया नहीं । इससे सूचित होता है कि मनुष्य शाकभोजी रहता हुआ अपना बल बढावे और बलवान् बने । वेदकी शाकाहार करनेके विषयकी आज्ञा इस सूक्त द्वारा अप्रत्यक्षतासे व्यक्त हो रही है, यह बात पाठक यहां स्मरण रखें ।

बलप्राप्तिकी रीति ।

'अदिति' प्रकृतिका नाम है, उस मूल प्रकृतिमें बहुत बल है, इस बलके कारण ही प्रकृतिको 'अदिति' अर्थात् 'अ - दीन' कहते हैं । इस प्रकृतिके ही पुत्र सूर्य - चंद्रादि देव हैं, इसीलिये इस प्रकृतिको देवमाता, सूर्यादि देवोंकी माता कहा जाता है । मूल प्रकृतिका ही बल विविध देवोंमें विविध रीतिसे प्रकट हुआ है, सूर्यमें तेज, वायुमें जीवन, जलमें शीतता आदि गुण इस देवोंकी अदिति मातासे इनमें आ गये है । इस लिये प्रथम मंत्रमें कहा है कि इन सब देवोंसे प्रकृतिका अमर्याद बल मुझे प्राप्त हो' । (मं.१) सचमुच मनुष्यको जो बल प्राप्त होता है वह पृथ्वी, आप, तेज, वायु आदि देवोंकी सहायतासे ही

प्राप्त होती है, किसी अन्य रीतिसे नहीं होता है । यह बल प्राप्त करनेकी रीति है । इन देवोंके साथ अपना संबंध करनेसे अपने शरीरका बल बढने लगता है । जलमें तैरने, वायुमें भ्रमण करने अथवा खेलकूद करने, धूपसे शरीरको तपाने अर्थात् शरीरकी चमडीके साथ इन देवोंका सम्बन्ध करनेसे शरीरका बल बढता है । इससे यह सिद्ध हुआ कि तंग मकानमें अपने आपको बन्द रखनेसे बल घटता है ।

द्वितीय मंत्र कहता है कि ' (मित्र) सूर्य, (वरुणः) जलदेव, (इन्द्रः) विद्युत्, (रुद्रः) अग्नि अथवा वायु ये विश्वधारक देव मेरी शक्ति बढावें ।' (मं.२) यदि इनके जीवन रसपूर्ण अमृत प्रवाहोंसे अपना संबंध ही टूट गया तो ये देव हमारी शक्ति कैसी बढावेंगे ? इसलिये बल बढानेवालोंको उचित है कि वे अपने शरीरकी चमडीका संबंध इन देवोंके अमृत प्रवाहोंके साथ योग्य प्रमाणसे होने दें । ऐसा करनेसे इनके अंदरका अमृत रस शरीरमें प्रविष्ट होगा और बल बढेगा ।

अन्य मंत्रोंका आशय स्पष्ट ही है । मरियल औल बलवान् होनेका मुख्य कारण यहां इस सूक्तने स्पष्ट कर दिया है । जो पाठक इस सूक्तके उपदेशके अनुसार आचरण करेंगे वे निःसंदेह बल, वीर्य, दीर्घायु और आरोग्य प्राप्त करेंगे ।

• • •

वीर पुत्रकी उत्पत्ति ।

(२३)

(ऋषिः - ब्रह्मा । देवता - चन्द्रमाः, योनिः, द्यावापृथिवी)

येन वेहद्बभूविथ नाशयामसि तत्त्वत् ।
इदं तदन्यत्र त्वदप दूरे नि दध्मसि ॥ १ ॥
आ ते योनिं गर्भ एतु पुमान्बाण इवेषुधिम् ।
आ वीरोऽत्र जायतां पुत्रस्ते दशमास्यः ॥ २ ॥

अर्थ - **(येन वेहत् बभूविथ)** जिस कारणसे तू वन्ध्या हुई है, **(तत् त्वत् नाशयामसि)** वह कारण तुझसे हम दूर करते हैं । **(तत् इदं)** वह यह वंध्यापन **(अन्यत्र त्वत् दूरे)** दूसरी जगह तेरेस दूर **(अप नि दध्मसि)** हम ले जाते हैं ॥१॥

(पुमान् गर्भः ते योनिं आ एतु) पुरुष गर्भ तेरे गर्भाशयमें आ जावे, **(बाणः इषुधिं इव)** जैसा बाण तूणीरमें होता है । **(अत्र ते)** यहां तेरा **(दशमास्यः वीरः पुत्रः आ जायतां)** दस महिने गर्भमें रहकर वीर पुत्र उत्पन्न हो ॥२॥

भावार्थ - हे स्त्री ! जिस दोषके कारण तुम्हारे गर्भाशयमें गर्भधारणा नहीं होती है और तू वन्ध्या बनी है, वह दोष मैं तेरे गर्भसे दूर करता हूं और पूर्ण रीतिसे वह दोष तुझसे दूर करता हूं ॥१॥

तेरे गर्भाशयमें पुरुष गर्भ उत्पन्न हो, वह गर्भ वहां दस मासतक अच्छी प्रकार पुष्ट होता हुआ उससे उत्तम वीर पुत्र तुझे उत्पन्न होवे ॥२॥

पुमांसं पुत्रं जनय तं पुमाननु जायताम् ।
भवासि पुत्राणां माता जातानां जनयाश्च यान् ॥ ३ ॥
यानि भद्राणि बीजान्यृषभा जनयन्ति च ।
तैस्त्वं पुत्रं विन्दस्व सा प्रसूर्धेनुका भव ॥ ४ ॥
कृणोमि ते प्राजापत्यमा योनिं गर्भ एतु ते ।
विन्दस्व त्वं पुत्रं नारि यस्तुभ्यं शमसच्छमु तस्मै त्वं भव ॥ ५ ॥
यासां द्यौः पिता पृथिवी माता समुद्रो मूलं वीरुधां बभूव ।
तास्त्वा पुत्रविद्याय दैवीः प्रावन्त्वोषधयः ॥ ६ ॥

अर्थ - **(पुमांसं पुत्रं जनय)** पुरूष संतान उत्पन्न कर, **(तं अनु पुमान् जायतां)** उसके पीछे भी पुत्र ही उत्पन्न होवे। इस प्रकार तू **(पुत्राणां माता भवासि)** पुत्रोंकी माता हो, **(जातानां यान् च जनयाः)** जो पुत्र जनमें हैं और जिनको तू इसके बाद उत्पन्न करेगी ॥३॥

(यानि च भद्राणि बीजानि) जो कल्याणकारक बीज हैं जिनको **(ऋषभाः जनयन्ति)** ऋषभक वनस्पतियां उत्पन्न करती हैं, **(तैः त्वं पुत्रं विन्दस्व)** उनसे तू पुत्रको प्राप्त कर। **(सा प्रसूः)** वैसी प्रसूत होनेवाली तू **(धेनूका भव)** गौके समान उत्तम माता हो ॥४॥

(ते प्राजापत्यं कृणोमि) तेरे लिये प्रजा होनेका संस्कार मैं करता हूं। **(गर्भः ते योनिं एतु)** गर्भ तेरी योनिमें आवे। हे **(नारि)** स्त्री ! **(त्वं पुत्रं विन्दस्व)** तू पुत्रको प्राप्त कर। **(यः तुभ्यं शं असत्)** जो तेरे लिये कल्याणकारी होवे और **(च त्वं उ तस्मै शं भव)** तू निश्चयसे उसके लिये कल्याणकारिणी हो ॥५॥

(यासां वीरूधां) जिन औषधियोंकी **(द्यौः पिता)** द्युलोक पिता है, **(पृथिवी माता)** पृथ्वी माता है, और **(समुद्रः मूलं)** समुद्र मूल **(बभूव)** हुआ है। **(ताः दैवीः ओषधयः)** वे दिव्य औषधियां **(त्वा पुत्रविद्याय)** तुझे पुत्र प्राप्त करनेके लिये **(प्र अवन्तु)** विशेष रक्षण करें ॥६॥

भावार्थ - पुरूष संतान उत्पन्न कर। उसके पीछे दूसरा भी पुत्र ही होवे। इस प्रकार तू अनेक पुत्रोंकी माता हो ॥३॥ऋषभक आदि औषधियोंके जो उत्तम बीज होते हैं, उनका सेवन पुत्र प्राप्तिके लिये तू कर। और उत्तम वीर पुत्रोंको उत्पन्न कर ॥४॥

प्रजा उत्पन्न होनेका प्राजापत्य संस्कार मैं तुझपर करता हूं, उससे तेरे गर्भायशमें पुरूष गर्भ उत्पन्न होवे और तू पुत्र संतानको उत्पन्न कर। वह पुत्र तेरा कल्याण करे और तू उसका कल्याण कर ॥५॥

जो औषधियां पृथ्वीपर उत्पन्न होती है, जिनका पालन दिव्य शक्तिसे होता है और जो समुद्रसे उत्पन्न हुई है, उन दिव्य औषधियोंका सेवन पुत्र प्राप्तिके लिये तू कर, उससे तुम्हारे गर्भाशयका दोष दूर होगा और तुझे उत्तम संतान उत्पन्न होगी ॥६॥

वीर पुत्रका प्रसव।

वंध्या स्त्रीका वंध्यात्व दूर करके उसको उत्तम वीर पुत्र उत्पन्न होने योग्य 'जननी' बनाना इस सूक्तका साध्य है। पहले तीन मंत्रोंमें मंगल विचारोंकी सूचना द्वारा आंतरिक परिवर्तन करनेका उपाय कहा है। यदि किसी स्त्रीको यौवनमें मनसे पूरा पूरा निश्चय हो जायगा कि अपना वंध्यापन दूर हुआ है, तो अंदर वैसा ही अनुकूल परिवर्तन हो जाना संभव है। यदि गात्र विषयक कोई वैसा बडा दोष न हो, तो इस मानसिक विचार परिवर्तनसे भी आवश्यक सिद्धि मिलना संभव है।

इस कार्यके लिये **'प्राजापत्य इष्टि'** का प्रयोग पंचम मंत्रमें कहा है। ऋषभक आदि दिव्य औषधियोंका हवन

और उनके बीजोंका विधिपूर्वक भक्षण करनेका विधान चतुर्थ मंत्रमें है । ऋषभक औषधियोंका एक गण ही है, ये औषधियां वीर्य बढानेवाली, शरीरको पुष्ट करनेवाली और गर्भाशयके दोष दूर करके वहांका आरोग्य बढानेवाली है । इन औषधियोंका हवन करना, इनका सेवन करना और आरोग्यपूर्ण विचार मनमें धारण करना ये तीन उपाय वंध्यात्व दूर करनेके लिये इस सूक्तमें कहे हैं ।

याजक धर्मभावसे यह प्राजापत्य यज्ञ करे, यज्ञशेष आहुति रस स्त्रीको पिलावे और प्रथम तीन मंत्रोक्त आरोग्यके विचार आशीर्वाद रूपसे कहे - है स्त्री! तेरे अंदर जो वंध्यात्वका दोष था, वह इस प्राजापत्य दृष्टिसे दूर हो गया है, अब तुम्हारे गर्भाशयमें पुरुष गर्भ उत्पन्न होगा, वहां वह वीर बालक दस मासतक पुष्ट होता रहेगा और पश्चात् योग्य समयमें उत्पन्न होगा । अब तू अनेक पुत्रोंकी माता बनेकी । (मं. १-३)

इस प्रकारके मनःपूर्वक दिये हुए आशीर्वादसे तथा उस आशीर्वादको अचल निश्चल स्वीकार करनेसे शरीरके अन्दर आवश्यक परिवर्तन हो जाता है । **'शिव संकल्पसे चिकित्सा'** करनेकी रीति यह है । इस विषयके सूक्त अथर्ववेदमें अनेक हैं ।

इस सूक्तमें **'ओषधयः'** शब्द बहुवचनान्त है, इससे अनुमान होता है कि इस सेवन विधिमें अनेक औषधियां आती हैं । सुविज्ञ वैद्योंको इस विषयकी खोज करना चाहिये ।

• • •

समृद्धिकी प्राप्ति ।

(२४)

(ऋषिः - भृगुः । देवता - वनस्पतिः, प्रजापतिः)

पयस्वतीरोषधयः पयस्वन्मामकं वचः । अथो पयस्वतीनामा भरेऽहं सहस्रशः ॥ १ ॥

वेदाहं पयस्वन्तं चकार धान्यं बहु ।

संभृत्वा नाम यो देवस्तं वयं हवामहे यो यो–अयज्वनो गृहे ॥ २ ॥

इमा याः पञ्च प्रदिशो मानवीः पञ्च कृष्टयः । वृष्टे शापं नदीरिवेह स्फातिं समावहान् ॥ ३ ॥

अर्थ- **(ओषधय पयस्वतीः)** औषधियां रसवाली है, और **(मामकं वचः पयस्वत्)** मेरा वचन भी सारवाला है । **(अथो)** इसलिये **(पयस्वतीनां सहस्रशः)** रसवाली औषधियोंका हजारहां प्रकारसे **(अहं आ भरे)** येभरण पोषण करता हूं ॥१॥

(पयस्वन्तं बहुधान्यं चकार) रसवाला बहुत धान्य उत्पन्न किया है उसकी रीति **(अहं वेद)** मैं जानता हूं। **(यः वः अजन्वनः गृहे)** जो कुछ अजायकके घरमें है उसको **(संभृत्वा नाम यः देवः)** संग्रह करके लानेवाला इस नामका जो देव है, **(तं वयं हवामये)** उसका हम यजन करते हैं ॥२॥

(इमाः याः पञ्च प्रदिशः) ये जो पांचो दिशाओंमें रहनेवाली **(मानवीः पञ्च कृष्ट्यः)** मनुष्योंकी पांच जातियां है वे **(इस स्फातिं समावहन्)** यहां वृद्धिको प्राप्त करें **(इव)** जिस प्रकार **(वृष्टे नदीः शापं)** वृष्टि होनेके कारण नदियां सब कुछ भर लाती हैं ॥३॥

भावार्थ - मेरा भाषण मीठा होता है वैसी ही औषधियां उत्तम रसवाली होती है, इसलिये मैं विशेष प्रकारसे औषधियोंका पोषण करता हूं ॥१॥

रसवाला उत्तम धान्य उत्पन्न करनेकी विधि मैं जानता हूं । इसलिये उस दयावान् ईश्वरका मैं यजन करता हूं, जो अयाजक लोगोंके घरमें भी समृद्धि करता हैं ॥२॥

ये पांचो दिशाओंमें रहनेवाली मानवोंकी पांच जातियां उत्तम समृद्धि प्राप्त करें जैसी नदियां वृष्टि होनेपर भर जाती हैं ॥३॥

उदुत्सं शतधारं सहस्रधारमक्षितम् । एवास्माकेदं धान्यं सहस्रधारमक्षितम् ॥ ४ ॥
शतहस्त समाहर सहस्रहस्त सं किर । कृतस्य कार्यस्य चेह स्फातिं समावह ॥ ५ ॥
तिस्रो मात्रा गन्धर्वाणां चतस्रो गृहपत्न्याः । तासां या स्फातिमत्तमा तया त्वाभि मृशामसि ॥ ६ ॥
उपोहश्च समूहश्च क्षत्तारौ ते प्रजापते । ताविहा वहतां स्फातिं बहुं भूमानमक्षितम् ॥ ७ ॥

अर्थ - (शतधारं सहस्रधारं अक्षितं उत्सं उत्) सैंकडों और हजारों धाराओंवाले अक्षय झरने या तडागादिक जैसे वृष्टिसे भर जाते हैं, **(एव अस्माक इदं धान्यं)** इसी प्रकार हमारा यह धान्य **(सहस्रधारं अक्षितं)** हजारों धाराओंको देता हुआ अक्षय होवे ॥४॥

हे **(शत - हस्त)** सौ हाथोंवाले मनुष्य ! **(समाहर)** इकट्ठा करके ले आओ । हे **(सहस्र - हस्त)** हजारों हाथोंवाले मनुष्य । **(सं किर)** उसको फैला दे, दान कर । और **(कृतस्य कार्यस्य च)** किये हुये कार्यकी **(इह स्फातिं समावह)** यहां वृद्धि कर ॥५॥

(गंधर्वाणां तिस्रः मात्राः) भूमिका धारण करनेवालोंकी तीन मात्राएं और **(गृहपत्न्याः चतस्रः)** गृहपत्नियोंकी चार होती हैं । **(तासां या स्फाति - मत् - तमा)** उनमें जो अत्यंत समृद्धिवाली है **(तया त्वा अभि मृशामसि)** उससे तुझको हम संयुक्त करते हैं ॥६॥

हे **(प्रजापते)** प्रजाके पालक ! **(उपोहःच)** उठाकर लानेवाला और **(समूहः च)** इकट्ठा करनेवाला ये दोनों **(ते क्षत्तारौ)** तेरे सहकार्य करनेवाले हैं । **(तौ इह स्फातिं)** वे दोनों यहां वृद्धिको लावें और **(बहु अक्षितं भूमानं आ वहतां)** बहुत अक्षय भरपूरताको लावें ॥७॥

भावार्थ - वृष्टि होनेसे तालाव आदि जलाशय जैसे भरपूर भर जाते हैं उसी प्रकार हमारे घरोंमें अनेक प्रकारके धान्य भरपूर और अक्षय हो जावें ॥४॥

हे मनुष्य ! तू सौ हाथोंवाला होकर धन प्राप्त कर और हजार हाथोंवाला बनकर उसका दान कर । इस प्रकार अपने कर्तव्य कर्मकी उन्नति कर ॥५॥

ऐसा करनेसे ही अधिकसे अधिक समृद्धि हम तुमको देते हैं ॥६॥

लानेवाला और संग्रहकर्ता ये दोनों प्रजापालन करनेवालेके सहकारी है । अतः ये दोनों इस स्थानपर समृद्ध हों और अक्षय समृद्धि प्राप्त करें ॥७॥

समृद्धिकी प्राप्तिके उपाय ।

समृद्धि हरएक चाहता है परंतु उसकी प्राप्तिका उपाय बहुत थोडे जानते हैं । समृद्धिकी प्राप्तिके कुछ उपाय इस सूक्तमें कहे हैं । जो लोक समृद्धि प्राप्त करना चाहते हैं वे इस सूक्तका अच्छी प्रकार मनन करें । समृद्धिकी प्राप्तिके लिये पहिला नियम 'मीठी वाणी' है -

पयस्वान् मामकं वचः । (सू. २४, मं.१)

'दूध जैसा मधुर मेरा वचन हो,' भाषणमें मधुरता, रसमयता, मीठास, सुननेवालोंकी तृप्ति करनेका गुण रहे । समृद्धि प्राप्त करनेके लिये मीठे भाषण करनेकी गुणकी अत्यंत आवश्यकता है । आत्मशुद्धिका यह पहला और आवश्यक नियम है । इसके पश्चात् समृद्धि बढानेका दूसरा नियम है, 'दक्षतासे कृषिकी वृद्धि करना ।' -

पयस्वतीनां आभरेऽहं सहस्रशः ।

(सू. २४, मं.१)

वेदाहं पयस्वन्तं चकार धान्यं बहु ।

(सू. २४, मं.२)

'रसवाली औषधियोंका मैं हजारों प्रकारोंसे पोषण करता हूं बहुतधान्य कैसा उत्पन्न किया करते हैं, यह विद्या मैं जानता हूं ।' अर्थात् उत्तम कृषि करनेकी विद्या जानना और उसके अनुसार कृषि करके अपना धान्यसंग्रह

बढाना समृद्धि होनेके लिये अत्यन्त आवश्यक है। रसदार धान्य अपने पास न हुआ तो अन्य समृद्धि होनेसे कोई विशेष लाभ नहीं है। मीठा भाषण करनेवाला मनुष्य हुआ तो उसके पास बहुत मनुष्य इकट्ठे हो सकते हैं, और उसके पास रसवाला धान्य हुआ तो वे आनंदसे तृप्त हो सकते हैं। इसके पश्चात् 'सामुदायिक उपासना करना' समृद्धिके लिये आवश्यक होता है -

सम्भृत्वा नाम यो देवस्तं वयं हवामहे
यो - यो अयज्वनो गृहे ॥ (सू. २४, मं. २)

'जो यज्ञ न करनेवालोंके भी घरमें (उनके पोषणके समान रखता है वह दयामय) संभारकर्ता नामक देव है उसकी उपासना हम करते हैं।' परमेश्वर सबका पालन हारा है, उसकी कृपादृष्टि सबोंपर रहती है, ऐसा जो दयामय ईश्वर है, उसकी उपासना करनेसे समृद्धि बढ जाती है। जो देव अयाजकोंको भी पुष्टिके साधन देता है वह तो याजकोंका पोषण करेगा ही, इसलिये ईश्वरभक्ति करना समृद्धि प्राप्त करनेका मुख्य साधन है। इस मंत्रमें **'हवामहे'** यह बहुवचनमें पद है, इसलिये बहुतोंद्वारा मिल कर उपासना करनेका - यज्ञ करनेका - भाव इससे स्पष्ट होता।

मिलकर उपासना करनेसे और पूर्वोक्त दोनों नियमोंका पालन करनेसे 'पांचों मनुष्योंकी अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, निषादोंकी मिलकर उन्नति हो सकती है।' (मं.३) उन्नतिका यह नियम है। जिस प्रकार वृष्टि हुई तो नदी बढती है अन्यथा नहीं, इसी प्रकार पूर्वोक्त तीनों नियमोंका पालन हुआ तो मनुष्योंकी उन्नति निःसंदेह होगी। पाठक इन नियमोंका अवश्य स्मरण रखें।

समृद्धि होनेके लिये रसदार धान्यकी विपुलता अपने पास अवश्य होनी चाहिये, यह भाव विशेष दृढ करनेके लिये चतुर्थ मंत्रमें 'हजारों प्रकारकी मधुर रसधाराओंसे युक्त अक्षय धान्यका संग्रह' अपने पास रखनेका उपदेश किया है। यह विशेष ही महत्त्वका उपदेश है। इस प्रकार धनधान्यकी विपुलता होनेपर स्वार्थ उत्पन्न होगा और उस स्वार्थके कारण आत्मोन्नति होना सर्वथा असंभव है। इसलिये पंचम मंत्रमें दान देनेके समय विशेष उदारता रखनेका भी उपदेश किया है -

शतहस्त समाहर, सहस्रहस्त सं किर ।
(सू. २४, मं.५)

'सौ हाथोंवाला होकर कमाई करो, और हजार हाथोंवाला बनकर उसका दान करो।' यह उपदेश हरएक मनुष्यको अपने हृदयमें स्थिर करना अत्यंत आवश्यक है। इस उदार भावके विना मनुष्यकी उन्नति असंभव है। इसके पश्चात् वेद कहता है कि -

कृतस्य कार्यस्य चेह स्फातिं समावह ।
(सू. २४, मं.५)

'इस प्रकार अपने कर्तव्यकर्मकी यहां उन्नति करो।' जो पूर्वोक्त स्थानमें उन्नतिके नियम कहे हैं, उन नियमोंका पालन करनेद्वारा अफने कर्तव्यके क्षेत्रका विस्तार करो, यह उपदेश मनन करने योग्य है। **'(कार्यस्य स्फातिं समावह)'** ये शब्द हरएक मनुष्यके कार्यक्षेत्रके विषयमें कहे हैं, ब्राह्मण अपना ज्ञान विषयक कार्यक्षेत्र बढावे, क्षत्रिय अपना प्रजारक्षण रूप कार्यक्षेत्र बढावे, वैश्य कृषि, गौरक्ष्य, वाणिज्य आदिमें अपने कार्यक्षेत्रकी वृद्धि करे, शूद्र अपने कारीगरीके कार्य बढावे और निषाद अपने जो वनरक्षा विषयक कर्तव्य हैं उनकी वृद्धि करे। इस प्रकार सबकी उन्नति हुआ, तो संपूर्ण पंचजनोंका अर्थात् सब राष्ट्रका सुख बढ सकता है और सबकी सामुदायिक उन्नति हो सकती है। हरएकको अपनी (स्फाति) बढती, उन्नति, वृद्धि, समृद्धि करनेके लिये अवश्य ही कटिबद्ध होना चाहिये। अपनी संपूर्ण शक्तियोंका विकास अवश्य करना चाहिये।

मुख्य दो साधन।

समृद्धि प्राप्त करनेके दो मुख्य साधन हैं। **'उपोहः'** और **'समूहः'** इनके विशेष अर्थ देखिये -

१ उपोहः- (उप - ऊहः) इकट्ठा करना, संग्रह करना, एक स्थानपर लाकर रखना।

२ समूहः - समुदायोंमें बांटकर वर्गीकरण करना। पहली बात है संग्रह करना और दूसरी बात है उन संग्रहित द्रव्योंको वर्गीकरण द्वारा समुचित रीतिसे व्यवस्थित रखना। इसीसे शास्त्र बनता और बढता है। वृक्ष - वनस्पतियोंका संग्रह करने और उनका वर्गीकरण करनेसे वनस्पतिशास्त्रकी उत्पत्ति हुई है। वस्तुसंग्रहालयमें देखिये, वहां पदार्थोंका संग्रह किया जाता है और उनको वर्गोंमें सुव्यवस्थित रखा जाता है। यदि ऐसा न किया जाय, तो वस्तुसंग्राहालयोंसे बिलकुल लाभ नहीं होगा। इसी प्रकार अपने घरमें वस्तुओंका संग्रह करना चाहिये और उनको वर्गोंमें अपने अपने सुयोग्य क्रमपूर्वक सुव्यवस्थासे रखना चाहिये। तभी उन्नति या समृद्धि हो सकती है।

सप्तम मंत्रमें **'उपोहः** (संग्रह) और **समूहः** (समूहोंमें वर्गीकरण करना)' ये दो बातें समृद्धिकी साधक करके

कही हैं। यह बहुत ही महत्त्वका विषय है, इसलिये पाठक इसका मनन करें और अपने जीवनभर लाभ देनेवाला यह उत्तम उपदेश हैं यह जानकर इससे बहुत लाभ उठावें।

संग्रह और वर्गीकरण उन्नतिके साधक है, इस विषयमें सप्तम मंत्रका कथन ही स्पष्ट है -

तौ इह स्फातिं आ वहताम् ।
अक्षितं बहुं भूमानम् ॥ (सू. २४, मं.७)

'वे (अर्थात् संग्रह और वर्गीकरण ये) दोनों इस संसारमें (**स्फातिं**) समृद्धिको देते हैं और (**भूमानं**) विपुल धन अथवा विशेष महत्त्व देते हैं।'

जिसको समृद्धि और धन चाहिये वे इन गुणोंको अपनावें और इनसे अपना लाभ सिद्ध करें। जो लोग अभ्युदय प्राप्त करनेके इच्छुक है उनको इस सूक्तका बहुत मनन करना चाहिये। कमसे कम इस सूक्तमें कथित जो महत्त्वपूर्ण उपदेश हैं, उनको कभी भूलना उचित नहीं है। जो पाठक इस सूक्तका मनन करेंगे वे अपने अभ्युदयका मार्ग इस सूक्तके विचारसे निःसंदेह जान सकते हैं।

•••

काम का बाण ।

(२५)

(ऋषिः - भृगुः । देवता - मित्रावरुणौ, कामेषुः)

उत्तुदस्त्वोत्तुदतु मा धृथाः शयने स्वे । इषुः कामस्य या भीमा तया विध्यामि त्वा हृदि ॥ १ ॥

आधीपर्णां कामशल्यामिषुं संकल्पकुल्मलाम् । तां सुसंनतां कृत्वा कामो विध्यतु त्वा हृदि ॥ २ ॥

या प्लीहानं शोषयति कामस्येषुः सुसंनता । प्राचीनपक्षा व्योषा तया विध्यामि त्वा हृदि ॥ ३ ॥

अर्थ - (**उत्तुदः त्वा उत्तुदतु**) हिलानेवाला काम तुझे हिला देवे। (**स्वे शयने मा धृथाः**) अपने शयनमें मत ठहर। (**कामस्य या भीमा इषुः**) कामका जो भयानक बाण है (**तया त्वा हृदि विध्यामि**) उससे तुझको हृदयमें वेधता हूं ॥१॥

(**आधी - पर्णां**) जिसपर मानसिक पीडा रूपी पंख लगे हैं, (**काम -शल्यां**) कामेच्छा रूपी बाणका अग्रभाग जहां लगाया है, (**संकल्प - कुल्मकां**) संकल्प रूपी दण्डा जहां लगा है, (**तां**) उस (**इषुं**) बाणको (**सुसन्नतां कृत्वा**) ठीक प्रकार लक्ष्यपर धरके (**कामः हृदि त्वा विध्युत**) काम हृदयमें तुझको वेध करें ॥२॥

(**कामस्य सुसन्नता**) कामका ठीक लक्ष्यपर चलाया हुआ (**प्राचीन - पक्षा वि - ओषा**) सीधे पङ्खवाला और विशेष जलानेवाला (**या इषुः प्लीहानं शोषयति**) जो बाण तिल्लीको सुखा देता है, (**तया त्वा हृदि विध्यामि**) उससे तुझको हृदयमें वेधता हूं ॥३॥

भावार्थ - हे स्त्री! सबको हिलानेवाला काम तेरे अन्तःकरणको भी हिला देवे। कामका बाण तेरे हृदयका वेध करे जिससे विद्ध हुई तू सुखसे निद्रा लेनेमें भी असमर्थ हो ॥१॥

इस कामके बाणको मानसिक पीडा रूप पंख लगे हैं, इसके आगे कामविकार रूपी लोहेका तीक्ष्ण शल्य लगाया है, उसके पीछे मनका संकल्प रूपी दण्डा जोड दिया है, इस प्रकारके बाणको अति तीक्ष्ण बनाकर काम तेरे हृदयका वेध करे ॥२॥

यह कामका बाण अचूक लगता है, क्योंकि इसपर मानसिक व्यथाके पर लगे हैं, और साथ ही यह विशेष रीतिसे जलानेवाला भी है और यह तिल्लोकी बिलकुल सुखा देता है, इससे मैं तुझे वेधता हूं ॥३॥

शुचा विद्धा व्योषया शुष्कास्याभि सर्प मा । मृदुर्निमन्युः केवली प्रियवादिन्यनुव्रता ॥ ४ ॥
आजामि त्वाजन्या परि मातुरथो पितुः । यथा मम क्रतावसो मम चित्तमुपायसि ॥ ५ ॥
व्यस्यै मित्रावरुणौ हृदश्चित्तान्यस्यतम् । अथैनामक्रतुं कृत्वा ममैव कृणुतं वशे ॥ ६ ॥

इति पञ्चमोऽनुवाकः ॥ ५ ॥

अर्थ - **(व्योषया)** विशेष दाह करनेवाले **(शुचा)** शोक बढानेवाले बाणके द्वारा **(विद्धा)** विधी हुई तू **(शुष्कास्या)** मुखको सुखानेवाली **(मा अभिसर्प)** मेरी ओर चली आ । ओर **(मृदुः)** कोमल, **(निमन्युः)** क्रोधरहित, **(प्रियवादिनी)** मीठा भाषण करनेवाली, **(अनुव्रता)** अनुकूल कर्म करनेवाली, **(केवली)** केवल मेरी ही इच्छा करनेवाली हो ॥४॥

(त्वा आ - अजन्या) तुझको वेगसे **(परि मातुः अथो पितुः)** माता और पिताके पाससे **(आ अजामि)** लाता हूं। **(यथा मम क्रतौ असः)** जिससे मेरे अनुकूल कर्ममें तू रह और **(मम चित्तं उपायसि)** मेरे चित्तके अनुकूल चल ॥५॥

हे **(मित्रावरुणौ)** मित्र और वरुण ! **(अस्यै)** इसके लिये **(हृदः चित्तानि व्यस्यतं)** हृदयके विचारोंको विशेष प्रकार प्रेरित करो । **(अथ एनां अक्रतुं कृत्वा)** और इसको कर्महीन बनाकर **(मम एव वशे कृणुतं)** मेरे ही वशमें करो ॥६॥

भावार्थ - यह कामका बाण विशेष जलानेवाला, शोक बढानेवाला और मुखको सुखानेवाला है, हे स्त्री ! इससे विधी हुई तू मेरे पास आ और कोमल, क्रोधरहित, मधुरभाषिणी, अनुकूल आचरण करनेवाली और केवल मुझमें ही अनुरक्त होकर मेरे साथ रह ॥४॥

हे स्त्री ! माता और पितासे अलग करके मैंने तुझे यहां लाया है, इसलिये तू मेरे अनुकूल कर्म करनेवाली और मेरे विचारोंके अनुकूल विचार करनेवाली बनकर यहां रह ॥५॥

हे मित्र और हे वरुण ! इस स्त्रीके हृदयके विचारोंमें विशेष प्रेरणा करो, जिससे यह मेरे अनुकूल कर्मके सिवाय दूसरे किसी कर्ममें इसको प्रेम न रहे, तथा धर्मपत्नी मेरे ही वशमें रहे ॥६॥

विरुद्ध परिणामी अलंकार ।

'विरुद्ध परिणामी अलंकार' का उत्तम उदाहरण यह सूक्त है ।' विरुद्ध परिणाम जिसका होता है, जो बोला जाता है उसके उलटा परिणाम जिससे निकलता है, बोले जानेवाले शब्दोंका स्पष्टार्थ जो हो उसके विरुद्ध आशयका भाव जिसके अन्दर हो, उसको 'विरुद्ध परिणामी अलंकार' कहते हैं । इसके एक दो उदाहरण देखिये -

१) 'हृदयको जलानेवाली, धनका नाश करनेवाली, कुटुंबमें कलह उत्पन्न करनेवाली और शरीरको सुखानेवाली शराब पिओ।' इस वाक्यमें यद्यपि शराब पिओ करके कहा है तथापि शराबका दुर्गुण वर्णन इतने स्पष्ट शब्दोंसे किया है कि उससे सुननेवालेकी प्रवृत्ति न पीनेकी ओर ही होती है ।

२) 'जिससे शरीर पुष्ट होता है और ब्रह्मचर्य पालन होनेके कारण आरोग्य, बल और दीर्घ जीवन निःसंदेह प्राप्त होता है, इस प्रकारका आसन प्राणायामादिका योगसाधन कभी भूलकर भी मत करो।' इसमें यद्यपि योगसाधन करनेका स्पष्ट निषेध है, तथापि सुननेवालेके मनपर योगसाधन अवश्यकरना चाहिये यह भाव स्थिर हो जाता है ।

ये भाषाके काव्यालंकार है, योग्य समयमें ये प्रयुक्त किये जांय तो इनका सुपरिणाम ही होता है । अब इस सूक्तका कथन देखिये -

'हे स्त्री ! कामके बाणसे मैं तेरे हृदयको वेधता हूं, इस कामके बाणको 'मानसिक व्यथा' के सुन्दर पंख लगे हैं, इसमें जो लोहेका अग्रभाग है वह 'मानसिक विचार' का शल्य ही है, मनके 'कुसंकल्पों' की लकडीसे इस बाणको बनाया है, यह बडा 'जलानेवाला' है, यह लगनेसे मुख सूख जाता है, प्लीहा सूख जाती है, हृदय जल जाता है, इस प्रकारके कामके विध्वंसक बाणसे मैं तेरा वेध

करता हूं, इससे तू विद्ध हो जाओ।

इसमें यद्यपि 'कामके बाणसे विद्ध हो जाओ' ऐसा कहा है, तथापि इस कामके बाणका स्वरूप इतना भयंकर वर्णन किया है, कि जिसका परिणाम सुननेवालेके ऊपर 'इस कामके बाणसे अपना बचाव करने' की ओर ही होगा। इस सूक्तमें जो 'कामके बाण' का वर्णन किया है, वे शब्द देखिये -

कामके बाण।

१ **उत्तुदः** - व्यथा देनेवाला, शरीरको काट काट कर पीडा देनेवाला। (मं.१)

२ **भीमा इषुः** - जिसका भयंकर परिणाम होता है, ऐसा भयानक बाण। (मं.१)

३ **आधी - पर्णा** - इस बाणको मानसिक व्यथाके पंख लगे हैं। (मं.२)

४ **काम - शल्या** - स्वार्थकी प्रबल इच्छा रूपी, अथवा कामविकार रूपी शल्य जिसमें लगा है। बाणका जो अग्रभागमें लोहेका शस्त्र होता है वह यहां कामविकार हैं। (मं.२)

५ **सङ्कल्प - कुल्मला** - मनके कामविषयक संकल्प रूपी लकडीसे यह बाण बनाया गया है। (मं.२)

६ **प्राचीन - पक्षा** - इसको जो मानसिक व्यथाके पंख लगे हैं वे ऐसे लगे है कि जिनके कारण यह बाण सीधी गतिसे और अतिवेगसे जाता है। (मं. ३)

७ **शुचा (शुक)** - शोक उत्पन्न करनेवाला। (मं. ४)

८ **व्योषा (वि - ओषा)** - विशेष रीतिसे जलानेवाला। (मं. ३-४)

९ **शुष्कास्या (शुष्क - आस्या)** - मुखको सुखानेवाला, मुखको म्लान करनेवाला। (मं. ४)

१० **प्लीहानं शोषयति** - प्लीहाको सुखा देता है। शरीरमें प्लीहा रक्तकी वृद्धि करने द्वारा शरीर स्वास्थ्य रखती है, ऐसे महत्त्वपूर्ण अवयवका नाश कामके बाणसे हो जाता है। इतनी मारकता इस मदनके बाणमें हैं। (मं.३)

११ **हृदि विध्यति** - इसका वेध हृदयमें होता है, इससे हृदय विदीर्ण होता जाता है, हृद्रोगकी उत्पत्ति कामके बढनेसे होती है। (मं. १-३)

कामके बाणका यह भयंकर वर्णन इन शब्दों द्वारा इस सूक्तमें किया है। 'हे स्त्री! ऐसे भयंकर बाणसे मैं तेरा वेध करता हूं।' ऐसा एक पुरूष अपनी धर्मपत्नीसे कहता है। पति भी जानता है कि जिस शरसे वेध करना है वह कामका शर इतना भयंकर विघातक है। इस बाणसे न केवल विद्ध होनेवाला ही कट जाता है अपितु वेध करनेवाला भी कट जाता है, अर्थात् यदि पतिने यह कामका शर अपनी धर्मपत्नीपर चलाया तो वह जैसा धर्मपत्नीको काटता है उसी प्रकार पतिको भी काटता है और पूर्वोक्त ग्यारह दुष्परिणाम करता है। यह बात स्वयं पति जानता है तथापि पति कहता है कि 'हे स्त्री! ऐसे बाणसे मैं तेरा वेध करता हूं।'

यह पतिका भाषण उसकी धर्मपत्नी सुनती है, अर्थात् धर्मपत्नी भी इस कामबाणकी विध्वंसक शक्तिको अच्छी प्रकार जानती है, और यदि कोई स्त्री न जानती हो तो इन शब्दोंद्वारा जान जायगी कि यह कामव्यवहार कितना घातक है। इतना ज्ञान होनेके पश्चात् वह धर्मपत्नी स्वयं अपने पतिसे कहेगी, कि 'हे प्राणनाथ! आप ऐसे घातक कर्ममें प्रवृत्त न होईये।' जो कर्म करना है उसकी भयानक घातकताका अनुभव करनेके पश्चात् वह कर्म अधिक नहीं हो सकता, जितना आवश्यक है उतना ही होगा, कभी अधिक नहीं होगा।

पतिपत्नीका एक मत।

इस सूक्तमें कही बात पति अपनी धर्मपत्नीसे कहता है। 'यह धर्मपत्नी अपने मातापिताके घरको छोडकर पतिके घर पतिके साथ रहने आयी है।' (देखो मं. ५) धर्मपत्नी तरुणी है, इस आयुमें मनका संयम करना बडा कठिन कार्य होता है। तरुण भोग भोगनेके इच्छुक होते हैं, परिणामपर दृष्टि नहीं रख सकते। केवल भोग भोगनेके इच्छुक रहते हैं, परंतु यह काम ऐसा है कि -

समुद्र इव हि कामः। नेव हि कामस्यान्तोऽस्ति न समुद्रस्य॥ तै. ब्रा. २।२।५।६

कामः पशुः॥ प्राणाग्नि उ.४

समुद्रके समान काम है, क्योंकि जैसा समुद्रका अन्त नहीं होता है वैसा ही कामका भी अन्त नहीं होता है।' तथा 'काम ही पशु है।'

यह काम भोग भोगनेसे कम नहीं होता है, प्रत्युत बढता जाता है। यह पशु होनेसे इसके उपासक पशुरूप होत हैं, जो इस कामरूपी पशुको अपने अन्दर बढाते हैं, वे मानो पशुभावको अपने अन्दर बढाते हैं, जिनके अन्दर यह पशुभाव बढा हो, उनको 'मनुष्य' कहना कठिन हो जाता है। क्योंकि मनन करनेवालेका नाम मनुष्य होता है और मनकी मननशक्ति तो कामसे नष्ट हो जाती है। काम मनमें ही उत्पन्न हो जाता है और वहां बढता हुआ मननशक्तिको ही नष्ट कर देता है। इसी कारण तारूण्यमें यदि मनके अन्दर काम बढ गया तो वह मनुष्य विवेकभ्रष्ट हो जाताहै।

अब अपने प्रस्तुत विषयकी ओर देखिये।धर्मपत्नी दूसरे घरसे लायी गई है। माताको और पिताको, अपने भाइयों और जन्मके संबंधियोंको इस स्त्रीने छोड दिया है और पतिको अपने तन और मनका स्वामी माना है। इस प्रकार स्त्रीका पतिके पास आकर रहना एक प्रकारसे पतिके ऊपरकी जिम्मेवारी बढानेवाला है। पतिको यह अपना उत्तरदायित्व ध्यानमें रखना चाहिये।

अब देखिये, उक्त प्रकार अपने माता - पिताओंको छोडकर स्त्री पतिके घर आ गई, और यदि तारूण्यावस्थाके शरीरधर्मके अनुसार उसको योग्य सुख प्राप्ति न हुई, तो उसका दिल भडक जानेकी भी संभावना है। पति शमदम आदि संयम और ब्रह्मचर्य पालन करने लगेगा और गृहस्थधर्म प्राप्त अपने स्त्रीविषयक कर्तव्यको न करेगा, तो स्त्रीके मनकी कितनी अधोगति होना संभव है, इसका विचार पाठक करें और पतिका उत्तरदायित्व जानें।

शमदम, ब्रह्मचर्य आदि सब उत्तम है, मनुष्यत्वका विकास करनेवाला है, यह सब सत्य हैं, परंतु विवाहित हो जानेपर स्त्रीके मनोधर्मका भी विचार करना चाहिये। यह कर्तव्य ही है। इस कर्तव्यसे वीर्य हानिद्वारा थोडा पतन होता है, तथापि वह कर्तव्य करना ही चाहिये। स्त्रीने मातापिता छोडनेका बडा त्याग किया है। यह स्त्रीका यज्ञ है। पतिको भी अचल ब्रह्मचर्य को छोडकर गृहस्थी धर्मका चलब्रह्मचर्यका स्वीकार करके अपनी ओरका त्याग करना चाहिये। यही उसका यज्ञ है। ऐसा पतिने न किया तो वह स्त्रीको असन्मार्गमें प्रवृत्त करनेका भागी बनेगा।

इस सूक्तमें जो पति अपनी धर्मपत्नीका हृदय कामके भयानक बाणसे विद्ध करना चाहता है, वह इसी हेतुसे चाहता है। इसलिये इस कामके बाणकी भयानक विध्वंसक शक्तिका वर्णन करता हुआ पति स्त्रीसे कहता है कि ऐसे भयानक बाणसे मैं तेरे चित्तको अपने कर्तव्यपालन करनेके हेतुसे ही वेध करता हूं। इस वर्णनको सुनकर स्त्री भी समझे कि यह जो कामोपभोगका विचार मनमें उत्पन्न हुआ है, यदि इस उपभोगकेलिये मनको खुला छोड दिया जाय, तो कितनी भयानक अवस्था बन जायगी।

इस विचारसे उस स्त्रीके मनमें भी कामको शमन करनेकी ही लहर उठ सकती है और यदि पतिने इस सूक्तके बताये मार्गसे अपने स्त्रीके मनमें यह संयमकी लहर बढायी, तो अन्तमें जाकर दोनोंका कल्याण हो जाता है।

परन्तु यदि पतिने जबरदस्तीसे स्त्रीको कामप्रवृत्तिसे रोक रखा, तो उस स्त्रीके अन्दरके कामविषयक संकल्प बहुत बढ जायंगे, और अन्तमें उसके अधःपातके विषयमें कोई संदेह ही नहीं रहेगा। ऐसा अधःपात न हो इसलिये ऋतुगामी होने आदि परिमित गृहस्थधर्म पालन करनेके नियमोंकी प्रवृत्ति हुई है। साथ ही साथ कामकी भयानक विघातकताका ही विचार होता रहेगा, तो उससे बचनेकी और हरएक स्त्रीपुरूषकी प्रवृत्ति होगी। इसलिये पति स्वयं संयम करना चाहता है। और अपनी धर्मपत्नीको अपने अनुकूल धर्माचरण करनेवाली भी बनाना चाहता है। यह करनेके लिये पति स्वयं सुविचारोंकी जाग्रति करता है और देवोंकी प्रार्थना द्वारा भी दैवी शक्तिकी सहायता लेनेका इच्छुक है। इसीलिये षष्ठ मंत्रमें मित्रावरूण देवतोंकी प्रार्थना की गई है कि ' हे देवो ! इस धर्मपत्नीको मेरे अनुकूल रहने और मेरे अनुकूल धर्माचरण करनेकी बुद्धि दीजिये। इस धर्मपत्नीके मनके विचारोमें ऐसा परिवर्तन कीजिये कि यह दूसरा कोई विचार मनमें न लाकर मेरे अनुकूल ही धर्माचरण करती रहे, दूसरे किसी कर्ममें अपना मन न दौडे।' (मं.६)

धर्मपतिको अपनी धर्मपत्नीके विषयमें यह दक्षता धारण करना आवश्यक ही है। पतिके उचित है कि वह अपनी धर्मपत्नीको सन्तुष्ट रखता हुआ उसको संयमके मार्गसे

चलावे। धर्मपत्नीके गुण इसी सूक्तमें वर्णन किये हैं -

धर्मपत्नीके गुण।

१ **मृदुः** - नरम स्वभाववाली, शांत स्वभाववाली । (मं.४)

२ **निमन्युः**- क्रोध न करनेवाली, शान्तिसे कार्य करनेवाली। (मं. ४)

३ **प्रियवादिनी** - मधुर भाषण करनेवाली । (मं. ४)

४ **अनुव्रता** - पतिके अनुकूल कर्म करनेवाली । (मं.४)

५ **(मम) वशे** - पतिके वशमें रहनेवाली, पतिकी आज्ञामें रहनेवाली । (मं.७)

६ **केवली** - केवल पतिकी ही बनकर रहनेवाली। (मं. ४)

७ **(मम) चित्तं उपायसि** - पतिके चित्तके समान अपना चित्त बनानेवाली । (मं.५)

८ **अक्रतुः** - पतिके विरूद्ध कोई कर्म न करनेवाली। (मं.६)

९ **(मम) क्रतौ असः** - पतिके उद्योगमें सहायता देनेवाली। (मं.५)

ये शब्द धर्मपत्नीके कर्तव्य बता रहे हैं । पाठक इन शब्दोंका विचार करें और आर्यस्त्रियां इस अमूल्य उपदेशको अपनानेका यत्न करें ।

गृहस्थधर्म ।

इस प्रकारकी अनुकूल कर्म करनेवाली धर्मपत्नीको पति कहता है, कि 'हे स्त्री ! मैं तेरे हृदयको ऐसे भयंकर कामके बाणसे वेधता हूं ।' पति जानता है कि यह कामका बाण बडा घातक है, ब्रह्मचर्यमें विघ्न होनेके कारण बडा हानिकारक है । धर्मपत्नी पतिके अनुकूल चलनेवाली होनेके कारण वह भी जानती है कि यह कामका बाण तपस्यामें विघ्न करनेवाला है । तथापि दोनों 'गृहस्थी धर्म' से संबद्ध है इसलिये संतानोत्पत्ति करनेके लिये बाधित है। अतः दोनों गृहस्थधर्मसे संबद्ध होती है। धर्मनियमानुकूल ऋतुगामी होकर घरमें वंशका बीजरूप वीर बालक उत्पन्न करती हैं और पश्चात् अपनी तपस्यामें लग जाते हैं ।

पाठक इस दृष्टिसे विचार करें और इस सूक्तका महत्त्वपूर्ण उपदेश जानें । इस पंचम अनुवाकमें पांच सूक्त हैं । २१ वें सूक्तमें 'कामाग्निका शमन,' २२ वे सूक्तमें 'वर्चस्‌की प्राप्ति', २३ वे सूक्तमें, 'वंध्यात्व दोष निवारणपूर्वक वीर बालक उत्पन्न करनेकी विद्या,' २४ वे सूक्तमें 'समृद्धिको प्राप्त करना, 'और इस २५ वें सूक्तमें गृहस्थधर्मके नियमानुकूल रहकर गृहस्थधर्मका पालन करना' ये विषय हैं। इनका परस्पर संबंध स्पष्ट है।

॥ यहां पंञ्चम अनुवाक समाप्त ॥

● ● ●

उन्नति की दिशा।

(२६)

(ऋषिः - अथर्वा । देवता - अग्न्यादयः , नानादेवता)

येऽ॒स्यां स्थ प्राच्यां॑ दि॒शि हे॒तयो॒ नाम॑ दे॒वास्तेषां॑ वो अ॒ग्निरिष॑वः ।
ते नो॑ मृडत॒ ते नोऽधि॑ ब्रूत॒ तेभ्यो॑ वो॒ नम॒स्तेभ्यो॑ वः॒ स्वाहा॑ ॥ १ ॥

येऽ॒स्यां स्थ दक्षि॑णायां दि॒श्य॑वि॒ष्यवो॒ नाम॑ दे॒वास्तेषां॑ वः॒ काम॒ इष॑वः ।
ते नो॑ मृडत॒ ते नोऽधि॑ ब्रूत॒ तेभ्यो॑ वो॒ नम॒स्तेभ्यो॑ वः॒ स्वाहा॑ ॥ २ ॥

येऽ॒स्यां स्थ प्र॒तीच्यां॑ दि॒शि वै॑रा॒जा नाम॑ दे॒वास्तेषां॑ व॒ आप॒ इष॑वः ।
ते नो॑ मृडत॒ ते नोऽधि॑ ब्रूत॒ तेभ्यो॑ वो॒ नम॒स्तेभ्यो॑ वः॒ स्वाहा॑ ॥ ३ ॥

येऽ॒स्यां स्थोदी॑च्यां दि॒शि प्र॒विध्य॑न्तो॒ नाम॑ दे॒वास्तेषां॑ वो॒ वात॒ इष॑वः ।
ते नो॑ मृडत॒ ते नोऽधि॑ ब्रूत॒ तेभ्यो॑ वो॒ नम॒स्तेभ्यो॑ वः॒ स्वाहा॑ ॥ ४ ॥

येऽ॒स्यां स्थ ध्रु॒वायां॑ दि॒शि नि॑लि॒म्पा नाम॑ दे॒वास्तेषां॑ व॒ ओष॑धी॒रिष॑वः ।
ते नो॑ मृडत॒ ते नोऽधि॑ ब्रूत॒ तेभ्यो॑ वो॒ नम॒स्तेभ्यो॑ वः॒ स्वाहा॑ ॥ ५ ॥

अर्थ - **(ये अस्यां प्राच्यां दिशि)** जो तुम इस पूर्व दिशामें **(हेतयः नाम देवाः)** वज्र नामवाले देव हो, **(तेषां वः)** उन तुम्हारा **(अग्निः इषवः)** अग्नि बाण है। **(ते नः मृडत)** वे तुम हमें सुखी करो, **(ते नः अधिब्रूत)** वे तुम हमें उपदेश करो । **(तेभ्यः वः नमः)** उन तुम्हारे लिये हमारा नमन होवें, **(तेभ्यः स्वाहा)** उन तुम्हारे लिये हम अपना समर्पण करते हैं ।।१।।

जो तुम इस **(दक्षिणायां दिशि)** दक्षिण दिशामें **(अविष्यवो नाम देवाः)** रक्षा करनेकी इच्छा करनेवाले इस नामके जो देव हो **(तेषां वः काम इषवः)** उन तुम्हारा काम बाण है । वे तुम हमें सुखी करो और हमें उपदेश करो, उन तुम्हारे लिये हमारा नमन होवे और तुम्हारे लिये हम अपना अर्पण करते हैं ।।२।।

जो तुम इस **(प्रतीच्यां दिशि)** पश्चिम दिशामें **(वैराजा नाम देवाः)** विराज नामक देव हो, उन तुम्हारा **(आपः इषवः)** जल ही बाण है । वे तुम हमें सुखी करो और उपदेश करो । तुम्हारे लिये हमारा नमन और समर्पण होवे ।।३।।

जो तुम इस **(उदीच्यां दिशि)** उत्तर दिशामें **(प्रविध्यन्तः नाम देवाः)** वेध करनेवाले इस नामके देव हो, उन तुम्हारा **(वातः इषवः)** वायु बाण हैं । वे तुम हमें सुखी करो और उपदेश करो । तुम्हारे लिये हमारा नमन और समर्पण होवे ।।४।।

जो तुम इस **(ध्रुवायां दिशि)** ध्रुव दिशामे **(निलिम्पा नाम देवाः)** निलिम्प नामक देव हो, उन तुम्हारा **(ओषधीः इषवः)** औषधी बाण है । वे तुम हमें सुखी करो और उपदेश करो । उन तुम्हारे लिये हमारा नमन और समर्पण होवे ।।५।।

येऽस्यां स्थोर्ध्वायां दिश्यवस्वन्तो नाम देवास्तेषां वो बृहस्पतिरिषवः।
ते नो मृडत ते नोऽधि ब्रूत तेभ्यो वो नमस्तेभ्यो वः स्वाहा ॥ ६ ॥

अर्थ - जो तुम इस **(ऊर्ध्वायां दिशि)** ऊर्ध्व दिशामें **(अवस्वन्तः नाम देवाः)** रक्षक नामवाले जो देव हो, उन तुम्हारा **(बृहस्पतिः इषवः)** ज्ञानी तुम हमें सुखी करो और उपदेश करो। उन तुम्हारे लिये हमारा नमन और समर्पण होवे ॥६॥

भावार्थ - पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर, ध्रुवा (पृथिवी) और ऊर्ध्वा (आकाश) ये छः दिशाएं है, इन छः दिशाओंमें क्रमशः **(हेति शस्त्रास्त्र)** वज्र, रक्षाकी इच्छा करनेवाले स्वयंसेवक, **(वि - राज्)** राजरहित अवस्था प्रजासत्ता, वेधकता, लेप करनेवाले वैद्य और उपदेशक इनकी प्रधानता है। ये जनताको उपदेश करते हैं और उनकी रक्षा करते हैं, इस लिये जनता भी उनका सत्कार करती है और उनके लिये आत्मसमर्पण करती है ॥१ - ६॥

इसी प्रकारका परंतु कुछ अन्य भाव व्यक्त करनेवाला आगेका सूक्त है और दोनोंका अत्यंत धनिष्ठ संबंध है, इसलिये उसका अर्थ पहले देखेंगे और पश्चात् दोनोंका इकट्ठा विचार करेंगे।

• • •

अभ्युदय की दिशा।

(२७)

(ऋषिः - अथर्वा। देवता - अग्न्यादयः, नानादेवता)

प्राची दिगग्निरधिपतिरसितो रक्षितादित्या इषवः।
तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु।
योऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥ १ ॥

अर्थ : **(प्राची दिक्)** उदयकी दिशाका **(अग्निः अधिपतिः)** तेजस्वी स्वामी **(अ-सितः रक्षिता)** बंधनरहित रक्षक और **(आदित्याः इषवः)** प्रकाशरुप शस्त्र है। **(तेभ्यः)** उन **(अधिपतिभ्यः)** तेजस्वी स्वामियोंको ही **(नमः)** मेरा नमन है। उन **(रक्षितृभ्यः नमः)** बंधनरहित संरक्षकोंके लिए ही हमारा आदर है। उन **(इषुभ्यः नमः)** प्रकाशके शस्त्रोंके सामने ही हमारी नम्रता रहे। **(यः)** जो अकेला **(अस्मान्)** हम सब आस्तिकोंका **(द्वेष्टि)** द्वेष करता है और **(यं)** जिस अकेले दुष्टका **(वयं)** हम सब धार्मिक पुरुष **(द्विष्मः)** द्वेष करते हैं **(तं)** उस दुष्टको हम सब **(वः)** आप सब सज्जनोंके **(जंभे)** न्यायके जबडेमें **(दध्मः)** धर देते हैं ॥१॥

भावार्थ - प्राची दिशा अभ्युदय, उदय और उन्नतिकी सूचक है। सूर्य, चंद्र, नक्षत्र आदि सब दिव्य पदार्थोंका उदय और उन्नति इसी दिशासे होती है और उदयके पश्चात् उनको पूर्ण प्रकाशकी अवस्था प्राप्त होती है। इसलिये सचमुच यह प्रगतिकी दिशा है। जिस प्रकार उदयकी दिशासे सबका उदय और वर्धन हो रहा है उसी प्रकार हम सब मनुष्योंका अभ्युदय और संवर्धन होना चाहिए। यह पूर्व दिशा हम सब मनुष्योंको उदय प्राप्त करनेकी सूचना दे रही है। इस शिक्षाके अनुसार हम सबको मिलकर अभ्युदयकी तैयारी करनी चाहिए। इस सूचना और शिक्षाका ग्रहण करके मैं अपने और जनताके अभ्युदयके लिये अवश्य यत्न करुंगा। उदयकी दिशाका **(अग्निः)** अग्रणी, ज्ञानी और वक्ता अधिपति है। उदयका मार्ग ज्ञानी उपदेशकोंके द्वाराही ज्ञात हो सकता है, इसलिये हम सब लोक ज्ञानी उपदेशकोंके पास जाकर जागृतिके साथ उनका उपदेश ग्रहण करेंगे। अब सोनेका समय नहीं है। उठिए, जागृतिका समय प्रारंभ हुआ है। चलिए, तेजस्वी ज्ञानसे युक्त गुरुके

दक्षिणा दिगिन्द्रोऽधिपतिस्तिरश्चिराजी रक्षिता पितर इषवः ।
तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु ।
योऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥ २ ॥

अर्थ - (दक्षिणा दिक्) दक्षताकी दिशाका **(इंद्रः अधिपतिः)** शत्रुनिवारक शूर स्वामी, **(तिरश्चि - राजी रक्षिता)** मर्यादाका अतिक्रमण न करनेवाला संरक्षक और **(पितरः इषवः)** पितृशक्तियां अर्थात् प्रजननकी शक्तियां शस्त्र हैं। हम सब उन शत्रुनिवारक शूर अधिपतियोंका अपनी मर्यादाका कभी अतिक्रमण न करनेवाले संरक्षकोंका तथा सुप्रजा निर्माणके लिये समर्थ पितृशक्तियोंका ही आदर करते हैं। जो हम सब आस्तिकोंका विरोध करता है और जिसका हम सब आस्तिक विरोध करते हैं, उसको हम सब आप स्वामी और संरक्षकोंके न्यायके जबडेमें धर देते हैं।।२।।

पास जायेंगे और उनसे ज्ञानका प्रकाश प्राप्त करेंगे । इस उदयकी दिशाका (अ-सितः) बंधनोंसे दूर रहनेवाला, स्वतंत्राके विचार धारण करनेवाला ही रक्षक है । ज्ञानीके साथ रहकर ज्ञानकी प्राप्ती और स्वातंत्र्यके संरक्षकके साथ रहनेसे स्वातंत्र्यकी प्राप्ति होती है । स्वतन्त्रताके बिना उन्नति नही होगी इसलिये स्वातंत्र्यका संरक्षण करना आवश्यक है । इस संरक्षणके शस्त्रास्त्र **(आदित्याः)** प्रकाशके किरण हैं । प्रकाशके साथ ही स्वातंत्र्य रहता है । विशेषतः ज्ञानके प्रकाशसे स्वातंत्र्यका संवर्धन होना है । प्रकाश जिस प्रकार अज्ञानका निवारण करता है ठीक उसी प्रकार ज्ञानका सूर्य अज्ञानके आवरक अंधकारमय प्रतिबंधोंको दूर करता है । अभ्युदय प्राप्त करनेके लिये स्वसंरक्षण होनेकी आवश्यकता है और प्रतिबंधोंको दूर करनेसेही स्वसंरक्षणकी शक्ति अपनेमें बढती है । तेजस्विता, ज्ञान, वक्तृत्व, आत्मसंम्मान आदि आग्नेय गुणोंके आधिपत्यसे ही अभ्युदय होता है, इसीलिये तेजस्वी अधिपतियों, स्वतंत्रताके संरक्षकों और प्रतिबंध निवारक प्रकाशमय शक्तियोंका ही हम आदर करते है । इसके विपरीत गुणोंका हम कभी आदर नहीं करेंगे । जो अकेला दुष्ट मनुष्य सब आस्तिक धार्मिक भद्र पुरुषोंको कष्ट देता है, उनकी प्रगति और उन्नतिमें विघ्न करता है, तथा जिसके दुष्ट होनेमें सब सदाचारी भद्र पुरुषोंकी पूर्ण संमति है, अर्थात् जो सचमुच दुष्ट है, उसको भी दंड देना हम अपने हाथमें नही लेना चाहते, परंतु हे तेजस्वी स्वामियो ! और स्वतंत्रता देनेवाले संरक्षको ! आपके न्यायके जबडेमें हम सब उसको रख देते है । जो दंड आपकी पूर्ण संमतिसे योग्य होगा आप ही उसको दीजिए । समाजकी शांतिके लिये हरएक मनुष्यको उचित है कि वह सच्चे अपराधीको भी दंड देनेका अधिकार अपने हाथमें न लेवे, परंतु उस अपराधीको अधिपतियों और संरक्षकोंकी न्यायसभामें अर्पण करे तथा पूर्वोक्त प्रकारके अधिपति और संरक्षकोंका ही सदा आदर करे । अर्थात् हरएक मनुष्य सत्य और न्यायका विजय करनेके लिये सदा तत्पर रहे ।।१।।

भावार्थ - दक्षिण दिशा दाक्षिण्यका मार्ग बता रही है । दक्षता, चातुर्य, कौशल्य, कर्मकी प्रवीणता, शौर्य, धैर्य, वीर्य आदि शुभ गुणोंकी सूचक यह दिशा है, इसीलिये सीधा अंग दक्षिणांग कहलाता है, और सीधा मार्ग अथवा दक्षिण मार्ग इसी दक्षिण दिशासे बताया जाता है । अर्थात् दक्षिण दिशासे सीधेपनके मार्गकी सूचना मिलती है । शत्रुका निवारण करने, अपने नियमोंकी मर्यादाका उल्लङ्घन न करने और उत्तम प्रजा निर्माण करनेकी शक्ति धारण करनेवाले क्रमशः इस मार्गके अधिपति, संरक्षक और सहायक है । इन्हींका आदर और सन्मान करना योग्य है। अपनी उन्नतिका साधन करनेके लिये **(इन्-द्र)** शत्रुओंका विदारण करनेकी आवश्यकता होती है । शत्रुका पराजय करनेपर ही अपना मार्ग निष्कंटक हो सकता है । शत्रुओंके साथ युद्ध करनेसे अपना बल बढता है और शत्रुदमन करनेके पुरुषार्थसे अपनेमें उत्साह स्थिर रहता है । इसलिये मेरे तथा समाजके शत्रुओंका शमन करनेके उपायका अवलबंन करना मेरे लिये आवश्यक है । समाजकी शांतिके लिये अपनी मर्यादाका उल्लङ्घन न करनेवाले संरक्षकोंकी आवश्यकता है । कोई संरक्षक अपनी मर्यादा उल्लङ्घन करके अत्याचार न करे । मैं भी कभी अपने नियमोंका और मर्यादाका अतिक्रमण नही करुंगा। समाजकी सुस्थितिके लिये उत्तम पितृशक्ति अर्थात् सुप्रजा

प्रतीची दिग्वरुणोऽधिपतिः पृदांकू रक्षितान्नमिषवः।
तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु।
योऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥ ३ ॥
उदीची दिक्सोमोऽधिपतिः स्वजो रक्षिताशनिरिषवः।
तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु।
योऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥ ४ ॥

अर्थ - (**प्रतीची दिक्**) पश्चिम दिशाका (**वरूणः अधिपतिः**) वर अर्थात् श्रेष्ठ अधिपति, (**पृत् - आ - कुः रक्षिता**) स्पर्धामें उत्साह धारण करनेवाला संरक्षक और (**अन्नं इषवः**) अन्न इषु हैं। उन श्रेष्ठ अधिपतियोंके लिये, उन उत्साही संरक्षकोंके लिये, तथा उस अभीष्ट अन्नके लिये हमारा आदर है। जो सबके साथ कलह करता है इसलिये सब भद्र पुरूष जिसको नहीं चाहते हैं उसको उक्त अधिपतियों और संरक्षकोंके न्यायके जबडेमें धर देते हैं ॥३॥

(**उदीची दिक**) उत्तर दिशाका (**सोमः अधिपतिः**) शांत अधिपति, (**स्व - जः रक्षिता**) स्वयंसिद्ध रक्षक और (**अशनिः इषवः**) विद्युत्तेज इषु हैं। उन शांत अधिपतियों, स्वयंसिद्ध संरक्षकों और तेजस्वी इषुओंके लिये हमारा नमन है। जो सबका द्वेष करता है और जिसका सब द्वेष करते हैं उसको उक्त अधिपतियों और संरक्षकोंके न्यायके जबडेमें हम धर देते हैं ॥४॥

निर्माण करनेकी शक्तिकी अत्यंत आवश्यकता है। सुप्रजा निर्माणसे समाज अमर रह सकता है। इसलिये हरएक पुरुषको अपने अन्दर उत्तम पुरुषत्व तथा हरएक स्त्रीको अपने अन्दर उत्तम स्त्रीत्व विकसित करना चाहिए। तात्पर्य उक्त प्रकारके शत्रुनिवारक अधिपति, नियमानुकूल व्यवहार करनेवाले संरक्षक और उत्तम पितर जहां होते है वहां ही दाक्षिण्यका व्यवहार होता है। इसी प्रकारकी व्यवस्था स्थिर करनेका यत्न मैं अवश्य करुंगा। जो सबको हानि पहुंचाता है और जिसको सब समाज बुरा कहता है उसको उक्त अधिकारी, संरक्षक और पितरोंके न्यायालयमें हम सब पहुंचाते है। वे ही उसके दोषका यथायोग्य विचार करें। हरएक मनुष्यको उचित है, कि वह सीधे मार्गसे चले और समाजकी उन्नतिके साथ अपनी उन्नतिका उत्तम प्रकारसे साधन करे ॥२॥

भावार्थ - पश्चिम दिशा विश्रामकी दिशा है, क्योंकि सूर्य चंद्र आदि सब दिव्य ज्योतियां इसी पश्चिम दिशामें जाकर गुप्त होती है और जगत्को अपना दैनिक कार्य समाप्त करनेके पश्चात् विश्राम लेनेकी सूचना देती है। पूर्व दिशाद्वारा प्रवृत्तिरूप पुरुषार्थकी सूचना हो गई थी, अब पश्चिम दिशासे गुप्त स्थानमें प्रविष्ट होने, वहां विश्रांति और शांति प्राप्त करने, अर्थात् निवृत्तिरुप पुरुषार्थ साध्य कनेकी सूचना मिली है। श्रेष्ठ उत्साही महात्मा पुरुष इस मार्गके क्रमशः अधिपति और संरक्षक है। विश्राम और आरामका मुख्य साधन यहां अन्न है। श्रेष्ठ और उत्साही अधिपति और संरक्षकोंके लिये सबको सत्कार करना उचित है। तथा अन्नकी ओर सन्मानकी दृष्टिसे देखना योग्य है। जो सबके मार्गोमें विघ्न करता है इसलिये जिसको कोई पास करना नहीं चाहते उसको अधिपतियों और संरक्षकोंकी न्यायसभाके आधीन करना योग्य है। समाजके हितके लिये सबको उचित है, कि वे न्यायानुसार ही अपना सब बर्ताव करें और किसीको उपद्रव न दें ॥३॥

उत्तर दिशा उच्चतर अवस्थाकी सूचना देती है। हरएक मनुष्यको अपनी व्यवस्था उच्चतर बनानेका प्रयत्न हर समय करना चाहिये। इस उच्चतर मार्गमें शांत स्वभावका आधिपत्य है, आलस्य छोडकर सदा सिद्ध और उद्यत रहनेके धर्मसे इस पथपर चलनेवालोंका संरक्षण होता है। व्यापक उदार तेजस्वी स्वभावसे द्वारा इस मार्गपरकी सब आपत्तियां दूर होती है। इसलिये मैं इन गुणोंका धारण करुंगा और समाजके साथ अपनी अवस्था उच्चतर बनानेका पुरुषार्थ अवश्य करुंगा। शांत स्वभाव धारण कनेवाले अधिपति, सदा उद्यत और सिद्ध संरक्षक ही सदा सन्मान करने योग्य है। साथ ही सर्वोपयोगी व्यापक तेजस्विताका आदर करना योग्य है। जो सबकी हानि करता है इसलिए जिसका सब सज्जन निरादर करते हैं उसकी उक्त अधिपतिकों और संरक्षकोंके सन्मुख खडा किया जावे। लोग ही स्वयं उसको दंड न देवे। तथा अधिपति निष्पक्षताकी दृष्टिसे उसको योग्य न्याय देवें। समाजकी उच्चतर अवस्था बनानेके लिये उक्त प्रकारके स्वभाव धारण करना अत्यंत आवश्यक है ॥४॥

ध्रुवा दिग्विष्णुरधिपतिः कल्माषग्रीवो रक्षिता वीरुध इषवः ।
तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु ।
योऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः　　॥ ५ ॥
ऊर्ध्वा दिग्बृहस्पतिरधिपतिः श्वित्रो रक्षिता वर्षमिषवः ।
तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु ।
योऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः　　॥ ६ ॥

अर्थ - **(ध्रुवा दिक्)** स्थिर दिशाका **(विष्णुः अधिपतिः)** प्रवेशकर्ता अधिपति, **(कल्माष-कर्मास - ग्रीवाः रक्षिता)** कर्म कर्ता संरक्षक और **(वीरुधः इषवः)** वनस्पतियां इषु है। इन सब अधिपतियों और रक्षकोंके लिये ही हमारा आदर है। इ. ॥५॥

(ऊर्ध्वा-दिक्) उर्ध्व दिशाका **(बृहस्पतिः अधिपतिः)** आत्मज्ञानी स्वामी है, **(श्वित्रः रक्षिता)** पवित्र संरक्षक है और **(वर्षे इषवः)** अमृत जल इषु है। आत्मज्ञानी स्वामियोंका तथा पवित्र संरक्षकोंका ही सबको सन्मान करना योग्य है। शुद्ध अमृत जलका ही सबको आदर करना चाहिये। इ. ॥६॥

भावार्थ - ध्रुव दिशा स्थिरता, दृढता, आधार आदि शुभ गुणोंकी सूचक है। चंचलता दूर करने और स्थिरता करनेके लिये ही सब धर्मके नियम है। उद्यमी और पुरुषार्थी पुरुष यहां अधिपति और संरक्षक है। क्योंकि कर्मसे ही जगत्की स्थिति है, इसलिये कर्मके बिना किसीकी स्थिरता और दृढता हो नही सकती। यही कारण है कि इस दृढताके मार्गके उद्यमी और पुरुषार्थी संचालक है। यहां औषधि वनस्पतियां दोषनिवारण द्वारा सहाय्य करती है। जो जो दोषोंको दूर करनेवाले हैं वे सब इस मार्गके सहायक है। उद्यमी और पुरुषार्थी अधिपति और संरक्षकोंका सन्मान सबको करना चाहिए। इ. ॥५॥

उर्ध्व दिशा आत्मिक उच्चताका मार्ग सूचित करती है। सच्चा आत्मज्ञानी आप्त पुरुष ही इस मार्गका अधिपित और मार्गदर्शक है। जो अंतर्बाह्य पवित्र होगा वह ही यहां संरक्षक हो सकता है। आत्माके अनुभव और पवित्रत्वका यहां स्वामित्व है। आत्मिक उच्चताके मार्गका अवलंबन करनेके समय आत्मज्ञानी आप्त पुरुषके आधिपत्यमें तथा पवित्र सदाचारी सत्पुरुषके संरक्षणमें रहते हुए ही इस मार्गका आक्रमण करनेसे इष्ट सिद्धियोंकी वृष्टि होती है। आत्मिक अमृत जलका रसास्वाद लेनेका यही योगमार्ग है। मैं इस मार्गका आक्रमण अवश्य ही करुंगा और दूसरोका मार्ग भी यथाशक्ति सुगम करुंगा। मैं सदा ही उक्त प्रकारके आत्मज्ञानी और शुद्ध सदाचारी सत्पुरुषोंका सन्मान करुंगा। इ. ॥६॥

दिशाओंके वर्णनसे मानवी उन्नतिका तत्त्वज्ञान।

उन्नतिके छः केन्द्र।

उस 'सूक्तके' छः मंत्रोंमें मानवी उन्नतिके छः केंद्र छः दिशाओंके द्वारा सूचित किये हैं। (१) प्राची, (२) दक्षिणा, (३) प्रतीची, (४) उदीची, (५) ध्रुवा और (६) ऊर्ध्वा ये छः दिशाएं क्रमशः (१) प्रगति, (२) दक्षता, (३) विश्राम, (४) उच्चता, (५) स्थिरता और (६) आत्मिक उन्नतिके भाव बता रही है, ऐसा जो उक्त छः मंत्रोंद्वारा सूचित किया है, विशेष विचार करने योग्य है। उपासक इन दिशाओंमें होनेवाली नैसर्गिक घटनाओंको विचारकी दृष्टिसे देखें। इस सृष्टिके विविध घटनाओंकेद्वारा सर्वव्यापक परमात्मा प्रत्यक्ष उपदेश दे रहा है, ऐसी भावना मनमें स्थिर करके उपासकोंको सृष्टिकी ओर देखना आवश्यक है। जड भावको छोडकर परमात्माके चैतन्यसे यह सृष्टि ओतप्रोत व्याप्त है, ऐसी भावना मनमें स्थिर करनी चाहिए। क्योंकि 'यह पूर्ण सृष्टि उस पूर्ण परमेश्वरके द्वारा ही उदयको प्राप्त होती है। और उस पूर्ण ईश्वरकी शक्ति ही इस सृष्टि द्वारा दिखाई दे रही है।' इस प्रकार विचार स्थिर करके यदि उपासक उक्त प्रकार छः दिशाओं द्वारा अपनी

उन्नतिके छः केंद्रोके संबंधमें उपदेश लेंगे तो व्यक्ति और समाजकी उन्नतिके स्थिर और निश्चित मार्गोंका ज्ञान उनको हो सकता है।

इन केन्द्रोका ज्ञान उत्तम रीतिसे होनेके लिये पूर्वोक्त वैदिक सूक्तोंमें कथित दिशाओंके ज्ञानके कोष्टक यहां देते है और उनका स्पष्टीकरण भी काव्यकी दृष्टिसे संक्षेपसे ही करते है -

दिशा कोष्टक ॥१॥ (अथर्व. ३।२७।१-६)

दिशाः	अधिपतिः	रक्षिता	इषवः
प्राची	अग्निः	असितः	आदित्याः
दक्षिणा	इन्द्रः	तिरश्चिराजी	पितरः
प्रतीची	वरुणः	पृदाकुः	अन्नम्
उदीची	सोमः	स्वजः	अशनिः
ध्रुवा	विष्णुः	कल्माषग्रीवः	वीरुधः
उर्ध्वा	बृहस्पतिः	श्वित्रः	वर्षम्

इस सूक्तके मंत्रोंको देखनेसे इष्ट कोष्टककी सिद्धी हो सकती है। अब वेदमें अन्य स्थानोंमें आये हुए दिशा विषयक उल्लेखोंका विचार करना है। इस विषयमें निम्न मंत्र देखिए -

येऽस्यां स्थ प्राच्यां दिशि हेतयो नाम देवास्तेषां वो अग्निरिषवः। ते नो मृडत ते नोऽधिब्रूत तेभ्यो वो नमस्तेभ्यो वः स्वाहा ॥ १ ॥ येऽस्यां स्थ दक्षिणायां दिश्यविष्यवो नाम देवास्तेषां वः काम इषवः। ते नो० ॥ २ ॥ येऽस्यां स्थ प्रतीच्यां दिशि वैराजा नाम देवास्तेषां व आप इषवः। ते नो० ॥ ३ ॥ येऽस्यां स्थोदीच्यां दिशि प्रविध्यन्तो नाम देवास्तेषां वो वात इषवः। ते नो० ॥ ४ ॥ येऽस्यां स्थ ध्रुवायां दिशि निलिम्पा नाम देवास्तेषां व ओषधीरिषवः। ते नो० ॥ ५ ॥ येऽस्यां स्थोर्ध्वायां दिश्यवस्वन्तो नाम देवास्तेषां वो बृहस्पतिरिषवः। ते नो० ॥ ६ ॥

अथर्व. ३।२६।१-६

'प्राची आदि दिशाओंमे हेति आदि देव हैं और अग्नि आदि इषु है। ये सब (नः) हम सबको (मृडत) सुखी करें, वे हम सबको, (अधिब्रूत) उपदेश करें, उन सबको हमारा नमस्कार है, उनके लिये हमारा समर्पण है।' यह इन मंत्रोंको भावार्थ है। अब उनका निम्नलिखित कोष्टक बनता है -

दिशा कोष्टक ॥२॥ (अथर्व ३।२६।१-६)

दिशः	देवाः	इषवः
प्राची	हेतयः	अग्निः
दक्षिणा	अविष्यवः	कामः
प्रतीची	वैराजाः	आपः
उदीची	प्रविध्यन्तः	वातः
ध्रुवा	निलिंपाः	ओषधीः
ऊर्ध्वा	अवस्वन्तः	बृहस्पतिः

पहिले कोष्टककी इस द्वितीय कोष्टकके साथ तुलना कीजिए। पहिले कोष्टकमें **'प्राची** और **ऊर्ध्वा'** के **'अग्नि** और **बृहस्पति'** अधिपति है, वे ही यहां 'इषु' बने है। **'ध्रुवा'** दिशाके इषु पहिले कोष्टकमें **'वीरुधः'** है और यहां **'ओषधि'** है। इन दोनों शब्दोंका अर्थ एक ही है। **'प्रतीची'** दिशा इषु दोनो कोष्टकोंमें **'अन्न और आपः'** है। खानपानका परस्पर निकट सम्बन्ध है। **'दक्षिण'** दिशाके इषु दोनों कोष्टकोंमें **'पितरः** और **कामः'** है। कामके उपभोगसे ही पितृत्व प्राप्त हो सकता है। **'उदीची'** दिशाके इषु **'वात** और **अशनि'** है। अशनिका अर्थ विद्युत् है और उसका स्थान मध्यस्थान अर्थात् वायुका स्थान माना गया है। इससे पाठकोंको पता लग जायगा, कि केवल **'प्राची** और **ऊर्ध्वा'** दिशाओंके इषु बदले हैं, इतना ही नहीं परन्तु पहिले कोष्टकमें जो अधिपति थे वे ही दूसरेमें इषु बने है। अन्य दिशाओंके इषु समान अथवा परस्पर संबंध रखनेवाले है। अथर्ववेदके तीसरे कांडके २६ और २७ सूक्तोंके कथनमें इतना भेद है। इस भेदसे स्पष्ट होता है कि इषु, अधिपति आदि शब्द वास्तविक नही हैं परंतु आलंकारिक है। अब निम्न मंत्र देखिए -

**प्राचीमारोह गायत्री त्वावतु रथंतरं साम
त्रिवृत्स्तोमो वसन्त ऋतुर्ब्रह्म द्रविणम् ॥ १० ॥
दक्षिणामारोह त्रिष्टुप्त्वावतु बृहत्साम
पञ्चदश स्तोमो ग्रीष्म ऋतुः क्षत्रं द्रविणम् ॥११॥
प्रतीचीमारोह जगती त्वावतु वैरूपं साम
सप्तदश स्तोमो वर्षा ऋतुर्विड् द्रविणम् ॥ १२ ॥
उदीचीमारोहानुष्टुप्त्वावतु वैराजं
सामैकविंश स्तोमः शरदृतुः फलं द्रविणम् ॥१३॥
ऊर्ध्वामारोह पंक्तिस्त्वावतु शाक्वररैवते सामनी
त्रिणवत्रयस्त्रिंशौ स्तोमौ हेमन्तशिशिरावृतू
वर्चो द्रविणम् ॥ १४ ॥** **यजु. अ. १०**

'प्राची आदि दिशाओंमें (ब्रह्म द्रविणं) ज्ञान आदि धन है। इन मंत्रोंका स्पष्टीकरण निम्न कोष्टकसे हो सकता है।

दिशा कोष्टक ॥३॥ (यजु १०।१०-१४)

दिशः	रक्षक छंदः	साम	स्तोमः	ऋतुः	द्रविणं धनं
प्राची	गायत्री	रथंतरं	त्रिवृत्	वसन्तः	ब्रह्म
दक्षिणा	त्रिष्टुप्	बृहत्	पंचदशः	ग्रीष्मः	क्षत्रं
प्रतीची	जगती	वैरुपं	सप्तदशः	वर्षा	विट्
उदीची	अनुष्टुप्	वैराजं	एकविंशः	शरद्	फलं
ध्रुवा ऊर्ध्वा	पंक्तिः	शाक्वररैवतं	त्रिणवत्रयस्त्रिंशो	हेमन्तःशिशिरः	वर्चः

इस कोष्टकमें दिशाओंके धनोंका पाठक अवश्य अवलोकन करें - (१) प्राची दिशाका धन (ब्रह्म) ज्ञान है। (२) दक्षिण दिशाका धन (क्षत्र) शौर्य है। (३) प्रतीची दिशाका धन (विश्) उत्साहसे पुरुषार्थ करनेकी वैश्य शक्ति है। (४) उदीची दिशाका धन फल परिणाम, लाभ आदि है। (५) ध्रुवा और ऊर्ध्व दिशाका धन शक्ति, बल आदि है ज्ञान, शौर्य, पुरुषार्थ प्रयत्न, लाभ और वीर्यतेज ये उक्त दिशाओंके धन है। उसकी तुलना प्रथम कोष्टकके साथ करनेसे अर्थका बहुत गौरव प्रतीत होगा। पाठकोंने यहा जान लिया होगा कि उक्त गुण विशेष वर्णोंके होनेसे उक्त दिशाओंका संबंध उक्त वर्णोंके साथ भी है। ब्राह्मणोंका ज्ञान, क्षत्रियोंका शौर्य, वैश्योंका पुरुषार्थ, शुद्रोंके हुनरका लाभ और जनताका वीर्यतेज सब राष्ट्रके उद्धारका हेतु है। तथा प्रत्येक व्यक्तिमें ज्ञान, शौर्य, पुरुषार्थ, फलप्राप्तितक प्रयत्न करनेका गुण और वीर्यतेज चाहिए। इस प्रकार व्यक्तिमें और राष्ट्रमें उक्त गुणाका संबंध है। इस संबंधको स्मरण रखते हुए पाठक निम्न मंत्र देखे -

प्राच्यां दिशि शिरो अजस्य धेहि
दक्षिणायां दिशि दक्षिणं धेहि पार्श्वम् ॥ ७ ॥
प्रतीच्यां दिशि भसदमस्य धेहि
उत्तरस्यां दिश्युत्तरं धेहि पार्श्वम् ।
ऊर्ध्वायां दिश्यजस्यानूक्यं धेहि दिशि ध्रुवायां
धेहि पाजस्यम०॥ ८ ॥ अथर्व. ४।१४

'प्राची दिशामें (अजस्य) अजन्मा जीवका सिर रखो तथा अन्य दिशाओंमें अन्य अवयव रखो।' इन मंत्रोंमें अवयवोंका दिशाओंके साथ संबंध बताया है। निम्न कोष्टकसे इसका भेद स्पष्ट होगा।

दिशा कोष्टकर ॥४॥ (अथर्व. ४।१४।७-८)

प्राची	शिरः	मस्तक
दक्षिणा	दक्षिणं पार्श्वं	दहनी बगल
प्रतीची	भसदं	गुप्त भाग
उदीची	उत्तरं पार्श्वं	बायी बगल
ध्रुवा	पाजस्यं	पेट
ऊर्ध्वा	आनूक्यं	पीठकी हड्डी

इस कोष्टकके साथ पूर्वोक्त कोष्टककी तुलना कीजिए। ज्ञान, शौर्य, पुरुषार्थ और फलका संबंध सिर, बाहु, मध्यभाग और निम्न भागके साथ यहां लिखा है। ज्ञान, शौर्य, पुरुषार्थका संबंध गुणरुपसे प्रत्येक व्यक्तिमें है और वर्ण रुपसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्योंमें अर्थात् राष्ट्र-पुरुषके अवयवोंमें है। इस प्रकार वर्णोका संबंध दिशाओंके साथ स्पष्ट है। यह संबध ध्यानमें धर कर विचार करते हुए आप निम्न मंत्र देखिए-

प्राचीं प्राचीं प्रदिशमारभेथामेतं लोकं श्रद्धानाः सचन्ते ॥ यद्वां पक्वं परिविष्टमग्नौ तस्य गुप्तये दंपती संश्रयेथाम् ॥ ७ ॥ दक्षिणां दिशमभि नक्षमाणौ पर्यावर्तेथामभि पात्रमेतत् ॥ तस्मिन्वां यमः पितृभिः संविदानः पक्वाय शर्म बहुलं नियच्छात् ॥ ८ ॥ प्रतीचीं दिशामियमिद्वरं यस्यां सोमो अधिपा मृडिता च ॥ तस्यां श्रयेदां सुकृतः सचेथामधा पक्वान् मिथुना संभवाथः ॥ ९ ॥ उत्तरं राष्ट्रं प्रजयोत्तरावद्दिशामुदीचीं कृणवन् नो अग्रम् । पांक्तं छंदः पुरुषो बभूव विश्वैर्विश्वांगैः सह संभवेम ॥ १० ॥ ध्रुवेयं विराण्नमो अस्त्वस्यै शिवा पुत्रेभ्य उत मह्यमस्तु । सा नो देव्यदिते विश्ववार इर्य इव गोपा अभि रक्ष पक्वम् ॥ ११ ॥ अथर्व. १२।३

(१) (प्राची) पूर्व दिशा प्रगतिकी दिशा है, इसमें (आरभेथां) उत्साहके साथ पुरुषार्थका आरंभ कीजिए, (एतं लोकं) इस उन्नतिके लोकमें (श्रद्धानाः) श्रद्धा धारण करनेवाले ही पहुंचते है। जो (वां) आप दोनोंका अग्निमें प्रविष्ट होकर (पक्वं) पका हुआ अन्न होगा, (तस्य गुप्तये) उसकी रक्षाके लिये (दंपती) स्त्रीपुरुष (संश्रयेथां) प्रयत्न कर॥ (२) इस दक्षिण दिशामें जब आप (अभि नक्षमाणौ) सब प्रकारसे प्रगति करते हुए इस (पात्रं)

योग्य अथवा संरक्षक कर्मका (**अभि पर्यावर्तेथां**) सब प्रकारके वारंवार अनुष्ठान करेंगे, तब आपकी (**पकाय**) परिपक्वताके लिये (**पितृभिः**) रक्षकोंके साथ (**संविदानः यमः**) ज्ञानी नियामक (**बहुलं शर्म**) बहुत सुख देगा । (३) (**प्रतीचीं**) पश्चिम दिशा यह सचमुच (**वरं**) श्रेष्ठं दिशा है, जिसमें (**सोमः**) विद्वान् और शांत अधिपति और (**मृडिता**) सुख देनेवाला है। इस दिशाका आश्रय कीजिए, सुकृत करके परिपक्ताको (**सचेथां**) प्राप्त कीजिए । और (**मिथुना**) स्त्रीपुरुष मिलकर (**सं भवाथः**) सुसंतान उत्पन्न कीजिए । (४) उत्तर दिशा (**प्र-जया**) विजयशाली राष्ट्रीय दिशा है, इसलिये हम सबको यह उत्तर दिशा (**अग्रं**) अग्र भागमें ले जावे । (**पांक्तं**) पांच वर्णो-राष्ट्रके विभागों-का (**छंदः**) छंद ही यह पुरुष होता है । इन सब अंगोंके साथ हम सब (**सं भवेम**) मिलकर रहेंगे ॥(५) यह ध्रुव दिशा (**विराट्**) बडी भारी है । इसके लिये नमन है । यह मेरे लिये तथा बालबच्चोंके लिये (**शिवा**) कल्याणकारी होवे । हे (**अ-दिते देवि**) हे स्वतंत्रत देवि ! (**विश्ववारे**) सब आपत्तियोंका निवारण करनेवाली देवी ! तूं (**गोपा**) हम सबका संरक्षण करती हुई, हमारी परिपक्वताको सुरक्षित रखो ।

इन मंत्रोंमे दिशाओंकी कई विशेष बाते बताई है । इनके सूचक मुख्य शब्दोंका निम्न कोष्टक बनता है ।

दिशा कोष्टक ॥५॥ (अथर्व १२।३।७-११)

दिशः	कर्म	साधन	साधक	क्रिया
प्राची	आरंभः	श्रद्दधानः	दंपती	संश्रयेथां
दक्षिणा	पर्यावर्तः	नक्षमाणः	यमःसंविदानः	नियच्छात्
प्रतीची	आश्रयः	सुकृतः	मिथुनः	संभवाथः
उदीची	प्र-जय	पांक्तं छंदः	पुरुषः	सह संभवेम
ध्रुवा	वि-राट्	शिवा	विश्ववारा अदितिः	रक्ष

इस कोष्टकसे साधारणरूपमें पता लग जायगा कि दिशाओंके उक्त नाम किस बातके सूचक है । और इन सूचक नामोंमें कैसा उत्तम तत्त्वज्ञान भरा हैं । इन मंत्रोको देखनेसे निम्न बातोंका पता लगता है -

(१) **प्राची दिशा** - (**प्र+अंच् =** आगे बढना, उन्नति करना, अग्रभागमें हो जाना) यह मूल अर्थ '**प्रांच्**' धातुका है, जिससे 'प्राची' शब्द बनता है । 'प्राची दिशा' का अर्थ बढती अथवा उन्नतिकी दिशा, वृद्धिका मार्ग ।

उन्नतिके लिये विविध कर्म प्रारंभ करनेकी अत्यंत आवश्यकता होती है । पुरुषार्थोंका प्रारंभ कनेके विना उन्नतिकी आशा करना व्यर्थ है । उत्साहसे पुरुषार्थ करनेके लिये श्रद्धा चाहिए ।श्रद्धाके विना उत्साह प्राप्त नही हो सकता । जगत्में स्त्रीपुरुष मिलकर ही विविध पुरुषार्थोका साधन करते है । उनके परस्पर मिलकर रहनेसे ही संसारमें सब भागोंकी परिपक्वता और (**गुप्ति**) संरक्षण हो सकता है । इस प्रकार प्राची दिशासे बोध मिलता है।

(२) **दक्षिण दिशा** - 'दक्षिण' शब्दका अर्थ दक्ष, ठीक, योग्य, प्रबुद्ध, सीधा सच्चा है । 'दक्षिण दिशा' शब्दोंका मूल अर्थ सीधा मार्ग, सच्चा मार्ग ऐसा ही है । पश्चात् इसका अर्थ 'सीधे तरफकी दिशा' हो गया है ।

उन्नतिके लिये सीधे और सच्चे मार्गसे चलना चाहिए। और (**नक्षमाण**) गति अथवा हलचल किंवा प्रयत्न करना चाहिए तथा सिद्धि होना असंभव है । एक वार प्रयत्न करनेसे सिद्धि न हुई तो वारंवार पुरुषार्थ करना आवश्यक है । इसीकी सूचना '(**पर्यावर्तेथां, परि-आ-वर्तेथां**) वारंवार प्रयत्न कीजिए ' इन शब्दों द्वारा मंत्रमें दी है । '**यम**' शब्द नियमोंका सूचक, '**पितृ**' शब्द जननशक्ति और संरक्षणका सूचक, तथा '**संविदान**' शब्द ज्ञानका सूचक है । नियम, स्वसंरक्षण और ज्ञानसे ही शर्म अर्थात् सुख होता है । यह दक्षिण दिशाके मंत्रसे बोध मिलता है ।

(३) **प्रतीची दिशा** - प्रत्यंच् अन्दर आना, अंतर्मुख होना । प्रतीची दिक् शांतिकी दिशा, अन्दर मूल स्थानपर आनेकी दिशा, स्वस्थानपर आनेका मार्ग, अन्तर्मुख होनेका मार्ग, यह इस शब्दका मूल अर्थ है । 'पूर्व दिशा' को आगे बढनेका मार्ग कहा है और पश्चिम दिशाको फिर वापस होकर अपने मूल स्थानपर आकर विश्राम लेनेकी दिशा कहा है -

प्रतीची	**प्राची**
(प्रति-अंच्)	(प्र-अंच्)
प्रति-गति	प्र-गति
प्रति-गमन	प्र-गमन
नि-वृत्ति	प्र-वृत्ति

दिशाओंके नामोंसे जो भाव व्यक्त होते है, उनका

पता इस कोष्टकसे लग सकता है । वैदिक शब्दोंका इस प्रकार महत्व देखना चाहिए ।

निवृत्ति, विश्रांति अथवा स्व-स्थताका स्थान ही श्रेष्ठं (**वरं**) होता है । शांतिसे भिन्न और श्रेष्ठता क्या होगी ? सोम ही शांतताकी देवता है । सूर्यके प्रखरतर प्रचंड किरणोंके तापसे संतप्त मनुष्य चंद्र (**सोम**) के शीत प्रकाशसे शांत, संतुष्ट और आनंदित होता है । सुकृत अर्थात् धार्मिक पुण्य कर्मोंका मार्ग ही इस शांतिको प्राप्त कर सकता है, इत्यादि भाव इस मंत्रमें ज्ञान होते है ।

(४) **उत्तर दिशा - (उत्-तर)** अधिक उच्चतर, अधिक श्रेष्ठ अवस्था प्राप्त करेका मार्ग ऐसा इसका मूल अर्थ है । मनुष्योंको उच्चतर अवस्था प्राप्त होनेके लिये राष्ट्रकी भक्ति कारण होती है, क्योंकि-

**भद्रमिच्छन्त ऋषयः स्वर्विदस्तपो दीक्षामुप-
सेदुरग्रे । ततो राष्ट्रं बलमोजश्च जातं तदस्मै
देवा उपसंनमन्तु ॥** (अथर्व. १९।४१।१)

सबका कल्याण करनेकी इच्छा करनेवाले ज्ञानी ऋषिमुनियोंने तप किया और दक्षतासे व्रत किया । उससे राष्ट्र, बल और ओज उत्पन्न हुआ, इसलिये सब देव उस राष्ट्रीयताके सन्मुख नम्रता धारण करें । 'राष्ट्रीयता के साथ लोककल्याणका भाव इस प्रकार वेदने वर्णन किया है। लोककल्याण ही लोगोंकी उच्चतर अवस्था है । राष्ट्रीय भावनाके अन्दर (**नः अग्रं कृण्वन्**) 'हम सबको अग्र भागमें होनेके लिये प्रयत्न करना आवश्यक है । राष्ट्र (**पांक्त**) पांच विभागोंमें विभक्त है, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और निषाद, अथवा ज्ञानी, शूर, व्यापारी, कारीगर और साधारण जन मिलकर राष्ट्रके पांच अवयव होते है, इन पांच प्रकारके जनोंका कल्याण करनेकी (**छंद**) प्रबल इच्छा जिसमें होती है वही सच्चा 'पुरुष' कहा जा सकता है । पुरुष उसको कहते है कि जो (**पुरि**) नगरीमें (**वसति**) निवास करता है । नागरिक जन जो 'लोककल्याण ' करता है, वही सच्चा पुरुष है । सब अंगोंसे उसकी पूर्णता होती है और उन्नतिके लिये (**सं भवेम**) सब मिलकर एकत्रित होनेकी आवश्यकता है । यह बोध उत्तर दिशाके मंत्रके शब्दोंसे ज्ञात होता है।

(५) **ध्रुवा दिक्** - स्थिरताका यहां बताना है । मनुष्यके व्यवहारोंमें चंचलता ठीक नही है । स्थिरता, दृढता, निश्चितता, उन्नतिकी साधक है । सबका (**शिवा**) कल्याण इस गुणसे होता है । स्थिरताका मार्ग योग्य मार्ग है, जिसमें चंचलताको दूर करके स्थिरताकी प्राप्ति की जाती है । इससे सबका हित होता है । यही (**अ-दिति**) अविनाशको देवता अथवा स्वतंत्रताकी देवता है । स्थिरताके विना स्वतंत्रताकी प्राप्ति नही हो सकती । (**गो-पा**) इंद्रियोंका संरक्षण अर्थात् संयम इस मार्गमें अत्यंत आवश्यक है । इस प्रकार ध्रुव दिशाके मंत्रोंसे बोध प्राप्त होता है।

मंत्रोंकी शब्दयोजना कितनी अर्थपूर्ण है, इसका विचार पाठक यहां कर सकते है । अस्तु । दिशा विषयक उल्लेख ऋग्वेदमें नही है । इसलिये अब इस सब विवरणका एकीकरण करना चाहिए । उसके पूर्व निम्न मंत्र देखिए-

प्राच्यै त्वा दिशेऽग्नयेऽधिपतयेऽसिताय रक्षित्र आदित्यायेषुमते । एतं परि दद्मस्तं नो गोपायतास्माकमैतोः । दिष्टं नो अत्र जरसे नि नेषज्जरा मृत्यवे परि णो ददात्वथ पक्वेन सह सं भवेम ॥ ५५ ॥ दक्षिणायै त्वा दिश इन्द्रायाधिपतये तिरश्चिराजये रक्षित्रे यमायेषुमते ॥ एतं० ॥ ५६ ॥ प्रतीच्यै त्वा दिशे वरुणायाधिपतये पृदाकवे रक्षित्रेऽन्नायेषुमते । एतं० ॥ ५७ ॥ उदीच्यै त्वा दिशे सोमायाधिपतये स्वजाय रक्षित्रेऽशन्या इषुमत्यै ॥ एतं० ॥ ५८ ॥ ध्रुवायै त्वा दिशे विष्णवेऽधिपतये कल्माषग्रीवाय रक्षित्र ओषधीभ्य इषुमतीभ्यः ॥ एतं० ॥ ५९ ॥ ऊर्ध्वायै त्वा दिशे बृहस्पतयेऽधिपतये श्वित्राय रक्षित्रे वर्षायेषुमते ॥ एतं० ॥ ६० ॥
(अथर्व. १२।३)

'प्राची दिशा, अग्नि अधिपति, असित रक्षिता और इषुमान् आदित्यके लिये (**एतं**) यह दान (**परि दद्मः**) देते है । अस्माकं (**आ-एतोः**) हमारे दुष्ट भावोंसे हम सबका (**नः गोपायतां**) संरक्षण करें । (**अत्र**) यहा (**नः**) हम सबको (**दिष्टं**) अच्छी धर्मकी प्रेरणा (**जरसे**) वृद्ध अवस्थातक (**नि नेषत्**) ले जावे । (**जरा**) वृद्ध अवस्था मृत्युको (**नः मृत्यवे परि ददातु**) हम सबको मृत्युके प्रति देवे । (**अथ**) और (**पक्वेन**) परिपक्वताके साथ (**सं भवेम**) संभूति अर्थात् उन्नतिको प्राप्त हो जावें । यह प्रथम मंत्रका अर्थ है । शेष मन्त्रोंका भाव ऐसा ही सुगम है ।

इन मंत्रोंमें (१) दान, (२) स्वसंरक्षण (३) दुष्ट भावका दूर करना, (४) धर्मकी प्रेरणाके साथ पूर्ण वृद्ध अवस्थाका अनुभव लेनेके पश्चात् अर्थात् दीर्घ आयुकी समाप्तिके पश्चात् मरनेकी कल्पना और (५) परिपक्व (बुद्धिके सज्जनों) के साथ अर्थात् सत्संगमें रहनेका उपदेश है ।

प्रारंभसे यहांतक दिशा विषयक जो कोष्टक और मंत्र दिये है उन सबका एकीकरणपूर्वक विचार करनेसे इन मंत्रोंका अधिक बोध होना संभव है ।

प्राची दिगग्निरधिपतिरसितो रक्षिताऽऽदित्या इषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु॥
योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः॥
(अथर्व. ३।२७।१)

इस मंत्रका अब विचार करना है। इसका विचार होनेंसे अन्य सब मंत्रोंका विचार हो सकता है। पूर्व स्थलमें, जहां दिशाओंका द्वितीय कोष्टक दिया है, वहां बताया है कि अधिपति इषु, रक्षिता आदि शब्द आलंकारिक है, इसलिये इनका अर्थ काव्यकल्पनाके अनुसार लेना चाहिए।

(१) अधिपति, रक्षिता, इषवः आदि शब्द आलंकारिक हैं क्योंकि वर्षा, वीरुधः आदिकोंको भी बाण कहा है। वस्तुतः ये बाण नही हैं। इस कारण कविकी आलंकारिक दृष्टिसे इनका अर्थ लेना उचित है।

(२) मंत्रके प्रथम पादमें अधिपति, रक्षिता ये शब्द एक वचनमें है, परन्तु द्वितीय चरणमें इन ही शब्दोंका बहुवचन लिखा है। एकवचनका शब्द परमेश्वरपर माना जा सकता है परंतु **'अधिपतिभ्यः, रक्षितृभ्यः'** शब्द बहुवचन होनेके कारण परमेश्वरपर नहीं माने जा सकते। आदरार्थक बहुवचन माननेके पक्षमें पूर्वचरणमें एक वचन आया है उसकी निरर्थकता होती है। वेदमें किसी स्थानपर एक मंत्रमें परमेश्वर वाचक शब्दोंका एकवचन और बहुवचन आया नही है। इसलिये यहां इन शब्दोंके अर्थ केवल परमेश्वरपर होनेमें शंका है।

(३) प्रत्येक दिशाका अधिपति रक्षिता और इषु भिन्न है। यदि ये परमेश्वरपर शब्द हैं तो भिन्नताका कोई तात्पर्य नहीं निकल सकता।

(४) तृतीय चरणमें 'जो हम सबका द्वेष करता है और जिसका हम सब द्वेष करते है उसका (वः जम्भे) आप एक जबडेमें हम सब धर देते है।' इस आशयके शब्द आ गये है। यह मंत्रका भाग केवल सामाजिक स्वरूपपर कहा है ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है। दुष्टको दण्ड देनेका इसमें विषय है और दण्ड देनेवाला अकेला नही है, परन्तु (वः) अनेक है। (वः जम्भे)' आप अनेकोंके एक जबडेमें हम सब मिलकर उस दुष्टको देते है।' आप जो चाहे उसको दंड दीजिए। दंड देनेका अधिकार हम अपने हाथोंमें नही लेते, आप सबको ही दंड देनेका अधिकार है। यह आशय उक्त मंत्रभागमें स्पष्ट है। इसमें न्यायव्यवस्थाकी बाते स्पष्टतासे लिखी है -

(अ) अनेक सज्ञनोंको मिलकर न्याय करना चाहिए।

(आ) किसीको उचित नही कि वह स्वयं ही दुष्टको मनमाना दंड देवे। वह अधिकार न्यायसभाका ही है।

(इ) बहुपक्षसे द्वेष नही करना चाहिये। द्वेष करना बुरा है। स्वसंमति प्रकट करना द्वेष नही है।

(ई) बहुपक्षको भी उचित नही कि वे अपनी संमतिसें किसीको दंड देवें। बहुपक्ष और अल्प पक्षके मतभेद होनेपर न्यायसभा द्वारा योग्यायोग्यका निश्चय करना चाहिए। और न्यायसभाका निश्चय सबको मानना चाहिए।

इत्यादि बातें उक्त मंत्रभागसे स्पष्ट सिद्ध होती है। यहां परमेश्वरके जबडेमें देनेकी कल्पना नही प्रतीत होती। अब यहां **'जंभ'** शब्दका अर्थ देखना उचित है - **'जंभ'** शब्दका अर्थ दांत, हाथीका दांत, मुख, जबडा, वज्र, दंड होता है। मंत्रमें **'वः जंभे'** अर्थात् 'अनेकोंका एक जबडा' कहा है, प्रत्येक प्राणीके लिये एक जबडा हुआ करता है। परंतु यहां अनेक मनुष्योंका मिलकर एक जबडा कहा है। वास्तविक रीतिसे अनेक मनुष्योंका एक जबडा नहीं हो सकता, परंतु यहां कहा है, इसलिये यह जबडा वास्तविक नही है, केवल काल्पनिक है। निम्न कोष्टकसे व्यक्तिगत और सामाजिक जबडेकी कल्पना आ सकती है -

व्यक्तिका जबडा	**समाजका जबडा**
जंभ	न्यायालय
मुख	मुख्य
ज्ञानेंद्रिय-पंचक	ज्ञानीजन-पंच
दांत-द्विज	त्रैवर्णिक-द्विज
दंतपंक्ति	द्विज-सभा
चर्वण, चर्वितचर्वण	विषय-चर्चा
अन्न-चर्वण	प्रमाण-विचार

सिंह, व्याघ्र आदि हिंस्र पशु अपने शत्रुको अपने जबडेमें रखकर जाते हैं। शत्रुको अपने जबडेमें रखनेकी कल्पना नीच प्राणियोंमें है। क्रोधी मनुष्य पागल बनकर अपने शत्रुको काटने दौडता है। परंतु विचारी मनुष्य इस पशुवृत्तिको दबाकर अपने आपको समाजका एक अवयव समझकर, अपने शत्रुको भी समाजका एक अवयव मानता है, इस कारण वह शत्रुको दंड देनेके लिये स्वयं प्रवृत्त न होता हुआ, न्यायसभाकी शरण लेता है, क्योंकि वही 'समाजका जबडा' है। इस न्यायालयमें द्विजोंकी सभा लगती है और वह अनुकूल प्रतिकूल बातोंका मनन वारंवार करके दुष्टको दंड देती है और सज्ञनको स्वातंत्र्य अर्पण करती है। इस समाजके जबडेका अर्थात् न्यायसभाका भाव 'जंभ' शब्दसे लेना यहां उचित है। यही अनेक मनुष्योंका मिलकर एक जबडा हो सकता है।

तं वो जंभे दध्मः।

(तं) उस दुष्टको हम सब **(वः)** आप अनेकोंके **(जंभे)** एक जबडेमें - अर्थात् न्यायसभामें - **(दध्मः)** धारण करते हैं। अर्थात् आपके आधीन करते है। न्यायसभाकी शिरोधार्यता यहां बताई गई है।

यहांका 'वः' शब्द पूर्वोक्त **'अधिपतिभ्यः रक्षितृभ्यः'** इन शब्दोंकी सूचित करता है। समाजके अथवा राष्ट्रके अधिपति और रक्षक 'वः' शब्दसे जाने जाते है। सबका द्वेष करनेवाले दुष्टको इन पंचोंके आधीन करना चाहिए, यह मंत्रका स्पष्ट आशय है। इसीलिये 'अधिपति' आदि शब्दोंका बहुवचन मंत्रमें आ गया है और इसी कारण वह बहुवचन योग्य और अर्थके अनुकूल है।

शत्रुको पंचोंके आधीन करनेके भावसे शत्रुको स्वयं दंड देनेकी और न्यायको अपने हाथमें लेनेके घमंडकी वृत्ति कम होती है, और पंचोंकी ओरसे न्याय प्राप्त करनेकी सात्त्विक प्रवृत्ति बढती है। इस प्रकारकी प्रवृत्ति समाजके हितके लिये आवश्यक है।

इस उपदेशसे अपने आपको समाजका अवयव समझनेका सात्विक भाव बढाया जाता है। मैं जनताका एक अंश हूं जनाताका और मेरा अटूट संबंध है, यह भावना अत्यंत श्रेष्ठ है, और इस उच्च भावनाचा बीज कितनी उत्तमतासे अंतःकरणमें रखा गया है। यह वैदिक धर्मका ही महत्त्व है।

'तेभ्यो नमो.' आदि दो पाद प्रत्येक मंत्रमें है। ये दो पाद छः मंत्रोंमें बार बार कहे है। बार बार मंत्रोंका जो अनुवाद किया जाता है उसको 'अभ्यास' कहते है। विशेष महत्त्वपूर्ण मंत्रोका ही इस प्रकार वारंवार अनुवाद वेदमें किया गया है। इससे सिद्ध है, कि इन मंत्रोंका भाव मुख्य है, और इनके अनुकूल शेष मंत्रभागका अर्थ करना चाहिए। अर्थात् इस सूक्तका अर्थ सार्वजनिक है।

(१)

(१ प्राची दिक्) प्रगतिकी दिशा, **(२ अग्निः अधिपतिः)** तेजस्वी स्वामी, **(३ असितः रक्षिता)** स्वतंत्र संरक्षक और **(४ आ - दित्याः इषवः)** स्वतंत्रतापूर्ण वक्तृत्व, ये चार बाते हैं।

प्रत्येक दिशा विशेष मार्गकी सूचक समझी जाती है और उस विशेष मार्गके साधक तीन गुण हैं। प्रत्येक दिशाके साथ ये गुण निश्चित हैं। इस पूर्व दिशाके अनुसंधानसे प्रगतिके मार्गका उपदेश किया है। तेजस्विता, स्वतंत्रता और वक्तृत्व ये तीन गुण उन्नतिके साधक है। अर्थापत्तिसे स्पष्ट सिद्ध होता है कि निस्तेज निवीर्य राजा, पराधीन रक्षक और अस्वतंत्र वक्ता किसी प्रकार भी उन्नतिका साधन नहीं कर सकते। इसी प्रकार अन्य दिशाओंका विचार करके बोध जानना उचित हैं।

(१) प्रगतिका निश्चित मार्ग, (२) तेजस्वी स्वामी, (३) स्वाधीनताका धारण करनेवाला रक्षक और (४) स्वतन्त्रतापूर्ण वक्तृत्व, ये चार बातें, मानवी उन्नतिके लिये आवश्यक है। इसी प्रकारके स्वामी, संरक्षक और वक्ताओंका सत्कार होना उचित है। जो हमारा द्वेष करता है और जिसका हम द्वेष करते हैं उसको आप अधिपतियोंकी सभाके आधीन हम सब करते हैं। यह मन्त्रका सीधा आशय है। मनुष्यकी भलाईके उपदेश यहां है। इस प्रकार अर्थका मनन करना उचित है। अब मुख्य शब्दोंके मूल अर्थोंका मनन करते हैं -

(१) **'अग्नि'** शब्द वैदिक वाङ्मयमें ब्राह्मण और वक्तृत्वका प्रतिनिधि है। दिशा कोष्टक सं. ३ देखिए, उसमें प्राची दिशाका 'ब्रह्म' अर्थात् ज्ञान ही धन कहा है।

(२) 'अ - सित' शब्दका अर्थ बंधन - रहित, स्वतंत्र, स्वाधीन ऐसा है। **'सि - बंधने'** इस धातुसे **'सित'** शब्द बनता है, जिसका अर्थ 'पर - स्वाधीन' है। **'अ- सित'** अबद्ध स्वतंत्र।

(३) **'आदित्य'** शब्द 'अ - खंडनीय' अर्थमें प्रयुक्त होता है। 'दो - अवखंडने' धातुसे **'दिति'** शब्द बनता है जिसका अर्थ 'खंडित' है। 'अ-दिति' का अर्थ 'अ - खंडित' है। अदितिका भाव आदित्य है। अखंडनीय, अमर्याद, बंधन रहित, स्वतंत्रताके भाव, जहां अज्ञानका बंधन नहीं है।

(४) **'इषु'** - 'इष् - गतौ' धातुसे यह शब्द बनता है। इसलिये 'गति, हलचल' यह भाव इस शब्दमें मुख्य है। पश्चात् इसके अर्थ हलचलका यत्न करना, वक्तृत्व करना, घोषणा देना, उन्नति करना, ये हो गये। इस धात्वर्थका भाव **'इषव'** शब्दमें है। अस्तु। इस प्रकार प्रथम मंत्रका आशय है। अब द्वितीय मंत्र देखिए -

(२)

(१ दक्षिणा दिक्) दक्षताकी दिशा **(२ इन्द्रः, अधिपतिः)** शत्रुनिवारक स्वामी **(३ तिरश्चिराजी रक्षिता)** पंक्तिमें चलनेवाला संरक्षक और **(४ पितरः इषवः)** वीर्यवान् हलचल करनेवाले, ये चार बातें उन्नतिकी साधक हैं। इसी प्रकारके स्वामी रक्षक और पालकोंका सत्कार हो। जो आस्तिकोंसे द्वेष करता है और जिसका आस्तिक द्वेष करते हैं उसको हम सब आप अधिपतियोंकी सभाके आधीन करते हैं।

(५) 'इन्द्र' - (इन् शत्रून् द्रावयिता । १०।८) शत्रुका निवारण करनेवाला विजयी ।

(६) 'तिरश्चिराजी' - (तिरः) बीचमेंसे, (अंच्-) जाना, (राजी-) लकीर, मर्यादा ।अपनी मार्यादाका उल्लंघन न करनेवाला ।

(७) 'पिता' (पातीति पिता) - संरक्षक पिता है। वीर्य धारण करके उत्तम सन्तान उत्पन्न करनेवाला वीर्यवान् पुरूष पिता होता है ।

(३)

यह भाव द्वितीय मंन्त्रका है। अब तीसरा मंत्र देखिये - (१ प्रतीची दिग्) अंतर्मुख होनेकी दिशा, (२ वरूणः अधिपतिः) सर्व सम्मत स्वामी, (३पृदाकुः रक्षिता) स्पर्धामें उत्साही रक्षक और (४ अन्नं इषवः) अन्नकी वृद्धि ये चार बातें अभ्युदयकी साधक हैं ।

(४)

(१ उदीची दिग्) उत्तर दिशा, उच्चतर होनेकी दिशा, (२ सोमः अधिपतिः) शांत स्वामी, (३ स्वजः रक्षिता) स्वयं सिद्ध संरक्षक और (४ अशनिः इषवः) तेजस्वी प्रगति ये चार बाते उन्नतिकी हैं ।

(५)

(१ ध्रुवा दिक्) स्थिर दिशा, (२ विष्णुः अधिपतिः) कार्यक्षम स्वामी, (३ कल्माषग्रीवः रक्षिता) कर्मकर्ता संरक्षक और (४ वीरूधः इषवः) औषधियोंकी वृद्धि ये चार बातें उत्कर्षके लिये हैं ।

(६)

(१ ऊर्ध्वा दिक्) उच्च दिशा, (२ बृहस्पतिः अधिपतिः) ज्ञानी स्वामी, (३ श्वित्रः रक्षिता) शुद्ध संरक्षक और (४ वर्षे इषवः) वृष्टिकी गति ये चार बातें उन्नति करनेवाली हैं।

अब इन शब्दार्थोंका मनन करेंगे । शब्दोंके मूल धात्वर्थ नीचे दिये हैं -

(१) 'वरूणः ' - वर - वृ- वरणे । पसंद करना । जो पसंद किया जाता है वह वरूण होता है। सर्वसंमत सर्वश्रेष्ठ।

२ 'पृदाकुः ' - (पृत - आ- कुः) - पृत्का अर्थ युद्ध, संग्राम, स्पर्धा, स्पर्धाके समय उत्साहके शब्द बोलनेवाला 'पृदाकु' होता है । कु - शब्द ।

(३) 'सोमः' - शांतिका सूचक चंद्र अथवा सोम है। इसका दूसरा अर्थ 'स+उमा' अर्थात् विद्याके साथ रहनेवाला अर्थात् ज्ञानी है । 'सु - प्रसवऐश्वर्ययोः' इस धातुसे 'सोम' शब्द बनता है जिसका अर्थ 'उत्पादक, प्रेरक और ऐश्वर्यवान्' ऐसा होता है ।

(४) 'स्वजः' - (स्व+जः) - अपनी शक्तिसे रहनेवाला, जिसे दूसरेकी शक्तिका अवलंबन करनेकी आवश्यकता नहीं है। स्वावलंबनशील । स्वयं जिसका यश चारों ओर फैलता है ।

(५) 'अशनिः' - यह विद्युत्का नाम है। तेजस्विताका बोध इन शब्दसे होता है । 'अश्' धातुका अर्थ व्यापना' है। व्यापक शक्तिका नाम अशनि है ।

(६) 'विष्णु' - सर्व 'व्यापक' कर्ता, उद्यमी ।

(७) 'कल्माष - ग्रीवः' - 'कल्मन्' का अर्थ कर्मन् अर्थात् कर्म, कार्य, उद्योग है । 'कल्माष' (कल्म - स) = कर्मके द्वारा अनिष्ट बुराईका नाश करनेवाला। (कर्मणां अनिष्टं स्यति इति कर्माषः । कर्माष एव कल्माषः ।) पुरूषार्थसे दुष्टताको दूर करके सुष्टुताको पास करनेवाला और इस प्रकारके पुरूषार्थके भाव गलेमें सदा धारण करनेवाला 'कल्माष - ग्रीव' किंवा 'कर्मा-स-ग्रीव' कहलाता है ।

(८) 'बृहस्पतिः' - महान् ज्ञानका स्वामी, ज्ञानी । स्तुति अथवा भक्तिका अधिष्ठान ।

(९) 'विश्वः' - शुद्ध, पवित्र, श्वेत

अस्तु इस प्रकार मुख्य शब्दोंके अर्थ हैं। पाठक इनका अधिक विचार करके लाभ उठावें ।

पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर, ध्रुव और ऊर्ध्व ये छः दिशायें क्रमशः प्रगति, चातुर्य, शांति, उन्नति, स्थैर्य और श्रेष्ठता इन छः गुणोंकी सूचक हैं । इन छः गुणोंका साधक 'गुण - चतु- ष्टय' पूर्वोक्त मंत्रोंमें वर्णन किया है। (१) दिशा, (२) अधिपति, (३) रक्षक और (४) इषु ये चार शब्द विशेष संकेतके हैं , और इन शब्दोंमें यहां असाधारण विशेष गूढ अर्थ हैं, इस बातका प्रकाश पाठकोंके मनमें पूर्ण रीतिसे पडा ही होगा । बारंवार मनन करके इनके गूढ तत्त्वका ज्ञान प्राप्त करना हम सबका कर्तव्य है ।

इन मंत्रोंमें 'इषु' शब्द विलक्षण अर्थके साथ प्रयुक्त हुआ है । इसका किसी अन्य भाषामें भाषांतर करना अत्यंत कठिन कार्य है । किसी एक प्रतिशब्दसे इसका भाव प्रकट होता ही नहीं । इसलिये इन मंत्रोंको विशेष विचारसे सोचना चाहिए।

उत्तम अधिपति और श्रेष्ठ संरक्षकोंका सन्मान होनेसे जनसमाजकी स्थिति ठीक रहती है, और राज्यशासन ठीक चलसकता है । अधिपति मुख्य होते हैं और संरक्षक उनके आधीन रहकर कार्य करनेवाले होते हैं । अधिपति और संरक्षकोंके विषयमें जनतामें निरादर नहीं होना चाहिए । अधिपति और संरक्षकोंके गुण, जो इन मंत्रोंमें वर्णन किये गये हैं, जहां होंगे वहां सब जनताका पूज्यभाव अवश्य रहेगा । दुष्टको दंड देनेका अधिकार

इनहीको है । किसी मनुष्यको उचित नहीं कि वह अपने हाथमें न्याय करनेका अधिकार स्वयं ही लेकर किसीको दंड देवे । इससे अशांति और अराजकता होती है । इसलिये प्रत्येक मंत्रमें कहा है कि 'हम श्रेष्ठ और योग्य अधिपतियोंका आदर करते हैं और दुष्टका शासन होनेके लिये उसको उनहीके स्वाधीन करते हैं ।' सब लोगोंपर इस भावके संस्कार होनेकी बडी भारी आवश्यकता है ।

मनसे सार्वजनिक अवस्थाका निरीक्षण करना और मानवी हितसाधन करनेका विचार करना, इन मंत्रोंका मुख्य उद्देश्य है । इन मंत्रोंमें जनताकी उन्नतिके विचारकी सूचना मिली है । वैदिक धर्ममें व्यक्ति और समाजका मिलकर सुधार लिखा है । केवल व्यक्तिका सुधार नहीं होगा , और केवल समाजका भी नहीं होगा । दोनोंका मिलकर होगा । व्यष्टि समष्टिकी मिलकर उन्नति होती है । प्रत्येक मंत्रकी प्रथम पंक्तिमें सामान्य सिद्धांत कहे हैं और शेष मंत्रमें उन सिद्धांतोको जनतामें घटाकर बताया है । इस दृष्टिसे पाठक इन मंत्रोंका अधिक विचार करें ।

दिशाओंका तत्त्वज्ञान । वैदिक दृष्टि ।

वैदिक तत्त्वज्ञान इतना विस्तृत, व्यापक और सर्वगामी है, कि उसका उपदेश न केवल वेदके प्रत्येक सूक्त द्वारा हो रहा है, परन्तु वेदके सूक्त पाठकोंमें वह दिव्य दृष्टि उत्पन्न कर रहे हैं, कि जिस दृष्टिसे जगत्के पदार्थ मात्रकी और विशेष भावनासे देखनेका गुण वैदिक धर्मियोंके अन्दर उत्पन्न हो सकता है। विशेष प्रकारका दृष्टिकोन उत्पन्न करना वेदको अभीष्ट है यदि पाठकोंमें यह दृष्टिकोन न उत्पन्न हुआ, तो वैदिक मंत्रोंका अर्थ समझना ही अशक्य है । वेदमंत्रोंकी रचना, तथा उनको समझनेकी रीति, वैदिक उपदेशकी पद्धति तथा वैदिक दृष्टि, इतनी विलक्षण और आजकलकी अवस्थासे भिन्न है कि वह दृष्टि अपनेमें उत्पन्न करना ही एक बडे प्रयासका कार्य, आजकलकी सभ्यताके कारण हो गया है । आजकलकी जड सभ्यताकी रीति अवलंबन करनेके कारण वह परिशुद्ध मानसिक अवस्था और वह दिव्य दृष्टि हमारेमें नहीं रही कि जो प्राचीन आर्योमें वैदिक धर्मके कारण थी।

किसी काव्यकी भाषा नीरस और शुष्क हृदयमें कोई प्रभाव उत्पन्न नहीं कर सकती । काव्यका रस जाननेके लिये पाठकोंका तथा श्रोताओंका हृदय विशेष संस्कृतिसे संपन्न ही चाहिए। कविकी दृष्टिसे ही काव्यका रस ग्रहण करना चाहिए, अन्यथा कविकी दृष्टिके विना कोई काव्य पाठकोंके हृदयपर प्रेमका भाव उत्पन्न कर ही नही सकता । उच्च कविता जंगली मनुष्योंके हृदयोंपर कोई इष्ट परिणाम नहीं कर सकती, इसका यही हेतु है। वीणाकी एक तार बजानेसे उसके स्वरके साथ मिली हुई दूसरी तार आप ही आप आवाज देती रहती है, परन्तु जो तार उसके स्वरके साथ मिली नहीं होती, वह नहीं बजती । यही नियम काव्यके आस्वाद लेनेके विषयमे भी है । जो हृदय कविके हृदयके समान उच्च होते हैं वे ही उस काव्यसे हिल जाते हैं, परन्तु जो हृदय भिन्न प्रकारकी अवस्थामे होते हैं वे नहीं हिल सकते । वेद 'देवका काव्य' होनेसे उसको समझने और उसका वास्तविक आनंद लेनेके लिये भी विशेष उच्च कोटीके हृदय चाहिये ।

यहां प्रश्न उत्पन्न हो सकता है, कि यदि ऐसा है तो सामान्य मनुष्यके लिये वेद निकम्मा सिद्ध होगा ! परंतु वास्तविक बात वैसी नहीं है ! परमेश्वरकी सृष्टि जैसी सब मनुष्योंके लिये है, उसी प्रकार ईश्वरके वेद भी सब मनुष्योंके लिये ही है । परंतु अपनी योग्यता और अवस्थानुसार हरएक मनुष्य वेदसे लाभ उठा सकता है ।

जिस प्रकार साधारण मनुष्य जलसे तृषा शमन करने और अग्निसे शांति निवारण करनेका काम लेकर पदार्थोंका उपयोग करता है, और समझता है कि सृष्टिका मैंने उपभोग लिया, तद्वत् साधारण मनुष्य वेदका स्थूल अर्थ लेता है और समझता है कि मैंने वेदका अर्थ जान लिया। जैसा **'अग्निईडे'** का अर्थ 'मै आगकी प्रशंसा करता हू' इतना ही समझना है ।

जिस प्रकार उच्च कोटीके वैज्ञानिक यंत्रकलानिपुण महाजन उसी जल और अग्निको यंत्रोंमें रखकर उनके योगसे बडे बडे यंत्र चला लेते हैं, और समझते हैं कि हमने सृष्टिका उपभोग लिया, तद्वत् ही बडे योगी और आत्मज्ञानी पुरूष उसी वेदमंत्रका काव्यदृष्टिसे अवलोकन करके परमात्म तत्त्वके सिद्धांन्तोंको जानते हैं । जैसा - **'अग्नि ईडे'** । का अर्थ ये लोग समझते हैं कि 'मैं उस तेजस्वी आत्माकी प्रशंसा करता हूं ।'

जैसा सृष्टिका उभोग दोनों ले रहे हैं, वैसा ही वेदका अर्थ दोनों समझ रहे हैं । परन्तु एककी साधारण दृष्टि अथवा जड दृष्टि है और दूसरेकी असाधारण अथवा काव्यदृष्टि है। वेद दिव्य काव्य होनेसे इस प्रकारकी असाधारण काव्यदृष्टिसे ही उसका आशय देखना उचित है । यद्यपि सबको यह दृष्टिसाध्य नहीं है, तथापि जिनको साध्य हो गई है उनकी सहायतासे अन्योंको उचित है कि वे अपनी गति इस भूमिकामें करें । आचार्यके बताये मार्गसे चलनेका यही तात्पर्य है ।

वेदका अर्थ समझनेके लिये न केवल वेद मन्त्रोंका विशेष दृष्टिसे और विशेष पद्धतिसे अर्थ जाननेकी आवश्यकता है, परन्तु सृष्टिकी ओर भी विशेष आत्मिक भावनासे देखनेकी अत्यंत आवश्यकता है। सर्वसाधारण लोकोंको सृष्टिकी तरफ जड दृष्टिसे देखनेका अभ्यास आजकल हो गया है। यही अभ्यास अत्यंत घातक है। जबतक जनतामें जड दृष्टि रहेगी, तबतक उनमें वैदिक दृष्टिका अभाव हीरहेगा। 'जिस अवस्थामें सब भूतमात्र आत्मरूप हो गये, उस अवस्थामें एक-त्व का सर्वत्र दर्शन होनेके कारण शोक मोह नहीं होता।' (यजु. ४०।७) यह दृष्टि है कि जिस दृष्टिसे सृष्टिकी ओर देखना चाहिए। परमात्म शक्तिका जो विकास इस प्रकृतिमें हो गया है, वह ही सृष्टि है। इस दृष्टिको 'आत्मरूप दृष्टि' कहते हैं।

जड दृष्टिके लोग अपने शरीरकी ओर भी जडत्वके भावसे देखते हैं और फैस्ल अस्थि, मज्जा, मांस आदिकोंको ही देखते हैं, उनको इन जड पदार्थोंसे भिन्न कोई श्रेष्ठ पदार्थ इस शरीरमें दिखाई नहीं देता, परंतु दूसरे सुविज्ञ लोग ऐसे हैं कि जो इस शरीरकी ओर चेतन दृष्टिसे देखते हैं और हरएक शरीरके भागमें आत्माकी शक्तिका विकास और आभास देखते हैं। यह दूसरी दृष्टि वेदको अभीष्ट है। इसी दृष्टिसे सृष्टिका निरीक्षण करनेका तथा वेदका अभ्यास करनेका यत्न करना चाहिए। इस विचारका विशेष स्पष्टीकरण करनेके लिये इस लेखमें दिशाओंका विषय लिया है, आशा है कि पाठक इस लेखको उक्त भावनाके साथ पढेंगे -

'प्राची दिशा' पूर्व दिशाकी विभूति।

पूर्व दिशाके लिये वेदमें विशेष कर **'प्राची दिक्'** शब्द आता है। इसका मूल अर्थ निम्न प्रकार है -

(१) प्राची = (प्र+अंच्)= 'प्र' का अर्थ 'आधिक्य, प्रकर्ष, आगे, सन्मुख' है। **'अंच्'** का अर्थ 'गति, पूजन' अर्थात् जाना, बढना, चलना, हलचल करना, सत्कार और पूजा करना' है। तात्पर्य 'प्राची' शब्दका अर्थ आगे बढना, उन्नति करना, अग्रभागमें हो जाना, प्रगतिका साधन करना, उदयको प्राप्त होना, अभ्युदय संपादन करना, ऊपर चढना, इत्यादि प्रकार होता है।

(२) दिक्=दिशा= का अर्थ तर्फ, सीध, ताक, हिदायत, आज्ञा, निशाना, सीधा रास्ता, सरल मार्ग, इत्यादि होता है।

उक्त दोनों अर्थोंको एकत्रित करनेसे **'प्राची दिक्'** का अर्थ -(१) आगे बढनेकी दिशा, (२) उदयका मार्ग (३) अभ्युदय प्राप्त करनेका रास्ता (४) सत्कार और पूजाका पंथ, (५) उन्नतिकी हलचल, (६) उच्च गतिका सीधा मार्ग, इत्यादि प्रकार होता है। प्राची दिशाका मूल अर्थ बढती अथवा उन्नतिकी दिशा , अभ्युदयका मार्ग, वृद्धिका रास्ता है।

इस अर्थको मनमें धारण करके पाठक पूर्व दिशाकी ओर सवेरे देखें। विचारपूर्वक देखनेके पश्चात् पाठकोंको पता लग जायका कि पूर्व दिशाका नाम **'प्राची दिक्'** वेदने क्यों रखा है। विचारकी दृष्टिसे रात्रीके समयमें भी पूर्व दिशाकी ओर पाठक देखते जांय। पूर्व दिशाकी अपूर्वता सवेरे और रात्रीके समय ही ज्ञात हो सकती है। दिनके समय सूर्यके प्रचण्ड प्रकाशके कारण इस दिशाका महत्त्व ध्यानमें नहीं आ सकता। इसीलिये सवेरे और रात्रीके ही पूर्व दिशाके महत्त्वका चिन्तन करना चाहिये।

तार्किक लोग दिशाओंको जड कहते हैं, उनको वैसा ही कहने दे, क्योंकि उनकी दृष्टि भिन्न है। वेद पढनेके समय आपको सर्वत्र पूर्ण चैतन्यकी दृष्टिसे देखना चाहिये। जैसा पूर्व दिशामें उसी प्रकार अन्य सब दिशाओंमें चैतन्यका विकास हो रहा है, ऐसी शुद्ध कल्पना कीजिए। और प्रत्येक दिशा जीवित और जाग्रत है, तथा विशेष प्रकारकी शक्तिका प्रकाश कर रही है, ऐसी कल्पना कर लीजिए। यदि आप इसको क्षणमात्र देवता मान सकेंगे तो भी हमारे प्रस्तुतके कार्यके लिये बहुत अच्छा है।

आप प्रभात कालमें पूर्व दिशाकी ओर मुख कर लीजिए। कई तारागणोंका उदय हो रहा है और कइयोंका उदय हो गया है, ऐसा आप देखेंगे। अनंत तारागणोंको जन्म देनेवाली, उनका उदय करनेवाली, यह पूर्वदिशा है। तेजस्विताका प्रकाश इस दिशासे हो रहा है। प्रतिक्षण इस दिशाकी प्रतिभा बढ रही है, क्योंकि तेजोरूप सूर्यनारायणका अब जन्मका समय है। देखिये। थोडे ही समयमें सहस्ररश्मी सूर्य भगवान् उदयको प्राप्त होंगे और संपूर्ण जगत्को नवजीवनसे संचारित करेंगे। तमोगुणी अंधकारका नाश होगा और सत्वगुणी प्राणमय प्रकाश चारों ओर चमकने लगेगा। देखिए अब सूर्यका उदय हो गया है, यह सूर्यबिंब कैसा मनोरम रमणीय, स्फुरण देनेवाला, आनंदको बढानेवाला, तेजका अर्पण करनेवाला, तथा सहस्रों शुभ गुणोंसे युक्त है। आप इसको केबल जड न समझिए। यह हमारे प्राणोंका प्राण है, यह स्थावर जंगमका जीवनदाता है, इसके होनेसे हम जीवित रह सकते हैं और इसके न होनेसे हमारा मृत्यु है, ऐसा यह सूर्यनारायण हमारे जीवनका आधार, परमेश्वरके अद्वितीय तेजका यह सूर्य निःसंदेह व्यक्त पुंज है। इसकी कल्पनासे आप परमात्माकी अद्वितीय तेजस्विताकी कल्पना कर

सकते हैं । इस उच्च दृष्टिसे आप इसका निरीक्षण किजिए । उदय होते ही इसका तेज बढने लगा है । तात्पर्य यह पूर्व दिशा हरएकको उदयके मार्गकी सूचना दे रही है, अभ्युदयका रास्ता बता रही है, अपनी तेजस्विता बढानेका उपदेश कर रही है । वेद कहता है कि यह 'उदयकी दिशा' है । सबका उदय यहांसे हो रहा है । हे मनुष्य ! तुम प्रतिदिन इसका ध्यान. और अपने उदयका मार्ग सोचो ।

सूर्यचंद्रका और सब तारागणोंका उदय देखते हुए आप अपने उदयके मार्गकी सूचना निःसंदेह ले सकते हैं । यदि एक समय अस्तको पहुंचा हुआ सूर्य पुरुषार्थसे फिर अपनी परिपूर्ण तेजस्विताके साथ उदयको प्राप्त हो सकता है, यदि क्षयरोगके कारण अत्यंत क्षीणताको पहुंचा हुआ चंद्रमा प्रतिदिन शनैः शनैः प्रयत्न करता हुआ फिर पूर्णिमाके दिन अपने परिपूर्ण वैभवको इसी पूर्व दिशासे प्राप्त हो सकता है, इसी प्रकार यदि तारांगण एक वार अस्तंगत होनेपर भी पुनः पूर्ववत् उदयको प्राप्त कर सकते हैं, तो क्या मनुष्य किसी कारण अवनतिमें पहुंच गये होंगे, तो भी उन्नत नहीं हो सकेंगे? जिस मनुष्यके हृदयमें प्रत्यक्ष आत्मा बैठा है, जिस मनुष्यके शरीरमें सब सूर्यचंद्रादि देवताओंने प्रत्यक्ष जन्म लिया है, ऐसा मनुष्य कि जो ३३ कोटि देवताओंका सत्वरूप है, वह पुरुषार्थ करनेपर नीच अवस्थामें क्योंकर रह सकता है ? न केवल अभ्युदयपर इसका परिपूर्ण अधिकार है, परंतु यह अपना जैसा चाहे वैसा अभ्युदय अपने ही स्वावलंबनसे और अपने ही पुरुषार्थसे निःसंदेह प्राप्त कर सकता है । व्यक्तिशः और संघशः अर्थात् अपना और जातीका, निजका और राष्ट्रका इसी दृढ, भावनासे उदय हो सकता है । पूर्व दिशाके अवलोकनसे मनमें ये विचार उत्पन्न हो सकते हैं ।

पश्चिम दिशाकी विभूति ।

दिशाओंकी विभूतियोंका वर्णन करते हुए पूर्व स्थलमे पूर्व दिशाकी वैदिक कल्पना बताई है, अब इस लेखमें पश्चिम दिशाकी कल्पना बताना है। वैदिक क्रम देखा जाय तो पूर्व दिशाके पश्चात् दक्षिण दिशाका वर्णन आना योग्य है, और यह वैदिक दृष्टिसे ठीक भी है, क्योंकि उदयके मार्गके साथ साथ दाक्षिण्यका मार्ग चलना चाहिए । अभ्युदय और दक्षताका ग्राहचर्य सनातन ही है। उदयकी इच्छाके साथ दाक्षिण्यका अवलंबन करनेकी आवश्यकता है, इसमें कोई संदेह ही नहीं है । तथापि पूर्व और पश्चिम दिशाओंकी विभूतियां परस्पर सापेक्षताका संबंध रखती है, इसलिये वैदिक कल्पनाकी स्पष्टता होनेकी इच्छासे पूर्व दिशाका वर्णन होनेके पश्चात् पश्चिम दिशाका वर्णन करनेका संकल्प किया है । यह सापेक्षताका संबंध देखिए -

पूर्व	पश्चिम
उदय	अस्त (अस्तं गृहं)
जन्म	मृत्यु (स्व - रूप प्राप्ति)
प्रकाशका प्रारंभ	अन्धकारका प्रारंभ
प्र -वृत्ति	नि- वृत्ति
पुरुषार्थ	विश्रांति
प्राची	प्रतीची
प्र+अंच्	प्रति+अंच्
हलचल	शांति
जाग्रति	सुषुप्ति
दिन	रात्री

इन दो दिशाओंका परस्पर सापेक्ष संबंध देखनेसे वैदिक कल्पनाकी अधिक स्पष्टता हो जायगी । इसलिये क्रमप्राप्त दक्षिण दिशाका विचार न करते हुए पश्चिम दिशाका ही विचार यहां प्रथमतः करना है । देखिए -

पश्चिम शांतिकी दिशा है । इस शांतिकी दिशाका जलाधिपति वरूण स्वामी है, क्योंकि जलका ही गुण शांति है और वह वरूणके आधीन है । इसीलिये इसको वर अर्थात् श्रेष्ठ कहते हैं । अथवा **'वर'** शब्द गौणवृत्तिसे उदक वाचक भी है, जिसके पास **'वर'** अर्थात् उदक है, वह वरूण कहलाता है । जलाधिपतिका संबंध अन्नके साथ होना स्वाभाविक ही है, जलके विना अन्नकी उत्पत्ति हो नहीं सकती । अन्नका भोजन करनेसे क्षुधाशांति और जलका पान करनेसे तृषाशांति होती है, अर्थात् खानपानके कारण प्राणियोंके अन्दर परिपूर्ण शांति होनेके कारण उत्साह बढता है । इस प्रकार इस दिशासे जनताकी शांतिका संबंध है ।

अब पश्चिम दिशाकी विभूति देखिए - व्यक्तिके देहमें गुह्य भाग, आयुमें तारूण्यकी अवस्था, दिनमें सायंकालका समय, दिनको पुरुष मानीए और वह दिन अपनी स्त्री रात्रीके साथ मिलने जाता है, यही दिन और रात्रिका मिथुन है, इसी प्रकार स्त्रीपुरूषका मिथुन होता है, इसलिये तारूण्यावस्था पश्चिम दिशा है, चोवीस घंटेका अहोरात्र अथवा पूर्ण दिवस होता है, उसमें १२ घंटे व्यतीत होते हैं, वह आयुकी मध्यम अथवा तारूण्यवस्था है, इस समय सूर्य विश्रामके लिये पश्चिम दिशामें जाता है । ऋतुओंमें वर्षा ऋतु, महिनोंमें श्रावण, भाद्रपद कालोंमें पर्जन्य काल, वर्णोमें वैश्य वर्ण, आश्रमोंमें गृहस्थाश्रम, पुरुषार्थोमें

काम, युगोंमें द्वापर युग, अवस्थाओंमें सुषुप्ति इत्यादि पश्चिम दिशाकी विभूति है। इसका विचार और आंदोलन करके इस गणनामें न्यूनाधिक करना उचित है। साधारणतया थोडासा रूप यहां वर्णन किया है।

पश्चिम दिशाको इस प्रकार आप अमूर्त और व्यापक मानिए। इस विशेष भाव इस शब्दसे ध्यानमें लाना है। साधारण लोक पश्चिम दिशासे सूर्यास्त होनेकी दिशा समझते हैं, परन्तु इससे कई गुणा उच्च और व्यापक अमूर्त भाव वेदमें है, जिसका ज्ञान होनेके विना दिशा बोधक वैदिक मंत्रोंके शब्दोंका आशय समझमें ही नहीं आवेगा।

'प्रति+अंच्' धातुसे 'प्रतीची' शब्द बनता है। इसका धात्वर्थ पीछे हटना, निवृत्त होना, अंतर्मुख होना, विश्रामकी तैयारी करना इत्यादि प्रकार होता है। सूर्य दिनभर प्रवृत्ति रूप कार्य करनेके पश्चात् विश्रामकी तैयारी करके पश्चिम दिशाका आश्रय करता है। मानो कि सब जगत्को दिनभर प्रकाश देनेके पश्चात् विश्रांतिके लिये अपने घर आता है, और रात्रीके साथ संलग्न होता है। इसी हेतुसे रात्रीको 'रमयित्री' अर्थात् रमण करनेवाली कहा जाता है। पुरूष भी इसी प्रकार दिनभर अपने सब व्यवहार करता हुआ जब थक जाता है तब घर आकर अपनी पत्नीके साथ रहता हुआ शांति पाता है। सूर्य तपता है इसलिये तपस्वी है, यह तप उसका ब्रह्मचर्य है, इस ब्रह्मचर्य व्रतके पश्चात् वह रात्रीके साथ रममाण होनेसे गृहस्थी बनता है, यही उसका पश्चिम दिशाका कार्य है।

इधर ब्रह्मचर्याश्रममें नियमों और व्रतोंके कारण, तपनेवाला ब्रह्मचारी भी गृहस्थाश्रममें प्रविष्ट होकर शांत होता है, यही व्यक्तिका पश्चिम दिशाका कार्य है। वर्णोमें ब्राह्मण वर्ण यम नियमोंसे तप करता है, यह ब्राह्मण वर्ण तपस्याके लिये ही है। परन्तु वैश्य वर्ण शांतिसे घरमें रहता, पैसे कमाता और आनंद पाता है। न तो इस वर्णको ब्राह्मणके समान तपस्याके कष्ट है और न क्षत्रियके समान युद्धके दुःख हैं। शांतिके साथ गृहसौख्य भोगनेके कारण यह वैश्य वर्ण चातुर्वर्ण्यमें शांति और विश्रामका अतएव पश्चिम दिशाका स्थान है। ऋतुओंमें वसंत और ग्रीष्म उष्णतासे तपनेवाले हैं, परन्तु वर्षाऋतुमें सर्वत्र शांत जलकी वृष्टि होनेसे नदी, नद, तालाव और कुए जलसे परिपूर्ण होनेके कारण सर्वत्र कृषिका प्रारंभ होनेसे सब भूमि हरियावलसे सुन्दर और शांत दिखाई देती है, इसलिये ऋतुओमे वर्षा ऋतु पश्चिम दिशाकी विभूती मानी है। इसी दृष्टिसे अन्यत्र देखिए और सर्वत्र पश्चिम दिशाकी विभूति जाननेका यत्न कीजिए। इस प्रकारकी भावना पश्चिम दिशाके वैदिक मंत्रोंमें है, इसलिये इसकी यथावत् कल्पना होनेसे ही मंत्रोंका आशय हृदयमें विकसित हो सकता है।

उत्तर दिशाकी विभूति।

पूर्व दो लेखोंमें 'पूर्व और पश्चिम' दिशाओंकी विभूतियोंका वर्णन किया गया है, उसी क्रमानुसार इस लेखमें उत्तर दिशाका विचार करना और उस दिशाकी विभूतियोंका स्वरूप अवलोकन करना है। पश्चिम दिशाके पश्चात् क्रमप्राप्त 'उत्तर' दिशा है। उत्तर दिशाका भाव निम्न प्रकार देखा जा सकता है -

उत्तर	उदीची
उत् -तर	उत् -अंच्
उच्च -तर	उच्च - गति

(उत्) उच्चतासे (तर) अधिक जो भाव होता है, वह 'उत्तर' किंवा 'उच्च - तर' शब्दसे बताया जा सकता है। उच्चताकी दिशा, अधिक उच्चताके भावकी दिशा यह इस शब्दका आशय है। जिस प्रकार पूर्व दो लेखोंमें बताया गया है कि 'प्राची और प्रतीची' दिशा क्रमशः 'प्रगति और विश्राम' की सूचक दिशा है, उसी प्रकार समझिये कि यह 'उदीची दिशा उच्च गतिकी सूचक है, व्यक्तिके शरीरमें यह उत्तर दिशा 'बायी बगल' के साथ सम्बन्ध रखती है।

शरीरमें बायी बगल उत्तर दिशा है, इसमें भी हृदय मुख्य है इसका आत्मा अधिपति है। अंगुष्ठ मात्र पुरूष हृदयमें रहता है, यह उपनिषदोंका वर्णन यहां देखने योग्य है। इसका **'स्वजः'** रक्षित है। **'स्व - ज'** शब्द स्वत्वसे उत्पन्न होनेवाली शक्तिका बोधक है। आत्मत्वकी स्वकीय शक्तिसे यहांका रक्षण होता है। बाहेरकी शक्तिसे यहांका कार्य होना ही नहीं है। आत्माकी निज शक्तिका ही प्रभाव यहां होना आवश्यक है। आत्माके प्रेमसे तथा परमात्माकी भक्तिसे हृदयके शुभ मंगलमय होनेकी संभावना यहां स्पष्ट हो रही है।

उत्तरं राष्ट्रं प्रजयोत्तराविदिशामुदीचीं कृणवन्नो अग्रम्। पांक्तं छंदः पुरूषो बभूव विश्वैर्विश्वांगैः सह संभवेम ॥१०॥ (अथर्व. १२।३)

"(उत्तरं राष्ट्रं प्रजया उत्तरावित्) उत्तर दिशा सदा ही विजयकी राष्ट्रीय दिशा है। इसलिये (नः) हम सबको (अग्रं) अग्रभागमें बढनेकी इच्छा धारण करते हुए इसी उच्चतर दिशासे प्रयत्न करना चाहिए। (पांक्तं) पांच वर्णोमें विभक्त (पुरूषः) नागरिक जन ही इसका छंद है। इसलिये सब अंगोंके साथ हम सब (सह संभवेम) मिलकर रहें, अर्थात् एकतासे पुरूषार्थ करें।"

राष्ट्रमें उच्च होनेकी भावना ही उत्तर अर्थात् उच्चतर दिशा है। इस दिशाके प्रगतिका साधन और अभ्युदयके मार्गका अवलंबन करनेवाले राष्ट्रके प्रत्येक मनुष्यके अंदर यह भावना चाहिये, कि मैं (अग्रं) अग्रभागमें पुरूषार्थ करता हुआ पहुंच जाऊंगा। मैं कभी पीछे नहीं रहूंगा। राष्ट्रमें पांच वर्ण होते हैं, ज्ञानके कारण ब्राह्मणोंका श्वेतवर्ण, क्षात्रके कारण रजोगुण प्रधान क्षत्रियोंका रक्तवर्ण, बैठकर कार्य करनेवाले, धनसंग्रह करनेवाले वैश्योंका पीतवर्ण, कारीगरोंका अर्थात् सच्छूद्रोंका नीलवर्ण और असच्छूद्र जंगलियोंका कृष्ण वर्ण होता है। सब जनता इन पांच वर्णोमें विभक्त है, इसलिये पंचजनोंके राष्ट्रका वैदिक नाम 'पांचजन्य' है। 'पांच - जन्यका महानाद' ही जनताका सार्वजनिक मत हुआ करता है। जो पुरि अर्थात् नगरीमें वसते हैं उनका नाम पुरूष अर्थात् नागरिक होता है। (**पुरि - वस, पुर् - वस, पुर् - उष, पुरूष**) ये पुरुष अर्थात् नागरिक पहिले चार वर्ण हैं, और पांचवा निषाद वर्ण नागरिकोंसे भिन्न है, इसलिये कि वह जंगलमें रहता है। जंगल निवासी भी राष्ट्रके अवयव हैं, जैसे नागरिक होते हैं। इसलिये 'पांच - जन्य' राष्ट्रमें सब लोक आते हैं जिस प्रकार वैदिक राष्ट्रीय पांचजन्यकी कल्पनामें सब पांचो प्रकारके जनोंका अन्तर्भाव होता है उस प्रकारका 'पांचजन्य राष्ट्र' का अर्थ और आशय बतानेवाला शब्द किसी अन्य भाषामें नहीं है। इससे पता लगता है, कि वैदिक राष्ट्रीयताकी कल्पना कितनी उच्च और कैसी व्यापक है। सब अवयवों और अंगोंके साथ जब प्रेमरूप एकताका भाव होता है तभी राष्ट्रीय एकताकी अद्भुत शक्ति निर्माण होती है, जिससे राष्ट्रको उच्चतर दिशाके अभ्युदयके मार्गसे जाना सुगम होता है। इस प्रकार उत्तर दिशाकी विभूति है।

जगत्में जो उत्तर दिशा है वह सब जानते ही है, यही उत्तर दिशा व्यक्तिके शरीरमें बायी बगल है, राष्ट्रमें उत्तर दिशा धनोत्पादक कारीगर वर्ग है, ऋतुओंमें उत्तर दिशा शरदृतु है, महिनोंमें अश्विन - कार्तिक मास हैं, वर्णोमें सच्छुद्रोंका कारीगर वर्ग है, छंदोंमें अनुष्टुप् छंद, भावनाओंमें उच्च - तर होनेकी महत्त्वाकांक्षा है, इत्यादि प्रकार इस उत्तर दिशाकी विभूति है। इस दृष्टिसे सर्वत्र उत्तर दिशाकी विभूति देखकर पाठक बोध ले सकते हैं।

पाठक अन्य दिशाओंके विषयमें इस प्रकार विचार करके जानें और इस ढंगसे इन दो सूक्तोंका मनन करके बोध प्राप्त करें।

• • •

पशुओंकी स्वास्थ्यरक्षा।

(२८)

(ऋषिः - ब्रह्मा। देवता - यमिनी)

एकैकयैषा सृष्ट्या सं बभूव यत्र गा असृजन्त भूतकृतो विश्वरूपाः।
यत्र विजायते यमिन्यपर्तुः सा पशून्क्षिणाति रिफती रुशती ॥ १ ॥

अर्थ - (यत्र भूतकृतः विश्वरूपाः गाः असृजन्त) जहां भूतोंको बनानेवालोंने अनेक रंग रूपवाली गौवें बनाई, वहां (एषा) यह गौ (एक - एकया सृष्ट्या सं बभूव) एक एकके क्रमसे बच्चा उत्पन्न करनेके लिये उत्पन्न हुई है। (यत्र अप - ऋतुः यमिनी विजायते) जहां ऋतुकालसे भिन्न समयमें जुडे बच्चोंको उत्पन्न करनेवाली गौ होती है वहां (सा रूशती रिफती) वह गौ पीडा देती हुई और कष्ट उत्पन्न करती हुई (**पशून् क्षिणाति**) पशुओंको नष्ट करती है ॥१॥

भावार्थ - सृष्टि उत्पन्न करनेवालेने अनेक रंगरूप और विविध गुणधर्णवाली गौवें बनायी हैं। ये सब गौवें एक वार एक ही बच्चा उत्पन्न करनेके लिये बनाई है। अब यह गौ ऋतुको छोडकर अन्य समयमें इकट्ठे दो बच्चे उत्पन्न करती है उस समय वह घातक और नाशक होती है, जिससे अन्य पशु भी नष्ट होते हैं ॥१॥

एषा पशून्त्सं क्षिणाति क्रव्याद्भूत्वा व्यद्वरी।
उतैनां ब्रह्मणे दद्यात्तथा स्योना शिवा स्यात् ॥ २ ॥
शिवा भव पुरुषेभ्यो गोभ्यो अश्वेभ्यः शिवा।
शिवास्मै सर्वस्मै क्षेत्राय शिवा न इहैधि ॥ ३ ॥
इह पुष्टिरिह रस इह सहस्रसातमा भव।
पशून्यमिनि पोषय ॥ ४ ॥
यत्रा सुहार्दः सुकृतो मदन्ति विहाय रोगं तन्वः स्वायाः।
तं लोकं यमिन्यभिसंबभूव सा नो मा हिंसीत्पुरुषान्पशूंश्च ॥ ५ ॥

अर्थ - **(एषा क्रव्याद् व्यद्वरी भूत्वा)** यह गौ मांस खानेवाले कृमीके समान होकर **(पशून् सं क्षिणोति)** पशुओंका नाश करती है। **(उत एनां ब्रह्मणे दद्यात्)** इसलिये इस गौको ब्राह्मणके पास भेजनी चाहिये **(तथा स्योना शिवा स्यात्)** जिससे वह सुखदायी और कल्याणकारिणी हो जावे ॥२॥

(पुरूषेभ्यः शिवा भव) पुरूषोंके लिये कल्याण करनेवाली हो, **(गोभ्यः अश्वेभ्यः शिवा)** गौओं और घोडोंके लिये कल्याण करनेवाली हो, **(अस्मै सर्वस्मै क्षेत्राय शिवा)** इस सब भूमिके लिये कल्याण करनेवाली होकर **(नः शिवा ऐधि)** हमारे लिये सुख देनेवाली हो ॥३॥

(इह पुष्टिः, इह रसः) यहां पुष्टि और यहां रस है। **(इह सहस्र - सातमा भव)** यहां हजारों लाभ देनेवाली हो और हे **(यमिनी)** जुडे सन्तान उत्पन्न करनेवाली गौ ! **(इह पशून् पोषय)** यहां पशुओंको पुष्ट कर ॥४॥

(यत्र) जिस देशमें **(स्वायाः तन्वः रोगं विहाय)** अपने शरीरका रोग त्यागकर **(सुहार्दः सुकृतः मदन्ति)** उत्तम हृदयवाले और उत्तम कर्मवाले होकर आनन्दित होते हैं, हे **(यमिनी)** गौ! **(तं लोकं अभिसंबभूव)** उस देशमें सब प्रकार मिलकर हो जाओ, **(सा नः पुरूषान् पशून् मा हिंसीत्)** वह हमारे पुरूषों और पशुओंकी हिंसा न करे ॥५॥

भावार्थ - जैसे मांस खानेवाले पशु नाशक होते हैं उस प्रकार यह रोगी गौ नाशक होती है। इसलिये ऐसा होते ही इसको योग्य उपायज्ञ वैद्य ब्राह्मणके पास भेजनी चाहिये, जहां योग्य उपचारोंसे वह गौ सुखदायिनी बन जावे ॥२॥

यह गौ मनुष्योंके लिये तथा घोडे, बैल, गौएं आदि पशुओंके लिये इस भूमिके लिये और हम सबके लिये सुख देनेवाली बने ॥३॥

इस गौमें पोषणकारक गुण है, इसमें उत्तम रस है, यह गौ हजारों रीतियोंसे मनुष्योंको लाभदायक होती है, इस प्रकारकी गौ सब पशुओंको यहां पुष्ट करे ॥४॥

जिस प्रदेशमें जाकर रहनेसे शरीरके रोग दूर होते हैं और शरीर स्वस्थ होता है, तथा जिस प्रदेशमें उत्तम हृदयवाले और उत्तम कर्म करनेवाले लोग आनंदसे रहते हैं, उस देशमें यह गौ जाय, वहां रहे, यहां रोगी अवस्थामें रहकर हमारे मनुष्यों और पशुओंको कष्ट न पहुंचावे ॥५॥

यत्रा सुहार्दां सुकृतामग्निहोत्रहुतां यत्र लोकः ।
तं लोकं यमिन्यभिसंबभूव सा नो मा हिंसीत्पुरुषान्पशूंश्च ॥ ६ ॥

अर्थ - (यत्र यत्र सुहार्दा सुकृतां अग्निहोत्रहुतां लोकः) जहां जहां शुब हृदयवाले , उत्तम कर्म करनेवाले और अग्नि होत्रमें हवन करनेवालोंका देश होता है, हे **(यमिनी)** गौ **(तं लोकं अभिसंबभूव)** उस लोकमें मिलकर रह और **(सा नः पुरुषान् पशून् च मा हिंसीत्)** वह हमारे पुरुषों और पशुओंको हिंसा न करे ॥६॥

भावार्थ - जिस प्रदेशमें उत्तम हृदयवाले, शुभकर्म करनेवाले और अग्निहोत्र करनेवाले सज्जन रहते हैं, उस देशमें यह गौ जांय और नीरोग बने । रोगी होती हुई हमारे पुरुषों और अन्य पशुओंको अपना रोग फैलाकर कष्ट न पहुंचावे ॥६॥

पशुओंका स्वास्थ्य ।

पशुओंका उत्तम स्वास्थ्य रहना चाहिये, अन्यथा एक भी पशु रोगी हुआ तो वह अन्य पशुओंका तथा मनुष्योंका भी स्वास्थ्य बिगाड सकता है । एक पशुका रोग दूसरे पशुको लग सकता है और इस कारण सब पशु रोगी हो सकते हैं । तथा गौ आदि पशु रोगी हुए, तो उनका रोगयुक्त दूध पीकर मनुष्य भी रोगी हो सकते हैं । इस अनर्थ परंपराको दूर करनेके लिये पशुओंका उत्तम स्वास्थ्य रखनेका प्रबंध करना चाहिये ।

पशुरोगकी उत्पत्ति ।

पशुओमें रोग उत्पन्न होनेके तीन कारण इस सूक्तमें दिये हैं, वे कारण देखिये -

१ अप+ऋतुः- ऋतुके विरूद्ध आचरण करनेसे रोग उत्पन्न होते हैं । पशुओंके लिये जिस समयमें जो खानेपीने आदिका प्रबंध होना चाहिये वह यथा योग्य होना ही चाहिये । उसमें अयोग्य रीतिसे परिवर्तन होनेसे पशु रोगी होते हैं । पूर्ण समयके पूर्व बच्चा उत्पन्न होनेसे भी गौ रोगी होती है ।

२ यमिनी विजायते - जुडे बच्चेको उत्पन्न करना । इससे प्रसूतिकी रीतमिं बिगाड होकर विविध रोग होते हैं ।

३ क्रव्याद् व्यद्वरी भूत्वा - मांस खानेवाली विशेष भक्षक होकर रोगी होती है ।

गौ जिस समय प्रसूत होती है उसके बाद गर्भस्थानसे कुछ भाग गिरते हैं । कदाचित वह गौ उक्त भागोंको खा जाती है और रोगी होती है । अथवा योनी आदि स्थानमें जुडे बच्चेके उत्पन्न होनेके कारण कुछ व्रणादि होते हैं और वहां प्रसूतिस्थानका विष लगनेसे गौ रोगी होती है। इस प्रकार इस संबंधसे गौके रोगी होनेकी संभावना बहुत है । इसलिये गौके स्वामीको उचित है कि वह ऐसे समयमें योग्य सावधानता रखे और किसी प्रकार भी असावधानी होने न दें ।

ये सब रोग बडे घातक होते हैं और यदि एक पशुको हुए तो उसके संसर्गमें रहनेवाले अन्यान्य पशुओंका भी नाश उक्त रोगोंके कारण हो सकता है। इसलिये जिसके घरमें बहुत पशु हैं उसको उचित है कि वह ऐसी अवस्थाओंमें बडी सावधानता रखें और अपने पशुओंके स्वास्थ्यरक्षाका उत्तम प्रबंध करें ।

रोगी पशु ।

पशुके स्वास्थ्यके विषयमें आवश्यक योग्य प्रबंध करनेपर भी- गौ आदि पशु पूर्वोक्त कारणोंसे अथवा अन्यान्य कारणोंसे रोगी होते हैं । वैसे रोगी होनेपर उसको उत्तम वैद्यके पास भेजना चाहिये, इस विषयमे कहा है -

उत एनां ब्रह्मणे दद्यात् तथा स्योना शिवा स्यात् ॥

(सू. २८, मं.२)

'उस रोगी गौको ब्राह्मणके पास देना चाहिये, जिससे वह शुभ और कल्याण करनेवाली बने' अर्थात् उस रोगी गौको ऐसे सुयोग्य ज्ञानी वैद्यके पास भेजना चाहिये कि जिसके पास कुछ दिन रहनेसे वह नीरोग, स्वस्थ और शुभ बन जावे । यहां 'ब्रह्मन्' शब्द है, यह आयुर्वेद शास्त्र और आथर्वणी चिकित्सा जाननेवाला ज्ञानी वैद्य है। ब्राह्मण ही वैद्यक्रिया करते हैं, इस विषयमें अन्यत्र कहा है -

यत्रौषधीः समग्मत राजानः समिताविव ।
विप्रः स उच्यते भिषग्रक्षोहामीवचातनः ।

(ऋ . १०।९७।६, वा. य. १२।८०)

'जिस विप्रके पास बहुत औषधियां होती हैं उस विप्रको वैद्य कहा जाता है, वही रोगके कृमियोंका नाश करता है और वही रोग भी दूर करता है ।'

इस प्रकारके जो वैद्य होते हैं उनके सुपुर्द वैसा रोगी गौको तत्काल करना चाहिये । जिनके पास रहती हुई वह गौ योग्य उपचार द्वारा आरोग्यको प्राप्त हो सके । जहां इस गौको भेजना चाहिये वह स्थान कैसा हो, इसका वर्णन भी देखिये-

यत्रा सुहार्दः सुकृतो मदन्ति विहाय रोगं

तन्वः स्वायाः । (सू.२८, मं.५)

यत्रा सुहार्दां सुकृतां अग्निहोत्रहुतां यत्र लोकः । (सू. २८, मं.६)

तं लोकं यमिन्यभि संबभूव ॥ (सू.२८, मं. ५-६)

'जहां प्रतिदिन अग्निहोत्रमें हवन करनेवाले लोग रहते हैं, और जहां उत्तम हृदयवाले और श्रेष्ठ कर्मकर्ता लोग रहते हैं, और जहां अपने शरीरका रोग दूर होकर मन आनन्दप्रसन्न हो सकता है, उस स्थानपर उस गौको भेजना चाहिये, जहां रहनेसे सब प्रकारसे कल्याण होगा।'

रूग्णालयके सब लोग अग्निहोत्रमें प्रतिदिन हवन करनेवाले हों, क्योंकि रूग्णालयमें विविध प्रकारके रोगी आते हैं और उनके संस्पर्शसे विविध रोग फैलना संभव है, इस कारण वायु शुद्धिके लिये प्रतिदिन हवन होना योग्य है, इस प्रातः सायं किये अग्निहोत्रके हवनसे वायु निर्दोष होगा और रोगबीज नष्ट होंगे, और ऐसे वायुसे रोगी भी शीघ्र नीरोग हो सकता है । यह रूग्णालयकी वायुशुध्दिके विषयमें कहा है । इसके अतिरिक्त रूग्णालय कर्मचारी प्रतिदिन नियमपूर्वक हवन करनेवाले हों, जिससे उनका भी आरोग्य सिद्ध होगा और उस स्थानकी भी शुद्धता होगी ।

साथ ही साथ रूग्णालयके कर्मचारी (सु - कृतः) उत्तम शुभ कर्म करनेवाले पवित्र आत्मा होने चाहिये। इनकी पवित्रतासे ही रोगीका आधा रोग दूर हो सकता है । जो वैद्य पवित्र हृदयवाला और शुभ कर्म करनेवाला होगा, उसका औषध भी अधिक प्रभावशाली होगा, क्योंकि औषधके साथ उसके दिलके शुभ विचार भी बडे सहायक होंगे ।

ऐसे सदाचारी सद्भावनावाले धार्मिक वैद्यके पास जो भी रोगी जाय, वह उस आश्रमके पवित्र वायुमंडलसे -

स्वायाः तन्वः रोगं विहाय। (सू. २८, मं. ५)

'अपने शरीरसे रोग दूर करके' पूर्ण नीरोग होगा, इसमें कोई संदेह नहीं । इसीलिये कहा है कि ऐसे सुविज्ञ आचार संपन्न ब्राह्मण वैद्यके पास उस प्रसारके रोगी गौको सत्वर भेजना चाहिये । वहां जाकर वह गौ नीरोग बने और वहांसे वापस आकर 'घरके मनुष्यों, गौओं, घोडों और घरकी सब भूमिको पवित्र बनावे । (मं.३)' नीरोग गौका मूत्र, गोवर तथा गोरस अत्यंत पवित्र होता है, परंतु रोगी गौके ये सब पदार्थ अत्यंत अनिष्ट होते हैं। इसलिये उक्त आश्रममें पहुंचकर वहां रहकर पूर्ण नीरोगताको प्राप्त होकर जब यह गौ वापस आवेगी, तब वह मंगलकारिणी बनेगी, ऐसा जो तृतीय मंत्रमें कहा है, वह सर्वथा योग्य है। 'गौके अन्दर पोषक पदार्थ और अमृत रस होते हैं। यह गौ अनंत प्रकारसे लाभकारी होती है, (मं. ४)' इसलिये उसके आरोग्यके लिये दक्षतासे योग्य प्रबंध करना उचित है ।

संरक्षक कर ।

(२९)

(ऋषिः - उद्दालकः । देवता - शितिपाद् अविः , कामः, भूमिः)

यद्राजानो विभजन्त इष्टापूर्तस्य षोडशं यमस्यामी सभासदः ।
अविस्तस्मात्प्र मुञ्चति दत्तः शितिपात्स्वधा ॥ १ ॥

अर्थ - (यत्) जिस प्रकार (यमस्य अमी राजानः सभासदः) नियमसे चलनेवाले राजाके ये राज्य करनेवाले सभासद (इष्टापूर्तस्य षोडशं विभजन्ते) अन्नादिका सोलहवां भाग विभक्त करते हैं । यह (दत्तः) दिया हुआ भाग (अविः) रक्षक बनकर (शिति - पात्) हिंसकोंको गिरानेवाला (स्व - धा) और अपना धारण करनेवाला होता हुआ (तस्मात् प्रमुञ्चति) उस भयसे छुडाता है ।।१।।

भावार्थ - नियमसे प्रजाका पालन करनेवाले राजाके ये राजसभाके सभासद वस्तुतः सच्चे राजा ही हैं । ये प्रजाके अन्न आदि प्राप्तिका सोलहवां भाग कर रूपसे लेते हैं । राजाको दिया हुआ यह सोलहवां भाग सब राष्ट्रका संरक्षण करता है, प्रजाको दुःख देनेवाले जो होते हैं उनको दण्ड देकर दबाता है, प्रजाकी धारक शक्ति बढाता है और उनकी भयसे मुक्तता करता है ।।१।।

सर्वान्कामान्पूरयत्याभवन्प्रभवन्भवन् । आकूतिप्रोऽविर्दत्तः शितिपान्नोप दस्यति ॥ २ ॥
यो ददाति शितिपादमविं लोकेन संमितम् ।
स नाकमभ्यारोहति यत्र शुल्को न क्रियते अबलेन बलीयसे ॥ ३ ॥
पञ्चापूपं शितिपादमविं लोकेन संमितम् । प्रदातोप जीवति पितृणां लोकेऽक्षितम् ॥ ४ ॥
पञ्चापूपं शितिपादमविं लोकेन संमितम् । प्रदातोप जीवति सूर्यामासयोरक्षितम् ॥ ५ ॥
इरेव नोप दस्यति समुद्र इव पयो महत् । देवौ सवासिनाविव शितिपान्नोप दस्यति ॥ ६ ॥

अर्थ - यह **(दत्तः)** दिया हुआ भाग **(आकूति - प्रः)** संकल्पोंका पूर्ण करनेवाला, **(शिति - पात्)** हिंसकोंको दबानेवाला, **(अविः)** संरक्षण करनेवाला, **(आ - भवन्)** फैलानेवाला, **(प्रभवन्)** प्रभावशाली **(भवन्)** अस्तित्त्वका हेतु होता हुआ **(सर्वान् कामान् पूरयति)** सब कामनाओंको पूर्ण करता है और **(न उपदस्यति)** विनाश नहीं करता ॥२॥

(यः लोकेन संमितं) जो सब लोगों द्वारा संमानित **(शिति - पादं अविं ददाति)** हिंसकोंके नाश करनेवाले संरक्षक भागको देता है **(सः नाकं अभ्येति)** वह दुःखरहित स्थानको प्राप्त करता है, **(यत्र अबलेन बलीयसे शुल्कः न क्रियते)** जहां निर्बल मनुष्यको बलवानके लिये धन देना नहीं पडता है ॥३॥

(पञ्च - अ - पूपं) पांचोंको न सडानेवाले अतएव **(लोकेन संमितं)** जनता द्वारा संमत **(शिति - पादं अविं)** हिंसकोंको दबानेवाले संरक्षक कर भागको **(प्रदाता)** देनेवाला **(पितृणां लोके अक्षितं उपजीवति)** पितृदेशमें अक्षयतासे जीवित रहता है ॥४॥

(पञ्च - अ - पूपं) पाचोंको न सडानेवाले **(लोकेन संमितं)** जनताद्वारा समानित **(शिति - पादं अविं)** हिंसकोंको गिरानेवाला संरक्षक कर भगको **(प्रदाता)** देनेवाला **(सूर्या - सामयो अक्षितं उपजीवति)** सूर्य और चन्द्रके सान्निध्यमें अक्षयताके साथ जीवित रहता है ॥५॥

(इरा इव) भूमिके समान तथा **(महत् पयः समुद्र इव)** बडे जलनिधि महासागरके समान और **(सवासिनौ देवौ इव)** साथ साथ निवास करनेवाले प्राणरूप दो देवोंके समान **(शितिपात् न उपदस्याति)** हिंसककों दबानेवाला यह भाग विनाश नहीं करता हैं ॥६॥

भावार्थ - यह दिया हुआ कर प्रजाके सब अभ्युदयके संकल्पोंको पूर्ण करता है, दुष्टोंका दमन करता है, सुष्टोंका पालन करता है, राष्ट्रका विस्तार करता है, वीरोंका प्रभाव बढाता है और जातीका अस्तित्व स्थिर रखता है, साथ साथ सब जनताके मनोरथ पूर्ण करता है और किसी भी प्रकार प्रजाका नाश नहीं करता ॥२॥

इसलिये सब लोग राजाको यह कर देना पसंद करते हैं। जो लोग दुष्टोंको दबाकर सज्जनोंका प्रतिपाल करनेवाला यह कर राजाको देते हैं, वे मानो, सुख पूर्ण स्थानको प्राप्त करते हैं, फिर उस स्थानमें कोई बलवान मनुष्य निर्बलसे जबरदस्तीसे धन लेनेवाला नहीं रहता और न कोई निर्बल मनुष्य अपनी शक्ति हीनताके कारण बलवानके लिये धन अर्पण करता है ॥३॥

यह कर पञ्चजनोंको न गिरानेवाला, दुष्टोंको दबानेवाला और सत्पुरुषोंका पालन करनेवाला है, इसलिये सब जनता इसको राजाके पास समर्पण करती है। जो लोग यह कर देते हैं वे संरक्षकोंकी रक्षामें सदा सुरक्षित रहते हैं ॥४॥

यह कर पञ्चजनोंको न गिरानेवाला, दुष्टोंका दमन करनेवाला, सज्जनोंका पालन करनेवाला है, इसलिये सब लोग आनन्दसे राजाको यह देते हैं। जो कर देते हैं वे सूर्य और चन्द्रमाके प्रकाशमें सुखसे रहते हैं ॥५॥

दुष्टोंको दबानेके लिये दिया हुआ यह कर भूमिके समान आधार देनेवाला, समुद्रके जलके समान शांति देनेवाला और प्राणोंके समान सबका रक्षक होता है और किसीका विनाश होने नहीं देता ॥६॥

क इदं कस्मा अदात्कामः कामायादात् ।
कामो दाता कामः प्रतिग्रहीता कामः समुद्रमा विवेश ॥
कामेन त्वा प्रति गृह्णामि कामैतत्ते ॥ ७ ॥
भूमिष्ट्वा प्रति गृह्णात्वन्तरिक्षमिदं महत् ।
माहं प्राणेन मात्मना मा प्रजया प्रतिगृह्य वि राधिषि ॥ ८ ॥

अर्थ - **(कः इदं कस्मै अदात्)** किसने यह किसको दिया है ? **(कामः कामाय अदात्)** मनोरथने मनोरथको दिया है। **(कामः दाता)** काम ही दाता है, **(कामः प्रतिग्रहीता)** काम ही लेनेवाला है, **(कामः समुद्रं आविवेश)** काम ही समुद्रमें प्रविष्ट होता है। **(कामेन वा प्रतिगृह्णामि)** इच्छासे ही तेरा स्वीकार करता हूं । हे काम ! **(एतत् ते)** यह सब तेरां ही है ॥७॥

(भूमः) पृथ्वी और **(इदं महत् अन्तरिक्षं)** यह बडा अन्तरिक्ष **(त्वा प्रतिगृह्णातु)** तेरा स्वीकार करे । **(अहं प्रतिगृह्य)** मैं प्राप्त करके **(प्राणेन आत्मना, प्रजया)** प्राणसे, आत्मासे और प्रजासे **(मा मा मा विराधिषि)** न अलग हो जाऊं ॥८॥

भावार्थ - भला, यह कर कौन किसको देता है ? काम ही कामको देता है ? इस जगत्में मनकी इच्छा ही देने और लेनेवाली है । यही कामना मनुष्यको समुद्रपर भ्रमण कराती है । इस कामसे ही मनुष्य बडी आपत्तियां स्वयं सिरपर लेता है । यह सब जगत्का व्यवहार कामकी महिमा ही है ॥७॥

इस पृथ्वीपर और आकाशमें कामनाका ही संचार हो रहा है । इस कामनाका विस्तार करता हूआ मैं प्राण, आत्मा और प्रजासे दूर न होऊं ॥८॥

राज्यशासन चलानेके लिये कर ।

राजा राज्यका शासन करता है । इस महत्त्वपूर्ण कार्यके लिये प्रजा उसको 'कर' समर्पण करती है । इस करका प्राण कितना होना चाहिये, अर्थात् प्रजा अपनी प्राप्तिका कितवाँ भाग राजाको समर्पित करें, और राजा उस धनका किन कार्योंमें उपयोग करे, इस विषयका उपदेश इस सूक्तमें किया है । अतः राज्यशासनका विचार करनेवालोंको यह सूक्त बडा बोधप्रद है ।

प्राप्तिका सोलहवाँ भाग ।

प्रजाकी जो आमदनी होती है, उसका सोलहवाँ भाग राजाको देनेके लिये राजसभाके सभासद अलग करते हैं यह वर्णन पहले ही मंत्रमें हैं -

अभी सभासदः इष्टापूर्तस्य षोडशं विभजन्ते ॥

(सू. २९, मं.१)

'राजसभाके ये सभासद प्रजाकी प्राप्तिसे सोलहवां भाग अलग करते हैं ।' और यह सोलहवां भाग राजाको प्रजासे मिलता है । यह कर है जो राजाको राज्य चलानेके लिये देना चाहिये। खेतसे जो धान्य उत्पन्न होगा उसका सोलहवा भाग राजाकी ग्रामसभाके सभासद लेकर संग्रह करें । जो उत्पन्न होगा उसका सोलहवां भाग लेना है । अर्थात् साधारण खेती करनेवालोंसे हरएक धान्यके रूपमें ही यह कर लिया जायगा । धान्य उत्पन्न करनेवालोंसे धनके रूपमें नहीं लेना है, प्रत्युत जो पदार्थ उत्पन्न होगा उस पदार्थका सोलहवां भाग लेना है। जिस पदार्थका भाग हो नहीं सकता उसके मूल्यका सोलहवां भाग लिया जायगा तथा जो वैश्य धन कमाते होंगे, उनसे उनकी कमाईका वह भाग धनके रूपमें लिया जायगा । कर देनेके विषयमें यह वेदकी आज्ञा सुस्पष्ट दिखाई देती है और यह कर प्रजाके लिये कभी असह्य नहीं हो सकता ।

उत्पन्नका सोलहवां हिस्सा लेनेके लिये वेदकी आज्ञा है परंतु स्मृतिग्रंथोंमें छठां भाग लेनेतक करकी वृद्धि हुई है और आज कल तो कई गुणा वृद्धि हुई है । इस मंत्रमें **'विभजन्ते'** क्रिया वर्तमानकालकी है। राजसभाके सभासद स्वयं उत्पन्न देखकर उसका सोलहवां भाग अलग करते हैं, अर्थात् वे खेतमें धान्य तैयार होनेपर धान्यकी राशीके पास जाते हैं और उसके सोलह भाग करके एकभाग राजप्रबंधके लिये ले लेते हैं। केवल अंदाज से नहीं लेते, परंतु प्रत्यक्ष प्राप्ति देखकर उसमेंसे उक्त भाग लेते हैं, यह बोध वर्तमान कालवाचक **'अमी सभासदः विभजन्ते'**

इस वाक्यसे प्राप्त होता है । अकालके दिनोंमें धान्य कम उत्पन्न हुआ तो कर कम लेते हैं, औक सुकालमें अधिक उत्पत्ति हुई तो अधिक लेते हैं। आजकलके समान सुकाल और अकालमें एक जैसे प्रमाणसे नहीं लेते । पाठक यह वैदिक रीति देखें और इसकी विशेषताका अनुभव करें।

प्राप्तिके दो साधन ।

आमदनीके दो मार्ग होते हैं, एक 'इष्ट' और दूसरा 'पूर्त' । मनुष्य जो अपनी इच्छानुसार अभीष्ट व्यवहार करते हैं और उससे कमाई करते हैं, उसको 'इष्ट' कहते हैं, इसमें उद्योगधंदे, शिल्प आदिका समावेश होता है, इसमें कर्ताकी इच्छापर व्यवहारकी सत्ता निर्भर है। दूसरा है 'पूर्त' । इसमें स्वामीकी इच्छा हो या न हो, आमदनी होती रहती है, जैसे बागसे फलादिकोंका उत्पन्न होना, कृषिसे धान्य मिलना, पहिलेसे बढे हुए वृक्षोंसे फल प्राप्त होना इ.। चली हुई पूर्व व्यवस्थासे जो प्राप्ति होती है उसका नाम पूर्त है, जमीदारोंको जो उत्पन्न होता है वह 'पूर्त' है क्योंकि जमीदारोंके प्रयत्न न करनेपर भी वह इसके कोशकी पूर्तता करता रहता है । इष्ट व्यवहारका वैसा नहीं है, वह इच्छापूर्वक कामधंदा करके सफलता होनेपर प्राप्ति होती है, यह प्रयत्नसाध्य है। इष्ट ओर पूर्तमें यह भेद हैं । मनुष्योंके व्यवहारोंके ये मुख्य दो भेद हैं।

आजकल 'इष्ट' का अर्थ 'यज्ञयाग' और 'पूर्त' का अर्थ सर्वजनोपयोगी कूप, तालाव, धर्मशाला आदि करना समझते हैं, इन शब्दोंमें यह अर्थ है, परंतु यह केवल एक ही भाग है । इन शब्दोंके संपूर्ण अर्थ केवल ये ही नहीं है । इस समय विचार करनेके सूक्तमें 'प्रजाकी आमदनीसे सोलहवां भाग कर रूपसे लिया जाता है' ऐसा कहा है। उस प्रसंगमें 'यज्ञ और कूवे' का सोलहवां भाग राजा लेता है ऐसा मानना अयोग्य है, इसीलिये चारों वर्णोके व्यवहारकी दृष्टिसे होनेवाला और जिससे राजाको सोलहवां भाग कर रूपसे प्राप्त हो सकता है वैसा अर्थ ऊपर लिया है । यज्ञादि अर्थ लेनेके प्रसंगमें प्रजाके सुकृतका जो पुण्य होगा उसका कुछ भाग राजाके यज्ञ संवर्धनके लिये उसको प्राप्त हो सकता होगा । परंतु इससे संपूर्ण राज्यशासन नहीं चल सकता, अतः आमदनीके विषयका अर्थ ही यहां लेना योग्य है ।

उक्त प्रकारकी रीतिसे दो प्रकारके व्यवहारोंसे होनेवाली प्राप्तिका सोलहवां भाग राजाके सभासद राज्यशासन चलानेके लिये प्रजासे कर रूपमें लेते हैं, यह प्रथम मंत्रार्थका कथन है। यहां राजाका भी लक्षण देखना चाहिये -

राजा कैसा हो ।

इस सूक्तमें राजाका नाम 'यम' आ गया है । यमका अर्थ 'स्वाधीन रखनेवाला, नियमसे चलनेवाला, धर्मका पालन करनेवाला' है। 'यम -धर्म' इसशब्दसे भी यमसे धर्मका संबंध स्पष्ट होता है । राज्य चलानेके जो धर्मनियम होते है उनके अनुसार राज्यशासन करनेवाला राजा यहां इस शब्दसे बोधित होता है। इससे स्पष्ट है कि यहांका राजा मनमानी बातें करनेवाला नहीं है, प्रत्युत राजधर्मके नियमोंके अनुसार तथा जनताके प्रतिनिधियोंकी संमतिके अनुसार राज्य चलानेवाला है । यह राजा राजसभाके सदस्योंके मतसे और धर्मनियमोंसे बद्ध है, स्वेच्छाचारी नहीं है । वस्तुतः इसके राज्यमें -

अमी सभासदः राजानः। (सू. २९, मं.१)

'राजसभाके ये सभासद ही राज्यशासन करनेवाले राजा है।' राजा तो नाम मात्र अधिकारी रहकर, उन सभासदोंकी संमतिसे जो नीति निश्चित होती है, उसके अनुसार राज्यशासन चलाता रहता है । वेदकी यह नियमबद्ध राजसत्ता यहां देखने योग्य है । इस राजाकी राजसभाके सदस्य प्रजाकी आमदनीका सोलहवां भाग राज्यशासनके व्ययके लिये प्रजासे करके रूपमें लेते हैं। इसका उपयोग कैसा किया जाता है, यह अब देखिये । यह प्रजासे प्राप्त होनेवाला कर क्या क्या करता है इस विषयमें इस सूक्तका वर्णन बडा मनोरंजक है। इसका विचार करनेसे हमें पता लग सकता है कि प्रजाके दिये हुए करका राजा कैसा उपयोग करता है। देखिये -

करका उपयोग ।

राजा जो कर जनतासे लेता है, उसका व्यय किन बातोंके लिये किया जावे, इसका वर्णन निम्नलिखित शब्दोंसे इस सूक्तमें किया है। 'यह कर निम्नलिखित बाते करता है ' ऐसा वर्णन इस सूक्तमें आया है, इस सूक्तका कथन है कि प्रजाद्वारा दिया हुआ कर निम्नलिखित बातें करता है -

(१) अविः - (अवति इति अविः) - रक्षा करता है, जनताकी अथवा राष्ट्रकी रक्षा करता है। प्रजासे लिया हुआ कर ही प्रजाकी रक्षा है । (मं. १, ३-५)

(२) स्वधा - (स्वस्य धारणा) - अपनी अर्थात् प्रजाकी धारणा करता है । राष्ट्रकी धारणा शक्ति करसे बढती है।

कर लेकर राजा ऐसे प्रबंध करता है कि जिससे प्रजाकी समर्थता बढ जाती है। (मं.१)

(३) **पञ्चापपूः - (पञ्च+ अ+ पूपः - पूयते विशी र्यते इति पूपः। न पूपः अपूपः। पञ्चानां अपूपः पञ्चापूपः)** - जो अलग अलग होता है अर्थात् जिसके भाग बिखरे पडते हैं उसका नाम 'पूप' है। तथा जिसके भाग संघटित एक दूसरेके साथ अच्छी प्रकार मिले जुले होते हैं उसको 'अ- पूप' कहते हैं। पञ्चजनोंको संघटित - संघटनायुक्त करता है अर्थात् परस्पर मिलाकर रखता है, जिससे पांचो प्रकारके ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, निषादोंका अभेद्य संघ होता है उसका यह नाम है। राजा प्रजासे कर लेता है और प्रजाकी संघशक्ति बढाता है। (मं. ४,५)

(४) **भवन्** - होना, अस्तित्व रखना। प्रजासे कर लेकर राजा ऐसे कार्योंमें विनियोग करता है कि जिनसे प्रजाका अस्तित्व चिरकाल रहता है। (मं.२)

(५) **आभवन्** - धन ऐश्वर्यसंपन्न होना। राजा करका ऐसा उपयोग करता है कि जिससे प्रजा प्रतिदिन अधिकाधिक संपत्तिमान होती जाय। (मं.२)

(६) **प्रभवन्** - प्रभावशाली। प्रजासे कर प्राप्त करके राजा उसका विनियोग ऐसे कार्योंमें करता है कि प्रजा प्रतिदिन प्रभावशालिनी बनती जावे। सत्ववान, पराक्रमी और प्रभावशाली प्रजा बने। (मं. २)

(७) **आकूतिप्रः - (आकूतिः)** संकल्पोंको **(प्र)** पूर्ण करनेवाला कर है। अर्थात् प्रजासे कर लेकर राजा ऐसे कार्य करता है कि जिनसे प्रजाके मनकी श्रेष्ठ कामनाएं परिपूर्ण होती हैं और प्रजाकी अखंडित उन्नति होती रहती है। (मं.२)

(८) **सर्वान् कामान् पूरयाति** - प्रजाकी संपूर्ण उन्नतिकी कामनाएं सफल औस सुफल होती हैं। किसी प्रकार भी प्रजाकी श्रेष्ठ आकांक्षाएं निष्फल नहीं होती। कर लेकर राजा ऐसे प्रबंध करता है कि प्रजाकी श्रेष्ठ कामनाएं पूर्ण रीतिसे सिद्धिको प्राप्त हों। (मं. २)

(९) **यो ... ददाति स नाकं अभ्येति** - जो (कर) देता है वह (न+अ+कं) सुखपूर्ण स्थानको प्राप्त करता है अर्थात् राजाको कर देनेवाले लोग अपने देशमें सुखी रहते हैं। प्रजासे कर लेकर राजा ऐसे उत्तम प्रबंधसे राज्य चलाता है, कि सब प्रजा सुखी होती है। (मं.३)

(१०) **प्रदाता पितृणां लोके अक्षितं उपजीवति** - कर देनेवाले लोग संरक्षकों द्वारा सुरक्षित हुए प्रदेशमें चिरकाल आनंदसे रहते हैं। राजा प्रजासे कर लेवे और उनको अत्यंत सुरक्षित रखे, सुराज्य प्रबंधसे लोग सुरक्षित होकर आनंदसे रहें। (मं.४)

(११) **प्रदाता सूर्या मासयोः अक्षितं उपजीवति** - कर देनेवाले लोग जैसे (सूर्य) दिनमें वैसे (मास-चंद्रमाः) रात्रीके समय भी सुरक्षित होकर आनंदसे रहते हैं। कर लेकर राजा राज्यशासनका ऐसा योग्य प्रबंध करे कि जिससे प्रजा दिनके समय भी सुरक्षित होवे और रात्रीके समयमें भी सुरक्षित होवे। (मं.५)

(१२) **इरा इव न उपदस्यति** - कर देनेवाली प्रजा पृथ्वीके समान ध्रुव रहती है अर्थात् उस प्रजाका नाश कोई नहीं कर सकता। (मं. ६)

(१३) **महत् पयः समुद्र इव न उपदस्यति** - कर देनेवाली प्रजा बडे जलसे भरे गहरे महासागरके समान सदा गंभीर और प्रशांत रहती है। छोटे जलाशयके समान शुष्क होकर नाशको नहीं प्राप्त होती। (मं.६)

(१४) **सवासिनौ देवौ इव न उपदस्यति** - साथ साथ रहनेवाले दो देव, श्वास और उच्छ्वासके समान यह कर सब प्रजाकी रक्षा करता है अर्थात् जिस प्रकार प्राणके व्यापारसे सब शरीर सुरक्षित रहता है उसी प्रकार प्रजासे मिलनेवाला कर राष्ट्रको सुरक्षित रख सकता है। (मं. ६)

(१५) **तस्मात् प्रमुञ्चति** - उस महाभयसे मुक्त करता है। यह दिया हुआ कर प्रजाको महाभयसे बचाता है। (मं. १)

(१६) **शिति - पात्** - (शीयते इति शितिः हिंसनं, शिति पातयति) 'शिति' का अर्थ है नाश, उस नाशका पतन जो करता है अर्थात् नाशसे जो बचाता है, उसको 'शिति - पात्' कहते हैं। यह कर प्रजाका विनाशसे बचाव करता है। (मं. १-६)

(१७) **अबलेन बलीयसे शुल्कः न क्रियते** - निर्बल मनुष्य अपनी निर्बलताके कारण प्रबलको धन नहीं देता। अर्थात् यह कर निर्बल मनुष्योंका बलवानोंके अत्याचारसे पूर्ण बचाव कर सकता है। मं. ३)

प्रजासे कर लेकर राजाको इतनी बातें करना चाहिये। यहां ऊपर दिये हुए ये सतरह वाक्य इस सूक्तमें विशेष महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। इनका विचार इसी दृष्टिसे पाठक अधिक करें और राज्यशासनके संबंधमें योग्य बोध जान लें। साधारण सूचना करनेके लिये पूर्वोक्त

वाक्योंसे प्राप्त होनेवाला बोध पुनः संक्षेपसे यहां देते हैं -

'(१) राजा अपनी प्रजासे कर लेवे और उसका उपयोग प्रजाकी योग्य प्रकारकी रक्षा करनेमें, (२) प्रजाकी सब प्रकारकी धारणशक्ति और समर्थता बढानेमें, (३) ज्ञानी, शूर, व्यापारी, कारीगर और अन्य लोगोंकी संघशक्ति बढानेमें, इन सबको संघटित करनेमें, (४) इनका राष्ट्रीय और जातीय अस्तित्व सुरक्षित रखनेमें (५) प्रजाके ऐश्वर्यसंपन्न करनेके कार्योमें (६) प्रजाजनोंको प्रभावशाली बनानेमें (७) संपूर्ण राष्ट्रके सब लोगोंकी सब श्रेष्ठ आकांक्षाओंकी सफलता करनेके साधन निर्माण करनेमें, (८) सब जनोंकी श्रेष्ठ कामनाओंकी तृप्ति करनेके साधन संग्रहित करनेमें (९) राष्ट्रके दुःख दूर करनेमें, (१०) राष्ट्रकी रक्षा करनेके लिये संरक्षकगण नियुक्त करनेमें (११) जैसे दिनमें वैसे रात्रीमें भी निर्भय होकर लोग सर्वत्र संचार कर सकें ऐसी निर्भयता संपूर्ण राष्ट्रमें सदा स्थिर रखनेके कार्यमें, (१२-१४) जनताको भूमिके समान ध्रुव, जलनिधि समुद्रके समान गंभीर और प्राणोंके समान जीवन युक्त करनेके कार्योमें (१५-१६) भय और विनाशसे प्रजाको बचानेके प्रयत्नोंमें, तथा (१७) बलवान् मनुष्य निर्बलोंके ऊपर अत्याचार न करें, ऐसा सुप्रबंध संपूर्ण राज्यभरमें करनेके कार्यमें करें ।'

प्रजासे लिये हुए करका उपयोग इन कार्योमें करना राजाका कर्तव्य है । पूर्वोक्त वाक्योंसे यही भाव प्रकट हो सकता है । पाठक विचार करके इन वाक्योंसे और इन शब्दोंसे अधिक बोध प्राप्त करें । जो राजा प्रजासे कर लेता हुआ इसका उपयोग इन कर्तव्योंसे भिन्न केवल अपने ही स्वार्थसाधनके कार्योमें करेगा वह राज्य चलानेके लिये अयोग्य होगा । यह इस सूक्त द्वारा वेदकी घोषण समझना चाहिये ।

स्वर्ग सदृश राज्य ।

जिस राज्यमें राजा प्रजासे कर लेकर पूर्वोक्त रीतिसे प्रजाकी उत्तम रक्षा करता है, वह स्वर्गके सदृश ही राज्य है और जहां करसे प्राप्त हुए धनका उपयोग प्रजाके बंधन बढानेमें होता है, वह नरकके सदृश राज्य है। स्वर्गराज्यके लक्षण इसी सूक्तमें कहे हैं, उनको अब यहां देखिये -

१ स नाकं अभ्येति

२ यत्र शुल्को न क्रियते अबलेन बलीयसे ।

(सू. २९, मं. ३)

(१) कर देनेवाले मनुष्य स्वर्गधाममें पहुंचते हैं, (२) जहां निर्बल मनुष्यको बलवान् मनुष्यके लिये धन देना नहीं पडता। यह स्वर्ग सदृश्य राज्यका लक्षण है । जहां जिस राज्यमें निर्बल मनुष्यको केवल निर्बल होनेके कारण ही बलवान् मनुष्यके सामने सिर झुकाते हुए अपने पासका धन उपहारके रूपमें देना नहीं पडता, वह स्वर्गधाम है। और जिस राज्यमें बलवान् मनुष्य निर्बलोंपर जो चाहे सो अत्याचार करते हैं और इन अत्याचारोंके कारण कोई उनको पूछता तक नहीं और जहां निर्बल मनुष्य केवल बलहीन होनेके कारण ही पीसे जाते हैं, वह नरक है । 'नर -क' का अर्थ 'हीन मनुष्य, छोटा मनुष्य, नीचली श्रेणीका मनुष्य' है । जिस राज्यमें हीन भावनावाले मनुष्य होते हैं वह नरकराज्य है और जहां श्रेष्ठ भावनावाले मनुष्य होते हैं उसको स्वर्गराज्य कहते हैं।

ब्राह्मणोंका ज्ञानका बल, क्षत्रियोंका अधिकारका बल, वैश्योंका धनका बल, शूद्रोंका कारीगरीका बल, और निषादोंका केवल शारीरिक बल होता है । ये लोग यदि स्वार्थी हुए तो इन बलोंसे मदोन्मत होकर अन्योंपर अत्याचार करते हैं । ऐसा अत्याचार कोई किसीपर न करे और सबको धर्मके आश्रयसे मनुष्यत्व विषयक समानताका दर्जा हो, ऐसा राज्यव्यवस्थाका प्रबंध रखना राजाका परम कर्तव्य है जहां ऐसा उत्तम प्रबंध होता है और जिस राज्यमें शासनव्यवस्थाके आश्रयसे निर्बल मनुष्य भी बलवान् मनुष्यके अत्याचारके सामने अपनी रक्षाके लिये खडा रह सकता है, और केवल निर्बलताके कारण पीसा नहीं जाता, वही राज्यशासन पद्धति वेदकी दृष्टिसे अत्यंत उत्तम है। वही 'वैदिक राज्य' है ।

कामनाका प्रभाव ।

पूर्वोक्त प्रकार राज्यव्यवस्था करना या अन्यान्य वैदिक आज्ञाओंके अनुसार मनुष्योंका सुधार करनेके यत्न करना या न करना, यह सब मनुष्यकी कामना इच्छा - संकल्प - आकांक्षा आदिके खेल हैं । मनुष्यमें जो इच्छा होती है वैसा मनुष्य चलता है और वैसा ही मनुष्य व्यवहार करता है । यह बतानेके लिये ७ वें और ८ वें मंत्रका उपदेश हैं। इसका पहला ही प्रश्नोत्तर देखिये -

प्रश्न - इदं कः कस्मै अदात् ?=यह कौन किसको देता है ?

उत्तर -कामः कामाय अदात् = काम ही कामके लिये देता है ।

कामः दाता, कामः प्रतिग्रहीता = काम ही देने और

लेनेवाला है।

ये मंत्रभाग बडे महत्त्वपूर्ण उपदेशको देनेवाले हैं। मनुष्यके मनके अंदर जो इच्छा है, जो महत्त्वाकांक्षा है, जो कामना है वही मनुष्यको दाता बनाती है और उसीसे दूसरा मनुष्य दान लेनेवाला बनता है। राजा राज्य करता है, सैनिक युद्ध करते हैं, नौकर नौकरी करते हैं, कोई किसीको कुछ देता है और दूसरा लेता है, यह सब व्यवहार मनके अंदरकी इच्छाके कारण होते हैं। मानो यह काम ही सबसे ये व्यवहार करा रहा है यहांतक की -

कामः समुद्रं आविवेश। (सू.२९, मं.७)

'काम ही समुद्रमें घुसा है।' अर्थात् समुद्रपर भी इसी कामका ही राज्य है। पृथ्वीको छोडकर जो मनुष्य रामुद्रमें जहाजोंमें बैठकर भ्रमण करने जाते हैं वे भी कामकी ही प्रेरणासे ही जाते हैं। और कोई विमान द्वारा आकाशमें उडते हैं वे भी कामकी प्रेरणासे ही उड रहे हैं। इस प्रकार इस जगत्का सब व्यवहार कामनाकी प्रेरणासे हो रहा है। 'भूमि और अंतरिक्षमें भी सर्वत्र काम ही काम अर्थात् कामनाका राज्य है। (मं.८)' सब इसीकी आज्ञाके अनुसार फिर रहे हैं। देखिये -

काम! एतत् ते। (सू. २९, मं.७)

'हे काम! यह तेरा ही महाराज्य है' तेरा ही शासन सब पर है। कौन तेरे शासनसे बाहर है। कामका स्वीकार करनेवाले कामी लोग जैसे अपने मनकी कामनासे प्रेरित होते हैं उसी प्रकार कामका त्याग करनेवाले विरक्त लोग भी उसी कामनासे ही प्रवृत्त होते हैं, तात्पर्य कामका सर्वतोपरी शासन है।

कामकी मर्यादा।

कामना बुरी है ऐसा कहते हैं। यदि काम उक्त प्रकार सब पर शासनाधिकार चलाता है और भोगी और त्यागी दोनों उसीके आधीन रहते हैं तो फिर कामका संयम कैसे हो सकता है? इस प्रश्नका उत्तर अष्टम मंत्रके उत्तरार्धने दिया है। इस मंत्रभागमें कहांतकके कामका स्वीकार करना और कहांसे आगेके कामको त्यागना इस महत्त्वपूर्ण विषयका विवेचन किया है। वह विषय अब देखिये -

प्रतिगृह्य अहं आत्मना मा विराधिषि,
अहं प्राणेन मा विराधिषि,
अहं प्रजया मा विराधिषि। (सू. २९, मं.८)

'काम! तेरा स्वीकार करके, मैं अपनी आत्मशक्तिको न खो बैठूं, मैं अपनी प्राणशक्तिको न क्षीण करूं, और मैं अपने प्रजननको भी न हीन बना दूं।' यहांतक जितना काम स्वीकारा जा सकता है, उतना मनुष्यके लिये लाभदायी हो सकता है। काम विषयका अत्याचार हरएक इंद्रियके कार्यक्षेत्रमें हो सकता है, परंतु इसका विशेष कार्यक्षेत्र जननेन्द्रियके साथ संबंध रखता है। इस इंद्रियसे विशेष अत्याचार करनेसे आत्माका बल कम होता है, जीवनकी मर्यादा तथा प्राणकी शक्ति क्षीण होती है और सन्तान उत्पन्न करनेकी शक्ति भी न्यून होती है और ऐसे कामी पुरूषको जो भी सन्तान उत्पन्न होते हैं वे भी क्षीण, बलहीन और दीन होते हैं। इस प्रकारका घातपात न हो इस लिये कामका संयम करना आवश्यक है। संयमकी मर्यादा यह है कि 'उस मर्यादातक कामका उपभोग लिया जावे कि जहां तक लेनेसे अपनी आत्माकी शक्ति, प्राणकी शक्ति और प्रजनन शक्ति क्षीण न हो सके, इससे अधिक कामका भोग करनेसे हानि है।'

इस मंत्रमें सभी इंद्रियोंके संबंधमें कामका उपभोग लेनेकी मर्यादा कही है, यद्यपि ऊपरके उदाहरणमें हमने एक इंद्रियको लक्ष्य करके लिखा है, तथापि पाठक उसी मर्यादाको संपूर्ण इंद्रियोंके कार्यक्षेत्रमें घटाकर योग्य बोध प्राप्त करें।

कामका यह साम्राज्य संपूर्ण जगत्में है। विशेषकर मानवी प्राणियोंमें हमें विचार करना है। इस राज्यव्यवस्थाका उपदेश देनेवाले इस सूक्तमें इस काम विषयके ये मंत्र रखे हैं और कामकी धर्ममर्यादा और अधर्ममर्यादा भी बता दी है, इसका हेतु यह है कि राजा अपने राज्यमें ऐसा राज्यप्रबंध करें कि जिससे प्रजाजन काम विषयका धर्ममर्यादाका उल्लंघन न करें और अपने आत्मा, प्राण और प्रजननकी शक्तिसे युक्त हों और सब उत्तम शांतिसे स्वर्गतुल्य राज्यका आनंद प्राप्त करें। प्रजासे लिये हुए करका इस व्यवस्थाके लिये व्यय करना राजाका आवश्यक कर्तव्य है। करसे ये कार्य होते हैं और प्रजा सुखी होती है, इसीलिये (**लोकेन संमितं** । मं. ४, ५) 'प्रजाद्वारा स्वीकृत और संमानित कर' ऐसा इसका विशेषण दिया है।

जहां प्रजासे प्राप्त करका इन कार्योंके लिये उपभोग होता है, वहांकी प्रजा सुखी और अभ्युदय तथा निःश्रेयसको प्राप्त करनेवाली होती है। वैदिकधर्मी ऐसा प्रबंध करें कि जिससे अपने देशमें तथा अन्यान्य देशोंमें इसी प्रकारके वैदिक आदर्शसे चलनेवाले और चलाये जानेवाले राज्य हों और कोई राष्ट्र स्वराज्यके वैदिक आदर्शसे दूर न रहे।

●●●

एकता।

(३०)

(ऋषिः - अथर्वा। देवता - चन्द्रमाः)

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।
अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या ॥ १ ॥

अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवाम् ॥ २ ॥

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा। सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया ॥ ३ ॥

येन देवा न वियन्ति नो च विद्विषते मिथः। तत्कृण्मो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः ॥ ४ ॥

अर्थ - **(स - हृदयं)** सहृदयता अर्थात् प्रेमपूर्ण हृदय, **(सां - मनस्यं)** सांमनस्य अर्थात् मन शुभ विचारोंसे पूर्ण होना और **(अ- विद्वेषं)** परस्पर निर्वैरता **(वः कृणोमि)** तुम्हारे लिये मैं करता हूं। तुम्हारेमेंसे **(अन्यः अन्यं अभि हर्यत)** हरएक परस्परके ऊपर प्रीति करे **(अघ्न्या जातं वत्सं इव)** जैसे गौ उत्पन्न हुए बछडेको प्यार करती है ॥१॥

(पुत्रः पितुः अनुव्रतः) पुत्र पिताके अनुकूल कर्म करनेवाला और **(मात्रा संमनाः भवतु)** माताके साथ उत्तम मनसे रहनेवाला होवे। **(जाया पत्ये)** पत्नी पतिसे **(मधुमती शन्तिवां वाचं वदतु)** मधुर और शांतिसे युक्त भाषण करे ॥२॥

(भ्राता भ्रातरं मा द्विक्षत्) भाई भाईसे द्वेष न करे, **(उत स्वसा स्वसारं मा)** और बहिन बहिनसे द्वेष न करे। **(सम्यञ्चः सव्रताः भूत्वा)** एक मतवाले और एक कर्म करनेवाले होकर **(भद्रया वाचं वदत)** उत्तम रीतिसे भाषण करो ॥३॥

(येन देवाः न वियन्ति) जिससे व्यवहार चलानेवालोंमें विरोध नहीं होता है, **(च नो मिथः विद्विषते)** और न कभी परस्पर द्वेष बढता है, **(तत् संज्ञानं ब्रह्म)** वह एकता बढानेवाला परम उत्तम ज्ञान **(वः गृहे पुरुषेभ्यः कृण्मः)** तुम्हारे घरके मनुष्योंके लिये हम करते हैं ॥४॥

भावार्थ - प्रेमपूर्ण हृदयके भाव, मनके शुभ विचार और आपसकी निर्वैरता आप अपने घरमें स्थिर कीजिये। तुम्हारेमेंसे हरएक मनुष्य दूसरे मनुष्यके साथ ऐसा प्रेमपूर्ण बर्ताव करे कि जिस प्रकार नये उत्पन्न हुए बछडेसे उसकी गौ माता प्यार करती है ॥१॥

पुत्र पिताके अनुकूल कर्म करे, और माताके साथ मनके शुभ भावसे व्यवहार करे। पत्नी पतिके साथ सदा मधुर भाषण करती रहे ॥२॥

भाई भाईसे द्वेष न करें, बहिन बहिनके साथ न लडे। एक मतसे एक कर्म करनेवाले होकर परस्पर निष्कपटतासे भाषण करो ॥३॥

जिससे कार्यव्यवहार चलानेवालोंमें कभी विरोघ नहीं हो सकता और कभी आपसमें लढाई झगडा नहीं हो सकता, वैसा उत्तम ज्ञान तुम अपने घरोंमें बढाओ ॥४॥

ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वि यौष्ट संराधयन्तः सधुराश्चरन्तः ।
अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त एत सध्रीचीनान्वः संमनसस्कृणोमि ॥ ५ ॥
समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि ।
सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभितः ॥ ६ ॥
सध्रीचीनान्वः संमनसस्कृणोम्येकश्नुष्टीन्त्संवननेन सर्वान् ।
देवा इवामृतं रक्षमाणाः सायंप्रातः सौमनसो वो अस्तु ॥ ७ ॥

अर्थ - **(ज्यायस्वन्तः)** वृद्धोंका सन्मान करनेवाले, **(चित्तिनः)** उत्तम चित्तवाले, **(संराधयन्तः)** उत्तम सिद्धितक प्रयत्न करनेवाले, **(स - धुराः चरन्तः)** एक धुराके नीचे कार्य करनेवाले और आगे बढनेवाले होकर **(मा वि यौष्ट)** तुम मत अलग होओ, मत विरोध करो । **(अन्यः अन्यस्मै वल्गु वदन्तः एत)** एक दूसरेसे प्रेमपूर्वक भाषण करते हुए आगे बढो । **(वः सध्रीचीनान्)** तुमको साथ पुरूषार्थ करनेवाले और **(संमनसः कृणोमि)** उत्तम एक विचारसे युक्त मनवाले करता हूं ॥५॥

(प्रपा समानी) तुम्हारा जल पीनेका स्थान एक हो, और **(वः अन्नभागः सह)** तुम्हारा अन्नका भाग भी साथ साथ हो । **(समाने योक्त्रे वः सह युनज्मि)** एक ही जोतेमें तुमको साथ साथ मैं जोडता हूं । **(सम्यञ्चः अग्निं सपर्यत)** मिलजुलकर ईश्वरकी पूजा करो, **(अभितः नाभिं अराः इव)** चारों ओरसें नाभीमें जैसे चक्रके आरे जुडे होते हैं ॥६॥

(संवननेन वः सर्वान्) परस्पर सेवा करनेके भावसे तुम सबको **(सन्ध्रीचीनान् संमनसः एकश्नुष्टीन् कृणोमि)** साथ मिलकर पुरूषार्थ करनेवाले, उत्तम मनवाले और समान नेताकी आज्ञामें कार्य करनेवाले बनाता हूं । **(अमृतं रक्षमाणाः देवाः इव)** अमृतकी रक्षा करनेवाले देवोंके समान **(सायं प्रातः वः सौमनसः अस्तु)** सायंकाल और प्रातःकाल तुम्हारे प्रसन्न चित्त रहें ॥७॥

भावार्थ - वृद्धोंका संमान करो, चित्तमें शुभ सङ्कल्प धारण करो, उत्तम सिद्धितक प्रयत्न करो, आगे बढकर अपने सिरपर कार्यका भार लो और आपसमें विद्वेष न बढाओ । परस्पर प्रेमपूर्वक भाषण करो, मिलजुलकर पुरूषार्थ करनेवाले बनो । इसीलिये तुम्हे उत्तम मनसे युक्त बनाया है ॥५॥

तुम्हारा जल पीनेका स्थान सबके लिये समान हो, अन्नका भोग भी सबके लिये एक हो, समान कार्यकी एक धुराके नीचे रहकर कार्य करनेवाले तुम हो, उपासना भी सब मिलजुलकर एक स्थानमें करो, जैसे चक्रके आरे नाभिमें जुडे होते हैं, वैसे ही तुम अपने समाजमें एक दूसरेके साथ मिलकर रहो ॥६॥

परस्परकी सहायता करनेके लिये परस्परकी सेवा करो, उत्तम ज्ञान प्राप्त करो, मनके भाव शुद्ध करके एक विचारसे एक कार्यमें दत्तचित्त हो, सबके लिये समान अन्नादि भोग मिलें । जिस प्रकार देव अमृतकी रक्षा करते हैं, इसी प्रकार सायं प्रातः तुम अपने मनके शुभसङ्कल्पोंकी रक्षा करो ॥७॥

संज्ञानसे एकता ।

इस सूक्तमें 'संज्ञान' प्राप्त करके आपसकी एकता करनेका उपदेश है । मनुष्यप्राणी संघ बनाकर रहनेवाला होनेके कारण उसको आपसकी एकता रखना अत्यंत आवश्यक है । जातीय एकता न रही, तो मनुष्यका नाश होगा । जो जाती अपने अंदर संघशक्ति बढाती है वही इस जगत्में विजयी हो रही है, तथा जिस जातीमें आपसकी फूट अधिक होती है, वह पराजित होती रहती है । अतः आपसमें संघशक्ति बढाकर अपनी उन्नति करना हरएक जातीके लिये अत्यंत आवश्यक है । संघशक्ति बढानेके जो उपाय इस सूक्तमें वर्णन किये हैं, वे अब देखिये -

अंदरका सुधार ।

सबसे प्रथम व्यक्तिके अंदरका सुधार होना चाहिये। वैदिक धर्ममें यदि कोई विशेष महत्त्वपूर्ण बात कही होगी तो यही कही है, कि संपूर्ण सुधारका प्रारंभ मनुष्यके हृदयके सुधारसे होना चाहिये । हृदय सुधर जानेपर अन्य सब सुधार मनुष्यको लाभ पहुंचा सकते हैं, परंतु हृदयमें

दोष रहे तो बाह्य सुधारसे कुछ भी लाभ नहीं हो सकता। इसलिये इस सूक्तमें हृदयके सुधार करनेकी सूचना सबसे प्रथम कही है -

१ सहृदयं - (स - हृदयं) - हृदयके भावकी समानता। अर्थात् दूसरेके दुःखसे दुःखी और दूसरेके सुखसे सुखी होना । (मं.१)

जिनके हृदय ऐसे होते हैं वे ही जनतामें एकता करने और एकता बढानेके कार्य करनेके अधिकारी होते हैं । जो दूसरेको दुःखी देखकर दुःखी नहीं होता वह जनताकी किसी प्रकार भी उठा नहीं सकता । हृदयका सुधार सबसे मुख्य है। इसके बाद वेद कहता है -

२ सां- मनस्यं - (सं - मनः) - मनका उत्तम शुभ संस्कारोंसे पूर्ण होना । मन शुद्ध और पवित्र भावनाओं और श्रेष्ठ विचारोंसे युक्त होना । (मं.१)

मनके आधीन संपूर्ण इंद्रियां होती है । इसलिये जैसे मनके विचार होते हैं वैसी ही अन्य सब इंद्रियोंकी प्रवृत्ति होती है । इसलिये अन्य इंद्रियोंसे उत्तम प्रशस्ततम कार्य होनेके लिये मनके शुभ संकल्पमय होनेकी अत्यंत आवश्यकता है । पूर्वोक्त प्रकार सहृदयता और सांमनस्यता सिद्ध होनेके पश्चात् मनुष्यका बाह्य व्यवहार कैसा होना चाहिये यह भी इसी मंत्रने तीसरे शब्द द्वारा कहा है -

बाहरका सुधार ।

३ अ - विद्वेषं - द्वेष न करना। एक दूसरेके साथ परस्पर द्वेष न करना । आपसमें झगडा न करना । (मं.१)

यह शब्द बाह्य व्यवहारका सुधार करनेकी सूचना देता है। मनुष्यका व्यवहार कैसा है ? इस प्रश्नका उत्तर यह है कि 'मनुष्यका व्यवहार ऐसा हो कि जिसमें कोई किसीका द्वेष न करे।' यह मनुष्यके व्यवहारका आदर्श है । द्वेष न हो । झगडा न हो । दो मनुष्य इकट्ठे आ गये तो किसी न किसीकी निन्दा करनेकी बात शुरू होती है, नीच मनुष्योंका यह स्वभाव ही बना है। परंतु सज्जनोंको ऐसा करना योग्य नहीं है। वे अपना आचरण निर्वैरताके भावसे परिपूर्ण रखें ।

निर्वैरताका व्यवहार करनेका तात्पर्य क्या है? दो पत्थर या दो वृक्ष साथ रहते हैं और निर्वैरताके साथ रहते हैं । क्या इस प्रकारकी जड निर्वैरता वहां अभीष्ट है । नहीं नहीं, यहांका **'अ विद्वेष'** शब्द परस्परके प्रेमपूर्ण व्यवहारका सूचक है । सबसे प्रथम सहृदयता और सांमनस्यता कही है, इनसे क्रमशः हृदय और मनकी शुद्धि हुई । ये परिशुद्ध हृदय और मन जो अविद्वेषका व्यवहार करेंगे वह दो पत्थरोंके आपसके व्यवहार जैसा जड नहीं हो सकता । इस अविद्वेष के व्यवहारका उदाहरण ही इस प्रथम मंत्रके उत्तरार्धमें दिया है -

अन्या अन्यमभि हर्यत, वत्सं जातमिवाघ्न्या ।

(सू. ३०, मं.१)

'एक दूसरेके साथ ऐसा प्रेम कर कि जैसा गौ अपने नये जन्मे बछडेके साथ प्रेम करती है ।' निर्वैरताका यह उदाहरण है । अहिंसाके व्यवहारका दृश्य रूप गौ माताका अपने नवजात बछडेसे व्यवहार है । गौका प्रेम अपने बछडेसे जैसा होता है वैसा अन्योंसे तुम प्रेम करो । 'अ-विद्वेष' का अर्थ केवल 'वैरका अभाव' नहीं है, केवल निषेध करनेसे किसीका बोध नहीं होता है । वैर न करना, हिंसा न करना यह तो उत्तम है परंतु इसका विधायक स्वरूप है 'प्रेम करना'। अर्थात् अविद्वेषका अर्थ है दूसरे पर प्रेम करना । पहिले मंत्रमें जो तीन शब्दों द्वारा मानवी धर्मका उपदेश किया उसका ही उदाहरण उत्तर मंत्रभागमें गौके उदाहरणसे दिया और दिखलाया कि दूसरोंके साथ प्रेमका व्यवहार करना चाहिये। इस प्रकार करनेसे जातीय एकता सिद्ध होगी । इस उपदेशका आचरण करनेका क्रम अगले मंत्रोमें कहा है, सबसे प्रथम घरमें इस उपदेशके अनुसार व्यवहार करनेकी रीति अगले तीन मंत्रोंमें कही है, वह गृहस्थियोंको अवश्य मनन करना चाहिये ।

'(१) पुत्र पिताके अनुकूल कर्म करे, और माताके साथ उत्तम भावनाओंसे व्यवहार करे । धर्मपत्नी पतिके साथ मीठा और शांतिसे युक्त भाषण करे ॥२॥भाई भाईसे द्वेष न करे और बहिन बहिनके साथ झगडा न करे, सब मिलकर आपसमें मधुर भाषण करते हुए अपने कल्याणके लिये एक कार्यमें दत्तचित्त हो जाओ ॥३॥जिससे विरोध और विद्वेष नहीं होता है ऐसा संज्ञान तुम्हारे घरके लोगोंके लिये मैं देता हूं ॥४॥'

आदर्श कुटुंबका वर्णन कर रहे हैं । जो कुटुंब ऐसा होगा वह निःसंदेह आदर्श रूप ही होगा । पाठक इन मंत्रके उपदेशको अपने परिवारमें ढालनेका यत्न करें ।

इन मंत्रोंका अर्थ करनेके समय ये सामान्य निर्देश है यह बात भूलना नहीं चाहिये । अर्थात् 'पुत्र पिताके अनुकूल कार्य करे' इस वाक्यका अर्थ 'कन्या भी मातापिताके अनुकूल कर्म करे' ऐसा है । तथा 'भाई भाईसे द्वेष न करे' इसका अर्थ 'भाई बहिनसे और बहिन भाईसे द्वेष न करे' ऐसा है । 'पत्नी पतिसे मीठा भाषण करे' इसमें 'पति भी पत्नीसे मीठा भाषण करे' यह अर्थ है और (वः गृहे पुरूषेभ्यः संज्ञानं ब्रह्म कृण्मः । मं.४)

'तुम्हारे घरके पुरूषोंको यह संज्ञान ब्रह्म देते हैं,' इसका अर्थ 'तुम्हारे घरके स्त्रियोंको भी यह संज्ञान ब्रह्म देते हैं' ऐसा है। इसको सामान्य निर्देश कहते हैं। यदि पाठक इन निर्देशोंकी यह सामान्यता न देखेंगे तो अर्थका अनर्थ हो जायगा। इसलिये कृपया पाठक इसका अवश्य अनुसंधान करके बोध प्राप्त करें।

संघमें कर्म।

पञ्चम मंत्रमें जातीके लोगोके साथ कैसा व्यवहार करना चाहिये, इस विषयका उत्तम उपदेश है, इसका सारांश यह है -

१ ज्यायस्वन्तः - बडोंका सन्मान करनेवाले बनो। वृद्धोंका सन्मान करो। (मं.५)

२ मा वि यौष्ट - विभक्त मत बनो। अपनेमें विभेद न बढाओ। (मं.५)

३ सधुराः चरन्तः - एक धुराके नीचे रहकर आगे बढो। यहां धुराका अर्थ धुरीण, नेता, समझना योग्य है। अपने नेताके शासनमें रहकर अपनी उन्नतिके मार्गपरसे कटिबद्ध होकर चलो। (मं.५) अपने नेताकी आज्ञामें रहकर उन्नतिका साधन करनेवाले ही अभ्युदय और निःश्रेयस प्राप्त कर सकते हैं।

४ सध्रीचीनाः- एक ही कर्मके लिये मिलकर पुरूषार्थ करनेवाले बनो। अर्थात् जो करना हो वह तुम सब मिलकर करते रहो। (मं.५)

५ संराधयन्तः - मिलकर सिद्धिके लिये यत्न करनेवाले बनो। (मं. ५)

६ अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त एत - परस्पर प्रेमपूर्वक शुभ भाषण करते हुए आगे बढो। (मं.६) जब कभी दूसरेसे भाषण करना हो तो प्रेमपूर्वक तोलकर मीठा भाषण करो, जिससे आपसमें फिसाद न बढे और आपसकी फूट बढकर अपनी शक्ति क्षीण न हो।

इस मंत्रके **'चित्तिनः और संमनसः'** ये शब्द वही भाव बताते हैं कि जो प्रथम मंत्रके 'सांमनस्य' शब्दने बताया है। उत्तम चित्तवाले और शुभ मनवाले बनो यही इसका आशय है।

वृद्धोंका सन्मान करना और पुरूषार्थ साधक कर्ममें दत्तचित्त होना ये दो उपदेश यहां मुख्यतः हैं। पाठक विचार करके जान सकते हैं कि मनुष्यकी परीक्षा कर्मसे ही होती है। इसलिये इस मंत्रमें अनेक शब्दोंद्वारा कहा है कि किसी एक कर्ममें अपने आपको समर्पित करो और वहां यदि अन्य मनुष्योंका संबंध हो तो उनसे साथ अविरोधसे कर्म करो। इस कर्मसे ही मनुष्य श्रेष्ठ है वा कनिष्ठ है, इसका निश्चय हो सकता है।

स्वानपानका प्रश्न।

जब संघमें रहना और कर्म करना होता है तब ही स्वानपानका प्रश्न आता है। घरमें तो सबका एक ही स्वानपान होता है, क्योंकि माता, पिता, भाई,बालबच्चे प्रायः एक ही भोजन करते और एक ही पानी पीते हैं। जो स्वानपानका प्रश्न उत्पन्न होता है वह जातीय संघटनाके समय ही उत्पन्न होता है, इस विषयमें षष्ठ मंत्रने उत्तम नियम बताया है -

'तुम्हारा जलपानका स्थान एक हो और अन्नभाग भी एक हो, तुम सबको मैं एक धुराके नीचे रखता हूं। तुम मिलकर एक ईश्वरकी उपासना करो।' (मं.६)

इस मंत्रमें सबका स्वानपान और उपासना एक हो इस विषयका उपदेश स्पष्ट शब्दोंसे कहा है। जातीय और राष्ट्रीय कार्य करनेवाले इस उपदेशका अधिक मनन करें। मंत्र कहता है, कि 'जाती चक्रके समान है,' जिस प्रकार चक्रके आरे चारों ओरसे नाभीमें अच्छी प्रकार जुडे होते हैं, उसी प्रकार चारों वर्ण राष्ट्रकी नाभीमें जुडे हैं। यदि वे अपने स्थानसे थोडे भी अलग हो जायंगे तो चक्रका नाश होगा। जनतामें सब लागोंकी एकता ऐसी होनी चाहिये कि जिस प्रकार चक्रमें आरे एक नाभिके साथ जुडे होते हैं।

सेवाभावसे उन्नति।

सप्तम मंत्रमें **'सं - वनन'** शब्द है। इसका अर्थ 'उत्तम प्रकारकी प्रेमपूर्वक सहायता करना' है। **'वन्'** धातुका अर्थ 'प्रेमपूर्वक दूसरेकी सहायता करना' है। **'सं+ वन्'** का भी यही अर्थ है। इससे संवननका अर्थ स्पष्ट होगा। प्रेमपूर्वक दूसरोंकी सहायता करना ही सेवा - समितीका कार्य होता है। वही भाव इस शब्दमें है। अपनेको कुछ पारितोषिक प्राप्त हो ऐसी इच्छा न करते हुए जनताकी सेवा केवल प्रेमसे करना और यही परमेश्वरकी श्रेष्ठ भक्ति है, ऐसा भाव मनमें धारण करना श्रेष्ठ मनुष्यका लक्षण है। इस गुणसे अन्य मनुष्योंपर बडा प्रभाव पडता है और बहुत लोग अनुकूल होते हैं। इस विषयमें मंत्र कहता है -

संवननेन सर्वान् एकश्नुष्टीन् कृणोमि। (सू. ३०, मं.७)

'प्रेमपूर्वक सेवासे सबकी सहायता करता हुआ मैं सबको एक ध्येयके नीचे काम करनेवाले बनाता हूं।' जनताका सबसे बडा नेता वही है कि जो जनताका

सबसे बडा निःस्वार्थ सेवक है । सच्चा राष्ट्रकार्य, सच्ची जनसेवा करना ही मनुष्यका बडा भारी यज्ञकर्म है । जो जितना और जैसा करेगा वह उतना श्रेष्ठ नेता बन सकता है। निःस्वार्थ सेवासे ही जनताके नेता होते हैं । परमेश्वर सबसे बडा इसीलिये है क्योंकि वह सबसे अधिक गुप्त रहता हुआ अज्ञात रीतिसे जनताकी अधिकसे अधिक सहायता करता है, वह उसका बडा भारी यज्ञ है, इसीलिये उसका अधिकसे अधिक सन्मान सब आस्तिक लोग करते हैं । यही आदर्श अपने सामने सत्पुरूष रखते हैं और जनताकी सेवा करते जाते हैं, इस कारण वे भी सन्मानके भागी होते हैं ।

कर्मसे मनुष्यत्वका विकास ।

वेदका सिद्धान्त है कि **'ऋतुमयोऽयं पुरुषः ।'** अर्थात् 'यह मनुष्य कर्ममय है ।' इसका तात्पर्य यह है कि मनुष्य जैसा कर्म करात है, वैसी उसकी स्थिति होती है । मनुष्यकी उन्नति कर्मके वंशमें है इसीलिये प्रशस्ततम कर्म करना मनुष्यको आवश्यक है । ये कर्म ऐसे हो कि जिनसे एकता बढे और परस्पर विघात न हो यह उपदेश इस सूक्तके - **'सव्रताः, संराधयन्तः, सधुराश्चरन्तः, सध्रीचीनान्, एकश्नुष्टीन्'** आदि शब्दों द्वारा मिलता है । पाठक इस महत्त्वपूर्ण उपदेशकी ओर अवश्य ध्यान दें ।

इस प्रकार इस सूक्तने अत्यंत महत्त्वका उपदेश किया है। पाठक इन उपदेशांका जितना अधिक मनन करेंगे उतना अधिक बोध प्राप्त कर सकते है ।

•••

पाप की निवृत्ति ।

(३१)

(ऋषिः - ब्रह्मा । देवता - पाप्महा)

वि देवा जरसावृतन्वि त्वमग्ने अरात्या । व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ १ ॥
व्यार्त्या पवमानो वि शक्रः पापकृत्यया । व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ २ ॥
वि ग्राम्याः पशव आरण्यैर्व्यापस्तृष्णयासरन् । व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ ३ ॥

अर्थ - **(देवाः जरसा वि अवृतन्)** देव वृद्धावस्थासे दूर रहते हैं । **(अग्ने ! त्वं अरात्या वि)** हे अग्ने ! तू कंजूसीसे तथा शत्रुसे दूर रह । **(अहं सर्वेण पाप्मना वि)** मैं सब पापोंसे दूर रहूं । तथा **(यक्ष्मेण वि)** रोगसे भी दूर रहूं । और **(आयुषा सं)** दीर्घ आयुसे संयुक्त होऊं ॥१॥

(पवमानः आर्त्या वि) शुद्धता करनेवाला पुरुष पीडासे दूर रहता है, **(शक्रः पापकृत्यया वि)** समर्थ मनुष्य पापकर्मसे दूर रहता है, उसी प्रकार सब पापोंसे और सब रोगोंसे मैं दूर रहूं और दीर्घायुसे संपन्न होऊ ॥२॥

जैसे **(ग्राम्याः पशवः आरण्यैः वि)** ग्रामके पशु जंगली पशुओंसे दूर रहते है, और **(आपः तृष्णया वि असरन्)** जल प्याससे दूर रहता है, उसी प्रकार मैं सब पापों और सब रोगोंसे दूर रहकर दीर्घायुसे युक्त होऊं ॥३॥

भावार्थ - देव वृद्धावस्थाको दूर करके सदा तरुण जैसे रहते है, अग्नि देव अदानी पुरुषोंको दूर करके दानी पुरुषोंको पास करता है । इसी प्रकार मैं सब पापोंको और रोगोंको दूर करके पुरुषार्थसे दीर्घ आयुष्य प्राप्त करूं ॥१॥

अपनी शुद्धता रखनेवाला मनुष्य रोगादि पीडाओंसे दूर रहता है और पुरुषार्थी समर्थ मनुष्य पापोंसे दूर रहता है, उसी रीतिसे मैं पापों और रोगोंसे दूर रहकर दीर्घायुष्य प्राप्त करूं ॥२॥

जैसे गौ आदि गांवके पशु सिंह, व्याघ्र आदि जंगलके पशुओंसे दूर रहते है और जैसे जलके पास तृष्णा नही आती, उसी प्रकार मैं पापों और रोगोंसे दूर रहकर दीर्घायुष्य प्राप्त करूं ॥३॥

वीइमे द्यावापृथिवी इतो वि पन्थानो दिशंदिशम्।
व्यहं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ ४ ॥
त्वष्टा दुहित्रे वहतुं युनक्तीतीदं विश्वं भुवनं वि याति।
व्यहं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ ५ ॥
अग्निः प्राणान्त्सं दधाति चन्द्रः प्राणेन संहितः। व्यहं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ ६॥
प्राणेन विश्वतोवीर्यं देवाः सूर्यं समैरयन्। व्यहं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ ७॥
आयुष्मतामायुष्कृतां प्राणेन जीव मा मृथाः। व्यहं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ ८॥
प्राणेन प्राणतां प्राणेहैव भव मा मृथाः। व्यहं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ ९॥

अर्थ - जिस प्रकार **(इमे द्यावापृथिवी वि इतः)** ये द्युलोक और पृथ्वी अलग है और **(पन्थानां दिशं दिशं वि)** ये सब मार्ग प्रत्येक दिशामें अलग अलग होकर जाते है, इसी प्रकार मैं सब पापोंसे और रोगोंसे दूर रहता हुआ दीर्घायुसे युक्त होऊं ॥४॥

जैसा **(त्वष्टा दुहित्रे वहतुं युनक्ति,)** पिता अपनी कन्याको दहेज-स्त्री, धन-देनेके लिये अलग करता है और जैसा **(इदं विश्वं भुवनं वि याति)** यह सब भुवन अलग अलग चलता है इसी प्रकार मैं सब पापोंसे और रोगोंसे दूर रहता हुआ दीर्घ आयुसे युक्त होऊं ॥५॥

जिस रीतिसे **(अग्निः प्राणान् सिन्दधाति)** जाठर अग्नि प्राणोंका धारण करता है और **(चन्द्रः प्राणेन संहितः)** चन्द्रमा-मन-प्राणके साथ रहता है, उसी रीतिसे मैं सब पापों और रोगोंसे बचकर दीर्घायुसे युक्त होऊं ॥६॥

जिस ढंगसे **(देवाः विश्वतो-वीर्यं सूर्य)** देव सब सामर्थ्यसे युक्त सूर्यको **(प्राणेन समैरयन्)** अपने प्राणके साथ सम्बान्धत करते है उसी ढंगसे मैं सब पापों और रोगोंसे दूर रहकर दीर्घजीवनसे युक्त होऊं ॥७॥

(आयुष्मतां आयुष्कृतां प्राणेन जीव) दीर्घायुवाले और आयुष्य बढानेवाले जो होते है उनके प्राणके साथ जीता रह। **(मा मृथाः)** मत मर जा। उसी प्रकार मैं भी सब पापों और रोगोंको दूर करके दीर्घायू बनूं ॥८॥

(प्राणतां प्राणेन प्राण) जीवित रहनेवालोके प्राणसे जीवित रह, **(इह एव भव)** यहां ही प्रभावशाली हो और **(मा मृथाः)** मत मरजा। उसी प्रकार मैं सब पापों और रोगोंको दूर करके दीर्घायु बनुंगा ॥९॥

भावार्थ - जैसे आकाश भूमिसे दूर है और प्रत्येक दिशाको जानेवाला मार्ग जैसा एक दूसरेसे पृथक् होता है, ऐसे ही मैं पापों और रोगोंसे दूर रहकर दीर्घायुष्य प्राप्त करूं ॥४॥

पुत्रीका पिता जैसा पुत्रीके विवाहके समय दामादको देनेके लिये दहेज अपने पाससे अलग करके दूर करता है और जिस प्रकार ये ग्रह-नक्षत्रादि गोल अपनी गतिसे चलकर परस्पर अलग रहते है उसी प्रकार मैं पापों और रोगोंसे दूर रहकर दीर्घायु प्राप्त करुंगा ॥५॥

जैसा शरीरमें जाठर अग्नि अन्नादिका पाचन करता हुआ प्राणोंको बलवान् करता है और मन अपनी शक्तिसे प्राणके साथ रहकर शरीर चलाता है, उसी प्रकार मैं पापों और रोगोंको दूर करके दीर्घायु प्राप्त करुं ॥६॥

जैसे सबको बल देनेवाले सूयको भी अन्य देव प्राणशक्तिसे युक्त करते है, उसी ढंगसे मैं पापों और रोगोंको दूर करके दीर्घायु बनूं ॥७॥

स्वभावतः दीर्घायु लोगोंकी जैसी प्राणशक्ति होती है और अनेक साधनोंसे अपनी दीर्घ आयु करनेवालोंकी जैसी प्राणशक्ति होती है, वैसी अपनी प्राणशक्ति बलयुक्त करके मनुष्य जीवे और शीघ्र न मरे। मैं भी इसी रीतिसे पापों और रोगोंको दूर करके दीर्घायु बनूं ॥८॥

प्राणधारक कनेवालोंके अंदर जो प्राणशक्ति है उसको बलवान् करके तू यहां बढ, छोटी आयुमें ही मत मर जा। मैं भी पापों और रोगोंको दूर करके दीर्घायु बनूंगा ॥९॥

उदायुषा समायुषोदोषधीनां रसेन । व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ १० ॥
आ पर्जन्यस्य वृष्ट्योदस्थामामृता वयम् । व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ ११ ॥

॥ इति षष्ठोऽनुवाकः ॥ ६ ॥

अर्थ - (आयुषा उत्) आयुष्यसे उत्कर्ष प्राप्त कर, (आयुषा सं) दीर्घायुसे युक्त हो, **(ओषधीनां रसने उत्)** औषधियोंके रससे उन्नति प्राप्त करे । इसी रीतिसे मैं भी सब पापों और रोगोंसे दूर होकर **दीर्घायू बनूं** ॥१०॥

(वयं पर्जन्यस्य वृष्टया) हम पर्जन्यकी वृष्टिसे **(आ उत् अस्थाम)** उन्नतिको प्राप्त करें और **(अमृताः)** अमर हो जायं । इसीलिये मैं सब पापों और रोगोंको दूर करके दीर्घ आयुसे युक्त होऊं ॥११॥

भावार्थ - अपनी आयुसे उत्कर्षका साधन कर और उससे भी दीर्घायु बन, औषधियोंका रस पीकर नीरोग, पुष्ट और बलवान् बन । इसी प्रकार मैं भी पापों और रोगोंको दूर करके दीर्घायू बनूं ॥१०॥

पर्जन्यकी वृष्टिसे जैसे वृक्षादि बढकर उन्नत होते है, उसी प्रकार हम उन्नतिको प्राप्त करेंगे और अमरत्व भी प्राप्त करेंगे । मैं भी पापों और रोगोंको दूर करके दीर्घायु बनूंगा ॥११॥

पापनिवृत्तिसे नीरोगता और दीर्घायु ।

इस सूक्तमें कहा है कि पापोंको दूर करनेसे आरोग्य और दीर्घ आयु प्राप्त होती है और यह अनुष्ठान किस रीतिसे करना चाहिये इसके उपाय भी यहां बताये है।

पाप और पुण्य

पाप और पुण्य क्या है, इसका यहां विचार करना आवश्यक है । पाप और पुण्य ये धर्मशास्त्रकी संज्ञाएं है। और धर्मशास्त्र अन्यान्य शास्त्रोंका साररूप शास्त्र है । अन्यान्य शास्त्रोंसे भिन्न धर्मशास्त्र नही है । अन्यान्य शास्त्र एक एक विषयके संबंधमें ज्ञान देते है और धर्मशास्त्र संपूर्ण शास्त्रोंका निचोड लेकर मानवी उन्नतिके सिद्धांत बनाता है, इसलिये धर्मशास्त्रके **विधिनिषेध सर्वसामान्य** होते है और अन्यान्य शास्त्रोंके **विधिनिषेध उक्त शास्त्रके** विषयके साथ संबंध होनेके कारण **विशेष होते है ।**

पाप पुण्यका विषय इसी **प्रकार है । पुण्य शब्दका** अर्थ है 'पवित्र बनना' और पाप **शब्दका अर्थ है 'पतनका** हेतु' । अन्यान्य शास्त्रोंमें जिससे हानि होती **है ऐसा लिखा** है वे सब बातें धर्मशास्त्रमें 'पाप' **शब्दसे बतायी जाती है** और जो बातें उन्नतिकारक **समझी जाती है** उनको पुण्यकारण धर्मशास्त्रमें कहा है । **यह बात अधिक स्पष्ट** करनेके लिये एक दो **उदाहरण लेकर इसी विषयको** विशद करते है -

---

वैद्यशास्त्र ।	धर्मशास्त्र
१ मद्य पीनेसे यकृत् और पेट बिगडता है, खूनकी कमजोरी होती है इस कारण अनेक रोग होते है । इ.	१ मद्य पीना पाप है ।
२ व्यभिचार करनेसे वीर्यनाश होनेके कारण मस्तिष्क कमजोर होता है और अनेक बीमारियां होती हैं । इ.	२ व्यभिचार पाप है ।
आरोग्यशास्त्र	
३ स्नान करके स्वच्छता करना, घरमें तथा बाहर स्वच्छता करनेसे रोग नहीं होते, और आरोग्य बढता है। इ.	३ स्नान करना पुण्यकारण है । स्वच्छता करना पुण्य है ।
४ जल छाननेसे उसमेंसे रोगजंतु या अन्य रोगबीज दूर होते हैं, और इस कारण छाना हुआ जल पीना आरोग्यकारक है ।	४ जल छानकर पीना पुण्यकारक है ।
समाजशास्त्र	
५ सत्य बोलनेसे मनुष्यके व्यवहार उत्तम चलते हैं। इ.	५ सत्य पुण्यकारक है ।
राजशासनशास्त्र	
६ चोरी, खून आदि करनेसे राजशासनके नियमके अनुसार फलाना दण्ड होता है ।	६ चोरी खून आदि करना पाप है ।

इस प्रकार शास्त्रके विषयमें पाठक देखें । अन्यान्य शास्त्रोंमें प्रत्येक कृत्यके बुरे या भले परिणाम कारणके साथ बताये होते है, परन्तु उन सबका समीकरण करके धर्मशास्त्रमें 'पाप और पुण्य' इन दो शब्दोंद्वारा वही भाव कारण न देते हुए और परिणाम न बताते हुए कहा होता है । इससे धर्म शास्त्रके पाप-पुण्य भी किस प्रकार शास्त्रसिद्ध है इसका पता पाठकोंको लग सकता है ।

ये सब पाप ही रोग और अल्पायुताके कारण है और पुण्य कर्म करनेसे ही नीरोगता और दीर्घायु मिलती है । यह बात मुख्यतया इस सूक्तमें ध्वनित की गई है । इस सूक्तमें प्रत्येक मंत्रका उत्तरार्ध यह है -

व्यहं सर्वेण पाप्मना, वि यक्ष्मेण, समायुषा ॥

(सू. ३१, मं. १-११)

'मैं सब पापोंको दूर करता हूं, उससे रोगोंको दूर करता हूं जिससे दीर्घायुसे युक्त होता हूं ।' इस मंत्रका अर्थापत्तिसे भाव यह है कि - 'मैं पुण्य कर्म करनेसे नीरोग होता हुआ दीर्घजीवी बनता हूं ।' अर्थात् दीर्घायू प्राप्त करनेका मूल उपाय पापोंको दूर करके पुण्य करना ही है, इससे स्वयं रोग दूर होंगे, नीरोगता प्राप्त होगी और दीर्घायु भी मिलेगी । इस सूक्तको यही संदेशा पाठकोंको देना है । यह आधा मंत्र ग्यारह वार कहकर यह संदेशा पाठकोंके मनपर स्थिर करनेका यत्न इस सूक्तमें किया है । पाठक भी इसी दृष्टिसे इस मंत्रभागका महत्त्व देखे और इससे प्राप्त होनेवाला उपदेश आत्मसात् करें ।

पापको दूर करना

सबसे पहले सब पाप दूर करनेका उपदेश कहा है -

अहं सर्वेण पाप्मना वि । (सू. ३१, मं. १-११)

सब पापका अर्थ कायिक वाचिक मानसिक, सामाजिक और राष्ट्रीय पाप हैं । ये सब दूर करना चाहिये । अपने मनके पाप विचार दूर हटाने चाहिये, वाचाको शुद्ध और पवित्र बनाना चाहिये, शरीरसे कोई पापकर्म करना नहीं चाहिये, इंद्रियोंको पाप प्रवृत्तिसे रोकना और उनको ऐसी शिक्षा देना चाहिये कि उस पापकी ओर कभी न होवे । इसी प्रकार कुटुंब, जाती, समाज, राष्ट्रके व्यवहारोंमें अनेक पाप होते रहते हैं । उनको भी दूर करना चाहिये । यदि कोई कहे कि जाती और राष्ट्रके पापोंको हम दूर नहीं कर सकते तो उनको उचित है कि वे अपना-निजका-तो सुधार करें । अपनी निष्पापता सिद्ध हुई तो उसका योग्य परिणाम जातीपर भी होगा और न भी हुआ, तो भी उस व्यक्तिको तो पापसे बचनेके कारण उन्नतिका भाग अवश्य ही मिलेगा, जितना पुण्यकर्म होगा उतना फल अवश्य मिलेगा । इसमें कोई संदेह नही है । हरएक शास्त्रके अनुसार जो पतनकी हेतु है उसे दूर करके अभ्युदयके हेतुको पास करना चाहिये । ऐसा करनेसे पाप और रोग दूर होकर दीर्घजीवन प्राप्त होगा । अब पापों और रोगोंको दूर करनेका अनुष्ठान करनेकी रीति देखिये -

देवोंका उदाहरण ।

देवोंका नाम 'निर्जराः' है, इसका अर्थ 'जरा, वृद्धावस्था और बुढापा आदिको दूर रखनेवाले' है । देवोंने इस प्रकारके अनुष्ठान करके बुढापेको दूर किया था, और वे बडी आयु होनेपर भी तरुण जैसे दीखते थे । यह आदर्श मनुष्योंको अपने सन्मुख रखना चाहिये । और जिस अनुष्ठानसे देवोंको यह सिद्धि प्राप्त हुई थी वह अनुष्ठान करके मनुष्योंको भी यह सिद्धि प्राप्त करना चाहिये । यह बतानेके लिये प्रथम मंत्रमें -

देवाः जरसा वि अवृतन् । (सू. ३१, मं. १)

'देवोंने बुढापेको दूर रखा था' यह बात कही है । अब आगे देखिये ।

अग्निका आदर्श ।

अग्नि भी (**अग्ने ! त्वं अराव्या वि ।** मं. १) कंजूसोंको दूर करता है । उदार मनुष्य ही जो अपने धन आदि द्वारा यज्ञ करना चाहते है वे ही अग्निहोत्रादि करनेके लिये तथा अन्यान्य बडे यज्ञ करनेके लिये अग्निके पास इकट्ठे होते है और जो कंजूस होते है, वे अग्निसे दूर हो जाते हैं, क्योंकि वे अपना धन यज्ञमें लगाना नहीं चाहते । इसका अर्थ यही है कि अग्नि कंजूस मनुष्योंको दूर करता है और उदार मनुष्योंको इकठ्ठा करके उनका संघ बनाकर उनका अभ्युदय करके उन्नति कराता है । जिस प्रकार यह अग्नि कंजूसोंको दूर करता है, उसी प्रकार पापों और रोगोंको दूर करना मनुष्यको उचित है । इसका अर्थ यह है कि मनुष्य पापियों और रोगियोंके दूर अलग रखे और पुण्यात्मा और नीरोग मनुष्योंका संघ बनाकर अपना आरोग्य बढावे ।

जो पापी मनुष्य होता है उसके संगतिमें जो जो मनुष्य आवेंगे वे भी पापी बनेंगे, इसलिये पापी को समाजसे बाहर निकाल देना चाहिये, इसी प्रकार जो रोगी मनुष्य होते है उनके संसर्गसे भी अन्य मनुष्य रोगी होनेकी संभावना होती है, इस कारण रोगियोंके लिये विशेष प्रबंध करके उनको अलग करना चाहिये जिससे अनेक रोग अधिक न फैलें । इस प्रकार युक्तिसे पापियों और रोगियोंको अलग रखनेका प्रबंध करनेसे शेष समाज निष्पाप और नीरोग रहना संभव है, और यह प्रबंध जितनी पूर्णतासे किया जाय उतना अधिक लाभ होगा ।

पवित्रताका महत्त्व ।

द्वितीय मंत्रमें पवित्रता और शुद्धताका महत्त्व वर्णन किया है । पवित्रतासे पाप और रोग दूर होते है -

१) पवमानः आर्त्या वि ।

२) शक्रः पापकृत्या वि । (सू. ३१, मं. २)

'(१) पवित्रता करनेवाला रोगादिकोंके कष्टोंसे दूर होता है और (२) मनोबलसे समर्थ मनुष्य पापसे दूर रहता है ।' ये दोनों

अर्थपूर्ण मंत्रभाग है। स्वच्छता, पवित्रता और निर्मलता करनेवाले जो होते है उनके पास प्रायः रोग आते ही नही, अथवा वे अपनी शुद्धतासे रोगोंको दूर रखते है। शुद्धताका अर्थ यह है कि जल आदिसे शरीर निर्मल करना,सत्यसे मनकी पवित्रता करना, विद्या और तपसे अपनी अन्य शुद्धी करना, शुद्ध विचारों और प्रेमपूर्ण आचरणोंसे परिवारकी शुद्धता करना, घरकी पवित्रता लेपनादिसे करना, अग्निमें हवन करके वायुकी शुद्धता करना, छानकर जलको शुद्ध बनाना, मलस्थानोंको शुद्ध करके नगरकी स्वच्छता करना, इसी प्रकार अन्यान्य क्षेत्रोंकी शुध्दता करनेसे रोगबीज हट जाते है। और मनुष्य रोगसे पीडित नहीं होता है।

इसी प्रकार सत्य, परमेश्वरनिष्ठा, तप धर्माचरण आदि द्वारा मनका बल बढानेसे जो सामर्थ्य मनुष्यके अंदर उत्पन्न होता है वह मनुष्यको पापोंसे बचाता है। ऐसा समर्थ मनुष्य पापाचरण नहीं करता और वह पवित्रात्मा बनता हुआ जनताके लिये आदर्श बनता है। यह मनुष्य न केवल स्वयं पापों और रोगोंसे दूर रहता है प्रयुत अन्योंको भी दूर रखता है।

ग्राम, नगर और राष्ट्रोंकी पंचायतों द्वारा ग्राम, नगर और राष्ट्रमें उक्त प्रकार पूर्ण स्वच्छता और पवित्रता बढानेसे भी उक्त क्षेत्रोंकी जनता पापों और रोगोंसे बची रहती है। यह द्वितीय मंत्रका उपदेश प्रत्यक्ष फल देनेवाला होनेके कारण इसका अनुष्ठान सर्वत्र होना आवश्यक है।

स्थानत्यागसे बचाव।

पापी मनुष्योंको और रोगोंका स्थान छोड देना इसको स्थान त्यागसे बचाव करना कहते है। इसका वर्णन तृतीय और चतुर्थ मंत्रों द्वारा हुआ है, देखिये -

१ ग्राम्याः पशवः आरण्यैः वि। (सू. ३१, मं. ३)
२ हमे द्यावापृथिवी वि इतः। (सू. ३१, मं. ४)

'(१) ग्रामके गौ आदि पशु व्याघ्रादि आरण्यक पशुओंसे दूर रहकर बचाव करते है, (२) तथा द्युलोक पृथ्वीसे जैसा दूर रहता है।' ये स्थानत्याग करके बचाव करनेके उदाहरण है। व्याघ्र, सिंह, भेडिया आदि जिस स्थानमें रहते हैं उस स्थानका त्याग करके गौ आदि ग्रामीण पशु अपना बचाव करते है। भूलोकही अशुद्धिसे बचनेके लिये और अपनी प्रकाशमयता स्थिर रखनेके लिये द्युलोक-भूलोकसे बहुत दूरीपर रहा है। इस प्रकार पापी लोगोंसे दूर रहकर पापसे बचना और रोगस्थानसे दूर रहकर रोगोंसे बचना योग्य है।

स्वभावसे बचाव।

जिनकी स्वभावसे ही पापसे बचनेकी प्रवृत्ति होती है और जिनमें स्वभावसे ही रोगप्रतिबंधक शक्ति होती है वे पापों और रोगोंसे बचे रहते है, इस विषयमें सूक्तके कथन देखिये -

१ अपः तृष्णया वि असरन्। (सू. ३१, मं.३)
२ पन्थानः दिशं दिशं वि। (सू. ३१, मं. ४)

'(१) जल अपने स्वभावसे ही प्याससे दूर रहता है और (२) विविध दिशाओंसे जानेवाले मार्ग स्वभावसे एक दुसरेसे दूर रहते है।' जलको स्वभावसे ही प्यास नहीं लगती। इस प्रकार जो लोक स्वभावतः पापमें प्रवृत्त नहीं होते वे पापरहित होते हुए पापके फलभोगसे बचते है। इसी प्रकार जिनके शरीरमें रोगप्रतिबंधक शक्ति पर्याप्त रहती है वे रोगस्थानमें रहते हुए भी रोगोंसे बचे रहते है। यह स्वभावका नियम देखकर हरएकको उचित है कि वह अपना स्वभाव उक्त प्रकार बनावे और पापों और रोगोंसे अपना बचाव करके दीर्घायु, नीरोग और बलवान् तथा सच्छील बने।

दान।

जनताको निष्पाप और नीरोग करनेके लिये धनी मनुष्य अपने धनका कुछ भाग अलग करके दान देवें जिस प्रकार -

त्वष्टा दुहित्रे वहतुं युनक्ति। (सू.३१, मं. ५)

'पिता पुत्रीके दहेजके लिये धन योजनापूर्वक देता है।' यह धन दामादके घरमें रहता हुआ स्त्रीधनके रुपसे इष्ट कार्य करता है, इसी प्रकार धनी मनुष्य धनका कुछ भाग जनताको रोगमुक्त और पापमुक्त करनेके लिये अर्पण करें और इस इकठ्ठे हुए धनसे ऐसी संस्थाएं योजनापूर्वक चलायी जावे कि जो जनताकी पापप्रवृत्तिसे और रोगसे रक्षा करें। इस प्रयत्नसे संपूर्ण राष्ट्र प्रतिदिन अधिकाधिक निष्पाप, नीरोग दीर्घजीवी, संपन्न, स्वस्थ और सुखी बने।

अपनी गतिमें रहना।

लोग एक दूसरेसे स्पर्धा करते है और अपना दुःख बढाते है। यदि वे अपनी गतिसे चलते रहेंगे और दूसरेकी गतिके साथ व्यर्थ स्पर्धा न करेंगे तो भी पापसे और रोगोंसे बच सकते है, इस विषयमें एक उदाहरण है -

इदं विश्वं भुवनं वियाति। (सू. ३१, मं. ५)

' ये सब पृथिवी, सूर्य, चंद्र आदि गोल अपनी अपनी विविध गतिसे चलते है।' सूर्यकी उष्णतासे चंद्र स्पर्धा करके स्वयं उष्ण बनना नहीं चाहता और चंद्रकी स्पर्धा करता हुआ सूर्य स्वयं शीत बननेका इच्छुक नही है। इसी प्रकार ये सब ग्रह अपनी अपनी गतिसे अपना अपना कार्य करते है। विविध भुवनोंकी विविधता उपदेश देती है कि विविधतासे युक्त ये सब भुवन जिस प्रकार संपूर्ण जगत्के अंश बनकर अविरोधसे रहे है। उसी प्रकार मनुष्य भी विविध गुणधर्मोसे युक्त होते हुए संपूर्ण राष्ट्रके अवयव बनकर राष्ट्हित और संपूर्ण जनताका हित करनेकी बुद्धिसे आपसमें अविरोधी भावसे रहें। इस प्रकार रहनेसे पूर्वोक्त प्रकार वे उपायोंका अवलंबन करके अपने आपको पापों और रोगोंसे बचा सकते है। अन्यथा आपसमें लडते हुए रोगोंसे मरनेके पूर्व ही एक दूसरेके सिर तोडकर स्वयं मर जायेंगे। ऐसा नाश न हो, इसलिये वेद कहता है कि अपनी गितेसे चलो और परस्पर सहायक बनकर

अपनी उन्नतिका साधन करो।

पेटकी पाचक शक्ति।

मनुष्यके शरीरमें रोगबीजोंका प्रवेश तब होता है जब उसकी पाचन शक्ति बिगडी होती है। इसकी सूचना देनेके लिये षष्ठ मंत्रमें कहा है -

अग्निः प्राणान् संदधाति। (सू. ३१, मं. ६)

'जाठर अग्नि-अन्नका पाचन करनेवाला उदर स्थानका अग्निही-प्राणोंका सम्यक्तया धारण करता है।' अन्य कोई साधन नहीं है जिससे प्राणोंका धारण अच्छी प्रकार हो जावे। इसलिये जो लोग दीर्घ जीवनके इच्छुक है वे व्यायाम तथा अन्यान्य योग साधनादि द्वारा अपनी पाचन शक्ति अच्छी प्रदीप्त करे। ऐसा करनेसे शरीरमें जो समर्थता आवेगी वही रोगोंको दूर रखेगी और पास आने न देगी।

दूसरी बात यह है कि जाठर अग्निके बिगाडसे यकृत, हृदय और मस्तिष्कका बिगाड होता है। मस्तिष्कके बिगाडसे विचारोमें परिवर्तन होता है अर्थात् मनुष्य पापकर्ममें प्रवृत्त होता है। यदि पाचक शक्ति ठीक रही, तो रोग आदि वैसे प्रबल नहीं होते। इसलिये पापों और रोगोंसे बचनेके लिये तथा दीर्घायुष्यकी प्राप्ति के लिये मनुष्य अपनी पाचन शक्ति उत्तम प्रदीप्त करे। इसी मंत्रमें और कहा है -

चन्द्रः प्राणेन संहितः। (सू. ३१,मं. ६)

'चन्द्र प्राणसे मिला है।' यहां 'चन्द्र' शब्दके तीन अर्थ है, (१) वनस्पतिसे उत्पन्न हुआ अन्न (२) वनस्पतियोंके फलादिकोंका रस (३) और मन। प्राणसे इन तीनोंका घनिष्ट संबंध है। यहां वनस्पतिसे प्राप्त होनेवाला शाकभोजन प्राण स्थिरीकरणके लिये आवश्यक बतानेसे मांसादि सेवन दीर्घ जीवनके लिये अनिष्ट होनेका उपदेश स्वयं ही प्राप्त होता है। पाठक इसका अवश्य विचार करें।

सूर्यका वीर्य।

सूर्यमें बडी भारी जीवन विद्यूत है, उसको अपने अन्दर संगृहित करनेसे नीरोगता और दीर्घ जीवन प्राप्त हो सकता है। इस विषयमें सप्तम मंत्रका कथन यह है -

देवाः विश्वतोवीर्य प्राणेन समैरयन। (सू. ३१, मं. ७)

'देव सब प्रकारके वीर्योसे युक्त सूर्यको प्राणके साथ संबंधित करते है।' इसी अनुष्ठानसे देव **(निर्जराः)** जरारहित और **(अ-मरा)** मरणरहित हुए है। इसलिये जो लोग अपने प्राणके अन्दर सूर्यकी जीवन विद्युतका धारण करेंगे, वे भी उक्त सिद्धि प्राप्त कर सकते है। सूर्यप्रकाशमें खडे होकर या बैठकर दीर्घश्वसन द्वारा सूर्यकी विद्युत् प्राणके अन्दर लेनेसे अपने अन्दर सूर्यका वीर्य आ जाता है, इसी प्रकार नंगे शरीर सूर्यातपस्नान करनेसे भी चमडीके अन्दर सौरविद्युतका प्रवेश हो जाता है। इसी प्रकार विविध योजनाओं द्वारा सौर विद्युतसे लाभ उठाया जा सकता है। पाठक इसका विचार करके लाभ उठावे।

दीर्घायु प्राप्त करनेवाले।

जो **(आयुष्मन्)** दीर्घ आयुवाले मनुष्य है, अर्थात् विना प्रयत्न जो दीर्घ आयुवाले हुए है, तथा जो **(आयुष्कृत्)** प्रयत्नसे दीर्घ आयु प्राप्त करनेवाले है, अर्थात् योगादि अनुष्ठान द्वारा जिन्होंने दीर्घ आयु प्राप्त की है, **(प्राणतां प्राणेन)** प्राणकी प्रबल शक्तिसे युक्त पुरुषोंका प्राण कैसा चलता है इस सबका विचार करके मनुष्य दीर्घ आयु प्राप्त करनेके उपाय जान सकता है। ये ऊपर कहे मनुष्य अपना दैनिक व्यवहार कैसा करते है, किस ढंगके व्यवहारसे इन्होंने दीर्घ आयु कमाई, इसका ज्ञान प्राप्त करके, उनके उदाहरण अपने सन्मुख रखकर, तदनुसार अपना व्यवहार करना चाहिये। **(इह एव भव)** इस प्रकार इस भूलोकमें दीर्घकालतक रहना चाहिये और **(मा मृथाः)** शीघ्र मरना उचित नही। यह उपदेश मं. ८ और ९ में है।

अपने राष्ट्रमें तथा अन्य देशोंमें जहां जहां दीर्घायु, नीरोग, बलवान्, निष्पाप और सच्छील लोग होंगे, उनके जीवन चरित्र देखकर उनके जीवनसे उचित बोध प्राप्त करना चाहिये। और उससे लाभ उठाना चाहिये।

औषधिरस।

दशम मंत्रमें औषधियोंके रसका सेवन करके दीर्घायुष्यकी प्राप्ति करनेका उपदेश है -

ओषधीनां रसेन आयुषा सं उत्। (सू. ३१, मं. १०)

'औषधियोंके रससे हम दीर्घायुष्यसे संयुक्त होंगे।' इसमें दीर्घायुष्यका प्राप्तिका संबंध औषधियोंके रस प्राशन करनेके साथ बताया है। इसी सूक्तमें छठे मंत्रके विधानके साथ इसकी तुलना कीजिये।

अन्तिम मंत्रमें कहा है, कि जिस प्रकार 'वृष्टि होनेसे वृक्षवनस्पति आदिक उगते है और उन्नतिको प्राप्त करते है उसी प्रकार हम पूर्वोक्त साधनसे **(वयं अमृताः उदस्थाम)** हम अमर होकर सब प्रकारकी उन्नति प्राप्त करेंगे। (मं. ११)

यह सत्य है कि जो इस सूक्तमें लिखा अनुष्ठान करेंगे वे इस प्रकारकी सिद्धि प्राप्त करेंगे। इसमें कोई सन्देह ही नहीं है। वेदमें क्रमपूर्वक अनुष्ठान कहा है ऐसे जो अनेक सूक्त है उनमेंसे यह एक है। इसके मननसे वेदकी उपदेश करनेकी शैलीका भी ज्ञान हो सकता है। पाठक इसका मनन करें और अनुष्ठान करके लाभ उठावें।

॥ यहां षष्ठ अनुवाक तथा तृतीय काण्ड समाप्त ॥

अथर्ववेदका सुबोध भाष्य ।

तृतीय काण्डकी विषयसूची ।

ATHARV VED KA SUBODH BHASHYA

(PART - 2)

(KAND - 4 to 6)

अथर्ववेदके सुभाषित

वेदमंत्रोंमें सुभाषित यह उनका मुख्य भाग, मुख्य आत्मा ही है। ये सुभाषित वारंवार मनन करनेके योग्य होते हैं, व्यक्तिशः अथवा संघशः पुनः पुनः अपने योग्य होते हैं। इनके ध्यानमें धरनेसे वेदमंत्रोंको ध्यानमें धारण करनेका फल प्राप्त हो सकता है। वेदमंत्रोंमें जो ध्यानमें धरने योग्य भाग होता है, वेही "वैदिक सूक्तियां" हैं। वेदमंत्रोंका भाव मनमें धारण करना, वाणीसे उसका वारंवार उच्चार करना, मनसे उसका वारंवार मनन करना और कर्ममें उसको अपने आचरणमें धारण करना आवश्यक है। इससे मानवोंके आचरणमें वेद आ सकते हैं। ऐसे वेद आचरणमें आ गये, तो मनुष्यकी उन्नति हो सकती है। यह होनेके लिये वैदिक सूक्तियोंका संग्रह विषयानुसार अर्थके साथ देना चाहिये। यही प्रयत्न यहां किया है। इस अथर्ववेदके द्वितीय विभागके ये सुभाषित अब देखिये—

सर्वसाक्षी प्रभु

बृहन्नेषामधिष्ठातान्तिकादिव पश्यति (४।१६।१)— इन सबका एक बडा अधिष्ठाता है जो समीपसे सबको देखता है।

यस्तायन् मन्यते चरन्— जो ठैका है और सर्वत्र विचरता है, यह सब जानता है।

सर्वं देवा इदं विदुः— ज्ञानी इस सबको जानते हैं।

यस्तिष्ठति, चरति, यश्च वञ्चति, यो निलायं चरति, यः प्रतङ्कं, द्वौ संनिषद्य यन्मन्त्रयेते राजा तद्वेद वरुणस्तृतीयः (४।१६।२) — जो ठहरता है, जो चलता है, जो ठगता है, जो गुप्त व्यवहार करता है, अथवा जो खुला व्यवहार करता है, दो जन साथ बैठकर जो गुप्त मंत्रणा करते हैं, उस सबको तीसरा वरुण राजा– सबका प्रभु– जानता है।

उतेयं भूमिर्वरुणस्य राज्ञः (४।१६।३)— यह भूमि उस वरुण राजाकी है।

उतासौ द्यौर्बृहती दूरेअन्ता— और यह दूर अन्तर पर दीखनेवाला द्युलोक भी उसीका है।

उतो समुद्रौ वरुणस्य कुक्षी— और ये दोनों समुद्र वरुणकी कोखें हैं।

उतास्मिन्नल्प उदके निलीनः— इस थोडेसे जलमें भी यह प्रभु लीन हुआ है।

उत यो द्यामतिसर्पात् परस्तात् न मुच्यातै वरुणस्य राज्ञः (४।१६।४) — जो द्युलोकके परे भी चला जाय तो भी वह इस प्रभुके शासनसे छूट नहीं सकता।

दिवः स्पशः प्रचरन्तीदमस्य सहस्राक्षा अति पश्यन्ति भूमिं— इस दिव्य देवके दूत इस जगत्‌में संचार करते हैं वे सहस्र आंखोंसे इस भूमिको देखते हैं।

सर्वं तद् राजा वरुणो विचष्टे यदन्तरा रोदसी यत्परस्तात् (४।१६।५) — वह राजा वरुण वह सब देखता है जो इस द्यावापृथिवीके अन्दर और परे है।

संख्याता अस्य निमिषो जनानां, अक्षानिव श्वघ्नी नि मिनोति तानि— सब मनुष्योंकी पलकोंकी हलचलोंको भी उसने गिना है जिस तरह जुआरी पासोंको गिनता है।

ये ते पाशा वरुण सप्तसप्त त्रेधा तिष्ठन्ति विषिता रुशन्तः । छिनन्तु सर्वे अनृतं वदन्तं, यः सत्यवाद्यति तं सृजन्तु (४।१६।६) — हे वरुण देव! तेरे जो पाश सात सात तीन प्रकारसे रहे हैं वे तेजस्वी पाश असत्य बोलनेवालेको छिन्न-भिन्न करें। पर जो सत्यवादी है उसको वह छोड दें।

शतेन पाशैरभि धेहि वरुणैनं मा ते मोच्यनृतवाङ् नृचक्षः (४।१६।७)– सैकडों पाशोंसे हे वरुण! तू इस पापीको बांध ले। हे मानवोंको देखनेवाले प्रभो! असत्यभाषी तेरेसे न छूटे।

अग्नेर्मन्वे प्रथमस्य प्रचेतसः पाञ्चजन्यस्य बहुधा यमिन्धते विशोविशः प्रविशिवांसमीमहे स नो मुञ्चत्वंहसः। (४।२३।१) — जिसको बहुत प्रकार प्रकाशित करते हैं, उस पञ्चजनोंमें निवास करनेवाले विशेष ज्ञानी, प्रत्येक प्रजाजनमें निवास करनेवाले (प्रभु) का हम मनन करते हैं, वह हमें पापसे बचावे।

देवेभ्यः सुमतिं न आवह— देवोंसे उत्तम मति हमें प्राप्त हो।

येन ऋषयो बलमद्योतयन्युजा (४।२३।५)— जिसके साथ रहनेसे ऋषि बलको प्राप्त करते रहे।

येनासुराणामयुवन्त मायाः— जिसकी सहायतासे असुरोंकी कपट युक्तियां दूर होती हैं।

येनाग्निना पणीनिन्द्रो जिगाय— जिस तेजस्वीकी सहायतासे इन्द्रने पणियोंको जीता। पणिः– व्यापार व्यवहार कपटसे करनेवाले।

येन देवा अमृतमन्वविन्दन् (४।२३।६)— जिसकी सहायतासे देवोंने अमृतत्वको प्राप्त किया था।

येन देवाः स्वराभरन्— जिसकी सहायतासे देवोंने आत्मिक बल प्राप्त किया।

य उग्रबाहुः उग्राणां ययुः, यो दानवानां बलमारुरोज (४।२४।१)— जो वीरोंमें अधिक वीर्यबाहु है और जो दानवोंके बलको तोडता है।

यः प्रथमः कर्मकृत्याय जातः (४।२४।६)—जो प्रथम कर्म करनेके लिये ही उत्पन्न हुआ है।

यः संग्रामान्नयति सं युधे वशी (४।२४।७)— जो वशमें रखनेवाला योद्धाओंको युद्धमें ले जाता है।

तव व्रते निविशन्ते जनासः (४।२५।३)— तेरे व्रतमें सब लोग रहते हैं।

द्यावापृथिवी भवतं मे स्योने (४।२६।७)— द्यु और पृथिवी मुझे सुख देनेवाली हों।

सर्वसाक्षी प्रभुका वर्णन ये सुभाषित कर रहे हैं। ऐसे सुभाषित और भी हैं, पर यहां नमूनेके लिये इतने ही दिये हैं। इनको तोडकर छोटे-छोटे सुभाषित भी बना सकते हैं।

बृहन्नेषां अधिष्ठाता— इन सबका महान् एक अधिष्ठाता है।

अन्तिकादिव पश्यति— वह सबको अति समीपसे देखता है।

राजा तद्वेद वरुणः— वरुण राजा वह सब जानता है।

भूमिर्वरुणस्य राज्ञः— यह भूमि वरुण राजाकी है।

न मुच्यातै वरुणस्य राज्ञः— राजा वरुणके पाशसे कोई छूटता नहीं।

दिवः स्पशः प्रचरन्तीदमस्य— इस दिव्य देवके दूत सर्वत्र संचरते हैं।

सर्वं तद्राजा वरुणो विचष्टे— वह राजा वरुण सब देखता है।

ते पाशा ··· छिनन्तु सर्वे अनृतं वदन्तं— तेरे पाश असत्य भाषीको छिन्न भिन्न करें।

मा ते मोच्यनृतवाङ्— असत्य भाषी तेरेसे न छूटे।

विशोविशः प्रविशिवांसमीमहे— प्रत्येक प्रजाजनमें निवास करनेवालेका मनन हम करते हैं।

यो दानवानां बलमारुरोज— जो प्रभु असुरोंका बल तोडता है।

यः प्रथमः— जो सबसे प्रथम हुआ था।

इस तरह बडे सूक्तवचनोंमें छोटे सूक्तवचन रहते हैं। ये सूक्तियां वारंवार मनन करने तथा मनमें रखने योग्य हैं। इनका जो बोध है वह जहांतक हो सके वहांतक मानवोंको आचरणमें लाना आवश्यक है। और देखिये—

ब्रह्म

ब्रह्म जज्ञानं प्रथमं पुरस्तात् (४।१।१)— सबसे प्रथम ब्रह्म प्रकट हुआ।

वि सीमतः सुरुचो वेन आवः (४।१।१)– इस (ब्रह्म) की सीमासे उत्तम प्रकाश फैला है ऐसा ज्ञानीने देखा।

स बुध्न्या उपमा अस्य विष्ठाः- (४।१।१) उस (ज्ञानी) ने इस ब्रह्मके आधारस्थानमें उपमा देने योग्य (सूर्यादिकोंको) देखा (और ये सूर्यादिक गोल हैं) ऐसा जाना।

सतश्च योनिं असतश्च वि वः (४।१।१)— उसने सत् और असत्के उत्पत्तिस्थानको विवृत किया।

इयं पित्र्या राष्ट्री एत्वग्रे प्रथमाय जनुषे भुवनेष्ठाः (४।१।२)— यह भुवनमें रहनेवाली तेजस्वी पितृशक्ति प्रथम जन्मके लिये आगे बढती है।

तस्मा एतं सुरुचं ह्वारमह्यं घर्मं श्रीणन्तु प्रथमाय धास्यवे— उस पहिले सर्वाधारके लिये इस तेजस्वी, दुष्टोंको दबानेवाले, हीनत्वसे रहित यज्ञको करें। उसकी प्रीतिके लिये प्रकाशमय कर्म करें।

प्र यो जज्ञे विद्वान् अस्य बन्धुः विश्वा देवानां जनिमा विवक्ति (४।१।३)— जो विद्वान् इसका भाई होता है वह सब देवोंके जन्मोंका वर्णन करता है।

ब्रह्म ब्रह्मण उज्जभार मध्यात्— ब्रह्मके मध्यसे ज्ञान प्रकट हुआ।

नीचैः उच्चैः स्वधा अभि प्र तस्थौ— नीचेसे, उच्च भागसे अपनी धारणशक्तियां फैल रही हैं।

स हि दिवः स पृथिव्याः ऋतस्थाः (४।१।४)— वह (प्रभु) द्युलोक और वही पृथिवीके ऊपर सत्य नियमोंका प्रवर्तक है।

मही क्षेम रोदसी अस्कभायत्— उसीने आकाश और पृथिवीरूपी घर स्थिर किया।

महान् मही अस्कभायत् वि जातो द्यां सद्म पार्थिवं च रजः— उस महान् (प्रभुने) द्युलोक और पृथिवीको-अन्तरिक्षको-घरके समान सुस्थिर किया।

बृहस्पतिर्देवता तस्य सम्राट् (४।१।५)— ज्ञानका स्वामी प्रभु इन सबका सम्राट् है।

द्युमन्तो वि वसन्तु विप्राः— तेजस्वी ज्ञानी उत्तम रीतिसे यहां रहते हैं।

नूनं तदस्य काव्यो हिनोति महो देवस्य पूर्व्यस्य धाम (४।१।६)— इस प्राचीन महान् प्रभुके धामका वर्णन ज्ञानी ही करता है।

एष जज्ञे बहुभिः साकमित्था पूर्वे अर्धे विषिते ससन् नु— यह बहुतोंके साथ उत्पन्न हुआ, (पर यह विशेष ज्ञानी हुआ) और बाकीके लोग आधे आकाशमें सूर्य आनेपर भी सोते रहे। (इस कारण वे उन्नत नहीं हुए।)

यो अथर्वाणं पितरं देवबन्धुं बृहस्पतिं नमसाव गच्छात्— (४।१।७) जो स्थिर पिता देवोंके बन्धु ज्ञानी प्रभुको नमस्कार करके उसको ठीक तरह जानता है।

त्वं विश्वेषां जनिता असः— 'हे प्रभो! तू सबका जनक हो' (ऐसा जानता है।)

कविर्देवो न दभायत् स्वधावान्— (उस ज्ञानीको) अपनी धारण शक्तिवाला देव कभी दबाता नहीं।

य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः (४।२।१)- जो आत्मिक सामर्थ्य और बल देता है, और सब देव जिसकी आज्ञाका पालन करते हैं (ऐसा एक देव है।)

योऽस्येशे द्विपदो यश्चतुष्पदः— जो द्विपाद और चतुष्पादोंका एक स्वामी है।

यः प्राणतो निमिषतो महित्वा एको राजा जगतो बभूव— (४।२।२)- जो प्राण धारण करनेवाले और आंखें मूंदनेवाले जगत्का एकमात्र राजा है।

यस्य छायाऽमृतं यस्य मृत्युः— जिसके आश्रयमें रहना अमरत्व प्राप्त करना है, और (जिसका आश्रय छोडना) मृत्यु प्राप्त करना है (वह जगत्का एक राजा है।)

यं क्रन्दसी अवतश्चस्कभाने (४।२।३)— लडने भिडनेवाली दो सेनाएं जिसकी शरण जाकर संरक्षण प्राप्त करती हैं।

भियसाने रोदसी अह्वयेथाम्— डरनेवाले आकाश और पृथिवी सहायार्थ जिसको पुकारते हैं।

यस्यासौ पन्था रजसो विमानः— जिसकी मालिका यह रजोलोकका मार्ग विशेष माननीय है।

यस्य द्यौरुर्वी पृथिवी च मही यस्याद उर्वन्तरिक्षम्। यस्यासौ सूरो विततो महित्वा (४।२।४)— जिसकी महिमासे यह द्युलोक बडा है, यह विस्तृत

अन्तरिक्ष है और यह पृथिवी विशाल है । जिसने यह बडा सूर्य प्रकाशसे फैलाया है ।

यस्य विश्वे हिमवन्तो महित्वा— (४।२।५)– जिसकी महिमासे यह हिमवान् पर्वत बने हैं ।

समुद्रे यस्य रसामिदाहुः— समुद्रमें यह पृथिवी रही है (यह जिसके सामर्थ्यसे हुआ है ।)

इमाश्च प्रदिशो यस्य बाहु— यह दिशा उपदिशाएं जिसके बाहु हैं ।

यस्तु देवेष्वधि देव आसीत् (४।२।६)— जिन सब दैवी शक्तियोंपर एक अधिष्ठाता यह देव है ।

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे (४।२।७)— प्रारंभमें सुवर्णके समान चमकनेवाले पदार्थोंको अपने पेटमें धारण करनेवाला (एक देव था ।)

भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्— वह भूतमात्रका एकमात्र स्वामी था ।

स दाधार पृथिवीमुत द्याम्— (४।२।७)– उसी एक देवने पृथिवी और द्युलोकको धारण किया है ।

एक देव सब विश्वका कर्ता, भर्ता, उत्पन्न कर्ता, पालन कर्ता धारण-पोषण कर्ता है, उसीको शरण जाना योग्य है । वही प्रभु सबका पालन करता है और शासन करता है । इसलिये वही एक प्रभु सर्वाधार है । उसीकी भक्ति सबको करनी चाहिये ।

श्रेष्ठ देव

तदिदास भुवनेषु ज्येष्ठं यतो जज्ञ उग्रस्त्वेषनृम्णः (५।२।१)— वह निश्चयसे भुवनोंमें श्रेष्ठ ब्रह्म था, जहांसे उग्र तेजोबल प्रकट हुआ ।

सद्यो जज्ञानो नि रिणाति शत्रून्— वह तत्काल प्रकट होते ही शत्रुओंको दूर करता है ।

यातुधानः शवसा भूर्योजाः शत्रुः दासाय भियसं दधाति (५।२।२)— बलसे बढनेवाला बहुत सामर्थ्यवान् शत्रु दासको ही भय दिखाता है । (वह श्रेष्ठको भय नहीं दिखा सकता ।)

यदि चिन्नु त्वा धना जयन्तं रणेरणे अनुमदन्ति विप्राः (५।२।४)— प्रत्येक युद्धमें धनोंको जीतनेवाले तुझको ज्ञानी अनुमोदन करते हैं ।

ओजीयः शुष्मिन् स्थिरमातनुष्व— हे बलवान् वीर! स्थिर बल फैलाओ ।

मा त्वा दभन् दुरेवासः कशोकाः— दुराचारी शोक करनेवाले शत्रु तुझे न दबावें ।

त्वया वयं शाशद्महे रणेषु प्रपश्यन्तो युधेन्यानि भूरि (५।२।५)— युद्धमें प्राप्त होनेवाले बहुत धनोंको देखते हुए तेरे साथ हम रणोंमें रहकर शत्रुका नाश करेंगे ।

चोदयामि त आयुधा वचोभिः— तेरे आयुधोंको वचनोंसे मैं प्रेरित करता हूं ।

सं ते शिशामि ब्रह्मणा वयांसि— तेरी गतियोंको मैं ज्ञानसे प्रेरित करता हूं ।

महो गोत्रस्य क्षयति स्वराजा (५।२।८)— बडे गोरक्षक राष्ट्रका स्वाधीन राजा होकर वह रहता है ।

तुरश्चिद् विश्वमर्णवत् तपस्वान्— वेगवान् तपस्वी देव विश्वमें भ्रमण करता है । (विश्वको देखता है ।)

श्रेष्ठ देवका यह वर्णन है । विश्वमें श्रेष्ठ देव एक ही है उसको ब्रह्म, आत्मा, देव, राजा आदि नामोंसे पुकारते हैं । इसका सामर्थ्य जानना चाहिये । इसका मनन करना चाहिये और इसके गुण सदा मनमें रखने चाहिये । वही सबका राजा है ।

राजा

भूतो भूतेषु पय आ दधाति स भूतानामधिपतिर्बभूव (४।८।१) — जो प्रजाजनोंको दुग्धादि (खाद्यपेय) देता है वह सब प्रजाजनोंका अधिपति होता है ।

स राजा राज्यमनु मन्यतामिदम्— वह राजा राज्यकी अनुमतिसे चले ।

अभिप्रेहि, माप वेन उग्रश्चेत्ता सपत्नहा (४।८।२)— आगे बढ, पीछे न हट, प्रतापी, चेतना देनेवाला और शत्रुनाशक बन ।

आतिष्ठ मित्रवर्धन— हे मित्रोंको बढानेवाले राजन् ! तू अपने स्थानपर स्थिर रह ।

आतिष्ठन्तं परि विश्वे अभूषन्– (४।८।३) — राजगद्दीपर बैठनेवाले राजाको सब लोग अलंकृत करें ।

श्रियं वसानश्चरति स्वरोचिः— लक्ष्मीको वह (राजा) धारण करता है और स्वकीय तेजसे युक्त होकर (अपने राज्यमें) घूमता है ।

महत्तद् वृष्णः असुरस्य नाम— उस बलवान् प्राणरक्षकका ही यह यश है।

विश्वरूपो अमृतानि तस्थौ— अनेक रूपोंको धारण करके यह अनेक अमरभावोंमें रहता है।

व्याघ्रो अधि वैयाघ्रे विक्रमस्व दिशो महीः— (४।८।४) – व्याघ्रके समान क्रूर स्वभाववाले दुष्टोंपर व्याघ्र बनकर विशाल दिशाओंमें विशेष पराक्रम कर।

विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु— सब प्रजाएं तुझे चाहें।

यथा सो मित्रवर्धनस्तथा त्वा सविता करत् (४।८।६) — जिससे तू मित्रोंको बढानेवाला हो सकेगा वैसा तुझे सूर्य करे।

आ त्वा हार्षमन्तरभूः ध्रुवस्तिष्ठाविचाचलिः (६।८७।१) — तुझे मैंने यहां राजगद्दीपर लाया है, तू यहां स्थिर रह, चंचल मत बन।

विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु— सब प्रजा तेरी ही इच्छा करे।

मा त्वद् राष्ट्रमधि भ्रशत्— तुझसे राष्ट्र भ्रष्ट न हो।

इहैवैधि, माप च्योष्ठाः- (६।८७।२) — यहां आ, कभी मत गिर जा।

पर्वत इवाविचाचलिः— पर्वतके समान स्थिर रह।

इह राष्ट्रमु धारय— यहां राष्ट्रका धारण कर।

ध्रुवो राजा विशामयं— प्रजाओंका यह राजा स्थिर है।

राष्ट्रं धारयताद् ध्रुवम्— राष्ट्रको स्थिर रूपसे धारण करो।

ध्रुवो अच्युतः प्रमृणीहि शत्रून्— स्थिर और न गिरनेवाला होकर शत्रुओंका नाश कर।

शत्रूयतोऽधरान् पादयस्व (६।८८।३) — शत्रुता करनेवालोंको नीचे गिरा दे।

ध्रुवाय ते समितिः कल्पयतामिह— तेरी स्थिरताके लिये यहां यह समिति समर्थ हो।

प्रभु विश्वका राजा है। और पृथ्वीपरके छोटे राज्यका शासक है। इन दोनोंमें समान गुण चाहिये।

विश्वशकटका चालक

अनड्वान् दाधार पृथिवीमुत द्याम्, अनड्वान् दाधारोर्वन्तरिक्षम् (४।११।१) — पृथिवी, घु और यह विशाल अन्तरिक्षको आधार देनेवाला एक बैल (सामर्थ्यवान् प्रभु) है। (अनड्वान्- विश्वशकट चलानेवाला, विश्वका संचालक।)

अनड्वान् विश्वं भुवनमा विवेश— यह विश्वसंचालक सब भुवनमें प्रविष्ट हुआ है।

भूतं भविष्यद्भुवना दुहानः सर्वा देवानां चरति व्रतानि (४।११।२) — भूत, भविष्य और वर्तमान कालके पदार्थोंको दुहता है और सब देवोंके व्रतोंको चलाता है।

यः विश्वजित् विश्वभृत् विश्वकर्मा (४।११।५) — जो विश्वको जीतनेवाला, विश्वका भरणपोषण करनेवाला और सबका कर्ता है।

इन्द्रो रूपेणाग्निः वहेन प्रजापतिः परमेष्ठी विराट् (४।११।७) — विश्वका स्वामी अग्नि है, वही प्रजापालक, परमस्थानमें रहनेवाला विराट् है।

अग्निः- अग्रणी।

सोऽदृंहयत सोऽधारयत— उसने सबको बलवान् बनाया और धारण किया है।

संपूर्ण विश्व एक गाडी है, रथ है, इसका संचालन करनेवाला बैल या घोडा है। यही प्रभु है। विश्वका संचालन इससे अधिक उत्तम रीतिसे करनेवाला दूसरा कोई नहीं है। यहां बैलकी उपमा ईश्वरको दी है वह इसका संचालक विश्वभर है यह बतानेके लिये यह उत्तम उपमा है।

जनक देव

सो अपश्यज्जनितारमग्रे (४।१४।१) प्रारंभमें उसने सबके उत्पन्नकर्ता देवको देखा।

स्वर्ज्योतिरगामहम् (४।१४।६) – मैं आत्मिक ज्योतिको प्राप्त हुआ हूं।

अग्ने प्रेहि प्रथमो देवतानां चक्षुर्देवानामुत मानुषाणाम्। (४।१४।५) — हे अग्ने! तू देवोंमें प्रथम है, तू देवोंका और मानवोंका आंख है।

सबका उत्पन्नकर्ता यह एक प्रभु है। सब देवोंमें यह प्रथम है। यह एक ही एक है, यह अद्वितीय है। इस विश्वका जनिता एक ही है क्योंकि सर्वत्र एक जैसा नियम है, सर्वत्र संचालनकी व्यवस्था एक ही है। उत्पत्ति स्थिति लयमें एक ही नियम सर्वत्र है। यह एक नियम जिन ऋषियोंने देखा

वे इसका वर्णन करने लगे कि वह एक अद्वितीय है। सर्वत्र यह एक नियम देखा जा रहा है। इस नियमको देखना और इस नियमके संचालकका सामर्थ्य जानना आवश्यक है।

क्षत्रिय-राजा

इममिन्द्र वर्धय क्षत्रियं मे (४।२२।१)— हे इन्द्र! मेरे इस क्षत्रियको बढाओ।

इमं विशामेकवृषं कृणु त्वं— प्रजाओंमें इसको अद्वितीय बलवान् कर।

निरमित्रान् अक्ष्णुह्यस्य सर्वान्— इस वीरके सब शत्रुओंको शक्तिहीन कर।

तान् रन्धयास्मा अहमुत्तरेषु- स्पर्धाओंमें इसके सब शत्रुओंका नाश कर।

वर्ष्म क्षत्राणां अयमस्तु राजा (४।२२।२)— यह राजा क्षात्र गुणोंकी मूर्ति बने।

शत्रुं रन्धय सर्वमस्मै— इसके सब शत्रुओंका नाश कर।

अयमस्तु धनपतिर्धनानां— (४।२२।३) यह सब धनोंका स्वामी हो।

अयं विशां विश्पतिरस्तु राजा— यह प्रजाओंका पालक राजा हो।

अस्मिन्निन्द्र महि वर्चांसि धेहि— हे इन्द्र! इस राजामें बडे तेजोंको स्थापन कर।

अवर्चसं कृणुहि शत्रुमस्य— इसके शत्रुको निस्तेज कर।

अयं राजा प्रिय इन्द्रस्य भूयात् (४।२२।४)— यह राजा प्रभुको प्रिय हो।

येन जयन्ति न पराजयन्ते— (४।२२।५)— जिससे जय होता है और कभी पराजय नहीं होता (वह ज्ञान मैं तुम्हें देता हूं।)

यस्त्वा करदेकवृषं जनानां उत राज्ञामुत्तमं मानवानां— जो तुम्हें जनोंमें अद्वितीय बलवान्, राजाओंमें उत्तम तथा मानवोंमें श्रेष्ठ बनाता है।

उत्तरस्त्वं अधरे ते सपत्नाः ये के च राजन् प्रतिशत्रवस्ते (४।२२।६)— तू ऊंचा हो, तेरे शत्रु नीचे हों, हे राजन्! तेरे शत्रु अधःपातको जांय।

सिंहप्रतीको विशो अद्धि सर्वाः- (४।२२।७) सिंहके समान सब प्रजाओंसे भोग ग्रहण कर।

व्याघ्रप्रतीको अव बाधस्व शत्रून्— व्याघ्रके समान शत्रुको बाधा पहुंचाओ।

जिगीवां शत्रूयतामाखिदा भोजनानि— विजयी होकर शत्रुता करनेवालोंके भोग खींच ले जाओ।

इस तरह क्षत्रिय राजा क्या करे, कैसा उन्नत हो, किस रीतिसे विजयको प्राप्त हो इस विषयमें वेदमंत्रोंमें सुभाषितों द्वारा उपदेश मिलता है। मनुष्य अपनेमें वीरता बढावे, शत्रुको दूर करे, यश कमावे और वंदनीय बने। सब लोग इसकी प्रशंसा करें ऐसा यह वीर अपना बर्ताव रखे।

शत्रु

हिरुङ् नमन्तु शत्रवः (४।३।१)— हमारे शत्रु नीचे रहकर नम्र हों।

परेणैतु पथा वृकः (४।३।२)— हमसे दूरके मार्गसे भेडिया चला जावे (वह हमारे पास न आवे)।

परेणोत तस्करः— चोर हमसे दूर रहे।

परेण दत्वती रज्जुः— दांतवाली सांपीन हमसे दूर हो।

परेणाघायुरर्षतु— पापी हमसे दूर रहे।

व्याघ्रं दत्वतां वयं प्रथमं जम्भयामसि (४।३।४)— दांतवालोंमें हम पहिले व्याघ्रको नष्ट करते हैं।

आदु ष्टेनमथो अहिं यातुधानमथो वृकम्— चोर, सांप, भेडिये और यातना देनेवालेको हम नष्ट करते हैं।

यो अद्य स्तेन आयति स संपिष्टो अपायति— (४।३।५) आज जो चोर हमारे पास आता है, वह चूर्ण होकर दूर जाता है (इतनी स्वसंरक्षणकी) हमारी तैयारी है।

पथामपध्वंसनेनैतु— (वह चोर आदि) विनाशके मार्गसे चला जाय।

इन्द्रो वज्रेण हन्तु तम्— इन्द्र वज्रसे शत्रुको मारे।

योऽस्मान् ब्रह्मणस्पतेऽदेवो अभिमन्यते, सर्वं तं रंधयासि (६।६।१)— हे ज्ञानी देव! जो दुष्ट हमें अभिमानसे नीचे देखता है उस सबका हम नाश करते हैं।

यो नः सोमाभिदासति सनाभिर्यश्च निष्ट्यः। अप तस्य बलं तिर (६।६।२)— जो सजातीय अथवा नीच हमें दास बनानेकी इच्छा करता है उसके बलको नीचे कर।

यो नः सोम सुशंसिनो दुःशंस आदिदेशति, वज्रे-णास्य मुखे जहि (१।६।२)— हम उत्तम बोलनेपर भी जो दुष्ट हमें पराधीन करना चाहता है, उसके मुखपर वज्रका आघात कर।

पराशर ! त्वं तेषां पराञ्चं शुष्ममर्दय (१।६५।१)— हे दूरसे बाण मारनेवाले वीर ! तू उन शत्रुओंके बलको दूर करके नाश कर।

अधा नो रयिमा भर— और हमें धन भर दो।

निर्हस्ताः शत्रवः स्थन (१।६६।२)— शत्रु हस्तरहित हों।

अङ्गेषां ग्लापयामसि (१।६६।३)— हम इनके अंगोंको निर्बल बनाते हैं।

अथैषामिन्द्र वेदांसि शतशो विभजामहै— हे इन्द्र ! अब हम इनके धनोंको आपसमें बांट देंगे।

मुह्यन्त्वद्यामूः सेना अमित्राणां परस्तराम् (१।६७।१) —शत्रुकी सेना दूरतक बहरा जाय।

मूढा अमित्राश्चरताशीर्षाण इवाहयः (१।६७।२)- सिर टूटे सांपके समान शत्रु मूढ होकर विचरें।

तेषां वो अग्निमूढानां इन्द्रो हन्तु वरं वरं— उन मूढ बने वीरोंके बीच श्रेष्ठ वीरको इन्द्र मारे।

इस तरह युक्तिसे शत्रुका पराभव किया जाय और अपने जयका संपादन किया जाय।

आत्मबल

सूर्यो मे चक्षुः, वातः प्राणो, अन्तरिक्षमात्मा, पृथिवी शरीरं, अस्तृतो नामाहमयमस्मि (५।९।७)— सूर्य मेरा चक्षु है, वायु प्राण है, अन्तरिक्ष आत्मा है, पृथिवी शरीर है, अमर नामवाला मैं हूं।

सत्यमहं गभीरः काव्येन, सत्यं जातेनास्मि जातवेदाः (५।११।३)— मैं काव्य बनानेके कारण गंभीर हूं यह सत्य है, यह काव्य होनेसे मुझे जातवेदा कहते हैं।

न मे दासो नार्यो महित्वा व्रतं मीमाय यदहं धरिष्ये— जो व्रत मैं धारण करता हूं उसको महत्वके कारण न दास तोड सकता, न आर्य तोड सकता है।

न त्वदन्यः कवितरो, न मेधया धीरतरो वरुण स्वधावान् (५।११।४)— हे वरुण ! तेरेसे भिन्न कोई दूसरा अधिक ज्ञानी नहीं है, न मेधासे अधिक धीर और अपनी धारणशक्तिसे युक्त है।

त्वं ता विश्वा भुवनानि वेत्थ- तू उन सब भुवनोंको जानता है।

स चिन्नु त्वज्जनो मायी बिभाय- कपटी मनुष्य तुझसे डरता है।

त्वं ··· विश्वा वेत्थ जनिमा सुप्रणीते— तू सब जन्मोंको जानता है।

अधोवचसः पणयो भवन्तु (५।११।६)— दुष्ट व्यवहार करनेवाले बनिये नीच मुख करनेवाले हों।

नीचैर्दासा उप सर्पन्तु भूमिं— दास लोग नीचेसे भूमिपर चलें।

आत्माका बल इन सूक्तियोंके मननसे बढ सकता है। पाठक इस कारण इनका मनन करें।

आत्मोन्नति

सप्त मर्यादाः कवयस्ततक्षुः, तासामिदेकामभ्यंहुरो गात् (५।१।६)— ज्ञानियोंने सात मर्यादाएं निश्चित की हैं। उनमेंसे एकका भी उल्लंघन किया जाय तो मनुष्य पापी होगा।

उतामृतासुर्व्रत एमि कृण्वन् (५।१।७)— व्रतका धारण करके मैं अमर प्राणके बलसे युक्त होऊंगा।

उत पुत्रः पितरं क्षत्रमीडे (५।१।८)— पुत्र अपने रक्षक पिताकी स्तुति करता है।

ज्येष्ठं मर्यादं अह्वयन्स्वस्तये— मर्यादाकी स्थापना करनेवाले श्रेष्ठका कल्याण होनेके लिये प्रार्थना करता है।

सात मर्यादाओंका पालन करना आत्मोन्नतिके लिये अत्यंत आवश्यक है। यह जितना पालन किया जाय उतना लाभ होगा। हिंसा न करना, चोरी न करना, कुटिलतासे दूर रहना, व्यभिचार न करना, असत्य न बोलना, वारंवार पाप न करना आदि मर्यादाएं हैं जो मनुष्यको अपनी उन्नतिके साधन करनेके लिये पालन करना अत्यंत आवश्यक है। 'अमृतासुः' मैं बनूंगा। प्राण मेरे शरीरमें दीर्घकालतक रहे। इस सब अनुष्ठानका यही उद्देश्य है।

आत्मशुद्धि

पुनन्तु मा देवजनाः पुनन्तु मनवो धिया। पुनन्तु विश्वा भूतानि पवमानः पुनातु मा (६।१९।१) — देवजन मुझे पवित्र करें, मननशील ज्ञानी मुझे बुद्धिसे पवित्र करें, सब भूत मुझे पवित्र करें, वायु मुझे पवित्र करे।

पवमानः पुनातु मा क्रत्वे दक्षाय जीवसे, अथो अरिष्टतातये। (६।१९।२)— पवित्र करनेवाला देव पुरुषार्थ, दक्षता, दीर्घायुष्य तथा कल्याण होनेके लिये मुझे पवित्र करे।

तात्पर्य यह है कि अपनी पवित्रताका साधन हरएकको करना चाहिये, स्वयं ही यह अनुष्ठान करना चाहिये। आत्मशुद्धिमें शरीर, इंद्रियां, मन, बुद्धि, अन्तःकरणकी शुद्धि है। यह स्वयं जिसकी उसीने करनी चाहिये। अतः आत्मशुद्धि करनेके लिये हरएकको दक्षतासे सिद्ध रहना चाहिये।

उत्कर्ष

उदुषा उदु सूर्य उदिदं मामकं वचः। उदेजतु प्रजापतिर्वृषा शुष्मेण वाजिना (७।७।२)— उषा, सूर्य ये जैसे उदयको प्राप्त होते हैं, वैसा प्रजाका पालक राजा और मेरी भाषणः उत्कर्षको प्राप्त हों।

उषा, सूर्य ये जैसे उदयको प्राप्त होते हैं। ये स्वयं अपना उदय करते हैं, ये स्वयं प्रयत्नशील हैं। उस तरह हरएक अपने उत्कर्षके लिये प्रयत्न करे। सूर्यका आदर्श लोग अपने सामने सदा रखें।

प्रजाका पालक राजा अपना उत्कर्ष करनेकी पराकाष्ठा करे और वह सब प्रजाका उत्कर्ष करनेके साधन सबको सहज प्राप्त हों ऐसा करे। इससे सब प्रजाका उत्कर्ष हो सकेगा।

ज्ञानी लोग स्वयं (मामकं वचः) अपना भाषण ऐसा करें कि सुननेवालोंके सामने उत्कर्षका मार्ग खुला हो। इस तरह सबकी उन्नति हो सकती है।

उत्तम बनना

सबन्धुश्चासबन्धुश्च यो अस्माँ अभिदासति। तेषां सा वृक्षाणामिव अहं भूयासमुत्तमः ॥ (६।१५।२)— अपना भाई हो या दूसरा हो, जो हमें दास बनाता है, वृक्षोंमें जैसी वह उत्तम है वैसा मैं उनमें उत्तम होऊंगा।

किसीने दास नहीं बनना है। सबने आर्य अर्थात् श्रेष्ठ बनना है। इसलिये यदि कोई किसीको दास बनानेका यत्न करता है तो वह सफल न हो, ऐसा करना हरएकका कर्तव्य है।

तथा हरएकने मनमें ऐसा विचार रखना चाहिये कि 'अहं भूयासं उत्तमः' मैं उत्तम बनूंगा। मैं सबमें उत्तम बनूंगा। यह विचार प्रयत्न करके मनुष्यको अपने मनमें धारण करना चाहिये और वैसा आचरण करना चाहिये। और यत्न करके सबमें श्रेष्ठ बनना चाहिये।

उत्साहसे वीरत्वकी वृद्धि

अग्निरिव मन्यो त्विषितः सहस्व सेनानीर्नः सहुरे हूत एधि (४।३१।२)— अग्निके समान हे उत्साह! तू तेजस्वी होकर शत्रुको पराभूत कर। हे समर्थ! तू प्रार्थना करनेपर हमारा सेनापति हो।

हत्वाय शत्रून् वि भजस्व वेदः— शत्रुको मारकर धनको बांट।

ओजो मिमानो वि मृधो नुदस्व— अपनी शक्ति बढाकर शत्रुको हटा दो।

सहस्व मन्यो अभिमातिमस्मै (४।३१।३)— हे उत्साह! हमारे शत्रुको पराभूत कर।

रुजन् मृणन् प्रमृणन् प्रेहि शत्रून्— शत्रुओंको तोडता, मारता, कुचलता हुआ शत्रुओंपर चढाई कर।

उग्रं ते पाजो नन्वा रुरुध्रे— तेरा उग्र तेज निःसन्देह शत्रुको रोकेगा।

वशी वशं नयासा एकज त्वं— तू संयमी अद्वितीय वीर होकर शत्रुको वशमें करेगा।

एको बहूनामसि मन्य ईडिता (४।३१।४)— हे उत्साह! तू अकेला बहुतोंमें सत्कार पाता है।

विशंविशं युद्धाय सं शिशाधि— तू प्रत्येक मनुष्यको युद्धके लिये शिक्षित कर।

अकृत्तरुक् त्वया युजा वयं द्युमन्तं घोषं विजयाय कृण्मसि— अटूट प्रकाशवाले! तेरे साथ हम हर्षयुक्त घोष विजयके लिये करेंगे।

विजेषकृदिन्द्र इवानवब्रवोऽस्माकं मन्यो अधिपा भवेह (१०।८४।५)— हे उत्साह ! तू विजय करनेवाला, इन्द्रके समान उत्तम बोलनेवाला होकर यहां हमारा स्वामी हो।

प्रियं ते नाम सहुरे गृणीमसि— हे समर्थ ! तेरा प्रिय नाम हम लेते हैं।

संसृष्टं धनमुभयं समाकृतमस्मभ्यं धत्तां (१०।८४।७)— एकत्रित किया दोनों प्रकारका धन हमारे लिये दे दो।

भियो दधाना हृदयेषु शत्रवः पराजितासो अप नि लयन्ताम्— हृदयोंमें भयको धारण करनेवाले शत्रु पराभूत होकर दूर भाग जावें।

यस्ते मन्योऽविधद् वज्र सायक सह ओजः पुष्यति विश्वमानुषक् (१०।८३।१)— हे वज्रादि शस्त्रयुक्त उत्साह ! जो तेरा सेवन करता है वह सब बल और सामर्थ्यको पुष्ट करता है।

साह्याम दासमार्यं त्वया युजा— तेरे साथ हम दासों और आर्योंको अपने वशमें करेंगे।

वयं सहस्कृतेन सहसा सहस्वता— हम बलको बढानेवाले सामर्थ्यसे युक्त होंगे।

मन्युर्विश ईळते मानुषीर्याः (१०।८३।२)— मनुष्योंकी प्रजाएं उत्साहकी प्रशंसा करते हैं।

पाहि नो मन्यो तपसा सजोषाः— हे उत्साह ! उत्साह युक्त किये तपसे हमारा रक्षण कर।

अभीहि मन्यो तवसस्तवीयान् तपसा युजा वि जहि शत्रून् (१०।८३।३)— हे मन्यो ! तू महा शक्तिवाला यहां आ। अपने तपके सामर्थ्यसे युक्त होकर शत्रुओंका नाश कर।

अमित्रहा वृत्रहा दस्युहा च विश्वा वसून्या भरा त्वं नः (१०।८३।३)— दुष्ट शत्रु और चोरका नाश कर और हमें सब धन ला दे।

त्वं हि मन्यो अभिभूत्योजाः स्वयंभूर्भामो अभिमातिषाहः (१०।८३।४)— हे उत्साह ! तू विजयी बलसे युक्त हो, अपनी शक्तिसे रहनेवाला तेजस्वी और शत्रुका पराभव करनेवाला है।

विश्वचर्षणिः सहुरिः सहीयान् अस्मास्वोजः पृतनासु धेहि— तू सबका निरीक्षण, समर्थ और बलवान् हमारी सेनामें बलको रख।

तं त्वा मन्यो अक्रतुर्जिहीळाहं स्वा तनूर्बलदावा न एहि (१०।८३।५)— हे उत्साह ! कर्महीनसा होकर मैं तेरे पास आ गया हूं। हमें अपने शरीरसे बल दे। (हमें उत्साहित कर।)

मन्यो वज्रिन्नभि मा ववृत्स्व हनाव दस्यूँरुत बोध्यापेः— हे वज्रयुक्त उत्साह ! तू हमारे पास आ। मित्रोंको पहचानो, हम शत्रुओंको मारें।

अभि प्रेहि (१०।८३।६)— आगे बढ।

नः दक्षिणतः भव— हमारे दाहनी ओर हो जा।

अधा वृत्राणि जङ्घनाव भूरि— अब हम अपने सब शत्रुओंको बहुत संख्यामें मारेंगे।

इस तरह शत्रुको पराभूत करनेके सुभाषित हैं। ये बडे बोधप्रद, मार्गदर्शक और प्रत्यक्ष लाभका मार्ग दिखानेवाले हैं।

ऋणको दूर करना

इदं तदग्ने अनृणो भवामि (६।११७।१)— हे अग्ने ! मैं अऋण होता हूं।

अनृणा अस्मिन्, अनृणाः परस्मिन् तृतीये लोके अनृणाः स्याम (६।११७।३)— इस लोकमें अऋण, परलोकमें अऋण, और तीसरे लोकमें भी हम अऋण होंगे।

सर्वान् पथो अनृणा आ क्षियेम— सब मार्गोंपर अऋण होकर रहेंगे।

बन्धान्मुंचामि बद्धकं (६।११२।४)— बन्धनसे बंधे हुएको छोडता हूं।

ऋणसे मुक्त होना चाहिये। मनुष्य बालपनमें विद्या सीखता है वह ऋण ही है। विद्या दान करनेसे यह ऋण दूर हो सकता है। हरएक यह देखें कि मैं जो ऋण कर रहा हूं वह मैं वापस करता हूं या नहीं। इसीका विचार करे और अन्तमें मैं ऋणसे मुक्त हो गया हूं ऐसा देखे। अऋण होना हरएकका कर्तव्य है।

मैं — आत्मशक्ति

अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चरामि, अहं आदित्यैरुत विश्व-

देवैः (४।३०।१)— मैं रुद्रों, वसुओंके साथ चलता हूँ, मैं आदित्यों और सब देवोंके साथ चलता हूं ।

अहं मित्रावरुणोभा बिभर्मि, अहं इन्द्राग्नी, अहमश्विनोभा— मैं दोनों मित्र वरुणको, इन्द्र-अग्निको और दोनों अश्विनौको धारण करता हूं ।

अहं राष्ट्री संगमनी वसूनां चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम् (४।३०।२)— मैं तेजस्विनी राष्ट्रशक्ति धनोंको एकत्रित करनेवाली हूं । पूजनीयोंमें पहिली पूजाके योग्य हूं ।

तां मा देवा व्यदधुः पुरुत्रा भूरिस्थात्रां भूर्यावेशयन्तः— उस मुझको बहुत उत्साहको धारण करनेवाले देवोंने अनेक प्रकारसे धारण किया है ।

अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवानामुत मानुषाणाम् (४।३०।३)— मैं स्वयं यह कहती हूं जो देवों और मानवोंको सेवा करने योग्य है ।

यं कामये तं तं उग्रं कृणोमि, तं ब्रह्माणं तं ऋषिं तं सुमेधाम्— जिसको मैं चाहती हूं उसको शूरवीर, ब्रह्मा, ऋषि और उत्तम मेधावान् बनाती हूं ।

मया सोऽन्नमत्ति, यो विपश्यति, यः प्राणति, य ईं शृणोत्युक्तम् (४।३०।४)— जो यह देखता है वह मेरी कृपासे अन्न खाता है, तथा वह जीवित रहता है जो मेरा भाषण सुनता है ।

अमन्तवो मां त उपक्षियन्ति, श्रुधि श्रुत, श्रद्धिवं ते वदामि— मेरा अपमान करनेवाले नाशको प्राप्त होते हैं, हे श्रद्धावान्! श्रवण कर, तुझे यह मैं कहता हूं ।

अहं रुद्राय धनुरा तनोमि ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवा उ (४।३०।५)— ज्ञानके विद्वेषी, घातपातीको मारनेके लिये, मैं रुद्रको धनुष्य तनाकर देती हूं ।

अहं जनाय समदं कृणोमि— मैं जनोंके हितके लिये युद्ध करती हूं । (मैं लोगोंके लिये हर्ष बढानेकी बात करता हूं ।)

अहं दधामि द्रविणा हविष्मते (४।३०।६)— मैं हवन करनेवालेको धन देती हूं ।

अहं सुवे पितरं अस्य मूर्धन्— (४।३०।७) मैं इस राष्ट्रके सिरपर पालकको रखती हूं ।

अहमेव वात इव प्र वाम्यारभमाणा भुवनानि विश्वा (४।३०।८)— सब भुवनोंको बनानेवाली मैं ही वायुके समान सर्वत्र फैलती हूं ।

परो दिवा पर एना पृथिव्यैतावती महिम्ना सं बभूव— द्युलोकसे परे, इस पृथिवीसे भी परे अपनी महिमासे फैलती हूं ।

यह परमात्माका वर्णन है, शरीरधारी जीवात्माका भी वही वर्णन है । क्योंकि मानव शरीरमें ये सब देवताएं रहती हैं और उनका धारण जीवात्मा करता है । यह ज्ञान आत्मशक्तिका सामर्थ्य बता रहा है । मनुष्य इसका वारंवार विचार करे और विश्वदेही परमात्मामें भी यह देखे और अपनेमें भी देखे और दोनों स्थानोंमें यह वर्णन समान रीतिसे लगता है इसका अनुभव करे । आत्मशक्तिका महत्त्व इस रीतिसे माना जा सकता है ।

तीन देवियां

तिस्रो देवीर्बर्हिरेदं सदन्तां इडा सरस्वती मही भारती गृणाना । (५।२७।९)— तीन देवताएं अन्तःकरणमें बैठें, वाणी (मातृभाषा), सरस्वती (मातृसभ्यता) और भारती (राष्ट्रभूमि भारती) ।

मातृभाषा, मातृसभ्यता और मातृभूमि ये तीन देवियां हैं जो हरएक मनुष्यके मनमें आदरके साथ रहनी चाहिये । प्रत्येक मनुष्य मातृभूमिकी भक्ति करे, मातृसभ्यताके विषयमें सदा आदरभाव मनमें रखे और मातृभाषाका उत्तम अध्ययन करे ।

ये तीन देवियां मानवका उद्धार कर सकती हैं ।

सत्यका बल

तान् सत्यौजाः प्र दहत्वग्निर्वैश्वानरो वृषा । यो नो दुरस्याद् दिप्साच्चाथो यो नो अरातीयात् (४।३६।१)— सत्यके बलवाला वैश्वानर बलवान् अग्नि उनको जलावे जो हमें बुरी अवस्थामें डाले, जो हमारा नाश करे, और जो शत्रुता करे ।

यो नो दिप्सादद्िप्सतो दिप्सतो यश्च दिप्सति । वैश्वानरस्य दंष्ट्रयोरग्नेरपि दधामि तं (४।३६।२) —जो नाश न करनेवाले हमारा नाश करे, जो विनाशकको कष्ट देता है, उसको हम वैश्वानर अग्निके जबडेमें देते हैं ।

य॰॰॰द्यो अभ्यात्रिप्सतः सर्वांस्तान्त्सहसा सहे (४।३६।२)— जो मांसभोजी दूसरोंको कष्ट देते हैं, उन सबका हम अपने बलसे पराभव करते हैं।

सहे पिशाचान्त्सहसा एषां द्रविणं ददे (४।३६।४)— रक्त पीनेवालोंका अपने बलसे पराभव करता हूं और उनका धन मैं लेता हूं।

सर्वान् दुरस्यतो हन्मि— सब दुष्टोंको मारता हूं।

सं म आकूतिर्ऋध्यताम्— मेरा संकल्प सफल हो।

तपनो अस्मि पिशाचानां— रक्त पीनेवालोंको तपानेवाला मैं हूं।

ते व्यञ्जनं न विन्दते— वे दुष्ट अपने लिये रक्षण प्राप्त नहीं करते।

न पिशाचैः सं शक्नोमि न स्तेनैर्न वनर्गुभिः— रक्त पीनेवालों चोरों और डाकुओंसे मैं मेल करना नहीं चाहता।

पिशाचास्तस्मान्नश्यन्ति यमहं ग्राममाविशे (४।३६। ७)— रक्त पीनेवाले उस ग्रामसे दूर होते हैं जिसमें मैं जाता हूं।

यं ग्राममाविशत इदमुग्रं सहो मम, पिशाचास्तस्मान्नश्यन्ति न पापमुप जानते (४।३६।८)— मेरा बल और सामर्थ्य जिस ग्राममें प्रविष्ट होता है, उस ग्रामसे सब रक्त पीनेवाले नष्ट होते हैं और वे पापको भी जानते नहीं।

ये मा क्रोधयन्ति लपिता तानहं मन्ये दुर्हितान्— जो बकबकनेवाले मुझे क्रोधित करते हैं उनको मैं दुःखमें रहनेवाले करता हूं।

अभि तं निर्ऋतिर्धत्ताम् (४।३६।१०)— उन दुष्टोंको नाश ही प्राप्त हो।

मल्वो यो मह्यं क्रुध्यति स उ पाशान्न मुच्यते— जो मलिन पुरुष मुझे क्रोधित करता है वह पाशोंसे नहीं छूटता।

सबका बल प्राप्त करके इस तरह अपनी शक्ति बढाकर शत्रुको दूर करना चाहिये।

विजय

ममाग्ने वर्चो विहवेष्वस्तु (५।३।१)— हे अग्ने! मेरा तेज युद्धोंमें प्रकाशित होता रहे।

वयं त्वेन्धानास्तन्वं पुषेम— हम तुझे प्रदीप्त करके अपने शरीरको पुष्ट बनावें।

मह्यं नमन्तां प्रदिशश्चतस्रः— चारों दिशायें मेरे सामने नमें।

त्वयाध्यक्षेण पृतना जयेम— तेरी अध्यक्षतामें हम संग्रामोंमें विजय पावेंगे।

अग्ने मन्युं प्रतिनुदन् परेषां (५।३।२)— हे अग्ने! शत्रुओंके क्रोधको दूर कर।

त्वं नो गोपाः परि पाहि विश्वतः— तू हमारा रक्षक होकर चारों ओरसे हमारा पालन कर।

अपाञ्चो यन्तु निवता दुरस्यवः— दुःखदायी दुष्ट लोग दूर चले जांय।

अमैषां चित्तं प्रबुधां वि नेशत्— इन प्रबुद्ध दुष्टोंका चित्त विनष्ट होवे।

मयि देवा द्रविणमा यजन्तां— देव मेरे पास धन ले आवें।

अरिष्टाः स्याम तन्वा सुवीराः— अपने शरीरसे नीरोग तथा उत्तम वीर्यवान् हम बनें।

मा नो विददभिभा मो अशस्तिर्मा नो विदद् वृजिना द्वेष्या या (५।३।६)— निर्धनता, अकीर्ति, द्वेषके योग्य पाप हमारे पास न आवें।

मा हास्महि प्रजया— हम संतानहीन न हों।

मा तनूभिः— शरीरसे कृश न बनें।

मा रधाम द्विषते— शत्रुके कारण हम पीडित न हों।

मा नो रीरिषो मा परा दाः— हमारा नाश न हो, हमारा त्याग न हो।

धाता विधाता भुवनस्य यस्पतिर्देवः सवितामिमातिषाहः (५।३।९)— धारणकर्ता, निर्माणकर्ता, भुवनका पति, सबका प्रसव करनेवाला, शत्रुनाशक वह देव है।

ये नः सपत्ना अप ते भवन्तु— जो शत्रु हैं वे दूर हों।

उग्रं चेत्तारमधिराजमक्रत (५।३।१०)— उग्रवीर चेतना उत्पन्न करनेवालेको अधिराजा बनाया है।

तेन त्वं वाजिन् बलवान् बलेनाजिं जय समने पारयिष्णुः (६।९२।२)— हे घोडे! इस बलसे बलवान् होकर युद्धमें जय प्राप्त करो और संग्रामके पार हो जा।

इन्द्रो जयाति न पराजयातै (६।९८।१)- इन्द्र जीतता है, कभी पराजय नहीं होता।

अधिराजो राजसु राजयातै— राजाओंमें तेजस्वीताके लिये वह प्रसिद्ध अपराजित नहीं होता है।

समश्वपर्णाः पतन्तु नो नरः (६।१२६।३)— घोडोंपर बैठे हमारे वीर हमला चढावें।

अस्माकमिन्द्र रथिनो जयन्तु— हे इन्द्र! हमारे रथी जीत लें।

कृणोमि भगिनं माप द्रान्त्वरातयः (६।१२९।१)— मुझे भाग्यशाली बनाओ, हमारे शत्रु दूर हों।

वीर्यबल

सं पुंसामिन्द्र वृष्ण्यमस्मिन् धेहि तनूवशिन् (४।४।४)- हे शरीरको वशमें रखनेवाले इन्द्र! पुरुषोंके वीर्यका बल इस पुरुषमें धारण कर।

पुरुष वीर्यवान् बनें और पराक्रम करें।

दुन्दुभीका घोष

शुचा विध्य हृदयं परेषां हित्वा ग्रामान् प्रच्युता यन्तु शत्रवः। (५।२०।२)— शोकसे शत्रुओंका हृदय वींध, वे शत्रु डरसे भयभीत होकर ग्राम छोडकर भाग जावें।

संक्रन्दनः प्रवदो धृष्णुषेणः प्रवेदकृत् बहुधा ग्रामघोषी (५।२०।९)— बडा शब्द करनेवाला, घोषणा करनेवाला, सेनाका विजय करनेवाला, चेतना देनेवाला, ग्रामोंमें घोषणा करनेवाला दुन्दुभीका शब्द होता है।

शत्रूषाण्नीषाडभिमातिषाहो गवेषणः सहमान उद्भित्। वाग्वीव मंत्रं प्र भरस्व वाचं संग्रामजित्यायेषमुद् वदेह। (५।२०।११)— शत्रुको जीतनेवाला, नित्य विजयी, वैरियोंको वशमें करनेवाला, शत्रुको खोजनेवाला, बलवान्, शत्रुको उखेडनेवाला, तू ढोल शब्दको भर दे जैसा वक्ता अपने विचारको श्रोतामें भर देता है। इसलिये युद्धमें विजय कमानेके लिये यहां बडी घोषणा कर।

विहृदयं वैमनस्यं वदामित्रेषु दुन्दुभे (५।२१।१)— शत्रुओंमें मनकी व्याकुलता तथा निरुत्साह उत्पन्न कर।

विद्वेषं कश्मलं भयं नि दध्मसि— द्वेष, पाप, भय शत्रुओंमें रख दें।

धावन्तु बिभ्यतोऽमित्राः— शत्रु डरसे भागें।

एवा त्वं दुन्दुभेऽमित्रान् अभिक्रन्द प्र त्रासयाथो चित्तानि मोहय (५।२१।४-६)— इस तरह तू हे ढोल! गर्जना कर, डरा, और उनके चित्तोंको मोहित कर।

एता देवसेनाः सूर्यकेतवः सचेतसः अमित्रान्नो जयन्तु। (५।२१।१२)— यह सूर्य झंडोंवाली देवसेना शत्रुओंको जीते।

प्रामूं जय, अभीमे जयन्तु (६।१२६।३)— इस शत्रुका पराभव कर, ये वीर विजय प्राप्त करें।

केतुमत् दुन्दुभिर्वावदीतु— झण्डेवाला दुन्दुभी बडा शब्द करे।

अपने दुन्दुभीका घोष सुनकर सैनिकोंमें वीरता बढती है और ढोलके शब्दके साथ एक एक सैनिक व्यक्तिशः और संघशः बडे शौर्यके कार्य करता है। इस कारण सैन्यके साथ दुन्दुभीका अत्यंत महत्त्व है।

रथ

वनस्पते वीड्वंगो हि भूया अस्मत्सखा प्रतरणः सुवीरः। गोभिः संनद्धो असि वीडयस्वास्थाता ते जयतु जेत्वानि॥ (६।१२५।१)— हे वृक्षसे बने रथ! तू सुदृढ बना है, तू हमारा मित्र, तू तारक और वीरोंसे तू युक्त हो। गोचर्मकी रस्सियोंसे बंधा है, हमें सुदृढ कर, तुझपर चढनेवाला वीर जीतने योग्य धन प्राप्त करे।

युद्धमें विजय कमानेके लिये उत्तम रथका महत्त्व बहुत है।

रक्षण

असन्मन्त्राद् दुष्वप्न्याद् दुष्कृताच्छमलादुत। दुर्हार्दश्चक्षुषो घोराद् तस्मान्नः पाह्यञ्जन (४।९।६) – बुरी मंत्रणासे, बुरे स्वप्नसे, दुष्ट कर्मसे, पापसे, बुरे हृदयसे तथा घोर दृष्टिसे हमारा बचाव कर।

स नो हिरण्यजाः शङ्खः कृशनः पात्वंहसः (४।१०।१)— वह सुवर्णसे बना हुआ तेजस्वी शंख हमें पापसे बचावे।

शंखेन हत्वा रक्षांसि अत्त्रिणो वि षहामहे (४।१०।२)— शंखसे रोगकृमियोंको मारकर हम (रक्त-) भक्षकोंको पराभूत करते हैं। (रक्षः– रोगकृमि, रोगबीज। अत्त्रिः– भक्षक, रक्तभक्षक।)

शंखेनामीवाममतिं शंखेनोत सदान्वाः (४।१०।३)— शंखसे आमरोग, बुद्धिहीनता तथा शंखसे सदा पीडा करनेवाले रोग दूर होते हैं।

शङ्खो नो विश्वभेषजः, कृशनः पात्वंहसः— शंख सब रोगोंका औषध है वह कृशता दूर करनेवाला हमें पापसे बचावे।

दौष्वप्न्यं दौर्जीवित्यं रक्षो अभ्वमराय्यः। दुर्णाम्नीः सर्वा दुर्वाचः, ता अस्मन्नाशयामसि (४।१७।५)– बुरे स्वप्न, दुःखदायी जीवन, रोगकृमि, निर्बलता, निस्तेजता, दुष्ट नामवाले रोग, यह सब हमसे दूर हों और नष्ट हों। (हमारा उत्तम संरक्षण हो।)

क्षुधामारं तृष्णामारं अगोतां अनपत्यतां, अपामार्ग ! त्वया वयं सर्वं तदप मृज्महे (४।१७।६)— क्षुधा और तृष्णाके रोग, वाणीके दोष, संतान न होना आदि दोष हे अपामार्ग ! तेरी सहायतासे वह सब हम दूर करते हैं।

अपामार्ग ओषधीनां सर्वासां एक इद्वशी, तेन ते मृज्म आस्थितं, अथ त्वं अगदश्चर। (४।१७।८)— हे अपामार्ग ! तू सब औषधीयोंको वश करनेवाला है, इस कारण तेरे द्वारा हम शरीरस्थित रोगको दूर करते हैं। हे रोगी ! अब तू नीरोग होकर चल।

अपमृज्य यातुधानानप सर्वा अराय्यः (४।१८।८)— यातना देनेवाले तथा निस्तेजता बढानेवाले (रोगबीजको हम अपामार्गसे दूर करते हैं।)

उत त्रातासि पाकस्याथो हन्तासि रक्षसः (४।१९।३)— हे अपामार्ग ! तू परिपक्वताका रक्षक और रोगकृमियोंका नाशक है।

यः कृत्याकृन्मूलकृद्यातुधानो नि तस्मिन्धत्तं वज्रमुग्रौ (४।२८।६)— जो हिंसक है, जो मूलको काटता है ऐसे यातना देनेवालेपर तुम दोनों वज्र मारो।

दुष्टोंसे अपना रक्षण होना चाहिये। अपना सामर्थ्य बढना चाहिये। अपने साधन उत्तम रहने चाहिये। उत्तमसे उत्तम शस्त्र और अस्त्र अपने पास रहने चाहिये। जिससे अपना रक्षण होगा और हम विजयी हो सकेंगे।

पापमोचन

अप नः शोशुचदघम् (४।३३।१)— हमारा पाप दूर हो।

अग्ने शुशुग्ध्या रयिं— हे अग्ने ! धनको शुद्ध कर।

सुक्षेत्रिया सुगातुया वसूया च यजामहे (४।३३।२)— उत्तम क्षेत्र, उत्तम भूमि तथा धनसे यज्ञ करते हैं।

प्र यत्ते अग्ने सूरयो जायेमहि प्र ते वयम् (४।३३।४) — हे अग्ने ! जो तेरे विद्वान् हैं, वैसे हम हो जायेंगे।

प्र यदग्नेः सहस्वतो विश्वतो यन्ति भानवः (४।३३।५)— बलवान् अग्निके किरण जैसे चारों ओर फैलते हैं। (वैसा हमारा तेज फैले।)

त्वं हि विश्वतो मुख विश्वतः परिभूरसि (४।३३।६) — तू सब ओर मुखवाला हो। तू सब ओरसे चारों ओर हो (तू सर्वत्र व्यापक हो।)

द्विषो नो विश्वतोमुख अति नावेव पारय (४।३३।७)- हे सब ओर मुखवाले, शत्रुओंसे हमें पार कराओ, जैसे नौकासे सागर पार करते हैं।

स नः सिन्धुमिव नावाति पर्षा स्वस्तये— (४।३३।८)— वह हमें नौकासे सागरको पार करते हैं वैसे कल्याण प्राप्त करनेके लिये हमें दुःखसे पार करे।

एकता

सं जानीध्वं (६।६४।१)— मिलकर रहनेका ज्ञान प्राप्त करो।

सं पृच्यध्वं— मिलकर एक होकर रहो।

सं वो मनांसि जानताम्— अपने मनोंको शुभसंस्कारसंपन्न करो।

देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते— प्राचीनकालके ज्ञानी लोग जिस तरह अपने कर्तव्यका भाग स्वयं करते थे, वैसा तुम करो।

समानो मन्त्रः (६।६४।२)—तुम्हारा विचार समान हो।

समितिः समानी— तुम्हारी सभा सबके लिये समान हो।

समानं व्रतं— तुम्हारा सबका एक व्रत हो।

सह चित्तमेषाम्— इन सबका चित्त समान हो।

समानी व आकूतिः (६।६४।३)— तुम्हारा संकल्प एक हो

समाना हृदयानि वः— तुम्हारे हृदय एक हों।

समानमस्तु वो मनः— आपका मन समान हो।

यथा वः सुसहासति— इससे तुम सब मिलकर रह सकोगे।

सं वो मनांसि सं व्रता समाकूतिर्नमामसि (६।९४।१) —तुम्हारे मन, व्रत और संकल्पोंको एक विचारसे युक्त करता हूं।

अमी ये विव्रता स्थन तान्वः सं नमयामसि— यह जो परस्पर विरुद्ध कर्म करनेवाले हैं उन तुमको हम एक विचारमें झुकाते हैं।

अहं गृभ्णामि मनसा मनांसि (६।९४।२)-- मैं अपने मनसे तुम्हारे मनोंको एक विचारसे युक्त करता हूं।

मम चित्तमनु चित्तेभिरेत— मेरे चित्तके अनुकूल तुम अपने चित्तोंको मिला दो।

मम वशेषु हृदयानि वः कृणोमि— मेरे वशमें तुम्हारे हृदयोंको करता हूं।

मम यातमनु वर्त्मान एत— मेरे मार्गके अनुकूल तुम चलो।

अपने समाजमें और राष्ट्रमें, सब पक्षोंमें, जनतामें, या जातियोंमें एकता रहनी चाहिये। एकतासे बल बढता है, शक्ति बढती है और विजय मिलता है।

संयम

एजदेजद् अजग्रभं चक्षुः (४।५।४)— चंचल आंखका मैंने निग्रह किया है।

प्राणं अजग्रभं— प्राणका मैंने संयम किया है।

रात्रीणां अति शर्वरे सर्वा अंगानि अजग्रभं— रात्रीके उत्तर भागमें मैं अपने सब अंगोंका निग्रह करता हूं।

अपनी एकाग्रता होनी चाहिये। इन्द्रियां और मनका निग्रह किया तो ही यह एकाग्रता सिद्ध हो सकती है।

मृत्युको दूर करना

यं ओदनं प्रथमजा ऋतस्य प्रजापतिः तपसा ब्रह्मणे अपचत् । (४।३५।१)— जिस अन्नको सत्य नियमोंका पहिला प्रवर्तक प्रजापति तपसे ब्रह्मके लिये पकाता रहा।

यः लोकानां विधृतिः— जो लोकोंका धारण करता है।

तेन ओदनेनाति तराणि मृत्युं (१-७)— उस अन्नसे मैं मृत्युको तरता हूं।

येन अतितरन् भूतकृतोऽति मृत्युम् (४।३५।२)— जिससे भूतोंको बनानेवालोंने मृत्युको पार किया।

यमन्वविन्दन् तपसा श्रमेण— जिसको तप तथा श्रमसे प्राप्त किया था।

यो दाधार पृथिवीं विश्वभोजसं (४।३५।३)— जिसने सबको भोजन देनेवाली पृथिवीका धारण किया।

यो अन्तरिक्षमापृणाद्रसेन— जिसने रससे-जलसे-अन्तरिक्षको भर दिया।

यो अस्तभ्नाद्दिवमूर्ध्वो महिम्ना— जिसने द्युलोकको अपनी महिमासे धारण किया है।

यस्मान्मासा निर्मितास्त्रिंशदराः (४।३५।४)— जिसने तीस दिनवाले महिने बनाये।

संवत्सरो यस्मान्निर्मितो द्वादशारः— जिससे बारह मासोंका वर्ष बना है।

अहोरात्रा यं परियन्तो नापुः— चलनेवाले दिन और रात्र जिसको प्राप्त कर नहीं सकते।

यः प्राणदः प्राणदवान् बभूव— जो जीवन देनेवाला प्राणदाताओंका स्वामी हुआ है।

यस्मात्पक्वादमृतं संबभूव— जिस पके हुएसे अमृत उत्पन्न हुआ है।

यो गायत्र्या अधिपतिर्बभूव— जो गायत्रीका स्वामी हुआ।

यस्मिन् वेदा निहिता विश्वरूपाः— जिसमें सब प्रकारके वेद रखे हैं।

अव बाधे द्विषन्तं देवपीयुं (४।३५।७)— देवत्वके विनाशक शत्रुओंको मैं दूर करता हूं।

सपत्ना ये मेऽप ते भवन्तु— जो मेरे शत्रु हैं वे दूर हों।

ब्रह्मौदनं विश्वजितं पचामि शृण्वन्तु मे श्रद्दधानस्य देवाः— विश्वको जीतनेवाला ज्ञानरूपी अन्न मैं पकाता हूं सब देव श्रद्धावान् मेरा यह भाषण सुनें।

मृत्युको दूर करनेका अर्थ दीर्घ आयु प्राप्त करनी है। अतः देखिये कि दीर्घायुके विषयमें सुभाषित कैसे हैं—

दीर्घायु

स नो हिरण्यजाः शंखः आयुष्प्रतरणो मणिः (४।१०।४)— यह सुवर्णयुक्त शंख हमारा आयु बढानेवाला मणि हो।

प्र ण आयूंषि प्रतारिषत् (४।१०।६)—(शंख) हमारी आयु बढावे।

देवानामस्थि कृशनं बभूव (४।१०।७)— शंख देवोंकी अस्थि है, यह तेज है।

तदात्मन्वच्चरति अप्सु अन्तः— वह आत्मबलवाला जलोंमें (शंख रूपसे) चलता रहता है।

तत्ते बध्नामि आयुषे वर्चसे बलाय दीर्घायुत्वाय शतशारदाय कार्शनस्त्वाभि रक्षतु— यह शंखमणि मैं तुझे बांधता हूं। इससे तेरी आयु, तेज, बल, दीर्घायु सौ वर्षकी आयु हो। यह शंखमणि तेरा रक्षण करे।

प्रत्यङ् सेवस्व भेषजं जरदष्टिं कृणोमि त्वा (५।३०।५)— इस औषधका सेवन कर, तुझे मैं वृद्धावस्थातक रहनेवाला बनाता हूं।

मा बिभेर्न मरिष्यसि जरदष्टिं कृणोमि त्वा। निरवोचमहं यक्ष्मं अङ्गेभ्यो अंगज्वरं तव— (५।३०।८)— मत डर, तू नहीं मरेगा, वृद्धावस्थातक जीवित रहनेवाला तुझे मैं बनाता हूं। तुम्हारे अंगोंसे ज्वर और यक्ष्मरोगको दूर करता हूं।

ऋषी बोधप्रतिबोधावस्वप्नो यश्च जागृविः, तौ ते प्राणस्य गोप्तारौ दिवा नक्तं च जागृताम्। (५।३०।१०)— बोध और प्रतिबोध ये दो ऋषि है, एक सुस्तीरहित है और दूसरा जागता है। ये दोनों तेरे प्राणके रक्षक हैं। वे दिन रात जागते रहें।

उदेहि मृत्योर्गम्भीरात् कृष्णाच्चित्तमसस्परि। (५।३०।११)— गंभीर मृत्युसे ऊपर उठ, गहरे अन्धकारसे प्रकाशमें आ।

अयं लोकः प्रियतमो देवानामपराजितः। यस्मै त्वमिह मृत्यवे दिष्टः पुरुष जज्ञिषे। स च त्वानु ह्वयामसि, मा पुरा जरसो मृथाः। (५।३०।१७)— यह लोक अपराजित है अतः देवोंको प्रिय है। हे पुरुष! तू मृत्युको प्राप्त होनेवाला इस लोकमें उत्पन्न होता है। यह तुझे बुलाता है। पर तू वृद्धावस्थातक न मर।

रायस्पोषेण सं सृज जीवातवे जरसे नय (१।५।१९)— इसे धन और पोषण उत्तम रीतिसे प्राप्त हो, और इसको वृद्ध अवस्थातक ले जा।

वृद्ध अवस्थाके पश्चात् मृत्यु हो। उससे पूर्व कोई न मरे। अर्थात् जो दुष्ट कर्म करनेवाले हैं वे मरेंगे। इसमें संदेह नहीं है। परंतु शुभ कर्म करनेवालोंके लिये यह आश्वासन है कि वे जल्दी नहीं मरेंगे।

हस्तस्पर्शसे रोगनिवारण

उत देवा अवहितं देवा उन्नयथा पुनः (४।१३।१)— हे देवो! इसके शरीरमें अवनति हुई है, इसको पुनः उन्नत करो।

उतागश्चक्रुषं देवा देवा जीवयथा पुनः— हे देवो! इसने पाप किया है, अब इसको पुनः जीवित करो।

द्वाविमौ वातौ वात आ सिन्धोरा परावतः। दक्षं ते अन्य आवातु व्यन्यो वातु यद्रपः— दो वायु हैं, एक समुद्रसे और दूसरा भूमिपरसे बहता है। इनमेंसे एक तुझे बल देवे और दूसरा दोषको दूर करे।

आ वात वाहि भेषजं (४।१३।३)— हे वायो! तू औषध ले आ।

वि वात वाहि यद्रपः— हे वायो! जो दोष है उसको दूर कर।

त्वं हि विश्वभेषज देवानां दूत ईयसे- तू सब औषधरूपवान् हो। तू देवोंका दूत होकर बहता है।

त्रायन्तामिमं देवाः, त्रायन्तां मरुतां गणाः। त्रायन्तां विश्वा भूतानि यथायमरपा असत् (४।१३।४)— इस रोगीका रक्षण सब देव करें, मरुतोंके गण-गण-इसका रक्षण करें। सब भूत इसका रक्षण करें जिससे वह निर्दोष होगा।

आ त्वा गमं शंतातिभिः, अथो अरिष्टतातिभिः (४।१३।५)— शान्तिदायक और दोष दूर करनेवाले गुणोंके साथ, हे रोगी! मैं तेरे पास आता हूं।

दक्षं त उग्रमाभारिषं, परा यक्ष्मं सुवामि ते— तेरे लिये मैं श्रेष्ठ बल लाता हूं और तुमसे रोग मैं दूर करता हूं।

अयं मे हस्तो भगवान्, अयं मे भगवत्तरः (४।१३।६)— यह मेरा हाथ भाग्यवान् है और यह दूसरा हाथ अधिक भाग्यवान् है।

अयं मे विश्वभेषजोऽयं शिवाभिमर्शनः— यह मेरा हाथ सब औषधी गुणोंसे युक्त है और यह हाथ शुभ करनेवाला है।

हस्ताभ्यां दशशाखाभ्यां जिह्वा वाचः पुरोगवी। अनामयित्नुभ्यां हस्ताभ्यां ताभ्यां त्वाभि मृशामसि (४।१३।७)— दस शाखावाले इन मेरे दोनों हाथोंसे- ये नीरोगता करनेवाले हाथोंसे तुझे मैं स्पर्श करता हूं और जिह्वासे प्रेरक शब्द बोलता हूं। (इस स्पर्शसे तुम्हारा रोग दूर होगा।)

हस्तस्पर्शसे रोग दूर होते हैं, मनकी शक्ति उस हस्तस्पर्शके साथ लगानी चाहिये। जो मनकी शक्तिको हाथोंके साथ बर्त सकते हैं वे ही यह कर सकते हैं।

गौ

आ गावो अग्मन्नुत भद्रमक्रन् (४।२१।१)— गौवें आ गयी और उन्होंने कल्याण किया।

प्रजावतीः पुरुरूपा इह स्युः— उनको प्रजा होकर वे यहां अनेक रूपवाली हों।

उरुगायमभयं तस्य ता अनु गावो मर्तस्य वि चरन्ति यज्वनः (४।२१।४)— वे गौवें यज्ञ करनेवाले मनुष्यके लिये प्रशंसनीय निर्भयता करती हैं।

यूयं गावो मेदयथा कृशं चित् (४।२१।६)— तुम गायो दुर्बलको भी पुष्ट करती हैं।

अश्रीरं चित् कृणुथा सुप्रतीकं— निस्तेजको गौवें सुंदर बनाती हैं।

भद्रं गृहं कृणुथ भद्रवाचः— हे उत्तम शब्द करनेवाली गौवो! तुम घरको कल्याणमय बनाती हैं।

बृहद् वो वय उच्यते सभासु— सभाओंमें तुम्हारा बडा यश गाया जाता है।

प्रजावतीः सूयवसे रुशन्तीः शुद्धा अपः सुप्रपाणे पिबन्तीः (४।२१।७)— गौवें प्रजाके साथ उत्तम घासमें घूमती हैं, और शुद्ध जल उत्तम जलस्थानमें पीती हैं।

मा व स्तेन ईशत माघशंसः परि वो रुद्रस्य हेतिर्वृणक्तु— चोर और पापी तुम्हारा स्वामी न बने, रुद्रका शस्त्र तुमसे दूर रहे।

पयो धेनूनां रसमोषधीनां जवमर्वतां कवयो य इन्वथ (४।२७।३)— कविलोग गौओंसे दूध, औषधियोंसे रस, घोडोंसे वेग प्राप्त करते हैं।

विश्वरूपा धेनुः कामदुघा मे अस्तु (४।३४।८)— मेरी गाय इच्छानुसार दूध देनेवाली, अनेक रंगरूपवाली हो।

नैतां ते देवा अददुस्तुभ्यं नृपते अत्तवे। मा ब्राह्मणस्य राजन्य गां जिघत्सो अनाद्याम्। (५।१८।१)— इन देवोंने इस गौको तुम्हारे खानेके लिये नहीं दिया है। हे क्षत्रिय! ब्राह्मणकी गौको खाना योग्य नहीं, इसे न खा। (गौका दूध आदि सेवन करना योग्य है।)

अक्षद्रुग्धो राजन्यः पाप आत्मपराजितः। स ब्राह्मणस्य गामद्यादद्य जीवानि मा श्वः (५।१८।२)— जुवाडी क्षत्रिय वह पापी और पराजित है, जो ब्राह्मणकी गौको खावे वह आज जीवे पर कल नहीं।

यो ब्राह्मणं मन्यते अन्नमेव स विषस्य पिबति तैमातस्य (५।१८।४)— जो ब्राह्मणको अपना अन्न मानता है वह सांपका विष पीता है।

तीक्ष्णेषवो ब्राह्मणा हेतिमन्तो यामस्यन्ति शरव्यां न सा मृषा (५।१८।९)— तीखे बाणवाले, अस्त्रवाले ब्राह्मण जिस बाणको भेजता है वह असत्य नहीं होता।

ते ब्राह्मणस्य गां जग्ध्वा वैतहव्याः पराभवन्। (५।१८।१०)— वे वैतहव्य ब्राह्मणकी गौको खाकर पराभूत हुए।

उग्रो राजा मन्यमानो ब्राह्मणं यो जिघत्सति, परा तत् सिच्यते राष्ट्रं ब्राह्मणो यत्र जीयते

(५।१९।६)— राजा अपने आपको शूरवीर मानकर ब्राह्मणको सताता है, वह राष्ट्र गिर जाता है जहां ब्राह्मणको कष्ट होते हैं।

ब्राह्मणं यत्र हिंसन्ति तद् राष्ट्रं हन्ति दुच्छुना। (५।१९।८)— जहां ब्राह्मणको कष्ट पहुंचते हैं वह राष्ट्र विपत्तिसे मरता है।

तं वृक्षा अप सेधन्ति छायां नो मोपगा इति, यो ब्राह्मणस्य सद् धनं अभि नारद मन्यते (५।१९।९)— जो ब्राह्मणके धनको अपना मानता है, उसको वृक्ष भी अपनी छायामें आने नहीं देते।

लोहितेन स्वधितिना मिथुनं कर्णयोः कृधि, अकर्तां अश्विना लक्ष्म तदस्तु प्रजया बहु (६।१४१।२)—लोहेकी शलाकासे पशुओंके कानोंपर चिन्ह कर। अश्विदेव यह चिन्ह करें, यह पशुके संतानोंके लिये बहुत हितकर है।

गौ अपने दूध, दही, मक्खन, घी, छाछ, मूत्र, गोमय आदिसे मनुष्योंके शरीरके रोग दूर करती है। मूत्रसे पेटके प्रायः सब रोग दूर होते हैं। ऐसी यह गौ हितकारिणी है।

रोगकृमिनाशन

त्वया पूर्वमथर्वाणो जघ्नू रक्षांस्योषधे (४।३७।१)— तेरे द्वारा अथर्वाने, हे औषधे! रोगकृमियोंका नाश किया।

त्वया जघान कश्यपः त्वया कण्वो अगस्त्यः— तेरे द्वारा कश्यप, कण्व और अगस्त्यने (रोगकृमियोंका नाश किया।)

त्वया वयं अप्सरसो गन्धर्वांश्चातयामहे। अजशृंग्यज रक्षः सर्वान् गन्धेन नाशय (४।३७।२)— तेरे द्वारा हम अप्सरा और गंधर्व नामक रोगबीजोंको हटाते हैं। हे अजशृंगि! सब रोगकृमियोंको तू अपने गन्धसे नष्ट कर।

तद् परेता अप्सरसः प्रतिबुद्धा अभूतन (४।३७।३)— जलमें फैलनेवाले कृमि दूर हुए यह जान जाओ।

भीमा इन्द्रस्य हेतयः शतमृष्टीर्हिरण्ययीः। ताभिर्हविरदान् गन्धर्वान् अवकादान्व्यृषतु॥ (४।३७।९)— सूर्यके सुवर्णके समान तीक्ष्ण किरणें सैकड़ों शस्त्रोंके समान भयंकर हैं, उनसे जल खानेवाले हिंसक रोगकृमियोंका नाश करते हैं।

जाया इद्वो अप्सरसो गन्धर्वाः पतयो यूयम्। अप धावतामर्त्या मर्त्यान्मा सचध्वं (४।३७।१२)— हे गन्धर्वो! तुम्हारी स्त्रियां अप्सराएं हैं, तुम उनके पति हो। हे अमरो! यहांसे भागो, मनुष्योंको न पकड़ो।

यो अक्ष्यौ परिसर्पति, यो नासे परिसर्पति, दतां यो मध्यं गच्छति तं क्रिमिं जंभयामसि (५।२३।३)— जो रोगकृमि आंखों, नाक तथा दांतोंमें जाता है, उसका नाश हम करेंगे।

उत्पुरस्तात्सूर्य एति विश्वदृष्टो अदृष्टहा, दृष्टांश्च घ्नन्नदृष्टांश्च सर्वान् च प्रमृणन् क्रिमीन् (५।२३।६)— सबको दीखनेवाले और न दीखनेवाले कृमियोंको मारनेवाला सूर्य आगे आरहा है, वह दीखनेवाले और न दीखनेवाले सब कृमियोंको मारता है।

उत् सूर्यो दिव एति पुरो रक्षांसि निजूर्वन् (६।५२।१)— रोगकृमियोंका नाश करता हुआ सूर्य उदयको प्राप्त होता है।

सूर्यकिरणसे अग्निसे रोगकृमि नष्ट होते हैं। हवनसे चिकित्सा भी इसी कारण होती है।

रोगनाशन

अस्थिस्रंसं परुस्रंसं आस्थितं हृद्यामयम्। बलासं सर्वं नाशय अंगेष्ठा यश्च पर्वसु (६।१४।१)— अस्थियोंमें, जोडोंमें, हृदयमें जो रोग हैं, कफक्षय जो शरीरमें है उस सबको दूर कर।

वृष्टि

समुत्पतन्तु प्रदिशो नभस्वतीः समभ्राणि वातजूतानि यन्तु (४।१५।१)— बादलसे युक्त दिशाएं ऊपर आएं, वायुसे चलाये मेघ मिलकर आवें।

महऋषभस्य नदतो नभस्वतो वाश्रा आपः पृथिवीं तर्पयन्तु— महाबलवान् गर्जना करनेवाले बादलोंके गतियुक्त जलधाराएं पृथिवीकी तृप्ती करें।

अपां रसा ओषधीभिः सचन्ताम् (४।१५।२)— जलोंके अन्दरके रस औषधियोंके साथ मिलें।

वर्षस्य सर्गा महयन्तु भूमिं पृथग्जायन्तामोषधयो विश्वरूपाः— वृष्टिकी धाराएं भूमिको समृद्ध करें और विविध रूपवाली औषधियां उत्पन्न हों।

समीक्षयस्व गायतो नभांसि (४।१५।६)— गायन करनेवाले मेघोंसे भरे आकाश देखो।

त्वया सृष्टं बहुलमैतु वर्षम् (४।१५।६ — तूने उत्पन्न की बहुत वृष्टि होती रहे।

आशारैषी कृशगुरेत्वस्तम्— आश्रयकी इच्छा करनेवाला कृषक अपने घर जाय।

अभिक्रन्द, स्तनय, अर्दयोदधिम्— गर्जना कर, विद्युत्का कड़का हो, समुद्रको हिला दे।

मरुद्भिः प्रच्युता मेघा पृथिवीं अनुवर्षन्तु (४।१५।७)— वायुसे चलाये मेघ पृथिवीपर अनुकूल वृष्टि करें।

स नो वर्षं वनुतां जातवेदाः प्राणं प्रजाभ्यो अमृतं दिवस्परि (४।१५।१०)— वह अग्नि द्युलोकके अमृतको जो प्रजाओंके लिये प्राणरूप है वह वर्षाके रूपसे हमें देवे।

बैल

पड्भिः सेदिमवक्रामन्निरां जङ्घाभिरुत्खिदन्। श्रमेणानड्वान् कीलालं कीनाशश्चाभि गच्छतः (४।११।१०)— बैल पावोंसे भूमीपर चलता है, जांघोंसे अन्नको उत्पन्न करता है। परिश्रम करके बैल और किसान अन्न उत्पन्न करनेके लिये चलते हैं।

मित्रका लक्षण

अस्मि युज्यस्ते सप्तपदः सखास्मि (५।११।१०)— मैं तेरे योग्य मित्र हूं और तू सात पांव साथ चलकर मित्र हुआ है।

मेधा

यां ऋषयो भूतकृतो मेधां मेधाविनो विदुः। तया मामद्य मेधयाग्ने मेधाविनं कृणु। (६।१०८।४) — बुद्धिमान् और भूतकालका इतिहास करनेवाले ऋषियोंने जिस मेधाको जाना था उस मेधासे मुझे बुद्धिमान् कर।

जाग्रती

जागृतादहमिन्द्र इवारिष्टो अक्षितः (४।५।७)— इन्द्रके समान मैं नाशरहित और क्षयरहित होकर जागता रहूं।

निद्रा

प्रोष्ठेशयाः तल्पेशयाः वह्यशीवरी या नारीः या पुण्यगन्धाः स्त्रियः ताः सर्वाः स्वापयामसि (४।५।३)— जो मंचकोंपर सोती है, जो बिछानेपर सोती है, जो हिंडोलोंपर सोती है, ऐसी जो स्त्रियां उत्तम सुगन्धसे युक्त हैं, उन सबको मैं सुलाता हूं।

जलचिकित्सा

जलाषेणाभि षिञ्चत जलाषेणोप सिञ्चत। जलाषमुग्रं भेषजं तेन नो मृड जीवसे। (६।५७।२) — जलसे सिंचन करो, जलसे उपसिंचन करो, जल बड़ा उग्र औषध है, उससे हमें दीर्घ जीवनके लिये सुखी कर।

आप इद्वा उ भेषजीः आपो अमीवचातनीः, आपो विश्वस्य भेषजीः तास्ते कृण्वन्तु भेषजम् (६।९१।३)— जल औषध है, जल सब रोग दूर करनेवाला है, जल सब रोगोंकी दवा है, वह जल तेरी चिकित्सा करें।

रोहिणी वनस्पति

रोहण्यसि रोहण्यस्थ्नश्छिन्नस्य रोहणी। रोहयेदमरुन्धति (४।१२।१)— तू रोहिणी है, कटी हुई हड्डीको बढानेवाली है। तू इसको भर दे। (घावको भरकर ठीक कर दे।)

स उत्तिष्ठ, प्रेहि, प्र द्रव रथः सुचक्रः सुपविः सुनाभिः। प्रति तिष्ठ ऊर्ध्वः। (४।१२।६)— हे रोगी! तू उठ, चल, उत्तम चक्रवाला, नाभिवाला, लोहेकी पट्टीवाला रथ चलता है वैसा ऊंचा खड़ा रह और दौड़। (रोहिणी वनस्पति शरीरको स्वस्थ करती है।)

यदि कर्तं पतित्वा संशश्रे यदि वाश्मा प्रहृतो जघान। ऋभू रथस्येवाङ्गानि सं दधत् परुषा परुः।

(४।१२।७)— यदि अंग गिर गया, यदि किसीके और पत्थरसे घाव हुआ, तो सुतार जैसे रथके अंगोंको ठीक करता है इस तरह यह वनस्पति अंगोंको ठीक करे। (रोहिणी वनस्पतिसे शरीरकी अस्थि या व्रणकी दुरुस्ती होती है।)

लाक्षा वनस्पति

यस्त्वा पिबति जीवति, त्रायसे पुरुषं त्वं (५।५।२) — जो तुझे पीता है वह जीवित रहता है, मनुष्यका रक्षण तू करती है।

असमृद्धि

परोऽपेह्यसमृद्धे वि ते हेतिं नयामसि (५।७।७)—हे असमृद्धि ! तू दूर चली जा, तेरे शस्त्रको हम दूर करते हैं।

पिप्पली

पिप्पली क्षिप्तभेषज्यु३ तातिविद्धभेषजी, तां देवाः समकल्पयन्नियं जीवितवा अलम् (६।१०९। १ — पिप्पली उन्माद रोगकी औषधि है, यह महाव्याधिकी औषधि है, देवोंने इसको सामर्थ्यवान् बनाया है और कहा है कि यह जीवनके लिये पर्याप्त है।

पिप्पल्यः समवदन्तायतीर्जननादधि, यं जीवमश्नवामहै न स रिष्याति पूरुषः (६।१०९।२)— जन्मसे पिप्पली औषधियां आपसमें बोलती हैं कि जिस जीवको हमें दिया जाता है वह मनुष्य मरता नहीं।

असुरास्त्वा न्यखनन् देवास्त्वोदवपन् पुनः, वातीकृतस्य भेषजीं अथो क्षिप्तस्य भेषजीम् (६। १०९।३)— असुरोंने इस औषधिको खोदा और देवोंने पुनः लगाया था, यह पिप्पली वातकी और उन्मादकी औषधि है।

दूत

त्वं दूतः कविरसि प्रचेताः (५।११।१)— तू दूत कवि और ज्ञानी है। (दूत ज्ञानी और विद्वान् हो।)

पत्नी प्रेम

यथा वृक्षं लिबुजा समन्तं परिषस्वजे। एवा परि ष्वजस्व मां यथा मां कामिन्यसो यथा मन्नापगा असः (६।८।१)— जिस तरह वृक्षपर बेल लपेटती है, इस तरह तू मुझे आलिंगन दे। मेरी इच्छा सफल करनेवाली हो, मुझसे दूर जानेवाली न हो।

वरवधूको आशीर्वाद

अभि वर्धतां पयसाभि राष्ट्रेण वर्धताम्।
रय्या सहस्रवर्चसेमौ स्तामनुपक्षितौ ॥ २ ॥
त्वष्टा जायामजनयत् त्वष्टास्यै त्वां पतिम्।
त्वष्टा सहस्रमायूंषि दीर्घमायुः कृणोतु वाम् ॥ ३ ॥
(६।७८।२-३)

ये वधू तथा वर दूध पीकर पुष्ट हों, ये दोनों अपने राष्ट्रके साथ बढ़ें, सहस्रों प्रकारके धनोंसे ये युक्त हों। त्वष्टाने स्त्री बनायी है, त्वष्टाने ही तुझ पतिको इस स्त्रीके साथ संयुक्त किया है। वह विश्वनिर्माता प्रभु तुम्हें सहस्र प्रकारके सुखोंके साथ दीर्घ आयु देवे।

स्वर्गलोकमें स्त्रैण

नैषां शिश्नं प्र दहति जातवेदाः स्वर्गे लोके बहु स्त्रैणमेषाम् (४।३४।२)— इनका शिश्न अग्नि नहीं जलाता जिनका स्वर्गलोकमें भी बहु स्त्रैण व्यवहार रहता है।

स्वर्गलोकमें घीके हौज

घृतह्रदा मधुकूलाः सुरोदकाः क्षीरेण पूर्णा उदकेन दध्ना। एतास्त्वा धारा उप यन्तु सर्वाः (४।३४। ६)— घीके हौज, मधुरसके नद, सुरा उदकसे भरे, दूधसे परिपूर्ण, दहीसे भरे हौज हैं ये सब तुम्हें प्राप्त हों।

उप त्वा तिष्ठन्तु पुष्करिणीः समन्ताः— तुझे ये मधुररसकी नदियां प्राप्त हों।

चतुरः कुम्भान् चतुर्धा ददामि क्षीरेण पूर्णा उदकेन दध्ना (४।३४।७)— चार घड़े दूध, दही और जलसे भरे चार प्रकारसे मैं देता हूं।

ब्राह्मणकी स्त्री

भीमा जाया ब्राह्मणस्यापनीता दुर्धां दधाति परमे व्योमन् (५।१७।६)— ब्राह्मणकी भगाई पत्नी

भयंकर होती है, वह कृत्य परमधाममें दुःख देने-
वाला है।

उत यत् पतयो दश स्त्रियाः पूर्वे अब्राह्मणाः, ब्रह्मा चेद्धस्तं अग्रहीत् स एव पतिरेकधा। (५।१७।८)— ब्राह्मणसे भिन्न स्त्रीके पति दस होते हैं, पर ब्राह्मणने उसका पाणिग्रहण किया तो वह उसका एक ही पति होता है।

ब्राह्मण एव पतिर्न राजन्यो न वैश्य, तत् सूर्यः प्रब्रुवन्नेति पञ्चभ्यो मानवेभ्यः (५।१७।९)— ब्राह्मण ही पति है, क्षत्रिय और वैश्य पति नहीं होता, पांचों मानवोंको यह सूर्य कहकर चलता है।

गर्भ

धातः श्रेष्ठेन रूपेणास्या नार्या गवीन्योः। पुमांसं पुत्रमा धेहि दशमे मासि सूतवे (५।२५।१०-१३)- हे धातादेव! इस स्त्रीके गर्भाशयमें श्रेष्ठरूपके साथ पुरुष गर्भको स्थापन कर जो दसवें महिने उत्पन्न हो जाय।

पुत्रकी उत्पत्ति

शमीमश्वत्थ आरूढस्तत्र पुंसुवनं कृतम्। तद्वै पुत्रस्य वेदनं तत् स्त्रीष्वा भरामसि (६।११।१)— शमीपर अश्वत्थ चढा है, वहां पुंसवन किया है। वह पुत्रप्राप्तिका निश्चय है। वह स्त्रियोंमें हम भर देते हैं। (शमी वृक्षपर अश्वत्थ वृक्ष लगा, उसका पंचांग सेवन करनेसे पुत्र होता है। शमी संयमी स्त्री और घोडेके समान पुरुष, इनका सम्बन्ध पुत्र निर्माण करता है।)

पुंसि वै रेतो भवति तत् स्त्रियामनु षिच्यते, तद्वै पुत्रस्य वेदनं तत्प्रजापतिरब्रवीत् (६।११।२)— पुरुषमें रेत होता है, वह स्त्रीमें सींचा जाता है। वह पुत्रप्राप्तिका साधन है ऐसा प्रजापतिने कहा है।

पुत्रोंकी सुरक्षा

वीरान्नो अत्र मा दभन् (८।६।७)— हमारे पुत्रपौत्रोंको यहां कष्ट न पहुंचे।

इस तरह हम द्वितीय विभागमें उत्तम ध्यानमें धरने योग्य सुभाषित हैं। पाठक इससे लाभ प्राप्त करें।

ॐ

अथर्ववेद

का

सुबोध भाष्य

चतुर्थं काण्डम्

लेखक

पं. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर

अध्यक्ष- स्वाध्याय-मण्डल, साहित्य-वाचस्पति, गीतालङ्कार

तृतीय बार

स्वाध्याय-मण्डल, पारडी

★

संवत् २०१६, शक १८८१, सन १९६०

जागते रहो !!

★

★ ★

नूनं तदस्य काव्यो हिनोति
महो देवस्य पूर्व्यस्य धाम ।
एष जज्ञे बहुभिः साकमित्था
पूर्वे अर्धे विषिते ससन्नु ।

(अथर्ववेद ४।१।६)

' निश्चयसे ज्ञानी ही इस प्राचीन महादेवका धाम प्राप्त करता है । यह ज्ञानी बहुतोंके साथ जन्मा था, परंतु जिस समय (उस धामका) पूर्व द्वार खुल गया था, (उस समय अन्य लोग) सोये पडे थे, (और केवल यह ज्ञानी ही जागता था), इसलिये इस ज्ञानीका अन्दर प्रवेश हुआ और दूसरे बाहर ही रह गये । '

प्रकाशक और मुद्रक : वसंत श्रीपाद सातवळेकर, बी. ए.,
स्वाध्याय मण्डल, भारत-मुद्रणालय, पोस्ट- ' स्वाध्याय मण्डल (पारडी) ', पारडी [जि. सूरत]

ॐ

अथर्ववेदका स्वाध्याय।

चतुर्थ काण्ड।

इस चतुर्थ काण्डका प्रारंभ ' ब्रह्म ' शब्दसे हुआ है। यह ब्रह्म शब्द अत्यंत मंगल है और इस शब्द द्वारा परममंगलमय परब्रह्मकी विद्या इसमें कही है।

अथर्ववेद प्रथम काण्डका प्रारंभ ' शं ' शब्दसे हुआ है।
अथर्ववेद द्वितीय काण्डका प्रारंभ ' वेनः ' शब्दसे हुआ है।
अथर्ववेद तृतीय काण्डका प्रारंभ ' अग्निः ' शब्दसे हुआ है।
अथर्ववेद चतुर्थ काण्डका प्रारंभ ' ब्रह्म ' शब्दसे हुआ है।

ये आरंभके शब्द कुछ विशेष भावके सूचक निःसंदेह हैं। यद्यपि अथर्व प्रथम काण्डका प्रारंभ ' ये त्रिषप्ताः ' से होता है और ' शं नो देवी ' सूक्त छठवां है, तथापि ब्रह्मयज्ञपरिगणनमें, महाभाष्यमें तथा अन्यत्र भी ' शं नो देवी ' सूक्तसे अथर्ववेदका प्रारंभ माना है, इससे स्पष्ट होता है कि ये प्रथमके पांच सूक्त भूमिकारूप हैं।

इस चतुर्थ काण्डमें चालीस सूक्त हैं और इसके पांच सूक्तोंका एक अनुवाक, ऐसे आठ अनुवाक हैं। यह चतुर्थ काण्ड प्रधानतया सात मंत्रोंवाले सूक्तोंका है, तथापि इसमें अधिक मंत्रवाले सूक्त भी हैं, इसकी गिनती इस प्रकार है—

७ मंत्रवाले	२१ सूक्त हैं,	जिनकी	मंत्रसंख्या	१४७ है,
८ मंत्रवाले	१० सूक्त हैं,	जिनकी	मंत्रसंख्या	८० है,
९ मंत्रवाले	३ सूक्त हैं,	जिनकी	मंत्रसंख्या	२७ है,
१० मंत्रवाले	३ सूक्त हैं,	जिनकी	मंत्रसंख्या	३० है,
१२ मंत्रवाले	२ सूक्त हैं,	जिनकी	मंत्रसंख्या	२४ है,
१६ मंत्रवाले	१ सूक्त है,	जिनकी	मंत्रसंख्या	१६ है,
कुल सूक्तसंख्या ४०			कुल मंत्रसंख्या	३२४

इस प्रकार काण्डमें २१ सूक्त ही सात मंत्रवाले हैं, और शेष १९ सूक्त आठ या आठसे अधिक मंत्रवाले हैं। प्रथम काण्डके १५३ मंत्र, द्वितीय काण्डके २०७ मंत्र, तृतीय काण्डके २३० मंत्र और चतुर्थ काण्डके ३२४ मंत्र हैं, इस प्रकार क्रमशः मंत्रसंख्या बढ रही है।

पहले तीन काण्डोंमें प्रत्येकमें दो प्रपाठक और छः अनुवाक थे, परन्तु इस चतुर्थ काण्डमें तीन प्रपाठक और आठ अनुवाक हैं। इस प्रकार सब मिलकर चतुर्थ काण्डकी समाप्तितक नौ प्रपाठक और छब्बीस अनुवाक हुए हैं। अब इस चतुर्थ काण्डके ऋषि देवता और छन्द देखिये—

सूक्त	मंत्रसंख्या	ऋषि	देवता	छन्द
१ प्रथमोऽनुवाकः। सप्तमः प्रपाठकः।				
१	७	वेनः	बृहस्पतिः। आदित्यः	त्रिष्टुप्।
२	८	वेनः	आत्मा	त्रिष्टुप्; ६ पुरोऽनुष्टुप्; ८ उपरिष्टा ज्ज्योतिः
३	७	अथर्वा	रुद्रः। व्याघ्रः	अनुष्टुप्; १ पंक्तिः; ३ गायत्री। ७ ककुम्मतीगर्भोपरिष्टाद्बृहती।
४	८	अथर्वा	वनस्पतिः	अनुष्टुप्; ४ पुरउष्णिक्; ६,७ भुरिजौ।
५	७	ब्रह्मा	(स्वापनं) ऋषभः	अनुष्टुप्; २ भुरिक्; ७ पुरस्ताज्ज्योतिस्त्रिष्टुप्।

सूक्त	मंत्रसंख्या	ऋषि	देवता	छन्द
२ द्वितीयोऽनुवाकः ।				
६	८	गरुत्मान्	तक्षकः	अनुष्टुप् ।
७	७	गरुत्मान्	वनस्पतिः	अनुष्टुप्; ४ स्वराट् ।
८	७	अथर्वाङ्गिराः	चन्द्रमाः । आपः (राज्याभिषेकः)	अनुष्टुप्; १,७ भुरिक् त्रिष्टुप्; ३ त्रिष्टुप्; ५ विराट् प्रस्तारपंक्तिः ।
९	१०	भृगुः	त्रैककुदाञ्जनं	अनुष्टुप्; २ ककुम्मती; ३ पथ्यापंक्तिः ।
१०	७	अथर्वा	शंखमणिः	अनुष्टुप्; ६ पथ्यापंक्तिः; ७ पञ्चपदा परानुष्टुप्शाक्वरी ।
३ तृतीयोऽनुवाकः ।				
११	१२	भृग्वंगिराः	अनड्वान् । इन्द्रः	त्रिष्टुप्; १, ४ जगती, २ भुरिक्, ७ त्र्यवसाना षट्पदानुष्टुब्गर्भोपरिष्टाज्जागतानिचृच्छक्वरी; ८–१२ अनुष्टुभः ।
१२	७	ऋभुः	वनस्पतिः	अनुष्टुप्; १ त्रिपदा गायत्री, ६ त्रिपदा यवमध्या भुरिग्गायत्री; ७ बृहती ।
१३	७	शंतातिः	चन्द्रमाः । विश्वेदेवाः	अनुष्टुप् ।
१४	९	भृगुः	आज्यं । अग्निः	त्रिष्टुप्; २,४ अनुष्टुभौ; ३ प्रस्तारपंक्तिः; ७,९ जगती; ८ पञ्चपदातिशक्वरी ।
१५	१६	अथर्वा	मरुत् । पर्जन्यः	त्रिष्टुप्; १, २, ५ विराड् जगती, ४ विराड् पुरस्ताद् बृहती ७ (८), १३ (१४) अनुष्टुप्; ९ पथ्यापंक्तिः; १० भुरिग्; १२ पञ्चपदानुष्टुब्गर्भा भुरिग्; १५ शंकुमत्यनुष्टुप् ।
४ चतुर्थोऽनुवाकः ।				
१६	९	ब्रह्मा	वरुणः (सत्यानृतोऽन्वीक्षणं)	त्रिष्टुप्; १ अनुष्टुप्; ५ भुरिक्; ७ जगती; ८ त्रिपान्महाबृहती; ९ विराण्नामत्रिपाद्गायत्री ।
१७	८	शुक्रः	अपामार्गः । वनस्पतिः	अनुष्टुप् ।
१८	८	शुक्रः	अपामार्गः । वनस्पतिः	अनुष्टुप्; ६ बृहतीगर्भा ।
१९	८	शुक्रः	अपामार्गः । वनस्पतिः	अनुष्टुप्; २ पथ्यापंक्तिः ।
२०	९	मातृनामा	मातृनामादेवता	अनुष्टुप्; १ स्वराज्; ९ भुरिक् ।
५ पंचमोऽनुवाकः । अष्टमः प्रपाठकः ।				
२१	७	ब्रह्मा	गावः	त्रिष्टुप्; २–४ जगती ।
२२	७	वसिष्ठः; अथर्वा ।	इन्द्रः	त्रिष्टुप् ।
२३	७	मृगारः	प्रचेता अग्निः	त्रिष्टुप्; ३ पुरस्ताज्ज्योतिष्मती; ४ अनुष्टुप्; ६ प्रस्तारपंक्तिः ।
२४	७	मृगारः	इन्द्रः	त्रिष्टुप्; १ शक्वरीगर्भा पुरःशक्वरी ।
२५	७	मृगारः	वायुः । सविता	त्रिष्टुप्; ३ अतिशक्वरीगर्भाजगती; ७ पथ्या बृहती ।

सूक्त	मंत्रसंख्या	ऋषि	देवता	छन्द
६ षष्ठोऽनुवाकः ।				
२६	७	मृगारः	द्यावापृथिवी	त्रिष्टुप्; १ परोऽष्टिर्जगती; ७ शाक्वरगर्भातिमध्येज्योतिः ।
२७	७	मृगारः	मरुतः	त्रिष्टुप् ।
२८	७	मृगारः (अथर्वा)	भवशर्वौ । रुद्रः	त्रिष्टुप्; १ द्व्यतिजागतगर्भा भुरिक् ।
२९	७	मृगारः	मित्रावरुणौ	त्रिष्टुप्; ७ शाक्वरगर्भा जगती ।
३०	८	अथर्वा	वाक्	त्रिष्टुप्; ६ जगती ।
७ सप्तमोऽनुवाकः । नवमः प्रपाठकः ।				
३१	७	ब्रह्मा स्कन्दः	मन्युः	त्रिष्टुप्; २, ४ भुरिक्; ५-७ जगती ।
३२	७	ब्रह्मा स्कन्दः	मन्युः	त्रिष्टुप्; १ जगती ।
३३	८	ब्रह्मा	पाप्मा । अग्निः	गायत्री ।
३४	८	अथर्वा	ब्रह्मौदनं	त्रिष्टुप्; ४ भुरिक्; ५ त्र्यवसाना सप्तपदा कृतिः; ६ पंचपदातिशक्वरी; ७ भुरिक्शाक्वरी; ८ जगती ।
३५	७	प्रजापतिः	अतिमृत्युः	त्रिष्टुप्; ३ भुरिग्जगती ।
८ अष्टमोऽनुवाकः ।				
३६	७	चातनः	सत्यौजाः । अग्निः	अनुष्टुप्; ९ भुरिक् ।
३७	१२	बादरायणिः	अजशृंगी । अप्सराः	अनुष्टुप्; ३ त्र्यवसाना षट्पदात्रिष्टुप्; ५ प्रस्तारपंक्तिः; ७ परोष्णिक्; ११ षट्पदा जगती; १२ निचृत् ।
३८	७	बादरायणिः	अप्सराः । ऋषभः	अनुष्टुप्; ३ षट्पदात्र्यवसाना जगती, ५ भुरिगत्यष्टिः; ६ त्रिष्टुप्; ७ त्र्यवसाना पञ्चपदानुष्टुब्गर्भापुरउपरिष्टाज्ज्योतिष्मती जगती ।
३९	१०	अङ्गिराः	सन्नतिः । नानादेवताः	पंक्तिः; १,३,५,७ महाबृहती; २,४,६,८ संस्तारपंक्तिः; ९,१० त्रिष्टुप् ।
४०	८	शुक्रः	बहुदैवत्यं	त्रिष्टुप्; २ जगती; ८ जगती पुरोतिशक्वरी पादयुग् ।

ये सूक्तोंके ऋषि देवता और छन्द हैं। अब इनका ऋषिक्रमानुसार विभाग देखिये—

१ अथर्वा— १, ४, १०, १५, (२२, २८), ३०, ३४ ये आठ सूक्त ।
२ मृगारः — २३-२९ ये सात सूक्त ।
३ ब्रह्मा— ५, १६, ३१, ३३ ये चार सूक्त ।
४ शुक्रः— १७-१९, ४० ये चार सूक्त ।
५ भृगुः— ९, १२, १४ ये तीन सूक्त ।
६ गरुत्मान्— ६, ७ ये दो सूक्त ।
७ बादरायणिः— ३७, ३८ ये दो सूक्त ।
८ ब्रह्मा स्कन्दः— ३१, ३२ ये दो सूक्त ।
९ वेनः— १, २ ये दो सूक्त ।
१० अङ्गिराः— ३९ यह एक सूक्त ।
११ अथर्वाङ्गिरसः— ८ यह एक सूक्त ।

१२ यातनः— ३६ यह एक सूक्त।
१३ प्रजापतिः ३५— यह एक सूक्त।
१४ भृग्वङ्गिराः— ११ यह एक सूक्त।
१५ मातृनामा— २० यह एक सूक्त।
१६ वसिष्ठः— २२ यह एक सूक्त।
१७ शंतातिः— १३ यह एक सूक्त।

ये ऋषिक्रमानुसार सूक्त हैं, अब देवताक्रमानुसार सूक्तक्रम देखिये—

१ वनस्पतिः— ४, ७, १२, १७-१९ ये छः सूक्त।
२ अग्निः— १४, २३, ३३, ३६ ये चार सूक्त।
३ अपामार्गः— १७-१९ ये तीन सूक्त।
४ इन्द्रः— ११, २२, २४ ये तीन सूक्त।
५ अप्सराः— ३७, ३८ ये दो सूक्त।
६ ऋषभः— ५, ३८ ये दो सूक्त।
७ चन्द्रमाः— ८, १३ ये दो सूक्त।
८ नानादेवताः— ३९, ४० ये दो सूक्त।
(बहुदेवताः) ३९, ४० ये दो सूक्त।
९ मन्युः— ३१-३२ ये दो सूक्त।
१० मरुत्— १५, २७ ये दो सूक्त।
११ रुद्रः— ३, २८ ये दो सूक्त।
१२ अजशृंगी— ३७ वां एक सूक्त।
१३ अञ्जनं— ९ वां एक सूक्त।
१४ अतिमृत्युः— ३५ वां एक सूक्त।
१५ अनडुत्— ११ वां एक सूक्त।
१६ आज्यं— १४ वां एक सूक्त।
१७ आत्मा— २ रा एक सूक्त।
१८ आदित्यः— १ ला एक सूक्त।
१९ आपः— ८ वां एक सूक्त।
२० गावः— २१ वां एक सूक्त।
२१ तक्षकः— ६ वां एक सूक्त।
२२ द्यावापृथिवी— २६ वां एक सूक्त।
२३ पर्जन्यः— १५ एक सूक्त।
२४ पाप्मा— ३३ वां एक सूक्त।
२५ प्रचेता अग्निः— २३ वां एक सूक्त।
२६ बृहस्पतिः— १ ला एक सूक्त।
२७ ब्रह्मौदनं— ३४ वां एक सूक्त।
२८ भवाशर्वौ— २८ वां एक सूक्त।
२९ मातृनामा— २० वां एक सूक्त।
३० मित्रावरुणौ— २९ वां एक सूक्त।
३१ वरुणः— १६ वां एक सूक्त।
३२ वाक्— ३० वां एक सूक्त।
३३ वायुः— २५ वां एक सूक्त।
३४ विश्वेदेवाः— १३ वां एक सूक्त।
३५ व्याघ्रः— ३ रा एक सूक्त।
३६ शंखमणिः— १० वां एक सूक्त।
३७ सत्यौजा अग्निः— ३६ वां एक सूक्त।
३८ सविता— २५ वां एक सूक्त।
३९ स्वापनं— ५ वां एक सूक्त।

इनके सिवाय ' बहुदेवताः, नाना देवताः, विश्वेदेवाः ' इन देवताओंके अन्दर कई अन्य देवतायें हैं उनको पाठक मंत्रोंके अन्दर देख सकते हैं। अब इस चतुर्थ काण्डके सूक्तोंके गण देखिये—

१ अंहोलिंगगण— २३-२९ ये सात सूक्त।
२ अपराजितगण— १९, २१, ३१ ये तीन सूक्त।
३ रौद्रगण— ३ यह एक सूक्त।
४ आयुष्यगण— १३ यह एक सूक्त।
५ दुःस्वप्ननाशनगण— १७ यह एक सूक्त।
६ पाप्मगण— ३३ यह एक सूक्त।
७ कृत्याप्रतिहरणगण— ४० यह एक सूक्त है।

इस काण्डके सूक्तोंका शांतियोंके स्थान संबंध देखना हो तो निम्नलिखित कोष्टक देखिये—

१ बृहच्छान्तिः— १, १३, २३-२९ ये नौ सूक्त।
२ ऐरावती महाशान्ति— ९ यह एक सूक्त।
३ वारुणी महाशान्ति— १० यह एक सूक्त।
४ प्राजापत्या महाशान्ति— १५ यह एक सूक्त।
५ वायव्या महाशान्ति— २५ यह एक सूक्त।
६ गांधर्वी महाशान्ति— ३७ यह एक सूक्त।

इस काण्डके सूक्तोंका अध्ययन करनेके समय इन गणोंका पाठक अवश्य विचार करें। क्योंकि इन गणोंका जो परिगणन पूर्व आचार्योंने किया है वह स्वाध्यायशील पाठकोंके हितार्थ ही किया है।

इतनी भूमिकाके साथ अब इस काण्डके सूक्तोंका विचार प्रारंभ करते हैं।

ॐ

अथर्ववेदका सुबोध भाष्य।

चतुर्थ काण्ड।

ब्रह्म-विद्या।

[सूक्त १]

(ऋषिः - वेनः। देवता - बृहस्पतिः, आदित्यः)

ब्रह्म जज्ञानं प्रथमं पुरस्ताद्वि सीमतः सुरुचो वेन आवः ।
स बुध्न्या उपमा अस्य विष्ठाः सतश्च योनिमसतश्च वि वः ॥ १ ॥

इयं पित्र्या राष्ट्र्येत्वग्रे प्रथमाय जनुषे भुवनेष्ठाः ।
तस्मा एतं सुरुचं ह्वारमह्यं घर्मं श्रीणन्तु प्रथमाय धास्यवे ॥ २ ॥

अर्थ— (**पुरस्तात् प्रथमं**) पूर्वकालसे भी प्रथम (**जज्ञानं ब्रह्म**) प्रकट हुए ब्रह्मको (**सु-रुचः सीम-तः**) उत्तम प्रकाशित मर्यादाओंसे (**वेनः वि आवः**) ज्ञानीने देखा है। (**सः**) वही ज्ञानी (**अस्य बुध्न्याः वि-स्थाः**) इसके आकाश संचारी विशेष रीतिसे स्थित और (**उप-माः**) उपमा देने योग्य सूर्यादिकोंको देखकर (**सतः च असतः योनिं**) सत् और असत्के उत्पत्तिस्थानको भी (**वि वः**) विशद करता है ॥ १ ॥

(**इयं भुवने-स्थाः पित्र्या राष्ट्री**) यह मनुष्योंके अन्दर रहनेवाली पितासे प्राप्त चमकनेवाली बुद्धि (**प्रथमाय जनुषे अग्रे एतु**) मुख्य जीवनके लिये आगे होवे। (**तस्मै प्रथमाय धास्यवे**) उस पहले धारण करनेवालेको अर्पण करनेके लिये (**एतं सुरुचं ह्वारं अ-ह्यं घर्मं श्रीणन्तु**) इस तेजस्वी, दुष्टोंको दबानेवाले, हीनतासे रहित, यज्ञको सिद्ध करें ॥ २ ॥

भावार्थ— सबसे प्रथम प्रगट हुए ब्रह्मको उसके प्रकाशकी मर्यादाओंके द्वारा ज्ञानी जानता है और वही ज्ञानी उपमा देने योग्य आकाशसंचारी सूर्यादि ग्रहों और नक्षत्रोंको देखकर सत् और असत्के मूल उत्पत्तिस्थानके विषयमें सत्य उपदेश करता है ॥ १ ॥

यह मनुष्योंके अन्दर रहनेवाली पितासे प्राप्त हुई तेजस्वी बुद्धि श्रेष्ठ जीवन व्यतीत करनेकी इच्छासे आगे बढे। तथा वह बुद्धि सबके मुख्य धारणकर्ता परमात्माके लिये समर्पण करनेके हेतुसे तेजस्वी, दुष्टोंको दूर करनेवाले, उच्च और श्रेष्ठ यज्ञको सिद्ध करे ॥ २ ॥

प्र यो ज॒ज्ञे वि॒द्वान॑स्य॒ बन्धु॒र्विश्वा॑ दे॒वानां॒ जनि॑मा विवक्ति ।
ब्रह्म॒ ब्रह्म॑ण॒ उज्ज॑भार॒ मध्या॑न्नी॒चैरु॒च्चैः स्व॒धा अ॒भि प्र त॑स्थौ ॥ ३ ॥
स हि दि॒वः स पृ॑थि॒व्या ऋ॑त॒स्था म॒ही क्षेमं॒ रोद॑सी अस्कभायत् ।
म॒हान्म॒ही अस्क॑भाय॒द्वि जा॒तो द्यां सद्म॒ पार्थि॑वं च॒ रजः॑ ॥ ४ ॥
स बु॒ध्न्यादाष्ट्र जनु॒षो॑ऽभ्यग्रं॒ बृह॒स्पति॑र्दे॒वता॒ तस्य॑ स॒म्राट् ।
अह॒र्यच्छु॒क्रं ज्योति॑षो॒ जनि॒ष्टाथ॑ द्यु॒मन्तो॒ वि व॑सन्तु॒ विप्राः॑ ॥ ५ ॥
नू॒नं तद॑स्य का॒व्यो हि॑नोति म॒हो दे॒वस्य॑ पू॒र्व्यस्य॒ धाम॑ ।
ए॒ष ज॑ज्ञे ब॒हुभिः॑ सा॒कमि॒त्था पूर्वे॒ अर्धे॒ विषि॑ते स॒सन्नु ॥ ६ ॥

अर्थ- (यः विद्वान्) जो विद्वान् (अस्य बन्धुः प्रजज्ञे) इसका बंधु होता है, वह (देवानां जनिमा विवक्ति) सब देवोंके जन्मोंको कहता है । (ब्रह्मणः ब्रह्म उज्जभार) ब्रह्मसे ब्रह्म प्रकट हुआ है । उसके (मध्यात् नीचैः उच्चैः) मध्यसे, निम्न भागसे और उच्च भागसे (स्व-धाः अभि प्र तस्थौ) उसकी निज धारक शक्तियां फैली हैं ॥ ३ ॥

(सः हि दिवः) वह ही द्युलोकका और (सः पृथिव्याः ऋत-स्थाः) वही पृथिवीका सत्य नियमसे ठहरानेवाला है । उसीने (मही रोदसी क्षेमं अस्कभायत्) बडे द्युलोक और पृथिवी लोकको घरके समान स्थिर किया है । (महान् जातः) वह बडा देव प्रकट होता हुआ (द्यां पार्थिवं सद्म रजः च) द्युलोक, पृथिवीके निवासस्थानको और अंतरिक्षलोकको (मही अस्कभायत्) विस्तृत रूप देकर स्थिर करता है ॥ ४ ॥

(तस्य सम्राट् देवता बृहस्पतिः) उस जगत्का सम्राट् बृहस्पति देव है और (सः बुध्न्यात् जनुषः अग्रं अभि आष्ट्र) वह पहिले जन्मसे भी पूर्वकालसे चारों ओर व्याप्त है । (अथ-यत् ज्योतिषः शुक्रं अहः अजनिष्ट) अब जो ज्योतिसे शुद्ध दिन उत्पन्न हुआ, उससे (द्युमन्तः विप्राः वि वसन्तु) प्रकाशित होनेवाले ज्ञानी विशेष प्रकारसे निवास करें ॥ ५ ॥

(काव्यः नूनं) ज्ञानी निश्चयसे (अस्य पूर्व्यस्य देवस्य तत् महः धाम) इस प्राचीन देवका वह महान् धाम (हिनोति) प्राप्त करता है । (इत्था बहुभिः साकं एषः जज्ञे) इस प्रकार बहुतोंके साथ यह ज्ञानी उत्पन्न हुआ था, परंतु जिस समय (पूर्वे अर्धे वि-सिते) पूर्व दिशाका आधा द्वार खुला, तब उनमेंसे प्रत्येक (ससन् नु) सोता ही रहा ॥ ६ ॥

भावार्थ— जो ज्ञानी इस परमात्माका बन्धु बनता है वही देवोंके देवत्वके विषयमें सत्यज्ञान कहता है । परब्रह्मसे ज्ञानका प्रकाश हुआ है और उसके निम्न, मध्य और उच्च अर्थात् सब अंगोंसे धारक शक्तियां चारों ओर फैली हैं ॥ ३ ॥

वही एक देव द्युलोक और पृथ्वीलोक आदियोंको सत्य नियमोंसे अपने अपने स्थानमें स्थिर करनेवाला है । उसीने इस द्युलोक और पृथ्वीलोकको घर जैसा बनाया है । उसी प्रकट हुए महान देवने द्युलोक, अन्तरिक्षलोक और इस हमारे घरके समान भूलोकको विस्तृत और महान् बनाकर अपने अपने स्थानमें सुदृढ किया है ॥ ४ ॥

इस जगत्का एक सम्राट् बृहस्पति देव है, वह आदिकालसे चारों ओर पूर्ण रीतिसे फैला हुआ है । उसकी ज्योतिसे जो पवित्र दिनका प्रकाश होता है, उससे प्रकाशित होनेवाले ज्ञानी विशेष प्रकारसे जीवन व्यतीत करें ॥ ५ ॥

ज्ञानी निश्चयसे इस प्राचीन देवका वह प्रसिद्ध महान् धाम प्राप्त करता है । वस्तुतः ज्ञानीका जन्म अनेक मनुष्योंके जन्मोंके साथ हुआ होता है, परन्तु प्रयत्नसे ज्ञानीके लिये जिस समय वह पूर्व महाद्वार थोडासा खुल जाता है, उस समय जाग्रत रहनेके कारण उसमें ज्ञानी प्रविष्ट होता है, परन्तु अन्य लोग बाहर ही सोये पडे रहते हैं ॥ ६ ॥

योऽथर्वाणं पितरं देवबन्धुं बृहस्पतिं नमसाव च गच्छात् ।
त्वं विश्वेषां जनिता यथासः कविर्देवो न दभायत्स्वधावान् ॥ ७ ॥

अर्थ— (यः) जो (अथर्वाणं पितरं देवबन्धुं) निश्चय पिता देवोंके भाई (बृहस्पतिं नमसा च अव गच्छात्) बृहस्पतिदेवको नमस्कारके साथ ऐसे जानें । ' (त्वं विश्वेषां जनिता असः) तू सबका उत्पादक हो, (यथा कविः स्वधावान् देवः न दभायत्) और ज्ञानी, स्वकीय सामर्थ्य युक्त देव कभी दबाया नहीं जाता ' ॥ ७ ॥

भावार्थ— मनुष्य, देवोंके भाई, परमपिता निश्चल बृहस्पतिका नम्रताके साथ की हुई उपासनाद्वारा इस प्रकार ज्ञान प्राप्त करता है कि ' हे देव ! तू सबका उत्पादक है, तू ही ज्ञानी और स्वकीय सामर्थ्यसे युक्त है और तू ही कभी न दबनेवाला है ' ॥ ७ ॥

ब्रह्मकी विद्या ।

इस सूक्तमें ' ब्रह्मकी विद्या । ' बडी मनोहर रीतिसे कही है । जो ब्रह्मविद्याका मनन करते हैं, उनके लिये यह सूक्त बडा बोधप्रद होगा । इसका पहिला कथन यह है—

प्राचीन देव ।

पुरस्तात् प्रथमं ब्रह्म जज्ञानम् । (सू. १, मं. १)

' सबसे अति प्राचीन कालकी जो भी कल्पना की जा सकती है उससे भी अत्यन्त प्राचीन कालसे यह परब्रह्म अपने ही प्रकाशसे प्रकाशित हो रहा है । ' जिस समय अन्य कोई भी पदार्थ उत्पन्न ही नहीं हुआ था, उस समयसे स्वयं प्रकाशी ब्रह्म प्रकाशित हो रहा है । इसका तात्पर्य यह है कि यह ब्रह्म स्वयं प्रकाशित है, प्रकाशित होनेके लिये इसको किसी अन्यकी सहायता नहीं लेनी पडती है । इसके अति प्राचीन होनेके विषयमें इसी सूक्तमें निम्नलिखित वचन देखने योग्य हैं—

१ प्रथमाय तस्मै धास्यवे । (सू. १, मं. २)
२ मह्नं स शुष्म्यात् जनुषः अभि आहू । (सू. १, मं. ५)
३ पूर्व्यस्य अस्य देवस्य तत् धाम । (सू. १, मं. ६)

' (१) सबसे पहिला वह धारक है । (२) सबसे प्रथम जिसकी उत्पत्ति हुई है उससे भी पहिले वह चारों ओर व्याप्त है । (३) सबसे पुराने इस देवका वह स्थान है । '

इन मंत्रोंमें इस देवके अति प्राचीन होनेके विषयमें निश्चयात्मक वर्णन है । इससे सिद्ध होता है कि यह देव स्वयंसिद्ध अथवा स्वयंभू, सर्वाधार और सब जगत्की उत्पत्ति होनेके पूर्वकालसे भी विद्यमान है ।

इसका ज्ञान ।

इसका ज्ञान किस रीतिसे हो सकता है, इस विषयमें विचार करनेके लिये निम्नलिखित मंत्र बडी सहायता देता है—

सुरुचः सीमतः वेनः वि आवः । (सू. १, मं. १)

' (सु-रुचः) उत्तम प्रकाशमान (सीमा-तः) सीमाओंसे ही (वेनः) ज्ञानी मनुष्य उसको देखता है । ' जिस प्रकार बादलोंसे छिपा हुआ सूर्य बादलोंके चमकनेवाले किनारोंसे ही जाना जाता है, उसी प्रकार सूर्यचन्द्रादियोंके पीछे रहकर सूर्यादियोंको चमकानेवाला यह देव इन गोलोंकी चमकाहटसे ही जाना जाता है । ' जिसको सूर्यादि प्रकाशित नहीं करते परन्तु जिसके तेजसे सूर्यादि प्रकाशित हो रहे हैं, वह ब्रह्म है । ' अर्थात् सूर्यादियोंके सुप्रकाशित सीमाओंको देखनेसे और विचार करनेसे परमात्माका ज्ञान होता है । सृष्टिमें उसका कार्य देखनेसे ही उस परमात्माका ज्ञान हो सकता है । उसके ज्ञानके लिये दूसरा कोई मार्ग नहीं है ।

इसके लिये उपमा ।

यह परमात्मा प्रत्यक्ष दीखता नहीं है, सृष्टीमें उसका कार्य देखकर उसका अनुमान होता है, अथवा उपमाओंसे भी उसका वर्णन किया जाता है जैसा—

अस्य उपमाः बुध्न्याः वि-स्थाः । (सू. १, मं. १)

' इसके लिये उपमाएं (बुध्न्याः) आकाशमें (वि-स्थाः) विशेष रीतिसे रहनेवाले जो सूर्यादि गोल हैं वे ही हैं । ' अर्थात् उस परमात्माका यदि वर्णन करना हो तो ' वह सूर्यका भी सूर्य है, ' ' वह चन्द्रमाका भी चन्द्रमा है ' इस प्रकार किया जाता है । अर्थात् सूर्यादिकोंकी उपमा उसको देकर ही उसके विषयमें ज्ञान दिया जाता है । या तो मनुष्य सृष्टिमें उसका

कार्य देखकर उसके विषयमें अनुमान करे अथवा सूर्यादि गोलोंका भी यह प्रकाशक है इसलिये यह सूर्यका भी सूर्य है ऐसा जाने। यह रीति है जिससे उसके विषयमें कुछ अनुमान हो सकता है।

आदि कारण।

सबका आदि कारण वह परमात्मा ही है। सत् और असत्, बहुत समय ठहरनेवाले और क्षणभंगुर ऐसे जो पदार्थ हैं, उनका मूल आदि कारण वह है। देखिये—

सतः असतः च योनिं सः वि वः। (सू. १, मं. १)

' सत् और असत्का आदि कारण वह है इस विषयमें यथायोग्य विवरण ज्ञानी ही करता है।' अन्य मनुष्योंको उसके विषयमें पता नहीं होता। वे उसके विषयमें पूर्ण अज्ञानी रहते हैं।

श्रेष्ठ जीवन।

ज्ञानी अपना जीवन किस प्रकार व्यतीत करता है यह एक बडे महत्त्वका विषय है, इसका विवेचन द्वितीय मंत्रमें किया है वह इस समय देखिये—

इयं पित्र्या राष्ट्र्येत्वग्रे प्रथमाय जनुषे भुवनेष्ठाः।
तस्मा एतं सुरुचं ह्वारमह्यं घर्मं श्रीणन्तु प्रथमाय धास्यवे॥ (सू. १, मं. २)

' मनुष्योंके अन्दर रहनेवाली पितासे प्राप्त हुई मनुष्यकी बुद्धि प्रथम श्रेणीका श्रेष्ठ जीवन व्यतीत करनेके लिये उत्सुक होकर आगे बढे और सर्वाधार परमात्माकी संतुष्टिके लिये ही इस सुन्दर श्रेष्ठ यज्ञ कर्मको करे।' इस मंत्रके कुछ शब्द मनन करने योग्य हैं—

१ **भुवनेष्ठाः** (भुवने-स्थाः) = भुवनमें रहनेवाली। ' भुवन ' शब्दका अर्थ है— ' मनुष्य, मानवजाति, प्राणी, जगत्, उत्पन्न हुए हुए पदार्थ, पृथिवी, घर, स्थान और अभ्युदयको प्राप्त स्थिति।' इनमेंसे यहां ' मनुष्य अथवा मानवजाती यह अर्थ अभिप्रेत है, क्योंकि इनमें रहनेवाली शक्ति (प्रथमाय जनुषे) प्रथम श्रेणीका जीवन व्यतीत करनेके लिये (अग्रे एतु) आगे बढे अर्थात् उत्साहसे अपने जीवनका सुधार करे, ऐसा कहा है। मानवेतर प्राणी या पदार्थोंमें इसकी संभावना नहीं है इसलिये मनुष्य विषयक अर्थ ही यहां अपेक्षित है।

२ **पित्र्या राष्ट्री**= (पित्र्या) पितासे आनुवंशिक शुभ संस्कारोंसे सुसंस्कृत (राष्ट्री) तेजस्वी सुप्रकाशित बुद्धि।

इस प्रकारकी बुद्धि मनुष्यके अन्दर शुभ संकल्प सुदृढ करे और इस संकल्पके बलसे मनुष्य बलवान बनकर (प्रथमाय जनुषे) प्रथम अर्थात् श्रेष्ठ दर्जेका जीवन व्यतीत करनेका उत्साह अपने मनमें बढावे। उत्साहसे वह श्रेष्ठ जीवन व्यतीत करे। बीचमें कोई प्रलोभन आवे तो उसमें न फंसे और कोई विघ्न उत्पन्न हो जावे तो हताश न होवे। अर्थात् शुभाशुभ अवस्थाएं प्राप्त होनेपर भी अपना श्रेष्ठ मार्ग न छोडे। इसके पश्चात्—

प्रथमाय धास्यवे घर्मं श्रीणन्तु। (सू. १, मं. २)

' सबके मुख्य आधारभूत परमात्माके लिये यज्ञ सिद्ध करे।' अर्थात् यज्ञ करे और वह उसको समर्पण करनेकी बुद्धिसे ही करे, क्योंकि यज्ञका मुख्य वही है और सभी यज्ञ उसीके लिये किये जाते हैं।

यज्ञका लक्षण।

इसी मंत्रमें यज्ञका लक्षण तीन शब्दों द्वारा बताया है, इसलिये यज्ञका स्वरूप देखनेके लिये इन तीन शब्दोंका मनन करना चाहिये—

१ **अ-ह्रां**- (अह्रीनं)= जिसमें हीनता नहीं है; जिसमें हीन या त्याज्य भाव बिलकुल नहीं है, अर्थात् जो उच्चभावसे युक्त है।

१ **सुरुचं** = अत्यंत तेजस्वी। तेजस्विता बढानेवाला।

३ **ह्वारं**= दबानेवाला, बुराइयोंको और दुष्टताको दबाकर टेढा करनेवाला, दुष्टताको ऊपर सिर उठानेके लिये अवसर न देनेवाला।

' घर्म ' यह यज्ञवाचक शब्द यहां है, इसका अर्थ ' उष्णता, सूर्यप्रकाश, यज्ञ ' ऐसा है। यहां उष्णताका तात्पर्य मनुष्यके मनकी उष्णता अर्थात् उत्साहशक्ति है। जिस श्रेष्ठ कर्मसे मनुष्यका पुरुषार्थ प्राप्ति विषयक उत्साह बढता है उस यज्ञकर्मका नाम ' घर्म ' है। पूर्वोक्त प्रकारका मनुष्य इस प्रकारके श्रेष्ठ यज्ञ करे और अपने जीवनको सार्थक करे।

परमात्माका सामर्थ्य।

चतुर्थ मंत्रमें कहा है कि वही सबका आधार है, जिसने इस संपूर्ण जगत्को ठहरा रखा है—

१ **स हि दिवः पृथिव्याः च ऋतस्थाः।** (सू. १, मं. ४)

१ **सः मही रोदसी क्षेमं अस्कभायत्।** (सू. १, मं. ४)

३ **द्यां पार्थिवं सद्म रजः च स जातः मही अस्कभायत्।** (सू. १, मं. ४)

'(१) उसने द्युलोक और पृथ्वीलोकको सत्य नियमोंसे धारण किया है। (२) बडी यावा पृथिवीको उसीने सुखपूर्ण किया है, और (३) द्युलोक, पृथ्वीलोक और अंतरिक्षको उसी सुप्रसिद्ध परमात्माने विस्तृत और सुदृढ बनाया है।'

इस संपूर्ण जगत्‌का रचयिता वही परमात्मा है और वह इसको अपने सत्यनियमोंसे रचता है, चलाता है और सुदृढ करता है। इसी विषयमें सप्तम मंत्रका कथन यहां देखिये—

त्वं विश्वेषां जनिता यसः। (सू. १, मं. ७)

'तू सबका उत्पन्न कर्ता है' इसमें असंदिग्ध रीतिसे कहा है कि वही सबका उत्पादक है। यही बात भिन्न शब्दों द्वारा तृतीय मंत्रमें भी कही है—

ब्रह्म ब्रह्मणः उज्जभार। (सू. १, मं, ३)
मध्यात् नीचैः उच्चैः स्वधा अभिप्रतस्थौ।
(सू. १, मं. ३)

'ब्रह्म-ब्रह्मसे प्रकट हुआ है, उसीके मध्यसे, निम्नभागसे और उच्च भागसे उसकी अपनी धारकशक्तियां चारों ओर फैली हैं।' ब्रह्मसे ब्रह्म प्रकट होता है, और उसीसे अनंत धारकशक्तियां उत्पन्न होती हैं और उनसे इस विश्वका धारण होता है।

'ब्रह्म' शब्दका अर्थ 'परब्रह्म, परमात्मा, आत्मा, ज्ञान, मंत्र, वेद, ब्राह्मण, भक्त, तप, पवित्राचरण, धन, अन्न, सूर्य, बुद्धि, प्रजापति' ये हैं। यहां एक 'ब्रह्म' शब्दका अर्थ परमात्मा है और दूसरे 'ब्रह्म' शब्दका अर्थ 'आत्मा, ज्ञान, बुद्धि, तप' आदि हैं। ब्रह्मके अन्दर 'स्व-धा' निजधारकशक्ति है वही सबका धारण करती है। इसमें निजशक्ति होनेसे किसी अन्यकी शक्तिकी अपेक्षा यह नहीं करता। यही दूसरोंको शक्ति देता है, यही इसका परम सामर्थ्य है। इसीसे ये सूर्यचन्द्रादि तेजके गोले बने हैं और उसीकी शक्तिसे अपने अपने स्थानमें स्थित हैं।

ज्ञानी।

इस परमात्माका जो बंधु होता है अर्थात् जो भाई जैसा इसके साथ व्यवहार करता है वही इसके सामर्थ्यका वर्णन कर सकता है—

यः विद्वान् अस्य बन्धुः अभ्रे,
सः देवानां जनिमा विवक्ति॥ (सू. १, मंत्र ३)

'जो ज्ञानी इसका भाई करके प्रसिद्ध होता है वही इस परमात्मासे उत्पन्न हुए हुए सूर्यादि देवोंकी उत्पत्त्यादिके विषयमें यथायोग्य विवरण कर सकता है।' क्योंकि वही मनुष्य ठीक रीतिसे उस परमात्माकी शक्तिको जानता है। उसका भाई बननेका तात्पर्य उच्चाधिकारसे संपन्न होना है। जीवात्मा उस परमात्माका जैसा 'अमृतपुत्र' है, वैसा ही उसका 'बंधु' भी है। ये शब्द जीवात्माकी उन्नतिके दर्जे बताते हैं। वस्तुतः भाई आदि संबंध यहां लाक्षणिक ही हैं, ये संबंधवाचक मनुष्यकी उन्नतिकी अवस्था बतानेवाले हैं।

यह मनुष्यकी योग्यता किस रीतिसे बढती है इस विषयमें पञ्चम मंत्रका एक वचन बडा मनोरंजक है; वह अब देखिये—

अध यत् ज्योतिषा शुक्रं अहः जनिष्ट
(तेन) द्युमन्तः विप्राः वि वसन्तु। (सू. १, मं. ५)

'जो परमात्माकी ज्योतिका प्रकाशपूर्ण दिन होता है, उसके प्रकाशसे प्रकाशित हुए हुए ज्ञानी विशेष प्रकारसे रहें,' अर्थात् उनका रहना सहना विशेष नियमोंसे बंधा होना चाहिये। विशेष परिशुद्ध रीतिसे जीवन व्यतीत करनेसे ही उनकी योग्यता बढती है। इनको परमात्माके प्रकाशसे प्रज्वलित हुए हुए दिनका सर्वत्र अनुभव होना चाहिये। जहां वे विचरें वहां परमात्माकी अखंड ज्योति उनको दिखाई देनी चाहिये। उसीके उजालेसे उसके व्यवहारका मार्ग प्रकाशित होना चाहिये, तभी उन्नतिकी संभावना है।

सूर्यके प्रकाशसे जो 'दिन' होता है उसकी उस परमात्माके प्रकाशसे होनेवाले 'दिन' के साथ तुलना करनेसे वह दिन कहलानेके भी योग्य नहीं है। क्योंकि सूर्य परमात्माके प्रकाशसे प्रकाशित होता है, इसलिये परमात्माके प्रकाशका महत्त्व सब अन्य प्रकाशोंसे विशेष ही है।

ज्ञानीकी जाग्रती।

जो विद्वान् इस प्रकारके मार्गसे अपनी उन्नति करनेका इच्छुक है उसको उचित है कि वह जाग्रत रहे, प्राप्त अवसरसे योग्य लाभ लेता जाय। ऐसा करनेसे ही उसकी निःसन्देह उन्नति होती है। यदि अवसर आनेपर वह सो जावे तो वह पीछे रहेगा; इस विषयमें छठा मंत्र बडा महत्त्वपूर्ण उपदेश दे रहा है—

१ एष बहुभिः साकं इत्था जज्ञे। (सू. १, मं. ६)
२ (परंतु) अस्य पूर्व्यस्य देवस्य तत् महः
धाम काव्यः नूनं हिनोति। (सू. १, मं. ६)
३ (अन्ये) पूर्वे अर्धे विसिते ससन् नु।
(सू. १, मं. ६)

'(१) यह ज्ञानी बहुतसे अन्य मनुष्योंके साथ-साथ उत्पन्न हुआ था, (२) परंतु प्राचीन देवका वह श्रेष्ठ धाम यहां अकेला ज्ञानी ही प्राप्त करता है, (३) इसके साथ अन्य

हुए अन्य साधारण लोग पूर्वका महाद्वार जिस समय खुल गया था उस समय सोये पडे थे । ' द्वार खुल जानेके समय ज्ञानी जागता था इस कारण ज्ञानीका प्रवेश देवताके स्थानमें हुआ, अन्य लोग सोये पडे थे इस कारण वे अंदर प्रविष्ट न हो सके। यह मंत्र अवसरके महत्त्वका वर्णन कर रहा है।

जिस दिन ज्ञानी जन्मा था उसी दिन इस पृथ्वीपर सहस्रों मनुष्य जन्मे थे, परंतु योग्य अवसरको गवा देनेसे अन्य मनुष्य पीछे रह गए और जागता हुआ ज्ञानी प्राप्त अवसरसे योग्य लाभ लेनेके कारण आगे बढ सका। मनुष्य केवल जन्मके कारण उच्च नहीं होता उसको जागते हुए अपनी उन्नतिका प्रयत्न करना चाहिये, तभी उसकी उन्नतिकी संभावना है। जो पाठक अपनी आध्यात्मिक उन्नति करनेके इच्छुक हैं वे इस मंत्रका योग्य मनन करके उचित बोध प्राप्त करें।

नमन और गुणचिंतन।

इस सूक्तके अंतिम सप्तम मंत्रमें ज्ञानी बननेके मुख्य दो साधन कहे हैं, एक परमात्माकी भक्तिसे नमन करना और दूसरा उसके गुणोंका चिन्तन करना। इन दोनों साधनोंका अब विचार कीजिये—

'यः अथर्वाणं पितरं देवबन्धुं बृहस्पतिं नमसा अवगच्छात्। (सू. १, मं. ७)

' निश्चल परमपिता संपूर्ण देवोंका बन्धु, जो सर्वज्ञ देव है, उसको जो मनुष्य नमन करता है वही उसको जानता है।'

भक्तिसे परमात्माकी शरण जाना, उसको प्रेमपूर्ण हृदयसे प्रणाम करना, उसके सामने नम्र होना, ये मार्ग हैं जिससे कि मनुष्य उच्च होता रहता है। आध्यात्मिक उन्नतिके लिये, तथा आत्मिक शक्तिका विकास करनेके लिये नम्र होनेकी अत्यंत आवश्यकता है। नम्र होनेके सिवाय आत्माकी शक्ति विकसित नहीं हो सकती। नम्रतापूर्ण अंतःकरणसे परमात्माका गुणचिंतन करना चाहिये, वह इस प्रकार किया जाता है—

१ त्वं विश्वेषां जनिता असः। (सू. १, मं. ७)

१ कविः स्वधावान् देवः न दभायत्। (सू. १, मं. ७)

' हे देवाधिदेव ! तू ही सबका एक उत्पादक है। हे देव ! तू ज्ञानी, निजसामर्थ्यसे युक्त है, इसलिये तुझे कोई भी दबा नहीं सकता। ' इत्यादि प्रकारसे उस प्रभुका गुणगान करना चाहिये। इसी प्रकार—

तस्य सम्राड् देवता बृहस्पतिः। (सू. १, मं. ५)

' इस जगत्का सच्चा एक सम्राट् बृहस्पति देव है। ' यहां बृहस्पतिदेव परमात्मा ही है। ' बृहस्पति ' का अर्थ ' ज्ञानका स्वामी, बडे विश्वका प्रभु ' ऐसा होता है। इस सूक्तका यही देवता है। जो परब्रह्म परमात्माकी सर्वज्ञताका वर्णन कर रहा है।

इस सूक्तमें परब्रह्मका स्वरूप, उसका सामर्थ्य, उसकी प्राप्तिका उपाय इत्यादि महत्त्वपूर्ण बातें कही हैं, जो पाठक ब्रह्मविद्याके अभ्यासी हैं, उनको इसके मननसे बडा लाभ हो सकता है।

किस देवताकी उपासना करें ?

[सूक्त २]

(ऋषिः - वेनः । देवता - आत्मा)

य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः।
योऽस्येशे द्विपदो यश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ १ ॥

अर्थ - (कस्मै देवाय हविषा विधेम ?) किस देवताकी समर्पण द्वारा हम सब पूजा करें ? (यः आत्म-दाः बल-दाः) जो आत्मिक बल देनेवाला और अन्य सब बल देनेवाला है, तथा (यस्य प्रशिषं विश्वे देवाः उपासते) जिसकी आज्ञा सब देव मानते हैं और (यः अस्य द्विपदः, यः चतुष्पदः ईशे) जो इस द्विपाद और चतुष्पादका स्वामी है। इसीकी पूजा सबको करनी योग्य है ॥ १ ॥

भावार्थ— किस देवताकी हम पूजा करें ? जो देव आत्मिक बल देनेवाला है, तथा जो अन्य बल भी देता है, जिसकी आज्ञाका पालन संपूर्ण अन्य देव करते हैं, जो द्विपाद और चतुष्पादोंका एक मात्र प्रभु है ॥ १ ॥

यः प्राणतो निमिषतो महित्वैक इद्राजा जगतो बभूव ।
यस्य च्छायामृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ २ ॥
यं क्रन्दसी अवतश्चस्कभाने भियसाने रोदसी अह्वयेथाम् ।
यस्यासौ पन्था रजसो विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ३ ॥
यस्य द्यौरुर्वी पृथिवी च मही यस्याद उर्व१न्तरिक्षम् ।
यस्यासौ सूरो विततो महित्वा कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ४ ॥
यस्य विश्वे हिमवन्तो महित्वा समुद्रे यस्य रसामिदाहुः ।
इमाश्च प्रदिशो यस्य बाहू कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ५ ॥

अर्थ— (**कस्मै देवाय हविषा विधेम ?**) किस देवताकी उपासना यजनद्वारा हम सब करें ? (**यः प्राणतः निमिषतः जगतः**) जो श्वास उच्छ्वास करनेवाले और आंखें मूंदनेवाले जगत्का (**महित्वा एकः राजा बभूव**) अपनी महिमासे एक ही राजा हुआ है । (**यस्य छाया अमृतं**) जिसका आश्रय अमृतत्व देनेवाला है और (**यस्य मृत्युः**) जिसका आश्रय न करना ही मृत्यु है, उस देवताकी पूजा हम सबको करनी चाहिये ॥ २ ॥

(**कस्मै देवाय हविषा विधेम ?**) किस देवताकी हम उपासना यज्ञ द्वारा करें ? (**चस्कभाने क्रन्दसी यं अवतः**) लडने भिडनेवाली दो सेनायें जिसकी शरण जाती हैं और (**भियसाने रोदसी अह्वयेथाम्**) डरनेवाले द्युलोक और पृथ्वीलोक जिसको पुकारते हैं, (**यस्य रजसः असौ पन्थाः विमानः**) जिसके लोकको जानेका यह मार्ग विशेष सम्मान बढानेवाला है, उस देवताकी हम सबको पूजा करनी चाहिये ॥ ३ ॥

(**कस्मै देवाय हविषा विधेम ?**) किस देवताकी हम यजन द्वारा उपासना करें ? (**यस्य महित्वा**) जिसकी महिमासे (**उर्वी द्यौः**) विस्तीर्ण द्युलोक, (**च मही पृथिवी**) और बडी पृथ्वी तथा (**यस्य अदः उरु अन्तरिक्षं**) जिसकी महिमासे यह लंबाचौडा अन्तरिक्ष और (**यस्य असौ सूरः विततः**) जिसकी महिमासे यह सूर्य अपने प्रकाशसे फैल रहा है, उस देवताकी हम पूजा करें ॥ ४ ॥

(**कस्मै देवाय हविषा विधेम ?**) किस देवताकी हम पूजा करें ? (**यस्य महित्वा**) जिसकी महिमासे (**विश्वे हिमवन्तः**) सब हिमवाले पहाड खडे हैं और (**यस्य समुद्रे इत् रसां आहुः**) जिसकी महिमासे समुद्रमें भी भूमि रही है । (**इमाः च प्रदिशः यस्य बाहू**) और ये दिशायें जिसकी बाहु हैं उस देवकी हम सब पूजा करें ॥ ५ ॥

भावार्थ— जो अपनी सामर्थ्यके कारण श्वासोच्छ्वास करनेवाले और आंख मूंदने और न मूंदनेवालोंका एक मात्र राजा है, जिसका आश्रय अमरत्व देनेवाला है और जिससे दूर होना ही मृत्यु है ॥ २ ॥

लडनेवाली दोनों सेनाएं विजय प्राप्त्यर्थ जिसकी शरण जाती हैं, वे द्यावापृथ्वी डरके समय जिसको सहायताके लिये पुकारते हैं, तथा जिसकी प्राप्तिका मार्ग उसपरसे चलनेवालेकी योग्यता बढानेवाला होता है ॥ ३ ॥

जिसकी महिमासे द्युलोक विस्तीर्ण हुआ है, यह पृथ्वी बडी बनी है और यह अंतरिक्ष लंबा-चौडा बना है तथा जिसकी सामर्थ्यसे सूर्य प्रकाशता है ॥ ४ ॥

जिसके बलसे ये हिमयुक्त ऊंचे पर्वत खडे हुए हैं, प्राणियोंके रहनेके लिये समुद्रमें भूमि बनी है और सब दिशा उपदिशाएं जिसकी बाहुओंके समान फैली हैं ॥ ५ ॥

आपो अग्रे विश्वमावन्गर्भं दधाना अमृता ऋतज्ञाः ।
यासु देवीष्वधि देव आसीत्कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ६ ॥
हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।
स दाधार पृथिवीमुत द्यां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ७ ॥
आपो वत्सं जनयन्तीर्गर्भमग्रे समैरयन् ।
तस्योत जायमानस्योल्ब आसीद्धिरण्ययः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ८ ॥

अर्थ— (कस्मै देवाय हविषा विधेम ?) हम किस देवताकी पूजा करें ? (ऋतज्ञाः अमृताः) सत्य नियमसे चलनेवाली जीवनशक्तिसे युक्त और (गर्भं दधानाः आपः) गर्भको धारण करनेवाले जलने (अग्रे विश्वं आवन्) प्रारंभमें विश्वको गति दी थी। (यासु देवीषु अधि देवः आसीत्) जिन दैवी शक्तियोंके ऊपर एक देव विराजता है उस देवताकी हम सब पूजा करें ॥ ६ ॥

(कस्मै देवाय हविषा विधेम ?) हम किस देवताकी पूजा करें ? जो (अग्रे हिरण्यगर्भः समवर्तत) प्रारंभमें सुवर्ण जैसे चमकनेवाले पदार्थोंको अपने गर्भमें धारण करनेवाला था, (भूतस्य एकः पतिः आसीत्) भूतमात्रका एक ही स्वामी था, (सः दाधार पृथिवीं उत द्यां) उसीने भूमि और द्युलोकका धारण किया है, उस एक देवकी हम सब पूजा करें ॥ ७ ॥

(कस्मै देवाय हविषा विधेम ?) किस देवताकी हम उपासना करें ? (अग्रे वत्सं जनयन्तीः) जगत्‌के प्रारंभमें बालकको जन्म देनेवाली (आपः गर्भं समैरयन्) जलधाराओंने गर्भको प्रेरित किया (उत तस्य जायमानस्य) उस उत्पन्न होनेवाले बालकका जो (हिरण्ययः उल्बः आसीत्) सुवर्ण जैसा झिल्लीरूप था, उसकी हम सब उपासना करें ॥ ८ ॥

भावार्थ— सत्य नियमसे चलनेवाली, जीवन देनेवाली, गर्भ धारण करके प्रजा उत्पन्न करनेवाली प्रकृतिरूप जलकी धाराएं जब विश्वरचनाके लिये आगे बढीं तब उनका संचालन करनेवाला जो एक देव था ॥ ६ ॥

जिसके अन्दर सूर्यके समान हजारहों चमकनेवाले गोले रहते हैं, इस उत्पन्न हुए संपूर्ण जगत्‌का जो एक ही सच्चा स्वामी है और जिसने द्यावापृथिवीका धारण किया है ॥ ७ ॥

प्रारंभमें सृष्टिकी उत्पत्ति करनेवाले मूल प्रकृतिके प्रवाह जब प्रेरित हुए, उस समय उत्पन्न होनेवाले पदार्थ मात्रका, गर्भके ऊपरकी झिल्लीके समान जो तेजस्वी संरक्षक था; उसीकी सबको उपासना करनी चाहिये ॥ ८ ॥

हम किस देवताकी उपासना करें ?

हरएक उपासकके सन्मुख 'हम किस देवताकी उपासना करें' यह प्रश्न आता है, और हरएक धर्मने इसका उत्तर अनेक प्रकारसे दिया है। वेदके सन्मुख भी यही प्रश्न आया है; चारों वेदोंमें यह प्रश्न उठाया है और उसका उत्तर बडी तत्त्वज्ञानकी दृष्टिसे दिया है। इस सूक्तमें यह प्रश्न आठवार उठाया है और इतने ही मंत्रों द्वारा विभिन्न पहलुओंसे इसका उत्तर दिया है। यह विषय बडे महत्त्वका है इसलिये इसका विचार यहां करना अत्यंत आवश्यक है।

वस्तुतः यह सूक्त अति सरल है; तथापि इसमें कई महत्त्वपूर्ण बातोंका उल्लेख है, इसलिये 'कस्मै देवाय हविषा विधेम ?' इस प्रश्नके प्रत्येक उत्तरका आवश्यक विचार हम यहां करते हैं।

प्रश्नका महत्त्व !

इसमें जो प्रश्न किया है वह यह है—

कस्मै देवाय हविषा विधेम ? (सू. २, मं. १-८)

'किस देवके लिये हविसे करें' यह प्रश्नके शब्दोंका अर्थ है। हविसे क्या करेंगे वह यहां कहा नहीं है। हविसे हवन करते हैं, हवनका अर्थ 'आहुति समर्पण' है। हवनमें हवन

सामग्रिकी आहुतियां डाल देते हैं और प्रत्येक आहुति देनेके समय कहते हैं कि—

अग्नये स्वाहा, अग्नय इदं, न मम।

इन्द्राय स्वाहा, इन्द्राय इदं, न मम।

'अग्निके लिये यह अर्पण है, यह अग्निका है, मेरा नहीं। इन्द्रके लिये यह समर्पण है, यह इन्द्रका है, मेरा नहीं है।' ये हविके हवनके मंत्र बताते हैं कि हविसे जो हवन किया जाता है, वह पूर्णतया समर्पण किया जाता है अर्थात् उसपरका अपना अधिकार छोडा जाता है। यह यज्ञका आशय मनमें लाकर इस प्रश्नका विचार कीजिये तो आपको प्रतीत होगा कि 'किस देवताके लिये हम अपना समर्पण करें; किस देवताके हेतु हम अपना त्याग करें, किस (देवाय इदं) देवताके लिये यह है और (न मम) मेरा नहीं ऐसा हम कहें' यह सार इस प्रश्नका है। जिस देवताने यह सब हमें दिया है उसके लिये अपना समर्पण करना हमारा कर्तव्य ही है, इसलिये उस देवताका पता हमें कैसे लगेगा इसकी खोज करनी चाहिये, इस खोजके लिये उस देवताके निम्न लिखित लक्षण इस सूक्तमें कहे हैं—

१ **यः आत्मा-दाः**— जो आत्माका देनेवाला है, जिसने आत्मा दिया है, अर्थात् अपने समान बननेकी योग्यतासे युक्त आत्मा जिसने हम मनुष्यों या प्राणियोंके अंदर रखा है।

२ **यः बल-दाः**— जो बल देनेवाला है। आत्मिक, बौद्धिक, मानसिक और शारीरिक बल जिससे प्राप्त होता है।

३ **विश्वेदेवाः यस्य प्रशिषं उपासते**— सब अन्य देव जिसकी आज्ञाका पालन करते हैं, अर्थात् सूर्यादि देवता जगतमें, ब्राह्मण क्षत्रियादि विद्वान् राष्ट्रमें और नेत्रादि इंद्रियशक्तियां शरीरमें जिसके नियमानुसार चलते हैं। तीन स्थानोंमें ये तीन देव हैं और ये उसके नियममें रहकर अपना कार्य करते हैं।

४ **यः द्विपदः चतुष्पदः ईशे**— जो द्विपाद और चतुष्पादोंका स्वामी है। सब पशुपक्षियोंका जो एक जैसा पालन करता है।

५ **यः प्राणतः निमिषतः जगतः महित्वा एकः राजा बभूव**— जो प्राणियों तथा अन्योंका अपने निज सामर्थ्यसे एकमात्र राजा है, जिसके ऊपर किसीका भी शासन नहीं है। इसीका शासन सर्वोपरि है।

६ **यस्य छाया अमृतं**— जिसका आश्रय अमरत्व देनेवाला है, जिसकी प्राप्तिसे अमरत्व प्राप्त होता है।

७ **यस्य (अच्छाया) मृत्युः**— जिससे विमुख होना मृत्यु है। यहां विमुख होनेका तात्पर्य उसकी भक्ति छोडना आदि समझना चाहिये।

८ **यत्क्रन्दसी यं अवतः**— परस्पर विरोध करनेवाले और आक्रोशके साथ युद्ध करनेवाले दोनों ओरके सैनिक अपनी रक्षाके लिये जिसकी शरण जाते हैं अर्थात् दोनों पक्षोंके लोग जिसपर विश्वास रखते हैं और जिससे बलकी याचना करते हैं।

९ **भियसाने रोदसी यं अह्वयेथां**— भय प्राप्त होनेपर द्यावापृथिवीमें रहनेवाले सब जिसको अपनी सहायताके लिये पुकारते हैं। भयके समय किसी दूसरेकी शरण न जाते हुए सब एकमतसे इसका नाम लेते हैं।

१० **यस्य रजसः असौ पन्थाः विमानः**— जिसके लोकको प्राप्त करनेका यह प्रसिद्ध मार्ग जिसपरसे कि आक्रमण करनेवालेकी योग्यता बढती है, अर्थात् जिसके स्थानको पहुंचानेवाले मार्गका आक्रमण करनेवालोंकी योग्यता प्रतिदिन उच्च होती जाती है। जितना मार्गका आक्रमण होगा उतनी योग्यता बढ जाएगी।

११ **यस्य द्यौः उर्वी, पृथिवी च मही, यस्य अदः अन्तरिक्षं उरु**— जिसके प्रभावसे द्यौ, पृथ्वी और अंतरिक्ष विस्तीर्ण हुए हैं, अर्थात् जैसे चाहिये वैसे खुले हुए हैं।

१२ **यस्य महित्वा असौ सूरः विततः**— जिसके प्रभावसे यह सूर्य अपने प्रकाशसे चारों दिशाओंमें फैल रहा है।

१३ **यस्य महित्वा विश्वे हिमवन्तः**— जिसकी महिमासे ये सब हिमाच्छादित पर्वत खडे हुए हैं।

१४ **यस्य महित्वा समुद्रे रसां आहुः**— जिसके सामर्थ्यसे समुद्रके जलमें भी भूमी होती है, ऐसा कहते हैं।

१५ **यस्य बाहू इमाः प्रदिशः**— जिसके बाहु ये सब दिशा उपदिशाएं हैं।

१६ **ऋतावाः अमृताः आपः अग्रे गर्भं दधानाः विश्वं आयन्, यासु देवीषु अधिदेवः आसीत्**— सत्य नियमसे चलनेवाली, जीवन देनेवाली मूल प्रकृतिकी प्रवाहकी धाराएं जगत्के गर्भको धारण करती हुई विश्वको उत्पन्न करनेके लिये जब आगे बढीं, तब उन दिव्य धाराओंमें जो अधिष्ठाता एक देव था।

१७ **हिरण्यगर्भः अग्रे समवर्तत**— जिसके अन्दर प्रकाशमान अनेक गोले हैं ऐसा जो देव पहलेसे विद्यमान है।

१८ **भूतस्य एकः पतिः जातः आसीत्**— सब जगत्का जो एकमात्र स्वामी प्रसिद्ध है।

१९ स दाधार पृथिवीं उत द्याम्— जिसने पृथ्वी और द्युलोकका अर्थात् सब विश्वका धारण किया है ।

२० आपः गर्भं वत्सं जनयन्ती अग्रे समैरयन्, उत तस्य जायमानस्य यः हिरण्ययः उल्बः आसीत्— मूल प्रकृतिकी जलधाराएं अपने अंदरसे- गर्भसे- जगत् रूपी बछडा उत्पन्न करती हुई जब आगे बढीं तब उस जन्मे हुए विश्वरूपी बछडेका सुवर्णके समान चमकनेवाला झिल्लीके समान संरक्षक था ।

उसकी उपासना करो ।

पूर्वोक्त बीस लक्षणोंसे जिस परमेश्वरका बोध होता है उसकी उपासना सबको करनी चाहिये । इससे भिन्न किसीकी भी उपासना करनी योग्य नहीं है ।

ये सब बीस लक्षण सरल और सुबोध हैं इसलिये इनका अधिक विवरण करनेकी आवश्यकता नहीं है । पाठक इससे अपने उपास्य देवको जानें और उसकी उपासना करके उत्तम गति प्राप्त करें ।

इन बीस लक्षणोंमें पहिले दो लक्षण मनुष्यकी आन्तरिक शक्तियोंका वर्णन कर रहे हैं । मनुष्यके अन्दरकी शक्तियोंके साथ परमात्माका संबंध इसमें पाठक देख सकते हैं । इसके पश्चात्के पांच लक्षणोंमें वह परमात्मा प्राणिमात्रका राजा है और मनुष्यको अंतिम सुख अर्थात् मोक्ष देनेवाला है यह बात कही है । शेष लक्षणोंमें प्रायः परमात्माका विश्वधारक गुण विविध प्रकारसे कहा है । दसवें लक्षणमें परमात्मप्राप्तिके मार्गका महत्व है । जो इस मार्गसे जाते हैं उनका सन्मान बढ जाता है । यह विशेष बात इसमें कही हैं । यह एकाग्र चित्तसे मनन करने योग्य है ।

कई लोक ' कस्मै देवाय हविषा विधेम । ' इस वाक्यसे यह अनुमान करते हैं कि इस सूक्तकी रचना करनेवालेको ईश्वरके विषयका निश्चित ज्ञान नहीं था, वह ईश्वरकी खोज कर रहा था । परंतु यह कथन निर्मूल है क्योंकि पूर्वोक्त बीस लक्षण परमेश्वरका निश्चित स्वरूप बता रहे हैं, और इसके पूर्व ' ब्रह्म जज्ञानं० ' (सू० १) सूक्तमें तो ब्रह्म विषयक उल्लेख स्पष्टतासे किया हुआ है । इसलिये ' अज्ञात देव ' की प्रार्थना इस सूक्तमें है ऐसा मानना बडी भारी भूल है ।

अतः इस सूक्तसे पूर्वोक्त बीस लक्षणोंसे बोधित होनेवाले ' एक अद्वितीय ईश्वरकी पूजा करनी चाहिये ' यह वेदका सिद्धान्त स्पष्ट है । जो उपासकोंके लिये बडा बोधप्रद और असंदिग्ध रीतिसे मार्गदर्शक है । आशा है कि विचारी पाठक इससे उचित बोध प्राप्त करेंगे ।

शत्रुओंको दूर करना ।

[सूक्त ३]

(ऋषिः - अथर्वा । देवता - रुद्रः, व्याघ्रः)

उदि॒तस्त्रयो॑ अक्रम॒न्व्या॒घ्रः पुरु॑षो॒ वृकः॑ ।
हिरु॒ग्घि यन्ति॒ सिन्ध॑वो॒ हिरु॑ग्दे॒वो वन॒स्पति॒र्हिरु॑ङ्नमन्तु॒ शत्र॑वः ॥ १ ॥

अर्थ— (व्याघ्रः, वृकः, पुरुषः त्रयः) बाघ, भेडिया और चोर मनुष्य ये तीनों (इतः उदक्रमन्) यहांसे भागकर चले गये । (सिन्धवः हिरुक् यन्ति) नदियां नीचेकी गतिसे जाती हैं, (देवः वनस्पतिः हिरुक्) दिव्य वनस्पति भी रोगोंको नीचेकी गतिसे भगा देती है, इसी प्रकार (शत्रवः हिरुक् नमन्तु) शत्रु नीचे होकर झुके रहें ॥ १ ॥

भावार्थ— बाघ, भेडिया और चोर यहांसे भाग जावें । जिस प्रकार नदियोंके प्रवाह नीचेकी ओर जाते हैं, और दिव्य वनस्पतियोंसे रोग दूर होते हैं, इसी प्रकार शत्रु हमसे दूर हो जावें ॥ १ ॥

परेणैतु पथा वृकः परमेणोत तस्करः। परेण दत्वती रज्जुः परेणाघायुरर्षतु ॥ २ ॥
अक्ष्यौ॒ च ते मुखं च ते व्याघ्र जम्भयामसि। आत्सर्वान्विंशतिं नखान् ॥ ३ ॥
व्याघ्रं दत्वतां वयं प्रथमं जम्भयामसि। आदु ष्टेनमथो अहिं यातुधानमथो वृकम् ॥ ४ ॥
यो अद्य स्तेन आयति स संपिष्टो अपायति। पथामपध्वंसेनैत्विन्द्रो वज्रेण हन्तु तम् ॥ ५ ॥
मूर्णा मृगस्य दन्ता अपिशीर्णा उ पृष्टयः। निम्रुक्ते गोधा भवतु नीचायच्छशयुर्मृगः ॥ ६ ॥
यत्संयमो न वि यमो वि यमो यन्न संयमः। इन्द्रजाः सोमजा आथर्वणमसि व्याघ्रजम्भनम् ॥ ७ ॥

अर्थ— (परेण पथा वृकः एतु) दूरके मार्गसे भेडिया चला जावे। (उत परमेण तस्करः) और उससे भी दूरसे चोर चला जावे। (परेण दत्वती रज्जुः) दूरसे दांतवाली रस्सी अर्थात् सांपीन चली जावे। और (अघायुः परेण अर्षतु) पापी दूरसे भाग जावे ॥ २ ॥

हे व्याघ्र ! (ते अक्ष्यौ) तेरी दोनों आंखोंको, (च ते मुखं) तेरे मुखको, (आत् च सर्वान् विंशतिं नखान्) और तेरे सब बीसों नखोंको (जम्भयामसि) नष्ट कर देते हैं ॥ ३ ॥

(दत्वतां प्रथमं व्याघ्रं) दांतवालोंमें पहिले बाघका, (आत् उ अहिं) और सांपका, (अथो वृकं) और भेडियेका, (स्तेनं अथो यातुधानं) चोर और लुटेरेका (वयं जंभयामसि) हम नाश करते हैं ॥ ४ ॥

(अद्य यः स्तेन आयति) आज जो चोर आवे, (संपिष्टः सः अप अयति) चूर चूर किया हुआ वह हट जावे और वह (पथां अप ध्वंसेन एतु) मार्गोंके विनाशसे अर्थात् मार्गको भूलकर चला जावे, और (इन्द्रः वज्रेण तं हन्तु) इन्द्र वज्रसे उसे मार डाले ॥ ५ ॥

(मृगस्य दन्ताः मूर्णा) हिंस्र पशुओंके दांत तोडे गये, (अपि पृष्टयः शीर्णा उ) और उसकी पसलियां टूट गयी हैं। (ते गोधा निम्रुक् भवन्तु) तेरी गोह नीचे हो जावे, और (मृगः शशयुः नीचा अयत्) हिंस्र पशु लेटता हुआ नीचे भाग जावे ॥ ६ ॥

(यत् संयमः न वियमः) जिसका संयम किया हो उसको विशेष दबावमें न रखो, परन्तु (यत् न वियमः संयमः) जिसको विशेष दबावमें न रखा हो उसको अच्छी प्रकार संयममें रखो। यह (इन्द्रजाः सोमजाः) इन्द्रसे और सोमसे उत्पन्न हुआ हुआ (आथर्वणं जंभनं असि) अथर्वविद्यासे व्याघ्रादिको दबानेका उपाय है ॥ ७ ॥

भावार्थ— भेडिया, चोर, सांप और पापी दुष्ट हम सबसे दूर भाग जाएं ॥ २ ॥

बाघकी आंखें, मुखके दांत और उसके बीस नाखून हम नष्ट कर देते हैं ॥ ३ ॥

तीक्ष्ण दांतवालोंमें बाघको, भेडियेको और सांपको तथा दुष्टोंमें चोर और लुटेरेको हम नष्ट करते हैं ॥ ४ ॥

आज जो चोर हमपर हमला करेगा उसका पूर्ण नाश होगा और यदि वह बचेगा तो घबराकर अपना मार्ग भूलेगा। फिर शूर पुरुष अपने शस्त्रसे उसको काटेगा ॥ ५ ॥

हिंस्र पशुके दांत तोडे गये और पसलियां काटी गई हैं। सब हिंस्र पशु नीचे मुख करके डरसे भाग जावें ॥ ६ ॥

जिसको उत्तम प्रकारसे काबु किया है उसको और अधिक दबावमें न रखो, परंतु जिसको काबु नहीं किया है उसको अच्छी प्रकारसे दबावमें रखो। यह इन्द्र सोम और अथर्वाका दुष्टोंको दमन करनेका उपाय है ॥ ७ ॥

दुष्टोंका दमन करनेका उपाय ।

इस सूक्तमें दुष्टोंको दमन करनेका उपाय कहा गया है। यह सूक्त बडे व्यापक अर्थवाला है इसलिये इसको पढनेके समय अपना दृष्टिकोण आध्यात्मिक रखना चाहिये, तभी इससे योग्य लाभ हो सकेगा। अब इस दुष्टोंके दमनका उपाय देखिये—

अथर्वविद्याका नियम ।

१ यत् सं-यमः, न वि यमः,
१ यत् न वि यमः, सं-यम। (सू. ३, मं. ७)

' जिसका संयम किया हो, उसको और विशेष न दबाया जावे; परंतु जिसका दमन बिलकुल न किया हो तो उसका संयम अवश्य किया जावे।' यह अथर्वविद्याका नियम है—

आथर्वणं व्याघ्रजम्भनम्। (सू. ३, मं. ७)

' यह अथर्वविद्यासंबंधी व्याघ्रादिकोंके दमन विद्याका नियम है।' यह दो प्रकारसे किया जाता है—

इन्द्रजाः सोमजाः। (सू. ३, मं. ७)

' इन्द्र अर्थात् इंद्रियोंका अधिष्ठाता जो मन अथवा अंतःकरण चतुष्टय है उससे उत्पन्न होनेवाली (**इन्द्र-जाः**) अंतःशक्तिसे एक दमन होता है और (**सोमजाः**) सोम आदि औषधियोंकी शक्तिसे एक दमन किया जाता है।' दुष्टोंके दमनके ये दो मार्ग हैं।

इस संपूर्ण सूक्तमें ' (१) व्याघ्रः (बाघ), (२) वृकः (भेडिया), (३) **अहिः** (सांप), (४) **दत्वती रज्जुः** (दांतवाली काटनेवाली रस्सी अर्थात् सांपिन), (५) तथा अन्य दांतवाले, नाखूनोंवाले हिंस्र **मृगः** (हिंस्र-पशु) और **गोधा** (गोह)' इन दुष्ट प्राणियोंके नाम भी गिनाये गए हैं। तथा ' **तस्करः, स्तेनः पुरुषः** (चोर मनुष्य), **अघायुः** (पापी), **यातुधानः** (लुटेरा), **शत्रुः** (वैरी)' ये दुष्ट मनुष्योंके नाम भी गिने गए हैं। इससे स्पष्ट होता है कि जैसे दुष्ट मनुष्योंको समाजसे दूर हटाना आवश्यक है उसी प्रकार हिंस्र पशु आदियोंको भी दूर करके समाजको सुखी करना चाहिये। यहां जिनकी गिनती नहीं हुई ऐसे जो अन्य दुष्ट होंगे उनको इसी विधिसे काबू करना चाहिये, और समाजसे दूर करना चाहिये और समाजको सुखी करना चाहिये। यह इस सूक्तका आशय है।

बाघ, सांप और सांपिनके दांत उखाडकर उनको सौम्य बनानेका उपाय तीसरे मंत्रमें बताया है, यह उपाय सभी पशुओं दांतों और नाखूनोंसे हिंसा करते हैं उनके शमनके लिये बर्ता जाने योग्य है।

सांप, बाघ, भेडिया आदि हिंसक प्राणी आ जायें तो उनको पीटना चाहिये, उनकी पसलियां तोडनी चाहिये, उनको मरने तक मारना चाहिये, यह बात मंत्र ३ से ६ तकके चार मंत्रोंमें बतायी है। तथा इन्हीं मंत्रोंमें चोर, लुटेरे, डाकू, दुष्ट आदि समाजघातक लोग समाजमें आकर उपद्रव मचाने लगें तो उनको भी उसी उपायसे शांत करना चाहिये, ऐसा कहा है।

इस दण्डेकी मारसे इन सब दुष्टों, हिंसकों और शत्रुओंको शान्त या दूर करना चाहिये, यह इस सूक्तद्वारा उपदेश दिया है। परंतु बाघ, शेर, चोर, लुटेरे ये बाहरके समाजमें ही रहते हैं ऐसा मानना बडी भारी भूल है। ये जैसे बाहर हैं वैसे ही मनुष्यके अंदर भी हैं और इस सूक्तमें बाघ, भेडिया, चोर आदि बाहरके शत्रुओंके शमनके उपदेशके मिषसे वस्तुतः आंतरिक हिंस्र पशुओंका और आंतरिक शत्रुओंका ही शमन करनेका उपदेश किया है। प्रथम सूक्तके ' संयम ' शब्दसे यह बात स्पष्ट हो रही है।

मनुष्यके अंतःकरणके क्षेत्रमें काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर ये छः शत्रु हैं और इनको वेदमें पशु ही गिना है—

उलूकयातुं शुशुलूक यातुं जहि श्वयातु-मुत कोकयातुम्। सुपर्णयातुमुत गृध्रयातुं दृषदेव प्रमृण रक्ष इन्द्र ॥ (ऋग्वेद ७।१०४।२२)

' (**सुपर्ण-यातुं**) गरुडके समान चालचलन अर्थात् घमंड, (**गृध्रयातुं**) गीधके समान व्यवहार अर्थात् लोभ, (**कोक-यातुं**) चिडियोंके समान आचार अर्थात् काम, (**श्वयातुं**) कुत्तेके समान बर्ताव अर्थात् स्वकीयोंसे मत्सर या द्वेष, (**उलूक-यातुं**) उल्लूके समान आचार अर्थात् मूढता, (**शुशुलूक-यातुं**) भेडियेके समान क्रूरता ये छः पशु मनुष्यके अंतःकरणमें रहते हैं, इनका नाश वैसा करना चाहिये जैसा पत्थरोंसे पक्षियोंका करते हैं। ' काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर ' ये छः शत्रु हैं, ये पशु हैं, उनको दूर करना चाहिये। इनके संयम करनेका यह उपाय प्रथम मंत्रमें कहा है—

१ जिनका संयम हो जाय उन पर और विशेष दबाव नहीं डालना चाहिये।

२ और जिनका संयम न हुआ हो उनको संयमके अंदर लाना चाहिये।

यह बात समझमें आनेके लिये एक उदाहरण लेते हैं। गाडीके घोडे पहिले केवल पशु होते हैं, पश्चात् उनको सिखाया जाता है, सिखानेपर वे गाडीमें जोते जाते हैं। जो घोडे अच्छे नियमसे

चलनेवाले सुशील होते हैं यदि उनको विना कारण अधिक दबाया, सताया, या पीडित किया जाय तो वे बिगड बैठते हैं। अति दबाव इस प्रकार घातक होता है। इंद्रियोंके विषयमें भी यही बात है। जो इंद्रिय संयमित होती हैं, यदि उनको और कडे नियमोंमें रखा जाय तो उनमें प्रतिक्रिया शुरू हो जाती है और इस कारण उनके बिगड जानेकी संभावना हो जाती है। इसलिये संयममें रहकर योग्य कार्य करनेवाली इंद्रियोंको भी उचित स्वतंत्रता देनी चाहिये, परंतु साथ ही साथ उनपर दक्षताके साथ अपनी दृष्टि रखनी चाहिये और उनका आचरण देखना चाहिये ताकि वे कुमार्गपर न जाय और संयममें ही स्थिर रहें। इस प्रकार संयमित इंद्रियों और वृत्तियोंसे बर्ताव करना चाहिये। परंतु जो संयममें स्थित नहीं हैं उनको नियमोंसे बांध कर प्रयत्नसे उनको वशमें करना चाहिये और जब वशमें आ जावें तब उनको पूर्वोक्त रीतिके अनुसार योग्य स्वतंत्रतामें रखते हुए संयमके मार्गमें सुरक्षित चलाना चाहिये।

खेलोंमें जो सिंह, व्याघ्रादियोंको वशमें रखते हैं वे भी इसी प्रकार वशमें रखते हैं। पहिले प्रेमसे उनके साथ व्यवहार करते हुए उनमें अपने विषयमें विश्वास उत्पन्न करवाते हैं, पश्चात् योग्य रीतिसे शिक्षा देते हैं। शिक्षित हो जानेपर उनपर बाहरसे बहुत दबाव न डालते हुए, परंतु किसी भी प्रकार वे मर्यादाका उल्लंघन न कर सकें, ऐसी व्यवस्थासे उनकी पालना करते हैं। संयमके पूर्व और पश्चात् व्यवहार करनेकी जो यह सूचना इस सूक्तमें दी है वह बडी उपयोगी है।

मनुष्यके अंतःकरणमें जैसे ये पशु हैं, उसी प्रकार अन्य रिपु, वैरी, लुटेरे बहुतसे भाव हैं। इन सबको अपने स्वाधीन करना अथवा दूर करना चाहिये। इस विषयमें योग्य बोध पाठक प्राप्त करें। यह संयम अपनी अंतःशक्तियोंसे करना चाहिये, साथ ही साथ औषधि प्रयोगसे भी कुछ अंशतक सहायता ली जा सकती है। जैसा सत्वगुणी अन्नका सेवन करनेसे कामक्रोध कुछ अंशतक कम होते हैं और रजोगुणी वा तमोगुणी अन्न सेवन करनेसे वे बढ जाते हैं। मद्यमांसाशनसे कामक्रोध बढते हैं और उक्त पदार्थोंके सेवनसे निवृत्त हो जानेपर उनसे बच जानेकी बहुत संभावना रहती है। इसी प्रकार सोमादि औषधि रस सेवनसे भी बडे लाभ होने संभव हैं।

इतना होनेपर भी अपनी अंतःशक्तियोंसे कामादियोंका संयम करनेका अनुष्ठान अतिश्रेष्ठ है।

पाठक इस बातका अधिक विचार करें और योग्य बोध प्राप्त करें।

बल संवर्धन।

[सूक्त ४]

(ऋषिः — अथर्वा । देवता — वनस्पतिः, नानादेवता)

यां त्वा गन्धर्वो अखनद्वरुणाय मृतभ्रजे । तां त्वा वयं खनामस्योषधिं शेपहर्षणीम् ॥ १ ॥
उदुषा उदु सूर्य उदिदं मामकं वचः । उदेजतु प्रजापतिर्वृषा शुष्मेण वाजिना ॥ २ ॥

अर्थ— (यां त्वा) जिस तुझको (गन्धर्वः मृत-भ्रजे वरुणाय अखनत्) गंधर्वने शक्तिहीन वरुणके लिये खोदा है (तां त्वा शेपहर्षणीं ओषधिं) उस तुझ इंद्रियका सामर्थ्य बढानेवाली औषधिको (वयं खनामसि) हम खोदते हैं ॥१॥

(वाजिना शुष्मेण) शक्ति और बलके प्रभावसे (उषाः उदेजतु) उषाकी वेला ऊंची होवे, (उ सूर्यः उत्) सूर्य ऊपर चढे, (इदं मामकं वचः उत्) यह मेरा वचन ऊंचा हो, और इसी प्रकार (वृषा प्रजापतिः उत् एजतु) बलवान् प्रजापति ऊंचा होवे ॥ २ ॥

भावार्थ— तरुण मनुष्य शक्तिहीन हुआ तो उसको पुनः शक्ति देनेके लिये वैद्य इंद्रियशक्ति बढानेवाली औषधि देवे ॥१॥

यथा स्म ते विरोहतोऽभितप्तमिवानति । ततस्ते शुष्मवत्तरमियं कृणोत्वोषधिः ॥ ३ ॥
उच्छुष्मौषधीनां सार ऋषभाणाम् । सं पुंसामिन्द्र वृष्ण्यमस्मिन्धेहि तनूवशिन् ॥ ४ ॥
अपां रसः प्रथमजोऽथो वनस्पतीनाम् । उत सोमस्य भ्रातास्युतार्शमसि वृष्ण्यम् ॥ ५ ॥
अद्याग्ने अद्य सवितरद्य देवि सरस्वति । अद्यास्य ब्रह्मणस्पते धनुरिवा तानया पसः ॥ ६ ॥
आहं तनोमि ते पसो अधि ज्यामिव धन्वनि । क्रमस्वर्श इव रोहितमनवग्लायता सदा ॥ ७ ॥
अश्वस्याश्वतरस्याजस्य पेत्वस्य च । अथ ऋषभस्य ये वाजास्तानस्मिन्धेहि तनूवशिन् ॥ ८ ॥

अर्थ— (यथा स्म ते विरोहतः) जिस प्रकार तेरी वृद्धि होनेके समय (अभि तप्तं इव अनति) तप्त होनेके समान श्वास चलता है (ततः ते शुष्मवत्तरं) उसी प्रकार तुझे अधिक बलवान (इयं ओषधिः कृणोतु) यह औषधि करे ॥ ३ ॥

(ऋषभाणां ओषधीनां शुष्मा सारः उत्) ऋषभक नामक औषधियोंका बलवर्धक सार बल बढावे । हे (तनू-वशिन् इन्द्र) शरीरको वशमें रखनेवाले इन्द्र ! (पुंसां वृष्ण्यं अस्मिन् धेहि) पुरुषोंका बल इसमें सम्यक् रीतिसे धारण कर ॥ ४ ॥

(वनस्पतीनां अपां प्रथमजः रसः) वनस्पतिके जलांशका प्रथम उत्पन्न होनेवाला रस (अथ उत सोमस्य भ्राता असि) और सोमका रस, भाई जैसा पोषणकर्ता है, (उत आर्शं वृष्ण्यं असि) और उठाने तथा बल बढानेवाला है ॥ ५ ॥

हे अग्ने ! (अद्य) आज, हे सविता ! (अद्य) आज, हे सरस्वती देवी ! (अद्य) आज, हे ब्रह्मणस्पते ! (अद्य) आज (अस्य पसः धनुः इव आ-तानय) इसकी इंद्रियको धनुषके समान फैला ॥ ६ ॥

(अहं ते पसः तनोमि) मैं तेरी इन्द्रियको फैलाता हूं । (धन्वनि अधि ज्यां इव) जैसे धनुष्यपर डोरीको तानते हैं । (ऋशः रोहितं इव) जैसे हिंसक पशु हरिणपर धावा करता है उस प्रकार तू (अनवग्लायता सदा क्रमस्व) न थकता हुआ आक्रमण कर ॥ ७ ॥

(अश्वस्य अश्वतरस्य अजस्य पेत्वस्य च) घोडेके, खच्चरके और मेंढेके, (अथ ऋषभस्य) और बैलके (ये वाजाः) जो बल हैं, हे (तनू वशिन्) शरीरको वशमें करनेवाले ! तू (तान् अस्मिन् धेहि) उन बलोंको इसमें धारण कर ॥ ८ ॥

भावार्थ— जिस प्रकार उषा प्रकाशती है, सूर्य उदयके पश्चात् चमकने लगता है, और बकाका शब्द बडा होता जाता है, उसी प्रकार इस औषधिके सेवनसे संतानका पिता पुनः बलवान होगा ॥ २ ॥

इस औषधिसे शरीर अधिक बलवान होगा और इन्द्रियोंकी शक्ति बढ जायगी ॥ ३ ॥

ऋषभक औषधियोंका यह शक्तिवर्धक सार है । शरीरको स्वाधीन रखनेवाला मनुष्य पुरुषोंकी शक्तिवर्धक इस सार रूप औषधको धारण करके बलवान बने ॥ ४ ॥

इन औषधियोंका सत्वरस, सोमवल्लीके समान इस वल्लीका रस ये सब शक्ति बढानेवाले हैं ॥ ५ ॥

हे देवो ! आज इसकी इंद्रियकी शक्ति बढा दो ॥ ६ ॥

इसकी इंद्रियोंको मैं पुष्ट करता हूं, जैसा हिंस्रपशु हरिणको पकडता है, इस प्रकार यह न थकता हुआ चढाई करे ॥ ७ ॥

घोडे, खच्चर, मेंढे और बैलमें शक्तियां हैं वे सब शक्तियां, हे शरीरको स्वाधीन करनेवाले मनुष्य ! तू इसमें धारण कर ॥ ८ ॥

बलवर्धन।

इंद्रियोंके बल बढानेवाली औषधियोंका इस सूक्तमें वर्णन है, विशेष करके पुरुषकी जननेन्द्रियकी शक्ति पुनः पूर्ववत् स्थिर करनेके लिये ऋषभक औषधियोंका रस सेवन करनेका उपदेश इसमें किया है। ऋषभक औषधि और जीवक औषधि हिमालयके शिखरपर उत्पन्न होती है, जैसे सोमवल्ली वहां होती है। इसीलिये ऋषभकको सोमका भाई मं. ५ में कहा है। यह ऋषभक औषधि वीर्यवर्धक है। वाजीकरणके लिये अत्यंत उपयोगी है। (इस विषयमें हम अधिक लिखना नहीं चाहते।) सुयोग्य वैद्य इस औषधि प्रयोगके विषयमें अधिक विचार करें। यह औषधि वीर्यवर्धनके लिये अत्यंत गुणकारी औषधि है ऐसा इस सूक्तसे प्रतीत होता है।

गाढ निद्रा।

[सूक्त ५]

(ऋषिः — ब्रह्मा। देवता — स्वापनं, ऋषभः)

सहस्रशृङ्गो वृषभो यः समुद्रादुदाचरत्। तेना सहस्येना वयं नि जनान्त्स्वापयामसि ॥ १ ॥
न भूमिं वातो अति वाति नाति पश्यति कश्चन। स्त्रियश्च सर्वाः स्वापय शुनश्चेन्द्रसखा चरन् ॥ २ ॥
प्रोष्ठेशयास्तल्पेशया नारीर्या वह्यशीवरीः। स्त्रियो याः पुण्यगन्धयस्ताः सर्वाः स्वापयामसि ॥ ३ ॥
एजदेजदजग्रभं चक्षुः प्राणमजग्रभम्। अङ्गान्यजग्रभं सर्वा रात्रीणामतिशर्वरे ॥ ४ ॥
य आस्ते यश्चरति यश्च तिष्ठन्विपश्यति। तेषां सं दध्मो अक्षीणि यथेदं हर्म्यं तथा ॥ ५ ॥

अर्थ— (सहस्रशृंगः वृषभः) सहस्र सींगवाला अर्थात् हजारों किरणोंसे युक्त बलवान् चन्द्र (यः समुद्रात् उदाचरत्) जो समुद्रसे उदय हुआ है, (तेन सहस्येन) उस बलवानकी सहायतासे (वयं जनान् नि स्वापयामसि) हम जनोंको सुला देते हैं ॥ १ ॥

(न वातः भूमिं अति वाति) इस समय न तो वायु भूमिपर अधिक चलता है, (न कश्चन अतिपश्यति) न कोई ऊपरसे देखता है, (इन्द्रसखा चरन्) इन्द्रका मित्र होकर बहता हुआ तू वायु (सर्वाः स्त्रियः शुनः च स्वापय) सब स्त्रियोंको और कुत्तोंको सुला दे ॥ २ ॥

(प्रोष्ठ-शयाः तल्पे-शयाः) मञ्चकोंपर सोनेवाली, खाटोंपर सोनेवाली (वह्य-शीवरी) हिंडोला आदिमें सोनेवाली (याः नारीः) जो स्त्रियां हैं (याः पुण्यगन्धयः स्त्रियः) जो पुण्य गन्धवाली स्त्रियां हैं (ताः सर्वाः स्वापयामसि) उन सबको हम सुलाते हैं ॥ ३ ॥

(एजत्-एजत् चक्षुः अजग्रभम्) इधर उधर भटकनेवाली आंखको मैंने निग्रहमें रखा है, उसी प्रकार (प्राणं अजग्रभम्) प्राणको मैंने स्वाधीन किया है, (रात्रीणां अति शर्वरे) रात्रीयोंके अंधकारमें (सर्वा अंगानि अजग्रभं) सब अंगोंको मैंने निग्रहमें रखा है ॥ ४ ॥

(यः आस्ते, यः चरति) जो बैठता है, जो चलता है, (यः तिष्ठन् वि पश्यति) जो खडे होकर देखता है (तेषां अक्षीणि संदध्मः) उनकी आंखोंको हम बन्द करते हैं जैसे (यथा इदं हर्म्यं तथा) इस मंदिरके द्वार बंद किये जाते हैं ॥ ५ ॥

स्वप्तु माता स्वप्तु पिता स्वप्तु श्वा स्वप्तु विश्पतिः। स्वपन्त्वस्यै ज्ञातयः स्वप्त्वयमभितो जनः ॥ ६ ॥
स्वप्न स्वप्नाभिकरणेन सर्वं नि ष्वापया जनम्।
ओत्सूर्यमन्यान्त्स्वापयाव्युषं जागृतादहमिन्द्र इवारिष्टो अक्षितः ॥ ७ ॥

इति प्रथमोऽनुवाकः ॥ १ ॥

अर्थ— (माता स्वप्तु, पिता स्वप्तु) माता सोवे, पिता सोवे, (श्वा स्वप्तु, विश्पतिः स्वप्तु) कुत्ता सोवे, और प्रजारक्षक सोवे, (अस्यै ज्ञातयः स्वपन्तु) इसकी ज्ञातिके लोग सोवें, (अयं जनः अभितः स्वप्तु) यह सब लोग चारों ओर सोवें ॥ ६ ॥

हे (स्वप्न) निद्रा ! (स्वप्न-अभिकरणेन) नींदके उपायसे (सर्वं जनं नि ष्वापय) सब जनोंको सुला दे। (अन्यान् जनान् आ-उत्-सूर्यं स्वापय) अन्य जनोंको सूर्य उदय होनेतक सुला दे। परन्तु (अहं इन्द्र इव) मैं शूर पुरुषके समान (अ-रिष्टः अ-क्षितः) नाश रहित और क्षय रहित होता हुआ (जागृतात्) जागता रहूं ॥ ७ ॥

[यह सूक्त अति सरल होनेसे इसका भावार्थ देनेकी आवश्यकता नहीं है।]

गाढ निद्रा लानेका उपाय।

इस सूक्तमें मनकी दृढ भावनासे गाढ निद्रा प्राप्त करनेका उपाय बताया है। चन्द्रमा ऊपर आया हो तो उसकी शांतिका ध्यान करनेसे मन शान्त बनकर गाढ निद्रा आ सकती है (मं. १)। मन्द वायु चल रहा है इस प्रकारकी भावनासे भी गाढ निद्रा आ सकती है (मं. २)। आंखोंको, अंगों और अवयवोंको तथा प्राणको शांत करनेसे भी निद्रा आती है (मं. ४)। तरुण स्त्रियोंको और पुरुषोंको भी प्रयत्नसे अपनी वृत्तियां शान्त करके सुखसे निद्रा आने योग्य मनकी शान्ति बढाना चाहिये, जिससे सुखपूर्वक वे सो सकेंगे। पास रक्षाके लिये कुत्तोंको भी सुलाना चाहिये। (मं. ६)

जो रक्षक पुरुष हों वे दूसरोंको शान्तिसे सोने दें परन्तु स्वयं उत्तम प्रकार जागते रहें और सबकी रक्षा करें। (मं. ७)

॥ यहां प्रथम अनुवाक समाप्त ॥

विषको दूर करना ।

[सूक्त ६]

(ऋषिः — गरुत्मान् । देवता — तक्षकः)

ब्राह्मणो जज्ञे प्रथमो दशशीर्षो दशास्यः । स सोमं प्रथमः पपौ स चकारारसं विषम् ॥ १ ॥
यावती द्यावापृथिवी वरिम्णा यावत्सप्त सिन्धवो वितष्ठिरे ।
वाचं विषस्य दूषणीं तामितो निरवादिषम् ॥ २ ॥
सुपर्णस्त्वा गरुत्मान्विष प्रथममावयत् । नामीमदो नारूरुप उतास्मा अभवः पितुः ॥ ३ ॥
यस्त आस्यत्पञ्चाङ्गुरिर्वक्राच्चिदधि धन्वनः । अपस्कम्भस्य शल्यान्निरवोचमहं विषम् ॥ ४ ॥
शल्याद्विषं निरवोचं प्राञ्जनादुत पर्णधेः । अपाष्ठाच्छृङ्गात्कुल्मलान्निरवोचमहं विषम् ॥ ५ ॥

अर्थ— (प्रथमः दशशीर्षः दशास्यः ब्राह्मणः जज्ञे) सबसे प्रथम दस सिर और दस मुखवाला ब्राह्मण उत्पन्न हुआ, (सः प्रथमः सोमं पपौ) उसने पहले सोमरसका पान किया और (सः विषं अ-रसं चकार) उसने विषको सारहित बना दिया ॥ १ ॥

(यावती द्यावापृथिवी वरिम्णा) जितने द्युलोक और भूलोक विस्तारसे फैले हैं, (सप्त सिन्धवः यावत् वितष्ठिरे) सात नदियां जितनी फैली हैं, वहांतक (विषस्य दूषणीं तां वाचं) विषको दूर करनेवाली उस वाणीको (इतः निरवादिषं) यहांसे मैंने कह दिया है ॥ २ ॥

हे विष ! (गरुत्मान् सुपर्णः) वेगवान गरुडपक्षीने (प्रथमं त्वा आवयत्) प्रथम तुझको खाया । उसे (न अमीमदः) न तूने उन्मत्त किया और (न अरूरुपः) न बेहोश किया, (उत अस्मै पितुः अभवः) परंतु तू उसके लिये अन्न बन गया ॥ ३ ॥

(यः पञ्चाङ्गुरिः) जिस पांच अंगुलियोंसे युक्त वीरने (वक्रात् चित् धन्वनः अधि) टेढे धनुष्यपरसे (अप-स्कंभस्य शल्यात्) बंधनसे निकाले शरसे (ते विषं आस्यत्) तेरे अन्दर विष चलाया है (अहं विषं निरवोचं) मैंने उस विषको हटा दिया है ॥ ४ ॥

(शल्यात् प्राञ्जनात् उत पर्णधेः) शल्यसे, लिप्तभागसे, पङ्खवाले स्थानसे (विषं निरवोचं) विष मैंने हटाया है । (अपाष्ठात् शृंगात् कुल्मलात्) फालसे, सींगसे और बाणके अन्य भागसे (अहं विषं निरवोचं) मैंने विष दूर किया है ॥ ५ ॥

भावार्थ— ज्ञानी ब्राह्मणने सोमपान करके विषको दूर किया ॥ १ ॥

यह विष दूर करनेका उपाय मैं उद्घोषित करता हूं यह सब जगत्‌में फैल जावे ॥ २ ॥

गरुड पक्षीको विषकी बाधा नहीं होती है वह विष खाता है, परन्तु उसको न तो उन्माद चढता है और न बेहोशी आती है । विष तो उसके लिये अन्न जैसा है ॥ ३ ॥

वीर लोग जो विषसे पूर्ण बाण चलाते हैं उससे हम वह विष दूर करते हैं ॥ ४ ॥

बाणके आदि, मध्य और अग्रभागसे हम विष दूर करते हैं ॥ ५ ॥

अरसस्त्वं इषो शल्योऽथो ते अरसं विषम्। उतारसस्य वृक्षस्य धनुष्टे अरसारसम् ॥ ६ ॥

ये अपीषन्ये अदिहन्य आस्यन्ये अवासृजन्। सर्वे ते वध्रयः कृता वध्रिर्विषगिरिः कृतः ॥ ७ ॥

वध्रयस्ते खनितारो वध्रिस्त्वमस्योषधे। वध्रिः स पर्वतो गिरिर्यतो जातमिदं विषम् ॥ ८ ॥

अर्थ— हे (इषो) बाण ! (ते शल्यः अरसः) तेरी बाणकी अणि निःसार है, (अथो ते विषं अरसं) और तेरा विष साररहित है। हे (अरस) रस रहित शुष्क ! (उत अरसस्य वृक्षस्य ते धनुः) साररहित वृक्षका तेरा धनुष (अरसं) निःसत्व हो जावे ॥ ६ ॥

(ये अपीषन्) जिन्होंने पीसा है, (ये अदिहन्) जिन्होंने लेप दिया है, (ये आस्यन्) जिन्होंने फेंका है, (ये अवासृजन्) जिन्होंने लक्ष्यपर छोडा है (सर्वे ते वध्रयः कृताः) वे सब निर्बल किये गये हैं, (विषगिरिः वध्रिः कृतः) विषपर्वत भी निर्बल किया गया है ॥ ७ ॥

हे (ओषधे) विषकी औषधि ! (ते खनितारः वध्रयः) तेरे खोदनेवाले निःसत्त्व हुए, (त्वं वध्रिः असि) तू भी निःसत्त्व है। (स पर्वतः गिरिः वध्रिः) वह पर्वत और पहाड भी निर्वीर्य हुआ (यतः इदं विषं जातं) जहांसे यह विष उत्पन्न हुआ है ॥ ८ ॥

भावार्थ— इस प्रकार सब बाण हम निर्विष करते हैं ॥ ६ ॥

जो विषको पीसते हैं, उसका लेप बाणपर करते हैं, जो बाण फेंकते हैं अथवा वेधते हैं, उनके सब प्रयत्न इस रीतिसे निर्विष हुए हैं और सब विष भी निकम्मा सिद्ध हुआ ॥ ७ ॥

इस प्रकार विषवल्लीको खोदनेवाले व जिस पर्वतपर विषवृक्ष उगते हैं वह पर्वत भी निःसत्त्व हुआ है ॥ ८ ॥

विष दूर करनेका उपाय।

इस सूक्तमें विष दूर करनेके उपाय कहे हैं। पहिला उपाय 'सोमपान' करना है। सोमपान करनेसे विष दूर होता है। (मं. १) प्रथम मंत्रमें यह उपाय कहा है। इसमें कहा है कि 'दस सिरों और दस मुखवाला ब्राह्मण प्रथम उत्पन्न हुआ, उसने सोमपान किया जिससे विषबाधा नहीं हुई।' इसमें 'दशशीर्ष और दशास्य शब्द ब्राह्मणके विशेषण हैं। शीर्ष शब्द बुद्धिका और आस्य शब्द वक्तृत्वका वाचक है। दस गुणा बुद्धिमान् और दस गुणा विद्वान्, यह इस शब्दका भाव है। जो ऐसा विद्वान् सोमयाग करके उसका यज्ञशेष सोम पीता है उसका विष दूर होता है, ऐसा यहां आशय दीखता है। 'इस सोमयागसे विषबाधा दूर होती है' यह घोषणा सब जगत्में दी जावे, (मं. २) ताकि सर्वत्र सोमयाग होते रहें और सब देश निर्विष होवें। जल वायुको निर्दोष और निर्विष करनेका उपाय यह सोमयाग है।

दूसरा उपाय गरुडपक्षीका है। गरुड सांप आदि विषजन्तुओंको खाता है, उनका विष उनके पेटमें जाता है, परंतु उसको विष बाधा नहीं होती, मानो वह विष उसका अन्न ही बन जाता है। संभव है कि इस विषयकी योग्य खोज करनेसे विष शमन करनेके उपायका ज्ञान हो जावे। खोज करनेवाले पाठक गरुडकी पाचक शक्तिके विषयमें खोज करें और लाभ उठावें।

अन्य मंत्रोंका विषय युद्धमें विषदग्ध बाण लगनेसे जो विषबाधा होती है, उस संबंधका विष दूर करनेका है। यह विषय हमारे समझमें नहीं आया है। इसलिये इस विषयमें हम अधिक कुछ भी नहीं लिख सकते।

विष दूर करना।

[सूक्त ७]

(ऋषिः - गरुत्मान् । देवता - वनस्पतिः)

वारिदं वारयातै वरणावत्यामधि । तत्रामृतस्यासिक्तं तेना ते वारये विषम् ॥ १ ॥
अरसं प्राच्यं विषमरसं यदुदीच्यम् । अथेदमधराच्यं करम्भेण वि कल्पते ॥ २ ॥
करम्भं कृत्वा तिर्यं पीवस्पाकमुदारथिम् । क्षुधा किल त्वा दुष्टनो जक्षिवान्त्स न रूरुपः ॥ ३ ॥
वि ते मदं मदावति शरमिव पातयामसि । प्र त्वा चरुमिव येषन्तं वचसा स्थापयामसि ॥ ४ ॥
परि ग्राममिवाचितं वचसा स्थापयामसि । तिष्ठा वृक्ष इव स्थाम्न्यभ्रिखाते न रूरुपः ॥ ५ ॥

अर्थ— (वारणावत्यां अधि) वारणानामक औषधिमें रहनेवाला (इदं वार् वारयातै) यह रस, जल, विषको दूर करता है। (तत्र अमृतस्य आसिक्तं) वहां अमृतका स्रोत है (तेन ते विषं वारये) उससे तेरा विष मैं हटाता हूं ॥ १ ॥

(प्राच्यं विषं अ-रसं) पूर्व दिशाका विष रसहीन होवे, (यत् उदीच्यं अरसं) जो उत्तर दिशामें विष हो वह भी रसहीन होवे। (अथ इदं अधराच्यं) अब जो नीचेकी दिशाका यह विष है वह (करम्भेण विकल्पते) दहीसे विफल होता है ॥ २ ॥

हे (दुः+तनो) दोषयुक्त शरीरवाले ! (तिर्यं=तिल्यं) तिलोंका (पीवः+पाकं) घीके साथ पका हुआ (उदारथिं = उदर-थि) पेटको ठीक करनेवाला (करम्भं) दधि मिश्रित अन्न (क्षुधा किल जक्षिवान्) क्षुधाके अनुकूल खाया जायगा, तो (सः त्वा न रूरुपः) वह तुझे बेहोष नहीं होने देगा ॥ ३ ॥

हे (मदावति) मूर्च्छा लानेवाली ! (ते मदं शरं इव वि पातयामसि) तेरी बेहोशीको बाणके समान दूर फेंक देते हैं। और (येषन्तं चरुं इव) चूनेवाले बर्तनके समान (त्वा वचसा प्रस्थापयामसि) तुझको वचा औषधीसे हम हटा देते हैं ॥ ४ ॥

(आचितं ग्रामं इव) इकट्ठे हुए ग्रामीण जनोंके समान तुमको हम (वचसा परि स्थापयामसि) वचा औषधिसे सब प्रकार ठहरा देते हैं। (स्थाम्नि वृक्ष इव तिष्ठ) स्थानपर वृक्षके समान ठहर। हे (अभ्रि-खाते) कुदालसे खोदी हुई ! तू (न रूरुपः) बेहोष नहीं करेगी ॥ ५ ॥

भावार्थ— वारणा नामक औषधिका रस विषको दूर करता है, उसमें जो अमृतका स्रोत होता है, उससे विष दूर होता है ॥ १ ॥

इससे प्राच्य और उदीच्य विष शान्त होता है। निम्नभागका विष दहीके प्रयोगसे विफलता होता है ॥ २ ॥

विष शरीरको बिगाडता है। उसके लिये तिलोंके पाकमें बहुत घी डालकर उसका उत्तम पाक बनाकर और उसको दहीके साथ मिश्रित करके अपने पेटकी स्थिति और भूखके अनुकूल खाया जाय तो विषसे आनेवाली मूर्च्छा दूर होती है ॥ ३ ॥

औषधिके विषसे मूर्च्छा या बेहोशी आती हो तो उसके लिये वचा औषधिका प्रयोग किया जावे, इससे मूर्च्छा दूर होगी ॥ ४ ॥

वचा औषधिके प्रयोगसे विष अपना असर नहीं कर सकता और बेहोषी दूर होती है ॥ ५ ॥

पव॒स्तैस्त्वा॒ पर्य॑क्रीणन्दू॒र्शेभि॑रजि॒नैरु॒त। प्र॒क्रीर॑सि॒ त्वमो॑षधेऽभ्रिखा॒ते न रू॑रुपः ॥ ६ ॥
अना॑प्ता॒ ये वः॑ प्रथ॒मा यानि॒ कर्मा॑णि चक्रि॒रे। वी॒रान्नो॒ अत्र॒ मा द॑भ॒न्तद्व॑ ए॒तत्पु॒रो द॑धे ॥ ७ ॥

अर्थ— (पवस्तैः दूर्शेभिः उत अजिनैः) ओढनेकी चादरें, दुशाले और कृष्णाजिनोंसे, हे औषधे! तू (प्रक्रीः असि) बिकाऊ वस्तु है। हे (अभ्रि-खाते) कुदालसे खोदी हुई! तू (न रूरुपः) मूर्च्छित नहीं करती है ॥ ६ ॥

(ये प्रथमाः अनाप्ताः) जो पहिले श्रेष्ठ ज्ञानी पुरुष थे उन्होंने (वः यानि कर्माणि चक्रिरे) तुम्हारे लिये जो कर्म किये, वे (नः वीरान् अत्र मा दभन्) हमारे वीरोंको यहां न कष्ट दें। (तत् एतत् वः पुरः दधे) वह यह सब तुम्हारे सम्मुख मैं धरता हूं ॥ ७ ॥

भावार्थ— यह औषधि एक बिकाऊ चीज है, इससे मूर्च्छा हट जाती है, इसलिये यह विविध वस्तुएं देकर खरीदी जाती है ॥ ६ ॥

इस प्रकारके औषधिके प्रयोगसे प्राचीन ज्ञानी वैद्योंने जो जो चिकित्साएं की थीं, उनका स्मरण कर और उस प्रकार अपने बालबच्चों तथा पुरुषोंको विनाशसे बचाओ। यही हमारा कहना है ॥ ७ ॥

दो औषधियां

इस सूक्तमें वारणा और वचा इन दो औषधियोंका उपयोग विष दूर करनेके लिये कहा है।

विषके पेटमें जानेपर मूर्च्छा आने लगी तो तिलौदन दहीके साथ खानेका उपाय तृतीय मन्त्रमें कहा है।

[सूचना— ये सूक्त तथा इस प्रकारके जो अन्य सूक्त चिकित्साके साथ सम्बन्ध रखते हैं, उनका विचार ज्ञानी वैद्योंको ही करना चाहिये, क्योंकि औषधिवाचक शब्दोंके अर्थ कई प्रकारसे होते हैं और केवल भाषाविज्ञानसे यह विषय सुलझा नहीं सकता। इसलिये वैद्यकीय प्राचीन परम्पराको जाननेवाले सुयोग्य वैद्य यदि इस विषयकी खोज करेंगे तो इससे जनताका बहुत लाभ हो सकेगा। केवल भाषाविज्ञानी ऐसे सूक्तोंका जो अर्थ करते हैं, उसको सुविज्ञ वैद्य ही ठीक रीतिसे सुधार सकते हैं और अर्थके सत्यासत्यका निर्णय भी वे ही कर सकते हैं।]

राजाका राज्याभिषेक।

[सूक्त ८]

(ऋषिः — अथर्वाङ्गिराः। देवता — चन्द्रमाः, आपः, राज्याभिषेकः)

भू॒तो भू॒तेषु॒ पय॒ आ द॑धाति॒ स भू॒ताना॒मधि॑पतिर्बभूव।
तस्य॑ मृ॒त्युश्च॑रति राज॒सूयं॒ स राजा॑ रा॒ज्यमनु॑ मन्यतामि॒दम् ॥ १ ॥

अर्थ— जो (भूतः) स्वयं प्रभावशाली बनकर (भूतेषु पयः आ दधाति) सब प्रजाजनोंको दुग्धादि उपभोगके पदार्थ देता है (सः भूतानां अधिपतिः बभूव) वह ही प्रजाओंका अधिपति हो जाता है। (तस्य राज-सूयं मृत्युः चरति) उसके राज्यशासनके उत्पन्न हो जानेपर स्वयं मृत्यु ही दण्ड लेकर उसकी सहायतार्थ राज्यमें भ्रमण करता है। (सः राजा इदं राज्यं अनुमन्यताम्) वह राजा इस राज्यकी अनुमतिसे चले ॥ १ ॥

भावार्थ— जो विशेष प्रभावशाली होता है और सब जनताके लिए विशेष सुखोपभोग प्राप्त कर देनेके कार्य करता है, वही लोगोंका अधिपति होता है। जो मृत्यु सब प्राणियोंका अन्त करनेवाला है वह उस राजाका शासक दण्डधारी होकर उसकी सहायता करता है। इस प्रकारका जो प्रतापी पुरुष हो वही प्रजाकी अनुमतिसे राज्यशासन चलावे ॥ १ ॥

अभि प्रेहि मापं वेन उग्रश्चेत्ता सपत्नहा ।
आ तिष्ठ मित्रवर्धन तुभ्यं देवा अधि ब्रुवन् ॥ २ ॥
आतिष्ठन्तं परि विश्वे अभूषं छ्रियं वसानश्चरति स्वरोचिः ।
महत्तद्वृष्णो असुरस्य नामा विश्वरूपो अमृतानि तस्थौ ॥ ३ ॥
व्याघ्रो अधि वैयाघ्रे वि क्रमस्व दिशो महीः ।
विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्त्वापो दिव्याः पयस्वतीः ॥ ४ ॥
या आपो दिव्याः पयसा मदन्त्यन्तरिक्ष उत वा पृथिव्याम् ।
तासां त्वा सर्वासामपामभि षिञ्चामि वर्चसा ॥ ५ ॥
अभि त्वा वर्चसासिचन्नापो दिव्याः पयस्वतीः ।
यथासो मित्रवर्धनस्तथा त्वा सविता करत् ॥ ६ ॥

अर्थ — हे (**मित्रवर्धन**) मित्रोंको बढानेवाले राजन्! तू (**उग्रः चेत्ता सपत्न-हा अभिप्रेहि**) प्रतापी, चेतना देनेवाला, शत्रुओंका विनाशक होकर आगे बढ। (**मा अपवेनः**) पीछे न हट, (**आ तिष्ठ**) अपने स्थानपर ठहर जा। (**तुभ्यं देवाः अधि ब्रुवन्तु**) तेरे लिये विद्वान् लोग योग्य मंत्रणा देते रहें ॥ २ ॥

(**आतिष्ठन्तं विश्वे परिभूषन्**) राजगद्दीपर बैठनेवाले राजाको सब लोग अलंकृत करें। यह राजा (**श्रियं वसानः स्व-रोचिः चरति**) लक्ष्मीको धारण करता हुआ अपने तेजसे युक्त होकर राज्यमें विचरता है। इस (**वृष्णः असु-रस्य तत् महत् नाम**) बलवान्, प्रजाओंके प्राणरक्षक राजाका वही बडा यश है। यह (**विश्वरूपः अमृतानि आ तस्थौ**) सब रूपोंसे युक्त होकर विविध सुखोंको प्राप्त करता है ॥ ३ ॥

(**वैयाघ्रे अधि व्याघ्रः**) व्याघ्र स्वभाववाले मनुष्योंपर बाघ बनकर (**महीः दिशः विक्रमस्व**) विशाल दिशाओंमें पराक्रम कर। (**पयस्वतीः आपः**) दुग्धादि प्राप्त करनेवाली (**सर्वाः विशः**) सब प्रजाएं (**त्वा वाञ्छन्तु**) तुझे चाहें ॥ ४ ॥

(**अन्तरिक्षे उत वा पृथिव्यां**) अन्तरिक्ष और इस पृथ्वीपर (**याः दिव्याः आपः**) जो दिव्य जल अपने (**पयसा मदन्ति**) सरस रससे तृप्त करते हैं (**तासां सर्वासां अपां**) उन सब जलोंके (**वर्चसा त्वा अभिषिञ्चामि**) तेजसे तेरा अभिषेक करता हूं ॥ ५ ॥

(**दिव्याः पयस्वतीः आपः**) दिव्य रसयुक्त जलोंने (**वर्चसा त्वा अभि असिचन्**) अपने तेजसे तुझे अभिषिक्त किया है (**यथा मित्रवर्धनः असः**) जिससे तू मित्रोंकी वृद्धि करनेवाला होवे और (**सविता त्वा तथा करत्**) सबका प्रेरक देव तुझे वैसा योग्य करे ॥ ६ ॥

भावार्थ— राजा अपने मित्र बढावे। यह राजा प्रतापी प्रजामें चेतना बढानेवाला और शत्रुओंका नाशक होकर आगे बढे। अपने स्थानमें स्थिर रहे और कभी पीछे न हटे। ऐसे राजाको विद्वान् लोग समय समयपर योग्य मंत्रणा देते रहें ॥ २ ॥

राजगद्दीपर विराजमान होनेवाले राजाको प्रजाजन अलंकृत करते हैं। यह राजा ऐश्वर्यको पास रखता हुआ तेजस्वी बनकर राज्यमें विचरता है। प्रजाजनोंके प्राणोंकी रक्षा करनेवाले बलवान् राजाका यही बडा यश है। यह राजा विविध अधिकारियोंके रूप धारण करके विविध सुखोंको बढाता हुआ अपने स्थानपर रहता है ॥ ३ ॥

राजा दुष्टोंके दमनके लिये योग्य प्रकार उपायोंकी योजना करके सब दिशाओंमें पराक्रम करके विजयी होवे। दूध, जल आदि उपभोगोंको प्राप्त करनेकी इच्छा करनेवाले प्रजाजन ऐसे राजाको अपने शासनके लिये चाहें ॥ ४ ॥

पृथ्वी और अन्तरिक्षमें जो दिव्य जल हैं उन सबके तेजसे यह राज्याभिषेक राजाके ऊपर किया जाता है ॥ ५ ॥

एना व्याघ्रं परिषस्वजानाः सिंहं हिन्वन्ति महते सौभगाय।
समुद्रं न सुभुवस्तस्थिवांसं मर्मृज्यन्ते द्वीपिनमप्स्व१न्तः ॥ ७ ॥

अर्थ— (**व्याघ्रं सिंहं परिषस्वजानाः एनाः**) व्याघ्र और सिंहके समान पराक्रमी राजाको चारों ओरसे अभिषिक्त करनेवाली ये जलधाराएं इसको (**महते सौभगाय हिन्वन्ति**) बडे सौभाग्यके लिये प्रेरित करती हैं। (**सु-भुवः समुद्रं न**) जैसे उत्तम भूमिभाग समुद्रको शोभित करते हैं। उसी प्रकार (**अप्सु अन्तः तस्थिवांसं द्वीपिनं**) जलोंके अन्दर ठहरनेवाले, द्वीपाधिपति राजाको सब प्रजाएं (**मर्मृज्यन्ते**) सुभूषित करती हैं ॥ ७ ॥

भावार्थ— इस दिव्य जलसे अभिषिक्त हुआ राजा अपने मित्रोंकी संख्या बढावे और परमेश्वर उस राजाको वैसी ही प्रेरणा करे ॥ ६ ॥

यह राजा नरव्याघ्र अथवा नरसिंह अर्थात् नरश्रेष्ठ है। इस राज्याभिषेकसे इसके भाग्यकी वृद्धि होती है। जिस प्रकार अपनी मर्यादामें रहनेवाला समुद्र चारों ओरके भूभागोंसे सुभूषित होता है, उस प्रकार चारों ओरसे जलसे वेष्टित राष्ट्रका अधिपति राजा सब प्रजाओंसे सुपूजित होता है ॥ ७ ॥

राज्याभिषेक।

राजाके राज्याभिषेकके समयके धर्मविधिमें कहनेका यह सूक्त है। इस सूक्तके मननसे राज्याभिषेक विधिका ज्ञान होना संभव है। राजगद्दीपर राजाका अभिषेक होनेके लिये विविध जलाशयोंका जल लाया जाता है। समुद्र, पवित्र महानदियां, अन्य पवित्र स्रोत और आकाशसे प्राप्त होनेवाला दिव्य जल ये सब जल लाये जाते हैं। इस मंत्रपूत जलसे राज्याभिषेक किया जाता है। इसका तात्पर्य बडा गंभीर है। राजाका राज्य समुद्रतक फैला हुआ होना चाहिये। यह पहिला बोध यहां मिलता है। जो राज्य समुद्रतक नहीं फैले हुए होते उनका व्यापार व्यवहार ठीक प्रकार नहीं चल सकता, इसलिये समुद्रके किनारे तक राज्यका विस्तार होना देशोन्नतिके लिये अत्यंत आवश्यक है। इसी विचारकी स्फूर्ति देनेके लिये सप्तम मंत्रके ' समुद्र, अप्सु अन्तः, द्वीपी ' ये शब्द हैं। पंचम मंत्रमें कहा है कि ' **तासां सर्वासां अपां वर्चसा अभिषिञ्चामि।** ' अर्थात् उन सब जलोंके तेजसे मैं तुम्हारा अभिषेक करता हूं, ताकि तुम इस तेजसे युक्त हो।

समुद्रतक राज्यविस्तार।

समुद्रका और महानदियोंका जल दूसरे राजाके पाससे भिक्षा मांगकर लाया हुआ राज्याभिषेकके कामका नहीं है। अपने राज्यमें समुद्र चाहिये और महानदियां भी अपने राज्यमें चाहिये। और उनसे जल प्राप्त करना चाहिये। इसका विचार करनेसे संस्कारकी चीजें किस प्रकार राज्यविस्तारके लिये कारणीभूत हो सकती हैं इसका पता लग सकता है।

कौन राजा होता है ?

जो वीर विशेष प्रभावशाली और पराक्रमी होता है और जो जनताको (**पयः आ दधाति**) दुग्ध आदि उपभोगके पदार्थ विपुल देता है तथा बेकारी कम करता है, वही (**अधिपतिः बभूव**) राजा होता है। इस राजाका सहायक यह मृत्यु ही होता है, मृत्यु देव सब जगतको दण्ड देनेवाला होता है, मानो इस मृत्युका अंश ही राजाके पास आकर निवास करता है। इसीकी सहायतासे राजा अपराधियोंको दण्ड देता है। इस प्रकारका प्रभावशाली राजा प्रजाका शासन करे। (मं. १) यह राजा शत्रुनाशक और मित्रवर्धक तथा शूर बनकर अपना राज्य चलावे और बढावे। (मं. २) राज्यशासन करनेवाले अनेक ओहदेदार ये राजाके ही रूप हैं, इस प्रकारसे मानो, राजा (**विश्वरूपः**) अनेक रूपवाला होकर राज्य करता है, और (**स्व-रोचिः**) अपने तेजसे तेजस्वी बनकर राज्य चलाता है। यही राजाकी महिमा है। (मं. ३) यह राजा वाघ और सिंह जैसा पराक्रमी बनकर शत्रुओंका दमन करे और सब प्रकारकी उन्नति सिद्ध करके यशका भागी बने।

अञ्जन ।

[सूक्त ९]

(ऋषिः — भृगुः । देवता — त्रैककुदाञ्जनम्)

एहि जीवं त्रायमाणं पर्वतस्यास्यक्ष्यम् । विश्वेभिर्देवैर्दत्तं परिधिर्जीवनाय कम् ॥ १ ॥
परिपाणं पुरुषाणां परिपाणं गवामसि । अश्वानामर्वतां परिपाणाय तस्थिषे ॥ २ ॥
उतासि परिपाणं यातुजम्भनमाञ्जन ।
उतामृतस्य त्वं वेत्थाथो असि जीवभोजनमथो हरितभेषजम् ॥ ३ ॥
यस्याञ्जन प्रसर्पस्यङ्गमङ्गं परुष्परुः । ततो यक्ष्मं वि बाधस उग्रो मध्यमशीरिव ॥ ४ ॥
नैनं प्राप्नोति शपथो न कृत्या नाभिशोचनम् । नैनं विष्कन्धमश्नुते यस्त्वा बिभर्त्याञ्जन ॥ ५ ॥

अर्थ— (जीवं त्रायमाणं) जीवकी रक्षा करनेवाला, (पर्वतस्य अक्ष्यं) पर्वतसे प्राप्त होनेवाला और आंखोंके लिये हितकारक, (विश्वेभिः देवैः दत्तं) सब देवोंने दिया हुआ, (कं) सुखस्वरूप (जीवनाय परिधिः असि) जीवनके लिये परकोटरूप है, तू (एहि) यहां आ ॥ १ ॥

तू (पुरुषाणां परिपाणं) पुरुषोंका रक्षक, (गवां परिपाणं असि) गौओंका रक्षक है, (अर्वतां अश्वानां) वेगवान घोडोंके भी (परिपाणाय तस्थिषे) रक्षाके लिये तू रहता है ॥ २ ॥

हे (आञ्जन) अञ्जन ! तू (उत परिपाणं असि) निःसंदेह संरक्षक है और (यातु जंभनं) बुराइयोंका नाश करनेवाला है । (उत त्वं अमृतस्य वेत्थ) और तू अमृतको जानता है; (अथो जीव-भोजनं असि) और जीवोंकी पुष्टि करनेवाला है, (अथो हरित-भेषजं) तथा पाण्डुरोगकी औषधि है ॥ ३ ॥

हे (अञ्जन) अञ्जन ! (यस्य अङ्गं अङ्गं परुः परुः प्र सर्पसि) जिसके अंग अंगमें और जोड जोडमें तू व्यापता है, (ततः यक्ष्मं वि बाधसे) वहांसे रोगको हटा देता है, (मध्यमशीः उग्रः इव) मध्यस्थानमें रहनेवाले प्राणके समान तू उग्र है ॥ ४ ॥

हे अञ्जन ! (यः त्वा बिभर्ति) जो तेरा धारण करता है (एनं शपथः न प्राप्नोति) इसको दुष्ट भाषण प्राप्त नहीं होता है, (न कृत्या) न हिंसक कर्म और (न अभिशोचनं) न तो शोक उसके पास आता है । (विष्कन्धं एनं न अश्नुते) पीडा इसको नहीं घेरती है ॥ ५ ॥

भावार्थ— प्राणीमात्रको अपमृत्युसे बचानेवाला, जीवनके लिये सहायक, आंखके लिये हितकारी, सब देवोंसे प्राप्त और पर्वतपर उगनेवाली वनस्पतियोंसे बननेवाला यह अञ्जन है, यह हमें प्राप्त होवे ॥ १ ॥

मनुष्य, गौएं और घोडोंके लिये भी यह अत्यन्त हितकारी है ॥ २ ॥

यह अञ्जन उत्तम संरक्षक, बुराइयोंको दूर करनेवाला, मृत्युको दूर करनेवाला, पुष्टि देनेवाला और पाण्डुरोगका नाश करनेवाला है ॥ ३ ॥

यह अञ्जन जिसके अवयवों और संधियोंमें पहुंचता है वहांसे रोग हटा देता है ॥ ४ ॥

इस अञ्जनको जो लोग लगाते हैं उनको दुष्ट भाषण, शाप, हिंसाके कर्म, अन्य शोकके कारण और अन्य पीडाएं कष्ट नहीं देतीं ॥ ५ ॥

असन्मन्त्राद्दुःष्वप्न्याद्दुष्कृताच्छमलादुत । दुर्हार्दश्चक्षुषो घोरात्तस्मान्नः पाह्याञ्जन ॥ ६ ॥
इदं विद्वानाञ्जन सत्यं वक्ष्यामि नानृतम् । सनेयमश्वं गामहमात्मानं तव पूरुष ॥ ७ ॥
त्रयो दासा आञ्जनस्य तक्मा बलास आदहिः । वर्षिष्ठः पर्वतानां त्रिककुन्नाम ते पिता ॥ ८ ॥
यदाञ्जनं त्रैककुदं जातं हिमवतस्परि । यातूंश्च सर्वाञ्जम्भयत्सर्वाश्च यातुधान्यः ॥ ९ ॥
यदि वासि त्रैककुदं यदि यामुनमुच्यसे । उभे ते भद्रे नाम्नी ताभ्यां नः पाह्याञ्जन ॥ १० ॥

अर्थ— हे अञ्जन ! तू (असन्मंत्रात्) बुरी मंत्रणासे, (दुष्वप्न्यात्) बुरे स्वप्नसे (दुष्कृतात्) दुष्ट कर्मसे, (शमलात्) अशुद्धिसे, (उत दुर्हार्दः) दुष्ट-हृदयतासे, (तस्मात् घोरात् चक्षुषः) उस भयंकर नेत्र विकारसे (नः पाहि) हमारा बचाव कर ॥ ६ ॥

हे अञ्जन ! (इदं विद्वान्) इस बातको जाननेवाला मैं (सत्यं वक्ष्यामि) सत्य बोलता हूं (न अनृतं) असत्य नहीं। हे (पूरुष) मनुष्य ! (तव अश्वं गां आत्मानं) तेरे घोडा, गौ और आत्माको (अहं सनेयं) मैं आरोग्य देऊं ॥ ७ ॥

(तक्मा, बलासः, आत् अहिः) ज्वर, कफरोग और उदावर्तरोग अथवा सर्प ये (त्रयः आञ्जनस्य दासाः) तीन अञ्जनके दास हैं। (पर्वतानां वर्षिष्ठः) पर्वतोंमें श्रेष्ठ (त्रिककुद् नाम ते पिता) त्रिककुद नामक तेरा पालक है ॥ ८ ॥

(यत् त्रैककुदं आञ्जनं) जो त्रिककुदसे बना हुआ अञ्जन (हिमवतः परि जातं) हिमयुक्त पर्वतपर उत्पन्न हुआ वह (सर्वान् यातून् जम्भयत्) सब पीडकोंको दूर करता हुआ (सर्वाः यातुधान्यः च) सब दुष्टोंको दूर करता है ॥ ९ ॥

(यदि वा त्रैककुदं असि) यदि तू तीन ककुदोंसे उत्पन्न हुआ हो, (यदि यामुनं उच्यसे) तुम्हें यामुन कहा जाता हो, (ते उभे नाम्नी भद्रे) वे दोनों तेरे नाम कल्याण सूचक हैं। हे अञ्जन ! (ताभ्यां नः पाहि) उनसे हमारी रक्षा कर ॥ १० ॥

भावार्थ— इस अञ्जनसे बुरा विचार, बुरी संमति, दुष्ट स्वप्न, दुष्ट कर्म, अशुद्धता, हृदयके दुष्ट भाव और आंखके भयंकर रोग दूर होते हैं ॥ ६ ॥

मैं इस अञ्जनके गुण जानता हूं इसलिये सच कहता हूं कि इससे मनुष्य, घोडे, गौवें आदिकोंको आरोग्य प्राप्त होता है ॥ ७ ॥

ज्वर, क्षय, कफविकार, उदावर्तनामक पेटका रोग अथवा सर्पका विष आदि इस अञ्जनके प्रयोगसे दूर हो जाते हैं। ऊंचे पर्वतोंपरके पदार्थोंसे यह बनता है ॥ ८ ॥

इस अञ्जनसे सब प्रकारकी पीडाएं दूर होती हैं ॥ ९ ॥

त्रैककुद और यामुन ये इसके नाम हैं, इससे कल्याण प्राप्त होता है। इससे हमारी रक्षा होवे ॥ १० ॥

अञ्जन।

वैद्यशास्त्रमें अञ्जनके मुख्य दो नाम हैं—

'यामुनं अथवा यामुनेयं और सौवीराञ्जनं।'

इसके पर्याय शब्द ये हैं—

'पार्वतेयं, अर्जुनं, यामुनं, कृष्णं, नादेयं, मेचकं, स्रोतोजं, दुष्प्रमर्दं, नीलं, सुवीरजं, नीलाञ्जनं, चक्षुष्यं, वारिसंभवं, कपोतकं।' (रा. नि. व. १३)

इन नामोंमें 'पार्वतेयं, यामुनं' ये दो शब्द हैं। ये ही दो शब्द इस सूक्तके प्रथम और दशम मंत्रमें क्रमशः हैं। अन्य मंत्रोंमें भी हैं, देखिये—

पर्वतस्य असि। (सू. ९, मं. १)
पर्वतानां त्रिककुत्० ते पिता। (सू. ९, मं. ८)
त्रैककुदं आञ्जनं हिमवतस्परि जातं। (सू. ९, मं. ९)
त्रैककुदं (आञ्जनं) यामुनं उच्यते। (सू. ९, मं. १०)

'पर्वतसे यह अंजन बना है। अंजनका पिता पर्वत है।

हिमपर्वतपर यह अञ्जन हुआ। इसको यामुन कहते हैं।' अर्थात् वेदके शब्दोंका अर्थ वैद्यक ग्रन्थोंके वर्णनसे इस प्रकार खुल जाता है। अञ्जनके गुण वैद्यक ग्रन्थमें इस प्रकार कहे हैं-

शीतलं तीक्ष्णं स्वादु लेखनं कटु चक्षुष्यं तिक्तं ग्राहकं मधुरं स्निग्धं हिक्काक्षयपित्तविषकफघ्नं नेत्रदोषहरं वातघ्नं श्वासहरं रक्तपित्तघ्नं च । (वै. निघं.)

शीतलं कटु तिक्तं कषायं चक्षुष्यं रसायनं कफवातविषघ्नं च ॥ (रा. नि. व. १३)

ये वैद्यक ग्रंथमें कहे अञ्जनके गुण हैं। इनमेंसे कई गुण इस सूक्तमें कहे हैं, देखिये—

१ '**अक्ष्यं**' (मं. १) आंखोंके लिये हितकारी, '**घोरात् चक्षुषः पाहि।**' (मं. ६) आंखके भयंकर रोगसे बचाता है। यही भाव वैद्यक ग्रन्थमें '**चक्षुष्यं, नेत्रदोषहरं**' शब्दसे वर्णन किया है।

२ (मं. ८ में) **यक्ष्मा** (क्षय ज्वर), **बलास** (कफ, श्वास), और **अहिः** (सर्प विष) का शमन अञ्जनसे होनेका वर्णन है। यही बात उक्त वैद्यक ग्रन्थके वर्णनसे '**हिक्का** (श्वास), **क्षय** (क्षयरोग), **विष** (विषबाधा) का नाश करनेवाला' इन शब्दोंसे कही है।

इस सूक्तमें हृदयादि अन्दरके अवयवोंपर भी इस अंजनका प्रभाव पडता है ऐसा कहा है। विचार आदिकी शुद्धता होती है और मनुष्यों तथा पशुओंके शरीरोंके अनेक रोग दूर होते हैं ऐसा कहा है, यह भी वैद्यक ग्रन्थमें '**कफपित्तवातघ्नं**' अर्थात् वात, पित्त, कफ दोषोंका शमन करनेवाला इत्यादि वर्णनसे स्पष्ट हुआ है। कफपित्तवातके प्रकोपसे सब रोग उत्पन्न होते हैं, उन प्रकोपोंका शमन इस अञ्जनसे होता है इसलिये सब रोग दूर करनेवाला यह अञ्जन है। इस दृष्टिसे इस सूक्तके २ से ८ तकके मंत्रोंके कथनोंका विचार करके बोध प्राप्त करना चाहिये। यह सूक्त सुबोध है और विषय उपयोगी है। इसलिये वैद्योंको इस अञ्जनके निर्माण करनेकी विधिका निश्चय करके उसको प्रकट करना चाहिये।

शंखमणि ।

[सूक्त १०]

(ऋषिः — अथर्वा । देवता — शंखमणिः)

वाताज्जातो अन्तरिक्षाद्विद्युतो ज्योतिषस्परि । स नो हिरण्यजाः शङ्खः कृशनः पात्वंहसः ॥ १ ॥
यो अग्रतो रोचनानां समुद्रादधि जज्ञिषे । शङ्खेन हत्वा रक्षांस्यत्त्रिणो वि षहामहे ॥ २ ॥

अर्थ— (वातात् अन्तरिक्षात्) वायुसे, अन्तरिक्षसे, (विद्युतः ज्योतिषः परि जातः) बिजलीसे और सूर्यादि ज्योतियोंसे भी सब प्रकारसे उत्पन्न हुआ (सः हिरण्यजाः कृशनः शंखः) वह सुवर्णसे बना मोती रूपी तेजस्वी शंख (नः अंहसः पातु) हमको पापसे बचावे ॥ १ ॥

(यः रोचनानामग्रतः) जो प्रकाशमानोंमें अग्र भागमें रहनेवाला (समुद्रात् , अधि जज्ञिषे) समुद्रसे उत्पन्न होता है उस (शंखेन रक्षांसि हत्वा) शंखसे राक्षसोंको नाश करके (अत्रिणः वि सहामहे) भक्षकोंको पराभूत करते हैं ॥ २ ॥

भावार्थ— वायु, अन्तरिक्ष, विद्युत् और सूर्यादिकोंका तेज तथा सुवर्णके गुण लेकर शंख उत्पन्न हुआ है वह रोगोंसे बचाता है ॥ १ ॥

यह स्वयं तेजस्वी है और समुद्रसे प्राप्त होता है, इससे रोगबीज दूर होते हैं, उनका शोषण करनेवाले रोगोंके क्रिमी इससे नष्ट होते हैं ॥ २ ॥

शङ्खेनामीवाममतिं शङ्खेनोत सदान्वाः । शङ्खो नो विश्वभेषजः कृशनः पात्वंहसः ॥ ३ ॥
दिवि जातः समुद्रजः सिन्धुतस्पर्याभृतः । स नो हिरण्यजाः शङ्ख आयुष्प्रतरणो मणिः ॥ ४ ॥
समुद्राज्जातो मणिर्वृत्राज्जातो दिवाकरः । सो अस्मान्त्सर्वतः पातु हेत्या देवासुरेभ्यः ॥ ५ ॥
हिरण्यानामेकोऽसि सोमात्त्वमधि जज्ञिषे ।
रथे त्वमसि दर्शत इषुधौ रोचनस्त्वं प्र ण आयूंषि तारिषत् ॥ ६ ॥
देवानामस्थि कृशनं बभूव तदात्मन्वच्चरत्यप्स्वन्तः ।
तत्ते बध्नाम्यायुषे वर्चसे बलाय दीर्घायुत्वाय शतशारदाय कार्शनस्त्वाभि रक्षतु ॥ ७ ॥

इति द्वितीयोऽनुवाकः ॥ २ ॥

अर्थ— (शंखेन अमीवां, अमतिं) शंखसे रोगको और मति हीनताको (उत शंखेन सदान्वाः) और शंखसे सदा पीडा करनेवाले रोगोंको हम दूर करते हैं । यह (शंखः विश्वभेषजः) शंख सब रोगोंकी औषधि है, इसलिये यह (कृशनः अंहसः पातु) मोतीके समान तेजस्वी शंख पापसे बचावे ॥ ३ ॥

(दिवि जातः) द्युलोकसे हुआ, (समुद्रजः) समुद्रसे जन्मा अथवा (सिन्धुतः परि आभृतः) नदियोंसे इकट्ठा किया हुआ यह (हिरण्यजाः शंखः) सुवर्णके समान चमकनेवाला शंख है, (सः मणिः) वह मणि (नः आयु-ष्प्रतरणः) हमारे लिये आयुष्यमें दुखोंसे पार करनेवाला होवे ॥ ४ ॥

(समुद्रात् मणिः जातः) समुद्रसे यह शंखरूपी रत्न हुआ है, जैसा (वृत्रात् दिवाकरः जातः) मेघसे सूर्य प्रकट होता है । (सः हेत्या) वह अपने शस्त्रसे (देवासुरेभ्यः) देवों वा असुरोंसे (अस्मान् सर्वतः पातु) हम सबको सब प्रकारसे बचावे ॥ ५ ॥

(हिरण्यानां एकः असि) तू सुवर्ण जैसे चमकनेवालोंमें एक है, (त्वं सोमात् अधि जज्ञिषे) तू सोमसे उत्पन्न हुआ है । (त्वं रथे दर्शतः) तू रथमें दिखाई देता है, (त्वं इषुधौ रोचनः) तू तूणीरमें चमकता है (नः आयूंषि प्र तारिषत्) हमारी आयु बढाओ ॥ ६ ॥

(देवानां अस्थि कृशनं बभूव) देवोंका अस्थिरूप श्वेत तेज ही सुवर्ण या मोतीके सदृश बना है । (तत् आत्मन्वत् अप्सु अन्तः चरति) वह आत्माको सत्तासे युक्त होता हुआ जलोंमें विचरता है । (तत् ते) वह तेरे ऊपर (वर्चसे बलाय आयुषे दीर्घायुत्वाय शतशारदाय) तेज, बल, आयुष्य, दीर्घ आयुष्य, सौ वर्षोंवाला दीर्घायुष्य प्राप्त होनेके लिये (बध्नामि) बांधता हूं । यह (कार्शनः त्वा अभिरक्षतु) शंख मणि तेरा पूर्ण रक्षण करे ॥ ७ ॥

भावार्थ— शंखसे आमके कारण उत्पन्न होनेवाले रोग दूर होते हैं, बुद्धिकी सुस्ती हट जाती है, शंखसे शरीरकी अन्य पीडा हट जाती है, शंख सब रोगोंकी औषधि है । यह तेजस्वी शंख हमें रोगोंसे बचाता है ॥ ३ ॥

यह शंख समुद्रमें उत्पन्न होता है और महा नदियोंके मुखपर भी प्राप्त होता है । यह सब आयुमें हमें दुःखोंसे पार करता है ॥ ४ ॥

समुद्रसे प्राप्त होनेवाला शंख अपने विनाशक गुणसे सब प्रकारके दोषोंसे हमारी रक्षा करे ॥ ५ ॥

शंख सुवर्णके समान तेजस्वी, और चंद्रमाके समान श्वेत है । यह शूरोंके रथोंपर और बाणोंकी तूणीरपर रखा जाता है । इससे आयुष्यकी वृद्धि होती है ॥ ६ ॥

यह मानों देवोंका तेज है और वही शंख रूपसे समुद्रके जलके अन्दर प्राप्त होता है । इससे तेज, बल, दीर्घ आयुष्य आदिकी प्राप्ति होती है । यह सब दोषोंसे मनुष्यको बचाता है ॥ ७ ॥

शंखसे रोग दूर करना।

शंखकी औषधि बनाकर उसका विविध रोगोंको दूर करनेके कार्यमें उपयोग करनेका विषय वैद्यशास्त्रमें अनेक स्थानोंमें है, वही इस सूक्तका विषय है। इस विषयमें सबसे प्रथम वैद्यशास्त्रके प्रमाण देखिये—

वैद्यशास्त्र ग्रंथोंमें जो इसके नाम दिये हैं उनमें ' पूतः ' शब्द है। इसका अर्थ ' पवित्र ' है। स्वयं पवित्र होता हुआ जहां जाय वहां निर्दोषता करनेवाला। शंखका यह गुण है इसीलिये इसका उपयोग औषधि क्रियामें होता है।

शंखके गुण।

वैद्यशास्त्रमें इसके गुण निम्नलिखित प्रकार कहे हैं—

शंखकूर्मादयः स्वादुरसपाका मरुन्नुदः।
शीताः स्निग्धा हिताः पित्ते वर्चस्याः श्लेष्मवर्धनाः॥
(सुश्रुत. सू. ४६)

' शंख स्वादुरस, वायुको हटानेवाला, शीत, स्निग्ध, पित्त विकारमें हितकारी, तेज बढानेवाला और श्लेष्मा बढानेवाला है। ' तथा—

कटुः शीतः पुष्टिवीर्यबलदः गुल्मशूलकफ-
श्वासविषघ्नश्च। (रा. नि. व. १६)

' कटु, शीत, पुष्टिकारक, वीर्यवर्धक, बल बढानेवाला, गुल्म रोग दूर करनेवाला, शूल हटानेवाला, कफ रोग और श्वास दूर करनेवाला और विष दूर करनेवाला है। ' ये वैद्यशास्त्रमें कहे हुए शंखके गुण देखनेसे इस सूक्तका आशय स्वयं स्पष्ट हो जाता है और शंखका रोगनिवारक गुण ध्यानमें आ जाता है। इस शंखसे शंखद्रव, शंखभस्म, शंखचूर्ण, शंखवटी आदि अनेक औषधि विविध रोग दूर करनेके लिये बनाये जाते हैं। इस लिये जिन लोगोंको इन औषधियोंका अनुभव है, उनको शंखके औषधिगुणोंके विषयमें विशेष रीतिसे कहनेकी आवश्यकता नहीं है। बच्चोंको होनेवाले कई रोगोंके शमनके लिये शंख पानीमें घोलकर पिलाया जाता है साथ अन्यान्य औषधियां भी होती ही हैं। इससे स्वयं सिद्ध है कि यह शंख बडी औषधि है।

शंख प्राणी है।

शंख केवल निर्जीव स्थितीमें बाजारोंमें बिकता है, परन्तु यह प्राणीका शरीर अथवा शरीरका आवरण है, यह प्राणीके साथ बढता है। यह हड्डीके समान होता है, कुछ अन्यान्य रासायनिक भेद अवश्य होते हैं, इसलिये यह केवल हड्डी जैसा ही नहीं होता। यह जीव है ऐसा इस सूक्तके सप्तम मन्त्रमें कहा है—

देवानां अस्थि कृशनं बभूव,
तत् आत्मन्वत् अप्सु अन्तः चरति।
(सू. १०, मं. ७)

' देवोंकी हड्डी ही यह शंख रूपमें परिणत हुई है वह (आत्मन्वत्) आत्मासे- जीव सत्तासे- युक्त होकर जलोंके अन्दर विचरता है। ' इससे निःसन्देह स्पष्ट हुआ कि शंख यह आत्मावाला अर्थात् जीवधारी प्राणी है। दिव्य गुणोंसे युक्त हड्डी जैसा, परन्तु उस हड्डीके घरके अन्दर रहनेवाला यह प्राणी ही है। इसके इस घर जैसे शंखके जो औषधि गुण हैं वे इस सूक्तमें कहे हैं। इस सूक्तमें जो इसके गुण कहे हैं वे ये हैं—

(१) विश्वभेषजः— बहुत रोगोंकी औषधि। शंखकी औषधिसे बहुत रोग दूर हो जाते हैं। (मं. ३)

(२) अंहसः पातु (पाति)— शरीरमें रोग रहनेसे मनुष्यकी पापकी ओर प्रवृत्ति होती है, शंखकी औषधि सेवन करनेसे यह पापप्रवृत्ति दूर होती है। और निरोग होनेसे मनुष्यके मनकी प्रवृत्ति पुण्यकर्ममें हो जाती है। रोग और पाप ये परस्परावलंबी होते हैं। एकके होनेसे दूसरा होता है। (मं. १, ३)

(३) आयुष्प्रतरणः— आयुष्यके पार ले जानेवाला, अर्थात् पूर्ण आयु देकर बीचमें आनेवाले रोगरूपी विघ्नोंको हटानेवाला शंख है। (मं. ४)

(४) देवासुरेभ्यः हेत्या पातु (पाति)— देवों और असुरोंसे जो जो रोग या पीडा होना सम्भव है उससे शंख बचाता है। जल, अन्न आदि देवता हैं, जिनका सेवन मनुष्य करता है और जो दोष इनमें होते हैं उनके कारण रोग होता है। आसुर और राक्षस भाव इंद्रियों और मनोंके अन्दर प्रबल होते हैं और इस कारण मनुष्य बीमार होता है। इन सब रोगोंके दूर करनेके लिये शंखकी औषधि उत्तम है। (मं. ५) देवों और असुरोंसे रोग कैसे होते हैं इसका यह विचार पाठक स्मरणमें रखें।

(५) अमीवां शङ्खेन (विषहामहे)— ' आम ' अर्थात् अन्नके अपचनसे होनेवाले रोग ' अमीव ' कहे जाते हैं। इन रोगोंको शंखसे दूर किया जाता है। अर्थात् शंखसे पचनकी शक्ति बढ जाती है और आमके दोष हट जाते हैं। (मं. ३)

(६) अमतिं शङ्खेन (विषहामहे)— मति, बुद्धि अथवा मनके कुविचार भी पूर्वोक्त आमके कारण ही होते हैं।

शंखसे आमके दोष दूर होते हैं और उक्त कारणसे मनके बुरे विचार दूर होते हैं और पापप्रवृत्ति भी हट जाती है। (मं. ३)

(७) **शङ्खेन सदान्वाः (विषहामहे)**- शरीरमें, हरएक अवयवमें जिन रोगोंमें बडा दर्द हो जाता है वे रोग '**सदान्वाः**' कहे जाते हैं। (**सदा नोनूयमानाः**) सदा रोगी चिल्लाते रहते हैं इस प्रकारके रोगोंको शंख दूर करता है। (मं. ३)

(८) तेज, बल और दीर्घ आयुकी प्राप्ति शंखसे होती है। (मं. ७)

इस प्रकार शंखसे रोग दूर होनेके विषयमें इस सूक्तमें कहा है।

रोग जन्तु ।

इस सूक्तमें रोगकृमियोंको और उनसे होनेवाले विविध रोगोंको दूर करनेके लिये भी इसी शंखकी औषधि लिखी है, इस विषयका वर्णन इस सूक्तमें इस प्रकार है—

(१) **रक्षांसि**— (**रक्षः = क्षरः**) = जिन रोगजन्तुओंसे शरीर क्षीण होता जाता है। (मं. २)

(२) **अत्रिन्**—(**अत्ति इति**) = जिस रोगमें बहुत अन्न खानेपर भी शरीरकी पुष्टि नहीं होती है, खून कम होता है, मांस आदि सप्त धातु क्षीण होते हैं। भस्मरोग तथा उसी प्रकारके अन्य रोगोंके बीजोंका यह नाम है। (मं. ३)

ये क्रिमियोंके अर्थात् रोगके क्रियोंके नाम हैं। इनसे उत्पन्न होनेवाले सब रोग शंखके सेवनसे दूर होते हैं।

शंखके गुण ।

इस सूक्तमें इस शंखके जो गुण कहे हैं वे अब देखिये—

(१) **समुद्रात् जज्ञिषे**— यह समुद्रसे उत्पन्न होता है, जलसे उत्पत्ति है इसलिये यह शीतवीर्य है, गुणोंमें शीत है। (मं. १,२,४,५)

(२) **सोमात् जज्ञिषे**— सोम अर्थात् औषधियाँ अथवा चंद्रसे उत्पन्न होनेके कारण गुणकारी, रोग दूर करनेवाला और शीत गुण प्रधान है। (मं. ६)

(३) **हिरण्यजाः**— सुवर्णसे उत्पन्न होनेके कारण बलवर्धक आदि गुण इसमें हैं। (मं. १,४,६)

(४) **विद्युत्**— आदि तेजोंसे उत्पन्न होनेके कारण यह शंख शरीरका तेज बढानेवाला है। (मं. १)

इस प्रकार इस सूक्तमें शंखके गुण बताये हैं। इन गुणोंकी तुलना पाठक वैद्यग्रंथोक्त गुणोंके साथ करें और इस रीतिसे वैदिक गुणवर्णनकी शैली जाननेका यत्न करें।

यह वैद्यका विषय है। वैद्यशास्त्रमें शंखका अनेक प्रकारसे उपयोग होता है। इसलिये वैद्योंको इस विषयकी खोज करके इस विषयको अधिक सुबोध करना योग्य है।

महाराष्ट्रमें पानीमें शंख घोलकर छोटे बच्चोंको पिलाते हैं, जिससे छोटे बच्चोंकी कई बीमारियां दूर होती हैं। बच्चेके गलेमें भी शंखका मणि बांधते हैं, अथवा छोटे शंखको सुवर्णमें जडकर गलेमें आभूषण बनाते हैं। इससे लाभ होता है ऐसा अनुभव है। वैद्योंको इसकी अधिक खोज करनी चाहिये।

॥ यहां द्वितीय अनुवाक समाप्त ॥

विश्वशकटका चालक।

[सूक्त ११]

(ऋषिः — भृग्वङ्गिराः। देवता— अनड्वान्, इन्द्रः।)

अनड्वान्दाधार पृथिवीमुत द्यामनड्वान्दाधारोर्वन्तरिक्षम्।
अनड्वान्दाधार प्रदिशः षडुर्वीरनड्वान्विश्वं भुवनमा विवेश ॥ १ ॥
अनड्वानिन्द्रः स पशुभ्यो वि चष्टे त्रयां छक्रो वि मिमीते अध्वनः।
भूतं भविष्यद्भुवना दुहानः सर्वा देवानां चरति व्रतानि ॥ २ ॥
इन्द्रो जातो मनुष्ये३ष्वन्तर्घर्मस्तप्तश्चरति शोशुचानः।
सुप्रजाः सन्त्स उदारे न सर्षद्यो नाश्नीयादनडुहो विजानन् ॥ ३ ॥

अर्थ— (अनड्वान् पृथिवीं दाधार) विश्वरूपी शकटको चलानेवाले ईश्वरने पृथ्वीका धारण किया है, (अनड्वान् द्यां उत उरु अन्तरिक्षं दाधार) इसी ईश्वरने द्युलोक और यह बडा अंतरिक्ष धारण किया है। (अनड्वान् षट् उर्वीः प्रदिशः दाधार) इसी ईश्वरने छः बडी दिशाओंको धारण किया है। (अनड्वान् विश्वं भुवनं आ विवेश) यही ईश्वर सब भुवनमें प्रविष्ट हुआ है ॥ १ ॥

(सः अनड्वान् इन्द्रः) वह अनड्वान् इन्द्र है वह (पशुभ्यः विचष्टे) पशुओंका निरीक्षण करता है, (शक्रः त्रयान् अध्वनः विमिमीते) वह समर्थ प्रभु तीनों मार्गोंको मापता है। (भूतं भविष्यत् भुवना दुहानः) भूत भविष्य और वर्तमानकालके पदार्थोंको निर्माण करता हुआ (देवानां सर्वा व्रतानि चरति) देवोंके सब व्रतोंको चलाता है ॥ २ ॥

(इन्द्रः मनुष्येषु अन्तः जातः) इन्द्र मनुष्योंके अन्दर प्रकट हुआ है वह (तप्तः घर्मः शोशुचानः चरति) तपनेवाले सूर्यके समान प्रकाशता हुआ चलता है। इस (अनडुहः विजानन्) संचालकको जानता हुआ (यः न अश्नीयात्) जो अपने लिये भोग न करेगा (सः) वह (सु-प्रजाः सन्) सुप्रजावान होकर (उत्-आरे न सर्षत्) देहपातके पश्चात् नहीं भटकता है ॥ ३ ॥

भावार्थ— इन्द्रने पृथ्वी, अन्तरिक्ष, द्युलोक और छः दिशाओंका धारण किया है और वह सब भुवनोंमें प्रविष्ट हुआ है ॥ १ ॥

इसी इन्द्रको अनड्वान् कहते हैं, वह सबका निरीक्षक है, इसी समर्थ इन्द्रने तीनों मार्गोंको निर्माण किया है। भूत, भविष्य और वर्तमानकालके सब पदार्थोंका निर्माण करता हुआ वह सब अन्यान्य देवताओंके व्रतोंको चलाता है ॥ २ ॥

यह प्रभु मनुष्योंके अन्दर प्रकट होता है, वह प्रकाशमान सूर्यके समान तेजस्वी है। इस ईश्वरको जो जानता है वह स्वार्थी भोगतृष्णाको छोडता हुआ, सुप्रजावान् होकर, देहपातके पश्चात इधर उधर न भटकता हुआ, अपने मूल स्थानको प्राप्त करता है ॥ ३ ॥

अनड्वान्दुहे सुकृतस्य लोक ऐनं प्याययति पवमानः पुरस्तात् ।
पर्जन्यो धारा मरुत ऊधो अस्य यज्ञः पयो दक्षिणा दोहो अस्य ॥ ४ ॥
यस्य नेशे यज्ञपतिर्न यज्ञो नास्य दातेशे न प्रतिग्रहीता ।
यो विश्वजिद्विश्वभृद्विश्वकर्मा घर्मं नो ब्रूत यतमश्चतुष्पात् ॥ ५ ॥
येन देवाः स्व॑रारुरुहुर्हित्वा शरीरममृतस्य नाभिम् ।
तेन गेष्म सुकृतस्य लोकं घर्मस्य व्रतेन तपसा यशस्यवः ॥ ६ ॥
इन्द्रो रूपेणाग्निर्वहेन प्रजापतिः परमेष्ठी विराट् ।
विश्वानरे अक्रमत वैश्वानरे अक्रमतानडुह्यक्रमत । सोऽदृंहयत सोऽधारयत ॥ ७ ॥

अर्थ— (**सुकृतस्य लोके अनड्वान् दुहे**) पुण्यके लोकमें यह ईश्वर तृप्ति देता है और (**पुरस्तात् पवमानः एनं आप्याययति**) पहिलेसे पवित्र करता हुआ इसको बढाता है। (**पर्जन्यः अस्य धाराः**) पर्जन्य इसकी धाराएं हैं, (**मरुतः ऊधः**) मरुत् अर्थात् वायु स्तन हैं, (**अस्य यज्ञः पयः**) इसका यज्ञ ही दूध है, और (**अस्य दक्षिणा दोहः**) इसकी दक्षिणा दूधके दोहन पात्रके समान है ॥ ४ ॥

(**यज्ञपतिः यस्य न ईशे**) यज्ञपति इसका स्वामी नहीं है, (**न यज्ञः**) न यज्ञ स्वामी है, (**न दाता, न प्रतिग्रहीता अस्य ईशे**) न दाता और न लेनेवाला इसका स्वामी है (**यः विश्वजित्**) जो सबका जीतनेवाला (**विश्वभृत् विश्वकर्मा**) सबका पोषणकर्ता और सबका कर्ता है (**घर्मं नः ब्रूत**) उस उष्णता देनेवालेका हमको वर्णन कहो, वह (**यतमः चतुष्पात्**) कैसा चार पांववाला है ? ॥ ५ ॥

(**येन देवाः शरीरं हित्वा**) जिसकी सहायतासे देव शरीर त्याग करके (**अमृतस्य नाभिं स्वः आरुरुहुः**) अमृतके केन्द्ररूप आत्मीय प्रकाश स्थानपर चढे थे (**घर्मस्य तेन व्रतेन तपसा यशस्यवः**) प्रकाशपूर्णके उस व्रतसे और तपस्यासे यशको बढानेकी इच्छा करनेवाले हम (**सुकृतस्य लोके गेष्म**) सुकृतके लोकमें अपने स्थानको प्राप्त करेंगे ॥ ६ ॥

(**इन्द्रः रूपेण अग्निः**) प्रभु ही अपने रूपसे अग्नि बना है, वही (**परमेष्ठी प्रजापतिः**) परमात्मा प्रजापालन कर्ता ईश्वर (**वहेन विराट्**) सब विश्वको उठानेके कारण विराट् हुआ है । वही (**विश्वा-नरे अक्रमत**) सब नरोंमें व्यापता है, वही (**वैश्वानरे अक्रमत्**) अग्नि आदिमें फैला है, वही (**अनडुहि अक्रमत्**) रथ खींचनेवाले प्राणि आदियोंमें फैला है। (**सः अदृंहयत**) वही दृढ करता है और वही (**सः अधारयत**) वही धारण करता है ॥ ७ ॥

भावार्थ— यह ईश्वर पुण्यलोकमें तृप्ति देता है और प्रारंभसे पवित्र करता हुआ इस जीवात्माको बढाता है। पर्जन्य इसकी पुष्टिकी धाराएं हैं, वायु या प्राण इसके स्तन हैं जिससे उक्त धाराएं निकलती हैं, यज्ञ ही पुष्टिकारक दूध है, और दक्षिणा दोहनपात्रके समान है ॥ ४ ॥

यज्ञ, यज्ञपति, दाता अथवा लेनेवाला इनमेंसे कोई भी इसपर शासन नहीं करता है। यह विश्वको जीतनेवाला, विश्वका पोषण करनेवाला और विश्वसंबंधी सब कर्म करनेवाला है। इसके चतुष्पात् स्वरूपके विषयमें ज्ञान प्राप्त करना चाहिये ॥ ५ ॥

जिसकी सहायतासे शरीर त्यागके पश्चात् अमृतके केन्द्ररूपी आत्मशक्तिपर स्वामित्व प्राप्त करते हैं, उस प्रकाशको बढानेवाले व्रत और तपसे यश प्राप्त करनेकी इच्छा करनेवाले हम पुण्यलोकमें अपना स्थान प्राप्त करेंगे ॥ ६ ॥

इन्द्र ही अग्नि, परमेष्ठी, प्रजापति और विराट् है, वही सब मनुष्यों और प्राणियोंमें व्याप्त है, वही सर्वत्र है और वही सबको बल देता है ॥ ७ ॥

मध्यमेतदनुडुहो यत्रैष वह आहितः । एतावदस्य प्राचीनं यावान्प्रत्यङ् समाहितः ॥ ८ ॥
यो वेदानडुहो दोहान्सप्तानुपदस्वतः । प्रजां च लोकं चाप्नोति तथा सप्तऋषयो विदुः ॥ ९ ॥
पद्भिः सेदिमवक्रामन्निरां जङ्घाभिरुत्खिदन् । श्रमेणानड्वान्कीलालं कीनाशश्चाभि गच्छतः ॥१०॥
द्वादश वा एता रात्रीर्व्रत्या आहुः प्रजापतेः । तत्रोप ब्रह्म यो वेद तद्वा अनडुहो व्रतम् ॥११॥
दुहे सायं दुहे प्रातर्दुहे मध्यंदिनं परि । दोहा ये अस्य संयन्ति तान्विद्मानुपदस्वतः ॥१२॥

अर्थ— (अनडुहः एतत् मध्यं) इस संचालकका यह मध्य है, (यत्र एष वहः आहितः) जहां यह विश्वका भार रखा है। (एतावत् अस्य प्राचीनं) इतना इसका पूर्व भाग है और (यावान् प्रत्यङ् समाहितः) जितना पिछला भाग रखा है ॥ ८ ॥

(यः अनु-उपदस्वतः अनडुहः सप्त दोहान् वेद) जो विनाशको न प्राप्त होनेवाले इस संचालकके सात प्रवाहोंको जानता है (प्रजां च लोकं च आप्नोति) वह प्रजा और लोकको प्राप्त होता है (तथा सप्त ऋषयः विदुः) ऐसा सात ऋषि जानते हैं ॥ ९ ॥

(पद्भिः सेदिं अवक्रामन्) पांवोंसे भूमिका आक्रमण करता है, (जङ्घाभिः इरां उत्खिदन्) जंघाओंसे अन्नको उत्पन्न करता हुआ (श्रमेण कीलालं) और परिश्रमसे रसको उत्पन्न करता हुआ (अनड्वान् कीनाशः च) बैल और किसान (अभिगच्छतः) चलते हैं ॥ १० ॥

(द्वादश वै एताः रात्रीः) निश्चयसे बारह ये रात्रियां (प्रजापतेः व्रत्याः आहुः) जिनको प्रजापतिके व्रतके लिये योग्य हैं ऐसा कहा जाता है। (तत्र यः ब्रह्म उपवेद) वहां जो ब्रह्मको जानता है (तत् वै अनडुहः व्रतं) वह ही उस विश्वचालकका व्रत है ॥ ११ ॥

(सायं दुहे प्रातः दुहे) मैं सायंकाल और प्रातःकाल दोहन करता हूं। (मध्यं दिनं परि) मध्यदिनके समय भी दोहन करता हूं। (ये अस्य दोहाः संयन्ति) जो इसके रस प्राप्त होते हैं (तान् अनु-उपदस्वतः विद्म) उनको अविनाशी हम जानते हैं ॥ १२ ॥

भावार्थ— संचालक देवका यह मध्यभाग है जिसपर इस संसाररूपी शकटका भार रखा है। इस मध्य भागके पूर्व भागमें और पश्चिम भागमें यह संसार रहा है ॥ ८ ॥

जो इस संसाररूपी शकटके संचालक देवके सात दोहन प्रवाहोंको जानता है, वह सुप्रजाको और पुण्यलोकोंको प्राप्त करता है, इसी प्रकार सप्त ऋषि जानते हैं ॥ ९ ॥

पांवोंसे भूमिका आक्रमण करता है, जांघोंसे अन्न उत्पन्न करता है, श्रमसे अन्नरस उत्पन्न करता है। इस प्रकारके बैल और किसान ये दोनों साथ साथ चलते हैं ॥ १० ॥

ये बारह रात्रियां हैं जो प्रजापतिका व्रत करनेके लिये योग्य हैं। उस समयमें ब्रह्मका ज्ञान प्राप्त करना ही विश्वचालकका व्रत है ॥ ११ ॥

प्रातःकाल, मध्यदिनके समय और सायंकाल दोहन होता है इस दोहनसे जो रस प्राप्त होते हैं वेही अविनाशी रस होते हैं ॥ १२ ॥

विश्वशकटका स्वरूप ।

यह सब संसार अथवा यह सब विश्वरूपी एक बडा शकट है, इस शकटमें सब मनुष्य आदि प्राणी बैठे हैं और अपने मुकामपर जा रहे हैं, इस शकटका वर्णन वेदमें इस प्रकार आता है-

मनो अस्या अन आसीद्यौरासीदुत च्छदिः ।
शुक्रावनड्वाहावास्तां यदयात्सूर्या गृहम् ॥ १० ॥
ऋक्सामाभ्यामभिहितौ गावौ ते सामनावितः ।
श्रोत्रं ते चक्रे आस्तां दिवि पन्थाश्चराचरः ॥ ११ ॥
शुची ते चक्रं यात्या व्यानो अक्ष आहतः ।
अनो मनस्मयं सूर्यारोहत्प्रयती पतिम् ॥ १२ ॥
(ऋ. १०।८५)

' इसका मनरूपी रथ था, जिस रथका ऊपरका भाग द्युलोक था। दो शुभ्र बैल इसको लगे थे जब सूर्यादेवी पतिके घर जाने लगी।' ॥ १० ॥

' ये बैल ऋचा और सामके मंत्रोंसे प्रेरित हुए थे, श्रोत्ररूपी दो चक्र इस रथको लगे हैं और इसका मार्ग आकाशसे चराचररूपी है ' ॥ ११ ॥

' ये चक्र शुद्ध हैं, इसके मध्यमें रथका अक्ष व्यान वायु है। यह मनोमय रथ है जिसपरसे सूर्यादेवी पतिके घर जाती है ' ॥ १२ ॥

यहां इस रथका ऊपरका भाग द्युलोक है ऐसा कहा है अर्थात् इसका नीचेका भाग पृथ्वी है और मध्य भाग अन्तरिक्ष है। शरीरमें मस्तिष्क, छाती और पाव ये रथके तीन भाग हैं, विश्वमें तीन लोक तीन भाग हैं। शरीरमें दस इन्द्रियां घोडोंके स्थानपर हैं उसी प्रकार जगत्के विशाल रथको दस देव लगे हैं; जिनसे ये दस इन्द्रियां बनी हैं। जिनको शरीरके रथकी ठीक कल्पना हो सकती है उसको विश्वरूपी विशाल रथकी कल्पना हो सकती है। पिण्ड ब्रह्माण्ड, शरीररथ विश्वरथ, इनकी समानतया तुलना स्थान स्थानपर होती है, जो यहां विचारसे जानकर ब्रह्माण्डके विशाल रथकी कल्पना करना उचित है। इस विश्वरथका संचालक ईश्वर इस सूक्तके वर्णनका विषय है। यही ' अनड्वान् अथवा इन्द्र ' है।

इन्द्र शब्द ईश्वरवाचक प्रसिद्ध है, परंतु ' अनड्वान् ' शब्द ईश्वरवाचक होनेमें पाठकोंको शंका होना स्वाभाविक है। क्योंकि **' अनः शकटं वहति इति अनड्वान् '** अर्थात् शकट किंवा गाडी खींचनेवाला बैल ऐसा इसका अर्थ है। जिस प्रकार शकटको बैल चलाता है उसी प्रकार विश्वरूपी रथको जो चलाता है वह विश्वरथका (अनड्वान्) बैल ही है। विश्व चलानेवाला जो प्रभु है वही इसको खींचता है, किस दूसरेकी शक्ति है इसको चलानेकी ? इसीलिये प्रथम मंत्रमें कहा है कि ' भूमि, अंतरिक्ष और द्युलोक सब दिशाओंके साथ उसीके आधारसे रहे हैं और वह सब भुवनोंमें प्रविष्ट हुआ है।' (मं. १) इस मंत्रमें जो ' अनड्वान् ' शब्द आया है वह सब विश्वको आधार देनेवाले सब विश्वमें व्यापक देवताका वाचक है। यद्यपि ' अनड्वान् ' शब्द संस्कृतमें ' बैल ' का वाचक है तथापि यहां उसका अर्थ ' विश्व-चालक ' ऐसा है। कई लोक यहां केवल बैलकी ही कल्पना करते हैं और अर्थका अनर्थ करते हैं उनको उचित है कि वे मंत्रके वर्णनका भी साथ साथ विचार करें और प्रसंगानुकूल अर्थ करके लाभ उठावें।

' जिस रथका ऊपरका भाग द्युलोक है, मध्यभाग अंतरिक्ष है और निम्न भाग भूमि है, उस रथमें मनुष्यमात्र बैठे हैं, मैं भी उसमें बैठा हूं, और इस रथको चलानेवाले स्वयं प्रभु हैं, ऐसा यह रथ हम सबको अभीष्ट स्थानको पहुंचा रहा है।' यह अत्यंत श्रेष्ठ काव्यमय कल्पना इस मंत्रमें कही है। अर्जुनका रथ भगवान् श्रीकृष्ण चला रहे थे, वस्तुतः ' कुरुक्षेत्र ' अर्थात् कर्मक्षेत्रमें हरएक मनुष्यका देहरथ परमात्मशक्तिसे ही चलाया जा रहा है। इसी प्रकार विश्वका यह प्रचंड रथ भी उसीकी शक्तिसे चल रहा है। यह कल्पना मनमें लाकर ' विश्वचालक ' ईश्वरका ज्ञान प्राप्त करना यही हरएक मनुष्यको उचित है। इस कल्पनाका जितना अधिक मनन किया जाय उतना परमात्मशक्तिका अधिक ज्ञान प्राप्त हो सकता है और मनुष्य ईश्वरकी अगाध शक्तिको जान सकता है।

जिस प्रकार रथके अनेक विभाग स्वयं अलग अलग होते हुए भी वे भाग रथमें आनेके कारण सबका एक दूसरेके साथ संबंध अटूट हो जाता है और उसमेंसे एक भाग भी ढीला हो जाय तो सब रथ टूट जाता है, इसी प्रकार यह विश्व एक दूसरेसे बंधा है, यद्यपि सूर्य-चंद्रादि लोकलोकान्तर एक दूसरेसे बडे अंतर पर हैं तथापि उनका परस्पर वैसा ही दृढ संबंध है जैसा रथमें एक चक्रका दूसरे चक्रके साथ। मनुष्यके शरीरमें भी अनेक अवयव होते हैं, वे अलग अलग होते हुए भी परस्पर संबंधित हैं, उनमेंसे एक अलग हुआ अथवा रोगी हुआ तो सब शरीरपर आपत्ति आ जाती है। इसी प्रकार मनुष्य समाजमें ज्ञानी, शूर, व्यापारी और कारीगर ये चार अवयव हैं। ये व्यक्तिशः एक दूसरेसे पृथक् होते हैं, परंतु संघभावसे ऐसे बंधे हुए हैं कि जैसे शरीरमें अवयव। यदि कई व्यक्तियां संघके नियम तोडकर शत्रुके साथ मिलीं तो संघका बल नष्ट

होता है। क्योंकि जैसा व्यक्तिका शरीर रथ है, समाजका शरीर भी रथ है, उसी प्रकार विश्वका शरीर भी एक बडा भारी विशाल रथ है। तीनों स्थानके नियम समान ही हैं। इस रथकी कल्पना करके और इसका मनन करके पाठक बहुत बोध प्राप्त कर सकते हैं। सब विश्व मिलकर एक रथ है, इसमें कोई विभक्त भाव नहीं है, हरएक सजीव या निर्जीव पदार्थ इसी रथका अंग है और इसको इसी कल्पनाके साथ यहां रहना चाहिये। इस रथको जो चलाता है वह ही इन्द्र है, वही प्रभु है, वही ईश्वर है—

अनड्वान् इन्द्रः। (सू. ११, मं. १)

इस रथको जो चलानेवाला है वह इन्द्र है, इस जगत्में जो गति आ गयी है वह उसकी ही गति है। इस जड जगत्को चेतना देनेवाला है वह एक ही ईश्वर है वह क्या करता है, देखिये—

(१) शक्रः त्रयान् अध्वनः मिमीते।
(२) भूतं भविष्यत् भुवना दुहानः।
(३) देवानां सर्वा व्रतानि चरति।

(सू. ११, मं. २)

'(१) वह समर्थ तीन मार्गोंको नापता है, (२) भूत, वर्तमान और भविष्य कालके भोग देता है, (३) और देवोंके सब व्रतोंको चलाता है।' ये इसके कार्य हैं।

(१) तीन मार्ग ये हैं— सत्व, रज और तम प्रकृतिवालोंके तीन मार्ग होते हैं। किसको किस मार्गसे जाना चाहिये और कैसा जाना चाहिये, यह उसको पता होता है, वही इन तीन मार्गोंका माप जानता है।

(२) तीन कालोंमें दोहन— भूत, वर्तमान और भविष्य कालोंमें यह दोहन करता है और पूर्वोक्त मार्गोंके ऊपरसे चलनेवालोंको भोगके लिये जो चाहिये सो देता है। जिसको जैसा देना योग्य होता है, उसके अनुकूल वैसे उपभोग उसको देता है और उसकी उन्नति वह करता है।

(३) देवोंके व्रतोंको चलाता है— देवोंके व्रत ये हैं—सूर्यका व्रत प्रकाश करनेका है, जलका बहनेका व्रत है, वायुका सुखानेका व्रत है। यह तो बाहरके देवोंके व्रत हैं। शरीरके अंदरके देवोंके ये व्रत हैं—आंखका देखनेका व्रत है, कानका सुननेका व्रत है, प्राणका जीवन देनेका व्रत है, ये सब व्रत आत्माकी शक्तिसे हो रहे हैं।

इसका विचार करनेसे इस परमात्माकी महिमाका पता लग सकता है।

मनुष्योंमें देव।

यह देव जो विश्वरूपी शकटको चलाता है और सम्पूर्ण भुवनोंमें व्याप्त है वह मनुष्योंमें प्रकट होता है, देखिये—

इन्द्रो मनुष्येषु अन्तः जातः। (सू. ११, मं. ३)

'यह इन्द्र देव मनुष्योंके बीचमें प्रकट होता है।' मनुष्यके हृदयमें वह प्रकट होता है, मनुष्य उसको अपने अन्दर देखता और अनुभव करता है, विश्वका ईश्वर मनुष्यके हृदयमें प्रकाशता है। कितना यह सामर्थ्य मनुष्यमें है कि जिसके हृदयमें विश्वका संचालक रहता और प्रकट होता है। मनुष्यको यह अपनी शक्ति जाननी चाहिये। इस ज्ञानका फल देखिये—

(१) अनडुहः विजानन्,
(२) यः न अश्नीयात्,
(३) सः सुप्रजाः सन् उत्–आरे न सर्षत्।

(सू. ११, मं. ३)

'(१) इस विश्वरूपी शकटको चलानेवालेको जो जानता है, (२) वह अपने लिये स्वार्थसे भोग नहीं करता, इस कारण (३) वह सुप्रजा प्राप्त करता हुआ देहपातके नंतर इधर उधर नहीं भटकता,' अर्थात् सीधा अपने अमृत धामको पहुंचता है। इसमें प्रथम परमात्माको जानना, और पश्चात् स्वार्थ छोड कर परोपकारके कार्यमें अपना जीवन समर्पित करना, इन दोनों 'ज्ञान और कर्म' का यथावत् अनुष्ठान करनेसे तीसरे मंत्रभागमें कही सिद्धि मिल सकती है। यह ईश्वर किस प्रकार जीवात्माको पवित्र करता हुआ उठाता है, यह चतुर्थ मंत्रमें क्रमपूर्वक कहा है—

(१) पुरस्तात् पवमानः,
(२) एनं आप्याययति,
(३) सुकृतस्य लोके अनड्वान् दुहे।

(सू. ११, मं. ४)

'(१) पहलेसे पवित्रता करता हुआ, (२) ईश्वर इसको बढाता है, पुष्ट करता है और इसकी वृद्धि करता है, (३) पुण्य लोकमें वह इसको तृप्तिके साधन देता है।' परमेश्वरका उपासक होनेसे पवित्र होनेका पहिला लाभ होता है, आत्मिक बलकी वृद्धि होना यह दूसरा लाभ होता है और पुण्यलोक प्राप्त होकर वहां विविध प्रकारकी तृप्ति प्राप्त होना यह तीसरा लाभ है। परमात्मोपासनाके यह फल हैं, इस प्रकार पवित्र होता हुआ जीवात्मा उन्नत होता है और अपने निज धामको पहुंचता है। परमात्मा इस प्रकार सहायक होता है इसीलिये कहा है कि—

विश्वजित्, विश्वभृत्, विश्वकर्मा।

(सू. ११, मं. ५)

' वह विश्वको जीतनेवाला, विश्वका पालक और पोषक तथा विश्वसंबंधी सब कर्म करनेवाला है। ' इसीलिये उपासक निर्भय होता हुआ उसकी सहायतासे आगे बढता है और अपने प्राप्तव्य स्थानको पहुंचता है। वह स्थान, जहां इसको जाना है, अमृतका केन्द्र है, किस अनुष्ठानसे यह जिवात्मा वहां पहुंचता है, इस विषयका उपदेश षष्ठ मंत्रमें देखने योग्य है—

व्रतेन तपसा यशस्यवः सुकृतस्य लोकं गेष्म।

(सू. ११, मं. ६)

' व्रत और तपसे यश प्राप्त करते हुए पुण्य लोक प्राप्त करेंगे। ' इस मंत्रभागमें व्रत पालन और तपका आचरण यश और आत्मोन्नतिका साधन है ऐसा स्पष्ट कहा है। विचार करनेसे पता लग जायगा कि यह तो इह-परलोककी उन्नति प्राप्त करनेका उत्तम साधन है। इस साधनके करनेसे—

शरीरं हित्वा अमृतस्य नाभिं स्वः आरुरुहुः।

(सू. ११, मं. ६)

' शरीर त्यागनेके पश्चात् अमृतके केन्द्रमें आत्मप्रकाशसे युक्त होकर ऊपर चढते हैं। ' यह है तपका प्रभाव और व्रतपालनका महत्त्व। पाठक इसका महत्त्व जानकर इस मार्गसे अपनी उन्नति सिद्ध कर सकते हैं।

मं. ७ में ' इन्द्र, अग्नि, प्रजापति, परमेष्ठी, विराट् ' आदि नाम उसी एक देवके हैं, ऐसा कहा है, यह बात ऋग्वेदमें मं. १।१६४।४६ में भी अन्य रीतिसे कही है। वही देव सर्वत्र व्यापता है, सबको बलिष्ठ बनाता है और सबका धारण करता है, अर्थात् हरएकको इसका आधार है और हरएकको यह प्राप्य है। किसीको अप्राप्य है ऐसा नहीं है। अष्टम मंत्रका आशय यह है कि यह ईश्वर सबके बीचमें होनेके कारण वह ही सबका मध्य है, इस कारण अन्य विश्व इसके दोनों ओर समान प्रमाणसे है। यह सबके मध्यमें होनेसे यह विश्व इसके दोनों ओर समानतया विभक्त है, यह बात स्वयं सिद्ध हुई है। जिस प्रकार शकटका मध्य दंड दोनों चक्रोंके बीचमेंसे जाता है और उसके पूर्व और पश्चिमकी ओर शकटके दो भाग होते हैं, इसी प्रकार यह ईश्वर विश्वशकटका मध्य दंड है और सब विश्व इसके चारों ओर है।

सप्त ऋषि।

' इस अविनाशी ईश्वरके अथवा आत्माके सात दोहन पात्र हैं और उनमें सात प्रवाह दोहे जाते हैं, इनको सप्त ऋषि करके जानते हैं ' (मं. ९) यह नवम मंत्रका कथन है। ये सात दोहन पात्र अर्थात् दूध दुहनेके बर्तन हमारे सात ज्ञान इंद्रिय हैं। दो आंख रूपका दोहन करते हैं, दो कान शब्दरसका दूध निकालते हैं, दो नाक सुवासका रस लेते हैं और एक मुख मधुरादि रस लेता है। ये सात प्रकृतिमाताका दूध दोहन करनेके बर्तन हैं, ये हो रस मनुष्यमात्र पीता है और पुष्ट होकर उन्नति प्राप्त करता है। ये ही सात ऋषि हैं—

सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे
सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम्। (यजु० ३४।५५)

' प्रत्येक शरीरमें सप्त ऋषि रहे हैं, ये सात ऋषि इस शरीर रूपी घरकी प्रमाद न करते हुए रक्षा करते हैं। ' यह बात ऊपरवाले मंत्रमें कही है। यहां सात दोहनपात्र जो कहे हैं वे ही ये सात ऋषि हैं अथवा ये सात ऋषि इन सात दोहनपात्रोंमें परम माताका दूध निकालते हैं, इसमें कोई संदेह नहीं है। सर्वसाधारणतया सप्त ऋषि जो समझे जाते हैं उनका नाम ऊपर दिया ही है, परन्तु हमारे मनमें एक बात खटकती है वह यह है कि यहां दो आंख, दो कान, दो नाक ये छः ऋषि माने हैं, परन्तु वस्तुतः ये अर्थात् दो आंख एक ही प्रकारका ज्ञान प्राप्त करते हैं इसलिये इनको भिन्न मानना अयुक्त है। यद्यपि गिनतीके लिये ये सात होते हैं तथापि वस्तुतः ये सात भिन्न हैं ऐसा नहीं माना जा सकता। मंत्रमें सात ऋषि भिन्न माने हैं और उनके दोहनपात्र भी भिन्न माने हैं अर्थात् उनमें दुहा जानेवाला दूध भी भिन्न ही है। यह बात ऊपर माने सप्त पात्र और सप्त ऋषियोंसे सिद्ध नहीं होती इसलिये इसको अन्य स्थानमें ढूंढना चाहिये। हमारे मतसे सप्त ऋषि और सप्त दोहनपात्र ये हैं—

१ **आत्मा**— यह ऋषि परमात्मासे ' आनन्द ' रूपी दूध अपनेमें दुहता है।

२ **बुद्धि (संज्ञान)**— यह ऋषि परमात्मासे ' चित् ' अथवा विज्ञान रूपी दूध अपने अन्दर निचोडता है।

३ **अहंकार**— यह ऋषि परमात्मासे ' मैं ' पनका भाव रूपी दूध निकालता है।

४ **मन**— यह ऋषि उसीसे ' मनन शक्ति ' रूप दूध दुहता है।

५ **प्राण**— यह ऋषि वहांसे ही ' जीवन ' रूपी दूध निकालता है।

६ ज्ञानेन्द्रिय (संघ)— यह ऋषि यहांसे ही ' विषय ज्ञान ' रूपी दूध निचोडता है।

७ कर्मेन्द्रिय (संघ)— यह ऋषि उसीसे ' कर्मशक्ति ' रूप दूध निकालता है।

ये सात ऋषि एक दूसरेसे भिन्न हैं, इनके पास विभिन्न दोहनपात्र हैं और प्रत्येकका निकाला हुआ दूध भी भिन्न है, और उसके सेवनसे पुष्टि भी भिन्न भिन्न प्रकारकी होती है। इसलिये ये सात ऋषि और ये सात दोहनपात्र हैं ऐसा मानना यहां उचित है। पाठक इस विषयका अधिक विचार करें और उचित बोध प्राप्त करें।

बैल और किसान।

दशम मंत्रमें बैल और किसानके रूपकसे बडा बोधप्रद उपदेश दिया है, इसका व्यक्त अर्थ यह है— ' पांवोंसे भूमिपरसे चलता है, आंखोंसे अन्न उत्पन्न करता है, परिश्रमसे रस बनाता है इस प्रकार बैल और किसान बडा कार्य करते हैं। ' यह तो खेतीमें प्रत्यक्ष दिखता है। परन्तु इस मंत्रमें केवल इतना ही कहना मुख्य उद्देश नहीं है क्योंकि यहां जिस किसानका वर्णन किया है वह ' क्षेत्र-ज्ञ ' अर्थात् जीवात्मा है। भगवद्गीतामें इसका नाम ' क्षेत्रज्ञ ' आया है। खेतको जाननेवाला किसान जिस प्रकार खेतसे लाभ उठाता है, उसी प्रकार इस शरीररूपी कार्यक्षेत्रको यथावत् जाननेवाला यह जीवात्मारूपी किसान इस शरीररूपी कर्मक्षेत्रमें शुभ विचारोंकी खेती करके बहुत लाभ प्राप्त करता है। इसकी खेतीमें हल चलाने आदिकी सहायता करनेवाला परमेश्वर है जिसका वर्णन इसी सूक्तमें ' अनड्वान् ' शब्दसे हुआ है। इस प्रकार यह इसका क्षेत्र है और यह खेती है। किसान इस खेतीका उपभोग करनेवाला है। पाठक इस उत्तम रूपकका विचार करके योग्य बोध प्राप्त करें।

बारह रात्री।

ग्यारहवें मंत्रमें ' प्रजापतिका व्रत करनेकी बारह रात्रीयां हैं ' ऐसा कहा है। रात्री अन्धकारकी द्योतक है, अन्धकार अज्ञानका वाचक है, इसलिये यहां बारह गूढ अन्धकारकी रात्रियोंका तात्पर्य बारह प्रकारके गाढ अज्ञानका है। हरएकके अन्दर यह अज्ञान रहता है और जिस प्रमाणसे यह दूर होता है उस प्रमाणसे मनुष्यकी योग्यता बढती है। जब बारह प्रकारके अज्ञान दूर होते हैं तब यह पुरुष विशुद्धात्मा होता है और मोक्षका भागी होता है। (१) परमात्मा, (२) जीवात्मा, (३) बुद्धि, (४) अहंकार, (५) मन, (६) प्राण, (७) ज्ञानेंद्रिय, (८) ज्ञानेंद्रियोंके विषय, (९) कर्मेन्द्रिय, (१०) कर्मेंद्रियोंके विषय, (११) शरीर, (१२) विशाल जगत इन बारह क्षेत्रोंके संबंधमें बारह अज्ञान, मिथ्याज्ञान, विपरीत ज्ञान अथवा जो कुछ कहा जाय मनुष्यमें रहता है, वह सब हटना चाहिये और इनके विषयमें ज्ञान, विज्ञान, संज्ञान, और प्रज्ञान प्राप्त होना चाहिये। प्रत्येक मनुष्य विचार करके जाने कि अपनेमें इन अज्ञानोंमेंसे कौनसा अज्ञान कितना है और कौनसा विज्ञान कितना प्राप्त किया गया है। इसकी पडताल करनेसे पता लग जायगा कि जो मार्ग आक्रमण करना है वह कितना हो चुका है और कितना अभी चलनेका बाकी है। यह परीक्षा ही इस मंत्रने ली है ऐसा पाठक समझें और इस दृष्टिसे अपनी परीक्षा करें। इससे बडा आत्मसुधार हो सकता है।

व्रत।

जिस व्रतसे उक्त प्रकारका, बारह प्रकारका अज्ञान दूर हो सकता है वह व्रत इसी ग्यारहवें मंत्रके उत्तरार्धमें कहा है—

यः ब्रह्म उपवेद तत्० व्रतम्। (सू. ११, मं. ११)

' जो ज्ञान प्राप्त करता है यह उसका व्रत है। ' यही व्रत मनुष्यकी उन्नति करता है। ज्ञान प्राप्त करना, अर्थात् पूर्वोक्त बारह प्रकारका अज्ञान और मिथ्याज्ञान दूर करनेके लिये बारह प्रकारका ज्ञान और विज्ञान प्राप्त करना चाहिये। यह व्रत पालन करनेसे इसके अज्ञानका मल धोया जाता है और यह परिशुद्ध होता जाता है। इसलिये यह व्रत जहांतक हो सके मनुष्यको करना चाहिये।

बारहवें मंत्रमें यही अनुष्ठानका स्वरूप कहा है- ' मैं प्रातःकाल, दोपहरके समय और सायंकालके समय इसका दोहन करता हूं। ' यह दोहन क्या है, इसके दोहनपात्र कौनसे हैं और इसके दोहन करनेवाले कौन हैं, इसका वर्णन इसी सूक्तमें इससे पूर्व कहा जा चुका है। यही व्रत है, परमात्मासे उपासना द्वारा ज्ञान और आनंद प्राप्त करना ही यह दोहन है। जो जितना यह दूध पीयेगा वह उतना पुष्ट होगा। ' अविनाशी तत्त्वसे यह दोहन होता है यह जो जानता है, ' उसीको इस व्रतसे लाभ हो सकता है, यह अंतिम कथन है। यह निःसंदेह सत्य है। पाठक इस प्रकार इस सूक्तका मनन करें और लाभ उठावें।

रोहिणी वनस्पति।

[सूक्त १२]

(ऋषिः — ऋभुः । देवता — रोहिणी - वनस्पतिः)

रोहण्यसि रोहण्यस्थ्नश्छिन्नस्य रोहणी । रोहयेदमरुन्धति ॥ १ ॥

यत्ते रिष्टं यत्ते द्युत्तमस्ति पेष्ट्रं त आत्मनि । धाता तद्भद्रया पुनः सं दधत्परुषा परुः ॥ २ ॥

सं ते मज्जा मज्ज्ञा भवतु समु ते परुषा परुः । सं ते मांसस्य विस्रस्तं समस्थ्यपि रोहतु ॥ ३ ॥

मज्जा मज्ज्ञा सं धीयतां चर्मणा चर्म रोहतु । असृक्ते अस्थि रोहतु मांसं मांसेन रोहतु ॥ ४ ॥

लोम लोम्ना सं कल्पया त्वचा सं कल्पया त्वचम् । असृक्ते अस्थि रोहतु च्छिन्नं सं धेह्योषधे ॥ ५ ॥

अर्थ— हे औषधि ! तू (**रोहणी असि**) बढानेवाली है, तू (**छिन्नस्य अस्थ्नः रोहणी**) टूटी हुई हड्डीको पूर्ण करनेवाली है। हे (**अ-रुन्धति**) प्रतिबन्ध न करनेवाली औषधि ! (**इदं रोहय**) इसको भर दे ॥ १ ॥

(**यत् ते रिष्टं**) जो तेरा अंग चोट खाये हुए है, (**यत् ते द्युत्तं**) जो अंग जला हुआ है, और जो (**ते आत्मनि पेष्ट्रं अस्ति**) तेरे अपने अन्दर पीसा हुआ है, (**धाता भद्रया**) पोषणकर्ता उस कल्याण करनेवाली औषधिसे (**तत् परुः परुषा पुनः सं दधत्**) उस जोडको दूसरे जोडसे फिर जोड दे ॥ २ ॥

(**ते मज्जा मज्ज्ञा सं रोहतु**) तेरी मज्जा मज्जासे बढे। (**उ ते परुषा परुः सं**) और तेरी पोरुसे पोरु बढ जावे। (**ते मांसस्य विस्रस्तं सं**) तेरे मांसका छिन्न भिन्न हुआ भाग बढ जावे। (**अस्थि अपि सं रोहतु**) हड्डी भी जुडकर ठीक हो जावे ॥ ३ ॥

(**मज्जा मज्ज्ञा सं धीयतां**) मज्जा मज्जासे मिल जावे (**चर्मणा चर्म रोहतु**) चर्मसे चर्म बढे। (**ते असृक् अस्थि रोहतु**) तेरा रुधिर और हड्डी बढ जावे, और (**मांसं मांसेन रोहतु**) मांस मांससे बढ जावे ॥ ४ ॥

हे औषधे ! (**लोम लोम्ना सं कल्पय**) रोमको रोमके साथ जमा दे। (**त्वचा त्वचं सं कल्पय**) त्वचाको त्वचाके साथ मिला दे। (**ते असृक् अस्थि रोहतु**) तेरा रुधिर और हड्डी बढे, (**छिन्नं सं धेहि**) टूटा हुआ अंग जोड दे ॥ ५ ॥

भावार्थ— यह रोहणी नामक औषधी है, जो टूटे हुए शरीरके अवयवको बढाती है। इसको रोहिणी और अरुंधती भी कहते हैं ॥ १ ॥

शरीरको चोट लगी हो, अंग जला हो, अवयव पीसा गया हो, तो भी इस औषधिसे हरएक जोड पुनः पूर्ववत् होता है ॥ २ ॥

इस औषधिसे शरीरकी मज्जा, पोरु, मांस और अस्थि बढे और अवयव पूर्ण होंगे ॥ ३ ॥

मज्जा, चर्म, रुधिर, हड्डी और मांस भी इससे बढता है ॥ ४ ॥

रोम, त्वचा, रुधिर तथा टूटा अवयव इससे बढता है ॥ ५ ॥

स उत्तिष्ठ प्रेहि प्र द्रव रथः सुचक्रः सुपविः सुनाभिः। प्रति तिष्ठोर्ध्वः ॥ ६ ॥
यदि कर्तं पतित्वा संशश्रे यदि वाश्मा प्रहृतो जघान।
ऋभू रथस्येवाङ्गानि सं दधत्परुषा परुः ॥ ७ ॥

अर्थ — (सः त्वं उत्तिष्ठ, प्रेहि) वह तू उठ, आगे चल, अब तू (सुचक्रः सुपविः सुनाभिः रथः) उत्तम चक्रवाले, उत्तम लोहेकी पट्टीवाले, उत्तम नाभीवाले रथके समान (प्रद्रव) दौड और (ऊर्ध्वः प्रतितिष्ठ) ऊंचा खडा रह ॥ ६ ॥

(यदि कर्तं पतित्वा संशश्रे) यदि आरा गिरकर घाव हुआ है, (यदि वा प्रहृतः अश्मा जघान) अथवा यदि फेंके हुए पत्थरसे घाव हुआ है तो (ऋभुः रथस्य अंगानि इव) सुतार रथके अवयवोंको जोडता है उस प्रकार (परुषा परुः सं दधत्) पोरूसे पोर जुड जावे ॥ ७ ॥

भावार्थ— हे रोगी ! तू इस औषधिसे आरोग्यको प्राप्त कर चुका है, अब तू उठ, आगे चल, रथके समान दौड, खडा होकर चल ॥ ६ ॥

आरा गिरकर, या पत्थर लगकर शरीरपर घाव हुआ हो, तो भी इस औषधिसे सब अवयव पूर्ववत् आरोग्यपूर्ण होते हैं ॥ ७ ॥

रोहिणी औषधि।

वैद्यग्रन्थोंमें इस रोहिणी औषधिका नाम 'मांसरोहिणी' लिखा है, इसके नाम ये हैं—

अग्निरुहा, सुरा, चर्मकषा, वसा, मांसरोही प्रहारवल्ली, विकषा, वीरवती।

इसके गुण—

स्यान्मांसरोहिणी वृष्या सरा दोषत्रयापहा।

'मांस रोहिणी वीर्यवर्धक और त्रिदोषका नाश करनेवाली है।' और—

**शीता कषाया कृमिघ्नी कण्ठशोधनी रुच्या,
वातदोषहारी च। (रा. नि. व. १२)**

'यह औषधि शीतवीर्य, कषाय रसवाली, कृमिदोष दूर करनेवाली, कण्ठदोष हटानेवाली, रुची बढानेवाली और वात दोष दूर करनेवाली है।'

इस सूक्तमें 'रोहिणी' के नाम 'भद्रा और अरुन्धती' आये हैं, परन्तु वैद्यशास्त्र ग्रन्थोंमें ये नाम एक ही वनस्पतिके नहीं है। वैद्यग्रंथोंमें इसका नाम 'मांसरोहि' अथवा 'मांस रोहिणी' कहा है, यह शब्द इस सूक्तकी ही बात सिद्ध करता है। मांसादि सप्त धातु बढानेवाली यह औषधि है ऐसा इस सूक्तने कहा है और वैद्यक ग्रंथ मांसको बढाती है ऐसा कहते हैं, इसमें बहुत विरोध नहीं है, क्योंकि जिससे रुधिर और मांस बढता है उससे अन्य धातु भी बढते ही है, क्योंकि अन्य धातु रुधिरके आगे स्वयं बनते हैं।

इसके अतिरिक्त इसको 'प्रहारवल्ली' वैद्यक ग्रंथोंमें कहा है। प्रहारवल्लीका अर्थ है घाव ठीक करनेवाली औषधि, यह वर्णन भी इस सूक्तके कथनसे संगत होता है। सातवां मंत्र यही वर्णन कर रहा है। इसका नाम वैद्यग्रन्थोंमें '**वीरवती**' अर्थात् 'वीरोंवाली' है। वीर जिसके पास आते हैं। इस औषधिके पास वीर इसलिये आते हैं कि यह धावाओंके घावों-को अति शीघ्र ठीक करती है। महाभारतमें हम पढते हैं कि दिन भर युद्ध करनेवाले वीरोंके शरीर बाणोंके आघातसे व्रण-युक्त हो जाते थे, पश्चात् वे वीर रात्रीके समय कुछ औषधि लगाकर सो जाते थे, जिससे उनके शरीर सबेरे तक ठीक हो जाते थे और वे पुनः युद्ध करते थे। संभवतः यह वीरोंके पास रहनेवाली वल्ली यही 'रोहिणी ही होगी। इसीलिये इसका नाम वैद्यक ग्रंथोंमें 'वीरवती' लिखा है।

यह सूक्त अत्यंत सरल है। पाठक इस वैद्यक ग्रंथोंके वर्णनके साथ इस सूक्तको पढें और लाभ उठावें। ज्ञानी वैद्योंको उचित है कि वे इस औषधिकी खोज करके प्रकाशित करें ताकि वारंवार घावोंसे दुःख भोगनेवालोंको लाभ प्राप्त होनेकी संभावना हो जावे।

हस्तस्पर्शसे रोगनिवारण।

[सूक्त १३]

(ऋषिः — शंतातिः । देवता — चन्द्रमाः, विश्वे देवाः)

उत दे॑वा अव॑हितं देवा उन्न॑यथा पुन॑ः । उतागश्च॒क्रुषं॑ देवा देवा॑ जीवय॑था पुन॑ः ॥ १ ॥
द्वावि॒मौ वातौ॒ वात॒ आ सिन्धो॒रा प॑राव॒तः । दक्षं॑ ते अ॒न्य आ॒वातु॒ व्य१॒न्यो वा॑तु॒ यद्रप॑ः ॥ २ ॥
आ वा॑त वाहि भेष॒जं वि वा॑त वाहि॒ यद्रप॑ः । त्वं हि वि॒श्वभे॑षज दे॒वानां॑ दू॒त ईय॑से ॥ ३ ॥
त्राय॑न्तामि॒मं दे॒वास्त्राय॑न्तां म॒रुतां॑ ग॒णाः । त्राय॑न्तां॒ विश्वा॑ भू॒तानि॒ यथा॒यम॑र॒पा अस॑त् ॥ ४ ॥
आ त्वा॑गमं॒ शंता॑तिभि॒रथो॑ अरि॒ष्टता॑तिभिः । दक्षं॑ त उ॒ग्रमाभा॑रिषं॒ परा॒ यक्ष्मं॑ सुवामि ते ॥ ५ ॥

अर्थ— हे (**देवाः**) देवो ! हे देवो ! जो (**अवहितं**) अवनत होता है उसको (**पुनः उन्नयथ**) तुम फिर उठाते हो। हे देवो ! हे देवो ! (**उत आगः चक्रुषं**) जो पाप करता है उसको भी (**पुनः जीवयथाः**) तुम फिर जिलाते हो ॥ १ ॥

(**द्वौ इमौ वातौ**) यह दोनों वायु हैं, एक (**आ सिन्धोः**) सिन्धु देशतक जाता है और दूसरा (**आ परावतः**) बाहर दूर स्थानतक जाता है। इनमेंसे (**अन्यः ते दक्षं आवातु**) एक तेरे लिये बल बढावे, (**यत् रपः अन्यः विवातु**) जो दोष है उसको दूसरा बाहर निकाल देवे ॥ २ ॥

हे (**वात, भेषजं आ वाहि**) वायो ! तू रोगनाशक रस ला, हे (**वात, यत् रपः वि वाहि**) वायो ! जो दोष है, निकाल दे। (**हि**) क्योंकि, हे (**विश्व-भेषज**) सर्व रोगके निवारक ! (**त्वं देवानां दूतः ईयसे**) तू देवोंका दूत होकर चलता है ॥ ३ ॥

(**देवाः इमं त्रायन्तां**) देव इसकी रक्षा करें, (**मरुतां गणाः त्रायन्तां**) मरुतोंके गण इसकी रक्षा करें। (**विश्वा भूतानि त्रायन्तां**) सब भूत इसकी रक्षा करें (**यथा अयं अरपाः असत्**) जिससे यह नीरोग हो जाय ॥ ४ ॥

(**शं-तातिभिः**) शांतिदायकोंके साथ और (**अथो अ-रिष्ट-तातिभिः**) विनाशनिवारक गुणोंके साथ (**त्वा आ आगमं**) तुझको मैं प्राप्त करता हूं। (**ते उग्रं दक्षं आ अभारिषं**) तेरे लिये उग्र बल मैं लाया हूं। और (**ते यक्ष्मं परा सुवामि**) तेरे रोगको मैं दूर करता हूं ॥ ५ ॥

भावार्थ— देवता लोग गिरे हुए मनुष्यको भी फिर उठाते हैं और जो पाप करते हैं उनको भी फिर सुधारते हैं ॥ १ ॥

दो प्राण वायु हैं, एक फेफडोंके अन्दर रुधिरतक जानेवाला प्राण है और दूसरा बाहर आनेवाला अपान है। पहला बल बढाता है और दूसरा दोषोंको हटाता है ॥ २ ॥

वायु रोगनाशक औषध लाता है और शरीरमें जो दोष होते हैं उन दोषोंको हटाता है। यह सब रोगोंका निवारण करनेवाला है, मानो यह देवोंका दूत ही है ॥ ३ ॥

सब देव, मरुद्गण, तथा सब भूत इस रोगीकी रक्षा करें और यह सत्वर नीरोग हो जावे ॥ ४ ॥

हे रोगी ! मैं तेरे पास कल्याण करनेवाले और विनाशको दूर करनेवाले सामर्थ्योंके साथ आ गया हूं। अब मैं तेरे अन्दर बल भर देता हूं और तेरा रोग दूर करता हूं ॥ ५ ॥

अयं मे हस्तो भगवानयं मे भगवत्तरः । अयं मे विश्वभेषजोऽयं शिवाभिमर्शनः ॥ ६ ॥
हस्ताभ्यां दशशाखाभ्यां जिह्वा वाचः पुरोगवी ।
अनामयित्नुभ्यां हस्ताभ्यां ताभ्यां त्वाभि मृशामसि ॥ ७ ॥

अर्थ— (अयं मे हस्तः भगवान्) यह मेरा हाथ भाग्यवान् है (अयं मे भगवत्तरः) यह मेरा हाथ अधिक भाग्यशाली है । (अयं मे विश्वभेषजः) यह मेरा हाथ सब रोगोंका निवारक है । (अयं शिव-अभिमर्शनः) यह मेरा हाथ शुभमंगल बढानेवाला है ॥ ६ ॥

(दश शाखाभ्यां हस्ताभ्यां) दस शाखाओंवाले दोनों हाथोंके साथ (जिह्वा वाचः पुरोगवि) जिह्वा वाणीको आगे चलानेवाली करता हूं । (ताभ्यां अनामयित्नुभ्यां हस्ताभ्यां) उन आरोग्यदायक दोनों हाथोंसे (त्वा अभिमृशामसि) तुझको स्पर्श करते हैं ॥ ७ ॥

भावार्थ— यह मेरा हाथ सामर्थ्यशाली है और मेरा दूसरा हाथ तो अधिक ही प्रभावशाली है । मेरे इस एक हाथमें सब रोग दूर करनेवाली शक्तियां हैं, और इस दूसरे हाथमें मंगल करनेका धर्म है ॥ ६ ॥

दस अंगुलियोंके साथ इन मेरे दोनों हाथोंसे तुझे स्पर्श करता हूं और मेरी जिह्वा वाणीसे प्रेरणाके शब्द बोलती है । इस प्रकार नीरोगता करनेवाले इन मेरे दोनों हाथोंसे तुझे स्पर्श करता हूं ॥ ७ ॥

देवोंकी सहायता ।

पहिला मंत्र देवोंकी सहायताका वर्णन करता है— ' गिरे हुए मनुष्यको भी देव फिर उठाते हैं, एक बार पाप करनेसे जो मरनेकी अवस्थातक पहुंचा है उसको भी देव फिर जीवन देते हैं । ' (मं. १) यह प्रथम मंत्रका कथन मनुष्यको बहुत सहारा देनेवाला है । मनुष्य किसी प्रलोभनमें फंसकर पाप करता है, पापसे अस्वस्थ होता है, रोगी होता है और क्षीण होनेतक अवस्था आती है, मृत्यु आनेकी भी संभावना हो जाती है । ऐसी अवस्थामें पहुंचा हुआ मनुष्य देवताओंकी सहायतासे नीरोग होता है और पुनः दीर्घ आयुष्य प्राप्त कर सकता है । ऐसी अवस्थामें सहायता देनेवाले देव कौनसे हैं ? मृत्तिका, जल, अग्नि, सूर्यकिरण, वायु, विद्युत्, औषधि, अन्न, रस, वैद्य आदि देवताएं हैं कि जिनकी सहायतासे मनुष्य रोगोंको दूर करता है और दीर्घ आयुष्य प्राप्त कर सकता है । ये सब देव मनुष्यके सहायक हैं । मनुष्य चिन्तामें न रहे, बीमार होनेपर अत्यधिक चिन्ता न करे । क्योंकि चिन्ता एक भयंकर व्याधि है । इस चिन्ताका दूर करनेके लिये इस मंत्रके उपदेशपर विश्वास रखे कि पूर्वोक्त देवताओंकी सहायतासे नीरोगता प्राप्त हो सकती है । देव हमारे चारों ओर हैं और वे मनुष्यमात्रकी तथा प्राणिमात्रकी सहायता करते हैं, उनकी सहायतासे हीन अवस्थामें पहुंचा हुआ मनुष्य उन्नत हो सकता है और रोगी भी नीरोग हो सकता है ।

प्राणके दो देव ।

शरीरमें प्राणके दो देव हैं जो यहां बडा महत्त्वपूर्ण कार्य कर रहे हैं । प्राण और अपान ये दो देव हैं, एक प्राण हृदयके अन्दरतक जाता है और वहां अपनी प्राणशक्ति स्थापन करके मृत्युको हटाता है और दूसरा अपान है जो शरीरके मलोंको दूर करता हुआ विविध रोगबीजोंका नाश करता है । पहिला बल बढाता है और दूसरा दोषोंको दूर करता है, इस रीतिसे ये दोनों देव इस शरीरकी रक्षा करते हैं और आरोग्य बढाते हैं । यह द्वितीय मंत्रका कथन स्मरण रखने योग्य है । यहां प्राण अपान, अथवा श्वास और उच्छ्वास ये भी दो देव हैं ऐसा माना जा सकता है ।

देवोंका दूत ।

तृतीय मंत्रका कथन है कि ' प्राण रोग निवारक शक्ति शरीरमें लाता है और अपान सब दोषोंको दूर करता है, इस प्रकार यह वायु सब रोगोंको दूर करनेवाला देवोंका दूत ही है । ' (मं. ३) अपने शरीरमें सब इंद्रियां देवताओंके अंश हैं, उनकी सेवा यह प्राण पूर्वोक्त प्रकार करता है, जीवन शक्तिकी प्रत्येक अवयवमें स्थापना करना और प्रत्येक स्थानके दोष दूर करना यह दो प्रकारकी सेवा इस शरीररूपी देवमंदिरमें प्राण करता है । इस विचारसे प्राणका महत्त्व जानना चाहिये ।

चतुर्थ मंत्रमें ' सब देव, सब मरुत और सब भूतगण इस रोगकी सहायता करें ' इस विषयकी प्रार्थना है । इसका आशय पूर्वोक्त विचारसे स्वयं स्पष्ट होनेवाला है ।

हस्तस्पर्शसे आरोग्य ।

हस्तस्पर्शसे आरोग्य प्राप्त करनेकी विद्या आजकल ' मेस्मे-रिज्म ' के नामसे प्रसिद्ध है । यह ' मेस्मेरिज्म ' शब्द ' मेस्मर ' नामक युरोपीयनके नामसे बना है, यह विद्या उसने प्रथम युरोपमें प्रकाशित की, इसलिये इस विद्याको उसीका नाम

उसका गौरव करनेके लिये दिया गया। म. मेस्मर साहबने पचास वर्ष पूर्व युरोपमें इस विद्याका प्रचार किया, परंतु पाठक इस सूक्तमें 'हस्तस्पर्शसे आरोग्य' प्राप्त करनेकी विद्या देख सकते हैं, अर्थात् यह विद्या वेदने कई शताब्दियां पहले ही प्रकाशित की थी और ऋषिमुनी इसका अभ्यास करके रोगियोंको आरोग्य देते थे। हस्तस्पर्शसे, दृष्टिक्षेपसे, शब्दके कथन मात्रसे, तथा इच्छामात्रसे आरोग्य देनेकी शक्ति योगाभ्याससे मनुष्य प्राप्त कर सकता है, इसके अनुष्ठानकी विधियां वेदादि आर्यशास्त्रोंमें लिखी हैं। इस विद्याको पाठक इस सूक्तके मं. ५ से ७ तक देख सकते हैं। मनको एकाग्र करना और अपनी सब शक्ति मनमें संग्रहीत करना तथा जिस कार्यमें चाहे उसका उपयोग करना यह जिसको साध्य है वह मनुष्य इससे लाभ उठा सकता है, अर्थात् इतनी अनुष्ठानसे सिद्धि पहिले प्राप्त करनी चाहिये, पश्चात् हस्तस्पर्शसे आरोग्य प्राप्त करनेकी सामर्थ्य प्राप्त हो सकती है।

रोगीपर प्रयोग करनेके समय प्रयोग करनेवाला कैसा भाषण करे यही बात इन तीन मंत्रोंमें कही है, वह अब देखिये—

'हे रोगी मनुष्य! मेरे अन्दर शांति और समता स्थापन करनेका गुण है और दोषों तथा विनाशको दूर करनेका भी गुण है। इन गुणोंके साथ मैं तुम्हारे समीप आ गया हूं, अब तू विश्वास धारण कर कि, मैं अपने पहिले सामर्थ्यसे तेरे अन्दर बल भर देता हूं और अपने दूसरे गुणसे तेरा रोग समूल दूर करता हूं। इस रीतिसे तू निःसंदेह नीरोग और स्वस्थ हो जायगा।' (मं. ५)

'हे रोगी मनुष्य! देख! यह मेरा हाथ बडा प्रभावशाली है, और यह दूसरा हाथ तो उससे भी अधिक सामर्थ्यवान् है। यह मेरा हाथ मानो संपूर्ण औषधियोंकी शक्तियोंसे भरपूर है और यह दूसरा हाथ तो निःसंदेह मंगल करनेवाला है। अर्थात् इसके स्पर्शसे तू निःसंदेह नीरोग और बलवान बनेगा।' (मं. ६)

'हे रोगी मनुष्य! ये दस अंगुलियोंके साथ मेरे दोनों हाथ संपूर्ण रोग दूर करनेवाले हैं। इनसे तुमको अब मैं स्पर्श करता हूं, इस स्पर्शसे तेरा सब रोग दूर होगा और तू पूर्ण नीरोग हो जाएगा। तू अब स्वास्थ्यपूर्ण हुआ है, यह मैं अपने सामर्थ्यवान् और प्रभावशाली शब्दोंसे भी तुम्हें कहता हूं।' (मं. ७)

मंत्रोंसे निकलनेवाला आशय अधिक स्पष्ट करनेके लिये कुछ विशेष शब्दोंका भी उपयोग ऊपर लिखे भावार्थमें किया है। इससे पाठकोंको पता लग जायगा कि इसका प्रयोग रोगीके ऊपर किस विधिसे किया जाता है। प्रयोग करनेवालेको अपना मन एकाग्र करना चाहिये और अपनी मानसिक शक्ति द्वारा रोगीके मनको चालना देनी चाहिये। रोगीके मनको प्रभावित करनेसे और अपने पवित्र शब्दों द्वारा रोगीके मनमें विश्वास उत्पन्न करनेसे ही यह बात सिद्ध होती है। जो किसीपर भी विश्वास नहीं रखते वे अविश्वासी लोग इससे लाभ नहीं प्राप्त कर सकते।

आत्मज्योतिका मार्ग।

[सूक्त १४]

(ऋषिः — भृगुः। देवता — आज्यं, अग्निः)

अजो ह्य१ग्नेरजनिष्ट शोकात्सो अपश्यज्जनितारमग्रे।
तेन देवा देवतामग्र आयन्तेन रोहान्रुरुहुर्मेध्यासः ॥ १ ॥

अर्थ— (हि अग्नेः शोकात् अजः अजनिष्ट) क्योंकि परमात्मारूप दिव्य प्रकाश अग्निके तेजसे अजन्मा जीवात्मा प्रकट हुआ है। (सः अग्रे जनितारं अपश्यत्) उसने पहिले अपने उत्पादक प्रभुको देखा, (अग्रे तेन देवाः देवतां आयन्) प्रारंभमें उसीकी सहायतासे देव देवत्वको प्राप्त हुए, (तेन मेध्यासः रोहान् रुरुहुः) उससे पवित्र बनकर उच्च स्थानोंको प्राप्त होते हैं ॥ १ ॥

क्रमध्वमग्निना नाकमुख्यान्हस्तेषु बिभ्रतः।
दिवस्पृष्ठं स्वर्गत्वा मिश्रा देवेभिराध्वम् ॥ २ ॥
पृष्ठात्पृथिव्या अहमन्तरिक्षमारुहमन्तरिक्षाद्दिवमारुहम्।
दिवो नाकस्य पृष्ठात्स्व१र्ज्योतिरगामहम् ॥ ३ ॥
स्व१र्यन्तो नापेक्षन्त आ द्यां रोहन्ति रोदसी।
यज्ञं ये विश्वतोधारं सुविद्वांसो वितेनिरे ॥ ४ ॥
अग्ने प्रेहि प्रथमो देवतानां चक्षुर्देवानामुत मानुषाणाम्।
इयक्षमाणा भृगुभिः सजोषाः स्वर्यन्तु यजमानाः स्वस्ति ॥ ५ ॥

अर्थ— (उख्यान् हस्तेषु बिभ्रतः) अन्नोंको हाथोंमें लिये हुए तुम (अग्निना नाकं क्रमध्वम्) अग्निकी सहायतासे स्वर्गको प्राप्त करो। (दिवः पृष्ठं स्वः गत्वा) द्युलोकके ऊपर जाकर आत्मिक ज्योतिको प्राप्त करके (देवेभिः मिश्राः आध्वं) देवोंके साथ मिलकर बैठो ॥ २ ॥

(अहं पृथिव्याः पृष्ठात् अन्तरिक्षं आरुहं) मैं पृथ्वीके पृष्ठभागसे अन्तरिक्ष लोकको चढ गया, (अन्तरिक्षात् दिवं आरुहं) अन्तरिक्षसे द्युलोकपर चढ गया। (नाकस्य दिवः पृष्ठात्) सुखमय द्युलोकके पृष्ठ भागसे (अहं स्वः ज्योतिः अगाम्) मैंने आत्मिक ज्योतिको प्राप्त किया ॥ ३ ॥

(ये सुविद्वांसः) जो उत्तम विद्वान् (विश्वतो धारं यज्ञं वितेनिरे) जो सब प्रकारकी धारणाशक्ति देनेवाले यज्ञको फैलाते हैं वे (स्वः यन्तः द्यां न अपेक्षन्ते) आत्मिक ज्योतिको प्राप्त करनेवाले स्वर्गसुखकी अपेक्षा नहीं करते, वे (रोदसी आरोहन्ति) पृथ्वी और स्वर्गके ऊपर चढ जाते हैं ॥ ४ ॥

हे (अग्ने) ! हे प्रकाशक ! (देवतानां प्रथमः प्रेहि) तू देवोंमें पहिला हमें प्राप्त हो। तू (देवानां उत मानुषाणां चक्षुः) देवों और मनुष्योंका चक्षु ही है। (इयक्षमाणाः सजोषाः यजमानाः) यज्ञ करनेवाले और समान प्रीति-भाव रखनेवाले यजमान (भृगुभिः स्वः स्वस्ति यन्तु) तपस्वियोंके साथ आत्मतेजको सुखसे प्राप्त करें ॥ ५ ॥

भावार्थ— परमात्माके जगत्प्रकाशक तेजसे यह अजन्मा जीवात्मा प्रकट हुआ। उसी समय उसने अपने पिताका दर्शन किया। देव उसीकी शक्ति प्राप्त करके देवत्वसे युक्त होते हैं। जो उसकी उपासना करते हैं वे पवित्र होते हुए अनेक उच्च अवस्थाओंको प्राप्त होते हैं ॥ १ ॥

अन्नका दान करते हुए तुम इस अग्निकी सहायतासे स्वर्गका मार्ग आक्रमण करो। और वहांसे भी अधिक उच्च भूमिकामें जाकर आत्मिक ज्योतिके स्थानको प्राप्त होकर वहां देवोंके साथ बैठो ॥ २ ॥

पृथ्वीसे अन्तरिक्ष, अन्तरिक्षसे द्युलोक, द्युलोकसे ऊपर आत्मिक प्रकाशका स्थान है। मैंने इसी क्रमसे इन लोकोंको प्राप्त किया है ॥ ३ ॥

जो ज्ञानी विद्वान् विश्वधारक यज्ञको फैलाते हैं वे पृथ्वीसे द्युलोक तक ऊपर चढते हैं और वहांसे भी ऊपर आत्मिक प्रकाशका स्थान प्राप्त करते हुए किसी अन्य सुखकी अपेक्षा नहीं करते ॥ ४ ॥

हे सर्व प्रकाशक ! तू सब देवोंमें मुख्य है, तू हमें प्राप्त हो। तू जैसा देवोंका आंख है उसी प्रकार मनुष्योंका भी है। यज्ञ करनेवाले और सबके ऊपर समानतया प्रेम करनेवाले जो यजमान होते हैं वे तपस्वी मुनियोंके साथ ही सुखपूर्वक आत्मिक प्रकाशके लोकको प्राप्त करते हैं ॥ ५ ॥

अजमनज्मि पयसा घृतेन दिव्यं सुपर्णं पयसं बृहन्तम् ।
तेन गेष्म सुकृतस्य लोकं स्वरारोहन्तो अभि नाकमुत्तमम् ॥ ६ ॥
पञ्चौदनं पञ्चभिरङ्गुलिभिर्दर्व्योद्धर पञ्चधैतमोदनम् ।
प्राच्यां दिशि शिरो अजस्य धेहि दक्षिणायां दिशि दक्षिणं धेहि पार्श्वम् ॥ ७ ॥
प्रतीच्यां दिशि भसदमस्य धेह्युत्तरस्यां दिश्युत्तरं धेहि पार्श्वम् ।
ऊर्ध्वायां दिश्य१जस्यानूकं धेहि दिशि ध्रुवायां धेहि पाजस्यमन्तरिक्षे मध्यतो मध्यमस्य ॥ ८ ॥
शृतमजं शृतया प्रोर्णुहि त्वचा सर्वैरङ्गैः संभृतं विश्वरूपम् ।
स उत्तिष्ठेतो अभि नाकमुत्तमं पद्भिश्चतुर्भिः प्रति तिष्ठ दिक्षु ॥ ९ ॥

अर्थ— (**दिव्यं सुपर्णं पयसं**) दिव्य, अत्यंत पूर्ण, तेजस्वी, गतिमान और (**बृहन्तं अजं घृतेन, पयसा अनज्मि**) अजन्मा परम आत्माकी घृत और दुग्धके यज्ञसे पूजा करता हूं। (**उत्तमं नाकं अभि आरोहन्तः**) उत्तम स्वर्गके ऊपर चढते हुए (**तेन सुकृतस्य लोकं स्वः गेष्म**) उससे पुण्यके आत्मप्रकाशके लोकको प्राप्त करेंगे ॥ ६ ॥

(**एतं पञ्चौदनं ओदनं**) इस पांच प्रकारके अन्नको (**पञ्चभिः अंगुलिभिः दर्व्या पञ्चधा उद्धर**) पांच अंगुलियोंसे पकडी हुई कडछीसे पांच प्रकारसे ऊपर ला। (**अजस्य शिरः प्राच्यां दिशि धेहि**) अजन्माका सिर पूर्व दिशामें रख, (**दक्षिणायां दिशि दक्षिणं पार्श्वं**) दक्षिण दिशामें दाहिने कक्षा भागको रख ॥ ७ ॥

(**अस्य भसदं प्रतीच्यां दिशि धेहि**) इसका कटिभाग पश्चिम दिशामें धर, और (**उत्तरं पार्श्वं उत्तरस्यां दिशि धेहि**) उत्तर कक्षा भागको उत्तर दिशामें रख। (**अजस्य अनूकं ऊर्ध्वायां दिशि धेहि**) अजन्माकी रीढको ऊर्ध्व दिशामें रख, (**अस्य पाजस्यं ध्रुवायां दिशि धेहि**) और इसके पेटको ध्रुव दिशामें रख, तथा (**अस्य मध्यं मध्यतः अन्तरिक्षे**) इसका मध्य भाग अन्तरिक्षमें रख ॥ ८ ॥

इस प्रकार (**सर्वैः अंगैः संभृतं**) सब अंगोंसे अच्छतया भरा हुआ अतएव (**विश्वरूपं शृतं अजं**) विश्वरूप बना हुआ परिपक्व अजन्मा आत्माको (**शृतया त्वचा प्र ऊर्णुहि**) परिपक्व आच्छादनसे आच्छादित कर। (**सः**) वह तू (**इतः उत्तमं नाकं अभि उत्तिष्ठ**) यहांसे उत्तम स्वर्गको प्राप्त करनेके लिये उठ और (**चतुर्भिः पद्भिः दिक्षु प्रतितिष्ठ**) चारों पांवोंसे सब दिशाओंमें प्रतिष्ठित हो ॥ ९ ॥

भावार्थ— दिव्य पूर्ण तेजस्वी गतिमान और अजन्मा परम आत्माकी ही हम घृतादिकी आहुतियोंके यज्ञ द्वारा पूजा करते हैं। इससे उत्तम स्वर्गको प्राप्त करते हुए उसके भी ऊपरके आत्मिक प्रकाशके स्थानको प्राप्त करते हैं ॥ ६ ॥

यह पांच प्रकारका यज्ञीय अन्न है। पांच अंगुलियों द्वारा कडछी पकडकर इस अन्नको पांच प्रकारसे ऊपर ले। इस अजन्माका सिर पूर्व दिशामें और दक्षिण कक्षा दक्षिण दिशामें रख ॥ ७ ॥

इसका कटिभाग पश्चिम दिशामें, उत्तर कक्षा भागको उत्तर दिशामें, पीठकी रीढ ऊर्ध्व दिशामें, पेट ध्रुव दिशामें और मध्य भाग अन्तरिक्षमें रख ॥ ८ ॥

इस प्रकार अपने सब अंगोंसे परिपूर्ण विश्वरूप बने हुए परिपक्व अजन्मा जीवात्माको परिपक्व परमात्माके आच्छादनसे आच्छादित कर, उत्तम स्वर्गलोकको प्राप्त करनेके लिये कटिबद्ध हो और अपने चारों पांवोंसे सब दिशाओंमें प्रतिष्ठित हो ॥ ९ ॥

स्वर्गधामका मार्ग।

इस सूक्तमें 'स्वर्गधाम' का मार्ग बताया है, इस कारण इस सूक्तका महत्त्व अधिक है। पहिले मंत्रमें 'परम पिताके अमृतपुत्र' की उत्पत्तिका वर्णन है—

परम पिताका अमृतपुत्र।

अग्नेः शोकात् अजः अजनिष्ट। (सू. १४, मं. १)

'अग्निके प्रकाशसे अजन्मा जीवात्मा प्रकट हुआ है।' यहां अग्निपदसे सर्व प्रकाशक परमात्माका ग्रहण होता है। अथर्ववेदमें काण्ड ९, सू. १० (१५) मंत्र २८ में कहा है कि 'एक ही सत्यस्वरूप परमात्माका कविजन विविध नामोंसे वर्णन करते हैं, उसी एक परमात्माको इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, दिव्य, सुपर्ण, गरुत्मान्, यम, मातरिश्वा और सत् कहते हैं।' ये सब एक ही परमात्माके नाम हैं। इनमेंसे इस सूक्तमें 'अग्नि (मं. १), दिव्य, सुपर्ण (मं. ६)' ये शब्द आगये हैं। इस परमात्माके तेजसे इस अमृतपुत्रकी उत्पत्ति है। यह उत्पत्ति कथन करनेका उद्देश्य यह है कि यह अमृतपुत्र अपनी उन्नति करके पिताके समान बन सकता है। प्रत्येक प्राणीका पुत्र पिताके समान बनता है, बीजसे वृक्ष होता है, चिनगारीसे दावाग्नि बन सकता है। पुत्रका यह अधिकार ही है कि वह अपने पिताके समान बने। जीवात्माकी उन्नतिकी यह अन्तिम मर्यादा है। यह मर्यादा बहुत कालके निरंतरके अनुष्ठानसे समाप्त हो सकती है, तब यह अमृतपुत्र पिताके वैभवसे युक्त हो सकता है। पुत्र पिताके समान आज हो जावे अथवा कुछ कालके पश्चात् हो जावे, 'वह पिताके वैभवको निःसंदेह प्राप्त करेगा' यह सत्य है। वेदने यह विश्वास इस सूक्त द्वारा लोगोंको बताया है। जगत्के दुःख देखकर जन निराश न हों, धर्मानुष्ठान करते हुए बढते जांय, जब उनका अनुष्ठान हो जायगा और जब उनके सब मल धोये जायंगे तब वे परम पिताके वैभवसे संपन्न हो जायंगे। अनुष्ठानकी तीव्रता और निर्दोषताके प्रमाणके अनुसार काल थोडा लगेगा अथवा अधिक लगेगा, यह बात प्रत्येकके ऊपर ही निर्भर है। पिताके गुण न्यून प्रमाणसे पुत्रमें रहते हैं, इन गुणोंका विकास करना ही पुत्रका कर्तव्य है, पिताकी सहायता सदा तैयार है ही। पुत्रके गुणोंके विकासकी परम सीमा उसका 'पिताके समान बनना' ही है।

पिताका दर्शन।

इस पुत्रने सबसे प्रथम '**जनितारं अपश्यत्**' (मं. १) अपने पिताका दर्शन किया था, तत्पश्चात् यह पुत्र संसारमें

फंस जानेके कारण उससे विमुख हुआ है। यह विमुखता इस समय इतनी बढ गयी है कि यह पिताको भूल ही गया है। इसलिये यह उस अपने परम पिताका पहले स्मरण करे और पश्चात् दर्शन करे। यही उसकी उन्नतिका मार्ग है। उसीके दर्शनसे—

मेध्यासः रोहान् रुरुहुः। (सू. १४, मं. १)

'पवित्र होते हुए उन्नतिके स्थानोंपर चढते हैं।' इसी प्रकार पुत्र एक एक सीढी ऊपर चढता है और विशेष अधिकार प्राप्त करता है। पवित्र बनना ही एकमात्र उपाय है जिससे पुत्रका अधिकार बढ सकता है। पवित्र बननेका उपाय भी '**मेध्य**' शब्द द्वारा ही बताया गया है। '**मेध्य**' अर्थात् 'मेधके लिये योग्य'। 'मेध' का अर्थ 'सत्कार-संगति-दान रूप कर्म।' जिस कर्मसे सत्कार करने योग्य सत्पुरुषोंका आदर होता है, जनताका संगतिकरण होता है और परोपकारार्थ दान दिया जाता है, आत्मसमर्पण किया जाता है, उसका नाम मेध है। इस प्रकारके कर्मसे मनुष्य पवित्र होता है और उच्च भूमिकाको प्राप्त करता है। और अन्तमें जहांसे आया वहां पहुंचता है।

द्वितीय मंत्रमें कहा है कि 'इस अग्निकी सहायतासे स्वर्गके मार्गका आक्रमण करो।' वस्तुतः यज्ञमें जो यजन होता है वह परमात्माका ही होता है, तथापि यज्ञ अग्निमें हवन करनेसे प्रारंभ होता है। इस यज्ञके द्वारा आत्मसमर्पणकी दीक्षा दी जाती है। अपने पासका घृत आदिका अर्पण समष्टिके लिये किया जाता है। इस यज्ञसे अर्थात् आत्मसमर्पणसे ही उन्नति होती है। इस स्थूल यज्ञमें, प्रथम कक्षाके यज्ञमें घृत तथा हवन सामग्रीकी आहुतियोंका अर्थात् अपनेसे भिन्न बाह्य पदार्थोंका समर्पण होता है, आगे जैसी जैसी योग्यता बढ जाती है, उस प्रमाणसे अपने निजके पदार्थोंका समर्पण करना होता है, अन्तमें सर्वमेध यज्ञमें आत्मसर्वस्वका समर्पण होता है जिससे परम उच्च अवस्थाकी प्राप्ति होती है। जिस प्रकार अग्निमें घृतादि पदार्थोंकी आहुतियोंका समर्पण किया जाता है उसी प्रकार—

हस्तेषु उपयान् बिभ्रतः। (सू. १४, मं. २)

'अन्नदान करनेके लिये अपने हाथोंमें पकाया हुआ अन्न लेकर तैयार रहो।' क्षुधासे पीडित मनुष्यको अन्नदान करनेसे बडा पुण्य प्राप्त होता है। यहां यह अन्नदान प्रत्यक्ष फलदायक है। भूखसे पीडितको अन्न देते ही उसका आत्मा संतुष्ट होता है, उसका संतोष देखकर दाताका आत्मा भी कृतार्थ होता है। दानसे दाताकी उन्नति होती है इसका अनुभव अन्न-

दानसे प्रत्यक्ष अनुभवमें आ जाता है। यहां अन्न उपलक्षणमात्र है। भूखसे पीडितको अन्नदान, तृषासे पीडितको जलदान, अज्ञानसे पीडितको ज्ञानदान, निर्बलतासे पीडितको बल द्वारा सहायता, निर्धनतासे पीडितको धनदान, पारतंत्र्यसे पीडितको स्वातंत्र्य प्राप्ति करनेके कार्यमें सहायता आदि अनेक विध दान होते हैं, ये सब अन्नदानके उपलक्षणसे जानना चाहिये। ये सब यज्ञ हैं और यज्ञके संगतिकरण कर्मके ये प्रमुख अंग हैं। जनताकी सेवा द्वारा परमात्माका अर्चन इसी रीतिसे होता है। इस यज्ञ द्वारा मनुष्य स्वर्गमें पहुंचता है इतना ही नहीं, परन्तु उसके भी ऊपर जो आत्मप्रकाशका लोक है वहां जाता है और वहां देवोंके साथ बैठ जाता है। इस प्रकार मनुष्यका देवता बनता है। (मं. २)

पृथ्वीसे अन्तरिक्ष, अन्तरिक्षसे द्युलोक, द्युलोकसे आत्मिक प्रकाशका लोक ऊपर है। यह उच्चता स्थानसे नहीं, प्रत्युत अवस्थासे है। अर्थात् ये चार लोक घरके चार मजलोंके समान एक दूसरेके ऊपर नहीं हैं प्रत्युत एकके अन्दर दूसरी और दूसरीके अन्दर तीसरी है। स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर, कारण शरीर, आत्मा ये चार अवस्थाएं मनुष्यके अंदर ही हैं। इन्हींके बाह्यरूप पृथ्वी, अन्तरिक्ष, द्यौ और स्वः (आत्मप्रकाश) हैं और इन्हींका नाम भूः, भुवः, स्वः, महः इ० है। जिस प्रकार स्थूलके अंदर सूक्ष्म शरीर होता है उसी प्रकार पृथ्वी लोकके अंदर अन्तरिक्ष लोक होता है। इनमेंसे साधारण मनुष्य स्थूल भूलोकमें विचरता है, अंतरिक्ष आदि उच्च भूमिकाओंपर वह तब कार्य कर सकेगा, जब वह उतना शुद्ध और परिपक्व होगा। बडे महान् तपस्वीयोंके लिये ही यह बात साध्य होती है। (मं. ३)

विश्वाधार यज्ञ।

' यज्ञ (विश्वतो धारं यज्ञं) विश्वको सब प्रकारसे आधार देनेवाला है। ' (मं. ४) यह चतुर्थ मंत्रका कथन पूर्ण रीतिसे सत्य है। यज्ञका अर्थ है त्याग। इस ' त्याग ' से ही जगत्की स्थिति है। हरएक स्थानमें यह सत्य है। पिता अपने वीर्यके त्यागसे संतानको उत्पन्न होनेके लिये आधार देता है और माता अपने गर्भधारणके लिये जो कष्ट होते हैं उनको सहती है और उस प्रमाणसे स्वसुखका त्याग करती है और आगे दुग्धादि पिलाकर भी बहुत त्याग करती है। इस प्रकार मातापिताके अपूर्व त्यागसे संतान निर्माण होता है। इसी प्रकार यह त्याग पशुपक्षी, वृक्षवनस्पति आदि सृष्टिमें भी है, जिससे उनकी सृष्टि रहती है। सूर्य अपने प्रकाशका जगत्के लिये अर्पण करता है इसी प्रकार अग्नि, वायु, जल आदि देवताएं अपनी शक्तियोंका जगत्की भलाईके लिये त्याग करती है। इस त्यागसे जगत्की स्थिति हुई है। परमात्माने अपने त्यागसे ही यह संसार बनाया है। इस प्रकार विचार करनेसे पाठकोंको पता लग सकता है कि इस त्यागसे अर्थात् आत्मसमर्पण रूप महायज्ञसे ही विश्व चल रहा है। इसीलिये यज्ञको संपूर्ण विश्वका आधार कहते हैं वह नितान्त सत्य है।

ये सुविद्वांसः विश्वतोधारं यज्ञं वितेनिरे।
(ते) रोदसी द्यां रोहन्ति, स्वर्यन्तः, न अपेक्षन्ते।
(सू. १४, मं. ४)

' जो उत्तम विद्वान् इस विश्वाधार यज्ञको फैलाते हैं अर्थात् अपने आयुभर करते हैं वे इस भूमिसे सीधे द्युलोकपर चढते हैं, वे वहांके स्वर्गसुखकी भी इच्छा नहीं करते और वे उसके भी ऊपर जाकर आत्मज्योतिके प्रकाशमय स्थानको प्राप्त करते हैं। ' यह लोक तो आत्मसमर्पण रूप यज्ञ करनेसे ही प्राप्त हो सकता है।

सच्चा चक्षु।

पञ्चम मंत्रमें इस परमात्माको ' देवों और मनुष्योंका चक्षु ' कहा है—

देवतानां उत मानुषाणां चक्षुः। (सू. १४, मं. ५)

' देवों और मनुष्योंका आंख यह आत्मा है। ' मनुष्योंके आंख मनुष्योंके शरीरोंमें रहते ही हैं, परंतु वे स्वयं कार्य नहीं कर सकते। सूर्यके प्रकाशके विना आंख देखनेमें असमर्थ है। इसलिये सूर्यको ' आंखका आंख ' कहते हैं। परंतु सूर्य भी परमात्माकी प्रकाश शक्तिके विना प्रकाश देनेका कार्य नहीं कर सकता, इसलिये परमात्माको ' सूर्यका सूर्य ' कहते हैं। इससे यह हुआ कि ' आंखका आंख सूर्य और सूर्यका सूर्य परमात्मा ' है, इसलिये वस्तुतः ' आंखका सच्चा आंख ' परमात्मा ही हुआ। यही भाव ऊपरके मंत्रभागका है। यह केवल आंखके विषयमें ही सत्य है ऐसा नहीं परंतु हरएक इंद्रियके विषयमें भी वैसा ही सत्य है, अर्थात् वह जैसा आंखका आंख है उसी प्रकार कानका कान, नाकका नाक, मनका मन और बुद्धिका बुद्धि है। इसी प्रकार सब इंद्रियोंका वही मूल स्रोत है। इसको ऐसा जानना और अनुभव करना विद्या और अनुष्ठानका साध्य है। यही—

देवतानां प्रथमः। (सू. १४, मं. ५)

' सब देवताओंमें यह पहिला है ' अर्थात् इसके पूर्व कोई नहीं है, सबके पूर्व यह था और सबके पश्चात् रहेगा। सूर्यादि बडे प्रकाशमान देव निःसंदेह बडे शक्तिशाली हैं, परंतु इसीकी

शक्तिसे वे बने हैं और इसीकी शक्ति लेकर अपना कार्य कर रहे हैं। जिस देवताकी ऐसी महिमा होती है उसीका यजन यज्ञोंमें होता है, इसीलिये 'यज्ञ' नाम आत्माका है। सच्चा यज्ञ पुरुष वही है। जो यज्ञमें इस यज्ञपुरुषकी पूजा करते हैं वे—

इयक्षमाणाः सजोषाः यजमानाः स्वः भृगुभिः स्वस्ति यन्तु ।　　(सू. १४, मं. ५)

'यज्ञ करनेवाले, समान प्रेमभाव रखनेवाले यजमान आत्मिक प्रकाशके स्थानको भृगुओंके साथ सुगमताके साथ जाते हैं।' उसकी पूजा करनेका यह फल है। 'भृगु' उनका नाम होता है कि जो तपश्चर्यासे अपने पापोंका भर्जन करते हैं। तपके सामर्थ्यसे पापका नाश करनेवाले तपस्वियोंको 'भृगु' कहते हैं। ये तपस्वी सीधे आत्मिक प्रकाशके लोकको जाते हैं, वहां ही ये याजक जाते हैं कि जो पूर्वोक्त प्रकार यज्ञ करते हैं और सबपर समान प्रेमभाव रखते हैं, अर्थात् जिनकी सर्वत्र समदृष्टि हो गई है। अन्य लोग उस आत्मिक लोकको प्राप्त करनेके अधिकारी नहीं हैं। षष्ठ मन्त्रका भी इसी आशयको बता रहा है—

दिव्यं सुपर्णं पयसं बृहन्तं अजं पयसा घृतेन यजामि ।　　(सू. १४, मं. ६)

'दिव्य पूर्ण वेगवान् बडे अजन्मा आत्माकी दूध और घीसे मैं यज्ञमें पूजा करता हूं।' यह मन्त्रभाग अत्यन्त स्पष्ट है। यज्ञमें उसीकी पूजा हवनकी आहुतियोंसे होती है। हवनकी आहुतियां देना यह आत्मसमर्पणका प्रारंभ है, इसी यज्ञका रूप अन्तमें आत्मसर्वस्वका समर्पण होना है। इस पूर्ण समर्पणकी पहिली सीढी थोडीसी आहुतियां समर्पित करना है। समर्पण शक्ति बढानेसे ही उसकी सच्ची पूजा होती है और साथ साथ अपनी आत्मिक शक्ति भी बढ जाती है।

तेन उत्तमं नाकं अभि आरोहन्तः सुकृतस्य स्वः लोकं गेष्म ।　　(सू. १४, मं. ६)

'उससे उत्तम स्वर्गधामको प्राप्त होते हुए हम सुकृतके आत्मज्योतिरूप लोकको प्राप्त करेंगे।' यह पूर्वोक्त प्रकारके आत्मयज्ञका फल है। सच्चे वैदिक यज्ञका यह अन्तिम साध्य है।

पञ्चामृत भोजन ।

यहां पञ्चामृत भोजनका विधान है। लोकमें प्रसिद्ध पञ्चामृत सब जानते ही हैं, दूध, दही, घी, मिश्री और मधु इन पांच पदार्थोंको पंचामृत कहा जाता है। परंतु यहां आत्मसमर्पणरूप महायज्ञमें हमारी इंद्रियां गौवें हैं और इस यज्ञमंडपमें उनका दोहन होता है, उस दूधसे जो पंच अमृत बनता है वह यहां अभीष्ट है। यह 'पञ्च+ओदन' है। पञ्च ज्ञानेंद्रियोंसे प्राप्त होनेवाला यह पञ्च अमृत है। ज्ञानका नाम अमृत है। यहां पंच ज्ञान पञ्च ओदन कहा है क्योंकि जैसा ओदन या अन्न स्थूल शरीरका पोषण होता है, उसी प्रकारसे यह पांच प्रकारका ज्ञान-रस या 'सुधारस' आत्मबुद्धिमनका पोषण करता है। इसका उद्धार करना चाहिये—

एतं ओदनं दर्व्या पञ्चधा उद्धर ।　(सू. १४, मं. ७)

'यह अन्न कडछीसे पांच प्रकारसे ऊपर ले' अर्थात् पांच प्रकारसे इसका उद्धार कर। यह अन्न पंचविध है एक दूसरेसे भिन्न है, पांच प्रकारोंसे इसका उद्धार होना संभव है। इससे ही ज्ञात हो सकता है कि यह पंचज्ञानेन्द्रियोंसे प्राप्त होनेवाला पञ्चविध ज्ञान ही है। हरएक इंद्रियसे प्राप्त होनेवाला ज्ञान उच्चनीच होता है, इसीलिये यहां सूचना दी है कि 'उद्धर' उद्धार कर अर्थात् पांच प्रकारका ज्ञान ऐसा प्राप्त कर कि जिससे उद्धार हो सके। दो प्रकारका ज्ञान सन्मुख आया तो जिससे उद्धार होगा वही ज्ञान स्वीकार कर और अन्यको दूर कर। हरएक विषयमें ये दोनों प्रकार मनुष्यके सन्मुख आते हैं। उद्धार चाहनेवाले मनुष्यको उचित है कि यह पांच प्रकारका ज्ञान इस प्रकारसे प्राप्त करे कि जिससे अपना निश्चयसे उद्धार हो सके। अन्नका बर्तनसे उद्धार करनेका कार्य कडछीसे अथवा चमससे होता है, इस लिये इस मंत्रमें भी कडछीसे उद्धार करनेका उपदेश किया है। पञ्च ज्ञानरूपी पञ्च पक्वान्नका उद्धार करनेकी कडछी यहां कौनसी है यह अब विचारणीय प्रश्न है। इस विषयमें निम्नलिखित मंत्र देखने योग्य है—

तिर्यग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नस्तस्मिन्यशो निहितं विश्वरूपम्। तदासत ऋषयः सप्त साकं ये अस्य गोपा महतो बभूवुः ॥　(अथर्व. १०।८।९)

'तिरछे मुखवाला एक चमस है, जिसका निम्न भाग ऊपरकी ओर है, उसमें विश्वरूप यश रखा है। वहां ही सात ऋषि साथ साथ रहते हैं, जो इसके रक्षक हैं।' यहां जो चमस कहा है वह मनुष्यका सिर है, इसका मुंह नीचे और निम्न भाग ऊपर है, इसमें विश्वरूप यश नाम विश्वका ज्ञान और आत्माका विज्ञान इकट्ठा हुआ है, सात ऋषि यहां इस सिरमें रहते हैं जो इसके संरक्षक हैं। इस मंत्रसे चमस या कडछीका ठीक पता लग सकता है। यह सब मस्तकका रूपक है, इसीसे ज्ञानरूप पांच प्रकारका अन्न लिया जाता है, और अच्छे बुरेका विचार भी यहां ही होता है।

इस सूक्तके 'दर्वी' शब्दका संबंध इस मंत्रके 'चमस' शब्दसे जोडकर देखें, पाठक जानें कि ये दर्वी (कडछी) और

चमस एक ही है। पाठकोंको सूचनार्थ निवेदन यहां है कि यज्ञमें जो जो सामग्री अथवा चमसादि साधन आवश्यक होते हैं वे सब अन्तमें अपने शरीरपर ही घटाये जाते हैं। वेदकी यह परिभाषा है। यहां चमस शब्द शरीरमें घटाया है, समिधा शब्द अन्य स्थानपर घटाये हैं। इस प्रकार सब पदार्थ भिन्न भिन्न स्थानोंके मंत्रोंमें घटाये हैं। इस प्रकार वेद बतायेगा कि अन्तिम यज्ञ आत्मसर्वस्वके समर्पणसे ही होना है। अस्तु। इस प्रकार यहां पञ्चविध ज्ञानको अपने उद्धारके लिये प्राप्त करनेका उपदेश सप्तम मंत्रके पूर्वार्धमें किया गया। इसके पश्चात् दो मंत्रोंसे अर्थात् सप्तमका उत्तरार्ध और अष्टम पूर्ण मंत्रसे अपने शरीरको विश्वरूप बनानेका उपदेश कहा है।

विश्वरूप बनो।

अपना शरीर यह केवल अपने लिये नहीं प्रत्युत यह सब विश्वकी भलाईके लिये है, इसको विश्वके लिये समर्पण करना चाहिये। मैं सब जगत्का एक अवयव हूं। अवयवकी पूर्णता अवयवीके लिये समर्पित होनेसे ही हो सकती है। जिस प्रकार शरीरके अवयवकी पूर्णता सब शरीरके भलाईके कार्यमें पूर्णतया समर्पित होनेसे हो सकती है, उसी प्रकार एक मनुष्यकी पूर्णता उसका समर्पण समष्टिके लिये होनेसे ही हो सकती है। यही आत्मसमर्पणकी कल्पना यहां इन मंत्रोंसे बताई है जिसका स्वरूप यह है—

१ पूर्व दिशाके लिये मेरा सिर अर्पण किया है,
२ दक्षिण दिशाके लिये मेरी दक्षिण कक्षा अर्पण की है,
३ पश्चिम दिशाके लिये मेरा पिछला भाग अर्पण किया है,
४ उत्तर दिशाके लिये मेरी उत्तर कक्षा अर्पण की है,
५ ऊर्ध्व दिशाके लिये मेरी पीठकी रीढ अर्पण की है,
६ ध्रुव दिशाके लिये मेरा पेट समर्पण किया है और
७ मध्य दिशा रूप अंतरिक्षके लिये मेरा मध्य भाग है।

(सू. १४, मं. ७-८)

इस प्रकार मेरा संपूर्ण शरीर सब दिशाओंके लिये समर्पित होनेसे 'मैं सब विश्वके लिये जीवित हूं।' मेरा यह यह भाग विश्वके इस इस भागके लिये समर्पित हुआ है, इस प्रकार संपूर्ण विश्वके लिये मेरा आत्मसमर्पण हो गया है, अब मेरा जीवन जगत्के लिये हुआ है, मैंने सबकी भलाईके लिये यह आत्मयज्ञ किया है, यह इस उपदेशका तात्पर्य है। इसके पश्चात्—

सर्वैः अङ्गैः विश्वरूपं संभृतं शृतं अजं
शृतया त्वचा प्रोर्णुहि। (सू. १४, मं. ९)

'अपने सब अंगोंसे विश्वरूप हुए अतएव परिपक्व बने हुए अजन्मा जीवात्माको परमात्माके परिपक्व त्वचा सदृश आच्छादनसे आच्छादित करो।' अपने आपको चारों ओरसे परमात्मा द्वारा आच्छादित अनुभव करो, अपने चारों ओर परमात्माका अनुभव करो। यह बात स्वभावतया स्वयं ही हो जायगी। इसके पंतर—

चतुर्भिः पद्भिः दिक्षु प्रति तिष्ठ।
इतः उत्तमं नाकं अभि उत्तिष्ठ॥ (सू. १४, मं. १)

'अपने चारों पावोंसे सब दिशाओंमें प्रतिष्ठित हो और यहांसे सीधा उत्तम स्वर्गके लिये चल।' अब तुम्हें कोई बीचमें रुकावट नहीं होगी। यहां वर्णन किये हुए चार पांव जाग्रति, स्वप्न, सुषुप्ति और तुर्या हैं। चतुष्पाद अज आत्माका वर्णन मांडूक्य उपनिषद्में है—

सोऽयमात्मा चतुष्पात्॥ २॥
जागरितस्थानो बहिः प्रज्ञः......प्रथमः पादः॥ ३॥
स्वप्नस्थानोऽन्तः प्रज्ञः ... द्वितीयः पादः॥ ४॥
सुषुप्तस्थान एकी भूतः प्रज्ञानघन एवानन्दमयो ह्यानन्दभुक्चेतोमुखः प्राज्ञस्तृतीयः पादः॥ ५॥
...... अदृष्टमव्यवहार्यं ...... एकात्मप्रत्ययसारं ... चतुर्थं मन्यन्ते ......॥ ७॥ (मांडूक्य उपनिषद्)

'यह अज आत्मा चतुष्पाद है। इसका प्रथम पाद जाग्रति है जिसमें बाहरके जगत्का ज्ञान होता है। इसका द्वितीय पाद स्वप्न है जिस अवस्थामें इसकी प्रज्ञा अन्दर ही अन्दर होती है। इसका तीसरा पाद सुषुप्ति अर्थात् गाढ निद्रा है, जिस समय एकीभूत होकर आनन्द अवस्थामें लीन होता है। और इसका चतुर्थ पाद अदृष्ट तथा अव्यवहार्य है।'

यह वर्णन इस आत्माका चतुष्पाद स्वरूप बता रहा है। कई लोग चार पांवोंका वर्णन होनेसे 'चतुष्पाद् अज' का तात्पर्य 'चार पांववाला बकरा' समझते हैं और अर्थका अनर्थ करते हैं, उनको उचित है कि वे इस उपनिषद्के वचनका भी यहां मनन करें। सीधा उत्तम स्वर्गधाममें जाना इन ही चार पावोंसे संभवनीय है यह बात स्पष्ट होनेसे इस विषयमें अधिक लिखनेकी यहां आवश्यकता नहीं है। जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुर्यामें जो अनुभव मिलते हैं और जाग्रतिमें जो कर्म किये जाते हैं, उनसे ही मनुष्यकी उन्नति होती है, इसके विना कोई अन्य मार्ग नहीं है।

एक शंका।

इस सूक्तमें 'भूलोकसे ऊपर अन्तरिक्ष, अन्तरिक्षसे ऊपर स्वर्ग, स्वर्गसे ऊपर आत्मप्रकाशका लोक है, ऐसा कहा है।'

(मं. ३) मंत्रमें ' आरुह ' पद भी दर्शाता है कि यहां ' उपर चढनेका भाव ' है। इसलिये साधारण लोक इन लोकोंको एकके ऊपर दूसरा मानते हैं। ये लोक शरीरमें भी है. गुदासे नाभीतक भूलोक, नाभीसे गलेतक अन्तरिक्ष लोक, सिर स्वर्ग लोग है और आत्मप्रकाशका लोक हृदयस्थानमें जहां धडक होती है वहां है। यहां पता लगता है कि यद्यपि शरीरमें पहिले तीन लोक एक दूसरेके ऊपर है तथापि चतुर्थलोक भिन्न प्रदेशमें अथवा मध्यमें है। अर्थात् यहांका ऊपरका भाव स्थानसे ऊपर ऐसा नहीं है, प्रत्युत अवस्था, योग्यता, श्रेष्ठ अनुभव आदिकी उच्चतासे यहां मतलब है। वास्तविक स्थिति यह है कि ' भूः, भुवः, स्वः, महः ' आदि लोक किंवा पृथिवी, अन्तरिक्ष, स्वर्ग, आत्मज्योति आदि लोक हरएक स्थानमें हैं। जिस प्रकार एक ही स्थानमें पत्थर, रेत, जल, वायु, उष्णता, विद्युत् आदि रहते हैं, उसी प्रकार उक्त सब लोक एक ही स्थानमें हैं, जो मनुष्य अपने सूक्ष्म इंद्रियोंको सूक्ष्म लोकोंमें कार्य करने योग्य सूक्ष्म बनाते हैं, वे ही उच्च लोकोंके भागी होते हैं, अर्थात् यहां रहता हुआ मनुष्य भी आत्मप्रकाशके लोकका अनुभव ले सकता है।

पाठक इस सूक्तका इस रीतिसे मनन करें और उचित बोध प्राप्त करके अपनी आध्यात्मिक उन्नतिका मार्ग आक्रमण करें।

वृष्टि।

[सूक्त १५]

(ऋषिः — अथर्वा । देवता — मरुतः पर्जन्यश्च)

समुत्पतन्तु प्रदिशो नभस्वतीः समभ्राणि वातजूतानि यन्तु ।
महऋषभस्य नदतो नभस्वतो वाश्रा आपः पृथिवीं तर्पयन्तु ॥ १ ॥
समीक्षयन्तु तविषाः सुदानवोऽपां रसा ओषधीभिः सचन्ताम् ।
वर्षस्य सर्गा महयन्तु भूमिं पृथग्जायन्तामोषधयो विश्वरूपाः ॥ २ ॥
समीक्षयस्व गायतो नभांस्यपां वेगासः पृथगुद्विजन्ताम् ।
वर्षस्य सर्गा महयन्तु भूमिं पृथग्जायन्तां वीरुधो विश्वरूपाः ॥ ३ ॥

अर्थ— (नभस्वतीः प्रदिशः सं उत्पतन्तु) बादलसे युक्त दिशाएं उमड जांय, (वातजूतानि अभ्राणि सं यन्तु) वायुसे चलाये गये उदक युक्त मेघ मिलकर आवें। (महऋषभस्य नदतः नभस्वतः) महाबलवान् गर्जना करते हुए (नभस्वतः वाश्राः आपः पृथिवीं तर्पयन्तु) बादलोंकी गति युक्त जलधाराएं भूमिकी तृप्ति करें ॥ १ ॥

(तविषाः सुदानवः समीक्षयन्तु) बलवान् जलका उत्तम दान करनेवाले मेघ दिखाई देवें। (अपां रसाः ओषधीभिः सचन्तां) जलोंके रस औषधियोंसे संयुक्त हो जावें। (वर्षस्य सर्गाः भूमिं महयन्तु) वृष्टिकी धाराएं भूमिको समृद्ध करें। (विश्वरूपाः ओषधयः पृथक् जायन्तां) विविध रूपवाली औषधियां अनेक प्रकारसे उत्पन्न होवें ॥ २ ॥

(गायतः नभांसि समीक्षयस्व) गर्जनेवाले मेघोंसे युक्त आकाश दिखाओ। (अपां वेगासः पृथक् उद्विजन्तां) जलोंके वेग विविध प्रकारसे उमड आवें। (वर्षस्य सर्गाः भूमिं महयन्तु) वृष्टिकी धाराएं भूमिको समृद्ध करें। (विश्वरूपाः वीरुधः पृथक् जायन्तां) विविध रूपवाली औषधियां अनेक प्रकारसे उत्पन्न हों ॥ ३ ॥

भावार्थ— चारों दिशाओंमें बादल आ जांय, वायु जोरसे बहे, उस वायुसे मेघ आकाशमें आ जांय, और बडी गर्जना होकर बडी वृष्टि होवे ॥ १ ॥

मेघसे आनेवाला जल वनस्पतियोंको मिले और सब वनस्पतियां उत्तम परिपुष्ट हो जावें ॥ २ ॥

गुणास्त्वोप गायन्तु मारुताः पर्जन्य घोषिणः पृथक्।
सर्गा वर्षस्य वर्षतो वर्षन्तु पृथिवीमनु ॥ ४ ॥
उदीरयत मरुतः समुद्रतस्त्वेषो अर्को नभ उत्पातयाथ।
महऋषभस्य नदतो नभस्वतो वाश्रा आपः पृथिवीं तर्पयन्तु ॥ ५ ॥
अभि क्रन्द स्तनयार्दयोदधिं भूमिं पर्जन्य पयसा समङ्ग्धि।
त्वया सृष्टं बहुलमैतु वर्षमाशारैषी कृशगुरेत्वस्तम् ॥ ६ ॥
सं वोऽवन्तु सुदानव उत्सा अजगरा उत।
मरुद्भिः प्रच्युता मेघा वर्षन्तु पृथिवीमनु ॥ ७ ॥
आशामाशां वि द्योततां वाता वान्तु दिशोदिशः।
मरुद्भिः प्रच्युता मेघाः सं यन्तु पृथिवीमनु ॥ ८ ॥

अर्थ— हे पर्जन्य! (घोषिणः मारुताः गणाः त्वा पृथक् उपगायन्तु) गर्जना करनेवाले वायुओंके गण तेरा पृथक पृथक् गान करें। (वर्षतः वर्षस्य सर्गाः पृथिवीं अनु वर्षन्तु) वर्षते हुए मेघकी धाराएं पृथ्वीपर अनुकूल वर्षें ॥ ४ ॥

हे (मरुतः) वायुओ! (अर्कः त्वेषः नभः) सूर्यकी उष्णतासे बादलोंको (समुद्रतः उत्पातयत) समुद्रसे ऊपर ले जाओ (अथ उदीरयत) और ऊपर उठाओ। (महऋषभस्य नदतः नभस्वतः) बडे बलवान् और शब्द करनेवाले बादलयुक्त आकाशसे (वाश्राः आपः पृथिवीं तर्पयन्तु) वेगवान् जलधाराएं पृथ्वीको तृप्त करें ॥ ५ ॥

हे (पर्जन्य) मेघ! तू (अभिक्रन्द) गर्जना कर, (स्तनय) विद्युत् कडका, (उदधिं अर्दय) समुद्रको हिला दे। (पयसा भूमिं समङ्ग्धि) जलसे भूमि भिगा दे। (त्वया सृष्टं बहुलं वर्षं एतु) तेरे द्वारा उत्पन्न हुई बडी वृष्टि हमारे पास आवे। (कृश-गुः) भूमिका कृषक (आशार-एषी) आश्रयकी इच्छा करनेवाला होकर (अस्तं एतु) अपने घरको चला आवे ॥ ६ ॥

(सु-दानवः उत अज-गराः उत्साः) उत्तम जल देनेवाले बडे स्रोत (वः सं अवन्तु) तुम्हारी रक्षा करें। (मरुद्भिः प्रच्युताः मेघाः) वायुओं द्वारा प्रेरित मेघ (पृथिवीं अनु वर्षन्तु) पृथिवीपर अनुकूल वर्षा करें ॥ ७ ॥

(आशां आशां विद्योतताम्) दिशा दिशामें बिजलियां चमकें। (दिशो दिशः वाताः वान्तु) हरएक दिशामें वायु बहें। (मरुद्भिः प्रच्युताः मेघाः पृथिवीं अनु संयन्तु) वायुओं द्वारा चलाये गये मेघ पृथिवीकी ओर अनुकूलतासे आवें ॥ ८ ॥

भावार्थ— गर्जना करनेवाले मेघोंसे जोरकी वृष्टि हो जावे और उस वृष्टिसे औषधियां उत्तम रसवाली होवें ॥ ३ ॥

वायु जोरसे मेघोंको लावें और प्रचंड धाराओंसे अच्छी वृष्टि हो जावे ॥ ४ ॥

सूर्यकी उष्णतासे समुद्रके पानीकी भाप होकर वायुसे ऊपर आवे, वहां वह इकट्ठी होकर मेघ बनें, वहां बिजलीकी गर्जना होकर पृथ्वीकी तृप्ति करनेवाली वृष्टि होवे ॥ ५ ॥

मेघ गर्जना करें, बिजुली कडके, समुद्र उछल पडें, भूमिपर ऐसी वृष्टि हो जावे कि किसान अपने घर आकर आश्रय लेवे ॥ ६ ॥

जल देनेवाले मेघ सबकी रक्षा करें, उनसे भूमिपर उत्तम वृष्टि होवे ॥ ७ ॥

हरएक दिशामें बिजुलियां चमकें, वायु जोरसे चले, उनसे चलाये मेघ खूब वृष्टि करें ॥ ८ ॥

आपो विद्युदभ्रं वर्षं सं वोऽवन्तु सुदानव उत्सा अजगरा उत ।
मरुद्भिः प्रच्युता मेघाः प्रावन्तु पृथिवीमनु ॥ ९ ॥
अपामग्निस्तनूभिः संविदानो य ओषधीनामधिपा बभूव ।
स नो वर्षं वनुतां जातवेदाः प्राणं प्रजाभ्यो अमृतं दिवस्परि ॥ १० ॥
प्रजापतिः सलिलादा समुद्रादाप ईरयन्नुदधिमर्दयाति ।
प्र प्यायतां वृष्णो अश्वस्य रेतोऽर्वाङेतेन स्तनयित्नुनेहि ॥ ११ ॥
अपो निषिञ्चन्नसुरः पिता नः श्वसन्तु गर्गरा अपां वरुणाव नीचीरपः सृज ।
वदन्तु पृश्निबाहवो मण्डूका इरिणानु ॥ १२ ॥
संवत्सरं शशयाना ब्राह्मणा व्रतचारिणः ।
वाचं पर्जन्यजिन्वितां प्र मण्डूका अवादिषुः ॥ १३ ॥

अर्थ— (आपः विद्युत् अभ्रं वर्षं) जल, विद्युत्, मेघ, वृष्टि (उत अजगराः सुदानवः उत्साः) और बडे जल देनेवाले स्रोत (वः सं अवन्तु) तुम्हारी रक्षा करें । (मरुद्भिः प्रच्युताः मेघाः पृथिवीं अनु प्र अवन्तु) वायुओं द्वारा प्रेरित मेघ भूमिकी रक्षा करें ॥ ९ ॥

(अपां अग्निः) मेघके जलोंमें रहनेवाला विद्युत् रूप अग्नि (तनूभिः संविदानः) सब शरीरोंके साथ एकरूप होता हुआ (यः ओषधीनां अधिपा बभूव) जो औषधियोंका पालक होता है (सः जातवेदाः) वह अग्नि (दिवः परि अमृतं वर्षं) आकाशसे अमृतरूपी वृष्टिजल जो (प्रजाभ्यः प्राणं) प्रजाओंके लिये प्राणरूप है (नः) हमारे लिये (वनुतां) देवे ॥ १० ॥

(प्रजापतिः सलिलात् समुद्रात् आपः आ ईरयन्) प्रजापति जलमय समुद्रसे जलको प्रेरित करता हुआ (उदधिं अर्दयाति) समुद्रको गति देता है । इससे (अश्वस्य वृष्णः रेतः प्र प्यायतां) वेगवान् वृष्टि करनेवाले मेघसे जल बढे । वृष्टि (एतेन स्तनयित्नुना अर्वाङ् आ इहि) इस गर्जना करनेवालेके साथ यहां आवे ॥ ११ ॥

(अपः निषिञ्चन् असुरः) जलकी वृष्टि करनेवाला मेघ (नः पिता) हमारा पालक है । हे (वरुण) श्रेष्ठ उदकका धारण करनेवाले मेघ ! (अपां गर्गराः श्वसन्तु) जलोंके गडगड शब्द करनेवाले मेघ चलें । (अपः नीचीः अव-सृज) जलको नीचेकी ओर प्रवाहित कर (पृश्निबाहवः मण्डूकाः) विचित्र रंगयुक्त बाहुवाले मेंढक (इरिणा अनु-वदन्तु) भूमिपर आकर शब्द करें ॥ १२ ॥

(मण्डूकाः पर्जन्यजिन्वितां वाचं) मेंडक पर्जन्यसे प्रेरित वाणीको (अवादिषुः) बोलते हैं, जैसा कि (संव-त्सरं शशयानाः व्रतचारिणः ब्राह्मणाः) सालभर एक स्थानमें रहकर व्रत करनेवाले ब्राह्मण बोलते हैं ॥ १३ ॥

भावार्थ— मेघ, विद्युत्, वृष्टि, जल, जलस्थान ये सब मनुष्योंकी रक्षा करें । वायुसे चलाये मेघ पृथ्वीपर उत्तम वर्षा करें ॥ ९ ॥

मेघोंमें विद्युद्रूप अग्नि है वही वृष्टि करता है इसलिये वह औषधियोंका अधिपति है । वह ऊपरसे वृष्टि करे और हमें अमृत जल देवे, उससे प्राणियोंको जीवन मिले, इस प्रकार हम सबकी रक्षा हो ॥ १० ॥

यह प्रजापालक समुद्रके जलको प्रेरित करता है जिससे मेघ होते हैं । इससे भूमिके ऊपर पर्याप्त जल प्राप्त होवे । यह मेघ बिजुलीके साथ हमारी भूमिके पास आ जावे ॥ ११ ॥

मेघकी वृष्टिसे पृथ्वीपर बडे स्रोत बहें । जलमें मेंडक उत्तम शब्द करें ॥ १२ ॥

उपप्रवद मण्डूकि वर्षमा वद तादुरि ।
मध्ये ह्रदस्य प्लवस्व विगृह्य चतुरः पदः ॥ १४ ॥

खण्वखा३इ खैमखा३इ मध्ये तदुरि ।
वर्षं वनुध्वं पितरो मरुतां मन इच्छत ॥ १५ ॥

महान्तं कोशमुदचाभि षिञ्च सविद्युतं भवतु वातु वातः ।
तन्वतां यज्ञं बहुधा विसृष्टा आनन्दिनीरोषधयो भवन्तु ॥ १६ ॥

॥ इति तृतीयोऽनुवाकः ॥ ३ ॥

अर्थ— हे (मंडूकि) मेंडकी ! हे (तादुरि) छोटी मेंडकी ! (उप प्रवद) बोल, (वर्षं आ वद) वर्षाको बुला । और (ह्रदस्य मध्ये) तालावके मध्यमें (चतुरः पदः विगृह्य) चार पैर लेकर (प्लवस्व) तैर ॥ १४ ॥

(खण्-वखे) हे बिलमें रहनेवाली, हे (खैम-खे) शांत रहनेवाली (तदुरि) हे छोटी मेंडकी ! (वर्षं मध्ये वनुध्वं) वृष्टिके बीचमें आनंदित हो । हे (पितरः) पालको ! (मरुतां मनः इच्छत) वायुओंका मननीय ज्ञान चाहो ॥ १५ ॥

(महान्तं कोशं उदच) बडे जलके खजानेको अर्थात् मेघको प्रेरित कर और (अभि षिञ्च) जलसिंचन कर । (सविद्युतं भवतु) आकाश बिजुलियोंसे युक्त हो (वातः वातु) वायु बहता रहे । (यज्ञं तन्वतां) यज्ञको करो । (ओषधयः) औषधियां (बहुधा विसृष्टाः) बहुत प्रकारसे उत्पन्न हुई (आनंदिनीः भवन्तु) आनन्द देनेवाली होवें ॥ १६ ॥

भावार्थ— व्रत करनेवाले ब्राह्मणोंके समान ये मेंडक मानो सालभर व्रत कर रहे थे, अब अपना व्रत समाप्त करके बाहर आये हैं और प्रवचन कर रहे हैं ॥ १२ ॥

मेंडक मेघोंको बुलावें और वे जलसे तालाव भरनेके बाद उसमें खूब तैरें ॥ १४ ॥

वृष्टि ऐसी हो कि जिसे मेंडक आनंदित हो जांय ॥ १५ ॥

मेघ आजाय, खूब वृष्टि हो, बिजली चमके, वायु बहे, औषधियां पुष्ट हों, खूब अन्न उत्पन्न हो और यज्ञ बढते जांय ॥ १६ ॥

यह सूक्त पर्जन्यका उत्तम काव्य है, अतीव स्पष्ट होनेसे इसके स्पष्टीकरणकी आवश्यकता नहीं है ।

॥ यहां तृतीय अनुवाक समाप्त ॥

सर्वसाक्षी प्रभु ।

[सूक्त १६]

(ऋषिः — ब्रह्मा । देवता — वरुणः । सत्यानृतान्वीक्षणम् ।)

बृहन्नेषामधिष्ठाता अन्तिकादिव पश्यति ।
य स्तायन्मन्यते चरन्त्सर्वं देवा इदं विदुः ॥ १ ॥
यस्तिष्ठति चरति यश्च वञ्चति यो निलायं चरति यः प्रतङ्कम् ।
द्वौ संनिषद्य यन्मन्त्रयेते राजा तद्वेद वरुणस्तृतीयः ॥ २ ॥
उतेयं भूमिर्वरुणस्य राज्ञ उतासौ द्यौर्बृहती दूरेअन्ता ।
उतो समुद्रौ वरुणस्य कुक्षी उतास्मिन्नल्प उदके निलीनः ॥ ३ ॥
उत यो द्यामतिसर्पात्परस्तान्न स मुच्यातै वरुणस्य राज्ञः ।
दिव स्पशः प्र चरन्तीदमस्य सहस्राक्षा अति पश्यन्ति भूमिम् ॥ ४ ॥

अर्थ— (एषां बृहन् अधिष्ठाता अन्तिकात् इव पश्यति) इनका बडा अधिष्ठाता समीपके समान देखता है। (यः तायत्) जो फैलाता और पालन करता, (चरन्) विचरता और चलाता हुआ, (मन्यते) जानता है। (देवाः इदं सर्वं विदुः) दिव्य जन यह सब जानते हैं ॥ १ ॥

(यः तिष्ठति, चरति) जो खडा होता है अथवा चलता है, (च यः वञ्चति) और जो ठगाता है, (यः निलायं चरति, यः प्रतंकं) जो गुप्त व्यवहार करता है अथवा खुला व्यवहार करता है तथा (द्वौ संनिषद्य यत् मंत्रयेते) दो जन एक साथ बैठकर जो कुछ विचार करते हैं (तत्) उस सबको (तृतीयः राजा वरुणः वेद) तीसरा राजा वरुण जानता है ॥ २ ॥

(इयं भूमिः) यह पृथिवी, (उत उत असौ बृहती दूरे अन्ता द्यौः) और यह बडा दूर अन्तरपर दिखनेवाला द्युलोक है, यह सब (वरुणस्य राज्ञः) वरुणराजाका है। (उतो समुद्रौ वरुणस्य कुक्षी) और दोनों समुद्र वरुणकी दोनों कोखें हैं, (उत अस्मिन् अल्प उदके निलीनः) तथा वह इस अल्प उदकमें भी लीन हुआ है ॥ ३ ॥

(उत यः परस्तात् द्यां अतिसर्पात्) और जो दूर द्युलोकके परे भी चला जावे (सः वरुणस्य राज्ञः न मुच्यातै) वह इस वरुणराजाके शासनसे छूट नहीं सकता। (अस्य दिवः स्पशः इदं प्र चरन्ति) इस दिव्य देवके दूत इस जगत्में संचार करते हैं। वे (सहस्र-अक्षाः भूमिं अति पश्यन्ति) हजार आंखवाले भूमिको विशेष देखते हैं ॥ ४ ॥

भावार्थ— इन संपूर्ण लोकलोकान्तरोंका एक बडा अधिष्ठाता है जो इन सबका निरीक्षण प्रत्येकके समीप रहनेके समान करता है, वह सबका विस्तार करता है और रक्षा करता है; सबको चलाता है और सबमें विचरता है तथा सबको जानता है। उस प्रभुके ये गुण सब ज्ञानीजन जानते हैं ॥ १ ॥

कोई मनुष्य ठहरा हो, कोई चलता हो, कोई किसीको ठगाता हो, कोई घरके अंदर छिपकर कुछ करता हो और कोई खुली जगहमें कार्य करता हो, अथवा दो मनुष्य एक स्थानमें बैठकर कुछ आपसमें गुप्त विचार करते हों, इन सब बातोंको वह प्रभु उसी समय जानता है ॥ २ ॥

यह भूमि और यह बडा द्युलोक तथा इनके बीचके सब पदार्थ उसी प्रभुके हैं। ये बडे समुद्र उसकी कोखोंमें हैं, वह जैसा बडे समुद्रोंमें है वैसा ही पानीकी छोटीसी बूंदमें भी है ॥ ३ ॥

सर्वं तद्राजा वरुणो वि चष्टे यदन्तरा रोदसी यत्परस्तात् ।
संख्याता अस्य निमिषो जनानामक्षानिव श्वघ्नी नि मिनोति तानि ॥ ५ ॥

ये ते पाशा वरुण सप्तसप्त त्रेधा तिष्ठन्ति विषिता रुशन्तः ।
छिनन्तु सर्वे अनृतं वदन्तं यः सत्यवाद्यति तं सृजन्तु ॥ ६ ॥

शतेन पाशैरभि धेहि वरुणैनं मा ते मोच्यनृतवाङ् नृचक्षः ।
आस्तां जाल्म उदरं श्रंसयित्वा कोश इवाबन्धः परिकृत्यमानः ॥ ७ ॥

यः समाम्यो३ वरुणो यो व्याम्यो३ यः संदेश्यो३ वरुणो यो विदेश्यः ।
यो दैवो वरुणो यश्च मानुषः ॥ ८ ॥

अर्थ— (**राजा वरुणः तत् सर्वं वि चष्टे**) वरुणराजा उस सबको देखता है (**यत् रोदसी अन्तरा यत् परस्तात्**) जो भूमि और द्युलोकके बीचमें है और जो परे है। (**जनानां निमिषः अस्य संख्याताः**) मनुष्योंकी पलकोंके झपकोंको भी उसने गिना है। (**तानि नि मिनोति**) उनको वह नापता है (**इव श्वघ्नी अक्षान्**) जैसे जुआरी पासोंको नापता है ॥ ५ ॥

हे (**वरुण**) वरुणदेव ! (**सप्त सप्त त्रेधा विषिताः**) सात सात तीन प्रकारसे बंधे हुए (**ये ते रुशन्तः पाशाः तिष्ठन्ति**) जो तेरे विनाशक पाश हैं वे (**सर्वे अनृतं वदन्तं छिनन्तु**) सब असत्य बोलनेवालेको बांध दें अथवा छिन्नभिन्न करें। (**यः सत्यवादी तं अति सृजन्तु**) जो सत्यवादी है उसको छोड दें ॥ ६ ॥

हे (**वरुण**) ईश्वर ! (**शतेन पाशैः एनं अभि धेहि**) सौ फांसोंसे इसको बांध ले। हे (**नृचक्षसः**) मनुष्योंको देखनेवाले ! (**अनृतवाक् ते मा मोचि**) असत्य बोलनेवाला तेरेसे न छूट जावे। (**जाल्मः उदरं श्रंसयित्वा**) दुष्ट नीच अपने उदरको गिराकर, (**अबन्धः कोश इव**) न बंधे कोशके समान (**परिकृत्यमानः आस्तां**) कटा हुआ पडा रहे ॥ ७ ॥

(**वरुणः यः समाम्यः**) वरुण जो समान भाव रखनेवाला और (**यः व्याम्यः**) जो विषम भाव रखनेवाला है। (**वरुणः यः सं-देश्यः, यः वि-देश्यः**) वरुण जो समान देशमें रहनेवाला और जो विशेष देशमें रहनेवाला है, (**वरुणः यः दैवः यः च मानुषः**) वरुण जो देवोंके संबंधी और जो मनुष्य संबंधी है ॥ ८ ॥

भावार्थ— यदि कोई कुकर्म करके द्युलोकसे भी परे दूर कहीं भाग जावे तो भी वह इस प्रभुके शासनसे नहीं छूट सकता, क्योंकि इसके दिव्य गुप्त चर इस जगत्में संचार करते हैं और वे हजारों आंखोंसे इस भूमिका निरीक्षण करते हैं ॥ ४ ॥

जो कुछ इस भूमि और द्युलोकके मध्यमें है उस सबका निरीक्षण वह प्रभु स्वयं करता है। यहांतक कि मनुष्योंके पलकोंकी झपकोंको भी वह गिनता है, अर्थात् उसको अज्ञात ऐसा कुछ भी नहीं है ॥ ५ ॥

जो असत्य बोलते हैं उनको वह प्रभु अपने हिंसक पाशोंसे बांध देता है और जो सत्यवादी होते हैं उनको मुक्त करता है ॥ ६ ॥

हे प्रभो ! तू दुष्टको सैकडों पाशोंसे बांध देता है, असत्यवादी तेरे पाशोंसे नहीं छूट सकता। जो दुष्ट मनुष्य अपने पेटके लिये दूसरोंको सताता है, तू उसके पेटका नाश करता हुआ अन्तमें उसका भी नाश करता है ॥ ७ ॥

सबके साथ समान भाव रखनेवाला, सब देशमें समान रीतिसे रहनेवाला एक दिव्य वरुण देव अर्थात् परमेश्वर है इसी प्रकार विषम भाव रखनेवाला और छोटे छोटे स्थानोंमें रहनेवाला एक मानुष वरुण अर्थात् मनुष्योंमें रहनेवाला जीवात्मा भी है ॥ ८ ॥

तैस्त्वा सर्वैरभि ष्यामि पाशैरसावामुष्यायणामुष्याः पुत्र ।
तानु ते सर्वाननुसन्दिशामि ॥ ९ ॥

अर्थ— हे (अमुष्यायण) हे अमुक पिताके पुत्र ! हे (अमुष्याः पुत्र) अमुक माताके पुत्र ! (असौ) वह तू (त्वा) तुमको (तैः सर्वैः पाशैः अभि ष्यामि) उन सब पाशोंसे बांधता हूं। और (तान् सर्वान् उ ते अनु संदिशामि) उन सबको तेरे लिये प्रेरित करता हूं ॥ ९ ॥

भावार्थ— हे अमुक मातापिताके सुपुत्र ! तू उत्तम रीतिसे सत्य व्यवहार कर, अन्यथा उस प्रभुके पाशोंसे तू बांधा जायगा जिन पाशोंका वर्णन यहां किया जा चुका है ॥ ९ ॥

सर्वाधिष्ठाता प्रभु।

इस सूक्तमें सर्वसाक्षी, सर्वद्रष्टा, सर्वाधिष्ठाता प्रभुका वर्णन है। यह सूक्त इतना सुबोध, स्पष्ट और भावपूर्ण है कि जिसकी प्रशंसा हमारे शब्दोंसे होना असंभव है। प्रथम मंत्रमें कहा है कि- 'इस जगत्का एक बडा अधिष्ठाता है वह सब जनोंके व्यवहारोंको हरएकके पास रहनेके समान देखता है।' हरएक मनुष्य इस कथनका स्मरण रखे। वह प्रभु जो कार्य करता है उसका वर्णन इसी सूक्तके प्रथम मंत्रमें निम्नलिखित शब्दों द्वारा हुआ है—

(१) तायत् - (ताय्-संतानपालनयोः)— वह सबको फैलाता अर्थात् विस्तार करने अथवा पूर्ण बढनेका अवसर देता है, तथा सबका यथायोग्य पालन करता है। किसी प्रकार न्यूनता होने नहीं देता। यह उसकी सबके ऊपर बडी दया है। (मं. १)

(२) चरन्— वह सर्वत्र जाता है, सर्व स्थानोंमें उसकी प्राप्ति है, सबको वह चलाता है। वह सर्वव्यापक है। (मं. १)

(३) मन्यते- (मन्-ज्ञाने)— जानता है, वह सर्वज्ञ है। (मं. १)

(४) अन्तिकात् इव पश्यति— पास रहनेके समान सबके व्यवहार यथावत् देखता है। वह सर्वत्र व्यापक होनेसे वह सबका उत्तम प्रकारसे निरीक्षण करता है (मं. १)

(५) अधिष्ठाता— वह सबका मुख्य अधिष्ठाता, शासक और प्रभु है। उसके ऊपर कोई नहीं है। (मं. १)

उसकी सर्वज्ञता।

'वह सबके व्यवहार पास रहनेके समान पूर्ण रीतिसे देखता है' ऐसा जो प्रथम मंत्रमें कहा है, उसका ही स्पष्टीकरण द्वितीय मंत्र द्वारा हुआ है। 'कोई मनुष्य किसी स्थानपर ठहरा हो, चलता हो, दौडता हो, छिपकर कुछ करता हो अथवा खुले स्थानमें व्यवहार चलाता हो, दो मनुष्य अथवा अधिक मनुष्य बिलकुल एकान्तमें कुछ विचार करते हों तो यह सब उस प्रभुको यथावत् विदित हो जाता है, (मं. २) अर्थात् उससे छिपकर कोई मनुष्य कुछ भी कर नहीं सकता। यह उसकी सर्वज्ञताका उत्तम वर्णन है।

भूमि यहां अपने पास है और यौ बडी दूर है, तथापि इन सबपर उसी प्रभुका समान अधिकार है। इतने बडे विस्तारवाले विश्वपर उस अकेलेका ही स्वामित्व है। वह इतना बडा है कि ये सब समुद्र उसकी कोखमें हैं। यह इतना बडा होता हुआ भी इस छोटेसे जलके एक बूंदमें भी वह विराजमान है, प्रत्येक सूक्ष्मसे सूक्ष्म अणुरेणुमें वह पूर्णतया व्यापक हुआ है। (मं. ३) यह तृतीय मंत्रका कथन है।

प्रबल शासक।

उसका शासन ऐसा प्रबल है कि कोई मनुष्य उसके शासनाधिकारसे छूटनेके लिये कहीं भी भाग गया और द्युलोकसे भी परे चला गया, तो भी वह उससे दूर जा नहीं सकता, कहीं भी गया तो भी वह उसके शासनमें ही रहेगा। वह स्वयं सबका निरीक्षण करता है और उसके दूत भी ऐसे प्रबल हैं कि उनकी दृष्टि सबके ऊपर एकसी ही रहती है। (मं. ४)

जो कुछ इस द्युलोकके बीचमें है उस सबको वह प्रभु जानता ही है, यहां तक वह देखता, गिनता और नापता है कि आंखोंके पलकोंके लपक किसके कितने हुए हैं यह भी उसको ज्ञात है। जो इतनी बारीकीसे सब कुछ देखता है, उसको न समझते हुए क्या कोई मनुष्य कुछ भी कर सकता है? कभी नहीं। (मं. ५) इसलिये सब मनुष्योंको यह मानना चाहिये कि वह हमारा निरीक्षक है, अतः उसको अपने सम्मुख मानते हुए उत्तम कर्म करके अपना अभ्युदय और निःश्रेयसकी सिद्धी हरएकको प्राप्त करनी चाहिये।

उसके पाश ।

जगत्, शरीर, कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय, मन, चित्त, बुद्धि इन सात क्षेत्रोंमें उनके विविध पाश फैले हैं। प्रत्येक क्षेत्रके अनुकूल उसके पाश हैं और प्रत्येक क्षेत्रमें भी सत्व, रज, तम इन तीन भेदोंसे पाश भी भिन्न हैं। ये सब पाश 'असत्य भाषण करनेवालेको बांधते हैं और सत्यवादीको मुक्त करते हैं।' (...) सत्यनिष्ठाका यह महत्त्व पाठक जान लें और जहांतक हो सके वहांतक सत्य पालनमें दत्त-चित्त होकर अपने जन्मकी सार्थकता करें। सप्तम मंत्रका आशय भी ऐसा ही है।

अष्टम मंत्रमें 'दैवी वरुण और मानुष वरुण' का वर्णन है। इस वर्णनसे वैदिक वर्णनशैलीका पता लगता है इसलिये इसके विषयमें थोडासा विवरण करना चाहिये—

दो वरुण ।

दिव्य वरुण	मानुष वरुण
१ समाम्यः— सबके साथ समान भाव रखनेवाला,	१ व्याम्यः— विषम भावसे देखनेवाला,
२ संदेश्यः— समान देशमें रहनेवाला अर्थात् सब स्थानोंमें समानतया रहनेवाला,	२ विदेश्यः— जो स्थान विशेषमें रहनेवाला है,
३ दैवः— जो देवसंबंधी है,	३ मानुषः— जो मनुष्योंके संबंधमें है,
४ वरुणः— जो श्रेष्ठ ईश्वर है।	४ वरुणः— जो श्रेष्ठ जीवात्मा है।

परमेश्वर सबके साथ समान व्यवहार करनेवाला, सब स्थानोंमें समान रीतिसे व्यापनेवाला देव है, और जीवात्मा हरएकके साथ विषमवृत्तिसे व्यवहार करनेवाला तथा छोटे छोटे स्थानमें रहनेवाला है। दोनों अपनी अपनी कक्षामें वरुण ही हैं, परंतु एककी व्यापकता बडी है और दूसरेकी छोटी है। एक ही शब्दसे जीवात्मा परमात्माका वर्णन किस ढंगसे होता है यह बात यहां पाठक देखें। यह वेदकी वर्णन शैली है।

अन्तिम मंत्रमें मनुष्य मात्रके लिये संदेश दिया है कि इस प्रभुके उपासक बनो, उसके आदेशमें रहो और सत्यपालन द्वारा उसके अनुकूल चलो। जो लोग ऐसा न करेंगे वे उसके पाशसे बांधे जायगे। जो सत्यपालन करेंगे वे मुक्त हो जायगे।

अपामार्ग औषधि ।

[सूक्त १७]

(ऋषिः — शुक्रः। देवता— अपामार्गो वनस्पतिः।)

ईशा॑नां त्वा भेष॒जाना॒मुज्जे॑ष॒ आ र॑भामहे । च॒क्रे स॒हस्र॑वीर्यं॒ सर्व॑स्मा ओषधे त्वा ॥ १ ॥

अर्थ— हे ओषधे ! (भेषजां ईशानां त्वा उत् जेषे आ रभामहे) औषधियोंमें विशेष सामर्थ्यवाली तुझ औषधिको अधिक जयशाली बनानेके लिये यह प्रयोगका प्रारंभ करता हूं। (सर्वस्मै त्वा सहस्रवीर्यं चक्रे) सब रोगोंके निवारणके लिये तुझे हजारों वीर्योंसे युक्त करता हूं ॥ १ ॥

भावार्थ— औषधियोंमें विशेष सामर्थ्यवाली औषधियां हैं और अन्य औषधियां प्रयोग विशेषसे सामर्थ्यवाली बनाई जाती हैं ॥ १ ॥

सत्यजितं शपथयावनीं सहमानां पुनःसराम् । सर्वाः समह्व्योषधीरितो नः पारयादिति ॥२॥
या शशाप शपनेन याघं मूरमादधे । या रसस्य हरणाय जातमारेभे तोकमत्तु सा ॥३॥
यां ते चक्रुरामे पात्रे यां चक्रुर्नीललोहिते । आमे मांसे कृत्यां यां चक्रुस्तया कृत्याकृतो जहि ॥४॥
दौष्वप्न्यं दौर्जीवित्यं रक्षो अभ्वमराय्यः । दुर्णाम्नीः सर्वा दुर्वाचस्ता अस्मन्नाशयामसि ॥५॥
क्षुधामारं तृष्णामारमगोतामनपत्यताम् । अपामार्ग त्वया वयं सर्वं तदप मृज्महे ॥६॥
तृष्णामारं क्षुधामारमथो अक्षपराजयम् । अपामार्ग त्वया वयं सर्वं तदप मृज्महे ॥७॥

अर्थ— (**सत्यजितं**) निश्चयसे जीतनेवाली (**शपथ-यावनीं**) आक्रोशको दूर करनेवाली, (**सहमानां**) रोगका पराजय करनेवाली, (**पुनः सरां**) विशेष करके सारक अथवा विरेचक गुणसे युक्त, इसी प्रकारकी (**सर्वाः ओषधिः समह्वि**) सब औषधियोंको प्राप्त करता हूं । ये औषधियां (**इतः नः पारयात्**) इन रोगोंसे हमें पार करें ॥ २ ॥

(**या शपनेन शशाप**) जो आक्रोशसे दुष्ट शब्द बोलती है, (**या मूरं अघं आदधे**) जो मूढता लानेवाला पाप धारण करती है, (**या रसस्य हरणाय**) जो साररूप रसका हरण करनेके लिये (**जातं आरेभे**) नये जन्मे बालकको भी पकडती है, (**सा तोकं अत्तु-त्ति**) वह बीमारी संतानको खा जाती है ॥ ३ ॥

(**यां ते आमे पात्रे चक्रुः**) जिस हिंसक प्रयोगको तेरे लिये कच्चे मिट्टीके बर्तनमें बनाते हैं, (**यां नील-लोहिते**) जिसको नील और लाल होनेतक पकाये बर्तनमें करते हैं, तथा (**आमे मांसे**) कच्चे मांसमें (**यां कृत्यां चक्रुः**) जिस हिंसा प्रयोगको करते हैं (**तया कृत्याकृतः जहि**) उससे उन हिंसा करनेवालोंका ही नाश कर ॥ ४ ॥

(**दौष्वप्न्यं दौर्जीवित्यं**) बुरे स्वप्नोंके आने, दुःखदायी जीवन बनना, (**रक्षः अ-भ्वं अ-राय्यः**) रोगक्रिमियोंका निर्बलताकारक, निस्तेजताको बढानेवाला जो रोग है तथा (**दुः-नाम्नीः सर्वाः दुर्वाचः**) दुष्ट नामवाली बवासीर और उसके संबंधके सब बुरे रोग ये सब (**अस्मत् नाशयामसि**) हमसे नाश करें ॥ ५ ॥

(**क्षुधामारं तृष्णामारं**) क्षुधासे मरना, तृष्णासे मरना, (**अगो-तां अन्-अपत्यतां**) इंद्रिय अथवा वाणीका दोष, संतान न होना, अर्थात् नपुंसकता, हे (**अपामार्ग**) अपामार्ग औषधि ! (**त्वया तत् सर्वं वयं अप मृज्महे**) तेरी सहायताके साथ उक्त सब दोषोंको हम दूर करते हैं ॥ ६ ॥

(**तृष्णामारं क्षुधामारं**) तृष्णासे मरना, भूखसे मरना तथा (**अक्ष पराजयं**) इंद्रियका नाश होना, (**अपामार्ग**) हे अपामार्ग औषधि ! (**सर्वं तत् त्वया वयं अप मृज्महे**) सब वह दोष तेरी सहायतासे हम दूर करते हैं ॥ ७ ॥

भावार्थ— निश्चयसे रोग दूर करनेवाली, रोगीका आक्रोश दूर करनेवाली, रोगीकी सहनशक्ति बढानेवाली, रेचकगुणसे युक्त औषधियां होती हैं जिनकी सहायतासे हम रोगोंसे मुक्त होते हैं ॥ २ ॥

कई रोगोंसे रोगी चिल्लाता है, कईयोंमें मूर्छा आ जाती है, कईयोंमें रक्त क्षीण होता है, कई रोग तो नवजात लडकेको होते हैं और उसका भी नाश करते हैं ॥ ३ ॥

जो हिंसाप्रयोग कच्चे बर्तनमें, पक्के बर्तनमें और कच्चे गूदेमें बनाया जाता है । उन हिंसक प्रयोगोंसे वे ही हिंसक लोग नष्ट होते हैं ॥ ४ ॥

बुरे स्वप्नका आना, जीवनकी उदासीनता, निस्तेजता और क्षीणता, बवासीर, चिडचिडा स्वभाव ये सब इस औषधिसे दूर जाते हैं ॥ ५ ॥

बहुत भूख और बहुत प्यास लगना, इंद्रियोंके दोष, वंध्यापन आदि सब अपामार्ग औषधिके प्रयोगसे दूर होते हैं ॥ ६ ॥

भस्मरोग और प्यास लगानेवाला रोग, तथा इंद्रियोंकी कमजोरी अपामार्ग औषधिके प्रयोगसे दूर हो जाती है ॥ ७ ॥

अपामार्ग ओषधीनां सर्वासामेक इद्वशी । तेन ते मृज्म आस्थितमथ त्वमगदश्चर ॥८॥

[सूक्त १८]

समं ज्योतिः सूर्येणाह्ना रात्री समावती । कृणोमि सत्यमूतयेऽरसाः सन्तु कृत्वरीः ॥१॥
यो देवाः कृत्यां कृत्वा हरादविदुषो गृहम् । वत्सो धारुरिव मातरं तं प्रत्यगुप पद्यताम् ॥२॥
अमा कृत्वा पाप्मानं यस्तेनान्यं जिघांसति । अश्मानस्तस्यां दग्धायां बहुलाः फट् करिक्रति ॥३॥
सहस्रधामन्विशिखान्विग्रीवां छायया त्वम् । प्रति स्म चक्रुषे कृत्यां प्रियां प्रियावते हर ॥४॥
अनयाहमोषध्या सर्वाः कृत्या अदूदुषम् । यां क्षेत्रे चक्रुर्यां गोषु यां वा ते पुरुषेषु ॥५॥

अर्थ— हे अपामार्ग औषधि ! तू (**सर्वासां ओषधीनां एकः वशी इत्**) सब औषधियोंको वशमें रखनेवाली एक ही औषधि निश्चयसे है। (**तेन ते आस्थितं**) उससे तेरे शरीरमें स्थित रोगको हम (**मृज्मः**) दूर करते हैं। हे रोगी ! (**अथ त्वं अगदः चर**) अब तू नीरोग होकर चल ॥ ८ ॥

(**सूर्येण समं ज्योतिः**) सूर्यके समान ज्योति है, और (**अह्ना समावती रात्री**) दिनके समान रात्री है। सब (**कृत्वरीः अरसाः सन्तु**) विनाशक बातें रसहीन हो जांय। (**सत्यं ऊतये कृणोमि**) सत्यको मैं रक्षाके लिये करता हूं ॥ १ ॥

हे (**देवाः**) देवो ! (**यः कृत्यां कृत्वा अ-विदुषः गृहं हरात्**) हिंसक प्रयोग करके अज्ञानीके घरका हरण करे, (**धारुः वत्सः मातरं इव**) दूध पीनेवाला बालक अपनी माताके पास जानेके समान, वह हिंसक विधि (**तं प्रत्यक् उपपद्यतां**) उसके प्रति लौटकर आवे ॥ २ ॥

(**यः पाप्मानं कृत्वा**) जो पाप करके (**तेन अमा अन्यं जिघांसति**) उससे साथ दूसरेको मारना चाहे, (**तस्यां दग्धायां**) उसके जल जानेपर (**बहुलाः अश्मानः फट् करिक्रति**) बहुत पत्थर फट शब्द करेंगे अर्थात् नाश करेंगे ॥ ३ ॥

हे (**सहस्र-धामन्**) सहस्र धामवाले ! (**त्वं विशिखान् विग्रीवान् छायय**) तू शिखारहित और ग्रीवारहित करनेवालोंको सुला दे। (**प्रियां कृत्यां चक्रुषे प्रियावते**) प्रिय कृत्य करनेवालेको प्रियके पास (**प्रति हर स्म**) पहुंचा ॥ ४ ॥

(**अनया ओषध्या सर्वाः कृत्याः अदूदुषम्**) इस औषधिसे सब दुष्ट कर्मोंका नाश करता हूं। (**यां क्षेत्रे चक्रुः**) जो खेतमें किया हो, (**यां गोषु**) जो गौओंमें और (**या वा ते पुरुषेषु**) जो तेरे पुरुषोंमें किया है ॥ ५ ॥

भावार्थ— अपामार्ग औषधि सब औषधियोंको, मानो वशमें रखनेवाला औषध है। शरीरके सब रोग उससे दूर होते हैं और मनुष्य उसके सेवनसे नीरोग होकर विचरता है ॥ ८ ॥

सब विनाशक प्रयत्न असफल हो जांय। सत्यहीसे सबकी उत्तम रक्षा हो सकती है, देखो। सूर्यकी सत्य ज्योति आकाशमें चमक रही है, जिससे दिनका प्रकाश फैलाता है। इसी प्रकार सत्यसे उन्नति होगी ॥ १ ॥

जो घातपातके प्रयोग करके दूसरोंके घरबारका नाश करते हैं, वे प्रयत्न वापस आकर उन घातक लोगोंका ही नाश करें ॥ २ ॥

जो स्वयं पापकर्म करके उससे दूसरेका भी साथ साथ नाश करना चाहता है, उस प्रयत्नसे उसी पापीका स्वयं नाश होगा, जैसा तपे हुए पत्थर स्वयं फट जाते हैं ॥ ३ ॥

जो दूसरोंका गला काटने और शिखादि काटनेवाले घातक होते हैं उनका नाश कर और प्रिय कार्य करनेवालेको उसके प्रेमीके पास सुरक्षित पहुंचाओ ॥ ४ ॥

इस औषधीसे सब नाशक दुष्ट रोगादि दूर हो जाते हैं। खेतोंमें, गौ आदि पशुओंमें और मनुष्योंमें होनेवाले सब दोष इससे दूर होते हैं ॥ ५ ॥

यश्चकार न शशाक कर्तुं शश्रे पादमङ्गुरिम्। चकार भद्रमस्मभ्यमात्मने तपनं तु सः ॥ ६ ॥
अपामार्गोऽप माष्टुं क्षेत्रियं शपथश्च यः। अपाह यातुधानीरप सर्वा अराय्यः ॥ ७ ॥
अपमृज्य यातुधानानप सर्वा अराय्यः। अपामार्ग त्वया वयं सर्वं तदप मृज्महे ॥ ८ ॥

[सूक्त १९]

उतो अस्यबन्धुकृदुतो असि नु जामिकृत्। उतो कृत्याकृतः प्रजां नडमिवा छिन्धि वार्षिकम् ॥१॥
ब्राह्मणेन पर्युक्तासि कण्वेन नार्षदेन।
सेनेवैषि त्विषीमती न तत्र भयमस्ति यत्र प्राप्नोष्योषधे ॥२॥

अर्थ— (यः चकार) जो करता था परन्तु (कर्तुं न शशाक) पूर्ण काटनेके लिये समर्थ न हुआ, परन्तु (पादं अंगुरिं शश्रे) पांव, अंगुलि आदि तोड दी है, (अस्मभ्यं भद्रं चकार) हमारे लिये उसने कल्याण किया परंतु (सः आत्मने तपनं) उसने अपने लिये पीडा प्राप्त की है ॥ ६ ॥

(अपामार्गः क्षेत्रियं, यः शपथः च अपमाष्टुं) अपामार्ग औषधि क्षेत्रिय रोगको और जो दुर्वचनका स्वभाव है उसको दूर करे। (अहं सर्वाः यातुधानीः अराय्यः अप) और सब पीडा करनेवाली निस्तेजताको दूर करे ॥ ७ ॥

(यातुधानान् अपमृज्य) यातना देनेवालोंको दूर करके तथा (सर्वाः अराय्यः अप) सब निस्तेजताओंको दूर करके हे (अपामार्ग) अपामार्ग औषधि ! (त्वया वयं तत् सर्वं अप मृज्महे) तेरे योगसे हम वह सब कष्ट दूर करते हैं ॥ ८ ॥

(उतो अबन्धुकृत् असि) यदि तू शत्रु बनानेवाला है वा (उतो नु जामिकृत् असि) बंधु बनानेवाला है, तू (उतो कृत्याकृतः प्रजां) हिंसा कर्म करनेवालोंकी संतानोंको (वार्षिकं नडं इव आछिंधि) वर्षामें उत्पन्न होनेवाले घासके समान दूर कर ॥ १ ॥

(नार-सदेन कण्वेन ब्राह्मणेन) नरोंकी परिषदोंमें बैठनेवाले विद्वान् ब्राह्मणने (परि उक्ता असि) तेरा वर्णन किया है। हे (ओषधे) औषधि ! तू (त्विषीमती सेना इव एषि) तेजस्वी सेनाके समान रोगरूप शत्रुपर हमला करती है, (यत्र प्राप्नोषि) जहां तू प्राप्त होती है (तत्र भयं न अस्ति) वहां भय नहीं रहता है ॥ २ ॥

भावार्थ— जो दूसरोंका सर्वस्व नाश करना चाहता है, परंतु कर नहीं सकता, इसलिये कुछ अवयवका ही नाश करता है, या अल्पसी हानी करता है, उसने तो अपनी ही हानी की है। हमारा तो कल्याण ही उससे हुआ है ॥ ६ ॥

अपामार्ग औषधिसे मातापितासे प्राप्त हुए क्षेत्रियरोग, चिल्लचिल्लापन; जिसमें रोगी चिल्लाता है वे रोग, यातना जिसमें बहुत होती है, तेजहीन शरीर होता है, वे सब दोष दूर होते हैं ॥ ७ ॥

यातना बढानेवाले और तेज घटानेवाले दोष अपामार्ग औषधिके प्रयोगसे हम दूर करते हैं ॥ ८ ॥

तू स्वयं शत्रु बनानेवाला हो वा मित्र बढानेवाला हो, परन्तु अपने समाजसे घातक कर्म करनेवालोंको सपरिवार दूर कर ॥ १ ॥

बडी परिषदोंमें बैठनेवाले विद्वान् पण्डितोंका मत है कि यह औषधी रोगोंका पूर्ण नाश करती है, और जहां जाती है वहां रोगका भय शेष नहीं रहता ॥ २ ॥

अग्रमेष्योषधीनां ज्योतिषेवाभिदीपयन् । उत त्रातासि पाकस्याथो हन्तासि रक्षसः ॥३॥
यददो देवा असुरांस्त्वयाग्रे निरकुर्वन् । ततस्त्वध्योषधेऽपामार्गो अजायथाः ॥४॥
विभिन्दती शतशाखा विभिन्दन्नाम ते पिता । प्रत्यग्वि भिन्धि त्वं तं यो अस्माँ अभिदासति ॥५॥
असद्भूम्याः समभवत्तद्यामेति महद्व्यचः । तद्वै ततो विधूपायत्प्रत्यक्कर्तारमृच्छतु ॥६॥
प्रत्यङ् हि संबभूविथ प्रतीचीनफलस्त्वम् । सर्वान्मच्छपथाँ अधि वरीयो यावया वधम् ॥७॥
शतेन मा परि पाहि सहस्रेणाभि रक्ष मा । इन्द्रस्ते वीरुधां पत उग्र ओज्मानमा दधत् ॥८॥

अर्थ— (**ज्योतिषा इव अभिदीपयन्**) तेजसे प्रकाशित करती हुई (**ओषधीनां अग्रं एषि**) ओषधियोंके आगे आगे तू जाती है। (**उत पाकस्य त्राता असि**) और परिपक्कका रक्षक और (**रक्षसः हन्ता असि**) रोगबीजोंकी नाशक तू है ॥ ३ ॥

(**अदः यत् अग्रे त्वया देवाः**) वह जो पहिले तेरे साथ रहनेसे देवोंने (**असुरान् निरकुर्वन्**) असुरोंको हटाया था, हे (**ओषधे**) ओषधि ! (**ततः त्वं अपामार्गः अजायथाः**) उससे तू अपामार्ग नामक ओषधि रूपमें प्रकट हुई है ॥ ४ ॥

तू (**शतशाखा विभिन्दती**) सेकडों शाखावाली होकर रोगोंका भेदन करती है । (**विभिन्दन् नाम ते पिता**) विभेदन करनेवाला तेरा पिता है । (**यः अस्मान् अभिदासति**) जो हमारा नाश करता है (**त्वं तं प्रत्यक् विभिन्धि**) तू उसे इसप्रकारसे नष्ट कर ॥ ५ ॥

(**असत् भूम्याः समभवत्**) असत्स्वरूप दुष्टता भूमिसे उत्पन्न हुई तो भी वह (**तत् महत् व्यचः द्यां एति**) वह बडा विस्तृत होकर आकाशतक फैलता है । (**ततः तत् वै कर्तारं विधूपायत्**) वहांसे वह निश्चयपूर्वक कर्ताको ही सताता करता हुआ (**प्रत्यक् ऋच्छतु**) उसीको वापस पहुंचता है ॥ ६ ॥

(**त्वं हि प्रत्यक् प्रतीचीनफलः संबभूविथ**) तू ही प्रत्यक्ष उलटे फल करनेवाला उत्पन्न हुआ है, इसलिये (**मत् सर्वान् शपथान्**) मुझसे सब बुरे वचनोंको और (**वरियः वधं अधि यावय**) ऊपर उठनेवाले शस्त्रको दूर कर ॥ ७ ॥

(**शतेन मा परि पाहि**) सौ उपायोंसे मेरी रक्षा कर और (**सहस्रेण मा अभि रक्ष**) हजारों यत्नोंसे मेरा संरक्षण कर । हे (**वीरुधां पते**) औषधियोंके स्वामी ! (**उग्रः इन्द्रः ते ओज्मानं आ दधात्**) उग्र वीर इन्द्र तेरे अन्दर पराक्रमकी शक्ति धारण करे ॥ ८ ॥

भावार्थ— यह तेजस्वी औषधी वनस्पतियोंमें मुख्य है, यह शुभ गुणोंकी रक्षक और रोगबीजोंकी नाशक है ॥ ३ ॥

जिस बलसे देवोंने असुरोंको हटाया था, उस बलको लेकर यह अपामार्ग औषधि उत्पन्न हुई है ॥ ४ ॥

यह औषधि अनेक प्रकारसे रोगोंको दूर करती है तथा इस औषधिको जो अपने पास रखता है वह भी रोगोंको दूर कर सकता है । इसलिये जो रोग हमारा नाश करते हैं उनको इस औषधिसे दूर किया जावे ॥ ५ ॥

भूमिपर थोडा भी असत्य उत्पन्न हुआ तथापि वह शीघ्र ही सर्वत्र फैलता है और वापस आकर कर्ताका भी नाश करता है ॥ ६ ॥

इस औषधिमें दोषोंको उलटा करनेका गुण है इसलिये दुर्भाषण और जो भी विनाशक दोष हों उनको इससे दूर किया जावे ॥ ७ ॥

सौ और हजारों रीतियोंसे यह वनस्पति रक्षा करती है क्योंकि इसमें इन्द्रका तेज भरा है ॥ ८ ॥

अपामार्ग औषधि।

हिंदी भाषामें ' लटजीरा, चिरचिरा ' ये नाम जिसके हैं उसको संस्कृतमें ' अपामार्ग ' औषधि कहते हैं। इसके तीन भेद हैं, श्वेत, कृष्ण और लाल ये अपामार्गके तीन भेद हैं। ये तीनोंके गुण समान ही हैं जिनका उल्लेख वैद्यक ग्रंथोंमें इस प्रकार किया है—

तिक्तोष्णः कटुः कफघ्नः अर्शःकण्डूदरामघ्नो रक्तघ्नः ग्राही वान्तिकृत्। (राजनि. व. ४)
(सन्निपातज्वरचिकित्सायां) पृश्निपर्णी त्वपामार्गः। चक्रपाणिद्रव्यगुणः।

दीपनः तिक्तः कटुः पाचको रोचनः छर्दिकफमेदोवातघ्नः हृद्रोगाध्मानार्शः कण्ड्वादिकं हन्ति। (भावप्र. पू. भा. १)

सत्पत्रं रक्तपित्तघ्नं। (मद. व. १)

श्वेतश्चापामार्गकस्तु तिक्तोष्णो ग्राहकः सरः। किञ्चित्कटुः कान्तिकरः पाचकोऽग्निदीपकः। नस्ये वान्तौ प्रशस्तः स्यात्कफकण्डूदरापहः। दुर्नामानं रक्तरुजं मेदोरुजुदरे तथा। वातसिध्मापचीवृद्धिवान्त्यामानां विनाशकः। रक्तापामार्गकः किञ्चित्कटुकः शीतलः स्मृतः मन्यावष्टम्भवमिकृद्वातविष्टम्भकारकः। रूक्षो व्रणं विषं वातं कफं कण्डूं च नाशयेत्। बीजमस्य रसे पाके दुर्जरं स्वादु शीतलं। मलावष्टंभकं रूक्षं वान्तिकृत्कफपित्तजित्। शोयापामार्गकश्चोक्तः कटुः शोथकफावहः। कासं वातञ्च शोषं च नाशयेदिति च स्मृतः।
(वै. निघं.)

अपामार्ग वनस्पतिका यह वर्णन वैद्यक ग्रंथोंमें है। इसका तात्पर्य यह है— ' अपामार्ग वनस्पति तिक्त, उष्ण, कटु, कफनाशक; बवासीर, खुजली, आम और रक्तके रोगोंका नाश करनेवाली है, वान्ति करनेवाली है। सन्निपात ज्वरकी चिकित्सामें पृश्निपर्णी और अपामार्ग इनका उत्तम उपयोग होता है। यह पाचक, दीपक अर्थात् भूख लगानेवाली, वमन, कफ, मेद, वात, हृद्रोग, आध्मान, बवासीर आदिका नाश करती है। अपामार्ग तिक्त, उष्ण ग्राहक और सारक है। शरीरकी कान्ति बढानेवाला, पाचक और अग्नि प्रदीप्त करनेवाला है। नस्य और वान्तिमें यह प्रशस्त है। बवासीर रक्तदोष, मेद, उदर आदिका नाशक है। व्रण, विष, वात, कफ, खुजली, आदिको दूर करता है। '

यह अपामार्गका वैद्यक ग्रंथोंका वर्णन देखकर हम इन सूक्तोंमें कहे वर्णनका विचार करेंगे। सूक्त १७-१९ इन तीनों सूक्तोंमें इसी ' अपामार्ग ' वनस्पतिका वर्णन है, इन तीनों सूक्तोंका भी एक ही ' शुक्र ' ऋषि है।

क्षुधा और तृष्णा मारक।

सू. १७, मं. ६-७ में ' क्षुधासे मरनेका रोग ' अर्थात् जिसमें भूख अधिक लगती है, जितना खाया जाय उतना भस्म हो जाता है इस कारण जिसको भस्मरोग कहते हैं, तथा ' तृषाका रोग ' जिसमें प्यास बहुत लगती है, इन रोगोंको अपामार्ग औषधि दूर करती है ऐसा कहा है। यही बात ऊपर लिखे वचनमें कही है—

बीजमस्य रसे पाके दुर्जरं स्वादु शीतलम्।

' अपामार्गका बीज पचनके लिये कठिन है, स्वादु और शीतल है। ' पचन कठिनतासे होता है इसलिये यह भस्मरोगके लिये अच्छा है और शीतल होनेसे तृष्णारोगको शमन करता है। इस प्रकार वैद्यशास्त्रका वर्णन मंत्रोक्त वर्णनके साथ पढनेसे मंत्रका आशय स्वयं स्पष्ट हो जाता है।

बवासीर।

सू. १७, मं. ५ में ' दुर्णाम्नीः ' शब्द आगया है। वैद्यक ग्रंथमें ' दुर्नामा ' शब्द आगया है। यह बवासीरका वाचक है। वेदमें जहां औषधि प्रकरणमें ' दुर्नामन् ' शब्द आता है वहां प्रायः बवासीरका संबंध रहता है। कई लोग ' दुष्ट वाणी, आदि भिन्न अर्थ करते हैं। परंतु वह ठीक नहीं है। वेदमें यह ' दुर्नामन् ' नाम बवासीरके लिये आया है। ' दुर्नाम, दुर्णाम, दुर्णाम्नी ' ये शब्द बवासीरके विविध भेदोंके ही वाचक हैं।

दुष्ट स्वप्न।

दुष्ट स्वप्न आना यह पित्तके कारण, पेटके दोषके कारण अथवा आमदोषके कारण होता है। वैद्यक ग्रंथोंमें इस अपामार्गको पित्तशामक, पाचक, अग्निप्रदीपक, दीपक, रुचिवर्धक कहा है। सूक्त १७ के पंचम मंत्रके पूर्वार्धमें जो रोग कहे हैं उनका इन्हीसे संबंध है, जैसा देखिये—

१ दौष्वप्न्यं— दुष्ट स्वप्न आना, निद्रा ठीक न आना,
२ दौर्जीवित्यं— जीवितके विषयमें उदासीनता मनमें उत्पन्न होना,

३ रक्षः— विविध प्रकारके कृमिदोष होना,

४ अ-स्वं— शरीरकी वृद्धि न होना, परंतु शरीरकी कृशता बढना, क्षीणता उत्पन्न करनेवाले रोग,

५ अ-राय्यः— राय् अर्थात तेज, शोभा, कान्ति जो स्वस्थ शरीर पर होती है, वह न होना, फीका रंग होना।

ये पञ्चम मंत्रके रोगवाचक शब्द वैद्यक ग्रंथोंके पूर्वोक्त वर्णनके साथ पढनेसे इनका आशय खुल जाता है। ये सब अपचनके रोग हैं और श्वेत अपामार्ग अग्नि प्रदीप्त करनेवाला होनेके कारण इन रोगोंका नाशक निश्चयसे हो सकता है।

सारक।

सूक्त १७ के द्वितीय मंत्रमें ' सरा ' पद है, और उक्त वैद्यक ग्रंथमें ' सरः ' पद है। दोनोंका आशय ' सारक, रेचक ' अर्थात् शौच शुद्धि करनेवाला है। शौच शुद्धि होनेसे भूख बढना, अग्निदीपन होना स्वाभाविक है। आगे तृतीय मंत्रमें ' रसस्य हरणं ' पद है। रसका हरण होनेसे ही शोष होता है और प्यास बढती है। ' तृष्णामार ' रोग इसी कारण होता है। इस रोगकी यह दवा है। शरीरके रसका हरण जिस रोगमें होता है उस रोगका शमन इस अपामार्ग औषधिसे होता है। इस सूक्तके द्वितीय और तृतीय मंत्रमें ' शपथ ' शब्द बार बार आगया है। शपथका अर्थ है दुर्भाषण, जिस समय मनुष्यका स्वभाव चिडचिडा होता है उस समय मनुष्यकी प्रवृत्ति दुर्भाषण करनेकी ओर हो जाती है। चिडचिडा स्वभाव पेटके कारण होता है। यह दोष इस अपामार्ग औषधिके सेवनसे दूर हो जाता है। क्योंकि इससे अपचन दोष दूर होता है, पेट ठीक होता है और पेटके ठीक होनेसे चिडचिडा स्वभाव दूर होता है और दुर्भाषण करनेकी प्रवृत्ति भी हट जाती है।

१७ वें सूक्तका शेष वर्णन अपामार्गकी प्रशंसा परक है; इसलिये उसके विषयमें अधिक लिखना आवश्यक नहीं है।

सूक्त १८ वेंमें मं. २ से ६ तक कुछ ऐसे घातक कृत्यका वर्णन है जो दूसरेके घातके लिये दुष्ट मनुष्य किया करते हैं। क्षेत्रमें, गौओंके नाशके लिये और मनुष्योंके नाशके लिये करते हैं। इस प्रांतमें हमने देखा है कि अन्त्यजोंमेंसे एक जाती जो मृत गौका मांस खाती है, वह प्रायः ऐसे प्रयोग करती है। खेतोंमें जहां गौवें घास खानेके लिये जाती हैं, वहांके घासमें कुछ विष रखा जाता है। घास खानेसे वह विष गौआदि पशुओंके पेटमें जाता है और वह पशु घण्टा आध घंटामें मर जाता है। पशु मरनेके पश्चात् वे ही अन्त्यज लोग उसको ले जाते हैं और खाते हैं। खेतमें गौओंके संबंधमें ये लोग घातक प्रयोग किया करते हैं और बडे प्रयत्न करनेपर भी इनसे गौओंका बचाव करनेका उपाय अभीतक प्राप्त नहीं हुआ है।

इस उपायके विषयमें सू. १८ के सप्तम मंत्रमें वेदने कहा है कि अपामार्ग औषधिके उपयोगसे पूर्वोक्त विष दूर होता है और पशु बच सकता है। वैद्यक ग्रंथमें वचनमें अपामार्गका गुण विषनाशक लिखा है। इस गुणके कारण ही पूर्वोक्त घातक प्रयोगमें इस औषधिसे लाभ होता है। इस सूक्तके अन्य अपचादिके विषयमें पूर्व सूक्तके प्रसंगमें लिखा जा चुका है, वही यहां समझना चाहिये।

यहां इस सूक्तमें एक दो बातें सामान्य उपदेशके विषयमें बडी महत्वकी कही हैं जो हरएक पाठकको अवश्य ध्यानमें धारण करनी चाहिये।

सत्यसे रक्षा।

ऊतये सत्यं कृणोमि। (सू. १८, मं. १)

' रक्षाके लिये सत्यको किया है ' अर्थात् यदि रक्षा करनेकी इच्छा है तो सत्य पालन करना चाहिये। सत्यसे ही सबकी रक्षा होना सम्भव है। दूसरेका घातपात करनेवाले इस बातका स्मरण रखें कि, इस घातक कृत्योंसे उनकी उन्नति कभी नहीं हो सकती। सत्य पालन यह एक मात्र उपाय है जिससे उनकी उन्नति और रक्षा हो सकती है। सत्य प्रत्यक्ष सूर्यके समान है, प्रकाशपूर्ण होनेसे दिन भी सत्यरूप ही है, इससे जिस प्रकार अन्धकारका नाश होता है उसी प्रकार सत्यसे असत्यको दूर किया जाता है।

दूसरेके घातके यत्नसे अपना नाश।

द्वितीय मन्त्रमें यह बात अधिक स्पष्ट कर दी है कि ' जो इस प्रकारके दुष्ट कृत्य करके दूसरोंको कष्ट देना चाहते हैं उनका ही नाश अन्तमें हो जाता है। जिस प्रकार बालक माताके पास जाता है उसी प्रकार उनका यह घातक कर्म उनके ही पास जाता है। ' (सू. १८।२) यह बोध स्मरण रखने योग्य है। षष्ठ मन्त्रमें यही बात दुहराई है ' दुष्ट मनुष्यने जिनका बुरा करनेका यत्न किया उनका तो कल्याण हुआ, परन्तु उसी घातकको कष्ट हुआ। ' (सू. १८।६) ऐसा ही हुआ करता है। इसलिये घातपातके भाव अच्छे नहीं हैं, क्योंकि अन्तमें उनसे उन दुष्टोंका ही नाश हो जाता है। इस प्रकार १८ वें सूक्तका विचार हुआ। अब १९ वें सूक्तका विचार करते हैं—

असत्यसे नाश ।

असद्भूम्याः समभवत्तद्यामेति महद्व्यचः ।
तद्वै ततो विधूपायत्प्रत्यक्कर्तारमृच्छतु ॥
(सू. १९, मं. ६)

इस सूक्तमें छठे मंत्रमें असत्यसे कर्ताका ही कैसा नाश होता है यह बात विस्तारपूर्वक कही है । पृथ्वीपर थोडा भी असत्य किया तो वह चारों ओर फैलता है, और वह कर्ताको कष्ट देता हुआ उसीका नाश करता है । (मं. ६) इसलिये कभी असन्मार्गसे जाना नहीं चाहिये । जगत्में सुख और शान्ति फैलानेका यह एक ही मार्ग है कि प्रत्येक मनुष्यको सिखाया जावे कि वह कभी असत्यमें प्रवृत्त न हो और सत्यपालनमें ही दत्तचित्त हो जावे ।

द्वितीयमंत्रमें अपामार्गका वर्णन करते हुए कहा है कि 'जहां यह औषधि पहुंचेगी वहां कोई भय नहीं रहेगा ' इतना इस अपामार्ग औषधिका महत्त्व है । तृतीय और चतुर्थ मंत्रमें भी इसी औषधिकी प्रशंसा कही है । और शेष मंत्रोंमें काव्यमय वर्णन द्वारा इसी अपामार्ग वनस्पतिका गुणवर्णन किया है ।

वैद्योंको इन तीनों सूक्तोंका अधिक विचार करना चाहिये, क्योंकि यह उनका ही विषय है ।

दिव्य दृष्टि ।

[सूक्त २०]

(ऋषिः — मातृनामा । देवता – मातृनामा ।)

आ प॑श्यति॒ प्रति॑ पश्यति॒ परा॑ पश्यति॒ पश्य॑ति । दिव॑म॒न्तरि॑क्ष॒माद्भूमिं॒ सर्वं॒ तद्दे॑वि पश्यति ॥१॥
ति॒स्रो दिव॑स्ति॒स्रः पृ॑थि॒वीः षट् चे॒माः प्र॒दिश॒ः पृथ॑क् । त्वया॒हं सर्वा॑ भू॒तानि॒ पश्या॑नि देव्योषधे ॥२॥
दि॒व्यस्य॑ सु॒प॒र्णस्य॒ तस्य॑ हासि क॒नीनि॑का । सा भूमि॒मा रु॑रोहिथ व॒ह्यं श्रा॒न्ता व॒धूरि॑व ॥३॥

अर्थ— हे (देवि) दिव्य दृष्टिदेवी ! तू (तत् आ पश्यसि) वह सब प्रत्यक्ष देखती है, (प्रति पश्यति) प्रत्येक पदार्थको देखती है, (परा पश्यति) दूरसे देखती है, (पश्यति) और देखती है (दिवं अन्तरिक्षं आत् भूमिं) द्युलोक, अन्तरिक्षलोक और भूमिको अर्थात् (सर्वं पश्यति) यह सब देखती है ॥ १ ॥

हे देवि ओषधे ! (तिस्रः दिवः तिस्रः पृथिवीः) तीनों द्युलोक और तीनों पृथिवीलोक (इमाः च पृथक् षट् प्रदिशः) और ये पृथक् छः प्रदिशाएं और (सर्वा भूतानि) सब भूत इन सबको (अहं त्वया पश्यामि) मैं तेरे सामर्थ्यसे देखता हूं ॥ २ ॥

(तस्य दिव्यस्य सुपर्णस्य) उस दिव्य सूर्यकी (कनीनिका ह असि) छोटी प्रतिमा तू है । (सा) वह तू (भूमिं आरोहिथ) भूमिपर आगई है (श्रान्ता वधूः वह्यं इव) थकी हुई वधू जिस प्रकार रथपर बैठती है ॥ ३ ॥

भावार्थ— हे दिव्य दृष्टि ! तेरी कृपासे ही सब ओर देखा जाता है, और त्रिलोकीके अंतर्गतके सब पदार्थोंका ज्ञान प्राप्त किया जाता है ॥ १ ॥

इस औषधिके प्रयोगसे दृष्टि उत्तम होती है और जिससे त्रिलोक, सब दिशाएं और सब भूत आदिका ज्ञान प्राप्त किया जाता है ॥ २ ॥

सूर्यकी ही छोटीसी प्रतिमा यहां हमारा आंख है । जिस प्रकार कुलवधू थककर रथमें बैठ जाती है, उस प्रकार यह नेत्ररूपी कुलवधू थककर इस शरीररूपी रथमें आकर बैठ गई है ॥ ३ ॥

तां मे सहस्राक्षो देवो दक्षिणे हस्त आ दधत्। तयाहं सर्वं पश्यामि यश्च शूद्र उतार्यः ॥४॥
आविष्कृणुष्व रूपाणि मात्मानमप गूहथाः। अथो सहस्रचक्षो त्वं प्रति पश्याः किमीदिनः ॥५॥
दर्शय मा यातुधानान्दर्शय यातुधान्यः। पिशाचान्त्सर्वान्दर्शयेति त्वा रभ ओषधे ॥६॥
कश्यपस्य चक्षुरसि शुन्याश्च चतुरक्ष्याः। वीध्रे सूर्यमिव सर्पन्तं मा पिशाचं तिरस्करः ॥७॥
उदग्रभं परिपाणाद्यातुधानं किमीदिनम्। तेनाहं सर्वं पश्याम्युत शूद्रमुतार्यम् ॥८॥
यो अन्तरिक्षेण पतति दिवं यश्चातिसर्पति। भूमिं यो मन्यते नाथं तं पिशाचं प्र दर्शय ॥९॥

॥ इति चतुर्थोऽनुवाकः ॥

अर्थ— (सहस्राक्षः देवः तां मे दक्षिणे हस्ते आ दधत्) सहस्र नेत्रवाले सूर्यदेवने उस दृष्टिको मेरे दक्षिण हाथमें रखा है। (तया अहं सर्वं पश्यामि) उससे मैं सब देखता हूं (यः च शूद्रः उत आर्यः) जो शूद्र है और जो आर्य है ॥ ४ ॥

(रूपाणि आविष्कृणुष्व) रूपोंको प्रकटकर (आत्मानं मा अप गूहथाः) अपनेको मत छिपा रख। (अथो) और हे (सहस्र-चक्षो) हजार नेत्रवाले देव ! (त्वं किमीदिनः प्रति पश्याः) तू अब क्या मांगूं ऐसा कहनेवालोंको देख ॥ ५ ॥

(मा यातुधानान् दर्शय) मुझको यातना देनेवालोंको दिखा। (यातुधान्यः दर्शय) पीडक वृत्तियोंको दिखा। हे ओषधे ! तू (सर्वान् पिशाचान् दर्शय) सब रक्त पीनेवालोंको दिखा, (इति त्वा आ रभे) इसलिये तेरी सहायता लेता हूं ॥ ६ ॥

(कश्यपस्य चक्षुः असि) तू द्रष्टाकी आंख है, (चतुरक्ष्याः शुन्याः च) चार आंखवाली शुनीकी भी तू आंख है (वीध्रे सर्पन्तं सूर्यं इव) आकाशमें चलनेवाले सूर्यके समान (पिशाचं मा तिरस्करः) रुधिर पीनेवालेको मत छिपने दे ॥ ७ ॥

(किमीदिनं यातुधानं) आज क्या मांग करूं ऐसा कहनेवाले यातना देनेवाले दुष्टको (परि-पाणात् उदग्रभं) रक्षासे मैंने पकडा है। (तेन) उससे (अहं सर्वं पश्यामि) मैं सब देखता हूं (उत शूद्रं उत आर्यं) कौन शूद्र है और कौन आर्य है ॥ ८ ॥

(यः अन्तरिक्षेण पतति) जो अन्तरिक्षसे चलता है (यः च दिवं अतिसर्पति) और जो द्युलोकको भी लांघता है (तं पिशाचं प्रदर्शय) उस रुधिरमें भी जानेवालेको दिखा दे ॥ ९ ॥

भावार्थ— सूर्य देवने यह दर्शनशक्ति मुझे दी है जिससे मैं सब देखता हूं और यह भी जानता हूं कि कौन श्रेष्ठ है और कौन दुष्ट है ॥ ४ ॥

दिव्य दृष्टिसे सब रूपोंका प्रकाश हो जावे, कोई इससे छिपकर न रहे, कौन दुष्ट अपने स्वार्थ भोगके लिये दूसरोंको कष्ट देता है यह भी इससे ज्ञात होवे ॥ ५ ॥

कौन कष्ट देनेवाले हैं, उनकी सहायकाएं कौन हैं, दूसरोंका रक्त चूसनेवाले कौन हैं, यह सब इसे ज्ञात हो जावे ॥ ६ ॥

सच्चा द्रष्टा आत्मा है, वह आंखसे देखता है वही चार विभागोंमें कार्य करनेवाली बुद्धिका भी आंख है ॥ ७ ॥

मैंने अपना रक्षाका प्रबंध ऐसा किया है कि कौन स्वार्थी भोगतृष्णाके लिये दूसरोंको कष्ट देते हैं इसका पता लग जावे। इससे मैं श्रेष्ठ और दुष्टको यथावत जानता हूं ॥ ८ ॥

अन्तमें जो अन्तरिक्षमें चलता है, द्युलोकका भी उल्लंघन करता है और भूमिका भी जो नाथ है उसका दर्शन इसी दृष्टिसे हो जावे ॥ ९ ॥

मातृनाम्नी औषधि ।

संस्कृतमें ' माता ' नामवाली औषधियां अनेक हैं उनमें ' आखुकर्णी, महाश्रावणिका और घृतकुमारी ' ये तीन दृष्टिदोषका निवारण करनेवाली प्रसिद्ध हैं—

संस्कृत नाम	भाषामें नाम	गुण
१ आखुकर्णी	मोपली (वै० निघं.) चक्षुष्या	(नेत्रका बल बढानेवाली)
२ महाश्रावणिका	— (रा० नि० व० ५) लोचनी	(नेत्र बलवर्धक)
३ घृतकुमारी	घिऊकुमारी (भा०) नेत्र्या	(नेत्र बलवर्धक)

' माता ' इन तीनोंका नाम है और ये तीनों औषधियां नेत्रके लिये हितकारक हैं। यहां इस सूक्तमें इनमेंसे कौनसी अपेक्षित है, इसका निश्चय करना सुविज्ञ वैद्योंका ही कार्य है। इस औषधिके प्रयोगसे नेत्रका बल बढाकर अति वृद्ध अवस्था-तक नेत्र उत्तम कार्य करने योग्य अवस्थामें रखना अनुष्ठानी मनुष्यके लिये संभव है। यहां **' माता और मातृनाम्नी '** दोनोंका एक ही आशय है।

पहिले दो मंत्रोंमें इस ' माता ' औषधिका तथा ' दर्शन-शक्ति ' का वर्णन है। दृष्टिसे सब कुछ देखा जाता है और इस औषधीसे दृष्टि बलवती हो जाती है, इसलिये इस औष-धिकी कृपासे, मानो, हरएक मनुष्य सब कुछ देख सकता है।

तृतीय मंत्रमें कहा है कि हमारी दृष्टि सूर्यकी पुत्री है, वह हमारे आत्माके साथ व्याही है। वह यहां अपने पतिके घर— इस जीवात्माके शरीररूपी घर— में आगई है। यहां आकर सुसरालका बहुत कार्य करनेसे थक गई है और थक जानेके कारण उसने विश्राम किया है अर्थात् वृद्धावस्थामें दृष्टि मन्द होगई है, इस समय इस ' माता ' औषधिके प्रयोगसे वह थकी हुई दृष्टि पुनः पूर्ववत् तरुणी जैसी हो सकती है।

चतुर्थ मंत्रका कथन है कि सहस्राक्ष सूर्य देवने यह दृष्टि हमें दी है; जिससे सब कुछ देखा जाता है। यहां स्थूल पदार्थोंके दर्शनसे भी और अधिक देखनेका वर्णन है जैसा ' आर्य और शूद्र ' त्वका ज्ञान भी प्राप्त करना। कौन मनुष्य श्रेष्ठ है और कौन दुष्ट है, इसका भी विचार उसका बाह्य आचार देखनेसे विदित हो जाता है यह तात्पर्य यहां है। वेदने यहां स्थूल देखते हुए सूक्ष्मता ज्ञान प्राप्त करनेकी शिक्षा दी है। पंचम और षष्ठ मंत्रका भी यही आशय है। षष्ठ मंत्रका कथन है कि ' यह दृष्टि वस्तुतः आत्माका ही चक्षु है। ' अर्थात् इस शरीरमें ' द्रष्टा ' अपना जीवात्मा है। वही इस आंखकी खिडकीसे बाहरके पदार्थ देखता है। इसलिये सच्चा चक्षु तो उसके पास है और यह हमारा नेत्र केवल खिडकी जैसा है। इसलिये इस मंत्रमें कहा है कि आत्माका अंतर्यामीका आंख ही सच्चा आंख है, जो खुलना चाहिये। जीवात्माका नाम ' कश्यप ' अथवा ' पश्यक ' है।

क्योंकि वही देखनेवाला है। उसके पास एक ' चार आंख-वाली शुनी ' अर्थात् कुत्ती है, जो इस शरीररूपी अध्यात्मक्षेत्र-में रक्षाका कार्य करती है, यह चार आंखवाली कुत्ती हमारी बुद्धि है और वह स्थूल, सूक्ष्म, कारण और महाकारण इन चार भूमिकाओंमें अपने चार आंखोंसे देखती है। इन प्रत्येक कार्य-क्षेत्रमें देखनेका उनका आंख भिन्न भिन्न है। यह वहांका यथार्थ ज्ञान देती है और वहां घातक शत्रु घुसने लगा तो उसको हटा देती है, और इन क्षेत्रोंको सुरक्षित रखती है। जब तक यह चार आंखवाली कुत्ती जागती है तब तक यहां सूर्यके प्रकाशके समान तेजस्वी प्रकाश होता है, जिस प्रकाशमें जिवात्मा अपने घातक वैरियोंको अलग करता हुआ अपने मार्गसे आगे बढता है। यहां इस सप्तम मंत्रने दृष्टिके चार क्षेत्र बताये हैं और सूचित किया है कि केवल इस स्थूल आंखको खुला रखनेसे कार्य नहीं चल सकता, प्रत्युत इन चार विभिन्न आंखोंको खोलनेका यत्न होना चाहिये और वहांकी अवस्था देखनेकी शक्ति लानी चाहिये। स्थूल दर्शन शक्तिकी अपेक्षा यहांकी दृष्टि बडी सूक्ष्म है जो सूक्ष्म बातोंको देखती है।

अष्टम मंत्रमें उपदेश दिया है कि पूर्वोक्त चार कार्य क्षेत्रमें **(परि-पाणं)** सुरक्षाका ऐसा प्रबंध करना चाहिये कि वहां घातक दुष्ट कोई आगये तो उनको पकडकर एकदम दूर करना चाहिये। कभी घातक दुष्ट भाववालेको अपने स्थूल, सूक्ष्म, कारण आदिमें घुसने देना नहीं चाहिये। जो मनुष्य अपने संपूर्ण

कार्यक्षेत्रोंमें इस प्रकारका सुरक्षाका प्रबंध करता है वह उन्नत होता है, अन्य गिर जाते हैं।

अन्तिम मंत्रमें कहा है कि ' जो प्रत्येक पदार्थके अन्दर विचरता है, जो द्युलोकके भी परे है और जो इस भूमिका एक मात्र स्वामी है उसको देख।' इसको देखना यह अन्तिम देखना है। इस परमात्माका दर्शन करना यह अन्तिम वस्तुका दर्शन करना है। इसका नाम ' पिशाच ' कहा है ' **पिशित+अश्** ' अर्थात् रक्तके प्रत्येक कण कणमें जो पहुंचा है, प्रत्येक पदार्थमें हरएक कणमें जो फैला है उसको देखना चाहिये। जिस समय उसका दर्शन होता है उस समय मनुष्यकी अन्तिम आंख खुल जाती है और यह मनुष्य दिव्य पुरुष हो जाता है। उस परमात्माका प्रत्यक्ष करना मनुष्य मात्रका कर्तव्य है। यह अनुष्ठान करना चाहिये, जिस समय अन्दरकी पवित्रता होगी उसी समय उसके दर्शन होंगे।

वेदने यहां स्थूल पदार्थको दिखाते दिखाते, सूक्ष्म पदार्थोंको तथा सूक्ष्मतम परमात्माको भी दर्शानेका किस युक्तिसे प्रयत्न किया है यह पाठक अवश्य देखें। स्थूल नेत्र इंद्रियका बल बढानेवाली ' माता ' नामक औषधि आन्तरिक आंखोंकी शक्ति बढानेवाली भी ' औषधि ' ही है, परंतु यहां ' ओष+धी ' (दोष+धी) दोषोंको धोकर अन्तःशुद्धि करना ओषधिका सांकेतिक तात्पर्य है। इस प्रकार अर्थके लेपका मनन करके पाठक इस सूक्तका उपदेश जानें।

॥ यहां चतुर्थ अनुवाक समाप्त ॥

गौ ।

[सूक्त २१]

(ऋषिः — ब्रह्मा । देवता - गावः ।)

आ गावो॑ अग्मन्नु॒त भ॒द्रम॑क्र॒न्त्सीद॑न्तु गो॒ष्ठे र॒णय॑न्त्व॒स्मे ।
प्र॒जाव॑तीः पुरु॒रूपा॑ इ॒ह स्यु॒रिन्द्रा॑य पू॒र्वीरु॒षसो॒ दुहा॑नाः ॥ १ ॥

इन्द्रो॒ यज्व॑ने गृण॒ते च॒ शिक्ष॑त॒ उपेद्द॑दाति॒ न स्वं मु॑षायति ।
भूयो॑भूयो र॒यिमिद॑स्य व॒र्धय॒न्नभि॑न्ने खि॒ल्ये नि द॑धाति देव॒युम् ॥ २ ॥

न ता न॑शन्ति॒ न द॑भाति॒ तस्क॑रो॒ नासा॑माम॒त्रो व्यथि॒रा द॑धर्षति ।
दे॒वांश्च॒ याभि॒र्यज॑ते॒ ददा॑ति च॒ ज्योगित्ताभि॑ः सचते॒ गोप॑तिः स॒ह ॥ ३ ॥

अर्थ— (**गावः आ अग्मन्**) गौवें आगई हैं और (**उत भद्रं अक्रन्**) उन्होंने कल्याण किया है । (**गोष्ठे सीदन्तु**) वे गोशालामें बैठें और (**अस्मे रणयन्**) हमें सुख देवें । (**इह प्रजावतीः पुरुरूपा स्युः**) यहां उत्तम बच्चोंसे युक्त बहुत रूपवाली हो जांय । (**इन्द्राय उषसः पूर्वीः दुहानाः**) और परमेश्वरके यजनके लिये उषःकालके पूर्व दूध देनेवाली होवें ॥ १ ॥

(**इन्द्रः यज्वने गृणते च शिक्षते**) ईश्वर यज्ञकर्ता और सदुपदेश कर्ताको सत्य ज्ञान देता है । वह (**इत् उप ददाति**) निश्चयपूर्वक धनादि देता है (**स्वं न मुषायति**) और अपनेको नहीं छिपाता । (**अस्य रयिं भूयः भूयः इत् वर्धयन्**) इसके धनको अधिकाधिक बढाता है और (**देवयुं अभिन्ने खिल्ये नि दधाति**) देवत्व प्राप्त करनेकी इच्छा करनेवालेको अपनेसे भिन्न नहीं ऐसे स्थिर स्थानमें धारण करता है ॥ २ ॥

(**ताः न नशन्ति**) वह यज्ञकी गौवें नष्ट नहीं होती, (**तस्करः न दभाति**) चोर उनको दबाता नहीं, (**आसां व्यथिः आ दधर्षति**) इनको व्यथा करनेवाला शत्रु इनपर अपना अधिकार नहीं चलाता, (**याभिः देवान् यजते**) जिनसे देवोंका यज्ञ किया जाता है और (**ददाति च**) दान दिया जाता है, (**गोपतिः ताभिः सह ज्योक् इत् सचते**) गोपालक उनके साथ चिरकालतक रहता है ॥ ३ ॥

भावार्थ— गौवें हमारे घरमें आगई हैं और उन्होंने हमारा कल्याण किया है । वह गौवें इस गोशालामें बैठें और हमारा आनंद बढावें । वह गौवें यहां बहुत बच्चोंसे युक्त और अनेक रंगरूपवाली होकर ईश्वरके यज्ञके लिये प्रातःकाल दूध देनेवाली होवें ॥ १ ॥

ईश्वर सत्कर्म कर्ता और सदुपदेश दाताको उत्तम ज्ञान देता है और धनादि भी देता है तथा उसके सन्मुख अपने आपको प्रकट करता है । वह ईश्वर इस उपासकके धनकी वृद्धि करता है और देवत्वकी इच्छा करनेवाले भक्तको अपने ही अंदरके स्थिर स्थानमें धारण करता है ॥ २ ॥

इन गौओंका नाश नहीं होता, चोर उनको नहीं चुराता है, न इनको कोई कष्ट देता है । इनके दूधसे ईश्वरका यज्ञ किया जाता है । इस प्रकार गौओंका पालनकर्ता गौओंके साथ चिरकाल आनंदमें रहता है ॥ ३ ॥

न ता अर्वा रेणुककाटोऽश्नुते न संस्कृतत्रमुप यन्ति ता अभि ।
उरुगायमभयं तस्य ता अनु गावो मर्तस्य वि चरन्ति यज्वनः ॥ ४ ॥
गावो भगो गाव इन्द्रो म इच्छाद्गावः सोमस्य प्रथमस्य भक्षः ।
इमा या गावः स जनास इन्द्र इच्छामि हृदा मनसा चिदिन्द्रम् ॥ ५ ॥
यूयं गावो मेदयथा कृशं चिदश्रीरं चित्कृणुथा सुप्रतीकम् ।
भद्रं गृहं कृणुथ भद्रवाचो बृहद्वो वय उच्यते सभासु ॥ ६ ॥
प्रजावतीः सूयवसे रुशन्तीः शुद्धा अपः सुप्रपाणे पिबन्तीः ।
मा व स्तेन ईशत माघशंसः परि वो रुद्रस्य हेतिर्वृणक्तु ॥ ७ ॥

अर्थ—(**रेणुक-काटः अर्वा ताः न अश्नुते**) पांवोंसे धूलि उडानेवाला घोडा इन गौवोंकी योग्यता प्राप्त नहीं कर सकता । (**ताः संस्कृतत्रं न अभि उप यन्ति**) वे गौवें पाकादि संस्कार करनेवाले पास भी नहीं आतीं । (**ताः गावः**) वे गौवें (**तस्य यज्वनः मर्त्यस्य**) उस यज्ञकर्ता मनुष्यकी (**उरुगायं अभयं अनु विचरन्ति**) बडी प्रशंसनीय निर्भयतामें विचरती हैं ॥ ४ ॥

(**गावः भगः**) गौवें धन है, (**गावः इन्द्रः**) गौवें प्रभु हैं, (**गावः प्रथमस्य सोमस्य भक्षः**) गौवें पहिले सोमरसका अन्न हैं (**मे इच्छात्**) यह मैं जानता हूं । (**इमाः या गावः**) ये जो गौवें हैं । हे (**जनाः**) लोगो ! (**सः इन्द्रः**) वही इन्द्र है । (**हृदा मनसा चित् इन्द्रं इच्छामि**) हृदयसे और मनसे निश्चयपूर्वक मैं इन्द्रको प्राप्त करनेकी इच्छा करता हूं ॥ ५ ॥

हे (**गावः**) गौवों ! (**यूयं कृशं चित् मेदयथ**) तुम दुर्बलको भी पुष्ट करती हो, (**अ-श्रीरं चित् सुप्रतीकं कृणुथ**) निस्तेजको भी सुंदर बनाती हो । हे (**भद्रवाचः**) उत्तम शब्दवाली गौवों ! (**गृहं भद्रं कृणुथ**) घरको कल्याणरूप बनाती हो इसलिये (**सभासु वः बृहत् वयः उच्यते**) सभाओंमें तुम्हारा बडा यश गाया जाता है ॥ ६ ॥

(**प्रजावतीः**) उत्तम बच्चोंवाली (**सु-यवसे रुशन्तीः**) उत्तम घासके लिये भ्रमण करनेवाली, (**सु-प्रपाणे शुद्धाः अपः पिबन्तीः**) उत्तम जलस्थानमें शुद्ध जल पीनेवाली गौवों । (**स्तेनः अघशंसः वः मा ईशत**) चोर और पापी तुमपर अधिकार न करे । (**वः रुद्रस्य हेतिः परि वृणक्तु**) तुम्हारी रक्षा रुद्रके शस्त्रसे चारों ओरसे होवे ॥ ७ ॥

भावार्थ— फुर्तीले घोडेको भी गायकी योग्यता प्राप्त नहीं होती । ये गौवें अन्न पकानेवालेकी पाकशालामें नहीं जाती । ये गौवें यजमानकी निर्भय रक्षामें विचरती हैं ॥ ४ ॥

गौवें ही मनुष्यका धन, बल और उत्तम अन्न हैं । इसलिये मैं सदा गौवोंकी उन्नति हृदय और मनसे चाहता हूं ॥ ५ ॥

अत्यंत दुर्बल मनुष्यको गौवें अपने दूधसे पुष्ट बनाती हैं । निस्तेज पाण्डुरोगीको सुंदर तेजस्वी करती हैं । गौवोंका शब्द कैसा आल्हाददायक होता है । ये गौवें हमारे घरको कल्याणका स्थान बनाती हैं, इसीलिये सभाओंमें गौवोंके यशका वर्णन किया जाता है ॥ ६ ॥

गौवें उत्तम बछडोंसे युक्त हों, वे उत्तम घास खा जांय, शुद्ध स्थानका पवित्र जल पीयें । कोई पापी या चोर उनका स्वामी न बने और वे सर्वदा सुरक्षित रहें ॥ ७ ॥

गौका सुंदर काव्य ।

यह सूक्त गौका अत्यंत सुंदर काव्य है। इतना उत्तम वर्णन बहुत ही थोडे स्थानपर मिलेगा। गौका महत्त्व इस काव्यमें अति उत्तम शब्दों द्वारा बताया है। जो लोग गौका यह काव्य पढेंगे, वे गौका महत्त्व जान सकते हैं। गौ घरकी शोभा, कुटुंबका आरोग्य, बल और पराक्रम तथा परिवारका धन है, यह इस सूक्तमें स्पष्ट शब्दों द्वारा बताया है।

गौ घरकी शोभा है।

इस विषयमें निम्न लिखित मंत्रभाग देखिये—

(१) गावः भद्रं अक्रन् । (सू. २१, मं. १)

(२) गावः! भद्रं गृहं कृणुथ । (सू. २१, मं. ६)

'गौवें घरको कल्याणका स्थान बनाती हैं।' अर्थात् जिस घरमें गौवें रहती हैं वह घर कल्याणका धाम होता है। जो पाठक गौका महत्त्व जानेंगे वे इस बातकी सत्यताका अनुभव कर सकते हैं।

पुष्टि देनेवाली गौ।

मनुष्यकी पुष्टि बढानेवाली गौ है, इस लिये हरएक घरमें गौका निवास होना चाहिये। इस विषयमें निम्न लिखित मंत्र-भाग देखिये—

(१) गावः अस्मे रणयन् । (सू. २१, मं. १)

(२) गावः! यूयं कृशं चित् मेदयथ । (सू. २१, मं. ६)

(३) अश्रीरं चित् सुप्रतीकं कृणुथ । (सू. २१, मं. ६)

'गौवें हमें रमणीय बनाती हैं। कृश मनुष्यको गौवें पुष्ट बनाती हैं। निस्तेजको सतेज करती हैं।' इसी लिये घरमें गौ रखनी चाहिये और हरएकको उस गौ माताका दूध पीना चाहिये। तथा उसकी उत्तम सेवा करना चाहिये। हरएक गृहस्थीका यह आवश्यक कर्तव्य है।

गौ ही धन, बल और अन्न है।

मनुष्यको धन, बल और अन्न गौ ही देती है। सब यश गौसे प्राप्त होता है इस विषयमें निम्नलिखित मंत्रभाग देखिये—

(१) गावः भगः । गावः इन्द्रः । गावः सोमस्य भक्षः। इमाः याः गावः सः इन्द्रः । (सू. २१, मं. ५)

'गौवें धन हैं, गौवें ही इन्द्र (बलकी देवता) हैं, गौवें ही (दूध देनेके कारण) अन्न हैं। जो गौवें हैं वही इन्द्र है।' गौवोंको 'धन' कहा ही जाता है। महाराष्ट्रमें गौका नाम 'धण' है, यह धन शब्दका ही अपभ्रष्ट रूप है। धनकी देवता वेदमें भग है, वह गौके रूपमें हमारे पास आगई है। जो लोग गौको अपने घरमें स्थान नहीं देते वे, मानो, धनको ही अपने घरसे बाहर निकाल देते हैं।

'इन्द्र' देवता बल, पराक्रम और विजयकी है। वही गौके रूपमें हमारे घरमें आती है। जो कोई अपने घरमें गौका पालन नहीं करता वह, मानो, बल, पराक्रम और विजयको ही दूर करता है।

अन्नकी देवता 'सोम' है वही गौके रूपमें हमारे पास आती है। गौ स्वयं दूध देती है जिससे दही, छाछ, मक्खन, घी आदि अमृतरूप पदार्थ बनते हैं। बैलके यत्नसे अन्न उत्पन्न होता है। इस प्रकार गौ हमारा अन्नका प्रबंध करती है। ऐसी उपयोगी गौको जो लोग अपने घर नहीं पालते वे, मानो, अन्नको ही दूर करते हैं। इस प्रकार गौके पालनसे धन, बल और अन्न प्राप्त होता है और गौको न पालनेसे दारिद्र्य, बल-हीनत्व और योग्य अन्नका अभाव इनकी प्राप्ति होती हैं। इससे पाठक ही विचार करें कि गोपालनसे कितने लाभ हैं और गौको न पालनेसे कितनी हानियां हैं। यदि बलवान्, धनवान् यशस्वी, प्रतापी होनेकी इच्छा है, तो गौको पालना चाहिये, और गौका दूध प्रतिदिन पीना चाहिये।

यज्ञके लिये गौ।

परमेश्वरकी प्रसन्नताके लिये यज्ञ और यज्ञकी सांगताके लिये गौ होती है। वैदिक धर्ममें जो कुछ किया जाता है वह परमात्माके नामसे और यज्ञके नामसे ही किया जाता है। सब कर्मका अन्तिम फल मनुष्यकी उन्नति ही है, परंतु उसका सब प्रयत्न 'यज्ञ' के नामसे होता है। गौका दूध तो मनुष्य ही पीते हैं, परंतु घरमें गौका पालन यज्ञकी सांगताके लिये किया जाता है, अपना पेट भरनेके लिये नहीं। यह त्यागकी शिक्षा वैदिक धर्ममें इस प्रकार दी जाती है। प्रथम मंत्रमें 'उषाके पूर्व गौ दूध देती है और उस दूधसे इन्द्रका यज्ञ होता है,' ऐसा जो कहा है इसका हेतु यही है। यज्ञका शेष घृत, दूध आदि मनुष्य पीते हैं। परंतु वह भोगके हेतुसे नहीं पीते, परंतु 'ईश्वरका प्रसाद' मानकर पीते हैं। गौ परमेश्वरके यज्ञके लिये है, उसका प्रसाद रूप दूध पीया जाता है। इतने विश्वाससे और भक्तिसे यदि दूध पीया जाय तो वह निःसन्देह अत्यंत लाभकारी होगा।

इस यज्ञसे 'देव भी मनुष्यके लिये धन, यश, ज्ञान आदि

देता है और अपने पासके स्थिर धाममें उसको रखता है । '
(मं. २)

यह द्वितीय मंत्रका कथन है। यज्ञके भावसे सब कर्म करनेसे यह लाभ होना स्वाभाविक है। तृतीय मंत्रका कथन है कि ' यज्ञके लिये गौ होती है, इस लिये उसका नाश नहीं होता, रोग उसको कष्ट नहीं देता, चोर उसको चुराता नहीं, शत्रु उसको सताता नहीं, ऐसी सुरक्षित अवस्थामें गौवें यजमानके पास रहती हैं, यजमान देवोंकी प्रसन्नताके लिये यज्ञ करता है और उसीसे उसके पास गौवोंकी संख्या बढ जाती है। चतुर्थ मंत्रमें भी गौका महत्त्व ही वर्णन किया है। ' घोडा, गौ जैसा मनुष्यके लिये उपयोगी नहीं है, गौवें पाकसंस्कार करनेवालेके पास कभी नहीं जाती, वे गौवें यजमानकी विस्तृत रक्षामें रहती हैं और आनंदसे विचरती हैं। ' यह सब वर्णन गौका यज्ञके लिये उपयोग होता है यही बात बता रहा है।

अवध्य गौ।

ऐसी उपयोगी गौ है, इसलिये वह अवध्य होनी ही चाहिये। इस विषयमें शंका नहीं हो सकती। इस चतुर्थ मंत्रमें यही बात विशेष स्पष्टतापूर्वक कही है। देखिये—

तस्य यज्वनः मर्तस्य उरुगायं अभयं ताः गावः अनु विचरन्ति । (सू. २१, मं. ४)

' उस याजक मनुष्यके बहुत प्रशंसनीय निर्भयतामें वे गौवें विचरती हैं। ' अर्थात् यज्ञकर्ता यजमानके पास गौवें निर्भयतासे रहती हैं, वहां उनको किसी भी प्रकार कोई पीडा दे नहीं सकता। गौवोंके लिये यदि कोई अत्यन्त निर्भय स्थान हो सकता है तो वह यजमानका घर ही है। यह वर्णन देखनेसे स्पष्ट हो जाता है कि ' यजमान गौको काटकर उसके मांसका हवन करता है ' यह मिथ्या कल्पना है। गोमेधमें भी गोमांस हवनका कोई संबंध नहीं है, इस विषयमें इसी मंत्रका तृतीय चरण देखने योग्य है—

ताः गावः संस्कृतत्रं न अभि उपयन्ति ।
(सू. २१, मं. ४)

' वे गौवें मांससंस्कार करनेवालेके पास नहीं जाती। ' अर्थात् गौके मांसका पाक संस्कार कोई नहीं करता। यहां ' **संस्कृतत्र** ' शब्द है। ' **संस्कृतः** ' का अर्थ है अच्छी प्रकार ' काटनेवाला ' यहां ' **कृत्** ' धातुका अर्थ काटना है। काटे हुए मांसको पकानेवाला जो होता है उसका नाम ' **संस्कृत+त्र** ' है। जो पशुको काटते हैं और जो पशुको पकाते हैं उनके पास कभी गौ नहीं पहुंचती। अर्थात् गौके मांसका यज्ञमें या पाकमें कहीं भी संस्कार नहीं होता है। गोमांसके हवनका तथा गोमांसके भक्षणका यहां पूर्ण निषेध है। गौवें यजमानकी विस्तृत रक्षामें रहती हैं, इसलिये यज्ञमें गोवध, गोमांस हवन अथवा गोमांससंस्कार भी संभवनीय नहीं है। इस मंत्रने इतनी तीव्रताके साथ गोमांस संस्कारका निषेध किया है कि इसको देखनेके पश्चात् कोई यह नहीं कह सकता कि वेदके गोमेधमें गोमांस हवनका संबंध है।

उत्तम घास और पवित्र जलपान।

यजमान यज्ञके लिये गौकी रक्षा करता है इसलिये वह उनकी पालनाका बडा प्रबंध करता है। यह प्रबंध किस प्रकार किया जाय इस विषयमें अन्तिम मंत्र देखने योग्य है।

(गावः) सुयवसे रुशन्तीः ।
सुप्रपाणे शुद्धा अपः पिबन्तीः ॥ (सू. २१, मं ७)

' गौवें उत्तम घास खावें और उत्तम जलस्थानमें शुद्ध जल पीवें। ' शुद्ध घास खाने और शुद्ध जल पीनेसे गौकी उत्तम रक्षा होती है। इस प्रकार गौकी रक्षा करें और गौके दूधसे सब पाठक हृष्टपुष्ट, बलिष्ठ, यशस्वी, तेजस्वी, प्रतापी और दीर्घायु हों।

गौकी पालना।

गौकी पालना कैसी करनी चाहिये इस विषयका उत्तम उपदेश भी इन्हीं मंत्रोंसे हमें मिलता है। ' उत्तम स्थानका शुद्ध जल गौको पिलाना चाहिये ' यह वेदकी आज्ञा है। शुद्ध जल हो और वह उत्तम स्थानका हो। पाठक यह स्मरण रखें कि गौ जो खाती है और जो पीती है उसका परिणाम आठ दस घण्टोंमें उसके दूधपर होता है, यह नियम है। जलका भी यह नियम है कि वह स्थानके गुणदोष अपने साथ ले आता है। हिमालयके पहाडोंसे आनेवाला जल दस्त लानेवाला होता है, कई स्थानोंका कब्जी करनेवाला और कई स्थानोंका ज्वर उत्पन्न करनेवाला होता है। इस कारण गौको अच्छे आरोग्यपूर्ण जलस्थानका शुद्ध जल ही पिलाना चाहिये, जिससे दूधमें अच्छे अच्छे गुण आ जावें और उस दूधको पीनेवालोंको अधिकसे अधिक लाभ प्राप्त होवे।

घास भी अच्छी भूमिका होना चाहिये और (**सु-यवस्**) उत्तम जौ आदिका होना चाहिये। बुरे स्थानका बुरी प्रकार उत्पन्न हुआ नहीं होना चाहिये। कई लोग गौको ऐसी बुरी चीजें खिलाते हैं कि उससे अनेक दोषोंसे युक्त दूध उत्पन्न होता है। गौवें मनुष्यके शौच आदिको भी खाती हैं। यह सब दोष उत्पन्न करनेवाला है। उत्तम घास और शुद्ध जल खा पी कर गौसे जो दूध उत्पन्न होगा वही आरोग्यवर्धक होगा। गौ पालनेवाले इन निर्देशोंसे बहुत बोध प्राप्त कर सकते हैं।

क्षात्रबल संवर्धन ।

[सूक्त २२]

(ऋषिः — वसिष्ठः, अथर्वा वा । देवता - इन्द्रः)

इममिन्द्र वर्धय क्षत्रियं म इमं विशामेकवृषं कृणु त्वम् ।
निरमित्रानक्ष्णुह्यस्य सर्वांस्तान्रन्धयास्मा अहमुत्तरेषु ॥ १ ॥
एमं भज ग्रामे अश्वेषु गोषु निष्टं भज यो अमित्रो अस्य ।
वर्ष्म क्षत्राणामयमस्तु राजेन्द्र शत्रुं रन्धय सर्वमस्मै ॥ २ ॥
अयमस्तु धनपतिर्धनानामयं विशां विश्पतिरस्तु राजा ।
अस्मिन्निन्द्र महि वर्चांसि धेह्यवर्चसं कृणुहि शत्रुमस्य ॥ ३ ॥
अस्मै द्यावापृथिवी भूरि वामं दुहाथां घर्मदुघे इव धेनू ।
अयं राजा प्रिय इन्द्रस्य भूयात्प्रियो गवामोषधीनां पशूनाम ॥ ४ ॥

अर्थ— हे इन्द्र ! तू (**मे इमं क्षत्रियं वर्धय**) मेरे इस क्षत्रियको बढा, और (**इमं मे विशां एकवृषं त्वं कृणु**) इस मेरे इस क्षत्रियको प्रजाओंमें अद्वितीय बलवान् तू कर । (**अस्य सर्वान् अमित्रान् निरक्ष्णुहि**) इसके सब शत्रुओंको निर्बल कर और (**अहं-उत्तरेषु**) मैं-श्रेष्ठ मैं-श्रेष्ठ इस प्रकारकी स्पर्धामें (**तान् सर्वान्**) उन सब शत्रुओंको (**अस्मै रन्धय**) इसके लिये नष्ट कर ॥ १ ॥

(**इमं ग्रामे अश्वेषु गोषु आ भज**) इस क्षत्रियको ग्राममें तथा घोडों और गौवेंमें योग्य भाग दे । (**यः अस्य अमित्रः तं निः भज**) जो इसका शत्रु है उसको कोई भाग न दे । (**अयं राजा क्षत्राणां वर्ष्म अस्तु**) यह राजा क्षात्र-गुणोंकी मूर्ति होवे । हे इन्द्र ! (**अस्मै सर्वं शत्रुं रन्धय**) इसके लिये सब शत्रु नष्ट कर ॥ २ ॥

(**अयं धनानां धनपतिः अस्तु**) यह सब धनोंका स्वामी होवे (**अयं राजा विशां विश्पतिः अस्तु**) यह राजा प्रजाओंका पालक होवे । हे इन्द्र । (**अस्मिन् महि वर्चांसि धेहि**) इसमें बडे तेजोंको स्थापन कर । (**अस्य शत्रुं अवर्चसं कृणुहि**) इसके शत्रुको निस्तेज कर ॥ ३ ॥

हे द्यावापृथिवी ! (**घर्मदुघे धेनू इव**) धारोष्ण दूध देनेवाली दो गौवोंके समान (**अस्मै भूरि वामं दुहाथां**) इसके लिये बहुत धनादि प्रदान करो । (**अयं राजा इन्द्रस्य प्रियः भूयात्**) यह राजा इन्द्रका प्रिय होवे तथा (**गवां पशूनां ओषधीनां प्रियः**) गौ, पशु और औषधियोंका प्रिय होवे ॥ ४ ॥

भावार्थ— हे प्रभो ! इस मेरे राष्ट्रमें जो क्षत्रिय हैं उनके क्षात्रतेजको बढा और इस राजाको सब प्रजाजनोंमें अद्वितीय बलवान् कर । इस हमारे राजाके सब शत्रु निर्बल हो जावें और सब स्पर्धाओंमें इसके लिये कोई प्रतिपक्षी न रहे ॥ १ ॥

प्रत्येक ग्राममें, घोडों और गौओंमेंसे इस राजाको योग्य करभार प्राप्त हो । इसके शत्रु निर्बल बन जाय । यह राजा सब प्रकार क्षात्र शक्तियोंकी मूर्ति बने और इसके सब शत्रु दूर हो जावें ॥ २ ॥

इस राजाको सब प्रकारके धन प्राप्त हो, यह राजा सब प्रजाजनोंका उत्तम पालन करे, इस राजामें सब प्रकारके तेज बढें और इसके सब शत्रु फीके पडें ॥ ३ ॥

*

युनज्मि त उत्तरावन्तमिन्द्रं येन जयन्ति न पराजयन्ते ।
यस्त्वा करदेकवृषं जनानामुत राज्ञामुत्तमं मानवानाम् ॥ ५ ॥
उत्तरस्त्वमधरे ते सपत्ना ये के च राजन्प्रतिशत्रवस्ते ।
एकवृष इन्द्रसखा जिगीवां छत्रूयतामा भरा भोजनानि ॥ ६ ॥
सिंहप्रतीको विशो अद्धि सर्वा व्याघ्रप्रतीकोऽव बाधस्व शत्रून् ।
एकवृष इन्द्रसखा जिगीवां छत्रूयतामा खिदा भोजनानि ॥ ७ ॥

अर्थ— (**ते उत्तरावन्तं इन्द्रं युनज्मि**) तेरे साथ श्रेष्ठ गुणवाले प्रभुको मैं संयुक्त करता हूं । (**येन जयन्ति**) जिससे विजय होता है और कभी (**न पराजयन्ते**) पराजय नहीं होता है । (**यः त्वा जनानां एकवृषं**) जो तुझको मनुष्योंमें अद्वितीय बलवान् और (**उत मानवानां राज्ञां उत्तमं करत्**) मनुष्योंके राजोंमें उत्तम करे ॥ ५ ॥

हे राजन् ! (**त्वं उत्तरः**) तू अधिक ऊंचा हो, (**ते सपत्नाः**) तेरे शत्रु और (**ये के च ते प्रति-शत्रवः**) जो कोई तेरे शत्रु हैं वे (**अधरे**) नीचे होवें । तू (**एकवृषः**) अद्वितीय बलवान्, (**इन्द्रसखा**) प्रभुका मित्र (**जिगीवान्**) जयशाली होकर (**शत्रूयतां भोजनानि आ भर**) शत्रु जैसा आचरण करनेवालोंके भोजनके साधन यहां ला ॥ ६ ॥

(**सिंहप्रतीकः सर्वाः विशः अद्धि**) सिंहके समान प्रभावशाली होकर सब प्रजाओंसे भोग प्राप्त कर । (**व्याघ्र-प्रतीकः शत्रून् अव बाधस्व**) व्याघ्रके समान बलवान् होकर अपने शत्रुओंको हटा दे । (**एकवृषः इन्द्रसखा जिगीवान्**) अद्वितीय बलवान्, प्रभुका मित्र, और विजयी बनकर (**शत्रूयतां भोजनानि आ खिद**) शत्रुके समान व्यवहार करनेवालोंके भोजनके साधन छीनकर ले आ ॥ ७ ॥

भावार्थ— ये दोनों द्यावा पृथिवी लोक इसको सब प्रकारके धन देवें, यह राजा सबका प्रिय बने । ईश्वर, मनुष्य, पशुपक्षी और औषधियोंके विषयमें भी यह प्रेम रखे ॥ ४ ॥

यह राजा ईश्वरके साथ अपना आंतरिक संबंध जोड दें, जिससे इनका सदा जय होवे और पराजय कभी न होवे । यह राजा इस प्रकार मनुष्योंमें अद्वितीय बलवान् और मनुष्योंके सब राजोंमें श्रेष्ठ होवे ॥ ५ ॥

यह राजा ऊंचा बने और इसके सब शत्रु नीचे हों । यह अद्वितीय बलवान्, ईश्वरका भक्त और विजयी होकर शत्रुका पराभव करके उनके उपभोगके पदार्थ प्राप्त करे ॥ ६ ॥

सिंह और व्याघ्रके समान प्रतापी बनकर सब प्रजाओंसे योग्य भोग प्राप्त करें और शत्रुओंको दूर करे । अद्वितीय बलवान, प्रभुका भक्त और विजयी बनकर शत्रुका पराभव करके उनके धन अपने राज्यमें ले आवे ॥ ७ ॥

स्पर्धा ।

' अहं-उत्तरेषु ' यह शब्द प्रथम मंत्रमें है । यह स्पर्धाका वाचक है । ' मैं सबसे ऊंचा होऊं ' यह इच्छा प्रत्येक मनुष्यमें रहती है । मैं सबसे आगे बढूं, मैं सबसे अधिक ज्ञान प्राप्त करूं, मैं सबसे अधिक यश, धन, प्रभुत्व आदि प्राप्त करके सबसे अधिक प्रतापी, यशस्वी और समर्थ बनूं । यह इच्छा हरएकमें होती ही है । धर्मभावसे इस इच्छाका उत्तम उपयोग करके मनुष्य उच्च हो सकता है । इस प्रकार ऊंचा होनेके लिये अपने शत्रुओंसे अपना बल बढाना चाहिये । शत्रुने जितनी विद्या, बल, कला और हुनर प्राप्त किया है उससे अपनी विद्या, बल, कला और हुनर बढ जानेसे ही मनुष्यकी उन्नति हो सकती है । उन्नतिका कोई दूसरा मार्ग नहीं है ।

यह सूक्त सामान्यतः क्षत्रियोंका यश बढानेका उपदेश करता है और विशेषतः राजाका बल बढानेका उपदेश दे रहा है । सब जगत्में अपना राष्ट्र अग्रस्थानमें रहने योग्य उन्नत करना हरएक राजाका आवश्यक कर्तव्य है । हरएक कार्यक्षेत्रमें जो जो शत्रु होंगे, उनको नीचे करके अपने राष्ट्रके वीरोंको उन्नत करनेसे सच्ची सिद्धि प्राप्त हो सकती है ।

हरएक मनुष्यकी ऐसी इच्छा होनी चाहिये कि मेरे राष्ट्रके क्षत्रिय वीर बडे विजयी हों, किसी राष्ट्रके पीछे हमारा राष्ट्र न रहे। वेद कहता है कि ' अहं-उत्तरेषु ' यह मंत्र राष्ट्रके हरएक मनुष्यके मनमें जाग्रत रहे। मैं सबसे आगे होऊंगा, मेरा राष्ट्र सब राष्ट्रोंके अग्रभागमें रहेगा, इसकी सिद्धिके लिये हरएकके प्रयत्न होने चाहिये। प्रत्येक मनुष्य अपने गुण और कर्मकी वृद्धिकी पराकाष्ठा करके अपने आपको और अपने राष्ट्रको उच्च स्थानमें लानेका प्रयत्न करे। यह भाव ' अहं-उत्तरेषु ' पदमें है। प्रत्येक मनुष्यमें जैसा क्षात्रतेज रहता है उसी प्रकार प्रत्येक राष्ट्रमें भी रहता ही है। इस गुणका उत्कर्ष करना चाहिये, इस गुणके उत्कर्षसे ही शत्रु कम हो सकते हैं।

राजाको चाहिये कि वह अपने राष्ट्रमें शिक्षाका ऐसा प्रबंध करे कि जिससे सब प्रजा एक उद्देश्यसे प्रेरित होकर सब शत्रुओंका पराजय करनेमें समर्थ हो। हरएक कार्यक्षेत्रमें किसी प्रकारकी भी असमर्थता न हो। ' विशां एक वृषं कृणु त्वं। ' (मं. १) प्रजाओंमें अद्वितीय बल उत्पन्न करनेवाला तू हो, यह अन्दरका तात्पर्य इस मंत्रमें है। यही विजयकी कुंजी है। राजाका प्रधान कर्तव्य यही है कि वह प्रजामें अद्वितीय बलकी वृद्धि करे। यह बल चार प्रकारका होता है, ज्ञान-बल, वीर्यबल, धनबल और कलाबल। यह चार प्रकारका बल अपने राष्ट्रमें बढा बढाकर अपने राष्ट्रको सब जगत्में अग्र स्थानमें लाकर ऊंचे स्थानपर रखना चाहिये, तभी सब शत्रु हीन हो सकते हैं। यहां दूसरोंको गिरानेका उपदेश नहीं प्रत्युत अपने राष्ट्रीय उद्धार करनेका उच्च उपदेश यहां है। दूसरे भी उन्नत हों और हम भी हों। उन्नतिमें स्पर्धा हो, गिरावटकी स्पर्धा न हो। मंत्रका पद ' अहं-उत्तरेषु ' है न कि ' अहं-नीचेषु '। पाठक इस दिव्य उपदेशका अवश्य मनन करें।

यह सूक्त अत्यंत सरल है और मंत्रका अर्थ और भावार्थ पढनेसे सब आशय मनके सामने खडा हो सकता है, इसलिये इसके स्पष्टीकरणके लिये अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं है।

पाप मोचन।

[सूक्त २३]

(ऋषिः — मृगारः। देवता - प्रचेता अग्निः।)

अग्नेर्मन्वे प्रथमस्य प्रचेतसः पाञ्चजन्यस्य बहुधा यमिन्धते।
विशोविशः प्रविशिवांसमीमहे स नो मुञ्चत्वंहसः ॥ १ ॥

यथा हव्यं वहसि जातवेदो यथा यज्ञं कल्पयसि प्रजानन्।
एवा देवेभ्यः सुमतिं न आ वह स नो मुञ्चत्वंहसः ॥ २ ॥

अर्थ— (यं बहुधा इन्धते) जिसको बहुत प्रकार प्रकाशित करते हैं, उस (पाञ्चजन्यस्य प्रचेतसः प्रथमस्य अग्नेः) पंच जनोंमें निवास करनेवाले विशेष ज्ञानी और सबमें प्रथमसे वर्तमान प्रकाशक देवताका (मन्वे) मैं मनन करता हूं। (विशः विशः प्रविशि-वांसम् ईमहे) प्रत्येक प्रजाजनमें प्रविष्ट हुएको हम प्राप्त करते हैं (सः नः अंहसः मुञ्चतु) वह हमें पापसे बचावे ॥ १ ॥

हे (जात-वेदः) उत्पन्न हुए पदार्थमात्रको जाननेवाले! (यथा हव्यं वहसि) जिस प्रकार तू हवनको पहुंचाता है और (प्रजानन् यथा यज्ञं कल्पयसि) जानता हुआ जिस प्रकार यज्ञको बनाता है (एव देवेभ्यः सुमतिं न आ वह) उसी प्रकार देवोंसे उत्तम मतिको हमारे पास ले आ और (सः नः अंहसः मुञ्चतु) वह तू हमें पापसे बचाओ ॥ २ ॥

भावार्थ— पांचों प्रकारके मनुष्योंमें जो चेतना देता है और विविध प्रकारसे प्रकट होता है उस प्रत्येकके हृदयमें ठहरकर प्रकाश देनेवाले परमात्माको हम प्राप्त करते हैं जो हमें पापसे बचावे ॥ १ ॥

यामन्यामन्नुपर्युक्तं वहिष्ठं कर्मन्कर्मन्नाभगम्।
अग्निमीडे रक्षोहणं यज्ञवृधं घृताहुतं स नो मुञ्चत्वंहसः ॥ ३ ॥

सुजातं जातवेदसमग्निं वैश्वानरं विभुम्।
हव्यवाहं हवामहे स नो मुञ्चत्वंहसः ॥ ४ ॥

येन ऋषयो बलमद्योतयन्युजा येनासुराणामयुवन्त मायाः।
येनाग्निना पणीनिन्द्रो जिगाय स नो मुञ्चत्वंहसः ॥ ५ ॥

येन देवा अमृतमन्वविन्दन्येनौषधीर्मधुमतीरकृण्वन्।
येन देवाः स्वराभरन्त्स नो मुञ्चत्वंहसः ॥ ६ ॥

अर्थ— (यामन् यामन् उपयुक्तं) प्रत्येक समयमें उपयोगी (कर्मन् कर्मन् आभगं) प्रत्येक कर्ममें भजनीय, और (वहिष्ठं) अत्यंत बलवान् (अग्निं ईडे) सर्व प्रकाशक देवकी मैं स्तुति करता हूं। वह (रक्षोहणं यज्ञवृधं घृताहुतं) राक्षसोंका नाशक, यज्ञको बढानेवाला, यज्ञमें घृतकी आहुतियां जिसके लिये दी जाती हैं (सः नः अंहसः मुञ्चतु) वह हमें पापसे बचावे ॥ ३ ॥

(सुजातं जातवेदसं) उत्तम प्रसिद्ध, बने हुए विश्वको जाननेवाले, (विभुं वैश्वानरं) सर्वव्यापक विश्वके नेता और (हव्यवाहं हवामहे) अन्नके देनेवाले प्रभुकी हम प्रार्थना करते हैं कि (सः नः अंहसः मुञ्चतु) वह हमें पापसे बचावे ॥ ४ ॥

(येन युजा ऋषयः बलं अद्योतयन्) जिसकी सहायतासे ऋषि लोग बल प्रकाशित करते आये हैं, (येन असुराणां मायाः अयुवन्त) जिसकी सहायतासे राक्षसोंकी कपटयुक्तियोंको दूर किया, (येन अग्निना इन्द्रः पणीन् जिगाय) जिस तेजस्वी देवताकी सहायतासे इन्द्रने आसुरी व्यवहार करनेवालोंको जीता था (सः नः अंहसः मुञ्चतु) वह हमें पापसे बचावे ॥ ५ ॥

(येन देवाः अमृतं अन्वविन्दन्) जिसकी सहायतासे देवोंने अमृत प्राप्त किया, (येन ओषधीः मधुमतीः अकृण्वन्) जिसके योगसे औषधियोंको मधुर रसवाली बनाया है, (येन देवाः स्वः आ भरन्त) जिसके आश्रयसे देवता लोग आत्मिक बल प्राप्त करते हैं (सः नः अंहसः मुञ्चतु) वह हमें पापसे बचावे ॥ ६ ॥

भावार्थ— जिस प्रकार हवन किये हुए हवन द्रव्योंको अग्नि सब देवोंके पास पहुंचाता है उसी प्रकार यह महान् देव सब दिव्य भाववालोंके पास रहनेवाली सुमति हमारे अंतःकरणमें स्थिर करे और हमें पापसे बचावे ॥ २ ॥

प्रत्येक समय सहायता देनेवाला, हरएक कर्ममें सेवा करने योग्य, बलवान्, प्रकाशक, दुष्टोंको दूर करनेवाला, यज्ञकी वृद्धि करनेवाला और जिसके लिये यज्ञमें आहुतियां दी जाती हैं वह ईश्वर हमें पापसे बचावे ॥ ३ ॥

उत्तम प्रसिद्ध, सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, सबको चलानेवाला, अन्नका दाता जो एक ईश्वर है उसीकी हम प्रार्थना करते हैं कि वह हमें पापसे बचावे ॥ ४ ॥

ऋषि लोग जिसके पाससे बल प्राप्त करते हैं, जिसकी सहायतासे देव असुरोंका पराभव करते हैं तथा जिसके आधारसे कुटिल व्यवहार करनेवालोंका पराजय किया जाता है वह ईश्वर हमें पापसे बचावे ॥ ५ ॥

यस्येदं प्रदिशि यद्विरोचते यज्जातं जनितव्यं च केवलम्।
स्तौम्यग्निं नाथितो जोहवीमि स नो मुञ्चत्वंहसः ॥ ७ ॥

अर्थ—(यस्य प्रदिशि इदं केवलं) जिसके शासनमें यह विश्व किसी अन्यकी अपेक्षा न करता हुआ रहा है (यत् विरोचते) जो इस समय प्रकट हो रहा है (यत् जातं जनितव्यं च केवलं) जो पहिले बना था और जो भविष्यमें केवल बनेगा, (नाथितः अग्निं स्तौमि जोहवीमि) सनाथ होकर मैं तेजस्वी देवकी स्तुति और पुकार करता हूं (सः नः अंहसः पातु) वह हमें पापसे बचावे ॥ ७ ॥

भावार्थ— जिसकी सहायतासे देवता लोग अमरत्व प्राप्त करते हैं, जिसने औषधियां मधुर रसवाली बनायी हैं, जिसने देवता लोगोंमें आत्मिक बल भर दिया है वह देव हमें पापसे बचावे ॥ ६ ॥

भूत, भविष्य और वर्तमान समयोंमें प्रकाशित होनेवाला यह संपूर्ण विश्व जिसके शासनमें रहता है उसकी मैं स्तुति, प्रार्थना और उपासना करके याचना करता हूं कि वह परमेश्वर हमें पापसे बचावे ॥ ७ ॥

पापसे मुक्ति।

मनुष्यमें पापका भाव रहता है जो हरएककी उन्नतिके पथमें रुकावटें उत्पन्न करता है। इसलिये पाप भावसे बचनेका उपाय हरएकको करना चाहिये। यहां २३ से २९ ये सात सूक्त इसी उद्देश्यके आ गये हैं, इन सातोंका ऋषि ' मृगार ' है। इस ऋषिके नामका अर्थ ' आत्मशुद्धि करनेवाला ' ऐसा है। इस २३ वें सूक्तमें अग्नि नामसे बोधित होनेवाले परमेश्वरकी सहायतासे पाप मुक्त होनेका उपदेश है। इस पृथ्वीपर पहिली प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाली शक्ति ' अग्नि ' है, ' अग्निमें प्रकाशकताका गुण तथा अन्यान्य गुण जो विद्यमान हैं वे जिस परमेश्वरने रखे हैं वही सच्चा अग्निका अग्नि है। इस दृष्टिसे यहां अग्नि पदका प्रयोग किया गया है।

जो देव सबसे पहिला है अर्थात् जिसके पूर्वका कोई देव नहीं, जो ज्ञानी है, जो पञ्चजनोंके हृदयोंमें निवास करता है, हरएकके अन्दर जो प्रविष्ट हुआ है, जो यज्ञका चलानेवाला है, हरएक समयमें जिसकी सहायतासे हमारी स्थिति होती है, प्रत्येक कर्म जिसकी पूजाके लिये किया जाता है, जो दुष्टोंको दूर करता है और यज्ञद्वारा जो सज्जनोंका संगतिकरण करता है, इस प्रकार दुष्टोंका बल घटाकर जो सज्जनोंकी रक्षा करता है, जो सर्वत्र प्रसिद्ध है, सर्वत्र व्यापक होता हुआ संपूर्ण जगत्का जो पालक है, जिसके लिये जैसा अन्न चाहिये वैसा उसके लिये जो उत्पन्न करता है, ज्ञानी लोग जिससे बल प्राप्त करते हैं, क्षत्रिय वीर जिससे शत्रुपर विजय प्राप्त करते हैं, दुष्ट रीतिसे व्यवहार करनेवालोंका जिसकी व्यवस्थासे पराभव होता है, जो सबको अमृतत्व देता है, जिसने औषधियोंमें विविध मधुर रस रखे हैं, जिससे आत्मिक बल प्राप्त होता है, और जिसका शासन सब भूत, भविष्य, वर्तमान संसारपर अबाधित रीतिसे चलता है अर्थात् जिसके शासनमें बाधा डालनेवाला कोई नहीं है वह एक ही प्रभु इस जगत्का पूर्ण शासक है, उसकी उपासना हम करते हैं, वह हमें निश्चय पूर्वक पापसे बचावेगा। उसके गुणोंका मनन करनेसे और उसके गुणोंको धारण अपने अन्दर करनेसे ही जो शुभ भावनाएं मनमें स्थिर होती हैं उससे पाप प्रवृत्ति हट जाती है। इसलिये परमेश्वर उपासना मनुष्यकी अन्तःशुद्धि करती है ऐसा कहते हैं यह बिलकुल सत्य है।

इस अग्निकी विभूति मनुष्यके अन्दर वाणीका रूप धारण करके रहती है ' अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत् ' ऐसा ऐतरेय उपनिषद्में कहा है। इससे वाणीसे पाप न करनेका निश्चय करना चाहिये। विचार, उच्चार और आचार यह क्रम है, मनसे विचार होता है, पश्चात् वाणीसे उच्चार होता है और नंतर शरीरसे कर्म होता है। इससे स्पष्ट है कि विचारके पश्चात् उच्चारका पातक होता है। पाठक अपने ही पासके संसारमें देखेंगे तो उनको पता लग जायगा कि वाणीका प्रयोग ठीक रीतिसे न होनेके कारण ही जगत्में कितने झगडे और पाप हो रहे हैं। यह बात तो सबके परिचयकी है कि वाणीका योग्य उपयोग करनेसे प्रचंड अनर्थ टल जाते हैं। इसलिये जो पापसे बचना चाहते हैं वे अपने वाणीको सबसे पहले शुद्ध करें और पापसे बचें।

अब अगला सूक्त देखिये—

[सूक्त २४]

(ऋषिः — मृगारः । देवता — इन्द्रः ।)

इन्द्रस्य मन्महे शश्वदिदस्य मन्महे वृत्रघ्न स्तोमा उप मेम आगुः ।
यो दाशुषः सुकृतो हवमेति स नो मुञ्चत्वंहसः ॥ १ ॥
य उग्रीणामुग्रबाहुर्ययुर्यो दानवानां बलमारुरोज ।
येन जिताः सिन्धवो येन गावः स नो मुञ्चत्वंहसः ॥ २ ॥
यश्चर्षणिप्रो वृषभः स्वर्विद्यस्मै ग्रावाणः प्रवदन्ति नृम्णम् ।
यस्याध्वरः सप्तहोता मदिष्ठः स नो मुञ्चत्वंहसः ॥ ३ ॥
यस्य वशास ऋषभास उक्षणो यस्मै मीयन्ते स्वरवः स्वर्विदे ।
यस्मै शुक्रः पवते ब्रह्मशुम्भितः स नो मुञ्चत्वंहसः ॥ ४ ॥

अर्थ— (**इन्द्रस्य मन्महे**) इन्द्रका हम ध्यान करते हैं, (**अस्य वृत्रघ्नः इत् शश्वत् मन्महे**) इस शत्रुनाशक प्रभुका निश्चयसे हम सदा ध्यान करते हैं, (**इमे स्तोमाः मा उप मा अगुः**) ये इसके स्तोम मेरे पास आगये हैं। (**यः दाशुषः सुकृतः हवं एति**) जो दानी सत्कार्यके कर्ताके पुकारको सुनकर आता है (**सः नः अंहसः मुञ्चतु**) वह हमें पापसे बचावे ॥ १ ॥

(**यः उग्रबाहुः**) जो बलवान वीर (**उग्राणां ययुः**) प्रचण्ड वीरोंका भी चालक है और जो (**दानवानां बलं आरुरोज**) असुरोंके बलको तोड देता है, (**येन सिन्धवः गावः जिताः**) जिसने नदियां और गौवें जीतकर वशमें की हैं (**सः नः अंहसः मुञ्चतु**) वह हमें पापसे बचावे ॥ २ ॥

(**यः चर्षणिप्रः वृषभः स्वर्विद्**) जो मनुष्योंको पूर्ण करनेवाला, बलवान् और आत्मिक प्रकाशको पास रखनेवाला है, (**ग्रावाणः यस्मै नृम्णं प्रवदन्ति**) ये पत्थर जिसके पास बल है ऐसा कहते हैं, (**यस्य सप्त होता अध्वरः मदिष्ठः**) जिसके सात होतागण जिसमें कार्य करते हैं ऐसा अहिंसामय यज्ञ अत्यंत आनन्द देनेवाला है (**सः नः अंहस मुञ्चतु**) वह हमें पापसे बचावे ॥ ३ ॥

(**यस्य वशासः ऋषभासः उक्षणः**) जिसके कार्यके लिये गौवें, बैल और सांड होते हैं, (**यस्मै स्वर्विदः स्वरवः मीयन्ते**) जिस आत्मिक बलवालेके लिये सब यज्ञ होते हैं (**यस्मै ब्रह्मशुम्भितः शुक्रः पवते**) जिसके लिये वेदोच्चारसे पवित्र हुआ सोम शुद्ध किया जाता है (**सः नः अंहसः मुञ्चतु**) वह हमें पापसे बचावे ॥ ४ ॥

भावार्थ— सब जगत्के प्रभुका हम ध्यान करते हैं, उसके गुणोंका हम मनन करते हैं, वह शत्रुओंका नाश करनेवाला प्रभु है उसके प्रशंसाके स्तोत्र ही हमारे मनके सन्मुख आते हैं। निःसंदेह वह सत्कर्म करनेवाले दानी महोदयकी प्रार्थना सुनता है। वह हमें पापसे बचावे ॥ १ ॥

जो बलवान् प्रभु वीरोंको भी वीर्य देनेवाला है, दुष्टोंके बलका जो नाश करता है, जिसका अमृत रस धारण करती हुई नदियां और गौवें इस पृथ्वीपर विचरती हैं वह प्रभु हमें पापसे बचावे ॥ २ ॥

जो मनुष्योंको पूर्ण बनानेवाला बलवान् और आत्मशक्तिका ज्ञाता है। साधारण पत्थर भी जिसके बलकी प्रशंसा करते हैं और जिसके लिये सब यज्ञ चलाये जाते हैं वह प्रभु हमें पापसे बचावे ॥ ३ ॥

जिसके यज्ञकर्ममें गौ, बैल आदि पशु भी अपना बल लगाते हैं, जिसके आत्मिक बलके लिये ही अनेक यज्ञ किये जाते हैं, जिसके यज्ञमें मंत्रोंसे पवित्र हुआ सोम शुद्ध किया जाता है वह प्रभु हमें पापसे बचावे ॥ ४ ॥

यस्य जुष्टिं सोमिनः कामयन्ते यं हवन्त इषुमन्तं गविष्टौ ।
यस्मिन्नर्कः शिश्रिये यस्मिन्नोजः स नो मुञ्चत्वंहसः ॥ ५ ॥
यः प्रथमः कर्मकृत्याय जज्ञे यस्य वीर्यं प्रथमस्यानुबुद्धम् ।
येनोद्यतो वज्रोऽभ्यायताहिं स नो मुञ्चत्वंहसः ॥ ६ ॥
यः संग्रामान्नयति सं युधे वशी यः पुष्टानि संसृजति द्वयानि ।
स्तौमीन्द्रं नाथितो जोहवीमि स नो मुञ्चत्वंहसः ॥ ७ ॥

अर्थ — (सोमिनः यस्य जुष्टिं कामयन्ते) सोमयाजक जिसकी प्रीतिकी इच्छा करते हैं, (यं इषुमन्तं गविष्टौ हुवन्ते) जिस शस्त्रवालेको इच्छापूर्तिके लिये पुकारते हैं (यस्मिन् अर्कः शिश्रिये) जिसमें सूर्य आश्रय लेता है (यस्मिन् ओजः) जिसमें बल रहा है (सः नः अंहसः मुञ्चतु) वह हमें पापसे बचावे ॥ ५ ॥

(यः प्रथमः कर्मकृत्याय जज्ञे) जो पहिला कर्म करनेके लिये ही प्रकट हुआ है । (यस्य प्रथमस्य वीर्यं अनुबुद्धम्) जिस अद्वितीय देवका पराक्रम सर्वत्र जाना जाता है, (येनः उद्यतः वज्रः अहिं अभ्यायत) जिससे उठाया वज्र शत्रुका सब प्रकारसे हनन करता है (सः नः अंहसः मुञ्चतु) वह हमें पापसे बचावे ॥ ६ ॥

(यः वशी संग्रामान् युधे सं नयति) जो वशमें रखनेवाला योद्धाओंके समूहोंको युद्ध करनेके लिये चलाता है (यः द्वयानि पुष्टानि संसृजति) जो दोनों पुष्टोंको संगतिके लिये छोडता है इस प्रकारके (इन्द्रं नाथितः स्तौमि) प्रभुकी उस नायके वशमें रहता हुआ मैं स्तुति करता हूं और (जोहवीमि) उसको बार बार पुकारता हूं (सः नः अंहसः मुञ्चतु) वह हमें पापसे बचावे ॥ ४ ॥

भावार्थ— जिसकी संतुष्टिके लिये सोमयाजक यज्ञ करते हैं, जिसकी प्रार्थना अपनी इच्छापूर्तिके लिये की जाती है, जिसके आधारसे सूर्य जैसे गोल रहे हैं इतना प्रचंड बल जिसमें है वह प्रभु हमें पापसे बचावे ॥ ५ ॥

जो जगद्रूपी कार्य करनेके लिये ही पहलेसे प्रकट हुआ है, इस कार्यसे जिसका बल जाना जाता है, जिसके वज्रके सन्मुख कोई शत्रु खडा नहीं रह सकता, वह प्रभु हमें पापसे बचावे ॥ ६ ॥

जो सबको वशमें रखता है, जो धर्मयुद्धके लिये प्रेरित करता है, जो दोनों बलवानोंको मित्रता करनेके लिये प्रेरित करता है, उसकी आज्ञामें रहता हुआ मैं उसकी प्रार्थना करता हूं कि वह हमें पापसे बचावे ॥ ७ ॥

पापसे बचाव ।

अग्निके उद्देश्यसे परमात्माकी प्रार्थना गत सूक्तमें की गई, अब इस सूक्तमें परमेश्वरकी प्रार्थना इन्द्र नामसे की गई है । इन्द्र बलकी देवता है, सबमें जो बलका संचार होता है वह इन्द्रके प्रभावसे ही है । इन्द्रके बलसे ही सब बलवान् हुए हैं । बलके बिना कृमिकीट पतंग भी नहीं ठहर सकते यह दर्शानेके लिये तृतीय मंत्रमें कहा है कि—

ग्रावाणः यस्मै नृम्णं प्रवदन्ति । (सू. २४, मं. ३)

' ये पत्थर बल जिसके लिये कहते हैं । ' अर्थात् बलके लिये जिसकी प्रशंसा करते हैं । बल इसीके पाससे प्राप्त होता है ऐसा निश्चयपूर्वक बताते हैं । पत्थर कहते हैं कि अपने अंदर जो बल है, जो दृढता है, और जो शक्ति है वह उसीकी है । जिस प्रभुके लिये ये सब यज्ञ होते हैं । यह साक्षी जैसी पत्थर देते हैं इसी प्रकार हरएक पदार्थ दे सकता है, क्योंकि हरएक पदार्थका बल उसीसे प्राप्त हुआ होता है ।

यह ईश्वर (प्रथमः) आदि देव है और इसका प्रकट होना (कर्मकृत्याय) इस जगद्रूपी कर्म करनेके लिये ही है । अर्थात् यह प्रकट होकर जगद्रूपी कार्य करता है किंवा इस जगद्रूपी बडे कार्यको देखनेसे ही उसके अस्तित्वका ज्ञान होता है और (अस्य प्रथमस्य वीर्यं अनुबुद्धं) इस आदि देवके बल और पराक्रमका ज्ञान हो सकता है । यदि यह बडा कार्य सन्मुख न आता तो किसको कैसा उसका पता लग सकता है ।' यह प्रचंड सामर्थ्य इसी प्रभुका है इस लिये कोई शत्रु इसके सन्मुख खडा रह नहीं सकता । यह तो—

उग्रीणां उग्रबाहुः। (सू. २४, मं. २)

'वह उग्रवीरोंको भी वीर्य देनेवाला बाहुबलशाली वीर है' अर्थात् हमारे सबसे उग्र जो वीर हैं वे उसके वीर्यसे वीर्यवान् हुए हैं, उसके बलसे बलिष्ठ और उसके सामर्थ्यसे समर्थ बने हैं। यह अनुभव यदि वीर पुरुष करेंगे तो उनकी समर्थता विशेष प्रभावशाली होगी। इस लिये निवेदन है कि कोई अपने बलकी घमंडसे दूसरोंको कष्ट न पहुंचावे। जिस बलके कारण उसके मनमें घमंड उत्पन्न होती है वह बल तो उसी प्रभुका है, यदि वह अपना बल वापस लेगा तो फिर किस बलके कारण ये लोग घमंड करेंगे? इसका विचार करके अपने बलसे दूसरोंको लाभ पहुंचानेका यत्न करें न की दूसरोंको दबानेका। यही उपाय पापसे बचनेका है।

वीर लोग इसीके बलसे प्रेरित होकर युद्ध करते हैं। धर्म-युद्ध करनेवाले भी इसीके बलसे युक्त होते हैं, यही सबका सचा नाथ है। जो लोग इसको नाथ मानकर अपने आपको सनाथ समझेंगे, वेही पापसे बच सकते हैं।

सब यज्ञकर्ता अपने यज्ञ इसीकी प्रीतिके लिये करते हैं। सब यज्ञोंमें इसीके लिये हवन किया जाता है, यज्ञमें दिया हुआ दान इसीको पहुंचता है और वह दाताकी कामना पूर्ण करता है इस परमेश्वरकी भक्तिसे मनुष्य पवित्र बनें और पापसे बचें।

[सूक्त २५]

(ऋषिः — मृगारः। देवता — सविता, वायुः।)

वायोः सवितुर्विदथानि मन्महे यावात्मन्वद्विशथो यौ च रक्षथः।
यौ विश्वस्य परिभू बभूवथुस्तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ १ ॥
ययोः संख्याता वरिमा पार्थिवानि याभ्यां रजो युपितमन्तरिक्षे।
ययोः प्रायं नान्वानशे कश्चन तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ २ ॥
तव व्रते नि विशन्ते जनासस्त्वय्युदिते प्रेरते चित्रभानो।
युवं वायो सविता च भुवनानि रक्षथस्तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ ३ ॥

अर्थ— (**वायोः सवितुः**) वायु और सविता इन दो देवोंके (**विदथानि मन्महे**) जानने योग्य गुणोंका हम मनन करते हैं। (**यौ आत्मन्वत् जगत् विशथः**) जो दोनों आत्मावाले जंगम जगत्में प्रविष्ट होते हैं (**यौ च रक्षथः**) और जो दोनों रक्षा करते हैं। (**यौ विश्वस्य परिभू बभूवथुः**) जो दोनों संपूर्ण जगत्के तारक होते हैं (**तौ नः अंहसः मुञ्चतं**) वे दोनों हमें पापसे बचावें ॥ १ ॥

(**ययोः पार्थिवानि वरिमा संख्याताः**) जिन दोनोंके पृथिवीके ऊपरके विविध कर्म गिन लिये हैं। (**याभ्यां अन्तरिक्षे रजः युपितं**) जिन दोनोंने मिलकर अन्तरिक्षमें मेघमंडलको धारण किया है, (**कश्चन ययोः प्रायं न अन्वानशे**) कोई भी जिनकी गतिको नहीं प्राप्त होता है (**तौ नः अंहसः मुञ्चन्तं**) वे दोनों हमें पापसे बचावें ॥ २ ॥

हे (**चित्रभानो**) विचित्र प्रभायुक्त! (**तव व्रते जनासः नि विशन्ते**) तेरे व्रतमें ही सब मनुष्य रहते हैं। (**त्वयि उदिते प्रेरते**) तेरा उदय होनेपर कार्यमें प्रेरित होते हैं। हे (**वायो सविता च**) वायो और हे सविता! (**युवं भुवनानि रक्षथ**) तुम दोनों सब प्राणियोंकी रक्षा करते हो (**तौ नः अंहसः मुञ्चतं**) वे दोनों हमें पापसे बचावें ॥ ३ ॥

भावार्थ— विश्वमें वायु और सूर्य (तथा शरीरमें प्राण और नेत्र) ये दोनों अनेक प्रकारसे प्राणिमात्रकी धारणा करते हैं। ये सब प्राणियोंमें व्यापक होकर उनकी रक्षा करते हैं। ये दोनों सब जगत्के तारक होते हैं इसलिये ये हमें पापसे बचावें ॥ १ ॥

इन दोनोंके अनंत कर्म हैं। ये ही अन्तरिक्षमें मेघमंडलका धारण करते हैं। इनके साथ किसी अन्यकी तुलना नहीं हो सकती है। ये दोनों हमें पापसे बचावें ॥ २ ॥

अपेतो वायो सविता च दुष्कृतमप रक्षांसि शिमिदां च सेधतम् ।
सं ह्यूर्जया सृजथः सं बलेन तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ ४ ॥

रयिं मे पोषं सवितोत वायुस्तनू दक्षमा सुवतां सुशेवम् ।
अयक्ष्मतातिं मह इह धत्तं तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ ५ ॥

प्र सुमतिं सवितर्वाय ऊतये महस्वन्तं मत्सरं मादयाथः ।
अर्वाग्वामस्य प्रवतो नि यच्छतं तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ ६ ॥

उप श्रेष्ठा न आशिषो देवयोर्धामन्नस्थिरन् ।
स्तौमि देवं सवितारं च वायुं तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ ७ ॥

॥ इति पञ्चमोऽनुवाकः ॥

अर्थ— हे (**वायो सवितः च**) वायो और सविता ! (**इतः दुष्कृतं अप सेधतं**) यहांसे दुष्कर्म करनेवालोंको दूर हटा दो तथा (**रक्षांसि शिमिदां च**) घातकों और पीडकोंको भी दूर करो। (**ऊर्जया बलेन हि सं सृजथः**) शारीरिक और आत्मिक बलसे हमें संयुक्त करो और (**तौ नः अंहसः मुञ्चतं**) वे तुम दोनों हमें पापसे बचाओ ॥ ४ ॥

हे सविता और हे वायो ! (**मे तनू**) मेरे शरीरमें (**सुसेवं रयिं**) सेवन करने योग्य कान्ति और (**पोषं दक्षं**) पुष्टियुक्त बल (**आ सुवतां**) उत्पन्न करें (**इह महः अयक्ष्मतातिं धत्तं**) यह बडी नीरोगता धारण करें और (**तौ नः अंहसः मुञ्चतं**) वे तुम दोनों हमें पापसे बचाओ ॥ ५ ॥

हे सविता और हे वायो ! (**ऊतये सुमतिं प्र यच्छतं**) रक्षाके लिये उत्तम बुद्धि दान करो। (**प्रवतः वामस्य अर्वाक् नि यच्छतं**) प्रकर्षयुक्त धनका भाग हमें प्रदान करो। तथा (**महस्वन्तं मत्सरं मादयाथः**) वृद्धि करनेवाला सोमादि अन्न तृप्तिके लिये दो और (**तौ नः अंहसः मुञ्चतं**) वे तुम दोनों हमें पापसे बचाओ ॥ ६ ॥

(**नः श्रेष्ठाः आशिषः**) हमारी श्रेष्ठ आकांक्षाएं (**देवयोः धामन् उप अस्थिरन्**) उक्त दोनों देवोंके धाममें स्थिर होवें। (**सवितारं वायुं च देवं स्तौमि**) सविता और वायु देवकी मैं स्तुति करता हूं इसलिये कि (**तौ नः अंहसः मुञ्चतं**) वे दोनों हमें पापसे बचावें ॥ ७ ॥

भावार्थ— सूर्य विचित्र तेजवाला है, (शरीरमें आंख भी वैसी ही है) इसके उदय होने अर्थात् खुल जानेके पश्चात् ही प्राणोंकी प्रवृत्ति कार्यमें होती है। विश्वमें वायु और सूर्य (तथा शरीरमें प्राण और आंख) प्राणियोंकी रक्षा करते हैं वे हमें पापसे बचावें ॥ ३ ॥

ये दोनों सबको दुराचारसे बचावें, घातकों और पीडकोंको सर्वथा दूर करें, शारीरिक शक्ति और आत्मिक बल प्रदान करें और हमें पापसे बचावें ॥ ४ ॥

इन दोनोंसे मेरे शरीरमें तेजस्विता, पुष्टि, बल और नीरोगता प्राप्त हो और वे हमें पापसे बचावें ॥ ५ ॥

ये दोनों हमारी रक्षा करनेके लिये हमें शुद्ध बुद्धि, उत्कर्षको ले जानेवाला धन और पोषक अन्न देवें और हमें पापसे बचावें ॥ ६ ॥

ये हमारी श्रेष्ठ आकांक्षायें ये दोनों देव सुनें और पूर्ण करें तथा हमें पापसे बचावें ॥ ७ ॥

सविता और वायु ।

सविता और वायु इन दो देवोंका वर्णन इस सूक्तमें है। सूर्य और हवा यह इनका प्रसिद्ध अर्थ है। मनुष्यके आरोग्यके लिये सूर्य और वायुका कितना उपयोग है यह सब जानते ही हैं। सूर्य न रहा और वायु न रहा तो मनुष्यका जीवन उसी समय नष्ट होगा। सूर्यप्रकाश विपुल मिलनेसे और शुद्ध वायु विपुल प्राप्त होनेसे मनुष्य नीरोग हो सकता है और अंधेरे घरमें रहनेसे और दूषित वायुमें रहनेसे विविध प्रकारकी बीमारियां मनुष्यके पीछे लगती हैं। यह विषय वेदमें अनेक स्थानोंपर आ गया है तथा यह विषय अब सर्वसाधारणको भी ज्ञात हुआ है। इसलिये इन दो देवोंका हमारी नीरोगताके साथ कितना घनिष्ठ संबंध है यह यहां विशेष निरूपण करनेकी आवश्यकता नहीं है।

सूर्य देवता ।

'**सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च**' (ऋग्वेद) यह ऋग्वेदमें कहा है। सूर्य स्थावर जंगमका आत्मा ही है। इतना सूर्यका महत्त्व है। सूर्यके कारण ही स्थावरजंगम पदार्थ रहते हैं, सबकी स्थिति सूर्यके कारण है, इतना सूर्यका महत्त्व होनेसे सूर्यदेवका संबंध हमारे आरोग्यसे कितना है यह स्वयं ज्ञात हो सकता है।

यह सूर्य हमारे शरीरमें अपने एक अंशसे नेत्र इंद्रियमें रहा है। '**सूर्यश्चक्षुर्भूत्वाक्षिणी प्राविशत्।**' (ऐ० उप०) सूर्य आंख बनकर चक्षुओंमें रहा है। नेत्र इंद्रिय स्वयं प्रकाश है, इस नेत्रसे प्रकाशका किरण निकलता है और उसका परिणाम बाह्य पदार्थपर होता है। ब्रह्मचर्यादि सुनियमयुक्त व्यवहारोंसे यह अपने अन्दरका सामर्थ्य बढता है और अनियमसे घटता भी है। यह नेत्रस्थानमें रहा हुआ सूर्यका अंश हमें योग्य और अयोग्य पदार्थोंका दर्शन कराता है। इस नेत्रेन्द्रियका पिता सूर्य है। यह नेत्र अपने पितासे प्रकाशकी सहायता लेकर यहांका कार्य चलाता है और विविध रूपोंको बताता है। अपनी उन्नतिका साधन करनेवालोंका दर्शन करने और अवनति करनेवालोंका दर्शन न करनेसे साधक पापसे बच जाता है। यह है सूर्य देवका पापसे बचानेका कार्य। पवित्र दृष्टिसे अनेक प्रकार पापसे बचना संभव है। सब सृष्टिको परमात्मशक्तिरूप मानने और देखनेसे मनुष्यकी दृष्टि ही पवित्र हो जाती है। दृष्टिकी पवित्रता होनेसे मनुष्य पापसे बच जाता है। मनुष्य जो पाप करता है वह दृष्टिके दोषसे ही करता है। विचार करनेसे पाठकोंको स्वयं ज्ञात होगा कि दृष्टिकी पवित्रतापर ही बहुत सारी मनुष्यकी शुद्धता निर्भर है। दृष्टि बंद रही तो काम, लोभ, मोह आदि विकार उतने प्रमाणसे कुछ अंशमें कम रहेंगे।

वाणी, बल और नेत्र ।

पूर्व सूक्तोंमें अग्निके मिषसे वाणिकी शुद्धता, इन्द्रके मिषसे बलकी पवित्रता और इस सूक्तमें सूर्यके मिषसे नेत्र इंद्रियकी पवित्रता प्राप्त करनेकी सूचना कही है। पापसे बचनेका अनुष्ठान यह है। इस प्रकार अपने अंदरकी शक्तियोंको पवित्र और पुनीत करनेसे मनुष्य पापसे बचता है। यह अनुष्ठान करनेसे बाह्य देवताओंकी सहायता सदा उपस्थित रहती ही है, परंतु उस सहायतासे वेही लोग लाभ उठा सकते हैं, जो पूर्वोक्त प्रकार अपनी अन्तःशुद्धि करनेका अनुष्ठान करते रहते हैं। अन्योंको वैसा लाभ नहीं हो सकता।

सूर्यचक्र ।

सूर्यका दूसरा अंश पेटके पास सूर्यचक्रमें रहता है इसका अधिकार पचन इंद्रियपर रहता है। पेटके बराबर पीछे यह चक्र है। इसमें सूर्य शक्ति रहती है जो अन्न पाचनका कार्य करती है। इसके कार्यके लिये ही सोम आदि अन्न रस दिये हैं। (मं. ६) ऐसे शुद्ध अन्नका भक्षण करना और अशुद्ध अन्नका सेवन न करना, यह पथ्य उनको संभालना चाहिये, जो पापसे बचना चाहते हैं। अशुद्ध अन्नसे मनकी वृत्ति ही दुष्ट बनती है और शुद्ध अन्नके सेवनसे पवित्र बनती है, जो पवित्र बनना चाहते हैं वे इसका अवश्य मनन करें।

प्राण ।

अब वायुका विचार करना चाहिये। '**वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्।**' (ऐ० उ०) वायु प्राण बनकर नाकके द्वारा फेफडोंमें जाता है और वहां रक्तकी शुद्धि करता है। इसके शुद्धता करनेके कारण ही प्राणी जीवित रहते हैं। इसके अशुद्ध होनेके कारण प्राणी मर जाते हैं इस प्रकार यह जीवनका हेतु है। योगशास्त्रमें इसी प्राणका आयाम 'प्राणायाम' कहलाता है। जिस प्रकार धौंकनीसे वायु देकर प्रदीप्त किये अग्निमें सुवर्ण आदि धातु परिशुद्ध होते हैं, इसी प्रकार प्राणायामद्वारा उत्पन्न होनेवाले अग्निप्रदीपनसे शरीरके और इंद्रियोंके सब दोष नष्ट होते हैं। मन शान्त होता है तर्क, वितर्क और कुतर्क नहीं करता। इस कारण आत्मिक शक्तिकी उन्नति होनेमें सहायता होती है। पापसे बचनेमें वायु देवताकी सहायता इस प्रकार होती है। अनुष्ठान करनेवाला पुरुष जब अपने अंदर रहनेवाले इन देवोंको ठीक मार्गपर चलाता है, तब बाहरके देवोंकी सहायता स्वयमेव उसको प्राप्त होती है। यह पापसे बचनेका अनुष्ठान है। पाठक इसको अपने अंदर घटावें और लाभ उठावें।

॥ यहां पञ्चम अनुवाक समाप्त ॥

पाप-मोचन।

[सूक्त २६]

(ऋषिः — मृगारः। देवता - द्यावापृथिवी।)

मन्वे वां द्यावापृथिवी सुभोजसौ सचेतसौ ये अप्रथेथाममिता योजनानि।
प्रतिष्ठे ह्यभवतं वसूनां ते नो मुञ्चतमंहसः ॥ १ ॥
प्रतिष्ठे ह्यभवतं वसूनां प्रवृद्धे देवी सुभगे उरूची।
द्यावापृथिवी भवतं मे स्योने ते नो मुञ्चतमंहसः ॥ २ ॥
असन्तापे सुतपसौ हुवेऽहमुर्वी गम्भीरे कविभिर्नमस्ये।
द्यावापृथिवी भवतं मे स्योने ते नो मुञ्चतमंहसः ॥ ३ ॥
ये अमृतं बिभृथो ये हवींषि ये स्रोत्या बिभृथो ये मनुष्यान्।
द्यावापृथिवी भवतं मे स्योने ते नो मुञ्चतमंहसः ॥ ४ ॥
ये उस्रिया बिभृथो ये वनस्पतीन्ययोर्वां विश्वा भुवनान्यन्तः।
द्यावापृथिवी भवतं मे स्योने ते नो मुञ्चतमंहसः ॥ ५ ॥

अर्थ— हे द्यावा पृथिवी! (**सुभोजसौ सचेतसौ**) तुम दोनों उत्तम भोग देनेवाले, और उत्तम ज्ञानवाले हो। (**वां मन्वे**) तुम दोनोंका मैं मनन करता हूं। (**ये अमिता योजनानि अप्रथेथां**) जो तुम दोनों अपरिमित योजनोंकी दूरीतक फैले हो, (**हि वसूनां प्रतिष्ठे अभवतां**) क्योंकि तुम दोनों निवास करनेवाले प्राणी आदिकोंको आधार देनेवाले होते हो (**ते नः अंहसः मुञ्चतं**) वे तुम दोनों हमें पापसे बचाओ ॥ १ ॥

तुम दोनों (**प्रवृद्धे सुभगे उरूची देवी**) बडे विशाल, उत्तम ऐश्वर्यसे युक्त विस्तृत देवियां (**वसूनां प्रतिष्ठे हि अभवतं**) निवास करनेवालोंको आश्रय देनेवाली हो। ये (**द्यावापृथिवी मे स्योने भवतं**) द्यावापृथिवी मेरे लिये सुखदायी हों और (**ते नः अंहसः मुञ्चतं**) वे दोनों हमें पापसे बचावें ॥ २ ॥

(**अहं**) मैं (**सुतपसौ असन्तापे**) उत्तम तेजस्वी परंतु संताप न देनेवाली (**कविभिः नमस्ये उर्वी गभीरे**) कवियों द्वारा नमन करने योग्य बडी लंबी चौडी और बडी गंभीर द्यावा पृथिवीकी (**हुवे**) प्रार्थना करता हूं। वे (**द्यावा०**) मेरे लिये सुख देनेवाली हों और हमें पापसे बचावें ॥ ३ ॥

(**ये अमृतं ये हवींषि बिभृथः**) जो तुम दोनों अमृतरूपी जल और अन्नका धारण करती हो, (**ये स्रोत्याः ये मनुष्यान् बिभृथः**) जो नदी आदि प्रवाहोंको और जो मनुष्योंको धारण करती हो। वे तुम (**द्यावा०**) द्यावापृथिवी मेरे लिये सुख देनेवाली बनो और हमें पापसे बचाओ ॥ ४ ॥

(**ये उस्रियाः ये वनस्पतीन् बिभृथः**) जो तुम दोनों गौओं और वनस्पतियोंका धारण पोषण करती हो; (**ययोः वां अन्तः विश्वा भुवनानि**) जिन तुम दोनोंके बीचमें सब भुवन हैं, वे (**द्यावा०**) तुम द्यावा पृथिवी मेरे लिये सुखदायक हों और वे हमें पापसे बचावें ॥ ५ ॥

ये कीलालेन तर्पयथो ये घृतेन याभ्यामृते न किं चन शक्नुवन्ति ।
द्यावापृथिवी भवतं मे स्योने ते नो मुञ्चतमंहसः ॥ ६ ॥
यन्मेदमभिशोचति येनयेन वा कृतं पौरुषेयान्न दैवात् ।
स्तौमि द्यावापृथिवी नाथितो जोहवीमि ते नो मुञ्चतमंहसः ॥ ७ ॥

अर्थ— (ये कीलालेन ये घृतेन तर्पयथः) जो तुम दोनों अन्न और पेयसे सबको तृप्त करते हो, (याभ्यां ऋते किंचन न शक्नुवन्ति) जिन तुम दोनोंके बिना कोई भी कुछ भी कर नहीं सकते, वे तुम (द्यावा०) द्यावा पृथिवी मेरे लिये सुखदायी बनो और हमको पापसे बचाओ ॥ ६ ॥

(येन येन वा पौरुषेयेण कृतं) जिस किसी कारणसे पुरुष प्रयत्नसे किया हुआ, (न दैवात्) दैवकी प्रेरणासे किया हुआ नहीं, (यत् इदं मे अभिशोचति) जो यह मुझे शोकमें डालता है, उस कष्टको दूर करनेके लिये (द्यावा पृथिवी स्तौमि) द्यावा पृथिवीकी मैं स्तुति करता हूं और (नाथितः जोहवीमि) मैं उनसे सनाथ होकर पुकारता हूं कि (ते नः अंहसः मुञ्चन्तु) वे दोनों हम सबको पापसे बचावें ॥ ७ ॥

द्यावा पृथिवी।

यह सूक्त मृगार सूक्तोंमें पापमोचन विषयका चतुर्थ सूक्त है। और इसमें द्युलोक और पृथिवी लोकके योगसे पातकसे मुक्त होनेकी आकांक्षा की है। पृथिवी लोक वह है जिसके ऊपर हम रहते हैं और द्युलोक वह है जो तारोंसे युक्त आकाश है। अर्थात् यह सब ब्रह्माण्ड इनके बीचमें समाया है। कोई चीज इनसे बाहर नहीं है। जितनी सब शक्तियां हैं इनके बीचमें आ गई हैं। इन सब शक्तियोंको सहायतासे हमें अपना सुधार करके पापसे मुक्त होना है।

ये द्यावापृथिवी देवता (अमिता योजना। मं. १) अगणित योजन विस्तृत हैं। ये कितने विस्तृत हैं इसका गणित नहीं हो सकता। आकाशका विस्तार जाना नहीं जा सकता है और न गिना जाता है। संक्षेपसे कहना हो तो इतना ही कहा जा सकता है कि ये दोनों (प्रवृद्धे उरूची। मं. २; उर्वी, गंभीरे। मं. ३) बडे विस्तृत महान् गंभीर हैं अर्थात् बडे गहरे हैं। तथापि इनकी गहराईका किसीको पता नहीं लग सकता।

ये दोनों हरएक पदार्थ मात्रके लिये (प्रतिष्ठे) आधार देती हैं। इनकी शक्तियोंका विचार करनेसे (स-चेतसौ) मनमें एक प्रकारका स्फुरण होता है, इसलिये (कविभिः नमस्ये) कवि लोक इनके विषयमें बडा आदर धारण करते हैं, इनमें सूर्यादि तेजस्वी गोल (सु-तपसौ) उत्तम प्रकार प्रकाशित हो रहे हैं तथापि ये किसीको (अ-सन्तापे) सन्ताप नहीं देते, प्रत्युत संतप्त हृदय जब इनकी ओर दृष्टिक्षेप करता है तब उनके हृदयका दुःख दूर होता है और वहां शान्तिका राज्य होता है।

ये दोनों लोक (सु-भोजसौ) उत्तम भोजन देते हैं। (कीलालेन तर्पयतः) अन्नसे संतुष्ट करते हैं और जब तृषा लगती है तब भी (घृतेन) जलसे शान्ति देते हैं। क्यों कि इनके अंदर (अमृतं हवींषि बिभ्रतः) जल और अन्न रहता है। इनके अंदर (उस्रियाः) गौवें हैं जो उत्तम दूध देती हैं, तथा उत्तम वनस्पतियां हैं जो उत्तम रस देती हैं। इस कारण इन दोनोंसे सबका पालन पोषण होता है। मनुष्योंको जिस समय शोक होता है उस समय मनुष्य पृथ्वी या आकाशके उत्तम दृश्य देखें और उनमें दिव्यताका अनुभव करें। इससे उनका शोक पूर्णतया दूर हो सकता है। द्युलोक पिता है और पृथ्वी माता है। मानो, यह दोनों मिलकर एक गृहस्थीका परिवार है। देखो, ये कैसे अपनी सब शक्तियोंसे परोपकार कर रहे हैं। ये अपने तेजसे हमें मार्ग बताते हैं, अन्नसे हमारी तृप्ति करते हैं, जलसे हमारी शान्ति बढाते हैं और अन्यान्य रीतिसे हमारी सहायता करते हैं। इसी प्रकार हम अपनी शक्तियोंका परोपकारार्थ व्यय करना चाहिये, हमें अपने अन्तःकरण इनके समान विस्तृत और उदार बनाना चाहिये। अपना जीवन जनताकी भलाईके लिये समर्पण करना चाहिये। और सब जगत्को एक परिवार मानकर सबके साथ इनके सदृश समान व्यवहार करना चाहिये। यह है पापमोचनका मार्ग।

[सूक्त २७]

(ऋषिः — मृगारः । देवता - मरुतः ।)

मरुतां मन्वे अधि मे ब्रुवन्तु प्रेमं वाजं वाजसाते अवन्तु ।
आशूनिव सुयमानह्व ऊतये ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ १ ॥
उत्समक्षितं व्यचन्ति ये सदा य आसिञ्चन्ति रसमोषधीषु ।
पुरो दधे मरुतः पृश्निमातॄंस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ २ ॥
पयो धेनूनां रसमोषधीनां जवमर्वतां कवयो य इन्वथ ।
शग्मा भवन्तु मरुतो नः स्योनास्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ ३ ॥
अपः समुद्राद्दिवमुद्वहन्ति दिवस्पृथिवीमभि ये सृजन्ति ।
ये अद्भिरीशाना मरुतश्चरन्ति ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ ४ ॥
ये कीलालेन तर्पयन्ति ये घृतेन ये वा वयो मेदसा संसृजन्ति ।
ये अद्भिरीशाना मरुतो वर्षयन्ति ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ ५ ॥
यदीदिदं मरुतो मारुतेन यदि देवा दैव्येनेदृगार ।
यूयमीशिध्वे वसवस्तस्य निष्कृतेस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ ६ ॥

अर्थ— (मरुतां मन्वे) मरुतोंका मैं मनन करता हूं कि वे (मे अधि ब्रुवन्तु) मुझे उपदेश दें और वे (इमं वाजं वाजसाते अवन्तु) इस अन्नकी अन्नदानके प्रसंगमें रक्षा करें। (सुयमान् आशून् इव) उत्तम नियमोंसे चलनेवाले घोडोंके समान इनको (ऊतये अह्वे) रक्षाके लिये मैं बुलाता हूं। (ते नः अंहसः मुञ्चन्तु) वे हमको पापसे बचावें ॥ १ ॥

(ये सदा अक्षितं उत्सं व्यचन्ति) जो सदा अक्षय जलप्रवाहको फैलाते हैं (ये ओषधीषु रसं आसिञ्चन्ति) जो औषधियोंमें रस सींचते हैं इस प्रकारके (पृश्निमातॄः मरुतः पुरः दधे) अन्तरिक्षरूप माताले उत्पन्न मरुतोंको मैं अपने सन्मुख रखता हूं, वे हमको पापसे बचावें ॥ २ ॥

(धेनूनां पयः) गौओंके दूधको (ओषधीनां रसं) औषधीयोंके रसको, (अर्वतां जवं) और घोडोंके वेगको (ये कवयः इन्वथ) जो तुम कवि होकर प्राप्त करते हो, वे (मरुतः नः शग्माः स्योनाः भवन्तु) मरुद्गण हमें शक्ति देने और सुख देनेवाले होवें और हमें पापसे बचावें ॥ ३ ॥

(ये समुद्रात् आपः दिवं उद्वहन्ति) जो समुद्रसे जलको द्युलोकतक पहुंचाते हैं और जो (दिवः पृथिवीं अभि सृजन्ति) द्युलोकसे पृथ्वीपर पुनः छोडते हैं (ये ईशानाः मरुतः अद्भिः चरन्ति) जो समर्थ मरुत् जलोंके साथ विचरते हैं वे हमें पापसे बचावें ॥ ४ ॥

(ये कीलालेन ये घृतेन तर्पयन्ति) जो अन्न और पेयसे सबकी तृप्ति करते हैं (ये वा वयः मेदसा संसृजन्ति) और जो अन्नको पुष्टिकारक पदार्थके साथ उत्पन्न करते हैं, (ये ईशानाः मरुतः अद्भिः वर्षयन्ति) जो समर्थ मरुत जलोंसे वृष्टि करते हैं, वे हमें पापसे बचावें ॥ ५ ॥

तिग्ममनीकं विदितं सहस्वन्मारुतं शर्धः पृतनासूग्रम्।
स्तौमि मरुतो नाथितो जोहवीमि ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ ७ ॥

अर्थ— हे (देवाः मरुतः) दिव्य मरुतो ! (यदि इदं मरुतेन) यदि यह जगत् वायुसे युक्त हुआ, (यदि दैव्येन ईदृक् आर) और यदि दिव्य शक्तिसे युक्त हुआ, तो हे (वसवः) निवासको ! (तस्य निष्कृतेः यूयं ईशिध्वे) उसके उद्धारके लिये तुम ही समर्थ हो, वे तुम हमें पापसे बचाओ ॥ ६ ॥

(मारुतं अनीकं शर्धः) मरुतोंका सैनिक बल (पृतनासु तिग्मं) सेनाओंमें तीक्ष्ण और (सहस्वत् उग्रं विदितं) बलयुक्त प्रचण्ड शक्तिवाला सबको विदित है। इसलिये मैं (मरुतः स्तौमि) मरुतोंकी प्रशंसा करता हूं और (नाथितः जोहवीमि) उनसे सनाथ होकर उनको बुलाता हूं कि वे हमें पापसे बचावें ॥ ७ ॥

मरुत् देवता।

मरुत् नाम विश्वमें वायुका है, देहमें प्राण भी मरुत् कहलाता है। इसका नाम मरुत् इसलिये है कि यह (मर+उत्) मरनेवालोंको ऊपर उठाता है। शरीर मरनेवाला है उसको उठाकर खडा करनेवाला प्राणवायु ही है। मरनेवालेको उठानेका चमत्कार प्राण ही करता है, किसी अन्यमें यह शक्ति नहीं है। जैसे पशुओंमें घोडे वेगवान् होते हैं उसी प्रकार देवोंमें वायु वेगवान् है। इनके कारण ही सब प्रकारका (वाजं) बल, अन्न, जीवन आदि यथायोग्य रीतिसे अपने अपने स्थानमें रहता है। वायु न केवल मनुष्योंका प्राण है परंतु औषधि वनस्पतियोंमें भी वही जीवनका संचार करता है, और वनस्पतियोंसे जो उत्तमोत्तम रस प्राप्त होता है वह सब इसी प्राणका कार्य है। वनस्पतियोंमें पौष्टिक रस, गौओंमें अमृतके समान दूध, आकाशमें मेघोंमें निर्दोष जल रखनेवाला यह विश्वव्यापक प्राण ही है।

यह विश्व प्राण ही समुद्रसे जलको ऊपर ले जाता है, वहां उसके मेघ बनते हैं और वृष्टि द्वारा फिर शुद्ध जल हमें प्राप्त होता है यह इसीका चमत्कार है। पृथ्वीके ऊपरके सब अन्न और पेय इसीके कारण मिलते हैं, हरएक अन्नपानमें जो पौष्टिक सत्वांश है वह इसी कारण है। यह जीवन देनेवाली प्राणशक्ति वायुमें है, इसीलिये वायुको सबका निवासक कहा है।

जो वीरोंमें तेज, बल, सामर्थ्य और वीर्य है वह सब इसीके कारण है; यह मरुतोंका और प्राणोंका कार्य सबको देखना चाहिये। देखनेसे पता लगेगा कि पापसे बचनेका उपदेश मरुत् किस ढंगसे दे रहे हैं।

जगत्में देखिये अन्य सब देव थकसे जाते हैं, परंतु वायुरूपी प्राण सदा समरस रहकर सबको जीवन देता है। इसी प्रकार शरीरमें सब अन्य इंद्रिय तथा अवयव अन्नका भोग लेते हैं और कार्य करनेसे थक भी जाते हैं और विश्राम भी लेते हैं। परंतु प्राण ही ऐसा एक है कि जो स्वयं भोग नहीं लेता, न विश्राम चाहता है और न कभी थक जाता है। निःस्वार्थ सेवा करनेका उपदेश इससे प्राप्त होता है। जो जनताकी निःस्वार्थ सेवा करेंगे वे निष्पाप बन जायगे।

वेदमें ' मरुत् ' देवता द्वारा वीरोंका वर्णन होता है। मरते हैं और फिर ऊपर उठते हैं यह अर्थ इस (मर+उत्) शब्दमें ऋषि देखते हैं। शरीरमें देखिये प्राण शरीरमें जाता है, वहांका कार्य करता है, अर्थात् शरीरके लिये स्वयं मर जाता है, और फिर उठता है यह भाव यहां प्रत्यक्ष है। प्रतिक्षणमें शरीरके लिये प्राण मरता है, इसीलिये शरीर जीवित रहता है। प्राणका परोपकार शरीरपर होता है, इसीलिये शरीर जीवित रहता है। अर्थात् इस प्राणके यज्ञसे शरीरकी स्थिति होती है। अपने सब समाज अर्थात् राष्ट्रमें भी यही होना चाहिये। राष्ट्रकी भलाईके लिये जब अनेक वीर आत्मसमर्पण रूप यज्ञ करते हैं तब राष्ट्र यशस्वी होता है। जब स्वार्थी लंपट मनुष्य राष्ट्रमें अधिक संख्यामें होते हैं तब वह राष्ट्र गिर जाता है; मनुष्य इसी आत्मसमर्पणसे निष्पाप बनता है यह बोध यहां मिलता है।

[सूक्त २८]

(ऋषिः — मृगारः । देवता – भवाशर्वौ ।)

भवाशर्वौ मन्वे वां तस्य वित्तं ययोर्वामिदं प्रदिशि यद्विरोचते ।
यावस्येशाथे द्विपदो यौ चतुष्पदस्तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ १ ॥
ययोरभ्यध्व उत यद्दूरे चिद्यौ विदिताविषुभृतामसिष्ठौ ।
यावस्येशाथे द्विपदो यौ चतुष्पदस्तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ २ ॥
सहस्राक्षौ वृत्रहणा हुवेऽहं दूरेगव्यूती स्तुवन्नेम्युग्रौ ।
यावस्येशाथे द्विपदो यौ चतुष्पदस्तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ ३ ॥
यावारेभाथे बहु साकमग्रे प्र चेदस्राष्ट्रमभिभां जनेषु ।
यावस्येशाथे द्विपदो यौ चतुष्पदस्तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ ४ ॥
ययोर्वधान्नापपद्यते कश्चनान्तर्देवेषूत मानुषेषु ।
यावस्येशाथे द्विपदो यौ चतुष्पदस्तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ ५ ॥
यः कृत्याकृन्मूलकृद्यातुधानो नि तस्मिन्धत्तं वज्रमुग्रौ ।
यावस्येशाथे द्विपदो यौ चतुष्पदस्तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ ६ ॥

अर्थ— हे (**भव-शर्वौ**) जगत् उत्पन्न करनेवाले और जगत्का लय करनेवाले ! (**वां मन्वे**) तुम दोनोंका मनन करता हूं । (**तस्य वित्तं**) उसको तुम दोनों जानते हो । (**यत् इदं प्रदिशि विरोचते**) जो यह दिशाओंमें चमकता है वह सब (**ययोः वां**) जिन तुम दोनोंका ही है (**अस्य द्विपदः यौ ईशाथे**) इस द्विपाद जगत्के जो तुम दोनों स्वामी हो, (**यौ चतुष्पदः**) जो चार पांववालोंके भी स्वामी हो (**तौ नः अंहसः मुञ्चतं**) वे तुम दोनों हमें पापसे बचाओ ॥ १ ॥

(**ययोः अभ्यध्वे उत यत् दूरे**) जिन तुम दोनोंके समीप यह सब है और जो दूर भी है और (**यौ चित् इषु-भृतां असिष्ठौ विदितौ**) जो निश्चयसे बाण धारण करनेवालोंके बाण फेंकनेके समय तुम दोनों जाने जाते हो, जो तुम दोनों द्विपाद और चतुष्पादोंके स्वामी हो, वे दोनों तुम हमें पापसे बचाओ ॥ २ ॥

(**सहस्राक्षौ शत्रुहणौ**) तुम दोनों हजारों आंखवाले और शत्रुविनाशक हो (**दूर-गव्यूती उग्रौ**) तथा दूरतक गमन करनेवाले उग्र हो, तुम दोनोंको (**अहं हुवे स्तुवन् एमि**) मैं पुकारता हूं और स्तुति करता हुआ प्राप्त होता हूं । जो तुम दोनों द्विपाद और चतुष्पादोंके स्वामी हो, वे तुम दोनों हमें पापसे बचाओ ॥ ३ ॥

(**अग्रे यौ साकं बहु आरेभाथे**) पहिले जो तुम दोनोंने मिलजुलकर बहुत कार्य आरंभ किये और (**जनेषु च अभिभां इत् प्र अस्राष्ट्रम्**) लोकोंमें तेजको उत्पन्न किया । जो तुम दोनों द्विपाद और चतुष्पादके स्वामी हो वे तुम दोनों हमें पापसे बचाओ ॥ ४ ॥

(**ययोः वधात्**) जिनके वध करनेकी सामर्थ्यसे (**देवेषु उत मानुषेषु अन्तः**) देवों और मनुष्योंके अन्दर (**कश्चन न अप-पद्यते**) कोई भी नहीं बच सकता, और जो द्विपाद और चतुष्पादोंके स्वामी हो, वे तुम दोनों हमें पापसे बचाओ ॥ ५ ॥

(**यः कृत्याकृत्**) जो हिंसा करनेवाला (**यः यातुधानः मूल-कृत्**) जो यातना बढानेवाला मूलको काटनेवाला हो (**तस्मिन्, उग्रौ, वज्रं निधत्तं**) उसपर, हे उग्रवीरो ! अपना वज्र गिराओ । जो ऐसे तुम दोनों द्विपादों और चतुष्पादोंके स्वामी हो, वे हमको पापसे बचाओ ॥ ६ ॥

अधि नो ब्रूतं पृतनासूग्रौ सं वज्रेण सृजतं यः किमीदी ।
स्तौमि भवाशर्वौ नाथितो जोहवीमि तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ ७ ॥

अर्थ— हे (उग्रौ) उग्र स्वभाववालो ! (नः पृतनासु अधि ब्रूतं) हमसे संग्रामोंमें, सेनाओंमें बोलकर उपदेश करो। (यः किमीदी) जो स्वार्थी हो उस पर (वज्रेण सं सृजतं) वज्रप्रहार करो। इसलिये मैं (भवाशर्वौ) भव और शर्वकी (स्तौमि) स्तुति करता हूं। और (नाथितः जोहवीमि) उनसे सनाथ होकर उनको पुकारता हूं कि (तौ नः अंहसः मुञ्चतं) वे तुम दोनों हमें पापसे बचाओ ॥ ७ ॥

भव और शर्व ।

ये दो शक्तियां हैं, एक 'भव' अर्थात् बढानेवाली वर्धक शक्ति है और दूसरी 'शर्व' अर्थात् घातक शक्ति है। इस सब जगत्में ये दो शक्तियां कार्य कर रही हैं। एकसे वृद्धि हो रही है और दूसरीसे नाश हो रहा है। बालकमें विनाशक शक्तिका जोर कम रहता है और वर्धक शक्तिका अधिक रहता है, इस कारण बालक बढता है। वृद्धमें यह बात उलटी हो जाती है इस कारण वृद्ध क्षीण होता है। जगत्में इन दोनों परमात्म शक्तियोंका कार्य किस प्रकार चल रहा है यह बात इस सूक्तमें अच्छी प्रकार बतायी है। मनुष्यमें भी ये दोनों शक्तियां हैं। जो मनुष्य पापसे बचना चाहता है उसको उचित है कि वह इन शक्तियोंका ऐसा उपयोग करे कि जगत्में उससे घातपात न बढे, परन्तु शान्ति और सुख बढे। इस प्रकार करनेसे मनुष्य पापसे बच सकता है।

मनुष्यमें 'भव' शक्ति है जिससे वह नाना प्रकारके सुखोपभोगके और दूसरे पदार्थ उत्पन्न करता है और मनुष्यमें दूसरी 'शर्व' शक्ति भी है, जिससे वह तोडमरोड कर विघातक कार्य भी करता है। जो मनुष्य पापसे बचना चाहता है, उसको उचित है कि वह अपनी भवशक्तिका उपयोग लोककल्याणके सत्कार्योंमें करे। अर्थात् जनताका जिससे हित होगा ऐसे शुभ कार्य करनेमें उक्त शक्तिका उपयोग करे। उसके पास दूसरी शर्वशक्ति है, इससे घात पात किया जा सकता है यह बात सत्य है; परंतु इसका भी उपयोग जनताकी भलाईके लिये किया जा सकता है। जो मानवोंकी उन्नतिका विघात करनेवाले दुष्ट हों उनको दूर करनेके कार्यमें इस शक्तिका उपयोग करनेसे यह विघातक शक्ति भी परोपकार करनेवाली बन सकती है। इस प्रकार इस शक्तिका भी उपयोग जब परोपकारमें होगा तब मनुष्यकी दोनों शक्तियोंसे परोपकार होनेके कारण इसका संपूर्ण जीवन यज्ञमय होगा और इसके पाप नष्ट होंगे और वह पुण्यात्मा बनता जायगा। यह उपाय आत्मशुद्धिके लिये आवश्यक है जो इस सूक्त द्वारा सूचित किया है। इसलिये पाठक इन शक्तियोंको अपने अंदर देखें और उनसे उक्त प्रकार व्यवहार करके अपने आपको पापसे बचावें।

[सूक्त २९]

(ऋषिः — मृगारः । देवता - मित्रावरुणौ ।)

मन्वे वां मित्रावरुणावृतावृधौ सचेतसौ द्रुह्वणो यौ नुदेथे ।
प्र सत्यावानमवथो भरेषु तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ १ ॥

अर्थ— हे (मित्रा-वरुणौ) मित्र और वरुण ! (वां मन्वे) मैं आप दोनोंका मनन करता हूं, आप दोनों (ऋतावृधौ सचेतसौ) सत्यको बढानेवाले और स्फूर्ति देनेवाले हैं, (यौ द्रुह्वणः नुदेथे) जो तुम दोनों द्रोहकारियोंको हटा देते हो। (भरेषु सत्यावानं प्र अवथः) स्पर्धाओंमें सत्य पालन करनेवालेकी उत्तम रक्षा करते हो। (तौ नः अंहसः मुञ्चतं) वे तुम दोनों हमें पापसे बचाओ ॥ १ ॥

सचेतसौ द्रुह्वणो यौ नुदेथे प्र सत्यावानमवथो भरेषु ।
यौ गच्छथो नृचक्षसौ बभ्रुणा सुतं तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ २ ॥

यावङ्गिरसमवथो यावगस्तिं मित्रावरुणा जमदग्निमत्रिम् ।
यौ कश्यपमवथो यौ वसिष्ठं तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ ३ ॥

यौ श्यावाश्वमवथो वध्र्यश्वं मित्रावरुणा पुरुमीढमत्रिम् ।
यौ विमदमवथः सप्तवध्रिं तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ ४ ॥

यौ भरद्वाजमवथो यौ गविष्ठिरं विश्वामित्रं वरुण मित्र कुत्सम् ।
यौ कक्षीवन्तमवथः प्रोत कण्वं तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ ५ ॥

यौ मेधातिथिमवथो यौ त्रिशोकं मित्रावरुणावुशनां काव्यं यौ ।
यौ गोतममवथः प्रोत मुद्गलं तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ ६ ॥

ययो रथः सत्यवर्त्मर्जुरश्मिर्मिथुया चरन्तमभियाति दूषयन् ।
स्तौमि मित्रावरुणौ नाथितो जोहवीमि तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ ७ ॥

अर्थ— (यौ भरेषु सत्यावानं अवथः) जो तुम दोनों स्पर्धाओंमें सत्यपालकको बचाते हो, (यौ सचेतसौ द्रुह्वणः नुदेथे) जो दोनों सचेत होकर, द्रोहकारीको हटाते हो, और (यौ नृचक्षसौ) जो मनुष्योंका निरीक्षण करनेवाले दोनों (बभ्रुणा सुतं गच्छथः) पोषक शक्तिके साथ यज्ञके प्रति पहुंचते हो, वे तुम दोनों हमें पापसे बचाओ ॥ २ ॥

(यौ मित्रावरुणा) जो दोनों मित्र और वरुण (अंगिरसं, अगस्तिं, जमदग्निं, अत्रिं अवथः) अंगिरा, अगस्ति, जमदग्नि और अत्रिकी रक्षा करते हो, (यौ कश्यपं अवथः यौ वसिष्ठं) जो कश्यप और वसिष्ठकी रक्षा करते हो वे दोनों हमें पापसे बचावें ॥ ३ ॥

(यौ मित्रावरुणौ) जो दोनों मित्र और वरुण (श्यावाश्वं, वध्र्यश्वं, पुरुमीढं, अत्रिं अवथः) श्यावाश्व, वध्र्यश्व, पुरुमीठ और अत्रिकी रक्षा करते हो (यौ विमदं सप्तवध्रिं अवथः) जो विमद और सप्तवध्रीकी रक्षा करते हो ॥ ४ ॥

(यौ मित्र वरुण) जो मित्र और वरुण (भरद्वाजं, गविष्ठिरं, विश्वामित्रं, कुत्सं अवथः) भरद्वाज, गविष्ठिर, विश्वामित्र और कुत्सकी रक्षा करते हो, (यौ कक्षीवंतं कण्वं प्र अवथः) जो कक्षीवान और कण्वकी रक्षा करते हैं वे दोनों हमें पापसे बचावें ॥ ५ ॥

(यौ मित्रावरुणौ) जो दोनों मित्र और वरुण (मेधातिथिं, त्रिशोकं, काव्यं उशनां अवथः) मेधातिथि, त्रिशोक, काव्य उशनाकी रक्षा करते हो (यौ गौतमं उत मुद्गलं अवथः) जो गौतम और मुद्गलकी रक्षा करते हो वे दोनों हमें पापसे बचावें ॥ ६ ॥

(ययोः सत्यवर्त्मा ऋजुरश्मिः रथः) जिनका सत्यमार्गवाला सरल रश्मियोंवाला रथ (मिथुया चरन्तं दूषयन् अभियाति) मिथ्याचारीको सताता हुआ चलता है, उन (मित्रावरुणौ स्तौमि) मित्र और वरुणकी मैं स्तुति करता हूं और उनसे (नाथितः जोहवीमि) सनाथ होकर उनको पुकारता हूं कि वे दोनों हमें पापसे बचावें ॥ ७ ॥

*

मित्र और वरुण।

मृगार सूक्तोंमें यह सप्तम या अन्तिम सूक्त है। २३ से २९ ये सात सूक्त पापमोचन विषयके हैं और इन सातों सूक्तोंका ऋषि मृगार है। ये सूक्त भाषाकी दृष्टिसे बहुत सरल हैं, परंतु पापमोचनके अनुष्ठानकी दृष्टिसे बडे गंभीर हैं। इनका विषय ठीक प्रकार समझमें आनेके लिये निम्न लिखित कोष्टक देखिये—

सूक्त	देवता	अपने शरीरमें शक्ति	अनुष्ठान-विधि
२३	अग्नि	वाक्शक्ति	वाक्संयम
२४	इन्द्र	बल	बलका सदुपयोग
२५	वायुः सविता	प्राण, नेत्र	प्राणायाम और नेत्रकी पवित्रता
२६	द्यावापृथिवी	स्थूलसूक्ष्मशक्तियां	सत्कर्ममें अपनी शक्तियोंका समर्पण
२७	मरुतः	प्राण	प्राणायाम
२८	भवाशर्वौ, रुद्रः	वर्धक और घातक शक्तियां	अपनी इन शक्तियोंका उत्तम उपयोग करना।
२९	मित्रावरुणौ	मित्रभाव और श्रेष्ठभाव	दोनोंका सदुपयोग

इस कोष्टकका निरीक्षण करनेसे पता लग जायगा कि पापमोचनका अनुष्ठान किस रीतिसे किया जाता है। इस अनुष्ठानका तात्पर्य समझनेके लिये एक उदाहरण लीजिये, एक मनुष्य कहता है कि 'सूर्यदेव हमें मार्ग दिखावे' इस वाक्यसे सूर्यका मार्ग दिखानेसे संबंध है यह बात निश्चित होगई। परंतु यदि कोई मनुष्य अपने आंख बंद करेगा, और मार्गकी ओर अपनी दृष्टि नहीं डालेगा, तो सूर्य भगवान सहस्र किरणोंसे प्रकाश करता हुआ भी उसको मार्ग नहीं दिखा सकेगा। इससे अनुष्ठानका मार्ग निश्चित हुआ। वह यह है कि 'मनुष्य अपने अन्दरकी शक्तिको सन्मार्गका बोध होने योग्य सरल मार्गपर रखनेका यत्न करे और बाह्य शक्तियोंकी सहायता प्राप्त करनेकी इच्छा करे।' ऐसा करनेसे ही उसकी कामना पूर्ण हो सकती है।

किसी मनुष्यको किसी नगरको जाना है, वह मार्ग जानना चाहता है। यदि वह अपने आंख खोलकर अपनी पूर्ण शक्ति लगाकर मार्ग देखनेका यत्न करेगा, तो ही वह सूर्य देवताके प्रकाशसे अधिकसे अधिक लाभ उठा सकता है। इसी प्रकार अन्यान्य विषयोंके संबंधमें जानना चाहिये। यहां प्रचलित विषय 'पापमोचन' है। भक्त अपने आपको पापसे बचाना चाहता है, इसलिये उसको पूर्वोक्त उदाहरणके न्यायसे ही अपनी सब शक्तियोंका संयम करके उनके संयम द्वारा अपने आपको पापसे बचानेका परम यत्न करना चाहिये, और उस प्रयत्नके करनेके समय बाह्य शक्तियोंकी सहायता प्राप्त हो, ऐसी इच्छा करनी चाहिये। स्मरण रहे कि बाह्य शक्तियां तो पूर्ण रीतिसे सहायता देनेके लिये तैयार ही हैं, जो न्यूनता है वह अपने प्रयत्नकी ही है। आंख बंद करनेवाला मनुष्य सूर्य प्रकाशसे लाभ नहीं उठा सकता, प्रत्युत आंख खोलकर देखनेवाला ही लाभ उठा सकता है, अर्थात् इस पुरुषका प्रयत्न अवश्य होना चाहिये। यही बात विशेष स्मरण रखने योग्य है। ऊपरके संपूर्ण सातों सूक्तोंमें जो सात बाह्य शक्तियोंकी प्रार्थना की है और उनकी सहायताकी याचना की है वह अपने अनुष्ठानकी तैयारीके साथ ही की है, यह पाठकोंको अवश्य स्मरण रखना चाहिये। अन्यथा अनुष्ठानके विना ये सूक्त कोई लाभ दे नहीं सकते।

'सूर्य हमें मार्ग दिखावे' ऐसा कहनेवालेको अपने आंख खोलकर मार्ग देखनेका यत्न करना चाहिये, 'जल हमारी तृषा शांत करे' ऐसा कहनेवालेको प्रथम जल अपने हाथमें लेकर पीनेका प्रयत्न करना चाहिये, 'अन्न हमारे शरीरकी पुष्टि बढावे' ऐसी प्रार्थना करनेवालेको उचित है कि वह उत्तम अन्न तैयार करे और उसका सेवन विधियुक्त रीतिसे करे और पश्चात् कहे कि यह अन्न मेरा शरीर पुष्ट करे। हरएक प्रार्थना उसके पूर्व करने योग्य अनुष्ठानकी सूचना करती है यह बात ध्यानमें धारण करने योग्य है। प्रत्येक प्रार्थनाका अनुष्ठानपूर्वक उच्चार होना चाहिये। अनुष्ठानपूर्वक की हुई प्रार्थना ही सफल होती है, अर्थात् अनुष्ठान रहित प्रार्थना निष्फल होती है। वैदिक प्रार्थनाओंसे मनुष्यको जो उन्नतिका मार्ग दिखाई देता है वह इस रीतिसे अनुष्ठानपूर्वक प्रार्थना करनेसे ही है अन्यथा नहीं।

अनुष्ठान अपने अन्दरके देवताओंद्वारा अर्थात् अपने इंद्रियों और अवयवों द्वारा किया जाता है, इनका संबंध जिन बाह्य देवताओंसे है उनसे सहायतार्थ प्रार्थना की जाती है। अर्थात् कोई प्रार्थना अनुष्ठानके बिना नहीं की जाती। पहिले अपनेसे जितना हो सकता है उतना अनुष्ठान करके जब अपनी शक्ति अल्प प्रतीत होती है और अधिक शक्तिकी प्रबल इच्छा उत्पन्न होती है, उस समय प्रार्थनाका समय होता है। इस रीतिसे इन सारे सूक्तोंका मनन करनेसे पापमोचनके अनुष्ठानकी रीतिका सब पता लग जाता है। सारांश रूपसे इन सूक्तोंसे बोधित होनेवाला अनुष्ठान यह है।

' वाणीको पवित्र बनानेका प्रयत्न करना, अर्थात् मुखसे अपवित्र शब्दोंका उच्चारण न करना, अपने बलका उपयोग सत्कर्ममें करना और कभी परपीडा न करना, अपने प्राणोंका कुंभकादि द्वारा आयाम करके मनको शांत और गंभीर बनाना, नेत्रादि इंद्रियोंको शुभ कर्मोंमें लगाना और उनको अशुभ प्रवृत्तिसे हटाना, अपने अंदर जो कोई सामर्थ्य हो उसको सत्कर्ममें लगाना और असत्कर्मसे दूर रहना, संपूर्ण दश प्राणोंका व्यवहार उत्तम चलानेका यत्न करना; अपने अंदर वर्धक और घातक शक्तियां हैं, उनसे किसीका घात पात न करना, परंतु उन शक्तियोंको सन्मार्गमें प्रवृत्त करना, अपने अन्दर जो मित्रभाव है और वरिष्ठताका भाव है उसकी प्रवृत्ति मंगल कार्यमें करना और उनको अमंगल कार्योंसे दूर करना। ' सारांश रूपसे यह अनुष्ठानकी विधि है। इसमें जिस अपनी शक्तिद्वारा अनुष्ठान किया जा रहा हो, उसके साथ संबंध रखनेवाली बाह्य देवताकी प्रार्थना अधिक शक्ति प्राप्त करनेकी इच्छासे करना चाहिये। अर्थात् अपना अनुष्ठान और प्रार्थना एक क्षेत्रकी होनी चाहिये। पानी पीनेके समय अन्नकी प्रार्थना न हो और भोजन करनेके समय दूसरे किसी अन्य देवकी प्रार्थना न हो। प्रार्थनासे अपना संबंध विश्वकी विशाल शक्तियोंसे किया जाता है। इस एकतानतासे बड़ा लाभ होता है।

२९ वें सूक्तमें कहा है कि जो (सत्यवान्) सत्यका पालन करनेवाला होता है, उसको परमात्माकी शक्तियोंकी सहायता मिलती है (मं. १-२)। इन मंत्रोंमें यह कहकर आगे सत्यपालन करनेवाले अनुष्ठानी महात्माओंको किस प्रकार सहायता मिली है इसकी नामावली दी है। ये नाम एक एक विशेष गुणकी सूचना दे रहे हैं, इस कारण इन नामोंका विचार करनेसे कौन अनुष्ठानी मनुष्य ईशकी सहायता प्राप्त कर सकता है इसका बोध होता है। इसलिये इनका श्लेषार्थ देखते हैं—

१ **सत्यवान्**— सत्यप्रतिज्ञ, सत्यका पालन करनेवाला।
२ **अंगिरस्**— अंगोंमें जो जीवन रस है उसकी विद्या जाननेवाला।
३ **अगस्ति**— (अग-स्ति) पापको दूर करनेके प्रयत्नमें जो दत्तचित्त होता है।
४ **जमदग्निः**— (जमत्+अग्निः) प्राण आदि अग्नियोंको प्रज्वलित करनेवाला।
५ **अत्रिः**— (अतति) भ्रमण करके उद्धारके लिये यत्न करनेवाला।
६ **कश्यपः**— (पश्यकः) सूक्ष्मदर्शी।
७ **वसिष्ठः**— सबका सुखपूर्वक निवास करानेवाला।
८ **श्यावाश्वः**— (श्यै गतौ) गतिशील, प्रयत्नशील।
९ **वध्र्यश्वः**— (वध्रि) स्तब्ध (अश्वाः) घोडोंवाला अर्थात् जिसके इंद्रिय रूपी घोडे चंचल नहीं हैं।
१० **पुरुमीढः**— (पुरु) बहुत (मीढ) धनादि साधन संपन्न।
११ **विमदः**— (विगतः मदः) जिसकी घमंड नष्ट हुई है।
१२ **सप्तवध्रिः**— जिन्होंने अपने सातों इंद्रियोंको स्तब्ध किया है।
१३ **भरद्वाजः**— (भरत्+वाजः) जो अन्नका दान करता है।
१४ **गविष्ठिरः**— (गवि) वाणीमें जो स्थिर रहता है अर्थात् जो अपने वचनका सच्चा है।
१५ **विश्वामित्रः**— (विश्वस्य मित्रः) सबका मित्र, किसीका द्वेष न करनेवाला।
१६ **कुत्सः**— दोषोंकी निंदा करनेवाला।
१७ **कक्षीवान्**— (कक्षी) गतीशील, प्रयत्नशील।
१८ **कण्वः**— काव्यविद्यामें प्रवीण।
१९ **मेधातिथिः**— (मेधा) बुद्धिको प्राप्त करनेवाला।
२० **त्रिशोकः**— स्थूल, सूक्ष्म और कारण इस तीन विषयोंके अज्ञानका जिसको शोक होता है।
२१ **उशना काव्यः**— संयमी कवि।
२२ **गोतमः**— (गो) गतिशील, प्रयत्नशील।
२३ **मुद्गलः**— (मुद्) आनंदको धारण करनेवाला, आनन्द वृत्तिसे रहनेवाला।

इन ऋषिनामोंके शब्दार्थ ये हैं, पाठक मनन करेंगे तो उनको इन शब्दोंसे अधिक बोध भी प्राप्त हो सकते हैं। इन अर्थोंसे पता चलता है कि आत्म-सुधारका प्रयत्न ये विश्वकर्मादि करनेवाले हैं। इस प्रकारके प्रयत्न करनेवालोंको पूर्वोक्त देवताएं सब प्रकारकी सहायता करती हैं और उनकी उन्नति होनेके लिये मदत देती हैं। जो लोग इनके समान प्रयत्न करेंगे उनको भी इसी प्रकार देवताओंसे सहायता प्राप्त होगी। परंतु जो लोग अपनी उन्नतिके प्रयत्नमें दक्ष नहीं होते, उनको सहायता प्राप्त नहीं होती, इस विषयमें दो शब्द देखिये—

(१) द्रुह्वन्— द्रोह करनेवाला, घातपात करनेवाला। (मं. १-२)

(२) मिथुया चरन्— मिथ्या व्यवहार करनेवाला। (मं. ७)

पाठक यहां स्मरण रखें कि अग्नि, वायु, सूर्यादि देवताएं सदा सहाय करनेके लिये तैयार ही हैं, परन्तु उनसे सहायता प्राप्त करनेका यत्न मनुष्यको करना चाहिये। मनुष्यसे यत्न न हुआ तो लाभ होना असम्भव है। जो मनुष्य आत्मसुधारका यत्न करते हैं वे पूर्वोक्त ऋषियोंके समान उन्नति प्राप्त करते हैं, अन्य लोग प्रयत्न न करनेके कारण पीछे रहते हैं। उन्नतिका यह नियम पाठक स्मरण रखें।

इस प्रकारके जो लोग होते हैं, उनकी अवनति होती है। इसलिये पाठकोंको उचित है कि वे अपनी उन्नतिका अनुष्ठान करें, सन्मार्गसे चलें, पूर्वोक्त ऋषिओंकों का आदर्श अपने सन्मुख रखें और उन्नतिके पथसे सीधे ऊपर चढें। कदापि अवनतिके मार्गसे न चलें।

राष्ट्री देवी।

[३०]

(ऋषिः — अथर्वा। देवता — वाक्।)

अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः ।
अहं मित्रावरुणोभा बिभर्म्यहमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा ॥ १ ॥
अहं राष्ट्री संगमनी वसूनां चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम् ।
तां मा देवा व्यदधुः पुरुत्रा भूरिस्थात्रां भूर्यावेशयन्तः ॥ २ ॥
अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवानामुत मानुषाणाम् ।
यं कामये तन्तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम् ॥ ३ ॥

अर्थ— (अहं) मैं परमात्मशक्ति (रुद्रेभिः, वसुभिः, आदित्यैः, विश्वेदेवैः चरामि) रुद्रों, वसुओं, आदित्यों और विश्वेदेवोंके साथ चलती हूं। (अहं उभा मित्रावरुणा बिभर्मि) मैं दोनों मित्र और वरुणको धारण करती हूं और (अहं इन्द्राग्नी, अहं उभा अश्विना) मैं इन्द्र और अग्नि, तथा मैं दोनों अश्विनोंको धारण करती हूं ॥ १ ॥

(अहं राष्ट्री) मैं प्रकाशक शक्ति (वसूनां संगमनी) वसुओंको प्राप्त करानेवाली, और (चिकितुषी) ज्ञान देनेवाली हूं इसलिये (यज्ञियानां प्रथमा) सब पूजनीयोंमें पहिली पूजने योग्य हूं। (तां भूरिस्थात्रां मां) उस विविध प्रकारसे स्थित मुझको (भूरि आवेशयन्तः देवाः) बहुत प्रकारके आवेशको प्राप्त होनेवाले देव (व्यदधुः) विशेष प्रकारसे धारण करते हैं ॥ २ ॥

मया सोऽन्नमत्ति यो विपश्यति यः प्राणति य ईं शृणोत्युक्तम्।
अमन्तवो मां त उप क्षियन्ति श्रुधि श्रुत श्रद्धेयं ते वदामि ॥ ४ ॥
अहं रुद्राय धनुरा तनोमि ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवा उ।
अहं जनाय समदं कृणोम्यहं द्यावापृथिवी आ विवेश ॥ ५ ॥
अहं सोममाहनसं बिभर्म्यहं त्वष्टारमुत पूषणं भगम्।
अहं दधामि द्रविणा हविष्मते सुप्राव्याइ यजमानाय सुन्वते ॥ ६ ॥
अहं सुवे पितरमस्य मूर्धन्मम योनिरप्स्व1न्तः समुद्रे।
ततो वि तिष्ठे भुवनानि विश्वोतामूं द्यां वर्ष्मणोप स्पृशामि ॥ ७ ॥
अहमेव वात इव प्र वाम्यारभमाणा भुवनानि विश्वा।
परो दिवा पर एना पृथिव्यैतावती महिम्ना सं बभूव ॥ ८ ॥

॥ इति षष्ठोऽनुवाकः ॥

॥ इति अष्टमः प्रपाठकः ॥

अर्थ— (देवानां उत मानुषाणां जुष्टं) देवों और मनुष्योंको स्वीकार करने योग्य (इदं) यह भाषण (अहं स्वयं एव वदामि) मैं स्वयं ही बोलती हूं। (यं कामये) जिस जिसको मैं योग्य समझती हूं (तं तं उग्रं कृणोमि) उस उसको मैं उग्र वीर बनाती हूं तथा (तं ब्रह्माणं, तं ऋषिं, तं सुमेधां) उसीको ब्रह्मा, ऋषि अथवा उसीको उत्तम बुद्धिमान करती हूं ॥ ३ ॥

(यः विपश्यति) जो यह विशेष रीतिसे देखता है (सः मया अन्नं अत्ति) वह मेरी कृपासे अन्न खाता है। (यः प्राणति) जो प्राण लेता है और (यः ईं उक्तं शृणोति) जो भाषण सुनता है वह सब मेरी शक्तिसे ही है। जो (मां अमन्तवः) मुझे न माननेवाले हैं (ते उपक्षियन्ति) वे विनाशको प्राप्त होते हैं। हे (श्रुत) सुननेवाले! (श्रुधि) श्रवण कर। (ते श्रद्धेयं वदामि) तेरे लिये श्रद्धा रखने योग्य यह उपदेश मैं करती हूं ॥ ४ ॥

(ब्रह्म-द्विषे शरवे हन्तवै उ) ज्ञानके द्वेषी घातपात करनेवालेका नाश करनेके लिये (अहं रुद्राय धनुः आतनोमि) मैं रुद्रके लिये धनुष्यको तानती हूं, (अहं जनाय समदं कृणोमि) मैं जनोंके लिये हर्ष देनेवाले पदार्थ उत्पन्न करती हूं, (अहं द्यावा-पृथिवी आ विवेश) मैंने द्यावापृथिवीमें प्रवेश किया है ॥ ५ ॥

(अहं आहनसं सोमं बिभर्मि) मैं प्राप्त करने योग्य सोम राजाका धारण करती हूं। (अहं त्वष्टारं उत पूषणं भगं) मैं त्वष्टा और पूषाका धारण करती हूं। (अहं हविष्मते सुन्वते यजमानाय) मैं हवन करने और सोमसवन करनेवाले यजमानके लिये (सुप्राव्या द्रविणा दधामि) उत्तम रक्षा करने योग्य धन देती हूं ॥ ६ ॥

मैं (अस्य मूर्धन् पितरं सुवे) इसके सिरपर रक्षकको नियुक्त करता हूं। (मम योनिः समुद्रे अप्सु अन्तः) मेरा मूलस्थान प्रकृतिके समुद्रके जलोंके मध्यमें है। (ततः विश्वा भुवनानि वि तिष्ठे) वहांसे सब भुवनोंमें विशेष रीतिसे स्थित होती हूं (उत वर्ष्मणा अमूं द्यां उप स्पृशामि) और अपनी महिमासे उस द्युलोककी स्पर्श करती हूं ॥ ७ ॥

(विश्वा भुवनानि आरभमाणा) सब भुवनोंका आरंभ करनेवाली (अहं एव वातः इव प्रवामि) मैं ही अकेली वायुके समान फैलती हूं। और (दिवः परः) द्युलोकके परे और (एना पृथिव्यै परः) इस पृथ्वीके भी परे (महिम्ना एतावती सं बभूव) अपने महत्त्वसे इतनी विशाल होती हूं ॥ ८ ॥

राष्ट्री देवी।

' राष्ट्री देवी ' यह परमात्माकी प्रचंड तेजस्वी शक्तिका नाम है। यह शक्ति स्वयं अपनी महिमा वर्णन कर रही है, ऐसा काव्यमय वर्णन इस सूक्तमें है। तृतीय मंत्रमें कहा ही है कि ' (अहं एव स्वयं इदं वदामि) मैं ही यह स्वयं कहती हूं। ' इसलिये यह वर्णन अन्य सूक्तोंके वर्णनकी अपेक्षा विशेष महत्त्वका है यह बात स्वयं स्पष्ट हो रही है। पाठक भी इस दृष्टिसे इसका अधिक मनन करें। यह सूक्त परमात्म शक्तिका वर्णन करनेके कारण इस सूक्तके आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक अर्थ संभवनीय हैं। आधिदैविक अर्थ अग्नि, इन्द्र आदि देवताओंके संबंधमें होता है, यह अर्थ हमने मंत्रके अर्थ करते हुए दिया है। परमात्माकी शक्ति अग्नि, इंद्र, अश्विनी देव आदि सूत्रयन्तर्गत महाशक्तियोंमें प्रकाशित हो रही है, यह भाव आधिदैविक अर्थमें प्रधान रहता है। पाठक इस अर्थको पूर्वस्थलमें देखें। अब यहां आध्यात्मिक और आधिभौतिक अर्थ देते हैं। आध्यात्मिक अर्थ अपने शरीरमें देखना होता है और आधिदैविक अर्थमें जहां परमात्माकी शक्तिका संबंध जानना होता है, वहां आध्यात्मिक अर्थमें जीवात्माकी शक्तिका संबंध देखना होता है। यहां अब यह आध्यात्मिक अर्थ देखिये-

आध्यात्मिक भावार्थ।

' मैं जीवात्माकी शक्ति हूं और मैं (रुद्रेभिः) प्राणोंके साथ (वसुभिः) निवासक जलादि शारीरिक धातु रसोंके साथ (आदित्यैः) आदान शक्तियोंके साथ तथा (विश्वदेवैः) सब इंद्रियोंके साथ रहकर वहांका व्यवहार चलाती हूं। मैं शरीरके (मित्रा-वरुणौ) ओर और सोम शक्तियोंको अर्थात् आग्नेय और रसात्मक शक्तियोंका धारण करती हूं। मैं (इन्द्र-अग्नी) जीवन विद्युत् और शरीरकी उष्णताको कायम रखती हूं और मैं ही (अश्विनौ) दोनों प्राण और अपानको चलाती हूं ॥ १ ॥

मैं शरीरकी (राष्ट्री) प्रकाशक शक्ति हूं अर्थात् मेरे प्रभावके कारण इस देहमें तेजस्विता स्थिर रहती है, मैं ही यहां (वसूनां संगमनी) रस रक्तादि विविध धातु रसोंको उत्पन्न करके शरीरको सुरक्षित रखती हूं। मैं ही (चिकितुषी) ज्ञान देनेवाली हूं इसलिये मैं यहां अध्यात्मयज्ञमें (यज्ञियानां प्रथमा) पूजनीयोंमें सबसे प्रथम पूजा करने योग्य हूं। मैं (भूरि-स्था-त्रां) विविध अवयवों और इंद्रियोंमें रहकर शरीरकी रक्षा करती हूं और (आवेशयन्तः देवाः) मेरे प्रवेशके कारण सब इंद्रियां मानो (मां व्यदधुः) मेरा ही विविध प्रकारसे धारण करती हैं और मेरी शक्तिसे ही अपना अपना कार्य करनेमें समर्थ हुई हैं ॥ २ ॥

देव क्या और मनुष्य क्या मुझ आत्मशक्तिका ही महत्त्व गाते हैं, मैं स्वयं भी अपना यह वर्णन करती हूं, जिसपर मैं प्रसन्न होती हूं वह मनुष्य उग्र वीर, ब्राह्मण, ऋषि और ज्ञानी महात्मा बन जाता है ॥ ३ ॥

मनुष्य खाता है, देखता है, श्वास लेता है, शब्द सुनता है वह सब (मया) मुझ शक्तिकी सहायतासे ही करता है। जो लोग मुझे नहीं मानते वे नाशको प्राप्त होते हैं। सब लोग मेरा यह भाषण श्रवण करें और मुझ आत्मशक्तिपर श्रद्धा रखें, श्रद्धासे ही मुझ शक्तिसे उनको लाभ होता है ॥ ४ ॥

ज्ञानविरोधी घातक विचारोंको दूर करनेके लिये मैं ही आत्मशक्ति इस शरीरमें (रुद्राय) प्राणको प्रेरणा करती हूं, मैं ही मनुष्यको आनंद और हर्ष देती हूं, तात्पर्य इस शरीरमें (द्यौः) सिरसे लेकर (पृथिवी) पैरतक मैं शक्ति रूपसे फैली हूं ॥ ५ ॥

मैं प्राप्त करने योग्य (सोमं) अन्नका धारण यहां करती हूं, मैं ही (त्वष्टा) भेदक और (पूषा) पोषक शक्तियोंको शरीरमें धारण करती हूं। मैं (हवि) उत्तम अन्न और रस स्वीकारनेवाले और इस शरीररूपी यज्ञशालामें शतसांवत्सरिक सत्र करनेवालेको उत्तम यश देती हूं ॥ ६ ॥

मैं इस शरीरके ऊपर रक्षक शक्तिको नियुक्त करती हूं, मैं यहां हृदयके अंदरके हृदयाशयके जीवनरसमें रहती हूं, वहांसे हरएक अवयवमें कार्य करती हूं और ऊपर सिरतक फैलती हूं ॥ ७ ॥

सब इंद्रियों और अवयवोंको उत्पन्न करती हुई मैं वायुके समान फैलती हूं और इस शरीरमें सिरसे लेकर पैरतक अपनी महिमासे फैली हूं ॥ ८ ॥

अध्यात्मवर्णनका मनन।

पूर्वोक्त मंत्रोंका यह आध्यात्मिक आशय है। जो आशय अपने अंदरकी शक्तियोंका होता है वह आध्यात्मिक कहलाता है। मंत्रोंमें जो देवतोंके शब्द होते हैं वे ही मनुष्यके अन्दरकी विविध शक्तियोंके वाचक होते हैं, उनको अन्तःशक्तियोंका वाचक माननेसे आध्यात्मिक अर्थ जाना जाता है। पाठक इस दृष्टिसे इस सूक्तका मनन कर सकते हैं। देवरके आध्यात्मिक अर्थका विचार करनेसे पाठकोंको स्वयं पता लग जायगा कि अध्यात्ममें किस शब्दका क्या अर्थ होता है। अब इसी सूक्तका

आधिभौतिक आशय देखिये । मानव संघ या प्राणिसंघके विषयमें जो अर्थ होता है वह आधिभौतिक अर्थ होता है—

आधिभौतिक भावार्थ ।

'मैं राष्ट्रशक्ति (**रुद्रेभिः**) वीरों (**वसुभिः**) धनिकों (**आदित्यैः**) विद्याप्रकाशक विद्वानों और (**विश्वेदेवैः**) सब ज्ञानियोंके साथ रहती हूं । मैं दोनों (**मित्रावरुणौ**) मित्र जनों और वरिष्ठ लोगोंको, (**इन्द्र-अग्नि**) शूर वीरों और ज्ञानियोंको तथा (**अश्विनौ**) दोनों प्रकारके अश्विनी कुमारोंको अर्थात् वैद्योंको राष्ट्रमें धारण करती हूं ॥ १ ॥

मैं राष्ट्रशक्ति हूं, मैं ही सब धनों और धनिकोंको एकत्रित करती हूं, मैं राष्ट्रशक्ति (**चिकितुषी**) ज्ञान बढानेवाली हूं, मैं पूजनीयोंमें सबसे मुख्य हूं, मैं राष्ट्रके अनेक स्थानोंमें (**भूरि-स्था-त्रां**) रहकर राष्ट्रकी रक्षा करती हूं इस मुझ राष्ट्रशक्ति द्वारा (**आवेशयन्तः देवाः**) आवेश अर्थात् स्फुरणको प्राप्त हुए सब विद्वान् लोग, मानो, मेरा ही विशेष प्रकार धारण करते हैं ॥ २ ॥

मैं जैसी देवजनोंको वैसी ही साधारण मनुष्योंको भी सेवनीय हूं अर्थात् सब मुझ राष्ट्रशक्तिका धारण करें । मैं स्वयं कहती हूं कि जिसपर मैं प्रसन्न होती हूं वह उग्रवीर, ज्ञानी, ऋषि अथवा बुद्धिमान् मनुष्य बनता है ॥ ३ ॥

राष्ट्रमें जो पुरुष अन्न भोग लेते हैं, जो देखते हैं, सुनते हैं अथवा जो श्वासोच्छ्वास करते हैं वह सब मेरी ही शक्तिसे करते हैं । (**मां अमन्तवः**) मुझ राष्ट्रशक्तिका अपमान करनेवाले अथवा मुझे मान न देनेवाले लोग नाशको प्राप्त होते हैं । हे लोगो ! यह बात तुम श्रद्धासे सुनो इसमें तुम्हारा हित है ॥ ४ ॥

(**ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवै**) ज्ञान प्रचारके द्वेषी और घातपात करनेवाले दुष्टोंका नाश करनेके लिये मैं ही (**रुद्राय धनुः आतनोमि**) वीर पुरुषोंके पास सब शस्त्रास्त्र तैयार रखती हूं । मेरी कृपासे ही राष्ट्रके लोग आनंदमें रहते हैं, मानो मैं राष्ट्रशक्ति पृथ्वीसे लेकर द्युलोकतक अर्थात् सर्वत्र फैली हूं ॥ ५ ॥

मैं राष्ट्रशक्ति ही प्राप्त करने योग्य (**सोमं**) सोम आदि वनस्पतियोंका अन्न धारण करती हूं । (**अहं त्वष्टारं**) मैं कारीगरोंका और (**पूषणं भगं**) पोषणकर्ता धनवानोंका राष्ट्रमें धारण करती हूं । जो (**हविष्मते यजमानाय**) अन्नादि द्वारा यज्ञ करनेवाले सज्जन होते हैं, उनको मैं उचित प्रमाणमें धन देती हूं ॥ ६ ॥

मैं ही राष्ट्रशक्ति (**अस्य मूर्धन् पितरं सुवे**) इस राष्ट्रके सिरपर रक्षा करनेवाले राजाको उत्पन्न करती हूं, मेरी उत्पत्ति (**सं+उत्+द्रे**) एक होकर उत्कर्षके लिये जो राष्ट्रीय प्रयत्न होते हैं, उन प्रयत्नोंमें होती है । यहां मैं उत्पन्न होती हूं और पश्चात् राष्ट्रके हरएक कोनेमें फैलती हूं, तब ऐसा प्रतीत होता है कि मैं पृथ्वीसे स्वर्गतक फैली हूं ॥ ७ ॥

राष्ट्रमें मैं सब संस्थाओंको आरंभ करती हूं और चलाती हूं। मानो, मैं प्रचंड वायुके समान संचार करती हूं, यहां तक कि ऊपरसे नीचे तक मेरा अपूर्व संचार होता है, यह मेरी महिमा है ॥ ८ ॥

इस राष्ट्रीय अर्थका मनन ।

इस सूक्तके आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक ये तीनों भावार्थ यहां दिये हैं, पाठक इन तीनोंकी तुलना अच्छी प्रकार करें और उत्तम बोध प्राप्त करें । वैयक्तिक और राष्ट्रीय इन अर्थोंके विषयमें विशेष उपदेश प्राप्त करना चाहिये, क्योंकि मनुष्यका कर्मक्षेत्र ही यह है । इन मंत्रोंके शब्द तीनों भूमिकाओंमें किस प्रकार अर्थ बताते हैं यह निम्नलिखित कोष्टकसे ज्ञात हो सकता है—

मंत्रके शब्द	आधिदैविक भाव	आधिभौतिक भाव	आध्यात्मिक भाव
रुद्राः	मेघस्थानीय विद्युत्	वीर	प्राण
वसुः	पृथिव्यादि आठ वसु	धन और धनिक	शरीरस्थ धातु
आदित्याः	सूर्य	ज्ञानप्रकाशक	मस्तिष्क
विश्वेदेवाः	सब प्रकाशमान आग्न्यादि देव	सब कर्मचारी गण	सब इंद्रिय
मित्रः	सूर्य	प्रकाशक विद्वान्	नेत्र
वरुणः	चन्द्र	शान्तज्ञानी	मन
इन्द्रः	विद्युत्	शूर	आत्म मन
अग्निः	अग्नि	वक्ता	वाणी
अश्विनौ	अश्विनी	वैद्य	श्वासउच्छ्वास
त्वष्टा	देवशिल्पी	कारीगर	विभाजकशक्ति
पूषा	पोषक देवीशक्ति	पोषणकर्ता	पोषकशक्ति
समुद्रः	प्रकृति	लोगोंकी हलचल	हृदय
द्यौः	द्युलोक	ज्ञानी	सिर
पृथिवी	भूलोक	सेवक	पांव

मंत्रके शब्द इस रीतिसे अन्यान्य भूमिकाओंमें अन्यान्य अर्थोंके वाचक होते हैं। इन अर्थोंको जाननेसे ही मंत्रका संपूर्ण अर्थ जानना संभव है। व्यक्तिमें गुणोंके रूपसे अर्थ देखना है, राष्ट्रमें गुणी जनोंका भाव लेना है और विश्वमें उक्त देवोंको देखना होता है। जैसा व्यक्तिमें शौर्य गुण है, इससे शत्रु दूर किये जाते हैं; इसी गुणसे गुणी बने हुए शूर क्षत्रिय वीर राष्ट्रमें होते हैं, इनमें शौर्य गुणका प्राधान्य होता है, इनका ही रूप विश्वमें इन्द्र शक्ति है जो विद्युद्रूपमें दीखती है। व्यक्तिमें शौर्य, राष्ट्रमें शूर और विश्वमें विद्युत् ये सब वैदिक इन्द्र देवताकी विभूतियां हैं। पाठक इस प्रकार सब देवताओंकी विभूतियां जानेंगे तो उनको एक ही वेद मंत्रसे सब भूमिकाओंमें क्या बोध लेना है, इसका ज्ञान हो सकता है।

इस सूक्तमें 'राष्ट्री' शब्द है। राष्ट्र जिसके कारण रहता है, जिस शक्तिसे राष्ट्र उत्तम अवस्थामें रहता है, जिस शक्तिसे राष्ट्र बढता है और अभ्युदयसे युक्त होता है उस शक्तिका नाम राष्ट्री है। यह राष्ट्र शक्ति 'आदित्य, रुद्र, वसु और विश्वेदेव' इनके साथ रहती है, यह प्रथम मंत्रका कथन है। ये देवतावाचक चार शब्द क्रमशः 'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र' अर्थात् कारीगरोंके वाचक हैं। ब्रह्मवर्चस पूर्ण आदित्य ब्राह्मण वर्णका बोधक, रुद्र वीरभद्र आदि नाम शौर्यादिके लिये सुप्रसिद्ध हैं, अतः ये क्षत्रिय वर्णके वाचक, वसु शब्द धनवानों और धनोंका प्रसिद्ध है अतः यह वैश्योंका सूचक और विश्वेदेव शब्द सब अन्य व्यवहार कर्ताओंका वाचक होनेसे अवशिष्ट कारीगरोंका वाचक है। देवताओंमें इन्हीं शब्दों द्वारा चातुर्वर्ण्य बोधित होता है और इन देवताओंके मंत्रोंसे चातुर्वर्ण्यके धर्म कर्मोंका बोध हो सकता है। यह राष्ट्री शक्ति इन लोगोंके अंदर रहती है, इनमें कार्य करती है और इनके द्वारा प्रकट होती है।

यह राष्ट्रीय शक्ति (**अग्निः** = ब्रह्म) ब्राह्मणों, (**इन्द्र** = क्षत्र) क्षत्रियों, (**मित्र**) सहायकों, (**वरुणो** = राजा) राजपुरुषों और (**अश्विनौ** = अश्विनी कुमारौं) आयुर्वेदके विद्वानोंको आश्रय देकर इनका धारण पोषण करती है। राष्ट्रमें इनका पोषण करके इनके द्वारा अन्य साधारण जनोंको सुख पहुंचाती है। यह इस राष्ट्रीय शक्तिकी महिमा देखने योग्य है।

यह राष्ट्रीय शक्ति (**वसूनां संगमनी**) सब प्रकारके धनधान्योंको प्राप्त कराती है। राष्ट्रीय शक्तिका जिस देशमें उत्कर्ष होने लगता है वहां उस शक्तिके विकासके कारण सब प्रकारके धन इकट्ठे होने लगते हैं, तथा जिस देशमें राष्ट्र शक्तिका विकास बंद होता है, उस देशमें दरिद्रता बढती है। पतित राष्ट्र और उन्नत राष्ट्रका यह विपन्नता और संपन्नतासे संबंध देखने योग्य है, इतिहासमें पाठक इसका अनुभव कर सकते हैं।

इस राष्ट्र शक्तिका मनुष्योंमें आवेश होता है, अर्थात् जिस समय ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और निषाद अपनी राष्ट्रभक्तिके साथ एक होकर बडे राष्ट्रीय पुरुषार्थमें प्रवृत्त होते हैं, उस समय इस राष्ट्री देवीका संचार उन मनुष्योंमें होता है, (**भूरि+ आवेशयन्तः**) विशेष प्रकारका दैवी आवेश मनुष्योंमें उस समय होता है और ऐसे दैवी स्फुरणसे युक्त हुए लोग संख्यामें थोडे भी क्यों न हों, शक्तिका बडा कार्य करके दिखा देते हैं। यह राष्ट्रीदेवीके आविष्कारका चमत्कार है। इसी लिये उनको सब (**यज्ञियानां प्रथमा**) पूजनीयोंमें पहिली पूजा करने योग्य करके कहते हैं। चारों वर्ण इसकी पूजा अपने हृदयमें करते हैं और राष्ट्रभक्तिसे अपने हृदय परिपूर्ण करते हैं। वेदमें अन्यत्र भी कहा है कि—

इळा सरस्वती मही तिस्रो देवीर्मयोभुवः।
बर्हिः सीदन्त्वस्रिधः॥ (ऋग्वेद १।१३।९)

'मातृभाषा, मातृसभ्यता और (**मही**) मातृभूमि ये तीन देवियां कल्याण करनेवाली हैं। इसलिये ये अन्तःकरणमें विना विस्मरण हुए स्थान प्राप्त करें।' अर्थात् हरएक मनुष्यके मनमें इन तीन देवियोंको योग्य और सन्मानका स्थान प्राप्त हो। और कभी ऐसा न हो कि लोग इन तीन देवियोंका योग्य आदर न करें। इस मंत्रके उपदेशानुसार मातृभूमिकी भक्ति हरएकको करनी चाहिये और यही उपदेश इस सूक्तके द्वितीय मंत्रमें '(**प्रथमा यज्ञियानां राष्ट्री**) यह राष्ट्रशक्ति पूजनीयोंमें सबसे प्रथम पूजा करने योग्य है,' शब्दों द्वारा कहा है। यदि इस जगतमें सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करनेकी इच्छा है तो इस राष्ट्रदेवताकी पूजा करना चाहिये और उस देवीके लिये अपना बलि देनेके लिये सिद्ध होना चाहिये।

राष्ट्र देवी तब प्रसन्न होती जब लोग उसकी प्रीतिके लिये अपने सर्वस्वका समर्पण करनेको तैयार होते हैं। ज्ञानी जन सदा ही राष्ट्र देवीके लिये अपने सर्वस्वका अर्पण करनेको तैयार होते हैं। इसीलिये ऐसा त्यागी पुरुष (**सः अन्नं अत्ति**) अन्न भोग प्राप्त करता है ऐसा चतुर्थ मंत्रमें कहा है।

यदि उस मातृभूमिकी योग्य उपासना न की अथवा इसका अपमान किया, किंवा इसका योग्य सत्कार नहीं किया तो,

ऐसे (अ-मन्तवः उपक्षयन्ति) राष्ट्रीय शक्तिका अपमान करनेवाले लोग सत्वर नाशको प्राप्त होते हैं। यह बात (श्रद्धेयं वदामि) विश्वास रखने योग्य है अर्थात् ऐसा होता ही है। पाठक राष्ट्र भक्तिका महत्त्व कितना है यह बात इस मंत्रसे जानकर कभी राष्ट्रद्रोहका कार्य न करें और सदा राष्ट्र भक्ति करते हुए और राष्ट्रके लिये आत्मसर्वस्वका समर्पण करके अपने जीवनका सर्वमेधयज्ञ करने द्वारा विजयी और यशस्वी होवें।

राष्ट्रके अंदर भी जो दुष्ट लोग होते हैं, वे सज्जनोंको क्लेश देते हैं, तथा राष्ट्रके बाहर भी जो दुष्ट दुर्जन होते हैं वे भी राष्ट्रपर हमला करके घातपात और खून खराबी करते हैं। इनका नाश करनेके लिये राष्ट्रके (रुद्राय) वीरपुरुषोंके पास (धनुः) विविध प्रकारके धनुष्यादि शस्त्रास्त्र तैयार रखनेका कार्य राष्ट्रशक्तिका ही है। जो राष्ट्र जीवित और जाग्रत होता है वह अपने शत्रुके निःपातके लिये आवश्यक शस्त्रास्त्र तैयार रखता ही है और योग्य प्रसंगमें योग्य रीतिसे उनका उपयोग करके विजय भी प्राप्त करता है। अभ्युदय प्राप्त करनेवाले राष्ट्रको अपनी रक्षाके लिये जाग्रत रहना अत्यंत योग्य और अत्यंत आवश्यक भी है।

यह राष्ट्र शक्ति (त्वष्टारं) कारीगरोंका पोषण करती है इसी प्रकार जो मनुष्य जनोंका पालन पोषण करते हैं उन (पूषणं) पोषक जनोंका अथवा उन (भगं) भाग्यवानोंका उत्तम प्रकार धारण पोषण करती है। ऐसे पुरुषोंको कभी अवनतिमें नहीं रखती, प्रत्युत उन्नत करती है। इसी प्रकार जो लोग अपने धनधान्यका (यजमान) यज्ञ करते हैं, अर्थात् जनताकी भलाईके लिये अपने धनधान्यका समर्पण करते हैं, उनको कभी धनकी न्यूनता नहीं रहती। अर्थात् जितना वे दान करते हैं उससे अधिक (द्रविणा दधामि) धन उनको प्राप्त होता है, फिर वे अधिक दान करते हैं और फिर उनका धन बढता ही जाता है। इस प्रकार यज्ञसे वृद्धि होती है और जनताका सुख बढता ही जाता है।

राष्ट्रके ऊपर नियामक और पालकको उत्पन्न करना और राजगद्दीपर उसकी स्थापना करना (अस्य मूर्धन् पितरं सुवे) यह राष्ट्र-शक्ति ही करती है। अर्थात् जीवित और जाग्रत राष्ट्रके लोग अपनी राज्यशासन व्यवस्थाके लिये सुयोग्य राज्याध्यक्षका स्वयं निर्वाचन करते हैं और उसको राज्यके ऊपर नियुक्त करते हैं। यह राष्ट्रशक्तिका उत्पत्तिस्थान (समुद्रे अन्तः) राष्ट्रीय हलचलके महासागरके अंदर होता है।' (सं०) एक होकर (उत्) उत्कर्षके लिये (द्रु) गति करना अथवा प्रयत्न करना राष्ट्रीय हलचलका स्वरूप है। ' इसका ही नाम ' समुद्र ' (सं+उत्+द्रु) है। इस हलचलमें यह राष्ट्रशक्ति प्रगट होती है और हरएकके अन्तःकरणमें फैलती है, मानो इस प्रकार यह (विश्वा भुवनानि वितिष्ठे) संपूर्ण भुवनोंमें फैलती है, अर्थात् भूमिसे स्वर्गतक विस्तृत होती है, हरएक कार्यमें यह प्रकट होती है, हरएक हलचलके तत्वमें यह रहती है। इस प्रकार इसकी महिमा है।

जिस समय जनतामें राष्ट्रशक्तिका संचार होता है उस समय ऐसा प्रतीत होता है कि राष्ट्रशक्ति रूप (वात इव प्रवामि) झंझावातका जोरसे प्रवाह चल रहा है। और इसका वेग रोकना अब असंभव है। इस शक्तिका वेग यहां तक प्रचंड होता है कि (दिवः परः) द्युलोकसे भी परे और (एना पृथिव्याः परः) इस पृथ्वीके भी पार वह वेग कार्य कर रहा है। आकाश पाताल इस शक्तिसे भरे हैं और कोई स्थान खाली नहीं है।

राष्ट्रशक्तिका महिमा यह है। जो इसके उपासक होते हैं वे अपने राष्ट्रको अभ्युदयके उच्च शिखरपर स्थापित करते हैं यह जानकर पाठक राष्ट्रभक्ति द्वारा मिलनेवाली उन्नति प्राप्त करें और आगेके अभ्युदयके लिये अपने आपको योग्य बनावें।

॥ यहां षष्ठ अनुवाक समाप्त ॥

उत्साह ।

[सूक्त ३१]

(ऋषिः — ब्रह्मास्कन्दः । देवता — मन्युः ।)

त्वया मन्यो सरथमारुजन्तो हर्षमाणा हृषितासो मरुत्वन् ।
तिग्मेषव आयुधा संशिशाना उप प्र यन्तु नरो अग्निरूपाः ॥ १ ॥
अग्निरिव मन्यो त्विषितः सहस्व सेनानीर्नः सहुरे हूत एधि ।
हत्वाय शत्रून्वि भजस्व वेद ओजो मिमानो वि मृधो नुदस्व ॥ २ ॥
सहस्व मन्यो अभिमातिमस्मै रुजन्मृणन्प्रमृणन्प्रेहि शत्रून् ।
उग्रं ते पाजो नन्वा रुरुध्रे वशी वशं नयासा एकज त्वम् ॥ ३ ॥
एको बहूनामसि मन्य ईडिता विशंविशं युद्धाय सं शिशाधि ।
अकृत्तरुक्त्वया युजा वयं द्युमन्तं घोषं विजयाय कृण्मसि ॥ ४ ॥

अर्थ— हे (**मरुत्वन् मन्यो**) मरनेकी अवस्थामें भी उठनेकी प्रेरणा करनेवाले उत्साह ! (**त्वया स-रथं आरुजन्तः**) तेरी सहायतासे रथ सहित शत्रुको विनष्ट करते हुए और स्वयं (**हर्षमाणाः हृषितासः**) आनन्दित और प्रसन्नचित्त होकर (**आयुधाः सं-शिशानाः**) अपने आयुधोंको तीक्ष्ण करते हुए (**तिग्म-इषवः अग्निरूपाः नरः**) तीक्ष्ण शस्त्रास्त्रवाले अग्निके समान तेजस्वी नेतागण (**उप प्र यन्तु**) चढाई करें ॥ १ ॥

हे (**मन्यो**) उत्साह ! (**अग्निः इव**) तू अग्निके समान (**त्विषितः सहस्व**) तेजस्वी होकर शत्रुको परास्त कर । हे (**सहुरे**) समर्थ ! (**हूतः नः सेनानी एधि**) पुकारा हुआ हमारी सेनाको चलानेवाला हो । (**शत्रून् हत्वाय**) शत्रुओंको मारकर (**वेदः विभजस्व**) धनको बांट दे और (**ओजः मिमानः**) अपने बलको मापता हुआ (**मृधः वि नुदस्व**) शत्रुओंको हटा दे ॥ २ ॥

हे (**मन्यो**) उत्साह ! (**अस्मै अभिमातिं सहस्व**) इसके लिये अभिमान करनेवाले शत्रुको पराजित कर, (**शत्रून् रुजन् मृणन् प्रमृणन् प्रेहि**) शत्रुको तोडता हुआ, मारता हुआ और कुचलता हुआ चढाई कर । (**ते उग्रं पाजः ननु आ रुरुध्रे**) तेरा प्रभावशाली बल निश्चयसे शत्रुको रोक चुकता है । हे (**एकज**) अद्वितीय ! (**त्वं वशी वशं नयासै**) तू स्वयं संयमी होनेके कारण शत्रुको अपने वशमें कर सकता है ॥ ३ ॥

हे (**मन्यो**) उत्साह ! तू (**एकः बहूनां ईडिता असि**) अकेला ही बहुतोंमें सत्कार पानेवाला है । तू (**विशंविशं युद्धाय सं शिशाधि**) प्रत्येक प्रजाजनको युद्धके लिये उत्तम प्रकार शिक्षित कर । हे (**अ-कृत्त-रुक्**) अटूट प्रकाशवाले ! (**त्वया युजा वयं**) तेरी मित्रताके साथ हम (**द्युमन्तं घोषं विजयाय कृण्मसि**) हर्ष युक्त शब्द विजयके लिये करते हैं ॥ ४ ॥

भावार्थ— मनुष्यको उत्साह हताश होने नहीं देता । जिनके मनमें उत्साह रहता है वे शत्रुओंको नष्ट करते हैं, और प्रसन्न चित्तसे अपने शस्त्रास्त्रोंको सदा सज्ज करके अपने तेजको बढाते हुए, शत्रुपर चढाई करते हैं ॥ १ ॥

उत्साहसे तेज बढता है, उत्साहसे ही शत्रु परास्त होते हैं। उत्साही पुरुष सेनापालक होगा, तो वह शत्रुका नाश करके धन प्राप्त करता है । फिर अपने बलको बढाता हुआ दुष्टोंको दूर कर देता है ॥ २ ॥

उत्साहसे शत्रुका पराजय कर और शत्रुओंका नाश उत्साहसे कर । उत्साहसे तुम्हारा बल बढेगा और तुम शत्रुको रोक सकोगे । हे शूर ! तू पहिले अपना संयम कर और जब तुम अपना संयम करोगे तब तुम शत्रुको भी वशमें कर सकोगे ॥ ३ ॥

विजेषकृदिन्द्र इवानवब्रवोऽ३ऽस्माकं मन्यो अधिपा भवेह ।
प्रियं ते नाम सहुरे गृणीमसि विद्मा तमुत्सं यत आबभूथ ॥ ५ ॥
आभूत्या सहजा वज्र सायक सहो बिभर्षि सहभूत उत्तरम् ।
क्रत्वा नो मन्यो सह मेद्येधि महाधनस्य पुरुहूत संसृजि ॥ ६ ॥
संसृष्टं धनमुभयं समाकृतमस्मभ्यं धत्तां वरुणश्च मन्युः ।
भियो दधाना हृदयेषु शत्रवः पराजितासो अप नि लयन्ताम् ॥ ७ ॥

अर्थ— हे (मन्यो) उत्साह ! (इन्द्रः इव विजेषकृत्) इन्द्रके समान विजय करनेवाला और (अनव-ब्रवः) उत्तम वचन बोलनेवाला होकर (इह अस्माकं अधिपाः भव) यहां हमारा स्वामी हो । हे (सहुरे) समर्थ ! (ते प्रियं नाम गृणीमसि) तेरा प्रिय नाम हम उच्चारते हैं । (तं उत्सं विद्म) और उस स्रोतको जानते हैं कि (यतः आबभूथ) जहांसे तू प्रकट होता है ॥ ५ ॥

हे (वज्र सायक सहभूत) वज्रधारी, बाणधारी और साथ रहनेवाले ! तू (आभूत्या सहजाः) ऐश्वर्यके साथ उत्पन्न होनेवाला (उत्तरं सहः बिभर्षि) अधिक उत्तम बल धारण करता है । हे (पुरुहूत मन्यो) बहुतवार पुकारे गये उत्साह ! तू (क्रत्वा सह) कर्म शक्तिके साथ (मेदी) मित्र बन कर (महाधनस्य संसृजि) बडा धन प्राप्त करनेवाले महायुद्धके उत्पन्न होनेपर (एधि) हमें प्राप्त हो ॥ ६ ॥

(मन्युः वरुणः च) उत्साह और श्रेष्ठत्वका भाव (उभयं धनं) दोनों प्रकारका धन अर्थात् (संसृष्टं) उत्पन्न किया हुआ और (सं-आकृतं) संग्रह किया हुआ, (अस्मभ्यं धत्तां) हमें दें । (हृदयेषु भियः दधानाः शत्रवः) हृदयोंमें भयोंको धारण करनेवाले शत्रु (पराजितासः अप निलयन्तां) पराजित होकर दूर भाग जावें ॥ ७ ॥

भावार्थ— स्वभावतः उत्साही पुरुष बहुतोंमें एकाध होता है और इसलिये सब उसका सत्कार करते हैं। शिक्षाद्वारा ऐसा प्रबंध करना चाहिये कि राष्ट्रका हरएक मनुष्य उत्साही हो जावे और जीवनयुद्धमें अपना कार्य करनेमें समर्थ होवे । उत्साहसे ही प्रकाश बढता है और विजयकी घोषणा करनेका सामर्थ्य प्राप्त होता है ॥ ४ ॥

उत्साह ही इन्द्रके समान विजय करनेवाला है । उत्साह कभी निराशाके शब्द नहीं बुलवाता । इसलिये हमारे अन्तःकरणमें उत्साहका स्वामित्व स्थिर होवे । हम उन समर्थ महापुरुषोंका नाम लेते हैं कि जिनके अन्तःकरणमें उत्साहका स्रोत बहता रहता है ॥ ५ ॥

उत्साहके साथ सब शस्त्रास्त्र तैयार रहते हैं । उत्साहके साथ सब ऐश्वर्य रहते हैं और उत्साह ही अधिक बलका धारण करता है । यह प्रशंसनीय उत्साह सदा हमारा साथी बने और उसके साथ रहनेसे जीवनयुद्धमें हमारा विजय होवे ॥ ६ ॥

उत्साह और वरिष्ठता ये दो गुण साथ साथ रहते हैं, और ये सब धन प्राप्त कराते हैं । स्वयं उत्पन्न किया हुआ और स्वयं संग्रह किया हुआ धन इनसे प्राप्त होता है । उत्साही पुरुषके शत्रु मनमें डरते हुए परास्त होकर भाग जाते हैं ॥ ७ ॥

यशका मूल मंत्र ।

मनुष्य सदा यश प्राप्त करनेकी इच्छा करता है, परंतु बहुत थोडे मनुष्योंको पता है कि अपने मनमें उत्साह रहनेसे ही यश प्राप्त होनेकी संभावना होती है । यश प्राप्त होनेका कोई दूसरा मार्ग नहीं है । इस सूक्तमें इसी ' उत्साह ' को प्रेरक देवता मान कर उसका वर्णन किया है; जो पाठक यशस्वी होना चाहते हैं वे इस सूक्तका मनन करें और उत्साहको यश देनेवाला जान कर अपने मनमें उत्साहकी स्थापना करके जगत्में यशस्वी बनें । यशस्वी बननेका उपाय जो तृतीय मंत्रमें कहा है वह सबसे प्रथम देखने योग्य है—

त्वं वशी (शत्रून्) वशं नयासै । (सू. ३१, मं. ३)

' स्वयं तू पहिले वशी अर्थात् संयमी बन, अपने आपको तू सबसे प्रथम वशमें कर, पश्चात् तू अपने शत्रुओंको वशमें कर सकेगा । ' शत्रुओंको वशमें करनेका काम उतना कठिन नहीं है । जितना अपने अन्तःकरणको वशमें करनेका कार्य कठिन है । जिन्होंने अपने आपको वशमें कर लिया उन्होंने, मानो, सब शत्रुओंको वशमें कर लिया ।

सब उद्धार अपने हृदयसे प्रारंभ होता है, इसलिये शत्रुको

वशमें करनेका कार्य भी अपने हृदयसे ही प्रारंभ होना चाहिये। हृदयके अंदर काम-क्रोधादि अनेक शत्रु हैं जिनका पराजय करनेसे अथवा उनको वशमें करनेसे ही मनुष्यका बल बढता है और पश्चात् वह शत्रुको वश करनेमें समर्थ होता है। ' अपने आपको वशमें करो तब तुम शत्रुको वशमें कर सकोगे, ' यह उन्नतिका नियम है। पाठकगण इस नियमका अच्छी प्रकार स्मरण रखें।

उत्साहका महत्त्व ।

वेदमें ' मन्यु ' शब्द उत्साह अर्थमें आता है। जिसको ' क्रोध ' अर्थवाला मानकर बहुत लोग अर्थका अनर्थ करते हैं। इस सूक्तमें भी ' मन्यु ' शब्द ' उत्साह ' अर्थमें है। यह उत्साह क्या करता है देखिये- जब यह उत्साह अपने (स-रथं) मन रूपी रथपर आरूढ होता है, उस समय मनुष्य (हर्षमाणाः) प्रसन्न चित्त होते हैं, उनका (हृषितासः) मन कभी निराशायुक्त नहीं होता, आनंदसे सब कार्य करनेमें समर्थ होता है। उत्साहसे (मर+उत्+वन्) मरनेकी अवस्थामें भी उठनेकी आशा बनी रहती है, कैसी भी कठोर आपत्ति क्यों न आजाय, मन सदा उल्लसित रहता है। उत्साहसे मनुष्य (अग्निरूपाः नरः) अग्निके समान तेजस्वी बनते हैं। (शत्रून् हत्वा) शत्रुओंको मारनेका सामर्थ्य उत्पन्न होता है। जिस मनुष्यमें यह उत्साह अन्तःशक्तियोंका (नः सेनानीः) संचालक सेनापति जैसा बनता है वहां (ओजः मिमानः) बल बढता है और (मृधः विनुदस्व) शत्रुओंको दूर करनेकी शक्ति उत्पन्न होती है। उत्साहसे (उग्रं ओजः) विलक्षण उग्र बल बढता है जिसके सामने (ननु आरुभे) कोई शत्रु ठहर नहीं सकता अर्थात् यह उत्साही पुरुष सब शत्रुओंको रोक रखता है, और पास आने नहीं देता। राष्ट्रमें (विशं विशं युधाय सं शिशाधि) हर-एक मनुष्यको ऐसी शिक्षा देनी चाहिये कि जिस शिक्षाको प्राप्त करनेसे हरएक मनुष्य अपने जीवनयुद्धमें निश्चयपूर्वक विजय प्राप्त करनेके लिये समर्थ हो जावे। (विजयाय घोषं कृण्मसि) विजयका आनंद ध्वनि ही मनुष्य करें और कभी निराशाके कीचडमें न फंसे। यह उत्साह (विजेष-कृत्) विजय प्राप्त करनेवाला है। इस समय इन्द्रादिकोंने जो विजय प्राप्त किया है वह इसी उत्साहके बलपर ही किया है। एक वार मनमें जो मनुष्य पूर्ण निरुत्साही बनता है वह आगे जीवित भी नहीं रहता। अर्थात् जीवन भी इस उत्साहपर निर्भर रहता है। इसलिये हमारे मनका (अस्माकं अधिपाः) स्वामी यह उत्साह बने और कभी हमारे मनमें उत्साहहीनता न आवे। यह उत्साह ऐसा है कि जिसके (सह-भूत) साथ बल उत्पन्न हुआ है। अर्थात् जहां उत्साह उत्पन्न होगा वहां निःसंदेह बल उत्पन्न होगा ही। इसीलिये हरएक मनुष्यको चाहिये कि वह अपने मनमें उत्साह सदा स्थिर रखनेका प्रयत्न करे और कभी निराशाके विचार मनमें आने न दें। इसी उत्साहसे सब प्रकारके धन मनुष्य प्राप्त कर सकता है। शत्रुको परास्त करता है और विजयी होता हुआ इहपर लोकमें आनंदसे विचरता है।

पाठक इस विचारके साथ इस सूक्तका मनन करें और उचित बोध प्राप्त करें।

[सूक्त ३२]

(ऋषिः — ब्रह्मा, स्कंदः। देवता - मन्युः।)

यस्ते॑ म॒न्यो॒ऽवि॑धद्वज्र सायक॒ सह॒ ओजः॑ पुष्य॑ति॒ विश्व॑मानु॒षक् ।
सा॒ह्याम॒ दास॒मार्यं॒ त्वया॑ यु॒जा व॒यं सह॑स्कृतेन॒ सह॑सा॒ सह॑स्वता ॥ १ ॥

अर्थ— हे (वज्र सायक मन्यो) शस्त्रास्त्रयुक्त उत्साह! (यः ते अविधत्) जो तेरा सेवन करता है वह (विश्वं सहः ओजः) सब बल और सामर्थ्यको (आनुषक् पुष्यति) निरन्तर पुष्ट करता है। (सहस्कृतेन सहस्वता) बलको बढानेवाले और विजयी (त्वया युजा) तुझ सहायकके साथ (वयं दासं आर्यं साह्याम) हम दासों और आर्योंको अपने वशमें करेंगे ॥ १ ॥

भावार्थ— जिसके पास उत्साह होता है, उसको सब प्रकारका बल और शस्त्रोंका सामर्थ्य प्राप्त होता है और वह हर-एक प्रकारके शत्रुको वशमें कर सकता है ॥ १ ॥

मन्युरिन्द्रो मन्युरेवास देवो मन्युर्होता वरुणो जातवेदाः ।
मन्युं विश ईळते मानुषीर्याः पाहि नो मन्यो तपसा सजोषाः ॥ २ ॥
अभीहि मन्यो तवसस्तवीयान्तपसा युजा वि जहि शत्रून् ।
अमित्रहा वृत्रहा दस्युहा च विश्वा वसून्या भरा त्वं नः ॥ ३ ॥
त्वं हि मन्यो अभिभूत्योजाः स्वयंभूर्भामो अभिमातिषाहः ।
विश्वचर्षणिः सहुरिः सहीयानस्मास्वोजः पृतनासु धेहि ॥ ४ ॥
अभागः सन्नप परेतो अस्मि तव क्रत्वा तविषस्य प्रचेतः ।
तं त्वा मन्यो अक्रतुर्जिहीळाहं स्वा तनूर्बलदावा न एहि ॥ ५ ॥

अर्थ—(मन्युः इन्द्रः) उत्साह ही इन्द्र है, (मन्युः एव देवः आस) उत्साह ही देव है, (मन्युः होता वरुणः जातवेदाः) उत्साह ही हवन कर्ता, वरुण और जातवेद अग्नि है। यह (मन्युः) उत्साह है कि जिसकी (याः मानुषीः विशः ईळते) जो मानव प्रजाएं हैं वे सब प्रशंसा करती हैं। हे (मन्यो) उत्साह! (सजोषाः तपसा नः पाहि) प्रीतिसे युक्त होकर तू तपसे हमारी रक्षा कर ॥ २ ॥

हे (मन्यो) उत्साह! (तवसः तवीयान् अभीहि) महान्‌से महान् शक्तिवाला तू यहां आ। (तपसा युजा शत्रून् विजहि) अपने तपके सामर्थ्यसे युक्त होकर शत्रुओंका नाश कर। (अमित्रहा, वृत्रहा, दस्युहा त्वं) शत्रुओंका नाशक, आवरण करनेवालोंका नाशक और डाकुओंका नाशक तू (नः विश्वा वसूनि आ भर) हमारे लिये सब धनोंको भर दे ॥ ३ ॥

हे (मन्यो) उत्साह! (त्वं हि अभिभूति-ओजाः) तू ही विजयी बलसे युक्त, (स्वयं-भूः भामः) अपनी ही शक्तिसे बढनेवाला, तेजस्वी, (अभिमाति-षाहः) शत्रुओंका पराभव करनेवाला, (विश्वचर्षणिः सहुरिः) सबका निरीक्षक, समर्थ, (सहीयान्) और बलिष्ठ है। तू (पृतनासु अस्मासु ओजः धेहि) युद्धोंमें हमारे अन्दर शक्ति स्थापन कर ॥ ४ ॥

हे (प्रचेतः मन्यो) ज्ञानवान् उत्साह! मैं (तव तविषस्य अभागः सन्) तेरे बलका भाग न प्राप्त करनेके कारण (क्रत्वा अप परेतः अस्मि) कर्मशक्तिसे दूर हुआ हूं। इसलिये (अक्रतुः अहं तं त्वां जिहीळ) कर्महीन सा होकर मैं तेरे पास प्राप्त हुआ हूं। अतः तू (नः स्वा तनूः बलदावा आ इहि) हमको अपने शरीरसे बलका दान करता हुआ प्राप्त हो ॥ ५ ॥

भावार्थ— इन्द्र, वरुण, अग्नि आदि सब देव इस उत्साहके कारण ही बडे शक्तिवाले हुए हैं। मनुष्य भी इसी उत्साहकी प्रशंसा करते हैं क्योंकि यह उत्साह अपने सामर्थ्यसे सबको बचाता है ॥ २ ॥

उत्साहसे बल बढाता है और शत्रु परास्त होते हैं। डाकु, चोर और दुष्ट दूर किये जा सकते हैं और सब प्रकारका धन प्राप्त किया जा सकता है ॥ ३ ॥

उत्साहसे विजयी बल प्राप्त होता है, शत्रुओंका पराभव हो जाता है, अपनी सामर्थ्य बढ जाती है, तेजस्विता फैलती है, और हरएक प्रकारका बल बढता है। यह उत्साहका बल युद्धके समय हमें प्राप्त हो ॥ ४ ॥

जिसके पास यह उत्साह नहीं होता है, वह कर्मकी शक्तिसे हीन हो जाता है। इसलिये हरएक मनुष्यको उचित है कि वह अपने मनमें उत्साह धारण करे और बलवान् बने ॥ ५ ॥

अयं ते अस्म्युप न एह्यर्वाङ् प्रतीचीनः सहुरे विश्वदावन् ।
मन्यो वज्रिन्नभि न आ ववृत्स्व हनाव दस्यूँरुत बोध्यापेः ॥ ६ ॥
अभि प्रेहि दक्षिणतो भवा नोऽधा वृत्राणि जङ्घनाव भूरि ।
जुहोमि ते धरुणं मध्वो अग्रमुभावुपांशु प्रथमा पिबाव ॥ ७ ॥

अर्थ— हे (सहुरे) समर्थ ! हे (विश्वदावन्) सर्वस्वदाता ! (अयं ते अस्मि) यह मैं तेरा ही हूं। (प्रतीचीनः नः अर्वाङ् उप एहि) प्रत्यक्षतासे हमारे पास आ। हे (मन्यो) उत्साह ! हे (वज्रिन्) शस्त्रधर ! (नः अभि आ ववृत्स्व) हमारे पास प्राप्त हो। (आपेः बोधि) मित्रको पहचान, (उत दस्यून् हनाव) और हम शत्रुओंको मारें ॥ ६ ॥

(अभि प्र इहि) आगे बढ। (नः दक्षिणतः भव) हमारे दहनी ओर हो। (अध नः भूरि वृत्राणि जङ्घनाव) और हमारे सब प्रतिबन्धोंको मिटा देवें। (ते मध्वः अग्रं धरुणं) तेरे मधुर रसका मुख्य धारण करनेवालेको (जुहोमि) मैं स्वीकार करता हूं। (उभौ उपांशु प्रथमा पिबाव) हम दोनों एकान्तमें सबसे पहिले उस रसका पान करें ॥ ७ ॥

भावार्थ— उत्साहसे सब प्रकारका बल प्राप्त होता है। यह उत्साह हमारे मनमें आकर स्थिर रहे और उसकी सहायतासे हम मित्रोंको बढावें और शत्रुओंको दूर करें ॥ ६ ॥

उत्साह धारण करके आगे बढ, शत्रुओंको परास्त कर और मधुर भोगोंको प्राप्त कर ॥ ७ ॥

उत्साहका धारण ।

पूर्व सूक्तमें कहा हुआ उत्साहका वर्णन ही इस सूक्तमें अन्य रीतिसे कहा है। जिस पुरुषमें उत्साह नहीं होता, वह अभागा होता है; ऐसा इस सूक्तके प्रथम मंत्रमें कहा है। यह मंत्र यहां देखने योग्य है—

अभागः सन्नप परेतो अस्मि तव क्रत्वा तविषस्य ।
(सू. ३२, मं. ५)

' उत्साहके बलका भाग प्राप्त न होनेके कारण मैं कर्म शक्तिसे दूर हुआ हूं और अभागा बना हूं। ' उत्साहहीन होनेसे जो बडी भारी हानी होती है वह यह है। उत्साह हट जाते ही बल कम होता है, बल कम होते ही पुरुषार्थ शक्ति कम होती है, पुरुषार्थ प्रयत्न कम होते ही भाग्य नष्ट हो जाता है, इस रीतिसे उत्साहहीन मनुष्य नष्ट होजाता है।

परंतु जिस समय मनमें उत्साह बढ जाता है उस समय वह उत्साही मनुष्य (स्वयंभूः) स्वयं ही अपना अभ्युदय साधन करने लगता है, स्वयं प्रयत्न करनेके कारण (भामः) तेजस्वी बनता है, (अभिमाति-साहः) शत्रुओंको दबाता है, और (अभिभूति-ओजाः) विशेष सामर्थ्यसे युक्त होता है। इससे भी अधिक सामर्थ्य उसकी हो जाती है जिसका वर्णन इस सूक्तमें किया है। इसका आशय यह है कि जो मनुष्य अभ्युदय और निःश्रेयस प्राप्त करना चाहता है, वह उत्साह अवश्य धारण करे। उत्साहहीन मनुष्यके लिये इस जगत्में कोई स्थान नहीं है और उत्साही पुरुषके लिये कोई बात असंभव नहीं है। पाठक इसको स्मरण रखके अपने मनमें उत्साह बढावें और पुरुषार्थ प्रयत्न करके सब प्रकारका यश प्राप्त करें और इहपर लोकमें आदर्श पुरुष बनें।

उत्साह मनमें रहता है, यह इन्द्रका स्वभाव-धर्म है। वेदके इन्द्र सूक्तोंमें उत्साह बढानेवाला वर्णन है। जो मनुष्य अपने मनमें उत्साह बढाना चाहते हैं वे वेदके इन्द्र सूक्त पढें और उनका मनन करें। इन्द्र न थकता हुआ शत्रुका पराभव करता है, यह उसके उत्साहके कारण है। इन सूक्तोंमें भी इसी अर्थका एक मंत्र है जिसमें कहा है कि ' इस उत्साहके कारण ही इन्द्र प्रभावशाली बना है। ' इसलिये पाठक इन्द्रके सूक्त मननपूर्वक देखेंगे तो उनको पता लग जायगा कि उत्साह क्या चीज़ है और वह क्या कर सकता है। उत्साह बढानेके लिये उत्साही पुरुषोंके साथ संगती करनी चाहिये। उत्साही ग्रंथ पढना चाहिये और किसी समय निरुत्साहका विचार मनमें आगया, तो उसको हटाकर उसके स्थानमें उत्साहका विचार स्थिर करना चाहिये। थोडा भी निरुत्साह मनमें उत्पन्न हुआ तो अल्प समयमें बढ जाता है और मनको मलिन कर देता है। इसलिये उन्नति चाहनेवाले पुरुषोंको उचित है कि वे इस रीतिसे अपने मनकी रक्षा करें।

पाप-नाशन ।

[सूक्त ३३]

(ऋषिः — ब्रह्मा । देवता - पाप्मनाशनः अग्निः ।)

अप नः शोशुचदघमग्ने शुशुग्ध्या रयिम् । अप नः शोशुचदघम् ॥ १ ॥
सुक्षेत्रिया सुगातुया वसूया च यजामहे । अप नः शोशुचदघम् ॥ २ ॥
प्र यद्भन्दिष्ठ एषां प्रास्माकासश्च सूरयः । अप नः शोशुचदघम् ॥ ३ ॥
प्र यत्ते अग्ने सूरयो जायेमहि प्र ते वयम् । अप नः शोशुचदघम् ॥ ४ ॥
प्र यदग्नेः सहस्वतो विश्वतो यन्ति भानवः । अप नः शोशुचदघम् ॥ ५ ॥
त्वं हि विश्वतोमुख विश्वतः परिभूरसि । अप नः शोशुचदघम् ॥ ६ ॥
द्विषो नो विश्वतोमुखाति नावेव पारय । अप नः शोशुचदघम् ॥ ७ ॥
स नः सिन्धुमिव नावाति पर्षा स्वस्तये । अप नः शोशुचदघम् ॥ ८ ॥

अर्थ— हे (**अग्ने**) प्रकाशक देव ! (**नः अघं अपशोशुचत्**) हमारा पाप निःशेष दूर होवे और हमारे पास (**रयिं शुशुग्धि**) धन शुद्ध होकर आवे । (**नः अघं अप शोशुचत्**) हमारा पाप दूर होवे ॥ १ ॥

(**सुक्षेत्रिया सुगातुया**) उत्तम क्षेत्रके लिये, उत्तम भूमिके लिये, (**च वसुया यजामहे**) और धनके लिये हम यजन करते हैं । हमारा पाप दूर होवे ॥ २ ॥

(**एषां यत् भन्दिष्ठः प्र**) इनके बीचमें जिस प्रकार अत्यंत कल्याण युक्त होकर (**अस्माकासः सूरयः च**) और हमारे ज्ञानी जन भी उत्तम अवस्था प्राप्त करें । इसके लिये जैसा चाहिये वैसा हमारा पाप दूर होवे ॥ ३ ॥

हे (**अग्ने**) तेजस्वी देव ! (**यत् ते सूरयः**) जैसे तेरे विद्वान् हैं वैसे (**ते वयं प्र जायेमहि**) तेरे बनकर हम श्रेष्ठ हो जायेंगे, इसलिये हमारा पाप दूर होवे ॥ ४ ॥

(**यत्**) जैसे (**सहस्वतः अग्नेः**) बलवान् अग्निके (**भानवः विश्वतः प्रयन्ति**) किरण चारों ओर फैलते हैं, उस प्रकार मेरे फैलें, इसलिये हमारा पाप दूर होवे ॥ ५ ॥

हे (**विश्वतो-मुख**) सब ओर मुखवाले देव ! (**त्वं हि विश्वतः परिभूः असि**) तू ही सबके ऊपर होनेवाला है, वैसा बननेके लिये हमारा पाप दूर होवे ॥ ६ ॥

हे (**विश्वतो-मुख**) सब ओर मुखवाले देव ! (**नावा इव**) नौकाके समान (**नः द्विषः अति पारय**) हमें शत्रुओंके समुद्रसे पार कर और हमारे पाप दूर कर ॥ ७ ॥

(**सः**) वह तू (**नः अति पर्ष**) हमें पार कर (**नावा सिंधुं इव**) जैसे नौकासे समुद्रके पार होते हैं । और (**स्वस्तये**) कल्याणके लिये (**नः अघं अप शोशुचत्**) हमारे सब पाप दूर हों ॥ ८ ॥

पापको दूर करना।

इस सूक्तमें पापको दूर करनेसे जो अनेक लाभ होते हैं उनका वर्णन है। पापको दूर करनेसे और शुद्ध होनेसे (रयिं) धन मिलता है, (सुक्षेत्र) उत्तम क्षेत्र प्राप्त होता है, (सुगातु) उत्तम मार्ग उन्नतिके लिये खुला होता है, (भन्दिष्ठः) कल्याण प्राप्त होता है, (सूरयः) विद्वानोंकी संगति मिलती है, (सूरयः जायेमहि) ज्ञान संपन्नता प्राप्त होती है, (भानवः विश्वतः यन्ति) प्रकाश चारों ओर फैलता है, (परिभूः) सबसे अधिक प्रभाव हो जाता है, (अति पारयति) दुःख दूर हो जाते हैं और (स्वस्ति) कल्याण प्राप्त होता है, ये लाभ पापको दूर करनेसे होते हैं। जिस प्रमाणसे पाप दूर होगा और पवित्रता हो जायगी, उस प्रमाणसे उक्त लाभ हो जायगे। पाठक इस बातको उत्तम स्मरण रखें और जहांतक हो सके वहांतक प्रयत्न करके स्वयं निष्पाप बननेका यत्न करें, तो उक्त लाभ स्वयं ही उनके पास चलकर आ जांयगे।

अन्नका यज्ञ।

[सूक्त ३४]

(ऋषिः — अथर्वा। देवता — ब्रह्मौदनं।)

ब्रह्मास्य शीर्षं बृहदस्य पृष्ठं वामदेव्यमुदरमोदनस्य।
छन्दांसि पक्षौ मुखमस्य सत्यं विष्टारी जातस्तपसोऽधि यज्ञः ॥ १ ॥
अनस्थाः पूताः पवनेन शुद्धाः शुचयः शुचिमपि यन्ति लोकम्।
नैषां शिश्नं प्र दहति जातवेदाः स्वर्गे लोके बहु स्त्रैणमेषाम् ॥ २ ॥
विष्टारिणमोदनं ये पचन्ति नैनानवर्तिः सचते कदा चन।
आस्ते यम उप याति देवान्त्सं गन्धर्वैर्मदते सोम्येभिः ॥ ३ ॥

अर्थ— (अस्य ओदनस्य शीर्षं ब्रह्म) इस अन्नका सिर ब्रह्म है। (अस्य पृष्ठं बृहत्) इस अन्नकी पीठ बडा क्षत्र है। और (ओदनस्य उदरं वामदेव्यं) इस अन्नका उदर—मध्यभाग—उत्तम देव संबंधी है। (अस्य पक्षौ छन्दांसि) इसके दोनों पार्श्वभाग छन्द हैं और (अस्य मुखं सत्यं) इसका मुख सत्य है। इसकी (तपसः) उष्णतासे (विष्टारी यज्ञः अधिजातः) फैलनेवाला यज्ञ होता है ॥ १ ॥

(अन्-अस्थाः) अस्थिरहित, (पवनेन शुद्धाः पूताः शुचयः) प्राणायामसे शुद्ध, पवित्र और निर्मल बने हुए (शुचिं लोकं अपि यन्ति) शुद्ध लोकको प्राप्त होते हैं। (जातवेदाः एषां शिश्नं न प्र दहति) अग्नि इनके सुखसाधन रूप इन्द्रियको नहीं जला देता और (स्वर्गे लोके एषां बहु सौख्यं) स्वर्गलोकमें इनको बहुत सुख होता है ॥ २ ॥

(ये विष्टारिणं ओदनं पचन्ति) जो इस व्यापक अन्नको पकाते हैं (एनान् कदाचन अवर्तिः न सचते) इनको कभी भी दरिद्रता नहीं प्राप्त होती है। जो (यमे आस्ते) नियममें रहता है वह (देवान् उप याति) देवोंको प्राप्त होता है। और वह (सोम्येभिः गन्धर्वैः सं मदते) शान्त गन्धर्वोंसे मिलकर आनन्द प्राप्त करता है ॥ ३ ॥

भावार्थ— इस अन्नका सिर ब्राह्मण, पीठ क्षत्रिय, मध्यभाग वैश्य [और शेष भाग शूद्र] है। छंद इसके दायें बायें भाग हैं, इसका मुख सत्य है। इस अन्नसे विस्तृत यज्ञ सिद्ध होता है ॥ १ ॥

विदेही, शुद्ध, पवित्र और निर्मल बनते हुए यज्ञकर्ता लोग उच्च लोकको प्राप्त करते हैं। सुख प्राप्त करनेके इसके इंद्रिय अग्निसे नहीं जलते हैं; उच्च लोकमें वह ये सुख प्राप्त करता है ॥ २ ॥

विष्टारिणमोदनं ये पचन्ति नैनान्यमः परि मुष्णाति रेतः ।
रथी ह भूत्वा रथयानं ईयते पक्षी ह भूत्वाति दिवः समेति ॥ ४ ॥
एष यज्ञानां विततो वहिष्ठो विष्टारिणं पक्त्वा दिवमा विवेश ।
आण्डीकं कुमुदं सं तनोति बिसं शालूकं शफको मुलाली ।
एतास्त्वा धारा उप यन्तु सर्वाः स्वर्गे लोके मधुमत्पिन्वमाना
उप त्वा तिष्ठन्तु पुष्करिणीः समन्ताः ॥ ५ ॥
घृतह्रदा मधुकूलाः सुरोदकाः क्षीरेण पूर्णा उदकेन दध्ना ।
एतास्त्वा धारा उप यन्तु सर्वाः स्वर्गे लोके मधुमत्पिन्वमाना
उप त्वा तिष्ठन्तु पुष्करिणीः समन्ताः ॥ ६ ॥
चतुरः कुम्भांश्चतुर्धा ददामि क्षीरेण पूर्णाँ उदकेन दध्ना ।
एतास्त्वा धारा उप यन्तु सर्वाः स्वर्गे लोके मधुमत्पिन्वमाना
उप त्वा तिष्ठन्तु पुष्करिणीः समन्ताः ॥ ७ ॥

अर्थ -- (ये विष्टारिणं ओदनं पचन्ति) जो इस व्यापक अन्नको पकाते हैं (यमः एनान् रेतः न परि मुष्णाति) यम इनके वीर्यको नहीं कम करता । वह (रथी ह भूत्वा रथयाने ईयते) रथी होकर रथ मार्गसे विचरता है । और (पक्षी ह भूत्वा अति दिवः सं एति) पक्षीके समान होकर द्युलोकको पार करके ऊपर जाता है ॥ ४ ॥

(एष यज्ञानां वहिष्ठः विततः) यह सब यज्ञोंमें श्रेष्ठ और विस्तृत है । इस (विष्टारिणं पक्त्वा दिवं आ विवेश) विस्तृत यज्ञका अन्न पकाकर वह प्रकाशमान द्युलोकमें प्रविष्ट होता है । (शं-फकः मुलाली) शान्त चित्त होकर मूल शक्तिकी वृद्धि करनेवाला (आण्डीकं कुमुदं बिसं शालूकं) अण्डेके समान बढनेवाले आनन्ददायक कमल कन्दके समान बढनेवालेको (सं तनोति) ठीक प्रकार फैलाता है । (एताः सर्वाः धाराः त्वा उपयन्तु) ये सब धाराएं तुझे प्राप्त हों, (स्वर्गे लोके मधुमत् पिन्वमानाः समन्ताः पुष्करिणीः) स्वर्गलोकमें मधुर रसको देनेवाली सब नदियां (त्वा उप तिष्ठन्तु) तेरे समीप उपस्थित हों ॥ ५ ॥

(घृतह्रदाः मधुकूलाः) घीके प्रवाहवाली, मधुर रसके तटवाली, (सुरोदकाः) निर्मल जलसे युक्त (उदकेन दध्ना क्षीरेण पूर्णाः) जल, दही और दूधसे परिपूर्ण (एताः सर्वा धाराः त्वा उपयन्तु०) ये सब धाराएं तुझे प्राप्त हों । स्वर्गलोकमें मधुर रसको देनेवाली सब नदियां तेरे समीप उपस्थित हों ॥ ६ ॥

(क्षीरेण दध्ना उदकेन पूर्णान्) दूध, दही और उदकसे भरे हुए (चतुरः कुम्भान् चतुर्धा ददामि) चार घडोंको चार प्रकारसे प्रदान करता हूं । ये सब धाराएं तुझे प्राप्त हों, स्वर्गलोकमें मधुर रसको देनेवाली सब नदियां तेरे समीप उपस्थित हों ॥ ७ ॥

भावार्थ— जो लोग इस अन्नदानरूप यज्ञको करते हैं उनको कभी कष्टकी अवस्था नहीं प्राप्त होती । वह अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये यम पालन करता हुआ देवत्व प्राप्त करता है और वहांका आनंद प्राप्त करता है ॥ ३ ॥

जो लोग इस अन्नदानरूप यज्ञको करते हैं वे कभी निर्वीर्य नहीं होते । वे इस लोकमें बैठते हैं और रथी कहलाते हैं और अन्तमें द्युलोकके भी ऊपर पहुंचते हैं ॥ ४ ॥

यह अन्नयज्ञ सब यज्ञोंमें श्रेष्ठ है, जो इसको करते हैं वे स्वर्ग प्राप्त करते हैं । वहां शान्तिसे युक्त होते हुए अन्तःशक्तिसे संपन्न होकर आनंद प्राप्त करते हैं । वहां सब मधुर रस अनायाससे उनको प्राप्त होते हैं ॥ ५ ॥

इममोदनं नि दधे ब्राह्मणेषु विष्टारिणं लोकजितं स्वर्गम् ।
स मे मा क्षेष्ट स्वधया पिन्वमानो विश्वरूपा धेनुः कामदुघा मे अस्तु ॥ ८ ॥

अर्थ— (इमं विष्टारिणं लोकजितं स्वर्गं ओदनं) इस विस्तृत लोकोंको जीतनेवाले और स्वर्ग देनेवाले अन्नको (ब्राह्मणेषु नि दधे) ज्ञानियोंके लिये प्रदान करता हूं। (स्वधया पिन्वमानः) अपनी धारक शक्तिसे तृप्त करनेवाला (सः मे मा क्षेष्ट) वह अन्नदान मेरी हानि न करे । (विश्वरूपा कामदुघा धेनुः मे अस्तु) विश्वरूपा कामना पूर्ण करनेवाली कामधेनु मेरे लिये होवे ॥ ८ ॥

भावार्थ— घी, शहद, शुद्ध जल, दूध, दही आदिके स्रोत मिलनेके समान पूर्ण तृप्ति उनको प्राप्त होती है ॥ ६ ॥

दूध, दही, जल और शहदसे पूर्ण भरे हुए चार घडे विद्वानोंको दान करनेसे उच्च लोक प्राप्त होकर पूर्ण तृप्ति प्राप्त होती है ॥ ७ ॥

यह अन्नका दानरूप यज्ञ करनेसे और यह अन्न ज्ञानियोंको देनेसे किसी प्रकारकी भी हानि नहीं होती है । अपनी शक्तिसे तृप्ति होनेकी अवस्था प्राप्त होनेके कारण, मानो सब कामनाओंको पूर्ण करनेवाली कामधेनु ही प्राप्त होती है ॥ ८ ॥

अन्नका विष्टारी यज्ञ ।

' विष्टारी यज्ञ ' का वर्णन इस सूक्तमें किया है । 'विष्टारी' शब्दका अर्थ है ' विस्तार करनेवाला ' अर्थात् जिसका परिणाम बडा विस्तृत होता है । यह यज्ञ (ओदनस्य) अन्नका किया जाता है । अन्न पका हो, या कच्चा हो, अर्थात् पका कर तैयार किया हुआ हो अथवा धान्यके रूपमें हो अथवा जिससे धान्य खरीदा जाता है ऐसे धनादिके रूपमें हो, इस सबका अर्थ एक ही है ।

इस सूक्तमें ' पचन्ति ' किया है जो पकाये अन्नकी सूचना देती है, तथापि यह भाव गौण मानना भी अयोग्य नहीं होगा। सप्तम मंत्रमें (क्षीर, दधि, उदक, मधु) दूध, दही, उदक, और शहद ये चार पदार्थ विष्टारी यज्ञमें दान देनेके लिये कहे हैं । ये पदार्थ कोई पके अन्नके रूपमें नहीं हैं । दूध तपाया जा सकता है, परंतु शहद और दहि पकानेकी वस्तु नहीं है । इसलिये इस विष्टारी यज्ञके लिये सब अन्न पकाया ही होना चाहिये ऐसी बात नहीं है । उत्तम पक्ष तो पकाये अन्नका दान करना अर्थात् विद्वानोंको खिलाना ही है, मध्यम पक्ष विद्वानोंको धान्य समर्पण करना है और गौणपक्ष धान्य खरीदनेके धन आदि साधन अर्पण करना है । जल, शहद, दूध, घी, मक्खन तथा खानपानके अन्यान्य पदार्थ देना भी इस यज्ञका अंग है । जलदान करनेका अर्थ कुआ खुदवाकर अर्पण करना, दूध देनेका तात्पर्य दूध देनेवाली गौवें देना । शहद, घी आदि तैयार अवस्थामें देना इत्यादि बातें स्पष्ट हैं ।

ब्राह्मणोंको दान ।

यह विष्टारी यज्ञका दान ब्राह्मणोंको देना चाहिये इस विषयमें अष्टम मंत्रमें कहा है—

इमं ओदनं निदधे ब्राह्मणेषु । (सू. ३४, मं. ८)

' यह अन्न ब्राह्मणोंको देता हूं ।' अर्थात यह अन्न ब्राह्मणोंमें विभक्त करता हूं । किसी अन्यके लिये देना नहीं है । ऐसा क्यों करना इसका थोडासा विचार करना चाहिये । ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और निषाद ये पंचजन हैं, इनमेंसे क्षत्रिय राजप्रबंधका कार्य करता है और ऐश्वर्यसंपन्न तथा अधिकारसंपन्न रहता है, इस लिये उसको दान लेनेकी आवश्यकता नहीं है । वैश्य कृषि और क्रयविक्रयादि व्यापार करता है तथा सूद भी प्राप्त करता है, इस लिये धनसंपन्न होनेके कारण उसको दान लेनेकी आवश्यकता नहीं है । शूद्र सब कारीगरी करनेवाले और उत्पादक धंदा करनेवाले होते हैं, इसलिये उनके पास धन होता है, अतः काम धंदा करके धन कमानेकी शक्यता होनेके कारण इनको दान लेनेकी आवश्यकता नहीं है । निषाद प्रायः जंगलमें रहते हैं, स्थायी गृहादि बनाकर नहीं रहते, वनमें जहां वन्य खाद्यपेय प्राप्त होगा, वहां जाकर निवास करते हैं । इस लिये ये किसीके पास दान नहीं मांग सकते । शेष रहे ब्राह्मण, इनके पास कोई उत्पादक धंदा नहीं कि जिससे ये धन कमावें, राज्य प्रबंधमें विशेष अधिकार इनको नहीं है जिससे क्षत्रियके समान इनकी संपन्नता बढ सके, इस लिये इनकी अन्यासिद्ध निर्धनता रहती है । दूसरेने धनधान्य दिया तो इनकी वृत्ति

चलेगी, अन्यथा भूखा रहना ही आवश्यक होगा, इस लिये ब्राह्मणको दान देना चाहिये। ब्राह्मण ही दान लेनेका अधिकारी है इसका सामाजिक दृष्टिसे यह कारण है।

ब्राह्मणोंको दान क्यों दिया जाय ?

अन्य वर्णके लोग ब्राह्मणोंको दान क्यों दें इसका भी कारण ढूंढना चाहिये। इस सूक्तमें दानका जो फल लिखा है वह इस प्रसंगमें देखिये—

(१) शुद्ध, पवित्र, निर्मल और विदेही होकर पवित्र लोकको प्राप्त करता है। (मं. २)

(२) स्वर्गलोक प्राप्त करता है। (मं. ४)

(३) स्वर्ग लोकमें उसको मधुर रसकी धाराएं प्राप्त होती हैं। (मं. ५-७)

ये फल अलौकिक हैं अर्थात् भूलोकमें यहां प्राप्त होनेवाले नहीं हैं। स्वर्गमें क्या होता है और क्या नहीं इस विषयमें साधारण मनुष्यको यहां ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। तथापि इस विषयमें थोडीसी कल्पना आनेके लिये स्वर्गका थोडासा स्वरूप कथन करते हैं—

मृत्युलोक।

(१) इहलोक— इस लोकमें मनुष्य जीवित अवस्थामें रहते हैं। स्थूल शरीरसे विचरते हैं, अपने स्थूल इंद्रियोंसे सुखदुःखका अनुभव प्राप्त करते हैं। मनुष्यका जीवन इस लोकमें होनेके कारण यहांके अनुभव प्रत्यक्षानुभव करके कहे जाते हैं।

स्वर्गलोक।

(२) परलोक— दूसरा लोक। इसमें यह देह छोडनेके पश्चात् प्राप्त होनेवाले लोकोंका समावेश होता है। इस स्थूल देहसे इस जगत्में जिस प्रकार व्यवहार होते हैं, उसी प्रकार सूक्ष्म देहोंसे अन्य लोकोंमें व्यवहार होते हैं परंतु इसमें थोडासा भेद है। स्थूल, सूक्ष्म, कारण और महाकारण ये चार प्रकारके देह मनुष्यको प्राप्त होते हैं और ये एक दूसरेके अंदर रहते हैं। जिस प्रकार स्थूल देहका कार्यक्षेत्र इस दृश्य जगत्में है, उसी प्रकार सूक्ष्म देहोंका कार्यक्षेत्र सूक्ष्म जगत्में होता है। स्थूल देहसे सूक्ष्म जगतमें कार्य नहीं हो सकता, परंतु सूक्ष्म देहोंसे स्थूल जगत्में अंतःस्फूर्तिरूप प्रेरणाका कार्य हो सकता है यह सत्य है, तथा केवल सूक्ष्म देहोंसे अर्थात् मरणके पश्चात् अवशिष्ट रहे हुए सूक्ष्म देहसे इस स्थूल जगत्में कार्य नहीं कर सकते। इन लोकोंका विचार करनेके लिये इस व्यवस्थाकी ठीक कल्पना होनी चाहिये।

वासना देह।

स्थूल देहका कार्य सब जानते ही हैं, इसके अंदर पहिला सूक्ष्म देह ' वासना देह ' है, भद्र और अभद्र वासना मनुष्य करता है, वह इस देहसे करता है। जो मनुष्य घातपात और हिंसा आदिकी अभद्र वासनाओंसे अपने आपको अपवित्र करते हैं और इसी प्रकारके दुष्ट कार्योंमें अपनी आयु व्यतीत करते हैं, उनका यह वासना देह बडा मलिन होता है और जो लोग अपनी वासनाएं पवित्र करते हैं, शुद्ध और निष्पाप कामनाओंका धारण करते हैं, उनका वासना देह शुद्ध और पवित्र बनता है।

मृत्यु आनेसे मनुष्यका स्थूल देह नष्ट हुआ तो भी स्थूल देहके नाशसे यह ' वासना देह ' नष्ट नहीं होता, अर्थात् मृत्युके नंतर भी और स्थूल देह नष्ट हो जानेपर भी यह जीव अपने वासना देहसे अपनी वासनाएं करता है। आमरणान्त हिंसक वृत्तिसे रहे हुए मनुष्यकी वासनाएं हिंसामय क्रूर होती हैं और शांत तथा शम वृत्तिसे रहे हुए मनुष्यकी शांतिसे पूर्ण निर्भय वृत्तिकी वासनाएं होती हैं। हिंसापूर्ण वासनाओंसे अशांति और निर्भयताकी वासनाओंसे शांति होती है। वासना देहके कार्यक्षेत्रमें मनुष्यको इस प्रकार सुख-दुःख केवल अपनी वासनाओंसे ही प्राप्त होता है। बुरी वासनाओंके प्राबल्यसे जो अशान्ति होती है उसीका नाम नरक है और शुभ वासनाओंकी प्रबलतासे मनुष्य स्वर्ग सोपानके मार्गसे ऊपर चढता है अर्थात् शान्तिसुखका अनुभव मरणोत्तरके कालमें भी करता है। मनुष्य अपना स्वर्ग और नरक स्वयं बनाता है ऐसा जो कहते हैं उसका हेतु यही है। जो मनुष्य अपने अंदर शुभ वासनाओंको स्थिर करता है और आत्मशुद्धिका साधन करता है वह अपने लिये स्वर्ग रचता है और जो मनुष्य अपने अंदर हीन वासनाएं बढाता है, वह अपने लिये नरकका अग्नि प्रज्वलित करता है।

नरकके दुःख।

कामी और क्रोधी पुरुष अपनी कुवासनाएं अतृप्त रहनेके समय कैसे तडपते रहते हैं, इसका अनुभव जिनको है वे जान सकते हैं कि मरणोत्तरके कालमें अशुभ वासनाओंके भडक उठनेसे मृतात्माको कैसा तडफना पडता होगा, यही उसका नरकवास है। इस वासना देहका बुरी वासनाओंका जाल जबतक चलता रहता है तबतक यह तडफना उसके लिये अत्यंत अपरिहार्य ही है और कोई दूसरा इस समय उसके इन कष्टोंको दूर नहीं कर सकता। क्योंकि उसके ये कष्ट स्वयं उसकी अंदरकी वासनाओंके कारण होते हैं। जब वासनाएं उठ उठ कर उनका

परिणाम न होनेके कारण कुछ समयके पश्चात् स्वयं नष्ट होती है, तब उसका यह नरकवास समाप्त होता है ।

इस रीतिसे शुभाशुभ वासनाकी तरंगें उठना जब बन्द हो जाता है तब इसका यह भोग समाप्त होता है, मानो इस समय इसका वासना देह ही फट जाता है अर्थात् इसकी वासना देहकी भी मृत्यु हो जाती है । इस वासना देहसे मनुष्य स्वप्न देखता है । शुभ और अशुभ स्वप्नका अनुभव होना शुभाशुभ वासनाओंसे भी होता है । यदि मनुष्य अपने स्वप्नोंका विचार करेगा, तो भी उसको अपने मरणोत्तरकी स्थितिकी कल्पना हो सकती है और अपनी वासनाओंकी शुभाशुभ अवस्थाका भी पता उसको लग सकता है, तथा मरणोत्तर नरक प्राप्त होगा या स्वर्ग प्राप्त होगा, इसका भी ज्ञान हरएकको इससे हो सकता है । अपनी वासनाओंकी परीक्षासे यह समझना कठिन नहीं है ।

कल्पवृक्ष और कामधेनु ।

जब पूर्वोक्त प्रकार वासना देहकी मृत्यु हो जाती है तब मृतात्माका कारणदेह कार्य करनेके लगता है । यहां यदि उसके शुभ और सत्य प्रियताके विचार हुए तो उसको अपने संकल्पोंसे ही सुख और आनंद मिलता है । जो कल्पना होगी, वह मूर्तरूपमें इस समय उपस्थित होगी । यही कल्पवृक्षका स्थान है, या स्वर्गीय कामधेनु भी यही है । जो कल्पना उठेगी वह मूर्तरूप धारण करके इसके सन्मुख आ जायगी । शुभ मंगल कल्पनाओंसे सुख और अन्य कल्पनाओंसे दुःख होगा । कल्पवृक्षके नीचे बैठा हुआ मनुष्य यदि 'व्याघ्रका हमला अपने ऊपर होनेकी कल्पना' करेगा तो उसकी कल्पना होते ही व्याघ्रका हमला होकर वह उसी समय मर जायगा । इसमें कल्पवृक्षका कोई दोष नहीं है, परंतु कल्पना करनेवालेका ही दोष है । क्योंकि दूसरा मनुष्य सुमधुर फलभोजकी कल्पना करके सुमधुर फलोंका आस्वाद भी लेगा । यह केवल कल्पनाके ही खेल हैं । इस कारण देहकी अवस्थामें येही संकल्पोंके खेल होते हैं । यदि इसके शुभ संकल्प बने हों, तो इस समय उसके लिये ये शुभसंकल्प अत्यंत सुख दे सकते हैं । स्वर्गलोकमें घी, दूध, शहद, दहीकी मीठी नदियां प्राप्त होंगी, और अन्यान्य सुख मिलेगा, ऐसा जो इस सूक्तमें कहा है, वह सुख इस प्रकार उसके शुभ विचारोंके कारण ही उसको प्राप्त होगा । शहदकी कल्पना होते ही वह उसको प्राप्त होगा और इसी प्रकार अन्य सुख भी इसको मिलेंगे । मंत्र ५ से ८ तक जो स्वर्ग सुखका वर्णन किया है, उसका तात्पर्य यह है । अब अष्टम मंत्रमें—

विश्वरूपा धेनुः कामदुघा मे अस्तु ।

(सू. ३४, मं. ८)

'विश्वरूपी कामना पूर्ण करनेवाली कामधेनु मुझे स्वर्गमें मिले' ऐसा जो कहा है, यह कामधेनु इसी समय इस रीतिसे प्राप्त होती है । इस स्वर्गलोकके संकल्पका प्रभाव देखिये कैसा वर्णन किया है—

संकल्पसिद्धि ।

अथ यद्यन्नपानलोककामो भवति ... ॥ ७ ॥
अथ यदि गीतवादित्रलोककामो भवति ... ॥ ८ ॥
अथ यदि स्त्रीलोककामो भवति ... ॥ ९ ॥
यं यं कामयते सोऽस्य संकल्पादेव समुत्तिष्ठति तेन संपन्नो महीयते ॥ १० ॥

(छां० ८।२।७-१०)

'अन्नपान, गानाबजाना, स्त्रीसुख आदि जिसकी कामना वह इस समय करता है, उसके संकल्पसे ही उसको उन सब सुखोंकी प्राप्ति होती है ।' यह छांदोग्य उपनिषद्में कहा हुआ वर्णन इस सूक्तके वर्णनके साथ पाठक देखेंगे तो उनको पता लग जायगा कि दोनों वर्णन समान ही भाव व्यक्त कर रहे हैं ।

स्वर्गमें शहद, दही, दूध, घी, शुद्धोदक आदिकी नहरें हैं, यह बात वस्तुतः नहीं है । परंतु शहदकी कल्पना उठनेसे जितना चाहे बडा शहदका तालाव या स्रोत उसको प्राप्त हो सकता है और उसके सेवन करनेका आनंद उसको केवल संकल्पके प्रभावसे ही मिल सकता है ।

इस सूक्तमें 'स्वर्गलोकमें बहुत (बहु स्त्रैणं) स्त्रीसुख (मं. २); मीठे रसकी धाराएं (मधुमत् पिन्वमानाः धाराः) (मं. ५-७); (घृतह्रदाः) घीके तालाव; (मधुकूलाः) शहदकी नदियां; (क्षीरेण दध्ना पूर्णाः) दूध और दहीसे भरे हौज (मं. ८)' इत्यादि जो वर्णन है वह पूर्वोक्त रीतिसे अनुभवमें आनेवाला है, यह पाठक स्मरणमें रखें । 'कारण' शरीरकी यह अवस्था है जहां सङ्कल्पकी सिद्धि होती है ।

कुराणमें बहिश्त ।

कुराणशरीफमें जो 'बहिश्त' की कल्पना है और उस बहिश्तमें पानीके स्रोत बहने और शहदकी नदियां होनेका जो वर्णन है वह इस सूक्तसे लिया हुआ प्रतीत होता है । इस सूक्तके पंचम मंत्रमें 'बहिष्ठः' शब्द है जो स्वर्गदायक यज्ञका वाचक है और साथ साथ स्वर्गका भी दूरतः वाचक है, उसीका रूपान्तर कुराणशरीफका 'बहिश्त' है । नदियां और स्रोत दोनों स्थान पर समान हैं । परंतु वेदादि ग्रंथोंमें जो स्वर्गकी कल्पना विशद की है और ऊपर बताये छांदोग्योपनिषद्में जो कल्पना स्पष्ट कर दी है, उस प्रकार कुराणशरीफमें नहीं की है, इसलिये उस

ग्रंथके माननेवालोंको प्रतीत होता है, कि वहां सचमुच शहदकी नदियां हैं । परंतु वैदिक धर्मके ग्रंथोंमें स्वर्गकी स्पष्ट कल्पना बता दी है, इसलिये हमें पता है कि वहां संकल्पके बलके कारण उक्त अनुभव आते हैं और वहांके अनुभव उस 'कारण' शरीरकी अवस्थामें निःसंदेह सत्य हैं । अन्य धर्मग्रंथोंके वचनोंका वेदके वचनोंके साथ इस प्रकार तुलनात्मक दृष्टिसे विचार किया जायगा, तो उनके संदिग्ध वचनोंका ठीक अर्थ ध्यानमें आ जायगा और धर्मवचनोंका ठीक ठीक अर्थ सबको विदित होगा। ऐसा होनेसे कई झगडे मिट जायगे, परंतु ऐसा होनेके लिये तुलनात्मक धर्मग्रंथोंके वचनोंका विचार होना आवश्यक है। जब यह शुभ समय आ जायगा, तब ही सत्य धर्मका प्रचार और विचार संभवनीय है ।

मनो-रथ ।

इस प्रकार स्वर्गकी पुष्करिणी और कामधेनु क्या है उसका तात्पर्य क्या और उसका अनुभव किस समय कैसा होता है इस बातका विचार हुआ । स्वर्गधामका अनुभव 'कारण' शरीरमें पूर्वोक्त प्रकार होता है । इसको **'मनोदेह'** अथवा **'मनोरथ'** अर्थात् मनरूपी रथ भी कह सकते हैं । इसका वर्णन चतुर्थ मंत्रमें इस प्रकार है—

रथी ह भूत्वा रथयान ईयते । (सू. ३४, मं. ४)

'यह रथमें बैठता है और महारथी बनकर चलता है ।' यह उसका 'मनो-रथ' ही है । मनके संकल्पके रथमें बैठता है और जिस सुखको चाहे केवल संकल्पसे ही प्राप्त करता है। अब पाठक यहां अवश्य देखें कि मनके शुभ संकल्प जीतेजी स्थिर होनेकी कितनी आवश्यकता है । अशुभ संकल्प हुए तो वेही संकल्प राक्षस बनकर इस समय इसके पीछे पडते हैं और अनेक भयंकर दृश्योंका अनुभव यह उस समय करता है। बडे डरसे व्याकुल होता है । उसकी कल्पना पाठक पूर्वोक्त वर्णनसे ही कर सकते हैं ।

शुभसंकल्पोंको मनमें स्थिर करनेवालेके लिये जो लाभ होते हैं उनका वर्णन इस सूक्तमें निम्नलिखित प्रकार है—

नैषां शिश्नं प्र दहति जातवेदाः । (सू. ३४, मं. २)
नैनान् यमः परि मुष्णाति रेतः । (सू. ३४, मं. ४)

'अग्नि शुभसंकल्पधारी मनुष्यका शिश्न जलाता नहीं, और यम उसका वीर्य कम नहीं करता ।' अर्थात् जो अशुभ विचारोंका सतत चिन्तन करते रहते हैं उनका शिश्न अग्नि जलाता है और यम उनको निर्वीर्य बना देता है । इन अशुभ विचारोंके कारण वह मनुष्य इन्द्रिय शक्तियोंसे हीन होता है और क्षीणवीर्य भी बनता है । इस जगत्में भी यह अनुभव पाठकोंको मिल सकता है । जो दुराचारी होते हैं और दुष्ट विचारोंसे अपने मनको कलंकित करते हैं, वे यहां ही क्षयी निर्वीर्य और निस्तेज होते हैं । मृत्युके पश्चात् वासना-देहमें जिस समय उसकी वासनाएं भडक उठती हैं उस समय उसके दग्ध हो जानेके कष्ट कल्पनासे ही पाठक जान सकते हैं । विषयवासनाओंकी ज्वालाएं उठ उठ कर उसको प्रतिक्षण जला देती हैं और उस समय उसकी जलन असह्य हो जाती है । यह तो अनियमसे बर्ताव करनेवालोंकी अवस्था है । धर्मनियमोंसे चलनेवालोंकी अवस्था भी देखिये—

यमोंका पालन ।

(यः) यमे आस्ते (स) उप याति देवान् ।
(सू. ३४, मं. ३)

'जो यममें रहता है वह देवोंको प्राप्त होता है' अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन पांच यमोंको जो अपने आचरणमें लाता है, वह स्वर्ग निवासी देव ही बन जाता है । शुभ विचार उसके मनमें स्थिर रहनेके कारण मरनेके पश्चात् दुष्ट वासनाओंके कष्ट उसको होते ही नहीं, परंतु वह सीधा स्वर्ग धाममें कल्पवृक्षोंके वनमें कामधेनुओंका दूध पीता हुआ और अमृत रसधाराओंका मधुर आस्वाद लेता हुआ पूर्वोक्त प्रकार आनंदमें रमता और विचरता है । वह शुभ संकल्पोंसे शुद्ध, पवित्र और मलहीन होकर परिशुद्ध अवस्थामें विचरता है (मं. २)। मनुष्यको प्रयत्न करके ऐसी अपनी मनोभूमिका बनाना आवश्यक है । यह सब उन्नति यज्ञसे हो जाती है । और इसी कार्यके लिये इस 'विष्टारी यज्ञ' की रचना है ।

ब्राह्मणका घर ।

इस यज्ञमें ब्राह्मणोंको अन्नदान किया जाता है । यहां प्रश्न होता है कि यह अन्नदान ब्राह्मणोंको ही क्यों होता है और इसका बडा विस्तृत फल क्यों होता है । ब्राह्मणकी कल्पना केवल एक गृहस्थ मात्रकी कल्पना नहीं है । हरएक ब्राह्मण अध्ययन अध्यापन करनेवाला होनेके कारण हरएक सच्चे ब्राह्मण का घर विद्यालय अथवा विश्वविद्यालय होता है, इसलिये जो दान ऐसे ब्राह्मणको दिया जाता है वह विश्वविद्यालयको ही दिया जाता है । थोडेसे विद्यार्थियोंको पढानेवाला ब्राह्मण अध्यापक कहलाता है, सैंकडों विद्यार्थियोंको विद्यादान करनेवाला ब्राह्मण आचार्य पदवीके लिये योग्य होता है और हजारों विद्यार्थियोंको विद्या देनेवाले ब्राह्मणको कुलपति कहते हैं । अर्थात् इस एकके नीचे विद्यार्थियोंकी संख्याके अनुसार सैंकडों अध्यापक

होते हैं। अर्थात् ब्राह्मणका अर्थ गुरुकुल, विद्यालय और विश्वविद्यालयका आचार्य और महाचार्य। इसको दान देनेसे वह दान सब विद्यार्थियोंका भला करता है अर्थात् परम्परासे वह दान राष्ट्रके हरएक घरतक पहुंचता है।

गुरु-कुल।

राष्ट्रके विद्यार्थी- प्रायः त्रैवर्णियोंके विद्यार्थी अथवा समय समय पर पंच वर्णियोंके भी विद्यार्थी- ब्राह्मणोंके घरोंमें रहकर विद्याभ्यास करते थे। कोई ब्राह्मण ऐसा नहीं होता था कि जो अध्यापन न करता था। एक एक कुलपतिके आश्रममें दस हजारसे साठ साठ हजार तक विद्यार्थी पढते थे। और प्रायः ब्राह्मणोंके घर 'गुरु-कुल' ही हुआ करते थे। पाठक यह अवस्था अपने आंखके सामने लावेंगे, तो उनको पता लग जायगा कि, ब्राह्मणको दिया हुआ दान सब राष्ट्रमें अथवा सब जनतामें किस रीतिसे विस्तृत होता है, फैलकर हरएकके पास किस रीतिसे जाकर पहुंचता है।

दानकी रीति।

ऐसे ब्राह्मणोंके आश्रमोंकी भूमिमें कुवे खुदवाकर जलदान करना, बहुत दूध देनेवाली गौवें उनको देकर दूध देना, शहद, मीठा, मिश्री, घी, मक्खन आदिका दान करना, गेहूं, चावल आदि धान्य देना अथवा धान्यकी जहां अच्छी उपज होती है ऐसी भूमि दान करना, अथवा आश्रममें अन्न ले जाकर वहां पकाकर वहांके आश्रमवासियोंको खिलाना, अथवा लड्डू आदि पदार्थ बनवाकर वहां भेजना किंवा अन्य रीतिसे अन्नदान करना। यह विष्टारी यज्ञकी रीति है। यह बडा उपकारी यज्ञ है और यह दानयज्ञ करनेसे पूर्वोक्त प्रकार स्वर्ग आदिका सुख प्राप्त हो सकता है।

शुभभावनाकी स्थिरता।

जब मनुष्य इस प्रकारका दान करता है तब उसके मनमें शुभ भावना होती है। बारंबार इस प्रकारका दान करनेसे वह शुभ भावना मनमें स्थिर हो जाती है। दान करनेसे मनकी प्रसन्नता भी बढ जाती है। स्वयं भोग भोगनेसे जो प्रसन्नता नहीं होती वह दान देनेसे प्राप्त होती है। और बारंबार दान देनेसे वह मनमें स्थिर हो जाती है। इस रीतिसे यह विष्टारी यज्ञ मनुष्यके मनपर शुभसंस्कार स्थिर करता है। ये ही शुभ संस्कार उसका मन जीवित अवस्थामें प्रसन्न रखनेके लिये सहाय्यक होते हैं और मरणोत्तर भी पूर्वोक्त प्रकार प्रसन्नता देते हैं। इस रीतिसे यह यज्ञ मनुष्यकी उन्नति करता है।

मृत्युको तरना।

[सूक्त ३५]

(ऋषिः — प्रजापतिः। देवता - अतिमृत्युः।)

यमोदुनं प्रथमजा ऋतस्य प्रजापतिस्तपसा ब्रह्मणेऽपचत्।
यो लोकानां विधृतिर्नाभिरेषात्तेनौदनेनाति तराणि मृत्युम् ॥ १ ॥

अर्थ— (ऋतस्य प्रथमजाः प्रजापतिः) ऋत नियमका पहिला प्रवर्तक प्रजापति (ब्रह्मणे यं ओदनं अपचत्) ब्रह्मके लिये जिस अन्नको पकाता रहा, (यः लोकानां वि-धृतिः) जो लोकोंका विशेष धारण करनेवाला है और (न अभिरेषात्) जो कभी किसीको हानि नहीं पहुंचाता है, (तेन ओदनेन मृत्युं अति तराणि) उस अन्नसे मैं मृत्युको पार करूं ॥ १ ॥

भावार्थ — जिसने संपूर्ण सत्य और अटल नियमोंका सबसे पहिले प्रवर्तन किया, उस प्रजापतिने विशेष महत्त्व प्राप्तिके लिये यह ज्ञान रूप अन्न तैयार किया, यह सब लोकोंका विशेष रीतिसे धारण पोषण करता है और इससे किसीका भी नाश नहीं होता है। इसी ज्ञानसे मैं मृत्युको दूर करता हूं ॥ १ ॥

येनातरन्भूतकृतोऽति मृत्युं यमन्वविन्दन्तपसा श्रमेण ।
यं पपाच ब्रह्मणे ब्रह्म पूर्वं तेनौदनेनाति तराणि मृत्युम् ॥ २ ॥
यो दाधार पृथिवीं विश्वभोजसं यो अन्तरिक्षमापृणाद्रसेन ।
यो अस्तभ्नाद्दिवमूर्ध्वो महिम्ना तेनौदनेनाति तराणि मृत्युम् ॥ ३ ॥
यस्मान्मासा निर्मितास्त्रिंशदराः संवत्सरो यस्मान्निर्मितो द्वादशारः ।
अहोरात्रा यं परियन्तो नापुस्तेनौदनेनाति तराणि मृत्युम् ॥ ४ ॥
यः प्राणदः प्राणदवान्बभूव यस्मै लोका घृतवन्तः क्षरन्ति ।
ज्योतिष्मतीः प्रदिशो यस्य सर्वास्तेनौदनेनाति तराणि मृत्युम् ॥ ५ ॥
यस्मात्पक्वादमृतं संबभूव यो गायत्र्या अधिपतिर्बभूव ।
यस्मिन्वेदा निहिता विश्वरूपास्तेनौदनेनाति तराणि मृत्युम् ॥ ६ ॥

अर्थ—(येन भूत-कृतः मृत्युं अति तरन्) जिससे भूतोंको बनानेवाले मृत्युके पार हो गये, **(यं तपसा श्रमेण अन्वविन्दन्)** जिसको तप और परिश्रमसे प्राप्त किया, और **(यं पूर्वं ब्रह्म ब्रह्मणे पपाच)** जिसको पहिले ब्रह्मने ब्रह्मके निमित्त पकाया **(तेन०)** उस अन्नसे मैं मृत्युको पार करूं ॥ २ ॥

(यः विश्वभोजसं पृथिवीं दाधार) जो सबको भोजन देनेवाली पृथ्वीका धारण करता है, **(यः रसेन अन्तरिक्षं आ पृणात्)** जो रससे अन्तरिक्षको भर देता है, **(यः महिम्ना ऊर्ध्वः दिवं अस्तभ्नात्)** जो अपनी महिमासे ऊपर ही द्युलोकको धारण किये हुए है, **(तेन०)** उस अन्नसे मैं मृत्युको पार करूं ॥ ३ ॥

(यस्मात् त्रिंशत्-अराः मासाः निः-मिताः) जिससे तीस दिन रूपी अरोंवाले महिने बनाये हैं, **(यस्मात् द्वादश-अरः संवत्सरः निः-मितः)** जिससे बारह महिने रूप अरोंवाला वर्ष बनाया है, **(परियन्तः अहोरात्राः यं न आपुः)** गुजरते हुए दिन रात जिसको प्राप्त नहीं कर सकते **(तेन०)** उस अन्नसे मैं मृत्युको पार करूं ॥ ४ ॥

(यः प्राण-दः प्राण-द-वान् बभूव) जो जीवन देनेवाला प्राणके दाताओंका स्वामी ही हुआ है **(यस्मै घृतवन्तः लोकाः क्षरन्ति)** जिसके लिये घृतयुक्त लोक रस देते हैं, **(यस्य सर्वाः प्रदिशः ज्योतिष्मतीः)** जिसकी सब दिशा उपदिशाएं तेजवाली हैं **(तेन०)** उस अन्नसे मैं मृत्युको पार करूं ॥ ५ ॥

(यस्मात् पक्वात् अमृतं संबभूव) जिस परिपक्वसे अमृत उत्पन्न हुआ, **(यः गायत्र्याः अधिपतिः बभूव)** जो गायत्रीका अधिपति हुआ, **(यस्मिन् विश्वरूपाः वेदाः निहिताः)** जिसमें सब प्रकारके वेद रखे हैं, **(तेन०)** उस अन्नसे मैं मृत्युको पार करूं ॥ ६ ॥

भावार्थ— इसीसे भूतोंको उत्पन्न करनेवाले मृत्युके पार हो गये, जिसकी प्राप्ति तप और परिश्रमसे होती है और जो पहिले ब्रह्मने महत्त्व प्राप्तिके लिये परिपक्व किया था, उसी ज्ञानसे मैं भी मृत्युको दूर करता हूं ॥ २ ॥

जिसने पृथ्वीका धारण किया, अन्तरिक्षमें जलको भर दिया और द्युलोक ऊपर स्थिर किया उस ज्ञानरूप अन्नसे मैं मृत्युको दूर करता हूं ॥ ३ ॥

जिससे तीस दिनवाले महिने और बारह महिनोंवाला वर्ष बना और प्रतिक्षण गमन करनेवाले दिन रात भी जिसका अन्त न लगा सके, उस ज्ञानरूप पक्वान्नसे मैं मृत्युको दूर करता हूं ॥ ४ ॥

जो स्वयं जीवनशक्ति देनेवाला है और जीवन देनेवालोंका भी जो स्वामी है, जिसकी तृप्तिके लिये संपूर्ण जगत्के रस प्रवाहित हुए हैं और जिसके तेजसे सब दिशाएं तेजोमय हो चुकी हैं, उस ज्ञानरूप अन्नसे मैं मृत्युको दूर करता हूं ॥ ५ ॥

अव बाधे द्विषन्तं देवपीयुं सपत्ना ये मेऽप ते भवन्तु।
ब्रह्मौदनं विश्वजितं पचामि शृण्वन्तु मे श्रद्दधानस्य देवाः ॥ ७ ॥

॥ इति सप्तमोऽनुवाकः ॥

अर्थ— (देव-पीयुं द्विषन्तं अवबाधे) देवत्वके नाशक शत्रुओंको मैं हटाता हूं। (ये मे सपत्नाः ते अप भवन्तु) जो मेरे प्रतिस्पर्धी हैं वे दूर होवें। मैं (विश्व जितं ब्रह्मौदनं पचामि) विश्वको जीतनेवाला ज्ञान रूपी अन्न पकाता हूं। (देवाः श्रद्दधानस्य मे शृण्वन्तु) सब देव श्रद्धा धारण करनेवाले मेरा यह भाषण सुनें ॥ ७ ॥

भावार्थ— जिस परिपक्व आत्मासे अमृत उत्पन्न हुआ है, जो वाणीका पति है और जिसमें सब प्रकारका ज्ञान रखा है, उस ज्ञानरूप अन्नसे मैं मृत्युको दूर करता हूं ॥ ६ ॥

देवत्वका नाश करनेवालोंको मैं प्रतिबंध करता हूं, मेरे प्रतिस्पर्धीयोंको भी मैं दूर करता हूं और जगत्‌को जीतनेवाला ज्ञान-रूपी अन्न परिपक्व करता हूं। मैं इसमें श्रद्धा रखनेवाला हूं अतः मेरा यह कथन सब ज्ञानी जन सुनें ॥ ७ ॥

ब्रह्मौदन ।

' ब्रह्म ' शब्द ' ब्रह्म, ईश्वर, आत्मा, ज्ञान ' इत्यादिका वाचक है। यहां विशेषकर ज्ञानवाचक है। ' ओदन ' शब्द अन्नका वाचक है। इसलिये ' ब्रह्मौदन ' शब्द ' ज्ञानरूप अन्न ' यह अर्थ बताता है। बुद्धिका अन्न ' ज्ञान ' है। शरीरका अन्न चावल आदि खाद्यपेय है। इंद्रियोंका अन्न उसके विषय हैं, मनका अन्न मन्तव्य है और बुद्धिका अन्न ज्ञान है। आत्मा सच्चिदानन्द स्वरूप है, इसमें ' चित् ' शब्द ज्ञानवाचक है, अर्थात् इससे स्पष्ट हो जाता है कि आत्मा ज्ञानस्वरूप है। इसका फलित यह हुआ कि आत्माका स्वभाव गुण ही ज्ञान है। यह ज्ञान प्राप्त करके, अर्थात् इसको खाकर बुद्धि पुष्ट होती है।

आत्माका गुण ज्ञान होनेसे वह सदा उसके साथ रहना स्वाभाविक है। जिस प्रकार दीप और आकाश एकत्रित रहते हैं, उसी प्रकार आत्माका प्रकाश ही ज्ञानरूप है, इस कारण वह उसके साथ रहता है। दीप कहा, अथवा प्रकाश कहा तो दोनों एक ही बात है। व्यवहारमें यही बात है, मैं प्रकाशसे पढता हूं या दीपसे पढता हूं, इसका अर्थ एक ही होता है। इसी प्रकार ' मैं ज्ञानसे मृत्युको पार करता हूं, अथवा मैं आत्मशक्तिसे मृत्युको पार करता हूं, या आत्मासे मृत्युको दूर करता हूं ' इसका तात्पर्य एक ही है।

इस सूक्तमें ' मैं ब्रह्मौदनसे मृत्युको पार करता हूं ' (तेन ओदनेन अतितराणि मृत्युं। मं० १-६) यह वाक्य छः वार आगया है। इसका आशय भी पूर्वोक्त प्रकार ही समझना उचित है। मैं आत्माके ज्ञानरूप अन्नसे मृत्युको दूर करता हूं। गुण और गुणीका अभेद अन्वय मानकर गुणके वर्णनसे गुणीका वर्णन यहां किया है। इसीलिये ' पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्युलोकका धारक यह है ' यह तृतीय मन्त्रका वर्णन सार्थ होता है। क्योंकि परमात्माने इस त्रिलोकीका धारण किया है इस विषयमें किसीको सन्देह नहीं हो सकता। परन्तु इसमें कहा है कि ब्रह्मौदनने त्रिलोकीका धारण किया है। ज्ञानरूप अन्नसे त्रिलोकीका धारण हुआ है अर्थात् ज्ञान जिसका गुण है उस परमात्मासे त्रिलोकीका धारण हुआ है, यह अर्थ अब इस स्पष्टीकरणसे स्पष्ट हुआ।

इसी दृष्टिसे तृतीय, चतुर्थ और पंचम मंत्रोंका आशय जानना उचित है—

' जिसका ज्ञान गुण है उसी आत्माने पृथ्वीका धारण किया, अन्तरिक्षमें जल भर दिया और आकाशको ऊपर स्थिर किया है० ॥ ३ ॥ उसी आत्मासे सूर्य-चंद्रादिकी गति होकर दिन, महिने और वर्ष बनते हैं, परंतु ये कालके अवयव कालको मापते हुए भी उस परमात्माका मापन करनेमें असमर्थ हैं० ॥ ४ ॥ यह सबको जीवन देता है और सब अन्य जीवन देनेवालोंका यह ईश है, अर्थात् इसकी शक्ति प्राप्त करके ही वे सब जीवन देनेमें समर्थ होते हैं। सब पदार्थमात्रमें जो रस होते हैं वे जिसको एक समय ही प्राप्त होते हैं और सब जगतकी दिशा उपदिशाएं जिसके तेजसे तेजस्वी बनी हैं, उसके ज्ञानामृतसे पुष्ट होता हुआ मैं मृत्युको दूर करता हूं ॥ ५ ॥

यह इन तीनों मंत्रोंका आशय है। इन मंत्रोंमें गुणोंके वर्णनसे गुणीका वर्णन किया है। अर्थात् उस आत्मामें जो रस भरा है उसीको प्राप्त करके अमर बनाना है और मृत्युको दूर करना है।

अमृतकी प्राप्ति।

आगे छठे मंत्रमें, कहा ही है कि '**यस्मात् पक्वात् अमृतं संबभूव**' (मं. ६) जिस परिपक्व आत्मासे अमृत उत्पन्न हुआ, उस अमृतको प्राप्त करके मैं मृत्युको दूर करता हूं। यह बात स्पष्ट ही है कि परमात्मा सबसे अधिक परिपक्व, पूर्ण, रसमय और अमृतरस युक्त है तथा उसीका पान करके सब अन्य जन तृप्त होते हैं। वही गायकी रक्षा (गाय-त्री) करनेवाली वाग्देवीका अधिपति है, इसीलिये उसमें सब वेद रखे हैं। जिसमें वाणी रहती है उसीमें वेद रहते हैं। यह षष्ठ मंत्रका कथन अब स्पष्ट होगया है।

आत्मशुद्धि।

सप्तम मन्त्रमें आत्मशुद्धिपर बहुत जोर दिया है, इसका आशय यह है- (१) देव निन्दकोंको दूर करना, (२) प्रतिस्पर्धियोंको दूर करना, (३) सत्यपर श्रद्धा रखना, (४) और विश्वमें विजयके लिये इस ब्रह्मज्ञानरूपी अन्नको पकाना और पश्चात् अन्योंके साथ स्वयं उसका सेवन करना। इससे मनुष्यकी उन्नति होगी और वह मृत्युको दूर कर सकेगा, इसमें कोई संदेह नहीं है। देवकी निंदा करनेके श्रद्धाहीन विचार अपने मनमें उत्पन्न हुए तथा कामक्रोधादि विरोधी भाव मनमें आये, तो उनको दूर करनेसे आत्मशुद्धि होती है और अन्य श्रद्धादिक धारण करनेसे उन्नति होती है। इस रीतिसे मनुष्य शुद्ध और पवित्र होता हुआ मृत्युको दूर कर सकता है।

तप।

यह सब तपके आचरणसे और परिश्रमसे साध्य हो सकता है। आत्मोद्धारके लिये तप करेंगे वेही अपना उद्धार कर सकते हैं, यह द्वितीय मन्त्रका कथन ध्यानमें धारण करके पाठक तपके आचरण द्वारा अपने आपको पवित्र करके मृत्युको दूर करेंगे तो उनका जीवन सफल होगा।

॥ यहां सप्तम अनुवाक समाप्त ॥

*

सत्यका बल।

[सूक्त ३६]

(ऋषिः — चातनः। देवता - सत्यौजा अग्निः।)

तान्त्सत्यौजाः प्र दहत्वग्निर्वैश्वानरो वृषा। यो नो दुरस्याद्दिप्साच्चाथो यो नो अरातियात् ॥ १ ॥
यो नो दिप्सादद्दिप्सतो दिप्सतो यश्च दिप्सति। वैश्वानरस्य दंष्ट्रयोरग्नेरपि दधामि तम् ॥ २ ॥
य आगरे मृगयन्ते प्रतिक्रोशेऽमावास्ये। क्रव्यादो अन्यान्दिप्सतः सर्वांस्तान्त्सहसा सहे ॥ ३ ॥
सहे पिशाचान्त्सहसैषां द्रविणं ददे। सर्वान्दुरस्यतो हन्मि सं म आकूतिर्ऋध्यताम् ॥ ४ ॥
ये देवास्तेन हासन्ते सूर्येण मिमते जवम्। नदीषु पर्वतेषु ये सं तैः पशुभिर्विदे ॥ ५ ॥

अर्थ— (सत्य-ओजाः वैश्वा-नरः) सत्य बलवाला विश्वका नेता (वृषा अग्निः) बलवान् तेजस्वी देव (तान् प्र दहतु) उनको भस्म कर डाले, (यः नः दुरस्यात्) जो हमें दुष्ट अवस्थामें फेंके, (च दिप्सात्) नाश करे, (अथो यः नः अरातीयात्) और जो हमारे साथ शत्रुके समान बर्ताव करे ॥ १ ॥

(यः अदिप्सतः नः दिप्सात्) जो निरपराधी हम सबका नाश करनेका यत्न करे, अथवा (यः च दिप्सतः दिप्सति) जो नाश करनेवालेको भी स्वयं ही कष्ट देता है, (वैश्वा-नरस्य अग्नेः दंष्ट्रयोः) विश्वचालक तेजस्वी देवकी दोनों डाढोंमें (तं अपि दधामि) उसको मैं धरता हूं ॥ २ ॥

(ये आगरे) जो घरमें (प्रति क्रोशे अमावास्ये) कलहके अवसरमें अथवा अमावास्याकी रात्रीमें (मृगयन्ते) खोजते फिरते हैं, (अन्यान् दिप्सतः क्रव्यादः तान् सर्वान्) दूसरोंके घातक मांसभोजी उन सबको (सहसा सहे) अपने बलसे पराभूत करता हूं ॥ ३ ॥

(पिशाचान् सहसा सहे) रक्त पीनेवालोंका बलसे पराभव करता हूं। (एषां द्रविणं ददे) इनका धन लेता हूं। (दुरस्यतां सर्वान् हन्मि) दुष्ट अवस्थातक पहुंचानेवाले सब दुष्टोंका नाश करता हूं। (मे आकूतिः सम् ऋध्यतां) मेरी यह संकल्प सफल हो जावे ॥ ४ ॥

(ये देवाः तेन हासन्ते) जो दिव्य जन उसके साथ हंसी खेल करते हैं, (सूर्येण जवं मिमते) और सूर्यसे वेगका परिमाण करते हैं, उनसे और (नदीषु पर्वतेषु ये तैः पशुभिः) नदियों और पर्वतोंमें रहनेवाले पशुओंके साथ भी मैं (संविदे) मिलता हूं ॥ ५ ॥

भावार्थ— जो लोगोंको बुरी अवस्थामें फेंक देते हैं, जनोंका नाश करते हैं और शत्रुता करते हैं, उनको सत्य बलवाला विश्वचालक तेजस्वी देव भस्म करे ॥ १ ॥

जो दुष्ट हम सब निरपराधियोंपर हमला करता है अथवा हमारा थोडासा अन्याय होनेपर भी जो अपने हाथमें अधिकार लेता हुआ हमारा नाश करता है, उसको विश्वचालक तेजस्वी देवकी डाढोंमें मैं धर देता हूं ॥ २ ॥

जो घरमें, कलहके समयमें अथवा अमावास्याकी अंधेरी रात्रीमें ढूंढ ढूंढ कर लोगोंको सताते हैं उन सबको बलसे मैं दूर करता हूं ॥ ३ ॥

रक्त पीनेवाले दुष्टोंको मैं दूर करता हूं, और इनका धन छीनता हूं। क्लेश देनेवाले इन दुष्टोंका मैं समूल नाश करता हूं। यह मेरी इच्छा सफल हो जावे ॥ ४ ॥

तप॑नो अस्मि पिशा॒चानां॑ व्या॒घ्रो गोम॑तामिव । श्वानः॑ सिं॒हमि॑व दृ॒ष्ट्वा ते न विन्दन्ते न्यञ्च॑नम् ॥ ६ ॥
न पि॑शा॒चैः सं श॑क्नोमि॒ न स्ते॒नैर्न व॑न॒र्गुभिः॑ । पि॒शा॒चास्तस्मा॑न्नश्यन्ति॒ यम॒हं ग्राम॑मावि॒शे ॥ ७ ॥
यं ग्राम॑मावि॒शत॑ इ॒दमु॒ग्रं सहो॒ मम॑ । पि॒शा॒चास्तस्मा॑न्नश्यन्ति॒ न पा॒पमुप॑ जानते ॥ ८ ॥
ये मा॑ क्रो॒धय॑न्ति लपि॒ता ह॒स्तिनं॑ म॒शका॑ इव । ताना॒हं म॑न्ये दु॒र्हिता॒न् जने॒ अल्प॑शयूनिव ॥ ९ ॥
अ॒भि तं निर्ऋ॑तिर्धत्ता॒मश्व॑मिवाश्वा॒भिधा॒न्या॑ । म॒ल्वो यो मह्यं॑ क्रुध्य॑ति॒ स उ॒ पाशा॒न्न मु॑च्यते ॥ १० ॥

अर्थ— जैसा (**गोमतां व्याघ्रः इव**) गौओंके पालन करनेवालोंको व्याघ्रका भय होता है वैसा ही मैं (**पिशाचानां तपनः अस्मि**) रक्त पीनेवालोंको तपानेवाला हूं । (**सिंहं दृष्ट्वा श्वानं इव**) सिंहको देख कर जिस प्रकार कुत्ते घबराते हैं उस प्रकार मेरे प्रभावसे (**ते न्यञ्चनं न विन्दते**) वे दुष्ट लोग अपनी रक्षाका स्थान प्राप्त नहीं कर सकते ॥ ६ ॥

(**यं ग्रामं अहं आविशे**) जिस ग्राममें मैं प्रविष्ट होता हूं उस ग्राममें (**पिशाचैः न सं शक्नोमि**) रुधिर पीनेवालोंके साथ मेल नहीं कर सकता, (**न स्तेनैः**) न चोरोंके साथ और (**न वनर्गुभिः**) जंगली डाकुओंके साथ मेल कर सकता हूं इसलिये (**तस्मात् पिशाचाः नश्यन्ति**) उस ग्रामसे रक्त पीनेवाले लोग नाशको प्राप्त होते हैं ॥ ७ ॥

(**मम इदं उग्रं सहः**) मेरा यह उग्र बल (**यं ग्रामं आविशते**) जिस ग्राममें प्रविष्ट होता है (**तस्मात् पिशाचाः नश्यन्ति**) उससे रक्त पीनेवाले नष्ट हो जाते हैं और (**पापं न उप जानते**) पापको भी जानते नहीं ॥ ८ ॥

(**हस्तिनं मशकाः इव**) हाथीको जिस प्रकार मच्छर उस प्रकार (**ये मां लपिताः क्रोधयन्ति**) जो मुझे बकबक करनेवाले क्रुद्ध करते हैं, (**तान् अल्पशयून् इव**) उनको अल्प कीटकोंके समान (**अहं जने दुर्हितान् मन्ये**) मैं लोकोंमें दुःख बढानेवाले मानता हूं ॥ ९ ॥

(**तं निर्ऋतिः अभि धत्तां**) उसको दुर्गति प्राप्त होवे (**अश्वाभिधान्या अश्वं इव**) घोडा बांधनेकी रस्सी जैसे घोडेको प्राप्त होती है । (**यः मल्वः मह्यं क्रुध्यति**) जो मलिन पुरुष मुझे क्रोधित करता है (**सः उ पाशात् न मुच्यते**) वह पाशोंसे नहीं छुटता है ॥ १० ॥

भावार्थ— जो सज्जन सदा अपने ही निजानंदमें मस्त रहते हैं और सूर्यकी गतिसे अपने वेगको मिनते हैं उनके साथ, मित्रता करता हूं, इतना ही नहीं अपितु नदीमें रहनेवाले मत्स्यादि तथा पर्वतोंपर रहनेवाले चतुष्पाद प्राणियोंके साथ भी मैं अपनी मित्रता पहुंचाता हूं ॥ ५ ॥

गौवें जैसी व्याघ्रसे डरती हैं, उसी प्रकार रक्त पीनेवाले दुष्ट मुझसे घबराते हैं । जिस प्रकार सिंहके सन्मुख कुत्ता नहीं ठहर सकता उसी प्रकार मेरे सन्मुख वे दुष्ट सुखका स्थान नहीं प्राप्त कर सकते ॥ ६ ॥

मैं जिस ग्राममें पहुंचता हूं वहां रुधिर पीनेवाले चोर, डाकू आदि सब दुष्ट दूर होते हैं ॥ ७ ॥

मेरा उग्र शौर्य जिस ग्राममें चमकता है वहांसे रुधिर भोजी क्रूर मनुष्य नष्ट होते हैं, अथवा वे वहां ही रहे तो वे अपने पाप-विचारको छोड देते हैं ॥ ८ ॥

जो दुर्जन अपने दुराचारके द्वारा मुझे क्रोधित करते हैं वे नष्ट होते हैं, क्योंकि मैं जानता हूं कि उनके ही कारण जनताको कष्ट पहुंचते हैं ॥ ९ ॥

जो मलिन आचारवाले मनुष्य होते हैं वे दुर्गतिको निःसंदेह प्राप्त होते हैं और वे बंधनमें फंस जाते हैं ॥ १० ॥

सत्यका बल।

सत्यका बल कितना बडा होता है इसका मनोरंजक वर्णन इस सूक्तमें किया है। सप्तम और अष्टम मंत्रमें कहा है कि— ' जिस ग्राममें सत्यके बलसे बलवान् हुआ मनुष्य पहुंचता है, उस ग्रामसे चोर, डाकू, लुटेरे, दुष्ट और दूसरेका खून चूसनेवाले दूर हो जाते हैं। सत्यनिष्ठ मनुष्य जिस ग्राममें होता है उस ग्राममें दुष्ट मनुष्य नहीं रहता। सत्यका बल जिस ग्रामके मनुष्योंमें होता है वहांसे दुष्ट मनुष्य दूर हो जाते हैं अथवा वहां रहे भी तो वे अपने पापी विचारको त्याग देते हैं। ' (मं. ७-८)

ग्राममें एक मनुष्य भी इस प्रकारका सत्यनिष्ठ हुआ तो ग्रामका सुधार हो जाता है। एक मनुष्य सत्यनिष्ठ होनेसे अर्थात् उसके कायावाचामनसा असत्यके कुविचार न उत्पन्न होनेसे वह मनुष्य अपने सत्यके बलसे सब ग्रामके मनुष्योंका उक्त प्रकार सुधार कर सकता है।

पाठक यहां अनुभव करें कि सत्यका बल कितना बडा है और मनुष्यकी उन्नति इसी सत्यनिष्ठासे है। अपने ग्राममें चोर, डाकू, लुटेरे या दुष्ट यदि हैं तो समझना चाहिये कि अपने अन्दर उतनी सत्यनिष्ठा बढी नहीं कि जितनी बढनी चाहिये। अपने ग्रामकी परीक्षासे इस प्रकार अपनी परीक्षा हो सकती है और अपनी उन्नतिसे इस प्रकार ग्रामकी उन्नति हो सकती है। व्यक्तिका समाजपर और समाजका व्यक्तिपर इस प्रकार प्रभाव होता रहता है।

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह तथा शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान ये यमनियम यदि एक भी मनुष्यमें बढ गये और सुदृढ होगये तो उसकी अन्तःपवित्रताके कारण वह ग्राम सुधर जाता है। इसलिये इस सत्यके बलको अपने अन्दर बढानेका प्रयत्न जहांतक हो सके वहांतक हरएकको करना चाहिये।

दुष्ट मनुष्य।

दुष्ट मनुष्योंके कुछ लक्षण इस सूक्तमें दिये हैं उनका अब यहां विचार करते हैं—

(१) दुरस्यात्— दूसरोंको बुरी अवस्थामें जो फेंकता है। (मं. १)

(२) दिप्सात्— दूसरोंका घातपात अथवा नाश जो करता है। (मं. १, २)

(३) अरातीयात्— जो शत्रुता करता है, निंदा अथवा द्वेष करता है, शत्रुके समान आचरण करता है। (मं. १)

(४) अदिप्सतः दिप्सात्— दूसरोंको कभी कष्ट न देनेवाले सज्जनोंको भी जो क्लेश पहुंचाता है। (मं. २)

(५) दिप्सतः दिप्सति— थोडासा कष्ट देनेपर भी जो अपने हाथमें न्याय लेकर उसका अपरिमित नुकसान करता है। (मं. २)

(६) आगरे दिप्सति— जो घरमें घुसकर विनाकारण घातपात करता है। (मं. ३)

(७) प्रतिक्रोशे दिप्सति— थोडीसी बातचीत होनेपर जो विनाकरण क्रुद्ध होकर मारपीट करता है। (मं. ३)

(८) आमावास्ये मृगयन्ते— अमावास्याकी रात्रीमें जो ढूंढ ढूंढकर डाका डालते हैं। (मं. ३)

(९) पिशाचाः— कच्चा रक्त पीनेवाले और कच्चा मांस खानेवाले क्रूर मनुष्य। (मं. ४, ६, ७)

(१०) स्तेन— चोर, लुटेरे, डाकू। (मं. ७)

(११) मलिम्लु— जंगलमें रहते हुए ग्रामके लोगोंको कष्ट देनेवाले लोग। (मं. ७)

(१२) जने दुर्हितान्— लोगोंका अहित करनेवाले। (मं. ९)

(१३) अल्प शयून्— रात्रीमें थोडी निद्रा लेनेवाले अर्थात् सब रात्रीमें डाका डालनेवाले डाकू। (मं. ९)

(१४) मलवः— मलिन आचारवाले, दुष्ट। (मं. १०)

दुष्ट मनुष्योंके ये चौदह लक्षण इस सूक्तमें दिये हैं। इनका विचार करके अपने ग्राममें कौन मनुष्य किस प्रकारका दुष्ट है यह जान सकते हैं और अपने ग्रामका सुधार भी इनको सुधार कर या दूर करके कर सकते हैं। अष्टम मंत्रमें कहा ही है कि— ' सत्यनिष्ठ मनुष्य ग्राममें हुआ तो उसके सत्यके बलसे या तो दुष्ट मनुष्य दूर हो जाते हैं अथवा अपनी दुष्टता छोड देते हैं और सज्जन बनकर रहते हैं। ' यही ग्राम सुधारकी रीति है। पाठक इस रीतिका विचार करके इस रीतिके अनुसार अपने स्थानका सुधार कर सकते हैं।

वैश्वानरकी दंष्ट्रा।

दुष्ट मनुष्य अथवा अपराधी मनुष्यको स्वयं दण्ड नहीं देना चाहिये, परन्तु ' वैश्वानरकी दंष्ट्रा ' में उसको रख देना चाहिये, यह उपदेश इस सूक्तके द्वितीय मंत्रमें दिया है। यह ' वैश्वानरकी दंष्ट्रा ' क्या पदार्थ है इसका विचार अवश्य करना चाहिये। ' विश्व ' शब्दका अर्थ ' सब ' है, ' नर ' शब्द

[illegible] चक है अर्थात् 'विश्वानर' शब्द 'सब मनुष्योंके समूह' का वाचक है। संपूर्ण मानवोंके एकत्व संघकी कल्पना 'वैश्वानर' शब्दसे होती प्रतीत होती है। इसकी 'दंष्ट्रा' न्यायालय अथवा पंचके नामसे प्रसिद्ध है। इस न्यायालयके सन्मुख उस अपराधीको रख देना चाहिये। [इस 'दंष्ट्रा' या दाढ अथवा जबडेके विषयमें अथर्ववेद काण्ड ३, सूक्त २६, २७ की व्याख्याके प्रसंगमें विस्तारपूर्वक लिखा है, वह लेख पाठक वहां अवश्य देखें।]

कोई भी मनुष्य अपने हाथमें स्वयं ही शासनाधिकार न ले, प्रत्युत अपने पंचोंके शासनाधिकारमें ही सन्तुष्ट रहे, यह अत्यंत बडी सभ्यताका आदेश है जो ऐसे सूक्तोंमें वेदने दिया है। ग्राम नगर और राष्ट्रमें शान्ति रखनेके लिये इस नियमके पालनकी अत्यंत आवश्यकता है और जो लोग इस प्रकारकी व्यवस्थामें नहीं रहते और अपने हाथमें दण्ड लेते हैं वे सभ्य नहीं कहलाते।

पूर्वोक्त प्रकारके दुष्ट मनुष्योंको दूर करना चाहिये क्योंकि वे (पिशाचाः) अपने स्वार्थके लिये दूसरोंका खून चूसनेवाले हिंसक होते हैं। वैदिक धर्मको अन्तिम अहिंसा ही स्थापित करनी है, इसलिये हिंसकोंका हिंसा भाव दूर करनेके उपाय वैदिक धर्ममें अनेक रीतिसे कहे हैं। इसी हेतुसे इस सूक्तके पञ्चम मंत्रमें नदियों और पर्वतोंमें निवास करनेवाले जीवजन्तुओंके साथ (सं विदे) संवेदना करनेकी सूचना दी है। संवेदनाका अर्थ 'अपने सुखदुःखके समान उनको भी सुखदुःख होता है' इस भावको मनमें जाग्रति करना है।

सुधारके दो उपाय।

ये नदीषु पर्वतेषु (पशवः सन्ति) तैः पशुभिः सं विदे। (सू. ३६, मं. ५)

'जो नदियों और पर्वतोंमें जीवजन्तु रहते हैं उनसे मैं सहृदयता अपने मनमें धारण करता हूं।' यह अहिंसाकी प्रतिज्ञा मनुष्यको करनी चाहिये। 'मेरेसे किसी भी जीवजन्तुके लिये कोई भय नहीं होगा' यह संकल्प करना चाहिये। इस प्रकार अहिंसा और निर्भयताका केन्द्र अपने अन्तःकरणमें जाग्रत होना चाहिये, पश्चात् सब उन्नतियां होनी संभव हैं। यह अपने हृदयकी तैयारी होनेके पश्चात्—

ये देवाः तेन हासन्ते, सूर्येण जवं मिमते। (सू. ३६, मं. ५)

'जो देव उस आत्मानन्दसे सदा हंसते रहते हैं और अपनी उन्नतिका वेग सूर्यकी गतिसे मापते हैं।' उनसे संगति करनी है। जब पहिले अपने मनके अन्दर अहिंसा स्थिर हो जायगी, तब ही ऐसे श्रेष्ठ सज्जनोंकी संगतिसे अधिक लाभ होगा। अर्थात् सुधारके उपाय दो हैं, एक अपने अन्तःकरणको पवित्र बनाना और दूसरा यह है कि दिव्य जनोंसे मित्रता करना। इस प्रकार मनुष्य अचूक उन्नतिके मार्गसे ऊपर चढ सकता है।

ऐसा श्रेष्ठ सत्यनिष्ठ महात्मा जिस ग्राममें पहुंचता है, उस ग्राममें दुष्ट मनुष्य रहते नहीं और रहे तो वे अपनी दुष्टता दूर करके ही रहते हैं। यह सप्तम और अष्टम मंत्रका कथन विचारशील पाठकोंको मनन करने योग्य है। इस कसौटीसे अपनी पवित्रताकी परीक्षा करते हुए मनुष्यको उन्नतिका मार्ग आक्रान्त करना चाहिये।

रोगक्रमिका नाश।

[सूक्त ३७]

(ऋषिः — बादरायणिः। देवता — अजशृंगी। अप्सरसः।)

त्वया पूर्वमथर्वाणो जघ्नू रक्षांस्योषधे। त्वया जघान कश्यपस्त्वया कण्वो अगस्त्यः ॥ १ ॥

अर्थ— हे (ओषधे) औषधे! (त्वया अथर्वाणः रक्षांसि जघ्नुः) तेरे द्वारा आथर्वणी विद्या जाननेवाले वैद्य रोगक्रिमियोंका नाश करते हैं। (कश्यपः त्वया जघान) कश्यपने भी तेरे द्वारा नाश किया। (कण्वः अगस्त्यः त्वया) कण्व और अगस्त्यने भी तेरे द्वारा रोगोंका नाश किया ॥ १ ॥

भावार्थ— अजशृंगी औषधिकी सहायतासे आथर्वण, कश्यप, कण्व, अगस्तिने रोगक्रिमियोंका नाश किया ॥ १ ॥

त्वया॑ व॒यम॑प्स॒रसो॑ गन्ध॒र्वांश्चा॑तयामहे । अज॑शृङ्ग्यज॒ रक्षः॒ सर्वा॑न्ग॒न्धेन॑ नाशय ॥ २ ॥

न॒दीं य॑न्त्वप्स॒रसो॒ऽपां ता॒रम॑वश्व॒सम् । गु॒ल्गु॒लूः पीला॑ नल॒द्यौ॑३॒॑क्षग॑न्धिः प्रम॒न्दनी॑ ।

तत्परे॑ताप्सरसः॒ प्रति॑बुद्धा अभूतन ॥ ३ ॥

यत्रा॑श्व॒त्था न्य॒ग्रोधा॑ महावृ॒क्षाः शि॑ख॒ण्डिनः॑ । तत्परे॑ताप्सरसः॒ प्रति॑बुद्धा अभूतन ॥ ४ ॥

यत्र॑ वः प्रे॒ङ्खा हरि॑ता॒ अर्जु॑ना उ॒त यत्रा॑घा॒टाः क॑र्क॒र्यः॑ सं॒वद॑न्ति ।

तत्परे॑ताप्सरसः॒ प्रति॑बुद्धा अभूतन ॥ ५ ॥

एयम॑ग॒न्नोष॑धीनां वी॒रुधां॑ वी॒र्या॑वती । अ॒ज॒शृ॒ङ्ग्य॑राट॒की ती॒क्ष्णशृ॑ङ्गी॒ व्यृ॑षतु ॥ ६ ॥

आ॒नृत्य॑तः शिख॒ण्डिनो॑ गन्ध॒र्वस्या॑प्सराप॒तेः । भि॒नद्मि॑ मु॒ष्काव॑पि॒ यामि॒ शेपः॑ ॥ ७ ॥

भी॒मा इन्द्र॑स्य हे॒तयः॑ श॒तमृ॒ष्टीर॑य॒स्मयीः॑ । ताभि॑र्हवि॒रदा॑न्गन्ध॒र्वान॑वका॒दान्व्यृ॑षतु ॥ ८ ॥

अर्थ— हे (अजशृंगि) अजशृंगी औषधि ! (त्वया वयं अप्सरः गंधर्वान् चातयामहे) तेरे द्वारा हम जलमें फैलनेवाले गायक क्रिमियोंको दूर हटाते हैं । (गंधेन सर्वान् रक्षः अज, नाशय) अपने गन्धसे सब रोगक्रिमियोंको दूर कर और नाश कर ॥ २ ॥

(**अप्सरसः अपां तारं अवश्वसं नदीं यन्तु**) जलके कृमि जलसे परिपूर्ण भरी हुई वेगवाली नदीके प्रति जायें । (**गुग्गुलूः**) गुग्गुल, (**पीला**) पीलु, (**नलदी**) मांसी, (**औक्षगन्धि**) औक्षगन्धी, (**प्रमन्दिनी**) प्रमोदिनी ये पांच औषधियां हैं । यह (**प्रतिबुद्धा अभूतन**) जान जाओ और (**तत्**) इसलिये हे (**अप्सरसः**) जलमें फैलनेवाले कृमियो ! (**परा इत**) यहांसे दूर जाओ ॥ ३ ॥

(**यत्र अश्वत्थाः न्यग्रोधाः**) जहां पीपल वट (**शिखंडिनः महावृक्षाः**) शिखण्डी आदि महावृक्ष होते हैं, (**अप्सरसः**) हे जलोत्पन्न क्रिमियो ! (**तत् परा इत**) वहांसे दूर भागो, (**प्रतिबुद्धाः अभूतन**) यह स्मरण रखो ॥ ४ ॥

(**यत्र वः प्रेङ्खा हरिताः**) जहां तुम्हारे हिलनेवाले हरे भरे (**अर्जुनाः**) अर्जुन वृक्ष हैं (**उत यत्र आघाटाः कर्कर्यः**) और जहां आघाट और कर्करी वृक्ष अथवा कर कर शब्द करनेवाले वृक्ष रहते हैं, वहां हे (**अप्सरसः**) जल संचारी कृमियो ! (**प्रतिबुद्धाः अभूतन**) सचेत होओ और (**तत् परा इत**) वहांसे दूर जाओ ॥ ५ ॥

(**वीरुधां ओषधीनां वीर्यावती**) विशेष प्रकार उगनेवाली औषधियोंमें अधिक वीर्यवाली (**इयं अजशृंगी आ अगन्**) यह अजशृंगी प्राप्त हुई है। वह (**अराटकी तीक्ष्णशृंगी व्यृषतु**) रोगनाशक तीक्ष्णशृंगी औषधी रोगनाश करे ॥ ६ ॥

(**आनृत्यतः शिखण्डिनः गंधर्वस्य**) नाचनेवाले चोटीवाले गायक (**अप्सरापतेः**) जलसंचारी कृमियोंके मुखियाका (**मुष्कौ भिनद्मि**) अण्डकोश तोड देता हूं और (**शेपः अभियामि**) उसके प्रजननांगका नाश करता हूं ॥ ७ ॥

(**इन्द्रस्य शतं अयस्मयीः हेतयः ऋष्टीः भीमाः**) सूर्यकी, सैंकडों लोहमय हथियारोंके समान किरणें भयंकर हैं। (**ताभिः हविरदान् अवकादान्**) उनसे अन्न खानेवाले हिंसक (**गंधर्वान् व्यृषतु**) कृमियोंका विनाश करे ॥ ८ ॥

भावार्थ— अजशृंगीके द्वारा हम रोगकृमियोंको दूर करते हैं, इस वनस्पतिके गन्धसे ही रोगक्रिमि दूर होते हैं ॥ २ ॥

ये क्रिमि नदीके जलमें होते हैं और गुगुल, पीलु, मांसी, औक्षगन्धी, प्रमोदिनी इन वनस्पतियोंसे दूर होते हैं ॥ ३ ॥

जहां पीपल, वड आदि महावृक्ष होते हैं वहांसे ये रोगक्रिमि दूर होते हैं ॥ ४ ॥

जहां वेगवाले अर्जुन वृक्ष, कर्कर करनेवाले और आघाट वृक्ष होते हैं वहांसे भी ये क्रिमि दूर होते हैं ॥ ५ ॥

सब वनस्पतियोंमें अजशृंगी बडी वीर्यवाली औषधी है इससे निःसंदेह रोगक्रिमि दूर होते हैं ॥ ६ ॥

इससे इन क्रिमियोंके वीर्यस्थान भी नाश किये जा सकते हैं ॥ ७ ॥

सूर्यकी किरणें ऐसी प्रबल हैं कि जिनसे ये क्रिमि दूर हो जाते हैं ॥ ८ ॥

भीमा इन्द्रस्य हेतयः शतमृष्टीर्हिरण्ययीः । ताभिर्हविरदान्गन्धर्वानवकादान्व्यृषतु ॥ ९ ॥
अवकादानभिशोचानप्सु ज्योतय मामकान् । पिशाचान्त्सर्वानोषधे प्र मृणीहि सहस्व च ॥ १० ॥
श्वेवैकः कपिरिवैकः कुमारः सर्वकेशकः ।
प्रियो दृश इव भूत्वा गन्धर्वः सचते स्त्रियस्तमितो नाशयामसि ब्रह्मणा वीर्यावता ॥ ११ ॥
जाया इद्वो अप्सरसो गन्धर्वाः पतयो यूयम् । अप धावतामर्त्या मर्त्यान्मा सचध्वम् ॥ १२ ॥

अर्थ— (इन्द्रस्य हिरण्ययीः ऋष्टीः) सूर्यकी सुवर्णके समान तीक्ष्ण किरणें (शतं हेतयः भीमाः) सैकडों शस्त्रोंके समान भयंकर हैं (ताभिः हविरदान् अवकादान् गंधर्वान् व्यृषतु) उनसे अन्न खानेवाले हिंसक रोगक्रिमियोंका विनाश करे ॥ ९ ॥

हे (ओषधे) औषधी (अवकादान् अभिशोचान्) हिंसक और दाह करनेवाले (मामकान् अप्सु ज्योतय) मेरे शरीरके अंदरके जलाशयोंमें रहनेवालोंको जला दे । (सर्वान् पिशाचान् प्रमृणीहि) सब रक्तशोषण करनेवालोंका नाश कर और (सहस्व च) दबा दे ॥ १० ॥

(एकः श्वा इव) एक कुत्तेके समान है, (एकः कपिः इव) एक बन्दरके समान है, (सर्वकेशकः कुमारः) जिसके सब शरीरपर बाल होते हैं ऐसे कुमारके समान एक है । (प्रियः दृशः इव भूत्वा) प्रियदर्शीके समान होकर (गंधर्वः स्त्रियः सचते) गंधर्व संज्ञक रोगक्रिमि स्त्रियोंको पकडता है । (वीर्यावता ब्रह्मणा तं इतः नाशयामसि) वीर्यवाली ब्राह्मी नामक औषधिसे उसका यहांसे हम नाश करते हैं ॥ ११ ॥

हे (गन्धर्वाः) गन्धर्वो ! (यूयं पतयः) तुम पति हो, (अप्सरसः वः जाया इत्) अप्सराएं तुम्हारी स्त्रियां हैं । (अमर्त्याः) हे अमरो ! (अप धावत) यहांसे दूर हट जाओ, (मर्त्यान् मा सचध्वं) मनुष्योंको मत पकडो ॥ १२ ॥

भावार्थ— सूर्यकी सुवर्णके रंगवाली किरणें बडी प्रभावशाली हैं, जिनके योगसे रोगक्रिमि दूर होते हैं ॥ ९ ॥

इस औषधीसे मेरे शरीरके अंदर जलाशयमें जो इनका स्थान है और जिनके कारण मेरा शरीरका रक्त सूखता है उनका नाश किया जावे ॥ १० ॥

कुत्ते और बंदरके समान प्रभाव करनेवाले ये रोगोत्पादक क्रिमि स्त्रियोंको पीडा देते हैं, इनको ब्राह्मी वनस्पतिसे दूर किया जाता है ॥ ११ ॥

इस उपायसे इन रोगमूलोंको दूर किया जाता है ॥ १२ ॥

रोग-क्रिमि ।

इस सूक्तमें ' रक्षः, रक्षस्, गन्धर्व, अप्सरस्, पिशाच ' ये शब्द रोगोत्पादक जन्तुविशेषोंके वाचक हैं। वैद्यक ग्रंथोंमें इन रोगोंके विषयमें निम्नलिखित वर्णन मिलता है—

(१) गंधर्वग्रहः— माधव निदानमें इसका वर्णन ऐसा मिलता है—

हृष्टात्मा पुलिनवनान्तरोपसेवी स्वाचारः प्रियगीतगन्धमाल्यः । नृत्यन्वै प्रहसति चारु चाल्पशब्दं गंधर्वग्रहपीडितो मनुष्यः ॥ (मा. नि.)

गंधर्वग्रहसे पीडित मनुष्यका अन्तःकरण आनंदित होता है वह वनोपवनमें विहार करना चाहता है, गानाबजाना प्रिय लगता है, नाचता है और हंसता है, इत्यादि लक्षण गंधर्वग्रहके लक्षण हैं ।

(२) पिशाचग्रहः— इसका लक्षण माधव निदानमें इस प्रकार कहा है—

उद्धस्तः कृशपरुषोऽचिरप्रलापी दुर्गन्धो भृशमशुचिस्तथातिलोलः । बह्वाशी विजनवनान्तरोपसेवी व्याचेष्टन् भ्रमति रुदन् पिशाचजुष्टः ॥ (मा. नि.)

' दुर्गन्धयुक्त, अपवित्र रहनेवाला, बहुत खानेवाला, बडबडनेवाले, रोने-पीटनेवाला आदि प्रकार करनेवाला रोगी पिशाच ग्रहसे पीडित होता है । '

' रक्षः, रक्षस् और राक्षस् ' ये शब्द भी इसी प्रकारके रोगोंके वाचक हैं। इस विषयमें रक्षोघ्न औषधि प्रयोग भी वैद्यक ग्रंथमें दिये हैं। देखिये—

(१) भूतघ्नी— भूतरोगका नाश करनेवाली औषधि। प्रपौंडरीक, मुण्डरीक, तुलसी, शङ्खपुष्पी ये औषधियां भूतरोगनाशक हैं।

(२) भूतघ्नः— भूर्ज वृक्ष, सर्षप वृक्ष।

(३) भूतनाशन— भिलावां, हिंगु वृक्ष, रुद्राक्ष।

(४) भूतहन्त्री— दूर्वा, वन्ध्याकर्कोटकी वल्ली।

(५) पिशाचघ्नः— श्वेतसर्षप वृक्ष।

(६) रक्षोघ्नं— कांजिक, हिंगु, भिलावा, नागरंग, वचा।

(७) रक्षोहा— महिषाक्ष गुग्गुली, गुग्गुल।

इस सूक्तमें भी तृतीय मंत्रमें गुग्गुलु वृक्षको राक्षस, गंधर्व, अप्सरा, पिशाच आदिका नाशक कहा है, इससे ये शब्द किसी प्रकारके रोगविशेषोंके वाचक हैं यह बात सिद्ध होती है। ऊपर लिखे वृक्ष और वनस्पतियां राक्षस, भूत, प्रेत, पिशाचोंको दूर करती हैं, इससे सिद्ध होता है कि ये रोगविशेष हैं।

द्वितीय मंत्रमें कहा है कि ' अजशृंगीके गन्धसे सब राक्षस (नाशय) नष्ट होते हैं और (अज) भाग जाते हैं। (मं. २) ' अर्थात् ये राक्षस सूक्ष्म कृमि अथवा सूक्ष्म रोगजन्तु होंगे। इस अजशृंगी औषधिसे गंधर्व, अप्सरा और राक्षस रोग दूर होते हैं, यह द्वितीय मंत्रका कथन है। इस अजशृंगीका वर्णन वैद्यक ग्रंथोंमें देखिये—

अजशृंगी— ' कटुः, तिक्ता, कफार्शःशूलशोथघ्नी चक्षुष्या श्वासहृद्रोगविषकासकुष्ठघ्नी च। एतत्फलं तिक्तं कटूष्णं कफवातघ्नं जठरानलदीपिकम् हृद्यं रुच्यं, लवणरसं अम्लरसं च॥ (रा. नि. व. ९)

' अजशृंगी औषधी कफ, बवासीर, शूल, सूजनका नाश करनेवाली, आंखके दोष दूर करनेवाली, श्वास, हृदय रोग, विष, कास, कुष्ठ दूर करनेवाली है। इसका फल कफ और वात दूर करनेवाला, पाचक आदि गुणवाला है। ' इसमें मंत्रोक्त रोगोंका नाम नहीं है। तथापि आधुनिक वैद्य ग्रंथोंकी अपेक्षा वेदने यह विशेष ज्ञान कहा है। वैद्योंको इसकी अधिक खोज करनी चाहिये।

लक्षण।

इन भूत रोगोंके लक्षण ग्यारहवें मंत्रमें कहे हैं वे अब देखिये—

(१) श्वा इव— कुत्तेके समान काटता है,

(२) कपिः इव— बंदरके समान कुचेष्टा करता है।

ये लक्षण पिशाच बाधित मनुष्योंमें दिखाई देते हैं। वे रोगी कुत्तेके समान और बंदरके समान व्यवहार करते हैं। जिन रोगोंमें मनुष्य ऐसा व्यवहार करता है उनको उन्माद रोग कहा जाता है। इस उन्मादके ही पिशाच, भूत, रक्षः, राक्षस, गंधर्व और अप्सरा ये नाम अथवा भेद हैं। और इनका नाश इस सूक्तमें कहे औषधियोंसे होता है। औषधियोंसे इनका नाश होता है, इस कारण ये सजीव सूक्ष्म देही क्रिमी होना संभव है, इसके अतिरिक्त ' पिशाच ' शब्द इनका रुधिर भक्षक होना सिद्ध करता है, अर्थात् ये क्रिमि शरीरमें जाकर शरीरका ही रुधिर खाते हैं और शरीरको कृश करते हैं। इनका नाश निम्नलिखित औषधियोंसे होता है। इन औषधियोंके गुणधर्म देखिये—

(१) गुग्गुलूः— इसके संस्कृत नाम ये हैं— ' **देवधूप, भूतहरः, यातुघ्नः, रक्षोहा** ' ये इसके नाम इस सूक्तके कथनके साथ संगत होते हैं, अर्थात् इस गुग्गुलके धूपसे भूत, राक्षस, यातुधान नाश होते हैं, यह बात इन शब्दोंसे ही सिद्ध होती है। अब इसके गुण देखिये—

जराव्याधि हरश्चाह्ररायनः।
कटुतिक्तोष्णः कफवातकासघ्नः।
कृमिवातोदरप्लीहाशोफार्शोघ्नः॥ (रा. नि. व. १२)

' इससे बुढापा और रोग दूर होते हैं, यह कफ, वात, श्वास, कृमि, उदर, प्लीहा, सूजन, बवासीर रोगोंको दूर करता है। ' इस वर्णनसे इसका महत्त्व ध्यानमें आ सकता है। (मं. ३)

(२) पीला, पीलु— मंत्रमें ' पीला ' शब्द है, इसका अर्थ चूंटी है। ' पीलु ' शब्द वनस्पति वाचक है जिसको हिंदी भाषामें ' झल ' कहा जाता है। यह कफ, वात, पित्त दोषोंको दूर करता है। (मं. ३) (भा. प्र.)

(३) नलदा, नलदी— जटामांसीका यह नाम है। इसके गुण— ' **जटामांसी कफहृत्, भूतघ्नी, दाहघ्नी, पित्तघ्नी।** (रा. नि. व. १२) इस औषधीसे कफरोग, भूतरोग, पित्तरोग ये दूर होते हैं। इसमें भूतरोग शमन इस सूक्तके साथ संगत होता है। (मं. ३)

(४) औक्षगंधि— ऋषभक औषधीका यह नाम है। इसके गुण- ' बल बढानेवाला, शुक्र बढानेवाला, पित्तरक्त दोष दूर करनेवाला, दाह, क्षय, ज्वरका नाशक है। ' (रा. नि. व. ५) वाजीकरणमें इसका बहुत उपयोग होता है।

(५) प्रमंदनी— धातकी वृक्ष। हिंदी भाषामें ' धावई ' कहते हैं। इसके गुण ' **कटुः, उष्णा, मदकृद्विषघ्नी, प्रवाहिकातिसारघ्नी, विसर्पव्रणघ्नी च।** (रा. नि. व. ६), **तृष्णातिसारपित्तास्रविषक्रिमिविसर्पजित्।**

(भा. प्र.) ' यह औषधि विषनाशक, अतिसार, विसर्प व्रण और कृमि दोष दूर करनेवाली है । (मं. ३)

इन औषधियोंसे भूतरोग आदि ऊपर लिखे रोग दूर होते हैं । इसी कार्यके लिये अश्वत्थ, पिप्पल आदि महावृक्ष उपयोगी हैं ऐसा चतुर्थ और पञ्चम मन्त्रमें कहा है । इस विषयमें वैद्यशास्त्रका कथन देखिये—

(१) अश्वत्थः— हिंदी भाषामें इसको ' पिपर ' कहते हैं । इसको संस्कृतमें ' **शुचिद्रुम** ' कहते हैं, क्योंकि यह शुद्धता करता है । इसके गुण- ' **पित्तश्लेष्मव्रणास्रजित् योनिशोधनः वर्ण्यः** । (भा. पू. १ भ. वटादिवर्ग) अर्थात् यह पित्त, कफ, व्रण आदिके दोष दूर करता है और योनिदोषोंको दूर करता है । यहां पाठक स्मरण रखें कि स्त्रियोंको जो भूतप्रेतादि रोग होते हैं वे विशेषकर योनिस्थानके दोषसे ही होते हैं, इस कारण इस वृक्षका पाठ इस सूक्तमें किया है । इसके फलोंके गुण देखिये—

अश्वत्थवृक्षस्य फलानि पक्वान्यतीवहृद्यानि च शीतलानि । कुर्वन्ति पित्तास्रविषार्तिदाहं विच्छर्दिशोषारुचिदोषनाशनम् ॥ (रा. नि. व. ११)

(१) ' पीपरका फल पकनेपर शीतल और हृदयके लिये हितकारी होता है । पित्त, रक्तस्राव, विष, पीडा, दाह, वमन, शोष, अरुचि आदि दोषोंको दूर करता है । '

(२) न्यग्रोधः— वड, बड, बर, बरगद । इस वडके गुण ये हैं— ' **कफपित्तव्रणापहः । वर्ण्यो विसर्पदाहघ्नः योनिदोषहृत्** । (भा. प्र.), **ज्वरदाहतृष्णामोहव्रणशोफघ्नश्च** । (रा. नि. व. ११) यह वड कफ, पित्त, व्रण, योनिदोष, ज्वर, दाह, तृष्णा, मूर्च्छा, सूजन आदि रोगोंका नाश करता है ।

(३) शिखण्डी— गुञ्जा नामक लता, मोर अथवा मोरका पङ्ख, और स्वर्णयूथिका वाचक यह शब्द है ।

(४) अर्जुनः— हिंदी भाषामें इसको ' कहू, कोह ' कहते हैं । इसके गुण ये हैं—

कफघ्नः, व्रणशोधनः, पित्तश्रमतृष्णाहरः, वातकोपनश्च । (रा. नि. व. ९)

शीतलो हृद्यः क्षतक्षयविषरक्तहरो मेदोमेहव्रणघ्नस्तुवरः, कफपित्तघ्नश्च । (भा. पू. १ भ. वटादि.)

यह अर्जुन वृक्ष कफ, व्रण, पित्त, श्रम, तृष्णाको दूर करता है । हृदयके लिये हितकारी है । व्रण, क्षय, विष, रक्तदोष दूर करता है । मेदादि रोग दूर करता है ।

(५) आघाटः— अपामार्ग औषधि । हिंदीमें लटजिरा, चिरचिरा कहते हैं । इसपर कई सूक्त हैं । (अथर्व. का. ४, सू. १७-१९ विवरणसहित पढिये । इसमें अपामार्गके गुणधर्म लिखे हैं ।)

(६) कर्करी— ककडी, काकडी । [इसके विषयमें अर्थकी खोज करना चाहिये]

ये सब वृक्ष और लतायें पूर्वोक्त रोग दूर करती हैं । इनका वैद्यक ग्रंथोक्त वर्णन और वेदमन्त्रोक्त वर्णन पाठक तुलना करके देखेंगे तो उनको पता लग जायगा कि वेदने इन रोगोंके विषयमें कुछ विशेष ही कहा है ।

अष्टम और नवम मन्त्रमें सूर्यकिरणोंका उपयोग पूर्वोक्त रोग दूर करनेके कार्यमें हो सकता है ऐसा सूचित किया है ।

ग्यारहवे मन्त्रमें (**वीर्यावता ब्रह्मणा**) वीर्यवती ब्राह्मी औषधिसे ये रोग दूर होते हैं ऐसा कहा है ।

(७) ब्राह्मी— हिंदी भाषामें इसको ' बरंभी, ब्रह्मी ' कहते हैं । इसके गुण ये हैं—

ब्राह्मी हिमा सरा तिक्ता मधुर्मेध्या च शीतला ।
कषाया मधुरा स्वादुपाकायुष्या रसायनी ॥
स्वर्या स्मृतिप्रदा कुष्ठपाण्डुमेहास्रकासजित् ।
विषशोथहरी ... ... ॥ (भा. प्र. व.)

' ब्राह्मी वनस्पती बुद्धिवर्धक, स्मृतिवर्धक, आयुष्यवर्धक, कुष्ठ, पाण्डु, मेह, रक्तस्राव, कासी, विष, प्यास आदिको दूर करनेवाली है ।

इस ब्राह्मी औषधीके गुण सोमवल्लीके गुणोंसे कुछ अंशमें मिलते जुलते हैं, इसलिये इसके नाम- ' सोमवल्लरी, महौषधि, सुरश्रेष्ठा, परमेष्ठिनी, शारदा, भारती ' ये आये हैं । बुद्धिवर्धक और आयुष्यवर्धक गुण इसके मुख्य हैं । यह अपूर्व वल्ली है और निश्चयसे गुणकारी है ।

यह वैद्योंकी विद्या है इसलिये इस सूक्तका मनन वैद्योंको करना चाहिये । यदि वैद्य इसका विचार करेंगे और लोकोपकारक औषधि प्रयोग निश्चित करेंगे तो जनताके ऊपर विशेष उपकार हो सकते हैं ।

' **अप्सरस्** ' शब्दका मूल अर्थ (**अप्+सरस्**) जलके साथ संचार करनेवाला, जलाशयमें संचार करनेवाला । ' मलेरिया ' के अर्थात् हिम ज्वरके कृमि जलसंचारी हैं । मच्छरों द्वारा इनका फैलाव होता है और मच्छर गाते रहते हैं, इसलिये ये संभवतः ' गन्धर्व ' ही होंगे, और इनके आश्रयसे चारों ओर जानेवाले ज्वरोत्पादक क्रिमि अप्सरस् होंगे । गंधर्व और अप्सराओंका इस प्रकरणमें यह संबंध दिखता है । पीपर, वड, अपामार्ग, अर्जुन आदि वृक्षोंके कारण इन रोगक्रिमियोंका दूर होना लिखा है । इसलिये ' मलेरिया ' ज्वरके प्रदेशोंमें इन वृक्षोंको उपज करके अनुभव देखना चाहिये । इसी प्रकार अजशृंगी, गुग्गुलु आदि वनस्पतियोंका भी रोगनिवारणार्थ प्रयोग करके देखना योग्य है । वैद्य लोग इस विषयमें खोज करेंगे तो इसका निश्चय शीघ्र हो सकता है ।

उत्तम गृहिणी स्त्री।

[सूक्त ३८]

(ऋषिः — बादरायणिः । देवता — अप्सराः । ऋषभः ।)

उद्भिन्दतीं संजयन्तीमप्सरां साधुदेविनीम्। ग्लहे कृतानि कृण्वानामप्सरां तामिह हुवे ॥ १ ॥

विचिन्वतीमाकिरन्तीमप्सरां साधुदेविनीम्। ग्लहे कृतानि गृह्णानामप्सरां तामिह हुवे ॥ २ ॥

यायैः परिनृत्यत्याददाना कृतं ग्लहात्। सा नः कृतानि सीषती प्रहामाप्नोतु मायया।
सा नः पयस्वत्यैतु मा नो जैषुरिदं धनम् ॥ ३ ॥

या अक्षेषु प्रमोदन्ते शुचं क्रोधं च बिभ्रती। आनन्दिनीं प्रमोदिनीमप्सरां तामिह हुवे ॥ ४ ॥

अर्थ— (उद्भिन्दतीं साधुदेविनीं) शत्रुको उखाडनेवाली, उत्तम व्यवहार करनेवाली और (संजयन्तीं अप्सरां) उत्तम विजय प्राप्त करनेवाली रमणीय स्त्रीको तथा (ग्लहे कृतानि कृण्वानां तां अप्सरां) स्पर्धाके समय उत्तम कृत्य करनेवाली उस स्त्रीको (इह हुवे) यहां बुलाता हूं ॥ १ ॥

(विचिन्वन्तीं आकिरन्तीं) संचय करनेवाली और बांटनेवाली (साधुदेविनीं अप्सरां) उत्तम व्यवहार करनेवाली स्त्रीको तथा (ग्लहे कृतानि गृह्णानां तां अप्सरां) स्पर्धाके समय उत्तम कृत्य करनेवाली उस रमणीय स्त्रीको मैं यहां बुलाता हूं ॥ २ ॥

(या अयैः ग्लहात् कृतं आददाना) जो शुभ धर्मविधियोंसे स्पर्धामें उत्तम कृत्यको स्वीकार करती है। (सा नः कृतानि सीषती) वह हमारे उत्तम कर्मोंको नियमबद्ध करती हुई (मायया प्रहां आप्नोतु) अपनी कुशल बुद्धिसे प्रगतिको प्राप्त करे। (सा पयस्वती नः आ एतु) वह अन्नवाली उत्तम स्त्री हमारे पास आवे जिससे (नः इदं धनं मा जैषुः) हमारा यह धन कोई दूसरे न ले जाय ॥ ३ ॥

(शुचं क्रोधं च बिभ्रती) शोक और क्रोधको धारण करती हुई भी (याः अक्षेषु प्रमोदन्ते) जो अपने आंखोंमें आनन्दित वृत्ति रखती है (तां आनन्दिनीं प्रमोदिनीं अप्सरां) उस आनन्द और उल्हास देनेवाली सुन्दर स्त्रीको (इह हुवे) यहां मैं बुलाता हूं ॥ ४ ॥

भावार्थ— शत्रुको एक ओर करके ऊपर उठनेवाली, उत्तम व्यवहारदक्ष विजयी और स्पर्धाके समय योग्य कर्तव्य उत्तम प्रकार सिद्ध करनेवाली स्त्रीको हम यहां बुलाते हैं ॥ १ ॥

समयपर संचय करनेवाली और समयपर सत्पात्रमें दान करके योग्य व्यय करनेवाली उत्तम व्यवहारदक्ष तथा स्पर्धाके उत्तम योग्य कर्तव्य उत्तम प्रकार करनेवाली स्त्रीको हम यहां बुलाते हैं ॥ २ ॥

जो स्पर्धाके समय शुभधर्मविधिके अनुसार उत्तम कृत्य करती है तथा जो हमारे सब शुभकृत्योंको उत्तम व्यवस्थासे करती है वह अपनी कुशल बुद्धिसे इस स्थानपर प्रगति करे। वह अन्नवाली स्त्री यहां रहे और उसकी व्यवस्थासे यहांका धन सुरक्षित हो जावे ॥ ३ ॥

जो शोक और क्रोध मनमें रहनेपर भी जो सदा अपने आंखोंमें आनन्दकी प्रभा दिखाती है वह आनन्द और संतोष बढानेवाली स्त्री यहां आवे ॥ ४ ॥

सूर्यस्य रश्मीननु याः संचरन्ति मरीचीर्वा या अनुसंचरन्ति ।
यासामृषभो दूरतो वाजिनीवान्त्सद्यः सर्वान् लोकान्पर्येति रक्षन् ।
स न ऐतु होममिमं जुषाणोऽन्तरिक्षेण सह वाजिनीवान् ॥ ५ ॥
अन्तरिक्षेण सह वाजिनीवन्कर्कीं वत्सामिह रक्ष वाजिन् ।
इमे ते स्तोका बहुला एह्यर्वाङियं ते कर्कीह ते मनोऽस्तु ॥ ६ ॥
अन्तरिक्षेण सह वाजिनीवन्कर्कीं वत्सामिह रक्ष वाजिन् ।
अयं घासो अयं व्रज इह वत्सां नि बध्नीमः । यथानाम व ईश्महे स्वाहा ॥ ७ ॥

अर्थ— (याः सूर्यस्य रश्मीन् अनु संचरन्ति) जो सूर्यके किरणोंमें अनुकूल संचार करती हैं, (वा याः मरीचीः अनु संचरन्ति) अथवा जो सूर्य प्रकाशमें संचार करती है। (वाजिनीवान् ऋषभः) बलवान् श्रेष्ठ पुरुष (दूरतः सद्यः यासां सर्वान् लोकान् रक्षन् पर्येति) दूरसे ही तत्काल जिनके सब लोगोंको रक्षा करता हुआ चारों ओर घेरकर आता है। (सः वाजिनीवान्) वह बलवाला पुरुष (इमं होमं जुषाणः) इस यज्ञका स्वीकार करता हुआ, (अन्तरिक्षेण सह नः आ एतु) आन्तरिक विचारके साथ हमारे पास आवे ॥ ५ ॥

हे (वाजिनीवान् वाजिन्) बलवाले ! (अन्तरिक्षेण सह कर्कीं वत्सां) अन्तःकरणके साथ अपने कर्तृत्वशक्तिवाले बच्चोंकी (इह रक्ष) यहां रक्षा कर। (इमे ते बहुलाः स्तोकाः) ये तेरे बहुत आनन्द हैं, (अर्वाङ् एहि) यहां आ, (इह ते कर्की) यह तेरी कर्तृत्वशक्ति है। (इह ते मनः अस्तु) यहां तेरा मन स्थिर रहे ॥ ६ ॥

हे (वाजिनीवन् वाजिन्) बलवान् ! (अन्तरिक्षेण सह कर्कीं वत्सां) अपने आंतरिक विचारके साथ कर्तृत्व शक्तिवाले बच्चोंकी (इह रक्ष) यहां रक्षा कर। उसके लिये (अयं घासः) यह घास है, (अयं व्रजः) यह गौओंका स्थान है, (इह वत्सां नि बध्नीमः) यहां बछडोंको बांधते हैं। (यथानाम वः ईश्महे) नामोंके अनुसार तुम्हारा आधिपत्य हम करते हैं, (स्व-आहा) हमारा त्याग तुम्हारे लिये हो ॥ ७ ॥

भावार्थ— जो सूर्यकी किरणोंमें व्यवहार करती है अथवा सूर्यप्रकाशको अनुकूल बनाती है, इस प्रकारकी स्त्रियोंकी रक्षा दूरसे अर्थात् योग्य मर्यादासे ही सब पुरुष किया करें। ये बलवान् पुरुष अपने जीवनका यज्ञ करते हुए अपने हार्दिक विचारसे स्त्रियोंका आदर करके यहां रहें ॥ ५ ॥

हे बलवाले मनुष्यो ! अपने आन्तरिक प्रेमके साथ बच्चियोंकी रक्षा करो, सन्तानकी रक्षा करना आनन्ददायक कर्म है, आगे होकर यह कार्य करो, इस कार्यमें तुम्हारा मन स्थिर रहे ॥ ६ ॥

हे बलवाले मनुष्यो ! अपने आन्तरिक प्रेमके साथ गौकी बच्चियोंकी रक्षा करो, गौओं और बछडोंके लिये यह घास है, उनके लिये यह स्थान है, बछडोंको यहां बांधते हैं, और उनके नामोंके क्रमसे उनकी उत्तम व्यवस्था करते हैं, उनके लिये हम आत्मसर्वस्वका समर्पण करते हैं ॥ ७ ॥

दक्ष स्त्रीका समादर।

इस सूक्तमें दक्ष स्त्रीका बहुत आदर किया है। स्त्री गृहिणी होती है, इसलिये घरकी व्यवस्था उत्तम रखना और उस कार्यमें उत्तम दक्षता धारण करना स्त्रियोंका परम कर्तव्य है। इस विषयके आदेश इस सूक्तमें अनेक हैं जिनका मनन अब करते हैं—

स्त्री कैसी हो ?

(१) संजयन्ती— उत्तम विजय प्राप्त करनेवाली, अर्थात् अपने कुटुंबका विजय करनेके उपायोंको आचरणमें लानेवाली हो। (मं. १)

(२) साधुदेविनी— 'दिव्' धातुसे 'देविनी' शब्द बनता है। 'दिव्' धातुके अर्थ- 'क्रीडा, विजयेच्छा,

व्यवहार, प्रकाश, आनंद, गति ' इतने हैं। अर्थात ' **साधु देविनी** ' शब्दका अर्थ- ' क्रीडा या खेल खेलनेमें कुशल, अपने कुटुंबका विजय चाहनेवाली, घरमें प्रकाशके समान तेजस्विनी होकर रहनेवाली, स्वयं आनंद स्वभाव रहकर सब लोगोंका आनंद बढानेवाली, सबकी प्रगति करनेवाली ' इस प्रकार हो सकता है। इस अर्थका संबंध ' **संजयन्ती** ' शब्दके अर्थके साथ है, इसका पाठक अनुभव करें। (मं. १, २, ४)

(३) **उद्भिन्दन्ती**- अपने शत्रुओंको उखाड देनेवाली। (मं. १) इसका भी तात्पर्य ' **संजयन्ती** ' पदके समान ही है, विजयेच्छुक और व्यवहारदक्ष होनेसे शत्रुको उखाडना और विजय प्राप्त करना ये बातें सुसंगत हैं। (मं. १)

(४) **ग्लहे कृतानि कृण्वाना— ' ग्लह** ' शब्दका अर्थ है ' **स्पर्धा** '। अपना जीवन एक प्रकारकी स्पर्धा है, इस स्पर्धामें ' **कृत** ' अर्थात् उत्तम कृत्य अथवा उत्तम प्रयत्न करनेवाली। ' **कृत** ' शब्दका अर्थ यह है—

कलिः शयानो भवति संजिहानस्तु द्वापरः।
उत्तिष्ठंस्त्रेता भवति कृतं संपद्यते चरन् ॥
चरैव चरैव। (ऐ. ब्रा. ७।१५)

' सुप्त अवस्थाका नाम कलि है, निद्रा या आलस्यको त्यागनेका नाम द्वापर है, प्रयत्न करनेकी बुद्धिसे उठनेका नाम त्रेता है और कृत उसको कहते हैं कि जिस अवस्थामें मनुष्य पुरुषार्थ करता है। ' इस वचनमें ' कृत ' का अर्थ दिया है। उन्नतिके लिये प्रबल पुरुषार्थ करनेका नाम कृत है। मानो ' मनुष्यका जीवन एक जूवेका खेल ' है। इसमें सोते रहनेवाले लाभ नहीं प्राप्त कर सकते, प्रत्युत सबसे उत्तम जुवेका दान लेनेवाले ही लाभ प्राप्त कर सकते हैं। इस जूवेके ' कलि, द्वापर, त्रेता और कृत ' ये चार दान होते हैं। जो झगडालू और आलसी होते हैं उनको इस जीवनरूपी जुएमें ' कलि ' संज्ञक दान मिलता है जिससे हानि ही हानी होती है, जो साधारण पुरुषार्थ प्रयत्न करते हैं उनको बीचके दो दान मिलते हैं, परंतु जो प्रबल पुरुषार्थी होता है वही ' कृत ' संज्ञक दान प्राप्त करके अधिकसे अधिक दान प्राप्त करता है।

सतरंज या चौपट खेलनेवाले अपने पासोंसे जो चार प्रकारके दान प्राप्त करते हैं, उन चार दानोंके वाचक ये चार शब्द हैं। ' कृत, त्रेत, द्वापर और कलि ' ये चार शब्द क्रमशः उत्तम, मध्यम, कनिष्ठ और हानिकारक दानोंके सूचक शब्द हैं। वस्तुतः वेदमें ' **अक्षैर्मा दीव्यः।** ' (ऋ. १०।३४।१३) जूआ मत खेल इस प्रकारके वाक्योंसे जूवेका निषेध किया है। इसलिये वैदिक धर्ममें जूवेकी संभावना ही नहीं है। तथापि यहां सभी मनुष्य अपने आयुष्यके सतरंजका खेल खेल रहे हैं, अपने आयुष्यका जुआ खेल रहे हैं अथवा चौपट खेल रहे हैं। इसमें कईयोंको यह खेल लाभकारी होता है और कईयोंको हानिकारक होता है। इसलिये इस जीवनरूपी बाजीमें उत्तम रीतिसे यह खेल खेलकर मनुष्य यशके भागी हों, यह उपदेश देनेके लिये रूपकालंकारसे इस सूक्तमें ' **ग्लह, कृत, देविनी** ' ये शब्द दो अर्थोमें प्रयुक्त हुए हैं। ये शब्द जूवेबाजीका अर्थ भी बताते हैं और श्लेषसे उत्तम विजयी व्यवहारका भी अर्थ बताते हैं। इस रूपकका अर्थ ऊपर बताया है वही है, पाठक इसका विचार करके बोध प्राप्त कर सकते हैं। यहां स्त्रीत्वका निर्देश होते हुए भी पुरुष भी इससे अपने विजयी जीवन बनानेका बोध प्राप्त कर सकते हैं। अस्तु। ' **ग्लहे कृतानि कुर्वाणा** ' का यहां यह अर्थ है- ' इस जीवनरूपी स्पर्धाके खेलमें जो स्त्री उत्तम पुरुषार्थ रूपी दान प्राप्त करती है। ' अर्थात् उत्तम स्त्री वह है कि जो इस जीवनमें परम पुरुषार्थ प्रयत्न करती है। (मं. १, २) मंत्र ३ में ' **कृतं ग्लहात् आददाना** ' पाठ है। इसका भी उक्त प्रकार ही अर्थ है।

(५) **विचिन्वन्ती, आकिरन्ती**— संग्रह करनेवाली, दान देनेवाली। संग्रह करनेके समय योग्य रीतिसे और दक्षतासे संग्रह करनेवाली और दान करनेके समय उदारतापूर्वक दान देनेवाली। स्त्री ऐसी होनी चाहिये कि वह घरमें दक्षतासे और व्यवस्थासे योग्य वस्तुओंका संग्रह करे। तथा दान करनेके समय अपने घरका यश बढने योग्य उदारताके साथ दान करे। ' **विचिन्वन्ती** ' का मूल अर्थ चुन चुनकर पदार्थोंको प्राप्त करनेवाली और ' **विकिरन्ती** ' का अर्थ ' बिखरनेवाली ' है। यह संग्रह करनेका गुण और दानका गुण स्त्रीमें इतना हो कि जिससे उसके कुलका यश बढ जाय और कभी यश न घटे। (मं. २)

(६) **या अयैः परिनृत्यति**— जो शुभ विधियोंसे आनंदसे नाचती है अर्थात् जिसका प्रयत्न सदा सर्वदा धार्मिक शुभ विधि करनेके लिये ही होता है। ' **अयः** ' का अर्थ ' शुभ विधि ' है (**अयः शुभावहो विधिः।** अमरकोश १।३।२७) जिसका पूर्व कर्म भी उत्तम है और इस समयका भी कर्म उत्तम है। (मं. ३)

(७) **कृतानि सीपती**— जो उत्तम कर्मोंकी सुव्यवस्था नियमसे करती है, जो घरमें उत्तम व्यवस्थासे सब कार्य करती है। (मं. ३)

(८) पयस्वती— दूधवाली, जिसके पास बच्चोंको देनेके लिये बहुत दूध होता है। (मं. ३)

(९) या शुचं क्रोधं च बिभ्रती अक्षेषु प्रमोदन्ते— जो शोक और क्रोध आनेपर भी आंखोंमें प्रसन्नताका तेज धारण करती है। 'अक्ष' शब्दका अर्थ 'आंख और इंद्रिय' है। यहां इंद्रिय अर्थ अपेक्षित है। जो स्त्री अन्तःकरणमें शोक उत्पन्न होनेपर अथवा क्रोध उत्पन्न होनेपर भी रोती, पीटती या चिल्लाती नहीं है, प्रत्युत अपने व्यवहारमें इंद्रियोंके व्यापारमें प्रसन्नताकी झलक दिखाती है और हृदयका शोक और क्रोध व्यक्त नहीं करती, वह उत्तम स्त्री है। (मं. ४)

(१०) आनन्दिनी, प्रमोदिनी— आनन्द और हर्षसे युक्त। अर्थात् जो सदा आनन्दित रहती है और दूसरोंको प्रसन्न करनेका यत्न करती है। (मं. ४)

(११) सूर्यस्य रश्मीन् अनु संचरन्ती— जो सूर्य-किरणोंमें भ्रमण करती है। मरीचीः अनु संचरन्ती— जो सूर्यप्रकाशमें भ्रमण करती है। अथवा जो सूर्यप्रकाशको अपने अनुकूल बनाती है। इससे आरोग्य उत्तम होता है। स्त्रियोंको सूर्यप्रकाशमें व्यवहार करना चाहिये। [यहां स्पष्ट होता है कि गोषाकी पद्धति पूर्णतया अवैदिक है।] (मं. ५)

ये ग्यारह लक्षण उत्तम और दक्ष गृहिणीके हैं। स्त्री, धर्मपत्नी, गृहिणी घरमें किस प्रकार व्यवहार करे, इस विषयपर ये ग्यारह लक्षण बहुत उत्तम प्रकाश डालते हैं। स्त्री और पुरुष इन लक्षणोंका विचार करें और इस उपदेशको अपनानेका यत्न करें। इन लक्षणोंमें शत्रुको उखाड देना और विजय प्राप्त करना ये भी लक्षण हैं, जिनसे प्रतीत होता है कि स्त्रियोंमें इतनी शक्ति तो अवश्य ही होनी चाहिये कि जिससे वे अपनी रक्षा उत्तम प्रकार कर सकें। आत्मरक्षाके लिये स्त्रियां दूसरेपर निर्भर न रहें। गृहव्यवहारमें दक्ष, सुज्ञ, निर्भय और अपने कुलका यश बढानेवाली स्त्रियां होनी चाहिये। इन लक्षणोंका विचार करनेसे स्त्रीशिक्षा किस प्रकार होनी चाहिये इसका भी निश्चय हो सकता है। जिस शिक्षासे स्त्रीके अन्दर इतने गुण विकसित होंगे, वह शिक्षा स्त्रियोंको देनी चाहिये। अथवा यों कहिये कि स्त्रीयोंमें शिक्षासे इन गुणोंका विकास करनेका प्रयत्न करना चाहिये। स्त्री शिक्षाका विचार करनेवाले स्त्रीपुरुष इन आदेशोंका मनन करें।

अप्सरा।

इन लक्षणोंसे युक्त स्त्रीको इस सूक्तमें 'अप्सरा' कहा है। सुंदर स्त्रीको अप्सरा कहते हैं। अप्सरा शब्दके बहुत अर्थ हैं उनमें यह भी एक अर्थ है। स्त्रीकी सुंदरता इस शब्दसे व्यक्त होती है। शरीरकी सुंदरता वस्तुतः उतना सुख नहीं देती जितनी गुणोंकी सुंदरता देती है। इसलिये इन गुणोंसे युक्त सुंदर स्त्रीको अपने घरमें गृहिणी बनानेकी सूचना यहां दी है। अपनी सहधर्मचारिणी निश्चित करनेवाले लोग इस उपदेशका मनन करेंगे, तो उनको अपनी सहधर्मचारिणी पसंद करनेके समय बडी सहायता प्राप्त हो सकती है।

पूर्व सूक्तमें ही 'अप्सरा' शब्दका अर्थ रोगोत्पादक क्रिमि है और इस सूक्तमें 'सुंदरी गुणवती सुशील स्त्री' है यह देखकर पाठक चकित न हों। एक ही शब्दके इसी प्रकार अनेक अर्थ होते हैं। इसी प्रकार 'असुर' शब्द परमेश्वरवाचक और राक्षसवाचक होता है अर्थात् इन शब्दोंके अर्थ इसी प्रकार विलक्षण होते हैं और यह एक वेदकी रीति ही है।

इस सूक्तके प्रथमके पांच मंत्रोंमें दक्ष धर्मपत्नीके शुभ गुणोंका वर्णन है। यह वर्णन जैसा स्त्रियोंको बोधप्रद है उसी प्रकार पुरुषोंके लिये भी बोधप्रद है। आशा है इससे पाठक लाभ उठावेंगे।

रश्मिस्नान।

पञ्चम मन्त्रमें 'सूर्यरश्मीन् अनु सञ्चरन्ति। (मं. ५)' सूर्यरश्मियोंके अन्दर अनुकूल रीतिसे सञ्चार करनेकी सूचना दो वार की है। एक ही विषय दो वार कहनेसे वह दृढ करनेका उद्देश होता है। अर्थात स्त्रियोंका सूर्यकिरणोंमें भ्रमण करना वेदको बहुत ही अभीष्ट है। स्त्रियां प्रायः घरेलु व्यवहारमें दक्ष रहती हैं और पुरुष घरके बाहरके व्यवहारको करते हैं। इसलिये पुरुषोंको उनके व्यवहारके ही कारण सूर्यरश्मिस्नान होता है। स्त्रियां घरके अन्दरके व्यवहार करती हैं इसलिये सूर्य रश्मियोंके अमृतरससे वञ्चित रहती हैं; अतः उनके स्वास्थ्यके लिये इस मन्त्रमें रश्मिस्नानका दो वार उपदेश किया है।

यह उपदेश आजकल इसलिये बहुत आवश्यक और उपयोगी प्रतीत होता है कि आजकलकी स्त्रियां तो गोषामें रहती हैं और इस अवैदिक गोषाकी पद्धतिके कारण सूर्यप्रकाशसे वञ्चित रहती हैं। इस दोषको दूर करनेके लिये वेदने यह उत्तम उपदेश किया है, जिसका हरएक स्त्रीपुरुषको अवश्य विचार करना चाहिये।

स्त्री रक्षा।

स्त्रियोंकी रक्षा होनी चाहिये। वह दो प्रकारसे हो सकती है एक तो पूर्वोक्त गुणोंका उत्तम विकास स्त्रियोंमें करनेसे स्त्रियां

स्वयं अपनी रक्षा करनेमें समर्थ हो जायगी और अपनी रक्षा करनेके लिये दूसरोंके मुखकी ओर देखनेकी आवश्यकता उनको नहीं रहेगी। तथापि कई प्रसंग ऐसे हैं कि जिनमें पुरुषोंको स्त्रियोंकी रक्षा करना चाहिये। ऐसे समयोंमें—

यासां सर्वान् लोकान् दूरतः रक्षन् वाजिनीवान् पर्येति। (सू. ३८, मं. ५)

' जिन स्त्रियोंके सब लोकोंको दूरसे रक्षा करता हुआ बलवान् पुरुष भ्रमण करता है।' इसका आशय यह है कि पुरुष स्त्रियोंकी रक्षा करनेके समय शिष्टाचारपूर्वक उचित रीतिसे दूर रहकर रक्षाका कार्य करें। स्त्रियोंमें घुसकर अथवा स्त्रियोंका अन्य प्रकार निरादर करके उनकी रक्षाका प्रयत्न करना योग्य नहीं है। जिस प्रकार बडे प्रतिष्ठित पुरुषोंकी रक्षा करनेवाले रक्षक उचित अन्तरपर रहते हुए उनकी रक्षा करते हैं, उसी प्रकार स्त्रियोंकी रक्षा भी उनकी सुयोग्य प्रतिष्ठा करते हुए करना चाहिये।

इस मंत्रमें और अगले छटे मंत्रमें ' अन्तरिक्ष ' शब्द ' अन्दरका भाव ' इस अर्थमें आया है। अन्तरिक्ष लोकका ही अंश अपने शरीरमें अपना अन्तःकरण है। मानो, यहांका यह शब्द अन्तःकरणका ही वाचक है। तात्पर्य यह है कि जो कुछ कार्य करना हो वह अन्तःकरणसे ही करना चाहिये। ऊपर ऊपरसे किया हुआ कार्य निष्फल होता है और अन्तःकरण लगाकर किया हुआ कार्य सुफल होता है। इस सूचनाका विचार पुरुषार्थ करनेवाले पाठक अवश्य करें। मनुष्यका अभ्युदय अन्तःकरणके सद्भावपूर्वक किये हुए कर्मसे ही होगा, अन्य मार्ग नहीं है।

वत्सां इह रक्ष। (सू. ३८, मं. ६)

' पुत्रीकी यहां रक्षा कर।' पुत्रीकी रक्षाका उत्तम प्रबंध करना चाहिये। पुत्रीकी रक्षा होनेसे ही आगे वह पुत्री सुयोग्य और सुशील धर्मपत्नी अथवा स्त्री या माता हो सकती है। आजकल पुत्रीका जन्म होते ही घरका सब परिवार दुःखी होता है और प्रायः पुत्रीका उन्नतिका विचार लोग नहीं करते, ऐसे लोगोंको वेदका यह उपदेश अवश्य ध्यानमें धारण करना चाहिये। जगत्की स्थिति और सन्तानपरंपरा स्त्रियोंके कारण होती है, इसलिये स्त्रियोंकी उन्नतिसे सब जगत्का कल्याण होना संभव है। माता स्वर्गसे भी अधिक श्रेष्ठ है, फिर माताके बालपनमें उसकी रक्षाका प्रबंध उत्तमसे उत्तम होना चाहिये इसमें संदेह ही क्या हो सकता है?

वत्स शब्द जिस प्रकार पशुके बच्चोंका वाचक है उसी प्रकार मनुष्योंके बच्चोंका भी वाचक है। प्रेमसे पुत्रको वत्स और पुत्रीको वत्सा कहते हैं। इसलिये इस षष्ठ मंत्रका वत्सा शब्द मनुष्योंकी कन्याओंका वाचक और सप्तम मंत्रका वत्सा शब्द गौ आदिकोंकी बछियोंका वाचक मानना उचित है। सप्तम मंत्रमें बछडेके लिये घास और उसको उत्तम गोशालामें बांधनेका वर्णन होनेसे वहांका वत्सा शब्द गौ आदिकोंकी बछडी है, इसमें संदेह नहीं है, परन्तु षष्ठ मंत्रका वत्सा शब्द मनुष्योंके बच्चोंका भी वाचक मानना योग्य है। इसका तात्पर्य यह है कि जैसे मनुष्योंके बालबच्चोंकी सुरक्षितताका प्रयत्न मनसे करना चाहिये उसी प्रकार गाय, घोडे आदि पाले हुए जानवरोंके बछडोंका भी पालनका प्रबंध उत्तम करना चाहिये। जिस प्रेमसे घरके लोग अपने बच्चोंका पालन करते हैं उसी प्रेमसे पशुओंके संतानोंका भी पालन किया जाय, यह इस उपदेशका तात्पर्य है। उनके घासका प्रबंध उत्तम हो, उनके जलपानका प्रबंध उत्तम हो, उनके रहनेका स्थान प्रशस्त हो, तथा उनके स्वास्थ्यका भी उचित प्रबंध किया जावे। तात्पर्य पाले हुए पशुओंको भी अपनी संतानके समान मानकर उनपर वैसा ही प्रेम करना चाहिये।

यह सूक्त अपना प्रेम पशुओंतक पहुंचानेका इस ढंगसे उपदेश दे रहा है। प्रेम जितना बढेगा और चारों ओर फैलेगा उतना अहिंसाका भाव विस्तृत हो जायगा। वैदिक धर्मका अन्तिम साध्य पूर्ण अहिंसाका भाव मनमें स्थिर करना है, वह इस रीतिसे निःसंदेह सिद्ध होगा।

स्त्रीका आदर, स्त्रीके अन्दर शुभ गुणोंका विकास करनेकी रीति, स्त्रीकी रक्षा, पुत्रीकी रक्षा और बछडोंकी रक्षा आदि अनेक उपयोगी विषय इस सूक्तमें आगये हैं। पाठक इन सब मंत्रोंका अधिक मनन करके योग्य बोध प्राप्त करें और उस बोधको अपने जीवनमें ढालकर अपनी उन्नति करें।

समृद्धिकी प्राप्ति ।

[सूक्त ३९]

(ऋषिः — अङ्गिराः । देवता - नानादेवताः । संनतिः ।)

पृथिव्यामग्नये समनमन्त्स आर्ध्नोत् ।
यथा पृथिव्यामग्नये समनमन्नेवा मह्यं संनमः सं नमन्तु ॥ १ ॥
पृथिवी धेनुस्तस्या अग्निर्वत्सः । सा मेऽग्निना वत्सेनेषमूर्जं कामं दुहाम् ।
आयुः प्रथमं प्रजां पोषं रयिं स्वाहा ॥ २ ॥
अन्तरिक्षे वायवे समनमन्त्स आर्ध्नोत् ।
यथान्तरिक्षे वायवे समनमन्नेवा मह्यं संनमः सं नमन्तु ॥ ३ ॥
अन्तरिक्षं धेनुस्तस्या वायुर्वत्सः । सा मे वायुना वत्सेनेषमूर्जं कामं दुहाम् ।
आयुः प्रथमं प्रजां पोषं रयिं स्वाहा ॥ ४ ॥

अर्थ— (**पृथिव्यां अग्नये समनमन्**) पृथिवीपर अग्निके सन्मुख नम्र होते हैं, (**सः आर्ध्नोत्**) वह समृद्ध हुआ है । (**यथा पृथिव्यां अग्नये समनमन्**) जिस प्रकार पृथिवीमें अग्निके सन्मुख नम्र होते हैं, (**एव मह्यं संनमः सं नमन्तु**) इस प्रकार मेरे आगे सन्मान देनेके लिये उपस्थित हुए लोग नम्र हों ॥ १ ॥

(**पृथिवी धेनुः**) भूमि धेनु है (**तस्याः अग्निः वत्सः**) उसका अग्नि बछडा है । (**सा अग्निना वत्सेन**) वह भूमि अग्निरूपी बछडेसे (**इषं ऊर्जं कामं दुहां**) अन्न और बल इच्छाके अनुसार देवे और (**प्रथमं आयुः**) उत्तम आयु तथा (**प्रजां पोषं रयिं**) सन्तान, पुष्टि और धन प्रदान करें । (**स्वाहा**) मैं समर्पण करता हूं ॥ २ ॥

(**अन्तरिक्षे वायवे समनमन्**) अन्तरिक्षमें वायुके सन्मुख सब नम्र होते हैं । (**स आर्ध्नोत्**) वह समृद्ध हुआ है । (**यथा अन्तरिक्षे वायवे समनमन्**) जिस प्रकार अन्तरिक्षमें वायुके सन्मुख सब नम्र होते हैं, (**एव मह्यं संनमः सं नमन्तु**) उस प्रकार मेरे सन्मुख सन्मान देनेके लिये उपस्थित हुए मनुष्य नम्र हों ॥ ३ ॥

(**अन्तरिक्षं धेनुः**) अन्तरिक्ष धेनु है (**तस्याः वायुः वत्सः**) उसका बछडा वायु है । (**सा वायुना वत्सेन**) वह अन्तरिक्षरूपी धेनु वायुरूपी बछडेसे (**इषं ऊर्जं कामं दुहां**) अन्न और बल पर्याप्त देवे और (**प्रथमं आयुः**) उत्तम दीर्घ आयु (**प्रजां पोषं रयिं**) सन्तान, पुष्टि और धन प्रदान करें, (**स्वाहा**) मैं आत्मसमर्पण करता हूं ॥ ४ ॥

भावार्थ— पृथ्वीपर अग्निको सन्मान मिलता है क्योंकि वह तेजस्वी है, जिस प्रकार पृथ्वीपर अग्नि संमानित होता है उस प्रकार मैं तेजस्वी बनकर यहां संमानित होऊं ॥ १ ॥

पृथ्वीरूपी गौका अग्नि बछडा है, उसकी शक्तिसे मुझे अन्न, बल, दीर्घ आयु, संतति, पुष्टि और धन प्राप्त हो ॥ २ ॥

अन्तरिक्षमें वायुका संमान होता है क्योंकि उसमें बल बढा हुआ है । बलके बढनेसे जैसा वायुका संमान होता है, वसी प्रकार बलके कारण मेरा भी संमान बढे ॥ ३ ॥

अन्तरिक्षरूपी धेनुका वायु बछडा है, उसकी शक्तिसे मुझे अन्न, बल, दीर्घ आयु, संतान, पुष्टि और धन प्राप्त हो ॥ ४ ॥

दिव्यादित्याय समनमन्त्स आर्ध्नोत् ।
यथा दिव्यादित्याय समनमन्नेवा मह्यं संनमः सं नमन्तु ॥ ५ ॥
द्यौर्धेनुस्तस्या आदित्यो वत्सः । सा म आदित्येन वत्सेनेषमूर्जं कामं दुहाम् ।
आयुः प्रथमं प्रजां पोषं रयिं स्वाहा ॥ ६ ॥
दिक्षु चन्द्राय समनमन्त्स आर्ध्नोत् ।
यथा दिक्षु चन्द्राय समनमन्नेवा मह्यं संनमः सं नमन्तु ॥ ७ ॥
दिशो धेनवस्तासां चन्द्रो वत्सः । ता मे चन्द्रेण वत्सेनेषमूर्जं कामं दुहाम् ।
आयुः प्रथमं प्रजां पोषं रयिं स्वाहा ॥ ८ ॥
अग्नावग्निश्चरति प्रविष्ट ऋषीणां पुत्रो अभिशस्तिपा उ ।
नमस्कारेण नमसा ते जुहोमि मा देवानां मिथुया कर्म भागम् ॥ ९ ॥

अर्थ— (**दिवि आदित्याय समनमन्**) द्युलोकमें आदित्यके सन्मुख सब नम्र होते हैं। (**स आर्ध्नोत्**) वह समृद्ध हुआ है। (**यथा दिवि आदित्याय समनमन्**) जिस प्रकार द्युलोकमें आदित्यके सन्मुख नम्र होते हैं (**एव मह्यं संनमः सं नमन्तु**) इस प्रकार मेरे आगे संमान देनेके लिये उपस्थित हुए लोग नम्र हों ॥ ५ ॥

(**द्यौः धेनुः**) द्युलोक धेनु है (**तस्याः आदित्यो वत्सः**) उसका सूर्य बछडा है। (**सा मे आदित्येन वत्सेन**) वह मुझे सूर्यरूपी बछडेसे (**इषं ऊर्जं कामं दुहां**) अन्न और बल पर्याप्त देवें और (**प्रथमं आयुः**) उत्तम दीर्घ आयु तथा (**प्रजां पोषं रयिं**) सन्तति, पुष्टि और धन अर्पण करे। (**स्वाहा**) मैं समर्पण करता हूं ॥ ६ ॥

(**दिक्षु चन्द्राय समनमन्**) दिशाओंमें चन्द्रके सन्मुख नम्र होते हैं। (**स आर्ध्नोत्**) वह समृद्ध हुआ है। (**यथा दिक्षु चन्द्राय समनमन्**) जैसे दिशाओंमें चन्द्रके सन्मुख नम्र होते हैं (**एव मह्यं संनमः सं नमन्तु**) इसी प्रकार मेरे सन्मुख सन्मान देनेके लिये उपस्थित हुए लोग नम्र हों ॥ ७ ॥

(**दिशः धेनवः**) दिशाएं गौएं हैं (**तासां चन्द्रो वत्सः**) उनका बछडा चन्द्र है। (**ताः मे चन्द्रेण वत्सेन**) वे मुझे चन्द्ररूपी बछडेसे (**इषं ऊर्जं कामं दुहां**) अन्न और बल जितना चाहिये उतना देवें और (**प्रथमं आयुः**) उत्तम दीर्घ आयु तथा (**प्रजां पोषं रयिं**) सन्तान, पुष्टि और धन अर्पण करें। (**स्वाहा**) मैं समर्पण करता हूं ॥ ८ ॥

(**अग्नौ अग्निः प्रविष्टः चरति**) विशाल परमात्माग्निमें जीवात्मारूपी अग्नि प्रविष्ट होकर चलता है। वह (**ऋषीणां पुत्रः**) इंद्रियोंको पवित्र करनेवाला है और (**अभिशस्ति-पा उ**) विनाशसे बचानेवाला भी है। (**ते नमसा नमस्कारेण जुहोमि**) तुझे मैं नम्र नमस्कारोंसे आत्मार्पण करता हूं। (**देवानां भागं मिथुया मा कर्म**) देवोंके सेवनीय भागको मिथ्याचारसे कोई न बचावे ॥ ९ ॥

भावार्थ— द्युलोकमें सूर्यका संमान होता है क्योंकि वह बडा प्रकाशमान है। प्रकाशित होनेसे जैसा सूर्यका सम्मान होता है उसी प्रकार तेजस्विताके कारण मेरा संम्मान बढे ॥ ५ ॥

द्युलोकरूपी धेनुका सूर्य बछडा है उसकी शक्तिसे मुझे अन्न, बल, दीर्घ आयु, संतान, पुष्टि, और धन प्राप्त हो ॥ ६ ॥

दिशाओंमें चन्द्रमाका संमान होता है क्योंकि उसमें शान्ति बढ गई है। जिस शान्तिके कारण चन्द्रमाकी प्रशंसा सब दिशाओंमें होती है उस शान्तिके कारण मेरा भी संमान होवे ॥ ७ ॥

दिशारूपी गौओंका चन्द्रमा बछडा है, उसकी शक्तिसे मुझे अन्न, बल, दीर्घायु, संतति, पुष्टि और धन प्राप्त हो ॥ ८ ॥

हृदा पूतं मनसा जातवेदो विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् ।
सप्तास्यानि तव जातवेदस्तेभ्यो जुहोमि स जुषस्व हव्यम् ॥ १० ॥

अर्थ— हे (**जातवेदः देव**) जन्मे हुए पदार्थोंको जाननेवाले देव ! तू (**विश्वानि वयुनानि विद्वान्**) सब कर्मोंको जाननेवाला है । हे (**जातवेदः**) जाननेवाले ! (**मनसा हृदा पूतं**) हृदयसे और मनसे पवित्र किये हुए हव्यको (**तव सप्त आस्यानि**) तेरे सात मुख हैं (**तेभ्यः जुहोमि**) उनके लिये समर्पण करता हूं (**सः हव्यं जुषस्व**) उस हविका तू स्वीकार कर ॥ १० ॥

भावार्थ— परमात्मारूपी विशाल अग्निमें जीवात्मारूप छोटी अग्नि प्रविष्ट होकर चलती है। यह जीवात्माकी अग्नि इंद्रियोंकी पवित्रता करनेवाली और गिरावटसे बचानेवाली है। इंद्रियरूपी देवोंका जो कार्यभाग है, वह मिथ्या व्यवहारसे दूषित न हो इसलिये मैं उन अग्नियोंकी नमस्कार द्वारा उपासना करता हूं ॥ ९ ॥

हे सर्वज्ञ ईश्वर ! तू हमारे सब कर्मोंको जानता है । इस आत्माके सात मुखोंमें मन और हृदयसे पवित्र किये हुए पदार्थोंका हवन करता हूं, यह हमारा हवन तू स्वीकार कर और हमारा उद्धार कर ॥ १० ॥

उन्नतिका मार्ग ।

मनुष्यकी उन्नति उसमें सद्गुणोंकी वृद्धि होनेसे ही हो सकती है । यह सद्गुणोंकी वृद्धि मनुष्योंमें करनेके हेतुसे वेदने अनेक प्रकारके उपाय कहे हैं, इस सूक्तमें इसी उद्देश्यसे चार देवताओंके द्वारा सद्गुण बढानेका उपदेश किया है। देवताओंमें जिन गुणोंकी प्रधानता होती है वे गुण मनुष्यमें बढने चाहिये । इन देवताओंके गुण देखिये—

लोक	देवता	गुण	मनुष्यमें रूप
पृथिवी	अग्नि	तेज, उष्णता	शब्द
अन्तरिक्ष	वायु	बल, जीवन	प्राण
द्यु	सूर्य	प्रकाश	दृष्टि
दिशा	चन्द्र	शान्ति	मन

लोक, देवता और गुण ये हैं । देवताओंके गुण अथवा बल मनुष्यके अंदर किस रूपमें दिखाई देते हैं इसका भी पता इससे ज्ञात हो सकता है । मनुष्यका प्रभाव बढना हो तो इन गुणोंके सत्वकी वृद्धि होनेसे ही बढ सकता है, दूसरा कोई उपाय नहीं है । पृथ्वी लोकमें अग्नि प्रतिष्ठाको इसलिये प्राप्त हुआ है कि उसमें उष्णता और तेजस्विता बढी हुई है। वह अपनी दाहक शक्तिसे सबको जला सकता है, इसलिये उसका प्रभाव सब पर जमा हुआ है। यदि मनुष्यको अपना प्रभाव बढाना है तो उसको भी अपने अन्दर तेजस्विता बढाना चाहिये । तेजस्विता बढनेसे उसका सम्मान अवश्य बढेगा ।

इसी प्रकार अन्तरिक्षमें वायुका महत्त्व विशेष है क्योंकि वह सबको जीवन, बल और गति देता है । मनुष्यको उचित है कि वह अपने अन्दर बल बढावे और अपना जीवन उत्तम करे । दूसरोंमें चेतना उत्पन्न करे और सब हलचलोंका प्राण बनकर रहे । जो मनुष्य अपनी शक्ति इस प्रकार बढावेगा वह सम्मानित हो जायगा ।

द्युलोकमें सूर्यका सम्मान बहुत बडा है क्योंकि उसका प्रकाश सबसे अधिक होता है । इसके सन्मुख सब अन्य तेजस्वी पदार्थ निस्तेज होते हैं । वह ऐसा प्रकाशमान होनेसे उसका सम्मान सब करते हैं। जो मनुष्य अपना महत्त्व बढाना चाहता है उसको उचित है कि वह अपने अन्दर दिव्य प्रकाश बढावे, और सूर्यके समान ग्रहोपग्रहोंमें मुख्य बने ।

इसी प्रकार चन्द्रमाकी प्रतिष्ठा उसकी शान्तिके कारण है । जिस मनुष्यमें शांति स्थिर होती है उसकी भी सर्वत्र प्रतिष्ठा बढती है । इस प्रकार इन देवताओंसे मनुष्य उपदेश प्राप्त कर सकता है और अपनी उन्नति कर सकता है । उन्नतिका मार्ग अपने अंदर इन गुणोंकी वृद्धि करना ही है । इस सद्गुणोंकी वृद्धिसे ही अन्न, बल, दीर्घायुष्य, सन्तति, पुष्टि और धन जितना चाहिये उतना प्राप्त हो सकता है, परन्तु सबसे पहिले उन्नति चाहनेवाले मनुष्यको उचित है कि वह अपने अन्दर इन गुणोंकी वृद्धि करें; तत्पश्चात् धनादिकी प्राप्ति तो स्वयं होती रहेगी ।

इस सूक्तके आठ मन्त्रोंमें यह उपदेश दिया है । आगेके नवम और दशम मन्त्रोंमें आत्मशुद्धि करनेका उपदेश है, उसका अब विचार किया जाता है—

परमात्माकी उपासना।

आत्मशुद्धिके लिये परमात्माकी उपासना अत्यन्त सहायक है, इसलिये नवम मंत्रमें वह उपासना बतायी है—

अग्नौ अग्निश्चरति प्रविष्टः। (सू. ३९, मं. ९)

'बडे विश्वव्यापक अग्निमें एक दूसरा छोटा अग्नि प्रविष्ट होकर चलता है अर्थात् अपने व्यवहार करता है।' यह बात उपासकको अपने मनमें सबसे प्रथम धारण करनी चाहिये। परमात्माकी विशाल अग्नि संपूर्ण जगत्में जल रही है और उसके अंदर अपनी एक चिनगारी है, वह भी उसके साथ ही चमक रही है। अपने अन्दर और चारों ओर बाहर भी उस परमात्माग्निका तेज भरा पड़ा है। जिस प्रकार अग्निमें तपता हुआ सुवर्ण शुद्ध होता है उसी प्रकार परमात्मामें तपनेवाला जीवात्मा शुद्ध हो रहा है। परमात्माके पूर्ण आधारमें मैं विराजता हूं, इसलिये मैं निर्भय हूं, मुझे डरानेवाला कोई नहीं है, यह विश्वास इस मन्त्रने उपासकके मनमें स्थिर करनेका यत्न किया है। यह आत्मा कैसा है और उसके गुणधर्म क्या हैं इसका वर्णन भी यहां देखने योग्य है—

ऋषीणां पुत्रः, अभिशस्तिपा। (सू. ३९, मं. ९)

'यह आत्मा ऋषियोंका पुत्र है और विनाशसे बचानेवाला है।' अनेक ऋषियोंका मिलकर यह एक ही पुत्र है अर्थात् अनेक ऋषियोंने मिलकर इसकी खोज की, और इसका आविष्कार किया, इसलिये ऋषियोंका पुत्र है, ऐसा माना जाता है। यह इसका एक अर्थ है। इसका दूसरा भी एक अर्थ है और वह विशेष विचारणीय है। ऋषि शब्दका दूसरा अर्थ 'इंद्रिय' है। सप्त ऋषिका अर्थ 'सात इंद्रियां' है। इन इंद्रियरूपी सप्त ऋषियोंको (पु-त्र =) नरकसे बचानेवाला यही आत्मा है, क्योंकि आत्मा ही सबको उच्च भूमिकामें ले जाता है और हीन अवस्थासे गिरनेसे बचाता है। इसलिये इसकी उपासना हरएकको करनी चाहिये।

नमस्कारसे उपासना।

इस आत्माकी उपासना नमस्कारसे ही की जाती है। नम्र होकर, अपने मनको नम्र करके, नमस्कार द्वारा अपना सिर झुकाकर अर्थात् अपने आपको उसके लिये पूर्णतासे समर्पण करके ही अपने अन्तर्यामी आत्माकी उपासना करनी चाहिये—

नमसा नमस्कारेण जुहोमि। (सू. ३९, मं. ९)

'नम्र नमस्कारसे आत्मसमर्पण करता हूं।' यहां 'जुहोमि' शब्द समर्पण अर्थमें है। यज्ञमें हवनका भी यही अर्थ है। अपने पदार्थोंका दूसरोंकी भलाईके लिये समर्पण करनेका नाम हवन है। यहां नमस्कारसे हवन करना है, नमन द्वारा अपना सिर झुकाकर आत्मसमर्पण करनेका भाव यहां है। इस प्रकारके श्रेष्ठ कर्ममें मिथ्या व्यवहार होना नहीं चाहिये। क्योंकि मिथ्या व्यवहारसे ही सब प्रकारकी हानि होती है, इसलिये कहा है—

देवानां भागं मिथुया मा कर्म। (सू. ३९, मं. ९)

'देवोंके प्रीत्यर्थ करनेके कार्यभागको मिथ्याचारसे मत दूषित करना।' यह आदेश हरएक देवयज्ञके विषयमें मनमें धारण करने योग्य है। कई लोग दंभसे संध्या करने बैठते हैं, तथा अन्य प्रकारके मिथ्या व्यवहार ढोंगसे रचते हैं। परंतु ये किसको ठगानेका विचार करते हैं? परमात्माको ठगाना तो असंभव है, क्योंकि वह सब जानता ही है, वह सर्वज्ञ है। इसलिये ऐसे धर्म कर्मोंमें जो दूसरोंको ठगानेका यत्न करते हैं वे अन्तमें अपने आपको ही ठगाते हैं और अपनी ही हानि करते हैं। इसलिये किसीको भी मिथ्या व्यवहार करना उचित नहीं है। ईश्वर सर्वज्ञ है, वह हरएकके मनोगतको तत्काल ही जानता है, उससे छिपकर कोई कुछ कर नहीं सकता, इसलिये कहा है—

विश्वानि वयुनानि विद्वान्। (सू. ३९, मं. १०)

'सब कर्मोंको यथावत् जाननेवाला ईश्वर है।' मनुष्य जो भी कर्म करता है वह उसी समय परमेश्वर जानता है। मनुष्यका कर्म बुद्धिमें, मनमें या जगत्में कहीं भी होवे, ईश्वर उसी क्षणमें उसको जानता है। इसलिये ऐसी अवस्थामें मनुष्यको मिथ्या व्यवहार करना सर्वथा अनुचित है। मनुष्यको उन्नति प्राप्त करनेकी इच्छा हो तो हृदय और मनसे जितने पवित्र कर्म हो सकते हैं उतने करने चाहिये—

हृदा मनसा पूतं जुहोमि। (सू. ३९, मं. १०)

'हृदयसे और मनसे जितनी पवित्रता की जा सकती है, उतनी पवित्रतासे पवित्र पदार्थोंका ही सत्कर्ममें समर्पण करना चाहिये।' पवित्रतासे उन्नति और मलिनतासे अवनति होती है, यह उन्नति अवनतिका नियम हरएक मनुष्यको स्मरणमें अवश्य रखना चाहिये।

सप्त मुखी अग्नि।

पूर्वोक्त स्थानमें परमात्मा और जीवात्मा ये दो अग्नि हैं ऐसा कहा है। अग्नि 'सप्तास्य' अर्थात् सात मुखवाला होता है। यहां भी उसके साथ मुखोंका वर्णन किया ही है। यह आत्मा सप्तमुखी है, यह सात मुखोंसे खाता है, पञ्चज्ञानेंद्रिय और

मन तथा बुद्धि ये इसके सात मुख हैं। बुद्धिसे ज्ञान, मनसे मनन, और अन्य पञ्चज्ञानेंद्रियोंसे पञ्च विषयोंका ग्रहण यह करता है, मानो, इस आत्माग्निमें ये पांच ऋत्विज हवन कर रहे हैं, अथवा इन सात मुखोंसे यह आत्मा अपना भक्ष्य खा रहा है, अथवा अपना भोग्य भोग रहा है। इस विविध प्रकारके कथनका एक ही तात्पर्य है। इसके सातों मुखोंमें हृदयसे और मनसे पवित्र पदार्थोंको अर्पण करना चाहिये—

तव सप्त आस्यानि तत्र हृदा मनसा पूतं जुहोमि।
(सू. ३९, मं. १०)

' तेरे सात मुख हैं, उनमें हृदय और मनसे पवित्र पदार्थोंको ही समर्पण करता हूं। ' यह बडा भारी महत्त्वपूर्ण उपदेश है, आत्मशुद्धिके लिये इसकी अत्यन्त आवश्यकता है। सातों मुखोंमें पवित्र हव्यका ही हवन करना चाहिये। अर्थात् बुद्धिमें पवित्र ज्ञान, मनमें पवित्र विचार, नेत्रमें पवित्र रूप, कानमें पवित्र शब्द, मुखमें पवित्र अन्न और वाणी, नाकमें पवित्र सुगंध, और चर्ममें पवित्र स्पर्शविषयका हवन होना चाहिये। इस प्रकार सब ही पदार्थ अत्यन्त पवित्र रूपमें अपने अन्दर जाने लगे तो अन्दरका संपूर्ण वायुमण्डल परिशुद्ध हो जायगा और आत्मशुद्धि होती रहेगी। इस प्रकार अपनी शुद्धि होती रही तो अपने परिशुद्ध आत्माके ऐश्वर्यका वर्णन ही क्या करना है! वह इससे शुद्ध, बुद्ध और मुक्त होकर पूर्ण यशस्वी होगा और इसको इस सूक्तमें कहे ऐश्वर्य निःसन्देह प्राप्त होंगे। इसलिये उदयकी इच्छा करनेवाले पाठक इस मार्गका अवश्य अवलम्बन करें और अपना अभ्युदय तथा निःश्रेयस प्राप्त करें।

स्वाहा।

इस सूक्तमें ' स्वाहा ' शब्द कई बार आगया है। ' स्वाहा ' का अर्थ है (**स्व+आ+हा**) अपना समर्पण अर्थात् दूसरोंकी भलाई अथवा उन्नतिके लिये अपनी शक्तिका समर्पण करना। इस त्याग भावसे उन्नति होती है। अपनी शक्तिका जनताकी भलाईके लिये समर्पण करनेका भाव यही है। सब प्रकारकी उन्नतिके लिये इस त्याग भावकी अत्यंत आवश्यकता है। पूर्वोक्त पवित्रीकरणके साथ रहनेवाला यह त्याग भाव बडा ही उन्नति साधक होता है। वैयक्तिक क्या और राष्ट्रीय क्या जो भी उन्नति होनी है वह इस त्याग भावके बढनेसे ही होगी। उन्नतिका दूसरा कोई मार्ग नहीं है। वेदमें ' **स्वा-हा** ' शब्द अनेक वार इसीलिये आया है कि वैदिक धर्मियोंके मनपर इस त्याग भावका पक्का परिणाम हो जावे और इसके द्वारा वे इह परलोकमें अपना पूर्ण कल्याण प्राप्त कर सकें।

शत्रुका नाश।

[सूक्त ४०]

(ऋषिः — शुक्रः। देवता - बहुदैवत्यं।)

ये पुरस्ताज्जुह्वति जातवेदः प्राच्यां दिशोऽभिदासन्त्यस्मान्।
अग्निमृत्वा ते पराञ्चो व्यथन्तां प्रत्यगेनान्प्रतिसरेण हन्मि ॥ १ ॥
ये दक्षिणतो जुह्वति जातवेदो दक्षिणाया दिशोऽभिदासन्त्यस्मान्।
यममृत्वा ते पराञ्चो व्यथन्तां प्रत्यगेनान्प्रतिसरेण हन्मि ॥ २ ॥

अर्थ— हे (**जातवेदः**) सर्वज्ञ! (**ये पुरस्तात् जुह्वति**) जो सन्मुख रहकर आहुति देते हैं और (**प्राच्याः दिशः अस्मान् अभिदासन्ति**) पूर्व दिशासे हमें दास बनानेका प्रयत्न करते हैं (**ते अग्निं ऋत्वा पराञ्चः व्यथन्तां**) वे अग्निको प्राप्त होकर, पराजित होते हुए कष्ट भोगें। (**एनान् प्रत्यक् प्रतिसरेण हन्मि**) इनका पीछा करके और हमला करके नाश करता हूं ॥ १ ॥

हे (**जातवेदः**) सर्वज्ञ! (**ये दक्षिणतः जुह्वति**) जो दक्षिण दिशासे आहुति देते हैं और (**दक्षिणायाः दिशः अस्मान् अभिदासन्ति**) दक्षिण दिशासे हमारा नाश करना चाहते हैं, (**ते यमं ऋत्वा पराञ्चः व्यथन्तां**) वे यमको प्राप्त होकर पराभूत होते हुए दुःखको प्राप्त हों (**एनान्०**) इनका पीछा करके और इनपर हमला करके नाश करता हूं ॥ २ ॥

*

ये प॒श्चाज्जु॒ह्वति॑ जातवेदः प्र॒तीच्या॑ दि॒शो॑ऽभि॒दास॑न्त्य॒स्मान् ।
वरु॑णमृ॒त्वा ते परा॑ञ्चो व्यथन्तां प्र॒त्यगे॑नान्प्रति॒स॒रेण॑ हन्मि ॥ ३ ॥
य उ॑त्त॒रतो॑ जु॒ह्वति॑ जातवेद उदी॑च्या दि॒शो॑ऽभि॒दास॑न्त्य॒स्मान् ।
सोम॑मृ॒त्वा ते परा॑ञ्चो व्यथन्तां प्र॒त्यगे॑नान्प्रति॒स॒रेण॑ हन्मि ॥ ४ ॥
ये॑ऽध॒स्ताज्जु॒ह्वति॑ जातवेदो ध्रु॒वाया॑ दि॒शो॑ऽभि॒दास॑न्त्य॒स्मान् ।
भूमि॑मृ॒त्वा ते परा॑ञ्चो व्यथन्तां प्र॒त्यगे॑नान्प्रति॒स॒रेण॑ हन्मि ॥ ५ ॥
ये॑ऽन्तरि॑क्षाज्जु॒ह्वति॑ जातवेदो व्य॒ध्वाया॑ दि॒शो॑ऽभि॒दास॑न्त्य॒स्मान् ।
वा॒युमृ॒त्वा ते परा॑ञ्चो व्यथन्तां प्र॒त्यगे॑नान्प्रति॒स॒रेण॑ हन्मि ॥ ६ ॥
य उ॒परि॑ष्टाज्जु॒ह्वति॑ जातवेद ऊ॒र्ध्वाया॑ दि॒शो॑ऽभि॒दास॑न्त्य॒स्मान् ।
सूर्य॑मृ॒त्वा ते परा॑ञ्चो व्यथन्तां प्र॒त्यगे॑नान्प्रति॒स॒रेण॑ हन्मि ॥ ७ ॥
ये दि॒शाम॑न्तर्दे॒शेभ्यो॑ जु॒ह्वति॑ जातवेदः सर्वा॑भ्यो दि॒ग्भ्यो॑ऽभि॒दास॑न्त्य॒स्मान् ।
ब्रह्म॒र्त्वा ते परा॑ञ्चो व्यथन्तां प्र॒त्यगे॑नान्प्रति॒स॒रेण॑ हन्मि ॥ ८ ॥

॥ इति अष्टमोऽनुवाकः । इति नवमः प्रपाठकः ॥

॥ इति चतुर्थं काण्डं समाप्तम् ॥

अर्थ— हे सर्वज्ञ ! (ये पश्चात् जुह्वति) जो पीछेकी ओरसे आहुति देते हैं और (प्रतीच्या दिशः अस्मान् अभिदासन्ति) पश्चिम दिशासे हमारा घात करना चाहते हैं (ते वरुणं ऋत्वा०) वरुणको प्राप्त करके पराभूत होकर दुःख भोगें, मैं इनपर हमला करके इनका नाश करता हूं ॥ ३ ॥

हे सर्वज्ञ ! (ये उत्तरतः जुह्वति) जो उत्तर दिशासे हवन करते हैं और (उदीच्याः दिशः०) उत्तर दिशासे हमारा नाश करना चाहते हैं वे (सोमं ऋत्वा०) सोमको प्राप्त होकर पराभूत होते हुए दुःख भोगें। मैं इनपर हमला करके इनका नाश करता हूं ॥ ४ ॥

हे सर्वज्ञ ! (ये अधस्तात् जुह्वति) जो नीचेकी ओरसे आहुति देते हैं और (ध्रुवायां दिशः०) इस ध्रुव दिशासे हमारा नाश करना चाहते हैं वे (भूमिं ऋत्वा०) भूमिको प्राप्त होकर पराभूत होते हुए कष्ट भोगें। मैं उनपर हमला करके उनका नाश करता हूं ॥ ५ ॥

हे सर्वज्ञ ! (ये अन्तरिक्षात् जुह्वति) जो अन्तरिक्षसे आहुति देते हैं और (व्यध्वायां दिशः०) विशेष मार्गवाली दिशासे हमारा नाश करना चाहते हैं वे (वायुं ऋत्वा०) वायुको प्राप्त होकर पराभूत होते हुए कष्ट भोगें। मैं उनपर हमला करके उनका नाश करता हूं ॥ ६ ॥

हे सर्वज्ञ ! (ये उपरिष्टात् जुह्वति) जो ऊपरकी ओरसे आहुति देते हैं और इस (ऊर्ध्वाया दिशः०) ऊर्ध्व दिशासे हमारा नाश करते हैं वे (सूर्यं ऋत्वा) सूर्यको प्राप्त होकर पराभूत होते हुए कष्ट भोगें। मैं उनपर हमला करके उनका नाश करता हूं ॥ ७ ॥

हे सर्वज्ञ ! (ये दिशां अन्तर्देशेभ्यः जुह्वति) जो दिशा उपदिशाओंसे आहुति देते हैं और (सर्वाभ्यः दिग्भ्यः०) सब दिशाओंसे हमारा नाश करनेका यत्न करते हैं (ते ब्रह्म ऋत्वा०) वे ब्रह्मको प्राप्त होकर पराभूत होते हुए कष्ट भोगें। मैं उनपर हमला करके उनका नाश करता हूं ॥ ८ ॥

शत्रुका नाश ।

जो लोग हमारा नाश करते हैं, हमें दास बनाते हैं अथवा अन्य प्रकारसे हमें सताते हैं, वे सब शत्रु हैं, उनका प्रतिकार करना चाहिये । जो शत्रु होते हैं वे पीछेसे, आगेसे, दायीं ओरसे और बायीं ओरसे, नीचेसे अथवा ऊपरसे हमला करते हैं और हमारा नाश करते हैं, किसी किसी समय शत्रु इस प्रकार छिप छिपकर गुप्त प्रयत्नसे हमारा नाश करना चाहते हैं कि साधारण मनुष्य उनके प्रयत्नोंका पता भी नहीं लगा सकते । ऐसे गुप्त शत्रुका नाश करना तो बडा कठिन कार्य है । इस सूक्तमें जिन शत्रुओंका वर्णन है, वे शत्रु तो बडे धर्मभावका ढोंग दिखाकर विश्वास उत्पन्न करके गुप्त रीतिसे घात करनेवाले हैं । ये शत्रु (जुह्वति) हवन करनेका यत्न करते हैं, यज्ञयाग और सत्रका ढोंग रचकर जनताका भला करनेका ही अपना प्रयत्न है, ऐसा विश्वास जनतामें उत्पन्न करके अंदर अंदरसे नाश करनेकी तयारी करते हैं । हवनमें ऐसे अविधियुक्त पदार्थ- अर्थात् मांस आदिक- प्रयुक्त करते हैं कि जिनसे देशमें रोगोंकी उत्पत्ति हो जावे और उससे मनुष्योंका क्षय हो जावे । यज्ञका और हवनका ढोंग रचकर ऐसे अनर्थकारक कर्म करनेवालोंका जो प्रयत्न होता है उससे जनताका बडा नाश होता है । विधिपूर्वक किये हुए वैदिक यज्ञयाग तो आरोग्य बढानेवाले होते हैं, परंतु ऐसे विधि हीन आहुति देनेके प्रकार जनताका घात करनेवाले होते हैं । ढोंग बढाकर नाश करनेके प्रकार इससे भी और अनेक हैं, पाठक उसका विचार यहां करें । कई शत्रु ऐसे होते हैं कि जो उपकार करनेका भाव दिखाकर अहित ही करते हैं उन सबका यहां विचार करना चाहिये । ऐसे शत्रुओंका नाश करना बडा कठिन होता है, परंतु इनका नाश तो अवश्य ही करना चाहिये। क्योंकि खुला हमला करनेवाले शत्रुसे ये छिपकर नाश करनेवाले शत्रु बडे घातक होते हैं । इनका नाश करनेके लिये कुछ उपाय इस सूक्तमें कहा है । इसका भाव समझनेके लिये निम्नलिखित कोष्टक देखिये—

दिशा	देवता	गुण	कर्म
प्राची	अग्नि	ज्ञान, तेज	अज्ञान नाश
दक्षिणा	यम	नियमन	दुष्टोंको दण्ड देना
प्रतीची	वरुण	निवारण	शत्रुका निवारण
उदीची	सोम	शान्ति	शान्तिका उपाय
ध्रुवा	पृथ्वी	आधार	सज्जनोंको आधार देना
अन्तरिक्ष	वायु	बल, जीवन	बलका उपयोग
ऊर्ध्वा	सूर्य	प्रकाश	प्रेरणा करना

दिशाओंके अनेक देवताओंके ये गुणकर्म देखनेसे मनुष्यको पता लग सकता है कि, अपने शत्रुओंको दूर करनेके लिये हमें क्या करना चाहिये । सबसे प्रथम अपने लोगोंके अज्ञानका नाश करना चाहिये और उनको ज्ञान उत्तम प्रकारसे देना चाहिये । जो इस ज्ञानसंवर्धनके कर्ममें विरोध करेंगे उनको दण्ड देना चाहिये और फिर कभी विरोध न करें ऐसा योग्य शासन प्रबंध करना चाहिये । इतना करनेपर भी जो शत्रुता करेंगे उनका सुप्रबंधद्वारा निवारण करना चाहिये । सबसे प्रथम शान्तिके उपायोंसे यह पूर्वोक्त प्रबंध करना चाहिये और शान्तिसे उक्त कार्यमें असफलता हुई तो शक्तिका भी उपयोग करके दुष्टोंको हटाना चाहिये । सज्जनोंकी रक्षा और दुर्जनोंका नाश करके जनताको अपने अभ्युदय निश्रेयसका मार्ग खुला करना चाहिये। इस प्रकार व्यवस्था करनेसे जनताके अन्दर इतनी शक्ति बढेगी कि स्वयं उनके शत्रु दूर होंगे और फिर रुकावटें उत्पन्न करनेवाले शत्रु उनको सतानेमें असमर्थ हो जांयगे । शत्रु कैसा भी प्रयत्न करे, उस दिशासे अपनी रक्षा करनेका साधन अपने पास पहिलेसे ही तैयार रहना चाहिये । अर्थात् शत्रु यदि ज्ञानसे चढाई करे तो ज्ञान द्वारा उसका प्रतिबंध करना चाहिये, शत्रु बलसे हमला करे तो बलसे उसका निवारण करना चाहिये। इसी प्रकार जिन शस्त्रोंको लेकर शत्रु हमपर हमला करेगा, उनका निवारण करनेका पूर्ण प्रबंध अपने पास रहना चाहिये । ऐसा शत्रु दूर करनेका प्रबंध होता रहा, तो ही जनतामें शान्ति प्रगति और उन्नति हो सकती है । देश शत्रुरहित होनेसे ही मनुष्योंका अभ्युदय होना और उनको निःश्रेयस प्राप्त होना संभव है । शत्रुके हमके हमले वारंवार होते रहे तो उन्नति साधना असंभव है ।

इसलिये कायावाचामनसे तथा अपने पासके अन्यान्य साधनोंसे शत्रुओंको दूर करनेका प्रयत्न होना चाहिये । और अपना आत्मिक, बौद्धिक, मानसिक, शारीरिक तथा अन्य सब प्रकारका बल इतना बढाना चाहिये कि जिससे अपने सामने शत्रु ठहर ही न सकें ।

॥ यहां अष्टम अनुवाक समाप्त ॥

चतुर्थ काण्डमें विषय।

अथर्ववेदके इस चतुर्थ काण्डमें कुल ४० सूक्त हैं। इन चालीस सूक्तोंमें विषय क्रमानुसार सूक्तोंकी व्यवस्था इस प्रकार है। सबसे प्रथम परमात्मविषयक सूक्तोंको देखिये—

परमात्मविषयक सूक्त।

सूक्त १- ' **ब्रह्मविद्या** '- इस सूक्तमें गूढ अध्यात्मविद्याका विचार हुआ है।

सूक्त २- ' **किस देवताकी उपासना करें** '- इस सूक्तमें यह प्रश्न उठाकर एक अद्वितीय परमात्माकी उपासना करनी चाहिये ऐसा कहा है।

सूक्त ११- ' **विश्वशकटका चालक** '- इसमें जगत्-रूपी रथका चालक एक ईश्वर है ऐसा कहा है।

सूक्त १४- ' **आत्मज्योतिका मार्ग** '- इस सूक्तमें परम आत्माकी ज्योति प्राप्त करनेका विषय है।

सूक्त १६- ' **सर्वसाक्षी प्रभु** '- इसमें सब जगतके अधिष्ठाता परमात्माका वर्णन है।

इस काण्डमें ये पांच सूक्त परमात्मविषयक हैं। जो पाठक इसको जानना चाहते हैं वे इन सूक्तोंका अच्छा मनन करें।

पाप मोचन।

सूक्त २३ से २९ तकके सात सूक्तोंमें पाप नाशनका विषय बडा मनोरंजक रीतिसे वर्णन किया है। इसके साथ सूक्त ३३ भी पाप नाशन विषयका प्रतिपादन कर रहा है। इन सूक्तोंका मनन करनेसे पापको दूर करने द्वारा आत्मशुद्धि करनेकी रीतिका ज्ञान हो सकता है। आत्मशुद्धि होनेसे ही परमात्माकी प्राप्तिका मार्ग मिलना संभव है।

राज्यशासन।

इस चतुर्थ काण्डमें राज्यशासन विषयक सूक्त निम्नलिखित हैं—

सूक्त ३- ' **शत्रुओंको दूर करना** '- इसमें शत्रुको हटानेका उपाय कहा है।

सूक्त ४- ' **बलसंवर्धन** '- इसमें बल बढानेका विषय है।

सूक्त ८- ' **राजाका राज्याभिषेक** '- इसमें राजाका राज्याभिषेकका वर्णन और कौन राजा हो सकता है, इसका भी वर्णन है।

सूक्त ३०- ' **राष्ट्री देवी** '- इस सूक्तमें राष्ट्ररूपी देवीका वर्णन करके राष्ट्रशक्तिका महात्म्य दर्शाया है।

सूक्त २२- ' **क्षात्रबल संवर्धन** '- इस सूक्तमें क्षात्रबलका संवर्धन करके राष्ट्र बलवान् करनेका उपदेश है।

सूक्त ४०- ' **शत्रुका नाश** '- इसमें शत्रुका नाश करनेका विषय है। इन छः सूक्तोंमें राज्यशासनका विषय आगया है।

वैद्यक विषय।

इस काण्डके निम्नलिखित सूक्तोंमें वैद्यक विषय है।

सूक्त ६-७- ' **विषको दूर करना** '- इन दो सूक्तोंमें विषचिकित्सा है।

सूक्त ९- ' **अञ्जन** '- इसमें अंजनका विषय है।

सूक्त १०- ' **शंखमणि** '- इसमें शंखसे चिकित्सा करनेका उपदेश है।

सूक्त १२ में ' **रोहिणी** ', सूक्त १७-१९ तक ' **अपामार्ग** ', सूक्त २० में ' **मातृनाम्नी** ', सूक्त ३७ में ' **रोगकृमिका नाश** ', सूक्त १३ में ' **हस्तस्पर्शसे रोगनिवारण** ' का अद्भुत मनोरंजक विषय कहा है। इन ११ सूक्तोंका विचार करनेसे इस काण्डकी वैद्यक विद्या जानी जा सकती है। सूक्त ५ में ' **गाढनिद्रा** ' का विषय है इसका भी इसी विषयसे सम्बन्ध है।

गोपालन।

सूक्त २१ में ' **गौ पालन** ' का विषय कहा है, गौके सम्बन्धका प्रेम रखनेवालोंको यह सूक्त बडा ही बोधप्रद है। सूक्त १५ में ' **वृष्टि** ' विषय है।

गृहस्थाश्रम।

गृहस्थाश्रममें रहनेवालोंको सूक्त ३८ का ' **उत्तम गृहिणी स्त्री** ' यह विषय अत्यन्त बोधप्रद है। विशेष कर स्त्रियोंको इसका बहुत मनन करना चाहिये। सूक्त ३९ में ' **समृद्धिकी प्राप्ति** ' यह विषय भी गृहस्थियोंके हितका विषय है। सूक्त ३४ में ' **अन्नका यज्ञ** ' यह विषय गृहस्थियोंका ही है।

मृत्युको पार करना।

सूक्त ३५ में ' **मृत्युको तरना**, ' सूक्त ३६ में ' **सत्यका बल** ' ये विषय हरएक मनुष्यके लिये सहायक हैं। इसी प्रकार सूक्त ३१-३२ इन दो सूक्तोंमें ' **उत्साह** ' विषय हरएक मनुष्यके लिये आवश्यक है।

इस प्रकार इन सूक्तोंके वर्ग हैं। इन सूक्तोंको इकट्ठा पढनेसे बडा बोध प्राप्त हो सकता है। आशा है कि वेद विचार करनेवाले पाठक इस रीतिसे विचार करके लाभ उठावेंगे।

॥ चतुर्थ काण्ड समाप्त ॥

अथर्ववेदका सुबोध भाष्य।

चतुर्थ काण्डकी विषयसूची

ॐ

अथर्ववेद

का

सुबोध भाष्य

पञ्चमं काण्डम् ।

लेखक

पं. श्रीपाद दामोदर सातवळेकर

अध्यक्ष- स्वाध्याय-मण्डल, साहित्य-वाचस्पति, गीतालङ्कार

स्वाध्याय - मण्डल, पारडी

*

संवत् २०१७, शाक १८८२, सन् १९६०

अथर्ववेद का स्वाध्याय।

[अथर्ववेद का सुबोध भाष्य।]

पञ्चम काण्ड।

इस पञ्चम काण्डमें भी प्रारंभका सूक्त मंगलवाचक ही है, क्योंकि इसमें जगदाधार सर्वमंगलमय परमात्मप्राप्तिके मार्गका वर्णन हुआ है। इससे अधिक मंगलमय उपदेश और क्या हो सकता है? इस मंगल सूक्तका मनन पाठक यहां करेंगे, तो उनके विचार मंगल बनेंगे और उनके लिये सभी विश्व मंगलमय बनेगा, इसमें कोई संदेह नहीं है।

इस काण्डमें ६ अनुवाक, ३१ सूक्त और ३७६ मंत्र हैं। यहां क्रमपूर्वक पांचों काण्डोंकी प्रपाठक-अनुवाक-सूक्त-मंत्र संख्या देखिये—

काण्ड	प्रपाठक	अनुवाक	कुल सूक्त	सूक्तमें मंत्रसंख्या	कुल मंत्रसंख्या
प्रथम	२	६	३५	४	१५३
द्वितीय	२	६	३६	५	२०७
तृतीय	२	६	३१	६	२३०
चतुर्थ	३	८	४०	७	३२४
पञ्चम	३	६	३१	८	३७६

इस तालिकाको देखनेसे पता लगता है कि अनुवाक और सूक्तोंकी संख्या करीब समान रहनेपर भी काण्डोंमें मंत्रोंकी संख्या क्रमसे बढ रही है। इस कारण प्रत्येक सूक्तकी मंत्रसंख्या क्रमपूर्वक बढ रही है। अर्थात् जहां प्रथम काण्डमें चार मंत्रवाले सूक्त हैं वहां इस पञ्चम काण्डमें आठ या नौ मंत्रवाले सूक्त हैं। इस कारण काण्डकी मंत्रसंख्या बढती है। यद्यपि इस पंचम काण्डकी प्रकृति ८ मंत्रवाले सूक्तोंकी कही जाती है, तथापि इसमें निम्न लिखित प्रकार सूक्तोंकी मंत्रसंख्या है—

इस पंचम काण्डमें	८	मंत्रवाले	२	सूक्त हैं,	जिनकी मंत्रसंख्या	१६	है।
इस पंचम काण्डमें	९	मंत्रवाले	४	सूक्त हैं,	जिनकी मंत्रसंख्या	३६	है।
इस पंचम काण्डमें	१०	मंत्रवाले	२	सूक्त हैं,	जिनकी मंत्रसंख्या	२०	है।
इस पंचम काण्डमें	११	मंत्रवाले	६	सूक्त हैं,	जिनकी मंत्रसंख्या	६६	है।
इस पंचम काण्डमें	१२	मंत्रवाले	५	सूक्त हैं,	जिनकी मंत्रसंख्या	६०	है।
इस पंचम काण्डमें	१३	मंत्रवाले	३	सूक्त हैं,	जिनकी मंत्रसंख्या	३९	है।
इस पंचम काण्डमें	१४	मंत्रवाले	३	सूक्त हैं,	जिनकी मंत्रसंख्या	४२	है।
इस पंचम काण्डमें	१५	मंत्रवाले	३	सूक्त हैं,	जिनकी मंत्रसंख्या	४५	है।
इस पंचम काण्डमें	१७	मंत्रवाले	२	सूक्त हैं,	जिनकी मंत्रसंख्या	३४	है।
इस पंचम काण्डमें	१८	मंत्रवाला	१	सूक्त है,	जिसकी मंत्रसंख्या	१८	है।
		कुल सूक्त	३१		कुल मंत्र	३७६	

अर्थात् इस पंचम काण्डमें आठ मंत्रोंके प्रकृतिवाले सूक्त केवल दो हैं और अन्य सूक्तोंमें अधिक मंत्र होनेके कारण ऐसे विकृति सूक्त २९ हैं। अब इन सूक्तोंके ऋषि, देवता और छंद देखिये—

सूक्तोंके ऋषि-देवता-छन्द।

सूक्त	मंत्रसंख्या	ऋषि	देवता	छंद
१ प्रथमोऽनुवाकः। (दशमः प्रपाठकः)				
१	९	बृहद्दिवोऽथर्वा	वरुणः	त्रिष्टुप्; ५ पराबृहती त्रिष्टुप्; ७ विराट्; ९ त्र्यव०षट्प० अत्यष्टिः।
२	९	बृहद्दिवोऽथर्वा	वरुणः	त्रिष्टुप्; ९ भुरिक्पराऽतिजगती।
३	११	बृहद्दिवोऽथर्वा	१, २ अग्निः; ३,४ देवाः; ५ द्रविणोदाः; ६, ९, १० विश्वेदेवाः; ७ सोमः; ८, ११ इन्द्रः।	त्रिष्टुप्; २ भुरिक्; १० विराड्जगती।
४	१०	भृग्वंगिराः	कुष्ठः	अनुष्टुप्; ५ भुरिक्; ६ गायत्री; १० उष्णिग्गर्भा निचृत्।
५	९	अथर्वा	लाक्षा	अनुष्टुप्
२ द्वितीयोऽनुवाकः।				
६	१४	अथर्वा	सोमारुद्रौ	त्रिष्टुप्; २ अनुष्टुप्; ३ जगती; ४ अनुष्टुबुष्णिक्त्रिष्टुब्गर्भा पंचपदा जगती; ५-७ त्रिपदा विराण्नाम गायत्री; ८ एकावसाना द्विपदा आर्च्यनुष्टुप्; १० प्रस्तारपंक्तिः; ११-१४ पंक्तिः; १२ स्वराट्।
७	१०	अथर्वा	बहुदैवत्यं	अनुष्टुप्; १ विराड्गर्भा प्रस्तारपंक्तिः; ४ पथ्याबृहती; ६ प्रस्तार पंक्तिः।
(एकादशः प्रपाठकः)				
८	९	अथर्वा	नानादैवत्यं	अनुष्टुप्; २ त्र्यवसानाषट्पदाजगती; ३, ४ भुरिक्पथ्यापंक्तिः; ६ प्रस्तारपंक्तिः, ७ द्व्युष्णिग्गर्भापथ्यापंक्तिः; ९ त्र्यव०षट्० द्व्युष्णिग्गर्भा जगती।
९	८	ब्रह्मा	वास्तोष्पतिः	१,५ दैवी बृहती; २, ६ दैवी त्रिष्टुप्; ३, ४ दैवी जगती; ७ विराडुष्णिग्बृहतीगर्भा पंचपदा जगती; ८ पुरस्कृति त्रिष्टुब्बृहतीगर्भा चतुष्पदा त्र्यवसाना जगती।
१०	८	ब्रह्मा	वास्तोष्पतिः	१-६ यवमध्या त्रिपदा गायत्री; ७ यवमध्या ककुप्; ८ पुरोधृति द्व्यनुष्टुब्गर्भा पराष्टिस्त्र्यवसाना चतुष्पदातिजगती।

सूक्त	मंत्रसंख्या	ऋषि	देवता	छंद
३ तृतीयोऽनुवाकः।				
११	११	अथर्वा	वरुणः	त्रिष्टुप्; १ भुरिक्; ३ पंक्तिः; ६ पञ्चपदातिशक्वरी; ११ त्र्यव० षट्पदात्यष्टिः।
१२	११	अंगिराः	जातवेदाः	त्रिष्टुप्; ३ पंक्तिः।
१३	११	गरुत्मान्	तक्षकः। विषं	जगती; २ आस्तारपंक्तिः; ३, ७-८ अनुष्टुप्; ५ त्रिष्टुप्; ६ पथ्यापंक्तिः; ९ भुरिक्; १०-११ निचृद्गायत्री।
१४	१३	शुक्रः	वनस्पतिः (कृत्याप्रतिहरणं)	अनुष्टुप्; ३, ५, १२ भुरिक्; ८ त्रिपदा विराट्; १० निचृद्बृहती; ११ त्रिपदासाम्नी त्रिष्टुप्; १३ स्वराट्।
१५	११	विश्वामित्रः	वनस्पतिः	अनुष्टुप्; पुरस्ताद्बृहती; ५, ७-९ भुरिक्।
४ चतुर्थोऽनुवाकः। (द्वादशः प्रपाठकः)				
१६	११	विश्वामित्रः	एकवृषः	[एकावसानं द्विपदं.] १, ४-५, ७-१० साम्नी उष्णिक्; २, ३, ६ आसुरी अनुष्टुप्; ११ आसुरी गायत्री।
१७	१८	मयोभूः	ब्रह्मजाया	अनुष्टुप्; १-६ त्रिष्टुप्।
१८	१५	मयोभूः	ब्रह्मगवी	अनुष्टुप्; ४, ५, ८, ९, १३ त्रिष्टुप्; ७ भुरिक्।
१९	१५	मयोभूः	ब्रह्मगवी	अनुष्टुप्; २ विराट् पुरस्ताद्बृहती; ७ उपरिष्टाद्बृहती।
२०	१२	ब्रह्मा	दुन्दुभिः	त्रिष्टुप्; १ जगती।
२१	१२	ब्रह्मा	दुन्दुभिः	अनुष्टुप्; १,४,५ पथ्यापंक्तिः, ६ जगती; ११ बृहतीगर्भा त्रिष्टुप्; १२ त्रिपदा यवमध्या गायत्री।
५ पञ्चमोऽनुवाकः।				
२२	१४	भृग्वंगिराः	यक्ष्मनाशनं	अनुष्टुप्; १,२ त्रिष्टुप् (१ भुरिक्); ५ विराट् पथ्याबृहती।
२३	१३	कण्वः	इन्द्रः	अनुष्टुप्; १३ विराट्।
२४	१७	अथर्वा	आत्मा नानादेवताः	शक्वरी; १-१० चतुष्पदातिशक्वरी; ११ शक्वरी; १५-१७ त्रिपदा (१५, १६ भुरिगतिजगती; १७ विराट् शक्वरी)
२५	१३	ब्रह्मा	योनिगर्भः	अनुष्टुप्; १३ विराट् पुरस्ताद्बृहती।
२६	१२	ब्रह्मा	वास्तोष्पतिः मंत्रोक्तदेवताः	१, ५ द्विपदार्च्युष्णिक्; २, ४, ६-८ १०,११ द्विपदा प्राजापत्या बृहती, ३ त्रिपदा विराड् गायत्री; ९ त्रिपदा पिपीलिकमध्या पुर उष्णिक्; १-११ एकावसाना; १२ परातिशक्वरी चतुष्पदा जगती।

सूक्त	मंत्रसंख्या	ऋषि	देवता	छंद
६ षष्ठोऽनुवाकः।				
२७	१२	ब्रह्मा	अग्निः	१ बृहती गर्भात्रिष्टुप्, २ द्विपदा साम्नी भुरिगनुष्टुप्; ३ द्विपदार्ची बृहती; ४ द्विपदा साम्नी भुरिग्बृहती; ५ द्विपदा साम्नी त्रिष्टुप्; ६ द्विपाद्विराण्नाम गायत्री; ७ द्विपात्साम्नी बृहती; ८ संस्तारपंक्तिः; ९ षट्पदानुष्टुब्गर्भा पराऽतिजगती; १०-१२ पुरउष्णिक्।
२८	१४	अथर्वा	त्रिवृत्	त्रिष्टुप्; ६ पञ्चपदातिशक्वरी; ७, ९, १०, ११ ककुम्मत्यनुष्टुप्; १३ पुरउष्णिक्।
२९	१५	चातनः	जातवेदाः मंत्रोक्तदेवता	त्रिष्टुप्; ३ त्रिपदा विराण्नामगायत्री; ५ पुरोतिजगती विराड्जगती; १२-१५ अनुष्टुप्। (१२ भुरिक्; १४ चतुष्पदा पराबृहती ककुम्मती)
३०	१७	उन्मोचनः (आयुष्यकामः)	आयुः	अनुष्टुप्; १ पथ्यापंक्तिः, ९ भुरिक्, १२ चतुष्पदा विराड् जगती, १३ विराट् प्रस्तारपंक्तिः; १७ त्र्यवसाना षट्पदा जगती।
३१	१२	शुक्रः	कृत्यादूषणम्	अनुष्टुप्; ११ बृहतीगर्भा; १२ पथ्याबृहती।

इस प्रकार इस पञ्चम काण्डके सूक्तोंके ऋषि, देवता, छंद हैं; अब इनका ऋषिक्रमानुसार विभाग देखिये—

ऋषिक्रमानुसार सूक्तविभाग।

१ अथर्वा ऋषिके ५-८, ११, २४, २८ ये सात सूक्त हैं।
२ ब्रह्मा ऋषिके ९, १०, २०, २१, २५-२७ ये सात सूक्त हैं।
३ बृहद्दिवोऽथर्वा ऋषिके १-३ ये तीन सूक्त हैं।
४ मयोभूः ऋषिके १७-१९ ये तीन सूक्त हैं।
५ भृग्वंगिराः ऋषिके ४, २२ ये दो सूक्त हैं।
६ शुक्रः ऋषिके १४, ३१ ये दो सूक्त हैं।
७ विश्वामित्रः ऋषिके १५, १६ ये दो सूक्त हैं।
८ अंगिराः ऋषिका १२ वाँ एक सूक्त है।
९ गरुत्मान् ऋषिका १३ वाँ एक सूक्त है।
१० कण्वः ऋषिका २३ वाँ एक सूक्त है।
११ चातनः ऋषिका २९ वाँ एक सूक्त है।
१२ उन्मोचन ऋषिका ३० वाँ एक सूक्त है।

इस प्रकार बारह ऋषि नामोंके साथ इस काण्डका संबंध है। पहिले काण्डसे लेकर इस काण्डतक कितने ऋषियोंके नामोंका संबंध प्रत्येक काण्डसे आ गया है, यह देखिये—

प्रथम काण्ड के साथ ८ ऋषियोंके नामोंका संबंध है।
द्वितीय काण्ड के साथ १७ ऋषियोंके नामोंका संबंध है।
तृतीय काण्ड के साथ ८ ऋषियोंके नामोंका संबंध है।
चतुर्थ काण्ड के साथ १७ ऋषियोंके नामोंका संबंध है।
पञ्चम काण्ड के साथ १२ ऋषियोंके नामोंका संबंध है।

अब देवतावार मंत्रोंका विभाग देखिये—

देवताक्रमानुसार सूक्तविभाग।

१ वरुण देवताके १, २, ११ ये तीन सूक्त हैं।
२ वास्तोष्पति देवताके ९, १०, २९ ये तीन सूक्त हैं।
३ अग्नि देवताके ३, २७ ये दो सूक्त हैं।
४ वनस्पति देवताके १४, १५ ये दो सूक्त हैं।
५ जातवेदा देवताके १२, २९ ये दो सूक्त हैं।
६ ब्रह्मगवी देवताके १८, १९ ये दो सूक्त हैं।
७ दुंदुभि देवताके २०, २१ ये दो सूक्त हैं।
८ नानादेवताः देवताके ८, २४ ये दो सूक्त हैं।
९ मन्त्रोक्ताः देवताके २६, २९ ये दो सूक्त हैं।
१० बहुदेवताः देवताका ७ यह एक सूक्त है।
११ कुष्ठः देवताका ४ यह एक सूक्त है।
१२ लाक्षा देवताका ५ यह एक सूक्त है।
१३ सोमारुद्रौ देवताका ६ यह एक सूक्त है।
१४ तक्षकः देवताका १३ यह एक सूक्त है।
१५ विषं देवताका १२ यह एक सूक्त है।
१६ एक वृषः देवताका १६ यह एक सूक्त है।
१७ ब्रह्मजाया देवताका १७ यह एक सूक्त है।
१८ तक्मनाशनं देवताका २२ यह एक सूक्त है।
१९ इन्द्रः देवताका २३ यह एक सूक्त है।
२० आत्मा देवताका २४ यह एक सूक्त है।
२१ योनिगर्भः देवताका २५ यह एक सूक्त है।
२२ त्रिवृत् देवताका २८ यह एक सूक्त है।
२३ आयुः देवताका ३० यह एक सूक्त है।
२४ कृत्यादूषणं देवताका ३१ यह एक सूक्त है।

यह देवताक्रमानुसार सूक्तव्यवस्था है। इसमें 'मन्त्रोक्त देवताः, बहुदेवत्यं, बहुदेवताः, नानादेवताः' ये सब एक ही बातके वाचक शब्द हैं। इसका तात्पर्य इतना ही है कि इन सूक्तोंके मंत्रोंमें अनेक देवतायें होती हैं। यदि इन सूक्तोंको पाठक स्वयं देखेंगे तो उनको इस बातका पता लग जायगा। अब इस पञ्चम काण्डके गणोंकी व्यवस्था देखिये—

सूक्तोंके गण।

१ तक्मनाशन गणके ४, ९, २२ ये तीन सूक्त हैं।
२ वास्तु गणके ९ और १० ये दो सूक्त हैं।
३ रौद्र गणका ६ वां एक सूक्त है।
४ चातन गणका २९ वां एक सूक्त है।
५ आयुष्य गणका ३० वां एक सूक्त है।
६ कृत्याप्रतिहरण गणका ३१ वां सूक्त है।

इस काण्डके सूक्तोंके ये गण हैं और इन गणोंमें इतने ही सूक्त हैं। अन्य सूक्त स्वतंत्र हैं। अन्यपरिगणन इस प्रकार है—

पुष्टिकर्माणः— १, २, ३, २६, २७ ये सूक्त पुष्टिकर्मके हैं।

औषधियोंके विषयमें निम्न सूक्त इस प्रकार परिगणित हुए हैं—

(१) कुष्ठलिंगाः— सूक्त ४ था
(२) लाक्षालिंगाः— सूक्त ५ वां
(३) मधुलावृषलिंगाः— सूक्त १५ वां

अर्थात् इन सूक्तोंमें इन औषधियोंके गुणवर्णन हुए हैं। इस पञ्चम काण्डके अध्ययनके प्रसंगमें पाठक इन विशेष बातोंका स्मरण करेंगे तो उनको विशेष लाभ हो सकता है। इतनी भूमिकाके साथ इस काण्डमें सबसे प्रथमके सूक्तमें कही 'गूढ आत्मोन्नतिकी विद्या।' देखिये।

सात मर्यादायें !

सप्त मर्यादाः कवयस्ततक्षुस्तासामिदेकामभ्यंहुरो गात् ।
आयोर्ह स्कम्भ उपमस्य नीडे पथां विसर्गे धरुणेषु तस्थौ ॥

अथर्ववेद ५।१।६

" तत्त्वदर्शी ज्ञानियोंने सात मर्यादाएं, अर्थात् पापसे बचने की व्यवस्थाएं, बनाई हैं। उनमेंसे एकका भी जो उल्लंघन करता है, वह पापी बनता है। परन्तु जो अपने जीवन का आधारस्तम्भ बनता है, अर्थात् ब्रह्मचर्यादि सुनियमों के पालन से जो संयमी हुआ है, वह, समीप स्थित परमात्मा के उस धारक स्थान में, जहां सब मार्ग समाप्त होते हैं, स्वयं स्थिर होता है।"

ॐ

अथर्ववेदका सुबोध भाष्य।

पञ्चमं काण्डम्।

आत्मोन्नतिकी विद्या।

(१) अमृतासुः।

(ऋषिः — बृहद्दिवोऽथर्वा। देवता — वरुणः।)

ऋधङ्मन्त्रो योनिं य आ बभूवामृतासुर्वर्धमानः सुजन्मा।
अदब्धासुर्भ्राजमानोऽहेव त्रितो धर्ता दाधार त्रीणि ॥ १ ॥
आ यो धर्माणि प्रथमः ससाद ततो वपूंषि कृणुषे पुरूणि।
धास्युर्योनिं प्रथम आ विवेशा यो वाचमनुदितां चिकेत ॥ २ ॥

अर्थ— (यः अमृत+असुः सुजन्मा) जो वस्तुतः अमर प्राण शक्तिसे युक्त है, तथापि उत्तम जन्म लेकर (वर्धमानः) बढता है और (ऋधक् + मन्त्रः) सत्यका मनन करता हुआ (योनिं आ बभूव) मूल उत्पत्ति स्थानको प्राप्त होता है, वह (अदब्ध+असुः) न दबनेवाली प्राणशक्तिसे युक्त होकर (अहा इव भ्राजमानः) दिनके समान प्रकाशता हुआ (त्रितः धर्ता त्रीणि दाधार) रक्षक और धारक होकर तीनोंको धारण करता है ॥ १ ॥

(यः प्रथमः धर्माणि आससाद) जो पहिला होकर धर्मोंको प्राप्त करता है, (ततः पुरूणि वपूंषि कृणुषे) पश्चात् वह बहुत शारीरिक शक्तियोंको धारण करता है, और (यः अनुदितां वाचं आ चिकेत) जो अप्रकट वाणीको जानता है; (धास्युः प्रथमः योनिं आ विवेश) धारण करनेवाला पहिला होकर मूल उत्पत्ति स्थानमें प्रविष्ट होता है ॥ २ ॥

भावार्थ— जो वास्तविक रीतिसे देखा जाय तो अमर जीवन शक्तिसे युक्त है, तथापि जन्म लेकर अपनी शक्तिकी वृद्धि करता है और सत्यका पालन करता हुआ अपने मूलस्थानको प्राप्त करता है, इससे अदम्य आत्मिक शक्तिसे युक्त होकर दिनके समान प्रकाशता हुआ रक्षण-शक्ति और धारण-शक्तिसे युक्त होकर अपनी तीनों अवस्थाओंको स्वाधीन करता है ॥ १ ॥

जो अन्य मनुष्योंसे श्रेष्ठ बनकर विशेष धर्मनियमोंका पालन करता है, इस अनुष्ठानसे वह आश्चर्यकारक शक्तियोंका प्रकाश करता है। पश्चात् वह गूढ वाणीको जानता है जिससे वह धारणशक्तिसे युक्त और प्रथम स्थानके लिये योग्य बन कर अपने मूल स्थानमें प्रविष्ट होता है ॥ २ ॥

यस्ते शोकाय तन्वं रिरेच क्षरद्धिरण्यं शुचयोऽनु स्वाः ।
अत्रा दधेते अमृतानि नामास्मे वस्त्राणि विश एरयन्ताम् ॥ ३ ॥

प्र यदेते प्रतरं पूर्व्यं गुः सदःसद आतिष्ठन्तो अजुर्यम् ।
कविः शुषस्य मातरा रिहाणे जाम्यै धुर्यं पतिमेरयेथाम् ॥ ४ ॥

तदू षु ते महत्पृथुज्मन्नमः कविः काव्येना कृणोमि ।
यत्सम्यञ्चावभियन्तावभि क्षामत्रा मही रोधचक्रे वावृधेते ॥ ५ ॥

सप्त मर्यादाः कवयस्ततक्षुस्तासामिदेकामभ्यंहुरो गात् ।
आयोर्ह स्कम्भ उपमस्य नीडे पथां विसर्गे धरुणेषु तस्थौ ॥ ६ ॥

अर्थ— (यः ते शोकाय तन्वं अनु रिरेच) जिसने तेरे प्रकाशके लिये शरीर साथ साथ जोड दिया है, इसलिये कि उससे (स्वाः शुचयः हिरण्यं क्षरत्) अपनी शुद्ध दीप्तियां सुवर्णके समान फैलें। (अत्र अमृतानि नाम दधेते) यहां अमर नामोंको वे धारण करते हैं। अतः (विशः अस्मै वस्त्राणि आ ईरयन्ताम्) प्रजाएं इसके लिये वस्त्र प्रेरित करें ॥ ३ ॥

(यत् एते) जो ये (सदः सदः आतिष्ठन्तः) प्रत्येक धर्म सभामें बैठते हुए (अजुर्यं प्रतरं पूर्व्यं प्र गुः) जरारहित प्राचीन और सबसे पूर्व आत्माको प्राप्त करते हैं। (कविः शुषस्य मातरौ) कवि होकर बलकी मान्यता करनेवाली तथा (जाम्यै धुर्यं पतिं रिहाणे) बहिनके लिये धुरीण पालकका वर्णन करनेवालीके समान (आ ईरयेथां) प्रेरणा करती हैं ॥ ४ ॥

हे (पृथु—ज्मन्) हे विशेष गति देनेवाले ईश्वर ! (तत् उ) इसीलिये (कविः) मैं कवि अपने (काव्येन) काव्यके द्वारा (ते सु महत् नमः कृणोमि) तुझे बहुत नमस्कार करता हूं। (यत् सम्यञ्चौ अभियन्तौ मही रोध-चक्रे) क्योंकि मिले हुए गतिमान् बडे प्रतिरोधक गतिवाले चक्रोंके समान (अत्र क्षां अभि वावृधेते) यहां पृथ्वीपर दोनों बढते हैं ॥ ५ ॥

(कवयः सप्त मर्यादाः ततक्षुः) ज्ञानीजनोंने सात मर्यादायें निश्चित की हैं, (तासां एकां इत् अभिगात्) उनमेंसे एकका भी उल्लंघन किया तो मनुष्य (अंहुरः) पापी होता है। जो निष्पापी (आयोः स्कम्भः ह) आयुका आधार स्तंभ होकर (उपमस्य नीडे) समीपवाले स्थानमें जहां (पथां वि-सर्गे) मार्गोंका फैलाव नहीं है, ऐसे (धरुणेषु तस्थौ) ध्रुव स्थानोंमें रहता है ॥ ६ ॥

भावार्थ— जिस प्रभुने मनुष्यके अन्तःप्रकाशको चारों ओर फैलानेके लिये उसको अनुकूल शरीर दिये हैं, जिससे वह शुद्ध सुवर्णके समान अपना प्रकाश चारों ओर फैलाता है, उसीमें सब अमृत यश बतानेवाले नाम सार्थ होते हैं और इसी लिये सब प्रजाएं उसके लिये ही अपने आच्छादक वस्त्र अर्पण करें और स्वयं पर्दा हटाकर उसके सन्मुख खडी हो जांय ॥ ३ ॥

जो मनुष्य प्रत्येक धर्मकृत्यमें आदरसे भाग लेते हैं, और उसमें अजर अमर पुराणपुरुषका आदर करते हैं। वे अतीन्द्रियार्थदर्शी और बलके प्रेमी बनकर अपनी बहिनके पतिका आदर करनेके समान आदर भावसे सबके साथ व्यवहार करते हैं ॥ ४ ॥

हे सबके संचालक ईश्वर ! उक्त हेतुसे ही मैं कविकी दृष्टिसे अपनी काव्यमय वाणीके द्वारा तेरा महान् यश गाता हुआ तेरे सन्मुख अत्यंत नम्र होता हूं। विरुद्ध गतिवाले दो चक्र यदि एक ही कार्यके लिये एक केन्द्रमें मिलकर कार्य करने लगे, तो बडी शक्ति उत्पन्न होती है। [यहां जड चेतन ये विरुद्ध गुणधर्मवाले दो पदार्थ तेरे सन्मुख झुक जाते हैं और इस नम्रतासे शक्तिशाली बनते हैं यह तात्पर्य है] ॥ ५ ॥

उतामृतासुर्व्रत एमि कृण्वन्नसुरात्मा तन्वस्तत्सुमद्गुः ।
उत वा शक्रो रत्नं दधात्यूर्जया वा यत्सचते हविर्दाः ॥ ७ ॥
उत पुत्रः पितरं क्षत्रमीडे ज्येष्ठं मर्यादमह्वयन्त्स्वस्तये ।
दर्शन्नु ता वरुण यास्ते विष्ठा आवर्व्रततः कृणवो वपूंषि ॥ ८ ॥
अर्धमर्धेन पयसा पृणक्ष्यर्धेन शुष्म वर्धसे अमुर ।
अविं वृधाम शग्मियं सखायं वरुणं पुत्रमदित्या इषिरम् ।
कविशस्तान्यस्मै वपूंष्यवोचाम रोदसी सत्यवाचा ॥ ९ ॥

अर्थ— (व्रतः कृण्वन् अमृत-असुः एमि) व्रतरूप बनकर कर्मोंको करता हुआ और अमर प्राणशक्तिसे युक्त होकर मैं चलता हूं। (तत् आत्मा असुः तन्वः सुमद्गुः) इससे आत्मा, प्राण और शरीर उत्तम गुणवान् होते हैं। (उत वा शक्रः रत्नं दधाति) और समर्थ बनकर रत्नादि धन धारण करता है। (वा यत् हविर्दाः ऊर्जया सचते) किंवा हवन करनेवाला बलसे युक्त होता है ॥ ७ ॥

(पुत्रः क्षत्रं पितरं ईडे) पुत्र अपने दुःखसे रक्षण करनेवाले पिताकी सहायता चाहता है। (उत मर्यादं ज्येष्ठं स्वस्तये अह्वयन्) और मर्यादा स्थापन करनेवाले श्रेष्ठको कल्याणके लिये पुकारते हैं। (याः ते वि-स्थाः ता नु दर्शयन्) जो तेरे विशेष स्थान हैं उनको दर्शाता हुआ, हे (वरुण) श्रेष्ठ प्रभो! (आवर्व्रततः वपूंषि कृणवः) आप ही वारंवार भ्रमण करनेवालेके शरीरोंको करते हैं ॥ ८ ॥

हे (अ-मूर) अमूढ अर्थात् ज्ञानवान! (पयसा अर्धेन अर्धं पृणक्षि) तू पोषक रससे आधेसे ही आधेकी पूर्णता करता है और (अर्धेन शुष्म वर्धसे) आधेसे बल बढाता है। (अविं शग्मियं) रक्षक और समर्थ (सखायं वरुणं) मित्र और श्रेष्ठ (अदित्याः इषिरं पुत्रं) अदीनताको बढानेवाले और नरकसे बचानेवालेको (वृधाम) बढाते हैं। (सत्य-वाचा रोदसी) सत्यवचनी द्यावापृथिवी (अस्मै कविशस्तानि वपूंषि अवोचाम) इसके कवियों द्वारा प्रशंसित शक्तियोंका वर्णन करते हैं ॥ ९ ॥

भावार्थ— ज्ञानी लोगोंने सात मर्यादायें मनुष्य व्यवहारके लिये निश्चित की हैं, उनमेंसे एकका भी उल्लंघन हुआ तो मनुष्य पापी होता है। परंतु जो निष्पाप रहना चाहता है, वह अपने जीवनको आधारस्तंभ जैसा बनकर अपने समीपस्थित केन्द्रमें, जहां कि विविध मार्ग फैले नहीं होते, ऐसे एकीभूत आधार स्थानमें अचल होकर रहता है ॥ ६ ॥

स्वयं व्रतरूप बनकर अमृतमय जीवनरससे युक्त होता हुआ मैं विचरता हूं, इससे आत्मा, प्राण और तीनों शरीरोंमें विविध शक्तियां बढती हैं और समर्थ होनेसे उत्तम रमणीयता भी प्राप्त होती है। इस प्रकार जो आत्मसमर्पण करते हैं वे बलवान् बनते हैं ॥ ७ ॥

पिता अपनी रक्षा करता है इसलिये हरएक पुत्र पितासे सहायता प्राप्त करना चाहता है। इसी प्रकार मर्यादाका आदेश देनेवाले श्रेष्ठ गुरुजनोंको भी मनुष्य पुकारते हैं। इन दोनों कारणोंके लिये सर्वश्रेष्ठ प्रभुकी प्रार्थना करते हैं क्योंकि वह अपने श्रेष्ठ स्थानोंको बताता है और वारंवार शरीर देकर रक्षा भी करता है ॥ ८ ॥

हे सर्वज्ञ प्रभो! तू पोषक रससे हमारे आधे भागको पूर्ण करता है और आधे भागका बल भी तू ही बढाता है। तू रक्षक, समर्थ, मित्र, श्रेष्ठ, अदीनताको बढानेवाला, नरकसे बचानेवाला है; इसलिये तेरा महात्म्य हम गाते हैं। सत्यवचन कहनेवाले इसीके प्रशंसनीय शक्तियोंके गुणोंका गान करते हैं ॥ ९ ॥

आत्मोन्नतिका मार्ग।

आत्माकी शक्ति जिस मार्गसे चलनेसे बढ सकती है उसको आत्मोन्नतिका मार्ग कहते हैं। इस मार्गका उपदेश इस सूक्तमें किया है, इसलिये साधक लोगोंकी दृष्टिसे इस सूक्तका महत्व बहुत है। भाषाकी दृष्टिसे देखा जाय तो यह सूक्त बडा ही क्लिष्टसा है, अर्थात् इसकी भाषासे शीघ्र बोध नहीं होता, तथापि विचार करनेपर और पूर्वापर संगति देखनेसे जो बोध मिलता है, वह यहां देते हैं—

आत्माकी उन्नति।

(१) अमृतासुः— (अ-मृत-असुः) यह जीवात्मा अमर जीवन शक्तिसे युक्त है, अर्थात् यह अमर है, कभी मरनेवाला नहीं है। ' अज ' और ' अमर ' ये दो इसके नाम ही हैं। इन नामोंसे यह ' अजन्मा और न मरनेवाला ' है, यह बात सिद्ध होती है। यद्यपि यह वस्तुतः न मरनेवाला और न जन्मनेवाला है, तथापि यह शरीरके जन्मके साथ जन्म लेता है और शरीरके मरनेसे मरता है, ऐसा माना जाता है। इसका वर्णन ' अजायमानो बहुधा विजायते। (य. ३१। १९) ' न जन्म लेनेवाला बहुत प्रकार जन्म लेता है अर्थात् यह अजन्मा आत्मा स्वयं अमर प्राणशक्तिसे युक्त है तथापि जन्ममरणकी अवस्थाका अनुभव लेता है। इस मंत्रमें भी ' अमृतासुः सुजन्मा ' अमर जीवन शक्तिसे युक्त होता हुआ भी उत्तम जन्म लेनेवाला, ऐसा इसका वर्णन किया है, इसका हेतु यहां है। (मं. १)

(२) सु-जन्मा— उत्तम जन्म लेनेवाला। जन्म लेकर उत्तम कार्य करनेवाला। जिसने अपने जन्मको सार्थक किया है। यह आत्मा वस्तुतः अमर और अजन्मा है तथापि यह शरीरके साथ जन्म लेता है, यहां आकर परम पुरुषार्थ करता है और अपने अमरत्वको प्राप्त करता है। (मं. १)

(३) वर्धमानः— बढनेवाला। पूर्वोक्त प्रकार परम पुरुषार्थ करता हुआ यह अपनी शक्ति विकसित करता है, अर्थात् नरजन्म प्राप्त करके आत्मोन्नतिके मार्गसे चलकर अपनी अमर और अजर शक्तिकी वृद्धि करता है। (मं. १)

(४) ऋथक् + मन्त्रः— सत्यका मंत्र जपनेवाला। अर्थात् सत्यका पालन करनेवाला, सत्यका मनन अथवा विचार करनेवाला, जब यह होता है, तभी इसकी उन्नति होने लगती है। (मं. १)

(५) अदब्ध + असु— न दबनेवाली प्राणशक्तिसे युक्त, यह अदम्य बलसे संपन्न है। पूर्वोक्त प्रकार सत्यका निष्ठासे पालन करनेसे उसका आत्मिक बल बढ जाता है और आत्मिक बलसे ही उसको अपनी अजर अमर और अदम्य आत्मशक्तिका अनुभव होता है। (मं. १)

(६) भ्राजमानः— प्रकाशनेवाला। इस समय यह अपने तेजसे चमकता है। सत्यनिष्ठा और आत्मिक बलके कारण मनुष्यका तेज बढ जाता है। (मं. १)

(७) योनिं आ बभूव— अपने मूल उत्पत्तिस्थानको प्राप्त होता है। परिधिके पास न जाते हुए मध्य केन्द्रमें पहुंचता है। चक्रके परिधमें गति अधिक और केन्द्रमें गति नहीं होती है। इसलिये परिधमें अशान्ति होती है और केन्द्रमें शान्ति रहती है। अतः योगिजन केन्द्रस्थानमें स्थित परमात्मामें प्राप्त होकर शान्ति कमाते हैं और अन्य जन परिधमें आकर महागतिके वेगसे चक्कर खाते रहते हैं। पूर्वोक्त प्रकारका मुमुक्षु जीव मध्य केन्द्रस्थानमें आता है और शान्तिका अनुभव करता है।

इस प्रकार यह (क्षितः) रक्षक और (धर्ता) धारक होता है अर्थात् दूसरोंका रक्षण और धारण करता है और (त्रीणि दाधार) अपनी स्थूल, सूक्ष्म और कारण अवस्थाओंका धारण करता है, अर्थात् इन अवस्थाओंको अपने वशमें करता है। इस प्रथम मंत्रका इस प्रकार मनन करनेसे निम्नलिखित बोध प्राप्त होता है—

प्रथम मंत्रसे बोध।

अदम्य आत्मशक्तिका तेज।

' मनुष्य अपनी आत्माको अमर जीवन शक्तिसे परिपूर्ण अनुभव करे, नरजन्म प्राप्त होनेके पश्चात् अपने जन्मकी सार्थकता करनेके लिये उत्तम प्रशस्त कर्म करे और अपनी शक्तियोंकी वृद्धि करे। सत्यका पालन करके अपनी आत्मिकशक्तिकी अदम्यताका अनुभव करके उत्तम प्रकारसे दिनके प्रकाशके समान प्रकाशित होता रहे। अन्तमें स्वयं परमात्माके केन्द्रमें अपना स्थान स्थिर करके जनताका रक्षक और धारक बन कर अपने तीनों अवस्थाओंको अपने आधीन करे। ' (मं. १)

इस मंत्रका तात्पर्य देखनेसे स्पष्ट पता लगता है कि ' जनताका रक्षण और धारण करनेके बिना अर्थात् जनताके उद्धारके प्रयत्नमें आत्मसमर्पण करनेके बिना अपनी अदम्य आत्मशक्तिका विकास नहीं होगा और आत्मविकासकी अन्तिम भूमिका भी प्राप्त नहीं होगी। ' अस्तु। अब द्वितीय मंत्रका आशय देखिये—

(८) यः प्रथमः धर्माणि आससाद— जो पहिला होकर धर्मनियमोंका पालन करता है। अर्थात् जो सबसे श्रेष्ठ

बन कर धर्मनियमोंका पालन योग्य रीतिसे करता है और धर्मनियमोंके पालनमें किसी प्रकारकी शिथिलता होने नहीं देता। (मं. २)

(९) ततः पुरूणि वपूंषि कृणुषे— उससे विविध शारीरिक शक्तियोंको वह धारण करता है। 'वपु' का अर्थ शरीर अथवा शरीरकी शक्ति है। मनुष्यके शरीर स्थूल, सूक्ष्म और कारण ये तीन हैं और उनकी तीन शक्तियां हैं। पूर्वोक्त प्रकार धर्मनियमोंका पालन करनेसे मनुष्यको इन शरीरोंकी शक्ति बढ जाती है, मानो, मनुष्य धर्मनियमोंके पालन द्वारा इन शरीरोंकी विविध शक्तियोंको ही बनाता या बढाता है। (मं. २)

(१०) यः अनुदितां वाचं चिकेत— जो अप्रकट वाणीको जानता है, अर्थात् जो गुह्य वाणीके द्वारा प्रकट होनेवाला संदेश जानता है। जो वाणी मनुष्य बोलते हैं वह व्यक्त अथवा प्रकट किंवा 'उदित वाणी' है। यह व्यक्त वाणी अतिस्थूल है। इसको 'वैखरी' कहते हैं। इसके पूर्व 'परा, पश्यन्ती, मध्यमा' ये तीन गुप्त, गुह्य, अव्यक्त अथवा अनुदित वाणियां हैं। प्रकट वाणीकी अपेक्षा इन गुप्त वाणियोंमें आत्माका प्रभाव अधिक व्यक्त होता है, जो प्रकट वाणीसे उतना व्यक्त नहीं होता। ज्ञानी जन इस अनुदित वाणीके संदेशोंको जानते हैं और उसको अपनाते हैं, इस विषयमें वेदमें अन्यत्र इस प्रकार कहा है—

> **चत्वारि वाक्परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः। गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति॥**
>
> ऋ. १।१६४।४५; अथर्व. ९।१० (१५) २७

'वाणीके चार पद हैं, उनको विवेकी ब्रह्मज्ञानी जानते हैं। उनमेंसे तीन हृदयमें गुप्त हैं और चतुर्थ वाणीको मनुष्य बोलते हैं।' इस मंत्रके कथनके साथ इस मंत्रका विचार करना चाहिये। इसमें जो '**अनुदितां वाचं**' [अप्रकट गुह्य वाणी] को देखनेकी बात कही है, वह वाणी (**गुहा-निहिता**) हृदयकी गुहामें गुप्त है। ब्रह्मज्ञानी ही उसको जानते हैं। अर्थात् जो इस गुप्तवाणीको जानता है, उसकी विशेष योग्यता होती है।

(११) प्रथमा धारयुः योनिं आ विवेश— पहिला धारणशक्तिसे युक्त होकर मूल उत्पत्तिस्थानमें प्रविष्ट होता है। अर्थात् जो पूर्वोक्त प्रकार अपनी उन्नति करता है वह मूल केन्द्रस्थानमें प्रविष्ट होकर अप्रतिम शान्तिका अनुभव लेता है। [इस विषयमें प्रथम मंत्रके प्रसंगमें विशेष कहा है, उसको यहां दुहरानेकी आवश्यकता नहीं है।]

इस द्वितीय मंत्रमें जो उपदेश दिया है, उसका सारांश यह है—

द्वितीय मंत्रसे बोध।

गुह्यवाणीका गुप्त संदेश।

'मनुष्य पहिला बने, धार्मिक श्रेष्ठ कर्मोंका अनुष्ठान करे, अपने स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरोंकी शक्ति विकसित करे, गुह्य वाणीके गुप्त संदेशको जाने और मूल केन्द्रस्थानमें अपना स्थान स्थिर करके वहांका आनंद प्राप्त करे।' (मं. १)

पाठक प्रथम मंत्रके बोधके साथ इस बोधको मिलाकर आत्मोन्नतिके उपदेशको प्राप्त करें। अब तृतीय मंत्रका मनन करते हैं—

शरीर धारणका उद्देश्य।

(१२) ते शोकाय तन्वं रिरेच, स्वाः शुचयः हिरण्ययं क्षरन्तु— तेरे प्रकाशके विस्तारके लिये तेरे साथ शरीरका योग किया गया है, इससे तेरे अपने निज प्रकाश किरण सुवर्णके समान तेजस्वी होकर फैलेंगे। जीवात्माके साथ जो शरीर मिले हैं उनका कारण जीवात्माके निज प्रकाशके किरण चारों ओर फैल जावें और जीवात्मा अधिक तेजस्वी बने। अर्थात् ये शरीर बंधनके लिये नहीं हैं, परंतु वृद्धिके लिये हैं। जो मनुष्य अपनी उन्नतिके लिये प्रयत्न करते हैं, उनके लिये ये शरीर सहायक होते हैं और जो लोग घृणित कर्मोंमें मग्न रहते हैं, उनके लिये वेही शरीर बंधनकारक होते हैं। अतः मनुष्योंको चाहिये कि वे अपने शरीरोंका यह उद्देश्य समझें और अपने शरीरोंसे ऐसे उत्तम अनुष्ठान करें कि जिससे उनके प्रकाश किरण उनके चारों ओर फैल कर सबको प्रकाशित करें, और स्वयं अपने आत्माको कृतकृत्य बनावें। शरीरका मुख्य उद्देश्य शारीरिक भोग विलास भोगना नहीं है, प्रत्युत आत्मिक बल बढाना है। यह बात इस मंत्रभागने सिद्ध की है। (मं. ३)

(१३) अत्र अमृतानि नाम दधेते— यहां इस देहमें बहुतसे अमृत नाम धारण किये गये हैं। अर्थात् यहां बहुत ही अमृत रखे हैं। मनुष्योंको उचित है कि वे इस शरीर-रूपी क्षेत्रमें इन अमृतोंको प्राप्त करनेका अनुष्ठान करें। इसी शरीरमें अमृत आत्मशक्तियोंका अनुभव करके बहुत लोग सन्त-महन्त बनकर मुक्ति धामको प्राप्त हुए हैं, इस प्रकार यह शरीर अमृतप्राप्तिका सहायक है। अपने शरीरको ऐसा मानकर मनुष्य इसका उत्तम उपयोग करे और अमर बने। यदि

इस शरीरमें अनेक अमृत हैं, और इस शरीरका स्वामी जीवात्मा इन अमृतोंका सच्चा स्वामी है। परंतु इसकी अवस्था अपने ही अज्ञानके कारण ऐसी हुई है कि यह अमृतोंका स्वामी होता हुआ भी मृत्युसे डर रहा है। जैसे कोई अज्ञानी पुरुष अपने ही भूमिगत धनको न जाननेके कारण अपने आपको निर्धन मानकर दुःख करता है, इसी प्रकार इस शरीररूपी कर्मक्षेत्रमें जो अनेक अमृत हैं, उनको प्राप्त करनेका अनुष्ठान न करनेके कारण यह (अमृतत्वस्य ईशानः । (ऋ. १०।९०।२) अमरपनका स्वामी होनेपर भी मरणसे डरता है !! इसलिये मनुष्यको चाहिये कि वह अपने अमरत्वका अनुभव करनेके लिये धर्माचरण करे और अपनी उन्नतिका साधन करे। (मं. ३)

(१४) विद्युः वस्त्राणि परस्मात्— प्रजाएं वस्त्रोंको गति दें। अथवा मनुष्य अपने वस्त्रोंको प्रेरित करें। मनुष्य अपने आच्छादनोंको दूर फेंक दें और अपने शुद्ध रूपमें खडे हो जावें। मनुष्य अपनेको कपडोंसे ढांप देते हैं और अपनी असलियतको छिपा देते हैं। इसलिये उन्नति चाहनेवाले मनुष्योंको उचित है कि वे अपने आपको आच्छादनके अंदर न छिपावें, परंतु सत्यनिष्ठासे अपनी वास्तविक स्थितिको बतावें और उसको प्रकाशित करें। जिससे मनुष्यकी उन्नति हो सकती है। ढोंगसे मनुष्य उन्नति नहीं कर सकता, वह दूसरेको केवल भ्रममें ही डाल सकेगा, परंतु अपने आपको भ्रममें नहीं डाल सकता। इसलिये आच्छादन रहित अपने शुद्ध स्वरूपका निरीक्षण करके अपनी उन्नतिका मार्ग आक्रमण करना चाहिये—

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।
तत्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥

(य. ४०।१५)

' सुवर्णके ढक्कनसे सत्यका मुख छिपा हुआ है, सत्य देखनेके लिये उस आच्छादनको दूर कर। ' यह उपदेश और इस मंत्रका ' अपने आच्छादनके वस्त्रोंको दूर फेंको ' ये दोनों उपदेश एक ही भाव बता रहे हैं।

तृतीय मंत्रका भाव ।

अपने-अंदरके अमृत ।

' अपने निज तेजके किरण चारों ओर फैल जाय, इसलिये जिसने उत्तम शरीर दिया है, और इसमें अनेक अमृतमय यज्ञ जिसकी कृपासे धारण किये जाते हैं, उसके सन्मुख अपने आच्छादन दूर फेंक कर शुद्ध रूपमें खडे हो जाओ ॥ ३ ॥

इस तृतीय मंत्रके उत्तम बोधका मनन करते हुए हम अब चतुर्थ मंत्रका विचार करते हैं—

(१५) सदः सदः आतिष्ठन्तः अजुर्यं पूर्व्यं प्रतरं प्रगुः— हरएक धर्मविचारकी यज्ञशालामें बैठनेवाले लोग अजर पुरातन और सर्वोत्कृष्ट आत्मको प्राप्त करते हैं। जिसको प्राप्त करना है वह (अजुर्यं) जरारहित, (पूर्व्यं) सबसे प्राचीन, पुरातन तथा पूर्ण और (प्रतरं) सबसे अत्यंत उत्कृष्ट है। इसीलिये उसको प्राप्त करना चाहिये। उसके प्राप्त होनेसे हम जरारहित, पूर्ण और उत्कृष्ट हो सकते हैं। यही अवस्था प्राप्त करनेके लिये सबके प्रयत्न होने चाहियें। यह अवस्था प्राप्त करनेके लिये सबसे प्रथम ऐसी सभाओंमें जाना कि जहां धर्मका विचार होता है और यज्ञ किया जाता है। ऐसे सज्जनोंकी संगतिमें रहनेसे शनैः शनैः मनपर शुभ संस्कार होते हैं और मनुष्य शुद्ध और पवित्र होता हुआ उन्नत होता है। ' उप+नि+षद् ' नाम ब्रह्मविद्याका है, इस शब्दमें ' उप+नि ' ये उपसर्ग हटाये जाय, तो शेष ' सद् ' शब्द रहता है, वही यहांका ' सद् ' शब्द है। ब्रह्मप्राप्तिका उपाय चिंतन करनेवाले लोग जहां शांतिसे बैठते हैं उस सभाका नाम ' सद् अथवा उपनिषद् ' है। (अजुर्यं) अजर, (पूर्व्यं) प्राचीन और (प्रतरं) उत्कृष्ट आत्माके (उप) पास (नि) निकट (सद्) बैठना, यह इस शब्दका भाव है। इससे आत्मप्राप्तिके अनुष्ठानका मार्ग ध्यानमें आ सकता है।

(१६) कविः शुषस्य मातरा, जाम्यै धुर्यं पतिं रिहाणे, परयेथां— अतीन्द्रियार्थदर्शी और बलकी मान्यता करनेवाले होकर बहिनके हितके लिये उसके धुरीण पतिकी प्रशंसा करनेके समान, सबके साथ व्यवहार करते हैं। बहिनके पतिका विशेष आदर करते हैं, बहिनके घर उसका पति आया तो सब उसका सन्मान करते हैं। क्योंकि उसका अपमान किया जाय, तो बहिनको ही कष्ट होंगे, यह विचार उनके मनमें रहता है। इतना आदरका विचार दूसरोंके साथ व्यवहार करनेके समय मनमें धारण करना चाहिये। घरमें आये दामादका जैसा आदरपूर्वक सन्मान करते हैं, उसी प्रकार आदरभावसे सबके साथ व्यवहार करना चाहिये। कईयोंको दूसरोंके अपमान करनेकी आदत होती है, इससे व्यर्थ द्वेषभाव बढ जाता है। इसलिये प्रेमका संवर्धन करनेवाला व्यवहार करना उचित है। मनुष्यको दूर दृष्टि प्राप्त करनी चाहिये और बलका भी आदर करना चाहिये, परंतु उस बलका उपयोग दूसरोंके साथ प्रेम करनेमें करना चाहिये न कि दूसरोंको दबानेके कार्य करनेमें।

चतुर्थ मंत्रका भाव ।

दूसरोंके साथ आदरका व्यवहार ।

' धर्मसभाओंमें धर्मनिष्ठासे बैठनेवाले क्रमशः सर्वोत्तम, जरारहित, पुराण पुरुषको प्राप्त होते हैं। वे दिव्य दृष्टिसे युक्त

होकर और बलका महत्त्व जानते हुए दूसरोंके साथ ऐसा आदरका बर्ताव करते हैं जैसा बहिनके धुरीण प्रतिष्ठित पतिके साथ करते हैं ॥ ४ ॥ '

इस प्रकार चतुर्थ मंत्रका मनन करनेके पश्चात् पंचम मंत्रका विचार करते हैं—

(१७) कविः काव्येन ते सु महत् नमः कृणोमि— मैं कवि अपने काव्यसे तेरे लिये बहुत नमस्कार करता हूं। पहिले कवि बनना चाहिये, कवि बननेका अर्थ यह है कि स्थूल जगत्के परे जो सूक्ष्म शक्तियां कार्य कर रहीं हैं उनको प्रत्यक्ष करना। इस प्रकार जो मनुष्य कवि किंवा क्रान्तदर्शी होता है, वह अपने अनुभव प्रकट करता है उसका नाम काव्य है। यह काव्य उस सूक्ष्म शक्तिका शब्दचित्र होनेके कारण यह परमात्माका वर्णन करता है और यह एक प्रकारकी परमात्माकी पूजा ही है। इसमें परमात्माका गुणवर्णन, परमात्माकी भक्ति और पूजा होती है और परमात्माके विषयमें श्रद्धा भी प्रकट होती है, यही (**महत् नमनं**) बडा नमन है। वह बडा मनन करता है जो कवि होकर काव्यकी दृष्टिसे इस विश्वका निरीक्षण करता है, और स्थूलके अंदरकी सूक्ष्म शक्तिको देखता है। आत्मोन्नतिके लिये इस दृष्टिकी अत्यंत आवश्यकता है। (मं ५)

(१८) अत्र सयुज्वौ अभियस्वौ मही रोधचक्रे वां अभि वावृधेते— यहां साथ रहनेवाले और गतिमान् दोनों बडे विरोधक चक्र भूमिके ऊपर सबको बढाते हैं। इस मंत्रभागमें ' मिले हुए विरोधी दो चक्रोंका वर्णन ' है। ये एक दूसरेके साथ मिले हुए विरोध चक्र कौनसे हैं, इसका विचार करना चाहिये। स्थूल सूक्ष्म, जड चेतन, दृश्य अदृश्य, प्रकृति पुरुष ये नाम इन ' विरोध-चक्रों ' के हैं। परस्पर भिन्न गुणधर्म धारण करनेवाले ये हैं, अर्थात् जडके गुणधर्म भिन्न हैं और चेतनके गुणधर्म भिन्न हैं। जड चेतन, प्रकृति पुरुष इनका परस्पर विरोध प्रसिद्ध है। ये जब परस्परके सहायक होते हैं, तब उन्नति होती है और परस्परके घातक हुए तो नाश होता है। इस मंत्रमें यह बात कही है कि ये दोनों चक्र (**सयुज्वौ**) मिलजुल कर परस्पर सहायक होकर रहें, तो (**अभि वावृधाते**) सब प्रकार वारंवार बढाते हैं, शक्तिका विकास करते हैं। इससे सिद्ध होता है कि यदि ये परस्पर विघातक होने लगे, तो शक्तिकी क्षीणता होती है। यहां अपने शरीरमें ही देखिये कि यहां स्थूल शरीर है और अन्दर सूक्ष्म शक्ति है। शरीरको संयम आदि सुनियमोंसे उत्तम अवस्थामें रखा जाय तो वह स्थूल शरीर सूक्ष्म शक्तियोंका सहायक, पोषक और संवर्धक होता है। इससे विपरीत शरीरको असंयम द्वारा व्यसनादिमें लगानेसे दोनों शक्तियोंका क्षय होता है। यहां अपने शरीरमें ही पाठक देखें कि यहां ये स्थूल सूक्ष्म दो रोधक चक्र कैसे हैं और ये परस्पर विरोधक होनेपर भी मिलजुल कर रहनेसे परस्पर सहायकारी कैसे हो सकते हैं और परस्पर घातक भी किस अनियमके कारण होते हैं। यह देखनेसे मंत्रका उपदेश पाठकोंको प्रत्यक्ष हो जायगा। इन परस्पर विरोधक चक्रोंको एक कार्यमें लगाने और परस्परका सहायक बनाकर अपनी शक्तिका विकास करनेके कार्यमें प्रयुक्त करनेका उपदेश इस मंत्रमें किया है। इस प्रकार विरोधक शक्तियोंको एक कार्यमें परस्पर सहायक बनाकर अपनी शक्ति बढाना और काव्य दृष्टिसे स्थूलमें सूक्ष्मको अनुभव करके उसके सन्मुख भक्तिसे नम्र होना, यह आत्मोन्नतिके लिये आवश्यक है।

(मं. ५)

पञ्चम मंत्रका भाव।

विरोधक शक्तियोंकी एकतासे वृद्धि।

' मैं अपनी स्थूल शारीरिक शक्ति और सूक्ष्म आत्मशक्तिको एक सत्कार्यमें लगाकर, उनके परस्पर विरोधको दूर करके उनको परस्पर सहायक बना कर, दोनोंकी शक्तियोंसे दोनोंका पोषण करता हूं, इस प्रकार अतीन्द्रियार्थ दृष्टिसे स्थूलके अंदर सूक्ष्म शक्तिको देखकर अपने काव्यसे उस चालक अन्तःशक्तिके सन्मुख भक्तियुक्त अन्तःकरणसे नम्र होता हूं ॥ ५ ॥

इस पञ्चम मंत्रके मनन करनेके पश्चात् अब षष्ठ मंत्रका विचार करते हैं—

(१९) कवयः सप्त मर्यादाः ततक्षुः, तासां एकां इत् अभि अगात्, अंहुरः— ज्ञानी लोगोंने सात मर्यादाएं निश्चित की हैं, उनमेंसे एक मर्यादाका भी जो उल्लंघन करता है, वह पापी बनता है। ' (१) चोरी न करना, (२) व्यभिचार न करना, (३) ब्रह्महत्या न करना, (४) गर्भपात न करना, (५) सुरापान न करना, (६) वारंवार दुराचार न करना, (७) पाप होनेपर असत्य बोलकर उसको न छिपाना ' ये सात मर्यादाएं कवि लोगोंने निश्चित की हैं। इनमेंसे एक एक मर्यादाका उल्लंघन करनेसे मनुष्य पापी बनता है, फिर अधिक मर्यादाओंका उल्लंघन हुआ तो उसके पापी होनेमें शंका ही क्या है? इन सात मर्यादाओंका विचार करनेसे पाठक जान सकते हैं कि सात पुण्य कर्म कौनसे और सात पाप कर्म कौनसे हैं। इन सात मर्यादाओंमें छठी और सातवीं मर्यादा बहुत महत्त्वपूर्ण है। मनुष्यके हाथसे किसी न

किसी कारण पाप हुआ, तो वह यदि आगे बचनेका यत्न करेगा, तो बहुत हानिकी संभावना नहीं है । परंतु यदि वह वारंवार दण्ड मिलने या मना करनेपर भी वही कुकर्म फिर करने लगा, तो उसकी अवनतिकी सीमा नहीं रह सकती । इसलिये उन्नति चाहनेवाले लोगोंको उचित है कि वे अज्ञानसे एक बार दोषमय आचरण हुआ भी, तो उसको वारंवार न करें और जो कुछ दुराचार अपनी असावधानीसे होगा, तो उसको असत्य बोलकर छिपानेका भी यत्न न करें । क्योंकि ऐसा करनेसे वह कलंक बडा गहरा हो जाता है और इससे अधिक पाप होता जाता है । इसलिये दोष होनेपर सत्य बोलकर उसको यथार्थ रूपमें प्रकट करना ही उचित है । मनुष्यकी उन्नतिके लिये ये सात मर्यादाएं अत्यंत सहायकारी हैं, इसलिये कोई मनुष्य किसी भी कारण इनका उल्लंघन न करें। (मं. ६)

(१०) आयोः स्कंभ— आयुका आधार स्तंभ बन अर्थात् आयुका विघात करनेवाला न बन । उक्त सात मर्यादाओंका उल्लंघन करनेसे जीवनका घात होता है और मर्यादाओंका पालन करनेसे आयुका आधार दृढ होता है । मर्यादाओंका पालन करनेका तात्पर्य संयमसे रहना है । संयमसे जीवन व्यतीत करनेसे जीवनका आधार शक्तिशाली होता है और उत्तम दीर्घ जीवन प्राप्त होता है । (मं. ६)

(११) उपमस्य नीळे, पथां विसर्गे धरुणेषु तस्थौ— जो उपमा देने योग्य है और सबके अत्यंत समीप है उस परमात्माके स्थानमें, तथा अनेक मार्गोंकी जहां समाप्ति होती है, ऐसे धारक केन्द्रोंमें रहता है । यहां तीन उपदेश हैं, (उपमस्य नीळे) उपमा देने योग्य वह परमात्मा है, (रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव । ऋ. ६।४७।४८) जगत्के प्रत्येक रूपके लिये वही आदर्श नमूना बना है, इस प्रकारके वर्णन वेदमें आते हैं, इससे सिद्ध है कि वह परम आत्मा सबके लिये आदर्श है, उसके (नीळे) घोंसलेमें अपने लिये स्थान प्राप्त करना चाहिये । सदाचार आदि करनेसे ही उसके घोंसलेमें आरामसे रहनेके लिये स्थान मिल सकता है । वह स्थान और कैसा है, उसका वर्णन ' पथां विसर्गे ' इन शब्दोंसे हुआ है । ' विसर्ग ' का अर्थ है विरामका स्थान अथवा समाप्तिका स्थान, (पथां) संपूर्ण मार्गोंका (विसर्गः) वह विरामका अथवा समाप्तिका स्थान है । किंवा ' सर्ग ' का अर्थ है ' उत्पत्ति, ' ' वि+सर्ग ' का अर्थ होता है विगत सर्ग अर्थात् ' उत्पत्ति जहां नहीं है ऐसा स्थान ' । जहां विविध मार्गोंका झंझट नहीं है, अथवा जहां विविध मार्ग एकरूप हो जाते हैं वह स्थान । ऐसे स्थानमें रहना चाहिये कि जिस स्थानमें रहनेसे विभिन्न मार्गोंके ऊपरसे आक्रमण करनेका कष्ट उठाना न पडे । सभी मार्गोंसे गये हुए लोग जहां पहुंचते हैं, उस स्थानमें पहुंचना और वहां जाकर स्थिर रहना चाहिये ।

षष्ठ मंत्रका भाव ।

सात मर्यादाएं ।

' ज्ञानी मनुष्योंने मनुष्य व्यवहारके लिये सात मर्यादाएं निश्चित की हैं । उनमेंसे एक मर्यादाका उल्लंघन करनेसे भी मनुष्य पापी होता है । परंतु जो सातों मर्यादाओंका उल्लंघन न करता हुआ धर्मानुकूल व्यवहार करके अपने जीवनका आधारस्तंभ बनता है, वह सबके लिये उपमा देने योग्य परमात्माके स्थानमें, जहां अनेक मार्ग पहुंचते हैं, वहांके आधारस्थानमें स्थिर रहता है ॥ ६ ॥

छठे मंत्रका मनन करनेके पश्चात् अब सप्तम मंत्र देखते हैं—

(१२) व्रतः कृण्वन् अमृतासुः एमि— व्रतरूप होकर विविध सत्कर्म करता हुआ अमर प्राणशक्तिसे युक्त होकर आगे बढता हूं । उन्नति चाहनेवाले मनुष्यको योग्य है कि वह (व्रतः) व्रतरूप बने । व्रतरूप बननेका तात्पर्य यह है कि व्रत पालन करना जिसका स्वभाव ही बना है । एक मनुष्य ऐसा होता है कि वह नियम करता है और उनके अनुकूल चलता है । और दूसरा ऐसा मनुष्य होता है कि जो स्वभावसे ही नियमके विरुद्ध नहीं जाता है । पहिला मनुष्य प्रयत्नसे नियम पालन करता है और दूसरा स्वभावसे ही पालन करता है। इस प्रकार नियम रूप जो बना है वह मनुष्य ' व्रतः ' शब्दसे यहां बताया है । ऐसा श्रेष्ठ मनुष्य स्वभावसे ही श्रेष्ठ सत्कर्मोंको करता है और (अ+मृत+असुः) अमर जीवन शक्तिसे संपन्न बनता है । स्वभावसे व्रत पालन करना और स्वभावसे ही सत्कर्म करना यहां अभीष्ट है । पहिले जब प्रयत्नसे यह व्रत पालन और सत्कर्म करेगा, तब जाकर बहुत समयके पश्चात् इसका यह स्वभाव बनेगा और स्वभाव बननेसे अमृत रूप बनेगा । यहां अमर बननेकी मुख्य बात कही है, यह पाठक न भूलें । इस समय मनुष्य स्वभावसे असत्य बोलता है, कुकर्म करता है और नियम तोडता है, इस कारण इसका अधःपात होता है । परंतु जिस समय वह स्वभावसे सत्य बोलेगा और असत्यकी कल्पना तक इसके मनमें न उठेगी, इसी प्रकार अन्यान्य नियम पालन स्वभावसे ही होगा, तब इसकी सब रुकावटें दूर होंगी और यह अमर बनेगा । (मं. ७)

(१३) तत् आत्मा असुः तन्वः सुमद्गुः— उक्त अनुष्ठानसे आत्मा, प्राण और शरीर ये सब उत्तम गुणवान् बनते

है। अर्थात् आत्मा, प्राण और शरीर शुभगुणोंसे और बलसे संपन्न होते हैं और वह मनुष्य विलक्षण कार्य सफल करनेमें समर्थ होता है। पूर्वोक्त अनुष्ठानसे यह काम होता है। (मं.७)

(२४) शक्रः रत्नं दधाति— समर्थ होकर धनको धारण करता है। यह भी पूर्वोक्त अनुष्ठानका ही फल है। (मं. ७)

(२५) हविर्दाः ऊर्जया सचते— अपनी हवि समर्पित करनेवाला बलसे संयुक्त होता है। तन, मन, धन यज्ञके लिये समर्पित करनेवाले मनुष्यकी शक्ति वृद्धिंगत होती है, परोपकारसे उसका बल बढता है। (मं. ७)

सप्तम मंत्रका भाव।

' उत्तम व्रतोंका अनुष्ठान करना और परम पुरुषार्थ करना यह जिसका स्वभाव है, वह अदम्य अमर जीवन शक्तिसे युक्त होकर और आत्मिक, प्राणसंबंधी और शारीरिक शक्तियोंसे बलवान् और पूर्ण समर्थ होता हुआ, आत्मशक्तियोंका परोपकारार्थ यज्ञ करके कृतकृत्य होता जाता है ॥ ७ ॥

सप्तम मंत्रका इस प्रकार मनन करनेके पश्चात् अब अष्टम मंत्रका विचार करते हैं—

(२६) पुत्रः क्षत्रं पितरं ईळे— पुत्र अपने दुःख निवारण करनेवाले पिताकी स्तुति करता है, सहायता चाहता है, अथवा उसकी कृपा चाहता है। (क्षत्+त्र) क्षत्र शब्दका अर्थ है दुःखसे बचानेवाला। पिता दुःखसे बचानेवाला है, इस कारण पुत्र पिताकी शरणमें आता है। इसी प्रकार मनुष्य इसीलिये परमात्माकी उपासना करते हैं कि वह सबके दुःखोंको दूर करता है। परमेश्वर इसी हेतुसे सबका परमपिता कहलाता है। (मं. ८)

(२७) मर्यादं ज्येष्ठं स्वस्तये अह्वयन्त— मर्यादाके पालन करनेवाले श्रेष्ठ पुरुषकी प्रार्थना अपने कल्याणके लिये ही सब करते हैं। अर्थात् अपने कल्याणकी इच्छा हरएक मनुष्यमें है इस लिये वह श्रेष्ठ पुरुषोंकी उपासना और ईश्वरकी पूजा करता है। (मं. ८) अर्थात् दुःखोंसे बचने और कल्याण प्राप्त करनेकी इच्छा हो, तो मनुष्यको परमेश्वरकी भक्ति करनी चाहिये।

(२८) विष्ठाः दर्शयन्— वह ईश्वर अपने (वि) विशेष (स्थाः) स्थान दिखाता है। जो मनुष्य उस परमात्माकी उपासना करते हैं उनको वह ईश्वर अपने विशेष आनंद प्राप्तिके स्थान देता है कि यहां वे जीवात्मा जांय और वहांका आनंद प्राप्त करें। (मं. ८)

(२९) आवर्वृततः वपूंषि कृणवः— वारंवार जन्ममरणके मार्गमें भ्रमण करनेवालोंके शरीरोंको बनाता है। अर्थात् जो मनुष्य पूर्वोक्त उपासना द्वारा मुक्तिको प्राप्त नहीं करते, मुक्ति देनेकी इच्छासे वही ईश्वर उत्तम उत्तम शरीर उनको देता है। इसका हेतु यह है कि ये जीव इन शरीरोंकी सहायतासे प्रशस्ततम कर्म करें और अपने लिये मुक्तिधाम प्राप्त करें, तथा वहांके परम आनंदके भागी बनें। (मं. ८)

अष्टम मंत्रका भाव।

परमपिताकी उपासना।

' पुत्र अपनी रक्षाके लिये पिताकी शरण आता है, इसी प्रकार मनुष्य अपने कल्याणके लिये श्रेष्ठोंकी संगति करता है। इसी प्रकार मनुष्य अपने परमपिता और परमगुरु जो परमात्मा है उसकी उपासना करते हैं। ऐसे उपासकोंको वह ईश्वर अपने विशेष आनंदके स्थान बताता है, इसलिये कि वे वहां जायें और आनंदसे पूर्ण बनें। परंतु जो मनुष्य उसकी उपासना नहीं करते, उनके लिये वारंवार जन्ममरणके अनुभव देनेके लिये शरीर देता है, ताकि वे इन शरीरोंसे आवश्यक अनुभव प्राप्त करें और अपनी शक्ति विकसित करके मुक्तिधामके योग्य बनें ॥ ८ ॥

यहां अष्टम मंत्रका भाव समाप्त हुआ है। इसको स्मरण करके अब नवम मंत्रका विचार करते हैं—

(३०) अर्धेन पयसा अर्धं पृणक्षि— आधे पौष्टिक रससे आधा भाग पूर्ण करता है। यहां शरीर, इंद्रियां आदि स्थूल शरीरकी पुष्टि विवक्षित है। आधा भाग स्थूलका है और आधा भाग सूक्ष्मका है। इनमें स्थूल भागकी अर्थात् शरीर, इंद्रियां आदिकी पुष्टि विविध पौष्टिक रसोंसे परमेश्वर ही करता है। इन पदार्थोंके निर्माण करनेके द्वारा उसने संपूर्ण प्राणिमात्रोंपर अनंत उपकार किये हैं। यह देखकर उनके उपकारोंका स्मरण करना चाहिये। (मं. ९)

(३१) अर्धेन शुष्म वर्धसे— आधेसे बल बढाता है। जैसा वह आधेसे पोषण करता है उसी प्रकार आधेसे बल बढाता है। इस प्रकार पुष्टि और बल देकर वह परमात्मा सबको पुष्ट और बलवान् करता है। (मं. ९)

(३२) वह ईश्वर (अविं = अवति)— रक्षक, (शग्मियं) सुख बढानेवाला, (सखायं) सबका मित्र, (इषिरं) अन्नादिसे युक्त और (वरयं-वरं) वरिष्ठ सबसे श्रेष्ठ है। इसके ये गुण जगत्में अनुभव करने चाहियें और इन

गुणोंका स्मरण और अनुभव करते हुए उसकी उपासना करना चाहिये। (मं. ९)

(३३) **कविशस्तानि वपूंषि अस्मै अवोचाम—** कविकी दृष्टिसे प्रशस्त विविध रूपोंको देखकर इसकी हम प्रशंसा करते हैं। इस जगत्‌में जो विविध शरीर हैं उनके विलक्षण गुणधर्म देखकर मनुष्य इस ईश्वरके महान् ऐश्वर्यका अनुमान करता है, और ईश्वरके सामर्थ्यकी कल्पना करता है।

(३४) **रोदसी सत्यवाचा—** द्यावा पृथिवीमें उसीकी सत्यवाणी भरपूर हुई है, वही गुप्त वाणी है जो सदा सत्य है। इसी गुप्त वाणीका गुप्त संदेश मनुष्यको अपनाना चाहिये। इस सूक्तके द्वितीय मंत्रमें अप्रकट वाणीका जो संदेश सुननेको कहा है, वही वाणी (**सत्या वाक्**) सत्यवाणी है और वह इस द्यावा पृथिवीके अंदर अर्थात् इस संपूर्ण विश्वके अंदर भरी है। हमारी बोलनेकी वैखरी वाणी क्षणभंगुर है, परंतु यह विश्वव्यापक सत्यवाणी अमृतरूप है, इसलिये शुद्धात्माओंको उसका अखंड संदेश हृदयके अंदरसे सुनाई देता है। जगत्‌के स्थूल शब्द सुननेके कान भिन्न हैं और यह सत्यवाणीका अखंड संदेश अन्य श्रुतियों द्वारा सुना जाता है। (मं. ९)

नवम मंत्रका भाव।

ईश गुणवर्णन।

'परमेश्वर अपने एक भागसे सबका पोषण करता है, और दूसरे भागसे सबको बल देता है। वह सबका जीवनदाता, रक्षक, मित्र और सुखदाता है, वही सबको अन्नादि देकर पोषण करता है, संपूर्ण जगत्‌के पदार्थोंको देखकर और उसमें कविकी दृष्टिसे प्रशंसायोग्य गुणधर्मोंका अनुभव करके उसके द्वारा हम सब परमात्माकी ही प्रशंसा करते हैं, हम देखते हैं कि उसकी सत्यवाणीने संपूर्ण द्यावापृथिवीको व्यापा है।' ॥ ९ ॥

यहां नवम मंत्रका मनन समाप्त होता है। पाठक इन नौ मंत्रोंमें आत्माके साक्षात्कारका मार्ग देख सकते हैं और वैदिक गूढ अध्यात्मविद्या इस सूक्तमें कैसी है इसका अनुभव मनन पूर्वक ले सकते हैं। इस सूक्तमें जो गूढ रीतिसे उन्नतिके मार्गका उपदेश किया है उसका सारांश यह है—

इस सूक्तका सार।

(१) मनुष्य अपने आपको अमर जीवन शक्तिसे परिपूर्ण अनुभव करे। अपने जन्मकी सार्थकताके लिये प्रशस्त कर्म करे। अपनी शक्तियोंकी वृद्धि करे। सत्यपालनसे अपनी आत्मिक शक्तिको अदम्य बनावे। जनताका रक्षक और आधार बनकर अपनी सब अवस्थाओंको अपने आधीन रखे। इस प्रकार स्वाधीनता प्राप्त करके अपने स्वरूपस्थितिके केन्द्रमें आनंदसे रहे।

(२) मनुष्य श्रेष्ठ बननेकी इच्छा मनमें धारण करे। उसकी सिद्धिके लिये सदा श्रेष्ठ सत्कर्म करता रहे। अपने शरीर, इंद्रियां, मन, बुद्धि, आदिकी शक्तियां विकसित करके उनको स्वाधीन रखे। गुप्त वाणीके गुप्त संदेशको सुन कर, उसके अनुसार आचरण करे और अपनी स्वरूपस्थितिको प्राप्त करके वहां आनंदसे रहे।

(३) मनुष्यको ये शरीर इसलिये प्राप्त हुए हैं कि, इसके आत्माका प्रकाश चारों ओर फैल जावे। इसमें अनेक अमृत रस भी भरे हैं। जिसकी कृपासे यह सब प्राप्त हुआ है उसके सन्मुख शुद्ध होकर और दोषोंको दूर करके ही जाना उचित है। अर्थात् अपने मलिन वस्त्र दूर करके उसके सन्मुख अपने शुद्ध रूपमें खडा होना चाहिये।

(४) सज्जनोंकी संगतिमें रह, परमात्माकी प्राप्तिका विचार उनके साथ रहकर कर। दिव्य दृष्टिसे देख और हरएक प्रकारके बलका आदर कर। हरएकके साथ अत्यंत आदरके साथ बर्ताव कर, कभी किसीका निरादर न कर।

(५) अपनी सब शक्तियोंको सत्कार्यमें प्रयुक्त कर। परस्पर विरुद्ध शक्तियोंका विरोध भाव दूर करके उनको परस्पर सहायक बना, ऐसा करनेसे परस्परकी शक्तिसे परस्परका पोषण होगा। स्थूलमें सूक्ष्म शक्तिका कार्य देखकर उस महान् सूक्ष्म शक्तिके सन्मुख नम्रतासे रह।

(६) चोरी, व्यभिचार, दुराचार, मद्यपान, गर्भपात आदि कुकर्म न कर, ज्ञानीके मार्गमें विघ्न न खडे कर, एक ही बार कुकर्म में मना करनेपर भी वारंवार न करता रह और दुराचार होनेपर भी उसको छिपानेका यत्न न कर। सदाचारकी ये मर्यादाएं हैं। उनका उल्लंघन करनेसे मनुष्य पापी होता है और इन मर्यादाओंमें रहनेसे मनुष्य पुण्यमार्गी होता हुआ उन्नतिको प्राप्त होता है। यह पुण्यमार्गी मनुष्य धर्मानुकूल व्यवहार करता हुआ संयमसे अपने जीवनका आधार बनकर ऐसे स्थानमें जाता है कि जहां संपूर्ण विविध मार्ग एकरूप बनते हैं और वहां उपमा देने योग्य परमात्माका स्थान है।

(७) उत्तम व्रतों और नियमोंका पालन कर और परम-पुरुषार्थी बन। अपनी आत्माकी अदम्य शक्तिका अनुभव कर और अपनी शक्तियोंका विस्तार करके उनका उपयोग जनताकी भलाईके प्रशस्त सत्कर्मोंमें कर।

(८) जिस प्रकार बालक निर्भयताके लिये अपने पिताकी

शरण और कल्याणके लिये सद्‌गुरुकी शरण जाता है, इसी प्रकार निर्भयता और कल्याण प्राप्त करनेके लिये परमपिता और परमगुरु परमात्माकी शरणमें जा। वह सब उपासकोंको आनंदके स्थानमें पहुंचाता है और जो उसकी भक्ति नहीं करते, उनको विविध शरीर धारण कराता है, वे वहांके विविध अनुभव लेते हुए अन्तमें उसीके पास पहुंचते हैं।

(९) परमेश्वर अपनी आधी शक्तिसे सबकी पुष्टि करता है और आधी शक्तिसे सबको बलवान् बनाता है। वही सबका जीवनदाता, रक्षक, मित्र और सहायक है। उसके गुणोंका ध्यान करके उसके गुणोंका कार्य जगत्‌में देखकर उसकी सभी शक्तिका अनुभव सब करें। उसीकी सत्यवाणी सर्वत्र व्यापक है, उस गुप्तवाणीका संदेश प्राप्त कर और उन्नत हो।

इस प्रकार इस सूक्तका सार है। यह सार बडा ही बोधप्रद है और सच्ची आत्मोन्नतिका मार्ग बता रहा है। पाठक इसका अधिक मनन करें और उचित बोध प्राप्त करें। इस सूक्तका उपदेश अपने आचरणमें लानेवाले पाठक निःसंदेह अपनी विशेष योग्यता बना सकते हैं और उच्च श्रेणीमें जाकर सन्मानित हो सकते हैं।

यह सूक्त गूढ अध्यात्मविद्याका उपदेश दे रहा है। यह विद्या अत्यंत गूढ है, संभवतः इसीलिये इस सूक्तकी भाषा भी अत्यंत गूढ और गुप्त भावसे परिपूर्ण रखी गई है। इस सूक्तके शब्द और वाक्य सरल नहीं हैं जो सहजहीमें समझे जा सकें। इस कारण इस सूक्तका मनन पाठकोंको बहुत करना चाहिये। यहां हमने विविध प्रकारसे सूक्तका भाव सरलताके साथ बतानेका प्रयत्न किया है, तथापि कई मंत्रभाग दुर्बोध और अस्पष्ट ही रहे हैं। यदि कोई पाठक अधिक मनन करके इन मंत्रोंपर अधिक प्रकाश डालेंगे तो उनके जनतापर बहुत उपकार हो सकते हैं।

भुवनोंमें ज्येष्ठ देव।

(२) भुवनेषु ज्येष्ठः।

(ऋषिः — बृहद्दिवो अथर्वा। देवता — वरुणः।)

तदिदा॑स॒ भुव॑नेषु॒ ज्येष्ठं॒ यतो॑ ज॒ज्ञ उ॒ग्रस्त्वे॒षनृ॑म्णः।
स॒द्यो ज॑ज्ञा॒नो नि रि॑णाति॒ शत्रू॒ननु॒ यदे॑नं॒ मद॑न्ति॒ विश्व॒ ऊमाः॑ ॥ १ ॥
वा॒वृ॒धा॒नः शव॑सा॒ भूर्यो॑जाः॒ शत्रु॑र्दा॒साय॑ भि॒यसं॑ दधाति।
अव्य॑नच्च॒ व्यन॑च्च॒ सस्नि॒ सं ते॑ नवन्त॒ प्रभृ॑ता॒ मदे॑षु ॥ २ ॥

अर्थ— (तत् इत् भुवनेषु ज्येष्ठं आस) वह निश्चयसे भुवनोंमें श्रेष्ठ ब्रह्म था, (यतः उग्रः त्वेष-नृम्णः जज्ञे) जहांसे उग्र तेजोबलसे युक्त सूर्य उत्पन्न हुआ। वह (सद्यः जज्ञानः शत्रून् नि रिणाति) तत्काल प्रकट होते ही शत्रुओंका नाश करता है। (यत् एनं विश्वे ऊमाः अनु मदन्ति) इस कारण इसको प्राप्त करके सब संरक्षक हर्षित होते हैं ॥ १ ॥

(शवसा वावृधानः भूरि-ओजाः शत्रुः) बलसे बढनेवाला महाबलवान् शत्रु (दासाय भियसं दधाति) दासको ही भय देता है। यहां (अव्यनत् च व्यनत् च सस्नि) प्राणरहित और प्राणयुक्त साथ साथ रह रहे हैं। और (ते प्रभृता मदेषु सं नवन्त) वे पोषित होकर आनन्दमें स्तुति करते रहते हैं ॥ २ ॥

भावार्थ— संपूर्ण भुवनोंमें वही श्रेष्ठ तत्त्व है कि, जहांसे सूर्य जैसे तेजस्वी गोल निर्मित होते हैं। उसके प्रकट होते ही अंधेरा दूर होता है, इसलिये इसको देख कर संरक्षक लोग निर्भय होनेके कारण हर्षित होते हैं ॥ १ ॥

बहुत बलवान् शत्रु दास वृत्तिवाले लोगोंके अन्तःकरणमें ही भय उत्पन्न करते हैं [वीर वृत्तिके लोग शत्रुसे कभी नहीं डरते।] इस जगत्‌में प्राणरहित और प्राणसहित ये दोनों एक दूसरेके आश्रयसे रहते हैं और वे परस्परकी सहायतासे परिपुष्ट होकर आनंदित होते हैं [अर्थात् विभक्त होनेपर वे क्षीण हो जाते हैं।] ॥ २ ॥

त्वे क्रतुमपि पृञ्चन्ति भूरि द्विर्यदेते त्रिर्भवन्त्यूमाः।
स्वादोः स्वादीयः स्वादुना सृजा समदः सु मधु मधुनाभि योधीः ॥ ३ ॥
यदि चिन्नु त्वा धना जयन्तं रणेरणे अनुमदन्ति विप्राः।
ओजीयः शुष्मिन्त्स्थिरमा तनुष्व मा त्वा दभन्दुरेवासः कशोकाः ॥ ४ ॥
त्वया वयं शाशद्महे रणेषु प्रपश्यन्तो युधेन्यानि भूरि।
चोदयामि त आयुधा वचोभिः सं ते शिशामि ब्रह्मणा वयांसि ॥ ५ ॥
नि तद्दधिषेऽवरे परे च यस्मिन्नाविथावसा दुरोणे।
आ स्थापयत मातरं जिगत्नुमत इन्वत कर्वराणि भूरि ॥ ६ ॥
स्तुष्व वर्ष्मन्पुरुवर्त्मानं समृभ्वाणमिनतममाप्तमाप्त्यानाम्।
आ दर्शति शवसा भूर्योजाः प्र सक्षति प्रतिमानं पृथिव्याः ॥ ७ ॥

अर्थ — (यत् एते ऊमाः) जब ये रक्षक (त्वे अपि क्रतुं भूरि पृञ्चन्ति) तुझमें ही अपनी बुद्धिको बहुत प्रकार जोडते हैं। तब (द्विः त्रिः भवन्ति) दुगुने तिगुने हो जाते हैं। (स्वादोः स्वादीयः स्वादुना सं सृज) स्वादुसे भी अधिक मधुर रसको मीठेके साथ संयुक्त कर। और (अदः सुमधु मधुना समभि योधीः) उस मधुर रसके प्रति मधुरताके साथ प्राप्त हो ॥ ३ ॥

हे (शुष्मिन्) बलवान्! (चित् नु) निश्चयसे (रणे रणे धना जयन्तं त्वा) प्रत्येक युद्धमें धनको जीतनेवाले तुझको प्राप्त होकर (यदि विप्राः अनुमदन्ति) यदि ज्ञानी लोग आनंदित हों, तो उनके लिये (स्थिर ओजीयः आ-तनुष्व) स्थिर बल फैला। (दुरेवासः कशोकाः त्वा मा दभन्) दुराचारी और शोक करनेवाले तुझे न दबावें ॥ ४ ॥

(भूरि युधेन्यानि प्रपश्यन्तः) बहुत युद्धमें प्राप्त धनोंको देखते हुए (वयं रणेषु त्वया शाशद्महे) हम सब युद्धोंमें तेरे साथ रहकर शत्रुका नाश करेंगे। (ते आयुधा वचोभिः चोदयामि) तेरे शस्त्रोंको वचनोंके द्वारा चलाता हूं। और (ते वयांसि ब्रह्मणा सं शिशामि) तेरी गतियोंको ज्ञानसे मैं तीक्ष्ण करता हूं ॥ ५ ॥

(अवरे परे च) छोटे और बडे दोनोंको (यस्मिन् दुरोणे) जिस घरमें (नि दधिषे) धारण करता है और वहां (तत् अवसा आविथ) उस अपनी रक्षणशक्तिसे रक्षा करता है। (जिगत्नुं मातरं आस्थापयत) प्रगतिशील माताको स्थापित करके (अतः भूरि कर्वराणि इन्वत) इससे बहुत कर्मोंको पार करो ॥ ६ ॥

हे (वर्ष्मन्) बलवान्! (पुरुवर्त्मानं ऋभ्वाणं) बहुत मार्गवाले, बहुत तेजस्वी, (इनतमं आप्त्यानां आप्तं) श्रेष्ठ और आप्तोंमें आप्त की ही (संस्तुष्व) स्तुति कर। (भूरि-ओजाः शवसा आदर्शति) महाबलवान् बलसे आदर्श होता है और (पृथिव्याः प्रतिमानं प्र सक्षति) भूमिकी समानताको प्राप्त करता है ॥ ७ ॥

भावार्थ— सब रक्षक जब परमात्मामें अपनी बुद्धिका योग करते हैं, तब दुगुना और तिगुना बल प्राप्त करते हैं। वे स्वयं मधुर रससे भी अधिक मीठे बन कर उसमें भी अधिक माधुर्य उत्पन्न करते हैं ॥ ३ ॥

प्रत्येक युद्धमें विजय प्राप्त करके धन कमानेवाले वीरोंका अनुमोदन ज्ञानी करें। और ये दोनों मिलकर स्थिर बल फैलावें। दुष्ट दुराचारी लोग सज्जनोंको कभी न दबा सकें ॥ ४ ॥

युद्धमें प्राप्त होनेवाले धनोंको देखते हुए हम सब तेरे जैसे उत्तम वीरके साथ रहकर शत्रुका नाश करेंगे। तेरे शस्त्रोंको हम अपने वक्तृत्वसे उत्तेजित करके चलाते हैं और तेरी हलचलोंको ज्ञानसे तेज करते हैं ॥ ५ ॥

छोटे हों या बडे हों, सब एक घरमें रहनेके समान रहेंगे, तब बल बढकर उनकी रक्षा होगी। सब लोग अपने मनमें अपनी विजयी मातृभूमिको स्थापित करें जिससे वे बहुत कर्मोंको कर सकेंगे ॥ ६ ॥

बहुत मार्गोंसे उन्नति करनेवाले तेजस्वी श्रेष्ठ और आप्त पुरुषोंकी स्तुति करो। वे महाबलवान् अपने बलसे आदर्शरूप बनते हैं और जिस प्रकार भूमि सबको आधार देती है उसी प्रकार सबको आधार देते हैं ॥ ७ ॥

इमा ब्रह्म बृहद्दिवः कृणवदिन्द्राय शूषमग्रियः स्वर्षाः ।
महो गोत्रस्य क्षयति स्वराजा तुरश्चिद्विश्वमर्णवत्तपस्वान् ॥ ८ ॥
एवा महान्बृहद्दिवो अथर्वावोचत्स्वां तन्वमिन्द्रमेव ।
स्वसारौ मातरिभ्वरी अरिप्रे हिन्वन्ति चैने शवसा वर्धयन्ति च ॥ ९ ॥ (१८)

अर्थ—(अग्रियः स्वः-साः बृहद्दिवः) पहिले आत्मिक प्रकाशसे युक्त बृहद्दिव अर्थात् महान् तेजस्वी ऋषिने (शूषं इमा ब्रह्म) बलयुक्त यह स्तोत्र (इन्द्राय कृणवत्) प्रभुके लिये किया । वह (महः गो+त्रस्य स्वराजा क्षयति) बडे गोरक्षक राष्ट्रका स्वाधीन राजा होकर रहता है । वह (तुरः तपस्वान् चित् विश्वं अर्णवत्) वेगवान् तपस्वी निःसन्देह विश्वमें भ्रमण करता है ॥ ८ ॥

(महान् बृहद्दिवः अथर्वा) बडे महातेजस्वी योगी ऋषिने (स्वां तन्वं इन्द्रं एव एव अवोचत्) अपने शरीरमें रहनेवाले इन्द्रको ही यह स्तोत्र कहा । (मातरि+भ्वरी स्वसारौ) मातृभूमिमें भरणपोषण करनेवाली दोनों बहिनें (च अ+रिप्रे एने) जो निर्दोष हैं उन दोनोंको (शवसा हिन्वन्ति च वर्धयन्ति) बलसे प्रेरित करते हैं और बढाते हैं ॥ ९ ॥

भावार्थ— आत्मिक प्रकाशसे युक्त तेजस्वी ज्ञानी लोग प्रभुकी बहुत स्तुति करते हैं अर्थात् उसके गुण वर्णन करते हैं । वे राष्ट्रके स्वाधीन राजा होकर वेगशील और तपस्वी होते हुए संपूर्ण विश्वमें अपने प्रभावको बढाते हैं ॥ ८ ॥

बडे तेजस्वी योगी ज्ञानी जन अपने शरीरमें रहनेवाले आत्माका स्तोत्र करते हैं । मातृभूमिमें रहनेवाली दोनों बहिनें [अर्थात् मातृभाषा और मातृसभ्यता] मातृभूमिका भरणपोषण करती हुई निर्दोष बनकर अपने बलसे सबको प्रेरित करके सबको बढाती हैं ॥ ९ ॥

सूक्तकी विशेषता ।

यह सूक्त यद्यपि मुख्यतया सर्वश्रेष्ठ परमात्माका वर्णन करता है और उसकी प्राप्तिका उपाय बताता है; तथापि श्लेषालंकारसे राज्यशासन विषयक और अन्यान्य अभ्युदय विषयक महत्त्व-पूर्ण बातोंका भी साथ साथ उपदेश दे रहा है । इस कारण यह सूक्त जिस प्रकार संसारी जनोंको लाभकारी है, उसी प्रकार परमार्थके लिये प्रयत्न करनेवालोंके लिये भी बोधकर है । इसमें प्रायः प्रत्येक मंत्रमें श्लेषार्थ होनेसे यह सूक्त भी पूर्व सूक्तकी तरह अत्यंत क्लिष्ट और दुर्बोध हुआ है । तथापि इसके मनन करनेसे जो विचार मनमें आ गये हैं, उनको यहां देते हैं—

ज्येष्ठके लक्षण ।

प्रथम मंत्रमें ज्येष्ठके तीन लक्षण कहे हैं । ये लक्षण प्रथम यहां देखिये—

(१) यतः उग्रः त्वेष-नृम्णः जज्ञे— जहांसे उग्र तेज उत्पन्न होता है । जिससे तेजस्विता बढती है । (मं. १)

(२) सद्यः जज्ञानः शत्रून् नि रिणाति— उत्पन्न होते ही शत्रुओंको दूर करता है । कार्यको प्रारंभ करते ही वैरियोंको पराजित करता है । (मं. १)

(३) विश्वे ऊमाः यं अनुमदन्ति— सब संरक्षक जिसके अनुकूल रहकर आनंदित होते हैं । जिसके साथ आनंदसे रहते हुए सब संरक्षक अपना रक्षाका कार्य उत्तम प्रकार करते हैं । (मं. १)

(४) तत् भुवनेषु ज्येष्ठं आस— वह निःसंदेह भुवनोंमें श्रेष्ठ है । जिसमें पूर्वोक्त तीन लक्षण संगत होते हैं, वह सबमें श्रेष्ठ है ऐसा कहना चाहिये । (मं. १)

सबसे प्रथम परमेश्वरको 'ज्येष्ठ और श्रेष्ठ' कहते हैं क्योंकि (१) उससे सूर्यके समान तेजोगोल उत्पन्न होते हैं और प्रकाशते हैं, (२) वह जहां प्रकट होता है वहां शत्रुता नष्ट होती है और (३) सब उसकी मान्यता करते हैं । अर्थात् ज्येष्ठत्वके तीनों लक्षण उसमें सार्थक होते हैं, इसी कारण कहते हैं कि परमेश्वर सब भुवनोंमें ज्येष्ठ और श्रेष्ठ है, दूसरा कोई उसके बराबरीका श्रेष्ठ नहीं है । इसका तात्पर्य यह है कि तेज-स्विता, शत्रुदूरीकरणकी शक्ति और रक्षक वीरोंकी अनुकूलता, जिसके पास होती है उसको ज्येष्ठ और श्रेष्ठ कहना योग्य है । राष्ट्रमें भी जो श्रेष्ठ पुरुष कहलाते हैं 'वे तेजस्वी होते हैं, उनकी योजनाओंसे दूसरे मनुष्य भी तेजस्वी कार्य करनेमें

समर्थ होते हैं, वे धार्मिक, सामाजिक, औद्योगिक, अथवा राजकीय शत्रुओंको हटा देते हैं और इनके साथ राष्ट्रके वीरोंकी अनुकूल संमति होती है। ' जिन पुरुषोंमें ये तीन लक्षण होते हैं, वे ही सबसे श्रेष्ठ और सबके धुरीण माने जाते हैं।

प्रथम लक्षणमें ' त्वेष+नृम्णः ' शब्द है। वस्तुतः यह शब्द ' त्वेष+नृ+मनः ' है अर्थात् इसका अर्थ ' तेजस्वी मनुष्यका मन, अथवा मनुष्यका तेजस्वी मन है। जिसमें ऐसा तेजस्वी मन होता है वही ज्येष्ठ और श्रेष्ठ होता है। वह मन भी ' उग्र ' अर्थात् वीरता युक्त चाहिये। शौर्य, वीर्य, धैर्य आदि गुणोंसे युक्त मन होना चाहिये। मनुष्यका मन तेजस्वी और वीर भावनासे युक्त होनेसे ही वह अपने शत्रुओंको दूर हटा सकता है और लोकमतकी अनुकूलता भी उसको मिल सकती है। व्यक्तिके अंदर भी श्रेष्ठत्वके लिये ये ही तीन गुण आवश्यक हैं। जिस आत्मासे ऐसा मनका बल प्रकट होता है वह श्रेष्ठ आत्मा है। इस प्रकार प्रथम मंत्रका व्यापक भाव है।

दासकी घबराहट।

दासके लक्षण।

द्वितीय मन्त्रमें ' दास ' के लक्षण कहे हैं। पहिले मन्त्रमें श्रेष्ठ वीर पुरुषके तीन लक्षण कहे हैं, इस द्वितीय मंत्रमें दासका एक ही लक्षण कहा है, वह लक्षण ' भीरुता ' है—

(५) शत्रुः दासाय भियसं दधाति— शत्रु दासके लिये भय धारण करता है। शत्रुको देखकर दासकी घबराहट होती है। शत्रु केवल दास वृत्तिके मनुष्यको ही डरा सकता है। वीर वृत्तिका मनुष्य शत्रुसे डरता नहीं। शत्रु कितना भी प्रबल हो वीर वृत्तिवाला मनुष्य कभी उसे डरता नहीं। डरनेका संबंध दासभावके साथ है। यहां ' शत्रुसे घबराना ' यह एक दासका लक्षण कहा है। लोग दास इसी लिये बनते हैं कि वे शत्रुसे घबरा जाते हैं। इन लक्षणोंके साथ प्रथम मंत्रोक्त वीरोंके लक्षणोंसे अनुमान होनेवाले विरोधी दासभावके तीन लक्षण माने जा सकते हैं— ' (१) तेजोहीन जीवन, (२) अपनी नादानीसे शत्रुका बल बढाना और (३) आत्मरक्षा न करनेवालोंकी अनुकूलता ' ये तीन लक्षण और मिलायेंगे तो दासके चार लक्षण होंगे। तेजहीन मन्द जीवन, अपनी नादानीसे शत्रुका बल बढाना, आत्मरक्षा न करना, और शत्रुसे डरना ये चार लक्षण दासके हैं। ये लक्षण जहां हों वहां दास निवास करते हैं ऐसा समझना चाहिये अथवा ये लक्षण जिस राष्ट्रमें होंगे उस राष्ट्रमें दास होंगे। इन लक्षणोंसे पाठकोंको पता लग सकता है कि दास कौन है और आर्य कौन है। श्रेष्ठ कौन है और कनिष्ठ कौन है। प्रथम मन्त्रने आर्य अथवा श्रेष्ठके तीन लक्षण बताये और इस द्वितीय मंत्रने दासके लक्षण बताये हैं। पाठक इनका विचार करके आत्मपरीक्षा करें और अपनेमें यदि कोई दासके लक्षण हैं दिये, तो उनको दूर करके अपनेमें ज्येष्ठ, श्रेष्ठ आर्यत्वके लक्षण बढावें।

विरोधियोंका सहकार्य।

इस जगत्में विरोधियोंके झगडोंका वृत्तान्त बहुत स्थानोंमें सुनाई देता है। विरोधियोंके झगडोंमें संमिलित होनेवाले दोनों पक्षप्रतिपक्षियोंकी शक्ति क्षीण होती है। इस प्रकारके नाशसे बचनेका उपाय इस द्वितीय मंत्रके उत्तरार्धमें कहा है, वह उपाय है विरुद्ध धर्मियोंकी सहकारिता करना। देखिये—

(६) अ-व्यनत् च व्यनत् च सस्नि, ते प्रभृता मदेषु सं नवन्त।— जड और चेतन ये विरुद्ध धर्मवाले दोनों परस्पर मिलजुलकर रहते हैं, इसलिये वे पुष्ट होकर आनन्दमें रहते हैं। (मं. २)

अपने शरीरमें ही देखिये शरीर जड है और आत्मा चेतन है। इन दोनोंके गुणधर्म परस्पर भिन्न हैं। इन दोनोंके धर्म परस्पर भिन्न होते हुए भी ये एक स्थान पर ऐसे मिले जुले रहते हैं कि इनको कोई भिन्न नहीं कर सकता। इस प्रकारकी इन विभिन्न धर्मियोंकी एकता होनेसे ये दोनों परस्परकी शक्तिसे परिपुष्ट होते हैं और दोनोंकी वृद्धि होती है। स्थूलसे सूक्ष्मकी वृद्धि और सूक्ष्मसे स्थूलकी पुष्टि होती है। जडकी सहायता चेतनके लिये और चेतनकी जडके लिये होती है। परस्पर विरुद्ध धर्मवाले ये दोनों एक दूसरेके साथ रहनेसे विलक्षण कार्य करनेमें समर्थ हुए हैं। यदि ये दोनों साथ न रहेंगे, तो यह जगत्का चमत्कार नहीं दिखाई देगा। यह चमत्कार केवल इन विरुद्ध शक्तियोंके एक स्थानपर कार्य करनेसे ही हो सकता है। पूर्वके सूक्तमें ' दो विरोधी चक्रके एक स्थानपर कार्य करनेपर उन दोनोंकी शक्ति बढ जाती है। (मं. १।५) ' ऐसा कहा है। इस कथनके साथ इस उपदेशकी तुलना पाठक करें।

जड चेतनके साथ साथ कार्य करनेका यह उपदेश यहां इस हेतुसे कहा है कि जनतामें कई लोग जडबुद्धिके होते हैं और कई तीव्र बुद्धिके होते हैं। ये दोनों आपसमें न लडें। इसके अतिरिक्त भी बली निर्बल, ज्ञानी अज्ञानी, धनी निर्धन, पूंजीपति मजदूर, इस प्रकारके विरुद्ध धर्मवाले लोग रहते हैं। प्रायः इनका झगडा होता रहता है और झगडेसे आपसकी

शक्ति नष्ट होती है। अतः इनको उचित है कि अचेतन या प्रकृति पुरुषके समान परस्पर मिलजुलकर रहें और परस्परकी सहायतासे दोनोंकी शक्ति बढावें। यह उपदेश बडा बहुमोल है और जो इसका मनन करेंगे उनको उन्नतिका मार्ग अवश्य दिखाई देगा। ज्ञानी और अज्ञानी आपसमें मिलें, अज्ञानियोंको ज्ञानी ज्ञानदान दें और अज्ञानी ज्ञानियोंकी सहायता अपने बलसे करें। इसी प्रकार स्त्रीपुरुष विषमधर्मी होनेपर भी गृहस्थधर्मसे मिलें, इससे स्त्रीकी पुरुषको और पुरुषकी स्त्रीको सहायता होगी, और दोनोंकी शक्तियोंसे दोनोंकी उन्नति होगी। इसी प्रकार परस्पर विरुद्ध धर्मियोंका मेल होनेसे दोनोंकी बडी उन्नति होती है। उन्नतिका यह महासिद्धान्त इस द्वितीय मंत्रमें कहा है, इसलिये इस द्वितीय मंत्रका महत्त्व बहुत ही अधिक है।

राजनैतिक क्षेत्रमें जहां विविध जातियोंका आपसमें संघर्ष होता है वहां यह मेलका तत्त्व काममें लाया जाय, तो बडा लाभ होना संभव है। इस तत्वपर जब जातियां आपसमें मिलेंगी, तब सबका मिलकर एक बडा राष्ट्र होगा और उसकी शक्ति विलक्षण कार्य करनेमें समर्थ होगी। ब्राह्मण ज्ञानसे, क्षत्रिय बलसे, वैश्य धनसे और शूद्र अपनी कारीगरीसे अपने राष्ट्रकी पूजा करें, ये परस्पर विभिन्न धर्मवाले लोग परस्पर मिलकर रहें और अपनी शक्ति बढावें। इस प्रकारकी एकता हमेशा लाभदायक हो सकती है। मनुष्यके व्यवहारमें विरोधके प्रसंग अनेक आते हैं, उस समय यदि इस नियमका स्मरण होगा तो जनताका बडा कल्याण हो सकता है।

शक्तिकी वृद्धि।

(७) ऊमाः स्वे क्रतुं पृञ्चन्ति, द्विः त्रिः भवन्ति— संरक्षक वीर तेरे अन्दर अपनी बुद्धिका योग करते हैं, जिससे वे दुगने और तिगने बलवान् हो जाते हैं। जो लोग अपने अन्तःकरणको ईश्वरमें लगाते हैं, चित्तकी एकाग्रता करके परमेश्वरका ध्यान करते हैं, उनका बल बढ जाता है। यहां 'क्रतु' शब्दका अर्थ 'प्रज्ञाशक्ति और कर्मशक्ति' है। अर्थात् जो मनुष्य अपनी बुद्धिको और कर्तृत्वशक्तिको ईश्वरार्पण बुद्धिसे एक ही सत्कर्ममें लगाते हैं, उनकी शक्ति बढती है। यहां बुद्धि और कर्मशक्तिको एक केन्द्रमें लगानेका महत्त्व बताया है। किसी भी व्यवहारके एक केन्द्रमें मन, बुद्धि, चित्त आदि अपनी सब शक्तियोंको एकाग्र करनेसे शक्तिकी वृद्धि होती है अथवा अपनी शक्तिसे अधिकसे अधिक कार्य होनेकी संभावना हो जाती है। अपने अन्तःकरणको अनेक कार्योंमें व्यग्र रखनेसे अपनी शक्ति क्षीण होती है, परंतु अनेक व्यवसायोंका झंझाट हटाकर किसी एक कार्यमें मनको लगाया जाय, तो एकाग्रतासे अपना बल बढनेके कारण सिद्धि सहजहीमें हो जाती है। 'ऊम' का अर्थ है स्वसंरक्षण करनेवाले लोग। जो अपनी और जनताकी रक्षाके कार्य करते हैं, उनको इस प्रकार अपने मनको एकाग्र करना अत्यंत आवश्यक है, यदि उनका मन अनंत चिन्ताओंसे व्यग्र रहेगा, तो उनसे रक्षाका कार्य भी नहीं हो सकता। अर्थात् चित्तको एकाग्र करनेसे शक्ति द्विगुणित अथवा त्रिगुणित हो सकती है और चित्तकी व्यग्रता बढानेसे शक्ति क्षीण होती है। इसी नियमसे योगमार्गकी उत्पत्ति हुई है। चित्तवृत्तियोंका निरोध करनेका नाम योग है। चित्तवृत्तियोंका निरोध करनेका ही अर्थ चित्तको अनेक स्थानोंसे हटाकर किसी एक स्थानमें स्थिर करना। अपने मनकी शक्ति बढानेके लिये ही यह योग-साधन है। उदाहरणके लिये पाठक देखें कि किसी मनुष्यके पास एक रुपयेकी शक्ति है। यदि वह एक कार्यमें एक पाईकी शक्ति देगा तो १९२ कार्योंको एक एक पाईकी शक्ति ही मिल पायेगी और कोई कार्य नहीं होगा, परंतु यदि वह एक रुपयेकी शक्ति किसी एक ही कार्यमें लगायेगा, तो उसको अधिक सिद्धि मिल सकती है। एकाग्रतासे शक्ति इस प्रकार बढती है। अपनी थोडी शक्ति अनेक कार्योंमें खर्च करनेकी अपेक्षा अपनी सब शक्ति ही एक कार्यमें खर्च करना उक्त कारणसे बहुत लाभकारी है। इस वर्णनसे पाठकोंके मनमें यह बात आ गई ही होगी कि यहां शक्ति बढानेका अर्थ शक्ति द्विगुणित होना नहीं है, अपितु उतनी ही शक्तिसे अधिकसे अधिक कार्य कर सकना है। एकाग्रतासे कार्यक्षमता बढ जाती है यही नियम यहां कहा है।

माधुर्य।

(८) स्वादोः स्वादीयः स्वादुना संसृज। सुमधु मधुना समभियोधीः— मीठेसे मीठा बनकर उसमें और मीठा रखो। उत्तम मधु मधुरतासे संयुक्त कर। यह रूपक है। प्रकृतिके स्वादुरसके साथ जीवात्माका स्वादुरस मिला है, इस मिलापसे यह मानवदेहरूपी स्वादु मीठा रस बना, इसमें और अधिक मधुर परमात्माका अमृत रस मिलाया जाय, तो सबसे उत्तम मधुरता हो जायगी। यह मीठापन संतों और महन्तोंमें दिखाई देता है। उत्तम मधु परमात्मा है उसको अपने जीवात्माके माधुर्यमें मिलाना चाहिये। यह अध्यात्मोन्नतिका अनुष्ठान इस मंत्रमें कहा है। जो अपनी उन्नति इस साधनसे करना चाहते हैं वे यह मधुर साधन करें। मनुष्यको सबसे प्रथम प्रकृति पुरुषके संबंधमें माधुर्य अनुभव करना चाहिये और उसमें

परमात्माकी मधुरता मिलानी चाहिये। यह माधुर्यका मार्ग व्यवहारमें भी बडा उपयोगी है। व्यवहारमें, बातचीतमें और विचारोंमें माधुर्य रखनेसे मित्र बढते हैं, और शत्रु कम हो जाते हैं। कई मनुष्य ऐसे कटुवचनी होते हैं कि कारणके बिना ही कटु वाक्यव्यवहारसे मित्रोंको भी शत्रु बनाते हैं और हानि उठाते हैं। यह बहुत ही अनिष्ट है इसलिये मनुष्यको उचित है कि वह अपने अंदर मीठास बढावे और अपने सब व्यवहार माधुर्ययुक्त करे जिससे इसके मित्र बढेंगे और अनेक प्रकारसे लाभ होगा। (मं. ३)

ब्राह्मण-क्षत्रियोंकी एकता।

(९) रणे रणे धना जयन्तं त्वा विप्राः अनुमदन्ति, स्थिरं ओजीयः आ ततुष्व— प्रत्येक युद्धमें धनोंको जीतनेवाले तेरे जैसे वीरोंका जब ज्ञानी अनुमोदन करते हैं, तब तू स्थिर बल फैला। इसमें मुख्य कथन यह है कि परमेश्वर हरएक युद्धमें विजय प्राप्त करता है, इसलिये ज्ञानी लोग उसकी उपासना करते हैं और परमेश्वर भी उनके लिये स्थिर बल उत्पन्न करता है। यह तो परमेश्वर विषयक भावार्थ हुआ। परंतु यहां इससे भी अधिक आशय है वह यह है- 'प्रत्येक युद्धमें विजय प्राप्त करनेवाले क्षत्रिय वीरोंका अनुमोदन ज्ञानी ब्राह्मण करेंगे, तो जिस देशमें ऐसे मिलजुलकर कार्य करनेवाले ब्राह्मण और क्षत्रिय रहते हैं, उस राष्ट्रमें हमेशा रहनेवाला स्थिर बल उत्पन्न होता है, अर्थात् वह राष्ट्र अत्यंत बलवान् होता जाता है।' यजुर्वेदमें कहा है—

> यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च सम्यञ्चौ चरतः सह।
> तं लोकं पुण्यं प्रज्ञेषं यत्र देवाः सहाग्निना॥
> यजु. २०।२५

'जिस राष्ट्रमें ब्राह्मण और क्षत्रिय मिलजुलकर साथ साथ चलते हैं, उस राष्ट्रको पुण्य देश कहते हैं।' इस कथनके साथ इस सूक्तके पूर्वोक्त कथनकी तुलना पाठक करें।

१ रणे रणे जयन्तं विप्राः अनुमदन्ति— युद्धमें विजय पानेवाले वीरका ज्ञानी अनुमोदन करते हैं।

२ यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च सम्यञ्चौ सह चरतः— जिस देशमें ब्राह्मण और क्षत्रिय मिलजुलकर रहते हैं।

ये दोनो वर्णन जहां उन्नत होते हैं, उस राष्ट्रमें स्थिर बल रहता है। इसलिये हरएक राष्ट्रके ज्ञानी और शूर मिलजुलकर रहें, और अपना बल बढावें। इसकी प्रतिकूल स्थिति जहां होगी वहां अर्थात् जिस देशमें ब्राह्मण और क्षत्रिय आपसमें झगडते रहेंगे, वह राष्ट्र अधोगतिके कीचडमें फंस जायगा, इसमें कोई शङ्का नहीं है। ब्राह्मण-क्षत्रियोंकी एकतासे बलकी वृद्धि और आपसके युद्धसे बलका नाश होता है।

(१०) दुरेवासः कशोकाः त्वा मा दभन्— दुष्ट और शोक उत्पन्न करनेवाले तुझे न दबावें। अध्यात्मपक्षमें- 'दुष्ट विचार और शोकके विचार मनुष्यके मनको न दबावें। राष्ट्रके पक्षमें दुष्ट घात करनेवाले लोग और दूसरोंको रुलानेवाले लोग राष्ट्रको न दबावें।' ब्राह्मण और क्षत्रियोंको आपसमें एकता करके अपने राष्ट्रका बल ऐसा बढाना चाहिये कि जिससे राष्ट्रमें दुष्ट लोगोंका उपद्रव बढने न पावे। सर्वत्र रक्षाका प्रबन्ध ऐसा उत्तम हो कि जिससे दुष्ट सदा दबे रहें और कभी सिर ऊपर न उठा सकें। व्यक्तिमें, कुटुम्बमें, जातिमें और राष्ट्रमें यह उपदेश बडा बोधप्रद है। ब्राह्मण क्षत्रियोंका आपसमें युद्ध हुआ, अर्थात् दोनोंमें एकमत न रहा, तो इन दुष्टोंको सिर ऊपर उठानेके लिये अवसर मिल जाता है, अतः राष्ट्रके अन्दर अभेद्य एकता रखना चाहिये, और दुष्टोंको बढनेके लिये समय ही नहीं देना चाहिये।

(११) युधेन्यानि प्र पश्यन्तः वयं रणेषु त्वया सासह्याम— युद्धोंमें विजय प्राप्त करके जो धन मिलते हैं उनको देखकर हम सब युद्धोंमें तेरे साथ रहकर शत्रुका निःपात करेंगे। यहां भी पुनः पूर्ववत् ज्ञानी और शूरोंकी सहकारिताका उपदेश किया है। ज्ञानी और शूर मिलकर एक मतसे युद्ध चलावें और विजय प्राप्त करके धन और यश कमावें। (मं. ५)

(१२) ते आयुधा वचोभिः चोदयामि— तुझ क्षत्रियके आयुध मैं ब्राह्मण अपनी वाणीसे प्रेरित करता हूं। ब्राह्मण अपने उपदेशसे क्षत्रियके आयुधकुल धनुर्वेदका बनावे और क्षत्रिय भी ब्राह्मणकी विद्या बढनेके लिये योग्य सहायता देवे। क्षत्रियके शस्त्रोंको ब्राह्मण अपने भाषणसे प्रेरणा देवे। (मं. ५)

(१३) ते वयांसि ब्रह्मणा सं शिशामि— तेरी गतियोंको मैं अपने ज्ञानसे तेज करता हूं। अर्थात् क्षत्रियोंकी हलचलोंको ब्राह्मण अपने ज्ञानसे योग्य दिशामें चलावे। (मं. ५)

इस पञ्चम मंत्रमें भी वही ब्राह्मण-क्षत्रियकी एकताका विषय बडी उत्तम रीतिसे कहा है। चतुर्थ और पञ्चम मंत्रका यह एक ही भाव है। जिस देशमें शूर और ज्ञानी ऐसे एक विचारसे व्यवहार करेंगे, उस देशका तेज निःसंदेह चारों ओर फैलेगा। आगेके छठे मंत्रमें भी यही एकताका विषय भिन्न रीतिसे कहा है, वह अब देखिये—

(१४) यस्मिन् दुरोणे अवरे परे च वि वृधिषे, तम् अवसा अविथ— जिस घरमें छोटे और बडे मिलकर रहते हैं वह घर बलसे सुरक्षित होता है। उच्च नीच, छोटे बडे, बली निर्बल, सधन निर्धन, मालिक नौकर इत्यादि प्रकारके लोग होते हैं। प्रायः इनमें विरोध रहता है और विरोधके कारण एक दूसरेसे झगडते रहते हैं। परंतु जिस घरमें अथवा जिस राष्ट्रमें छोटे और बडे लोगोंमें एकता रहती है और ये सब एक घरमें रहनेके समान मिलजुलकर रहते हैं, वहां ही उनका अपनी एकताके बलसे रक्षण होता है। अर्थात् जिस देशके छोटे और बडे आपसमें झगडते रहते हैं, वह देश असुरक्षित होनेके कारण गिर जाता है। कितना ही बडा राष्ट्र क्यों न हो, वह एक छोटेसे घरके समान सब लोगोंको मालूम होना चाहिये। राष्ट्रमें किसीको भी ऐसा नहीं मालूम होना चाहिये, कि मैं छोटा हूं या दूसरा बडा है, इस विषयमें एक मंत्र देखिये—

(१) अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते सं भ्रातरो वावृधुः सौभगाय। (ऋ. ५।६०।५)
(२) ते अज्येष्ठा अकनिष्ठास उद्भिदोऽमध्यमासो महसा विवावृधुः। सुजातासो जनुषा पृश्निमातरो दिवो मर्या आ नो अच्छा जिगातन। (ऋ. ५।५९।६)

'(१) जिनमें कोई बडा नहीं और जिनमें छोटा भी कोई नहीं है, ये सब परस्पर भाई हैं और ये सब अपने कल्याण के लिये मिलकर प्रयत्न करते हैं॥ (२) उनमें कोई बडा नहीं, कोई छोटा नहीं और कोई मध्यम भी नहीं। वे सब एक जैसे हैं और वे अपने उदयके लिये उत्साहसे प्रयत्न करते हैं। ये उत्तम कुलमें उत्पन्न हुए, भूमिको माता माननेवाले, दिव्य मनुष्य, हमारे पास अच्छी प्रकार आवें।'

इन मंत्रोंमें ऐसे वीरोंका वर्णन है कि जिनमें उच्च नीच कोई नहीं है, सब एक ही श्रेणीके हैं और सब मातृभूमिकी उपासना करनेवाले और अपने सामुदायिक यशके लिये यत्न करनेवाले हैं। ये ही छोटे और बडे एक घरमें रहनेके समान रहते हैं और अपने मेलसे अपनी शक्ति बढाते हुए उन्नति करते हैं। अध्यात्मपक्षमें परमात्माके घरमें छोटे और बडे सब एक जैसे ही होते हैं, वहांका छोटेपन वहां छोटा नहीं होता और यहांका बडापन वहां बडा नहीं होता। वहां तो अन्तःशुद्धतासे सबकी उच्चनीच श्रेणी मानी जाती है। (मं. ६)

(१५) जिगत्नुं मातरं आस्थापयत— प्रगतिशील अपनी मातृभूमिको अपने अन्तःकरणमें स्थापन करते हैं। पूर्व स्थानमें दिये हुए ऋग्वेद मंत्रोंमें ये मातृभूमिके उपासक होते हैं, ऐसा स्पष्ट कहा ही है, वही बात यहां कही है। इसी विषयमें दूसरा एक मंत्र यहां देखने योग्य है वह अब देखिये—

इळा सरस्वती मही तिस्रो देवीर्मयो भुवः।
बर्हिः सीदन्त्वस्रिधः॥ (ऋ. १।१३।९)
तिस्रो देवीर्बर्हिरेदं सदन्त्विडा सरस्वती मही भारती गृणाना॥ (अथर्व. ५।२७।९; यजु. २७।१९)

'(इळा भारती) मातृभाषा (सरस्वती) मातृसभ्यता वा मातृसंस्कृति और (मही) मातृभूमि ये तीन देवियां अन्तःकरणमें स्थिर रहें।' अर्थात् मनुष्यको अपने अन्तःकरणसे इन तीन देवियोंकी उपासना करनी चाहिये। यही उपदेश इस सूक्तके इस मन्त्रभागमें है, (मातरं आस्थापयत) मातृभूमिको अपने मनमें उत्तम प्रकार स्थापित करो अर्थात् मातृभूमिके उद्देश्यसे ब्राह्मण क्षत्रिय, छोटे बडे, उच्च नीच सब एक हों और मिलजुलकर अपनी उन्नति करनेके लिये यत्न करें तथा आपसमें झगडे खडे करके अपनी शक्तिका ही नाश कदापि न करें। (मं. ६)

(१६) अतः भूरि कर्वराणि इन्वंत— इससे बहुत उत्तम कर्म तुम सिद्ध कर सकोगे। यदि पूर्वोक्त प्रकार एकतासे लोग रहेंगे, तो ही वे प्रबल पुरुषार्थ कर सकेंगे। अर्थात् आपस के झगडोंमें अपना समय बिता देंगे, तो उनसे कोई पुरुषार्थ नहीं होगा, और वे गिरते जायगे। आपसके झगडोंसे मनुष्योंकी पुरुषार्थ शक्ति ही नष्ट होती है। (मं. ६)

आप्त पुरुषकी स्तुति।

(१७) पुरुवर्त्मानं ऋभ्वाणं द्युमत्तमं आप्तानां आप्तं स्तुष्व— बहुत मार्गवाले, तेजस्वी, श्रेष्ठ और आप्तोंमें आप्त पुरुषकी ही प्रशंसा कर। अन्यकी स्तुति न कर। परमेश्वरके पास आनेके अनेक मार्ग हैं और वह अनेक मार्गोंसे लोगोंका कल्याण कर सकता है, वह तेजस्वी और सबमें श्रेष्ठ है, और सब आप्तोंमें परम आप्त वही है, इसलिये वही स्तुति करने योग्य है। उसके स्थानपर किसी अन्यकी स्तुति करना योग्य नहीं है। जो सदा सत्यवचनी होता है और कभी किसीके अहितकी बात नहीं करता, जिसके शब्द प्रमाण माने जा सकते हैं उसका नाम आप्त है। ऐसे आप्तोंमें जो सबसे श्रेष्ठ आप्त पुरुष होता है, वह 'आप्तानां आप्तः' है अर्थात् प्रामाणिक पुरुषोंमें सबसे अधिक प्रामाणिक वही है। इसीलिये परमेश्वरको सब गुरुओंका भी महागुरु अथवा आदिगुरु कहते हैं। यह वर्णन तो परमात्मविषयक हुआ, अब इस

सूक्तका अन्य मनुष्य विषयक भावार्थ देखते हैं। जो मनुष्य (पुरु-वर्मांसं) बहुत मार्गोंवाला है अर्थात् अपनी उन्नतिके लिये तथा अपने राष्ट्रके अभ्युदयके लिये अनेक मार्गोंसे बहुत प्रयत्न करता है, एक मार्गसे असिद्धि हो जाने पर दूसरे मार्गसे अपना कदम आगे बढाता है और सिद्धि अवश्य प्राप्त करता है, (ऋभ्वाणं, ऋभु) कुशल, कारीगर, कला जाननेवाला, हुनर जाननेवाला, कुशलतासे कार्य करनेवाला, जो कार्य हाथमें ले उसे कुशलतासे करनेवाला, (इन+तमं) अत्यंत शक्तिमान्, सामर्थ्यवान्, बलवान् ओजस्वी, (आप्यानां आप्तं) प्रामाणिक पुरुषोंमें सबसे अधिक प्रामाणिक, ऐसा जो पुरुष होगा उसकी स्तुति कर। जो अनेक उपायोंसे कार्य सिद्धि करनेवाला, कर्म करनेमें कुशल और प्रामाणिक पुरुष हो, वही प्रशंसाके लिये योग्य है। किसी अन्यकी स्तुति करना योग्य नहीं है। केवल ज्ञानी, केवल अधिकारी, केवल धनी पुरुष जो होंगे, वे यदि ऊपर लिखा हुआ जनहितका कार्य तत्परतासे नहीं करेंगे, तो वे स्तुतिके लिये योग्य नहीं होंगे। (मं. ७)

आदर्श पुरुष।

(१८) **भूरि+ओजाः शवसा मादर्शति**— बहुत बलवाला मनुष्य अपने सामर्थ्यसे आदर्शरूप होता है। मनुष्य जो जनतामें आदर्श हो जाता है वह बलके कारण होता है। जिसमें किसी भी प्रकारका बल नहीं है, वह कदापि आदर्श पुरुष नहीं हो सकता। आत्मिक, बौद्धिक, मानसिक, शारीरिक आदि अनेक बल हैं। पुरुषमें किसी भी बलकी अधिकता होगी, तो ही वह लोगोंके लिये आदर्श पुरुष हो सकता है। मनुष्यमें बल हो और उस बलका उपयोग जनताका उद्धार करनेके कार्यमें वह करे, तो वह सबके लिये आदर्श होता है। पूर्वापर संगतिसे पाठक इस भावार्थको स्वयं जान सकते हैं। श्रेष्ठ पुरुष किन गुणोंसे बनते हैं, इसका बोध इस सूक्तके मननसे पाठकोंके मनमें प्रकाशित हो सकता है. उस आशयके साथ इस मंत्रभागको देखनेसे स्पष्ट होता है कि आदर्श पुरुष बननेके लिये स्वयं बल कमाना और उस बलका उपयोग परोपकारार्थ करना आवश्यक है। इस विषयमें अगला मंत्रभाग देखने योग्य है—

(१९) **पृथिव्याः प्रतिमानं प्र सक्षति**— वह पृथिवीके साथ समानता प्राप्त करता है, वह भूमिका नमूना बनता है। जिस प्रकार गंभीरता, गुरुत्व और सहनशीलताका आदर्श पृथ्वी है, उसी प्रकार वह गंभीर, बडा और सहनशील बनता है। पृथ्वी सब स्थिरचरको आधार देती है, स्थिरचरके आघात सहन करती हुई भी सबको उत्तम पोषणके पदार्थ देती है। यह शांति और परोपकारका आदर्श है। पृथ्वी सबको यह उपदेश दे रही है। यह आदर्श जो पुरुष अपने सन्मुख रख सकता है और अपने जीवनमें ढाल सकता है, वही आदर्श पुरुष बन सकता है। पृथ्वी जिस प्रकार अपनी शक्ति परोपकारमें लगाती है, उस प्रकार जो पुरुष अपनी सब शक्तिको जनताकी भलाईके लिये खर्च करता है, वही अन्य लोगोंके लिये आदर्श पुरुष हो सकता है। (मं. ७)

काव्य कैसा हो!

(२०) **अग्रियः स्वर्+साः बृहद्दिवः शूषं ब्रह्म कृणवत्**— प्रथम श्रेणीमें स्थित, अपने प्रकाशसे युक्त, बडे द्युलोकके समान तेजस्वी ऋषि, बल उत्पन्न करनेवाला काव्य करता है। इस मंत्रमें प्रथम ऋषिके गुण कहे हैं। वह कवि सबमें प्रथम स्थानमें विराजनेवाला आत्मिक प्रकाशसे प्रकाशनेवाला, द्युलोकसे भी अधिक विस्तृत और प्रभावशाली हो, तभी वह कवि ऋषि कहलायेगा। यह ऋषि (शूषं ब्रह्म) बल बढानेवाला स्तोत्र या काव्य बनावे। कवि लोग काव्य इस प्रकारका बनावें कि जिसके पढनेसे पढनेवालेके मनमें बलका पोषण होवे, निर्बल अन्तःकरण भी बलशाली बनें, उदासीन लोग उत्साही बनें और पुरुषार्थ हीन लोग प्रबल पुरुषार्थी बनें। काव्य इस प्रकारका बनना चाहिये। ऋषिके काव्यका यही लक्षण है। ऋषिका काव्य निर्जीव मनुष्योंको भी विलक्षण पुरुषार्थी बना सकता है। इस प्रकारके ऋषिके काव्यको पढनेवालेकी योग्यता किस प्रकार बढ सकती है, यह अगले मंत्रभागमें देखिये—

(२१) **मद्रः गो+त्रस्य स्वराजा क्षयति**— बडे गोरक्षण राष्ट्रका स्वतंत्र राजा होकर रहता है। 'गो+त्र' का अर्थ गौकी रक्षा करनेवाला। पुष्टि और बलके लिये गौकी रक्षा करना अत्यंत आवश्यक है। ऐसे गोरक्षक राष्ट्रमें वह राजा बनकर रहता है। जो पूर्वोक्त प्रकार बल बढानेवाला काव्य करता है, वह मानो राष्ट्रका स्वतंत्र राजा ही होता है, जो राजाको सन्मान मिलता है वही उस ज्ञानीको मिलता है, किंवा उससे भी अधिक उसकी मान्यता हो जाती है इसका कारण अगले मंत्रभागमें देखिये—

(२२) **तुरः चित् तपस्वान् विश्वं अर्णवत्**— शीघ्रतासे कार्य सफल करनेवाला वह तपस्वी विश्वको ही हिला देता है। इतनी उसमें शक्ति उत्पन्न होती है। तपस्वी मनुष्य संपूर्ण विश्वको अपने काव्यसे हिला देता है, संपूर्ण जगत्में चेतना उत्पन्न करता है। (मं. ८)

(२३) **महान् बृहद्दिवः अ+थर्वा स्वां तन्वं इन्द्रं एव अवोचत्**— बडा तेजस्वी स्थिर चित्तवाला योगी अपने

शरीरमें रहनेवाले इन्द्रसे ही इस प्रकार बोला। उक्त योगी ऋषिने अपने शरीरके इन्द्र-आत्मा-को ही इस प्रकार स्तोत्र रूपी वचन कहा, किंवा उसका वर्णन किया। अर्थात् इस सूक्तमें जो है वह अपने शरीरके अंदरके आत्माका ही वर्णन है, ऐसी भावनासे ऋषिने वर्णन किया है। दूसरोंको जो उपदेश दिया जाता है, या जो काव्य कवि करते हैं, वह दूसरोंके लिये नहीं करते, प्रत्युत वह अपने अंदर चरितार्थ हुआ देखते हैं, किंवा उनमें जगत्के कल्याणका भाव उतना ही तीव्र होता है, जितना कि अपने कल्याणका भाव साधारण मनुष्यमें हुआ करता है। इसलिये कवि और ऋषि जो भी बोलते हैं वह विशेष करके अपने अन्तरात्माके लिये होता है, उससे जगत्के लोग जितना चाहें उतना लाभ उठावें। परंतु कविमें उपदेश देनेका घमंड नहीं होता, वे जो बोलते हैं केवल अपने आत्माकी शान्तिके लिये होता है। (मं. ९)

(१४) **मातरि+श्वरि स्वसारौ अ+रिप्रे हिन्वन्ति, शवसा वर्धयन्ति—** मातृभूमिका पोषण करनेवाली दो बहिनें [मातृभाषा और मातृसभ्यता] निर्दोष होनेके कारण सबको हिलाती हैं और बलसे बढाती भी हैं। मातृभूमि, मातृभाषा और मातृसभ्यता ये तीन देवियां हैं, इस विषयमें इसी सूक्तके विवरणके प्रसङ्गमें अन्यत्र विशेष रीतिसे कहा ही है। ये तीनों देवियां दोषरहित हैं, सबको चेतना देनेवाली हैं और सबको बलके साथ बढानेवाली हैं। कवि अथवा ऋषि अपने काव्यसे ऐसी चेतना मनुष्यके अन्तःकरणमें उत्पन्न करते हैं, इसीलिये उनकी योग्यता असाधारण समझी जाती है।

परमेश्वर महाकवि और महाऋषि होनेके कारण यह वर्णन उसके काव्यके लिये पूर्ण रूपसे लगता है। मनुष्योंमें जो कवि हों उनके लिये यहां आदेश देकर सूचित किया जाता है कि वे अपने काव्यमें उक्त प्रकारकी चेतनाशक्ति रखें। इस प्रकार इन दोनों मंत्रोंका वर्णन परमगुरु परमात्मपरक और मानवी कवियोंपरक भी लगता है इतना कहनेके पश्चात् इस सूक्तकी एक विशेष बातकी ओर पाठकोंका मन आकर्षित करना चाहते हैं, वह बात यह है कि इस सूक्तका ऋषि '**बृहद्दिवः अथर्वा**' है और वह ही ऋषिनाम मं. ८ और ९ में आया है। इसलिये इसी ऋषिका यह सूक्त है ऐसा कहते हैं। यह नाम इस ऋषिका है इसमें संदेह ही नहीं है, तथापि इसका श्लेषालंकारसे अर्थ हमने ऊपर बताया है। इन शब्दोंका परमात्मपरक अर्थ भी ऊपरके अर्थमें विशद हुआ है। (**बृहत्+दिवः अ+थर्वा**) द्युलोकसे बडा निश्चल आत्मा यह इन शब्दोंका परमात्मपरक अर्थ है। इस प्रकार ये शब्द तीनों स्थानोंमें योग्य प्रकार लग सकते हैं। पाठक इस बातका अधिक विचार करें। अब यहां इस सूक्तका राष्ट्र उन्नतिपरक भावार्थ सरल शब्दोंमें देते हैं—

राष्ट्रोन्नतिका सन्देश।

(१) जिससे उग्र तेजस्विता निर्माण होती है वही सब मनुष्योंमें श्रेष्ठ है। वह निर्माण होते ही शत्रुओंका पराभव करता है, इसलिये सब संरक्षकगण उसको अपना अग्रणी करके हर्षित होते हैं।

(२) शक्तिसे युक्त होकर बढनेवाले प्रबल शत्रुको देखकर दासवृत्तिवाले मनुष्य ही डरते हैं (वीर वृत्तिवाले कदापि नहीं डरते)। वस्तुतः देखा जाय तो जिस प्रकार परस्पर विरुद्ध धर्मवाले जड और चेतन इकट्ठे रहनेसे परस्परके बलसे बलवान् होकर आनंदित होते हैं [उसी प्रकार विरुद्ध धर्मवाले मनुष्यगण यदि इकट्ठे होकर रहने लगे, तो ही वे परस्परके बलसे बलवान् होकर परमानन्दको प्राप्त कर सकते हैं।]

(३) जो अपनी बुद्धि और कर्मशक्तिको बहुत देरतक एक ही कार्यमें स्थिर करते हैं, वे द्विगुणित और त्रिगुणित बलको प्राप्त करते हैं। मीठेसे मीठे पदार्थमें और भी मिठास रखकर उत्तम मधुरता उत्पन्न कर, और मीठेसे मीठेको बढा [अर्थात् अपने आचरणमें मिठास रखो और जिनके साथ संबंध आ जाय उनको भी मीठा बनाओ।]

(४) युद्धमें विजय प्राप्त करनेवाले वीरोंका अनुमोदन ज्ञानी करें। इस प्रकार वीर और ज्ञानियोंके ऐक्यसे राष्ट्रमें स्थिर बल उत्पन्न होगा और दुष्ट मनुष्य प्रबल नहीं होंगे।

(५) युद्धसे प्राप्त होनेवाले विजयादिको देखकर हम सब ज्ञानी वीरोंके साथ होकर शत्रुका नाश करते हैं, और अपने ज्ञानसे वीरोंके शस्त्रोंको चेतावनी देते हैं तथा वीरोंकी हलचलोंको अधिक तेज बनाते हैं।

(६) बडे और छोटे जिस देशमें एक घरमें रहनेके समान रहते हैं, उसी देशकी अपने बलसे रक्षा होती है। प्रगतिशील मातृभूमिका अपने अन्तःकरणमें स्थापन करो और विशेष पुरुषार्थ करो।

(७) जो बहुत मार्गोंसे उन्नति सिद्ध करता है, जो कुशल कर्म करनेवाला होता है, जो श्रेष्ठ होता है, और जो अधिक प्रामाणिक है उसी उत्तम पुरुषकी प्रशंसा किया करो [किसी अन्य हीन पुरुषकी स्तुति न करो।] बहुत बलवाला मनुष्य अपने बलके कार्योंसे आदर्श पुरुष बन जाता है, जो पृथिवीके समान लोगोंके लिये आधार देनेवाला बनता है।

(८) बडे तेजस्वी आत्मिक बलवाले श्रेष्ठ ऋषिका बल उत्पन्न करनेवाला यह इन्द्र सूक्त है। यह तपस्वी ऋषि सब

*

विश्वको ही हिला देता है, और स्वतंत्र राजा जैसा बनकर रहता है।

(९) बडे तेजस्वी योगी ऋषिने इन्द्रका- मानों अपने अन्दरकी देवताका- ही स्तोत्र बनाया। इसमें मातृभूमिका भरण-पोषण करनेवाली दो बहिनें [मातृभाषा और मातृसभ्यता ये दोनों] निर्दोष रहकर जनतिके लिये प्रेरणा करती हैं और सबको बलवान् बनाकर बढाती हैं।

यह भावार्थ राष्ट्रीय उन्नति विषयक है। यह अर्थ इस सूक्तमें प्रधान स्थान रखता है, इसलिये विस्तारपूर्वक दिया है। परमात्माके वर्णनपरक अर्थ भी यहां विशेष करके हैं यह आशय पाठक समझ ही गये होंगे।

देवता।

इस सूक्तका देवता 'वरुण' सर्वानुक्रमकारने लिखा है। परंतु इसी सूक्तके नवम और दशम मंत्रमें यह सूक्त 'इन्द्र' देवताका है ऐसा स्वयं स्पष्ट कहा है, इस लिये इसका देवता 'इन्द्र' मानना उचित है। तथापि यह बात खोज करने योग्य है।

ईश्वरविषयक भावार्थ।

अब इस सूक्तका ईश्वर विषयक भावार्थ संक्षेपसे लिखते हैं- '(१) जिससे सूर्यादि तेजस्वी गोल निर्माण हुए हैं, वह ईश्वर सबसे श्रेष्ठ है। इससे अंधेरा दूर होता है अतः सब रक्षक इससे आनंदित होते हैं। (२) यह बलसे बढता और दुष्टको भय देता है। इसीकी योजनासे जड चेतन इकट्ठे रहकर सबको आनन्द देते हैं। (३) जो इस ईश्वरमें मन लगाते हैं वे द्विगुणित बल प्राप्त करते हैं और मधुरसे भी अधिक मधुर होते हैं। (४) यह ईश्वर हरएक युद्धमें विजयी होता है इसलिये प्राणी इसको प्राप्त करके आनंद भोगते, स्थिर बल प्राप्त करते और दुष्टोंको दूर करते हैं। (५) हे ईश्वर! तेरा विजय सर्वत्र देखकर हम तेरे साथ रहते हुए शत्रुको हटायेंगे। तेरे आयुधोंको हम शब्दोंसे प्रेरित करेंगे और ज्ञानसे तेरी गतिको जानेंगे। (६) तेरे घरमें छोटे और बडे समान अधिकारसे रहते हैं, और तू बलसे सबकी उत्तम रक्षा करता है। हमको तुम प्रकृतिमाताकी गोदमें रखते हो जिससे हम उत्तम कर्म कर सकते हैं। (७) जो विविध मार्गोंसे प्राप्त होनेवाला, श्रेष्ठ कारीगर और परमआप्त पुरुष है, उसकी ही स्तुति कर। वह बलवान् होनेसे सबके लिये आदर्श है, और पृथ्वीके समान सबका आधार है। (८) महातेजस्वी आत्मप्रभावी आदि ऋषिने यह सूक्त इंद्रकी प्रशंसामें किया। वह महातपस्वी इस संपूर्ण जगतको चलाता है, और स्वतंत्र राजा होकर इस जगत्में रहता है। (९) महातेजस्वी योगी ऋषिने यह स्वयं अपने ही प्रभुसंबंधिपर स्तोत्र किया। जिसके पास (प्रकृति) माता और दो बहिनें (शक्तियां) रहकर सबको प्रेरित करती हैं और बलसे सबकी वृद्धि करती हैं।'

इस प्रकार इस सूक्तका परमात्म विषयक भावार्थ है। पाठक इन दोनों भावार्थोंकी तुलनासे इस सूक्तका गंभीर आशय जान सकते हैं। और अनुष्ठानसे बहुत लाभ प्राप्त कर सकते हैं। यह सूक्त समझनेमें बहुत कठिन है अतः इतना विवरण करनेपर भी इसके अर्थकी अधिक खोज करनी आवश्यक है।

विजयकी प्राप्ति।

(३) विजयाय प्रार्थना।

(ऋषिः — बृहद्दिवोऽथर्वा। देवता — अग्निः। विश्वे देवाः।)

ममा॑ग्ने॒ वर्चो॑ विह॒वेष्व॑स्तु व॒यं त्वेन्धा॑नास्त॒न्वं॑ पुषेम।
मह्यं॑ नमन्तां प्र॒दिश॒श्चत॑स्र॒स्त्वयाध्य॑क्षेण॒ पृत॑ना जयेम ॥ १ ॥

अर्थ— हे अग्ने! (विहवेषु मम वर्चः अस्तु) सब युद्धोंमें मेरा तेज प्रकाशित होवे। (वयं त्वा इन्धानाः तन्वं पुषेम) हम तुझे प्रदीप्त करते हुए अपने शरीरको पुष्ट बनावें। (चतस्रः प्रदिशः मह्यं नमन्तां) चारों दिशाएं मेरे सन्मुख नमें। (त्वया अध्यक्षेण पृतनाः जयेम) तुझ अध्यक्षके साथ रहकर संग्रामोंमें विजय प्राप्त करें ॥ १ ॥

अग्ने॑ म॒न्युं प्र॑तिनु॒दन्परे॑षां॒ त्वं नो॑ गो॒पाः परि॑ पाहि वि॒श्वतः॑ ।
अपा॑ञ्चो यन्तु नि॒वता॑ दुर॒स्यवो॒ऽमैषां॑ चि॒त्तं प्र॒बुधां॒ वि ने॑शत् ॥ २ ॥

मम॑ दे॒वा वि॑ह॒वे स॑न्तु॒ सर्व॒ इन्द्र॑वन्तो म॒रुतो॒ विष्णु॑र॒ग्निः ।
ममा॒न्तरि॑क्षमु॒रुलो॑कमस्तु॒ मह्यं॒ वातः॑ पवतां॒ कामा॑या॒स्मै ॥ ३ ॥

मह्यं॑ यजन्तां॒ मम॒ यानी॒ष्टाकू॑तिः स॒त्या मन॑सो मे अस्तु ।
एनो॒ मा नि गां॑ कत॒मच्च॒नाहं विश्वे॑ दे॒वा अ॒भि र॑क्षन्तु मे॒ह ॥ ४ ॥

मयि॑ दे॒वा द्रवि॑ण॒मा य॑जन्तां॒ मय्या॒शीर॑स्तु॒ मयि॑ दे॒वहू॑तिः ।
दैवा॒ होता॑रः सनिषन्न ए॒तदरि॑ष्टाः स्याम त॒न्वा॑ सु॒वीराः॑ ॥ ५ ॥

अर्थ— हे अग्ने ! (परेषां मन्युं प्रतिनुदन्) शत्रुओंके क्रोधको दूर करता हुआ (त्वं गोपाः सन्) तू रक्षक होकर (नः विश्वतः परि पाहि) हमारा सब ओरसे पालन कर। (दुरस्यवः अपाञ्चः निवताः यन्तु) दुःखदायी दूर हटाने योग्य नीच लोग दूर चले जायें। (एषां प्रबुधां चित्तं अमा वि नेशत्) ये दुष्ट प्रबुद्ध हों तो भी उनका चित्त साथ साथ ही नष्ट हो जावे ॥ २ ॥

(सर्वे देवाः इन्द्रवन्तः मरुतः विष्णुः अग्निः) सब देव अर्थात् इन्द्रके साथ मरुत्, विष्णु और अग्नि (विहवे मम सन्तु) युद्धमें मेरे पक्षमें हों। (मम अन्तरिक्षं ऊरुलोकं अस्तु) मेरा अन्तरिक्ष विशेष स्थानवाला होवे। (वातः मह्यं अस्मै कामाय पवतां) वायु मेरे इस कार्यके लिये बहता रहे ॥ ३ ॥

(मम यानि इष्टा मह्यं यजन्तां) मेरे जो अभीष्ट हैं वे मुझे प्राप्त हों। (मे मनसः आकूतिः सत्या अस्तु) मेरे मनका सङ्कल्प सत्य होवे। (अहं कतमच्चन एनः मा नि गां) मैं किसी भी प्रकारके पापको न करूं। (विश्वे देवाः इह मा अभि रक्षन्तु) सब देव यहां मेरी रक्षा करें ॥ ४ ॥

(देवाः मयि द्रविणं आ यजन्तां) देव मेरे लिये धन देवें। (मयि आशीः, मयि देवहूतिः अस्तु) मुझमें आशीर्वाद और मुझमें देवताओंको पुकारनेकी शक्ति रहे। (दैवा होतारः नः एतत् सनिषन्) दिव्य होतागण हमें यह देवें। हम (तन्वा अरिष्टाः सुवीराः स्याम) अपने शरीरसे नीरोग और उत्तम वीर बनें ॥ ५ ॥

भावार्थ— हे ईश्वर ! सब प्रकारकी स्पर्धाओंमें मेरा तेज प्रकाशित होवे। तुझे अपने अंदर प्रकाशित करके हम अपने शरीरको पुष्ट और बलवान् करें। मेरे सन्मुख सब दिशा उपदिशाओंमें रहनेवाले लोग नम्र हों। तेरी अध्यक्षतामें हम सब प्रकारकी स्पर्धाओंमें विजयी हों ॥ १ ॥

हे देव ! शत्रुओंका क्रोध दूर करके तू हमारी सब प्रकारसे रक्षा कर। दुःख देनेवाले नीच लोग हमसे दूर हो जांय। यदि वे शत्रु बुद्धिमान् हों तो उनकी दुष्ट बुद्धि भी साथ साथ ही नष्ट हो जाय ॥ २ ॥

सब देवोंकी सहायता हमें स्पर्धाके समय प्राप्त हो। इन्द्र, विष्णु, अग्नि, मरुत् तथा अन्यान्य देव हमें सहायक हों। मेरा अन्तःकरण बहुत विशाल हो, तथा वायु आदि देव हमारी आवश्यकताके अनुकूल चलें ॥ ३ ॥

मेरी सब कामनाएं पूर्णतया सिद्ध हों। मेरे मनके सङ्कल्प सत्य हों। मेरेसे कोई पापकर्म न हो। और मेरी रक्षा सब देव करें ॥ ४ ॥

सब देव मुझे धन्य बनावें, उनका आशीर्वाद मेरे ऊपर हो, देवोंकी उपासना करनेकी निष्ठा मेरे मनमें स्थिर हो। यह निष्ठा देवोंकी कृपासे हमें प्राप्त हो। हम अपने शरीरोंसे नीरोग और स्वस्थ होते हुए उत्तम वीर बनें ॥ ५ ॥

देवीः षडुर्वीरुरु नः कृणोत विश्वे देवास इह मादयध्वम् ।
मा नो विददभिभा मो अशस्तिर्मा नो विदद्वृजिना द्वेष्या या ॥ ६ ॥
तिस्रो देवीर्महि नः शर्म यच्छत प्रजायै नस्तन्वे३ यच्च पुष्टम् ।
मा हास्महि प्रजया मा तनूभिर्मा रधाम द्विषते सोम राजन् ॥ ७ ॥
उरुव्यचा नो महिषः शर्म यच्छत्वस्मिन्हवे पुरुहूतः पुरुक्षु ।
स नः प्रजायै हर्यश्व मृडेन्द्र मा नो रीरिषो मा परा दाः ॥ ८ ॥
धाता विधाता भुवनस्य यस्पतिर्देवः सवितामिमातिषाहः ।
आदित्या रुद्रा अश्विनोभा देवाः पान्तु यजमानं निर्ऋथात् ॥ ९ ॥
ये नः सपत्ना अप ते भवन्त्विन्द्राग्निभ्यामव बाधामह एनान् ।
आदित्या रुद्रा उपरिस्पृशो न उग्रं चेत्तारमधिराजमक्रत ॥ १० ॥

अर्थ— (देवीः षट् ऊर्वीः) ये दिव्य छः बडी दिशाओ ! (नः उरु कृणोत) हमारे लिये विशाल स्थान करो । हे (विश्वे देवासः) सब देवो ! (इह मादयध्वं) यहां हमें आनंदित करो । (अभिभाः नः मा विदत्) निस्तेजता हमें न प्राप्त हो । (अशस्तिः मा उ) अकीर्ति न आवे, (या द्वेष्या वृजिना नः मा विदत्) जो द्वेष करने योग्य पाप हैं वे हमारे पास न आ जावें ॥ ६ ॥

हे (तिस्रः देवीः) तीन देवियो ! (नः महि शर्म यच्छत) हमें बडा सुख प्रदान करो । (यत् च पुष्टं नः तन्वे प्रजायै) जो कुछ पोषक पदार्थ हैं वे हमारे शरीरके लिये और प्रजाके लिये दो । (प्रजया मा हास्महि) हम संततिसे हीन न हों और (मा तनूभिः) शरीर भी कृश न हो । हे (राजन् सोम) राजा सोम ! (द्विषते मा रधाम) शत्रुके कारण हम पीडित न हों ॥ ७ ॥

(उरुव्यचाः पुरुहूतः महिषः अस्मिन् हवे नः पुरुक्षुः शर्म यच्छतु) विशाल शक्तिवाला प्रशंसित देव इस यज्ञमें हमें बहुत अन्नयुक्त सुख देवे । हे (हर्यश्व इन्द्र) रसहरणशक्ति किरणवाले देव ! हे प्रभो ! (नः प्रजायै मृड) हमारी प्रजाके लिये सुख दो । (नः मा रीरिषः) हमारा नाश न कर । (मा परादाः) हमें मत त्याग ॥ ८ ॥

(धाता विधाता) धारक और निर्माण करनेवाला, (यः भुवनस्य पतिः अभिमातिषाहः सविता देवः) जो भुवनका पालक सम्बालक घमंडी शत्रुको जीतनेवाला देव है, (आदित्याः रुद्राः) आदित्य और रुद्र, तथा (उभा अश्विना) दोनों अश्विनीकुमार ये सब देव (निर्ऋथात् यजमानं पान्तु) विनाशसे यजमानको बचावें ॥ ९ ॥

(ये नः सपत्नाः ते अप भवन्तु) जो हमारे वैरी हैं वे दूर हो जावें, (इन्द्राग्निभ्यां एनान् अव बाधामहे) इन्द्र और अग्निकी सहायतासे इनका हम प्रतिबन्ध करते हैं । (आदित्याः रुद्राः उपरिस्पृशः) आदित्य, रुद्र और ऊपरके स्थानको स्पर्श करनेवाले सब देव (नः उग्रं चेत्तारं अधिराजं अक्रत) हमारे लिये उग्र चेतना देनेवाले मुख्य अधिराजको बनाते हैं ॥ १० ॥

भावार्थ— दिव्य दिशायें हमारे लिये विस्तृत स्थान देवें । सब देव हमें आनन्दित करें । निस्तेजता, अकीर्ति तथा घृणित पातक हमसे दूर हों ॥ ६ ॥

तीन देवियां हमें बडा सुख देवें । हमारा शरीर और हमारी प्रजा पुष्टिको प्राप्त हो । हमारी प्रजा और शरीर नष्ट न हों और शत्रुतासे हम पीडित न हों ॥ ७ ॥

विशाल शक्तिवाला ईश्वर हमें उत्तम सुख देवे । हमारी प्रजा सुखी हो, कभी हमारा नाश न हो और हम कभी विभक्त न हों ॥ ८ ॥

ईश्वर तथा सविता आदि सब अन्य देव हमें पापसे बचावें ॥ ९ ॥

अर्वाञ्चमिन्द्रममुतो हवामहे यो गोजिद्धनजिदश्वजिद्यः ।
इमं नो यज्ञं विहवे शृणोत्वस्माकमभूर्हर्यश्व मेदी ॥ ११ ॥ (१२)

अर्थ— (यः गोजित् धनजित् यः अश्वजित्) जो गौ, धन और घोडोंको जीतनेवाला है उस (अर्वाञ्चं इन्द्रं अमुतः हवामहे) हमारे पासवाले इन्द्रकी वहांसे स्तुति करते हैं । (नः विहवे इमं यज्ञं शृणोतु) विशेष स्पर्धामें किये हमारे इस यज्ञको सुने । हे (हर्यश्व) रसहरणशील किरणवाले देव ! (अस्माकं मेदी अभूः) तू हमारा स्नेही हो ॥ ११ ॥

भावार्थ— जो हमारे वैरी हैं वे हमसे दूर हों, इसलिये शत्रुओंको हम रोकते हैं । तथा आदित्य आदि सब देव हमारे लिये उत्तम तेजस्वी और बुद्धिमान् ऐसा राजा दें ॥ १० ॥

जो गौ, घोडे, आदि विविध धनोंको देनेवाला है, उस प्रभुकी हम अपने अन्तःकरणसे स्तुति करते हैं । हे प्रभो ! यह हमारी प्रार्थना सुनकर हरएक स्पर्धामें हमारी सहायता कर और हमारा स्नेही बन ॥ ११ ॥

अपने विजयकी प्रार्थना ।

इस सूक्तमें अपने विजयके लिये ईश्वरकी शक्ति प्राप्त करनेकी इच्छा प्रकट की है । मनुष्य प्रायः हरएक समय किसी न किसी स्पर्धामें लगा रहता है । यह जीवन ही एक प्रकारकी स्पर्धा है । इस स्पर्धामें विजय प्राप्त करनेकी इच्छा हरएक मनुष्यमें रहती है, परंतु उस विजयको प्राप्त करनेके लिये किस प्रकार मनमें विचार धारण करने चाहिये, बुद्धिमें कौनसे संकल्प स्थिर करने चाहिये, और शरीरसे कौनसे कर्म करने चाहिये, इसका विचार मनुष्य नहीं करता । मन, बुद्धि, चित्त आदि अन्तःशक्तियोंके तथा शरीरादि बाह्य शक्तियोंके उत्तम सत्कर्म और उत्तम प्रभावसे ही मनुष्यकी विजय हो सकती है । इससे स्पष्ट होता है कि, विजय प्राप्त होना अथवा न होना अपनी शक्ति-पर ही निर्भर है । बुद्धि, मन और चित्तमें जो विचार जाग्रत होंगे, उनका ही परिणाम जय अथवा पराजय होता है । अर्थात् मनमें विजयी विचार रहे तो विजय और हीन विचार रहे तो पराजय होगा । इसका संबंध ऐसा है कि, मनके शुभा-शुभ विचारोंके अनुसार शरीरसे शुभाशुभ कर्म होते हैं और उनका अन्तिम परिणाम परमेश्वरीय नियमानुसार विजय अथवा पराजयमें होता है । इसलिये विजयी विचार मनमें सदा धारण करने चाहिये, जिससे विजय प्राप्तिकी संभावना हो । इस सूक्तमें विजयी विचार दिये हैं, जिनको मनमें धारण करनेसे मनुष्यकी निःसन्देह विजय होगी । ये विचार अब देखिये—

विजयी विचार ।

विजयी विचार मनमें धारण करने चाहिये, हीन और क्षुद्र विचार कदापि मनमें आने नहीं देने चाहिये । इस सूक्तमें प्रारम्भसे अन्ततक कहे हैं । इसलिये इस सूक्तके मननसे पाठ-कोंके मनमें विजयी विचार स्थिर रह सकते हैं, और उनका विजय निःसन्देह हो सकता है । ये विजयी विचार अब देखिये-

१ विहवेषु मम वर्चः अस्तु । (मं. १)

२ पृतनाः जयेम । (मं. १)

' युद्धोंमें मेरा तेज प्रकाशित होवे, और हम युद्धोंमें शत्रु-ओंकी सेनाओंको पराजित करेंगे । ' यह मनका निश्चय रहना चाहिये । मनमें ऐसे विचार रखने चाहिये कि मैं शत्रुका परा-भव अवश्य ही करूंगा और विजय संपादन करूंगा ।

३ एमान् अप बाधामहे । (मं. १)

' इन शत्रुओंका हम पूर्ण प्रतिबंध करेंगे । ' अर्थात् किसी भी मार्गसे शत्रु आने लगे तो उनको हम रोक देंगे और आगे बढने नहीं देंगे । इस मंत्रभागसे अपनी युद्धविषयक तैयारी कैसी रहनी चाहिये, इस विषयकी सूचना मिल सकती है । हरएक मार्गसे आनेवाले शत्रुओंको रोक रखनेके लिये अपनी विशेष ही तैयारी चाहिये । मनुष्यको अपने शत्रुओंको इस प्रकार रोक रखनेके लिये जितनी तैयारी रखनी चाहिये, उतनी तैयारी हरएक मनुष्य रखे और शत्रुसे अपना बचाव करे । जिसकी इतनी तैयारी रहेगी वही युद्धोंमें विजय प्राप्त कर सकेगा । इस विजयके विषयमें व्यक्तिके लिये तथा और राष्ट्रके लिये तथा दोनोंके कार्यक्षेत्रोंके छोटे और बडे होते हुए भी, शत्रुको रोक रखनेकी तैयारी विशेष ही रीतिसे करना आव-श्यक है । इस प्रकारकी पूर्व तैयारीसे विजय प्राप्त होनेपर ही वह कह सकता है कि—

४ चतस्रः प्रदिशः मह्यं नमन्ताम् । (मं. १)

' चारों दिशाओंमें रहनेवाले लोग मेरे सामने नम्र होकर रहें ' अर्थात् हमारे ऊपर हमला करनेकी शक्ति और इच्छा उनमें अवशिष्ट न रहे । इस प्रकार—

५ मम अन्तरिक्षं उरुलोकं अस्तु । (मं. ३)

' मेरा अन्तरिक्ष विस्तृत स्थानवाला होवे । ' हरएक मनुष्य का अपना अपना अन्तरिक्ष छोटा या बडा उसकी कर्तृत्व शक्तिके अनुसार रहता है । जो प्रबल पुरुषार्थी होते हैं उनका संपूर्ण जगत्के समान विशाल अंतरिक्ष होता है और आलसी तथा आत्मघातकी लोगोंके लिये बहुत ही छोटा अन्तरिक्ष होता है। अपने अधिकारके अन्दर कितना अन्तरिक्ष आ गया है और अपना शासन कितने अन्तरिक्षपर है, इसको देखकर मनुष्य अपनी योग्यताका निश्चय कर सकता है । मानों, यह एक अपनी परीक्षाकी उत्तम कसौटी ही है । पाठक इन पांचों वाक्योंकी परस्पर संगति देखेंगे, तो उनको विजय प्राप्त करनेके विषयमें बहुत बोध प्राप्त हो सकता है । इस विजयके लिये अपने शत्रुको दूर करनेकी अत्यंत आवश्यकता है, इस विषयके लिये निम्नलिखित आदेश देखिये—

शत्रुको दूर करना ।

शत्रुको दूर करना, उसकी छायामें स्वयं न जाना, शत्रुको दबाकर रखना और उसको उठने न देना, यह करना विजयके लिये मनुष्यको अत्यंत आवश्यक है, इस विषयमें ये मंत्रभाग देखिये—

६ सपत्ना अप भवन्तु । (मं. १०)

७ दुरस्यवः निवताः अपाञ्चः यन्तु । (मं. ९)

' वैरी दूर हों, तथा दुष्ट लोग नीच गतिसे नीचेकी ओर चले जावें । ' अर्थात् वे अपना सिर उपर न करें । तथा और देखिये—

८ अभिभाः अशस्तिः द्वेष्या वृजिना मा नो विदन्। (मं. ६)

' निस्तेजता, अकीर्ति और द्वेष करने योग्य कुटिलता हमारे पास न आवे ' अर्थात् ये आन्तरिक शत्रु दूर रहें । इनमेंसे कोई भी शत्रु अपना सिर ऊपर न कर सकें । इन मंत्रभागोंमें व्यक्तिके अन्तर्गत और बाह्य, तथा समाजके अन्तर्गत और बाह्यके सब शत्रु दूर करनेकी सूचना मिलती है । सच्चा विजय प्राप्त करनेवाले मनुष्यको उचित है कि वह इन सब शत्रुओंको अपने प्रयत्नसे दूर करे और अपने अभ्युदयका मार्ग खुला करे ।

कामनाकी तृप्ति ।

अपना विजय करना और शत्रुको दूर करना यह सब अपनी कामनाकी तृप्तिके लिये ही है । मनुष्यके अन्तःकरणमें कुछ विशेष कामना होती है, उसकी पूर्णता हुई तो उसको अपने जीवनकी सार्थकता हो गई ऐसा प्रतीत होता है; अन्यथा वह अपने जीवनको निरर्थक समझता है । इस विषयमें मनुष्यकी इच्छाएं किस प्रकार होती हैं यह देखिये—

९ मह्यं अस्मै कामाय वातः पवताम् । (मं. ३)

१० यानि मम इष्टानि मह्यं यजन्ताम् । (मं. ४)

११ मे मनसः आकूतिः सत्या अस्तु । (मं. ४)

१२ देवा मयि द्रविणं, आशीः, देवहूतिः च आ यजन्ताम् । (मं. ५)

१३ तिस्रो देवीः नः मह्यि शर्म यच्छत । (मं. ७)

१४ नः प्रजायै मृड । (मं. ८)

' मेरी इस कामनाके अनुकूल वायु अथवा प्राण चले । जो मेरे इष्ट मनोरथ हैं, वे परिपूर्ण हों । मेरे मनके सब संकल्प सत्य हों । सब देव मुझे धन, आशीर्वाद, और देवभक्ति दें । तीन देवियां अर्थात् मातृभूमि, मातृभाषा और मातृसभ्यता मुझे बडा सुख देवें । ईश्वर हमारी सब प्रजाको सुखी करे । ' इस प्रकारकी कामनाएं प्रायः हरएक मनुष्यके अंदर न्यूनाधिक प्रमाणसे रहती हैं । मनुष्यका सुख और दुःख इन कामनाओंकी न्यूनाधिक पूर्तिपर अवलंबित है । इसलिये मनुष्यको उचित है कि वह अपनी कामनाएं शुभ ही होने दें, और उनमें कोई अशुभ वासना न रहे, ऐसी मनकी उच्च अवस्था बना दें । उन्नतिके लिये इसकी बडी भारी आवश्यकता है । इस प्रकार भावनाकी शुद्धताके लिये ईश उपासना करना आवश्यक है, इस हेतुसे कहा है—

ईश्वर उपासना ।

१५ इंद्रं हवामहे । (मं. ११)

' प्रभुकी प्रार्थना और उपासना हम करते हैं । ' ईश्वर सब श्रेष्ठ गुणोंसे मण्डित है, इसलिये उसके गुणोंका मनन करनेसे मनुष्यके मनकी भावना शुद्ध होती है, कामना निर्दोष होती है और संकल्प शुद्ध होते हैं । यही बात निम्नलिखित मंत्रभागोंमें कही है—

निष्पाप बनना ।

१६ अहं कतमच्चन एनः मा नि गाम् । (मं. ४)

' मैं किसी प्रकारका छोटा या बडा पाप न करूं अथवा पापके पास भी नहीं जाऊं । ' मंत्रमें कहा है कि ' पापके

पास नहीं जाऊंगा' यह बडा भारी उच्च निश्चय है। जो मनुष्य ऐसा निश्चय करेगा वही उन्नतिके पथपर चल सकता है। पाप स्वयं करना और बात है और पापके पास जाना भिन्न बात है। पातक स्वयं करनेकी अपेक्षा पापके पास जाना सहज है। मनुष्य प्रथम पापकर्मका वर्णन सुनता है, पश्चात् दूसरेका किया पापकर्म देखता है, तदनंतर स्वयं प्रवृत्त होता है। यह पापकी परंपरा है, अतः मंत्रमें उपदेश दिया है कि पापकर्मकी ओर ही मनुष्य न जावे। पाठक इस अमूल्य उपदेशका महत्त्व जानें और तदनुसार अपना आचरण सुधारकर उन्नतिके मार्गका आक्रमण करें। इस प्रकार निष्पाप होकर ईश्वरकी प्रार्थना करे कि—

ईश प्रार्थना।

१७ इमं यज्ञं विहवे शृणोतु। (मं. ११)

'इस उपासना रूप स्तुति प्रार्थनामय यज्ञको ईश्वर सुने।' अर्थात् जो प्रार्थना मैं कर रहा हूं उसको परमेश्वर सुनें। यहां पाठक स्मरण रखें कि परमेश्वर उसकी ही प्रार्थना सुनता है जो पूर्वोक्त प्रकार निष्पाप होकर शुद्धाचारी रहते हुए उन्नतिके मार्गसे जाना चाहते हैं। इस प्रकारके मनुष्यको देवताओंकी सहायता अवश्य मिलती है, इन्हींका अधिकार है कि वे देवताओंकी सहायता चाहें, इस समय इन उपासकोंका विश्वास कैसा होता है यह बात निम्नलिखित मंत्रभागोंमें देखिये। हरएक मनुष्य यद्यपि यशका भागी बननेके लिये देवताओंकी सहायता चाहता और प्रार्थना करता है, तथापि पूर्वोक्त प्रकार शुद्ध और पवित्र बने हुए मनुष्यको ही वह सहायता मिलती है।

देवोंकी सहायता।

प्रायः मनुष्य सङ्कटके समयमें देवताओंकी सहायता चाहता ही है। यदि पूर्वोक्त प्रकार आत्मशुद्धि करके देवताओंकी सहायता मनुष्य चाहेगा, तो निःसन्देह उसको वह सहायता मिल सकती है। इस विषयमें इस सूक्तके कथन देखने योग्य हैं—

१८ विहवे सर्वे देवा मम सन्तु। (मं. ३)
१९ इह विश्वेदेवाः मा अभिरक्षन्तु। (मं. ४)
२० विश्वेदेवासः इह मादयध्वम्। (मं. ६)
२१ धाता विधाता भुवनस्य यस्पतिः अन्ये च देवाः निर्ऋथात् पान्तु। (मं. ७)
२२ अस्मिन् हवे पुरुहूतः महिषः पुरुक्षु शर्म यच्छतु। (मं. ८)

२३ अस्माकं मेदी अभूः। (मं. ११)
२४ देवीः षद् उर्वीः नः उरु कृणोत। (मं. ६)
२५ परेषां मन्युं प्रतिनुदन् नः विश्वतः परिपाहि। (मं. २)

'युद्धके प्रसंगमें सब देव मेरे हों। संपूर्ण देव मेरी रक्षा करें। सब देव यहां मेरा आनन्द बढावें। धाता विधाता भुवनपति और अन्य देव दुःखसे हमारी रक्षा करें। इस यज्ञके समय बहुत प्रशंसित समर्थ प्रभु बहुत भोगयुक्त सुख हमें देवें। प्रभु हमारा सहायक हो। दिव्य छः दिशाएं हमारे लिये बडा विस्तृत कार्यक्षेत्र बनावें। शत्रुओंको क्रोध दूर करके हमारी सब प्रकारसे रक्षा करें।'

शत्रुओंको दूर करनेके विषयमें येही इच्छायें मनुष्यके मनमें सदा रहती हैं। विजय प्राप्त करनेवाले मनुष्यको भी अपने मनमें येही इच्छाएं धारण करनी चाहियें। पूर्वोक्त वाक्योंमेंसे अन्तिम वाक्यमें 'शत्रुओंका क्रोध दूर करनेकी प्रार्थना' है। यह प्रार्थना विशेष महत्त्वकी है। 'शत्रुका क्रोध दूर करके उसकी शुद्धता कर' यह आशय इस प्रार्थनामें है। शत्रुका नाश करनेकी अपेक्षा यदि शत्रुके क्रोधादि दुष्टभाव दूर होकर वह भला आदमी हुआ तो अच्छा ही है। इस दृष्टिसे यह उपदेश मनन करने योग्य है। वैदिक धर्मियोंको उचित है कि वे प्रथम शत्रुके क्रोध दूर करके उसको शुद्ध करनेका यत्न करें, वह न हुआ तो उसको दूर करें अथवा नाश करें। यह नीतिका उत्तम नियम इस वेदमंत्र द्वारा बताया है।

राजप्रबंध।

अपने राजप्रबन्धकी उत्तमतासे विजय हो सकता है और राज्यशासनकी अव्यवस्थासे हानि होती है, इसलिये अपने शासक राजाके गुणधर्म कैसे होने चाहियें इस विषयमें दशम मन्त्रका एक वाक्य मननपूर्वक देखने योग्य है—

२६ देवा चेतारं उग्रं अधिराजं अक्रत। (मं. १०)

'सब देव चेतना देनेवाले शूर वीर राजाको हमारे लिये बनावें' अर्थात् हमारा राजा ऐसा हो, कि वह प्रजामें चेतना और नवजीवन सञ्चारित करे और स्वयं शूर वीर प्रतापी और तेजस्वी हो। राष्ट्रमें तेजस्विताका स्फुरण उत्पन्न करनेवाला राजा हो, प्रजाका तेज कम करनेवाला राजा कदापि राज्यगद्दीपर न आवे, यह उपदेश इस स्थानपर मिलता है। विजय प्राप्त करनेके मार्गका आक्रमण करनेवालोंको इस उपदेशका महत्त्व सहजहीसे ध्यानमें आ सकता है।

शारीरिक बल।

विजय प्राप्तिके लिये शारीरिक बल बढाना और मानसिक तथा बौद्धिक शक्तिका विकास करना अत्यन्त आवश्यक है। इस विषयमें निम्नलिखित मन्त्रभाग देखिये—

२७ तन्वं पुषेम। (मं. १)
२८ तन्वा अरिष्टाः सुवीराः स्याम (मं. ५)
२९ नः तन्वे प्रजायै पुष्टम्। (मं. ७)
३० तनूभिः प्रजया मा हासिषम्। (मं. ७)
३१ नः मा रीरिषः। (मं. ८)

'अपने शरीरका बल बढावें और उनको पुष्ट करें। शरीरसे दुर्बल न होते हुए हम उत्तम वीर बनें। हमारे शरीर और सन्तान पुष्ट हों। हमारे शरीर और सन्तान हीन और दीन न हों। हम दुर्बल न हों।' इस प्रकार शारीरिक बल और बुद्धि बढानेकी सूचना देनेवाले मन्त्रभाग इस सूक्तमें इतने हैं। पाठक इन सब मन्त्रभागोंका क्रमपूर्वक मनन करेंगे, तो उनके ध्यानमें यह आ सकता है कि इस सूक्तमें विजय प्राप्तिके साधन किस प्रकार कहे हैं। व्यक्ति, समाज और राष्ट्रके विजयके साधनका इस सूक्तमें किया हुआ उपदेश यदि पाठक मनमें धारण करेंगे और इन उपदेशोंके अनुकूल आचरण करेंगे तो विजयका मार्ग उनके लिये खुला और भयरहित हो जायगा।

कुष्ठ औषधिः

(४) कुष्ठतक्मनाशन।

(ऋषिः— भृग्वङ्गिराः। देवता — कुष्ठो, यक्ष्मनाशनम्।)

यो गिरिष्वजायथा वीरुधां बलवत्तमः। कुष्ठेहि तक्मनाशन तक्मानं नाशयन्नितः॥ १॥
सुपर्णसुवने गिरौ जातं हिमवतस्परि। धनैरभि श्रुत्वा यन्ति विदुर्हि तक्मनाशनम्॥ २॥
अश्वत्थो देवसदनस्तृतीयस्यामितो दिवि। तत्रामृतस्य चक्षणं देवाः कुष्ठमवन्वत ॥ ३॥

अर्थ— हे (तक्मनाशन कुष्ठ) रोगनाशक कुष्ठ नामक औषधि! (यः गिरिषु अजायथाः) जो तू पर्वतोंमें उत्पन्न होता है और जो (वीरुधां बलवत्तमः) सब औषधियोंमें अत्यंत बल देनेवाला है, वह तू (तक्मानं नाशयन् इतः आ इहि) रोगोंका नाश करता हुआ वहांसे यहां आ॥ १॥

(सुपर्ण-सुवने गिरौ हिमवतः परि जातं) गरुड जहां होते हैं ऐसे हिमालयके शिखरपर जो होता है उसका वर्णन (श्रुत्वा धनैः अभि यन्ति) सुनकर धनोंके साथ लोग वहां जाते हैं और (तक्म-नाशनं विदुः हि) रोगनाशक औषधिको प्राप्त करते हैं॥ २॥

(इतः तृतीयस्यां दिवि देवसदनः अश्वत्थः) यहांसे तीसरे द्युलोकमें देवोंके बैठने योग्य अश्वत्थ है। (तत्र अमृतस्य चक्षणं कुष्ठं देवाः अवन्वत) वहां अमृतका दर्शन होनेके समान कुष्ठ औषधिको देव प्राप्त करते हैं॥ ३॥

भावार्थ— कुष्ठ औषधि पर्वतोंपर उगती है। बलवर्धक औषधियोंमें सबसे अधिक बलवर्धक है। इससे ज्वरादि रोग दूर होते हैं॥ १॥

हिमालयकी ऊंची ऊंची चोटियोंपर यह औषधि उगती है, वहां मिलती है यह जानकर बडा धन खर्च करके लोग वहां जाते हैं और रोगनाशक इस औषधिको प्राप्त करते हैं॥ २॥

यहांसे तीसरे उच्च द्युलोकमें जहां देवताएं बैठतीं हैं वहां अमृतके समान कुष्ठ औषधिको देव प्राप्त करते हैं॥ ३॥

हिरण्ययी नौरचरद्धिरण्यबन्धना दिवि । तत्रामृतस्य पुष्पं देवाः कुष्ठमवन्वत ॥ ४ ॥

हिरण्ययाः पन्थान आसन्नरित्राणि हिरण्यया ।
नावो हिरण्ययीरासन्याभिः कुष्ठं निरावहन् ॥ ५ ॥
इमं मे कुष्ठ पूरुषं तमा वह तं निष्कुरु । तमु मे अगदं कृधि ॥ ६ ॥
देवेभ्यो अधि जातोऽसि सोमस्यासि सखा हितः ।
स प्राणाय व्यानाय चक्षुषे मे अस्मै मृड ॥ ७ ॥
उदङ् जातो हिमवतः स प्राच्यां नीयसे जनम् ।
तत्र कुष्ठस्य नामान्युत्तमानि वि भेजिरे ॥ ८ ॥

उत्तमो नाम कुष्ठास्युत्तमो नाम ते पिता । यक्ष्मं च सर्वं नाशय तक्मानं चारसं कृधि ॥ ९ ॥
शीर्षामयमुपहत्यामक्ष्योस्तन्वो३ रपः । कुष्ठस्तत्सर्वं निष्करद्दैवं समह वृष्ण्यम् ॥ १० ॥ (३९)

अर्थ— (हिरण्ययी हिरण्यबन्धना नौ दिवि अचरत्) सोनेकी बनी और सुवर्णके बन्धनोंसे बन्धी नौका द्युलोकमें चलती है । (तत्र अमृतस्य पुष्पं कुष्ठं देवाः अवन्वत) वहां अमृतके पुष्पके समान कुष्ठ देव प्राप्त करते हैं ॥ ४ ॥

(हिरण्ययाः पन्थान आसन्) सोनेके मार्ग थे और (अरित्राणि हिरण्यया) चप्पियां भी सोनेकी थीं तथा (नावः हिरण्ययीः आसन्) नौकायें भी सोनेकी थीं (याभिः कुष्ठं निरावहन्) जिनसे कुष्ठको लाया गया था ॥ ५ ॥

हे कुष्ठ नामक औषधि ! (मे इमं पुरुषं आ वह) मेरे इस पुरुषको उठा, (तं निष्कुरु) उसको निःशेष रीतिसे चंगा कर और (मे तं उ अगदं कृधि) मेरे उस पुरुषको नीरोग कर ॥ ६ ॥

(देवेभ्यः अधि जातः असि) देवोंसे तू उत्पन्न हुआ है और (सोमस्य सखा हितः) सोम औषधिका तू मित्र और हितकारी है । इसलिये (सः प्राणाय व्यानाय चक्षुषे मे अस्मै मृड) वह तू प्राण, व्यान और चक्षु आदिके लिये इस मेरे पुरुषको सुख दे ॥ ७ ॥

(सः हिमवतः जातः) वह तू हिमालयसे उत्पन्न होकर (जनं प्राच्यां उदङ् नीयसे) मनुष्यको प्रगतिकी उच्च दिशामें ले जाता है । (तत्र कुष्ठस्य उत्तमानि नामानि) वहां कुष्ठ औषधिके उत्तम नाम (वि भेजिरे) अलग अलग विभक्त हुए हैं ॥ ८ ॥

हे कुष्ठ ! (उत्तमः नाम असि) तेरा नाम उत्तम है, (ते पिता उत्तमः नाम) तेरा उत्पादक अथवा रक्षक भी उत्तम है । (सर्वं यक्ष्मं नाशय) सब क्षयरोग दूर कर (च तक्मानं अरसं कृधि) और ज्वरको निःसत्व कर ॥ ९ ॥

(शीर्षामयं) सिरके रोग, (अक्ष्योः उपहत्यां) आंखोंकी कमजोरी, और (तन्वः रपः) शरीरके दोष (तत् सर्वं) इन सबको (दैवं वृष्ण्यं सं अह) दिव्य बल बढाकर (कुष्ठः निष्करत्) कुष्ठ औषधि दूर करती है ॥ १० ॥

भावार्थ— सुवर्णके समान तेजस्वी आकाशनौका जहां चलती है वहां अमृतका ही पुष्परूप यह कुष्ठ देवोंने प्राप्त किया है ॥ ४ ॥

उस आकाशनौकाके मार्ग भी सुवर्णके थे और चप्पियां भी सोनेकी थीं जिनसे कुष्ठ औषधी यहां लाई गई ॥ ५ ॥

यह कुष्ठ औषधि मनुष्यको रोगमुक्त करती है ॥ ६ ॥

देवोंसे उत्पन्न और सोमके समान हितकारी यह कुष्ठ औषधि प्राण, व्यान, चक्षु आदिके लिये सुखकारी है ॥ ७ ॥

हिमालयसे उत्पन्न होकर मनुष्योंकी उन्नति करती है, इस लिये इसके यश बहुत गाये जाते हैं ॥ ८ ॥

कुष्ठ स्वयं उत्तम है, जो उसको अपने पास रखता है, वह भी उत्तम है । इससे क्षयादि सब रोग दूर होते हैं ॥ ९ ॥

इससे सिरके रोग, आंखोंके व्याधि, तथा शरीरके दोष दूर होते हैं । इस कुष्ठसे शरीरका बल बढता है और दोष दूर होकर आरोग्य प्राप्त होता है ॥ १० ॥

कुष्ठ औषधि।

कुष्ठ औषधिका वर्णन इस सूक्तमें है। इस औषधिसे सिरके रोग, नेत्रके रोग, शरीरके अन्यत्र होनेवाले रोग, ज्वर तथा क्षय और कुष्ठ रोग भी इस औषधिसे दूर होते हैं। इसलिये सोमके समान ही इस औषधिका महत्त्व है। इस औषधिका सेवन बहुत प्रकारसे होता है। रस आदि पेटमें लिये जाते हैं और घृतादि बनाकर शरीरपर लेप दिये जाते हैं। इस औषधिके गुणधर्म वैद्यक ग्रन्थमें देखने योग्य हैं। वैद्यक ग्रन्थोंमें आये हुए इसके नाम विचार करने योग्य हैं—

१ नीरुजं = नीरोगता उत्पन्न करनेवाली औषधि।

२ पारिभद्रकं = सब प्रकारसे कल्याण करनेवाला।

३ रामं = आनंद देनेवाला।

४ पावनं = शुद्धि करनेवाला।

कुष्ठ औषधिके ये नाम वैद्यशास्त्रमें प्रसिद्ध हैं। इन नामोंसे इस औषधिसे होनेवाले लाभ ज्ञात हो सकते हैं। अब इसके गुण देखिये—

कुष्ठमुष्णं कटु स्वादु शुक्रलं तिक्तकं लघु।
हन्ति वातास्रवीसर्पकासकुष्ठमरुत्कफान्॥

भा. प्र. पू. १

विषकण्डूखर्जूदद्रुहृत् कान्तिकरं च॥ रा. नि. व. १०

'यह कुष्ठ औषधि उष्ण कटु स्वादु है, शुक्र उत्पन्न करती है, तिक्त और लघु है। वात, रक्त, वीसर्प, खांसी, कुष्ठ और कफ इन रोगोंको दूर करती है। इसी प्रकार विष, खुजली, दाद आदि रोगोंको दूर करती है और कान्तिको बढाती है।'

वैद्यक ग्रंथोंमें लिखे हुए ये वर्णन बिलकुल स्पष्ट हैं और पाठक इन गुणोंकी तुलना वेदके मंत्रोंके साथ करेंगे तो उनको वेद मंत्रोंका अर्थ अधिक स्पष्ट हो जायगा।

इस औषधिका हिंदी नाम 'कुठ' है। यह अतिप्रसिद्ध औषधि है। इसका उपयोग अन्दर पीने और बाहरसे लेपन करनेमें होता है। इसका शीतोष्ण कषाय पीनेसे अन्तःशुद्धि होती है और इसके तैल, घृत आदिका लेप करनेसे कुष्ठ आदि दुःसाध्य रोग भी दूर होते हैं। वैद्योंको इस औषधिके प्रयोग करनेकी रीतिका अधिक विचार करना चाहिये।

लाक्षा।

(५) लाक्षा।

(ऋषिः— अथर्वा। देवता — लाक्षा।)

रात्री माता नभः पितार्यमा ते पितामहः। सिलाची नाम वा असि सा देवानामसि स्वसा॥ १॥
यस्त्वा पिबति जीवति त्रायसे पुरुषं त्वम्। भर्त्री हि शश्वतामसि जनानां च न्यञ्चनी॥ २॥

अर्थ— (ते माता रात्री, पिता नभः, पितामहः अर्यमा) तेरी माता रात्री, पिता आकाश और पितामह अर्यमा है। (नाम सिलाची वै असि) तेरा नाम सिलाची है। (सा देवानां स्वसा असि) वह तू देवोंकी बहिन है॥ १॥

(यः त्वा पिबति, जीवति) जो तेरा पान करता है वह जीता है (त्वं पुरुषं त्रायसे) तू मनुष्यकी रक्षा करती है। (शश्वतां जनानां हि भर्त्री न्यञ्चनी च असि) सब जनोंका भरण-पोषण करनेवाली और आरोग्य देनेवाली तू है॥ २॥

भावार्थ— सिलाची वनस्पतिकी माता रात्री, पिता आकाश और पितामह सूर्य है। यह इंद्रियोंको बहिनके समान सुख-दायक है॥ १॥

जो इस औषधिके रसका पान करता है वह जीवित रहता है। इस औषधिसे सब मनुष्योंकी रक्षा पुष्टि और नीरोगिता होती है॥ २॥

वृक्षंवृक्षमा रोहसि वृषण्यन्तीव कन्यला । जयन्ती प्रत्यातिष्ठन्ती स्परणी नाम वा असि ॥ ३ ॥
यद्दण्डेन यदिष्वा यद्वारुर्हरसा कृतम् । तस्य त्वमसि निष्कृतिः सेमं निष्कृधि पूरुषम् ॥ ४ ॥
भद्रात्प्लक्षान्निस्तिष्ठस्यश्वत्थात्खदिराद्धवात् । भद्रान्न्यग्रोधात्पर्णात्सा न एह्यरुन्धति ॥ ५ ॥
हिरण्यवर्णे सुभगे सूर्यवर्णे वपुष्टमे । रुतं गच्छासि निष्कृते निष्कृतिर्नाम वा असि ॥ ६ ॥
हिरण्यवर्णे सुभगे शुष्मे लोमशवक्षणे । अपामसि स्वसा लाक्षे वातो हात्मा बभूव ते ॥ ७ ॥
सिलाची नाम कानीनोऽजबभ्रु पिता तव । अश्वो यमस्य यः श्यावस्तस्य हास्नास्युक्षिता ॥ ८ ॥

अर्थ — (वृषण्यन्ती कन्यला इव) पुरुषको चाहनेवाली कन्याके समान (वृक्षं वृक्षं आ रोहसि) प्रत्येक वृक्षपर चढती है । तू (जयन्ती प्रत्यातिष्ठन्ती) विजय करनेवाली और प्रतिष्ठित होनेवाली है । (स्परणी नाम वै असि) तेरा नाम स्परणी भी है ॥ ३ ॥

(यत् दण्डेन, यत् इष्वा) जो दण्डेसे और जो बाणसे, (यत् वा हरसा अरुः कृतं) अथवा जो रगडसे घाव हो गया है, (तस्य निष्कृतिः त्वं असि) उससे बचाव करनेवाली तू है, (सा इमं पुरुषं निष्कृधि) वह तू इस पुरुषको चंगा कर ॥ ४ ॥

(भद्रात् प्लक्षात् अश्वत्थात् खदिरात् धवात्) भद्र, पाकड, पीपल, खैर, धव, (भद्रात् न्यग्रोधात् पर्णात्) वड, पलाश इन वृक्षोंसे (निः तिष्ठति) निकलती है । हे (अरुं-धति) घावोंको भरनेवाली वनस्पति ! (सा नः एहि) वह तू हमारे पास आ ॥ ५ ॥

हे (हिरण्यवर्णे सुभगे) सुवर्णके समान रंगवाली भाग्यशालिनी ! (सूर्यवर्णे वपुष्टमे) सूर्यके समान वर्णवाली और शरीरके लिये हितकारी हे (निष्कृते) रोग दूर करनेवाली ! तेरा (नाम निष्कृतिः वै असि) नाम निष्कृति है अतः तू (रुतं गच्छासि) व्रण या रोगके पास पहुंचती है ॥ ६ ॥

हे (हिरण्यवर्णे सुभगे) सुवर्णके रंगवाली भाग्यशालिनी ! हे (शुष्मे लोमश-वक्षणे) बलशालिनी और बालोंवाली ! हे (लाक्षे) लाक्षा नामक औषध ! (त्वं अपां स्वसा असि) तू जलोंकी बहिन है । (ते आत्मा वातः ह बभूव) तेरा आत्मा वायु ही हुआ है ॥ ७ ॥

(सिलाची नाम कानीनः) सिलाची नामक औषधि कन्याके समान है । (तव पिता अजबभ्रु) तेरा पालक अजबभ्रु अर्थात् बकरियोंको पुष्ट करनेवाला वृक्ष है । (यमस्य यः श्यावः अश्वः) यमका जो गतिशील अश्व है (तस्य ह आस्ना उक्षिता असि) उसके मुखसे तू सींची गई है ॥ ८ ॥

भावार्थ— बहुत वृक्षोंपर यह होती है, इससे रोगोंपर विजय प्राप्त किया जाता है और आयुष्य स्थिर होता है, इसलिये इसको स्परणी भी कहते हैं ॥ ३ ॥

दण्डा, बाण अथवा किसीकी रगड लगनेसे जो व्रण होता है वह व्रण इस औषधिसे अच्छा हो जाता है ॥ ४ ॥

पीपल, खैर, पलाश आदि अनेक वृक्षोंसे इसकी उत्पत्ति होती है, यह घावको भरनेवाली है ॥ ५ ॥

यह पीले रंगवाली तेजस्वी और शरीरके लिये हितकारी है । यह रोग दूर करती है इसलिये इसका निष्कृति नाम हुआ है ॥ ६ ॥

यह सुवर्णके रंगवाली, बलवाली और अंदरसे तन्तु निकालनेवाली है । इसका नाम लाक्षा औषधि है । यह रसवाली है, परंतु वातस्वभाववाली है ॥ ७ ॥

इसका नाम सिलाची तथा कानीना भी है । जिन वृक्षोंके पत्ते बकरियां खाती हैं, उनपर यह मिलती है । सूर्यके गतिशील किरणोंके द्वारा यह बनती है ॥ ८ ॥

अश्वस्यास्नः संपतिता सा वृक्षाँ अभि सिष्यदे ।
सरा पतत्रिणी भूत्वा सा न एह्यरुन्धति ॥ ९ ॥ (४८)

॥ इति प्रथमोऽनुवाकः ॥ १ ॥

अर्थ— (अश्वस्य अस्नः सम्पतिता) घोडेके मुखसे संमिलित हुई (सा वृक्षान् अभि सिष्यदे) वह वृक्षोंको सींचती है। हे (अरुं-धति) घावको भरनेवाली ! (पतत्रिणी सरा भूत्वा) चूनेवाली और प्रवाहित होनेवाली होकर (सा नः एहि) वह तू हमारे पास आ ॥ ९ ॥

भावार्थ— सूर्यकिरणसे तप्त होकर वृक्षोंसे बाहर आती है। यह वृक्षसे चूती है और बाहर आती है। यह व्रणोंको ठीक करनेवाली है ॥ ९ ॥

लाक्षा ।

लाक्षाका वर्णन वैद्यक ग्रंथोंमें बहुत आता है। इसको भाषामें लाही कहते हैं। लाख भी इसीका नाम है। इसके संस्कृत नाम बहुत हैं, परंतु उनमेंसे निम्नलिखित नाम इस सूक्तके साथ विचार करने योग्य हैं—

१ जन्तुका, जतु, जतुका– कृमियोंसे बननेवाली।
२ क्रिमिजा, कीटजा– कृमियोंसे बननेवाली।
३ क्रिमिहा– क्रिमियोंका नाश करनेवाली।
४ रक्षा, राक्षा, लाक्षा– रक्षा करनेवाली।
५ रक्तमाता– रक्त जिससे बनता है।
६ क्षतघ्ना, क्षतघ्नी– व्रणका नाश करनेवाली।
७ खदिरिका– खैरके वृक्षसे उत्पन्न होनेवाली।
८ पलाशी– पलाश वृक्षसे उत्पन्न होनेवाली।
९ द्रुमव्याधिः, द्रुमामयः– यह वृक्षका रोग है।
१० दीप्तिः– यह तेजःस्वरूप है।
११ द्रवरसा– द्रव रसरूप है।

ये इस लाक्षाके नाम इस सूक्तमें कहा आशय ही बता रहे हैं। देखिये—

यह लाक्षा खैर और पलाश तथा अन्यान्य वृक्षोंसे प्राप्त होती है यह बात इस सूक्तके पञ्चम मंत्रमें कही है। जिसके सूचक नाम वैद्यक ग्रंथोंमें ' खदिरिका और पलाशी ' ये हैं। इसका नाम वैद्यक ग्रंथोंमें ' दीप्ति ' कहा है, इस गुणका वर्णन षष्ठ और सप्तम मंत्रमें ' हिरण्यवर्णा ' आदि शब्दोंसे हुआ है। ' द्रव रसा ' इसका नाम वैद्यक ग्रंथमें है। यही भाव नवम मंत्रके ' सरा ' पदसे जाना जाता है। सरा और रसा ये शब्द अक्षरके उलट पुलट होनेसे भी बनते हैं।

लाक्षाका नाम ' क्षत-घ्नी ' है। इसका अर्थ व्रणको ठीक करनेवाली है। यही बात इस सूक्तके चतुर्थ मंत्रमें कही है। ' दण्डसे, बाणसे अथवा रगडसे होनेवाला व्रण लाक्षाके प्रयोगसे दूर होता है ' इस प्रकार मंत्रमें कहे हुए गुण और इन शब्दोंमें कहे हुए गुण परस्पर मिलते जुलते हैं। अब इस लाक्षाके गुण देखिये—

> तिक्ता कषाया श्लेष्मपित्तघ्नी विषघ्नी रक्तघ्नी
> विषमज्वरघ्नी च । रा. नि. व. ६

' लाक्षा, तिक्त और कषाय है। तथा कफ, पित्त, विष, रक्त-दोष और विषमज्वरको दूर करनेवाली है। ' इसके ये गुण हैं, इसीलिये यह मनुष्यकी रक्षा करती है ऐसा इस सूक्तमें बार बार कहा है।

इस सूक्तमें लाक्षा औषधिके माता, पिता, पितामह, बहिन, कन्या आदि संबंधियोंका वर्णन मं. १, ७, ८ में आ गया है। इस वर्णनके आशयकी अधिक खोज करनी चाहिये। वैद्योंको उचित है कि, वे इसका अधिक विचार करें और इस खोजकी पूर्णता करें।

प्रथम मंत्रमें शिलाची लाक्षाका वर्णन करते हुए ' देवानां स्वसा ' ऐसा उसका वर्णन किया है। यह लाक्षा देवोंकी बहिन है, अर्थात् इंद्रियोंकी सहायक है। ' देव ' शब्द यहां इंद्रिय-वाचक है, आगे जाकर हरएक अंग और अवयवके व्रणको दूर करनेवाली यह लाक्षा है, ऐसा कहा है, इसलिये यह इंद्रियोंकी सहायक है यह बात सिद्ध होती है।

द्वितीय मंत्रमें इसका पान करनेवाला दीर्घजीवी होता है, ऐसा कहा है। यह लाक्षा रस करके किस प्रकार पीयी जाती है, यह एक विचारणीय प्रश्न है। इसका सेवन पेटमें करनेसे यह मनुष्यकी रक्षा करती है। रक्षा करनेके कारण ही इसको ' रक्षा, राक्षा अथवा लाक्षा ' कहते हैं। यह व्रणको ठीक करती है, सडने नहीं देती और मनुष्योंका भरण-पोषण करती हुई मनुष्यको आरोग्यसंपन्न करती है। द्वितीय मंत्रका यह कथन पूर्वोक्त वैद्यक ग्रंथोक्त गुणोंके साथ भी मिलता है।

तृतीय मंत्रमें कहा है कि यह बहुत वृक्षोंपर होती है, यह रोगोंपर विजय करती है, रोगोंका सामना करती है। इस कारण बहुत लोग इसको चाहते हैं। सब लोगों द्वारा इसकी स्पृहा करनेके कारण इसका नाम ही ' स्परणी ' हुआ है।

चतुर्थ मंत्रमें कहा है कि विविध प्रकारसे उत्पन्न हुए व्रण आदिको यह लाक्षा दूर करती है। रोगोंकी निष्कृति करनेके कारण इसका नाम ' निष्कृति ' हुआ है।

पंचम मंत्रमें कहा है कि पिलखन, पीपल, खैर, बबूल, पलाश आदि वृक्षोंपर यह होती है, और यह ' अरुं-धती ' है अर्थात् व्रणोंको चंगा करनेवाली है। इसके प्रयोगसे नाना प्रकारके घाव भर जाते हैं।

षष्ठ और सप्तम मंत्रके पूर्वार्धमें इसके तेजस्वी होनेका वर्णन है। सूर्यके समान, तप्त सुवर्णके सदृश अथवा सूर्यके रंगके समान तेज इसमें है। यह ' वपुष्टमा ' अर्थात् शरीरके लिये हित करनेवाली है। शरीरको पुष्ट और तेजस्वी करनेवाली है। ' रुत ' अर्थात् व्रण आदिको दूर करती है और सब दोषोंको हटा देती है। रोगों और व्रणादिकोंका निराकरण करनेके कारण इसको ' निष्कृति ' नाम प्राप्त हुआ है। यह बात प्रकृतिवाली है, मानों इसका आत्मा ही बात है।

अष्टम मंत्रमें ' अजबभ्रु ' यह लाक्षाका पिता है, ऐसा कहा है। अज नाम बकरीका है, बकरियोंका जो पोषण करते हैं, उन वृक्षोंका यह नाम है। जिन वृक्षोंके पत्ते बकरियां खाती हैं उन पीपल, बेरी आदि वृक्षोंका यह नाम है। इनपर लाक्षा उत्पन्न होती है।

इस प्रकार इस सूक्तमें लाक्षाका वर्णन किया है। वैद्य इसके उपयोगका अधिक विचार करें और जनताके लाभके लिये उसका प्रकाश करें।

यहां प्रथम अनुवाक समाप्त ॥ १ ॥

ब्रह्मविद्या ।

(६) ब्रह्मविद्या ।

(ऋषिः — अथर्वा । देवता — सोमारुद्रौ ।)

ब्रह्म॑ जज्ञा॒नं प्र॑थ॒मं पु॒रस्ता॒द्वि सी॑म॒तः सु॒रुचो॑ वे॒न आ॑वः ।
स बु॒ध्न्या॑ उप॒मा अ॑स्य वि॒ष्ठाः स॒तश्च॒ योनि॒मस॑तश्च॒ वि वः॑ ॥ १ ॥
अना॑प्ता॒ ये वः॑ प्रथ॒मा यानि॒ कर्मा॑णि चक्रि॒रे ।
वी॒रान्नो॒ अत्र॒ मा द॑भ॒न्तद्व॑ ए॒तत्पु॒रो द॑धे ॥ २ ॥

अर्थ— (पुरस्तात् प्रथमं) पूर्वकालसे भी प्रथम (जज्ञानं ब्रह्म) प्रकट हुए ब्रह्मको (सुरुचः सीमतः) उत्तम प्रकाशित मर्यादाओंसे (वेनः वि आवः) ज्ञानीने देखा है। (सः) वही ज्ञानी (अस्य बुध्न्याः वि-ष्ठाः) इसके आकाश संचारी विशेष रीतिसे स्थित और (उप-मा) उपमा देने योग्य सूर्यादिकोंको देखकर (सतः च असतः योनिं) सत् और असत्के उत्पत्ति स्थानको भी (वि वः) विवृत करता है ॥ १ ॥

(ये प्रथमाः अनाप्ताः) जो पहिले श्रेष्ठ ज्ञानी पुरुष थे उन्होंने (वः यानि कर्माणि चक्रिरे) तुम्हारे लिये जो कर्म किये, वे (नः वीरान् अत्र मा दभन्) हमारे वीरोंको यहां कष्ट न दें। (तत् एतत् वः पुरः दधे) वह यह सब तुम्हारे सन्मुख धर देता हूं ॥ २ ॥

भावार्थ— सबसे प्रथम प्रकट हुए ब्रह्मको उसके प्रकाशकी मर्यादाओंके द्वारा ज्ञानी जानता है और वही ज्ञानी उपमा देने योग्य आकाशसंचारी सूर्यादि ग्रहों और नक्षत्रोंको देख कर सत् और असत्के मूल उत्पत्ति स्थानके विषयमें सत्य उपदेश करता है ॥ १ ॥

पहिले ज्ञानी पुरुषोंने जो जो प्रशस्त कर्म किये थे, उनका स्मरण करके वैसे कर्म तुम करो, और बालबच्चों और वीरोंको बचाओ, यही तुम्हारे लिये कहना है ॥ २ ॥

सहस्रधार एव ते समस्वरन्दिवो नाके मधुजिह्वा असश्चतः ।
तस्य स्पशो न नि मिषन्ति भूर्णयः पदेपदे पाशिनः सन्ति सेतवे ॥ ३ ॥
पर्यू षु प्र धन्वा वाजसातये परि वृत्राणि सक्षणिः ।
द्विषस्तदध्यर्णवेनेयसे सनिस्रसो नामासि त्रयोदशो मास इन्द्रस्य गृहः ॥ ४ ॥
न्वे३तेनारात्सीरसौ स्वाहा । तिग्मायुधौ तिग्महेती सुशेवौ सोमारुद्राविह सु मृडतं नः ॥ ५ ॥
अवैतेनारात्सीरसौ स्वाहा । तिग्मायुधौ तिग्महेती सुशेवौ सोमारुद्राविह सु मृडतं नः ॥ ६ ॥
अपैतेनारात्सीरसौ स्वाहा । तिग्मायुधौ तिग्महेती सुशेवौ सोमारुद्राविह सु मृडतं नः ॥ ७ ॥
मुमुक्तमस्मान्दुरितादवद्याज्जुषेथां यज्ञममृतमस्मासु धत्तम् ॥ ८ ॥

अर्थ— (**दिवः सहस्रधारे नाके एव**) द्युलोकके सहस्रों धाराओंसे युक्त सुखपूर्ण स्थानमें ही (**ते असश्चतः मधुजिह्वाः समस्वरन्**) वे निश्चल शांत स्वभाववाले और मधुरभाषणी लोग सब मिलकर एक स्वरसे कहते हैं, कि (**तस्य भूर्णयः स्पशः न नि मिषन्ति**) उसके पकडनेवाले पाश लिये दूत कभी आंख नहीं बंद करते हैं। (**सेतवे पदे पदे पाशिनः सन्ति**) बांधनेके लिये पद पद पर पाश लिये खडे हैं ॥ ३ ॥

(**वाजसातये वृत्राणि सक्षणिः**) अन्नदानके लिये प्रतिबंध करनेवाले शत्रुओंको दूर करनेवाला बनकर (**उपरि सु प्र धन्व**) उनको सब ओरसे भगा दे। क्योंकि (**तत् द्विषः अर्णवेन अधि ईयसे**) तू शत्रुओंपर समुद्रकी ओरसे भी चढाई करते हो। इस कारण आपका (**सनि-स्रसः नाम असि**) सनिस्रस अर्थात् चढाई करनेमें कुशल इस अर्थका नाम है। (**त्रयोदशः मास इन्द्रस्य गृहः**) तेरहवां महिना इन्द्रका घर है ॥ ४ ॥

(**नु एतेन असौ अरात्सीः**) निश्चयसे इस प्रकार उस तूने सिद्धि प्राप्त की है। (**स्वा-हाः**) आत्मसर्वस्वका समर्पण ही सिद्धिका मार्ग है। (**तिग्मायुधौ तिग्महेती**) तीक्ष्ण हथियारवाले और तीक्ष्ण अस्त्रवाले (**सुशेवौ सोमारुद्रौ**) उत्तम सेवा करने योग्य सोम और रुद्र (**इह नः मृडतं**) यहां हमें सुखी करें ॥ ५ ॥

(**एतेन असौ अव अरात्सीः**) इसी रीतसे यह तू सिद्धि प्राप्त करता है, (**स्वाहा**) त्याग ही सिद्धिका मूल है। (**तिग्मायुधौ०**) उत्तम शस्त्रास्त्रवाले वीर यहां सबको सुखी करें ॥ ६ ॥

(**एतेन असौ अप अरात्सीः**) इसी रीतिसे यह तू सिद्धि प्राप्त करता है। (**स्वाहा**) त्याग ही सिद्धिका मूल है। (**तिग्मा०**) उत्तम शस्त्रास्त्रधारी वीर यहां सबको सुखी करें ॥ ७ ॥

(**अस्मान् अवद्यात् दुरितात् मुमुक्तं**) हम सबको निंदनीय पापसे छुडावो, (**यज्ञं जुषेथां**) यज्ञका सेवन करो। और (**अस्मासु अमृतं धत्तं**) हममें अमृत धारण कराओ ॥ ८ ॥

भावार्थ— प्रकाशपूर्ण स्वर्ग धाममें रहनेवाले शांत और मधुर स्वभाववाले ज्ञानी लोग एक स्वरसे कहते हैं कि उस प्रभुके दूत कभी आंख बंद नहीं करते; अपने आंख सदा खुले रखकर हाथमें पाश लिये हुए पापियोंको बांधनेके लिये पद पद पर तत्पर रहते हैं ॥ ३ ॥

जो लोग अन्नदान आदि परोपकारके कार्योंमें विघ्न उत्पन्न करते हैं, उनको दूर करो। जिस प्रकार शत्रुपर भूमिसे चढाई की जाती है, उस प्रकार समुद्रकी ओरसे शत्रुपर चढाई करनेमें भी तू कुशल बन। तेरहवां महिना भी अन्य मासोंके समान इन्द्रका घर है ॥ ४ ॥

इस मार्गसे हरएकको सिद्धि मिल सकती है। परोपकारके लिये आत्मसर्वस्वका समर्पण करना ही सिद्धिका मूल है। उत्तम शस्त्रास्त्रधारी सेवा करने योग्य वीर उक्त प्रकार यहां सबको सुखी करें ॥ ५ ॥

इसी रीतिसे हरएक मनुष्य सिद्धि प्राप्त कर सकता है। त्याग भाव ही सिद्धिका मूल है। सब वीर इसी मार्गसे सबको सुखी करें ॥ ६ ॥

इसी प्रकार सिद्धि मिलती है। त्याग भाव ही सिद्धिका मूल है। सब वीर इसी मार्गसे सबको सुखी करें ॥ ७ ॥

पापसे दूर रहो। प्रशस्त सत्कर्म करो और अमरत्व प्राप्त करो ॥ ८ ॥

चक्षुषो हेते मनसो हेते ब्रह्मणो हेते तपसश्च हेते ।
मेन्या मेनिरस्यमेनयस्ते सन्तु येऽस्माँ अभ्यघायन्ति ॥ ९ ॥
योऽस्माँश्चक्षुषा मनसा चित्त्याकूत्या च यो अघायुरभिदासात् ।
त्वं तानग्ने मेन्यामेनीन् कृणु स्वाहा ॥ १० ॥
इन्द्रस्य गृहोऽसि । तं त्वा प्र पद्ये तं त्वा प्र विशामि सर्वगुः सर्वपूरुषः
सर्वात्मा सर्वतनूः सह यन्मेऽस्ति तेन ॥ ११ ॥
इन्द्रस्य शर्मासि । तं त्वा प्र पद्ये तं त्वा प्र विशामि सर्वगुः सर्वपूरुषः
सर्वात्मा सर्वतनूः सह यन्मेऽस्ति तेन ॥ १२ ॥
इन्द्रस्य वर्मासि । तं त्वा प्र पद्ये तं त्वा प्र विशामि सर्वगुः सर्वपूरुषः
सर्वात्मा सर्वतनूः सह यन्मेऽस्ति तेन ॥ १३ ॥
इन्द्रस्य वरूथमसि । तं त्वा प्र पद्ये तं त्वा प्र विशामि सर्वगुः सर्वपूरुषः
सर्वात्मा सर्वतनूः सह यन्मेऽस्ति तेन ॥ १४ ॥ (६२)

अर्थ— हे (चक्षुषः हेते) आंखके आयुध! (मनसः हेते) हे मनके शस्त्र! (ब्रह्मणः हेते) हे ज्ञानके आयुध! और (तपसः च हेते) तपके आयुध! तू (मेन्याः मेनिः असि) शस्त्रका शस्त्र है। (ये अस्मान् अभ्यघायन्ति) जो हमें सताते हैं (ते अ-मेनयः सन्तु) वे शस्त्ररहित बनें ॥ ९ ॥

(यः यः अघायुः अस्मान्) जो कोई पापाचरण करनेवाला हमें (चक्षुषा मनसा चित्त्या) आंख, मन, चित्त, (च आकूत्या अभिदासात्) और संकल्पसे दास बनानेका यत्न करे, हे अग्ने! (त्वं तान् मेन्या अ-मेनीन् कृणु) तू उनको शस्त्रसे शस्त्रहीन कर। (स्वा-हा) आत्मसर्वस्वका समर्पण ही मुक्तिका हेतु है ॥ १० ॥

(इन्द्रस्य गृहः असि) तू इन्द्रका घर है। मैं (सर्व-गुः) सर्व प्रकारकी गतिसे युक्त, (सर्व-पूरुषः) सब पुरुषार्थ-शक्तिसे युक्त (सर्व-आत्मा) सर्व आत्मबलसे युक्त, (सर्व-तनूः) सब शारीरिक शक्तियोंसे युक्त (यत् मे अस्ति तेन सह) जो कुछ मेरा है, उसके साथ (तं त्वा प्र पद्ये) उस तुझको प्राप्त करता हूं, और (तं त्वा प्र विशामि) उस तुझमें प्रविष्ट हुआ हूं ॥ ११ ॥

(इन्द्रस्य शर्म असि) इन्द्रका तू आश्रयस्थान है। मैं (सर्व-गुः) सब गति, पुरुषार्थ शक्ति, आत्मिक बल और शारीरिक शक्तिसे युक्त होकर तथा जो भी कुछ मेरे पास है उसके साथ तुझे प्राप्त होता हूं, और तुझमें आश्रय लेता हूं ॥ १२ ॥

(इन्द्रस्य वर्म असि) इन्द्रका कवच तू है। मैं सब गति, पौरुषशक्ति, आत्मिक और शारीरिक बलसे युक्त होकर तथा जो कुछ मेरे पास है, उसको लेकर तुझे प्राप्त होता हूं और तेरे आश्रयसे रहता हूं ॥ १३ ॥

(इन्द्रस्य वरूथं असि) इन्द्रकी ढाल तू है। मैं सब गति, पौरुषशक्ति, तथा आत्मिक और शारीरिक बलके साथ तथा जो कुछ मेरा है, उस सबके साथ तुझे प्राप्त होता हूं और तेरे आश्रयसे रहता हूं ॥ १४ ॥

भावार्थ— आंख, मन, ज्ञान और तप ये बडे शस्त्रास्त्र हैं, ये शस्त्रोंके भी शस्त्र हैं। इनसे उन दुष्टोंको शस्त्रहीन कर, कि जो अपने बलसे दूसरोंको सताते हैं ॥ ९ ॥

जो कोई पापी आततायी चक्षु, मन, चित्त अथवा संकल्पसे दूसरोंको दास बनानेका यत्न करे, उसको तू उक्त शस्त्रोंसे शस्त्रहीन कर। इस मार्गमें आत्मसर्वस्वका समर्पण ही बंधमुक्त होनेका उपाय है ॥ १० ॥

सब गति, सब पुरुषार्थ शक्ति, सब आत्मिक बल और संपूर्ण शारीरिक बलोंके साथ तथा और भी जो कुछ मेरा कहने योग्य है उसको साथ लेकर, प्रभुके शरणमें जाता हूं, उसके घरमें प्रविष्ट होता हूं और वहां ही रहता हूं। वही हम सबका सच्चा घर और सबके लिये सुरक्षित स्थान है ॥ ११-१४ ॥

ब्रह्मप्राप्तिका मार्ग।

इस सूक्तका पहिला मंत्र (कां. ४।१।१) चतुर्थ काण्डके प्रथम सूक्तका पहिला मंत्र है, तथा इस सूक्तका द्वितीय मंत्र चतुर्थ (कां. ४।७।७) काण्डमें सप्तम सूक्तका सप्तम मंत्र है। इन मंत्रोंके अर्थ, भावार्थ और स्पष्टीकरण पाठक वहां देखें।

यद्यपि द्वितीय मंत्र कां. ४।७।७ में है, तथापि यह मंत्र वहां विष दूर करनेके औषधि प्रकरणमें है। इसलिये प्रकरणानुसार वहां औषधि प्रकरणका सामान्य अर्थ बता रहा है। परन्तु यहां ब्रह्मविद्या और आत्मोन्नतिका प्रकरण है, इस प्रकरणमें इसका अर्थ इसी प्रकरणके अनुकूल होगा और ऐसा करनेके लिये शब्दोंके वे ही अर्थ लेकर अर्थ देखा जायगा। क्योंकि यह सामान्य अर्थवाला मंत्र है और ऐसे मंत्र भिन्न भिन्न प्रकरणोंमें भी आकर वहांके योग्य अर्थ बता सकते हैं। जैसा किसीने अपने अनुयायियोंसे कहा कि 'तुम तैयार हो जाओ' तो यह सामान्य निर्देश होनेसे हरएक शाखाके कार्यकर्ता अपने अपने कर्तव्यकर्ममें तैयार होनेका आशय ले सकते हैं, और इस आदेशानुसार ब्राह्मण अपने ज्ञानकर्ममें, क्षत्रिय अपने युद्धकर्ममें, वैश्य अपने व्यापारव्यवहारके कार्यमें तथा शूद्र अपनी कारीगरीके कार्यमें अपनी सिद्धता कर सकता है। एक ही सामान्य आज्ञा भिन्न भिन्न श्रोताओंमें भिन्न भिन्न कार्यके लिये प्रेरणा कर सकती है। इसी प्रकार इस मंत्रकी सामान्य आज्ञा पूर्वोक्त स्थान (कां. ४।७।७) पर औषधिप्रयोगके कर्मकी प्रेरणा देती है और यहां उपासनायोगकी प्रेरणा देती है। पाठक इसका विचार करके इस सामान्य मंत्रका महत्त्व जान सकते हैं।

प्रथम मंत्रका विस्तृत स्पष्टीकरण चतुर्थ काण्डके सू. १, मं. १ की व्याख्यामें पाठक देख सकते हैं। इस प्रथम मंत्रका यह आशय है— 'ब्रह्म सबसे पहिले प्रकट हुआ है, उसके प्रकाशकी जहां मर्यादा होती है, वहां देखकर ज्ञानी इस ब्रह्मको जानता है। यही ज्ञानी सूर्यादि तेजस्वी पदार्थोंका अद्भुत तेज देखकर और उनकी उपमा देने योग्य अनुभव करके, इस तत्त्वके अनुसंधानसे मूल उत्पत्तिस्थानके विषयमें निश्चित ज्ञान प्राप्त करके उसका उपदेश कर सकता है। (मं. १)'

जिस प्रकार सूर्यका तेज किसी पदार्थपर गिरनेसे, अर्थात् उस तेजकी मर्यादा होनेसे, दिखाई देता है, मर्यादा न हुई तो सूर्यका तेज नहीं दिखाई देता, इसी प्रकार परमात्माके परम तेजका अनुभव भी सूर्यादि विविध केन्द्रोंमें उसकी मर्यादा होनेसे ही होता है अर्थात् यदि जगत् न बने तो परमात्माके अद्भुत सामर्थ्यका अनुभव कैसे हो सकता है। परमात्मा परम तेजस्वी है, उससे पूर्वकालसे प्रकाशित हो रहा है, यह सब सत्य है तथापि सूर्यचन्द्रादि केन्द्रोंमें जब उसके तेजकी अन्तिम सीमा बनती है, तब ही उसके सामर्थ्यका पता लग सकता है। जिस प्रकार घरके कमरेमें चमकनेवाले दीपका प्रकाश कमरेकी दिवारोंपर गिरनेसे नजर आता है। यदि दिवारोंकी रुकावट न हो, तो नजर नहीं आयेगा। इसी प्रकार इस विश्वके कमरेमें परमात्माका दीप चमक रहा है, अग्नि आदि देवतारूपी दिवारोंपर उसके किरण पडकर जो मर्यादा उत्पन्न होती है, उस मर्यादासे उसकी शक्तिका ज्ञान होता है। ब्रह्मप्राप्तिके मार्गकी यह एक सीढी है।

जगत्में परमात्माकी शक्तिका कार्य देख कर सदसत्के मूल आदि कारणको जानना चाहिये। ज्ञानी, कवि, सन्त ही इस प्रकार परमात्माका ज्ञान प्राप्त करते हैं और उसके संबंधका सत्य उपदेश कर सकते हैं।

यह प्रथम मंत्रका आशय है। इसके पश्चात् द्वितीय मंत्रमें कहा है कि— 'पूर्व कालके ज्ञानी महापुरुषोंने जिस प्रकार प्रशस्ततम कर्म किये थे, उसी प्रकार तुम भी प्रशस्ततम कर्म करो, अपने बालबच्चों और वीरोंको बचाओ और उनकी उन्नति करो, यही तुम्हें कहना है। (मं. २)' तुम्हारे सन्मुख वही आदर्श रहे, जो कि प्राचीनकालके श्रेष्ठ पुरुषोंने अपने सामने रखा था। इसी प्रकार प्राचीन कालके श्रेष्ठ पुरुषोंके जीवन चरित्र भी तू अपने सन्मुख रख और उनके समान बननेका यत्न कर। उन्होंने परमार्थसाधन करते हुए भी संसारयात्रा किस प्रकार चलाई, परमात्माकी भक्ति करते हुए अपने बालबच्चोंकी उन्नति किस प्रकार की, अपने संतानोंको विनाशसे कैसे बचाया, इत्यादि बातोंको उनके चरित्रोंमें देख कर उन बातोंको अपनी जीवनमें ढाल और उनके समान आचरण करके अपनी आत्मिक उन्नतिका साधन कर। यह उपदेश इस द्वितीय मंत्रद्वारा मिलता है। यह सामान्य व्यवहारका मंत्र वैद्यक प्रकरणमें वैद्यका व्यवहार उत्तम करनेकी प्रेरणा दे रहा है और यहां आत्मोन्नतिके प्रकरणमें संसारके साथ परमार्थका साधन करनेकी प्रेरणा दे रहा है। पाठक इन सामान्य मंत्रोंका महत्त्व यहां देखें और वेदकी इस शैलीका अनुभव करें।

इन दो मंत्रोंका इस प्रकार आशय देखनेके पश्चात् अब तृतीय मंत्रका मनन करते हैं।

स्वर्गके महन्तोंकी घोषणा।

जिनको स्वर्गसुखका अनुभव प्राप्त हुआ है, वे महन्त जन-

ताको जो कल्याणका उपदेश करते हैं, वह उपदेश इस तृतीय मंत्रमें कहा है—

ते अक्षभ्रतः मधुजिह्वाः सहस्रधारे
दिवो नाके समस्वरन् ॥ (मं. ३)

'वे स्थितप्रज्ञ, मधुर भाषण करनेवाले, सहस्र धाराओंसे जहां अमृत प्राप्त होता है उस द्युलोकके स्थानका अनुभव लेनेवाले सन्त महन्त एक स्वरसे यह उपदेश देते हैं।' अर्थात् वे लोग जनताकी भलाईके लिये एक स्वरसे निम्नलिखित उपदेश करते हैं।

तस्य भूर्णयः स्पशः न निमिषन्ति।
सेतवे पदे पदे पाशिनः सन्ति ॥ (मं. ३)

'उस परमात्माके दुष्टोंको पाशोंसे बांधनेवाले दूत आंख कभी मूंदते नहीं, अर्थात् लोगोंके पुण्यपापोंको अपने खुली आंखोंसे सदा देखते रहते हैं। पापियोंको पाशोंसे बांधनेके लिये अपने पाश लेकर सब जगत्में हरएक स्थानमें सदा तैयार रहते हैं।' अर्थात् इनकी दृष्टिसे कोई पापी कभी बच नहीं सकता, हरएक पापीको उसके पापके अनुसार दण्ड देनेके लिये वे दूत सदा तैयार रहते हैं और अवश्य ही उस पापीको बांध देते हैं। अतः कोई पापी यह न समझे कि मैं पाप करके परमात्माके दण्डसे बच जाऊं। पद पद पर उसके दूत आंख खोलकर खडे हैं, वे तत्काल पापीको पकडते हैं। यहां तक इन दूतोंका प्रबंध पूर्ण है कि, पकडा गया हुआ पापी कभी कभी अपने आपको स्वतंत्र भी समझता है, परन्तु वह उस समय पूर्ण रीतिसे बंधा हुआ होता है। परमात्माका इतना अद्भुत प्रबंध है, इस लिये सब मनुष्योंको उचित है कि वे उचित धर्मानुकूल व्यवहार दक्षताके साथ करनेका यत्न करें। पापसे बचें और इस प्रकारके सावधान आचरणसे परमात्माके इन गुप्तचरोंसे बच जांय। यह बिलकुल संभव नहीं है कि कोई छिपनेसे बच जाय। इस कारण विशेष सावधानताकी आवश्यकता है। यदि मनुष्य पुण्यमार्गपरसे जानेवाला होगा तो उसकी उत्तम रक्षा वेही ईश्वरके दूत उतनी ही सावधानीसे करते हैं, इसलिये पुण्यात्माको किसीसे डर नहीं होता।

जो पाठक इस मंत्रका उत्तम विचार करेंगे उनका आचरण अवश्य ही सुधर जायगा, इसमें कोई संदेह नहीं है। यदि आत्मिकशक्तिके विकास करनेकी इच्छा पाठकोंमें होगी, तो उनके लिये परिशुद्ध आचरणकी अत्यंत आवश्यकता है, यह उपदेश इस मंत्र द्वारा उत्तम रीतिसे मिलता है।

ॐ

शत्रुको भगाना।

चतुर्थ मंत्रमें शत्रुका लक्षण कहकर ऐसे शत्रुको दूर करनेका उपदेश किया है। 'वृत्र' शब्द यहां शत्रु वाचक है, जो घेरता है, चारों ओरसे प्रतिबंध उत्पन्न करता है, विशेषतः (वाजसातये) अन्नदान आदि परोपकारके कृत्योंमें जो रुकावटें खडी करता है, वह शत्रु है। पाठक विचार करेंगे तो उनकी रुकावट करनेवाले उनके शत्रु कौन हैं इसका उनको पता लग जायगा। धार्मिक, सामाजिक, राष्ट्रीय, वैयक्तिक अथवा सांघिक रुकावटें उत्पन्न करनेवाले अनेक शत्रु विद्यमान हैं। इनको दूर करके अपना उन्नतिका मार्ग खुला करना आवश्यक है। ऐसे शत्रुओंको (परि सु प्र धन्व) सब ओरसे उत्तम प्रकार विशेष रीतिसे भगा दो। अपने पास ठहरने न दो। शत्रुपर चढाई भूमिकी ओरसे तथा समुद्रकी ओरसे भी होती है। तथा ऊपरसे भी हो सकती है। कोई अन्य रीतियां भी होती होंगी। यहां तात्पर्य रीतियोंके कहनेसे नहीं है। जो भी रीति हो उसका अवलंबन करके शत्रुको दूर भगाया जावे, और अपना उन्नतिका मार्ग प्रतिबंधरहित बनाया जावे। प्रतिबंधरहित होना ही मुक्ति है। उसका मार्ग इस मंत्रने बताया है। यह तो आध्यात्मिक मुक्तिके लिये और सामाजिक तथा राष्ट्रीय मुक्तिके लिये भी अत्यंत उपयोगी है।

सिद्धिका मार्ग।

शत्रुओंका प्रतिबंध दूर करने, अपना मार्ग प्रतिबंधरहित करने और स्वतंत्रता प्राप्त करनेका उपदेश इन चार मंत्रोंमें पूर्वोक्त प्रकार किया है। अब विचार यह है कि इसकी सिद्धि किस प्रकार हो सकती है। इस शंकाके उत्तरमें कहा है—

एतेन नु अरात्सीः। (मं. ५)
एतेन अद्य अरात्सीः। (मं. ६)
एतेन अप अरात्सीः। (मं. ७)

'इसी मार्गसे तू सिद्धिको प्राप्त करेगा' अर्थात् पूर्वोक्त चार मंत्रोंमें जो धर्ममार्ग कहा है उसका आचरण करनेसे ही मनुष्यको सिद्धि मिल सकती है। चार मंत्रोंमें जो धर्म कहा है उसका संक्षिप्त स्वरूप यह है— (१) परमेश्वरकी भक्ति करना, (२) श्रेष्ठोंका आदर्श अपने सन्मुख रखना, (३) पापका भय धारण करना, (४) और प्रतिबंधक विघ्न अथवा शत्रु दूर करना।' ये उन्नतिके चार सूत्र हैं। इनका आचरण करनेसे मनुष्यकी उन्नति हो सकती है। इस उन्नतिमें एक बातकी आवश्यकता है और वह है 'स्वाहा' करना। स्वाहा करनेका अर्थ अब देखिये—

स्वा-हा करो।

इस सूक्तमें मं. ५ से ७ तकके तीन मंत्रोंमें तथा दसवें मंत्रमें मिलकर चार बार ' स्वाहा ' शब्द आया है। इसलिये इस सूक्तमें बार बार स्वाहा आनेसे इसका महत्त्व इस सूक्तोक्त सिद्धिमें अधिक है। इसलिये ' स्वाहा ' शब्दका अर्थ देखना चाहिये।

(स्व) अपने सर्वस्वको (हा) त्याग देनेका नाम स्वाहा है। अपने अधिकारमें जो तन, मन, धन आदि है उसका सब जनताकी भलाईके लिये समर्पण करनेका नाम स्वाहा करना है। अपनी शक्ति केवल अपने भोग बढानेमें ही खर्च न करते हुए संपूर्ण जनताकी भलाई करनेके प्रशस्ततम कार्य करनेमें उसका व्यय करना स्वाहा शब्दसे बताया जाता है। इसलिये यज्ञके हवनमें स्वाहा शब्दका उच्चार होता है। इसका अर्थ यह है कि यज्ञमें दी हुई आहुति दूसरोंकी उन्नतिके लिये दी है, उससे मैं अपने भोग बढाना नहीं चाहता। यही यज्ञकी शिक्षा है। द्रव्ययज्ञ, विद्यायज्ञ, ज्ञानयज्ञ आदि अनंत यज्ञ हैं, इनका अर्थ ही यह है कि द्रव्यज्ञान आदिका परोपकारार्थ समर्पण करना और उनको केवल अपने भोग बढानेके लिये न लगाना। परोपकारके लिये आत्मसर्वस्वका समर्पण करनेका नाम स्वाहाकार है। यह स्वाहाकार करनेसे ही इस सूक्तमें कही परम उच्च सिद्धि प्राप्त हो सकती है। यह स्वाहाकार जितना होगा उतनी सिद्धि होगी। सिद्धिके लिये इस स्वाहाकारकी अत्यन्त आवश्यकता है। मं. ५-७ तकके तीन मंत्रोंमें तीन बार लगातार कहनेसे इस आत्मसमर्पणका अत्यंत महत्त्व सिद्ध होता है। पाठक भी यहां देख सकते हैं कि जगत्में भी स्वार्थत्याग करनेवालेकी जैसी विशेष प्रतिष्ठा होती है, वैसी स्वार्थी मनुष्यकी नहीं होती। अर्थात् स्वार्थत्याग जैसा जगत्के व्यवहारमें प्रतिष्ठा प्राप्त करनेके लिये आवश्यक है, उसी प्रकार परमार्थसाधनके लिये भी आवश्यक है।

सोम और रुद्र।

जगत्में शांति करनेवाली और उग्रता बढानेवाली दो शक्तियां हैं, इनके ' सोम-रुद्र, अग्नि-सोम, इन्द्र-सोम ' ये नाम वेदमें आये हैं। सोमशक्ति जगत्में शान्ति करनेवाली है और रुद्रशक्ति उग्रता बढानेवाली है। प्रत्येक स्थानमें ये दोनों शक्तियां कार्य करती हैं, कहीं कदाचित् एक न्यून होती है और दूसरी प्रबल होती है। जो प्रबल होती है उसका प्रभाव होता है, अर्थात् यदि किसीमें सोमशक्तिका प्रभाव अधिक हुआ तो वह पुरुष शान्त, गम्भीर, विवेकी विचारी होगा, तथा किसीमें रुद्रशक्तिकी प्रधानता हुई तो वह पुरुष शूर वीर, युद्धप्रिय, क्रूर अथवा कठोर होगा। इस प्रकार मनुष्यकी स्वाभाविक प्रवृत्ति देखनेसे पता लग जाता है कि इसमें कौनसी शक्ति विशेष प्रबल है और कौनसी न्यून है।

जिस प्रकार व्यक्तिमें सोम अथवा रुद्रशक्तिकी न्यूनाधिकता होती है, उसी प्रकार समाजमें अथवा जातिमें सोम या रुद्रशक्तिकी न्यूनाधिकता होती है। इसी कारण ब्राह्मण और क्षत्रिय ये वर्ण क्रमशः शांत स्वभाव तथा उग्र स्वभाव हुए हैं। ब्राह्मणकी शान्ति और क्षत्रियकी उग्रता उस कारण ही सुप्रसिद्ध है। अतः सोमारुद्रौ इस देवता वाचक शब्दसे आदर्श ब्राह्मण-क्षत्रियोंका बोध होता है।

मं. ५-७ तकके तीनों मंत्रोंमें सोमारुद्रौ देवता हैं। ' ये दोनों देवता हमें सुखी करें ' ऐसी प्रार्थना इन तीनों मंत्रोंमें है। व्यक्तिके अंदर जो शान्ति और उग्रता होती है वह उसके हितके लिये सहायक होवे, अर्थात् मनुष्यकी शान्ति उसको शिथिल बनानेवाली न हो और मनुष्यकी उग्रता उसको हिंसक न बनावे, यह आशय यहां लेना उचित है। समाजमें भी शान्तिप्रिय ब्राह्मण और युद्धप्रिय क्षत्रिय परस्पर सहायकारी होकर परस्परकी उन्नति करते हुए राष्ट्रका उद्धार करनेवाले हों। इस प्रकार मनुष्यकी उन्नति होती रहे और सबका सुख बढता रहे और कोई हीन और दीन न हो। पूर्वोक्त रुद्री रीतिके अनुसार मनुष्य त्यागभावसे स्वार्थत्याग और आत्मसमर्पण करता हुआ और शान्ति तथा उग्रतासे योग्य सहायता लेता हुआ सिद्धिको प्राप्त करे। यह आशय इन तीन मंत्रोंका है। पाठक इन मंत्रोंका विचार करेंगे तो उनके ध्यानमें यह बात आ सकती है कि किस प्रकार स्वार्थत्याग और आत्मसमर्पण पूर्वक आत्मोन्नतिके मार्गका अवलंबन करके मनुष्य उन्नतिको प्राप्त हो सकता है। इन तीनों मंत्रोंका आशय ही भिन्न शब्दोंसे अष्टम मंत्रमें कहा है। इस अष्टम मंत्रके तीन भाग हैं—

तीन उपदेश।

१ अवद्यात् दुरितात् अस्मान् मुमुक्तम्। (मं. ८)

२ यज्ञं जुषेथाम्। (मं. ८)

३ अस्मासु अमृतं धत्तम्। (मं. ८)

' (१) निंद्य पापाचरणसे हमें मुक्त कर, (२) यज्ञका सेवन कर, (३) हममें अमृतको धारण करो। ' ये तीन उपदेश अष्टम मंत्रमें हैं। पापाचरणसे दूर रहना, आत्मसमर्पणरूप यज्ञ करना और अन्तमें अमृतको प्राप्त करना, ये तीन उपदेश हैं, जो पूर्वके मंत्रोंका सार है। इस समयतक जो उपदेश इस सूक्तमें कहे हैं उनका सार इन तीन मंत्रभागोंमें आ गया है।

' पापसे बचना, सत्कर्म करना, और मृत्युको दूर करके अमृतको प्राप्त करना। ' सब धर्मके नियम इन तीन मंत्रभागोंमें संमिलित हुए हैं। अमृत प्राप्त करना यह मनुष्योंका विधि है, उसका साधन यज्ञ अर्थात् सत्कर्म करना है और पापाचरण न करना यह निषिद्ध कर्मका निषेध है। इस प्रकार यह त्रिवृत यज्ञ किंवा त्रिकर्म करना है। यदि और कुछ सिद्ध न हुआ तो ये तीन उपदेश मनुष्यके मनमें स्थिर रहे तो उसका बेडा पार हो सकता है। कितने व्यापक महत्त्वके उपदेश कितने थोडे शब्दोंमें वेदने यहां दिये हैं; इसका विचार पाठक करेंगे; तो उनको इन उपदेशोंका महत्त्व समझ सकता है।

शस्त्रोंके शस्त्र।

शत्रुको दूर करनेका उपदेश इससे पूर्व कई बार किया है। उसका पालन करनेके लिये शत्रुके शस्त्रास्त्रोंकी अपेक्षा अपने शस्त्रास्त्र बढानेकी आवश्यकता होती है। हमारे शस्त्रास्त्र देखकर शत्रु भी अपने शस्त्रास्त्र बढाता है। इस प्रकार दोनों ओरके शस्त्रास्त्र बढने लगे, तो वे इतने बढ जाते हैं कि उसकी कोई परिमिति नहीं रहती। इसके पश्चात् जो अत्यधिक शस्त्रास्त्रोंसे सज्जित राष्ट्र होता है, उसका नियमन किस रीतिसे किया जाय, यह प्रश्न विचारी मनुष्योंके सन्मुख उपस्थित होता है, इस प्रश्नका उत्तर नवम मंत्रने दिया है—

चक्षुषः मनसः ब्रह्मणः तपसः हेतिः मेन्याः मेनिः।
(मं. ९)

'आंख, मन, ज्ञान और तपके जो शस्त्र हैं, वे शस्त्रोंके भी शस्त्र हैं।' अर्थात् शस्त्रोंसे कई गुनी अधिक शक्ति इनमें है। इनमें जो आत्मिकबल होता है वह शस्त्रास्त्रोंके बलसे कई गुना अधिक समर्थ होता है। इसलिये शस्त्रास्त्रोंके पाशवी बलका प्रतिकार नेत्र-मन-ज्ञान-तपरूपी आत्मिक बलवाले आध्यात्मिक शक्तियोंसे किया जा सकता है। केवल दृष्टिक्षेपसे, केवल मनकी इच्छासे, केवल ज्ञानके योगसे अथवा तपके प्रभावसे पाशवी शस्त्रोंका प्रतीकार किया जा सकता है। लोहेके शस्त्रास्त्र क्षत्रियके हैं और ये आत्मिक बल ब्राह्मणके होते हैं। विश्वामित्रके पाशवी शस्त्र तपस्वी वसिष्ठकी इच्छाशक्तिके सामने व्यर्थ सिद्ध हुए, यह ऐतिहासिक कथा यहां देखने योग्य है।

पाशवी बलका आत्मिक बलसे प्रतिकार।

पाशवी बल जिसके पास बढता है, वह अपने सुखको बढानेके लिये दूसरोंपर अत्याचार करता है, इस कारण वह (अघ+आयुः) जिसकी आयु पापमय हो चुकी है, ऐसा पापी बनता है। जिस प्रकार एक पापी व्यक्ति दूसरोंपर अत्याचार करता है उसी प्रकार पाशवी शस्त्रास्त्रोंसे युक्त एक पापी राष्ट्र भी दूसरोंपर भी अत्याचार करता है, इसलिये उसको भी ' अघ-आयु ' अर्थात् पापी जीवनवाला राष्ट्र कहते हैं, उसका वर्णन यह है—

ये अस्मान् अभ्यघायन्ति। (मं. ९)
यो अघायुः अस्मान् अभिदासात्। (मं. १०)

' जो हमें सब ओरसे पापाचरणसे कष्ट देते हैं। जो पापी हमें दास करना चाहता है अथवा हमारा सर्वस्व नाश करना चाहता है। ' इन मंत्रभागोंमें पाशवी अत्याचारका स्वरूप बताया है, (१) एक तो यह है कि दूसरेका घातपात पापपुण्यका विचार न करते हुए करना, (२) और दूसरा यह है कि दूसरोंका सर्वस्व नाश करना। यह पाशवी अत्याचारका स्वरूप है। जगतके अन्दरकी सब गुलामी और लोगोंके सब दुःख इसीके कारण हैं। पाठक जगत्‌के इतिहासमें देखेंगे, तो उनको मालूम होगा कि ' एक बलवाला दूसरे निर्बलको अपने पेटकी पूर्तिके लिये खा रहा है। ' यही पाशवी अत्याचार है। इस बलवान्‌के शस्त्रोंको निर्बल करनेका उपाय केवल आत्मिक बल ही है—

चक्षुषा मनसा चित्त्या आकूत्या मेन्या तान्
अमेनीन् कृणु। (मं. १०)
ब्रह्मणः तपसः च मेन्या ते अमेनयः सन्तु।
(मं. ९)

' आंख, मन, चित्त और संकल्परूपी शस्त्रसे उन अत्याचारी शत्रुओंको शस्त्र रहित कर। ज्ञान और तपके शस्त्रसे उनको शस्त्रहीन कर। ' अर्थात् पाशवी शस्त्रोंका सामना इन आत्मिक बलसे कर। अपने आंख, मन, चित्त, संकल्प, ज्ञान और तप ये ही आत्माके शस्त्र हैं। इनको तेजस्वी बना और इनसे तू लोहेके शस्त्रोंका प्रतिकार कर। तेरे अंदर ये आत्मिकबल जितने प्रमाणसे बढेंगे, उतने ही प्रमाणसे शत्रुके पाशवी बल सत्त्वहीन हो जायेंगे। पाशवी शक्तिवालोंका सामना करनेका यही सनातन मार्ग है। इसी मार्गके आचरणसे वसिष्ठने विश्वामित्रका और प्रल्हादने हिरण्यकशिपुका सामना किया था। इस आत्मिकबलके मार्गसे अन्तमें निःसंदेह विजय होगा। सबसे अधिक प्रभावशाली यह आत्मिकबल है। जो पाशवी बलवाले होते हैं वे अपने लोहशस्त्रोंके घमंडसे अपना आत्मिकबल बढानेका यत्न नहीं करते किंवा वे अत्याचारकी प्रवृत्तिके कारण अपना आत्मिकबल बढा नहीं सकते। इसलिये अनत्याचारी शान्तिपूर्ण अहिंसामय आत्मिकबलके मार्गपरसे जानेवाले लोग जितना अपना मार्ग आक्रमण करेंगे; उतना उनका विजय ही होता रहता है, क्योंकि उनके शत्रु इस मार्गमें आते नहीं, और यदि इस आत्मिकबलके मार्गपर वे आ गये, तो भी उसमें इन ही

आत्मिक उन्नतिवालोंकी ही जीत होगी । इसका कारण यह है कि यदि इस मार्गपर चलनेके लिये वे शत्रु अहिंसामय अनत्याचारी बने, तो दुःखका मूल ही नष्ट हो गया और फिर झगडेका कारण ही नहीं रहा । जैसा वसिष्ठका आत्मिकबल देखकर विश्वामित्रने अत्याचारी क्षात्रबलका त्याग करके शांतिमय अनत्याचारी ब्राह्मबल स्वीकार किया । तत्पश्चात् दोनोंमें झगडा होनेका कुछ भी कारण न रहा । इस प्रकार आत्मिकबलवालोंकी सदा जीत ही होती रहती है ।

इस आत्मिकबल द्वारा पाशवी अत्याचारोंको रोकनेके मार्गमें 'स्वा-हा' अर्थात् आत्मसर्वस्वका समर्पण करनेकी अत्यंत आवश्यकता होती है, इसीलिये दशम मंत्रमें पुनः 'स्वाहा' शब्द द्वारा आत्मत्यागका उपदेश दिया है । पाठक यहां स्मरण रखें, कि अत्यंत स्वार्थत्यागके बिना यह आत्मशुद्धि और आत्मबलके मार्गपरसे चलना असंभव है । इस आत्मसर्वस्वके समर्पणका स्वरूप देखिये—

आत्मसमर्पण ।

'अपना कहने योग्य जो भी कुछ हो उसका सत्कार्यमें समर्पण करना आत्मसमर्पण कहलाता है ।' इसका वर्णन इस प्रकार है—

यत् मे अस्ति तेन सह, सर्वतनूः, सर्वगुः, सर्वात्मा, सर्वपूरुषः त्वा प्र पद्ये, त्वा प्र विशामि ॥ ११-१४ ॥

'जो कुछ मेरा है उसको लेकर तथा सब शरीर, सब इंद्रिय, सब आत्मशक्तियां, सब पुरुषार्थशक्तियां लेकर तुझे प्राप्त होता हूं और तुझमें प्रविष्ट होता हूं ।'

इस मंत्रमें स्वार्थसमर्पणकी परम सीमाका वर्णन है । जो कुछ मेरा इस जगत्में है उसको भी परमार्थकी सिद्धता करनेके लिये समर्पण करता हूं और उसके साथ अपना शरीर, अपनी इंद्रिय, अपना मन आदि शक्तियां, और सब पुरुषार्थकी शक्तियां भी उसी परम कार्यके लिये समर्पित करता हूं । अर्थात् जो कुछ अपना कहने योग्य है, वह सब ध्येयकी सिद्धिके लिये समर्पित करता हूं । यह 'स्वाहा' शब्दका स्पष्ट अर्थ इन मंत्रों द्वारा बताया गया है । इन मंत्रोंको देखनेसे आत्मसमर्पणका अर्थ कितना व्यापक है, इस बातका पता लग सकता है । इस प्रकारका आत्मसमर्पण जो कर सकते हैं वे ही त्यागी अन्तमें बंधमुक्त होकर अमृत प्राप्त कर सकते हैं, जिनको किसी भी प्रकारकी पाशवी शक्तिसे बाधा नहीं आ सकता ।

इस रीतिसे इस सूक्तमें आत्मोन्नतिके मार्गका उपदेश दिया है, इस मार्गसे आत्मशुद्धि होकर वैयक्तिक, सामाजिक, राजकीय और पारमार्थिक उन्नतिका साधन मनुष्य कर सकता है । यह सूक्त कई दृष्टियोंसे मनन करने योग्य है । जो पाठक इस दर्शायी रीतिसे इस सूक्तका अधिक मनन करेंगे, वे अपने उद्धारका उत्तम बोध प्राप्त कर सकते हैं ।

ऐश्वर्यमयी विपत्ति ।

(७) अरातिनाशनम् ।

(ऋषि — अथर्वा । देवता — बहुदैवत्यम्, अरातयः, सरस्वती ।)

आ नो भर मा परि ष्ठा अराते मा नो रक्षीर्दक्षिणां नीयमानाम् ।
नमो वीर्त्साया असमृद्धये नमो अस्त्वरातये ॥ १ ॥

अर्थ— हे (अराते) अदानी ! (नः आ भर) हमें धन भर दे, हमसे (मा परि स्थाः) मत अलग हो, (नः नीयमानां दक्षिणां मा रक्षीः) हमारी लाई गई दक्षिणाको मत अपने पास रख । ऐसी (वीर्त्सायै असमृद्धये नमः) ईर्ष्या युक्त असमृद्धिके लिये नमस्कार है और (अरातये नमः अस्तु) अदानके लिये दूरसे नमस्कार है ॥ १ ॥

भावार्थ — दान न देनेका गुण संपत्तिको संग्रहित करता है, इसलिये यह गुण कुछ मर्यादा तक अलग न हो । परंतु देने योग्य दक्षिणाका दान कम न हो । इस मर्यादा तककी कंजूसी और असमृद्धिका हम आदर करते हैं ॥ १ ॥

यमराते पुरोधत्से पुरुषं परिरापिणम्। नमस्ते तस्मै कृण्मो मा वनिं व्यथयीर्मम ॥ २ ॥
प्र णो वनिर्देवकृता दिवा नक्तं च कल्पताम्। अरातिमनुप्रेमो वयं नमो अस्त्वरातये ॥ ३ ॥
सरस्वतीमनुमतिं भगं यन्तो हवामहे। वाचं जुष्टां मधुमतीमवादिषं देवानां देवहूतिषु ॥ ४ ॥
यं याचाम्यहं वाचा सरस्वत्या मनोयुजा। श्रद्धा तमद्य विन्दतु दत्ता सोमेन बभ्रुणा ॥ ५ ॥
मा वनिं मा वाचं नो वीर्त्सीरुभाविन्द्राग्नी आ भरतां नो वसूनि।
सर्वे नो अद्य दित्सन्तोऽरातिं प्रति हर्यत ॥ ६ ॥
पुरोऽपेह्यसमृद्धे वि ते हेतिं नयामसि। वेद त्वाहं निमीवन्तीं नितुदन्तीमराते ॥ ७ ॥

अर्थ— हे (अराते) अदानी! (यं परिरापिणं पुरुषं पुरोधत्से) जिस बडबडनेवाले पुरुषको तू आगे धरती है (ते तस्मै नमः कृण्मः) तेरे उस पुरुषको हम नमस्कार करते हैं। परंतु (मम वनिं मा व्यथयीः) मेरे मनकी इच्छाको तू पीडा न दे ॥ २ ॥

(नः देवकृता वनिः) हमारी देवों द्वारा निर्मित इच्छा (दिवा नक्तं च कल्पतां) दिन और रात समर्थ होवे। (वयं अरातिं अनुप्रेमः) हम अदानशीलताको प्राप्त हों (अरातये नमः अस्तु) अदानशक्तिको नमस्कार होवे ॥ ३ ॥

(यन्तः सरस्वतीं अनुमतीं भगं हवामहे) हलचल करनेवाले हम विद्या, सुमति और ऐश्वर्यको पास बुलाते हैं। (देवहूतिषु देवानां जुष्टां वाचं अवादिषं) देवोंके आह्वानके प्रसंगमें देवोंके लिये प्रिय वाणी ही मैं बोलता हूं ॥ ४ ॥

(यं अहं मनोयुजा सरस्वत्या वाचा याचामि) जिससे मैं उत्तम मनसे युक्त ज्ञानमय वाणीको मांगता हूं (तं अद्य बभ्रुणा सोमेन दत्ता) उसको आज भरणकर्ता सोमने दी हुई (श्रद्धा विन्दतु) श्रद्धा प्राप्त होवे ॥ ५ ॥

(नः वनिं मा) हमारी भक्तिको न कम कर और (वाचं मा वि ईर्त्सीः) वाणीको भी न रोक। (उभौ इन्द्राग्नी नः वसूनि आ भरतां) दोनों इन्द्र और अग्नि हमें धन प्राप्त करावें। (नः दित्सन्तः सर्वे) हमें दान करनेवाले सब हैम (अरातिं प्रति हर्यत) अदानशीलताको विरोधके साथ प्राप्त हो ॥ ६ ॥

हे (असमृद्धे) असमृद्धि! (परः अप इहि) परे चली जा (ते हेतिं वि नयामसि) तेरे घातको हम अलग करते हैं। हे (अराते) अदानशीलते! (अहं त्वा निमीवन्तीं नितुदन्तीं वेद) मैं तुझको निर्बल करनेवाली और अंदरसे चुभनेवाली जानता हूं ॥ ७ ॥

भावार्थ— जिस पुरुषपर उक्त प्रकारकी अदानशीलताका प्रभाव हुआ है उसको भी हम नमस्कार करते हैं, तथापि मेरी मनकी इच्छाको उससे व्यथा न पहुंचे ॥ २ ॥

देवों द्वारा प्रेरित हमारी सदिच्छा दिन और रात बढती रहे। हम उक्त प्रकारकी अदानशीलताको प्राप्त हों ॥ ३ ॥

हम हलचल करनेवाले लोग विद्या, सुमति और ऐश्वर्यकी इच्छा करते हैं। हम सदा प्रियवाणी ही बोलें ॥ ४ ॥

मैं उत्तम सुसंस्कृत मन और ज्ञानमयी वाणीको चाहता हूं। उत्तम श्रद्धा भी हम सबको प्राप्त हो ॥ ५ ॥

हमारी सदिच्छा कम न हो और वाणी न रुके। देव हमें धन देवें। दान देनेवाले सब दानी उक्त प्रकारकी अदान-शीलताको दूरसे नमस्कार करें ॥ ६ ॥

असमृद्धि दूर चली जावे। तेरे आघातको हम हटाते हैं। मैं जानता हूं कि असमृद्धिसे निर्बलता होती है और अंदरसे ही कष्ट होते हैं ॥ ७ ॥

उत नग्ना बोभुवती स्वप्नया सचसे जनम् । अराते चित्तं वीर्त्सन्त्याकूतिं पुरुषस्य च ॥ ८ ॥
या महती महोन्माना विश्वा आशा व्यानशे । तस्यै हिरण्यकेश्यै निर्ऋत्या अकरं नमः ॥ ९ ॥
हिरण्यवर्णा सुभगा हिरण्यकशिपुर्मही । तस्यै हिरण्यद्रापयेऽरात्या अकरं नमः ॥ १० ॥ (७२)

अर्थ— हे (अराते) अदानशीलते ! (उत नग्ना बोभुवती) और नंगी होकर (जनं स्वप्नया सचसे) मनुष्यको आलससे युक्त करती है। इस प्रकार (पुरुषस्य चित्तं आकूतिं च वि ईर्त्सन्ती) मनुष्यके चित्त और संकल्पको मलीन करती है ॥ ८ ॥

(या महती महोन्माना) जो बडी और विशाल होनेके कारण (विश्वा आशा व्यानशे) सब दिशाओंमें फैली है। (तस्यै हिरण्यकेश्यै निर्ऋत्यै) उस सुवर्णके समान बालवाली विपत्तिको (नमः अकरं) नमस्कार करते हैं ॥ ९ ॥

(हिरण्यवर्णा सुभगा) सुवर्णके समान वर्णवाली, ऐश्वर्यवाली (मही हिरण्यकशिपुः) बडी सुवर्ण वस्त्रवाली है (तस्यै हिरण्यद्रापये अरात्यै) उस सुवर्णके वस्त्रोंसे आच्छादित अदानशीलताके लिये (नमः अकरं) नमस्कार करता हूं ॥ १० ॥

भावार्थ— कंजूसी मनुष्यको नंगा बनाती और आलसी बनाती है। और मनुष्यके चित्त और संकल्पको मलीन करती है ॥ ८ ॥

यह बडी विशाल है और सर्वत्र फैली है। उस सुवर्णके समान रंगवाली विपत्तिके लिये दूरसे ही नमस्कार है ॥ ९ ॥

सुवर्णके समान सुंदर, ऐश्वर्यवाली, सुवर्णके आभूषणवाली इस अदानशीलताको हम दूरसे नमन करते हैं ॥ १० ॥

विपत्तिपूर्ण सम्पत्ति।

आपत्तिपूर्ण विपत्ति और संपत्तिमय विपत्ति, ऐसी दो प्रकारकी विपत्तियां हैं। इनमेंसे वस्तुतः दोनों निंदनीय ही हैं; परंतु पहिलीका सर्वथैव निषेध और दूसरीका कुछ नियमोंसे निषेध वेदमें किया है। आपत्तिपूर्ण विपत्ति वह है कि जो परिपूर्ण निर्धनताके साथ अनंत आपत्तियां लगी रहती हैं। यह अवस्था तो पुरुषार्थके साथ दूर करनी चाहिये। परंतु दूसरी जो संपत्तिमय विपत्ति है, जिसको भाषामें 'कंजूसी' कहते हैं; इस अवस्थामें मनुष्यके पास संपत्ति तो विपुल रहती है; परंतु दान न करनेके कारण घरमें विपुल धन होते हुए भी इसकी स्थिति कंगाल जैसी होती है। यह भी अवस्था दूरसे ही नमस्कार करने योग्य है। और इसीका वर्णन इस सूक्तमें किया है।

पाठक ऐसे मनुष्यकी कल्पना अपने मनमें करें कि जो बडा धनी है, परंतु अत्यंत कंजूस है, अत्यंत आवश्यक धर्मकृत्यके लिये भी दान नहीं देता है। ऐसा मनुष्य संपत्तिमय विपत्तिसे घेरा हुआ होता है, इसका वर्णन इस सूक्तके नवम और दशम मंत्रमें किया है। जो पाठक इन दोनों मंत्रोंका आशय ठीक प्रकार समझेंगे, उनको इस सूक्तका तात्पर्य समझनेमें कोई कठिनता न होगी।

नवम मंत्रमें (हिरण्यकेशी निर्ऋती) सोनेके बालोंवाली विपत्तिका वर्णन है। जहां बालबालमें सुवर्ण भरा है, ऐसी यह धनमय निर्धनता है। इसीको धन पास होते हुए निर्धन कहा जाता है। इसीका और वर्णन दशम मंत्रमें देखिये—

हिरण्यवर्णा, सुभगा, हिरण्यकशिपुः मही, हिरण्यद्रापी, अरातिः। (मं. १०)

'सोनेके वर्णसे युक्त, उत्तम भाग्यवती, सोनेके शरीरसे युक्त, बडी और सोनेके कपडे ओढी अदानशीलता यह है।' जिस धनीके पास सोना, चांदी विपुल है, अन्यान्य ऐश्वर्य जितना चाहिये उससे भी अधिक है, हरएक स्थानपर सोनेके ढेर लगे हुए हैं, घरमें कपडे, बर्तन और अन्यान्य साधन भी सुवर्णके ही बने हैं, ऐसे महाधनी पुरुषके अंदर जो दान न देनेका भाव रहता है उसका नाम 'धनयुक्त निर्धनता' है। निर्धन मनुष्य दान न देवे तो वह उसका न देना समर्थनीय है, क्योंकि उसके पास देनेके लिये कुछ भी नहीं है, परंतु जो मनुष्य संपत्तिसे लदा हुआ होनेपर भी सत्कर्मके लिये उचित दान नहीं देता, उसको तो दूरसे ही (नमः अकरं। मं. १०) नमस्कार करना चाहिये। उसके पास भी जाना योग्य नहीं है। इस प्रकारकी धनमयी विपत्ति बहुत स्थानोंमें दिखाई देती है, इसी विषयमें नवम मंत्रमें कहा है—

या महती महोन्माना विश्वा आशा व्यानशे ।
(मं. ९)

'यह संपत्तिमयी विपत्ति बडी विशाल है और सब दिशाओंमें व्याप्त है' अर्थात् कोई दिशा इससे खाली नहीं है। हरएक दिशामें इस संपत्तिमयी विपत्तिमें डूबे हुए लोग होते ही हैं। कोई गांव इससे खाली नहीं है। अपनी शक्तिसे अत्यधिक दान देनेवाले अथवा जनताकी भलाईके लिये आत्मसर्वस्वका पूर्णतया समर्पण करनेवाले उदारधी दानी महात्मा थोडे ही होते हैं। परंतु बहुत अल्पदान करनेवाले अथवा बिलकुल दान न देनेवाले लोग ही बहुत होते हैं। इसीलिये नवम मंत्रमें कहा कि 'यह दानहीनता बडी विशाल और सर्वत्र उपस्थित है।' कोई नगर इससे खाली नहीं है। प्रशस्त कर्म करनेके लिये धनकी याचना करनेवाले धर्मसेवक किसी भी नगरमें जावें, वहां इस प्रकारके धनवान् होते हुए भी निर्धनके समान व्यवहार करनेवाले लोग ही उनको चारों ओर दिखाई देंगे। इस कंजूसीसे क्या होता है देखिये—

कंजूसीसे गिरावट।

नग्ना बोभुवती स्वप्नया जनं सचते ॥
अरातिः पुरुषस्य चित्तं आकूतिं च वीर्त्सयन्ती ॥
(मं. ८)

'यह कंजूसी स्वयं नंगी रहनेके समान लोगोंको भी नंगा बना देती है। और उनको आलसी भी बना देती है। यह कंजूसी मनुष्यके चित्त और संकल्पको मलिन कर देती है।' उदारचित्त दानी पुरुष जैसा सदा प्रसन्नचित्त रहता है, और उसको चारों ओर मित्र मिलते हैं, उस प्रकार अदानी कंजूसका नहीं है, वह सदा आलसी होता है और उसका चित्त और संकल्प मलिन होता है। उसमें कभी प्रसन्नता नहीं होती। यह कितनी हानि है, इसका विचार पाठक करें और इस कंजूसीसे बचनेका प्रयत्न करें। क्योंकि यह मनुष्यको मनुष्यत्वसे भी गिरा देती है। इसीलिये सप्तम मंत्रमें कहा है—

असमृद्धे ! परः अपेहि । ते हेतिं विनयामसि ।
अराते ! अहं त्वा निमीवन्तीं नितुदन्तीं वेद ।
(मं. ७)

'हे असमृद्धि ! दूर हट जा। तेरे शस्त्र हम दूर हटा देते हैं। मैं खूब जानता हूं कि तू लोगोंको निर्बल बनानेवाली और अन्दरसे दुःख देनेवाली है।' वस्तुतः यह दानहीनता ऐसी कष्ट देनेवाली है इसलिये इसको हटा देना चाहिये। किसीको भी इसके आधीन नहीं होना चाहिये। क्यों कि यह निर्बलता बढानेवाली और आंतरिक कष्ट देनेवाली है। इसीसे मनुष्य गिर जाता है। इसलिये कहा है कि—

अरातिं प्रतिहर्यत (मं. ६)

'कंजूसीका विरोध करो।' विरोध करके अपने अंदर कंजूसी न रहे ऐसी व्यवस्था करो। और अपने अंदर—

अद्य सर्वे दित्सन्तः। (मं. ६)

'आज सब ही दान देनेमें उत्सुक होवें।' कोई कंजूस अपने अंदर न रहे। समाज ऐसे उदारचित्त दानी महाशयोंसे युक्त होवे और कभी कंजूसोंसे युक्त न होवे।

हार्दिक इच्छा

हमारी हार्दिक इच्छा क्या होनी चाहिये, इस विषयमें विचार करनेके समय निम्नलिखित मंत्रभाग हमारे सम्मुख आ जाता है।

१ यन्तः सरस्वतीं अनुमतीं भगं हवामहे ।
(मं. ४)
२ जुष्टां मधुमतीं वाचं अवादिषम् । (मं. ५)
३ सरस्वत्या मनोयुजा याचा यं याचामि
तं अद्य श्रद्धा विन्दतु । (मं. ५)

'(१) हम प्रगतिका प्रयत्न करनेवाले लोग विद्या, सुमति और ऐश्वर्यको चाहते हैं। (२) हम सेवन करने योग्य मीठी बात ही बोलते हैं। (३) विद्या और सुविचारसे युक्त सुसंस्कृत वाणीसे जिसके पास हम मांगते हैं, उसमें देनेकी श्रद्धा होवे।' वास्तवमें हम चाहते हैं कि हम सबको विद्या, सुबुद्धि और संपत्ति प्राप्त हो। हम इसीलिये मधुर वाणीसे बोलते हैं। हम श्रेष्ठ सत्कर्म करना चाहते हैं, इन कर्मोंके लिये जिसके पास धनादिकी याचना करेंगे, उसमें देनेकी बुद्धि बढे। इस प्रकारके दानसे जनताकी भलाईके प्रशस्ततम कर्म किये जाते हैं, जिससे सबका उद्धार होता और सबका यश बढता है। तथा—

१ नः देवकृता धीः दिवा नक्तं वर्धताम् ।
(मं. ३)
२ नः वनिं वाचं मा वीर्त्सीः। (मं. १)

'देवों द्वारा बनायी हमारी यह श्रद्धामयी बुद्धि दिनरात बढे और (२) इस श्रद्धाभक्तियुक्त वाणीमें घटाव न होवे।' अर्थात् दानबुद्धि, परोपकारका भाव और आत्मसर्वस्व समर्पणकी श्रद्धा हममें स्थिर रहे और बढे। इस धर्मबुद्धिसे परस्परकी सहायता करते हुए हम उन्नतिको प्राप्त हों।

यहांतक इस सूक्तके आठ मंत्रोंका विचार हुआ। इससे पाठ-

कोंको पता लग सकता है, कि इस सूक्तका मुख्य उपदेश क्या है। अदानशीलता अथवा कंजूसीका स्तोत्र करनेका विचार इसमें नहीं है। प्रत्युत मनुष्योंको हानिकारक कंजूसीसे निकालकर उच्चता स्थापन करनेवाले श्रद्धापूर्ण दानशूरताकी ओर ले जाना ही इस सूक्तको अभीष्ट है।

प्रथम मंत्रमें भी अदानशीलताको दूरसे नमन किया है। जो कंजूसी (दक्षिणां मा दधीः) दान देनेमें क्षति उत्पन्न नहीं करती, अर्थात् दान देनेके लिये निकाला हुआ धन फिर अपनी संदूकमें बंद नहीं करती, अर्थात् अपनी योग्यताके योग्य दान देती है वह बुरी नहीं है, उस संग्रहवृत्तिसे (आ भर) अपने पास धन भर ले और खजाना जिस प्रमाणसे भरे उस प्रमाणसे दान भी दे। परन्तु जो (अराति) कंजूसी अशुद्धि कंगालताका प्रदर्शन करती है और (वीर्त्सा) मलिनता युक्त व्यवहार कराती है, वह हानिकारक है। यह प्रथम मन्त्रका भाव मननीय है। इसका भाव यह है कि योग्य प्रमाणसे संग्रह किया जाय और उचित दान भी दिया जाय। जो कंजूसी कङ्गालके समान दिखती है वह हानिकारक है। धन पास होते हुए भी कंगालके समान व्यवहार करनेकी बुद्धि बहुत हानिकारक है। मनुष्यमें चाहे बहुत औदार्य न हो, परन्तु धन होते हुए भी कंगाल जैसी वृत्ति तो रहनी नहीं चाहिये।

इस प्रकार इस सूक्तका आशय है। यद्यपि इस सूक्तमें अदानशीलताको नमन किया है, तथापि वह उस वृत्तिको दूर करनेके लिये ही है। इस दृष्टिसे विचार करनेसे इस सूक्तमें बडा गंभीर आशय है यह बात पाठकोंके मनमें आ जायगी। यह सूक्त बडा कठिन है, सहज समझमें आने योग्य सुगम नहीं है। तथापि जो पाठक इस स्पष्टीकरणमें दर्शायी रीतिसे इसका मनन करेंगे, वे इस सूक्तका आशय जान सकते हैं।

शत्रुको दबाना।

(८) शत्रुनाशनम्।

(ऋषिः — अथर्वा। देवता — नानादैवत्यं, अग्निः, विश्वे देवाः, इन्द्रः।)

वैकङ्कतेनेध्मेन देवेभ्य आज्यं वह।
अग्ने ताँ इह मादय सर्व आ यन्तु मे हवम् ॥ १ ॥
इन्द्रा याहि मे हवमिदं करिष्यामि तच्छृणु।
इम ऐन्द्रा अतिसरा आकूतिं सं नमन्तु मे।
तेभिः शकेम वीर्यं१ जातवेदस्तनूवशिन् ॥ २ ॥

अर्थ— हे अग्ने (वैकङ्कतेन इध्मेन) श्रुवा वृक्षके इन्धनसे (देवेभ्यः आज्यं वह) देवोंके लिये घृत पहुंचा। और (तान् इह मादय) उनको यहां प्रसन्न कर, वे (सर्वे) सब (मे हवं आ यन्तु) मेरे यज्ञमें आवें ॥ १ ॥

हे इन्द्र! (मे हवं आ याहि) मेरे यज्ञमें आ पहुंच। जो (इदं करिष्यामि तत् शृणु) यह प्रार्थना मैं करूंगा, वह तू सुन। (इमे ऐन्द्राः अतिसराः) ये इन्द्रसंबंधी अग्रगामी पुरुष (मे आकूतिं सं नमन्तु) मेरे संकल्पके अनुकूल झुकें। हे (तनू-वशिन् जातवेद) शरीरको वशमें करनेवाले ज्ञानवान्! (तेभिः वीर्यं शकेम) उन प्रयत्नोंसे वीर्यकी प्राप्ति हम कर सकें ॥ २ ॥

भावार्थ— अग्नि इस यज्ञमें देवोंके लिये घृतकी आहुतियां पहुंचावे और यहां देवोंको आनन्दित करे, जिससे सब देव संतोषसे मेरे यज्ञमें आते रहें ॥ १ ॥

हे इन्द्र! तू मेरे यज्ञमें आ और जो मैं प्रार्थना करता हूं, वह श्रवण कर। ये जो इन्द्रके संबंधमें कार्य करनेवाले हैं, वे मेरे अनुकूल कार्य करें। हे शरीरको वश करनेवाले ज्ञानी! उनसे हमको वीर्य प्राप्त होवे ॥ २ ॥

यदुसावमुतो देवा अदेवः संश्चिकीर्षति ।
मा तस्याग्निर्हव्यं वाक्षीद्धवं देवा अस्य मोप गुर्ममैव हवमेतन ॥ ३ ॥
अति धावतातिसरा इन्द्रस्य वचसा हत ।
अविं वृक इव मथ्नीत स वो जीवन्मा मोचि प्राणमस्यापि नह्यत ॥ ४ ॥
यममी पुरोदधिरे ब्रह्माणमपभूतये ।
इन्द्र स ते अधस्पदं तं प्रत्यस्यामि मृत्यवे ॥ ५ ॥
यदि प्रेयुर्देवपुरा ब्रह्म वर्माणि चक्रिरे ।
तनूपानं परिपाणं कृण्वाना यदुपोचिरे सर्वं तदरसं कृधि ॥ ६ ॥
यानसावतिसरांश्चकार कृणवच्च यान् ।
त्वं तानिन्द्र वृत्रहन्प्रतीचः पुनरा कृधि यथामुं तृणहां जनम् ॥ ७ ॥

अर्थ— हे (देवाः) देवो ! (असौ अ-देवः सन्) वह देवता रहित होकर (अमुतः यत् चिकीर्षति) वहांसे जो कुछ घात करना चाहता है, (तस्य हव्यं अग्निः मा वाक्षीत्) उसका हव्य अग्नि न पहुंचावे । (देवाः अस्य हवं मा उपगुः) देव भी इसके यज्ञमें न जावें । प्रत्युत (मम एव हवं एतन) मेरे ही यज्ञमें आवें ॥ ३ ॥

हे (अतिसराः) अग्रगामी पुरुषो ! (अति धावत) वेगसे दौडो । (इन्द्रस्य वचसा हत) इन्द्रके वचनसे मारो । (अविं वृक इव मथ्नीत) जैसे भेडको भेडिया मारता है, उस प्रकार शत्रुको मथ डालो । (सः जीवन्) वह शत्रु जीता हुआ (वः मा मोचि) तुम्हारेसे न छूट जावे । (अस्य प्राणं अपि नह्यत) इसके प्राणको भी बांध डालो ॥ ४ ॥

(अमी यं ब्रह्माणं) ये जिस ज्ञानीको (अपभूतये पुरः दधिरे) अवनतिके लिये ही आगे धर देते हैं । हे इन्द्र ! (सः ते अधस्पदं) वह तेरे पांवके नीचे होवे, (तं मृत्यवे प्रत्यस्यामि) उसको मृत्युके लिये फेंकता हूं ॥ ५ ॥

(यदि देवपुराः प्रेयुः) जो शत्रुओंने देवोंके नगरोंपर चढाई की है और उन्होंने (ब्रह्म वर्माणि चक्रिरे) ज्ञानको ही अपना कवच बनाया है, और (तनूपानं परिपाणं कृण्वानाः) शरीररक्षक साधन भी जो बनाते हुए (यत् उप ऊचिरे) जो कुछ कहते हैं (सर्वं तत् अरसं कृधि) वह सब नीरस करो ॥ ६ ॥

(असौ यान् अतिसरान् चकार) इसने जिनको अग्रगामी बनाया था और (च यान् कृणवत्) जिनको अभी बनाया है । हे (वृत्रहन् इन्द्र) शत्रुनाशक इन्द्र ! (त्वं तान् पुनः प्रतीचः आ कृधि) तू उनको पुनः प्रतिगामी कर (यथा अमुं जनं तृणहाम्) जिससे उस जनसमूहको हम मार डालें ॥ ७ ॥

भावार्थ— हे देवो ! जो वस्तुतः प्रभुकी भक्ति न करता हुआ जो कुछ अन्य कर्म करना चाहता है, उसकी आहुतियां अग्नि भी देवोंको न पहुंचावे और देव भी इसके यज्ञमें न जावें । परन्तु वे मेरे यज्ञमें आवें ॥ ३ ॥

हे अग्रगामी पुरुषो ! वेगसे शत्रुपर हमला करो । इन्द्रकी आज्ञासे शत्रुका वध करो । जैसे भेडिया भेडको मारता है, उस प्रकार तुम शत्रुको मार डालो । शत्रुके प्राण लो । कोई शत्रु तुम्हारे हाथसे न बच पावे ॥ ४ ॥

जो शत्रु अपने अन्दरके विद्वान् पुरुषको भी अवनतिके कार्यमें ही लगा देते हैं, उनकी अधोगति होवे, मैं तो उनको मृत्युके लिये समर्पित करता हूं ॥ ५ ॥

जो देवोंके नगरोंपर शत्रुओंने चढाई की है, और अपनी शरीररक्षाके लिये कवचादिके द्वारा अपनी तैयारी की है, तथा अपने सब ज्ञानको भी इस युद्धकर्ममें ही लगा दिया है, ऐसे शत्रुका वह सब प्रयत्न विफल होवे ॥ ६ ॥

जो शत्रु अपने वीरोंको अग्रगामी करके हमला करते हैं, वे शत्रुके प्रयत्न उलटे हो जावें, जिससे सब शत्रुओंको हम मार डालें ॥ ७ ॥

❀

यथेन्द्र उद्वाचनं लब्ध्वा चक्रे अधस्पदम् ।
कृण्वेऽहमधरांस्तथामूञ्छश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥ ८ ॥
अत्रैनानिन्द्र वृत्रहन्नुग्रो मर्मणि विध्य । अत्रैवैनानभि तिष्ठेन्द्र मेद्यहं तव ।
अनु त्वेन्द्रा रभामहे स्याम सुमतौ तव ॥ ९ ॥ (८१)

अर्थ— (यथा इन्द्रः उद्वाचनं लब्ध्वा) जैसे इन्द्रने बकबकानेवाले शत्रुको प्राप्त करके उसको (अधस्पदं चक्रे) पांवके नीचे किया (तथा अहं) उस प्रकार मैं (शश्वतीभ्यः समाभ्यः) सदाके लिये (अमून् अधरान् कृण्वे) इन शत्रुओंको नीचे करता हूं ॥ ८ ॥

हे (वृत्रहन् इन्द्र) शत्रुनाशक इन्द्र ! (अत्र उग्रः एनान् मर्माणि विध्य) यहां शूर होकर इनको मर्मोंमें छेद । हे इन्द्र ! (अत्र एव एनान् अभि तिष्ठ) यहां ही इन पर चढाई कर । (अहं तव मेदी) मैं तेरा मित्र होकर रहता हूं । हे इन्द्र ! (त्वा अनु आ रभामहे) तेरे अनुकूल हम कार्यारम्भ करते हैं और (तव सुमतौ स्याम) तेरी सुमतिमें हम रहें ॥ ९ ॥

भावार्थ— जिस प्रकार इन्द्र घमंडी शत्रुको भी नीचे दबाता है, उस प्रकार मैं सदा अपने शत्रुको नीचे दबाकर रखता हूं ॥ ८ ॥

हे प्रभो ! तू उग्र होकर यहां शत्रुके मर्मस्थानोंको छेद, इन शत्रुओंपर चढाई कर । मैं तेरा मित्र होकर तेरे अनुकूल कार्य करता हूं और तेरी सुमतिमें स्थिर रहता हूं ॥ ९ ॥

शत्रुका नाश ।

यह सूक्त शत्रुका नाश करनेका उपदेश करनेवाला है । इसके पहिले दो मंत्रोंमें परमेश्वरकी प्रार्थना करके बल प्राप्त करनेका उपदेश किया है—

ईश प्रार्थना ।

अग्निमें घृतकी आहुतियां देकर यजमान प्रार्थना करता है कि- ' मैं देवताओंके उद्देश्यसे ये आहुतियां इस यज्ञमें दे रहा हूं, ये आहुतियां देवताओंको प्राप्त हों और इससे देवताएं सन्तुष्ट होकर मेरी प्रार्थना सुनें । प्रभुकी भी मैं प्रार्थना करता हूं कि वह मेरी प्रार्थना सुने और सब उसकी शक्तियां मेरे अनुकूल हों और हमको बहुत बल प्राप्त होवे । (मं. १-२)

नास्तिकोंकी असफलता ।

जिस पुरुषके मनमें परमात्माकी भक्ति नहीं होती, उसको नास्तिक अथवा भक्तिहीन मनुष्य कहा करते हैं । युद्ध उपस्थित होनेपर दोनों पक्षके लोग प्रभुकी प्रार्थना करते हैं । सत्पक्ष भी जैसा अपने यशके लिये प्रभुकी प्रार्थना करता है, उसी प्रकार दुष्ट पक्षके लोग भी विजयके लिये प्रार्थना करते हैं । इस प्रकार दोनों ओरके सैनिकों द्वारा विजय प्राप्तिके लिये प्रार्थना करने पर, प्रभु किस पक्षकी सहायता करता है और किसकी नहीं करता, इस विषयमें तृतीय मंत्रका उपदेश लक्ष्यपूर्वक देखने योग्य है ।

' जिस समय नास्तिक भक्तिहीन दुष्ट मनुष्य अपने विजयके लिये यज्ञयाग अथवा ईशप्रार्थना आदि करता है, उस समय अग्नि उसकी आहुतियां देवताओंके प्रति नहीं पहुंचाती और देवतायें भी उसके यज्ञमें नहीं जातीं, क्योंकि देवताएं केवल आस्तिक भक्तोंके यज्ञमें जाती हैं । ' (मं. ३)

इस मंत्रसे स्पष्ट हो जाता है कि, दोनों पक्षके प्रार्थना करने पर भी धार्मिक लोगोंकी ही प्रार्थना परमेश्वर सुनता है, दुष्टोंकी प्रार्थनाएं कभी नहीं सुनता । इसलिये सत्यपक्षके लोग ही प्रार्थनासे ईश्वरीय बल प्राप्त करते हैं और वह बल असत्य पक्षके लोगोंको नहीं प्राप्त होता; इस कारण सदा अन्तमें सत्पक्षकी ही विजय होती है । इसलिये चतुर्थ मंत्रमें कहा है कि- ' प्रभुकी आज्ञाके अनुसार शत्रुपर हमला करो, शत्रुको मार डालो, कोई शत्रु तुम्हारे हमलेसे जीता न बचे । ' (मं. ४) यह बल सत्यपक्षको ही प्राप्त होता है, इसलिये सत्यका पक्ष व्यवहारकी दृष्टिसे अशक्त प्रतीत होने पर भी वह आत्मिक बलकी दृष्टिसे शक्तिसंपन्न होनेके कारण अन्तमें विजयी होता है । असत्पक्षवालोंको परमेश्वरकी भक्तिसे लाभ नहीं होता, यही बतानेके लिये पंचम और षष्ठ मंत्रोंका उपदेश है—

' जो असत्पक्षका आश्रय करनेवाले लोग अपनी विजयके लिये ब्राह्मणको भी अपने अवनतिकारक कर्ममें उपासनादि

कार्य करनेके लिये बाधित करते हैं, उनको परमेश्वर अवनत करता है और मृत्यु तक पहुंचाता है। जो दुष्ट देवजनोंके नगरोंपर हमला करके अपने निश्चयके उपासनादि कर्म करते रहते हैं और समझते हैं कि इससे हमारी रक्षा होगी और हम सुरक्षित होंगे, वे भ्रममें रहते हैं, क्यों कि उनके ये सब प्रयत्न विफल होनेवाले हैं। (मं. ५-६)

अर्थात् असत्यपक्षकी विजय कभी नहीं होगी। सदा सत्यका पक्ष ही जय प्राप्त करेगा। यह वैदिकधर्मका त्रिकालाबाधित सिद्धान्त है। कोई इसको उलटपुलट नहीं कर सकता।

अन्तिम तीनों मंत्रोंमें यही बात भिन्न रीतिसे कही है— ' जो दुष्ट शत्रु अपने सैनिकोंको आगे बढाकर वेगसे हमला करता है, उसका वह कार्य उसीके विरुद्ध अन्तमें हो जाता है। (मं. ७) ' अर्थात् बलके घमंडमें आकर शत्रु सत्पक्षका नाश करनेकी जैसी जैसी तैयारी करता है, वैसा वैसा वह अधिकसे अधिक गिरता जाता है। बडे बडे साम्राज्य इसी दुष्ट भावके कारण नाशको प्राप्त हुए हैं और वे कभी पुनः उठे नहीं, यह जान कर लोगोंको उचित है कि वे कभी अधर्मपथसे न चलें और दूसरोंके नाशसे अपनी उन्नति करनेके कार्य न करें। क्योंकि ऐसे कार्योंमें कदापि सफलता प्राप्त नहीं होगी।

' ऐसे घमंडी और बकबक करनेवाले शत्रु प्राप्त होनेपर उनको नीचे दबाना चाहिये, यह सदा पालन करने योग्य नियम है। ' (मं. ८) अर्थात् सज्जनोंको भी शत्रुकी उपेक्षा करनी योग्य नहीं है।

शत्रुके नाशका उपाय।

नवम मंत्रमें शत्रुके नाश करनेका उपाय कहा है। वह बात अब देखिये—

(१) उग्रः अत्र मर्माणि विध्य— उग्र होकर यहां शत्रुके मर्मस्थानोंपर वेध कर। (मं. ९)

(२) अत्रैव एनान् अभि तिष्ठ—यहां ही उनका सामना कर अर्थात् उन शत्रुओंपर वेगसे हमला कर दे। (मं. ९)

(३) अहं तव मेदी। तव सुमतौ स्याम। त्वा अन्वारभामहे— मैं तेरा मित्र होकर रहूंगा, तेरी सुमतिमें मैं रहूंगा और तेरे अनुकूल कार्य करूंगा। (मं. ९)

परमात्माके अनुकूल कार्य करनेका तात्पर्य धर्मानुकूल व्यवहार करना है। इस प्रकार धार्मिक व्यवहार करते हुए आत्मिक बल बढाकर, परमात्माके प्रेमी बनकर रहना और शत्रुका हमला उलटा देनेका सामर्थ्य भी अपने पास रखना, अर्थात् अपने पक्षको कमजोर न रखना। इस प्रकार आत्मिक और शारीरिक बलसे युक्त होनेसे सब युद्धोंमें विजय अवश्य ही प्राप्त होती है।

आत्मिक बल।

(९) आत्मा।

(ऋषिः — ब्रह्मा। देवता — वास्तोष्पतिः, आत्मा।)

दिवे स्वाहा ॥ १ ॥ पृथिव्यै स्वाहा ॥ २ ॥ अन्तरिक्षाय स्वाहा ॥ ३ ॥
अन्तरिक्षाय स्वाहा ॥ ४ ॥ दिवे स्वाहा ॥ ५ ॥ पृथिव्यै स्वाहा ॥ ६ ॥

अर्थ— (दिवे) द्युलोक (अन्तरिक्षाय) अन्तरिक्ष और पृथ्वी लोकके लिये (स्वाहा = सु + आह) उत्तम प्रशंसाका वचन कहते हैं ॥ १-६ ॥

भावार्थ— द्युलोक, अन्तरिक्ष लोक और पृथिवी लोक इन तीनों लोकोंकी और इनमें विद्यमान पदार्थोंकी मैं प्रशंसा करता हूं ॥ १—६ ॥

सूर्यो मे चक्षुर्वातः प्राणोऽन्तरिक्षमात्मा पृथिवी शरीरम् ।
अस्तृतो नामाहमयमस्मि स आत्मानं नि दधे द्यावापृथिवीभ्यां गोपीथाय ॥ ७ ॥
उदायुरुद्बलमुत्कृतमुत्कृत्यामुन्मनीषामुदिन्द्रियम् ।
आयुष्कृदायुष्पत्नी स्वधावन्तौ गोपा मे स्तं गोपायतं मा ।
आत्मसदौ मे स्तं मा मा हिंसिष्टम् ॥ ८ ॥ (८९)

(१०) आत्मरक्षा ।

(ऋषिः — ब्रह्मा । देवता — वास्तोष्पतिः ।)

अश्मवर्म मेऽसि यो मा प्राच्या दिशोऽघायुरभिदासात् । एतत्स ऋच्छात् ॥ १ ॥
अश्मवर्म मेऽसि यो मा दक्षिणाया दिशोऽघायुरभिदासात् । एतत्स ऋच्छात् ॥ २ ॥
अश्मवर्म मेऽसि यो मा प्रतीच्या दिशोऽघायुरभिदासात् । एतत्स ऋच्छात् ॥ ३ ॥
अश्मवर्म मेऽसि यो मोदीच्या दिशोऽघायुरभिदासात् । एतत्स ऋच्छात् ॥ ४ ॥
अश्मवर्म मेऽसि यो मा ध्रुवाया दिशोऽघायुरभिदासात् । एतत्स ऋच्छात् ॥ ५ ॥
अश्मवर्म मेऽसि यो मोर्ध्वाया दिशोऽघायुरभिदासात् । एतत्स ऋच्छात् ॥ ६ ॥
अश्मवर्म मेऽसि यो मा दिशामन्तर्देशेभ्योऽघायुरभिदासात् । एतत्स ऋच्छात् ॥ ७ ॥

अर्थ— (सूर्यः मे चक्षुः) सूर्य मेरा चक्षु है (वातः प्राणः) वायु प्राण है, (अन्तरिक्षं आत्मा) अन्तरिक्ष आत्मा है और (पृथिवी शरीरं) पृथिवी मेरा शरीर है। (अस्तृतः नाम अयं अहं अस्मि) अमर नामवाला यह मैं हूं। (द्यावापृथिवीभ्यां गोपीथाय) द्यावापृथिवी द्वारा सुरक्षित होनेके लिये (सः आत्मानं निदधे) वह मैं अपने आपको निःशेष देता हूं ॥ ७ ॥

मेरी (आयुः उत्) आयु उत्तम, (बलं उत्) बल उत्तम, (कृतं उत्) किया हुआ कर्म उत्तम, (कृत्यां उत्) काटनेकी शक्ति उत्तम, (मनीषां उत्) बुद्धि उत्तम, (इन्द्रियं उत्) इन्द्रिय उत्तम होवे। (आयुष्कृत् आयुष्पत्नी) आयुकी वृद्धि करनेवाली और जीवनका पालन करनेवाली तथा (स्वधावन्तौ) अपनी धारकशक्ति बढानेवाली तुम दोनों द्यावा-पृथिवी ! (मे गोपा स्तं) मेरे रक्षक होओ। (मा गोपायतं) मेरी रक्षा करो। (मे आत्मसदौ स्तं) मेरी आत्मामें रहनेवाले हो और (मा मा हिंसिष्टं) मेरा कभी विनाश न करें ॥ ८ ॥

भावार्थ— सूर्य ही मेरी आंख, वायु मेरा प्राण, अन्तरिक्ष मेरा अन्तःकरण, और पृथ्वी मेरा स्थूल शरीर बना है। मैं अमर और अदम्य हूं। द्युलोक और पृथिवी लोक मेरी रक्षा करते हैं, इसलिये मैं अपने आपको उनके आधीन कर देता हूं ॥ ७ ॥

मेरी आयु, शक्ति, क्रियाशक्ति, काटनेकी शक्ति, मननशक्ति इंद्रियशक्ति, आदि शक्तियां उत्तम अवस्थामें रहें। आयु देने-वाली तथा जीवनका पालन करनेवाली और धारकशक्तिसे युक्त दोनों द्यावापृथिवी मेरी रक्षा करें, वे दोनों मेरे अंदर रहकर मेरी रक्षा करें और कभी मेरी शक्ति क्षीण न करें ॥ ८ ॥

बृहता मन उप ह्वये मातरिश्वना प्राणापानौ । सूर्याच्चक्षुरन्तरिक्षाच्छ्रोत्रं पृथिव्याः शरीरम् ।
सरस्वत्या वाचमुप ह्वयामहे मनोयुजा ॥ ८ ॥ (९७)

॥ इति द्वितीयोऽनुवाकः ॥ २ ॥

अर्थ— (मे अश्मवर्म असि) मेरा पत्थरका दृढ कवच तू है। (यः अघायुः) जो पापी (प्राच्याः, दक्षिणायाः, प्रतीच्याः, उदीच्याः, ध्रुवायाः, दिशां अन्तर्देशेभ्यः) पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर, ध्रुव, ऊर्ध्व और इन दिशाओंके मध्यके प्रदेशोंसे (मा अभिदासात्) मेरा नाश करे, (सः एतत् ऋच्छात्) वह स्वयं इस विनाशको प्राप्त होवे ॥ १-७ ॥

(बृहता मन उप ह्वये) बडे ज्ञानके साथ मनको मैं मांगता हूं। (मातरिश्वना प्राणापानौ) वायुसे प्राण और अपान, (सूर्यात् चक्षुः) सूर्यसे आंख, (अन्तरिक्षात् श्रोत्रं) अन्तरिक्षसे कान, (पृथिव्याः शरीरं) पृथिवीसे शरीर, (मनोयुजा सरस्वत्या वाचं) मननसे युक्त विद्याके साथ वाणीको (उप ह्वयामहे) मांगते हैं ॥ ८ ॥

भावार्थ— यह मेरा कवच है। जो पापी मेरे ऊपर सब दिशा उपदिशाओंसे हमला करके मेरा नाश करना चाहता है, वह स्वयं नष्ट होवे ॥ १—७ ॥

मुझे ज्ञानयुक्त मन, वायुसे प्राण, सूर्यसे चक्षु, अन्तरिक्षसे श्रोत्र, पृथ्वीसे स्थूल शरीर और मननशक्तिसे संयुक्त विद्याके साथ उत्तम वाणीको चाहता हूं, इनकी मुझे प्राप्ति होवे ॥ ८ ॥

आत्मिक शक्ति।

अपने अन्दर आत्मिकशक्तिका विकास करनेके लिये जिन विशेष विचारोंकी धारणा अपने मनके अंदर करना आवश्यक है, वह धारणा इन दो सूक्तोंमें कही है। नवम और दशम इन दोनों सूक्तोंका ऋषि ब्रह्मा है और देवता वास्तोष्पति है। अर्थात् ये दोनों एक ही विषयके सूक्त हैं, इसलिये इनका मनन भी साथ साथ ही करते हैं।

नवम सूक्तके पहिले छः मंत्र, वस्तुतः ये तीन ही मंत्र हैं और दुबारा आनेसे छः बने हैं, पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक इन तीनों लोकोंके लिये स्वाहा अर्थात् (सु+आह) उत्तम शब्दों द्वारा प्रशंसा कही है। द्युलोकमें सूर्य नक्षत्र आदि हैं, अन्तरिक्षमें इन्द्र, वायु, चंद्र, विद्युत् आदि हैं और पृथ्वीपर धान्य, जल आदि अनंत पदार्थ हैं, जिनका उपयोग मनुष्य करता है और सुखी होता है। इस कारण ये तीन लोक और इनमें रहनेवाले अनंत पदार्थ मनुष्यके द्वारा प्रशंसा करने योग्य हैं। क्योंकि इनके बिना मनुष्य जीवित ही नहीं रह सकता, अतः ये प्रशंसा करने योग्य हैं, इसमें कोई संदेह नहीं है।

इन तीनों लोकोंके अंदर रहनेवाले सभी पदार्थ इस प्रकार मनुष्यके लिये उपकारक हैं अत एव मनुष्यके प्रशंसाके लिये योग्य हैं। यह जानकर इनको अपने अंदर देखना चाहिये, अर्थात् ये मेरे अंदर आकर रह रहे हैं और मेरी शक्तिको बढाते हैं तथा प्रकाशित करते हैं। यह भाव मनमें धारण करनेको अष्टम मंत्रने कहा है। इस मंत्रका आशय यह है—

'सूर्य मेरा आंख हुआ है, वायु मेरा प्राण बना है, अन्तरिक्ष लोक मेरा अन्तःकरण बना है, और पृथिवीसे मेरा स्थूल शरीर बना है। (मं. ७) ' यह सप्तम मंत्रका कहना है। देखिये, इस प्रकार द्युलोकका सूर्य, अन्तरिक्षलोकका वायु, और पृथिवी-लोकके पदार्थ क्रमशः मेरे आंख, प्राण और स्थूल शरीरमें आकर रह रहे हैं, इस प्रकार मेरा साक्षात् संबंध इन तीनों लोकोंके साथ है, इन तीनों लोकोंके अंश आकर मेरे शरीरमें रह रहे हैं, अथवा इनका अवतार मेरे शरीरमें हुआ है। इस बातका विचार करनेसे अपनी आत्मशक्तिकी कल्पना सहजहीमें हो सकती है, यही बात अथर्ववेदके अन्य मंत्रोंमें भी कही है, देखिये—

सूर्यश्चक्षुर्वातः प्राणं पुरुषस्य वि भेजिरे।
अथास्येतरमात्मानं देवाः प्रायच्छन्नग्नये ॥

अथर्व. ११।८ (१०) ३१

'सूर्य और वायु ये क्रमशः पुरुषके आंख और प्राणमें विभक्त हुए हैं, इसी प्रकार इसके इतर आत्मभागोंको इतर देवोंने दिया है।' अतः कहते हैं कि—

तस्माद्वै विद्वान् पुरुषमिदं ब्रह्मेति मन्यते।
सर्वा ह्यस्मिन्देवता गावो गोष्ठ इवासते।

अथर्व. ११।८ (१०) ३२

'इसीलिये ज्ञानी इस पुरुषको ब्रह्म मानता है, क्योंकि सब देवताएं इसमें बैसी रहती हैं, जैसी गौशालामें गौवें रहती हैं।' इस मंत्रमें तो सभी देवताएं मनुष्यके शरीरमें विविध अवयवोंमें रहती हैं, ऐसा कहा है। पूर्वोक्त मंत्रोंमें कुछ देवताओंके यहांका

शरीरमें देवोंके निवासस्थान

निवासका वर्णन किया है, और इस मंत्रमें कहा है कि सब देवताएं यहां रहती हैं, अर्थात् अन्य देवताओंका पता मननसे लगाना चाहिये। यह मनन करके उपनिषदोंमें कुछ अन्य देवताओंका भी स्थान निर्देश किया है, वह मनोरंजक विषय अब देखिये-

> अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्, वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्, आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाक्षिणी प्राविशत्, दिशः श्रोत्रं भूत्वा कर्णौ प्राविशत्, ओषधिवनस्पतयो लोमानि भूत्वा त्वचं प्राविशन्, चन्द्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविशत्, मृत्युरपानो भूत्वा नाभिं प्राविशत्, आपो रेतो भूत्वा शिश्नं प्राविशन् ॥ ऐ. उ. १।२।४

' अग्नि वाणी बनकर मुखमें घुसी, वायु प्राण बनकर नाकमें प्रविष्ट हुआ, सूर्य आंख बनकर नेत्रमें रहने लगा, दिशाएं कान बनकर कानके स्थानपर रहने लगीं, औषधि और वनस्पतियां लोम बनकर त्वचामें प्रविष्ट हो गईं, चन्द्रमा मन बनकर हृदयमें घुसा, मृत्यु अपान होकर नाभिमें रहने लगी, जल रेत बनकर शिश्नमें प्रविष्ट हुआ। ' इस प्रकार अन्यान्य देवताएं अन्यान्य स्थानोंमें रहने लगीं। यह है अपने शरीरमें देवताओंका निवास। यहां देवताएं रहती हैं, इसलिये इस शरीरको ' देवोंका मन्दिर ' कहते हैं बाह्य सृष्टिमें बडे बडे सूर्यादि देव हैं, उनके अंश बीजरूपसे यहां अपने शरीरमें आ गये हैं और इन्हीं अंशोंके बडे विस्तृत देव फिर बनते हैं, इस विषयमें निम्नलिखित उपनिषद्वचन देखिये—

> मुखाद्वाग्वाचोऽग्निः, ... नासिकाभ्यां प्राणः प्राणाद्वायुः, ... अक्षिभ्यां चक्षुश्चक्षुष आदित्यः, ... कर्णाभ्यां श्रोत्रं श्रोत्राद्दिशः, ... त्वचो लोमानि लोमभ्य ओषधिवनस्पतयः, ... हृदयान्मनो मनसश्चन्द्रमाः, ... नाभ्या अपानोऽपानान्मृत्युः, शिश्नाद्रेतो रेतसः आपः ॥ ४ ॥ ऐतरेय उप. १।१

' मुखसे वाणी, वाणीसे वाचा; ... नासिकासे प्राण, प्राणसे वायु; ... आंखोंसे चक्षु, चक्षुसे सूर्य; ... कानोंसे श्रोत्र, श्रोत्रसे दिशाएं; ... त्वचासे लोम, लोमोंसे ओषधिवनस्पतियां; ... हृदयसे मन, मनसे चन्द्रमा; ... नाभीसे अपान और अपानसे मृत्यु; ... शिश्नसे रेत और रेतसे जल हुआ। '

इन दोनों वचनोंमें पाठक तुलना करके देखेंगे, तो उनको पता लग जायगा कि पहिलेमें बृहत् देवताओंसे अपने अन्दरके सूक्ष्म देव होनेका वर्णन है और दूसरेमें इन सूक्ष्म अंशोंसे फिर वृद्धि होकर बडे देव बननेका वर्णन है। जिस प्रकार मनुष्यके शरीरसे वीर्यबिंदु उत्पन्न होता है और फिर इस वीर्यबिन्दुसे मनुष्य शरीर बनता है, उसी प्रकार संकोच और विस्तार यहां भी होता है। अस्तु।

मनुष्यके अंदर सूर्यादि सब देवोंकी शक्तियां हैं यह बात यहां मनुष्यके स्मरणमें रखनी चाहिये। मैं तुच्छ नहीं हूं, परंतु मैं उन ही शक्तियोंसे युक्त हूं कि जिनसे युक्त परमात्मा है। मेरी शक्तियां अंशरूप हैं और उसकी पूर्णरूप हैं। अर्थात् शक्तियां मेरे शरीरमें हैं, जिनका विकास धर्मानुष्ठानसे करना है। यह सातवें मंत्रका आशय है, यह मंत्र मनुष्यको एक विशेष ही शक्ति दे रहा है। पाठक, इसका अनुभव अपने मनमें करें। इस शक्तिको अपने अन्दर देखनेके बाद ही कहा जाता है कि—

अयं अहं अस्तृतः नाम अस्मि। (मं. ७)

'यह मैं अमर अथवा अदम्य शक्तिसे युक्त हूं' पाठक इसका विचार करें। अपने अन्दर इतनी शक्ति है और मैं अमर हूं, शरीरनाश होनेसे मैं नष्ट नहीं होता। जिस प्रकार परमात्मा 'अ-मर' है, उसी प्रकार आत्मदृष्टिसे मैं भी 'अ-मर' हूं। यह विश्वास इस मंत्रने दिया है। पाठक ही अनुभव करें कि इस विचारको मनमें धारण करनेसे कितना आत्मिक बल बढता है। वेदकी शिक्षा आत्मिक बल बढाती है और अपनी शक्तियोंका ज्ञान कराती है, वह बात इस प्रकार है। जब यह मनुष्य इस प्रकार आत्मशक्तिका अनुभव करता है, तब जगत्के लिये अपने आपका समर्पण करता है—

आत्मानं द्यावापृथिवीभ्यां गोपीथाय नि दधे। (मं. ७)

'मैं अपने आपको द्यावा पृथिवीके लिये रक्षाके अर्थ देता हूं।' इस प्रकार सब जगत् इसकी रक्षा करता है, सब विश्वसे जो सुरक्षित होता है, वह निर्भय होकर विचरता है। इसी निर्भयतासे उसकी उन्नति होती है। इसके पश्चात् वह जितना अधिक आत्मसमर्पण करता है, उतना अधिक बल प्राप्त करता है। इस रीतिसे 'आयु, बल, शक्ति, कर्म, बुद्धि, इन्द्रिय आदिकी शक्तियां उत्कृष्टतम हो जाती हैं।' (मं. ८) यह उसकी शक्तिका विकास है। 'इस प्रकार अन्न देनेवाले दोनों लोक इसकी पूर्ण रक्षा करते हैं।' (मं. ८) ये लोक वस्तुतः—

मे आत्मसदौ स्तम्। (मं. ८)

'मेरी आत्मामें रहनेवाले हैं।' यह बात उपनिषद्वचनोंसे इसके पूर्व बता दी है। अपने शरीरमें आत्माके आधारसे ये सब सूर्यादि पदार्थ अर्थात् तीनों लोक रहते हैं।

ये सब उन्नति ही करते हैं और धर्मपथपर चलनेसे कभी अवनति नहीं करते। इस प्रकार नवम सूक्तका विचार हुआ, अब दशम सूक्तका विचार करते हैं—

पत्थरका कवच।

दशम सूक्तके आदिके सात मंत्रोंमें 'पत्थरके कवच' का वर्णन आया है। पूर्वोक्त ज्ञान ही मनुष्यका 'पत्थर जैसा दृढ कवच' है, जिससे मनुष्य सुरक्षित होकर उन्नतिको प्राप्त कर सकता है। 'किसी भी दिशासे शत्रु हमला करे, जिसके शरीरपर यह पूर्वोक्त ज्ञानरूपी कवच है वह हमेशा सुरक्षित रहता है।' (मं. १-७) यह इन सात मंत्रोंका तात्पर्य है। जो ज्ञान पत्थर जैसा सुदृढ कवच है, वही पूर्वोक्त मंत्रमें कहा हुआ ज्ञान इस सूक्तके अष्टम मंत्रमें पुनः कहा है—

'सूर्यसे चक्षु, अन्तरिक्षसे श्रोत्र, पृथिवीसे शरीर, वायुसे प्राणापान और बृहच्छक्तिसे मन, सरस्वतीसे वाणी, प्राप्त करता हूं।' (मं. ८) इस मंत्रमें भी पूर्व सूत्रोक्त ज्ञान ही कहा है। क्योंकि यही मनुष्यका रक्षक सुदृढ कवच है। पाठक इस ज्ञानको अपनावें और निर्भय बनें।

यहां द्वितीय अनुवाक समाप्त ॥ २ ॥

श्रेष्ठ देव।

(११) संपत्कर्म।

(ऋषि — अथर्वा। देवता — वरुणः (प्रश्नोत्तरम्)।)

कथं महे असुरायाब्रवीरिह कथं पित्रे हरये त्वेषनृम्णः।
पृश्निं वरुण दक्षिणां ददावान्पुनर्मघ त्वं मनसाचिकित्सीः ॥ १ ॥

अर्थ— (महे असुराय कथं अब्रवीः) महान् शक्तिवान्के लिये तुमने किस प्रकार और क्या कहा? और (त्वेष-नृम्णः इह हरये पित्रे कथं) स्वयं तेजस्वी होते हुए तुमने यहां दुःख हरण करनेवाले पिताके लिये भी किस प्रकार और क्या कहा? हे (वरुण) श्रेष्ठ प्रभो! हे (पुनर्मघ) पुनः पुनः धन देनेवाले देव! (पृश्निं दक्षिणां ददावान्) गौ आदि दक्षिणा देते हुए (त्वं मनसा अचिकित्सीः) तुमने मनसे हमारी चिकित्सा की है ॥ १ ॥

न कामेन पुनर्मघो भवामि सं चक्षे कं पृश्निमेतामुपाजे ।
केन नु त्वमथर्वन्काव्येन केन जातेनासि जातवेदाः ॥ २ ॥
सत्यमहं गभीरः काव्येन सत्यं जातेनास्मि जातवेदाः ।
न मे दासो नार्यो महित्वा व्रतं मीमाय यदहं धरिष्ये ॥ ३ ॥
न त्वदन्यः कवितरो न मेधया धीरतरो वरुण स्वधावन् ।
त्वं ता विश्वा भुवनानि वेत्थ स चिन्नु त्वज्जनो मायी बिभाय ॥ ४ ॥
त्वं ह्यङ्ग वरुण स्वधावन्विश्वा वेत्थ जनिमा सुप्रणीते ।
किं रजस एना परो अन्यदस्त्येना किं परेणावरममुर ॥ ५ ॥

अर्थ— (कामेन पुनर्मघः न भवामि) केवल इच्छासे ही मैं पुनः पुनः धनवाला नहीं होता हूं । मैं (कं संचक्षे) किसे यह कहूं ? (एतां पृश्निं उप अजे) इस गौ आदिको पास ले चलता हूं । हे (अथर्वन्) शान्त स्वभाववाले देव ! (केन नु काव्येन त्वं) किस काव्यसे तू और (केन जातेन जातवेदाः असि) किसके होनेसे तू जातवेद हुआ है ॥ २ ॥

(सत्यं अहं गभीरः) सत्य है कि मैं गंभीर हूं । और (सत्यं) यह भी सत्य है कि मैं (जातेन काव्येन जातवेदाः अस्मि) काव्य उत्पन्न करनेसे ही जातवेद कहलाता हूं । (यत् अहं धरिष्ये) जिसको मैं धारण करता हूं (मे व्रतं) उस मेरे नियमको (न दासः न आर्यः) न तो दास और न आर्य (महित्वा मीमाय) महत्वके साथ तोड सकता है ॥ ३ ॥

हे (स्वधावन् वरुण) अपनी धारण शक्तिसे युक्त श्रेष्ठ देव ! (त्वत् अन्यः कवितरः न) तेरेसे भिन्न दूसरा कोई अधिक कवि नहीं है । (मेधया धीरतरः न) और बुद्धिके कारण अधिक धीरवाला भी कोई नहीं है । (त्वं ता विश्वा भुवनानि वेत्थ) तू उन सब भुवनोंको जानता है । इसलिये (सः मायी जनः) वह कपटी मनुष्य (त्वत् चित् नु बिभाय) तुझसे निःसंदेह भयभीत होता है ॥ ४ ॥

हे (अङ्ग स्वधावन् सुप्रणीते वरुण) प्रिय, अपनी धारणशक्तिसे युक्त, उत्तम चलानेवाले श्रेष्ठ देव ! (त्वं हि विश्वा जनिमा वेत्थ) तू ही सब जन्मोंको जानता है । हे (अ-सुर) ज्ञानी ! (एना रजसः परः अन्यत् किं अस्ति) इस प्रकृतिके परे दूसरा क्या है ? (एना परेण अवरं किं) और इस परेवालेके उरे भी क्या है ? ॥ ५ ॥

भावार्थ— (भक्तका कथन)= हे ईश्वर ! बडे बडे शक्तिमान्को भी तूने क्या उपदेश दिया है ? और सबका दुःख हरण करनेवाले पिताको भी तूने क्या कहा था ? तू स्वयं तेजस्वी है । तूने ही यह गौ, भूमि, वाणी आदिका दान दिया है और हे पुनः पुनः धन देनेवाले देव ! तूने ही हमारी चिकित्सा की है ॥ १ ॥

केवल इच्छा करने मात्रसे ही धनवान् नहीं होता हूँ । यह मैं किसे ठीक प्रकार कहूं ? मैं इस गौ, भूमि, वाणी आदिको प्राप्त करता हूं । हे देव ! किस काव्यके बनानेसे तथा किस पदार्थके बननेसे तू जातवेद कहा जाता है ? ॥ २ ॥

(ईश्वरका उत्तर)= यह बात सत्य है कि मैं बडा गंभीर हूं और यह भी सत्य है, कि इस काव्यके प्रकाशित होनेके कारण मैं जातवेद नामसे प्रसिद्ध हूं । जिस नियमको मैं बनाता हूं, उसको कोई तोड नहीं सकता, फिर वह आर्य हो या दास हो ॥ ३ ॥

(भक्तका कथन)= हे श्रेष्ठ और समर्थ देव ! तेरेसे भिन्न कोई भी अधिक श्रेष्ठ कवि नहीं है और बुद्धिमान् भी नहीं है । तू ही संपूर्ण भुवनोंका ज्ञाता है इसलिये सब दुष्ट कपटी लोग तेरेसे ही डरते रहते हैं ॥ ४ ॥

हे ईश्वर ! तू सबके सब जन्मोंको जानता है । हे देव ! इस प्रकृतिके परे क्या है और उससे परे है उसके उरे भी क्या है ? ॥ ५ ॥

एकं रजस एना परो अन्यदस्त्येना पर एकेन दुर्णशं चिदर्वाक् ।
तत्ते विद्वान्वरुण प्र ब्रवीम्यधोवचसः पणयो भवन्तु नीचैर्दासा उप सर्पन्तु भूमिम् ॥ ६ ॥

त्वं ह्य१ङ्ग वरुण ब्रवीषि पुनर्मघेष्ववद्यानि भूरि ।
मो षु पणीँरभ्ये३तावतो भून्मा त्वा वोचन्नराधसं जनासः ॥ ७ ॥

मा मा वोचन्नराधसं जनासः पुनस्ते पृश्निं जरितर्ददामि ।
स्तोत्रं मे विश्वमा याहि शचीभिरन्तर्विश्वासु मानुषीषु दिक्षु ॥ ८ ॥

आ ते स्तोत्राण्युद्यतानि यन्त्वन्तर्विश्वासु मानुषीषु दिक्षु ।
देहि नु मे यन्मे अदत्तो असि युज्यो मे सप्तपदः सखासि ॥ ९ ॥

अर्थ— (एना रजसः परः अन्यत् एकं अस्ति) इस प्रकृतिके परे दूसरा एक पदार्थ है। और (एना एकेन परः) इस एकसे परे जो है उसके (अर्वाक् चित् दुर्णशं) उरेका भी पदार्थ दुष्प्राप्य है। हे (वरुण) श्रेष्ठ देव ! (ते तत् विद्वान् प्र ब्रवीमि) तेरी वह महिमा जाननेवाला मैं कहता हूं कि (पणयः अधो वचसः भवन्तु) कुत्सित व्यवहार करनेवाले लोग नीचे मुख करनेवाले होवें, तथा (दासाः भूमिं नीचैः उपसर्पन्तु) दास भाववाले लोग भूमिपर नीचेसे चलते रहें ॥ ६ ॥

हे (अङ्ग वरुण) प्रिय श्रेष्ठ प्रभो ! (त्वं हि पुनर्मघेषु) तू भी फिर धन प्राप्त करनेके व्यवसायोंमें (भूरि अवद्यानि ब्रवीषि) बहुत निन्दायोग्य दोष होते हैं, ऐसा कहता है। (एतावतः पणीन् मो सु अभिभूत्) इन व्यवहार करनेवालोंको भी हानि कभी न होवे और (जनासः त्वा अराधसं मा वोचन्) लोग तुझे धनहीन भी न कहें ॥ ७ ॥

(जनासः मा अराधसं मा वोचन्) लोग मुझे धनहीन न कहें। हे (जरितः) स्तुति करनेवाले ! (ते पृश्निं पुनः ददामि) तेरी गौको मैं फिर देता हूं। (विश्वासु मानुषीषु दिक्षु अन्तः) सब मनुष्योंसे युक्त दिशाओंके बीचमें (शचीभिः मे विश्वं स्तोत्रं आ याहि) बुद्धियोंके साथ मेरे सब स्तोत्रको प्राप्त हो ॥ ८ ॥

(ते स्तोत्राणि) तेरे स्तोत्र (विश्वासु मानुषीषु दिक्षु अन्तः) सब मनुष्योंसे युक्त दिशाओंमें (उद्यतानि यन्तु) उत्तम प्रकार फैलें। (यत् मे अदत्तः) जो मुझे दिया नहीं, (नु मे देहि) वह मुझे दे। क्योंकि तू (मे सप्तपदः युज्यः सखा असि) मेरे सात चरण चलकर बने हुएके समान योग्य मित्र है ॥ ९ ॥

भावार्थ— (ईश्वरका उत्तर)= इस प्रकृतिके परे एक वस्तु है, और उस अन्तिम वस्तुके उरे भी एक दुष्प्राप्य वस्तु है। (भक्तका कथन)= हे देव ! तेरा महिमा जानकर मैं कहता हूं कि दुष्ट व्यवहार करनेवालोंका मुख नीचे हो जावे और सब दास भाववाले भी अधोगतिको पहुंचें ॥ ६ ॥

हे श्रेष्ठ देव ! तुमने कहा है कि बारंबार धन बढानेके प्रयत्नोंमें बहुत ही दोष उत्पन्न होते हैं। इसलिये मैं प्रार्थना करता हूं कि सबपर ऐसी दया कर, कि ये व्यवहार करनेवाले भी कभी हानि न उठावें और दूसरे लोग भी तुझको कंजूस न कहें ॥ ७ ॥

लोग मुझे भी धनहीन या कंजूस न कहें। हे देव ! जो गौ आदि मेरा धन है, वह सब तेरे लिये समर्पित करता हूं। मैं चाहता हूं कि यह तेरा स्तोत्र सर्वत्र जगत्के मनुष्योंमें फैले ॥ ८ ॥

तेरे स्तोत्र जगत्के मनुष्योंमें फैल जांय। हे देव ! जो अभीतक मुझे प्राप्त नहीं हुआ वह मुझे अब प्राप्त हो, क्योंकि मैं तेरा सुयोग्य मित्र हूं ॥ ९ ॥

॥

समा नौ बन्धुर्वरुण समा जा वेदाहं तद्यन्नावेषा समा जा ।
ददामि तद्यत्ते अदत्तो अस्मि युज्यस्ते सप्तपदः सखास्मि ॥ १० ॥
देवो देवाय गृणते वयोधा विप्रो विप्राय स्तुवते सुमेधाः ।
अजीजनो हि वरुण स्वधावन्नथर्वाणं पितरं देवबन्धुम् ।
तस्मा उ राधः कृणुहि सुप्रशस्तं सखा नो असि परमं च बन्धुः ॥ ११ ॥ (१०८)

अर्थ— हे (वरुण) श्रेष्ठ देव ! (नौ समा बन्धुः) हम दोनों समान बन्धु हैं । और (जा समा) हमारी उत्पत्ति भी समान है । (अहं तत् वेद) मैं यह भी जानता हूं (यत् नौ एषा समा जा) कि जो हमारी यह समान उत्पत्ति है । (यत् ते अदत्तः) जो तुझे नहीं दिया है (तत् ददामि) मैं वह देता हूं । (ते युज्यः अस्मि) तेरे योग्य मैं हूं । तेरा (सप्तपदः सखा अस्मि) सात चरण चलकर बना हुआ मित्र मैं हूं ॥ १० ॥

(गृणते देवाय वयोधाः देवः) स्तुति करनेवाले विद्वान्‌के लिये अन्न देनेवाला देव तू है । तथा तू (स्तुवते विप्राय सुमेधाः विप्रः) स्तुति करनेवाले ज्ञानीके लिये उत्तम मेधावान् ज्ञानी है । हे (स्वधावन् वरुण) अपनी धारणाशक्तिसे युक्त श्रेष्ठ देव ! तू (देवबंधुं पितरं अथर्वाणं अजीजनः) देवोंके भाई जैसे पालक अथर्वा योगीको बनाता है। (तस्मा उ सुप्रशस्तं राधः कृणुहि) उसके लिये उत्तम प्रशंसनीय धन प्रदान कर । (नः सखा असि) तू हमारा मित्र है और (परमं च बन्धुः) परम बन्धु भी तू ही है ॥ ११ ॥

भावार्थ— हे ईश्वर ! हम दोनों बन्धु हैं, हमारा जन्म भी समान है । मैं जानता हूं कि यह हमारी समानता कैसी है । मैंने जो अभीतक तेरे लिये समर्पित नहीं किया है, वह मैं तुम्हें अब समर्पित करता हूं । अब मैं तेरा योग्य मित्र हूं और सखा भी हूं ॥ १० ॥

स्तुति करनेवाले उपासकको अन्नादि देनेवाला तू ही एक देव है । उपासकको उत्तम ज्ञान देनेवाला भी तू ही है । हे श्रेष्ठ देव ! तू ही रक्षकोंको उत्पन्न करता है, और उनको धनादि पदार्थ अथवा सिद्धि देता है । तू ही हम सबका मित्र है और भाई भी है ॥ ११ ॥

ईश्वर और भक्तका संवाद ।

ईश्वर और भक्तका संवाद इस सूक्तमें होनेसे इस सूक्तका महत्त्व विशेष है । वेदमें इस प्रकारके संवादात्मक सूक्त बहुत थोडे हैं, इसलिये इन सूक्तोंका मनन कुछ विशेष रीतिसे करना आवश्यक है ।

इस सूक्तमें ईश्वरका नाम ' पुनर्मघ ' आया है । पुनः पुनः धन देनेवाला, जो एक बार निर्धन हुआ है, उसको भी पुनः धन देनेवाला, यह इस शब्दका अर्थ है । दो प्रकारसे ईश्वरकी सहायता होती है । यह बात इस सूक्तके प्रथम मंत्रमें कही है-

१ पृश्निं दक्षिणां ददावान् । (मं. १)
२ त्वं मनसा अचिकित्सीः । (मं. १)

' (१) परमेश्वर भूमि, गौ, वाणी आदि धनोंकी दक्षिणा बारंबार देता है, और (२) सबकी मनसे चिकित्सा करता है ।' अर्थात् जगत्‌के विविध पदार्थ देकर उपभोगके अनंत साधन प्रदान करता है, जिससे मनुष्य सुखपूर्वक इस भूमिपर रह सकता है । यह स्थूल शरीरके सुखका प्रबंध ईश्वर द्वारा होता है । इसी प्रकार सबकी मानस चिकित्सा भी करता है । हरएक मनुष्यको सन्मार्गमें प्रवृत्त करता है, उल्टे मार्ग पर लगे मनुष्यको सीधे मार्गपर लाता है, सन्मार्गकी प्रेरणा करता है । इस प्रकार अनंत रीतियां हैं, जिनके द्वारा वह सबका भला करता है ।

ये ईश्वरके सबपर अनंत उपकार हैं । इस मंत्रमें ' पृश्नि ' शब्द है, जिसका अर्थ ' प्रकृति, भूमि, गौ, वाणी, विद्या ' आदि अनेक प्रकार हो सकता है । यहां प्राकृतिक विश्वके उपलक्षणमें यह शब्द आया है ।

दो प्रकारके लोग ।

जगतमें दो प्रकारके लोग हैं और उनको ज्ञान देनेके भी

दो प्रकार हैं। एक प्रकारके लोग 'असुर' कहलाते हैं और दूसरे प्रकारके 'पिता हरि' कहलाते हैं। 'असुर' शब्द शारीरिक बलसे युक्त पुरुषोंका वाचक है और 'पिता हरि' का अर्थ है कि जो 'रक्षक और दुःख हरण करनेवाले' होते हैं। इनके विषयमें यह कहा है—

१ महे असुराय कथं अब्रवीः (मं. १)
१ पित्रे हरये कथं अब्रवीः। (मं. १)

'(१) बडे शक्तिशालीके लिये तूने क्या और कैसे कहा? और (२) दूसरोंके रक्षक और दूसरोंका दुःख हरण करनेवाले मनुष्यके लिये कैसे और क्या उपदेश दिया?' इस जगत्‌में कई लोग शारीरिक शक्तिके घमंडमें कुछ विशेष प्रकारसे व्यवहार कर रहे हैं और दूसरे लोग ऐसे हैं कि जो अपना बल परोपकारार्थ लगाते हैं और दूसरोंकी रक्षा करते हैं, और दूसरोंके दुःखोंका हरण करते हैं, इन सत्पुरुषोंको किस प्रकारका उपदेश तूने दिया है? कई बलवान् लोग ऐसे होते हैं कि जो अपनी शक्तिका उपयोग दूसरोंकी भलाईके लिये स्वार्थसे करते हैं, परंतु कई शक्तिमान् लोग ऐसे हैं कि जो अपनी शक्तिसे दूसरोंकी सहायता निःस्वार्थ करते हैं। इन सब लोगोंको तूने किस प्रकारका उपदेश दिया है, जिससे ये विविध प्रकारकी प्रवृत्तियां लोगोंमें दिखाई देती हैं? यह आशय इस प्रथम मंत्रके प्रश्नोंका है। तू लोगोंको सब जगत्‌के पदार्थ अर्पण करके तथा उनकी आधिव्याधियोंका शमन करके सबका भला करता है, तथापि जनतामें ऐसी भिन्न प्रवृत्तिके लोग किस कारण उत्पन्न होते हैं, यह भाव यहां है।

प्रयत्नका महत्त्व।

केवल इच्छा करनेसे ही सफलता प्राप्त नहीं हो सकती, इच्छाके साथ प्रयत्नकी भी अत्यंत आवश्यकता है, यह बात विशेष रीतिसे द्वितीय मंत्रमें कही है—

न कामेन पुनर्मघो भवामि। (मं. २)

'केवल इच्छा करने मात्रसे ही पुनः धनयुक्त नहीं होता हूं।' अर्थात् इच्छाके साथ विशेष प्रयत्नकी भी आवश्यकता है। जो इच्छा करेगा और सिद्धिके लिये प्रयत्न करेगा उसको ही सिद्धि प्राप्त हो सकती है। नहीं तो इच्छा करनेवाला कोई मनुष्य धनहीन नहीं रहेगा। परंतु हम देखते हैं कि हरएक मनुष्य धनी बननेकी इच्छा करता है, परंतु सभी निर्धन रहते हैं और क्वचित् कोई मनुष्य धनी होता है और धनी होनेपर बहुत ही थोडे सुखी होते हैं! इसलिये पुरुषार्थका महत्त्व विशेष ही है। यह बात—

कं सञ्चक्षे? (मं. २)

'किससे मैं कहूं।' अर्थात् हर कोई मनुष्य धनी होना चाहता है, परंतु प्रयत्न करनेकी तैयारी नहीं करता। यह अवस्था होनेके कारण मंत्र कहता है कि 'केवल इच्छामात्रसे सिद्धि नहीं हो सकती, यह बात मैं किससे कहूं? कौन इस उपदेशको अच्छी प्रकार सुननेको तैयार है? सुनते तो सब ही हैं, परंतु करते बहुत ही थोडे हैं। जो प्रयत्न करते हैं वे—

एतां पृश्निं उप आजे। (मं. २)

'इस प्रकृति (भूमि, वाणी, गौ आदि) को चलाते हैं, प्राप्त करते हैं और अपनी इच्छाके अनुसार उनसे कार्य लेते हैं।' यह सब प्रयत्नसे ही साध्य होता है, परंतु जो लोग प्रयत्न तो करते नहीं और इच्छाएं बडी बडी करते हैं, उनसे कुछ भी नहीं होता। इसलिये उन्नति चाहनेवाले मनुष्यको उचित है कि वे सदिच्छा धारण करें और उसकी सिद्धताके लिये जितना हो सकता है उतना प्रयत्न भी करें।

ईश्वरका महत्त्व।

जैसे इतर पदार्थ हैं वैसा ही ईश्वर भी है। फिर सबके ऊपर परमेश्वरका शासन कैसे हुआ, इस विषयमें द्वितीय मंत्रका प्रश्न बडा मननीय है—

हे अथर्वन्! त्वं केन? केन काव्येन जातेन जातवेदाः असि? (मं. २)

'हे निश्चल देव! तू किस कारण निश्चल हुआ है और किस काव्यके प्रकट करनेसे जातवेद कहलाता है?' अर्थात् तू जो निश्चल है और तुझे कोई भी अपने स्थानसे हिला नहीं सकता, इतनी शक्ति तेरे अन्दर किस कारण प्राप्त हुई है और तुम्हें ज्ञानका उद्गम कहते हैं, वह भी किस कारणसे? किस पुरुषार्थके कारण परमेश्वरका यह माहात्म्य प्रसिद्ध हुआ है, परमेश्वरकी ऐसी कौनसी पुरुषार्थ शक्ति है कि जिससे परमेश्वरका ऐसा ऐश्वर्य बढा हुआ है? यह प्रश्न यहां है। भक्तका यह प्रश्न श्रवण करके परमेश्वर तृतीय मंत्रमें उत्तर देते हैं—

यत् अहं धरिष्ये, (तत्) मे व्रतं न दासः आर्यः मीमाय। (मं. ३)

'मैं जो नियम करता हूं, उस मेरे नियमको दास अथवा आर्य कोई भी तोड नहीं सकता।' व्रतपालनकी यह दक्षता परमेश्वरमें है, इसलिये उसका शासन सर्वतोपरि हुआ है। नियमका पालन स्वयं करना और दूसरोंसे नियमका पालन करवाना, ये कार्य आत्मशक्तिसे होते हैं। परमेश्वर सबसे अधिक

शक्तिमान् है, इसलिये वह स्वयं नियमपालन करता है और दूसरोंसे नियमपालन करवाता है और उसने अपने विश्वव्यापक राज्यमें ऐसी व्यवस्था कर रखी है कि उसके नियमोंको कोई भी तोड न सके। ऐसा उत्तम शासन रहनेके कारण उसका अधिकार सर्वतोपरि हुआ है। यह बात परमेश्वरकी शक्तिके विषयमें हुई, अब उसके ज्ञानके विषयमें देखिये—

सत्यं, काव्येन जातेन अहं जातवेदाः अस्मि। (मं. ३)

'यह बात सत्य है कि यह काव्य प्रसिद्ध होनेके कारण ही मैं जातवेद नामसे प्रसिद्ध हुआ हूं।' जातवेदका अर्थ 'जिससे वेद प्रसिद्ध हुए' ऐसा है। परमेश्वरका यह निश्वसित वेद जगत्में प्रसिद्ध होनेके कारण ही ईश्वरकी ज्ञानविषयमें श्रेष्ठता जगत्में प्रसिद्ध हो गई है। पहिले मंत्रभागमें उसकी शक्तिका वर्णन हुआ और प्रबंधशक्तिका भी वर्णन हुआ है। इस मंत्र भागमें उसकी ज्ञानशक्तिका वर्णन हुआ। सबसे पूर्ण और श्रेष्ठ ज्ञान परमेश्वर ही सबको देता है, जो ध्यान लगाते हैं वे उससे समाधान प्राप्त करते हैं। यह सामर्थ्य परमेश्वरका ही है। इसी प्रकार परमेश्वरकी गंभीरताका भी वर्णन इसी मंत्रमें निम्नलिखित प्रकार है—

सत्यं, अहं गभीरः। (मं. ३)

'यह सत्य है कि, मैं गंभीर हूं।' गंभीर उसको कहते हैं कि जिसकी गहराईका किसीको पता नहीं लगता। सबसे गंभीर परमेश्वर ही है, क्योंकि उसकी गहराईका पता अभीतक किसीको लगा नहीं, इतना ही नहीं, परंतु उसके द्वारा बनाई गयी यह सृष्टि है, इसकी गंभीरताका भी पता अभीतक किसीको भी लगा नहीं है। उसकी गंभीरता इतनी है। ये गुण परमात्मामें होनेसे ही परमेश्वरका शासन सर्वतोपरि है।

इस प्रकार तृतीय मंत्रमें परमात्माका भाषण श्रवण करके भक्त फिर ईश गुणोंका वर्णन कर रहा है—

१ त्वत् अन्यः कवितरः न। (मं. ४)
२ [त्वत् अन्यः] मेधया धीरतरः न। (मं. ४)

'(१) तेरेसे भिन्न दूसरा कोई अधिक श्रेष्ठ कवि या ज्ञानी नहीं है, और (२) तेरेसे भिन्न बुद्धिसे अधिक बुद्धिमान् भी कोई नहीं है।' अर्थात् तू ही इन गुणोंमें सबसे श्रेष्ठ है। क्योंकि—

त्वं ता विश्वा भुवनानि वेत्थ। (मं. ४)
त्वं विश्वा जनिमा वेद। (मं. ४)

'तू ही इन सब भुवनोंको और जन्मोंको जानता है।' संपूर्ण पदार्थमात्रका ज्ञान तेरे अन्दर है, तेरे लिये कोई अज्ञात पदार्थ नहीं है। तू सर्वज्ञ, श्रेष्ठ कवि और विशेष ज्ञानी होनेके कारण सब लोगोंके गुणदोष तू यथावत् जानता है, इसी कारण—

मायी जनः त्वत् बिभाय। (मं. ४)

'कुटिल मनुष्य तुझसे डरता रहता है!" क्योंकि कपटी मनुष्य यद्यपि अन्य लोगोंके साथ कपट कर सकता है, तथापि वह परमेश्वरके साथ नहीं कर सकता; क्योंकि परमेश्वर उसके कर्मोंको यथावत् जानता है, उससे छिपा हुआ कुछ भी नहीं है। इसीलिये सब छली और कपटी उस परमेश्वरसे सदा डरते रहते हैं। जाहिरी तौरपर बतावें या न बतावें, परन्तु वे मनमें डरते रहते हैं। इस सर्वज्ञताके कारण परमेश्वरका शासन सर्वतोपरि हुआ है।

पंचम मंत्रमें भी यही बात पुनः कही है कि 'वह ईश्वर सबके जन्मोंको यथावत् जानता है।' फिर कौन उससे किस प्रकार छिप सकता है? पञ्चम मंत्रके उत्तरार्धमें कहा है कि—

रजसः परः किम् अन्यत् अस्ति? (मं. ५)
किं परेण अवरम्? (मं. ५)

'इस प्रकृतिके परे दूसरा क्या है और उसके परे भी और क्या है?' उत्तरमें कहते हैं—

रजसः एकं परः अन्यत् अस्ति।
परः एकेन दुर्णशं चित् अर्वाक्॥ (मं. ६)

'इस प्रकृतिके परे एक श्रेष्ठ तत्त्व है और उसके परे अविनाशी तत्त्व है।' यहां प्रकृति जीवात्मा और परमात्माका वर्णन स्पष्टतासे आया है। मनुष्यको उचित है कि वह इनको जाने और अपनी उन्नतिका मार्ग इनके आश्रयसे है यह निश्चित रूपसे समझे।

धनप्राप्तिमें दोष।

पूर्वोक्त प्रकार अध्यात्मका विषय बतानेके पश्चात् व्यवहारका थोडासा उपदेश करते हैं। इहलोकका व्यवहार करनेके लिये धन बहुत चाहिये, यहां धन कमानेके बहुत मार्ग हैं, परंतु—

पुनर्मघेषु भूरि अवद्यानि। (मं. ७)

'पुनः धन कमानेमें बहुत दोष अथवा निंद्य कर्म होते हैं।' अर्थात् दोष न करते हुए और निंद्य कर्म न करते हुए जितना धन कमाया जा सकता है, उतना कमाना चाहिये। दोष और

निंद्य कर्म करके जो धन कमानेका व्यवहार करते हैं, वे दण्डनीय समझने चाहिये, इस विषयमें देखिये—

पणयः अधोवचसः भवन्तु। (मं. ६)
दासाः भूमिं नीचैः उपसर्पन्तु। (मं. ६)

' व्यवहारमें निंद्य कर्म करके धन कमानेकी इच्छा करनेवालोंका मुख नीचेकी ओर होवे। और दूसरेका घात करके धन कमानेवाले नीच स्थितिमें गिर जावें।' अर्थात् जो धन कमाना हो, वह धर्मानुकूल व्यवहार करके कमाया जावे। और कोई मनुष्य निंद्य व्यवहार और घातपात करके धन कमानेका यत्न न करे।

इस मंत्रभागमें ' पणि ' शब्द है, इसका अर्थ ' क्रय विक्रय करनेवाला बनिया ' है। पणि शब्दमें कोई वस्तुतः बुरा भाव नहीं है। परंतु पाठक जानते ही हैं कि बनियोंमें शुद्ध धर्मानुसार व्यवहार करके धन कमानेकी इच्छा करनेवाले बहुत थोडे होते हैं, और जैसी मर्जी चाहे बुरा भला व्यवहार करके शीघ्र धनी होनेकी इच्छा करनेवाले ही बहुत होते हैं। इसलिये उक्त मंत्रभागोंमें जिन (पणियों) बनियोंको नीचे मुख करनेका शाप दिया है, वे दुष्ट व्यवहार करनेवाले हैं। इसी प्रकार ' दास ' शब्दका तात्पर्य ' क्षय करनेवाले, घातपात करनेवाले ' ऐसा होता है। दूसरोंकी लूटमार करके धनी होनेवाले यह अर्थ इस मंत्रमें दास शब्दसे लेना योग्य है। इन सब कुत्सित व्यवहार करनेवालोंकी अन्तमें दुर्दशा होती है, इसलिये धर्ममार्गसे उत्तम व्यवहार करके धनी बननेका प्रयत्न सब लोग करें, यह उपदेश यहां है। इतना होनेपर भी—

एतावतः पणीन् मा सु अभि भूत्। (मं. ७)

' बनियोंको भी नुकसान न होवे।' अर्थात् वे भी धर्मानुकूल व्यवहार करके योग्य लाभ अवश्य कमावें। जबतक धर्मानुकूल व्यवहार वे करें तब तक उनको कोई रुकावट न होवे, परंतु जिस समय वे धर्मनियमका भंग करें, तब ही उनको दूर किया जावे। हरएक व्यवहार करनेवाले लोग इस उपदेशके अनुसार अपना व्यवहार करें और धनी बनें।

आगे अष्टम और नवम मंत्रमें ' परमेश्वरका स्तोत्र अर्थात् ईशभक्ति सब लोगोंमें फैले ' यह इच्छा प्रकट की है, इसका अर्थ यही है कि, सब लोग एक ईश्वरकी भक्तिसे रंगे जायंगे, तो उनमें बुराईका व्यवहार करनेकी इच्छा ही उत्पन्न नहीं होगी और सब लोग उत्तम रीतिसे धर्मानुकूल चलेंगे। ईशभक्तिसे मनुष्यका जीवन ही पवित्र होता है।

ईश्वरका सखा।

हरएक मनुष्यको ऐसा विश्वास होना चाहिये कि मैं परमेश्वरका मित्र हूं। जो धार्मिक भक्त होते हैं, उनमें ही यह भाव हो सकता है—

१ मे युज्यः सप्तपदः सखा असि। (मं. ९)
१ ते युज्यः सप्तपदः सखा अस्मि। (मं. १०)
३ सखा नः असि। बंधुः च असि। (मं. ११)

' ईश्वर मेरा मित्र और बन्धु है।' वस्तुतः जीवात्मा और परमात्मा परस्पर मित्र, बंधु और एक वृक्षपर रहनेवाले दो पक्षियोंके समान परस्पर सख्य करनेवाले हैं। परंतु कितने लोग ऐसे हैं कि जो इस मित्रताका अनुभव करते हैं, इसका विचार किया जाय तो पता लगेगा कि बहुत ही मनुष्योंने इस मित्रताको भुला दिया है। ईश्वरके साथ जीवित और जाग्रत मित्रताका संबंध रखनेवाले कश्चित् कोई सन्त महंत होते हैं, शेष लोग इस मित्रताके संबंधको भूले हुए होते हैं। यह ईशमित्रताका संबंध जितने अन्तःकरणोंमें जाग्रत हो जाय उतना अच्छा है। जिनमें यह संबंध जाग्रत होता है वे ही—

देहि नु मे यत् मे अदत्त। (मं. ९)
ददामि तत् यत् ते अदत्त। (मं. १०)

' दे मुझे वह जो अभीतक नहीं दिया है। मैं तुझे वह देता हूं कि जो तुझे अभीतक नहीं दिया है।' यह भक्त और ईश्वरका वार्तालाप तब प्रत्यक्ष हो सकता है कि जब मनुष्य ईश्वरको अपना मित्र अनुभव करेगा। जो अबतक दी नहीं गई ऐसी वस्तु ' मोक्ष ' ही है जो इस समय भक्त मांगता है और परमेश्वर भी देता है। परमेश्वरसे प्राप्त होनेवाला यह अन्तिम दान है जो भक्तको सबसे अन्तमें प्राप्त होता है।

यज्ञ।

(१२) ऋतस्य यज्ञः।

(ऋषिः — अङ्गिराः। देवता — जातवेदाः।)

समिद्धो अद्य मनुषो दुरोणे देवो देवान्यजसि जातवेदः।
आ च वह मित्रमहश्चिकित्वान्त्वं दूतः कविरसि प्रचेताः ॥ १ ॥
तनूनपात्पथ ऋतस्य यानान्मध्वा समञ्जन्त्स्वदया सुजिह्व।
मन्मानि धीभिरुत यज्ञमृन्धन्देवत्रा च कृणुह्यध्वरं नः ॥ २ ॥
आजुह्वान ईड्यो वन्द्यश्चा याह्यग्ने वसुभिः सजोषाः।
त्वं देवानामसि यह्व होता स एनान्यक्षीषितो यजीयान् ॥ ३ ॥
प्राचीनं बर्हिः प्रदिशा पृथिव्या वस्तोरस्या वृज्यते अग्रे अह्नाम्।
व्यु प्रथते वितरं वरीयो देवेभ्यो अदितये स्योनम् ॥ ४ ॥

अर्थ — हे (जातवेदः) ज्ञान प्रकाशक देव! (अद्य मनुषः दुरोणे समिद्धः देवः) आज मनुष्यके घरमें प्रदीप्त हुआ तू देव (देवान् यजसि) देवोंका यजन करता है। हे (मित्रमहः) मित्रके समान पूज्य देव! तू (चिकित्वान् आ वह च) ज्ञानवान् उनको यहां ला। (त्वं कविः प्रचेता दूतः असि) तू कवि और विशेष ज्ञानी दूत है ॥ १ ॥

हे (तनू-न-पात् सुजिह्व) शरीरको न गिरानेवाले और उत्तम जिह्वावाले देव! (ऋतस्य यानान् पथः मध्वा समञ्जन् स्वदय) सत्यके चलने योग्य मार्गोंको मधुरतासे युक्त करता हुआ स्वादयुक्त कर। (धीभिः मन्मानि) बुद्धियोंसे मननीय विचारोंको (उत यज्ञं ऋन्धन्) और यज्ञको सिद्ध करता हुआ (देवत्रा नः अध्वरं च कृणुहि) देवोंके मध्यमें हमारा अहिंसामय कर्म पूर्ण कर ॥ २ ॥

हे अग्ने! (आजुह्वानः ईड्यः वन्द्यः च) हवन करनेवाला स्तुति और वन्दन करने योग्य तू (सजोषाः वसुभिः आ याहि) प्रेमसे वसुओंके साथ आ। हे (यह्व) पूज्य! (त्वं देवानां होता असि) तू देवोंका आह्वान करनेवाला है। (सः इषितः यजीयान् एनान् यक्षि) वह इष्ट और याजक तू इनका यजन कर ॥ ३ ॥

(अह्नां अग्रे) दिनके प्रथम भागमें (अस्याः पृथिव्याः प्रदिशा) इस पृथ्वीकी दिशासे (वस्तोः बर्हिः प्राचीनं आ वृज्यते) आच्छादनके लिये तृणादि पूर्व दिशाके अभिमुख फैलाया जाता है। यह आसन (वितरं वरीयः) विस्तृत और श्रेष्ठ (देवेभ्यः अदितये स्योनं) देवोंके लिये तथा स्वतंत्रताके लिये सुखदायक (उ विप्रथते) फैलाया जाता है ॥ ४ ॥

भावार्थ— आज मनुष्यके घरमें प्रदीप्त हुआ अग्निदेव देवोंके लिये यज्ञ करता है और उनको यहां लाता है। यह मित्रके समान पूज्य, ज्ञानी, कवि, उत्तम चित्तवाला देवोंका दूत है ॥ १ ॥

शरीरको न गिरानेवाला और मधुर भाषी देव सत्यको पहुंचानेवाले मार्गोंको माधुर्ययुक्त करता है। उत्तम मननीय विचारोंसे यज्ञको सिद्ध करके देवोंके बीचमें हमारा यज्ञ पहुंचाता है ॥ २ ॥

उत्तम हवन करनेवाला, स्तुति योग्य और नमस्कारके लिये योग्य तू देव वसुओंके साथ यहां इस यज्ञमें आ। तू देवोंको बुलानेवाला है। इसलिये तू याजकोंमें उत्तम याजक उन देवोंको यहां ले आ ॥ ३ ॥

प्रातःकालमें ही इस पृथिवीको आच्छादित करनेके लिये पूर्वदिशाकी ओरसे आसन फैलाते हैं। यह विस्तृत और उत्तम आसन सब देवोंके बैठनेके लिये सुखदायक है और यह स्वतंत्रताके लिये भी उत्तम है ॥ ४ ॥

व्यचस्वतीरुर्विया वि श्रयन्तां पतिभ्यो न जनयः शुम्भमानाः ।
देवीर्द्वारो बृहतीर्विश्वमिन्वा देवेभ्यो भवत सुप्रायणाः ॥ ५ ॥
आ सुष्वयन्ती यजते उपाके उषासानक्ता सदतां नि योनौ ।
दिव्ये योषणे बृहती सुरुक्मे अधि श्रियं शुक्रपिशं दधाने ॥ ६ ॥
दैव्या होतारा प्रथमा सुवाचा मिमाना यज्ञं मनुषो यजध्यै ।
प्रचोदयन्ता विदथेषु कारू प्राचीनं ज्योतिः प्रदिशा दिशन्ता ॥ ७ ॥
आ नो यज्ञं भारती तूयमेत्विडा मनुष्वदिह चेतयन्ती ।
तिस्रो देवीर्बर्हिरेदं स्योनं सरस्वतीः स्वपसः सदन्ताम् ॥ ८ ॥
य इमे द्यावापृथिवी जनित्री रूपैरपिंशद् भुवनानि विश्वा ।
तमद्य होतरिषितो यजीयान्देवं त्वष्टारमिह यक्षि विद्वान् ॥ ९ ॥

अर्थ— (**शुम्भमानाः जनयः पतिभ्यः न**) शोभायमान स्त्रियां जिस प्रकार पतियोंका आदर करती हैं उस प्रकार (**व्यचस्वती उर्विया**) विस्तृत और महान् (**बृहतीः विश्वं इन्वाः**) बडे और सबको प्राप्त करनेवाले (**देवीः द्वारः**) हे दिव्य द्वारो ! (**देवेभ्यः सुप्रायणाः भवत**) देवोंके लिये सुखसे आने जाने योग्य होवो ॥ ५ ॥

(**सुष्वयन्ती यजते उपाके**) उत्तम चलनेवाली यजनीय और समीपस्थित (**दिव्ये योषणे**) दिव्य और सेवनीय (**बृहती सुरुक्मे**) बडी सुन्दर (**शुक्रपिशं श्रियं अधि दधाने**) शुद्ध शोभाको धारण करनेवाली (**उषासानक्ता योनौ नि आ सदताम्**) दिन और रात्री हमारे घरमें आवे ॥ ६ ॥

(**प्रथमा सुवाचा दैव्या होतारा**) पहिले, सुन्दर बोलनेवाले दोनों दिव्य होता (**मनुषः यज्ञं यजध्यै मिमाना**) मनुष्यके यज्ञमें यजन करनेके लिये निर्माण करनेवाले (**विदथेषु प्रचोदयन्ता कारू**) यज्ञोंमें प्रेरणा करनेवाले कर्मकर्ता (**प्राचीनं ज्योतिः प्रदिशा दिशन्ता**) प्राचीन ज्योतिको उसकी दिशासे बताते हैं ॥ ७ ॥

(**भारती नः यज्ञं तूयं आ एतु**) सबका भरण करनेवाली मातृभूमि हमारे यज्ञमें बलके साथ आवे । (**इडा मनुष्वत् यज्ञं चेतन्ती इह**) मातृभाषा मनुष्योंसे युक्त यज्ञको चेतना देती हुई यहां आवे । (**सरस्वती सु-अपसः आ सदन्तां**) मातृसभ्यता उत्तम कर्म करनेवालोंके पास बैठे और वे (**तिस्रः देवीः इदं स्योनं बर्हिः**) तीनों देवियां इस उत्तम आसनपर आकर विराजें ॥ ८ ॥

(**इमे जनित्री द्यावापृथिवी**) इन उत्पन्न करनेवाली द्यु और पृथिवीमें (**विश्वा भुवनानि रूपैः यः अपिंशत्**) सब भुवनोंको विविध रूपोंसे रूपवान् जिसने बनाया है । हे (**होतः**) याजक ! (**यजीयान् इषितः विद्वान्**) यज्ञ करनेवाला इष्ट विद्वान् तू (**अद्य इह तं देवं त्वष्टारं यक्षि**) आज यहां उस त्वष्टा देवके लिये यजन कर ॥ ९ ॥

भावार्थ— स्त्रियां जिस प्रकार पतिको सुख देती हैं उस प्रकार ये हमारे दिव्य दरवाजे, जो विस्तृत बडे और सबको आने जानेके लिये योग्य हैं, वे देवोंको सुखपूर्वक अन्दर लानेवाले हों ॥ ५ ॥

उत्तम गमन करने योग्य, एक दूसरेके साथ संबंधित, दिव्य और सुन्दर प्रातःकाल और रात्रीका समय सुखपूर्वक हमारे घरमें बीते ॥ ६ ॥

ये सुन्दर मंत्रगान करनेवाले दिव्य होतागण मनुष्योंका यह यज्ञ पूर्ण करनेके लिये पूर्वदिशाकी ज्योतिका संदेश देते हुए, सबको प्रेरणा करनेके लिये यहां आवें ॥ ७ ॥

हमारे इस यज्ञमें सबका पोषण करनेवाली मातृभूमि, यज्ञकी प्रेरणा करनेवाली मातृभाषा और उत्तम कर्मकी प्रेरणा करनेवाली प्रवाहसे प्राप्त मातृसभ्यता यहां आकर इस यज्ञमें विराजें ॥ ८ ॥

उपावसृज त्मन्या समञ्जन्देवानां पाथ ऋतुथा हवींषि।
वनस्पतिः शमिता देवो अग्निः स्वदन्तु हव्यं मधुना घृतेन ॥ १० ॥
सद्यो जातो व्यमिमीत यज्ञमग्निर्देवानामभवत्पुरोगाः।
अस्य होतुः प्रशिष्यृतस्य वाचि स्वाहाकृतं हविरदन्तु देवाः ॥ ११ ॥ (११९)

अर्थ— (त्मन्या समञ्जन्) स्वयं प्रकट होता हुआ तू (देवानां पाथः हवींषि ऋतुथा उप अव सृज) देवोंके लिये अन्न और हवन ऋतुके अनुसार दे। (वनस्पतिः शमिता देवो अग्निः) वनस्पति, शान्तिकर्ता अग्निदेव (मधुना घृतेन हव्यं स्वदन्तु) मधुर घृतके साथ हव्यका स्वाद लेवें ॥ १० ॥

(सद्यः जातः अग्निः यज्ञं वि अमिमीत) शीघ्र प्रकट हुआ अग्नि यज्ञका निर्माण करता है। वह (देवानां पुरोगाः अभवत्) वह देवोंका अग्रगामी होता है। (अस्य ऋतस्य होतुः प्रशिषि वाचि) इस सत्य प्रवर्तक होताकी प्रकृष्ट शासन करनेवाली वाणीमें (स्वाहाकृतं हविः देवाः अदन्तु) स्वाहाकार द्वारा दिया हुआ हव्य देव खावें ॥ ११ ॥

भावार्थ— जो सब भूतोंको विविध रूप देती है वे दोनों द्यावापृथिवी हैं। हमारा याजक त्वष्टा देवका यहां यजन करे ॥ ९ ॥

स्वयं यहां प्रकट होकर सब देवोंको ऋतुओंके अनुसार हवि और अन्न दे। वनस्पति, शमिता, और देव अग्नि ये सब हमारी हवि और घृत मीठेसे युक्त करें ॥ १० ॥

प्रज्वलित अग्नि यहां हमारा यज्ञ निर्माण करता है। वह देवोंका अग्रणी है। इस होता अग्निकी वाणीमें अर्थात् मुखमें स्वाहाकारपूर्वक डाला हुआ हवि सब देव खावें ॥ ११ ॥

यजमानकी इच्छा।

यजमान अपने घरमें यज्ञ अथवा होम करता है, उस समय उसके मनमें जो विचार होने चाहिये वे इस सूक्तमें बडे सुंदर वर्णनके साथ दिये हैं। घरमें कोई धर्मकृत्य, धर्मका कोई संस्कार, करनेके समयमें ये विचार यजमानको मनमें धारण करने योग्य हैं—

'(१) यह मेरे घरमें प्रदीप्त किया हुआ यज्ञीय अग्नि निःसंदेह सब देवताओंका यजन करता है। यह निःसंदेह सब देवोंको यज्ञस्थानमें ले आता है, क्योंकि वह देवोंको बुलानेवाला, और हवि उनको पहुंचानेवाला प्रत्यक्ष देवदूत ही है।

(२) यह उत्तम जिह्वावाला अग्निदेव सत्यको पहुंचनेवाले धर्ममार्गोपर मीठे पाथेय देनेवाला है। यह यहां आता है, उत्तम स्तोत्रोंसे यज्ञ करता है, और अहिंसामय कर्मोंको देवोंतक पहुंचा देता है।

(३) हे अग्ने! पृथिव्यादि आठ वसु देवोंको तू यहां इस यज्ञमें ला। तू वंदनीय और प्रशंसनीय देव है। तू देवोंको यहां बुलानेवाला है, इसलिये देवोंको यहां बुलाकर उनके लिये यजन कर।

(४) हमने प्रातःकालसे ही देवताओंके सुखपूर्वक बैठनेके लिये पूर्वदिशाके सन्मुख आसन फैलाकर रखे हैं। देव यहां आवें और सुखपूर्वक यहां विराजें।

(५) हमारे घरके द्वार पूर्णतया खोलकर रखे हैं, इनमेंसे देव सुखपूर्वक आवें और इस यज्ञमें मंगल करें।

(६) सबेरेसे सायंकालतकका समय शोभन और तेजस्वी है, यह सब समय उत्तम आनन्दकारक रीतिसे हमारे घरमें बीते अर्थात् हमारे लिये यह समय सुख देनेवाला होवे।

(७) दिव्य होतागण हमारे यज्ञमें आ जाय, मनुष्योंको बुलावें, उत्तम प्रकार यज्ञ कर्म करें और इस यज्ञसे प्रकाशका मार्ग सबको बतावें।

(८) इस यज्ञसे सबका भरणपोषण करनेवाली मातृभूमिका सत्कार हो, यहां मातृभाषा सबको उत्तम प्रेरणा देवे, प्रजाहसे प्राप्त सभ्यता उत्तम कर्मकी प्रेरणा करे। इस प्रकार ये तीनों देवियां इस यज्ञमें आकर कार्य करें।

(९) ये द्यावापृथिवी हैं, इनके कारण ही सब स्थिर चर पदार्थ रूपसे संपन्न हुए हैं। इनके बीचमें यह यज्ञ चल रहा है, अतः इस यज्ञमें सबको आकार देनेवाले त्वष्टा देवके लिये हवन अवश्य होवे।

(१०) यज्ञकी समिधाएं, अग्नि और हवन सामग्री घीसे युक्त होवे, हवन सामग्रीमें मीठा मिलाया जावे। और ऋतुओंके अनुकूल देवोंके निमित्त हवन होता रहे।

(११) अग्नि प्रदीप्त होते ही यज्ञका प्रारंभ होता है, और देव भी उस यज्ञ स्थानमें आते हैं। इस अग्निमें स्वाहाकारपूर्वक

किया हुआ हवन सब देव खाते हैं और तृप्त होते हुए हमारा कल्याण करते हैं।

इस प्रकार यजमान अपनी हार्दिक इच्छा प्रकट करता है। जिस यजमानके मनमें विश्वासपूर्वक ये बातें रहती हैं और जो सचमुच समझता है कि इस यज्ञकर्ममें सब देवताएं भाग लेती हैं और मनुष्यका कल्याण करती हैं, वही यजमान वैदिक कर्मोंसे आध्यात्मिक लाभ उठा सकता है। अविश्वासीके उद्धारका कोई मार्ग नहीं है।

इस सूक्तके कथनानुसार पाठक स्वयं जान सकते हैं कि सामग्री कैसी सिद्ध करनी चाहिये। यज्ञकी विधि जाननेके लिये भी इस सूक्तके मननसे बहुत लाभ हो सकता है।

अग्निका नाम इस सूक्तमें 'तनू-न-पात्' आया है। इसका अर्थ है 'शरीरको न गिरानेवाला' अर्थात् शरीरको चलानेवाला। इस शरीरमें अग्नि शरीरको चलाता है, यह बात इस मंत्रमें स्पष्ट कही है। पाठक स्थूल दृष्टिसे भी विचार करेंगे, तो उनको पता लग जायगा कि मृत मनुष्यका शरीर ठण्डा हो जाता है और जीवित मनुष्यके शरीरमें उष्णता रहती है। इस अनुभवसे भी पाठक जान सकते हैं कि इस शरीरको चलानेवाला अग्नि है। आगे चलकर यही तनूनपात् शब्द आत्माका वाचक हो जाता है और आत्मा शरीरका चालक है यह बात सब जानते ही हैं।

जो यज्ञ अग्निमें किया जाता है उसका नाम अध्वर है, यह बात द्वितीय मंत्रमें कही है। अ-ध्वरका अर्थ 'अ-हिंसा' है अथवा 'अ-कुटिलता' भी है। अर्थात् यज्ञका अर्थ अहिंसा युक्त और कुटिलता रहित कर्म है। मनुष्यको इस प्रकारके ही कर्म करने चाहिये। परन्तु कई मनुष्य यज्ञके नामसे हिंसामय कर्म करते हैं, और आश्चर्यकी बात तो यह है कि वे उस हिंसाको भी अहिंसा मानते हैं। इससे अर्थका अनर्थ न हो तो और क्या हो सकता है? अस्तु।

इस प्रकार इस सूक्तका विचार करके पाठक उचित बोध प्राप्त करें।

सर्पविष दूर करना।

(१३) सर्पविषनाशनम्।

(ऋषिः — गरुत्मान्। देवता — तक्षकः, विषम्।)

ददिर्हि मह्यं वरुणो दिवः कविर्वचोभिरुग्रैर्नि रिणामि ते विषम्।
खातमखातमुत सक्तमग्रभमिरेव धन्वन्नि जजास ते विषम् ॥ १ ॥
यत्ते अपोदकं विषं तत्त एतास्वग्रभम्।
गृह्णामि ते मध्यममुत्तमं रसमुतावमं भियसा नेशदादु ते ॥ २ ॥

अर्थ— (दिवः कविः वरुणः हि मह्यं ददिः) द्युलोकके कवि वरुणने मुझे उपदेश दिया है कि (उग्रैः वचोभिः ते विषं नि रिणामि) बलवान् वचनोंके द्वारा तेरा विष दूर करता हूं। (खातं अखातं उत सक्तं) घाव अधिक खुदा हुआ हो, न खुदा हुआ हो अथवा विष केवल ऊपर चिपका ही हुआ हो, इस सब विषको (अग्रभं) मैं लेता हूं। (धन्वन् इरा इव) रेतीले स्थानमें जिस प्रकार जलधारा नष्ट होती है उस प्रकार (ते विषं नि जजास) तेरा विष निःशेष नष्ट करता हूं ॥ १ ॥

(यत् ते अप-उदकं विषं) जो तेरा जलशोषक विष है (तत् ते एतासु अग्रभं) वह तेरा विष इनमें लेता हूं। (ते उत्तमं मध्यमं उत अवमं रसं गृह्णामि) तेरा उत्तम, मध्यम और नीचेवाला रस पकडकर लेता हूं। जो (आत् उ ते भियसा नेशत्) तेरे भयसे नष्ट हो जाता है ॥ २ ॥

भावार्थ— दिव्य ज्ञानी कहता है कि बलवाले वचनोंसे सर्पका विष दूर होता है। विष गहरे घावमें गया हो, छोटे घावमें गया हो अथवा केवल ऊपर ही ऊपर चिपका हो। उसको मैं पकडता हूं और निःशेष करता हूं ॥ १ ॥

वृषा मे रवो नभसा न तन्यतुरुग्रेण ते वचसा बाध आदु ते ।
अहं तमस्य नृभिरग्रभं रसं तमस इव ज्योतिरुदेतु सूर्यः ॥ ३ ॥
चक्षुषा ते चक्षुर्हन्मि विषेण हन्मि ते विषम् ।
अहे म्रियस्व मा जीवीः प्रत्यगभ्येतु त्वा विषम् ॥ ४ ॥
कैरात पृश्न उपतृण्य बभ्र आ मे शृणुतासिता अलीकाः ।
मा मे सख्युः स्तामानमपि ष्ठाताश्रावयन्तो नि विषे रमध्वम् ॥ ५ ॥
असितस्य तैमातस्य बभ्रोरपोदकस्य च ।
सात्रासाहस्याहं मन्योरव ज्यामिव धन्वनो वि मुञ्चामि रथाँ इव ॥ ६ ॥
आलिगी च विलिगी च पिता च माता च । विद्म वः सर्वतो बन्ध्वरसाः किं करिष्यथ ॥ ७ ॥

अर्थ—(मे रवः नभसा तन्यतुः न वृषा) मेरा शब्द आकाशकी गर्जनाके समान बलवान् है। (उग्रेण वचसा बाध उ ते ते बाधे) बलवाले वचनोंसे निश्चयपूर्वक तुझे तुझे ही बाधा करता हूं। (अहं नृभिः अस्य तं रसं अग्रभं) मैंने मनुष्योंके साथ इसके उस रसको लिया है। (तमसः ज्योतिः सूर्यः इव उदेतु) अन्धकारसे ज्योति देनेवाले सूर्यके समान वह उदयको प्राप्त होवे ॥ ३ ॥

(चक्षुषा ते चक्षुः हन्मि) आंखसे तेरे आंखका नाश करता हूं। (विषेण ते विषं हन्मि) विषसे तेरा विष नष्ट करता हूं। हे (अहे म्रियस्व, मा जीवीः) सर्प ! तू मर जा, मत जीता रह। (विषं त्वा प्रत्यक् अभ्येतु) विष तेरे प्रति लौटकर आ जावे ॥ ४ ॥

हे (कैरात, पृश्ने, उपतृण्य, बभ्रो, असिताः, अलीकाः) जंगलमें रहनेवाले, धब्बेवाले, घासमें रहनेवाले, भूरे रंगवाले, कृष्ण और निंदनीय सर्पों ! (मे आ शृणुत) मेरा भाषण सुनो। (मे सख्युः स्तामानं अपि मा स्थात) मेरे मित्रके घरके पास मत ठहरो। (आश्रावयन्तः विषे नि रमध्वं) सुनाते हुए दूर अपने विषमें ही रमते रहो ॥ ५ ॥

(असितस्य) कृष्ण (तैमातस्य) गीले स्थानपर रहनेवाले (बभ्रोः) भूरे रंगवाले (अप-उदकस्य) जलसे दूर रहनेवाले और (सात्रासाहस्य मन्योः) सबको पराजित करनेवाले क्रोधी सर्पके विषबाधाको मैं (वि मुञ्चामि) ढीला करता हूं, जिस प्रकार (धन्वनः ज्यां इव, रथान् इव) धनुष्यसे डोरी और रथोंके बंधनोंको ढीला करते हैं ॥ ६ ॥

(आलिगी च विलिगी च) चिपकनेवाली और न चिपकनेवाली (पिता च माता च) तथा नर और मादा (वः बन्धु सर्वतः विद्म) तुम्हारे सबके बंधुओंको भी हम सब प्रकारसे जानते हैं। (अरसाः किं करिष्यथ) तुम नीरस होने पर क्या करोगे ? ॥ ७ ॥

भावार्थ— सर्प विष शोषक है। उसको ऊपर मध्यभागमें और नीचेके भागमें पकड लेता हूं और सर्पविषके भयसे तुम्हें दूर करता हूं ॥ २ ॥

मेरा शब्द प्रभावशाली है, उससे विषकी बाधा दूर करता हूं। मैं अन्य मनुष्योंकी सहायतासे विषके रसको स्तंभित किया है, अब वह सूर्योदयके समान जाग उठेगा ॥ ३ ॥

विषसे विष दूर करता हूं। हे सांप ! अब तू मर जा, जीवित न रह। तेरा विष लौटकर तेरे प्रति आवे ॥ ४ ॥

जंगलमें रहनेवाले, धब्बोंवाले, घासमें रहनेवाले और भूरे रंगवाले, काले और घृणित ऐसे सांप होते हैं। हे सब सर्पों ! मेरे मित्रके घरके पास न ठहरो ! दूर कहीं जाकर अपने विषके साथ रमो ॥ ५ ॥

कृष्ण, गीले स्थानपर रहनेवाले और भूरे रंगवाले, जलस्थानसे दूर रहनेवाले और क्रोधी सर्पकी विषबाधाको मैं दूर करता हूं। धनुष्यपरसे डोरी उतारनेके समान मैं दूर करता हूं ॥ ६ ॥

विषकी बाधकता नष्ट होनेपर सांपोंका नर या मादा क्या हानि करेगा ? ॥ ७ ॥

उरुगूलाया दुहिता जाता दास्यसिक्न्या । प्रतङ्कं दद्रुषीणां सर्वासामरसं विषम् ॥ ८ ॥
कर्णा श्वावित्तदब्रवीद्गिरेरवचरन्तिका । याः काश्चेमाः खनित्रिमास्तासामरसतमं विषम् ॥ ९ ॥
ताबुवं न ताबुवं न घेत्वमसि ताबुवम् । ताबुवेनारसं विषम् ॥ १० ॥
तस्तुवं न तस्तुवं न घेत्वमसि तस्तुवम् । तस्तुवेनारसं विषम् ॥ ११ ॥ (१३०)

अर्थ— (उरु-गुलाया दुहिता जाता) बहुत हिंसक सर्पिणीकी दुहिता (असिक्न्याः दासी) कृष्णसर्पिणीकी दासी हो गई है। इन (दद्रुषीणां सर्वासां) दाद पैदा करनेवाली सब सांपिनियोंका (प्रतङ्कं विषं अरसं) कष्ट दायक विष नीरस होवे ॥ ८ ॥

(कर्णा श्वावित्) कानवाली साही (गिरेः अवचरन्तिका) पहाडके नीचे घूमनेवाली (तत् अब्रवीत्) यह बोली (याः काः च इमाः खनित्रिमाः) जो कोई ये भूमिको खोदकर रहते हैं, (तासां विषं अरसतमं) उनका विष नीरस होवे ॥ ९ ॥

(ताबुवं न ताबुवं) ताबुव हिंसक नहीं है। (त्वं ताबुवं न घ इत् असि) तू ताबुव तो हिंसक निःसंदेह नहीं है। (ताबुवेन विषं अरसं) ताबुवके द्वारा विष नीरस होता है ॥ १० ॥

(तस्तुवं न तस्तुवं) तस्तुव भी नाशक नहीं है। (त्वं तस्तुवं न घ इत् असि) तू तस्तुव तो नाशक निःसंदेह नहीं है। (तस्तुवेन विषं अरसं) तस्तुव द्वारा विष निरस होता है ॥ ११ ॥

भावार्थ— हिंसक, कृष्णसर्पिणी, और दाद उत्पन्न करनेवाली सांपिणोंका विष नीरस होवे ॥ ८ ॥
सब पहाडी सर्पोंका विष सारहित हो जावे ॥ ९ ॥
ताबुव और तस्तुव नामक पदार्थ विशेषसे सांपोंका विष निर्बल होता है ॥ १०-११ ॥

सर्प विष।

इस सूक्तमें निम्नलिखित सर्पजातियोंका वर्णन है—

१ कैरातः— भील जहां रहते हैं उस जंगलमें रहनेवाला सर्प,
२ पृश्निः— धब्बोंवाला सर्प,
३ उपतृण्यः— घासमें रहनेवाला सर्प,
४ बभ्रुः— भूरे रंगवाला सर्प,
५ असितः— काले रंगवाला सर्प,
६ अलीकः— अमंगल सर्प,
७ तैमातः— गीले प्रदेशमें रहनेवाला सर्प,
८ अपोदकः— जो जलके पास नहीं रहता,
९ सात्रासाहः— इसके संबंधमें आनेवालेका नाश करनेवाला सर्प,
१० मन्युः— क्रोध धारण करनेवाला सर्प,
११ आलिगी— चिपकनेवाली अर्थात् शरीरको लपेटनेवाली सांपिन,
१२ विलिगी— शरीरसे दूर रहनेवाली सांपिन,
१३ उरु-गुला— जिसका निम्न प्रदेश बडा होता है,
१४ असिक्नी— काली सांपिन,
१५ दद्रुषी— जिस सांपिनके काटनेसे शरीरपर दाद उठता है और दादसे रक्त निकलता है।
१६ कर्णा— कानवाली सांपिन,
१७ श्वावित्— कुत्ता जिसको काटता है, कुत्ता जिसको ढूंढकर निकालता है।
१८ खनित्रिमा— खोदी हुई भूमिमें रहनेवाली सांपिन,

इतनी सांपोंकी जातियोंके नाम इस सूक्तमें हैं। इनमेंसे दो तीन नामोंके विषयमें हमें संदेह है और उनके ज्ञान निश्चित करनेके लिये अभी बहुत खोजकी अपेक्षा है।

उपाय।

सर्पविषकी बाधापर 'ताबुव और तस्तुव' का उपाय इस सूक्तके अन्तिम दो मंत्रोंमें लिखा है। परन्तु ये पदार्थ क्या हैं इसका ज्ञान खोज करनेपर भी अभीतक हमें नहीं हुआ। संभव है कि ये कुछ औषधी, खनिज पदार्थ या पत्थर जैसे पदार्थ अथवा मणि हों। संभव है ये सर्पविशेषके मस्तकमें मिलनेवाले मणियोंके नाम हों। कुछ निश्चयसे नहीं कहा जा सकता। इस विषयमें खोज करनेकी आवश्यकता है।

दूसरा उपाय तीन स्थानपर बंध लगाकर विषकी गतिको रोकना है—

गृह्णामि ते मध्यमं उत्तमं अवमम् ।
पतासु विषं अवमम् ॥ (मं. २)

' ऊपर, मध्यमें और नीचे रस्सीसे बांधके, इनमें विषको पकड लेता हूं । ' यह विधि इस प्रकार है । प्रायः हाथ या पांवको सांप काटता है । जहां काटता है वहांसे विष ऊपर चढता है, इसलिये काटते ही जंघाके मूलमें, घुटनेपर तथा कटे स्थानसे किंचित् ऊपर रस्सीसे बांध देनेसे विषकी ऊपर जानेकी गति रुक जाती है । इस प्रकार विषकी गति रोककर फिर जहांतक विष गया हो, वहांपर उक्त पदार्थोंका प्रयोग करनेसे विष निःसत्त्व हो जाता है ।

परन्तु ' तावुव और तस्तुव ' पदार्थ प्राप्त न होनेकी अवस्थामें यह उपाय कैसे किया जाय यह एक शंका है ।

जहांतक धमनीमें विष पहुंचा होता है, वहांके बाल खडे नहीं रहते, इसलिये बालोंको देखनेसे पता लगता है कि यहांतक विष आया है । अतः विष जहां है वहां जलता अग्नि रखकर वह स्थान जला दिया जाय तो मनुष्य बच सकता है । परन्तु यह बात इस सूक्तमें कही नहीं है ।

यह सूक्त दुर्बोध है । इसलिये कई मंत्रोंका अर्थ भी ठीक प्रकार समझमें नहीं आया है, इस कारण मंत्रोंका विवरण भी अधिक नहीं हो सकता ।

इस सूक्तके कई मंत्र ऐसे हैं कि मंत्रसामर्थ्यसे सांपको कुछ कहनेके समान भाषा उसमें है । जैसा—

प्रत्यक् अभ्येतु ते विषम् । (मं. ४)
अहे ! म्रियस्व । (मं. ४)

' हे सांप ! तेरा विष लौटकर तेरे पास जावे ! हे सर्प ! तू मर जा । ' तथा—

मे सख्युः स्तामानं मा अपि स्थाः । (मं. ५)

' मेरे मित्रके घरके पास न ठहर । ' इत्यादि मंत्र पढनेसे ऐसा प्रतीत होता है कि मंत्रप्रभाव, अथवा कहनेवालेकी इच्छाशक्तिके प्रभावसे सर्पपर कुछ परिणाम होता है । हमने स्वयं अभीतक देखा नहीं है, परन्तु बहुत लोग कहते हैं कि महाराष्ट्रमें ऐसे मांत्रिक हैं कि जो सर्प द्वारा दंशित मनुष्यके पास उस काटनेवाले सांपको बुलाते हैं, और उसके मुखसे सब विष चुसवा लेते हैं । और इस प्रकार सर्पका विष शरीरसे बाहर हो जाने पर वह मनुष्य जाग्रत होनेके समान उठता है । तृतीय मन्त्रके अन्तिम चरणमें ' अन्धकारसे सूर्य उदय होनेके समान यह मनुष्य जाग उठे ' (मं. ३) ऐसा कहा है । संभव है कि इस प्रकारका कुछ भाव ही इसमें हो ।

यह सर्पदंशका विषय अत्यंत महत्त्वका है और इसलिये सब प्रकारके उपचारोंकी बडी खोज करनी चाहिये और निश्चय करना चाहिये कि कौनसा उपाय निश्चित गुणकारी है ।

इस प्रकारसे सूक्त गूढ आशय होनेके कारण बडे दुर्बोध होते हैं और इसी कारण इस विषयको सुबोध करनेके लिये बहुत खोजकी अपेक्षा होती है ।

घातक प्रयोगको लौटाना ।

(१४) कृत्याप्रतिहरणम् ।

(ऋषिः — शुक्रः । देवता — वनस्पतिः, कृत्याप्रतिहरणम् ।)

सुपर्णस्त्वान्वविन्दत्सूकरस्त्वाखनन्नसा । दिप्सौषधे त्वं दिप्सन्तमव कृत्याकृतं जहि ॥ १ ॥
अव जहि यातुधानानव कृत्याकृतं जहि । अथो यो अस्मान्दिप्सति तमु त्वं जह्योषधे ॥ २ ॥

अर्थ— (सुपर्णः त्वा अन्वविन्दत्) गरुडने तुझे प्राप्त किया और (सूकरः त्वा नसा अखनत्) सूकरने तुझे अपनी नासिकासे खोदा है । हे औषधे ! (त्वं दिप्सन्तं दिप्स) तू नाशकका नाश कर और (कृत्याकृतं अवजहि) हिंसा करनेवालेको मार डाल ॥ १ ॥

(यातुधानान् अवजहि) यातना देनेवालोंको मार डाल । (कृत्याकृतं अवजहि) काटनेवालेको मार डाल । (अथो यः अस्मान् दिप्सति) और जो हमें मारना चाहता है, हे औषधे ! (तं उ त्वं जहि) उसको तू मार ॥ २ ॥

रिश्यस्येव परीशासं परिकृत्य परि त्वचः । कृत्यां कृत्याकृते देवा निष्कमिव प्रति मुञ्चत ॥ ३ ॥
पुनः कृत्यां कृत्याकृते हस्तगृह्य परा णय । समक्षमस्मा आ धेहि यथा कृत्याकृतं हनत् ॥ ४ ॥
कृत्याः सन्तु कृत्याकृते शपथः शपथीयते । सुखो रथ इव वर्ततां कृत्या कृत्याकृतं पुनः ॥ ५ ॥
यदि स्त्री यदि वा पुमान्कृत्यां चकार पाप्मने । तामु तस्मै नयामस्यश्वमिवाश्वाभिधान्या ॥ ६ ॥
यदि वासि देवकृता यदि वा पुरुषैः कृता । तां त्वा पुनर्णयामसीन्द्रेण सयुजा वयम् ॥ ७ ॥
अग्ने पृतनाषाट् पृतनाः सहस्व । पुनः कृत्यां कृत्याकृते प्रतिहरणेन हरामसि ॥ ८ ॥
कृतव्यधनि विध्य तं यश्चकार तमिज्जहि । न त्वामचक्रुषे वयं वधाय सं शिशीमहि ॥ ९ ॥
पुत्र इव पितरं गच्छ स्वज इवाभिष्ठितो दश । बन्धमिवावक्रामी गच्छ कृत्ये कृत्याकृतं पुनः ॥ १० ॥
उदेणीव वारण्यभिस्कन्दं मृगीव । कृत्या कर्तारमृच्छतु ॥ ११ ॥

अर्थ— हे (देवाः) देवो ! (रिश्यस्य परिशासं इव) हिंसकको चारों ओरसे घुमनेवालोंके समान और (निष्कं इव) सुवर्णभूषणके समान (त्वचः परि परिकृत्य) त्वचाके ऊपर घाव करके, (कृत्याकृते कृत्यां प्रति मुञ्चत) हत्या करनेवालेके प्रति उसीके काटनेवाले प्रयोगको वापस करो ॥ ३ ॥

(पुनः कृत्यां हस्ते गृह्य) फिर काटनेवाले साधनको हाथमें पकडकर (कृत्याकृते परा णय) प्राणघातक उपाय करनेवालेके पास वापस भेजो (अस्मै समक्षं आ धेहि) इसके लिये सामने रख दे, (यथा कृत्याकृतं हनत्) जिससे हिंसक मारा जाय ॥ ४ ॥

(कृत्याः कृत्याकृते सन्तु) मारक साधन हिंसकोंके ऊपर ही लौट जांय। (शपथः शपथीकृते) गालियां गाली देनेवालेके पास लौट जांय। (सुखः रथः इव) सुख देनेवाला रथ जैसे जाता है उस प्रकार (कृत्याः कृत्याकृतं पुनः वर्ततां) घातपातके उपाय घातकोंके ऊपर ही फिर पहुंच जावें ॥ ५ ॥

(यदि स्त्री यदि वा पुमान्) चाहे स्त्रीने अथवा चाहे पुरुषने (कृत्यां पाप्मने चकार) घातक प्रयोग पापकी इच्छासे किया है। (तां उ तस्मै नयामसि) उसको उसके पास ही हम लौटा देते हैं, (अश्वा-अभि-धान्या अश्वं इव) घोडेको बांधनेकी रस्सी जिस प्रकार घोडेके पास ले जाते हैं ॥ ६ ॥

(यदि वा देवकृता असि) यदि तू देवोंद्वारा की गई हो अथवा (यदि वा पुरुषैः कृता) यदि मनुष्योंद्वारा बनाई गई हो, (तां त्वा वयं) उस तुझको हम (इन्द्रेण सयुजा) सहयोगी इन्द्रके द्वारा (पुनः नयामसि) पुनः हटा देते हैं ॥ ७ ॥

हे (पृतनाषट् अग्ने) संग्राम जीतनेवाले तेजस्वी पुरुष ! (पृतनाः सहस्व) शत्रुसेनाओंका पराभव कर। (पुनः कृत्याकृते) फिर घातपात करनेवालेके प्रति (प्रतिहरणेन कृत्यां प्रति हरामसि) प्रतिहार करनेके उपायसे घातक प्रयोगको लौटा देते हैं ॥ ८ ॥

हे (कृत-व्यधनि) घातकका वेध करनेवाले ! तू (तं विध्य) उसका वेध कर। (यः चकार तं इत् जहि) जिसने घात किया उसका नाश कर (अचक्रुषे त्वां वधाय न संशिशीमहि) हिंसा न करनेवाले तुझको वधके लिये हम उत्तेजना नहीं देते ॥ ९ ॥

(पुत्र इव पितरं गच्छ) पुत्रके समान पिताके प्रति जा। (स्वज इव अभिष्ठितः दश) लिपटनेवाले सांपके समान घात करनेवालेको काट। (बन्ध इव अवक्रामी) बन्धनके प्रति जानेके समान जा। हे (कृत्ये) हिंसे ! (कृत्या कृतं पुनः गच्छ) हिंसकके प्रति पुनः जा ॥ १० ॥

(वारिणीं एणी इव मृगी इव) हथिनी मृगीके ऊपर जानेके समान (अभिस्कन्दं कर्तारं कृत्या ऋच्छतु) चढाई करनेवाले, घात करनेवालेके प्रति घातक प्रयोग चला जावे ॥ ११ ॥

इष्वा ऋजीयः पततु द्यावापृथिवी तं प्रति । सा तं मृगमिव गृह्णातु कृत्या कृत्याकृतं पुनः ॥१२॥
अग्निरिवैतु प्रतिकूलमनुकूलमिवोदकम् । सुखो रथ इव वर्ततां कृत्या कृत्याकृतं पुनः ॥१३॥(१४१)

अर्थ— हे द्यावापृथिवी ! (सा कृत्या तं प्रति इष्वाः ऋजीयः पततु) वह घातक प्रयोग उस कर्ताके प्रति बाणके समान सीधा गिरे। और (मृगं इव) मृगके समान वह (तं कृत्याकृतं पुनः गृह्णातु) उस घातक प्रयोग करनेवालेको फिर पकड लेवे ॥ १२ ॥

(अग्निः इव प्रतिकूलं) अग्निके समान प्रतिकूलके प्रति और (उदकं इव अनुकूलं एतु) जलके समान अनुकूलताके साथ वह चले। (सुखः रथः इव) सुखकारक रथके समान (कृत्या कृत्याकृतं पुनः वर्तताम्) घातक प्रयोगकर्ताके पास फिर चला आवे ॥ १३ ॥

दुष्ट कृत्यका परिणाम।

दुष्ट कृत्य यदि दूसरेके घातपातके लिये किया जावे, तो वह अन्तमें कर्ताका ही घात करता है, यह इस सूक्तका तात्पर्य है। इसमें कृत्या नामका कुछ घातक प्रयोग कोई दुष्ट लोग करते हैं, ऐसा जो विषय कहा है, वह बड़ा दुर्बोध है और अबतक उस विषयमें हमें कोई पता नहीं लगा है। इसलिये हम इसपर अधिक कुछ लिख नहीं सकते। यदि कोई पाठक इस मारण प्रयोगके विषयमें कुछ निश्चित और सप्रयोग ज्ञान रखते हों, तो प्रकाशित करनेकी कृपा करें।

सत्यका विजय।

(१५) रोगोपशमनम्।

(ऋषिः — विश्वामित्रः । देवता — मधुला वनस्पतिः ।)

एका च मे दश च मेऽपवक्तार ओषधे । ऋतजात ऋतावरि मधु मे मधुला करः ॥ १ ॥
द्वे च मे विंशतिश्च मेऽपवक्तार ओषधे । ऋतजात ऋतावरि मधु मे मधुला करः ॥ २ ॥
तिस्रश्च मे त्रिंशच्च मेऽपवक्तार ओषधे । ऋतजात ऋतावरि मधु मे मधुला करः ॥ ३ ॥
चतस्रश्च मे चत्वारिंशच्च मेऽपवक्तार ओषधे । ऋतजात ऋतावरि मधु मे मधुला करः ॥ ४ ॥
पञ्च च मे पञ्चाशच्च मेऽपवक्तार ओषधे । ऋतजात ऋतावरि मधु मे मधुला करः ॥ ५ ॥
षट् च मे षष्टिश्च मेऽपवक्तार ओषधे । ऋतजात ऋतावरि मधु मे मधुला करः ॥ ६ ॥
सप्त च मे सप्ततिश्च मेऽपवक्तार ओषधे । ऋतजात ऋतावरि मधु मे मधुला करः ॥ ७ ॥
अष्ट च मेऽशीतिश्च मेऽपवक्तार ओषधे । ऋतजात ऋतावरि मधु मे मधुला करः ॥ ८ ॥

अर्थ— हे (ऋतावरि ऋतजाते ओषधे) सत्यपालक और सत्यसे उत्पन्न औषधि ! तू (मधुला) मधुरता उत्पन्न करनेवाली होकर (मे मधु करः) मेरे लिये सर्वत्र मधुरता कर। (मे एका च दश च अपवक्तारः) मेरे लिये एक या दस निंदक क्यों न हों। इसी प्रकार (द्वे विंशतिः च) दो और बीस, (तिस्रः त्रिंशत् च) तीन और तीस, (चतस्रः चत्वारिंशत् च) चार और चालीस, (पञ्च पञ्चाशत्) पांच और पचास, (षट् षष्टिः च) छः और साठ, (सप्त

नवं च मे नवतिश्च मेऽपवक्तार ओषधे । ऋतंजात ऋतावरि मधु मे मधुला करः ॥ ९ ॥
दश च मे शतं च मेऽपवक्तार ओषधे । ऋतंजात ऋतावरि मधु मे मधुला करः ॥ १० ॥
शतं च मे सहस्रं चापवक्तार ओषधे । ऋतंजात ऋतावरि मधु मे मधुला करः ॥ ११ ॥ (१५४)

॥ इति तृतीयोऽनुवाकः ॥ ३ ॥

सप्ततिः च) सात और सत्तर, (अष्ट अशीतिः च) आठ और अस्सी, (नव नवतिः च) नौ और नब्बे, (दश शतं च) दस और सौ, (शतं सहस्रं च) सौ और हजार (अपवक्तारः) निंदक क्यों न खडे हों और मुझे प्रतिबंध करनेका यत्न क्यों न करें, मैं सत्यमार्गसे ही उनका प्रतिकार करूंगा। इसलिये सर्वत्र मेरे लिये मधुरता फैले ॥ १-११ ॥

सत्यसे यश।

इस सूक्तमें ऋतावरी ऋतजाता औषधिका नाम है। यह कौन औषधि है, इसका पता नहीं लगता। परन्तु इस सूक्तमें हमें ऐसा प्रतीत होता है कि यहां कोई औषधि प्रयोग नहीं बताया है। परन्तु जो निंदक शत्रु हैं उनको सत्यपालन और सत्य व्यवहारसे ही ठीक करना और सत्यका महत्त्व सिद्ध करना ही बताया है। सत्यपालन करनेवालेके लिये सब दिशाएं मधुरतायुक्त हो जाती हैं, अर्थात् उसके लिये कोई विरोधी नहीं रहता। सत्यपालन करनेवाला मनुष्य शत्रुरहित हो जाता है। मानो 'सत्यपालनका व्रत' ही सब दोषोंको धोनेवाली दोषधी अथवा ओषधि है। इस सूक्तमें कहीं संख्याका क्या भाव है यह समझमें नहीं आता।

तृतीय अनुवाक समाप्त ॥ ३ ॥

आत्मबल।

(१६) वृषरोगशमनम्।

(ऋषिः — विश्वामित्रः। देवता — एकवृषः।)

यद्येकवृषोऽसि सृजारसोऽसि ॥ १ ॥ यदि द्विवृषोऽसि सृजारसोऽसि ॥ २ ॥
यदि त्रिवृषोऽसि सृजारसोऽसि ॥ ३ ॥ यदि चतुर्वृषोऽसि सृजारसोऽसि ॥ ४ ॥
यदि पञ्चवृषोऽसि सृजारसोऽसि ॥ ५ ॥ यदि षड्वृषोऽसि सृजारसोऽसि ॥ ६ ॥
यदि सप्तवृषोऽसि सृजारसोऽसि ॥ ७ ॥ यद्यष्टवृषोऽसि सृजारसोऽसि ॥ ८ ॥
यदि नववृषोऽसि सृजारसोऽसि ॥ ९ ॥ यदि दशवृषोऽसि सृजारसोऽसि ॥ १० ॥
यद्येकादशोऽसि सोऽपोदकोऽसि ॥ ११ ॥ (१६५)

अर्थ— (यदि एकवृषः, द्विवृषः, त्रिवृषः, चतुर्वृषः, पञ्चवृषः, षड्वृषः, सप्तवृषः, अष्टवृषः, नववृषः, दशवृषः, असि) यदि तू एक दो तीन चार पांच छः सात आठ नौ और दस शक्तियोंसे युक्त है, तो (सृज) बल उत्पन्न कर, नहीं तो (अरसः असि) तू निःसत्त्व ही रहेगा। तथा यदि तू (एकादशः असि) ग्यारहवां है, तो (अपउदकः असि) तू प्राकृतिक जीवन रससे रहित है ॥ १-११ ॥

मनुष्यमें दस इंद्रिय शक्तियां हैं। प्रत्येक इंद्रियमें बडी भारी वृषशक्ति, अथवा अश्वशक्ति भी कहिये, है। शरीरस्थ आत्मा इन सब शक्तियोंसे युक्त रहता है। आत्माके शरीरमें आनेके पश्चात् उसको चाहिए कि वह अपना बल बढावे, यदि वह बल बढानेका प्रयत्न न करेगा, तो निःसंदेह इसका बल घटता जायगा। बल न घटे इसलिये इसको उचित है कि, वह अपना बल बढानेका यत्न करे। जिस समय यह ग्यारहवां शुद्ध आत्म अर्थात् देहसे विरहित आत्मा होता है, उस समय उसके पास, ये प्राकृतिक शक्तियां नहीं होती हैं। उस समय वह केवल आत्मिक शक्तिसे ही युक्त रहता है और वह अखंड शक्ति होती है, इसलिये उस समय उसमें घट-बढ कुछ नहीं हो सकता है।

स्त्रीके पातिव्रत्यकी रक्षा ।

(१७) ब्रह्मजाया ।

(ऋषि — मयोभूः । देवता — ब्रह्मजाया ।)

तेऽवदन्प्रथमा ब्रह्मकिल्बिषेऽकूपारः सलिलो मातरिश्वा ।
वीडुहरास्तप उग्रं मयोभूरापो देवीः प्रथमजा ऋतस्य ॥ १ ॥
सोमो राजा प्रथमो ब्रह्मजायां पुनः प्रायच्छदहृणीयमानः ।
अन्वर्तिता वरुणो मित्र आसीदग्निर्होता हस्तगृह्या निनाय ॥ २ ॥
हस्तेनैव ग्राह्य आधिरस्या ब्रह्मजायेति चेदवोचत् ।
न दूताय प्रहेया तस्थ एषा तथा राष्ट्रं गुपितं क्षत्रियस्य ॥ ३ ॥
यामाहुस्तारकैषा विकेशीति दुच्छुनां ग्राममवपद्यमानाम् ।
सा ब्रह्मजाया वि दुनोति राष्ट्रं यत्र प्रापादि शश उल्कुषीमान् ॥ ४ ॥

अर्थ— (**अ-कू-पारः सलिलः**) अगाध समुद्र, (**मातरिश्वा**) वायु (**वीडुहराः**) बलवान् तेजवाला अग्नि (**उग्रं तपः**) उग्र ताप देनेवाला सूर्य (**मयो-भूः**) सुख देनेवाला चन्द्र, (**देवीः आपः**) दिव्य जल, (**ऋतस्य प्रथमजाः**) ऋतका पहिला प्रवर्तक देव (**ते प्रथमाः**) ये पहिले देव भी (**ब्रह्म किल्बिषे अवदन्**) ब्राह्मणके संबंधमें पातक करनेवालेके विषयमें गवाही देते हैं ॥ १ ॥

(**अहृणीयमानः प्रथमः सोमो राजा**) क्रोध न करता हुआ पहिला सोम राजा (**ब्रह्मजायां पुनः प्रायच्छत्**) ब्राह्मणकी भार्याको पुनः वापस देने लगा । उस समय (**वरुणः मित्रः अन्वर्तिता आसीत्**) वरुण और मित्र ये साथ चलनेवाले थे और (**होता अग्निः हस्तगृह्य निनाय**) होता अग्नि हाथ पकडकर चलाता रहा ॥ २ ॥

(**हस्तेन एव ग्राह्यः अस्याः आधिः**) हाथसे ही ग्रहण किया जावे, ऐसा इसका आदेश है, (**ब्रह्मजाया इति चेत् अवोचत्**) यदि यह ब्राह्मणकी पत्नी है ऐसा कहा जाय । (**एषा दूताय प्रहेया न तस्थे**) यह दूतके लिये ले जाने योग्य होकर नहीं ठहरती, (**तथा क्षत्रियस्य गुपितं राष्ट्रं**) वैसा ही क्षत्रियका सुरक्षित राष्ट्र होता है ॥ ३ ॥

(**विकेशी एषा तारका इति**) बंधन रहित यह तारका है ऐसा (**ग्रामं अवपद्यमानां दुच्छुनां यां आहुः**) जिसको ग्रामके ऊपर गिरनेवाली विपत्ति करके कहते हैं । इसी प्रकार (**सा ब्रह्मजाया राष्ट्रं वि दुनोति**) वह ब्राह्मण स्त्री राष्ट्रको विशेष हिला देती है, (**यत्र उल्कुषीमान् शशः प्र अपादि**) जहां उल्कायुक्त शशक गिरता है ॥ ४ ॥

भावार्थ— अग्नि, जलनिधि समुद्र, वायु, तेजस्वी सूर्य, सुख देनेवाला चन्द्रमा, तथा अन्य सब देव ब्राह्मणके संबंधमें पाप करनेवाले पापीके पापाचरणके विषयमें सत्य बात स्पष्ट कह देते हैं ॥ १ ॥

सोमने शान्तिके साथ ब्राह्मणकी स्त्रीको पुनः वापस दिया, वहां वरुण और मित्र उपस्थित थे और अग्नि भी पाणिग्रहणके समय होता बना था ॥ २ ॥

जो ब्राह्मणकी पत्नी कही जाती है वह पाणिग्रहण विधिसे ही विवाहित हुई होती है । यह किसीके दूतद्वारा भगाई जाने योग्य नहीं होती, इसकी सुरक्षासे क्षत्रियका राष्ट्र सुरक्षित होता है ॥ ३ ॥

जिस प्रकार आकाशकी तारका और उल्का किसी ग्रामपर गिरती है और वह दुश्चिन्ह कहा जाता है, उसी प्रकार वह ब्राह्मणकी भगाई जानेपर राष्ट्रका नाश करती है ॥ ४ ॥

ब्रह्मचारी चरति वेविषद्विषः स देवानां भवत्येकमङ्गम् ।
तेन जायामन्वविन्दद्बृहस्पतिः सोमेन नीतां जुह्वं न देवाः ॥ ५ ॥
देवा वा एतस्यामवदन्त पूर्वे सप्तऋषयस्तपसा ये निषेदुः ।
भीमा जाया ब्राह्मणस्यापनीता दुर्धां दधाति परमे व्योमन् ॥ ६ ॥
ये गर्भा अवपद्यन्ते जगद्यच्चापलुप्यते । वीरा ये तृह्यन्ते मिथो ब्रह्मजाया हिनस्ति तान् ॥ ७ ॥
उत यत्पतयो दश स्त्रियाः पूर्वे अब्राह्मणाः । ब्रह्मा चेद्धस्तमग्रहीत्स एव पतिरेकधा ॥ ८ ॥
ब्राह्मण एव पतिर्न राजन्यो न वैश्यः । तत्सूर्यः प्रब्रुवन्नेति पञ्चभ्यो मानवेभ्यः ॥ ९ ॥
पुनर्वै देवा अददुः पुनर्मनुष्या अददुः । राजानः सत्यं गृह्णाना ब्रह्मजायां पुनर्ददुः ॥ १० ॥

अर्थ— (ब्रह्मचारी विषः वेविषत् चरति) ब्रह्मचारी प्रजाओंकी सेवा करता हुआ जगत्में संचार करता है, इसलिये (सः देवानां एकं अंगं भवति) वह देवोंका एक अंग बनता है। (तेन बृहस्पतिः जायां अन्वविन्दत्) उसके द्वारा बृहस्पतिने भार्या प्राप्त की (सोमेन नीतां जुह्वां न देवाः) जिस प्रकार सोमके द्वारा लायी हुई चमससे हुत आहुति देव प्राप्त करते हैं ॥ ५ ॥

(एतस्यां पूर्वे देवाः वै अवदन्त) इसके संबंधमें पूर्व देवोंने कहा है, तथा (ये तपसा निषेदुः सप्त ऋषयः) जो तप करनेके लिये बैठते हैं उन सप्त ऋषियोंने भी वैसा ही कहा है। (ब्राह्मणस्य अपनीता जाया भीमा) ब्राह्मणकी भगाई पत्नी भयंकर होती है, (परमे व्योमन् दुर्धां दधाति) परम धाममें भी दुःख देनेवाली वह होती है ऐसा धारण करते हैं ॥ ६ ॥

(ये गर्भाः अवपद्यन्ते) जो गर्भ गिर पडते हैं, (जगत् यत् च अप लुप्यते) जो चलनेवाले प्राणी नाशको प्राप्त होते हैं, (ये वीराः मिथः तृह्यन्ते) जो वीर परस्पर लडते भिडते हैं, (तान् ब्रह्मजाया हिनस्ति) उनको ब्राह्मणकी भार्या मार डालती है ॥ ७ ॥

(उत यत् पूर्वे अब्राह्मणाः स्त्रियाः दश पतयः) और जो पहिले ब्राह्मणसे भिन्न स्त्रीके दस पति होते हैं, (ब्रह्मा चेत् हस्तं अग्रहीत्) ब्राह्मणने यदि उसका पाणिग्रहण किया, तो (स एव एकधा पतिः) वह उसका एक ही पति होता है ॥ ८ ॥

(ब्राह्मण एव पतिः न राजन्यः न वैश्यः) ब्राह्मण ही एक पति है, क्षत्रिय और वैश्य नहीं। (सूर्यः पञ्चभ्यः मानवेभ्यः तत् प्रब्रुवन् एति) सूर्य पांचों मनुष्योंको वह कहता हुआ चलता है ॥ ९ ॥

(देवाः वै पुनः अददुः) देवोंने पुनः दिया, (मनुष्याः पुनः अददुः) मनुष्योंने पुनः दिया है। (सत्यं गृह्णानाः राजानः) सत्यका पालन करनेवाले राजा लोग भी (ब्रह्मजायां पुनः ददुः) ब्राह्मणस्त्रीको पुनः देते हैं ॥ १० ॥

भावार्थ— ब्रह्मचारी विद्या समाप्त करनेपर जनताकी सेवा करता हुआ जगत्में संचार करता है, इसलिये उसको देवता कहते हैं। यह उक्त अत्याचारका पता लगाता है, और जिसकी स्त्री होती है उसके पास पहुंचाता है ॥ ५ ॥

तप करनेवाले ऋषि और सब देवता लोग इस विषयमें बारंबार कहते आये हैं कि, इस प्रकार भगाई गुरुपत्नी भयानक हानि करती है और दूसरे उच्च लोकोंमें भी कष्ट पीडा देती है ॥ ६ ॥

राष्ट्रमें जिस समय अकालमें बालकोंकी मृत्यु होती है और प्राणियोंका बहुत संहार होता है, और आपसमें वीर लोग एक दूसरेके सिर फोडने लगते हैं, तब समझना चाहिये कि वह परिणाम गुरुपत्नीके पूर्वोक्त कष्टसे ही हो रहा है ॥ ७ ॥

ब्राह्मणसे भिन्न दस पति स्त्रीके होते हैं, परंतु जिस समय ब्राह्मण किसी स्त्रीका पाणिग्रहण करता है, उस समय उस स्त्रीका वही एक पति होता है, कदापि उस स्त्रीका दूसरा पति नहीं हो सकता ॥ ८ ॥

ब्राह्मण ही एक पति है, क्षत्रिय और वैश्य नहीं, यह बात सूर्य ही पञ्चजनोंको कहता है ॥ ९ ॥

*

पुनर्दाय ब्रह्मजायां कृत्वा देवैर्निकिल्बिषम् । ऊर्जं पृथिव्या भक्त्वोरुगायमुपासते ॥ ११ ॥
नास्य जाया शतवाही कल्याणी तल्पमा शये । यस्मिन्राष्ट्रे निरुध्यते ब्रह्मजायाचित्त्या ॥ १२ ॥
न विकर्णः पृथुशिरास्तस्मिन्वेश्मनि जायते । यस्मिन्राष्ट्रे निरुध्यते ब्रह्मजायाचित्त्या ॥ १३ ॥
नास्य क्षत्ता निष्कग्रीवः सूनानामेत्यग्रतः । यस्मिन्राष्ट्रे निरुध्यते ब्रह्मजायाचित्त्या ॥ १४ ॥
नास्य श्वेतः कृष्णकर्णो धुरि युक्तो महीयते । यस्मिन्राष्ट्रे निरुध्यते ब्रह्मजायाचित्त्या ॥ १५ ॥
नास्य क्षेत्रे पुष्करिणी नाण्डीकं जायते बिसम् । यस्मिन्राष्ट्रे निरुध्यते ब्रह्मजायाचित्त्या ॥ १६ ॥
नास्मै पृश्निं वि दुहन्ति येऽस्या दोहमुपासते । यस्मिन्राष्ट्रे निरुध्यते ब्रह्मजायाचित्त्या ॥ १७ ॥
नास्य धेनुः कल्याणी नानड्वान्त्सहते धुरम् । विजानिर्यत्र ब्राह्मणो रात्रिं वसति पापया ॥ १८ ॥ (१८१)

अर्थ— (देवैः निकिल्बिषं कृत्वा ब्रह्मजायां पुनर्दाय) देवोंने पापरहित करके ब्राह्मणकीके पुनः देकर (पृथिव्याः ऊर्जं भक्त्वा) पृथिवीके बलका विभाग करके (उरुगायं उपासते) बडी प्रशंसा करने योग्य देवताकी उपासना करते हैं ॥ ११ ॥

(यस्मिन् राष्ट्रे अचित्त्या ब्रह्मजाया निरुध्यते) जिस राष्ट्रमें अज्ञानसे ब्राह्मणकी स्त्री प्रतिबंधमें डाली जाती है । (अस्य शतवाही कल्याणी जाया तल्पं न आशये) उसकी सौ संतान उत्पन्न करनेवाली कल्याणकारिणी स्त्री भी बिस्तरेपर न सोवे ॥ १२ ॥

जिस राष्ट्रमें अज्ञानसे ब्राह्मणकी प्रतिबंधमें पडती है (तस्मिन् वेश्मनि विकर्णः पृथुशिराः न जायते) उस घरमें विशेष सुननेवाला और बडे शिरवाला पुत्र उत्पन्न नहीं होता ॥ १३ ॥

जिस राष्ट्रमें अज्ञानसे ब्राह्मणकी प्रतिबंधमें पडती है, (अस्य क्षत्ता निष्कग्रीवः सूनानां अग्रतः न एति) उस राष्ट्रका वीर सुवर्णालंकार गलेमें धारण करके लडकियोंके सन्मुख नहीं आता है ॥ १४ ॥

जिस राष्ट्रमें अज्ञानसे ब्राह्मणकी प्रतिबंधमें पडी होती है (अस्य श्वेतः कृष्णकर्णः धुरि युक्तः न महीयते) उस राष्ट्रमें श्यामकर्ण श्वेतवर्णका घोडा धुरामें युक्त होकर महत्वको प्राप्त नहीं होता ॥ १५ ॥

जिस राष्ट्रमें अज्ञानसे ब्राह्मणकी प्रतिबंधित होती है (अस्य क्षेत्रे न पुष्करिणी) उसके क्षेत्रमें कमलोंवाले तलाव नहीं होते और (बिसं आण्डीकं न जायते) कमलका बीज भी नहीं होता ॥ १६ ॥

जिस राष्ट्रमें अज्ञानसे ब्राह्मणकी स्त्री प्रतिबंधमें डाली जाती है, उस राष्ट्रमें (ये अस्याः दोहं उपासते) जो इसके दोहनके लिये बैठते हैं वे (अस्मै पृश्निं न दुहन्ति) इसके लिये गौ दुहते नहीं ॥ १७ ॥

(विजानिः ब्राह्मणः) स्त्रीरहित होकर ब्राह्मण (यत्र रात्रिं पापया वसति) जहां रात्रीमें पापबुद्धिसे रहता है, (अस्य) उसके राष्ट्रमें (न कल्याणी धेनुः) कल्याण करनेवाली धेनु नहीं होती है और (न अनड्वान् धुरं सहते) न बैल धुराको सहता है ॥ १८ ॥

भावार्थ— देव, मनुष्य और प्रजापालक राजा लोग गुरुपत्नीको सुरक्षित गुरुके प्रति पहुंचाते हैं ॥ १० ॥

जहां निष्पापताले गुरुपत्नीको सुरक्षितताके साथ गुरुगृहके प्रति पहुंचाया जाता है, वहां भूमिका बल बढता है और यश फैलता है ॥ ११ ॥

परंतु जिस राष्ट्रमें गुरुपत्नीको प्रतिबंध होता है, उस राष्ट्रमें मानो कोई गुहासिनी स्त्री बिस्तरेपर सुरक्षित नहीं सो सकती ॥ १२ ॥

जिस राष्ट्रमें गुरुपत्नीका अपमान होता है उस राष्ट्रमें उत्तम पुत्र नहीं उत्पन्न हो सकते ॥ सुवर्णके आभूषण धारण करके कोई वीर बालिकाओंके साथ खेल नहीं सकता ॥ श्यामकर्ण घोडेको कोई जोत नहीं सकता ॥ कमलयुक्त तालाब प्रफुल्लित नहीं होते ॥ गौवें दूध नहीं देतीं ॥ १३-१७ ॥

जिस राष्ट्रमें गुरुपत्नीकी मानहानि होती है और उस कारण धर्मपत्नी न होनेसे गुरु अकेला ही त्रस्त होकर क्रोधकी भावना मनमें धारण करके सोता है, उस राष्ट्रमें गौ भी कल्याण नहीं करती और बैल भी कार्य करनेवाला नहीं होता है ॥ १८ ॥

स्त्रीचारित्र्यकी रक्षा ।

स्त्रीचारित्र्यकी रक्षा करनी चाहिये, यह उपदेश देनेके लिये यह सूक्त है । जिस राष्ट्रमें स्त्रीचारित्र्यकी रक्षा की जाती है, और सब पुरुष स्त्रीके चारित्र्यकी रक्षा करनेके लिये तत्पर रहते हैं उस राष्ट्रकी उन्नति होती है । परन्तु जिस राष्ट्रमें स्त्रीचारित्र्यकी रक्षा नहीं होती, वह राष्ट्र पतित होता है । संक्षेपसे इस सूक्तका यह उपदेश है ।

इस सूक्तमें ब्राह्मणकी स्त्री क्षत्रियके द्वारा भगाई जानेसे राष्ट्रपर कितने अनर्थ गुजरते हैं, इसका वर्णन है । ' **वर्णानां ब्राह्मणो गुरुः** । ' अर्थात् सब वर्णोंको विद्यादान देनेवाला सबका अध्यापक अथवा ' गुरु ' ब्राह्मण है । इसलिये ब्राह्मणकी स्त्री सबकी ' गुरुपत्नी ' होती है । जिस प्रकार ' ब्राह्मण ' सब पुरुषोंको ज्ञानोपदेश देता हुआ सर्वत्र भ्रमण करता है, उसी प्रकार ' ब्राह्मणी ' भी सब स्त्रियोंको धर्मका उपदेश करती हुई भ्रमण करती है । गुरुपत्नीका यह कर्तव्य ही है । यह कर्तव्य करनेके लिये जब गुरुपत्नी बाहर भ्रमण करती है तब उसके चारित्र्यका रक्षण सब लोग करें । कोई भी उसको प्रतिबन्ध न करें और न उसका किसी प्रकार अपमान करें ।

जो गुरुपत्नीका अपमान करनेका साहस करेंगे, वे अन्य स्त्रियोंका अपमान करनेसे पीछे नहीं हटेंगे, यह भाव यहां है । वास्तवमें सभी स्त्रियोंके चारित्र्यकी रक्षा होनी चाहिये । क्योंकि इसी पर राष्ट्रका गौरव अवलंबित है । जिस राष्ट्रमें गुरुपत्नीका भी चारित्र्य अथवा पातिव्रत्य गुण्डोंके अत्याचारके कारण सुरक्षित नहीं रहता, वहांकी अन्य स्त्रियोंकी दुर्दशाका वर्णन ही क्या हो सकता है ? इसलिये सब स्त्रियोंके चारित्र्यके उत्कर्षकी दृष्टिसे ही इस सूक्तमें कहा है कि कोई भी गुरुपत्नीका अपमान न करे । यह सूक्त आकाशस्थ तारोंकी गतिपर रचा हुआ अलंकार है, इसका स्पष्टीकरण अब देखिये—

बृहस्पति और तारा ।

आकाशमें बृहस्पति नामका एक सितारा है, जिसको ' गुरु ' भी कहते हैं । यह प्रसिद्ध सितारा है, जो रात्रीके समय पाठक देख सकते हैं । आकाशस्थ अन्य नक्षत्रोंमें ' तारा अथवा तारका ' नामका एक नक्षत्र है, रूपकसे समझा जाता है कि यह ' गुरु ' की ' धर्मपत्नी ' है, अर्थात् बृहस्पतिकी यह भार्या है । यहां धर्मपत्नी कहनेका तात्पर्य इतना ही है कि यह बृहस्पति इस नक्षत्रमें बहुत देरतक और इसके बहुत समीप रहता है । इसलिये इनकी आपसमें पतिपत्नीकी कल्पना की है । बृहस्पतिका ' ब्रह्मणस्पति ' भी दूसरा नाम वेदमें है । इसका अर्थ ' ज्ञानी गुरु ' होनेसे इसका वर्ण ब्राह्मण माना गया, अर्थात इसकी धर्मपत्नी होनेसे तारा भी ' ब्राह्मणी, गुरुपत्नी अथवा ब्रह्मजाया ' कहलाती है । इस प्रकार यहां एक ब्राह्मण परिवारकी कल्पना हुई । यह बृहस्पति देवोंका गुरु है और जब आकाशमें देवोंकी सभा रात्रीके समय लगती है, उस समय यह देव गुरु उसमें विराजते हैं और मानो, देवोंको सुयोग्य सलाह देते हैं ।

इसी प्रकार राजा सोम भी देवसभामें उपस्थित होते हैं । इस समय ये एक क्षत्रिय राजा माने गये हैं । ये क्षत्रिय राजा अपनी राज्याधिकारके मदमें अनेक तारागणोंसे संबंधित होते हैं अर्थात् अनेक स्त्रियोंसे संबंध करते हैं । इस अत्याचारके कारण उनको क्षयरोग होता है । इस अनाचारके कारण बिचारे राजासाहेब क्षीण होते जाते हैं, अमावास्याकी रात्रीमें तो इनकी हालत बहुत खराब होती है । उस समय कुछ उपचार करनेपर शुक्लपक्षमें कुछ पुष्ट होने लगते हैं । ऐसी अवस्थामें गुरुपत्नी ताराका दर्शन होता है और उसका दर्शन होते ही क्षयी राजाका मन चञ्चल हो जाता है । राजा अपने शासनाधिकारके कारण उन्मत्त होनेके कारण गुरुपत्नीका गौरव और आदर न करता हुआ, उसका धर्षण करता है । इस प्रकार स्त्रीके पातिव्रत्यका नाश करनेके कारण जो पाप होता है, उस पापके कारण राष्ट्रमें बडा क्षोभ होता है । और सब प्रजा त्रस्त हो जाती है । जहां गुरुपत्नीका इस प्रकार अपमान होता है, वहां अन्य स्त्रियोंके पातिव्रत्यका क्या होता होगा, ऐसा विचार करके अत्याचारी राजाका निषेध उपस्थित ऋषि और सदस्य देव करने लगते हैं । राजा अपने घमंडमें आकर विरोधक ऋषियों और देवोंको दबानेका यत्न करता है, इससे प्रजामें अधिक क्षोभ होता है । तत्पश्चात् राजा सोम देखता है कि अपनी प्रजा प्रतिकूल होगई है और अपनेको राज्यसे पदच्युत करनेका विचार करती है, इसपर प्रजाको अधिक दबानेके लिये असुर सेनाकी सहायता लेता है । और विदेशी असुर सेनाके अपनी प्रजाको दबानेकी चेष्टा करता है । इससे प्रजा अधिक क्षुब्ध होती है और बडी लडाई छिडती है । दोनों ओरका बहुत संहार होनेपर दोनों पक्षोंकी आपसमें कुछ सलाह होती है । इस संधिके अनुसार राजा सोम गुरुपत्नीको वापस करता है । इस समय वरुण और मित्र साथ रहते हैं और अग्नि मार्गदर्शक होता है । इस प्रकार चन्द्रमाको कलंक लगकर इस बुरे कर्मका फल उसको मिलता है ।

इस समय सोम और ताराके संगमसे बुधकी उत्पत्ति होती है । तारा अग्नितापसे शुद्ध होकर फिर अपने घर पहुंचती है । इस प्रकारकी कथा बहुत पुराणोंमें है । इस विस्तृत कथाका कुछ मूल इस सूक्तमें दिखाई देता है । जिस प्रकार वृत्रकी कथा मेघ

और सूर्य इसपर रूपकालंकार मानकर रची है, उसी प्रकार चंद्रमा, तारका, गुरु आदिके ऊपर यह बोधप्रद अलंकार रचा है। वेदमें इस प्रकारके अनेक अलंकार हैं। और उनसे अनेक प्रकारका बोध प्राप्त होता है।

यहां भी यह बोध मिलता है कि कोई राजा अपने अधिकारके मदसे उन्मत्त होकर स्त्रियोंपर अत्याचार न करे, यदि करेगा, तो उसको परमेश्वरके राज्यमें उसी प्रकार दण्ड मिलेगा जैसा कि सोम राजाको जन्मभर कलंकित होना पडा था। उसका अपमान हुआ, कलंकित होना पडा, रोगी होना पडा, राजविद्रोह हुआ, राष्ट्रमें बलवा हो गया, और न जाने क्या क्या आपत्तियां आ पडीं। यदि इतने समर्थ सोम राजाकी यह अवस्था हुई, तो उससे बहुत छोटे पार्थिव राजाकी क्या अवस्था होगी। और यदि राजाकी ऐसी दुर्दशा हो गई तो कोई प्रजाजन यदि ऐसा कुकर्म करेगा तो उसकी कितनी दुर्दशा होगी, ऐसा विचार मनमें लाकर हरएक पुरुषको स्त्रीके पातिव्रत्यकी रक्षा करनी चाहिए। केवल गुरुपत्नीके ही पातिव्रत्यकी रक्षा यहां अभीष्ट नहीं है, प्रत्युत संपूर्ण स्त्रीजातिके पातिव्रत्यकी रक्षाका यहां उपदेश है। गुरुपत्नी यहां केवल उपलक्षण मात्र है।

जिस राष्ट्रमें स्त्रियोंकी पातिव्रत्यरक्षा अच्छी प्रकार होती है और स्त्रीके इधर उधर सुखपूर्वक भ्रमण करनेमें उसके किसी प्रकार भी अपमानकी संभावना नहीं होती, वह राष्ट्र अत्यंत सुरक्षित होता है—

न दूताय प्रह्येया तस्थ एषा
राष्ट्रं गुपितं क्षत्रियस्य ॥ (मं. ३)

'यह स्त्री दूतद्वारा ले जाने योग्य नहीं होती, अर्थात् किसीका दूत इस प्रकारका भयानक कुकर्म करनेको जिस राष्ट्रमें साहस नहीं कर सकता, वह क्षत्रियका राष्ट्र सुरक्षित रहता है।' अर्थात् जिस राष्ट्रमें स्त्रीके ऊपर अत्याचार होते हैं वह राष्ट्र किसी सज्जनके रहनेके लिये योग्य नहीं होता है।

'जिस राष्ट्रमें स्त्रियोंपर अत्याचार होते हैं उस राष्ट्रमें गर्भपात भी होते हैं, प्राणी अकालमें मरते हैं, वीर लोग आपसमें लडते भिडते हैं' (मं. ७) इस लिये स्त्रियोंकी सुरक्षा अवश्य होनी चाहिये।

क्षत्रिय तथा वैश्योंमें नियोगके कारण और शूद्रोंमें पुनर्विवाहके कारण एकके पश्चात् दूसरा इस प्रकार दस तक पतियोंकी संख्या हो सकती है। परंतु ब्राह्मणोंके लिये तो न नियोगकी प्रथा और ना ही पुनर्विवाहकी प्रथा उचित समझी जाती है, इसलिये ब्राह्मणीका ब्राह्मणके साथ एक बार विवाह हुआ तो उसका किसी भी कारण दूसरा पति नहीं हो सकता। क्योंकि ब्राह्मणोंको भोगमें फंसना नहीं चाहिये। इत्यादि विषय आठवें मंत्रमें देखने योग्य हैं। शेष मंत्रोंमें स्त्रीपर अत्याचार करनेवाले राष्ट्रकी जो दुर्दशा होती है उसका वर्णन है। इसलिये उनके अधिक विचारकी आवश्यकता नहीं है।

इस सूक्तमें कई प्रकारके बोध प्राप्त होते हैं। सबसे प्रथम लेने योग्य बोध यह है कि राजाको अपना आचरण बहुत ही निर्दोष रखना चाहिये। बहुत स्त्रियां करना और दूसरोंकी स्त्रियोंके साथ कुकर्म करना बहुत ही बुरा है। बहुपत्नी व्यवहार करनेसे सबसे पहिला जो कष्ट होता है वह ब्रह्मचर्य नाश और वीर्यनाशके कारण क्षयरोग होनेकी संभावना है। शरीरमें जबतक भरपूर वीर्य रहता है तब तक क्षयरोग हो ही नहीं सकता। वीर्य दोष उत्पन्न होनेसे क्षयरोग होता है और अन्तमें उससे मृत्यु निश्चित है। राजाका आचार व्यवहार देखकर अन्य लोग उसी प्रकार आचार करते हैं, राजाओंके ऊपर यह बडी भारी जिम्मेवारी है। राजा बिगड जानेसे राष्ट्रके लोग बिगड जाते हैं और इस प्रकार राष्ट्रका नाश होता है। अतः बडे लोगोंको अपने आचार व्यवहार धर्मानुकूल ही करने चाहिये। राजाके पास जो अधिकार होता है उसका घमंड करके अपने अधिकारका दुरुपयोग करना राजाको योग्य नहीं है। प्रजाके कल्याणका उद्योग करनेके लिये राजाके पास अधिकार दिया होता है। इस अधिकारका उपयोग अपने स्वार्थ भोग भोगनेके लिये करनेसे ही राजा दोषी होता है। इसलिये राजाको उचित है कि वह सदा समझे कि मेरा निरीक्षण करनेवाला परमेश्वर है, इसलिये मुझे कोई अकार्य करना योग्य नहीं है। इस प्रकार विचार करके राजा अपना आचार व्यवहार सुधारे और अपने योग्य प्रबंधसे संपूर्ण राष्ट्रका उद्धार करे।

ब्राह्मणकी गौ ।

(१८) ब्रह्मगवी ।

(ऋषि — मयोभूः । देवता — ब्रह्मगवी ।)

नैतां ते देवा अददुस्तुभ्यं नृपते अत्तवे ।
मा ब्राह्मणस्य राजन्य गां जिघत्सो अनाद्याम् ॥ १ ॥
अक्षद्रुग्धो राजन्यः पाप आत्मपराजितः ।
स ब्राह्मणस्य गामद्यादद्य जीवानि मा श्वः ॥ २ ॥
आविष्टिताघविषा पृदाकूरिव चर्मणा ।
सा ब्राह्मणस्य राजन्य तृष्टैषा गौरनाद्या ॥ ३ ॥
निर्वै क्षत्रं नयति हन्ति वर्चोऽग्निरिवारब्धो वि दुनोति सर्वम् ।
यो ब्राह्मणं मन्यते अन्नमेव स विषस्य पिबति तैमातस्य ॥ ४ ॥

अर्थ— हे नृपते ! (ते देवाः एतां तुभ्यं अत्तवे न ददुः) उन देवोंने इस गौको तुम्हारे लिये खानेके अर्थ नहीं दिया है । हे (राजन्य) क्षत्रिय ! (ब्राह्मणस्य अनाद्यां गां मा जिघत्सः) ब्राह्मणकी न खाने योग्य गौको मत खा ॥ १ ॥

(अक्ष-द्रुग्धः पापः) जुआरी, पापी (आत्म-पराजितः राजन्यः) अपने कारण पराजित हुआ हुआ क्षत्रिय, (सः ब्राह्मणस्य गां अद्यात्) वह यदि ब्राह्मणकी गौको खावे, तो (अद्य जीवानि, मा श्वः) वह आज जीवे, कल नहीं ॥ २ ॥

हे (राजन्य) क्षत्रिय ! (एषा ब्राह्मणस्य गौः अनाद्या) यह ब्राह्मणकी गौ खाने योग्य नहीं है। क्योंकि (सा चर्मणा आविष्टिता) वह चर्मसे ढंकी (तृष्टा पृदाकूः इव अघविषा) प्यासी सांपिनके समान भयंकर विषसे भरी होती है ॥ ३ ॥

(यः ब्राह्मणं अन्नं एव मन्यते) जो क्षत्रिय ब्राह्मणको अपना अन्न ही मानता है, (स तैमातस्य विषस्य पिबति) वह सांपका विष ही पीता है । वह अपमानित ब्राह्मण (क्षत्रं वै निः नयति) क्षत्रियको निःशेष करता है, (वर्चः हन्ति) तेजका नाश करता है, (आरब्धः अग्निः इव) आरंभ हुए प्रदीप्त अग्निके समान (सर्वं वि दुनोति) सब नष्ट करता है ॥ ४ ॥

भावार्थ— हे क्षत्रिय ! हे राजा ! यह सब तेरे ही उपभोगके लिये तुम्हारे पास देवोंने नहीं दिया है । ब्राह्मणकी भूमि, गाय आदि जो भी कुछ धन होगा वह बलसे हरण करना तुम्हें योग्य नहीं है ॥ १ ॥

जो जूएमें हरा हुआ, पापी, दुराचारी और आत्मघातकी क्षत्रिय होगा वही ब्राह्मणकी भूमि और गौ आदिका बलसे हरण करके भोग करेगा, इससे वह आज जीवित रहा, तो कल भी जीवित रहेगा, इस विषयमें निश्चय नहीं है ॥ २ ॥

हे क्षत्रिय ! ब्राह्मणकी भूमि अथवा गौ तुम्हारे उपभोगके लिये नहीं है । वह चर्मसे ढंकी हुई, विषभरी, क्रोधी सांपिनके समान वह तुम्हारे लिये नाशक सिद्ध होगी ॥ ३ ॥

जो क्षत्रिय विद्वान् ब्राह्मणको अपने भोगका विषय मानता है, वह मानो सांपका विष ही पीता है । इस प्रकार अपमानित हुआ ब्राह्मण क्षत्रियका नाश करता है, उसका तेज नष्ट करता है, और जलती आगके समान सब राष्ट्रको हिला देता है ॥ ४ ॥

य एनं हन्ति मृदुं मन्यमानो देवपीयुर्धनकामो न चित्तात् ।
सं तस्येन्द्रो हृदयेऽग्निमिन्ध उभे एनं द्विष्टो नभसी चरन्तम् ॥ ५ ॥
न ब्राह्मणो हिंसितव्योऽग्निः प्रियतनोरिव ।
सोमो ह्यस्य दायाद इन्द्रो अस्याभिशस्तिपाः ॥ ६ ॥
शतापाष्ठां नि गिरति तां न शक्नोति निःखिदन् ।
अन्नं यो ब्रह्मणां मल्वः स्वाद्वद्मीति मन्यते ॥ ७ ॥
जिह्वा ज्या भवति कुल्मलं वाङ्नाडीका दन्तास्तपसाभिदिग्धाः ।
तेभिर्ब्रह्मा विध्यति देवपीयून् हृद्बलैर्धनुर्भिर्देवजूतैः ॥ ८ ॥
तीक्ष्णेषवो ब्राह्मणा हेतिमन्तो यामस्यन्ति शरव्यां न सा मृषा ।
अनुहाय तपसा मन्युना चोत दूरादव भिन्दन्त्येनम् ॥ ९ ॥

अर्थ— (**यः देवपीयुः धनकामः**) जो देवशत्रु धनलोभी (**एनं मृदुं मन्यमानः न चित्तात् हन्ति**) इस ब्राह्मणको कोमल मानता हुआ विना विचारे मारता है । (**इन्द्रः तस्य हृदये अग्निं सं इन्धे**) इन्द्र उसके हृदयमें अग्नि जला देता है (**उभे नभसी चरन्तं एनं द्विष्टः**) दोनों भूलोक और द्युलोक विचरते हुए इससे द्वेष करते हैं ॥ ५ ॥

(**प्रियतनोः अग्निः इव**) प्रियतनुरूप अग्निके समान (**ब्राह्मणः न हिंसितव्यः**) ब्राह्मणकी हिंसा नहीं करनी चाहिये । (**सोमः हि अस्य दायादः**) सोम इसका संबंधी है और (**इन्द्रः अस्य अभिशस्ति-पाः**) इन्द्र इसको शापसे बचानेवाला है ॥ ६ ॥

(**यः मल्वः ब्रह्मणां अन्नं**) जो मलीन पुरुष ब्राह्मणोंका अन्न (**स्वादु अद्मि इति मन्यते**) स्वादसे खाता हूं ऐसा समझता है वह (**शत-अपाष्ठां नि गिरति**) सैकडों प्रकारकी दुर्गतिको प्राप्त होता है और (**निःखिदन् तां न शक्नोति**) उसको प्राप्त करके सहन नहीं कर सकता है ॥ ७ ॥

ब्राह्मणकी (**जिह्वा ज्या भवति**) जीभ धनुषकी डोरी होती है । (**वाक् कुल्मलं**) वाणी धनुष्यका दण्ड होती है (**तपसा अभिदिग्धाः दन्ताः नाडीकाः**) तपसे तीक्ष्ण बने हुए दान्त बाणरूप होते हैं । (**ब्रह्मा**) ब्राह्मण (**तेभिः देवजूतैः हृद्बलैः धनुर्भिः**) उन देवप्रेरित आत्मबलके धनुष्योंसे (**देव-पीयून् विध्यति**) देव शत्रुओंपर आघात करता है ॥ ८ ॥

(**तीक्ष्ण-इषवः हेतिमन्तः ब्राह्मणाः**) तीक्ष्ण बाणोंसे युक्त, अस्त्रोंसे युक्त ब्राह्मण (**यां शरव्यां अस्यन्ति**) जिस बाणप्रवाहको फेंकते हैं (**न सा मृषा**) वह मिथ्या नहीं होती है । (**तपसा च उत मन्युना अनुहाय**) तपके और क्रोधके साथ पीछा करके (**एनं दूरात् अवभिन्दन्ति**) इसको दूरसे ही भेद डालते हैं ॥ ९ ॥

भावार्थ— जो क्षत्रिय धनलोभसे देवोंका अन्नभाग स्वयं खाता है, और ब्राह्मणको निर्बल मानकर उसको कष्ट देता है, उसके हृदयमें अग्नि जलाकर इन्द्र उसका नाश करता है और सब द्यावापृथिवीके निवासी उसकी निन्दा करते हैं ॥ ५ ॥

अग्निके समान ही ब्राह्मण है, जिसको छेडना उचित नहीं है । क्योंकि सोम उसका संबंधी और इन्द्र उसका रक्षक है ॥ ६ ॥

जो पापी क्षत्रिय ब्राह्मणका धन अपने भोगके लिये है, ऐसा मानता है और उसका मैं उत्तम भोग करता हूं ऐसा समझता है उसपर सैकडों आपत्तियां आती हैं और उसका सामर्थ्य ही नष्ट हो जाता है ॥ ७ ॥

उस समय ब्राह्मणकी जिह्वा डोरी, वाणी धनुष्य, और उसके तपसे युक्त दन्त बाण होते हैं । इन धनुष्योंसे वह ब्राह्मण देवोंका अन्न खानेवालेका नाश करता है ॥ ८ ॥

ये ब्राह्मण बडे तीक्ष्ण शस्त्रास्त्रोंवाले होते हैं, इसलिये ये अस्त्र ये जिसपर फेंकते हैं वे व्यर्थ नहीं होते । अपने तप और क्रोधसे पीछा करके दूरसे ही ये उसका नाश करते हैं ॥ ९ ॥

ये सहस्रमराजन्नासन्दशशता उत ।
ते ब्राह्मणस्य गां जग्ध्वा वैतहव्याः पराभवन् ॥ १० ॥
गौरेव तान्हन्यमाना वैतहव्याँ अवातिरत् ।
ये केसरप्राबन्धायाश्चरमाजामपेचिरन् ॥ ११ ॥
एकशतं ता जनता या भूमिर्व्यधूनुत ।
प्रजां हिंसित्वा ब्राह्मणीमसंभव्यं पराभवन् ॥ १२ ॥
देवपीयुश्चरति मर्त्येषु गरगीर्णो भवत्यस्थिभूयान् ।
यो ब्राह्मणं देवबन्धुं हिनस्ति न स पितृयाणमप्येति लोकम् ॥ १३ ॥
अग्निर्वै नः पदवायः सोमो दायाद उच्यते ।
हन्ताभिशस्तेन्द्रस्तथा तद्वेधसो विदुः ॥ १४ ॥

अर्थ—(ये वैत-हव्याः सहस्रं अराजन्) जो देवोंका हव्य खानेवाले सहस्रों राजे हो गये थे, (ये उत दशशताः आसन्) और जो दस सौ थे, (ते ब्राह्मणस्य गां जग्ध्वा) वे ब्राह्मणकी गौ खाकर (पराभवन्) पराभवको प्राप्त हुए ॥ १० ॥

(हन्यमाना गौः एव) कष्ट दी हुई गौने ही (तान् वैतहव्यान् अवातिरत्) उन देवतोंका अन्न खानेवालोंका विनाश किया। (ये केसरप्रबन्धायाः चरम-अजां अपेचिरन्) जो केशोंकी रस्सीसे बांधी हुई अन्तिम अजाको भी पचाते हैं, हडप करते हैं ॥ ११ ॥

(ताः जनताः एक-शतं) वे जनताके लोग एकसौ एक थे (याः भूमिः व्यधूनुत) जिन्होंने भूमिको हिला दिया। (ब्राह्मणीं प्रजां हिंसित्वा) ब्राह्मणकी प्रजाको कष्ट देकर (असंभव्यं पराभवन्) बिना संभावनाके ही वे पराभवको प्राप्त हुए ॥ १२ ॥

(देव-पीयुः गर-गीर्णः मर्त्येषु चरति) देवशत्रु जहर पीये हुये मनुष्यके समान मनुष्योंके बीचमें घूमता है। और (अस्थि-भूयान् भवति) वह केवल हड्डी ही हड्डीवाला होता है। (यः देव-बन्धुं ब्राह्मणं हिनस्ति) जो देवोंके बन्धुरूप ब्राह्मणको कष्ट देता है (सः पितृयाणं अपि लोकं न एति) वह पितृयाण लोकको भी नहीं प्राप्त होता है ॥ १३ ॥

(अग्निः वै नः पदवायः) अग्नि ही हमारा मार्गदर्शक है। (सोमः दायादः उच्यते) सोम संबंधी है, ऐसा कहा जाता है। (इन्द्रः अभिशस्ता हन्ता) इन्द्र इस शाप देनेवालेका नाश करता है (तथा वेधसः तत् विदुः) उस प्रकार ज्ञानी यह बात जानते हैं ॥ १४ ॥

भावार्थ— देवतोंके उद्देशसे अलग रखा हुआ अन्न स्वयं भोग करनेवाले सहस्रों राजा लोग ब्राह्मणकी भूमि अथवा गौ हरण करके, उसका भोग करनेसे पराभूत हो गये ॥ १० ॥

वह कष्टको प्राप्त हुई ब्राह्मणकी गाय ही उन देवतान्नभोजी क्षत्रियोंके नाश करनेका कारण होती है ॥ ११ ॥

सैंकडों क्षत्रिय भूमिपर बडा पराक्रम करनेवाले होते हैं, परन्तु यदि उन्होंने ब्राह्मणोंको कष्ट देना शुरू किया तो वे सहजहीमें पराभूत होते हैं ॥ १२ ॥

देवोंका शत्रुरूप बनकर पृथ्वीपर संचार करनेवाला दुष्ट मनुष्य विष पीये अतिकृश मनुष्यके समान निर्बल होता है और जो देवोंके बन्धु ब्राह्मणकी हिंसा करता है उसको पितृलोक भी नहीं प्राप्त होता ॥ १३ ॥

सब ज्ञानी जानते हैं कि अग्नि हमारा मार्गदर्शक, सोम हमारा संबंधी, और इन्द्र हमारा रक्षक है ॥ १४ ॥

इषुरिव दिग्धा नृपते पृदाकूरिव गोपते ।
सा ब्राह्मणस्येषुर्घोरा तया विध्यति पीयतः ॥ १५ ॥ (१९८)

अर्थ— हे नृपते ! हे गोपते ! (दिग्धा इषुः इव) विषभरे बाणके समान, (पृदाकुः इव) सांपके समान, (सा ब्राह्मणस्य घोरा इषुः) वह ब्राह्मणका भयंकर बाण (तया पीयतः विध्यति) उससे हिंसकका वेध करता है ॥ १५ ॥

भावार्थ— हे राजन् ! तू स्मरणमें धर कि विषयुक्त बाणके समान और सांपके समान ब्राह्मणका भयंकर बाण हिंसकका अवश्य नाश करता है ॥ १५ ॥

ब्राह्मणकी गौ ।

' गौ ' शब्दका अर्थ ' वाणी, भूमि, गाय, इन्द्रिय, प्रकाश ' आदि है। अर्थात् ' ब्रह्मगवी ' का अर्थ ' ब्राह्मणकी वाणी, भूमि, गाय ' आदि होता है। यही ब्राह्मणकी संपत्ति होती है। ब्राह्मण शम, दम, तप युक्त कर्म करता है, इसलिये शान्त-वृत्तिवाला होता है, अतः उग्रवृत्तिवाले क्षत्रिय अशक्त ब्राह्मणको लूटमार कर उसकी संपत्ति हरकर उस धनसे अपना भोग बढा सकते हैं। परन्तु ब्राह्मण तपस्वी और अध्यापन करनेवाला होनेके कारण यदि वह इस प्रकार दुःखी हुआ तो राष्ट्रमें अध्ययन अध्यापन बंद हो जाता है और उस कारण अन्तमें सब राष्ट्रका ही नाश होता है। इस प्रकार ब्राह्मणके कष्ट राजाके नाशके कारण होते हैं।

' ब्राह्मणस्य गौ अनाद्या ' (ब्राह्मणकी गौ खाने योग्य नहीं) ऐसा इस सूक्तमें बारबार कहा है। कई लोग इस वाक्यसे, ' क्षत्रिय वैश्य और शूद्रकी गौ खाने योग्य है ऐसा अर्थ करते हैं और ब्राह्मणकी गौ कोई नहीं खाता था, परन्तु अन्य वर्णोंकी गौ लोग खाते थे, ' ऐसा अनर्थकारक अनुमान निकालते हैं। इसलिये इस विषयमें अवश्य विचार करना चाहिये। क्योंकि ' गौ अघ्न्या ' है ऐसा वेदमें सर्वत्र कहा है, उसके विरुद्ध इस सूक्तमें गौ खानेका उल्लेख कैसे आ गया है। इसलिये यह बात अवश्य विचार करने योग्य है। इस सूक्तका आशय देखनेके लिये निम्नलिखित वचन सबसे प्रथम देखिये—

यो ब्राह्मणं अन्नं एव मन्यते, स विषस्य पिबति ।
(मं. ४)

' जो ब्राह्मणको अपना अन्न मानता है वह मानो, विष ही पीता है। ' इस मंत्रमें उग्र क्षत्रिय नरम स्वभाववाले ब्राह्मणको अपना अन्न मानता है ऐसा कहा है। इससे ब्राह्मणके टुकडे करके क्षत्रिय खाते थे यह भाव लेना उचित नहीं है, क्षत्रिय नरमांस भोजी कदापि नहीं थे। फिर जो क्षत्रिय कदापि नरमांस नहीं खाते वे ब्राह्मणको ही अपना अन्न कैसे मान सकते हैं, इस शंकाको दूर करनेके लिये निम्नलिखित मंत्रका भाग देखिये—

यो मल्वः ब्राह्मणां अन्नं स्वादु अद्मि इति मन्यते ।
स शतापाष्ठां निगिरति । (मं. ७)

' जो मलीन क्षत्रिय ब्राह्मणोंका अन्न सुखसे मैं भोगता हूं, ऐसा मानता है वह सैंकडों विपत्तियोंमें गिरता है। ' यहां ब्राह्मणका अन्न लूट मारकर क्षत्रिय खावे, तो उसकी बडी दुर्गति होती है ऐसा कहा है। ' ब्राह्मणको अन्न माननेका अर्थ ' यह है कि ब्राह्मणके पासके सब उपभोगके पदार्थ लूटकर अथवा जबरदस्तीसे छीनकर, उनका उपभोग करना। हैहयवंशी क्षत्रियोंने ऐसा ही किया था। वे क्षत्रिय ब्राह्मणोंके आश्रम लूटते थे और अपने भोग बढाते थे, इस कारण परशुरामने उनका नाश करके पुनः धर्मका स्थापन किया। इस सूक्तमें भी वीतहव्य नामक राजाओंका पराभव ब्राह्मणोंको पीडा देनेसे हुआ ऐसा कहा है। वसिष्ठ ऋषिको इसी प्रकार विश्वामित्रने कष्ट दिये थे। इस सबका तात्पर्य ब्राह्मणका मांस खानेसे नहीं है, अपितु ब्राह्मणकी संपत्ति, गौवें, भूमि, तथा अन्य वस्तुादि लूटना और उसका उपभोग स्वयं करना यही है।

ब्राह्मणके पासका धन यज्ञयाग और विद्यावृद्धिके लिये होता है, यदि वह धन लूटा जावे, तो यज्ञ नहीं होंगे और विद्याका नाश होगा। इससे अन्तमें सब जनताका नाश होगा। ब्राह्मणोंकी वाणीको प्रतिबंध करना, उनकी संपत्ति लूटना, गौ चुराना अथवा बलसे हरण करना, और अन्यान्य प्रकार ब्राह्मणोंके आश्रमोंको कष्ट देना अन्तमें राज्यके नाशका लिये कारण होता है; ब्राह्मणको अन्न माननेका यह अर्थ है। इसी प्रकार ब्राह्मणकी गाय हरण करना और उसका दूध आदि स्वयं पीना, उसकी भूमि हरण करके उस भूमिका धान्य स्वयं खाना, इत्यादि प्रकार हानिकारक है यह भाव यहां है। ब्राह्मण जनताको विद्या देते हैं, जनताके रोगोंकी चिकित्सा करते हैं, धर्मोंका अनुष्ठान करते हैं, इसलिये जनताका प्रेम ब्राह्मणोंपर होता है, और जो

क्षत्रिय ब्राह्मणोंको कष्ट देता है उसको जनता राज्य भ्रष्ट कर देती है। वेदमें 'गौ' शब्द 'गायका दूध, दही, मक्खन, घी, छाछ, गौके दूधसे और घीसे बनी सब प्रकारकी मिठाई, गोचर्म, गायके सींग, और गौ' इतने पदार्थोंका वाचक है। इससे पाठक जान सकते हैं कि यहां 'क्षत्रियके द्वारा ब्राह्मणकी गौ खाना' ब्राह्मणकी गौ आदि सब संपत्ति हडप करना ही है। सब सूक्तका आशय ध्यानमें लानेसे यही आशय स्पष्ट प्रतीत होता है।

ब्राह्मणीं प्रजां हिंसित्वा असंभव्यं पराभवन्। (मं. १२)

ब्राह्मणस्य गां जग्ध्वा वैतहव्याः पराभवन्। (मं. १०)

यो देवबन्धुं ब्राह्मणं हिनस्ति न स पितृयाणं लोकं न एति। (मं. १३)

'ब्राह्मण प्रजाको कष्ट देनेसे सहज पराभव होता है। ब्राह्मणकी गौ हडप करनेसे वीतहव्य क्षत्रिय पराभूत हुए। जो क्षत्रिय ब्राह्मणको कष्ट देता है वह पितृलोकको भी प्राप्त नहीं होता है।' इन मंत्र भागोंसे स्पष्ट हो जाता है कि ब्राह्मणोंको कष्ट देना, उनको लूटना, उनके धर्म, कर्म चलानेमें रुकावटें उत्पन्न करना, राजाके लिये अनिष्ट कारक है। यहां ब्राह्मणको खाने अथवा उसकी गौको खानेका आशय बिलकुल नहीं है।

इसके अतिरिक्त 'खानेका' अर्थ कई प्रकारसे होता है। 'यह ओहदेदार पैसा खाता है,' इस वाक्यका यह अर्थ कदापि नहीं है कि वह अन्न न खाते हुए रुपये, आने और पाई खाकर हजम करता है। परंतु इसका अर्थ इतना ही है कि अयोग्य रीतिसे वह धन कमाता है। यही अर्थ संस्कृतमें भी है। ब्राह्मणको खानेका अर्थ ब्राह्मणकी धन दौलत लूटना और उसका स्वयं उपभोग करना। आजकल कहते हैं कि अनियंत्रित राजा प्रजाको खाता है, इसका यह अर्थ नहीं है कि राजा मनुष्योंका मांस खाता है, अपितु राजा प्रजाको सताता है यह इसका अर्थ है। शतपथमें—

तस्मादुराष्ट्री विशं घातुकः। श. प. ब्रा. १३।२।९।७

'अनियंत्रित राजा प्रजाके लिये घातक है।' यहां जो प्रजाके घातका वर्णन किया है वह केवल प्रजाको काटना नहीं; अपितु प्रजाकी उन्नतिमें बाधा डालना है। इस सब वर्णनसे इस सूक्तका आशय ध्यानमें आ सकता है।

राजाका कर्तव्य।

राजाका कर्तव्य है कि वह ज्ञानियोंको विद्यादान करनेमें, वैश्योंको व्यापार करनेमें, शूद्रोंको अपनी कारीगरीके व्यवहार करनेमें उत्तेजना दे। अपने पास शक्ति है इसलिये निर्बलोंपर अत्याचार स्वयं न करे और ऐसा राज्यशासन करे कि जिससे सबकी उन्नति यथायोग्य रीतिसे हो सके। जिस राज्यमें शम, दम और तप करनेवाले ब्राह्मणोंपर अत्याचार होते हैं वहां अन्योंकी सुरक्षितता कहां रहेगी?

पाठक पूर्व सूक्तके साथ ही इस सूक्तको पढें और उचित बोध प्राप्त करें। आगामी सूक्त भी इसी आशयका है।

ब्राह्मणको कष्ट।

(१९) ब्रह्मगवी

(ऋषि — मयोभूः। देवता — ब्रह्मगवी।)

अतिमात्रमवर्धन्त नोदिव दिवमस्पृशन्। भृगुं हिंसित्वा सृञ्जया वैतहव्याः पराभवन् ॥ १ ॥

ये बृहत्सामानमाङ्गिरसमार्पयन्ब्राह्मणं जनाः। पेत्वस्तेषामुभयादमविस्तोकान्यावयत् ॥ २ ॥

अर्थ—(सृञ्जयाः) हमला करके जय प्राप्त करनेवाले वीर (अतिमात्रं अवर्धन्त) अत्यन्त बढे, (न दिवं इव उदस्पृशन्) इतने कि द्युलोकको मानों उन्होंने स्पर्श किया। परंतु वे (वैत-हव्याः) देवोंका अन्न स्वयं भोगने लगे तब (भृगुं हिंसित्वा) भृगुवंशियोंकी हिंसा करके (पराभवन्) पराभूत हो गये ॥ १ ॥

(ये जनाः बृहत्सामानं) जो लोग बडे सामगायक (आंगिरसं ब्राह्मणं आर्पयन्) आंगिरस ब्राह्मणको सताते रहे, (तेषां तोकानि) उनके संतानोंको (पेत्वः अविः) हिंसक (उभयादं आवयत्) दोनों दांतोंके बीचमें रगडता रहा ॥ २ ॥

भावार्थ— विजयी सृंजय क्षत्रिय बहुत बढ गये थे, परंतु जब वे ब्राह्मणोंको सताने लगे और देवोंके लिये दिया हव्य स्वयं भोगने लगे, तब राज्यभ्रष्ट हो गये ॥ १ ॥

ये ब्राह्मणं प्रत्यष्ठीवन्ये वास्मिञ्छुल्कमीषिरे। अस्नस्ते मध्ये कुल्यायाः केशान्खादन्त आसते ॥ ३ ॥
ब्रह्मगवी पच्यमाना यावत्साभि विजङ्गहे। तेजो राष्ट्रस्य निर्हन्ति न वीरो जायते वृषा ॥ ४ ॥
क्रूरमस्या आशसनं तृष्टं पिशितमस्यते। क्षीरं यदस्याः पीयते तद्वै पितृषु किल्बिषम् ॥ ५ ॥
उग्रो राजा मन्यमानो ब्राह्मणं यो जिघत्सति। परा तत्सिच्यते राष्ट्रं ब्राह्मणो यत्र जीयते ॥ ६ ॥
अष्टापदी चतुरक्षी चतुःश्रोत्रा चतुर्हनुः। द्व्यास्या द्विजिह्वा भूत्वा सा राष्ट्रमव धूनुते ब्रह्मज्यस्य ॥ ७ ॥
तद्वै राष्ट्रमा स्रवति नावं भिन्नामिवोदकम्। ब्रह्माणं यत्र हिंसन्ति तद्राष्ट्रं हन्ति दुच्छुना ॥ ८ ॥
तं वृक्षा अप सेधन्ति छायां नो मोपगा इति। यो ब्राह्मणस्य सद्धनमभि नारद मन्यते ॥ ९ ॥

अर्थ— (ये ब्राह्मणं प्रत्यष्ठीवन्) जो ब्राह्मणका अपमान करते हैं, (ये वा अस्मिन् शुल्कं ईषिरे) अथवा जो इससे धन छीनना चाहते हैं, (ते अस्नः कुल्यायाः मध्ये) वे रुधिरकी नदीके बीचमें (केशान् खादन्त आसते) केशोंको खाते हुए बैठते हैं ॥ ३ ॥

(सा पच्यमाना ब्रह्मगवी) वह हडप की गई ब्राह्मणकी गौ (यावत् अभि विजङ्गहे) जिस कारण तडपती रहती है, उस कारण उस (राष्ट्रस्य तेजः निर्हन्ति) राष्ट्रका तेज मारा जाता है और वहां (वृषा वीरः न जायते) बलवान् वीर भी उत्पन्न नहीं होता है ॥ ४ ॥

(अस्याः आशसनं क्रूरं) इसको कष्ट देना बडा क्रूरताका कार्य है, (पिशितं तृष्टं अस्यते) मांस तो तृषा बढानेवाला होनेके कारण फेंकने योग्य है। (यत् अस्याः क्षीरं पीयते) जो इस ब्राह्मणकी गौका दूध पीना है (तत् वै पितृषु किल्बिषं) वह निःसंदेह पितरोंमें पाप कहा जाता है ॥ ५ ॥

(यः राजा उग्रः मन्यमानः) जो राजा अपने आपको उग्र मानता हुआ (ब्राह्मणं जिघत्सति) ब्राह्मणको सताता है, (तत् राष्ट्रं परा सिच्यते) वह राष्ट्र बहुत गिर जाता है (यत्र ब्राह्मणः जीयते) जहां ब्राह्मणको कष्ट पहुंचता है ॥ ६ ॥

(अष्टापदी चतुरक्षी) आठ पांववाली, चार आंखोंवाली, (चतुः श्रोत्रा चतुर्हनुः) चार कानोंवाली और चार हनुवाली (द्व्यास्या द्विजिह्वा भूत्वा) दो मुखवाली और दो जिह्वावाली होकर (ब्रह्मज्यस्य राष्ट्रं सा अव धूनुते) ब्राह्मणको सतानेवाले राजाके राष्ट्रको वह हिला देती है ॥ ७ ॥

(यत्र ब्राह्मणं हिंसन्ति) जहां ब्राह्मणको कष्ट पहुंचते हैं (तत् राष्ट्रं दुच्छुना हन्ति) वह राष्ट्र विपत्तिसे मरता है। और (तत् वै राष्ट्रं) वह राष्ट्रको (आ स्रवति) गिरा देता है (उदकं भिन्नां नावं इव) जैसा जल टूटी हुई नौकाको बहा देता है ॥ ८ ॥

(नः छायां मा उपगाः इति) हमारी छायामें वह न आवे, इस इच्छासे (तं वृक्षाः अपसेधन्ति) उसको वृक्ष दूर हटा देते हैं। हे नारद ! (यः ब्राह्मणस्य धनं सत् अभि मन्यते) जो ब्राह्मणका धन बलसे अपना मानता है ॥ ९ ॥

भावार्थ— जिन्होंने सामगायक आंगिरस ब्राह्मणको सताया था, उनके बालबच्चोंको हिंसक पशुओंने दांतोंसे पीसा था ॥२॥
जो ब्राह्मणका अपमान करते हैं, और उससे धन छीनते हैं, वे रुधिरकी नदीमें बालोंको खाते रहते हैं ॥ ३ ॥
जो ब्राह्मणकी गाय हडप करता है उस क्षत्रियके राष्ट्रका तेज नष्ट होता है और उसमें बलवान् वीर नहीं उत्पन्न होते ॥४॥
गायको कष्ट देना बडी क्रूरताका कार्य है। दूसरेकी गायका दूध पीना भी विषके समान ही है ॥ ५ ॥
अपने आपको बलवान् मानता हुआ जो राजा ब्राह्मणको सताता है, उसका राष्ट्र गिर जाता है ॥ ६ ॥
ब्राह्मणकी गाय दुखी होनेपर द्विगुणित मारक सींग आदिसे युक्त होकर उसके राष्ट्रका नाश करती है ॥ ७ ॥
जहां ब्राह्मण सताया जाता है वह राष्ट्र विपत्तिमें गिरता है। टूटी नौकाके समान वह बीचमें ही डूब जाता है ॥ ८ ॥
जो ब्राह्मणका धन छीनता है उसको वृक्ष भी अपनी छायामें नहीं आने देते ॥ ९ ॥

विषमेतद्देवकृतं राजा वरुणोऽब्रवीत्। न ब्राह्मणस्य गां जग्ध्वा राष्ट्रे जागार कश्चन ॥ १० ॥
नवैव ता नवतयो या भूमिर्व्यधूनुत। प्रजां हिंसित्वा ब्राह्मणीमसंभव्यं पराभवन् ॥ ११ ॥
यां मृतायानुबध्नन्ति कूद्यं पदयोपनीम्। तद्वै ब्रह्मज्य ते देवा उपस्तरणमब्रुवन् ॥ १२ ॥
अश्रूणि कृपमाणस्य यानि जीतस्य वावृतुः। तं वै ब्रह्मज्य ते देवा अपां भागमधारयन् ॥ १३ ॥
येन मृतं स्नपयन्ति श्मश्रूणि येनोन्दते। तं वै ब्रह्मज्य ते देवा अपां भागमधारयन् ॥ १४ ॥
न वर्षं मैत्रावरुणं ब्रह्मज्यमभि वर्षति। नास्मै समितिः कल्पते न मित्रं नयते वशम् ॥ १५ ॥ (११३)

अर्थ— (**राजा वरुणः अब्रवीत्**) वरुण राजाने कहा है कि (**एतत् देवकृतं विषं**) यह देवोंका बनाया विष है। (**ब्राह्मणस्य गां जग्ध्वा**) ब्राह्मणकी गायको हडप कर (**कश्चन राष्ट्रे न जागार**) कोई भी राष्ट्रमें नहीं जागता ॥ १० ॥

(**याः नव नवतयः**) जो निन्यानवें प्रकारकी प्रजाएं हैं (**ताः भूमिः एव वि अधूनुत**) उनको भूमिने ही हटा दिया है। वे (**कल्याणीं ब्राह्मणीं प्रजां हिंसित्वा**) कल्याण करनेवाली ब्राह्मण प्रजाको कष्ट देकर (**असंभव्यं पराभवन्**) असंभवनीय रीतिसे परास्त हुए ॥ ११ ॥

(**यां पदयोपनीं कूद्यं**) जिस पादचिन्ह हटानेवाली काटोंवाली झाडूको (**मृताय अनुबध्नन्ति**) मृतके साथ बांधते हैं, हे (**ब्रह्म-ज्य**) ब्राह्मणको सतानेवाले ! (**देवाः तत् ते उपस्तरणं अब्रुवन्**) देवोंने कहा है कि वह तेरा बिस्तर है ॥ १२ ॥

हे (**ब्रह्म-ज्य**) ब्राह्मणको सतानेवाले ! (**यानि अश्रूणि**) जो आंसू (**कृपमाणस्य जीतस्य वावृतुः**) निर्बल और जीते गये मनुष्यके बहते हैं। (**देवाः तं वै ते अपां भागं अधारयन्**) देवोंने उसको ही तेरा जलका भाग निश्चय किया है ॥ १३ ॥

हे (**ब्रह्मज्य**) ब्राह्मणको सतानेवाले ! (**येन मृतं स्नपयन्ति**) जिससे प्रेतको स्नान कराते हैं, (**येन श्मश्रूणि च उन्दते**) जिससे मूंछ दाढीके बाल गीले करते हैं (**तं वै देवाः ते अपां भागं अधारयन्**) उसको ही देवोंने तेरा जल-भाग निश्चय किया है ॥ १४ ॥

(**मैत्रावरुणं वर्षं**) मित्रावरुणसे प्राप्त होनेवाली वृष्टि (**ब्रह्मज्यं न अभि वर्षति**) ब्राह्मणको कष्ट देनेवालेके ऊपर नहीं गिरती। और (**अस्मै समितिः न कल्पते**) इसको सभा सहमति नहीं देती (**न मित्रं वशं नयते**) और न मित्र वशमें रहते हैं ॥ १५ ॥

भावार्थ— राजा वरुणने कहा है कि ब्राह्मणकी गौको हडप करना विष पीनेके समान हानिकारक है, उसको स्वीकार करनेसे कोई भी जीवित नहीं रह सकता ॥ १० ॥

निन्यानवें वीर जिन्होंने इस भूमिपर विजय प्राप्त किया था, वे जब ब्राह्मणोंको सताने लगे तब वे परास्त हो गये ॥ ११ ॥

काटेकी झाडू जो स्मशान झाडनेके लिये काम आती है, उसपर वह मनुष्य सोता है कि जो ब्राह्मणको सताता है ॥ १२ ॥

निर्बल होनेके कारण पराजित हुए मनुष्यकी आंखमें जो आंसू आते हैं, उन आंसुओंका जल उसको पीनेके लिये दिया जाता है, जो ब्राह्मणको सताता है ॥ १३ ॥

जिस जलसे मुर्देको स्नान कराते हैं और जो जल हजामत करनेके समय दाढी मूंछ भिगोनेके काम आता है, वह जल उसको मिलता है, कि जो ब्राह्मणको कष्ट देता है ॥ १४ ॥

ब्राह्मणको कष्ट देनेवालेके राष्ट्रमें अच्छी वृष्टि नहीं होती, राष्ट्रसभा वैसे राजाके लिये अनुकूल नहीं होती, और वैसे क्षत्रियका कोई मित्र नहीं रहता ॥ १५ ॥

ज्ञानीका कष्ट।

ज्ञानी मनुष्यको दिया हुआ कष्ट राज्यका नाश करता है। जिस राज्यशासनमें ज्ञानी सज्जनोंको कष्ट भोगने पडते हैं वह राज्यशासन नष्ट हो जाता है। जिस राज्यशासनमें ज्ञानी लोगोंकी वाणीपर प्रतिबंध लगाया जाता है, उनको उत्तम उपदेश देनेसे रोका जाता है, जहां सुविज्ञ ज्ञानी पुरुषोंकी धनसंपत्ति सुरक्षित नहीं होती, जहां अन्य प्रकारसे ज्ञानी सज्जनोंको क्लेश पहुंचते हैं, वह राष्ट्र अधोगतिको प्राप्त होता है।

यह आशय इस सूक्तका है। राष्ट्रमें ज्ञानकी और ज्ञानीकी पूजा होती रहे। क्योंकि ज्ञानोपदेशसे ही राष्ट्रका सच्चा कल्याण हो सकता है। इसलिये हरएक राष्ट्रके लोग ज्ञानीका सत्कार करें और अपनी उन्नतिके भागी बनें।

अन्त्येष्टीकी कुछ बातें।

इस सूक्तका विचार करनेसे कुछ बातोंका पता लगता है, देखिये—

(१) सूतं स्नपयन्ति— मृत मनुष्यके शवको स्नान कराते हैं।

(२) मृताय पदयोपनीं कूद्यं बध्नन्ति— मृतको पांवका चिन्ह मिटानेवाली झाडूसे अथवा किसी अन्य चीजसे बांधते हैं। (इसमें 'कूद्य' का अर्थ ठीक प्रकार समझमें नहीं आता है। यह खोजका विषय है।)

हजामत।

(३) श्मश्रूणि उन्दते— हजामत बनवानेके समय बाल भिगोये जाते हैं।

इस सूक्तके कुछ कथनोंका ठीक ठीक भाव समझमें नहीं आता है, इस कारण यह सूक्त क्लिष्टसा प्रतीत होता है। उन मंत्रोंका अधिक विचार पाठक करें।

दुन्दुभीका घोष।

(२०) शत्रुसेनात्रासनम्।

(ऋषिः — ब्रह्मा। देवता — वनस्पतिः, दुन्दुभिः।)

उच्चैर्घोषो दुन्दुभिः सत्वनायन्वानस्पत्यः संभृत उस्रियाभिः।
वाचं क्षुणुवानो दमयन्त्सपत्नान्त्सिंह इव जेष्यन्नभि तंस्तनीहि ॥ १ ॥
सिंह इवास्तानीद् द्रुवयो विबद्धोऽभिक्रन्दन्नृषभो वासितामिव।
वृषा त्वं वध्रयस्ते सपत्ना ऐन्द्रस्ते शुष्मो अभिमातिषाहः ॥ २ ॥
वृषेव यूथे सहसा विदानो गव्यन्नभि रुव संधनाजित्।
शुचा विध्य हृदयं परेषां हित्वा ग्रामान्प्रच्युता यन्तु शत्रवः ॥ ३ ॥

अर्थ— (उच्चैर्घोषः सत्व-नायन्) जिसका ऊंचा शब्द है और जो बल बढाता है, उस प्रकारका (वानस्पत्यः दुन्दुभिः) वनस्पतिसे बना हुआ दुन्दुभि (उस्रियाभिः संभृतः) गोचर्मोंसे वेष्टित (वाचं क्षुणुवानः) शब्द करता हुआ, (सपत्नान् दमयन्) शत्रुओंको दबाता हुआ और (सिंह इव जेष्यन्) सिंहके समान विजय चाहता हुआ यह ढोल (अभि संस्तनीहि) गर्जता रहे ॥ १ ॥

तू (द्रुवयः विबद्धः) वृक्षसे निर्माण हुआ और विशेष बांधा हुआ (सिंह इव अस्तानीत्) सिंहके समान गर्जता है। (वासितां वृषभः अभिक्रन्दन् इव) गौके लिये जैसे बैल गर्जता है। (त्वं वृषा) तू बलवान् है (ते सपत्नाः वध्रयः) तेरे शत्रु निर्बल हुए हैं और (ते ऐन्द्रः शुष्मः अभिमातिषाहः) तेरा प्रभावयुक्त बल शत्रुनाशक है ॥ २ ॥

(यूथे गव्यन् वृषा इव) गौवोंके समूहमें गौकी कामना करनेवाले सांडके समान तू (सहसा संधनाजित्) बलसे विजय प्राप्त करनेवाला, और (विदानः) जाना हुआ (अभि रुव) गर्जना कर। (परेषां हृदयं शुचा विध्य) शत्रुओंका हृदय शोकसे युक्त कर। (शत्रवः ग्रामान् हित्वा प्रच्युताः यन्तु) शत्रु गांवोंको छोडकर गिरते हुए भाग जावें ॥ ३ ॥

संजयन्पृतना ऊर्ध्वमायुर्गृह्या गृह्णानो बहुधा वि चक्ष्व ।
दैवीं वाचं दुन्दुभ आ गुरस्व वेधाः शत्रूणामुप भरस्व वेदः ॥ ४ ॥

दुन्दुभेर्वाचं प्रयतां वदन्तीमाशृण्वती नाथिता घोषबुद्धा ।
नारी पुत्रं धावतु हस्तगृह्यामित्री भीता समरे वधानाम् ॥ ५ ॥

पूर्वो दुन्दुभे प्र वदासि वाचं भूम्याः पृष्ठे वद रोचमानः ।
अमित्रसेनामभिजञ्जभानो द्युमद्वद दुन्दुभे सूनृतावत् ॥ ६ ॥

अन्तरेमे नभसी घोषो अस्तु पृथक्ते ध्वनयो यन्तु शीभम् ।
अभि क्रन्द स्तनयोत्पिपानः श्लोककृन्मित्रतूर्याय स्वर्धी ॥ ७ ॥

धीभिः कृतः प्र वदाति वाचमुद्धर्षय सत्वनामायुधानि ।
इन्द्रमेदी सत्वनो नि ह्वयस्व मित्रैरमित्राँ अव जङ्घनीहि ॥ ८ ॥

संक्रन्दनः प्रवदो धृष्णुषेणः प्रवेदकृद्बहुधा ग्रामघोषी ।
श्रेयो वन्वानो वयुनानि विद्वान्कीर्तिं बहुभ्यो वि हर द्विराजे ॥ ९ ॥

अर्थ— हे दुन्दुभे ! (ऊर्ध्व-मायुः पृतनाः संजयन्) ऊंचा शब्द करनेवाला, शत्रुसेनाओंको पराजित करता हुआ (गृह्याः गृह्णानः बहुधा वि चक्ष्व) ग्रहण करने योग्योंको लेनवाला तू बहुत प्रकार देख। (दैवीं वाचं आ गुरस्व) दिव्य शब्द उच्चारण कर। (वेधाः शत्रूणां वेदः आ भरस्व) विधाता होकर शत्रुओंके धन लाकर भर दे ॥ ४ ॥

(दुन्दुभेः प्रयतां वदन्तीं) दुन्दुभिका स्पष्ट बोला हुआ (वाचं आशृण्वती घोषबुद्धा) शब्द सुननेवाली और गर्जनासे जागी हुई (भीता नाथिता आमित्री नारी) डरी हुई दुःखी शत्रुकी स्त्री (समरे वधानां पुत्रं) युद्धमें मरे हुये वीरोंके पुत्रको (हस्तगृह्य धावतु) हाथ पकडकर भाग जावे ॥ ५ ॥

हे दुन्दुभे ! (पूर्वः वाचं प्र वदासि) सबसे पहिले तू शब्द करता है। भूम्याः पृष्ठे रोचमानः वद) भूमिके पृष्ठपर प्रकाशता हुआ तू शब्द कर। हे ढोल ! (अमित्रसेनां अभिजञ्जभानः) शत्रुसेनाका नाश करता हुआ तू (द्युमत् सूनृतावत् वद) प्रकाश युक्त रीतिसे सत्य बोल ॥ ६ ॥

(इमे नभसी अन्तरा घोषः अस्तु) इन द्युलोक और पृथ्वीके मध्यमें तेरा घोष होवे। (ते ध्वनयः शीभं पृथक् यन्तु) तेरे ध्वनि शीघ्र चारों दिशाओंमें फैलें। (उत्पिपानः श्लोककृत्) बढनेवाला और यश करनेवाला (मित्रतूर्याय स्वर्धी) मित्रहितके लिये संपन्न होता हुआ (अभिक्रन्द, स्तनय) शब्द कर और गर्जना कर ॥ ७ ॥

(धीभिः कृतः वाचं प्र वदाति) बुद्धिके द्वारा बनाया हुआ ढोल शब्द करता है। (सत्वनां आयुधानि उद्धर्षय) वीरोंके आयुधोंको ऊंचा उठा। (इन्द्रमेदी सत्वनः नि ह्वयस्व) शूरको आनन्द देनेवाला तू वीरोंको बुला (मित्रैः अमित्रान् अव जङ्घनीहि) मित्रोंके द्वारा शत्रुओंको मार डाल ॥ ८ ॥

(संक्रन्दनः प्र-वदः) शब्द करनेवाला और घोषणा करनेवाला, (धृष्णुषेणः प्रवेदकृत्) विजयी सेनासे युक्त, चेतना देनेवाला, (बहुधा ग्रामघोषी) अनेक प्रकारसे ग्राममें घोषणा करनेवाला, (श्रेयः वन्वानः) कल्याण प्राप्त करानेवाला, (वयुनानि विद्वान्) सब घोषणाके कार्य जाननेवाला तू दुंदुभि (द्वि-राजे) दो राजाओंमें होनेवाले युद्धमें (बहुभ्यः कीर्तिं विहर) बहुत मनुष्योंके लिये कीर्ति प्राप्त कर ॥ ९ ॥

श्रेयःकेतो वसुजित्सहीयान्त्संग्रामजित्संशितो ब्रह्मणासि ।
अंशूनिव ग्रावाधिषवणे अद्रिर्गव्यन्दुन्दुभेऽधि नृत्य वेदः ॥ १० ॥
शत्रूषाण्नीषाडभिमातिषाहो गवेषणः सहमान उद्भित् ।
वाग्वीव मन्त्रं प्र भरस्व वाचं सांग्रामजित्यायेषमुद्वदेह ॥ ११ ॥
अच्युतच्युत्समदो गमिष्ठो मृधो जेता पुरएतायोध्यः ।
इन्द्रेण गुप्तो विदथा निचिक्यद्धृद्द्योतनो द्विषतां याहि शीभम् ॥ १२ ॥ (१६५)

(२१) शत्रुसेनात्रासनम् ।

(ऋषिः — ब्रह्मा । देवता — वनस्पतिः, दुन्दुभिः, आदित्यादयः ।)

विहृदयं वैमनस्यं वदामित्रेषु दुन्दुभे ।
विद्वेषं कश्मशं भयममित्रेषु नि दध्मस्यवैनान्दुन्दुभे जहि ॥ १ ॥
उद्वेपमाना मनसा चक्षुषा हृदयेन च ।
धावन्तु बिभ्यतोऽमित्राः प्रत्रासेनाज्ये हुते ॥ २ ॥
वानस्पत्यः संभृत उस्रियाभिर्विश्वगोत्र्यः ।
प्रत्रासममित्रेभ्यो वदाज्येनाभिघारितः ॥ ३ ॥

अर्थ— हे (**दुन्दुभे**) ढोल ! तू (**श्रेयःकेतः वसुजित्**) श्रेय करनेवाला, धन जीतनेवाला, (**सहीयान् संग्रामजित्**) बलवान्, युद्धोंको जीतनेवाला, (**ब्रह्मणा संशितः असि**) ज्ञानके द्वारा तैयार किया हुआ है। (**अधिषवणे अद्रिः ग्रावा अंशून् इव**) सोमरस निकालनेके समय जिस प्रकार पत्थर सोमपर नाचते हैं, उस प्रकार (**गव्यन् वेदः अधिनृत्य**) भूमी जीतनेकी इच्छा करनेवाला तू शत्रुके धनपर नाच ॥ १० ॥

(**शत्रूषाट् नीषाट्**) शत्रुको जीतनेवाला, नित्यविजयी, (**अभिमातिषाहः गवेषणः**) वैरियोंको वशमें करनेवाला, खोज करनेवाला, (**सहमानः उद्भित्**) बलवान् और उखेडनेवाला, तू ढोल (**वाचं प्र भरस्व**) शब्दको सर्वत्र भर दे। (**वाग्मी मंत्रं इव**) जैसा वक्ता उपदेशको श्रोताओंमें भर देता है। (**संग्राम-जित्याय इह इषं उत् वद**) संग्रामको जीतनेके लिये यहां अन्नके विषयमें बडी घोषणा कर ॥ ११ ॥

(**अच्युत-च्युत्**) न गिरनेवाले शत्रुओंको गिरानेवाला (**स-मदः गमिष्ठः**) आनंदयुक्त, यात्रा करनेवाला, (**मृधः-जेता**) युद्धोंको जीतनेवाला, (**पुर-एता अयोध्यः**) आगे चलनेवाला और युद्ध करनेके लिये कठिन, (**इन्द्रेण गुप्तः**) इन्द्रद्वारा रक्षित, (**विदथा निचिक्यत्**) युद्धकर्मोंको जाननेवाला, (**द्विषतां हृद्-द्योतनः**) शत्रुओंके हृदयोंको घबरानेवाला, तू ढोल (**शीभं याहि**) शीघ्र शत्रुपर गमन कर ॥ १२ ॥

[२१]

हे (**दुन्दुभे**) ढोल ! तू (**अमित्रेषु विहृदयं वैमनस्यं वद**) शत्रुओंमें हृदयकी व्याकुलता और मनकी उदासीनता कह दे। (**विद्वेषं कश्मशं भयं अमित्रेषु नि दध्मसि**) द्वेष, कशमकश, झगडा, भय शत्रुओंमें रख दे। हे दुंदुभे ! (**एनान् अव जहि**) इनको निकाल दे ॥ १ ॥

(**आज्ये हुते**) घृतकी आहुति देने जितने थोडे समयमें ही (**अमित्राः प्रत्रासेन**) शत्रु घबराहटसे (**मनसा चक्षुषा हृदयेन च बिभ्यतः**) मन, आंख और हृदयसे डरते हुए (**धावन्तु**) भाग जावें ॥ २ ॥

(**वानस्पत्यः उस्रियाभिः संभृतः**) वनस्पतिसे अर्थात् लकडीसे उत्पन्न ढोल जिसपर चमडेकी रस्सियां बंधी हैं, (**विश्व-गो-त्र्यः**) सब प्रकार भूमिका रक्षक और (**आज्येन अभिघारितः**) घृतसे सींचा हुआ तू (**अमित्रेभ्यः प्रत्रासं वद**) शत्रुओंके लिये कष्टोंकी घोषणा कर ॥ ३ ॥

यथा मृगाः संविजन्त आरण्याः पुरुषादधि ।
एवा त्वं दुन्दुभेऽमित्रानभि क्रन्द प्र त्रासयाथो चित्तानि मोहय ॥ ४ ॥
यथा वृकादजावयो धावन्ति बहु बिभ्यतीः ।
एवा त्वं दुन्दुभेऽमित्रानभि क्रन्द प्र त्रासयाथो चित्तानि मोहय ॥ ५ ॥
यथा श्येनात्पतत्रिणः संविजन्ते अहर्दिवि सिंहस्य स्तनथोर्यथा ।
एवा त्वं दुन्दुभेऽमित्रानभि क्रन्द प्र त्रासयाथो चित्तानि मोहय ॥ ६ ॥
परामित्रान्दुन्दुभिना हरिणस्याजिनेन च । सर्वे देवा अतित्रसन्ये संग्रामस्येशते ॥ ७ ॥
यैरिन्द्रः प्रक्रीडते पद्घोषैश्छायया सह । तैरमित्रास्त्रसन्तु नोऽमी ये यन्त्यनीकशः ॥ ८ ॥
ज्याघोषा दुन्दुभयोऽभि क्रोशन्तु या दिशः । सेनाः पराजिता यतीरमित्राणामनीकशः ॥ ९ ॥
आदित्य चक्षुरा दत्स्व मरीचयोऽनु धावत । पत्सङ्गिनीरा सजन्तु विगते बाहुवीर्ये ॥ १० ॥
यूयमुग्रा मरुतः पृश्निमातर इन्द्रेण युजा प्र मृणीत शत्रून् ।

अर्थ— (यथा आरण्याः मृगाः पुरुषात् अधि संविजन्ते) जिस प्रकार वनके मृग मनुष्यसे डरकर भागते हैं, हे दुन्दुभे ! (एवा त्वं अमित्रान् अभि क्रन्द) इसी प्रकार तू शत्रुओंपर गर्जना कर, (प्रत्रासय) उनको डरा दे और (अथो चित्तानि मोहय) उनके चित्तोंको मोहित कर ॥ ४ ॥

(यथा अजावयः वृकात् बहु बिभ्यतीः धावन्ति) जिस प्रकार भेड बकरियां भेडियेसे बहुत डरती हुई भाग जाती हैं, वही प्रकार हे दुंदुभि ! तू शत्रुओंपर गर्जना कर, उनको डरा दे, और उनके चित्तोंको मोहित कर ॥ ५ ॥

(यथा पतत्रिणः श्येनात् संविजन्ते) जिस प्रकार पक्षी श्येनसे डरकर भागते हैं, और (यथा स्तनथोः सिंहस्य अहः-दिवि) जिस प्रकार गर्जनेवाले सिंहसे प्रतिदिन डरते हैं, उसी प्रकार हे दुन्दुभि ! तू शत्रुओंपर गर्जना कर, उनको डरा दे, और उनके चित्तोंको मोहित कर ॥ ६ ॥

(ये संग्रामस्य ईशते) जो युद्धके स्वामी होते हैं वे (सर्वे देवाः) सब देव (हरिणस्य अजिनेन दुन्दुभिना च) हरिणके चर्मसे बने हुए नगाडेसे ही (अमित्रान् परा अतित्रसन्) शत्रुओंको बहुत डरा देते हैं ॥ ७ ॥

(इन्द्रः यैः पद्-घोषैः) इन्द्र जिन पादघोषोंसे और (छायया सह) छायारूप सेनाके साथ (प्रक्रीडते) युद्धकी क्रीडा करता है; (तैः नः अमीः अमित्राः त्रसन्तु) उनसे हमारे इन शत्रुओंको त्रास होवे कि (ये अनीकशः यन्ति) जो सेनाकी पंक्तियोंके साथ हमला करते हैं ॥ ८ ॥

(ज्या-घोषाः दुन्दुभयः) धनुष्यकी डोरीके शब्दके साथ ढोल (याः दिशः अभि क्रोशन्तु) जो दिशाएं हैं उनमें शब्द करें। जिससे (अमित्राणां अनीकशः पराजिताः यतीः) शत्रुओंकी संघशः पराजित हुई सेना भाग जावे ॥ ९ ॥

हे (आदित्य) सूर्य ! (चक्षुः आदत्स्व) शत्रुकी दृष्टि हर ले। (मरीचयः अनु धावत) प्रकाश किरण हमारे अनुकूल होवें। (बाहुवीर्ये विगते) बाहु वीर्य कम होनेपर (पत्-संगिनीः आ सजन्तु) पांवोंको बांधनेकी रसियां शत्रुओंके पांवमें बांधी जावें ॥ १० ॥

(पृश्निमातरः उग्राः मरुतः) हे भूमिको माता माननेवाले, शूर, मरनेके लिये सिद्ध हुए वीरो ! (इन्द्रेण युजा शत्रून् प्र मृणीत) इन्द्र अर्थात् शूर सेनापतिके साथ रहकर शत्रुओंको मार डालो। सोम, वरुण, महादेव, मृत्यु और इन्द्र ये सब शूरोंकी सहायता करनेवाले देव हैं ॥ ११ ॥

सोमो राजा वरुणो राजा महादेव उत मृत्युरिन्द्रः ॥ ११ ॥
एता देवसेनाः सूर्यकेतवः सचेतसः । अमित्रान्नो जयन्तु स्वाहा ॥ १२ ॥ (२२७)

॥ इति चतुर्थोऽनुवाकः ॥ ४ ॥

अर्थ— (एताः देवसेनाः सूर्यकेतवः) ये दिव्य सेनाएं सूर्यका ध्वज लेकर चलनेवाली (सचेतसः) उत्तम चित्तसे युक्त होकर (नः अमित्रान् जयन्तु) हमारे शत्रुओंका पराभव करें। विजयके लिये हमारा (स्व-आ-हा) आत्मसमर्पण हो ॥ १२ ॥

नगाडा।

ये दोनों सूक्त नगाडेका वर्णन कर रहे हैं। यह वर्णन स्पष्ट और सहज समझने योग्य होनेसे इसका भावार्थ देने और विवरण करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है।

आर्योंका ध्वज।

बारहवें मंत्रमें सूर्यचिन्हयुक्त केतुका वर्णन है। यह वर्णन देखनेसे आर्योंका ध्वज सूर्यचिन्हयुक्त था यह बात स्पष्ट हो जाती है।

तृतीय अनुवाक समाप्त ॥ ३ ॥

ज्वर निवारण।

(२२) तक्मनाशनम्।

(ऋषिः — भृग्वङ्गिराः । देवता — तक्मनाशनम्।)

अग्निस्तक्मानमप बाधतामितः सोमो ग्रावा वरुणः पूतदक्षाः ।
वेदिर्बर्हिः समिधः शोशुचाना अप द्वेषांस्यमुया भवन्तु ॥ १ ॥
अयं यो विश्वान्हरितान्कृणोष्युच्छोचयन्नग्निरिवाभिदुन्वन् ।
अधा हि तक्मन्नरसो हि भूया अधा न्यङ्ङधराङ् वा परेहि ॥ २ ॥
यः परुषः पारुषेयोऽवध्वंस इवारुणः । तक्मानं विश्वधावीर्याधराञ्चं परा सुव ॥ ३ ॥

अर्थ— अग्नि, सोम, ग्रावा, वरुण, पूतदक्षाः वेदि, ये पवित्र बलवाले देव और (बर्हिः शोशुचानाः समिधः) कुशा, प्रदीप्त समिधाएं, (इतः तक्मानं अप बाधतां) यहांसे ज्वरादि रोगको दूर करें। (अमुया द्वेषांसि अप भवन्तु) इससे सब द्वेष दूर हों ॥ १ ॥

(अयं यः विश्वान् हरितान् कृणोषि) यह जो तू ज्वररोग सबको निस्तेज करता है। (अग्निः इव उच्छोचयन् अभि दुन्वन्) अग्निके समान तपाता और कष्ट देता है। हे (तक्मन्) ज्वर! (अधाहि अरसः भूयाः) और तू नीरस हो जा (अधा न्यङ् अधराङ् वा परा इहि) और नीचेके स्थानसे दूर हो जा ॥ २ ॥

(यः परुषः पारुषेयः) जो पर्वपर्वमें होता है और जो पर्वदोषके कारण उत्पन्न होता है और जो (अरुणः अव-ध्वंसः इव) रक्तवर्ण अग्निके समान विनाशक है। हे (विश्वधा-वीर्य) सब प्रकारके सामर्थ्यवाले! (तक्मानं अधराञ्चं परा सुव) ज्वरको नीचेकी गतिसे दूर कर ॥ ३ ॥

भावार्थ— यज्ञसे ज्वर दूर होता है, अग्नि, सोम, समिधा, और हवनसामग्री ज्वरको दूर करती है ॥ १ ॥
ज्वर मनुष्यको निस्तेज बनाता है, उसको अग्नि तपाकर निर्वीर्य बनाता है, इस कारण यज्ञसे ज्वर हटता है ॥ २ ॥
ज्वरसे पर्व-पर्वमें दर्द होता है, इसलिये ऐसे ज्वरको दूर हटाना चाहिये ॥ ३ ॥

अधराञ्चं प्र हिणोमि नमः कृत्वा तक्मने । शकम्भरस्य मुष्टिहा पुनरेतु महावृषान् ॥ ४ ॥
ओको अस्य मूजवन्त ओको अस्य महावृषाः । यावज्जातस्तक्मंस्तावानसि बल्हिकेषु न्योचरः ॥ ५ ॥
तक्मन्व्याल वि गद व्यङ्ग भूरि यावय । दासीं निष्टक्वरीमिच्छ तां वज्रेण समर्पय ॥ ६ ॥
तक्मन्मूजवतो गच्छ बल्हिकान्वा परस्तराम् । शूद्रामिच्छ प्रफर्व्यं१ तां तक्मन्वीव धूनुहि ॥ ७ ॥
महावृषान्मूजवतो बन्ध्वद्धि परेत्य । प्रैतानि तक्मने ब्रूमो अन्यक्षेत्राणि वा इमा ॥ ८ ॥
अन्यक्षेत्रे न रमसे वशी सन्मृडयासि नः । अभूदु प्रार्थस्तक्मा स गमिष्यति बल्हिकान् ॥ ९ ॥
यत्त्वं शीतोऽथो रूरः सह कासावेपयः । भीमास्ते तक्मन्हेतयस्ताभिः स्म परि वृङ्ग्धि नः ॥ १० ॥

अर्थ— (तक्मने नमः कृत्वा) ज्वरको नमन करके (अधराञ्चं प्र हिणोमि) नीचे उतार देता हूं। (शकंभरस्य मुष्टिहा) शाक भक्षककी मुष्टिसे अर्थात् बलसे मरनेवाला यह रोग (महावृषान् पुनः एतु) महावृष्टिवाले देशोंमें पुनः पुनः आ जाता है ॥ ४ ॥

(अस्य ओकः मूजवतः) इसका घर मूंज घासवाला स्थान है तथा (अस्य ओकः महावृषाः) इसका घर बडी वृष्टिवाला स्थान है। हे (तक्मन्) ज्वर ! (यावत् जातः) जबसे तू उत्पन्न हुआ है। (तावान् बल्हिकेषु गोचरः असि) तबसे बाल्हिकोंमें दीखता है ॥ ५ ॥

हे (व्याल व्यङ्ग तक्मन्) सर्पके समान विषवाले और विरूप अंग करनेवाले ज्वर ! हे (वि गद) विशेष रोग ! तू (भूरि यावय) बहुत दूर चला जा। तू (निष्टक्वरीं दासीं इच्छ) निकृष्टतामें रहनेके कारण क्षयको प्राप्त होनेवालीकी इच्छा कर और (तां वज्रेण समर्पय) उसपर अपना वज्र चला ॥ ६ ॥

(तक्मन् ! मूजवतः गच्छ) हे ज्वर ! मूंजवाले स्थानकी इच्छा कर, (बल्हीकान् वा परस्तराम्) दूरके बाल्हीक देशोंकी इच्छा कर। वैसे देशोंमें (प्रफर्व्यं शूद्रां इच्छ) भ्रमण करनेवाली शोकमय स्त्रीकी इच्छा कर। हे (तक्मन्) ज्वर ! (तां वि इव धूनुहि) उसको कंपा दे ॥ ७ ॥

(महावृषान् मूजवतः बन्धु अद्धि) बडी वृष्टिवाले और मूंज घास जहां होती है, उन बंधन करनेवाले स्थानोंको तू खा। (परेत्य) दूर जाकर (एतानि इमा अन्यक्षेत्राणि) इन सब अन्य क्षेत्रोंको (तक्मने वै प्र ब्रूमः) हम ज्वरके लिये बतलाते हैं ॥ ८ ॥

(अन्यक्षेत्रे न रमसे) दूसरे क्षेत्रमें तू रमता नहीं, (वशी सन् नः मृडयासि) वशमें रहकर हमें सुखी करता है। (तक्मा प्रार्थः अभूत् उ) ज्वर प्रबल हो गया है। (स बल्हीकान् गमिष्यति) वह बाल्हीकोंके प्रति जावेगा ॥ ९ ॥

(यत् त्वं शीतः) जो तू सर्दी लगकर आनेवाला है, (अथो रूरः) अथवा अधिक पीडा देनेवाला रूक्ष है, (कासा सह अवेपयः) खांसीके साथ कंपा देता है। हे (तक्मन्) ज्वर ! (ते हेतयः भीमाः) तेरे शस्त्र भयंकर हैं। (ताभिः नः परिवृङ्ग्धि स्म) उनसे हम सबको बचाये रख ॥ १० ॥

भावार्थ— बहुत वृष्टि जहां होती है, उन देशोंमें यह ज्वर होता है। शाकभोगी लोगोंमें एक विशेष बल होता है इस कारण उनसे यह ज्वर दूर भागता है ॥ ४ ॥

बहुवृष्टिवाले और मूंज घासवाले देशोंमें यह ज्वर बहुत होता है ॥ ५ ॥

इस ज्वरका विष सर्पके समान होता है जिससे शरीर टेढा मेढा होता है। मलिन जीवनवाले लोगोंमें यह होता है ॥ ६ ॥

घासवाले स्थानोंमें यह ज्वर होता है और इस ज्वरके आनेपर शरीर कांपता है ॥ ७ ॥

बडी वृष्टिवाले और घासवाले प्रदेशोंसे भिन्न अन्य उत्तम क्षेत्रोंमें यह ज्वर नहीं होता है ॥ ८ ॥

अन्य स्थानोंमें नहीं होता है। वहां नियमपूर्वक रहनेवाले लोगोंको यह नहीं होता। उनसे दूर भागता है ॥ ९ ॥

यह ज्वर शीत, रूक्ष, और कफयुक्त होता है। इसका परिणाम भयंकर होता है, इसलिये इससे बचना चाहिये ॥ १० ॥

❀

मा स्मैतान्त्सखीन्कुरुथा बलासं कासमुद्युगम् । मा स्मातोऽर्वाङैः पुनस्तत्त्वा तक्मन्नुप ब्रुवे ॥ ११ ॥
तक्मन्भ्रात्रा बलासेन स्वस्रा कासिकया सह । पाप्मा भ्रातृव्येण सह गच्छामुमरणं जनम् ॥ १२ ॥
तृतीयकं वितृतीयं सदन्दिमुत शारदम् । तक्मानं शीतं रूरं ग्रैष्मं नाशय वार्षिकम् ॥ १३ ॥
गन्धारिभ्यो मूजवद्भ्योऽङ्गेभ्यो मगधेभ्यः । प्रैष्यन्जनमिव शेवधिं तक्मानं परि दद्मसि ॥ १४ ॥ (१५१)

अर्थ— हे (तक्मन्) ज्वर ! (बलासं कासं उद्युगं) कफ, खांसी, और क्षय (एतान् सखीन् मा स्म कुरुथाः) इनको अपने मित्र मत बना। (अतः अर्वाङ् मा स्म ऐः) इससे समीप न आ। हे (तक्मन्) ज्वर ! (तत् त्वा पुनः उपब्रुवे) यह तुझे मैं पुनः कहता हूं ॥ ११ ॥

हे (तक्मन्) ज्वर ! तू (भ्रात्रा बलासेन) अपने भाई कफके साथ, (स्वस्रा कासिकया सह) बहिन खांसीके साथ, (पाप्मा भ्रातृव्येन सह) पापी भतीजे क्षयके साथ (अमुं अरणं जनं गच्छ) उस मलिन मनुष्यके पास जा ॥ १२ ॥

(तृतीयकं) तीसरे दिन आनेवाले, (वितृतीयकं) तीन दिन छोडकर आनेवाले, (सदन्दिं) सदा रहनेवाले, (उत शारदं) और शरदृतुमें होनेवाले, (शीतं, रूरं) शीत अथवा पीडा करनेवाले, (ग्रैष्मं, वार्षिकं) ग्रीष्म और वर्षा ऋतुके संबंधसे आनेवाले ज्वरको (नाशय) हटा दे ॥ १३ ॥

(गन्धारिभ्यः मूजवद्भ्यः) गांधार, मूजवान् (अङ्गेभ्यः मगधेभ्यः) अंग और मगधोंको (प्रैष्यन् शेवधिं जनं इव) भेजे जानेवाले खजानेके रक्षक मनुष्यके समान (तक्मानं परि दद्मसि) ज्वरको हम भेज देते हैं ॥ १४ ॥

भावार्थ— इस ज्वरके कफ, खांसी और क्षय ये तीन मित्र हैं। यह ज्वर हमारे पास कभी न आवे ॥ ११ ॥

इस ज्वरका भाई कफ; बहिन खांसी और भतीजा क्षय है। मलिन लोगोंको यह होता है ॥ १२ ॥

तीसरे दिन आनेवाला, चौथे दिन या तीन दिन छोडकर आनेवाला, सदा अर्थात् प्रतिदिन आनेवाला, शरद्, ग्रीष्म और वर्षा ऋतुके कारण होनेवाला, शीत और रूक्ष, ये सब ज्वर हटाने चाहिये ॥ १३ ॥

जिस प्रकार रक्षक मनुष्य दूसरे देशको भेजे जाते हैं, उस प्रकार सब ज्वर दूर भेजे जाय, अर्थात् ये मनुष्योंको कष्ट न दें ॥ १४ ॥

ज्वर रोग।

ज्वर रोगके विषयमें बहुतसी बडी विचारणीय बातें इस सूक्तमें कहीं हैं—

ज्वरके भेद।

१ सदन्दिः— सदा, प्रतिदिन आनेवाला ज्वर।

२ तृतीयकः— तीसरे दिन आनेवाला ज्वर।

३ वि-तृतीयकः— तीन दिन छोडकर चौथे दिन आनेवाला चातुर्थिक आदि ज्वर। (मं. १३)

ये तीन भेद दिनोंके अन्तरके कारण होते हैं। ऋतुके कारण आनेवाले ज्वरके नाम ये हैं—

१ ग्रैष्मः— ग्रीष्म ऋतुमें होनेवाला ज्वर।

२ वार्षिकः— वर्षा ऋतुके कारण आनेवाला ज्वर।

३ शारदः— शरदृतुके कारण आनेवाला ज्वर। (मं. १३)

ये तीन भेद ऋतुके कारण आनेवाले ज्वरके हैं। अब इस ज्वरके स्वरूप भेद देखिये।

१ शीतः— शीत ज्वर, जिसमें प्रथम शीत लगकर पश्चात् ज्वर आता है।

२ रूरः— रूक्ष, पित्त ज्वर, अथवा पीडा देनेवाला ज्वर। (मं. १३)

ये भेद इसका स्वरूप बता रहे हैं। ज्वरके साथ होनेवाले रोग ये हैं।

१ बलासः— कफ, बलगम, यह ज्वरमें होता है।

२ कासः— खांसी भी ज्वरमें होती है। (मं. ११, १२)

ये दोनों लक्षण बहुत खराब हैं, इसका परिणाम—

३ उद्-युगं— ये दोनों अर्थात् कफ और खांसी इकट्ठी आती हैं, इसका नाम क्षय है। यह तो इसका भयङ्कर परिणाम होता है। (मं. ११)

देश विशेषके कारण होनेवाले ज्वरोंका परिगणन निम्न प्रकार इस सूक्तमें किया है।

१ महावृषः— बडी वृष्टिवाले प्रदेशमें होनेवाला ज्वर।

'अस्य ओकः महावृषः'— इसका घर बडी वृष्टि-वाला प्रदेश है। (मं. ५)

१ मूजवान्— घास जहां होता है ऐसे कीचडके स्थानमें यह ज्वर होता है।

'अस्य ओकः मूजवतः'— इसका घर मूजवाला स्थान है। (मं. ५)

इस प्रकारके प्रदेश इस ज्वरके लिये बढानेवाले होते हैं, अन्य क्षेत्रोंमें यह नहीं बढता है, अर्थात् हुआ भी तो शीघ्र हट जाता है। इस ज्वरमें बहुत विष होता है, जो शरीरमें जाता है और वहां पीडा करता है—

१ व्यालः— सर्पके समान यह ज्वरका विष है।

१ व्यंगः— अंगों और इंद्रियोंमें विरूपता करनेवाला यह ज्वर है। (मं. ६)

मलिन स्त्रीपुरुषोंको यह विशेषकर होता है, अर्थात् अन्तर्बाह्य पवित्र रहनेवालोंको नहीं होता, इस विषयमें मंत्रका प्रमाण देखिये—

१ अरणं जनं— नीच जीवन व्यतीत करनेवालेको होता है। (मं. १२)

२ शिक्वरी— क्षीण और मलिनको होता है। (मं. ६)

३ प्रफर्व्यं— फूला मनुष्य, जिसमें सच्चा बल नहीं होता उसको होता है। (मं. ७)

यम, नियम पालन करनेवाला संयमी पुरुष सुखसे रहता है। इस विषयमें निम्न लिखित मंत्र मननपूर्वक देखिये—

नः वशी मृडयाति। (मं. ९)

'हममें जो वशी अर्थात् संयमी पुरुष होता है, उसको सुख देता है,' अर्थात् यह ज्वर उसको कष्ट नहीं देता है। इस प्रकार यह संयम ज्वरादिसे और क्षयादिसे बचनेका एकमात्र उपाय है। पाठक इसका विचार करके ब्रह्मचर्यादि सुनियमोंके पालनद्वारा अपना स्वास्थ्य बढावें और रोगोंसे दूर रहें।

ज्वर निवृत्तिका उपाय।

संयम, ब्रह्मचर्य आदि उपाय ज्वरप्रतिबंधक हैं, परंतु ज्वर आनेपर उसको हटानेके उपाय निम्नलिखित हैं—

१ यज्ञः— अग्निमें सोमादि औषधियोंका हवन करनेसे ज्वर हटता है। (मं. १)

२ अधराङ् परेहि— नीचेके मार्गसे ज्वर दूर होता है, अर्थात् शौच शुद्धिसे, पेट साफ रहनेसे ज्वर दूर होता है। (मं. २)

३ शाकं-भरस्य मुष्टि-हा— शाकभोजीकी मुष्टिसे मरनेवाला ज्वर होता है। मांसभोजी मनुष्यकी अपेक्षा शाकभोजी मनुष्यमें ज्वरप्रतिबंधकशक्ति अधिक होती है, इस लिये मानो शाकभोजी मनुष्य इस ज्वरको मुक्केसे मार देता है। (मं. ४)

इस प्रकार इस ज्वरके संबंधका विवरण इस सूक्तमें है। वैद्य इस सूक्तका अधिक विचार करें। इस सूक्तमें कहे लक्षणोंसे प्रतीत होता है कि यह तक्मा आजकलका शीतज्वर अथवा 'मलेरिया' है।

रोगजन्तुओंका नाश।

(२३) क्रिमिघ्नम्।

(ऋषिः — कण्वः। देवता — इन्द्रः, क्रिमिजम्भनाय देवप्रार्थना।)

ओते मे द्यावापृथिवी ओता देवी सरस्वती। ओतौ म इन्द्रश्चाग्निश्च क्रिमिं जम्भयतामिति ॥ १ ॥
अस्येन्द्र कुमारस्य क्रिमीन्धनपते जहि। हता विश्वा अरातय उग्रेण वचसा मम ॥ २ ॥

अर्थ— द्यावापृथिवी, देवी सरस्वती, इन्द्र, अग्नि ये सब देव (ओते, ओता, ओतौ) परस्पर मिले जुले (मे मे क्रिमिं जम्भयतां) मेरे लिये क्रिमियोंका नाश करें ॥ १ ॥

हे धनपते इन्द्र! (अस्य कुमारस्य क्रिमीन् जहि) इस कुमारके क्रिमियोंको हटा दे। (मम उग्रेण वचसा विश्वाः अरातयः हताः) मेरे पासकी उग्र वचासे सब दुःखदायी क्रिमि मारे गये हैं ॥ २ ॥

यो अक्ष्यौ॑ परिसर्प॑ति यो नासे॑ परिसर्प॑ति । दतां यो मध्यं गच्छ॑ति तं क्रिमिं॑ जम्भयामसि ॥ ३ ॥
सरूपौ॒ द्वौ विरूपौ॒ द्वौ कृष्णौ द्वौ रोहि॑तौ॒ द्वौ । बभ्रुश्च॑ बभ्रुक॑र्णश्च गृध्रः कोक॑श्च ते हताः ॥ ४ ॥
ये क्रिम॑यः शिति॒कक्षा ये कृष्णाः शिति॒बाह॑वः । ये के च॑ विश्वरू॑पास्तान्क्रिमीन्जम्भयामसि ॥ ५ ॥
उत्पुरस्ता॒त्सूर्य॑ एति विश्वदृष्टो अदृष्टहा । दृष्टांश्च॒ घ्नन्नदृष्टांश्च॒ सर्वांश्च प्रमृणन्क्रिमीन् ॥ ६ ॥
येवाषास॒ः कष्कषास एजत्काः शिपवित्नुकाः । दृष्टश्च॑ हन्यतां॒ क्रिमि॑रु॒तादृष्टश्च॑ हन्यताम् ॥ ७ ॥
ह॒तो येवाष॒ः क्रिमीणां ह॒तो न॑दनि॒मोत । सर्वा॒न्नि म॑ष्मषाकरं दृषदा॒ खल्वाँ॑ इव ॥ ८ ॥
त्रि॒शी॒र्षाणं॑ त्रिककुदं क्रिमिं॑ सा॒रङ्ग॒मर्जु॑नम् । शृणाम्य॑स्य पृष्टीरपि॑ वृश्चा॒मि यच्छिरः॑ ॥ ९ ॥
अ॒त्रिवद्वः॑ क्रिमयो हन्मि कण्व॒वज्ज॑मदग्नि॒वत् । अ॒गस्त्य॑स्य ब्रह्म॑णा॒ सं पि॑नष्म्य॒हं क्रिमीन् ॥ १० ॥
ह॒तो रा॒जा क्रिमी॑णामु॒तैषां॑ स्थ॒पति॑र्ह॒तः । ह॒तो ह॒तमा॑ता॒ क्रिमि॑र्ह॒तभ्रा॑ता ह॒तस्व॑सा ॥ ११ ॥

अर्थ— (यः अक्ष्यौ परिसर्पति) जो आंखोंमें भ्रमण करता है, (यः नासे परिसर्पति) जो नाकमें घुसा होता है, (दतां यो मध्यं गच्छति) दांतोंके बीचमें जो जाता है, (तं क्रिमिं जम्भयामसि) उस क्रिमिको हम विनाश करें ॥ ३ ॥

(सरूपौ द्वौ, विरूपौ द्वौ) दो समान रूपवाले और दो विरुद्ध रूपवाले, (द्वौ कृष्णौ, द्वौ रोहितौ) दो काले और दो लाल, (बभ्रुः च बभ्रुकर्णः च) भूरा और भूरे कानवाला, (गृध्रः कोकः च) गिद्ध और भेडिया (ते हताः) वे सब मर गये ॥ ४ ॥

(ये क्रिमयः शितिकक्षाः) जो क्रिमि श्वेत कोखवाले, (ये कृष्णाः शितिबाहवः) जो काले और काली भुजावाले और (ये के च विश्वरूपाः) और जो बहुत रूपवाले हैं (तान् क्रिमीन् जम्भयामसि) उन क्रिमियोंका नाश करते हैं ॥ ५ ॥

(सूर्यः उत पुरस्तात् एति) सूर्य आगेसे चलता है वह (विश्वदृष्टः अदृष्ट-हा) सबको जो प्रत्यक्ष है और जो न दीखनेवाले कृमियोंका भी नाश करनेवाला है, वह (दृष्टान् च अदृष्टान् च सर्वान् क्रिमीन्) दीखनेवाले और न दीखनेवाले सब क्रिमियोंको (घ्नन् प्रमृणन्) नाश करता है और कुचल डालता है ॥ ६ ॥

(येवाषासः कष्कषासः) येवाष, कष्कष, (एजत्काः शिपवित्नुकाः) एजत्क और शिपवित्नुक ये क्रिमी हैं। (दृष्टः क्रिमिः हन्यतां) दीखनेवाले क्रिमीको मारा जाय और (उत अदृष्टः च हन्यतां) और न दीखनेवाला भी मारा जाय ॥ ७ ॥

(क्रिमीणां येवाषः हतः) क्रिमियोंमेंसे येवाष नामक क्रिमी मारा गया (उत नदनिमा हतः) और नाद करनेवाला भी मर गया। (सर्वान् मष्मषा नि अकरं) सबको मसल मसलकर नष्ट किया (दृषदा खल्वान् इव) जिस प्रकार पत्थरसे चनोंको पीसते हैं ॥ ८ ॥

(त्रिशीर्षाणं त्रिककुदं) तीन सिरोंवाले, तीन कुहानवाले, (सारङ्गं अर्जुनं क्रिमिं) चित्रविचित्र रंगवाले और श्वेत रंगवाले क्रिमीको (शृणामि) मैं मारता हूं। (अस्य पृष्टीः अपि) इसकी पसुलियोंको भी तोडता हूं और (यत् शिरः वृश्चामि) जो सिर है उसको कुचलता हूं ॥ ९ ॥

हे (क्रिमयः) जंतुओं ! (अत्रिवत्, कण्ववत्, जमदग्निवत्) अत्रि, कण्व और जमदग्निके समान (वः हन्मि) तुमको मारता हूं। (अहं अगस्त्यस्य ब्रह्मणा) मैं अगस्तिके ज्ञानसे (क्रिमीन् सं पिनष्मि) रोगके क्रिमियोंको पीसता हूं ॥ १० ॥

(क्रिमीणां राजा हतः) रोगक्रिमियोंका राजा मारा गया, (उत एषां स्थपतिः हतः) और इनका स्थानपति मारा गया। और (हत-माता हत-भ्राता) जिसके माता और भाई मारे गये हैं तथा (हत-स्वसा क्रिमिः हतः) जिसकी बहिन मारी गई है ऐसा क्रिमी भी मारा गया ॥ ११ ॥

हतासो अस्य वेशसो हतासः परिवेशसः । अथो ये क्षुल्लका इव सर्वे ते क्रिमयो हताः ॥ १२ ॥
सर्वेषां च क्रिमीणां सर्वासां च क्रिमीणाम् । भिनद्म्यश्मना शिरो दहाम्यग्निना मुखम् ॥ १३ ॥ (२६४)

अर्थ—(अस्य वेशसः हतासः) इसके घरवाले मारे गये, (परिवेशसः हतासः) इसके परिवारवाले मारे गये। (अथो ये क्षुल्लकाः इव) और जो क्षुद्रक क्रिमि थे (ते सर्वे क्रिमयः हताः) वे सब क्रिमि मारे गये हैं ॥ १२ ॥

(सर्वेषां च क्रिमीणां) सब पुरुष क्रिमियोंका और (सर्वासां च क्रिमीणां) सब स्त्री क्रिमियोंका (अश्मना शिरः भिनद्मि) पत्थरसे सिर तोडता हूं और (अग्निना मुखं दहामि) अग्निसे मुख जलाता हूं ॥ १३ ॥

रोगक्रिमियोंका नाश।

रोगके क्रिमि शरीरमें घुसते हैं और वहां विविध रोग उत्पन्न करते हैं, यह बात वेदके कई सूक्तोंमें कही है। अग्नि, वायु, जल आदि द्वारा इन क्रिमियोंका नाश होता है, यह प्रथम मंत्रका कथन है। छोटे बालकोंके शरीरमें भी क्रिमि होते हैं उनको दूर करनेके लिये वचा औषधिका उपयोग करना चाहिये यह द्वितीय मंत्रका उपदेश मननीय है।

आंख, नाक और दांतोंमें क्रिमि जाते हैं और वहां विविध रोग उत्पन्न करते हैं, यह तृतीय मंत्रका कथन प्रत्यक्ष देखने योग्य है। चतुर्थ और पञ्चम मंत्रमें क्रिमियोंके रंगोंका वर्णन है। सूर्यकिरणसे सब रोगक्रिमियोंका नाश होता है, यह अत्यंत महत्त्वपूर्ण बात षष्ठ मंत्रमें कही है। विपुल सूर्यकिरणोंके साथ अपना संबंध करके पाठक रोगक्रिमियोंसे अपना बचाव कर सकते हैं। अन्य मंत्रोंका कथन स्पष्ट है, इसलिये इस विषयमें अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं है।

सुरक्षितताकी प्रार्थना।

(२४) ब्रह्मकर्म।

(ऋषिः — अथर्वा। देवता — ब्रह्मकर्मात्मा, नानादेवताः।)

सविता प्रसवानामधिपतिः स मावतु ।
अस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां
चित्त्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा ॥ १ ॥
अग्निर्वनस्पतीनामधिपतिः स मावतु ।
अस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां
चित्त्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा ॥ २ ॥

अर्थ—(अस्मिन् ब्रह्मणि) इस ब्रह्मयज्ञमें, (अस्मिन् कर्मणि) इस कर्ममें, (अस्यां पुरोधायां) इस पुरोहितके अनुष्ठानमें, (अस्यां प्रतिष्ठायां) इस प्रतिष्ठामें, (अस्यां चित्त्यां) इस चिन्तनमें, (अस्यां आकूत्यां) इस संकल्पमें, (अस्यां आशिषि) इस आशीर्वादमें, (अस्यां देवहूत्यां) इस देवोंकी प्रार्थनामें, (सु-आ-हा) आत्मसर्वस्वका समर्पण करता हूं, इस समय (सः प्रसवानां अधिपतिः सविता मा अवतु) वह सब चेतनाओंका अधिपति प्रेरक परमेश्वर मेरी रक्षा करे ॥ १ ॥

(सः वनस्पतीनां अधिपतिः, अग्निः मा अवतु) वह वनस्पतियोंका अधिपति अग्नि मेरी रक्षा करे ॥ २ ॥

द्यावापृथिवी दातृणामधिपत्नी ते मावताम् ।
अस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां
चित्त्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा ॥ ३ ॥
वरुणोऽपामधिपतिः स मावतु ।
अस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां
चित्त्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा ॥ ४ ॥
मित्रावरुणौ वृष्ट्याधिपती तौ मावताम् ।
अस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां
चित्त्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा ॥ ५ ॥
मरुतः पर्वतानामधिपतयस्ते मावन्तु ।
अस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां
चित्त्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा ॥ ६ ॥
सोमो वीरुधामधिपतिः स मावतु ।
अस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां
चित्त्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा ॥ ७ ॥
वायुरन्तरिक्षस्याधिपतिः स मावतु ।
अस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां
चित्त्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा ॥ ८ ॥
सूर्यश्चक्षुषामधिपतिः स मावतु ।
अस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां
चित्त्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा ॥ ९ ॥

अर्थ— (ते दातॄणां अधिपत्नी द्यावापृथिवी मा अवतां) वे दाताओंके अधिपति द्यावापृथिवी मेरी रक्षा करें ॥ ३ ॥

(सः अपां अधिपतिः वरुणः मा अवतु) वह जलोंका अधिपति वरुण मेरी रक्षा करे ॥ ४ ॥

(तौ वृष्ट्या अधिपती मित्रावरुणौ मा अवतां) वे दोनों वृष्टिके अधिपति मित्र और वरुण मेरी रक्षा करें ॥ ५ ॥

(ते पर्वतानां अधिपतयः मरुतः मा अवन्तु) वे पर्वतोंके अधिपति मरुत् मेरी रक्षा करें ॥ ६ ॥

(सः वीरुधां अधिपतिः सोमः मा अवतु) वह औषधियोंका अधिपति सोम मेरी रक्षा करे ॥ ७ ॥

(सः अन्तरिक्षस्य अधिपतिः वायुः मा अवतु) वह अन्तरिक्षका अधिपति वायु मेरी रक्षा करे ॥ ८ ॥

(सः चक्षुषां अधिपतिः सूर्यः मा अवतु) वह नेत्रोंका अधिपति सूर्य मेरी रक्षा करे ॥ ९ ॥

चन्द्रमा नक्षत्राणामधिपतिः स मावतु ।
अस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां
चित्त्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा ॥ १० ॥

इन्द्रो दिवोऽधिपतिः स मावतु ।
अस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां
चित्त्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा ॥ ११ ॥

मरुतां पिता पशूनामधिपतिः स मावतु ।
अस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां
चित्त्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा ॥ १२ ॥

मृत्युः प्रजानामधिपतिः स मावतु ।
अस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां
चित्त्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा ॥ १३ ॥

यमः पितृणामधिपतिः स मावतु ।
अस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां
चित्त्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा ॥ १४ ॥

पितरः परे ते मावन्तु ।
अस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां
चित्त्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा ॥ १५ ॥

तता अवरे ते मावन्तु ।
अस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां
चित्त्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा ॥ १६ ॥

अर्थ— (सः नक्षत्राणां अधिपतिः चन्द्रमाः मा अवतु) वह नक्षत्रोंका अधिपति चन्द्र मेरी रक्षा करे ॥ १० ॥
(सः दिवः अधिपतिः इन्द्रः मा अवतु) वह द्युलोकका अधिपति इन्द्र मेरी रक्षा करे ॥ ११ ॥
(सः पशूनां अधिपतिः मरुतां पिता मा अवतु) वह पशुओंका अधिपति मरुत्पिता मेरी रक्षा करे ॥ १२ ॥
(सः प्रजानां अधिपतिः मृत्युः मा अवतु) वह प्रजाओंका अधिपति मृत्यु मेरी रक्षा करे ॥ १३ ॥
(सः पितॄणां अधिपतिः यमः मा अवतु) वह पितरोंका अधिपति यम मेरी रक्षा करे ॥ १४ ॥
(ते परे पितरः मा अवन्तु) वे पूर्व पितर मेरी रक्षा करें ॥ १५ ॥

ततस्ततामहास्ते मावन्तु ।
अस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां
चित्त्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा ॥ १७ ॥ (१८१)

अर्थ— (ते अवरे तताः मा अवन्तु) वे पिछले पितामह मेरी रक्षा करें ॥ १६ ॥
(ते ततः ततामहाः मा अवन्तु) वे बडे प्रपितामह मेरी रक्षा करें ॥ १७ ॥

अपनी सुरक्षितता ।

ज्ञानोपदेशका कर्म, अन्यान्य पुरुषार्थ, यजन याजन, सबकी स्थिरता और सुदृढता बढानेवाले कर्म, चित्तसे चिंतन मनन आदि कर्म, संकल्प, आशीर्वाद देना और लेना, ईश्वरकी स्तुति प्रार्थना आदि कर्म तथा जो जो अन्यान्य कर्तव्यकर्म मनुष्य करता है, उसमें संपूर्ण देवताएं और उन देवताओंका प्रेरक परमात्मा मेरी रक्षा करे। यह प्रार्थना इस सूक्तमें है। यह स्पष्ट आशय-वाला है इसलिये अधिक स्पष्टीकरणकी आवश्यकता नहीं है।

गर्भधारणा ।

(२५) गर्भाधानम् ।

(ऋषिः — ब्रह्मा । देवता — योनिगर्भः, पृथिव्यादयो देवताः ।)

पर्वताद्दिवो योनेरङ्गादङ्गात्समाभृतम् । शेपो गर्भस्य रेतोधाः सरौ पर्णमिवा दधत् ॥ १ ॥
यथेयं पृथिवी मही भूतानां गर्भमादधे । एवा दधामि ते गर्भं तस्मै त्वामवसे हुवे ॥ २ ॥
गर्भं धेहि सिनीवालि गर्भं धेहि सरस्वति । गर्भं ते अश्विनोभा धत्तां पुष्करस्रजा ॥ ३ ॥
गर्भं ते मित्रावरुणौ गर्भं देवो बृहस्पतिः । गर्भं त इन्द्रश्चाग्निश्च गर्भं धाता दधातु ते ॥ ४ ॥

अर्थ— (पर्वतात् दिवः) पर्वतसे लेकर द्युलोकपर्यंत स्थित पदार्थोंके (अंगात् अंगात् सं आभृतं) अंग प्रत्यंगसे इकट्ठा किया हुआ (योनेः) योनिके स्थानमें (रेतोधाः शेपः) वीर्यकी स्थापना करनेवाला पुरुषेन्द्रिय (सरौ पर्णं इव) जल-प्रवाहमें पत्तेको रखनेके समान (गर्भस्य आ दधत्) गर्भका बीज आधान करता है ॥ १ ॥

(यथा इयं मही पृथिवी) जिस प्रकार यह बडी पृथिवी (भूतानां गर्भं आदधे) समस्त भूतोंके गर्भको धारण करती है, (एवा ते गर्भं दधामि) इस प्रकार तेरा गर्भ धारण करती हूँ (तस्मै अवसे त्वां हुवे) उस रक्षाके लिये तुझे बुलाती हूं ॥ २ ॥

हे (सिनीवालि) अल्प चन्द्रवाली रात्री देवी ! (गर्भं धेहि) गर्भको धारण कर। हे (सरस्वति) ज्ञानदेवी ! (गर्भं धेहि) गर्भको धारण कर। (उभौ पुष्करस्रजौ) दोनों कमलमाला धारण करनेवाले अश्विदेवो (ते गर्भं आ धत्तां) तेरे गर्भको धारण करें ॥ ३ ॥

(मित्रावरुणौ ते गर्भं) मित्र और वरुण तेरे गर्भको पुष्ट करें (देवः बृहस्पतिः गर्भं) देव बृहस्पति गर्भको धारण करे। (इन्द्रः च अग्निः च ते गर्भं) इन्द्र और अग्नि तेरे गर्भको धारण करे। (धाता ते गर्भं दधातु) धाता तेरे गर्भको धारण करे ॥ ४ ॥

विष्णुर्योनिं कल्पयतु त्वष्टा रूपाणि पिंशतु । आ सिञ्चतु प्रजापतिर्धाता गर्भं दधातु ते ॥ ५ ॥
यद्वेद राजा वरुणो यद्वा देवी सरस्वती । यदिन्द्रो वृत्रहा वेद तद्गर्भकरणं पिब ॥ ६ ॥
गर्भो अस्योषधीनां गर्भो वनस्पतीनाम् । गर्भो विश्वस्य भूतस्य सो अग्ने गर्भमेह धाः ॥ ७ ॥
अधि स्कन्द वीरयस्व गर्भमा धेहि योन्याम् । वृषासि वृष्ण्यावन्प्रजायै त्वा नयामसि ॥ ८ ॥
वि जिहीष्व बार्हत्सामे गर्भस्ते योनिमा शयाम् । अदुष्टे देवाः पुत्रं सोमपा उभयाविनम् ॥ ९ ॥
धातः श्रेष्ठेन रूपेणास्या नार्या गवीन्योः । पुमांसं पुत्रमा धेहि दशमे मासि सूतवे ॥ १० ॥
त्वष्टः श्रेष्ठेन रूपेणास्या नार्या गवीन्योः । पुमांसं पुत्रमा धेहि दशमे मासि सूतवे ॥ ११ ॥
सवितः श्रेष्ठेन रूपेणास्या नार्या गवीन्योः । पुमांसं पुत्रमा धेहि दशमे मासि सूतवे ॥ १२ ॥
प्रजापते श्रेष्ठेन रूपेणास्या नार्या गवीन्योः । पुमांसं पुत्रमा धेहि दशमे मासि सूतवे ॥ १३ ॥(१९४)

अर्थ— (विष्णुः योनिं कल्पयतु) विष्णु योनिको समर्थ बनावे । (त्वष्टा रूपाणि पिंशतु) त्वष्टा रूपोंको अवयवोंवाला बनावे । (प्रजापतिः आ सिंचतु) प्रजापति गर्भको सींचे और (धाता ते गर्भं दधातु) धाता तेरे गर्भको धारण करे ॥ ५ ॥

(यत् राजा वरुणः वेद) जो वरुण राजा जानता है, (या यत् देवी सरस्वती) अथवा जो देवी सरस्वती जानती है । (यत् वृत्रहा इन्द्रः वेद) जो वृत्रका नाश करनेवाला इन्द्र जानता है (तत् गर्भ-करणं पिब) वह गर्भको स्थिर करनेवाला यह रस पान कर ॥ ६ ॥

(ओषधीनां गर्भः असि) तू औषधियोंका गर्भ है, और (वनस्पतीनां गर्भः असि) तू वनस्पतियोंका गर्भ है, तू (विश्वस्य भूतस्य गर्भः) सब भूतमात्रका गर्भ है, हे अग्ने ! (सः इह गर्भं आधाः) वह तू यहां गर्भको धारण कर ॥ ७ ॥

(अधिस्कंध) चढकर खडा हो, (वीरयस्व) वीरता कर, (योन्यां गर्भं आ धेहि) योनिमें गर्भकी स्थापना कर । हे (वृष्ण्यावन् ! वृषा असि) वीर्यवान् ! तू बलवान् है ! (त्वा प्रजायै नयामसि) तुझे केवल सन्तानके लिये ही ले जाते हैं ॥ ८ ॥

हे (बार्हत्सामे) बृहत्साम गानेवाली स्त्री ! तू (विजिहीष्व) विशेष प्रकार तैयार रह । (ते योनिं गर्भः आशयां) तेरी योनिमें गर्भ स्थिर होवे । (सोमपाः देवाः उभयाविनं पुत्रं ते अदुः) सोमपान करनेवाले देवोंने तुम दोनोंकी रक्षा करनेवाले पुत्रको तुझे दिया है ॥ ९ ॥

हे (धातः) धाता ! और हे (त्वष्टः) रूप बनानेवाले देव ! हे (सवितः) उत्पादक देव ! हे (प्रजापते) प्रजापालक देव ! (अस्याः नार्याः गवीन्योः) इस स्त्रीके दोनों गर्भधारक नाडियोंके बीचमें (श्रेष्ठेन रूपेण पुमांसं पुत्रं आधेहि) उत्तम सुंदर रूपके साथ पुरुष संतान स्थापन कर और (दशमे मासि सूतवे) दसवें मासमें उत्पत्ति होनेके लिये उसे योग्य कर ॥ १०-१३ ॥

गर्भकी सुरक्षितता ।

गर्भकी सुरक्षितताके लिये परमेश्वरकी तथा अन्यान्य देवताओंकी प्रार्थना इस सूक्तमें की गई है । इस प्रकारकी प्रार्थना करनेसे मानस शक्तिकी जागृति द्वारा बहुत लाभ होता है । इसके अतिरिक्त इस सूक्तमें गर्भविषयक अन्यान्य बहुतसी उपयुक्त बातें कहीं हैं, उनका थोडासा विचार यहां करना आवश्यक है ।

पृथ्वीके ऊपर पर्वतसे लेकर द्युलोकपर्यंत अर्थात् इस द्यावापृथिवीके अन्दर जितने पदार्थ हैं, उन सबके अंग प्रत्यंगोंके अंश ले लेकर और उन सब अंशोंको विशेष योजनासे इकट्ठा करके यह गर्भ बनाया गया है । यह प्रथम मंत्रका कथन है । अर्थात् इस गर्भमें जिस प्रकार सूर्य और चंद्रके अंश हैं, उसी प्रकार वायु और जलके अंश भी हैं और उसी रीतिसे ओषधिवनस्पतियोंके भी अंश हैं । जो ब्रह्माण्डमें है वही पिण्डमें है ।

ब्रह्माण्डका एक अंश ही पिंड है। इसी प्रकार पिताके अंग प्रत्यंगोंका सत्त्व वीर्य बिन्दुमें आता है और उसी वीर्य बिन्दुसे गर्भ होता है, इस लिये गर्भमें पिताके अंग प्रत्यंगोंका सत्त्व आया हुआ होता है। इस प्रकार एक दृष्टिसे यह गर्भ सब ब्रह्माण्डका सत्वांश है और दूसरी दृष्टिसे यह गर्भ पिताका सत्वांश है। गर्भमें, मानो, इतनी प्रचण्ड शक्तियां हैं, इस लिये गर्भकी जितनी सुरक्षा हो उतनी करनी चाहिये और उसकी जिस प्रकार उन्नति हो सके उस प्रकार यत्न करना चाहिये।

मंत्र १ से ५ तक देवताओंकी प्रार्थना है कि सब देव इस गर्भकी रक्षामेंसे सहायता देवें। और जो देवताओंके अंश यहां रह रहे हैं उनको अपनी शक्तिसे सुरक्षित रखें और बढावें। पाठक यहां स्मरण रखें कि रक्षा तो देवों द्वारा ही होनी है, मनुष्यका कार्य इतना ही है कि वह उसमें रुकावट न करे। जिस प्रकार बंद कमरेमें सदा रहनेसे सूर्यकी रक्षासे मनुष्य दूर रहते हैं, उसी प्रकार अन्यान्य देवोंकी रक्षासे मनुष्य अपनी अज्ञानताके कारण दूर रहता है। इस लिये मनुष्यको उचित है कि वह अपने आपको इन देवताओंके स्वाधीन करे। ऐसा करनेसे इसकी उत्तम रक्षा हो सकती है। गर्भकी भी सुरक्षितताके लिये गर्भिणी स्त्री शुद्ध वायुमें तथा धूप आदिमें अपने आपको रखे और सूर्यादि देवोंसे जो रक्षा प्राप्त होती है उससे लाभ उठावे तो अधिक लाभ हो सकता।

गर्भ उत्तम रीतिसे बढकर दसवें मासमें माताके उदरसे बाहर आना चाहिये। यह समय उसकी पूर्ण वृद्धिका है। यह बात दशम मंत्रमें कही है।

अन्य मंत्र गर्भाधान विषयक हैं वे सुविज्ञ पाठक सहजहीमें समझ सकते हैं।

यज्ञ।

(२६) नवशालायां घृतहोमः।

(ऋषिः — ब्रह्मा। देवता — वास्तोष्पतिः, नानादेवताः।)

यजूंषि यज्ञे समिधः स्वाहाग्निः प्रविद्वानिह वो युनक्तु ॥ १ ॥
युनक्तु देवः सविता प्रजानन्नस्मिन्यज्ञे महिषः स्वाहा ॥ २ ॥
इन्द्र उक्थामदान्यस्मिन्यज्ञे प्रविद्वान्युनक्तु सुयुजः स्वाहा ॥ ३ ॥
प्रैषा यज्ञे निविदः स्वाहा शिष्टाः पत्नीभिर्वहतेह युक्ताः ॥ ४ ॥
छन्दांसि यज्ञे मरुतः स्वाहा मातेव पुत्रं पिपृतेह युक्ताः ॥ ५ ॥
एयमगन्बर्हिषा प्रोक्षणीभिर्यज्ञं तन्वानादितिः स्वाहा ॥ ६ ॥

अर्थ— (प्रविद्वान् अग्निः इह यज्ञे) विशेष ज्ञानी अग्नि इस यज्ञमें (वः यजूंषि समिधः) आपके लिये यजुर्वेद मंत्र और समिधाएं (युनक्तु स्वाहा) उपयोगमें लावे, मैं अपनी आहुतियां समर्पित करता हूं ॥ १ ॥

(महिषः प्रजानन् सविता देवः) महान् ज्ञानी सर्व प्रेरक सविता देव (अस्मिन् यज्ञे युनक्तु, स्वाहा) इस यज्ञमें हवन सामग्रीका उपयोग करे, मैं अपनी आहुतियां समर्पित करता हूं ॥ २ ॥

(प्रविद्वान् सुयुजः इन्द्रः) ज्ञानी सुयोग्य इन्द्र, (अस्मिन् यज्ञे उक्थमदानि युनक्तु, स्वाहा) इस यज्ञमें आनन्दकारक स्तुतिस्तोत्रोंको प्रयुक्त करे, इसमें मेरा समर्पण हो ॥ ३ ॥

(प्रैषाः निविदः इह यज्ञे युक्ताः शिष्टाः) आज्ञाएं और आत्मनिवेदन करनेकी रीतियां जाननेवाले इस यज्ञमें नियुक्त हुए शिष्ट लोग (पत्नीभिः वहत, स्वाहा,) अपनी धर्मपत्नियोंके साथ यज्ञका भार उठावें, यज्ञमें मेरा समर्पण हो ॥ ४ ॥

(माता इव पुत्रं) माता जैसे पुत्रको पूर्ण करती है, उस प्रकार (इह यज्ञे युक्ताः मरुतः) इस यज्ञमें लगे हुए मरुत् देव (छंदांसि पिपृत, स्वाहा) छंदोंको पूर्ण करें, मेरा समर्पण यज्ञके लिये होवे ॥ ५ ॥

(इयं अदितिः बर्हिषा प्रोक्षणीभिः) यह अदिति देवी हवन सामग्री और शोधक साधनोंके साथ (यज्ञं तन्वाना आ अगन् स्वाहा) यज्ञका विस्तार करती हुई आई है। इस यज्ञमें मेरा समर्पण होवे ॥ ६ ॥

विष्णुर्युनक्तु बहुधा तपांस्यस्मिन्यज्ञे सुयुजः स्वाहा ॥ ७ ॥
त्वष्टा युनक्तु बहुधा नु रूपा अस्मिन्यज्ञे सुयुजः स्वाहा ॥ ८ ॥
भगो युनक्त्वाशिषोन्वस्मा अस्मिन्यज्ञे प्रविद्वान्युनक्तु सुयुजः स्वाहा ॥ ९ ॥
सोमो युनक्तु बहुधा पयांस्यस्मिन्यज्ञे सुयुजः स्वाहा ॥ १० ॥
इन्द्रो युनक्तु बहुधा वीर्याण्यस्मिन्यज्ञे सुयुजः स्वाहा ॥ ११ ॥
अश्विना ब्रह्मणा यातमर्वाञ्चौ वषट्कारेण यज्ञं वर्धयन्तौ ।
बृहस्पते ब्रह्मणा याह्यर्वाङ् यज्ञो अयं स्वरिदं यजमानाय स्वाहा ॥ १२ ॥ (२०६)

॥ इति पञ्चमोऽनुवाकः ॥ ५ ॥

अर्थ— (सुयुजः विष्णुः अस्मिन् यज्ञे) सुयोग्य विष्णु देव इस यज्ञमें (तपांसि बहुधा युनक्तु, स्वाहा) अपनी तपन शक्तियोंका बहुत प्रकार उपयोग करे । इस यज्ञमें मेरा समर्पण होवे ॥ ७ ॥

(सुयुजः त्वष्टा अस्मिन् यज्ञे) सुयोग्य त्वष्टा देव इस यज्ञमें (रूपाः नु बहुधा युनक्तु, स्वाहा) विविध रूपोंको बहुत प्रकार प्रयुक्त करे । इस यज्ञमें मेरा समर्पण हो ॥ ८ ॥

(सुयुजः प्रविद्वान् भगः अस्मिन् यज्ञे) सुयोग्य ज्ञानी भग देव इस यज्ञमें (अस्मै नु आशिषः युनक्तु, स्वाहा) इसके लिये आशीर्वाद देवे । इस यज्ञमें मेरा आत्मसमर्पण होवे ॥ ९ ॥

(सुयुजः सोमः अस्मिन् यज्ञे) सुयोग्य सोम देव इस यज्ञमें (पयांसि बहुधा युनक्तु, स्वाहा) जलोंको बहुत प्रकार प्रयुक्त करे, मेरा समर्पण इस यज्ञमें होवे ॥ १० ॥

(सुयुजः इन्द्रः अस्मिन् यज्ञे) सुयोग्य इन्द्र देव इस यज्ञमें (वीर्याणि बहुधा युनक्तु, स्वाहा) अपने सामर्थ्योंका बहुत प्रकार उपयोग करे । इस यज्ञमें मेरा समर्पण हो ॥ ११ ॥

हे (अश्विनौ) अश्विदेवो ! (ब्रह्मणा वषट् कारेण यज्ञं वर्धयन्तौ) ज्ञान और दान द्वारा यज्ञको बढाते हुए (अर्वाञ्चौ आयातं) हमारे पास आवो । हे बृहस्पते ! (ब्रह्मणा अर्वाङ् आयाहि) ज्ञानके साथ पास आ । (अयं यज्ञः यजमानाय स्वः) यह यज्ञ यजमानके लिये तेज बढानेवाला होवे । (स्वाहा) यज्ञमें आत्मसमर्पण होवे ॥ १२ ॥

यज्ञमें आत्मसमर्पण ।

' स्वाहा ' शब्दका अर्थ (स्व + आ + हा) ' अपना कहने योग्य जो जो पदार्थ हैं उन सबका जगत्‌की भलाईके लिये समर्पण करना ' है । वास्तविक रीतिसे यज्ञमें यह आत्मशक्तिका समर्पण अत्यंत मुख्य भाग है । मानो, इसके बिना कोई यज्ञ हो नहीं सकता । यज्ञमें आहुति देते समय ' स्वाहा, न मम ' (यह पदार्थ मैंने यज्ञमें दिया है, अब यह मेरा नहीं है) यह मंत्र जो पढा जाता है उसका तात्पर्य आत्मसमर्पणका पाठ देना ही है । इस सूक्तके प्रत्येक मंत्रमें ' स्वाहा ' शब्दका पाठ इसीलिये किया है ।

अग्नि, सविता, इन्द्र, मरुत, अदिति, विष्णु, त्वष्टा, भग, सोम, अश्विनौ, बृहस्पति आदि सब देवताएं जगत्‌के यज्ञमें अपना अपना कार्य कर रही हैं, अर्थात् अपनी अपनी शक्तियोंका समर्पण कर रही हैं, यह देवताओंका आत्मसमर्पण देखकर हरएक मनुष्यको उचित है कि, वह भी अपनी संपूर्ण शक्ति यज्ञमें समर्पित करे और अपने जीवनकी सार्थकता यज्ञद्वारा करे । अग्नि उष्णता देता है, सविता प्रकाश देता है, इन्द्र चमकता है, मरुत् जीवन देते हैं, अदिति आधार देती है, विष्णु सर्वत्र व्यापकर सबकी रक्षा करता है, त्वष्टा सब पदार्थोंके रूप बनाता है, भग सबको भाग्यवान् बनाता है, सोम सबको शांति देता है, अश्विनी देव सबके दोष दूर करते हैं, बृहस्पति सबको ज्ञान देता है किंवा एक ही परमात्मदेव इतनी शक्तियों द्वारा जगत्‌का यज्ञ सांग संपूर्ण करता है । ये सब देव ये कार्य अपने सुखके लिये नहीं करते, परंतु सब जगत्‌की भलाईके लिये आत्मशक्तिका समर्पण करते हैं । इसी प्रकार मनुष्य भी अपनी तन, मन धनादि सब शक्तियोंका यज्ञ जनताकी भलाईके लिये करें और इस आत्मसर्वस्व समर्पणके यज्ञद्वारा अपने जीवनकी सफलता करें । इस प्रकार यज्ञमय जीवन व्यतीत करनेका उपदेश इस सूक्तने दिया है ।

यहां पञ्चम अनुवाक समाप्त ॥ ५ ॥

अग्निकी ऊर्ध्वगति।

(२७) अग्निः।

(ऋषिः — ब्रह्मा। देवता — अग्निः।)

ऊर्ध्वा अस्य समिधो भवन्त्यूर्ध्वा शुक्रा शोचींष्यग्नेः।
द्युमत्तमा सुप्रतीकः ससूनुस्तनूनपादसुरो भूरिपाणिः ॥ १ ॥
देवो देवेषु देवः पथो अनक्ति मध्वा घृतेन ॥ २ ॥
मध्वा यज्ञं नक्षति प्रैणानो नराशंसो अग्निः सुकृद्देवः सविता विश्ववारः ॥ ३ ॥
अच्छायमेति शवसा घृता चिदीडानो वह्निर्नमसा ॥ ४ ॥
अग्निः स्रुचो अध्वरेषु प्रयक्षु स यक्षदस्य महिमानमग्नेः ॥ ५ ॥
तरी मन्द्रासु प्रयक्षु वसवश्चातिष्ठन्वसुधातरश्च ॥ ६ ॥
द्वारो देवीरन्वस्य विश्वे व्रतं रक्षन्ति विश्वहा ॥ ७ ॥
उरुव्यचसाग्नेर्धाम्ना पत्यमाने।
आ सुष्वयन्ती यजते उपाके उषासानक्तेमं यज्ञमवतामध्वरं नः ॥ ८ ॥

अर्थ— (अस्य अग्नेः समिधः ऊर्ध्वाः भवन्ति) इस अग्निकी समिधाएं ऊंची होती हैं, तथा इस अग्निकी (शुक्रा शोचींषि ऊर्ध्वा भवन्ति) शुद्ध ज्वालाएं ऊंची होती हैं। यह अग्नि (द्युमत्तमा) अति प्रकाशवाला, (सु-प्रतीकः, ससूनुः) सुंदर रूपवाला, पुत्रोंसहित रहनेवाला, (तनू-न-पात्, असु-रः) शरीरको न गिरानेवाला, जीवन देनेवाला, (भूरि-पाणिः) अनेक हाथोंसे अर्थात् ज्वालाओंसे युक्त है ॥ १ ॥

(देवेषु देवः देवः) सब देवोंमें मुख्य देव (मध्वा घृतेन पथः अनक्ति) मधुर घृतसे मार्गको प्रकट करता है ॥ २ ॥

(नराशंसः सुकृत् सविता विश्ववारः देवः अग्निः) मनुष्यों द्वारा प्रशंसित होने योग्य, उत्तम कर्म करनेवाला, प्रेरक, सबको स्वीकार करने योग्य दिव्य अग्नि (मध्वा यज्ञं प्रैणानः नक्षति) मधुरतासे यज्ञको प्रेरित करता हुआ चलता है ॥ ३ ॥

(अयं ईडानः वह्निः शवसा घृता नमसा चित्) यह स्तुति किया गया अग्नि बल, घृत और नमनादिके साथ (अच्छ एति) भली प्रकार चलता है ॥ ४ ॥

(अध्वरेषु स्रुचः प्रयक्षु अग्निः) यज्ञोंमें स्रुवाओं [चमसों] की इच्छा करनेवाला अग्नि होता है। (सः अस्य अग्नेः महिमानं यक्षत्) वह यजमान इस अग्निकी महिमाकी उपासना करे ॥ ५ ॥

(तरी मन्द्रासु प्रयक्षु) तारण करनेवाला अग्नि हर्षके समयमें यजन करनेवाला होता है। (वसु-धा-तरः वसवः च अतिष्ठन्) धनोंको अधिक धारण करनेवाले अग्नि और वसु सबका अतिक्रमण करके स्थित हैं ॥ ६ ॥

(अस्य व्रतं देवीः द्वारः) इसके व्रतको दिव्य द्वार और (विश्वे) सब अन्य देव (विश्व-हा अनु रक्षन्ति) सर्वदा अनुकूलतासे रक्षा करते हैं ॥ ७ ॥

(अग्नेः उरु-व्यचसा धाम्ना) अग्निके अति विस्तृत धामसे (पत्यमाने सु-सु-अयन्ती उपाके यजते) पतिरूप बननेवाली, उत्तम रीतिसे चलनेवाली, समीपस्थित, परस्पर संगत, (उषासानक्ता नः इमं अध्वरं यज्ञं आ अवतां) प्रातःकाल और सायंकाल हमारे इस हिंसारहित यज्ञकी उत्तम रक्षा करें ॥ ८ ॥

देवा होतार ऊर्ध्वमध्वरं नोऽग्नेर्जिह्वयाभि गृणत गृणता नः स्विष्टये ।
तिस्रो देवीर्बर्हिरेदं सदन्तामिडा सरस्वती मही भारती गृणाना ॥ ९ ॥
तन्नस्तुरीपमद्भुतं पुरुक्षु । देव त्वष्टा रायस्पोषं वि ष्य नाभिमस्य ॥ १० ॥
वनस्पतेऽव सृजा रराणः । त्मना देवेभ्यो अग्निर्हव्यं शमिता स्वदयतु ॥ ११ ॥
अग्ने स्वाहा कृणुहि जातवेदः । इन्द्राय यज्ञं विश्वे देवा हविरिदं जुषन्ताम् ॥ १२ ॥ (३१८)

अर्थ— हे (**देवा होतारः**) दिव्य होता गण ! (**नः ऊर्ध्वं अध्वरं अग्नेः जिह्वया अभि गृणत**) हमारे ऊंचे यज्ञके अग्निकी जिह्वाके द्वारा प्रशंसा करो और (**नः स्विष्टये गृणत**) हमारी उत्तम इष्टिके लिये प्रशंसा करो । (**इडा सरस्वती भारती मही**) मातृभाषा, मातृसभ्यता, और पोषण करनेवाली मातृभूमि ये (**तिस्रः देवीः**) तीन देवताएं (**इदं बर्हिः सदन्तां**) इस यज्ञमें विराजें ॥ ९ ॥

(**देव त्वष्टः**) हे त्वष्टा देव ! (**नः तत् तुरीपं अद्भुतं**) हमारे लिये वह त्वरासे रक्षा करनेवाला अद्भुत (**पुरुक्षु रायः पोषं**) निवासके लिये हितकारी धन और पुष्टि दे और (**अस्य नाभिं विष्य**) इसकी मध्य ग्रंथीको खोल दे ॥ १० ॥

हे वनस्पते ! (**रराणः अवसृज**) दान करता हुआ तू हमें दान कर । (**शमिता अग्निः त्मना देवेभ्यः हव्यं स्वदयतु**) शान्ति स्थापन करनेवाला अग्निदेव आत्मशक्तिसे देवोंके लिये हवनीय पदार्थोंका स्वाद देवे ॥ ११ ॥

हे (**जातवेदः अग्ने**) ज्ञानी प्रकाशस्वरूप देव ! (**स्वाहा कृणुहि**) तू स्वाहा रूप यज्ञ कर । तथा (**इन्द्राय यज्ञं**) इन्द्रदेवके लिये यज्ञ कर । (**विश्वे देवाः इदं हविः जुषन्तां**) सब देव इस हविका सेवन करें ॥ १२ ॥

यज्ञका महत्त्व ।

यह सूक्त यज्ञकी प्रशंसापर है । यज्ञयाग करनेसे दिव्य लोकमें जानेका मार्ग खुला होता है यह बात द्वितीय मंत्रमें कही है । जिस प्रकार (**अग्नेः ऊर्ध्वाः शोचींषि**) अग्निकी ज्वाला ऊपर जाती है और कभी नीचेकी दिशामें नहीं जाती, ठीक उस प्रकार अग्निकी उपासना करनेवाला याजक सीधा उच्च मार्गसे उच्च गति प्राप्त करता है । यज्ञयागका यह महान् फल है ।

यज्ञके द्वारा मातृभाषा, मातृसभ्यता और मातृभूमिका आदर बढता है, क्योंकि यज्ञके द्वारा इनकी ही सेवा की जाती है । यज्ञमें इनके लिये अग्रस्थान मिलता है । यह बात नवम मंत्रमें कही है ।

इस सूक्तमें कहे अग्निके विशेषण विचार करने योग्य हैं । उन गुणोंका मनन करके उनसे बोधित होनेवाले गुण उपासकको अपने अन्दर बढाने चाहिये । उन्नतिका यह सीधा मार्ग है ।

दीर्घायु और तेजस्विता ।

(२८) दीर्घायुः ।

(ऋषिः — अथर्वा । देवता — त्रिवृत्, अग्न्यादयः ।)

नव प्राणान्नवभिः सं मिमीते दीर्घायुत्वाय शतशारदाय ।
हरिते त्रीणि रजते त्रीण्ययसि त्रीणि तपसाविष्ठितानि ॥ १ ॥

अर्थ— (**शतशारदाय दीर्घायुत्वाय**) सौ वर्षवाले दीर्घ जीवनके लिये (**नव प्राणान् नवभिः सं मिमीते**) नव प्राणोंको नव इंद्रियोंके साथ समानतासे मिलाता है । (**हरिते त्रीणि, रजते त्रीणि, अयसि त्रीणि**) सुवर्णमें तीन, चांदीमें तीन और लोहेमें तीन (**तपसा आविष्ठितानि**) उष्णतासे विशेष प्रकार स्थित हैं ॥ १ ॥

भावार्थ— दीर्घ आयुकी प्राप्तिके लिये नव प्राणोंको नव इंद्रियोंमें सम प्रमाणमें स्थिर करते हैं । सुवर्णके तीन, चांदीके तीन और लोहेके तीन मिलकर नौ धागे उष्णतासे इकट्ठे जोड देते हैं । यह सुवर्णका यज्ञोपवीत होता है ॥ १ ॥

अग्निः सूर्यश्चन्द्रमा भूमिरापो द्यौरन्तरिक्षं प्रदिशो दिशश्च ।
आर्तवा ऋतुभिः संविदाना अनेन मा त्रिवृता पारयन्तु ॥ २ ॥
त्रयः पोषास्त्रिवृति श्रयन्तामनक्तु पूषा पयसा घृतेन ।
अन्नस्य भूमा पुरुषस्य भूमा भूमा पशूनां त इह श्रयन्ताम् ॥ ३ ॥
इममादित्या वसुना समुक्षतेममग्ने वर्धय वावृधानः ।
इममिन्द्र सं सृज वीर्येणास्मिन्त्रिवृच्छ्रयतां पोषयिष्णु ॥ ४ ॥
भूमिष्ट्वा पातु हरितेन विश्वभृदग्निः पिपर्त्वयसा सजोषाः ।
वीरुद्भिष्टे अर्जुनं संविदानं दक्षं दधातु सुमनस्यमानम् ॥ ५ ॥
त्रेधा जातं जन्मनेदं हिरण्यमग्नेरेकं प्रियतमं बभूव सोमस्यैकं हिंसितस्य परापतत् ।
अपामेकं वेधसां रेत आहुस्तत्ते हिरण्यं त्रिवृदस्त्वायुषे ॥ ६ ॥

अर्थ— अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा, भूमि, जल, द्यौ, अन्तरिक्ष, (**प्रदिशः दिशः**) उपदिशाएं और दिशाएं, (**ऋतुभिः संविदानाः आर्तवः**) ऋतुओंके साथ मिले हुए ऋतुविभाग (**अनेन त्रिवृता मा पारयन्तु**) इस तीनोंके योगसे मुझे पार ले जावें ॥ २ ॥

(**त्रिवृति त्रयः पोषाः श्रयन्तां**) इस तिहरे उपवीतमें तीन पुष्टियां बनी रहें । (**पूषा पयसा घृतेन अनक्तु**) पूषा दूध और घीसे हमें भरपूर करे । (**अन्नस्य भूमा**) अन्नकी विपुलता, (**पुरुषस्य भूमा**) पुरुषोंकी अधिकता, तथा (**पशूनां भूमा**) पशुओंकी समृद्धि (**ते इह श्रयन्तां**) तेरे यहां ये सब स्थिर रहें ॥ ३ ॥

हे (**आदित्याः**) आदित्यो ! (**इमं वसुना सं उक्षत**) इसको तुम वसुओंसे सींचो । हे अग्ने ! (**वावृधानः इमं वर्धय**) तू स्वयं बढता हुआ इसको बढा । हे इन्द्र ! (**इमं वीर्येण सं सृज**) इसको वीर्यसे युक्त कर । (**अस्मिन् पोषयिष्णु त्रिवृत् श्रयतां**) इसमें पोषण करनेवाला तिहरा उपवीत स्थित रहे ॥ ४ ॥

(**भूमिः हरितेन त्वा पातु**) भूमि सुवर्णके द्वारा तेरी रक्षा करे । (**विश्वभृत् सजोषाः अग्निः अयसा पिपर्तु**) सबका पोषण करनेवाला प्रेममय अग्नि लोहके द्वारा तुझे पूर्ण करे । (**वीरुद्भिः संविदानं अर्जुनं सुमनस्यमानं दक्षं**) औषधियों द्वारा प्राप्त होनेवाला कलंकरहित शुभसंकल्पमय बल (**ते दधातु**) तेरे लिये धारण करे ॥ ५ ॥

(**इदं हिरण्यं जन्मना त्रेधा जातं**) यह सुवर्ण जन्मसे ही तीन प्रकारसे उत्पन्न हुआ । उनमेंसे (**एकं अग्नेः प्रियतमं बभूव**) एक अग्निको अतिप्रिय हुआ है । (**एकं हिंसितस्य सोमस्य परापतत्**) दूसरा निचोडे सोमसे बाहर निकलता है । (**एकं वेधसां अपां रेतः आहुः**) तीसरा सारभूत जलका वीर्य है ऐसा कहते हैं । (**तत् त्रिवृत् हिरण्यं**) वह तिहरा सुवर्ण (**ते आयुषे अस्तु**) तेरी आयुके लिये होवे ॥ ६ ॥

भावार्थ— जिसके तीनों धागोंमें क्रमशः भूमि, जल, अग्नि, चन्द्र, अन्तरिक्ष, सूर्य, द्युलोक, दिशा उपदिशाएं, और ऋतु आदि काल विभाग ये नव दिव्य तत्त्व रहते हैं, वह तीन धागोंवाला यज्ञोपवीत मुझे दुःखोंसे पार करके दीर्घ जीवन देवे ॥ २ ॥

इस तिहरे उपवीतसे तीन पुष्टियां मिलती हैं । पोषणकर्ता परमेश्वर हमें दूध और घी भरपूर देवे । अन्नकी पुष्टि, मनुष्योंकी सहायता, पशुओंकी विपुलता ये तीन पुष्टियां हमें यहां मिलें ॥ ३ ॥

आदित्य हमें सब वसुओंकी शक्ति प्रदान करें । अग्नि हमारी वृद्धि करे । इन्द्र वीर्य बढावे । इस प्रकार यह तिहरा यज्ञोपवीत सब दुःखोंसे पार करनेवाला हमारे ऊपर स्थिर रहे ॥ ४ ॥

सुवर्णके धागेसे भूमि रक्षा करे । लोहेके धागेसे सबका पोषक अग्नि हमारी पूर्णता करे । तथा चांदीके धागेसे औषधियोंकी शक्तियोंके साथ हमें उत्तम मनयुक्त बल प्राप्त होवे ॥ ५ ॥

स्वभावतः सुवर्ण तीन प्रकारका है । एक अग्निके लिये प्रिय है, दूसरा सोमके रसके रूपसे प्राप्त होता है, और तीसरा सारभूत जल जो वीर्य रूपसे शरीरमें रहता है । यह तिहरा सुवर्ण है, यह मेरी आयु बढानेवाला होवे ॥ ६ ॥

त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषम् ।
त्रेधामृतस्य चक्षणं त्रीण्यायूंषि तेऽकरम् ॥ ७ ॥
त्रयः सुपर्णास्त्रिवृता यदायन्नेकाक्षरमभिसंभूय शक्राः ।
प्रत्यौहन्मृत्युममृतेन साकमन्तर्दधाना दुरितानि विश्वा ॥ ८ ॥
दिवस्त्वा पातु हरितं मध्यात्त्वा पात्वर्जुनम् ।
भूम्या अयस्मयं पातु प्रागाद्देवपुरा अयम् ॥ ९ ॥
इमास्तिस्रो देवपुरास्तास्त्वा रक्षन्तु सर्वतः ।
तास्त्वं बिभ्रद्वर्चस्व्युत्तरो द्विषतां भव ॥ १० ॥
पुरं देवानाममृतं हिरण्यं य आबेधे प्रथमो देवो अग्रे ।
तस्मै नमो दश प्राचीः कृणोम्यनु मन्यतां त्रिवृदाबधे मे ॥ ११ ॥

अर्थ— (जमदग्नेः त्र्यायुषं) जमदग्निकी तिहरी आयु, (कश्यपस्य त्र्यायुषं) कश्यपकी तिहरी आयु, यह (अमृतस्य त्रेधा चक्षणं) अमृतका तीन प्रकारका दर्शन है। इससे (ते त्रीणि आयूंषि अकरं) तेरे लिये तीन आयुष्योंको करता हूं ॥ ७ ॥

(यत् शक्राः त्रयः सुपर्णाः) जब समर्थ तीन सुवर्ण (त्रिवृता एकाक्षरं अभि संभूय आयन्) तिहरे होकर एक अक्षरमें सब प्रकार मिलकर रह रहे हैं। वे (अमृतेन साकं विश्वा दुरितानि अन्तर्दधानाः) अमृतके साथ सब अनिष्टोंको मिटाकर (मृत्युं प्रति औहन्) मौतको दूर करते हैं ॥ ८ ॥

(हरितं त्वा दिवः पातु) सुवर्ण तेरी द्युलोकसे रक्षा करे, (अर्जुनं त्वा मध्यात् पातु) श्वेत तेरी अन्तरिक्षसे रक्षा करे, (अयस्मयं भूम्याः पातु) लोहा भूमिके स्थानसे तेरी रक्षा करे। (अयं देव-पुराः प्रागात्) यह देवोंकी पुरियोंको प्राप्त हुआ है ॥ ९ ॥

(इमाः तिस्रः देव-पुराः) ये तीन देवनगरियां हैं, (ताः सर्वतः त्वा रक्षन्तु) वे सब प्रकारसे तेरी रक्षा करें। (त्वं ताः बिभ्रत् वर्चस्वी) तू उनको धारण करके तेजस्वी होकर (द्विषतां उत्तरः भव) वैरियोंकी अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ हो ॥ १० ॥

(देवानां हिरण्यं पुरं अमृतं) देवोंकी सुवर्णमय नगरी अमृत रूप है। (यः प्रथमः देवः अग्रे आबेधे) जिस पहिले देवने सबसे पूर्व इसको बांधा था। (तस्मै दश प्राचीः नमः कृणोमि) उसको दसों अंगुलियां जोडकर नमस्कार करता हूं। (त्रिवृत् मे आबधे, अनु मन्यतां) यह तिहरा उपवीत अपने शरीरपर बांधता हूं, इसके लिये अनुमति दे ॥ ११ ॥

भावार्थ— जमदग्नि और कश्यपकी बाल, तरुण और वृद्ध अवस्थामें व्यापनेवाली तिहरी आयु, मानो, अमृतका साक्षात्कार करनेवाली है। यह तीन प्रकारकी आयु हमें प्राप्त होवे ॥ ७ ॥

तीन बडी शक्तियां हैं जो एक ही अक्षरमें रहती हैं। उस अमृतसे सब अनिष्ट दूर होते हैं और उससे मृत्युको दूर किया जाता है ॥ ८ ॥

सुवर्ण द्युलोकसे, चांदी अन्तरिक्षसे और लोहा भूमिसे तेरी रक्षा करे। ये देवोंकी नगरियां ही प्राप्त हुई हैं ॥ ९ ॥

ये तीन देवनगरियां हैं। ये तीनों सबकी रक्षा करें। इनका धारण करनेवाला तेजस्वी होकर शत्रुओंको नीचे कर देता है ॥ १० ॥

देवोंकी सुवर्णमयी नगरी अमृतसे परिपूर्ण है। जो पहिला देव इसको सबसे पहिले स्थिर करता है, उसको हाथ जोडकर नमस्कार करते हैं। यह तिहरा उपवीत मैं अपने शरीरपर बांधता हूं, मुझे अनुमति दीजिये ॥ ११ ॥

आ त्वा॑ चृतत्वर्य॒मा पू॒षा बृह॒स्पतिः॑ । अह॑र्जातस्य॒ यन्नाम॒ तेन॒ त्वाति॑ चृतामसि ॥ १२ ॥
ऋ॒तुभि॑ष्ट्वार्त॒वैरायु॑षे॒ वर्च॑से त्वा । सं॒व॒त्स॒रस्य॒ तेज॑सा॒ तेन॒ संह॑नु कृण्मसि ॥ १३ ॥
घृ॒तादुल्लु॑प्तं॒ मधु॑ना॒ सम॑क्तं भूमि॒दृंह॒मच्यु॑तं पारयि॒ष्णु ।
भि॒न्दत्स॒पत्ना॒नध॑रांश्च कृ॒ण्वदा मा॒ रो॑ह मह॒ते सौभ॑गाय ॥ १४ ॥ (३३१)

अर्थ— अर्यमा, पूषा, बृहस्पति (त्वा आ चृततु) तुझे बांधे। (अहः-जातस्य यत् नाम) प्रतिदिन उत्पन्न होनेवालेका जो नाम है (तेन त्वा अति चृतामसि) उससे तुझको अत्यन्त बांधते हैं ॥ १२ ॥

(आयुषे वर्चसे) आयुष्य और तेजके लिये (ऋतुभिः आर्तवैः) ऋतुओं और ऋतुविभागोंसे और (संवत्सरस्य तेन तेजसा) संवत्सरके उस तेजसे (सं-हनु कृण्मसि) संयुक्त करता हूं ॥ १३ ॥

(घृतात् उल्लुप्तं) घीसे भरा हुआ, (मधुना समक्तं) मधुसे सींचा हुआ (भूमिदृंहं अच्युतं पारयिष्णु) भूमीके समान स्थिर और पार ले जानेवाला (सपत्नान् भिन्दत्) वैरियोंको छिन्न भिन्न करनेवाला और उनको (अधरान् कृण्वत् च) नीचे करनेवाला तू (महते सौभगाय मा आरोह) बडे सौभाग्यके लिये मेरे ऊपर आरोहण कर ॥ १४ ॥

भावार्थ— अर्यमा, पूषा, बृहस्पति और दिनमें प्रकाशनेवाला सूर्य ये सब देव यज्ञोपवीत धारण करनेके लिये तुझे अनुमति देवें ॥ १२ ॥

संवत्सर, ऋतु और अन्य कालविभागोंके तेजसे तुझे संयुक्त करके तुझे दीर्घ आयु और उत्तम तेज देते हैं ॥ १३ ॥

यह घृतादि पौष्टिक पदार्थोंसे युक्त, मधु आदि मधुर पदार्थोंसे परिपूर्ण, भूमिके समान सुदृढ, न गिरानेवाला और सब दुःखोंसे पार करनेवाला है। यह शत्रुओंको छिन्न भिन्न करता और उनको नीचे करता है। यह उपवीत बडा सौभाग्य मुझे देकर मेरे ऊपर रहे ॥ १४ ॥

यज्ञोपवीतका धारण।

इस सूक्तमें यज्ञोपवीतके महत्त्वका वर्णन किया है। यज्ञोपवीतके वर्णनके विषयमें अत्यंत थोडेसे मंत्रभाग वेदमें हैं। परंतु यह संपूर्ण सूक्तका सूक्त दीर्घ आयु और तेजस्विताका उपदेश करते करते यज्ञोपवीतके महत्त्वका वर्णन कर रहा है इसलिये इस सूक्तका महत्त्व विशेष है। इस सूक्तका पठन करके पाठक यज्ञोपवीतका महत्त्व जानें और यज्ञोपवीत धारण करते समय मनमें समझें कि मैं इतने महत्त्वका यह यज्ञसूत्र धारण कर रहा हूं।

तीन धागे।

सब जानते हैं कि यज्ञोपवीतमें तीन सूत्र होते हैं और प्रत्येक सूत्रमें फिर तीन तीन धागे होते हैं, अर्थात् सब मिलकर नव सूत्र हो गये। ये तीन धागे इस प्रकार बनें—

हरिते त्रीणि, रजते त्रीणि, अयसि त्रीणि। (मं. १)

' सुवर्णके तीन, चांदीके तीन और लोहेके तीन ' अर्थात् प्रत्येक सूत्रके अंदर सोना, चांदी और लोहेके तार हों। इस प्रकार तीन धातुओंसे बना हुआ यह यज्ञोपवीत होना चाहिये। ' अयस् ' शब्दका प्रसिद्ध अर्थ ' लोहा ' है, परंतु इसका दूसरा अर्थ ' केवल धातुमात्र ' ऐसा भी है। अर्थात् तांबा भी इसका अर्थ हो सकता है।

सुवर्णका यज्ञोपवीत।

यह यज्ञोपवीत सोना, चांदी और तांबेका बने अथवा सोना, चांदी और लोहेका बने, इस विषयमें अधिक खोज करना चाहिये। ये तीनों धातु इस प्रकार शरीरपर धारण करनेसे शरीरमें कुछ मंदसा विद्युत्प्रवाह शुरू होता है, जिससे शरीरका स्वास्थ्य, बल और दीर्घायु प्राप्त होना संभव है। ये तीनों धातुओंके तार (तपसा आविष्ठितानि) उष्णतासे परस्पर जुडे हुए हों अर्थात् एक दूसरेके साथ जुडी हुई अवस्थामें रहें, तभी ये तार कार्य करते हैं। जिस प्रकार—

इन्द्रिय और प्राण।

शतशारदाय दीर्घायुत्वाय नव प्राणान् नवभिः संमिमीते। (मं. १)

' सौ वर्षकी दीर्घायुके लिये जिस प्रकार नव प्राणोंको नव

इंद्रियोंमें मिलाना चाहिये ' अर्थात् दीर्घायु प्राप्त करना हो तो प्राणोंका शरीरसे, इंद्रियोंसे और अवयवोंसे वियोग शीघ्र न हो सके ऐसा प्रबंध करना चाहिये। अर्थात् प्राणको अपने शरीरके सब अवयवोंमें कार्य करने योग्य बनाना चाहिये। यह बात प्राणायामसे उत्पन्न होनेवाली अग्निसे होती है। जो प्राणायामसे अपना बल नहीं बढाते उनकी किसी अवयवमें प्राणशक्ति नहीं कार्य करती। ऐसा होनेसे वह अवयव अपना कार्य करनेमें असमर्थ होता है। कई मनुष्योंके कई अवयव कमजोर होते हैं, इसका कारण यही है। यही कमजोरी आयुको क्षीण करती है।

इसी प्रकार तीन धातुओंके ये नव धागे उष्णतासे इकट्ठे हुए शरीरका आरोग्य, बल और दीर्घ आयु बढाते हुए शरीरमें उत्साह कायम रखते हैं। इस यज्ञोपवीतके नव धागोंमें निम्न लिखित नव देवतायें रहती हैं—

अग्निः सूर्यश्चन्द्रमा भूमिरापो द्यौरन्तरिक्षं
प्रदिशो दिशश्च। आर्तवा ऋतुभिः संविदाना
अनेन मा त्रिवृता पारयन्तु ॥ (मं. २)

' भूमि-अग्नि-आपः, अन्तरिक्ष-चन्द्रमा-दिशा; और द्यौः-सूर्य-ऋतु ये नव देवताएं इस तिहरे यज्ञोपवीतमें रहकर मुझे दुःखोंसे पार करें। '

पृथ्वीस्थानीय तीन देव, अन्तरिक्ष स्थानीय तीन देव और द्युस्थानीय तीन देव, ये सब नव देव यज्ञोपवीतके नव धागोंमें रहकर मुझे दुःखोंसे पार करें। यह इच्छा इस मंत्रमें प्रकट की गई है। यज्ञोपवीत धारण करनेका आशय इतने देवताओंका तेज और वीर्य अपने अंदर धारण करना तथा इनके विषयमें अपना कर्तव्य करना है। यज्ञोपवीत केवल भूषणके लिये नहीं धारण किया जाता है; यह तो बडी भारी जिम्मेवारीका कार्य है। तीन लोकों और उनमें स्थित सब दैवी शक्तियोंके साथ अपना संबंध व्यक्त करनेके लिये यह त्रिवृत्त सूत्र धारण किया जाता है। इस संबंधसे अपना उनके विषयक कर्तव्य जानना और उनसे दिव्य तेज प्राप्त करना चाहिये। जो यह न करेगा, उसके लिये यज्ञोपवीत यज्ञोपवीत नहीं रहता। यज्ञोपवीत धारण करनेवालोंको इस मंत्रका उपदेश अपने मनमें अवश्य धारण करने योग्य है। इस यज्ञोपवीतमें तीन प्रकारकी पोषण शक्तियां हैं, इस विषयमें निम्न लिखित मंत्र देखिये—

त्रयः पोषाः त्रिवृति श्रयन्ताम्।
अनक्तु पूषा। पुरुषस्य भूमा। पशूनां भूमा।
(मं. ३)

' तीन पुष्टियां इस तिहरे यज्ञोपवीतके आश्रयसे रहें। अन्नकी विपुलता, अनुयायी मनुष्योंकी विपुलता, और पशुओंकी विपुलता ' ये तीनों विपुलतायें इस यज्ञोपवीतके आश्रयसे रहें।

यज्ञोपवीत धारण करनेवाले यज्ञ करते हैं, उस यज्ञमें बहुत मनुष्य संमिलित होते हैं और संगठन होकर मनुष्योंकी संघ शक्ति बढती है, यज्ञके कारण पर्जन्यादि ठीक रीतिसे होते हैं इस कारण विपुल अन्न प्राप्त होता है, और यज्ञमें दूध और घीके हवनके लिये गौ आदि बहुत पशु लाये जाते हैं, पशुओंकी शक्तियां बढाई जाती हैं, इस कारण पशुओंकी भी उन्नति होती है। ये तीनों लाभ यज्ञसे होते हैं और यज्ञका अधिकार इस यज्ञोपवीतसे प्राप्त होता है, इसलिये यज्ञोपवीतसे उक्त लाभ होते हैं ऐसा इस मंत्रमें कहा है।

चतुर्थ मंत्रमें कहा है कि ' आदित्यसे शक्ति, अग्निसे वृद्धि और इन्द्रसे वीर्य प्राप्त हो ' और इस त्रिवृत् सूत्रसे हमारा उत्तम प्रकारसे पोषण होवे। इस यज्ञोपवीतके एक एक धागेमें एक एक देवताकी शक्ति विद्यमान है, इसलिये जो मनुष्य इस भावनासे यज्ञोपवीतका धारण करता है उसको बहुत लाभ हो सकता है। इस विषयमें निम्न लिखित मंत्र देखिये—

भूमिः हरितेन पातु।
अग्निः अयसा पिपर्तु।
अर्जुनं वीरुद्भिः दक्षं दधातु ॥ (मं. ५)

' भूमि सुवर्णके धागेसे रक्षा करे, लोहे या तांबेके धागेसे अग्नि पूर्णता करे, तथा चांदीके धागेसे औषधियोंकी सहायतासे बल धारण होवे। ' इस प्रकार ये तीन देव यज्ञोपवीतके तीन धागोंमें रहकर मनुष्यकी उन्नति करते हैं। अर्थात् यज्ञोपवीत केवल सूत्रका ही बना नहीं है, प्रत्युत वह इन देवताओंकी शक्तियोंसे बना है, यह भाव यहां देखने योग्य है। जो यज्ञोपवीतको केवल धागा ही समझते हैं वे उसके महत्त्वको नहीं जानते। जो सुवर्ण, चांदी और तांबेसे अथवा लोहेसे बने हुए आभूषण रूप यज्ञोपवीतको धारण करेंगे उनको तो निःसन्देह विद्युत्संचार शरीरमें होनेके कारण बडा लाभ होगा ही, परंतु जो सुवर्ण यज्ञोपवीत धारण करनेमें असमर्थ हों, वे सूत्रका यज्ञोपवीत भी धारण करें, परंतु वह धारण करनेके समय इस भावनासे धारण करें, जिससे इसके मनोबल द्वारा आकर्षित हुई उक्त देवताएं इसकी अवश्य सहायता करेंगी।

षष्ठ मंत्रमें सुवर्णके तीन भेद कहे हैं, एक सुवर्ण अर्थात् सोना, दूसरा सोमादि औषधीका रस और तीसरा वीर्य जो शरीरमें होता है। यज्ञोपवीत धारियोंको उचित है कि वे इन तीनों सुवर्णोंका उपार्जन करें। ब्रह्मचर्य पालन द्वारा वीर्य स्थिर करें, शरीरमें वीर्य बढावें और ऊर्ध्वरेता बनें। शरीरपोषणके लिये सोमादि औषधियोंका रस, कंदमूल फलका ही सेवन करें

और उसके साथ दूध, घृत आदि हविष्य पदार्थोंका ही सेवन करें, अर्थात मद्यमांसादिका सेवन न करें। और तीसरा सोना अर्थात् धन आदि प्राप्त करें। ये तीनों पदार्थ इस मंत्रमें उपलक्षण रूप हैं और इनसे 'वीर्य, अन्न और धन' का बोध मुख्यतया होता है। यज्ञोपवीत धारण करनेवालोंको उचित है कि वे इन तीनोंका उचित प्रमाणसे उपार्जन करें। यज्ञोपवीत धारण करनेवालोंके ऊपर इतने कार्यका भार रखता है।

मनुष्यमें बाल, तरुण और वृद्ध ये तीन अवस्थाएं हैं, यज्ञोपवीतके तीन धागोंसे इन तीन अवस्थाओंका बोध होता है। इन तीन अवस्थाओंमें ब्रह्मचर्य पालनपूर्वक धर्मानुष्ठान करनेसे यज्ञोपवीत धारण करना सार्थक होता है। यह बात सप्तम मंत्रके 'त्र्यायुषं,' 'त्रीणि आयूंषि ते अकरं' (मं. ७) इन शब्दोंसे व्यक्त होती है। बाल्य, तारुण्य और वार्धक्य ये तीन आयुकी अवस्थाएं तीन आयु नामसे इस मंत्रमें कही हैं। जिस प्रकार सारे यज्ञोपवीतमें एक ही धागा तीनों सूत्रोंमें परिणत हुआ है, उसी प्रकार मनुष्यके धर्माचरणका एक ही धागा पूर्वोक्त तीनों आयुओंमें आयुरूप हो जाना चाहिये।

ओंकारकी तीन शक्तियां।

एक ही 'ओं' रूपी अक्षरमें 'अ-उ-म्' ये तीन महाशक्तियां रहती हैं, 'त्रयः...एकाक्षरं...आयन्' (मं. ८) तीन शक्तियां एक ही अक्षरमें बसती हैं। ये तीनों शक्तियां मृत्युको दूर करती हैं और अनिष्ट दुःखादिकोंको हटाती हैं। ओंकारनामक एक ही अक्षरमें अकार-उकार-मकार नामक तीन शक्तियां हैं। ये तीन अक्षर यज्ञोपवीतके तीन सूत्र समझिये। जिस प्रकार इन तीनों अक्षरोंके एकरूप संयोगसे ओंकार रूप महानाद उत्पन्न होता है, उसी प्रकार तीनों सूत्रोंसे मिलकर एक यज्ञोपवीत होता है। इसलिये यह यज्ञोपवीत पूर्वोक्त तीनों महाशक्तियोंका बोध करता है। अ-उ-म इन तीन अक्षरोंसे क्रमशः 'जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति' ये तीनों अवस्थाएं बोधित होती हैं। मनुष्यका संपूर्ण जीवन इन तीन अवस्थाओंमें व्याप्त है, मानो मनुष्यका जीवन रूपी जो एक महायज्ञोपवीत है उसके तीन धागे जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति ये ही तीन हैं। इनको यज्ञरूप बनानेका कार्य यज्ञोपवीत धारण करनेवालोंको अवश्यमेव करना चाहिये। अ-उ-म के अनेक अर्थ हैं, उनका विचार यहां पाठक करेंगे तो उनको पता लग जायगा कि इस यज्ञोपवीत द्वारा कितने शुभ कर्मोंको करनेका भार यज्ञोपवीत धारियोंपर रखा गया है। विस्तार होनेके भयसे हम इन अक्षरोंके तत्त्वज्ञानका विचार यहां करके लेखका विस्तार बढाना नहीं चाहते। ओंकारके ऊपर बहुतसे ग्रंथ निर्माण हुए हैं, यदि पाठक उनके आशयको यहां विचारार्थ ध्यानमें लायेंगे तो उनको पता लग जायगा कि इस मंत्रने कितना महत्त्व पूर्ण उपदेश किया है।

देवोंके नगर।

हरितं दिवः पातु। अर्जुनं मध्यात् पातु। अयस्मयं भूम्याः पातु॥ (मं. ९)

'सुवर्णका द्युलोकसे, चांदीका मध्य भागसे और लोहेका भूमि स्थानसे रक्षा करे।' इस मंत्रमें शरीरके तीनों भागोंका रक्षण करनेका कार्य तीन धातुओंसे निर्मित तीन धागे करें ऐसा कहा है। शरीरमें द्युलोक सिरमें, मध्यभाग अथवा अन्तरिक्ष लोक नाभिमें और भूलोक पांवमें है। इसलिये सिरपर सुवर्ण, मध्यभागमें चांदी और पांवमें लोहा रखनेके समान यह एक ही (त्रिवृत्) तिहरा यज्ञोपवीत धारण करनेवालेकी रक्षा करे। 'अयस्' शब्दका अर्थ यद्यपि यहां हमने लोहा ऐसा किया है तथापि सुवर्ण और चांदीसे कुछ भिन्न अन्य धातु ऐसा लेनेसे किसी अन्य धातुका बोध यह शब्द हो सकता है। यह कौनसी धातु है इस विषयमें खोज करनी आवश्यक है। लोहा, तांबा या कुछ अन्य धातु यहां अपेक्षित है जिसके आभूषण बन सकते हैं।

तिस्रः देवपुराः त्वा सर्वतः रक्षन्तु। त्वं ता बिभ्रत् वर्चस्वी द्विषतां उत्तरः भव॥ (मं. १०)

'यज्ञोपवीतके ये तीन धागे (देव-पुराः) देवोंके, मानो, नगर ही हैं, इनमें दैवी शक्ति भरी है, इसलिये ये सब प्रकार तेरी रक्षा करें। तू उन तीनोंको धारण करके (वर्चस्वी) तेजस्वी बन और शत्रुओंकी अपेक्षा अधिक ऊंचे स्थानपर आरूढ हो।'

यज्ञोपवीतके तीन धागे ये केवल धागे नहीं हैं, ये देवोंके नगर ही हैं, अर्थात् इनमें अनंत दैवी शक्तियां भरी हैं। जो इस श्रद्धासे इस त्रिवृत यज्ञोपवीतको धारण करेगा वह तेजस्वी होगा और उसके तेजके प्रभावके कारण उसके सब शत्रु नीचे हो जायेंगे।

यह देवोंकी शक्तियोंसे परिपूर्ण त्रिवृत् यज्ञोपवीत जो मनुष्य अपने शरीरपर धारण करता है, (यः देवानां अमृतं आबेधे) जो इस देवोंके अमृतको अपने शरीरपर धारण करता है (तस्मै नमः कृणोमि। मं. ११) उसको नमस्कार करता हूं। अर्थात जो यज्ञोपवीत धारण करते हैं वे नमस्कार करने योग्य हैं। यह सूत्र धारण करनेसे देवत्व प्राप्त होता है। इतने

महत्त्वका यह यज्ञोपवीत होनेके कारण इसके धारण करनेका ि कार तब प्राप्त हो सकता है, जब कि श्रेष्ठ लोग धारण करनेकी अनुमति देवें—

त्रिवृत् मे बाधेधे। अनुमन्यताम्। (मं. ११)

' यह (त्रिवृत्) तिहरा यज्ञोपवीत अपने शरीरपर मैं बांधता हूं अथवा धारण करता हूं, इस लिये मुझे अनुमति दीजिये।' आप जैसे श्रेष्ठ लोगोंकी अनुमति होने पर ही मैं धारण कर सकता हूं, इस लिये आप अनुमोदन कर मुझे कृतार्थ कीजिये। इस प्रकारकी प्रार्थना पहिले की जाय, तत्पश्चात् महाजनोंकी आज्ञा मिलनेके अनन्तर ही यह मनुष्य यज्ञोपवीत अपने शरीरपर धारण करे। जिसके मनमें आवे वह मनुष्य एकदम इस यज्ञोपवीतको धारण नहीं कर सकता। महाजन, महात्मा श्रेष्ठ लोग जिसको आज्ञा देवें, अर्थात् पूर्वोक्त मंत्रों द्वारा सूचित हुए कर्तव्य करनेमें जो पुरुष समर्थ हो उसीको वे आज्ञा देवें, और वही पुरुष यज्ञोपवीत धारण करे। ऐसा करनेसे यज्ञोपवीतका महत्त्व स्थिर रह सकता है। बिना योग्यताके यदि मनुष्य धारण करेगा, तो उसका वह केवल सूत्र ही होगा, परंतु पूर्वोक्त प्रकार जिसने अपना जीवन यज्ञमय बनाया है, उसके शरीर पर धारण किया हुआ यह यज्ञोपवीत देवोंके नगरोंके समान अनंत दिव्य शक्तियोंसे युक्त हो जाता है। यज्ञोपवीतको केवल सूतका धागा बनाना, अथवा उसको दिव्य शक्तियोंका केन्द्र बनाना, इस प्रकार मनुष्य समाजके आधीन है।

न्याय, पुष्टि और ज्ञान।

इस त्रिवृत् यज्ञोपवीतके तीन सूत्र ' अर्यमा, पूषा और बृहस्पति ' (मं. १२) इन तीन देवताओंके साथ संबंध रखते हैं। ' अर्यमा ' = (अर्यं मिमीते) श्रेष्ठ कौन है और हीन कौन है इसका निश्चय जो करता है, उसको अर्यमा कहते हैं। पुष्टि करनेवालेका नाम ' पूषा ' होता है, और ज्ञानीका नाम ' बृहस्पति ' है। अर्थात् इन तीन धागोंसे ज्ञान, पोषण और न्यायकारिता इन तीन दैवी गुणोंकी सूचना मिलती है। जो यज्ञोपवीत धारण करना चाहते हैं, वे मानो, इन तीन गुणोंको अपने जीवनमें ढालनेके उत्तरदाता हैं। देखिये यज्ञोपवीतने कितनी बडी भारी कर्तव्यदक्षता मनुष्य पर रखी है। जो ये कर्तव्य पालन करेंगे वे ही यज्ञोपवीत धारणके अधिकारी होते हैं।

जिस प्रकार एक वर्षमें छः ऋतु होते हैं, उसी प्रकार मनुष्यकी संपूर्ण आयुमें छः ऋतु होते हैं। मनुष्यकी आयु १२० वर्षोंकी मानी है उसमें प्रायः बीस वर्षोंका एक एक ऋतु होता है। आयु कम माननेपर कम वर्षोंका भी ऋतु हो सकता है। इन ऋतुओं द्वारा आयु, बल और तेजकी प्राप्ति करनेके कर्तव्य यज्ञोपवीत द्वारा सूचित होते हैं, यह कथन तेरहवें मंत्रका है।

मनुष्यकी आयुमें जो छः ऋतु होते हैं, उन सब ऋतुओंमें अर्थात् मनुष्य अपनी आयुभरमें ऐसा यत्न करे कि जिससे उसको तेज और बल प्राप्त होकर दीर्घजीवन भी प्राप्त हो। ब्रह्मचर्यादि सुनियम पालन करने द्वारा यह सब हो सकता है। इस लिये इस मंत्र द्वारा ये तीन गुण अपनेमें बढानेकी सूचना मिली है। यज्ञोपवीतके तीन सूत्र तेज, बल और दीर्घ आयु प्राप्त करनेकी सूचना देते हैं, यह बात तेरहवें मंत्रसे मिलती है। पाठक यह उपदेश ठीक प्रकार ध्यानमें रखें और उचित अनुष्ठान करके लाभ उठावें।

अन्तिम चौदहवें मंत्रमें इस त्रिवृत् यज्ञोपवीतके कौनसे विशेष गुण हैं, इसके धारण करनेसे कौनसे लाभ हो सकते हैं इसका वर्णन किया है। वे गुणबोधक शब्द विशेष मनन करने योग्य हैं—

यज्ञोपवीतसे लाभ।

१ **पारयिष्णु**— दुःखोंसे पार करनेवाला, कष्टोंसे बचानेवाला,

२ **अ-च्युतं**— न गिरनेवाला अथवा न गिरानेवाला, इसके पहननेसे मनुष्य गिरावटसे बच सकता है,

३ **भूमि- दृंहं**— मातृभूमिको बलवान् बनानेवाला,

४ **सपत्नान् निम्नन्**— शत्रुओंका नाश करनेवाला,

५ **अधरान् कृण्वन्**— वैरियोंको नीचे करनेवाला, दुष्टोंको हीनबल करनेवाला,

६ **मधुना समक्तं**— सब मधुरतासे युक्त, मधुरताको देनेवाला,

७ **घृतात् उल्लुप्तं**— घृत आदि पुष्टिकारक पदार्थ देनेवाला और पोषण करनेवाला, इस प्रकारका सामर्थ्यशाली यह यज्ञोपवीत है इसलिये हे यज्ञोपवीत! तू—

८ **महते सौभगाय मा आरोह**— बडे सौभाग्यके लिये मेरे शरीरपर आरोहण कर, अर्थात् मेरे शरीरपर चढ कर विराजमान् हो।

हर एक द्विजको उचित है कि वह इस प्रकारकी भावनासे और पूज्य भावसे यज्ञोपवीत पहने और अपने कर्तव्यकर्म करके अपनी उन्नतिका साधन करे।

यज्ञोपवीतकी यह महिमा है। पाठक इसका विचार करें और इस यज्ञोपवीत धारणसे अपना भाग्य बढावें। यज्ञोपवीतकी महिमा बढे और यज्ञोपवीत धारण करनेवालोंसे सब जगत्का कल्याण होवे।

रोग-क्रिमि-निवारण ।

(२९) रक्षोघ्नम् ।

(ऋषिः — चातनः । देवता — जातवेदाः, मन्त्रोक्ताः ।)

पुरस्ताद्युक्तो वह जातवेदोऽग्ने विद्धि क्रियमाणं यथेदम् ।
त्वं भिषग्भेषजस्यासि कर्ता त्वया गामश्वं पुरुषं सनेम ॥ १ ॥

तथा तदग्ने कृणु जातवेदो विश्वेभिर्देवैः सह संविदानः ।
यो नो दिदेव यतमो जघास यथा सो अस्य परिधिष्पताति ॥ २ ॥

यथा सो अस्य परिधिष्पताति तथा तदग्ने कृणु जातवेदः ।
विश्वेभिर्देवैः सह संविदानः ॥ ३ ॥

अक्ष्यौ३ नि विध्य हृदयं नि विध्य जिह्वां नि तृन्द्धि प्र दतो मृणीहि ।
पिशाचो अस्य यतमो जघासाग्ने यविष्ठ प्रति तं मृणीहि ॥ ४ ॥

अर्थ — हे जातवेद अग्ने ! (त्वं भिषक्) तू वैद्य और (भेषजस्य कर्ता असि) औषधका करनेवाला है। (पुरस्तात् युक्तः वह) पहिलेसे सब कार्योंमें नियुक्त होकर कार्यके भारको उठा। (यथा इदं क्रियमाणं विद्धि) जैसा यह कार्य किया जा रहा है उसको तू जान। (त्वया गां अश्वं पुरुषं सनेम) तेरी सहायतासे गौवें, घोडे और मनुष्योंको उत्तम प्रकार नीरोग अवस्थामें हम प्राप्त करें ॥ १ ॥

हे जातवेद अग्ने ! (विश्वेभिः देवैः सह संविदानः) सब देवोंके साथ मिलता हुआ (तथा तत् कुरु) वैसा प्रबंध कर कि (यथा अस्य सः परिधिः पताति) जिससे इस रोगकी वह मर्यादा गिर जावे, (यः नः दिदेव) जो हमें पीडा देता है और (यतमः जघास) जो हमें खा जाता है ॥ २ ॥

हे जातवेद अग्ने ! (विश्वेभिः देवैः सह संविदानः) सब देवोंके साथ मिलता हुआ तू (तथा कुरु) वैसा आचरण कर कि (यथा अस्य सः परिधिः पताति) जिससे इस रोगकी वह सब सीमा नष्ट हो जावे ॥ ३ ॥

हे अग्ने ! (अक्ष्यौ नि विध्य) इसके आंखोंको छेद डाल, (हृदयं नि विध्य) हृदयको वेध डाल, (जिह्वां नितृन्द्धि) जिह्वाको काट दे, (दतः प्र मृणीहि) दांतोंको भी तोड डाल। हे (यविष्ठ) बलवाले ! (अस्य यतमः पिशाचः जघास) इसको जिस रक्त भक्षकने खाया है (तं प्रति मृणीहि) उसका नाश कर ॥ ४ ॥

भावार्थ— हे तेजस्वी वैद्य ! तू स्वयं वैद्य है और औषध बनानेमें प्रवीण है। रोगनिवारणके उपाय जो यहां किये जाते हैं वे ठीक हैं या नहीं, इसका निरीक्षण कर। तेरी चिकित्सासे हम गौवें, घोडे और मनुष्योंको उत्तम नीरोग अवस्थामें प्राप्त कर सकें ॥ १ ॥

तू जल, औषधि, वायु आदि देवताओंको अनुकूल बनाकर ऐसा प्रबंध कर कि जिससे पीडा देनेवाले और मांसको क्षीण करनेवाले रोगजन्तुओंकी शरीरमें बनी मर्यादा नष्ट हो जावे ॥ २-३ ॥

जिस मांसभक्षक रोगक्रिमीने इसके मांसको खाया है, उसका नाश कर, उसके सब अवयव नष्ट कर दे ॥ ४ ॥

यदस्य हृतं विहृतं यत्पराभृतमात्मनो जग्धं यतमत्पिशाचैः ।
तदग्ने विद्वान्पुनरा भर त्वं शरीरे मांसमसुमेरयामः ॥ ५ ॥
आमे सुपक्वे शबले विपक्वे यो मा पिशाचो अशने ददम्भ ।
तदात्मना प्रजया पिशाचा वि यातयन्तामगदोऽयमस्तु ॥ ६ ॥
क्षीरे मा मन्थे यतमो ददम्भाकृष्टपच्ये अशने धान्ये यः ।
तदात्मना प्रजया पिशाचा वि यातयन्तामगदोऽयमस्तु ॥ ७ ॥
अपां मा पाने यतमो ददम्भ क्रव्याद्यातूनां शयने शयानम् ।
तदात्मना प्रजया पिशाचा वि यातयन्तामगदोऽयमस्तु ॥ ८ ॥
दिवा मा नक्तं यतमो ददम्भ क्रव्याद्यातूनां शयने शयानम् ।
तदात्मना प्रजया पिशाचा वि यातयन्तामगदोऽयमस्तु ॥ ९ ॥

अर्थ— हे विद्वन् अग्ने ! (पिशाचैः अस्य आत्मनः) मांसभक्षकों द्वारा इसके अपने शरीरका (यत् हृतं, विहृतं, यत् पराभृतं) जो भाग हरा गया, छीना गया और जो लूटा गया है और (यतमत् जग्धं) जो भाग खाया गया है, (त्वं तत् पुनः आ भर) तू वह फिर भर दे । और (शरीरे मांसं असुं आ ईरयामः) शरीरमें मांस और प्राणको स्थापित करते हैं ॥ ५ ॥

(यः पिशाचः आमे सुपक्वे) जो मांसभोजी क्रिमि कच्चे, अच्छे पके, (शबले विपक्वे अशने मा ददम्भ) आधे पके, विशेष पके भोजनमें प्रविष्ट होकर मुझे हानि पहुंचाता है, (तत् आत्मना प्रजया पिशाचाः) वह स्वयं और प्रजाके साथ वे सब मांसभोजी क्रिमी (वि यातयन्तां) हटाये जांय । और (अयं अगदः अस्तु) यह पुरुष नीरोग होवे ॥ ६ ॥

(यतमः क्षीरे मन्थे अकृष्टपच्ये धान्ये) जो दूधमें, मठेमें, बिना खेतीके उत्पन्न हुए धान्यमें तथा (यः अशने मा ददम्भ) जो भोजनमें प्रविष्ट होकर मुझे दबाता है । (तत् आ०) वह मांसभक्षक क्रिमि अपनी संततिके साथ दूर हट जावे और यह पुरुष नीरोग होवे ॥ ७ ॥

(यतमः क्रव्यात्) जो मांसभक्षक क्रिमि (अपां पाने) जलके पान करनेमें और (यातूनां शयने शयानं) यात्रियोंके बिछोनेपर सोते हुवे (मा ददम्भ) मुझको दबा रहा है (तत् आ०) वह मांसभक्षक क्रिमि अपनी संततिके साथ दूर हटाया जावे और यह मनुष्य नीरोग होवे ॥ ८ ॥

(यतमः क्रव्यात्) जो मांसभोजी क्रिमि (दिवा नक्तं यातूनां शयने शयानं मा ददम्भ) दिनमें वा रात्रीमें यात्रियोंके शयन स्थानमें सोते हुए मुझको दबाता है (तत् आ०) वह अपनी संततिके साथ दूर किया जावे और यह मनुष्य नीरोग बने ॥ ९ ॥

भावार्थ— मांसभक्षक रोगक्रिमियोंने इस रोगीके जो जो अवयव क्षीण किये हैं, उनको फिर पुष्ट कर और इसके शरीरमें पुनः मांसकी वृद्धि होवे ॥ ५ ॥

जो शरीर क्षीण करनेवाला क्रिमि कच्चे, आधे पके, पक्के और अधिक पके हुए भोजनमें प्रविष्ट होकर सताते हैं, उनका समूल नाश किया जावे और यह मनुष्य नीरोग होवे ॥ ६ ॥

दूध, छाछ, धान्य तथा अन्य भोजनके पदार्थों द्वारा शरीरमें प्रविष्ट होकर जो रोगकृमि सताते हैं उनको दूर किया जावे और यह मनुष्य नीरोग बने ॥ ७ ॥

जो मांसक्षीण करनेवाले कृमि जलपानके द्वारा तथा अनेक मनुष्योंके साथ सोनेसे शरीरमें प्रविष्ट होकर सताते हैं उनको दूर करके यह मनुष्य नीरोग बने ॥ ८ ॥

जो कृमि दिनके समय अथवा रात्रीके समय अनेक मनुष्योंके साथ सोनेके कारण शरीरमें प्रविष्ट होकर सताते हैं उनको दूर करके यह मनुष्य नीरोग बने ॥ ९ ॥

क्रव्यादमग्ने रुधिरं पिशाचं मनोहनं जहि जातवेदः।
तमिन्द्रो वाजी वज्रेण हन्तु छिनत्तु सोमः शिरो अस्य धृष्णुः ॥ १० ॥
सनादग्ने मृणसि यातुधानान्न त्वा रक्षांसि पृतनासु जिग्युः।
सहमूराननु दह क्रव्यादो मा ते हेत्या मुक्षत दैव्यायाः ॥ ११ ॥
समाहर जातवेदो यद्धृतं यत्पराभृतम्। गात्राण्यस्य वर्धन्तामंशुरिवा प्यायतामयम् ॥ १२ ॥
सोमस्येव जातवेदो अंशुरा प्यायतामयम्। अग्ने विरप्शिनं मेध्यमयक्ष्मं कृणु जीवतु ॥ १३ ॥
एतास्ते अग्ने समिधः पिशाचजम्भनीः। तास्त्वं जुषस्व प्रति चैना गृहाण जातवेदः ॥ १४ ॥
ताष्टाघीरग्ने समिधः प्रति गृह्णाह्यर्चिषा। जहातु क्रव्याद्रूपं यो अस्य मांसं जिहीर्षति ॥ १५ ॥ (२७४)

अर्थ— हे जातवेद अग्ने! (**क्रव्यादं रुधिरं मनोहनं पिशाचं जहि**) मांसभक्षक, रुधिररूप, मनको मारनेवाले, रक्त खानेवाले, क्रिमिको नाश कर। (**वाजी इन्द्रः तं वज्रेण हन्तु**) बलवान् इन्द्र उसको वज्रसे मार देवे, (**धृष्णुः सोमः अस्य शिरः छिनत्तु**) निर्भय सोम इसका सिर काट देवे ॥ १० ॥

हे अग्ने! (**यातुधानान् सनात् मृणसि**) पीडा देनेवाले क्रिमियोंको तू सदा नष्ट करता है। (**त्वा रक्षांसि पृतनासु न जिग्युः**) तुझे राक्षस संग्रामोंमें पराभूत नहीं करते। (**सह-मूरान् क्रव्यादः अनु दह**) समूल मांसभक्षकोंको जला दे। (**ते दैव्यायाः हेत्या मा मुक्षत**) तेरे दिव्य शस्त्रसे कोई न छूटने पावे ॥ ११ ॥

हे जातवेदः! (**अस्य यत् हृतं यत् पराभृतं**) इसका जो भाग हर लिया और नष्ट कर लिया है उस भागको (**समाहर**) पुनः ठीक प्रकार भर दे। (**अस्य गात्राणि वर्धन्तां**) इसके अंग पुष्ट हो जावें, (**अयं अंशुः इव आप्यायतां**) यह मनुष्य चन्द्रमाके समान वृद्धिको प्राप्त होवे ॥ १२ ॥

हे जातवेदः! (**अयं सोमस्य अंशुः इव आप्यायतां**) यह मनुष्य चंद्रमाकी कलाके समान बढे। हे अग्ने! इसे (**विरप्शिनं मेध्यं अयक्ष्मं कृणु**) निर्दोष, पवित्र व नीरोग कर और यह (**जीवतु**) जीवित रहे ॥ १३ ॥

हे अग्ने! (**एताः ते समिधः पिशाचजम्भनीः**) ये तेरी समिधाएं मांस खानेवाले रोगक्रिमियोंको दूर करनेवाली हैं। हे जातवेद! (**त्वं ताः जुषस्व**) तू उनका सेवन कर और (**एनाः प्रति गृहाण**) इनको स्वीकार कर ॥ १४ ॥

हे अग्ने! (**ताष्ट-अघीः समिधः अर्चिषा प्रति गृह्णाहि**) तृषारोगका शमन करनेवाली इन समिधाओंको तू अपनी ज्वालाओंसे स्वीकृत कर। (**यः अस्य मांसं जिहीर्षति**) जो इसके मांसको क्षीण करना चाहता है वह (**क्रव्यात् रूपं जहातु**) मांसभोजी इसके रूपको छोड देवे ॥ १५ ॥

भावार्थ— रक्त और मांसकी क्षीणता करनेवाले, मनको मोहित करनेवाले रोग क्रिमि हैं, उनको इन्द्र और सोमके प्रयोगसे दूर किया जावे ॥ १० ॥

अग्नि इन क्रिमियोंको सदा दूर करता है, ये क्षीणता करनेवाले क्रिमि अग्निको परास्त नहीं कर सकते। अतः अग्निद्वारा इन रोगक्रिमियोंका कुल समूल नाश किया जावे ॥ ११ ॥

इस रोगीका जो अवयव क्षीण हुआ था, वह फिर पुष्ट होवे और उसके सब अवयव पुनः पुष्ट हों, जिस प्रकार चंद्रमा बढता है उस प्रकार यह बढे ॥ १२ ॥

चन्द्रमाकी कलाके समान यह बढे, यह रोगी दोष रहित, पवित्र व निरोग होवे और दीर्घ कालतक जीवित रहे ॥ १३ ॥

जो समिधाएं यज्ञमें होमी जाती हैं वे रोगक्रिमियोंका नाश करनेवाली हैं। इनको जलाकर अग्निद्वारा ये रोगक्रिमि दूर हों ॥ १४ ॥

जो क्रिमि रोगीके मांसको क्षीण करते हैं उनका पूर्ण रीतिसे नाश होवे। इन समिधाओंको जलाकर प्रदीप्त की हुई अग्नि इन रोगक्रिमियोंका नाश करे ॥ १५ ॥

रोगोंके कृमि।

इस सूक्तमें रोगजन्तुओंका वर्णन है। कुछ जातीके कृमि हैं जो शरीरमें प्रविष्ट होते हैं और विविध यातनाएं उत्पन्न करते हैं, मनुष्यको इनसे बडे क्लेश होते हैं। इन क्रिमियोंको दूर करनेका साधन इस सूक्तमें बताया है। यह साधन वैद्य, औषधि और अग्नि है। इस सूक्तमें इन क्रिमियोंका जो वर्णन है वह पहिले देखिये—

(१) यः दिदेव— जो शरीरमें पीडा देते हैं, जिनके कारण शरीर मथित हुए समान अशक्त होता है, अवयव टूट जानेके समान जिसमें अशक्तता आती है। (मं. ३)

(२) यतमः जघास — जो शरीरको खा जाता है और क्षीण करता है। (मं. ३-४)

(३) पिशाच्— (पिशिताद्) मांस खानेवाला, रक्त पीनेवाला। जो रोगक्रिमि शरीरमें घुसनेके बाद रक्त, मांस आदि धातु क्षीण होने लगते हैं। (मं. ४-१०)

(४) हृतं, विहृतं, पराभृतं, जग्धं — शरीरके रक्त-मांसका हरण करते हैं, विशेष प्रकार लूटते हैं, शरीरकी जीवन शक्तिको नष्ट करते हैं, और खा जाते हैं। (मं. ५)

(५) क्रव्याद्— (कृवि-अद्) जो शरीरका कच्चा मांस खाते हैं। (मं. ८-११)

(६) रुधिरः— यह रक्तरूप होता है, रक्तमें मिल जानेवाला है, रक्तमें रहता है। (मं. ११)

(७) मनोहनः— मनकी मननशक्तिका नाश करता है। जब ये रोगक्रिमि शरीरमें जाते हैं, तब मननशक्ति नष्ट होती है, मन क्षीण होता है। (मं. १०)

(८) यातुधानः—(यातु) यातना (धानः) धारण करनेवाला। ये क्रिमि शरीरमें गये तो रोगीको यातनाएं होती हैं। (मं. ११)

(९) रक्षः— (क्षरणः) क्षीण करनेवाला। (मं. ११)

ये सब शब्द रोगजन्तुओंके गुण बताते हैं। पाठक इन शब्दोंका विचार करके रोगक्रिमियोंका स्वरूप जानें और उनसे होनेवाले रोगोंके कष्टोंका विचार करें। ये क्रिमि किस प्रकार शरीरमें प्रवेश करते हैं, इस विषयमें अब देखिये—

रोगजन्तुओंका शरीरमें प्रवेश।

आमे, शबले सुपक्वे, विपक्वे, अकृष्टपच्ये धान्ये, अशने, क्षीरे, मन्थे, अपां पाने, यातूनां शयने ददम्भ। (मं. ६-८)

दिवा नक्तं ददम्भ। (मं. ९)

'कच्चा, आधे पका, अच्छा पूर्ण पका, अधिक पका जो अन्न होता है, खेतीके बिना जो उत्पन्न होता है वह धान्य आदि पदार्थोंका भोजन, दूध, दही, मठा, छाछ, पानी आदिका पान करना, और अमंगल लोगोंके बिस्तरेपर सोना, इन कारणोंसे रोगक्रिमि दिनमें तथा रात्रीमें शरीरमें जाते हैं और रोग उत्पन्न करते हैं। यही बात अन्य रीतिसे यजुर्वेदमें आ गई है। देखिये—

ये अन्नेषु विविध्यन्ति पात्रेषु पिबतो जनान्। (यजु. १६।६२)

'जो अन्नमें और पीनेके पात्रोंमें रहकर जनोंके शरीरोंमें घुसते हैं और उनके स्वास्थ्यको वेध डालते हैं।' अर्थात् बीमार करते हैं। इसी मंत्रका स्पष्टीकरण ऊपर लिखे दो तीन मंत्र हैं। पाठक इस दृष्टिसे यजुर्वेद मंत्र और अथर्ववेद मंत्रकी तुलना करके मंत्रका ठीक भाव ध्यानमें धारण करें।

आरोग्य प्राप्ति।

उक्त प्रकार रोगकृमि शरीरमें जाते हैं, फिर वहांसे उनको किस रीतिसे हटाना होता है इसका विचार अब करना है। इसकी पहिली रीति यह है—

युक्तः भिषक्। भेषजस्य कर्ता। क्रियमाणं अग्रे वेत्ति। (मं. १)

'सुयोग्य वैद्य, जो औषध बनाना जानता है। किया जानेवाला प्रयोग पहिलेसे जानता है।' इस प्रकारका सुयोग्य वैद्य अपने इलाजसे रोगी मनुष्यको निरोग करे। यह वैद्य—

विश्वेभिः देवैः संविदानः अस्य परिधिः पताति। (मं. २, ३)

'सब देवोंसे सहायता प्राप्त करनेकी रीति जानता हुआ, इस रोगकी अन्तिम मर्यादाको तोड डालता है।' इस प्रकार उसकी मर्यादा गिरानेके पश्चात् रोगकी जड स्वयं नष्ट हो जाती है। देवोंके साथ परिचय रखनेका तात्पर्य यही है कि प्रत्येक देवताकी शक्तिसे जो चिकित्सा हो सकती है वह चिकित्सा करके रोग दूर करनेकी शक्ति रखना। मृत्तिका-चिकित्सा जलचिकित्सा, अग्निचिकित्सा, सौरचिकित्सा, विद्युच्चिकित्सा, वायुचिकित्सा, औषधिचिकित्सा, मानसचिकित्सा, हवनचिकित्सा आदि सब चिकित्साएं देवताओंकी शक्तियोंकी सहायतासे होती हैं, देवोंके साथ मिलकर रोग दूर करनेका तात्पर्य यही है। चिकित्सक उक्त देवोंके साथ रहता हुआ रोग दूर करता है। इस प्रकार—

तं प्रतिश्रृणीहि । (मं. ४)

अयं अगदः अस्तु । (मं. ५-९)

'उस रोगकिमिका नाश कर । और यह मनुष्य नीरोग हो जावे । और—

विरप्शिनं मेध्यं अयक्ष्मं कृणु । जीवतु । (मं. १२)

'इस रोगीको दोषरहित, पवित्र और नीरोग कर । यह मनुष्य दीर्घ आयु प्राप्त करे ।' वैद्यको उचित है कि वह रोगीकी ऐसी चिकित्सा करे कि रोगीके शरीरके सब दोष दूर हों और, रोगीका शरीर पवित्र बने और उसके शरीरसे यक्ष्म रोग हट जावे । केवल रोगको रोकनेवाले वैद्य अच्छे नहीं होते, रोका हुआ रोग किसी न किसी रूपसे कभी न कभी बाहर प्रकट होगा ही । इस लिये शरीर निर्दोष और मलरहित करके रोगका बीज दूर करना चाहिये । चौदहवें मंत्रमें—

पिशाचजम्भनीः समिधः । (मं. १४)

'इन खून चुसानेवाले कृमियोंका नाश करनेवाली समिधाओंका वर्णन है ।' यज्ञीय वृक्षोंकी लकडियोंका यह गुण है । हवन सामग्रीको साथ रखनेसे भी यही गुण बढ जाता है । हवन चिकित्साका यह तत्त्व है, पाठक इसका अधिक विचार करें । इस प्रकारकी चिकित्सासे—

गां अश्वं पुरुषं सनेम । (मं. १)

'गौवें, घोडे और मनुष्योंको निरोग अवस्थामें प्राप्त कर सकते हैं ।'

ग्यारहवें मंत्रमें अग्निचिकित्सासे इन रोगजन्तुओंको दूर करनेका संकेत है । जहां ये किमि होते हैं वहां अग्नि जलानेसे अथवा हवन करनेसे वहांका स्थान नीरोग होता है ।

संसर्ग रोग ।

कई रोग एक दूसरेके संसर्गसे होते हैं, मलीन लोगोंके बिस्तरेमें (शयने शयानं) सोनेसे तथा उनके संसर्गमें रहनेसे रोग होते हैं । संसर्गके स्थानमें अग्नि प्रदीप्त करनेसे संसर्ग दोष दूर होता है । मिलकर हवन करनेसे भी इसी कारण संसर्ग दोष दूर होता है ।

रोग हटनेका लक्षण ।

रोग हटते ही मनुष्यका शरीर पुष्ट होने लगता है, यही आरोग्य प्राप्तिका लक्षण है—

शरीरे मांसं भर । असुं ऐरयामः । (मं. ५)

सोमस्य अंशु इव आप्यायतां । (मं. १२, १३)

'शरीरमें मांस बढना, प्राणकी चेतना प्राप्त होना, चन्द्रमाकी कलाओंके समान वृद्धिको प्राप्त होना ।' यह नीरोगताका चिन्ह है । चन्द्रमाके समान मुख दिखाई देने लगा तो समझना कि यह मनुष्य नीरोग है ।

इस प्रकार इस सूक्तका विचार करनेसे अनेक बोध प्राप्त हो सकते हैं । आशा है कि पाठक इस प्रकार विचार करके बोध प्राप्त करेंगे ।

दीर्घायुकी प्राप्ति ।

(३०) दीर्घायुष्यम् ।

(ऋषिः — उन्मोचनः (आयुष्कामः) । देवता — आयुष्यम् ।)

आवतस्त आवतः परावतस्त आवतः ।
इहैव भव मा नु गा मा पूर्वाननु गाः पितॄनसुं बध्नामि ते दृढम् ॥ १ ॥

अर्थ— (ते आवतः आवतः) तेरे समीपसे समीप और (ते परावतः आवतः) तेरे दूरसे दूरसे भी (ते असुं दृढं बध्नामि) तेरे अंदर प्राणको मैं दृढ बांधता हूं । (इह एव भव) यहां ही रह । (पूर्वान् मा नु गाः) पूर्वजोंके पीछे न जा, (मा पितॄन् अनु गाः) पितरोंके पीछे न जा अर्थात् शीघ्र न मर ॥ १ ॥

भावार्थ— हे रोगी तेरे प्राणको मैं दूरके अथवा समीपके उपायसे तेरे अन्दर स्थिर करता हूं । तू इस मनुष्य लोकमें दीर्घकाल तक रह । मरे हुए पूर्वजोंके पीछेसे शीघ्र न जा ॥ १ ॥

यत्त्वाभिचेरुः पुरुषः स्वो यदरणो जनः । उन्मोचनप्रमोचने उभे वाचा वदामि ते ॥ २ ॥
यद्दुद्रोहिथ शेपिषे स्त्रियै पुंसे अचित्त्या । उन्मोचनप्रमोचने उभे वाचा वदामि ते ॥ ३ ॥
यदेनसो मातृकृताच्छेषे पितृकृताच्च यत् । उन्मोचनप्रमोचने उभे वाचा वदामि ते ॥ ४ ॥
यत्ते माता यत्ते पिता जामिर्भ्राता च सर्जतः । प्रत्यक्सेवस्व भेषजं जरदष्टिं कृणोमि त्वा ॥ ५ ॥
इहैधि पुरुष सर्वेण मनसा सह । दूतौ यमस्य मानु गा अधि जीवपुरा इहि ॥ ६ ॥
अनुहूतः पुनरेहि विद्वानुदयनं पथः । आरोहणमाक्रमणं जीवतोजीवतोऽयनम् ॥ ७ ॥
मा बिभेर्न मरिष्यसि जरदष्टिं कृणोमि त्वा । निरवोचमहं यक्ष्ममङ्गेभ्यो अङ्गज्वरं तव ॥ ८ ॥

अर्थ— (यत् स्वः पुरुषः) यदि तेरा अपना संबंधी पुरुष अथवा (यत् अरणः जनः) यदि कोई हीन मनुष्य (त्वा अभिचेरुः) तेरे ऊपर कुछ घातक प्रयोग करता है, तो उसके लिये मैं (वाचा ते) अपनी वाणीसे तुझे (उभे उन्मोचन-प्रमोचने वदामि) दोनों छूटने और दूर रहनेकी विद्या कहता हूं ॥ २ ॥

(यत् स्त्रियै पुंसे अचित्त्या दुद्रोहिथ) यदि स्त्रीसे अथवा पुरुषसे बिना जाने द्रोह किया है अथवा (शेपिषे) शाप दिया है, तो (वाचा०) वाणीसे छूटने और दूर रहनेकी दोनों विद्याएं मैं तुझे कहता हूं ॥ ३ ॥

(यत् मातृकृतात् एनसः) यदि माताके किये हुए पापसे अथवा (यत् पितृकृतात् च शेषे) यदि पिताके किये पापसे (शेषे) तू सोया है (वाचा०) तो वाणीसे छूटने और दूर रहनेकी दोनों विद्याएं तुझे कहता हूं ॥ ४ ॥

(यत् ते माता) जो तेरी माता व (यत् ते पिता) जो तेरे पिताने तथा (जामिः भ्राता च सर्जतः) जो तेरी बहिन और भाईने तैयार किया है; (भेषजं प्रत्यक् सेवस्व) उस औषधको ठीक प्रकार सेवन कर, (त्वा जरदष्टिं कृणोमि) वृद्ध अवस्थातक रहनेवाला मैं तुझको करता हूं ॥ ५ ॥

हे (पुरुष) मनुष्य ! (सर्वेण मनसा सह इह एधि) संपूर्ण मनके साथ यहां रह । (यमस्य दूतौ मा अनु गाः) यमके दूतोंके पीछे मत जाओ । (जीवपुराः अधि इहि) जीवकी पुरीमें निवास कर ॥ ६ ॥

(उदयनं पथः विद्वान्) ऊपर चढनेके मार्गको जानता हुआ (अनुहूतः पुनः आ इहि) बुलाया हुआ फिर यहां आ (जीवतः जीवतः आरोहणं आक्रमणं अयनम्) प्रत्येक जीवित मनुष्यका चढना और आक्रमण करना ये दो गतियां हैं ॥ ७ ॥

(मा बिभेः, न मरिष्यसि) मत डर, तू कभी नहीं मरेगा । (जरदष्टिं त्वा कृणोमि) वृद्ध अवस्थातक रहनेवाला तुझे मैं बनाता हूं । (तव अङ्गेभ्यः अङ्गज्वरं यक्ष्मं अहं निरवोचं) तेरे अंगोंसे शरीरके ज्वरको और क्षय-रोगको मैं बाहर निकाल देता हूं ॥ ८ ॥

भावार्थ— जो तेरा अपना संबंधी अथवा कोई पराया मनुष्य, जो कुछ भी घातक प्रयोग करता है; उससे बचनेके दो उपाय हैं– एक उन्मोचन और दूसरा प्रमोचन ॥ २ ॥

स्त्रीका अथवा पुरुषका द्रोह, माताका पाप और पिताका पाप, आदिके कारण जो घात होता है उससे बचनेके लिये भी ये ही दो उपाय हैं ॥ ३-४ ॥

माता, पिता, भाई, बहिन, आदिकों द्वारा तैयार किया हुआ औषध रोगी सेवन करे और दीर्घजीवी बने ॥ ५ ॥

अपने मनकी संपूर्ण शक्ति रोगनिवृत्तिमें ही विश्वाससे लगाई जावे । कोई मनुष्य यमदूतोंके वशमें न आवे, और इस शरीर-में– अर्थात् जीवात्माकी नगरीमें– दीर्घकाल तक रहे ॥ ६ ॥

उन्नतिका मार्ग जानना चाहिये । अर्थात् मनुष्य आरोग्य की उन्नति करनेके उपाय जाने और रोगोंपर आक्रमण करके उनको परास्त करे ॥ ७ ॥

हे रोगी ! तू मत डर, तू मरेगा नहीं । तेरी पूर्ण आयु बनाता हूं। तेरे संपूर्ण अवयवोंसे ज्वर और क्षय दूर करता हूं ॥८॥

❀

अङ्गभेदो अङ्गज्वरो यश्च ते हृदयामयः । यक्ष्मः श्येन इव प्रापप्तद्वाचा साढः परस्तराम् ॥ ९ ॥
ऋषी बोधप्रतीबोधावस्वप्नो यश्च जागृविः । तौ ते प्राणस्य गोप्तारौ दिवा नक्तं च जागृताम् ॥ १० ॥
अयमग्निरुपसद्य इह सूर्य उदेतु ते । उदेहि मृत्योर्गम्भीरात्कृष्णाच्चित्तमसस्परि ॥ ११ ॥

नमो यमाय नमो अस्तु मृत्यवे नमः पितृभ्य उत ये नयन्ति ।
उत्पारणस्य यो वेद तमग्निं पुरो दधेऽस्मा अरिष्टतातये ॥ १२ ॥

ऐतु प्राण ऐतु मन ऐतु चक्षुरथो बलम् । शरीरमस्य सं विदां तत्पद्भ्यां प्रति तिष्ठतु ॥ १३ ॥

प्राणेनाग्ने चक्षुषा सं सृजेमं समीरय तन्वा३.सं बलेन ।
वेत्थामृतस्य मा नु गान्मा नु भूमिगृहो भुवत् ॥ १४ ॥

अर्थ— (अङ्गभेदः अङ्गज्वरः) अवयवोंकी पीडा, अंगोंका ज्वर (यः च ते हृदयामयः) और जो तेरा हृदयरोग है (वाचा साढः यक्ष्मः) वचासे पराजित हुआ यक्ष्मरोग (श्येन इव परस्तरां प्रापप्तत्) श्येनपक्षीकी तरह परे भाग जावे ॥ ९ ॥

(बोधप्रतिबोधौ ऋषी) बोध और प्रतिबोध ये दो ऋषि हैं। (अस्वप्नः यः च जागृविः) एक निद्रारहित है और दूसरा जागता है। (तौ ते प्राणस्य गोप्तारौ) वे दोनों तेरे प्राणके रक्षक हैं, वे तेरे अन्दर (दिवा नक्तं च जागृतां) दिनरात जागते रहें ॥ १० ॥

(अयं अग्निः उपसद्यः) यह अग्नि उपासनाके योग्य है। (इह ते सूर्यः उदेतु) यहां तेरे लिये सूर्य उदय होवे। (गंभीरात् कृष्णात् तमसः मृत्योः चित्) गहरे, काले, अन्धकाररूपी मृत्युसे भी (परि उदेहि) परे उदयको प्राप्त हो ॥ ११ ॥

(यमाय नमः) यमके लिये नमस्कार है। (मृत्यवे नमः अस्तु) मृत्युके लिये नमस्कार होवे। (उत ये नयन्ति, पितृभ्यः नमः) जो हमें ले जाते हैं, उन पितरोंके लिये नमस्कार है। (यः उत्पारणस्य वेद) जो पार करना जानता है (तं अग्निं अस्मै अरिष्ट-तातये पुरः दधे) उस अग्निको इस कल्याणवृद्धिके लिये आगे धर देते हैं ॥ १२ ॥

(प्राणः आ एतु) प्राण आवे, (मनः आ एतु) मन आवे, (चक्षुः अथो बलं) आंख और बल आवे। (अस्य शरीरं विदां सं एतु) इसका शरीर बुद्धिके अनुसार चले। (तत् पद्भ्यां प्रति तिष्ठतु) वह पांवोंसे प्रतिष्ठाको प्राप्त होवे ॥ १३ ॥

हे अग्ने ! (प्राणेन चक्षुषा सं सृज) प्राण और चक्षुसे संयुक्त कर। (तन्वा बलेन इमं सं सं ईरय) शरीर और बलसे इसको प्रेरित कर। (अमृतस्य वेत्थ) तू अमृतको जानता है। (मा नु गात्) तेरा प्राण न चला जावे। (भूमिगृहः मा नु भुवत्) भूमिको घर करनेवाला न हो अर्थात् मरकर मिट्टीमें न मिल ॥ १४ ॥

भावार्थ— शरीरका दुखना, अंगोंका ज्वर, हृदयरोग और क्षयरोग ये सब तेरे शरीरसे दूर हों ॥ ९ ॥

तेरे अन्दर बोध और प्रतिबोध ये दो मानों ऋषि हैं। एक सुस्ती आने नहीं देता और दूसरा जगा देता है। ये तेरे प्राण-रक्षक हैं, ये दिनरात जागते रहें ॥ १० ॥

यहां प्राणाग्निकी तुम्हें उपासना करनी चाहिये। इससे तेरे अन्दर आत्मारूपी सूर्य प्रकाशित होता रहे। ऐसा करनेसे गूढ अन्धकाररूपी मृत्युसे तू दूर होगा और अपने प्रकाशसे प्रकाशित होगा ॥ ११ ॥

यम और मृत्युके लिये नमस्कार है, तथा जो मृत्युके पश्चात् ले जाते हैं उन पितरोंके लिये भी नमस्कार है। मृत्युसे पार होनेकी विद्या जो जानता है उस अग्निसे कल्याण प्राप्त करते हैं ॥ १२ ॥

प्राण, मन, चक्षु, बल ये सब शक्तियां शरीरमें फिरसे निवास करें और यह शरीर अपने पांवसे खडा रह सके ॥ १३ ॥

यह प्राण और चक्षुकी शक्तियोंसे युक्त हो। शरीरके बलसे यह प्रेरित होवे। अमृत प्राप्तिका उपाय जान और उससे तेरा प्राण शीघ्र न चला जावे ॥ १४ ॥

मा ते प्राण उप दसन्मो अपानोऽपि धायि ते । सूर्यस्त्वाधिपतिर्मृत्योरुदायच्छतु रश्मिभिः ॥ १५ ॥
इयमन्तर्वदति जिह्वा बद्धा पनिष्पदा । त्वया यक्ष्मं निरवोचं शतं रोपीश्च तक्मनः ॥ १६ ॥
अयं लोकः प्रियतमो देवानामपराजितः । यस्मै त्वमिह मृत्यवे दिष्टः पुरुष जज्ञिषे ।
स च त्वानु ह्वयामसि मा पुरा जरसो मृथाः ॥ १७ ॥ (३६४)

अर्थ— (ते प्राणः मा उपदसत्) तेरा प्राण नष्ट न होवे । (ते अपानः मो अपि धायि) तेरा अपान न आच्छादित होवे । (अधिपतिः सूर्यः रश्मिभिः त्वा उदायच्छतु) अधिपति सूर्यकिरणोंसे तुझे ऊपर उठावे ॥ १५ ॥

(पनिष्पदा इयं अन्तः बद्धा जिह्वा) शब्द बोलनेवाली यह अन्दर बंधी हुई जिह्वा (वदति) बोलती है। (त्वया यक्ष्मं) तेरे साथ रहनेवाला क्षयरोग और (तक्मनः च शतं रोपीः) ज्वरकी सौ प्रकारकी पीडा (निः अवोचं) दूर करता हूं ॥ १६ ॥

(अयं अपराजितः लोकः देवानां प्रियतमः) यह पराजित न हुआ हुआ लोक देवोंका प्यारा है । (यस्मै मृत्यवे दिष्टः पुरुषः त्वं इह जज्ञिषे) जिस लोककी मृत्युको निश्चित प्राप्त होनेवाला तू पुरुष यहां उत्पन्न होता है । (सः च त्वा अनु ह्वयामसि) वह और तुझे बुलाते हैं । और कहते हैं कि (जरसः पुरा मा मृथाः) बुढापेसे पूर्व मत मर ॥ १७ ॥

भावार्थ— तेरा प्राण और अपान तेरे शरीरमें दृढतासे रहें । सूर्य अपनी किरणोंसे तुझे ऊपर उठावे अर्थात् जीवन देवे ॥ १५ ॥

अपनी वाक्शक्तिसे मैं कहता हूं कि क्षय, ज्वर तथा अन्य पीडाएं इस प्रकार दूर की जाती हैं ॥ १६ ॥

तू देवोंका प्रिय है, यद्यपि तू इस मृत्युलोकमें जन्म लेनेके कारण मरनेवाला है, तथापि हम यह ही कहते हैं कि, तू वृद्धावस्थाके पूर्व न मर ॥ १७ ॥

आरोग्ययुक्त दीर्घ आयु ।

इस सूक्तमें आरोग्यपूर्ण दीर्घ आयु प्राप्त करनेके बहुतसे निर्देश हैं । पाठक इनका मनन करेंगे, तो उनको बहुत लाभ हो सकता है । यहां दीर्घायुके विषयमें मुख्य प्रश्न आत्मविश्वासका है, इस विषयमें प्रथम मंत्रका निर्देश देखने योग्य है—

आत्मविश्वाससे दीर्घायु ।

इह एव भव, पूर्वान् पितॄन् मा अनुगाः ।
ते असुं दृढं बध्नामि । (मं. १)

' यहां अर्थात् इस शरीरमें रह, प्राचीन पूर्वजोंके पीछे मत जा अर्थात् शीघ्र न मर । तेरे शरीरमें प्राणोंको दृढतासे बांधता हूं । ' ये मंत्र स्पष्ट शब्दों द्वारा बता रहे हैं कि आत्मविश्वाससे दीर्घ आयु होनेमें सहायता होती है । ' तू मत मर जा ' यह उसीको कहा जा सकता है, कि जिसके आधीन शीघ्र या देरीसे मरना हो । यदि मनुष्यके आधीन यह बात न होगी, तो ' इस समय न मर, वृद्धावस्थाके पश्चात् मर ' इत्यादि आशायें व्यर्थ होगी । ये आशाएं कंठरवसे कह रहीं हैं, कि मनुष्यकी इच्छाशक्तिपर मृत्युका शीघ्र या देरीसे प्राप्त होना अवलंबित है। मैं शीघ्र न मरूंगा, मैं दीर्घायु होऊंगा, मैं अपनी आयु धर्म कार्यमें समर्पण करूंगा। ' इस प्रकारकी मनकी सुदृढ भावना रही, तो सहसा अल्प आयुमें मृत्यु न होगी, परंतु यदि कोई विश्वकी क्षणभंगुरताका ही ध्यान करेगा, तो वह स्वयं क्षणभंगुर बनेगा । आत्मविश्वास यह अन्य दीर्घायु प्राप्तिके अनुष्ठानोंकी बुनियाद है । अन्य अनुष्ठान तब सिद्ध हो सकते हैं, जब कि यह बुनियाद ठीक सुदृढ हुई हो ।

द्वितीय मंत्रमें कहा है कि ' उन्मोचन और प्रमोचन ' ये दो उपाय हैं जिनसे नीरोगता और दीर्घायु सिद्ध हो सकती है । वे विधि क्या हैं, इसकी खोज करनी चाहिये । इनमेंसे एक विधि आरोग्य बढानेवाला और दूसरा अकाल मृत्यु हरण करनेवाला है ।

कुविचारसे अनारोग्य ।

तृतीय मंत्रमें स्त्री पुरुषोंको शाप देना, गालियां देना, अथवा बुरे शब्द प्रयुक्त करना बुरा है ऐसा कहा है । किसीके साथ द्रोह करना भी घातक है । बुरे शब्द बोलनेसे प्रथम अपना मन बुरे विचारोंसे भर जाता है और जो वैसे हीन विचारके शब्द सुनते हैं उनमें वैसे ही हीन भाव जम जाते हैं । इस

प्रकार मनका स्वास्थ्य बिगडनेके लिये ये बुरे शब्द कारण होते हैं। मनका स्वास्थ्य बिगडनेसे ही शरीरमें रोगबीज प्रविष्ट होते हैं और वे रोगबीज उसी कारण वहां स्थिर होते हैं।

मातापिताका पाप।

मातापिताके पापाचरणसे भी रोग होते हैं यह बात चतुर्थ मंत्रमें कही है—

मातृकृतात् पितृकृतात् च एनसः ॥ (मं. ४)

' माता और पिताके किये पापाचरणसे तू बीमार होकर पडा है। ' इस मन्त्रभागमें स्पष्ट कहा है कि बीमारीका एक हेतु मातापिताके पापाचरण भी है। मातापिताके पापी आचार-व्यवहारके कारण जन्मतः ही लडकेका शरीर निर्बल होता है और बालक जन्मसे ही बीमारियोंका घर बन जाता है। गृहस्थ धर्ममें रहनेवाले लोग इस मंत्रका अवश्य विचार करें, क्योंकि यदि वे कुछ भी पाप करेंगे, तो वे अपने वंशको दुःखमें डालनेके दोषी हो सकते हैं। इससे पता चलता है कि, व्यभिचार, मद्यपान आदि दुष्ट व्यसनोंमें फंसे हुए लोग न केवल स्वयं दुःख भोगते हैं, प्रत्युत अपने वंशजोंको भी बीमारियोंके महासागरमें डाल देते हैं। वेदने यह मंत्र कहकर जनताके स्वास्थ्यके विषयमें बडा उत्तम उपदेश दिया है, परंतु पाठकोंको चाहिये कि वे इसका मनन करें और आचरणमें लावें।

पंचम मंत्रमें कहा है कि [**भेषजं सेवस्व। त्वा जरदष्टिं कृणोमि।** (मं. ५)] योग्य औषधिका सेवन कर, इतना पथ्य करेगा तो मैं तुम्हें दीर्घायु बनाता हूं। ' संदेह मत कर, तू पथ्य पालन करनेसे अवश्य दीर्घायुवाला हो जायगा।

मानसशक्ति।

षष्ठ मंत्रमें मनकी शक्तिका वर्णन किया है जो विशेष महत्त्वका है—

पुरुष ! सर्वेण मनसा सह इह एधि।
यमस्य दूतो मा अनुगाः। जीवपुरा अधि इहि ॥
(मं. ६)

' हे मनुष्य ! अपनी सब मानसिक शक्तिके साथ तू यहां रह। यमके दूतोंके पीछे न जा। जीवोंकी पुरियोंमें अर्थात् शरीरमें यहां स्थिर रह। '

इस मंत्रका संबंध पहिले मंत्रके कथनके साथ बहुत ही घनिष्ठ है। अपनी सब मानसिक शक्तिके साथ इच्छापूर्वक ' मैं दीर्घायु बनूंगा ' ऐसा मनमें निर्धार करना चाहिये। मनकी शक्ति विलक्षण है, मनकी शक्ति जितनी प्रबल होगी उतनी निश्चयसे सिद्धि हो सकती है। मनकी कल्पनासे रोगी मनुष्य नीरोग और नीरोग मनुष्य रोगी बनता है। बलवान् निर्बल होता है और निर्बल भी सबलके समान कार्य करनेमें समर्थ हो जाता है। मनकी यह विलक्षण शक्ति होनेके कारण हरएक मनुष्यको उचित है कि वह अपने मनमें सुविचारोंकी धारणा करता हुआ नीरोगतापूर्वक दीर्घायु प्राप्त करे। हीन विचार मनमें न आने दें। क्योंकि हीन विचारोंसे मनुष्य क्षीणायु हो जाता है। मरनेके विचार कभी मनमें न आने दें। पूर्ण स्वास्थ्यके विचार ही मनमें स्थिर किये जावें।

उन्नतिका मार्ग।

अपनी उन्नतिका मार्ग कौनसा है, इसका ज्ञान श्रेष्ठ मनुष्योंसे प्राप्त करें और तदनुसार आचरण करें, आरोग्य प्राप्तिके मार्गका नाम ' **उदयनं पथः** ' है, अर्थात् उन्नतर अवस्था प्राप्त करनेका यह राजमार्ग है। इसपरसे ' **आरोहणं आक्रमणं** ' अर्थात् इस आरोग्यके मार्ग पर आना और इसपरसे चलना मनुष्यके लिये लाभदायक है—

उदयनं पथः विद्वान् येहि।
आरोहणं आक्रमणं जीवतः अयनम् ॥ (मं. ७)

' उन्नतिके मार्गको जानकर ही इस संसारमें रह। इस मार्गपर आना और इसी मार्गपरसे चलना जीवित मनुष्यके लिये हितकारक है। ' इसलिये हरएक मनुष्यको उचित है कि वह अपने आरोग्यके बढानेके उपायोंको जानें और उनका आचरण करके अपनी आयु और आरोग्य बढावे। इस प्रकार करनेसे कितने लाभ हो सकते हैं इसका वर्णन अष्टम मंत्रमें किया है—

मा बिभेः। न मरिष्यसि। त्वा जरदष्टिं कृणोमि।
(मं. ८)

यदि तू पूर्वोक्त मंत्रोंमें कहे मार्गके अनुसार आचरण करेगा, तो ' तू शीघ्र नहीं मरेगा, तू मत डर, मैं तुझे दीर्घायु करता हूं। ' जो मनुष्य पूर्वोक्त प्रकार आचरण करेगा, उसके लिये यह आशीर्वाद अवश्य मिलेगा। पाठक ! विचार करके देखिये, तो मालूम होगा कि यह मार्ग सीधा है, परंतु मनुष्य प्रलोभनमें पडता है और फंसता है—

मार्गदर्शक दो ऋषि।

अपने ही अंदर मार्ग बतानेवाले दो ऋषि बैठे हैं, वे ऋषि दशम मंत्रमें देखिये—

बोधप्रतिबोधौ ऋषी। अस्वप्नः जागृविः।
तौ प्राणस्य गोप्तारौ दिवानक्तं च जागृताम् ॥
(मं. १०)

'मनुष्यके अन्दर बोध और प्रतिबोध अर्थात् ज्ञान और विज्ञान ये दो ऋषि हैं। इनसे सच्चा ज्ञान प्राप्त होता है। इनमेंसे एक (अ-स्वप्नः) सुप्त नहीं है और दूसरा सदा जागता रहता है। ये ही दो ऋषि मनुष्यके प्राणोंके रक्षक हैं। अतः ये दिन रात यहां जागते रहें।' ये दो ऋषि यहां जागते रहनेसे ही मनुष्य नीरोग, स्वस्थ और दीर्घायु हो सकता है। ज्ञान-विज्ञानसे उसको यहांका व्यवहार कैसा करना चाहिये इसका ज्ञान हो सकता है। ठीक व्यवहार करके यह मनुष्य अपना स्वास्थ्य उत्तम रखता है और दीर्घायु होता है। व्यक्तिमें और समाजमें ये बोध और प्रतिबोध अथवा ज्ञान और विज्ञान जागते रहें। जबतक इनकी जाग्रति रहेगी तबतक उन्नति होना स्वाभाविक है। इसलिये कहा है—

गम्भीरात् कृष्णात् तमसः परि उदेहि। (मं ११)

'गहरे काले अन्धकार रूपी मृत्युसे ऊपर उठ' अर्थात् मृत्युके अंधकारमें न फंस और जीवनके प्रकाशमें निवास रह। यहां पूर्वोक्त दो ऋषियोंकी सहायतासे मृत्युसे बचनेका उपदेश है। क्योंकि वे ही मृत्युको दूर करके दीर्घ जीवन देनेवाले हैं।

मृत्युको दूर करना।

यहां एक बात लक्ष्यमें रखने योग्य कही है वह यह है कि 'मृत्यु अंधकार है' और 'जीवन प्रकाशमय है।' यह अनुभव सत्य है। जीवित मनुष्यका प्रकाशवर्तुल आकाशभर व्यापक होता है, यह प्रकाशवर्तुल मरनेके समय शनैः शनैः छोटा छोटा हो जाता है। जब यह प्रकाशवर्तुल अंगुष्ठ मात्र रह जाता है उस समय मनुष्य मरा होता है। मरनेवाले मनुष्यको मरनेसे पूर्व कुछ घण्टे ऐसा अनुभव आता है कि जगत्के अंदर व्यापनेवाला प्रकाश अब घरके अंदर ही रहा है और बाहर अन्धकार है। मृत्युको छाया रूप वर्णन किया है इसका कारण यह है। यह कविकल्पना नहीं है परंतु सत्य बात है। अपने आपको अन्धेरेसे वेष्टित होने न देना आवश्यक है, यही मृत्युको दूर करनेका तात्पर्य है। प्रकाशका महत्त्व इतना है, यह प्रकाश अपने आत्माका ही है बाहरका नहीं।

जीवनका लक्षण।

बारहवें मंत्रमें उन पितरोंको नमन किया है कि जो जीवको इस लोकसे यमलोकमें ले जाते हैं। वे कृपा करें और हमारे (उत्पारण) मृत्युपार होनेके अनुष्ठानमें सहायता करें। बारहवें मंत्रमें यह कहनेके पश्चात् तेरहवें मंत्रमें जीवनका लक्षण बताया है। 'मनुष्यके शरीरमें प्राण, मन, चक्षु और बल रहे और यह अपने पांवके बलसे खडा रहे।' (मं. १३) यह जीवनका लक्षण है, मृत्युका लक्षण भी इसीसे ज्ञात हो सकता है, वह इस प्रकार है- 'शरीरमें प्राण, मन, आंख और बल न रहे और शरीर अपने पांवपर खडा न रह सके।' इन शक्तियोंका यहां होना और न होना जीवन और मृत्यु है। और पूर्वोक्त प्रकार मृत्युको दूर और जीवनको पास किया जा सकता है।

पाठक इन मंत्रोंका अच्छी प्रकार विचार करेंगे तो उनको इस सूक्तमें कही जीवन विद्याका ज्ञान हो सकता है।

घातक प्रयोगको दूर करना।

(३१) कृत्यापरिहरणम्।

(ऋषिः — शुक्रः। देवता — कृत्यादूषणम्।)

यां ते चक्रुरामे पात्रे यां चक्रुर्मिश्रधान्ये।
आमे मांसे कृत्यां यां चक्रुः पुनः प्रति हरामि ताम् ॥ १ ॥

अर्थ— (यां ते आमे पात्रे चक्रुः) जिसको वे कच्चे बर्तनमें करते हैं, (यां मिश्रधान्ये चक्रुः) जिसको मिश्रधान्यमें करते हैं, (आमे मांसे यां कृत्यां चक्रुः) कच्चे मांसमें जिस हिंसा प्रयोगको करते हैं (तां पुनः प्रति हरामि) उसको मैं हटा देता हूं ॥ १ ॥

यां ते॑ च॒क्रुः कृ॑क॒वाका॑व॒जे वा॒ यां कु॑री॒रिणि॑ ।
अव्यां॑ ते कृ॒त्यां यां च॒क्रुः पुन॒ः प्रति॑ हरा॒मि ताम् ॥ २ ॥
यां ते॑ च॒क्रुरेक॑शफे प॒शू॒नामु॑भ॒याद॑ति ।
ग॒र्द॒भे कृ॒त्यां यां च॒क्रुः पुन॒ः प्रति॑ हरा॒मि ताम् ॥ ३ ॥
यां ते॑ च॒क्रुर॑मू॒लायां॑ वल॒गं वा॑ न॒राच्या॑म् ।
क्षेत्रे॑ ते कृ॒त्यां यां च॒क्रुः पुन॒ः प्रति॑ हरा॒मि ताम् ॥ ४ ॥
यां ते॑ च॒क्रुर्गार्ह॑पत्ये पूर्वा॒ग्नावु॒त दु॒श्चित॑ः ।
शाला॑यां कृ॒त्यां यां च॒क्रुः पुन॒ः प्रति॑ हरा॒मि ताम् ॥ ५ ॥
यां ते॑ च॒क्रुः स॒भायां॒ यां च॒क्रुर॑धि॒देव॑ने ।
अ॒क्षेषु॑ कृ॒त्यां यां च॒क्रुः पुन॒ः प्रति॑ हरा॒मि ताम् ॥ ६ ॥
यां ते॑ च॒क्रुः सेना॑यां॒ यां च॒क्रुरि॑ष्वायु॒धे ।
दु॒न्दु॒भौ कृ॒त्यां यां च॒क्रुः पुन॒ः प्रति॑ हरा॒मि ताम् ॥ ७ ॥
यां ते॑ कृ॒त्यां कूपे॑ऽवद॒धुः श्म॑शा॒ने वा॑ नि॒च॒ख्नुः ।
सद्म॑नि कृ॒त्यां यां च॒क्रुः पुन॒ः प्रति॑ हरा॒मि ताम् ॥ ८ ॥

अर्थ— (यां ते कृकवाकौ चक्रुः) जिसको वे पक्षिविशेषमें करते हैं, (यां वा कुरीरिणि अजे) अथवा जिसको सींगवाले मेंढेमें अथवा बकरेमें करते हैं, (यां कृत्यां ते अव्यां चक्रुः) जिस घातक प्रयोगको वे भेडीमें करते हैं (तां०) उसको मैं दूर करता हूं ॥ २ ॥

(यां ते एकशफे चक्रुः) जिसको वे एक खुरवाले पशुमें करते हैं, (पशूनां उभयादति) पशुओंमें जिनको दोनों ओर दांत होते हैं, उनमें जो प्रयोग करते हैं, (यां कृत्यां गर्दभे चक्रुः) जिस घातक प्रयोगको गधेमें करते हैं (तां०) उसको मैं दूर करता हूं ॥ ३ ॥

(यां ते अमूलायां चक्रुः) जिसको वे अमूला औषधिमें करते हैं, और (नराच्यां वा वलगं) नराची औषधिमें बल घटानेका जो प्रयोग करते हैं, (यां कृत्यां ते क्षेत्रे चक्रुः) जिस घातक प्रयोगको वे खेतमें करते हैं (तां०) उसको मैं हटाता हूं ॥ ४ ॥

(यां ते गार्हपत्ये चक्रुः) जिसको गार्हपत्य अग्निमें करते हैं, (उत दुश्चितः पूर्वाग्नौ) और जिसको बुरी तरहसे प्रज्वलित पूर्व अग्निमें करते हैं तथा (यां कृत्यां शालायां चक्रुः) जिस घातक प्रयोगको शालामें करते हैं (तां०) उसको मैं दूर करता हूं ॥ ५ ॥

(यां ते सभायां चक्रुः) जिसको वे सभामें करते हैं, (यां अधि देवने चक्रुः) जिसको खेलमें करते हैं, (यां कृत्यां अक्षेषु चक्रुः) जिस घातक प्रयोगको पासोंमें करते हैं, (तां०) उसको मैं दूर करता हूं ॥ ६ ॥

(यां ते सेनायां चक्रुः) जिसको वे सेनामें करते हैं, (यां इषु-आयुधे चक्रुः) जिसको बाण और धनुष्यपर करते हैं, (यां कृत्यां दुन्दुभे चक्रुः) जिस घातक प्रयोगको दुन्दुभी पर करते हैं, (तां०) उसको मैं हटाता हूं ॥ ७ ॥

(यां कृत्यां ते कूपे अवदधुः) जिस घातक प्रयोगको वे कूएमें करते हैं, (श्मशाने वा निचख्नुः) अथवा जिसको श्मशानमें गाड देते हैं, (यां कृत्यां सद्मनि चक्रुः) अथवा जिस घातक प्रयोगको घरमें ही करते हैं, (तां) उसको मैं हटाता हूं ॥ ८ ॥

यां ते॒ चक्रुः पुरुषास्थे॒ अग्नौ संक॑सुके च॒ याम् ।
क्रो॒कं निर्दा॒हं क्र॒व्यादं॒ पुनः॒ प्रति॑ हरामि॒ ताम् ॥ ९ ॥
अप॑थेना ज॑भारैणां॒ तां प॒थेतः प्र हि॑ण्मसि । अधी॑रो मर्या॒धीरे॑भ्यः॒ सं ज॑भा॒राचि॑त्त्या ॥ १० ॥
यश्च॒कार॒ न श॒शाक॒ कर्तुं॑ श॒श्रे पाद॑म॒ङ्गुरि॑म् । च॒कार॑ भ॒द्रम॒स्मभ्य॑मभ॒गो भग॑वद्भ्यः ॥ ११ ॥
कृ॒त्याकृ॑तं वल॒गिनं॑ मू॒लिनं॑ शपथे॒य्य॑म् । इन्द्र॒स्तं ह॑न्तु मह॒ता व॒धेना॒ग्निर्वि॑ध्यत्व॒स्तया॑ ॥ १२ ॥ (३७४)

॥ इति षष्ठोऽनुवाकः ॥ ६ ॥

॥ इति पञ्चमं काण्डं समाप्तम् ॥ ५ ॥

अर्थ— (यां ते पुरुषास्थे चक्रुः) जिसको वे मनुष्यकी हड्डीमें करते हैं, (संकसुके अग्नौ चक्रुः) प्रज्वलित अग्निमें जो करते हैं, (क्रोकं निर्दाहं क्रव्यादं प्रति) चोरीसे प्रज्वलित किये मांस खानेवाले अग्निके प्रति (पुनः तां प्रति हरामि) फिर उसको मैं हटा देता हूं ॥ ९ ॥

(अपथेन एनां आ जभार) कुमार्गसे इस हिंसाको लाया है (तां पथा इतः प्र हिण्मसि) उसको सुमार्गसे यहांसे हटाते हैं (अधीरः मर्या धीरेभ्यः) मूढ मनुष्य मर्यादा धारण करनेवाले पुरुषोंसे (अचित्त्या सं जभार) बिना सोचे उपाय प्राप्त कर सकता है ॥ १० ॥

(यः कर्तुं चकार) जिसने हिंसा करनेका यत्न किया, वह (न शशाक) वह समर्थ नहीं हुआ। परन्तु (पादं अंगुरिं शश्रे) उसने ही पांव और अंगुलिको तोड दी है । (अभगः) उस अभागीने तो (अस्मभ्यं भगवद्भ्यः भद्रं चकार) हम सौभाग्यवानोंके लिये तो उसने कल्याण ही किया है ॥ ११ ॥

(इन्द्रः वलगिनं) इन्द्र इस नीच (मूलिनं शपथेय्यं) जडमें दुःख देनेवाले और गालियां देनेवालोंको (महता वधेन हन्तु) बडे वधोपायसे मारे और (अग्निः अस्तया विध्यतु) अग्नि अस्त्रसे वेध डाले ॥ १२ ॥

भावार्थ— कच्चा बर्तन, मिश्रधान्य, कच्चा मांस, कुक्कवाक पक्षी, मैंढे, बकरी, भेडी, एक खुरवाले पशु, दोनों ओर दांतवाले पशु, गधा, अमूला औषधि, नराची वनस्पति, खेत, गार्हपत्य अग्नि, पूर्वाग्नि, घर या कमरा, सभा, खेलका स्थान, पासे, सेना, बाण और मनुष्य, दुन्दुभी, कूवा, स्मशान, घर, पुरुषकी हड्डी, प्रज्वलित अग्नि, मांस जलानेवाला अग्नि आदि स्थानोंमें दुष्ट लोक घातक प्रयोग करते हैं । उनसे बचनेका उपाय करना चाहिये ॥ १-९ ॥

कुमार्गसे ही यह हिंसक और घातक प्रयोग हुआ करते हैं । यद्यपि दूसरेने कुमार्गसे ऐसे प्रयोग किये, तो भी उनको ठीक प्रकार दूर करनेका उपाय हमें करना ही चाहिये। मनुष्य स्वयं उपाय न जानता हो, तो ज्ञानी पुरुषोंसे उपायको जान सकता है ॥ १० ॥

जो दूसरेकी हिंसा करनेका यत्न करता है वह दूसरेकी हिंसा करनेके पूर्व अपनी ही करता है । जो दूसरेकी हिंसा करना चाहता है वह अभागी है, उससे ईश्वरभक्त होनेसे जो भाग्यवान् होते हैं उनका कल्याण ही होता है ॥ ११ ॥

ईश्वर ही नीच मनुष्योंको दण्ड देवे ॥ १२ ॥

[इस सूक्तका विषय संदिग्ध होनेसे इसका विशेष स्पष्टीकरण करना कठिन है । यह खोजका विषय है ।]

यहां षष्ठ अनुवाक समाप्त ॥ ६ ॥

॥ पञ्चम काण्ड समाप्त ॥

अथर्ववेदका सुबोध भाष्य।

पञ्चम काण्ड।

विषयानुक्रमणिका

अथर्ववेद का स्वाध्याय।

[अथर्ववेद का सुबोध भाष्य।]

षष्ठ काण्ड।

इस षष्ठ काण्डके प्रथम सूक्तमें ' सविता ' देवताका वर्णन है। सविता देवता सबकी उत्पत्ति करनेवाली, सबको प्रकाश देनेवाली और उत्तम चेतना देनेवाली है। संध्याके गुरुमन्त्रमें इसीका वर्णन है। इससे पाठक जान सकते हैं कि यह मंगलवाचक पहिला सूक्त है और इसका मनन करनेसे सबका शुभ मंगल हो सकता है।

इस षष्ठ काण्डमें प्रायः तीन मंत्रवाले सूक्त हैं। इस कारण इस काण्डकी ' प्रकृति तीन मंत्रवाले सूक्तोंकी है ' ऐसा कहते हैं; इससे भिन्न मंत्रसंख्यावाले सूक्त इस काण्डमें विकृति हैं। परंतु यहां स्मरण रखना चाहिये कि, अधिक मंत्रवाले कई सूक्त भी पुनरुक्त मंत्रभागोंको अलग करनेसे तीन मंत्रवाले सूक्त बनाये जा सकते हैं। तथापि कुछ सूक्त ऐसे रहेंगे कि जो निश्चयसे इस काण्डमें विकृति सूक्त ही कहे जायेंगे।

इस काण्डकी सूक्त व्यवस्था इस प्रकार है—

इस काण्डमें	१२२	सूक्त	३ मन्त्रवाले हैं,	इनकी	मंत्रसंख्या	३६६	है।
इस काण्डमें	१२	सूक्त	४ मन्त्रवाले हैं,	इनकी	मंत्रसंख्या	४८	है।
इस काण्डमें	८	सूक्त	५ मंन्त्रवाले हैं,	इनकी	मंत्रसंख्या	४०	है।
कुल सूक्तसंख्या	१४२			कुल	मंत्रसंख्या	४५४	

इस प्रकार इस काण्डके १४२ सूक्तोंमें ४५४ मंत्र हैं। इस काण्डमें १३ अनुवाक हैं, बहुधा प्रत्येक अनुवाकमें दस दस सूक्त हैं; तथापि तृतीय, सप्तम, एकादश और द्वादश इन चार अनुवाकोंमें प्रत्येकमें ग्यारह सूक्त हैं और त्रयोदशवें अनुवाकमें अठारह सूक्त हैं।

काण्डोंकी मंत्रसंख्या क्रमपूर्वक बढ रही है। प्रथम काण्डमें १५३, द्वितीयमें २०७, तृतीयमें २३०, चतुर्थमें ३२४, पंचममें ३७६ और इस षष्ठ काण्डमें ४५४ मंत्र हैं। यह संख्या प्रथम काण्डकी मंत्रसंख्यासे तीन गुनी, तृतीयसे दुगनी और पंचमसे डेढ गुनी है। सूक्तसंख्या भी बहुत है। परंतु सूक्त प्रायः तीन मंत्रवाले होनेके कारण बडी संख्याका महत्त्व विशेष नहीं है, तथापि कुल अभ्यास इस काण्डमें पहिलेकी अपेक्षा अधिक ही होना है। प्रथम पाठ छोटा देकर पश्चात् बडे पाठ देनेके समान ही यह व्यवस्था यहां दिखाई देती है—

सूक्तोंके ऋषि-देवता-छन्द।

सूक्त	मंत्रसंख्या	ऋषि	देवता	छंद
१ प्रथमोऽनुवाकः। १३ त्रयोदशः प्रपाठकः।				
१	३	अथर्वा	सविता	उष्णिक्, त्रिपदा पिपीलिकमध्या साम्नी जगती। २, ३ पिपीलिकमध्या पुरउष्णिक्।
२	३	अथर्वा	वनस्पतिः, सोमः	उष्णिग्, १-३ परोष्णिक्।
३	३	अथर्वा (स्वस्त्ययनकामः)	नानादेवताः	जगती १ पथ्याबृहती।
४	३	अथर्वा (स्वस्त्ययनकामः)	नानादेवताः	१ पथ्याबृहती, २ संस्तारपंक्तिः, ३ त्रिपदा विराड्गर्भा गायत्री।
५	३	अथर्वा (स्वस्त्ययनकामः)	इन्द्राग्नी	अनुष्टुप् २ भुरिक्।
६	३	अथर्वा (स्वस्त्ययनकामः)	ब्रह्मणस्पतिः; सोमः	अनुष्टुप्,
७	३	अथर्वा (स्वस्त्ययनकामः)	सोमः, ३ विश्वेदेवाः	गायत्री, १ निचृत्।
८	३	जमदग्निः	कामात्मदेवता	पथ्यापंक्तिः
९	३	जमदग्निः	कामात्मदेवता	अनुष्टुप्
१०	३	शन्तातिः	नानादेवताः (अग्निः, वायुः, सूर्यः)	१ साम्नी त्रिष्टुप्, २ प्राजापत्या बृहती, ३ साम्नीबृहती।
२ द्वितीयोऽनुवाकः।				
११	३	प्रजापतिः	रेतः, मंत्रोक्ताः	अनुष्टुप्
१२	३	गरुत्मान्	तक्षकः	अनुष्टुप्
१३	३	अथर्वा (स्वस्त्ययनकामः)	मृत्युः	अनुष्टुप्
१४	३	बभ्रुपिंगलः	बलासः	अनुष्टुप्
१५	३	उद्दालकः	वनस्पतिः	अनुष्टुप्
१६	४	शौनकः	चन्द्रमाः (मन्त्रोक्तदेवताः)	अनुष्टुप् १ निचृत् त्रिपदा गायत्री, ३ बृहतीगर्भा ककुम्मत्यनुष्टुप्, ४ त्रिपदाप्रतिष्ठा।
१७	४	अथर्वा	गर्भदृंहणं	अनुष्टुप्
१८	३	अथर्वा	ईर्ष्याविनाशनं	अनुष्टुप्
१९	३	शन्तातिः	चन्द्रमाः (नानादेवताः)	गायत्री, अनुष्टुप्।
२०	३	भृग्वंगिराः	यक्ष्मनाशनं	१ अतिजगती, २ ककुम्मती प्रस्तारपंक्तिः, ३ सतःपंक्तिः।
३ तृतीयोऽनुवाकः				
२१	३	शन्तातिः	चन्द्रमाः	अनुष्टुप्
२२	३	शन्तातिः	आदित्यरश्मिः, मरुतः	त्रिष्टुप्, चतुष्पदा भुरिग्जगती।
२३	३	शन्तातिः	आपः	अनुष्टुप्, २ त्रिपदागायत्री ३ परोष्णिक्

सूक्त	मंत्रसंख्या	ऋषि	देवता	छंद
२४	३	शान्तातिः	आपः	अनुष्टुप्
२५	३	शुनःशेपः	मंत्रोक्तदैवतं	अनुष्टुप्
२६	३	ब्रह्मा	पाप्मा	अनुष्टुप्
२७	३	भृगुः	यमः, निर्ऋतिः	जगती, २ त्रिष्टुप्।
२८	३	भृगुः	यमः, निर्ऋतिः	त्रिष्टुप् २ अनुष्टुप्, ३ जगती।
२९	३	भृगुः	यमः, निर्ऋतिः	बृहती, १-२ विराण्नाम गायत्री, ३ त्र्यवसाना सप्तपदा विराड्ष्टी।
३०	३	उपरिबभ्रवः	शमी	जगती, २ त्रिष्टुप्, ३ चतुष्पदा ककुम्मत्यनुष्टुप्।
३१	३	उपरिबभ्रवः	गौः	गायत्री

४ चतुर्थोऽनुवाकः।

सूक्त	मंत्रसंख्या	ऋषि	देवता	छंद
३२	३	१-२ चातनः, ३ अथर्वा	अग्निः	त्रिष्टुप्, २ प्रस्तारपंक्तिः।
३३	३	जाटिकायनः	इन्द्रः	गायत्री, २ अनुष्टुप्।
३४	५	चातनः	अग्निः	गायत्री
३५	३	कौशिकः	वैश्वानरः	गायत्री
३६	३	अथर्वा (स्वस्त्ययनकामः)	अग्निः	गायत्री
३७	३	अथर्वा (स्वस्त्ययनकामः)	चन्द्रमाः	अनुष्टुप्
३८	४	अथर्वा (वर्चस्कामः)	बृहस्पतिः, त्विषिः	त्रिष्टुप्
३९	३	अथर्वा (वर्चस्कामः)	बृहस्पतिः	१ जगती २ त्रिष्टुप्, ३ अनुष्टुप्।
४०	३	अथर्वा (१-२अभयकामः, ३ स्वस्त्ययनकामः)	मन्त्रोक्तदेवताः	जगती ३ ऐन्द्रीअनुष्टुप्
४१	३	ब्रह्मा	चन्द्रमाः, बहुदैवत्यम्	अनुष्टुप्, १ भुरिक्, २ त्रिष्टुप्।

५ पञ्चमोऽनुवाकः।

सूक्त	मंत्रसंख्या	ऋषि	देवता	छंद
४२	३	भृग्वंगिराः (परस्परं चित्तैकीकरणकामः।)	मन्युः	अनुष्टुप् १-२ भुरिक्।
४३	३	भृग्वंगिराः (परस्परं चित्तैकीकरणकामः।)	मन्युशमनं	अनुष्टुप्
४४	३	विश्वामित्रः	वनस्पतिः (मन्त्रोक्तदेवता)	अनुष्टुप् ३ त्रिपदा महाबृहती।
४५	३	अंगिराः प्रचेताः यमश्च	दुःष्वप्ननाशनम्	१ पथ्यापंक्तिः, २ भुरिक् त्रिष्टुप्, ३ अनुष्टुप्।
४६	३	अंगिराः	स्वप्नं	१ ककुम्मती विस्तारपंक्तिः। २ त्र्यवसाना शक्वरीगर्भा पञ्चपदा जगती, ३ अनुष्टुप्।
४७	३	अंगिराः	अग्निः, २ विश्वेदेवाः ३ सुधन्वा	त्रिष्टुप्
४८	३	अंगिराः	मन्त्रोक्तदेवताः	अनुष्टुप्
४९	३	गार्ग्यः	अग्निः	१ अनुष्टुप् २-३ जगती (३ विराट्)
५०	३	अथर्वा (अभयकामः)	अश्विनौ	१ विराड् जगती, २,३ पथ्यापंक्ति।
५१	३	शान्तातिः	आपः, ३ वरुणः	त्रिष्टुप्, १ गायत्री, २ जगती।

सूक्त	मंत्रसंख्या	ऋषि	देवता	छंद
६ षष्ठोऽनुवाकः । १४ चतुर्दशः प्रपाठकः ।				
५२	३	भागलिः	मन्त्रोक्तदेवताः	अनुष्टुप्
५३	३	बृहच्छुक्रः	नानादेवताः	त्रिष्टुप्, १ जगती
५४	३	ब्रह्मा	अग्नीषोमौ	अनुष्टुप्
५५	३	ब्रह्मा	१ विश्वेदेवाः २–३ रुद्रः	१ जगती २ त्रिष्टुप्, ३ जगती ।
५६	३	शन्तातिः	१ विश्वेदेवाः २–३ रुद्रः	१ उष्णिग्गर्भा पथ्यापंक्तिः, २ अनुष्टुप् ३ निचृत् ।
५७	३	शन्तातिः	रुद्रः	१–२ अनुष्टुप्, ३ पथ्यापंक्तिः ।
५८	३	अथर्वा (यशस्कामः)	बृहस्पतिः, मंत्रोक्तदेवताः	१ जगती, २ प्रस्तारपंक्तिः, ३ अनुष्टुप्
५९	३	अथर्वा (यशस्कामः)	रुद्रः, मंत्रोक्तदेवताः	अनुष्टुप्
६०	३	अथर्वा (यशस्कामः)	अर्यमा	अनुष्टुप्
६१	३	अथर्वा (यशस्कामः)	रुद्रः	त्रिष्टुप्, २–३ भुरिक् ।
७ सप्तमोऽनुवाकः ।				
६२	३	अथर्वा	रुद्रः । मंत्रोक्तदेवताः	त्रिष्टुप्
६३	४	द्रुह्वणः (आयुर्वर्चोबलकामः)	निर्ऋतिः, यमः, ४ अग्निः	जगती, १ अतिजगतीगर्भा ४ अनुष्टुप्
६४	३	अथर्वा	सांमनस्यं, विश्वेदेवाः	अनुष्टुप्, २ त्रिष्टुप् ।
६५	३	अथर्वा	चन्द्रः, इन्द्रः, पराशरः	अनुष्टुप्, १ पथ्यापंक्तिः ।
६६	२	अथर्वा	चन्द्रः, इन्द्रः, पराशरः	अनुष्टुप्, १ त्रिष्टुप् ।
६७	३	अथर्वा	चन्द्रः, इन्द्रः, पराशरः	अनुष्टुप्
६८	३	अथर्वा	मन्त्रोक्तदेवताः	१ पुरोविराडतिशक्करीगर्भा चतुष्पदा जगती, २ अनुष्टुप्, ३ अतिजगतीगर्भा त्रिष्टुप् ।
६९	३	अथर्वा (वर्चस्कामो यशस्कामश्च)	बृहस्पतिः, अश्विनौ	अनुष्टुप्
७०	३	कांकायनः	अघ्न्या	जगती
७१	३	ब्रह्मा	अग्निः, ३ विश्वेदेवाः	जगती, ३ त्रिष्टुप् ।
७२	३	अथर्वांगिराः	शेपोऽर्कः	अनुष्टुप्, १ जगती, ३ भुरिक् ।
८ अष्टमोऽनुवाकः ।				
७३	३	अथर्वा	सांमनस्यं नानादेवताः	त्रिष्टुप्, १, ३ भुरिक् ।
७४	३	अथर्वा	सांमनस्यं नानादेवताः त्रिणामा	अनुष्टुप्, ३ त्रिष्टुप् ।
७५	३	कबन्धः (सपत्नक्षयकामः)	इन्द्रः, मन्त्रोक्ताः	अनुष्टुप्, षट्पदा जगती ।
७६	४	कबन्धः (सपत्नक्षयकामः)	सांतपनाग्निः	अनुष्टुप्, ३ ककुम्मती ।
७७	३	कबन्धः (सपत्नक्षयकामः)	जातवेदाः	अनुष्टुप्
७८	३	अथर्वा	१,२ चन्द्रमाः, ३ त्वष्टा	अनुष्टुप्
७९	३	अथर्वा	संस्फानः	गायत्री, ३ त्रिपदा प्राजापत्या जगती ।

सूक्त	मंत्रसंख्या	ऋषि	देवता	छंद
८०	३	अथर्वा	चन्द्रमाः	अनुष्टुप्, १ भुरिक्, २ प्रस्तारपंक्तिः ।
८१	३	अथर्वा	आदित्यः, मंत्रोक्ताः	अनुष्टुप्
८	१२	भगः (जायाकामः)	इन्द्रः	अनुष्टुप्
९ नवमोऽनुवाकः ।				
८३	४	अंगिराः	मन्त्रोक्तदेवताः	अनुष्टुप्, ४ एकावसाना द्विपदा निचृदार्षी अनुष्टुप् ।
८४	४	अंगिराः	निर्ऋतिः	१ भुरिग्जगती, २ त्रिपदा आर्षी बृहती, ३-४ जगती, ४ भुरिक्त्रिष्टुप् ।
८५	१	अथर्वा (यक्ष्मनाशनकामः)	वनस्पतिः	अनुष्टुप्
८६	१	अथर्वा (वृषकामः)	एकवृषः	अनुष्टुप्
८७	३	अथर्वा	ध्रुवः	अनुष्टुप्
८८	३	अथर्वा	ध्रुवः	अनुष्टुप्, ३ त्रिष्टुप् ।
८९	३	अथर्वा	रुद्रः, मन्त्रोक्तदेवताः	अनुष्टुप्
९०	३	अथर्वा	रुद्रः	१,२ अनुष्टुप्, ३ आर्षी भुरिगुष्णिक् ।
९१	३	भृग्वंगिराः	मन्त्रोक्तदेवताः, यक्ष्मनाशनं	अनुष्टुप्
९२	३	अथर्वा	वाजी	त्रिष्टुप् १ जगती ।
१० दशमोऽनुवाकः ।				
९३	३	शन्तातिः	रुद्रः, ३ बहुदैवत्यम्	त्रिष्टुप्
९४	३	अथर्वांगिराः	सरस्वती	अनुष्टुप् २ विराट् जगती ।
९५	३	भृग्वंगिराः	वनस्पतिः, मंत्रोक्ताः	अनुष्टुप्
९६	३	भृग्वंगिराः	वनस्पतिः, ३ सोमः	अनुष्टुप् ३ त्रिपदाविराण्नाम गायत्री ।
९७	३	अथर्वा	मित्रावरुणौ	त्रिष्टुप्, २ जगती, भुरिक् ।
९८	३	अथर्वा	इन्द्रः	त्रिष्टुप्, २ बृहती गर्भास्तारपंक्तिः ।
९९	३	अथर्वा	इन्द्रः, ३ सोमः सविता च	अनुष्टुप्, ३ भुरिक् बृहती ।
१००	३	गरुत्मान्	वनस्पतिः	अनुष्टुप्
१०१	३	अथर्वांगिराः	ब्रह्मणस्पतिः	अनुष्टुप्
१०२	३	जमदग्निः (अभिसंमनस्कामः)	अश्विनौ	अनुष्टुप्
११ एकादशोऽनुवाकः । १५ पञ्चदशः प्रपाठकः ।				
१०३	३	उच्छोचनः	इन्द्राग्नी, बहुदैवत्यम्	अनुष्टुप्
१०४	३	प्रशोचनः	इन्द्राग्नी, बहुदैवत्यम्	अनुष्टुप्
१०५	३	उन्मोचनः	कासः	अनुष्टुप्
१०६	३	प्रमोचनः	दूर्वाशाला	अनुष्टुप्
१०७	४	शन्तातिः	विश्वजित्	अनुष्टुप्
१०८	५	शौनकः	मेधा, ४ अग्निः	अनुष्टुप्, २ उरोबृहती, ३ पथ्याबृहती ।

सूक्त	मंत्रसंख्या	ऋषि	देवता	छंद
१०९	३	अथर्वा	पिप्पली, भैषज्यं	अनुष्टुप्
११०	३	अथर्वा	अग्निः	त्रिष्टुप्, १ पंक्तिः ।
१११	४	अथर्वा	अग्निः	अनुष्टुप्, १ परानुष्टुप् त्रिष्टुप् ।
११२	३	अथर्वा	अग्निः	त्रिष्टुप्
११३	३	अथर्वा	पूषा	त्रिष्टुप्, ३ पंक्तिः ।

१२ द्वादशोऽनुवाकः ।

सूक्त	मंत्रसंख्या	ऋषि	देवता	छंद
११४	३	ब्रह्मा	विश्वेदेवाः	अनुष्टुप्
११५	३	ब्रह्मा	विश्वेदेवाः	अनुष्टुप्
११६	३	जाटिकायनः	वैवस्वतः	जगती, २ त्रिष्टुप् ।
११७	३	कौशिकः (अनृण कामः)	अग्निः	त्रिष्टुप्
११८	३	कौशिकः (अनृण कामः)	अग्निः	त्रिष्टुप्
११९	३	कौशिकः (अनृण कामः)	अग्निः	त्रिष्टुप्
१२०	३	कौशिकः (अनृण कामः)	मन्त्रोक्तदेवताः	१ जगती, २ पंक्तिः, ३ त्रिष्टुप् ।
१२१	४	कौशिकः (अनृण कामः)	मन्त्रोक्तदेवताः	१-२ त्रिष्टुप्, ३,४ अनुष्टुप् ।
१२२	५	भृगुः	विश्वकर्मा	त्रिष्टुप्, ४,५ जगती ।
१२३	५	भृगुः	विश्वेदेवाः	त्रिष्टुप्, ३ द्विपदा साम्नी अनुष्टुप् । ४ एकावसाना द्विपदा प्राजापत्या भुरिगनुष्टुप् ।
१२४	३	अथर्वा (निर्ऋत्यपसरणकामः)	मंत्रोक्तदेवताः दिव्या आपः	त्रिष्टुप्

१३ त्रयोदशोऽनुवाकः ।

सूक्त	मंत्रसंख्या	ऋषि	देवता	छंद
१२५	३	अथर्वा	वनस्पतिः	त्रिष्टुप्, २ जगती ।
१२६	३	अथर्वा	वानस्पत्यो दुन्दुभिः	भुरिक्त्रिष्टुप्
१२७	३	भृग्वंगिराः	वनस्पतिः, यक्ष्मनाशनं	अनुष्टुप्, ३ त्र्यवसाना षट्पदा जगती ।
१२८	४	अंगिराः (अथर्वांगिराः)	चन्द्रमाः, शकधूमः	अनुष्टुप्
१२९	३	अंगिराः (अथर्वांगिराः)	भगः	अनुष्टुप्
१३०	४	अथर्वांगिराः	स्मरः	अनुष्टुप्, १ विराट्पुरस्ताद्बृहती ।
१३१	३	अथर्वांगिराः	स्मरः	अनुष्टुप्
१३२	५	अथर्वांगिराः	स्मरः	अनुष्टुप् १ त्रिपदानुष्टुप्, ३ भुरिक्, २, ४, ५ त्रिपदा महाबृहती, २,४ विराट् ।
१३३	५	अगस्त्यः	मेखला	त्रिष्टुप्, १ भुरिक्, २, ५ अनुष्टुप्, ४ जगती ।
१३४	३	शुक्रः	मन्त्रोक्तदेवताः	अनुष्टुप्, १ परानुष्टुप् त्रिष्टुप्, २ भुरिक् त्रिपदागायत्री ।
१३५	३	शुक्रः	मन्त्रोक्तदेवताः	अनुष्टुप्

सूक्त	मंत्रसंख्या	ऋषि	देवता	छंद
१३६	३	अथर्वा (केशवर्धनकामः) [वीतहव्यः]	वनस्पतिः	अनुष्टुप्, २ एकावसाना द्विपदा साम्नीबृहती ।
१३७	३	अथर्वा (केशवर्धनकामः) [वीतहव्यः]	वनस्पतिः	अनुष्टुप्
१३८	५	अथर्वा (केशवर्धनकामः) [वीतहव्यः]	वनस्पतिः	अनुष्टुप्, ३ पथ्यापंक्तिः
१३९	५	अथर्वा (केशवर्धनकामः)	वनस्पतिः	अनुष्टुप्, १ त्र्यवसाना षट्पदा विराड् जगती ।
१४०	३	अथर्वा		ब्रह्मणस्पतिः, मंत्रोक्ताः	अनुष्टुप्, १ उरोबृहती, २ उपरिष्टाज्ज्योतिष्मती त्रिष्टुप्, ३ आस्तारपंक्तिः ।
१४१	३	विश्वामित्रः	अश्विनौ	अनुष्टुप्
१४२	३	विश्वामित्रः	वायुः	अनुष्टुप्

इस प्रकार षष्ठ काण्डके सूक्तोंके ऋषि, देवता, छंद हैं । अब इनका ऋषिक्रमानुसार विभाग देखिये—

ऋषिक्रमानुसार सूक्तविभाग ।

१ अथर्वा ऋषि के १-७, १३, १७, १८, ३२, ३६-४०, ५०, ५८-६२, ६४-६९, ७३, ७४, ७८-८१, ८५-९०, ९२, ९७-९९, १०९-११३, १२४-१२६, १२९-१३२, १३६-१४० ये ६१ सूक्त हैं ।

२ शन्ताति ऋषि के १०, १९, २१-२४, ५१, ५६, ५७, ९३, १०७ ये ग्यारह सूक्त हैं ।

३ मृग्वंगिराः ऋषि के २०, ४२, ४३, ९१, ९५, ९६, १२७ ये सात सूक्त हैं ।

४ ब्रह्मा ऋषि के २६, ४१, ५४, ५५, ७१, ११४, ११५ ये सात सूक्त हैं ।

५ कौशिक ऋषि के ३५, ११७-१२१ ये छः सूक्त हैं ।

६ भृगु ऋषि के २७-२९, १२२, १२३ ये पांच सूक्त हैं ।

७ अङ्गिराः प्राचेतस् ऋषि के ४५-४८ ये चार सूक्त हैं ।

८ विश्वामित्र ऋषि के ४४, १४१, १४२ ये तीन सूक्त हैं ।

९ अथर्वाङ्गिरा ऋषि के ७२, ९४, १०१ ये तीन सूक्त हैं ।

१० जमदग्नि ऋषि के ८, ९, १०२ ये तीन सूक्त हैं ।

११ अङ्गिरा ऋषि के ८३, ८४, १२८ ये तीन सूक्त हैं ।

१२ कबन्ध ऋषि के ७५-७७ ये तीन सूक्त हैं ।

१३ गरुत्मान् ऋषि के १२, १०० ये दो सूक्त हैं ।

१४ शौनक ऋषि के १६, १०८ ये दो सूक्त हैं ।

१५ उपरिबभ्रव ऋषि के ३०, ३१ ये दो सूक्त हैं ।

१६ चातन ऋषि के ३२, ३४ ये दो सूक्त हैं ।

१७ जाटिकायन ऋषि के ३३, ११६ ये दो सूक्त हैं ।

१८ शुक्र ऋषि के १३४, १३५ ये दो सूक्त हैं ।

१९ प्रजापति ऋषि का ११ यह एक सूक्त है ।

२० बभ्रुपिंगल ऋषि का १४ यह एक सूक्त है ।

२१ उद्दालक ऋषि का १५ यह एक सूक्त है ।

२२ शुनःशेप ऋषि का २५ यह एक सूक्त है ।

२३ यम ऋषि का ४५ यह एक सूक्त है ।

२४ गार्ग्य ऋषि का ४९ यह एक सूक्त है ।

२५ भागलि ऋषि का ५२ यह एक सूक्त है ।

२६ बृहच्छुक्र ऋषि का ५३ यह एक सूक्त है ।

२७ काङ्कायन ऋषि का ७० यह एक सूक्त है ।

२८ भग ऋषि का ८२ यह एक सूक्त है ।

२९ उच्छोचन ऋषि का १०३ यह एक सूक्त है ।

३० प्रशोचन ऋषि का १०४ यह एक सूक्त है ।

३१ उन्मोचन ऋषि का १०५ यह एक सूक्त है ।

३२ प्रमोचन ऋषि का १०६ यह एक सूक्त है ।

३३ अगस्त्य ऋषि का १३३ यह एक सूक्त है ।

इस प्रकार ३३ ऋषियोंके नामोंसे इस काण्डका संबंध है । प्रथम काण्डमें ८, द्वितीय काण्डमें १७, तृतीय काण्डमें ८, चतुर्थ काण्डमें १७, पञ्चम काण्डमें १९ और इस षष्ठ काण्डमें ३३ ऋषियोंका संबंध है। अब देवताक्रमानुसार सूक्तविभाग देखिये—

देवताक्रमानुसार सूक्तविभाग ।

१ नाना देवताः, बहुदैवतम्, मन्त्रोक्तदैवतं के ३; ४; १०; ११; १६; १९; २५; ४१; ४४; ४८; ५२; ५३; ५८; ६२; ६८; ७३, ७५; ८१; ८३; ८९; ९१; ९३; ९५; १२०; १२१; १२४; १३४; १३५; १४० ये २९ सूक्त हैं ।

२ सोम, चन्द्रमा के २; ६; ७; १६; १९; २१; ३७; ४१; ६५-६७; ७८; ८०; ९६; ९९; १२८ ये १६ सूक्त हैं ।

३ अग्नि के १०; ३२; ३४; ३६; ४७; ४९; ६३; ७१; १०८; ११०-११२; ११७-११९; ये १५ सूक्त हैं ।

४ वनस्पति के २; १५; ४४; ८५; ९५; ९६; १००; १२५; १२७; १३६-१३९ ये १३ सूक्त हैं ।

५ विश्वेदेवाः देवता के ७; ४७; ५५; ५६; ६४; ७१; ११४; ११५; १२३ ये ९ सूक्त हैं ।

६ रुद्र देवता के ५५-५७; ५९; ६१; ६२; ८९; ९०, ९३ ये ९ सूक्त हैं ।

७ इन्द्र देवता के ३३; ६५-६७; ७५; ८२; ९८; ९९ ये ८ सूक्त हैं ।

८ बृहस्पति के ३८; ३९; ५८; ५९; ६९ ये पांच सूक्त हैं ।

९ निर्ऋति के २७-२९; ६३; ८४ ये पांच सूक्त हैं ।

१० ब्रह्मणस्पति के ६; १०१; १०२; १४० ये चार सूक्त हैं ।

११ अश्विनौ के ५०; ६९; १०२; १४० ये चार सूक्त हैं ।

१२ यम के २७-२९; ६३ ये चार सूक्त हैं ।

१३ आपः के २३, २४, ५१, १२४ ये चार सूक्त हैं ।

१४ सांमनस्य के ६४, ७३, ७४ ये तीन सूक्त हैं ।

१५ पराशर के ६५-६७ तीन सूक्त हैं ।

१६ स्मर के १३०-१३२ तीन सूक्त हैं ।

१७ वायु के १०, १४२ ये दो सूक्त हैं ।

१८ यक्ष्मनाशन के २०, १२७ ये दो सूक्त हैं ।

१९ ध्रुव के ८७, ८८ ये दो सूक्त हैं ।

२० कालात्मा के ८, ९ ये दो सूक्त हैं ।

२१ सविता के १, ९९ ये दो सूक्त हैं ।

शेष सूक्त एक देवताका एक है देखिये, इन्द्राग्नी ५, सूर्य १०, रेतः ११, तक्षक १२, मृत्युः १३, बलासः १४, गर्भदृंहणं १७, ईर्ष्याविनाशनं १८, आदित्यरश्मिः २२, मरुतः २२, पाप्मा २६, शर्मा ३०, गौः ३१, वैश्वानरः ३५, त्विषिः ३८, मन्युः ४२, मन्युशमनं ४३, दुःष्वप्ननाशनं ४५, स्वप्नः ४६, ध्रुवन्वा ४७, वरुणः ५१, अग्नीषोमौ ५४, अर्यमा ६०, अघ्न्या ७०, वेपोऽर्कः ७३, त्रिणामा ७४, सांतपनाग्निः ७६, जातवेदाः ७७, त्वष्टा ७८, संस्फानः ७९, आदित्यः ८१, एकवृषः ८६, वाजी ९२, सरस्वती ९४, मित्रावरुणौ ९७, कामः १०५, दूर्वाशाला १०६, विश्वजित् १०७, मेधा १०८; पिप्पली १०९, भैषज्यं १०९, पूषा ११३, वैवस्वतः ११६, विश्वकर्मा १२२, वानस्पत्यो दुन्दुभिः १२६, शकधूमः १२८, भगः १२९, मेखला १३३ ये अडतालीस देवताओंके प्रत्येकके एक एक ऐसे सूक्त हैं ।

पहिलेके २१ और ये ४८ मिलकर ६९ देवताएं इस काण्डमें हैं । अर्थात् इतनी देवताओंका विचार इस काण्डमें हुआ है । अब इस काण्डके गणोंकी व्यवस्था देखिये—

इस काण्डमें सूक्तोंके गण ।

१ बृहच्छान्तिगण के १९, २३, २४, ५१, ५७, ५९, ६१, ९३, १०७ ये नौ सूक्त हैं ।

२ स्वस्त्ययनगण के ३, ४, ७, १३, ३२, ३७, ४० ९३, ये आठ सूक्त हैं ।

३ तक्मनाशनगण के २०, २६, ४२, ८५, ९१, १२७ ये छः सूक्त हैं ।

४ पुष्टिकमंत्रगण के ४, १५, ३३, ७९, १०२ ये पांच सूक्त हैं ।

५ अपराजितगण के ६५-६७ ९७, ये चार सूक्त हैं ।

६ वर्चस्यगण के ३८, ५८, ६९, ये तीन सूक्त हैं ।

७ पवित्रगण के ५१, ६२, ७३ ये तीन सूक्त हैं ।

८ रौद्रगण के ५५, ६१, ९० ये तीन सूक्त हैं ।

९ वास्तुगण के १०, ७३ ये दो सूक्त हैं ।

१० चातनगणके ३२, ३४ ये दो सूक्त हैं ।

११ अंहोलिङ्गगण के ३५, ३६ ये दो सूक्त हैं ।

१२ अभयगण के ४०, ५० ये दो सूक्त हैं ।

१३ इन्द्रमहोत्सव के ८६, ८७ ये दो सूक्त हैं ।

१४ दुःष्वप्ननाशनगण का ४५ यह एक सूक्त है ।

१५ सांमनस्यगण का ७३ यह एक सूक्त है ।

इस प्रकार इन सूक्तोंके गण हैं । पाठक यदि इन सूक्तोंका गण सूक्तोंके साथ साथ मिलकर विचार करेंगे, तो सूक्तोंका तात्पर्य समझनेमें बडी सुगमता होगी ।

इतना विचार ध्यानमें रखकर अब इस काण्डका मनन कीजिये ।

ॐ

अथर्ववेद का सुबोध भाष्य।

षष्ठ काण्ड।

अमृतदाता ईश्वर !

[सूक्त १]

(ऋषिः — अथर्वा। देवता — सविता।)

दोषो गाय बृहद् गाय द्युमद्धेहि। आथर्वण स्तुहि देवं सवितारम् ॥ १ ॥
तमु ष्टुहि यो अन्तः सिन्धौ सूनुः। सत्यस्य युवानमद्रोघवाचं सुशेवम् ॥ २ ॥
स घा नो देवः सविता साविषदमृतानि भूरि। उभे सुष्टुती सुगातवे ॥ ३ ॥

अर्थ— हे (आथर्वण) अथर्वाके अनुयायी ! (सवितारं देवं) सविता देवकी (स्तुहि) स्तुति कर। (दोषो गाय) रात्रीके समय गा, (बृहद् गाय) बहुत भजन कर, (द्युमद् धेहि) तेजयुक्तकी धारणा कर ॥ १ ॥

(यः सिन्धौ अन्तः सत्यस्य सूनुः) जो भवसमुद्रके बीचमें सत्यकी प्रेरणा करनेवाला, तथा (युवानं) युवा, (सुशेवं) उत्तम सुख देनेवाला और (अ-द्रोघ-वाचं) द्रोहहीन वाणीसे युक्त है (तं उ स्तुहि) उसीका गुणवर्णन कर ॥ २ ॥

(सः घा सविता देवः) वही सर्व प्रेरक देव (उभे सुष्टुती सुगातवे) दोनों प्रकारकी स्तुति करने योग्य उत्तम मार्गोंपरसे हम जांय, इसके लिये (नः भूरि अमृतानि साविषत्) हमें बहुतसे अमृतमय सुख देता रहता है ॥ ३ ॥

भावार्थ— हे योगमार्गमें प्रवृत्त मनुष्य ! तू सर्वप्रेरक एक ईश्वरकी उपासना कर। रात्रीके समय उसका गुणगान कर, उसका बहुत भजन कर, और उसके तेजको मनमें धारण कर ॥ १ ॥

वही एक ईश्वर इस भवसमुद्रके बीचमें सत्यकी प्रेरणा करनेवाला है, वह न बाल होता है और न वृद्ध होता है। अपितु सदा तरुण रहता है। वही सब सुखोंको देनेवाला है और हिंसारहित वाणीका प्रवर्तक है, उसीका गुणगान कर ॥ २ ॥

वही सबको प्रेरणा देनेवाला एक देव, हम दोनों प्रकारके प्रशंसनीय मार्गोंपरसे प्रगति करें, इसलिये हमें अनंत सुख सदा देता रहता है ॥ ३ ॥

एक देवकी भक्ति।

इस सूक्तमें एक देवकी भक्ति करनेका उत्तम उपदेश है। विशेष विचार न करते हुए इस सूक्तका अर्थ देखनेसे, यह सूक्त सूर्य देवकी उपासना करनेका उपदेश कर रहा है, ऐसा प्रतीत होता है। सूर्य परमात्माका प्रतिनिधि इस सूर्य मालामें है, इस-लिये उसकी उपासना करनेसे परंपरया परमात्माकी उपासना हो सकती है, इसमें संदेह नहीं है। परंतु यह प्रतीकोपासना साधारण अज्ञ बालबुद्धि जनोंकी मनःस्थिरताके लिये उपयोगी है। वेदमें अग्नि, विद्युत् और सूर्य इनके द्वारा पार्थिव, अन्त-रिक्षीय और द्युलोक संबंधी तीन दृश्य तेजोंका दर्शन कराके परमात्मोपासनाका ही पाठ दिया होता है। इसी नियमके अनु-

सार यहां सविता देवके द्वारा सूर्यका दर्शन कराते हुए एक अद्वितीय परमात्माकी ही उपासना कही है इसका उत्तम प्रमाण यह है—

दोषो गाय। (मं. १)

' रात्रीके समय उसका गुणगान कर, उसकी भक्ति कर, उसकी उपासना कर, यदि ' दिनमें दिखाई देनेवाले सूर्यकी ही उपासना इस सूक्तमें होती, तो ' रात्रीके समय उसका गुण गान कर ' ऐसा कहना अनुचित था, क्योंकि सूर्यकी उपासना दिनके समय ही हो सकती है और रात्रीके समय नहीं। इस सूक्तमें तो रात्रीके एकान्त समयमें उस सूर्य देवका खूब भजन करो ऐसी आज्ञा है, देखिये—

दोषो गाय, बृहद् गाय। (मं. १)

' रात्रीके समय भजन कर, बहुत भजन कर ' इस प्रकार रात्रीके समय भजन करनेको ही कहा है यदि इस सूर्यकी ही उपासना इस सूक्तमें अभीष्ट होती, तो उसकी उपासना रात्रीका नामनिर्देश करके कैसे कही होती ? इस सूक्तमें दिनका नाम तक नहीं है, परंतु रात्रीका स्पष्ट उल्लेख है, इतना ही नहीं परंतु उस रात्रीमें —

द्युमत् धेहि। (मं. १)

' तेजवाले स्वरूपकी मनमें धारणा कर। ' सूर्यका तेज दिनमें दिखाई देता है, रात्रीके समय नहीं। परंतु यहां तो रात्रीके समय सूर्यके तेजका ध्यान करना लिखा है; इस लिये, जो सूर्य रात्रीके समय उपासनाके लिये प्राप्त हो सकता है, और जिसके तेजकी धारणा रात्रीके समयमें भी की जा सकती है, उस सूर्यका वर्णन इस सूक्तमें है ऐसा हम कह सकते हैं। अर्थात् सूर्यका भी जो सूर्य परमात्मा है, जिसके शासनसे यह सूर्य यहां प्रकाश रहा है, उस परमात्मरूपी सूर्यकी उपासना इस सूक्त द्वारा कही है। इसके गुणका उपासनाके समय मनन करना चाहिये, जिनका वर्णन निम्न लिखित प्रकार इस सूक्तमें हुआ है—

१ **बृहत्** = वह सबसे बडा है, उससे बडा कोई नहीं है,
२ **द्युमत्** = वह प्रकाशवाला है,
३ **देव** = वह सब प्रकारसे दिव्य है, वह दाता प्रकाशक और ऐश्वर्ययुक्त है,
४ **सविता** = वह सबकी उत्पत्ति करनेवाला और सबका ऐश्वर्य बढानेवाला है,
५ **सिन्धौ अन्तः** = इस संसारसमुद्रके गहरे स्थानमें भी वह विद्यमान है,
६ **सत्यस्य सूनुः** = सत्यकी प्रेरणा करनेवाला, वह सत्य स्वरूप है,
७ **युवा** = वह सदा जवान है, वह न कभी बाल था और न कभी बुड्ढा होगा, सदा तरुण जैसा शक्तिशाली है,
८ **सुशेव**। = उत्तम सुख देनेवाला, किंवा (**सु-सेवः**) उत्तम प्रकार सेवा करने योग्य,
९ **अ-द्रोघ-वाच्**= हिंसारहित शब्दोंकी प्रेरणा करनेवाला,
१० **अमृतानि भूरि सावित्**= अनंत सुखोंको देता रहता है।

ये दस गुण इस परमात्माके इस सूक्तमें कहे हैं, उपासकको इन गुणोंका मनन करना चाहिये। परमात्माके इन गुणोंका मनन करके, इनकी धारणा मनमें करके अपने अन्दर जहांतक हो वहां तक इन गुणोंकी वृद्धि करनी चाहिये। सर्वथा इन गुणोंका उत्कर्ष मनुष्यमें न भी हो सके, तो कोई हर्ज नहीं है, जिस अवस्था तक हो सके, उस अवस्थातक उत्कर्ष करना आवश्यक है।

परमात्माके इन गुणोंका मनन करनेसे उसके तेजःस्वरूपका साक्षात्कार सर्वत्र होने लगता है। योगमार्गमें प्रवृत्त होकर प्राणायाम ध्यानधारणाकी ओर थोडीसी प्रवृत्ति होनेसे ही प्रकाशदर्शन होने लगता है। इस प्रकाशदर्शनका नित्य स्मरण करनेसे और इसीको ध्यानमें स्थिर करनेसे योगसिद्ध उन्नतिके प्रकाशका मार्ग सिद्ध हो जाता है। यह तेजका केन्द्र इस संसार महासागरमें सर्वत्र उपस्थित देखना और उसके बिना कोई पदार्थ नहीं है, ऐसा मनका निश्चय करना चाहिये। उसका तेज, उसके सत्यनियम और उसकी दया सर्वत्र अनुभव करनेसे उसकी सर्वत्र उपस्थिति जानी जा सकती है।

अहिंसक वाणी।

परमात्मा स्वयं हिंसारहित वाणीका प्रवर्तक है, अतः जो मनुष्य उसके भक्त होना चाहते हैं, वे सदा द्रोहरहित वाणीका प्रयोग करें। ' अद्रोघवाच् ' अर्थात् जिन शब्दोंमें थोडा भी द्रोह नहीं, थोडी भी हिंसा नहीं, दूसरोंको कष्ट देनेका थोडा भी आशय नहीं, उस प्रकारकी वाणी मनुष्योंको बोलना उचित है। इस शब्द द्वारा ईश्वरभक्तको किस प्रकारका आचरण करना चाहिये यह दर्शाया है। यदि स्वयं परमेश्वर कभी द्रोहमय शब्दोंका प्रयोग नहीं करता, तो उसके भक्तको भी ऐसे ही शब्द प्रयोग करना चाहिये। अर्थात् भगवद्भक्त अपने मनमें हिंसाका भाव न रखे, हिंसाभाव वाणीसे प्रकट न करे, और हिंसाका कोई कर्म न करे। इस प्रकार प्रयत्न करनेसे कोई समय ऐसा आ जाता है, कि जिस समय उपासकके मनमें

हिंसाकी लहर उठती ही नहीं। यह अवस्था जब प्राप्त होती है तब उसके सन्मुख हिंसक जन्तु भी हिंसावृत्ति भूल जाते हैं। आत्मोन्नतिके लिये इस प्रकार 'अद्रोह वृत्ति' की परम आवश्यकता रहती है।

अद्रोह वृत्ति केवल द्रोह निषेधको ही व्यक्त करती है, ऐसा कोई न समझे। द्रोह निषेधकी अपेक्षा '**दूसरोंका सुख बढानेके लिये आत्मसमर्पण**' करनेकी इस वृत्तिमें आवश्यकता है। अहिंसा, अद्रोह ये शब्द केवल हिंसा निवृत्ति ही नहीं बताते, प्रत्युत जनताकी सेवा करने द्वारा जो भगवान्की सेवा होती है, उसके करनेकी भी इसमें आवश्यकता है।

सत्यका मार्ग।

अहिंसाके साथ 'सत्य' का मार्ग भी इस सूक्तमें बताया है। परमात्माको '**सत्यस्य सूनुः**' कहा है, यहां '**सूनु**' शब्दका अर्थ (**सु-प्रसवे**) प्रसव करना है। सत्यका प्रसव करनेका तात्पर्य सत्य मानना, सत्य बोलना और सत्य करना, अर्थात् सत्यरूप बनना है। परमात्मा सत्यका प्रवर्तक है, ऐसा कहनेसे ईश्वर भक्तको उचित है कि वह सत्यनिष्ठ बने। अपनी उन्नतिके लिये सत्यकी अत्यंत आवश्यकता है।

अहिंसा वृत्ति और सत्यनिष्ठा इन दो भावनाओंसे मनुष्यकी उन्नति हो सकती है और परमात्माका साक्षात्कार होता है।

दो मार्ग।

अहिंसा और सत्य ये दो प्रशंसनीय मार्ग हैं, इनसे ही मनुष्यमात्रका इहपरलोकमें कल्याण हो सकता है इन दो मार्गोंके विषयमें इस सूक्तमें इस प्रकार कहा है।

उभे सुष्टुती सुगातये सः भूरि अमृतानि सावषित्। (मं. ३)

'दोनों उत्तम प्रशंसनीय मार्गोंपरसे (सु) उत्तम रीतिसे (गातये) जानेके लिये वह परमात्मा बहुत सुखसाधन हमें देता है।' यही उसकी अपार दया है। इस जगतमें उसने अनंत सुखसाधन बनाये हैं, और मनुष्योंको दिये हैं। इसका उद्देश्य यह है कि मनुष्य उन सुखसाधनोंका अवलंबन करके अहिंसा और सत्यके साधनद्वारा अपनी उन्नतिका साधन करे और अन्तमें परमात्माको प्राप्त करे। परमेश्वरकी अपार दया इस प्रकार अनुभव करके उसके ऊपर दृढ श्रद्धा रखनी योग्य है।

उक्त दो मार्ग ऐहिक अभ्युदय साधन और पारमार्थिक निःश्रेयस साधन ये भी हो सकते हैं। धर्मके ये दो अंग ही हैं। परमात्माने इस जगतमें जो सुखसाधन निर्माण किये हैं उनको लेकर अभ्युदय और निःश्रेयस साधन करके परमगतिको मनुष्य प्राप्त हो।

अथर्वोंका अनुयायी।

इस सूक्तका उपदेश 'अ-थर्वण' के लिये किया है। '**थर्व**' का अर्थ कुटिलता, हिंसा, चंचलता आदि। '**अ+थर्व**,' का अर्थ है 'अकुटिलता, अहिंसा और स्थिरता' जो मनुष्य अकुटिलता और अहिंसा वृत्तिसे चलते हुए मनःस्थैर्य प्राप्त करते हैं अर्थात् योगमार्गका अनुष्ठान करके चित्तवृत्तियोंका निरोध करते हैं, उनको अथर्वा कहते हैं। इस योगमार्गके जो अनुयायी होते हैं, उनको 'आथर्वण' कहते हैं। इन आथर्वणोंकी उन्नति किस प्रकार होती है, इसका वर्णन इस सूक्तमें किया है। इस दृष्टिसे पाठक इस सूक्तका विचार करेंगे, तो उनको आत्मोन्नतिके वेदप्रतिपादित योगमार्गका ज्ञान हो सकता है।

आशा है कि पाठक इस सूक्तसे अहिंसा और सत्यका महत्त्व जानकर उसके अवलंबनसे अपनी उन्नतिका साधन करें और वेदका उपदेश अपने दैनिक आचरणमें लाकर इहपरलोकमें परम उन्नति प्राप्त करें।

विजयी इन्द्र।

[सूक्त २]

(ऋषिः — अथर्वा। देवता — सोमः, वनस्पतिः।)

इन्द्रा॑य॒ सोम॑मृत्विजः सु॒नोता॒ च॑ धावत। स्तो॒तुर्यो वचः॑ शृ॒णव॒द्धवं॑ च मे ॥ १ ॥

अर्थ— हे (**ऋत्विजः**) ऋतुओंके अनुकूल यज्ञ करनेवालो! (**इन्द्राय सोमं सुनोत**) इन्द्रके लिये सोमरस निचोडो, (**च आ धावत**) और उसको अच्छी प्रकार धोओ। (**यः स्तोतुः मे वचः**) जो स्तुति करनेवाले मेरी स्तुति और (**हवं च**) मेरी प्रार्थना (**शृणवत्**) सुने ॥ १ ॥

आ यं विशन्तीन्दवो वयो न वृक्षमन्धसः। विरप्शिन्वि मृधो जहि रक्षस्विनीः ॥ २ ॥
सुनोता सोमपाव्ने सोममिन्द्राय वज्रिणे। युवा जेतेशानः स पुरुष्टुतः ॥ ३ ॥

अर्थ— (यं अन्धसः इन्दवः) जिसके प्रति अन्नरसके अंश (आ विशन्ति) पहुंच जाते हैं (वृक्षं वयः न) वृक्षके प्रति जैसे पक्षी जाते हैं। हे (विरप्शिन्) विज्ञानयुक्त वीर! (रक्षस्विनीः मृधः वि जहि) आसुरी वृत्तिके शत्रुओंका नाश कर ॥ २ ॥

(सोमपाव्ने वज्रिणे इन्द्राय) सोमपान करनेवाले वज्रधारी इन्द्रके लिये (सोमं सुनोत) सोमका रस निचोडो। (सः पुरुष्टुतः जेता युवा ईशानः) वह प्रशंसनीय विजयी युवा ईश है ॥ ३ ॥

भावार्थ— हे याजको! इन्द्र देवके लिये सोमरस निचोडो और उस रसको छानकर पवित्र बनाओ। वह प्रभु ऐसा है कि जो हमारी प्रार्थना सुनता है और हमारे मनोरथ पूर्ण करता है ॥ १ ॥

उसी प्रभुके प्रति यह सोमयज्ञ पहुंचता है। हे वीर! आसुरी भाववाले शत्रुओंको परास्त कर ॥ २ ॥

सोमपान करनेवाले वज्रधारी इन्द्रके लिये सोमरस तैयार करो। वही इन्द्र प्रशंसनीय विजयी युवा वीर है और वही सबका प्रभु है ॥ ३ ॥

इन्द्रके लिये सोमरस।

सोमरस निकालकर उसको छानकर पवित्र करके उसका प्रभुके लिये समर्पण करना चाहिये और अवशिष्ट रहे हुए रसका स्वयं सेवन करना चाहिये। यह सोमरस बडा बलवर्धक, पौष्टिक, आरोग्यवर्धक, उत्साहवर्धक और तेजस्विता बढानेवाला है। ईश्वरको भक्तिपूर्वक समर्पण करनेके बाद अवशेष भक्षण करनेका महत्त्व इस सूक्तमें है।

तृतीय मंत्रमें 'ईशान' शब्द है जो इन्द्र शब्दका विशेषण होनेसे यहांका वर्णन परमात्मपरक होनेका निश्चय कराता है। 'युवा, जेता, इन्द्र' आदि शब्द भी उसी प्रभुके वाचक प्रसिद्ध हैं।

रक्षाकी प्रार्थना।

[सूक्त ३]

(ऋषिः — अथर्वा। देवता — नानादेवताः।)

पातं न इन्द्रापूषणादितिः पान्तु मरुतः।
अपां नपात् सिन्धवः सप्त पातन पातु नो विष्णुरुत द्यौः ॥ १ ॥
पातां नो द्यावापृथिवी अभिष्टये पातु ग्रावा पातु सोमो नो अंहसः।
पातु नो देवी सुभगा सरस्वती पात्वग्निः शिवा ये अस्य पायवः ॥ २ ॥

अर्थ— (इन्द्रापूषणौ नः पातं) इन्द्र और पूषा ये दो देव हमारी रक्षा करें, (अदितिः मरुतः पान्तु) अदिति और मरुत् देव हमारी रक्षा करें। (अपां नपात्, सप्त सिन्धवः पातन) मेघोंको न गिरानेवाला पर्जन्यदेव और सातों समुद्र हमारी रक्षा करें, (विष्णुः उत द्यौः नः पातु) व्यापक देव और द्युलोक हमें बचावे ॥ १ ॥

(द्यावापृथिवी अभिष्टये नः पातां) द्युलोक और पृथिवी लोक अभीष्ट अवस्था प्राप्त होनेके लिये हमारी रक्षा करें। (ग्रावा सोमः नः अंहसः पातु) पत्थर और सोम औषधि हमें पापसे बचावें, (सुभगा सरस्वती देवी नः पातु) उत्तम ऐश्वर्यवाली विद्यादेवी हमारी रक्षा करे। (अग्निः पातु) अग्नि हमारी रक्षा करे और (ये अस्य पायवः) जो इसके रक्षक गुण हैं, वे भी हमारी रक्षा करें ॥ २ ॥

पातां नो देवाश्विना शुभस्पती उषासानक्तोत न उरुष्यताम् ।
अपां नपादभिन्हुती गयस्य चिद् देव त्वष्टर्वर्धय सर्वतातये ॥ ३ ॥

अर्थ— (**शुभस्पती अश्विनौ देवौ नः पातां**) उत्तम पालक अश्विनीदेव हमारी रक्षा करें। (**उत उषासानक्ता नः उरुष्यतां**) तथा उषा और रात्री हमारी रक्षा करें। (**अपां नपात् त्वष्टः देव**) हे जलोंको न गिरानेवाले त्वष्टा देव ! (**गयस्य अभिन्हुती चित्**) घरकी दुरवस्थासे भी दूर करके (**सर्वतातये वर्धय**) सब प्रकारके विस्तारके लिये हमारी वृद्धि कर ॥ ३ ॥

देवों द्वारा हमारी रक्षा ।

इस सूक्तमें कई देवोंके नामोंका उल्लेख करके उनसे हमारी रक्षा होनेकी प्रार्थना की है। इसमें पृथ्वीस्थानीय देव ये हैं—

१ **पृथिवी** = भूमि जिसपर सब मानवजाति रहती है,

२ **सप्त सिन्धवः** = सात समुद्र, जिनमें जल भरा पड़ा है,

३ **अग्निः, मरुत पायवः च** = अग्नि और उसकी सब रक्षक शक्तियां,

४ **सोमः** = सोम आदि सब वनस्पतियां और औषधियां,

५ **ग्रावा** = पत्थर तथा अन्यान्य खनिज पदार्थ।

ये पांच देव पृथिवीस्थानीय हैं, ये अपनी शक्तियोंसे हमारी रक्षा करें। इनके अन्दर विविध शक्तियां हैं, इसलिये उन शक्तियोंसे मनुष्यका सुख बढे ऐसा उपाय अवलंबन करना चाहिये। उदाहरणके लिये अग्निका उपयोग पाक करने आदि कार्योंमें करनेसे लाभ और गृहादिके जलानेमें करनेसे हानि होती है। इसी प्रकार अन्यान्य देवताओंके विषयमें जानना चाहिये। अब अन्तरिक्षस्थानीय देवोंके विषयमें देखिये—

६ **इन्द्र** = जो पर्जन्य देता है, विद्युत्‌का संचार करता है,

७ **मरुतः** = सब प्रकारके वायु, जो प्राणादि रूपसे सबकी रक्षा करते हैं,

८ **अपां नपात्** = जलोंको मेघोंमें धारण करनेवाला देव,

९ **त्वष्टा** = जो तोडने जोडनेका कार्य करता है और जो रूपोंको बनाता है।

ये देव भी विविध शक्तियोंके द्वारा मनुष्योंकी रक्षा करते हैं। इसलिये इनकी शक्तियोंसे मनुष्यका लाभ हो और कदापि हानि न हो ऐसा प्रबंध करना चाहिये। अब द्युस्थानीय देवताओंका विचार देखिये—

१० **द्यौः** = द्युलोक जहां सब तेजधारी सूर्यादि गोलक रहते हैं,

११ **पूषा** = सूर्य जो अपने किरणोंसे सबको पुष्ट करता है।

ये देव द्युलोकमें रहते हुए मनुष्यकी रक्षा कर रहे हैं, इसी प्रकार अन्य देवोंके विषयमें देखिये—

१२ **अश्विनौ** = श्वास और उच्छ्वास, प्राण और अपान, तारक (जर्भरी), मारक (तुर्फरी) शक्ति, यह प्राण शक्ति है।

१३ **उषासानक्ता** = उषा और रात्री, यह काल है।

१४ **सरस्वती** = विद्या देवी, ज्ञानदेवता, शास्त्रविद्या, सभ्यता,

१५ **अदितिः** = अखंडित मूल शक्ति, और

१६ **विष्णुः** = सर्वव्यापक ईश्वर।

ये सब देव और देवताएं मनुष्यकी रक्षा करें। मनुष्यको चाहिये कि वह इनसे ऐसा व्यवहार करे, कि जिससे इनकी शक्ति इसकी सहायक बने और कभी विरोधक न बने।

इनमें सब शक्ति एक अद्वितीय सर्वव्यापक देवसे आती है, तथापि मनुष्यका इनके साथ अलग अलग संबंध आता है, और इनसे मनुष्यके विविध कार्यसिद्ध भी होते हैं और इनका विरोध होनेसे मनुष्यकी बडी हानि भी होती है, इसलिये इनकी सहायताकी याचना यहां की है।

दो उद्देश्य ।

मानवी उन्नतिके दो उद्देश्य हैं- (१) **गयस्य अभिन्हुती** = घरकी कुटिलता, हानि आदि दूर करना, और (२) **सर्वतातये वर्धय** = सब प्रकारका विस्तार होनेके लिये बढना। उक्त देवताओंकी शक्तियोंसे ये दो उद्देश्य सिद्ध हों, ऐसा व्यवहार करना चाहिये। पूर्वोक्त देव अपने शरीरमें अंश रूपसे हैं, उनकी शक्तियोंकी उन्नति करके भी मनुष्यका बडा लाभ हो सकता है। इस सूक्तका विचार करनेसे इस ढंगसे बहुत लाभ हो सकता है।

अगला सूक्त भी इसी विषयका है, वह अब देखिये।

[सूक्त ४]

(ऋषिः — अथर्वा। देवता — नानादेवताः।)

त्वष्टा॑ मे॒ दैव्यं॒ वचः॑ प॒र्जन्यो॒ ब्रह्म॑ण॒स्पतिः॑ ।
पु॒त्रैर्भ्रातृ॑भि॒रदि॑ति॒र्नु पा॑तु नो दु॒ष्टरं॒ त्राय॑माणं॒ सहः॑ ॥ १ ॥
अं॒शो भगो॒ वरु॑णो मि॒त्रो अ॑र्य॒मादि॑तिः॒ पान्तु॑ म॒रुतः॑ ।
अप॒ तस्य॒ द्वेषो॑ गमेदभि॒ह्रुतो॑ यावय॒च्छत्रु॒मन्ति॑तम् ॥ २ ॥
धि॒ये सम॑श्विना॒ प्राव॑तं न उरु॒ष्या ण॑ उरुज्मन्नप्र॑युच्छन् ।
द्यौ॑ष्पित॒र्याव॑य दु॒च्छुना॒ या ॥ ३ ॥

अर्थ— (त्वष्टा) सबका निर्माण करनेवाला, पर्जन्य, ब्रह्मणस्पति और (पुत्रैः भ्रातृभिः अदितिः) पुत्र और भाइयोंके साथ अदिती देवी, (मे दैव्यं वचः) मेरे देवोंके संबंधके वचनको सुनें, और (नः दुष्टरं त्रायमाणं सहः पातु) हम सबके अजेय और पालना करनेवाले बलकी रक्षा करें ॥ १ ॥

अंश, भग, वरुण, मित्र, अर्यमा, अदिति और मरुत् देव ये सब देव मेरी (पान्तु) रक्षा करें। (तस्य अभिन्हुतः द्वेषः अपगमेत्) उस शत्रुका कुटिल द्वेष दूर होवे। (अन्तितं शत्रुं यावयत्) ये सब पास आये शत्रुको दूर भगा दें॥ २ ॥

हे (अश्विनौ) अश्विदेवो ! (धिये नः सं प्रावतं) बुद्धिके लिये हमारी उत्तम रक्षा करो। हे (उरु-ज्मन्) विशेष गतिवाले ! (अप्रयुच्छन्) भूल न करता हुआ तू (नः उरुष्य) हम सबकी रक्षा कर ! हे (द्यौः पितः) द्युलोकके पालक ! (या दुच्छुना यावय) जो दुर्गति है, उसको दूर कर ॥ ३ ॥

इस सूक्तमें पूर्व सूक्तमें कहे जो देवोंके नाम आ गये हैं वे ये हैं- 'त्वष्टा, अदिति, मरुतः'। जो देवोंके नाम पूर्व सूक्तमें नहीं आये वे ये हैं- 'पर्जन्य, ब्रह्मणस्पति, अंश, भग, वरुण, मित्र, अर्यमा, द्यौष्पिता।' पूर्वके अनुसंधानसे ही इस सूक्तका अर्थ देखना चाहिये।

१ पर्जन्यः = मेघ, जल देनेवाला देव,
२ ब्रह्मणस्पतिः = ज्ञानका स्वामी, ज्ञान देनेवाला,
३ अंशः = प्रकाश देनेवाला,
४ भगः = भाग्यवान्, भाग्य देनेवाला,
५ वरुणः = वरिष्ठ देव, सबसे श्रेष्ठ देव,
६ मित्रः = सबका हितकारी,
७ अर्य-मा = श्रेष्ठ कौन है इनका निश्चय करनेवाला,
८ द्यौष्पिता = द्युलोकका पालक देव।
९ पुत्रैः भ्रातृभिः सह अदितिः = लडकों और भाइयोंके समेत अदिति देवी। अखंडित मूल शक्तिका नाम अदिति देवी है, इससे सूर्यादि तेजके गोलक उत्पन्न होते हैं इसलिये ये इसके पुत्र हैं। तथा उसके समान जो हैं वे उसके भाई हैं। अर्थात् मूल प्रकृति अथवा मूल शक्ति और उससे उत्पन्न हुए सब पदार्थ इस मंत्रभागसे लेने योग्य हैं।

यह सब दैवी शक्तियोंका समूह हम सबकी रक्षा करे।

रक्षाका कार्य।

रक्षा करनेका क्या तात्पर्य है यह इस सूक्तमें बताया है, इसलिये इसके सूचक वाक्य देखिये। रक्षाके लिये अपनी बुद्धि उत्तम रखनी चाहिये। यह दर्शानेके लिये कहा है—

१ धिये नः सं प्र अवतं- 'उत्तम बुद्धिके विस्तार होनेके लिये हम सबकी उत्तम प्रकार विशेष रक्षा करो।' मनुष्यको बुद्धिकी ही विशेष आवश्यकता है। मनुष्यकी रक्षा भी इसीलिये होनी चाहिये कि उसकी बुद्धि विशेष शुद्ध, पवित्र, निर्दोष और कुशाग्र हो और कभी हीन न हो। (मं. ३)

२ मे दैव्यं वचः— मेरा भाषण दिव्य हो, अर्थात् उसमें देवके गुणोंका वर्णन हो, शुद्ध भाव हों, और कभी हीन भाव न हों। वाणीकी इस प्रकार शुद्धि होनेसे ही ऊपर कही बुद्धिकी उन्नति हो सकती है। इस सूक्तमें एक वाणीका उल्लेख करके सब अन्य इंद्रियोंकी प्रवृत्ति शुद्ध करनेका उपदेश सूचित किया है। जिस नियमसे वाणीकी शुद्धि होती है, उसी नियमसे नेत्र, कर्ण आदि अन्यान्य इंद्रियोंकी भी शुद्धि होती है। इंद्रियोंको शुभ कर्ममें सदा नियम रखनेसे ही सब इंद्रिय शुद्ध हो सकते

है। यह नियम सब इंद्रियोंके विषयमें समान ही है। अपने [illegible]में 'दिव्य भाव' स्थिर करना चाहिये, यह इस विवरणका तात्पर्य है। इस प्रकार सब इंद्रियां शुद्ध होनेसे बुद्धि भी इसी कारणसे शुद्ध होती है और विकसित होती है। (मं. १)

३ द्वेषः अपगमेत्— द्वेषभाव, निंदा करनेका स्वभाव, शत्रुत्व करनेका आशय अन्तःकरणसे दूर हो जावे। यह पवित्र बननेका मार्ग है। द्वेषभाव मनसे पूर्णतया हटा, तो मन शुद्ध हो सकता है। (मं. २)

४ दुच्छुना यावय— सब दुर्गतिको दूर कर। अपने इंद्रिय हीन कर्मोंमें प्रवृत्त रहनेसे ही सब प्रकारकी दुर्गति प्राप्त होती है। इसलिये पूर्वोक्त प्रकार आत्मशुद्धि हो गयी तो दुर्गति अपने पास कदापि रहेगी ही नहीं। (मं. ३)

५ शत्रुं यावय— शत्रुको दूर भगा दे। अपने अन्दर कामक्रोधादि शत्रु हैं, समाजमें कामी, क्रोधी ये शत्रु हैं और राष्ट्रके भी शत्रु होते हैं। इन सब शत्रुओंको दूर करना चाहिये। पूर्वोक्त प्रकार आत्मशुद्धि करनेसे सब आंतरिक शत्रु दूर होते हैं, सामाजिक और अन्य शत्रु दूर करनेका उपाय भी यहांकी शुद्धता करना ही है। इस कार्यके लिये अपने अन्दर बल चाहिये, उसका उपदेश इस प्रकार किया है—

६ नः दुस्तरं त्रायमाणं सहः— हमारे अन्दर शत्रुद्वारा पार करनेके लिये कठिन और जिससे अपनी रक्षा हो इस प्रकारका बल हमारा हो। बलके दो लक्षण यहां कहे हैं, वह बल ऐसा चाहिये कि जिसका (दुः+तरं) उल्लंघन शत्रु न कर सके। जब शत्रु आक्रमण करे उस समय वह पूर्ण रीतिसे परास्त हो, ऐसा अपना बल रहना चाहिये। इसी प्रकार उस बलसे हरएक कठिन प्रसंगमें हमारी रक्षा होवे, ऐसा हमारा बल हमेशा रहना चाहिये। इस प्रकारका बल बढ जानेसे स्वयमेव सब शत्रु दूर होंगे।

इस प्रकारका बल बढाना ब्रह्मणस्पतिका कार्य है। ब्रह्मणस्पति यह ज्ञान और विज्ञानका देव है और वह अपने ज्ञानके दानसे पूर्वोक्त बल मनुष्योंमें बढाता है। इसीलिये उसकी उपासना और स्तुति प्रार्थना मनुष्योंको करनी चाहिये। उपासनाके समय इस प्रकारका मनन करनेसे और श्रद्धाभक्तियुक्त अन्तःकरणसे उपासना करनेसे ये सब फल प्राप्त होते हैं।

यज्ञसे उन्नति।

[सूक्त ५]

(ऋषिः — अथर्वा। देवता — इन्द्राग्नी।)

उदेनमुत्तरं नयाग्ने घृतेनाहुत। समेनं वर्चसा सृज प्रजया च बहुं कृधि ॥ १ ॥
इन्द्रेमं प्रतरं कृधि सजातानामसद् वशी। रायस्पोषेण सं सृज जीवातवे जरसे नय ॥ २ ॥
यस्य कृण्मो हविर्गृहे तमग्ने वर्धया त्वम्। तस्मै सोमो अधि ब्रवदयं च ब्रह्मणस्पतिः ॥ ३ ॥

अर्थ— हे (घृतेन आहुत अग्ने) घीसे आहुति पाये हुए अग्नि! (एनं उत्तरं उन्नय) इस मनुष्यको अधिक ऊंचा उठा। (एनं वर्चसा सं सृज) इसको तेजसे संयुक्त कर। (च प्रजया बहुं कृधि) और प्रजासे समृद्ध कर॥ १ ॥

हे इन्द्र! (इमं प्रतरं कृधि) इस मनुष्यको ऊंचा कर। यह (सजातानां वशी असत्) यह मनुष्य स्वजातिके पुरुषोंके बीच सबको वशमें करनेवाला होवे। (रायस्पोषेण सं सृज) इसको धन और पुष्टि उत्तम प्रकार प्राप्त हो और (जीवातवे जरसे नय) दीर्घजीवनके लिये वृद्धावस्था तक सुखपूर्वक लेजा॥ २ ॥

हे अग्ने! (यस्य गृहे हविः कृण्मः) जिसके घरमें हम हवन करते हैं, (त्वं तं वर्धय) तू उसको बढा; (सोमः अयं च ब्रह्मणस्पतिः) सोम और यह ब्रह्मणस्पति (तस्मै अधि ब्रवत्) उसको आशीर्वाद देवे॥ ३ ॥

हवनसे आरोग्य।

जिसके घरमें हवन होता है उसकी वृद्धि होती है, और सब प्रकारकी उन्नति होती है। इसके विषयमें देखिये—

१ एनं उत्तरं = जिसके घरमें हवन होता है वह (उत्+तरः) अधिक उच्च बनता है, पूर्वकी अपेक्षा अधिक उन्नत होता है।

२ वर्चसा सं = जिसके घरमें हवन होता है वह तेजस्वी होता है।

३ प्रजया बहुः = जिसके घरमें हवन होता है उसकी उत्तम संतानें होती हैं।

४ इमं प्रतरं = जिसके घरमें हवन होता है, वह अधिक ऊंचा बनता है। हरएक प्रकारसे श्रेष्ठ होता है।

५ सजातानां वशी = सजातियोंको अपने आधीन करनेवाला होता है, जो प्रतिदिन हवन करता है।

६ रायस्पोषेण सं = उसका धन बढता है और पुष्टि भी बढती है। वह हृष्टपुष्ट होता है।

७ औषधाऽसद्वे जरसे नय = उसको दीर्घ आयु प्राप्त होती है।

अर्थात् जिसके घरमें हवन होता है उसकी हरएक प्रकारसे उन्नति होती है। प्रतिदिन उसको सुख और सौभाग्य प्राप्त होता है। इसलिये प्रतिदिन हवन करना लाभकारी है। हवनसे आरोग्य, बल, दीर्घआयु प्राप्त होकर, धन, यश और अन्य सब प्रकारका अभ्युदय और निःश्रेयस भी प्राप्त होता है।

शत्रुका नाश।

[सूक्त ६]

(ऋषिः — अथर्वा। देवता — ब्रह्मणस्पतिः, सोमः।)

योऽ॒स्मान् ब्र॑ह्मणस्पते॒ऽदे॑वो अभि॒मन्य॑ते। सर्वं॒ तं र॑न्धयासि मे॒ यज॑मानाय सुन्व॒ते ॥ १ ॥
यो नः॑ सोम सुशं॒सिनो॑ दुःशंस॒ आ॒दिदे॑शति। वज्रे॑णास्य॒ मुखे॑ जहि॒ स संपि॑ष्टो॒ अपा॑यति ॥ २ ॥
यो नः॑ सोमाभि॒दास॑ति॒ सना॑भि॒र्यश्च॒ निष्ट्यः॑। अप॒ तस्य॒ बलं॑ तिर म॒हीव॒ द्यौर्व॑धत्मना ॥ ३ ॥

अर्थ— हे (ब्रह्मणस्पते) ज्ञानपते! (यः अदेवः अस्मान् अभिमन्यते) जो ईश्वरकी भक्ति न करनेवाला हमें नीचे करनेकी इच्छा करता है, (तं सर्वं) उस सब शत्रुका (सुन्वते यजमानाय मे रन्धयासि) सोमरससे यजन करनेवाले मेरे लिए नाश कर ॥ १ ॥

हे सोम! (यः दुःशंसः) जो दुराचारी (सुशंसिनः नः आदिदेशति) सदाचार करनेवाले हम सबको आज्ञा करता है अर्थात् हमें आधीन करना चाहता है, (अस्य मुखे वज्रेण जहि) इसके मुखमें वज्रसे आघात कर, जिससे (सः संपिष्टः अप अयति) वह चूर चूर होकर दूर होवे ॥ २ ॥

हे सोम! (यः सनाभिः) जो सजातीय (यः च निष्ट्यः) और जो सबसे नीचे बैठने योग्य नीच मनुष्य (नः अभिदासति) हमें दास बनाना चाहता है, अथवा हमारा घात करता है, (तस्य बलं वधत्मना अप तिर) उसके बलको अपने वधसाधनसे नीचे कर, (मही द्यौः इव) जिस प्रकार बडा द्युलोक अपने प्रकाशसे अंधकारको दूर करता है ॥ ३ ॥

शत्रुका लक्षण।

इस सूक्तमें शत्रुके लक्षण निम्नलिखित प्रकार दिये हैं—

१ अदेवः = जो एक अद्वितीय ईश्वरको नहीं मानता, देवकी भक्ति नहीं करता जो नास्तिक और सत्य धर्मपर अविश्वास रखता है।

२ अभिमन्यते = जो अभिमानसे भरा है, जो घमंडी है।

३ दुःशंसः = जिसके विषयमें सब लोग बुरा कहते हैं, सब लोग जिसकी निंदा करते हैं, अर्थात् जो अकेला सबका अहित करता है।

४ आदिदेशति = जो दूसरोंपर हुकुमत करनेका अभिलाषी है, जो दूसरोंको आज्ञा देना ही जानता है। जो दूसरोंपर जिस किसी रीतिसे अधिकार जमाना चाहता है।

५ अभिदासति = जो दूसरोंको दास बनाना चाहता है, दूसरोंका नाश करता है, दूसरोंको लूटता है।

शत्रुके ये पांच लक्षण हैं। इन लक्षणोंसे बोधित होनेवाले शत्रुको दूर करना चाहिये, फिर वह (सनाभिः) सजातीय, अपने कुलमें उत्पन्न हुआ हो, अथवा (नि-ष्ट्यः) निकृष्ट जातिका अथवा किसी हीन कुलमें उत्पन्न अथवा आचारहीन हो, या कैसा भी हो, उसको दूर करना चाहिये।

अद्रोहका मार्ग ।

[सूक्त ७]

(ऋषिः — अथर्वा । देवता — सोमः, ३ विश्वेदेवाः ।)

येन॒ सोमादि॑तिः प॒था मि॒त्रा वा॒ यन्त्य॒द्रुहः॑ । तेना॑ नोऽव॒सा ग॑हि ॥ १ ॥

येन॑ सोम साहन्त्यासु॑रान् र॒न्धया॑सि नः । तेना॑ नो॒ अधि॑ वोचत ॥ २ ॥

येन॑ दे॒वा असु॑राणा॒मोजां॒स्यवृ॑णीध्वम् । तेना॑ नः॒ शर्म॑ यच्छत ॥ ३ ॥

अर्थ— हे (सोम) शान्तदेव ! (येन पथा अदितिः) जिस मार्गसे यह पृथिवी (वा मित्राः अद्रुहः यन्ति) अथवा सूर्य आदि देव परस्पर द्रोह न करते हुए चलते हैं, वे (तेन अवसा नः आ गहि) उसी मार्गसे अपनी रक्षाके साथ हमें प्राप्त हों ॥ १ ॥

हे (साहन्त्य सोम) विजयी शक्तिसे युक्त सोम ! (येन असुरान् नः रन्धयासि) जिससे असुरोंको हमारे लिये तू नष्ट करता है, (तेन नः अधि वोचत) उस शक्तिके साथ हमें आशीर्वाद दे ॥ २ ॥

हे (देवाः) देवो ! तुम (येन असुराणां ओजांसि अवृणीध्वं) जिससे असुरोंके बलोंका निवारण करते हैं, (तेन नः शर्म यच्छत) उस बलसे हमें सुख दो ॥ ३ ॥

प्रार्थना !

अद्रोहका विचार ।

हे शान्त और सुखदायक ईश्वर ! जिस तेरे सुनियमके कारण सूर्यचन्द्रादि सब विविध लोकलोकान्तर एक दूसरेके साथ न टकराते हुए अपने मार्गसे भ्रमण करके कार्य कर रहे हैं, वह बल हमें दे । इस बलसे युक्त, उस विचारसे युक्त होते हुए हम एक दूसरेके साथ, आपसमें विरोध और लडाई न करते हुए, और अपना संघबल बढाते हुए हम अपनी उत्तम रक्षा कर सकेंगे । इसलिये 'अद्रोहका विचार' हमारेमें स्थिर हो जावे ।

बलकी वृद्धि ।

हे ईश्वर ! जिस बलसे तुम असुरों, राक्षसों और दस्युओंको नष्ट करते हो; उस बलका दान करनेका आशीर्वाद हमें दो । अर्थात् वह बल हमें प्राप्त हो और इस बलके प्राप्त होनेसे हम पूर्वोक्त शत्रुओंको दूर कर सकेंगे ।

हे ईश्वर ! जिस बलसे शत्रुओंके बलोंको रोका जाता है, वह बल हमें प्राप्त हो, और उसके द्वारा हमें सुख प्राप्त हो ।

तीन उपदेश ।

इस सूक्तमें '(१) आपसमें अद्रोहका व्यवहार करना, (२) अपना बल बढाना, (३) और शत्रुओंके बलोंको रोकना अथवा अपना बल उनसे अधिक प्रभावशाली करना ' ये तीन उपदेश हैं । इससे निःसन्देह सुख प्राप्त हो सकता है । इस सूक्तमें इन बलोंकी प्रार्थना ईश्वरसे की है, इस कारण यह उत्तम प्रार्थनासूक्त है । इसमें बलवाचक दो शब्द हैं, 'सहः' और 'ओजः' । इनमें 'सहः' शब्द मानसिक और आत्मिक बलका बोधक और 'ओजः' शब्द शारीरिक अथवा पाशवी बलका वाचक है । अर्थात् अपना सब प्रकारका बल बढे, यह इस प्रार्थनाका भाव है ।

दम्पतीका परस्पर प्रेम।

[सूक्त ८]

(ऋषिः — जमदग्निः। देवता — कामात्मा।)

यथा वृक्षं लिबुजा समन्तं परिषस्वजे।

एवा परि ष्वजस्व मां यथा मां कामिन्यसो यथा मन्नापगा असः ॥ १ ॥

यथा सुपर्णः प्रपतन् पक्षौ निहन्ति भूम्याम्।

एवा नि हन्मि ते मनो यथा मां कामिन्यसो यथा मन्नापगा असः ॥ २ ॥

यथेमे द्यावापृथिवी सद्यः पर्येति सूर्यः।

एवा पर्येमि ते मनो यथा मां कामिन्यसो यथा मन्नापगा असः ॥ ३ ॥

अर्थ— (यथा लिबुजा वृक्षं समन्तं परिषस्वजे) जिस प्रकार बेल वृक्षको चारों ओरसे लिपट जाती है, (एव मां परि ष्वजस्व) इस प्रकार तू मुझे आलिंगन दे, (यथा मां कामिनी असः) जिससे तू मेरी कामना करनेवाली हो और (यथा मत् अपगा न असः) जिससे तू मुझसे दूर जानेवाली न हो ॥ १ ॥

(यथा प्रपतन् सुपर्णः) जैसे उडनेवाला पक्षी (भूम्यां पक्षौ निहन्ति) भूमिकी ओर अपने दोनों पंखोंको दबाता है, (एव ते मनः नि हन्मि) इस प्रकार तेरा मन अपने अंदर खींचता हूं, (यथा०) जिससे तू मेरी इच्छा करनेवाली और मुझसे दूर जानेवाली न हो ॥ २ ॥

(यथा इमे द्यावापृथिवी) जिस प्रकार इस द्युलोक और पृथ्वीलोकके बीच (सूर्यः सद्यः पर्येति) सूर्यका प्रकाश तत्काल फैलता है, (एव ते मनः पर्येमि) इसी प्रकार तेरे मनको मैं व्यापता हूं (यथा०) जिससे तू मेरी कामना करनेवाली और मुझसे दूर जानेवाली न हो ॥ ३ ॥

[सूक्त ९]

वाञ्छ मे तन्वं पादौ वाञ्छाक्ष्यौ वाञ्छ सक्थ्यौ।

अक्ष्यौ वृषण्यन्त्याः केशा मां ते कामेन शुष्यन्तु ॥ १ ॥

मम त्वा दोषणिश्रिषं कृणोमि हृदयश्रिषम्। यथा मम क्रतावसो मम चित्तमुपायसि ॥ २ ॥

यासां नाभिरारेहणं हृदि संवननं कृतम्। गावो घृतस्य मातरोऽमूं सं वानयन्तु मे ॥ ३ ॥

अर्थ— (मे तन्वं पादौ वाञ्छ) मेरे शरीरकी और दोनों पैरोंकी इच्छा कर, (अक्ष्यौ वाञ्छ) मेरे दोनों आंखोंकी इच्छा कर, (सक्थ्यौ वाञ्छ) दोनों जंघाओंकी इच्छा कर। (वृषण्यन्त्याः ते अक्ष्यौ केशाः) बलकी इच्छा करती हुयी तेरी आंखें और बाल (कामेन मां शुष्यन्तु) कामसे मुझे सुखावें ॥ १ ॥

(त्वा मम दोषणिश्रिषं) तुझे मेरी भुजाओंमें आश्रित और (हृदयश्रिषं कृणोमि) हृदयमें आश्रय करनेवाली करता हूं। (यथा मम क्रतौ असः) जिससे तू मेरे कार्यमें दक्ष हो और (मम चित्तं उपायसि) मेरे चित्तके अनुसार चल ॥ २ ॥

(यासां) जिनसे (नाभिः) मिलना (आरेहणं) आनन्ददायक है और जिनके (हृदि संवननं कृतं) हृदयमें प्रेमकी सेवा है, (घृतस्य मातरः गावः) घीको निर्माण करनेवाली यह गौवें, (अमूं मे सं वानयन्तु) इस स्त्रीको मेरे साथ मिला देवें ॥ ३ ॥

स्त्री और पुरुषका प्रेम !

गृहस्थधर्ममें रहनेवाले स्त्री और पुरुष परस्पर प्रेम करें और सुखसे गृहस्थाश्रमका व्यवहार करें, यह उपदेश इन दोनों सूक्तोंमें कहा है।

अष्टम सूक्तमें कहा है कि स्त्री-पुरुष गृहस्थाश्रममें परस्पर मिलकर रहें, एक दूसरेपर प्रेम करें और उनमेंसे कोई भी एक दूसरेसे दूर होनेका यत्न न करे। पुरुष यत्न करके अपनी स्त्रीका मन अपनी ओर आकर्षित करे और उसको अपने पास संतुष्ट रखे, जिससे वह बार बार पतिगृहसे दूसरी ओर भाग न जावे। जिस प्रकार सूर्य इस जगत्में अपने प्रकाशसे फैला रहता है, इसी प्रकार पति भी ऐसा आचरण करे कि जिससे स्त्रीके मनमें पतिके विषयमें आदर भरा रहे। इसी प्रकार स्त्रीका भी ऐसा व्यवहार हो कि जिससे पतिके मनमें स्त्रीका आदर बढे। इस प्रकार दोनों परस्पर आदर रखते हुए सुखसे गृहस्थाश्रमका कार्य करें।

नवम सूक्तमें कहा है पति स्त्रीको और स्त्री पतिको आत्म-सर्वस्व अर्पण करे। एक दूसरेके वियोगसे दुःखी और साथ रहनेसे दोनों सुखी हों। स्त्री और पुरुष परस्परके कार्योंमें एक दूसरेकी सहायता करें और परस्परकी अनुकूलतासे चलें। परस्परकी अनुकूलतासे अपने सब व्यवहार करें। स्त्रियोंसे धर्मपूर्वक मिलना सुखदायी है, क्योंकि उत्तम स्त्रियोंके हृदयोंमें प्रेम भरा हुआ रहता है, पतिके घरकी गौवें स्त्रियोंको आकर्षित करें।

इस प्रकार व्यवहार करके स्त्री-पुरुष सुखसे गृहस्थाश्रमके कार्य करें और परस्परकी अनुकूलतासे सुखी हों।

अष्टम सूक्तके प्रथम मंत्रके साथ अथर्व. १।३४।५ और २।३०।१ ये मंत्र तुलना करके देखिये। कुछ आशय समान है।

बाह्यशक्तियोंसे अन्तःशक्तियोंका संबंध।

[सूक्त १०]

(ऋषिः — शन्तातिः। देवता — नानादेवताः, अग्निः, वायुः, सूर्यः।)

पृथिव्यै श्रोत्राय वनस्पतिभ्योऽग्नयेऽधिपतये स्वाहा ॥ १ ॥
प्राणायान्तरिक्षाय वयोभ्यो वायवेऽधिपतये स्वाहा ॥ २ ॥
दिवे चक्षुषे नक्षत्रेभ्यः सूर्यायाधिपतये स्वाहा ॥ ३ ॥

॥ इति प्रथमोऽनुवाकः ॥

अर्थ— पृथ्वी, (श्रोत्राय) कान, वनस्पति तथा पृथ्वीके अधिपति अग्निके लिये (स्व-आह) प्रशंसा कहते हैं ॥ १ ॥
अन्तरिक्ष, प्राण, (वयोभ्यः) पक्षी तथा अन्तरिक्षके अधिपति वायुके लिये हमारी स्तुति हो ॥ २ ॥
द्युलोक, आंख, नक्षत्र और द्युलोकके अधिपति सूर्यकी मैं प्रशंसा करता हूं ॥ ३ ॥

इस सूक्तमें बाह्य सृष्टिसे व्यक्तिके अन्दरकी शक्तियोंका संबंध बताया है—

बाह्यलोक	उसमें प्राप्त पदार्थ	लोकाधिपति	व्यक्तिके शरीरमें इंद्रिय
पृथिवी	वनस्पति	अग्नि	कान (शब्दग्रहण)
अन्तरिक्ष	पक्षी	वायु	प्राण
द्युलोक	नक्षत्र	सूर्य	आंख

इस प्रकार व्यक्तिके इंद्रियोंका बाह्य जगत्के लोकों और देवोंके साथ संबंध है। यह संबंध जानकर सूर्य प्रकाशसे आंखकी, शुद्ध वायुसे प्राणकी, और अग्निसे श्रवणशक्तिकी [illegible]कित बढावें। यहां अग्निसे श्रवणशक्तिका संबंध खोजका विषय है।

॥ यहां प्रथम अनुवाक समाप्त ॥

२०

पुंसवन।

[सूक्त ११]

(ऋषिः — प्रजापतिः। देवता — रेतः, मन्त्रोक्तदेवता।)

शमीमश्वत्थ आरूढस्तत्र पुंसवनं कृतम्। तद्वै पुत्रस्य वेदनं तत् स्त्रीष्वा भरामसि ॥ १ ॥
पुंसि वै रेतो भवति तत् स्त्रियामनु षिच्यते। तद्वै पुत्रस्य वेदनं तत् प्रजापतिरब्रवीत् ॥ २ ॥
प्रजापतिरनुमतिः सिनीवाल्यचीक्लृपत्। स्त्रैषूयमन्यत्र दधत् पुमांसमु दधदिह ॥ ३ ॥

अर्थ— (अश्व-त्थः) अश्वत्थ वृक्ष (शमीं आरूढः) शमी वृक्षपर जहां चढा होता है (तत्र पुंसवनं कृतं) वहां पुंसवन किया जाता है। यह ही (पुत्रस्य वेदनं) पुत्र-प्राप्तिका निश्चय है। (तत् स्त्रीषु आ भरामसि) वह स्त्रियोंमें हम भर देते हैं ॥ १ ॥

(पुंसि वै रेतः भवति) पुरुषमें निश्चयसे वीर्य होता है (तत् स्त्रियां अनु षिच्यते) वह स्त्रियोंमें सींचा जाता है, (तत् वै पुत्रस्य वेदनं) वह पुत्र प्राप्तिका साधन है, (तत् प्रजापतिः अब्रवीत्) यह प्रजापतिने कहा है ॥ २ ॥

(प्रजापतिः अनुमतिः) प्रजापालक पिता अनुकूल मति धारण करे और (सिनी-वाली अचीक्लृपत्) गर्भवती स्त्री समर्थ होवे, ऐसा होने पर (पुमांसं उ इह दधत्) पुत्र गर्भ ही यहां धारण होता है, (अन्यत्र स्त्रैषूयं दधत्) अन्य परिस्थितिमें स्त्रीगर्भ धारण होता है ॥ ३ ॥

निश्चयसे पुत्रकी उत्पत्ति।

निश्चयसे पुत्रकी उत्पत्ति होनेके लिये एक उपाय इस सूक्तमें कहा है, वह औषधि प्रयोगका उपाय यह है—

शमीं अश्वत्थ आरूढः तत्र पुंसवनं कृतम्।
तद्वै पुत्रस्य वेदनं, तत् स्त्रीष्वाभरामसि ॥ (मं.१)

'(१) शमी वृक्षपर उगा और बढा हुआ पीपलका वृक्ष होता है, वह पीपल पुत्र रूप गर्भको धारण करानेवाला होता है। अर्थात् इसका औषध बनाकर यदि स्त्री सेवन करेगी तो वह स्त्री पुत्र उत्पन्न करनेवाली बनेगी। (२) यह पीपल निश्चयसे पुत्र उत्पन्न करनेवाला है, (३) इसके सेवनसे निश्चयसे पुत्र उत्पन्न होता है, (४) पुत्र उत्पत्तिके लिये इस पीपलके औषधको स्त्रियोंको देना चाहिये।

शमीके वृक्षपर उगे पीपल वृक्षके पश्चाङ्गका चूर्ण करके मधुके साथ सेवन किया जावे अथवा अन्य दूध आदि द्वारा सेवन किया जावे। इसके सेवनसे स्त्रीका गर्भाशय पुरुष गर्भ बनानेमें समर्थ होता है। जिस स्त्रीको लडकियां ही होती हैं उस स्त्रीको यह औषध देनेसे उसमें, गर्भाशयमें परिवर्तन होकर, पुरुष गर्भ [illegible]न करनेकी शक्ति आ सकती है।

• पुंसवन और स्त्रैषूय।

पुत्र [illegible] उत्पन्न होनेका नाम 'पुंसवन' और लडकी उत्पन्न होनेका नाम 'स्त्रैषूय' है। ये दोनों नाम इस सूक्तमें प्रयुक्त हुए हैं। जो पुरुष संतान निश्चयसे चाहते हैं वे इस औषधीका उपयोग करें। इस मंत्रके श्लेष अर्थसे और भी एक आशय व्यक्त होता है, वह देखने योग्य है—

१ अश्व-त्थः— अश्वका अर्थ वाजी है। वाजीकरणका अर्थ पुरुषको पुरुष शक्तिसे युक्त करना है। अश्व शब्दका अर्थ यहां घोडेके समान पुरुष धर्मसे युक्त और समर्थ पुरुष। (अश्व) घोडेके समान जो (स्थ, स्थः) रहता है ऐसा बलवान् पुरुष।

१ शमी— मनकी वृत्तियां उछलने न देनेवाली स्त्री, अर्थात् जो धर्मानुकूल गृहस्थधर्म नियमोंका पालन करनेवाली स्त्री।

ऐसे स्त्रीपुरुषोंके संबंधसे निश्चित पुरुष संतान होती है। पाठक इसमें देखें कि इस स्त्रीपुरुषसंबंधमें वीर्यका बल अधिक होने और रजकी न्यूनता रखनेका विधान किया है इसी कारण निश्चयसे पुत्र संतान होती है। अर्थात् पुरुष अधिक बलशाली हुआ तो पुरुषसंतान और स्त्री बलशालिनी हुई तो स्त्रीसंतान होती है। यहां बलका अर्थ पुरुषवीर्य और स्त्रीरजका भाव लेना योग्य है।

द्वितीय मंत्र गर्भाधान परक है और स्पष्ट है। तृतीय मंत्रमें फिर श्लेषार्थसे कुछ विशेष आशय कहा है। वह अब देखिये—

१ प्रजापतिः— अपने संतानोंका उत्तम रीतिसे पालन करनेमें समर्थ गृहस्थी पुरुष।

१ अनुमतिः— परस्पर अनुकूल प्रेमपूर्ण मन रखनेवाले स्त्री या पुरुष ।

२ सिनीवाली— जिनका अर्थ है चन्द्रकला, उसका बल बढानेवाली स्त्री सिनीवाली है । जिस प्रकार शुक्लपक्षकी रात्रीमें चन्द्रकी कलायें बढती हैं, उस प्रकार जिस स्त्रीके गर्भाशयमें गर्भकी कलाएं बढती हैं ।

ये शब्द बडे विचारणीय हैं । सन्तान उत्पन्न वही करें कि जो उनके पालन पोषणका भार सहन करनेमें समर्थ हो । सन्तानोत्पत्ति करना है तो स्त्री-पुरुष परस्पर अनुकूल संमति रखें, तो ही समान गुणवाला पुत्र होगा । उनमें विरोध होगा तो संतान भी विरुद्ध गुणधर्मवाली होगी । गर्भवती स्त्री समझे कि मेरे अन्दर चंद्रमा जैसा अपनी कलाओंसे बढनेवाला गर्भ रहा है और उसकी सुवृद्धिका प्रबंध करना मेरा कर्तव्य है । इस प्रकार व्यवस्था होनेसे पुरुष सन्तान होती है । इसके विपरीत अवस्था होनेसे स्त्री सन्तान होती है अथवा नपुंसक सन्तान होगी ।

अर्थात् पुरुष वीर्यकी न्यूनता, स्त्री रजकी अधिकता, पुरुष और स्त्रीके मनोवृत्तियोंमें विरोध इत्यादि कारणसे स्त्री सन्तान और रजवीर्यकी समानतासे नपुंसक सन्तान होती है ।

उत्तम वैद्य इस सूक्तका अधिक विचार करें और वास्तविक रीतिसे प्रयोग करके देखें और इस पुंसवन और स्त्रैसूयके शास्त्रका निश्चय करें ।

सर्प-विष-निवारण ।

[सूक्त १२]

(ऋषिः — गरुत्मान् । देवता — तक्षकः ।)

परि द्यामिव सूर्योऽहीनां जनिमागमम् । रात्री जगदिवान्यद्धंसात् तेना ते वारये विषम् ॥ १ ॥
यद् ब्रह्मभिर्यदृषिभिर्यद् देवैर्विदितं पुरा । यद् भूतं भव्यमासन्वत् तेना ते वारये विषम् ॥ २ ॥
मध्वा पृञ्चे नद्यः॑ पर्वता गिरयो मधु । मधु परुष्णी शीपाला शमास्ने अस्तु शं हृदे ॥ ३ ॥

अर्थ— (सूर्यः द्यां इव) जिस प्रकार सूर्य द्युलोकको जानता है, उस प्रकार मैं (अहीनां जनिम परि अगमं) सर्पोंके जन्मवृत्तको जानता हूं । (रात्री हंसात् अन्यत् जगत् इव) रात्री जैसी सूर्यसे भिन्न जगत्का आवरण करती है (तेन ते विषं वारये) उसी प्रकार तेरे विषका मैं निवारण करता हूं ॥ १ ॥

(ब्रह्मभिः ऋषिभिः देवभिः) ब्राह्मणों, ऋषियों और देवोंने (यत् पुरा विदितं) जो पूर्वकालमें जान लिया था (तत् भूतं भव्यं आसन्वत) वह भूत, भविष्यकालमें रहनेवाला ज्ञान है (तेन ते विषं वारये) उससे तेरा विष दूर करता हूं ॥ २ ॥

(मध्वा पृञ्चे) मधुसे सिंचन करता हूं, (नद्यः, पर्वताः, गिरयः मधु) नदियां, पर्वत, पहाड सब मधु देवें । (परुष्णी शीपाला मधु) परुष्णी और शीपाला मधुरता देवे । (आस्ने शं अस्तु) तेरे मुखके लिये शान्ति और (हृदे शं) हृदयके लिये शान्ति मिले ॥ ३ ॥

इस मंत्रमें नदियों और पर्वतोंके झरनों आदिके जलकी धारासे सर्पविष उतारनेका विधान प्रतीत होता है । परंतु निश्चय नहीं है । इसकी खोज सर्पविषचिकित्सकको करनी चाहिये । जलधारासे सर्पविष दूर करनेका विधान वेदमें अन्य स्थानमें भी है । परंतु उसका तात्पर्य क्या है, यह समझमें नहीं आता । यदि बिछूका विष चढ रहा हो तो उसपर जलकी धारा एक वेगसे गिरानेसे बिछूका विष उतारता है । यह अनुभव हमने लिया है । परंतु इससे सर्पविष उतरता है, ऐसा मानना कठिन है । इसी प्रकार इस सूक्तके अन्य विधान भी विचारणीय हैं । अर्थात् इस सूक्तका विषय अन्वेषणीय है । जो इसकी चिकित्सा जानते हों वे इसका अधिक विचार करें ।

मृत्यु ।

[सूक्त १३]

(ऋषि — अथर्वा । (स्वस्त्ययनकामः) । देवता — मृत्युः ।)

नमो॑ देववधेभ्यो॒ नमो॑ राजव॒धेभ्यः॑ । अथो॒ ये विश्या॑नां व॒धास्तेभ्यो॑ मृत्यो॒ नमो॑ऽस्तु ते ॥ १ ॥
नम॑स्ते अधिवा॒काय॑ परावा॒काय॑ ते॒ नमः॑ । सु॒मत्यै मृ॑त्यो ते॒ नमो॑ दु॒र्मत्यै॑ त इ॒दं नमः॑ ॥ २ ॥
नम॑स्ते यातु॒धाने॑भ्यो॒ नम॑स्ते भेष॒जेभ्यः॑ । नम॑स्ते मृत्यो॒ मूले॑भ्यो ब्राह्म॒णेभ्य॑ इ॒दं नमः॑ ॥ ३ ॥

अर्थ— (देववधेभ्यः नमः) ब्राह्मणोंके शस्त्रोंको नमस्कार, (राजवधेभ्यः नमः) क्षत्रियोंके शस्त्रोंको नमस्कार (अथो ये विश्यानां वधाः) और जो वैश्योंके शस्त्र हैं उनको नमस्कार है और हे मृत्यो ! (ते नमः अस्तु) तेरे लिये नमस्कार होवे ॥ १ ॥

(ते अधिवाकाय नमः) तेरे आशीर्वादको नमस्कार और (ते परावाकाय नमः) तेरे प्रतिकूल वचनको भी नमस्कार हो । हे मृत्यो ! (ते सुमत्यै नमः) तेरी उत्तम मतिके लिये नमस्कार और (ते दुर्मत्यै इदं नमः) तेरी दुष्ट मतिको भी यह नमस्कार है ॥ २ ॥

(ते यातुधानेभ्यः नमः) तेरे यातना देनेवाले रोगोंको नमस्कार और (ते भेषजेभ्यः नमः) तेरे औषध उपायोंके लिये भी नमस्कार हो । हे मृत्यो ! (ते मूलेभ्यः नमः) तेरे मूल कारणोंको नमस्कार और (ब्राह्मणेभ्यः इदं नमः) ब्राह्मणोंको भी मेरा नमस्कार है ॥ ३ ॥

मृत्युके प्रकार ।

इस सूक्तमें मृत्युके कई प्रकार कहे हैं, देखिये—

१ देववधः = देवोंके द्वारा होनेवाला वध अथवा मृत्यु । अग्नि, वायु, सूर्यादि देव हैं, ब्राह्मण भी देव हैं । इनके कारण होनेवाला मृत्यु । अग्नि प्रकोप, वायु बिगडने, सूर्यके उत्ताप, तथा ब्राह्मणादिकोंके कारण जो मृत्यु होती है ।

२ राजवधः = लडाईमें होनेवाला वध, अथवा राजपुरुषोंके व्यवहारोंसे होनेवाली मृत्यु ।

३ विश्यानां वधः = वैश्यों, पूंजीपतियों अथवा धनवानोंके कारण होनेवाली मृत्यु ।

इन तीन कारणोंसे मृत्यु होती है । अतः इनका सुधार होना चाहिये । तथा—

४ अधिवाकः = अनुकूल वचन ।

५ परावाकः = प्रतिकूल वचन ।

६ सुमतिः = उत्तम बुद्धि, और

७ दुर्मतिः = दुष्टबुद्धि ।

ये भी चार कारण हैं जिनसे मृत्यु होती है । अनुकूल वचनका अतिरेक होनेसे भी अविवेक होकर मृत्यु होती है, प्रतिकूल वचनसे निराशा होकर मृत्यु होती है । उत्तम बुद्धि होनेसे केवल बौद्धिक कार्योंका ही ध्यान करनेके कारण शारीरिक निर्बलता उत्पन्न होकर मृत्यु होती है और दुर्मतिसे तो मृत्यु होती ही है । तथा—

८ यातुधानः = यातना देनेवाले रोग मृत्यु करते हैं, और

९ भेषजं = औषधि उपाय भी किसी किसी समय मृत्यु लानेवाले होते हैं ।

ये और इससे भिन्न जो भी मृत्युकी जडें हैं, उन सबको दूर करना चाहिये ।

यही ब्राह्मणों अर्थात् ज्ञानियोंका कार्य है । इस कारण उनको नमस्कार है । सबको प्रयत्न करके इन सब मृत्युके कारणोंको दूर करके अपने आपको दीर्घजीवी बनानेका यत्न करना चाहिये ।

क्षयरोगका निवारण।

[सूक्त १४]

(ऋषिः — बभ्रुपिंगलः । देवता — बलासः ।)

अस्थिस्रंसं परुस्रंसमास्थितं हृदयामयम् । बलासं सर्वं नाशयाङ्गेष्ठा यश्च पर्वसु ॥ १ ॥
निर्बलासं बलासिनः क्षिणोमि मुष्करं यथा । छिनद्म्यस्य बन्धनं मूलमुर्वार्वा इव ॥ २ ॥
निर्बलासेतः प्र पताशुङ्गः शिशुको यथा । अथो इट इव हायनोऽप द्राह्यवीरहा ॥ ३ ॥

अर्थ— (अस्थिस्रंसं परुस्रंसं) हड्डियों और जोडोंमें ढीलापन लानेवाले, (आस्थितं हृदयामयं) शरीरमें रहनेवाले हृदयके रोगको अर्थात् (सर्वं बलासं) सब क्षयरोगको और (यः अंगेष्ठाः च पर्वसु) जो अवयवों और जोडोंमें रहता है, उस सब रोगको (नाशय) नाश कर दे ॥ १ ॥

(बलासिनः बलासं निः क्षिणोमि) क्षयरोगीसे क्षयरोगको दूर करता हूं (यथा मुष्-करं) जिस प्रकार चोरी करनेवालेको दूर किया जाता है। (अस्य बंधनं छिनद्मि) इस रोगके संबंधको छेद डालता हूं, (उर्वार्वाः मूलं इव) जैसे ककडीके जडको काटते हैं ॥ २ ॥

हे (बलास) क्षयरोग ! (इतः निः प्रपत) यहांसे हट जा। (यथा आशुंगः शिशुकः) जिस प्रकार शीघ्रगामी बछडा जाता है। (अथो अवीरहा अप द्राहि) और वीरोंका नाश न करनेवाला तू यहांसे भाग जा। (हायनः इटः इव) जैसा प्रतिवर्ष उगनेवाला घास नाशको प्राप्त होता है ॥ ३ ॥

कफक्षय।

इस सूक्तमें 'बलास' शब्द है, इसका अर्थ कफ और कफक्षय है। यह शरीरके पर्वों, जोडों, हृदय और अन्यान्य अवयवोंमें रहता है और रोगीका नाश करता है। इसको दूर करनेका वर्णन इस सूक्तमें है। इसमें जिस उपायका वर्णन है, उसका पता नहीं चलता। इसलिये क्षयरोग निवारणका जो उपाय इस सूक्तमें कहा है उसके विषयमें कुछ अधिक कहना, बिना अधिक खोज किये, कठिन है। पाठकोंमें जो वैद्य और मानसचिकित्सक होंगे वे इसका अधिक मनन करेंगे तो कुछ पता चल सकता है। हमारे विचारसे तो यह सूक्त मानस-चिकित्साका सूक्त है। अपने मनके स्वास्थ्य प्रभावपूर्ण विचारोंसे रोगीके रोग दूर होते हैं। इसका यहां संबंध प्रतीत होता है। इस दृष्टिसे पाठक इस सूक्तका विचार करें।

मैं उत्तम बनूंगा।

[सूक्त १५]

(ऋषिः — उद्दालकः । देवता — वनस्पतिः ।

उत्तमो अस्योषधीनां तव वृक्षा उपस्तयः । उपस्तिरस्तु सोऽस्माकं यो अस्माँ अभिदासति ॥ १ ॥

अर्थ— (ओषधीनां उत्तमः असि) तू औषधियोंमें उत्तम है। (वृक्षाः तव उपस्तयः) अन्य वृक्ष तेरे समीपवर्ती हैं। अतः (यः अस्मान् अभिदासति) जो हमें दास बनाकर हमारा नाश करनेका इच्छुक है (सः अस्माकं उपस्तिः अस्तु) वह हमारा अनुगामी होवे ॥ १ ॥

सबन्धुश्चासबन्धुश्च यो अस्माँ अभिदासति । तेषां सा वृक्षाणामिवाहं भूयासमुत्तमः ॥ २ ॥
यथा सोम ओषधीनामुत्तमो हविषां कृतः । तलाशा वृक्षाणामिवाहं भूयासमुत्तमः ॥ ३ ॥

अर्थ— (सबन्धुः च असबन्धुः च) बन्धुवाला अथवा बन्धुरहित, (यः अस्मान् अभिदासति) जो हमारा नाश करता है (वृक्षाणां सा इव) वृक्षोंमें जिस प्रकार वह उत्तम है उस प्रकार (अहं तेषां उत्तमः भूयासं) मैं उनसे उत्तम होऊंगा ॥ २ ॥

(यथा सोमः हविषां ओषधीनां उत्तमः कृतः) जिस प्रकार सोम हविके पदार्थों और औषधियोंमें उत्तम बनाया है और (वृक्षाणां तलाशा इव) वृक्षोंमें जिस प्रकार तलाश वृक्ष उत्तम होता है उस प्रकार (अहं उत्तमः भूयासं) मैं उत्तम बनूंगा ॥ ३ ॥

मैं श्रेष्ठ बनूंगा ।

' मैं उत्तम बनूं, मैं श्रेष्ठ बनूं ' यह महत्त्वाकांक्षा मनुष्यमें होनी चाहिये । मनुष्यका अभ्युदय और निःश्रेयस इसी इच्छा पर निर्भर है । शत्रुको नीचे दबानेसे भी उनसे अपनी अवस्था उच्च बन सकती है, परंतु यहां कहा है कि ऐसा प्रयत्न करो, कि तुम अन्योंसे श्रेष्ठ बनो । अन्योंको नीचे गिराना नहीं है, अपितु अपनी योग्यता उनसे अधिक करनी है ।

यः अस्मान् अभिदासति सः अस्माकं उपस्ति अस्तु । (मं. १)

' जो हमारा नाश करना चाहता है वह हमारे पास उपस्थित होनेवाला होवे । ' तथा—

तेषां अहं उत्तमः भूयासम् । (मं. २)

' उनसे मैं सबसे उत्तम बनूंगा ' । मैं अपनी योग्यता ऐसी बढाऊंगा कि जिससे मेरे सब शत्रु मेरे आश्रयसे रहनेवाले बनें ।

अपनी उन्नति करनेकी इच्छा हरएक मनुष्य अपने मनमें धारण करे । और जगत्में जो उन्नतिके साधनके नियम हैं, उनको जानकर सबसे श्रेष्ठ बने ।

सूचना— इस सूक्तमें आये ' उत्तम, तलाशा ' ये औषधियोंके भी नाम होंगे । परंतु इन औषधियोंका पता आजकल नहीं लगता । ' सोम ' भी आजकल प्राप्त नहीं है ।

औषधिरसका पान ।

[सूक्त १६]

(ऋषिः — शौनकः । देवता — चन्द्रमाः, मन्त्रोक्तदेवताः ।)

आबयो अनाबयो रसस्त उग्र आबयो । आ ते करम्भमद्मसि ॥ १ ॥
विहल्हो नाम ते पिता मदावती नाम ते माता । स हिन त्वमसि यस्त्वमात्मानमावयः ॥ २ ॥
तौविलिकेऽवेलयावायमैलब ऐलयीत् । बभ्रुश्च बभ्रुकर्णश्चापेहि निराल ॥ ३ ॥

अर्थ— (हे आबयो, आबयो, अनाबयो) फैलनेवाली और न फैलनेवाली औषधि ! (ते रसः उग्रः) तेरा रस उग्र है । (ते करंभं आ अद्मसि) तेरे रसका हम पेय बनाते हैं ॥ १ ॥

(ते पिता विहल्हः) तेरा पिता विहल्ह है और (ते माता मदावती नाम) तेरी माता मदावती नामक है । (सः हिन त्वं असि) वही उनसे ही तू बनता है । (यः त्वं आत्मानं आवयः) जो तू अपने आत्माको रक्षा करता है ॥ २ ॥

(तौविलिके अव ईलय) प्रगतिके कार्यमें हमें प्रेरित कर । (अयं ऐलबः अव ऐलयीत्) यह भूमिके संबंधमें कार्य करनेवाला प्रेरणा करता है । हे (आल) समर्थ ! (बभ्रुः च बभ्रुकर्णः च) भूरा और भूरे कानवाला (निः अप इहि) हमसे दूर रह ॥ ३ ॥

अलसालासि पूर्वा सिलाञ्जालास्युत्तरा । नीलागलसाला ॥ ४ ॥

अर्थ— (पूर्वा अलसाला) पहिले तू आलसियोंको रोकनेवाली है, (उत्तरा सिलांजाला) दूसरी तू अनुओंतक पहुंचनेवाली है । तथा (नीलागलसाला) घर घरमें उपयोगी है ॥ ४ ॥

रसपान ।

इस सूक्तमें 'करंभ' शब्द है । दही और सत्तूका आटा मिलाकर बडा उत्तम पेय रस बनता है उसका यह नाम है । यह कमजोरीको हटानेवाला और बडा पुष्टि करनेवाला होता है । इसमें कई औषधियोंके रस मिलानेसे इसके गुण अधिक बढ जाते हैं ।

'विहल्ह' (पिता) वृक्षका 'मदावती' नामक (माता) औषधिपर कलम करनेसे जो औषधि बनती है वह (आत्मानं आवयः) आत्माकी-अपनी-रक्षा करनेवाली होती है । यह द्वितीय मंत्रका कथन है । यह मातापिताके स्थानकी औषधियां इस समय अप्राप्त हैं ।

इसी प्रकार इस सूक्तमें आये अन्यान्य नाम किन वनस्पतियोंके हैं, इसका पता नहीं चलता । आबयु, अनाबयु, विहल्ह (पिता), मदावती (माता), तौविलिका, ऐलब, बभ्रु, बभ्रुकर्ण, आल, अलसाला (पूर्वा), सिलाञ्जाला (उत्तरा), नीलागलसाला, इत्यादि नाम इस सूक्तमें आये हैं । इनका पता नहीं लगता । इसलिये इनपर अधिक लिखना असंभव है ।

गर्भधारणा ।

[सूक्तं १७]

(ऋषिः — अथर्वा । देवता — गर्भदृंहणम् ।)

यथेयं पृथिवी मही भूतानां गर्भमादधे । एवा ते ध्रियतां गर्भो अनु सूतुं सवितवे ॥ १ ॥
यथेयं पृथिवी मही दाधारेमान् वनस्पतीन् । एवा ते ध्रियतां गर्भो अनु सूतुं सवितवे ॥ २ ॥
यथेयं पृथिवी मही दाधार पर्वतान् गिरीन् । एवा ते ध्रियतां गर्भो अनु सूतुं सवितवे ॥ ३ ॥
यथेयं पृथिवी मही दाधार विष्ठितं जगत् । एवा ते ध्रियतां गर्भो अनु सूतुं सवितवे ॥ ४ ॥

अर्थ— (यथा इयं मही पृथिवी) जिस प्रकार यह बडी पृथिवी (भूतानां गर्भं आदधे) भूतोंका गर्भ धारण करती है, (एव ते गर्भः) इस प्रकार तेरा गर्भ (सूतुं अनु सवितवे ध्रियतां) संतानको अनुकूलतासे उत्पन्न करनेके लिये स्थिर होवे ॥ १ ॥

(यथा इयं मही पृथिवी) जिस प्रकार यह बडी पृथिवी (इमान् वनस्पतीन् दाधार) इन वनस्पतियोंका धारण करती है । इसी प्रकार संतान उत्पन्न होनेके लिये तेरे अंदर गर्भ स्थिर होवे ॥ २ ॥

जिस प्रकार यह बडी पृथिवी (पर्वतान् गिरीन् दाधार) पर्वतों और पहाडोंको धारण करती है, उस प्रकार तेरे अंदर यह गर्भ सुखसे प्रसूति होनेके लिये स्थिर रहे ॥ ३ ॥

जिस प्रकार यह बडी पृथिवी (विष्ठितं-जगत्) विविध प्रकारसे रहनेवाले जगत्को धारण करती है, उस प्रकार तेरे अंदर यह गर्भ सुख प्रसूतिके लिये स्थिर रहे ॥ ४ ॥

स्त्रीको अपने गर्भाशयमें गर्भ स्थिर रखनेकी इच्छा होती है, वह सफल करनेके लिये यह आशीर्वाद है ।

ईर्ष्या-निवारण।

[सूक्त १८]

(ऋषिः — अथर्वा । देवता — ईर्ष्याविनाशनम् ।)

ई॒र्ष्याया॒ ध्राजिं॑ प्रथ॒मां प्र॑थ॒मस्या॑ उ॒तापरा॑म्। अ॒ग्निं हृ॑द॒य्यं॑१ शो॒कं॑ तं ते॒ निर्वा॑पयामसि ॥ १ ॥
यथा॑ भूमि॑र्मृ॒तम॑ना मृ॒तान्मृ॒तम॑नस्तरा। य॒थोत म॒म्रुषो॒ मन॑ ए॒वेर्ष्यो॑र्मृ॒तं मनः॑ ॥ २ ॥
अ॒दो यत् ते॑ हृ॒दि श्रि॒तं म॑न॒स्कं प॑तयि॒ष्णुक॑म्। तत॑स्त ई॒र्ष्यां मु॑ञ्चा॒मि निरू॒ष्माणं॒ दृते॑रिव ॥ ३ ॥

अर्थ— (ते ईर्ष्यायाः प्रथमां ध्राजिं) तेरी ईर्ष्या-डाह-के पहिले वेगको (उत प्रथमस्याः अपरां) और पहिलेकी आगेकी गतिको तथा (हृदय्यं तं शोकं अग्निं) हृदयमें रहनेवाले उस शोक रूपी अग्निको (निर्वापयामसि) हम हटा देते हैं ॥ १ ॥

(यथा भूमिः मृतमनाः) जैसी भूमि मरे मनवाली है अथवा (मृतात् मृतमनस्तरा) मरेसे भी अधिक मरे मनवाली है, (उत यथा मम्रुषः मनः) और जैसा मरनेवालेका मन होता है (एव ईर्ष्योः मनः मृतं) उस प्रकार ईर्ष्या-डाह-करनेवालेका मन मरा होता है ॥ २ ॥

(अदः यत् ते हृदि श्रितं) जो तेरे हृदयमें रहा हुआ (पतयिष्णुकं मनस्कं) गिरनेवाला अल्प मन है, (ततः ते ईर्ष्यां निः मुञ्चामि) वहांसे तेरी ईर्ष्याको मैं हटाता हूं। (दृतेः ऊष्माणं इव) जिस प्रकार धौंकनीसे वायुको निकालते हैं ॥ ३ ॥

डाहको दूर करना।

दूसरेकी उन्नति देख न सकनेका नाम 'ईर्ष्या' अथवा डाह है। यह मनमें तब उत्पन्न होता है कि जब दूसरेका उत्कर्ष सहा नहीं जाता। यह ईर्ष्या कितनी हानि करती है, इस विषय में देखिये—

१ हृदय्यं शोकं अग्निं = हृदयके अंदर शोक उत्पन्न करती है, शोकसे हृदय जलने लगता है और वह आग आयुका क्षय करती है। (मं. १)

२ ईर्ष्योः मृतं मनः = ईर्ष्या करनेवालेका मन मरे हुए समान हो जाता है, मनमें कोई शुभ विचार नहीं आते, जीवनहीन मन होता है। इसलिये उसको 'मृतमनाः' मुर्दा मनवाला कहते हैं। वह (मृतात् मृतमनस्तरः) मुर्देसे भी अधिक मरा होता है। (मं. २)

३ पतयिष्णुकं मनस्कं = उसका मन गिरनेवाला होता है और छोटा संकुचित वृत्तिवाला होता है।

देखिये यह ईर्ष्या कितनी घातक होती है, हृदयको जलाती है, मनको मार देती है और उसका पतन कराती है। इसलिये यह ईर्ष्या मनसे दूर करनी चाहिये। ईर्ष्या दूर होनेसे हृदय शान्त होगा, मनमें सजीव चैतन्य कार्य करेगा और मन भी ऊपर उठानेवाले विचारोंसे परिपूर्ण होगा। इस कारण ईर्ष्या दूर होनेसे मनुष्यकी उन्नति होती है और ईर्ष्या मनमें रहनेसे हानि होती है। इसलिये जहांतक हो सके वहांतक प्रयत्न करके मनुष्य ईर्ष्यासे अपने आपको दूर रखे।

आत्मशुद्धिके लिये प्रार्थना।

[सूक्त १९]

(ऋषिः — शन्तातिः । देवता — चन्द्रमाः, नानादेवताः ।)

पु॒नन्तु॑ मा देवज॒नाः पु॒नन्तु॒ मन॑वो धि॒या। पु॒नन्तु॒ विश्वा॑ भू॒तानि॒ पव॑मानः पुनातु मा ॥ १ ॥

अर्थ— (देवजनाः मा पुनन्तु) दिव्यजन मुझे शुद्ध करें। (मनवः धिया पुनन्तु) मननशील अपनी बुद्धिसे

पव॑मानः पुनातु मा क्रत्वे॒ दक्षा॑य जी॒वसे॑ । अथो॑ अरि॒ष्टता॑तये　　　　॥ २ ॥
उ॒भाभ्यां॑ देव सवितः प॒वित्रे॑ण स॒वेन॑ च । अ॒स्मान् पु॑नीहि॒ चक्ष॑से　　　　॥ ३ ॥

पवित्र करें । (विश्वा भूतानि पुनन्तु) सब भूत मुझे पवित्र करें और (पवमानः मा पुनातु) पवित्र करनेवाला देव मुझे पवित्र करे ॥ १ ॥

(क्रत्वे दक्षाय जीवसे) कर्म, बल और दीर्घ आयुके लिये (अथो अरिष्टतातये) और कल्याणके विस्तारके लिये (पवमानः मा पुनातु) पवित्र करनेवाला देव मुझे पवित्र करे ॥ २ ॥

हे (देव सवितः) सबके उत्पादक देव ! तू (चक्षसे) तेरे दर्शन होनेके लिये (उभाभ्यां पवित्रेण) दोनों पवित्र विचार और (सवेन च) यज्ञसे (अस्मान् पुनीहि) हम सबको पवित्र कर ॥ ३ ॥

अपनी कर्मशक्ति, शारीरिक तथा मानसिक शक्ति, दीर्घ आयु बढानेके लिये और कल्याणकी प्राप्ति होनेके लिये विचार व आचारकी पवित्रतासे अपने आपकी पवित्रता करना हरएकको उचित है । उस कार्यके लिये यह उत्तम ईश्वरप्रार्थना है । जो मनोभावसे यह प्रार्थना करेगा, उसकी पवित्रता होगी, इसमें संदेह नहीं है।

क्षयरोगनिवारण ।

[सूक्त २०]

(ऋषिः — भृग्वङ्गिराः । देवता — यक्ष्मनाशनम् ।)

अ॒ग्नेरि॑वास्य॒ दह॑त एति शु॒ष्मिण॑ उ॒तेव॑ म॒त्तो वि॒लप॒न्नपा॑यति ।
अ॒न्यम॒स्मदि॑च्छतु॒ कं चि॑दव्र॒तस्तपु॑र्वधाय॒ नमो॑ अस्तु त॒क्मने॑　　　　॥ १ ॥
नमो॑ रु॒द्राय॒ नमो॑ अस्तु त॒क्मने॒ नमो॒ राज्ञे॒ वरु॑णाय॒ त्विषी॑मते ।
नमो॑ दि॒वे नमः॑ पृथि॒व्यै नम॒ ओष॑धीभ्यः　　　　॥ २ ॥
अ॒यं यो अ॑भिशोचयि॒ष्णुर्विश्वा॑ रू॒पाणि॒ हरि॑ता कृ॒णोषि॑ ।
तस्मै॑ तेऽरु॒णाय॑ ब॒भ्रवे॒ नमः॑ कृणोमि॒ वन्या॑य त॒क्मने॑　　　　॥ ३ ॥

॥ इति द्वितीयोऽनुवाकः ॥

अर्थ— (दहतः शुष्मिणः अस्य अग्नेः इव) जलानेवाले इस बलवान् अग्निके तापके समान यह ज्वर (एति) व्यापता है । (उत मत्तः इव विलपन् अपायति) और उन्मत्तके समान बडबडाता हुआ चला जाता है । (अव्रतः अस्मत् अन्यं कं चित् इच्छतु) यह अनियमवाले मनुष्यको आनेवाला ज्वर हमसे भिन्न किसी दूसरे मनुष्यको ढूंढ लेवे । (तपुः-वधाय तक्मने नमो अस्तु) तपाकर वध करनेवाले इस ज्वरको नमस्कार होवे ॥ १ ॥

रुद्र, (तक्मने) ज्वर, (त्विषीमते) तेजस्वी राजा वरुण (दिवे पृथिव्यै ओषधिभ्यः नमः) द्युलोक, भूलोक और औषधियाँ, इन सबके लिये नमस्कार हो ॥ २ ॥

(अयं यः अभिशोचयिष्णुः) यह जो शोक बढानेवाला है, (विश्वा रूपाणि हरिता कृणोषि) सब रूपोंको पीले और निस्तेज बनाता है, (तस्मै ते अरुणाय बभ्रवे) उस तुझ लाल, भूरे और (वन्याय तक्मने नमः कृणोमि) वनमें उत्पन्न ज्वरको नमस्कार करता हूं ॥ ३ ॥

ज्वरके लक्षण और परिणाम ।

इस सूक्तमें ज्वरके लक्षण और परिणाम कहे हैं देखिये उनके सूचक शब्द ये हैं—

१ अग्निः इव दहन् = अग्निके समान जलाता है, ज्वर आनेके बाद शरीर अग्निके समान उष्ण होता है और वह उष्णता रक्तको जलाती है। (मं. १)

२ शुष्मिन् = शोष उत्पन्न करता है, सुखा देता है। शरीरको सुखाता है। (मं. १)

३ मत्त इव विलपन् = पागल जैसा रोगीको बनाता है, इस कारण वह रोगी मन चाहे बातें बडबडाता रहता है। (मं. १)

४ अव्रतः = यह ज्वर व्रतहीन अर्थात् नियम पालन न करनेवालेको ही आता है। अर्थात् नियमानुकूल व्यवहार करनेवालेको नहीं सताता। (मं. १)

५ तपुः वधः = यह ज्वर तपाके वध करता है। (मं. १)

६ तक्मा = बडे कष्ट देता है। (मं. १)

७ रुद्रः = यह रुलानेवाला है। (मं. २)

८ अभिशोचयिष्णुः = शोक बढानेवाला है। (मं. ३)

९ विश्वा रूपाणि हरिता कृणोति = शरीरको हरा पीला अर्थात् निस्तेज बनाता है। ज्वर आनेवालेका शरीर पीला होता है। (मं. ३)

१० वन्यः = वनमें इसकी उत्पत्ति है। (मं. ३)

इस सूक्तमें इतने ज्वरके कारण, लक्षण और परिणाम कहे हैं। व्रत पालन अर्थात् नियम पालन करनेसे यह ज्वर नहीं आता और आया हुआ हट जाता है। इसलिये इसको 'अव्रत' कहा है। पृथिवी-भूमी, औषधी, वरुण राजाके सब जलस्थान, रुद्रके रुद्रसूकोप स्थान और रूप इनकी शुभ्मदशासे यह ज्वर हट जाता है।

इस सूक्तमें रुद्रका जो वर्णन है उसका विचार करनेसे पता लगता है कि यह ज्वर रुद्रका रूप है। रुद्रके दो प्रकारके रूप हैं, एक घोर (उष्ण) और एक शिव (शान्त)। इनके सम रहनेसे मनुष्यको आरोग्य प्राप्त होता है और विषम होनेसे रोग सताते हैं। इस प्रकार योजना द्वारा ज्वर दूर करनेका उपाय जाना जा सकता है। यह वैद्योंका विषय है, इसलिये वैद्य लोग इसका अधिक मनन करें।

॥ यहाँ द्वितीय अनुवाक समाप्त ॥

केशवर्धक औषधी ।

[सूक्त २१]

(ऋषिः — शन्तातिः । देवता — चन्द्रमाः ।)

इमा यास्तिस्रः पृथिवीस्तासां ह भूमिरुत्तमा । तासामधि त्वचो अहं भेषजं समु जग्रभम् ॥ १ ॥
श्रेष्ठमसि भेषजानां वसिष्ठं वीरुधानाम् । सोमो भग इव यामेषु देवेषु वरुणो यथा ॥ २ ॥
रेवतीरनाधृषः सिषासवः सिषासथ । उत स्थ केशदृंहणीरथो ह केशवर्धनीः ॥ ३ ॥

अर्थ— (इमाः याः तिस्रः पृथिवीः) ये जो तीन लोक हैं (तासां भूमिः उत्तमा) उनमें यह भूमि उत्तम है। (तासां त्वचः अधि) उनमें त्वचाके विषयमें (भेषजं अहं उ सं अग्रभं) यह औषध मैंने प्राप्त किया है ॥ १ ॥

(भेषजानां श्रेष्ठं असि) औषधोंमें यह श्रेष्ठ है, (वीरुधानां वसिष्ठं) वनस्पतियोंको यह बसानेवाला अर्थात् श्रेष्ठ है। (यथा यामेषु देवेषु) जैसे चलनेवाले देवोंमें (सोमः भगः वरुणः) सोम, भग और वरुण श्रेष्ठ हैं ॥ २ ॥

हे (रेवतीः अनाधृषः सिषासवः) सामर्थ्य युक्त, अहिंसित और आरोग्य देनेवाले रेवती औषधियो ! (सिषासिथ) आरोग्य देनेकी इच्छा करो। (उत केशदृंहणीः स्थ) और बालोंको बलवान् करनेवाली हो (अथो ह केशवर्धिनीः) और बालोंको बढानेवाली हो ॥ ३ ॥

'रेवती' औषधी केश बढानेवाली और बालोंको दृढ करनेवाली है। यह त्वचाके रोगोंके लिये भी उत्तम है। यह औषधि आजकल नहीं मिलती, इसलिये इसकी खोज करनी चाहिये।

वृष्टि कैसी होती है ?

[सूक्त २२]

(ऋषिः — शन्तातिः। देवता — आदित्यरश्मिः, मरुतः।)

कृष्णं नियानं हरयः सुपर्णा अपो वसाना दिवमुत् पतन्ति ।
त आववृत्रन्त्सदनादृतस्यादिद् घृतेन पृथिवीं व्यू॑दुः ॥ १ ॥

पयस्वतीः कृणुथाप ओषधीः शिवा यदेजथा मरुतो रुक्मवक्षसः ।
ऊर्जं च तत्र सुमतिं च पिन्वत यत्रा नरो मरुतः सिञ्चथा मधु ॥ २ ॥

उदप्रुतो मरुतस्ताँ इयर्त वृष्टिर्या विश्वा निवतस्पृणाति ।
एजाति ग्लहा कन्येव तुन्नैरुं तुन्दाना पत्येव जाया ॥ ३ ॥

अर्थ— (अपः वसानाः) जलको अपने साथ लेते हुए (सु-पर्णाः हरयः) उत्तम गतिशील सूर्य किरण (कृष्णं नियानं दिवं) सबका आकर्षण करनेवाले सबके यानरूप द्युलोकस्थ सूर्यके प्रति (उत् पतन्ति) चढते हैं। (ते ऋतस्य सदनात्) वे जलके स्थानरूप अन्तरिक्षसे (आववृत्रन्) नीचे आते हैं (आत् इत् घृतेन पृथिवीं वि ऊदुः) और जलसे पृथ्वीको भिगाते हैं ॥ १ ॥

हे (रुक्मवक्षसः मरुतः) चमकनेवाले हृदयवाले वायु देवो ! (यत् एजथ) जब तुम वेगसे चलते हो तब (अपः ओषधीः) जलों और औषधियोंको (पयस्वतीः शिवाः कृणुथ) रसवाली और हितकारिणी करते हो। हे (नरः मरुतः) नेता मरुतो ! (यत्र च मधु सिञ्चत) और जहां मधुर जल सींचते हो (तत्र ऊर्जं सुमतिं च पिन्वत) वहां बल देनेवाला अन्न और उत्तम बुद्धि स्थापित करते हो ॥ २ ॥

हे (मरुतः) मरुतो ! (तान् उदप्रुतः इयर्त) उन जलको भरपूर करनेवाले मेघोंको भेजो। (या वृष्टिः) जिनसे होनेवाली वृष्टि (विश्वाः निवतः पृणाति) सब निम्न स्थानोंको भर देती है। (ग्लहा) मेघोंका शब्द (एजाति) सबको कंपित करता रहे, (तुन्ना कन्या इव) जिस प्रकार दुःखित कन्या पिताको कंपित कर देती है तथा यह शब्द (एरुं तुन्दाना) मेघको प्रेरित करे, (पत्या जाया इव) जैसी पतिके साथ रहनेवाली धर्मपत्नी गृहस्थीके संसारमें प्रेरणा करती है ॥ ३ ॥

मेघ कैसे बनते हैं ?

सूर्यकिरण पृथ्वीके ऊपरका जल हरण करते हैं इस कारण उनको (हरिः, हरयः) ये नाम दिये हैं। वे सब स्थानको पूर्ण करते हैं, इसलिये सूर्यकिरणोंको (सु-पर्णाः सुपूर्णाः) कहते हैं अथवा उनकी विशेष गतिके कारण उनको यह नाम मिला है। ये किरण (अपः वसानाः) जलको अपने साथ लेते हैं, मानो जलका वस्त्र पहनते हैं और (दिवं उत्पतन्ति) द्युलोकमें— ऊपर आकाशमें— ऊपर जाते हैं। अर्थात् पृथ्वीके ऊपरका जलांश लेकर ये सूर्यकिरण ऊपर जाते और (ऋतस्य सदनं) जलके स्थान अन्तरिक्षमें रह कर वहां मेघरूपमें परिणत होकर उन मेघोंसे पृथ्वीपर फिर वृष्टिरूपमें वही जल आता है। अर्थात् जो जल सूर्यकिरणसे ऊपर खींचा जाता है वही जल वृष्टिरूपसे फिर पृथ्वीपर आता है। यह कार्य सूर्यकिरणोंका है।

यह सूर्यकिरणोंका कार्य सदा होता रहता है, वे समुद्रसे पानी ऊपर खींचते हैं, मेघ बनाते हैं और वृष्टि होती है, इस प्रकार जलकी शुद्धि होती है। पृथ्वीपरका जो जल ऊपर बाष्परूपसे खींचा जाता है वह वहां शुद्ध बनकर वृष्टिरूपसे फिर

पृथ्वीपर गिरता है, मानो, वह (मधु सिञ्चथ) मीठे शहदकी ही वृष्टि होती है। इस वृष्टिसे (ओषधीः शिवाः) हितकारक औषधियां बनती हैं और (पयस्वतीः) उत्तम रसवाली भी बनती हैं ये औषधियां रोगियोंके शरीरोंमें रहनेवाले दोषोंको (दोष-धीः) धोती हैं और उनको नीरोग बनाती हैं, इन औषधियों और विविध रसपूर्ण अन्नको खानेसे मनुष्य (ऊर्जं सुमतिं च) बल और उत्तम बुद्धिको प्राप्त करते हैं। यदि वृष्टि न हुई तो इन पदार्थोंकी उत्पत्ति नहीं होती और अकाल होता है, इसलिये मनुष्य निर्बल और मतिहीन बनते हैं। इस प्रकार वृष्टिका महत्व कितना है यह देखिये।

पानीसे भरे बादल वायुके द्वारा लाये जाते हैं और उनसे जो वृष्टि होती है वह पृथ्वीपरके तालाब, कुंवे, नदियां आदिकोंको भर देती है और इस कारण सर्वत्र आनंद फैलता है।

सारांशसे यह इस सूक्तका सार है। पाठक इसका विचार करके वृष्टिके विषयका विज्ञान जानें।

जल।

[सूक्त २३]

(ऋषिः — शन्तातिः। देवता — आपः।)

सस्रुषीस्तदपसो दिवा नक्तं च सस्रुषीः। वरेण्यक्रतुरहमपो देवीरुप ह्वये ॥ १ ॥
ओता आपः कर्मण्या मुञ्चन्त्वितः प्रणीतये। सद्यः कृण्वन्त्वेतवे ॥ २ ॥
देवस्य सवितुः सवे कर्म कृण्वन्तु मानुषाः। शं नो भवन्त्वप ओषधीः शिवाः ॥ ३ ॥

अर्थ— (वरेण्यक्रतुः अहं) प्रशंसित श्रेष्ठ कर्म करनेवाला मैं (तत् सस्रुषीः) उन प्रवाहयुक्त जलधाराओं और (दिवा नक्तं च अपसः सस्रुषीः) दिन रात जलकी धाराओंके प्रवाहोंमें बहनेवाले (देवीः अपः) दिव्य जलको (उपह्वये) पास बुलाता हूं ॥ १ ॥

(ओताः कर्मण्याः आपः) सर्वत्र व्यापक और कर्म करानेवाले जल (प्रणीतये इतः मुञ्चन्तु) उत्तम गतिको प्राप्त करनेके लिये इस निकृष्ट अवस्थासे मुझे छुडावें और (सद्यः एतवे कृण्वन्तु) शीघ्र ही प्रगतिको प्राप्त करावें ॥ २ ॥

(सवितुः देवस्य सवे) सबकी उत्पत्ति करनेवाले ईश्वरकी इस सृष्टिमें (मानुषाः कर्म कृण्वन्तु) मनुष्य पुरुषार्थ करें। और (अपः ओषधीः) जल और जलसे उत्पन्न हुई औषधियां (नः शं शिवाः च भवन्तु) हमारे लिये कल्याण करनेवाली होवें ॥ ३ ॥

वृष्टिसे प्राप्त होनेवाला और प्रवाहोंमें बहनेवाला जल सब मनुष्योंको सुख और शान्ति देवे और उस जलसे हृष्ट-पुष्ट हुए मनुष्य उत्तम पुरुषार्थ करके उन्नतिको प्राप्त करें।

[सूक्त २४]

हिमवतः प्रस्रवन्ति सिन्धौ समह सङ्गमः। आपो ह मह्यं तद् देवीर्ददन् हृद्योत-भेषजम् ॥ १ ॥
यन्मे अक्ष्योरादिद्योत पार्ष्ण्योः प्रपदोश्च यत्। आपस्तत् सर्वं निष्करन् भिषजां सुभिषक्तमाः ॥ २ ॥

अर्थ— (आपः हिमवतः प्रस्रवन्ति) जलधारायें हिमालयसे बहती हैं। हे (स-मह) महिमाके साथ रहनेवाले! (सिन्धौ संगमः) उनका संगम समुद्रमें होता है। वह (देवीः) दिव्य जलधाराएं (मह्यं तत् हृद्योत- भेषजं ददन्) मुझे वह हृदयकी जलनका औषध देती हैं ॥ १ ॥

(यत् यत् मे अक्ष्योः पार्ष्ण्योः प्रपदोः च) जो जो मेरे दोनों आंखों, एडियों और पांवोंमें दुःख (आदिद्योत) प्रकट होता है, (तत् सर्वं) उस सब दुःखको (भिषजां सुभिषक्तमाः आपः) वैद्योंसे भी उत्तम वैद्य रूपी जल (निष्करन्) हटाता है ॥ २ ॥

सिन्धुपत्नीः सिन्धुराज्ञीः सर्वा या नद्य१स्थन। दत्त नस्तस्य भेषजं तेना वो भुनजामहै ॥ ३ ॥

अर्थ—(सिन्धुपत्नीः सिन्धुराज्ञीः) समुद्रकी पत्नियां और सागरकी रानियां (याः सर्वाः नद्यः स्थन) जो सब नदियां हैं, वे तुम (नः तस्य भेषजं दत्त) हमें उसकी औषधि दो (तेन वः भुनजामहै) उससे तुम्हारा हम उपभोग करें ॥ ३ ॥

जलचिकित्सा।

इस सूक्तमें जलका चिकित्सा धर्म लिखा है। यहां जिस जलका वर्णन है वह जल हिमालय जैसे बर्फवाले पहाडोंसे बहनेवाला है, अन्य नहीं। यह हिमपर्वतोंसे बहनेवाले नद, नदी और अन्य झरने बहते हुए समुद्रमें मिल जाते हैं। यह जल हृदयकी जलनको दूर करनेवाला है।

आंख, पीठ, एडी, पांव आदि स्थानकी पीडा भी इस जलसे दूर होती है। यह जल (भिषजां सुभिषक्तमाः) वैद्योंसे भी उत्तम वैद्य और औषधोंसे भी उत्तम औषधी है।

ये सब नदियां महासागरकी स्त्रियां हैं, इनके जलप्रवाहोंमें औषध भरा पडा है, इसका उपयोग मनुष्योंको करना उचित है। यह नदीके जलप्रवाहका तथा सागरके जलका भी गुण हो सकता है।

जलका उपयोग किस प्रकार करना चाहिये यह बात इसमें स्पष्ट नहीं हुई है। तथापि जलचिकित्साके विषयकी खोज करते समय इस सूक्तका बहुत उपयोग हो सकता है।

कष्टोंको दूर करनेका उपाय।

[सूक्त २५]

(ऋषिः — शुनःशेपः। देवता — मन्त्रोक्ताः।)

पञ्च च याः पञ्चाशच्च संयन्ति मन्या अभि। इतस्ताः सर्वा नश्यन्तु वाका अपचितामिव ॥ १ ॥
सप्त च याः सप्ततिश्च संयन्ति ग्रैव्या अभि। इतस्ताः सर्वा नश्यन्तु वाका अपचितामिव ॥ २ ॥
नव च या नवतिश्च संयन्ति स्कन्ध्या अभि। इतस्ताः सर्वा नश्यन्तु वाका अपचितामिव ॥ ३ ॥

अर्थ—(पंच च याः पञ्चाशत् च) पांच और पचास जो पीडाएं (मन्याः अभि संयन्ति) गलेके भागमें होती हैं, (सप्त च याः सप्ततिः च) सात और सत्तर जो पीडाएं (ग्रैव्याः अभि संयन्ति) कण्ठके भागमें होती हैं तथा (नव च याः नवतिः च) नौ और नब्बे जो पीडाएं (स्कंध्याः अभि संयन्ति) कन्धेके ऊपर होती हैं (इतः ताः सर्वाः) यहांसे वे सब पीडाएं (नश्यन्तु) नष्ट हो जावें (अपचितां वाकाः इव) जिस प्रकार पूजनीय सज्जनोंके सन्मुख साधारण लोकोंके वचन नष्ट होते हैं ॥ १–३ ॥

मनुष्य शुद्ध बनें और अपनी शुद्धतासे अपने कष्टों, आपत्तियों और दुःखोंको दूर करें। जिस प्रकार ज्ञानीके सन्मुख मूर्खकी वक्तृता नहीं ठहरती, उसी प्रकार पवित्र मनुष्यके पास रोग और दुःख नहीं ठहरते।

पापी विचारका त्याग करो।

[सूक्त २६]

(ऋषिः — ब्रह्मा। देवता — पाप्मा।)

अवं मा पाप्मन्त्सृज वशी सन् मृडयासि नः। आ मा भद्रस्य लोके पाप्मन् धेह्यविन्हुतम् ॥ १ ॥
यो नः पाप्मन् न जहासि तमु त्वा जहिमो वयम्। पथामनु व्यावर्तनेऽन्यं पाप्मानु पद्यताम् ॥ २ ॥
अन्यत्रास्मन्न्यु च्यतु सहस्राक्षो अमर्त्यः। यं द्वेषाम तमृच्छतु यमु द्विष्मस्तमिज्जहि ॥ ३ ॥

अर्थ— हे (पाप्मन्) पापी विचार! (मा अवसृज) मुझे छोड दे। (वशी सन् नः मृडयासि) वशमें करता हुआ तू हमें सुख देता है, ऐसा प्रतीत होता है। हे (पाप्मन्) पापी विचार (भद्रस्य लोके) कल्याणके स्थानमें (मा अविन्हुतं आ धेहि) मुझे अकुटिल अवस्थामें रख ॥ १ ॥

हे (पाप्मन्) हे पापी विचार! (यः नः न जहासि) जो तू हमें नहीं छोडता है, (तं त्वा उ वयं जहिम) उस तुझको हम छोड देते हैं। (पथां अनु व्यावर्तने) मार्गोके अनुकूल घुमाव पर (पाप्मा अन्यं अनु पद्यतां) पापी विचार दूसरेके पास चला जावे ॥ २ ॥

(सहस्र-अक्षः अमर्त्यः) हजार आंखवाला और न मरनेवाला यह पापी विचार (अस्मत् अन्यत्र नि उच्यतु) हमसे भिन्न दूसरे स्थानमें चला जावे। (यं द्वेषाम तं ऋच्छतु) जिससे हम द्वेष करते हैं, उसके पास जावे, (यं उ द्विष्मः तं इत् जहि) जिससे हम द्वेष करते हैं उसका नाश कर ॥ ३ ॥

पापी मन।

पापी मन होनेसे सब प्रकारके शारीरिक, इंद्रिय संबंधी तथा मानसिक आदि कष्ट होते हैं। इसलिये मनसे पापी संकल्प सबसे प्रथम दूर करने चाहिये। मन शुद्ध हुआ तो सब दुःख दूर हो सकते हैं।

पापी विचार मनमें उत्पन्न होते हैं, मनुष्यको वशमें करते हैं और थोडे प्रयत्नसे अधिक सुख प्राप्त करा देनेके प्रलोभनसे, अर्थात् सुख देनेके प्रलोभनमें फंसाते हैं। इस लिये इनसे बचना चाहिये।

यदि पापी विचार मनसे स्वयं दूर नहीं हुआ, तो उसको प्रयत्नसे दूर करना चाहिये ऐसा करनेसे ही प्रगतिके मार्गकी अनुकूलता हो सकती है। तात्पर्य पापी विचार दूर करके चित्तको शुद्ध करनेसे ही उन्नतिका सचा मार्ग खुला हो सकता है।

पापी विचार हजार आंखवाला है, इसलिये वह हमारी न्यूनता और कमजोरी झटपट जानता है और उस मार्गसे अन्दर प्रविष्ट होता है। शरीर क्षीण होनेपर भी वह पापी विचार क्षीण नहीं होता, इसलिये उसको प्रयत्नसे दूर करना चाहिये। पापी विचारको दूर करनेसे अन्दरकी पवित्रता होगी और पवित्रतासे सब कष्ट दूर होंगे। यह आत्मशुद्धिद्वारा उन्नति प्राप्त करनेका मार्ग है।

कपोत-विद्या।

[सूक्त २७]

(ऋषिः — भृगुः। देवता — यमः, निर्ऋतिः।)

देवाः कपोत इषितो यदिच्छन् दूतो निर्ऋत्या इदमाजगाम।
तस्मा अर्चाम कृणवाम निष्कृतिं शं नो अस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे ॥ १ ॥

अर्थ— हे (देवाः) देवो! (इषितः निर्ऋत्याः दूतः कपोतः) भेजा हुआ दुर्गतिका दूत कपोत (यत् इच्छन् इदं आजगाम) जिसकी इच्छा करता हुआ इस स्थानके प्रति आया है। (तस्मै अर्चाम) उसकी हम पूजा करते हैं और

शिवः कपोत इषितो नो अस्त्वनागा देवाः शकुनो गृहं नः ।
अग्निर्हि विप्रो जुषतां हविर्नः परि हेतिः पक्षिणी नो वृणक्तु ॥ २ ॥
हेतिः पक्षिणी न दभात्यस्मानाष्ट्री पदं कृणुते अग्निधाने ।
शिवो गोभ्य उत पुरुषेभ्यो नो अस्तु । मा नो देवा इह हिंसीत् कपोतः ॥ ३ ॥

उसके (निष्कृतिं करवाम) दुःख निवारण हम करते हैं। (नः द्विपदे चतुष्पदे शं अस्तु) हमारे दो पाँववालों और चार पाँववालोंके लिये शान्ति होवे ॥ १ ॥

(इषितः कपोतः नः शिवः अनागाः अस्तु) भेजा हुआ कपोत हमारे लिये कल्याणकारी और निष्पाप होवे। हे (देवाः) देवो! (नः गृहं शकुनः) हमारे घरके प्रति यह शुभसूचक होवे। (विप्रः अग्निः हि नः हविः जुषतां) ज्ञानी अग्नि हमारी हवि लेवे और (पक्षिणी हेतिः नः परि वृणक्तु) पंखवाला यह हथियार हमसे दूर होवे ॥ २ ॥

(पक्षिणी हेतिः अस्मान् न दभाति) पंखवाला यह हथियार हमें न दबावे। (आष्ट्री अग्निधाने पदं कृणुते) अंगीठीके अग्निके पास यह अपना पाँव रखता है। (नः गोभ्यः उत पुरुषेभ्यः शिवः अस्तु) हमारे गौओं और मनुष्योंके लिये यह कल्याणकारी होवे। हे (देवाः) देवो! (कपोतः इह नः मा हिंसीत्) यह कपोत यहां हमारी हिंसा न करे ॥ ३ ॥

कबूतर दूरदूर देशसे वार्ता लानेका कार्य करता है। यह हानिकारक वार्ता न लावे। शुभ वार्ता लावे, इस विषयमें यह प्रार्थना है। कबूतरके अंदर यह गुण है कि वह सिखानेपर कहींसे भी छोडा जाय तो सीधा घरपर आता है। प्रवासी लोग ऐसे शिक्षित कबूतर अपने पास रखते हैं और जहां जाना होता है, वहां जाकर उस कबूतरके गलेमें चिट्ठी बांधकर उसको छोड देते हैं। वह छोडा हुआ कबूतर घर आता है और घरवालोंको प्रवासीका संदेश पहुंचाता है।

इस सूक्तके निर्देशोंसे पता लगता है कि, इस कपोतविद्यामें और भी अधिक बातें हैं, जिनसे यह कबूतर बुरा और भला भी बन सकता है। परंतु इसका पता अभीतक नहीं लगा है। यह सूक्त कुछ पाठभेदसे ऋ० १०। १६५। १-३ में है, परंतु वहां देखनेसे भी इसपर विशेष प्रकाश नहीं पडता है। अतः खोज करनेवाले पाठकोंको उचित है कि इस विषयकी खोज वे करें और इस विद्याका आविष्कार करें।

इसी विषयका अगला सूक्त है वह अब देखिये—

[सूक्त २८]

(ऋषिः — भृगुः। देवता — यमः, निर्ऋतिः।)

ऋचा कपोतं नुदत प्रणोदमिषं मदन्तः परि गां नयामः।
संलोभयन्तो दुरिता पदानि हित्वा न ऊर्जं प्र पदात् पथिष्ठः ॥ १ ॥
परीमेऽग्निमर्षत परीमे गामनेषत। देवेष्वक्रत श्रवः क इमाँ आ दधर्षति ॥ २ ॥

अर्थ — (ऋचा प्र-णोदं कपोतं नुदत) मंत्रके द्वारा भेजने योग्य कपोतको भेजो। हम तो (इषं मदन्तः) अन्नको प्राप्त करके आनंदित होते हुए (दुरिता पदानि संलोभयन्तः) और पापके चिन्हरूपी इसके अशुभ पादचिन्होंको मिटाते हुए (गां परिनयामः) गौको चारों ओर ले जाते हैं। (ऊर्जं हित्वा) जलस्थानको छोडकर (पथि-ष्ठः प्र पदात्) मार्गमें स्थित प्रवासी आगे चला आवे ॥ १ ॥

(इमे अग्निं परि अर्षत) इन्होंने अग्निको प्राप्त किया है, (इमे गां परि अनेषत) इन्होंने गौको प्राप्त किया है। और (देवेषु श्रवः अक्रत) देवोंमें यश संपादन किया है। अब (कः इमान् आ दधर्षति) कौन इन लोगोंको भय दिखा सकता है? ॥ २ ॥

यः प्र॒थ॒मः प्र॒वत॑मास॒साद॑ ब॒हुभ्यः॒ पन्था॑मनुपस्प॒शा॒नः ।
योऽ॒३॑स्येशे॑ द्वि॒पदो॒ यश्चतु॑ष्पद॒स्तस्मै॑ य॒माय॑ नमो॑ अस्तु मृ॒त्यवे॑ ॥ ३ ॥

अर्थ— (यः प्रथमः) जो पहिला (बहुभ्यः पंथां अनुपस्पशानः) अनेकोंके लिये मार्गोंका निश्चय करता हुआ (प्रवतं आससाद) योग्य मार्ग प्राप्त करता है (यः अस्य द्विपदः) जो इसके दो पांववालों और (यः चतुष्पदः ईशे) जो चार पांववालोंके ऊपर स्वामित्व करता है, (तस्मै यमाय मृत्यवे नमः अस्तु) उस मृत्यु देनेवाले यमको नमस्कार है ॥ ३ ॥

यातायात कबूतरको मंत्रका पवित्र उच्चार करके और ईश्वरकी प्रार्थना करके पवित्र इच्छासे भेजो । कभी घातक इच्छासे न भेजो । हम गौओंको पालते हैं, उत्तम अन्नके सेवनसे आनंदित होते हैं और पापवासनाओंको दूर करते हैं; इस लिये हमारा प्रवासी सुखपूर्वक आगे बढता जायगा । इसमें संदेह नहीं है ।

जो प्रतिदिन अग्निमें हवन करते हैं, गायका सत्कार करते हैं और यश बढानेवाला पुण्यकर्म करते हैं, उनको डरानेका सामर्थ्य किसीमें भी नहीं होता है । इस लिये मनुष्य इस उपायसे अपने आपको कष्टोंसे बचा सकता है ।

यमका अधिकार द्विपाद और चतुष्पाद सबपर समान है। यह सब लोगोंके मार्गको अर्थात् जीवनके मार्गोंको यथावत् जानता है । इसलिये उस यमको सब मनुष्य नमस्कार करें।

यह आशय इन तीनों मंत्रोंका है । इसमें बीचके मंत्रमें जो कहा है कि सत्कर्म करनेवालोंको कोई डरा नहीं सकता, वह बात हरएकको विशेष लक्ष्यमें रखनी चाहिये । अगला सूक्त भी इसी विषयका है, वह अब देखिये—

[सूक्त २९]

(ऋषिः — भृगुः । देवता — यमः, निर्ऋतिः ।)

अ॒मून् हे॒तिः प॑त॒त्रिणी॒न्ये॑तु॒ यदुलू॑को॒ वद॑ति मो॒घमे॒तत् । यद् वा॑ क॒पोतः॑ प॒दम॒ग्नौ कृ॒णोति॑ ॥ १ ॥
यौ ते॑ दू॒तौ नि॑र्ऋत इ॒दमे॒तोऽप्र॑हितौ॒ प्रहि॑तौ वा गृ॒हं नः॑ । क॒पो॒तो॒लू॒काभ्या॒मप॑दं॒ तद॑स्तु ॥ २ ॥
अ॒वै॒र॒ह॒त्याये॒दमा प॑पत्यात् सु॒वी॒रता॑या इ॒दमा स॑सद्यात् । परा॑ङे॒व परा॑ वद॒ परा॑ची॒मनु॑ सं॒वत॑म् ।
यथा॑ य॒मस्य॑ त्वा गृ॒हेऽर॒सं प्र॑ति॒चाक॑शाना॒भूकं॑ प्रति॒चाक॑शान् ॥ ३ ॥

अर्थ— (पतत्रिणी हेतिः अमून् नि एतु) पंखवाला हथियार इन शत्रुओंको नीचे करे । (उलूकः यत् वदति मोघं एतत्) जो उल्लू बोलता है वह व्यर्थ है । (यत् वा कपोतः अग्नौ पदं कृणोति) अथवा जो कबूतर अग्निके पास पांव रखता है वह भी व्यर्थ है, अर्थात् उससे कोई अशुभ नहीं होगा ॥ १ ॥

हे (निर्ऋते) दुर्गति ! (यौ प्रहितौ अप्रहितौ ते दूतौ) जो भेजे हुए अथवा न भेजे हुए तेरे दोनों दूत (नः इदं गृहं आ इतः) हमारे घरको आते हैं; (कपोतोलूकाभ्यां तत् अपदं अस्तु) कपोत और उल्लूके द्वारा यह पद रखने योग्य न होवे, अर्थात् कोई अशुभकी सूचना देनेवाले प्राणी हमारे घरोंमें पांव न रखें ॥ २ ॥

(अ-वैरहत्याय इदं आ पपत्यात्) हमारे वीरोंकी हत्या न होनेकी सूचना देनेवाला यह होवे । (सुवीरतायै इदं आ ससद्यात्) हमारे वीरोंके उत्साहके लिये यह सुचिन्ह होवे। (पराङ् पराची अनु संवतं) नीचे अधोवदन करके अनुकूल रीतिसे (परा एव वद) दूसरे बोल । (यथा यमस्य गृहे) जिस प्रकार यमके घरमें (अरसं त्वा प्रतिचाकशान्) निर्बल हुआ तुझे लोग देखें । (आभूकं प्रतिचाकशान्) केवल आया हुआ ही तुझे देखें अर्थात् तू अनुद्यत असमर्थ होकर यहां रह ॥ ३ ॥

ये सभी सूक्त बडे दुर्बोध हैं । कबूतर, उल्लू आदिकोंसे किस प्रकार अनिष्ट सूचनाएं मिलती हैं यह कहना कठिन है । परंतु इन सूक्तोंमें ऐसा प्रतीत होता है कि अपने वीर शत्रुपर हमला करनेको जब जाते हैं तब वे अपने साथ कबूतर ले जाते हैं और वहांका संदेश अपने घरमें अथवा अपने राष्ट्रमें भेज देते हैं । यह शुभ संदेश प्राप्त होवे और अपने वीरोंके मृत्यु आदिका अथवा अपने पराजयका संदेश न प्राप्त हो । इस विषयकी प्रार्थनाएं इन मंत्रोंमें हैं । परंतु इन सूक्तोंका विषय खोजका ही विषय है । इसलिये इन सूक्तोंपर अधिक लिखना असंभव है ।

शमी औषधी ।

[सूक्त २०]

(ऋषिः — उपरिबभ्रवः । देवता — शमी ।)

देवा इमं मधुना संयुतं यवं सरस्वत्यामधि मणावचर्कृषुः ।
इन्द्र आसीत् सीरपतिः शतक्रतुः कीनाशा आसन् मरुतः सुदानवः ॥ १ ॥
यस्ते मदोऽवकेशो विकेशो येनाभिहस्यं पुरुषं कृणोषि ।
आरात् त्वदन्या वनानि वृक्षि त्वं शमि शतवल्शा वि रोह ॥ २ ॥
बृहत्पलाशे सुभगे वर्षवृद्ध ऋतावरि । मातेव पुत्रेभ्यो मृड केशेभ्यः शमि ॥ ३ ॥

अर्थ— (देवाः मधुना संयुतं इमं यवं) देवोंने मधुरतासे युक्त इस यव धान्यको (सरस्वत्यां अधि मणौ अचर्कृषुः) सरस्वतीके तटपर मणि जैसी उत्तम भूमिमें बोनेके लिये बार बार हल चलाया । वहां (शतक्रतुः इन्द्रः सीरपतिः आसीत्) शतक्रतु इन्द्र हलका स्वामी था और (सुदानवः मरुतः कीनाशाः आसन्) उत्तम दानी मरुत किसान थे ॥ १ ॥

हे (शमि) शमी औषधि ! (यः ते मदः) जो तेरा आनन्ददायक रस (अवकेशः विकेशः) विशेष केश बढानेवाला है (येन पुरुषं अभिहस्यं कृणोषि) जिससे तू पुरुषको बडा हर्षित करती है । इस लिये (त्वत् अन्या वनानि आरात् वृक्षि) तेरेसे भिन्न दूसरा जंगल मैं तेरे समीपसे हटाता हूं, (त्वं शतवल्शा विरोह) तू सैंकडों शाखावाली होकर बढती रह ॥ २ ॥

हे (बृहत्पलाशे सुभगे वर्षवृद्धे ऋतावरि शमि) बडे पत्तोंवाली उत्तम तेजस्वी, वृष्टिसे बढी, ऋतावरि शमि ! (माता पुत्रेभ्य इव) माता पुत्रोंके लिये प्यार करनेके समान (केशेभ्यः मृड) केशोंके लिये सुख दे ॥ ३ ॥

खेती ।

प्रथम मंत्रमें जौ नामक धान्य बोनेके लिये भूमीको उत्तम हल चलाकर तैयार करनेका विधान है । यह तो सर्वसाधारण खेतीके लिये ही उपदेश है ऐसा समझना चाहिये । जहां इंद्र हल चलाता है और मरुत् खेती करते हैं; वहां यह कार्य मनुष्योंको करनेमें कोई संकोच नहीं होना चाहिये । अर्थात् खेतीका कार्य दिव्य कार्य है यह मनुष्य अवश्य करें ।

द्वितीय मंत्रमें कहा है कि शमीका रस आनंद देता है और बालोंको बढाता है इसलिये इससे लोग बडे हर्षित होते हैं । अतः शमी वृक्षके आसपास उगनेवाले अन्य वृक्ष हटाने चाहिये जिससे शमीका वृक्ष अच्छा प्रकार बढ जावे । यहां उद्यानका एक उत्कृष्ट नियम कहा है । जो वृक्ष बढाना हो उसके आसपास कोई जंगल बढने नहीं देना चाहिये । इससे उसकी उत्तम वृद्धि होती है ।

तृतीय मंत्रमें शतावरी और शमीकी प्रशंसा है । इससे केशोंको बडा लाभ होता है । इस सूक्तका विचार वैद्य अवश्य करें । इनसे बालोंकी रक्षा और वृद्धि किस प्रकार होती है इसी बातका विचार होना चाहिये ।

चन्द्र और पृथ्वीकी गति ।

[सूक्त २१]

(ऋषिः — उपरिबभ्रवः । देवता — गौः ।)

आयं गौः पृश्निरक्रमीदसदन्मातरं पुरः । पितरं च प्रयन्त्स्वः ॥ १ ॥

अर्थ— (अयं गौः) यह गतिशील चन्द्रमा (मातरं पुरः असदत्) अपनी माता भूमिको आगे करता है और (पितरं स्वः च प्रयन्) अपने पिता रूपी स्वयं प्रकाशी सूर्यके चारों ओर घूमता हुआ (पृश्निः आ अक्रमीत्) आकाशमें आक्रमण करता है ॥ १ ॥

अन्तश्चरति रोचना अस्य प्राणादपानतः । व्यख्यन्महिषः स्वः ॥ २ ॥
त्रिंशद् धामा वि राजति वाक् पतङ्गो अशिश्रियत् । प्रति वस्तोरहर्द्युभिः ॥ ३ ॥

॥ इति तृतीयोऽनुवाकः ॥

अर्थ— (अस्य रोचना) इसकी ज्योति (प्राणात् अपानतः) प्राण और अपान करनेवालोंके (अन्तः चरति) अंदर संचार करती है और वह (महिषः स्वः वि अख्यत्) बडे स्वयं प्रकाशी सूर्यको ही प्रकाशित करती है ॥ २ ॥

(वस्तोः त्रिंशत् धामा) अहोरात्रके तीस धाम अर्थात् मुहूर्त (अहः द्युभिः प्रति वि राजति) निश्चयसे इसके प्रकाशसे प्रकाशित होते हैं । उसकी प्रशंसाके लिये (वाक् पतंगः अशिश्रियत्) हमारी वाणी सूर्यका आश्रय करती है ॥ ३ ॥

चंद्र भूमिके चारों ओर भ्रमण करता है और भूमिसहित चन्द्र सूर्यकी चारों ओर घूमता है । इस प्रकार भूमिसहित चन्द्र सूर्यकी प्रदक्षिणा करता है और अपने मार्गसे आकाशमें संचार करता है ।

इसके किरण सब स्थावरजंगमके ऊपर प्रकाशित होते हैं और वे सूर्यप्रकाशके महत्त्वको व्यक्त करते हैं ।

अहोरात्रके तीस मुहूर्तोंमें इसीका प्रकाश सबको तेजस्वी बनाता है । इसलिये इस सूर्यकी प्रशंसा हमारी वाणीको करनी योग्य है ।

॥ यहां तृतीय अनुवाक समाप्त ॥

रोगक्रिमिनाशक हवन।

[सूक्त ३२]

(ऋषिः — १, २ चातनः; ३ अथर्वा । देवता — अग्निः ।)

अन्तर्दावे जुहुता स्वे३तद् यातुधानक्षयणं घृतेन ।
आराद् रक्षांसि प्रति दह त्वमग्ने न नो गृहाणामुप तीतपासि ॥ १ ॥
रुद्रो वो ग्रीवा अशरैत् पिशाचाः पृष्टीर्वोपि शृणातु यातुधानाः ।
वीरुद् वो विश्वतोवीर्या यमेन समजीगमत् ॥ २ ॥
अभयं मित्रावरुणाविहास्तु नोर्चिषात्त्रिणो नुदतं प्रतीचः ।
मा ज्ञातारं मा प्रतिष्ठां विदन्त मिथो विघ्नाना उप यन्तु मृत्युम् ॥ ३ ॥

अर्थ— (एतत् यातुधानक्षयणं) यह पीडा देनेवालोंका नाश करनेवाली हविका (अन्तः दावे) अग्निकी प्रदीप्त अवस्थामें (सु जुहुत) उत्तम प्रकार हवन करो। हे अग्ने ! (त्वं रक्षांसि आरात् प्रति दह) तू राक्षसोंको समीपसे और दूरसे जला दे । और (नः गृहाणां न उप तीतपासि) हमारे घरोंको न तप दे ॥ १ ॥

हे (पिशाचाः) पिशाचो ! (रुद्रः वः ग्रीवाः अशरैत्) रुद्रने तुम्हारी गर्दनोंको तोड डाला है । हे (यातु-धानाः) यातना देनेवालो ! (वः पृष्टीः अपि शृणातु) वह तुम्हारी पसलियोंको भी तोड डाले। (विश्वतोवीर्या वीरुत्) अनंत वीर्योंवाली औषधिने (वः यमेन समजीगमत्) तुमको यमके साथ संयुक्त किया है ॥ २ ॥

हे (मित्रावरुणौ) मित्र और वरुण ! (नः इह अभयं अस्तु) हमारे लिये यहां अभय होवे । (अर्चिषा अत्त्रिणः प्रतीचः नुदतं) अपने तेजसे भक्षक शत्रुओंको दूर हटा दो । (मा ज्ञातारं) ज्ञानीको वे न प्राप्त करें । कहीं भी वे (मा प्रतिष्ठां विन्दत) स्थिरताको न प्राप्त हों । वे (मिथः विघ्नाना मृत्युं उप यन्तु) आपसमें एक दूसरेको मारते हुए वे सब मृत्युको प्राप्त हों ॥ ३ ॥

रोगनाशक हवन।

रोगके कृमियोंका नाश करनेवाला हवन प्रदीप्त अग्निमें उत्तम विधिपूर्वक करनेका उपदेश इस सूक्तके प्रथम मंत्रमें किया है। इससे शरीरभक्षक सूक्ष्म रोगक्रिमि नाशको प्राप्त होते हैं। क्रिमी ये हैं—

१ पिशाचाः = मांसकी क्षीणता करनेवाले, रक्तकी क्षीणता करनेवाले,
२ यातुधानाः = शरीरमें यातना, पीडा उत्पन्न करनेवाले,
३ राक्षसः-क्षरासः = क्षीणता करनेवाले और
४ अत्रिणः-अदन्ति इति = शरीर भक्षण करनेवाले ये रोगजन्तु अग्निमें किये हवनसे तथा—
५ विश्वतो वीर्या वीरुत् = अत्यंत गुणवाली वनस्पतीके प्रयोगसे क्षीण होते हैं और नाशको प्राप्त होते हैं।

ईश्वरका प्रचण्ड सामर्थ्य।

[सूक्त ३३]

(ऋषिः — आङ्गिरसः। देवता — इन्द्रः।)

यस्येदमा रजो युजस्तुजे जना वनं स्वः। इन्द्रस्य रन्त्यं बृहत् ॥ १ ॥
नाधृष आ दधृषते धृषाणो धृषितः शवः। पुरा यथा व्यथिः श्रव इन्द्रस्य नाधृषे शवः ॥ २ ॥
स नो ददातु तां रयिमुरुं पिशङ्गसंदृशम्। इन्द्रः पतिस्तुविष्टमो जनेष्वा ॥ ३ ॥

अर्थ— हे (जनाः) लोगो ! (अस्य तुजे) इस प्रभुके बलमें (इदं रजः) यह लोकलोकान्तर, (वनं स्वः) यह वन अर्थात् पृथ्वी और यह स्वर्ग (आ युजः) संयुक्त हुआ है। इतना (इन्द्रस्य बृहत् रन्त्यं) इस प्रभुका बडा रमणीय सामर्थ्य है ॥ १ ॥

(धृषितः) पराजित हुआ शत्रु (धृषाणः शवः न आधृषे) हरानेवालेके बलकी बराबरी नहीं कर सकता और न (आ दधृषे) उसको हरा सकता है। (यथा पुरा व्यथिः) जिस प्रकार पहिले पीडासे थका हुआ शत्रु (इन्द्रस्य श्रवः शवः न आधृषे) प्रभुके प्रशंसनीय बलको गिरा नहीं सकता ॥ २ ॥

(इन्द्रः जनेषु तुविष्टमः पतिः आ) ईश्वर सब जन्म लेनेवालोंसे भी बडा समर्थ प्रभु है। (सः नः तां उरुं पिशङ्गसंदृशं रयिं ददातु) वह हम सबको उस बडे सुवर्णसदृश धनको देवे ॥ ३ ॥

इसके सामर्थ्यसे यह भूलोक, अन्तरिक्ष लोक और स्वर्ग लोक दृढ हैं। ऐसा प्रचण्ड सामर्थ्य उस प्रभुका है। कोई शत्रु उस प्रभुका पराजय नहीं कर सकता, क्योंकि उसकी शक्ति ही विलक्षण प्रभावशाली है। सब उत्पन्न हुए पदार्थोंसे वह प्रभु अधिक समर्थ है, इसलिये वह हमें उत्तम धन देवे।

तेजस्वी ईश्वर।

[सूक्त ३४]

(ऋषिः — चातनः। देवता — अग्निः।)

प्राग्नये वाचमीरय वृषभाय क्षितीनाम्। स नः पर्षदति द्विषः ॥ १ ॥

अर्थ— (क्षितीनां वृषभाय अग्नये) पृथ्वी आदि सब लोकोंके महाबलवान् तेजस्वी ईश्वरके लिये (वाचं प्र ईरय) स्तुतिरूप अपनी वाणीको प्रेरित करो। (यः अग्निः) जो तेजस्वी प्रभु (तिग्मेन शोचिषा रक्षांसि निजूर्वति)

यो रक्षांसि निजूर्वत्यग्निस्तिग्मेन शोचिषा । स नः पर्षदति द्विषः ॥ २ ॥
यः परस्याः परावतस्तिरो धन्वातिरोचते । स नः पर्षदति द्विषः ॥ ३ ॥
यो विश्वाभि विपश्यति भुवना सं च पश्यति । स नः पर्षदति द्विषः ॥ ४ ॥
यो अस्य पारे रजसः शुक्रो अग्निरजायत । स नः पर्षदति द्विषः ॥ ५ ॥

अपने तीक्ष्ण प्रकाशसे राक्षसोंको नष्ट करता है । (यः परस्याः परावतः धन्व) जो दूरसे दूरवाले स्थानको (तिरः अतिरोचते) पार करके चमकता है । (यः विश्वा भुवना अभि विपश्यति) जो सब भुवनोंको अलग अलग भी देखता है और (सं पश्यति) मिले जुले भी देखता है । (यः शुक्रः अग्निः) जो तेजस्वी प्रकाशका देव (अस्य रजसः पारे अजायत) इस लोकलोकान्तरके परे प्रकट रहता है । (सः नः द्विषः अति पर्षद्) वह हमें सब शत्रुओंसे दूर करके परिपूर्ण बनावे ॥ १-५ ॥

ईश्वर सबसे महाबलवान है, वह अपने तेजसे ही सब दुष्टोंको नष्टभ्रष्ट कर देता है । वह जैसा पास है उसी प्रकार दूरसे दूरवाले स्थानपर भी है । वह सब पदार्थमात्रको अलग अलग और मिलीजुली अवस्थामें भी यथावत् जानता है । वह अत्यंत तेजस्वी है और इस दृश्य जगत्के परे विराजमान है । वह सब उपासकोंको शत्रुओंसे बचाकर परिपूर्ण बनाता है ।

विश्वका सञ्चालक देव ।

[सूक्त ३५]

(ऋषिः — कौशिकः । देवता — वैश्वानरः ।)

वैश्वानरो न ऊतय आ प्र यातु परावतः । अग्निर्नः सुष्टुतीरुप ॥ १ ॥
वैश्वानरो न आगमदिमं यज्ञं सजूरुप । अग्निरुक्थेष्वंहसु ॥ २ ॥
वैश्वानरोऽङ्गिरसां स्तोममुक्थं च चाक्लृपत् । ऐषु द्युम्नं स्व१र्यमत् ॥ ३ ॥

अर्थ— (वैश्वानरः) विश्वका नेता ईश्वर (ऊतये) हमारी रक्षा करनेके लिये (परावतः नः प्र आयातु) अपने श्रेष्ठ स्थानसे हमारे पास आवे और वह (अग्निः नः सुष्टुतीः उप) प्रकाशका देव हमारी उत्तम स्तुतियां स्वीकार करे ॥ १ ॥

(उक्थेषु अंहसु) स्तुति करनेके समयमें (अग्निः सजूः वैश्वानरः) वह तेजस्वी विश्वका चालक प्रेमपूर्ण ईश्वर (इमं नः यज्ञं उप आगमत्) इस हमारे यज्ञके पास आवे ॥ २ ॥

(वैश्वानरः) विश्वका चालक देव (अंगिरसां स्तोमं उक्थं च) ज्ञानी ऋषियोंके स्तुतिस्तोत्रोंको (च चाक्लृपत्) समर्थ करता आया है । और वह (एषु द्युम्नं स्वः आयमत्) इनमें प्रकाशित होनेवाला आत्मतेज स्थिर करता है ॥ ३ ॥

विश्वका संचालक देव जो विश्वके संपूर्ण पदार्थोंका संचालन करता है, वह एक तेजस्वी, प्रेममय, प्रशंसनीय और श्रेष्ठ देव है । वह उपासकोंको श्रेष्ठ आत्मतेज देता है ।

जगत्का एक सम्राट्।

[सूक्त ३६]

(ऋषिः — अथर्वा स्वस्त्ययनकामः। देवता — अग्निः।)

ऋतावानं वैश्वानरमृतस्य ज्योतिषस्पतिम्। अजस्रं घर्ममीमहे ॥ १ ॥
स विश्वा प्रति चाक्लृप ऋतूंरुत्सृजते वशी। यज्ञस्य वय उत्तिरन् ॥ २ ॥
अग्निः परेषु धामसु कामो भूतस्य भव्यस्य। सम्राडेको वि राजति ॥ ३ ॥

अर्थ— (ऋतावानं) सत्ययुक्त, (ऋतस्य ज्योतिषः पतिं) सत्यप्रकाशके स्वामी, और (अजस्रं घर्मं वैश्वानरं) निरंतर प्रकाशवाले सब विश्वके चालक ईश्वरकी (ईमहे) हम प्राप्ति करते हैं ॥ १ ॥

(सः विश्वा प्रति चाक्लृपे) वह सबको समर्थ बनाता है। (वशी ऋतून् उत् सृजते) और वह सबको अपने वशमें करनेवाला वसंत आदि ऋतुओंको बनाता है। और (यज्ञस्य वयः उत्तिरन्) यज्ञके लिये उत्तम अन्न बनाता है ॥ २ ॥

(भूतस्य भव्यस्य कामः) भूतभविष्यमें उत्पन्न होनेवाले जगत्की कामना पूर्ण करनेवाला (एकः सम्राट् अग्निः) एक सम्राट् प्रकाशमय देव (परेषु धामसु विराजति) दूरके स्थानोंमें भी विराजता है ॥ ३ ॥

सबका एक ईश्वर।

ईश्वर संपूर्ण जगत्का 'एक सम्राट्' है यह बात इस सूक्तमें बडी उत्तमतासे कही है। वह ईश्वर (परेषु धामसु विराजति) दूरसे दूर जो स्थान हैं उन स्थानोंमें भी विराजमान है। पास तो है ही परंतु अति दूर भी है। अर्थात् वह सर्वत्र है। सब (भूतस्य भव्यस्य) भूतकालमें उत्पन्न हुए पदार्थोंका जैसा वह सम्राट् था, उसी प्रकार इस वर्तमान समयमें दिखाई देनेवाले सब जगत्का वह स्वामी है, इतना ही नहीं अपितु भविष्य कालमें उत्पन्न होनेवाले जगत्का भी वह स्वामी रहेगा। अर्थात् संपूर्ण जगत्का सब कालोंमें वह स्वामी है। और इससे भिन्न दूसरा कोई स्वामी नहीं है।

वह सबसे अधिक सामर्थ्यवान् है और इसीलिये वह (विश्वा चाक्लृपे) सबको सामर्थ्यवान् बनाता है। वह समर्थ है इसीलिये सबको (वशी) अपने वशमें रखता है, उसके शासनसे बाहर कोई नहीं है। वही सब प्रकारके अन्न और विविध ऋतुओंमें होनेवाले यजनीय पदार्थ और भोग्य पदार्थ उत्पन्न करता है।

वह त्रिकालमें (ऋतावान्) सत्यस्वरूप है और (ऋतस्य पति) सत्य नियमोंका पालन करनेवाला है, वही सब (वैश्वानर) विश्वका संचालक, विश्वको चलानेवाला है, सबका वही उपास्य और प्राप्त करने योग्य है।

इस सूक्तमें एकेश्वरकी उत्तम उपासना कही है, इसलिये उपासनाके लिये यह उत्तम सूक्त है।

शापसे हानि।

[सूक्त ३७]

(ऋषिः — अथर्वा स्वस्त्ययनकामः। देवता — चन्द्रमाः।)

उप प्रागात् सहस्राक्षो युक्त्वा शपथो रथम्। शप्तारमन्विच्छन् मम वृक इवाविमतो गृहम् ॥ १ ॥

अर्थ— (सहस्राक्षः शपथः) हजार आंखवाला शाप (रथं युक्त्वा) अपना रथ जोतकर (मम शप्तारं अन्विच्छन्) मेरे शाप देनेवालेको ढूंढता हुआ (उप प्र अगात्) उसके समीप आता है, (वृकः अवि-मतः गृहं इव) जिस प्रकार भेडिया भेडवालेके घरके प्रति आता है ॥ १ ॥

परि णो वृङ्धि शपथ ह्रदमग्निरिवा दहन्। शप्तारमत्र नो जहि दिवो वृक्षमिवाशनिः ॥ २ ॥
यो नः शपादशपतः शपतो यश्च नः शपात्। शुने पेष्ट्रमिवावक्षामं तं प्रत्यस्यामि मृत्यवे ॥ ३ ॥

अर्थ— हे (शपथ) दुष्ट भाषण! (नः परिवृङ्धि) हमें छोड दे (दहन् अग्निः ह्रदं इव) जिस प्रकार जलनेवाला अग्नि जलस्थानको छोड देता है। (अत्र नः शप्तारं जहि) यहां हमारे शाप देनेवालेका नाश कर (दिवः अशनिः वृक्षं इव) आकाशकी बिजुली जिस प्रकार वृक्षका नाश करती है ॥ २ ॥

(अशपतः नः यः शपात्) शाप न देनेवाले हमको जो शाप देवे, (यः च शपतः नः शपात्) और जो शाप देनेवाले हमको शाप देवे, (अवक्षामं तं मृत्यवे प्रति अस्यामि) उस हीनको मैं मृत्युके आधीन करता हूं। (पेष्ट्रं शुने इव) जिस प्रकार टुकडा कुत्तेके सामने फेंकते हैं ॥ ३ ॥

शापसे हानि।

शाप देनेसे, दूसरेको कटु वचन कहनेसे जो हानि होती है, उसका वर्णन इस सूक्तमें किया है। शाप हजार आंखवाला अर्थात् महाक्रोधी अथवा महाक्रोधसे उत्पन्न होता है। जो शाप देता है, क्रोधके वचन कहता है, दूसरेको क्रोधसे बुरा कहता है, उसीका शाप उसको हजार गुना नाशक होकर उसको ढूंढता हुआ उसीपर वापस आता है। देखिये—

सहस्राक्षः शपथः शप्तारं अन्विच्छन् उपागात्। (मं० १)

'हजार गुना शाप बनकर शाप देनेवालेको ढूंढता हुआ उसीके पास आता है।' इसलिये शाप देनेवालेकी हानि हजार गुना होती है। अतः कोई किसीको शाप न देवे।

शपथ! नः परिवृङ्धि। (मं० २)

'शाप हमारे पास न आवे' अर्थात् हमारे मुखसे कभी बुरा वचन न निकले, और कोई दूसरा हमारे उद्देश्यसे बुरा वचन न कहे। अर्थात् हम कभी बुरा वचन न कहें और कभी हम बुरे शब्द भी न सुनें।

शपथ! शप्तारं जहि। (मं० २)

'शाप शाप देनेवालेका ही नाश करे।' अर्थात् जिसका जो कटु वचन होता है वह उसीका नाश करता है। इसलिये कोई कभी कटु वचन न बोले। कटु वचनसे अपना ही अधिक नाश होता है। इसलिये क्रोधी मनुष्य अपने आपको बडी सावधानीसे बचा लेवे।

अवक्षामं मृत्यवे अस्यामि। (मं० ३)

'शाप देनेवाले हीन मनुष्यको मृत्युके प्रति भेजा जाता है।' अर्थात् शाप देनेसे आयुका नाश होता है इस कारण कोई किसीको शाप न देवे और बुरा वचन भी न कहे।

'स्वस्त्ययन' अर्थात् (स्वस्ति-अयनं) 'उत्तम कल्याण प्राप्त करते हुए जीवन व्यतीत करना' इस सूक्तका उद्देश्य है। इस उद्देश्यकी सिद्धिके लिये मनुष्यको उचित है कि वह कभी कटु वचन न बोले। इस नियमका पालन करता हुआ मनुष्य उन्नत होवे और अपना जीवन कल्याणयुक्त बनावे।

तेजस्विताकी प्राप्ति।

[सूक्त ३८]

(ऋषिः — अथर्वा वर्चस्कामः। देवता — त्विषिः, बृहस्पतिः।)

सिंहे व्याघ्र उत या पृदाकौ त्विषिरग्नौ ब्राह्मणे सूर्ये या।
इन्द्रं या देवी सुभगा जजान सा न ऐतु वर्चसा संविदाना ॥ १ ॥

अर्थ— (या त्विषिः) जो तेज (सिंहे, व्याघ्रे, उत पृदाकौ) सिंह, बाघ, और सांपमें है और (या अग्नौ, ब्राह्मणे, सूर्ये) जो तेज अग्नि, ब्राह्मण, और सूर्यमें है, (या सुभगा देवी इन्द्रं जजान) जो भाग्ययुक्त देवी तेज इन्द्रको अर्थात् राजाको उत्पन्न करता है (वर्चसा संविदाना सा नः एतु) बल और बलसे युक्त होकर वह तेज हमें प्राप्त होवे ॥ १ ॥

या ह॒स्तिनि॑ द्वी॒पिनि॒ या हिर॑ण्ये॒ त्विषि॑र॒प्सु गोषु॒ या पुरु॑षेषु ।
इन्द्रं॒ या दे॒वी सु॒भगा॑ ज॒जान॒ सा न॒ ऐतु॒ वर्च॑सा संविदा॒ना ॥ २ ॥
रथे॑ अ॒क्षेष्वृ॑ष॒भस्य॒ वाजे॒ वाते॑ प॒र्जन्ये॒ वरु॑णस्य॒ शुष्मे॑ ।
इन्द्रं॒ या दे॒वी सु॒भगा॑ ज॒जान॒ सा न॒ ऐतु॒ वर्च॑सा संविदा॒ना ॥ ३ ॥
रा॒ज॒न्ये॑ दुन्दु॒भावाय॑ताया॒मश्व॑स्य॒ वाजे॒ पुरु॑षस्य मा॒यौ ।
इन्द्रं॒ या दे॒वी सु॒भगा॑ ज॒जान॒ सा न॒ ऐतु॒ वर्च॑सा संविदा॒ना ॥ ४ ॥

अर्थ— (या त्विषिः) जो तेज (हस्तिनि द्वीपिनि) हाथी और बाघमें है (या हिरण्ये, अप्सु, गोषु, पुरुषेषु) जो तेज, सोना, जल, गौवें और मनुष्योंमें होता है, जिस भाग्ययुक्त तेजसे राजा उत्पन्न होता है, वह तेज हमें प्राप्त होवे ॥ २ ॥

जो तेज (रथे अक्षेषु ऋषभस्य वाजे) रथ, अक्ष, और बैलके बलमें है, और (वाते पर्जन्ये वरुणस्य शुष्मे) वायु, पर्जन्य और वरुणके सामर्थ्यमें है और जिससे राजा उत्पन्न होता है वह तेज हमें प्राप्त होवे ॥ ३ ॥

जो तेज (राजन्ये आयतायां दुन्दुभौ) क्षत्रियमें और खेंची हुई दुन्दुभीमें होता है, और (अश्वस्य वाजे, पुरुषस्य मायौ) घोडेके बलमें और मनुष्यके पित्तमें जो बल होता है, जिससे राजा उत्पन्न होता है वह तेज मुझे प्राप्त हो ॥ ४ ॥

तेजके स्थान ।

इस सूक्तमें तेज कहां कहां रहता है, इसका उत्तम वर्णन है। मनुष्यको ये शुरु करने चाहिये और इनसे तेजका पाठ सीखना चाहिये। देखिये—

१ सिंह— सिंहमें तेज है इसीलिये उसको वनराज कहते हैं। सिंहके सामने उसकी उग्रता देखकर साधारण मनुष्य नहीं ठहर सकता।

२ व्याघ्र— बाघ भी बडा तेजस्वी होता है, उसकी उग्रता प्रसिद्ध है।

इसी कारण अधिक तेजस्वी मनुष्यको 'नरसिंह, नरव्याघ्र' कहते हैं। क्योंकि ये पशु अन्य पशुओंसे बडे तेजस्वी होते हैं।

३ पृदाकु— सांप भी बडा तेजःपुञ्ज होता है, चपल और उग्र होता है।

४ अग्नि— अग्निका तेज, उष्णत्व और प्रकाश सब जानते हैं।

५ ब्राह्मण— ब्राह्मणमें ज्ञान और विज्ञानका बल रहता है।

६ सूर्य— सूर्य तो सब तेजका केन्द्र है ही। इसके समान कोई तेजस्वी पदार्थ नहीं है।

७ हस्ती— हाथीमें गंभीरताका तेज होता है, उसकी शोभा महोत्सवोंमें दिखाई देती है, इसकी शक्ति भी बडी होती है।

८ द्वीपी— यह नाम तरक्षु या व्याघ्रका है, यह बडा उग्र और तेजस्वी होता है।

९ हिरण्य— सोनेका तेज सब जानते हैं।

१० आपः— जल भी तेजस्वी होता है, 'उसमें जीवन नहीं अर्थात् जल नहीं,' ऐसा भाषाका भी व्यवहार होता है। जलमें तेज होनेके कारण जीवनके लिये भी यह शब्द प्रयुक्त होता है।

११ गौ— गौओंमें भी तेज है। पाठक भैंसका शैथिल्य और गौओंकी चपलताका विचार करेंगे तो उनको गौओंके तेजका पता लग जायगा।

१२ पुरुष— मनुष्यमें भी तेज होता है।

१३ रथ, अक्ष, वृषभ— इनके तेजका अनुभव सबको है। मनुष्योंमें जो श्रेष्ठ होता है उसको 'नरर्षभ' अर्थात् 'मनुष्योंमें बैल' ऐसा कहते हैं। बैल बडा बलवान् और तेजस्वी होता है।

१४ वायु, पर्जन्य— यद्यपि वायु अदृश्य है तथापि वह प्राणके द्वारा शरीरमें तेज स्थापित करता है, प्राणके बिना मनुष्य निस्तेज बनता है। पर्जन्य जलके द्वारा सबको जीवन देता है।

१५ क्षत्रिय— क्षत्रियमें अन्य मनुष्योंसे अधिक उग्रता और तेज होता है इसी कारण क्षत्रिय राज्यका शासन कर सकता है।

१६ दुन्दुभी, अश्व— ढोल बजते ही मनुष्यमें बडा उत्साह बढता है और घोडा भी बडा प्रभावशाली होता है।

पाठक विचार करेंगे तो उनको पता लग जायगा कि इनमें

अलग अलग प्रकारका तेज है और ये सब प्रकारके तेज मनुष्यमें स्थिर होने चाहिये। भिन्न तेजोंकी कल्पना आनेके लिये देखिये- सूर्य, चन्द्र, विद्युत्, अग्नि इनमें तेज है, परंतु वह परस्पर भिन्न है। हरएक पदार्थके तेजमें भिन्नता है। बाघका तेज और गौका तेज परस्पर भिन्न है। मनुष्यको विचार करके इनके तेजोंको अपने अंदर धारण करना चाहिये। देखिये---

अग्निमें तेज है, उसकी गति उच्च दिशाकी ओर होती है, वह स्वयं जलकर दूसरोंको प्रकाशित करता है, वह सदा उग्र अवस्थामें रहता है, इसी प्रकार मनुष्यको अपनेमें तेज बढाना चाहिये। अर्थात् मनुष्य तेजस्वी बने, उच्च अवस्थाकी ओर अपनी प्रगति करे, स्वयं कष्ट सहन करके दूसरोंको प्रकाशित करे और सदा उग्र बना रहे। अग्निके तेजसे यह उपदेश मनुष्य ले सकता है। उसी प्रकार सब अन्य तेजोंके विषयमें जानना चाहिये। पाठक इस प्रकार विचार करके हरएककी तेजस्विताके प्राप्त करने योग्य बोध लें और स्वयं तेजस्वी बनें।

इस जगत्में हरएक पदार्थ मनुष्यको बोध देनेके लिये तैयार है, परंतु मनुष्य ही बोध लेनेके लिये तैयार होना चाहिये। यदि पाठक इस सूक्तका अधिक विचार करेंगे तो उनको इस सूक्तसे बहुत बोध प्राप्त हो सकता है। बोध लेनेकी दृष्टिसे यह सूक्त बडा महत्त्वपूर्ण है।

यशस्वी होना।

[सूक्त २९]

(ऋषिः — अथर्वा वर्चस्कामः। देवता — त्विषिः, बृहस्पतिः।)

यशो॑ ह॒विर्व॑र्धता॒मिन्द्र॑जूतं स॒हस्र॑वीर्यं सु॒भृ॑तं॒ सह॑स्कृतम्।
प्र॒सर्स्रा॑णमनु दी॒र्घाय॒ चक्ष॑से ह॒विष्म॑न्तं मा वर्धय ज्ये॒ष्ठता॑तये ॥ १ ॥
अच्छा॑ न॒ इन्द्रं॑ य॒शसं॒ यशो॑भिर्यश॒स्विनं॑ नमसा॒ना वि॑धेम।
स नो॑ रास्व रा॒ष्ट्रमिन्द्र॑जूतं॒ तस्य॑ ते रा॒तौ य॒शसः॑ स्याम ॥ २ ॥
य॒शा इन्द्रो॑ य॒शा अ॒ग्निर्य॒शाः सोमो॑ अजायत। य॒शा विश्व॑स्य भू॒तस्या॒हम॑स्मि य॒शस्त॑मः ॥ ३ ॥

अर्थ— (**इन्द्रजूतं सहस्रवीर्यं सुभृतं**) ईश्वरसे प्राप्त, सहस्रों वीर्योंसे युक्त, उत्तम भरपूर, (**सहस्कृतं हविः यशः वर्धतां**) बलसे प्राप्त किया हुआ यज्ञरूप मेरा यश बढे। इससे (**दीर्घाय ज्येष्ठतातये**) बडी श्रेष्ठताको फैलानेवाली (**चक्षसे**) दृष्टि प्राप्त होनेके लिये (**प्रसर्स्राणं हविष्मन्तं मा अनु वर्धय**) प्रगति करनेवाले अन्नयुक्त मुझको अनुकूलतासे बढा ॥ १ ॥

(**यशोभिः यशसं यशस्विनं इन्द्रं**) अनेक यशोंसे युक्त होनेके कारण यशस्वी प्रभुको (**नमसानाः नः अच्छ विधेम**) नमस्कार करते हुए हमारे उदयके हेतुसे हम उत्तम प्रकार उसको पूजते हैं। (**सः इन्द्रजूतं राष्ट्रं नः रास्व**) वह तू प्रभुके द्वारा दिया हुआ राष्ट्र अथवा तेज हमें दे। (**तस्य ते रातौ यशसः स्याम**) उस तेरे दानमें हम यशस्वी होवें ॥ २ ॥

(**इन्द्रः यशाः**) प्रभु यशस्वी है, (**अग्निः यशाः**) अग्नि यशस्वी है, (**सोमः यशाः अजायत**) सोम भी यशस्वी हुआ है। (**विश्वस्य भूतस्य यशाः**) संपूर्ण भूतमात्रके यशसे (**अहं यशस्तमः अस्मि**) मैं यशवाला हूं ॥ ३ ॥

हजारों सामर्थ्य।

मनुष्यको हजारों सामर्थ्य (**सहस्रवीर्यं**) प्राप्त करना चाहिये। क्योंकि मनुष्यकी उन्नति सामर्थ्यसे ही होती है। सामर्थ्यहीन मनुष्य निकम्मा होता है। यह सामर्थ्य (**सहस्कृतं**) अपने बलसे ही प्राप्त करना चाहिये। दूसरेके बलसे प्राप्त हुई उच्च अवस्था उसका बल दूर होनेके पश्चात् स्वयं दूर होगी, इस कारण अपना बल बढाकर उससे अपने यशकी वृद्धि करनी चाहिये। यह यश (**हविः यशः**) हवनके समान, यज्ञरूपी यश है। अर्थात् सबकी भलाईके लिये आत्मसमर्पण करनेसे प्राप्त होनेवाला है। जब कोई मनुष्य सब जनताकी भलाईके लिये आत्मसर्वस्वका त्याग करता है, तब उसको (**इन्द्रजूतं यशः**) प्रभुसे यह यश प्राप्त होता है।

यशका स्वरूप।

दीर्घाय ज्येष्ठतातये चक्षसे। (मं० १)

' दीर्घ दृष्टि और श्रेष्ठताका विस्तार इस यशसे होता है।' संकुचित दृष्टि यशकी हानि करनेवाली है और लघुता क्षीणत्वकी द्योतक है। इस कारण यशके साथ दीर्घदृष्टि और श्रेष्ठता अवश्य रहनी चाहिये अर्थात् वही यश प्राप्त करना चाहिये कि जिसके साथ दीर्घदृष्टि और श्रेष्ठता रहती है।

प्रभुकी भक्ति।

यश प्राप्त होनेके लिये प्रभुकी भक्ति अवश्य करनी चाहिये—

यशस्विनं इन्द्रं नमसाना विधेम। (मं० २)

' यशस्वी प्रभुको नमस्कार करते हुए हम उसकी भक्ति करें।' यह भक्ति जो करते हैं उनका अन्तःकरण शुद्ध और पवित्र होता है और वे यशके भागी होते हैं। उससे प्रार्थना करनी चाहिये कि—

नः राष्ट्रं दाःस्व। (मं० २)

' हे प्रभो! हमें राष्ट्र अथवा तेज दे।' हमें ऐसा राष्ट्र दे कि जो हमारे यशवर्धन करनेमें सहायक होवे।

इस जगत्में इन्द्र, अग्नि, सोम, भूतमात्र ये सब अपने अपने यशसे यशस्वी हुए हैं उन सबका तेज प्राप्त होकर मैं यशस्वी बनूंगा, यह इच्छा मनमें धारण करनी चाहिये। देखिये—

अहं यशस्तमः अस्मि। (मं० ३)

' मैं यशस्वी होऊंगा।' अर्थात् जिस प्रकार ये सब अपने यशसे यशस्वी हुए हैं उस प्रकार मैं भी अपने तेजसे तेजस्वी बनूंगा। इस प्रकारकी इच्छा हरएक मनुष्य अपने मनमें धारण करे और अपने प्रयत्नसे उच्च अवस्था प्राप्त करे और चारों पुरुषार्थ सिद्ध करे।

निर्भयताके लिये प्रार्थना।

[सूक्त ४०]

(ऋषिः — अथर्वा। देवता — मन्त्रोक्ताः।)

अभ॑यं द्यावापृथिवी इ॒हास्तु नोऽभ॑यं॒ सोमः॑ सवि॒ता नः॑ कृणोतु।
अभ॑यं नोऽस्तू॒र्व१॒॑न्तरि॑क्षं सप्तऋषी॒णां च॑ ह॒विषाभ॑यं नो अस्तु ॥ १ ॥
अ॒स्मै ग्रामा॑य प्र॒दिश॒श्चत॑स्र ऊर्जं॑ सुभू॒तं स्व॒स्ति स॑वि॒ता नः॑ कृणोतु।
अ॒श॒त्र्विन्द्रो॒ अभ॑यं नः कृणोत्व॒न्यत्र॒ राज्ञा॑म॒भि या॑तु म॒न्युः ॥ २ ॥
अ॒न॒मि॒त्रं नो॑ अध॒राद॑नमि॒त्रं न॑ उत्त॒रात्। इन्द्रा॑नमि॒त्रं नः॑ प॒श्चाद॑नमि॒त्रं पु॑रस्कृधि ॥ ३ ॥

अर्थ— हे द्यावापृथिवी! (**इह नः अभयं अस्तु**) यहां हमारे लिये अभय होवे। (**सोमः सविता नः अभयं कृणोतु**) सोम और सविता हमारे लिये निर्भयता करे। (**उरु अन्तरिक्षं नः अभयं अस्तु**) यह बडा अन्तरिक्ष हमारे लिये अभयदायी होवे। और (**सप्त-ऋषीणां च हविषा नः अभयं अस्तु**) सप्त ऋषियोंकी हविसे हमारे लिये अभय प्राप्त होवे ॥ १ ॥

(**सविता**) सबकी उत्पत्ति करनेवाला देव (**अस्मै नः ग्रामाय**) इस हमारे नगर के लिये (**चतस्रः प्रदिशः**) चारों दिशाओंमें (**ऊर्जं सुभूतं स्वस्ति कृणोतु**) बल, ऐश्वर्य और कल्याण करे। (**इन्द्रः नः अशत्रु अभयं कृणोतु**) प्रभु हम सब के लिये शत्रु रहित निर्भयता करे। (**राज्ञां मन्युः अन्यत्र अभियातु**) राजाओंका क्रोध औरोंपर चला जावे ॥ २ ॥

हे (**इन्द्र**) प्रभो! (**नः अधरात् अनमित्रं**) हमारे लिये नीचेसे शत्रु दूर होवें। (**नः उत्तरात् अनमित्रं**) हमारे लिये उच्च भागसे निर्वैरता होवे। (**नः पश्चात् अनमित्रं**) हमारे लिये पीछेसे निर्वैरता होवे और (**नः पुरः अनमित्रं कृधि**) हमारे सामने निर्वैरता कर ॥ ३ ॥

भूमि, अन्तरिक्ष, द्युलोक, सोम, सविता, सप्तऋषि, दिशा, इन्द्र, राजा, इन सबसे हम सब लोगोंको अभयता प्राप्त होवे। यह प्रार्थना इस सूक्तमें है। अभय प्रार्थना के लिये यह बडा उत्तम सूक्त है।

ये सब देव अपने अंदर भी हैं, सप्त इंद्रियोंके रूपमें हमारे शरीरमें हैं, सूर्य आंखमें है, चन्द्र मनमें है, दिशाओंने कानोंमें स्थान लिया है, इन्द्र मनमें रह रहा है, भूमि स्थूल शरीरके घनभागमें है, अन्तरिक्षका अन्तःकरण बना है, द्युलोकका मस्तक बना है, इस प्रकार अपने शरीरमें अंशरूपसे रहे ये देव हमारे शरीरके अन्दर निर्भयता स्थापित करें। अर्थात् शत्रुरूपी रोगों और कुविचारोंको दूर करके हमें अंदरसे शत्रुरहित करें। यह तब होगा जब कि हमारे अंदरके ये देवता शत्रुओंके वशमें न होंगे। अर्थात् सबके सब इंद्रिय सत्कर्ममें प्रवृत्त हों और असन्मार्गसे निवृत्त हों। इस प्रकार विचार करनेसे निर्भय होनेका मार्ग ज्ञात हो सकता है। पाठक स्मरण रखें कि निर्भयता प्राप्त करनेके लिये आन्तरिक शुद्धता होनी चाहिये। निर्भयता अन्दरसे होनी है बाहरसे नहीं।

अपनी शक्तिका विस्तार।

[सूक्त ४१]

(ऋषिः — ब्रह्मा। देवता — चन्द्रमाः, बहुदेवत्यम्।)

मनसे चेतसे धिय आकूतय उत चित्तये। मत्यै श्रुताय चक्षसे विधेम हविषा वयम् ॥ १ ॥

अपानाय व्यानाय प्राणाय भूरिधायसे। सरस्वत्या उरुव्यचे विधेम हविषा वयम् ॥ २ ॥

मा नो हासिषुर्ऋषयो दैव्या ये तनूपा ये नस्तन्वस्तनूजाः।
अमर्त्या मर्त्यां अभि नः सचध्वमायुर्धत्त प्रतरं जीवसे नः ॥ ३ ॥

॥ इति चतुर्थोऽनुवाकः ॥

अर्थ— (मनसे, चेतसे, धिये) मन, चित्त, बुद्धि, (आकूतये चित्तये) संकल्प, स्मृति, (मत्यै, श्रुताय, उत चक्षसे) मति, श्रवण और दर्शनशक्तिकी वृद्धिके लिये (वयं हविषा विधेम) हम हविसे यज्ञ करते हैं ॥ १ ॥

अपान, व्यान, (भूरि-धायसे प्राणाय) बहुत प्रकारसे धारण करनेवाले प्राण और (उरुव्यचे सरस्वत्यै) बहुत विस्तृत प्रभावशाली विद्यादेवीकी वृद्धिके लिये (वयं हविषा विधेम) हम हविसे यज्ञ करते हैं ॥ २ ॥

(ये तनूपाः) जो शरीरकी रक्षा करनेवाले हैं वे (ये नः तन्वः तनूजाः) जो हमारे शरीरमें उत्पन्न हुए हैं वे (दैव्याः ऋषयः) वे दिव्य ऋषि (नः मा हासिषुः) हमें न छोडें। वे (अमर्त्याः मर्त्यान् नः अभि सचध्वं) अमर देव हम मरनेवालोंसे मिलकर रहें। (नः प्रतरं आयुः जीवसे धत्त) हमें उत्कृष्ट दीर्घ आयु जीवनके लिये धारण करें ॥ ३ ॥

अपनी शक्तियाँ।

मन, चित्त, धारणावती बुद्धि, संकल्प शक्ति, स्मृति, मति, श्रवणशक्ति, दृष्टि, प्राण, अपान, व्यान, विद्या-ज्ञानविज्ञान इत्यादि अनंत शक्तियां मनुष्यके अन्दर हैं। इनका विकास करना चाहिये। मनुष्यका विकास तब ही होगा, जब इसकी इन शक्तियोंकी वृद्धि हो और वे शक्तियां प्रशस्ततम सत्कर्ममें लग जांय। प्रथम मंत्रमें अन्तःकरणकी शक्तियां कहीं हैं और ज्ञानेन्द्रियोंका भी उल्लेख है। द्वितीय मंत्रमें प्राणोंका वर्णन है प्राणोंका वर्णन है और विद्याका उल्लेख है। यद्यपि इन मंत्रोंमें कर्मेंद्रिय आदि अनेक शक्तियोंका उल्लेख नहीं है, तथापि उल्लिखित इंद्रियशक्तियोंके अनुसंधानसे अन्य इंद्रियों, अवयवों और शक्तियोंका भी ग्रहण यहां करना उचित है। अर्थात् अपने अन्दरकी संपूर्ण शक्तियोंका उत्कर्ष करनेका यत्न करना चाहिये।

ऋषि।

इस सूक्तके तीसरे मंत्रमें ऋषियोंका निश्चित पता दिया है। इससे ऋषियोंका आश्रय कहां है इसका उत्तम पता लग सकता है। देखिये—

तनूजाः तनूपाः दैव्याः ऋषयः । (मं० ३)

' शरीरमें उत्पन्न होकर शरीरकी रक्षा करनेवाले ये इंद्रिय रूपी ऋषि यहां हैं । ' और यह शरीर ही उनका आश्रय है । इस आश्रममें ये रहते हैं, और यहांका सब कार्य करते हैं । ये इंद्रिय शक्तियां—

अमर्त्याः दैव्याः ऋषयः । (मं० ३)

' ये इंद्रियरूपी ऋषि दैवी शक्तिसे युक्त हैं और इनमें जो शक्ति है, वह अमर शक्ति है । ' ये दैवी शक्तियां मनुष्यके शरीरमें विकसित हों और इन विकसित शक्तियोंके साथ मनुष्य दीर्घ आयु प्राप्त करे, इस विषयमें उपदेश देखिये—

अमर्त्याः दैव्याः ऋषयः नः मर्त्यान् अभि सचध्वम् । (मं० ३)

' ये अमर शक्तिसे युक्त दिव्य ऋषि अर्थात् इंद्रिय शक्तियां हम सब मर्त्य मनुष्योंको चारों ओरसे प्राप्त हों । और—

प्रतरं आयुः जीवसे नः धत्त । (मं० ३)

' उत्तम आयु दीर्घ जीवनके लिये हमें प्राप्त हो । अर्थात् हमारी इंद्रियोंमें वह दैवी शक्ति उत्तम प्रकार कार्य करनेमें समर्थ होवे ।

सप्त ऋषि शब्द मनुष्य शरीरके इंद्रियोंका वाचक है, दो नेत्र, दो कान, दो नाक, एक मुख (वागिन्द्रिय) ये सात ऋषि हैं अथवा– त्वचा, नेत्र, कान, जिव्हा, नाक, मन, और बुद्धि ये भी सप्त ऋषि हैं । इनमें दैवी शक्ति है यह जानकर इनको देवतारूप बनानेका यत्न मनुष्य करे और सब प्रकारसे समर्थ होकर कृतकृत्य बने ।

॥ यहां चतुर्थ अनुवाक समाप्त ॥

परस्परकी मित्रता करना ।

[सूक्त ४२]

(ऋषिः — भृग्वंगिराः परस्परं चित्तैकीकरणकामः । देवता — मन्युः ।)

अव॒ ज्यामि॑व॒ धन्व॑नो म॒न्युं त॑नोमि ते हृ॒दः । यथा॒ संम॑नसौ भू॒त्वा सखा॑यावि॒व सचा॑वहै ॥ १ ॥
सखा॑यावि॒व सचावहा॒ अव॑ म॒न्युं त॑नोमि ते । अ॒धस्ते॒ अश्म॑नो म॒न्युमुपा॑स्यामसि॒ यो गु॒रुः ॥ २ ॥
अ॒भि ति॑ष्ठामि ते म॒न्युं पार्ष्ण्या॒ प्रप॑देन च । यथा॑व॒शो न वादि॑षो॒ मम॑ चि॒त्तमु॒पाय॑सि ॥ ३ ॥

अर्थ— (धन्वनः ज्यां इव) धनुष्यसे डोरीको उतारनेके समान (ते हृदः मन्युं अव तनोमि) तेरे हृदयसे क्रोधको हटाता हूं । (यथा संमनसौ भूत्वा) जिससे एक मनवाले होकर (सखायौ इव सचावहै) मित्रके समान हम परस्पर मिलकर रहें ॥ १ ॥

(सखायौ इव सचावहै) हम दोनों मित्र बनकर रहें इसलिये (ते मन्युं अव तनोमि) तेरा क्रोध हटाता हूं । (यः गुरुः) जो बडा क्रोध है उस (ते मन्युं) तेरे क्रोधको (अश्मनः अधः उप अस्यामसि) पत्थरके नीचे दबा देते हैं ॥ २ ॥

(ते मन्युं पार्ष्ण्या प्रपदेन च अभि तिष्ठामि) तेरे क्रोधको एडीसे और पांवकी ठोकरसे मैं दबाता हूं । (यथा मम चित्तं उपायसि) जिससे तू मेरे चित्तके अनुकूल हो और (अवशः न अवादिषः) तू परतंत्रताकी बात न कहे ॥ ३ ॥

क्रोध

क्रोध ऐसा है कि, वह दिलोंको फाड देता है, विरोध उत्पन्न करता है और द्वेष बढाता है । इस क्रोधको मनसे हटाना चाहिये । जिस समय क्रोध हट जाता है, उस समय दिल साफ हो जाता है और परस्पर मेल होनेकी संभावना होती है । इस लिये हरएक मनुष्यको उचित है कि, वह अपने मनसे क्रोधको इस प्रकार हटावे जिस प्रकार युद्धसमाप्तिके समय वीर पुरुष अपने धनुष्यसे रस्सीको हटा देते हैं । क्रोधको दूर करके उस-को दूर ही दबाकर रखें, जिससे वह फिर अपने मन पर चढ न सके । यदि क्रोध फिर पास आने लगा, तो उसको ऐसी ठोकर मारनी चाहिये कि जिससे वह फिर ऊपर न चढने पावे । मनुष्यको उचित है कि वह कभी क्रोधके आधीन न होवे और क्रोधी वचन न बोले ।

इस प्रकार क्रोधको दूर करके शान्ति धारण करनेसे परस्पर मिलाप होता है और संगठन होनेसे शक्ति बढ जाती है ।

क्रोधका शमन।

[सूक्त ४३]

(ऋषिः — भृग्वंगिराः परस्परं चित्तैकीकरणकामः। देवता — मन्युशमनम्।)

अयं दर्भो विमन्युकः स्वाय चारणाय च। मन्योर्विमन्युकस्यायं मन्युशमन उच्यते ॥ १ ॥
अयं यो भूरिमूलः समुद्रमवतिष्ठति। दर्भः पृथिव्या उत्थितो मन्युशमन उच्यते ॥ २ ॥
वि ते हनव्यां शरणिं वि ते मुख्यां नयामसि। यथावशो न वादिषो मम चित्तमुपायसि ॥ ३ ॥

अर्थ— (अयं दर्भः स्वाय चारणाय च विमन्युकः) यह दर्भ अपने लिये और अन्यके लिये भी क्रोधको हटानेवाला है, (अयं मन्योः विमन्युकस्य) यह क्रोधीके क्रोधको दूर करनेवाला और (मन्युशमनः उच्यते) क्रोधको शान्त करनेवाला कहा जाता है ॥ १ ॥

(यः अयं भूरिमूलः) जो यह बहुत जडोंवाला (समुद्रं अवतिष्ठति) समुद्रके समीप होता है (पृथिव्याः उत्थितः दर्भः) भूमीसे उगा हुआ दर्भ (मन्युशमनः उच्यते) क्रोधको शान्त करनेवाला कहा जाता है ॥ २ ॥

(ते हनव्यां शरणिं वि) तेरे हनुके आश्रयसे रहनेवाला क्रोधका चिह्न दूर करते हैं, (मुख्यां वि नयामसि) तेरे मुखमें जो क्रोध है उसको भी हम दूर करते हैं (यथा मम चित्तं उपायसि) जिससे तू मेरे चित्तके अनुकूल होगा और (अवशः न अवादिषः) परवश होकर क्रोधी भाषण न करे ॥ ३ ॥

दर्भ।

यहां इस सूक्तमें दर्भको क्रोध शान्त करनेवाला कहा है। यह खोजका विषय है। वैद्यकग्रंथोंमें दर्भका यह गुण नहीं लिखा है। यदि वैद्यलोग इसका अधिक विचार करेंगे, और समुद्र तीर पर उगनेवाले दर्भ नामक घासकी जडोंके रसमें यह गुण है, या और किस वनस्पतिमें यह गुण है इसका निश्चय करेंगे, तो क्रोधी मनुष्योंको शान्त स्वभावी बनानेका उपाय ज्ञात हो सकता है।

कौशीतकी सूत्र (कौ० सू० ४।१२) में "अयं दर्भ इत्यौषधिवत्" ऐसा कहा है। इससे पता लगता है कि समुद्र तीरपर उगनेवाले दर्भका मूल निकालकर उसको शिरपर अथवा शरीरपर धारण करने अथवा रसके सेवन करनेका विधान इस सूक्तमें है। संभव है दर्भकी जडोंमें मस्तिष्कको शान्त करनेके द्वारा क्रोधको हटानेमें सहायक होनेका गुणधर्म हो। यह सब विधिपूर्वक करके देखने योग्य बात है। जो कर सकते हैं वे वैद्यकी सलाहसे करके अनुभव लें और अपना अनुभव प्रकाशित करें।

रक्तस्रावकी औषधी।

[सूक्त ४४]

(ऋषिः — विश्वामित्रः। देवता — वनस्पतिः, मन्त्रोक्तदेवता।)

अस्थाद् द्यौरस्थात् पृथिव्यस्थाद् विश्वमिदं जगत्। अस्थुर्वृक्षा ऊर्ध्वस्वप्नास्तिष्ठाद् रोगो अयं तव ॥ १ ॥

अर्थ— (द्यौः अस्थात्) द्युलोक ठहरा है, (पृथिवी अस्थात्) यह सब जगत् ठहरा है, (ऊर्ध्व-स्वप्नाः वृक्षाः अस्थुः) खडे खडे सोनेवाले वृक्ष भी ठहरे हैं। इसी प्रकार (अयं तव रोगः तिष्ठात्) यह तेरा रोग ठहर जावे ॥ १ ॥

शतं या भेषजानि ते सहस्रं संगतानि च । श्रेष्ठमास्रावभेषजं वसिष्ठं रोगनाशनम् ॥२॥
रुद्रस्य मूत्रमस्यमृतस्य नाभिः । विषाणका नाम वा असि पितृणां मूलादुत्थिता वातीकृतनाशनी ॥३॥

अर्थ— (ते या शतं भेषजानि) तेरी जो सौ औषधियां और (सहस्रं संगतानि च) हजारों उनके मेल हैं, उनमें यह (श्रेष्ठं आस्रावभेषजं) सबसे श्रेष्ठ रक्तस्रावका औषध है, यह (वसिष्ठं रोगनाशनं) सबको बसानेवाला और रोगका नाश करनेवाला है ॥ २ ॥

(रुद्रस्य = रुत् + द्रस्य = मूत्रं) शब्द करनेवाले मेघका मूत्र अर्थात् वृष्टिरूपी जल (अमृतस्य नाभिः असि) अमृत रसका केन्द्र है । तथा (विषाणका नाम वा असि) यह विषाणका औषधी है जो (वातीकृतनाशनी) वात रोगको दूर करनेवाली है और (पितृणां मूलात् उत्थिता) पितरोंकी जडसे अथवा कारणसे उत्पन्न होनेवाले आनुवंशिक रोगको उखाडनेवाली है ॥ ३ ॥

रक्तस्राव और वातरोग ।

जिस प्रकार पृथ्वी और आकाश यथास्थानमें ठहरे हैं, जिस प्रकार वृक्ष ठहरे हैं, इसी प्रकार मनुष्यके रोग दूर जाकर ठहरें अर्थात् हमारे पास न आवें ।

वैद्यशास्त्रमें सैकडों औषधियां हैं और हजारों प्रकार के उनके अनुपान हैं । इन सबमें रक्तस्राव को दूर करनेवाला और सुखपूर्वक मनुष्यको रखनेवाला जो औषध है वह सबमें श्रेष्ठ है ।

जो अमृतका केन्द्र है और जो मेघसे वृष्टिद्वारा आता है, वह जलरूपी अमृतरस है, वह सबसे श्रेष्ठ है । विषाणका नामक औषधी वातरोगको दूर करती है और पितामातासे आनेवाले आनुवंशिक रोगोंको हटाती है ।

इसमें जलचिकित्सा और विषाणका नामक औषधीसे चिकित्सा कही है । आनुवंशिक वातरोग और रक्तस्रावका रोग दूर करनेके लिये यह उपाय करना उचित है ।

वृक्षोंकी निद्रा ।

प्रथम मंत्रमें " ऊर्ध्व-स्वप्नाः वृक्षाः " कहा है । खडे खडे सोते हैं । वृक्ष खडे खडे सोते हैं, अर्थात् जिस समय नहीं सोते उस समय जागते भी हैं । यदि सोना और जागना वृक्षोंका धर्म है, तो चरना और आनंदित होना भी उनके लिये संभवनीय होगा । वृक्षोंमें मनुष्यवत् जीवन रहनेकी बात यहां वेदने कही है । पाठक इसका विचार करें ।

दुष्ट स्वप्न ।

[सूक्त ४५]

(ऋषिः — अंगिराः प्राचेतसो यमश्च । देवता — दुष्स्वप्ननाशनम् ।)

परोऽपेहि मनस्पाप किमशस्तानि शंससि ।
परेहि न त्वा कामये वृक्षां वनानि सं चर गृहेषु गोषु मे मनः ॥ १ ॥
अवशसा निःशसा यत् पराशसोपारिम जाग्रतो यत् स्वपन्तः ।
अग्निर्विश्वान्यप दुष्कृतान्यजुष्टान्यारे अस्मद् दधातु ॥ २ ॥

अर्थ— हे (मनःपाप) मनके पाप ! (परः अप इहि) दूर हट जा । (किं अशस्तानि शंससि) क्या तू बुरी बातें कहता है ! (परा इहि) दूर जा । (त्वा न कामये) तुझको मैं नहीं चाहता । (वृक्षान् वनानि सं चर) वृक्षों और वनोंमें संचार कर । (मे मनः गृहेषु गोषु) मेरा मन मेरे घरों और गौवोंमें है ॥ १ ॥

(यत् अवशसा निःशसा पराशसा) जो पाप पासकी हिंसासे, निर्दयताकी हिंसासे और दूसरेकी हिंसासे अथवा

यदिन्द्र ब्रह्मणस्पतेऽपि मृषा चरामसि। प्रचेता न आङ्गिरसो दुरितात् पात्वंहसः ॥ ३ ॥

(यत् जाग्रतः स्वपन्तः उपारिम) जो जागते हुए और सोते हुए हमने किया है (अग्निः विश्वानि अजुष्टानि दुष्कृतानि) प्रकाशका देव सब अकरणीय दुष्कर्मोंको (अस्मत् आरे अप दधातु) हम सबसे दूर रक्खे ॥ २ ॥

हे (ब्रह्मणस्पते इन्द्र) ज्ञानी प्रभु ! (यत् अपि मृषा चरामसि) जो भी कुछ पाप असत्याचरणसे हम करें, (अंगिरसः प्रचेताः) सबके अंगरसोंके समान व्यापक विशेष ज्ञानी देव (नः दुरितात् अंहसः पातु) हमें दुराचारके पापसे बचावे ॥ ३ ॥

पापी विचार।

पाप विचार मनसे हटानेका उपदेश इस सूक्तमें कहा है। गृहस्थीका मन—

गृहेषु गोषु मे मनः। (मं. १)

" घरमें और अपने गौ आदिमें रहना चाहिये। " अन्य बातोंमें और कुविचारोंमें मन जानेसे दुष्ट स्वप्न आते हैं और उससे कष्ट होते हैं। इस लिये मनुष्यको उचित है कि वह अपनेको शुभ संस्कारयुक्त बनावे और अपने परिवारके हितमें दक्ष रहे। यदि कुविचार मनमें आ जावे, तो उसको कहना चाहिये कि—

मनस्पाप ! परा अपेहि, किं अशस्तानि शंससि ? परेहि, न त्वा कामये। (मं० १)

" हे पापी विचार ! दूर हट, मुझे तू बुरी बातें कहता है, चला जा, मैं तेरी इच्छा नहीं करता। "

इस प्रकार उस पापी विचारको कह कर उसको दूर करना चाहिये। पापी विचार बार बार मनमें घुसने लगते हैं, परन्तु उनको घुसने देना उचित नहीं है। अपने अंदर कौनसा विचार आवे और कौनसा न आवे इसका निश्चय स्वयं अपने आपको करना चाहिये। और यह शरीर अपना कार्यक्षेत्र है, यह जानकर उस कार्यक्षेत्रमें शुभ विचारोंकी परंपरा ही स्थिर रखनी चाहिये। सबको विचार करना चाहिये कि—

यत् जाग्रतः स्वपन्तः उपारिम। (मं० २)

" जो जागते हुए और सोते हुए हम करते हैं " वही स्वप्नमें परिणत होता है, इस लिये जाग्रतिके हमारे सब व्यवहार उत्तम हुए, तो स्वप्न निःसंदेह ठीक होंगे। और किसी प्रकार बुरे स्वप्न नहीं आवेंगे और मनमें कभी अशुभ संस्कार नहीं पड़ेंगे। इसी प्रकार—

मृषा चरामसि। (मं० ३)

" असत्य व्यवहार करेंगे। " तो उसका भी बुरा परिणाम होगा। सब कुसंस्कार असत्यके कारण उत्पन्न होते हैं। यदि मनुष्य असत्यको छोडकर सत्यका आश्रय करें तो वे निःसंदेह बुराईसे बच सकते हैं।

पाठक इस प्रकार इस सूक्तका विचार करके बोध प्राप्त करें। अब इसी विषयका दूसरा सूक्त देखिये—

[सूक्त ४६]

यो न जीवोसि न मृतो देवानाममृतगर्भोऽसि स्वप्न। वरुणानी ते माता यमः पितारुर्नामासि ॥ १ ॥
विद्म ते स्वप्न जनित्रं देवजामीनां पुत्रोऽसि यमस्य करणः। अन्तकोऽसि मृत्युरसि ॥
तं त्वा स्वप्न तथा सं विद्म स नः स्वप्न दुष्वप्न्यात् पाहि ॥ २ ॥

अर्थ— हे स्वप्न ! (यः) जो तू (न जीवः असि न मृतः) न तो जीवित ही है और नहीं मरा हुआ ही है, वह तू (देवानां अमृतगर्भः असि) देवोंका अमृत गर्भ है अर्थात् देवोंमें सर्वदा रहनेवाला है। (ते) तेरी (वरुणानी माता) वरुणानी माता है और (यमः पिता) यम पिता है। (अरुः नाम असि) तू अरु नामवाला है ॥ १ ॥

हे स्वप्न ! (ते जनित्रं विद्मः) तेरी उत्पत्तिको हम जानते हैं। तू (देवजामीनां पुत्रोऽसि) देवोंकी पत्नियोंका पुत्र है। और (यमस्य करणः) यमके कार्योंका साधक है। तू (अंतकः असि) अंत करनेवाला है। (मृत्युः असि) तू मारनेवाला है। हे स्वप्न ! (तं त्वा) उस तुझको (तथा) वैसा उपरोक्त जैसा (सं विद्म) हम जानते हैं। (सः) वह तू हे स्वप्न ! (नः दुष्वप्न्यात्) बुरे स्वप्नसे हमारी (पाहि) रक्षा कर ॥ २ ॥

यथा कलां यथा शफं यथर्णं संनयन्ति । एवा दुष्वप्न्यं सर्वं द्विषते सं नयामसि ॥ ३ ॥

अर्थ— (**यथा कलां यथा शफं**) जिस प्रकार कला अर्थात् सोलहवां भाग और जिस प्रकार शफ अर्थात् आठवां भाग (**यथा ऋणं सं नयन्ति**) ऋणके अनुसार देते हैं (**एवा सर्वं दुष्वप्न्यं**) इस प्रकार सब दुष्ट स्वप्न हम (**द्विषते सं नयामसि**) शत्रुके प्रति पहुंचाते हैं ॥ ३ ॥

दुष्ट स्वप्न यमका पुत्र ।

देवानां— यहां देवानां का अर्थ इन्द्रियोंका है । स्वप्न इंद्रियोंमें अमृत रूपसे बसा हुआ है । क्योंकि जाग्रत अवस्थामें इंद्रियोंके अनुभवोंसे उत्पन्न, वासनाओंसे उत्पन्न होता है । हमारे अन्दर वासनायें स्थायी हैं, अतः स्वप्न उन वासनाओंसे उत्पन्न होनेसे अमृत है, अतएव उसे यहां अमृत गर्भसे कहा गया है ।

अरकः— पीडा देनेवाला । हिंसक । ' **ऋगतिहिंसनयोः** ' से बना है । तै. ब्रा. ३।२।९।४ के अनुसार अरक नामवाला असुर ।

वरुणानी— वरुण अर्थात् अंधकारकी पत्नी ।

इस प्रकार इस मंत्रमें यमको स्वप्नका पिता कहा गया है । अर्थात् स्वप्न यमका पुत्र है । अतएव कई बार स्वप्नसे मृत्यु भी हो जाती है ।

दुष्ट स्वप्नका मृत्युसे संबंध है इसलिये पूर्व सूक्तमें कहा है कि दुष्ट स्वप्नसे बचनेके लिये विचारोंकी शुद्धता करनी चाहिये । पाठक इस बातका संबंध यहां अवश्य देखें ।

इस मंत्रमें स्वप्नको देव पत्नियोंका पुत्र कहा गया है । पूर्व मंत्रकी टिप्पणीमें हमने स्वप्नकी उत्पत्ति दर्शाते हुए यह बताया था कि देव अर्थात् इन्द्रियोंके विषयोंसे उत्पन्न वासनाओंसे स्वप्नकी उत्पत्ति होती है । उसी कथनकी पुष्टि इस मंत्रमें ' **देव जामीनां पुत्रः असि** ' से की गई है । देवी अर्थात् इन्द्रियोंकी पत्नियां इन्द्रिय विषयजन्य वासनायें हैं । उनका स्वप्न पुत्र है । यहांपर विशेष बात कही गई वह यह कि स्वप्नको यमका करण बताया गया है । पाणिनि मुनिने करणका लक्षण अष्टाध्यायीमें किया है कि— ' **साधकतमं** ' (अष्टा. १।४।४२) अर्थात् जो कार्य साधनेमें समीपतम साधन है वह करण है । कार्यसाधक सब साधनोंमें जो साधन अधिक आवश्यक है वह करण कहलाता है । इस लक्षणानुसार यमका स्वप्न करण है, इसका अभिप्राय यह हुआ, कि यमके मारनेके कार्यमें स्वप्न सबसे अधिक आवश्यक साधन है । पाठक स्वप्नके इस विशेषणसे उसकी भयंकरताका अनुमान सहज कर सकते हैं ।

❀

इसी मंत्रके भावको ही नीचे लिखे मंत्रमें शब्दभेदसे कहा गया है—

देवानां पत्नीनां गर्भ यमस्य कर यो भद्रः स्वप्न ।
स मम यः पापस्तद्द्विषते प्र हिण्मः ।
मा तृष्टानामसि कृष्णशकुनेर्मुखम् ॥

अथर्व. १९।५७।३

हे (**देवानां पत्नीनां गर्भ**) देवोंके पत्नियोंके गर्भरूप तथा (**यमस्य कर**) यमके हाथ स्वप्न ! (**यो भद्रः**) जो कल्याणकारी तेरा अंश है (**सः**) वह अंश (**मम**) मेरा होवे । (**यः पापः**) और जो तेरा पापी अनिष्टकारी अंश है (**तत्**) उस अंशको (**द्विषते**) द्वेष करनेवालेके प्रति (**प्र हिण्मः**) हम भेजते हैं । (**तृष्टानां**) तृषितों-लोभियों-क्रूरोंके बीचमें तू (**कृष्ण-शकुनेः**) काले पक्षीके-कौएके (**मुखं**) मुखकी तरह (**मा असि**) हमारे लिये बाधक मत हो, अर्थात् जिस प्रकार लोभियोंको वा क्रूरोंके लिए कौएका मुख अनिष्टकारी होता है उस प्रकार तू हमारे लिए अनिष्टकारी मत हो ।

विद्म ते स्वप्न जनित्रं ग्राह्याः पुत्रोऽसि यमस्य करणः । अथर्व. १६।५।१

हे स्वप्न ! (**ते जनित्रं विद्म**) तेरी उत्पत्तिको हम जानते हैं । तू (**ग्राह्याः पुत्रः असि**) ग्राहीका पुत्र है और (**यमस्य करणः**) यमके कार्योंका साधक है ।

इस मंत्रमें स्वप्नको ग्राहीका बेटा कहा गया है । गठिया आदि शरीरके जकडनेवाले रोग ग्राही कहलाते हैं । उन रोगोंके कारण शरीरमें पीडा बनी रहती है, जिससे निद्रा नहीं आती और यदि आई भी तो स्वप्नकीसी अवस्था बनी रहती है । अतएव स्वप्नको ग्राहीका पुत्र कहा है । यमस्य करणकी व्याख्या ऊपर कर आए हैं ।

अन्तकोऽसि मृत्युरसि ॥ अथर्व. १६।५।२; १६।५।९

हे स्वप्न ! तू (**अन्तकः असि**) प्राणान्त करनेवाला है । तू (**मृत्युः असि**) मारनेवाला है ।

निद्रा बराबर न आनेसे व रोज स्वप्न आनेसे स्वास्थ्य बिगडकर अंतमें मृत्यु हो जाती है, अतएव स्वप्नको यहां अन्तक व मृत्युके नामसे कहा गया है ।

विद्म ते स्वप्न जनित्रं निर्ऋत्याः
पुत्रोऽसि यमस्य करणः।
अन्तकोऽसि मृत्युरसि।
तं त्वा स्वप्न तथा सं विद्म स नः स्वप्न
दुष्वप्न्यात् पाहि॥ अथर्व. १६।५।४

मंत्रका अर्थ हम ऊपर दे आए हैं। यहांपर ऐसा ही मंत्र आया है। इस मंत्रमें स्वप्नको निर्ऋतिका पुत्र कहा गया है। निर्ऋतिसे स्वप्नकी उत्पत्तिका अभिप्राय यह है कि निर्ऋति अर्थात् कष्ट, दुःख आदिसे मनुष्यको निद्रा नहीं आती। स्वप्न वह अवस्था है जिस अवस्थामें कि गाढ निद्राका अभाव होता है। और कष्टादिकी दशामें मनुष्यको गाढ निद्रा नहीं आती। इसी अभिप्रायसे स्वप्नको निर्ऋतिका पुत्र कहा है।

विद्म ते स्वप्न जनित्रमभूत्याः
पुत्रोऽसि यमस्य करणः।
अन्तऽकोऽसि०। अथर्व.१६।५।४ वत्॥ अथर्व.१६।५।५

अर्थ पूर्ववत्। इस मंत्रमें स्वप्नको अभूति अर्थात् अनैश्वर्य-दारिद्र्यका पुत्र कहा है। दरिद्रताके परितापसे भी मनुष्यको निद्रा नहीं आती। इस प्रकार गरीबीसे भी स्वप्न (वास्तविक निद्राका न आने) की उत्पत्ति है। शेष व्याख्या पूर्ववत् ही समझनी चाहिए।

विद्म ते स्वप्न जनित्रं निर्भूत्याः
पुत्रोऽसि यमस्य करणः।
अन्तकोऽसि०। अथर्व. १६।५।६

अर्थ पूर्ववत्। इस मंत्रमें स्वप्नको निर्भूतिका पुत्र कहा गया है। निर्भूतिका अर्थ है ऐश्वर्य-सम्पत्तिका निकल जाना-नष्ट हो जाना। सम्पत्तिशालीकी सम्पत्ति नष्ट हो जानेसे उसे भी निद्रा नहीं आती। वह सुखकी निद्रासे नहीं सो सकता। इस प्रकार संपत्तिविनाशका भी स्वप्न पुत्र है।

विद्म ते स्वप्न जनित्रं पराभूत्याः
पुत्रोऽसि यमस्य करणः।
अन्तकोऽसि॥ अथर्व० १६।५।७

अर्थ पूर्ववत्। इस मंत्रमें स्वप्नको पराभूतिका पुत्र कहा गया है। पराभूतिका अर्थ है पराभव अर्थात् हार जाना, तिरस्कारको प्राप्त होना। पराभवसे वा तिरस्कारसे मनुष्यको इतना मानसिक कष्ट होता है कि उसके लिए निद्रा हराम हो जाती है। और इस प्रकार पराभूतिसे स्वप्नकी उत्पत्ति होती है।

विद्म ते स्वप्न जनित्रं देवजामीनां
पुत्रोऽसि यमस्य करणः॥ अथर्व० १६।५।८

हे स्वप्न! तेरी उत्पत्तिको हम जानते हैं। तू देवोंकी पत्नियोंका पुत्र है और यमके कार्योंका साधक है। इस मंत्रका भाव हम पूर्व दर्शा चुके हैं। देवपत्नियोंका पुत्र स्वप्न किस प्रकार है यह वहां विशद रूपसे दर्शाया है।

इस प्रकार यह अथर्ववेदके १६ वें काण्डका ५ वां सूक्त संपूर्ण यम व स्वप्न विषयक है जो कि हमने ऊपर दिया है। इस सूक्तसे व इससे व दिए गए पहिलेके मंत्रोंसे यम व स्वप्नका संबन्ध स्पष्ट होता है।

वह अपने पिता यमके कार्योंका निकटतम साधक है। इसके अतिरिक्त स्वप्न अर्थात् वास्तविक निद्राका अभाव किन किन कारणोंसे होता है, तथा उससे क्या दुष्परिणाम होते हैं, स्वप्न यमका करण किस प्रकार है, इत्यादि बातोंका उल्लेख इस सूक्तमें स्पष्ट रूपसे हमें देखनेको मिला है।

यह सूक्त बहुतसा सुबोध है, तथापि अथर्ववेदके अन्य सूक्तोंके साथ इसका विचार यहां करनेसे इसकी दुर्बोधता किंचित् कम हुई है। तथापि यह खोजका विषय है। जो पाठक स्वप्नका विचार करनेवाले हैं और मनकी शक्तिका मनन करते हैं, वे इस सूक्तके विषयकी अधिक खोज करें।

अपनी रक्षाकी प्रार्थना।

[सूक्त ४७]

(ऋषिः — अंगिराः प्राचेतसः। देवता — १ अग्निः, २ विश्वेदेवा, ३ सुधन्वा।)

अग्निः प्रातःसवने पात्वस्मान् वैश्वानरो विश्वकृद् विश्वशंभूः।
स नः पावको द्रविणे दधात्वायुष्मन्तः सहभक्षाः स्याम ॥ १ ॥

अर्थ — (वैश्वानरः) विश्वका चालक, (विश्वकृत्) विश्वका निर्माण कर्ता, (विश्वशंभूः) विश्वको शान्ति देनेवाला, (अग्निः) प्रकाश देव (प्रातःसवने अस्मान् पातु) प्रातःकालके यज्ञमें हमारी रक्षा करे। (सः पावकः नः द्रविणे दधातु) वह पवित्र करनेवाला हम सबको धनके बीच रखे। और इससे हम (आयुष्मन्तः सहभक्षाः स्याम) दीर्घ आयुवाले और साथ भोजन करनेवाले होवें॥ १॥

विश्वे देवा मरुत इन्द्रो अस्मानस्मिन् द्वितीये सवने न जह्युः ।
आयुष्मन्तः प्रियमेषां वदन्तो वयं देवानां सुमतौ स्याम ॥ २ ॥
इदं तृतीयं सवनं कवीनामृतेन ये चमसमैरयन्त ।
ते सौधन्वनाः स्वरानशानाः स्विष्टिं नो अभि वस्यो नयन्तु ॥ ३ ॥

अर्थ-(विश्वेदेवाः मरुतः इन्द्रः) सब देव, मरुत् और इन्द्र ये सब (अस्मान् अस्मिन् द्वितीये सवने न जह्युः) हमको इस द्वितीय यज्ञमें न दूर करें । (आयुष्मन्तः) दीर्घ आयुवाले और (प्रियं वदन्तः) प्रिय बोलनेवाले होकर, (वयं एषां देवानां सुमतौ स्याम) हम इन देवोंकी सुमतिमें रहें अर्थात् उनका उत्तम आशीर्वाद हमें मिले ॥ २ ॥

(ये चमसं ऐरयन्त) जो चमसको हवनके लिये प्रेरित करते हैं (कवीनां ऋतेन) उन कवियोंके सत्यपालनसे (इदं तृतीयं सवनं) यह तृतीय यज्ञ भाग होता है । (ते सौधन्वनाः स्वः आनशानाः) वे उत्तम धनुष्य धारण करनेवाले वीर आत्माका तेज प्राप्त करते हुए (नः स्विष्टिं वस्यः अभि नयन्तु) हमारे उत्तम फलके प्रति ले जावें ॥ ३ ॥

ईश्वरके गुण ।

इस सूक्तके प्रथम मंत्रमें ईश्वरके गुणबोधक शब्द हैं जो विचार करने योग्य हैं—

१ वैश्वानरः = सब विश्वका चालक, जो सब विश्वमें रहकर विश्वको आगे बढाता है ।

२ विश्वकृत् = सब विश्वका बनानेवाला, जगत्का निर्माण कर्ता,

३ विश्व-शं-भूः = जिससे विश्वको सुख और शान्ति मिलती है,

४ अग्निः = प्रकाश देनेवाला, चेतना देनेवाला देव ।

ये सब शब्द और विशेषतः पहिले तीन शब्द सबके निर्माता एक प्रभुके द्योतक हैं । यह ईश्वर हम सबकी रक्षा करे, उसकी कृपासे हमारी आयु बढे और हमारी मंगलकामना सिद्ध होवे । हम आपसमें (प्रियं वदन्तः) प्रिय भाषण करें और ऐसा आचरण करें, कि जिससे (वयं देवानां सुमतौ स्याम) हम देवोंके उत्तम आशीर्वाद प्राप्त करें, हमारे विषयमें देवोंकी उत्तम बुद्धि स्थिर होवे और (स्वः आनशानाः) हमारी आत्मा प्रकाशित होवे ।

इस सूक्तका यह उत्तम उपदेश पाठक नित्य स्मरणमें रखें ।

कल्याण प्राप्तिकी प्रार्थना ।

[सूक्त ४८]

(ऋषिः — अंगिराः प्राचेतसः । देवता — मन्त्रोक्ताः ।)

श्येनोऽसि गायत्रच्छन्दा अनु त्वा रभे । स्वस्ति मा सं वहास्य यज्ञस्योदृचि स्वाहा ॥ १ ॥
ऋभुरसि जगच्छन्दा अनु त्वा रभे । स्वस्ति मा सं वहास्य यज्ञस्योदृचि स्वाहा ॥ २ ॥
वृषासि त्रिष्टुप्छन्दा अनु त्वा रभे । स्वस्ति मा सं वहास्य यज्ञस्योदृचि स्वाहा ॥ ३ ॥

अर्थ— हे देव ! (गायत्र-छन्दाः श्येनः असि) सबकी प्राण रक्षाका छंद धारण करनेवाला श्येनके समान गतिशील तू है । इसलिये (त्वा अनु आ रभे) तेरे लिये हम सत्कार्यका प्रारंभ करते हैं । (जगत्-छन्दाः ऋभुः असि) तू जगत्की भलाईका छंद धारण करनेवाला बडा कर्मकुशल है इसलिये (अनु०) तेरे लिये हम इस यज्ञका प्रारंभ करते हैं । (त्रिष्टुभ्-छन्दाः वृषा असि) तीनों- अध्यात्म, अधिभूत और अधिदैवत संबंधी—साध्यसाधनका छन्द धारण करनेवाला तू महाबलवान् बैलके समान सामर्थ्यशाली है । इसलिये (अस्य यज्ञस्य उदृचि) इस यज्ञकी उत्तम समाप्ति तक (मां स्वस्ति सं वह) मुझे सुखसे ले चल, (स्व-आ-हा) मैं अपनी शक्तिका सबकी भलाईके लिये त्याग करता हूं ॥ १-३ ॥

मेघोंका संचार।

[सूक्त ४९]

(ऋषिः — गार्ग्यः। देवता — अग्नि।)

नहि ते अग्ने तन्वः क्रूरमानंश मर्त्यः।
कपिर्बभस्ति तेजनं स्वं जरायु गौरिव ॥ १ ॥
मेष इव वै सं च वि चोर्वच्यसे यदुत्तरद्रावुपरश्च खादतः।
शीर्ष्णा शिरोऽप्ससाप्सो अर्दयन्नंशून् बभस्ति हरितेभिरासभिः ॥ २ ॥
सुपर्णा वाचमक्रतोप द्यव्याखरे कृष्णा इषिरा अनर्तिषुः।
नि यन्नियन्त्युपरस्य निष्कृतिं पुरू रेतो दधिरे सूर्यश्रितः ॥ ३ ॥

अर्थ— हे (अग्ने) प्रकाश स्वरूप देव! (मर्त्यः ते तन्वः क्रूरं नहि आनंश) कोई मनुष्य तेरे शरीरकी क्रूरताको नहीं स्वीकार कर सकता। जिस प्रकार (कपिः तेजनं बभस्ति) क नाम उदकका पान करनेवाला मेघ प्रकाशको धारण करता है और (गौः स्वं जरायु इव) जिस प्रकार अपनी जरायुको गौ धारण करती है ॥ १ ॥

(मेष इव वै) निश्चयपूर्वक मेढोंके समान तू (सं अच्यसे) इकट्ठा होता है और (च वि अच्यसे) फैलता है। (यत् उत्तरद्रौ खादतः उपरः च) और उत्तम वनमें घास खाते हुए ठहरता है। (शीर्ष्णा शिरः अप्ससा अप्सः अर्दयन्) शिरसे सिरको और रूपसे रूपको दबाता हुआ (हरितेभिः आसभिः अंशून् बभस्ति) हरिद्वर्णके मुखोंसे किरणोंका धारण करता है ॥ २ ॥

(सुपर्णाः आखरे द्यवि वाचं उप अक्रत) अनेक किरण इस खोखले आकाशमें शब्द करते हैं और (कृष्णाः इषिराः अनर्तिषुः) जलका आकर्षण करनेवाले गतिमान किरण यहां नाच रहे हैं। (यत् उपरस्य निष्कृतिं नि नियन्ति) जब ठहरनेवाले मेघकी निष्कृति अर्थात् वृष्टिरूप परिणामको निश्चित करते हैं, जब वे (पुरु रेतः दधिरे) बहुत जल धारण करते हैं ॥ ३ ॥

यह सूक्त अत्यंत दुर्बोध है, परंतु निम्नलिखित भावार्थके अनुसंधानसे कुछ भाव पाठक जान सकते हैं—

'हे ईश्वर! जिस समय तू क्रूर होता है, उस समय तेरे सन्मुख कोई भी मनुष्य ठहर नहीं सकता; तेरा क्रोध इतना असह्य है। काला मेघ भी प्रकाशको धारण कर सकेगा, अथवा गौ भी अपनी जरायुको खा जायगी, परंतु मनुष्य ईश्वरका कोप होनेपर क्षणमात्र भी ठहर नहीं सकता ॥ १ ॥

जिस प्रकार मेढे या बकरे किसी समय इकट्ठे होकर और किसी किसी समय अलग अलग होकर उपजाऊ भूमिपरका घास खाते हैं, और किसी किसी समय अपने सिरसे दूसरेके सिरको टकराते हैं और अपने शरीरसे दूसरेको घर्षण भी करते हैं और इस प्रकारकी लीला करते हुए घास खाते हैं, उसी प्रकार मनुष्य भी आपसमें मिलते और कभी लडते हुए जीवन व्यतीत करते हैं, तथापि ईश्वरके क्रोधके सन्मुख कोई ठहर नहीं सकता ॥ २ ॥

ईश्वरकी कृपासे ही सूर्यकिरण सब जगत्में नाच रहे हैं और जलका आकर्षण करते हुए वेगसे जा रहे हैं; येही मेघोंको बनाते हैं और उनसे वृष्टि करते हैं तब सब जगत्को शान्त करनेवाला जल पर्याप्त प्रमाणमें सबको प्राप्त होता है ॥ ३ ॥

इस प्रकार परमेश्वरके सामर्थ्यका ध्यान करना योग्य है।

धान्यकी सुरक्षा ।

[सूक्त ५०]

(ऋषिः — अथर्वा अभयकामः । देवता — अश्विनौ ।)

हृतं तर्दं समङ्कमाखुमश्विना छिन्तं शिरो अपि पृष्टीः शृणीतम् ।
यवान्नेददानपि नह्यतं मुखमथाभयं कृणुतं धान्याय ॥ १ ॥
तर्द है पतङ्ग है जभ्य हा उपक्वस ।
ब्रह्मेवासंस्थितं हविरनदन्त इमान् यवानहिंसन्तो अपोदित ॥ २ ॥
तर्दापते वघापते तृष्टजम्भा आ शृणोत मे ।
य आरण्या व्यद्वरा ये के च स्थ व्यद्वरास्तान्त्सर्वान् जम्भयामसि ॥ ३ ॥

अर्थ— हे (अश्विनौ) अश्विदेवो ! (तर्दं समंकं आखुं हतं) नाश करनेवाले और भूमिमें बिल करके रहनेवाले चूहेको मारो । उसका (शिरःछिन्तं) सिर काटो । (पृष्टीः अपि शृणीतं) उसकी पीठ तोडो । वे चूहे (यवान् न इत् अदान्) जौ को कभी न खावें, (मुखं अपि नह्यतं) उनका मुख बंद करो, (अथ धान्याय अभयं कृणुतं) और धान्यके लिये निर्भयता करो ॥ १ ॥

(हे तर्द) हे हिंसक ! (हे पतंग) हे शलभ ! (हा जभ्य, उपक्वस) हे वध्य और दुष्ट ! (ब्रह्मा इव असंस्थितं हविः) ब्रह्मा जिस प्रकार असंस्कृत हविको छोडता है, उस प्रकार (इमान् यवान् अनदन्तः अहिंसन्तः) इन जौको न खाते हुए और न नष्ट करते हुए (अपोदित) तुम दूर हट जाओ अर्थात् इसको छोड दो ॥ २ ॥

हे (तर्दापते) महा हिंसक ! हे (वघापते) शलभो ! हे (तृष्टजम्भाः) तीक्ष्ण दाढवाले ! (मे आशृणोत) मेरा भाषण सुनो । (ये आरण्याः व्यद्वराः) जो जंगली और विशेष खानेवाले हैं और (ये के च व्यद्वराः स्थ) जो कोई भक्षक हैं, हम (तान् सर्वान् जम्भयामसि) उन सबका नाश करते हैं ॥ ३ ॥

धान्यके नाशक जीव ।

चूहे, पतङ्ग, शलभ आदि जन्तु ऐसे हैं कि जो धान्यका नाश करते हैं, पौधोंको नष्ट करते हैं और शलभ तो ऐसे हैं कि जो करोडोंकी संख्यामें इकट्ठे मिलकर आते हैं, धान्यों और वृक्षोंपर धावा करते हैं और उसका नाश करते हैं। इनसे धान्यादिका बचाव करना चाहिये। इसलिये चूहों और शलभोंको मारना चाहिये ऐसा प्रथम मंत्रमें कहा है।

इस सूक्तमें इनका नाश करनेकी विधि नहीं कही है, केवल नाश करना चाहिये और धान्यका बचाव करना चाहिये इतना ही कहा है। यदि किसी स्थानपर इनके नाश करनेकी विधि मिल जाय, तो किसानोंका बहुत लाभ होगा। चूहे भी हजारोंकी संख्यामें आकर खेतोंका नाश करते हैं और शलभ तो करोडोंकी संख्यामें आते हैं। यदि कोई शोधक इनके नाशका उपाय निकाले, तो जगत् पर बडा उपकार हो सकता है।

अन्तर्बाह्य शुद्धता ।

[सूक्त ५१]

(ऋषिः — शन्तातिः । देवता — आपः, २ वरुणः ।)

वायोः पूतः पवित्रेण प्रत्यङ् सोमो अति द्रुतः । इन्द्रस्य युज्यः सखा ॥ १ ॥

अर्थ— (वायोः पवित्रेण पूतः) वायुके पवित्रीकरणके साधनद्वारा शुद्ध हुआ (प्रत्यङ् अति द्रुतः सोमः) प्रत्यक्ष छाना हुआ सोम (इन्द्रस्य युज्यः सखा) इन्द्र शक्तिका योग्य मित्र है ॥ १ ॥

आपो॑ अ॒स्मान् मा॒तर॑ः सूदयन्तु घृ॒तेन॑ नो घृत॒प्व॑ः पुनन्तु ।
विश्वं॒ हि रि॒प्रं प्र॒वह॑न्ति दे॒वीरुदिदा॑भ्यः शुचि॒रा पू॒त ए॑मि ॥ २ ॥
यत् किं चे॒दं व॑रुण॒ दैव्ये॒ जने॑ऽभिद्रो॒हं म॑नु॒ष्या॒३श्चर॑न्ति ।
अचि॑त्त्या॒ चेत् तव॒ धर्मा॑ युयोपि॒म मा न॒स्तस्मा॒देन॑सो देव रीरिषः ॥ ३ ॥

॥ इति पञ्चमोऽनुवाकः ॥

अर्थ— (मातरः आपः अस्मान् सूदयन्तु) माताके समान हितकारी जल हमें शुद्ध करें । (घृतप्वः नः घृतेन पुनन्तु) पवित्र करनेवाला जल हमें जलके द्वारा पवित्र करे । (देवीः हि विश्वं रिप्रं प्रवहन्ति) दिव्य जल सब दोष बहा देता है, (आभ्यः उत् इत् शुचिः पूतः आ एमि) इनसे ही शुद्ध और पवित्र होकर मैं आगे चलता हूं ॥ २ ॥

हे वरुण ! (मनुष्याः यत् किंच इदं अभिद्रोहं) साधारण मनुष्य जो कुछ भी दुराचार (दैव्ये जने चरन्ति) दिव्यजनोंके विषयमें करते हैं, (च इत् अचित्त्या तव धर्म युयोपिम) और जो बिना जानते हुए तेरे बताये धर्मको तोडते हैं, हे देव ! (नः तस्मात् एनसः मा रीरिषः) हम सबको उस पापसे नष्ट मत कर ॥ ३ ॥

सोमका महात्म्य ।

सोमका वर्णन प्रथम मंत्रमें है । यह सोम प्रथमतः छाना जाता है, पश्चात् उसको हवा देनेके लिये एक बर्तनसे दूसरे बर्तनमें किया जाता है; जब इस प्रकार यह सिद्ध होता है, तब यह अपने अन्दर रहनेवाली इन्द्र शक्तिको बढानेवाला होता है । अर्थात् इसके पीनेसे शरीरकी इन्द्रशक्ति बढती है ।

जलका महात्म्य ।

द्वितीय मन्त्रमें जलका महात्म्य कहा है । जल प्राणियोंको शान्ति देता है, पवित्र करता है, शरीरके सब दोषोंको दूर करता है और अन्तर्बाह्य शुद्ध करनेके द्वारा बडा आरोग्य देता है ।

द्रोह न करना ।

तृतीय मन्त्रमें कहा है, कि कोई मनुष्य किसीका द्रोह और अपराध न करे । न जानते हुए भी जो द्रोह हुआ हो, उसकेलिए परमेश्वरकी प्रार्थना करके क्षमा मांगनी चाहिये ।

इन तीन मंत्रोंमें शुद्धि द्वारा शक्तिवृद्धि करनेका उपदेश है । सोम शुद्ध होनेसे वह इन्द्रशक्तिकी सहायता करता है, जल शुद्धता करके आरोग्य देता है और अहिंसा वृत्तिसे आत्मशुद्धि होकर आत्मिक बल बढ जाता है । तीनों मंत्रोंका यह आशय देखने योग्य है । शुद्धि द्वारा बलकी वृद्धि होती है यह सबका तात्पर्य है ।

॥ यहां पञ्चम अनुवाक समाप्त ॥

सूर्य-किरण-चिकित्सा ।

[सूक्त ५२]

(ऋषिः — भागलिः । देवता — मन्त्रोक्ताः ।)

उत् सूर्यो॑ दि॒व ए॑ति पु॒रो रक्षां॑सि नि॒जूर्व॑न् । आ॒दि॒त्यः पर्व॑तेभ्यो वि॒श्वदृ॑ष्टो अदृष्ट॒हा ॥ १ ॥

अर्थ— (आदित्यः विश्वदृष्टः) सबका आदान करनेवाला, सब जिसको देखते हैं और जो (अ-दृष्ट-हा सूर्यः) अदृष्ट दोषोंका नाश करनेवाला सूर्य (रक्षांसि निजूर्वन्) राक्षसोंका नाश करता हुआ (पर्वतेभ्यः पुरः) पर्वतोंसे आगे (दिवः उत् एति) द्युलोकमें ऊपर आता है, अर्थात् उदित होता है ॥ १ ॥

नि गावो॑ गो॒ष्ठे अ॑सदु॒न् नि मृ॒गासो॑ अविक्षत ।
न्यू॑१॒र्मयो॑ न॒दीनां॒ न्य॑१॒दृष्टा॑ अलिप्सत ॥ २ ॥
आ॒यु॒र्ददं॑ विप॒श्चितं॑ श्रु॒तां कण्व॑स्य वी॒रुध॑म् ।
आभा॑रिषं वि॒श्वभे॑षजीम॒स्यादृष्टा॒न् नि श॑मयत् ॥ ३ ॥

अर्थ— (गावः गोष्ठे नि असदन्) गौवें गोशालामें ठहरी हैं । (मृगासः नि-अविक्षत) मृग अपने स्थानमें प्रविष्ट हुए हैं । (नदीनां ऊर्मयः नि) नदियोंकी लहरें चली गईं और अब वे (अदृष्टाः नि अलिप्सत) अदृष्ट होनेके कारण उनकी प्राप्तिकी इच्छा की जाती है ॥ २ ॥

(कण्वस्य आयुः-ददं) रोगीको आयु देनेवाली, (विपश्चितं श्रुतां वीरुधं) बुद्धि बढानेवाली प्रसिद्ध औषधि (विश्वभेषजीं आ आभारिषं) सब रोगोंकी औषधीको मैंने प्राप्त किया है और (अस्य अदृष्टान् नि शमयत्) इसके अदृष्ट दोषोंको दूर करते हैं ॥ ३ ॥

सूर्यका महत्त्व ।

इस सूक्तके प्रथम मंत्रमें सूर्यका महत्त्व वर्णन किया है । 'सूर्य' सब जलरसोंका आदान करता है, इसलिये वह 'आदित्य' कहलाता है । (विश्व-दृष्टः) उसको सब देखते हैं, वह आंखसे प्रत्यक्ष दिखाई देता है । वह सूर्य (अ-दृष्ट-हा) अदृष्ट दोषोंका नाश करनेवाला है । शरीरमें अथवा जगत्‌में जो रोग-बीज, दोष और हानिकारक रोगमूल हैं, उनको सूर्यके किरण नाश करते हैं । (रक्षांसि-क्षरांसि-निजूर्वन्) राक्षसों अर्थात् क्षीणता करनेवाले रोगजन्तुओंका नाश करता है । इस प्रकारका यह सूर्य प्रतिदिन उदयको प्राप्त होता है । सूर्यके ये गुण और चिकित्सा करनेवालोंको स्मरणमें रखने चाहिये ।

द्वितीय मंत्रमें कहा है कि दिनमें गौवें भ्रमण करती हैं और रात्रीमें गोशालामें आकर निवास करती हैं । मृग भी इसी प्रकार विश्रामके लिये अपने स्थानमें आते हैं । नदीकी लहरें भी कभी वेगसे उठती हैं, तो दूसरे क्षणमें चली जाती हैं । अर्थात् इस जगत्‌में कोई अवस्था स्थिर नहीं है । रोग भी इसी कारण नाश होनेवाले हैं । रोगी यह मनमें ठीक प्रकार समझे कि इस नश्वर जगत्‌में रोग भी नष्ट होनेवाले हैं, स्थिर रूपसे रहनेवाले नहीं हैं । अतः रोग दूर होंगे और आरोग्य मिलेगा, यह निश्चय रखना उचित है ।

रोगीकी अवस्था इस सूक्तमें 'कण्व' शब्दसे कही है । शरीरकी पीडित अवस्थामें रोगी विलक्षण शब्द करता रहता है । इसको कण्व कहते हैं । ऐसी अवस्था रोगी यदि सुप्रसिद्ध (विश्व-भेषजी) सब रोगोंकी औषधीका सेवन करेगा, तो वह निःसंदेह रोगमुक्त होगा । इस मंत्रमें जो सब रोगोंकी शमन करनेवाली औषधि कही है, वह प्रथम मंत्रोक्त सूर्यप्रकाश ही है । सूर्यकिरणें ही यह वल्लीके रूपमें हमारे पास आती हैं । इस सूर्यप्रकाशमें ऐसा सामर्थ्य है, कि वे दृष्ट और अदृष्ट सब प्रकारके रोगबीजोंका नाश करते हैं । जहां सूर्यप्रकाश होता है, वहां कोई रोगबीज नहीं रह सकता । इतना प्रभाव सूर्यकिरणोंमें है । इस विज्ञानका विचार करनेसे मनुष्य अपना रहन सहन योग्य प्रकार करके सूर्य देवसे आरोग्य प्राप्त कर सकते हैं । अर्थात् नंगा शरीर सूर्यप्रकाशमें रखनेसे शरीरके रोगक्रिमी दूर होंगे, घरमें सूर्यप्रकाश आनेसे घरके रोग दूर होंगे, नगरमें सूर्यप्रकाश गलीगलीमें पहुंचनेसे सब नगर आरोग्यपूर्ण हो सकता है । इस प्रकार सब मनुष्य इस सूर्यके प्रकाशसे आरोग्य प्राप्त कर सकते हैं । सूर्य किरण जिनपर गिरते हैं, ऐसी वनस्पतियां खानेसे भी यही लाभ होता है । सूर्यकिरणोंमें भ्रमण करनेवाली गौका दूध पीनेसे भी लाभ होता है । इस प्रकार योजनापूर्वक जानकर सूर्यकिरण चिकित्साका विषय सबको समझना चाहिये ।

अपनी रक्षा ।

[सूक्त ५२]

(ऋषिः — बृहच्छुक्रः । देवता — नानादेवताः ।)

द्यौश्चं म इदं पृथिवी च प्रचेतसौ शुक्रो बृहन् दक्षिणया पिपर्तु ।
अनुं स्वधा चिकितां सोमो अग्निर्वायुर्नः पातु सविता भगंश्च ॥ १ ॥
पुनः प्राणः पुनरात्मा न ऐतु पुनश्चक्षुः पुनरसुर्न ऐतु ।
वैश्वानरो नो अदब्धस्तनूपा अन्तस्तिष्ठाति दुरितानि विश्वा ॥ २ ॥
सं वर्चसा पयसा सं तनूभिरगन्महि मनसा सं शिवेन ।
त्वष्टा नो अत्र वरीयः कृणोत्वनु नो मार्ष्टु तन्वो॒ यद् विरिष्टम् ॥ ३ ॥

अर्थ— (प्र-चेतसौ द्यौः च पृथिवी च) उत्तम ज्ञानवाले द्युलोक और भूलोक और (बृहन् शुक्रः दक्षिणया) बडा सामर्थ्यवान् सूर्य दक्षताके साथ (मे इदं पिपर्तु) मेरे इस सबकी रक्षा करे । (सोमः अग्निः) सोमादि वनस्पति और अग्नि ये (स्वधा अनु चिकितां) अपनी धारणशक्तिका ज्ञान अनुकूलताके साथ देवें । (वायुः सविता भगः च न पातु) वायु सविता और भग ये हम सबकी रक्षा करें ॥ १ ॥

(प्राणः नः पुनः एतु) प्राण हमारे पास फिर आवे, (आत्मा नः पुनः एतु) आत्मा हमारे पास पुनः आवे । (पुनः चक्षुः पुनः असुः नः एतु) फिर आंख और फिर प्राण हमारे पास आवें । (अ-दब्धः तनू-पाः वैश्वानरः) न दबाया जानेवाला शरीरका रक्षक सबका नेता आत्मा (नः विश्वा दुरितानि) हमारे सब पापोंको जानता हुआ (अन्तः तिष्ठाति) अन्दर रहता है ॥ २ ॥

(वर्चसा पयसा सं) तेज और पुष्टिकारक दूधसे हम युक्त हों । (तनूभिः सं) उत्तम शरीरोंके साथ हम युक्त हों । (शिवेन मनसा सं अगन्महि) कल्याणमय विचारयुक्त मनसे हम युक्त हों । (त्वष्टा नः अत्र वरीयः कृणोतु) श्रेष्ठ कारीगर परमात्मा हमें यहां उत्तम बनावे । (यत् नः तन्वः विरिष्टं) जो हमारे शरीरोंमें कष्ट देनेवाला भाग हो (अनु मार्ष्टु) उसको अनुकूलतासे शुद्ध करे ॥ ३ ॥

भावार्थ— द्युलोकका बडा शक्तिशाली भाग्यवान् सूर्य, अन्तरिक्ष लोकका वायु, और भूलोकका अग्नि, सोम आदि हमारी रक्षा करें और हमारे अनुकूल हों ॥ १ ॥

हमारी आत्मा, प्राण, चक्षु आदि सब शक्तियां पूर्वोक्त प्रकार हमें पुनः प्राप्त हों । हम पापोंको छिपकर कर नहीं सकते, क्यों-कि ज्ञानी रक्षक आत्मा हमारे अंदर जागता रहता है ॥ २ ॥

हमें पुष्टिकारक अन्न, तेज, उत्तम शरीर, उत्तम कल्याणका विचार करनेवाला मन प्राप्त होवे । हमारे शरीरमें जो कुछ हानि-कारक पदार्थ घुसा हो, वह परमेश्वरकी योजनासे दूर होवे और हमारी शुद्धि होवे ॥ ३ ॥

इस सूक्तमें अपनी सब प्रकारसे रक्षा हो इस विषयकी उत्तम प्रार्थना है । द्वितीय मंत्रमें कहा है कि—

आत्मा, प्राणः असुः, चक्षुः नः पुनः एतु । (मं. २)

' आत्मा, प्राण, आंख आदि सब शक्तियां हमारे पास पुनः आवें । ' अर्थात् रोगादिके कारण शरीरपर जो विविध आप-त्तियां आती हैं, उनसे चक्षु आदि सब इंद्रिय रोगी और विकल हो जाते हैं, किसी किसी समय ये इंद्रिय नामशेष भी हो जाते हैं, आत्मा और प्राण चले भी जाते हैं अर्थात् यह मनुष्य मर भी जाता है । अर्थात् जब शरीर ऐसा रोगी हो जाता है, कि मनुष्य मर भी जाता है । इतना रोगी होनेपर भी आत्मा, प्राण, चक्षु, श्रोत्र आदि सब शक्तियां पुनः हमारे शरीरमें पूर्ववत् उत्तम अवस्थामें बसें । अर्थात् रोग आदि आपत्तियां आनेप

भी पूर्ववत् आरोग्य प्राप्त हो । यह आरोग्य किस प्रकार प्राप्त हो सकता है इसका विचार पहिले मंत्रने बताया है—

(द्यौः बृहन् शुक्रः भगः सविता) द्युलोकका बडा सामर्थ्यशाली शुद्धता करनेवाला सूर्य, **(वायुः)** अन्तरिक्षका वायु और **(पृथिवी अग्निः सोमः)** पृथ्वीके ऊपरका अग्नि और सोमादि वनस्पतियां **(अनु स्वधा चिकितां, पातु, पिपर्तु)** अनुकूलतासे अपनी धारक शक्ति देवें, हमारी रक्षा करें, और पूर्णता करें । (मं. १)

द्युलोकमें सूर्य है जो अपने प्रकाशमान किरणोंसे सबकी शुद्धता करता है, सबमें बल लाता है और सबको बढाकर पूर्ण करता है । अन्तरिक्षमें जो वायु है वह सबका प्राण होकर सबको जीवन देता है, पवित्र और पुष्ट करता है और दीर्घ आयु देता है पृथ्वीपरकी सोम आदि वनस्पतियां रोग दूर करने द्वारा सबका आरोग्य बढाती हैं और सबको दीर्घायु करती हैं । अर्थात् आत्मा, प्राण और चक्षु पुनः शरीरमें स्थिर करनेके साथ (१) सूर्यप्रकाश, (२) वायु और (३) वनस्पतियों-के यथायोग्य सेवनसे आसन्नमरण हुआ मनुष्य भी पुनः स्वस्थ हो सकता है । इससे—

पयसा, वर्चसा, शिवेन मनसा सं अगन्महि । (मं. ३)

'दुग्धादि अन्नपान, तेजस्विता और शुभ विचारवाला मन प्राप्त हो सकता है।' आरोग्य चाहनेवाले मनुष्यको उचित है कि वह अपने मनको शुभमङ्गल विचारोंसे युक्त करे, क्योंकि विचार शुद्ध रहे तो बुराई पास नहीं आ सकती। स्वभाव तेजस्वी बनावे और शुद्ध दुग्धाहार करके उत्तम आरोग्यका साधन करे। इतना प्रयत्न करनेपर भी जो कुछ रोगबीज या दोष शरीरमें घुस गया हो, उसे दूर करनेके लिये ऐसी प्रार्थना करे—

त्वष्टा नः तन्वः यत् विरिष्टं मार्ष्टु । (मं. ३)

'ईश्वर हमारे शरीरके रोगादिको दूर करके हमारी शुद्धता करे।' क्योंकि मनुष्यका प्रयत्न होनेपर भी कुछ अशुद्धियां हो जाती हैं और दोष घुसते हैं। ईश्वरकी प्रार्थना करनेसे वह सब दोष दूर हो जाते हैं, क्योंकि परमेश्वरप्रार्थना करनेसे मनमें एक प्रकारका अद्भुत दैवी बल प्राप्त हो जाता है जिससे सब दोष और रोगबीज तथा अन्य विपत्तियां दूर हो जाती हैं और मनुष्य निर्दोष हो जाता है। कोई यहां यह न समझे कि ईश्वरसे छिपाकर मनुष्य कुछ भी दोष या पाप कर सकता है। यह कदापि नहीं हो सकता, क्योंकि—

वैश्वानरः, अदब्धः, तनूपाः, विश्वा दुरितानि अभि चष्टे । (मं. २)

'सब जगत्का नेता, कभी न दबनेवाला, शरीरकी रक्षा करता हुआ और हमारे सब पापोंका निरीक्षण करता हुआ हमारे अन्दर रहता है।' जब वह जाग्रत रहता हुआ अंदर रहता है तब उसे छिपकर कोई कैसे पाप कर सकता है? अर्थात् यह सर्वथा असंभव है। हमारे सब बुरे और भले कर्मोंको वह जानता है, इसलिये उसीकी प्रार्थना करनी चाहिये और उसीसे आत्मिक बल प्राप्त करना चाहिये।

यह रीति है जिससे मनुष्य नीरोग हो सकता है और अपनी उन्नतिका साधन कर सकता है।

राष्ट्रके ऐश्वर्यकी वृद्धि ।

[सूक्त ५४]

(ऋषिः — ब्रह्मा । देवता — अग्नीषोमौ ।)

इदं तद् युज उत्तरमिन्द्रं शुम्भाम्यष्टये । अस्य क्षत्रं श्रियं महीं वृष्टिरिव वर्धया तृणम् ॥ १ ॥

अर्थ— (इदं तत् उत्तरं युजे) मैं इसके साथ उस श्रेष्ठको संयुक्त करता हूं। (अष्टये इंद्रं शुंभामि) फलभोगके लिये प्रभुकी प्रार्थना करता हूं। हे देव! (अस्य क्षत्रं महीं श्रियं वर्धय) इस राजाके राज्यको तथा महती संपत्तिको बढा, (वृष्टिः तृणं इव) जैसे वृष्टि घासको बढाती है ॥ १ ॥

भावार्थ— मैं श्रेष्ठके साथ संबंध करता हूं, अपनी उन्नतिके लिये परमेश्वरकी प्रार्थना करता हूं। हे ईश्वर! हमारे राजाका राज्य बढे और धन भी ऐसा बढे कि जैसी घास वृष्टिसे बढ जाती है ॥ १ ॥

अस्मै क्षत्रमग्नीषोमावस्मै धारयतं रयिम् । इमं राष्ट्रस्याभीवर्गे कृणुतं युज उत्तरम् ॥ २ ॥
सबन्धुश्चासबन्धुश्च यो अस्माँ अभिदासति । सर्वं तं रन्धयासि मे यजमानाय सुन्वते ॥ ३ ॥

अर्थ— हे अग्निषोमौ ! (अस्मै क्षत्रं धारयतं) इसके लिये राज्यको धारण करो, (अस्मै रयिं) इसके लिये धन धारण करो। (इमं राष्ट्रस्य अभीवर्गे कृणुतं) इसको राष्ट्रकी मुख्य मंडलीमें स्थिर करो। तथा (उत्तरं युजे) मैं इसको अधिक उच्च अवस्थामें नियुक्त करता हूं ॥ २ ॥

(सबन्धुः च असबन्धुः च) भाइयों समेत या भाइयोंसे रहित (यः अस्मान् अभिदासति) जो शत्रु हमारा विनाश करना चाहता है, (मे सुन्वते यजमानाय) मेरे याजक यजमानके लिये (तं सर्वं रन्धयासि) उस शत्रुका नाश कर ॥ ३ ॥

भावार्थ— हमारे राजाका राज्य स्थिर होवे, धन भी स्थिर रहे। राष्ट्रके हित करनेवाले लोगोंमें यह प्रमुख होवे और श्रेष्ठके साथ बढता रहे ॥ २ ॥

कोई शत्रु जो अकेला या अपने भाइयों समेत हमारा नाश करना चाहे उसका नाश कर ॥ ३ ॥

यह सूक्त स्पष्ट है। राष्ट्रीय उन्नतिकी प्रार्थना है। अपना श्रेष्ठोंसे संबंध जोडना और (यजमान) यज्ञमय जीवन बनाना यह मनुष्यका कर्तव्य यहां बताया है। इसके अनंतर परमेश्वरकी प्रार्थना की जाय, तो वह निःसंदेह सफल होगी। अपना राज्य बढे, धन बढे, स्वराज्य न हो तो वह प्राप्त होवे, शत्रु दूर हो जावें और सब प्रकारकी उन्नति भी होवे। यह इस प्रार्थनाका आशय है।

उत्तम मार्गसे जाना।

[सूक्त ५५]

(ऋषिः — ब्रह्मा। देवता — १ विश्वेदेवाः, २-३ रुद्रः।)

ये पन्थानो बहवो देवयाना अन्तरा द्यावापृथिवी संचरन्ति ।
तेषामज्यानिं यतमो वहाति तस्मै मा देवाः परि धत्तेह सर्वे ॥ १ ॥
ग्रीष्मो हेमन्तः शिशिरो वसन्तः शरद् वर्षाः स्विते नो दधात ।
आ नो गोषु भजता प्रजायां निवात इद् वः शरणे स्याम ॥ २ ॥

अर्थ— (ये देवयानाः बहवः पन्थानः) जो देवोंके आनेजानेके बहुतसे मार्ग (द्यावापृथिवी अन्तरा संचरन्ति) द्युलोक और भूलोकके बीचमें चलते रहते हैं। (तेषां यतमः अज्यानिं वहाति) उनमेंसे जो मार्ग समृद्धि लाता है। हे (सर्वे देवाः) सब देवो ! (इह तस्मै मा परि धत्त) यहां उस मार्गके लिये मुझे सब प्रकार धारण करो ॥ १ ॥

वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद, हेमन्त और शिशिर ये सब ऋतु (नः स्विते दधात) हमें उत्तम अवस्थामें धारण करें। (नः गोषु प्रजायां आ भजत) हमें गौओं और प्रजाओंमें सुखका भागी करें। (वः इत् निवाते शरणे स्याम) तुम्हारे साथ निश्चयसे हम वातादिके उपद्रवरहित घरमें रहें ॥ २ ॥

भावार्थ— उत्तम विद्वान् सज्जनोंके जाने आनेके अथवा व्यवहार करनेके जो अनेक मार्ग हैं, उनमें जो निर्दोष मार्ग हों, उसीपरसे चलना उचित है ॥ १ ॥

ऐसा आचरण करना चाहिये कि जिससे छहों ऋतुओंमें उत्तम सुख लाभ हो, गौओं और प्रजाओंसे हितका साधन हो और घरमें कोई दोष न हो ॥ २ ॥

इदावत्सराय परिवत्सराय संवत्सराय कृणुता बृहन्नमः।
तेषां वयं सुमतौ यज्ञियानामपि भद्रे सौमनसे स्याम ॥ ३ ॥

अर्थ— (इदावत्सराय, परिवत्सराय, संवत्सराय) क्रमशः प्रथम, द्वितीय और तृतीय वर्षोंके लिये (बृहत् नमः कृणुत) बहुत अन्न उत्पन्न करो। (तेषां यज्ञियानां सुमतौ) उन यज्ञकर्ताओंकी उत्तम बुद्धिमें तथा (सौमनसे भद्रे अपि स्याम) उत्तम मनमें तथा कल्याणमें हम सदा रहें ॥ ३ ॥

भावार्थ— हरएक वर्ष उत्तम अन्न पर्याप्त प्रमाणमें उत्पन्न कर, और जिन्होंने अपना जीवन यज्ञमय बनाया है उनके उत्तम शुभ संस्कारयुक्त मन और बुद्धिमें रह अर्थात् तेरे विषयमें उनकी संमति उत्तम रहे ऐसा आचरण कर ॥ ३ ॥

' संवत्सर, परिवत्सर, इदावत्सर, अनुवत्सर, और इद्वत्सर ' ये संवत्सरोंके पांच नाम क्रमशः प्रभवसे लेकर हरएक पंचयुगोंके हैं। इसी प्रकार ' कृत, त्रेता, द्वापर और कलि ' ये चतुर्युगोंके नाम हैं।

सज्जनोंके व्यवहार करनेके शुभमार्गोंमें भी जो मार्ग सबसे श्रेष्ठ हैं उन पर चलना चाहिये। अपना आचरण उत्तम रहा तो सब ऋतुओंसे लाभ होता है और अपने अंदर दोष हुआ तो हानि होती है। हरएकको ऐसा उत्तम आचरण करना चाहिये कि जिससे सज्जन प्रसन्न हों। हरवर्ष खेतीसे इतना धान्य उत्पन्न करना चाहिये कि जो अपने लिये पर्याप्त हो सके।

सर्पसे बचना।

[सूक्त ५६]

(ऋषिः — शन्तातिः। देवता — १ विश्वेदेवाः, २-३ रुद्रः।)

मा नो देवा अहिर्वधीत् सतोकान्त्सहपूरुषान्।
संयतं न वि ष्परद् व्यात्तं न सं यमन्नमो देवजनेभ्यः ॥ १ ॥
नमोऽस्त्वसिताय नमस्तिरश्चिराजये। स्वजाय बभ्रवे नमो नमो देवजनेभ्यः ॥ २ ॥
सं ते हन्मि दता दतः समु ते हन्वा हनू। सं ते जिह्वया जिह्वां सम्वास्नाह आस्यम् ॥ ३ ॥

अर्थ— हे (देवाः) देवो! (अहिः सतोकान् सहपूरुषान्) सांप संतानों और पुरुषोंके समेत (नः मा वधीत्) हमें न मारे (देवजनेभ्यः नमः) दिव्यजनों अर्थात् वैद्योंके लिये नमस्कार है। (संयतं न वि ष्परत्) बंद हुआ न खुल सकता है और (व्यात्तं न सं यमत्) खुला हुआ बंद नहीं हो सकता है ॥ १ ॥

(असिताय नमः अस्तु) काले सर्पके लिये नमस्कार हो, (तिरश्चिराजये नमः) तिरछी लकीरोंवाले सांपको नमस्कार, (स्वजाय बभ्रवे नमः) लिपटनेवाले और भूरे रंगवाले सांपके लिये नमस्कार हो। तथा (देवजनेभ्यः नमः) दिव्यजनोंके लिये नमस्कार हो ॥ २ ॥

हे (अहे) सर्प! (ते दतः दता सं हन्मि) तेरे दांतोंको दांतसे मैं तोडता हूं। (ते हनू हन्वा सम् उ) तेरे ठोडीको ठोडीसे सटा देता हूं। (ते जिह्वां जिह्वया सं) तेरी जिह्वाको जिह्वासे तोडता हूं। (ते आस्यं आस्ना सं हन्मि) तेरे मुखको मुखसे फाडता हूं ॥ ३ ॥

मनुष्योंको अपने निवासस्थानमें ऐसा सुप्रबंध करना चाहिये, कि जिससे सर्पदंशसे मनुष्य या पशु कदापि न मरें। तृतीय मंत्रसे सर्पको मारना चाहिये ऐसा भी पता लगता है।

मंत्रोंका अन्य भाव दुर्बोध है और बडी खोजकी अपेक्षा रखता है।

जलचिकित्सा।

[सूक्त ५७]

(ऋषिः — शन्तातिः। देवता — रुद्रः।)

इदमिद् वा उ भेषजमिदं रुद्रस्य भेषजम्। येनेषुमेकतेजनां शतशल्यामपब्रवत् ॥ १ ॥

जालाषेणाभि षिञ्चत जालाषेणोप सिञ्चत। जालाषमुग्रं भेषजं तेन नो मृड जीवसे ॥ २ ॥

शं च नो मयश्च नो मा च नः किं चनाममत्।
क्षमा रपो विश्वं नो अस्तु भेषजं सर्वं नो अस्तु भेषजम् ॥ ३ ॥

अर्थ— (**इदं इत् वा उ भेषजं**) यह जल निःसंदेह औषध है (**इदं रुद्रस्य भेषजं**) यह रुद्रका औषध है। (**येन**) जिससे (**शतशल्यां एकतेजनां इषुं अपब्रवत्**) अनेक शल्यवाले, एक दण्डवाले बाणके विरुद्ध शब्द बोला जाता है अर्थात् बाणका व्रण भी ठीक हो सकता है ॥ १ ॥

(**जालाषेण अभि सिंचत**) जलसे अभिषिंचन कराओ, (**जालाषेण उप सिंचत**) जलसे उपसिंचन कराओ। (**जालाषं उग्रं भेषजं**) जल बडा तीव्र औषध है। (**तेन जीवसे नः मृड**) उससे दीर्घ जीवनके लिये हमें सुखी कर ॥२॥

(**नः शं च**) हमें शान्ति प्राप्त हो, (**नः मयः च**) हमें सुख मिले। (**नः च किंचन आम-मत् मा**) हमें कोई आमवाला रोग न होवे। (**रपः क्षमा**) रुकावटसे बचाव किया जावे, (**नः विश्वं भेषजं अस्तु**) हमें सब औषध हो, (**नः सर्वं भेषजं अस्तु**) हमें सब औषध हो ॥ ३ ॥

भावार्थ— यह जल उत्तम औषध है। वैद्य इसका प्रयोग करते हैं। शस्त्रोंके व्रणको भी जलचिकित्सासे ठीक किया जा सकता है ॥ १ ॥

जलसे पूर्ण स्नान करो, आधा स्नान–कटिस्नान--भी जलसे करो। इससे रोग दूर होंगे, क्योंकि जल बडी तीव्र औषधि है। इस जलसे दीर्घजीवन प्राप्त होकर स्वास्थ्यका सुख भी प्राप्त हो सकता है ॥ २ ॥

जलसे शरीरकी शान्ति, समता, सुख और स्वास्थ्य प्राप्त होकर आमरोग दूर होते हैं, शरीरकी रुकावट नष्ट होती है। जल पूर्ण औषधि है, जल निःसंदेह सबकी औषधि है ॥ ३ ॥

इस सूक्तका अभिप्राय स्पष्ट है। जलचिकित्साका उपदेश करनेवाला यह सूक्त है। जलसे संपूर्ण शरीर भिगानेसे पूर्ण स्नान होता है, और रोगवाला भाग भिगानेसे अर्धस्नान होता है। योजनापूर्वक इसका उपयोग करनेसे बहुत लाभ होता है। जैसा—

१– ब्रह्मचर्य पालनके लिये शिश्नस्नान शीत जलसे करना, तथा आसपासका प्रदेश अच्छी प्रकार भिगाकर शान्त करना।

२– कब्जी हटानेके लिये नाभीसे लेकर जंघातकका भाग पानीमें भीग जाय ऐसे बर्तनमें पानी डालकर बैठ जाना और उसमेंसे पेट और नाभीके स्थानकी मालिश पानीमें करनेसे कब्जी हटती है। और आमके रोग दूर होते हैं। शरीरमें सडनेवाले सब दोष इससे दूर होते हैं और आरोग्य प्राप्त होता है।

इस प्रकार नमकजलसे नेत्रस्नान करनेसे नेत्रदोष दूर होता है। बिच्छूके विषकी बाधा हो जावे तो ऊपरसे सतत जलधारा छोडनेसे विष उतरता है, परंतु इस विषयमें अधिक प्रयोग करना चाहिये।

ज्वरमें मस्तिष्क तपनेसे उन्माद हुआ तो सिरपर शीतजलकी पट्टी रखनेसे त्वरित उन्माद हट जाता है।

स्त्रियों या पुरुषोंके प्रमेह रोगके निवारणार्थ कटिस्नान उत्तम उपाय है। इन्द्रियस्नान और स्त्रियोंके लिये अन्तःस्नान भी उपयोगी है।

इस प्रकार योजनापूर्वक प्रयोग करनेसे प्रायः सभी रोग जलोपचारसे दूर हो सकते।

यशकी इच्छा।

[सूक्त ५८]

(ऋषिः — अथर्वा यशस्कामः। देवता — बृहस्पतिः। मन्त्रोक्ताः।)

यशसं मेन्द्रो मघवान् कृणोतु यशसं द्यावापृथिवी उभे इमे।
यशसं मा देवः सविता कृणोतु प्रियो दातुर्दक्षिणाया इह स्याम् ॥ १ ॥
यथेन्द्रो द्यावापृथिव्योर्यशस्वान् यथाप ओषधीषु यशस्वतीः।
एवा विश्वेषु देवेषु वयं सर्वेषु यशसः स्याम ॥ २ ॥
यशा इन्द्रो यशा अग्निर्यशाः सोमो अजायत।
यशा विश्वस्य भूतस्याहमस्मि यशस्तमः ॥ ३ ॥

अर्थ— (मघवान् इन्द्रः मा यशसं कृणोतु) महत्त्ववान् प्रभु मुझे यशस्वी करे। (उभे इमे द्यावापृथिवी मा यशसं) ये दोनों द्यावापृथिवी मुझे यशस्वी करें। (सविता देवः मा यशसं कृणोतु) सविता देव मुझे यशस्वी करे। और (अहं दक्षिणायाः दातुः प्रियः स्याम्) मैं दक्षिणा देनेवालेका प्रिय हो जाऊं ॥ १ ॥

(यथा इन्द्रः द्यावापृथिव्योः यशस्वान्) जिस प्रकार इन्द्र द्युलोक और पृथ्वीलोकके बीच यशस्वी है। (यथा आपः ओषधीषु यशस्वतीः) जिस प्रकार रस औषधियोंमें यशयुक्त है। (एवा विश्वेषु देवेषु) इस प्रकार सब देवोंमें और (सर्वेषु वयं यशसः स्याम) सबमें हम यशस्वी होवें ॥ २ ॥

(इंद्रः यशाः) इन्द्र यशस्वी है, (अग्निः यशाः) अग्नि यशस्वी है, (सोमः यशाः अजायत) सोम यशस्वी हुआ है। (विश्वस्य भूतस्य यशाः) सब भूतमात्रके यशसे (अहं यशस्तमः अस्मि) मैं अधिक यशवाला हूं ॥ ३ ॥

भावार्थ— द्युलोक, भूलोक, सूर्य, इंद्र आदि सब मुझे सहायता करें जिससे मैं यशस्वी होऊं ॥ १ ॥
इस त्रिलोकीमें सूर्य तेजस्वी है, सब औषधियोंमें रसभाग मुख्य है, इसी प्रकार सब मनुष्योंमें मैं श्रेष्ठ बनूं ॥ २ ॥
इंद्र, अग्नि अथवा सोम जैसे यशस्वी हुए हैं, उस प्रकार मैं अधिक श्रेष्ठ यशवाला होऊं ॥ ३ ॥

मनुष्य ऐसे कार्य करे कि जिससे उसका उत्तम यश फैले। मनुष्यके सामने सूर्य, इंद्र, अग्नि और सोमके आदर्श रहें। सूर्य सबको प्रकाश देता है, इंद्र चेतना देता है, अग्नि उष्णता देता है, सोम रोग दूर करता है, इसी प्रकार मनुष्य भी परोपकार करे और यशस्वी बने। सूर्यादि सब देव स्वार्थ छोड परोपकारमें अपने आपको लगा रखते हैं, उनके यशका बीज इस परोपकारमें है। जो मनुष्य इस प्रकार निःस्वार्थ जनसेवा करेगा वह भी उनके समान ही प्रशस्त यशसे युक्त होगा।

अरुन्धती ओषधि।

[सूक्त ५९]

(ऋषिः — अथर्वा। देवता — रुद्रः। मन्त्रोक्ताः।)

अनडुद्भ्यस्त्वं प्रथमं धेनुभ्यस्त्वमरुन्धति। अधेनवे वयसे शर्म यच्छ चतुष्पदे ॥ १ ॥

अर्थ— हे (अरुंधति) अरुंधती औषधि! (त्वं अनडुद्भ्यः) तू बैलोंको, (त्वं धेनुभ्यः) तू गौओंको तथा तू (चतुष्पदे अधेनवे वयसे) चार पांववाले गौसे भिन्न पशुको तथा पक्षियोंको (प्रथमं शर्म यच्छ) पहिले सुख दे ॥ १ ॥

भावार्थ— अरुन्धती नामक औषधी गाय, बैल आदि चतुष्पाद और पक्षी आदि द्विपादोंको नीरोग करती है और सुख देती है ॥ १ ॥

शर्म यच्छत्वोषधिः सह देवीररुन्धती । करत् पयस्वन्तं गोष्ठमयक्ष्माँ उत पूरुषान् ॥ २ ॥
विश्वरूपां सुभगामच्छावदामि जीवलाम् । सा नो रुद्रस्यास्तां हेतिं दूरं नयतु गोभ्यः ॥ ३ ॥

अर्थ— (अरुंधती ओषधिः देवीः सह) अरुंधती नामक औषधी सब अन्य दिव्य औषधियोंके साथ (शर्म यच्छतु) सुख देवे। तथा (गोष्ठं पयस्वन्तं) गोशालाको बहुत दुग्धयुक्त (उत पूरुषान् अयक्ष्मान् करत्) और मनुष्योंको रोग रहित करे ॥ २ ॥

(विश्वरूपां सुभगां जीवलां अच्छ-आवदामि) नानारूपवाली, भाग्यशालिनी जीवला औषधिके विषयमें उत्तम वचन कहते हैं, स्तुति करते हैं। (रुद्रस्य अस्तां हेतिं) रुद्रके फेंके रोगादि शस्त्रको (नः गोभ्यः दूरं नयतु) हमारे पशुओंसे दूर ले जावे, उनको नीरोग बनावे ॥ ३ ॥

भावार्थ— अरुन्धती तथा अन्य औषधियां सुख देनेवाली हैं, इनसे गौवें अधिक दूध देनेवाली बनती हैं। और सब प्राणी नीरोग होते हैं ॥ २ ॥

अनेक रंगरूपवाली, यह जीवन देनेवाली जीवला औषधि स्तुति करने योग्य है। पशुपक्षियों और मनुष्योंको होनेवाले रोग इससे दूर होते हैं ॥ ३ ॥

अरुन्धती।

'अरु' का अर्थ संधिस्थान, जोड़, इस स्थानके रोग ठीक करनेवाली औषधि 'अरुंधती' है। इसका आजकलका नाम क्या है इसका पता नहीं चलता। खोज करके निश्चय करना चाहिये। यह गौओंको खिलानेसे गौएं अधिक दूध देने लगती हैं। इसका सेवन मनुष्य करेंगे तो यक्ष्मा जैसे रोग दूर होते हैं। 'जीवला' औषधि भी इसी प्रकार उपयोगी है, संभव है कि जीवला, अरुन्धती ये नाम एक ही औषधिके हों। यह खोजका विषय है।

विवाह।

[सूक्त ६०]

(ऋषिः — अथर्वा। देवता — अर्यमा।)

अयमा यात्यर्यमा पुरस्ताद् विषितस्तुपः । अस्या इच्छन्नग्रुवै पतिमुत जायामजानये ॥ १ ॥
अश्रमदियमर्यमन्नन्यासां समनं यती । अङ्गो न्वर्यमन्नस्या अन्याः समनमायति ॥ २ ॥

अर्थ— (अयं विषितस्तुपः अर्यमा) यह प्रशंसनीय सूर्य (अस्मै अग्रुवै) इस कन्याके लिये (पतिं इच्छन्) पतिकी इच्छा करता हुआ (उत अजानये जायां) और स्त्रीरहित पुरुषके लिये स्त्रीकी इच्छा करता हुआ (पुरस्तात् आयाति) सन्मुखसे आता है ॥ १ ॥

हे (अर्यमन्) सूर्य! (अन्यासां समनं यती) अन्य कन्याओंके संमानको अर्थात् विवाहरूपसे होनेवाले संमान उत्सवको जानेवाली (इयं अश्रमत्) यह बहुत थक गई है। हे (अंगो अर्यमन्) सूर्य! इसलिये (अस्याः समनं अन्याः नु आयाति) इसके विवाहसंमानमें दूसरी कन्याएं भी आजावें ॥ २ ॥

भावार्थ— सूर्य उदयको प्राप्त होकर अस्तको जाता है। इस कारण कन्या और पुत्रकी आयु बढ़ती है। और जैसी जैसी आयु बढ़ती है उसीके अनुसार स्त्रीपुरुषमें पतिपत्नीकी प्राप्ति करनेकी इच्छा भी प्रदीप्त होती है ॥ १ ॥

कन्याएं जिस समय दूसरी कन्याके विवाहसंस्कारमें जाती हैं, उस समय उनके मनमें अपने विवाहका विचार उत्पन्न होता है और उनको एक प्रकारका कष्ट होता है। इसलिये यह विचार कन्याके मनमें उत्पन्न होनेके पश्चात् उस कन्याका विवाह करना चाहिये ॥ २ ॥

धाता दाधार पृथिवीं धाता द्यामुत सूर्यम् । धातास्या अग्रुवै पतिं दधातु प्रतिकाम्यम् ॥ ३ ॥

अर्थ— (धाता पृथिवीं दाधार) परमेश्वरने पृथ्वीको धारण किया है (उत धाता सूर्यं द्यां) और उसी ईश्वरने सूर्यको और द्युलोकको धारण किया है। इसलिये वही (धाता) देव (अस्यै अग्रुवै) इस कन्याके लिये (प्रतिकाम्यं पतिं दधातु) इच्छा करनेवाले पतिका धारण करे अर्थात् इसको ऐसा पति देवे ॥ ३ ॥

भावार्थ— ईश्वरने पृथ्वी, सूर्य और द्युलोकको यथास्थान धारण किया है, इसलिये वह निःसंदेह इस कन्याके लिये अनुरूप पति भी दे सकता है ॥ ३ ॥

इस सूक्तमें निम्नलिखित बातें कहीं हैं—

(१) विशिष्ट आयुमें पुरुषमें स्त्रीकी, और स्त्रीमें पुरुषकी इच्छा होती है। इसके पश्चात् विवाहका समय होता है।

(२) विवाहादि संस्कारोंमें संमिलित होनेसे कन्याओंमें विवाह विषयक आतुरता उत्पन्न होती है। यह समय कन्याके विवाहका है।

(३) पत्नी पतिकी इच्छा करनेवाली और पति (अनु-कामः) पत्नीको प्राप्त करनेकी इच्छा करनेवाला होनेपर विवाह हो। विपरीत अवस्था कदापि न हो। इस विषयमें सावधानी रखी जाय।

परमेश्वरकी महिमा।

[सूक्त ६१]

(ऋषिः — अथर्वा । देवता — रुद्रः ।)

मह्यमापो मधुमदेरयन्तां मह्यं सूरो अभरज्ज्योतिषे कम् ।
मह्यं देवा उत विश्वे तपोजा मह्यं देवः सविता व्यचो धात् ॥ १ ॥
अहं विवेच पृथिवीमुत द्यामहमृतूँरजनयं सप्त साकम् ।
अहं सत्यमनृतं यद् वदाम्यहं दैवीं परि वाचं विशश्च ॥ २ ॥

अर्थ— (आपः मह्यं मधुमत् आ ईरयन्तां) जल मेरे लिये मधुररससे युक्त होकर बहे। (सूरः मह्यं ज्योतिषे कं अभरत्) सूर्यने मेरे कारण प्रकाशके लिये किरण चारों ओर भर दिये हैं। (उत विश्वे तपोजाः देवाः) और सब प्रकाश देनेवाले देव (सविता देवः च मह्यं व्यचः धात्) और सूर्य देव भी मेरे लिये विस्तारको धारण करते हैं ॥ १ ॥

(अहं पृथिवीं उत द्यां विवेच) मैंने पृथ्वी और द्युलोकको अलग अलग किया है। (अहं सप्त ऋतून् साकं अजनयं) मैंने सात ऋतुओंको साथ साथ बनाया है। (अहं सत्यं अनृतं यत्) मेरी सत्य और अनृत जो भी वाणी बोली जाती है वह (विशः दैवीं वाचं अहं परि वदामि) मनुष्योंकी दैवी वाणी मैं ही सब प्रकारसे बोलता हूं ॥ २ ॥

भावार्थ— जल परमेश्वरकी प्रेरणासे मधुररसके साथ बह रहा है, सूर्य उसीके लिये प्रकाशता है। सब अन्य देव उसीकी महिमाका विस्तार कर रहे हैं ॥ १ ॥

पृथ्वी, द्युलोक उसी ईश्वरने बनाये हैं, छः ऋतु और अधिक मास मिलकर सात उसी द्वारा बनाये गये हैं। मनुष्योंकी वाणी उसीकी प्रेरणासे बोली जाती है ॥ २ ॥

अहं जजान पृथिवीमुत द्यामहमृतूंरजनयं सप्त सिन्धून् ।
अहं सत्यमनृतं यद् वदामि यो अग्नीषोमावजुषे सखाया ॥ ३ ॥

॥ इति षष्ठोऽनुवाकः ॥

अर्थ— (अहं पृथिवीं उत द्यां अजान) मैंने पृथ्वी और द्युलोकको उत्पन्न किया है। (अहं सप्त ऋतून् सिंधून् अजनयम्) मैंने सात ऋतुओं और सिंधुओंको बनाया है। (अहं सत्यं अनृतं यत् वदामि) मैं सत्य या अनृत जो भी बोलनेका है वह बोलता हूं। और (सखायौ अग्नीषोमौ अजुषे) मित्र, अग्नि और सोमको एक दूसरेके साथ मिलाता हूं ॥ ३ ॥

भावार्थ— सात समुद्र और सात नदियां उसीकी आज्ञासे हुई हैं, अंदरकी प्रेरणा वही करता है और अग्निके साथ सोमशक्ति उन्होंने ही जोडी है ॥ ३ ॥

इस विश्वकी रचना परमेश्वर करता है यह बात स्वयं परमेश्वरने इस सूक्तमें कही है।

॥ यहां षष्ठ अनुवाक समाप्त ॥

अपनी पवित्रता।

[सूक्त ६२]

(ऋषिः — अथर्वा । देवता — रुद्रः । मन्त्रोक्ताः ।)

वैश्वानरो रश्मिभिर्नः पुनातु वातः प्राणेनेषिरो नभोभिः ।
द्यावापृथिवी पयसा पयस्वती ऋतावरी यज्ञिये नः पुनीताम् ॥ १ ॥
वैश्वानरीं सूनृतामा रभध्वं यस्या आशास्तन्वो वीतपृष्ठाः
तया गृणन्तः सधमादेषु वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥ २ ॥

अर्थ— (वैश्वानरः रश्मिभिः नः पुनातु) सब मनुष्योंमें रहनेवाला अग्नि अपनी किरणोंसे हमारी शुद्धि करे। (वातः प्राणेन) वायु प्राणरूपसे हमारी पवित्रता करे। (इषिरः नभोभिः) जल अपने विविध रसोंसे हमारी शुद्धता करे। (पयस्वती ऋतावरी) रसवाले, जलयुक्त, (यज्ञिये द्यावापृथिवी) पूजनीय द्युलोक और भूलोक (पयसा नः पुनीतां) अपने पोषक रससे हमें पवित्र करें ॥ १ ॥

(सूनृतां वैश्वानरीं आ रभध्वं) सत्य और सब मनुष्यों द्वारा प्रेरित ईशस्तुतिको प्रारंभ करो। (वीतपृष्ठाः आशाः यस्याः तन्वः) जिनका पृष्ठ भाग नहीं है ऐसी दिशायें जिन वाणियोंके शरीर हैं। (सध-मादेषु) सब मिलकर आनंदित होनेके अवसरमें (तया गृणन्तः वयं) उससे बोलते हुए हम सब (रयीणां पतयः स्याम) धनोंके स्वामी हों ॥ २ ॥

भावार्थ— अग्नि वाणीके रूपसे, वायु प्राणके रूपसे, जल विविध रसके रूपसे, तथा द्युलोक व पृथ्वीलोक अपनी अपनी शक्तियोंसे हमारी शुद्धता करे। अर्थात् ये देवताएं हमारे शरीरमें आकर रह रही हैं और उन्होंनें यहां ये रूप लिये हैं, इनसे हमारी पवित्रता होवे ॥ १ ॥

सब मनुष्य सत्य भाषण करें और ईश्वरके गुणगान करें। इस प्रकारकी वाणीके लिये अमर्याद स्थान है। हम उक्त प्रकारके वचन कहते हुए धन प्राप्त करें ॥ २ ॥

वैश्वानरीं वर्चस आ रभध्वं शुद्धा भवन्तः शुचयः पावकाः ।
इहेडया सधमादं मदन्तो ज्योक् पश्येम सूर्यमुच्चरन्तम् ॥ ३ ॥

अर्थ— (शुचयः शुद्धाः पावकाः भवन्तः) शुद्ध, पवित्र और दूसरोंको पवित्र करनेवाले होकर (वैश्वानरीं वर्चसे आ रभध्वं) सब मनुष्योंकी ईशस्तुतिरूप वाणीको तेजस्विताके लिये बोलना आरंभ करो । (इह इडया सधमादं मदन्तः) यहां स्तुतिरूप वाणीसे साथ साथ आनंदित होते हुए हम (ज्योक् उच्चरन्तं सूर्यं पश्येम) चिरकालतक ऊपर उठे हुए सूर्यको देखते रहेंगे ॥ ३ ॥

भावार्थ— हम अन्तर्बाह्य शुद्ध हों, सबवालोंको पवित्र बनावें, शुभ वाणी बोलें और सब मिलकर आनन्दित होते हुए दीर्घ आयुष्यको प्राप्त करें ॥ ३ ॥

अपने शरीरमें सब देवताएं अंशरूपसे रहती हैं । यहां अग्निने वाणीका रूप लिया है, वायुने प्राणका रूप लिया है, जलने रसका रूप लिया है, द्युलोक सिरके स्थानमें है, पांवके स्थानमें पृथिवी है, इसी प्रकार अन्य अवयवोंमें अन्य देवताएं रह रही हैं। ये सब देवताएं अनृतसे युक्त न हों, सदा सत्यमें स्थिर रहें और हमारी पवित्रता करें। सत्य वाणी, सत्य विचार और सत्य आचार के लिये जितना चाहिये उतना विस्तृत कार्यक्षेत्र है । इस सत्यमें स्थिर रहनेवाले मिलकर आपसमें सहकार्य करते हुए, सत्यसे पवित्र बनकर धर्ममार्गसे धन कमावें और धनी बनें । शरीरकी शुद्धि करें, अन्तःकरणको पवित्र करें और अपने विचार, उच्चार और आचारसे दूसरोंको शुद्ध बनाते हुए अपने उद्धारका मार्ग आक्रमण करें । सत्यसे निर्भय होनेवाले और सत्यनिष्ठ तथा ईश्वरके गुणोंका चिन्तन करते हुए अपनेको पवित्र बनानेवाले लोग निःसंदेह दीर्घ आयु प्राप्त करते हैं और पूर्ण आयुकी समाप्तितक आनंदके साथ रहते हैं । इस लिये मनुष्य अपनी पवित्रताका साधन करे और कृतकृत्य बने ।

बंधनसे मुक्त होना ।

[सूक्त ६३]

(ऋषिः — द्रुह्वणः । देवता — निर्ऋतिः, अग्निः, यमः ।)

यत् ते देवी निर्ऋतिराबबन्ध दाम ग्रीवास्वविमोक्यं यत् ।
तत् ते वि ष्याम्यायुषे वर्चसे बलायादोमदमन्नमद्धि प्रसूतः ॥ १ ॥
नमोऽस्तु ते निर्ऋते तिग्मतेजोऽयस्मयान् वि चृता बन्धपाशान् ।
यमो मह्यं पुनरित्त्वां ददाति तस्मै यमाय नमो अस्तु मृत्यवे ॥ २ ॥

अर्थ— (देवी निर्ऋतिः) दुर्गतिने (यत् यत् अविमोक्यं दाम ते ग्रीवासु आबबन्ध) जो जो सहजहीसे न छूटनेवाला बंधन तेरी गर्दनमें बांधा है, वह (ते आयुषे बलाय वर्चसे वि ष्यामि) तेरी आयु, शक्ति और तेजस्विताके लिये मैं खोलता हूं । अब तू (प्रसूतः अदो-मदं अन्नं अद्धि) आगे बढकर हर्षदायक अन्नका भोग कर ॥ १ ॥

हे (निर्ऋते) दुर्गति ! (ते नमः अस्तु) तेरे लिये नमस्कार है । हे (तिग्मतेजः) उग्र तेजवाले ! (अयस्मयान् बन्धपाशान् विचृत) लोहमय पाशोंको तोड डाल । (यमः त्वां पुनः इत् मह्यं ददाति) यम तुझको पुनः मेरे लिये देता है । (तस्मै यमाय मृत्यवे नमः अस्तु) उस नियामक मृत्युको नमस्कार होवे ॥ २ ॥

भावार्थ— साधारण मनुष्यके गलेमें दुर्गति, अलक्ष्मीके पाश सदा बंधे रहते हैं । बिना प्रयत्न किये वे पाश छूट नहीं सकते । और जबतक वे पाश गलेमें अटके रहते हैं तबतक दीर्घ आयु, बलकी वृद्धि और तेजस्विता कभी प्राप्त नहीं हो सकती । इसलिये हरएक मनुष्य वे पाश तोड डाले और आनन्द देनेवाला अन्न भोग भोगे ॥ १ ॥

अयस्मये द्रुपदे बेधिष इहाभिहितो मृत्युभिर्ये सहस्रम् ।
यमेन त्वं पितृभिः संविदान उत्तमं नाकमधि रोहयेमम् ॥ ३ ॥
संसमिद्युवसे वृषन्नग्ने विश्वान्यर्य आ । इडस्पदे समिध्यसे स नो वसून्या भर ॥ ४ ॥

अर्थ— जब तू (अयस्मये द्रुपदे बेधिषे) लोहमय काष्टस्तंभमें किसीको बांधती है तब वह (ये सहस्रं) जो हजारों दुःख हैं उन (मृत्युभिः इह अभिहितः) मृत्युओंसे यहां बांधा जाता है । (त्वं पितृभिः यमेन संविदानः) तू पितरों और यमसे मिलता हुआ (त्वं इमं उत्तमं नाकं अधि रोहय) इसको उत्तम स्वर्गमें चढा ॥ ३ ॥

हे (वृषन् अग्ने) बलवान् तेजस्वी देव ! आप (अर्यः) सबसे श्रेष्ठ हैं इसलिये आप (विश्वानि इत् सं सं आ-युवसे) सबको निश्चयसे मिला देते हैं और (इडः पदे समिध्यसे) वाणीके और भूमिके स्थानमें प्रकाशित होते हैं (सः नः वसूनि आ भर) वह आप हमें धन प्राप्त कराओ ॥ ४ ॥

भावार्थ— लोहे जैसे ये टूटनेके लिये कठिन दुर्नीतिके पाश तोड दो। इस कार्यके लिये उग्र तेजवाले देवका आश्रय करो। यह सामर्थ्य सबका नियामक देव तुझको देगा, इसलिये उसको प्रणाम कर ॥ २ ॥

जिसके गलेमें ये पाश अटके हैं, उसको हजारों दुःख और सैकडों विनाश सदा सताते हैं। इन रक्षकोंके और नियामकके साथ संमेल करके, इस मनुष्यको बंधमुक्त करते हुए, इसको सुखपूर्ण स्वर्गधाममें पहुंचाओ ॥ ३ ॥

बलवान् ईश्वर सबके ऊपरका शासक है । वह सबकी संघटना करता है और सब पदार्थ मात्रोंके बीचमें प्रकाशित होता है और वही वाणीका प्रेरक भी है । वह ईश्वर हमें धनादि पदार्थ देवे ॥ ४ ॥

पारतंत्र्यका घोर परिणाम ।

पारतंत्र्यका, बंधनमें रहनेका घोर परिणाम इस सूक्तने इस प्रकार बताया है—

अविमोक्यं दाम । (मं० १)

अयस्मयाः पाशाः । (मं० २)

अयस्मये द्रुपदे बेधिषे, इह सहस्रं मृत्युभिः अभिहितः । (मं० ३)

' पारतंत्र्यके पाश सहजहींमें छूटनेवाले नहीं हैं । जिस प्रकार लोहेकी जंजीर तोडनेके लिये कठिन होती है । उसी प्रकार ये पारतंत्र्यके पाश तोडनेके लिये कठिन होते हैं । जो मनुष्य इन लोहमय पाशोंसे स्तंभसे बांधा जाता है उस पर हजारों दुःख और मृत्यु आती हैं, और उनसे मानो वह बांधा जाता है ।'

परतंत्रताके बंधनमें पडा मनुष्य सैकडों आपत्तियोंसे घिर जाता है, और उसको मुक्त करनेका मार्ग भी नहीं दीखता, ऐसा वह दिङ्मूढसा हो जाता है । यह सब ठीक है, तथापि मनुष्यको बन्धनसे अपना छुटकारा पाना आवश्यक ही है, क्योंकि पारतंत्र्यमें किसी प्रकारकी भी उन्नति नहीं हो सकती । इसलिये कहा है कि—

अयस्मयान् बन्धपाशान् विचृत । (मं० २)

' लोहमय बंधनोंको तोड दो ।' क्योंकि जबतक ये पाश नहीं टूटते तबतक तुम्हारी उन्नति होना किसी प्रकार भी शक्य नहीं है।

पाश तोडनेसे लाभ ।

पारतंत्र्यके पाश तोडनेसे क्या लाभ होगा और बंधनमें रहते रहनेसे क्या हानि होगी इसका विवरण यह मंत्रभाग करता है—

ते तत् अविमोक्यं दाम आयुषे वर्चसे बलाय विष्यामि । प्रसूतः अदोमदं अन्नं अद्धि ॥ (मं. १)

' तेरा न टूटनेवाला पाश तोडता हूं । पाश टूटनेसे और तुझे स्वातंत्र्य मिलनेसे तुझे दीर्घ आयु, तेज और बल प्राप्त होगा और अन्न भोग पर्याप्त प्राप्त होंगे ।' पारतंत्र्यके बंध कितने भी अटूट हों, उनको तोडनेसे ये चार लाभ प्राप्त होंगे, लोग दीर्घायु होंगे, जनताका तेज बढेगा, लोग बलवान् होंगे और अन्न आदि भोग्य पदार्थ पर्याप्त परिमाणमें मिलेंगे । स्वातंत्र्यके ये लाभ हैं ।

पारतंत्र्यमें रहनेसे जो हानियां हैं उनका भी ज्ञान इससे हो सकता है, देखिये— लोगोंकी आयु क्षीण होगी, जनतामें बल नहीं रहेगा, उनमें तेजस्विता न होगी और किसीको खानेके लिये अन्न भी नहीं मिलेगा । हरएक परतंत्र मनुष्यको ये आपत्तियां भोगनी पडती हैं, इसलिये हरएकको उचित है कि वह पारतंत्र्यका बंधन तोड दे और बंधनसे मुक्ति प्राप्त करे । और अपने आपको स्वर्गधामका अधिकारी बनावे ।

पाठक इस रीतिसे इस सूक्तका विचार करेंगे तो उनको पारतंत्र्यके पाश तोडनेका उपदेश वेद कितनी दृढतासे कर रहा है, इसकी कल्पना हो सकती है । आशा है कि पाठक ऐसे वैदिक उपदेशोंसे उचित लाभ प्राप्त करेंगे ।

संघटनाका उपदेश ।

[सूक्त ६४]

(ऋषिः — अथर्वा । देवता — सांमनस्यम्)

सं जानीध्वं सं पृच्यध्वं सं वो मनांसि जानताम् । देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते ॥ १ ॥

समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं व्रतं सह चित्तमेषाम् ।
समानेन वो हविषा जुहोमि समानं चेतो अभिसंविशध्वम् ॥ २ ॥

समानी व आकूतीः समाना हृदयानि वः । समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ॥ ३ ॥

अर्थ— (सं जानीध्वं) समान ज्ञान प्राप्त करो, (सं पृच्यध्वं) समानतासे एक दूसरेसे संबंध जोडो, (वः मनांसि सं जानतां) तुम्हारे मन समान संस्कारसे युक्त करो । (यथा पूर्वे संजानाना देवाः भागं उपासते) जिस प्रकार पूर्व समयके ज्ञानी लोग अपने कर्तव्यभागकी उपासना करते रहे, वैसे तुम भी करो ॥ १ ॥

(मन्त्रः समानः) तुम्हारा विचार समान हो, (समितिः समानी) तुम्हारी सभा सबके लिये समान हो, (व्रतं समानं) तुम सबका व्रत समान हो, (एषां चित्तं समानं) इन समस्त जनोंका- तुम्हारा- चित्त समान- एक विचारवाला होवे । (समानं चेतः अभि सं विशध्वं) समान चित्तवाले होकर सब प्रकार कार्यमें प्रविष्ट हो, इसलिये (वः समानेन हविषा जुहोमि) तुम सबको समान हविके साथ युक्त करता हूं ॥ २ ॥

(वः आकूतिः समानी) तुम सबका संकल्प एक जैसा हो, (वः हृदयानि समाना) तुम्हारे हृदय समान हों, (वः मनः समानं अस्तु) तुम्हारा मन समान हो (यथा वः सह सु असति) जिससे तुम सब मिलजुलकर उत्तम रीतिसे रहोगे ॥ ३ ॥

यदि अपनी संघटना इष्ट है तो तुम सबका ज्ञान एक जैसा हो, तुम समान भावसे एक दूसरेके साथ मिल जाओ, कभी एक दूसरेके साथ हीनताका भाव न धरो, सबके मन शुभ संस्कारसे युक्त करो, अपने प्राचीन श्रेष्ठ लोक समय समयपर जिस प्रकार अपना कर्तव्यभाग करते रहे, उस प्रकार तुम भी कर्तव्य करो। तुम सब एक विचारसे रहो, तुम्हारी सभामें सबका समान अधिकार हो, तुम्हारे नियम सबके लिये समान हों, तुम्हारा चित्त एक भावसे भरा हो, एक विचार होकर किसी एक कार्यमें एक दिलसे लगो, इसी कारण तुम सबको समान शक्तियां मिली हैं । तुम सबके संकल्प समान हों, परस्पर विरोधी न हों, तुम्हारे अन्तःकरणके भाव सबके साथ समान हों, एक दूसरेसे विरोधी न हों, तुम्हारे मनके विचार भी समतायुक्त हों । इस प्रकार तुमने अपनी एकता और अपनी संघटना की, तो तुम यहां उत्तम रीतिसे आनन्दपूर्वक रह सकते हो । अर्थात् तुम्हारे ऊपर कोई शत्रु आक्रमण नहीं कर सकता । तुम्हारी इस संघटनासे ऐसा बल बढेगा कि तुम कभी किसी शत्रुसे न दबोगे । और अपना उद्धार अपनी शक्तिसे कर सकोगे ।

संघटना करनेवाले पाठक इस सूक्तका बहुत विचार करें और अपना बल बढावें ।

शत्रुपर विजय ।

[सूक्त ६५]

(ऋषिः — अथर्वा । देवता — चन्द्रः, इन्द्रः, पराशरः ।)

अव मन्युरवायताव बाहू मनोयुजा । पराशर त्वं तेषां पराञ्चं शुष्ममर्दयाधा नो रयिमा कृधि ॥ १ ॥

अर्थ— (मन्युः अव) क्रोध दूर हो, (आयता अव) शस्त्र दूर हों, (मनोयुजा बाहू अव) मनसे प्रेरित बाहु दूर हों । हे (पराशर) दूरसे शरसंधान करनेवाले वीर ! (त्वं तेषां शुष्मं पराञ्चं मर्दय) उन शत्रुओंका बल दूर करके नाश कर । (अध नः रयिं आ कृधि) और हमें धन प्राप्त करा ॥ १ ॥

23

निर्हस्तेभ्यो नैर्हस्तं यं देवाः शरुमस्यथ । वृश्चामि शत्रूणां बाहूननेन हविषाहम् ॥ २ ॥
इन्द्रश्चकार प्रथमं नैर्हस्तमसुरेभ्यः । जयन्तु सत्वानो मम स्थिरेणेन्द्रेण मेदिना ॥ ३ ॥

अर्थ— हे (देवाः) देवो ! (निर्हस्तेभ्यः यं निर्हस्तं शरुं अस्यथ) निहत्थे जैसे निर्बल शत्रुपर जो हस्तरहित करनेवाला शस्त्र तुम फेंकते हो, (अनेन हविषा अहं) इस हविसे मैं (शत्रूणां बाहून् वृश्चामि) शत्रुओंके बाहुओंको काटता हूं ॥ २ ॥

(इन्द्रः प्रथमं असुरेभ्यः नैर्हस्तं चकार) इन्द्रने पहिले असुरोंको निहत्था अर्थात् निर्बल किया । अतः (स्थिरेण मेदिना इन्द्रेण) स्थिर मित्र इन्द्रकी सहायतासे (मम सत्वानः जयन्तु) मेरे सत्ववान् वीर लोग विजय प्राप्त करें ॥ ३ ॥

अपना बल इतना रखना कि उसके सन्मुख शत्रु निर्बल सिद्ध होवे, इस प्रकार अपना बल बढानेसे और योजनापूर्वक शत्रुको कमजोर करनेसे विजय प्राप्त होगी ।

[सूक्त ६६]

(ऋषिः — अथर्वा । देवता — चन्द्रः, इन्द्रः ।)

निर्हस्तः शत्रुरभिदासन्नस्तु ये सेनाभिर्युधमायन्त्यस्मान् ।
समर्पयेन्द्र महता वधेन द्रात्वेषामघहारो विविद्धः ॥ १ ॥
आतन्वाना आयच्छन्तोऽस्यन्तो ये च धावथ । निर्हस्ताः शत्रवः स्थनेन्द्रो वोऽद्य पराशरीत् ॥ २ ॥
निर्हस्ताः सन्तु शत्रवोऽङ्गैषां म्लापयामसि । अथैषामिन्द्र वेदांसि शतशो वि भजामहै ॥ ३ ॥

अर्थ— (नः अभिदासन् शत्रुः निर्हस्तः अस्तु) हम पर हमला करनेवाला शत्रु निहत्था अर्थात् निर्बल होवे । (ये सेनाभिः अस्मान् युधं आयन्ति) जो सैन्य लेकर हमारे साथ युद्ध करनेके लिये आते हैं, हे इन्द्र ! (महता वधेन समर्पय) उनको बडे वधके साथ मार डाल । (एषां अघहारः विविद्धः द्रातु) इनका विशेष घात करनेवाला वीर विद्ध होता हुआ भाग जावे ॥ १ ॥

हे (शत्रवः) शत्रुओ ! (ये आतन्वानाः) जो तुम धनुष्य तानते हुए (आयच्छन्तः अस्यन्तः च धावथ) खींचते हुए और बाण छोडते हुए दौडते चले आते हो, तुम (निर्हस्ताः स्थन) हस्तरहित हो जाओ । (इन्द्रः अद्य वः पराशारीत्) इन्द्र आज तुमको मार डालेगा ॥ २ ॥

(शत्रवः निर्हस्ताः सन्तु) सब शत्रु हस्तरहित हों, (एषां अंगा म्लापयामसि) इनके अंगोंको हम निर्बल कर देते हैं । और (एषां वेदांसि शतशः वि भजामहै) इनके धनोंको हम सैंकडों प्रकारसे आपसमें बांट देते हैं ॥ ३ ॥

[सूक्त ६७]

(ऋषिः — अथर्वा । देवता — चन्द्रः, इन्द्रः ।)

परि वर्त्मानि सर्वत इन्द्रः पूषा च सस्रतुः । मुह्यन्त्वद्यामूः सेना अमित्राणां परस्तराम् ॥ १ ॥

अर्थ— (इन्द्रः पूषा च) इन्द्र और पूषा (सर्वतः वर्त्मानि परि सस्रतुः) सब मार्गोंमें भ्रमण करें, जिससे (अमित्राणां सेनाः परस्तरां मुह्यन्तु) शत्रुसेनाएं दूरतक घबरा जावें ॥ १ ॥

मूढा अमित्राश्चरताशीर्षाण इवाहयः । तेषां वो अग्निमूढानामिन्द्रो हन्तु वरंवरम् ॥ २ ॥
ऐषु नह्य वृषाजिनं हरिणस्या भियं कृधि । पराङमित्र एषत्वर्वाची गौरुपेषतु ॥ ३ ॥

अर्थ— हे (अमित्राः) शत्रुओ ! तुम (मूढाः) भ्रान्त होकर (अशीर्षाणः अहयः इव चरत) सिर टूटे हुए सर्पोंके समान चलो । (अग्निमूढानां तेषां वः) हमारे आवेशाग्निसे मोहित हुए तुम सबके (वरंवरं इन्द्रः हन्तु) वरिष्ठ वरिष्ठ वीरको इन्द्र मार डाले ॥ २ ॥

(एषु वृषा हरिणस्य अजिनं आनह्य) इन हमारे वीरोंमें बलके साथ हरिणका चर्म पहिना दो । हमारे सैन्यसे शत्रुसैन्यमें (भियं कृधि) भय उत्पन्न कर । (अमित्रः पराङ् एषतु) शत्रु परे भाग जावे और (गौः अर्वाची उप एषतु) उसकी भूमि या गौवें हमारे पास आ जावें ॥ ३ ॥

ये तीन सूक्त शत्रुपराजय करनेके हैं । शत्रुको मोहित करके और घबराकर उन्हें ऐसे भगा देना चाहिये कि उनमेंसे कोई भी न बचे । उनमें जो शूर हों उनको मार डालना चाहिये और ऐसा पराक्रम करना चाहिये कि, जिससे शत्रुके मनमें डर पैदा हो जावे । ये तीनों सूक्त सरल हैं इसलिये अधिक विवरण करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है ।

मुंडन ।

[सूक्त ६८]

(ऋषिः — अथर्वा । देवता — मन्त्रोक्ताः ।)

आयमगन्त्सविता क्षुरेणोष्णेन वाय उदकेनेहि ।
आदित्या रुद्रा वसव उन्दन्तु सचेतसः सोमस्य राज्ञो वपत प्रचेतसः ॥ १ ॥
अदितिः श्मश्रु वपत्वाप उन्दन्तु वर्चसा ।
चिकित्सतु प्रजापतिर्दीर्घायुत्वाय चक्षसे ॥ २ ॥
येनावपत्सविता क्षुरेण सोमस्य राज्ञो वरुणस्य विद्वान् ।
तेन ब्रह्माणो वपतेदमस्य गोमानश्ववानयमस्तु प्रजावान् ॥ ३ ॥

अर्थ— (अयं सविता क्षुरेण आ अगमत्) यह सविता अपने छुरेके साथ आया है । हे (वायो) वायु ! (उष्णेन उदकेन आ इहि) उष्ण जलके साथ आ । (आदित्याः रुद्राः वसवः सचेतसः उन्दन्तु) आदित्य, रुद्र और वसुदेव एकचित्तसे इसके बालोंको भिगावें । हे (प्रचेतसः) ज्ञानी जनो ! तुम (सोमस्य राज्ञः वपत) इस सोम राजाका मुण्डन करो ॥ १ ॥

(अदितिः श्मश्रु वपतु) अदिति बालोंका वपन करे, (आपः वर्चसा उन्दन्तु) जल तेजके साथ बालोंको गीला करे । (दीर्घायुत्वाय चक्षसे) दीर्घायु और उत्तम दृष्टिके लिये (प्रजापतिः चिकित्सतु) प्रजापालक इसकी चिकित्सा करे ॥ २ ॥

(विद्वान् सविता) ज्ञानी सविता (येन क्षुरेण) जिस छुरेसे (वरुणस्य राज्ञः सोमस्य अवपत्) श्रेष्ठ राजा सोमका वपन करता रहा, हे (ब्रह्माणः) ब्राह्मणो ! (तेन अस्य इदं वपत) उससे इसका यह सिर मुंडाओ । (अयं गोमान्, अश्ववान्, प्रजावान् अस्तु) यह गौवोंवाला, घोडोंवाला और सन्तानवाला होवे ॥ ३ ॥

बालोंका वपन करना अर्थात् हजामत बनवाना हो तो पहिले उष्ण जलसे बालोंको अच्छी प्रकार भिगोना चाहिये। भिगाने-वाला विशेष ख्यालसे बाल भिगावे। उस्तरा लानेवाला निर्दोष उस्तरा ले आवे, उसको तीक्ष्ण करे। जितने ख्यालसे राजाके सिरका वपन करते हैं उतनी ही सावधानीसे बालकका भी सिर मुण्डाया जाय। किसी प्रकार असावधानी न हो। जिसका वपन करना हो उसकी आयु बढे और दृष्टि उत्तम हो ऐसी रीतिसे वपन करना चाहिये। वैद्य उस्तरे और जलकी परीक्षा करे और जिसकी हजामत होनी है उसकी भी परीक्षा करे। वपनके समय मनका भाव ऐसा रखे कि जिसकी हजामत की जा रही है वह दीर्घायु, स्वस्थ, गौओं और घोडोंका पालने-वाला तथा उत्तम संतानसे युक्त हो। इसके विपरीत भाव मनमें न रहें।

यशकी प्रार्थना।

[सूक्त ६९]

(ऋषिः — अथर्वा। देवता — बृहस्पतिः, अश्विनौ।)

गिरावरगराटेषु हिरण्ये गोषु यद् यशः।
सुरायां सिच्यमानायां कीलाले मधु तन्मयि ॥ १ ॥
अश्विना सारघेण मा मधुनाङ्क्तं शुभस्पती।
यथा भर्गस्वतीं वाचमावदानि जनाँ अनु ॥ २ ॥
मयि वर्चो अथो यशोऽथो यज्ञस्य यत् पयः।
तन्मयि प्रजापतिर्दिवि द्यामिव दृंहतु ॥ ३ ॥

अर्थ— (गिरौ) पर्वतपर, (अरगराटेषु) चक्रयंत्रमें (हिरण्ये, गोषु यद् यशः) सुवर्ण और गौवोंमें जो यश है, तथा (सिच्यमानायां सुरायां) बहनेवाली पर्जन्यधारामें तथा (कीलाले मधु) जो अन्नमें मधुरता है (तत् मयि) वह मुझमें हो ॥ १ ॥

(शुभस्पती अश्विनौ) कल्याण देनेवाले दोनों अश्विदेव (सारघेण मधुना मा अंक्तं) सारवाली मधुरतासे मुझे युक्त करें। (यथा भर्गस्वतीं वाचं) जिससे भाग्यवाली वाणीको (जनान् अनु आवदानि) लोगोंके प्रति मैं बोलूं ॥ २ ॥

(मयि वर्चः) मुझमें तेज हो, (अथो यशः) और मुझमें यश, (अथो यज्ञस्य यत् पयः) और यज्ञका जो सार है (प्रजापतिः तत् मयि दृंहतु) प्रजापालक देव वह मुझमें दृढ करे (दिवि द्यां इव) जैसा द्युलोकमें प्रकाश होता है ॥ ३ ॥

पहाड पर तपस्या करनेवाले मुनियोंमें, चक्रयंत्र चलानेवाले अथवा रथपर चढनेवाले वीरोंका जो यश है, उत्तम वृष्टि जल और श्रेष्ठ शुद्ध अन्नके विषयमें जो प्रशंसा होती है, उस प्रकारकी प्रशंसा मेरे विषयमें होती रहे। अर्थात् मैं भी उनकी तरह दूसरोंके उपयोगके कार्योंमें अपने आपको समर्पित करूं और यशस्वी होऊं। मेरे प्राण और बल उक्त प्रकार श्रेष्ठ कार्यमें समर्पित हों। मेरी वाणी ऐसी हो कि जिससे जनताका भाग्य बढे। इस प्रकार आत्मयज्ञ करनेसे मुझमें तेजस्विता और यश बढे और आकाशमें स्थित सूर्यके समान मेरा यश बढे।

इस सूक्तमें आत्मयज्ञद्वारा यश और तेज प्राप्त करनेका उपदेश है।

गौ सुधार ।

[सूक्त ७०]

(ऋषिः — काङ्कायनः । देवता — अघ्न्या ।)

यथा मांसं यथा सुरा यथाक्षा अधिदेवने । यथा पुंसो वृषण्यत स्त्रियां निहन्यते मनः ॥
एवा ते अघ्न्ये मनोऽधि वत्से नि हन्यताम् ॥ १ ॥
यथा हस्ती हस्तिन्याः पदेन पदमुद्युजे । यथा पुंसो वृषण्यत स्त्रियां निहन्यते मनः ॥
एवा ते अघ्न्ये मनोऽधि वत्से नि हन्यताम् ॥ २ ॥
यथा प्रधिर्यथोपधिर्यथा नभ्यं प्रधावधि । यथा पुंसो वृषण्यत स्त्रियां निहन्यते मनः ॥
एवा ते अघ्न्ये मनोऽधि वत्से नि हन्यताम् ॥ ३ ॥

अर्थ— (यथा मांसं) जिस प्रकार मांसमें, (यथा सुरा) जैसे सुरामें (यथा अधिदेवने अक्षाः) जैसे जुएके पासोंमें (यथा वृषण्यतः पुंस) जैसे बलवान् पुरुषका (मनः स्त्रियां निहन्यते) मन स्त्रीमें रत होता है । हे (अघ्न्ये) गौ ! (एवा ते मनः वत्से अधि निहन्यतां) इस प्रकार तेरा मन बछडेमें लगा रहे ॥ १ ॥

(यथा हस्ती पदेन) जैसे हाथी अपने पांवको (हस्तिन्याः पदं उद्युजे) हथिनीके पांवके साथ जोडता है, और जैसा बलवान् पुरुषका मन स्त्री पर रत होता है, इस प्रकार गौका मन बछडे पर स्थिर रहे ॥ २ ॥

(यथा प्रधिः) जैसे लोहेका हाल चक्रपर रहता है, (यथा उपधिः) जैसे चक्र आरोंपर रहता है और (यथा नभ्यं प्रधौ अधि) जैसे चक्रनाभी आरोंके बीच होती है, जैसे बलवान् पुरुषका मन स्त्रीमें रत होता है, इस प्रकार गौका मन उसके बछडेमें स्थिर रहे ॥ ३ ॥

जिस प्रकार मद्यमांस, जूआ, स्त्रीव्यसन आदिमें साधारण मनुष्यका मन रमता है, उसी प्रकार अच्छे मनुष्यका मन श्रेष्ठ कर्मोंमें रमे । गौका मन अपने बछडेमें रमे । गौ नाम इंद्रिय माना जाय तो हरएक इंद्रियका बछडा उसका कर्म है । उस शुभ कर्ममें रमे ।

यह सूक्त ठीक प्रकार समझमें नहीं आता है । अतः इसकी अधिक खोज करना चाहिये ।

अन्न ।

[सूक्त ७१]

(ऋषिः — ब्रह्मा । देवता — अग्निः । ३ विश्वेदेवाः ।)

यदन्नमद्मि बहुधा विरूपं हिरण्यमश्वमुत गामजामविम् ।
यदेव किं च प्रतिजग्रहाहमग्निष्टद्धोता सुहुतं कृणोतु ॥ १ ॥

अर्थ— (बहुधा विरूपं यत् अन्नं अद्मि) बहुत करके विविध रूपवाला जो अन्न मैं खाता हूं, तथा (हिरण्यं अश्वं गां अजां उत अविं) सोना, घोडा, गौ, बकरी, भेड (यत् एव किं च अहं प्रति जग्रहाह) जो कुछ मैंने ग्रहण किया है, (होता अग्निः तत् सुहुतं कृणोतु) होता अग्नि उसको उत्तम हवन किया हुआ करे ॥ १ ॥

यन्मा हुतमहुतमाजगाम दत्तं पितृभिरनुमतं मनुष्यैः।
यस्मान्मे मन उदिव रारजीत्यग्निष्टद्धोता सुहुतं कृणोतु ॥ २ ॥
यदन्नमद्म्यनृतेन देवा दास्यन्नदास्यन्नुत संगृणामि।
वैश्वानरस्य महतो महिम्ना शिवं मह्यं मधुमदस्त्वन्नम् ॥ ३ ॥

अर्थ— (यत् हुतं अहुतं) जो दिया हुआ या न दिया हुआ। (पितृभिः दत्तं) पितरोंसे दिया हुआ, (मनुष्यैः अनुमतं) मनुष्योंसे अनुमोदित हुआ (मा आजगाम) मेरे पास आया है, (यस्मात् मे मनः उत् रारजीति इव) जिससे मेरा मन उत्तम रीतिसे प्रसन्न होता है, (होता अग्निः तत् सुहुतं कृणोतु) होता अग्नि उसे उत्तम स्वीकारा हुआ करे ॥ २ ॥

हे (देवाः) देवो ! (यत् अन्नं अनृतेन अद्मि) जो अन्न मैं असत्य व्यवहारसे खाता हूं, (दास्यन् अदास्यन् उत संगृणामि) दान करता हुआ, अथवा न दान करता हुआ जो मैं संग्रह करता हूं; वह (अन्नं) अन्न (महतः वैश्वानरस्य महिम्ना) बडे वैश्वानरकी- परमात्माकी- महिमासे (मह्यं शिवं मधुमत् अस्तु) मेरे लिये कल्याणकारी और मीठा होवे ॥ ३ ॥

भावार्थ— मैं जो अनेक प्रकारका अन्न खाता हूं, और सोना, चांदी, घोडा, गौ, बकरी आदि पदार्थ स्वीकार करता हूं, वह ठीक प्रकार यज्ञमें समर्पित हुआ हो ॥ १ ॥

यज्ञमें समर्पित अथवा असमर्पित, पितृपितामहोंसे प्राप्त, मनुष्योंसे मिला हुआ, जो भी मेरे पास आया है, जिसके ऊपर मेरा मन लगा है, वह उत्तम रीतिसे यज्ञमें समर्पित हुआ हो ॥ २ ॥

जो अन्न या भोग मैं लेता हूं, वे सत्यसे प्राप्त हों या असत्यसे, उनका मैं यज्ञमें दान करता हूं, वे सब यज्ञमें दिये हों या न दिये हों, परमात्माकी कृपासे वे सब मुझे मधुरता देनेवाले हों ॥ ३ ॥

अनेक प्रकारका अन्न।

मनुष्य जो अन्न खाता है वह 'वि-रूप' अर्थात् विविध रंगरूपवाला होता है। दाल, चावल, रोटी, खीर आदिके रंग भी अलग और रूप भी अलग अलग होते हैं। इन अन्नोंके सिवाय दूसरे उपभोगके पदार्थ सोना, चांदी, गाय, घोडे, बैल, बकरी, भेड आदि बहुत हैं। सोना, चांदी, जेवर आदिसे शरीरकी सजावट होती है, घोडे दूर गमनके काम आते हैं, बैल खेतीके काम करते हैं। गाय, बकरी दूध देती है। इस प्रकार अनेकानेक पदार्थ मनुष्यके उपयोगमें आते हैं। ये सब यज्ञमें समर्पित हों, अर्थात् मेरे अकेलेके स्वार्थोपभोगमें ही समाप्त न हों, प्रत्युत सब जनताके कार्यमें समर्पित हों।

धनके चार भाग।

मनुष्यके पास जो धन आता है उसके कमसे कम चार भाग होते हैं, इनका विवरण देखिये—

१ पितृभिः दत्तं— मातापितासे प्राप्त। जन्मके संस्कारसे जो आता है।

२ मनुष्यैः अनुमतं— मनुष्यों द्वारा अनुमोदित अर्थात् अपने वंशसे भिन्न अन्य मनुष्योंकी संमतिसे प्राप्त हुआ धन।

३ हुतं आजगाम— किसीके द्वारा दानसे प्राप्त हुआ धन।

४ अहुतं आजगाम— किसीके द्वारा दान न देते हुए अन्य रीतिसे प्राप्त।

धन प्राप्त होनेके ये चार प्रकार हैं। इनमेंसे किसी भी रीतिसे प्राप्त हुआ धन हो, और उसपर अपना मन भी रत हुआ हो, वह धन यज्ञमें समर्पित होना चाहिये।

जो अन्न खाया जाता है, दान दिया जाता है और संग्रह किया जाता है, वह सब ईश्वरार्पण हो और हमारा उत्तम कल्याण करनेवाला हो।

इस प्रकार इस सूक्तका आशय है। पाठक इसका मनन करके लाभ उठावें।

वाजीकरण।

[सूक्त ७२]

(ऋषिः — अथर्वाङ्गिराः । देवता — शेपोऽर्कः ।)

यथासितः प्रथयते वशाँ अनु वपूंषि कृण्वन्नसुरस्य मायया ।
एवा ते शेपः सहसायमर्कोऽङ्गेनाङ्गं संसमकं कृणोतु ॥ १ ॥
यथा पसस्तायादरं वातेन स्थूलभं कृतम् । यावत्परस्वतः पसस्तावत् ते वर्धतां पसः ॥ २ ॥
यावदङ्गीनं पारस्वतं हास्तिनं गार्दभं च यत् । यावदश्वस्य वाजिनस्तावत् ते वर्धतां पसः ॥ ३ ॥

॥ इति सप्तमोऽनुवाकः ॥

अर्थ — (यथा असितः) जिस प्रकार बंधनरहित मनुष्य (असुरस्य मायया वपूंषि कृण्वन्) आसुरी मायासे देहोंको बनाता हुआ (वशान् अनु प्रथयते) अपने पुत्रोंको वशमें करता हुआ उनको फैलाता है, (एवा ते अयं शेपः) इस प्रकार तेरे इस शरीरांगको (सहसा अंगेन अङ्गं सं समकं अर्कः कृणोतु) बलके साथ एक अवयवसे दूसरे अवयवके सम होनेके समान यह अर्चनीय आत्मा पुष्ट करे ॥ १ ॥

(यथा पसः वातेन तायादरं स्थूलभं कृतं) जिस प्रकार शरीरांग वातसे सन्तानोत्पत्ति योग्य पुष्ट किया होता है और (यावत् परस्वतः पसः) जैसा पूर्ण पुरुषका शरीरांग होता है (तावत् ते पसः वर्धतां) वैसा तेरा शरीरांग बढे ॥ २ ॥

(यावत् अंगीनं पारस्वतं) जैसा सुदृढ अंगवाले पूर्ण पुरुषका तथा जैसा (यावत् हास्तिनं गार्दभं अश्वस्य वाजिनः) हाथी, गधे और घोडेका होता है, (तावत् ते पसः वर्धतां) वैसा तेरा शरीरांग बढे ॥ ३ ॥

शरीरांग सुदृढ और संतानोत्पत्तिके कार्यके लिये योग्य बने । पुरुष हीनांग न हो, दृढांग हो । इस सूक्तका अधिक स्पष्टीकरण आवश्यक नहीं है ।

॥ यहां सप्तम अनुवाक समाप्त ॥

एक विचारसे रहना।

[सूक्त ७३]

(ऋषिः — अथर्वा । देवता — सांमनस्यं, नानादेवताः ।)

एह यातु वरुणः सोमो अग्निर्बृहस्पतिर्वसुभिरेह यातु ।
अस्य श्रियमुपसंयात सर्व उग्रस्य चेत्तुः संमनसः सजाताः ॥ १ ॥

अर्थ — वरुण, सोम, अग्नि, बृहस्पति (इह आ यातु) यहां आवें और वसुओंके साथ यहां आवें । हे (सजाताः) उत्तम कुलमें उत्पन्न पुरुषो ! (सर्वे संमनसः) सब एक मनवाले होकर (अस्य उग्रस्य चेत्तुः श्रियं उपसंयात) इस शूर चेतना देनेवालेकी शोभाको बढाओ ॥ १ ॥

भावार्थ — सब ज्ञानी एक स्थानपर आवें । सब मनुष्य एक विचारसे रहकर अपने नायकका बल बढावें ॥ १ ॥

यो वः शुष्मो हृदयेष्वन्तराकूतिर्या वो मनसि प्रविष्टा ।
तान्त्सीवयामि हविषा घृतेन मयि सजाता रमतिर्वो अस्तु ॥ २ ॥
इहैव स्त माप याताध्यस्मत् पूषा परस्तादपथं वः कृणोतु ।
वास्तोष्पतिरनु वो जोहवीतु मयि सजाता रमतिर्वो अस्तु ॥ ३ ॥

अर्थ— (यः शुष्मः वः हृदयेषु अन्तः) जो बल तुम्हारे हृदयोंमें है, (या आकूतिः वः मनसि प्रविष्टा) जो संकल्प तुम्हारे मनमें प्रविष्ट हुआ है। (तान् हविषा घृतेन सीवयामि) उनको अन्न और घृतसे मैं जोड देता हूं। हे (सजाताः) उत्तम कुलमें उत्पन्न पुरुषो ! (वः रमतिः मयि अस्तु) तुम्हारी प्रसन्नता मुझ नायक पर रहे ॥ २ ॥

(इह एव स्त) यहां ही रहो, (अस्मत् अधि मा अप यात) हमसे दूर मत जाओ। (पूषा वः परस्तात् अपथं कृणोतु) पूषा तुम्हारे लिये आगे जानेका मार्ग बंद करे। (वास्तोष्पतिः वः अनु जोहवीतु) वास्तुपति तुम्हें अनुकूलतासे बुलावे। हे (सजाताः) उत्तम कुलमें उत्पन्न मनुष्यो ! (वः रमतिः मयि अस्तु) आपका प्रेम मुझपर रहे ॥ ३ ॥

भावार्थ— जो लोगोंमें बल और विचार है, उसका पोषण योग्य उपायसे करना चाहिये। सब मनुष्य अपने नायकपर प्रसन्न रहें ॥ २ ॥

सब लोग एक स्थानपर स्थिर रहें। इधर उधर न भागें। भागनेका मार्ग उनको खुला न रहे। ईश्वर उनको अनुकूलतासे एक कार्यमें रखे। इस प्रकार सब लोग प्रेमसे एक नायकके नीचे रहें ॥ ३ ॥

संघटना ।

एक मुखिया अथवा नेता किंवा नायकके आधीन लोग रहें, तो उनका सांघिक बल बढता है। वे ही लोग बिखरे रहें, एक दूसरेसे दूर रहें, तो उनका संघबल घट जाता है। इसलिये जिनको अपना संघबल बढानेकी इच्छा है वे अपने एक नेताके आधीन प्रेमसे रहें। अपना संकल्प एक रखें और अपना हृदय एक इच्छासे ही भर दें। किसी कारण आपसमें कलह न करें और विभक्त न हों। अपने संघका बल बढानेके लिये सब मिल कर प्रयत्न करें। इस प्रकार करनेसे उनका संघबल बढ सकता है।

[सूक्त ७४]

(ऋषिः — अथर्वा । देवता — सांमनस्यं, नानादेवत्यम्, त्रिणामा ।)

सं वः पृच्यन्तां तन्वः१ सं मनांसि समु व्रता । सं वोऽयं ब्रह्मणस्पतिर्भगः सं वो अजीगमत् ॥ १ ॥

अर्थ— (वः तन्वः सं पृच्यन्तां) तुम्हारे शरीर मिलें, (मनांसि सं) तुम्हारे मन मिलें और (उ व्रता सं) तुम्हारे कर्म भी मिलजुल कर हों। (अयं ब्रह्मणस्पतिः वः सं) यह ज्ञानपति तुम्हें मिलाकर रखे। (भगः वः सं अजीगमत्) भाग्य देनेवाला भी तुम सबको मिलाये रखे ॥ १ ॥

भावार्थ— तुम्हारे शरीर, मन और कर्म सबके साथ एकसे अर्थात् समतासे युक्त हों। तुम्हें ज्ञान देनेवाला एकताका ज्ञान तुम्हें दें, तथा तुम्हारा भाग्य बढानेवाला तुम्हें मिलाये रखे ॥ १ ॥

तुम्हारे मन और हृदय एक हों। भाग्य प्राप्त करनेके लिये जो परिश्रम करने पडते हैं, उन श्रमोंको करते हुए तुम आपसमें मिलकर रहो ॥ २ ॥

संज्ञपनं वो मनसोथो संज्ञपनं हृदः । अथो भगस्य यच्छ्रान्तं तेन संज्ञपयामि वः ॥ २ ॥
यथादित्या वसुभिः संबभूवुर्मरुद्भिरुग्रा अहृणीयमानाः ।
एवा त्रिणामन्नहृणीयमान इमान् जनान्त्संमनसस्कृधीह ॥ ३ ॥

अर्थ— (वः मनसः संज्ञपनं) तुम्हारे मनको मिलकर रहनेका अभ्यास हो, (अथो हृदः संज्ञपनं) और हृदयको भी मिलनेका अभ्यास हो । (अथो भगस्य यत् श्रान्तं) और भाग्यवान्‌का जो परिश्रम है (तेन वः संज्ञपयामि) उससे तुम सबको मिलकर रहनेका अभ्यास हो ॥ २ ॥

(यथा अहृणीयमानाः उग्राः आदित्याः) जैसे किसीसे न दबनेवाले उग्र आदित्य (वसुभिः मरुद्भिः संबभूवुः) वसुओं और मरुतोंसे मिलकर रहें (एवा) इसी प्रकार (त्रिणामन्) तीन नामवाले ! तू (अहृणीयमानः) न दबता हुआ (इह इमान् जनान् सं मनसः कृधि) यहां इन लोगोंको एक विचारसे युक्त कर ॥ ३ ॥

भावार्थ— जिस प्रकार शूर आदित्य, वसुओं और रुद्रोंसे मिलकर रहते हैं, उसी प्रकार तू भी स्वयं मिलकर रह और इन सब जनोंको मिलाकर रख ॥ ३ ॥

एकताका बल ।

इस सूक्तमें मिलजुल कर रहने और अपनी एकतासे अपनी उन्नति साधन करनेका उपदेश है । हृदय, मन, विचार, संकल्प और कर्म आदि सबमें समता और एकता चाहिये । किसीमें विपरीत भाव हुआ तो भिन्नता होगी और संघभाव नष्ट होगा । देखो इस जगत्में आदित्य, वसु और रुद्र वस्तुतः भिन्न होनेपर भी जगत्‌के कार्यमें मिलजुलकर लगे रहते हैं । इसी प्रकार मनुष्य रंगरूप और जातकी भिन्नता रहनेपर भी राष्ट्रकार्य करनेके लिये सब मिल जावें और एक होकर राष्ट्रकार्य करें ।

शत्रुको दूर करना ।

[सूक्त ७५]

(ऋषिः — कबन्धः । देवता — इन्द्रः, मन्त्रोक्ताः ।)

निरमुं नुद ओकसः सपत्नो यः पृतन्यति । नैर्बाध्येन हविषेन्द्र एनं पराशरीत् ॥ १ ॥
परमां तं परावतमिन्द्रो नुदतु वृत्रहा । यतो न पुनरायति शश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥ २ ॥

अर्थ— (यः सपत्नः पृतन्यति) जो शत्रु अपनी सेनाद्वारा आक्रमण करता है, (अमुं ओकसः निः नुद) उस शत्रुको घरसे निकाल डाल । (एनं नैर्बाध्येन हविषा) इस शत्रुको बाधारहित समर्पणसे (इन्द्रः पराशरीत्) प्रभु या राजा मार डाले ॥ १ ॥

(वृत्रहा इन्द्रः) शत्रुका नाश करनेवाला इन्द्र (तं परमां परावतं नुदतु) उस शत्रुको दूरसे दूरके स्थानको भगा देवे । (यतः शश्वतीभ्यः समाभ्यः पुनः न आयति) जहांसे हमेशाके लिये फिर न आ सके ॥ २ ॥

भावार्थ— जो शत्रु हमारे ऊपर सैन्यसे हमला करता है अथवा अन्य प्रकार शत्रुत्व करता है, उसको अपने स्थानसे ऐसा भगाओ कि वह फिर कदापि उपद्रव देनेके लिये लौटकर न आ सके ॥ १ ॥

शूर लोग आपसमें मिलकर शत्रुको दूरसे दूर इस प्रकार भगा देवें कि वह कभी भी फिर लौटकर न आ सके ॥ २ ॥

एतु तिस्रः परावत एतु पञ्च जनाँ अति । एतु तिस्रोऽति रोचना यतो न पुनरायति ॥
शश्वतीभ्यः समाभ्यो यावत् सूर्यो असद् दिवि ॥ ३ ॥

अर्थ-- शत्रु (तिस्रः परावतः एतु) तीन दूरके स्थानोंसे भी दूर चला जावे । वह शत्रु (पंच जनान् अति एतु) पांचों प्रकारके जनोंसे दूर चला जावे । (तिस्रः रोचना अति एतु) तीन ज्योतियोंसे दूर भाग जावे, (यतः पुनः न आयति) जहांसे वह शत्रु वापस न आ सके । (शश्वतीभ्यः समाभ्यः) शाश्वत कालतक अर्थात् हमेशाके लिये वह वापस न आ सके । (यावत् सूर्यः दिवि असत्) जबतक सूर्य आकाशमें हो तबतक वह शत्रु वापस न आ सके ॥ ३ ॥

भावार्थ— शत्रु सब स्थानोंसे, सब लोगोंसे, और सब ऐश्वर्योंसे दूर हो जावे और हमेशाके लिये वह ऐसी अवस्थामें रहे कि, कभी वह लौटकर उपद्रव देनेके लिये वापस न आ सके ॥ ३ ॥

शत्रुको भगाना।

व्यक्तिके, ग्रामके और राष्ट्रके शत्रुको इस प्रकार दूर करना चाहिये कि वह कभी फिर लौटकर वापस न आ सके। हरएक मनुष्यका यह कार्य है । शत्रुको अपने अंदर रहने देना योग्य नहीं है । उसको अपने देहमें, अपने घरमें, अपने स्थानमें अथवा अपने राष्ट्रमें दृढमूल होने देना कदापि योग्य नहीं है । शत्रु जब आ जावे, तब उसको ऐसा भगाना चाहिये कि वह किसी प्रकार लौटकर फिर न आ सके।

हृदयमें अग्निकी ज्योति।

[सूक्त ७६]

(ऋषिः — कबन्धः । देवता — सांतपनाग्निः ।)

य एनं परिषीदन्ति समादधति चक्षसे । संप्रेद्धो अग्निर्जिह्वाभिरुदेतु हृदयादधि ॥ १ ॥
अग्नेः सांतपनस्याहमायुषे पदमा रभे । अद्धातिर्यस्य पश्यति धूममुद्यन्तमास्यतः ॥ २ ॥
यो अस्य समिधं वेद क्षत्रियेण समाहिताम् । नाभिह्वारे पदं नि दधाति स मृत्यवे ॥ ३ ॥

अर्थ— (ये एनं परिषीदन्ति) जो इसके चारों ओर बैठते हैं, इसकी उपासना करते हैं और (चक्षसे सं आ-दधति) दिव्य दृष्टिके लिये इसका आधान करते हैं, उनके (हृदयात् अधि) हृदयके ऊपर (संप्रेद्धः अग्निः जिह्वाभिः उदेतु) प्रदीप्त हुआ अग्नि अपनी ज्वालाओंसे उदय होवे ॥ १ ॥

(सांतपनस्य अग्नेः पदं) तपनेवाले अग्निके पदको मैं (आयुषे आ रभे) आयुष्यके लिये प्राप्त करता हूं । (यस्य आस्यतः) जिसके मुखसे (उद्यन्तं धूमं अद्धातिः पश्यति) निकलनेवाले धुएंको सत्यज्ञानी देखता है ॥ २ ॥

(यः क्षत्रियेण समाहितां) जो क्षत्रियद्वारा समर्पित हुई (अस्य समिधं वेद) इसकी समिधाको जानता है (सः अभिह्वारे मृत्यवे) वह कुटिल स्थानमें भी मृत्युके लिये (पदं न निदधाति) पैर नहीं रखता है ॥ ३ ॥

भावार्थ— जो इस अग्निके चारों ओर बैठकर हवनादि करते हैं, जो दृष्टिकी शुद्धताके लिये अग्निका आधान करते हैं, उनके हृदयमें प्रज्वलित होकर दूसरा ही आत्माग्नि प्रकाशित होता है ॥ १ ॥

इस हृदयस्थानीय प्रदीप्त आत्माग्निके स्थानको दीर्घायुके लिये प्राप्त करते हैं, इस आत्माग्निका मुखसे वाणीद्वारा निकला हुआ धूवां अर्थात् उसका चिन्ह ज्ञानी लोग ही देखते हैं ॥ २ ॥

जो क्षत्रिय आत्मसमर्पणद्वारा इसके मूलस्थानको जानता है, वह कठिन प्रसंगमें भी मृत्युके लिये अपना पैर तक नहीं देता, अर्थात् वह अजरामर होता है ॥ ३ ॥

नैनं घ्नन्ति पर्यायिणो न सन्नाँ अव गच्छति । अग्नेर्यः क्षत्रियो विद्वान्नाम गृह्णात्यायुषे ॥ ४ ॥

अर्थ— (**पर्यायिणः एनं न घ्नन्ति**) घेरनेवाले इसका घात नहीं करते और (**सन्नान् न अव गच्छति**) समीप बैठनेवाले इसको जानते भी नहीं । (**यः विद्वान् क्षत्रियः**) जो ज्ञानी क्षत्रिय (**अग्नेः नाम आयुषे गृह्णाति**) अग्निका नाम आयुके लिये लेता है ॥ ४ ॥

भावार्थ— जो घेरनेवाले शत्रु हैं वे इस आत्माग्निका घात नहीं करते और समीप रहनेवाले भी इसको जाननेमें समर्थ नहीं होते । जो ज्ञानी क्षत्रिय इस आत्माग्निका नाम लेता है वह दीर्घायु प्राप्त करता है ॥ ४ ॥

अग्निसे दिव्य दृष्टि ।

अग्नितापसे दृष्टिकी शुद्धता होनेका कथन इस सूक्तके प्रथम मंत्रमें है, देखिये—

चक्षसे त्वं आ दधाति । (मं० १)

' दृष्टिके लिये अग्निका आधान करता है । ' अर्थात् यज्ञकुण्डमें अग्निकी स्थापना करके यज्ञ करता है और अग्निमें हवन करता है । अग्निके समीप बैठकर हवन करनेसे दृष्टि सुधरती है यह इस मंत्रका तात्पर्य है ।

औंध रियासतमें कराड स्टेशनके समीप ओगलेवाडी नामक ग्राममें एक कांच बनानेका बडा भारी कारखाना है । उसमें हर-एक प्रकारके शीशेके पदार्थ बनते हैं । शीशा बनानेके लिये जो भट्ठी होती है, उसके पास इतनी उष्णता होती है कि साधारण मनुष्य क्षणमात्र भी उसके पास खडा नहीं रह सकता । परंतु जो मनुष्य वहीं काम करते हैं वे भट्टीके पास ही रहते हैं । गत पंद्रह वर्षोंके अनुभवसे वहांके प्रबंधकर्ताने कहा कि, जो आंखके रोगी, या दृष्टिदोषसे कमजोर आंखवाले मनुष्य आये और वहां काम करने लगे, उनके आंख सुधर गये । और ऐसा एक भी उदाहरण नहीं हुआ कि अग्निके समीप इतनी उष्णतामें काम करनेके कारण एकके भी आंख बिगडे हों । यह अनुभव विचार करने योग्य है ।

इससे भी अनुमान हो सकता है कि प्रतिदिन सबेरे और शामको, तथा वैदिक रीतिसे देखा जाय तो प्रातः, मध्यंदिनमें और सायंकालको नियमपूर्वक अग्न्याधान करके नियमपूर्वक हवन करनेवालोंको नेत्रदोषकी बाधा नहीं हो सकती । तथा यदि उस हवनमें नेत्रदोष दूर करनेवाले हवनपदार्थ डाले जांय, तो अधिक लाभ होगा । इसमें संदेह नहीं ।

यज्ञसे नेत्रदोष इस कारण दूर हो सकते हैं । पाठक इसका विचार करें और इसकी अधिक खोज करें ।

हृदयका अग्नि ।

यज्ञके बाह्य अग्निके प्रदीप्त होनेके पश्चात् और यज्ञाग्निकी हवनद्वारा उपासना करनेके अनंतर दूसरा ही एक अग्नि हृदयमें प्रदीप्त होता है, जिसका वर्णन देखिये—

हृदयात् अधि अग्निः उदेतु । (मं० १)

' हृदयकी वेदीपर एक अग्नि प्रदीप्त होता है ' अर्थात् यह अग्नि केवल भौतिक अग्नि नहीं है । यह अभौतिक आत्मारूप अग्नि है । हृदयमें बुद्धिके परे आत्माकी उपस्थिति है यह बात सब जानते ही हैं । इसीका नाम ' सांतपनाग्नि ' है जिससे अन्तःकरणमें प्रसन्नता और उत्साह रहता है, इसीको हृदयकी गर्मी अथवा मनका उत्साह कहते हैं । इस अग्निके प्रज्वलित होनेका ज्ञान ज्ञानीको ही होता है, कोई अन्य इसको नहीं जान सकता—

अस्य धूमं अग्नातिः पश्यति ॥ (मं० २)

' इसके धूँएको ज्ञानी देखता है । ' धूंएसे ही अग्निका ज्ञान होता है । जहां धूवां है वहां अग्नि होता है, यह न्याय सर्वमान्य है । अर्थात् धूवां देखनेका अर्थ धूंएके नीचे रहनेवाले अग्निका अनुभव करना है । अग्निहोत्र करनेसे इस हृदयस्थानीय आत्माग्निकी जाग्रति होती है ।

क्षत्रिय आत्मसमर्पणसे इस अग्निको जानता है, और जो स्वार्थ छोडता है उसको भी इसका ज्ञान होता है । खुदगर्ज अर्थात् केवल स्वार्थी जो मनुष्य होता है वह इसकी शक्तिसे अनभिज्ञ होता है ।

इस आत्मशक्तिके प्रकट होनेसे शत्रु उसका कुछ भी नहीं कर सकता अर्थात् किसीके भी दबावसे वह दबता नहीं । विद्वान् क्षत्रिय इसीके बलसे दीर्घायु प्राप्त करता है, और अमर होता है ।

भौतिक अग्निकी सहायतासे अभौतिक आत्माग्निका ज्ञान इस सूक्तने किया है । इस दृष्टिसे इस सूक्तका महत्त्व विशेष है ।

सबकी स्थिरता।

[सूक्त ७७]

(ऋषिः — कबन्धः। देवता — जातवेदाः।)

अस्थाद् द्यौरस्थात् पृथिव्यस्थाद् विश्वमिदं जगत्।
आस्थाने पर्वता अस्थु स्थाम्न्यश्वाँ अतिष्ठिपम् ॥ १ ॥

य उदानट् परायणं य उदानण्न्यायनम्। आवर्तनं निवर्तनं यो गोपा अपि तं हुवे ॥ २ ॥

जातवेदो नि वर्तय शतं ते सन्त्वावृतः। सहस्रं त उपावृतस्ताभिर्नः पुनरा कृधि ॥ ३ ॥

अर्थ— (द्यौः अस्थात्) द्युलोक स्थिर हुआ है। (पृथिवी अस्थात्) पृथ्वी स्थिर है। (इदं विश्वं जगत् अस्थात्) यह सब जगत् स्थिर है। (आस्थाने पर्वताः अस्थुः) अपने स्थानपर पर्वत भी स्थिर हुए हैं। अतः मैंने भी अपने (अश्वान् स्थाम्नि अतिष्ठिपं) घोडोंको यथास्थानमें ठहराया है ॥ १ ॥

(यः गोपाः परायणं उदानट्) जिस पृथ्वीपालक राजाने श्रेष्ठ स्थान प्राप्त किया, (यः न्यायनं उदानट्) जिसने निम्न स्थान प्राप्त किया है, (आवर्तनं निवर्तनं) जिसमें आने और जानेका सामर्थ्य है (तं अपि हुवे) उसीकी मैं प्रार्थना करता हूं ॥ २ ॥

हे (जातवेदः) ज्ञानी! (निवर्तय) लौट आ, (ते आवृतः शतं) तेरे आवरण सैकडों हैं। और (ते उपावृतः सहस्रं) तेरे समीप अनेक मार्ग हैं। (ताभिः पुनः नः आ कृधि) उनसे हमें फिर समर्थ कर ॥ ३ ॥

भावार्थ— पृथ्वी, द्युलोक तथा सब जगत् यथास्थानमें स्थित हैं। पर्वत भी अपने स्थानमें स्थिर हैं। इसी प्रकार मनुष्य, घोडे आदि यथास्थानमें स्थिर रहें ॥ १ ॥

जिस भूपति राजाने उच्च और निम्न स्थान प्राप्त किये हैं, जो योग्य स्थानमें आता जाता रहता है, उसकी प्रशंसा करना योग्य है ॥ २ ॥

ज्ञानी पुरुष अपने स्थानमें लौट आवे, उसकी आवरण और उपावरणकी शक्तियां अनेक हैं, उनसे वह हमें समर्थ करे ॥ ३ ॥

स्थिरता।

सब जगत् अपने स्थानमें स्थिर है। सूर्यादि गोलक भ्रमण करते हैं, तथापि कोई भी अपनी मर्यादा उल्लंघन नहीं करता है। और सब अपनी मर्यादामें रहनेके कारण सब जगत्के अवयव स्थिर हैं। इसी प्रकार सब मनुष्य अपने धर्मकी मर्यादामें रहकर स्थिर हो जांय। इस प्रकार रहनेसे सबका सामर्थ्य बढता है।

स्त्रीपुरुषकी वृद्धि।

[सूक्त]

(ऋषिः — अथर्वा। देवता — १-२ चन्द्रमा, ३ त्वष्टा)

तेन भूतेन हविषायमा प्यायतां पुनः। जायां यामस्मा आवाक्षुस्तां रसेनाभि वर्धताम् ॥ १ ॥

अर्थ— (तेन भूतेन हविषा) उस किये हुए हविसे (अयं पुनः आप्यायतां) यह बार बार पुष्ट हो। (यां जायां अस्मै आवाक्षुः) जिस स्त्रीका इसके साथ विवाह किया है, (तां रसेन अभि वर्धत) उसकी भी रससे पुष्ट करें ॥ १ ॥

गण्डमालाका निवारण ।

[सूक्त ८३]

(ऋषिः — अङ्गिराः । देवता — मन्त्रोक्ताः ।)

अपचितः प्र पतत सुपर्णो वसतेरिव ।
सूर्यः कृणोतु भेषजं चन्द्रमा वोपोच्छतु ॥ १ ॥
एन्येका श्येन्येका कृष्णैका रोहिणी द्वे ।
सर्वासामग्रभं नामावीरघ्नीरपेतन ॥ २ ॥
असूतिका रामायण्यपचित् प्र पतिष्यति ।
ग्लौरितः प्र पतिष्यति स गलुन्तो नशिष्यति ॥ ३ ॥
वीहि स्वामाहुतिं जुषाणो मनसा स्वाहा मनसा यदिदं जुहोमि ॥ ४ ॥

अर्थ— (**वसतेः सुपर्णः इव**) अपने निवासस्थानसे जैसा गरुड दौडता है उस प्रकार, हे (**अपचितः**) गण्डमाला नाम रोगों ! (**प्र पतत**) भाग जाओ । (**सूर्यः भेषजं कृणोतु**) इसका औषध सूर्य बनावे और (**चन्द्रमा वा उप उच्छतु**) चन्द्र रोगको दूर करे ॥ १ ॥

(**एका एनी**) एक चितकबरी, (**एका श्येनी**) एक श्वेत, (**एका कृष्णा**) एक काली, (**द्वे रोहिणी**) और लाल रंगवाले दो इतने इनमें भेद हैं । (**सर्वासां नाम अग्रभं**) सबका नाम मैंने लिया है, अतः (**अवीरघ्नीः अपेतन**) मनुष्यकी हिंसा न करती हुई तुम यहांसे दूर भाग जाओ ॥ २ ॥

(**रामायणी असूतिका**) नाडीमें छिपी रहनेवाली यह रोगकी जड रोगकी उत्पत्ति न करती हुई (**अपचित् प्र पतिष्यति**) यह गंडमाला दूर होगी । (**इतः ग्लौः प्र पतिष्यति**) यहांसे यह गलनेवाली दूर होगी, तथा (**सः गलुन्तः नशिष्यति**) यह सडनेवाला रोग नाशको प्राप्त होवे ॥ ३ ॥

(**स्वां आहुतिं जुषाणः वीहि**) अपने हवनकी आहुतिका सेवन करता हुआ भाग जा, (**यत् इदं मनसा जुहोमि स्वाहा**) जो यह मैं मनसे हवन करता हूं वह उत्तम हवन होवे ॥ ४ ॥

भावार्थ— गंडमालाका औषध सूर्य किरणोंमें है, और चन्द्रमाके प्रकाशसे भी होता है । इससे गण्डमाला शीघ्र दूर हो जाती है ॥ १ ॥

काली, श्वेत, चितकबरी, साधारण लाल और अधिक लाल ये पांच प्रकारकी गण्डमाला होती है । इनसे मनुष्यकी हानि न हो और ये सब रोग दूर हों ॥ २ ॥

इसका बीज धमनियोंमें रहता है तथा इनमें फोडेवाली, गलनेवाली और सडनेवाली ऐसे भेद होते हैं । ये सब प्रकारके रोग पूर्वोक्त उपचारसे दूर होते हैं ॥ ३ ॥

मन लगाकर उत्तम हवन करनेसे भी यह रोग दूर होता है ॥ ४ ॥

गण्डमाला ।

सूर्यकिरण, चन्द्रप्रभा और मन लगाकर किया हुआ हवन इन तीन उपचारोंसे गण्डमाला दूर होती है । इसकी उपचार पद्धतिके विषयमें वैद्योंको विचार करना उचित है ।

देवं संस्फान सहस्रापोषस्येशिषे । तस्य नो रास्व तस्य नो धेहि तस्य ते भक्तिवांसः स्याम ॥३॥

अर्थ— हे (देव संस्फान) वृद्धि करनेवाले देव ! तू (सहस्रपोषस्य ईशिषे) हजारों पुष्टियोंका स्वामी है। इसलिये (तस्य नः रास्व) उन पुष्टियोंको हमें दे, (तस्य नो धेहि) वही हमें दे, (तस्य ते भक्तिवांसः स्याम) उस तेरे हम भागी होंगे ॥ ३ ॥

भावार्थ— हे वृद्धि करनेवाले देव ! तुम्हारे पास हजारों पोषक शक्तियां हैं। उनमेंसे कुछ हमें दे, तेरे पोषक सामर्थ्यके भागी हम बनें ॥ ३ ॥

ईश्वरके भक्त।

परमेश्वर सबका पोषणकर्ता है, वह सबको धन, ऐश्वर्य, अन्न, तेज और पुष्टि देता है। इसलिये वह देव हमें पोषणके साधन देवे और उनका योग्य उपयोग करके हम सब दृढ, पुष्ट और धनधान्यसंपन्न हों।

आत्मसमर्पणसे ईश्वरकी पूजा।

[सूक्त ८०]

(ऋषिः — अथर्वा। देवता — चन्द्रमाः।)

अन्तरिक्षेण पतति विश्वा भूतावचाकशत् । शुनो दिव्यस्य यन्महस्तेना ते हविषा विधेम ॥ १ ॥
ये त्रयः कालकाञ्जा दिवि देवा इव श्रिताः । तान्सर्वानह्व ऊतयेऽस्मा अरिष्टतातये ॥ २ ॥
अप्सु ते जन्म दिवि ते सधस्थं समुद्रे अन्तर्महिमा ते पृथिव्याम् ।
शुनो दिव्यस्य यन्महस्तेना ते हविषा विधेम ॥ ३ ॥

अर्थ— जो (विश्वा भूता अवचाकशत्) सब भूतोंको प्रकाशित करता हुआ (अन्तरिक्षेण पतति) आकाशसे चलता है उस (दिव्यस्य शुनः) द्युलोकमें गमन करनेवाले सूर्यका (यत् महः) जो महत्त्व है (तेन हविषा ते विधेम) उस हविसे तेरी पूजा हम करते हैं ॥ १ ॥

(ये त्रयः कालकाञ्जाः) जो तीन कालकञ्ज (दिवि देवाः इव श्रिताः) द्युलोकमें देवोंके समान रह रहे हैं, (तान् सर्वान्) उन सबको (अस्मै ऊतये) इसकी रक्षाके लिये और (अरिष्टतातये अह्वे) कल्याणके लिये बुलाते हैं ॥ २ ॥

(अप्सु ते जन्म) जलमें तेरी उत्पत्ति है, (दिवि ते सधस्थं) द्युलोकमें तेरा स्थान है, तथा (समुद्रे अन्तः पृथिव्यां ते महिमा) समुद्रके बीच और पृथ्वीपर तेरी महिमा है। उस तेरे (दिव्यस्य शुनः) द्युलोकमें गमन करनेवाले सूर्यका (यत् महः) जो महत्त्व है (तेन ते हविषा विधेम) उस महत्त्वसे तेरी पूजा हम करते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ— सब जगत्को प्रकाशित करनेवाला सूर्य आकाशमें संचार करता है। उसका महत्त्व और तेज विशेष है। वह तेज हमारे अन्दर जितना है उसका समर्पण करके हम ईश्वरकी उपासना करते हैं ॥ १ ॥

देवताओंके समान तीन काल- अर्थात् उष्णकाल, वृष्टिकाल और शीतकाल ये तीनं काल कञ्ज—द्युलोकमें स्थित सूर्यसे सम्बन्धित हैं। इन तीनों कालोंसे मनुष्य अपनी रक्षा करे और कल्याणसाधन करे ॥ २ ॥

प्रकृतिके प्रारंभिक जलावस्थासे सूर्यकी उत्पत्ति हुई है, वह द्युलोकमें रहता है, पृथ्वी और समुद्रमें उसका महत्त्व प्रकट होता है। इस सूर्यकी जो शक्ति मेरे अन्दर है, उसे परमेश्वरका पूजाकार्य करनेके लिये समर्पित करता हूं ॥ ३ ॥

सूर्यादिकोंके अंश मनुष्यमें हैं, उन शक्तियोंसे मनुष्य सामर्थ्यशाली बना है। इस लिये मनुष्यको उचित है कि, वह उक्त शक्तियोंका समर्पण जगत्की भलाईके लिये करके उक्त समर्पण द्वारा परमेश्वरकी पूजा करे।

कङ्कणका धारण।

[सूक्त ८१]

(ऋषिः — अथर्वा। देवता — आदित्यः, मन्त्रोक्ताः।)

यन्तासि यच्छसे हस्तावप रक्षांसि सेधसि। प्रजां धनं च गृह्णानः परिहस्तो अभूदयम् ॥ १ ॥
परिहस्त वि धारय योनिं गर्भाय धातवे। मर्यादे पुत्रमा धेहि तं त्वमा गमयागमे ॥ २ ॥
यं परिहस्तमबिभरदितिः पुत्रकाम्या। त्वष्टा तमस्या आ बध्नाद् यथा पुत्रं जनादिति ॥ ३ ॥

अर्थ— (यन्ता असि) तू नियामक है, (हस्तौ यच्छसे) दोनों हाथोंका तू नियमन करता है और उनसे (रक्षांसि सेधसि) विघ्नकारियोंको हटाता है। (अयं परिहस्तः) यह कंकण (प्रजां धनं च गृह्णानः) प्रजा और धन का ग्रहण करनेवाला (अभूत्) है ॥ १ ॥

हे (परिहस्त) कंकण ! (गर्भाय धातवे) गर्भके धारणके लिये (योनिं वि धारय) योनिका धारण कर। हे (मर्यादे) मर्यादे ! (पुत्रं आ धेहि) पुत्रको धारण कर। (तं त्वं आगमे आ गमय) उसको तू आगमनके समय बाहर आनेके लिये प्रेरणा कर ॥ २ ॥

(पुत्रकाम्या अदितिः) पुत्रकी इच्छा करनेवाली अदितिने (यं परिहस्तं अबिभः) जिस कंकणका धारण किया था, (यथा पुत्रं जनात् इति) जिसे पुत्रकी उत्पत्ति हो इस लिये (त्वष्टा तं अस्यै आ बध्नात्) त्वष्टाने उसको इस स्त्रीके लिये बांधा है ॥ ३ ॥

भावार्थ— कंकण नियममें रखता है, उसे हाथोंमें डालनेसे हाथोंका नियमन होता है और विघ्न दूर होते हैं। इसलिये इसको संतानका धारण करनेवाला कहते हैं। तथा यह धनका भी धारक है ॥ १ ॥

गर्भधारणाके योग्य गर्भाशयकी अवस्था यह बनाता है। इसके धारण करनेसे गर्भ धारण होता है और योग्य समयमें प्रसूति भी होती है ॥ २ ॥

पुत्रकी इच्छा करनेवाली अदितिने इसको प्रथम धारण किया था। कारीगर इसका निर्माण करे और पुत्रोत्पत्ति होनेकी इच्छासे स्त्रियोंके दोनों हाथोंमें कंकण धारण करावे ॥ ३ ॥

कंकण धारण।

स्त्रियां हाथमें कंकण धारण करती हैं। इसका संबंध गर्भाशय ठीक रहने, उत्तम संतान उत्पन्न होने और सुखसे प्रसूति होनेके साथ है। वैद्य लोग इसका विचार शारीरशास्त्रकी दृष्टिसे करें और निश्चय करें कि, किस प्रकारका कंकण कौनसी स्त्रीको किस विधिसे धारण करना चाहिये। यह शास्त्रदृष्टिसे विचारने योग्य बात है।

कन्याके लिये वर।

[सूक्त ८२]

(ऋषिः — भगः। देवता — इन्द्रः।)

आगच्छत आगतस्य नाम गृह्णाम्यायतः। इन्द्रस्य वृत्रघ्नो वन्वे वासवस्य शतक्रतोः ॥ १ ॥

अर्थ— (आगच्छतः) आनेवाले (आगतस्य) आये हुए और (आयतः) अति समीप आनेवाले (वृत्रघ्नः वासवस्य शतक्रतोः इन्द्रस्य) शत्रुका नाश करनेवाले, धनवाले और सैंकडों कर्म करनेवाले इन्द्रका (नाम गृह्णामि) नाम मैं लेता हूं और (वन्वे) पसंद करता हूं ॥ १ ॥

भावार्थ— आगमनके पहिलेसे इच्छा करके अब मेरे पास आया हुआ जो शत्रुपर विजय करनेवाला, धनवान्, सैंकडों उत्तम कर्म करनेवाला शूरवीर है, उसीको मैं अपनी पुत्रीके लिये वरके रूपमें पसंद करता हूं ॥ १ ॥

येन॒ सूर्यां॑ सावि॒त्रीम॒श्विनो॒हतुः॑ प॒था। तेन॒ माम॑ब्रवी॒द् भगो॑ जा॒याम्आ व॑हता॒दिति॑ ॥ २ ॥
यस्ते॑ऽङ्कु॒शो व॑सु॒दानो॑ बृ॒हन्नि॑न्द्र हिर॒ण्ययः॑। तेना॑ जनीय॒ते जा॒यां मह्यं॑ धेहि शचीपते ॥ ३ ॥

॥ इति अष्टमोऽनुवाकः ॥

अर्थ—(येन पथा) जिस मार्गसे (अश्विना) अश्विदेवोंने (सूर्यां सावित्रीं ऊहतुः) सूर्यप्रभा सावित्रीका विवाह किया, (तेन) उसी मार्गसे (जायां आ वहतात् इति) भार्याको प्राप्त कर ऐसा (भगः मां अब्रवीत्) भगने मुझे कहा है ॥ २ ॥

हे (इन्द्र) इन्द्र! (यः ते हिरण्ययः वसुदानः बृहन् अंकुशः) जो तेरा सुवर्णका धन देनेवाला बडा अंकुश है, हे (शचीपते) इन्द्र! (तेन जनीयते मह्यं) उससे स्त्रीकी इच्छा करनेवाले मुझे (जायां धेहि) भार्या दे ॥ ३ ॥

भावार्थ— जिस प्रकार अश्विदेवोंने सूर्यप्रभाका विवाह किया, उसी प्रकार धनवान् वधूका पिता ' इस कन्याका स्वीकार कीजिये ' ऐसा कहकर मुझे विवाहके लिये कहता है ॥ २ ॥

हे प्रभो! तेरे पास जो धनकी प्राप्ति करनेवाला जो उत्तम शस्त्र है उसके बलसे पत्नीकी इच्छा करनेवाले मुझ वरको भार्या प्राप्त हो ॥ ३ ॥

कन्याके लिये वर।

कन्याके लिये जो वर पसंद करना है वह निम्नलिखित गुणोंका विचार करके पसंद किया जावे—

(१) जनीयते— वर ऐसा हो कि जिसके मनमें धर्मपत्नीकी प्राप्ति करनेकी प्रबल इच्छा उत्पन्न हुई हो। (मं० ३)

(२) आगच्छतः— कन्याके पिताके पास आनेकी इच्छा करनेवाला। (मं० १)

(३) आगतस्य— कन्याके पिताके पास पहुंचनेवाला। (मं० १)

(४) आयतः— कन्याके पिताके पास पहुंचा हुआ। (मं० १)

ये तीनों शब्द वरकी उत्कट इच्छा बताते हैं। आजकल कन्याका पिता वरको ढूंढता हुआ वरके खोजार्थ एक स्थानसे दूसरे स्थानके प्रति घूमता रहता है। यह प्रथा अवैदिक प्रतीत होती है। वधूका पिता अथवा वधू वरकी खोजके लिये भ्रमण न करे अपितु वर अपनी योग्यता सिद्ध करे और वधूकी मांग करनेके लिये वधूके पिताके पास आवे। यह बात इन चार शब्दोंसे व्यक्त होती है। अब वरमें कौनसे गुण होने चाहिये, इसका विचार यह है—

(५) वासयः— वसु अर्थात् धन पास रखनेवाला। (मं० १)

(६) शतक्रतुः— सैंकडों उत्तम पुरुषार्थ करनेवाला। (मं० १)

(७) वृत्रघ्नः— शत्रुका नाश करके विजय प्राप्त करनेमें समर्थ। (मं० १)

(८) इन्द्रः— शत्रुका नाश करनेवाला शूर वीर। (मं० १)

ये चार शब्द वरके गुणोंका वर्णन करते हैं। विवाहके पूर्व वरने धन कमाया हुआ हो और शौर्य भी प्रकट किया हुआ हो। अपरीक्षित वर न हो।

वधूका पिता ऐसे वरका आदर करे और उसे कहे कि, (जायां आवहतात्) इस मेरी कन्याको स्वीकार कीजिये। आप स्वीकार करेंगे तो मैं बडा अनुगृहीत हूंगा। इत्यादि वचनोंसे वरके साथ बोले और कन्या देनेकी इच्छा प्रकट करे। कन्याका दान भी ऐसा ही हो कि जिस प्रकार प्रभाका सूर्यके साथ होता है, अर्थात् कन्याका मोल लेना या पतिके लिये धन देना आदि बातें न हों, वरके गुणोंका विचार मुख्य हो। (मं० २)

वर भी मनमें यही समझे कि मेरे पास शौर्य और वीर्य रहनेसे मैं धन कमाऊंगा और जब मैं धन कमाऊं और मेरा शौर्य प्रकट हो तब मेरा विवाह हो ही जायगा।

इस सूक्तमें जो वरकी पसंदीके और विवाह विषयके अन्य विचार कहे हैं वे बडे उत्तम हैं। वरका पिता और वर ये दोनों इस सूक्तका बहुत विचार करें।

बिना शौर्यवीर्यके वैदिक विवाह होना असंभव है, ऐसा इस सूक्तके विचारसे स्वयं सिद्ध होता है। वरको उचित है कि वह अपने विवाहका विचार करनेके पूर्व धन कमावे। ' धीः श्रीः स्त्री ' यह नियम ध्यानमें रखना चाहिये, बुद्धिका विकास करके धनको प्राप्त करनेके पश्चात् स्त्रीकी प्राप्तिका विचार मनमें लाना चाहिये। आजकल जो बालविवाह करते हैं वे इस सूक्तका मनन विशेष करें।

॥ यहां अष्टम अनुवाक समाप्त ॥

गण्डमालाका निवारण ।

[सूक्त ८३]

(ऋषिः — अङ्गिराः । देवता — मन्त्रोक्ताः ।)

अपचितः प्र पतत सुपर्णो वसतेरिव ।
सूर्यः कृणोतु भेषजं चन्द्रमा वोपोच्छतु ॥ १ ॥

एन्येका श्येन्येका कृष्णैका रोहिणी द्वे ।
सर्वासामग्रभं नामावीरघ्नीरपेतन ॥ २ ॥

असूतिका रामायण्यपचित् प्र पतिष्यति ।
ग्लौरितः प्र पतिष्यति स गलुन्तो नशिष्यति ॥ ३ ॥

वीहि स्वामाहुतिं जुषाणो मनसा स्वाहा मनसा यदिदं जुहोमि ॥ ४ ॥

अर्थ— (वसतेः सुपर्णः इव) अपने निवासस्थानसे जैसा गरुड दौडता है उस प्रकार, हे (अपचितः) गण्डमाला नाम रोगों ! (प्र पतत) भाग जाओ । (सूर्यः भेषजं कृणोतु) इसका औषध सूर्य बनावे और (चन्द्रमा वा उप उच्छतु) चन्द्र रोगको दूर करे ॥ १ ॥

(एका एनी) एक चितकबरी, (एका श्येनी) एक श्वेत, (एका कृष्णा) एक काली, (द्वे रोहिणी) और लाल रंगवाले दो इतने इनमें भेद हैं । (सर्वासां नाम अग्रभं) सबका नाम मैंने लिया है, अतः (अवीरघ्नीः अपेतन) मनुष्यकी हिंसा न करती हुई तुम यहांसे दूर भाग आओ ॥ २ ॥

(रामायणी असूतिका) नाडीमें छिपी रहनेवाली यह रोगकी अब रोगकी उत्पत्ति न करती हुई (अपचित् प्र पतिष्यति) यह गंडमाला दूर होगी । (इतः ग्लौ प्र पतिष्यति) यहांसे यह गलनेवाली दूर होगी, तथा (सः गलुन्तः नशिष्यति) यह सडनेवाला रोग नाशको प्राप्त होवे ॥ ३ ॥

(स्वां आहुतिं जुषाणः वीहि) अपने हवनकी आहुतिका सेवन करता हुआ भाग जा, (यत् इदं मनसा जुहोमि स्वाहा) जो यह मैं मनसे हवन करता हूं वह उत्तम हवन होवे ॥ ४ ॥

भावार्थ— गंडमालाका औषध सूर्य किरणोंमें है, और चन्द्रमाके प्रकाशसे भी होता है । इससे गण्डमाला शीघ्र दूर हो जाती है ॥ १ ॥

काली, श्वेत, चितकबरी, साधारण लाल और अधिक लाल ये पांच प्रकारकी गण्डमाला होती है । इनसे मनुष्यकी हानि न हो और ये सब रोग दूर हों ॥ २ ॥

इसका बीज धमनिमें रहता है तथा इनमें फोडेवाली, गलनेवाली और सडनेवाली ऐसे भेद होते हैं । ये सब प्रकारके रोग पूर्वोक्त उपचारसे दूर होते हैं ॥ ३ ॥

मन लगाकर उत्तम हवन करनेसे भी यह रोग दूर होता है ॥ ४ ॥

गण्डमाला ।

सूर्यकिरण, चन्द्रप्रभा और मन लगाकर किया हुआ हवन इन तीन उपचारोंसे गण्डमाला दूर होती है । इसकी उपचार पद्धतिके विषयमें वैद्योंको विचार करना उचित है ।

दुर्गतिसे बचना।

[सूक्त ८४]

(ऋषिः — अङ्गिराः। देवता — निर्ऋतिः।)

यस्यास्त आसनि घोरे जुहोम्येषां बद्धानामवसर्जनाय कम्।
भूमिरिति त्वाभिप्रमन्वते जना निर्ऋतिरिति त्वाहं परि वेद सर्वतः ॥ १ ॥
भूते हविष्मती भवैष ते भागो यो अस्मासु। मुञ्चेमानमूनेनसः स्वाहा ॥ २ ॥
एवो ष्व१स्मन्निर्ऋतेऽनेहा त्वमयस्मयान् वि चृता बन्धपाशान्।
यमो मह्यं पुनरित् त्वा ददाति तस्मै यमाय नमो अस्तु मृत्यवे ॥ ३ ॥
अयस्मये द्रुपदे बेधिष इहाभिहितो मृत्युभिर्ये सहस्रम्।
यमेन त्वं पितृभिः संविदान उत्तमं नाकमधि रोहयेमम् ॥ ४ ॥

अर्थ— (यस्याः ते घोरे आसनि) जिस तेरे क्रूर मुखमें (एषां बद्धानां अवसर्जनाय) इन बद्ध दुःखोंकी मुक्तताके लिये (कं जुहोमि) अपने सुखकी आहुति देता हूं। (त्वा जनाः भूमिः इति अभिप्रमन्वते) तुझको लोक अपनी जन्मभूमि करके मानते हैं। और (अहं त्वा सर्वतः निर्ऋतिः परि वेद) मैं तुझको सब प्रकारके कष्टोंकी जड करके मानता हूं ॥ १ ॥

हे (भूते) उत्पन्न हुई! (हविष्मती भव) हवन करनेवाली हो (एषः ते भागः यः अस्मासु) यह तेरा भाग है जो हममें है। (इमान् अमून् एनसः मुञ्च) इनको पापसे छुडाओ, (स्वाहा-सु आह) मैं सच कहता हूं ॥ २ ॥

हे (निर्ऋते) दुर्गति! (अनेहा एव उ त्वं) अविनाशिका होकर तू (एवो) निश्चयसे (अयस्मयान् बन्धपाशान् अस्मत् सु वि चृत) लोहेके बने बंधनोंके पाशोंको हमसे खोल दे। (यमः मह्यं त्वा पुनः इत् ददाति) यम मेरे लिये तुझको पुनः पुनः देता है। (तस्मै यमाय मृत्यवे नमः अस्तु) उस यम मृत्युके लिये नमस्कार हो ॥ ३ ॥ (अथर्व. ६।६३।२)

जब तू (अयस्मये द्रुपदे बेधिषे) लोहमय काष्ठस्तंभमें किसीको बांध देती है तब वह (ये सहस्रं) जो हजारों दुःख हैं उन (मृत्युभिः इह अभिहितः) मृत्युओंसे यहां बांधा जाता है। (त्वं पितृभिः यमेन संविदानः) तू पितरों और यमसे मिलता हुआ (त्वं इमं उत्तमं नाकं अधि रोहय) तू इसको उत्तम स्वर्गमें चढा दे ॥ ४ ॥ (अथर्व. ६।६३।२)

भावार्थ— दुरवस्था बडी कठिन है, उसमें बंधे अतएव जो पराधीन हुए हैं, उनकी मुक्तता होनी चाहिये। इस कार्यके लिये अपने सुखको त्यागके प्रयत्न करना चाहिये। कई लोग तो इसी पराधीनताको अपना आश्रय मानते हैं और उसके निवारणके लिये प्रयत्न तक नहीं करते। परंतु यह दुरवस्था सबसे भयानक है ॥ १ ॥

जो दुरवस्थाका भाग अपने अंदर होगा, उसको प्रयत्नसे दूर हटाना चाहिये ॥ २ ॥

दुर्गतिको दूर करना चाहिये। लोहेके सब पाश तोडने चाहिये। इन पाशोंको तोडनेके लिये ही यम बार बार जन्म देता है अतः उसको नमन करना उचित है ॥ ३ ॥

जिसके गलेमें ये पाश अटके हैं, उनको हजारों दुःख और सैंकडों आपत्तियां सताती हैं, इन रक्षकोंके और नियामकके साथ संमेलन करके इस मनुष्यको बंधमुक्त करते हुए, इसको सुखपूर्ण स्वर्गधाममें पहुंचाओ ॥ ४ ॥

पराधीनता संपूर्ण दुःखोंका मूल है, अतः हरएकको उचित है कि वह पराधीनतारूप दुर्गतिके पाश तोडे और स्वतंत्रतारूप स्वर्गधाममें स्थान प्राप्त करे।

यक्ष्म–चिकित्सा।

[सूक्त ८५]

(ऋषिः — अथर्वा । देवता — वनस्पतिः ।)

वरणो वारयाता अयं देवो वनस्पतिः। यक्ष्मो यो अस्मिन्नाविष्टस्तमु देवा अवीवरन् ॥ १ ॥
इन्द्रस्य वचसा वयं मित्रस्य वरुणस्य च। देवानां सर्वेषां वाचा यक्ष्मं ते वारयामहे ॥ २ ॥
यथा वृत्र इमा आपस्तस्तम्भ विश्वधा यतीः। एवा ते अग्निना यक्ष्मं वैश्वानरेण वारये ॥ ३ ॥

अर्थ— (अयं देवः वरणः वनस्पतिः) यह दिव्य वरण नामक औषधि (वारयातै) रोगनिवारण करती है। (अस्मिन् यः यक्ष्मः आविष्टः) इसमें जो रोग घुसा है (तं उ देवाः अवीवरन्) उसका देवोंने निवारण किया ॥ १ ॥

इन्द्र, मित्र, वरुण इनके वचनसे तथा (सर्वेषां देवानां वाचा) सब देवोंकी वाणीसे (ते यक्ष्मं वारयामहे) तेरा यक्ष्मरोग दूर करते हैं ॥ २ ॥

(यथा वृत्रः) जैसा वृत्र (विश्वधा यतीः आपः तस्तम्भ) चारों ओर बहनेवाले जलप्रवाहोंको रोक रखता है (एवा) उसी प्रकार (ते यक्ष्मं) तेरे रोगको (वैश्वानरेण अग्निना वारये) वैश्वानर अग्निद्वारा निवारण करते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ— वरण वृक्षके उपयोग करनेसे यक्ष्मरोग दूर होता है ॥ १-३ ॥

वरुण वृक्ष।

वेदमें जिसका नाम ' वरण ' है उसी वृक्षको संस्कृतभाषामें ' वरुण ' कहते हैं। वरण वृक्षकी औषधिसे यक्ष्मरोग दूर होता है। इसको हिंदीमें ' बिलि ' वृक्ष कहते हैं। इसके गुण ये हैं—

कटुः उष्णः रक्तदोषघ्नः शिरोवातहरः स्निग्धः
आग्नेयः विद्रधिवातघ्नश्च ॥ (रा० नि० व० ९)

वरुणः पित्तलो भेदी श्लेष्मकृच्छ्राश्ममारुतान्।
निहन्ति गुल्मवातास्रकृमींश्चोष्णाग्निदीपनम्।
कषायो मधुरस्तिक्तः कटुको रूक्षको लघुः ॥ (भा.)

' यह वरुण औषधि रक्तदोष दूर करनेवाली, शिरस्थानीय वातदोष दूर करनेवाली है, कटु, उष्ण, स्निग्ध तथा आग्नेय गुण युक्त है। श्लेष्मा, मूत्रदोष, वातदोष, गुल्म, वातरक्त, कृमि-दोष इन रोगोंको दूर करता है। '

इस औषधिके ये गुण हैं। इसका नाम ' आग्नेय ' ऊपर दिया है अतः तृतीय मंत्रमें--

वैश्वानरेण अग्निना यक्ष्मं वारये। (मं. ३)

कहा है। यहां अग्नि पदका अर्थ ' वरुण ' वृक्ष करना उचित है। अर्थात् इस मंत्रका अर्थ ' वरुण वृक्षके प्रयोगसे यक्ष्म रोग दूर करता हूं। ' ऐसा करना चाहिये। इस औषधि प्रयोगका विचार वैद्योंको करना चाहिये।

सबसे श्रेष्ठ हो।

[सूक्त ८६]

(ऋषिः — अथर्वा । देवता — एकवृषः ।)

वृषेन्द्रस्य वृषा दिवो वृषा पृथिव्या अयम्। वृषा विश्वस्य भूतस्य त्वमेकवृषो भव ॥ १ ॥

अर्थ— (इन्द्रस्य वृषा) इन्द्रके बलसे समर्थ, (दिवः वृषा) द्युलोकसे श्रेष्ठ (अयं पृथिव्याः वृषा) यह पृथिवीसे भी श्रेष्ठ (विश्वस्य भूतस्य वृषा) सब भूतोंसे श्रेष्ठ हो और तू (त्वं एकवृषः भव) अकेला ही सबसे श्रेष्ठ हो ॥ १ ॥

भावार्थ— सूर्य, द्युलोक, पृथ्वी, सब प्राणी इनमें जो शक्ति है, उससे श्रेष्ठ बननेका प्रयत्न कर ॥ १ ॥

समुद्र ईशे स्रवतामग्निः पृथिव्या वशी । चन्द्रमा नक्षत्राणामीशे त्वमेकवृषो भव ॥ २ ॥
सम्राडस्यसुराणां ककुन्मनुष्याणाम् । देवानामर्धभागसि त्वमेकवृषो भव ॥ ३ ॥

अर्थ- (स्रवतां समुद्रः ईशे) बहनेवालोंमें समुद्र मुख्य है। (पृथिव्याः अग्निः वशी) पृथिवीको वशमें रखनेवाला अग्नि है। (नक्षत्राणां चन्द्रमा ईशे) नक्षत्रोंका स्वामी चन्द्र है इस प्रकार (त्वं एकवृषः भव) तू अद्वितीय सबसे श्रेष्ठ बन ॥ २॥

(असुराणां सम्राड् असि) तू असुरोंका सम्राट् है, (मनुष्याणां ककुत्) मनुष्योंमें भी मुख्य है और (देवानां अर्धभाक् असि) देवोंका अर्ध भाग तू है ऐसा तू (एकवृषः भव) सबसे श्रेष्ठ बन ॥ ३ ॥

भावार्थ— जिस प्रकार सब स्रोतोंमें समुद्र प्रबल है, पृथ्वीको वश करनेवाला अग्नि समर्थ है, और नक्षत्रोंमें चन्द्रमा श्रेष्ठ है, इस प्रकार सब मनुष्योंमें तू समर्थ और श्रेष्ठ बन ॥ २ ॥

असुरवृत्तिवालोंके ऊपर भी तू स्वामित्व कर और मनुष्योंमें भी तू श्रेष्ठ हो, तथा देवोंके अर्ध आसनपर बैठनेकी योग्यता धारण करनेवाला हो ॥ ३ ॥

सबसे श्रेष्ठ बनना।

अपना सामर्थ्य बढा कर सबसे श्रेष्ठ होनेका परम पुरुषार्थ करना हरएक मनुष्यको योग्य है। जो श्रेष्ठ होता है उसीकी प्रशंसा होती है, और जो श्रेष्ठ नहीं होता वह पीछे रह जाता है। यह स्मरण रखकर हरएक मनुष्यको उचित है कि वह अपने प्रयत्नसे श्रेष्ठ स्थान प्राप्त करे और सबसे श्रेष्ठ बने।

राजाकी स्थिरता।

[सूक्त ८७]

(ऋषि:— अथर्वा। देवता— ध्रुवः।)

आ त्वाहार्षमन्तरभूर्ध्रुवस्तिष्ठाविचाचलत्। विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु मा त्वद्राष्ट्रमधि भ्रशत् ॥ १ ॥
इहैवैधि माप च्योष्ठाः पर्वत इवाविचाचलत् । इन्द्र इवेह ध्रुवस्तिष्ठेह राष्ट्रमु धारय ॥ २ ॥
इन्द्र एतमदीधरद् ध्रुवं ध्रुवेण हविषा । तस्मै सोमो अधि ब्रवदयं च ब्रह्मणस्पतिः ॥ ३ ॥

अर्थ— (त्वा आहार्षं) तुझको यहां राजगद्दीपर लाता हूं। (अन्तः भूः) इस सबके अंदर आ। (ध्रुवः अविचाचलत् तिष्ठ) स्थिर और अविचलित होकर यहां ठहर। (सर्वाः विशः त्वा वाञ्छन्तु) सब प्रजाजन तुझको चाहें। (राष्ट्रं त्वत् मा अधिभ्रशत्) राष्ट्र तेरेसे भ्रष्ट न होवे ॥ १ ॥

(इह एव एधि) यहां आ। (मा अपच्योष्ठाः) कभी मत गिर, (पर्वतः इव अविचाचलत्) पर्वतके समान अविचलित और (इन्द्रः इव ध्रुवः) इन्द्रके समान स्थिर होकर (इह तिष्ठ) यहां ठहर और (राष्ट्रं उ धारय) राष्ट्रका पालन कर ॥ २ ॥

(इन्द्रः ध्रुवेण हविषा) इन्द्र स्थिर समर्पणसे (एतं ध्रुवं अदीधरत्) इसको स्थिररूपसे धारण करता है। (तस्मै सोमः) उसको सोमने और (अयं च ब्रह्मणस्पतिः) इस ज्ञानपतिने (अधिब्रवत्) उपदेश दिया ॥ ३ ॥

भावार्थ— हे राजन्! तुमको हम सब लोगोंने चुनकर इस राजगद्दीपर लाये हैं, अब तू इस राजसभामें आ और यहांका कार्य स्थिर होकर कर। चंचलता छोड दे। सब दिशाओंमें रहनेवाले तेरे प्रजाजन तुम्हारे विषयमें संतोष प्रकट करें। तेरेसे इस राज्यकी अधोगति न होवे ॥ १ ॥

इस राज्यपर रह, यहांसे मत गिर। स्थिर होकर यहांका कार्य कर। अपने स्थानसे पदच्युत न हो और इस राष्ट्रका उद्धार कर ॥ २ ॥

इन्द्रने भी आत्मसमर्पणसे स्थिर राज्यको प्राप्त किया था और उसको ज्ञानी ब्रह्मणस्पतिने उत्तम उपदेश दिया था, इस प्रकार तू भी आत्मसमर्पणसे इस राज्यका शासन कर और यहांके ज्ञानी जन जिस प्रकार सलाह दें उस प्रकार इस राष्ट्रका [illegible]मन कर ॥ ३ ॥

राजाकी स्थिरता ।

राजा राजगद्दीपर स्थिर किस रीतिसे हो सकता है इस बातका उपदेश बडी उत्तमतासे इस सूक्तमें दिया है—

(१) राजाका सब प्रजाजनों द्वारा चुनाव होना चाहिये, (२) राजाको इस प्रकारका राज्यशासन करना चाहिये कि, जिससे सब लोग प्रसन्न हों और उन्नतिको प्राप्त करें, (३) राजामें चंचलवृत्ति नहीं होनी चाहिये, (४) प्रजाके मनको आकर्षित करनेवाला राजा हो, (५) उसके राज्यशासनसे राष्ट्रकी अवनति न हो, (६) राजा राष्ट्रके विद्वानोंकी संमतिसे राज्यशासन चलावे। इस प्रकार राजा व्यवहार करेगा तो वह राजगद्दीपर स्थिर रह सकता है, अन्यथा पदच्युत होगा। इस उपदेशसे पता लग सकता है कि किनसे दुर्गुण रहनेसे राजा राष्ट्रसे भ्रष्ट होता है। देखिये—

(१) प्रजाकी अनुमतिके बिना जो राजगद्दीपर बैठता है, (२) जो प्रजाकी प्रसन्नता नहीं प्राप्त करता, (३) जो चंचल वृत्तिवाला होता है, (४) जिसका अहित प्रजा चाहती है, (५) जिसके राज्यशासनसे राष्ट्रकी अधोगति होती है। (६) जो राष्ट्रके विद्वानोंकी संमतिके विरुद्ध राज्यशासन चलाता है। इस प्रकारका जो राजा होता है वह राज्यसे गिरता है।

हरएक प्रजाजन तथा हरएक राजा इस सूक्तका विचार करे। इस सूक्तके मननसे प्रजाको भी पता लग जायगा कि उत्तम राजा कौनसा है और अधम कौनसा है, किसको राजगद्दी पर रखना चाहिये और किसको नहीं। राजाको भी पता लग जायगा कि किस रीतिसे अपनी स्थिरता होगी और किस कारण राज्यसे गिरावट होगी। राजा और प्रजा इन दोनोंको इस सूक्तसे उत्तम बोध प्राप्त हो सकता है।

राजाकी स्थिरता ।

[सूक्त ८८]

(ऋषिः — अथर्वा । देवता — ध्रुवः ।)

ध्रुवा द्यौर्ध्रुवा पृथिवी ध्रुवं विश्वमिदं जगत् । ध्रुवासः पर्वता इमे ध्रुवो राजा विशामयम् ॥ १ ॥
ध्रुवं ते राजा वरुणो ध्रुवं देवो बृहस्पतिः । ध्रुवं त इन्द्रश्चाग्निश्च राष्ट्रं धारयतां ध्रुवम् ॥ २ ॥
ध्रुवोऽच्युतः प्र मृणीहि शत्रूञ्छत्रूयतोऽधरान्पादयस्व ।
सर्वा दिशः संमनसः सध्रीचीर्ध्रुवाय ते समितिः कल्पतामिह ॥ ३ ॥

अर्थ— जिस प्रकार (**द्यौः ध्रुवा**) द्युलोक स्थिर है, (**पृथिवी ध्रुवा**) पृथ्वी स्थिर है, (**इदं विश्वं जगत् ध्रुवं**) यह सब जगत् स्थिर है, तथा (**इमे पर्वताः ध्रुवासः**) ये पर्वत स्थिर हैं उस प्रकार (**अयं विशां राजा ध्रुवः**) यह प्रजाओंका रंजन करनेवाला राजा स्थिर हो ॥ १ ॥

(**राजा वरुणः ते ध्रुवं**) राजा वरुण तेरे लिये स्थिर, (**देवः बृहस्पतिः ध्रुवं**) बृहस्पति देव तेरे लिये स्थिर, (**इन्द्रः च अग्निः च ते ध्रुवं**) इन्द्र और अग्नि तेरे लिये स्थिर (**राष्ट्रं धारयतां**) राष्ट्र धारण करें ॥ २ ॥

(**अच्युतः ध्रुवः शत्रून् प्र मृणीहि**) न गिरता हुआ और स्थिर होकर शत्रुओंका नाश कर। (**शत्रूयतः अधरान् पादयस्व**) शत्रुवत् आचरण करनेवालोंको नीचे गिरा दे। (**सर्वाः दिशः**) सब दिशाओंमें निवास करनेवाली प्रजाएं (**सध्रीचीः संमनसः**) एक कार्यमें रत और एक विचारसे युक्त होकर, उन लोगोंकी (**समितिः इह ते ध्रुवाय कल्पतां**) सभा यहां तेरी स्थिरताके लिये समर्थ होवे ॥ ३ ॥

भावार्थ— द्युलोक, भूलोक, पर्वत और यह सब जगत् जिस प्रकार स्थिर है उस प्रकार राजा स्थिर हो जावे ॥ १ ॥

राजा वरुण, इन्द्र, अग्नि और देव बृहस्पति ये इस राजाके लिये स्थिर राष्ट्र धारण करें ॥ २ ॥

राजा स्थिर और सुदृढ होकर शत्रुका नाश करे, शत्रुके समान आचरण करनेवालोंको नीचे गिरावे। सब प्रजाजन एक विचारसे युक्त होकर अपनी राष्ट्रसभा द्वारा उत्तम राजाको राजगद्दीपर स्थिर रखें ॥ ३ ॥

स्थिरताके लिये।

राजा किन गुणोंके धारण करनेसे अपनी राजगद्दीपर स्थिर रह सकता है इसका विचार इस सूक्तमें किया है। यह सूक्त कहता है कि 'द्यौ, पृथिवी, पर्वत, जगत्' ये किस रीतिसे स्थिर हुए हैं इसका विचार राजा करे और उनके गुणोंको धारण करके स्थिर होवे; देखिये इनके कौनसे गुण है—

१ द्यौः— आकाश तथा सूर्य। इनमें तेज है, सूर्य तो स्वयं-प्रकाशी है। इस प्रकार उत्तम तेजस्वी राजा स्थिर हो सकता है।

२ पृथ्वी— पृथ्वी सबका उत्तम प्रकार धारण और पोषण करती है। जो राजा सब प्रजाजनोंका इस प्रकार धारण-पोषण करता है वह स्थिर होता है।

३ पर्वत— अपने स्थानमें स्थिर रहते हैं कभी पीछे नहीं हटते। इस प्रकार युद्धमें जो अपने स्थानमें स्थिर रहता है, भागता नहीं, वह राजा राष्ट्रमें स्थिर रहता है।

४ जगत्— चलता है, परंतु अपनी मर्यादामें घूमता है। इस प्रकार जो अपनी मर्यादासे प्रगति करता है वह स्थिर होता है।

इस प्रकारके गुण धारण करनेवाला राजा राजगद्दीपर स्थिर रहता है। इन गुणोंसे भी और अधिक एक गुण है—

५ विशां राजा ध्रुवः— प्रजाओंका रंजन करनेवाला राजा स्थिर रहता है।

यह गुण सब गुणोंसे श्रेष्ठ है और इसके रहनेसे ही अन्य गुण कार्य करनेमें समर्थ होते हैं। 'राजा' शब्दका ही अर्थ (प्रजारंजकः) प्रजाको प्रसन्न करनेवाला है। इस प्रकारके प्रजाकी प्रसन्नता संपादन करनेवाले राजाको ही इन्द्रादि देव राजगद्दीपर स्थिर रखनेकी सहाय्यता करें। इन देवताओंसे बोधित होनेवाले राज्यके लोग राजाकी सहाय्यता करें। इन देवतावाचक शब्दोंसे बोधित होनेवाले ये लोग हैं—

१ बृहस्पतिः, अग्निः— ज्ञानी, विद्वान् आदि ब्राह्म बल,
२ इन्द्रः— शूर वीर, सैनिक आदि क्षत्रिय बल,
३ वरुणः— वरिष्ठ लोक।

ये सब लोग उत्तम राजाकी सहाय्यता करें और उसकी स्थिरताके लिये प्रयत्न करें। इनकी सहाय्यता प्राप्त करके राजा संपूर्ण शत्रुओंको दूर करे, सब प्रजाजनोंमें एकता स्थापित करे और राष्ट्रीय महासभाकी सहाय्यतासे अपनी स्थिरता करे। राष्ट्रमहासभा भी योग्य राजाको ही अपनी सहानुभूति प्रदान करे और अयोग्य राजाको कभी सहाय्यता न दे।

इस प्रकार राजा और प्रजाको बडा बोध देनेवाला यह सूक्त है। आशा है कि ये दोनों इसका मनन करके अधिकसे अधिक लाभ उठावेंगे।

परस्पर प्रेम।

[सूक्त ८९]

(ऋषिः — अथर्वा। देवता — रुद्रः, मन्त्रोक्ताः।)

इदं यत्प्रेण्यः शिरो दत्तं सोमेन वृष्ण्यम्। ततः परि प्रजातेन हार्दिं ते शोचयामसि ॥ १ ॥
शोचयामसि ते हार्दिं शोचयामसि ते मनः। वातं धूम इव सध्र्यङ् मामेवान्वेतु ते मनः ॥ २ ॥

अर्थ— (प्रेण्यः इदं यत् वृष्ण्यं शिरः) प्रेम करनेवालेका जो यह बलवान् सिर है, जो (सोमेन दत्तं) सोमने दिया है, (ततः प्रजातेन) उससे उत्पन्न हुए बलसे (ते हार्दिं परि शोचयामसि) तेरे हृदयके भावोंको उद्दीपित करते हैं ॥ १ ॥

(ते हार्दिं शोचयामसि) तेरे हृदयके भावोंको उद्दीपित करते है, (ते मनः शोचयामसि) तेरे मनको उत्तेजित करते है, (वातं धूम इव) वायुके पीछे जिस प्रकार धूवां जाता है, उस प्रकार (ते सध्र्यङ् मनः मां एव अन्वेतु) तेरा अनुकूल मन मेरे पास ही आवे ॥ २ ॥

भावार्थ— प्रेम करनेवालेका सिर और हृदय प्रेमके साथ ही उद्दीपित होता है ॥ १ ॥
हृदयको और मनको उत्तेजित करते हैं जिस प्रकार धूवां वायुको अनुसरता है, उसी प्रकार मन हृदयको अनुकूल होवे ॥ २ ॥

मह्यं त्वा मित्रावरुणौ मह्यं देवी सरस्वती । मह्यं त्वा मध्यं भूम्या उभावन्तौ समस्यताम् ॥ ३ ॥

अर्थ-(मित्रावरुणौ त्वा मह्यं) मित्र और वरुण तुमको मुझे देवें, (देवी सरस्वती मह्यं) सरस्वती देवी मुझे देवे । (भूम्या मध्यं) भूमिका मध्य तथा (उभौ अन्तौ) दोनों अन्तभाग (त्वा मह्यं समस्यतां) तुमको मुझे देवें ॥ ३ ॥

भावार्थ— मित्र, वरुण, सरस्वती, भूमिका मध्यभाग और अन्तिम भाग ये सब हम सबको मिलाकर रखें ॥ ३ ॥

एकताका मन्त्र ।

मनुष्यका सिर और हृदय प्रेमसे उत्तेजित होता है । इस प्रकार उत्तेजित हुआ और प्रेमसे भरपूर हुआ मनुष्य ही इस जगत्‌में कुछ विशेष कार्य करनेमें समर्थ होता है ।

हृदयके अनुकूल मन ऐसा होवे कि, जिस प्रकार वायुकी गतिके अनुकूल भूर्या होता है। सरस्वती अर्थात् विद्याकी और भूमि अर्थात् मातृभूमिकी भक्ति ये दोनों मनको ऐसा अनुकूल करें, कि वह कभी हृदयको छोडकर अर्थात् उस नेताके हृदयसे दूर न भाग जावें ।

इस प्रकार मनसे सुविचार और हृदयसे भक्ति करते हुए मनुष्य उन्नत हो सकते हैं ।

शरीरसे बाणको हटाना ।

[सूक्त ९०]

(ऋषिः — अथर्वा । देवता — रुद्रः ।)

यां ते रुद्र इषुमास्यदङ्गेभ्यो हृदयाय च । इदं तामद्य त्वद् वयं विषूचीं वि वृहामसि ॥ १ ॥
यास्ते शतं धमनयोऽङ्गान्यनु विष्ठिताः । तासां ते सर्वासां वयं निर्विषाणि ह्वयामसि ॥ २ ॥
नमस्ते रुद्रास्यते नमः प्रतिहितायै । नमो विसृज्यमानायै नमो निपतितायै ॥ ३ ॥

अर्थ— (रुद्रः यां इषुं) रुद्र जिस बाणको (ते अङ्गेभ्यः हृदयाय च आस्यत्) तेरे अङ्गों और हृदयके लिये फेंकता है, (अद्य तां) आज उस बाणको (वयं त्वद् विषूचीं) हम तेरेसे विरुद्ध दिशासे (इदं वि वृहामसि) इस प्रकार दूर करते हैं ॥ १ ॥

(याः ते शतं धमनयः) जो तेरे शरीरमें सैकडों धमनियां (अङ्गानि अनु विष्ठिताः) अवयवोंमें रहती हैं (ते तासां सर्वासां) तेरी उन सब धमनियोंसे (विषाणि निः ह्वयामसि) सब विषोंको निश्शेष करते हैं ॥ २ ॥

हे रुद्र ! (ते अस्यते नमः) फेंकते हुए तुझे नमस्कार हो । (प्रतिहितायै नमः) फेंके हुए बाणको नमन हो । (विसृज्यमानायै नमः) छोडे गये बाणको नमन हो और (निपतितायै नमः) लक्ष्यपर लगे बाणको नमस्कार है ॥ ३ ॥

भावार्थ— शरीरमें लगे बाणको युक्तिसे हटाना चाहिये और शरीरको विषरहित करना चाहिये ॥ १-३ ॥

जल-चिकित्सा ।

[सूक्त ९१]

(ऋषिः — भृग्वंगिराः । देवता — यक्ष्मनाशनं, मन्त्रोक्ताः ।)

इमं यवमष्टायोगैः षड्योगेभिरचर्कृषुः । तेना ते तन्वोई रपोऽपाचीनमप व्यये ॥ १ ॥

अर्थ— (इमं यवं) इस जौको (अष्टायोगैः षड्योगैः) आठ बैलजोडियोंवाले अथवा (षड्योगैः) छः बैलजोडियोंसे की हुई (अचर्कृषुः) कृषिसे उत्पन्न करते हैं । (तेन ते तन्वः) उससे तेरे शरीरके (रपः अपाचीनं अप व्यये) रोगबीजको निम्न गतिसे दूर करते हैं ॥ १ ॥

न्य१ग्वातो वाति न्यक् तपति सूर्यः । नीचीनमघ्न्या दुहे न्यग् भवतु ते रपः ॥ २ ॥
आप इद् वा उ भेषजीरापो अमीवचातनीः । आपो विश्वस्य भेषजीस्तास्ते कृण्वन्तु भेषजम् ॥ ३ ॥

अर्थ— (वातः न्यक् वाति) अपानवायु निम्न गतिसे चलता है, (सूर्यः न्यक् तपति) सूर्य निम्न भागमें तपता है, (अघ्न्या नीचीनं दुहे) गौ निम्न भागसे दूध देती है । इस प्रकार (ते रपः न्यक् भवतु) तेरा दोष दूर होवे ॥ २ ॥

(आपः इत् वै उ भेषजीः) जल निःसन्देह औषधी है, (आपः अमीवचातनीः) जल रोग दूर करनेवाला है, (आपः विश्वस्य भेषजीः) जल सब रोगोंकी औषधि है, (ताः ते भेषजं कृण्वन्तु) वह जल तेरे लिये औषध बनावे ॥ ३ ॥

जल सब रोगोंको दूर करनेवाली औषधि है, जल सब दोष शरीरसे दूर करता है और सब विष दूर करके आरोग्य देता है । जलप्रयोगसे अपानकी निम्न गति होती है और उस कारण बद्धकोष्ठता दूर होती है । बद्धकोष्ठ दूर होनेसे पूर्ण आरोग्य होता है । इस आरोग्यके लिये उत्तम जौका अन्न खाना चाहिये और इस पथ्यके साथ अष्टांगयोग अथवा षडंगयोग करना चाहिये । यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ये आठ अंग योगके हैं । पहिले दो अंग अथवा अंतिम दो छोडनेसे, षडंगयोग होता है । इससे भी रोग दूर होते हैं और आरोग्य प्राप्त होता है ॥

अश्व ।

[सूक्त ९२]

(ऋषिः — अथर्वा । देवता — इन्द्रः, वाजी ।)

वातरंहा भव वाजिन् युज्यमान इन्द्रस्य याहि प्रसवे मनोजवाः ।
युञ्जन्तु त्वा मरुतो विश्ववेदस आ ते त्वष्टा पत्सु जवं दधातु ॥ १ ॥
जवस्ते अर्वन् निहितो गुहा यः श्येने वात उत योऽचरत् परीत्तः ।
तेन त्वं वाजिन् बलवान् बलेनाजिं जय समने पारयिष्णुः ॥ २ ॥

अर्थ— हे (वाजिन्) अश्व ! (युज्यमानः वातरंहाः भव) जोतने पर वायुके वेगसे युक्त हो, (इन्द्रस्य प्रसवे मनोजवाः याहि) इन्द्रकी इस सृष्टिमें मनोवेगसे चल । (विश्ववेदसः मरुतः त्वा युञ्जन्तु) सब ज्ञानसे युक्त मरनेतक उठनेवाले वीर तुझे नियुक्त करें । (त्वष्टा ते पत्सु जवं आ दधातु) त्वष्टा तेरे पांवोंमें वेग रखे ॥ १ ॥

हे (अर्वन्) गतिशील ! (यः गुहा निहितः ते जवः) जो हृदयमें रहा हुआ तेरा वेग है, (यः श्येने वाते उत परीत्तः) जो वेग श्येनपक्षीमें और जो वायुमें है और जो अन्यत्र भी है, हे (वाजिन्) अश्व ! (तेन त्वं बलवान्) उस वेगसे तू बलवान् होकर (समने पारयिष्णुः) संग्राममें पार करनेवाला होता हुआ (आजिं जय) युद्धमें विजय कर ॥ २ ॥

भावार्थ— घोडा वेगवान् हो, चलनेके समय मनके वेगके समान शीघ्र दौडे । ऐसे घोडेको वीर जोतें और ईश्वर ऐसे घोडेके पांवमें बडा वेग रखे ॥ १ ॥

जो वेग वायु, श्येन पक्षी और अन्य वेगवान् पदार्थोंमें है वह वेग इस घोडेमें हो । ऐसा वेगवान् और बलवान् घोडा युद्धमें विजयको प्राप्त करनेवाला हो ॥ २ ॥

तनूष्टे वाजिन् तन्वं१ नयन्ती वाममस्मभ्यं धावतु शर्म तुभ्यम् ।
अह्रुतो महो धरुणाय देवो दिवीव ज्योतिः स्वमा मिमीयात् ॥ ३ ॥

॥ इति नवमोऽनुवाकः ॥

अर्थ- हे (वाजिन्) अश्व ! (ते तनूः तन्वं नयन्ती) तेरा शरीर हमारे शरीरको ले चलता हुआ (अस्मभ्यं वामं धावतु) हम सबके लिये अल्प कालमें पहुंचावे और (तुभ्यं शर्म) तुम्हारे लिये सुख देवे। (अह्रुतः देवः) अकुटिल देव (धरुणाय) सबकी धारणाके लिये (दिवि ज्योतिः इव) द्युलोकमें जैसा तेजस्वी सूर्य है, उसके समान (महः स्वं आ मिमीयात्) सबको बडा तेज निर्माण करके देवे ॥ ३ ॥

भावार्थ— यह घोडा मनुष्योंको अतिशीघ्र दूरतक पहुंचावे । वह स्वामीको सुख देवे और स्वयं सुखी होवे । द्युलोकमें सूर्यके समान ऐसा घोडा यहां चमकता रहे ॥ ३ ॥

उत्तम घोडेका वर्णन इस सूक्तमें है। घोडा बलवान् और चपल तथा शीघ्रगामी हो। युद्धमें जानेवाले सैनिक ऐसे घोडोंका उपयोग करें और विजय प्राप्त करें। इत्यादि बोध इस सूक्तमें है।

॥ यहां नवम अनुवाक समाप्त ॥

हमारी रक्षा ।

[सूक्त ९३]

(ऋषिः — शन्तातिः । देवता — रुद्रः ।)

यमो मृत्युरघमारो निर्ऋथो बभ्रुः शर्वोऽस्ता नीलशिखण्डः ।
देवजनाः सेनयोत्तस्थिवांसस्ते अस्माकं परि वृञ्जन्तु वीरान् ॥ १ ॥
मनसा होमैर्हरसा घृतेन शर्वायास्त्र उत राज्ञे भवाय ।
नमस्येभ्यो नम एभ्यः कृणोम्यन्यत्रास्मदघविषा नयन्तु ॥ २ ॥
त्रायध्वं नो अघविषाभ्यो वधाद् विश्वे देवा मरुतो विश्ववेदसः ।
अग्नीषोमा वरुणः पूतदक्षा वातापर्जन्ययोः सुमतौ स्याम ॥ ३ ॥

अर्थ— (यमः) नियामक, (मृत्युः) मारक, (अघ-मारः) पापियोंको मारनेवाला, (निर्ऋथः) पीडक, (बभ्रुः) पोषक, (शर्वः) हिंसक, (अस्ता) शस्त्र फेंकनेवाला, (नीलशिखण्डः) नीले ध्वजसेयुक्त तथा (देवजनाः) सब दिव्यजन, (सेनया उत्तस्थिवांसः) सेनाके साथ चढाई करनेवाले, (अस्माकं वीरान् परि वृञ्जन्तु) हमारे वीरोंको बचावें ॥ १ ॥

(अस्त्रे शर्वाय) अस्त्र फेंकनेवाले हिंसकके लिये (उत भवाय राज्ञे) और उन्नति करनेवाले राजाके लिये (मनसा घृतेन होमैः हरसा) मनसे, घीसे, होमोंसे और शक्तिसे (एभ्यः नमस्येभ्यः नमः कृणोमि) इन नमन करने योग्योंको नमन करता हूं। (अघविषः अस्मद् अन्यत्र नयन्तु) पापरूपी विषसे परिपूर्ण लोक हमसे दूर हों ॥ २ ॥

(विश्वेदेवाः विश्ववेदसः मरुतः) सब दिव्य और सब जाननेवाले मरने तक कार्य करनेवाले वीर तथा (अग्नीषोमौ पूतदक्षाः वरुणः) अग्नि, सोम, पवित्र बलवाला वरुण, (अघविषाभ्यः वधात् त्रायध्वं) पापियोंके वधसे हमें बचावें। (वातापर्जन्ययोः सुमतौ स्याम) वायु और पर्जन्यकी सुमतिमें हम सदा रहें ॥ ३ ॥

भावार्थ— सब शूरवीर हमारे बालबच्चों और हमारे वीरोंको बचावें ॥ १ ॥
जो नमन करने योग्य हैं उनका मनसे और दानके साथ सत्कार किया जावे। पापी हम सबसे दूर हों ॥ २ ॥
सब देव हमें पापियोंसे बचावें और हम उनकी उत्तम मतिमें रहकर उत्तम कार्य करें ॥ ३ ॥

संगठन का उपदेश।

[सूक्त ९४]

(ऋषिः — अथर्वाङ्गिराः। देवता — सरस्वती।)

सं वो मनांसि सं व्रता समाकूतीर्नमामसि। अमी ये विव्रता स्थन तान् वः सं नमयामसि॥ १॥

अहं गृभ्णामि मनसा मनांसि मम चित्तमनु चित्तेभिरेत।

मम वशेषु हृदयानि वः कृणोमि मम यातमनुवर्त्मान एत ॥ २॥

ओते मे द्यावापृथिवी ओता देवी सरस्वती। ओतौ म इन्द्रश्चाग्निश्चर्ध्यास्मेदं सरस्वति ॥ ३॥

अर्थ— (वः मनांसि सं) तुम्हारे मन एक भावसे युक्त करो, (व्रता सं) तुम्हारे कर्म एक विचारसे हों, (आकूतिः सं नमामसि) तुम्हारे संकल्पोंको एक भावमें झुकाते हैं। (अमी ये विव्रताः स्थन) यह जो तुम परस्पर विरुद्ध कर्म करनेवाले हो, (तान् वः सं नमयामसि) उन सब तुमको हम एक विचारमें झुकाते हैं॥ १॥ (अथर्व. ३।८।५)

(अहं मनसा मनांसि गृभ्णामि) मैं अपने मनसे तुम्हारे मनोंको लेता हूं। (मम चित्तं चित्तेभिः अनु आ-इत) मेरे चित्तके अनुकूल अपने चित्तोंको बनाकर आओ। (मम वशेषु वः हृदयानि कृणोमि) मेरे वशमें तुम्हारे हृदयोंको मैं करता हूं। (मम यातं अनुवर्त्मानः आ-इत) मेरे चालचलनके अनुकूल चलनेवाले होकर यहां आओ॥

(अथर्व. ३।८।६)

(द्यावापृथिवी मे ओते) द्युलोक और भूलोक ये मेरेसे मिलेजुले हैं। (देवी सरस्वती ओता) सरस्वती देवी मेरेसे मिली है। (इन्द्रः च अग्निः च मे ओतौ) इन्द्र और अग्नि मेरे साथ मिले हैं। हे सरस्वति! (इदं ऋध्यास्म) इससे हम समृद्ध हों॥ ३॥ (अथर्व. ५।२३।१)

ये तीनों मंत्र पूर्वस्थानमें आये हैं। ऊपर उनका पता दिया है। इसलिये विशेष स्पष्टीकरण पूर्वस्थानमें ही पाठक देखें। तृतीय मंत्रका चतुर्थ चरण इस सूक्तमें पूर्वकी अपेक्षा भिन्न है, परंतु वह अति सरल होनेसे विशेष स्पष्टीकरणकी अपेक्षा नहीं रखता।

कुष्ठ औषधि।

[सूक्त ९५]

(ऋषिः — भृग्वङ्गिराः। देवता — वनस्पतिः।)

अश्वत्थो देवसदनस्तृतीयस्यामितो दिवि। तत्रामृतस्य चक्षणं देवाः कुष्ठमवन्वत ॥ १॥

अर्थ— (इतः तृतीयस्यां दिवि) यहांसे तीसरे द्युलोकमें (देवसदनः अश्वत्थः) देवोंके बैठने योग्य अश्वत्थ है। (तत्र अमृतस्य चक्षणं) वहां अमृतका दर्शन होनेके समान (कुष्ठं देवाः अवन्वत) कुष्ठ औषधिको देवोंने प्राप्त किया है॥ १॥ (अथर्व. ५।४।३)

हिरण्ययी नौरचरद्धिरण्यबन्धना दिवि । तत्रामृतस्य पुष्पं देवाः कुष्ठमवन्वत ॥ २ ॥
गर्भो असि ओषधीनां गर्भो हिमवतामुत । गर्भो विश्वस्य भूतस्येमं मे अगदं कृधि ॥ ३ ॥

अर्थ— (हिरण्ययी हिरण्यबन्धना नौः) सोनेकी बनी और सुवर्णके बन्धनोंसे बन्धी नौका (दिवि अचरत्) द्युलोकमें चलती है। (तत्र अमृतस्य पुष्पं कुष्ठं) वहां अमृतके पुष्पके समान कुष्ठ औषधिको (देवाः अवन्वत) देवोंने प्राप्त किया है ॥ २ ॥ (अथर्व. ५।४।४)

(ओषधीनां गर्भः असि) औषधियोंका मूल तू है। (उत हिमवतां गर्भः) और हिमवालोंका भी तू गर्भ है। (तथा विश्वस्य भूतस्य गर्भः) सब भूतमात्रका गर्भ है; (मे इमं अगदं कृधि) तू मेरे इस रोगीको नीरोग कर ॥ ३ ॥ (अथर्व. ५।२५।७)

ये भी तीनों मंत्र पूर्व स्थानमें आ गये हैं। अतः पाठक इनका विवरण पूर्वस्थानमें देखें। तृतीय मंत्रमें कुछ पाठभेद है, परंतु उसके विशेष स्पष्टीकरणकी आवश्यकता नहीं है।

रोगोंसे बचना।

[सूक्त ९६]

(ऋषिः — भृग्वङ्गिराः । देवता — वनस्पतिः, सोमः ।)

या ओषधयः सोमराज्ञीर्बह्वीः शतविचक्षणाः । बृहस्पतिप्रसूतास्ता नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ १ ॥
मुञ्चन्तु मा शपथ्या३दथो वरुण्यादुत । अथो यमस्य पड्बीशाद् विश्वस्माद् देवकिल्बिषात् ॥ २ ॥
यच्चक्षुषा मनसा यच्च वाचोपारिम जाग्रतो यत् स्वपन्तः । सोमस्तानि स्वधया नः पुनातु ॥ ३ ॥

अर्थ— (याः सोमराज्ञीः बह्वी ओषधयः) जो सोम औषधि जिनमें मुख्य है ऐसी अनेक औषधियां हैं और जिनसे (शत-विचक्षणाः) सैंकडों कार्य होते हैं, (बृहस्पति-प्रसूताः ताः) ज्ञानीके द्वारा दी हुई वे औषधियां (नः अंहसः मुञ्चन्तु) हमें पापरूपी रोगसे बचावें ॥ १ ॥

(मा शपथ्यात् मुञ्चन्तु) मुझको दुर्वचनसे हुए रोगसे बचावें, (अथो उत वरुण्यात्) और जलके कारण होनेवाले रोगसे बचावें। (अथो यमस्य पड्बीशात्) अथवा यमके पाशस्वरूप असाध्य रोगोंसे बचावें तथा (विश्वस्मात् देवकिल्बिषात्) सब देवोंके संबंधके पापोंसे उत्पन्न हुए रोगोंसे बचावें ॥ २ ॥

(यत् चक्षुषा मनसा) जो पाप चक्षु और मनसे तथा (यत् च वाचा) जो वाणीसे (जाग्रतः यत् स्वपन्तः उपारिम) जागते समय और जो सोते समय हम (उपारिम) प्राप्त करते हैं (नः तानि) हमारे वह सब पाप (सोमः स्व-धया पुनातु) सोम अपनी शक्तिसे पुनीत करके दूर करे ॥ ३ ॥

भावार्थ— सब औषधियोंमें सोम औषधि मुख्य है। इन औषधियोंसे सैंकडों रोगोंकी चिकित्सा होती है। ज्ञानी वैद्य द्वारा ही ये औषधियां हमें रोगमुक्त करें ॥ १ ॥

दुर्वचनसे, जलके बिगडनेसे, यमके पाशरूप दोषोंसे और सब पापोंसे उत्पन्न हुए रोगोंसे औषधियां हमें बचावें ॥ २ ॥

आंख, मन, वाणी आदि इंद्रियों द्वारा जाग्रतावस्थामें और स्वप्नावस्थामें जो पाप हम करते हैं; उन पापोंसे उत्पन्न हुए रोगोंसे सोम आदि औषधियां हमें बचावें ॥ ३ ॥

पापसे रोगकी उत्पत्ति।

इस सूक्तमें पापसे रोगोंकी उत्पत्ति होनेकी कल्पना बताई है। सब रोग मनुष्योंके किये पापोंसे उत्पन्न होते हैं। यदि मनुष्य अपने आपको पापसे बचावेंगे, तो निःसंदेह वे रोगोंसे बच सकते हैं।

मनुष्य सोते हुए और जागते हुए अपने इंद्रियोंसे अनेक पाप करते हैं और रोगी होते हुए दुःखी होते हैं। इनको उचित है कि, वे पापसे बचे रहें और अपने इन्द्रियोंसे पाप न करें।

' शपथ ' अर्थात् गालियां देना, बुरे शब्द बोलना और क्रोधके वचन कहना यह भी पाप है। इससे अनेक रोग होते हैं। क्रोध भी स्वयं रोग उत्पन्न करता है। अतः इससे बचना उचित है।

रोग होनेपर औषधिप्रयोगसे रोगनिवृत्ति हो सकती है, परंतु औषध (बृहस्पतिप्रसूत) ज्ञानी वैद्यद्वारा विचारपूर्वक दिया हुआ होना चाहिये।

इस रीतिसे इस सूक्तमें बहुत उत्तम बोध दिये हैं। यदि पाठक इन सबका योग्य विचार करेंगे तो वे अपने आपको बहुत कष्टोंसे बचा सकते हैं।

शत्रुको दूर करना।

[सूक्त ९७]

(ऋषिः — अथर्वा। देवता — देवाः, मित्रावरुणौ।)

अभिभूर्यज्ञो अभिभूरग्निरभिभूः सोमो अभिभूरिन्द्रः।
अभ्य१हं विश्वाः पृतना यथासान्येवा विधेमाग्निहोत्रा इदं हविः ॥ १ ॥

स्वधास्तु मित्रावरुणा विपश्चिता प्रजावत् क्षत्रं मधुनेह पिन्वतम्।
बाधेथां दूरं निर्ऋतिं पराचैः कृतं चिदेनः प्र मुमुक्तमस्मत् ॥ २ ॥

इमं वीरमनु हर्षध्वमुग्रमिन्द्रं सखायो अनु सं रभध्वम्।
ग्रामजितं गोजितं वज्रबाहुं जयन्तमज्म प्रमृणन्तमोजसा ॥ ३ ॥

अर्थ— (यज्ञः अभिभूः) यज्ञ शत्रुका पराभव करता है, (अग्निः अभिभूः) अग्नि शत्रुका पराजय करता है, (सोमः अभिभूः) सोम शत्रुका पराभव करता है, (इन्द्रः अभिभूः) इन्द्र शत्रुका पराभव करता है। (यथा अहं विश्वाः पृतनाः अभि असानि) जिससे मैं सब सेनाओंका पराभव करूं (एवा) इस प्रकार हम भी (अग्निहोत्राः इदं हविः विधेम) अग्निहोत्र करनेवाले होकर इस हविका समर्पण करेंगे ॥ १ ॥

हे (विपश्चिता मित्रावरुणा) ज्ञानी मित्र और वरुण ! आपके लिये (स्वधा अस्तु) यह अन्नभाग हो। (प्रजावत् क्षत्रं इह मधुना पिन्वतं) प्रजायुक्त क्षत्रिय बल यहां सींचो। (निर्ऋतिं पराचैः दूरे बाधेथां) दुर्गतिको दूर करके दूर ही नष्ट करो और (कृतं चित् एनः) किये हुए पापको भी (अस्मत् प्र मुमुक्तं) हमसे दूर करो ॥ २ ॥

हे (सखायः) मित्रो ! (उग्रं ग्रामजितं गोजितं वज्रबाहुं वीरं) उग्र स्वभावयुक्त, गांवको जीतनेवाले, गौको जीतनेवाले अथवा इंद्रियोंको वश करनेवाले, वज्र धारण करनेवाले वीर, (ओजसा अज्म प्रमृणन्तं) बलसे शत्रुबलका नाश करनेवाले और (जयन्तं) विजय करनेवाले (इन्द्रं अनु सं रभध्वं) इन्द्रके अनुकूल अपने सब व्यवहार करो ॥ ३ ॥

भावार्थ— यज्ञ अर्थात् परोपकार, अग्नि, सोमादि औषधि, शूर वीर ये सब अपने अपने शत्रुओंको दूर करते हैं। उस प्रकार मैं भी सेनासे आक्रमण करनेवाले शत्रुओंपर विजय प्राप्त करूंगा। मैं इस विजयके लिये ऐसा आत्मसमर्पण करूंगा जैसा अग्निहोत्रमें हविर्द्रव्य अपने आपका समर्पण करता है ॥ १ ॥

इस राज्यमें सब क्षत्रियोंको उत्तम शूरवीर बालबच्चे हों और वे राष्ट्रमें ऐसा प्रबंध करें कि, उससे सब दुर्गति नष्ट होवे और सब पाप दूर होवे ॥ २ ॥

जो शत्रुके गांवको जीतनेवाला, शूरवीर, वज्र धारण करनेवाला अपने बलसे शत्रुसेनाका नाश करता है, उस विजय संपादन करनेवाले वीरके अनुकूल अपना आचरण करो ॥ ३ ॥

विजयके साधन ।

इस सूक्तमें विजयके कई साधन वर्णन किये हैं । प्रथम मंत्रमें इन साधनोंकी गणना की है, देखिये—

१ यज्ञः— यज्ञसे विजय होता है । यह सबसे मुख्य साधन है । यज्ञ अर्थात् ' सत्कार, संगठन और उपकार । ' सत्कार करनेयोग्य जो हैं उनका सत्कार करना, अपने अंदर संगठनसे बल बढाना और दुर्बलोंके ऊपर उपकार करना यह यज्ञ है । इस यज्ञसे वैयक्तिक, सामाजिक और राष्ट्रीय सब शत्रु दूर होते हैं । ये यज्ञ अनेक प्रकारके हैं । उन सबका यहां वर्णन करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है । यज्ञ मातृभूमिका रक्षण करता है यह बात अथर्व० कां० १२।१।१ में भी कही है; वह मंत्र यहां पाठक देखकर इसके साथ उसकी तुलना करें ।

२ अग्निः— अग्नि शब्दसे ज्ञान, प्रकाश और उष्णताका बोध यहां लेना योग्य है । ज्ञानसे विजय शीघ्र होती है । प्रकाश भी विजय देनेवाला है और उष्णता अर्थात् गर्मी मनुष्यमें रही तो वह मनुष्य कुछ न कुछ पराक्रम करनेमें समर्थ हो सकता है ।

३ सोमः— सोम आदि औषधियां रोगादि शत्रुओंका पराभव करती हैं ।

४ इन्द्रः— शूरवीर शत्रुसेनाका पराजय करते हैं ।

यज्ञ कैसा हो ?

विजयप्राप्तिके लिये यज्ञ कैसा हो ? इस प्रश्नके उत्तरमें प्रथम मंत्रने कहा है कि जैसा अग्निहोत्रमें हवि आत्मसमर्पण करता है, अग्निहोत्र करनेवाले लोक अपनी आहुतियोंका जैसा समर्पण करते हैं, जिस प्रकार (न मम) इसपर अब मेरा अधिकार नहीं ऐसा कहते हुए समर्पण करते हैं, उस प्रकार जब आत्म-समर्पण होगा, तब शत्रुपर विजय प्राप्त होगी । विजय प्राप्त करनेवाले अपने आपका समर्पण पूर्ण रीतिसे करें, यही यज्ञ है और यही विजय देनेवाला है ।

विजयके लिये (स्वधा अस्तु) स्वकीय धारणा शक्ति चाहिये । अपने अंदर धारणा शक्ति जितनी अधिक होगी उतना विजयप्राप्तिका निश्चय अधिक होगा ।

साथ ही साथ क्षत्रियोंमें वीर पुरुष भी उत्तम प्रकारके निर्माण होने चाहियें । इन्हींसे विजय होती है । और सब लोगोंका प्रयत्न इस कार्यके लिये होना चाहिये कि अपने राष्ट्रके अंदर जो विपत्ति है वह पूर्णरूपसे दूर हो । और सब लोग विपत्ति और कष्टसे मुक्त होकर समृद्धि तथा सुख प्राप्त करें ।

सब लोग शूरवीर, प्रतापी और पुरुषार्थी मनुष्यके अनुकूल अपना आचरण करें और कभी प्रतिकूल आचरण न करें । क्यों-कि नेताके प्रतिकूल आचरण करनेसे नाश ही होगा और लाभ होनेकी आशा भी नहीं रहेगी ।

इस प्रकार इस सूक्तका विचार करके पाठक बोध प्राप्त कर सकते हैं ।

विजयी राजा ।

[सूक्त ९८]

(ऋषिः — अथर्वा । देवता — इन्द्रः ।)

इन्द्रो जयाति न परा जयाता अधिराजो राजसु राजयातै ।
चर्कृत्य ईड्यो वन्द्यश्चोपसद्यो नमस्योऽ भवेह　　॥ १ ॥

अर्थ— (इन्द्रः जयाति) शूर पुरुषकी जय होती है, (न पराजयातै) कभी पराजय नहीं होती । (राजसु अधिराजः राजयातै) राजाओंमें जो सबसे श्रेष्ठ अधिराजा होता है उसकी शोभा बढती है । हे राजा ! तू (इह) इस राष्ट्रमें (चर्कृत्यः ईड्यः) शत्रुका नाश करनेवाला और स्तुतिके लिये योग्य, (वन्द्यः उपसद्यः नमस्यः भव) वन्दनीय, प्राप्त करने योग्य और नमस्कारके लिये योग्य हो ॥ १ ॥

भावार्थ— जो पुरुष शूर होता है, उसीकी जय होती है कभी पराजय नहीं होती । जो राजा सब राजाओंमें श्रेष्ठ बनता है वही अधिक प्रभावशाली, प्रशंसनीय, वंदनीय और उपास्य होता है ॥ १ ॥

त्वमिन्द्राधिराजः श्रवस्युस्त्वं भूरभिभूतिर्जनानाम् ।
त्वं दैवीर्विश इमा वि राजायुष्मत् क्षत्रमजरं ते अस्तु ॥ २ ॥
प्राच्या दिशस्त्वमिन्द्रासि राजोतोदीच्या दिशो वृत्रहञ्छत्रुहासि ।
यत्र यन्ति स्रोत्यास्तज्जितं ते दक्षिणतो वृषभ एषि हव्यः ॥ ३ ॥

अर्थ- हे इन्द्र ! (त्वं अधिराजः) तू राजाधिराज और (श्रवस्युः) कीर्तिमान् हो। (त्वं जनानां अभिभूतिः भूः) तू प्रजाजनोंका समृद्धिकर्ता हो। (त्वं इमाः दैवीः विशः विराज) तू इन दैवी प्रजाओंपर विराजमान हो। (ते आयुष्मत् क्षत्रं अजरं अस्तु) तेरा दीर्घायुयुक्त क्षात्र तेज जरारहित होवे ॥ २ ॥

हे इन्द्र ! (त्वं प्राच्याः दिशः राजा असि) तू प्राचीन दिशाका राजा है। हे (वृत्रहन्) शत्रुनाशक ! (उत उदीच्याः दिशः शत्रुहा असि) और तू उत्तर दिशाके शत्रुओंका नाश करनेवाला है। (यत्र स्रोत्याः यन्ति) जहां नदियां जाती हैं वहां तकके प्रदेशको (तत् ते जितं) तूने जीत लिया है। तथा (वृषभः हव्यः दक्षिणतः एषि) बलवान् और आदरसे पुकारने योग्य होकर दक्षिण दिशासे तू जाता है ॥ ३ ॥

भावार्थ— उत्तम राजा कीर्तिमान् और प्रजाओंकी समृद्धि बढानेवाला होवे। अपनी प्रजाको दैवी संपत्तिसे युक्त करे और अपने राष्ट्रका क्षात्रतेज बढाकर दीर्घ आयु भी बढावे ॥ २ ॥

चारों दिशाओंमें शत्रुओंको पराजित करके राजा विजयी बने, बलवान बने और सबके आदरका पात्र बने ॥ ३ ॥

राजा विजयी होकर किस रीतिसे यशका भागी होता है, यह बात इसमें स्पष्ट शब्दोंमें कही है। इस सूक्तका भाव अति सरल और सुबोध है। ' शौर्य और बल बढाने और प्रजाकी समृद्धि सुरक्षित करनेसे राजा विजयी होता है ' यह इस सूक्तका मुख्य आशय है।

कल्याणके लिये यत्न।

[सूक्त ९९]

(ऋषिः — अथर्वाङ्गिराः। देवता — वनस्पतिः, सोमः सविता च)

अभि त्वेन्द्र वरिमतः पुरा त्वांहूरणाद्धुवे। ह्वयाम्युग्रं चेत्तारं पुरुणामानमेकजम् ॥ १ ॥
यो अद्य सेन्यो वधो जिघांसन् न उदीरते। इन्द्रस्य तत्र बाहू समन्तं परि दद्मः ॥ २ ॥

अर्थ— हे इन्द्र ! (पुरा अंहूरणात्) पाप कर्म होनेके पूर्व ही (वरिमतः त्वा त्वा अभि हुवे) श्रेष्ठ कर्मके कारण तेरी ही सब प्रकारसे पुकार करते हैं। तथा (उग्रं चेत्तारं) शूरवीर चेतना देनेवाले (एकजं पुरुनामानं ह्वयामि) अकेले परंतु अनेक यशोंसे संपन्न पुरुषकी हम प्रशंसा करते हैं ॥ १ ॥

यः अद्य सेन्यः वधः) जो आज सेनाका शस्त्र हमें मारनेके लिये (उत् ईरते) ऊपर उठता है, (तत्र इन्द्रस्य बाहू समन्तं परि दद्मः) वहां प्रभुके बाहु चारों ओर हम धरते हैं ॥ २ ॥

भावार्थ— जिससे पाप कर्म नहीं होता है और जो श्रेष्ठ कर्म करता है, उसीकी प्रशंसा करनी चाहिये। इसी प्रकार जो शूरवीर, जनताको चेतना देनेवाला और अनेक प्रकारसे यश प्राप्त करनेवाला है, उसीका गुणगान करना योग्य है ॥ १ ॥

जिस समय सेनासे हमला होता है और शस्त्रसे वीर एक दूसरेको काटते हैं, उस समय प्रभुके हाथ ही रक्षा करते हैं ॥ २ ॥

परि॑ दध्म॒ इन्द्र॑स्य बा॒हू स॑म॒न्तं त्रा॒तुस्त्राय॑तां नः । देव॑ सवितः॒ सोम॑ राजन्त्सु॒मन॑सं मा कृणु स्व॒स्तये॑ ॥३॥

अर्थ— (इन्द्रस्य बाहू समन्तं परि दध्मः) प्रभुके बाहु चारों ओर हम धरते हैं, (त्रातुः नः त्रायतां) उस रक्षकके बाहु हमारी रक्षा करें। हे (सोम राजन् देव सवितः) सोम राजा देव! प्रभो! (स्वस्तये मा सुमनसं कृणु) कल्याणके लिये मुझे उत्तम मनवाला कर ॥ ३ ॥

भावार्थ— ऐसे तथा अन्य प्रकारके कठिन प्रसंगोंमें प्रभुके हाथ ही हमारी रक्षा करें। मनुष्यको यदि सचमुच कल्याणका साधन करना है तो वह अपना मन शुभ विचारोंसे परिपूर्ण रखे ॥ ३ ॥

कल्याणका मुख्य साधन

इस सूक्तमें जो कल्याणका मुख्य साधन कहा है वह देखने योग्य है—

स्वस्तये सुमनसम् । (मं. ३)

'कल्याण प्राप्त करनेके लिये उत्तम-उत्तम मन होना चाहिये।' यदि मन उत्तम शुभ संकल्पोंसे युक्त हुआ, तो ही मनुष्यका सचमुच कल्याण हो सकता है। मनमें दोष रहे, तो अवश्य कष्ट होंगे। इसी प्रकार कितनी भी आपत्ति आ गई तो भी उस समय प्रभुका हाथ अपनी पीठपर है ऐसा विश्वास होना चाहिये, इस विषयमें देखिये—

सेन्यः वधः जिघांसन् उदीरते ।
तत्र इन्द्रस्य बाहुः समन्तं नः त्रायताम् ॥ (मं. २, ३)

'जब सेनाके शस्त्र वधकी इच्छासे ऊपर उठते हैं, तब प्रभुका हाथ चारों ओरसे हमारी रक्षा करे।' प्रभुका हाथ सब प्रकारसे हमारी रक्षा कर रहा है, यह विश्वास मनुष्यको बडी शान्ति देता है और बल भी बढाता है।

इसके अतिरिक्त मनुष्यको तीन बातें ध्यानमें धारण करनी चाहिये- (१) पाप न करना, (२) श्रेष्ठ कर्म करना और (३) नम्र बनकर जनताको श्रेष्ठ कर्म करनेकी प्रेरणा करना। ये तीन कर्म करनेसे ही मनुष्य श्रेष्ठ और यशस्वी बनता है।

पाठक इस सूक्तका बहुत मनन करें; क्योंकि यह छोटासा सूक्त होनेपर भी बडा उत्तम उपदेश देता है और मनुष्यको श्रेष्ठ होनेकी प्रेरणा करता है।

विषनिवारणका उपाय।

[सूक्त १००]

(ऋषिः — गरुत्मान् । देवता — वनस्पतिः ।)

दे॒वा अ॑दुः॒ सूर्यो॑ अदा॒द् द्यौर॑दात् पृथि॒व्य॑दात् । ति॒स्रः सर॑स्वतीरदुः॒ सचि॑त्ता विष॒दूष॑णम् ॥१॥
यद् वो॑ दे॒वा उ॑पजी॒का आ॒सिञ्च॒न् धन्व॑न्युद॒कम् । तेन॑ देव॒प्रसू॑तेने॒दं दू॑षयता वि॒षम् ॥२॥
असु॑राणां दुहि॒तासि॒ सा दे॒वाना॑मसि॒ स्वसा॑ । दि॒वस्पृ॑थि॒व्याः संभू॑ता॒ सा च॑कर्था॒रसं॑ वि॒षम् ॥३॥

अर्थ— (देवाः विषदूषणं अदुः) देवोंने विषनिवारक उपाय दिया है। (सूर्यः अदात्) सूर्यने दिया है। (द्यौः अदात्, पृथिवी अदात्) द्युलोक और पृथ्वी लोकने भी दिया है। (सचित्ताः तिस्रः सरस्वतीः अदुः) एकविचारवाली तीनों सरस्वती देवियोंने विषनिवारक उपाय दिया है ॥ १ ॥

हे (देवाः) देवो! (उपजीकाः यत् उदकं) उपजीक नामक औषधियां जो जल (धन्वनि वः आसिंचन्) मरुदेशमें आपके समीप सींचती हैं, (तेन देवप्रसूतेन) उस देवसे उत्पन्न जलसे (इदं विषं दूषयत) इस विषका निवारण करो ॥ २ ॥

हे औषधि! तू (असुराणां दुहिता असि) असुरोंकी दुहिता है। (सा देवानां स्वसा असि) वह तू देवोंकी बहिन है। (दिवः पृथिव्याः संभूता) द्युलोक और भूलोकसे उत्पन्न हुई (सा विषं अरसं चकर्थ) वह तू विषको निर्बल बना ॥ ३ ॥

भावार्थ— पृथ्वी, सूर्य, वायु, जल आदि सब देव विषको दूर करते हैं। तथा विद्याएं भी ऐसी हैं जो विष दूर करती हैं ॥ १ ॥ मरुदेशमें भी जो जल होता है वह विष दूर करता है ॥ २ ॥ औषधि भी विष दूर करनेवाली है ॥ ३ ॥

यह सूक्त बडा दुर्बोधसा है। पहिले मंत्रमें कहा है कि पृथ्वी आदि अनेक देव विषनाशक गुण रखते हैं। अग्नि, जल, सोम आदिके प्रयोगसे विष दूर होनेकी बात वैद्यकग्रंथोंमें भी कही है।

द्वितीय मंत्रमें ' उपजीका ' मरुदेशमें जल उत्पन्न करती है वह जल विषनाशक है, ऐसा कहा है। यह उपजीका कौनसी वनस्पति है इसका पता नहीं चलता। ' उपजीक ' शब्दका अर्थ ' दूसरेके ऊपर रहकर अपनी उपजीविका करनेवाली। ' इससे संभव प्रतीत होता है कि वृक्षोंपर उत्पन्न होनेवाली कोई वनस्पति हो, जिसमें रस बहुत आता हो और जो मरुदेशमें भी विपुल रससे युक्त होती हो। इस वनस्पतिके रससे या उसके जलसे विष दूर होता है।

यह वनस्पति (असु-राणां दुहिता) प्राण रक्षण करनेवालोंकी सहायक और (देवानां स्वसा) इंद्रियोंके लिये भगिनीरूप है। अर्थात् यह आरोग्यवर्धक है, यह निर्जल भूमिमें उगती है और विष दूर करती है। वैद्योंको इस वनस्पतिकी खोज करनी चाहिये।

बल प्राप्त करना।

[सूक्त १०१]

(ऋषिः — अथर्वाङ्गिराः। देवता — ब्रह्मणस्पतिः।)

आ वृषायस्व श्वसिहि वर्धस्व प्रथयस्व च। यथाङ्गं वर्धतां शेपस्तेन योषितमिज्जहि ॥ १ ॥
येन कृशं वाजयन्ति येन हिन्वन्त्यातुरम्। तेनास्य ब्रह्मणस्पते धनुरिवा तानया पसः ॥ २ ॥
आहं तनोमि ते पसो अधि ज्यामिव धन्वनि। क्रमस्वर्श इव रोहितमनवग्लायता सदा ॥ ३ ॥

अर्थ— (आ वृषायस्व) बलवान् हो, (श्वसिहि) उत्तम प्राण धारण कर, (वर्धस्व प्रथयस्व च) बढ और अंगोंको फैला। (यथा शेपः अङ्गं वर्धताम्) जिससे प्रजननांग पुष्ट हो, और तू (तेन योषितं इत् जहि) उससे स्त्रीको प्राप्त हो ॥ १ ॥

हे (ब्रह्मणस्पते) ज्ञानी ! (येन कृशं वाजयन्ति) जिससे कृश मनुष्यको पुष्ट करते हैं, (येन आतुरं हिन्वन्ति) जिससे रोगीको समर्थ बनाते हैं, (तेन) उस उपायसे (अस्य पसः धनुः इव आतानय) इसका अंग धनुष्य जैसा फैला ॥ २ ॥

(अहं ते पसः तनोमि) मैं तेरी इंद्रियको फैलाता हूं, (धन्वनि अधि ज्याम् इव) जैसे धनुष्यपर डोरीको तानते हैं (ऋशः रोहितम् इव) जिस प्रकार रीछ हरिणपर धावा करता है (अनवग्लायता सदा क्रमस्व) न थकता हुआ आक्रमण कर ॥ ३ ॥ (देखो अथर्व० ४।४।७)

भावार्थ— हे मनुष्य ! तू बलवान् बन, प्राणका बल बढा, शरीर पुष्ट कर, और मोटा ताजा कर। इस प्रकार सब शरीर उत्तम पुष्ट होनेके पश्चात् स्त्रीको प्राप्त कर ॥ १ ॥

हे ज्ञानी पुरुष ! जिस उपायसे कृशको पुष्ट करते हैं और रोगीको नीरोग करते हैं, उस उपायसे तुम्हारे सब रोगी और निर्बल लोग नीरोग और बलवान् बनें ॥ २ ॥

धनुष्यकी डोरीके समान शरीरमें बल और लचीलापन होवे और ऐसा बल प्राप्त करके हरिणपर रीछ हमला करनेके समान न थकते हुए तू सदा हमला कर ॥ ३ ॥

चार प्रकारका बल ।

इस सूक्तमें चार प्रकारका बल कहा है । हरएकको यह चार प्रकारका बल प्राप्त करना चाहिये—

(१) आ वृषायस्व= यह वीर्यका बल है, शरीर वीर्य-वान् हो;

(२) श्वसिहि= प्राणका बल बढे, श्रमका थोडासा कार्य करते ही श्वास लगना नहीं चाहिये;

(३) वर्धस्व= शरीरकी लंबाई चौडाई पर्याप्त हो, मनुष्य अच्छा मोटा ताजा प्रतीत हो;

(४) प्रथयस्व= हरएक अवयव अच्छी प्रकार पुष्ट हो ।

यह चार प्रकारके बलोंका वर्णन है । मनुष्यको ये चारों प्रकारके बल प्राप्त करने चाहिये । वीर्य, प्राण, शरीरकी वृद्धि और पुष्टि ये चार प्रकारके हैं । हरएक मनुष्यको अपना शरीर इन चतुर्विधबलोंसे युक्त करना चाहिये ।

कोई मनुष्य किसी कारण रोगी अथवा कृश हुआ तो उसके उचित है कि वह सुयोग्य वैद्यसे चिकित्सा करवाकर नीरोग और हृष्टपुष्ट बने । उत्तम हृष्टपुष्ट, नीरोग और बलवान् मनुष्य ही आपसे संबंध करें । अन्य अशक्त मनुष्य दूर रहें । तथा मनुष्य बलवान् बनकर सदा पराक्रम करे ।

परस्पर प्रेम ।

[सूक्त १०२]

(ऋषिः — जमदग्निः । देवता — अश्विनौ ।)

यथायं वाहो अश्विना समैति सं च वर्तते । एवा मामभि ते मनः समैतु सं च वर्तताम् ॥ १ ॥
आहं खिदामि ते मनो राजाश्वः पृष्ट्यामिव । रेष्मच्छिन्नं यथा तृणं मयि ते वेष्टतां मनः ॥ २ ॥
आञ्जनस्य मदुघस्य कुष्ठस्य नलदस्य च । तुरो भगस्य हस्ताभ्यामनुरोधनमुद्भरे ॥ ३ ॥

॥ इति दशमोऽनुवाकः ॥

अर्थ - हे (अश्विनौ) अश्विदेवो ! (यथा अयं वाहः सं एति) जिस प्रकार यह घोडा साथ-साथ आता है, और (सं वर्तते च) मिलकर साथ-साथ रहता है, (एवा ते मनः मां अभि) इस प्रकार तेरा मन मेरे (सं आ एतु) साथ आवे और (सं वर्तताम् च) साथ रहे ॥ १ ॥

(अहं ते मनः आ खिदामि) मैं तेरे मनको खींचता हूं (पृष्ट्यां राजाश्वः इव) जिस प्रकार पीठके साथ बंधी गाडीको घोडा खींचता है । (यथा रेष्म-छिन्नं तृणं) जैसा वायुसे छिन्नभिन्न हुआ घास एक दूसरेसे लिपटता है, वैसा (ते मनः मयि वेष्टताम्) तेरा मन मेरे साथ लिपटा रहे ॥ २ ॥

(तुरः भगस्य) त्वरासे प्राप्त होनेवाले, भाग्ययुक्त, (आञ्जनस्य मदुघस्य) अञ्जनके समान हर्षित करनेवाले (कुष्ठस्य नलदस्य हस्ताभ्यां) कूठ और नलदके समान हाथोंद्वारा (अनुरोधनं उद्भरे) अनुकूलताको प्राप्त करता हूं ॥ ३ ॥

भावार्थ-- जिस प्रकार गाडीको जोते हुए दो घोडे साथ-साथ रहते हैं और साथ-साथ चलते हैं, उस प्रकार परस्परका मन एक साथ रहे, परस्पर विरोध न करे ॥ १ ॥

जिस प्रकार घोडा गाडीको अपनी ओर खींचता है, उस प्रकार एक मनुष्य दूसरेके मनको खींचे और इस प्रकारके प्रेमके बर्तावसे मनुष्य परस्पर संगठित होवें ॥ २ ॥

त्वरासे कोई कार्य करना, भाग्य प्राप्त होना, अञ्जन आदि भोगविलास करना, हरएक प्रकारका आनन्द कमाना इत्यादि अनेक कार्योंमें परस्परकी अनुकूलता परस्परको देखना चाहिये ॥ ३ ॥

प्रेमका आकर्षण ।

एक मनुष्य दूसरे मनुष्यको प्रेमके साथ आकर्षित करे और इस प्रकार सब मनुष्य संगठित होकर रहें । और भाईभाई तथा अन्य मनुष्य एक दूसरेको प्रेमसे आकर्षित करें और सब संगठित होकर एक विचारसे अ[illegible]

॥ यहां दशम अनुवाक समाप्त ॥

शत्रुका नाश।

[सूक्त १०३]

(ऋषिः — उच्छोचनः। देवता — इन्द्राग्नी, बहुदैवतम्।)

संदानं वो बृहस्पतिः संदानं सविता करत्। संदानं मित्रो अर्यमा संदानं भगो अश्विना ॥ १ ॥
सं परमान्त्समवमानथो सं द्यामि मध्यमान्। इन्द्रस्तान् पर्यहार्दाम्ना तानग्ने सं द्या त्वम् ॥ २ ॥
अमी ये युधमायन्ति केतून् कृत्वानीकशः। इन्द्रस्तान् पर्यहार्दाम्ना तानग्ने सं द्या त्वम् ॥ ३ ॥

अर्थ— हे शत्रुओ! (बृहस्पतिः वः संदानं करत्) बृहस्पति तुम्हारा बंधन करे, (सविता संदानं) सविता नाश करे, (मित्रः संदानं, अर्यमा संदानं) मित्र और अर्यमा टुकडे करे, (भगः अश्विना संदानं) भग और अश्विदेव तुम्हारा नाश करें ॥ १ ॥

शत्रुओंके (परमान् अवमान् अथो मध्यमान् सं सं सं द्यामि) दूरके, पासके और बीचके सैनिकोंको काटता हूं, (इन्द्रः तान् परि अहाः) इन्द्र उन सबका निवारण करे। हे अग्ने! (त्वं तान् दाम्ना सं द्य) तू उनको पाशसे स्वाधीन रख ॥ २ ॥

(केतून् कृत्वा) झण्डोंको उठाकर (अमी ये अनीकशः युधं आयन्ति) ये जो अपनी-अपनी टुकडियोंके साथ युद्धके लिये आते हैं, (तान् इन्द्रः परि अहाः) उनका इन्द्र निवारण करे, हे अग्ने! (त्वं तान् दाम्ना सं द्य) तू उनको पाशसे बांधकर रख ॥ ३ ॥

भावार्थ— ज्ञानी, शूर, मित्र, न्यायकारी, धनवान्, अश्ववान् ये सब राष्ट्रकी रक्षाके लिये अपनी-अपनी शक्तिसे शत्रुका संहार करें, कोई डर कर पीछे न रहे ॥ १ ॥

शत्रुसेनामें जो पासवाले, बीचके और दूरके सैनिक हैं, उनका निवारण किया जावे और जो पास मिलें उनको अपने आधीन किया जावे ॥ २ ॥

जो सैनिक झण्डोंको उठाकर छोटे-छोटे विभागोंमें मिलकर हमला करते हैं, उनका भी पूर्वोक्त प्रकारसे नाश किया जावे ॥ ३ ॥

शत्रुका दमन।

जिस समय राष्ट्ररक्षाका प्रश्न उपस्थित हो उस समय (बृहस्पति) ज्ञानीजन, (सविता) शूर वीर, (मित्र) मित्रदलके लोग, (अर्य-मा) न्याय करनेवाले, श्रेष्ठ कौन है और कौन नहीं इसका प्रमाण निश्चित करनेवाले, (भगः) ऐश्वर्यवान्, (अश्विनौ) अश्ववाले अर्थात् घोडोंपर सवार होनेवाले वीर, (इन्द्र) नरेन्द्रमंडल, शूर, वीर, (अग्निः) प्रकाशक आदि सब प्रकारके लोग अपने राष्ट्रकी रक्षाके लिये कटिबद्ध होकर हरएक प्रकारसे शत्रुका नाश करें और अपने राष्ट्रका बचाव करें। इनमेंसे कोई भी पीछे न रहे, अपनी-अपनी शक्तिके अनुसार जो हो सके, वह हरएक मनुष्य करे और अपने राष्ट्रकी रक्षा करे।

इस सूक्तमें जो देवतावाचक नाम आगये हैं वे देवोंके दिव्य राष्ट्रके अनेक ओहदेदार हैं, देवराष्ट्रमें उनके कार्य निश्चित हैं। वैसे कार्य करनेवाले मानवराष्ट्रके ओहदेदार उसी प्रकारके अपने-अपने कार्य करें और अपने राष्ट्रकी रक्षा करें, यह इस सूक्तका आशय है। जैसा देव करते हैं वैसा मनुष्य यहां करें और देव बन जांय।

शत्रुका पराजय।

[सूक्त १०४]

(ऋषिः — प्रशोचनः । देवता — इन्द्राग्नी, बहवो देवताः ।)

आदानेन संदानेनामित्राना द्यामसि । अपाना ये चैषां प्राणा असुनासून्त्समच्छिदन् ॥ १ ॥
इदमादानमकरं तपसेन्द्रेण संशितम् । अमित्रा येत्र नः सन्ति तानग्न आ द्या त्वम् ॥ २ ॥
ऐनान् द्यतामिन्द्राग्नी सोमो राजा च मेदिनौ । इन्द्रो मरुत्वानादानममित्रेभ्यः कृणोतु नः ॥ ३ ॥

अर्थ— (आदानेन संदानेन) पकडने और बंध करनेसे (अमित्रान् आ द्यामसि) शत्रुओंको नष्ट करते हैं। (एषां ये च प्राणाः अपानाः) इनके जो प्राण और अपान हैं उन (असून् असुना सं अच्छिदम्) प्राणोंको प्राणोंसे ही काट डालता हूं ॥ १ ॥

(इन्द्रेण तपसा संशितं) इन्द्रने तपके द्वारा तीक्ष्ण किया हुआ (इदं आदानं अकरं) यह पाश मैंने बनाया है, (ये अत्र नः अमित्राः सन्ति) जो यहां हमारे शत्रु हैं, हे अग्ने ! (तान् त्वं आ द्य) उनका तू नाश कर ॥ २ ॥

(इन्द्राग्नी एनान् आ द्यतां) इन्द्र और अग्नि इनका नाश करे । (सोमः राजा च मेदिनौ) सोम और राजा भी आनंदसे यह कार्य करे । (मरुत्वान् इन्द्रः) मरुतोंके साथ इन्द्र (नः अमित्रेभ्यः आदानं कृणोतु) हमारे शत्रुओंको पकड रखे ॥ ३ ॥

भावार्थ— शत्रुको पकडकर उनको प्रतिबंधमें रखनेके द्वारा हम उनका नाश करते हैं । उनके प्राणोंका बल ही हम कम करते हैं ॥ १ ॥

तपके द्वारा बनाया यह पाश है उससे शत्रुको बांध और उनका नाश कर ॥ २ ॥

सब देव शत्रुनाश करनेके कार्यमें हमें सहायता करें ॥ ३ ॥

शत्रुको पकडना।

शत्रुको पकडकर उसको प्रतिबंध करना चाहिये । उसकी शत्रुताका प्रतिबंध हुआ तो शत्रु नष्ट हुआ, यह बात स्पष्ट है । अपने तपके प्रभावसे शत्रु प्रतिबंधित होता है और तप न होनेसे शत्रु प्रबल होता है । इस बातका हरएक मनुष्य अनुभव कर सकता है । इसलिये इसके विषयमें अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं है ।

खांसीको दूर करना।

[सूक्त १०५]

(ऋषिः — उन्मोचनः । देवता — कासा ।)

यथा मनो मनस्केतैः परापतत्याशुमत् । एवा त्वं कासे प्र पत मनसोनु प्रवाय्यम् ॥ १ ॥

अर्थ— (यथा आशुमत् मनः) जिस प्रकार शीघ्रगामी मन (मनस्केतैः परा पतति) मनके विषयोंके साथ दूर जाता है, (एवा) इस प्रकार, हे (कासे) खांसी आदि रोग ! (त्वं मनसः प्रवाय्यं अनु प्र पत) तू मनके प्रवाहके समान दूर भाग जा ॥ १ ॥

यथा बाणः सुसंशितः परापतत्याशुमत्। एवा त्वं कासे प्र पत पृथिव्या अनु संवतम् ॥ २ ॥
यथा सूर्यस्य रश्मयः परापतन्त्याशुमत्। एवा त्वं कासे प्र पत समुद्रस्यानु विक्षरम् ॥ ३ ॥

अर्थ— (यथा सुसंशितः बाणः) जिस प्रकार अतितीक्ष्ण बाण (आशुमत् परापतति) शीघ्रतासे दूर जाकर गिरता है (एवा) इस प्रकार, हे (कासे) खांसी! (त्वं पृथिव्याः संवतं अनु प्र पत) तू पृथ्वीके निम्न स्थलमें गिर जा ॥ २ ॥

(यथा सूर्यस्य रश्मयः) जिस प्रकार सूर्यकिरण (आशुमत् परापतन्ति) वेगसे दूर जाते हैं, (एवा) इस प्रकार, हे (कासे) खांसी! तू (समुद्रस्य विक्षरं अनु प्र पत) समुद्रके प्रवाहके समान दूर गिर जा ॥ ३ ॥

भावार्थ— मन, सूर्यकिरण और बाण इनका वेग बडा है। जिस वेगसे ये जाते हैं, उस वेगसे खांसीकी बीमारी दूर होवे ॥ १-३ ॥

(संभवतः खांसी निवारणका उपाय मनके आरोग्य, संकल्प और सूर्यकिरणके संबंधमें होगा।)

घरकी शोभा।

[सूक्त १०६]

(ऋषिः — प्रमोचनः। देवता — दूर्वाशाला।)

आयने ते परायणे दूर्वा रोहन्तु पुष्पिणीः। उत्सो वा तत्र जायतां ह्रदो वा पुण्डरीकवान् ॥ १ ॥
अपामिदं न्ययनं समुद्रस्य निवेशनम्। मध्ये ह्रदस्य नो गृहाः पराचीना मुखा कृधि ॥ २ ॥
हिमस्य त्वा जरायुणा शाले परि व्ययामसि। शीतह्रदा हि नो भुवोऽग्निष्कृणोतु भेषजम् ॥ ३ ॥

अर्थ— (ते आयने परायणे) तेरे घरके आगे और पीछे (पुष्पिणीः दूर्वाः रोहन्तु) फूलोंसे युक्त दूर्वा घास उगे। (तत्र वा उत्सः जायतां) और वहां एक हौद हो, (वा पुण्डरीकवान् ह्रदः) अथवा वहां कमलोंवाला तालाब बने ॥ १ ॥

(इदं अपां न्ययनं) यह जलोंका प्रवाहस्थान होवे, (समुद्रस्य निवेशनं) समुद्रके समीपका स्थान हो, (ह्रदस्य मध्ये नः गृहाः) तालाबके बीचमें हमारे घर हों, (मुखाः पराचीना कृधि) घरके द्वार परस्पर विरुद्ध दिशामें कर ॥ २ ॥
हे शाले! (त्वा हिमस्य जरायुणा) तुझे शीतके आवरणसे (परि व्ययामसि) घेरते हैं। (नः शीतह्रदाः भुवः) हमारे लिये शीतल जलवाले तालाब बहुत हों, और हमारे लिये (अग्निः भेषजं कृणोतु) अग्नि शीत निवारणका उपाय करे ॥ ३ ॥

भावार्थ— घरके आगे और पीछे दूर्वाका उद्यान हो, उसमें बहुत प्रकारके फूल उत्पन्न हों, वहां पानीका हौद हो, और कमलोंवाला तालाब हो ॥ १ ॥

घरके पास जलके प्रवाह चलें, घरका स्थान समुद्रके किनारेपर हो, अथवा तालाबके मध्यमें हो, और घरके दरवाजे या खिडकियां आमने-सामने हों ॥ २ ॥

घरके चारों ओर जल हो, शीत जलके हौद हों, और यदि सर्दी अधिक हुई तो शीतनिवारणके लिये घरमें अग्नि जलानेका स्थान हो ॥ ३ ॥

घरके आसपासकी शोभा कैसी हो, यह इस सूक्तने उत्तम रीतिसे बताया है । घरके चारों ओर बाग हो, कमलोंसे भरपूर तालाब हो, जलके नहर बहें, उद्यान उत्तम हो और चारों ओर रमणीय शोभा बने । ऐसा सुरम्य घरके आसपासका स्थान होना चाहिये । घरके द्वार और खिडकियां आमने सामने हों, जिससे घरमें शुद्ध वायु बिना प्रतिबंध आ जाय । घरमें अग्नि जलती रहे । शीत लगने पर घरके लोग अग्निके पास जाकर शीतनिवारणका उपाय करें ।

पाठक देखें कि वेदने कैसे उत्तम उद्यानयुक्त घरकी कल्पना की है । हरएकको अपना घर जहांतक हो सके वहांतक उद्यान और जलसे युक्त करना चाहिये ।

अपनी रक्षा ।

[सूक्त १०७]

(ऋषिः — शन्तातिः । देवता — विश्वजित् ।)

विश्वजित् त्रायमाणायै मा परि देहि ।
त्रायमाणे द्विपाच्च सर्वं नो रक्ष चतुष्पाद् यच्च नः स्वम् ॥ १ ॥
त्रायमाणे विश्वजिते मा परि देहि ।
विश्वजिद् द्विपाच्च सर्वं नो रक्ष चतुष्पाद् यच्च नः स्वम् ॥ २ ॥
विश्वजित् कल्याण्यै मा परि देहि ।
कल्याणि द्विपाच्च सर्वं नो रक्ष चतुष्पाद् यच्च नः स्वम् ॥ ३ ॥
कल्याणि सर्वविदे मा परि देहि ।
सर्वविद् द्विपाच्च सर्वं नो रक्ष चतुष्पाद् यच्च नः स्वम् ॥ ४ ॥

अर्थ— हे (विश्वजित्) जगत्को जीतनेवाले ! (मा त्रायमाणायै परि देहि) मुझे रक्षा करनेवाली शक्तिके लिये दे । हे (त्रायमाणे) रक्षक शक्ति ! (नः द्विपात् चतुष्पात् च सर्वं रक्ष) हमारे द्विपाद और चतुष्पाद सबकी रक्षा कर और (यत् च नः स्वं) जो अपना धन है उसकी भी रक्षा कर ॥ १ ॥

हे (त्रायमाणे) रक्षक शक्ति ! (मा विश्वजिते देहि) मुझे जगत्का विजय करनेवालेके पास दे । हे जगज्जेता ! मेरे धन और द्विपाद चतुष्पाद सबकी रक्षा कर ॥ २ ॥

हे जगज्जेता ! (मा कल्याण्यै परि देहि) मुझे कल्याण करनेवाली शक्तिके आधीन कर । हे कल्याणि ! मेरे धन और द्विपाद चतुष्पादकी रक्षा कर ॥ ३ ॥

हे कल्याणि । (मा सर्वविदे परि देहि) मुझे सर्वज्ञके पास पहुंचा । हे सर्वज्ञ ! मेरे धन और द्विपाद चतुष्पादकी रक्षा कर ॥ ४ ॥

भावार्थ— जगत्को जीतनेकी इच्छा करनेवाला रक्षकके सुपुर्द रक्षणीय वस्तुमात्रको करे । वह रक्षक सबकी यथायोग्य रक्षा करे । रक्षक उन सब पदार्थोंको विश्वविजयीके पास देवे । और वह विश्वविजयी सबकी योग्य रक्षा करे । वह सब रक्षा सबके कल्याणके लिये हो, अर्थात् सबकी रक्षासे सबका यथायोग्य उत्तम कल्याण हो । कल्याण होनेका अर्थ यह है कि सब विशेष ज्ञानीके पास रहें क्योंकि सब प्रकारका कल्याण ज्ञानसे ही होगा ॥ १-४ ॥

इस सूक्तसे यह बोध प्राप्त हो सकता है- (१) हरएकको अपने अन्दर रक्षा करनेकी शक्ति बढानी चाहिये । (२) मैं विजय प्राप्त करूंगा ऐसी महत्त्वाकांक्षा धारण करनी चाहिये (३) सबको अधिकसे अधिक कल्याण करनेके लिये यत्न करना चाहिये और (४) ज्ञानीकी संगतिमें सबको लगना चाहिये ।

मेधा बुद्धि।

[सूक्त १०८]

(ऋषिः — शौनकः। देवता — मेधा।)

त्वं नो मेधे प्रथमा गोभिरश्वेभिरा गहि। त्वं सूर्यस्य रश्मिभिस्त्वं नो असि यज्ञिया ॥ १ ॥
मेधामहं प्रथमां ब्रह्मण्वतीं ब्रह्मजूतामृषिष्टुताम्। प्रपीतां ब्रह्मचारिभिर्देवानामवसे हुवे ॥ २ ॥
यां मेधामृभवो विदुर्यां मेधामसुरा विदुः। ऋषयो भद्रां मेधां यां विदुस्तां मय्या वेशयामसि ॥ ३ ॥
यामृषयो भूतकृतो मेधां मेधाविनो विदुः। तया मामद्य मेधयाग्ने मेधाविनं कृणु ॥ ४ ॥
मेधां सायं मेधां प्रातर्मेधां मध्यन्दिनं परि। मेधां सूर्यस्य रश्मिभिर्वचसा वेशयामहे ॥ ५ ॥

अर्थ— हे (मेधे) मेधाबुद्धि। (त्वं नः प्रथमा यज्ञिया असि) तू हमारे पास प्रथम स्थानमें पूजनीय है। तू (गोभिः अश्वेभिः आ गहि) तू गौओं और घोडों अर्थात् सब धनोंके साथ हमारे पास आ। तथा (त्वं सूर्यस्य रश्मिभिः नः आ गहि) तू सूर्यकिरणोंके साथ हमारे पास आ ॥ १ ॥

(अहं प्रथमां ब्रह्मण्वतीं) मैं श्रेष्ठ ज्ञानियोंसे युक्त (ब्रह्मजूतां ऋषिस्तुतां) ज्ञानियोंसे सेवित और ऋषियोंद्वारा प्रशंसित (ब्रह्मचारिभिः प्रपीतां) ब्रह्मचारियों द्वारा स्वीकार की गई (मेधां देवानां अवसे हुवे) मेधाबुद्धिकी इंद्रियोंकी रक्षाके लिये प्रार्थना करता हूं ॥ २ ॥

(ऋभवः यां मेधां विदुः) कारीगर जिस बुद्धिको जानते हैं, (असुराः यां मेधां विदुः) असु अर्थात् प्राणविद्यामें रमनेवाले जिस मेधाको जानते हैं, अथवा असुरोंमें जो बुद्धि है, (यां भद्रां मेधां ऋषयः विदुः) जिस कल्याणकारिणी बुद्धिको ऋषि लोग जानते हैं (तां मयि आ वेशयामसि) वह बुद्धि मेरे अंदर प्रविष्ट करते हैं ॥ ३ ॥

(भूतकृतः मेधाविनः ऋषयः) पदार्थोंको उत्पन्न करनेवाले बुद्धिमान् ऋषि (यां मेधां विदुः) जिस बुद्धिको जानते हैं, हे अग्ने! (तया मेधया) उस मेधाबुद्धिसे (अद्य मां मेधाविनं कृणु) आज मुझे बुद्धिमान् कर ॥ ४ ॥

(मेधां सायं) बुद्धिको शामके समय, (मेधां प्रातः) बुद्धिको प्रातःकाल, (मेधां मध्यं दिनं परि) बुद्धिको मध्य दिनके समय (मेधां सूर्यस्य रश्मिभिः) बुद्धिको सूर्यकी किरणोंसे (वचसा आ वेशयामसि) और उत्तम वचनसे अपने अंदर प्रविष्ट कराते हैं ॥ ५ ॥

भावार्थ— धारणावती बुद्धि सबसे अधिक पूज्य है वह सब प्रकारके धनके साथ हमें प्राप्त हो। यह धारणावती बुद्धि ज्ञानियोंमें रहती है, ऋषि इसकी प्रशंसा करते हैं, ब्रह्मचारी इसका सेवन करते हैं, इसलिये इसकी प्रशंसा हम करते हैं। कारीगर, ऋषि और असुर जिस बुद्धिके लिये प्रसिद्ध हैं वह बुद्धि हमें प्राप्त हो। बुद्धिमान् ऋषि जिस बुद्धिके लिये प्रसिद्ध थे वह बुद्धि हमें प्राप्त हो। सबेरे, दोपहर, शामको तथा अन्य समय हमारा व्यवहार ऐसा हो कि हमें सद्बुद्धि प्राप्त हो और हमें सदुपदेश मिले ॥ १-५ ॥

यह सूक्त बुद्धिकी प्रशंसापर है। मेधाबुद्धि वह है कि जिसको धारणावती बुद्धि कहते हैं। यह बुद्धि जितनी अधिक होगी उतनी मनुष्यकी विशेष योग्यता होती है। लोग ऋषियोंका विशेष सन्मान करते हैं इसका कारण यह है कि उनमें यह बुद्धि थी और रहती है। ब्रह्मचारीगण गुरुके समीप रहकर इस बुद्धिकी प्राप्तिकी इच्छा करते हैं। यह बुद्धि रहनेसे ही मनुष्य इह परलोकमें उत्तम अवस्था प्राप्त कर सकता है।

कारीगर लोगोंमें एक प्रकारकी धारणाबुद्धि रहती है, असुरोंमें विश्वको जीतनेकी महत्त्वाकांक्षा रहती है, ऋषियोंमें सकी सत्वगुणी बुद्धि रहती है, यह बुद्धि विशेष उच्च रूपमें हमें प्राप्त हो। विशेष कर बुद्धिमान् ज्ञानी ऋषियोंमें जो विशाल बुद्धि थी वैसी बुद्धि अपने अंदर बढानेका प्रयत्न करना चाहिये। प्रातःकालसे सायंकाल तक अपने प्रयत्नसे यह बुद्धि अपने अन्दर बढानेका प्रयत्न करना चाहिये। हरएक मनुष्य ऐसा प्रयत्नवान् हुआ तो वह इस बुद्धिको अवश्य प्राप्त कर सकेगा।

पिप्पली औषधि।

[सूक्त १०९]

(ऋषिः — अथर्वा। देवता — पिप्पली।)

पिप्पली क्षिप्तभेषज्यु१तातिविद्धभेषजी। तां देवाः समकल्पयन्नियं जीवितवा अलम् ॥ १ ॥
पिप्पल्यः१ः समवदन्तायतीर्जननादधि। यं जीवमश्नवामहै न स रिष्याति पूरुषः ॥ २ ॥
असुरास्त्वा न्यखनन् देवास्त्वोदवपन् पुनः। वातीकृतस्य भेषजीमथो क्षिप्तस्य भेषजीम् ॥ ३ ॥

अर्थ— (पिप्पली क्षिप्तभेषजी) पिप्पली औषधी उन्माद रोगकी औषधि है, (उत अतिविद्धभेषजी) और महाव्याधिकी औषधी है. (देवाः तां समकल्पयन्) देवोंने इसको समर्थ बनाया है कि (इयं जीवितवै अलं) यह औषधि जीवनके लिये पर्याप्त है ॥ १ ॥

(जननात् अधि आयतीः) जन्मसे आती हुई (पिप्पल्यः समवदन्त) पिप्पली औषधियां बोलती हैं कि, हमको (यं जीवं अश्नवामहै) जिस जीवको खिलाया जावे (सः पुरुषः न रिष्याति) वह पुरुष मरता नहीं ॥ २ ॥

तू (वातीकृतस्य भेषजी) वात रोगकी औषधी (अथो क्षिप्तस्य भेषजी) और उन्माद रोगकी औषधी है, उस तुझको (असुराः त्वा न्यखनन्) असुरोंने पहिले खोदा था और (पुनः देवाः त्वा उदवपन्) फिर देवोंने लगाया था ॥ ३ ॥

भावार्थ— पिप्पली औषधी उन्माद और वात अथवा महाव्याधिकी औषधी है। यह एक ही औषधी आरोग्य और दीर्घायुके लिये पर्याप्त है ॥ १ ॥

जो रोगी पिप्पलीका सेवन करता है वह रोगसे दुःखी नहीं होता, यह इस औषधिकी प्रतिज्ञा है ॥ २ ॥

इस वातरोग और उन्मादरोगकी औषधिका पता पहिले असुरोंको लगा, इसलिये इन्होंने इसको भूमीसे उखाडा और पश्चात् देवोंने इसको विशेषरूपसे बढाया ॥ ३ ॥

पिप्पली औषधि

पिप्पली औषधि अकेली ही मनुष्यके आरोग्यके लिये पर्याप्त है, इतना निश्चयपूर्वक कथन प्रथम और द्वितीय मंत्रमें है। जो पिप्पलीका सेवन करता है वह रोगी नहीं होता यह बात द्वितीय मंत्रमें विशेष रीतिसे कही है। इस विषयमें वैद्यक ग्रंथोंमें निम्नलिखित वर्णन मिलता है—

ज्वरघ्नी वृष्या तिक्तोष्णा कटुतिक्ता दीपनी
मारुतश्वासकासश्लेष्मक्षयघ्नी च। (रा. नि. व. ६)
मधुना सा मेदोवृद्धिकफश्वासकासज्वरघ्नी
मेधाग्निवृद्धिकरी च। गुडेन सा जीर्णज्वरा-
ग्निमान्द्यहरी च। तत्र भागैकं पिप्पल्या भाग-
द्वयं च गुडस्येति। (भा. प्र. १)

'पिप्पली ज्वरनाशक, वीर्यवर्धक है, मेद-कफ-श्वास-खांसी-ज्वर इनका नाश करती है; बुद्धि और भूखको बढाती है। शहदके साथ भक्षण करनेसे मेद, कफ, श्वास, खांसी और ज्वर दूर करती है, बुद्धि और पाचनशक्ति बढाती है। गुडके साथ भक्षण करनेसे जीर्णज्वर और अग्निमान्द्य दूर करती है। पिप्पली एक भाग और गुड दो भाग लेना चाहिये।'

इससे पता लगता है कि इस पिप्पलीके सेवनसे कितना लाभ हो सकता है और देखिये—

(१) पिप्पली रसायन– बुद्धिवर्धक है। इस विषयमें चरकका कथन है—

त्रिस्त्रिस्तस्तु पूर्वाह्णे भुक्त्वाग्रे भोजनस्य च।
पिप्पल्यः किंशुकक्षारभाविता घृतभर्जिताः।
प्रयोज्या मधुसर्पिर्भ्यां रसायनगुणैषिणा॥
(चरक चि. १)

'घीमें भुनी और पलाशके क्षारसे मिश्रित पिप्पलियां शहद और घीके साथ मिलाकर सबेरे तीन और भोजनके पश्चात् तीन खानेसे उत्तम रसायनगुण प्राप्त होता है।' यह रसायन बुद्धिवर्धक है। कमजोर बुद्धिवाले वैद्यकी अनुमतिके साथ इसका प्रयोग करें।

(२) वर्धमानपिप्पलीरसायन— पहिले दिन दस पिप्पली दूधमें कषाय करके सेवन करना, दूसरे दिन बीस, तीसरे दिन तीस इस प्रकार दस दिन करना पश्चात् इसके अनुपातसे न्यून करके बीस दिन तक सेवन करना। साहिक चावल दूधके साथ खाना, और जितना पचन हो उतना दूध पीना और घी भी खाना। यह उत्तम मात्रा है, जो अशक्त हैं वे छः या तीनके अनुपातसे भी सेवन कर सकते हैं। इसके गुण बहुत हैं। मनुष्य सुदृढांग बन सकता है। परन्तु ये सब प्रयोग उत्तम वैद्यकी अनुकूलतामें ही करना चाहिये। अन्यथा हानिकी संभावना रहेगी।

नवजात बालक।

[सूक्त ११०]

(ऋषिः — अथर्वा। देवता — अग्निः।)

प्रत्नो हि कमीड्यो अध्वरेषु सनाच्च होता नव्यश्च सत्सि।
स्वां चाग्ने तन्वं पिप्रायस्वास्मभ्यं च सौभगमा यजस्व ॥ १ ॥
ज्येष्ठघ्न्यां जातो विचृतोर्यमस्य मूलबर्हणात् परि पाह्येनम्।
अत्येनं नेषद् दुरितानि विश्वा दीर्घायुत्वाय शतशारदाय ॥ २ ॥
व्याघ्रेऽह्न्यजनिष्ट वीरो नक्षत्रजा जायमानः सुवीरः।
स मा वधीत् पितरं वर्धमानो मा मातरं प्र मिनीज्जनित्रीम् ॥ ३ ॥

अर्थ-- तू (प्रत्नः हि अध्वरेषु कं ईड्यः) पुरातन और यज्ञोंमें सुखसे स्तुति करने योग्य (सनात् च होता) सनातन कालसे दाता और (नव्यः च सत्सि) नवीन जैसा सर्वत्र विद्यमान है। हे अग्ने! तू (स्वां तन्वं अस्मभ्यं पिप्रायस्व) अपने शरीर रूपी इस ब्रह्माण्डको हमें पूर्णरूपसे दे। और (सौभगं आ यजस्व) उत्तम ऐश्वर्य प्रदान कर ॥१॥

(ज्येष्ठ-घ्न्यां जातः) ज्येष्ठका नाश-करनेवालीमें यह उत्पन्न हुआ है। (वि-चृतोः यमस्य मूलबर्हणात् एनं परि पाहि) विशेष हिंसक यमके मूलछेदनसे इसकी रक्षा कर। (विश्वा दुरितानि एनं अति नेषत्) सब दुःखोंसे इसे पार करा और (दीर्घायुत्वाय शतशारदाय) सौ वर्षकी दीर्घायुके लिये इसको पहुंचा ॥ २ ॥

(व्याघ्रे अह्नि) क्रूर दिनमें (वीरः अजनिष्ट) वीर पुत्र उत्पन्न हुआ है, (नक्षत्र-जाः जायमानः सुवीरः) योग्य नक्षत्रके समय उत्पन्न हुआ यह उत्तम वीर है। (सः वर्धमानः पितरं मा वधीत्) यह बढता हुआ पिताको न मारे, (जनित्रीं मातरं च मा प्र मिनीत्) उत्पादक माताको भी दुःख न दे ॥ ३ ॥

भावार्थ— ईश्वर पुरातन, पूजनीय, सुख देनेवाला, और नवीन जैसा सर्वत्र वर्तमान है। यह जगत् उसका शरीर है, वह हमें उससे सुख प्रदान करता है और ऐश्वर्य भी देता है ॥ १ ॥

जिस स्त्रीकी पहिली संतान मरती है उस स्त्रीका यह पुत्र है, मानो यमके द्वारमें ही यह है, इसलिये नाल छेदनके समयसे ही इसकी रक्षा करो, इसके सब कष्ट दूर हों और यह दीर्घायु हो ॥ २ ॥

चाहे किसी भी अनिष्ट समयमें यह लडका उत्पन्न क्यों न हुआ हो, यह उत्पन्न होनेके बाद उत्तम वीर बने, और बढता हुआ अपने माता पिताको कोई क्लेश न पहुंचावे ॥ ३ ॥

[यह सूक्त थोडासा क्लिष्ट है। इसके सत्य अर्थकी खोज विशेष करनी चाहिये। अभीतक इसके ठीक अर्थका निश्चय नहीं हुआ है।]

मुक्तिका अधिकारी ।

[सूक्त १११]

(ऋषिः — अथर्वा । देवता — अग्निः ।)

इमं मे अग्ने पुरुषं मुमुग्ध्ययं यो बद्धः सुयतो लालपीति ।
अतोऽधि ते कृणवद् भागधेयं यदानुन्मदितोऽसति ॥ १ ॥
अग्निष्टे नि शमयतु यदि ते मन उद्युतम् । कृणोमि विद्वान् भेषजं यथानुन्मदितोऽससि ॥ २ ॥
देवैनसादुन्मदितमुन्मत्तं रक्षसस्परि । कृणोमि विद्वान् भेषजं यदानुन्मदितोऽसति ॥ ३ ॥
पुनस्त्वा दुरप्सरसः पुनरिन्द्रः पुनर्भगः । पुनस्त्वा दुर्विश्वे देवा यथानुन्मदितोऽससि ॥ ४ ॥

अर्थ— हे अग्ने ! (यः बद्धः सुयतः लालपीति) जो बद्ध मनुष्य उत्तम बद्ध होनेके कारण बहुतवार आक्रोश करता है, (मे इमं पुरुषं मुमुग्धि) मेरे इस पुरुषको मुक्त कर । (यदा) जब मनुष्य (अनुन्मदितः असति) उन्मादरहित होता है (अतः ते भागधेयं अधि कृणवत्) तब तेरा भाग्य सब प्रकारसे होगा ॥ १ ॥

(अग्निः ते निशमयतु) तेजस्वी देव तेरे अन्दर शान्ति उत्पन्न करे (यदि ते मनः उद्युतं) यदि तेरा मन उखड गया है । (यथा अनुन्मदितः असासि) जिससे तू उन्मादरहित होगा, (भेषजं विद्वान् कृणोमि) वैसा औषध जानता हुआ मैं वैसा करता हूं ॥ २ ॥

(देव-एनसात् उन्मदितं) देवसंबंधी पापसे उन्माद हुआ हो (राक्षसः परि उन्मत्तं) राक्षसके पापसे उन्माद हुआ हो, (विद्वान् भेषजं कृणोमि) मैं जानता हुआ औषध करता हूं (यदा अनुन्मदितः असति) जिससे तू उन्माद-रहित हो ॥ ३ ॥

(अप्सरसः त्वा पुनः दुः) अप्सरोंने तुझे पुनः दिया है, (इन्द्रः पुनः, भगः पुनः) इन्द्र और भगने तुम्हें पुनः दिया है । (विश्वे देवाः त्वा पुनः अदुः) विश्वे देवोंने तुझे फिर दिया है, (यथा अनुन्मदितः असासि) जिससे तू उन्मादरहित हुआ है ॥ ४ ॥

भावार्थ— जो बद्ध है और बंधमुक्त होनेके लिये आक्रोश करता है, उसकी मुक्तता होती है । जो उन्मत्त नहीं बनता उसका भाग्य उदय होता है ॥ १ ॥

जिसका मन उदास हुआ है उसको परमेश्वर ही शान्ति देगा । जो उन्मत्त नहीं होता है उसकी उन्नतिके लिये उपाय हो सकता है ॥ २ ॥

दैवी और राक्षसी पाप करनेके कारण जो उन्मत्त होते हैं, उनका उपाय करके उन्मादको दूर किया जा सकता है ॥ ३ ॥

अप्सरा, इन्द्र, भग और सब इतर देव इनकी सहायतासे इस रोगीको पुनः आरोग्य प्राप्त हुआ है । अर्थात् इसका उन्माद दूर हुआ है ॥ ४ ॥

मुक्त कौन होता है ?

जो मनुष्य बद्ध होनेकी अवस्थामें बद्धतासे त्रस्त हुआ होता है, और मुक्त होनेके लिये तडपता है, आक्रोश करता है और बद्धतासे पूर्ण असमाधान व्यक्त करता है, वह मुक्तिका अधिकारी है, देखिये—

यः सुयतः बद्धः लालपीति, इमं पुरुषं मुमुग्धि ।
(मं. १)

'जो उत्तम रीतिसे बद्ध हुआ मनुष्य आक्रोश करता है, उस पुरुषको मुक्त कर ' जो बद्ध अवस्थामें संतुष्ट रहते हैं उनकी मुक्तता नहीं होगी । क्योंकि वे जन्मसे ही गुलाम हैं और गुलामीमें रहनेके लिये सिद्ध हैं और गुलाम रहनेमें आनन्द मानते हैं अथवा कई तो अपनी गुलामी सुदृढ होनेके लिये प्रयत्न भी करते हैं । ऐसे लोग तो सदा गुलामीमें रहेंगे ही । गुलामीसे मुक्त वे होंगे कि जो गुलामीमें रहना नहीं चाहते

और मुक्त होनेके लिये तडफते है और गुलामीसे छूट जानेके लिये महाआकांक्षा करते हैं । ' मैं गुलामीसे संतप्त हूं, मैं इसके बाद गुलामीमें रहना नहीं चाहता, देवो ! मुझे बन्धन तोडनेमें सहायता देओ, मैं मर जाऊंगा परंतु गुलामीमें नहीं रहूंगा ' इस प्रकार आकांक्षा द्वारा जो अपने मनके भाव व्यक्त करता है वह मुक्तिका अधिकारी है। इस प्रकार आकांक्षा करता हुआ भी जो प्रमाद करेगा वह मुक्त नहीं होगा, परंतु प्रमादरहित होकर यत्न करेगा वही मुक्त होगा, इस विषयमें मंत्रका उपदेश देखिये—

यदा अनुन्मदितः असति, अथ भागधेयं अधि कृणवत् । (मं. १)

' जब उन्मत्त नहीं होता, तब पश्चात् उसका दैव उदय होता है ' अर्थात् केवल गुलामीके विरुद्ध मनके भाव प्रकट करनेसे ही कार्य नहीं होगा, गुलामीसे त्रस्त हुआ मनुष्य यदि पागल बनेगा और अयोग्य वर्तन करेगा, तो उससे उसका लाभ नहीं होगा । अतः उसे उन्मत्त अथवा प्रमादी बनना नहीं चाहिये, प्रत्युत दक्ष और योग्य दिशासे स्वकर्तव्यतत्पर होना चाहिये, तभी उसका भाग्य उदयको प्राप्त हो सकता है । बंधसे मुक्त होनेकी आतुरता, मनके भाव स्पष्ट शब्दोंमें व्यक्त करनेका धैर्य, दक्षतासे स्वकर्तव्य करना ये तीन साधन करनेके पश्चात् उसका भाग्य उदय होने लगता है ।

सामान्यतः मुक्ति प्राप्त करनेके ये उपाय हैं । यह मुक्ति आध्यात्मिक हो, राजकीय हो, सामाजिक हो, या रोगोंसे मुक्ति हो, ये नियम सब मुक्तियोंके लिये सामान्य हैं ।

मन उखड जानेपर ।

मुक्तिका पथ बडा कठिन है, किसी समय सिद्धि मिलती है और किसी समय उलटी हानि भी होती है । हानिके समय मन उखड जाता है, उदास होता है, किंकर्तव्यतामूढ होता है, उस समय—

यदि ते मनः उद्युतं, अग्निः नि शमयतु । (मं. २)

' यदि तेरा मन उखड गया हो, तो तेजस्वी देव तुझे शान्ति देवे । ' उस समय मुक्तिकी इच्छा करनेवाला मनुष्य प्रभुकी प्रार्थना करे, प्रभुसे शान्ति प्राप्त होगी । मन कितना भी दुःखी हुआ हो प्रभुकी शरणमें आनेसे उसे शान्ति प्राप्त होगी । अतः मुक्तिकी इच्छा करनेवाले लोग उदासीनताके समय प्रभुकी शरण लें, अथवा कभी उदासीनता न आ जाय इस लिये प्रतिदिन उसकी भक्ति करें । इससे मन शान्त रहेगा, प्रमाद नहीं होंगे और उन्नतिका मार्ग सीधा खुला होगा ।

पापके दो भेद ।

पापके दो भेद हैं, एक देवोंके संबंधके पाप और दूसरे राक्षसोंके कारण होनेवाले पाप । पृथ्वी, आप, तेज, वायु, औषधि आदि अनेक देवताएं हैं, इनके विषयमें पाप मनुष्य करते हैं, भूमिका अपहरण, जलका बिगाड करना, वायुको दोषी बनाना आदि जो है वे सब देवोंके संबंधमें पाप हैं । इन पापोंसे दोष होते हैं और मनुष्य प्रमाद करते हैं और दुःख भोगते हैं । दंभ, दर्प, अभिमान आदि राक्षसी भाव हैं, जिनके कारण मनुष्य पाप करता है और दोषी होकर दुःख भोगता है । ये दो प्रकारके पाप हैं, मनुष्य इन दोनों प्रकारके पापोंसे अपने आपको बचावे, यह आदेश देनेके लिये निम्नलिखित मंत्रभाग है—

देव-एनसात् उन्मदितं, रक्षसस्परि उन्मत्तम् । भेषजं कृणोमि यदा अनुन्मदितः असति ॥ (मं. ३)

' देवताओंके संबंधके पापसे जो दोष हुआ है, और राक्षसोंके पापसे जो दोष हुआ है, उनको दूर करनेके लिये मैं उपाय करता हूं, जिससे तू उन्मादरहित होगा । ' इस मंत्रका भाव अब पाठकोंके ध्यानमें आ गया होगा । ये दो प्रकारके दोष दूर होनेसे ही मनुष्यका भाग्य उदय होता है और उसके बंधन दूर हो सकते हैं, तथा मुक्ति भी उसको मिल सकती है ।

अन्तिम मंत्रका भाव यह है कि जो मनुष्य पूर्वोक्त प्रकार निर्दोष होता है, उसकी सब देवगण सहायता करते हैं और वह प्रमादरहित होता है ।

यह सूक्त कुछ क्लिष्टसा है, तथापि इस पद्धतीसे हुई रीतिसे विचार करनेपर यह सूक्त कुछ अंशमें सुबोध हो सकता है ।

पाशोंसे मुक्तता ।

[सूक्त ११२]

(ऋषिः — अथर्वा । देवता — अग्निः ।)

मा ज्येष्ठं वधीदयमग्न एषां मूलबर्हणात् परि पाह्येनम् ।
स ग्राह्याः पाशान् वि चृत प्रजानन् तुभ्यं देवा अनु जानन्तु विश्वे ॥ १ ॥
उन्मुञ्च पाशांस्त्वमग्न एषां त्रयस्त्रिभिरुत्सिता येभिरासन् ।
स ग्राह्याः पाशान् वि चृत प्रजानन् पितापुत्रौ मातरं मुञ्च सर्वान् ॥ २ ॥
येभिः पाशैः परिवित्तो विबद्धोऽङ्गेअङ्ग आर्पित उत्सितश्च ।
वि ते मुच्यन्तां विमुचो हि सन्ति भ्रूणघ्नि पूषन् दुरितानि मृक्ष्व ॥ ३ ॥

अर्थ— हे अग्ने (अयं ज्येष्ठं मा वधीत्) यह बडे भाईका वध न करे । (एषां मूलबर्हणात् एनं परि पाहि) इनके मूल विच्छेदसे इसकी रक्षा कर । (सः प्रजानन्) वह तू जानता हुआ (ग्राह्याः पाशान् विचृत) पकडनेवाले रोगादिके पाशोंको खोल दे । (विश्वे देवाः तुभ्यं अनु जानन्तु) सब देव तुझे अनुमति देवें ॥ १ ॥

हे अग्ने ! (त्वं पाशान् उन्मुञ्च) तू पाशोंको खोल (येभिः त्रिभिः एषां त्रयः उत्सिताः आसन्) जिन तीनोंसे इनके तीन बन्धनमें पडे हैं । (सः प्रजानन्) वह तू जानता हुआ (ग्राह्याः पाशान् विचृत) पकडनेवाले रोगादिके पाशोंको खोल दे । (पितापुत्रौ मातरं सर्वान् मुञ्च) पिता, पुत्र और माता इन सबको छोड ॥ २ ॥

(येभिः पाशैः परिवित्तः विबद्धः) जिन पाशोंसे बडे भाईके पूर्व विवाह करनेवाला बांधा गया है, (अंगे अंगे आर्पितः उत्सितः च) हरएक अंगमें जकडा और बांधा है, (ते विमुच्यन्तां) वे तेरे पाश खुल जांय (हि विमुचः सन्ति) क्योंकि वे खुले हुए हैं । हे (पूषन्) पोषक देव ! (भ्रूणघ्नि दुरितानि मृक्ष्व) गर्भघात करनेवाला अंदर विद्यमान पाप दूर कर ॥ ३ ॥

भावार्थ— छोटा भाई बडे भाईके नाशके लिये प्रवृत्त न होवे, किसीका मूल उच्छिन्न न होवे । रोग जडसे दूर हों और सब देवताकी अनुकूलता होवे ॥ १ ॥

सब बंधन करनेवाले पाश तोड दे । तीन गुणोंसे तीन लोग बांधे गये हैं । रोग जडसे दूर हों और माता, पिता और पुत्र कष्टोंसे बचें ॥ २ ॥

जिन कमजोरियोंके कारण बडे भाईके पूर्व ही छोटा भाई शादी करता है, वे लोमके पाश हरएक अवयवमें बंधे हैं । वे पाश खुले हों और गर्भघात आदि प्रकारके सब दोष दूर हों ॥ ३ ॥

सूक्त ११० के सदृश यह सूक्त है अतः उसके साथ पाठक इस सूक्तका विचार करें । गृह सुख बढानेके उत्तम आदेश इस सूक्तमें हैं ।

ज्ञानसे पापको दूर करना।

[सूक्त ११३]

(ऋषिः — अथर्वा । देवता — पूषा ।)

त्रिते देवा अमृजतैतदेनस्त्रित एनन्मनुष्येषु ममृजे ।
ततो यदि त्वा ग्राहिरानशे तां ते देवा ब्रह्मणा नाशयन्तु ॥ १ ॥

मरीचीर्धूमान् प्र विशानु पाप्मन्नुदारान् गच्छोत वा नीहारान् ।
नदीनां फेनाँ अनु तान् वि नश्य भ्रूणघ्नि पूषन् दुरितानि मृक्ष्व ॥ २ ॥

द्वादशधा निहितं त्रितस्यापमृष्टं मनुष्यैनसानि ।
ततो यदि त्वा ग्राहिरानशे तां ते देवा ब्रह्मणा नाशयन्तु ॥ ३ ॥

॥ इति एकादशोऽनुवाकः ॥

अर्थ— (देवाः एतत् एनः त्रिते असृजत) देवोंने-इंद्रियोंने-यह पाप त्रितमें-मनमें-रखा और उसने (एनत् मनुष्येषु ममृजे) यह मनुष्योंमें रखा है (ततः यदि त्वा ग्राहिः आनशे) उससे यदि तुझे गठिया आदि रोगने पकड रखा हो, तो (देवाः ते तां ब्रह्मणा नाशयन्तु) देव तेरी उस पीडाको ज्ञानके द्वारा दूर करें ॥ १ ॥

हे (पाप्मन्) हे पापी ! (मरीचीः धूमान् प्रविश) सूर्यकिरणोंमें या धुंएमें घुस जा अथवा (उदारान् अनु गच्छ) ऊपर आये भापमें अनुकूलतासे जा, (उत वा नीहारान्) अथवा कुहरमें लीन हो । (नदीनां तान् फेनान् अनु वि नश्य) नदीके उन फेनोंमें छिप जा, हे पूषा ! (भ्रूणघ्नि दुरितानि मृक्ष्व) गर्भघातकीमें पापोंको रख ॥ २ ॥

(त्रितस्य अपमृष्टं द्वादशधा निहितं) त्रितका धोया हुआ पाप बारह प्रकारसे रखा है । यह (मनुष्य-एनसानि) मनुष्यके पाप हैं । (ततः यदि त्वा ग्राहिः आनशे) उससे यदि तुझे गठिया आदि रोगने पकडा हो (देवाः ते तां ब्रह्मणा नाशयन्तु) देव तेरे उस रोगको ज्ञानके द्वारा नष्ट करें ॥ ३ ॥

भावार्थ— इन्द्रियोंका किया पाप मनमें इकठ्ठा होता है और मनमें एकत्रित हुआ पाप मनुष्यमें व्यक्त होता है । यदि इससे विविध रोग हुए तब ज्ञानसे उसको दूर किया जा सकता है ॥ १ ॥

सूर्यकिरण, अन्धेरा, कुहरा, अथवा दूसरे स्थान कहां भी पापी गया तो उसका पाप दूर नहीं होता । उसका जितना पाप होता है उतना सब गर्भघातकीमें रहता है ॥ २ ॥

मनका पाप बारह प्रकारका समझा जाता है यह मनुष्योंमें रहता है । उससे विविध रोग होते हैं जो ज्ञानपूर्वक उपाय करनेसे दूर होते हैं ॥ ३ ॥

इन्द्रियों द्वारा पाप किये जाते हैं वे सब संस्कारकरूपसे मनमें जमा होते हैं । उन पापोंका परिणाम मनुष्यशरीरमें रोगोंके रूपमें दिखाई देता है । ये पाप कभी छिपाये नहीं जाते । सबसे अधिक पाप गर्भका घात करनेसे होता है । इनसे पापोंको दूर करना हो तो ज्ञानकी वृद्धि करनी चाहिये । क्योंकि ज्ञानसे ही सब पाप दूर होते हैं ।

॥ यहां एकादश अनुवाक समाप्त ॥

यज्ञका सत्य फल ।

[सूक्त ११४]

(ऋषिः — ब्रह्मा । देवता — विश्वेदेवाः ।)

यद् देवा देवहेडनं देवासश्चकृमा वयम् । आदित्यास्तस्मान्नो यूयमृतस्यर्तेन मुञ्चत ॥ १ ॥
ऋतस्यर्तेनादित्या यजत्रा मुञ्चतेह नः । यज्ञं यद् यज्ञवाहसः शिक्षन्तो नोपशेकिम ॥ २ ॥
मेदस्वता यजमानाः स्रुचाज्यानि जुह्वतः । अकामा विश्वे वो देवाः शिक्षन्तो नोपशेकिम ॥ ३ ॥

अर्थ— हे (देवासः) देवो ! (वयं देवासः यत् देवहेडनं चकृम) हम स्वयं दैवी शक्तिसे युक्त होते हुए भी जो देवोंका अनादर करते हैं, हे (आदित्याः) आदित्यो ! (यूयं तस्मात् नः ऋतस्य ऋतेन मुञ्चत) तुम सब उससे हमें यज्ञके सत्य द्वारा छुडाओ ॥ १ ॥

हे (आदित्याः) आदित्यो ! हे (यजत्राः) याजको ! हे (यज्ञवाहसः) यज्ञ चलानेवालो ! (यत् यज्ञं शिक्षन्तः न उपशेकिम) यदि हम यज्ञकी शिक्षा प्राप्त करते हुए उसको यथावत् न कर सकें (नः ऋतस्य ऋतेन इह मुञ्चत) हमें यज्ञके सत्यद्वारा यहां मुक्त करो ॥ २ ॥

हे (विश्वेदेवाः) सब देवो ! (वः शिक्षन्तः अकामाः न उपशेकिम) आपसे शिक्षा प्राप्त करते हुए हम विफल होकर यदि उसे पूर्ण न कर सकें, तो भी (मेदस्वता स्रुचा आज्यानि जुह्वतः) घृतयुक्त चमससे घीका हवन करते हुए हम (यजमानाः) यजमान तो हो जावें ॥ ३ ॥

भावार्थ— देवोंके संबन्धमें जो तिरस्कार कभी-कभी हमसे होता हो, तो उस पापसे हम यज्ञके सत्य फलके द्वारा मुक्त हों ॥ १ ॥

हम अपनी ओरसे सांग यज्ञकी तैयारी करते हैं तथापि उसमें जो त्रुटि होती हो तो उस पापसे हम यज्ञके सत्यफलद्वारा मुक्त हों ॥ २ ॥

हम उत्तम ज्ञान प्राप्त करनेका प्रयत्न करनेपर भी जो दोष हमसे होता है उसका निवारण यज्ञमें जो घृतकी आहुतियां हम देते हैं, उससे हो और हम उत्तम यज्ञकर्ता बनें ॥ ३ ॥

मनुष्यके प्रयत्न करनेपर भी अनेक दोष उससे होते हैं, सत्ययज्ञसे ही वे दोष दूर हो सकते हैं। यज्ञ करनेका भाव यह है कि जनताकी भलाईके लिये आत्मसमर्पण करना। यह यज्ञ सब दोषोंको दूर कर सकता है।

पापसे बचना ।

[सूक्त ११५]

(ऋषिः — ब्रह्मा । देवता — विश्वेदेवाः ।)

यद् विद्वांसो यदविद्वांस एनांसि चकृमा वयम् । यूयं नस्तस्मान्मुञ्चत विश्वे देवाः सजोषसः ॥ १ ॥

अर्थ— (यत् विद्वांसः यत् अविद्वांसः) जो जानते हुए अथवा न जानते हुए (वयं एनांसि चकृम) हम पाप करें, हे (विश्वेदेवाः) सब देवो ! (यूयं सजोषसः तस्मात् नः मुञ्चत) आप एक मतसे उस पापसे हमें मुक्त करो ॥ १ ॥

यदि जाग्रद् यदि स्वपन्नेन एनस्योऽकरम् । भूतं मा तस्माद् भव्यं च द्रुपदादिव मुञ्चताम् ॥२॥
द्रुपदादिव मुमुचानः स्विन्नः स्नात्वा मलादिव । पूतं पवित्रेणेवाज्यं विश्वे शुम्भन्तु मैनसः ॥३॥

अर्थ— (यदि जाग्रत् यदि स्वपन्) यदि जागते हुए अथवा सोते हुए (एनस्यः एनः अकरं) मैं पापी होकर भी पाप करूं, तो (द्रुपदात् इव) खूंटेसे पशुको जैसा छोडकर मुक्त करते हैं उस प्रकार (भूतं भव्यं च तस्मात् मा मुञ्चतां) भूत अथवा भविष्यकालका जो पाप है उससे मुझे छुडाओ ॥ १ ॥

(द्रुपदात् इव मुमुचानः) जिस प्रकार पशु बंधनस्तंभसे मुक्त होता है अथवा (मलात् स्विन्नः स्नात्वा इव) जैसे मलसे स्नानके बाद मुक्त होता है (पवित्रेण पूतं आज्यं इव) अथवा जैसे छाननीसे घी पवित्र होता है, उस प्रकार (विश्वे मा एनसः शुम्भन्तु) सब मुझे पापसे पवित्र करें ॥ २ ॥

भावार्थ— जानते हुए अथवा न जानते हुए जो पाप हमसे हो, उससे छुटकारा प्राप्त करना चाहिये ॥ १ ॥

जागते समय अथवा सोते समय जो पाप मुझसे हो, वह भूत कालका हो अथवा वर्तमान कालका हो, उससे छुटकारा प्राप्त करना चाहिये ॥ २ ॥

जैसे स्तंभसे पशु छूट जाता है, शरीरसे स्नानकेद्वारा मल दूर होता है और जैसे छाननेसे घृत पवित्र बनता है, उस प्रकार मैं निर्दोष हो जाऊंगा ॥ ३ ॥

निष्पाप बननेके तीन प्रकार।

शुद्ध होनेके तीन प्रकार हैं, अन्तःशुद्धि, बाह्यशुद्धि और संबंधशुद्धि। इसके तीन उदाहरण तृतीय मंत्रमें दिये हैं देखिये—

१ अन्तःशुद्धि— (पवित्रेण पूतं आज्यं इव) छाननीसे जिस प्रकार घी शुद्ध होता है। घी छानते हैं, उससे घीके अंदरके मल दूर होते हैं, इस प्रकार मनुष्यके अन्तःकरणके मल दूर करने चाहिये। यह अन्तःशुद्धि है।

२ बाह्यशुद्धि— (मलात् स्नात्वा स्विन्न इव) जैसे शरीरपर लगे हुए मलको स्नान करनेसे शुद्धता होती है। यह बाह्यशुद्धि है। मल शरीरपर बाहरसे लगता है उस प्रकार बाह्य दोषोंसे यह शुद्धता करनी होती है।

३ संबंधशुद्धि— (द्रुपदात् मुमुचानः इव) स्तंभके बंधनसे जैसे पशुको छुडाते हैं अथवा फल परिपक्व होनेसे जिस प्रकार वह वृक्षसे छूट जाता है। उस प्रकार संबंधके लोभसे मुक्त होना। यह संबंधशुद्धि है।

इस प्रकार ये शुद्ध होनेके तीन भेद हैं। मनुष्यको भी जो निर्दोषता प्राप्त करनी है, वह इन तीनों प्रकारकी है। मनुष्य अपने संबंधोंको शुद्ध करे और पापी संबंधोंको दूर करे, अपनी बाह्य शुद्धता करे और उसके लिये अपना रहना-सहना पवित्र रखे, तथा अपनी अन्तःशुद्धि करे और उसके लिये अपने विचारोंको पवित्र करे। इस प्रकार मनुष्य परिशुद्ध होता है।

मनुष्य जानता हुआ अथवा न जानता हुआ, जागता हुआ अथवा सोता हुआ पाप करता है इन सब पापोंसे मुक्तता प्राप्त करनी चाहिये। परमेश्वरकी कृपा, ज्ञानियोंका सत्संग और आत्मशुद्धिका प्रयत्न करनेसे पापसे छूटना संभव है।

यह सूक्त विशेष महत्वका है। पाठक इसका अधिक विचार करें और सब प्रकारसे शुद्धता प्राप्त करनेका प्रयत्न करें।

अन्नभाग।

[सूक्त ११६]

(ऋषिः — जाटिकायनः । देवता — विवस्वान् ।)

यद् यामं चक्रुर्निखनन्तो अग्रे कार्षीवणा अन्नविदो न विद्यया ।
वैवस्वते राजनि तज्जुहोम्यथ यज्ञियं मधुमदस्तु नोऽन्नम् ॥ १ ॥

अर्थ— (अग्रे कार्षीवणाः निखनन्तः) पहिले कृषी करनेवाले लोग भूमिको खोदते हुए (विद्यया अन्नविदः न) ज्ञानसे अन्न प्राप्त करनेवालोंके समान (यत् यामं चक्रुः) जो नियम करते रहे, (तत् वैवस्वते राजनि जुहोमि) उनको वैवस्वत अर्थात् बसानेवाले राजामें समर्पित करता हूं। (अथ नः यज्ञियं अन्नं मधुमत् अस्तु) अब हमारा यजनीय अन्न मधुर होवे ॥ १ ॥

वैवस्वतः कृणवद् भागधेयं मधुभागो मधुना सं सृजाति ।
मातुर्यदेन इषितं न आगन् यद् वा पितापराद्धो जिहीडे ॥ २ ॥
यदीदं मातुर्यदि वा पितुर्नः परि भ्रातुः पुत्राच्चेतस एन आगन् ।
यावन्तो अस्मान् पितरः सचन्ते तेषां सर्वेषां शिवो अस्तु मन्युः ॥ ३ ॥

अर्थ— (वैवस्वतः भागधेयं कृणवत्) सबको बसानेवाला राजा सबको अन्नका विभाग करे, (मधुभागः मधुना सं सृजाति) अन्नका मधुर भाग और मीठेके साथ युक्त करता है। (मातुः इषितं यत् एनः नः आगन्) मातासे प्रेरित हुआ जो पाप हमारे पास आगया है, (यत् वा अपराद्धः पिता जिहीडे) अथवा जो हमारे अपराधसे पिताके क्रोधसे हुआ है ॥ २ ॥

(यदि मातुः यदि वा पितुः) यदि मातासे और पितासे (भ्रातुः पुत्रात्) भाईसे और पुत्रसे (इदं एनः नः चेतसः परि आगन्) यह पाप हमारे चित्तके पास आगया है, (यावन्तः पितरः अस्मान् सचन्ते) जितने पितर हमसे संबंधित हैं, (तेषां सर्वेषां मन्युः शिवः अस्तु) उन सबका क्रोध हमारे लिये कल्याणकारी होवे ॥ ३ ॥

भावार्थ— प्रारंभमें खेती करनेवाले किसानोंने जो नियम बनाये, वेही राजाके पास संमत हुए, उनके पालनसे सबको अन्न मीठा लगने लगा और यज्ञके लिये भी समर्पित होने लगा ॥ १ ॥

राजाने भूमिसे उत्पन्न हुए अन्नका योग्य भाग बनाया, उसको अधिक मधुर मानकर लोग सेवन करते हैं। उसी प्रकार मातासे और पितासे भी हमारे पास अन्न भाग आता है, उसका भी हम वैसा ही सेवन किया करें ॥ २ ॥

माता, पिता, भाई, पुत्र इनसे हमारे पास जो भाग आता है, यदि उसके साथ उनका क्रोध भी हुआ हो, तो वह हमारे कल्याणके लिये ही होवे ॥ ३ ॥

प्रजाकी संमति ।

खेती करनेवाले सब प्रजाजन स्वसंमतिसे आपसके बर्तावके नियम करें, सब प्रजा द्वारा एकमतसे बनाये नियम राजा माने और उनके अनुसार राज्यशासन करे। ऐसा करनेसे राजा और प्रजाका उत्तम कल्याण होगा और सबको अन्नका स्वाद अधिक मिलेगा। राजा अन्नका योग्य भाग करके सबसे लेवे और प्रजामें भी योग्य भाग बांट देवे। जो जिसको प्राप्त हो उसमें वह संतुष्ट रहकर उसका भोग आनंदके साथ करे और कोई किसी दूसरेके भागका अन्यायसे हरण न करे। मातापिता आदिका जो दायभाग आता है उसी प्रकार उनका क्रोध भी आया, तब भी उससे संतानका कभी अहित नहीं होगा, क्योंकि उसमें माता पिताका प्रेम रहनेके कारण उससे संतानका हित ही होगा ॥

ऋणरहित होना ।

[सूक्त ११७]

(ऋषिः — कौशिकः । देवता — अग्निः ।)

अपमित्यमप्रतीत्तं यदस्मि यमस्य येन बलिना चरामि ।
इदं तदग्ने अनृणो भवामि त्वं पाशान् विचृतं वेत्थ सर्वान् ॥ १ ॥

अर्थ— (यत् अपमित्यं अप्रतीत्तं अस्मि) जो वापस करने योग्य परंतु वापस न करनेके कारण मैं ऋणी रहा हूं, और (यमस्य येन बलिना चरामि) नियन्ताके वशमें जिस ऋणके बलसे पहुंचा हूं, हे अग्ने ! (इदं तत् अनृणः भवामि) अब मैं उस ऋणको चुकाकर ऋणरहित हो जाऊं, (त्वं सर्वान् विचृतान् पाशान् वेत्थ) तू सब ऋणके खुले हुए पाशोंको जानता है ॥ १ ॥

इहैव सन्तः प्रति दद्म एनज्जीवा जीवेभ्यो नि हराम एनत् ।
अपमित्य धान्यं १ यज्जघसाहमिदं तदग्ने अनृणो भवामि ॥ २ ॥

अनृणा अस्मिन्ननृणाः परस्मिन् तृतीये लोके अनृणाः स्याम ।
ये देवयानाः पितृयाणाश्च लोकाः सर्वान् पथो अनृणा आ क्षियेम ॥ ३ ॥

अर्थ— (इह एव सन्तः एनत् प्रति दद्म) यहांही रहते हुए इस ऋणको चुका देते हैं, (जीवाः जीवेभ्यः एनत् निहरामः) इसी जीवनमें अन्य जीवोंके इस ऋणको हम निःशेष करते हैं। (यत् धान्यं अपमित्य अहं जघस) जो धान्य उधार लेकर खाया है, हे अग्ने ! (इदं तत् अनृणः भवामि) यह वह है और इस रीतिसे मैं ऋणरहित होता हूं ॥२॥

(अस्मिन् लोके अनृणाः) इस लोकमें हम ऋणरहित हो जांय, (परस्मिन् अनृणाः) परलोकमें ऋणरहित हो जांय, और (तृतीये लोके अनृणाः स्याम) तृतीय लोकमें भी हम ऋणरहित हो जांय; (ये देवयानाः पितृयाणाः च लोकाः) जो देवयान और पितृयानके लोक हैं, (सर्वान् पथः अनृणाः आक्षियेम) इन सब मार्गोंमें हम ऋणरहित होकर रहें ॥ ३ ॥

भावार्थ— जो कर्जा लिया होता है वह समयपर वापस करना चाहिये। यदि वापस न किया जाय तो ऋण लेनेवाला दोषी होता है। इस दोषसे मुक्त होनेके लिये शीघ्र ऋणमुक्त होनेका यत्न करना चाहिये। सब अपने पाश तोडकर पहिले ऋणमुक्त होना योग्य है ॥ १ ॥

इस संसारमें जीवित रहनेतक ही अपने कर्जासे मुक्त होना चाहिये, अर्थात् स्वयं किया हुआ कर्जा अपने बाल बच्चोंके लिये छोडना उचित नहीं। धान्यका कर्जा हो अथवा धन आदिका हो उसको शीघ्र वापस करना चाहिये।

इस लोकका ऋण दूर करना चाहिये, परलोकके ऋणसे मुक्त होना चाहिये, और अन्य ऋणोंसे भी मुक्त होना चाहिये। देवयान और पितृयाणके सब स्थानोंमें ऋणरहित होना योग्य है ॥ ३ ॥

मनुष्यको सब प्रकारके ऋणोंसे मुक्त होना चाहिये। ऋणी रहकर मरना योग्य नहीं है। यह सूक्त सुबोध है, इसलिये अधिक स्पष्टीकरणकी आवश्यकता नहीं है।

[सूक्त ११८]

(ऋषिः — कौशिकः । देवता — अग्निः ।)

यद्धस्ताभ्यां चकृम किल्बिषाण्यक्षाणां गत्नुमुपलिप्समानाः ।
उग्रंपश्ये उग्रजितौ तदद्याप्सरसावनु दत्तामृणं नः ॥ १ ॥

अर्थ— (अक्षाणां गत्नुं उप लिप्समानाः) जुएके स्थानके प्रति जानेकी इच्छा करनेवाले हम (यत् हस्ताभ्यां किल्बिषाणि चकृम) जो हाथोंसे अनेक पाप करते हैं। (तत् नः ऋणं अद्य) वह हमारा ऋण आज (उग्रंपश्ये उग्रजितौ अप्सरसौ अनुदत्तां) उग्रतासे देखनेवाली और उग्रतासे जीतनेवाली दोनों अप्सराएं हमसे दिलावें ॥ १ ॥

भावार्थ— जुएके स्थानपर जाकर जो पाप किया जाता है और अन्यत्र जो पाप होता है, उसी प्रकार जो हम ऋण करते हैं, उन सबको दूर करना चाहिये ॥ १ ॥

उग्रंपश्ये राष्ट्रभृत् किल्बिषाणि यदुक्षवृत्तमनु दत्तं न एतत् ।
ऋणान्नो नर्णमेर्त्समानो यमस्य लोके अधिरज्जुरायत् ॥ २ ॥
यस्मा ऋणं यस्य जायामुपैमि यं याचमानो अभ्यैमि देवाः ।
ते वाचं वादिषुर्मोत्तरां मद्देवपत्नी अप्सरसावधीतम् ॥ ३ ॥

अर्थ— हे (उग्रंपश्ये राष्ट्रभृत्) उग्रतासे देखनेवाली और हे राष्ट्रका भरण पोषण करनेवाली ! (यत् अक्षवृत्तं) जो जुएबाजीका पाप है और जो (किल्बिषाणि) अन्य पाप हैं, (नः एतत् अनु दत्तं) हमसे यह सब बदला दिया हुआ है। (ऋणात् ऋणं न एर्त्समानः) ऋणीसे ऋणको वापस न प्राप्त करनेपर ऋण देनेवाला (अधिरज्जुः यमस्य लोके नः आयत्) रस्सी लेकर यमके लोकमें हमारे पास आवेगा ॥ २ ॥

हे (देवाः) देवो ! (यस्मै ऋणं) जिसको ऋण वापस करना है, (यस्य जायां उपैमि) जिसकी स्त्रीके पास सहाय्य याचनार्थ जाता हूं तथा (यं याचमानः अभ्येमि) जिसके पास याचना करता हुआ पहुंचता हूं, (ते मत् उत्तरां वाचं मा वादिषुः) वे मुझसे अधिक कठोर भाषण न करें। हे (देवपत्नी अप्सरसौ) देवपत्नी अप्सराओ ! (अधीतं) स्मरण रखो यह मेरी प्रार्थना ॥ ३ ॥

भावार्थ— जुएका पाप, अन्य पाप और ऋण यदि दूर न किया जाए तो हमें बंधनमें आना पडेगा ॥ २ ॥

जिससे ऋण लिया है अथवा जिससे कुछ याचनाकी है, वह हमें दुत्कार न बोले, ऐसी व्यवस्था करनी चाहिये ॥ ३ ॥

[ये मंत्र कुछ अंशमें संदिग्ध हैं, इसलिये इनके विषयमें विशेष स्पष्टीकरण करना असंभव है। क्योंकि इनके कई शब्दोंका संबंध स्पष्टतया प्रतीत नहीं होता।]

[सूक्त ११९]

(ऋषिः — कौशिकः । देवता — अग्निः ।)

यददीव्यन्नृणमहं कृणोम्यदास्यन्नग्न उत संगृणामि ।
वैश्वानरो नो अधिपा वसिष्ठ उदिन्नयाति सुकृतस्य लोकम् ॥ १ ॥
वैश्वानराय प्रति वेदयामि यदृणं संगरो देवतासु ।
स एतान् पाशान् विचृतं वेद सर्वानथ पक्वेन सह सं भवेम ॥ २ ॥

अर्थ— (यत् अहं अदीव्यन्) जो मैं जुआ न खेलता हुआ (ऋणं) ऋण करूं, (उत अदास्यन् संगृणामि) और उसको न चुकाता हुआ चुकानेकी प्रतिज्ञा करता जाऊं, हे अग्ने ! (वैश्वानरः वसिष्ठः अधिपाः) विश्वका नेता सबको बसानेवाला अधिपति (नः सुकृतस्य लोकं इत् उन्नयाति) हमें पुण्यलोकमें जाने योग्य ऊपर उठावे ॥ १ ॥

(वैश्वानराय यत् ऋणं प्रतिवेदयामि) विश्वके नेताको मैं जो ऋण है वह कहूंगा, तथा (देवतासु यः संगरः) देवताओंमें जो प्रतिज्ञा हुई है, वह भी मैं कहूंगा। (सः एतान् सर्वान् पाशान् विचृतं वेद) वह इन सब पाशोंको खोलनेकी विधि जानता है। (अथ पक्वेन सह संभवेम) अब हम परिपक्वके साथ मिल जांय ॥ २ ॥

भावार्थ— जुआ न खेलता हुआ अन्य कारणसे जो ऋण मैं करता हूं, और उसको समयपर वापस न करता हुआ वापस करनेकी प्रतिज्ञा करता रहता हूं, उस दोषसे बचावे और ईश्वर मुझे ऊपर उठावे और पुण्य लोकमें पहुंचावे ॥ १ ॥

जो ऋण मैंने किया और उस संबंधमें जो प्रतिज्ञाएं मैंनेकी उन सबको मैं निवेदन करता हूं। इस प्रकारके पापोंसे ईश्वर मेरा बचाव करे, क्योंकि वही इन बंधनोंसे दूर करके हमें ऊपर उठानेके उपाय जानता है। हम परिपक्व हुए ज्ञानियोंके साथ रहें, जिससे हमसे दोष नहीं होंगे ॥ २ ॥

वैश्वानरः पविता मा पुनातु यत् संगरमभिधावाम्याशाम् ।
अनाजानन् मनसा याचमानो यत् तत्रैनो अप तत् सुवामि ॥ ३ ॥

अर्थ-- (पविता वैश्वानरः मा पुनातु) पवित्र करनेवाला विश्वका नेता मुझे पवित्र करे । (यत् संगरं आशां अभिधावामि) जिस प्रतिज्ञाको करता हुआ जिस आशाके पीछे मैं दौडता हूं, (अनाजानन् मनसा याचमानः) न जानता हुआ तथापि मनसे याचना करता हुआ (तत्र यत् एनः) वहां जो पाप होता है (तत् अप सुवामि) उसको मैं दूर करता हूं ॥ ३ ॥

भावार्थ— ईश्वर सबको पवित्र करनेवाला है, वह मुझे पवित्र करे । जिस आशाके पीछे पडकर मैं बारबार याचना करता हूं, वह सब पाप दूर होवे ॥ ३ ॥

इस सूक्तका भाव स्पष्ट है । ऋण मोचनके ये सब सूक्त यही उपदेश विशेषतया करते हैं कि कोई मनुष्य ऋण न करे, और यदि करे तो उसको ठीक समयपर वापस करे । वृथा असत्य प्रतिज्ञाएं करते न रहे । इत्यादि बोध इन सूक्तोंसे सारांशरूपसे प्राप्त होता है ।

मातापिताकी सेवा करो ।

[सूक्त १२०]

(ऋषिः — कौशिकः । देवता — मन्त्रोक्ताः ।)

यदन्तरिक्षं पृथिवीमुत द्यां यन्मातरं पितरं वा जिहिंसिम ।
अयं तस्माद् गार्हपत्यो नो अग्निरुदिन्नयाति सुकृतस्य लोकम् ॥ १ ॥
भूमिर्मातादितिर्नो जनित्रं भ्रातान्तरिक्षमभिशस्त्या नः ।
द्यौर्नः पिता पित्र्याच्छं भवाति जामिमृत्वा माव पत्सि लोकात् ॥ २ ॥

अर्थ— (यत् अन्तरिक्षं पृथिवीं उत द्यां) यदि हम अन्तरिक्ष, पृथिवी और द्युलोककी तथा (यत् मातरं पितरं वा जिहिंसिम) यदि हम माता और पिताकी हिंसा करें, (अयं गार्हपत्यः अग्निः) यह हमारा गार्हपत्य अग्नि (नः तस्मात् इत् सुकृतस्य लोकं उन्नयाति) हमें उस पापसे उठा कर पुण्यलोकमें पहुंचावे ॥ १ ॥
(अदितिः भूमिः माता नः जनित्रं) अदीन मातृभूमि हमारी जननी है । (अन्तरिक्षं भ्राता) अन्तरिक्ष हमारा भाई है और (द्यौः नः पिता) द्युलोक हमारा पिता है । वह (अभिशस्त्याः नः शं भवाति) विपत्तिसे हमें बचाकर कल्याणकारी होवे (जामिं ऋत्वा पित्र्यात् लोकात्) संबंधीको प्राप्त कर पितृलोकसे (मा अवपत्सि) मत गिर जा ॥ २ ॥

भावार्थ— इस संपूर्ण जगत्में हम कहीं भी हों, यदि हम वहां अपने मातापिताको कष्ट पहुंचावें, तो तेजस्वी देव हमें उस पापसे मुक्त करे और पुण्यलोकमें जाने योग्य पवित्र हमें बनावे ॥ १ ॥
हमारी माता यह भूमि है और हमारा पिता यह द्युलोक है, अन्तरिक्ष हमारा भाई है । इस प्रकार जगत्से हमारा संबंध है । यह सब जगत् हमारा कल्याण करे और हमें विपत्तिसे बचावे । कोई ऐसा संबंधी न होवे कि जिसके कारण हमें पितृलोकसे गिरना पडे ॥ २ ॥

यत्रा सुहार्दः सुकृतो मदन्ति विहाय रोगं तन्वः स्वायाः ।
अश्लोणा अङ्गैरह्रुताः स्वर्गे तत्र पश्येम पितरौ च पुत्रान् ॥ ३ ॥

अर्थ—(यत्र सुहार्दः सुकृतः) जहां उत्तम हृदयवाले पुण्यकर्ता पुरुष (स्वायाः तन्वः रोगं विहाय) अपने शरीरके रोगको दूर करके (मदन्ति) आनंदित होते हैं, (अंगैः अश्लोणाः अह्रुताः) अंगोंसे अविकृत और अकुटिल होकर (तत्र स्वर्गे पितरौ च पुत्रान् पश्येम) उस स्वर्गमें पितरों और पुत्रोंको देखें ॥ ३ ॥

भावार्थ— जहां शारीरिक रोग नहीं होते और जहां हृदयके उत्तम भावसे पुण्यकरनेवाले लोग आनंदसे रहते हैं, वहां हम पहुंचें और सुदृढ अंगोंसे रहें और अपने पितरों और पुत्रोंको देखें ॥ ३ ॥

कोई मनुष्य अपने मातापिताको किसी प्रकारका कष्ट न देवे । मातापिताको कष्ट देनेवाले गिरते हैं । परंतु जो मातापिताको सुख देता है वह ऐसे श्रेष्ठ लोकमें पहुंचता है कि जहां कभी रोग नहीं होते और शरीर स्वस्थ रहता है । इसलिये हरएक मनुष्य अपने मातापिताकी सेवा करे और उनको सुख देवे ।

बंधनसे छूटना ।

[सूक्त १२१]

(ऋषिः — कौशिकः । देवता — मन्त्रोक्ताः ।)

विषाणा पाशान् वि ष्याध्यस्मद् य उत्तमा अधमा वारुणा ये ।
दुःष्वप्न्यं दुरितं नि ष्वास्मदथ गच्छेम सुकृतस्य लोकम् ॥ १ ॥
यद् दारुणि बध्यसे यच्च रज्ज्वां यद् भूम्यां बध्यसे यच्च वाचा ।
अयं तस्माद् गार्हपत्यो नो अग्निरुदिन्नयाति सुकृतस्य लोकम् ॥ २ ॥
उदगातां भगवती विचृतौ नाम तारके । प्रेहामृतस्य यच्छतां प्रैतु बद्धकमोचनम् ॥ ३ ॥

अर्थ—(ये अधमाः उत्तमाः ये वारुणाः) जो अधम और उत्तम वरुण देवके पाश हैं उन (पाशान् विषाणा अस्मत् अधि विष्य) पाशोंको तोडता हुआ हमसे उन पाशोंको दूर कर । (दुःष्वप्न्यं दुरितं अस्मत् नि स्व) बुरे स्वप्न और पाप हमसे दूर कर । (अथ सुकृतस्य लोकं गच्छेम) अब हम पुण्यलोकमें जावें ॥ १ ॥

(यत् दारुणि यत् च रज्ज्वां बध्यसे) जो काष्ठस्तंभमें और रस्सीमें बांधा जाता है और (यत् भूम्यां) जो भूमिमें और (यत् च वाचा बध्यसे) जो वाणीसे बांधा जाता है, (तस्मात्) उस बंधनसे (अयं गार्हपत्यः अग्निः) यह गार्हपत्य अग्नि (नः सुकृतस्य लोकं उत् उत् नयाति) हमें सुकृतके लोकमें ले जाता है ॥ २ ॥

(भगवती विचृतौ नाम तारके) भाग्यवान् छुडानेवाली और तारण करनेवाली दो देवताएं (उदगातां) उदयको प्राप्त हुई हैं । वे दोनों (अमृतस्य प्रयच्छतां) अमृतका भाग देवें जिससे यह जीव (बद्धक-मोचनं प्रैतु) बद्ध अवस्थासे छूटनेका साधन प्राप्त करे ॥ ३ ॥

भावार्थ— निम्नस्थान, मध्यस्थान और उत्तमस्थान पर जो पाश हैं उनको दूर करनेका प्रयत्न कर मनुष्य पापरहित होवे और अथवा निंद्य उत्तम स्वप्न आना उसके अनुभवमें आजावे : इस प्रकार वह निर्दोष होकर पुण्यलोकको प्राप्त होवे ॥ १ ॥

जो अनेक प्रकारके बंधन हैं वे सब ईश्वरकी कृपासे दूर हो जाय और हमें पुण्यलोक प्राप्त होवे ॥ २ ॥

बंधनसे मुक्त करनेवाली और रक्षा करनेवाली दो शक्तियां हमें अमृतका भाग देवें, जिससे हम बंधनसे मुक्त होकर पूर्ण स्वतंत्र हो जाय ॥ ३ ॥

वि जिहीष्व लोकं कृणु बन्धान्मुञ्चासि बद्धकम् ।
योन्या इव प्रच्युतो गर्भः पथः सर्वाँ अनु क्षिय ॥ ४ ॥

अर्थ— (विजिहीष्व) विशेष प्रगति कर, (लोकं कृणु) अपने लिये योग्य स्थान बना । (योन्याः प्रच्युतः गर्भः इव) योनिसे बाहर आये बालकके समान (बन्धात् बद्धकं मुञ्चासि) बंधनसे बन्धनके कारणको अलग कर । (सर्वान् पथः अनु क्षिय) सब मार्गोंमें अनुकूलतासे रह ॥ ४ ॥

भावार्थ— विशेष प्रगति कर, पुण्यस्थान प्राप्त कर, बंधनसे मुक्त हो, जैसे कि पूर्ण हुआ बालक माताके उदरसे छूटकर बाहर आता है और इस जगत्में अनुकूल परिस्थितिमें विराजता है ॥ ४ ॥

सब प्रकारके बंधनोंसे मुक्त होना चाहिये और पूर्ण स्वातंत्र्य प्राप्त करना चाहिये । इसकी सिद्धताके लिये मनुष्य पापसे दूर हो जावे । कभी पापका विचारतक न करे । विचार शुद्ध होनेसे स्वप्न भी उत्तम आने लगेंगे और कभी बुरे स्वप्न नहीं आवेंगे । सब बंधन पापसे मुक्त होनेसे ही दूर हो सकते हैं और उस मनुष्यको उत्तम लोक प्राप्त हो सकते हैं । पुण्यसे ही बंधनसे मुक्तता करनेवाली शक्ति और आत्मरक्षा करनेकी शक्ति प्राप्त हो सकती है और इसीसे आगे अमृतका लाभ हो सकता है और पूर्णतया बंधन दूर होकर पूर्ण स्वाधीनताका लाभ प्राप्त हो सकता है ।

इसलिये हे मनुष्य ! तू विशेष प्रयत्नसे उन्नतिलाभ कर, पुण्यवान बन, बंधनसे मुक्त होकर पूर्ण स्वातंत्र्यको प्राप्त कर और जगत्में अनुकूल परिस्थिति प्राप्त करके आनंदके साथ विराजमान हो जा ।

पवित्र गृहस्थाश्रम ।

[सूक्त १२२]

(ऋषिः — भृगुः । देवता — विश्वकर्मा ।)

एतं भागं परि ददामि विद्वान् विश्वकर्मन् प्रथमजा ऋतस्य ।
अस्माभिर्दत्तं जरसः परस्तादच्छिन्नं तन्तुमनु सं तरेम ॥ १ ॥
ततं तन्तुमन्वेके तरन्ति येषां दत्तं पित्र्यमायनेन ।
अबन्ध्वेके ददतः प्रयच्छन्तो दातुं चेच्छिक्षान्त्स स्वर्ग एव ॥ २ ॥

अर्थ— हे (विश्वकर्मन्) हे समस्त जगत्के रचयिता ! तू (ऋतस्य प्रथमजाः) सत्य नियमका पहिला प्रवर्तक है । इस बातको (विद्वान्) जानता हुआ मैं (एतं भागं परि ददामि) इस अपने भागको तेरे लिये पूर्णतासे देता हूं । (जरसः परस्तात् अस्माभिः दत्तं अच्छिन्नं तन्तुं) बुढापेके पश्चात् भी हमारे द्वारा दिया हुआ विच्छेदरहित जो यज्ञका सूत्र है, उससे हम (अनु संतरेम) निश्चयपूर्वक अनुकूलताके साथ पार हो जायगे ॥ १ ॥

(एके ततं तन्तुं अनु तरन्ति) कई लोग इस फैले हुए यज्ञसूत्रके अनुकूल रहकर पार हो जाते हैं । (येषां आयनेन पित्र्यं दत्तं) जिनके आनेसे पितृसंबंधी देय ऋणभाग दिया होता है । (एके अबन्धु ददतः) कई दूसरे बंधुजनोंसे रहित होकर भी (ददतः) दान देते हैं वे (प्रयच्छन्तः च इत् दातुं शिक्षान्) दान देते हुए यदि देनेके लिये समर्थ हुए, तो (सः स्वर्गः एव) वह स्वर्ग ही है ॥ २ ॥

भावार्थ— हे जगत्के रचयिता प्रभो ! तू ही सत्यधर्मका पहिला प्रवर्तक है, यह मैं जानता हूं, इसलिये मैं अपने भागको तेरे लिये समर्पित करता हूं । इस समर्पणसे जो अविच्छिन्न यज्ञ बनेगा, उसकी सहायतासे हम दुःखके पार हो जायगे ॥ १ ॥

इस यज्ञका आश्रय करके ही कई लोग पार हुए हैं । जिनका कुछ पैतृक ऋण चुकाना होता है, वे बंधनोंसे हीन होनेपर कठिन समय आनेपर भी उस ऋणको वापस करते हैं । ऐसे लोग जहां होते हैं, वहां स्वर्गधाम हो जाता है ॥ २ ॥

अन्वारंभेथामनुसंरंभेथामेतं लोकं श्रद्दधानाः सचन्ते ।
यद् वां पक्वं परिविष्टमग्नौ तस्य गुप्तये दम्पती सं श्रयेथाम् ॥ ३ ॥
यज्ञं यन्तं मनसा बृहन्तमन्वारोहामि तपसा सयोनिः ।
उपहूता अग्ने जरसः परस्तात् तृतीये नाके सधमादं मदेम ॥ ४ ॥
शुद्धाः पूता योषितो यज्ञिया इमा ब्रह्मणां हस्तेषु प्रपृथक् सादयामि ।
यत्काम इदमभिषिञ्चामि वोऽहमिन्द्रो मरुत्वान्त्स ददातु तन्मे ॥ ५ ॥

अर्थ— हे (**दम्पती**) स्त्रीपुरुषो ! (**अनु आरभेथाम्**) अनुकूलताके साथ शुभ कार्यका प्रारंभ करो, (**अनुसंरभेथां**) अनुकूलताके साथ हलचल करो । (**एतं लोकं श्रद्दधानाः सचन्ते**) इस गृहस्थाश्रमरूपी लोकको श्रद्धा धारण करनेवाले प्राप्त होते हैं । (**यत् वां पक्वं**) जो तुम दोनोंका परिपक्व फल (**अग्नौ परिविष्टं**) अग्निद्वारा सिद्ध हुआ है, (**तस्य गुप्तये संश्रयेथां**) उसकी रक्षाके लिये परस्पर आश्रित हो ॥ ३ ॥

(**तपसा यन्तं बृहन्तं यज्ञं**) तपसे चलनेवाले बडे यज्ञके ऊपर (**सयोनिः मनसा अनु आरोहामि**) समान स्थानमें उत्पन्न हुआ मैं अनुकूलताके साथ मनसे चढता हूं, प्राप्त होता हूं । हे अग्ने ! (**जरसः परस्तात् उपहूताः**) बुढापेके पहिले बुलाये हुए हम (**तृतीये नाके सधमादं मदेम**) तृतीय स्वर्ग धाममें साथ-साथ रहकर सुखको प्राप्त करें ॥ ४ ॥

(**इमाः यज्ञियाः शुद्धाः पूताः योषितः**) ये पूज्य शुद्ध और पवित्र स्त्रियां हैं, इनको (**ब्रह्मणां हस्तेषु प्रपृथक् सादयामि**) ज्ञानियोंके हाथोंमें पृथक्-पृथक् प्रदान करता हूं । (**अहं यत्कामः इदं वः अभिषिञ्चामि**) मैं जिस कामनासे इस रीतिसे तुमको अभिषिक्त करता हूं, (**सः मरुत्वान् इन्द्रः**) मरुतोंके साथ वह प्रभु (**मे तत् ददातु**) मुझे वह देवे ॥ ५ ॥

भावार्थ— हे स्त्रीपुरुषो ! तुम दोनों इस गृहस्थाश्रममें प्राप्त होनेपर शुभ कार्य करते रहो और उन्नतिके लिये हलचल करो । इस गृहस्थाश्रममें श्रद्धावान् लोग ही सुखपूर्वक रहते हैं । जो इसमें परिपक्व हुआ हो और जो पूर्ण हुआ हो, उसकी रक्षा करनेके लिये तुम दोनों प्रयत्न करो ॥ ३ ॥

जो यज्ञ तपसे होता है, उसीमें मन रख कर उसको पूर्ण करना योग्य है । इस प्रकार बुढापेतक कर्म करनेसे उच्च स्वर्गधाम प्राप्त होता है ॥ ४ ॥

ये पवित्र और शुद्ध कन्याएं हैं, इनको ज्ञानियोंके हाथमें पृथक्-पृथक् अर्पण करता हूं । जिस कामनासे मैं यह यज्ञ करता हूं वह मेरी कामना सफल हो जावे ॥ ५ ॥

पवित्र गृहस्थाश्रम ।

गृहस्थाश्रमको अत्यंत पवित्र करके उससे आनंद प्राप्त करनेके विषयमें इस सूक्तमें बहुतसे अनमोल उपदेश दिये हैं । ये उपदेश हरएक गृहस्थाश्रमी पुरुषको मनन करने चाहिये । (१) संपूर्ण जगत्का निर्माता जो प्रभु है, वही सत्यनियमोंका पहिला प्रवर्तक है, ऐसा मानकर उसके लिये शुभ कर्म करना, उसके लिये यज्ञ करना और जो कुछ करना हो वह उसकी प्रीतिके लिये करना चाहिये । इस प्रकारके शुभ कर्मोंके करनेसे मनुष्य दुःखमुक्त होता है । (२) इस प्रकारके यज्ञसे ही मनुष्यका बेडा पार होता है, दूसरा कोई मार्ग नहीं है । (३) अपना किया हुआ कर्जा अदा करना चाहिये, उसी प्रकार पितृपितामहोंका किया हुआ कर्जा भी उतारना चाहिये । जहां विशेष आपत्तिकी अवस्था प्राप्त होनेपर भी इस प्रकार ऋण वापस करते हैं और ठगते नहीं, वही देश स्वर्गधाम है । (४) गृहस्थाश्रममें स्त्रीपुरुष मिलकर रहते हैं, वे सदा शुभकर्म करें, शुभ कर्मोंसे ही श्रेष्ठ लोक प्राप्त होते हैं । (५) जो परिपूर्ण हुआ है उसकी रक्षा कीजिये और उसको देखकर अन्यकी परिपक्वता संपादन करनेका यत्न करना चाहिये । (६) इस यज्ञ

तपसे ही होते हैं। इस प्रकारके यज्ञ करनेका विचार मनसे सदा करना चाहिये। (७) यदि वृद्धावस्थातक इस प्रकारके शुभ कर्म किये तो उत्तम स्वर्गधामका आनन्द प्राप्त हो सकता है। (८) गृहस्थाश्रम करना हो तो पवित्र और शुद्ध स्त्रीके साथ करना चाहिये। (९) स्त्रीको भी ज्ञानी मनुष्यके हाथमें समर्पित करना चाहिये। इस प्रकार पवित्र स्त्री और ज्ञानी पुरुषसे जो गृहस्थाश्रम बनता है वह विशेष सुख देनेवाला होता है। (१०) ऐसी गृहस्थाश्रमकी अवस्थामें रहनेवाला मनुष्य ही अपनी कामना सिद्ध होनेका आनंद प्राप्त कर सकता है। प्रभु इसीको सिद्धि देता है।

इस सूक्तका इस प्रकार आशय है। जो पाठक इस सूक्तके मंत्रोंका अर्थ और भावार्थ विचारपूर्वक पढेंगे, वे यह आशय स्वयं जान सकते हैं। क्योंकि यह अतिस्पष्ट है।

मुक्ति।

[सूक्त १२३]

(ऋषिः — भृगुः। देवता — विश्वेदेवाः।)

एतं सधस्थाः परि वो ददामि यं शेवधिमावहाज्जातवेदाः।
अन्वागन्ता यजमानः स्वस्ति तं स्म जानीत परमे व्योमन् ॥ १ ॥
जानीत स्मैनं परमे व्योमन् देवाः सधस्था विद लोकमत्र।
अन्वागन्ता यजमानः स्वस्तीष्टापूर्तं स्म कृणुताविरस्मै ॥ २ ॥
देवाः पितरः पितरो देवाः। यो अस्मि सो अस्मि ॥ ३ ॥

अर्थ— हे (सधस्थाः) साथ-साथ रहनेवालो ! (वः एतं शेवधिं परि ददामि) तुमको यह खजाना मैं देता हूं, (यं जातवेदाः आवहात्) जिसको जातवेदाने तुमतक पहुंचाया है। जो (यजमानः स्वस्ति अनु आगन्ता) यजमान कुशलताके साथ आवेगा (तं परमे व्योमन् जानीत) उसको परम स्वर्गमें स्थित जानो ॥ १ ॥

हे (सधस्थाः देवाः) साथ रहनेवाले देवो ! (एनं परमे व्योमन् जानीत स्म) इसको परम स्वर्गधाममें स्थित जानो और (अत्र लोकं विद) इसीमें यह लोक है यह समझो। (यजमानः स्वस्ति अनु आगन्ता) यज्ञकर्ता सुखसे पीछेसे आवेगा। (अस्मै इष्टापूर्तं आविः कृणुत स्म) इसके लिये इष्ट और पूर्ति प्रकटतासे प्राप्त हो ऐसा करो ॥ २ ॥

(देवाः पितरः) देव पितर हैं और (पितरः देवाः) पितर देव हैं अर्थात् (पितरः) पालक (देवाः) देवता हैं, पूजनीय हैं, और जो पूजनीय हैं, वे ही सच्चे पालक होते हैं। (यः अस्मि सः अस्मि) जो वास्तवमें मैं हूं, वही मेरी वास्तविक स्थिति है ॥ ३ ॥

भावार्थ— सर्वज्ञ देवने जो तुम्हारे स्थानतक पहुंचाया है, उस आत्मशक्तिके खजानेको मैं तुम्हें देता हूं। इसीके पीछे-पीछे जो यजमान आवेगा और वह परम स्वर्गधामको पहुंच जायगा ॥ १ ॥

सत्कर्म करनेवाला परम धाममें स्थित होता है, यह निश्चित बात है। यज्ञकर्ता उसी धाममें पहुंचता है, उसका इष्टापूर्तसे स्वागत करो ॥ २ ॥

स पचामि स ददामि स यजे स दत्तान्मा यूषम् ॥ ४ ॥
नाके राजन् प्रति तिष्ठ तत्रैतत् प्रति तिष्ठतु । विद्धि पूर्तस्य नो राजन्त्स देव सुमना भव ॥ ५ ॥

अर्थ— (सः पचामि) वह मैं पकाता हूं, (सः ददामि) वह मैं देता हूं, (सः यजे) वह मैं यज्ञ करता हूं। (सः दत्तात् मा यूषं) वह मैं दानसे पृथक् न होऊं ॥ ४ ॥

हे राजन (नाके प्रतितिष्ठ) स्वर्गधाममें प्रतिष्ठित हो, (तत्र एतत् प्रतितिष्ठतु) वहां यह हमारा यज्ञ प्रतिष्ठित होवे। हे राजन् ! (नः पूर्तस्य विद्धि) हमारी पूर्तिका उपाय जान और हे देव ! (सुमनाः भव) उत्तम मनवाला हो ॥५॥

भावार्थ— जो पालन करते हैं वे देव हैं और जो दैवी भावसे युक्त हैं वे पालन करते ही हैं। मनुष्य अपनी योग्यता बाहर कितनी भी बतावे परन्तु जितनी अन्तरात्माकी अवस्था होगी उतनी ही उसकी वास्तविक योग्यता होगी ॥ ३ ॥

मैं यज्ञके लिये अन्न पकाता हूं, मैं दान देता हूं, मैं यज्ञ करता हूं। मैं दान करनेसे कभी निवृत्त न होऊं ॥ ४ ॥

स्वर्गधाममें स्थिर हो जा। यह हमारा कर्म स्वर्गमें स्थिर रहे। अपनी पूर्णता करनेका उपाय जान और उत्तम मनसे युक्त हो ॥ ५ ॥

मुक्ति प्राप्त करनेके लिये सबसे प्रथम यह बात स्मरणमें रखनी चाहिये कि शक्तिका खजाना अपनी आत्मामें है, बाहर नहीं है। अन्दरसे शक्ति प्राप्त होनी है, बाहरसे नहीं। जो इस कल्पनाको मनमें धारण करते हैं, वे स्वर्गधाममें पहुंचते हैं। और जो समझते हैं कि शक्ति बाहरसे प्राप्त होनी है, वे पीछे रह जाते हैं। जो सत्कर्म करते हैं, वे ही स्वर्गधामको प्राप्त होते हैं; अन्य लोग पीछे रह जाते हैं। सत्कर्मका अर्थ जनताका पालन करना, इसी कार्यसे देवत्व प्राप्त होता है और जिनमें देवत्व होता है, वे जनताका पालन करते ही हैं। मनुष्य अपनी श्रुद्रताके विषयमें ढोंग मचाकर दूसरोंको ठग सकता है, परंतु सत्कर्मकी कसौटीसे उसकी योग्यता वास्तविक जितनी होती है उतनी ही होती है, ढोंगसे उसकी योग्यता बढती नहीं। मनुष्य पकाना, देना, आदि जो कर्म करे वह यज्ञके लिये अर्थात् जनताकी भलाईके लिये ही करे और इस कर्मसे कभी पीछे न हटे। इसीसे स्वर्गकी प्राप्ति होती है और वहां सुख प्राप्त होता है।

वृष्टिसे विपत्तिका दूर होना।

[सूक्त १२४]

(ऋषिः — अथर्वा । देवता — मन्त्रोक्ता उत दिव्या आपः ।)

दिवो नु मां बृहतो अन्तरिक्षादुपां स्तोको अभ्यपप्तद् रसेन ।
समिन्द्रियेण पयसाहमग्ने छन्दोभिर्यज्ञैः सुकृतां कृतेन ॥ १ ॥

अर्थ— (बृहतः दिवः अन्तरिक्षात्) बडे द्युलोकके अवकाशसे (अपां स्तोकः रसेन मां अभि अपप्तत्) जलके बूंदोंके रससे मेरे ऊपर वृष्टि हुई है। हे अग्ने ! (अहं इन्द्रियेण पयसा) मैं इंद्रियके साथ, दूध आदि पुष्टिरसके साथ, (छन्दोभिः यज्ञैः सुकृतां कृतेन सं) छन्दोंसे यज्ञोंसे और पुण्य कर्म करनेवालोंके सुकृतसे युक्त होऊं ॥ १ ॥

भावार्थ— आकाशसे उत्तम पवित्र जलकी वृष्टि होती है, इस वृष्टिसे अन्न रस दूध आदि उत्पन्न होता है, इससे यज्ञ होता है और यज्ञसे सुकृत होता है। यह सुकृत प्राप्त करनेकी इच्छा हरएकको मनमें धारण करनी चाहिये ॥ १ ॥

यदि वृक्षादभ्यपप्तत् फलं तद् यद्यन्तरिक्षात् स उ वायुरेव ।
यत्रास्पृक्षत् तन्वो३ यच्च वाससु आपो नुदन्तु निर्ऋतिं पराचैः ॥ २ ॥
अभ्यञ्जनं सुरभि सा समृद्धिर्हिरण्यं वर्चस्तदु पूत्रिममेव ।
सर्वा पवित्रा वितताध्यस्मत् तन्मा तारीन्निर्ऋतिर्मो अरातिः ॥ ३ ॥

॥ इति द्वादशोऽनुवाकः ॥

अर्थ— (यदि वृक्षात् फलं अभि अपप्तत्) यदि वृक्षसे फल गिरे अथवा (यदि अन्तरिक्षात् तत्) यदि अन्तरिक्षसे यह जल गिरे, तो (स उ वायुः एव) वह वायु ही है अर्थात् वायुसे ही वह गिरता है। (यत्र तन्वः अस्पृक्षत्) जहां शरीरके भागसे यह जल स्पर्श करे अथवा (यत् वाससः) जहां कपडोंको स्पर्श करे, तो वह (आपः पराचैः निर्ऋतिं नुदन्तु) जल दूरसे ही अवनतिको दूर करे ॥ २ ॥

(अभ्यंजनं) तैलका मर्दन, (सुरभि) सुगंध, (हिरण्यं) सुवर्ण, (वर्चः) शरीरका तेज (सा समृद्धिः) यह सब समृद्धि है। (तत् उ पूत्रिमं एव) वह जल पवित्र करनेवाला है। (सर्वा पवित्रा वितता) सब पवित्र करनेवाले जगत्में फैले हैं। (अस्मत् अधि निर्ऋतिः मा तारीत्) हमपर दुर्गति मत आवे और (अरातिः मा उ) शत्रु भी हमला न करे ॥ ३ ॥

भावार्थ— वृक्षसे फल गिरनेके समान आकाशसे वायुमेंसे वृष्टिकी बूंदें हमारे पास आती हैं। उस जलसे हमारा शरीर और हमारे वस्त्र मलरहित होते हैं। इस वृष्टिसे बहुत धान्य उत्पन्न होने द्वारा हमारी विपत्ति दूर होवे ॥ २ ॥

शरीरको तैलका मर्दन करना, सुगंधिद्रव्यका उपयोग करना, सुवर्ण धारण करना, शरीर सुडौल और तेजस्वी होना यह सब समृद्धिके लक्षण हैं। जल समृद्धिका लक्षण होता हुआ पवित्रता करनेवाला है, उससे सब जगत्में पवित्रता फैली है। इस जलसे विपुल धान्यकी उत्पत्ति होनेसे हमारी विपत्ति दूर हो जावे और सब संपत्ति हमारे पास आ जावे। शत्रु भी हमें कष्ट न पहुंचावे ॥ ३ ॥

आकाशसे पवित्र अमृत जलकी उत्पत्ति होती है। उससे धान्य, फल, पुष्प आदि तथा वृक्ष वनस्पतियां भी उत्पन्न होती हैं। घास आदि उत्पन्न होकर उससे पशु पुष्ट और प्रसन्न होते हैं। अर्थात् इस प्रकार आकाशकी वृष्टि सब प्राणिमात्रोंकी विपत्तिको दूर करनेवाली है। वृष्टि न होनेसे सबपर विपत्ति आती है और वृष्टिसे वह दूर होती है यह जल शरीरको अंदरसे और बाहरसे निर्मल करता है, पवित्रता करना इसका स्वभाव धर्म है। वस्त्र आदिको भी यह पवित्र करता है। जब इस प्रकार उत्तम वृष्टिसे पशुपक्षी और मनुष्य आनंदयुक्त होते हैं, तब मनुष्य अभ्यंगस्नान करते, सुगंध शरीर पर लगाते, सुवर्णभूषणोंको धारण करते हैं और उनका शरीर भी यथायोग्य पुष्ट और सुडौल होता है। सर्वत्र पवित्रता होती है और सब विपत्तियां दूर होती हैं यह वृष्टिकी महिमा है, इसलिये मानो, वृष्टि यह परमात्माकी कृपासे ही होती है।

॥ यहां द्वादश अनुवाक समाप्त ॥

युद्धसाधन रथ ।

[सूक्त १२५]

(ऋषिः — अथर्वा । देवता — वनस्पतिः ।)

वनस्पते वीड्वङ्गो हि भूया अस्मत्सखा प्रतरणः सुवीरः ।
गोभिः संनद्धो असि वीडयस्वास्थाता ते जयतु जेत्वानि ॥ १ ॥

अर्थ— हे (वनस्पते) वृक्षसे बने रथ ! (वीडु+अंगः हि भूयाः) तू सुदृढ अवयवोंसे युक्त हो। तू (अस्मत्सखा प्रतरणः सुवीरः) हमारा मित्र तारण करनेवाला और उत्तम वीरोंसे युक्त है। तू (गोभिः संनद्धः असि) गौके चर्मकी रस्सियोंसे खूब कसकर बंधा हुआ है। तू (वीडयस्व) हमें सुदृढ कर और (ते आस्थाता जेत्वानि जयतु) तुझपर चढनेवाला वीर विजय प्राप्त करे ॥ १ ॥

दिवस्पृथिव्याः पर्योज उद्भृतं वनस्पतिभ्यः पर्याभृतं सहः ।
अपामोज्मानं परि गोभिरावृतमिन्द्रस्य वज्रं हविषा रथं यज ॥ २ ॥
इन्द्रस्यौजो मरुतामनीकं मित्रस्य गर्भो वरुणस्य नाभिः ।
स इमां नो हव्यदातिं जुषाणो देव रथ प्रति हव्या गृभाय ॥ ३ ॥

अर्थ— (दिवः पृथिव्याः ओजः परि उद्भृतं) द्युलोक और पृथ्वीलोकका बल इस रथरूपसे प्राप्त किया है और (वनस्पतिभ्यः सहः पर्याभृतं) वृक्षोंसे यह सामर्थ्य संग्रहित कियाहै । (अपां ओज्मानं गोभिः परि आवृतं) जलोंसे बने आत्मारूप वृक्षसे उत्पन्न हुआ गौके चर्मसे बांधा (इन्द्रस्य वज्रं रथं) इन्द्रके वज्रके समान सुदृढ रथको (हविषा यज) अन्नसे युक्त कर ॥ २ ॥

हे (देव रथ) दिव्य रथ ! तू (इन्द्रस्य ओजः) इन्द्रका बल है, तू (मरुतां अनीकं) मरुतोंका सेनासमूह, (मित्रस्य गर्भः) मित्रका गर्भ और (वरुणस्य नाभिः) वरुणकी नाभि है (सः त्वं) वह तू (नः इमां हव्यदातिं जुषाणः) हमारे इस अन्नदानका सेवन करता हुआ (हव्या प्रति गृभाय) हवनीय अन्नका ग्रहण कर ॥ ३ ॥

भावार्थ— रथ वृक्षकी लकडीसे बनता है। यह रथ हमारा सच्चा मित्र है, क्योंकि यह युद्धकी आपत्तिसे हमें पार करता है। यह रथ गोचर्मकी रस्सीसे दृढ बंधा है। इस सुदृढ रथसे हमारी विजय निःसन्देह होगी ॥ १ ॥

पृथ्वी और द्युलोकका बल और वृक्षोंका सामर्थ्य इस रथमें इकट्ठा हुआ है। जलसे वृक्ष उत्पन्न होते हैं और वृक्षोंसे रथ बनता है, इसलिये यह जलोंका आत्मा ही है, इसको गोचर्मकी रस्सियोंसे बांधकर दृढ बनाया है। अब यह इन्द्रके वज्रके समान दृढ है। इस रथमें अन्नादि पदार्थ भरपूर रख ॥ २ ॥

यह रथ इन्द्रका बल, मरुतोंकी सेना, मित्रका गर्भ और वरुणकी नाभि है। अर्थात् देवोंका सत्वरूप रथ है। यह रथ हमारे हव्यका सेवन करे अर्थात् इस रथके साथ रहनेवाले वीर हमारे अन्नसे पुष्ट और सन्तुष्ट हों ॥ ३ ॥

युद्धमें बडा महत्वका साधन रथ है। वीर लोग इसपर चढकर युद्ध करते और विजय कमाते हैं। यह रथ वृक्षकी लकडीसे बनता है और गौके चर्मकी रस्सीसे बांधकर सुदृढ बनाया जाता है। पृथ्वीपर यह रथ एक बडी भारी शक्ति है। मानो, इसमें देवोंका बल भरा है। इस लिये रथको अच्छी अवस्थामें रखना चाहिये और रथके सब कर्मचारियोंको यथायोग्य अन्नसे पुष्ट करना चाहिये।

दुंदुभि।

[सूक्त १२६]

(ऋषिः — अथर्वा । देवता — दुन्दुभिः ।)

उप श्वासय पृथिवीमुत द्यां पुरुत्रा ते वन्वतां विष्ठितं जगत् ।
स दुन्दुभे सजूरिन्द्रेण देवैर्दूराद् दवीयो अप सेध शत्रून् ॥ १ ॥

अर्थ— हे (दुन्दुभे) नगाडे ! तू (पृथिवीं उत द्यां उपश्वासय) पृथ्वीमें और द्युलोकमें भी जीवन उत्पन्न कर (पुरुत्रा विष्ठितं जगत् ते वन्वतां) बहुत प्रकारसे विशेष रूपमें स्थित जगत् तेरे आश्रयसे रहे। (सः इन्द्रेण देवैः सजूः) वह तू इन्द्रके और देवोंके साथ रहनेवाला (दूरात् दवीयः) दूरसे दूर (शत्रून् अप सेध) शत्रुओंका नाश कर ॥ १ ॥

भावार्थ— दुन्दुभिका शब्द होनेसे लोगोंमें एक प्रकारका नवचैतन्य उत्पन्न होता है। इस लिये वीरोंको युद्धमें चेतना देनेके लिये इस नगाडेका उपयोग करते हैं। इसमें दिव्य शक्ति है इसलिये यह शत्रुओंको दूरसे ही भगा देता है ॥ १ ॥

आ क्रन्दय बलमोजो न आ धा अभि ष्टन दुरिता बाधमानः ।
अप सेध दुन्दुभे दुच्छुनामित इन्द्रस्य मुष्टिरसि वीडयस्व ॥ २ ॥
प्रामूं जयाभीऽमे जयन्तु केतुमद् दुन्दुभिर्वावदीतु ।
समश्वपर्णाः पतन्तु नो नरोऽस्माकमिन्द्र रथिनो जयन्तु ॥ ३ ॥

अर्थ— हे (दुन्दुभे) नगाडे ! (आक्रन्दय) शत्रुसेनाको रुला। (नः ओजः बलं आधाः) हमारे अंदर वीर्य और बल धारण करा। (दुरिता बाधमानः अभि स्तन) पापोंको बाधित करता हुआ गर्जना कर। (दुच्छुनां इतः अपसेध) दुःख देनेवाली शत्रुसेनाको यहांसे भगा दे। तू (इन्द्रस्य मुष्टिः असि) इन्द्रकी मुष्टि है, तू (वीडयस्व) सुदृढ रह ॥ २ ॥

हे इन्द्र ! (अमुं प्र जय) इस शत्रुसेनाको पराजित कर (इमे अभि जयन्तु) ये वीर विजयी करें। (केतुमत् दुन्दुभिः वावदीतु) झंडेवाला नगारा बहुत बडा नाद करे। (नः नरः अश्वपर्णाः संपतन्तु) हमारे वीर घोडोंसे युक्त होकर हमला करें और (अस्माकं रथिनः जयन्तु) हमारे रथी वीर जय प्राप्त करें ॥ ३ ॥

भावार्थ— दुन्दुभिका भयानक शब्द सुनकर शत्रुसेना घबरा जाती है और अपने सैन्यमें बल और वीर्य आता है। अपने सैन्यके दोष दूर होते हैं और शत्रु भाग जाते हैं। अर्थात् यह दुन्दुभि एक प्रकारका बल है, इसलिये यह दुन्दुभि हमें बल देवे ॥ २ ॥

यह दुन्दुभि शत्रुसेनाका पराजय करे, और हमारे सैन्यकी विजय होवे। अपने राष्ट्रीय झण्डेके साथ दुन्दुभि बडा शब्द करे। उस शब्दके साथ हमारे घुडसवार शत्रुपर चढाई करें। और हमारे रथी जयको प्राप्त करें ॥ ३ ॥

युद्धके स्थानपर नगारेका शब्द सेनामें बडा उत्साह बढाता है। इसलिये हरएक सेनाके साथ रणभेरी अर्थात् बडे नगारे रहते हैं। यह एक विजय प्राप्तिका साधन है। इस दृष्टिसे यह दुन्दुभिका काव्य बडा मनोरंजक और बोधप्रद है।

कफक्षयकी चिकित्सा।

[सूक्त १२७]

(ऋषिः — भृग्वङ्गिराः। देवता — वनस्पतिः, यक्ष्मनाशनं)

विद्रधस्य बलासस्य लोहितस्य वनस्पते । विसल्पकस्योषधे मोच्छिषः पिशितं चन ॥ १ ॥
यौ ते बलास तिष्ठतः कक्षे मुष्कावपश्रितौ । वेदाहं तस्य भेषजं चीपुद्रुरभिचक्षणम् ॥ २ ॥

अर्थ— हे (वनस्पते) औषध ! (बलासस्य विद्रधस्य) कफक्षय, फोडे फुन्सी, (लोहितस्य विसल्पकस्य) रुधिर गिरना और विसर्प अर्थात् त्वचाके विकारका (पिशितं मा चन उच्छिषः) मांस बिलकुल शेष न रहे ॥ १ ॥

हे (बलास) कफरोग ! (ते यौ मुष्कौ कक्षे अपश्रितौ) तेरेसे बनी जो दो गिलटियां कांखमें उठी हैं। (तस्य भेषजं अहं वेद) उसकी औषध मैं जानता हूं। उसका (अभि चक्षणं चीपुद्रुः) उपाय चीपुद्रु औषधि है ॥ २ ॥

भावार्थ— खांसी, कफक्षय, फोडे, फुन्सी और त्वचापर बढनेवाला विसर्प रोग, खांसीके कारण रक्त गिरना, और मांसमें दोष उत्पन्न होना, यह सब इस चीपुद्रु नामक औषधिसे दूर होता है ॥ १ ॥

जिस रोगसे गिलटियां बढती हैं, उसकी भी यही चीपुद्रु औषधि है ॥ २ ॥

यो अङ्ग्यो यः कर्ण्यो यो अक्ष्योर्विसल्पकः। वि वृहामो विसल्पकं विद्रधं हृदयामयम् ॥
परा तमज्ञातं यक्ष्ममधराञ्चं सुवामसि ॥ ३ ॥

अर्थ — (यः अंग्यः) जो अंगोंमें, (यः कर्ण्यः) जो कर्णमें, (यः अक्ष्योः) जो आंखोंमें, (यः विसल्पकः) जो विसर्प रोग है, (विसल्पकं विद्रधं हृदयामयं) उस विसर्प, फोडे और हृदयरोगको (विवृहामः) नाश करते हैं। (तं अज्ञातं यक्ष्मं) उस अज्ञात यक्ष्म रोगको (अधराञ्चं परा सुवामसि) नीचेकी गतिसे दूर करते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ— जो अंगोंमें, कानोंमें, आंखोंमें, हृदयमें, रक्तके अथवा मांसके रोग होते हैं, जो विसर्प रोग है और फोडे फुन्सीका रोग है, अथवा इस प्रकारका जो अज्ञात रोग है, उसको इस औषधि द्वारा हम निम्नगतिसे दूर करते हैं ॥ ३ ॥

' स्त्रीपुष्प ' एक औषधि है। यह नाम वेदमें है अन्य ग्रंथोंमें नहीं मिलता। इस सूक्तमें इसका बहुत वर्णन है, परंतु यह वनस्पति इस समय अज्ञात ही है। इस कारण इस विषयमें अधिक लिखना असंभव है। इस औषधिकी खोज करनी चाहिये। इसका कोई दूसरा नाम आर्यवैद्यकग्रंथोंमें हो तो उसका भी पता लगाना चाहिये।

राजाका चुनाव।

[सूक्त १२८]

(ऋषिः — अथर्वाङ्गिराः। देवता — सोमः, शकधूमः।)

शकधूमं नक्षत्राणि यद् राजानमकुर्वत। भद्राहमस्मै प्रायच्छन्निदं राष्ट्रमसादिति ॥ १ ॥
भद्राहं नो मध्यंदिने भद्राहं सायमस्तु नः। भद्राहं नो अह्नां प्राता रात्री भद्राहमस्तु नः ॥ २ ॥
अहोरात्राभ्यां नक्षत्रेभ्यः सूर्याचन्द्रमसाभ्याम्। भद्राहमस्मभ्यं राजञ्छकधूम त्वं कृधि ॥ ३ ॥
यो नो भद्राहमकरः सायं नक्तमथो दिवा। तस्मै ते नक्षत्रराज शकधूम सदा नमः ॥ ४ ॥

अर्थ— (यत् नक्षत्राणि शकधूमं राजानं अकुर्वत) जिस प्रकार नक्षत्रोंने शकधूमको राजा बनाया और (अस्मै भद्राहं प्रायच्छन्) इसके लिये शुभ दिवस प्रदान किया, इसलिये कि (इदं राष्ट्रं असात्) यह राष्ट्र बने ॥ १ ॥

(नः मध्यंदिने भद्राहं) हमारे लिये मध्यदिनमें शुभ समय हो, (नः सायं भद्राहं अस्तु) हमारे लिये सायंकालका शुभ समय हो, (नः अह्नां प्रातः भद्राहं) हमारे लिये दिनका प्रातःकाल शुभ हो और (नः रात्री भद्राहं अस्तु) हमारे लिये रात्रिका समय शुभ हो ॥ २ ॥

हे (शकधूम) शकधूम! (त्वं अहोरात्राभ्यां) तू अहोरात्रके द्वारा, (नक्षत्रेभ्यः सूर्याचन्द्रमसाभ्यां) नक्षत्रों और सूर्य तथा चन्द्रमा द्वारा (अस्मभ्यं भद्राहं कृधि) हमारे लिये शुभ दिवस कर ॥ ३ ॥

हे (नक्षत्रराज शकधूम) नक्षत्रोंके राजा शकधूम! (यः नः सायं नक्तं अथो दिवा) जो हमारे लिये सायंकाल, रात्रि और दिनका (भद्राहं अकरः) शुभ समय बना दिया है, (तस्मै ते सदा नमः) उस तेरे लिये सदा नमन है ॥ ४ ॥

भावार्थ— सब नक्षत्रोंने मिलकर, अपना एक संघटित राष्ट्र बन जाय इस हेतुसे, अपने लिये एक राजा बनाया ॥ १ ॥
इसके बननेसे प्रातःकाल, मध्यदिनमें और सायंकाल तथा रात्रिके समयमें सबको सुख होने लगा ॥ २ ॥
राजा सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र और अहोरात्र द्वारा मनुष्योंका कल्याण करता है ॥ ३ ॥
जिस कारण राजा सब प्रजाजनोंका दिनरात हित करनेमें तत्पर रहता है, इस कारण उसका सदा सन्मान होना चाहिये ॥ ४ ॥

प्रजा अपना राजा चुने।

प्रजा अपनी उन्नतिके लिये सुयोग्य राजाको चुने और उसको राजगद्दीपर बिठलावे, उसको सन्मान देवे और उसके शासनमें सुखका उपभोग लेवे। इस उपदेशको इस सूक्तमें उत्तम अलंकारके द्वारा बताया है। अलंकार इस प्रकार है।

'आकाशमें अनेक नक्षत्र हैं, उनका परस्पर कोई संबन्ध नहीं था। यह अनवस्था उन्होंने देखी और अपना एक बडा राष्ट्र बनानेके लिये उन सबने मिलकर अपना एक राजा चुना, उसका नाम चन्द्रमा है। इस राजाके राजगद्दीपर आनेके पश्चात् सबको उत्तम सुखका लाभ हुआ और उनकी सब आपत्तियां हट गई।'

यह तो इसका उपमानार्थ है, परंतु इसका वास्तविक अर्थ श्लेषालंकारसे जाना जाता है और वह अर्थ सूक्तका गुह्य अर्थ है। इसमें जो 'न-क्षत्र' शब्द है वह शब्द क्षात्र धर्मसे रहित सामान्य प्रजा अर्थात् जो प्रजा अपनी रक्षा स्वयं नहीं कर सकती ऐसी प्रजा। ज्ञानी, व्यापारी और कारीगर यह प्रजा, इसमें क्षत्र वर्ग संमिलित नहीं। यह प्रजा—

इदं राष्ट्रं असात् इति। (मं० १)

अपना एक बडा राष्ट्र निर्माण करनेके लिये —

नक्षत्राणि राजानं मकुर्वत॥ (मं० १)

'क्षत्रियोंसे भिन्न प्रजाओं अथवा क्षात्रगुणसे रहित प्रजाजनोंने अपना एक राजा बनाया।' पूर्वापर संबंधसे वह राजा क्षत्रियोंमेंसे चुना होगा। यह आशय 'शकधूम' शब्दसे भी व्यक्त हो सकता है। स्वयं (शक) समर्थ होकर जो शत्रुओंको (धू) कंपायमान करता है उसका यह नाम है। सब प्रजाजनोंने देखा कि इस तेजस्वी पुरुषके राजा बनानेसे इसके सामर्थ्यके कारण हमारे सब शत्रु परास्त होंगे। और शत्रु परास्त होनेसे हमें सुखका लाभ होगा और हमारा राष्ट्र बडा तेजस्वी होगा।

इस प्रकार राजाका चुनाव करनेसे उनको 'भद्राहं' (भद्र+अहं) कल्याणका समय प्राप्त हुआ और वे सब आनंदसे रहने लगे। कोई शत्रु उनको कष्ट देनेके लिये उनके पास नहीं आया और सब प्रजा बडे आनंदके साथ रहने लगी।

राजाका यह प्रताप देखकर सब उस राजाका सन्मान करने लगे। इस प्रकार जो मनुष्य अपने राष्ट्रके लिये सुयोग्य राजाको चुनेंगे और उसका आदर करने लगेंगे, वे सब सुखी होंगे। इसका विचार करके प्रजा अपने लिये उत्तम राजाको चुने और सुखी होवे।

भाग्यकी प्राप्ति।

[सूक्त १२९]

(ऋषिः — अथर्वाङ्गिराः। देवता — भगः।)

भगे॑न मा शांश॒पेन॑ सा॒कमिन्द्रे॑ण मे॒दिना॑। कृ॒णोमि॑ भ॒गिनं॒ माप॑ द्रा॒न्त्वरा॑तयः ॥ १ ॥
येन॑ वृ॒क्षाँ अ॒भ्यभ॑वो॒ भगे॑न॒ वर्च॑सा स॒ह। तेन॑ मा भ॒गिनं॑ कृण्व॒प द्रा॒न्त्वरा॑तयः ॥ २ ॥
यो अ॒न्धो यः पु॑नः॒स॒रो भगो॑ वृ॒क्षेष्वाहि॑तः। तेन॑ मा भ॒गिनं॑ कृण्व॒प द्रा॒न्त्वरा॑तयः ॥ ३ ॥

अर्थ— (शांशपेन भगेन मेदिना इन्द्रेण) शंशप वृक्षकी शोभाके समान आनंद करनेवाले इन्द्रसे (मा भगिनं कृणोमि) मैं अपने आपको भाग्यशाली बनाता हूं। (अरातयः अप द्रान्तु) शत्रु दूर हों ॥ १ ॥

(येन वृक्षान् अभ्यभवः) जिससे वृक्षोंका पराजय करता है, उस (भगेन वर्चसा सह) भाग्य और तेजके साथ (मा भगिनं कृणु) मुझे भाग्यवान् बना और (अरातयः अप द्रान्तु) शत्रु दूर भाग जांय ॥ २ ॥

(यः अन्धः) जो अन्नमय और (यः पुनः सरः) जो बारंबार गतिवाला (भगः वृक्षेषु आहितः) भाग्यका अंश वृक्षोंमें रखा है (तेन मा भगिनं कृणु) उससे मुझे भाग्यवान् बना, (अरातयः अप द्रान्तु) शत्रु दूर भाग जांय ॥ ३ ॥

भावार्थ— जिस प्रकार शंशपा वृक्ष सुंदर दीखता है, उस प्रकार ईश्वरकी कृपासे भाग्ययुक्त होकर मेरी सुंदरता बढे। साथ ही साथ मेरे शत्रु दूर भाग जावें ॥ १ ॥

जिस प्रकार यह वृक्ष अन्य वृक्षोंकी अपेक्षा अधिक सुंदर दीखता है, उस प्रकार भाग्य और तेज प्राप्त होकर मेरी शोभा बढे। मेरे शत्रु मुझसे दूर हो जांय ॥ २ ॥

वृक्षोंमें जो अन्नका भाग और अन्य भाग होता है, उस प्रकार मुझमें पुष्टि और बल आवे। और मेरे शत्रु दूर हों ॥ ३ ॥

अपने अंदर पुष्टि, बल, भाग्य, ऐश्वर्य और सौंदर्य बढे और अपने जो घातक शत्रु हैं वे दूर हो जांय। इस प्रकार इस सूक्तका आशय सरल है।

कामको वापस भेजो।

[सूक्त १३०]

(ऋषिः — अथर्वांगिराः। देवता — स्मरः।)

रथजितां राथजितेयीनामप्सरसामयं स्मरः। देवाः प्र हिंणुत स्मरमसौ मामनु शोचतु ॥ १ ॥
असौ मे स्मरतादिति प्रियो मे स्मरतादिति। देवाः प्र हिंणुत स्मरमसौ मामनु शोचतु ॥ २ ॥
यथा मम स्मरादसौ नामुष्याहं कदा चन। देवाः प्र हिंणुत स्मरमसौ मामनु शोचतु ॥ ३ ॥
उन्मादयत मरुत उदन्तरिक्ष मादय। अग्न उन्मादया त्वमसौ मामनु शोचतु ॥ ४ ॥

अर्थ— (रथजितां राथजितेयीनां अप्सरसां) रथसे जीतनेवाली और रथसे जीतीगई अप्सराओंका (अयं स्मरः) यह काम है। हे देवो! (स्मरं प्रहिणुत) इस कामको दूर करो, (असौ मां अनुशोचतु) वह मेरा शोक करे ॥ १ ॥

(असौ मे स्मरतात् इति) वह मुझे स्मरण करे, (प्रियः मे स्मरतात् इति) मेरा प्रिय मुझे स्मरण करे। हे देवो! (स्मरं प्रहिणुत) इस कामको दूर कर। (असौ मां अनुशोचतु) वह मेरा शोक करे ॥ २ ॥

(यथा असौ मम स्मरात्) जिस प्रकार वह मेरा स्मरण करे (अमुष्य अहं कदाचन न) उसका मैं कदापि स्मरण न करूं, हे देवो! (स्मरं०) इस कामको दूर करो, वह मेरा शोक करे ॥ ३ ॥

हे मरुतो! (उन्मादयत) उन्मत्त करो। (अन्तरिक्ष! उन्मादय) हे अन्तरिक्ष! उन्मत्त करो। हे अग्ने! (त्वं उन्मादय) तू उन्माद कर। (असौ मां अनुशोचतु) वह मेरा शोक करे ॥ ४ ॥

कामको लौटा दो।

इसका आशय स्पष्ट है। किसीके विषयमें मनमें काम उत्पन्न हो जाय, तो उसको जिसके कारण वह काम उत्पन्न हुआ हो उसके पास वापस करना चाहिये। अपने मनमें उसको स्थान देना नहीं चाहिये। दूसरेके मनमें कितना भी काम विकार रहे परंतु उसको अपने मनमें स्थान देना नहीं चाहिये। जिस अवस्थामें दूसरे लोग-स्त्री या पुरुष-कामके कारण उन्मत्त, प्रमत्त और बेहोशसे होते हैं, वैसी अवस्था प्राप्त करनेपर भी कामका असर अपने मनपर नहीं होने देना चाहिये। इस प्रकार अपना मन काम विकारसे दूर रखना चाहिये।

[सूक्त १३१]

(ऋषिः — अथर्वाङ्गिराः। देवता — स्मरः)

नि शीर्षतो नि पत्तत आध्योई नि तिरामि ते। देवाः प्र हिंणुत स्मरमसौ मामनु शोचतु ॥ १ ॥
अनुमतेन्विदं मन्यस्वाकूते समिदं नमः। देवाः प्र हिंणुत स्मरमसौ मामनु शोचतु ॥ २ ॥
यद् धावसि त्रियोजनं पञ्चयोजनमाश्विनम्। ततस्त्वं पुनरायसि पुत्राणां नो असः पिता ॥ ३ ॥

अर्थ— (ते आध्यः शीर्षतः पत्ततः) तेरी व्यथाएं सिरसे और पांवसे (नि नि नि तिरामि) बिल्कुल हटा देता हूं। हे (देवाः) देवो! (स्मरं प्रहिणुत) कामको दूर करो (असौ मां अनुशोचतु) वह काम मेरे कारण शोक करे ॥ १ ॥

हे (अनुमते) अनुमति! (इदं अनुमन्यस्व) इसको तू अनुकूल मान। हे (आकूते) संकल्प! तू (इदं नमः सं) यह मेरा नमन स्वीकार कर। हे देवो! कामको दूर करो, और वह मेरे कारण शोक करे ॥ २ ॥

(यत् त्रियोजनं धावसि) जो तीन योजन दौडता है, अथवा (आश्विनं पञ्चयोजनं) घोडेपरसे पांच योजन जाता है, (ततः त्वं पुनः आयासि) वहांसे तू पुनः आता है (नः पुत्राणां पिता असः) हम पुत्रोंका तू पिता है ॥ ३ ॥

यह सूक्त भी पूर्वसूक्तके समान ही कामविकारको दूर करनेकी सूचना देता है। कामविकारको दूर करना चाहिये। जिस किसीके विषयमें काम विकार उत्पन्न हुआ हो, वह चाहे शोक करता रहे, या तडफता रहे, परंतु स्वयं उस कामके वशमें नहीं होना चाहिये।

तृतीय मंत्रका कथन है कि चाहे कितना भी दूर-घरसे बहुत दूर-काम काजके लिये घरके मनुष्य क्यों न जाये, उनको अपने घर अवश्य ही वापस आना चाहिये और घरके बाल बच्चोंका पालन करना चाहिये। अर्थात् अपने घरमें आकर सोना चाहिये। बाहर दूसरेके घरमें सोना उचित नहीं। इस मंत्रका अर्थ प्रकरणानुकूल समझना चाहिये, अर्थात् घरमें सोनेसे कामवासनाकी संभावना कम होती है। इस विषयमें इतने संकेतसे ही पाठक जानसकते हैं कि मंत्रका निर्देश क्या है। अधिक विवरणकी आवश्यकता नहीं है।

[सूक्त १३२]

(ऋषिः — अथर्वाङ्गिराः। देवता — स्मरः।)

यं देवाः स्मरमसिञ्चन्नप्स्व१न्तः शोशुचानं सहाध्या। तं ते तपामि वरुणस्य धर्मणा ॥ १ ॥
यं विश्वे देवाः स्मरमसिञ्चन्नप्स्व१न्तः शोशुचानं सहाध्या। तं ते तपामि वरुणस्य धर्मणा ॥ २ ॥
यमिन्द्राणी स्मरमसिञ्चदप्स्व१न्तः शोशुचानं सहाध्या। तं ते तपामि वरुणस्य धर्मणा ॥ ३ ॥
यमिन्द्राग्नी स्मरमसिञ्चतामप्स्व१न्तः शोशुचानं सहाध्या। तं ते तपामि वरुणस्य धर्मणा ॥ ४ ॥
यं मित्रावरुणौ स्मरमसिञ्चतामप्स्व१न्तः शोशुचानं सहाध्या। तं ते तपामि वरुणस्य धर्मणा ॥ ५ ॥

अर्थ— (देवाः, विश्वेदेवाः, इन्द्राणी, इन्द्राग्नी, मित्रावरुणौ) देव, सब देव, इन्द्रशक्ति, इन्द्र और अग्नि तथा मित्र और वरुण ये सब देव (यं शोशुचानं स्मरं) जिस शोक करानेवाले कामको (आध्या सह) व्यथाओंके साथ (अप्सु अन्तः असिञ्चन्) जलके प्रतिनिधिभूत वीर्यमें सींचते हैं, (वरुणस्य धर्मणा) वरुण नामक जल देवके धर्मसे (ते तं तपामि) तेरे उस कामको तपाता हूं। अर्थात् उस तापसे वह तप्त होकर दूर होवे, और हमें कभी न सतावे ॥ १-५ ॥

सब देवोंने शरीरके अंदर जो रेत है उस रेतमें कामको रखा है। वहां रहता हुआ यह काम मनुष्योंको सताता है और विविध कष्ट देता है। यह काम जो उस रेतके स्थानमें रहता है उसके साथ (आध्या सह) अनेक आधियां अर्थात् मानसिक व्यथाएं रहती हैं। काम जहां होता है वहां मानसिक कष्ट बहुत होते हैं। इसका सिलसिला ऐसा है—

> सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥ ६२ ॥
> क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः ॥
> स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥६३
> (भ० गी० २)

' विषयोंके संगसे काम होता है, कामसे क्रोध, क्रोधसे मोह, मोहसे भ्रम, भ्रमसे बुद्धिनाश और बुद्धिनाशसे सर्वस्वनाश होता है।'

इस प्रकार कामके साथ नाश लगा है। अतः उसको दूर करना चाहिये। जितना धर्मानुकूल काम हो उतना ही लेना चाहिये। धर्मविरुद्ध कामको छोड देना चाहिये। इसलिये कहा है कि कामके साथ अनेक विपत्तियां लगी हैं और विपत्तियोंसे मनुष्य (शोशुचान) शोकाकुल हो जाता है। यह काम सबको शोकसागरमें डालनेवाला है। (शुच् धातुके दो अर्थ हैं तेजस्वी होना और शोकयुक्त होना) ये दोनों इसके कर्म हैं। स्वयं तेजस्वी दीखता हुआ सबको शोकमें डाल देता है। इसलिये मनःसंयमसे उसको तपाना या बुझाना चाहिये, जिससे वह दूर होगा और कष्ट न दे सकेगा ॥

मेखलाबंधन ।

[सूक्त १३३]

(ऋषिः — अगस्त्यः । देवता — मेखला ।)

य इमां देवो मेखलामाबबन्ध यः संननाह य उ नो युयोज ।
यस्य देवस्य प्रशिषा चरामः स पारमिच्छात् स उ नो वि मुञ्चात् ॥ १ ॥
आहुतास्यभिहुत ऋषीणामस्यायुधम् । पूर्वा व्रतस्य प्राश्नती वीरघ्नी भव मेखले ॥ २ ॥
मृत्योरहं ब्रह्मचारी यदस्मि निर्याचन् भूतात् पुरुषं यमाय ।
तमहं ब्रह्मणा तपसा श्रमेणानयैनं मेखलया सिनामि ॥ ३ ॥
श्रद्धाया दुहिता तपसोऽधि जाता स्वसा ऋषीणां भूतकृतां बभूव ।
सा नो मेखले मतिमा धेहि मेधामथो नो धेहि तप इन्द्रियं च ॥ ४ ॥

अर्थ— (यः देवः इमां मेखलां आबबन्ध) जिस आचार्य देवने इस मेखलाको मेरे शरीरपर बांधा है, (यः संननाह) जो हमें तैयार रखता है और (यः उ नः युयोज) जो हमें कार्यमें लगाता है । (यस्य देवस्य प्रशिषा चरामः) जिस आचार्य देवके आशीर्वादसे हम व्यवहार करते हैं, (सः पारं इच्छात्) वह हमारे दुःखके पार होनेकी इच्छा करे और (सः उ नः विमुञ्चात्) वही हमें बंधनसे छुडावे ॥ १ ॥

हे मेखले ! (आहुता अभिहुता असि) तू सब प्रकारसे प्रशंसित है । तू (ऋषीणां आयुधं असि) ऋषियोंका आयुध है । तू (व्रतस्य पूर्वा प्राश्नती) किसी व्रतके पूर्व बांधी जाती है । तू (वीरघ्नी भव) शत्रुके वीरोंको मारनेवाली हो ॥ २ ॥

(यत् अहं मृत्योः ब्रह्मचारी अस्मि) जिस कारण मैं मृत्युको समर्पित हुआ ब्रह्मचारी हूं, उस कारण मैं (भूतात् पुरुषं यमाय निर्याचन्) मनुष्य प्राणियोंसे एक पुरुषको मृत्युके लिये मांगता हूं और (तं अहं) उस पुरुषको मैं (ब्रह्मणा तपसा श्रमेण) ज्ञान, तप और परिश्रम करनेकी शक्तिके साथ (एनं अनया मेखलया सिनामि) इस पुरुषको इस मेखलासे बांधता हूं ॥ ३ ॥

यह मेखला (श्रद्धाया दुहिता) श्रद्धाकी दुहिता, (तपसः अधिजाता) तपसे उत्पन्न हुई, (भूतकृतां ऋषीणां स्वसा बभूव) भूतोंको बनानेवाले ऋषियोंकी भगिनी हुई है । हे मेखले ! (सा) वह तू (नः मतिं मेधां आधेहि) हमें उत्तम बुद्धि और धारणाशक्ति दे । (अथो तपः इन्द्रियं च नः धेहि) और तपशक्ति और उत्तम इंद्रिय हमें प्रदान कर ॥ ४ ॥

भावार्थ— गुरु शिष्यकी कमरमें मेखला बांधता है और उसको सत्कर्म करनेके लिये, मानो, तैयार करता है । ऐसे गुरुके आशीर्वादके साथ जो शिष्य व्यवहार करते हैं वे संपूर्ण दुःखोंसे पार होते हैं और अन्तमें मुक्ति भी प्राप्त करते हैं ॥ १ ॥

मेखलाकी सब प्रशंसा करते हैं, यह मेखला ऋषियोंका शस्त्र है । हरएक कार्य करनेके पूर्व कमर बांधकर तैयार होनेकी शिक्षा इससे मिलती है । इस प्रकार कटिबद्ध होकर कार्य करनेसे सब शत्रु दूर होते हैं ॥ २ ॥

मेखला बांधनेका अर्थ कटिबद्ध होना है । विशेष कार्यके लिये मेखला बंधन करनेसे मानो, वह मृत्युको स्वीकारनेके लिये ही सिद्ध होता है । सब ब्रह्मचारी मृत्युको स्वीकारनेके लिये ही तैयार होते हैं । इतना ही नहीं परंतु वे मनुष्योंमेंसे कई मनुष्योंको इस प्रकार मृत्यु स्वीकारनेके लिये तैयार करते हैं । ज्ञान, तप, परिश्रम और कटिबद्धता इन गुणोंसे वे युक्त होते हैं ॥ ३ ॥

यां त्वा पूर्वे भूतकृत ऋषयः परिबेधिरे । सा त्वं परि ष्वजस्व मां दीर्घायुत्वाय मेखले ॥ ५ ॥

अर्थ— हे मेखले ! (यां त्वा पूर्वे भूतकृतः ऋषयः परिबेधिरे) जिस तुझको पूर्वकालके भूतोंको बनानेवाले ऋषि बांधते रहे (सा त्वं दीर्घायुत्वाय मां परिष्वजस्व) वह तू दीर्घायुके लिये मुझे आलिंगन दे ॥ ५ ॥

भावार्थ— मेखला श्रद्धासे बांधी जाती है। उससे तप करनेकी प्रवृत्ति होती है। श्रेष्ठ ऋषियोंसे यह कटिबंधनका प्रारंभ हुआ है। यह कटिबंधन सबको उत्तम बुद्धि, धारणा शक्ति, इंद्रियशक्ति और तप देवे ॥ ४ ॥

ऋषिलोग इस मेखलाको बांधते हैं, अतः यह मेखला हमें दीर्घायु देवे ॥ ५ ॥

कटिबद्धता ।

मेखलाबंधन ' कटिबद्धता ' का सूचक है। हरएक कार्यके लिये कटिबद्ध होना आवश्यक होता है, अन्यथा वह कार्य बन नहीं सकता। भाषामें भी कहते हैं कि कमर कसके वह मनुष्य इस कार्यको करने लगा है, अर्थात् कार्य ठीक होनेके लिये कमर कसनेकी आवश्यकता है। ऋषिलोग तथा ब्रह्मचारीगण मेखला बंधन करते थे इसका अर्थ यही है कि वे कमर कसके धर्मकार्य करनेके लिये सदा तैयार रहते थे। इसी कारण वे यश प्राप्त करते थे।

साधारण कार्य करनेमें कोई विशेष डर नहीं होता है, परंतु कई ऐसे महान कार्य होते हैं कि उनके करनेसे प्राण जानेकी भी संभावना होती है। देशहित, राष्ट्रहित या जातिहित करने आदिके महान कार्योंमें कई मनुष्योंको अपने सर्वस्वकी आहुति देनी होती है, इस कार्यके लिये गुरु शिष्योंको तैयार करता है—

इमां मेखलां आबध्नन्, संनह्य, नः युयोज । (मं० १)

' हमारे गुरुने यह मेखला हमपर बांधी, उसने हमें तैयार किया और हमें सत्कार्यमें लगाया ' यह गुरुका कार्य है और यही विद्या सीखनेका हेतु है। विद्या पढकर ब्रह्मचारीगण जनपदोद्धार करनेके कार्यके लिये सिद्ध हो जावें और अपने आपको उस कार्यमें तत्परताके साथ लगा देवें। पाठशालामें पढानेवाले गुरु भी ऐसे हों, कि जो अपने विद्यार्थियोंको इस ढंगसे तैयार करें और राष्ट्रीय विद्यापीठकी पढाई भी ऐसी होनी चाहिये कि, जिनमें पढे हुए विद्यार्थी जनहितके कार्य करनेके लिये सदा तैयार हों, सदा कटिबद्ध हों। जो शिष्य इस प्रकार अपने गुरुजीका आशीर्वाद लेकर कार्य करते हैं, उनका बेडा पार होजाता है—

यस्य प्रशिषा चरामः, स पारं इच्छात्, स नः विमुञ्चात् । (मं० १)

' जिस गुरुके आशीर्वादको प्राप्त करके हम कार्य करते हैं, वह हमें दुःखसे पार करता है और बंधनोंसे मुक्त भी करता है। ' ऐसे गुरु और ऐसे शिष्य जहां होंगे उस देशका सौभाग्य हमेशा ऊंची अवस्थामें रहेगा। इसमें संदेह नहीं है।

यह मेखला इस प्रकार कटिबद्धताकी सूचना देती है इसीलिये लोग उसकी प्रशंसा करते हैं। हरएक कार्यका प्रारंभ करनेके पूर्व इसी कारण मेखला बांधी जाती है और इसी कारण इससे शत्रुका बल कम होता है।

विशेष महत्त्वपूर्ण कार्य करनेके समय सर्वस्वनाशका भय होता है, मृत्युका भी भय होता है। यदि इस भयकी कल्पना न होगी तो वैसा समय आनेपर मनुष्य डर जायगा और पीछे हटेगा। ऐसा न हो इसलिये प्रारंभसे ही इस विद्यार्थीको यह शिक्षा दी जाती है कि—

अहं मृत्योः ब्रह्मचारी अस्मि । (मं० ३)

' मैं मृत्युको समर्पित हुआ ब्रह्मचारी हूं। ' ब्रह्मचारी समझता है कि मैंने मृत्युको ही आलिंगन दिया है। मृत्युको ही स्वीकारा है। जब कोई मनुष्य आनंदसे मृत्युका अतिथि बनता है, तब और कौनसी अवस्था है कि जिसमें उसको डर लग जावे ? जिसने आनंदसे मृत्युको स्वीकारा उसका सब डर मिट गया, क्योंकि सबसे बडे भारी डरको उसने हजम किया है। ब्रह्मचारीको इस प्रकारकी शिक्षा मिलनी चाहिये। इस प्रकारका निडर बना ब्रह्मचारी भी—

भूतात् यमाय पुरुषं नियाचन् । (मं० ३)

' जनतासे मृत्युके लिये एक पुरुषकी याचना करता है। ' अर्थात् वह ब्रह्मचारी जैसा स्वयं निर्भय होकर कार्य करता है, उसी प्रकार अन्य मनुष्योंको भी निर्भय बनाता है, इस निर्भय बने हुए मनुष्य—

ब्रह्मणा, तपसा, श्रमेण, मेखलया । (मं० ३)

' ज्ञान, तप अर्थात् शीतोष्ण सहन करनेकी शक्ति, परिश्रम करनेका बल और मेखलाबंधन अर्थात् कटिबद्ध होनेका गुण ' इनसे युक्त होते हैं। और जो इनसे युक्त होते हैं वे सबसे श्रेष्ठ होते हैं।

मेखलाबंधनसे मति, धारणाबुद्धि, शीतोष्णसहन करनेका सामर्थ्य और सुदृढ इंद्रियकी प्राप्ति होती है। तथा दीर्घायु भी प्राप्त होता है। इस प्रकार मेखलाका महत्त्व है। पाठक इस सूक्तका अधिक विचार करें।

शत्रुका नाश ।

[सूक्त १३४]

(ऋषिः — शुक्रः । देवता — मन्त्रोक्ता, वज्रः ।)

अयं वज्रस्तर्पयतामृतस्यावास्य राष्ट्रमप हन्तु जीवितम् ।
शृणातु ग्रीवाः प्र शृणातूष्णिहा वृत्रस्येव शचीपतिः ॥ १ ॥
अधरोधर उत्तरेभ्यो गूढः पृथिव्या मोत्सृपत् । वज्रेणावहतः शयाम् ॥ २ ॥
यो जिनाति तमन्विच्छ यो जिनाति तमिज्जहि । जिनतो वज्र त्वं सीमन्तमन्वञ्चमनु पातय ॥३॥

अर्थ— (अयं ऋतस्य वज्रः तर्पयतां) यह सत्यका शस्त्र तृप्ति करे, यह (अस्य राष्ट्रं अपहन्तु) इसके शत्रुभूत राष्ट्रका नाश करे और (जीवितं अपहन्तु) शत्रुके जीवनका भी नाश करे । (शचीपतिः वृत्रस्य इव) इन्द्र जैसे वृत्रको पराभव करता है, उस प्रकार यह शत्रुकी (ग्रीवाः शृणातु) गर्दनोंको काटे और (उष्णिहाः प्र शृणातु) धमनियोंको काट देवे ॥ १ ॥

(उत्तरेभ्यः अधरः अधरः) उत्कृष्टोंसे नीचे और नीचे होकर (पृथिव्याः गूढः) पृथ्वीमें छिपकर रहे और (मा उत्सृपत्) कभी ऊपर न आवे । तथा (वज्रेण अवहतः शयाम्) वज्रसे मारा जाकर पड़ा रहे ॥ २ ॥

हे वज्र ! (यः जिनाति तं अन्विच्छ) जो हानि करता है उसको ढूंढ निकाल । (यः जिनाति तं इत् जहि) जो कष्ट पहुंचाता है उसीको मार डाल । (त्वं जिनतः सीमन्तं अन्वञ्चम् अनुपातय) तू दुःख देनेवालेके सिरको सीधा गिरा दे ॥ ३ ॥

भावार्थ— यह वज्र सत्यका संरक्षण करता है और असत्यका नाश करता है । जो इस राष्ट्रका नाश करना चाहता है उस शत्रुका नाश इस वज्रसे होगा । यह वज्र उनका नाश करे जो दूसरोंको सताते हैं ॥ १ ॥

शत्रुका अधःपतन होवे, वे अपना सिर कभी ऊपर न करें और अन्तमें वज्रसे मारे जाकर भूमिपर गिर जावें ॥ २ ॥

जो विनाकारण दूसरेका नाश करता है उसीका नाश करना योग्य है । उसी दुष्टका सिर काटा जावे ॥ ३ ॥

वज्रादि शस्त्रोंका उपयोग !

वज्र आदि शस्त्रास्त्रोंका उपयोग जनताको हानि करनेवाले दुष्टोंका नाश करनेके कार्यमें ही किया जावे। सत्य पक्षकी सहायता करने और असत्पक्षका विरोध करनेके कार्यमें इन शस्त्रोंका उपयोग किया जावे । असत्पक्षके लोग कैसा समयपर प्रबल भी हुए तथापि वे दिन प्रतिदिन नीचे गिरते जाते हैं । उनका पक्ष ही ऐसा होता है कि, वह उनको उठने नहीं देता । जिसके कारण जनताकी हानि होती है, सब मिलकर उसका नाश करें ।

[सूक्त १३५]

(ऋषिः — शुक्रः । देवता — मन्त्रोक्ता, वज्रः ।)

यदश्नामि बलं कुर्व इत्थं वज्रमा ददे । स्कन्धानमुष्य शातयन् वृत्रस्येव शचीपतिः ॥ १ ॥

अर्थ— (यत् अश्नामि बलं कुर्वे) जो मैं खाऊं उससे मैं अपना बल बढाऊं । (इत्थं वज्रं आददे) इस प्रकार मैं वज्र हाथमें लेता हूं और (अमुष्य स्कन्धान् शातयन्) उस शत्रुके कन्धोंको काटता हूं (शचीपतिः वृत्रस्य इव) इन्द्र जैसे वृत्रको काटता है ॥ १ ॥

२७

यत् पिबामि सं पिबामि समुद्र इव संपिबः । प्राणानमुष्य संपाय सं पिबामो अमुं वयम् ॥ २ ॥
यद् गिरामि सं गिरामि समुद्र इव संगिरः । प्राणानमुष्य संगीर्य सं गिरामो अमुं वयम् ॥ ३ ॥

अर्थ — (यत् पिबामि संपिबामि) जो मैं पीता हूं वह ठीक पी जाता हूं । (समुद्रः इव संपिबः) समुद्र जैसे तू पी (अमुष्य प्राणान् संपाय) उस शत्रुके प्राणोंको पीकर (वयं अमुं सं पिबामः) हम उसको पी जाते हैं ॥२॥

(यत् गिरामि संगिरामि) जो मैं निगलता हूं उसको ठीक गलेके नीचे उतार देता हूं (समुद्रः इव संगिरः) समुद्रके समान तू निगल । (अमुष्य प्राणान् संगीर्य) उसके प्राणोंको निगलकर (वयं अमुं संगिरामः) हम उसको गलेके नीचे उतार देते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ— जो मैं खाता हूं और गलेके नीचे उतारता हूं, उसका मैं अपने अंदर बल पैदा करता हूं । जिस प्रकार समुद्र नदियों और वृष्टिजलोंको पीता है और अपनाता है, उसी प्रकार मैं भी खाये और पीये हुए अन्नरसोंको अपनाता हूं और उनसे अपना बल बढाता हूं । और उस बलसे युक्त होकर हाथमें सत्य पक्षकी रक्षाके लिये शस्त्र लेता हूं और दुष्टोंका नाश करता हूं ॥ १-३ ॥

अपना बल बढाकर उस बलका उपयोग दुष्टोंके दमन करनेके कार्यमें करना चाहिये ।

केशवर्धक औषधि ।

[सूक्त १३६]

(ऋषिः — वीतहव्योऽथर्वा । देवता — वनस्पतिः ।)

देवी देव्यामधि जाता पृथिव्यामस्योषधे । तां त्वा नितत्नि केशेभ्यो दृंहणाय खनामसि ॥ १ ॥
दृंह प्रत्नान् जनयाजातान् जातानु वर्षीयसस्कृधि ॥ २ ॥
यस्ते केशोऽवपद्यते समूलो यश्च वृश्चते । इदं तं विश्वभेषज्याभि षिञ्चामि वीरुधा ॥ ३ ॥

अर्थ— हे औषधे ! तू (देवी देव्यां पृथिव्यां अधि जाता) दिव्य औषधी पृथिवी देवीमें उत्पन्न हुई है । हे (नितत्नि) नीचे फैलनेवाली औषधि ! (तां त्वा केशेभ्यः दृंहणाय खनामसि) उस तुझ औषधिको केशोंको सुदृढ करनेके लिये खोदते हैं ॥ १ ॥

(प्रत्नान् दृंह) पुराने केशोंको दृढ कर, (अजातान् जनय) जहां नहीं उत्पन्न होते वहां उत्पन्न कर । (जातान् उ वर्षीयसः कृधि) और जो उत्पन्न हुए हैं उनको बडे लंबे बनाओ ॥ २ ॥

(यः ते केशः अवपद्यते) जो तेरा केश गिर जाता है, (यः च समूलः वृश्चते) और जो मूलके सहित टूट जाता है, (इदं तं विश्वभेषज्या वीरुधा अभिषिञ्चामि) इस केशको केशदोषको दूर करनेवाली लताके रससे भिगा देता हूं ॥ ३ ॥

भावार्थ— नितत्नी नामक औषधी पृथ्वीपर उगती है उसके प्रयोगसे केश सुदृढ होते हैं । केश पुराने हों, जो टूटते हों, गिरजाते हों, इस औषधीके रसके लगानेसे वह सब दोष दूर होजाता है और बाल सुदृढ हो जाते हैं । जहां बाल उगते नहीं वहां इस औषधिका रस लगानेसे बाल आते हैं और जहां आते हैं वहांके बाल बडे लंबे हो जाते हैं ॥ १-३ ॥

यह नितत्नी नामक औषधी केशवर्धक करके कही है, परंतु यह कौनसी औषधी है इसका पता नहीं चलता । वैद्योंको योग्य है कि वे इस औषधिकी खोज करें और प्रकाशित करें ।

[सूक्त १३७]

(ऋषिः — वीतहव्योऽथर्वा । देवता — वनस्पतिः ।)

यां जमदग्निरखनद् दुहित्रे केशवर्धनीम् । तां वीतहव्य आभरदसितस्य गृहेभ्यः ॥ १ ॥
अभीशुना मेया आसन् व्यामेनानुमेयाः । केशा नडा इव वर्धन्तां शीर्ष्णस्ते असिताः परि ॥ २ ॥
दृंह मूलमाग्रं यच्छ वि मध्यं यामयौषधे । केशा नडा इव वर्धन्तां शीर्ष्णस्ते असिताः परि ॥ ३ ॥

अर्थ— (जमदग्निः यां केशवर्धनीं दुहित्रे अखनत्) जमदग्निने जिस केशवर्धक औषधिको अपनी कन्याके निमित्त खोदा (तां वीतहव्यः असितस्य गृहेभ्यः आभरत्) उसको वीतहव्य असितके घरोंके लिये भर लिया ॥ १ ॥

जो (अभीशुना मेया आसन्) केश अंगुलियोंसे मापे जाते थे वे (व्यामेन अनुमेयाः) हाथोंसे मापने योग्य होगये । (ते शीर्ष्णः परि) तेरे सिर पर (असिताः केशाः) काले केश (नडाः इव वर्धन्तां) नरकट घासके समान बढें ॥ २ ॥

हे औषधे ! (मूलं दृंह) केशका मूल दृढ कर (अग्रं वि यच्छ) अग्र भागको ठीक कर और (मध्यं यामय) मध्यभागका नियमन कर । (ते शीर्ष्णः परि) तेरे सिरके ऊपर (असिताः केशाः नडाः इव वर्धन्तां) काले केश नरकट घासके समान बढें ॥ ३ ॥

उक्त केशवर्धक औषधिके रसके उपयोगसे केश बहुत बढ जाते हैं । जलके स्थानमें जैसा घास बहुत बढता है उस प्रकार केश बढते हैं और केशोंके मूल भी सुदृढ हो जाते हैं, इस कारण वे टूटते नहीं । यह केशवर्धक औषधि वही है कि जो पूर्व सूक्तमें वर्णित है । यह औषधि अन्वेषणीय है । क्योंकि इसका पता नहीं चलता ।

क्लीब ।

[सूक्त १३८]

(ऋषिः — अथर्वा । देवता — वनस्पतिः ।)

त्वं वीरुधां श्रेष्ठतमाभिश्रुतास्योषधे । इमं मे अद्य पूरुषं क्लीबमोपशिनं कृधि ॥ १ ॥
क्लीबं कृध्योपशिनमथो कुरीरिणं कृधि । अथास्येन्द्रो ग्रावभ्यामुभे भिनत्त्वाण्ड्यौ ॥ २ ॥
क्लीब क्लीबं त्वाकरं वध्रे वध्रिं त्वाकरमरसारसं त्वाकरम् ।
कुरीरमस्य शीर्षणि कुम्बं चाधिनिदध्मसि ॥ ३ ॥

अर्थ— हे औषधे ! (त्वं वीरुधां श्रेष्ठतमा अभिश्रुता) तु औषधियोंमें सबसे अधिक श्रेष्ठ सर्वत्र प्रसिद्ध है । (अद्य इमं मे पूरुषं) आज इस मेरे पुरुषपशुको (क्लीबं ओपशिनं कृधि) क्लीब और ओपश्वा कर ॥ १ ॥

(क्लीबं ओपशिनं कृधि) क्लीब और ओसरश कर । (अथो कुरीरिणं कृधि) और सिरपर बाल रखनेवाला कर । (अथ इन्द्रः ग्रावभ्यां) और इन्द्र दो पत्थरोंसे (अस्य उभे आण्ड्यौ भिनत्तु) इसके दोनों अण्डकोश छिन्न-भिन्न करे ॥ २ ॥

हे क्लीब ! (त्वा क्लीबं अकरं) तुझे क्लीब बना दिया है । हे (वध्रे) निर्बल ! (त्वा वध्रिं अकरं) तुझे निर्बल बना दिया है । हे (अरस) रसहीन ! (त्वा अरसं अकरं) तुझे रसहीन बना दिया है । (अस्य शीर्षणि कुरीरं) इसके सिरपर बाल और उनमें (कुम्बं च अधिनिदध्मसि) आभूषण भी धर देते हैं ॥ ३ ॥

ये ते॑ ना॒ड्यौ॑ दे॒वकृ॑ते॒ ययो॒स्तिष्ठ॑ति॒ वृष्ण्य॑म् । ते ते॑ भिनद्मि॒ शम्य॑या॒मुष्या॒ अधि॑ मु॒ष्कयोः॑ ॥ ४ ॥
यथा॑ न॒डं क॒शिपु॑ने॒ स्त्रियो॑ भि॒न्दन्त्यश्म॑ना । ए॒वा भि॑नद्मि ते॒ शेपो॒ऽमुष्या॒ अधि॑ मु॒ष्कयोः॑ ॥ ५ ॥

अर्थ— (ये ते देवकृते नाड्यौ) जो तेरी देवोंद्वारा बनाई नाडियां हैं, (ययोः वृष्ण्यं तिष्ठति) जिनमें वीर्य रहता है, (ते ते अधिमुष्कयोः अधि) वे तेरे दोनों अण्डोंके ऊपर (अमुष्याः शम्यया भिनद्मि) इस डण्डेसे तोड देता हूं ॥ ४ ॥

(यथा स्त्रियः कशिपुने नडं अश्मना भिन्दन्ति) जिस प्रकार स्त्रियां चटाई बनानेके लिये नरकुलेको पत्थरोंसे कूटते हैं। (एवा अमुष्य ते शेपः) इस प्रकार तेरा इंद्रिय (ते मुष्कयोः अधि भिनद्मि) तेरे अण्डकोशोंके ऊपर कूटता हूं ॥ ५ ॥

बैल घोडा आदि पुरुष पशुओंको पुरुषत्वसे हीन बनानेके लिये वीर्यको नाडियां तोडना, अंडोंको कूटना, बधिया करना या अक्षता करने आदिकी विधि इसमें लिखी है। किसी औषधिका प्रयोग भी कहा है, परंतु उस औषधिके नामका पता नहीं लगता है। वीर्यनाडियां काटना, अण्डकोशोंको तोडना, इत्यादि बातें आज भी प्रसिद्ध हैं।

सौभाग्यवर्धन।

[सूक्त १३९]

(ऋषिः — अथर्वा। देवता — वनस्पतिः।)

न्य॒स्ति॒का रु॑रोहिथ सुभग॒ंकर॑णी॒ मम॑ । श॒तं तव॑ प्रता॒नास्त्रय॑स्त्रिंशन्नित॒नाः ।
तया॑ सहस्रप॒र्ण्या हृद॑यं शोषयामि ते ॥ १ ॥
शुष्य॑तु॒ मयि॑ ते॒ हृद॑य॒मथो॑ शुष्यत्वा॒स्य॑म् । अथो॒ नि शु॑ष्य॒ मां कामे॒नाथो॒ शुष्का॑स्या चर ॥ २ ॥
सं॒वन॑नी समु॒ष्प॒ला बभ्रु॒ कल्या॑णि॒ सं नु॑द । अ॒मूं च॒ मां च॒ सं नु॑द समा॒नं हृद॑यं कृधि ॥ ३ ॥

अर्थ— (मम सुभगंकरणी न्यस्तिका रुरोहिथ) मेरा सौभाग्य बढानेवाली और दोष दूर करनेवाली यह औषधी उत्पन्न हुई है। (तव शतं प्रतानाः) तेरी सौ प्रकारकी शाखाएं हैं और (त्रयस्त्रिंशत् नितानाः) तैंतीस उपशाखाएं हैं। (तया सहस्रपर्ण्या) उस सहस्रपर्णी औषधिसे (ते हृदयं शोषयामि) तेरा हृदय शुष्क करता हूं ॥ १ ॥

(ते हृदयं मयि शुष्यतु) तेरा हृदय मेरे विषयमें विचारके सूख जावे। (अथो आस्यं शुष्यतु) और मुख सूख जावे। (अथो मां कामेन नि शुष्य) और मुझे कामसे शुष्क करके (अथो शुष्कास्या चर) शुष्क मुखवाली होकर चल ॥ २ ॥

हे (बभ्रु कल्याणि) पोषण करनेवाली अथवा पीले रंगवाली और कल्याण करनेवाली ! तू (संवननी समुष्पला) सेवन करने योग्य और उत्साह बढानेवाली है। तू (अमूं संनुद) उसको प्रेरित कर, (मां च संनुद) मुझे प्रेरित कर। हमारा (हृदयं समानं कृधि) हृदय समान कर ॥ ३ ॥

भावार्थ— सहस्रपर्णी औषधि सौभाग्य बढानेवाली और दोष दूर करनेवाली है। इसकी सैकडों शाखाएं होती हैं। इससे स्त्रीपुरुष वीर्यवान होते हैं और परस्परके वियोगको सह नहीं सकते अर्थात् वियोग होनेपर सूख जाते हैं ॥ १-२ ॥

यह वनस्पति पुष्टि करनेवाली और सब प्रकार आनंद देनेवाली है, उत्साह भी बढाती है, इसलिये गृहस्थी स्त्रीपुरुषोंको सेवन करने योग्य है। स्त्रीपुरुषोंको परस्पर इच्छाकी प्रेरणा इसके सेवनसे होती है और दोनोंका हृदय समानतया परस्परके प्रति आकर्षित होता है ॥ ३ ॥

यथोदकमपपुषोपशुष्यत्यास्यम्। एवा नि शुष्य मां कामेनाथो शुष्कास्या चर ॥ ४ ॥
यथा नकुलो विच्छिद्य संदधात्यहिं पुनः। एवा कामस्य विच्छिन्नं सं धेहि वीर्यावति ॥ ५ ॥

अर्थ— (यथा उदकं अपपुषः) जिस प्रकार जल न पीनेवालेका (आस्यं अप शुष्यति) मुख सूख जाता है। (एवा मां कामेन नि शुष्य) इस प्रकार मेरे विषयक कामसे शुष्क होकर (अथो शुष्कास्या चर) सूखे मुखवाली होकर चल ॥ ४ ॥

(यथा नकुलः अहिं विच्छिद्य) जैसे नेवला सांपको काटकर (पुनः संदधाति) फिर जोडता है। (एवा वीर्यावति) इस प्रकार हे वीर्यावती औषधि ! (कामस्य विच्छिन्नं) कामके टूटे हुए संबंधको (सं धेहि) जोड दे ॥५॥

भावार्थ— जिस प्रकार जल न मिलनेसे मनुष्य सूख जाता है, इस प्रकार कामसे स्त्रीपुरुष परस्पर प्रीतिकी इच्छासे सूखते हैं ॥ ४ ॥

जिस प्रकार नेवला सांपको काटता है और पुनः जोडता है, उसी प्रकार वियुक्त स्त्रीपुरुषोंको पुनः जोड देना योग्य है ॥५॥

सहस्रपर्णी औषधि।

इस सूक्तमें सहस्रपर्णी औषधीका वर्णन है। यह औषधी स्त्री पुरुषोंको परस्पर संबंध करनेके योग्य पुष्ट और वीर्यवान बना देती है। इसके सेवन करनेपर स्त्रीपुरुषोंको परस्परका वियोग सहन करना असंभव है। निर्वीर्य पुरुष भी बडा उत्साहसंपन्न होता है। इस प्रकारकी यह सहस्रपर्णी औषधी कौनसी वनस्पति है, इसका पता आजकलके वैद्यकग्रंथोंसे नहीं चलता। वैद्योंको इस विषयकी खोज करना चाहिये।

नेवलेका सांपको काटना और जोडना।

इस सूक्तके पंचम मंत्रमें ' नेवला सांपको काटता है और उसको फिर जोड देता है ' (नकुलः अहिं विच्छिद्य पुनः संदधाति) ऐसा कहा है। यह विश्वास प्रायः सर्वत्र भारतवर्षमें है अथर्ववेदमें भी यही यही बात कही है। अतः इस विषयकी खोज करनी चाहिये। यदि इस प्रकारकी कोई वनस्पति मिली तो बडी लाभकारी हो सकती है।

दांतोंकी पीडा।

[सूक्त १४०]

(ऋषिः— अथर्वा। देवता — ब्रह्मणस्पतिः।)

यौ व्याघ्राववरूढौ जिघत्सतः पितरं मातरं च।
तौ दन्तौ ब्रह्मणस्पते शिवौ कृणु जातवेदः ॥ १ ॥
व्रीहिमत्तं यवमत्तमथो माषमथो तिलम्।
एष वां भागो निहितो रत्नधेयाय दन्तौ मा हिंसिष्टं पितरं मातरं च ॥ २ ॥

अर्थ— (यौ व्याघ्रौ अवरूढौ) जो वाघके समान बढे हुए दो दांत (मातरं पितरं च जिघत्सतः) माता और पिताको दुःख देते हैं, हे ब्रह्मणस्पते ! हे (जातवेदः) ज्ञानी ! (तौ दन्तौ शिवौ कृणु) वे दोनों दांत कल्याण करनेवाले कर ॥ १ ॥

(व्रीहिं अत्तं यवं अत्तं) चावल खाओ, जौ खाओ, (अथो माषं अथो तिलं) उडद और तिल खाओ। (एष वां भागः रत्नधेयाय निहितः) यह तुम्हारा भाग रत्नधारणके लिये निश्चित हुआ है। हे दांतो ! (पितरं मातरं च मा हिंसिष्टं) माता पिताको कष्ट न दो ॥ २ ॥

उप॑हूतौ स॒युजौ॑ स्यो॒नौ दन्तौ॑ सुम॒ङ्गलौ॑ ।
अ॒न्यत्र॑ वां घो॒रं त॒न्व१ः॒ परै॑तु दन्तौ॒ मा हिं॑सिष्टं पि॒तरं॑ मा॒तरं॑ च ॥ ३ ॥

(सयुजौ स्योनौ सुमंगलौ दन्तौ उपहूतौ) साथ साथ जुडे हुए सुखदायी मंगलकारी दोनों दांत प्रशंसनीय हैं। (वां तन्वः घोरं अन्यत्र परैतु) तुम्हारे शरीरका कठोर दुःख दूर होवे। हे (दन्तौ) दांतो ! (पितरं मातरं मा हिंसिष्टं) माता पिताको कष्ट न दो ॥ ३ ॥

बालकोंको जिस समय दांत आते हैं, उस समय उनको बडे कष्ट होते हैं, उनमें भी दो दांत ऐसे हैं कि जिनके कारण बालकोंको बडा ही कष्ट होता है। बालकोंको कष्ट देख कर उनके मातापिता भी बडे दुःखी होते हैं।

इस समय बालकको चावल, जौ, उडद और तिल खाने देना चाहिये। जिस रीतिसे पचन हो जाय उस रीतिसे अच्छी प्रकार अन्न खाने देना चाहिये। इसके खानेसे दांत सुदृढ होते हैं और रत्नोंके समान सुन्दर होते हैं।

वैद्योंको सोचना चाहिये कि, यह पथ्य बालकोंसे किस प्रकार कराना चाहिये। हरएक बालकको दांतोंका कष्ट होता है, यदि यह पथ्य हितकारक सिद्ध हुआ, तो हरएक गृहस्थीका घर इससे लाभ उठा सकता है।

गौवोंपर चिह्न।

[सूक्त १४१]

(ऋषिः— विश्वामित्रः। देवता— अश्विनौ)

वा॒युरे॑नाः स॒माक॑रत् त्वष्टा॒ पोषा॑य ध्रियताम् ।
इन्द्र॑ आभ्यो॒ अधि॑ ब्रवद् रु॒द्रो भू॒म्ने चि॑कित्सतु ॥ १ ॥
लोहि॑तेन॒ स्वधि॑तिना मिथु॒नं कर्ण॑योः कृधि ।
अक॑र्ताम॒श्विना॒ लक्ष्म॒ तद॑स्तु प्र॒जया॑ ब॒हु ॥ २ ॥
यथा॑ च॒क्रुर्दे॑वासु॒रा यथा॑ मनु॒ष्या॒३ उ॒त । ए॒वा स॑हस्रपो॒षाय॑ कृणु॒तं लक्ष्मा॑श्विना ॥ ३ ॥

अर्थ— (वायुः एनाः संआकरत्) वायु इन गौओंको इकट्ठा करे, (त्वष्टा पोषाय ध्रियतां) त्वष्टा पुष्टी करे, (इन्द्रः आभ्यः अधिब्रवत्) इन्द्र इनको पुकारे और (रुद्रः भूम्ने चिकित्सतु) रुद्र वृद्धिके लिये चिकित्सा करे ॥ १ ॥

(लोहेन स्वधितिना) लोहेकी शलाकासे (कर्णयोः मिथुनं कृधि) कानोंके ऊपर जोडीका चिन्ह कर। (अश्विनौ लक्ष्म अकर्तां) अश्विदेव चिन्ह करें, (तत् प्रजया बहु अस्तु) वह सन्ततिके साथ बहुत हितकारी हो ॥ २ ॥

(यथा देवासुराः चक्रुः) जिस प्रकार देवों और असुरोंने चिन्ह किये, (उत यथा मनुष्याः) और जैसे मनुष्य भी करते हैं, हे अश्विनो ! (एवा सहस्रपोषाय लक्ष्म कृणुतं) इस प्रकार हजार प्रकारकी पुष्टीके लिये चिन्ह करो ॥ ३ ॥

गौवोंको इकट्ठा किया जावे, उनको यथोचित जल, घास आदि देकर पुष्ट किया जावे और उनको रोगरहित रखा जावे। लोहेके शस्त्रसे गौओंके कानोंपर चिन्ह करना योग्य है। इससे पहचाननेमें सुभीता होता है। यह चिन्ह कानपर सब देशोंमें किया जाता है और इससे बहुत लाभ होते हैं। वेदमें अन्यत्र भी गौओंके कानोंपर चिन्ह करनेका उल्लेख आता है।

(अथर्व० १२।४।६ देखो)

अन्नकी वृद्धि ।

[सूक्त १४२]

(ऋषिः — विश्वामित्रः । देवता — वायुः)

उच्छ्रयस्व बहुर्भव स्वेन महसा यव । मृणी हि विश्वा पात्राणि मा त्वा दिव्याशनिर्वधीत् ॥ १ ॥
आशृण्वन्तं यवं देवं यत्र त्वाच्छावदामसि । तदुच्छ्रयस्व द्यौरिव समुद्र इवैध्यक्षितः ॥ २ ॥
अक्षितास्त उपसदोक्षिताः सन्तु राशयः । पृणन्तो अक्षिताः सन्त्वत्तारः सन्त्वक्षिताः ॥ ३ ॥

॥ इति त्रयोदशोऽनुवाकः ॥
॥ इति षष्ठं काण्डं समाप्तम् ॥

अर्थ— हे यव ! (स्वेन महसा उच्छ्रयस्व) अपनी महिमासे ऊपर उठ और (बहुः भव) बहुत हो, (विश्वा पात्राणि मृणी हि) सब बर्तनोंको भर दे । (दिव्या अशनिः त्वा मा वधीत्) आकाशकी बिजली तेरा नाश न करे ॥ १ ॥

(आशृण्वन्तं देवं त्वा यवं) हमारी बात सुननेवाले देवरूपी तुझ यवको (यत्र अच्छावदामसि) जहां हम उत्तम प्रशंसाकी बात करते हैं, वहां (द्यौः इव तत् उच्छ्रयस्व) आकाशके समान ऊंचा हो और (समुद्रः इव अक्षितः एधि) समुद्रके समान अक्षय हो ॥ २ ॥

(ते उपसदः अक्षिताः) तेरे पास बैठनेवाले अक्षय हों, (ते राशयः अक्षिताः सन्तु) तेरी राशियां अक्षय हों, (पृणन्तः अक्षिताः सन्तु) पूर्ण करनेवाले अक्षय हों और (अत्तारः अक्षिताः सन्तु) खानेवाले भी अक्षय हों ॥ ३ ॥

अन्न आदि खाद्य पदार्थोंकी बहुत उत्पत्ति होवे । घरके धान्य भरनेके पात्र भरे हुए हों । और लोग उसको खाकर तृप्त हों, खानेवाले और खिलानेवाले भी उन्नत हों । प्रति वर्ष धान्य विपुल पैदा हो और सब लोग सुखी हों ।

॥ यहां त्रयोदश अनुवाक समाप्त ॥

॥ अथर्ववेद षष्ठ काण्ड समाप्त ॥

अथर्ववेदके षष्ठ काण्डका थोडासा मनन

इस षष्ठ काण्डमें १४२ सूक्त हैं और उनमें निम्नलिखित विषयोंका विचार हुआ है। एक एक विषयका विचार करनेके समय निम्नलिखित प्रकरणोंके अनुसार सूक्तोंका विचार करेंगे तो पाठकोंको अधिक लाभ हो सकता है—

ईश्वर।

ईश्वर संबंधी विचार करनेवाले निम्नलिखित सूक्त इस काण्डमें है— '**१ अमृत प्रदाता ईश्वर, ३४ तेजस्वी ईश्वर, ३५ विश्वका संचालक देव, ३६ जगत्‌का एक सम्राट्,**' ये चार सूक्त परमेश्वरका वर्णन करते हैं '**३३ ईश्वरका प्रचण्ड सामर्थ्य, ६१ परमेश्वरकी महिमा,**' ये दो सूक्त परमेश्वरका अपार बल बता रहे हैं। वह परमेश्वर अपने हृदयमें है यह बात '**७६ हृदयमें अग्निकी ज्योति।**' इस सूक्तद्वारा प्रगट हो रही है और इसकी पूजा करनेका मार्ग '**८० आत्मसमर्पण से ईश्वरकी पूजा,**' इस सूक्तद्वारा बताया है। यदि पाठक ये आठ सूक्त इकट्ठे पढेंगे, तो यह विषय उनके ध्यानमें ठीक प्रकार आ सकता है।

आत्मोन्नति।

आत्मोन्नतिके विषयमें निम्नलिखित सूक्त इकट्ठे विचार करने योग्य हैं—

पापसे बचाव करनेके विषयमें '**१११ ज्ञानसे पापको दूर करना, ११५ पापसे बचना**' ये दो सूक्त इकट्ठे विचार करने योग्य हैं। पापसे बचकर अपनी पवित्रता करनी चाहिये। इसलिये इस विषयके सूक्त '**६२ अपनी पवित्रता, ४६ पापी विचारका त्याग करो, ४३ क्रोधका शमन, १९ आत्मशुद्धिके लिये प्रार्थना, ५१ अन्तर्बाह्यशुद्धता, १८ ईर्ष्या निवारण**' ये हैं।

संपूर्ण उन्नतिके लिये '**१५ मैं उत्तम बनूंगा, ८६ सबसे श्रेष्ठ बनना**' यह इच्छा चाहिये। इसीसे सब उन्नति होगी। यह इच्छा न रही तो उन्नतिकी संभावना नहीं है। इसी प्रकार अपने अंदर शक्ति है और '**४१ अपनी शक्तिका विस्तार**' करना चाहिये यह प्रबल इच्छा अवश्य चाहिये। अन्यथा उन्नति होना कठिन होगा। '**५८ यशकी इच्छा, ६९ यशकी प्रार्थना, ३९ यशस्वी होना, ३८ तेजस्विताकी प्राप्ति, ४८;९९ कल्याणके लिये प्रार्थना**' ये सूक्त मनुष्यको यशकी अभिलाषासे ऊपर उठाना चाहते हैं। जो यश कमाना चाहता है वह '**५५ उत्तम मार्गोंसे जाने**' को तैयार होता है और श्रेष्ठमार्गपरसे जानेके लिये '**४० निर्भय बननेकी प्रार्थना**' करता है। क्योंकि निर्भय बननेके बिना मनुष्य श्रेष्ठ नहीं बन सकता और श्रेष्ठ बननेके बिना यशस्वी भी नहीं हो सकता। हरएक मनुष्यको उचित है कि वह अपनी उन्नतिके '**१०८ मेधाबुद्धि**' की प्राप्तिके लिये यत्न करे और अपने अन्दर उसकी वृद्धि करे।

मुक्ति।

मनुष्यकी अन्तिम श्रेष्ठतम अवस्था मुक्ति है। यह दर्शानेके लिये इस काण्डमें निम्नलिखित सूक्त हैं— '**६३ बंधनसे मुक्त होना, १२१ बंधनसे छूटना, ११२ पाशोंसे छूटना, ११३ मुक्ति**' ये सूक्त देखनेसे पाठकोंको पता लग जायगा कि बंधनकी निवृत्ति किस प्रकार हो सकती है, इस विषयका अत्यंत महत्त्वपूर्ण सूक्त '**१११ मुक्तिका अधिकारी**' है, इन सब सूक्तोंमें कहा है कि जनताके उद्धारके कार्यमें आत्मसमर्पण करनेके बिना मुक्ति मिल नहीं सकती। देवोंके संबंधी पाप मनुष्य करता है और राक्षसोंसे मित्रता करता है, इसलिये बद्ध होता है, इत्यादि भाव इन सूक्तोंमें विशेष रीतिसे देखने योग्य हैं।

अपनी रक्षा।

बालकसे लेकर वृद्धतक सब मनुष्य चाहते हैं कि अपनी रक्षा हो, मैं सुरक्षित रहूं। इस लिये वेदमें भी अपनी रक्षा करनेका विषय विशेष रीतिसे कहा है। इस विषयके सूक्त ये हैं— '**५३, ७२; ९३; १०७ अपनी रक्षा, ३; ४; ४७ रक्षाकी प्रार्थना, ७७ सबकी स्थिरता**' इत्यादि सूक्त इस विषयमें बडे उपयोगी हैं। अपनी रक्षा होनेका अर्थ यह है कि, अपना '**८९ दुर्गतिसे बचाव**' करना इस कार्यके लिये अपने अन्दर '**१०१ बल प्राप्त करना**' चाहिये। बलके बिना कोई मनुष्य दुर्गतिसे अपना बचाव नहीं कर सकता। हरएकको कटिबद्ध होकर अपने बचावका और अपनी उन्नतिका कार्य करना चाहिये। इसीलिये '**१३३ मेखला-**

बंधन ' करते हैं। यह सूक्त अनेक दृष्टियोंसे विचार करने योग्य है।

चिकित्सा ।

इस काण्डमें चिकित्सा विषयके सूक्त करीब २६ हैं। चिकित्सा विषय अथर्ववेदका प्रधान विषय है। इस काण्डमें '**क्षयरोगचिकित्सा**' के १३, २०, ८५; १२७, ये चार सूक्त हैं। इसी रोगके साथ '**खांसी**' का संबंध है इसलिये '**१०५ खांसी को दूर करने**' का उपाय बतानेवाला सूक्त भी उक्त सूक्तोंके साथ ही पढना योग्य है।

'**जलचिकित्सा**' के सूक्त २३; २४; ५७, ९१ ये चार सूक्त हैं और '**सौरचिकित्सा**' का ५२ यह एक सूक्त है। रोगोत्पादक कृमियोंका नाश करनेका हवन सूक्त ३२ में कहा है। '**सर्पविषनिवारण**' विषयपर सूक्त १२, ५६, ये दो सूक्त हैं और '**विषनिवारण**' पर १०० वां एक सूक्त विशेष महत्त्वका है और बडे खोज करने योग्य हैं।

१६ वें सूक्तमें '**औषधिरसपान**' का महत्त्वपूर्ण विषय है। '**केशवर्धन**' के विषयपर सूक्त २१, १३६, १३७ ये तीन सूक्त हैं। यह केशवर्धनका विषय सौंदर्यवर्धनकी दृष्टिसे अत्यन्त महत्त्वका है।

सूक्त ३० में '**शमी औषधि**', ४४ में '**रक्तस्रावकी औषधि**'; ५९ में '**अरुंधति औषधि**, ९४ में '**कुष्ठ औषधि**'; १०९ में **पिप्पली औषधि**' का वर्णन बडा उपयोगी है। आयुर्वैद्यकका वेदमें मूल देखना हो, तो ये सूक्त देखने योग्य हैं।

८३ सूक्तमें '**गण्डमालाका निवारण**'; ९३ में **रोगोंसे बचना**,' ये वर्णन विशेष अन्वेषण करने योग्य विषय हैं। वीरोंके शरीरसे बाण निकालकर उनकी चिकित्सा करनेका विषय ९० वें सूक्तमें देखने योग्य है। '**दांतोंकी पीडा**' निवारणका उपाय १४० वें सूक्तमें भी देखने योग्य है।

घोडा बैल आदिकोंको क्लीब बनानेका विषय १३८ वें सूक्त में है। यह सूक्त कई कारणोंसे विशेष खोज करने योग्य है।

चिकित्सा द्वारा रोगनिवृत्ति करके मृत्युको ही दूर किया जाता है। इस मृत्युके विषयके सूक्त १३; ४५, ४६ ये हैं। सब दुःखोंका कारण '**पाप**' है, यह बात सूक्त २७ में कही है और इन कष्टोंको दूर करनेका विषय सू० २५ में है।

कुटुंबका सुख ।

गृहस्थाश्रम सब आश्रमोंका आधार है, यह आश्रम ब्रह्मचर्याश्रमकी समाप्ति होनेपर प्रारंभ होता है। वरके लिये वधूकी खोज करने और '**कन्याके लिये वर**' की खोज करनेका विषय ८२ वें सूक्तमें कहा है। यह '**गृहस्थाश्रम अत्यंत पवित्र**' है यह बात सू० १२२ में दर्शायी है। '**विवाह**' विषयका ६० वें सूक्तमें वर्णन किया है। दम्पति अर्थात् स्त्रीपुरुष '**परस्पर प्रेमसे रहें**' यह उपदेश सू० ८१, ९ इन दो सूक्तोंमें विशेष बलसे कहा है।

तरुण पुरुषको तरुण स्त्री की प्राप्ति होते ही वे अपने माता पिताको भूल न जाय इसलिये सूक्त १२० में '**मातापिताकी सेवा करो**' यह आदेश दिया है। ऋण करके तेहवार मनानेसे गृहस्थाश्रम दुःखका सागर बनता है, इस लिये '**ऋणरहित होने**' का उपदेश सूक्त ११७-११९ इन तीन सूक्तोंमें बडी उत्तम युक्तियोंके साथ किया है। इसके पश्चात् क्रमप्राप्त विषय '**७२ वाजीकरण, १७ गर्भधारण, ११ पुंसवन, ७८ स्त्रीपुरुषकी वृद्धि, ११० नवजात बालक**' ये हैं। इस क्रमसे इन सूक्तोंका अभ्यास पाठक करेंगे, तो इन सूक्तोंसे अधिक लाभ प्राप्त कर सकते हैं। इतना होते हुए भी कामविषयक संयम रखनेका उपदेश सू० १३९ में विशेष सावधानीकी सूचना देनेवाला है। गृहस्थाश्रममें रहते हुए भी काम विषयक संयम आवश्यक है। गृहस्थीका घर कैसा होना चाहिये, इस विषयका वर्णन सू० १०६ में पाठक अवश्य देखें। यह सूक्त हरएक गृहस्थीको मार्गदर्शक होगा। अपनी परिस्थितिमें अपने घरकी शोभा जहांतक बढाई जा सकती है, वहां तक बढाना चाहिये, यह उपदेश वेद इस सूक्त द्वारा देरहा है।

गृहस्थियोंको '**७० गौसुधार; १४१ गौवोंकी पहचानके लिये चिन्ह करना, ३१ अश्वपालन करना, १७-१९ कबूतरकी पालना**' करना इत्यादि विषयोंका विचार करना योग्य है।

राज्यव्यवस्था ।

राज्यव्यवस्था विषयके सूक्त भी इस काण्डमें अनेक हैं। सू० १२८ में प्रजा अपने राष्ट्रके लिये स्वसंमतिसे '**राजाका चुनाव**' करे ऐसा कहा है। इससे राजा प्रजाका हित करनेपर ही राजगद्दीपर स्थिर रह सकता है यह बात स्वयं सिद्ध हो जाती है। तथापि '**राजाकी स्थिरता**' का विषय सू० ८७ और ८८ इन दो सूक्तोंमें विशेष रीतिसे कहा है। राजाको

उचित है कि वह ऐसा राज्यशासन चलावे कि, उसका 'विजय होवे' यह विषय सूक्त २ और ९८ में पाठक अवश्य देखें।

राजाको उचित है कि अपने शासनद्वारा वह अपने 'राष्ट्रकी ऐश्वर्यवृद्धि' (सू० ५४) करे, युद्धवाघन रथ और दुन्दुभि आदि (सू० १२५, १२६) तैयार रखे। शत्रुके आते ही उसका पराजय करनेकी तैयारी रखे यह इस सब उपदेशका तात्पर्य है।

शत्रुनाश।

शत्रुका नाश करनेका विषय जैसा राष्ट्रीय है वैसा ही वैयक्तिक भी है। इस विषयके सूक्त ६; ६५-६७; ७५; १०३; १०४; १२४-१२५ ये हैं। इनके बडे मननपूर्वक देखनेसे वैयक्तिक शत्रु दूर करनेका और सामाजिक तथा राष्ट्रीय शत्रुको दूर करनेका ज्ञान पाठकोंको हो सकेगा। इस दृष्टिसे ये सूक्त बडे मननीय हैं।

संगठन।

इस काण्डमें संगठनका महत्त्व विशेष रीतिसे वर्णित हुआ है। सू० ६४ और ९४ में विशेषकर 'संगठन' का उपदेश किया गया है। 'परस्पर मिलना' का उपदेश ४२; ८९; १०२ इन सूक्तोंमें किया गया है। सब लोग 'एक विचारसे रहें' यह उपदेश सू० ७३-७४ में विशेष मनन करने योग्य है। और सूक्त ७ में 'अद्रोहका मार्ग' कहा है वह सबको ध्यानमें धरना योग्य है। क्योंकि अद्रोह वृत्तिसे बर्ताव करनेके बिना संगठन होना असंभव है। इसलिये यह अद्रोह सूक्त पाठक विशेष सूक्ष्म दृष्टिसे पढें।

यज्ञ

'यज्ञसे उन्नति' का विषय सू० ५ और 'यज्ञका सत्य फल' मिलता है यह उपदेश ११४ वें सूक्तमें मनन करनेयोग्य है। यज्ञसे योग्य समयपर वृष्टि होती है और '१९४ वृष्टिसे विपत्ति दूर होती है' ११; ४९ मेघोंका संचार होकर वृष्टि होती है। ७१, ११६; १४२ अन्न विपुल प्रमाण' में प्राप्त होता है और सब लोगोंका कल्याण होता है।

इस प्रकार इस काण्डमें विशेष महत्त्वके विषय हैं तथापि कई सूक्त संदिग्ध, क्लिष्ट और समझमें न आनेवाले हैं। इसलिये बहुतसे सूक्त खोजके ही विषय हैं। आशा है कि सब पाठक विशेष प्रयत्न करेंगे तो यह काण्ड भी विशेष प्रयत्नके पश्चात् सुबोध बनेगा और लाभदायी सिद्ध होगा।

'संपादक'

अथर्ववेदके षष्ठ काण्ड की

विषय-सूची ।

ATHARV VED KA SUBODH BHASHYA

(PART - 3)

(KAND - 7 to 10)

ॐ

अथर्ववेदके सुभाषित

'सुभाषित' सर्वदा ध्यानमें धरने योग्य वेदमंत्रके मननीय विभाग हैं। ये वेदके सारभूत भाग हैं। ये यहां विषयवार वर्गीकरणके साथ अर्थके समेत दिये हैं। लेखक, वक्ता, संपादक, प्रचारक, उपदेशक आदिकोंके उपयोगमें ये अच्छी तरह आ सकते हैं। इनका वारंवार वैयक्तिक अथवा सामूहिक उच्चारण करनेसे करनेवालों तथा सुननेवालोंके मनोंपर बडा इष्ट परिणाम हो सकता है। इससे वैदिक धर्मका अच्छा प्रचार हो सकता है और मानवी जीवनमें वैदिक धर्म लानेके लिये यह एक सुगम साधन हो सकता है।

आगेके सुभाषितोंके प्रकरणोंमें मुख्य सुभाषित और उनमें जो भाग वैयक्तिक अथवा सामूहिक उच्चारणमें आ सकते हैं, वे बताये हैं। ये सुभाषित अनेक हैं, इतने ही हैं ऐसी बात नहीं और एक मंत्रके अनेक सार्थ विभाग करनेसे ये और अनेक हो सकते हैं। पाठक इनका उपयोग करते जायंगे तो उनको इनकी उपयुक्तता विदित हो सकती है।

ब्रह्म

तृतीयेन ब्रह्मणा वावृधानाः (७।१।१)— तृतीय ब्रह्मज्ञानसे बढते रहते हैं।

ब्रह्मैनद् विद्यात् तपसा विपश्चित् (८।९।३)— ज्ञानी तपसे जाने कि यह ब्रह्म है।

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परि षस्वजाते, तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति, अनश्नन्न्यो अभि चाकशीति (९।९।२०)— दो उत्तम पंखवाले मित्र पक्षी (जीव और शिव) एक वृक्ष पर बैठे हैं, उनमें एक मीठा फल खाता है, दूसरा न खाता हुआ प्रकाशता है।

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्, यस्मिन्देवा अधि विश्वे निषेदुः, यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति, य इत्तद्विदुस्ते अमी समासते (९।१०।१८)— परम आकाशमें रहनेवाले ऋचाओंके अक्षरोंमें सब देव रहते हैं। जो यह नहीं जानता वह ऋचासे क्या करेगा, जो यह जानते हैं वे उत्तम स्थानमें विराजते हैं।

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्, एकं सत् विप्रा बहुधा वदन्ति, अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः (९।१०।२८)— एक ही सत् है, उसको ज्ञानी अनेक नामोंसे पुकारते हैं, उसको इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, दिव्य, सुपर्ण, गरुत्मान्, यम, मातरिश्वा कहते हैं।

ब्रह्म श्रोत्रियमाप्नोति, ब्रह्मेमं परमेष्ठिनम् (१०।२।२१)— ज्ञान विद्वान्को प्राप्त करता है, ज्ञान ही परमेष्ठी प्रजापतिको जानता है।

ब्रह्म देवाँ अनु क्षियति, ब्रह्म दैवजनीर्विशः, ब्रह्मेदमन्यन्नक्षत्रं, ब्रह्म सत् क्षत्रमुच्यते (१०।२।२३) — ब्रह्म देवोंके साथ रहता है, ब्रह्म दिव्य जनरूपी प्रजामें बसता है, ब्रह्म ही न नाश पानेवाला है और ब्रह्म ही सच्चा क्षात्र तेज है।

ब्रह्मणा भूमिर्विहिता ब्रह्म द्यौरुत्तरा हिता। ब्रह्मेदमूर्ध्वं तिर्यक् चान्तरिक्षं व्यचो हितम् (१०।२।२५)— ब्रह्मने पृथिवी बनायी, ब्रह्मने ही द्युलोक ऊपर रखा और अन्तरिक्षमें ब्रह्म ही तिरछा और चारों ओर फैला है।

*

मूर्धानमस्य संसीव्याथर्वा हृदयं च यत्, मस्तिष्कादूर्ध्वः प्रैरयत् पवमानोऽधि शीर्षतः (१०।२।२६)— सिर और हृदयको योगी सीता है, और मस्तकके ऊपर प्राणको चलाता है।

तद्वा अथर्वणः शिरः देवकोशः समुब्जितः (१०।२।२७)— वह अथर्वाका सिर देवोंका खजाना सुरक्षित है।

सर्वा दिशः पुरुष आ बभूव (१०।२।२८)— सब दिशाओंमें यह पुरुष है।

यो वै तां ब्रह्मणो वेद अमृतेनावृतां पुरं, तस्मै ब्रह्म च ब्राह्माश्च चक्षुः प्राणं प्रजां ददुः (१०।२।२९)— अमृतसे आवृत इस ब्रह्मकी नगरीको जो जानता है उसको ब्रह्म और अन्य देव चक्षु, प्राण (दीर्घायु) और सुप्रजा देते हैं।

न वै तं चक्षुर्जहाति न प्राणो जरसः पुरा, पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते (१०।२।३०)— जो ब्रह्मकी इस नगरीको जानता है उसको न आंख और न प्राण वृद्धावस्थाके पूर्व छोडते हैं।

अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या, तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः (१०।२।३१)— आठ चक्र और नौ द्वार जिसमें है ऐसी यह देवोंकी नगरी है, उसमें सुवर्णका खजाना, तेजसे भरा हुआ स्वर्ग ही है।

तस्मिन् हिरण्यये कोशे त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठिते, तस्मिन् यद्यक्षमात्मन्वत् तद्वै ब्रह्मविदो विदुः (१०।२।३२)— उस तेजस्वी हृदयकोशमें, तीन आधारोंसे रहे स्थानमें जो आत्मवान् पूजनीय देव है, उसको ब्रह्मज्ञानी जानते हैं।

प्रभ्राजमानां हरिणीं यशसा संपरीवृतां, पुरं हिरण्मयीं ब्रह्मा विवेशापराजिताम् (१०।२।३३)— तेजस्वी, यशसे घिरी, मनका हरण करनेवाली सुवर्णमय अपराजित नगरीमें ब्रह्मा प्रवेश करता है।

इन सुभाषितोंमें इनसे भी छोटे टुकडे सुभाषितके समान उपयोगमें लाये जा सकते हैं, देखिये—

ब्रह्मणा वावृधानाः— ब्रह्मज्ञानसे वृद्धि प्राप्त करते हैं।

ब्रह्मैनद्विद्यात्— ब्रह्मको जाने।

ऋचो अक्षरे … देवा … निषेदुः— वेदमंत्रके अक्षरमें देव रहते हैं।

एकं सत्— एक सत् है।

ब्रह्म श्रोत्रियं आप्नोति— ज्ञान वेदके विद्वान्‌को प्राप्त होता है।

ब्रह्म देवां अनु क्षियति— ब्रह्म देवोंके साथ रहता है।

शिरः देवकोशः— सिर देवोंका खजाना है।

सर्वा दिशः पुरुषः— सब दिशाओंमें पुरुष है।

नवद्वारा देवानां पूः— नौ द्वारोंवाली देवोंकी नगरी है।

पुरं हिरण्मयीं ब्रह्मा विवेश— सुवर्णमय नगरीमें ब्रह्मा प्रविष्ट होता है।

इस तरह पूर्वोक्त बडे सुभाषितोंसे ऐसे अनेक छोटे छोटे सुभाषित तैयार होते हैं। ये व्यक्तिशः अथवा संघशः जपे या भजन किये जा सकते हैं, और ऐसा करनेसे करनेवालों और सुननेवालोंको बडा लाभ हो सकता है।

ईश्वर

प्रपथे पथां अजनिष्ट पूषा प्रपथे दिवः प्रपथे पृथिव्याः (७।१०।१)— द्युलोकके, अन्तरिक्षके, और पृथिवीके मार्गमें सबका पोषणकर्ता ईश्वर प्रकट होता है।

उभे अभि प्रियतमे सधस्थे आ च परा च चरति प्रजानन्— दोनों अत्यंत प्रिय स्थानोंमें सबको ठीक तरह जानता हुआ यह ईश्वर विचरता है।

पूषेमा आशा अनु वेद सर्वाः— (७।१०।२)- सबका पोषणकर्ता ईश्वर सब दिशा उपदिशाओंको जानता है।

सो अस्माँ अभयतमेन नेषत्— वह हम सबको निर्भयताके मार्गसे ले जाता है।

स्वस्तिदा आघृणिः सर्ववीरोऽप्रयुच्छन् पुर एतु प्रजानन्— वह प्रभु सबका कल्याण करनेवाला, तेजस्वी, सबसे अधिक वीर प्रमाद न करता हुआ हमारा नेता हो।

अभि त्यं देवं सवितारं ओण्योः कविक्रतुम्। अर्चामि सत्यसवं रत्नधां अभि प्रियं मतिम् (७।१५।१)— सबकी रक्षा करनेवाले, द्युलोक और भूलोकके उत्पादक, ज्ञानी और शुभ कर्मकर्ता, सत्यप्रेरक, रत्नधारक, मनन करने योग्य और प्रिय उस देवकी मैं पूजा करता हूं।

ऊर्ध्वा यस्यामतिर्भा अदिद्युतत् सवीमनि (७।१५।२) —जिसका अपरिमित तेज उसकी आज्ञानुसार ऊपर फैल रहा है।

हिरण्यपाणिः अमिमीत सुक्रतुः कृपात् स्वः— उत्तम कर्म करनेवाला, सुवर्णके समान किरणवाला प्रभु अपने तेजको फैलाता है।

सावीर्हि देव प्रथमाय पित्रे (७।१५।३)— हे देव! प्रथम पालन करनेके लिये तुमने यह उत्पन्न किया है।

वर्ष्माणमस्मै वरिमाणमस्मै— इसके लिये उत्तम देह और उत्तम श्रेष्ठता दे दो।

अथास्मभ्यं सवितर्वार्याणि दिवोदिव आ सुवा भूरि पश्वः— हे सबके उत्पत्तिकर्ता देव! हमारे लिये प्रतिदिन उत्तम धन और बहुत पशु मिलें।

दमूना देवः सविता वरेण्यो दधद्रत्नं दक्षं पितृभ्य आयूंषि (७।१५।४)— हे सबके उत्पादक दमनसे मनको स्वाधीन रखनेवाले तू श्रेष्ठ देव! रक्षकोंको तू रत्न, बल और आयु देता है।

मदद्देवं— इसको आनंदित रख।

परिज्मा चित् क्रमते अस्य धर्मणि— परिभ्रमण करनेवाला इसके आज्ञामें रहकर भ्रमण करता है।

तां सवितः सत्यसवां सुचित्रामाहं वृणे सुमतिं विश्ववाराम् (७।१६।१)— हे सबके उत्पादक देव! मैं सत्यकी प्रेरणा करनेवाली विलक्षण, रक्षा करनेवाली उत्तम बुद्धिको प्राप्त करता हूं।

यामस्य कण्वो अदुहत् प्रपीनां सहस्रधारां महिषो भगाय— जिस सहस्र धाराओंसे पुष्ट करनेवाली शक्तिको इसके ऐश्वर्यके लिये बलवान् ज्ञानी दुहता है– प्राप्त करता है।

प्रजापतिर्जनयति प्रजा इमाः (७।२०।१)— प्रजापालक ईश्वर इन सब प्रजाओंको उत्पन्न करता है।

धाता दधातु सुमनस्यमानः— धारक देव उत्तम मनसे सबका धारण करे।

समेत विश्वे वचसा पतिं दिव एको विभूरतिथि-र्जनानाम् (७।२२।१)— द्युलोकके स्वामीके पास सब अपनी स्तुतिसे चलो, वह एक है और सब जनोंका वह अतिथिवत् सत्कारके योग्य है।

विष्णोर्नु कं प्रावोचं वीर्याणि यः पार्थिवानि विममे रजांसि (७।२७।१)— सर्वव्यापक परमात्माके पराक्रमोंका हम वर्णन करते हैं जो पृथ्वीपरके लोगोंको विशेष रीतिसे निर्माण करता है।

यो अस्कभायदुत्तरं सधस्थं— जिसने ऊपरका आकाश फैलाया है।

यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेषु अधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा (७।२७।३)— जिसके तीन विक्रमोंमें सब विश्व भुवन रहते हैं।

उरुक्षयाय नस्कृधि— हमारे विशेष निवासके लिये सहाय कर।

विष्णुर्गोपा अदाभ्यः (७।२७।५)— व्यापक देव संरक्षक और न दबनेवाला है।

तद् विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः, दिवीव चक्षुराततम् (७।२७।७)— वह व्यापक देवका परम पद है, जो ज्ञानी लोग सदा देखते हैं, जैसा द्युलोकमें सूर्य प्रकाशता है।

बृहस्पतिर्नः परि पातु पश्चादुतोत्तरस्मादधरादघायोः (७।५१।१)— ज्ञानपति पीछेसे, नीचेसे और ऊपरसे हमारा पापोंसे रक्षण करे।

इन्द्रः पुरस्तादुत मध्यतो नः सखा सखिभ्यो वरीयः कृणोतु— मित्र इन्द्र आगेसे और बीचसे हमें मित्रोंसे भी श्रेष्ठ बनावें।

यो अग्नौ रुद्रो यो अप्सु अन्तर्य ओषधीर्वीरुध आविवेश, य इमा विश्वा भुवनानि चाक्लृपे तस्मै रुद्राय नमो अस्त्वग्नये (७।९२।१)— जो अग्निमें, जलोंमें, औषधिवनस्पतियोंमें है, जो सब भुवनोंको रचता है, उस अग्निस्वरूप रुद्र देवको नमस्कार है।

यत् परममवमं यच्च मध्यमं प्रजापतिः ससृजे विश्वरूपं, कियता स्कम्भः प्र विवेश तत्र यन्न प्राविशत् कियत् तद् बभूव। (१०।७।८)— प्रजापालकने उत्तम और मध्यम विश्वरूप निर्माण किया, उसमें सर्वाधारने कितना प्रवेश किया और वह प्रविष्ट नहीं हुआ वह कितना है।

कियता स्कम्भः प्र विवेश भूतं कियद् भवि ष्यदन्वा-शयेऽस्य (१०।७।९)— सर्वाधार ईश्वर भूत-

कालमें बने हुएमें कितना प्रविष्ट हुआ और भविष्यमें होनेवालेमें कितना प्रविष्ट होगा।

एकं यदंगमकृणोत्सहस्रधा कियता स्कम्भः प्र विवेश तत्र (१०।७।९)—अपने एक अंगको जिसने सहस्रधा विभक्त किया (और यह विश्व बनाया) उसमें सर्वाधार कितना प्रविष्ट हुआ है ?

यत्र लोकांश्च कोशांश्च आपो ब्रह्म जना विदुः, असच्च यत्र सच्चान्तः स्कंभं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः। (१०।७।१०)— जहां लोक, कोश, जल है वह ब्रह्म है ऐसा लोग जानते हैं, असत् व सत् जहां मिला है वह सर्वाधार है वह अत्यंत आनन्दमय है ।

यस्मिन् भूमिरन्तरिक्षं द्यौर्यस्मिन्नध्याहिता, यत्राग्निश्चन्द्रमाः सूर्यो वातस्तिष्ठन्त्यार्पिताः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः। (१०।७।१२)— जिसमें भूमि, अन्तरिक्ष, द्यु, अग्नि, चन्द्र, सूर्य रहे हैं वह सर्वाधार है, वही आनन्दमय है ।

यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा अंगे सर्वे समाहिताः, स्कंभं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः (१०।७।१३)— जिसके शरीरमें तैंतीस देव रहते हैं, वही सर्वाधार परमेश्वर अत्यंत आनन्दमय है ।

ये पुरुषे ब्रह्म विदुः ते विदुः परमेष्ठिनम् (१०।७।१७) — जो पुरुष शरीरमें ब्रह्म जानते हैं वे परमेश्वरको जानते हैं ।

यो वेद परमेष्ठिनं, यश्च वेद प्रजापतिं, ज्येष्ठं ये ब्राह्मणं विदुः ते स्कम्भं अनुसंविदुः (१०।७।१७) — जो परमेष्ठी, प्रजापति तथा ज्येष्ठ ब्रह्मको जानते हैं वे सर्वाधारको जानते हैं ।

यस्मादृचो अपातक्षन्, यजुर्यस्मादपाकषन्, सामानि यस्य लोमानि, अथर्वाङ्गिरसो मुखं स्कंभं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः (१०।७।२०)— जिससे ऋचाएं हुई, यजु जिससे बने, साम जिसके लोम हैं, अथर्वा, अंगिरस जिसका मुख है, वह सर्वाधार है और वही अत्यंत आनन्दस्वरूप है ।

यत्रादित्याश्च रुद्राश्च वसवश्च समाहिताः, भूतं च यत्र भव्यं च सर्वे लोकाः प्रतिष्ठिताः, स्कंभं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः (१०।७।२२)— जिसमें वसु, रुद्र और आदित्य रहे हैं, भूतभविष्य और सब लोक जहां रहे हैं, वह सर्वाधार परमेश्वर अत्यंत आनन्दमय है।

यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा निधिं रक्षन्ति सर्वदा (१०।७।२३) –तैंतीस देव जिसके खजानेका रक्षण सर्वदा करते हैं।

यत्र देवा ब्रह्मविदो ब्रह्म ज्येष्ठमुपासते, यो वै तान् विद्यात् प्रत्यक्षं स ब्रह्मा वेदिता स्यात् (१०।७।२४)— जहां ब्रह्मज्ञानी श्रेष्ठ ब्रह्मकी उपासना करते हैं, जो उसको प्रत्यक्ष जानता है वह ज्ञानी ब्रह्मा होगा।

यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा अंगे गात्रा विभेजिरे, तान् वै त्रयस्त्रिंशद्देवान् एके ब्रह्मविदो विदुः (१०।७।२७)— जिसके अंगोंमें तैंतीस देव अवयव बनकर रहे हैं, उन तैंतीस देवोंको [illegible] जानते हैं।

स्कम्भे लोकाः स्कम्भे तपः स्कम्भेऽध्यृतमाहितम् (१०।७।२९)— सर्वाधार परमेश्वरमें लोक, तप और ऋत रहा है ।

नाम नाम्ना जोहवीति पुरा सूर्यात् पुरोषसः। यदजः प्रथमं संबभूव स ह तत् स्वराज्यमियाय यस्मान्नान्यत् परमस्ति भूतम्। (१०।७।३१)- सूर्योदयके पूर्व और उषःकालके पूर्व जो ईश्वरका नाम लेता है, जो अजन्मा आत्मा ईश्वरके साथ संगत होता है, उसको वह स्वराज्य प्राप्त होता है जिससे अधिक श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है ।

यस्य भूमिः प्रमाऽन्तरिक्षमुतोदरम्, दिवं यश्चक्रे मूर्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः (१०।७।३२) —भूमि जिसका पांव, अन्तरिक्ष उदर और द्यु मस्तक है, उस श्रेष्ठ ब्रह्मके लिये मेरा नमस्कार हो।

यस्य सूर्यश्चक्षुः चन्द्रमाश्च पुनर्णवः, अग्निं यश्चक्र आस्यं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः (१०।७।३३) —जिसका सूर्य एक आंख है, और चन्द्र दूसरा आंख है, अग्नि जिसका मुख है, उस श्रेष्ठ ब्रह्मके लिये नमस्कार करता हूं ।

यस्य वातः प्राणापानौ चक्षुरंगिरसोऽभवन्, दिशो यश्चक्रे प्रज्ञानीः तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः (१०।७।३४)— वायु जिसके प्राण अपान है,

अंगिरस जिसके आंख हैं, दिशाएं जिसके ज्ञानसाधन (कान) हैं उस श्रेष्ठ ब्रह्मके लिये मेरा प्रणाम है।

स्कम्भो दाधार द्यावापृथिवी उभे इमे स्कम्भो दाधार उर्वन्तरिक्षम्। स्कम्भो दाधार प्रदिशः षडुर्वीः स्कम्भ इदं विश्वं भुवनमा विवेश (१०।७।३५) सर्वाधार परमेश्वरने द्यु, पृथिवी, बड़ा अन्तरिक्ष, छः दिशा-उपदिशाएं, धारण की हैं, वही सर्वाधार इस भुवनमें व्यापक है।

महद्यक्षं भुवनस्य मध्ये तपसि क्रान्तं सलिलस्य पृष्ठे, तस्मिन् श्रयन्ते य उ के च देवाः, वृक्षस्य स्कन्धः परित इव शाखाः (१०।७।३८)— बड़ा पूजनीय देव भुवनके मध्यमें है, तापमें वह क्रान्ति करता है, और वह जलके पृष्ठभागमें भी है, उसीके आश्रयसे सब देव रहते हैं। जैसे वृक्षके आश्रयसे उसकी शाखाएं रहती हैं।

यस्मै हस्ताभ्यां पादाभ्यां वाचा श्रोत्रेण चक्षुषा, यस्मै देवाः सदा बलिं प्रयच्छन्ति विमितेऽमितं स्कंभं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः (१०।७।३९)— जिस अपरिमितके लिये सब देव अपने हाथों, पावों, वाचा, कान और आंखसे अपरिमित बलि देते हैं, वह सर्वाधार परमेश्वर है, वह अत्यंत आनन्दमय है।

अप तस्य हतं तमो, व्यावृत्तः स पाप्मना, सर्वाणि तस्मिन् ज्योतींषि यानि त्रीणि प्रजापतौ (१०।७।४०) इसका अन्धकार दूर हुआ, पापसे वह दूर हो चुका, प्रजापतिमें जो तीन ज्योतियां हैं वे उसमें होती हैं।

यो भूतं च भव्यं च सर्वं यश्चाधितिष्ठति, स्वर्यस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः (१०।८।१)— जो भूत और भविष्य सबका अधिष्ठाता है, जिसका प्रकाश स्वरूप है, उस श्रेष्ठ ब्रह्मके लिये नमस्कार है।

एकचक्रं वर्तत एकनेमि सहस्राक्षरं प्र पुरो नि पश्चा, अर्धेन विश्वं भुवनं जजान यदस्यार्धं क तद्बभूव (१०।८।७)— एक चक्र है, उसकी एक नाभि है, हजार आरे हैं, वे आगे-पीछे होते हैं। आधेसे सब भुवन बना है, जो दूसरा अर्ध है वह कहां है?

तिर्यग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नः तस्मिन् यशो निहितं विश्वरूपं, तत्रासत ऋषयः सप्त साकं ये अस्य गोपा महतो बभूवुः (१०।८।९)— तिरछा मुखवाला एक लोटा है, उसका नीचेका भाग ऊपर है, इसमें विश्वरूप यश है, वहां सात ऋषि रहते हैं वे इस महान्के रक्षक हैं।

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तः, अजायमानो बहुधा वि जायते (१०।८।१३)— प्रजापति गर्भमें संचार करता है, न जन्मनेवाला अनेक प्रकारसे जन्मता है।

पश्यन्ति सर्वे चक्षुषा न सर्वे मनसा विदुः (१०।८।१४) —सब आंखसे देखते हैं, पर सब मनसे नहीं जानते।

यतः सूर्य उदेति, अस्तं यत्र च गच्छति, तदेव मन्येऽहं ज्येष्ठं तदु नात्येति किं चन (१०।८।१६) —जहांसे सूर्य उदय होता है और जहां अस्त होता है, मैं जानता हूं कि वही श्रेष्ठ है और उसका अतिक्रमण कोई कर नहीं सकता।

इयं कल्याण्यजरा मर्त्यस्यामृता गृहे (१०।८।२६)— यह कल्याण करनेवाली मर्त्यके घरमें अमर देवता है।

एको ह देवो मनसि प्रविष्टः प्रथमो जातः स उ गर्भे अन्तः (१०।८।२८)— एक देव मनमें प्रविष्ट होकर रहा है, वह एक बार जन्मा, पर वह फिर गर्भमें आया है।

पूर्णात् पूर्णमुदचति पूर्णं पूर्णेन सिच्यते, उतो तदद्य विद्याम यतस्तत्परिषिच्यते (१०।८।२९)— पूर्णसे पूर्ण बाहर आता है, पूर्णसे पूर्ण सींचा जाता है, अब आज हम यह जाने कि जहांसे वह सींचा जाता है।

अन्ति सन्तं न जहाति अन्ति सन्तं न पश्यति (१०।८।३२)— पास होनेपर वह छोडता नहीं, पास होनेपर भी वह दीखता नहीं।

देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति— देवका काव्य देखो, वह मरता नहीं और न वह जीर्ण होता है।

यो विद्यात्सूत्रं विततं, यस्मिन्नोताः प्रजा इमाः। सूत्रं सूत्रस्य यो विद्यात् सविद्याद् ब्राह्मणं महत् (१०।८।३७)— जो फैला हुआ धागा जानता

है, जिसमें ये सब प्रजा पिरोयी है। सूत्रका सूत्र जो जानता है वह बड़ा ब्रह्म जानता है।

वेदाहं सूत्रं विततं यस्मिन्नोताः प्रजा इमाः, सूत्रं सूत्रस्याहं वेदाथो यद् ब्राह्मणं महत् (१०।८। ३८)— मैं फैला हुआ सूत्र जानता हूं जिसमें सब प्रजा प्रोयी है, सूत्रका सूत्र मैं जानता हूं जो बड़ा ब्रह्म है।

पुण्डरीकं नवद्वारं त्रिभिर्गुणेभिरावृतं, तस्मिन् यद्यक्षमात्मन्वत् तद्वै ब्रह्मविदो विदुः (१०।८। ४३)— नौ द्वारोंवाला कमल है, तीन गुणोंसे वह घेरा है, उसमें पूजनीय देव है, उसे ब्रह्मज्ञानी जानते हैं।

इन सुभाषितोंसे छोटे सुभाषित बनते हैं वह देखिये—

स्वस्तिदा ··· सर्ववीरः— सबमें वीर कल्याण करता है।

अर्चामि सत्यसवं— सत्य प्रेरककी पूजा करता हूं।

ऊर्ध्वा यस्यामतिर्भा— जिसका अपरिमित तेज ऊपर फैला है।

सुक्रतुः कृपात् स्वः— उत्तम कर्म करनेवाला प्रभु अपने तेजको फैलाता है।

वरिमाणमस्मै— इस प्रभुकी श्रेष्ठता है।

देवः सविता ··· दधद्रत्नं— सबको प्रसवनेवाला देव रत्नोंको देता है।

अहं वृणे सुमतिं— मैं उत्तम मति प्राप्त करता हूं।

प्रजापतिर्जनयति प्रजाः— ईश्वर प्रजा उत्पन्न करता है।

धाता दधातु— धारक देव सबको धारण करे।

एको विभूः— एक ही व्यापक देव है।

विष्णोर्नु कं प्रावोचं वीर्याणि— व्यापक ईश्वरके पराक्रम मैं वर्णन करता हूं।

यस्य विक्रमणेषु अधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा— जिसके विक्रमोंमें सब विश्व रहे हैं।

विष्णुर्गोपाः— परमेश्वर रक्षक है।

विष्णोः परमं पदं— व्यापक देवका श्रेष्ठ स्थान है।

बृहस्पतिर्नः परि पातु— ज्ञानका देव हमारा रक्षण करे।

प्रजापतिः ससृजे विश्वरूपं— परमेश्वरने यह विश्वरूप बनाया।

एकं यदंगं अकृणोत्सहस्रधा— जिसने अपना एक अंग सहस्रधा विभक्त किया।

कतमः स्विदेव सः— वह परमेश्वर अत्यंत आनंदपूर्ण है।

यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा अंगे सर्वे समाहिताः— तैंतीस देव जिसके अंगोंमें रहे हैं।

पुरुषे ब्रह्म विदुः— मानव शरीरमें ब्रह्म जानते हैं।

ब्रह्मा वेदिता स्यात्— ब्रह्म ज्ञाता होता है।

नाम नाम्ना जोहवीति— नाम जो लेता है, नामजप करता है।

यस्य सूर्यश्चक्षुः— सूर्य जिसका आंख है।

अग्निं यश्चक्र आस्यं— अग्निको जिसने मुख बनाया है।

महद्यक्षं भुवनस्य मध्ये— भुवनके मध्यमें बड़ा पूज्य देव है।

अप तस्य हतं तमः— उसका अज्ञान दूर हुआ।

तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः— उस श्रेष्ठ ब्रह्मके लिये नमस्कार है।

विश्वं भुवनं अजान— वह सब भुवनोंको उत्पन्न करता है।

प्रजापतिश्चरति गर्भे— ईश्वर सबके गर्भमें विचरता है।

न सर्वे मनसा विदुः— मनसे सब ठीक तरह जानते नहीं।

तदु नात्येति कश्चन— उस प्रभुका कोई अतिक्रमण नहीं करता।

मर्त्यस्यामृता गृहे— मर्त्यके घरमें (शरीरमें) वह अमर रहता है।

एको ह देवो मनसि प्रविष्टः— एक देव मनके अन्दर है।

पूर्णात्पूर्णं उदचति— पूर्णसे पूर्ण उत्पन्न होता है।

अन्ति सन्तं न पश्यति— पास होनेपर भी (प्रभुको) देखता नहीं।

देवस्य पश्य काव्यं— देवका यह काव्य देखो।

यक्षमात्मन्वत्— आत्मावान् देव ही पूजनीय है।

ब्राह्मणं महत्— ब्रह्म सबसे बड़ा है।

सूत्रं विततं— एक सूत्र सर्वत्र फैला है (वह ब्रह्म है)।

यस्मिन्नोताः प्रजाः— जिसमें यह सब प्रजा प्रोयी है।

न ममार, न जीर्यति— वह मरता नहीं, और जीर्ण नहीं होता।

प्रथमो जातः— वह (प्रभु) सबसे पहिले प्रकट हुआ है।

इयं कल्याणी अजरा— यह (प्रभुशक्ति) कल्याण करनेवाली और जीर्ण न होनेवाली है।

इस तरह छोटे सुभाषित ऊपर दिये बडे सुभाषितोंसे बनत हैं। जो व्यक्तिशः या संघशः बोलनेके योग्य हैं। पाठक इनको वारंवार पढ कर देखें। इस तरह वारंवार करनेसे जो बोलनेवालोंके मनपर अपूर्व परिणाम होता है वह विशेष महत्वका है। करनेवालोंको ही इसका अनुभव हो सकता है।

दीर्घायु

दीर्घमायुः कृणोतु मे (७।३३।१)— वह मेरी दीर्घ आयु करे।

तं मायमग्निः सिञ्चतु प्रजया च धनेन च दीर्घमायुः कृणोतु मे (७।३५।१)— यह अग्नि मुझे प्रजा और धनसे युक्त करे और मेरी दीर्घ आयु करे।

प्रत्यौहतामश्विना मृत्युमस्मद् देवानामग्ने भिषजा शचीभिः (७।५५।१) हे देवोंके वैद्यो अश्विनौ! अपनी शक्तियोंसे इससे मृत्युको दूर करो।

यमस्य ··· अभिशस्तेरमुञ्चः— यमके यातनाओंसे मुक्त कर।

शतं जीव शरदो वर्धमानः (७।५५।२) - बढता हुआ सौ वर्ष जीओ।

आयुर्यत्ते अतिहितं पराचैरपानः प्राणः पुनरा ताविताम्— विरोधी कारणोंसे जो तुम्हारी आयु घट गयी है, उस स्थानपर प्राण और अपान पुनः संचार करें।

मेमं प्राणो हासीन्मो अपानोऽवहाय परा गात् (७।५५।४)— प्राण और अपान इसे छोडकर न चला जावें।

सप्तर्षिभ्य एनं परि ददामि त एनं स्वस्ति जरसे वहन्तु— सप्तर्षियोंको मैं इसे देता हूं वे इसको कल्याण करके वृद्धावस्थातक ले जांय।

प्र विशतं प्राणापानावनड्वाहाविव व्रजं, अयं जरिम्णः शेवधिररिष्ट इह वर्धताम् (७।५५।५)— जैसे बैल गोशालामें घुसते हैं वैसे प्राण अपना इसमें घुसें। यह वार्धक्यका खजाना है। यह विनष्ट न होकर बढे।

आ ते प्राणं सुवामसि परा यक्ष्मं सुवामि ते (७।५५।६) —तेरे अन्दर प्राणको प्रेरता हूं, और रोगको दूर करता हूं।

अन्तकाय मृत्यवे नमः, प्राणा अपाना इह ते रमन्ताम् (८।१।१)— अन्त करनेवाले मृत्युको नमस्कार है, प्राण और अपान तेरे शरीरमें यहां रमते रहें।

इहायमस्तु पुरुषः सहासुना— यह पुरुष यहां प्राणके साथ रहे।

इह तेऽसुरिह प्राणः इहायुरिह ते मनः (८।१।३)- यहां तेरा प्राण, तेरी आयु और यहां तेरा मन रमे।

उत्क्रामातः पुरुष माव पत्थाः (८।१।४)— हे पुरुष! तू ऊपर चढ, मत गिर जा।

मृत्योः पड्वीशमवमुञ्चमानः— मृत्युके पाश तोड दो!

मा च्छित्था अस्माल्लोकात्— इस लोकसे दूर न हो।

त्वां मृत्युर्दयतां मा प्र मेष्ठाः (८।१।५)— तेरे ऊपर मृत्यु दया करे, मत मर जा।

उद्यानं ते पुरुष नावयानं (८।१।६)— हे पुरुष! तेरी उन्नति हो, अवनति न हो।

ते जीवातुं दक्षतातिं कृणोमि— तुझे जीवन और दक्षता करता हूं।

आ हि रोहेमममृतं सुखं रथं— इस सुखदायी रथपर चढ।

अथ जिर्विर्विदथमा वदासि— और वृद्ध होकर ज्ञानका उपदेश देगा।

मा ते मनस्तत्र गान्, मा तिरो भूः (८।१।७)— तेरा मन निषिद्ध मार्गसे न जावे, गुप्त, न काम करनेवाला न बने।

मा जीवेभ्यः प्र मदः— जीवोंके लिये प्रमाद न कर।

मानु गाः पितॄन्— पितरोंके पीछे न जा।

विश्वे देवा अभि रक्षन्तु त्वेह— सब देव यहां तेरी सुरक्षा करें।

मा गतानामा दीधीथाः (८।१।८)— मरे हुओंका शोक न कर।

आ रोह तमसो ज्योतिरेहि— यहां आ और अन्धेरेसे प्रकाशपर चढ।

मैतं पन्थामनु गा, भीम एषः (८।१।१०)— इस मार्गसे न जा, यह भयंकर मार्ग है।

तम एतत् पुरुष, मा प्र पत्था, भयं परस्तादभयं ते अर्वाक् — यह अन्धकार है, हे मनुष्य ! इससे न जा, परे भय है, उरे अभय है।

अनिध्यमाना जरदष्टिरस्तु ते (८।२।१)— अबिच्छिन्न वृद्धावस्था तुझे प्राप्त हो। (तू दीर्घायु हो)

असुं त आयुः पुनरा भरामि— तेरे अन्दर प्राण और आयुको पुनः भर देता हूं।

रजस्तमो मोप गाः— रज और तमके पास न जा।

मा प्र मेष्ठाः— मत मर जा।

जीवतां ज्योतिरभ्येह्यर्वाङ् (८।२।२)— जीवितोंकी ज्योतिको इस ओरसे प्राप्त हो।

आ त्वा हरामि शतशारदाय— तुझे सौ वर्षोंकी आयुको प्राप्त कराता हूं।

अवमुञ्चन् मृत्युपाशानशस्तिं— मृत्युपाशों और अप्रशस्तताको दूर हटाता हूं।

द्राघीय आयुः प्रतरं ते दधामि— मैं तेरे लिये दीर्घ आयु अधिक दीर्घ करके देता हूं।

वातात् ते प्राणमविदम् (८।२।३)— वायुसे तेरे लिये प्राण अर्पण करता हूं।

सूर्याच्चक्षुरहं तव— सूर्यसे तेरा आंख मैं प्राप्त कराता हूं।

यत्ते मनस्त्वयि तद् धारयामि— जो तेरा मन है वह तुझमें मैं धारण कराता हूं।

सं वित्स्वाङ्गैर्वद जिह्वयालपन्— जिह्वासे स्पष्ट बोल और अपने अंगोंसे संयुक्त हो।

नमस्ते मृत्यो चक्षुषे नमः प्राणाय तेऽकरम् (८।२।४) —हे मृत्यो ! तेरे आंखके लिये नमस्कार करता हूं तथा तेरे प्राणको नमन करता हूं।

अयं जीवतु, मा मृत (८।२।५)— यह मनुष्य जीवे, न मरे।

इमं समीरयामसि— इसको मैं सजीव करता हूं।

कृणोम्यस्मै भेषजम्— इसको मैं औषध तैयार करके देता हूं।

मृत्यो मा पुरुषं वधीः— हे मृत्यो ! इस पुरुषको मत मार।

जीवलां नघारिषां जीवन्तीमोषधीमहं, त्रायमाणां सहमानां सहस्वतीमिह हुवेऽस्मा अरिष्टतातये (८।२।६)— इसको सुख प्राप्त हो इसलिये जीवन देनेवाली, हानि न करनेवाली, रक्षा करनेवाली, रोग हटानेवाली, और बल बढानेवाली औषधिको मैं देता हूं।

अधि ब्रूहि (८।२।७)— अच्छा बोल,

मा रभथाः— बुरा बर्ताव न कर,

सृजेमं— इसको छोड, (इसको न मार)

तवैव सन्त्सर्वहाया इहास्तु— तेरा होकर पूर्ण आयुतक यह यहां रहे।

भवाशर्वौ मृडतं, शर्म यच्छतं — हे सृष्टिकर्ता और संहारकर्ता ! इसको सुखी करो, इसको आनन्द दो।

अपसिध्य दुरितं धत्तमायुः— पाप दूर करके इसको दीर्घायु दो।

अस्मै मृत्यो अधि ब्रूहि (८।२।८)— हे मृत्यो ! इसको आशीर्वाद दो।

इमं दयस्व— इसपर दया कर।

उदितोऽयमेतु— यह ऊपर उठे और चलने लगे।

अरिष्टः सर्वाङ्गः सुश्रुत् जरसा शतहायन आत्मना भुजमश्नुताम्— यह पीडारहित, सर्व अवयवोंसे युक्त, कानोंसे उत्तम बातें सुननेवाला, वृद्ध होकर सौ वर्षतक जीनेवाला, अपनी शक्तिसे अपने भोग प्राप्त करें।

देवानां हेतिः परि त्वा वृणक्तु (८।२।९)— देवोंका शस्त्र तुझसे दूर रहे।

पारयामि त्वा रजसः—रजोगुणसे मैं तुझे पार करता हूं।

उत्त्वा मृत्योरपीपरम्— तुझे मृत्युसे दूर किया है।

जीवातवे ते परिधिं दधामि— दीर्घ जीवनके लिये तेरी मर्यादा मैं धारण करता हूं।

यत् इमं तस्मात् रक्षन्तो ब्रह्मास्मै वर्म कृण्मसि (८।२।१०)— उस मृत्युके मार्गसे इसकी सुरक्षा करके, इसके लिये हम ज्ञानका कवच करते हैं।

कृणोमि ते प्राणापानौ जरां मृत्युं दीर्घमायुः स्वस्ति (८।२।११)— मैं तेरे लिये प्राण, अपान वृद्धावस्थाके पश्चात् मृत्यु तो देता कल्याणपूर्ण दीर्घायु करता हूं।

वैवस्वतेन प्रहितान् यमदूतांश्चरतोऽप सेधामि सर्वान्— वैवस्वतने भेजे सब यमदूतोंको मैं दूर करता हूं।

आरादरातिं निर्ऋतिं परो ग्राहिं क्रव्यादः पिशाचान्, रक्षो यत् सर्वं दुर्भूतं तत् तम इवाप हन्मसि (८।२।१२)— शत्रु, दुर्गति, रोग, मांसभक्षक जन्तु, रक्त पीनेवाले जन्तु, तथा जो कुछ बुरा है वह सब अन्धकारके समान मैं दूर करता हूं।

यथा न रिष्या अमृतः सजूरसस्तत्ते कृणोमि, तदु ते समृध्यताम् (८।२।१३)— जिससे अमर होकर तू नहीं मरेगा, वैसा जीवित रह, यह तेरा जीवन समृद्ध हो।

शिवे ते स्तां द्यावापृथिवी असंतापे अभिश्रियौ— तेरे लिये द्यु और पृथिवी संताप न दें और श्री देनेवाले हों।

शं ते सूर्य आ तपतु— (८।२।१४)— सूर्य तेरे लिये सुखदायक रीतिसे तपे।

शं वातो वातु ते हृदे— तेरे हृदयको आनन्द देता हुआ वायु बहे।

शिवा अभि रक्षन्तु त्वापो दिव्याः पयस्वतीः— वृष्टिसे प्राप्त जल तथा पृथ्वीपर बहनेवाला जल तुझे सुखदायी हो।

यत् ते वासः परिधानं यां नीविं कृणुषे त्वं, शिवं ते तन्वे तत् कृण्मः संस्पर्शेऽद्रूक्ष्णमस्तु ते (८।२।१६)— जो तू वस्त्र पहनता है, जो कमर पर लपेटता है, वह तेरे लिये कल्याण देनेवाला हो, स्पर्शमें वह खुरदरा होकर न चूभे।

यत् क्षुरेण मर्चयता सुतेजसा वप्ता वपसि केशश्मश्रु, शुभं मुखं, मा न आयुः प्र मोषीः (८।२।१७)— जो तू नापित स्वच्छता करनेवाले तेज धारवाले छुरेसे जो बालों और मूंछोंका मुण्डन करता है, उससे तेरा मुख सुन्दर होता है, पर तू हमारी आयुको नष्ट न करो।

यदश्नासि यत् पिबसि धान्यं कृष्याः पयः, यदाद्यं यदनाद्यं सर्वं ते अन्नं अविषं कृणोमि (८।२।१९)— जो तू खाता है, जो पीता है, कृषिसे धान्य खाता और दूध पीता है, वह खाद्य और पेय अर्थात् सब तेरा अन्न मैं विषरहित करता हूं।

अरायेभ्यो जिघत्सुभ्य इमं मे परि रक्षत (८।२।२०) — दुष्ट हिंसकोंसे इस मनुष्यकी सुरक्षा चारों ओरसे करो।

शतं तेऽयुतं हायनान् द्वे युगे त्रीणि चत्वारि कृण्मः (८।२।२१)— तेरी सौ वर्षकी आयु जिसमें दिन-रात्रका युगल, सर्दी-गर्मी-वृष्टि ये तीन काल और बाल्य-तारुण्य-वृद्ध और जराग्रस्तता ये चार अवस्थाएं तुझे सुखदायक हों।

शरदे त्वा हेमन्ताय वसन्ताय ग्रीष्माय परि दद्मसि, वर्षाणि तुभ्यं स्योनानि येषु वर्धन्त ओषधीः (८।२।२२)— तेरे लिये वसन्त, ग्रीष्म, शरद, हेमन्त ये ऋतु सुखदायी हों, जिनमें औषधियां बढती हैं वह वर्षा ऋतु भी सुखदायी हो।

मृत्युरीशे द्विपदां, मृत्युरीशे चतुष्पदां, तस्मात् त्वां मृत्योर्गोपतेः उद्भरामि, स मा बिभेः (८।२।२३)— द्विपाद और चतुष्पादोंपर मृत्युका स्वामित्व है, इस मृत्युसे तुझे मैं ऊपर उठाता हूं, वह तू मृत्युसे मत डर।

सोऽरिष्ट न मरिष्यसि, न मरिष्यसि, मा बिभेः (८।२।२४)— हे अहिंसित मनुष्य! तू नहीं मरेगा, नहीं मरेगा, डर मत।

न वै तत्र म्रियन्ते— वहां नहीं मरते (दीर्घ जीवन प्राप्त करते हैं।)

नो यन्त्यधमं तमः— हीन अन्धेरेमें भी नहीं जाते (सदा प्रकाशमें ही रहते हैं।)

सर्वो वै तत्र जीवति ··· यत्रेदं ब्रह्म क्रियते परिधिर्जीवनाय कम् (८।२।२५)— वहां सब जीवित रहते हैं ··· जहां यह ज्ञान और दीर्घ जीवनके लिये सुखदायी (यज्ञमार्गका अनुष्ठान) किया जाता है।

परि त्वा पातु समानेभ्योऽभिचारात् सबन्धुभ्यः (८।२।२६)— समान लोगोंसे और बांधवोंसे होनेवाली हिंसासे तेरा रक्षण होवे।

अमम्रिर्भवाऽमृतोऽतिजीवो, मा ते हासिषुरसवः शरीरम् — अमर बन, क्षीण न हो, दीर्घजीवी हो, तेरे प्राण तेरे शरीरको न छोडें।

ये मृत्यव एकशतं या नाष्ट्रा अतितार्याः, मुञ्चन्तु तस्मात् त्वां देवा (८।२।२७)— जो सौ मृत्यु

*

हैं, जो नाश करनेके हेतु हैं, उन मृत्युसे देव तुम्हारी मुक्ति करें।

अग्नेः शरीरमसि पारयिष्णु (८।२।२८)— तू दुःखसे पार करनेवाला अग्निका शरीर हो।

रक्षोहासि सपत्नहा— तू रोगकृमिका नाशक हो, शत्रुका नाश करनेवाला हो।

अमीवचातनः— तू रोगोंको दूर करनेवाला है।

इनसे छोटे सुभाषित अत्यंत उपयोगी कैसे बनते हैं वह देखिये—

दीर्घमायुः कृणोतु मे— मेरी आयु दीर्घ करे।

प्रत्याहर्ता ··· मृत्युमस्यत— इससे मृत्युको दूर करो।

अभिशस्तेरमुञ्चः— कुरोगोंसे बचाओ।

शतं जीव शरदः— सौ वर्ष जीवित रहे।

अपानः प्राणः पुनरा ताविताम्— अपान और प्राण पुनः यहां आवें।

मेमं प्राणो हासीत्— इसको प्राण न छोड़े।

न एनं स्वस्ति जरसे वहन्तु— वे इससे सुखपूर्वक वृद्ध अवस्थातक ले जांय

परा यक्ष्मं सुवामि ते— तेरे रोगको दूर करता हूं।

प्राणा अपाना इह ते रमन्तां— तेरे प्राण, अपान यहां रमें।

अयमस्तु पुरुषः सहासुना— प्राणके साथ यह पुरुष रहे।

इह प्राणः— यहां तेरा प्राण रहे।

इह आयुः— यहां तेरी आयु रहे।

इह ते मनः— यहां तेरा मन रहे।

उत्क्राम अतः— यहां उन्नत हो।

माव पत्थाः— मत गिर जा।

मृत्योः पड्वीशमवमुञ्चमानः— मृत्युका पाश छोड दे।

उद्यानं ते पुरुष— हे मनुष्य! तेरा ऊंचा उत्थान हो।

मा ते मनस्तत्र गात्— तेरा मन बुरे मार्गसे न जावे।

आरोह तमसः— अन्धकारसे ऊपर उठ।

ज्योतिरेहि— प्रकाशको प्राप्त कर।

भयं परस्तात्— दूरसे भय है।

अभयं ते अर्वाक्— तेरे समीप निर्भयता है।

तमो मोप गा— अंधकारको न प्राप्त हो।

जीवतां ज्योतिरभ्येहि— जीवितोंकी ज्योतिको प्राप्त हो।

वातात्प्राणं— वायुसे प्राण प्राप्त हो।

सूर्याच्चक्षुः— सूर्यसे आंख प्राप्त हो।

अयं जीवतु— यह जीवित रहे।

शर्म यच्छतं— सुख प्राप्त हो।

प्रतरमायुः— दीर्घ आयु हो।

जरसा शतहायनः— वृद्ध होकर सौ वर्ष जीवित रहे।

ब्रह्मास्मै वर्म कृण्मसि— ज्ञानका कवच इसके लिये करता हूं।

दीर्घमायुः स्वस्ति— सुखसे दीर्घ आयु हो।

यमदूतांश्चरतोऽप सेधामि सर्वान्— सब यमदूतोंको मैं दूर करता हूं।

अमृतः सजूरसः— तू अमर रहेगा।

अभि रक्षन्तु त्वापः— जल तेरा रक्षण करें।

वर्षाणि तुभ्यं स्योनानि— वर्ष तुम्हारे लिये कल्याणमय हों।

न मरिष्यसि मा बिभेः— तू मरेगा नहीं, मत डर।

अमम्रिर्भव— न मरनेवाला बन,

अमृतोऽसि जीवः— अमर और दीर्घजीवी हो।

इस तरह ये छोटे सुभाषित हैं। घरमें कोई बीमार हो, उसको उत्साह देनेके लिये ये सुभाषित अत्यंत उपयोगी हैं। रोगी स्वयं इनको बोले अथवा उनके लिये दूसरा कोई बोले। रोगी बिस्तरेपर पडे पडे 'दीर्घमायुः कृणोतु मे'— 'ईश्वर मेरी दीर्घ आयु करे।' ऐसा वारंवार बोलनेसे, ईश्वर सहायक होता है और उसके अन्दरकी प्राणशक्ति तेजोमयी होकर, वह नीरोग होकर रोगमुक्त होता है, अर्थात् दीर्घ आयु प्राप्त करता है। ऐसा अनुभव अनेक वार लिया है।

दूसरे लोग बोलनेवाले हों, तो रोगीके शरीरपरसे प्रेमसे अपना हाथ घुमाकर—

परा यक्ष्मं सुवामि ते— तेरा रोग मैं दूर करता हूं।

मेमं प्राणो हासीत्— इसको प्राण न छोडे।

जीवतां ज्योतिरभ्येहि— जीवितोंके तेजको प्राप्त हो।

ये मंत्र अथवा ऐसे भाववाले मंत्र बोले जांय, तो निःसंदेह उस रोगीको आरोग्य प्राप्त होता है। वाचक मंत्रके अर्थका विचार करें और विश्वप्रेममय अपना मन बनाकर इन मंत्रोंका प्रयोग करें। प्रयोग करनेके समय रोगीका

पास हो और प्रयोग करनेवालेका मन प्रेमसे भरा हो, तो सत्वर यश प्राप्त होता है।

पाठक इसका अनुभव लें। मनमें अविश्वास या उपहासका भाव न हो।

रक्षण

विश्वा अमीवाः प्रमुञ्चन् मानुषीभिः शिवाभिः परि पाहि नो गयम् (७।८१।१)— सब रोग दूर कर, और मानवी कल्याणोंके साथ हमारे घरका रक्षण कर।

सृकं संशाय, पविमिन्द्र तिग्मं, वि शत्रून् ताढि, वि मृधो नुदस्व (७।८१।२)— बाणको और वज्रको तीक्ष्ण कर, शत्रुओंको ताडन कर और हिंसकोंको भगा दे।

रक्षन्तु त्वाग्नयो ये अप्स्वन्तः (८।१।११)— जलोंमें रहनेवाले अग्नि तेरी रक्षा करें।

रक्षतु त्वा मनुष्या यमिन्धते— मनुष्य जिसको प्रदीप्त करते हैं वह अग्नि मेरी रक्षा करें।

वैश्वानरो रक्षतु त्वा जातवेदाः— विश्वका नेता जातवेद अग्नि तेरी रक्षा करें।

दिव्यस्त्वा मा प्र धाग् विद्युता सह— बिजलीके साथ दिव्य अग्नि तुझे न जलावे।

रक्षतु त्वा द्यौ रक्षतु पृथिवी सूर्यश्च त्वा रक्षतां चन्द्रमाश्च, अन्तरिक्षं रक्षतु देवहेत्याः (८।१।१२)— द्यु, अन्तरिक्ष, पृथिवी, सूर्य और चन्द्र तेरा रक्षण करें।

बोधश्च त्वा प्रतिबोधश्च रक्षतां (८।१।१३)— ज्ञान और विज्ञान तेरी रक्षा करें।

अस्वप्नश्च त्वानवद्राणश्च रक्षतां— स्फूर्ति और न भागना तेरी रक्षा करें।

गोपायंश्च त्वा जागृविश्च रक्षताम्— रक्षक और जागनेवाला तेरा रक्षण करें।

ते त्वा रक्षन्तु (८।१।१४)— वे तेरी रक्षा करें।

ते त्वा गोपायन्तु— वे तेरा पालन करें।

तेभ्यो नमः, तेभ्यः स्वाहा— उनको प्रणाम, उनके लिये अर्पण।

मा त्वा प्राणो बलं हासीत् (८।१।१५)— प्राण तेरे लिये बल न छोडे।

असुं तेऽनु ह्वयामसि— तेरे प्राणको अनुकूल करते हैं।

मा त्वा जम्भः संहनुर्मा तमो विदन् (८।१।१६)— विनाशक, घातक तथा अज्ञान तुझे प्राप्त न हों।

उत् त्वा मृत्योरोषधयः सोमराज्ञीरपीपरन् (८।१।१७)— सोमराज्यमें रहनेवाली औषधियां तेरी रक्षा करें।

इमं सहस्रवीर्येण मृत्योरुत्पारयामसि (८।१।१८)— हजारों सामर्थ्योंसे इसे हम मृत्युसे पार करते हैं।

उत् त्वा मृत्योरपीपरम् (८।१।१९)— मृत्युसे तुझे हम पार करते हैं।

सं धमन्तु वयोधसः— आयुका धारण करनेवाले (प्राण) तुझे बलवान् बनावें।

मा त्वा व्यस्तकेश्यो३ मा त्वाघरुदो रुदन्— बालोंको खोलकर स्त्रियां तेरे लिये न रोवें (अर्थात् तेरी मृत्यु ही न हो)

आहार्षमविदं त्वा (८।१।२०)— मैंने तुझे लाया और प्राप्त किया है।

पुनरागाः पुनर्णवः— तू फिर आया और तू नया हुआ है।

सर्वाङ्ग सर्वं ते चक्षुः सर्वमायुश्च तेऽविदम्— हे संपूर्ण अंगवाले मानव! तेरी दृष्टि और पूर्ण आयु तुझे प्राप्त हुई है।

व्यवात् ते ज्योतिरभूदप त्वत् तमो अक्रमीत् (८।१।२१)— तेरेसे अन्धकार दूर हुआ और ज्योति प्रकाशने लगी है।

अप त्वन्मृत्युं निर्ऋतिं अप यक्ष्मं नि दध्मसि— तेरेसे मृत्यु, रोग और विपत्ति दूर हुई है।

रक्षोहणं वाजिनमा जिघर्मि मित्रं प्रथिष्ठमुप यामि शर्म (८।३।१)— राक्षसोंके नाश करनेवाले, बलवान् प्रसिद्ध मित्रको मैं प्राप्त करता हूं जिससे सुख प्राप्त करता हूं।

स नो दिवा स रिषः पातु नक्तम्— वह दिन-रात हमें शत्रुओंसे बचावे।

अयोदंष्ट्रो अर्चिषा यातुधानानुप स्पृश (८।३।२)— लोहेकी दाढोंसे युक्त होकर तेजसे यातना देनेवालोंको विनष्ट कर।

आ जिह्वया मूरदेवान् रभस्व— मूर्खताको देव माननेवालोंको अपनी जिह्वासे दूर कर।

क्रव्यादो वृष्ठ्वाऽपि घरखासन्— बलवान् बनकर अपने मुखमें मांस खानेवालोंको डाल (उनका नाश कर।)

सं धेह्यभि यातुधानान् (८।३।३)— यातना देनेवालोंका नाश कर।

त्वचं यातुधानस्य भिन्धि (८।३।४)— यातना देनेवालेकी चमड़ी काट डालो।

हिंस्राशनिर्हरसा हन्त्वेनम्— हिंसक बिजली इस दुष्टका नाश करे।

ताभिर्विध्य हृदये यातुधानान् प्रतीचो बाहून् प्रति भङ्ग्ध्येषाम् (८।३।६)— उन शस्त्रोंसे यातकोंको हृदयमें वींध और इनके बाहुओंको तोड।

उतारब्धान् स्पृणुहि जातवेद उतारेभाणां ऋष्टिभिर्यातुधानान् (८।३।७)— हे जातवेद! अच्छा कार्य करनेवालों और भविष्यमें अच्छा कार्य करनेवालोंकी सुरक्षा कर और शस्त्रोंसे यातना देनेवालोंको दूर कर।

पूर्वो नि जहि शोशुचानः— प्रथम प्रकाशित होकर शत्रुको पराभूत कर।

आमादः क्ष्विङ्कास्तमदन्त्वेनीः— कच्चा मांस खानेवाले पक्षी इस दुष्टोंको खावें।

नृचक्षसश्चक्षुषे रन्धयैनम् (८।३।८)— मनुष्योंके हितकी दृष्टिसे इस दुष्टको विनष्ट कर।

हिंस्रं रक्षांस्यभि शोशुचानं (८।३।९)— हिंसक राक्षसोंको चारों ओरसे तपाओ।

मा त्वा दभन् यातुधानाः— यातना देनेवाले दुष्ट तुझे न दबावें।

नृचक्षा रक्षः परि पश्य विक्षु (८।३।१०)— मानवोंका निरीक्षण करता हुआ तू राक्षसोंको देख।

तस्य त्रीणि प्रति शृणीह्यग्रा— उस दुष्टके तीनों भागोंका नाश कर।

त्रेधा मूलं यातुधानस्य वृश्च— यातना देनेवालेका मूल तीन स्थानोंमें काट।

त्रिर्यातुधानः प्रसितिं त एतु ऋतं यो अग्ने अनृतेन हन्ति (८।३।११)— जो असत्यसे सत्यका नाश करता है, वह दुष्ट तुम्हारे पाशमें तीनों बाजुओंसे आवे।

तया विध्य हृदये यातुधानान् (८।३।१२)— यातना देनेवाले दुष्टोंके हृदयमें वींध।

परा शृणीहि तपसा यातुधानान् (८।३।१३)— यातना देनेवालोंको दूर करके उनका नाश कर।

पराग्ने रक्षो हरसा शृणीहि— हे अग्ने! राक्षसोंको दूर करके नाश कर।

परार्चिषा मूरदेवान् छृणीहि— मूढोंको देव माननेवालोंको दूर करके नाश कर।

परासुतृपः शोशुचतः शृणीहि— दूसरोंके प्राणोंपर तृप्त होनेवाले शोक करनेवालोंको विनष्ट कर।

पराद्य देवा वृजिनं शृणन्तु (८।३।१४)— सब देव पापीको दूर करें।

प्रत्यगेनं शपथा यन्तु सृष्टाः— गालियां उन दुष्टोंके पास चली जाय।

वाचास्तेनं शरव ऋच्छन्तु मर्मन्— वाणीके चोरको शस्त्र मर्ममें काटें।

विश्वस्यैतु प्रसितिं यातुधानः— दुष्ट सबके बन्धनमें पडे।

यो पौरुषेयेन क्रविषा समंक्ते, यो अश्व्येन पशुना यातुधानः, यो अघ्न्याया भरति क्षीरमग्ने, तेषां शीर्षाणि हरसापि वृश्च (८।३।१५)— जो मनुष्यका मांस खाता है, घोडेका या पशुका मांस खाता है, जो दुष्ट गौका दूध चुराता है, हे अग्ने! इनके सिर अपने बलसे तोड।

विषं गवां यातुधाना भरन्तां, आवृश्चन्तामदितये दुरेवाः, परैणान् देवः सविता ददातु (८।३।१६)— जो दुष्ट गौको विष देते हैं, जो दुष्ट गौको काटते हैं उनको सविता देव दूर करें।

संवत्सरीणं पय उस्रियायाः तस्य माशीद् यातुधानो नृचक्षः (८।३।१७)— हे निरीक्षक देव! गौका वर्षभर प्राप्त होनेवाला दूध दुष्ट न पीवे।

पीयूषमग्ने यतमस्तितृप्सात् तं प्रत्यंचं अर्चिषा विध्य मर्मणि— जो दुष्ट गोदुग्धरूपी अमृत पीयेगा उसके मर्ममें तेजसे वींध।

सनादग्ने मृणसि यातुधानान् (८।३।१८)— हे अग्ने! तू सदा दुष्टोंका नाश करता है।

न त्वा रक्षांसि पृतनासु जिग्युः— राक्षस तुझे युद्धमें पराभूत कर नहीं सकते

सहमूराननु दह क्रव्यादः— मूढोंके साथ मांसभक्षकोंको जला दे।

मा ते रेष्या सुक्षत दैव्यायाः— तेरे दिव्य हथियारसे कोई दुष्ट न छूटे।

त्वं नो अग्ने अधरादुदक्तस्त्वं पश्चादुत रक्षा पुरस्तात् (८।३।१९)— हे अग्ने! नीचेसे, ऊपरसे, पीछेसे और आगेसे हमारी रक्षा कर।

प्रति त्ये ते अजरासस्तपिष्ठा अघशंसं शोशुचतो दहन्तु— वे तेरे तपानेवाले किरण पापीको जला देवें।

कविः काव्येन परि पाह्यग्ने (८।३।२०)— हे अग्ने! अपने काव्यसे तू ज्ञानी हमारी रक्षा कर।

सखा सखायं, अजरो जरिम्णे अग्ने मर्ता अमर्त्यस्त्वं नः— तू मित्र होकर हम मित्रोंको, तू जरारहित हम जीर्ण होनेवालोंको, तू अमर हम मर्त्योंको सुरक्षित रख।

विषेण भंगुरावतः प्रति स्म रक्षसो जहि (८।३।२३) — विषसे नाश करनेवाले दुष्टोंका नाश कर।

प्राग्नेर्यातुधानानां सहते तुरेवाः (८।३।२४)— राक्षसोंके कपट आयोजनाको वह पराभूत करता है।

शिशीते शृंगे रक्षोभ्यो विनिक्षे— राक्षसोंके नाशके लिये अपने सींगोंको तीक्ष्ण करता है।

ताभ्यां दुर्हार्दं अभिदासन्तं किमीदिनं प्रत्यञ्चमर्चिषा जातवेदो वि निक्ष्व (८।३।२५)— उन सींगोंसे दुष्ट हृदय, दास बनानेवाले, भूखे, दुष्टको सामनेसे विनष्ट कर।

ब्रह्मद्विषे क्रव्यादे घोरचक्षसे द्वेषो धत्तमनवायं किमीदिने (८।४।२) — ज्ञानके शत्रु, मांसभक्षक, घोर आंखवाले भूखेके लिये निरंतर द्वेष धारण कीजिये।

दुष्कृतो वव्रे अन्तरनारम्भणे तमसि प्र विध्यतम् (८।४।३)— दुराचारीको गाढ अन्धकारमें पकड कर वींधो।

यतो नैषां पुनरेकश्चनोदयत्— इन दुष्टोंमेंसे एक भी पुनः न उठे (ऐसा कर।)

प्रति स्मरेथां तुजयद्भिरेवैर्हतं द्रुहो रक्षसो भंगुरावतः (८।४।७) — वेगवान् वाहनोंसे दुष्टोंका पीछा करो। विनाशक तथा द्रोहकारी राक्षसोंका नाश करो।

दुष्कृते मा सुगं भूत्— दुष्ट कर्मकर्ताको सुखसे घूमना असंभव हो।

यो मा कदा चिदभिदासति द्रुहः— जो द्रोही कदाचित मुझे कष्ट देगा। उसको दूर कर।

यो मा पाकेन मनसा चरन्तं अभिचष्टे अनृतेभिर्वचोभिः, आप इव काशिना संगृभीता असन्नस्त्वासत इन्द्र वक्ता (८।४।८)— मैं शुद्ध अन्तःकरणसे चलनेपर भी जो असत्य भाषणसे मुझे झिडकता है, मुट्ठीमें पकडे जलके समान, वह असत्यभाषी नष्ट हो जावे।

यो नो रसं दिप्सति पित्वो अग्ने, अश्वानां गवां यस्तनूनां, रिपुः स्तेन स्तेयकृद् दभ्रमेतु, नि ष हीयतां तन्वा तना च। (८।४।१०)— जो हमारे घोडों, गौवोंके अन्नके रसको बिगाडता है, हानि पहुंचाता है, वह चोर, शत्रु नाशको प्राप्त होवे, वह शरीरसे पुत्रपौत्रोंसे हीन बने।

सुविज्ञानं चिकितुषे जनाय सच्चासच्च वचसी पस्पृधाते, तयोर्यत् सत्यं यतरद् ऋजीयस्तदित् सोमोऽवति हन्त्यासत् (८।४।१२)— ज्ञान प्राप्त करनेवाले मनुष्यके लिये यह उत्तम ज्ञान है, सत्य और असत्यकी स्पर्धा चल रही है। जो सत्य और सरल है उसका रक्षण सोम करता है और असत्यका नाश करता है।

न वा उ सोमो वृजिनं हिनोति (८।४।१३)— सोम कुटिलको कभी सहाय्य नहीं करता।

न क्षत्रियं मिथुया धारयन्तं— मिथ्या व्यवहार करनेवाले क्षत्रियको भी सोम सहाय्य नहीं करता।

हन्ति रक्षो, हन्त्यासद् वदन्तं— राक्षसोंका और असत्य बोलनेवालेका नाश करता है।

अद्या मुरीय यदि यातुधानो अस्मि (८।४।१५)— यदि मैं दुष्ट हूं तो आज ही मर जाऊं।

गृभायत रक्षसः सं पिनष्टन (८।४।१८)— राक्षसोंको पकडो और पीसो।

अभि जहि रक्षसः पर्वतेन (८।४।१९)— राक्षसोंको पर्वताश्मसे नष्ट कर।

वधं नूनं सृजदशनिं यातुमद्भ्यः (८।४।२०)— दुष्टों पर बिजली फेंको और उनका वध करो।

उलूकयातुं शुशुलूकयातुं जहि श्वयातुमुत कोकयातुं, सुपर्णयातुं उत गृध्रयातुं दृषदेव प्र मृण रक्ष इन्द्र (८।४।२२)— कामी, क्रोधी, लोभी, मोही, घमंडी, मत्सरीको पत्थरसे मार, हे इन्द्र ! हमारी रक्षा कर ।

इन्द्र जहि पुमांसं उत स्त्रियं मायया शाशदानां (८।४।२४)— हे इन्द्र ! तू पुरुषको वा स्त्रीको पराजित कर जो कपटका आचरण करता है ।

विग्रीवासो मूरदेवा ऋदन्तु— मूर्खोंके उपासक गर्दन-रहित होकर घूमें ।

अयं प्रतिसरो मणिर्वीरो वीराय बध्यते, वीर्यवान् सपत्नहा शूरवीरः परिपाणः सुमङ्गलः (८।५।१) —यह प्रतिसर मणि वीर्यवान्, वीर, शत्रुका नाश करनेवाला, संरक्षक, मंगल करनेवाला शूर है वह वीरके शरीरपर बांधा जाता है ।

अयं मणिः सपत्नहा सुवीरः सहस्वान् वाजी सहमान उग्रः प्रत्यक् कृत्या दूषयन्नेति वीरः (८।५।२)— यह मणि शत्रुनाशक, उत्तम वीर, शत्रुका पराभव करनेवाला, बलवान्, उग्र वीर हिंसक प्रयोगोंका नाश करता हुआ जाता है ।

अनेन (इन्द्रो)ऽजयत् प्रदिशश्चतस्रः (८।५।३)- इस मणिके प्रभावसे इन्द्रने चारों दिशाओंमें विजय प्राप्त किया ।

अनेनेन्द्रो मणिना वृत्रमहन्, अनेनासुरान् पराभावयन् मनीषी (८।५।३)— इस मणिके प्रभावसे इन्द्रने वृत्रको मारा और इसके प्रभावसे बुद्धिमान् इन्द्रने असुरोंका पराभव किया ।

अयं स्राक्त्यो मणिः प्रतीवर्तः प्रतिसरः, ओजस्वान् विमृधो वशी सोऽस्मान् पातु सर्वतः (८।५।४) —यह प्रगति करनेवाला मणि शत्रुपर आक्रमण करनेवाला बलवान् वशमें रखनेवाला शूर है वह सब ओरसे हमारा रक्षण करे ।

स्राक्त्येन मणिन ऋषिणेव मनीषिणा अजैषं सर्वाः पृतना वि मृधो हन्मि रक्षसः ([illegible])— [illegible] समान इस स्राक्त्य मणिसे मैं सब शत्रु सेनाओंको जीतता हूं और युद्धमें राक्षसोंका नाश करता हूं ।

असौ मणिं वर्म बध्नन्तु देवाः (८।५।१०)— इस मणिको सब देव कवच करके बांधें ।

सपत्नकर्शनो यो बिभर्तीमं मणिम् (८।५।१२)— जो इस मणिको धारण करता है वह शत्रुका नाश करता है ।

सर्वा दिशो वि राजति यो बिभर्तीमं मणिम् (८।५।१३) —जो इस मणिको धारण करता है वह सब दिशाओंमें विराजता है ।

य आमं मांसमदन्ति पौरुषेयं च ये क्रविः, गर्भान् खादन्ति केशवाः तानितो नाशयामसि (८।६।२३)— जो कच्चा मांस खाते हैं, जो मनुष्यका मांस खाते हैं, जो बालोंवाले गर्भोंको खाते हैं उनको यहांसे हटाता हूं ।

वैयाघ्रो मणिर्वीरुधां त्रायमाणोऽभिशस्तिपाः, अमीवाः सर्वा रक्षांस्यप हन्त्वधि दूरमस्मत् (८।७।१४)— व्याघ्रके समान यह शूर मणि औषधियोंसे बनाया, संरक्षक, विनाशसे बचाता है, यह सब रोगों और राक्षसोंको हमसे दूर ले जाकर उनका नाश करे ।

अथो कृणोमि भेषजं यथासच्छतहायनः (८।७।२१) मैं यह औषध बनाता हूं जिसके सेवनसे यह सौ वर्ष जीवित रहेगा ।

उत्वा हार्षं पञ्चशलादथो दशशलादुत, अथो यमस्य पड्वीशात् विश्वस्माद् देवकिल्बिषात् (८।७।२८)— पांच या दस रोगोंसे, यमपाशसे, सब देवोंके सम्बन्धमें किये पापोंसे तुझे ऊपर उठाता हूं ।

यथा हनाम सेनां अमित्राणां सहस्रशः (८।८।१)- शत्रुके सैकडों सैनिकोंको हम मारेंगे ।

अमित्रा हृत्स्वा दधतां भयम् (८।८।२)— शत्रु हृदयमें भय धारण करें ।

तेनाभिधाय दस्यूनां शक्रः सेनामपावपत् (८।८।५) इन्द्रने शत्रुकी सेनाको पकडकर भगाया ।

बृहद्धि जालं बृहतः शक्रस्य वाजिनीवतः, तेन शत्रून् अभि सर्वान् न्युब्ज, यथा न मुच्यातै कतमश्चनैषाम् (८।८।६)— बडे सेनावाले समर्थ वीरका बडा जाल था, जिससे वह सब शत्रुओंको घेरता था, जिसमेंसे कोई शत्रु छूटता नहीं था ।

बृहत्ते जालं बृहत इन्द्र शूर सहस्रार्घस्य, शतवीर्यस्य, तेन शतं सहस्रं अयुतं न्यर्बुदं जघान शक्रो दस्यूनामभिधाय सेनया (८।८।७)— हे शूर इन्द्र ! तू सहस्र प्रकारसे पूज्य है और तेरे अन्दर सैकडों सामर्थ्य हैं, तेरा यह बडा जाल है, उससे सौ, हजार, दस हजार, लाख शत्रुओंको अपनी सेनासे इन्द्रने मारा।

अथ पश्यन्तामेषामायुधानि, मा शकन् प्रतिधामिषुं, अथैषां बहु बिभ्यतां इषवो घ्नन्तु मर्मणि (८।८।२०)— इन शत्रुओंके शस्त्र गिरें, वे हमारे बाणोंको न सह सकें, इन डरनेवाले शत्रुके मर्मोंपर हमारे बाण आघात करें।

इतो जय, इतो विजय, संजय, जय (८।८।२४)— यहां जय प्राप्त कर, यहांसे विजय कर, मिलकर जय प्राप्त कर, जय प्राप्त कर।

विश्वा अमीवाः प्रमुञ्चन्— सब रोग दूर हों।
वैश्वानरो रक्षतु त्वा— विश्वका नेता तेरी रक्षा करे।
प्रतिबोधश्च रक्षतां— विज्ञान तेरा रक्षण करें।
जागृविश्च रक्षतां— जागनेवाला तेरा रक्षण करें।
आहार्षं त्वा— (मृत्युसे) तुझे वापस लाया है।
सर्वमायुश्च तेऽविदं— तुझे पूर्ण आयु प्राप्त हुई है।
अप त्वन्मृत्युं ... निरधमसि— तेरेसे मृत्यु दूर हुई है।
निजहि शोशुचानः- प्रकाशित होकर शत्रुका पराजय कर।
रक्षसो जहि— राक्षसोंको पराभूत कर।
अयं मणिः सपत्नहा— यह मणि शत्रुनाशक है।

इस प्रकार छोटे सुभाषित होते हैं। छोटे ही सुभाषित बोलने चाहिये यह बात नहीं है ; बडे बडे मन्त्र भी बोले जा सकते हैं। अपने पास समय कितना है, रोगीके मनकी अवस्था कैसी है, उसके घरवाले मनकी किस स्थितिमें हैं, इन सबका विचार करके सम्पूर्ण मन्त्र बोलना या मन्त्रका भाग बोलना इसका निश्चय करना योग्य है। जिस समय घरके लोग मनसे बलवान् हैं, रोगीमें भी उत्साह है, ऐसी अनुकूल परिस्थितिमें पूर्ण मन्त्र बोल सकते हैं। पर जिस समय घरके लोग घबराये हैं, रोगी भी बेचैन है, ऐसी अवस्थामें छोटे सुभाषितोंका उपयोग करना उत्तम है। समय देखकर मन्त्रचिकित्साका प्रयोग करना योग्य है।

धन

धाता दधातु नो रयिं ईशानो जगतस्पतिः (७।१७।१)— जगत्का धारणकर्ता जगत्का पालक ईश्वर हमें धन देवे।

स नः पूर्णेन यच्छतु— वह ईश्वर हमें पूर्ण रीतिसे धन देवे।

धाता दधातु दाशुषे प्राचीं जीवातुमक्षिताम् (७।१७।२) सबका धारणकर्ता ईश्वर दाताके लिये प्राप्त करने योग्य अक्षय जीवनशक्ति देवे।

वयं देवस्य धीमहि सुमतिं विश्वराधसः— हम संपूर्ण धनोंके स्वामी प्रभुकी उत्तम मतिको धारण करते हैं।

धाता विश्वा वार्या दधातु प्रजाकामाय दाशुषे दुरोणे (७।१७।३)— विश्वका धारक ईश्वर उसके घरमें भरपूर धन देवे जो प्रजाका हित करनेके लिये दान देता है।

तस्मै देवा अमृतं सं व्ययन्तु विश्वे— उसको सब देव अमृत देवें।

यजमानाय द्रविणं दधातु (७।१७।४)— प्रभु यज्ञकर्ताको धन देवें।

अनु मन्यतामनुमन्यमानः प्रजावन्तं रयिं अक्षीयमाणम् (७।२१।१)— सन्तानके साथ न क्षीण होनेवाला धन हमें मिले।

तस्य वयं हेडसि मापि भूम— उस प्रभुके कोपमें हम क्षीण न हों।

सुमृडीके अस्य सुमतौ स्याम— उस प्रभुकी सुमति और उत्तम कृतिमें हम रहें।

रयिं नो धेहि सुभगे सुवीरम् (७।२१।४)— हे सुभगे ! उत्तम वीर पुत्रोंके साथ हमें धन दो।

तदस्मभ्यं सविता सत्यधर्मा प्रजापतिरनुमतिर्नि यच्छात् (७।२१।५) — वह धन हमें सत्यधर्मा प्रजापालक जगत् स्रष्टा अनुकूल मतिसे देवे।

सा नो रयिं विश्ववारं नि यच्छात् (७।४२।१)—वह हमें सबके स्वीकारने योग्य धन देवे।

ददातु वीरं शतदायमुक्थ्यम्— सैकडों दान करनेवाले प्रशंसनीय वीर पुत्रको देवे।

रायस्पोषं चिकितुषी दधातु (७।४९।२)— वह ज्ञान वाली हमें धन और पोषण देवे।

सुमतयः सुपेशसो याभिर्ददासि दाशुषे वसूनि (७।५०।२)— उत्तम बुद्धियां सुन्दर हैं, जो तुम दाताको धन देती हैं।

तुराणामतुराणां विशां अवर्जुषीणां, समैतु विश्वतो भगो अन्तर्हस्तं कृतं मम (७।५२।२)— त्वरासे कर्म करनेवालों तथा सुस्त मनुष्योंका तथा बुराईको दूर न करनेवालोंका जो धन है वह सब इकट्ठा होकर मेरे हाथमें आवे।

वयं जयेम त्वया युजा (७।५२।४)— हम तेरे साथ रहकर जय करेंगे।

वृतमस्माकमंशं उद्वा भरे भरे— हरएक युद्धमें हमारे कार्यभागकी रक्षा कर।

अस्मभ्यमिन्द्र वरीयः सुगं कृधि (७।५२।४)— हमारे लिये श्रेष्ठ स्थान सुखसे प्राप्त होने योग्य कर।

प्र शत्रूणां वृष्ण्या रुज— शत्रुओंके बलोंको तोड।

यो देवकामो न धनं रुणद्धि समित् तं रायः सृजति स्वधाभिः (७।५२।६)— जो देवकी उपासना करनेवाला अपने पास धनको रोकता नहीं उनके पास अनेक धन अनेक शक्तियोंके साथ इकट्ठे होते हैं।

वयं राजसु प्रथमा धनान्यरिष्टासो वृजनीभिर्जयेम (७।५२।७)— हम सब राजाओंमें पहिले होकर, विनाशको न प्राप्त होकर, निजशक्तियोंसे धनोंको जीतेंगे।

कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः (७।५२।८)— पुरुषार्थ मेरे दाहिने हाथमें है और बायें हाथमें जय रखा है।

गोजित् भूयासमश्वजित् धनंजयो हिरण्यजित्— मैं गौवें, घोडे, धन और सुवर्णको जीतनेवाला होऊंगा।

इस विश्वमें सुखसे रहना है तो धन अवश्य चाहिये। धन बुरा नहीं है। धनका दुरुपयोग करनेसे धन बुरा कहलाता है, इसलिये वेदमें धनको प्राप्त करनेका उपदेश है। इसमें गौ, घोडे, रथ, घर, पुत्र आदि सब आते हैं। जिससे ... प्राप्त होता है वह धन है। जिसके प्राप्त होनेसे मनुष्यको ऐसा मालूम हो कि मैं धन्य हुआ हूं वह धन है। ऐसा धन मनुष्य चाहता है। वह मिले ऐसा इन सुभाषितोंमें कहा है।

अतिथि-सत्कार

यो विद्यात् ब्रह्म प्रत्यक्षं, परूंषि यस्य संभारा, ऋचो यस्यानूक्यं, सामानि यस्य लोमानि, यजुर्हृदयमुच्यते (९।६।१)— जो प्रत्यक्ष ब्रह्मको जानता है, उसके अवयव यज्ञसामग्री, ऋचाएं रीढ, साम लोम और यजु हृदय है ऐसा कहते हैं।

इष्टं च वा एष पूर्तं च गृहाणामश्नाति, यः पूर्वोऽतिथेरश्नाति (९।६।३१)— जो अतिथिके पूर्व भोजन करता है वह उन घरोंका इष्ट पूर्त ही खाता है।

पयश्च वा एष रसं च ... ऊर्जां च वा एष स्फातिं च, ... प्रजां च वा एष पशूंश्च, ... कीर्तिं च वा एष यशश्च, ... श्रियं च वा एष संविदं च गृहाणामश्नाति यः पूर्वोऽतिथेरश्नाति (९।६।३२-३६)— दूध और रस, अन्न और समृद्धि, प्रजा और पशु, कीर्ति और यश, श्री और संज्ञान वह खाता है, जो अतिथिके पूर्व भोजन करता है।

एषा वा अतिथिर्यच्छ्रोत्रियः, तस्मात् पूर्वो नाश्नीयात्, अशितावत्यतिथावश्नीयात् (९।६।३७-३८)— अतिथि श्रोत्रिय है, इस कारण उसके पूर्व भोजन करना नहीं चाहिये, अतिथिका भोजन होनेपर ही स्वयं भोजन करें।

यज्ञ

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः (७।५।१)— देवोंने यज्ञसे यज्ञपुरुषकी पूजा की।

तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्— वे धर्म उत्तम थे।

ते ह नाकं महिमानः सचन्त— वे महत्व प्राप्त करके सुखमय स्वर्गलोकको प्राप्त हुए।

यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः— जहां पूर्वकालके साधना करनेवाले जाकर रहे थे।

अन्वद्य नोऽनुमतिर्यज्ञं देवेषु मन्यताम् (७।२१।१)— आज हमारी अनुमति देवोंमें पहुंचे ऐसा यज्ञ करनेके लिये मिले।

सरस्वती

यस्ते स्तनः शशयुः, यो मयोभूः सुम्नयुः सुहवः यः सदत्रः । येन विश्वा पुष्यसि वार्याणि सरस्वति तमिह धातवे कः । (७।११।१)— हे सरस्वति देवी ! जो तेरा स्तन शान्ति देनेवाला, सुख देनेवाला, मनको शुभ करनेवाला, पुष्टि देनेवाला अतएव प्रार्थना करने योग्य है, जिससे तू सब वरणीय पदार्थोंकी पुष्टि करती है, उसको यहां हमारी पुष्टिके लिये हमारी ओर कर ।

अध्वो देवः केतुर्विश्वमाभूषतीदम् (७।१२।१)— तुम्हारा मार्गदर्शक दिव्य ध्वज इस सब विश्वको सुभूषित करता है ।

मातृभाषा

इहैवास्माँ अनु वस्तां व्रतेन यस्याः पदे पुनते देवयन्तः (७।२८।१)— मातृभाषा हमारे पास रहे, जो अपने व्रतसे देवत् समान आचरण करनेवालोंको पवित्र करती है ।

मातृभूमि

अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षं (७।७।१)— मातृभूमि हमारा स्वर्ग है, मातृभूमि अन्तरिक्षलोक है ।

अदितिर्माता स पिता स पुत्रः— मातृभूमि ही माता, पिता और पुत्र है ।

विश्वे देवा अदितिः— मातृभूमि ही सब देव हैं ।

पञ्च जना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वं— ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और निषाद यही मातृभूमि है, जो भूतकालमें हुआ और जो भविष्यमें होगा वह सब (अर्थात् जो वर्तमानकालमें है) वह सब मातृभूमि ही के लिये है । (अदिति- जो अन्न देती है । वह मातृभूमि है ।)

महीमू षु मातरं सुव्रतानां, ऋतस्य पत्नीं, अवसे हवामहे (७।७।२)— मातृभूमि उत्तम व्रतधारियोंकी माता है, सत्यका पालन करनेवाली है, इसकी हम उत्तम प्रशंसा गाते हैं ।

तुविक्षत्रां अजरन्तीं उरूचीं सुशर्माणमदितिं सुप्रणीतिम्— बहुत क्षात्र तेजसे जिसकी सेवा होती है, यह कभी क्षीण नहीं होती, विशाल, सुख देनेवाली, अन्न देनेवाली और उत्तम योगक्षेम चलानेवाली मातृभूमि है ।

सुत्रामाणं पृथिवीं द्यामनेहसं (७।७।३)— उत्तम रक्षण करनेवाली, प्रकाशयुक्त, अहिंसक हमारी मातृभूमि है ।

दैवीं नावं स्वरित्रां अनागसो अस्रवन्तीं आरुहेमा स्वस्तये— यह दिव्य नौका कभी न चूनेवाली और उत्तम गति देनेवाले साधनोंसे युक्त है, इसपर अपने कल्याणके लिये हम चढें ।

वाजस्य नु प्रसवे मातरं महीं अदितिं नाम वचसा करामहे (७।७।४)— अन्नकी उत्पत्तिके लिये अन्न देनेवाली मातृभूमिकी हम अपनी वाणीसे प्रशंसा गाते हैं ।

सा नः शर्म त्रिवरूथं वि यच्छात्— वह मातृभूमि हमें तीन गुणा सुख हम सबको देवे ।

नैनान् मनसा परो अस्ति कश्चन (७।८।१)— इनसे मनसे अधिक योग्य कोई नहीं है ।

राष्ट्रसभा

सभा च मा समितिश्चावतां प्रजापतेर्दुहितरौ संविदाने (७।१३।१)— ग्रामसभा और राष्ट्रसमिति, प्रजापालक राजाकी ये दो पुत्रियां हैं, ये ज्ञान देनेवाली सभाएं मेरा (राजाका) रक्षण करें ।

येना संगच्छा उप मा स शिक्षात्— जिस सभासदसे मैं मिलूं वह मुझे (राज्यशासनविषयक) शिक्षण देवे ।

चारु वदानि पितरः संगतेषु— हे राष्ट्रके पितृस्थानीय सदस्यो ! मैं (राजा) सभाओंमें उत्तम भाषण करूंगा ।

विद्म ते सभे नाम नरिष्टा नाम वा असि (७।१३।२)— हे राष्ट्रसभे ! तेरा नाम अविनाशी भावका वाचक है यह मैं जानता हूं ।

ये ते के च सभासदस्ते मे सन्तु सवाचसः— जो तेरे सभासद हैं वे मेरे साथ (राजाके साथ) समान भावसे भाषण करनेवाले हों ।

एषामहं समासीनानां वर्चो विज्ञानमा ददे (७।१३।३)— इन सभामें बैठे इन सदस्योंसे मैं तेज और ज्ञान प्राप्त करता हूं ।

अस्या सर्वस्याः संसदो मामिन्द्र भगिनं कृणु— इस सभाका सहभागी है इन्द्र ! तू मुझे कर

यद्वो मनः परागतं यद्बद्धमिह वेह वा । तद्व आ वर्तयामसि मयि वो रमतां मनः (७।१२।४)— जो आपका मन दूर गया है, अथवा जो इस वा उस विषयमें लगा है, उस चित्तको मैं लौटाता हूं, तुम सबका मन मुझमें रमता रहे ।

विराड् वा इदमग्र आसीत् तस्या जातायाः सर्वमबिभेद्, इयमेवेदं भविष्यतीति (८।१०।१) — प्रथम राजविहीन अवस्था थी, उसको देखकर सब भयभीत हुए, यही अवस्था रहेगी ऐसा भय उनके मनमें उत्पन्न हुआ ।

सोदक्रामत् सा गार्हपत्ये न्यक्रामत् (८।१०।२)— वह राजविहीन प्रजाशक्ति उत्क्रान्त हुई और गृहपति संस्थामें परिणत हुई

सोदक्रामत् सा सभायां न्यक्रामत् (८।१०।८)— वह प्रजाशक्ति उत्क्रान्त हुई और वह ग्रामसभामें परिणत हुई ।

सोदक्रामत् सा समितौ न्यक्रामत् (८।१०।१०)— वह प्रजाशक्ति राष्ट्रसभामें परिणत हुई ।

सोदक्रामत् सामन्त्रणे न्यक्रामत् (८।१०।१२)— वह प्रजाशक्ति मंत्रीमंडलमें परिणत हुई ।

ज्ञान

संज्ञानं नः स्वेभिः संज्ञानमरणेभिः (७।५४।१)— हमें स्वजनोंके साथ और निम्न श्रेणीके लोगोंके साथ उत्तम ज्ञान प्राप्त हो ।

संज्ञानमश्विना युवमिहास्मासु नि यच्छतम्— हे अश्विनो ! तुम दोनों हमें उत्तम ज्ञान दो ।

सं जानामहै मनसा सं चिकित्वा (७।५४।२)- मनसे हम उत्तम ज्ञान प्राप्त करें, और ज्ञान होनेपर एक-मतसे रहें ।

मा युष्महि मनसा दैव्येन— दिव्य मनसे युक्त होकर आपसमें विरोध न करें ।

मा घोषा उत् स्थुर्बहुले विनिर्हते— बहुतोंका नाश होनेपर दुःखके शब्द न निकलें ।

सप्तऋषीनभ्यावर्ते, ते मे द्रविणं यच्छन्तु ते मे ब्राह्मणवर्चसम् (१०।५।३९)— सप्तऋषिकी मैं उपासना करता हूं, वे मुझे द्रव्य और ब्रह्मवर्चस देवे।

पोषण

पुष्टिं पुष्टपतिर्दधातु (७।२०।१)— सबको पुष्ट करनेवाला प्रभु मुझे पुष्टि देवे ।

सौभाग्य

बृहस्पते सवितर्वर्धयैनं (७।१७।१)— हे ज्ञानपते देव ! हे सबके उत्पादक ! इसको बढा ।

ज्योतयैनं महते सौभगाय— बडे सौभाग्यके लिये इसको प्रकाशित कर ।

संशितं चित् संतरं सं शिशाधि— सुबुद्धिवालेको अधिक उत्तम बननेके लिये सुशिक्षित कर ।

विश्व एनमनु मदन्तु देवाः— सब देव इसका अनुमोदन करें ।

इदं राष्ट्रं पिपृहि सौभगाय विश्व एनमनु मदन्तु देवाः (७।३५।१)— इस राष्ट्रको सौभाग्यसे युक्त कर और सब देव इसके सहायक हों ।

अन्तः कृणुष्व मां हृदि मन इन्नौ सहासति (७।३७।१) —हे स्त्री ! मुझे अपने हृदयमें रख और हम दोनोंका मन साथ मिला रहे ।

ये ते पन्थानोऽव दिवो येभिर्विश्वमैरयः, तेभिः सुम्नया धेहि नो वसो (७।५७।१)— जो तेरे स्वर्गके मार्ग हैं, जिनसे तू सब विश्वको चलाते हो, उनसे हमें, हे वसो ! सुखसे युक्त कर ।

एकता

सं जानानाः सं मनसः सयोनयः (७।२०।१)— एक जातीके लोग उत्तम ज्ञानसे संपन्न होकर एक विचारके हों ।

आरोग्य

वि वृहतं विषूचीममीवा या नो गयमाविवेश (७।४२।१)— जो रोग घरमें प्रविष्ट हुआ है उस फैलनेवाले रोगको दूर करो ।

बाधेथां दूरं निर्ऋतिं पराचैः— दुर्गतिको दूर ही रोक दो।

कृतं चिदेनः प्र मुमुक्तमस्मत्— किया हुआ पाप हमसे छुडाओ ।

युवमेतान्यस्मद् विश्वा तनूषु भेषजानि धत्तम् (७।४३।२)— तुम हमारे शरीरोंमें सब औषधोंको रखो।

अव स्यतं मुञ्चतं यन्नो असत् तनूषु बद्धं कृतमेनो अस्मत्— हमारे शरीरोंमें जो पाप है उससे हमारा बचाव करो। हमारे किये हुए पापसे हमारी मुक्तता करो।

तप

यदग्ने तपसा तप उप तप्यामहे तपः प्रियाः श्रुतस्य भूयास्म, आयुष्मन्तः सुमेधसः (७।६३।१)— हे अग्ने! हम तप करते हैं, इससे हम ज्ञानके प्रिय और दीर्घायु और बुद्धिमान् बनेंगे।

कल्याण

भद्रादधि श्रेयः प्रेहि (७।९।१)— कल्याणसे अधिक श्रेय प्राप्त कर।

बृहस्पतिः पुरएता ते अस्तु— ज्ञानी तेरा मार्गदर्शक हो।

अथेममस्या वर आ पृथिव्या— इस मातृभूमीपर वीरको रखो।

आरे शत्रुं कृणुहि सर्ववीरं— सब वीरोंके समुदायको शत्रुसे दूर कर।

शं च नस्कृधि (७।२१।२)— हमारा कल्याण कर।

प्रजां देवि ररास्व नः— हे देवि! हमारे लिये प्रजा दे दो।

सं माग्ने वर्चसा सृज, सं प्रजया, समायुषा (९।१।१५)— हे अग्ने! मुझे तेजके साथ, प्रजाके साथ और दीर्घायुके साथ युक्त कर।

ब्राह्मणश्च राजा च धेनुश्चानड्वांश्च व्रीहिश्च यवश्च मधु सप्तमम्। मधुमान् भवति, मधुमदस्याहार्यं भवति, मधुमतो लोकान् जयति, य एवं वेद (९।१।२२-२३)— ब्राह्मण, राजा, गौ, बैल, चावल, जौ और मध ये सात मधु हैं। जो इनका महत्त्व जानता है वह मीठा होता है, वह मीठे लोकोंको जीतता है।

स नः पितेव पुत्रेभ्यः श्रेयः श्रेयश्चिकित्सतु (१०।६।५) —वह जैसा पुत्रोंके लिये कल्याण करता है वैसा हमारा कल्याण करे

सो अस्मै बलमिद् दुहे भूयोभूयः श्वः श्वः, तेन त्वं द्विषतो जहि (१०।६।७)— वह इसे बहुत बल प्रतिदिन देवे जिससे तू द्वेष करनेवालोंका पराभव कर।

तं बिभ्रच्चन्द्रमा मणिमसुराणां पुरोऽजयद् दानवानां हिरण्ययीः (१०।६।१०)— उस मणिको चन्द्रमाने धारण किया जिसे वह दानवोंके सुवर्णमय नगरोंको जीत सका।

विजय

यो नो द्वेषत्पृथिवि यः पृतन्याद्... यो नो द्वेष्टयधरः सस्पदीष्ट यमु द्विष्मः तमु प्राणो जहातु (७।३१।१)— जो हमारा द्वेष करता है वह नीचे गिरे, जिसका हम द्वेष करते हैं उसको प्राण छोड देवे।

अग्ने जातान् प्र णुदा मे सपत्नान् (७।३५।१)— हे अग्ने! मेरे शत्रु हुए हैं उनको दूर कर।

प्रत्यजातान् जातवेदो नुदस्व— प्रकट न हुए अर्थात् जो गुप्त शत्रु हैं उनको भी दूर कर।

अधस्पदं कृणुष्व ये पृतन्यवः— जो सैन्य भेजते हैं उनको नीचे कर।

अनागसस्ते वयं अदितये स्याम— निष्पाप होकर अदीनताके अनुगामी हम हों।

उभा जिग्यथुः, न परा जयेथे, न परा जिग्ये कतरश्चनैनयोः (७।४५।१)— दोनों जीतते हैं, कभी पराजित नहीं होते। इनमेंसे एक भी पराजित नहीं होता।

सत्यमिन्द्रो वृषभो रथीव पत्तीनजयत् पुरोहितः (७।६४।१)— वह उत्तम पालक महाबलवान् रथमें बैठनेवाले वीरके समान अग्रगामी होकर शत्रुसैनिकोंको जीतता है।

अधस्पदं कृणुतां ये पृतन्यवः— जो सेनासे चढाई करते हैं वे नीचे गिर जांय।

स नः पर्षदति दुर्गाणि विश्वा (७।६५।१)— वह सब दुःखोंके पार ले जावे।

यातुधाना निर्ऋतिरादु रक्षस्ते अस्य घ्नन्तु अनृतेन सत्यम् (७।७३।२)— यातना देनेवाले, विपत्ति और राक्षस असत्यसे सत्यका नाश करते हैं।

ओजो दासस्य दम्भय (७।९०।१) — हिंसकके बलको दबाओ।

पर्यावर्ते दुष्वप्न्यात् पापात्स्वप्न्यादभूत्याः (७।१०५।१) दुष्ट तथा विपत्तिकारक स्वप्नसे मैं दूर होता हूं।

ब्रह्माहमन्तरं कृण्वे परा स्वप्नमुखाः शुचः— ब्रह्मको मैं बीचमें रखता हूं जिससे शोक बढानेवाले स्वप्न दूर हों।

मेधाय्यूर्ध्वस्तिष्ठन् मा मा हिंसिषुरीश्वराः (७।१०७।१) ऊंचा खड़ा होकर मैं निरीक्षण करता हूं, अधिकारी मेरा नाश न करें।

जयन्तं त्वानु देवा मदन्तु (७।१२३।१)— विजय पानेवाले तुझे देखकर देव आनन्द करें।

जिष्णवे योगाय ब्रह्मयोगैर्वो युनज्मि (१०।५।१)— विजय प्राप्तिके योगके लिये ज्ञानयोगोंसे मैं आपको युक्त करता हूं।

जिष्णवे योगाय क्षत्रयोगैर्वो युनज्मि (१०।५।२)- विजय प्राप्तिके योगके लिये मैं आपको क्षत्रियोचित योगोंसे युक्त करता हूं।

तेन तमभ्यतिसृजामो योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः (१०।५।१५)— हम उसको दूर करते हैं जो हमारा द्वेष करता है और जिसका हम द्वेष करते हैं।

तं वधेयं तं स्तृषीय अनेन ब्रह्मणा, अनेन कर्मणा, अनया मेन्या (१०।५।३५)— इस ज्ञानसे, इस कर्मसे, इस इच्छासे उस शत्रुका वध करें, उसका नाश करें।

शत्रुके तेजका नाश

आग्नौ च तुला न अर्दयतां वर्च आ ददे (७।१४।१) — द्वेष करनेवाले शत्रुओंका तेज मैं लेता हूं।

यावन्तो मा सपत्नानां आयान्तं प्रतिपश्यथ। उद्यन्सूर्य इव सुप्तानां द्विषतां वर्च आ ददे (...)— जितने शत्रु मुझे आते हुए देखते हैं, उन सब शत्रुओंका तेज मैं लेता हूं जैसा उगता सूर्य लेता है।

नीचैः सपत्नान् मम पादय (९।२।१)— मेरे शत्रुओंसे नीचे गिरा दे।

अध्यक्षो वाजी मम काम उग्रः कृणोतु मह्यमसपत्नमेव (९।२।५)— प्रतापी बलवान् काम (इच्छा) मुझे शत्रुरहित करे।

जहि त्वं काम मम ये सपत्ना अन्धा तमांस्यव पादयैनान (९।२।१०)— हे काम! मेरे शत्रुओंपर तू विजय कर और उनको घने अन्धेरेमें गिरा दो।

निरिन्द्रिया अरसाः सन्तु सर्वे मा ते जीविषुः कतमच्चनाहः (९।२।१०) मेरे शत्रु नीरस और इन्द्रिय रहित हों और वे एक दिन भी जीवित न रहें।

मह्यं नमन्तां प्रदिशश्चतस्रः (९।२।११)— चारों दिशाएं मुझे नमें।

मह्यं षडुर्वीर्घृतमा वहन्तु— छः भूमियां मुझे घी लाकर देवें।

तेऽधराञ्चः प्र प्लवतां छिन्ना नौरिव बंधनात् (९।२।१२)— नौका बंधनसे छूटनेपर जैसी डूबती है वैसे वे शत्रु नीचे गिरें।

न सायकप्रणुत्तानां पुनरस्ति निवर्तनम्— बाणोंसे भगाये शत्रुओंका फिरसे आक्रमण नहीं होता।

असर्ववीरश्चरतु प्रणुत्तो द्वेष्यः (९।२।१४)— शत्रु भगाया हुआ वीरोंसे रहित होकर भटकता रहे।

नीचैः सपत्नान् नुदतां मे सहस्वान् (९।२।१५)— मेरा सामर्थ्यवान् सहायक मेरे शत्रुओंको नीचे प्रेरित करे।

त्वं काम मम ये सपत्नास्तानस्माल्लोकात् प्र णुदस्व दूरम् (९।२।१७)— हे काम! मेरे शत्रुओंको इस लोकसे दूर भगा दो।

अयं मे वरणो मणिः सपत्नक्षयणो वृषा (१०।३।१) — यह मेरा वरणमणि बलवान् और शत्रुका नाश करनेवाला है।

तेना रभस्व त्वं शत्रून् प्र मृणीहि दुरस्यतः— इससे तू शत्रुका नाश कर और दुष्टोंका घात कर।

अवारयन्त वरणेन देवा अभ्याचारमसुराणां श्वः श्वः (१०।३।२)— इस वरणमणिसे देवोंने रोज रोज होनेवाले अत्याचार दूर किये।

अयं मणिर्विश्वभेषजः (१०।३।३)— यह मणि सब औषधोंसे बनाया है।

स ते शत्रूनधरान् पादयाति— वह तेरे शत्रुओंको नीचे गिराता है।

पूर्वस्तान् दम्नुहि ये त्वा द्विषन्ति— जो तेरा द्वेष करते हैं उनको दबा दे।

पौरुषेयाद्यं भयात्, अयं त्वा सर्वस्मात् पापात् वरणो वारयिष्यते (१०।३।७) यह वरणमणि मानवी भयसे तथा सब पापसे तुझे दूर करेगा।

इमं बिभर्मि वरणमायुष्मान् शतशारदः। स मे राष्ट्रं च क्षत्रं च पशूनोजश्च मे दधत् (१०।३।१२) — इस वरणमणिको धारण करता हूं, इससे मैं दीर्घायु और सौ वर्ष जीवित रहनेवाला होऊं। यह मेरे लिये राष्ट्र क्षात्रबल, पशु और ओज धारण करे।

एवा सपत्नान् मे भंग्धि पूर्वान् जातॉं उतापरान् (१०।३।१३)— इस तरह तू मेरे पहिले या पश्चात् होनेवाले शत्रुओंका नाश कर।

परा शृणीहि यातुधानान् (१०।५।४९)— यातना देनेवालोंको दूर कर।

पराग्ने रक्षो हरसा शृणीहि— हे अग्ने ! अपने तेजसे राक्षसोंको दूर कर।

परार्चिषा मूरदेवान् शृणीहि— मूर्खोंको देव माननेवालोंको अपने तेजसे दूर कर।

परासुतृपः शोशुचतः शृणीहि— दूसरोंके प्राणोंमें तृप्त होनेवाले दुष्टोंको शोकमय स्थितिमें दूर भगा दो।

अपामस्मै वज्रं प्र हरामि चतुर्भृष्टिं शीर्षभिद्याय विद्वान्, सो अस्यांगानि प्र शृणातु सर्वा तन्मे देवा अनु जानन्तु विश्वे (१०।५।५०)— इस शत्रु पर मैं तीक्ष्ण वज्र फेंकता हूं, उसका सिर तोडनेके लिये, वह शस्त्र उसके सब अंग तोडे, यह मेरा कार्य सब देव अनुमोदित करें।

अरातीयोर्भ्रातृव्यस्य दुर्हार्दो द्विषतः शिरः, अपि वृश्चाम्योजसा (१०।६।१)— शत्रु, वैरी, दुष्ट हृदयका सिर मैं वेगसे काटता हूं।

तं देवा बिभ्रतो मणिं सर्वांल्लोकान् युधाऽजयन् (१०।६।१६)— उस मणिको देवोंने धारण किया जिससे वे युद्धमें लोकोंको जीत सके।

तमिमं देवता मणिं मह्यं ददतु पुष्टये, अभिभुं क्षत्रवर्धनं सपत्नदंभनं मणिम् (१०।६।२९)— सब देवता इस मणिको पुष्टिके लिये मुझे देवें, यह मणि शत्रुका पराभव करता, राष्ट्रका संवर्धन करता, शत्रुको दबाता है।

गोरूप

एतद्वै विश्वरूपं सर्वरूपं गोरूपम् (९।७।२५)— यह सब रूप, सब विश्वरूप गौका रूप है।

वशा द्यौर्वशा पृथिवी वशा विष्णुः प्रजापतिः। वशाया दुग्धमपिबन् साध्या वसवश्च ये (१०।१०।३०)— वशा गौ द्यौ, पृथिवी, विष्णु तथा प्रजापति है। साध्य और वसु इस गौका दूध पीते हैं।

वशाया दुग्धं पीत्वा साध्या वसवश्च ये। ते वै ब्रध्नस्य विष्टपि पयो अस्या उपासते (१०।१०।३१)— साध्य और वसु देव इस वशा गौका दूध पीकर स्वर्गके ऊपर रहकर इस गौके दूधकी उपासना करते हैं।

पाप

यदर्वाचीनं त्रैहायणादनृतं किं चोदिम, आपो मा तस्मात्सर्वस्माद्दुरितात् पान्त्वंहसः (१०।५।२२)— जो तीन वर्षोंके अन्दर मैंने असत्य भाषण किया होगा, उसके पापसे यह जल मुझे मुक्त करे।

माता-पिता

स वेद पुत्रः पितरं स मातरं (७।१।२)— वह अपने माता पिताको जानता है।

रोग-निवारण

ये अंगानि मदयन्ति यक्ष्मासो रोपणास्तव। यक्ष्माणां सर्वेषां विषं निरवोचमहं त्वत् (९।८।१९)— जो अंगोंको व्याकुल करते हैं, मद उत्पन्न करते इन रोगोंका विष मैं तुझसे दूर करता हूं।

विपत्ति

दौष्वप्न्यं दौर्जीवित्यं रक्षो अभ्वमराय्यः, दुर्णाम्नी

सर्वा दुर्णाम्ना अस्मान्नाशयामसि (७।२४।१)— दुष्ट स्वप्न, दुःखमय जीवित, हिंसकोंका उपद्रव, दारिद्र्य, विपत्ति, बुरे वचन ये सब विपत्तियां हमसे दूर हों, विनष्ट हों।

विश्व होना

स इदं विश्वमभवत् (७।१।२)— वह यह सब विश्व होता है।

स आभवत्— वह सर्वत्र होता है।

वेद

वेदः स्वस्तिः (७।२९।१) — वेद कल्याण करनेवाला है।

सत्य भाषण

ये वदन् ऋतानि (७।१।१)— जो सत्य बोलते हैं।

शिवास्त एका अशिवास्त एकाः सर्वा बिभर्षि सुमनस्यमानः (७।४४।१)— तुम्हारे एक प्रकारके शब्द कल्याण करनेवाले, और दूसरे शब्द अशुभ होते हैं। उत्तम मनवाला तू उन सबको धारण करता है।

सर्प

घनेन हन्मि वृश्चिकं अहिं दण्डेन आगतम् (१०।४।९)— हथौडेसे मैं बिच्छूको मारता हूं और सांपको दण्डेसे मारता हूं।

दंष्टारमन्वगाद् विषं, अहिरमृत (१०।४।२६)— दंश करनेवालेके पास विष गया और वह सांप मर गया।

इस तरह वेदके काण्ड ७ से १० तकके सुभाषित हैं। इनका योग्य उपयोग करके पाठक अपना लाभ करके देखें कि वेद किस तरह कल्याण करता है।

अथर्ववेद

का

सुबोध-भाष्य

[सप्तमं काण्डम्]

लेखक

म. म. डॉ. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, डी· लिट्·

विद्यामार्तण्ड, साहित्यवाचस्पति, गीतालंकार

द्वितीय वार

संवत् २०२२; शक १८८८; सन् १९६६

पारडी [जि. वलसाड]

*

* *

एक सौ एक शक्तियाँ।

एकशतं लक्ष्म्यो ३ मर्त्यस्य साकं तन्वा जनुषोऽधि जाताः।
तेषां पापिष्ठा निरितः प्रहिण्मः शिवा अस्मभ्यं जातवेदो नियच्छ॥

अथर्व. ७।११५।२

'एक सौ एक शक्तियाँ मनुष्यके शरीरके साथ उसके जन्मते ही उत्पन्न होती हैं। उनमें जो पापरूप शक्तियाँ हैं, उनको हम दूर करते हैं, और हे सर्वज्ञ प्रभो! कल्याणकारिणी शक्तियोंको हमें प्रदान कर।'

मुद्रक व प्रकाशक— वसन्त श्रीपाद सातवलेकर, स्वाध्यायमण्डल, भारतमुद्रणालय, पारडी (जि. बलसार)

अथर्ववेदका सुबोध भाष्य

सप्तम कांड

इस सप्तम काण्डके प्रथम सूक्तका देवता ' आत्मा ' है। सब देवताओंमें मुख्य देवता होनेसे यह आत्मा अत्यंत मंगलमय देवता है। वेदमंत्रोंमें सर्वत्र अनेक रूपसे इसी देवताका वर्णन है—

> सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति ।
> यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीमि ॥ कठ उ. १।२।१५

तथा—

> वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः ॥ भ. गी. १५।१५

अर्थात् ' सर्व वेदके मंत्र उसी आत्माका वर्णन करते हैं। ' वेदमें अनेक देवता भले ही हों, परंतु मुख्य विषय आत्माका वर्णन करना ही है। उसी मंगलमय आत्माका वर्णन इस काण्डके प्रथम सूक्तमें होनेसे यह सूक्त इस काण्डके प्रारंभमें मंगलाचरणरूप ही है। आत्मासे भिन्न और मंगलमय देवता कौनसा हो सकता है? सबसे अधिक मंगलमय देवता यही है।

इस काण्डमें एक अथवा दो मंत्रवाले सूक्तोंकी संख्या अधिक है। बहुधा किसी दूसरे काण्डमें इस प्रकार छोटे सूक्त नहीं हैं। यदि मंत्रसंख्याके क्रमसे सातों काण्डोंका क्रम लगाया जावे, तो इस प्रकार क्रम लग सकता है—

क्रम	काण्ड	सूक्तसंख्या	सूक्तप्रकृति		
१	७ वां काण्ड	[११८]	१ मंत्रवाले सूक्त	५६	हैं
			२ मंत्रवाले सूक्त	५२	हैं
२	६ ठा काण्ड	[१४२]	३ मंत्रवाले सूक्त	१२२	हैं
३	१ ला काण्ड	[३५]	४ मंत्रवाले सूक्त	३०	हैं
४	२ रा काण्ड	[३६]	५ मंत्रवाले सूक्त	२२	हैं
५	३ रा काण्ड	[३१]	६ मंत्रवाले सूक्त	१३	हैं
६	४ था काण्ड	[४०]	७ मंत्रवाले सूक्त	२१	हैं
७	५ वाँ काण्ड	[३१]	८ मंत्रवाले सूक्त	२	हैं

इस सप्तम काण्डमें कुल सूक्त ११८ हैं, परंतु दूसरी गिनतीसे १२३ भी हो सकते हैं। बीचमें कई सूक्त ऐसे हैं कि, जिनके प्रत्येकमें दो दो सूक्त माने हैं, इस कारण दूसरी गिनतीमें ५ सूक्त बढ जाते हैं। हमने ये दोनों गिनतियां सूक्त क्रमसंख्यामें बतायी हैं। अब इस काण्डकी मंत्रसंख्या देखिये—

१ मंत्रवाले सूक्त	५६	हैं और उनमें मंत्रसंख्या	५६	है
२ मंत्रवाले सूक्त	२६	उनमें मंत्रसंख्या	५२	है
३ मंत्रवाले सूक्त	१०	उनमें मंत्रसंख्या	३०	है
४ मंत्रवाले सूक्त	११	उनमें मंत्रसंख्या	४४	है
५ मंत्रवाले सूक्त	३	उनमें मंत्रसंख्या	१५	है
६ मंत्रवाले सूक्त	४	उनमें मंत्रसंख्या	२४	है
७ मंत्रवाले सूक्त	३	उनमें मंत्रसंख्या	२१	है
८ मंत्रवाले सूक्त	३	उनमें मंत्रसंख्या	२४	है
९ मंत्रवाले सूक्त	१	उनमें मंत्रसंख्या	९	है
१० मंत्रवाले सूक्त	१	उनमें मंत्रसंख्या	११	है
कुल सूक्तसंख्या	११८	कुल मंत्रसंख्या	२८६	

इन मंत्रोंका अनुवाकोंमें विभाग देखिये—

											कुलसंख्या
अनुवाक	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	= १०
सूक्तसंख्या	१३	९	१६	१३	८	१४	८	९	१२	१६	= ११८
मंत्रसंख्या	२८	२२	३१	३०	२५	४२	३१	२४	२१	३२	= २८६

इस सप्तम काण्डकी मंत्रसंख्या केवल २८६ अर्थात् चतुर्थ (३२४), पञ्चम (३७६), और षष्ठ (४५४) की अपेक्षा बहुत ही कम और प्रथम (२३०), द्वितीय (२०७), तृतीय (२३०), की अपेक्षा अधिक है।

अब इस काण्डके सूक्तोंके ऋषि-देवता-छन्द देखिये—

सूक्तोंके ऋषि--देवता--छन्द

सूक्त	मंत्रसंख्या	ऋषि	देवता	छन्द
प्रथमोऽनुवाकः। षोडशः प्रपाठकः।				
१	२	अथर्वा (ब्रह्मवर्चस्कामः)	आत्मा	१ त्रिष्टुप्, २ विराड् जगती
२	१	अथर्वा (ब्रह्मवर्चस्कामः)	आत्मा	१ त्रिष्टुप्
३	१	अथर्वा (ब्रह्मवर्चस्कामः)	आत्मा	१ त्रिष्टुप्
४	१	अथर्वा (ब्रह्मवर्चस्कामः)	वायुः	१ त्रिष्टुप्
५	५	अथर्वा (ब्रह्मवर्चस्कामः)	आत्मा	१ त्रिष्टुप्, ३ पंक्तिः; ४ अनुष्टुप्
६ (६,७)	४ (२+२)	अथर्वा (ब्रह्मवर्चस्कामः)	अदितिः	१ त्रिष्टुप् १ भुरिक्, ३–४ विराड् जगती
७ (८)	१	अथर्वा (ब्रह्मवर्चस्कामः)	अदितिः	आर्षी जगती
८ (९)	१	उपरिबभ्रवः	बृहस्पतिः	त्रिष्टुप्
९ (१०)	४	उपरिबभ्रवः	पूषा	१,२ त्रिष्टुप् ३ त्रिपदा आर्षी गायत्री, ४ अनुष्टुप्
१० (११)	१	शौनकः	सरस्वती	त्रिष्टुप्
११ (१२)	१	शौनकः	सरस्वती	त्रिष्टुप्
१२ (१३)	४	शौनकः	सभा। १,२ सरस्वती ३ इन्द्रः, ४ मंत्रोक्ताः	अनुष्टुप्

सूक्त	मंत्रसंख्या	ऋषि	देवता	छन्द
१३ (१४)	२	अथर्वा (द्विषोवर्चो-हर्तुकामः)	सोमः	अनुष्टुप्
द्वितीयोऽनुवाकः ।				
१४ (१५)	४	अथर्वा (द्विषोवर्चो-हर्तुकामः)	सविता	१,२ अनुष्टुप् । ३ त्रिष्टुप्; ४ जगती
१५ (१६)	१	भृगुः	सविता	त्रिष्टुप्
१६ (१७)	१	भृगुः	सविता	त्रिष्टुप्
१७ (१८)	४	भृगुः	बहुदैवत्यम्	त्रिष्टुप् १ त्रिपदार्षी गायत्री २ अनुष्टुप्, ३-४ त्रिष्टुप्
१८ (१९)	२	अथर्वा	पृथिवी, पर्जन्यः	१ चतुष्पाद् भुरिगुष्णिक् २ त्रिष्टुप्
१९ (२०)	१	ब्रह्मा	मंत्रोक्ता	जगती
२० (२१)	६	ब्रह्मा	अनुमतिः	१-२ अनुष्टुप्, ३ त्रिष्टुप् ४ भुरिक् ५-६ जगती ६ अतिशक्वरीगर्भा
२१ (२२)	१	ब्रह्मा	आत्मा	शक्वरी विराड्गर्भा जगती
२२ (२३)	२	ब्रह्मा	लिंगोक्ताः	१ द्विपदैकावसाना विराड् गायत्री, २ त्रिपदानुष्टुप्
तृतीयोऽनुवाकः ।				
२३ (२४)	१	यमः	दुःस्वप्ननाशनः	अनुष्टुप्
२४ (२५)	१	ब्रह्मा	सविता	त्रिष्टुप्
२५ (२६)	२	मेधातिथिः	विष्णुः	त्रिष्टुप्
२६ (२७)	८	मेधातिथिः	विष्णुः	१ त्रिष्टुप् २ त्रिपदा विराड् गायत्री ३ त्र्यवसाना षट्पदाविराट् शक्वरी, ४-७ गायत्री, ८ त्रिष्टुप्
२७ (२८)	१	मेधातिथिः	मंत्रोक्ताः	त्रिष्टुप्
२८ (२९)	१	मेधातिथिः	वेदः	त्रिष्टुप्
२९ (३०)	२	मेधातिथिः	मन्त्रोक्ता	त्रिष्टुप्
३० (३१)	१	भृग्वंगिराः	द्यावापृथिवी, प्रतिपदोक्ता	बृहती
३१ (३२)	१	भृग्वंगिराः	इन्द्रः	भुरिक्त्रिष्टुप्
३२ (३३)	१	ब्रह्मा	आयुः	अनुष्टुप्
३३ (३४)	१	ब्रह्मा	मन्त्रोक्ताः	पथ्यापंक्तिः
३४ (३५)	१	अथर्वा	जातवेदाः	जगती
३५ (३६)	२	अथर्वा	जातवेदाः	१ अनुष्टुप् २-३ त्रिष्टुभ्
३६ (३७)	१	अथर्वा	अक्षि,	अनुष्टुप्
३७ (३८)	१	अथर्वा	लिंगोक्ता	अनुष्टुप्
३८ (३९)	५	अथर्वा	वनस्पतिः	अनुष्टुप् ३ चतुष्पादुष्णिक्
चतुर्थोऽनुवाकः ।				
३९ (४०)	१	प्रस्कण्वः	मंत्रोक्ता	त्रिष्टुप्
४० (४१)	२	प्रस्कण्वः	[illegible]	त्रिष्टुप् १ भुरिक्

सूक्त	मंत्रसंख्या	ऋषि	देवता		छन्द
४१ (४२)	२	प्रस्कण्वः	श्येनः	त्रिष्टुप्	१ जगती
४२ (४३)	२	प्रस्कण्वः	सोमारुद्रौ	त्रिष्टुप्	
४३ (४४)	१	प्रस्कण्वः	वाक्	त्रिष्टुप्	
४४ (४५)	१	प्रस्कण्वः	इन्द्रः, विष्णुः		भुरिक् त्रिष्टुप्
४५ (४६, ४७)	२	प्रस्कण्वः (४७ अथर्वा)	भेषजम्, ईर्ष्यापनयनम्	अनुष्टुप्	
४६ (४८)	३	अथर्वा	मंत्रोक्ता	त्रिष्टुप्	१-२ अनुष्टुप्
४७ (४९)	२	अथर्वा	मंत्रोक्ता	त्रिष्टुप्	१ जगती
४८ (५०)	२	अथर्वा	मंत्रोक्ता	त्रिष्टुप्	१ जगती
४९ (५१)	२	अथर्वा	देवपत्न्यौ		१ आर्षी जगती, २ चतुष्पदा, पंक्तिः
५० (५२)	९	अंगिराः (कितवबाधन-कामः)	इन्द्रः	अनुष्टुप्	३,७ त्रिष्टुप्; ४ जगती, ६ भुरिक् त्रिष्टुप्
५१ (५३)	१	अंगिराः	बृहस्पतिः	त्रिष्टुप्	
पञ्चमोऽनुवाकः ।					
५२ (५४)	२	अथर्वा	सांमनस्यम्, अश्विनौ		१ ककुम्मती अनुष्टुप्, २ जगती
५३ (५५)	७	ब्रह्मा	आयुः, बृहस्पतिः, अश्विनौ,	१ त्रिष्टुप्	३ भुरिक्, ४ उष्णिग्गर्भार्षी पंक्तिः, ५-७ अनुष्टुप्
५४ (५६,५७-१)	२	(५६) ब्रह्मा (५७) भृगुः	ऋक्साम, इन्द्रः	अनुष्टुप्	
५५ (५७-२)	१	भृगुः	इन्द्रः	विराट्	
५६ (५८)	८	अथर्वा	वृश्चिकादयः, २वनस्पतिः, ४ ब्रह्मणस्पतिः	अनुष्टुप्	४ विराट् प्रस्तारपंक्तिः
५७ (५९)	२	वामदेवः	सरस्वती	जगती	
५८ (६०)	२	कौरुपथिः	मंत्रोक्ता	१ जगती,	२ त्रिष्टुप्
५९ (६१)	१	बादरायणिः	अरिनाशनम्	अनुष्टुप्	
षष्ठोऽनुवाकः । सप्तदशः प्रपाठकः					
६० (६२)	७	ब्रह्मा	गृहाः, वास्तोष्पतिः	अनुष्टुप्	१ परानुष्टुप् त्रिष्टुप्
६१ (६३)	२	अथर्वा	अग्निः	अनुष्टुप्	
६२ (६४)	१	कश्यपः मारीचः	अग्निः	जगती	
६३ (६५)	१	कश्यपः मारीचः	जातवेदाः	जगती	
६४ (६६)	२	यमः	मंत्रोक्ताः, निर्ऋतिः	भुरिगनुष्टुप्, २ न्यंकु सारिणी बृहती	
६५ (६७)	३	शुक्रः	अपामार्गवीरुत्	अनुष्टुप्	
६६ (६८)	१	ब्रह्मा	ब्रह्म	त्रिष्टुप्	
६७ (६९)	१	ब्रह्मा	आत्मा		पुरःपरोष्णिग्बृहती
६८ (७०-७१)	३	शंतातिः	सरस्वती	१ अनुष्टुप्, २त्रिष्टुप्, ३ गायत्री पंथ्यापंक्तिः	
६९ (७२)	१	शंतातिः	सुखं		
७० (७३)	५	अथर्वा	श्येनः, मन्त्रोक्ताः	१ त्रिष्टुप्, २ अतिजगतीगर्भा जगती, ३-५ अनुष्टुप् (३ पुरः ककुम्मती)	

सूक्त	मंत्रसंख्या	ऋषि	देवता	छन्द
७१ (७४)	१	अथर्वा	अग्निः	अनुष्टुप्
७२ (७५.७६)	३	अथर्वा	इन्द्रः	अनुष्टुप् २–३ त्रिष्टुप्
७३ (७७)	११	अथर्वा	अश्विनौ	अनुष्टुप् २ पथ्याबृहती; १, ४, ६ जगती

सप्तमोऽनुवाकः ।

सूक्त	मंत्रसंख्या	ऋषि	देवता	छन्द
७४ (७८)	४	अथर्वा	मन्त्रोक्ताः, जातवेदाः	अनुष्टुप्
७५ (७९)	२	उपरिबभ्रवः	अघ्न्याः	१ त्रिष्टुप् २ त्र्यवसाना पञ्चपदा भुरिक् पथ्यापंक्तिः ।
७६ (८०,८१)	६	अथर्वा	अपचित्भैषज्यं, ज्यायानिन्द्रः	१ विराडनुष्टुप्; ३-४ अनुष्टुप्; २ परा उष्णिक्; ५ भुरिगनुष्टुप् ६ त्रिष्टुप्
७७ (८२)	३	अङ्गिराः	मरुतः	१ त्रिपदा गायत्रीः; २ त्रिष्टुप् ३ जगती
७८ (८३)	२	अथर्वा	अग्निः	१ परोष्णिक्, २ त्रिष्टुप्
७९ (८४)	४	अथर्वा	अमावास्या	१ जगती; २, ४ त्रिष्टुप्
८० (८५)	४	अथर्वा	पौर्णमासी, प्रजापतिः	त्रिष्टुप् ; ४ अनुष्टुप्
८१ (८६)	६	अथर्वा	सावित्री	१,६ त्रिष्टुप्; २ सम्राट्पङ्क्तिः ३ अनुष्टुप्; ४-५ आस्तारपङ्क्तिः

अष्टमोऽनुवाकः

सूक्त	मंत्रसंख्या	ऋषि	देवता	छन्द
८२ (८७)	६	शौनकः (संपत्कामः)	अग्निः	त्रिष्टुप्; २ ककुम्मती बृहती; ३ जगती
८३ (८८)	४	शुनःशेपः	वरुणः	१ अनुष्टुप्; २ पथ्यापंक्तिः ३ त्रिष्टुप्; ४ बृहतीगर्भा त्रिष्टुप्
८४ (८९)	३	भृगुः	१ जातवेदा अग्निः, २-३ इन्द्रः	त्रिष्टुप्; जगती
८५ (९०)	१	अथर्वा (स्वस्त्ययनकामः)	तार्क्ष्यः	त्रिष्टुप्
८६ (९१)	१	अथर्वा (स्वस्त्ययनकामः)	इन्द्रः	त्रिष्टुप्
८७ (९२)	१	अथर्वा	रुद्रः	जगती
८८ (९३)	१	गरुत्मान्	तक्षकः	त्र्यवसाना बृहती
८९ (९४)	४	सिन्धुद्वीपः	अग्निः	अनुष्टुप् ४ त्रिपदानिचृत्परोष्णिक्
९० (९५)	३	अंगिराः	मन्त्रोक्ताः	१ गायत्री २ विराट् पुरस्ताद्बृहती; ३ त्र्यवसाना षट्पदा भुरिग्जगती

नवमोऽनुवाकः ।

सूक्त	मंत्रसंख्या	ऋषि	देवता	छन्द
९१ (९६)	१	अथर्वा	चन्द्रमाः	त्रिष्टुप्
९२ (९७)	१	अथर्वा	चन्द्रमाः	त्रिष्टुप्
९३ (९८)	१	भृग्वंगिराः	इन्द्रः	गायत्री
९४ (९९)	१	अथर्वा	सोमः	अनुष्टुप्
९५ (१००)	३	कपिञ्जलः	गृध्रौ	अनुष्टुप् २,३ भुरिक्

सूक्त	मंत्रसंख्या	ऋषि	देवता	छन्द
९६ (१०१)	१	कपिञ्जलः	वयः	अनुष्टुप्
९७ (१०२)	८	अथर्वा	इन्द्राग्नी	१-४ त्रिष्टुप्; ५ त्रिपदार्षी भुरिग्गायत्री ६ त्रिपात्प्राजापत्या बृहती; त्रिपदा साम्नी भुरिग्जगती; ८ उपरिष्टाद्बृहती
९८ (१०३)	१	अथर्वा	मंत्रोक्ताः	विराट् त्रिष्टुप्
९९ (१०४)	१	अथर्वा	मंत्रोक्ताः	भुरिगुष्णिक् त्रिष्टुप्
१०० (१०५)	१	यमः	दुःस्वप्ननाशनम्	अनुष्टुप्
१०१ (१०६)	१	यमः	दुःस्वप्ननाशनम्	अनुष्टुप्
१०२ (१०७)	१	प्रजापतिः	दुःस्वप्ननाशनम्	विराट् पुरस्ताद् बृहती
दशमोऽनुवाकः ।				
१०३ (१०८)	१	ब्रह्मा	आत्मा	त्रिष्टुप्
१०४ (१०९)	१	ब्रह्मा	आत्मा	त्रिष्टुप्
१०५ (११०)	१	अथर्वा	मन्त्रोक्ता	अनुष्टुप्
१०६ (१११)	१	अथर्वा	अग्निर्जातवेदाः वरुणश्च	बृहतीगर्भा त्रिष्टुप्
१०७ (११२)	१	भृगुः	सूर्यः आपश्च	अनुष्टुप्
१०८ (११३)	२	भृगुः	अग्निः	२ त्रिष्टुप्; १ बृहतीगर्भा त्रिष्टुप्
१०९ (११४)	७	बादरायणिः	अग्निः	१ विराट् पुरस्ताद्बृहती अनुष्टुप् ४,७ अनुष्टुप्; २,३, ५,६ त्रिष्टुप्
११० (११५)	३	भृगुः	इन्द्राग्नी	१ गायत्री; २ त्रिष्टुप् ३ अनुष्टुप्
१११ (११६)	१	ब्रह्मा	वृषभः	परावृहती त्रिष्टुप्
११२ (११७)	२	वरुणः	मन्त्रोक्ताः	१ भुरिक्; २ अनुष्टुप्
११३ (११८)	२	भार्गवः	तृष्टिका	१ विराडनुष्टुप्; २ शंकुमती चतुष्पदा भुरिगनुष्टुप्
११४ (११९)	२	भार्गवः	अग्नीषोमौ	अनुष्टुप्
११५ (१२०)	४	अथर्वांगिराः	सविता, जातवेदाः	अनुष्टुप्, २-३ त्रिष्टुप्
११६ (१२१)	२	अथर्वांगिराः	चन्द्रमाः	१ पुरोष्णिग्; २ एकावसाना द्विपदार्षी अनुष्टुप्
११७ (१२२)	१	अथर्वांगिराः	इन्द्र	पथ्याबृहती
११८ (१२३)	१	अथर्वांगिराः	चन्द्रमाः, बहुदैवत्यम्	त्रिष्टुप्

इस प्रकार इस सप्तम काण्डके सूक्तोंके ऋषि देवता और छन्द हैं। अब इनका ऋषिक्रमानु सार सूक्तविभाग देखिये–

ऋषिक्रमानुसार सूक्तविभाग

१ अथर्वा ऋषिके १–७; ११–१४; १८; ३४–३८; ४६–४९, ५२; ५६; ६१; ७०–७४; ७६; ७८–८१; ८५–८७; ९१–९२; ९४; ९७–९९; १०५–१०६ ये तेतालीस सूक्त हैं।

२ ब्रह्मा ऋषिके १९–२२; २४; ३२–३३; ५३–५४; ६०; ६६–६७; १०३–१०४; १११ ये पंद्रह सूक्त हैं।

३ भृगु ऋषिके [illegible]; ५४–५५; ८४; १०७–१०८; ११० ये नौ सूक्त हैं।

४ प्रस्कण्व ऋषिके ३९-४५ ये सात सूक्त हैं।
५ मेधातिथि ऋषिके २५-२९ ये पांच सूक्त हैं।
६ अथर्वाङ्गिरा ऋषिके ११५-११८ ये चार सूक्त हैं।
७ शौनक ऋषिके १०-१२; ८२ ये चार सूक्त हैं।
८ यम ऋषिके २३; ६४; १००; १०१ ये चार सूक्त हैं।
९ अंगिरा ऋषिके ५०-५१; ७७; ९० ये चार सूक्त हैं।
१० उपरिबभ्रव ऋषिके ८-९; ७५ ये तीन सूक्त हैं।
११ भृग्वंगिरा ऋषिके ३०-३१; ९३ ये तीन सूक्त हैं।
१२ भार्गव ऋषिके ११३-११४ ये दो सूक्त हैं।
१३ शंताति ऋषिके ६८-६९ ये दो सूक्त हैं।
१४ बादरायणि ऋषिके ५९; १०९ ये दो सूक्त हैं।
१५ कश्यप ऋषिके ६२-६३ ये दो सूक्त हैं।
१६ कपिंजल ऋषिके ९५-९६ ये दो सूक्त हैं।
१७ वरुण ऋषिका ११२ वां एक सूक्त है।
१८ वामदेव ऋषिका ५७ वां एक सूक्त है।
१९ कौरुपथि ऋषिका ५८ वां एक सूक्त है।
२० शुक ऋषिका ६५ वां एक सूक्त है।
२१ शुनःशेप ऋषिका ८३ वां एक सूक्त है।
२२ गरुत्मान् ऋषिका ८८ वां एक सूक्त है।
२३ सिंधुद्वीप ऋषिका ८९ वां एक सूक्त है।
२४ प्रजापति ऋषिका १०२ वां एक सूक्त है।

इस प्रकार २४ ऋषियोंके नाम इस काण्डमें हैं। इसमें भी पूर्ववत् अथर्वाके सूक्त सबसे अधिक अर्थात् ४३ हैं और इनमें अथर्वाङ्गिराके ४; अंगिराके ४, मिलानेसे ५१ होते हैं। ये न भी गिने जायें तो भी ४३ सूक्त अकेले अथर्वाके नामपर हैं। यह बात देखनेसे ऐसा प्रतीत होता है कि इस संहितामें अथर्वाके सूक्त अधिक होनेसे इसका नाम 'अथर्ववेद' हुआ होगा; दूसरे दर्जेपर इसमें ब्रह्माके मंत्र आते हैं, संभवतः इसी कारणसे इसका नाम 'ब्रह्मवेद' पड़ा होगा।

देवताक्रमानुसार सूक्त विभाग।

१ मंत्रोक्तदेवताके १२; १९; २७; २९; ३३; ३९; ४६-४८; ५८; ६४; ७०; ७४; ९०; ९८-९९; १०५; ११२ ये अठारह सूक्त हैं। (टिप्पणी—वस्तुतः मंत्रोक्त नामका कोई देवता नहीं है, इस प्रकारके सूक्तोंमें अनेक देवता रहते हैं, इसलिये अनेक देवताओंके नाम कहनेकी अपेक्षा यह एक संकेत मात्र किया है।)

२ इन्द्र देवताके १२; ३१; ४४; ५०; ५४-५५; ७२; ७६; ८४; ८६; ९३; ११७ ये बारह सूक्त हैं।
३ अग्नि देवताके ६१-६२; ७१; ७८; ८२; ८४; ८९; १०६; १०८; १०९ ये दस सूक्त हैं।
४ आत्मादेवताके १-३; ५; २१; ६७; १०३-१०४ ये आठ सूक्त हैं।
५ सरस्वतीदेवताके १०-१२; ४०; ५७; ६८ ये छः सूक्त हैं।
६ सवितादेवताके १४-१७; २४; ११५ ये छः सूक्त हैं।
७ जातवेदा देवताके ३४; ३५; ६३; ७४; ८४; १०६ ये छः सूक्त हैं।
८ दुःस्वप्ननाशनके २३; १००-१०२ ये चार सूक्त हैं।
९ चन्द्रमाके ९१-९२; ११६; ११८ ये चार सूक्त हैं।
१० बृहस्पतिके ८; ५१; ५३ ये तीन सूक्त हैं।

११ विष्णुके २५-२६; ४४ ये तीन सूक्त हैं।
१२ अश्विनौके ५२; ५३; ७३ ये तीन सूक्त हैं।
१३ अदितिके ६-७ ये दो सूक्त हैं।
१४ सोमके १६; ९४ ये दो सूक्त हैं।
१५ बहुदैवत्यके १७; ११८ ये दो सूक्त हैं। (यह भी देवताओंका संकेत है जैसा मंत्रोक्तमें लिखा है।)
१६ लिंगोक्ताके २२; ३७ ये दो सूक्त हैं।
१७ द्यावापृथिवीके ३०; १०२ ये दो सूक्त हैं।
१८ वनस्पतिके ३८; ५६ ये दो सूक्त हैं।
१९ आयुःके ३२; ५३ ये दो सूक्त हैं।
२० श्येनःके ४१; ७० ये दो सूक्त हैं।
२१ वरुणके ८३; १०६ ये दो सूक्त हैं।
२२ इन्द्राग्नीके ९७; ११० ये दो सूक्त हैं।

शेष देवता एक सूक्तवाले हैं। यमः ४; पूषा ९; सभा १२; पृथिवी १८; पर्जन्यः १८; अनुमतिः २०; वेदः २८; प्रतिपदोक्ता देवताः ३१ (यह भी अनेक देवताओंका संकेत है); अक्षि ३६; सोमारुद्रौ ४२; वाक् ४३; भेषजं ४५; ईर्ष्यापनयनं ४५; देवपत्न्यौ ४९; सांमनस्यं ५२; ऋक्साम ५४; वृश्चिकः ५६; ब्रह्मणस्पतिः ५६; अरिष्टनाशनं ५९; गृहाः ६०; वास्तोष्पतिः ६०; निर्ऋतिः ६४; अपामार्गः ६५; ब्रह्म ६६; सुखं ६९; अघ्न्याः ७५; अपचिद्भेषजं ७६; ज्यायानिन्द्रः ७६; मरुतः ७७; अमावास्या ७९; पौर्णमासी ८०; प्रजापतिः ८०; सावित्री ८१; सूर्याचन्द्रमसौ ८१; तार्क्ष्यः ८५; रुद्रः ८७; तक्षकः ८८; गृध्रः ९५; वयः ९६; सूर्यः १०७; आपः १०७; वृषभः १११; तृष्टिका ११३; अग्नीषोमौ ११३;

इस प्रकार इस काण्डमें ६६ देवता आये हैं। इनमें मंत्रोक्त, बहुदैवत्य आदि संकेतोंमें आनेवाले कई देवता और अधिक संमिलित होनी हैं। इनकी गिनती उक्त संख्यामें नहीं की गई है। अब सूक्तोंके गणोंकी व्यवस्था देखिये—

सप्तम काण्डके सूक्तोंके गण।

१ स्वस्त्ययनगणमें ६; ५१; ८५; ९१; ९२; ११७ ये छः सूक्त हैं।
२ बृहच्छान्तिगणमें ५२; ६६; ६८; ६९; ८२; ८३ ये छः सूक्त हैं।
३ पत्नीवन्तगणमें ४७-४९ ये तीन सूक्त हैं।
४ दुःस्वप्ननाशनगणमें १००; १०१; १०८ ये तीन सूक्त हैं।
५ अभयगणमें ९; ९१ ये दो सूक्त हैं।
६ पुष्टिकगणमें १४; ६० ये दो सूक्त हैं।
७ वास्तुगणमें ४१; ६० ये दो सूक्त हैं।
८ इन्द्रमहोत्सवके ८१; ९१ ये दो सूक्त हैं।
९ आयुष्यगणमें ३२ वां एक सूक्त है।
१० सांमनस्यगणमें ५२ वां एक सूक्त है।
११ कृत्यागणमें ६५ वां एक सूक्त है।
१२ रौद्रगणमें ८७ वां एक सूक्त है।
१३ अंहोलिंगगणमें ११२ वां एक सूक्त है।
१४ तक्मनाशनगणमें ११६ वां एक सूक्त है।

इस प्रकार इस सप्तम काण्डके गणोंका विचार है। अन्य सूक्त भी इसी प्रकार अन्यान्य गणोंमें विभक्त किये जा सकते हैं, परंतु वह विशेष विचारका प्रश्न है। आज ही यह कार्य नहीं हो सकता। सूक्तोंका अर्थ निश्चित हो जानेपर यह गणविभाग परिपूर्ण किया जा सकता है।

इतना विचार होनेके पश्चात् अब हम इस सप्तम काण्डके प्रथम सूक्तका मनन करते हैं—

ॐ

अथर्ववेदका सुबोध-भाष्य

[सप्तम काण्ड]

आत्मोन्नतिका साधन

[१]

(ऋषिः- अथर्वा ' ब्रह्मवर्चस्कामः ' । देवता- आत्मा ।)

धीती वा ये अनयन्वाचो अग्रं मनसा वा येऽवदन्नृतानि ।
तृतीयेन ब्रह्मणा वावृधानास्तुरीयेणामन्वत नाम धेनोः ॥ १ ॥
स वेद पुत्रः पितरं स मातरं स सूनुर्भुवत्स भुवत्पुनर्मघः ।
स द्यामौर्णोदन्तरिक्षं स्वः स इदं विश्वमभवत्स आभवत् ॥ २ ॥

अर्थ— (ये वा मनसा धीती) जो अपने मनसे ध्यानको (वाचः अग्रं अनयन्) वाणीके मूलस्थानतक पहुंचाते हैं, तथा (ये वा ऋतानि अवदन्) जो सत्य बोलते हैं, वे (तृतीयेन ब्रह्मणा वावृधानाः) तृतीय ज्ञानसे बढते हुए, (तुरीयेण) चतुर्थभागसे (धेनोः नाम अमन्वत) कामधेनुके नामका मनन करते हैं ॥ १ ॥

(सः सूनुः भुवत्) वही उत्पन्न हुआ है, (सः पुत्रः पितरं सः च मातरं वेद) वही पुत्र अपने मातापिताको जानता है, (सः पुनर्मघः भुवत्) वह बारबार दान देनेवाला होता है, (सः द्यां अन्तरिक्षं स्वः और्णोत्) वह द्युलोक, अन्तरिक्ष और आत्मप्रकाशको अपने आधीन करता है, (सः इदं विश्वं अभवत्) वह यह सब विश्व बनाता है, और (सः आभवत्) वह सर्वत्र व्याप्त होता है॥ २ ॥

भावार्थ— (१) मनसे ध्यान लगाकर वाणीकी उत्पत्ति जहांसे होती है उस वाणीके मूलको देखना, (२) सदा सत्य वचन बोलना (३) ज्ञानसे संपन्न होना और (४) कामधेनु स्वरूप परमेश्वरके नामका मनन करना, ये चार आत्मोन्नतिके साधन हैं ॥ १ ॥

जो इस चतुर्विध साधनको उपयोगमें लाता है, उसीका जन्म सफल होता है, वह अपने मातापितास्वरूप परमात्माको जानता है, वह आत्मसर्वस्वका दान करता है, वह त्रिभुवनको अपनी शक्तिसे घेरता है, मानो वही इस सब विश्वरूप में परिवर्तित हो जाता है और वही सर्वत्र व्याप्त होता है ॥ २ ॥

आत्मोन्नतिका साधन

साधनमार्ग

आत्मोन्नतिका साधनमार्ग इस सूक्तमें बताया है। यह मार्ग चतुर्विध है, अथवा इस मार्गको बतानेवाले चार सूत्र इस सूक्तमें बताये हैं। आत्मोन्नतिके चार सूत्र ये हैं-

(१) ऋतानि अवदन्- सत्य बोलना। अर्थात् छलकपटका भाषण न करना और अन्य इंद्रियोंको भी असत्य मार्गमें प्रवृत्त होने न देना। सदा सत्यनिष्ठ, सत्यव्रती और सत्यभाषी होना। (मं. १)

(२) ब्रह्मणा वावृधानः- ब्रह्म नाम बंधननिवृत्तिके ज्ञानका है। (मोक्षे धीर्ज्ञानं) ज्ञानका अर्थही बंधनसे छूटनेके उपायका ज्ञान है। इस ज्ञानसे जो बढता है अर्थात् इस ज्ञानसे जो परिपूर्ण होता है, वही आत्मोन्नतिका अधिकारी होता है। जो आत्मज्ञानके साधनका उपयोग करना चाहता है उसको यह ज्ञान अवश्य प्राप्त करना चाहिये। (मं. १)

(३) धेनोः नाम अमन्वत- कामधेनुके नामका मनन करते हैं। भक्तके मनोकामनाको पूर्ण करनेवाली कामधेनु परमेश्वरकी शक्ति ही है उसके गुणबोधक नाम अनंत हैं। उन नामोंका मनन करनेसे और उन गुणोंको अपने अंदर धारण करनेसे मनुष्यकी उन्नति होती है। (मं. १)

(४) मनसा धीती वाचः अग्रं अनयन्- मनकी एकाग्रतासे ध्यान द्वारा वाणीके मूलस्थान पर पहुंचना। यह आत्माकी प्राप्तिका एक और साधन है। वाणी कैसे उत्पन्न होती है, इसकी रीति इसप्रकार बताई है—

> आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान्मनो युङ्क्ते विवक्षया।
> मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम् ॥ ६॥
> मारुतस्तूरसि चरन्मन्द्रं जनयति स्वरम् ॥ ७॥
> सोदीर्णो मूर्ध्न्यभिहतो वक्त्रमापद्य मारुतः।
> वर्णाञ्जनयते तेषां विभागः पञ्चधा स्मृतः ॥ ८॥
> (पाणिनीयशिक्षा)

(१) आत्मा बुद्धिसे युक्त होकर विशेष अर्थका अनुसंधान करती है, (२) पश्चात् उस अर्थको प्रकट करनेके लिये मनको नियुक्त करती है, (३) मन शरीरके अग्निको प्रेरित करता है, (४) यह अग्नि वायुको गति देती है, (५) वह वायु छातीसे ऊपर आकर मन्द्र स्वर पैदा करती है, (६) वह स्वर मूर्धामें आकर मुखके विविध स्थानोंमें आघात करता है, (७) विविध स्थानोंमें आघात होनेके कारण विविध वर्ण उत्पन्न होते हैं और यही वाणीकी उत्पत्ति है।

वाणीकी इस प्रकार उत्पत्ति होती है। जब मनुष्य ध्यान लगाकर वाणीकी उत्पत्तिका प्रकार देखता है और (वाचः अग्रं) वाणीके मूल स्थानपर अपना ध्यान केन्द्रित करता है, तब वह उस स्थानमें आत्माको देखता है। इस प्रकार वाणीके मूलको ढूंढनेके यत्नके द्वारा आत्माको जाना जाता है। वाणीके मूलभागको अन्तर्मुख होकर ही देखा जा सकता है। उदाहरणार्थ-पहिले कोई शब्द लें। वह शब्द कई अक्षरोंका- अर्थात् वर्णोंका बना हुआ होता है, ये वर्ण एक ही वायुके मुखके विभिन्न स्थानों पर आघात होनेसे उत्पन्न होते हैं। वर्णोत्पत्तिके पूर्व जो वायु छातीमें संचार करता है, उसमें ये विविध वर्ण नहीं होते हैं। उससे भी पूर्व जब वायुको अग्नि प्रेरणा देती है, उसमें तो शब्दका नाम तक नहीं होता है। इसके पूर्व मनकी प्रेरणा है और इससे भी पूर्व आत्माकी बोलनेकी प्रवृत्ति होती है। इस रीतिसे अंदर अंदरकी ओर देखनेका प्रयत्न ध्यानपूर्वक करनेसे वाणीके मूलस्थानका पता लगता है, और आत्माका दर्शन होता है। यही विषय वेदमें इस प्रकार वर्णित है-

> चत्वारि वाक्परिमिता पदानि
> तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
> गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति
> तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति ॥ ४५॥
> इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो
> दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
> एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं
> यमं मातरिश्वानमाहुः ॥ ४६॥ (ऋ० १। १६४। ४५-४६; अथर्व० ९। (१०) १५। २७-२८)

' वाणीके चार पांव हैं, मननशील ब्रह्मज्ञानी उनको जानते हैं। इनमेंसे तीन पांव हृदयमें गुप्त हैं, और प्रकट होनेवाला जो वाणीका चतुर्थ पाद है, वही मनुष्योंकी भाषा है जिसे मनुष्य बोलते हैं। यह वाणी जहांसे-जिस मूल कारणसे- प्रकट होती है, वह एक ही सत्य वस्तु है, परंतु ज्ञानी जन उस एक वस्तुको अनेक नाम देते हैं, उसीको इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, यम, मातरिश्वा आदि कहते हैं। '

यही आत्मा है, जिससे यह प्रकट होती है। इसीलिये

वाणीके मूलकी खोज करते करते आत्माकी प्राप्ति होती है, ऐसा इस सूक्तमें कहा है।

आत्माको खोज करनेका मार्ग इस प्रकार इस सूक्तमें कहा है। इसको भी यदि संक्षिप्त करना हो, तो '(१) सत्य-निष्ठा, (२) सत्यज्ञान, (३) प्रभुगुणमनन, और (४) वाङ्मूलान्वेषण ' इन चार शब्दोंसे सूचित होनेवाला यह आत्मोन्नतिका मार्ग है। मनुष्य इस मार्गसे जाकर अपनी आत्माका पता लगा सकता है और सत्यके आश्रयसे और ज्ञानके प्रकाशसे यथेच्छ उन्नति प्राप्त कर सकता है। यहां ज्ञानका ' बंधनसे मुक्त होनेका निश्चित ज्ञान ' यह अर्थ विवक्षित है। अन्य पाञ्चभौतिक ज्ञानके लिये संस्कृतमें विज्ञान शब्द है। जो इस प्रकारके श्रेष्ठ ज्ञानसे युक्त होता है, वह मनुष्य—

(५) सः सुजुः भुवत् = वही सच्चे रूपमें उत्पन्न हुआ हुआ कहा जाता है। अर्थात् उसीने जन्म लिया और अपना जन्म सार्थक किया, ऐसा कहा जा सकता है। अन्य लोग जन्म तो लेते ही हैं, परंतु उनका जन्म लेना व्यर्थ होता है, क्योंकि जन्म लेनेका प्रयोजन वे सफल नहीं कर सकते, अतः उनके जन्म लेनेका परिश्रम व्यर्थ होता है। मनुष्यके जन्मकी सफलता उसी समय होती है, जब वह—

(६) सः पुत्रः पितरं मातरं च वेद= वह पुत्र अपने माता पिताको जानने लगता है। अपने मातापिताको यथावत् जाननेसे पुत्रका जन्म सफल होता है। मातापिताको जानना तब होगा, जब वह अपने मातापिताके गुणोंका मनन करेगा। यह गुणोंके मनन करनेका उपदेश (नाम अमन्वत। मं० १) प्रथम मंत्रके अन्तिम चरणमें दिया है। पिताका या माताका नाम लेना अथवा उनके गुणोंका मनन करना इसीलिये होता है, कि पुत्र अपने आपको सुयोग्य बनाता हुआ पिताके समान बने। माता पिताको जाननेका अर्थ यही है। मेरे माता पिता ऐसे शुद्धाचारी थे, मैं भी वैसा ही शुद्धाचारी बनूं। मातापिताके गुणोंको जाननेसे पुत्रके अंदर इस प्रकार अपनी उन्नति करनेकी प्रेरणा प्राप्त होती है। यहां ' पुत्र ' शब्द विशेष महत्त्वका अर्थ रखता है। ' पु + त्र ' अर्थात् जो अपने आपको (पुनाति) पवित्र करता है और (त्रायते) अपनी रक्षा करता है वह सच्चा पुत्र है। अपने आपको निर्दोष, पवित्र और शुद्ध बनाने, तथा अपने आपको दोषों और पापोंसे रक्षा करनेका कार्य जो करता है वही सच्चा पुत्र है, जो ऐसा नहीं करते, वे केवल जन्तुमात्र हैं। इस प्रकारका सुपुत्र जो होता है, वह जिस समय अपने परम पिताके गुण-कर्मोंका मनन करता है, उस समय उसके मनमें यह बात आती है कि मैं भी अपने परम पिताके समान और अपनी परम माताके समान बनूं। यत्न करके वैसा होऊं। इस विचारसे वह प्रेरित होता है, इसलिये—

(७) सः पुनर्मघः भुवत् = बारबार दान देनेवाला होता है। वह अपनी सब तन, मन, धन आदि शक्तियोंको जनताकी भलाईके लिये बारबार समर्पित करता है। दान करनेसे वह पीछे नहीं हटता। इसीका नाम यज्ञ है। अपनी शक्तियोंका यज्ञ करनेसे ही मनुष्य उन्नत होता है। वह देखता है कि, वह परमपिता अपनी सब शक्तियोंको संपूर्ण प्राणिमात्रकी भलाईके लिये समर्पित कर रहा है, इस बातको देखकर वह उसीका अनुकरण करता है। और इस प्रकार परमपिताके अनुकरणसे वह प्रतिसमय अधिकाधिक शक्ति प्राप्त करता है और इसको जितनी अधिक शक्ति मिलती जाती है, उसी प्रमाणसे उसका कार्यक्षेत्र भी बढता जाता है। उदाहरणके लिये साधारण मनुष्य अपने पेटके लिए कार्य करता है, गृहस्थी मनुष्य अपने कुटुंबके पोषणके कार्यक्षेत्रमें लगा रहता है, नगर सुधारक अपने नगरके कार्यक्षेत्रमें तन्मय होता है, राष्ट्रका नेता राष्ट्रीय कार्यक्षेत्रमें काम करता है, इसके पश्चात् वसुधैव कुटुंबक वृत्तिका संन्यासी संपूर्ण जनताको अपने परिवारमें संमिलित करके उनकी भलाईके लिये आत्म-समर्पण करता है, इस प्रकार जिसको जैसी शक्ति प्राप्त होती जाती है, उसी प्रकार वह अधिकाधिक विस्तृत कार्यक्षेत्रमें कार्य करता है, इस प्रकार शक्तिकी वृद्धि होते होते अन्तमें—

(८) स द्यां अन्तरिक्षं स्वः और्णोत् = वह द्युलोक, अन्तरिक्ष और सब प्रकाशमय लोकोंको व्यापता है। मनुष्यकी शक्ति बढ जाती है। वह जिस समय विशेष उन्नत होता है, उस समय संपूर्ण अवकाशमें उसकी व्याप्ति होती है। साधारण आत्माके ' महात्मा ' बननेसे यह बात सिद्ध होती है। इससे—

(९) सः इदं विश्वं अभवत्- वह यह सब विश्व रूप बनता है, जब उसकी शक्ति परम सीमातक उन्नत हो जाती है, तब उसको अनुभव होता है कि मैं विश्वरूप हूं। कई मनुष्य ' शरीररूप ' होते हैं, अपने शरीरमें कष्ट होनेसे वे दुःखी होते हैं, कई लोग ' कुटुंबरूप ' होते हैं उनके कुटुंबके किसी मनुष्यको दुःख हुआ तो वे दुःखी होते हैं, कई लोग ' राष्ट्ररूप ' बनते हैं उनके राष्ट्रका कोई आदमी दुःखी होता है तो वे भी उसके साथ दुःखी होते हैं, इसी प्रकार जो

' विश्वरूप ' बनते हैं वे संपूर्ण विश्वमें किसीको भी दुःखी देखनेसे स्वयं दुःखी होते हैं। इस प्रकार मनुष्यकी शक्तिका विस्तार होता जाता है और अन्तमें विश्वरूप बन जाना उसकी शक्तिकी परम सीमा है, इस तरह-

(१०) महः आत्मा-- वह सर्वत्र व्याप्त होता है अर्थात् विश्वरूप बनी हुई आत्मा विश्वभरमें व्याप्त होती है। प्रारंभमें मनुष्यकी आत्मा अपने शरीरमें ही व्याप्त होती है, परंतु उसकी शक्ति और कार्यक्षेत्र क्रमशः बढते बढते इतना विस्तृत हो जाते हैं कि अन्तमें विश्वरूप बन जाते हैं। यह आत्माका विस्तार उसकी शक्तिके विस्तारसे होता है। इसका उदाहरण ऐसा दिया जा सकता है, एक दीप जो छोटेसे कमरेको ही प्रकाशित कर पाता है, पर यदि किसी वैज्ञप्रयोगसे उसकी प्रकाशशक्तिका विस्तार किया जाय, तो वही दीप दस बीस मीलतक प्रकाश देनेमें समर्थ हो सकेगा। अग्निकी छोटीसी चिनगारी भी विस्तृत होकर दावानलका रूप ले लेती है। इसी प्रकार इस जीवात्माकी शक्तिके परम विकासकी कल्पना भी की जा सकती है,

कई मनुष्य होते हैं उनकी आज्ञा पारिवारिक लोग भी सुनते नहीं, इतनी उनकी शक्ति अत्यल्प होती है, परंतु कई महात्मा ऐसे होते हैं कि, जिनकी आज्ञा होते ही लाखों और करोडों मनुष्य अपना बलिदानतक देनेको तैयार हो जाते हैं, यह आत्मशक्तिके विस्तारका उदाहरण है। इसी प्रकार आगे परम सीमातक आत्माकी शक्तिका विकास होना संभव है। इसी शक्तिविकासके चार उपाय प्रथम मंत्रमें बताये हैं। उन उपायोंका अनुष्ठान जो करेंगे वे अपनी शक्ति विकसित होनेका अनुभव अवश्य लेनेमें समर्थ होंगे।

जीवात्माका वर्णन

[२]

(ऋषिः- अथर्वा ' ब्रह्मवर्चस्कामः ' । देवता- आत्मा ।)

अथर्वाणं पितरं देवबन्धुं मातुर्गर्भं पितुरसुं युवानम् ।
य इमं यज्ञं मनसा चिकेत प्र णो वोचस्तमिहेह ब्रवः ॥ १ ॥

अर्थ-- (यः मनसा) जो मनसे (इमं यज्ञं अथर्वाणं पितरं) इस पूजनीय, अपने पास रहनेवाले पिता और (देवबंधुं) देवोंके साथ संबंध रहनेवाले (मातुः गर्भं) माताके गर्भमें आनेवाले (पितुः असुं) पिताके प्राणस्वरूप (युवानं) सदा तरुण आत्माको (चिकेत) जानता है, वह (इह नः प्रवोचः) यहां उसके विषयमें हमें उपदेश देवे और (इह ब्रवः) यहां उसको बतलावे ॥ १ ॥

भावार्थ-- जो ज्ञानी अपनी मननशक्ति द्वारा इस पूजनीय, अपने पास रहनेवाली, पिताके समान रक्षक, देवोंके साथ संबंध रखनेवाली, माताके गर्भमें आनेवाली, पिताके प्राणको धारण करनेवाली सदा तरुण अर्थात् कभी वृद्ध न होनेवाली और कभी नाश न होनेवाली आत्माको जानता है, वह उसके विषयका ज्ञान यहां हम सबको कहे और उसका विशेष स्पष्टीकरण भी करे ॥ १ ॥

जीवात्माका वर्णन

जीवात्माके गुण

इस सूक्तमें मुख्यतया जीवात्माके गुण वर्णन किये हैं। इनका मनन करनेसे जीवात्माका ज्ञान हो सकता है–

१ मातुः गर्भे– माताके गर्भको प्राप्त होनेवाली जीवात्मा है। जन्म लेनेके लिए यह माताके गर्भमें आती है। यजुर्वेदमें इसीके विषयमें ऐसा कहा है–

पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः
स एव जातः स जनिष्यमाणः।

वा. यजु. ३२।४

'यह आत्मा पहिले उत्पन्न हुई थी, वही इस समय गर्भमें आयी है; यह पहिले जन्मी थी और भविष्यमें भी जन्म लेगी' इस प्रकार यह बारबार जन्म लेनेवाली जीवात्मा है।

२ पितुः असुं= पितासे यह प्राणशक्तिको धारण करती है। पितासे प्राणशक्ति और मातासे रयिशक्ति प्राप्त करके यह शरीर धारण करती है।

३ युवानं— यह सदा जवान है। यह न कभी बूढी होती है और न कभी बालक। यह भौतिक शरीर ही उत्पन्न होता है और छः विकारोंको प्राप्त होता है। यह शरीर (जायते) उत्पन्न होता है, (अस्ति) अस्तित्वमें आता है, (वर्धते) बढता है, (विपरिणमते) परिणत होता है, (अपक्षीयते) क्षीण होता है और (विनश्यति) नाशको प्राप्त होता है। यह छः विकार शरीरके होते हैं। इन छः विकारोंको प्राप्त होनेवाले शरीरमें रहती हुई यह जीवात्मा सदा तरुण रहती है। यह न तो शरीरके साथ बालक बनती है और न शरीरके वृद्ध होनेसे यह बूढी ही होती है। यह अजर और अबालक है अर्थात् इसको युवावस्थामें रहनेवाली कहते हैं।

४ देवबंधुं— यह देवोंका भाई है। देवोंको अपने साथ बांध देनेवाली यह जीवात्मा है। इस देहमें इस जीवात्माके कारण ही सूर्यका अंश नेत्ररूपसे आंखके स्थानमें है, वायुका अंश प्राणरूपसे नासिका स्थानमें है, इसी प्रकार अन्यान्य इंद्रियोंके देवताओंके अंश हैं। इन सब देवताओंको यह अपने साथ लाती है और अपने साथ ही फिर ले भी जाती है। जिस प्रकार सब भाई भाई इकट्ठे रहते हैं, उसी प्रकार यह जीवात्मा यहां इन देवताओंके साथ रहती है इस प्रकार यह देवोंकी सहायक है।

५ अथर्वाणं— (अथ+अर्वाक्=अथर्वा) शरीरके पास अर्थात् शरीरके अन्दर रहनेवाली यह है। इसको ढूंढनेके लिये बाहर भ्रमण करनेकी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि यही सबसे समीप है, इससे समीप और कोई नहीं है।

६ पितरं— यह पिताके समान है। यह रक्षक है। जब तक यह शरीरमें रहती है तबतक यह शरीरकी रक्षा करती है। इसकी शक्तिसे ही शरीर रक्षित होता है। जब यह इस शरीरको छोड देती है तब इस शरीरकी कोई रक्षा नहीं कर सकता। इसके इस शरीरको छोड देनेके पश्चात् यह शरीर सडने लगता है।

७ यज्ञं— यह यहां यजनीय अर्थात् पूजनीय है। इसीके लिये यहांके सब व्यवहार किये जाते हैं। अन्न, पान, भोग, नियम सब इसीकी संतुष्टिके उद्देश्यसे किये जाते हैं। यदि यह न हो तो कोई कुछ न करेगा। जबतक यह इस शरीरमें है, तबतक ही सब भोग तथा त्याग किये जाते हैं।

ये सात शब्द जीवात्माके वर्णन करनेके लिये इस सूक्तमें प्रयुक्त हुए हैं। जीवात्माके गुणधर्म इनका विचार करनेसे ज्ञात हो सकते हैं। इनका विचार (मनसा चिकेत) मनन द्वारा ही होगा। जब उत्तम मनन हो तब वह ज्ञानी इस ज्ञानका (प्रवोचः) प्रवचन करे और (इह प्रवः) यहां व्याख्या करे। कोई मनुष्य मननके पूर्व प्रवचन न करे। अर्थात् जब मननपूर्वक उत्तम ज्ञान प्राप्त हो, तभी मनुष्य दूसरोंको इसका ज्ञान देवे।

उपदेश देनेका अधिकार तब होता है कि जब स्वयं पूर्ण ज्ञानी होता है। स्वयंको उत्तम ज्ञान होनेके पूर्व जो उपदेश देनेका प्रयत्न करता है वह घातक होता है। ज्ञानी ही उपदेश देनेका सच्चा अधिकारी है।

जीवात्माका ज्ञान ठीक प्रकार होनेपर मनुष्य परमात्माको जाननेमें समर्थ होगा। इस विषयमें अथर्ववेदका कथन यहां देखने योग्य है—

ये पुरुषे ब्रह्म विदुस्ते विदुः परमेष्ठिनम्॥
(अथर्व. १०।७।१७)

'जो सबसे प्रथम पुरुषमें स्थित ब्रह्मको जानते हैं, वेही परमेष्ठी प्रजापतिको भी जानते हैं।' यही ज्ञान प्राप्त करनेकी रीति है। अपने शरीरान्तर्गत आत्माको जाननेसे परमात्माका ज्ञान प्राप्त हो जाता है। इस रीतिसे इस मंत्रसे मननसे प्रथम जीवात्माका ज्ञान होगा और उसीको परम सीमातक विस्तृत रूपमें देखनेसे यही ज्ञान परमात्माका बोध करानेमें समर्थ होगा।

आत्माका परमात्मामें प्रवेश

[२]

(ऋषिः– अथर्वा । देवता– आत्मा ।)

अया विष्ठा जनयन्कर्वराणि स हि घृणिरुरुर्वराय गातुः ।
स प्रत्युदैद्धरुणं मध्वो अग्रं स्वया तन्वा तन्वमैरयत ॥ १ ॥

अर्थ— (अया वि–स्था) इस प्रकारकी विशेष स्थितिसे (कर्वराणि जनयन्) विविध कर्मोंको करता हुआ, (सः) वह (हि वराय उरुः गातुः) श्रेष्ठ देवकी प्राप्ति करनेके लिये विस्तृत मार्गरूप और (घृणिः) तेजस्वी बनता हुआ, (सः) वह (मध्वः धरुणं अग्रं प्रति उदैत्) मिठासको धारण करनेवाले अग्रभागके प्रति पहुंचनेके लिये ऊपर उठता है और (स्वया तन्वा) अपने सूक्ष्म शरीरसे उस देवके (तन्वं ऐरयत्) सूक्ष्मतम शरीरके प्रति अपने आपको प्रेरित करता है ॥ १ ॥

भावार्थ— इस प्रकार वह श्रेष्ठ कर्मोंको करता है और उस कारण वह स्वयं परमात्माके पास जानेका श्रेष्ठ मार्ग बतानेवाला होता है और दूसरोंको प्रकाश देता है। वह स्वयं मधुर अमृतको धारण करनेवाले परमात्माके समीप जानेके लिए अपने आपको उच्च करता है और समाधिस्थितिमें अपने सूक्ष्म शरीरसे परमात्माके विश्वव्यापक सूक्ष्मतम कारण शरीरके पास पहुंचनेके लिये स्वयं अपने आपको प्रेरित करता है। इस प्रकार वह स्वयं परमात्मामें प्रविष्ट हो जाता है ॥ १ ॥

आत्माका परमात्मामें प्रवेश

जीवकी शिवमें गति ।

जीवात्मा परममंगलमय शिवात्मामें गति किस प्रकार होती है इसका विचार इस सूक्तमें किया है। इसका अनुष्ठान क्रमपूर्वक कहते हैं—

१ अया वि–स्था कर्–वराणि जनयन्– इस विशेष स्थितिमें रहकर वह मुमुक्षु जीव श्रेष्ठ कर्म करता है। विशेष स्थितिमें रहनेका अर्थ है सर्व साधारण मनुष्योंकी जैसी स्थिति होती है वैसी साधारण स्थितिमें न रहना। आहार, निद्रा, भय, मैथुन आदि विषयमें तथा रहने सहनेके विषयमें साधारण मनुष्य पशुके समान ही रहते हैं। इस सामान्य स्थितिका त्याग करके मनुष्य विशेष स्थितिमें रहे अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, शुद्धता, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईशभक्ति करता हुआ मनुष्य अपने आपको विशेष परिस्थितिमें रखे और उस विशेष परिस्थितिके अनुरूप श्रेष्ठ कार्य करे। इससे उसको दो सिद्धियां प्राप्त होंगी, वे सिद्धियां ये हैं–

२ सः घृणिः— वह तेजस्वी बनता है, वह दूसरोंका मार्गदर्शक होता है, वह जनताको चेतना देनेवाला होता है, वह अपने तेजसे दूसरोंको प्रकाशित करता है। तथा–

३ सः वराय उरुः गातुः– वह श्रेष्ठ स्थानके पास जानेवाले विस्तृत मार्ग जैसा होता है। जिस प्रकार विस्तृत मार्ग पर चलनेसे प्राप्तव्य स्थानके प्रति मनुष्य विना आयास चलता जाता है, उसी प्रकार इस पुरुषका जीवन अन्य मनुष्योंके लिये विस्तृत मार्गवत् हो जाता है। तब मनुष्यको दूसरे मार्ग देखनेकी आवश्यकता नहीं रहती। महात्माओंका जीवन चरित्र देखकर और उसके अनुसार चलकर उनका जीवन सफल होजाता है और इस जगत्में जो वर अर्थात् श्रेष्ठ है, उस श्रेष्ठ परमात्माके पास वे सीधे पहुंच जाते हैं। इस रीतिसे वह सन्मार्गगामी पुरुष अन्य मनुष्योंके लिये मार्गदर्शक हो जाता है। वह मार्ग बताता नहीं अपितु लोग ही उसका चालचलन देखकर स्वयं उसका अनुकरण करके सुधर जाते हैं। अर्थात् वह मार्गदर्शक नहीं बनता प्रत्युत लोगोंके लिये विस्तृत मार्गरूप बन जाता है।

४ सः मध्वः धरुणं अग्रं प्रति उत् ऐत्– वह मधुर-

ताको धारण करनेवाले उस अन्तिम स्थानके प्रति जानेके लिये ऊपर उठता है। जिस प्रकार सूर्य उदय होकर ऊपर ऊपर चढता है और जैसे जैसे ऊपर चढता है वैसे वैसे अधिकाधिक तेजस्वी होता जाता है, उसी प्रकार यह मुमुक्षु पुरुष (उदैत्) ऊपर उठता है अर्थात् अधिकाधिक उच्च अवस्था प्राप्त करता जाता है। इसके ऊपर उठनेका हेतु यह है कि, वह (मध्वः अग्रं) मिठासके परम केन्द्रको प्राप्त करना चाहता है मधुरताकी जो जड है, जहांसे सब मधुरता फैलती है, उस स्थानको वह प्राप्त करनेका अभिलाषी होता है। और इस हेतुसे वह उच्चतर भूमिका अपने प्रयत्नसे प्राप्त करता है। और अन्तमें—

५ स्वया तन्वा तन्वं ऐरयत— अपने सूक्ष्म (स्वभाव) परमात्माके सूक्ष्मतम (स्वभाव) के प्रति अपने आपको प्रेरित करता है। इस मंत्रभागमें ' तनु ' शब्द है। लौकिक संस्कृतमें वह शरीरका वाचक है यह बात सत्य है, तथा यहां ' तनु ' शब्दके ' सूक्ष्म. शारीक, स्वभाव, गुण, विशेषता ' ये अर्थ विवक्षित हैं। ऊपर हमने तनु शब्दका सुप्रसिद्ध ' शरीर ' यह अर्थ लेकर लिखा है. तथापि हमारे मतसे इसका वास्तविक अर्थ ' जीवात्मा अपने स्वभावधर्मसे परमात्माके स्वभावधर्ममें प्रेरित होता है ' यह सर्वोत्कृष्ट है। यह अवस्था प्राप्त करनेके लिये ही पूर्वोक्त सब अनुष्ठान हैं।

इस विधिसे किया हुआ अनुष्ठान व्यर्थ नहीं जाता, अपितु हरएक अवस्थामें विशेष फल देनेवाला होता है और अन्तमें जीवात्माकी शिवात्मामें गति होती है। यही उन्नतिकी परम सीमा है।

प्राणका साधन

[४]

(ऋषिः— अथर्वा । देवता— वायुः ।)

एकया च दशभिश्चा सुहुते द्वाभ्यामिष्टये विंशत्या च ।
तिसृभिश्च वहसे त्रिंशता च वियुग्भिर्वाय इह ता वि मुञ्च ॥ १ ॥

अर्थ— हे (सुहुते वायो) उत्तम प्रकार बुलाने योग्य प्राण देवता ! (एकया च दशभिः च) एक और दससे, (द्वाभ्यां विंशत्या च) दो और बीससे तथा (तिसृभि च त्रिंशता च) तीन और तीससे तू (इष्टये वहसे) यज्ञके लिये जाता है। अतः तू (वियुग्भिः इह ताः विमुञ्च) विशेष योजनाओंसे उनको यहां मुक्त कर ॥ १ ॥

भावार्थ— हे प्रशंसायोग्य प्राण ! तू ग्यारह, बाईस और तैतीस शक्तियों द्वारा इस जीवनयज्ञमें कार्य करता है, अतः तू अपनी विशेष योजनाओं द्वारा सब प्रजाओंको दुःखोंसे मुक्त कर ॥ १ ॥

प्राणका साधन

प्राणसाधनसे मुक्ति

इस शरीरमें प्राणका शासन सर्वत्र चल रहा है यह सब जानते हैं। स्थूल शरीरमें पञ्च ज्ञानेंद्रिय; पञ्च कर्मेंद्रिय और इन दस इंद्रियोंका संयोजक मस्तिष्क ये ग्यारह शक्तियां इस प्राणके आधीन हैं। इनमेंसे प्रत्येकमें जाकर यह प्राण कार्य करता है अर्थात् ये ग्यारह प्राणके कार्यस्थान हैं। इसके अंतर सूक्ष्म शरीरमें येही वासना देहमें ग्यारह शक्तियां कार्य कर रही हैं, ये भी सबके सब प्राणके ही आधीन हैं। स्थूल शरीरकी ग्यारह और सूक्ष्म शरीरकी ग्यारह, दोनों मिलकर बाईस शक्तियां प्राणके आधीन स्वभावस्थामें रहती हैं। तीसरे मज्जातन्तुओंके ग्यारह केन्द्र जो मस्तकसे लेकर गुदातकके पृष्ठवंशमें रहते हैं और जिनके आधीन शरीरके विविध भाग कार्य करते हैं, वे भी प्राणकी शक्तिसे ही अपना कार्य करनेमें समर्थ होते हैं। ये सब मिलकर तैतीस शक्ति केन्द्र हैं,

जिनमें प्राणकी शक्ति कार्य कर रही है। मानो इन तैंतीस केन्द्रों द्वारा प्राणको चलाया जाता है। अथवा ये तैंतीस प्राणके रथके घोडे हैं, जिस रथमें बैठकर प्राण शरीरभरमें गमन करता है और वहांका कार्य करता है।

इस सूक्तमें ग्यारह, बाईस और तैंतीस प्राणको चलाते हैं ऐसा कहा है। यह संख्या इन शक्तिकेन्द्रोंकी सूचक है। यह शरीर एक यज्ञशाला है, इसमें शतसांवत्सरिक यज्ञ चलाया जा रहा है। यह यज्ञ प्राणके द्वारा होता है और प्राण इन शक्तिकेन्द्रों द्वारा इस यज्ञभूमिमें आता और कार्य करता है।

प्राणकी योजना

प्राणको (वियुग्भिः विमुञ्च) विशेष योजनासे मुक्त कर अर्थात् प्राणकी विशेष योजना की जाये तो उसके द्वारा मुक्ति प्राप्त की जा सकती है। यहां विचार करना चाहिये कि प्राणकी (वियुग्भिः) विशेष योजनायें कौनसी हैं और उनसे मुक्ति किस प्रकार प्राप्त होती है। यह देखनेके लिये पूर्वोक्त शक्तियां क्या करती हैं और इनकी स्वभाव प्रवृत्ति कैसी है यह देखना चाहिये।

हमारे पास नेत्र है, यह यद्यपि देखनेके लिये बनाया गया है तथापि यह दूसरोंकी ओर बुरी दृष्टिसे देखता है। कान शब्द श्रवण करनेके लिये बनाया गया है तथापि वह बहुत बुरे शब्द सुनता है। मुख बोलनेके लिये बनाया गया है, परंतु वह ऐसे बुरे शब्द बोलता है कि जिससे विविध झगडे उत्पन्न होते हैं। उपस्थइंद्रिय सुप्रजाजननके लिये बनायी गई है, परंतु वह व्यभिचारके लिये प्रवृत्त होती है। इस प्रकार शतसांवत्सरिक यज्ञमें संमिलित होनेवाली सब शक्तियां अयोग्य मार्गमें प्रवृत्त होती हैं। प्राणायाम करनेसे मनकी चंचलता दूर होती है और मन स्थिर होनेसे उक्त तैंतीस शक्तियां ठीक सीधे मार्गमें चलती हैं। प्राणकी विशेष योजनाएं यही हैं। इन विशेष योजनाओं द्वारा नियुक्त हुआ प्राण इन तैंतीस शक्तियोंका संयम करता है उनको बुराईयोंके विचारसे मुक्त करता है, और सत्कार्यमें प्रेरित करता है। इस प्रकार प्राणसाधनसे मुक्तिके मार्ग पर चलना सुगम होता है।

आत्मयज्ञ

[५]

(ऋषिः- अथर्वा 'ब्रह्मवर्चसकामः'। देवता- आत्मा।)

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः ॥ १ ॥

अर्थ— (देवाः यज्ञेन यज्ञं अयजन्त) देवगण यज्ञसे यज्ञ पुरुषकी पूजा करते हैं। (तानि धर्माणि प्रथमानि आसन्) वे धर्म उत्कृष्ट हैं। (ते महिमानः नाकं सचन्ते) वे महत्त्व प्राप्त करते हुए सुखपूर्ण लोकको प्राप्त होते हैं, (यत्र पूर्वे साध्याः देवाः सन्ति) जहां पूर्वके साधनसंपन्न देव रहते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ— श्रेष्ठ याजक अपनी आत्माके योगसे परमात्माकी उपासना करते हैं, यह मानसोपासनाकी यज्ञविधि सबसे श्रेष्ठ और मुख्य है। इस प्रकारकी उपासना करनेवाले श्रेष्ठ उपासकही उस सुखपूर्ण स्वर्गधामको प्राप्त करते हैं कि जिसे पूर्वकालके साधक प्राप्त हुए हैं ॥ १ ॥

यज्ञो बभूव स आ बभूव स प्र जज्ञे स उ वावृधे पुनः ।
स देवानामधिपतिर्बभूव सो अस्मासु द्रविणमा दधातु ॥ २ ॥
यद्देवा देवान्हविषायजन्तामर्त्यान्मनसामर्त्येन ।
मदेम तत्र परमे व्योमन्पश्येम तदुदितौ सूर्यस्य ॥ ३ ॥
यत्पुरुषेण हविषा यज्ञं देवा अतन्वत ।
अस्ति नु तस्मादोजीयो यद्विहव्येनेजिरे ॥ ४ ॥
मुग्धा देवा उत शुनायजन्तोत गोरङ्गैः पुरुधायजन्त ।
य इमं यज्ञं मनसा चिकेत प्र णो वोचस्तमिहेह ब्रवः ॥ ५ ॥

अर्थ— (यज्ञः बभूव) यज्ञ प्रकट हुआ, (सः आबभूव) वह सर्वत्र फैला, (सः प्रजज्ञे) वह विशेष रीतिसे ज्ञानका साधन हुआ और (सः उ पुनः वावृधे) वह फिर बढने लगा। (सः देवानां अधिपतिः बभूव) वह देवोंका अधिपति बन गया, (सः अस्मासु द्रविणं आ दधातु) वह हममें धन स्थापित करे ॥ २ ॥

(देवाः यत् अमर्त्यान् देवान्) देव जहां अमर देवोंका (हविषा अमर्त्येन मनसा अयजन्त) अपने हविरूप अमर मनसे यजन करते हैं (तत्र परमे व्योमन् मदेम) वहां उस परम आकाशमें हम सब आनंद प्राप्त करते हैं। और वहां (सूर्यस्य उदितौ तत् पश्येम) सूर्यका उदय होनेपर उसका वह प्रकाश देखते हैं ॥ ३ ॥

(यत् देवाः) जो देवोंने (पुरुषेण हविषा यज्ञं अतन्वत) पुरुषरूपी हविसे यज्ञ किया, (तस्मात् ओजीयः नु अस्ति) उससे अधिक बलवान् क्या है ? (यत् विहव्येन ईजिरे) जो विशेष यजन द्वारा होता है ॥ ४ ॥

(मुग्धाः देवाः) मूढ याजक (उत शुना अयजन्त) कुत्तेसे यजन करते हैं (उत गोः अंगैः पुरुधा अयजन्त) गौके अवयवोंसे बहुत प्रकार यजन करते हैं। (यः इमं यज्ञं मनसा चिकेत) जो इस यज्ञको मनसे करना जानता है, वह (इह नः प्रवोच्यः) यहां हमें उसका ज्ञान देवे और (इह तं ब्रवः) यहां उसका उपदेश करे ॥ ५ ॥

भावार्थ— यह मानसोपासनारूपी यज्ञ पहिले प्रकट हुआ, यह सर्वत्र फैला, उसको सबने जाना और वह फिर बहुत विस्तृत हो गया। वह संपूर्ण उपासकोंका मानों, स्वामी बन गया। यह यज्ञ हमें धन समर्पण करे ॥ २ ॥

याजकोंने जब अमर देवोंकी उपासना अपने अमर्त्य शक्तिसे युक्त मनके द्वारा की, तब सबको आनंद प्राप्त हुआ और जिस प्रकार सूर्योदय होनेसे प्रकाश प्राप्त होता है उसी प्रकार यज्ञसे सबको आनंद मिलता है ॥ ३ ॥

याजक जो यज्ञ अपनी आत्मारूपी हविसे किया करते हैं, उससे अधिक श्रेष्ठ यज्ञ भला और कौनसा हो सकता है ? जो कि विविध हविर्द्रव्योंके हवनसे प्राप्त हो सकता है ॥ ४ ॥

वे याजक मूढ हैं कि जो कुत्ते, गौ आदि पशुओंके अंगोंसे हवन करते हैं। जो याजक इस मानसिक यज्ञको मनसे करना जानता है वह ज्ञानीही यज्ञका उपदेश करे और यज्ञके महत्त्वका कथन करे ॥ ५ ॥

आत्मयज्ञ

मानस और आत्मिक यज्ञ।

यज्ञ बहुत प्रकारके हैं, उनमें सबसे श्रेष्ठ मानस यज्ञ अथवा आत्मिक यज्ञ है। मनका समर्पण करनेसे मानस यज्ञ होता है। और आत्माका समर्पण करनेसे आत्मयज्ञ हुआ करता है। दोनोंका करीब करीब भाव एक ही है। यह समर्पण परमेश्वरके लिये करना होता है। परमेश्वरके कार्य इस जगत्में जो होते हैं, उनमेंसे—

(१) सज्जनोंकी रक्षा

*

(२) दुष्ट जनोंको दूर करना और
(३) धर्मकी व्यवस्था

ये तीन कार्य परमात्माके लिये मनुष्य कर सकता है। परमात्माके अनंत कार्य हैं, परंतु मनुष्य उन सब कार्योंको कर नहीं सकता। ये तीन कार्य अपनी शक्तिके अनुसार कर सकता है। इसलिये जब मनुष्य अपने आपको इन तीन कार्योंके लिये समर्पित करता है, तब उसका समर्पण परमेश्वरके लिये हुआ हुआ माना जाता है। मनसे और अपनी आत्माकी शक्तियोंसे उक्त त्रिविध कार्य करनेका नाम ही अपने मनका और आत्माका परमेश्वरार्पण करना है।

प्रत्येक यज्ञमें भी तीन कार्य करने होते हैं।

(१) (पूजा) श्रेष्ठोंका सत्कार,
(२) अपने अंदर (संगतिकरण) संगतिकरण किंवा संघटन
(३) और (दान) दुर्बलोंकी सहायता।

प्रत्येक यज्ञमें ये तीन कार्य होने ही चाहिये। इनके बिना यज्ञ सुफल और सफल नहीं होगा। मनका और आत्माका समर्पण करके जो यज्ञ करना है, वह भी इन तीन कर्मोंके साथ ही करना है। इनके बिना यज्ञ ही नहीं होगा। अर्थात्—

(१) सज्जनोंकी रक्षा करके उनका सत्कार करना, (२) दुर्जनोंको दण्ड देकर दूर करना और पुनः दुर्जन कष्ट न देवें इसलिये अपनी उत्तम संघटना करना और (३) धर्मकी व्यवस्था करके जो दुर्बल हों उनकी योग्य सहायता करना, यह त्रिविध यज्ञकर्म है।

यह त्रिविध कर्म अपने मनःसमर्पण और आत्मसमर्पण द्वारा करने चाहिये। जिस कार्यमें मन और आत्मा दोनों लग जाते हैं वही कार्य ठीक होता है। अपने हस्तपादादि अवयव और इंद्रिय मनके बिना कार्य नहीं कर सकते, मन और आत्माके समर्पण करनेका उपदेश करनेसे अपनी शक्तियोंका समर्पण ही मानना चाहिये। इस सूक्तके तृतीय मंत्रमें कहा है कि—

अमर्त्येन मनसा हविषा देवान् यजन्त। (मं. ३)

'अमर मनरूपी हविसे देवोंका यजन करते हैं।' घीका हवन करनेका अर्थ घी उस देवताके लिये समर्पित करना और उसका स्वयं उपभोग न करना है। 'इन्द्राय इदं हविः दत्तं न मम।' इन्द्र देवताके लिये यह घृतादि हवि समर्पित की है इस पर अब मेरा अधिकार नहीं है और न मैं इसका अपने सुखके लिये उपयोग करूंगा।' इसी प्रकार अपने मन और आत्माके समर्पण करनेका तात्पर्य ही यज्ञ है। अपना मन और आत्मा परमेश्वरके लिये एक बार दे देने पर उससे फिर सुदगर्जीके कार्य नहीं किये जा सकते। जो पूर्वोक्त ईश्वरके कार्य हैं, वेही किये जांयगे। जिस प्रकार घृतादि पदार्थ यज्ञमें दिये जाते हैं, उसी प्रकार इस मानस-यज्ञमें मनका समर्पण किया जाता है और आत्मयज्ञमें आत्म-सर्वस्वका समर्पण किया जाता है। अन्य घृतादि बाह्य पदार्थोंका समर्पण करनेके द्वारा जो यज्ञ किया जाता है, उससे कई गुना श्रेष्ठ वह यज्ञ होगा कि, जो आत्मसमर्पण और मानस समर्पणसे होगा। इसीलिये कहा है कि—

तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्। (मं. १)

'ये मानस यज्ञरूप कर्म प्रथम श्रेणीके हैं।' अर्थात् ये सबसे श्रेष्ठ कर्तव्य हैं। एक मनुष्य घृत, समिधा आदिके हवनसे यज्ञ करता है और दूसरा आत्मसमर्पणसे यज्ञ करता है, इन दोनोंमें आत्मसमर्पण करनेवाला ही श्रेष्ठ है। इसका वर्णन इस सूक्तमें इन शब्दोंसे हुआ है—

यत् पुरुषेण हविषा यज्ञं देवा अतन्वत।
अस्ति नु तस्मादोजीयो यद्विहव्येनेजिरे ॥ (मं. ४)

'याजक लोग जो यज्ञ (अपने अंदरके प्रकृति पुरुषोंमेंसे) पुरुष अर्थात् आत्माके समर्पण द्वारा किया करते हैं, उससे कौनसा दूसरा यज्ञ श्रेष्ठ है, जो दूसरे यज्ञ (आत्मासे भिन्न) प्राकृतिक पदार्थोंके समर्पणसे किये जाते हैं? वे तो उससे निःसन्देह गौण हैं। मनुष्यके पास प्रकृति और पुरुष, जड और चेतन, देह और आत्मा ये दोही पदार्थ हैं, इनमें पुरुष अथवा चेतन आत्मा श्रेष्ठ और प्रकृति गौण है। अन्य यज्ञ प्राकृतिक पदार्थोंके समर्पणसे होते हैं इसलिये वे गौण हैं, और यह मानसिक अथवा आत्मिक यज्ञ आत्मसमर्पण द्वारा होता है, इसलिये वह श्रेष्ठ है। श्रेष्ठ यज्ञ तो ज्ञानी याजक ही कर सकते हैं, साधारण हीन अवस्थामें रहनेवाले मूढ मनुष्य जो करते हैं, वह तो एक निन्दनीय ही कर्म होता है—

मुग्धा देवा उत शुनायजन्तोत गोरङ्गैः पुरुधायजन्त।
य इमं यज्ञं मनसा चिकेत प्र णो वोचस्तमिहेह ब्रवः ॥ (मं. ५)

'मूढ याजक कुत्तेके अंगोंसे और गौवोंके अवयवोंसे यजन करते हैं।' मूढ लोगोंके इस कृत्यको मूढताका ही कृत्य कहा जाता है। इसको कोई श्रेष्ठ कर्म नहीं कह सकता। 'जो श्रेष्ठ याजक इस आत्मयज्ञको मनसे करनेकी विधि जानते हैं, वेही

यहां आकर उस यज्ञका उपदेश करें ।' पूर्वोक्त मांसयज्ञकी अपेक्षा यह मानस यज्ञ बहुत श्रेष्ठ है । जो मानसयज्ञ करना जानते हैं वेही उपदेश करनेके अधिकारी हैं । इस मानस-यज्ञकी महिमा देखिये—

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि
धर्माणि प्रथमान्यासन् ।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त
यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः ॥ (मं. १)

'इस आत्मयज्ञसे याजक परमात्माकी पूजा करते हैं। आत्मयज्ञ द्वारा परमात्मपूजा करना श्रेष्ठ कार्य है। ये याजक श्रेष्ठ होकर उस स्वर्गधाममें पहुंचते हैं कि, जहां पहिले साधन करनेवाले पहुंच चुके हैं ।' इस प्रकार इस आत्मयज्ञकी महिमा है । किसी दूसरे गौण यज्ञसे यह श्रेष्ठ फल प्राप्त नहीं हो सकता । यह आत्मयज्ञ ही सबसे श्रेष्ठ है—

यज्ञो बभूव, स आबभूव,
स प्रजज्ञे, स उ वावृधे पुनः ।
स देवानामधिपतिर्बभूव,
सोऽस्मासु द्रविणमादधातु ॥ (मं. २)

'यह आत्मयज्ञ प्रकट हुआ, यह आत्मयज्ञ सर्वत्र फैल गया, उसके महत्त्वको सबने जान लिया, इस कारण वह बढ गया, यहांतक बढ गया कि वह देवोंका भी अधिपति बन गया, उससे हमें महत्त्व प्राप्त होवे ।'

यह सबसे श्रेष्ठ आत्मयज्ञ ही हमारा महत्त्व बढानेमें समर्थ है । इसकी तुलना किसी दूसरे गौण यज्ञसे नहीं हो सकती । इस यज्ञमें (**मनसा हविषा यजन्त** । (मं० ३) मनरूप हविका समर्पण करना होता है । और इस यज्ञके करनेसे मनुष्य—

तत्र परमे व्योमन् मदेम । (मं० ३)

'उस परम आकाशमें आनन्दको प्राप्त होंगे ' यह इस यज्ञके करनेका फल है । इसमें ' परम ' शब्द विशेष मनन करने योग्य है । ' पर, परतर, परतम, ' ये शब्द एकसे एक श्रेष्ठत्वके दर्शक हैं, इनमेंसे ' परतम ' शब्दका ही संक्षिप्त रूप ' पर–म ' है, बीचके ' त ' कारका लोप हो गया है । अर्थात् जो सबसे श्रेष्ठ होता है वह ' परतम किंवा परम ' है । इस अवस्थाके पूर्वकी दो अवस्थाएँ पर और परतर इन दो शब्दों द्वारा बतायी जाती हैं । अर्थात् व्योम तीन प्रकारके हैं (१) एक पर व्योम, (२) दूसरा परतर व्योम और (३) तीसरा परतम किंवा परम व्योम । आधुनिक परिभाषामें यदि यही भाव बोलना हो तो ' सूक्ष्म, कारण और महाकारण ' अवस्था इन तीन शब्दोंसे ' पर, परतर और परतम व्योम ' इनका भाव व्यक्त होता है ' व्योमन् ' शब्द भी विशेष महत्त्वका है। इसमें ' वि+ओम्+अन् ' ये तीन शब्द हैं, इनका क्रम-पूर्वक अर्थ ' प्रकृति+परमात्मा और जीवात्मा ' है । सूक्ष्म, कारण और महाकारण अवस्थाओंमें प्रकृति, जीव और परमात्माका जो अनुभव होता है वह इन तीन शब्दोंसे व्यक्त होता है । इन तीन अनुभवोंमें सबसे श्रेष्ठ अनुभव ' परम व्योम ' शब्दसे व्यक्त होता है । और यह इस सूक्तमें कहे गए आत्मयज्ञके करनेसे प्राप्त होता है । अन्य गौण यज्ञोंके करनेसे जो अनुभव मिलेंगे वे इससे न्यून श्रेणीके अर्थात् गौण होंगे क्योंकि, वे अन्य यज्ञ भी इस आत्मयज्ञसे गौण ही हैं । गौणका फल गौण और श्रेष्ठ कर्मका फल श्रेष्ठ होना स्वाभाविक ही है । इस आत्मयज्ञके करनेसे जो परम व्योममें उच्चतम अवस्था प्राप्त होकर फल अनुभवमें आता है। वह कैसा अनुभव होता है इस विषयमें एक दृष्टांत देते हैं—

सूर्यस्य उदितौ तत् पश्येम । (मं. ३)

' सूर्यका उदय होनेपर जैसे उसका प्रकाश दिखाई देता है, उसी प्रकार हम उस आनन्दका प्रत्यक्ष अनुभव लेंगे।' अर्थात् जैसा सूर्यप्रकाश भूमिपर रहनेवालोंको दिनमें प्रत्यक्ष होता है, उसी प्रकार इस तृतीय व्योममें संचार करनेवाली श्रेष्ठ आत्माओंको वहांका सुख प्रत्यक्ष होता है । जैसे यहांका यह सूर्य प्रत्यक्ष है उसी प्रकार वहां भी एक इस सूर्यका सूर्य है जो वहीं प्रत्यक्ष होगा ।

इस प्रकार आत्मयज्ञका फल इस सूक्तमें कहा है । इस सूक्तमें (**पुरुषेण हविषा** । मं. ४) पुरुष अर्थात् आत्मा-रूपी हविसे यज्ञ तथा (**मनसा हविषा** । मं. ३) मनरूपी हविसे यज्ञ करनेका विधान है । जिस प्रकार ' **सोम** ' का हवन होनेसे ' **सोमयाग** ' कहा जाता है, अज संज्ञक बीजोंका हवन होनेसे ' **अजमेध** ' कहा जाता है, उसी प्रकार ' **पुरुष** ' अर्थात् आत्माका समर्पण होनेसे ' **पुरुषयज्ञ, आत्मयज्ञ** ' तथा ' **मन** ' का हवन होनेसे ' **मानसयज्ञ** ' कहा जाता है । उसी प्रकार भगवद्गीता (भ. गी. अ. ४) में ' **द्रव्ययज्ञ, तपोयज्ञ, स्वाध्याययज्ञ, ज्ञानयज्ञ, ब्रह्मयज्ञ, इंद्रिययज्ञ, विषययज्ञ, कर्मयज्ञ, योगयज्ञ, प्राणयज्ञ** ' इत्यादि यज्ञ कहे हैं । जिस यज्ञमें जिसका समर्पण होता वह नाम उस यज्ञका होता है ।

' पुरुष ' रूपी हविका समर्पण होनेसे इस सूक्तमें वर्णित यज्ञको ' पुरुषयज्ञ ' कहते हैं । यहां प्रकृतिपुरुषान्तर्गत पुरुष शब्द यहां विवक्षित है और वह आत्माका वाचक है । इस सूक्तमें ' पुरुषयज्ञ अथवा पुरुषमेध ' का अर्थ स्पष्ट हुआ है ।

पुरुषमेध ।

पुरुषमेध प्रकरण पुरुषसूक्तमें है। यह पुरुषसूक्त ऋग्वेद (मं. १०।९०) में है, वा. यजुर्वेद (अ. ३०)में है। सामवेदमें थोडा है और अथर्ववेद (कां. १९।६) में है।

इस पुरुषसूक्तमें जिस पुरुषमेध यज्ञका वर्णन है, वही यज्ञ इस सूक्तमें कहा है। इसलिये इस सूक्तका विचार ठीक प्रकार होनेसे 'पुरुषसूक्त' के यज्ञका स्वरूप उत्तम प्रकार ध्यानमें आ सकता है। दोनों सूक्तोंमें एक ही विषयका वर्णन हुआ है। तथा इस सूक्तमें आये हुए 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त०' तथा 'यत्पुरुषेण हविषा०' ये मंत्र भी पुरुष सूक्तमें आये हैं। इससे दोनों सूक्तोंका विषय एक ही है, यह बात सिद्ध है। पुरुषसूक्तमें कई लोग मनुष्यके हवनका विषय है ऐसा मानते हैं, वह अत्यंत अयुक्त है, यह बात इस सूक्तके साथ पुरुषसूक्तका मनन करनेसे स्पष्ट होगी। हमारे मतसे पुरुषसूक्तमें भी इसी आत्मयज्ञका ही विषय है।

मातृभूमिका यश

[६ (७)]

(ऋषिः- अथर्वा । देवता- अदितिः ।)

अदि॑ति॒र्द्यौरदि॑तिर॒न्तरि॑क्ष॒मदि॑तिर्मा॒ता स पि॒ता स पु॒त्रः ।
विश्वे॑ दे॒वा अदि॑तिः॒ पञ्च॒ जना॒ अदि॑तिर्जा॒तमदि॑ति॒र्जनि॑त्वम् ॥ १ ॥

म॒हीमू॒ षु मा॒तरं॑ सुव्र॒तानां॑मृ॒तस्य॒ पत्नी॒मव॑से हवामहे ।
तु॒वि॒क्ष॒त्राम॒जर॑न्तीमुरू॒चीं सु॒शर्मा॑ण॒मदि॑तिं सु॒प्रणी॑तिम् ॥ २ ॥

अर्थ— (अदितिः द्यौः) मातृभूमि स्वर्ग है, (अदितिः अन्तरिक्षं) मातृभूमि अन्तरिक्ष है, (अदितिः माता) मातृभूमि ही माता है, (सः पिता सः पुत्रः) वही पिता है और वही पुत्र है। (अदितिः विश्वेदेवाः) मातृभूमि ही सब देव है, (अदितिः पञ्च जनाः) मातृभूमि ही पांच प्रकारके लोग है, (अदितिः जातं) मातृभूमि ही उत्पन्न हुए पदार्थ है और (अदितिः जनित्वं) उत्पन्न होनेवाले पदार्थ भी मातृभूमि ही हैं ॥ १ ॥

(सुव्रतानां मातरं) उत्तम कर्म करनेवालोंका हित करनेवाली, (ऋतस्य पत्नीं) सत्यका पालन करनेवाली, (तुवि-क्षत्रां) बहुत प्रकारसे क्षात्रतेज दिखानेवाली, (अ-जरन्तीं) क्षीण न करनेवाली, (उरूचीं) विशाल, (सु-शर्माणं) उत्तम सुख देनेवाली, (सु-प्र-नीतिं) सुखसे योगक्षेम चलानेवाली और (अदितिं महीं) अन्न देनेवाली बडी मातृभूमिकी (अवसे सुहवामहे उ) रक्षाके लिये हम प्रशंसा करते हैं ॥ २ ॥

भावार्थ— मातृभूमि ही हमारा स्वर्ग है, वही अन्तरिक्ष है, वही माता, पिता और पुत्रपौत्र है, वही हमारे सब देवता है और वही हमारी जनता है, बना हुआ और बननेवाला सब कुछ पदार्थ हमारे लिये मातृभूमि ही है ॥ १ ॥

मातृभूमि उत्तम पुरुषार्थी मनुष्योंकी रक्षा करती है, सत्यकी रक्षक वही है, उसी मातृभूमिके लिये अनेक प्रकारके क्षात्रतेज प्रकाशित होते हैं, मातृभूमि क्षीण न करनेवाली है, विशाल सुख देनेवाली है, हमें उत्तम मार्गपर चलानेवाली और हमें अन्न देनेवाली है, उससे हमारी रक्षा होती है, इसलिये हम उसका यश गाते हैं ॥ २ ॥

सुत्रामाणं पृथिवीं द्यामनेहसं सुशर्माणमदितिं सुप्रणीतिम् ।
दैवीं नावं स्वरित्रामनागसो अस्रवन्तीमा रुहेमा स्वस्तये ॥ ३ ॥
वाजस्य नु प्रसवे मातरं महीमदितिं नाम वचसा करामहे ।
यस्या उपस्थे उर्व१न्तरिक्षं सा नः शर्म त्रिवरूथं नि यच्छात् ॥ ४ ॥

अर्थ— (सुत्रामाणं) उत्तम रक्षा करनेवाली, (द्यां अनेहसं) प्रकाशयुक्त और अहिंसक, (सुशर्माणं सुप्रणीतिं) उत्तम सुख देनेवाली और उत्तम योगक्षेम चलानेवाली (सुअरित्रां अस्रवन्तीं दैवीं नावं) उत्तम बल्लियोंवाली, न चूनेवाली दिव्य नौका पर चढनेके समान (पृथिवीं) मातृभूमि पर (अनागसः स्वस्तये आरुहेम) पापरहित हम कल्याणके लिये चढते हैं ॥ ३ ॥

(वाजस्य प्रसवे) अन्नकी उत्पत्ति करनेके लिये (अदितिं मातरं महीं) अन्न देनेवाली बडी मातृभूमिका (नाम वचसा करामहे) वक्तृत्वसे यश गाते हैं । (यस्याः उपस्थे उरु अन्तरिक्षं) जिसकी गोदमें विशाल अन्तरिक्ष है, (सा नः त्रिवरूथं शर्म नियच्छात्) वह मातृभूमि हम सबको त्रिगुणित सुख देवे ॥ ४ ॥

भावार्थ— उत्तम बल्लियोंवाली, न चूनेवाली नौकाके ऊपर चढनेके समान हम उत्तम रक्षक, तेजस्वी, अविनाशक, सुखदायक, उत्तम चालक मातृभूमिके ऊपर हम अपने कल्याणके लिये उन्नत होते हैं ॥ ३ ॥

अन्नकी उत्पत्ति करनेके लिये अन्न देनेवाली मातृभूमिके यशका हम गायन करते हैं । जिसके ऊपर यह बडा अन्तरिक्ष है, वह मातृभूमि हमें उत्तम सुख देवे ॥ ४ ॥

मातृभूमिका यश

मातृभूमिका यश

इस सूक्तमें मातृभूमिके यशका वर्णन किया है । मातृभूमि सचमुच उत्तम कल्याण करनेवाली है, इसका वर्णन देखिये—

१ अदितिः—(अदनात् अदितिः) अदन अर्थात् भक्षण करनेके लिए अन्न देती है । अपनी मातृभूमि हमें अन्न देती है, इसीलिये हमारा (द्यौः) स्वर्गधाम वही है । हमारी माता पिता भी वही है, क्योंकि माता पिताके समान मातृभूमि हमारा पालन करती है । पुत्रादि भी वही है, क्योंकि (पुनाति त्रायते) हमें पवित्र करनेवाली और हमारी रक्षा करनेवाली भी वही है । इसके अतिरिक्त यह हमें पुष्ट करती है और उस कारण हमारी संतति उत्पन्न होती है, इसलिये वह सन्तान उसीकी दयासे होती है, ऐसा मानना युक्तियुक्त है । हमारे त्रिलोकीके सुख मातृभूमिके कारण ही हमें प्राप्त होते हैं । (मं० १)

२ विश्वेदेवा अदितिः— सब देवता हमारे लिये हमारी मातृभूमि हैं । अर्थात् मातृभूमिकी उपासनासे सब देवताओंकी उपासना करनेका श्रेय प्राप्त होता है । (मं. १)

३ पञ्चजनाः अदितिः— हमारी मातृभूमि ही पांच प्रकारके लोग हैं । ज्ञानी, शूर, व्यापारी, कारीगर और अशिक्षित ये पांच प्रकारके लोग प्रत्येक राष्ट्रमें रहते हैं । मातृभूमि इन्हींसे पूर्ण होती है, इसलिये कहा जाता है कि, मातृभूमि ये पांच प्रकारके लोग हैं और ये पांच प्रकारके लोग ही मातृभूमि है । अर्थात् मातृभूमिका अर्थ इन पांच प्रकारके लोगोंके साथ अपनी भूमि है । (मं. १)

४ जातं जनित्वं अदितिः— पूर्वकालमें बना हुआ और भविष्यमें बननेवाला सब मातृभूमिमें ही रहता है । पूर्वकालमें हमने बर्ताव कैसे किया यह भी मातृभूमिकी आजकी व्यवस्थासे पता लग सकता है और मातृभूमिकी अवस्था भविष्यकालमें कैसी होगी, यह भी आजके हमारे व्यवहारसे समझमें आसकता है । (मं. १)

५ सुव्रतानां माता— उत्तम सत्कर्म करनेवाले मनुष्योंका यह मातृभूमि माताके समान हित करनेवाली हैं । (मं. २)

६ ऋतस्य पत्नी— सत्यव्रतका पालन करनेवाली अर्थात् सत्यनिष्ठ रहनेवालोंका पालन करनेवाली मातृभूमि है । (मं. २)

७ तुविक्षत्रा— जिसके कारण विविध शौर्य करनेके लिये उत्साह उत्पन्न होता है, ऐसी यह मातृभूमि है। (मं. २)

८ अजरन्ती— जो इसकी भक्ति करते हैं उनको यह क्षीण, दीन और अशक्त नहीं बनाती। (मं० २)

९ सुशर्मा— उत्तम सुख देनेवाली मातृभूमि है। (मं० २-३)

१० सुप्रणीतिः— (सु-प्र-नीतिः) उत्तम मार्गसे चलानेवाली, उत्तम अवस्थाको पहुंचानेवाली मातृभूमि है। (मं० २-३) नीति शब्द यहां चलानेके अर्थमें है।

११ अनेहस्— (अहननीया) जो घात करनेके अयोग्य अथवा जो स्वयं भी दूसरोंका घात नहीं करती है, ऐसी यह मातृभूमि है। (मं० ३)

१२ स्वस्तये आरुहेम— अपने कल्याणके लिये हम अपनी मातृभूमिमें रहते हैं। मातृभूमिमें हम यदि न रहें तो हमारा कल्याण कभी नहीं हो सकता। जो अपनी मातृभूमिमें रहते है उन्हींका कल्याण होता है। (मं० ३)

१३ स्वरित्रा अस्रवन्ती दैवी नौः— जिस प्रकार उत्तम बल्लियोंवाली, न चूनेवाली दिव्य नौका समुद्रसे पार करनेमें सहायक होती है, उसी प्रकार यह मातृभूमि हमें दुःखसागरसे पार करानेके लिये दिव्य नौकाके समान है। (मं० ३)

१४ वाजस्य प्रसवे मातरं महीं वचसा नाम करामहे— अन्नकी विशेष उत्पत्ति करनेके कार्यमें हम सब मातृभूमिके यशका वाणीसे गान करते हैं। मातृभूमि हमें बहुत अन्न देती है, इस कारण उसकी हम बहुत प्रशंसा करते हैं। इस प्रकार मातृभूमिका गीत गाना प्रत्येक मनुष्यका कर्तव्य है। (मं० ४)

१५ सा नः त्रिवरूथं शर्म नियच्छात्— वह मातृभूमि हमें तीन गुना सुख देती है। अर्थात् स्थूल शरीरका, इन्द्रियोंका और मनका सुख इस प्रकार यह त्रिविध सुख देती है। (मं० ४)

इस सूक्तमें मातृभूमिका गुणवर्णन किया है। यह प्रत्येक मनुष्यको ध्यानमें धारण करने योग्य है। मनुष्यके लिये मातापिता मातृभूमि ही है। इसीलिये जन्मभूमिको 'मातृभूमि' तथा 'पितृदेश' भी कहते हैं। इस प्रकार पुत्रभूमि भी यही है। उत्तम पुरुषार्थी लोगोंके लिये यही स्वर्गधाम होता है अर्थात् पुरुषार्थ न करनेवालोंके लिये यह नरक हो जाता है। इसका कारण मनुष्योंका गुण या दोष ही है। मातृभूमिकी उचित रीतिसे भक्ति करें और उन्नतिको प्राप्त करें।

अदिति शब्द।

'अदिति' शब्द वेदमें कई स्थानोंमें विलक्षण अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। एक अदिति शब्द 'अद्=भक्षण करना' इस धातुसे बनता है। इसका अर्थ 'अन्न देनेवाली' ऐसा होता है। यह शब्द इस सूक्तमें है। 'गौ' अदिति है क्योंकि वह दूध देती है, भूमि अदिति है क्योंकि वह अन्न, धान्य, वनस्पति आदि देती है, द्यौ अदिति है क्योंकि द्युलोकसे जल बर्षता है और उससे अन्नपान मनुष्योंको मिलता है। इस प्रकार अन्न देनेवालेके अर्थमें यह अदिति शब्द है। परन्तु उसका दूसरा भी अर्थ है अथवा मानो वह अदिति शब्द दूसरा ही है। वह (अ+दिति) जो दिति अर्थात् खण्डित अथवा प्रतिबंधयुक्त नहीं वह अदिति 'स्वतन्त्रता' है। ये दो शब्द परस्पर भिन्न हैं। इनमें पहिला शब्द इस सूक्तमें प्रयुक्त है।

मातृभूमिके भक्तोंका सहायक ईश्वर

[७ (८)]

(ऋषिः- अथर्वा । देवता- अदितिः ।)

दितेः पुत्राणामदितेरकारिषमवं देवानां बृहतामनर्मणाम् ।
तेषां हि धाम गभिषक्समुद्रियं नैनान्नमसा परो अस्ति कश्चन ॥ १ ॥

अर्थ- (दितेः) प्रतिबंधकाके (तेषां पुत्राणां) निर्माता उन पुत्रोंका (धाम समुद्रियं गभिषक् हि) निवास समुद्रके गंभीर स्थानमें है । वहांसे उनको (अदितेः बृहतां अनर्मणां देवानां) स्वाधीनतासे युक्त मातृभूमिके बडे अहिंसाशील दैवी गुणोंसे युक्त सुपुत्रोंके लिये (अव अकारिषं) हटाता हूं । क्योंकि (एनान् मनसा परः) इनके मनसे अधिक योग्य (कश्चन न अस्ति) कोई भी नहीं है ॥ १ ॥

भावार्थ- पराधीनता फैलानेवाले राक्षस अथवा असुर समुद्रके मध्यमें बहुत गहरे स्थानमें रहते हैं । वहांसे उनको हटाता हूं और मातृभूमिकी स्वाधीनता संपादन करनेवाले श्रेष्ठ दैवी गुणोंसे युक्त अहिंसाशील सज्जनोंके लिए योग्य स्थान बनाता हूं । क्योंकि इन सज्जनोंसे कोई दूसरा अधिक योग्य नहीं है ॥ १ ॥

मातृभूमिके भक्तोंका सहायक ईश्वर

दिति और अदिति

दिति और अदिति शब्दोंके अर्थ विशेष रीतिसे यहां देखने चाहिये । कोशोंमें इन शब्दोंके अर्थ निम्नलिखित प्रकार मिलते हैं-

(१) अदिति- स्वतन्त्रता, स्वातंत्र्य, मर्यादा न रहना, अमर्याद, अखण्डित, सुखी, पवित्र, पूर्णत्व, वाणी, पृथ्वी, गौ, देवमाता इत्यादि अर्थ अदितिके हैं ।

(२) दिति- खण्डित, पराधीनता, मर्यादित, दुःखी, अपवित्र, अपूर्णत्व, राक्षसमाता ये अर्थ दितिके हैं ।

अदितिकी प्रजा 'देवता' है और दितिकी प्रजा 'राक्षस' है । यह सब महाभारतादि ग्रंथोंमें वर्णित हुआ हुआ विषय है । इस सूक्तमें (दितेः पुत्राणां) दितिके पुत्रोंका स्थान अर्थात् राक्षसोंका स्थान नष्ट करके देवोंको सुख देता हूं, ऐसा परमेश्वर द्वारा कहा गया है । दितिके पुत्रोंका स्थान समुद्रमें गहरे स्थानमें है, यह एक उस स्थानके प्रवेश योग्य न होनेका संकेत है । वस्तुतः राक्षस जैसे समुद्रमें रहते हैं वैसे भूमिपर भी रहते हैं । गीतामें राक्षसोंके गुणोंका वर्णन इस प्रकार है-

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च ।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ संपदमासुरीम् ॥
(भ. गी. १६।४)

'दंभ, दर्प, अभिमान, क्रोध, कठोरता और अज्ञान ये राक्षसी गुण हैं । अर्थात् जो दंभी, घमण्डी, अभिमानी, क्रोधी, कठोर और अज्ञानी अर्थात् बन्धमुक्त होनेका ज्ञान जिनको नहीं है, ऐसे लोग राक्षस होते हैं । ये ऐसे हैं इसी लिये इनके व्यवहारसे पारतन्त्र्य दुःख आदि फैलते हैं और जो इनकी सङ्गतमें आते हैं, वे भी पराधीन बनते हैं । इसी लिये मन्त्रमें कहा है कि, ऐसे दुष्टोंको मैं उखाड देता हूं और देवोंका स्थान सुदृढ करता हूं ।

अदितिके पुत्र देव हैं । परमेश्वर इनकी सहायता करता है । राक्षसोंको दूर करना भी इसीलिये है कि, वहां देव सुदृढ बनें । दैवी गुण ये हैं-

'निर्भयता, पवित्रता, बन्धमुक्त होनेका ज्ञान, दान, इंद्रियदमन, यज्ञ, स्वाध्याय, तप, सरलता, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शान्ति, चुगली न करना, भूतोंपर दया, अलोभ, मृदुता, बुरा कर्म करनेके लिये लज्जा, तेजस्विता, क्षमा, धैर्य, शुद्धता, अद्रोह, घमण्ड न करना इत्यादि गुण देवोंके हैं । (भ. गी १६।१-३) ये गुण जिनमें हैं वे देव हैं । देव ही स्वतन्त्रता-स्थापन करनेका कार्य करते हैं ।

परमेश्वर राक्षसवृत्तिवाले लोगोंका अन्तमें नाश करता है इसका कारण यही है कि, वे जगत्में पराधीनता और दुःख बढाते हैं । और वह दैवीवृत्तिवालोंकी सहायता इसीलिये करता है कि, वे देव जगत्में स्वातन्त्र्य वृत्ति फैलाते हैं और सबको सुखी करनेमें दत्तचित्त रहते हैं । इसलिये मन्त्रमें कहा है कि (एनान् परः कश्चन नास्ति) इन देवोंसे श्रेष्ठ कोई नहीं है । इसीलिये ईश्वरकी सहायता इनको मिलती है ।

कल्याण प्राप्त कर

[८ (९)]

(ऋषिः- उपरिबभ्रवः । देवता- बृहस्पतिः ।)

भद्रादधि श्रेयः प्रेहि बृहस्पतिः पुरएता ते अस्तु ।
अथेममस्या वर आ पृथिव्या आरेशत्रुं कृणुहि सर्ववीरम् ॥ १ ॥

अर्थ— (भद्रात् अधि) सुखसे परे (श्रेयः प्रेहि) परम कल्याणको प्राप्त हो। (बृहस्पतिः ते पुरएता अस्तु) ज्ञानी तेरा मार्गदर्शक होवे। (अथ) और (अस्याः पृथिव्याः वरे) इस पृथ्वीके श्रेष्ठ स्थानमें (इमं सर्ववीरं) इस सब वीर समुदायको (आरे-शत्रुं कृणुहि) शत्रुसे दूर कर ॥ १ ॥

भावार्थ— हे मनुष्य ! तू सुख प्राप्त कर, परंतु सुखकी अपेक्षा जिससे तेरा परम कल्याण हो, उस मार्गका अवलम्बन कर और वह परम कल्याणकी अवस्था प्राप्त कर। इस पृथ्वीके ऊपर जो जो श्रेष्ठ राष्ट्र हैं, उनमें सब प्रकारके वीर पुरुष उत्पन्न हों, उनके शत्रु दूर हो जायें। अर्थात् सब राष्ट्रोंमें उत्तम शान्ति स्थापित होवे ॥ १ ॥

यहां 'भद्र' शब्द साधारण सुखके लिये प्रयुक्त हुआ है। यह शब्द यहां अभ्युदयका वाचक है। जगत्में भौतिक साधनोंसे जो सुख मिलता है वह साधारण सुख है। आहार, निद्रा, निर्भयता और मैथुन संबंधी जो सुख है वह साधारण है। इससे जो श्रेष्ठसुख है उसको 'श्रेयः' कहते हैं। मनुष्यको यह परम कल्याण प्राप्त करनेका यत्न करना चाहिये; इसके लिये ज्ञानी (बृहस्पति) पुरुषको गुरु मानकर उसकी आज्ञाके अनुसार चलना चाहिये। ज्ञान भी वही है कि जो (मोक्षे धीः) बन्धनसे छुटकारा पानेके लिये साधक हो। ऐसा ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। इसका उद्देश्य यह है कि इस पृथ्वीपर जो जो राष्ट्र हैं, वे श्रेष्ठ राष्ट्र बनें, और सब स्त्रीपुरुष तेजस्वी वीरवृत्तिवाले निर्भय बनें और किसी स्थानपर उनके लिये शत्रु न रहें। मनुष्यको चाहिए कि वह ऐसी अवस्था जगत्में स्थिर करे।

ईश्वरकी भक्ति

[९ (१०)]

(ऋषिः- उपरिबभ्रवः । देवता- पूषा ।)

प्रपथे पथामजनिष्ट पूषा प्रपथे दिवः प्रपथे पृथिव्याः ।
उभे अभि प्रियतमे सधस्थे आ च परा च चरति प्रजानन् ॥ १ ॥

अर्थ— (पूषा) पोषक ईश्वर (दिवः प्रपथे) द्युलोकके मार्गमें (पथां प्रपथे) अन्तरिक्षके विविध मार्गोंमें और (पृथिव्याः प्रपथे) पृथ्वीके ऊपरके मार्गमें (अजनिष्ट) प्रकट होता है। (उभे प्रियतमे सधस्थे अभि) दोनों अत्यन्त प्रिय स्थानोंमें (प्रजानन् आ च परा च-चरति) सबको ठीक ठीक जानता हुआ समीप और दूर विचरता है ॥ १ ॥

भावार्थ— परमेश्वर इस त्रिलोकीके संपूर्ण स्थानोंमें उपस्थित है। वह सब सुखदायक स्थानोंको अथवा अवस्थाओंको जानता है और वह हम सबके पास भी है और दूर भी है ॥ १ ॥

पूषेमा आशा अनु वेद सर्वाः सो अस्माँ अभयतमेन नेषत् ।
स्वस्तिदा आघृणिः सर्ववीरोऽप्रयुच्छन्पुर एतु प्रजानन् ॥ २ ॥
पूषन्तव व्रते वयं न रिष्येम कदा चन । स्तोतारस्त इह स्मसि ॥ ३ ॥
परि पूषा परस्ताद्धस्तं दधातु दक्षिणम् । पुनर्नो नष्टमाजतु सं नष्टेन गमेमहि ॥ ४ ॥

अर्थ— (पूषा सर्वाः इमाः आशाः अनुवेद) पोषणकर्ता देव सब इन दिशाओंको यथावत् जानता है । (सः अस्मान् अभयतमेन नेषत्) वह हम सबको उत्तम निर्भयताके मार्गसे लेजाता है । वह (स्वस्ति-दा आघृणिः) कल्याण करनेवाला, तेजस्वी, (सर्ववीरः) सब प्रकारसे वीर, (प्रजानन्) सबको यथावत् जानता हुआ और (अप्रयुच्छन्) कभी प्रमाद न करनेवाला (पुरः एतु) हमारा अगुवा होवे ॥ २ ॥

हे (पूषन्) पोषक देव ! (वयं तव व्रते कदाचन न रिष्येम) हम तेरे व्रतमें रहनेसे कभी नष्ट नहीं हों। (इह ते स्तोतारः स्मसि) यहां तेरे गुणोंका गान करते हुए हम रहें ॥ ३ ॥

(पूषा परस्तात् दक्षिणं हस्तं परि दधातु) पोषकदेव अपना दायां हाथ हमें देवे । (नः नष्टं पुनः नः आजतु) हमारा विनष्ट हुआ पदार्थ पुनः हमें प्राप्त होवे । (नष्टेन सं गमेमहि) हम विनष्ट हुवे पदार्थको पुनः प्राप्त करें ॥ ४ ॥

भावार्थ— यह सबका पोषण करता है और सबको यथावत् जानता है । वही हमको निर्भयताके मार्गसे ठीक प्रकार और सुरक्षित ले जाता है । यह हम सबका कल्याण करनेवाला, सबको तेज देनेवाला, सबमें वीरवृत्ति उत्पन्न करनेवाला, सबकी उन्नतिका मार्ग जाननेवाला, और कभी प्रमाद न करनेवाला है, वही हम सबका मार्गदर्शक होवे, अर्थात् हम सब उसको अपना मार्गदर्शक मानें ॥ २ ॥

इस ईश्वरके व्रतानुष्ठानमें यदि हम रहेंगे तो हम कभी विनाशको प्राप्त नहीं होंगे, इसलिये हम उसी ईश्वरके गुणगान करते हैं ॥ ३ ॥

वह पोषक ईश्वर अपना उत्तम सहारा हमें देवे । हमारे साधनोंमें जो विनष्ट हुआ हो, वह योग्य समयमें हमें पुनः प्राप्त होवे ॥ ४ ॥

भक्तका विश्वास

भक्तका ऐसा विश्वास होना चाहिये कि, परमेश्वर (पूषा) सबका पोषणकर्ता है । सबकी पुष्टि उसीकी पोषकशक्तिसे हो रही है । वह ईश्वर सर्वत्र उपस्थित है यह दूसरा विश्वास होना चाहिये कि, कोई स्थान उससे रिक्त नहीं है । तीसरा विश्वास ऐसा होना चाहिये कि, वह हमारे सब बुरे भले कर्मोंको यथावत् जानता है और वह जैसे हमारे पास है वैसे ही दूर भी है । चौथा विश्वास ऐसा होना चाहिये कि, वह ईश्वर ही हमें निर्भयता देकर उत्तमसे उत्तम मार्गसे ले जाता है और कभी बुरे मार्गको नहीं बताता । वह सबका कल्याण करता है और सबको प्रकाशित करता है । कभी प्रमाद नहीं करता और सबको उत्तम प्रकार चलता है ।

पांचवां विश्वास ऐसा रखना चाहिये कि, उसके व्रतानुसार चलनेसे किसीका कभी नाश नहीं होगा । छठा विश्वास ऐसा होना चाहिये कि, वह हमें उत्तम प्रकार सहारा देता रहता है, हमको ही उसके सहारेकी अपेक्षा करनी चाहिये । सातवां विश्वास ऐसा होना चाहिये कि, यदि किसी कारण हमारा कुछ नाश हो तो उसकी सहायतासे वह सब ठीक हो सकता है। ये विश्वास रखकर सब मनुष्योंको चाहिए कि, वे ईश्वरके गुणगान करें और उन गुणोंकी धारणा अपने अंदर करके अपनी उन्नति करें ।

सरस्वती

[१० (११)]

(ऋषिः- शौनकः । देवता- सरस्वती ।)

यस्ते॒ स्तनः॑ शश॒युर्यो म॑यो॒भूर्यः॑ सु॒म्नयुः॑ सु॒हवो॒ यः सु॒दत्रः॑ ।
येन॒ विश्वा॒ पुष्य॑सि॒ वार्या॑णि॒ सर॑स्वति॒ तमि॒ह धात॑वे कः ॥ १ ॥

अर्थ— हे (सरस्वति) सरस्वति ! (यः ते शशयुः स्तनः) जो तेरा शान्ति देनेवाला स्तन है और (यः मयोभूः यः सुम्नयुः) जो सुख देनेवाला, जो शुभ मनको देनेवाला, (यः सुहवः सुदत्रः) जो प्रार्थनीय और जो उत्तम पुष्टि देनेवाला है, (येन विश्वा वार्याणि पुष्यसि) जिससे तू सब वरणीय पदार्थोंकी पुष्टि करती है, (तं इह धातवे कः) उसको यहां हमारी पुष्टिके लिये हमारी ओर कर ॥ १ ॥

भावार्थ— सरस्वती देवी जगत्को सारवान् रस देती है, उसके स्तनमें पोषक दुग्ध है, वह सुख, शान्ति, सुमनस्कता, पुष्टि आदि देता है। इससे सबका ही पोषण होता है। हे देवी ! वह तुम्हारा पोषक गुण हमारी ओर कर, जिससे उत्तम रस पीकर हम सब पुष्ट हो जायें ॥ २ ॥

सरस्वती विद्या है। विद्याही सबका पोषण करती है, सबको शान्ति, सुख, सुमनस्कता और पुष्टि देती है। विद्यासेही इहलोकमें और परलोकमें उत्तम गति प्राप्त होती है। इसलिये यह विद्या हरएकको अवश्य प्राप्त करनी चाहिये।

मेघोंमें सरस्वती

[११ (१२)]

(ऋषिः- शौनकः । देवता- सरस्वती ।)

यस्ते॑ पृ॒थु स्त॑नयि॒त्नुर्य ऋ॒ष्वो दैवः॑ के॒तुर्विश्व॑मा॒भूष॑ती॒दम् ।
मा नो॑ वधीर्वि॒द्युता॑ देव स॒स्यं मोत व॑धी र॒श्मिभि॒ः सूर्य॑स्य ॥ १ ॥

अर्थ— (यः ते पृथु स्तनयित्नुः) जो तेरा विस्तृत, गर्जना करनेवाला (ऋष्वः दैवः केतुः) प्रवाहित होनेवाला और दिव्य ध्वजाके समान मार्गदर्शक चिन्ह (इदं विश्वं आभूषति) इस जगत्को भूषित करता है, उस (विद्युता) बिजलीसे (नः मा वधीः) हमें मत मार। तथा हे देव ! (उत) और हमारा (सस्यं सूर्यस्य रश्मिभिः मा वधीः) खेत सूर्यकी किरणोंसे मत नष्ट कर ॥ १ ॥

भावार्थ— हे सरस्वती ! जो तेरा विस्तृत और गर्जना करनेवाला, स्वयं वृष्टिरूपसे प्रवाहित होनेवाला, जिसमें बिजलीकी चमक होती है और जो इस विश्वका भूषण होता है, वह मेघ अपनी बिजलीसे हमारा नाश न करे, परंतु ऐसा भी न हो कि, आकाशमें बादल न आयें, और सूर्यके तापसे हमारी सब खेती जल जावे। अर्थात् आकाशमें बादल आयें, मेघ बरसे और खेती उत्तम हो; परंतु मेघोंकी विद्युत्से किसीका नाश न होवे ॥ १ ॥

' सरस्वती ' का दूसरा अर्थ (सरः) रसवाली है। अर्थात् जल देनेवाली। वह जल अथवा रस मेघोंमें रहता है और वह हमारे धान्यादिकी पुष्टि करता है। पूर्वसूक्तमें ' विद्या ' अर्थ है और इसमें ' जल ' अर्थ है।

राष्ट्रसभाकी अनुमति

[१२ (१३)]

(ऋषिः- शौनकः । देवता- सभा; १-२ सरस्वती; ३ इन्द्रः; ४ मन्त्रोक्ताः ।)

सभा च मा समितिश्चावतां प्रजापतेर्दुहितरौ संविदाने ।
येना संगच्छा उप मा स शिक्षाच्चारु वदानि पितरः सङ्गतेषु ॥ १ ॥
विद्म ते सभे नाम नरिष्टा नाम वा असि ।
ये ते के च सभासदस्ते मे सन्तु सवाचसः ॥ २ ॥
एषामहं समासीनानां वर्चो विज्ञानमा ददे ।
अस्याः सर्वस्याः संसदो मामिन्द्र भगिनं कृणु ॥ ३ ॥
यद् वो मनः परागतं यद् बद्धमिह वेह वा ।
तद् व आ वर्तयामसि मयि वो रमतां मनः ॥ ४ ॥

अर्थ— (सभा च समितिः च) ग्रामसमिति और राष्ट्रसभा ये दोनों (प्रजापतेः दुहितरौ) प्रजाका पालन करनेवाले राजाके द्वारा पुत्रीवत् पालनेके योग्य हैं और वे दोनों (संविदाने) परस्पर ऐकमत्य होती हुई (मा अवतां) मुझ राजाकी रक्षा करें। (येन संगच्छै) जिससे मैं मिलूं (सः मा उपशिक्षात्) वह मुझे शिक्षा देवे। हे (पितरः) रक्षको ! (संगतेषु चारु वदानि) सभाओंमें मैं उत्तम रीतिसे बोलूं ॥ १ ॥

हे (सभे) सभे ! (ते नाम विद्म) तेरा नाम हमें विदित है। (नरिष्टा नाम वै असि) 'नरिष्टा' अर्थात् अहिंसक यह तेरा नाम वा यश है। (ये के च ते सभासदः) जो कोई तेरे सभासद हैं (ते मे सवाचसः सन्तु) वे मुझ राजासे समताका भाषण करनेवाले हों ॥ २ ॥

(एषां समासीनानां) इन बैठे हुए सभासदोंसे (विज्ञानं वर्चः अहं आददे) विशेष ज्ञानरूपी तेज मैं-राजा-स्वीकार करता हूं। (इन्द्र) इन्द्र ! (अस्याः सर्वस्याः संसदः) इस सब सभाका (मां भगिनं कृणु) मुझे भागी कर ॥ ३ ॥

हे सभासदो ! (वः यत् मनः परागतं) आपका जो मन दूर चला गया है, (यत् वा इह वा इह वा बद्धं) जो इसमें अथवा इस विषयमें बंधा हुआ है, (वः तत् आवर्तयामसि) आपके उस चित्तको मैं पुनः लौटा लेता हूं, अब आपका (मनः मयि रमतां) मन मेरे ऊपर रममाण होवे ॥ ४ ॥

भावार्थ— ग्रामसमिति और राष्ट्रसभा राष्ट्रमें होनी चाहिये और राजाको उनका पुत्रीवत् पालन करना चाहिये। ये दोनों सभाएं एकमतसे राष्ट्रका कार्य करें और प्रजारंजन करनेवाले राजाका पालन करें। राजा जिस सभासद्से राज्यशासन-विषयक संमति पूछे, वह सभासद् योग्य संमति राजाको देवे। राजा तथा अन्य सभासद् सभाओंमें सभ्यतासे वादविवाद करें ॥ १ ॥

इन लोकसभाओंका नाम 'नरिष्टा' है, क्योंकि इनके होनेसे राजाका भी नाश नहीं होता और प्रजाका भी नाश नहीं होता है। इन सभाओंके जो सभासद् हों, वे राजासे अपनी संमति निष्पक्षपातसे स्पष्ट शब्दोंमें कहें ॥ २ ॥

लोकसभाओंके सदस्योंसे राज्यशासनविषयक विशेष ज्ञान राजा प्राप्त करता है और तेजस्वी बनता है। अतः राजा ऐसी सभाओंसे राज्यशासनविषयक विज्ञानका भाग अवश्य प्राप्त करे और भाग्यवान् बने ॥ ३ ॥

लोकसभाका कार्य करनेके समय किसी सभासद्का मन इधर उधरके कार्यमें जाए तो उसको चाहिए कि, वह मनको वापस लाकर राज्यशासनके कार्यमें ही लगावे। सब सभासद् राजा और उसके राज्यशासनके कार्यमें अपना मन लगावें ॥ ४ ॥

राष्ट्रसभाकी अनुमति

राज्यशासनमें लोकसंमति

ग्रामसभा

राज्यशासन चलानेके लिये एक ग्रामसभा होनी चाहिये। ग्रामके लोगोंद्वारा चुने हुए सदस्य इस ग्रामसभाका कार्य करें। ग्राममें जो जो कार्य आरोग्य, न्याय, शिक्षा, धर्मरक्षा, उद्योगवृद्धि आदिके विषयमें होंगे, उनको निभाना इस ग्रामसभाका कार्य है। यह ग्राम-सभा अपने कार्य करनेके लिये पूर्ण स्वतंत्र होगी, इसका अर्थ यह है कि, प्रत्येक ग्राम अथवा नगर पूर्ण स्वराज्यके अधिकारोंसे युक्त होगा।

जिस प्रकार प्रत्येक मनुष्य अपनी उन्नतिका कार्य करनेके लिये स्वतंत्र होता है, परंतु सार्वजनिक सर्वहितकारी कार्य करनेके लिये परतंत्र होता है; ठीक उसी प्रकार प्रत्येक ग्राम या नगर अपनी सर्व प्रकारसे उन्नति साधन करनेके लिये पूर्ण स्वतंत्र है, परंतु सार्वदेशिक अथवा सार्वराष्ट्रीय उन्नतिके कार्योंके लिये प्रत्येक ग्राम राष्ट्रीय नियमोंसे बंधा रहेगा।

राष्ट्रसभा

जैसे प्रत्येक ग्रामके लिये ग्रामसभा, नगरके लिये नगरसभा होती है, उसी प्रकार प्रांतके लिये प्रांतसभा और राष्ट्रके लिये ' राष्ट्रीय महासभा ' होती है और यह सब राष्ट्रका शासन करती है। ग्रामसभाका अधिकार ग्रामपर और राष्ट्रसभाका राष्ट्रपर होता है। येही दो सभाएं इस सूक्तमें कही हैं। ग्रामसभा और राष्ट्रीय महासमिति इन दोनोंका वर्णन होनेसे बीचकी नगरसभा और प्रांतसभा आदि सब सभाओंका वर्णन हो चुका है, ऐसा समझना योग्य है। आदि और अन्तका ग्रहण करनेसे सब बीचमें स्थित अवस्थाओंका ग्रहण होजाता है। इस सार्वत्रिक नियमके अनुसार इन मंत्रोंमें ग्रामसभा और राष्ट्रसभाका वर्णन होनेसे बीचकी सब उपसभाओंका वर्णन हुआ है, ऐसा पाठक समझें।

जनसभाका अधिकार

इन प्रजाओंका अधिकार क्या है, यह एक विचारणीय प्रश्न है; इसका उत्तर इन मंत्रोंका विचार करनेसे ही मिल सकता है। प्रथम मंत्रमें कहा है कि—

सभा च समितिः च प्रजापतेः दुहितरौ॥ (मं० १)

' ग्रामसभा और राष्ट्रीय महासभा ये दोनों प्रजाका पालन करनेवाले राजाकी दो पुत्रियाँ हैं। ' अर्थात् इन दोनों सभाओंका पिता राजा है और उसकी दो लडकियां ये सभाएं हैं। यही उत्तर इनका अधिकार निश्चित करनेके लिये पर्याप्त है। पिता पुत्रीका जनक है, परंतु उसका भोग करनेवाला नहीं। पुत्री पिताके अधिकारके नीचे हमेशा नहीं रहेगी, पुत्रीपर अधिकार किसी औरका होगा, पिताका नहीं। इसी प्रकार राजाकी आज्ञासे राष्ट्रसभा और ग्रामसभा स्थापित होती है, राजाकी अनुमतिसे इन सभाओंके सदस्य चुनने और सभाओंके चलानेके नियम बनते हैं, इसलिये राजाही इन सभाओंका पिता, जनक अथवा उत्पादक होता है। तथापि उत्पत्ति और रक्षा करनेकाही अधिकारी राजा है, वह उन सभाओंपर पतिके समान शासन नहीं चला सकता। राजा इन सभाओंका पिता या जनक है, परंतु पति अथवा शासक नहीं। लोकसभा राजाकी भोग्य नहीं। राजाके अधिकारसे भिन्न लोकसभाका अधिकार स्वतंत्र है, इसी उद्देश्यसे उक्त मंत्रमें कहा है। कि—

सभा च समितिः च प्रजापतेः दुहितरौ। (मं० १)

' ये दोनों सभाएं प्रजापालक राजाकी दुहिताएं हैं। ' यहां दुहिता शब्द विशेष महत्त्वका है। श्रीमान् यास्काचार्यने इस शब्दकी व्युत्पत्ति इस प्रकार दी है—

दुहिता दूरे हिता। (निरु० ३।१।४)

' जो दूर रहनेपर हितकारक होती है वही दुहिता है। ' धर्मपत्नी पास रखने योग्य है, दुहिता या पुत्री दूर रखनेयोग्य है। इस व्युत्पत्तिसे स्पष्ट हो जाता है, यह लोकसभा राजाकी दुहिता होनेके कारण ही उसके अधिकारसे बाहर रहनी चाहिये। अर्थात् ये दोनों सभाएं स्वतंत्र हैं। राजाके नियंत्रणसे ये दोनों सभाएं बाहर हैं। यह लोकसभाका अधिकार है। लोकसभाके सभासद् पूर्ण निर्भय हों, सत्यमत प्रदर्शन करनेके लिये उनको राजासे भयभीत होना नहीं चाहिये। पूर्ण निडर होकर जो सत्य हो, वह उनको कहना चाहिए।

ये सभाएं (संविदाना-ऐक्यमत्यं प्राप्ता) एकमतसे ही सब राष्ट्रका शासनव्यवहार करें। सब सदस्योंका एकमत न हो सकनेकी अवस्थामें बहुमतसे कार्य करना योग्य है। परंतु बहुमतसे कार्य करना आपत्कालही समझना चाहिये, क्योंकि वेदकी आज्ञा तो (संविदाना) एकमतसे अर्थात् सर्वसंमतिसेही कार्य करनेकी है। लोकसभामें सब सदस्योंकी सर्वसंमतिसे जो निर्णय होगा वह राजाके लिये भी बंधनकारक होगा। इतना महत्त्व लोकसभाकी सर्वसंमतिका है। तथा यह निर्णय प्रजाके लिये भी बंधनकारक होगा।

राजाके पितर

राष्ट्रसमितिके सभासद् राजाके पितर हैं। इस सूक्तमें राजाने उनको, 'पितरः' करके संबोधन किया है देखिये—

चारु वदानि पितरः संगतेषु। (मं० १)

'हे पितरो! अर्थात् हे राष्ट्रमहासभाके सब सदस्यो! सभाओंमें मैं योग्य भाषण करूं।' अर्थात् सभ्यतासे युक्त भाषण करूं। कभी नियमबाह्य मेरा भाषण न हो। हे सभासदो! सब सदस्य भी सदा इसी प्रकार सभ्यताके नियमोंके अनुकूल भाषण किया करें। इस मंत्रभागमें राजाने लोकसभाके सभासदोंके लिए 'पितरः' शब्द प्रयुक्त किया है। यह शब्द यहां देखनेयोग्य है।

लोकसभा, अथवा राष्ट्रसमिति राजाकी पुत्रियां हैं यह ऊपर कहा है। अब यहां कहा जाता है कि, इन सभाओंके सदस्य राजाके 'पितर' हैं, यह कैसे हो सकता है? इस प्रश्नका उत्तर इतना ही है कि यहां केवल बाह्य अर्थ लेना उचित नहीं है, यहां भाव और शब्दका मूलार्थ लेना चाहिये। पितर शब्दका अर्थ रक्षक है और उत्पादक भी है। दोनों अर्थ यहां लगते हैं। राजसभाके सभासद् राजाको चुनते और उसको राजगद्दीपर बिठलाते हैं, इसलिये वे उसके उत्पादक, जनक और पिताके समान भी हैं। इसी प्रकार राजाके उचित व्यवहारके रहनेतक वे उसको राजगद्दीपर रखते हैं, और राजा अनुचित व्यवहार करने लग जाए, तो उसको हटाकर उसके स्थानपर सुयोग्य दूसरा राजा नियुक्त करते हैं, इसलिये ये राष्ट्रसभाके सदस्य राजाके रक्षक भी हैं, अर्थात् सब प्रकारसे ये सदस्य राजाके पितर हैं।

'पितृदेवो भव' पिताको देवताके समान मानकर उसका सम्मान कर, यह आज्ञा वेदानुकूल है। इसलिये राजाको उचित है कि, वह राष्ट्रमहासभाके सदस्योंका सन्मान करे, उनका गौरव करे और कभी उनका अपमान न करे। राष्ट्रसभाका यह अधिकार है।

राजाके शिक्षक

राष्ट्रसभाके सदस्य राजाके गुरु भी हैं। इस विषयमें प्रथम मंत्रका भाग देखने योग्य है—

येन संगच्छै, सः मा उपाशिक्षात्। (मं० १)

'हे गुरुजनो! हे राष्ट्रसभाके सदस्यो! तुममेंसे जिससे मैं राष्ट्रशासनके कार्यमें संमति पूछूं, वह उस विषयमें अपनी संमति देकर मुझे उत्तम योग्य शिक्षा देवे।' अर्थात् राजाको योग्य शिक्षा देनेवाले उत्तम गुरु राष्ट्रसभाके सदस्य हैं। ये राजाके लिए गुरुस्थानीय हैं। 'आचार्यदेवो भव' अर्थात् गुरुजनोंका सन्मान करना चाहिये, यह आज्ञा वैदिकधर्मकी है। इसके अनुसार वैदिकधर्मी राजाको उचित है कि, वह राष्ट्रसभाके सदस्योंका गौरव करे और उनसे पूर्ण आदरके साथ बर्ताव करे। राष्ट्रसभाके सदस्योंका यह अधिकार है।

सभासद् सत्यवादी हों

राजसभा अथवा किसी अन्य सभाके सभासद् (सवाचसः) समान भाषण करनेवाले अर्थात् जैसा देखा, जाना और अनुभव किया है वैसा ही सत्यसत्य बोलनेवाले हों। जो जैसा सत्य एकवार कहा हो, वैसा ही सत्य सभी प्रसंगोंपर कहनेवाले हों। उनमें अदल बदल करके 'हां' 'हां' मिलानेवाले न हों। निर्भय होकर जो सत्य हो, वही राजासे कह दें। राष्ट्रका हित किस बातमें है, इसका विचार करके जो अपना मत हो, वह योग्य रीतिसे कह देनेमें किसीसे न डरें। यह सभासदोंका कर्तव्य है। (मं. २)

तेजप्रदाता और विज्ञानदाता

राजाका तेज राष्ट्रसभाके सदस्योंसे प्राप्त होता है। इस विषयमें तृतीय मंत्रका कथन देखने योग्य है—

एषां समासीनानां वर्चः विज्ञानं अहं आददे। (मं. ३)

'राष्ट्रसभाके इन सदस्योंसे मैं राजा (वर्चः) तेज प्राप्त करता हूं और (विज्ञानं) विशेष ज्ञान भी प्राप्त करता हूं।' यहां का विज्ञान राज्यशासन चलानेके विषयका विशेष ज्ञान ही है। प्रजाका हित क्या करनेसे हो सकता है, इस समय सबसे प्रथम कौनसी बात करनी चाहिये, इस समय प्रजाको कौनसे कष्ट हैं और उन कष्टोंको किस ढंगसे दूर करना चाहिये; इत्यादि विषयमें प्रजाके प्रतिनिधियोंकी योग्य संमति योग्य समय पर राजाको मिली, और तदनुसार राजाने राज्यशासनका कार्य किया, तो सबका हित हो जाता है। यह विज्ञान राष्ट्रसभाके सदस्य राजाको देवें और राजा भी उनसे संमति प्राप्त कर उचित शासनप्रबंध द्वारा सबका कल्याण करे।

इस प्रकार प्रजा संमतिसे राज्यशासन करनेवाला राजा चिरकाल राज्यपर रह सकता है और बड़ा तेजस्वी हो सकता

है । इसके विरुद्ध जो राजा प्रजाके प्रतिनिधियोंकी संमति न मान कर, अपने मन चाहे अत्याचार प्रजापर करेगा, वह राजगद्दीसे हटाया जायगा । वेदकी संमति राज्यशासनके विषयमें यह है ।

राजाका भाग्य

राजाका संपूर्ण भाग्य, ऐश्वर्य, अधिकार और सर्वस्व राष्ट्र-सभाकी अनुमतिसे ही होता है । अन्यथा राजा किसी कारण भी ' राजा ' नहीं रह सकता । यह बात स्वयं राजा ही कहता है, देखिये—

अस्याः संसदः मां भगिनं कृणु ॥ (मं. ३)

' इस सभाका मुझे भागी कर । ' अर्थात् इस सभाकी अनुमतिसे रहनेके कारण मैं भाग्यवान् बनूं । मैं इस सभाकी अनुमतिका भागी बनूंगा, अर्थात् जो निश्चय सभा करेगी, वह मैं मानूंगा और वैसा कार्य करूंगा । मैं उसके विरुद्ध आचरण कदापि न करूंगा । इस प्रकार जो राजा आचरण करेगा, वह भाग्यवान् बन जायगा, इसमें कोई संदेह नहीं है । अर्थात् राजाका भाग्य प्रजाका रंजन करनेसे ही बढता है, नहीं तो नहीं ।

दत्तचित्त सभासद्

राष्ट्रसभाके, नगरसमितिके अथवा किसी सभाके सभासद् अपनी अपनी सभाके कार्यमें दत्तचित्त रहें । किसीका मन इधर किसीका उधर ऐसा न हो । सब अपना मन सभाके कार्यमें स्थिर रखकर सभाका कार्य अपनी पूर्ण शक्ति लगाकर जहांतक होसके वहांतक निर्दोष बनावें । इसका उपदेश इस सूक्तमें निम्नलिखित प्रकार है ।

यद् वो मनः परागतं यद् बद्धमिह वेह वा ।
तद् आवर्तयामसि ॥ (मं. ४)

' हे सभासदो ! यदि आपका मन दूर भाग गया हो, अथवा यहां ही इधर उधरके अन्यान्य बातोंमें लगा हो, उसको मैं वापस लाता हूं । ' अर्थात् मन चंचल है, वह इधर उधर दौडता ही रहेगा । परंतु दृढनिश्चय करके उसको कर्तव्यकर्ममें स्थिर रखना चाहिये । और अपनी संपूर्ण शक्ति लगा कर अपना कर्तव्य जहांतक हो सके वहांतक निर्दोष बनानेका यत्न करना चाहिये । हरएक सभासद् यदि अपने मनको कहीं और ही कार्यमें लगावेगा, तो सभा करनेका प्रयोजन कदापि सिद्ध नहीं हो सकता । इसलिये हरएक सभासद्का कर्तव्य है कि, वह अपना मन सभाके कार्यमें लगावे और अपनी पूरी शक्ति लगाकर सभाका कार्य निर्दोष करनेके लिये अपनी पराकाष्ठा करे । इस मंत्रभागमें सभासदोंका कर्तव्य कहा है । सभाके सभासद् इसका अवश्य विचार करें ।

नरिष्टा सभा

इस सूक्तके द्वितीय मंत्रमें सभाका नाम ' नरिष्टा ' कहा है । ' नरिष्टा ' के दो अर्थ हैं । एक (नरैः इष्टा) नर अर्थात् नेता मनुष्योंको जो इष्ट है, प्रिय है अथवा नेता जिसको चाहते हैं । सभाको मनुष्य चाहते हैं क्योंकि, इस सभा द्वारा ही जनताके कष्ट राजाको विदित हो जाते हैं और तत्पश्चात् राजा उनको दूर कर सकता है । इस प्रकार सभाके होनेसे जनताका सुख बढ सकता है, इसलिये जनता सभाओंको पसंद करती है ।

' नरिष्टा ' शब्दका दूसरा अर्थ है (न-रिष्टा) अहिंसक अर्थात् जो किसीका नाश नहीं करती और जिसका नाश कोई नहीं कर सकता । सभाके कारण प्रजाका नाश नहीं होता और जनमतके अनुसार चलनेवाले राजाकी भी रक्षा हो जाती है, इसलिये राजाका भी नाश नहीं होता । इसी प्रकार जनता स्वयं राष्ट्रसभाका नाश नहीं करना चाहती और राजाका अधिकार ही नहीं है कि, जो इस राष्ट्रसभाका नाश कर सके । इस रीतिसे सब प्रकार यह सभा ' अविनाशक ' है ।

इस सूक्तमें इस प्रकार वैदिक राज्यशासनके कुछ सिद्धांत कहे हैं ।

शत्रुके तेजका नाश

[१३ (१४)]

(ऋषिः- अथर्वा द्विषो वर्चोहर्तुकामः । देवता- सोमः ।)

यथा सूर्यो नक्षत्राणामुद्यंस्तेजांस्याददे ।
एवा स्त्रीणां च पुंसां च द्विषतां वर्च आ ददे ॥ १ ॥
यावन्तो मा सपत्नानामायन्तं प्रतिपश्यथ ।
उद्यन्त्सूर्य इव सुप्तानां द्विषतां वर्च आ ददे ॥ २ ॥

अर्थ— (यथा उद्यन् सूर्यः) जैसे उदय होता हुआ सूर्य (नक्षत्राणां तेजांसि आददे) तारोंके प्रकाशोंको हर लेता है, (एवा द्विषतां स्त्रीणां च पुंसां च) उसी प्रकार द्वेष करनेवाले स्त्रियों और पुरुषोंका (वर्चः आददे) तेज मैं हर लेता हूं ॥ १ ॥

(सपत्नानां यावन्तः) शत्रुओंमेंसे जितने (मां आयन्तं प्रतिपश्यत) मुझे आते हुए देखते हैं, उन (द्विषतां वर्चः आददे) शत्रुओंका तेज मैं उसी प्रकार खींच लेता हूं। जिस प्रकार (उद्यन् सूर्यः सुप्तानां इव) उदय होता हुआ सूर्य सोते हुओंका तेज हर लेता है ॥ २ ॥

भावार्थ— शत्रु स्त्री हो अथवा पुरुष हो, वह सोता हो अथवा जागता हो, जो कोई शत्रुता करता है उसकी अपेक्षा अपना तेज बढाना चाहिये ॥ १-२ ॥

शत्रुका तेज घटाना

इस सूक्तमें शत्रुका तेज घटानेका उपाय कहा है। पाठक इसका उत्तम मनन करें। नक्षत्र और सूर्यकी उपमासे यह विषय कहा है। जिस प्रकार सूर्यके उदय होनेके पूर्व नक्षत्र चमकते रहते हैं, परंतु सूर्यके उदय होते ही नक्षत्रोंका तेज हलका हो जाता है। इसमें नक्षत्रोंका तेज घटानेके लिये सूर्य कोई यत्न नहीं करता है, अपितु सूर्य अपना तेज बढाता है जिससे आपही आप नक्षत्रोंका तेज घटता है। इसी प्रकार द्वेष करनेवालोंका विचार न करते हुए, अपना तेज बढानेका यत्न करना चाहिये। जो शत्रुके तेजको घटानेका यत्न करेंगे वे फंसेंगे, परन्तु जो सूर्यके समान अपना तेज बढानेका यत्न करेंगे उनका अभ्युदय होगा। शत्रुका विचार करनेके समय 'सूर्य और नक्षत्रोंका दृष्टान्त' पाठक ध्यानमें धारण करें। इससे पाठकोंको पता लग जायगा कि, शत्रुका तेज घटानेके लिये हमें क्या करना चाहिये। शत्रुकी शक्तिसे कई गुनी अधिक शक्ति हमें प्राप्त करनी चाहिये, जिससे शत्रुकी शक्ति स्वयं घट जायगी और वह स्वयं नीचे दब जायगा।

उपासना

[१४ (१५)]

(ऋषिः- अथर्वा । देवता- सविता ।)

अभि त्यं देवं सवितारमोण्योः कविक्रतुम् ।
अर्चामि सत्यसवं रत्नधामभि प्रियं मतिम् ॥ १ ॥

अर्थ— (ओण्योः सवितारं) रक्षा करनेवाले द्युलोक और पृथ्वीलोकके (सवितारं) उत्पादक सूर्य, जो (कवि-क्रतुं) ज्ञानी और कर्मकर्ता है, (सत्य-सवं रत्नधां) सत्यका प्रेरक और रमणीयताका धारक है और जो (प्रियं मतिं) प्रिय और मननीय है, (त्यं देवं अभि अर्चामि) उस देवकी मैं पूजा करता हूं ॥ १ ॥

भावार्थ— संपूर्ण जगत्की रक्षा करनेवाला, सबका उत्पादक, ज्ञानी, जगत्कर्ता, सत्यका प्रेरक, रमणीय पदार्थोंका धारणकर्ता, सबका प्यारा, सबके द्वारा ध्यान करने योग्य जो सविता देव है, उसकी मैं उपासना करता हूं ॥ १ ॥

ऊर्ध्वो यस्यामतिर्भा अदिद्युतत्सवीमनि ।
हिरण्यपाणिरमिमीत सुक्रतुः कृपात्स्वः ॥ २ ॥

सावीर्हि देव प्रथमाय पित्रे वर्ष्माणमस्मै वरिमाणमस्मै ।
अथास्मभ्यं सवितर्वार्याणि दिवोदिव आ सुवा भूरि पश्वः ॥ ३ ॥

दमूना देवः सविता वरेण्यो दधद्रत्नं दक्षं पितृभ्य आयूंषि ।
पिबात्सोमं ममददेनमिष्टे परिज्मा चित्क्रमते अस्य धर्मणि ॥ ४ ॥

अर्थ— (यस्य अमतिः भाः) जिसका अपरिमित तेज (सवीमनि ऊर्ध्वा अदिद्युतत्) उसकी आज्ञामें रहकर ऊपर फैलता हुआ सर्वत्र प्रकाशित होता है । यह (सुक्रतुः हिरण्यपाणिः) उत्तम कर्म करनेवाला तेजही जिसका हस्त है, ऐसा यह देव (कृपात् स्वः अमिमीत) अपनी शक्तिसे प्रकाशको निर्माण करता है ॥ २ ॥

हे (देव) देव ! तू (प्रथमाय पित्रे हि सावीः) पहिले पालकके लिये ही इसको उत्पन्न करता है। और (अस्मै वर्ष्माणं) इसको देह (अस्मै वरिमाणं) इसको श्रेष्ठता, हे (सवितः) सविता देव ! (अथ अस्मभ्यं वार्याणि) और हमारे लिये बहुत वरणीय पदार्थ, (भूरि पश्वः) बहुत पशु आदि सब (दिवः दिवः आसुव) प्रतिदिन प्रदान कर ॥३॥

हे (देव) देव ! तू (सविता वरेण्यः) सबका प्रेरक, श्रेष्ठ, और (दमूनाः) शमदमयुक्त मनवाला है। तू (पितृभ्यः रत्नं दक्षं आयूंषि) पिताओंको रत्न, बल और आयु (दधत्) धारण कराता रहा है। (अस्य धर्मणि सोमं पिबात्) इसीके धर्मशासनमें सोमरसरूपी अन्न लेते हैं। वह (एनं ममदत्) इसको आनंदित करता है। (परिज्मा इष्टे चित् क्रमते) वह गतिमान् इष्ट स्थानके प्रति संचार करता है ॥ ४ ॥

भावार्थ— जिसकी कान्ति अपरिमित है, जिसकी आज्ञामें रहकर उसीका तेज सर्वत्र फैलता है, जो उत्तम कार्य करता है और तेजकी किरणें ही जिसके हाथ हैं, वह अपनी शक्तिसे आत्मतेज फैलाता है ॥ २ ॥

इस देवने, जो प्रारंभमें मनुष्य जन्मे थे, उनके लिये सब कुछ आवश्यक पदार्थ उत्पन्न किये थे । इन मनुष्योंके लिये देह, श्रेष्ठता आदि वही देता है । वही हमारे लिये बहुत पदार्थ, पशु आदि सब प्रतिदिन देगा ॥ ३ ॥

यह देव सबका प्रेरक, सबसे श्रेष्ठ, मानसिक शक्तियोंका दमन करनेवाला है । इसीने पूर्वकालके मनुष्योंको धन बल और आयु दी थी । इसीकी शक्तिसे प्रभावित हुई वनस्पतियां मनुष्यादि प्राणियोंको अन्नरस देकर पुष्ट करती हैं । इसीसे सबको आनंद मिलता है । यह देव सर्वत्र अप्रतिबद्ध रीतिसे संचार करता है ॥ ४ ॥

उपास्य देवका यह वर्णन स्पष्ट है । अतः इसका विशेष स्पष्टीकरण आवश्यक नहीं है । द्विजोंके गायत्री मंत्रका जो देवता है, वही 'सविता' देवता इसका है और गायत्री मंत्रके 'देव, सविता, वरेण्य,' इत्यादि शब्द जैसेके वैसे ही इस सूक्तमें हैं, मानो गायत्री मंत्रका ही अधिक स्पष्टीकरण इस सूक्तमें है । यदि पाठक गायत्रीमंत्रके साथ इस सूक्तकी तुलना करके देखेंगे, तो उनको अर्थज्ञानके विषयमें बहुत लाभ हो सकता है ।

उपासना

[१५ (१६)]

(ऋषिः– भृगुः । देवता– सविता ।)

तां सवितः सत्यसवां सुचित्रामाहं वृणे सुमतिं विश्ववाराम् ।
यामस्य कण्वो अदुहत्प्रपीनां सहस्रधारां महिषो भगाय ॥ १ ॥

अर्थ— हे (सवितः) उत्पादक प्रभो ! (अहं सत्यसवां) मैं सत्यकी प्रेरणा करनेवाली, (सुचित्रां विश्ववारां तां सुमतिं) विलक्षण, सबकी रक्षा करनेवाली उस उत्तम बुद्धिको (आवृणे) स्वीकार करता हूं, (यां सहस्रधारां प्रपीनां) जिस सहस्रधाराओंसे पुष्ट करनेवाली शक्तिको (अस्य भगाय) अपने भाग्यके लिये (महिषः कण्वः अदुहत्) बलवान् ज्ञानी दोहन करता है, प्राप्त करता है ॥ १ ॥

भावार्थ— जिस शक्तिको ज्ञानी लोग प्राप्त करते हैं और श्रेष्ठ बनते हैं, उस सत्यप्रेरक, विलक्षण शक्तिवाली, सबकी रक्षा करनेवाली, उत्तम मति रूप बुद्धि शक्तिको मैं स्वीकार करता हूं ॥ १ ॥

गायत्री मंत्रमें कहा है कि, (धियो यो नः प्रचोदयात्) अपनी बुद्धियोंको सवितादेव चेतना देता है। वही वर्णन अन्य शब्दोंसे यहां है । गायत्रीमंत्रमें 'धी, धियः' शब्द है, उसके बदले यहां 'सुमति' शब्द है । पूर्व सूक्तके समान ही यह मंत्र गायत्री मंत्रका ही आशय विशेष स्पष्ट करता है ।

हे देव ! सौभाग्यके लिये हमें बढाओ

[१६ (१७)]

(ऋषिः– भृगुः । देवता– सविता ।)

बृहस्पते सवितर्वर्धयैनं ज्योतयैनं महते सौभगाय ।
संशितं चित्संतरं सं शिशाधि विश्व एनमनु मदन्तु देवाः ॥ १ ॥

अर्थ— हे (बृहस्पते सवितः) ज्ञानपते, हे उत्पादक देव ! (एनं वर्धय) इसको बढा, (एनं महते सौभगाय ज्योतय) इसको महान् सौभाग्यके लिये प्रकाशित कर । (संशितं सं-तरं चित् संशिशाधि) पहिलेसे ही तीक्ष्ण बुद्धिवालेको और अधिक उत्तम बनानेके लिये शिक्षासे युक्त कर । (विश्वे देवाः एनं अनु मदन्तु) सब देवता इसका अनुमोदन करें ॥ १ ॥

भावार्थ— हे ज्ञानी देव ! हम सब मनुष्योंको बढाओ, हमें महान् ऐश्वर्य प्राप्त करनेके लिये अपना प्रकाश अर्पित करो । हममें जो पहिलेसे तेजस्वी लोग हैं, उनको और अधिक तेजस्वी बनानेके लिये उत्तम शिक्षा प्राप्त होवे और दैवी शक्तियोंकी सहायता सबको प्राप्त होवे ॥ १ ॥

पृथ्वी, आप, तेज, वायु, सूर्य वनस्पति आदि देवताओंकी सहायता हमें उत्तम प्रकार प्राप्त हो और उनकी शक्ति प्राप्त करके अपनी उन्नतिका साधन करें और ऐश्वर्यके भागी हम बनें । ईश्वर ऐसी परिस्थितिमें हमें रखे कि, जहां हमें उन्नति करनेके कार्यमें किसीका विरोध न होवे और हम अखंड उन्नतिका साधन कर सकें ।

*

धन और सद्बुद्धिकी प्रार्थना

[१७ (१८)]

(ऋषिः- भृगुः । देवता- धाता, सविता ।)

धाता द॑धातु नो र॒यिमीशा॑नो॒ जग॑त॒स्पतिः॑ । स नः॑ पू॒र्णेन॑ यच्छतु ॥ १ ॥

धाता द॑धातु दा॒शुषे॒ प्राचीं॑ जी॒वातु॒मक्षि॑ताम् ।
व॒यं दे॒वस्य॑ धीमहि सु॒म॒तिं वि॒श्वरा॑धसः ॥ २ ॥

धाता विश्वा॒ वार्या॑ दधातु प्र॒जाका॑माय दा॒शुषे॑ दुरो॒णे ।
तस्मै॑ दे॒वा अ॒मृतं॒ सं व्य॑यन्तु॒ विश्वे॑ दे॒वा अदि॑तिः स॒जोषाः॑ ॥ ३ ॥

धाता रा॒तिः स॑वि॒तेदं जु॑षन्तां प्र॒जाप॑तिर्नि॒धिप॑तिर्नो अ॒ग्निः ।
त्वष्टा॒ विष्णुः॑ प्र॒जया॑ संररा॒णो यज॑मानाय॒ द्रवि॑णं दधातु ॥ ४ ॥

अर्थ— (धाता जगतः पतिः ईशानः) धारणकर्ता, जगत्का स्वामी, ईश्वर (नः रयिं दधातु) हमें धन देवे। (सः नः पूर्णेन यच्छतु) वह हमें पूर्ण रीतिसे देवे ॥ १ ॥

(धाता दाशुषे) धारणकर्ता ईश्वर दाताके लिये (प्राचीं अक्षितां जीवातुं दधातु) प्राप्त करनेयोग्य अक्षय जीवनशक्ति देवे। (वयं विश्वराधसः देवस्य सुमतिं) हम संपूर्ण धनोंके स्वामी ईश्वरकी सुमतिका (धीमहि) ध्यान करते हैं ॥ २ ॥

(धाता) धारक ईश्वर (प्रजाकामाय दाशुषे) प्रजाकी इच्छा करनेवाले दाताके लिये (दुरोणे विश्वा वार्या) उसके घरमें संपूर्ण वरणीय पदार्थोंको (दधातु) स्थापित करे। (विश्वे देवाः) सब देव, (सजोषाः अदितिः) प्रीतियुक्त अनंत दैवी शक्ति, तथा (देवाः) अन्य ज्ञानी (तस्मै अमृतं सं व्ययन्तु) उसके लिये अमृत प्रदान करें ॥ ३ ॥

(धाता रातिः सविता) धारक, दाता, उत्पादक, (निधिपतिः प्रजापतिः अग्निः) निधिका पालक, प्रजारक्षक, प्रकाशरूप देव (नः इदं जुषन्तां) हमारी इस प्रार्थनाको सुने। तथा (प्रजया संरराणः त्वष्टा विष्णुः) प्रजाके साथ आनंदमें रहनेवाला सूक्ष्म पदार्थोंको बनानेवाला व्यापक देव (यजमानाय द्रविणं दधातु) यज्ञकर्ताको धन देवे ॥ ४ ॥

भावार्थ— जगत्का धारण और पालन करनेवाला ईश्वर हमें पूर्ण रीतिसे विपुल धन देवे। वह हमें दीर्घ जीवनकी शक्ति देवे। हम उसकी सुमतिका ध्यान करते हैं। संतानकी इच्छा करनेवाले दाताको उसके घरमें-गृहस्थके घरमें-रहने योग्य सब पदार्थ प्राप्त हों। सब देव दाताको अमरत्वकी प्राप्ति करावें। सब जगत्का धारक, धनदाता, संपूर्ण विश्वका उत्पादक, संसाररूपी खजानेका रक्षक, सबका पालक, एक प्रकाश स्वरूप देव है, वह हमें सब प्रकारका सुख देवे। सब सूक्ष्मसे सूक्ष्म पदार्थोंका निर्माता, व्यापक देव उपासकको धनादि पदार्थ देवे ॥ १-४ ॥

यह प्रार्थना सुबोध है अतः स्पष्टीकरण करनेकी आवश्यकता नहीं है।

खेतीसे अन्न

[१८ (१९)]

(ऋषिः– अथर्वा । देवता– पृथिवी, पर्जन्यः ।)

प्र नंभस्व पृथिवि भिन्द्धी३्दं दिव्यं नभंः ।
उन्दो दिव्यस्य॑ नो धातरीशा॑नो वि ष्या दृतिम् ॥ १ ॥

न घ्रंस्तताप न हिमो जंघान प्र नंभतां पृथिवी जीरदांनुः ।
आप॑श्चिदस्मै घृतमित्क्षरन्ति यत्र सदुमित्तत्रं भुद्रम् ॥ २ ॥

अर्थ— (पृथिवि) हे पृथिवि ! तू हमारे शत्रुओंको (प्रनभस्व) उत्तम प्रकारसे नष्ट कर। हे (धातः) धारक देव ! तू (ईशानः) हमारा ईश्वर है इस लिये (इदं दिव्यं नभः भिन्धि) इस दिव्य मेघको छिन्नभिन्न कर और (दिव्यस्य उन्दः दृतिं विष्य) दिव्य जलके भरे बर्तनको खोल दे ॥ १ ॥

(घ्रन् न तताप) उष्णता करनेवाला सूर्य नहीं तपाता, (हिमः न जघान) हिम भी पीडित नहीं करता। (जीरदानुः पृथिवी प्र नभतां) अन्न देनेवाली पृथ्वी चूर्ण की जावे। (आपः चित् अस्मै) जल इसके लिये (घृतं इत् क्षरन्ति) घी जैसा बहता है, (यत्र सोमः) जहां सोमादि औषधियां उत्पन्न होती हैं, (तत्र सदं इत् भद्रं) वहां सदाही कल्याण होता है ॥ २ ॥

भूमि हल आदि चलाकर अच्छी प्रकार तैयार की जावे। इसके बाद ईश्वरकी प्रार्थना की जावे कि, वह उत्तम प्रकार जल बरसाकर हमारी खेती उत्तम होनेमें सहायता देवे। बहुत गर्मी न पडे, न बहुत पाला पडे, भूमिकी उत्तम प्रकार तैयारी की जावे, खेतीको पानी घी जैसा दिया जावे, अर्थात् न अधिक और न बहुत कम। इस प्रकार खेती करनेसे बहुत उत्तम वनस्पतियां उत्पन्न होती हैं और सब प्राणियोंका कल्याण होता है।

प्रजाकी पुष्टि

[१९ (२०)]

(ऋषिः– ब्रह्मा । देवता– प्रजापतिः ।)

प्रजाप॑तिर्जनयति प्रजा इमा धाता दंधातु सुमनस्यमा॑नः ।
संजानानाः संमंनसः सयो॑नयो मयि पुष्टं पु॑ष्टपति॑र्दधातु ॥ १ ॥

अर्थ— (प्रजापतिः इमाः प्रजाः जनयति) प्रजापालक परमेश्वर इन सब प्रजाओंको उत्पन्न करता है, और (सुमनस्यमानः धाता दधातु) वही उत्तम मनवाला, धारक देव इनका धारक देव इनको धारण करता है। इससे प्रजाएं (संजानानाः) ज्ञान प्राप्त करके एक मतसे कार्य करनेवाली, (संमनसः) एक विचारवाली और (सयोनयः) एक कारणसे बंधी हो कर रहती हैं। इन प्रजाओंमें रहनेवाले (मयि) मुझे (पुष्टिपतिः पुष्टं दधातु) पुष्टिको देनेवाला ईश्वर पुष्टि देवे ॥ १ ॥

प्रजाकी पुष्टि अर्थात् प्रजाकी शक्तिके बढनेका उपाय इस सूक्तमें कहा है, इसके नियम निम्नलिखित हैं---

१ सब प्रजाजन एक ईश्वरको मानें और उसी एक देवको सबका उत्पादक समझें।
२ उसी ईश्वरकी शक्तिसे सबकी धारणा होती है ऐसा मानें और उसीको कर्ता धर्ता और हर्ता समझें।
३ (संजानानाः) सब प्रजाजन उत्तम ज्ञानसे युक्त हों और एकमतसे अपना कार्य करें।
४ (संमनसः) उत्तम शुभसंस्कार युक्त मनवाले होकर एक विचारसे उन्नतिका कार्य करते जायें।
५ (सयोनयः) एक कारणका ध्यान करके सबको एक कार्यमें संघटित करें। अपने संघ बनावें और संघके नियमोंके बाहर कोई न जावे।

इस प्रकार संघटना करनेवाले लोगोंको प्रजापोषक ईश्वर सब प्रकारकी पुष्टि देता है।

अनुमति

[२० (२१)]

(ऋषिः- अथर्वा । देवता- अनुमतिः ।)

अन्व॒द्य नोऽनु॑मतिर्य॒ज्ञं दे॒वेषु॑ मन्यताम् ।
अ॒ग्निश्च॑ हव्य॒वाह॑नो॒ भव॑तां दा॒शुषे॒ मम॑ ॥ १ ॥
अन्विद॑मनुमते॒ त्वं मंस॑से॒ शं च॑ नस्कृधि ।
जु॒षस्व॑ ह॒व्यमाहु॑तं प्र॒जां दे॑वि ररास्व नः ॥ २ ॥
अनु॑ मन्यताम॒नुमन्य॑मानः प्र॒जाव॑न्तं र॒यिमक्षी॑यमाणम् ।
तस्य॑ व॒यं हेड॑सि॒ मापि॑ भूम सुमृडी॒के अ॑स्य सु॒मतौ॑ स्याम ॥ ३ ॥

अर्थ— (अद्य नः अनुमतिः) आज हमारी अनुमति (देवेषु यज्ञं अनुमन्यतां) देवता लोगोंके अन्दर सत्कर्म करनेके लिये अनुकूल होवे। (हव्यवाहनः अग्निः) हवनीय पदार्थोंको ले जानेवाला अग्नि (मम दाशुषे भवतां) हमारे दाताके लिये अनुकूल होवे ॥ १ ॥

हे (अनुमते) अनुकूल बुद्धे ! (त्वं इदं अनुमंससे) तू इस कार्यके लिये अनुमति देती है। (नः च शं कृधि) हमारा कल्याण कर। (आहुतं हव्यं जुषस्व) हवन किये हुए पदार्थको स्वीकार कर। हे देवि ! (नः प्रजां ररास्व) हमें उत्तम संतान दे ॥ २ ॥

(अनुमन्यमानः) अनुमोदन करनेवाला (अक्षीयमाणं प्रजावन्तं धनं अनुमन्यतां) क्षीण न होनेवाले प्रजायुक्त धन प्राप्त करनेके लिये अनुमति देवे। (तस्य हेडसि वयं मा अपि भूम) उसके क्रोधमें हम क्षीण न हों। (अस्य सुमृडीके सुमतौ स्याम) इसके सुख और सुमतिमें हम रहें ॥ ३ ॥

भावार्थ— आज ही हमारी बुद्धि सत्कर्म करनेके लिये अनुकूल होवे और अग्नि आदिकी अनुकूलता हमें प्राप्त होवे ॥ १ ॥

अनुकूल मति होनेसे ही यह सब कार्य होता है, इसलिये हमारी अनुमतिसे ऐसे कार्य होवें, कि जो हमारा कल्याण करनेवाले हों हम जो दान करते हैं वह सत्कर्ममें लगें और हमें उत्तम संतान प्राप्त होवे ॥ २ ॥

क्षीण न होनेवाला धन और उत्तम प्रजा प्राप्त होनेके लिये जैसा सत्कर्म करना चाहिये वैसा करनेमें हमारी मति अनुकूल होवे। अर्थात् सदा उत्तम सुख देनेवाली सुमति हमारे पास होवे ! और हम कभी क्रोधमें आकर सुमतिके विरुद्ध कार्य न करें ॥ ३ ॥

यत्ते नाम सुहवं सुप्रणीतेऽनुमते अनुमतं सुदानु ।
तेना नो यज्ञं पिपृहि विश्ववारे रयिं नो धेहि सुभगे सुवीरम् ॥ ४ ॥
एमं यज्ञमनुमतिर्जगाम सुक्षेत्रतायै सुवीरतायै सुजातम् ।
भद्रा ह्यस्याः प्रमतिर्बभूव सेमं यज्ञमवतु देवगोपा ॥ ५ ॥
अनुमतिः सर्वमिदं बभूव यत्तिष्ठति चरति यदु च विश्वमेजति ।
तस्यास्ते देवि सुमतौ स्यामानुमते अनु हि मंससे नः ॥ ६ ॥

अर्थ— हे (सु-प्र-नीते अनुमते) उत्तम प्रकारसे ले जानेवाली अनुमति ! हे (विश्ववारे) सबके द्वारा स्वीकार किए जाने योग्य ! (यत् ते सुदानु सुहवं अनुमतं नाम) जो तेरा उत्तम दानशील, उत्तम त्यागमय, अनुमतियुक्त यश है, (तेनः नः यज्ञं पिपृहि) उससे हमारे सत्कर्मको पूर्ण कर। हे (सुभगे) सौभाग्यवाली ! (न सुवीरं रयिं धेहि) उत्तम वीरोंसे युक्त धन हमें दे ॥ ४ ॥

(इमं सुजातं यज्ञं) इस प्रसिद्ध सत्कर्मके प्रति (अनुमतिः सुक्षेत्रतायै सुवीरतायै आजगाम) अनुमति उत्तम स्थान बनानेके लिये और उत्तम वीरता उत्पन्न होनेके लिये आई है। (अस्याः प्रमतिः भद्रा बभूव) इसकी श्रेष्ठ बुद्धि कल्याण करनेवाली हो गई है। (सा देवगोपा इमं यज्ञं आ अवतु) वह देवोंद्वारा रक्षित हुई सुमति सब प्रकारसे इस सत्कर्मकी रक्षा करे ॥ ५ ॥

(यत् तिष्ठति) जो स्थिर है, (यत् चरति) जो चलता है, (यत् च विश्वं एजति) जो सबको चला रहा है, (इदं सर्वं अनुमतिः बभूव) वह यह सब अनुमति ही है। हे (देवि) देवि ! (तस्याः ते सुमतौ स्याम) उस तेरी सुमतिमें हम रहें। हे (अनुमते) अनुमति ! (नः हि अनुमंससे) हमें तू अनुमति देती रह ॥ ६ ॥

भावार्थ— उत्तम नीति और सुमतिका यश बड़ा है और उसमें दान, त्याग आदि श्रेष्ठ गुण हैं। इन गुणोंसे युक्त हमारे सत्कर्म हों और हमें वीरोंसे युक्त धन मिले ॥ ४ ॥

सुप्रसिद्ध सत्कर्मके लिये हमारी अनुकूलमति होवे, और उससे हमें उत्तम वीरत्व और उत्तम कार्यक्षेत्र प्राप्त हों। ऐसी जो सद्‌बुद्धि होती है वही कल्याण करती है। यह देवोंसे रक्षित होनेवाली बुद्धि हमारे द्वारा चलाये सत्कर्मकी रक्षा करे ॥५॥

जो स्थिर और चर पदार्थ हैं और जो उनकी चालक शक्ति है, यह सब अनुमतिसे ही बने हैं। यह अनुमति हमारे अनुकूल रहे अर्थात् हमसे प्रतिकूल बर्ताव न करावे और हमें सदा सत्कर्म करनेकी ही प्रेरणा करती रहे ॥ ६ ॥

अनुमति ।

अनुमतिकी शक्ति

'अनुकूल बुद्धि' को ही 'अनुमति' कहते हैं, जगत्‌में जो कुछ भी हो रहा है वह अनुकूल मतिसे ही हो रहा है। चोर चोरी करता है वह अपनी अनुमतिसे करता है, योगी योगाभ्यास करता है वह अपनी अनुमतिसे ही करता है और देशभक्त स्वराज्ययुद्धमें संमिलित होकर अपना सिर कटवाता है वह भी अपनी अनुमतिसे ही कटवाता है। तात्पर्य यह है कि, जो जो मनुष्य जो कुछ कार्य, बुरा या भला, हितकारी या अहितकारी, देशोद्धारक या देशघातक करता है वह सब अपनी अनुमतिसे ही निश्चित करके करता है। इसलिये इस सूक्तमें कहा है—

यत् तिष्ठति, चरति, यत् उ च विश्वमेजति,
इदं सर्वं अनुमतिः बभूव ॥ (मं. ६)

'जो स्थिर है, जो चंचल है, और जो सबको चलाता है, वह सब अनुमतिसे ही होता है।' यह मंत्र छोटे कार्यसे बडे विश्वव्यापक कार्यतक व्यापनेवाले तत्त्वको बता रहा है।

जो स्थिर जगत्की व्यवस्था है, जो चर जगत्का प्रबंध है और जो इस सब स्थिरचर जगत्को चलाता है वह सब विश्वका कार्य परमेश्वर अपनी अनुमतिसे करता है। यह संपूर्ण जगत् जो चल रहा है वह परमेश्वरकी अनुमतिसे ही चल रहा है। यहां तक अनुमतिकी शक्ति है। इसी प्रकार मनुष्य भी जो अनुकूल या प्रतिकूल कार्य करते हैं वह सब अपनी अनुमतिसे ही करते हैं। मनुष्य बचपनसे मरनेतक जो करता है वह सबका सब अपनी अनुमतिसे ही करता है, इतना अनुमतिका साम्राज्य सब जगतमें चल रहा है। इसीलिये अपनी अनुमति अच्छे कार्योंके लिये ही होवे और बुरे कार्योंके लिये न होवे, ऐसी दक्षता धारण करना अत्यंत आवश्यक है। यह सूचना निम्नलिखित मंत्रभाग देते हैं—

देवेषु यज्ञं अनुमन्यताम्। (मं. १)
अनुमते ! त्वं अनुमंससे, नः शं कृधि। (मं. २)
वयं तस्य हेडसि मा अपि भूम। (मं. ३)
सुमृडीके सुमतौ स्याम। (मं. ३)
सुदानु सुहवं अनुमतं नाम। (मं. ४)
सुवीरं रयिं धेहि। (मं. ४)
सुमतौ स्याम। (मं. ६)

'देवोंमें चलनेवाले सत्कर्मके लिये अनुमति हो, अर्थात् राक्षसोंके चलाये घातक कार्यके लिये कदापि अनुमति न होवे। अनुमतिसे ही सब कार्य होते हैं, इसलिये ऐसे कार्योंके लिये अनुमति होवे कि, जिससे कल्याण हो। हम कभी क्रोधके लिये अपनी अनुमति न करें, किसीके क्रोधके लिये हम अनुकूल न हों। सबके सुख बढानेके कार्योंमें और उत्तम बुद्धिके कार्योंमें हमारी अनुकूलमति हो, अर्थात् दुःख बढानेवाले किसी कार्यके लिये हम अपनी अनुमति न दें। जिसमें दान होता है और त्याग होता है, परोपकार जिसमें है ऐसे कार्योंके लिये जो अनुमति होती है, वही यश बढानेवाली होती है। अर्थात् जिसमें परोपकार नहीं, किसीका भला नहीं, बुराही बुरा है वैसे कार्योंको अनुमति देनेसे अकीर्तिही होती है। सदा अनुमति ऐसे ही कार्योंके लिये रखनी चाहिये कि, जो कार्य वीरतायुक्त धन बढानेवाले हों। भीरुता और नीचतासे, धन कमानेके कार्योंके लिये कभी कोई अपनी अनुमति न दें। सारांश यह है कि, सुमतिके लिये हमारी अनुमति होवे, और दुर्मतिके लिये कदापि अनुमति न होवे।"

इस सूक्तमें जो विशेष महत्त्वके उपदेश हैं वे ये हैं। अनुमतिकी शक्ति बहुत बडी है, इसलिये उस अनुमतिको अच्छे कार्योंमें ही लगाना योग्य है, अन्यथा हानि होगी। इस विषयमें सबसे पहिली आज्ञा यह है—

नः अनुमतिः देवेषु यज्ञं अद्य अनुमन्यताम्। (मं. १)

'हमारी अनुमति देवोंमें चलाये जानेवाले सत्कर्मके लिये आजही अनुमोदन देवे।' यहां कलका वायदा नहीं, शुभकर्म आजही करना चाहिये, कलके लिये नहीं रखना चाहिये। जो सत्कर्म करना हो उसे आज ही शुरू करना चाहिये। सत्कर्मका लक्षण यह है कि (देवेषु यज्ञं) देवोंमें जो यज्ञ जैसे होता है, वह वैसे ही करनेके लिये अपनी अनुमति हो। देव कौनसा यज्ञ कर रहे हैं यह दृष्टव्य है। जो दान देते हैं, प्रकाश देते हैं, परोपकार करते हैं वे देव हैं पृथिवी देवता है वह सबको आधार देती है, जल देवता है वह सबको शांतिसुख देनेके लिये आत्मसमर्पण करता है, अग्नि देवता है वह शीतपीडितोंको गर्मी देकर सुख पहुंचाता है, सूर्य देवता सबको जीवन और प्रकाश देता है, वायु सबका प्राण बनकर सबको आयु प्रदान कर रहा है, चन्द्रमा स्वयं कष्ट भोग कर भी दूसरोंको शान्ति देनेमें तत्पर रहता है, इसी प्रकार अन्यान्य देवता अहर्निश परोपकारमें लगे हुए हैं। यही देवताओंमें होनेवाला परोपकारमय यज्ञ है। ऐसे शुभ कर्मोंके लिये हमारी मति अनुकूल होवे। इन देवोंमें—

दाशुषे हव्यवाहनः अग्निः भवताम् (मं. १)

" दानी पुरुषके लिये हव्यवाहक अग्नि आदर्श होवे। " अग्नि ही परोपकारका आदर्श है क्योंकि वह स्वयं जलता रहनेपर भी दूसरोंको सुख देनेके लिये प्रकाशित होता है, हिमपीडितोंको गर्मी देता है और अपनी ऊर्ध्वगति कायम रखता है। हरएक अवस्थामें अपनी उच्च गति स्थिर रखनेके कार्यमें अग्निही एक श्रेष्ठ आदर्श है। (अग्नेः ऊर्ध्वज्वलनं), 'उच्च दिशासे प्रकाशित होकर प्रगति करनेका आदर्श' अग्निही सबको देता है। हरएक अपनी बुद्धिमें यह आदर्श सदा रखे। और कोई मनुष्य अपनी गति हीनदिशासे कदापि होने न दें। सूर्य भी अग्निरूप होनेके कारण सबसे उच्च स्थानपर रहता हुआ प्रकाशित होता रहता है। इसी प्रकार मनुष्य भी उच्चसे उच्च अवस्था प्राप्त करें और प्रकाशित हों। कभी नीच अवस्थामें पडकर दुःखी न हों, कभी अन्धकारके कीचडमें न फंसें। किस कार्यके लिए अनुमति देनी उचित है ? इस विषयमें निम्नलिखित मन्त्रभाग देखिये—

अक्षीयमाणं प्रजावन्तं रयिं अनुमन्यताम्। (मं. ३)
सुवीरं रयिं (अनुमन्यतां)। (मं. ४)

" क्षीण न होनेवाला, प्रजायुक्त और वीरोंसे युक्त धन बढानेवाले जो जो श्रेष्ठ कर्म हों " उन कर्मोंको करनेकी अनुमति होनी चाहिये। अर्थात् कोई ऐसे दुष्ट व्यसन जिनमें धनका नाश हो वैसे काम करनेमें कदापि अनुमति नहीं होनी चाहिये। मनुष्यको क्या करना चाहिये, इस विषयमें निम्नलिखित मन्त्रभाग मनन करने योग्य हैं—

सुक्षेत्रतायै सुवीरतायै अनुमतिः। (मं. ५)

" अपना प्रदेश उत्तम बने और उसमें वीरभाव बढे, इन दो कार्योंके लिये अपनी अनुमति देनी चाहिये। हरएक प्रकारका क्षेत्र (सु-क्षेत्र) उत्तमसे उत्तम क्षेत्र बने, हरएक ग्राम, नगर और प्रांत सुधरे, हरएक राष्ट्र सुधर कर सबसे श्रेष्ठ बने इस कार्यके लिये प्रयत्न होने चाहिये और जिनसे यह सुधार हो, ऐसे कार्य करनेके लिये अनुमति देनी चाहिये। जिससे स्थान हीन हो, जिससे देशका देश हीन हो, ऐसे किसी कार्यके लिए अनुमति नहीं देनी चाहिये। इसी प्रकार अपने देशमें, नगर और ग्राममें, घरघरमें और व्यक्ति व्यक्तिमें उत्तम वीरता उत्पन्न होने योग्य श्रेष्ठ कर्मोंके लिये अपनी अनुमति देनी चाहिये। कभी ऐसा कोई कार्य नहीं करना चाहिये कि, जिससे अपने देशके किसी मनुष्यमें थोडी भी भीरुता उत्पन्न हो। ' अवीरताका ' का नाश करनेकी वेदमें आज्ञा स्पष्ट है।

सुमति हमेशा (देवगोपा) देवोंद्वारा रक्षित हुई मति होती है अर्थात् जो दुर्मति होती है वह राक्षसोंद्वारा रक्षित होती है। इसलिये अपनी मति राक्षसोंके आधीन करना किसीको भी योग्य नहीं है। देवोंद्वारा सुरक्षित हुई जो प्रमति और विशेष श्रेष्ठ बुद्धि होती है, वही ' भद्रा ' अर्थात् सच्चा कल्याण करनेवाली होती है।

आत्माकी उपासना

[२१ (२२)]

(ऋषिः— ब्रह्मा। देवता— आत्मा।)

समे॑त॒ विश्वे॒ वच॑सा॒ पतिं॑ दि॒व एको॑ वि॒भूरति॑थि॒र्जना॑नाम्।
स पू॒र्व्यो नूत॑नमा॒विवा॑स॒त् तं व॑र्त॒निरनु॑ वावृत॒ एक॒मित् पु॒रु ॥ १ ॥

अर्थ— (विश्वे) तुम सब लोग (दिवः पतिं वचसा समेत) प्रकाशलोकके स्वामी आत्माको स्तुतिके वचनोंसे प्राप्त करो। वह (एकः जनानां विभुः अ-तिथिः) एक है, सब जनों अर्थात् प्राणियोंमें विभु है और उसकी आनेजानेकी तिथि निश्चित नहीं है। (सः पूर्व्यः) वह सबसे पूर्व ही विद्यमान है, वह (नूतनं आविवासत्) नूतन उत्पन्न शरीरोंमें भी बसता है। (तं एकं इत्) उस एकके प्रति (पुरु वर्तनिः) बहुत प्रकारके मार्ग (अनुवावृते) पहुंचते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ— सब लोग इकट्ठे हो कर प्रकाशके स्वामी आत्माकी अपने शब्दोंसे स्तुति करें। वह आत्मा एक है, और सब जनों तथा प्राणियोंके अन्दर विद्यमान है और उसकी आनेजानेकी तिथि निश्चित नहीं है। यद्यपि सबसे पूर्व वह विद्यमान था तथापि नूतनसे नूतन पदार्थोंमें भी वह रहता है। वह एकही है तथा अनेक प्रकारके मार्ग उसके पास पहुंचते हैं ॥१॥

यह आत्मा एक ही है अर्थात् संपूर्ण विश्वमें एक ही है। वही स्वर्ग किंवा प्रकाशलोकका स्वामी है। हरएक मनुष्य इसके गुणोंका गान करे। यह अनेक उत्पन्न हुए पदार्थोंमें स्वामी (विभूः) विद्यमान है और (अतिथिः) इसके आनेजानेकी तिथि किसीको पता नहीं लगती, अथवा (अतिथिः) यह सतत प्रेरणा करता है, सतत गति दे रहा है, विश्वको सतत घुमा रहा है किंवा यह अतिथिवत् पूज्य है। यह सब जगत् (पूर्व्यः) पूर्व भी था, यह कभी नहीं था ऐसा नहीं, यह पुराण पुरुष होता हुआ भी नूतन शरीरोंमें, नूतनसे नूतन पदार्थोंमें रहता है। सर्वत्र व्याप्त होनेके कारण यह किसी स्थानपर नहीं ऐसी बात नहीं, इसलिये पुरातन और नूतन सभी पदार्थोंमें रहता है। वह आत्मा यद्यपि एक है तथापि उसके पास

पहुंचनेके मार्ग अनेक हैं। मनुष्य किसी भी मार्गसे जाए अन्तमें उसी एककी प्राप्ति होती है। कोई मार्ग दूरका हो या कोई समीपका हो, परंतु प्रत्येक मार्ग वहांतक पहुंचता है इसमें संदेह नहीं है।

इस सूक्तका वर्णन परमात्माका और कुछ मर्यादासे जीवात्माका भी है। परमात्माका क्षेत्र बडा और जीवात्माका छोटा है और इस रीतिसे क्षेत्रोंकी न्यूनाधिक मर्यादासे यह एकही वर्णन दोनोंका हो सकता है। जीवात्मापरक 'अतिथि' शब्द 'अनिश्चित तिथिवाला' इस अर्थमें होगा, और परमात्मापरक अर्थ होनेपर 'गतिमान्' इस अर्थमें होगा।

आत्माका प्रकाश

[२२ (२३)]

(ऋषिः- ब्रह्मा। देवता- मन्त्रोक्ता, ब्रध्नः।)

अयं सहस्रमा नो दृशे कवीनां मतिर्ज्योतिर्विधर्मणि ॥ १ ॥

ब्रध्नः समीचीरुषसः समैरयन्।

अरेपसः सचेतसः स्वसरे मन्युमत्तमाश्चिते गोः ॥ २ ॥

अर्थ— (अयं) यह परमात्मा (वि-धर्मणि) विरुद्ध अथवा विविध धर्मवाले पदार्थोंकी संकीर्णतामें (नः कवीनां सहस्रं दृशे) हमारे ज्ञानियोंके हजारों प्रकारके दर्शनके लिये (मतिः ज्योतिः आ) उत्तम बुद्धि और ज्योतिरूप होता है ॥ १ ॥

वह (ब्रध्नः) बडा आत्मारूपी सूर्य (समीचीः अरेपसः) उत्तम रीतिसे चलनेवाली, निर्दोष (सचेतसः मन्युमत्तमाः) ज्ञान देनेवाली, उत्साह बढानेवाली (उषसः) उषःकालकी किरणोंको (गोः स्वसरे चिते) इंद्रियोंके स्वसंचारके मार्गको बतलानेके कार्यमें (समैरयन्) प्रेरित करता है ॥ २ ॥

भावार्थ— विरुद्ध गुण धर्मवाले पदार्थोंमें व्यापनेवाला एक परमात्मा है। वह ज्ञानियोंको उत्तम मार्ग हजारों रीतियोंसे बताता है और उनको उत्तम बुद्धि तथा ज्योति देता है ॥ १ ॥

यह परमात्मा एक बडा सूर्य ही है, उसकी ज्ञान देनेवाली किरणें अत्यंत निर्मल, उत्साह बढानेवाली, प्रकाश देनेवाली, हमारे इंद्रियोंको संचारका मार्ग बतानेवाली हैं, अर्थात् उनसे शक्ति प्राप्त करके हमारी इंद्रियां कार्य करती हैं ॥ २ ॥

इस सूक्तमें जगत्का भी वर्णन है और उसमें व्यापनेवाले परमात्माका भी वर्णन है और उसकी उपासना करनेवाले भक्तोंका भी वर्णन है।

जगत्का वर्णन करनेवाला शब्द यह है— (विधर्मणि) विरुद्ध गुणधर्मवाला जगत् है, इसमें अग्नि उष्ण है और जल शीत है, पृथ्वी स्थिर है और वायु चंचल है, पृथ्वी आदि पदार्थ सावयव हैं तो आकाश निरवयव है। ऐसे विरुद्ध गुणधर्मवाले पदार्थोंमें एक रस व्यापनेवाली यह आत्मा है। विरुद्ध गुणधर्मवाले पदार्थोंकी संगतिमें सदा रहनेपर भी इसके गुण धर्मोंमें अदल बदल नहीं होता। इसी प्रकार विरुद्ध गुणधर्मवाले लोगोंको अपने पास रखकर स्वयं उनके दुर्गुणोंसे दूर रखकर अपने शुभगुणोंसे उनको प्रेरित करना चाहिये।

जिस प्रकार परमात्मा सबको (मतिः ज्योतिः) सद्बुद्धि और प्रकाश देता है, उसी प्रकार अपने पास जो ज्ञान हो वह अन्योंको देना और अपने पास जितना प्रकाश हो उतना अंधेरेमें चलनेवाले दूसरे लोगोंको दिखलाना चाहिये।

वह परमात्मा बडा है, उसकी किरणें निर्दोष हैं, वह मलहीन है, वह उत्साह देनेवाला है; इसी प्रकार मनुष्योंको उचित है कि, वे उच्च बनें, निर्दोष बनें, शुद्ध और पवित्र बनें, उत्साही बनें और दूसरोंको उच्च, निर्दोष, शुद्ध, पवित्र और उत्साही बनावें। इस प्रकार आत्माके गुणोंका विचार करके वे गुण अपनेमें बढाने चाहिये।

विपत्तिको हटाना

[२३ (२४)]

(ऋषिः- यमः । देवता- दुःस्वप्ननाशनः ।)

दौष्वप्न्यं दौर्जीवित्यं रक्षो अभ्वमराय्यः ।
दुर्णाम्नीः सर्वा दुर्वाचस्ता अस्मन्नाशयामसि ॥ १ ॥

अर्थ— (दौष्वप्न्यं) दुष्ट स्वप्नोंका आना, (दौर्जीवित्यं) दुःखमय जीवन (रक्षः) हिंसकोंका उपद्रव, (अ-भ्वं) अभूति, दरिद्रता, (अराय्यः) विपत्तिके कष्ट, (दुर्णाम्नीः) बुरे नामोंका उच्चार करना, (सर्वाः दुर्वाचः) सब प्रकारके दुष्ट भाषण (ताः अस्मत् नाशयामसि) उन सबको हम अपने स्थानसे नष्ट करते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ— बुरे स्वप्न, कष्टका जीवन, हिंसकोंका उपद्रव, विपत्ति, दारिद्य, दुष्टभाषण, गालियाँ देना आदि जो जो बुराईयां हममें हैं, उनको हम दूर करते हैं ॥ १ ॥

विपत्तियां अनेक प्रकारकी हैं, उनमें कुछ विपत्तियोंकी गणना इस स्थानपर की है। बुरे स्वप्न आना आदि विपत्ति तथा दुःखपूर्ण जीवनका अनुभव होना, ये विपत्तियां आरोग्य न रहनेसे होती हैं। आरोग्य उत्तम रीतिसे रखनेके लिये व्यायाम, योगासनोंका अनुष्ठान, यमनियमपालन, प्राणायाम, योग्य आहारविहार आदि उपाय हैं। इनके योग्य रीतिसे करनेसे ये दो विपत्तियां दूर होती हैं। हिंसकोंका उपद्रव दूर करनेके लिये अपने अंदर शूरता उत्पन्न करके शत्रुनाशके उस कार्यमें उस शक्तिको लगाना चाहिये। इससे राक्षसोंके आक्रमणसे हम अपना बचाव कर सकते हैं। (अ-भ्वं) अभूति और (अ-राय्यः) निर्धनता ये दो आर्थिक आपत्तियां उद्योगवृद्धि करने और बेकारी दूर करनेसे दूर होती हैं। मनुष्य आलसी न रहे, कुछ न कुछ उत्पादक काम धंदा करे और अपनी धनसंपत्ति सुयोग्य उपायसे बढावे। इस प्रकार उद्योगवृद्धि करनेसे ये आर्थिक आपत्तियां दूर हो जाती हैं। गाली देना, बुरा भाषण करना, बुरे शब्द उच्चारण करना आदि जो आपत्तियां हैं, उनको दूर करनेके लिये अपनी वाणीकी शुद्धि करनी चाहिये। अप शब्दोंका उच्चार न करनेसे कुछ दिनोंके पश्चात् ये शब्द वाणीसे स्वयं दूर हो जाते हैं। इस प्रकार आत्मशुद्धि करनेका मार्ग इस सूक्तने बताया है।

प्रजापालक

[२४ (२५)]

(ऋषिः- ब्रह्मा । देवता- सविता ।)

यन्न इन्द्रो अखनद्यदग्निर्विश्वे देवा मरुतो यत्स्वर्काः ।
तदस्मभ्यं सविता सत्यधर्मा प्रजापतिरनुमतिर्नि यच्छात् ॥ १ ॥

अर्थ— (यत्) जो (इन्द्रः, अग्निः, विश्वे देवाः) इन्द्र, अग्नि, विश्वेदेव, (स्वर्काः मरुत्) उत्तम तेजस्वी मरुत् इनमेंसे प्रत्येकने (नः अखनत्) हमारे लिये खोदा है (तत्) उस पदार्थको (सत्यधर्मा प्रजापतिः अनुमतिः सविता) सत्य धर्मवाला प्रजापालक अनुमति रखनेवाला सविता (नियच्छात्) देवे ॥ १ ॥

हम सब प्राणिमात्रके लिये विद्युत्, अग्नि, पृथिवी आदि सब देव तथा विविध प्रकारके वायु जो लाभ देते हैं, वह लाभ हमें सूर्यसे प्राप्त होता है, परंतु उससे योग्य रीतिसे लाभ प्राप्त करना चाहिये। क्योंकि सच्चा प्रजापालक यही सूर्य है।

व्यापक और श्रेष्ठ देव

[२५ (२६)]

(ऋषिः- मेधातिथिः । देवता- सविता ।)

ययोरोजसा स्कभिता रजांसि यौ वीर्यैर्वीरतमा शविष्ठा ।
यौ पत्येते अप्रतीतौ सहोभिर्विष्णुमगन्वरुणं पूर्वहूतिः ॥ १ ॥
यस्येदं प्रदिशि यद्विरोचते प्र चानति वि च चष्टे शचीभिः ।
पुरा देवस्य धर्मणा सहोभिर्विष्णुमगन्वरुणं पूर्वहूतिः ॥ २ ॥

अर्थ— (ययोः ओजसा) जिन दोनोंके बलसे (रजांसि स्कभिता) लोक लोकान्तर स्थिर हुए हैं, (यौ वीर्यैः शविष्ठा वीरतमा) जो दो अपने पराक्रमोंसे बलवान् और अत्यंत शूर हैं, (यौ सहोभिः अप्रतीतौ पत्येते) जो अपने बलोंसे पीछे न हटते हुए आगे बढते हैं । उन दोनों (विष्णुं वरुणं) विष्णु अर्थात् व्यापक देवके प्रति और वरुण अर्थात् श्रेष्ठ देवके प्रति (पूर्वहूतिः अगन्) सबसे प्रथम प्रार्थना करता हुआ प्राप्त होता हूं ॥ १ ॥

(यस्य प्रदिशि) जिसकी दिशा उपदिशाओंमें (इदं यत् विरोचते) यह जो प्रकाशित होता है (प्र अनति च) और उत्तम रीतिसे प्राण धारण करता है, (देवस्य धर्मणा सहोभिः) इस देवके धर्म और बलोंसे (शचीभिः विचष्टे च) तथा शक्तियोंसे देखता है, उस (विष्णुं वरुणं च पूर्वहूतिः अगन्) व्यापक और श्रेष्ठ देवको सबसे प्रथम प्रार्थना करनेवाला होकर प्राप्त करता हूं ॥ २ ॥

भावार्थ— जिसने अपने बलसे इस त्रिलोकीको अपने स्थानमें स्थिर किया है, जो अपनी विविध शक्तियोंसे अत्यंत बलवान् और पराक्रमी हुआ है, जो कभी पीछे नहीं हटता परंतु आगे बढता है, उस व्यापक और श्रेष्ठ देवकी मैं सबसे प्रथम प्रार्थना करता हूं, क्योंकि वह सबसे श्रेष्ठ देव है ॥ १ ॥

जिसकी शक्तिसे दिशा और उपदिशाओंमें सर्वत्र प्रकाश फैल रहा है, जिसकी जीवनशक्तिसे सब प्राणीमात्र प्राण धारण करते हैं, जिस देवके निज धर्मसे और बलोंसे सब प्राणी देखते और अनुभव करते हैं उस व्यापक और श्रेष्ठ देवकी मैं सबसे प्रथम प्रार्थना करता हूं क्योंकि वह सबसे वरिष्ठ देव है ॥ २ ॥

यह सूक्त स्पष्ट है अतः इसकी व्याख्या करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है । इस सूक्तमें प्रथम मंत्रमें दो देव भिन्न भिन्न हैं ऐसा मानकर वर्णन किया है, परंतु दूसरे ही मंत्रमें उन दोनोंको एक माना है और एकवचनी प्रयोग हुआ है। इससे ' विष्णु और वरुण ' इन दो शब्दोंसे एक अभिन्न देवताका ही वर्णन अभीष्ट है ऐसा दीखता है ।

सर्वव्यापक ईश्वर

[२६ (२७)]

(ऋषिः- मेधातिथिः । देवता- विष्णुः ।)

विष्णोर्नु कं प्रा वोचं वीर्याणि यः पार्थिवानि विममे रजांसि ।
यो अस्कभायदुत्तरं सधस्थं विचक्रमाणस्त्रेधोरुगायः ॥ १ ॥

अर्थ— (यः पार्थिवानि रजांसि विममे) जो पृथ्वीपरके लोकोंको विशेष रीतिसे निर्माण करता है । (यः उरु-गायः) जो बहुत प्रकार प्रशंसित होता हुआ (त्रेधा विचक्रमाणः) तीन प्रकारसे पराक्रम करता हुआ । (उत्तरं सधस्थं अस्कभायत्) उच्चतर स्वर्गीय प्रकाशस्थानको स्थिर करता है ऐसे उस (विष्णोः वीर्याणि) सर्वव्यापक ईश्वरके पराक्रमोंका (कं प्रावोचं नु) सुख बढानेवाला वर्णन मैं करता हूं ॥ १ ॥

भावार्थ— सर्वव्यापक परमेश्वरके पराक्रम बहुत हैं । जो अपना सुख बढाना चाहते हैं वे उनका वर्णन करें, उनका गायन करें । उसी परमेश्वरने सब पार्थिव पदार्थोंका विशेष कुशलतासे निर्माण किया है । इसीलिये उसकी सर्वत्र बहुत प्रशंसा होती है । वह तीनों लोकोंमें तीन प्रकारका पराक्रम करता है और उसीने सबसे ऊपरका द्युलोक बिना किसी आधारके स्थिर किया हुआ है ॥ १ ॥

प्र तद्विष्णुः स्तवते वीर्याणि मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः
परावत आ जगम्यात्परस्याः ॥ २ ॥
यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा ।
उरु विष्णो वि क्रमस्वोरु क्षयाय नस्कृधि ।
घृतं घृतयोने पिब प्रप्र यज्ञपतिं तिर ॥ ३ ॥
इदं विष्णुर्वि चक्रमे त्रेधा नि दधे पदा । समूढमस्य पांसुरे ॥ ४ ॥
त्रीणि पदा वि चक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः । इतो धर्माणि धारयन् ॥ ५ ॥
विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे । इन्द्रस्य युज्यः सखा ॥ ६ ॥

अर्थ—(तत् वीर्याणि) उस पराक्रमके कारण (विष्णुः स्तवते) वही व्यापक ईश्वर प्रशंसित होता है। वह (भीमः मृगः न) भयानक सिंहके समान (कु-चरः गिरि-ष्ठः) पृथ्वीपर सर्वत्र संचार करनेवाला और गिरि गुहाओंमें रहनेवाला है। वह (परस्याः परावतः) दूरसे दूरके प्रदेशसे (आजगम्यात्) समीप आता है ॥ २ ॥

(यस्य उरुषु त्रिषु विक्रमणेषु) जिसके विशाल तीन विक्रमोंमें (विश्वा भुवनानि अधि क्षियन्ति) सब भुवन रहते हैं वह तू हे (विष्णो, उरु विक्रमस्व) व्यापक देव ! विशेष विक्रम कर। (नः क्षयाय उरु कृधि) हमारे निवासके लिये विस्तृत स्थान दे। हे (घृतयोने, घृतं पिब) रसको उत्पन्न करनेवाले! रसका पान कर और (यज्ञ-पतिं प्र प्र तिर) यज्ञकर्ताको दुःखसे पार कर ॥ ३ ॥

(विष्णुः इदं विचक्रमे) व्यापक देव इस जगतमें विक्रम कर रहा है, उसने (पदा त्रेधा निदधे) अपने पांवसे तीन प्रकारसे पद रखा है। (अस्य पांसुरे समूढं) इसका जो पांव बीचके लोकमें है वह गुप्त है ॥ ४ ॥

(अदाभ्यः गोपा विष्णुः) न दबनेवाला, पालक और व्यापक देव (त्रीणि पदा विचक्रमे) तीन पावोंको इस जगतमें रखता है और (इतः धर्माणि धारयन्) वहांसे सब धर्मोंका धारण करता है ॥ ५ ॥

(विष्णोः कर्माणि पश्यत) व्यापक देवके ये कार्य देखो। (यतः व्रतानि पस्पशे) जहांसे सब गुणधर्मोंको वह देखता है। (इन्द्रस्य युज्यः सखा) वह जीवात्माका योग्य मित्र है ॥ ६ ॥

भावार्थ—इस परमेश्वरका गुणसंकीर्तन करनेसे उसके पराक्रमोंका ज्ञान प्राप्त होता है और उससे उसका महत्त्व अनुभव करना सुगम होता है। जैसे सिंह गिरिकंदराओंमें संचार करता है, और भूमिपर घूमता है, उसी प्रकार यह भी हृदयगुफामें संचार करता है और इस लोकको व्याप्त करता है। वह दूरसे दूर रहनेपर भी भक्ति करनेपर समीपसे समीप आ जाता है ॥२॥

पृथ्वी अन्तरिक्ष और द्युलोक इन तीनों लोकोंमें इस ईश्वरके तीन पराक्रम दिखाई देते हैं। उन पराक्रमोंसे ही इन तीन लोकोंका अस्तित्व है। इसलिये उस प्रभुकी विशेष प्रार्थना करते हैं कि वह हमें उत्तम और विस्तृत स्थान कार्य करनेके लिये अर्पण करे। हे प्रभो ! यजमान जो सत्कर्म करता है उसका रस ग्रहण करके यजमानको इस दुःखसागरसे पार कर ॥ ३ ॥

व्यापक देवका कार्य इस त्रिलोकीमें देख, उसने अपने तीन पांव लोकोंमें रखकर वहांका कार्य किया है। पृथ्वीपर उसका कार्य दिखाई देता है, द्युलोकमें भी वैसा ही अनुभवमें आता है। परंतु मध्यस्थानीय अन्तरिक्ष लोकमें उसका जो कार्य हो रहा है वह दिखाई नहीं देता ॥ ४ ॥

यह व्यापक देव किसीसे भी न दबनेवाला और सबकी रक्षा करनेवाला है। इन तीनों लोकोंमें अपने तीन पांव रखता है और वहांका सब कार्य करता है। यहींसे उसके सब गुणधर्म प्रकट होते हैं ॥ ५ ॥

हे लोगो ! इस सर्वव्यापक ईश्वरके ये चमत्कार देखो। जिसके प्रभावसे उसके सब व्रत यथायोग्य रीतिसे चल रहे हैं। हरएक जीवका यह परमेश्वर एक उत्तम मित्र है ॥ ६ ॥

तद्विष्णोः पर॒मं प॒दं सदा॑ पश्यन्ति सू॒रयः॑ । दि॒वी॑व॒ चक्षु॒रात॑तम् ॥ ७ ॥

दि॒वो वि॑ष्ण उ॒त वा॑ पृथि॒व्या म॒हो वि॑ष्ण उ॒रोर॒न्तरि॑क्षात् ।
हस्तौ॑ पृणस्व ब॒हुभि॑र्वस॒व्यैरा॒प्रय॑च्छ॒ दक्षि॑णा॒दोत स॒व्यात् ॥ ८ ॥

अर्थ— मनुष्य (दिवि आततं चक्षुः इव) जैसे द्युलोकमें फैले हुए चक्षुरूपी सूर्यको प्रत्यक्ष देखते हैं, उसी प्रकार उस (विष्णोः तत् परमं पदं) व्यापक देवके उस परम स्थानको (सूरयः सदा पश्यन्ति) ज्ञानी जन सदा देखते हैं ॥ ७ ॥

हे (विष्णो) व्यापक देव ! (दिवः उत पृथिव्याः) द्युलोक और पृथिवीसे तथा (महः उरोः अन्तरिक्षात्) बडे विस्तृत अन्तरिक्षसे (बहुभिः वसव्यैः हस्तौ पृणस्व) बहुत धनोंसे अपने दोनों हाथ भर ले और (दक्षिणात् उत सव्यात्) दायें तथा बायें हाथोंसे हमें (आ प्रयच्छ) प्रदान कर ॥ ८ ॥

भावार्थ — जिस प्रकार द्युलोकमें सूर्यको सब लोग देखते हैं, उसी प्रकार ज्ञानी लोग सदा उसको देखते हैं । अर्थात् वह ईश्वर इस प्रकार उनको प्रत्यक्ष होता है ॥ ७ ॥

हे सर्वव्यापक प्रभो ! पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्युलोकमेंसे बहुत धन तू अपने हाथमें लेकर अपने दोनों हाथोंसे उस धनको हमें प्रदान कर ॥ ८ ॥

इस सूक्तमें सर्वव्यापक ईश्वरका वर्णन है । तीनों लोकोंमें जो विलक्षण चमत्कार दिखाई देते हैं, वे सब उसीकी शक्तिसे हो रहे हैं । उसीने ये तीनों लोक रचे, उसीने इनको धारण किया और वही यहांका सब चमत्कार कर रहा है । वह सर्व-व्यापक होनेपर भी साधारण लोगोंको वह प्रत्यक्ष दिखाई नहीं देता । परन्तु ज्ञानी लोगोंको वह वैसा ही प्रत्यक्ष दिखाई देता है कि जैसे दो पहरका सूर्य आकाशमें प्रत्यक्ष दिखाई देता है ।

मातृभाषा

[२७) २८)]

(ऋषिः— मेधातिथिः । देवता— इडा (मंत्रोक्ता) ।)

इडै॒वास्माँ॒ अनु॑ वस्तां व्र॒तेन॒ यस्याः॑ प॒दे पु॑न॒ते दे॑व॒यन्तः॑ ।
घृ॒तप॑दी॒ शक्व॑री॒ सोम॑पृ॒ष्ठोप॑ य॒ज्ञम॑स्थित वैश्वदे॒वी ॥ १ ॥

अर्थ— (इडा एव व्रतेन अस्मान् अनुवस्तां) मातृभाषा ही नियमसे हमारे पास अनुकूलतासे रहे, (यस्याः पदे देवयन्तः पुनते) जिसके पदपदमें देवताके समान आचरण करनेवाले पवित्र होते हैं। (घृतपदी) स्नेहयुक्त पदवाली, (शक्करी) सामर्थ्यवती, (सोमपृष्ठा) कलानिधि जिसके पीछे होता है, ऐसी (वैश्वदेवी) सब देवोंका वर्णन करनेवाली वाणी (यज्ञं उप अस्थित) यज्ञके समीप स्थिर होवे ॥ १ ॥

मातृभाषासे हम कभी पराङ्मुख न हों, अनुकूलतासे मातृभाषाका उपयोग करनेकी अवस्थामें हम सदा रहें । देवता बननेकी इच्छा करनेवाले सज्जन इस मातृभाषाके पदपदके उच्चारणके समय अपनी पवित्रता होनेका अनुभव करते हैं । अर्थात् मातृभाषाको छोडकर किसी अन्यभाषाका उच्चारण करनेकी आवश्यकता हो और उतने प्रमाणसे मातृभाषाका प्रति-बंध होने लगा, तो वे समझते हैं कि पदपदमें अपवित्रता हो रही है । क्योंकि मातृभाषाका हरएक पद उच्चारण करनेवालेके रक्तके साथ संबंध रखता है । मातृभाषाके शब्दोंमें (घृत-पदी) घी भरा रहता है अर्थात् एक प्रकारका तेजस्वी स्नेहरस रहता है, जिसके कारण मातृभाषाका शब्दोच्चार अन्तःकरणपर एक विलक्षण भाव उत्पन्न करता है। मातृभाषा (शक्करी)

शक्तिमती भी होती है। परकीय भाषाका व्याख्यान श्रवण करनेसे सब उपस्थित स्त्रीपुरुषोंपर वैसी शक्तिका प्रभाव नहीं जम सकता, जैसा मातृभाषाका व्याख्यान शक्ति प्रदान कर सकता है। मातृभाषाके पीछे (सोमकलानिधि) कलाओंकी निधि रहती है। सब हुनर इसके साथ रहते हैं इस कारण इसकी शक्ति बहुत ही बढ जाती है। यह (विश्व+देवी= विश्वे देवाः) सब देवोंको स्थान देनेवाली होती है अर्थात् पृथ्वी, आप्, तेज, वायु, सूर्य, चन्द्र, विद्युत् आदि देवोंका गुण वर्णन-वैज्ञानिक पदार्थ विज्ञान- इस भाषामें रहनेसे मानों इसमें देवता रहती हैं। ऐसी दैवी बलसे युक्त मातृभाषा हरएक सत्कर्ममें प्रयुक्त होवे। कभी अन्य भाषाके शब्द मातृभाषा बोलनेके समय प्रयुक्त न किये जायें। इस प्रकार इस सूक्तका एक एक शब्द मातृभाषाका गौरव वर्णन कर रहा है।

कल्याण

[२८ (२९)]

(ऋषिः- मेधातिथिः । देवता- वेदः ।)

वेदः स्वस्तिर्द्रुघणः स्वस्तिः परशुर्वेदिः परशुर्नः स्वस्ति ।
हविष्कृतो यज्ञिया यज्ञकामास्ते देवासो यज्ञमिमं जुषन्ताम् ॥ १ ॥

अर्थ— (वेदः स्वस्ति) ज्ञान कल्याण करनेवाला है। (द्रु-घणः स्वस्ति) लकडी काटनेकी कुल्हाडी कल्याण करनेवाली है। (परशुः) परशु कल्याण करनेवाला है। (वेदिः) यज्ञकी वेदि कल्याण करती है। (नः परशुः स्वस्ति) हमारा शस्त्र कल्याण करनेवाला (हविष्कृतः याज्ञियाः यज्ञकामाः) हवि बनानेवाले, पूजनीय और यज्ञ करनेकी इच्छा करनेवाले (ते देवासः) वे याजक (इमं यज्ञं जुषन्तां) इस यज्ञका प्रेमसे सेवन करें ॥ १ ॥

ज्ञान, बढईके हथियार, लकडी तोडनेके कुल्हाडे, घास काटनेका हंसिया, समिधा तैय्यार करनेका फरसा, वेदी, हवि, हवि तैय्यार करनेवाले लोग, यज्ञ करनेवाले, यज्ञकी इच्छा करनेवाले ये सब कल्याण करनेवाले हैं। इसलिये इनके विषयमें उचित श्रद्धा धारण करनी चाहिये।

दो देवोंका सहवास

[२९ (३०)]

(ऋषिः- मेधातिथिः । देवता- अग्राविष्णू ।)

अग्राविष्णू महि तद्वां महित्वं पाथो घृतस्य गुह्यस्य नाम ।
दमेदमे सप्त रत्ना दधानौ प्रति वां जिह्वा घृतमा चरण्यात् ॥ १ ॥

अर्थ— हे (अग्राविष्णू) अग्नि और विष्णु ! (वां तत् महि महित्वं नाम) तुम दोनोंका वह बडा महत्त्वपूर्ण यश है, जो तुम दोनों (गुह्यस्य घृतस्य पाथः) गुह्य घृतका पान करते हो। तथा (दमेदमे सप्त रत्ना दधानौ) प्रत्येक घरमें सात रत्नोंको धारण करते हो और (वां जिह्वा घृतं प्रति आ चरण्यात्) तुम दोनोंकी जिह्वा प्रत्येक यज्ञमें उस रसको प्राप्त करती है ॥ १ ॥

भावार्थ— अग्नि और विष्णु ये दो देव एक स्थानमें रहते हैं, उन दोनोंकी बडी भारी महिमा है। वे दोनों गुप्त रीतिसे गुहामें बैठकर घीका भक्षण करते हैं, प्रत्येक घरमें सात रत्नोंको स्थापित करते हैं और अपनी जिह्वासे गुह्य घीका स्वाद लेते हैं ॥ १ ॥

अग्नाविष्णू महि धाम प्रियं वां वीथो घृतस्य गुह्या जुषाणौ ।
दमेदमे सुष्टुत्या वावृधानौ प्रति वां जिह्वा घृतमुच्चरण्यात् ॥ २ ॥

अर्थ— हे (अग्नाविष्णू) अग्नि और विष्णु ! (वां धाम महि प्रियं) आपका स्थान बडा प्रिय है । उसको (घृतस्य गुह्या जुषाणौ वीथः) घीके गुह्य रसका सेवन करते हुए प्राप्त करते हो । (दमे दमे सुष्टुत्या वावृधानौ) प्रत्येक घरमें उत्तम स्तुतिसे वृद्धिको प्राप्त होते हुए (वां जिह्वा घृतं प्रति उत् चरण्यात्) तुम दोनोंकी जिह्वा उस घृतको प्राप्त करती है ॥ २ ॥

भावार्थ— इन दोनोंका एक ही बडा भारी प्रिय स्थान है । ये दोनों घीके गुह्य रसका स्वाद लेते हैं । हरएक घरमें स्तुतिसे बढते हैं और गुह्य घीके पास ही इनकी जिह्वा पहुंचती है ॥ २ ॥

दो देवोंका सहवास

इस सूक्तमें एक स्थानमें रहनेवाले दो देवोंका वर्णन है। एक अग्नि और दूसरा विष्णु है । ' विष्णु ' शब्द द्वारा सर्वव्यापक परमेश्वरका वर्णन इसके पूर्वके २६ वें सूक्तमें हो चुका है । ' विष्णु ' शब्दका दूसरा अर्थ ' सूर्य ' है, सूर्य भी बहुत ही बडा है और इस ग्रहमालाका आधार तथा कर्ता-धर्ता है उसकी अपेक्षा अग्नि बहुतही अल्प और छोटी है । सूर्यके साथ हमारे अग्निकी तुलना की जाय, तो दावानलके साथ चिनगारीकी ही कल्पना हो सकती है । अग्नि उत्पन्न होती है, अर्थात् इसका जन्म होता है यह बात हम देखते हैं, जन्मके बाद वह कुछ समय जलती रहती है और पश्चात् बुझ जाती है । ठीक यही बात जीवात्माके जन्म होने, उसकी आयुसमाप्तितक जीवित रहने और पश्चात् मरनेके साथ तुलना करके देखिये, तो पता लग जायगा । यदि यहां ' विष्णु ' शब्द द्वारा सर्वव्यापक परमात्माका ग्रहण किया जावे, तो ' अग्नि ' शब्दसे छोटे जीवात्माका ग्रहण किया जा सकता है। उत्पन्न होना, जीवित रहना और बुझ जाना ये तीनों बातें जैसी अग्निमें हैं वैसी ही जीवात्मामें हैं और उसके साथ सदा रहनेवाला विश्वव्यापक परमात्मा है । यही बात वेदमें अन्यत्र भी कही है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया
समानं वृक्षं परिषस्वजाते ॥

' दो सुंदर पंखवाले पक्षी साथ साथ रहते हैं, परस्पर मित्र हैं, ये दोनों एक ही वृक्षपर रहते हैं । ' (ऋ० १।१६४।२०)

यह जो दो पक्षी कहे हैं, उनमेंसे एक जीवात्मा है और दूसरा परमात्मा है । इसी प्रकार साथ रहनेवाले दो देव, एक अग्नि और दूसरा सूर्य, अथवा एक जीवात्मा और दूसरा परमात्मा है । यहां अग्निका जीवात्माके किन गुणोंके साथ साधर्म्य है यह ऊपर कहा है । देहके साथ वारंवार संबंधित होनेके कारण पूर्वोक्त तीनों धर्म जीवात्माके ऊपर आरोपित होते हैं, क्योंकि जीवात्मा तो न जन्मता है और न मरता है । शरीरके ये धर्म उसपर लगाये जाते हैं । ये दोनों—

दमे दमे सप्त रत्ना दधानौ (मं० १)

' घर घरमें सात रत्नोंको धारण करते हैं । ' ये सात रत्न यहां प्रत्येक जीवात्माके प्रत्येक घरमें हैं । पांच ज्ञानेंद्रियाँ और मन तथा बुद्धि ये सात रत्न हैं, इसीसे साधारणतः सब प्राणी और विशेषतः मनुष्य सुशोभित होते हैं । इनमें रमणीयता है, ये मनुष्यके आभूषण हैं अतः ये रत्न ही हैं । जो जेवरोंमें पहने जाते हैं वे वस्तुतः रत्न नहीं हैं; आत्माके इन सात रत्नोंके ठीक रहने पर ही जेवर और भूषण शरीरको शोभा देते हैं, अन्यथा जेवरोंसे कोई शोभा नहीं होती । यजुर्वेदमें कहा है—

सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे,
सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम् ।
सप्तापः स्वपतो लोकमीयुः० (यजु० ३४।५५)

' प्रत्येक शरीरमें सात ऋषि हैं, ये सात इस सभास्थानकी अर्थात् शरीरकी प्रमाद न करते हुए रक्षा करते हैं, ये सात नदियां सोनेवाले इस जीवात्माके लोकमें जाती हैं ' इत्यादि वर्णन भी इन्हीं इंद्रियोंका ही वर्णन है, सात रत्न, सात ऋषि, सात रक्षक, सात जलप्रवाह इत्यादि वर्णन इन्हीं जीवात्माकी सात शक्तियोंका है । जबतक यह जीवात्मारूपी अग्नि इस शरीररूपी हवन कुण्डमें जलता रहता है तबतक ये सात रत्न भी रहते हैं, जब यह बुझ जाता है, तब ये रत्न भी शोभा देना बंद कर देते हैं । ये दोनों अग्नियां—

गुह्यस्य घृतस्य पाथः। (मं १)

घृतस्य गुह्या जुषाणौ वीथः। (मं २)

यां जिह्वा घृतं प्रति आ (उत्) चरण्यात्।
(मं० १-२)

'गुह्य घी पीते हैं। इनकी जिह्वा इस घीकी ओर जाती है।' यह गुह्य घृत कौनसा है? यह एक विचारणीय प्रश्न है। गुहामें जो होता है वह 'गुह्य' कहलाता है। यहां 'गुहा' शब्दसे 'बुद्धि' अथवा 'अन्तःकरण' विवक्षित है। इसमें जो इंद्रियरूपी गौसे निचोडे हुए दूधका बनाया हुआ घी होता है, वह गुह्य किंवा गुप्त घी है। यह घी इस बुद्धिमें अथवा हृदयकंदरामें रखा हुआ होता है और इसका ये गुप्त रीतिसे सेवन करते हैं। यह बात अब पाठकोंको विदित होगई होगी, कि इस रूपकका क्या तात्पर्य है।

यां माहि प्रियं धाम। (मं० २)

'इनका स्थान बडा है और प्रिय है।' क्यों कि यहां प्रेम भरा रहता है। सबको यह प्यारा है। सब इसकी ही प्राप्तिके लिये यत्न करते हैं। ऐसा इनका स्थान है। तथा—

दमेदमे सुष्टुत्या वावृधानौ। (मं० २)

'घर घरमें उत्तम स्तुतिसे वृद्धिको प्राप्त होते हैं।' अर्थात् हरएक शरीरमें जहां जहां उत्तम ईश्वरकी स्तुति होती है, जहां उसके शुभ गुणोंका गायन होता है, वहां एक तो परमेश्वर भावकी वृद्धि होती है, और उन गुणोंकी धारणासे जीवात्माकी शक्ति बढती है। यह जीवात्माकी वृद्धिका उपाय है।

यहां शरीरके लिए 'दम' शब्द प्रयुक्त हुआ है। जिस शरीरमें इंद्रियोंका शमन होता है और मनोवृत्तियोंका दमन होता है उसका नाम 'दम' है। दो प्रकारके शरीर हैं। एकमें भोगवृत्ति बढती है और दूसरेमें दमवृत्ति बढती है। जिसमें दमवृत्ति बढती है उसका नाम यहां 'दम' रखा है और इस दमसे 'सप्त रत्न' भी उत्तम तेजःपुंज स्थितिमें रहते हैं और वहीं आत्माकी शक्ति विकसित होती है।

अञ्जन

[३० (३१)]

(ऋषिः— भृग्वंगिराः। देवता— द्यावापृथिवी, मित्रः, ब्रह्मणस्पतिः, सविता च।)

स्वाक्तं मे द्यावापृथिवी स्वाक्तं मित्रो अकरयम्।
स्वाक्तं मे ब्रह्मणस्पतिः स्वाक्तं सविता करत् ॥ १ ॥

अर्थ— (द्यावापृथिवी मे सु-आक्तं) द्युलोक और पृथ्वीलोक मेरी आंखोंको उत्तम अञ्जनसे युक्त करें। (अयं मित्रः स्वाक्तं अकः) यह मित्र मुझे अञ्जनसे युक्त करता है। (ब्रह्मणस्पतिः मे स्वाक्तं) ज्ञानपति देवने मुझे उत्तम अञ्जनसे युक्त किया है। (सविता स्वाक्तं करत्) सविताने भी मेरी आंखोंके लिये उत्तम अञ्जन दिया है ॥ १ ॥

आंखमें अञ्जन डालकर आंखोंका आरोग्य बढानेकी सूचना इस मंत्र द्वारा मिलती है। द्युलोकसे पृथ्वीतक जो जो सृष्ट्यन्तर्गत सूर्यादि पदार्थ हैं, उनका जो तेजस्वी रूप है, उसी तरह मेरी आंखें तेजस्वी बनें। यह इच्छा इस सूक्तमें स्पष्ट है। यह मंत्र ज्ञानाञ्जनका भी सूचक माना जा सकता है। जिससे दृष्टि शुद्ध होती है वह अञ्जन होता है, फिर वह साधारण अञ्जन हो, अथवा ज्ञानाञ्जन हो।

अपनी रक्षा

[३१ (३२)]

(ऋषिः- भृग्वंगिराः । देवता- इन्द्रः ।)

इन्द्रोतिभिर्बहुलाभिर्नो अद्य यांवच्छ्रेष्ठाभिर्मघवञ्छूर जिन्व ।
यो नो द्वेष्ट्यधरः सस्पदीष्ट यमु द्विष्मस्तमु प्राणो जहातु ॥ १ ॥

अर्थ— हे (इन्द्र) इन्द्र ! (यावत् श्रेष्ठाभिः बहुलाभिः ऊतिभिः) अतिश्रेष्ठ विविध प्रकारकी रक्षाओंसे (अद्य न जिन्व) आज हमें जीवित रख । हे (मघवन् शूर) धनवान् शूरवीर ! (यः नः द्वेष्टि) जो हमसे द्वेष करता है (सः अधरः पदीष्ट) वह नीचे गिर जावे । (यं उ द्विष्मः) जिससे हम द्वेष करते हैं (तं उ प्राणः जहातु) उसको प्राण छोड देवे ॥ १ ॥

भावार्थ— हे धनवान् और शूर प्रभो ! तुम्हारे जो अनेक प्रकारके अतिश्रेष्ठ रक्षाके साधन हैं, वे सब हमें प्राप्त हों और उनसे हमारी रक्षा होवे और हमारा जीवन उनकी सहायतासे सुखकर होवे। जो दुष्ट हमारी बिनाकारण निन्दा करता है, वह गिर जावे और जिस दुष्टसे हम सब द्वेष करते हैं उसका जीवन ही समाप्त हो जावे ॥ १ ॥

हम परमेश्वरकी भक्ति करें और उसकी रक्षा प्राप्त करके सुरक्षित और स्वस्थ होकर आनन्दका उपभोग करें । परंतु जो दुष्ट मनुष्य हम सबसे द्वेष करता है और उस कारण जिस दुष्टसे हम सब द्वेष करते हैं, उसका नाश हो । दुष्टता और द्वेषका समूल नाश हो ।

दीर्घायुकी प्रार्थना

[३२ (३३)]

(ऋषिः- ब्रह्मा । देवता- आयुः ।)

उप प्रियं पनिप्नतं युवानमाहुतीवृधम् ।
अगन्म बिभ्रतो नमो दीर्घमायुः कृणोतु मे ॥ १ ॥

अर्थ— (प्रियं पनिप्नतं) प्रिय, स्तुतिके योग्य, (युवानं आहुतीवृधं) तरुण और आहुतियोंसे बढनेवाले अग्निके समीप (नमः बिभ्रतः उप अगन्म) अन्न धारण करते हुए हम प्राप्त होते हैं । वह (मे दीर्घं आयुः कृणोतु) मेरी दीर्घ आयु करे ॥ १ ॥

प्रतिदिन घर घरमें प्रज्वलित अग्निमें हवन करनेसे और उसमें योग्य विहित हवनीय पदार्थोंका हवन करनेसे घरवालोंकी आयु वृद्धिंगत होती है ।

प्रजा, धन और दीर्घ आयु

[३३ (३४)]

(ऋषिः- ब्रह्मा। देवता- मन्त्रोक्ता।)

सं मा॑ सिञ्चन्तु म॒रुत॒: सं पू॒षा सं बृह॒स्पति॑: ।
सं मा॒यम॒ग्निः सि॑ञ्चतु प्र॒जया॑ च॒ धने॑न च दी॒र्घमायु॑: कृणोतु मे ॥ १ ॥

अर्थ— (मरुतः मा सं सिञ्चन्तु) मरुत् मेरे ऊपर प्रजा और धनका सिंचन करें। (पूषा बृहस्पतिः सं सं) पूषा और ब्रह्मणस्पति मेरे ऊपर उसीका उत्तम रीतिसे सिंचन करें (अयं अग्निः प्रजया च धनेन च मा सं सिञ्चतु) यह अग्नि मेरे ऊपर प्रजा और धनका उत्तम सिंचन करे। और (मे आयुः दीर्घं कृणोतु) मेरी आयु दीर्घ करे ॥ १ ॥

देवताओंकी सहायतासे मुझे उत्तम संतान विपुल धन और दीर्घ आयु प्राप्त होवे। जिस प्रकार मेघसे पानी बरसता है उसी प्रकार मेरे ऊपर इनकी वृष्टि होवे। अर्थात् पर्याप्त प्रमाणमें ये मुझे प्राप्त हों। 'मरुत' वायु किंवा प्राण है। शुद्ध वायुसे प्राण बलवान् होकर नीरोगता और दीर्घायु प्राप्त हो सकती है। 'ब्रह्मणस्पति' की सहायतासे ज्ञान और 'पूषा' की सहायतासे पुष्टि प्राप्त होगी। इसी प्रकार अग्नि शुद्धता करता है इसलिये इससे पवित्रता प्राप्त होगी और इन सबसे, प्रजा, धन और दीर्घ आयुकी वृद्धि होगी।

निष्पाप होनेकी प्रार्थना

[३४ (३५)]

(ऋषिः- अथर्वा। देवता- जातवेदाः।)

अग्ने॑ जा॒तान्प्र णु॑दा मे स॒पत्ना॒न्प्रत्यजा॑ताञ्जातवेदो नुदस्व ।
अ॒ध॒स्प॒दं कृ॑णुष्व॒ ये पृ॑त॒न्यवो॑ऽनागस॒स्ते व॒यमदि॑तये स्याम ॥ १ ॥

अर्थ— हे (अग्ने) अग्ने! (मे जातान् सपत्नान् प्रणुद) मेरे उत्पन्न हुए शत्रुओंको दूर कर। हे (जातवेदः) ज्ञानके उत्पादक देव। (अजातान् प्रति नुदस्व) ऊपरसे शत्रु न होनेपर भी अंदर अंदरसे शत्रुता करनेवाले शत्रुओंको एकदम हटा। (ये पृतन्यवः अधस्पदं कृणुष्व) जो सेना लेकर हमपर चढाई करते हैं उनको नीचे गिरा दे। (वयं अनागसः) हम सब निष्पाप हों और (अदितये स्याम) अदीनता अर्थात् स्वतंत्रताके लिये योग्य हों ॥ १ ॥

ज्ञानी, ज्ञानदाता प्रकाशमय देव हमारे सब शत्रुओंको हमसे दूर करे। शत्रु खुली रीतिसे शत्रुता करनेवाले हों अथवा गुप्त रीतिसे घात करनेवाले हों, सबके सब वे शत्रु दूर हों। जो सैन्य लेकर हमारे ऊपर चढाई करते हैं, वे भी सब अपने स्थानसे गिर जावें। हम निष्पाप बनें और दीनता हमसे दूर हो जाये। अदीनता, अभ्यता तथा स्वतंत्रता हमारे पास रहे।

स्त्रीचिकित्सा

[३५ (३६)]

(ऋषिः- अथर्वा । देवता- जातवेदाः ।)

प्रान्यान्त्सपत्नान्त्सहसा सहस्व प्रत्यजातान् जातवेदो नुदस्व ।
इदं राष्ट्रं पिपृहि सौभगाय विश्व एनमनु मदन्तु देवाः ॥ १ ॥
इमा यास्ते शतं हिराः सहस्रं धमनीरुत ।
तासां ते सर्वासामहमश्मना बिलमप्यधाम् ॥ २ ॥
परं योनेरवरं ते कृणोमि मा त्वा प्रजाभि भून्मोत सूनुः ।
अस्वं१ त्वाप्रजसं कृणोम्यश्मानं ते अपिधानं कृणोमि ॥ ३ ॥

अर्थ— (अन्यान् सपत्नान् सहसा प्रसहस्व) दूसरी सौतोंको बलसे दबा दे। हे (जातवेदः) ज्ञानप्रकाशक ! (अजातान् प्रति नुदस्व) अभी न बने हुए परन्तु आगे होनेवाली सौतोंको दूर कर। (इदं राष्ट्रं सौभगाय पिपृहि) इस राष्ट्रको उत्तम समृद्धिके लिये परिपूर्ण कर। (विश्वे देवाः एनं अनुमदन्तु) सब देव इसका अनुमोदन करें ॥ १ ॥

(याः ते इमाः शतं हिराः) जो ये सौ नाडियां हैं, (उत सहस्रं धमनीः) और हजारों धमनियां हैं, (ते तासां सर्वासां बिलं) तेरी उन सब धमनियोंका छिद्र (अहं अश्मना अपि अधां) मैं पत्थरसे बन्द करता हूं ॥ २ ॥

(ते योनेः परं) तेरे गर्भस्थानसे परे जो हैं उनको (अवरं कृणोमि) मैं समीप करता हूं। जिससे (प्रजा उत सूनुः) संतान अथवा पुत्र (त्वा मा अभिभूत्) तुझे तिरस्कृत न करे। (त्वा अस्वं प्रजसं कृणोमि) तुझे असुवाला अर्थात् प्राणवाला संतान करता हूं। और (अश्मानं ते अपिधानं कृणोमि) पत्थर तेरा आवरण करता हूं ॥ ३ ॥

स्त्रीचिकित्सा

इस सूक्तमें स्त्रीचिकित्साका विषय कहा है। विशेषकर योनिचिकित्साका महत्त्वपूर्ण विषय है। सूक्त अस्पष्ट है और समझनेमें बहुत कठिन है। अतः इसका योग्य स्पष्टीकरण हम कर नहीं सकते। योनिस्थानकी सैंकडों नाडियोंका छिद्र बंद करनेका विधान द्वितीय मंत्रमें है। अर्थात् स्त्रियोंके रक्तस्रावके अथवा प्रमेह आदिके रोगको दूर करनेका तात्पर्य यहां प्रतीत होता है। रक्तस्रावको दूर करनेका साधन (अश्मा) पत्थर कहा है, यह किस जातिका पत्थर है इसकी खोज वैद्योंको करनी चाहिये। यह कोई ऐसा पत्थर होगा कि जिसके घावपर लगानेसे, वहांसे होनेवाला रक्तप्रवाह बंद होता होगा और रोगीको आरोग्य प्राप्त होता होगा। तृतीयमंत्रमें भी इसी पत्थरका उल्लेख है। घावपर इस पत्थरको ढकन जैसा रखना है। यह विधान इसलिये होगा कि यदि किसी घावका रक्तप्रवाह एकबार लगानेसे बंद न होता हो तो उसपर वह औषधिका पत्थर बहुत समय तक बांध देना उचित होगा।

फिटकरीका पत्थर छोटे घावपर लगानेसे वहांका रक्तप्रवाह बंध होनेका अनुभव है। इसी प्रकारका यह कोई पत्थर होगा जो स्त्रियोंके योनिस्थानके रक्तप्रवाहको रोकनेवाला यहां कहा है।

तृतीय मंत्रमें सन्तान न होनेवाली स्त्रीके योनिस्थान और गर्भाशयकी नाडियों और धमनियोंका स्थान बदल देनेका उल्लेख है। इस प्रकार स्थान बदल देनेसे उस स्त्रीकी सन्तानें होती हैं। स्त्री और पुरुष सन्तानें भी होती हैं। इस प्रकार

धमनियोंका स्थान बदलने पर संतति उस माताका तिरस्कार नहीं करती (प्रजा मा अभि भूत्) प्रजा अथवा संतान द्वारा स्त्रीका तिरस्कार होनेका स्पष्ट अर्थ यह है कि उस स्त्री की संतान न होना। जो जिसका तिरस्कार करता है, वह उसके पास नहीं जाता। यहां सन्तान स्त्रीका तिरस्कार करती हैं, ऐसा कहनेसे उस स्त्रीकी सन्तान नहीं होती यह बात सिद्ध है। ऐसी वंध्या स्त्रीको (अस्-वं प्रजसं कृणोमि) प्राणवाली प्रजा करता हूं। पूर्वोक्त प्रकार स्त्रीकी धमनियोंका प्रवाह बदलनेसे वंध्या स्त्रीकी भी प्राणवाली प्रजा होती है। 'अस्व' शब्द 'अस्-वन्', 'असु-वान्' प्राणवाला इस अर्थमें यहां है। यहां 'अश्वं' ऐसा भी पाठ है। पाठ माननेपर 'बलवान्' ऐसा अर्थ होगा।

वंध्या दो प्रकारकी होती है, एककी सन्तान नहीं होती और दूसरीकी सन्तान होती है परंतु मर जाती है। इन दोनों प्रकारकी वंध्याओंका योनिस्थानकी नाडियोंका रुख बदल देनेसे सन्तानोत्पत्ति करनेमें समर्थ होनेकी संभावना यहां कही है। शस्त्रवैद्य इसका विचार करें। यह शस्त्र प्रयोग करनेवाले कुशल डाक्टरोंका विषय है, इसलिये इस सूक्तपर विचार करना उनका कार्य है।

पतिपत्नीका परस्पर प्रेम

[३६ (३७)]

(ऋषिः- अथर्वा । देवता- अक्षि ।)

अक्ष्यौ॑ नौ॒ मधु॑संकाशे॒ अनी॑कं नौ॒ स॒मञ्ज॑नम् ।
अ॒न्तः कृ॑णुष्व॒ मां हृ॒दि मन॒ इन्नौ॒ स॒हास॑ति ॥ १ ॥

अर्थ— (नौ अक्ष्यौ मधुसंकाशे) हम दोनोंकी आंखें मधुके समान मीठी हों। (नौ अनीकं समञ्जनं) हम दोनोंकी आंखके अग्रभाग उत्तम अञ्जनसे युक्त हों। (हृदि मां अन्तः कृणुष्व) अपने हृदयके अन्दर मुझे रख। (नौ मनः इत् सह असति) हम दोनोंका मन सदा परस्पर साथ मिला रहे ॥ १ ॥

पतिपत्नीकी आंखें परस्परका अवलोकन प्रेमकी मीठी दृष्टिसे करें। एकको देखनेसे दूसरेको आनन्दका अनुभव हो। कभी पतिपत्नीमें ऐसा भाव न हो कि जिसके कारण एकको देखनेसे दूसरेके मनमें क्रोध और द्वेषका भाव जाग उठे। दोनोंकी आंखें, उत्तम अञ्जनसे शुद्ध, पवित्र और निर्दोष हों। किसीकी भी दृष्टिमें अपवित्रता न हो। आंखकी पवित्रता साधारण अञ्जन करता है, उसी प्रकार ज्ञानसे भी दृष्टिकी पवित्रता होती है।

पति अपने हृदयमें पत्नीको अच्छा स्थान दे, वहां धर्मपत्नीके सिवाय किसी दूसरी स्त्रीको स्थान न मिले। इसी प्रकार पत्नी भी अपने हृदयमें पतिको स्थान दे और कभी धर्मपतिके बिना दूसरे किसी पुरुषको वहां स्थान प्राप्त न हो। (हृदि मां अन्तः कृणुष्व) पतिपत्नी एक दूसरेको ही अपने हृदयमें स्थान दें।

(मनः सह असति) पतिपत्नीका मन एक दूसरेके साथ मिला हुआ हो, कभी विभक्त न हो। इनमेंसे कोई एक व्यक्ति दूसरेके साथ न झगडे और अपना मन किसी दूसरे व्यक्तिके साथ न मिलावे।

इस प्रकार पतिपत्नी रहें और गृहाश्रमका व्यवहार करें। इस मंत्रमें पतिपत्नीके गृहस्थाश्रमका सर्वोत्तम आदर्श बताया है।

पत्नी पतिके लिये वस्त्र बनावे

[३७ (३८)]

(ऋषिः- अथर्वा । देवता- लिंगोक्ता ।)

अभि त्वा मनुजातेन दधामि मम वाससा ।
यथासो मम केवलो नान्यासां कीर्तयाश्चन ॥ १ ॥

अर्थ— (मम मनुजातेन वाससा) अपने विचारके साथ बनाये गए वस्त्रसे (त्वा अभि दधामि) तुझे मैं बांध देती हूं । (यथा केवलः मम असः) जिससे तू एक मात्र केवल मेरा पति होकर रहे और (अन्यासां न चन कीर्तयाः) अन्य स्त्रियोंका नामतक लेनेवाला न हो ॥ १ ॥

स्त्री अपने हाथसे सूत काते, चर्खा चलावे, सूत निर्माण करे और अपनी कुशलतापूर्वक निर्माण किये हुए कपडेसे पतिके पहिननेके वस्त्र निर्माण करे । पत्नीके द्वारा काते हुए सूतसे बने हुए वस्त्र पति पहने। सूत कातनेके समय पत्नी अपने आन्तरिक प्रेमके साथ सूत काते और पति भी ऐसा कपडा पहनना अपना वैभव माने । इस प्रकार परस्पर प्रेमका व्यवहार करनेसे धर्मपति भी दूसरी स्त्रीका नाम नहीं लेगा, और धर्मपत्नी भी दूसरे पुरुषका नाम नहीं लेगी। इस प्रकार दोनों गृहस्थाश्रमका आनन्द प्राप्त करते हुए सुखी हों ।

यह सूक्त भी गृहस्थी लोगोंको ध्यानमें धारण करने योग्य उपदेश दे रहा है ।

पतिपत्नीका एकमत

[३८ (३९)]

(ऋषिः- अथर्वा । देवता- वनस्पतिः ।)

इदं खनामि भेषजं मांपश्यमभिरोरुदम् । परायतो निवर्तनमायतः प्रतिनन्दनम् ॥ १ ॥
येना निचक्र आसुरीन्द्रं देवेभ्यस्परि । तेना नि कुर्वे त्वामहं यथा तेऽसानि सुप्रिया ॥ २ ॥

अर्थ— मैं (इदं औषधं खनामि) इस औषधि वनस्पतिको खोदती हूं । यह औषधि (मां-पश्यं) मेरी ओर दृष्टि आकर्षित करनेवाला और (अभिरोरुदं) सब प्रकारसे दुर्वर्तनको रोकनेवाला, (परायतः निवर्तनं) कुमार्गमें दूर जानेवालेको भी वापस लानेवाला, और (आयतः प्रतिनन्दनं) संयममें रहनेवालेका आनन्द बढानेवाला है ॥ १ ॥

(आसुरी) आसुरी नामक औषधिने (येन देवेभ्यः परि इन्द्रं नि चक्रे) जिस गुणके कारण देवोंके ऊपर इन्द्रको अधिक प्रभावशाली बनाया, (तेन अहं त्वां निकुर्वे) उससे मैं तुझे प्रभावशाली बनाती हूं, (यथा ते सुप्रिया असानि) जिससे तेरी प्रिय धर्मपत्नी मैं बनूं ॥ २ ॥

भावार्थ— मैं इस औषधिको भूमिसे खोदकर लाती हूं, इससे मेरी ओर ही पतिकी आंखें लगी रहेंगी, अर्थात् किसी अन्य स्थानमें नहीं जायेंगी, इस प्रकार सब प्रकारके दुर्वर्तनसे बचाव होगा, यदि दुर्मार्गमें उसका पांव पड भी जाए तो वह निश्चयसे वापस आ जाएगा और वह संयमसे रहकर सब आनंद प्राप्त कर सकेगा ॥ १ ॥

इसका नाम आसुरी वनस्पति है । इसके प्रभावसे इन्द्र सब देवोंमें विशेष प्रभावशाली होनेके कारण श्रेष्ठ बन गया । इस वनस्पतिसे मैं अपने पतिको प्रभावित करती हूं, जिससे मैं धर्मपत्नी अपने पतिकी प्रिय सखी बनकर रहूं ॥ २ ॥

प्रतीची सोममसि प्रतीच्युत सूर्यम् । प्रतीची विश्वान्देवान्तां त्वाच्छावदामसि ॥ ३ ॥
अहं वदामि नेत्त्वं सभायामह त्वं वद । ममेदसस्त्वं केवलो नान्यासां कीर्तयाश्चन ॥ ४ ॥
यदि वासि तिरोजनं यदि वा नद्य स्तिरः । इयं ह मह्यं त्वामोषधिर्बद्ध्वेव न्यानयत् ॥ ५ ॥

अर्थ— तू (सोमं प्रतीची असि) चन्द्रके संमुख रहती है, (उत सूर्यं प्रतीची) और सूर्यके संमुख रहती है, तथा (विश्वान् देवान् प्रतीची) सब देवोंके संमुख रहती है। (तां त्वा अच्छा वदामसि) ऐसे तेरा मैं उत्तम वर्णन करता हूं ॥ ३ ॥

(अहं वदामि) मैं बोलती हूं, (न इत् त्वं) तू न बोल। (त्वं सभायां अह वद) तू सभामें निश्चयपूर्वक बोल। (त्वं केवलः मम इत् असः) तू केवल मेराही होकर रह, (अन्यासां न चन कीर्तयाः) अन्योंका नाम तक न ले ॥ ४ ॥

(यदि वा तिरोजनं असि) यदि तू जनोंसे दूर जंगलमें रहेगा, (यदि वा नद्यः तिरः) यदि तू नदीके पार गया होगा, तो भी (इयं ओषधिः) यह औषधि (त्वां बध्वा) तुझे बांधकर (मह्यं नि आनयत् ह) मेरे पास ले आवेगी ॥ ५ ॥

भावार्थ— यह वनस्पति चन्द्रके अभिमुख होकर शान्तगुण प्राप्त करती है, तथा सूर्यके संमुख रहकर तेजस्विता प्राप्त करती है और अन्य देवोंसे अन्यान्य दिव्य गुण लेती है। इसीलिये इसकी प्रशंसा की जाती है ॥ ३ ॥

हे पति ! घरमें जब मैं बोलूं तब मेरे भाषणका अनुमोदन तू कर। तू सभामें खूब वक्तृत्व कर। परंतु घरमें आकर तू केवल मेरा प्रिय पति बनकर मेरे अनुकूल रह। ऐसा करनेसे तुझे किसी अन्य स्त्रीके नाम तक लेनेकी आवश्यकता नहीं रहेगी ॥ ४ ॥

यदि तू ग्राममें हो या वनमें गया हो यदि नदीके पार गया हो अथवा नदीके इस ओर हो, यह औषधि ऐसी है कि जिसके प्रभावसे तू मेरे साथ बंधकर मेरे पासही आवेगा और किसी दूसरे स्थानपर नहीं जा सकेगा ॥ ५ ॥

यह सूक्त स्पष्ट है इसलिये अधिक विवरण करनेकी आवश्यकता नहीं है। पतिके लिये एकही स्त्री धर्मपत्नी हो और पत्नीका एकही पुरुष धर्मपति हो, यह विवाहका उच्चतम आदर्श इस सूक्तने पाठकोंके सन्मुख रखा है। कोई पुरुष अपनी विवाहित धर्मपत्नीको छोडकर किसी दूसरी स्त्रीकी अपेक्षा न करे और कोई स्त्री अपने विवाहित धर्मपतिको छोडकर किसी दूसरे पुरुषकी कभी अपेक्षा न करे।

दोनों एक दूसरेके साथ प्रेमसे वश होकर अत्यन्त प्रेमपूर्वक व्यवहार करें और गृहस्थाश्रमका व्यवहार सुखपूर्वक करें। इस सूक्तमें 'आसुरी' वनस्पतिका उपयोग कहा है। इसका सेवन करनेसे मनुष्य पराक्रमी और उत्साही होता है, मनुष्यकी प्रवृत्ति पापाचरणकी ओर नहीं होती। ऐसा इसका फल वर्णित है। यह औषधि कौनसी है इसका पता नहीं चलता।

उत्तम वृष्टि

[३९ (४०)]

(ऋषिः- प्रस्कण्वः । देवता- मन्त्रोक्ता ।)

दिव्यं सुपर्णं पयसं बृहन्तमपां गर्भं वृषभमोषधीनाम् ।
अभीपतो वृष्ट्या तर्पयन्तमा नो गोष्ठे रयिष्ठां स्थापयाति ॥ १ ॥

अर्थ— (दिव्यं, पयसं सुपर्णं) आकाशमें रहनेवाले, जलको धारण करनेके कारण जलसे परिपूर्ण, (अपां बृहन्तं वृषभं) जलकी बडी वृष्टि करनेवाले, (ओषधीनां गर्भं) औषधिवनस्पतियोंका गर्भ बढानेवाले, (अभीपतः वृष्ट्या तर्पयन्तं) सब प्रकारसे वृष्टिद्वारा तृप्ति करनेवाले, (रयि-स्थां) शोभायुक्त स्थानमें रहनेवाले मेघको देव (नः गोष्ठे आ स्थापयतु) हमारी गोशालाकी भूमिमें स्थापित करे अर्थात् हमारी भूमिमें उत्तम वृष्टि होवे ॥ १ ॥

मेघ आकाशमें संचार करता है, वह जलसे परिपूर्ण होता है, जलकी वृष्टि करता है, उसके जलसे सब औषधि वनस्पतियां गर्भयुक्त होती हैं, वह अन्य रीतिसे अपनी वृष्टि द्वारा सबकी तृप्ति करता है, सबकी शोभा बढाता है, वह सबका हित करनेवाला मेघ हमारी भूमिमें, जहां हमारी गौएं रहती हैं, वहां उत्तम वृष्टि करावे और हम सबको तृप्त करे ।

अमृतरसवाला देव

[४० (४१)]

(ऋषिः- प्रस्कण्वः । देवता- सरस्वान् ।)

यस्यं व्रतं पशवो यन्ति सर्वे यस्यं व्रत उपतिष्ठन्त आपः ।
यस्यं व्रते पुष्टपतिर्निविष्टस्तं सरस्वन्तमवसे हवामहे ॥ १ ॥
आ प्रत्यञ्चं दाशुषे दाश्वंसं सरस्वन्तं पुष्टपतिं रयिष्ठाम् ।
रायस्पोषं श्रवस्युं वसाना इह हुवेम सदनं रयीणाम् ॥ २ ॥

अर्थ— (सर्वे पशवः यस्य व्रतं यन्ति) सब पशु जिसके नियमके अनुसार जाते हैं, (यस्य व्रते आपः उपतिष्ठन्ति) जिसके कर्मके अनुसार जल उपस्थित होते हैं, (यस्य व्रते पुष्टपतिः निविष्टः) जिसके व्रतमें पोषणकर्ता कार्य करता है, (तं सरस्वन्तं अवसे हवामहे) उस अमृतरसवाले देवकी अपनी रक्षाके लिये हम प्रार्थना करते हैं ॥१॥

(दाशुषे प्रत्यञ्चं दाश्वंसं) दाताको प्रत्येक समय संमुख होकर दान देनेवाले, (पुष्टपतिं सरस्वन्तं) पुष्टि करनेवाले, अमृतरसवाले, (रयि-स्थां) ऐश्वर्यमें स्थिर रहनेवाले, (रायस्पोषं श्रवस्युं) धनकी पुष्टि करनेवाले और अन्नवाले, (रयीणां सदनं) धनोंके आश्रयस्थानरूप देवकी (इह वसानाः) यहां रहनेवाले हम सब (आ हुवेम) प्रार्थना करते हैं ॥ २ ॥

भावार्थ— सब पशु पक्षी जिसके नियममें रहते हैं, जल जिसके नियमसे बहता है, जिसके नियमसे सबकी पुष्टि होती है, उस देवकी हम प्रार्थना करते हैं कि वह हमारी रक्षा करे ॥ १ ॥

हरएक दाताको जो धन देता है, सबका जो पोषण करता है, जिसके कारण सबकी शोभा होती है, जो सबके ऐश्वर्यको बढाता है, और जिसके पास अन्न भी विपुल है, जिसके आश्रयसे सब धन रहते हैं, उस देवकी हम प्रार्थना करते हैं कि, उसकी कृपासे हम सब इस स्थानमें रहनेवाले लोग सुरक्षित हों ॥ २ ॥

ईश्वरके पास संपूर्ण अमृतरस है । वह स्वयं सबका पोषण करता है अतः हम उसकी प्रार्थना करते हैं कि वह हमारी रक्षा करे, हमें पुष्ट करे, हमें धनसंपन्न करे और अमृत रससे युक्त करे ।

मनुष्योंका निरीक्षक देव

[४१ (४२)]

(ऋषिः- प्रस्कण्वः । देवता- श्येनः)

अति धन्वान्यत्यपस्ततर्द श्येनो नृचक्षा अवसानदर्शः ।
तरन् विश्वान्यवरा रजांसीन्द्रेण सख्यां शिव आ जगम्यात् ॥ १ ॥

अर्थ— (अवसान-दर्शः, नृचक्षाः, श्येनः) अन्तिम अवस्थाको समझनेवाला, सब मनुष्योंको यथावत् जाननेवाला, सूर्यवत् प्रकाशमान ईश्वर, (धन्वानि अति अपः अति ततर्द) रेतीले देशोंके ऊपर भी जलकी अत्यंत वृष्टि करता है । तथा (विश्वानि अवरा रजांसि) सब निम्नभागके लोकोंके प्रति (इन्द्रेण सख्या शिवः) अपने मित्रके साथ कल्याण रूप होकर (तरन्) सबको पार करता हुआ (आ जगम्यात्) प्राप्त होता है ॥ १ ॥

श्येनो नृचक्षा दिव्यः सुपर्णः सहस्रपाच्छतयोनिर्वयोधाः ।
स नो नि यच्छाद्वसु यत्पराभृतमस्माकमस्तु पितृषु स्वधावत् ॥ २ ॥

अर्थ— (नृचक्षाः दिव्यः सुपर्णः) मनुष्योंका निरीक्षक, द्युलोकमें रहनेवाला, उत्तम किरणोंवाला, (सहस्रपात् शतयोनिः) सहस्र पावोंसे सर्वत्र संचार करनेवाला, सैंकडों प्रकारकी उत्पादक शक्तियोंसे युक्त, (वयोधाः श्येनः) अन्नको देनेवाला, सूर्यवत् प्रकाशमान (सः) वह देव (यत् पराभृतं वसु) जो अन्योंसे प्राप्त होनेवाला धन है, वह धन (नः नियच्छात्) हमें देवे। (अस्माकं पितृषु स्वधावत् अस्तु) हमारे पितरोंमें अन्नवाला भोग सदा रहे ॥ २ ॥

सब मनुष्योंकी अन्तिम अवस्थाका यथार्थ ज्ञान रखनेवाला, सब मनुष्योंके कर्मोंका योग्य निरीक्षण करनेवाला, द्युलोकमें प्रकाशसे पूर्ण होनेवाला, जो हजारों प्रकारकी गतियोंसे सर्वत्र संचार करता है, और जो सैंकडों प्रकारकी उत्पादक शक्तियोंसे विविध पदार्थोंको उत्पन्न करता है, जो सबको अन्न देता है, ऐसा प्रकाशमय देव रेतीले प्रदेशोंपर भी बहुत वृष्टि करता है, अर्थात् अन्यत्र वृक्षवनस्पतियों पर तो करता ही है, पर रेतीले प्रदेशों पर भी भरपूर बरसात बरसाता है। यह देव द्युलोकमें रहकर अन्यान्य लोक लोकान्तरोंको धारण करता है, उनका कल्याण करता है, सबको दुःखसे पार कराता है। इन्द्र अर्थात् जीवात्माका परम मित्र यह है और यह भूमिपर भी सर्वत्र उपस्थित होता है। यह देव अन्योंसे जो धन प्राप्त होता है वह सब तो उपासकोंको देता ही है, उसके अलावा अन्य भी बहुत कल्याणकारी धन देता है। वह देव हमारे पितरोंको तथा हम सबको अन्नादि पदार्थ देवे।

पापसे मुक्तता

[४२ (४३)]

(ऋषिः- प्रस्कण्वः। देवता- सोमारुद्रौ।)

सोमारुद्रा वि वृहतं विषूचीममीवा या नो गयमाविवेश ।
बाधेथां दूरं निर्ऋतिं पराचैः कृतं चिदेनः प्र मुमुक्तमस्मत् ॥ १ ॥
सोमारुद्रा युवमेतान्यस्मद्विश्वा तनूषु भेषजानि धत्तम् ।
अव स्यतं मुञ्चतं यन्नो असत्तनूषु बद्धं कृतमेनो अस्मत् ॥ २ ॥

अर्थ— हे (सोमारुद्रा) सोम और रुद्र! (या अमीवा) जो रोग (नः गयं आविवेश) हमारे घरमें प्रविष्ट हो गया है, उस (विषूचीं विवृहतं) फैलनेवाले रोगको दूर करो। (निर्ऋतिं पराचैः दूरं बाधेथां) दुर्गतिको विशेष रीतिसे दूर पर ही रोक दो। (कृतं चित् एनः) हमारा किया हुआ भी जो पाप हो, वह (अस्मत् प्रमुमुक्तं) हमसे छुडाओ ॥ १ ॥

हे (सोमारुद्रा) सोम और रुद्र! (युवं अस्मत् तनूषु) तुम दोनों हमारे शरीरोंमें (एतानि विश्वा भेषजानि धत्तं) इन सब औषधियोंको स्थापित करो। (यत् तनूषु बद्धं नः एनः असत्) जो शरीरोंके संबंधसे हुआ हमारा पाप है उससे (अवस्यतं) हमारा बचाव करो। (अस्मत् कृतं एनः मुमुक्तं) हमारे द्वारा किये हुए पापसे हमारी मुक्तता करो ॥ २ ॥

'अमीव' नाम उन रोगोंका है कि जो आम अर्थात् पचन न हुए अन्नसे होते हैं। पेटमें जो अन्न जाता है वह वहां हजम न हुआ तो उसका आम बनता है और उससे रोग उत्पन्न होते हैं। इन रोगोंको सोम और रुद्र ये दो देव दूर करनेमें समर्थ हैं 'सोम' शब्द वनस्पति और औषधियोंका वाचक है, अर्थात् योग्य औषधिके सेवनसे आमका दोष दूर हो सकता है। यह एक उपदेश यह मंत्र दे रहा है।

' रुद्र ' नाम प्राणका अथवा शरीरमें रहनेवाली जीवन शक्तिका है। यह रौद्री शक्ति मनुष्यका दोष दूर करनेमें समर्थ है। प्राणायामसे एक तो रक्तकी शुद्धि होती है और दूसरे आंतोंमें प्राणकी योग्य गति होनेसे शौचशुद्धि होनेके कारण आमका दोष दूर होता है।

शरीरकी सब दुर्गति आम विकारके कारण होती है अतः योग्य औषधिके सेवनसे तथा प्राणायामके अभ्याससे उक्त दोष शरीरसे दूर किए जा सकते हैं। यदि शरीरसे कुछ नियमविरोधी आचरण होनेके कारण कुछ पाप हो भी गया हो, तो उक्त देवताओंकी सहायतासे वह पाप दूर हो सकता है और पापसे आनेवाली सब विपत्तियां भी दूर हो सकती हैं।

द्वितीय मंत्रमें कहा है कि (विश्वानि भेषजानि) संपूर्ण औषधियां सोम और रुद्रसे प्राप्त हो सकती हैं। सोम तो औषधियोंका राजा ही है, अतः उसके पास सब औषधियां रहती ही हैं। रुद्र भी जीवनशक्तिमय है, इसलिये जहां जीवनशक्ति होगी, वहां रोग कैसे आसकते हैं ? इस प्राणसे भी सब औषधियां मनुष्यको प्राप्त हो सकती हैं। इनसे पूर्ववत् शरीरके दोष और सब पाप दूर हो जाते हैं।

वाणी

[४३ (४४)]

(ऋषिः- प्रस्कण्वः । देवता- वाक् ।)

शिवास्त एका अशिवास्त एकाः सर्वा बिभर्षि सुमनस्यमानः ।
तिस्रो वाचो निहिता अन्तरस्मिन्तासामेका वि पपातानु घोषम् ॥ १ ॥

अर्थ— (ते एकाः शिवाः) तेरे एक प्रकारके शब्द कल्याणकारक होते हैं, तथा (ते एकाः अशिवाः) तेरे दूसरे प्रकारके शब्द अशुभ भी होते हैं। (सुमनस्यमानः सर्वाः बिभर्षि) उत्तम मनवाला तू उन सबको धारण करता है। (तिस्रः वाचः अस्मिन् अन्तः निहिताः) तीन प्रकारकी वाणियां इस मनुष्यके अन्दर गुप्त रूपसे रहती हैं। (तासां एका घोषं अनु विपपात) उनमेंसे एक बडे स्वरसे विशेष रीतिसे बाहर व्यक्त होती है ॥ १ ॥

परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी ये वाणीके चार नाम हैं, परा नाभिस्थानमें, पश्यन्ती हृदयस्थानमें, मध्यमा छातीके ऊपरके भागमें और वैखरी मुखमें होती है। जो शब्द बोला जाता है वह इन चार स्थानोंसे गुजरता है। पहिली तीनों वाणियां गुप्त हैं और चौथी वाणी प्रकट है, जो सब बोलते हैं। यह चौथी वैखरी वाणी मनुष्य शुभ और अशुभ दोनों प्रकारसे बोलते हैं। अतः मनुष्यको चाहिए कि वह उत्तम शुभ संस्कार युक्त मनवाला होकर शुभ शब्दोंका ही प्रयोग करे। यही शुभ वाणी सबका कल्याण कर सकती है।

विजयी देव

[४४ (४५)]

(ऋषिः- प्रस्कण्वः । देवता- इन्द्रः, विष्णुः ।)

उभा जिग्यथुर्न परा जयेथे न परा जिग्ये कतरश्चनैनयोः ।
इन्द्रश्च विष्णो यदपस्पृधेथां त्रेधा सहस्रं वि तदैरयेथाम् ॥ १ ॥

अर्थ— (उभा) दोनों इन्द्र और विष्णु (जिग्यथुः) विजय करते हैं। वे कभी (न परा जयेथे) पराजित नहीं होते। (इन्द्रः विष्णो च) हे इन्द्र और हे विष्णु ! (यत् अपस्पृधेथां) जब तुम दोनों मिलकर स्पर्धासे शत्रुसे युद्ध करते हो, (तत् सहस्रं त्रेधा वि ऐरयेथां) तब हजारों शत्रुओंको तीन प्रकारसे भगा देते हो ॥ १ ॥

'विष्णु' नाम व्यापक परमात्माका है और 'इन्द्र' नाम शरीरस्थ इंद्रियोंको अपनी शक्तिको प्रदान करनेवाले जीवात्माका है। ये दोनों विजयी हैं। ये ही नर और नारायण हैं, ये शरीररूपी एक ही रथपर रहते हैं और विजय प्राप्त करते हैं। ये दोनों ही विजयशाली हैं। ये अपने शत्रुको अनेक प्रकारसे भगा देते हैं। इनमें विजयी इन्द्र तो उन्हींका जीवात्मा है और विष्णु उसका परम मित्र परमात्मा है। इन दोनों अर्थात् आत्मा परमात्माकी, विजयी शक्ति मनुष्यके अन्दर है, इसलिये यदि वे मनुष्य इस शक्तिका योग्य उपयोग करेंगे; तो निःसन्देह उनकी विजय होगी।

ईर्ष्यानिवारक औषध

[४५ (४६, ४७)]

(ऋषिः- प्रस्कण्वः, ४७ अथर्वा। देवता- ईर्ष्यापनयनं भेषजम्।)

जनाद्विश्वजनीनात्सिन्धुतस्पर्याभृतम्।
दूरात्त्वा मन्य उद्भृतमीर्ष्याया नाम भेषजम् ॥ १ ॥
अग्नेरिवास्य दहतो दावस्य दहतः पृथक्।
एतामेतस्येर्ष्यामुद्नाग्निमिव शमय ॥ २ ॥

अर्थ— (विश्वजननात् जनात्) संपूर्ण जनोंके हितकारी जनपदसे तथा (सिन्धुतः परि आभृतं) समुद्रसे जो लाया गया है, वह (ईर्ष्यायाः नाम भेषजं) ईर्ष्याको दूर करनेवाली औषध है, हे औषध! (दूरात् त्वा उद्भृतं मन्ये) दूरसे तुझ औषधको यहां लाया गया है, यह मैं जानता हूं ॥ १ ॥

हे औषध! तू (अस्य दहतः अग्नेः इव) इस जलानेवाले अग्निके समान तथा (पृथक् दहतः दावस्य) अलग जलानेवाले दावानलके समान भयंकर (एतस्य एतां ईर्ष्यां) इस मनुष्यकी इस ईर्ष्याको (उद्ना अग्निं इव शमय) पानीसे अग्निको शान्त करनेके समान शान्त कर ॥ २ ॥

मनमें जो ईर्ष्या, स्पर्धा और द्वेषभाव होता है, वह इस औषधके प्रयोगसे दूर होता है। सुविज्ञ वैद्योंको उचित है कि वे इन मनके ऊपर प्रभाव करनेवाली औषधियोंकी खोज करें। इस समय वैद्य मानसिक रोगोंकी चिकित्सा करनेमें असमर्थ समझे जाते हैं। यदि ये औषधियां प्राप्त हो जाएं तो मनके रोग भी दूर हो सकते हैं। इस सूक्तमें औषधिका नामतक नहीं है। यही इसकी खोजमें बडी कठिनता है।

सिद्धिकी प्रार्थना

[४६ (४८)]

(ऋषिः- अथर्वा। देवता- मंत्रोक्ता।)

सिनीवालि पृथुष्टुके या देवानामसि स्वसा।
जुषस्व हव्यमाहुतं प्रजां देवि दिदिड्ढि नः ॥ १ ॥

अर्थ— हे (सिनीवालि पृथु-स्तुके) अन्नयुक्त और बहुतोंद्वारा प्रशंसित देवी! (या देवानां स्वसा असि) जो तू देवोंकी भगिनी है। हे (देवि) देवि! तू (आहुतं हव्यं जुषस्व) हवनकी गई आहुतियोंको स्वीकार कर। और (नः प्रजां दिदिड्ढि) हमें उत्तम सन्तान दे ॥ १ ॥

*

या सुबाहुः स्वङ्गुरिः सुषूमा बहुसूवरी ।
तस्यै विश्पत्न्यै हविः सिनीवाल्यै जुहोतन ॥ २ ॥
या विश्पत्नीन्द्रमसि प्रतीची सहस्रस्तुकाभियन्ती देवी ।
विष्णोः पत्नि तुभ्यं राता हवींषि पतिं देवि राधसे चोदयस्व ॥ ३ ॥

अर्थ— (या सुबाहुः स्वङ्गुरिः) जो उत्तम बाहुवाली और उत्तम अंगुलियोंवाली, (सुषूमा बहु सूवरी) उत्तम अंगवाली और उत्तम सन्तान उत्पन्न करनेमें समर्थ है, (तस्यै विश्पत्न्यै सिनीवाल्यै) उस प्रजापालक अन्नयुक्त देवताके लिये (हविः जुहोतन) हवि प्रदान करो ॥ २ ॥

(या विश्पत्नी इन्द्रं प्रतीची असि) जो प्रजापालन करनेवाली तू प्रभुके सन्मुख रहती है। तथा (सहस्र-स्तुका देवी अभियन्ती) हजारों कवियों द्वारा प्रशंसित तू देवी आगे बढती है। हे (विष्णोः पत्नि) विष्णुकी पत्नी ! हे (देवि) देवि ! (तुभ्यं हवींषि राता) तुम्हारे लिये मैं हवियां अर्पण करता हूं। हमारी (राधसे पतिं चोदयस्व) सिद्धिकी प्राप्तिके लिये अपने पतिको प्रेरित कर ॥ ३ ॥

इस सूक्तमें ' विष्णु ' अर्थात् व्यापक देवकी पत्नी अर्थात् उसकी शक्तिकी प्रार्थना है। यह व्यापक ईश्वरकी शक्ति संपूर्ण अन्य देवताओंमें जाकर कार्य करती है, सब जगत्का पालन इसी शक्तिसे होता है। हजारों ज्ञानी उन शक्तिका अनुभव करते हैं, और वे इसकी विविध प्रकारसे स्तुति करते हैं। यह शक्ति अपने पति सर्वव्यापक ईश्वरको प्रेरित करे ताकि वह हमें सब प्रकारकी सिद्धि देवे।

अमृत-शक्ति

[४७ (४९)]

(ऋषिः- अथर्वा। देवता- मंत्रोक्ता।)

कुहूं देवीं सुकृतं विद्मनापसमस्मिन्यज्ञे सुहवा जोहवीमि ।
सा नो रयिं विश्ववारं नि यच्छाद्ददातु वीरं शतदायमुक्थ्यम् ॥ १ ॥
कुहूर्देवानाममृतस्य पत्नी हव्या नो अस्य हविषो जुषेत ।
शृणोतु यज्ञमुशती नो अद्य रायस्पोषं चिकितुषी दधातु ॥ २ ॥

अर्थ— (सुकृतं विद्मनापसं सुहवा) उत्तम कर्म करनेवाली, ज्ञानपूर्वक कर्म करनेवाली, स्तुतिके योग्य, (कुहूं देवीं) पृथ्वीपर जिसके लिए हवन होता है ऐसी दिव्य शक्तिमयी देवीको मैं (अस्मिन् यज्ञे जोहवीमि) इस यज्ञमें बुलाता हूं। (सा विश्ववारं रयिं नः नियच्छात्) वह सबके द्वारा स्वीकार करने योग्य धन हमें देवे। तथा (उक्थ्यं शतदायं वीरं ददातु) प्रशंसनीय और सैंकडों दान करनेवाले वीरको प्रदान करे ॥ १ ॥

(देवानां अमृतस्य पत्नी कु-हू) सब देवोंके बीचमें जो पूर्णतया अमर है, उस ईश्वरकी पत्नी यह कुहू, अर्थात् जिसके लिए सब इस पृथ्वीपर हवन करते हैं, वह (नः हव्या) हमारे द्वारा प्रशंसित होने योग्य है। वह (अस्य हविषः जुषेत) इस हविका सेवन करे। (उशती यज्ञं शृणोतु) इच्छा करती हुई यह देवी यज्ञका वृत्तान्त सुने और (चिकितुषी रायस्पोषं अद्य नः दधातु) ज्ञानवाली वह देवी धनसमृद्धि आज हमें देवे ॥ २ ॥

इस पृथ्वीपर जिसका सत्कार होता है उसको ' कु-हू ' कहते हैं। यह (अमृतस्य पत्नी) अमर ईश्वरकी आदि शक्ति है। और यह ईश्वर (देवानां अमृतः) संपूर्ण देवोंमें अमर है। इसकी अमर शक्तिसे ही सब अन्य देव अमर बने हैं। परमेश्वरी शक्तिकी हम उपासना करते हैं। वह देवी हमें धन और वीरता देवे।

पुष्टिकी प्रार्थना

[४८ (५०)]

(ऋषिः– अथर्वा । देवता– मंत्रोक्ता ।)

राकामहं सुहवां सुष्टुती हुवे शृणोतु नः सुभगा बोधतु त्मना ।
सीव्यत्वपः सूच्याच्छिद्यमानया ददातु वीरं शतदायमुक्थ्यम् ॥ १ ॥

यास्ते राके सुमतयः सुपेशसो याभिर्ददासि दाशुषे वसूनि ।
ताभिर्नो अद्य सुमना उपागहि सहस्रापोषं सुभगे रराणा ॥ २ ॥

अर्थ— (अहं सुहवा सुष्टुती राकां हुवे) मैं उत्तम बुलानेयोग्य और स्तुति करनेयोग्य पूर्ण चन्द्रमाके समान आल्हाददायिनी देवीको बुलाता हूं। (शृणोतु) वह मेरी प्रार्थना सुने और (सुभगा नः त्मना बोधतु) वह उत्तम ऐश्वर्यवाली देवी हमें अपनी शक्तिसे जगावे। (अच्छिद्यमानया सूच्या अपः सीव्यतु) कभी न टूटनेवाली सूईसे वह अपने कपडे सीवे और (उक्थ्यं शतदायं वीरं ददातु) प्रशंसनीय सैंकडों दान देनेवाले वीर पुत्रको हमें प्रदान करे ॥१॥

हे (राके) शोभा देनेवाली देवी ! (याभिः दाशुषे वसूनि ददासि) जिनसे तू दाताको धन देती है। (याः ते सुपेशसः सुमतयः) ऐसी जो तेरी उत्तम सुमतियां हैं, हे (सुभगे) उत्तम ऐश्वर्यसे युक्त देवी ! (ताभिः रराणा सुमनाः) उन सुमतियोंसे शोभनेवाली उत्तम मनवाली देवी तू (अद्य नः सहस्रपोषं उपागहि) आज हमें हजारों तरहके पुष्टियोंको लाकर दे ॥ २ ॥

पूर्णचन्द्रमायुक्त राका होती है। इससे जैसी प्रसन्नता प्राप्त होती है उसकी अपेक्षा कई गुनी अधिक प्रसन्नता ईश्वरके तेजसे होती है। इस सूक्तमें पूर्ण चन्द्रमाके वर्णनके मिषसे आध्यात्मिक परमात्माकी शक्तिका वर्णन किया है। यह परमात्मशक्ति हमें ज्ञान देवे, अज्ञानसे जगाकर प्रबुद्ध करे, और ज्ञान द्वारा हमारी उन्नति करे। इसी प्रकार हमें पुष्टि और उत्तम वीरसंतति देवे और हमारी सब प्रकारकी उन्नति करे।

सुखकी प्रार्थना

[४९ (५१)]

(ऋषिः– अथर्वा । देवता– देवपत्न्यौ ।)

देवानां पत्नीरुशतीरवन्तु नः प्रावन्तु नस्तुजये वाजसातये ।
याः पार्थिवासो या अपामपि व्रते ता नो देवीः सुहवाः शर्म यच्छन्तु ॥ १ ॥

अर्थ— (उशतीः देवानां पत्नीः नः अवन्तु) हमारी इच्छा करनेवाली देवोंकी पत्नियां हमारी रक्षा करें। वे (तुजये वाजसातये नः प्रावन्तु) सन्तान और अन्नकी विपुलताके लिये हमारी रक्षा करें। (याः पार्थिवासः) जो पृथ्वीपर स्थिर और (याः अपां व्रते अपि) जो कार्योंकी नियमव्यवस्थामें स्थित हैं, (ताः सुहवाः देवीः) वे उत्तम प्रशंसित देवियां (नः शर्म यच्छन्तु) हमें सुख देवें ॥ १ ॥

उत ग्ना व्यन्तु देवपत्नीरिन्द्राण्य१ग्नाय्यश्विनी राट् ।
आ रोदसी वरुणानी शृणोतु व्यन्तु देवीर्य ऋतुर्जनीनाम् ॥ २ ॥

अर्थ— (उत देवपत्नीः ग्नाः व्यन्तु) और देवोंकी पत्नियां ये देवियां हमारे हितकी इच्छा करें । (इन्द्राणी) इन्द्रकी पत्नी, (अग्नाय्यी) अग्निकी पत्नी, (अश्विनी राट्) अश्विनी देवोंकी पत्नी राज्ञी, (रोदसी) रुद्रकी पत्नी, (वरुणानी) जलदेव वरुणकी पत्नी (आशृणोतु) हमारी पुकार सुनें । (जनीनां यः ऋतुः) स्त्रियोंका जो ऋतुकाल है, उस समय (देवीः व्यन्तु) ये देवियां हमारा हित करें ॥ २ ॥

देवताओंकी शक्तियां देवोंकी पत्नियां हैं । अग्नि, जल, पृथ्वी, वायु, आदि अनेक देव हैं, उनकी शक्तियां भी विविध हैं । ये ही उनकी पत्नियां हैं । पत्नी पालन करनेवाली होती है । अग्निशक्ति अग्निका पालन करती है, वायुशक्ति वायुका पालन करती है, इसी प्रकार अन्यान्य देवोंकी शक्तियां अन्य देवोंको उनके स्वरूपमें रखती हैं, जितने देव हैं उतनी ही उनकी पत्नियां हैं । ये सब देवशक्तियां हम सब मनुष्योंको सुख और शान्ति प्रदान करें ।

कर्म और विजय

[५० (५२)]

(ऋषिः— अङ्गिराः । देवता— इन्द्रः ।)

यथा वृक्षमशनिर्विश्वाहा हन्त्यप्रति ।
एवाहमद्य कितवानक्षैर्बध्यासमप्रति ॥ १ ॥
तुराणामतुराणां विशामवर्जुषीणाम् ।
समैतु विश्वतो भगो अन्तर्हस्तं कृतं मम ॥ २ ॥
ईडे अग्निं स्वावसुं नमोभिरिह प्रसक्तो वि चयत्कृतं नः ।
रथैरिव प्र भरे वाजयद्भिः प्रदक्षिणं मरुतां स्तोममृध्याम् ॥ ३ ॥

अर्थ— (यथा अशनिः) जिस प्रकार विद्युत् (वृक्षं विश्वाहा अप्रति हन्ति) वृक्षका सर्वदा नाश करती है, (एव अहं अद्य अक्षैः कितवान्) वैसे मैं आज पासोंके साथ जुआरियोंको (अप्रति बध्यासं) बहुत बुरी रीतिसे मारूं ॥ १ ॥

(तुराणां अतुराणां) त्वरा करनेवाली अर्थात् उत्साहयुक्त तथा मन्द किंवा सुस्त और (अवर्जुषीणां विशां) बुराईका वर्जन न करनेवाली प्रजाओंका (भगः विश्वतः समैतु) ऐश्वर्य सब ओरसे इकट्ठा होवे और वह (मम अन्तर्हस्तं कृतं) मेरे हाथके अंदर आए हुएके समान हो ॥ २ ॥

(स्ववसुं अग्निं नमोभिः ईडे) अपने निज धनसे युक्त और प्रकाशक देवकी नमस्कारोंद्वारा पूजा करता हूं । (इह प्रसक्तः नः कृतं विचयत्) यहां रहता हुआ यह देव हमारे किये कर्मको संग्रहित करे, जैसा (वाजयद्भिः रथैः इव प्रभरे) बलयुक्त अश्वोंसे रथोंके समान सब स्थानको भर देता हूं । पश्चात् मैं (मरुतां प्रदक्षिणं स्तोमं ऋध्यां) मरुतोंका श्रेष्ठ स्तोत्र सिद्ध करता हूं ॥ ३ ॥

भावार्थ— जिस प्रकार बिजलीसे वृक्षोंका नाश होता है, उसी प्रकार मैं पासोंके साथ जुआरियोंका नाश करता हूं ॥ १ ॥

कुछ प्रजाजन किसी कार्यको त्वरासे समाप्त करनेवाले, कुछ सुस्तीसे समाप्त करनेवाले और बुराइयोंको दूर न करनेवाले होते हैं । उन सब प्रजाजनोंका धन एक स्थानपर जमा होवे और वह मेरे हाथमें आए हुए धनके समान हो ॥ २ ॥

मैं ईश्वरकी भक्ति और उपासना करता हूं । यह देव हमारे कर्मोंका निरीक्षण करे । और जिस प्रकार रथोंसे धन इकट्ठा करते हैं उसी प्रकार हमारे सब सत्कर्मोंका फल इकट्ठा होवे । उसका उपभोग करते हुए हम उत्तम स्तोत्रोंका गायन करके आनन्दसे रहें ॥ ३ ॥

वयं जयेम त्वया युजा वृतमस्माकमंशमुदवा भरेभरे ।
अस्मभ्यमिन्द्र वरीयः सुगं कृधि प्र शत्रूणां मघवन्वृष्ण्या रुज ॥ ४ ॥

अजैषं त्वा संलिखितमजैषमुत संरुधम् ।
अविं वृको यथा मथदेवा मथ्नामि ते कृतम् ॥ ५ ॥

उत प्रहामतिदीवा जयति कृतमिव श्वघ्नी वि चिनोति काले ।
यो देवकामो न धनं रुणद्धि समित्तं रायः सृजति स्वधाभिः ॥ ६ ॥

गोभिष्टरेमामतिं दुरेवां यवेन वा क्षुधं पुरुहूत विश्वे ।
वयं राजसु प्रथमा धनान्यरिष्टासो वृजनीभिर्जयेम ॥ ७ ॥

अर्थ— (वयं त्वया युजा वृतं जयेम) हम तेरी सहायतासे युक्त होकर घेरनेवाले शत्रुको जीतें। (भरे भरे अस्माकं अंशं उद् अव) प्रत्येक युद्धमें हमारे कार्यभागकी उत्कृष्ट रक्षा कर। हे (इन्द्र) इन्द्र! (अस्मभ्यं वरीयः सुगं कृधि) हमारे लिये वरिष्ठ स्थानसे जाने योग्य कर। हे (मघवन्) धनवान् इन्द्र! (शत्रूणां वृष्ण्या प्र रुज) शत्रुओंके बलोंको तोड ॥ ४ ॥

(सं लिखितं त्वा अजैषं) हरएक रीतिसे कष्ट देनेवाले तुझ शत्रुको मैं जीत लेता हूं। (उत संरुधं अजैषं) और रोकनेवाले तुझ जैसे शत्रुको भी मैं जीतता हूं। (यथा अविं वृकः मथत्) भेडिया जैसे भेडको मथता है (एवा ते कृतं मथ्नामि) ऐसे ही तेरे किये शत्रुभूत कर्मको मैं मथ डालता हूं ॥ ५ ॥

(उत अतिदीवा प्रहां जयति) और अत्यंत विजयेच्छु वीर प्रहार करनेवालेको भी जीत लेता है। (श्वघ्नी [स्व-घ्नी] काले कृतं इव विचिनोति) अपने धनका नाश करनेवाला मूढ समयपर अपने किये हुए कर्मको ही विशेष रीतिसे प्राप्त करता है। (यः देवकामः धनं न रुणद्धि) जो देवकी तृप्तिकी इच्छा करनेवाला धनको केवल अपने लिये ही रोक रखता है, (तं इत् रायः स्वधाभिः संसृजति) उसीके साथ सब धन अपनी धारक शक्तियोंसे उत्तम प्रकार संयुक्त होता है ॥ ६ ॥

(दुरेवां अमतिं गोभिः तरेम) दुर्गतिरूप कुमतिको गौओंसे पार करें। हे (पुरुहूत) बहुतों द्वारा प्रशंसित देव! (विश्वे यवेन वा क्षुधं) हम सब जौसे भूखको पार करें। (वयं राजसु प्रथमा अरिष्टासः) हम सब राजाओंमें उत्कृष्ट होकर विनाशको न प्राप्त होते हुए (वृजनीभिः धनानि जयेम) अपनी शक्तियोंसे धनोंको जीतें ॥ ७ ॥

भावार्थ— हम ईश्वरकी सहायतासे सब शत्रुको जीतें। ईश्वरकी कृपासे हर एक युद्धमें हमारे प्रयत्न सुरक्षित हों। हे देव! हमारे शत्रुओंका बल कम करो, और हमें वरिष्ठस्थान सुखसे प्राप्त हो ॥ ४ ॥

पीडा देनेवाले और प्रतिबन्ध करनेवाले शत्रुको मैं जीतता हूं। जिस प्रकार भेडिया भेडको पराजित करता है वैसे मैं शत्रुके किये उत्तमसे उत्तम प्रयत्नको व्यर्थ करता हूं ॥ ५ ॥

विजयेच्छु वीर घातक शत्रुको भी जीत लेता है। आत्मघात करनेवाला मूढ मनुष्य अपने कृत कर्मको ही भोगता है। जो मनुष्य देवकार्यके लिये अपना धन समर्पण करता है और ऐसे समयमें अपने पास इकट्ठा करके नहीं रखता, उसीको विशेष धन प्राप्त होता है ॥ ६ ॥

दुर्गति और कुमतिको गौओंकी रक्षा करके हटा दें। इसी प्रकार जौसे भूखको हटा दें। हम राजाओंमें उत्कृष्ट राजा बनें और निजशक्तियोंसे यथेष्ट धन कमावें ॥ ७ ॥

कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः ।
गोजिद् भूयासमश्वजिद्धनंजयो हिरण्यजित् ॥ ८ ॥
अक्षाः फलवतीं द्युवं दत्त गां क्षीरिणीमिव ।
सं मा कृतस्य धारया धनुः स्नाव्नेव नह्यत ॥ ९ ॥

अर्थ— (कृतं मे दक्षिणे हस्ते) पुरुषार्थ मेरे दायें हाथमें है और (मे सव्ये जयः आहितः) मेरे बायें हाथमें विजय है । अतः मैं (गोजित् अश्वजित्) गौओंका, घोडोंका (हिरण्यजित् धनंजयः भूयासं) सुवर्णका और धनका विजेता होऊं ॥ ८ ॥

हे (अक्षाः) ज्ञान विज्ञानो ! (क्षीरिणीं गां इव) दूधवाली गौके समान (फलवतीं द्युवं दत्त) फलवाली विजिगीषा हमें दो । (स्नाव्ना धनुः इव) जैसे तांतसे धनुष्य संयुक्त होता है वैसे ही (मा कृतस्य धारया सं नह्यत) मुझको अपने किए हुए कर्मकी धारा प्रवाहसे युक्त कर ॥ ९ ॥

भावार्थ— मेरे दायें हाथमें पुरुषार्थ है और बायें हाथमें विजय है । इसलिये हम गौवें, घोडे, सुवर्ण और अन्य धन प्राप्त करें ॥ ८ ॥

ज्ञानविज्ञान ये मेरी आंखें बनें और उनसे बहुत दूध देनेवाली गौके समान उत्तम फल देनेवाली विजयेच्छा हममें स्थिर रहे । जिस प्रकार तांतसे धनुष्यकी दोनों नोकें जुडी रहती हैं, उसी प्रकार मेरा पुरुषार्थ मुझे फलके साथ बांध देवे ॥ ९ ॥

कर्म और विजय

पुरुषार्थ और विजय

इस सूक्तका सप्तम मंत्र हरएक मनुष्यके द्वारा सदा ध्यानमें धारण करने योग्य है, उसका पाठ ऐसा है—

कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः ।
गोजिद् भूयासमश्वजिद्धनंजयो हिरण्यजित् ॥
(मं० ८)

' पुरुषार्थ प्रयत्न मेरे दायें हाथमें है और विजय मेरे बायें हाथमें है । इससे मैं गौवें, घोडे, धन और सुवर्णको जीत कर प्राप्त करनेवाला होऊं । '

मनुष्यको येही विचार मनमें धारण करने चाहिये और ऐसा प्रयत्न करना चाहिये कि उस प्रयत्नसे उसे चारों ओर विजय प्राप्त हो। मनुष्यकी विजय कहीं बाहरके प्रयत्नसे नहीं होती, वह अपने अंदरके बलसेही प्राप्त होगी । इसलिये अपने अन्दर बल बढे और अपनी विजय हो, इसके लिये प्रयत्न करना मनुष्यका प्रथम कर्तव्य है ।

' कृत, त्रेता, द्वापर और कलि ' ये चार प्रकारके मनुष्य-कर्म होते हैं, इनके लक्षण ये हैं—

कलिः शयानो भवति संजिहानस्तु द्वापरः ।
उत्तिष्ठंस्त्रेता भवति कृतं संपद्यते चरन् ॥
(ऐ० ब्रा० ७।१५)

' सो जाना कलि है, निद्राका त्याग द्वापर है, उठकर तैयार होना त्रेता कहलाता है, कार्य करना कृत कहलाता है। ' अर्थात् आलस्यसे कलियुग बनता है और पूर्ण पुरुषार्थसे कृत युग होता है, और बीचकी अवस्थाएं द्वापर और त्रेता युग-की हैं । कृत, त्रेता, द्वापर और कलि ये चार नाम पुरुषार्थके चार वर्गोंके सूचक हैं । जो पुरुष प्रयत्न करके अपने हाथमें कृत नामक पुरुषार्थ लेता है, वह दूसरे हाथसे निश्चयपूर्वक विजय प्राप्त कर लेता है । ' कृत ' पुरुषार्थ मानो एक बडे जलप्रवाहकी प्रचंड धारा है, वह धारा निःसंदेह विजय प्राप्त करा देती है—

कृतस्य धारया मा सं नह्यत । (मं० ९)

' कृत नाम श्रेष्ठ पुरुषार्थकी प्रवाह धारासे संयुक्त होकर उद्दिष्ट स्थानको मैं पहुंच जाऊं । ' कृतके साथ ' सत्य, अहिंसा, प्रबल पुरुषार्थ शक्ति, उद्यम, सरलता, धैर्य आदि सात्विक गुणोंका साहचर्य हमेशा रहता है । सत्ययुग कृतयुगको ही

कहते हैं। सत्ययुगके मनुष्योंके जो गुण पुराणोंमें वर्णित हैं, वेही सात्विक शुभ गुण इस कृत नामक पुरुषार्थके साथ सदा रहते हैं,

'कलि' पुरुषार्थ युक्त नहीं है, यह शब्द पुरुषार्थहीनताका द्योतक है। जहां बिल्कुल पुरुषार्थ नहीं है वहीं कलि रहता है, आपसके झगडे, अनाचार, अधर्म, अनीति अधः-पातका व्यवहार सब इसके साथ रहता है। इससे मनुष्योंकी अधोगति होती है। इसलिये इससे मनुष्योंको बचना आवश्यक है। बीचके दो पुरुषार्थ इन दो स्थितियोंके बीचमें हैं।

जुआरीको दूर करो।

अपने समाजमेंसे जुआरीको दूर करनेके विषयमें इस सूक्तका मंत्र बडा बोधप्रद है, देखिये—

यथा वृक्षमशनिर्विश्वाहा हन्त्यप्रति।
एवाहमद्य कितवानक्षैर्बध्यासमप्रति॥ (मं० १)

'जैसे आकाशकी विद्युत् वृक्षका नाश करती है उसी प्रकार मैं अपने समाजसे पाशोंके साथ जुआरियोंको दूर करता हूं।' समाजसे जुआरियोंको दूर करता हूं, अर्थात् समाजमें एक भी जुआरीको नहीं रहने देना चाहिए। समाजसे जुआरियोंको दूर करना ही समाजके जुआरियोंका वध है। वध कोई शरीरके नाशसे ही होता है और अन्य रीतिसे नहीं होता, ऐसी बात नहीं है। समाजमें जब तक जुआरी रहेंगे, तबतक समाजमें पुरुषार्थका सामर्थ्य नहीं बढ सकता क्योंकि थोडे प्रयत्नसे ही धनी होनेका भाव जुएसे जनतामें बढता है। अतः समाजको पुरुषार्थी बनानेके लिये समाजमेंसे जुआरियोंको नष्ट करना चाहिए।

तीन प्रकारके लोग

समाजमें तीन प्रकारके लोग होते हैं, 'तुर, अतुर और अवर्जुष' अर्थात् त्वरासे काम करनेवाले, प्रत्येक कार्यमें अत्यंत शीघ्रता करनेवाले, जल्दी जल्दीसे कार्य करके कार्यको बिगाडनेवाले जो होते हैं वे भी पुरुषार्थके लिये योग्य नहीं होते, क्यों कि वे शीघ्रता करके हाथमें लिये हुए कामको बिगाड देते हैं। दूसरे 'अतुर' अर्थात् शिथिल किंवा सुस्त, ये अपनी सुस्तीके कारण कार्यको बिगाडते हैं, अतः ये भी पुरुषार्थके लिये निकम्मे होते हैं। तीसरे 'अवर्जुष' अर्थात् वर्जन करनेयोग्य बातोंको भी दूर नहीं करते, बुराईको भी अपने पास रखते हैं। ये लोग भी कभी पुरुषार्थ करके अपनी उन्नति नहीं कर सकते। ये तीनों प्रकारके लोग सदा हीन अवस्थामें ही रहेंगे, इनकी उन्नतिकी कोई आशा नहीं है। इसलिये मंत्रमें कहा है कि—

तुराणामतुराणां विशामवर्जुषीणाम्।
समैतु विश्वतो भगो अन्तर्हस्तं कृतं मम॥ (मं० २)

'शीघ्रता करनेवाले, सुस्त तथा बुराइयोंको भी दूर न करनेवाले ये जो तीन प्रकारके लोग अपनी उन्नतिकी साधना नहीं करते, वे सदा दुर्भाग्यमें ही रहेंगे। अतः उनके पास जानेवाला धन मेरे हाथमें रहनेके समान हो क्योंकि मैं पुरुषार्थ करता हूं।' इसका आशय यह है, कि पूर्वोक्त तीन दोषोंवाले लोग ये सदा दुर्भाग्यमें ही रहेंगे और विश्वके धनका जो भाग उनको प्राप्त होना है, वह उनका भाग पुरुषार्थी लोगोंके हस्तगत होगा। उस उक्त धन पांच ही पुरुषार्थी लोगोंमें बांटा जायगा और पांच लोग दुर्भाग्यमें ही सडते रहेंगे। यह मंत्र इस दृष्टिसे पाठकोंको विचार करने योग्य है। एक ही ग्राममें कई लोग पुरुषार्थसे धन कमाते हैं और सुस्तीसे कई निर्धन अवस्थामें रहते हैं, इसका कारण इस मंत्रमें उत्तम रीतिसे कहा है।

तृतीय मंत्रमें कहा है कि प्रकाशक देवकी, हम उपासना करते हैं और उससे पर्याप्त धन हमें मिल सकता है। चतुर्थ मन्त्रमें भी यही आशय स्पष्ट किया है—

वयं जयेम त्वया युजा। (मं. ४)

'हम तेरे (ईश्वरके) साथ रहनेपर विजय प्राप्त कर सकते हैं।' ईश्वरके साथ रहनेसे अर्थात् ईश्वरके भक्त होनेसे विजय प्राप्त होती है, यह विजय सच्ची विजय होती है। ईश्वरके सत्य भक्त होनेसे बडी शक्ति प्राप्त होती है। इस विषयमें पञ्चम मंत्रका कथन यह है—

अजैषं त्वा संलिखितमजैषमुत संरुधम्। (मं. ५)

'खुरचनेवाले अर्थात् विविध प्रकारसे दुःख देनेवाले और प्रतिबंध करनेवाले तुम जैसे शत्रुको मैं जीत लेता हूं।' अर्थात् मैं ईश्वरभक्त होनेके कारण अब मुझे सत्यमार्गसे आगे बढनेमें कोई डर नहीं है। मैं अपने पुरुषार्थसे अपनी उन्नति निःसन्देह सिद्ध करूंगा। पुरुषार्थके विषयमें एक नियम है, वह यह कि धार्मिक दृष्टिसे निर्दोष पुरुषार्थ प्रयत्न करनेवाला ही जीतता है, अन्तमें उसीकी विजय होती है। अधार्मिकको कुछ देर विजय प्राप्त हुई तो भी अन्तमें उसका नाश ही होता है, इस विषयमें षष्ठ मन्त्रकी घोषणा विचार करने योग्य है—

उत प्रहामतिदीवा जयति ।
कृतमिव श्वघ्नी विचिनोति काले ॥ (मं. ६)

'निःसन्देह यह बात है कि (अतिदीवा) अत्यंत विजिगीषु पुरुषार्थी मनुष्य (प्रहां जयति) प्रहार करनेवालेको जीतता है। और (श्व-घ्नी, स्वघ्नी) अपना आत्मघात करनेवाला मनुष्य (काले) समयमें अपने कृत-कर्मका फल प्राप्त करता है।

इस मंत्रमें दो शब्द विशेष महत्त्वके हैं। उनका विचार करना अत्यंत आवश्यक है।

१ श्व-घ्नी-[स्व-घ्नी]— आत्मघात करनेवाला मनुष्य। जो मनुष्य अपना नाश करनेवाले कुकर्मोंको करता रहता है। जिससे अपनी अधोगति होती है ऐसे कुकर्म जो करता है वह आत्मघातकी है। आत्मघातकी लोगोंकी अधोगति होती है इस विषयका वर्णन ईशोपनिषद् (वा. यजु. ४०।३) में है, वहां पाठक यह वर्णन अवश्य देखें।

२ अतिदीवा— इस शब्दमें 'दिव्' धातु 'विजिगीषा, व्यवहार, स्तुति, मोद, गति' इत्यादि अर्थोंमें है, अतः 'दीवा' शब्दका अर्थ 'विजिगीषा अर्थात् जयकी इच्छा करनेवाला, व्यवहार उत्तम रीतिसे करनेवाला, स्तुति ईश-भक्ति करनेवाला, आनन्द बढानेवाले कार्य करनेवाला, प्रगति करनेवाला' अतः 'अतिदीवा' शब्दका अर्थ है 'अत्यंत विजयके लिए पुरुषार्थ करनेवाला' वह विजय प्राप्त करनेवाला अपने शत्रुको अवश्य ही जीत लेता है।

देवकाम मनुष्य

कई मनुष्य देवकामी होते हैं और कई असुरकामी होते हैं। देवोंके समान जिनकी इच्छा होती है, वे देवकामी मनुष्य और राक्षसोंके समान जिनकी कामना होती है, वे असुरकामी मनुष्य होते हैं। ये क्या करते हैं इस विषयका वर्णन इसी मंत्रमें किया है, वह अब देखिये। इसी मंत्रके शब्द निम्न प्रकार रखनेसे दोनोंके लक्षण स्पष्ट हो जाते हैं—

देवकामः धनं न रुणद्धि ।
[असुरकामः] धनं रुणद्धि । (मं. ६)

'देवकामनावाला मनुष्य अपने धनको अपने पास ही इकट्ठा नहीं करता, परंतु आसुरी कामनावाला मनुष्य अपने पास धन इकट्ठा करके रखता है।' यह मंत्रभाग इन दोनोंके व्यवहार स्वरूप अच्छी प्रकार बता रहा है। कंजूस लोग धन अपने पास संग्रह करते हैं, उसको बाहर व्यवहारमें आने नहीं देते, अथवा अपने स्वार्थी लोगोंके लिये रखते हैं, अतः ये राक्षसी कामनाएं हैं। परंतु जो मनुष्य दैवी प्रवृत्तिके होते हैं, वे धन अपने पास कभी नहीं रोकते, अपितु अपने सर्वस्वको सब जनताकी भलाईके लिये समर्पित करते हैं, अपनी संपूर्ण शक्तियां उसी कार्यमें लगाते हैं, इसलिये वे लोग उन्नतिके भागी होते हैं। यही बात इसी मंत्रके अंशमें कही है—

तं रायः स्वधाभिः संसृजति । (मं. ६)

'उसीको सब प्रकारके धन अपनी सब धारक शक्तियोंके साथ प्राप्त होते हैं।' जो अपना धन देवकार्यमें लगाता है वही विशेष धन प्राप्त कर सकता है और वही बडी विजय प्राप्त कर सकता है।

यहां देवकार्य कौनसा है, इसका भी विचार करना चाहिये। 'साधुजनोंका परित्राण करना, दुष्कर्म करनेवालोंका नाश करना और धर्ममर्यादाकी स्थापना करना' यह त्रिविध कार्य देवकार्य कहलाते हैं। अर्थात् इसके विरुद्ध जो कार्य हो उसे राक्षस या आसुर कार्य समझना चाहिए। यह देवकार्य जो करता है और इस देव कार्यमें अपनी शक्ति और धन जो लगाता है वह देवकाम मनुष्य है। इसके विरुद्ध कार्य करनेवाला मनुष्य आसुरी कामनावाला कहलाता है और वह अवनतिको प्राप्त होता है।

गोरक्षा

सप्तम मंत्रमें गोरक्षाके महत्त्वका वर्णन किया है। यदि दुर्गतिसे बचनेका कोई सच्चा साधन है तो एक मात्र गोरक्षा ही है देखिये—

दुरेवां अमतिं गोभिः तरेम । (मं. ७)

'दुरवस्थाकी जो बुद्धिहीन स्थिति है वह हम गौओंकी रक्षासे दूर करें।' अर्थात् गौओंकी सहायतासे हम अपनी दुरवस्था हटावें। देशमें उत्तम गोरक्षा हो और विपुल दूध हरएकको प्राप्त होने लगे तो देशकी दुरवस्था निःसन्देह दूर होगी। मनुष्यको सुधारनेका यही एकमात्र उपाय है। इसी प्रकार—

विश्वे यवेन क्षुधं [तरेम] । (मं. ७)

'हम सब जौसे भूखको दूर करें।' अर्थात् जौ आदि धान्यका भक्षण करके ही हम अपनी भूखका शमन करें। यहां मांस आदि पदार्थोंका भूखकी निवृत्तिके लिये उल्लेख नहीं है, यह बात विशेष ध्यानमें धारण करने योग्य है।

गौका दूध पीना और जौ गेहूं चावल आदि धान्यका सेवन करना, ये दो रीतियां हैं जिनसे मनुष्य उन्नत होता है और अत्यंत सुखी हो सकता है। अब अन्तिम मंत्रका उपदेश देखिये—

अक्षाः फलवतीं द्युवं दत्त। (मं. ९)

'हे ज्ञान विज्ञानो! फलवाली विजय हमें दो।' यहां 'अक्ष' शब्द है, यह शब्द कोशोंमें निम्नलिखित अर्थोंमें आया है– 'गाडीका मध्य दण्ड, आधार स्तंभ, रथ, गाडी, चक्र, तुलाका दण्ड, तोलनेका वजन (कर्ष), रुधिरोत्थक (भिलावा), रुद्राक्षका वृक्ष, रुद्राक्ष, इन्द्राक्ष, सर्प, गरुड, आत्मा, ज्ञान, सत्यज्ञान, विज्ञान, तारक ज्ञान, ब्रह्मज्ञान, कानून (लॉ, law), कानूनी कार्यवाही, विधिनियम।' हमारे मतसे यहांका 'अक्ष' शब्द अन्तिम आठ या नौ अर्थोंको यहां व्यक्त कर रहा है और इसीलिये हमने इसका अर्थ ज्ञान विज्ञान ऐसा किया है।

द्यु और दीवाकी उत्पत्ति एक ही दिव् धातुसे होनेके कारण 'अतिदीवा' शब्दके प्रसंगमें जो अर्थ बताया है वही 'द्युव' का यहां अर्थ है। 'विजिगीषा' यह इसका यहां अर्थ अभिप्रेत है। 'ज्ञान विज्ञानसे हमें फल युक्त विजय प्राप्त हो' यह इस मंत्र भागका यहां आशय है। ज्ञान विज्ञानसे ही सुफल युक्त विजय प्राप्त हो सकती है।

विजय ऐसी हो कि जैसी (क्षीरिणीं गां इव) सदा दूध देनेवाली गौ होती है। विजय प्राप्त करनेके बाद उसका मधुर फल भविष्यमें मिलता रहे और पुनः हमारा अधःपात कभी न होवे, यह आशय यहां है।

(कृतस्य धारयामा समंह्वात्। मं. ८) अपने किये हुए पुरुषार्थके धाराप्रवाहसे मैं उत्कर्षको सरलतया प्राप्त होऊं। बीचमें किसी प्रकारकी रुकावट न हो। जो ज्ञान विज्ञानयुक्त होकर इस प्रकार परमपुरुषार्थ करेंगे, वे ही निःसन्देह यशके भागी होंगे।

रक्षाकी प्रार्थना

[५१ (५३)]

(ऋषिः– अङ्गिराः। देवता– इन्द्राबृहस्पती।)

बृहस्पतिर्नः परि पातु पश्चादुतोत्तरस्मादधरादघायोः।
इन्द्रः पुरस्तादुत मध्यतो नः सखा सखिभ्यो वरीयः कृणोतु ॥ १ ॥

अर्थ— (बृहस्पतिः नः पश्चात्, उत उत्तरस्मात्) ज्ञानका स्वामी हमें पीछेसे, उत्तर दिशासे (अधरात् अघायोः पातु) नीचेके भागसे पापी पुरुषोंसे बचावे। (सखा इन्द्रः) मित्र प्रभु (नः) हमें (पुरस्तात् उत मध्यतः) आगेसे और बीचमेंसे (सखिभ्यः वरीयः कृणोतु) मित्रोंमें श्रेष्ठ बनावे ॥ १ ॥

भावार्थ— ज्ञान देनेवाला पीछेसे, ऊपरसे और नीचेसे अर्थात् बाहरसे हमारी रक्षा करे और मित्र हमारी रक्षा संमुखसे और बीचके स्थानसे करे॥ १ ॥

ज्ञान देनेवाला और सहायक मित्र ये दोनों रक्षा करते हैं, एक बाहरसे रक्षा करता है और एक अंदरसे रक्षा करता है। परमात्मा ज्ञान देकर बाहरसे और मित्र होकर अन्दरसे और सब ओरसे हमारी रक्षा करता है।

*

उत्तम ज्ञान

[५२ (५४)]

(ऋषिः- अथर्वा । देवता- सांमनस्यं, अश्विनौ ।)

संज्ञानं नः स्वेभिः संज्ञानमरणेभिः ।
संज्ञानमश्विना युवमिहास्मासु नि यच्छतम् ॥ १ ॥

सं जानामहै मनसा सं चिकित्वा मा युष्महि मनसा दैव्येन ।
मा घोषा उत्स्थुर्बहुले विनिर्हते मेषुः पप्तदिन्द्रस्याहन्यागते ॥ २ ॥

अर्थ— हे (अश्विनौ) अश्विदेवो ! (नः स्वेभिः संज्ञानं) हमें स्वजनोंके साथ उत्तम ज्ञान प्राप्त हो । तथा (अरणेभिः संज्ञानं) निम्न श्रेणीके जो लोग हैं उनके साथ भी हमें उत्तम ज्ञान प्राप्त हो । (इह) इस संसारमें (युवं अस्मासु संज्ञानं नियच्छतं) तुम दोनों हमें उत्तम ज्ञान प्रदान करो ॥ १ ॥

(मनसा संजामामहै) हम मनसे उत्तम ज्ञान प्राप्त करें (चिकित्वा सं) ज्ञान प्राप्त करके एकमतसे रहें । (मा युष्महि) परस्पर विरोध न करें । (दैव्येन मनसा) दिव्य मनसे हम युक्त होवें । (बहुले विनिर्हते घोषा मा उत् स्थुः) बहुतोंका वध होनेके कारण दुःखके शब्द न उत्पन्न हों । (आगते अहनि) भविष्य कालमें (इन्द्रस्य इषुः मा पतत्) इन्द्रका बाण हमपर न गिरे ॥ २ ॥

दीर्घायु

[५३ (५५)]

(ऋषिः- ब्रह्मा । देवता- आयुः, बृहस्पतिः, अश्विनौ च ।)

अमुत्रभूयादधि यद्यमस्य बृहस्पतेरभिशस्तेरमुञ्चः ।
प्रत्यौहतामश्विना मृत्युमस्मद्देवानामग्ने भिषजा शचीभिः ॥ १ ॥

अर्थ— हे (बृहस्पते) बृहस्पते ! हे (अग्ने) अग्ने ! तू (यत् अमुत्र-भूयात्) जो परलोकमें होनेवाले (यमस्य अभिशस्तेः अमुञ्चः) यमकी यातनाओंसे मुक्त करता है । हे (देवानां भिषजौ अश्विनौ) देवोंके वैद्य अश्विनीदेवो ! (शचीभिः मृत्युं अस्मत् प्रति औहतां) शक्तियोंसे मृत्युको हमसे दूर करो ॥ १ ॥

भावार्थ— परलोकमें देहपातके पश्चात् जो दुःख होते हैं उनसे मनुष्यका बचाव होवे, और मनुष्यकी शक्तियोंकी उन्नति होकर उसका मृत्युसे बचाव होवे ॥ १ ॥

सं क्रामतं मा जहीतं शरीरं प्राणापानौ ते सयुजाविह स्ताम् ।
शतं जीव शरदो वर्धमानोऽग्निष्टे गोपा अधिपा वसिष्ठः ॥ २ ॥

आयुर्यत्ते अतिहितं पराचैरपानः प्राणः पुनरा ताविताम् ।
अग्निष्टदाहार्निर्ऋतेरुपस्थात्तदात्मनि पुनरा वेशयामि ते ॥ ३ ॥

मेमं प्राणो हासीन्मो अपानोऽवहाय परा गात् ।
सप्तर्षिभ्य एनं परि ददामि त एनं स्वस्ति जरसे वहन्तु ॥ ४ ॥

प्र विशतं प्राणापानावनड्वाहाविव व्रजम् ।
अयं जरिम्णः शेवधिररिष्ट इह वर्धताम् ॥ ५ ॥

अर्थ— हे (प्राणापानौ) प्राण और अपानो ! (सं क्रामतं) शरीरमें उत्तम प्रकार संचार करो (शरीरं मा जहीतं) शरीरको मत छोडो । वे दोनों (इह ते सयुजौ स्ताम्) यहां तेरे सहचारी होकर रहें। (वर्धमानः शरदः शतं जीव) बढता हुआ तू सौ वर्ष जीवित रह । (ते अधिपाः वसिष्ठः गोपाः अग्निः) तेरा अधिपति निवासक और रक्षक तेजस्वी देव है ॥ २ ॥

(ते यत् आयुः पराचैः अतिहितं) तेरी जो आयु विरुद्ध आचरण करनेके कारण घट गयी है, उस स्थानपर (तौ प्राणः अपानः पुनः आ इतां) वे प्राण और अपान पुनः आवें। (अग्निः निर्ऋतेः उपस्थात् तत् पुनः आहाः) वह तेजस्वी देव तुझे दुर्गतिके समीपसे पुनः लाता है, (ते आत्मनि तत् पुनः आवेश यामि) तेरे अन्दर उसको पुनः स्थापन करता हूँ ॥ ३ ॥

अर्थ— (इमं प्राणः मा हासीत्) इसको प्राण न छोडे और (अपानः अवहाय परा मा गात् उ) अपान भी इसको छोड कर दूर न जावे । (सप्तर्षिभ्यः एनं परिददामि) सात ऋषियोंके समीप इसको देता हूं, (ते एनं जरसे स्वस्ति वहन्तु) वे इसको वृद्धावस्थातक सुखपूर्वक ले जावें ॥ ४ ॥

हे (प्राणापानौ) प्राण और अपान ! (व्रजं अनड्वाहौ इव प्रविशतं) जैसे गोशालामें बैल घुसते हैं उसी प्रकार तुम दोनों प्रविष्ट होवो ! (अयं जरिम्णः शेवधिः) यह वार्धक्यतककी पूर्ण आयुका खजाना है, वह (इह अरिष्टः वर्धतां) यहां न घटता हुआ बढे ॥ ५ ॥

भावार्थ— मनुष्यके शरीरमें प्राण और अपान ठीक प्रकार संचार करते रहें। वे शरीरको शीघ्र न छोडें। ये ही जीवके सहचारी दो मित्र हैं। मनुष्य बढता हुआ सौ वर्षतक जीवित रहे, मनुष्यका रक्षक, पालक, संवर्धक और यहां का जीवन सुखमय करनेवाला एकमात्र परमेश्वर है ॥ २ ॥

जो आयु विरुद्ध आचरणोंके कारण घट जाती है, उसको प्राण और अपान पुनः ले आवें और यहां स्थापित करें। वही तेजस्वी देव दुर्गतिसे आयुको वापस ले आवे और इसके अन्दर सुरक्षित रखे ॥ ३ ॥

इस मनुष्यको प्राण और अपान न छोडें । सप्तर्षिसे बने जो सप्त ज्ञानेंद्रियें हैं, उनके समीप इस जीवको छोड देते हैं । वे इसको सौ वर्षकी पूर्ण आयु प्रदान करें ॥ ४ ॥

शरीरमें प्राण और अपान वेगसे संचार करें और इस शरीरमें रखा हुआ दीर्घायुका खजाना बढावें ॥ ५ ॥

आ ते॑ प्रा॒णं सु॑वामसि॒ परा॒ यक्ष्मं॑ सुवामि ते ।
आयु॑र्नो॒ वि॒श्वतो॑ दधदु॒यम॒ग्निर्वरे॑ण्यः ॥ ६ ॥
उद्व॒यं तम॑स॒स्परि॒ रोह॑न्तो॒ नाक॑मुत्त॒मम् ।
दे॒वं दे॑व॒त्रा सूर्य॒मग॑न्म॒ ज्योति॑रुत्त॒मम् ॥ ७ ॥

अर्थ— (ते प्राणं आ सुवामसि) तेरे प्राणको मैं प्रेरित करता हूं । (ते यक्ष्मं परा सुवामि) तेरे क्षयरोगको मैं दूर करता हूं । (अयं वरेण्यः अग्निः) यह श्रेष्ठ अग्नि (नः आयुः विश्वतः दधत्) हमारे अन्दर आयु सब प्रकारसे स्थापित करे ॥ ६ ॥

(वयं तमसः परि उत्) हम अन्धकारके ऊपर चढें, वहांसे (उत्तरं नाकं रोहन्तः) श्रेष्ठ स्वर्गमें आरोहण करते हुए (देवत्रा उत्तमं ज्योतिः सूर्यं अगन्म) सब देवोंके रक्षक उत्तम तेजस्वी सूर्य–सबके उत्पादक–देवको प्राप्त हों ॥ ७ ॥

भावार्थ— तेरे प्राणोंको प्रेरित करनेसे तेरे रोग दूर होंगे और तेरी आयु वृद्धिंगत होगी ॥ ६ ॥

हम अन्धकारको छोडकर प्रकाशकी प्राप्तिके लिये ऊपर चढते हैं, ऊपर स्वर्गमें आरोहण करते हुए सबके रक्षक तेजस्वी देवताको प्राप्त करते हैं ॥ ७ ॥

दीर्घायु

दीर्घ आयु कैसे प्राप्त हो ?

इस सूक्तमें दीर्घ आयु प्राप्त करनेका उपाय बताया है । दीर्घ आयु करनेवाले दो देव हैं, वे अपनी शक्तियोंसे मनुष्यकी मृत्युसे रक्षा करते हैं, ये दो देव अश्विनी देव हैं । अश्विनी देव कौन हैं और कहां रहते हैं, इसका विचार करके निश्चय करना चाहिये ।

देवोंके वैद्य ।

अश्विनी कुमार ये देवोंके दो वैद्य हैं, इस मंत्रमें भी इनको–

देवानां भिषजौ (मं० १)

' देवोंके दो वैद्य ये हैं ' ऐसा कहा है । यहां देव कौनसे हैं और उनकी चिकित्सा करनेवाले ये वैद्य कौनसे हैं, यह एक विचारणीय प्रश्न है । इनके नामोंका मनन करनेसे एक नाम हमारे सन्मुख विशेष प्रामुख्यसे आता है, जो ' नासत्यौ ' है । (नास–त्यौ=नासा–स्थौ) नासिकाके स्थानपर रहनेवाले । प्राणका स्थान नासिका है । प्राणके स्थानपर रहनेवाले ये दो ' श्वास उच्छ्वास ' अथवा ' प्राण अपान ' ही हैं । प्राण और अपान ये दो देव इस शरीरमें रहकर इस शरीरमें जो इंद्रियस्थानोंमें अनेक देवगण हैं उनकी चिकित्सा करते हैं । प्राणसे पुष्टि प्राप्त होती है और अपानसे दोष दूर होते हैं । इस प्रकार दोष दूर करके पुष्टिके द्वारा ये दो देव इन सब इंद्रियोंकी चिकित्सा करते हैं । यहां यह अर्थ देखनेसे इनका ' नास–त्य ' नाम बिलकुल सार्थ प्रतीत होता है । प्राण और अपान अशक्त हो जाएं अथवा इनमेंसे कोई भी एक अपना कार्य करनेमें असमर्थ हो जाए, तो इंद्रियगण भी अपना अपना कार्य करनेमें असमर्थ हो जाते हैं । इतना इंद्रियोंके आरोग्यके साथ प्राणोंके स्वास्थ्यका संबंध है । अर्थात् वेदोंमें और पुराणोंमें ' देवोंके वैद्य अश्विनी कुमार ' के नामसे जो प्रसिद्ध वैद्य हैं, वे अध्यात्मपक्षमें अपने देहमें प्राण और अपान हैं, और येही इंद्रियरूपी देवोंकी चिकित्सा करते हुए इस मनुष्यको दीर्घायु देते हैं । यदि प्राणोंकी कृपा न हुई तो कोई दूसरा उपाय ही नहीं है कि जिससे मनुष्य दीर्घायु प्राप्त कर सके । यह विचार ध्यानमें रखकर यदि पाठक निम्नलिखित मंत्र देखेंगे तो उनको उसका ठीक अर्थ ध्यानमें आ सकता है, देखिये—

(हे) देवानां भिषजौ अश्विनौ !
शचीभिः मृत्युं अस्मत् प्रत्यौहताम् । (मं० १)

' हे देवोंके वैद्य प्राण और अपानो ! अपनी विविध शक्तियोंसे मृत्युको हमसे दूर करो । ' अर्थात् प्राण और अपानही इस देहस्थानीय सब अवयवों और अंगोंकी चिकित्सा करते

हैं और उनको पूर्ण निर्दोष करते हुए मनुष्यको मृत्युसे ब[चाते] हैं। अतः मृत्यु दूर करनेके लिये उनकी प्रार्थना यहां की गई है। जो देव जिस वस्तुको देनेवाले हैं उनकी प्रार्थना उस वस्तुकी प्राप्तिके लिये करना योग्य ही है। इसी अर्थको मनमें धारण करके निम्नलिखित मंत्र देखिये—

(हे) प्राणापानौ ! सं क्रामतं,
शरीरं मा जहीतम्। (मं० २)

'हे प्राण और अपानो! शरीरमें उत्तमरीतिसे संचार करो, और शरीरको मत छोडो।' यहां अश्विनौ देवताके बदले 'प्राणापानौ' शब्द ही है, और यह बताता है कि हमने जो अश्विनौका अर्थ प्राण और अपान किया है वह ठीक ही है। ये प्राण और अपान शरीरमें उत्तम प्रकार संचार करें। शरीरको इनके उत्तम संचारके लिये योग्य बनाना नीरोग रहनेके लिये अत्यंत आवश्यक है। शरीरको प्राण-संचारके योग्य बनानेके लिये योगशास्त्रमें कहे धौती, बस्ति, नेति आदि क्रियाएं हैं। इनसे शरीर शुद्ध होता है, दोषरहित बनता है और प्राणसंचार द्वारा सर्वत्र अनारोग्य स्थिर होता है। शरीरमें प्राणापानोंका यह महत्त्व है। प्राणापानोंका बहुत महत्त्व है, इसीलिये कहा है कि—

इह प्राणापानौ ते सयुजौ स्याताम्। (मं० २)

'यहां प्राण और अपान ये दोनों तेरे सहचारी मित्र बन कर रहें।' तेरे विरोध करनेवाले न बनें। सहचारी मित्र सदा साथ रहते हैं और सदा हित करनेवाले होते हैं इस प्रकार ये प्राणापान मनुष्यके सहचारी मित्र हैं। मनुष्य इनको ऐसा समझे और उनकी मित्रता न छोडें। ऐसा करनेसे क्या होगा सो इसी मंत्रमें लिखा है—

वर्धमानः शतं शरदः जीव। (मं० २)

'वृद्धि और पुष्टिको प्राप्त होता हुआ तू सौ वर्ष जीवित रहेगा' अर्थात् प्राण और अपानको अपने अंदर उत्तम अवस्था-में रखेगा तो तू पुष्ट और बलिष्ठ होकर सौ वर्षकी दीर्घायु प्राप्त कर सकेगी। दीर्घायु प्राप्त करनेका यह उपाय है, मनुष्य योगशास्त्रमें कहे उपायोंका अवलंबन करके तथा प्राणा-यामका अभ्यास करके अपने शरीरमें प्राणापानोंको बलवान् करके कार्यक्षम बनावे, जिससे मनुष्य दीर्घायु बन सकता है। प्राण अपान ये ऐसे सहायक हैं कि वे दोषोंसे घटी हुई आयुको भी पुनः प्राप्त करा देते हैं, देखिये—

यत् ते आयुः पराचैः अतिहितं
प्राणः अपानः तौ पुनः आ इताम्॥ (मं० ३)

"जो तेरी आयु हीन दोषोंके कारण घट गई है, वे प्राण और अपान, पुनः उस स्थानपर आवें और वे उस आयुको वहां पुनः स्थापन करें।" यह है प्राणापानोंका अधिकार। कुमार अथवा तरुण अवस्थामें कुछ अनियमके कारण यदि कोई ऐसे कुव्यवहार हो गये और उस कारण यदि आयु क्षीण हो गई तो युक्तिसे प्राण और अपान उस दोषको हटा देते हैं और दीर्घ आयु प्राणोपासना करनेवाले मनुष्यको मनुष्यको अर्पण करते हैं। इसलिए कहा है—

इमं प्राणः मा हासीत्, अपानः अवहाय मा परा गात्। (मं० ४)

'इसको प्राण न छोड देवे और अपान भी इसको छोडकर दूर न चला जावे।' क्योंकि प्राण और अपान इस मनुष्यके देहको छोडने लगे तो कोई दूसरी शक्ति मनुष्यको आयु देनेमें समर्थ नहीं हो सकती। इनके रहनेपरही अन्य शक्तियां सहायक होती हैं। अन्य शक्तियां इस मंत्रमें सप्तर्षि नामसे कही हैं, जो इस देहमें रहकर मनुष्यकी सहायता करती हैं—

सप्तर्षिभ्य एनं परिददामि
त एनं स्वस्ति जरसे वहन्तु। (मं. ४)

'मैं इस मनुष्यको सप्त ऋषियोंके पास देता हूं, वे इसको बुढापेतक उत्तम कल्याणके मार्गसे ले चलें।' ये सप्त ऋषि सप्त ज्ञानेन्द्रियां-पंच ज्ञानेन्द्रियां और मन तथा बुद्धि हैं, इनके विषयमें पूर्व स्थलमें कईवार लिखा जा चुका है। जब प्राण और अपान उत्तम अवस्थामें रहते हैं तब ये सातों इंद्रियां उत्तम अवस्थामें रहती हैं और मनुष्य दीर्घ जीवन प्राप्त करता है। ये प्राणापान शरीरमें बलवान् रहने चाहिये। इनका बल कैसा होना चाहिये इस विषयमें निम्नमंत्र देखिये—

अनड्वाही व्रजं इव प्राणापानौ प्रविशतम् (मं. ५)

'जैसे बैल गोशालामें वेगसे प्रवेश करते हैं, वैसे प्राण प्राण और अपान वेगसे शरीरमें प्रवेश करें। प्राणका अन्दर प्रवेश बलसे होवे और अपानका बाहर निःसरण भी वेगके साथ हो। इनमें निर्बलता न रहे यही तात्पर्य यहां है। अवास्तविक वेग उत्पन्न हो यह इसका मतलब नहीं हैं। इस प्रकार ममका वेग योग्य प्रमाणमें रहे तो यह आयुका खजाना वार्धक्यतक ठीक अवस्थामें रहेगा। इस विषयमें मंत्र देखिये—

अयं जरिम्णः शेवधिः इह अरिष्टः वर्धताम् (मं. ५)

'यह दीर्घ आयुका खजाना, न्यून न होता हुआ यहां बढे।' अर्थात् पूर्वोक्त प्रकार प्राणापान अपना अपना कार्य करनेके लिये समर्थ हों तो दीर्घायुका खजाना बढता जाता

है। दीर्घायु प्राप्त करनेका उपाय प्राणापानको बलवान् बनाना ही है। इसी विषयमें और देखिये—

ते प्राणं आसुवामि, ते यक्ष्मं परा सुवामि। (मं. ६)

" प्राणसे तेरा जीवन बढाता हूं, और अपानसे तेरा क्षय दूर करता हूं। " प्राण अपने साथ जीवनकी शक्ति लाता है तथा शरीर जीवनमय करता है और अपान अपने साथ शरीरके क्षयको बाहर निकालता है, जिससे शरीर निर्दोष होता है इस प्रकार ये दोनों शरीरको जीवनपूर्ण और निर्दोष बनाते हुए इसको दीर्घजीवन देते हैं। यही बात निम्नलिखित मंत्रभागमें कही है—

" प्राणसे उत्पन्न होनेवाला श्रेष्ठ अग्नि हमारी आयु सब प्रकारसे धारण करे " यहां प्राणके साथ रहनेवाला जीवनाग्नि अपेक्षित है। प्राणायाम करनेसे विशेष कर भस्त्रा करनेसे शरीरमें अग्नि बढनेका अनुभव तत्काल आता है। इस सूक्तमें कहा अग्नि यही शरीरस्थानकी उष्णता है। यहां बाह्य अग्नि अपेक्षित नहीं है—

अगले सप्तम मन्त्रमें कहा है कि हम अंधकारसे दूर होकर उत्तम प्रकाशमें आवें और सूर्यकी ज्योतिको प्राप्त हों। इस मन्त्रमें जो यह बात कही है, आयुष्य बढानेकी दृष्टीसे इसकी बडी आवश्यकता है। इससे निम्नलिखित बोध मिलता है-

१ वयं तमसः परि उत् रोहन्तः— हम अंधकारके ऊपर चढें। अर्थात् अंधकारके स्थानमें निवास करना आयुको घटानेवाला है, अतः हम अंधकारके स्थानको छोडते हैं और ऊपर चढते हैं और—

२ उत्तमं नाकं रोहन्तः— उत्तम सुखदायक प्रकाशपूर्ण स्थानको प्राप्त करते हैं, क्योंकि प्रकाश ही जीवन देनेवाला और रोगादि दोषोंको दूर करनेवाला है, इसलिये—

३ देवत्रा देवं उत्तमं ज्योतिः सूर्यं अगन्म— सब देवोंके रक्षक उत्तम तेजस्वी सूर्यदेवको प्राप्त करते हैं। सूर्य ही सब स्थावर जंगमके द्वारा प्राप्य है अतः प्राणरूपी सूर्यको प्राप्त करनेके कारण हम अवश्य दीर्घजीवी बनें।

दीर्घायु प्राप्त करनेकी इच्छा करनेवाले लोग सूर्य प्रकाशवाले घरमें रहें और कभी अंधेरे कमरोंमें न रहें। इस प्रकार दीर्घायु बननेके दो उपाय इस सूक्तमें कहे हैं। एक प्राण और अपानको बलवान् बनाना और सूर्य प्रकाशको प्राप्त करना और अंधेरे कमरोंमें न रहना।

ज्ञान और कर्म

[५४ (५६, ५७-१)]

(ऋषिः- भृगुः। देवता- इन्द्रः।)

ऋचं साम॑ यजामहे॒ याभ्यां॒ कर्मा॑णि कु॒र्वते॑।
ए॒ते सद॑सि राजतो य॒ज्ञं दे॒वेषु॑ यच्छतः ॥ १ ॥

अर्थ— (याभ्यां कर्माणि कुर्वते) जिनके द्वारा कर्म करते हैं उन (ऋचं साम यजामहे) ऋचाओं और सामोंसे हम संगतिकरण करते हैं। (एते सदसि राजतः) ये दोनों इस यज्ञस्थलमें प्रकाशमान् होते हैं। और ये (देवेषु यज्ञं यच्छतः) देवोंमें श्रेष्ठ कर्मका अर्पण करते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ— ऋचा और साम इन मन्त्रोंसे मानवी व्यक्तिके सब कर्म होते हैं, इसलिये हम इन वेदोंका अध्ययन करते हैं। ये ही वेद इस जगत्की कर्म भूमिमें प्रकाश देनेवाले मार्गदर्शक हैं। क्योंकि ये ही देवोंमें सत्कर्मकी स्थापना करते हैं ॥ १ ॥

ऋचं साम यदप्राक्षं हविरोजो यजुर्बलम् ।
एष मा तस्मान्मा हिंसीद्वेदः पृष्टः शचीपते ॥ २ ॥

अर्थ— (यत् ऋचं साम, यजुः) जिन ऋचा, साम और यजु तथा (हविः ओजः बलं अप्राक्षं) हवन, ओज और बलके विषयमें मैंने पूछा, हे (शचीपते) बुद्धिमान् ! (तस्मात् एषः पृष्टः वेदः) उस कारण यह पूछा हुआ वेद (मा मा हिंसीत्) मेरी हिंसा न करे ॥ २ ॥

भावार्थ— मैं गुरुसे ऋचा, साम और यजुके विषयमें पूछता हूं, और हवनकी विधि, शारीरिक बल कमानेका उपाय और मानसिक बल प्राप्त करनेका उपाय भी पूछता हूं । यह सब प्राप्त किया हुआ ज्ञान मेरी उन्नतिका सहायक होवे और बाधक न बने ॥ १ ॥

इस सूक्तमें कहा है कि ऋचा, यजु और साम ये ज्ञान देनेवाले मंत्र हैं और इनसे श्रेष्ठतम कर्म किया जाता है । इन कर्मोंको करके मनुष्य उन्नतिको प्राप्त करता है और ओज तथा बलको बढाता है । उक्त मन्त्रोंसे मनुष्य ज्ञान प्राप्त करता है और उस ज्ञानसे कर्म करके उन्नत होता है । परन्तु किसी किसी समय मनुष्य मोहवश होकर ज्ञानका दुरुपयोग भी करता है और अपना नाश कर लेता है । उदाहरणार्थ कोई मनुष्य बल प्राप्तिके उपायका ज्ञान प्राप्त करता है और उसका अनुष्ठान करके बहुत बल कमाता है । शरीरमें बल बढनेसे वह घमण्डी हो जाता है और वही मनुष्य निर्बलोंको सताने लगाता है और गिरता है । अतः इस सूक्तमें अन्तिम मन्त्रमें प्रार्थना की है कि वह प्राप्त हुआ ज्ञान हमारा घात न करे । ज्ञान एक शक्ति है जो उपयोग कर्ताके भले बुरे प्रयोगके अनुसार भला बुरा परिणाम करनेवाली होती है । इसीलिये परमेश्वरसे प्रार्थना की जाती है कि वह हमारी सत्प्रवृत्ति रखे और हमें घातपातके मार्गमें जाने ही न दें ।

प्रकाशका मार्ग

[५५ (५७-२)]

(ऋषिः— भृगुः । देवता— इन्द्रः ।)

ये ते पन्थानोऽव दिवो येभिर्विश्वमैरयः । तेभिः सुम्नया धेहि नो वसो ॥ १ ॥

अर्थ— हे (वसो) सबके निवासक प्रभो ! (ये ते दिवः पन्थानः) जो तेरे प्रकाशके मार्ग हैं, (येभिः विश्वं अव ऐरयः) जिनसे तू सब जगत्को चलाता है, (तेभिः नः सुम्नया धेहि) उनके साथ हम सबको सुखसे युक्त कर ॥ १ ॥

भावार्थ— हे प्रभो ! जो तेरे प्रकाशके मार्ग हैं और जिनसे तू सब जगत्को चलाता है, उनसे हमें सुखके मार्गसे ले चल और हमें सुख दे ॥ १ ॥

मार्ग दो हैं । एक प्रकाशका और दूसरा अन्धेरेका । ईश्वर प्रकाशका मार्ग सबको बताता है और सबको सुखी करता है । परन्तु जो इस प्रभुको छोडकर अन्धेरेके मार्गसे जाते हैं वे दुःख भोगते हैं । इसीलिये इस प्रभुकी ही प्रार्थना करना चाहिये कि वह अपना प्रकाशका मार्ग हमें दर्शावे और हमें ठीक मार्गसे ले चले ।

विषचिकित्सा

[५६ (५८)]

(ऋषिः- अथर्वा । देवता- वृश्चिकादयः, २ वनस्पतिः, ४ ब्रह्मणस्पतिः ।)

तिरश्चिराजेरसितात्पृदाकोः परि संभृतम् ।
तत्कङ्कपर्वणो विषमियं वीरुदनीनशत् ॥ १ ॥

इयं वीरुन्मधुजाता मधुश्चुन्मधुला मधूः ।
सा विह्रुतस्य भेषज्यथो मशकजम्भनी ॥ २ ॥

यतो दष्टं यतो धीतं ततस्ते निर्ह्वयामसि ।
अर्भस्य तृप्रदंशिनो मशकस्यारसं विषम् ॥ ३ ॥

अयं यो वक्रो विपरुर्व्यङ्गो मुखानि वक्रा वृजिना कृणोषि ।
तानि त्वं ब्रह्मणस्पत इषीकामिव सं नमः ॥ ४ ॥

अर्थ— (तिरश्चि-राजेः असितात्) तिरछी रेखावाले, काले (पृदाकोः कंकपर्वणः) नाग और कौवे जैसे पर्व-वाले सांपसे (संभृतं तत् विषं) इकट्ठे हुए उस विषको (इयं वीरुत् परि अनीनशत्) यह वनस्पति नष्ट करती है ॥ १ ॥

(इयं वीरुत् मधु-जाता मधुला) यह वनस्पति मधुरताके साथ उत्पन्न हुई मधुरता देनेवाली (मधुश्चुत् मधूः) मधुरताको चुआनेवाली और स्वयं भी मधुर है । (सा विह्रुतस्य भेषजी) वह कुटिल सांपके विषकी औषधि है और वह (मशक-जम्भनी) मच्छरोंका नाश करनेवाली है ॥ २ ॥

(यतः दष्टं) जहां काटा गया है, (यतः धीतं) जहांसे खून पिया गया है, (ततः) वहांसे (तृप्रदंशिनः अर्भस्य मशकस्य) तीक्ष्णतासे काटनेवाले छोटे मच्छरके (अरसं विषं निः ह्वयामसि) रसहीन विषको हम हटा देते हैं ॥ ३ ॥

हे (ब्रह्मणस्पते) ज्ञानके स्वामिन् ! (यः अयं वक्रः वि-परुः) जो यह टेढा और संधिपथानमें शिथिल और (व्यंगः) कुरूप अंगवाला हो गया है और जो (मुखानि वक्रा वृजिना कृणोषि) मुख टेढे मेढे और विरूप बनाता है, (तानि त्वं इषिकां इव सं नमः) उनको तू मुंजके समान सीधा कर ॥ ४ ॥

भावार्थ— जिसपर तिरछी लकीरें होती हैं और जिसके पर्व होते हैं ऐसे सांपके विषको मधु नामक वनस्पति दूर करती है ॥ १ ॥

यह वनस्पति मीठे रसवाली है, मिठासके लिये प्रसिद्ध है, इसका नाम मधु है। यह विषबाधासे टेढेमेढे हुए हुए अंगवाले रोगीके लिए उत्तम औषधी है । इससे मच्छर भी दूर होते हैं ॥ २ ॥

जहां काटा है और जहांसे रक्त पीया है, वहांसे मच्छर आदिके विषको उक्त औषधिके प्रयोगसे हटा देते हैं ॥ ३ ॥

विषबाधासे जो रोगी टेढा मेढा, विरूप अंगवाला, ढीले संधियोंवाला हो गया है और जो अपने मुख टेढे मेढे करता है, उस रोगीको इस औषधीद्वारा ठीक किया जा सकता है ॥ ४ ॥

अरसस्य शर्कोटस्य नीचीनस्योपसर्पतः ।
विषं ह्यस्यादिष्यथो एनमजीजभम् ॥ ५ ॥
न ते बाह्वोर्बलमस्ति न शीर्षे नोत मध्यतः ।
अथ किं पापयामुया पुच्छे बिभर्ष्यर्भकम् ॥ ६ ॥
अदन्ति त्वा पिपीलिका वि वृश्चन्ति मयूर्यः ।
सर्वे भल ब्रवाथ शार्कोटमरसं विषम् ॥ ७ ॥
य उभाभ्यां प्रहरसि पुच्छेन चास्येन च ।
आस्ये न ते विषं किमु ते पुच्छधावसत् ॥ ८ ॥

अर्थ— (अरसस्य नीचीनस्य उपसर्पतः) नीरस और नीचेसे आनेवाले (अस्य शार्कोटस्य विषं) इस बिच्छू या सर्पके विषको (आ अदिषि) नष्ट करता हूं, (यथो एनं अजीजभं) और इसको मार डालता हूं ॥ ५ ॥

हे बिच्छू ! (ते बाह्वोः बलं न अस्ति) तेरी बाहुओंमें बल नहीं है। (न शीर्षे उत न मध्यतः) न सिरमें और ना ही मध्य भागमें ही बल है। (अथ किं अमुया पापया) फिर क्यों इस पापवृत्तिसे (पुच्छे अर्भकं बिभर्षि) पुच्छमें थोडासा विष धारण करता है ? ॥ ६ ॥

(पिपीलिकाः त्वा अदन्ति) चींटियां तुझे खाती हैं, (मयूर्यः विवृश्चन्ति) मोरनियां काट डालती हैं। (सर्वे भल ब्रवाथ) सब भलीप्रकार कहते हैं कि (शार्कोटं विषं अरसं) बिच्छुका विष सुस्ती करनेवाला है ॥ ७ ॥

(यः पुच्छेन च आस्येन च उभाभ्यां) जो तू पूंछ और मुख इन दोनोंसे (प्रहरसि) प्रहार करता है, परंतु (ते आस्ये विषं न) तेरे मुखमें विष नहीं है, (किं उ पुच्छधौ असत्) फिर पूंछमें ही क्यों है ? ॥ ८ ॥

भावार्थ— नीचेसे आनेवाले, सुस्ती पैदा करनेवाले सांपके या बिच्छूके विषको हम इससे दूर करते हैं और उनको हम मार भी देते हैं ॥ ५ ॥

बिच्छूका बल बाहुओंमें, सिरमें अथवा मध्यभागमें नहीं है। केवल पूंछके अग्रभागमें उसका विष रहता है ॥ ६ ॥

चींटियां, मोरनियां या मुर्गियां उसको (बिच्छू और सांपको भी) खा जाती हैं। इनका विष शुष्कता उत्पन्न करनेवाला है किंवा इस वनस्पतिसे यह निर्बल हो जाता है ॥ ७ ॥

बिच्छू पूंछसे प्रहार करता है, मुखसे भी थोडा बहुत काटता है। परन्तु इसके मुखमें विष नहीं है केवल पूंछमें है ॥ ८ ॥

इसमें सर्पविष अथवा बिच्छूका विष दूर करनेके लिये मधुनामक औषधिका उपयोग करनेको कहा है। यह शर्तिया औषध है। परंतु यह कौनसी वनस्पति है इसका पता नहीं चलता। विषबाधासे शरीरपर जो परिणाम होता है, उसका वर्णन चतुर्थ मंत्रमें है। भयंकर सर्पविषसे मनुष्य ऐसा कुरूप और टेढामेढा हो जाता है। इस सूक्तमें कहा हुआ अन्य भाग सुबोध है। इसलिये उस विषयमें अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं है।

मनुष्यकी शक्तियां

[५७ (५९)]

(ऋषिः— वामदेवः । देवता— सरस्वती ।)

यदाशसा वदतो मे विचुक्षुभे यद्याचमानस्य चरतो जनाँ अनु ।
यदात्मनि तन्वो मे विरिष्टं सरस्वती तदा पृणद्घृतेन ॥ १ ॥
सप्त क्षरन्ति शिशवे मरुत्वते पित्रे पुत्रासो अप्यवीवृतन्नृतानि ।
उभे इदस्योभे अस्य राजत उभे यतेते उभे अस्य पुष्यतः ॥ २ ॥

अर्थ— (यत् आशसा वदतः ये विचुक्षुभे) जो हिंसासे बोलनेके कारण मेरा मन क्षोभित हो गया है, (यत् जनान् अनुचरतः याचमानस्य) जो लोगोंकी सेवा करते हुए याचना करनेवाली व्याकुलता है, (यत् आत्मनि मे तन्वः विरिष्टं) तथा अपनी आत्मामें और शरीरमें जो हीनता पैदा हो गई है, (तत् सरस्वती घृतेन आ पृणत्) उसको सरस्वती घृतसे भर देवे ॥ १ ॥

जिस प्रकार (पित्रे पुत्रासः ऋतानि अपि अवीवृतन्) पिताके लिये पुत्र सत्य कर्मोंको करते हैं। उसी प्रकार (मरुत्वते शिशवे सप्त क्षरन्ति) प्राणवाले बालकके लिये सात प्राण अथवा सात इन्द्रियशक्तियां जीवनरस देती हैं। (अस्य उभे इत्) इसके पास दो शक्तियां हैं, (अस्य उभे राजतः) इसकी दोनों शक्तियां प्रकाशित होती हैं, (उभे यतेते) दोनों प्रयत्न करती हैं और (उभे अस्य पुष्यतः) दोनों इसका पोषण करती हैं ॥ २ ॥

भावार्थ— वक्तृत्व करनेके समय अथवा जनसेवा करनेके समय किंवा सेवाके लिये प्रार्थना करनेके समय तथा करनेके योग्य हलचलमें जो भी शरीरमें अथवा मनमें या आत्मामें दुःख हुआ हो वह सरस्वती दूर करे ॥ १ ॥

चैतन्यपूर्ण बालकमें सात दैवी शक्तियां कार्य करती हैं। ये शक्तियां उसके लिए ऐसे कार्य करती हैं कि जैसे बालक अपने पिताका कार्य करते हैं। उसके पास दो शक्तियां होती हैं जो तेज बढाती, कार्य कराती और पोषण करती हैं ॥ २ ॥

जनसेवा ।

जनसेवा करनेके समय जो कष्ट होते हैं (जनान् अनुचरतः यद् विचुक्षुभे । मं. १) जनताकी सेवा करनेके समय जो क्षोभ होता है, जो मानसिक क्लेश होते हैं अथवा जो शारीरिक क्लेश भोगने पडते हैं, वे सरस्वती अर्थात् विद्या देवीकी सहायतासे दूर हों। अर्थात् मनुष्यको जनताकी सेवा करनी चाहिये और उस पवित्र कार्यके करनेके समय जो कष्ट हों, उनको आनंदसे सहना चाहिये । विद्याके उत्तम प्रकार प्राप्त होनेके पश्चात् यह सहन शक्ति प्राप्त होती है । ज्ञानी मनुष्य ऐसे कष्टोंकी परवाह नहीं करता ।

मानवी बालकके तथा बडे मनुष्यके शरीरमें सात शक्तियां रहती हैं । बुद्धि, मन और पांच ज्ञानेंद्रियां, ये सात शक्तियां हैं, जो हरएक मानवी बालकमें जन्मसे रहती हैं । मानो ये सातों इसके पुत्र ही हैं । जिस प्रकार पुत्र अपने पिताके कार्य सद्भावनासे करते हैं और कोई कपट नहीं करते, उसी प्रकार ये शक्तियां इसके कार्य अपनी शक्तिके अनुसार निष्कपट भावसे करती हैं ।

इसके पास प्राण और अपान ये दो और विशेष प्रकारके बल हैं, इन दोनों बलोंसे इसका तेज बढता है, इन दोनोंके कारण यह प्रयत्न कर सकता है और इन दोनोंकी सहायतासे इसकी पुष्टि होती है ।

इन सब शक्तियोंसे मनुष्यकी उन्नति होती है। इनके साथ सारस्वती अर्थात् सारवाली विद्यादेवी है जो मनुष्यकी सहायक देवता है। मानवी उन्नति इनसे होती है यह जानकर मनुष्य इन शक्तियोंकी रक्षा और वृद्धि करे और अपनी उन्नति अपने प्रयत्नसे सिद्ध करे ।

बलदायी अन्न

[५८ (६०)]

(ऋषिः- कौरुपथिः । देवता- मन्त्रोक्ता इन्द्रावरुणौ ।)

इन्द्रावरुणा सुतपाविमं सुतं सोमं पिबतं मद्यं धृतव्रतौ ।
युवो रथो अध्वरो देववीतये प्रति स्वसरमुप यातु पीतये ॥ १ ॥
इन्द्रावरुणा मधुमत्तमस्य वृष्णः सोमस्य वृषणा वृषेथाम् ।
इदं वामन्धः परिषिक्तमासद्यास्मिन्बर्हिषि मादयेथाम् ॥ २ ॥

अर्थ— हे (सुतपौ धृतव्रतौ इन्द्रावरुणा) उत्तम तप करनेवाले, नियमके अनुसार चलनेवाले इन्द्र और वरुणो! (इमं सुतं मद्यं सोमं पिबतं) इस निचोडे हुए आनंद बढानेवाले सोमरसका पान करो। (युवोः अध्वरः रथः) तुम दोनोंका अहिंसायुक्त रथ (देववीतये, पीतये प्रतिस्वसरं उपयातु) देवप्राप्ति और रक्षा करनेके लिये प्रतिध्वनि करता हुआ आवे ॥ १ ॥

हे (वृषणा इन्द्रावरुणा) बलवान् इन्द्र और वरुण ! (मधुमत्तमस्य वृष्णः सोमस्य वृषेथां) अत्यन्त मधुर बलकारी सोमरसकी वर्षा करो अथवा इससे बल प्राप्त करो । (वां अन्धः परिषिक्तं इदं) तुम दोनोंका यह अन्न पवित्र करके रखा हुआ है । (अस्मिन् बर्हिषि आसद्य मादयेथां) इस आसनपर बैठकर आनन्द करो ॥ २ ॥

बलदायी अन्न

इस सूक्तमें मनुष्य किस प्रकार रहें और क्या खाएं और किस प्रकार आनंद प्राप्त करें इस विषयमें लिखा है—

१ सुतपौ= मनुष्य उत्तम तप करनेवाले हों, शीत उष्ण आदि द्वंद्वोंको सहन करनेकी शक्ति अपने अंदर बढावें ।

२ धृतव्रतौ= नियमोंका पालन करें । नियमके विरुद्ध आचरण कदापि न करें। सब अपना आचरण उत्तम नियमानुकूल रखें !

३ वृषणौ= मनुष्य बलवान् बनें, अशक्त न रहें ।

४ इन्द्रावरुणौ= मनुष्य इन्द्रके समान शूरवीर ऐश्वर्यवान, धीर गंभीर, शत्रुओंको दबाने और परास्त करनेवाला बने । वरुणके समान वरिष्ठ और श्रेष्ठ बने । जो जो इन्द्रके और वरुणके गुण वेदमें अन्यत्र वर्णन किये हैं, मनुष्य उन गुणोंको अपने अंदर धारण करें और इन्द्रके समान तथा वरुणके समान बननेका यत्न करें ।

५ अध्वरः रथः= हिंसा रहित, कुटिलतारहित रथ हो । अर्थात् जहां गमन करना हो वहां अहिंसा और अकुटिलताका संदेश स्थापन करनेका यत्न किया जावे ।

६ देववीतये= देवत्वकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न होता रहे । राक्षसत्वसे निवृत्ति होवे और दिव्य गुणोंका धारण हो ।

७ पीतये= रक्षा करनेका प्रयत्न हो । आत्मरक्षा, समाजरक्षा, राष्ट्ररक्षा, जनरक्षाके लिए प्रयत्न होवे ।

८ इदं वां अन्धः= यह तुम्हारा अन्न है । हे मनुष्यो ! यही अन्न तुम खाओ । यह अन्न कौनसा है ? यह अन्न है— (मद्यं सुतं सोमं) हर्ष उत्पन्न करनेवाला सोम आदि औषधि वनस्पतियोंसे संपादित रस आदि है मनुष्यो ! इस (वृष्णः मधुमत्तमस्य सोमस्य वृषेथां) बलवर्धक तथा मधुर सोमादि औषधियोंके रससे तुम सब लोग बलवान् बनो ।

इस प्रकार देवोंका वर्णन अपने जीवनमें ढालनेका प्रयत्न करनेसे वेदका ज्ञान जीवनमें उतरता है और श्रेष्ठ अवस्था मनुष्यको प्राप्त होती है ।

शापका परिणाम

[५९ (६१)]

(ऋषिः- बादरायणिः । देवता- अरिनाशनम् ।)

यो नः शपादशपतः शपतो यश्च नः शपात् ।
वृक्ष इव विद्युता हत आ मूलादनु शुष्यतु ॥ १ ॥

अर्थ— (यः अशपतः नः शपात्) जो शाप न देने पर भी हमें शाप देवे और (यः च शपतः नः शपात्) जो शाप देने पर भी हमें शाप देवे वह (आ मूलात् अनु शुष्यतु) जडसे उसी प्रकार सूख जावे, जैसे (विद्युता आहतः वृक्षः इव) बिजलीसे आहत हुआ वृक्ष सूख जाता है ॥ १ ॥

किसीको शाप देना, गाली देना या बुराभला कहना या निन्दा करना बहुत ही बुरा है । उससे गाली देनेवालेका ही नुकसान होता है ।

रमणीय घर

[६० (६२)]

(ऋषिः- ब्रह्मा । देवता- गृहाः, वास्तोष्पतिः ।)

ऊर्जं बिभ्रद्वसुवनिः सुमेधा अघोरेण चक्षुषा मित्रियेण ।
गृहानैमि सुमना वन्दमानो रमध्वं मा बिभीत मत् ॥ १ ॥
इमे गृहा मयोभुव ऊर्जस्वन्तः पयस्वन्तः ।
पूर्णा वामेन तिष्ठन्तस्ते नो जानन्त्वायतः ॥ २ ॥

अर्थ— (ऊर्जं बिभ्रत् वसुवनिः) अन्नको धारण करनेवाला, धनका दान करनेवाला, (सुमेधाः) उत्तम बुद्धिमान (अघोरेण मित्रियेण चक्षुषा सुमनाः) शान्त और मित्रकी दृष्टि धारण करनेके कारण उत्तम मनवाला होकर तथा (वन्दमानः) सब श्रेष्ठ पुरुषोंको नमन करता हुआ, मैं (गृहान् एमि) अपने घरके पास जाता हूं । यहां तुम (रमध्वं) आनन्दसे रहो, (मत् मा बिभीत) मुझसे मत डरो ॥ १ ॥

(इमे गृहाः) ये हमारे घर (मयो-भुवः ऊर्जस्वन्तः पयस्वन्तः) सुखदायी, बलदायक धान्यसे युक्त, और दूधसे युक्त हैं । ये (वामेण पूर्णाः तिष्ठन्तः) सुखसे परिपूर्ण हैं, (ते नः आयतः जानन्तु) वे हम आनेवाले सबको जानें ॥ २ ॥

भावार्थ— मैं स्वयं उत्तम अन्न, विपुलधन, श्रेष्ठबुद्धि, और मित्रकी दृष्टिको धारण करके उत्तम विचारोंके साथ पूजनीयोंका सत्कार करता हुआ घरमें प्रवेश करता हूं, सब लोग यहां आनन्दसे रहें और किसी प्रकार किसीको भी यहां मुझसे डर उत्पन्न न हो ॥ १ ॥

इन घरोंमें हमें सुख मिले, बल प्राप्त हो, और सब आनन्दसे रहें ॥ २ ॥

येषामध्येति प्रवसन्येषु सौमनसो बहुः ।
गृहानुप ह्वयामहे ते नो जानन्त्वायतः ॥ ३ ॥
उपहूता भूरिधनाः सखायः स्वादुसंमुदः ।
अक्षुध्या अतृष्या स्त गृहा मास्मद्बिभीतन ॥ ४ ॥
उपहूता इह गाव उपहूता अजावयः ।
अथो अन्नस्य कीलाल उपहूतो गृहेषु नः ॥ ५ ॥
सूनृतावन्तः सुभगा इरावन्तो हसामुदाः ।
अतृष्या अक्षुध्या स्त गृहा मास्मद्बिभीतन ॥ ६ ॥
इहैव स्त मानु गात विश्वा रूपाणि पुष्यत ।
ऐष्यामि भद्रेणा सह भूयांसो भवता मया ॥ ७ ॥

अर्थ— (प्रवसन् येषां अध्येति) अन्दर रहता हुआ जिनके विषयमें जानता है, कि (येषु बहुः सौमनसः) जिनमें बहुत सुख है, ऐसे (गृहान् उपह्वयामहे) घरोंके प्रति हम इष्ट मित्रोंको बुलाते हैं; (ते नः आयतः जानन्तु) वे आनेवाले हम सबको जानें ॥ ३ ॥

(भूरिधनाः स्वादुसंमुदः सखायः उपहूताः) बहुत धनवाले, मीठेपनसे आनन्दित होनेवाले अनेक मित्र बुलाये हैं। हे (गृहाः) घरो! तुम (अक्षुध्याः अ-तृष्याः स्त) क्षुधावाले और तृषावाले न होवो, तथा (अस्मत् मा बिभीतन) हमसे मत डरो ॥ ४ ॥

(इह गावः उपहूताः) यहां गौवें बुलाई गई तथा (अज-अवयः उपहूताः) बकरियां और भेडें भी लाई गई। (अथो अन्नस्य कीलालः) और अन्नका सत्वभाग भी (नः गृहेषु उपहूतः) हमारे घरमें लाया गया है ॥ ५ ॥

हे (गृहाः) घरो ! तुम (सूनृता-वन्तः सुभगाः) सत्ययुक्त और उत्तम भाग्यवाले, (इरावन्तः हसा-मुदाः) अन्नवान् और जहां हास्य विनोद चल रहे हैं ऐसे, (अतृष्याः अक्षुध्याः) जहां क्षुधा और तृषाका भय नहीं ऐसे (स्त) हो। (अस्मत् मा बिभीतन) हमसे मत डरो ॥ ६ ॥

(इह एव स्त) यहीं रहो, (मा अनु गात) हमसे दूर मत जाओ, (विश्वा रूपाणि पुष्यत) विविधरूपवाले प्राणियोंको पुष्ट करो, (भद्रेण सह आ एष्यामि) कल्याणके साथ मैं तुम्हें प्राप्त होता हूं। (मया भूयांसः भवत) मेरे साथ बहुत हो जाओ ॥ ७ ॥

भावार्थ— इन घरोंमें रहकर हमें सुखका अनुभव हो, हम यहां इष्टमित्रोंको बुलावें और सब आनन्दसे रहें ॥ ३ ॥

बहुत धनी, आनन्दवृत्तिवाले बहुतमित्र घरमें बुलाये गए हैं, उनको यहां जितना चाहे उतना खानपान प्राप्त हो, यहां सबकी विपुलता रहे और कोई भूखा प्यासा न रहे ॥ ४ ॥

हमारे घरमें गौवें, बकरियां और भेडें रहें, सब प्रकारका सत्ववाला अन्न रहे, किसी प्रकार न्यूनता न रहे ॥ ५ ॥

घर घरमें सत्य, भाग्य, अन्न, आनन्द, हास्य और खान और पानकी विपुलता रहे ॥ ६ ॥

घर सुदृढ हों, अस्थिर न हों, घरमें सबका उत्तम पोषण होता रहे। कल्याण और सुख सबको प्राप्त हो और हमारी वृद्धि होती रहे ॥ ७ ॥

रमणीय घर कैसा होना चाहिये, यह विषय इस सूक्तमें सुबोध रीतिसे कहा गया है। घरमें प्रेम रहे, द्वेष न रहे, सब लोग आनन्दसे रहें, परस्पर भीति न हो, यहां धनधान्यकी सुख समृद्धि हो, गोरस विपुल, हो किसी प्रकार सुखभोगकी न्यूनता न हो। इष्टमित्र आवें, आनन्द करें, कोई कभी भूखा न रहे, अन्नपान सत्ववाला हो, हरएक हृष्टपुष्ट हो, कोई किसी कारण पीडित न हो। इस प्रकारके घर होने चाहिये। यही गृहस्थाश्रम है।

तपसे मेधाकी प्राप्ति

[६१ (६३)]

(ऋषिः- अथर्वा । देवता- अग्निः ।)

यदग्ने तपसा तप उपतप्यामहे तपः ।
प्रियाः श्रुतस्य भूयास्मायुष्मन्तः सुमेधसः ॥ १ ॥
अग्ने तपस्तप्यामह उप तप्यामहे तपः ।
श्रुतानि शृण्वन्तो वयमायुष्मन्तः सुमेधसः ॥ २ ॥

अर्थ— हे (अग्ने) अग्ने ! (तपसा यत् तपः) तपसे जो तप किया जाता है। उस (तपः उप तप्यामहे) तपको हम करते हैं। उससे हम (श्रुतस्य प्रियाः) ज्ञानके प्रिय (आयुष्मन्तः सुमेधसः भूयास्म) दीर्घायुषी और उत्तम बुद्धिमान हों ॥ १ ॥

हे (अग्ने) अग्ने ! (तपः तप्यामहे) हम तप करते हैं और (तपः उपतप्यामहे) तप विशेष रीतिसे करते हैं। (वयं श्रुतानि शृण्वन्तः) हम ज्ञानोपदेश श्रवण करते हुए (आयुष्मन्तः सुमेधसः) दीर्घायुषी और उत्तम बुद्धिमान् हों ॥ २ ॥

भावार्थ— हम तप करके ज्ञान प्राप्त करें और दीर्घायु, बुद्धिमान् और ज्ञानको चाहनेवाले बनें ॥ १-२ ॥

तप करनेसे यह सिद्धि प्राप्त होती है यह सूक्तका आशय है, अतः जो दीर्घायु और बुद्धिमान् बनना चाहते हैं वे तप करें।

शूरवीर

[६२ (६४)]

(ऋषिः- मरीचिः, काश्यपः । देवता- अग्निः ।)

अयमग्निः सत्पतिर्वृद्धवृष्णो रथीव पत्तीनजयत्पुरोहितः ।
नाभा पृथिव्यां निहितो दविद्युतदधस्पदं कृणुतां ये पृतन्यवः ॥ १ ॥

अर्थ— (अयं अग्निः) यह अग्निके समान तेजस्वी पुरुष (सत्पतिः वृद्ध वृष्णः) सज्जनोंका पालक, महाबलवान्, (पुरः-हितः) सबका अग्रणी (रथी इव पत्तीन् अजयत्) महारथी जिस प्रकार पैदल सैनिकोंको जीतता है, वैसे जीतता है। (पृथिव्यां नाभा निहितः) भूमिपर केन्द्रमें रखा है, (दविद्युतत्) वह प्रकाशता है, वह (ये पृतन्यवः अधस्पदं कृणुतां) जो सेना लेकर चढाई करते हैं उनको पांवके नीचे करे ॥ १ ॥

भावार्थ— यह तेजस्वी पुरुष सज्जनोंका पालन करे, बलवान् बने, अग्रोंका अग्रणी बने, शत्रुसेनाका पराभव करे, महारथी होवे, पृथ्वीके केन्द्र स्थानपर आरूढ होवे, तेजसे प्रकाशित होवे और सैन्य लेकर चढाई करनेवालोंको पांवके नीचे दबा देवे ॥ १ ॥

मनुष्य इसप्रकार अपने गुण कर्म प्रकाशित करे और अपने राष्ट्रके केन्द्रमें विराजमान रहे।

बचानेवाला देव

[६३ (६५)]

(ऋषिः— मरीचिः, काश्यपः । देवता— जातवेदाः ।)

पृतनाजितं सहमानमग्निमुक्थैर्हवामहे परमात्सधस्थात् ।
स नः पर्षदति दुर्गाणि विश्वा क्षामद्देवोऽति दुरितान्यग्निः ॥ १ ॥

अर्थ— (पृतनाजितं सहमानं अग्निं) शत्रुसेनाका पराजय करनेवाले सामर्थ्यवान् तेजस्वी देवको हम (उक्थैः परमात् सधस्थात् हवामहे) स्तोत्रोंसे उत्कृष्ट स्थानसे बुलाते हैं। (सः नः विश्वा दुर्गाणि अति पर्षत्) वह हमें सब दुःखोंसे पार ले जावे। और (वह अग्निः देवः) तेजस्वी देव (दुरितानि अति क्षामत्) दुरवस्थाओंका नाश करे ॥ १ ॥

भावार्थ— शत्रुका पराभव करनेवाला और शत्रुके आक्रमणोंको सहनेवाला तेजस्वी प्रभु है, उसका हम गुणगान करते हैं और उसको अपने श्रेष्ठ स्थानसे यहां अपने पास बुलाते हैं। वह निःसन्देह हमें कष्टोंसे बचावेगा और कठिनताओंसे पार करेगा ॥ १ ॥

इस प्रभुकी स्तुति, प्रार्थना, उपासना हरएक मनुष्य करे और उसके ये गुण अपनेमें बढावे। अर्थात् उपासक भी शत्रुसैन्यका पराभव करे, शत्रुके हमलेको सहे अर्थात पीछे न भागे, दूसरोंको कष्टोंसे बचावे और दुरवस्थामें उनका सहायक बने।

पापसे बचाव

[६४ (६६)]

(ऋषिः— यमः । देवता— मन्त्रोक्ता, निर्ऋतिः ।)

इदं यत्कृष्णः शकुनिरभिनिष्पतन्नपीपतत् ।
आपो मा तस्मात्सर्वस्माद्दुरितात्पान्त्वंहसः ॥ १ ॥
इदं यत्कृष्णः शकुनिरवामृक्षन्निर्ऋते ते मुखेन ।
अग्निर्मा तस्मादेनसो गार्हपत्यः प्र मुञ्चतु ॥ २ ॥

अर्थ— (इदं यः कृष्णः शकुनिः) यह जो काला शकुनी पक्षी (अभि निष्पतन् अपीपतत्) झुकता हुआ गिरता है। (तस्मात् सर्वस्मात् दुरितात् अंहसः) उस सब गिरावटके पापसे (आपः मा पान्तु) जल मेरी रक्षा करें ॥ १ ॥

हे (निर्ऋते) दुर्गति ! (इदं यः कृष्ण शकुनिः) यह जो काला शकुनी पक्षी (ते मुखेन अवामृक्षत्) तेरे मुखके पास आकर गिरता है (गार्हपत्यः अग्नि) गार्हपत्य अग्नि (तस्मात् एनसः) उस पापसे (मा प्रमुञ्चतु) मुझे छुडावे ॥ २ ॥

इन दोनों मन्त्रोंके प्रथम चरण दुर्बोध हैं। दूसरे चरणोंमें बताया है कि जल और अग्नि दोषमुक्त करके पापसे बचाते हैं। पहिले चरणोंसे प्रतीत होता है कि शकुनिपक्षीका गिरना या उडना अशुभ या शुभका सूचक है। परन्तु ये मन्त्र खोजके योग्य हैं।

अपामार्ग औषधि

[६५ (६७)]

(ऋषिः- शुक्रः । देवता- अपामार्गवीरुत् ।)

प्रतीचीनंफलो हि त्वमपामार्ग रुरोहिथ ।
सर्वान्मच्छपथाँ अधि वरीयो यावया इतः ॥ १ ॥

यद्दुंष्कृतं यच्छमलं यद्वा चेरिम पापया ।
त्वया तद्विश्वतोमुखापामार्गापं मृज्महे ॥ २ ॥

श्यावदंता कुनखिना बण्डेन यत्सहासिम ।
अपामार्ग त्वया वयं सर्वं तदपं मृज्महे ॥ ३ ॥

अर्थ— हे (अपामार्ग) अपामार्ग औषधी ! (त्वं प्रतीचीनफलः हि रुरोहिथ) तू उलटे मोडे हुए फलवाली होकर उगती है। अतः (मत् सर्वान् शपथान्) मुझसे सब शापोंको (इतः वरीयः अधियावय) यहांसे दूर हटा दे ॥१॥

(यत् दुष्कृतं) जो पाप, (यत् शमलं) जो दोष या कलंक मैंने किया हो अथवा (यत् वा पापया चेरिम) जो पापीके साथ व्यवहार किया हो, हे (विश्वतो-मुख अपामार्ग) सर्वतोमुख अपामार्ग ! (त्वया तत् अप मृज्महे) तेरी सहायतासे उसको हम दूर करते हैं ॥ २ ॥

(यत् श्यावदता) काले दांतवाले (कुनखिना) जो बुरे नाखूनोंवाले (बण्डेन सह आसिम) विरूपके साथ हम बैठते हैं, हे अपामार्ग ! (तत् सर्वं वयं त्वया अपमृज्महे) वह सब दोष हम तेरी सहायतासे हटा देते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ— अपामार्ग औषधिके फल उलटी दिशासे बढते हैं, इसलिये इस वनस्पतिसे उलटे आचरणके सब दोष हटाये जाते हैं । दुराचार, पाप, दोष, पापीका सहवास, दन्तदोष, बुरे नाखून तथा रूपदोषीका सहवास, ये स्वयं आचरित अथवा संगतसे आये दोष अपामार्गके प्रयोगसे दूर होते हैं ॥ १-३ ॥

वैद्योंको इस सूक्तका विशेष विचार करना चाहिये । दन्तदोष अपामार्गका दातुन करनेसे दूर होता है, यह अनुभव है। पाठक भी इसका अनुभव लें, अपामार्ग औषधी दोषनिवारक है तथापि इसका विविध रोगोंपर कैसा उपयोग करना चाहिये, यह विषय अन्वेष्टव्य है । महाराष्ट्रमें विशेषतः ऋषिपञ्चमीके पर्वमें अपामार्गके काष्ठसे ही दन्तधावन करनेकी परिपाटी इस दिन तक चली आयी है । प्रायः इसका पालन इस समय स्त्रियां ही करती हैं। तथापि इस मन्त्रमें दन्तरोगका दूर होना अपामार्ग प्रयोगसे कहा है और यहांकी परिपाटी भी वैसी ही है । अतः इसकी अधिक खोज करना योग्य है ।

ब्रह्म

[६६ (६८)]

(ऋषिः- ब्रह्मा । देवता- ब्रह्म ।)

यद्यन्तरिक्षे यदि वात आस यदि वृक्षेषु यदि वोलपेषु ।
यदश्रवन्पशव उद्यमानं तद्ब्राह्मणं पुनरस्मानुपैतु ॥ १ ॥

अर्थ—(यदि अन्तरिक्षे यदि वाते) यदि अन्तरिक्षमें और यदि वायुमें (यदि वृक्षेषु यदि वा उलपेषु) यदि वृक्षोंमें अथवा यदि घासमें आप देखेंगे तो उसमें जो (आस) सदा रह रहा है, (यत् पशवः अश्रवन्) जो प्राणियोंमें चला है, (तत् उद्यमानं ब्राह्मणं) वह प्रकट होनेवाला ब्रह्म (पुनः अस्मान् उपैति) पुनः हमें प्राप्त होता है ॥ १ ॥

भावार्थ— जो ब्रह्म इस अवकाशमें, वायुमें, वृक्षोंमें, घासमें विराजता है, जो पशुओंमें अर्थात् प्राणियोंमें प्रवाहित होता है अर्थात् जो स्थिर चरमें विद्यमान है, वह सर्वत्र प्रकाशित होनेवाला ब्रह्म हमें प्राप्त होता है ॥ १ ॥

ब्रह्म नाम महान् आत्मतत्त्व जो सर्वत्र स्थिर घरमें व्यापक है, वह सर्वत्र प्रकाशित होता है, जिसकी शक्तिसे संपूर्ण जगत्‌को यह सुंदर रूप मिला है, वह ब्रह्म हम सब मनुष्योंको प्राप्त हो सकता है। अतः उसकी प्राप्तिके लिये मनुष्य प्रयत्न करे।

आत्मा

[६७ (६९)]

(ऋषिः— ब्रह्मा । देवता— आत्मा ।)

पुनर्मैत्विन्द्रियं पुनरात्मा द्रविणं ब्राह्मणं च ।
पुनरग्नयो धिष्ण्या यथास्थाम कल्पयन्तामिहैव ॥ १ ॥

अर्थ— (मा इन्द्रियं पुनः एतु) मुझे इन्द्रियशक्ति पुनः प्राप्त हो। (आत्मा द्रविणं ब्राह्मणं च पुनः) मुझे आत्मा चेतना और ब्रह्म पुनः प्राप्त हो। (धिष्ण्याः अग्नयः यथा-स्थाम) बुद्धि आदि स्थानकी अग्नियां यथायोग्य स्थानमें (इह एव पुनः कल्पयन्तां) यहीं ही समर्थ हों ॥ १ ॥

भावार्थ— सब इन्द्रियकी शक्तियां, ज्ञान, चेतना, आत्मा, बुद्धि, मन आदिकी सब चैतन्यशक्तियां मुझे प्राप्त हों और यहां उन्नत हों ॥ १ ॥

इंद्रियां ज्ञानेन्द्रियां पांच और कर्मेन्द्रियां पांच मिलकर दस हैं, आत्मा नाम जीवका है, द्रविणका अर्थ यहां मनका उत्साह अथवा चैतन्य है, ब्राह्मणका अर्थ ब्रह्म-आत्माकी ज्ञानशक्ति है। धिषणा-धिष्ण्याका अर्थ बुद्धि अथवा अन्तःकरणकी शक्तियां हैं। ये अग्निस्वरूप चेतन हैं। ये सब आत्माकी शक्तियां यहां स्थिर रहें, उन्नत हों और प्रकाशरूप होकर मुझे सहायक हों।

सरस्वती

[६८ (७०, ७१)]

(ऋषिः— शन्तातिः । देवता— सरस्वती ।)

सरस्वति व्रतेषु ते दिव्येषु देवि धामसु ।
जुषस्व हव्यमाहुतं प्रजां देवि ररास्व नः ॥ १ ॥
इदं ते हव्यं घृतवत्सरस्वतीदं पितॄणां हविरास्यं१ यत् ।
इमानि त उदिता शंतमानि तेभिर्वयं मधुमन्तः स्याम ॥ २ ॥
शिवा नः शंतमा भव सुमृडीका सरस्वति । मा ते युयोम संदृशः ॥ ३ ॥

अर्थ— हे (सरस्वति) सरस्वती देवि (ते दिव्येषु धामसु व्रतेषु) तेरे दिव्य धामोंके व्रतोंसे (आहुतं हव्यं जुषस्व) हवन किया हुआ हवन सेवन कर और हे (देवि) देवि ! (नः प्रजां ररास्व) हमें प्रजा दे ॥ १ ॥

हे (सरस्वति) सरस्वति ! (ते इदं घृतवत् हव्यं) तेरा यह घीवाला हवन है। (इदं पितॄणां हविः यत् आस्यं=आद्यं) यह पितरोंका हवि है जो खाने योग्य है। (ते इमानि उदिता शंतमानि) तेरे ये प्रकाशित कल्याणकारी सामर्थ्य हैं, (तेभिः वयं मधुमन्तः स्याम) उनसे हम मीठे बनें ॥ २ ॥

हे (सरस्वति) सरस्वती ! (नः सुमृडीका शिवा शंतमा भव) हमारे लिये स्तुतिकरने योग्य, शुभ और सुखकारी हो, (ते संदृशः मा युयोम) तेरी दृष्टिसे हम कदापि वियुक्त न हों ॥ ३ ॥ [सरस्वतीके उपासकोंका सदा कल्याण होता है।]

*

सुखम्

[६९ (७२)]

(ऋषिः- शंतातिः । देवता- सुखम् ।)

शं नो वातो वातु शं नस्तपतु सूर्यः ।
अहानि शं भवन्तु नः शं रात्री प्रति धीयतां शमुषा नो व्युच्छतु ॥ १ ॥

अर्थ— (नः वातः शं वातु) हमारे लिये वायु सुखकर रीतिसे बहे । (नः सूर्यः शं तपतु) हमारे लिये सूर्य सुखकारी होकर तपे । (नः अहानि शं भवन्तु) हमारे दिन सुखदायक हों । (रात्री शं प्रतिधीयतां) रात्री सुखकारी हो । (उषा नः शं व्युच्छतु) उषःकाल हमें सुख देवे ॥ १ ॥

वायु, सूर्य, दिन, रात और उषा ये तथा अन्य सब पदार्थ हमें सुखदायक हों। हमारी अन्तरिक्ष अवस्था ऐसी रहे कि हमें बाह्य जगत् सदा सुखकारी होवे और कभी दुःखदायी न हो।

शत्रुदमनम्

[७० (७३)]

(ऋषिः- अथर्वा । देवता- श्येनः, देवाः ।)

यत्किं चासौ मनसा यच्च वाचा यज्ञैर्जुहोति हविषा यजुषा ।
तन्मृत्युना निर्ऋतिः संविदाना पुरा सत्यादाहुतिं हन्त्वस्य ॥ १ ॥
यातुधाना निर्ऋतिरादु रक्षस्ते अस्य घ्नन्त्वनृतेन सत्यम् ।
इन्द्रेषिता देवा आज्यमस्य मथ्नन्तु मा तत्सं पादि यदसौ जुहोति ॥ २ ॥
अजिराधिराजौ श्येनौ संपातिनाविव ।
आज्यं पृतन्यतो हतां यो नः कश्चाभ्यघायति ॥ ३ ॥

अर्थ— (असौ यत् किं च मनसा) यह शत्रु जो कुछ भी मनसे और (यत् च वाचा) जो कुछ वाणीसे करता है तथा जो कुछ (यजुषा हविषा यज्ञैः जुहोति) यजु, हवि और यज्ञोंसे हवन करता है । (अस्य तत् संविदाना निर्ऋतिः) इसका वह उद्देश्य जाननेवाली संहारशक्ति (सत्यात् पुरा मृत्युना आहुतिं हन्तु) सत्यकी पूर्णता होनेके पूर्वही मृत्युकी सहायतासे आहुति नष्ट करे ॥ १ ॥

(यातुधानाः रक्षः निर्ऋतिः) यातना देनेवाले, राक्षस और विनाशशक्ति ये सब (आत् उ अस्य सत्यं अनृतेन घ्नन्तु) निश्चयपूर्वक इस दुष्टशत्रुके सत्यका भी अनृतसे घात करें । (इन्द्र-इषिताः देवाः) इन्द्र द्वारा प्रेरित देव (अस्य आज्यं मथ्नन्तु) इस दुष्ट शत्रुके घृतको मथें । और (यत् असौ जुहोति तत् मा संपादि) जिस उद्देश्यसे यह हवन करता है वह सिद्ध न हो ॥ २ ॥

(अजिर अधिराजौ संपातिनौ श्येनौ इव) शीघ्रगामी पक्षीराज बाज जैसे एक दूसरेपर आघात करते हैं, उस प्रकार (यः कः च नः अभि अघायति) जो कोई हमें पापसे कष्ट देता है उस (पृतन्यतः आज्यं हतां) सेनावाले शत्रुकी हवि नष्ट करें ॥ ३ ॥

अपाञ्चौ त उभौ बाहू अपि नह्याम्यास्यम् ।
अग्नेर्देवस्य मन्युना तेन तेऽवधिषं हविः ॥ ४ ॥
अपि नह्यामि ते बाहू अपि नह्याम्यास्यम् ।
अग्नेर्घोरस्य मन्युना तेन तेऽवधिषं हविः ॥ ५ ॥

अर्थ— (ते उभौ बाहू अपाञ्चौ) तुझ शत्रुके दोनों बाहू मैं पीछे मोडकर बांधता हूं तथा (आस्यं अपि नह्यामि) तेरा मुंह भी मैं बांध देता हूं । (अग्नेः देवस्य तेन मन्युना) अग्निदेवके उस क्रोधसे (ते हविः अवधिषं) तेरी हविका मैं नाश करता हूं ॥ ४ ॥

(ते बाहू अपि नह्यामि) तुझ शत्रुके दोनों बाहुओंको बांधता हूं (आस्यं अपि नह्यामि) मुखको भी बांधता हूं । (घोरस्य अग्नेः तेन मन्युना) भयानक अग्निके उस क्रोधसे (ते हविः अवधिषं) तेरी हविका मैं नाश करता हूं ॥५॥

जो शत्रु अपने (पृतन्यतः) सैन्यसे हमें सताता है, और (नः अघायति) हमें पापी युक्तियोंसे विविध कष्ट देता है, उस दुष्ट शत्रुके अन्य सब यज्ञादि प्रयत्न भी सफल न हों । ऐसे दुष्ट शत्रु जो भी सत्य कर्म करते हैं उसका उद्देश्य इतना ही होता है कि उससे उनकी शक्ति बढे और उस शक्तिका उपयोग हमें दबानेकी युक्तियोंमें वे करें । दुष्ट लोग जो कुछ सत्कर्म करते हैं, वह सत्यके प्रेमसे नहीं करते, अपितु अपनी शक्ति बढानेके लिये करते हैं और वे मनमें यही इच्छा धारण करते हैं कि, इस शक्तिसे हम निर्बलोंको लूटें और अपने भोग बढावें । अतः इस सूक्तमें ऐसी प्रार्थना की है कि ऐसे दुष्टोंके सत्कर्म भी सफल न हों और उनकी शक्ति न बढे; दुष्टोंकी शक्ति घटनेसे जगतमें शान्ति रह सकती है ।

प्रभुका ध्यान

[७१ (७४)]

(ऋषिः- अथर्वा । देवता- अग्निः ।)

परि त्वाग्ने पुरं वयं विप्रं सहस्य धीमहि ।
धृषद्वर्णं दिवेदिवे हन्तारं भङ्गुरावतः ॥ १ ॥

अर्थ— हे (सहस्य अग्ने) बलवान् तेजस्वी देव ! (वयं पुरं विप्रं धृषद्वर्णं) हम सब परिपूर्ण, ज्ञानी, शत्रुका धर्षण करनेवाले (भंगुरावतः हन्तारं) विनाशकको मारनेवाले (त्वा दिवे दिवे परि धीमहि) तुझ ईश्वरकी प्रतिदिन सब ओरसे स्तुति गाते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ— परमेश्वर बलवान्, अग्नि समान तेजस्वी, सर्वत्र परिपूर्ण, ज्ञानी, शत्रुका पराजय करनेवाला, घातपात करनेवालेका विनाश करनेवाला है, अतः उसकी सब प्रकारसे स्तुति करनी चाहिए ॥ १ ॥

मनुष्य ईश्वरके गुणगान गावे, उन गुणोंको अपने अंदर धारण करे और ईश्वरके गुणोंको अपनेमें बढावे । मनुष्य इन गुणोंको धारण करे यह बतानेके लिये ही ईश्वरके गुणोंका वर्णन स्थान स्थानपर किया जाता है । यहां अग्नि नामसे ईश्वरका वर्णन है । अग्नि भी उसी प्रभुकी आग्नेयशक्ति लेकर अग्नि गुणसे युक्त बना है । इसी प्रकार अन्यान्य नाम उसी एक प्रभुके लिये प्रयुक्त होते हैं ।

खानपान

[७२ (७५, ७६)]

(ऋषिः- अथर्वा । देवता- इन्द्रः ।)

उत्तिष्ठताव पश्यतेन्द्रस्य भागमृत्वियम् ।
यदि श्रातं जुहोतन यद्यश्रातं ममत्तन ॥ १ ॥

श्रातं हविरो ष्विन्द्र प्र याहि जगाम सूरो अध्वनो वि मध्यम् ।
परि त्वासते निधिभिः सखायः कुलपा न व्राजपतिं चरन्तम् ॥ २ ॥

श्रातं मन्य ऊधनि श्रातमग्नौ सुशृतं मन्ये तदृतं नवीयः ।
माध्यंन्दिनस्य सवनस्य दध्नः पिबेन्द्र वज्रिन्पुरुकृज्जुषाणः ॥ ३ ॥

अर्थ— (उत् तिष्ठत) उठो और (इन्द्रस्य ऋत्वियं भागं अवपश्यत) प्रभुके ऋतुके अनुकूल भागको देखो। (यदि श्रातं) यदि अच्छी तरह पका हुआ हो तो (जुहोतन) स्वीकार करो और (यदि अश्रातं ममत्तन) यदि अच्छी तरह न पका हो तो उसके परिपाक होनेतक आनन्द करो ॥ १ ॥

हे (इन्द्र) प्रभो ! (श्रातं हविः ओ सुप्रयाहि) हवि सिद्ध हो गई है उसके प्रति तू उत्तम प्रकारसे जा, (सूरः अध्वनः मध्यं वि जगाम) सूर्य अपने मार्गके मध्यमें गया है। (सखायः निधिभिः त्वा परि आसते) समान विचारवाले लोग अपने संग्रहोंके साथ तेरे चारों ओर उसी प्रकार बैठते हैं (कुलपाः व्राजपतिं चरन्तं न) जैसे कुल-पालक पुत्र संघपति पिताके विचरते हुए उसके पास आते हैं ॥ २ ॥

(ऊधनि श्रातं मन्ये) गायके स्तनमें पका हुआ दूध है ऐसा मैं मानता हूं। तत्पश्चात् (अग्नौ श्रातं) अग्निपर परिपक्व हुआ है अतः (तत् ऋतं नवीयः सुश्टतं मन्ये) वह सच्चा नवीन दुग्ध उत्तम प्रकारसे परिपक हुआ है ऐसा मैं मानता हूं। हे (पुरुकृत् वज्रिन् इन्द्र) बहुत कर्म करनेवाले वज्रधारी प्रभो ! (जुषाणः) उसका सेवन करता हुआ (माध्यंदिनस्य सवनस्य दध्नः पिब) मध्यंदिन सवनके दहीका पान कर ॥ ३ ॥

भावार्थ— उठो और ईश्वरके द्वारा दिये हुए ऋतुके अनुकूल अन्न भागको देखो। जो परिपक्व हुआ हो उसको लो और यदि कुछ अन्न भाग परिपक्व न हुआ हो, तो उसके परिपाक होने तक आनंदसे रहो ॥ १ ॥

हे प्रभो ! यह अन्नभाग परिपक्व हुआ है, यह सिद्ध है, यहां प्राप्त हो, सूर्य मध्यान्हमें आगया है। सब मित्र अपने अपने संग्रहोंको लिये हुए प्राप्त हुए हैं जैसे पुत्र पिताके पास इकट्ठे होते हैं वैसे ही हम सब तेरे पास इकट्ठे हुए हैं ॥ २ ॥

मैं मानता हूं कि एक तो गायके स्तनोंमें दूध परिपक्व होता है, पश्चात् अग्निपर परिपक्व होता है। नव अन्न इस प्रकार सिद्ध होता है। हे प्रभो! मध्यंदिनके समय इसका सेवन करो और दही पीओ ॥ ३ ॥

खानपान

भोजनका समय

सूर्यके मध्यान्हमें आनेपर भोजन करना चाहिये, यह बात इस सूक्तसे प्रतीत होती है, देखिये—

सूरः अध्वनः मध्यं विजगाम ।
श्रातं हविः सुप्रयाहि । (मं० २)

' सूर्य मार्गके मध्यमें पहुंच चुका है अतः परिपक्व हुए अन्नके प्रति जा । ' यह वाक्य भोजनका समय दोपहरके बारह बजेका या उसके किंचित पश्चात्का है, इस बातको स्पष्ट करता है। हवि नाम अन्नका है। यह अन्न परिपक्व हुआ हो। अन्न एक तो स्वयं (ऊधनि श्रातं) गायके स्तनोंमें परिपक्व होता है, जिसको हम दूध कहते हैं, यह दूध दुहे

आनेके पश्चात् (अग्नौ श्रातं) अग्निपर पकाया जाता है। एक स्वभावतः परिपक्तता होती है पश्चात् अग्निपर परिपक्तता होती है, पश्चात् देवताओंको समर्पित करके भोजन करना होता है। दूध पकनेके पश्चात् उसका दही बनाया जाता है। वह दही (मध्यन्दिनस्य दध्नः पिब) मध्यान्हके भोजनके समय पीना योग्य है। रात्रीके समय, या सवेरे दही पीना उचित नहीं, क्यों कि दही शीतवीर्य होता है इस कारण वह दोपहरके उष्ण समयमें ही पीना योग्य है।

जैसे गायके स्तनमें दूध परिपक्व होता है, उसी प्रकार 'गो' नाम भूमिके अंदर धान्य आदिकी उत्पत्ति होती है। इसको भी परिपक्व दशामें लेना चाहिये, पश्चात् अग्निपर पकाकर या भूनकर उसको सेवन करना चाहिये। यह अन्न दूध हो या अन्य धान्यादि हो, वह (ऋतं नवीयः) सच्चा नया लेना योग्य है। दूध भी ताजा लेना चाहिये और धान्य भी बहुत पुराना लेना योग्य नहीं। अन्न भी पकने पर ही लेना चाहिये अर्थात् दोचार दिनके बासे पदार्थ लेने योग्य नहीं है। भगवद्गीतामें कहा है कि—

यातयामं गतरसं पूतिपर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम्॥
(भ० गी० १७।१०)

"जिस अन्नको तैयार होकर तीन घण्टे व्यतीत हुए हैं, जो नीरस है, जो दुर्गंधयुक्त है, जो उच्छिष्ट है और अपवित्र है वह तामस लोगोंको प्रिय होता है।" अर्थात् अन्नको पकाकर तीन घंटोंके पश्चात् उसका सेवन करना योग्य नहीं पकनेके तीन घंटेतक उसको (ऋतं नवीयः) नया या ताजा कहते हैं, इसी अवस्थामें उसका सेवन करना चाहिए।

परमेश्वर (ऋत्वियं भागं) ऋतुके योग्य अन्न भागको देता है। जिस ऋतुमें जो सेवन करने योग्य होता है वह अन्न, फूल, फल, रस आदि देता है। उसको पक्व अवस्थामें प्राप्त करना चाहिये और पश्चात् उसका सेवन करना चाहिये। यदि कोई फल पका न हो तो उसकी प्रतीक्षा आनंदके साथ करनी चाहिये।

सब परिवारके सखा (सखायः) इष्टमित्र अपनी अपनी थालीमें (निधिभिः) अपने अन्न संग्रहको लें और साथ साथ पंक्तिमें बैठें, सब अपने अन्नभागसे कुछ भाग देवताओंके उद्देश्यसे समर्पित करें। सब इष्टमित्र ऐसा मानें की ईश्वर हम सबके बीचमें है अथवा हम उसके चारों ओर हैं और इस प्रकार जो अन्न भाग मिले उसका आनंदके साथ सेवन करें।

गाय और यज्ञ

[७३ (७७)]

(ऋषिः- अथर्वा। देवता- घर्मः, अश्विनौ।)

समिद्धो अग्निर्वृषणा रथी दिवस्तप्तो घर्मो दुह्यते वामिषे मधु।
वयं हि वां पुरुदमासो अश्विना हवामहे सधमादेषु कारवः ॥ १ ॥

अर्थ— हे (वृषणौ अश्विनौ) दोनों बलवान् अश्विदेवों! (दिवः रथी अग्निः समिद्धः) प्रकाशके रथ जैसे अग्नि प्रदीप्त हुआ है। यह (घर्मः तप्तः) तपी हुई गर्मीही है। यह (वां इषे मधु दुह्यते) आप दोनोंके लिये मधुर रसका दोहन करता है। (वयं पुरु-दमासः कारवः सध-मादेषु वां हवामहे) हम सब बहुत घरवाले और कार्य करनेवाले पुरुष साथ साथ मिलकर आनंद करनेके समय तुम दोनोंको बुलाते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ— हवनकी अग्नि प्रदीप्त हो चुकी है, गौका दोहन किया जाता है और हम सब ऋत्विज देवताओंको बुलाते हैं ॥ १ ॥

समिद्धो अग्निरश्विना तप्तो वां घर्म आ गतम् ।
दुह्यन्ते नूनं वृषणेह धेनवो दस्रा मदन्ति वेधसः ॥ २ ॥
स्वाहाकृतः शुचिर्देवेषु यज्ञो यो अश्विनोश्चमसो देवपानः ।
तमु विश्वे अमृतासो जुषाणा गन्धर्वस्य प्रत्यास्ना रिहन्ति ॥ ३ ॥
यदुस्रियास्वाहुतं घृतं पयोऽयं स वामश्विना भाग आ गतम् ।
माध्वी धर्तारा विदथस्य सत्पती तप्तं घर्मं पिबतं रोचने दिवः ॥ ४ ॥
तप्तो वां घर्मो नक्षतु स्वहोता प्र वामध्वर्युश्चरतु पयस्वान् ।
मधोर्दुग्धस्याश्विना तनाया वीतं पातं पयस उस्रियायाः ॥ ५ ॥
उप द्रव पयसा गोधुगोषमा घर्मे सिञ्च पय उस्रियायाः ।
वि नाकमख्यत्सविता वरेण्योऽनुप्रयाणमुषसो वि राजति ॥ ६ ॥

अर्थ— हे (वृषणौ अश्विनौ) बलवान् अश्विदेवो ! (अग्निः समिद्धः) अग्नि प्रदीप्त हुआ है, (वां घर्मः तप्तः) आपके लिए हि यह दूध तप रहा है। इसलिए (आगतं) आओ। (नूनं इह धेनवः दुह्यन्ते) निश्चयसे यहां गौवें दुही जाति हैं। हे (दस्रौ) दर्शनीय देवो ! (वेधसः मदन्ति) ज्ञानी आनंद करते हैं ॥ २ ॥

(यः अश्विनोः देवपानः चमसः यज्ञः) जो अश्विदेवोंका देव जिससे रसपान करते हैं ऐसा चमसरूपी यज्ञ है यह (देवेषु स्वाहाकृतः शुचिः) देवोंके लिए स्वाहा किया हुआ होनेसे पवित्र है। (विश्वे अमृतासः तं उ जुषाणाः) सब देव उसीका सेवन हैं और (तं उ गन्धर्वस्य आस्ना प्रत्यारिहन्ति) उसीकी गंधर्वके मुखसे पूजा भी करते हैं ॥ ३ ॥

हे (अश्विनौ) अश्विदेवो ! (यत् उस्रियासु आहुतं घृतं पयः) जो गौओंमें रखा हुआ घृतमिश्रित दूध है, (अयं सः वां भागः) यह वह आपका भाग है, तुम दोनों (आगतं) आओ। हे (माध्वी) मधुरतायुक्त (विदथस्य धर्तारौ) यज्ञके धारक, (सत्पती) उत्तम पालको ! (दिवः रोचने तप्तं घर्मं पिबतं) द्युलोकके प्रकाशमें तपा हुआ यह दूध रूपी तेज पीओ ॥ ४ ॥

हे (अश्विनौ) अश्विदेवो ! (सप्तः घर्मः वां नक्षतु) तपा हुआ तेजरूपी यह दूध तुम दोनोंको प्राप्त होवे। (पयस्वान् स्वहोता अध्वर्युः वां प्रचरतु) दूध लिये हुए हवनकर्ता अध्वर्यु तुम दोनोंकी सेवा करे। (तनायाः उस्रियायाः मधोः दुग्धस्य पयसः) हृष्टपुष्ट गौके दुहे हुए मधुर दूधको (वीतं पातं) प्राप्त करो और पीओ ॥ ५ ॥

हे (गोधुक्) गायका दोहन करनेवाले ! (पयसा ओषं उपद्रव) दूधके साथ अतिशीघ्र यहां आ, (उस्रियायाः पयः घर्मे आसिञ्च) गौका दूध कढाईमें रख, और तपा। (वरेण्यः सविता नाकं वि अख्यत्) श्रेष्ठ सविता सुखपूर्ण स्वर्गधामको प्रकाशित करता है और वह (उषसः अनुप्रयाणं विराजति) उषःकालके गमनके पश्चात् विराजता है ॥ ६ ॥

भावार्थ— हे देवो ! अग्नि प्रदीप्त हुई है, दूध तप रहा है, इसलिये यहां आओ, यह गौवें दुही जाती हैं जिससे ज्ञानी आनंदित होते हैं ॥ २ ॥

यह यज्ञ ऐसा है कि जिसमें देवतालोग रसपान करते हैं, और वे इस पवित्र यज्ञका सेवन करते हैं, और सत्कार करते हैं ॥ ३ ॥

गौके दूधमें देवोंका भाग है, इसलिए इस यज्ञमें पधारो। और इस तपे हुए मधुर गोरसको पीओ ॥ ४ ॥

हे देवो ! यह तपा हुआ रस तुम्हें प्राप्त हो। गौके इस मधुर गोरसका पान करो ॥ ५ ॥

हे गौका दोहन करनेवाले ! दूध लेकर यज्ञमें आओ। गायका दूध तपाओ। हवन करो, श्रेष्ठ सविताने यह सुखमय स्वर्ग तुम्हारे लिये खुला किया है ॥ ६ ॥

उप॑ ह्वये सु॒दुघां॑ धे॒नुमे॒तां सु॒हस्तो॑ गो॒धुगु॒त दो॑हदेनाम् ।
श्रेष्ठं॑ स॒वं स॑वि॒ता सा॑विषन्नोऽभी॑द्धो घ॒र्मस्तदु॒ षु प्र वो॑चत् ॥ ७ ॥
हि॒ङ्कृ॒ण्व॒ती व॑सु॒पत्नी॒ वसू॑नां व॒त्सम॒िच्छन्ती॒ मन॑सा॒ न्याग॑न् ।
दु॒हाम॒श्विभ्यां॒ पयो॑ अ॒घ्न्येयं सा व॑र्धतां मह॒ते सौभ॑गाय ॥ ८ ॥
जुष्टो॒ दमू॑ना॒ अति॑थिर्दुरो॒ण इ॒मं नो॑ य॒ज्ञमुप॑ याहि वि॒द्वान् ।
विश्वा॑ अग्ने अभि॒युजो॑ वि॒हत्य॑ शत्रूय॒तामा भ॑रा॒ भोज॑नानि ॥ ९ ॥
अग्ने॒ शर्ध॑ मह॒ते सौभ॑गाय॒ तव॑ द्यु॒म्नान्यु॑त्त॒मानि॑ सन्तु ।
सं जा॑स्प॒त्यं सु॒यम॒मा कृ॑णुष्व शत्रूय॒ताम॒भि ति॑ष्ठा॒ महां॑सि ॥ १० ॥
सू॒य॒व॒साद्भग॑वती॒ हि भू॒या अधा॑ व॒यं भग॑वन्तः स्याम ।
अ॒द्धि तृण॑मघ्न्ये विश्व॒दानीं॒ पिब॑ शु॒द्धमु॑द॒कमा॒चर॑न्ती ॥ ११ ॥

अर्थ— (सुहस्तः एतां सुदुघां धेनुं उपह्वये) उत्तम हाथवाला मैं सुखसे दुहे जाने योग्य इस धेनुको बुलाता हूं। (उत गोधुक् एनां दोहत्) और गायका दोहन करनेवाला इसका दोहन करे। (सविता श्रेष्ठं सवं नः साविषत्) सविता यह श्रेष्ठ अन्न हमें देवे। (अभीद्धः घर्मः तत् उ सु प्रवोचत्) प्रदीप्त तेजरूपी दूध यही बतावे ॥ ७ ॥

(हिंकृण्वती वसूनां वसुपत्नी) रंभानेवाली, ऐश्वर्योंका पालन करनेवाली यह गाय (मनसा वत्सं इच्छन्ती नि आगन्) मनसे बछडेकी कामना करती हुई समीप आई है। (इयं अघ्न्या अश्विभ्यां पयः दुहां) यह गौ दोनों अश्विदेवोंके लिये दूध देवे। और (सा महते सौभागाय वर्धतां) वह बडे सौभाग्यके लिये बढे ॥ ८ ॥

(दमूना अतिथिः दुरोणे जुष्टः) दमन किये हुए मनवाला अतिथि घरमें सेवित होकर यह (विद्वान्) ज्ञानी (नः इमं यज्ञं उपयाहि) हमारे इस यज्ञमें आवे। हे अग्ने! (विश्वा अभियुजः विहत्य) सब शत्रुओंका वध करके (शत्रूयतां भोजनानि आभर) शत्रुता करनेवालोंके अन्न हमारे पास ला ॥ ९ ॥

हे (शर्ध अग्ने) बलवान् अग्ने। (तव उत्तमानि द्युम्नानि महते सौभगाय सन्तु) तेरे उत्तम तेज बडे सौभाग्य बढानेवाले हों। (जास्पत्यं सुयमं सं आकृणुष्व) स्त्रीपुरुष संबंध उत्तम संयमपूर्वक होवे। (शत्रूयतां महांसि अभितिष्ठा) शत्रुता करनेवालोंके बलोंका मुकाबला कर ॥ १० ॥

हे (अघ्न्ये) न मारने योग्य गौ! तू (सु-यवस-अद् भगवती हि भूयाः) उत्तम घास खानेवाली भाग्यशालिनी हो! (अधा वयं भगवन्तः स्याम) और हम भी भाग्यवान् हों। (विश्वदानीं तृणं अद्धि) सदा तृण भक्षण कर और (आचरन्ती शुद्धं उदकं पिब) भ्रमण करती हुई शुद्ध जल पी ॥ ११ ॥

भावार्थ— मैं दूध दोहनेमें कुशल हूं, और गायको दोहनेके लिये बुलाता हूं। दोहनेवाला इसका दोहन करे। सविताने इस श्रेष्ठ रसको दिया है ॥ ७ ॥

रंभाती हुई, मनसे बछडेकी इच्छा करनेवाली गौ यहां आई है। यह अहननीया गौ देवोंके लिये दूध देवे और बडे सौभाग्यकी वृद्धि करे ॥ ८ ॥

यह इन्द्रियसंयमी अतिथि विद्वान् हमारे यज्ञमें आवे। हमारे सब शत्रुओंका नाश करके, शत्रुओंके भोग हमारे पास ले आवे ॥ ९ ॥

हे देव! जो तेरे उत्तम तेज हैं वह हमारा भाग्य बढावे। स्त्रीपुरुषोंके संबंधमें उत्तम नियम रहे, अनियमसे व्यवहार न हो। शत्रुता करनेवालोंका पराभव करो ॥ १० ॥

हे गौ! तू उत्तम घास खा, और भाग्यवान् बन। तेरे कारण हम भी भाग्यशाली बनें। गाय घास खावे और इधर उधर भ्रमण करती हुई शुद्ध पानी पीवे ॥ ११ ॥

गाय और यज्ञ

गोरक्षा

गौकी रक्षा कैसे की जावे इस विषयमें इस सूक्तके आदेश स्मरण रखने योग्य हैं। देखिये-

१ सूयवस-अद् = उत्तम घास खानेवाली, अर्थात् बुरा घास अथवा बुरे जौ न खानेवाली गौ हो। गायके दूधमें उसके द्वारा खाये हुए पदार्थका सत्त्व आता है, इसलिये यदि गाय उत्तम घास खावेगी तो दूध भी नीरोग और पुष्टिकारक होगा। इसलिये यह आदेश स्मरण रखने योग्य है। साधारण अनाडी लोग प्रातःकाल गायको भ्रमणके लिये ले जाते हैं, और उस समय गौको मनुष्यकी शौच-विष्ठा-भी खिलाते हैं! पाठक ही विचार कर सकते हैं कि ऐसे पदार्थ खिलानेसे उत्पन्न हुआ दूध कैसा होगा। विष्ठामें जो बुरे पदार्थ होंगे, जो कृमि होंगे, उन सबका परिणाम उस दूधपर होगा, और वैसा दूध रोगकारक होगा। अतः यह वेदका संदेश गोपालन करनेवाले लोग अवश्य ध्यानमें धारण करें। (मं० ११)

२ शुद्धं उदकं पिबन्ती = शुद्ध जल पीनेवाली गौ हो। अशुद्ध, मलिन, गंदा, दुर्गंधयुक्त जल गौ न पीवे। इसका कारण ऊपर दिया हुआ समझना योग्य है। (मं० ११)

३ आचरन्ती = भ्रमण करनेवाली। गौ इधर उधर अच्छी प्रकार भ्रमण करे। गौ केवल घरमें बंधी नहीं रहनी चाहिये। वह सूर्यप्रकाशमें भ्रमण करनेवाली हो। सूर्यप्रकाशमें घूमनेवाली गौका दूध ही पीने योग्य होता है। (मं० ११)

४ विश्वदानीं तृणं अद्धि = गौ सदा तृण-घास-ही खावे। दूसरे पदार्थ न खावे। जौके खेतमें भ्रमण करे और जौ खावे। इस प्रकारकी गौका दूध उत्तम होता है। (मं० ११)

५ भगवतीः भूयाः = बलवती, प्रेममयी, शुभगुणयुक्त गौ हो। गायपर प्रेम करनेसे वह भी घरवालों पर प्रेम करती है। इस प्रकार प्रेम करनेवाली गौका दूध पीनेसे पीनेवालेका कल्याण होता है। (मं० ११)

ये शब्द गायका पालन कैसे करना चाहिये, इस बातकी सूचना देते हैं।

६ सुदुघा= जो विना आयास दुही जाती है। दोहन करनेके समय जो कष्ट नहीं देती। (मं० ७)

७ सुहस्तः गोधुक् एनां दोहत्= उत्तम हाथवाला मनुष्य ही गौका दोहन करे। अर्थात् दोहन करनेवाला मनुष्य अपने हाथ पहिले स्वच्छ करे, निर्मल करे और गौको दुहे। हाथ फोडे फुन्सीसे रहित हों, वैसे उत्तम हाथसे दोहन करे। इस आदेशका अत्यन्त महत्त्व है। जो दोष ग्वालियोंके हाथपर होगा, वह दोष दूधमें उतरेगा और वह सीधा पीनेवालोंके पेटमें जावेगा। अतः हाथ स्वच्छ रखकर गायका दोहन करना चाहिये (मं० ७)

८ अघ्न्या= गाय अवध्य है, अतः उसको मारना भी नहीं चाहिये। अपनी माताके समान प्रेमसे उसका पालन करना चाहिये (मं० ८)

९ सा महते सौभगाय वर्धतां= ऐसी पाली हुई गौ बड़े सौभाग्यके साथ बढे। हरएक घरमें ऐसी गोमाता रहे, हमारी भी यही इच्छा है। (मं. ८)

१० वत्सं इच्छन्ती = गौ बछडेवाली हो। मृतवत्सा न हो। मृतवत्सा गौका दूध पीनेसे पीनेवालोंके घरमें भी वही बात बन जायगी। क्योंकि यदि गौके दूधके दोषके कारण उसका बछडा मरा हो, तो वह दोष पीनेवालोंके वीर्यमें भी बढेगा। अतः बछडेवाली गाय हो और बछडेकी इच्छा करती हुई वह प्रेमसे घरमें आवे। (मं. ८)

११ गोधुक् पयसा उपद्रव, उस्रियायाः पयः घर्मे सिंच = गायका दोहन करनेवाला मनुष्य दूध लेकर शीघ्रतासे आवे और वह गायका दूध अग्निपर रखे। इसका मतलब यह है कि बहुत देर तक दूध कच्चा न रखा जावे। चाहे मनुष्य धारोष्ण ही पीवे, निचोडते ही पीवे, परंतु रखना हो तो शीघ्र ही अग्निपर तपाकर रखे। क्योंकि दूधमें नाना प्रकारके क्रिमी हवामेंसे जाकर जम जाते हैं और वहां वे बढते हैं। अतः कच्ची अवस्थामें दूध बहुत देरतक रखना नहीं चाहिये। शीघ्र ही अग्निपर चढाना चाहिये। (मं. ९)

१२ मधु दुह्यते = गायका दोहन करके जो निचोडा जाता है वह मधु अर्थात् शहद ही है। क्योंकि वह बडा मीठा होता है। (मं. १)

१३ तप्तं पिबतं = तपा हुआ दूध पीओ। इसका कारण ऊपर दिया ही है (मं. ४)

देवोंके लिये इसी प्रकारके दूधका समर्पण करना चाहिये। विशेषतः अश्विनी देवोंका भाग गायका दूध और घी ही है,

यह बात यजुर्वे मंत्रमें कही है। अश्विनी देव स्वयं देवोंके वैद्य हैं अतः उनको मालूम है कि कौनसा दूध अच्छा है और कौनसा अच्छा नहीं है। अश्विनी देव दूसरा दूध पीते ही नहीं और दूसरा घी भी नहीं सेवन करते। यह बात हम सबको स्मरण रखनी चाहिए। अतः मनुष्योंको गायका ही दूध और घी पीना चाहिये, और भैंसका नहीं। इसी प्रकार बाजारका दूध भी नहीं लेना चाहिये, क्योंकि यह दूध इतनी ही स्वच्छतासे रखा हुआ होता है यह कहना कठिन है। अतः घरघरमें गौ पालनी चाहिये और उसका दूध यज्ञमें समर्पित करना चाहिये और हुतशेष भक्षण करना चाहिये।

गण्डमाला-चिकित्सा

[७४ (७८)]

(ऋषिः- अथर्वाङ्गिराः। देवता- मन्त्रोक्ताः, ४ जातवेदाः।)

अपचितां लोहिनीनां कृष्णा मातेति शुश्रुम।
मुनेर्देवस्य मूलेन सर्वा विध्यामि ता अहम् ॥ १ ॥
विध्याम्यासां प्रथमां विध्याम्युत मध्यमाम्।
इदं जघन्यामासामा च्छिनद्मि स्तुकामिव ॥ २ ॥
त्वाष्ट्रेणाहं वचसा वि त ईर्ष्याममीमदम्।
अथो यो मन्युष्टे पते तमु ते शमयामसि ॥ ३ ॥
व्रतेन त्वं व्रतपते समक्तो विश्वाहा सुमना दीदिहीह।
तं त्वा वयं जातवेदः समिद्धं प्रजावन्त उप सदेम सर्वे ॥ ४ ॥

अर्थ— (लोहिनीनां अपचितां) लाल गण्डमालाकी (कृष्णा माता इति शुश्रुम) कृष्णा उत्पादक है ऐसा सुना जाता है। (ताः सर्वाः) उन सब गण्डमालाओंको (देवस्य मुनेः मूलेन अहं विध्यामि) मुनि नामक दिव्य वनस्पतिके मूल-जड-से मैं नाश करता हूं ॥ १ ॥

(आसां प्रथमां विध्यामि) इनकी पहिली गण्डमालाको मैं वेधता हूं, (उत मध्यमां विध्यामि) और मध्यमको वेधता हूं। (आसां जघन्यां इदं आ छिनद्मि) इनकी अत्यन्त निकृष्टको भी मैं उसी प्रकार छेदता हूं (स्तुकां इव) जिस प्रकार ग्रंथीको खोलते हैं ॥ २ ॥

(त्वाष्ट्रेण वचसा) सूक्ष्मता उत्पन्न करनेवाली वाणीसे (अहं ते ईर्ष्यां वि अमीमदम्) मैं तेरी ईर्ष्या दूर करता हूं। हे (पते) पते! (अथ यः ते मन्युः) और जो तेरा क्रोध है, (ते तं शमयामसि) तेरे उस क्रोधको हम शान्त करते हैं ॥ ३ ॥

हे (व्रतपते) व्रतपालन करनेवाले! (त्वं व्रतेन समक्तः) तू व्रतसे संयुक्त होकर (इह विश्वाहा सुमनाः दीदिहि) यहां सर्वदा उत्तम मनवाला होकर प्रकाशित हो। हे (जातवेदः) अग्ने! (सर्वे वयं तं त्वा समिद्धं) हम सब उस तुझ प्रदीप्त हुए को (प्रजावन्तः उपसेदिम) प्रजावाले होकर प्राप्त हों ॥ ४ ॥

भावार्थ— लाल रंगवाली गण्डमालाका नाश करनेके लिये मुनि नामक औषधीकी जड बडी उपयोगी होती है ॥ १ ॥
इससे पहिली बीचकी और अन्तकी गण्डमाला दूर होती है ॥ २ ॥
क्रोध और ईर्ष्या सूक्ष्मविचारके द्वारा दूर किये जायें ॥ ३ ॥
नियमपालनसे सदा उत्तम मन रहता है और मनुष्य प्रकाशमान हो सकता है। इस प्रकार हम सब तेजस्वी होकर, बालबच्चोंको साथ लेते हुए तेजस्वी ईश्वरकी उपासना करें ॥ ४ ॥

मुनि नाम " दमनक, बक, पलाश, प्रियाल, मदन ' इत्यादि अनेक औषधियोंका है, उनमेंसे कौनसी औषधि गण्ड-माला दूर करनेवाली है इसका निश्चय वैद्योंको करना चाहिये। क्रोधको मनसे हटाना, पथ्यके नियमोंका पालन करना इत्यादि बातें आरोग्य देनेवाली हैं इसमें संदेह नहीं है।

गायकी पालना

[७५ (७९)]

(ऋषिः- उपरिबभ्रवः। देवता- अघ्न्याः।)

प्रजावतीः सूयवसे रुशन्तीः शुद्धा अपः सुप्रपाणे पिबन्तीः।
मा व स्तेन ईशत माघशंसः परि वो रुद्रस्य हेतिर्वृणक्तु ॥ १ ॥
पदज्ञा स्थ रमतयः संहिता विश्वनाम्नीः। उप मा देवीर्देवेभिरेत ॥
इमं गोष्ठमिदं सदो घृतेनास्मान्त्समुक्षत ॥ २ ॥

अर्थ— (प्रजावतीः) उत्तम बछडोंवाली (सूयवसे चरन्तीः) उत्तम घासके लिये विचरती हुई (सु-प्र-पाने शुद्धाः अपः पिबन्तीः) उत्तम जलस्थानपर शुद्ध जल पान करनेवाली गौवें हों। हे गौवो! (स्तेनः वः मा ईशत) चोर तुमपर शासन न करे। (मा अघशंसः) पापी भी तुमपर हुकूमत न करे। (रुद्रस्य हेतिः वः परि वृणक्तु) रुद्रका शस्त्र तुम्हारी रक्षा करे ॥ १ ॥

हे (रमतयः) आनन्द देनेवाली गौवो! तुम (पदज्ञाः स्थ) अपने निवास-स्थानको जाननेवाली हो। तुम (संहिताः विश्वनाम्नीः देवीः) इकट्ठी हुई बहुत नामवाली दिव्य गौवो (देवेभिः मा उप एत) दिव्य बछडोंके साथ मेरे पास आओ। (इमं गो-स्थं, इदं सदं) इस गोशालाको और इस घरको तथा (अस्मान्) हम सबको (घृतेन सं उक्षत) घीसे युक्त करो ॥ २ ॥

भावार्थ— गौवें उत्तम घास खानेवाली और शुद्धजल पीनेवाली हों। उनके बहुत बछडे हों। कोई चोर और कोई पापी उनको अपने आधीन न करे। महावीरके शस्त्र उनकी रक्षा करें ॥ १ ॥

गौवें हमें आनंद दें। वे अपने निवासस्थानको पहचानें, मिलकर रहें, अनेक नामवाली दिव्य गौवें अपने बछडोंके साथ हमारे पास आवें। और हमें भरपूर घी देवें ॥ २ ॥

इसमें भी गोपालनके आदेश दिये गए हैं वे स्मरण रखने योग्य हैं।

गण्डमालाकी चिकित्सा

[७६ (८०, ८१)]

(ऋषिः- अथर्वा। देवता- १, २ अपचिद्भैषज्यं, ३-६ जायान्यः, इन्द्रः।)

आ सुस्रसः सुस्रसो असतीभ्यो असत्तराः।
सेहोररसतरा लवणाद्विक्लेदीयसीः ॥ १ ॥

अर्थ— (सुस्रसः सुस्रसः आ) बहनेवालीसे भी अधिक बहनेवाली, (असतीभ्यः असत्तराः) बुरीसे भी बुरी, (सेहोः अरसतराः) शुष्कसे भी अधिक शुष्क और (लवणात् विक्लेदीयसीः) नमकसे भी अधिक पानी निकालनेवाली गण्डमाला है ॥ १ ॥

भावार्थ— सब गण्डमालायें बहनेवाली, बुरी, खुष्की उत्पन्न करनेवाली और द्रव उत्पन्न करनेवाली होती हैं ॥ १ ॥

या ग्रैव्या अपचितोऽथो या उपपक्ष्याः ।
विजाम्नि या अपचितः स्वयंस्रसः ॥ २ ॥

यः कीकसाः प्रशृणाति तलीद्यमवतिष्ठति ।
निर्हास्तं सर्वं जायान्यं यः कश्च ककुदि श्रितः ॥ ३ ॥

पक्षी जायान्यः पतति स आ विशति पूरुषम् ।
तदक्षितस्य भेषजमुभयोः सुक्षतस्य च ॥ ४ ॥

विद्म वै ते जायान्य जानं यतो जायान्य जायसे ।
कथं ह तत्र त्वं हनो यस्य कृण्मो हविर्गृहे ॥ ५ ॥

धृषत्पिब कलशे सोममिन्द्र वृत्रहा शूर समरे वसूनाम् ।
माध्यंदिने सवन आ वृषस्व रयिष्ठानो रयिमस्मासु धेहि ॥ ६ ॥

अर्थ— (याः अपचितः ग्रैव्याः) जो गण्डमाला गलेमें होती है, (अथो या उपपक्ष्याः) और जो कन्धों या बगलोंमें होती है तथा (याः अपचितः विजाम्नि) जो गंडमाला गुह्यस्थानपर होती है, ये सब (स्वयं स्रसः) स्वयं बहनेवाली हैं ॥ २ ॥

(यः कीकसाः प्रशृणाति) जो पसलियोंको तोडता है, जो (तलीद्यं अवतिष्ठति) तलवेमें बैठता है, (यः कः च ककुदि श्रितः) जो रोग पीठमें जम गया होता है, (तं सर्वं जायान्यं) उस सब स्त्रीद्वारा आनेवाले रोगको (निः ह्राः) निकाल दो ॥ ३ ॥

(पक्षी जायान्यः पतति) पक्षीके समान यह रोग स्त्रीसे उत्पन्न होकर उडता है और (सः पुरुषं आविशति) यह मनुष्यके पास पहुँचता है। (तत् आक्षितस्य सुक्षतस्य उभयोः च) यह चिरकालसे रोगग्रस्त न हुए अथवा उत्तम क्षत किंवा व्रणयुक्त बने दोनोंका (भेषजं) औषध है ॥ ४ ॥

हे (जायान्य) स्त्रीसे उत्पन्न होनेवाले क्षयरोग ! (यतः जायसे) जहांसे तू उत्पन्न होता है, (ते जानं विद्म वै) तेरा जन्म हम जानते हैं। (यस्य गृहे हविः कृण्मः) जिसके घरमें हम हवन करते हैं (त्वं तत्र कथं हनः) तू वहां कैसे मारा जाता है यह भी हम जानते हैं ॥ ५ ॥

हे (शूर धृषत् इन्द्र) शूर, शत्रुको दबानेवाले इन्द्र ! (कलशे सोमं पिब) पात्रमें रखा हुआ सोमरस पी। तू (वसूनां समरे वृत्रहा) धनोंके युद्धमें शत्रुका पराजय करनेवाला है (माध्यन्दिने सवने आवृषस्व) मध्यदिनके सवनके समय तू बलवान् हो (रयि-स्थानः अस्मासु रयिं धेहि) तू धनके स्थानमें रहकर हमें धन दे ॥ ६ ॥

भावार्थ— कई गण्डमाला गलेमें, कन्धेमें, कई गुप्तस्थानपर होती हैं और ये सब स्राव करनेवाली होती हैं ॥ २ ॥

हड्डीमें, तलवेमें, पीठमें एक रोग होता है वह स्त्रीसंबंधसे रोग होता है ॥ ३ ॥

इसके बीज पक्षीके समान हवामें उडते हैं, ये मनुष्यमें जाते हैं और रोग उत्पन्न करते हैं। जो लोग ऐसे रोगसे चिरकालसे ग्रस्त होते हैं, अथवा जिनमें व्रण होते हैं, ऐसे रोगका भी औषधसे उपचार करना चाहिये ॥ ४ ॥

स्त्रीसे उत्पन्न होनेवाला क्षयरोग कैसे उत्पन्न होता है यह जानना चाहिये। जिसके घरमें हवन होता है वहांके रोगबीज हवनसे जल जाते हैं ॥ ५ ॥

हे शूर प्रभो ! इस सोमरसका सेवन करो। तुम शत्रुओंका नाश करनेवाले और बलवान् हो। हमें धन दो ॥ ६ ॥

गण्डमाला

इस एक सूक्तमें वस्तुतः भिन्न भिन्न दो सूक्त हैं। और एकका दूसरेके साथ कोई संबंध नहीं। परंतु यदि इन दो सूक्तोंका संबंध देखना हो, तो एक ही विचारसे देखा जा सकता है। पहिले दो मंत्रोंमें जिस गण्डमालाका उल्लेख है, वह गण्डमाला क्षयरोगसे उत्पन्न होती है जो क्षयरोग स्त्रीके विषयातिरेकसे उत्पन्न होता है। इस प्रकार संबंध देखनेसे ये दो सूक्त विभिन्न होते हुए भी एक स्थानपर क्यों रखे हैं, इसका ज्ञान हो सकता है।

यह गण्डमाला बहनेवाली, खुष्की बढानेवाली, नमक जैसी गीली रहनेवाली, बुरा परिणाम करनेवाली, गलेमें उत्पन्न होनेवाली, पसुलियोंमें उत्पन्न होनेवाली, जिसकी उत्पत्ति गुह्य स्थानके विषयातिरेकसे होती है।

इसके रोगबीज पसलियों और हड्डियोंको कमजोर करते हैं, हाथ पांवके तलवोंमें बैठकर गर्मी पैदा करते हैं, पीठ की रीढमें रहते हैं। इन स्थानोंसे इनको हटाना चाहिये।

इस क्षयके रोगबीज पक्षी जैसे हवामें उडते हैं और वे—

पक्षी जायान्यः पतति। स पूरुष आविशति। (मं० ४)

" पक्षी जैसे क्षयरोगके बीज उडते हैं, और वे मनुष्यमें प्रवेश करते हैं " तथा ये (जायान्यः) स्त्रीसंबंधसे उत्पन्न होते हैं अर्थात् स्त्रीसे अति संबंध करनेसे शरीर वीर्यहीन होता है और इनको बढनेका अवसर मिलता है।

हवनसे नीरोगता

यस्य गृहे हविः कृण्मः तत्र हनः। (मं० ५)

" जिसके घरमें हवन करते हैं वहां इनका नाश होता है " ये क्षयरोगके बीज हवामें उडकर आते हैं और हवन होते ही इनका नाश होता है। यह हवनका महत्त्व है। पाठक इसका अवश्य स्मरण रखें। हवन आरोग्य देनेवाला है। इस प्रकार नीरोग बने मनुष्य शूर होते हैं, वे सोमरस पान करें, और अपने शत्रुओंका दमन करने द्वारा अपने लिये यश और धन संपादन करें।

बन्धनसे मुक्ति

[७७ (८२)]

(ऋषिः– अङ्गिराः। देवता– मरुतः।)

साँतपना <u>इ</u>दं <u>ह</u>विर्मरु॑त<u>स्त</u>ज्जु॑जुष्टन। <u>अ</u>स्मा<u>को</u>ती रि॑शादसः ॥ १ ॥

यो <u>नो</u> मर्तो॑ मरुतो दु<u>र्हृ</u>णा॒युस्ति॒रश्चि॒त्तानि॑ वसवो जि॒घांसति।

द्रुहः पाशा॒न्प्रति॒ स मु॑चीष्ट॒ तपि॑ष्ठेन॒ तप॑सा हन्तना॒ तम् ॥ २ ॥

अर्थ— हे (सां-तपनाः मरुतः= मर्-उतः) अच्छी प्रकार शत्रुको तपानेवाले मरनेके लिये तैयार वीरो ! (इदं तत् हविः जुजुष्टन) इस हवि-अन्नका सेवन करो। हे (रिश-अदसः) शत्रुओंका नाश करनेवालो ! (अस्माक ऊती) हमारी रक्षा करो ॥ १ ॥

हे (वसवः मरुतः) निवासक मरुतो ! (यः नः मर्तः दुर्हृणायुः) हममेंसे जो मनुष्य दुष्टभावसे युक्त होकर (चित्तानि तिरः जिघांसति) हमारे चित्तोंको छिपकर नाश करना चाहता है। (सः द्रुहः पाशान् प्रतिमुचीष्ट) उसपर द्रोहीके पाश छोडो और (तं तपिष्ठेन तपसा हन्तन) उसको तापदायक तपनसे मार डालो ॥ २ ॥

भावार्थ— शत्रुको ताप देनेवाले वीर हमारे द्वारा दिये गए अन्नभागको स्वीकार करके, शत्रुओंका नाश कर, हमारी रक्षा कर ॥ १ ॥

हममें से कोई दुष्ट मनुष्य यदि छिपकर हमारे मनोंका नाश करना चाहे, उसको पाशोंसे बांधकर मार डालो ॥ २ ॥

संवत्सरीणा मरुतः स्वर्का उरुक्षयाः सगणा मानुषासः ।
ते अस्मत्पाशान्प्र मुञ्चन्त्वेनसः सांतपना मत्सरा मादयिष्णवः ॥ ३ ॥

अर्थ— (संवत्सरीणाः सु-अर्काः) वर्षभरतक प्रकाशनेवाले (सगणाः उरुक्षयाः) सेनासमूहके साथ बडे घरोंमें रहनेवाले, (मानुषासः) मानवी वीर (सांतपनाः मादयिष्णवः मत्सराः) शत्रुको संताप देनेवाले हर्ष बढानेवाले प्रसन्न (ते मर्-उतः) वे मरनेतक लडनेवाले वीर (एनसः पाशान् अस्मत् प्रमुञ्चन्तु) पापके पाशोंको हमसे छुडावें ॥ ३ ॥

भावार्थ— सालभर रहनेवाले, तेजस्वी, अनुयायियोंके साथ बडे घरोंमें रहनेवाले, शत्रुको ताप देनेवाले मानवी वीर पापसे हमें बचावें ॥ ३ ॥

इसमें क्षत्रियधर्म बताया है । क्षत्रिय शत्रुको ताप देनेवाला शूरवीर हो, स्वजनोंकी रक्षा करे, अपनेमें यदि कोई दुष्ट मनुष्य निकल आवे, तो उसको भी दण्ड देवे, सबको निर्भय बनावे और पापसे जनोंको दूर रखे ।

बन्धमुक्तता

[७८ (८३)]

(ऋषिः- अथर्वा । देवता- अग्निः ।)

वि ते मुञ्चामि रशनां वि योक्त्रं वि नियोजनम् । इहैव त्वमजस्र एध्यग्ने ॥ १ ॥
अस्मै क्षत्राणि धारयन्तमग्ने युनज्मि त्वा ब्रह्मणा दैव्येन ।
दीदिह्यस्मभ्यं द्रविणेह भद्रं प्रेमं वोचो हविर्दां देवतासु ॥ २ ॥

अर्थ— हे (अग्ने) अग्ने ! (ते रशनां विमुञ्चामि) तेरी रस्सीको मैं खोलता हूं । तेरे (योक्त्रं वि) बंधनको भी मैं छोडता हूं । (नियोजनं वि) तेरे खींचकर बांधनेवाले बंधको भी मैं छोडता हूं । (इह एव त्वं अजस्रः एधि) यहीं तू अहिंसित होकर रह ॥ १ ॥

हे (अग्ने) अग्ने ! (अस्मै क्षत्राणि धारयन्तं त्वा) इसके लिये यहां क्षत्रधर्मके धारण करनेवाले तुझको (दैव्येन ब्रह्मणा) दिव्यज्ञानके साथ (युनज्मि) युक्त बनाता हूं । (अस्मभ्यं इह द्रविणा दीदिहि) हमारे लिये यहां धन दे । (इमं देवतासु हविर्दां प्रवोचः) इसके विषयमें देवताओंमें हविसमर्पण करनेवाला करके वर्णन किया जाता है ॥ २ ॥

भावार्थ— पहिला, बीचका और निचला इस प्रकार तीनों बंधनोंको मैं खोलकर तुझे मुक्त करता हूं, इस प्रकार तू मुक्त होकर यहां आ ॥ १ ॥

वीरता धारण कर, दिव्यज्ञानसे युक्त हो, धन समर्पण कर, देवताओंमें हवि अर्पण कर, इसीसे तेरा यश बढेगा ॥ २ ॥

तीन बंधन

बंधन तीन प्रकारके रहते हैं, एक मनका बंधन, दूसरा बीचका अथवा वाणीका और तीसरा निचली देहका । इन तीन बंधनोंसे मनुष्य बंधा हुआ है अर्थात् बद्ध हुआ है । इससे उसको मुक्त होना है । ये बंधन जब खोले जाते हैं तब वह मुक्त होता है, तबतक उसकी बद्ध स्थिति है ऐसा कहते हैं ।

बंधनसे छूटनेके लिये क्षत्र अर्थात् पुरुषार्थ करनेका सामर्थ्य अवश्य होना चाहिये । इसके विना कोई मनुष्य बंधनमुक्त होनेका यत्न भी नहीं कर सकता । इसके पश्चात् उसको ज्ञान चाहिये । ज्ञानके विना बंधनसे मुक्ति प्राप्त नहीं हो

सकती। ज्ञानका अर्थ (मोक्षे धीर्ज्ञानं) बंधमुक्त होनेका उपाय जानना है। पुरुषार्थ द्वारा धन आदि प्राप्त करना और उस प्राप्त धनका ईश्वरार्पण बुद्धिसे समर्पण करना, ये दो कार्य करना मनुष्यको योग्य है। इसीसे मनुष्यके बंधन दूर होते हैं। विशेष कर अपने धनका समर्पण अर्थात् त्याग, (देवतासु हविर्दा) देवताओंको समर्पण करनेसे मनुष्य बंधनसे मुक्त होता है।

यह सूक्त थोडासा अस्पष्ट है, तथापि उक्त प्रकार इसका विचार करनेसे इसका भाव समझमें आ सकता है।

अमावास्या

[७९ (८४)]

(ऋषिः- अथर्वा। देवता- अमावास्या।)

यत्ते॑ दे॒वा अकृ॑ण्वन्भाग॒धेय॒ममा॑वास्ये सं॒वस॑न्तो महि॒त्वा।
तेना॑ नो य॒ज्ञं पि॑पृहि विश्ववारे र॒यिं नो॑ धेहि सुभगे सु॒वीर॑म् ॥ १ ॥
अ॒हमे॒वास्म्य॑मावा॒स्या॒३॑ मामा व॑सन्ति सु॒कृतो॒ मयी॒मे।
मयि॑ दे॒वा उ॒भये॑ सा॒ध्याश्चेन्द्र॑ज्येष्ठाः॒ सम॑गच्छन्त॒ सर्वे॑ ॥ २ ॥
आग॒न्रात्री॑ सं॒गम॑नी वसू॑नामू॒र्जं पु॒ष्टं वस्वा॑वे॒शय॑न्ती।
अ॒मा॒वा॒स्या॒यै ह॒विषा॑ विधे॒मोर्जं॒ दुहा॑ना॒ पय॑सा न॒ आग॑न् ॥ ३ ॥
अमा॑वास्ये॒ न त्वदे॒तान्य॒न्यो विश्वा॑ रू॒पाणि॑ परि॒भूर्ज॑जान।
यत्का॑मास्ते जुहु॒मस्तन्नो॑ अस्तु व॒यं स्या॑म॒ पत॑यो रयी॒णाम् ॥ ४ ॥

अर्थ— हे (अमावास्ये) अमावास्ये ! (ते महित्वा) तेरे महत्त्वसे (संवसन्तः देवाः) एकत्र निवास करनेवाले देव (यत् भागधेयं अकृण्वन्) जो भाग्य बनाते हैं, (तेन नः यज्ञं पिपृहि) उससे हमारे यज्ञकी पूर्णता कर, हे (विश्ववारे सुभगे) सबको वरनेयोग्य उत्तम भाग्यवती देवी ! (सुवीरं रयिं नः धेहि) उत्तम वीरवाला धन हमें दे ॥ १ ॥

(अहं एव अमावास्या अस्मि) मैं ही अमावास्या हूं। (मां इमे सुकृतः मयि आवसन्ति) मेरी इच्छा करते हुए ये पुण्य करनेवाले लोग मेरे आश्रयसे रहते हैं। (साध्याः इन्द्रज्येष्ठाः सर्वे उभये देवाः) साध्य और इन्द्र आदि सब दोनों प्रकारके देव (मयि समगच्छन्त) मुझमें आकर मिलते हैं ॥ २ ॥

(वसूनां संगमनी) सब वसुओंको मिलानेवाली, (पुष्टं ऊर्जं वसु आवेशयन्ती) पुष्टिकारक और बलवर्धक धन देनेवाली (रात्री आगन्) रात्री आगई है। (अमावास्यायै हविषा विधेम) अमावास्याके लिये हम हवनसे यजन करते हैं। क्योंकि वह (ऊर्जं दुहाना पयसा नः आगन्) अन्न देनेवाली दूधके साथ आई है ॥ ३ ॥

हे (अमावास्ये) अमावास्ये ! (त्वत् अन्यः एतानि विश्वा रूपाणि) तेरेसे भिन्न इन सब रूपोंको (परिभूः न जजान) घेरकर कोई नहीं बना सकता। (यत् कामाः ते जुहुमः) जिसकी इच्छा करते हुए हम तेरा यजन करते हैं, (तत् नः अस्तु) वह हमें प्राप्त होवे। (वयं रयीणां पतयः स्याम) हम धनोंके स्वामी बनें ॥ ४ ॥

भावार्थ— सब देव जो भाग्य देते हैं वह हमें प्राप्त होवे और उससे हमारा यज्ञ पूर्ण होवे तथा हमें ऐसा धन प्राप्त होवे कि जिसके साथ वीर हों ॥ १ ॥

मैं अमावास्या हूं, अतः साध्य आदि सब देव तथा पुण्यकर्म करनेवाले मनुष्य मेरे आश्रयसे रहते हैं ॥ २ ॥
अमावास्या सब धन देती है, पुष्टि बल और धन भी देती है, अतः इसके लिये हवन किया जावे ॥ ३ ॥

हे अमावास्ये ! तेरेसे भिन्न दूसरा कोई भी नहीं है कि जो इस जगत्‌को घेरकर बना सकता है। जिस कामनासे हम तेरा यजन करते हैं वह कामना हमारी पूर्ण होवे और हम धनके स्वामी बनें ॥ ४ ॥

अमावास्या

" अमावास्या " का अर्थ है ' एकत्र वास करानेवाली ' । सूर्य और चन्द्र एक स्थानपर रहते हैं अतः इस तिथिको अमावास्या कहते हैं । सूर्य उग्रस्वरूप है और चन्द्र शान्त स्वरूप है । उग्र और शान्तको एक घरमें रखनेवाली यह अमावास्या है । इसी प्रकार सब देवोंको एकत्र निवास करानेवाली भी यही है । यह गुण मनुष्योंको अपने अंदर धारण कराना चाहिये । परस्पर विरोधी स्वभाववाले जितने अधिक मनुष्योंको धारण करनेका सामर्थ्य मनुष्यमें हो उतनी उसकी योग्यता होगी । " अमावास्या " से यह बोध मनुष्योंको प्राप्त हो सकता है ।

अमावास्या पर यह सूक्त एक सुंदर काव्य है । यह काव्यरस देता हुआ मनुष्यको उत्तम बोध देता है । विभिन्न प्रकृतिवाले मनुष्योंको एक घरमें, एक जातिमें, एक धर्ममें, एक राष्ट्रमें, एक कार्यमें रखकर, उन सबसे एक ही कार्य कराना और उन सबकी उन्नति सिद्ध करना, यह इस सूक्तका उपदेशविषय है । जो हरएक व्यवहारमें निःसन्देह बोधप्रद होगा ।

पूर्णिमा

[८० (८५)]

(ऋषिः- अथर्वा । देवता- पौर्णमासी, प्रजापतिः ।)

पूर्णा पश्चादुत पूर्णा पुरस्तादुन्मध्यतः पौर्णमासी जिगाय ।
तस्यां देवैः संवसन्तो महित्वा नाकस्य पृष्ठे समिषा मदेम ॥ १ ॥
वृषभं वाजिनं वयं पौर्णमासं यजामहे ।
स नो ददात्वक्षितां रयिमनुपदस्वतीम् ॥ २ ॥
प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा रूपाणि परिभूर्जजान ।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥ ३ ॥

अर्थ— (पश्चात् पूर्णा) पीछेसे परिपूर्ण, (उत पुरस्तात् पूर्णा) और आगेसे भी पूर्ण तथा (मध्यतः) बीचमेंसे भी परिपूर्ण (पौर्णमासी उत् जिगाय) पूर्णिमा है । (तस्यां देवैः संवसन्तः) उसमें देवोंके साथ रहते हुए हम सब (महित्वा नाकस्य पृष्ठे इषा संमदेम) महिमासे स्वर्गके पृष्ठपर इच्छाके अनुसार आनन्दका उपभोग करें ॥ १ ॥

(वृषभं वाजिनं पौर्णमासं) बलवान् अन्नवान् पौर्णमासका (वयं यजामहे) हम यजन करते हैं । (सः नः) वह हम सबको (अक्षितां अन्-उपदस्वतीं रयिं ददातु) अक्षय और अविनाशी धन देवे ॥ २ ॥

हे (प्रजापते) प्रजापते ! (त्वत् अन्यः) तेरेसे भिन्न (एतानि विश्वा रूपाणि) इन संपूर्ण रूपोंको (परिभूः न जजान) सर्वत्र व्यापकर कोई नहीं उत्पन्न कर सकता । (यत्-कामाः ते जुहुमः) इसकी कामना करते हुए हम तेरा यजन करते हैं, (तत् नः अस्तु) वह हमें प्राप्त हो । (वयं रयीणां पतयः स्याम) हम सब धनोंके स्वामी बनें ॥ ३ ॥

भावार्थ— सब प्रकारसे परिपूर्ण होनेसे पौर्णमासीको पूर्णिमा कहते हैं । इस समय जो लोग देवोंकी सभामें-यज्ञमें-लगे होते हैं, वे अपनी महिमासे स्वर्गधाम प्राप्त करते हैं ॥ १ ॥

पूर्णमास बल और अन्नसे युक्त होता है, इसीलिये हम सब उसका यजन करते हैं । इससे हम अक्षय धन प्राप्त करेंगे ॥ २ ॥

इस जगत्के अनन्त रूपोंको उत्पन्न करनेवाला प्रजापतिसे भिन्न कोई नहीं है । जिस कामनासे हम यज्ञ करते हैं वह पूर्ण हो और हम धन संपन्न बनें ॥ ३ ॥

पौर्णमासी प्रथमा यज्ञियासीदह्नां रात्रीणामतिशर्वरेषु ।
ये त्वां यज्ञैर्यज्ञिये अर्धयन्त्यमी ते नाके सुकृतः प्रविष्टाः ॥ ४ ॥

अर्थ— (पौर्णमासी) पूर्णिमा (अह्नां रात्रीणां अतिशर्वरेषु) दिनोंमें तथा रात्रियोंके अंधेरेमें (प्रथमा यज्ञिया आसीत्) प्रथम पूजनीय है । हे (यज्ञिये) पूजनीय ! (ये त्वां यज्ञैः अर्धयन्ति) जो तुम्हें यज्ञके द्वारा पूजते हैं, (ते अमी सुकृतः नाके प्रविष्टाः) वे ये सत्कर्म करनेवाले स्वर्गमें प्रविष्ट होते हैं ॥ ४ ॥

भावार्थ— पूर्णिमा दिनमें और रात्रीमें पूजनेयोग्य है । हे पूर्णिमा ! तेरा यजन हम करते हैं, हमें स्वर्गधाममें प्रवेश प्राप्त होवे ॥ ४ ॥

ये दोनों सूक्त अमावास्या और पौणमासीके 'दर्श और पूर्णमास' यज्ञोंके सूचक हैं। अमावास्याके समय जैसा यजन करना चाहिये, उसी प्रकार पूर्णिमाके समय भी करना चाहिये । इससे इह-पर लोकमें लाभ होता है ।

इसीका वर्णन इन सूक्तोंमें पाठक देख सकते हैं । दर्शपूर्णमास यज्ञकी आवश्यकता इन दो सूक्तोंमें स्पष्ट शब्दोंमें कही है ।

घरके दो बालक

[८१ (८६)]

(ऋषिः– अथर्वा । देवता– सावित्री, सूर्यः, चन्द्रः ।)

पूर्वापरं चरतो माययैतौ शिशू क्रीडन्तौ परि यातोऽर्णवम् ।
विश्वान्यो भुवना विचष्ट ऋतूँरन्यो विदधज्जायसे नवः ॥ १ ॥
नवोनवो भवसि जायमानोऽह्नां केतुरुषसामेष्यग्रम् ।
भागं देवेभ्यो वि दधास्यायन्प्र चन्द्रमस्तिरसे दीर्घमायुः ॥ २ ॥

अर्थ— (एतौ शिशू क्रीडन्तौ) ये दोनों बालक अर्थात् सूर्य और चन्द्र, खेलते हुए (मायया पूर्वापरं चरतः) शक्तिसे आगे पीछे चलते हैं । और (अर्णवं परि यातः) समुद्रतक भ्रमण करते हुए पहुंचते हैं । (अन्यः विश्वा भुवना विचष्टे) उनमेंसे एक सब भुवनोंको प्रकाशित करता है । और (अन्य, ऋतून् विदधत् नवः जायसे) दूसरा ऋतुओंको बनाता हुआ नया नया बनता है ॥ १ ॥

(जायमानः नवः नवः भवसि) प्रकट होता हुआ नया नया होता है । एक (अन्हां केतुः) दिनोंको बतानेवाला है वह (उषसां अग्रं एषि) उषःकालोंके अग्रभागमें होता है । (आयन् देवेभ्यः भागं विदधासि) वह आता हुआ देवोंके लिये विभाग समर्पण करता है । तथा (चन्द्रमः ! दीर्घं आयुः प्र तिरसे) हे चन्द्रमा ! तू दीर्घ आयु अर्पण करता है ॥ २ ॥

भावार्थ— इस घरमें दो बालक हैं, वे एकके पीछे दूसरे अपनी शक्तिसे ही खेलते हैं । खेलते हुए समुद्रतक पहुंचते हैं, उनमेंसे एक सब जगत्को प्रकाशित करता है और दूसरा ऋतुओंको बनाता हुआ वारंवार नवीन नवीन बनता है ॥ १ ॥

इनमेंसे एक दिनके समयका चिन्ह है जो उषःकालके अन्तिम समयमें प्रगट होता है और सब देवोंको योग्य विभाग समर्पित करता है । जो दूसरा बालक है वह स्वयं वारंवार नवीन नवीन बनता है और सबको दीर्घ आयु देता है ॥ २ ॥

सोमस्यांशो युधां पतेऽनूनो नाम वा असि ।
अनूनं दर्श मा कृधि प्रजया च धनेन च ॥ ३ ॥
दर्शोऽसि दर्शतोऽसि समग्रोऽसि समन्तः ।
समग्रः समन्तो भूयासं गोभिरश्वैः प्रजया पशुभिर्गृहैर्धनेन ॥ ४ ॥
योऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तस्य त्वं प्राणेना प्यायस्व ।
आ वयं प्यासिषीमहि गोभिरश्वैः प्रजया पशुभिर्गृहैर्धनेन ॥ ५ ॥
यं देवा अंशुमाप्याययन्ति यमक्षितमक्षिता भक्षयन्ति ।
तेनास्मानिन्द्रो वरुणो बृहस्पतिरा प्यायन्तु भुवनस्य गोपाः ॥ ६ ॥

अर्थ—हे (युधां पते, सोमस्य अंशः) युद्धोंके स्वामी! हे सोमके अंश! (अनूनः नाम वै असि) तू अन्यून महत्त्ववाला है। हे (दर्श) दर्शनीय ! (मा प्रजया धनेन च अनूनं कृधि) मुझे प्रजा और धनसे परिपूर्ण कर ॥ ३ ॥

(दर्शः असि) तू दर्शनीय है, तू (दर्शतः असि) दर्शनके लिये योग्य हो। तू (सं अन्तः समग्रः असि) सब अन्तोंसे समग्र हो। (गोभिः अश्वैः प्रजया पशुभिः गृहैः धनेन) गौवें, घोडे, संतान, पशु, घर और धनसे मैं (समन्तः समग्रः भूयासं) अन्ततक परिपूर्ण होऊं ॥ ४ ॥

(यः अस्मान् द्वेष्टि) जो हम सबसे द्वेष करता है, (यं वयं द्विष्मः) जिससे हम सब द्वेष करते हैं, (तस्य प्राणेन आप्यायस्व) उसके प्राणसे तू बढ जा, (गोभिः अश्वैः प्रजया, पशुभिः, गृहैः, धनेन वयं, आप्याशिषीमहि) गौवें, घोडे, संतति, पशु, घर और धनसे हम बढें ॥ ५ ॥

(यं अंशुं देवाः आप्याययन्ति) जिस सोमको देव बढाते हैं, (यं अक्षितं अक्षिताः भक्षयन्ति) जिस अविनाशीको खाते हैं, (तेन) उस सोमसे (अस्मान्) हम सबको (भुवनस्य गोपाः इन्द्रः वरुणः बृहस्पतिः) भुवनके रक्षक इन्द्र वरुण बृहस्पति ये देव (आप्याययन्तु) बढावें ॥ ६ ॥

भावार्थ—हे युद्धोंके स्वामी! सोमके अंश! तू पूर्ण और दर्शनीय हो, अतः मुझे संतान और धनसे परिपूर्ण बना ॥ ३ ॥

तू दर्शनीय और अत्यन्त परिपूर्ण है, मैं भी गाय, घोडे आदि पशु, संतति, घर, धन आदिसे पूर्ण बनूं ॥ ४ ॥

जो दुष्ट हमसे द्वेष करता है और जिससे हम द्वेष करते हैं उसके प्राणका तू हरण कर और हम धनादिसे परिपूर्ण बनें ॥ ५ ॥

जिस सोमको देव बढाते और भक्षण करते हैं उससे हम पुष्ट हों, त्रिभुवनके रक्षक देव हमारी उन्नति करें ॥ ६ ॥

घरके दो बालक

जगत्‌रूपी घर

यह संपूर्ण जगत् एक बडाभारी घर है, इस घरमें हम सब रहते हैं। इस घरमें दो आदर्श बालक हैं, इन बालकोंका नाम ' सूर्य और चन्द्र ' है। हमारे घरमें बालक कैसे हों, और माता पिताको प्रयत्न करके अपने घरके बालकोंको किस प्रकारकी शिक्षा देनी चाहिये और बालक कैसे बनने चाहिये, इस विषयका उपदेश इस सूक्तमें दिया है। हरएक घरके मातापिता इस दृष्टिसे इस सूक्तका विचार करें।

खेलनेवाले बालक

घरमें बालक (क्रीडन्तौ शिशू) खेलनेवाले होने चाहिये, रोनेवाले नहीं। बालक कमजोर, बीमार और दोषी होनेपर ही रोते हैं। यदि वे बलवान्, नीरोग और किसी शारीरिक दोषसे दूषित न हों, तो प्रायः रोते नहीं। मातापिताओंको उचित है कि वे गृहस्थाश्रममें ऐसा योग्य और नियमानुकूल व्यवहार करें कि, जिससे सुदृढ, हृष्टपुष्ट, नीरोग और आनंदी बालक उत्पन्न हों।

*

अपनी शक्तिसे चलना

बालकोंमें दूसरा गुण यह चाहिये कि वे (मायया पूर्वापरं चरन्तः) अपनी आंतरिक शक्तिसे ही आगे पीछे चलते रहें। दूसरेके द्वारा उठानेपर उठें, दूसरेके द्वारा चलाये तो चलें ऐसे परावलंबी बालक न हों। मातापिता बलवान् हों और वे नियमानुकूल चलनेवाले रहें, तो उनको ऐसे अपनी शक्तिसे भ्रमण करनेवाले बालक होंगे। जो मातापिता दुर्व्यसनी नहीं हैं, सदाचारी हैं और ऋतुगामी होकर गृहस्थाश्रमका व्यवहार ऐसा करते हैं कि जिसे धार्मिक व्यवहार कहा जाये तो उनके सुयोग्य बालक ही होते हैं। जो नीरोग और सुदृढ बालक होते हैं वे कितना भी कष्ट हो तो भी अपने प्रयत्नसे आगे बढनेका यत्न करते ही रहते है।

दिग्विजय

वे आगे बढकर विद्वान् और पुरुषार्थी होकर (अर्णवं परियातः) समुद्रके चारों ओरके देशदेशान्तरमें भ्रमण करते हैं, दिग्विजय करते हैं। अपने ही ग्राममें कूपमण्डूकके समान बैठ नहीं रहते, समुद्रके ऊपरसे अथवा अन्तरिक्षमेंसे संचार करते हैं, और देशदेशान्तरमें परिभ्रमण करते हैं और धर्म, सदाचार तथा सुशीलता आदिका उपदेश करते हैं और सब जनताको योग्य आदर्श बताते हैं।

जगत्को प्रकाश देना

इस प्रकार परमपुरुषार्थसे व्यवहार करते हुए उनमेंसे एक (अन्यः विश्वानि भुवनानि विचष्टे) सब जगत्को प्रकाश देता है, अन्धकारमें डूबी हुई जनताको प्रकाशमें लाता है। सब देशदेशान्तरमें यह भ्रमण करता हुआ जनताको अन्धेरेसे छुडवाकर प्रकाशमें लानेका यत्न करता है।

दूसरा गृहस्थाश्रमी (ऋतून् विदधत्) ऋतुगामी होकर, ऋतुओंके अनुकूल रहकर (नवः जायते) नवीन जैसा होता है। कितनी भी बडी आयु हो तो भी पुनः नवीन तरुण जैसा होता है। ऋतुगामी होना, ऋतुके अनुकूल रहनासहना रखना, सोमादि औषधियोंका उपयोग करने आदिसे वृद्ध भी तरुणके समान नवीन हो सकता है।

सूर्य और चन्द्रपर यह रूपक प्रथम मंत्रमें है। पाठक इसका उचित विचार करें और अपने बालकोंकी शिक्षा आदिके विषयमें योग्य उपदेश प्राप्त करें। एक सूर्य जैसा पुत्र होवे जो जगत्को प्रकाश देवे, अथवा एक चन्द्र जैसा पुत्र होवे कि जो (नवः नवः भवति) नवजीवन प्राप्त करनेकी विद्या संपादन करके नवीन जैसा होवे और (दीर्घं आयुः प्रतिरते) दीर्घायु प्राप्त करे और लोगोंको भी दीर्घायु बनावे।

कर्तव्यका भाग

जो जगत्को प्रकाश देता है वह (देवेभ्यः भागं विदधाति) देवोंके लिये भाग्य देता है, अथवा देवोंके लिये कर्तव्यका भाग देता है, अर्थात् यह इस कार्यको करे वह उस कार्यको संभाले, इस प्रकार कार्यविभागके विषयमें आज्ञाएं देता है और विभिन्न कार्यकर्ताओंसे विभिन्न कार्य कराकर एक महान् कार्य परिपूर्ण करा देता है। मनुष्योंको भी यह आदर्श सामने रखना चाहिये। इस सृष्टिमें जल शान्ति देनेका कार्य करता है, अग्नि तपानेके कार्यमें तत्पर है, वायु सुखाता है, भूमि आधार देती है, इत्यादि देव विभिन्न कार्योंके भाग सिरपर लेकर अपने अपने कार्यमें तत्पर रहकर सब जगत्का महान् कार्य निभा रहे हैं। मानो यह मुख्य देव परमात्मा इन गौण देवोंको करनेके लिये कार्य भाग देता है। इसी प्रकार राष्ट्रमें मुख्य नेता अन्य गौण नेताओंको कर्तव्यका भाग बांट देवे और वे उसको योग्य रीतिसे करें, तो सबके अपने अपने कार्यका भाग करनेसे महान् कार्यकी सिद्धि हो सकती है।

पूर्ण हो

एक 'पूर्ण सोम' होता है जो पूर्णिमाके दिन प्रकाशता है। दूसरा सोमका अंश होता है। अंश भी हुआ तो भी वह पूर्ण बननेकी शक्ति रखता है, इस कारण वह न्यून नहीं है। इसीलिये उसको (अनूनः असि) अन्यून-परिपूर्ण कहा है। यह सोम अंशरूप हो या पूर्ण हो वह अन्यून ही है, क्योंकि यदि वह आज अंशमय हुआ तो कुछ दिनोंके बाद वह पूर्ण होगा ही अतः वह न्यून रहनेवाला नहीं है। न्यून होनेपर भी वह प्रयत्नपूर्वक पूर्ण बनता है, यह पूर्ण बननेका उसका पुरुषार्थ हरएक मनुष्यके लिये अनुकरणीय है। इसलिये उसकी प्रार्थना तृतीय मंत्रमें की गई है कि (अनूनं मा कृधि) 'अन्यून-परिपूर्ण-मुझे कर;' क्योंकि तू परिपूर्ण करनेवाला है, मैं पूर्ण बनना चाहता हूं। धन, आरोग्य, प्रजा, शौर्य, वीर्य आदिमें भी परिपूर्ण मैं होऊं यह अभिप्राय यहां है।

यही भाव चतुर्थ मंत्रमें कहा है। (समन्तः समग्रः असि) तू सब प्रकारसे समग्र अर्थात् पूर्ण है, मैं भी तेरी उपासनासे (समग्रः समन्तः) पूर्ण और समग्र होऊं।

दुष्टका नाश

जो दुष्ट हम सबसे द्वेष करता है और जिस अकेले दुष्टसे द्वेष हम सब करते हैं, उसके दोषी होनेमें कोई संदेह ही नहीं है। यदि ऐसा कोई मनुष्य सब संघका घात करे तो उसका नियमन करना आवश्यक होता है। यह द्वेष करनेवाला यहां अल्प संख्यावाला कहा है। 'जिस अकेलेसे हम सब द्वेष करते हैं और जो अकेला हम सबसे द्वेष करता है।' इसमें बहु संख्यांक सज्जन और अल्पसंख्यांक दुर्जन होनेका उल्लेख है। ऐसे दुष्टोंको दबाना और सज्जनोंकी उन्नतिका मार्ग खुला करना, यही, धार्मिक मनुष्यका कर्तव्य है।

दिव्यभोजन

जो देवोंका भोजन होता है उसको देवभोजन अथवा दिव्य-भोजन कहते हैं। यह देवोंका भोजन क्या है इस विषयमें इस सूक्तके षष्ठ मंत्रमें कहा है।—

देवाः अंशुं आप्याययन्ति।
अक्षिताः अक्षितं भक्षयन्ति ॥ (मं० ६)

"देव लोग सोमको बढाते हैं और ये अमर देव इस अक्षय सोमका भक्षण करते हैं।" सोम एक वनस्पति है। देव इसको बढाते और उसका भक्षण करते हैं क्योंकि यह देवोंका अन्न है। अर्थात् देव शाकाहारी थे। जो लोग देवोंके लिये मांसका प्रयोग करते हैं, उनको वेदके ऐसे मन्त्रों पर विशेष विचार करना चाहिये। सोम देवोंका अन्न है, इस विषयमें अनेक वेदमन्त्र हैं। और सबका तात्पर्य यही है कि जो ऊपर कहा है।

गौ

[८१ (८७)]

(ऋषिः– शौनकः (संपत्कामः)। देवता– अग्निः।)

अभ्यर्चत सुष्टुतिं गव्यमाजिमस्मासु भद्रा द्रविणानि धत्त।
इमं यज्ञं नयत देवता नो घृतस्य धारा मधुमत्पवन्ताम् ॥ १ ॥
मय्यग्रे अग्निं गृह्णामि सह क्षत्रेण वर्चसा बलेन।
मयि प्रजां मय्यायुर्दधामि स्वाहा मय्यग्निम् ॥ २ ॥

अर्थ— (सु-स्तुतिं गव्यं आजिं अभ्यर्चत) उत्तम स्तुति करने योग्य गौ संबंधी प्रगतिकी सीमाका आदर करो। (अस्मासु भद्रा द्रविणानि धत्त) हमारे मध्यमें कल्याणकारी धन धारण करो। (नः इमं यज्ञं देवता नयत) हमारे इस यज्ञको देवताओंतक पहुंचाओ। (घृतस्य धाराः मधुमत् पवन्तां) घीकी धाराएं मधुरताके साथ बहें ॥ १ ॥

(अग्ने मयि क्षत्रेण वर्चसा बलेन सह अग्निं गृह्णामि) पहिले मैं अपने अन्दर क्षात्रशौर्य, ज्ञानका तेज और बलके साथ रहनेवाले अग्निका ग्रहण करता हूं। (मयि प्रजां) अपने अन्दर प्रजाको, (मयि आयुः) अपने अन्दर आयुको, (मयि अग्निं) अपने अन्दर अग्निको (दधामि) धारण करता हूं, (स्वाहा) यह ठीक ही कहा है ॥ २ ॥

भावार्थ— गौओंकी उन्नतिका विचार करो, क्योंकि यही उत्तम प्रशंसाके योग्य कार्य है। घीकी मीठी धाराएं विपुल हों अर्थात् घरमें घी विपुल हो, कल्याण करनेवाला विपुल धन प्राप्त करें और इन सबका विनियोग प्रभुकी संतुष्टताके यज्ञमें किया जावे ॥ १ ॥

मेरे अन्दर शौर्य, ज्ञान, बल, संतति, आयु आदि स्थिर रहें ॥ २ ॥

इहैवाग्ने अधि धारया रयिं मा त्वा नि क्रन्पूर्वचित्ता निकारिणः ।
क्षत्रेणाग्ने सुयममस्तु तुभ्यमुपसत्ता वर्धतां ते अनिष्टृतः ॥ ३ ॥
अन्वग्निरुषसामग्रमख्यदन्वहानि प्रथमो जातवेदाः ।
अनु सूर्य उषसो अनु रश्मीननु द्यावापृथिवी आ विवेश ॥ ४ ॥
प्रत्यग्निरुषसामग्रमख्यत्प्रत्यहानि प्रथमो जातवेदाः ।
प्रति सूर्यस्य पुरुधा च रश्मीन्प्रति द्यावापृथिवी आ ततान ॥ ५ ॥
घृतं ते अग्ने दिव्ये सधस्थे घृतेन त्वां मनुरद्या समिन्धे ।
घृतं ते देवीर्नप्त्य१ आ वहन्तु घृतं तुभ्यं दुह्रतां गावो अग्ने ॥ ६ ॥

अर्थ— हे (अग्ने) अग्ने ! (इह एव रयिं आधिधारय) यहीं धनका धारण कर । (पूर्वचित्ताः निकारिणः त्वा मा निक्रन्) पूर्वकालसे मन लगानेवाले अपकारी लोग तेरे सम्बन्धमें अपकार न करें । हे (अग्ने) अग्ने ! (क्षत्रेण तुभ्यं सुयमं अस्तु) क्षत्रबलसे तेरा उत्तम नियमन होवे । (उपसत्ता अनिष्टृतः वर्धतां) तेरा सेवक अहिंसित होता हुआ बढे ॥ ३ ॥

(अग्निः उषसां अग्रं अनु अख्यत्) अग्नि-सूर्य-उषःकालोंके अग्रभागमें प्रकाश करता है । (प्रथमः जातवेदाः अहानि अनु अख्यत्) पहिला जातवेद-सूर्य-दिनोंको प्रकाशित करता है । वही (सूर्यः अनु) सूर्य अनुकूलताके साथ (उषसः अनु) उषःकालोंके अनुकूल, (रश्मीन् अनु) किरणोंके अनुकूल, (द्यावापृथिवी अनु आ विवेश) द्युलोक और पृथ्वीलोकके बीचमें अनुकूलताके साथ व्यापता है ॥ ४ ॥

(अग्निः उषसां अग्रं प्रति अख्यत्) अग्नि-सूर्य-उषाओंके अग्रभागमें प्रकाशता है । (प्रथमः जातवेदाः अहानि प्रति अख्यत्) पहिला जातवेद-सूर्य-दिनोंको प्रकाशित करता है । (सूर्यस्य रश्मीन् पुरुधा प्रति) सूर्यकी किरणोंको विशेष प्रकार प्रकाशित करता है । तथा (द्यावापृथिवी प्रति आ ततान) द्यावापृथिवीको दर्शाने फैलाता है ॥५॥

हे (अग्ने) अग्ने ! (ते घृतं दिव्ये सधस्थे) तेरा घृत दिव्य स्थानमें है । (मनुः त्वां घृते अद्य सं इन्धे) मनुष्य तुझे घीसे आज प्रज्वलित करता है । (नप्त्यः देवीः ते घृतं आवहन्तु) न गिरानेवाली दिव्य शक्तियां तेरे घृतको ले आवें । हे (अग्ने) अग्ने ! (गावः तुभ्यं घृतं दुह्रतां) गौवें तेरे लिये घीको देवें ॥ ६ ॥

भावार्थ— मुझे धन प्राप्त हो । अपकारी लोग अपकार न कर सकें । क्षात्र तेजसे सर्वत्र नियमन्यवस्था उत्तम रहे । प्रभुका भक्त-सेवक-वृद्धिको प्राप्त होवे ॥ ३ ॥

सूर्य उषाके पश्चात् प्रकट होता है और दिनमें प्रकाश करता है । वह प्रकाशसे द्युलोक और पृथ्वीके बीचमें व्यापता है ॥ ४-५ ॥

मनुष्य घीसे अग्निमें यजन करे, क्योंकि घीही उत्तम दिव्य स्थानमें रहनेवाला है । गौवें हवनके लिये उत्तम घी तैयार करें=देवें ॥ ६ ॥

इस सूक्तमें गोरक्षाकी महिमाका वर्णन है । तथा गौके घृतके हवनका भी माहात्म्य वर्णित है । घृतके हवनसे रोगोंके दूर होनेकी बात इससे पूर्व (अथर्व कां० ७।६।५) कही है । अतः रोग दूर होनेके बाद दीर्घ आयु, बल, तेजस्विता, ज्ञान, धन आदिका प्राप्त होना संभव है । इस प्रकार सूक्तकी संगति देखनी चाहिए ।

मुक्ति

[८३ (८८)]

(ऋषिः– शुनःशेपः । देवता– वरुणः ।)

अप्सु ते राजन्वरुण गृहो हिरण्ययो मिथः ।
ततो धृतव्रतो राजा सर्वा धामानि मुञ्चतु ॥ १ ॥
धाम्नोधाम्नो राजन्नितो वरुण मुञ्च नः ।
यदापो अघ्न्या इति वरुणेति यदूचिम ततो वरुण मुञ्च नः ॥ २ ॥
उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधमं वि मध्यमं श्रथाय ।
अधा वयमादित्य व्रते तवानागसो अदितये स्याम ॥ ३ ॥
प्रास्मत्पाशान्वरुण मुञ्च सर्वान्य उत्तमा अधमा वारुणा ये ।
दुष्वप्न्यं दुरितं नि ष्वास्मदथ गच्छेम सुकृतस्य लोकम् ॥ ४ ॥

अर्थ— हे (वरुण राजन्) वरुण राजन् ! (ते गृहः अप्सु) तेरा घर जलोंमें है और वह (मिथः हिरण्ययः) साथ साथ सुवर्णमय भी है । (ततः धृतव्रतः राजा) वहांसे व्रतपालक वह राजा (सर्वा धामानि मुञ्चतु) सब स्थान मुक्त–बंधन–रहित–करे ॥ १ ॥

हे (वरुण राजन्) वरुण राजन् ! (इतः धाम्नः धाम्नः नः मुञ्च) इस प्रत्येक बंधनस्थानसे हमारी मुक्तता कर । (यत् ऊचिम.) जो हम कहते हैं कि (आपः अघ्न्याः इति) जल अवध्य गौके समान प्राशस्त्य है और (वरुण इति) हे वरुण ! तू ही श्रेष्ठ है, हे वरुण ! (ततः नः मुञ्च) इस कारणसे हमें मुक्त कर ॥ २ ॥

हे (वरुण) वरुण ! (उत्तमं पाशं अस्मत् उत् श्रथाय) उत्तम पाशको हमसे जरा ढीला कर, (अधमं पाशं अवश्रथाय) अधम पाशको भी दूर कर, तथा (मध्यमं पाशं विश्रथाय) मध्यम पाशको हटा दे । हे आदित्य ! (अधा वयं तव व्रते) अब हम तेरे नियममें रहकर (अनागसः अ–दितये स्याम) निष्पाप बनकर बंधनरहित–मुक्ति–अवस्थाके लिये योग्य हों ॥ ३ ॥

हे (वरुण) वरुण ! (ये उत्तमाः ये अधमाः वारुणाः पाशाः) जो उत्तम मध्यम और कनिष्ठ वारुण पाश हैं उन (सर्वान् पाशान् अस्मत् प्रमुञ्च) सब पाशोंको हमसे दूर कर । (दुःस्वप्न्यं दुरितं अस्मत् निःस्व) दुष्ट स्वप्न और पापका आचरण हमसे दूर कर । (अथ गच्छेम सुकृतस्य लोकं) अब पुण्य लोकको हम प्राप्त हों ॥ ४ ॥

भावार्थ— हे सबके राजाधिराज प्रभो ! तेरा धाम सुवर्ण जैसा चमकनेवाला आकाशमें है । वह तू इस जगत्का सत्यनियमोंका पालन करनेवाला एकमात्र राजा है । वह तू हमें सब बन्धनोंसे छुडा ॥ १ ॥

हम सबको हरएक बन्धनसे मुक्त कर । मुक्तिकी इच्छासे हम आपके गुणगान करते हैं ॥ २ ॥

हे श्रेष्ठ देव ! हमारे उत्तम, मध्यम और अधम पाश खोल दो । तेरे व्रतमें रहते हुए हम सब निष्पाप होकर बन्धनसे मुक्त होनेके लिये योग्य हों ॥ ३ ॥

हमारे सब पाश मुक्त कर, हमसे पाप दूर कर, जिससे हम पुण्यलोकको प्राप्त हों ॥ ४ ॥

मुक्ति

तीन पाशोंसे मुक्ति

मनुष्यको मुक्ति चाहिये। परंतु वह मुक्ति बंधनकी निवृत्ति होनेके विना नहीं हो सकती। उत्तम, मध्यम और अधम वृत्तिके तीन बंधन मनुष्यको बंधनमें डालते हैं। सात्विक, राजस और तामस वृत्तिके ये बंधन हैं जो मनुष्यको पराधिन कर रहे हैं। तमोवृत्तिके बंधनकी अपेक्षा सात्विक बंधन बहुत अच्छा है इसमें संदेह नहीं, परंतु वह बंधन ही है। लोहेके शृंखलाका बंधन जैसा बंधन है उसी प्रकार सोनेकी शृंखला' भी तो बंधन ही हैं। इसी प्रकार हीन मनोवृत्तियोंके बंधनकी अपेक्षा श्रेष्ठ मनोवृत्तियोंका बंधन बेशक अच्छा है, परंतु चित्तवृत्तियोंका निरोध करनेकी अपेक्षासे वह भी बंधन ही है। इसलिये इस सूक्तमें कहा है कि उत्तम, मध्यम औ अधम अर्थात् सब वृत्तियोंके पाश हमसे दूर कर।

पापसे बचो

बंधन दूर होनेके लिये मनुष्यको (अन्-आगस्) निष्पाप होना चाहिये। पाप वृत्तिके दूर होनेके विना बंधनका क्षय होना संभव नहीं है। (दुरितं) जो पाप अन्तःकरणमें हो वह दूर होना चाहिये परमेश्वर भी तभी दया करके बंधनसे मुक्त कर सकता है। अतः मुक्ति चाहनेवाले मनुष्यको चाहिये कि वह पापसे बचनेका यत्न करे।

इसके लिये ईश्वरकी भक्ति यह एकमात्र मुक्तिका श्रेष्ठ साधन है। "दिति" नाम बंधनका है, उससे मुक्त होनेका नाम 'अ-दितिकी प्राप्ति' होना है। मुक्तिकी प्राप्ति ही यह है।

परमेश्वर (धृत-व्रतः) हमारे व्रतोंका निरीक्षक है। वह अपने नियमानुकूल रहता है और जो उसके नियमोंके अनुकूल चलता है, उसीपर वह दया करता है और सीधे मार्गपर चलता है। जिससे निर्विघ्न रीतिसे मनुष्य मुक्तिको प्राप्त होता है।

व्रत धारण

व्रत धारण करनेके विना मुक्ति नहीं हो सकती, यह एक उपदेश इस सूक्तसे मिलता है, क्यों कि (धृतव्रत) व्रत धारण करनेवाला ही यहां बंधनमुक्त करनेका अधिकारी है ऐसा कहा है। व्रतधारण और व्रतपालनसे मनोबल और आत्मिक बल बढता है। जो लोग व्रत पालनेमें शिथिल रहते हैं वे उन्नतिको कदापि प्राप्त नहीं कर सकते। सत्य बोलना, सत्यके अनुसार आचरण करना, ब्रह्मचर्य पालन करना, पवित्रता धारण करना, इत्यादि अनेक व्रत हैं। इन सबकी यहां गिनती नहीं की जासकती। एकबार स्वीकार किए गए व्रतके पालनमें शिथिल न हों। इस प्रकार व्रतका पालन करता हुआ मनुष्य क्रमशः उन्नत हो सकता है।

राजाका कर्तव्य

[८४ (८९)]

(ऋषिः- भृगुः। देवता- जातवेदाः अग्निः, २-३ इन्द्रः।)

अनाधृष्यो जातवेदा अमर्त्यो विराडग्ने क्षत्रभृद्दीदिहीह।
विश्वा अमीवाः प्रमुञ्चन्मानुषीभिः शिवाभिरद्य परि पाहि नो गयम् ॥ १ ॥

अर्थ— हे (अग्ने) अग्ने ! तू (जात-वेदाः अनाधृष्यः) ज्ञानसे परिपूर्ण और अजिंक्य (अमर्त्यः विराट्) अमर, विशेष प्रकारका सम्राट् (क्षत्र-भृत् इह दीदिहि) क्षत्रियोंका भरण पोषण करनेवाला होकर यहां प्रकाशित हो। और (विश्वाः अमीवाः प्रमुञ्चन्) सब रोगोंको दूर करता हुआ (मानुषीभिः शिवाभिः) मनुष्यसंबंधी कल्याणोंके साथ (अद्य नः गयं परि पाहि) आज हमारे घरकी रक्षा कर ॥ १ ॥

भावार्थ— तू ज्ञानी, अजेय, दीर्घायु, क्षात्रबलका पोषणकर्ता, विशेष श्रेष्ठ राजा होकर यहां प्रकाशित हो। अपने राज्यके सब रोग दूर कर और मनुष्योंके कल्याण करनेवाली बातें करके हमारे घरोंकी उत्तम रक्षा कर ॥ १ ॥

इन्द्रं क्षत्रमभि वाममोजोऽजायथा वृषभ चर्षणीनाम् ।
अपानुदो जनममित्रायन्तमुरुं देवेभ्यो अकृणोरु लोकम् ॥ २ ॥
मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः परावत आ जगम्यात्परस्याः ।
सृकं संशाय पविमिन्द्र तिग्मं वि शत्रून्ताढि वि मृधो नुदस्व ॥ ३ ॥

अर्थ— हे (इन्द्र) इन्द्र! (चर्षणीनां वृषभ) मनुष्योंमें श्रेष्ठ! तू (वामं क्षत्रं ओजः अभि आयथाः) उत्तम क्षात्रबलके लिये प्रसिद्ध हुआ है। तू (अमित्रायन्तं जनं अप नुद) शत्रुता करनेवाले मनुष्यको दूर कर। और (देवेभ्यः उरुं लोकं उ अकृणोः) दिव्य जनोंके लिये विस्तृत स्थान कर ॥ २ ॥

(गिरिस्थाः भीमः मृगः न) पर्वतपर रहनेवाले भयंकर सिंह, व्याघ्र आदि पशुके समान तू शत्रुके ऊपर (परस्याः परावतः आ जगम्यात्) दूरसे दूरके स्थानसे भी हमला करता है। हे (इन्द्र) इन्द्र! तू अपने (सृकं पविं संशाय) बाण और वज्रको तीक्ष्ण करके (शत्रून् विताढि) शत्रुओंको मार और (मृधः वि नुदस्व) हिंसक लोगोंको दूर कर ॥३॥

भावार्थ— मनुष्योंमें श्रेष्ठ बन, उत्तम क्षात्रबलकी वृद्धि कर। शत्रुता करनेवालोंको दूर कर, और जो श्रेष्ठ लोग हों उनके लिये विस्तृत कार्यक्षेत्र बना ॥ २ ॥

जिस प्रकार पहाडोंपर रहनेवाला व्याघ्र अपने शत्रुपर हमला करता है, उस प्रकार तू अपने दूरके शत्रुपर भी चढाई कर। अपने शस्त्र तीक्ष्ण कर, शत्रुको मार दे और हिंसकोंको दूर भगा दे ॥ ३ ॥

राजाका कर्तव्य

राजा क्या कार्य करे?

इस सूक्तमें अग्नि और इन्द्रके मिषसे राजाका कार्य बताया है। राजा अपने राष्ट्रमें क्या कार्य करे, सो देखिये—

१ आत्तवेदाः— ज्ञान प्राप्त करे और अपने राष्ट्रमें ज्ञानका प्रसार करे।

२ अनाधृष्यः— राजा ऐसा सामर्थ्यवान् बने कि वह शत्रुका कैसा भी हमला हो पराजित न होवे।

३ वि-राट्— विशेष प्रकारका श्रेष्ठ राजा बने।

४ क्षत्रभृत्— क्षत्रियोंका और क्षात्रगुणोंका भरणपोषण और संवर्धन करे।

५ अमर्त्यः अग्निः इह दीदिहि— अमर अग्निके समान इस राष्ट्रमें प्रकाशित होता रहे।

६ विश्वाः अमीवाः प्रमुञ्चन्— अपने राष्ट्रसे सब रोग दूर करे, राष्ट्रके सब लोग नीरोग हों, ऐसा प्रबंध करे।

७ मानुषीभिः शिवाभिः— उत्तम कल्याणपूर्ण मनुष्योंसे युक्त होवे।

८ गयं परिपाहि— राष्ट्रके हरएक घरकी रक्षा करे।

९ चर्षणीनां वृषभः— राजा मनुष्योंमें श्रेष्ठ बने।

१० वामं क्षत्रं ओजः— उत्तम क्षात्रबलसे युक्त राजा होवे।

११ अमित्रायन्तं जनं अपनुद— शत्रुता करनेवाले मनुष्यको अपने देशसे दूर करे।

१२ देवेभ्य उरुं लोकं अकृणोः— सज्जनोंके लिये विस्तृत स्थान बनावे।

१३ परस्याः परावतः आजगम्यात्— दूर दूरसे भी शत्रुके ऊपर प्रचण्ड हमला करे।

१४ सृकं पविं संशाय— अपने शस्त्रास्त्र उत्तम प्रकार तीक्ष्ण करके तैयार रखे।

१५ शत्रून् विताढि— शत्रुओंको विशेष ताडन करे।

१६ मृधः विनुदस्व— हिंसक जनोंको अपने राष्ट्रसे दूर करे। राष्ट्रसे बाहर निकाल देवे।

इस प्रकार इस सूक्तसे बोध प्राप्त होता है। इस सूक्तसे जैसे राजाके कर्तव्य कहे हैं, उसी प्रकार हरएक मनुष्यको भी आत्मरक्षाका उपदेश इसी सूक्तसे मिल सकता है।

राजाका कर्तव्य

[८५ (९०)]

(ऋषिः- अथर्वा (स्वस्त्ययनकामः) । देवता- तार्क्ष्यः ।)

त्यमू षु वाजिनं देवजूतं सहोवानं तरुतारं रथानाम् ।
अरिष्टनेमिं पृतनाजिमाशुं स्वस्तये तार्क्ष्यमिहा हुवेम ॥ १ ॥

अर्थ— (त्यं वाजिनं) उस बलवान्, (देवजूतं सहोवानं) दिव्य पुरुषों द्वारा सेवित शक्तिमान् (रथानां तरुतारं) रथोंको शीघ्रगतिसे चलानेवाले, (अरिष्ट-नेमिं) सुदृढ हथियारवाले (पृतना-जिं) शत्रुसेनाका पराजय करनेवाले, (आशुं तार्क्ष्यं) शीघ्रकारी महारथीको (स्वस्तये आहुवेम) कल्याणके लिये यहां हम बुलाते हैं ॥ १ ॥

इस सूक्तमें भी तार्क्ष्य अर्थात् गरुडके मिषसे राजाके कर्तव्य बताये हैं—

१ वाजिनं— राजा बलवान्, अन्नवाला, धनधान्यका संग्रह करनेवाला हो ।

२ देवजूतं— देवों अर्थात् दिव्यजनोंके द्वारा सेवित अर्थात् जिसके पास, जिसके ओहदेदार, ज्ञानी और शूर दिव्य लोग होते हैं ।

३ सहोवानं — राजा बलवान् हो ।

४ रथानां तरुतारं— रथोंको शीघ्रगतिसे चलानेवाला राजा हो । अर्थात् राजाके पास शीघ्रगामी रथ हों ।

५ अ-रिष्ट-नेमिः— जिसके हथियार टूटे हुए न हों । अटूट शस्त्रास्त्रोंवाला राजा हो । अथवा (अरिष्ट-नेमि) अरिष्ट अर्थात् संकटोंको दबानेवाला राजा हो ।

६ पृतनाजिः— शत्रुसेनाको जीतनेवाला राजा हो ।

७ आशुं— शीघ्रकारी राजा हो, हाथमें लिया हुआ कार्य शीघ्रतासे करनेवाला राजा हो ।

८ तार्क्ष्यः— ' तार्क्ष्य ' का अर्थ ' रथ ' है । रथ जिसके पास होते हैं उसका यह नाम है । राजा उत्तम रथी हो ।

९ स्वस्तये— प्रजाजनोंका कल्याण करनेके लिये राजा प्रयत्न करे ।

ये शब्द भी हरएक मनुष्यको साधारण आत्मरक्षाका उपदेश दे रहे हैं, उसको ग्रहण करके मनुष्य श्रेष्ठ हों ।

राजाका कर्तव्य

[८६ (९१)]

(ऋषिः- अथर्वा (स्वस्त्ययनकामः) । देवता- इन्द्रः ।)

त्रातारमिन्द्रमवितारमिन्द्रं हवेहवे सुहवं शूरमिन्द्रम् ।
हुवे नु शक्रं पुरुहूतमिन्द्रं स्वस्ति न इन्द्रो मघवा कृणोतु ॥ १ ॥

अर्थ— मैं (त्रातारं इन्द्रं) रक्षक प्रभुको (अवितारं इन्द्रं) संरक्षक इन्द्रको, (हवेहवे सुहवं शूरं इन्द्रं) प्रत्येक कार्यमें, बुलाने योग्य उत्तम प्रकार बुलाने योग्य, शूर प्रभुको और (पुरुहूतं शक्रं इन्द्रं हुवे) बहुतों द्वारा प्रार्थित शक्तिमान् प्रभुको बुलाता हूं । वह (मघवान् इन्द्रः न स्वस्ति कृणोतु) ऐश्वर्यवान् प्रभु हमारा कल्याण करे ॥ १ ॥

यह मंत्र परमेश्वरका वर्णन करता हुआ भी राजाके कर्तव्योंका उपदेश करता है—

१ त्राता, अविता— राजा प्रजाकी उत्तम रक्षा करे।

२ शूरः— राजा शूर हो, डरनेवाला न होवे।

३ शक्रः— राजा शक्तिमान् हो, अशक्त न हो।

४ मघवान्— राजा अपने पास धनसंग्रह करे, राजा कभी धनहीन न बने।

५ स्वस्ति कृणोतु— राजा प्रजाका कल्याण करे।

इस प्रकार राजप्रकरणमें इस मंत्रसे बोध प्राप्त होता है।

व्यापक देव

[८७ (९२)]

(ऋषिः- अथर्वा । देवता- रुद्रः ।)

यो अग्नौ रुद्रो यो अप्स्व१न्तर्य ओषधीर्वीरुध आविवेश ।
य इमा विश्वा भुवनानि चाक्लृपे तस्मै रुद्राय नमो अस्त्वग्नये ॥ १ ॥

अर्थ— (यः रुद्रः अग्नौ) जो वाणीका प्रवर्तक देव अग्निमें (यः अप्सु अन्तः) जो जलोंके अन्दर (यः ओषधीः वीरुधः आविवेश) जो औषधी और वनस्पतियोंमें प्रविष्ट हुआ है, (यः इमा विश्वा भुवनानि चाक्लृपे) जो इन सब भुवनोंको सामर्थ्ययुक्त बनाता है, (तस्मै अग्नये रुद्राय नमः अस्तु) उस अग्निसमान तेजस्वी, वाणीके प्रवर्तक देवको नमस्कार है ॥ १ ॥

(रुद्र = रुत् + र) रुत् अर्थात् वाणी किंवा शब्द इसका जो प्रवर्तक आत्मा है, वह सब स्थिर चर पदार्थोंमें व्याप्त है, वह जल, अग्नि, औषधि, वनस्पति, सब भुवन आदिमें है, वही सबका रचयिता है। उस तेजस्वी आत्मदेवको मेरा नमस्कार है।

सर्पविष

[८८ (९३)]

(ऋषिः- गरुत्मान् । देवता- तक्षकः ।)

अपेह्यरिरस्यरिर्वा असि । विषे विषमपृक्था विषमिद्वा अपृक्थाः ।
अहिमेवाभ्यपेहि तं जहि ॥ १ ॥

अर्थ— तू (अरिः वै असि) निश्चयसे शत्रु है। (अरिः असि) शत्रु ही है (अतः अप इहि) यहांसे दूर चला जा। (विषे विषं अपृक्थाः) विषमें विष मिला दिया है। (विषं इत् वै अपृक्थाः) निःसंदेह विष मिला दिया है। अतः (अहिं एव अभि अप इहि) सांपके पास ही जा और (तं जहि) उसको मार ॥ १ ॥

सर्पविष मनुष्यादि प्राणियोंका शत्रु है, अतः उसको मनुष्योंसे दूर रखना चाहिये। विषका उपचार विषसे ही होता है। सांप यदि काट ले तो यदि वह मनुष्य भी उसी सांपको काट ले, तो वह मनुष्य बच जाता है, परंतु मनुष्यमें इतना धैर्य चाहिये। इससे विषके साथ विष मिल जाता है अर्थात् सांपके विषके साथ मनुष्यके शरीरमें [illegible] विष मिल जाता है और वह मनुष्य बच जाता है। इस विषयमें अधिक खोज करना चाहिये और निश्चय करना चाहिये, यह बात कहांतक सत्य है।

वृष्टि जल

[८९ (९४)]

(ऋषिः- सिन्धुद्वीपः । देवता- अग्निः ।)

अपो दिव्या अचायिषं रसेन समपृक्ष्महि ।
पयस्वानग्न आगमं तं मा सं सृज वर्चसा ॥ १ ॥
सं माग्ने वर्चसा सृज सं प्रजया समायुषा ।
विद्युर्मे अस्य देवा इन्द्रो विद्यात्सह ऋषिभिः ॥ २ ॥
इदमापः प्र वहतावद्यं च मलं च यत् ।
यच्चाभिदुद्रोहानृतं यच्च शेपे अभीरुणम् ॥ ३ ॥
एधोऽस्येधिषीय समिदसि समेधिषीय । तेजोऽसि तेजो मयि धेहि ॥ ४ ॥

अर्थ— (दिव्याः आपः सं अचायिषं) दिव्य जलका मैं संचय करता हूं और (रसेन सं अपृक्ष्महि) रसके साथ मिलाता हूं । हे (अग्ने) अग्ने ! (पयस्वान् आगमं) मैं दूध लेकर तेरे पास आया हूं । (तं मा वर्चसा सं सृज) उस मुझको तेजके साथ युक्त कर ॥ १ ॥

हे (अग्ने) अग्ने ! (मा वर्चसा प्रजया आयुषा सं सृज) मुझे तेज, आयु और संततिसे युक्त कर । (देवाः अस्य मे विद्युः) देव यह मेरा हेतु जानें । तथा (ऋषिभिः सह इन्द्रः विद्यात्) ऋषियोंके साथ इन्द्र मुझे जाने ॥२॥

हे (आपः) जलो ! (इदं अवद्यं मलं च यत्) यह जो कुछ मुझमें पाप और मल है (प्रवहत) बहा डालो । (यत् च अभिदुद्रोह) जो कुछ मैंने द्रोह किया था, (यत् च अनृतं) जो असत्य कहा हो, (यत् च अभीरुणं शेपे) और जो न डरते हुए शाप दिया हो, उसका सब दोष दूर करो ॥ ३ ॥

(एधः असि एधिषीय) तू बडा है, मैं भी बडा होऊं । (समित् असि समेधिषीय) तू प्रकाशमान है मैं भी प्रकाशित होऊं । (तेजः असि, तेजः मयि धेहि) तू तेजस्वी है मुझमें भी तेज स्थापित कर ॥ ४ ॥

भावार्थ— आकाशसे आनेवाला वृष्टिजल मैं संग्रहित करता हूं, उसमें औषधिरस मिलाता हूं । इसके प्रयोगसे मैं तेजस्वी बनूंगा । इस प्रयोगमें मैं तपा हुआ दूध पीता हूं ॥ १ ॥

इससे मुझे तेजस्विता, दीर्घ आयु और उत्तम संतान होगी । यह देवों और ऋषियोंका बताया मार्ग है ॥ २ ॥

उक्त प्रयोगसे शरीरके मल दूर होंगे और मनकी पापवासना भी दूर होगी । शाप देना आदि भाव भी हटेंगे और मनुष्य निर्दोष और शुद्ध बनेगा ॥ ३ ॥

जो लोग बडे हैं, जो तेजस्वी हैं और जो वीर हैं उनको देखकर इतर लोग भी बडे तेजस्वी और शूर बनें ॥ ४ ॥

वृष्टि जल

दीर्घायु बननेका उपाय

इस सूक्तमें दीर्घायु, तेजस्वी और सुप्रजावान् होनेका उपाय बताया है । उक्त लाभ प्राप्त करनेके लिये निर्दोष बनना चाहिये । मनुष्यमें शरीरके कुछ दोष होते हैं और मन बुद्धिके भी कुछ दोष होते हैं । ये दोष इस प्रकार इस सूक्तमें वर्णन किये हैं—

[१] अभिदुद्रोह, [२] अनृतं,
[३] अभीरुणं शेपे ।
[४] अवद्यं मलं प्रवहत । (मं० ३)

" [१] दूसरेका घात करना, कपट प्रयोग करना, [२] असत्य भाषण करना, [३] निडरतासे गालियां देना, [४] इत्यादि जो मनके हीन भाव हैं और जो शारीरिक दोष हैं । "

इनको दूर करना चाहिये। इनमें कुछ दोष मनके हैं, कुछ वाणीके हैं, कुछ शरीरके हैं और कुछ अन्य प्रकारके हैं। ये सब दूर होने चाहिये तब मनुष्यको दीर्घ आयु, तेजस्विता और उत्तम संतति प्राप्त होगी।

दूसरेसे द्रोह करना और गालियां देना आदि जो क्रोधके दोष हैं वे बहुत खराब हैं, क्रोधके कारण मनुष्यके खूनसे जीवनसत्त्वका नाश होता है, और जीवनसत्त्वके नष्ट होनेसे मनुष्यकी आयु घटती है, वीर्य दूषित होनेसे संतति कमजोर होती है और अनेक प्रकारकी हानि होती है। अतः ये दोष दूर होने चाहिये।

मनुष्यका यकृत बिगडनेसे मनुष्य क्रोधी, द्रोही, अविचारी, असत्यभाषणी आदि होता है, इसी कारण अन्य दोष भी होते हैं। शरीरमें नसनाडीमें मलसंचय बढनेसे शारीरिक रोग होते हैं, और इस प्रकार मनुष्यके दुःख बढते जाते हैं। शरीर और मन निर्दोष होनेसे ही इसकी निवृत्ति हो सकती है। इसके लिये दिव्यजलका सेवन करना एक महत्त्वपूर्ण उपाय है।

दिव्यजल सेवन

दिव्यजल वह है कि जो मेघोंसे वृष्टिसे प्राप्त होता है; यहां शुंडा यंत्रद्वारा भापका बना जल भी वैसा ही काम दे सकता है। वृष्टिका जल घरमें शुद्ध पात्रोंमें संग्रहीत करना चाहिये। इस प्रकार संग्रह किया हुआ और बंद पात्रमें रखा हुआ जल एक वर्षतक उत्तम प्रकार रहता है और बिगडता नहीं। यही जल पीनेसे शरीर शुद्ध होता है। उपवास करके यदि यह ही विपुल प्रमाणमें पिया जाय, तथा बस्ति आदिके लिये यही बर्ता जाये तो शरीरकी आन्तरिक शुद्धता उत्तम रीतिसे होती है। यकृत् भी शुद्ध होता है, आंतोंके दोष दूर होते हैं और अन्यान्य मल हट जाते हैं। प्रायः इस प्रयोगसे सब रोग दूर हो जाते हैं और मनुष्य तेजस्वी, सुदृढ और वीर्यवान् हो जाता है।

यहां पाठक 'दिव्य जल' से उत्तम जल इतना ही भाव न लें। द्युलोकसे आया हुआ जल ऐसा अर्थ समझें, ऊपरसे द्युलोककी ओरसे आया जल वृष्टिजल ही होता है और वही यहां अपेक्षित है। इस जलमें और (रसेन अपृणक्षि) विविध औषधियोंके रस मिलाये जायेंगे तो लाभ विशेष होगा, इसमें कोई संदेह नहीं है। जो दोषोंको धोती हैं उनको ही ओषधी कहते हैं, अतः औषधियोंके रस योग्य प्रमाणमें इसमें मिलानेसे बहुत लाभ होना संभव है। कौनसे औषधियोंके रस मिलाने हैं, यह विचार दोषों और रोगोंके अनुसंधानसे निश्चय करना चाहिए। रोगी मनुष्य जिस जिस दोषसे पीडित होगा, उसके निवारणके लिये उपयोगी औषधियोंके रस उस जलमें मिलाने होंगे। यह विचार साधारण मनुष्य नहीं कर सकता है। उत्तम वैद्य ही इस विषयका विचार करके निश्चय कर सकता है। अतः इस विवरणके संबंधमें इतना कथन पर्याप्त है।

यह वृष्टिजल शरीरका मल दूर करता है, मनके भाव शरीरशुद्धिसे ही पवित्र होते हैं, इस प्रकार यह मनुष्य पवित्र और शुद्ध होता है और तेजस्वी, वर्चस्वी, ओजस्वी और सुपुत्रवाला होता है।

दुष्टका निवारण

[१० (९५)]

(ऋषिः- अङ्गिराः। देवता- मन्त्रोक्ताः।)

अपि वृश्च पुराणवद्व्रततेरिव गुष्पितम्। ओजो दासस्य दम्भय ॥ १ ॥

अर्थ— (व्रततेः पुराणवत् गुष्पितं इव) लताओंकी पुरानी सूखी लकडियोंके समान (दासस्य ओजः अपिवृश्च दम्भय) हिंसकके बलको काटो और दबाओ ॥ १ ॥

भावार्थ— हे ईश्वर! दुष्ट और उपद्रव देनेवाले मनुष्यका बल घटा दो ॥ १ ॥

वयं तदस्य संभृतं वस्विन्द्रेण वि भंजामहे ।
म्लापयामि भ्रजः शिभ्रं वरुणस्य व्रतेन ते ॥ २ ॥
यथा शेपो अपायाते स्त्रीषु चासदनावयाः ।
अवस्थस्य क्रदीवतः शाङ्कुरस्य नितोदिनः
यदाततमव तत्तनु यदुत्ततं नि तत्तनु ॥ ३ ॥

अर्थ— (वयं अस्य तत् संभृतं वसु) हम इसके उस एकत्रित धनको (इन्द्रेण विभजामहे) प्रभुके साथ बांट देते हैं। तथा (वरुणस्य व्रतेन) वरुण देवके व्रतके साथ (ते भ्रजः शिभ्रं म्लापयामि) तेरे तेजके घमंडको मिटा देते हैं ॥ २ ॥

(अवस्थस्य क्रदीवतः) नीच, गाली देनेवाले, (शांकुरस्य नितोदिनः) कंटक जैसे व्यवहार करनेवाले और पीडा देनेवाले दुष्ट मनुष्यका (यत् आततं) जो फैला हुआ दुष्कृत्य है, (तत् अव तनु) वह मिट जावे, (यत् उत्ततं तत् नितनु) जो ऊपर उठा हुआ हो वह नीचा हो जावे। (यथा शेपः स्त्रीषु अपायाते) जिस रीतिसे इनका दुष्कर्म स्त्रियोंके विषयमें न होवे उस प्रकार उनतक ये दुष्ट (अनावयाः असत्) न पहुंचनेवाले हों ॥ ३ ॥

भावार्थ— दुष्ट मनुष्यका धन लेकर ईश्वरके शुभ कर्ममें लगा दो ॥ २ ॥
पीडा देनेवाले दुष्ट मनुष्य स्त्रियोंको कभी कष्ट न दें ऐसा प्रबंध करो ॥ ३ ॥

यह सूक्त स्पष्ट है अतः इसका विशेष विवरण करनेकी आवश्यकता नहीं। दुष्टोंके आक्रमणसे स्त्रियोंका बचाव करना चाहिये। स्त्रियोंके पास भी कोई दुष्ट मनुष्य न पहुंच सके।

राजाका कर्तव्य

[९१ (९६)]

(ऋषिः- अथर्वा। देवता- चन्द्रमाः (इन्द्रः ?) ।)

इन्द्रः सुत्रामा स्ववाँ अवोभिः सुमृडीको भवतु विश्ववेदाः ।
बाधतां द्वेषो अभयं नः कृणोतु सुवीर्यस्य पतयः स्याम ॥ १ ॥

अर्थ— (सुत्रामा स्ववान्) उत्तम रक्षक आत्मविश्वाससे युक्त (विश्ववेदाः इन्द्रः अवोभिः सुमृडीकः भवतु) सब धनोंसे युक्त प्रभु अपनी रक्षाओंसे उत्तम सुखकारी होवे। (द्वेषः बाधतां) शत्रुओंका प्रतिबंध करे (नः अभयं कृणोतु) हमारे लिये निर्भयता करे। (सुवीर्यस्य पतयः स्याम) हम उत्तम धनके स्वामी बनें ॥ १ ॥

भावार्थ— राजा उत्तम रक्षक, अपने सामर्थ्य पर विश्वास रखनेवाला, धनवान्, प्रजाकी रक्षा करके उनको सुख देनेवाला होवे। शत्रुओंको दूर करे और उनको रोक रखे। प्रजाको अभय देवे और प्रजाको धनसंपन्न करे ॥ १ ॥

यहां इन्द्रके वर्णनके मिषसे राजाके गुण वर्णन किये हैं। इसी प्रकार आगेका सूक्त भी इसी विषयका है—

राजाका कर्तव्य

[९२ (९७)]

(ऋषिः- अथर्वा। देवता- चन्द्रमाः (इन्द्रः?)।)

स सुत्रामा स्ववाँ इन्द्रो अस्मदाराच्चिद् द्वेषः सनुतर्युयोतु।
तस्य वयं सुमतौ यज्ञियस्यापि भद्रे सौमनसे स्याम ॥ १ ॥

अर्थ— (सः सु-त्रामा स्ववान् इन्द्रः) वह उत्तम रक्षक आत्मशक्तिका विश्वासी प्रभु (द्वेषः) शत्रुओंको (अस्मत् आरात् चित् सनुतः युयोत) हमारे पाससे निश्चयपूर्वक दूर करे। (वयं तस्य यज्ञियस्य सुमतौ स्याम) हम उस पूजनीयकी सुमतिमें रहें। (अपि सौमनसे स्याम) और उसके उत्तम मनोभावमें रहें ॥ १ ॥

भावार्थ— वह उत्तम रक्षक आत्मबलसे युक्त राजा शत्रुओंको प्रजाजनोंसे दूर करे। प्रजा भी उस पूजनीय राजाके विषयमें उत्तम बुद्धि धारण करे और वह भी उनके विषयमें शुभमति धारण करें ॥ १ ॥

राजा प्रजाकी रक्षा करे, प्रजा भी राजनिष्ठ रहे और दोनों एक दूसरेके विषयसे सुबुद्धि धारण करें। यह सूक्त भी प्रभुका वर्णन करते हुए राजाके गुण बता रहा है।

राजाका कर्तव्य

[९३ (९८)]

(ऋषिः- भृग्वङ्गिराः। देवता- इन्द्रः।)

इन्द्रेण मन्युना वयमभि ष्याम पृतन्यतः। घ्नन्तो वृत्राण्यप्रति ॥ १ ॥

अर्थ— (मन्युना इन्द्रेण वयं) उत्साहयुक्त इन्द्रके साथ रहकर हम सब (वृत्राणि अप्रति घ्नन्तः) शत्रुओं को उत्तम रीतिसे मारते हुए (पृतन्यतः अभि-स्याम) सेना लेकर चढाई करनेवालोंको जीतें ॥ १ ॥

इस सूक्तमें इन्द्रके वर्णनके मिषसे राजाका वर्णन पूर्ववत् ही है। उत्साही वीर राजाके आधिपत्यमें रहनेवाले प्रजाजन (वृत्र) आवरक शत्रुका नाश करनेमें समर्थ होते हैं और सैन्यके साथ चढाई करनेवाले वैरीका भी पराजय करनेमें समर्थ होते हैं।

स्वावलम्बी प्रजा

[९४ (९९)]

(ऋषिः- अथर्वा। देवता- सोमः।)

ध्रुवं ध्रुवेण हविषाव सोमं नयामसि।
यथा न इन्द्रः केवलीर्विशः संमनसस्करत् ॥ १ ॥

अर्थ— (ध्रुवेण हविषा) स्थिर हविसे (ध्रुवं सोमं अव नयामसि) स्थिर सोमको प्राप्त करते हैं। (यथा इन्द्रः) जिससे इन्द्र (नः विशः केवलीः संमनसः करत्) हमारी प्रजाओंको दूसरेके ऊपर अवलंबन न करनेवाली और उत्तम मनवाली करे ॥ १ ॥

स्थिर कर प्रदान करनेसे राजा स्थिर रहता है और वह अपनी प्रजाको (केवलीः) स्वतंत्र, स्वावलंबनी अर्थात् दूसरे पर अवलंबन न करनेवाली और (सं-मनसः) उत्तम मनवाली करता है। केवल अपनी ही शक्तिसे रहनेवाली, दूसरेकी शक्तिकी सहायता न लेनेवाली जो प्रजा होती है उसका वेदमें ' केवली प्रजा ' है। यह शब्द प्रजाकी श्रेष्ठतम उन्नतिका सूचक है। जिस राष्ट्रकी प्रजा केवल अपनी शक्तिसे ही रहती है और किसी प्रकार दूसरेपर निर्भर नहीं होती उस राष्ट्रको पूर्ण मानना चाहिए।

हृदयके दो गीध

[९५ (१००)]

(ऋषिः- कपिञ्जलः । देवता- गृध्रौ ।)

उदस्य श्यावौ विथुरौ गृध्रौ द्यामिव पेततुः ।
उच्छोचनप्रशोचनावस्योच्छोचनौ हृदः ॥ १ ॥
अहमेनावुदतिष्ठिपं गावौ श्रान्तसदाविव ।
कुर्कुराविव कूजन्तावुदवन्तौ वृकाविव ॥ २ ॥
आतोदिनौ नितोदिनावथो संतोदिनावुत ।
अपि नह्याम्यस्य मेढ्रं य इतः स्त्री पुमाञ्जभार ॥ ३ ॥

अर्थ— (अस्य विथुरौ गृध्रौ) इसकी व्यथा बढानेवाले दो गीध (श्यावौ गृध्रौ इव) श्यामरंगवाले गीधोंके समान (द्यां उत् पेततुः) आकाशमें उडते हैं। ये (उच्छोचनप्रशोचनौ) शोक बढानेवाले और सुखानेवाले हैं। ये (अस्य हृदः उच्छोचनौ) इसके हृदयको सुखानेवाले हैं ॥ १ ॥

(श्रान्तसदौ गावौ इव) थके हुए गौओं या बैलोंके समान (कूजन्तौ कुर्कुरौ इव) चिल्लानेवाले कुत्तोंके समान, (उत्-अवन्तौ वृकौ इव) हमला करनेवाले भेडियोंके समान (अहं एनौ उत् अति छिपं) मैं इन दोनोंको लांघता हूं ॥ २ ॥

(आतोदिनौ नितोदिनौ) पीडा देनेवाले और व्यथा करनेवाले (अथो उत संतोदिनौ) और दुःख देनेवाले उन दोनोंको (अपि नह्यामि) मैं बांध देता हूं। (यः पुमान्) जो पुरुष या (स्त्री) स्त्री (इतः मेढ्रं जभार) यहांसे प्रजननसामर्थ्य धारण करते हैं, उनका भी संयमन करता हूं ॥ ३ ॥

भावार्थ— काम और लोभ ये दो गीधके समान दो भाव मनुष्यमें रहते हैं। ये पीडा बढानेवाले हैं। ये दोनों शोक बढानेवाले और सुखानेवाले हैं। ये हृदयको भी सुखाते हैं ॥ १ ॥

बैलों, कुत्तों या भेडियोंके समान मैं इन दोनों भावोंको लांघकर परे जाता हूं अर्थात् इनको काबूमें रखता हूं ॥ २ ॥

स्त्री या पुरुष इनके इंद्रियोंका इसमें संबंध है अतः इन पीडा देनेवाले दोनों भावोंको मैं बंधनमें रखता हूं ॥ ३ ॥

स्त्रीपुरुषविषयक काम और लोभ ये मनुष्यके अन्तःकरणको सुखानेवाले, पीडा और कष्ट देनेवाले हैं। ये गीधके समान मनुष्यके अन्तःकरणपर हमला करते हैं। अतः इनको बंधनमें-प्रतिबंधमें-रखना चाहिये। अर्थात् इन वृत्तियोंका संयम करना चाहिये। संयम करनेसे ही मनुष्य सुखी होता है।

दोनों मूत्राशय

[९६ (१०१)]

(ऋषिः— कपिञ्जलः । देवता— वयः ।)

असदन्गावः सदनेऽपप्तद्वसतिं वयः ।
आस्थाने पर्वता अस्थुः स्थाम्नि वृक्कावतिष्ठिपम् ॥ १ ॥

अर्थ— (गावः सदने असदन्) गौवें गोशालामें बैठती हैं, (वयः वसतिं अपप्तत्) पक्षी घोंसलेमें आते हैं, (पर्वताः आस्थाने अस्थुः) पर्वत अपने स्थानमें स्थिर हैं, उसी प्रकार (स्थाम्नि वृक्कौ अतिष्ठिपं) सुदृढ स्थानपर दोनों मूत्राशयोंको स्थिर करता हूं ॥ १ ॥

शरीरमें दोनों ओर दो मूत्राशय हैं, वे सुदृढ स्थानपर हैं। उनको उत्तम अवस्थामें रखनेसे शरीरका स्वास्थ्य ठीक रहता है। ये ही दो अवयव शरीरका विष दूर करते हैं अतः इनको ठीक अवस्थामें रखना हरएक मनुष्यका कार्य है। इंद्रिय-संयमसे ही ये दोनों ठीक अवस्थामें रहते हैं और अपना कार्य करनेमें समर्थ होते हैं।

यज्ञ

[९७ (१०२)]

(ऋषिः— अथर्वा । देवता— इन्द्राग्नी ।)

यदद्य त्वा प्रयति यज्ञे अस्मिन्होतश्चिकित्वन्नवृणीमहीह ।
ध्रुवमयो ध्रुवमुता शविष्ठ प्रविद्वान्यज्ञमुप याहि सोमम् ॥ १ ॥
समिन्द्र नो मनसा नेष गोभिः सं सूरिभिर्हरिवन्त्सं स्वस्त्या ।
सं ब्रह्मणा देवहितं यदस्ति सं देवानां सुमतौ यज्ञियानाम् ॥ २ ॥

अर्थ— हे (चिकित्वान् होतः) ज्ञानी हवनकर्ता ! (यत् अद्य इह) जो आज यहां (अस्मिन् प्रयति यज्ञे) इस प्रयत्नपूर्वक करने योग्य यज्ञमें हम (त्वा अवृणीमहि) तुझे स्वीकार करते हैं। हे (शविष्ठ) बलिष्ठ ! तू (ध्रुवं अयः) स्थिरतासे जा (उत ध्रुवं यज्ञं प्रविद्वान्) और स्थिरयज्ञको जाननेवाला तू (सोमं उप याहि) सोमके पास जा ॥ १ ॥

हे (हरिवन् इन्द्र) किरणयुक्त तेजस्वी प्रभो ! (नः मनसा गोभिः सं) हमें मनसे गौओंसे युक्त कर, (सूरिभिः सं) विद्वानोंसे युक्त कर, (स्वस्त्या सं) कल्याणसे युक्त कर और (नेष) ले चल। (यत् देवहितं अस्ति) जो देवोंका हितकारी है उस (ब्रह्मणा सं) ज्ञानसे युक्त कर तथा (यज्ञियानां देवानां सुमतौ सं) पूजनीय देवोंकी उत्तम मतिमें हमें ले चल ॥ २ ॥

भावार्थ— हे ज्ञानी होता गण ! तुम्हारा वरण मैंने इस यज्ञमें किया है, वह यज्ञ उत्तम विधिपूर्वक करो। स्थिर-चित्तसे रहो और शान्तिसे यज्ञ समाप्त करो ॥ १ ॥

हे देव ! हमें गौवें दो, ज्ञानियोंकी संगति दो, हमारा सब प्रकार हित करो, जो हितकारी ज्ञान है वह मुझे दो, सब सज्जनोंका मन मेरे विषयमें उत्तम होवे ॥ २ ॥

यानावंह उशतो देव देवास्तान्प्रेरय स्वे अंग्ने सधस्थे ।
जक्षिवांसः पपिवांसो मधून्यस्मै धत्त वसवो वसूनि ॥ ३ ॥
सुगा वो देवाः सदना अकर्म य आजग्म सवने मा जुषाणाः ।
वहमाना भरमाणाः स्वा वसूनि वसुं घर्मं दिवमा रोहतानु ॥ ४ ॥
यज्ञं यज्ञं गच्छ यज्ञपतिं गच्छ । स्वां योनिं गच्छ स्वाहा ॥ ५ ॥
एष ते यज्ञो यज्ञपते सहसूक्तवाकः । सुवीर्यः स्वाहा ॥ ६ ॥
वषड्ढुतेभ्यो वषडहुतेभ्यः । देवा गातुविदो गातुं वित्त्वा गातुमित ॥ ७ ॥

अर्थ— हे (देव अग्ने) देव अग्ने! (यान् उशतः देवान्) जिन अभिलाषा करनेवाले देवोंको (आ अवहः) यहां ले आया था (तान् स्वे सधस्थे प्रेरय) उनको अपने सब स्थानमें प्रेरित कर। हे (वसवः) वसुदेवो! (जक्षिवांसः) अन्न खाते हुए और (मधूनि पपिवांसः) मधुर रस पीते हुए हमारे लिये (वसूनि धत्त) धनोंको प्रदान करो ॥ ३ ॥

हे (देवाः) देवो! हम (वः सु-गा सदना अकर्म) तुम्हारे लिये उत्तम जाने योग्य घर बनाते हैं। (सवने मा जुषाणाः आजग्म) यज्ञमें मेरे दानको स्वीकार करते हुए आप आये, अब (स्वा वसूनि वहमानाः वसुं भरमाणाः) अपने धनोंको धारण करते हुए और हमारे लिये धनका धारण करनेवाले तुम सब (घर्मं दिवं अनु आरोहत) प्रकाशमान द्युलोकके ऊपर चढो ॥ ४ ॥

हे (यज्ञ) यज्ञ! तू (यज्ञं गच्छ) यज्ञस्थानके प्रति जा, (यज्ञपतिं गच्छ) यजमानको प्राप्त हो। (स्वां योनिं गच्छ) अपने आश्रयस्थानको प्राप्त हो। (स्वा-हा) स्वकीय वस्तुका त्याग ही यज्ञ है ॥ ५ ॥

हे (यज्ञपते) यज्ञकर्ता यजमान! (एषः ते यज्ञः) यह तेरा यज्ञ (सह-सूक्त-वाकः) उत्तम सूक्त वचनोंसे युक्त है। अतः (सुवीर्यः) यह वीर्यवान् है। (स्वा-हा) स्वकीय अर्थका त्याग ही यज्ञ है ॥ ६ ॥

(हुतेभ्यः वषट्) हवन करनेवालोंके लिए अर्पित है और (अहुतेभ्यः वषट्) हवन न करनेवालोंके लिये भी अर्पित है। हे (देवाः) देवो! आप लोग (गातुविदः) मार्गोंको जाननेवाले हैं, (गातुं वित्त्वा गातुं इत) मार्गको जानकर मार्गसे ही जाओ ॥ ७ ॥

भावार्थ— अग्नि इस यज्ञमें सब देवोंको लाता और वापस पहुंचाता है। सब देव यहां आवें, अन्न खावें, सोमरस पीवें और हमें धन देवें ॥ ३ ॥

हे देवो! यह यज्ञ मानो तुम्हारा घर ही है। इस सोमाभिषवमें आओ, साथ धन लेते आओ, वह धन हमें अर्पण करो और यज्ञसमाप्तिके बाद स्वर्गमें अपने स्थानमें जाओ ॥ ४ ॥

यज्ञ यज्ञस्थानमें और यजमानके पास ही होता है। स्वार्थका त्याग करना ही यज्ञ है ॥ ५ ॥

सूक्त और मंत्रकथनपूर्वक जो यज्ञ होता है वही वीर्यवान् होता है। स्वार्थत्याग ही यज्ञ है ॥ ६ ॥

समर्पण तो सबके लिये करना चाहिये। चाहे वे यज्ञ करनेवाले हों या न हों। मार्ग जाननेके पश्चात् उसी मार्गसे जाना उत्तम है ॥ ७ ॥

मनसस्पत इमं नो दिवि देवेषु यज्ञम् ।
स्वाहा दिवि स्वाहा पृथिव्यां स्वाहान्तरिक्षे स्वाहा वाते धां स्वाहा ॥ ८ ॥

अर्थ— हे (मनसः-पते) मनके स्वामी! (नः इमं यज्ञं दिवि देवेषु) हमारे इस यज्ञको द्युलोकमें देवोंके मध्यमें (धां) धारण करते हैं। (दिवि स्वा-हा) द्युलोकमें हमारा समर्पण, (पृथिव्यां स्वाहा) पृथिवीमें हमारा यह समर्पण पहुंचे, और (अन्तरिक्षे स्वाहा) अन्तरिक्षमें तथा (वाते स्वाहा) वायुमें अथवा प्राणमें हमारा समर्पण पहुंचे ॥ ८ ॥

भावार्थ— हे मनपर अधिकार रखनेवाले यजमान! जो यज्ञ तुम करो उसे देवोंके लिये समर्पित करो, उसका समर्पण पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्युलोकमें स्थित सबके लिये होवे ॥ ८ ॥

यह सूक्त यज्ञका महत्त्व वर्णन करता है।

यज्ञ

[९८ (१०३)]

(ऋषिः- अथर्वा। देवता- इन्द्रः, विश्वे देवाः।)

सं बर्हिरक्तं हविषा घृतेन समिन्द्रेण वसुना सं मरुद्भिः ।
सं देवैर्विश्वदेवेभिरक्तमिन्द्रं गच्छतु हविः स्वाहा ॥ १ ॥

अर्थ— (घृतेन हविषा बर्हिः सं अक्तं) घी और हवन सामग्रीसे आहुति भरपूर हो, (इन्द्रेण, वसुना, मरुद्भिः सं अक्तं) इन्द्र, वसु, मरुत् इन देवोंके साथ (विश्वदेवेभिः देवैः सं) सब अन्य देवोंके साथ भरपूर हो। (हविः इन्द्रं गच्छतु) यह हवन सब देवोंके मुख्य प्रभुको पहुंचे। (स्वा-हा) यह आत्मसमर्पण ही है ॥ १ ॥

इस सूक्तका संबंध पूर्वसूक्तके साथ है। हवनसामग्री, घी आदि पदार्थ पूर्ण रीतिसे यथाविधि यज्ञमें समर्पित किये जावें। यह सब यज्ञ परमेश्वरको समर्पित हो ऐसी बुद्धिसे अर्थात् ईश्वरार्पणबुद्धिसे किया जावे। स्वार्थत्याग-अपनी वस्तुका समर्पण-करनेसे ही यज्ञ सिद्ध होता है।

यज्ञ

[९९ (१०४)]

(ऋषिः- अथर्वा। देवता- वेदी।)

परि स्तृणीहि परि धेहि वेदिं मा जामिं मोषीरमुया शयानाम् ।
होतृषदनं हरितं हिरण्ययं निष्का एते यजमानस्य लोके ॥ १ ॥

अर्थ— (वेदिं परिस्तृणीहि) वेदिके चारों ओर अच्छी प्रकार आच्छादित कर और (परि धेहि) उसको धारण कर। (अमुया शयानां जामिं मा मोषीः) इस यज्ञ भूमिमें सोनेवाली इस हमारी बहिन अर्थात् यजमानकी धर्मपत्नीके साथ कपट मत कर। (होतृ-सदनं हरितं हिरण्मयं) यह हवनकर्ताका घर हरियावलसे युक्त और उत्तमवर्ण युक्त है। (यजमानस्य लोके एते निष्काः) यजमानके स्थानपर ये सिक्के, सुनहरी मोहरें, या आभूषण हैं ॥ १ ॥

वेदिके चारों ओर अत्यंत स्वच्छता रखनी चाहिये और सदा वह स्थिर रखनी चाहिये। किसी स्त्रीके साथ कपट या बुरा वर्ताव नहीं करना चाहिये। घरके साथ हरियावल युक्त उद्यान बना कर उसको उत्तम अवस्थामें रखना चाहिये। घरको उत्तम स्वच्छ अवस्थामें रखना चाहिये। येही गृहस्थीके भूषण हैं।

*

दुष्ट स्वप्न न आनेके लिये उपाय

[१०० (१०५)]

(ऋषिः- यमः । देवता- दुःस्वप्ननाशनम् ।)

पर्यावर्ते दुष्वप्न्यात्पापात्स्वप्न्यादभूत्याः ।
ब्रह्माहमन्तरं कृण्वे परा स्वप्नमुखाः शुचः ॥ १ ॥

अर्थ— मैं (पापात् दुष्वप्न्यात् पर्यावर्ते) पापसे दुष्ट स्वप्नसे पीछे हटता हूं। (अभूत्याः स्वप्न्यात्) अवनतिकारक स्वप्नसे पीछे रहता हूं। (अहं अन्तरं ब्रह्म कृण्वे) मैं बीचमें ज्ञानको रखता हूं (स्वप्नमुखाः शुचः परा) मैं दुःस्वप्न आदि शोकजनक बातोंको दूर करता हूं ॥ १ ॥

पापसे दुष्ट स्वप्न, शारीरिक अवनति, तथा शोकमय स्वभाव बनता है। पाप शारीरिक, इंद्रियविषयक, मानसिक, वाचिक और बौद्धिक मलोंसे होता है अथवा पापसे इनमें मलसंचय होता है। अतः पूर्वोक्त प्रकार इन स्थानोंके मल दूर करने चाहिये, जिससे पाप कम होनेसे दुष्ट स्वप्नोंका आना दूर होगा। शरीरादिकी शुद्धि करनेके उपाय इससे पूर्व कहे गये हैं। अपने और पापके बीचमें (ब्रह्म) अर्थात् ज्ञान किंवा परमेश्वरका भजन रखना चाहिये। इससे निःसंदेह पाप दूर होगा। मनकी शान्ति प्राप्त होकर बुरे स्वप्न कदापि नहीं आवेंगे।

दुष्ट स्वप्न न आनेके लिये उपाय

[१०१ (१०६)]

(ऋषिः- यमः । देवता- स्वप्ननाशनम् ।)

यत्स्वप्ने अन्नमश्नामि न प्रातरधिगम्यते ।
सर्वं तदस्तु मे शिवं नहि तद्दृश्यते दिवा ॥ १ ॥

अर्थ— (यत् स्वप्ने अन्नं अश्नामि) जो स्वप्नमें मैं अन्न खाता हूं वह (प्रातः न अधिगम्यते) सबेरे नहीं प्राप्त होता है। (तत् सर्वं मे शिवं अस्तु) वह सब मेरे लिये शुभ होवे। (तत् दिवा नहि दृश्यते) वह दिनके समय नहीं दीखता ॥ १ ॥

स्वप्नमें भोजनादि भोग भोगनेका जो दृश्य दीखता है, वह सबेरे उठनेपर या दिनमें नहीं दिखाई देता। अतः वह असत्य है। वह केवल मनकी विकृतिके कारण दीखता है। अतः ऐसे स्वप्न न आयें इसलिये उत्तम ज्ञानपूर्वक यत्न करना चाहिये। जिसका वर्णन इससे पूर्व किया है।

उच्च वनकर रहना

[१०२ (१०७)]

(ऋषिः- प्रजापतिः । देवता- मंत्रोक्ता नानादेवताः ।)

नमस्कृत्य द्यावापृथिवीभ्यामन्तरिक्षाय मृत्यवे ।
मेक्षाम्यूर्ध्वस्तिष्ठन्मा मां हिंसिषुरीश्वराः ॥ १ ॥

अर्थ— (द्यावापृथिवीभ्यां) द्युलोक और पृथ्वीलोकको तथा (अन्तरिक्षाय मृत्यवे नमस्कृत्य) अन्तरिक्ष और मृत्युको नमस्कार करके (ऊर्ध्वः तिष्ठन् मेक्षामि=मेषामि=मिषामि) ऊंचा खडा होकर निरीक्षण करता हूं । अतः (ईश्वराः मा मा हिंसिषुः) स्वामी – अधिकारी – मेरा नाश न करें ॥ १ ॥

द्युलोक, अन्तरिक्षलोक और भूलोक इनमें रहनेवाले आप्त पुरुषोंको और मृत्युको नमस्कार करके अपनी धर्ममर्यादाके अनुसार मैं रहता हूं । उच्च बनकर, उच्च स्थानमें रहता हुआ, उच्च विचार करता हुआ, उच्च लोगोंके साथ संबंध जोडता हुआ, आंखें खोल कर जगत्का निरीक्षण करता हूं । और योग्य आचरण करता हूं । अतः इस विश्वके अधिकारी मेरी हिंसा न करें, मेरा घात न करें ।

उद्धारक क्षत्रिय

[१०३ (१०८)]

(ऋषिः- ब्रह्मा । देवता- आत्मा ।)

को अस्या नो द्रुहोऽवद्यवत्या उन्नेष्यति क्षत्रियो वस्य इच्छन् ।
को यज्ञकामः क उ पूर्तिकामः को देवेषु वनुते दीर्घमायुः ॥ १ ॥

अर्थ— (कः= प्रजापतिः क्षत्रियः वस्य इच्छन्) प्रजापालक क्षत्रिय प्रजाका धन बढानेकी इच्छा करता हुआ (अस्याः अवद्यवत्याः द्रुहः नः उन्नेष्यति) परस्परके द्रोहरूप इस निंदनीय दुर्गतिसे हमें ऊपर उठावे (कः=प्रजपतिः यज्ञकामः) प्रजापालनरूप यज्ञकर्ता (उ कः पूर्तिकामः) और वही प्रजापालक हमारी पूर्णता करनेवाला है । (देवेषु कः दीर्घं आयुः वनुते) देवोंके अंदर प्रजापालक ही दीर्घ आयु देता है ॥ १ ॥

इस सूक्तमें उद्धार करनेवाले क्षत्रियके गुणोंका वर्णन किया है, अतः इसका विशेष विचार करना योग्य है—

१ कः क्षत्रियः=(कः=प्रजापतिः=प्रजापालकः । क्षत्रियः क्षतात् त्रायते) दुःखोंसे जो प्रजाजनोंका संरक्षण करता है उसको प्रजापालक क्षत्रिय कहते हैं । प्रजारक्षण क्षत्रियका एक मुख्य गुण है । ' कः ' शब्दका अर्थ प्रजापालक है, वही राजा है ।

२ वस्य इच्छन्= (वसु इच्छन्) धनकी इच्छा करनेवाला प्रजाजनोंके ऐश्वर्य बढानेकी इच्छा करनेवाला क्षत्रिय हो ।

३ अस्याः अवद्यवत्याः द्रुहः नः उन्नेष्यति— इस निंदनीय आपसी कलह और पारस्परिक द्रोह करनेकी अवस्थासे हम प्रजाजनोंका उद्धार करनेवाला क्षत्रिय हो, क्षत्रियका यही कर्तव्य है कि, वह प्रजाजनोंको ऐसी शिक्षा देवे कि, वे आपस में कलह करना छोड देवें, पारस्परिक द्रोह करना छोड देवें ।

४ यज्ञकामः क्षत्रियः= सत्कार–संगति–दानात्मक कर्मका नाम यज्ञ है । संगतिकरण रूप यज्ञ करनेवाला अर्थात् प्रजाजनोंका संगठन करनेवाला क्षत्रिय हो । क्षत्रिय कभी प्रजामें फूट न करे और कभी आपसके द्रोहके भावको न बढावे ।

५ पूर्तिकामः क्षत्रियः— प्रजाजनोंकी सब प्रकार पूर्णता करनेवाला राजा हो। प्रजाजनोंमें जो जो न्यूनता हो उसको पूर्ण करे, और अपनी प्रजामें कभी अपूर्णता न रहने दे।

६ दीर्घ आयुः वनुते= प्रजाजनोंको दीर्घ आयु प्राप्त हो, ऐसा प्रबंध करनेवाला राजा हो। राजा राज्यशासनका ऐसा प्रबंध करे कि, जिससे प्रजाकी आयु बढे और कभी न घटे।

गौको समर्थ बनाना

[१०४ (१०९)]

(ऋषिः- ब्रह्मा। देवता- आत्मा।)

कः पृश्निं धेनुं वरुणेन दत्तामथर्वणे सुदुघां नित्यवत्साम्।
बृहस्पतिना सख्यं जुषाणो यथावशं तन्वः कल्पयाति ॥ १ ॥

अर्थ— (वरुणेन अथर्वणे दत्तां) वरुणके द्वारा अथर्वा अर्थात् निश्चल योगीको दी हुई (सुदुघां नित्यवत्सां पृश्निं धेनुं) सुखसे दुहनेयोग्य वत्सके साथ रहनेवाली विविध रंगवाली गौको, (बृहस्पतिना सख्यं जुषाणः) ज्ञानीके साथ मित्रता करता हुआ (यथावशं तन्वः कः=प्रजापतिः कल्पयाति) इच्छाके अनुसार शरीरके विषयमें प्रजाका पालन करनेवाला ही समर्थ करता है ॥ १ ॥

[यह सूक्त अभीतक स्पष्ट नहीं हुआ। पर गौका सामर्थ्य बढानेका विषय इसमें है। गायकी दूध देनेकी शक्ति तथा अन्य शक्ति बढानेका उपदेश इसमें है। प्रजाका पालक ज्ञानीके साथ मंत्रणा करता हुआ गायको समर्थ करता है। यह आशय यहां दीखता है। परंतु सब मंत्र ठीक प्रकार समझमें नहीं आता है।]

दिव्य वचन

[१०५ (११०)]

(ऋषिः- अथर्वा। देवता- मन्त्रोक्ता।)

अपक्रामन्पौरुषेयाद्वृणानो दैव्यं वचः।
प्रणीतीरभ्यावर्तस्व विश्वेभिः सखिभिः सह ॥ १ ॥

अर्थ— (पौरुषेयात् अपक्रामन्) सामान्य मनुष्योंके करनेयोग्य कर्मोंसे हट कर (दैव्यं वचः वृणानः) दिव्य वचनोंको स्वीकार कर, (विश्वेभिः सखिभिः सह) अपने सब मित्रोंके साथ (प्र-नीतीः अभ्यावर्तस्व) उत्कृष्ट नीतिनियमोंके अनुकूल आचरण कर ॥ १ ॥

सामान्य हीन अशिक्षित असभ्य मनुष्य जैसा हीन व्यवहार करते हैं, उसको छोडना चाहिये। दिव्य उपदेशवचनोंको- वेदवचनोंको-स्वीकार करना चाहिये। और अपने सब मित्रोंके साथ उस उपदेशके श्रेष्ठ आदेशोंके अनुसार अपना आचरण करना चाहिये। उन्नतिका यही मार्ग है।

अमृतत्वकी प्राप्ति

[१०६ (१११)]

(ऋषिः- अथर्वा । देवता- जातवेदा वरुणश्च ।)

यदस्मृति चकृम किं चिदग्न उपारिम चरणे जातवेदः ।
ततः पाहि त्वं नः प्रचेतः शुभे सखिभ्यो अमृतत्वमस्तु नः ॥ १ ॥

अर्थ— हे (जातवेदः अग्ने) ज्ञातवेद प्रकाश देव ! (यत् चरणे किंचित् अस्मृति चकृम) जो आचारमें किंचित् विना स्मरणके हम करें और उसमें (उपारिम) कुछ अशुद्धि करें । हे (प्रचेतः) उत्कृष्ट चित्तवाले देव ! (त्वं नः ततः पाहि) तू हमें उससे बचा और (नः सखिभ्यः) हमारे मित्रोंको (शुभे अमृतत्वं अस्तु) शुभ मार्गमें अमरपन प्राप्त हो ॥ १ ॥

यह उत्तम प्रार्थना है । ' हे प्रभो ! हम जो आचरण करते हैं, उसमें यदि कुछ हमारे नासमझीके कारण कुछ अशुद्धि हो जावे, तो उस अपराधकी क्षमा हो और हमें शुभ मार्गसे अमृतत्वकी प्राप्ति हो । ' यह उत्तम प्रार्थना है और हरएक मनुष्यको प्रतिदिन करनी चाहिए ।

अमृतत्वकी प्राप्ति

[१०७ (११२)]

(ऋषिः- भृगुः । देवता- सूर्यः आपः च ।)

अव दिवस्तारयन्ति सप्त सूर्यस्य रश्मयः ।
आपः समुद्रिया धारास्तास्ते शल्यमसिस्रसन् ॥ १ ॥

अर्थ— (सूर्यस्य सप्त रश्मयः) सूर्यकी सात किरणें (समुद्रियाः आपः धाराः) समुद्रकी जलधाराओंको (दिवः अव तारयन्ति) द्युलोकसे नीचे लाती हैं । (ताः ते शल्यं असिस्रसन्) वे जलधाराएं तेरे शल्यको हटा देती हैं ॥ १ ॥

सूर्य अपनी किरणोंसे पृथ्वीके ऊपरके जलकी बाष्प बनाकर ऊपर ले जाता है और उसके मेघ बनाता है । पश्चात् उसीकी किरणोंसे उन मेघोंसे वृष्टि होती है और भूमिपर जलप्रवाह बहने लगते हैं । यह जलचक्र इस प्रकार चलता रहता है ।

दुष्टोंका संहार

[१०८ (११३)]

(ऋषिः- भृगुः । देवता- अग्निः ।)

यो नस्तायद्दिप्सति यो न आविः स्वो विद्वानरणो वा नो अग्ने ।
प्रतीच्येत्वरणी दत्वती तान्मैषामग्ने वास्तु भून्मो अपत्यम् ॥ १ ॥

अर्थ— हे अग्ने ! (यः नः तायत् दिप्सति) जो हमें छिपकर सताता है तथा (यः नः आविः) जो हमें प्रकट रूपसे दुःख देता है । वह चाहे (नः स्वः विद्वान् अरणः) हमारा अपना संबंधी विद्वान् किंवा परकीय भी क्यों न हो (तान् दत्वती अरणी प्रतीची एतु) उनपर दांतवाली सोटी उलटी चले । हे (अग्ने) अग्ने ! (एषां वास्तु मा भूत्) इनका कोई घर न हो और (मा अपत्यं उ) न इनकी कोई सन्तान हो ॥ १ ॥

यो नः सुप्ताञ्जाग्रतो वाभिदासात्तिष्ठतो वा चरतो जातवेदः ।
वैश्वानरेण सयुजा सजोषास्तान्प्रतीचो निर्दह जातवेदः ॥ २ ॥

अर्थ— हे (जातवेदः) जातवेदः अग्ने! (यः नः सुप्तान् जाग्रतः वा अभिदासात्) जो हमें सोते हुए या जागते हुए नष्ट करे, (यः तिष्ठतः वा चरतः) जो ठहरे हुए या चलते हुएका नाश करे। हे (जातवेदः) अग्ने! (वैश्वानरेण सयुजा सजोषाः) विश्वके नेताके साथ मिलकर (तान् प्रतीचः निः दह) उन प्रतिकूल चलनेवालोंको भस्म कर ॥ २ ॥

जो छिपकर हमारा नाश करे, या प्रकट रूपसे हमें सतावे। वह हमारा संबंधी हो, मित्र हो, स्वकीय हो या परकीय हो, उस सतानेवालेका नाश किया जावे।

सोते, जागते, खडे हुए या चलते हुए किसी अवस्थामें हम हों, जो हमारा घात करता है, उसका भी नाश किया जावे।

अपने सतानेवाले शत्रुकी उपेक्षा न की जावे, यह इस सूक्तका तात्पर्य है।

राष्ट्रका पोषण करनेवाले

[१०९ (११४)]

(ऋषिः— बादरायणि। देवता— अग्निः।)

इदमुग्राय बभ्रवे नमो यो अक्षेषु तनूवशी ।
घृतेन कलिं शिक्षामि स नो मृडातीदृशे ॥ १ ॥
घृतमप्सराभ्यो वह त्वमग्ने पांसूनक्षेभ्यः सिकता अपश्च ।
यथाभागं हव्यदातिं जुषाणा मदन्ति देवा उभयानि हव्या ॥ २ ॥

अर्थ— (बभ्रवे उग्राय इदं नमः) भरणपोषण करनेवाले उग्र वीरके लिये यह नमस्कार है। (यः अक्षेषु तनूवशी) जो इंद्रियोंके विषयमें अपने शरीरको वशमें रखनेवाला है, (सः नः ईदृशे मृडाति) वह हमें ऐसी अवस्थामें भी सुख देता है। अतः मैं (घृतेन कलिं शिक्षामि) स्नेहसे कलहको— कलह करनेवालोंको— शिक्षित करता हूं ॥ १ ॥

हे (अग्ने) अग्ने! (त्वं अप्-सराभ्यः घृतं वह) तू जलमें संचार करनेवालोंके लिये घी ले जा। (अक्षेभ्यः पांसून् सिकताः अपः च) आंखोंके लिये धूली, बालूसे छाना जल प्राप्त कर। (यथा भागं हव्यदातिं जुषाणाः देवाः) यथायोग्य प्रमाणसे हव्यभागका सेवन करनेवाले देव (उभयानि हव्या मदन्ति) दोनों प्रकारके हव्य पदार्थ प्राप्त करके आनंदित होते हैं ॥ २ ॥

भावार्थ— जो राष्ट्रका भरण और पोषण करनेवाले हैं उनको मैं प्रणाम करता हूं। वे इंद्रियों और शरीरको अपने स्वाधीन करनेवाले हैं। वे ही सब प्रजाओंको सदा सुख देते हैं। हमारे अंदर जो आपसमें कलह हो उसको मैं स्नेहसे शान्त करता हूं ॥ १ ॥

जलमें संचार करनेवालोंको घी दो। आंखोंके लिये रेतसे छाना जल लो। देवताओंको यथायोग्य हवन समर्पण कर, जिससे सब आनंदित हों ॥ २ ॥

अप्सरसः सधमादं मदन्ति हविर्धानमन्तरा सूर्यं च ।
ता मे हस्तौ सं सृजन्तु घृतेन सपत्नं मे कितवं रन्धयन्तु ॥ ३ ॥
आदिनवं प्रतिदीव्ने घृतेनास्माँ अभि क्षर ।
वृक्षमिवाशन्या जहि यो अस्मान्प्रतिदीव्यति ॥ ४ ॥
यो नो द्युवे धनमिदं चकार यो अक्षाणां ग्लहनं शेषणं च ।
स नो देवो हविरिदं जुषाणो गन्धर्वेभिः सधमादं मदेम ॥ ५ ॥
संवसव इति वो नामधेयमुग्रंपश्या राष्ट्रभृतो ह्यक्षाः ।
तेभ्यो व इन्दवो हविषा विधेम वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥ ६ ॥
देवान्यन्नाथितो हुवे ब्रह्मचर्यं यदूषिम ।
अक्षान्यद्बभ्रूनालभे ते नो मृडन्त्वीदृशे ॥ ७ ॥

अर्थ— (सूर्यं च हविर्धानं अन्तरा) सूर्य और हविष्पात्रके मध्य स्थानमें जो (सध-मादं) एक साथ रहनेका स्थान है उसमें (अप्सरसः मदन्ति) अप्सराएं आनंदित होती हैं । (ताः मे हस्तौ) वे मेरे हाथोंको (घृतेन संसृजन्तु) घीसे युक्त करें । और (मे कितवं सपत्नं रन्धयन्तु) मेरे जुआरी शत्रुका नाश करें ॥ ३ ॥

(प्रतिदीव्ने आ-दिनवं) प्रतिपक्षीके साथ मैं विजयेच्छासे लडता हूं । (घृतेन अस्मान् अभिक्षर) घीसे हमें युक्त कर । (यः अस्मान् प्रतिदीव्यति) जो हमारे साथ प्रतिपक्षी होकर व्यवहार करता है, उसको (अशन्या वृक्षं इव जहि) बिजलीसे वृक्ष नाश होता है, वैसे नष्ट कर ॥ ४ ॥

(यः नः द्युवे इदं धनं चकार) जो हमें क्रीडादि व्यवहारके लिये यह धन देता है, (यः अक्षाणां ग्रहणं शेषणं च) जो अक्षोंका ग्रहण तथा विशेषीकरण करता है (सः देवः इदं नः हविः जुषाणः) वह देव इस हमारे हविका सेवन करे और हम (गन्धर्वेभिः सधमादं मदेम) गन्धर्वोंके साथ एक स्थानमें आनंद करें ॥ ५ ॥

(सं-वसवः इति वः नामधेयं) ' सम्यक् रीतिसे वसानेवाले ' इस अर्थमें आपका नाम है । आप (उग्रं-पश्याः) उग्र दृष्टिवाले (राष्ट्र-भृतः) राष्ट्रका भरण पोषण करनेवाले और (अक्षाः) राष्ट्रके मानो आंख ही हैं । हे (इन्दवः) ऐश्वर्यवानो ! (तेभ्यः वः हविषा विधेम) उन तुमको हम हवि समर्पण करते हैं । (वयं रयीणां पतयः स्याम) हम धनके स्वामी बनें ॥ ६ ॥

(यत् नाथितः देवान् हुवे) जो आशीर्वाद प्राप्त करनेवाला मैं देवोंके लिये हवन करता हूं तथा (यत् ब्रह्मचर्यं ऊषिम) जो हमने ब्रह्मचर्यव्रतका पालन किया है। (यत् बभ्रून् अक्षान् आलभे) जो भरण करनेवाले अक्षोंको स्वीकार करता हूं, (ते नः ईदृशे मृडन्तु) वे हमें ऐसी अवस्थामें सुखी करें ॥ ७ ॥

भावार्थ— सूर्य और हविष्य पात्रके मध्यमें जो स्थान है, उसमें सबका रहनेका स्थान है। इस स्थानमें मुझे भी प्राप्त हो और जुआरीका नाश हो ॥ ३ ॥

प्रतिपक्षीपर मुझे विजय प्राप्त हो । हमें घी बहुत प्राप्त हो । जो हमारा प्रतिपक्षी हो उसका नाश हो ॥ ४ ॥

जो हमें व्यवहार करनेके लिये धन देते हैं, उनके साथ हम आनंदपूर्वक रहें ॥ ५ ॥

राष्ट्रका भरण पोषण करनेवाले वीर बडे उग्र स्वरूपके होते हैं । उनके कारण सब राष्ट्रके लोग अपने राष्ट्रमें सुखसे बसते हैं । उनको हम प्रजाजन करभार देते हैं और उनके प्रबंधसे हम धनके स्वामी बनें ॥ ६ ॥

मैं हवन करके देवोंका आशीर्वाद प्राप्त करता हूं । उसी कारण ब्रह्मचर्यव्रतका मैं पालन करता हूं । जो राष्ट्रका भरण पोषण करनेवाले हैं उनके प्रयत्नसे हम सबको सुख प्राप्त होता है ॥ ७ ॥

राष्ट्रका पोषण करनेवाले

यह सूक्त बडा दुर्बोध है और कई मंत्रभागोंका भाव कुछ भी ध्यानमें नहीं आता है। अतः इसकी अधिक खोज होना अत्यंत आवश्यक है। बडा प्रयत्न करनेपर भी इस समय इसकी संगति नहीं लग सकी। तथापि इस सूक्तपर जो विचार सूझे हैं, वे नीचे दिये हैं; जो खोज करनेवालोंके कुछ सहायक बनेंगे—

राष्ट्रभृत्

इसमें 'राष्ट्र-भृत्' किंवा राष्ट्रीय स्वयंसेवक, राष्ट्र-भृत्य, राष्ट्रका भरण पोषण करनेवालोंका वर्णन है। राष्ट्रका (भृत्) भरण पोषण करनेवाले 'राष्ट्रभृत्' कहलाते हैं। इनका नाम 'संवसवः' (सं-वसु) है। उत्तम रीतिसे दूसरोंका निवास होनेके लिये जो प्रयत्न करते हैं उनका यह नाम है। ये (उग्र-पश्याः) उग्र रूपवाले होते हैं, जिनका स्वरूप उग्र अर्थात् वीरतायुक्त होता है। इनको (अक्षाः) अक्ष भी कहते हैं अर्थात् ये राष्ट्रके आंख होते हैं। इनके आंखसे मानो राष्ट्र देखता है। 'अक्ष' का दूसरा अर्थ गाडीके दोनों चक्रोंके मध्यमें रहनेवाली डंडी भी होता है। मानो ये राष्ट्रभृत्य राष्ट्र चक्रका मध्यदण्ड ही है, इन्हींके ऊपर राष्ट्रका चक्र घूमता है। 'अक्ष' शब्दके अन्य अर्थ 'आत्मा, ज्ञान, नियम, आधारसूत्र' हैं। पाठक विचार करेंगे तो उनको निश्चय होगा, कि ये अर्थ भी इनके विषयमें सार्थ हो सकते हैं। (मं० ६)

इनको लोग (तेभ्यः हविषा विधेम) अन्नादि दें, उनको राज्यव्यवस्थाके लिये करभार दें और उनके इंतजाममें रहकर (रयीणां पतयः स्याम) हम सब प्रजाजन धन-धान्यके स्वामी होंगे। प्रजा राजप्रबंधके लिये कर देवे और राष्ट्रसेवक राष्ट्रका ऐसा उत्तम इंतजाम करें कि जिस प्रबंधमें रहकर राष्ट्रके लोग धनधान्यसंपन्न हों। (मं० ६)

(... उग्राय) उग्र वीर राष्ट्रका (बभ्रु) भरण-पोषण करनेवाले हैं किंवा ये भूरे रंगवाले या गव्हमी रंगवाले हैं। इनको (इदं नमः) यह नमस्कार हम करते हैं क्योंकि इनके कारण हमें (सः नः ईदृशे मृडाति) ऐसी विकट अवस्थामें भी सुख होता है। (यः अक्षेषु तनूवशी) जो इन राष्ट्रके आधारभूत वीरोंमें अपने शरीरको स्वाधीन करनेवाला है वही विशेष प्रभावशाली है और वही सबसे अधिक योग्य है। (मं० १)

आपसी झगडे दूर करनेका उपाय

आपसके झगडोंका नाम 'कलि' है। यह कलि सर्वथा नाश करनेवाला है। आपसके कलहोंसे एकका दूसरेके साथ संघर्षण होता है, इस घर्षणसे जो अग्नि उत्पन्न होती है वह दोनोंको जलाती है। इन दोनोंके मध्यमें कुछ तेल या घी डालनेसे संघर्षण कम होता है। यंत्रमें दो चक्रोंका जहां संघर्षण होता है वहां वे दोनों तपते हैं, वहां तेल छोडते हैं तो उनका संघर्षण कम होता है और वे तपते नहीं। कलिको दूर करनेका भी यही उपाय है। (घृतेन कलिं शिक्षामि) घीसे आपसी कलह दूर करनेकी शिक्षा मिलती है। यंत्रचक्रोंका संघर्षण जैसा घीसे कम होता है, उसी प्रकार दो मनुष्यों या दो समाजोंका झगडा भी पारस्परिक स्नेहके वर्तावसे कम हो सकता है। अतः स्नेह (तेल या घी) संघर्षण कम करनेवाला है। यह स्नेह बढानेसे आपसका झगडा दूर होता है। (मं० १)

आपसका झगडा दूर करनेका यह अद्वितीय उपाय है। इससे जैसा वैयक्तिक लाभ हो सकता है, उसी प्रकार सामाजिक और राष्ट्रीय शान्तिका भी लाभ हो सकता है।

द्वितीय मंत्र समझमें आना कठीण है (मं० २)। 'अप्सरस्' शब्दका एक अर्थ प्रसिद्ध है। उससे भिन्न दूसरा अर्थ (अप्-सरः) जलमें संचार करनेवाले, किंवा 'अपस्' नाम 'कर्म' का है। कर्मके साथ जो संचार करते हैं वे 'अप्सरस्' कहे जायगे। ये कर्मचारी (सध-मादं मदन्ति) एक स्थानपर रहना पसंद करते हैं। कर्मचारियोंके लिये एक सुयोग्य स्थान हो। ऐसा स्थान होनेसे उनको आनंद हो सकता है। इन सबको घी विपुल मिलना चाहिये और उसी प्रमाणसे अन्य खानपानके पदार्थ भी मिलने चाहिये। अर्थात् कर्मचारियोंकी अवस्था उत्तम रहनी चाहिये। सबको कार्य प्राप्त हो और सबको खानपान भी विपुल मिले।

(मे सपत्नं कितवं रन्धयन्तु) मेरा प्रतिपक्षी जुआरी नाशको प्राप्त हो। मेरा शत्रु भी नाशको प्राप्त हो और जुआरी भी न रहे। आपसकी शत्रुता जैसी बुरी है उसी प्रकार जुआ खेलना भी बहुत बुरा है। (मं० ३)

(प्रतिदीव्ने आदिनवं) प्रतिपक्षी होकर युद्ध करनेको कोई खडा हो, तो उसके साथ युद्ध करनेकी तैयारी मैं रखता हूं; ऐसा हरएक मनुष्य कहे। ऐसी तैयारी हरएक मनुष्य रखे। अर्थात् हरएक मनुष्य बलवान् बने जिससे उनको शत्रुसे डरनेका कोई कारण न रहे। (यः प्रतिदीव्यति जहि) जो विरुद्ध पक्षी होकर युद्ध करनेको आवे उसका नाश कर। यह सर्वसामान्य आज्ञा है। शत्रुको दूर करनेकी तैयारी हरएकको करना ही चाहिये। (मं. ९)

(यः नः धुवे धनं चकार) जो हमें क्रीडादिव्यवहारके लिये धन देता है उसको हम भी कुछ प्रत्युपकारके रूपमें दे दें। इस मंत्रभागमें जो 'द्युवे, दीव्ने' आदि शब्द हैं, उनमें 'दिव्' धातु है इस धातुके अर्थ 'क्रीडा, विजिगीषा, व्यवहार, द्युति, स्तुति, मोद, मद, स्वप्न, कान्ति, गति, प्रकाश, दान' इत्यादि हैं। प्रायः लोग पहिला 'क्रीडा' अर्थ लेते हैं और ऐसे शब्दोंका अर्थ 'जूआ' करते हैं। ये लोग 'विजिगीषा व्यवहार' आदि अर्थ देखते नहीं। यदि इन अर्थोंका इस मंत्रमें स्वीकार किया जाय, तो संगति लगनेमें बडी सहायता होगी। इसमें जैसा क्रीडा अर्थ है उसी प्रकार अन्य विजयेच्छा व्यवहार आदि भी अर्थ हैं। ये अर्थ लेनेसे 'यः नः द्युवे धनं चकार' इस मंत्रभागका अर्थ 'जो हमारे विजयके कार्यके लिये हमें धन देता है, जो हमारे विविध व्यवहार करनेके लिये धन देता है' इत्यादि अर्थ हो सकते हैं और ये अर्थ बहुत बोधप्रद हैं। जो व्यवहारके लिये हमें धन दे उसको प्रत्युपकारके लिये हम भी लाभका कुछ भाग दें। (मं. ५)

हम (ब्रह्मचर्यं ऊषिम) ब्रह्मचर्यका पालन करें, वीर्यका नाश न करें और बडे लोगोंसे (नाथितः) आशीर्वाद प्राप्त करें जिससे हमारा कल्याण होगा। (मं. ६)

यह सूक्त बडा कठिन है, तथापि ये कुछ सूचक विचार हैं कि जिससे इस सूक्तकी खोज हो सकेगी।

शत्रुका नाश

[११० (११५)]

(ऋषिः— भृगुः। देवता— इन्द्राग्नी।)

अग्न इन्द्रश्च दाशुषे हतो वृत्राण्यप्रति। उभा हि वृत्रहन्तमा ॥ १ ॥
याभ्यामजयन्त्स्व१रग्र एव यावातस्थतुर्भुवनानि विश्वा।
प्रचर्षणी वृषणा वज्रबाहू अग्निमिन्द्रं वृत्रहणा हुवेऽहम् ॥ २ ॥
उप त्वा देवो अग्रभीच्चमसेन बृहस्पतिः।
इन्द्र गीर्भिर्न आ विश यजमानाय सुन्वते ॥ ३ ॥

अर्थ— हे अग्ने! तू और (इन्द्रः च) इन्द्र मिलकर (दाशुषे) दान देनेवालेके लिये (वृत्राणि अप्रति हतः) शत्रुओंको विना भूले मारो। क्योंकि (उभा) तुम दोनों (हि वृत्रहन्तमा) शत्रुका नाश करनेवाले हैं ॥ १ ॥

(याभ्यां अग्रे एव स्वः अजयन्) जिन दोनोंकी सहायतासे पहिले ही स्वर्गलोकको जीत लिया था। (यौ विश्वा भुवनानि आतस्थतुः) जो जो दोनों संपूर्ण भुवनोंमें व्यापते हैं। (प्र-चर्षणी) मनुष्य श्रेष्ठ, (वृषणा) बलवान, (वृत्र-हणौ वज्रबाहू) शत्रुका वध करनेवाले शस्त्रधारी (अग्निं इन्द्रं अहं हुवे) अग्नि और इन्द्रको मैं बुलाता हूं ॥ २ ॥

हे इन्द्र! (बृहस्पतिः देवः त्वा चमसेन उप अग्रभीत्) ज्ञानपति देव तुझे चमससे प्रदान करता है। (सुन्वते यजमानाय) सोमयाजी यजमानके कारण (नः गीर्भिः आविश) हमारे किये हुए स्तुतिके साथ यहां प्रवेश कर ॥ ३ ॥

सन्तानका सुख

[१११ (११६)]

(ऋषिः— ब्रह्मा। देवता— वृषभः।)

इन्द्रस्य कुक्षिरसि सोमधान आत्मा देवानामुत मानुषाणाम्।
इह प्रजा जनय यास्त आसु या अन्यत्रेह तास्ते रमन्ताम् ॥ १ ॥

अर्थ— तू (इन्द्रस्य कुक्षिः असि) इन्द्रका पेट है, तू (सोम-धानः) सोमका धारक है तू (देवानां मानुषाणां आत्मा) देवों और मनुष्योंका आत्मा है। (इह प्रजाः जनय) यहां संतान उत्पन्न कर। (याः ते आसु) जो तेरी प्रजाएं इन भूमियोंमें निवास करती हैं, (याः अन्यत्र) और जो दूसरे स्थानमें निवास करती हैं। (ते ताः रमन्तां) वे तेरी प्रजाएं सुखसे रहें ॥ १ ॥

*

मनुष्य इन्द्र अर्थात् इंद्रियोंको शक्ति देनेवाले आत्माका भोग-संग्रह करनेका मानो पेट ही है, इस पेटमें सोमादि वनस्पतिका संग्रह किया जावे, अर्थात् शाकाहार किया जावे। मांसाहार सर्वथा निषिद्ध है। ऐसा परिशुद्ध मनुष्य इस संसारमें उत्तम संतान उत्पन्न करे, प्रजा अपने देशमें रहे या परदेशमें रहे, वह कहां भी रहे। जहां रहे वहां आनंदसे रहे। सुख और ऐश्वर्य भोगे। सुखपूर्वक रहे।

पापसे छुटकारा

[११२ (११७)]

(ऋषिः- वरुणः । देवता- आपः, वरुणश्च ।)

शुम्भ॑नी द्यावा॑पृथि॒वी अन्ति॑सुम्ने॒ महि॑व्रते ।
आप॑: स॒प्त सु॑स्रुवुर्दे॒वीस्ता नो॑ मुञ्च॒न्त्वंह॑सः ॥ १ ॥
मु॒ञ्चन्तु॑ मा शप॒थ्या॒३॒॑दथो॑ वरु॒ण्या॒॑दु॒त ।
अथो॑ य॒मस्य॒ पड्वी॑शा॒द्विश्व॑स्माद्देवकिल्बि॒षात् ॥ २ ॥

अर्थ— (द्यावा-पृथिवी शुम्भनी) द्युलोक और पृथ्वीलोक ये (महिव्रते अन्ति-सुम्ने) बडा कार्य करनेवाले, और समीपसे सुख देनेवाले हैं। (सप्त देवीः आपः) सात दिव्य नदियां यहां (सुस्रुवुः) बहती हैं। (ताः नः अंहसः मुञ्चन्तु) वह हमें पापसे बचावें ॥ १ ॥

(मा शपथ्यात्) मुझे शापसे (अथो उत वरुण्यात्) और वरुण देवके क्रोधसे (मुञ्चन्तु) बचावें। (अथो यमस्य पड्वीशात्) और यमके बंधन तथा (विश्वस्मात् देव-किल्बिषात्) सब देवोंके प्रति किये दोषसे मुक्त करें ॥ २ ॥

ये द्युलोक और पृथ्वीलोक बडे सुखदायक हैं। यहां बहनेवाली सात नदियां हमें पापसे और सब प्रकारके वाचिक, शारीरिक दोषोंसे बचावें। आध्यात्मिक पक्षमें सात प्रवाह, पंच ज्ञानेन्द्रियां और मन बुद्धि ये हैं। आत्मासे ये सात नदियां इस प्रकार बहती हैं—

ये सात प्रवाह हमें सब पापोंसे बचावें और पापमुक्त करें। निःसन्देह ये नदियां पापसे बचानेवाली हैं।

तृष्णाका विष

[११३ (११८)]

(ऋषिः- भार्गवः । देवता- तृष्टिका ।)

तृष्टिके तृष्टवन्दन उदमूं छिन्धि तृष्टिके । यथा कृतद्विष्टासोऽमुष्मै शेप्यावते ॥ १ ॥
तृष्टासि तृष्टिका विषा विषातक्यसि । परिवृक्ता यथासस्यृषभस्य वशेव ॥ २ ॥

अर्थ—हे (तृष्टिके तृष्टिके) हीन तृष्णा ! हे (तृष्टवन्दने) लोभमयी ! (अमूं उत् छिन्धि) इसको काटो। (यथा अमुष्मै शेप्यावते) जिससे इस बलशाली पुरुषका (कृत-द्विष्टा असः) द्वेष करनेवाली तू होती है ॥ १ ॥

(तृष्टा तृष्टिका असि) तू तृष्णा, लोभमयी है । (विषा विषातकी असि) तू विषैली और विषमयी हो। (यथा परिवृक्ता असासि) जिससे तू घरने योग्य है (इव ऋषभस्य वशा) बैलके लिये जैसी गाय होती है ॥ २ ॥

तृष्णा लोभवृत्ति बडी विषमयी मनोवृत्ति है। वह सबको काटती है। यह सब बलवानोंका द्वेष करती है। यह एक प्रकारकी विषमयी मनोवृत्ति है, अतः इसको घेरकर दबावमें रखना योग्य है। यह वृत्ति कभी मनुष्य पर सवार न हो, परंतु मनुष्यके आधीनमें रहे ।

दुष्टोंका नाश

[११४ (११९)]

(ऋषिः- भार्गवः । देवता- अग्नीषोमौ ।)

आ ते ददे वक्षणाभ्य आ तेऽहं हृदयाद्ददे ।
आ ते मुखस्य संकाशात्सर्वं ते वर्च आ ददे ॥ १ ॥
प्रेतो यन्तु व्याध्यः प्रानुध्याः प्रो अशस्तयः ।
अग्नी रक्षस्विनीर्हन्तु सोमो हन्तु दुरस्यतीः ॥ २ ॥

अर्थ— (ते वक्षणाभ्यः वर्चः आददे) तेरी छातीसे मैं बल प्राप्त करता हूं। (अहं हृदयात् आददे) मैं तेरे हृदयसे बल लेता हूं। (ते मुखस्य सङ्काशात्) तेरे मुखके पाससे (ते सर्वं वर्चः आददे) तेरा सब तेज मैं प्राप्त करता हूं ॥ १ ॥

(इतः व्याध्यः प्रयन्तु) यहांसे व्याधियां दूर हो जायें। (अनुध्याः प्र) दुःख दूर हों, (अशस्तयः प्र उ) अकीर्तियाँ भी दूर हों। (अग्निः रक्षस्विनीः हन्तु) अग्नि राक्षसिनीयोंका वध करे। (सोमः दुरस्यतीः हन्तु) और सोम दुराचारिणीयोंका नाश करे ॥ २ ॥

अपने छाती, हृदय, मुख आदि सब अवयवोंका बल बढाना चाहिये। और व्याधियां, आपत्तियां, पीडाएं और अकीर्तियां दूर करना चाहिये, तथा दुराचारिणी स्त्रियोंको भी दूर करना चाहिये।

पापी लक्षणोंको दूर करना

[११५ (१२०)]

(ऋषिः- अथर्वाङ्गिराः । देवता- सविता, जातवेदाः ।)

प्र पतेतः पापि लक्ष्मि नश्येतः प्रामुतः पत ।
अयस्मयेनाङ्केन द्विषते त्वा सजामसि ॥ १ ॥

या मा लक्ष्मीः पतयालूरजुष्टाभिचस्कन्द वन्दनेव वृक्षम् ।
अन्यत्रास्मत्सवितस्तामितो धा हिरण्यहस्तो वसु नो रराणः ॥ २ ॥

एकशतं लक्ष्म्योई मर्त्यस्य साकं तन्वा जनुषोऽधि जाताः ।
तासां पापिष्ठा निरितः प्र हिण्मः शिवा अस्मभ्यं जातवेदो नि यच्छ ॥ ३ ॥

एता एना व्याकरं खिले गा विष्ठिता इव ।
रमन्तां पुण्या लक्ष्मीर्याः पापीस्ता अनीनशम् ॥ ४ ॥

अर्थ— हे (पापि लक्ष्मि) पापमय लक्ष्मी ! (इतः प्र पत) यहांसे दूर जा । (इतः नश्य) यहांसे चली जा (अमुतः प्रपत) वहांसे भी हट जा । (अयस्मयेन अंकेन) लोहेके कीलसे (त्वा द्विषते आ सजामसि) तुझे द्वेषीके लिये रखते हैं ॥ १ ॥

(या पतयालुः अजुष्टा लक्ष्मीः) जो गिरानेवाली सेवन करने अयोग्य लक्ष्मी (मा अभिचस्कन्द) मेरे ऊपर आगई है, (वन्दना वृक्षं इव) जैसी बेल वृक्षपर चढती है। हे (सवितः) सविता देव! (तां इतः अन्यत्र अस्मत् धाः) उसको यहांसे हमसे दूसरे स्थानपर रख । (हिरण्यहस्तः नः वसु रराणः) सुवर्णके आभूषण धारण करनेवाला तू हमें धन दे ॥ २ ॥

(मर्त्यस्य तन्वा साकं) मनुष्यके शरीरके साथ (जनुषः अधि) जन्मते ही (एकशतं लक्ष्म्यः जाताः) एकसौ एक लक्ष्मियां उत्पन्न हो गई हैं । तासां पापिष्ठाः इतः निः प्रहिण्मः) उनमें पापी लक्ष्मीको यहांसे हम दूर करते हैं । हे (जातवेदः) ज्ञानी देव ! (शिवाः अस्मभ्यं नि यच्छ) और जो कल्याणमय लक्ष्मी हैं वे हमें प्रदान कर ॥ ३ ॥

(खिले विष्ठिताः गाः इव) चराऊ भूमिपर बैठी गौवोंके समान (एताः एनाः वि-आकरं) इन इन वृत्तियोंको मैं अलग अलग करता हूं । (याः पुण्याः लक्ष्मीः रमन्तां) जो पुण्यकारक लक्ष्मियां हैं, वे यहां आनन्दसे रहें । (याः पापीः ताः अनीनशं) और जो पापी वृत्तियां हैं उनका नाश करता हूं ॥ ४ ॥

भावार्थ— जिस प्रकारके ऐश्वर्यसे पाप होता है, उस प्रकारका ऐश्वर्य मेरे पास न रहे । वह तो बहुत बुरा है, अतः वह हमारे शत्रुके पास जाकर स्थिर होवे ॥ १ ॥

जो गिरानेवाला ऐश्वर्य मेरे पास आगया है वह मुझसे दूर होवे और हमें शुभ ऐश्वर्य प्राप्त होवे ॥ २ ॥

मनुष्यको जन्मके साथ एकसौ एक शक्तियां प्राप्त होती हैं, उनमें कई पापमय हैं और कई पुण्ययुक्त हैं। पापी हमसे दूर हों और शुभ हमारे पास आजायं ॥ ३ ॥

मैं इनको पृथक् करता हूं । जो पुण्यकारक हैं वे मेरे पास रहें और जो पापी हों वह मुझसे दूर हो जांय ॥ ४ ॥

मनुष्य उत्पन्न होते ही उसके शरीरमें सैकडों शक्तियां स्वभावतः रहती हैं। उनमें कुछ बुरी हैं और कुछ अच्छी होती हैं। अच्छी शक्तियां अथवा वृत्तियां जो हों उनको अपने अन्दर रखना और बढाना चाहिये, तथा जो बुरी वृत्तियां हों उनको दूर करना चाहिये। (मं. ३)

चराऊ भूमीमें अनेक गौवें बैठती हैं, उनमें कई श्वेत रंगकी हैं और कई काले रंगकी हैं, यह जैसा पहचाना जाता है, उसी प्रकार अपनी शक्तियां और वृत्तियां पहचानना चाहिये। और शुभवृत्तियोंकी वृद्धि और अशुभ हीन हानिकारक वृत्तियोंका नाश करना चाहिये। (मं. ४)

'लक्ष्मी' का अर्थ है 'चिन्ह'। अपने अन्दर कौनसे चिन्ह बुरे हैं और कौनसे अच्छे हैं, इसकी परीक्षा करना प्रत्येक मनुष्यका आवश्यक कर्तव्य है। मनुष्यके वर्तावमें ये चिन्ह दिखाई देते हैं। ये देखकर ऐसा व्यवहार करना चाहिये कि जिससे उसमें शुभलक्षणोंकी वृद्धि हो और अशुभ लक्षण घट जांय। इस प्रकार करनेसे मनुष्यकी उन्नति होती है।

ज्वर

[११६ (१२१)]

(ऋषिः- अथर्वाङ्गिराः। देवता- चन्द्रमाः।)

नमो॑ रू॒राय॒ च्यव॑नाय॒ नोद॑नाय धृ॒ष्णवे॑। नम॑: शी॒ताय॑ पूर्वकाम॒कृत्व॑ने ॥ १ ॥
यो अ॑न्येद्यु॒रु॑भयद्यु॒र॒भ्येती॒मं म॒ण्डूक॑म॒भ्ये॑त्वव्र॒तः ॥ २ ॥

अर्थ— (रूराय) दाह करनेवाले, (च्यवनाय) हिलानेवाले, (नोदनाय) भडकानेवाले, (धृष्णवे) डरानेवाले भयानक, (शीताय) शीत लग कर आनेवाले और (पूर्वकृत्वने) पूर्वकी अवस्थाको काटनेवाले ज्वरके लिये (नमः नमः) नमस्कार है ॥ १ ॥

(यः अन्ये-द्युः) जो एक दिन छोडकर आनेवाला है, (उभय-द्युः) दो दिन छोडकर (अभ्येति) आता है अथवा जो (अव्रतः) नियम छोडकर आता है वह (इमं मण्डूकं अभ्येतु) इस मेंडकके पास जावे ॥ २ ॥

इस सूक्तमें नौ प्रकारके ज्वरोंका वर्णन है इनके लक्षण देखिये—

१ रूरः— जिस ज्वरमें शरीरका दाह होता है। यह संभवतः पित्तज्वर है।
२ च्यवनः— यह ज्वर आनेपर शरीर कांपने लगता है। यह ज्वर अतिशीत लगकर आता है।
३ नोदनः— यह ज्वर आनेपर मनुष्य पागलसा बनता है। मस्तिष्कपर इसका भयानक परिणाम होता है।
४ धृष्णुः— इससे मनुष्य भयभीत होते हैं, रोगी बडा बेचैनसा होता है।
५ शीतः— सर्दीसे आनेवाला यह ज्वर है।
६ पूर्वकृत्वन्— शरीरकी ज्वरपूर्व अवस्थाको काट देनेवाला यह ज्वर है, अर्थात् इसके आनेसे शरीरके सब अवयव बिगड जाते हैं।
७ अन्येद्युः— एकदिन छोडकर आनेवाला ज्वर।
८ उभयद्युः— दो दिन छोडकर आनेवाला ज्वर।
९ अव्रतः— जिसके आनेका कोई नियम नहीं है।

ये नौ प्रकारके ज्वर हैं। इनके शमनके उपाय इससे पूर्व बताये हैं। वेदमें वृत्रके वर्णनसे ज्वर चिकित्सा (वेदे वृत्रमिषेण ज्वरचिकित्सा) होती है। अर्थात् जैसा वृष्टि होकर वृत्र नाश होता है, उसी प्रकार पसीना आनेसे इस ज्वरका नाश होता है। अतः पसीना लाना इस ज्वरनिवारणका उपाय है।

शत्रुका निवारण

[११७ (१२२)]

(ऋषिः- अथर्वाङ्गिराः । देवता- इन्द्रः ।)

आ मुन्द्रैरिन्द्र हरिंभिर्याहि मयूररोमभिः ।
मा त्वा के चिद्वि यंमुन्विं न पाशिनोऽति धन्वेव ताँ इंहि ॥ १ ॥

अर्थ— हे इन्द्र ! (मन्द्रैः मयूररोमभिः हरिभिः आयाहि) सुन्दर मोरके पंखोंके समान सुंदर पुच्छवाले घोडोंके साथ यहां आ । (पाशिनः विं न) जैसे पक्षिको जालमें पकडते हैं उस प्रकार (त्वा केचित् मा वि यमन्) तुझे कोई न पकडे । (धन्व इव तान् अति इहि) रेतीले स्थानपरसे जैसे गुजरते हैं वैसे उनका अतिक्रमण कर ॥ १ ॥

इन्द्र (इन्+द्र) शत्रुका विदारण करनेवाले वीरका यह नाम है । ऐसे वीर सुंदर घोडोंपर अथवा ऐसे घोडोंवाले रथपर सवार होकर स्थान स्थानमें जांय । उनको प्रतिबंध करनेवाला कोई न हो । वेही दुष्टोंको रोके और उनको दबाकर प्रतिबंधमें रखें ।

विजयकी प्रार्थना

[११८ (१२३)]

(ऋषिः- अथर्वाङ्गिराः । देवता- चन्द्रमाः, वरुणः, देवः ।)

मर्माणि ते वर्मणा छादयामि सोमस्त्वा राजामृतेनानुं वस्ताम् ।
उरोर्वरीयो वरुणस्ते कृणोतु जयन्तं त्वानुं देवा मंदन्तु ॥ १ ॥

अर्थ— (ते मर्माणि वर्मणा छादयामि) तेरे मर्मस्थानोंको कवचसे मैं ढकता हूं । (सोमः राजा त्वा अमृतेन अनुवस्तां) सोम राजा तुझे अमृतसे आच्छादित करे । (वरुणः ते उरोः वरीयः कृणोतु) वरुण तेरे लिये बडेसे बडा स्थान देवे । (जयन्तं त्वा देवाः अनुमदन्तु) विजय पानेवाले तुझे देखकर सब देव आनन्द करें ॥ १ ॥

युद्धके लिये बाहर जानेके समय वीर लोग अपने शरीर पर कवच धारण करें । इस प्रकार तैयार होकर वीर आनन्दसे शत्रुपर हमला करनेके लिये चलें और विजय प्राप्त करें । मनमें निश्चय रखें कि, सत्यपक्षमें रहकर लडनेवाले वीरको सब देव सहाय्य करते हैं और उसके विजयसे आनंदित भी होते हैं । जिनसे विजयके कारण देवोंको आनन्द होगा, ऐसे ही वीर अपनेमें बढाने चाहिये ।

॥ सप्तमं काण्डं समाप्तम् ॥

अथर्ववेदका स्वाध्याय

सप्तम काण्डकी विषयसूची

अथर्ववेद

का

सुबोध भाष्य

अष्टमं काण्डम् ।

लेखक

डॉ. पं. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर

साहित्य-वाचस्पति, गीतालंकार

पारडी (जि. बलसाड)

ॐ

अथर्ववेदका स्वाध्याय।

(अथर्ववेदका सुबोध भाष्य)

अष्टम काण्ड।

सूक्तविवरण

इस अष्टम काण्डका प्रारंभ 'दीर्घ आयु' देवताके सूक्तोंसे हुआ है। संपूर्ण प्राणिमात्रोंके लिये अल्पायु कष्टदायक और दीर्घायु सुखदायक है। अतः यह देवता 'मंगल' है। अल्पायुताका निवारण करना और दीर्घायु प्राप्त करना मनुष्यके लिये मुख्यतः अभीष्ट है। यही प्रारंभके दो सूक्तोंका विषय है।

काण्ड ८ से काण्ड ११ के अन्ततकके चारों काण्डोंकी प्रकृति बीससे अधिक मंत्रवाले सूक्तोंकी है। प्रायः अनेक सूक्तोंमें बीससे पचीसतक मंत्र हैं। कुछ थोडे सूक्तोंमें थोडेसे अधिक भी मंत्र हैं। इन सूक्तोंको 'अर्थ-सूक्त' कहते हैं। इन काण्डोंमें तथा आगेभी जो पर्याय सूक्त हैं, उनमें मंत्रोंकी संख्या कम है। परंतु सब पर्याय मिलकर जब एकही सूक्त है ऐसा माना जाता है, तब सूक्तकी मंत्रसंख्या बढ जाती है। इस अष्टम काण्डमें अन्तिम सूक्त इसी प्रकारका पर्याय सूक्त है और इस एक सूक्तमें छः पर्याय है, अर्थात् यह छोटे छः सूक्तोंका बडा सूक्त हुआ है। आगेके काण्डोंमें इस प्रकार पर्यायसूक्त है—

आठवें	काण्डमें	१० वें सूक्तमें	६ पर्याय सूक्त हैं।
नववें	,,	६ ,,	६ ,, ,,
नववें	,,	७ ,,	१ ,, ,,
ग्यारहवें	,,	३ रे ,,	३ ,, ,,
बारहवें	,,	५ वें ,,	७ ,, ,,
तेरहवें	,,	४ थे ,,	६ ,, ,,
पंद्रहवें	,,	—	१८ ,, ,,
सोलहवें	,,	—	९ ,, ,,

आगेके काण्डोंमें ये पर्याय पाठक देखेंगे और शेष अर्थसूक्त भी पाठक देखेंगे। इनका नाम अर्थसूक्त क्यों हुआ है इसका वर्णन आगे योग्य स्थानपर करेंगे। यहां इस स्थानपर इस काण्डके अनुवाकोंमें सूक्तसंख्या और मंत्रसंख्या कैसी है, यह देखिये—

*

अनुवाद	सूक्त	दशति विभाग	पर्यायसंख्या	मंत्रसंख्या
१	१	१० + ११		२१
	२	१० + १० + ८		२८
२	३	१० + १० + ६		२६
	४	१० + १० + ५		२५
३	५	१० + १२		२२
	६	१० + १० + ६		२६
४	७	१० + १० + ८		२८
	८	१० + १४		२४
५	९	१० + १० + ६		२६
	१०		६	३३
				२५९

मंत्रसंख्याकी दृष्टीसे यह काण्ड तृतीय स्थानमें आ सकता है। (१) द्वितीय काण्डकी २०७, (२) तृतीयकी २३०, (३) अष्टमकी २५९ (४) सप्तम काण्डकी २८६, (५) चतुर्थकी ३२४, (६) पञ्चमकी ३७६ और (७) षष्ठकी ४५४ मंत्रसंख्या है। सप्तम काण्डके अन्ततक कुल मंत्रसंख्या ११०७ हो चुकी है, इसमें अष्टम काण्डकी २५९ मिलानेसे अष्टम काण्डके अन्ततक कुल मंत्रसंख्या १३६६ होती।

अब इस काण्डके ऋषि-देवता-छन्द देखिये—

सूक्तोंके ऋषि-देवता-छन्द।

सूक्त	मंत्रसंख्या	ऋषि	देवता	छन्द
प्रथमोऽनुवाकः। अष्टादशः प्रपाठकः।				
१	२१	ब्रह्मा	आयु	त्रिष्टुप्। १ पुरोबृ० त्रिष्टुप्। २, ३, १७-२१ अनुष्टुभः। ४, ९, १५, १६ प्रास्तारपंक्तयः। ७, त्रिपाद्विराड् गायत्री। ८ विराड् पथ्याबृहती। १२ त्र्यव० पञ्चपदा जगती। १३ त्रिपा० भुरिक् महाबृहती। १४ एकाव० द्विपदा साम्नी भु० बृहती।
२	२८	ब्रह्मा	आयुः	त्रिष्टुप्। १, २, ७ भुरिजः। ३, २६ आस्तारपंक्तिः। ४ प्रस्तारपंक्तिः। ६-१५ पथ्यापंक्तिः। ८ पुर० ज्योतिष्मती जगती। ९ पञ्चपदा जगती। ११ विष्टारपंक्तिः। १२, २२, २८ पुर० बृहत्यः। १४ त्र्यव० षट्प० जगती। १९ उप० बृहती। २१ सतः पंक्तिः। ५, १०, १६-१८, २०, २३-२५, २७ अनुष्टुभः। १७ त्रिपाद्।

द्वितीयोऽनुवाकः ।

३	२६	चातनः	अग्निः	त्रिष्टुप् । ७, १२, १४, १५, १७, २१ भुरिजः । १५ पञ्चपद बृहतीगर्भा जगती । २२, २३ अनुष्टुभौ । २६ गायत्री
४	२५	चातनः	मंत्रोक्तदेवताः	जगती । ८—१४, १६, १७, १९, २२, २४ त्रिष्टुभः । २०, २३ भुरिजौ । २५ अनुष्टुप् ।

तृतीयोऽनुवाकः ।

५	२२	शुक्रः	कृत्यादूषणं, मंत्रोक्ताः	अनुष्टुभ् । १, ६ उपरि० बृहती । २ त्रि० वि० गायत्री । ३ चतु० भु० जगती । ५ संस्तारपंक्तिर्भुरिग् । ६ उपरि० बृहती । ७, ८ ककुम्मत्यौ । ९ चतु० पुरस्कृतिर्जगती । १० त्रिष्टुप् । ११ पथ्यापंक्तिः । १४ त्र्यव० षट्प० जगती । १५ पुरस्ताद्बृहती । १९ जगतीगर्भा त्रिष्टुप् । २० विराड्गर्भा आस्तारपंक्तिः । २१ पराविराट् त्रिष्टुप् । २२ त्र्यव० सप्तप० विराड्गर्भा भुरिक् ।

[एकोनविंशः प्रपाठकः]

६	२६	मातृनामा	मंत्रोक्ताः	अनुष्टुभ् । २ पुर० बृहती । १० त्र्यवसा० षट्पदा जगती । ११, १२, १४, १६ पथ्यापंक्तिः ४, १५ त्र्यव० सप्तप० शक्वरी । १७ त्र्यव० सप्तप० जगती ।

चतुर्थोऽनुवाकः ।

७	२८	अथर्वा	ओषधयः	अनुष्टुभ् । २ उप० भुरिग्बृहती । ३ पुरउष्णिक् । ४ पञ्चपदापरा अनु० अतिजगती । ५, ६, १०, २५ पथ्यापंक्तयः । १२ पञ्चप० विराडतिशक्वरी । १४ उप० निचृ० बृहती । २६ निचृत् । २८ भुरिक् ।
८	२४	भृग्वंगिराः	वनस्पतिः इन्द्रः, परसेनाहननम्	अनुष्टुप् । २ उपरि० बृहती । ३ विराड् बृहती । ४ बृ० पुर० प्र० पंक्तिः । ६ आस्तारपंक्तिः । ७ विप० पादकक्षमा अनु० अतिजगती । ८–१० उपरि० बृहती । ११ पथ्याबृहती । १२ भुरिक् । १९ वि० पुर० बृहती । २० नि० पु० बृहती । २१ त्रिष्टुप् । २२ चतुष्पदा शक्वरी । २३ उप० बृहती । २४ त्र्यव० उष्णिग्गर्भा शक्वरी पञ्चपदाजगती ।

पञ्चमोऽनुवाकः ।

९	२६	अथर्वा, कश्यपः, सर्वे वा ऋषयः ।	विराट्	त्रिष्टुभ् । २ पंक्तिः । ३ आस्तारपंक्तिः । ४, ५, २३, २५ २६ अनुष्टुभो । ८, ११, १२, २२ जगत्यः । ९ भुरिक् । १४ चतु० जगती ।
१०(१)	१३	अथर्वाचार्यः	विराट्	१ त्रिपदार्ची पंक्तिः । (प्र०) १–७ याजुष्यः जगत्यः । जगत्यः । (द्वि.) २,५ साम्न्यनुष्टुभौ । (द्वि.) ३ आर्ची अनुष्टुप् । (द्वि.) ४, ७ विराड् गायत्र्यौ । (द्वि.) ६ साम्नी बृहती ।

(२)	१०	,,	,,	१, त्रिपदा साम्नी अनुष्टुप्। २ उष्णिग्गर्भा चतु० उप० विराड्बृहती। ३ एकप० यजुषी गायत्री। ४ एकप० साम्नी पंक्तिः। ५ विराड् गायत्री। ६ आर्ची अनुष्टुप्। ७ साम्नी पंक्तिः। ८ आसुरी गायत्री। ९ साम्नी अनुष्टुप्। १० साम्नी बृहती। १
(३)	८	,,	,,	(१) चतुष्पदा नि० अनुष्टुप्। २ (२) आर्ची त्रिष्टुप्। ३, ५, ७ (१) चतुष्पदः प्राजापत्याः पंक्तयः। ४, ६, ८ (२) आर्च्यो बृहत्यः।
(४)	१६	,,	,,	१, ५ साम्नी जगत्यौ। २, ६, १० साम्नी बृहत्यः। ३, ४, ८ आर्च्यनुष्टुभः। ९, १३ चतुष्पादुष्णिहौ। ७ आसुरी गायत्री। ११ प्राजापत्यानुष्टुप्। १२, १६ आर्च्यौ त्रिष्टुभौ। १४, १५ विराड् गायत्र्यौ।
(५)	१६	,,	,,	१, १३ चतुष्पादे साम्नी जगत्यौ। १०, १४ साम्नी बृहत्यौ। १ साम्नी उष्णिग्। ४, १६ आर्च्यनुष्टुभौ। ९ उष्णिक्। ८ आर्ची त्रिष्टुप्। २ साम्नी उष्णिक्। ७, ११ विराड् गायत्र्यौ। ५ चतुष्पदा प्राजापत्या जगती। ६ साम्नी बृहती त्रिष्टुप्। १५ साम्नी अनुष्टुप्।
(६)	४	,,	,,	१ द्विपदा विराड्गायत्री। २ द्विपदा साम्नी त्रिष्टुप्। ३ द्वि० प्राजापत्या अनुष्टुप्। ४ द्वि० आर्ची उष्णिग्।

इस प्रकार इस सप्तम काण्डके ऋषि-देवता-छन्द हैं। अब इनका ऋषिक्रमानुसार सूक्तविभाग देखिये—

ऋषिक्रमानुसार सूक्तविभाग।

१ ब्रह्मा	ऋषिके		१,२ ये दो सूक्त हैं।		
२ चातन	,,		३,४	,,	,,
३ अथर्वा	,,		७,९	,,	,,
४ अथर्वाचार्य	ऋषिका	१०	वां	एक सूक्त है।	
५ शुक्र	,,	५		,,	,,
६ मातृनामा	,,	६		,,	,,
७ भृग्वंगिराः	,,	८		,,	,,
८ कश्यप	,,	९		,,	,,
९ सर्वे ऋषयः	,,	९		,,	,,

इस प्रकार नौ ऋषियोंके देखे मंत्र इस अष्टम काण्डमें हैं। तथापि इनमें अथर्वाचार्य नामक एक अलग ऋषि सर्वानुक्रमणीकारने माना है। वस्तुतः देखा जाय तो 'आचार्य' शब्द कभी ऋषिके साथ नहीं आता। अतः यह अथर्वा ऋषि ही होगा। यदि इसे अथर्वा ही माना जाय तो एक ऋषि कम हुआ और आठही शेष रहे। 'सर्वे ऋषयः' यह एक सूक्तका ऋषि माना है। परंतु यह अलग ऋषि नहीं है। क्योंकि इस काण्डके 'ब्रह्मा, चातन, अथर्वा, शुक्र, मातृनामा, भृग्वंगिरा और कश्यप' ये सप्त ऋषिही 'सर्वे ऋषयः' का यहां इस काण्डमें तात्पर्य है, अतः यह एक नाम कम करना युक्त है। अर्थात् शेष सात ऋषि रहे, जिनके देखे हुए मंत्र इस काण्डमें हैं। 'अथर्वा' और 'अथर्वाचार्य' को यदि एकही माना जाय, तो इस काण्डमें अथर्वा ऋषिके सूक्तही अधिक हैं। इस विषयमें सप्तम काण्डकी भूमिकामें लिखा लेख पाठक अवश्य देखें।

अब देवताक्रमानुसार सूक्तविभाग देखिये—

देवताक्रमानुसार सूक्तविभाग ।

१ मंत्रोक्ता देवताके	४—६	ये	३	सूक्त	हैं।	
२ आयु ,,	१, २	,,	२	,,		
३ विराट् देवताके	९ १०	ये	२ दो	सूक्त	हैं।	
४ अग्नि देवताका	३	यह एक सूक्त है।				
५ कृत्यादूषण ,,	५	,,	,,			
६ ओषधयः ,,	७	,,	,,			
७ वनस्पति ,,	८	,,	,,			
८ इन्द्र ,,	८	,,	,,			
९ परसेनाहनन,,	८	,,	,,			

इस प्रकार नौ देवताके सूक्त इस काण्डमें हैं, तथापि ' मंत्रोक्तदेवता ' यह अनेक देवताओंका सामान्य नाम है। इस लिये इन्द्रादि जो अनेक देवताएं इसमें आगयीं हैं, इन सबको मिलानेसे कई देवताओंका वर्णन इस काण्डमें है, यह बात सिद्ध हो जायगी। इसी प्रकार ' ओषधि और वनस्पति ' ये दोनों संभवतः एकही देवता हैं। देवताओंकी संख्या निश्चित करनेमें इन बातोंका विचार करना आवश्यक है। इस काण्डमें निम्नलिखित गणोंके मन्त्र हैं—

१ आयुष्यगणके १, २ ये दो सूक्त हैं।
२ स्वस्त्ययनगण का ५ वां सूक्त है।
३ पुष्टिक मंत्र ५ वें सूक्तमें हैं।
४ महाशान्ति और रौद्री शान्तिक मंत्र ५ वें सूक्तमें हैं।

इस प्रकार इन गणोंके मंत्र इस काण्डमें हैं। इन गणोंके अनुसंधानसे पाठक इन सब मंत्रोंका विचार करें।

ॐ

उन्नतिका सीधा मार्ग

उद्यानं ते पुरुष नावयानं जीवातुं ते दक्षतातिं कृणोमि ।
आ हि रोहेममृतं सुखं रथमथ जिर्विर्विदथमा वदासि ॥ ६ ॥

अथर्व० ८ । १ । ६

" हे मनुष्य ! तेरी उन्नतिके पथमें गति होवे, अवनतिके पथमें न होवे । इसी कार्यके लिये तुझे आयुष्य और बल मैं देता हूं । इस सुखदायी अमृतसे परिपूर्ण (शरीररूपी) रथपर चढ । पश्चात् जब तू वृद्ध होगा तब तू विज्ञानका उपदेश करेगा । "

ॐ

अथर्ववेदका सुबोध-भाष्य।

अष्टम काण्ड।

दीर्घायु प्राप्त करनेका उपाय।

[१]

(ऋषिः - ब्रह्मा । देवता - आयुः)

अन्तकाय मृत्यवे नमः प्राणा अपाना इह ते रमन्ताम्
इहायमस्तु पुरुषः सहासुना सूर्यस्य भागे अमृतस्य लोके ॥ १ ॥
उदेनं भगो अग्रभीदुदेनं सोमो अंशुमान् ।
उदेनं मरुतो देवा उदिन्द्राग्नी स्वस्तये ॥ २ ॥

अर्थ— (मृत्यवे अन्तकाय नमः) मृत्युके रूपमें सबका अन्त करनेवाले परमेश्वरको नमस्कार है। हे मनुष्य ! (ते प्राणाः अपानाः इह रमन्ताम्) तेरे प्राण और अपान यहां शरीरमें आनन्दसे रहें। (अयं पुरुषः असुना सह) यह मनुष्य प्राणके साथ (इह अमृतस्य लोके सूर्यस्य भागे अस्तु) इस अमृतके स्थानरूपी सूर्यके प्रकाशके भागमें रहे ॥ १ ॥

अर्थ— (भगः एनं उत् अग्रभीत्) भग देवने इस मनुष्यको उच्च स्थान पर स्थापित किया है, (अंशुमान् सोमः एनं उत्) तेजस्वी सोमने इसको ऊंचा उठाया है, (मरुतः देवाः एनं उत्) मरुतदेवोंने इसको उच्च बनाया है, (इन्द्र-अग्नी स्वस्तये उत्) इन्द्र और अग्निने इसके कल्याणके लिये इसको उच्च बनाया है ॥ २ ॥

भावार्थ— संपूर्ण जगत्का नाश करनेवाले एक ईश्वरको हम प्रणाम करते हैं। मनुष्यके प्राण इस शरीरमें दीर्घकाल तक रहें। मनुष्य दीर्घजीवनके साथ अमृतमय सूर्यप्रकाशमें यथेच्छ विचरता रहे ॥ १ ॥

भग आदि सब देव इसकी उन्नति करनेमें इसकी सहायता करें ॥ २ ॥

इह तेऽसुरिह प्राण इहायुरिह ते मनः।
उत त्वा निर्ऋत्याः पाशेभ्यो दैव्या वाचा भरामसि ॥ ३ ॥
उत् क्रामातः पुरुष मावं पत्था मृत्योः पड्वीशमवमुञ्चमानः।
मा च्छित्था अस्माल्लोकादग्नेः सूर्यस्य संदृशः ॥ ४ ॥
तुभ्यं वातः पवतां मातरिश्वा तुभ्यं वर्षन्त्वमृतान्यापः।
सूर्यस्ते तन्वे३ शं तपाति त्वां मृत्युर्दयतां मा प्र मेष्ठाः ॥ ५ ॥
उद्यानं ते पुरुष नावयानं जीवातुं ते दक्षतातिं कृणोमि।
आ हि रोहेममृतं सुखं रथमथ जिर्विर्विदथमा वदासि ॥ ६ ॥

अर्थ— (इह ते असुः) यहां इस शरीरमें तेरा जीवन, (इह प्राणः, इह आयुः) यहां प्राण यहां आयु और (इह ते मनः) यहां तेरा मन स्थिर रहे। (दैव्या वाचा) दिव्य वाणीके द्वारा (निर्ऋत्याः पाशेभ्यः) अधोगतिके पाशोंसे (त्वा उत भरामसि) तुझे ऊपर उठाकर मुक्त करते हैं ॥ ३ ॥

हे (पुरुष) मनुष्य ! (अतः उत् क्राम) यहांसे ऊपर चढ, (मा अवपत्थाः) नीचे मत गिर। (मृत्योः पड्वीशं अवमुञ्चमानः) मृत्युकी बेडीसे अपने आपको छुडाता हुआ (अस्मात् लोकात्) इस लोकसे तथा (अग्नेः सूर्यस्य संदृशः) अग्नि और सूर्यके दर्शनसे अपने आपको (मा छित्थाः) दूर मत रख ॥ ४ ॥

(मातरिश्वा वातः तुभ्यं पवतां) अन्तरिक्षमें रहनेवाली वायु तेरे लिये पवित्र होकर बहती रहे। (आपः तुभ्यं अमृतानि वर्षन्तां) जल तेरे लिये अमृतकी वृष्टि करें। (सूर्यः ते तन्वे शं तपाति) सूर्य तेरे शरीरके लिये सुखदायक होकर तपता रहे। (मृत्युः त्वां दयतां) मृत्यु तुमपर दया करे इसप्रकार तू (मा प्र मेष्ठाः) मत मर ॥ ५ ॥

हे (पुरुष) पुरुष ! (ते उत् यानं) उन्नतिकी ओरही तेरी गति हो। (न अव-यानं) अवनतिकी ओर गति न हो। इसलिये मैं (जीवातुं ते दक्षतातिं कृणोमि) दीर्घ जीवनके लिए तुझे बलशाली बनाता हूं। (इमं अमृतं सुखं रथं आरोह) इस अमरत्व देनेवाले सुखकारक शरीररूपी रथपर चढ, (अथ जिर्विः) और जब तू वृद्ध होगा, तब (विदथं आवदासि) विज्ञानका उपदेश करेगा ॥ ६ ॥

भावार्थ— हे मनुष्य ! इस शरीरमें तेरा प्राण, आयुष्य, मन और जीवन स्थिर रहे। अनारोग्य रूपी दुर्गतिके पाशोंसे हम सब तुझे ऊपर उठाते हैं ॥ ३ ॥

हे मनुष्य ! तू ऊपर चढ, नीचे मत गिर। मृत्युके पाशोंसे अपने आपको छुडा। दीर्घायु प्राप्त कर और इस मनुष्य लोकसे तथा इस सूर्यके प्रकाशसे अपने आपको दूर न कर ॥ ४ ॥

वायु, जल और सूर्य तेरे लिये पवित्रता करें और तुझे शान्ति प्रदान करें। मृत्यु तेरे ऊपर दया करे अर्थात् तू दीर्घायु प्राप्त कर और शीघ्र मत मर ॥ ५ ॥

हे मनुष्य ! तू ऊपर चढ, कभी नीचे मत गिर। इसी कार्यके लिये तुझे जीवन और बल दिये हैं। तेरा शरीर एक सुख देनेवाला उत्तम रथ है, इससे अमरपन भी प्राप्त किया जा सकता है। इसमें रहता हुआ मनुष्य दीर्घजीवन प्राप्त करता है और जब वह वृद्ध होता है तब उसको बहुत अनुभव प्राप्त होनेके कारण वह दूसरोंको योग्य उपदेश देनेमें समर्थ होता है ॥ ६ ॥

मा ते मनस्तत्र गान्मा तिरो भून्मा जीवेभ्यः प्र मंदो मानुं गाः पितॄन् ।
विश्वे देवा अभि रक्षन्तु त्वेह ॥ ७ ॥
मा गतानामा दीधीथा ये नयन्ति परावतम् ।
आ रोह तमसो ज्योतिरेह्या ते हस्तौ रभामहे ॥ ८ ॥
श्यामश्च त्वा मा शबलश्च प्रेषितौ यमस्य यौ पथिरक्षी श्वानौ ।
अर्वाङेहि मा वि दीध्यो मात्र तिष्ठः पराङ्मनाः ॥ ९ ॥
मैतं पन्थामनु गा भीम एष येन पूर्वं नेयथ तं ब्रवीमि ।
तम एतत् पुरुष मा प्र पत्था भयं परस्तादभयं ते अर्वाक् ॥ १० ॥ (१)

अर्थ—(ते मनः तत्र मा गात्) तेरा मन उस निषिद्ध मार्गमें न जावे और वहां (तिरः मा भूत्) लीन न होवे। (जीवेभ्यः मा प्रमदः) जीवोंके संबंधमें तू प्रमाद न कर। (पितॄन् मा अनुगाः) पितरोंके पीछे मत जा अर्थात् मर मत। (इह विश्वे देवाः त्वा अभि रक्षन्तु) यहां सब देव तेरी रक्षा करें ॥ ७ ॥

(गतानां मा आदिधीथाः) गुजरे हुओंके लिए विलाप न कर क्योंकि (ये परावतं नयन्ति) वे तो दूर ले जाते हैं। अतः (आ इहि) यहां आ और (तमसः ज्योतिः आरोह) अंधकारको छोडकर प्रकाशपर चढ, (ते हस्तौ रभामहे) तेरे हाथोंको हम पकडते हैं ॥ ८ ॥

(श्यामः च शबलः च) काला और श्वेत अर्थात् अंधकार और प्रकाशवाले (श्वा-नौ) कल न रहनेवाले दिन रात (यमस्य पथिरक्षी प्रेषितौ) नियामक देवके दो मार्गरक्षक बनाकर भेजे गए हैं। (अर्वाङ् एहि) इधर आ। (मा विदीध्यः) विलाप मत कर। (अत्र पराङ्मनाः मा तिष्ठ) यहां विरुद्ध दिशामें मन रखकर मत रह ॥ ९ ॥

(एतं पन्थां अनु मा गाः) इस बुरे मार्गका अनुसरण मत कर, (एषः भीमः) यह मार्ग भयंकर है। (येन पूर्वं न ईयथ) जिससे पहिले नहीं जाते हैं। (तं ब्रवीमि) उस विषयमें मैं कहता हूं। हे (पुरुष) मनुष्य ! (एतत् (तमः) यह अन्धकारका मार्ग है, उस मार्गमें (मा प्र पत्थाः) मत जा। (ते परस्तात् भयं) तेरे लिये दूसरी तरफ भय है (अर्वाक् अभयं) और इस तरफ अभय है ॥ १० ॥

भावार्थ— तेरा मन कुमार्गमें न जावे और यदि गया तो वहां कभी न स्थिर रहे। अन्य जीवोंके विषयमें जो तेरा कर्तव्य है उसमें तू प्रमाद न करके शीघ्र मरकर अपने पितरोंके पीछे शीघ्रतासे मत जा। ये सब देवता तेरी रक्षा करें ॥ ७ ॥

गुजरे हुओंका शोक न कर, उससे तो मनुष्य दूर चला जाता है। यहां कार्यक्षेत्रमें आ, अन्धकार छोड और प्रकाशमें विचर। इस कार्यके लिये हम तेरा हाथ पकडते हैं ॥ ८ ॥

सबका नियमन करनेवाले ईश्वरके दिन (प्रकाश) और रात्री (अंधकार) ये दो मार्गदर्शक हैं। ये दोनों अशाश्वत हैं, परंतु ये तेरे मार्गकी रक्षा करेंगे। अतः तू आगे बढ, विलापमें समय न गंवा, तथा विरुद्ध दिशामें अपना मन कदापि न जाने दे ॥ ९ ॥

भावार्थ— इस भयानक घोर बुरे मार्गसे न जा। जिससे जाना योग्य नहीं है, उस मार्गपरसे न जानेके विषयमें मैं तुझे यह आदेश दे रहा हूं। अर्थात् तू इस अन्धकारके मार्गमें कदापि न जा, इससे जानेमें आगे बडा भय है। अतः तू इस ओर रह, यदि इस मार्गपर तू चला तो तेरे लिये यहां अभय होगा ॥ १० ॥

×

रक्षन्तु त्वाग्नयो ये अप्स्व१न्ता रक्षतु त्वा मनुष्या३ यमिन्धते ।
वैश्वानरो रक्षतु जातवेदा दिव्यस्त्वा मा प्र धाग् विद्युता सह ॥ ११ ॥
मा त्वां क्रव्यादभि मंस्तारात् संकसुकाच्चर ।
रक्षतु त्वा द्यौ रक्षतु पृथिवी सूर्यश्च त्वा रक्षतां चन्द्रमाश्च ।
अन्तरिक्षं रक्षतु देवहेत्याः ॥ १२ ॥
बोधश्च त्वा प्रतीबोधश्च रक्षतामस्वप्नश्च त्वानवद्राणश्च रक्षताम् ।
गोपायंश्च त्वा जागृविश्च रक्षताम् ॥ १३ ॥
ते त्वा रक्षन्तु ते त्वा गोपायन्तु तेभ्यो नमस्तेभ्यः स्वाहा ॥ १४ ॥
जीवेभ्यस्त्वा समुदे वायुरिन्द्रो धाता दधातु सविता त्रायमाणः ।
मा त्वा प्राणो बलं हासीदसुं तेऽनु ह्वयामसि ॥ १५ ॥

अर्थ— (ये अप्सु अन्तः अग्नयः) जो जलोंमें अग्नियां हैं वे (त्वा रक्षन्तु) तेरी रक्षा करें। (यं मनुष्याः इन्धते, त्वा रक्षतु) जिसको मनुष्य प्रदीप्त करते हैं वह अग्नि तेरी रक्षा करे। (जातवेदाः वैश्वानरः रक्षतु) जातवेद सब मनुष्योंमें रहनेवाली अग्नि तेरी रक्षा करे। (विद्युता सह दिव्यः मा प्रधाक्) बिजलीके साथ रहनेवाली द्युलोककी अग्नि तुझे न जलावे ॥ ११ ॥

(क्रव्यात् त्वा मा अभि मंस्त) कच्चा मांस खानेवाला तेरा वध न करे। (संकसुकात् आरात् चर) नाश करनेवालेसे तू दूर होकर चल। (द्यौः त्वा रक्षतु) द्युलोक तेरी रक्षा करे, (पृथिवी रक्षतु) पृथिवी रक्षा करे। (सूर्यः च चन्द्रमाः च त्वा रक्षतां) सूर्य और चन्द्रमा तेरी रक्षा करें। (देवहेत्याः अन्तरिक्षं रक्षतु) दैवी आघातसे अन्तरिक्ष तेरी रक्षा करे ॥ १२ ॥

(बोधः च प्रतीबोधः च त्वा रक्षतां) ज्ञान और विज्ञान तेरी रक्षा करें। (अस्वप्नः च अनवद्राणः च त्वा रक्षतां) न सोनेवाला और न भागनेवाला तेरी रक्षा करे तथा (गोपायन् च जागृविः च त्वा रक्षतां) रक्षक और जागनेवाला तेरी रक्षा करे ॥ १३ ॥

(ते त्वा रक्षन्तु) वे तेरी रक्षा करें। (ते त्वा गोपायन्तु) वे तेरा पालन करें। (तेभ्यः नमः) उनको नमस्कार है। (तेभ्यः स्वा-हा) उनके लिये आत्म-समर्पण है ॥ १४ ॥

(त्रायमाणः धाता सविता वायुः इन्द्रः) रक्षक, पोषक, प्रेरक, जीवनसाधक प्रभु (जीवेभ्यः त्वा सं+उद्रे दधातु) सब प्राणियोंके लिये तथा तेरे लिये पूर्ण उत्कृष्टता धारण करे। (त्वा प्राणः बलं मा हासीत्) तेरा प्राण बलको न छोडे। (ते असुं अनु ह्वयामसि) तेरे प्राणको हम अनुकूलताके साथ बुलाते हैं ॥ १५ ॥

भावार्थ— जलकी उष्णता, अग्नि, विद्युत्, सूर्य तथा मानवी समाज इनमेंसे किसीसे तेरा अकल्याण न हो, इनसे तेरी उत्तम रक्षा होती रहे ॥ ११ ॥

दुष्टता करनेवाले दुष्टोंसे तेरी रक्षा हो। पृथ्वी, अन्तरिक्ष, द्यु, चन्द्रमा, सूर्य आदि सब तेरी रक्षा करें ॥ १२ ॥

ज्ञान और विज्ञान, सुस्ती न करना और न भागना, रक्षा करना और जागना तेरी रक्षा करें ॥ १३ ॥

जो तेरी रक्षा और पालना करते हैं, उनको प्रणाम करना और उनके लिये अपनी ओरसे कुछ समर्पण करना योग्य है ॥ १४ ॥

देव सब जीवोंको और तुझको उन्नतिके पथमें रखें। तेरे पास प्राण और बल पूर्ण आयुतक रहें ॥ ॥ १५ ॥

मा त्वा जम्भः संहनुर्मा तमो विदन्मा जिह्वा बर्हिः प्रमयुः कथा स्याः ।
उत त्वादित्या वसवो भरन्तूदिन्द्राग्नी स्वस्तये ॥ १६ ॥
उत त्वा द्यौरुत पृथिव्युत प्रजापतिरग्रभीत् ।
उत त्वा मृत्योरोषधयः सोमराज्ञीरपीपरन् ॥ १७ ॥
अयं देवा इहैवास्त्वयं मामुत्र गादितः ।
इमं सहस्र-वीर्येण मृत्योरुत् पारयामसि ॥ १८ ॥
उत् त्वा मृत्योरपीपरं सं धमन्तु वयोधसः ।
मा त्वा व्यस्तकेश्यो३ मा त्वाघरुदो रुदन् ॥ १९ ॥

अर्थ— (जम्भः संहनुः त्वा मा विदत्) विनाशक और घातक मनुष्य तुझे कभी न प्राप्त करे। (तमः त्वा मा) अन्धकार तेरे ऊपर कभी न छाये। (जिह्वा मा) जिह्वा अर्थात् किसीके बुरे शब्द तेरे श्रवणपथमें न आवें। भला (बर्हिः प्रमयुः कथा स्याः) तू यज्ञकर्ता होकर घातक कैसे होगा? (आदित्याः वसवः इन्द्र-अग्नी) आदित्य वसु, इन्द्र और अग्नि (स्वस्तये) कल्याणके लिये (त्वा उत् भरन्तु) तुझे उन्नतिकी तरफ ले जावें ॥ १६ ॥

(द्यौः उत्) द्युलोक (पृथिवी उत्) पृथिवी और (प्रजापतिः त्वा उत् अग्रभीत्) प्रजापालक देव तुझे ऊपर उठावे, तेरी उन्नति करे। (सोमराज्ञीः ओषधयः) सोम जिनका राजा है ऐसी औषधियां (त्वा मृत्योः उत् अपीपरन्) तुझे मृत्युसे ऊपर उठावें अर्थात् तेरी रक्षा करें॥ १७ ॥

हे (देवाः) देवो! (अयं इह एव अस्तु) यह मनुष्य इस लोकमें ही रहे, (अयं इतः अमुत्र मा गात्), यह इस संसारको छोडकर परलोक न जाये। (सहस्रवीर्येण इमं मृत्योः उत् पारयामसि) हजारों बलोंसे युक्त उपायसे इस मनुष्यकी मृत्युसे हम रक्षा करते हैं। ॥ १८ ॥

(मृत्योः त्वा उत् अपीपरं) मृत्युसे तुझको हम पार करते हैं। (वयोधसः सं धमन्तु) अन्न अथवा आयुको धारण करनेवाले देव तुझे पुष्ट करें। (व्यस्तकेश्यः अघ-रुदः) बालोंको खोलकर बुरी तरहसे रोनेवाली स्त्रियां (मा त्वा रुदन्, मा त्वा) तेरे लिये न रोयें, अर्थात् तेरी मृत्युके कारण इन पर रोनेका प्रसंग न आवे, निश्चयसे वे तेरे लिए न रोयें ॥ १९ ॥

भावार्थ— कोई नाशक और घातक मनुष्य तेरे पास न पहुंचे। अज्ञान और अन्धकार तेरे पास न आवे। बुरे शब्दोंका प्रयोग कोई न करे। स्मरण रख कि जो यज्ञ करता है उसके पास नाश नहीं आता और सूर्यादि सब देव तेरा कल्याण करेंगे और तेरी उन्नति होनेमें सहायक होंगे ॥ १६ ॥

प्रजाका पालक देव, द्युलोकसे पृथ्वी-पर्यंतकी औषधियां आदि सब पदार्थ मृत्युसे तेरा बचाव करें ॥ १७ ॥

हे देवो! इस मनुष्यको दीर्घायु प्राप्त हो, इसके पाससे मृत्यु दूर हो। सहस्र प्रकारके बलोंसे युक्त औषधियोंकी सहायतासे इसकी मृत्युको हमने दूर किया है ॥ १८ ॥

अब यह मृत्युसे पार हो चुका है। आयु देनेवाले देव इसको आयु दें। अब स्त्रियां या पुरुष इसके लिये न रोयें, क्योंकि यह जीवित हो गया है ॥ १९ ॥

आहार्षमविदं त्वा पुनरागाः पुनर्णवः ।
सर्वाङ्ग सर्वं ते चक्षुः सर्वमायुश्च तेविदम् ॥ २० ॥
व्युवात् ते ज्योतिरभूदप त्वत् तमो अक्रमीत् ।
अप त्वन्मृत्युं निर्ऋतिमप यक्ष्मं नि दध्मसि ॥ २१ ॥

अर्थ—(त्वा आहार्षं) मैं तुझे लाया हूं। (त्वा अविदं) तुझे पुनः प्राप्त किया है। (पुनः नवः पुनः आगाः) पुनः नया होकर पुनः आ गया है, हे (सर्वांग) संपूर्ण अंगोंवाले मनुष्य ! (ते सर्वं चक्षुः) तेरी पूर्ण दृष्टि और (ते सर्वं आयुः च) तेरी पूर्ण आयु तुझे मैंने (अविदं) प्राप्त करायी है ॥ २० ॥

अब (त्वत् तमः व्यवात्) तेरे पाससे अन्धकार चला गया है वह (अप अक्रमीत्) तुझसे दूर चला गया है। (ते ज्योतिः अभूत्) तेरे चारों ओर प्रकाश फैल गया है। (त्वत् निर्ऋतिं मृत्युं अप नि दध्मसि) तुझसे दुर्गति और मृत्युको हम दूर करते हैं तथा तुझसे (यक्ष्मं अप निदध्मसि) रोगको हम दूर करते हैं ॥ २१ ॥

भावार्थ— तुझे रुग्णस्थितिसे मैं आरोग्यस्थितिके प्रति लाया हूं अब तू नवीन जैसा हो गया है। तेरे सब अंग पूर्ण हो गये हैं, तेरे चक्षु आदि इंद्रिये और तेरी आयु तुझे प्राप्त हो गई है, अतः तू अब दीर्घकाल तक जीवित रहेगा ॥ २० ॥

अन्धकार तेरे पाससे भाग गया है और तेरे चारों ओर प्रकाश फैल गया है। दुर्गति और मृत्यु दूर हट गयी है, और रोग दूर भाग गये हैं। इस प्रकार तू नीरोग और दीर्घायु हो गया है ॥ २१ ॥

दीर्घायु किस प्रकार प्राप्त होगी ?

धर्मक्षेत्र

मनुष्यका यह शरीर धर्म करनेका एक साधन है। यही इसका ' कुरुक्षेत्र ' अथवा ' कर्मक्षेत्र ' किंवा ' धर्मक्षेत्र ' है। इसमें रहता हुआ और पुरुषार्थ करता हुआ यह मनुष्य अमरत्व भी प्राप्त कर सकता है, और पुरुषार्थसे हीन होता हुआ यही जीव अधोगति भी प्राप्त कर सकता है। इसलिये इस शरीररूपी साधनको सुरक्षित रखने और इससे अधिकसे अधिक काम लेनेके लिये इसको दीर्घकाल तक जीवित रखना आवश्यक है। इसी कारण दीर्घायु प्राप्त करनेके उपायोंका वर्णन धर्मग्रंथोंमें किया है। इस सूक्तमें इसी शरीरके विषयमें कहा है—

इमं अमृतं सुखं रथं आरोह। (मं. ६)

' इस नष्ट न होनेवाले, सुखकारक (शरीररूपी) रथपर आरोहण कर। ' इसमें ' सु+ख ' शब्द है जिसका अर्थ है ' सु ' अर्थात् उत्तम अवस्थामें ' ख ' अर्थात् इंद्रियां हैं जिसकी ऐसा आरोग्यपूर्ण सुदृढ शरीर। ' सु+खं रथं ' का अर्थ है जिसकी इंद्रियां उत्तम हैं ऐसा यह शरीररूपी रथ, यह रथ मनुष्य प्राप्त करे। इसका दूसरा गुण ' अ+मृत ' शब्दसे बताया है। मरे हुए या मुर्दे जैसे दुर्बल और रोगी शरीरको ' मृत ' कहते हैं, और जो सतेज, तेजस्वी, बलिष्ठ सुदृढ, नीरोग और कार्यक्षम शरीर होता है उसको ' अ-मृत ' कहते हैं। जिस शरीरको देखनेसे जीवनका प्रत्यक्ष साक्षात्कार होता है, उसीको अमृत शरीर कहते हैं। शरीर कैसा हो ? उसका उत्तर इस मंत्रने दिया है, कि शरीर अमृत और सुखकारक हो। ' बहुतसे लोगोंको मृत और दुःखी शरीर प्राप्त हुए होते हैं। वैसे शरीरोंसे मनुष्यके जीवनकी सफलता हो नहीं सकती।

दूरका मार्ग।

यहां शरीरको ' रथ ' कहा गया है। इसको ' रथ ' इसलिये कहा है कि, इसमें बैठकर मनुष्य ब्रह्मलोक तक पहुंच सकता है। मनुष्य इतना लंबा मार्ग इसी शरीरकी सहायतासे उत्तम रीतिसे पार करता है। दूर ग्रामको जानेके लिये जिस प्रकार उत्तम अश्वरथ, जलरथ (नौका), अग्निरथ (आगगाडी), वायुरथ (विमान) आदि विविध रथोंसे जाना पडता है, उसी प्रकार मुक्तिधाम तक पहुंचनेके लिये इस शरीररूपी रथपर बैठकर उसके अश्वस्थानीय इंद्रियोंको सुशिक्षित करके धर्मपथपरसे जाना पडता है। इस विषयमें उपनिषदोंमें कहा है—

रथी और रथ ।

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु ।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥ ३ ॥
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान् ।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ॥ ४ ॥
यस्त्वविज्ञानवान्भवत्ययुक्तेन मनसा सदा ।
तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः ॥ ५ ॥
यस्तु विज्ञानवान्भवति युक्तेन मनसा सदा ।
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः ॥ ६ ॥
यस्त्वविज्ञानवान्भवत्यमनस्कः सदाऽशुचिः ।
न स तत्पदमाप्नोति संसारं चाधिगच्छति ॥ ७ ॥
यस्तु विज्ञानवान्भवति समनस्कः सदा शुचिः ।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद्भूयो न जायते ॥ ८ ॥
विज्ञानसारथिर्यस्तु मनःप्रग्रहवान्नरः ।
सोऽध्वनः परमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥९॥
(कठ उ. ३)

' आत्मा रथका स्वामी है, शरीर उसका रथ है, बुद्धि उसका सारथी और मन लगाम है । इंद्रियरूपी घोडे इस रथमें जुडे हुए हैं, जो विषयोंके क्षेत्रोंमें संचार करते हैं । इंद्रियोंसे और मनसे युक्त होनेपर आत्मा भोक्ता कहा जाता है । जो विज्ञानसे हीन और संयमरहित मनसे युक्त है, उसके आधीन इंद्रियरूपी घोडे नहीं रहते, अर्थात् वे रथके स्वामीको जिधर चाहे उधर फेंक देते हैं । परंतु जो विज्ञानवान् और मनका संयम करनेवाला होता है, उसके आधीन उसकी संपूर्ण इंद्रियां रहती हैं । जो विज्ञानरहित, असंयमी मनवाला और सदा अपवित्र होता है, वह उस स्थानको प्राप्त नहीं होता और बारबार संसारमें आता है, परंतु जो विज्ञानी, संयमी और पवित्र होता है, वह उस स्थानको प्राप्त करता है, जहांसे फिर नहीं आना पडता । विज्ञान जिसका सारथी है और मनरूपी लगाम जिसके स्वाधीन है वही मार्गको पार करके परम स्थानको प्राप्त करता है

वही व्यापक देवका परम स्थान है।'

इसमें इस रथका उत्तम वर्णन है, इसके घोडे, सारथी, उत्तम शिक्षित घोडे, अशिक्षित घोडे, इसका जानेका मार्ग, कौन वहां जाता है और कौन नहीं पहुंच सकता, यह सब वर्णन इस स्थानपर है। यह रथ अमृतकी प्राप्ति करनेवाला है, इसीलिये इसको दीर्घकाल तक सुरक्षित रखना चाहिये और इसको नीरोग भी रखना चाहिये। रोगी और अल्पजीवी होनेसे यह रथ निकम्मा हो जाता है और मनुष्य अपना ध्येय प्राप्त नहीं कर पाता। मनुष्य इसपर चढे, लगामको स्वाधीन रखे, और ज्ञान विज्ञान द्वारा योग्य मार्गसे चले, अर्थात् संयमसे व्यवहार करे और अपनी उन्नति करे। यही भाव इस सूक्तद्वारा सूचित किया गया है—

(हे) पुरुष अतः उत्क्राम। मा अवपत्थाः (मं. ४)

(हे पुरुष) ते उत् यानं। न अवयानम्। (मं. ६)

'हे मनुष्य! तू यहांसे ऊपर चढ, नीचे न गिर।'

'हे मनुष्य! तेरी गति उच्च हो, नीचेकी ओर न हो।'

मनुष्यको यह देह इसीलिये प्राप्त हुआ है कि वह ऊपर चढे और कभी न गिरे। गिरना या चढना इसके आधीन है। यदि वह चाहे तो उठ भी सकता है और यदि वह चाहे तो गिर भी सकता है। यही भाव अन्य शब्दोंमें इसी सूक्तमें प्रकट किया गया है—

ज्योतिकी प्राप्ति।

आ इहि। तमसः ज्योतिः आरोह।
ते हस्तौ रभामहे। (मं. ८)

'हे मनुष्य, इस मार्गसे आ, अंधकारके मार्गको छोड और प्रकाशके मार्गसे ऊपर चढ, यदि तुझे सहारा चाहिये तो हम तेरा हाथ पकडकर तुझे सहायता देनेको तैयार हैं।' महापुरुष, साधु, सन्त, महात्मा, योगी, ऋषि, उन्नतिके पथमें सहायता देनेके लिये सदा तैयार रहते हैं, उनकी सहायता लेनेके लिये मनुष्य सदा तत्पर रहें। जो निष्ठासे उन्नतिके पथपर चढना चाहता है, उसको सहायता मिलती जाती है। उच्च श्रेणीके पुरुष उन्नत होनेवालोंकी सहायता सदा बिना मांगे ही करते रहते हैं इसी विषयमें आगे कहा है—

अर्वाङ् एहि। अत्र पराङ्मनाः मा तिष्ठ। (मं. ९)

'इस ओर आ। यहां अशुभ विचार मनमें धारण करके मत रह।' यहां धर्ममार्गपर आनेका आदेश है। इससे भी विशेष महत्त्वका उपदेश यहां कहा है कि 'पराङ्मनाः मा तिष्ठ' इसमें 'पराङ्मनाः (पर+अञ्च्+मनाः) यह शब्द विशेष रीतिसे ध्यानमें रखने योग्य है। इसका अर्थ (पर) शत्रुकी (अञ्च) अनुकूलतामें जिसका मन हो गया है। शत्रुकी ओर जिसका मन झुका हुआ है अर्थात् जो मनसे शत्रुका हित चाहता है अथवा जो शत्रुके अनुकूल होकर केवल अपना व्यक्तिगत लाभ अथवा स्वार्थपूर्ति करना चाहता है और अपनी जातिका अहित होता है या नहीं यह भी नहीं देखता। इस प्रकारका हीन विचारवाला कोई न हो। ऐसा मनुष्य तो शत्रुसे भी अधिक घातक है, अतः कहा है, (पराङ्मनाः अत्र मा तिष्ठ) यहां विरोधियोंके आधीन अपने मनको रखकर न रह, अर्थात् स्वकीयोंके अनुकूल होकर ही यहां रह। राष्ट्रीय और जातीय दृष्टीसे भी इसका भाव मननीय है। जो इस प्रकारके हीनवृत्तिवाले लोग होते हैं, जो अपने स्वार्थकी पूर्तिके लिये अपने समाज और राष्ट्रका भी घात करके पाप करते हैं, वे दीर्घजीवी नहीं होते। इसलिये कोई मनुष्य ऐसी स्वार्थकी वृत्ति धारण न करे। मनुष्य सदा वीरवृत्तिवाला हो, और अपना और समाजका हित साधे।

शोकसे आयुष्यनाश।

शोक करना भी आयुको कम करता है। कई मनुष्य गुजरे हुए बुजर्गोंका नाम स्मरण कर करके शोक करनेमें दिन व्यतीत करते रहते हैं, उनकी यहां अवनति तो होती ही है, परंतु साथ साथ आयु भी क्षीण होती है; अतः इस सूक्तमें कहा है—

गतानां मा आदिधीथाः, ये परावतं नयन्ति।
(मं. ८)

'गुजरे हुए मनुष्योंका स्मरण करके उनके लिये शोक न कर, क्योंकि ये शोक अवनतिकी ओर ले जाते हैं।' शोक करनसे अपना मन निर्बल होता जाता है। जिसके लिए शोक किया जाता है वह तो मरा हुआ होता ही है, अतः उसको तो किसी प्रकार लाभ पहुंच नहीं सकता, परंतु जो जीवित रहते हैं उनका समय व्यर्थ जाता है और इसके अतिरिक्त उनका मन सदा उदास रहता है, और उनकी विचार करनेकी और श्रेष्ठतम पुरुषार्थ करनेकी शक्ति कम हो जाती है; इस प्रकार सदा शोकमें मग्न रहनेवाला पुरुष

इस लोक और परलोकके लिये निकम्मा हो जाता है।

प्रश्न उठता है कि बूढे और बुजुर्गके मरनेपर शोक न करना ठीक है, परंतु जब नवजवान मर जाते हैं तब भी शोक करना योग्य है या नहीं उसके उत्तरमें वेदका कहना यह है कि—

व्यस्तकेश्यः अघरुदः त्वा मा रुदन्। (मं. १०)

' बालोंको अस्तव्यस्त करके सिर खोलकर, छाती पीट कर बुरी तरहसे रोनेवाले लोग भी न रोवें। ' क्योंकि मरणके पश्चात् रोने पीटनेसे कोई लाभ नहीं हो सकता है। दूसरी बात यह है कि, इस वेदके उपदेशके अनुसार आचरण करनेसे मनुष्यकी आयु दीर्घ होगी, अतः रोने पीटनेका कोई कारण ही नहीं रहेगा, दीर्घ आयु प्राप्त करनेका उपदेश इस स्थानपर है और उसके लिये एक उपाय यह है कि ' मनको शोकाकुल न करना। ' यह उपदेश सर्वसाधारण जनोंके लिये भी बडा बोधप्रद है।

हिंसकोंसे बचना

दुष्ट मनुष्योंकी संगतिमें रहनेसे भी आयु घटती है। दुष्ट मनुष्य और दुष्ट प्राणी सदा दुष्टता करनेके ताकमें ही रहते हैं, अतः उनसे दूर रहनेकी आज्ञा वेदने दी है—

क्रव्यात् त्वा मा अभिमंस्त।
संकुसुकात् आरात् चर ॥ (मं. १२)
जम्भः संहनुः त्वा मा विदत्। (मं. १६)

' कच्चा मांस खानेवाला प्राणी या मनुष्य तेरी हिंसा न करे। जो घात करनेवाला है उससे दूर हो और जो हिंसा-शील है वह तुझे न जाने। ' इसका तात्पर्य यह है कि हिंसाशील प्राणियोंके आघातसे किसीकी अपमृत्यु न हो। वीरवृत्तिसे युद्धादिमें जो मृत्यु होती है उसका यहां विरोध नहीं है। इसका यह आशय नहीं है कि दीर्घायु प्राप्त करनेवाले मनुष्य धर्मयुद्धमें न जाकर घरमें छिपकर मृत्युसे बचें, वह मृत्यु तो अमरत्व प्राप्त करानेवाली है। यहां जिससे बचनेका आदेश है वह हिंसक जानवरोंके द्वारा होनेवाली मृत्यु है। सिंह, व्याघ्र, सांप आदिके कारण अथवा ऐसे जन्तुओंके कारण जो अपमृत्यु होती है उससे बचनेका तथा कुसंगतिसे बचनेका उपदेश यहां दिया है।

अवनतिके पाश।

जो मनुष्य दीर्घायु प्राप्त करना चाहते हैं वे अपने आपको मृत्युके और अवनतिके पाशोंसे बचावें। दीर्घायु प्राप्त करनेके उपायका आशय ही यह है, इस विषयमें देखिये—

दैव्या वाचा निर्ऋत्याः पाशेभ्यः त्वा उद्धरामसि।
(मं. ३)
मृत्योः पड्वीशं अवमुञ्चमानः। (मं. ४)

' दिव्य वाणी अर्थात् जो शुद्ध वाणी है, उसकी सहायतासे निर्ऋतिके पाशोंसे तुझे हम ऊपर उठाते हैं। मृत्युके पाशको हम खोलते हैं। ' निर्ऋति अर्थात् अधोगतिके पाश बडे कठिन होते हैं। जो उनमें अटक जाते हैं उनकी अवनति अवश्य होती है। निर्ऋति क्या है ? और ऋति क्या है ? इनका स्वरूप इस प्रकार है—

निर्ऋतिः	ऋतिः
एकाकी जीवन	सैन्यसमूह, संघ.
अगति, विरुद्ध गति	गति, प्रगति
युद्धसे भागना, अधर्मयुद्ध	धर्मयुद्ध
अमार्ग	मार्ग
अवनति	उन्नति
असत्य, अयोग्यता	सत्य, योग्य,
नाश, विनाश	रक्षण, अमरत्व
अपवित्रता,	पवित्रता
तम, अंधकार,	प्रकाश, स्वच्छता
रोग	नीरोगता,
आपत्ति, विपत्ति	संपत्ति
संकट	अनुकूलता
विरुद्ध परिस्थिति	अनुकूल परिस्थिति
शाप	वर
मृत्यु	मृत्यु दूर करना
असत्य, असत्यमें रमना	सत्य, सत्यका पालन

निर्ऋतिके और मृत्युके पाश कौनसे हैं और उनसे कैसे बचाव करना चाहिये, इसकी कल्पना कोष्टकसे पाठकोंके मनमें सहजहीमें आ सकती है। निर्ऋतिके इन पाशोंको तोडना चाहिये, और ऋतिके साथ अपना ' संबंध ' जोडना चाहिये। दीर्घायु प्राप्त करनेवाले इसका अच्छी प्रकार मनन करें, इसी विषयमें और देखिये—

ते मनः तत्र मा गात्। मा तिरः भूत्। (मं. ७)
एतं पन्थानं मा गाः। एष भीमः। (मं. १०)

'तेरा मन इस अधोगतिके, निर्ऋतिके मार्गमें कभी न जाये, तथा यदि कभी चला भी जाए तो वहीं रम न जाये। इस अवनतिके मार्गसे मत जा, क्योंकि यह बडा भयानक मार्ग है।' यह मार्ग बडा भयानक है, इससे जो जाते हैं वे दुर्गतिको प्राप्त करते हैं, अतः कोई मनुष्य इस मार्गसे न जाये। जो दूसरा सत्यका मार्ग है उससे जाकर अभ्युदय और निःश्रेयसकी प्राप्ति करें। निर्ऋतिका मार्ग अंधकारका है, अतः जाते समय ठोकरें लगती हैं और गिरावट भी भयानक होती है, अतः कहा है—

एतत् तमः, मा प्रपत्थाः, ते परस्तात् भयं।
अर्वाक् अभयम्। (मं. १०)
तमः त्वा मा विदत्। (मं. १६)

'यह अन्धकार है, इसमें तू न गिर, क्योंकि इस मार्गसे जानेसे तेरे लिये आगे महान् भय है। जबतक तू उस मार्गमें नहीं जाता और सत्यमार्ग परही रहता है, तब तक तू निर्भय है। भय तो उस असत्यके मार्गपर ही है। उस गिरावटके मार्गमें जानेका मोह तुझमें उत्पन्न न हो।'

ये आदेश सर्व साधारणके लिये उपयोगी हैं, अतः इनका मनन सबको करना योग्य है। जिससे आयु क्षीण हो उन बातोंको अपने आचरणमें लाना नहीं चाहिए। मोहके कारण मनुष्य प्रतिक्षण गिरावटके मार्गमें जाता है, अतः उस मोहसे अपने आपका बचाव करना हरएकका कर्तव्य है। इसीसे दीर्घ–आयु प्राप्त होनेमें सहायता मिलती है। मनुष्य गिरावटके प्रलोभनमें न फंसे इस बातको बतानेके लिये निम्नलिखित मंत्र कहा है—

ज्ञान और विज्ञान।

बोधश्च त्वा प्रतीबोधश्च रक्षतामस्वप्नश्च त्वानवद्राणश्च रक्षताम्। गोपायंश्च त्वा जागृविश्च रक्षताम्। (मं. १३)

'ज्ञान और विज्ञान, फुर्ती और चापल्य, तथा रक्षक और जाग्रत तेरी रक्षा करें।' यहां जो ये छः नाम हैं वे विशेष मनन करने योग्य हैं। विशेष कर जो मनुष्य दीर्घायु प्राप्त करना चाहते हैं उनके लिए तो ये छः शब्द बडेही बोधप्रद हो सकते हैं—

१ इंद्रियोंसे जगत्का जो ज्ञान प्राप्त होता है या जो भी पहिला भास है उसको बोध कहते हैं।

२ प्रतिबोध वह है कि जो विचार और मननके पश्चात् सम्यग्ज्ञान होता है तथा जो अन्यान्य प्रमाणोंकी कसौटीसे भी सत्य प्रमाणित होता है।

यह ज्ञान और विज्ञान मनुष्यको मोहमें गिरानेवाला न हो। सत्य ज्ञान और सत्यविज्ञान कभी गिरानेवाला अथवा मोह उत्पन्न करनेवाला नहीं होता, तथापि शत्रुके द्वारा जो फैलाया जाता है, उसीको ज्ञान विज्ञान मान कर कई भोले लोग उसको अपनाते हैं, और भ्रममें पडते हैं, मोहवश होते हैं और गिरते हैं। इसलिये इस मंत्रमें कहा है कि 'ज्ञान विज्ञान मनुष्यकी रक्षा करनेवाला हो।' जो मनुष्य ज्ञान विज्ञान प्राप्त करते हैं, वे विचार करें कि जो ज्ञान विज्ञान हम सीख रहे हैं, वह सच्चा ज्ञान विज्ञान है या नहीं और इससे हमारी सच्ची रक्षा होगी या नहीं। शत्रुके दिये हुए भ्रमोत्पादक ज्ञानसे (वस्तुतः अज्ञानसे) आयु, आरोग्य और बल क्षीण हो जाता है और सत्य ज्ञानसे आयु, आरोग्य तथा बल वृद्धिको प्राप्त होता है। इतना महत्त्व ज्ञान और विज्ञानका दीर्घायुकी प्राप्तिमें है। आगे देखिये—

स्फूर्ति और स्थिरता।

(३) अस्वप्न शब्दका अर्थ निद्राका न आना नहीं है, वह तो रोगकी अवस्था है। निद्रा तो मनुष्यके लिये अत्यंत आवश्यक है। यहां 'अ–स्वप्न' का अर्थ है 'सुस्तीका न होना' मनुष्यको सुस्त रहना नहीं चाहिये। फुर्ती मनुष्यके अन्दर अवश्य चाहिये। फुर्तीके बिना मनुष्य विशेष पुरुषार्थ कर नहीं सकता। अतः यह गुण मनुष्यकी उन्नतिके लिये सहायक है।

(४) अनवद्राणका अर्थ है न भागना, मंदगति न होना, पीछे न हटना। जो स्थान प्राप्त किया है, उसीपर स्थिर रहना और यदि संभव हो तो आगे बढनेकी तैयारी करना ही अनवद्राण है।

वस्तुतः उन्नतिके पथमें जानेके लिये ये गुण बडे उपयोगी हैं, परंतु कई मनुष्योंमें ऐसी कुछ बेढंगी फुर्ती होती है कि उसीसे उनकी हानि ही होती है। इसलिये यहां यह मंत्र पाठकोंको सावधान कर रहा है कि ऐसे भी हानिकारक फुर्ती और गतिसे बचो और जिससे अपनी निःसंदेह उन्नति हो ऐसी फुर्ती अपनेमें बढाओ। पुरुषार्थी मनुष्यमें स्फूर्ति तो चाहिये परंतु ऐसी चाहिये कि जो विघातक न हो। पहिले

कहे गए ज्ञान और विज्ञान तो गुरु आदिसे प्राप्त करने होते है, पर ये स्फूर्ति और मति तो अपनेही अन्दर होते हैं, परंतु विशेष रीतिसे उनको ढालना पडता है। इसके पश्चात् दो और गुण शेष रह गए हैं, उनका विचार अब देखिये—

रक्षा और जाग्रति।

(५) गोपायन् उसका नाम होता है कि जो दूसरोंका संरक्षण करता है, इसका अर्थ रक्षा करनेवाला है।

(६) जागृवि जागता हुआ रक्षा कार्यमें दत्तचित्त होता है। अर्थात् ये दोनों रक्षा-कार्य करनेवाले हैं।

यहां 'जागृविः गोपायन् च त्वा रक्षतां'। (मं. १३) जागता हुआ और रक्षा करनेवाला तेरी रक्षा करे ऐसा कहा है। इससे स्पष्ट होता है कि कई जागनेवाले रक्षाका कार्य नहीं करते और कई रक्षक भी रक्षाका कार्य नहीं करते। चोर रात्रीको जागता है, परंतु वह जनताकी रक्षा नहीं करता, इसी प्रकार कई रक्षक कार्यपर नियुक्त हुए ओहदेदार भी प्रजाकी रक्षा नहीं करते, अपितु रिश्वतें आदि खा खाकर प्रजाको सताते हैं। इस प्रकारके अनंत लोग हैं जो जागते हैं और रक्षाके कार्यमें नियुक्त भी होते हैं, पर प्रजाकी रक्षा नहीं करते, अतः लोगोंको इनसे अपने आपका बचाव करना चाहिये है। क्योंकि ये स्वार्थ-साधक हैं। अतः लोग विचार करें कि सच्चे रक्षक कौन हैं और जनहित करनेके लिये कौन जागते रहते हैं। जो सच्चे रक्षक हैं उन्हें ही रक्षक मानकर जो स्वार्थसाधक हैं उन्हें दूर करना चाहिये। तभी सच्ची रक्षा होगी, कल्याण होगा जनतामें शान्ति रहेगी और अन्तमें ऐसी सुस्थितिमें आयु भी दीर्घ होगी, और नीरोग अवस्था रहनेसे जनता सुखी होगी। दीर्घायु प्राप्त करनेमें ये सब बातें सहायक हैं, इनके विना अकेलेके वैयक्तिक प्रयत्नसे पर्याप्त दीर्घायु नहीं प्राप्त हो सकती। अर्थात् सामाजिक और राजकीय परिस्थितिके अनुकूल रहनेसे मनुष्यकी आयु दीर्घ होती है और प्रतिकूल होनेसे आयु घटती है। इसीलिये स्वतंत्र देशके लोग दीर्घजीवी होते हैं, और परतंत्र देशमें प्रजा अल्पायु होती है।

सामाजिक पाप।

दीर्घजीवी मनुष्यके आगे सामाजिक और राजकीय कर्तव्य भी हैं यह दर्शानेके उद्देश्यसे इस सूक्तमें कहा है—

जीवेभ्यः मा प्रमदः। (मं. ७)

' संपूर्ण जीवोंके लिये अपना कर्तव्य करनेके समय तू प्रमाद न कर।' इससे स्पष्ट होता है कि हरएक मनुष्यका अन्य प्राणियोंके संबंधमें कुछ विशेष कर्तव्य है, अर्थात् अन्य मनुष्य और अन्य पशुपक्षी जीवजन्तु आदिके संबंधमें कुछ कर्तव्य हैं और उसमें प्रमाद होना नहीं चाहिये। प्रमाद होनेसे इस व्यक्तिका और समाजका भी नुकसान होगा, अतः प्रमाद न करते हुए यह कर्तव्य करना चाहिये। यह कर्तव्य ठीक प्रकार होनेसे मनुष्य दीर्घायु हो सकता है। अर्थात् इस सामाजिक कर्तव्यको निर्दोष रीतिसे करनेवाले लोग समाजमें जितने अधिक होंगे, उतनेही दोष उस समाजमें कम होंगे, और उस प्रमाणसे उस देशके मनुष्योंकी आयु दीर्घ होगी। सामाजिक कार्यके विषयमें उदासीन और सामाजिक कार्यको प्रमादसे करनेवाले लोग जिस समाजमें अधिक होंगे उस समाजमें अल्पायु लोगोंकी संख्या अधिक होगी। जबतक संपूर्ण समाज निर्दोष नहीं होता तबतक मनुष्योंकी आयु दीर्घ नहीं होगी। दूषित समाजमें एक व्यक्ति कितना भी निर्दोष हो तथापि सब समाजके दोषोंका परिणाम उस व्यक्तिपर होगा ही। इसलिये सांघिक जीवनको निर्दोष बनाना आवश्यक है।

पितॄन् मा अनुगाः। (मं. ७)

' हे मनुष्य! तू पितरोंके पीछे न जा।' अर्थात् शीघ्र न मर। यह आदेश मनुष्यको दीर्घायु प्राप्त करनेकी प्रेरणा देनेके उद्देश्यसे दिया है। यदि मनुष्य प्रयत्न करेगा, तो उसको दीर्घजीवन अवश्य प्राप्त होगा, अन्यथा उसकी आयु अल्प होती जायेगी।

सूर्यप्रकाशसे दीर्घायु।

दीर्घजीवन प्राप्त करनेके लिये सूर्यप्रकाश बडा सहायक है। जो लोग अपनी आयु बढाना चाहते हैं वे इस अमृतपूर्ण सूर्यप्रकाशसे अवश्य लाभ उठावें—

सूर्यः ते तन्वे शं तपाति। (मं. ५)

अस्माल्लोकात् अग्नेः सूर्यस्य संदृशः मा छित्थाः। (मं. ४)

इह अमृतस्य लोके सूर्यस्य भागे अस्तु। (मं. १)

' सूर्य तेरे शरीरको सुख देनेके लिये ही तपता है। अतः सूर्यके प्रकाशसे अपना संबंध न तोड। यहां अमृतपूर्ण स्थान

अर्थात् सूर्यके प्रकाशित भागमें तू रह । ' इसीसे आयु दीर्घ होगी । जो लोग तंग मकानके अंधेरे तंग कमरोंमें रहते हैं, जहां सूर्यप्रकाश उनको नहीं मिलता वे अल्पजीवी होते हैं। शरीरके चमडीपर सूर्यप्रकाशका स्पर्श होना चाहिये । थोडासा भी अधिक सूर्यप्रकाश चमडीपर लगनेपर जिनको कष्ट होते हैं वे दीर्घजीवनके अधिकारी नहीं हैं । मनुष्य सदा कपडोंसे वेष्टित रहते हैं अतः वे सूर्यके जीवनसे वंचित रह जाते हैं । यदि मनुष्य सूर्यातपस्नान करें तो उनके रक्तमें सूर्यकिरणोंसे जीवनविद्युत् प्रविष्ट होगी और उनको अधिक लाभ होगा । सूर्यके विषयमें प्रश्नोपनिषद्में कहा है—

आदित्यो ह वै प्राणो रयिरेव चन्द्रमा रयिर्वा एतत्सर्वं यन्मूर्तं चामूर्तं च तस्मान्मूर्तिरेव रयिः ॥ ५ ॥
प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः ॥ ८ ॥ (प्रश्न उ. १)

' सूर्य ही प्राण है और जो सब अन्य मूर्त अथवा अमूर्त है वह रयि है । यह सूर्य प्रजाओंका प्राण है जो उदयको प्राप्त होता है । ' इतनी सूर्यकी महिमा है, अतः इस सूक्तमें कहा है कि, ' सूर्यके प्रकाशसे अपना संबंध न तोड । क्योंकि यह सूर्यप्रकाश ऐसा है कि, जिससे मनुष्यकी आयुष्यमर्यादा बढती है । जो जो प्राणी सूर्यप्रकाशसे अपना संबंध तोडते हैं वे अल्पायु होते हैं । सूर्य ही जीवनका समुद्र है, इसलिये इससे दूर होना ठीक नहीं । सूर्यके समान अन्य देव भी मनुष्यका जीवन दीर्घ करते हैं इस विषयमें निम्नलिखित मन्त्रभाग द्रष्टव्य हैं—

भगः अंशुमान्सोमः मरुतः देवाः इन्द्राग्नी स्वस्तये उत् ।
(मं. २)

मातरिश्वा वातः तुभ्यं पवताम् । (मं. ५)
आपः अमृतानि तुभ्यं वर्षन्ताम् । (मं. ५)
इह विश्वे देवाः तुभ्यं रक्षन्तु । (मं. ७)
अग्नयः जातवेदाः वैश्वानरः दिव्यः विद्युतः ते रक्षन्तु ।
(मं. ११)

द्यौः पृथिवी सूर्यः चन्द्रमाः अन्तरिक्षं त्वा रक्षताम् ।
(मं. १२)

त्रायमाण इन्द्रः जीवेभ्यः त्वा सं-उदे दधातु ।
(मं. १५)

आदित्या वसव इन्द्राग्नी स्वस्तये त्वा उद्धरन्तु ।
(मं. १६)

द्यौः पृथिवी प्रजापतिः सोमराज्ञीः ओषधयः त्वा मृत्योः उदपीपरन् । (मं. १७)

' पृथ्वीस्थानपर प्राप्त होनेवाले देवता पृथिवी, जल (आप्), अग्नि, वायु, वसु, (सोमराज्ञीः ओषधयः) सोमादि ओषधियां, (प्रजापतिः) प्रजापालक राजा, वैश्वानर, जातवेदा आदि हैं, अन्तरिक्ष स्थानमें रहनेवाले अन्तरिक्ष (आपः) मेघस्थानीय जल, मातरिश्वा वातः, (मरुतः) वायु, चन्द्रमा, इन्द्र, विद्युत् (प्रजापतिः) मेघ आदि देवता हैं और द्युलोकमें रहनेवाले द्यौः, सूर्य, आदित्य, भग, प्रजापति (परम आत्मा) आदि देवता हैं, ये सब देवता मनुष्यको दीर्घ आयुष्य देवें । ' इनमेंसे प्रत्येक देवताका संबंध प्राणोंकी दीर्घायुके साथ है । प्राणी तृषित होनेपर जलसे प्राणधारण करता है, भूख लगनेपर ओषधिवनस्पतियां फूलोंफलों और कन्दोंसे प्राणीको जीवन देती हैं, सूर्यप्रकाश तो सभी पदार्थोंमें जीवन देता ही है इसी प्रकार अन्यान्य देवतासे जीवन लेकर मनुष्यादि प्राणी प्राण धारण करता है ।

ये सब देव (वयो-धसः) आयुको धारण करनेवाले हैं, ये (संयमन्तु) मनुष्यको दीर्घजीवन प्रदान करें । इन देवोंसे जीवनशक्ति प्राप्त करनेका ही नाम यज्ञ है, इसीलिये कहा है कि—

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥ (भ गी. ३।११)

' यज्ञसे देवोंको संतुष्ट करो और देव तुम सबको संतुष्ट करेंगे, इस प्रकार परस्परको आनन्द प्रसन्न करते हुए तुम सब परम श्रेय प्राप्त करोगे । ' इस प्रकार मनुष्यसे यज्ञका संबंध है, अतः इस सूक्तमें कहा है कि—

बर्हिः प्रमयुः कथा स्यात् ? (मं. १९)

' यज्ञ विघातक कैसे होगा ? ' सच्चा यज्ञ विधिपूर्वक किया जाये तो वह कभी विघातक नहीं हो सकता, प्रत्युत पोषक ही होगा । इस रीतिसे सूर्यादि देवोंसे शक्ति प्राप्त करके मनुष्य अपनी शक्तिका विकास कर सकता है और यहां आनन्दसे रहकर दीर्घजीवन प्राप्त कर सकता है । इसी प्राणधारणके विषयमें इस सूक्तमें कहा है—

ते प्राणा अपाना इह रमन्तां ।
अयं पुरुषः असुना सह । (मं. १)

इह ते असुः, इह प्राणः, इह आयुः, इह ते मनः।
(मं. २)
त्वा प्राणः बलं मा हासीत्। ते असुं अनु ह्वयामसि।
(मं. १५)

इस रीतिसे यज्ञद्वारा देवताओंको प्रसन्न करके 'तेरे अन्दर प्राण, अपान, आयु, मन, बल आदि स्थिर रहें।' अर्थात् मनुष्यको दीर्घजीवन प्राप्त हो।

ते जीवातुं दक्षतातिं कृणोमि। (मं. ६)

'मनुष्यमें जो जीवन और बल है' वह सब शुभकर्म करनेके लिये ही है, यज्ञके लिये ही है। मनुष्यको जो दीर्घायु प्राप्त करनी है, बहुत बल प्राप्त करना है वह इसी कार्यके लिये है, वह सब श्रेष्ठतम यज्ञरूप कर्मके लिये ही है—

अयं इह अस्तु, अयं इतः अमुत्र मा गात्।(मं. १८)
मृत्योः त्वा उदपीपरम्। (मं. १९)
त्वा आहार्षं, त्वा अविदं, पुनः नवः आगाः।(मं. २०)
हे सर्वांग! ते सर्वं चक्षुः ते सर्वं आयुः च अविदम्॥
(मं. २०)
त्वत् निर्ऋतिं मृत्युं अपनिदध्मसि।
यक्ष्मं अपनिदध्मसि। (मं. २१)
सहस्रवीर्येण इमं मृत्योः उत्पारयामसि। (मं. १८)

'यह मनुष्य इस लोकमें रहे, परलोकमें न जावे, अर्थात् न मरे। मृत्युसे तुझे बचाया है। मृत्युसे तुझे लौटा लाया हूं, मानो तू नया होकरही आ गया है, तेरा नयाही जीवन बन गया है। हे सर्वांगसंपूर्ण मनुष्य! चक्षु, आयु आदि सब तुझे प्राप्त हुए हैं। तुझसे दुर्गति, मृत्यु और रोग दूर हो गए हैं। हजारों बलवीर्यवाली औषधियोंके प्रयोग द्वारा तुझे मृत्युसे बचा दिया है।'

इस प्रकार दीर्घजीवन प्राप्त करनेमें मणिमंत्र औषधिके विविध प्रयोग करके यह सिद्धि प्राप्त करनी होती है। दीर्घजीवनकी प्राप्ति उपाय आयुर्वेद, योगसाधन आदिमें विस्तारपूर्वक देखे जा सकते हैं।

तम और ज्योति।

त्वत् तमः व्यगात्, अप अक्रमीत्।
ते ज्योतिः अभूत्। (मं. २१)

'तुझसे अन्धकार दूर हो चुका है और तुझे प्रकाश प्राप्त हुआ है।' इस मंत्रमें जीवनके एक महान् सिद्धान्तको स्पष्ट किया है। मनुष्यका जीवन सचमुच प्रकाशका जीवन है पर बहुत थोडेही लोग इसका अनुभव करते हैं। प्रत्येक मनुष्यके चारों ओर एक एक प्रकाशका वर्तुल स्वतंत्र है, जैसा जिसका सामर्थ्य अधिक होता है, उतना उसका वर्तुळ बडा और प्रभावशाली होता है। जिसका आत्मिक बल कम है उसका प्रकाशवर्तुल भी छोटा होता है। यह प्रकाशवर्तुल भले ही छोटा या कमजोर हो तो भी आकाशतक, नक्षत्रोंतक फैलने योग्य विस्तृत होता है। मनुष्य जब मरने लगता है तब यह प्रकाशवर्तुल छोटा छोटा होता जाता है, जो मनुष्य मरने तक अपने अन्तिम अनुभव बतला सकता है, वह इस बातको प्रत्यक्ष रूपसे कह सकता है। अन्तिम समय क्षणक्षणमें जिसका प्रकाशवर्तुल छोटा होता जाता है वह वैसा कहता भी है। मनुष्यकी आत्मापर (तमः) अन्धकार या अविद्याका आवरण पडना ही मृत्यु है। अन्तसमयमें जब यह प्रकाशवर्तुल केवल अंगुष्ठमात्र रह जाता है तो उस मनुष्यकी मृत्यु हो जाती है। यह अनुभव इस मंत्रद्वारा व्यक्त किया गया है। 'हे मनुष्य! तेरे ऊपर अन्धेरेका आवरण आ रहा था, वह अब दूर हो गया है और पूर्ववत् तेरी ज्योति जगत्में फैल गयी है।' यह २१ वें मंत्रभागका आशय है। यह आत्मप्रकाशका अनुभव है। यह कोई काल्पनिक बात नहीं है। जितने जगत्का मनुष्यको ज्ञान होता है वहांतक इसका यह प्रकाशवर्तुल फैला रहता है, मरण समयमें वहांसे प्रकाशवर्तुल शनैः शनैः छोटा होता जाता है। बेहोशीका अर्थ ही प्रकाशवर्तुलका संकोच होना है। बेहोश होनेवाला मनुष्य कहता ही है कि मेरा आंखके सामने अंधेरा छा गया। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि इसका जो प्रकाश फैला हुआ था वह संकुचित हो गया, इसलिये इसकी जीवनशक्ति कम हो गई और वह मूर्च्छित हो गया।

दो मार्गरक्षक।

श्यामश्च शबलश्च यमस्य पथिरक्षी श्वानौ। (मं. ९)

'काला और श्वेत ऐसे दो यमके मार्गरक्षक श्वान हैं।' यहां 'श्वान' शब्दका अर्थ कई लोगोंने 'कुत्ता' किया है और इसका अर्थ ऐसा माना है कि 'यमके दो कुत्ते यमलोकके मार्गमें रहते हैं।' परंतु यह अर्थ ठीक नहीं है। 'श्वान' शब्दका अर्थ यहां '(श्वा-न; श्वः+न) जो कल नहीं रहता' यह है। यह नाम सूर्य अर्थात् कालका है, श्वेत

दिन और कृष्णवर्ण रात्रीका समय जो इसके भाग 'कलतक न रहनेवाले,' केवल आज ही रहनेवाले हैं। इस विषयमें वेदमें अन्यत्र कहा भी है—

अहश्च कृष्णमहरर्जुनं च विवर्तेते रजसी वेद्याभिः। (ऋ. ६।९।१)

'एक (अहः) दिन काला होता है और दूसरा श्वेत होता है।' ये ही दिन और रात हैं। ये ही यमके दो-श्वेत और काले मार्गरक्षक हैं। हरएक मनुष्यके मार्गकी रक्षा ये दोनों करते हैं। इनमेंसे प्रत्येक आज हैं परंतु कल तो निःसन्देह नहीं रहेंगे। ये दोनों यमके रक्षक हैं और हरएकके पीछे ये लगे रहते हैं, कोई भी इनसे छूट नहीं सकता, यह जानकर इन रक्षकोंके सामने कोई पाप कर्म न करे और सदा अच्छा सत्कर्म ही किया करें। पाप कर्म करनेपर ये यमके मार्गरक्षक किसीको नहीं छोडते। पापीको अवश्य दण्ड मिलेगा। यह दण्ड आयुकी क्षीणता ही है। अन्य रोगादि भी हैं। यह यम बडा प्रबल है किसीको नहीं छोडता अतः उसको नम्र होकर रहना चाहिये—

मृत्यवे अन्तकाय नमः। (मं. १)
मृत्युः दयताम्। (मं ५)

'मृत्युको नमस्कार हो, मृत्यु दया करे' इस प्रकार मृत्युके सामर्थ्यको हमेशा ध्यानमें रखना चाहिये। और उसका डर मनमें रखना चाहिये। उससे दयाकी याचना करनी चाहिये। इतनी नम्रता मनमें यदि हो तो मनुष्य सहसा पाप नहीं करेगा। कमसे कम इससे पापप्रवृत्ति न्यून तो अवश्य होगी। इसी प्रकार—

गोपायन्ति रक्षन्ति, तेभ्यः नमः स्वाहा च। (मं. १४)

'जो पालन और रक्षा करते हैं, उनको नमस्कार और समर्पण हो।' इससे पूर्व पालकों और रक्षकोंकी गिनती की है, उन सबके लिये अपनी ओरसे यथायोग्य समर्पण अवश्य होना चाहिये। यही यज्ञ है। जो यज्ञके विषयमें इससे पूर्व लिखा है वह पाठक यहां देखें। यज्ञ और (स्वाहा= स्वा-हा) समर्पण एक ही बात है और नमन भी उसीमें संमिलित है।

इस प्रकार विचारवान् सुविज्ञ मनुष्य वृद्ध अवस्थामें सत्य ज्ञानका उपदेश देनेमें समर्थ होता है—

उपदेशक।

जिव्रिः विदथं आवदासि। (मं. ६)

'इस प्रकारका वृद्ध मनुष्य अपने ज्ञानका उपदेश कर सकता है।' तबतक कोई भी उपदेशक होनेका अधिकारी ही नहीं है। इससे पूर्व जो जो उपदेश दिये गए हैं, उसके अनुसार आचरण करके जो मनुष्य सदाचाररत होकर वृद्ध होता है, वही योग्य उपदेश देनेमें समर्थ होता है।

इस सूक्तके स्मरण करने योग्य उपदेश।

(१) इहायमस्तु पुरुषः सहासुना सूर्यस्य भागे अमृतस्य लोके। (अ. ८।१।१)

'जो मनुष्य दीर्घायु प्राप्त करना चाहता है वह सूर्यके प्रकाशमें रहे क्योंकि वहां अमृत रहता है।'

(२) उत्क्रामातः पुरुष, माव पत्था मृत्योः पड्वीश-मवमुञ्चमानः॥ (अ ८।१।४)

'हे मनुष्य! ऊपर चढ, मत गिर, और मृत्युके पाश तोड दे।'

(३) सूर्यस्ते शं तपाति। (अ. ८।१।५)

'सूर्य तेरा कल्याण करनेके लिये तपता है।'

(४) उद्यानं ते पुरुष नावयानम्। (अ. ८।१।६)

'हे मनुष्य! तेरी उन्नति हो, अवनति न हो।' यह वाक्य भगवद्गीता (६।५) के 'उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।' (अपनी आत्माका सदा उद्धार करना चाहिये, उसकी कभी गिरावट करनी नहीं चाहिये) इस वाक्यके समान है।

(५) मा जीवेभ्यः प्रमदः॥ (अ. ८।१।७)

'प्राणियोंके संबंधमें जो कर्तव्य है उसे करनेमें प्रमाद न कर।'

(६) मा गतानामादीधीथा ये नयन्ति परावतम्। (अ. ८।१।८)

'बीती बातोंके लिए शोक न कर, वे शोक अधोगतिमें दूरतक ले जाते हैं।'

(७) मात्र तिष्ठ पराङ्मनाः। (अ. ८।१।९)

'यहां विरुद्ध दिशामें मन करके खडा न रह।'

दीर्घायु ।

[२]

(ऋषिः – ब्रह्मा । देवता – आयुः)

आ रंभस्वेमामृतस्य श्नुष्टिमच्छिद्यमाना जरदष्टिरस्तु ते ।
असुं त आयुः पुनरा भरामि रजस्तमो मोप गा मा प्र मेष्ठाः ॥ १ ॥
जीवतां ज्योतिरभ्येह्यर्वाङा त्वा हरामि शतशारदाय ।
अवमुञ्चन् मृत्युपाशानशस्तिं द्राघीय आयुः प्रतरं ते दधामि ॥ २ ॥
वातात् ते प्राणमविदं सूर्याच्चक्षुरहं तव ।
यत् ते मनस्त्वयि तद् धारयामि सं वित्स्वाङ्गैर्वद जिह्वयालपन् ॥ ३ ॥
प्राणेन त्वा द्विपदां चतुष्पदामग्निमिव जातमभि सं धमामि ।
नमस्ते मृत्यो चक्षुषे नमः प्राणाय तेकरम् ॥ ४ ॥

अर्थ— (इमां अमृतस्य श्नुष्टिं आरभस्व) इस अमृत रसके पानको प्रारंभ कर। (जरत्–अष्टिः ते अच्छिद्यमाना अस्तु) वृद्धावस्था तक तेरा जीवन–भोग अविच्छिन्न रीतिसे होवे। (ते असुं आयुः पुनः आभरामि) तेरे प्राण और जीवनको तेरे अन्दर में पुनः भरता हूं। (रजः तमः मा उपगाः) भोग और अज्ञानके पास न जा और (मा प्र मेष्ठाः) मत मर ॥ १ ॥

(जीवतां ज्योतिः अर्वाङ् अभि–एहि) जीवित मनुष्योंकी ज्योतिको इस ओरसे प्राप्त हो। (त्वा शत–शारदाय आ हरामि) तुझे सौ वर्षकी आयुके लिये लाता हूं (मृत्युपाशान् अशस्तिं अवमुञ्चन्) मृत्युके पाशों और अकीर्तिको हटाता हुआ (ते प्रतरं द्राघीयः आयुः दधामि) में तेरे लिये उत्कृष्ट दीर्घ आयु देता हूं ॥ २ ॥

(अहं वातात् ते प्राणं अविदं) मैंने वायुसे तेरे प्राणको प्राप्त किया है। (सूर्यात् तव चक्षुं) सूर्यसे तेरे नेत्रको प्राप्त किया है। (यत् ते मनः त्वयि धारयामि) जो तेरा मन है उसको में तेरे अन्दर स्थापित करता हूं। (अंगैः संवित्स्व) अपने सब अवयवोंको प्राप्त हो। (जिह्वया लपन् वद) जिह्वासे शब्दोच्चार करता हुआ तू बोल ॥ ३ ॥

(जातं अग्निं इव) अभी उत्पन्न हुई अग्निके समान (त्वा द्विपदां चतुष्पदां प्राणेन संधमामि) द्विपाद और चतुष्पादोंके प्राणसे जीवन देता हूं। हे मृत्यो ! (चक्षुषे नमः) तेरी नेत्र–इंद्रियके लिये नमन और (ते प्राणाय नमः अकरं) तेरे प्राणके लिये में नमन करता हूं ॥ ४ ॥

भावार्थ— हे रोगी मनुष्य ! तू इस अमृतरस रूपी औषधिरसका पान कर। और दीर्घायुसे युक्त बन। तेरे अन्दर प्राण पुनः स्थिर करता हूं। तू भोगमय जीवन और अज्ञानके पास न जा और शीघ्र न मर ॥ १ ॥

जीवित मनुष्योंमें जो एक विलक्षण तेज होता है उसे प्राप्त कर। और सौ वर्ष तक जीवित रह। मृत्युके पाशको तोड। में तेरी आयु बढाता हूं ॥ २ ॥

वायुसे प्राण, सूर्यसे नेत्र तुझे देता हूं। तेरे अन्दर मन स्थिर रहे। तेरे सब अवयवोंकी पुष्टि होवे और तेरी जिह्वासे उत्तम वक्तृत्व होवे ॥ ३ ॥

जिसप्रकार अग्निकी छोटी ज्वालाको थोडी थोडी वायु देकर प्रदीप्त करते हैं, ठीक उसप्रकार तेरे अन्दर स्थित थोडेसे प्राणको हम अनेक उपायोंसे प्रदीप्त करते हैं। मृत्युको हम नमस्कार करते हैं ॥ ४ ॥

अयं जीवतु मा मृतेमं समीरयामसि।
कृणोम्यस्मै भेषजं मृत्यो मा पुरुषं वधीः ॥ ५ ॥
जीवलां नघारिषां जीवन्तीमोषधीमहम्।
त्रायमाणां सहमानां सहस्वतीमिह हुवेस्मा अरिष्टतातये ॥ ६ ॥
अधि ब्रूहि मा रभथाः सृजेमं तवैव सन्त्सर्वहाया इहास्तु।
भवाशर्वौ मृडतं शर्म यच्छतमपसिध्य दुरितं धत्तमायुः ॥ ७ ॥
अस्मै मृत्यो अधि ब्रूहीमं दयस्वोदितोऽयमेतु।
अरिष्टः सर्वाङ्गः सुश्रुज्जरसा शतहायन आत्मना भुजमश्नुताम् ॥ ८ ॥

अर्थ— (अयं जीवतु) यह पुरुष जीवित रहे, (मा मृत) न मरे। (इमं सं ईरयामसि) इसको हम सचेत करते हैं। (अस्मै भेषजं कृणोमि) इसके लिये में औषध बनाता हूं। हे (मृत्यो) मृत्यो ! (पुरुषं मा वधीः) इस पुरुषका वध न कर ॥ ५ ॥

(अहं अरिष्ट-तातये) मैं सुखका विस्तार करनेके लिये (जीवलां) जीवन देनेवाली (नघारिषां) हानि न करनेवाली (त्रायमाणां सहमानां सहस्वतीं) रक्षा करनेवाली, रोग हटानेवाली और बल बढानेवाली, (जीवन्तीं अस्मै हुवे) जीवनीय औषधिको इसे देता हूं ॥ ६ ॥

(अधि ब्रूहि) तू उपदेश कर, (मा आरभथाः) बुरा बर्ताव न कर. (इमं सृज) इस पुरुषको जगत्में चला (तव एव सन्) तेराही होकर यह (सर्वहायाः इह अस्तु) पूर्ण आयुतक यहां रहे। (भवा-शर्वौ) हे भव और शर्व ! तुम दोनो (मृडतं) सुखी करो, (शर्म यच्छतं) सुख दो। (दुरितं अपसिध्य) पापको दूर करके (आयुः धत्तं) दीर्घ आयु प्रदान करो ॥ ७ ॥

हे (मृत्यो) मृत्यो ! (अस्मै अधि ब्रूहि) इसको उपदेश कर, (इमं दयस्व) इसपर दया कर। (अयं इतः उत् एतु) यह इस विपत्तिसे ऊपर उठे। और (अ-रिष्टः सर्वाङ्गः) पीडारहित सब अंगोंसे पूर्ण, (सु-श्रुत्) उत्तम ज्ञान या श्रवण शक्तिसे युक्त होकर (जरसा शतहायनः) वृद्धावस्थामें सौ वर्षसे युक्त होकर (आत्मना भुजं अश्नुतां) अपनी शक्तिसे भोगोंको प्राप्त करे ॥ ८ ॥

भावार्थ— यह मनुष्य दीर्घजीवी होवे, शीघ्र न मरे। ऐसी शक्ति इसमें संचालित करते हैं। इस रोगीको हम औषध देते हैं। इसकी मृत्यु न हो ॥ ५ ॥

इसके दीर्घजीवनके लिये जीवन्ती औषधिके रसको देता हूं। यह आयुष्य बढानेवाली, बल देनेवाली, दोष हटानेवाली, और रोग दूर करनेवाली है ॥ ६ ॥

इस दीर्घजीवनके उपायका उपदेश जनताको दे, कोई बुरा आचरण न करे, यह पुरुष इससे निर्दोष होकर जगत्में संचार करे। इसको दीर्घजीवन प्राप्त हो। इसको सुखमय शरीर मिले, रोग और दोष दूर हों और पूर्ण आयु प्राप्त हो ॥ ७ ॥

इसको आरोग्य प्राप्तिका उपदेश दे, मृत्यु इसपर इस समय दया करे, यह सब प्रकार अभ्युदयको प्राप्त होवे, इसके सब अवयव पूर्ण रीतिसे बढें, निर्दोष हों। यह ज्ञानवान् होकर पूर्णायु होवे और अन्ततक अपने प्रयत्नसे अपने लिये आवश्यक भोग प्राप्त करे ॥ ८ ॥

देवानां हेतिः परि त्वा वृणक्तु पारयामि त्वा रजस उत् त्वा मृत्योरपीपरम् ।
आरादग्निं क्रव्यादं निरूहं जीवातवे ते परिधिं दधामि ॥ ९ ॥
यत् ते नियानं रजसं मृत्यो अनवधर्ष्यम् ।
पथ इमं तस्माद् रक्षन्तो ब्रह्मास्मै वर्म कृण्मसि ॥ १० ॥
कृणोमि ते प्राणापानौ जरां मृत्युं दीर्घमायुः स्वस्ति ।
वैवस्वतेन प्रहितान् यमदूतांश्चरतोऽप सेधामि सर्वान् ॥ ११ ॥
आरादरातिं निर्ऋतिं परो ग्राहिं क्रव्यादः पिशाचान् ।
रक्षो यत् सर्वं दुर्भूतं तत् तम इवाप हन्मसि ॥ १२ ॥
अग्नेष्टे प्राणममृतादायुष्मतो वन्वे जातवेदसः ।
यथा न रिष्या अमृतः सजूरसस्तत् ते कृणोमि तदु ते समृध्यताम् ॥ १३ ॥

अर्थ— (देवानां हेतिः त्वा परिवृणक्तु) देवोंका शस्त्र तुझे दूर रखे। (त्वा रजसः पारयामि) तुझे रजसूसे पार करता हूं। (त्वा मृत्योः उत् अपीपरं) तुझे मृत्युसे बचाया है, तू मृत्युसे दूर हो चुका है। (क्रव्यादं अग्निं आरात् निरूहं) मांसभक्षक अग्निको दूर रखता हूं। (ते जीवातवे परिधिं दधामि) तेरे जीवनके लिये मर्यादा निश्चित करता हूं ॥ ९ ॥

हे मृत्यो ! (यत् ते अनवधर्ष्यं रजसं नियानं) जो तेरा अजिक्य रजोमय मार्ग है (तस्मात् पथः इमं रक्षन्तः) उस मार्गसे इस पुरुषकी रक्षा करते हुए हम (अस्मै ब्रह्म वर्म कृण्मसि) इसके लिये ज्ञानका कवच करते हैं ॥ १० ॥

(ते प्राणापानौ जरां मृत्युं दीर्घं आयुः स्वस्ति कृणोमि) तेरे लिये प्राण अपान, बुढापा, दीर्घ आयु और अन्तमें मृत्यु कल्याणमय करता हूं। (वैवस्वतेन प्रहितान् चरतः सर्वान् यमदूतान्) विवस्वान सूर्यसे उत्पन्न कालके भेजे हुए सर्वत्र संचार करनेवाले सब यमदूतोंको (अपसेधामि) मैं दूर करता हूं ॥ ११ ॥

(अरातिं) शत्रु, (निर्ऋतिं) दुर्गति, (ग्राहिं) रोग, (क्रव्यादः) मांसभक्षक जन्तु, (पिशाचान्) मांस खानेवाले (रक्षः) विनाशक और (यत् सर्वं दुर्भूतं) जो सब अहितकारी है, (तत् तम इव) उसको अन्धकारके समान (परः आरात् अपहन्मसि) दूर हटाता हूं ॥ १२ ॥

(अमृतात् आयुष्मतः जातवेदसः अग्नेः) अमर, आयुवाले जातवेद अग्निसे (ते प्राणं वन्वे) तेरे प्राणको प्राप्त करता हूं। (यथा अमृतः न रिष्याः) जिससे अमर होकर तू न विनष्ट होगा। (सजूः असः) उसके साथ रह, (तत् ते समृध्यतां) वह तेरा कार्य समृद्धियुक्त होवे ॥ १३ ॥

भावार्थ— देवोंके शस्त्र तुझपर न गिरें। तुझे भोगवृत्तिसे परे ले जाता हूं। मृत्युको हटाता हूं। मुर्दोंको जलानेवाला अग्नि तेरे पाससे दूर होवे और तू पूर्णायुकी अन्तिम मर्यादातक जीवित रह ॥ ९ ॥

मृत्युका अजिक्य मार्ग है, तथापि उससे हम इसकी रक्षा करते हैं। और इसको ज्ञानका कवच देते हैं जिससे इसकी रक्षा होगी ॥ १० ॥

प्राण अपान, वृद्धावस्था, दीर्घ आयु आदिके कारण तुझे सुख प्राप्त हो। तुझे कष्ट देनेवाले जो होंगे उनको मैं दूर करता हूं ॥ ११ ॥

शत्रु, विपत्ति, रोग, विनाशक, घातक, और क्षीणता करनेवाले जो होंगे उनको दूर हटाता हूं ॥ १२ ॥

अमर और आयु देनेवाले अग्नि देवसे मैं तेरे लिये प्राण लाता हूं। इससे तेरी मृत्यु नहीं होगी। तू यहां जीवित रह और समृद्धिसे युक्त हो ॥ १३ ॥

शिवे ते स्तां द्यावापृथिवी असंतापे अभिश्रियौ।
शं ते सूर्य आ तपतु शं वातो वातु ते हृदे।
शिवा अभि रक्षन्तु त्वापो दिव्याः पयस्वतीः ॥ १४ ॥
शिवास्ते सन्त्वोषधय उत् त्वाहार्षमधरस्या उत्तरां पृथिवीमभि।
तत्र त्वादित्यौ रक्षतां सूर्याचन्द्रमसावुभा ॥ १५ ॥
यत् ते वासः परिधानं यां नीविं कृणुषे त्वम्।
शिवं ते तन्वे३ तत् कृण्मः संस्पर्शेऽद्रूक्ष्णमस्तु ते ॥ १६ ॥
यत् क्षुरेण मर्चयता सुतेजसा वप्ता वपसि केशश्मश्रु।
शुभं मुखं मा न आयुः प्र मोषीः ॥ १७ ॥
शिवौ ते स्तां व्रीहियवावबलासावदोमधौ।
एतौ यक्ष्मं वि बाधेते एतौ मुञ्चतो अंहसः ॥ १८ ॥

अर्थ— (द्यावापृथिवी ते असन्तापे) द्यौ और पृथ्वी लोक तेरे लिये सन्ताप न करनेवाले, (शिवे अभिश्रियौ) शुभ और श्रीसे युक्त (स्तां) हों। (सूर्यः ते शं आतपतु) सूर्य तेरे लिये सुख देता हुआ प्रकाशित होवे। (ते हृदे वातः शं वातु) तेरे हृदयके लिये वायु सुखदायी होकर बहे। (दिव्याः पयस्वतीः आपः) आकाशके मेघमंडलसे प्राप्त होनेवाले और पृथ्वीपर बहनेवाले जलप्रवाह (त्वा शिवाः अभिरक्षन्तु) तेरे लिये शान्ति देते हुए बहते रहें ॥ १४ ॥

(ते ओषधयः शिवाः सन्तु) तेरे लिये औषधियां शुभ गुणयुक्त हों। (अधरस्याः उत्तरां पृथिवीं) नीचली भूमिसे ऊपरकी ऊंची भूमिपर (त्वा अभि उत् आहार्षं) तुझे मैंने लाया है। (तत्र सूर्याचन्द्रमसौ उभौ आदित्यौ त्वा रक्षतां) वह सूर्य और चन्द्र ये दोनों आदित्य तेरी रक्षा करें ॥ १५ ॥

(यत् ते परिधानं वासः) जो तेरा ओढनेका वस्त्र है, (यां त्वं नीविं कृणुषे) जिस वस्त्रको तू कमरपर बांधता है, (तत् ते तन्वे शिवं कृण्मः) वह तेरे शरीरके लिये सुखदायक बनाते हैं। वह वस्त्र (ते संस्पर्शे अद्रूक्ष्णं अस्तु) तेरे स्पर्शके लिये खुरदरा न होवे अर्थात् मृदु होवे ॥ १६ ॥

(वप्ता मर्चयता सुतेजसा क्षुरेण) तू नापित स्वच्छता करनेवाले तेज धारवाले छुरासे (यत् केशश्मश्रु वपसि) जो बालों और मूंछोंका मुंडन करता है उससे (शुभं मुखं) सुंदर मुख बना और (नः आयुः मा प्रमोषीः) हमारी आयुका नाश न कर ॥ १७ ॥

(व्रीहियवौ ते शिवौ) चावल और जौ तेरे लिये कल्याणकारी और (अ-बलासौ अदो-मधौ स्तां) कफ न करनेवाले और खानेके लिये सुख दायक हों। (एतौ यक्ष्मं वि बाधेते) ये दोनों रोगका नाश करते हैं, और (एतौ अंहसः मुञ्चतः) ये दोनों पापसे मुक्त करते हैं ॥ १८ ॥

भावार्थ— द्युलोक, अन्तरिक्षलोक, भूलोकमें रहनेवाले सब पदार्थ अर्थात् सूर्य, वायु, जल आदि सब तेरे लिये सुख देनेवाले हों ॥ १४ ॥

औषधियां तुझे अपने शुभगुणोंसे सुख दें। इसको मृत्युकी हीन अवस्थासे नीरोगी उच्च अवस्थामें मैंने लाया है। यहां सूर्यचन्द्रादि तेरी रक्षा करें। जो तेरा ओढने और पहननेका वस्त्र है वह तेरे लिये मृदु सुखकारक स्पर्श करनेवाला हो ॥ १५-१६ ॥

उत्तम तेज छुरेसे जो नापित हजामत बनाता है उससे मुखकी सुंदरता बढती है। वह नापित किसीकी आयुका नाश न करे ॥ १७ ॥

यदुश्नासि यत् पिबसि धान्यं कृष्याः पयः ।
यदाद्यं यदनाद्यं सर्वं ते अन्नमविषं कृणोमि　　　॥ १९ ॥
अह्ने च त्वा रात्रये चोभाभ्यां परि दद्मसि ।
अरायेभ्यो जिघत्सुभ्य इमं मे परि रक्षत　　　॥ २० ॥
शतं तेऽयुतं हायनान् द्वे युगे त्रीणि चत्वारि कृण्मः ।
इन्द्राग्नी विश्वे देवास्तेऽनु मन्यन्तामहृणीयमानाः　　　॥ २१ ॥
शरदे त्वा हेमन्ताय वसन्ताय ग्रीष्माय परि दद्मसि ।
वर्षाणि तुभ्यं स्योनानि येषु वर्धन्त ओषधीः　　　॥ २२ ॥
मृत्युरीशे द्विपदां मृत्युरीशे चतुष्पदाम् ।
तस्मात् त्वां मृत्योर्गोपतेरुद्भरामि स मा बिभेः　　　॥ २३ ॥

अर्थ— (यत् कृष्याः धान्यं अश्नासि) जो कृषिसे उत्पन्न होनेवाला धान्य तू खाता है और (यत् पयः पिबसि) जो दूध तू पीता है, (यत् आद्यं यत् अनाद्यं) जो खाने योग्य और जो खाने अयोग्य है (ते तत् सर्वं अविषं कृणोमि) तेरे लिये वह सब विषरहित करता हूं ॥ १९ ॥

(त्वा अह्ने च रात्रये च उभाभ्यां परिदद्मसि) तुझे मैं दिन और रात्री इन दोनों समयोंके लिये सौंप देता हूं। (मे इमं) मेरे इस मनुष्यकी (अरायेभ्यः जिघत्सुभ्यः परि रक्षत) अदानी भूखोंसे रक्षा कर ॥ २० ॥

(ते शतं हायनान्) तेरी सौ वर्षकी आयु जिसमें (द्वे युगे) दिन रात्रीके दो संधि हैं, तथा (त्रीणि) सर्दी गर्मी और वृष्टी ये तीन काल और (चत्वारि) बाल्य, तारुण्य, मध्यम और वृद्ध ये चार अवस्थाएं हैं, इस प्रकारकी आयुको (अ-युतं कृण्मः) अटूट अथवा अखंडित करते हैं। (इन्द्राग्नी विश्वेदेवाः अहृणीयमानाः) इन्द्र, अग्नि और सब देव बिनासंकोच करते हुए (ते अनुमन्यन्तां) तेरी आयुका अनुमोदन करें ॥ २१ ॥

(शरदे हेमन्ताय वसन्ताय ग्रीष्माय) शरद्, हेमन्त, वसन्त, ग्रीष्म इन ऋतुओंके लिये (त्वा परि दद्मसि) तुझे हम सौंप देते हैं,। (येषु ओषधीः वर्धन्ते) जिस ऋतुमें औषधियां बढती हैं, वह (वर्षाणि तुभ्यं स्योनानि) वृष्टिका ऋतुभी तुम्हारे लिये सुखकारी हो ॥ २२ ॥

(मृत्युः द्विपदां ईशे) मृत्यु द्विपादोंपर प्रभुत्व करता है, (मृत्युः चतुष्पदां ईशे) मृत्यु चार पांववालोंपर अधिकार चलाता है। (तस्मात् गोपतेः मृत्योः) उस जगत्के स्वामी मृत्युसे (त्वां उद्भरामि) तुझे ऊपर उठाता हूं। (सः मा बिभेः) वह तू अब मृत्युसे मत डर ॥ २३ ॥

भावार्थ— चावल, जौ आदि धान्य तेरे लिये सुखदायी, खानेके लिये स्वादु, कफ आदि दोष न उत्पन्न करनेवाला नीरोगता बढानेवाला और पापवृत्ति हटानेवाला हो ॥ १८ ॥

जो कृषिका धान्य और गौका दूध खाया पीया जाता है वह सब विषरहित हो ॥ १९ ॥

दिन और रात्रीके समय शत्रुओंसे तेरी रक्षा हो ॥ २० ॥

सौ वर्षकी दीर्घ आयु तुझे प्राप्त हो और इस आयुमें दोनों संधिकाल, सर्दी गर्मी और वृष्टीके तीनों समय, सुखकारक हों। तेरी आयुकी बाल्यादि चारों अवस्थाएं एकके पीछे यथाक्रम तुझे प्राप्त हों ॥ २१ ॥

शरत्, हेमन्त, शिशिर और वर्षा ये सब ऋतु तुझे सुखदायी हों। वृष्टिसे जो वनस्पतियां उत्पन्न होती हैं वह तेरे लिये सुख देवें ॥ २२ ॥

सब द्विपाद, चतुष्पाद प्राणियोंपर मृत्यु अधिकार चलाता है, उस मृत्युके पाससे तुझे ऊपर निकाला है, अब तू मत डर ॥ २३ ॥

×

सोऽरिष्ट न मरिष्यसि न मरिष्यसि मा बिभेः ।
न वै तत्र म्रियन्ते नो यन्त्यधमं तमः ॥ २४ ॥
सर्वो वै तत्र जीवति गौरश्वः पुरुषः पशुः ।
यत्रेदं ब्रह्म क्रियते परिधिर्जीवनाय कम् ॥ २५ ॥
परि त्वा पातु समानेभ्योऽभिचारात् सबन्धुभ्यः ।
अमम्रिर्भवामृतोऽतिजीवो मा ते हासिषुरसवः शरीरम् ॥ २६ ॥
ये मृत्यव एकशतं या नाष्ट्रा अतितार्याः ।
मुञ्चन्तु तस्मात् त्वां देवा अग्नेर्वैश्वानरादधि ॥ २७ ॥
अग्नेः शरीरमसि पारयिष्णु रक्षोहासि सपत्नहा ।
अथो अमीवचातनः पूतुद्रुर्नाम भेषजम् ॥ २८ ॥

अर्थ— हे (अ-रिष्ट) अहिंसित मनुष्य ! (सः न मरिष्यसि) वह तू नहीं मरेगा। (न मरिष्यसि, मा बिभेः) नहीं मरेगा, अतः मत डर। (तत्र न वै म्रियन्ते) वहां नहीं मरते हैं तथा (अधमं तमः नयन्ति) हीन अन्धकारके प्रति भी नहीं जाते हैं ॥ २४ ॥

(यत्र इदं ब्रह्म) जहां यह ज्ञान और (जीवनाय कं परिधिः क्रियते) जीवनके लिये सुखमयी मर्यादा की जाती है (तत्र) वहां (गौः अश्वः पशुः पुरुषः) गाय, घोडा, पशु और मनुष्य (सर्वः वै जीवति) सब कोई जीवित रहता है ॥ २५ ॥

(समानेभ्यः सबन्धुभ्यः) समान बान्धवोंसे होनेवाले (अभिचारात् त्वा परिपातु) हमलेसे तेरी रक्षा होवे। तू (अ-मम्रिः अमृतः वा अतिजीवः) अक्षीण, अमर और दीर्घजीवी हो। (असवः ते शरीरं मा हासिषुः) प्राण तेरे शरीरको न छोडें ॥ २६ ॥

(ये एकशतं मृतवः) जो एकसौ एक मृत्यु हैं, (या अतितार्याः नाष्ट्राः) जो पार करने योग्य नाश करनेवाली हैं (तस्मात्) उससे (देवाः वैश्वानरात् अग्नेः) सब देव वैश्वानर अग्निकी शक्तिसे (त्वां) तुझे (अधिमुञ्चन्तु) मुक्त करें ॥ २७ ॥

(अग्नेः पारयिष्णु शरीरं असि) अग्निका पार करनेवाला शरीर तू है (रक्षोहा सपत्नहा असि) घातकों और शत्रुओंका नाशक तू है। (अथो अमीवचातनः) और रोग दूर करनेवाला है। (पू-तु-द्रुःनाम भेषजं) पवित्रता, वृद्धि और गति देनेवाला यह औषध है ॥ २८ ॥

भावार्थ— अब तू नहीं मरेगा। अतः अब डरनेका कारण नहीं है। जहां कोई मरते नहीं और जहां अंधेरा नहीं, ऐसे स्थानमें तुझको लाया है ॥ २४ ॥

जहां यह ज्ञान और दीर्घजीवनकी विद्या है वहां गाय घोडा मनुष्य आदि सब दीर्घायु होते हैं ॥ २५ ॥

अपने बन्धुबान्धवोंके आक्रमणसे तेरी रक्षा करते हैं। तू नीरोग होकर दीर्घायु हुआ है। तेरे प्राण तुझे अब नहीं छोडेंगे ॥ २६ ॥

जो सैंकडों प्रकारसे आनेवाले मृत्यु हैं, और नाशके जो अन्य साधन हैं वे परमेश्वरकी कृपासे दूर हों ॥ २७ ॥

तैजस तत्त्वका शरीर ही तेरा है। अतः तू स्वयं घातकोंका नाश करनेवाला है। तू स्वयं रोगोंको दूर करनेवाला है। तेरेही अन्दर पवित्रता, वृद्धि और गति करनेकी शक्ति है। अतः उससे तू दीर्घायु हो ॥ २८ ॥

दीर्घायु बननेका उपाय।

मृत्युका सर्वाधिकार।

दीर्घायु बननेकी इच्छा हरएक प्राणीके अन्तःकरणमें रहती है। परंतु मृत्युका अधिकार सबके ऊपर एकसा है, इस विषयमें इस सूक्तमें कहा है—

मृत्युरीशे द्विपदां मृत्युरीशे चतुष्पदाम्। (मं. २३)

"द्विपाद और चतुष्पाद इन सब प्राणियोंपर मृत्युका अधिकार है।" द्विपाद प्राणी दो पाववाले होते हैं जैसे मनुष्य, पक्षी आदि। चतुष्पाद प्राणी चारपांववाले पशु आदि होते हैं। इनसे अन्य भी जो प्राणी हैं जिनको बहुपाद और अपाद भी कहा जा सकता है, इन सब प्राणियोंपर मृत्युका प्रभुत्व है। अर्थात् मृत्युके आधीन ये सब प्राणी हैं। मृत्युके अधिकारके बाहर इनमेंसे कोई नहीं है। सबकी अन्तिमगति मृत्युके आधीन है। मृत्यु जबतक इस लोकमें इन प्राणियोंको रहने देगा तबतक ही वे रहेंगे, और जिस दिन मृत्यु प्राणीको लेना चाहेगा, तब प्राणी यहांसे चल बसेंगे। इसलिये मृत्युसे दयाकी याचना करते हैं—

मृत्यो ! इमं रक्षस्व। (मं. ८)

"हे मृत्यु ! इसपर दया कर।" सर्वाधिकारी होता है, वह दया करेगा तो ही अपना कुछ कार्य बनेगा। और यदि उसने प्राणियोंपर क्रोध किया, तो फिर उनकी रक्षा कौन करेगा ? परंतु वैसा देखा जाय तो मृत्युके हाथमें सर्वाधिकार रहते हुए भी वह नियमोंके आधीन है। वह भी विशेष नियमसे चलता है, अतः उसकी प्रसन्नता होनेके कुछ नियम हैं। उन नियमोंके अनुसार चलनेवालोंको ही लाभ हो सकता है। अतः इन नियमोंका ज्ञान प्राप्त करना चाहिये, इसी ज्ञानका उपदेश करना चाहिये। यही उपदेश करने योग्य विषय है। इस कारण कहा है—

जीवनीय विद्याका उपदेश।

अधिब्रूहि। (मं० ७) अस्मै अधि ब्रूहि। (मं० ८)
अस्मै ब्रह्म वर्म कृण्मसि। (मं० १०)
सर्वो वै तत्र जीवति गौरश्वः पुरुषः पशुः।
यत्रेदं ब्रह्म क्रियते परिधिर्जीवनाय कम्॥ (मं० १५)

"मनुष्योंको इस जीवनीय विद्याका उपदेश कर। मनुष्योंको दीर्घायु बननेके नियमोंका उपदेश दे। जिसमें जीवनकी अवधितक सुखपूर्वक रहनेका और दीर्घजीवनके नियमोंका ज्ञान सबको उपदेशद्वारा दिया जाता है, वहां मनुष्य तो दीर्घजीवी होते ही हैं, परंतु उस देशके गाय घोडे आदि पशु भी दीर्घजीवी होजाते हैं।"

दीर्घजीवनकी विद्या है, उसमें प्राणियोंको दीर्घजीवन प्राप्त करनेके लिये विशेष नियम हैं। उन जीवनीय नियमोंका ज्ञान जनताको देनेके लिये उपदेशक नियुक्त करना चाहिये। इनका यही कार्य होगा कि वे ग्रामग्राममें जांय, वहांकी जनताका जीवनक्रम देखें, उनका व्यवहार देखें और उनके रहने सहनेके अनुसार उनका दीर्घजीवन होनेके लिये योग्य उपदेश दें। इस प्रकार हरएक ग्रामके लोगोंको उपदेश दिया जाय। उनसे जो भूलें होती हों, उनके विषयमें उनको समझाया जाय और उनके जीवनमें ऐसा परिवर्तन लाया जाय कि, जिससे दीर्घायु प्राप्त होने योग्य दैनिक व्यवहार वे कर सकें।

ज्ञानका कवच।

इस सूक्तके दसवें मंत्रमें 'ब्रह्म वर्म' अर्थात् 'ज्ञान-रूपी कवच' बनानेके विषयमें कहा है। ज्ञान यह बडा भारी कवच है। अन्य कवच ये क्षुद्र कवच हैं। सबसे विशेष प्रभावशाली कवच ज्ञानका कवच है। मानो, ज्ञानके कवचकी निचली श्रेणीपर अन्य कवच होते हैं। इस कारण जिसने ज्ञानका कवच पहन लिया वह सबसे अधिक सुरक्षित होता है। यहां तो यहांतक लिखा है कि जिसने ज्ञानका कवच पहन लिया उसको तो मृत्युकाभी डर नहीं रहता। इतना ज्ञानके इस कवचका सामर्थ्य है। मृत्युका सामर्थ्य सबसे अधिक है, परंतु जो मनुष्य ज्ञानका कवच पहनता है उसपर मृत्युके शस्त्रभी कार्य नहीं कर सकते। ज्ञानका कवच जिसने पहन लिया है वह मृत्युके पाशोंको तोड सकता है, देखिये—

अवमुञ्चन्मृत्युपाशानशस्तिं। (मं० २)
देवानां हेतिः त्वा परि वृणक्तु। (मं० ९)
"मृत्युके पाशोंको और अवनतिके बन्धनोंको तोड दो।

देवोंके शस्त्र तुझे वर्जित करें। " अर्थात् देवोंके शस्त्र तेरे ऊपर न गिरें। यह अवस्था तब बनती है जब मनुष्य ज्ञानका कवच पहनता है। ज्ञानका कवच पहिने हुए मनुष्यको मृत्युके पाश बांध नहीं सकते, दुर्गति उसके पास नहीं आसकती और देवोंके शस्त्र उसको काट नहीं सकते। इतना सामर्थ्य इनमें होनेसे ही इस जीवनीय विद्याका ज्ञान मनुष्यको प्राप्त करना चाहिये। इसी ज्ञानके बलसे ज्ञानी मनुष्य मृत्युकोभी आदेश देनेमें समर्थ होता है, देखिये—

मृत्यो ! मा पुरुषं वधीः। (मं० ५)
देवानां हेतिः परि त्वा वृणक्तु। पारयामि त्वा मृत्योरपीपरम्। आरादग्निं क्रव्यादं निरूहम्॥ (मं० ९)

यत्ते नियानं रजसं मृत्यो अनवधर्ष्यम्।
पथ इमं तस्माद्रक्षन्तो ब्रह्मास्मै वर्म कृण्मसि॥ (मं० १०)

वैवस्वतेन प्रहितान्यमदूतांश्चरतोऽपसेधामि सर्वान्। (मं. ११)
तस्मात्त्वां मृत्योर्गोपतेरुद्भरामि स मा बिभेः॥ (मं. २१)

' हे मृत्यो ! अब तू इस पुरुषका वध न कर। देवोंके शस्त्रोंसे इसका वध न हो। मैं इस ज्ञानसे इसको रज तमरूपी मृत्युसे पार करता हूं। प्रेतदाहक अग्निसे भी इसको दूर रखता हूं। हे मृत्यो ! जो तेरा रज और तमयुक्त मार्ग है और जो अजेय है, उस मार्गसे हम इसका बचाव करते हैं। क्योंकि हमने ज्ञानरूपी कवच इसके लिये बनाया है। इसी ज्ञानसे हम सब यमदूतोंको भी दूर हटा सकते हैं। मृत्युसे हम इसको ऊपर उठाते हैं, अब डरनेका कोई कारण नहीं है।'

यह ज्ञानरूपी कवचकी महिमा है। ज्ञानी मनुष्य मृत्युको भी कह सकता है कि " हां, इस समय मरनेके लिये फुरसत नहीं है, जब समय मिलेगा, तब देखा जायगा। " ज्ञानीको मृत्युके पाश बांध नहीं सकते। देवोंके शस्त्र उसपर कार्य नहीं करते। मार्गमें मृत्युके भयसे रक्षा करनेवाला एकमात्र ज्ञान ही है। यमदूतोंका भय दूर करनेवाला शुद्ध ज्ञान ही है। इस प्रकार यह ज्ञानका ही चमत्कार है।

जहां जहां वेदमंत्रोंमें मृत्युका भय हटानेकी बात कही है, वहां इस ज्ञानसेही मृत्युभय दूर होता है ऐसा समझना चाहिये। मृत्युका भय दूर करनेवाला ज्ञान बहुत विस्तृत है। आयुर्वेद इसी जीवनीय ज्ञानको प्रकाशित करता है। इसका सारांशरूपसे वर्णन वेदमंत्रोंमें स्थानस्थानपर है। इस सूक्तमें भी थोडा थोडा वह ज्ञान दिया है देखिये—

रजस्तमः मा उपगाः। मा प्रमेष्ठाः॥ (मं० १)

" रज अर्थात् भोगजीवन और तम अर्थात् ज्ञानहीन जीवन इन दो हीन जीवनोंको न प्राप्त हो। इनसे दूर रहनेसे तू मरेगा नहीं। " यह मंत्र जीवनीय विद्याका एक प्रधान मंत्र है। रजोगुणी जीवन और तमोगुणी जीवन आयुष्यका नाश करता है। वैसा जीवन नहीं व्यतीत करना चाहिये, जिससे मृत्युसे बचना संभव होगा। रजो और तमोगुणी जीवनका लक्षण और फल भगवद्गीतामें कहा है—

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः॥ ९॥
यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम्॥ १०॥
(भ० गी० अ० १७)

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम्।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम्॥ ७॥
तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत॥ ८॥
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत॥ ९॥
अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन॥ १३॥
रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते॥ १५॥
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम्॥ १६॥
सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च॥ १७॥
ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः॥ १८॥
भ० गी० १४

" कडुवे, खट्टे, खारे, बहुत गरम, तीखे, रूखे और जलन पैदा करनेवाले आहार राजस लोगोंको भाते हैं और वे दुःख, शोक और रोग उत्पन्न करनेवाले होते हैं। पहरसक पड़ा हुआ, रसरहित, बदबूवाला, रातभरका बासी, जूठा और अपवित्र भोजन तामस लोगोंको प्रिय होता है। "

"रजोगुण रागरूप होनेसे तृष्णा और आसक्तिका मूल है। वह देहधारीको कर्मपाशमें बांधता है। तमोगुण अज्ञान-मूलक है। वह सब देहधारियोंको मोहमें डालता है और देहीको असावधानी, आलस्य और निद्राके पाशमें बांधता है। तम ज्ञानको ढककर प्रमाद कराता है। जब तमोगुणकी वृद्धि होती है तब अज्ञान, मन्दता, असावधानी और मोह पैदा होते हैं। रजोगुणमें मृत्यु होनेसे देहधारी कर्मसंगियोंमें जन्म लेता है और तमोगुणमें मरनेसे मूढयोनिमें पैदा होता है। रजोगुणका फल दुःख और तमोगुणका फल अज्ञान है। सत्त्वगुणसे ज्ञान, रजोगुणसे लोभ और तमोगुणसे असावधानी, मोह और अज्ञान उत्पन्न होता है। सात्विक मनुष्य ऊंचे चढते हैं, राजसिक बीचमें रहते हैं और हीनगुणके कारण तमोगुणी अधोगतिको पाते हैं।"

इस प्रकार रजोगुण और तमोगुणसे अवनति होती है, इसलिये इस सूक्तमें कहा है कि (रजः तमः मा उपगाः) रजोगुण और तमोगुणके पास न जा। क्योंकि उनसे गिरावट निःसन्देह होगी। रजोगुण और तमोगुणसे रोग भी बढते हैं और अकालमें मृत्यु भी होती है, इसलिये रजोगुण और तमोगुणके पास न जानेके लिये जो इस सूक्तमें कहा है, वह अत्यंत महत्त्वका उपदेश है। दीर्घायु प्राप्त करनेके इच्छुक इस उपदेशकी ओर विशेष ध्यान दें। इसी उपदेशको दुहराते हुए कहा है—

न वै तत्र म्रियन्ते नो यन्त्यधमं तमः।
सोऽरिष्ट न मरिष्यसि न मरिष्यसि, मा बिभेः॥
(मं० १४)

"जो हीन तमोगुणको नहीं अपनाते वे मरते नहीं। वह हिंसित नहीं होता, निश्चयसे नहीं मरता, अतः तू मत डर।" यहां कितने बलसे कहा है देखिये। जो तमोगुणके पास नहीं जाता वह मरता नहीं; क्योंकि मरनेका अर्थही यह है कि तमरूप अंधकारसे घेरा जाना। जो तमोगुणको अपने अंदर नहीं बढने देगा वह अंधकारसे कैसा घेरा जायगा?

अन्धकारका प्रकाशवर्तुलको घेरना, प्रकाशवर्तुलका छोटा होना मृत्यु है, इस विषयमें प्रथम सूक्तमें जो लिखा है वह पाठक इस स्थानपर पुनः पढें। उसको इस मंत्रके साथ पढनेसे ही इस मंत्रका आशय ठीक प्रकार ध्यानमें आसकता है। तमोगुण बढनेसे मृत्युकी संभावना है इसीलिये शास्त्र-कारोंने कहा है कि तमोगुणसे दूर रहना चाहिये। जो बाह्य कारणोंसे मृत्यु होता है उनको भी हटाना चाहिये। वे कारण निम्न लिखित मंत्रोंमें गिने हैं—

अरायमराातिं निर्ऋतिं परो ग्राहिं क्रव्यादः पिशाचान्।
रक्षो यत्सर्वं दुर्भूतं तत्तम इवाप हन्मसि॥
(मं० १२)

परि त्वा पातु समानेभ्योऽभिचारात्सबन्धुभ्यः।
अमम्रिर्भवामृतोऽतिजीवो मा ते हासिषुरसवः शरीरम्॥ (मं० ११)

ये मृत्यव एकशतं या नाष्ट्रा अतितार्याः।
मुञ्चन्तु तस्मात्त्वां देवा अग्नेर्वैश्वानरादधि॥
(मं० ७)

इन श्लोकोंमें मृत्युके विविध कारण कहे हैं, उनका क्रम-पूर्वक विवरण देखिये—

१ अराति= जो (राति) परोपकार नहीं करता, स्वार्थी जीवन व्यतीत करता है, उसको अराति कहते हैं। कंजूस ही अराति है। जो सब भोग अपने लिये भोगता है वह अराति है; इस वृत्तिसे आयु क्षीण होती है।

२ निर्ऋति= [निर्ऋति के विषयमें प्रथम सूक्तके विवरणमें विस्तारसे लिखा है] इस दुर्गतिसे आयुष्यका क्षय होता है।

३ ग्राहि= ग्राही उन रोगोंका नाम है जो दीर्घकालतक रोगीको पकडे रखते हैं। जो शीघ्र दूर नहीं होते। इन रोगोंसे बचना चाहिये, क्योंकि इससे आयु क्षीण होती है।

४ क्रव्याद्= मांसखानेवाले। ये भी रोगकृमी होते हैं जो शरीरका मांस खाते हैं और मनुष्यको कृश करते हैं। सिंह व्याघ्रादि पशु भी क्रव्याद कहे जाते हैं। नरमांसभक्षक मनुष्य भी क्रव्याद कहे जाते हैं। इस प्रकार क्रव्याद बहुत प्रकारके हैं। इन सबसे बचना चाहिये। दीर्घजीवन प्राप्त करनेवाले इनके काबूमें न आंय।

५ पिशाच= शरीरके रुधिर और मांसको खानेवाले, रोगकिमी और पूर्वोक्त हिंसक प्राणी पिशाच हैं। इनसे भी बचना चाहिये।

६ रक्षः= रक्षा करनेके मिषसे पास आते हैं और कपटसे सर्वस्व अपहरण करते हैं। ये तो रोगकृमि भी हैं और

सामाजिक और राजकीय क्षेत्रमें अत्याचारी शत्रु भी इनमें संमिलित हैं। राक्षस शब्दसे इन सबका बोध होता है।

७ दुर्भूत= जो भी बूरा होना है वह सब दूर करना चाहिये, हरएक प्रकारकी बुराईको हटाना चाहिये।

८ तमः= अज्ञान, हीनता आदि सब तमोगुणके प्रकार दूर करने चाहिये। इससे हरएक प्रकारकी अवनति होती है और अल्पायु भी होती है।

९ रजः= [के विषयमें पूर्व स्थलमें कहा ही है, यह शब्द यहां इन मंत्रोंमें नहीं आया है पीछेके मंत्रसे लिया है।]

१० अभिचार— (समानेभ्यः सबन्धुभ्यः अभिचारः) अपने समान जो अपनी सभ्यतावाले अपने भाई हैं, उनसे हमले होते हैं। ये हमले भी विघातक होनेसे इनके कारण विपत्ति और मृत्युभी होते हैं। अतः अपने बन्धुबांधवोंमें एक विचार होना चाहिये जिससे आयु बढनेमें सहायता होगी। ये एक प्रकारके हमले हैं, इनसे भिन्न दूसरे प्रकारके भी हमले होते हैं वे (विषमेभ्यः अबन्धुभ्यः अभिचारः) अपनी सभ्यतासे विपरीत सभ्यतावाले शत्रुओंसे जो हमले होते हैं वे भी अकाल मृत्यु करनेवाले होते हैं, अतः इस प्रकारके शत्रु सदाके लिये दूर करने चाहिये। कोई किसीके ऊपर हमला न करे और सब आनन्द प्रसन्न रहते हुए सुखसे रहें।

११ शरीरं असवः मा हासिषुः= किसी अन्य प्रकारसे होनेवाले अकाल मृत्यु भी न हों। सब लोग (अ-म्रिः) मरियल न हों, (अ-मृतः) अकालमें न मरें, और (अतिजीवः) अतिदीर्घ कालतक जीवित रहें। मनुष्यको ये तीन बातें साध्य करना है कि मरियल न रहना, अकालमें न मरना और अतिदीर्घ आयु प्राप्त करना। इसके विरुद्ध तीन विघ्न हैं जो ये हैं, एक मरियल होना, रोगादिकोंसे क्षीण होना; दूसरा अकालसे तथा व्रणादिसे पीडित होना और अल्प आयु होना। मनुष्यका प्रयत्न इन विपत्तियोंको हटानेके लिये होना चाहिये।

१२ एकशतं मृत्यवः= एकसौ एक मृत्यु हैं। मृत्यु इतने अनेक प्रकारके हैं। इन सबको हटाना मनुष्यका कर्तव्य है। जीवनविद्याके नियमोंके अनुकूल व्यवहार करनेसे ये सब अपमृत्यु होते हैं। जो महामृत्यु है वह दूर होना परंतु हटेगा नहीं, अपमृत्यु सौ हों, या अधिक हों, वे सब दूर किये जासकते हैं।

१३ नाष्ट्राः= जो अन्य नाशक साधन हैं वे भी (अतितार्याः) दूर करने योग्य हैं। जिस जिस कारणसे मनुष्य आदि प्राणीका नाश होता है, घात होता है, क्षीणता होती है, अवनति होती है, उन्नति रुक जाती है वे सब कारण हटाना अत्यंत आवश्यक है।

१४ तस्मात् मुञ्चतु= पूर्वोक्त विपत्तियोंसे बचाव करनेका नाम मुक्ति है। यह मुक्ति मनुष्य इसी लोकमें प्राप्त कर सकता है और यह प्राप्त करना मनुष्यका आवश्यक कर्तव्य है। 'वैश्वानर' की कृपासे यह मुक्ति प्राप्त हो सकती है। वैश्वानर उसको कहते हैं कि, जो (विश्व) सब (नर) मनुष्योंका एक अभेद्य संघ होता है। मानव संघने अपना ऐसा व्यवहार करना चाहिये कि जिससे सबका सुख बढे, सबकी उन्नति हो और कोई पीछे न रहे। संघटित प्रयत्नसे सबका भला हो सकता है। संघटना मानवी उन्नतिका मूल मंत्र है।

इस प्रकार इन मंत्रोंमें मानवी विपत्तिके कारण दिये हैं और उनको दूर करनेके उपाय भी कहे हैं। पाठक इनका विशेष विचार करें।

इससे पूर्व बता ही दिया है कि वेदको तीन बातें सिद्ध करना अभीष्ट है– (१) एक (अ-म्रिः) लोग मरियल न हों, हृष्टपुष्ट नीरोग और सुदृढ बनें, (२) दूसरे लोग (अ-मृतः) अमर जीवनसे युक्त, अर्थात् अमृतरूपी सुखमय जीवनवाले बनें और (३) तीसरे मनुष्य (अतिजीवः) दीर्घजीवी बनें। वेदको अभीष्ट है कि मनुष्य समाज ऐसा बने, यही बात अन्य शब्दोंसे निम्नलिखित मन्त्र भागोंमें कही है—

ते अच्छिद्यमाना जरदष्टिः अस्तु। (मं. १)
द्राघीय आयुः प्रतरं ते दधामि। (मं. २)
अयं जीवतु, मा मृत इमं समीरयामि, सर्वहाया इहास्तु।
(मं० ●)

"तेरी अविच्छिन्न वृद्धावस्था होवे। दीर्घ आयु उत्कृष्टरूपसे तेरे लिये धारण करता हूं। यह मनुष्य जीवित रहे, मत मरे, इसको सचेत करता हूं यह पूर्ण आयु होकर यहां रहे।"

ये सब मंत्र भाग मनुष्यकी दीर्घ आयु होने योग्य समाजकी रचना करनेके सूचक हैं। दीर्घ आयु प्राप्त करनेके

लिये व्यक्तिके अंदरका तथा समाजके अन्दरका पाप कम होना चाहिये, इसकी सूचना देनेके लिये कहा है—

अपसेध्य दुरितं धत्तमायुः। (मं. ७)

"पापको दूर करके दीर्घ आयुको धारण करिये!" यही दीर्घायु प्राप्त करनेका उपाय है। जबतक अंदर पाप होगा, तबतक आयु क्षीण ही होती जायगी। व्यक्तिका पाप व्यक्तिमें होता है और संघका पाप संघमें होता है, इस पापसे जैसी व्यक्तिकी वैसी संघकी आयु क्षीण होती है। अतः पापको दूर करना दीर्घायु प्राप्तिके लिये अत्यंत आवश्यक है। जब पाप दूर होगा, तब मनुष्य सौ वर्षकी आयुके लिये योग्य होगा—

जीवतां ज्योतिः अभ्येहि अर्वाङ् त्वा शतशारदाय आहरामि। (मं० २)

ते जीवातवे परिधिं दधामि। (मं. ९)

"जीवित लोगोंकी ज्योतिके पास आ, तुझे सौ वर्षकी दीर्घ आयुके लिये मैं धारण करता हूं। तेरे लिये सौ वर्षकी आयुष्यकी अवधी निश्चित करता हूं।" यह सौ वर्षकी आयुष्य मर्यादाका निश्चय उन लोगोंके लिये हो सकता है कि जिन्होंने अपना जीवन पवित्र किया है, पापरहित किया है और पुण्यसंचयसे युक्त किया है। इस प्रकार दीर्घजीवनके साथ मनुष्यके पापपुण्यका संबंध है। पाठक इस बातका अवश्य विचार करें।

प्राणधारणा

दीर्घायु प्राप्त करनेके लिये शरीरमें प्राण स्थिर रहना चाहिये। प्राण जबतक अशक्त अवस्थामें शरीरमें रहेगा तबतक दीर्घायु प्राप्त होना असंभव है, यह बात स्पष्ट करनेके लिये कहते हैं—

ते असुं आयुः पुनः आभरामि। (मं. १)

"तेरी आयु और प्राणको तेरे अन्दर मैं पुनः भर देता हूं।" यह इस लिये कहा है कि पाठकोंके अन्दर यह विश्वास जमा रहे कि यदि किसीके प्राण अत्यन्त निर्बल हुए हों तो भी उनमें पुनः बल भर दिया जा सकता है। इस कारण निर्बल बना हुआ मनुष्य हताश न होवे, निरुत्साहित न बने; परंतु उत्साह धारण करे कि मैं वेदकी आज्ञाके अनुसार चलकर फिर नवीन बल प्राप्त कर सकता हूं और अपने अन्दर प्राणका जीवन पुनः संचारित करा सकता हूं। यह किस प्रकार साध्य किया जा सकता है? इसकी विधि यह है—

वातात्ते प्राणमविदं सूर्याच्चक्षुरहं तव।
यत्ते मनस्त्वयि तद्धारयामि
सं वित्स्वाङ्गैर्वद जिह्वयालपन्॥ (मं. ३)

"वायुसे प्राण, सूर्यसे चक्षु तेरे लिये प्राप्त करता हूं, इस प्रकार तू सब अंगोंसे युक्त हो, मन भी तेरे अन्दर स्थापित करता हूं तू जिह्वासे भाषण कर।" यहां जीवनका साधन बताया है। वायुसे प्राण प्राप्त होता है, सूर्यसे आंख प्राप्त होती है। सूर्यदर्शन करनेसे नेत्रके बहुत दोष दूर होते हैं, सुमेशाम प्रतिदिन टकटकी लगाकर सूर्यदर्शन करनेसे कईयोंके आंख सुधर गये हैं, और जिनको आयनकके विना पढना असंभव था वे उक्त उपायसे विना आयनक पढने लगे हैं। इसी प्रकार जिनको प्राण स्थानके रोग होते हैं, क्षय राजयक्ष्मा आदि तथा रक्त स्थानके पाण्डुरोग आदि रोग होते हैं, उनको भी शुद्ध वायुके सेवनसे और योग्य प्राणायामादिसे यौगिक उपायोंसे पुनः आरोग्य प्राप्त होता है। इसी प्रकार मृत्तिका, जल, अग्नि, सूर्यप्रकाश, वनस्पति, औषधि, चन्द्रप्रकाश, विद्युत् आदिके योग्य सेवनसे और उत्तम प्रयोगसे पुनः उत्तम जीवनकी और दीर्घआयुकी प्राप्ति हो सकती है। दीर्घजीवन और आरोग्य प्राप्तिका अति संक्षेपसे यह साधन है। मनुष्यके सब अंग, अवयव इंद्रियां आदि सबका सुधार इससे हो सकता है। यह उपाय विना मूल्य बहुत अंशोंमें हो सकता है और युक्तिपूर्वक करनेसे लाभ भी निश्चयसे हो सकता है। यह 'निसर्गचिकित्सा' का मूलमंत्र है। पाठक इसका इस दृष्टिसे विचार करें। यह उपाय किस रीतिसे करना चाहिये, इस विषयमें निम्नलिखित मंत्र विशेष मनन पूर्वक देखने योग्य है—

अग्निं जातमिव प्राणेन त्वा संधमामि॥ (मं. ४)

"नवीन उत्पन्न हुए अग्निके समान प्राणसे तुझे बल देता हूं।" हवन कुण्डमें, चूल्हेमें या किसी अन्य स्थानपर अग्नि प्रदीप्त करनेके समय प्रारंभमें बहुत सावधानीसे अग्निको मंदवायु देना पडता है और सहज जलने योग्य सूखी लकडी अग्निके साथ लगानी पडती है। अन्यथा अग्नि बुझ जानेका भय रहता है। इसी प्रकार बीमार मनुष्यको भी सहज

हाज़म होने योग्य अन्न देना चाहिये, प्राणायामादि योग-साधन भी थोडा थोडा करना चाहिये, औषध और पथ्यका सेवन भी योग्य प्रमाणसे करना चाहिये। ऐसा न किया तो लाभके स्थानपर हानी होगी। इसलिये कहा है कि अग्नि सिलगानेके समान प्राणकी शक्ति शनैः शनैः बढानी चाहिये। योगसाधन, औषधिसेवन तथा अन्य उपायोंसे आरोग्यवर्धन या दीर्घजीवन प्राप्त हो सकता है, परंतु सुयोग्य प्रमाणसे यह सब करना चाहिये। शरीरमें भी यह जीवनाग्नि ही है। हवनकी अग्निके समान ही इसको शनैः शनैः बढाना पडता है। यह नियम हरएक पाठकको ध्यानमें धारण करना आवश्यक है। क्योंकि अन्य संपूर्ण साधन उपस्थित होनेपर भी इस नियमका पालन न करनेपर लाभकी आशा करना व्यर्थ है। परंतु इस रीतिसे जो लोग अपना लाभ सिद्ध होनेके लिये साधन करेंगे, उनका निःसन्देह भला हो सकता है, अतः कहा है—

कृणोमि ते प्राणापानौ जरां मृत्युं दीर्घमायुः स्वस्ति। (मं. ११)

"मैं तेरे प्राण और अपान सुदृढ करता हूं, तेरा बुढापा, तेरी मृत्यु और तेरी दीर्घ आयुके विषयमें तेरा कल्याण होगा ऐसा प्रबंध करता हूं।" यदि तो कोई मनुष्य अपनी दीर्घ आयु और उत्तम आरोग्यके लिये पूर्वोक्त प्रकार यत्न करेगा, तो नियमपूर्वक चलनेपर उसको लाभ तो अवश्य ही होगा। इस मंत्रसे यह विश्वास हरएकके मनमें उत्पन्न हो सकता है। नियमपूर्वक चलनेवालेकी कभी अधोगति नहीं होगी। जातवेदस् अग्निसे दीर्घजीवन प्राप्त करनेके विषयमें निम्नलिखित मन्त्रमें कहा है—

> अग्नेष्टे प्राणममृतादायुष्मतो वन्वे जातवेदसः।
> यथा न रिष्या अमृतः सजूरसस्तत्ते कृणोमि
> तदु ते समृध्यताम्॥ (मं. १६)

"तेरा प्राण आयुष्य बढानेवाले जातवेद अग्निसे प्राप्त करता हूं, जिससे तू अमर होकर नहीं मरेगा, यह तेरा अमरत्व प्राप्तिका कार्य सफल होवे।" जातवेद अग्निसे दीर्घायुकी प्राप्तिका संभव इस मंत्रमें बताया है। अग्नि आयु देनेवाला है, ज्ञान और धन देनेवाला है, जीवन देनेवाला है, अमरत्व देनेवाला है। वेदमें अग्निदेवके ये कार्य वर्णन किये है। अग्निसे ये गुण किस रीतिसे प्राप्त करने होते हैं, इसका विचार पाठकोंको करना चाहिये। हमारे विचारसे आग्नेयभस्म विशिष्ट सुवर्ण पारद आदि पदार्थोंके प्रयोगोंसे तथा भल्लातक, केशर चित्रक आदि वनस्पति भागोंसे मनुष्य नीरोगता और दीर्घायु प्राप्त कर सकता है। इसके अतिरिक्त 'अग्नि' शब्दका अर्थ जाठर अग्नि भी है और जिसके देहमें यह अग्नि उत्तम अवस्थामें रहता है उसको नीरोगता और दीर्घायु प्राप्त होनेमें शंका ही नहीं है। तथा जिन औषधिप्रयोगोंसे जाठर अग्नि उत्तम कार्य करनेवाला होता है वे सब चिकित्साके प्रयोग इसमें संमिलित होते हैं।

जाठर अग्नि

जाठर अग्नि चार प्रकारका होता है। मन्द, तीक्ष्ण, विषम, और सम ये इस जाठर अग्निके चार भेद हैं। इसका वैद्यक ग्रन्थोंमें इस प्रकार वर्णन आता है—

> मन्दस्तीक्ष्णोऽथ विषमः समश्चेति चतुर्विधः।
> कफपित्तानिलाधिक्यात्तत्साम्याज्जाठरोऽनलः॥
> विषमो वातजान्रोगान्तीक्ष्णः पित्तनिमित्तकान्।
> करोत्यग्निस्तथा मन्दो विकारान्कफसंभवान्॥
> समा समाग्नेरशिता मात्रा सम्यग्विपच्यते।
> स्वल्पापि नैव मन्दाग्नेर्विषमाग्नेस्तु देहिनः॥
> कदाचित्पच्यते सम्यक्कदाचिच्च न पच्यते।
> तीक्ष्णाग्निरिति तं विद्यात्समाग्निः श्रेष्ठ उच्यते॥ (मा. नि.)

"विषम जाठर अग्नि वातरोगोंको निर्माण करता है, तीक्ष्ण अग्नि पित्त रोग बढाता है, मन्दाग्नि कफविकार उत्पन्न करता है। समाग्नि उत्तम प्रमाणमें भक्षण किया हुआ अन्न योग्य रीतिसे पचन करता है। मन्दाग्नि, तीक्ष्णाग्नि अथवा विषमाग्नि ये जाठर अग्नि ठीक नहीं। इनके कारण कभी पचन होता है कभी नहीं, परंतु जो समाग्नि है। वह सबसे श्रेष्ठ है।" अर्थात् आरोग्य और दीर्घायु प्राप्त करनेके इच्छुक लोगोंको यह समाग्नि अपनेमें स्थिर करना चाहिये। इस अग्निका स्थान अपने देहमें देखिये—

> वामपार्श्वाश्रितं नाभेः किञ्चित्सोमस्य मण्डलम्।
> तन्मध्ये मण्डलं सौर्यं तन्मध्येऽग्निर्व्यवस्थितः॥
> जरायुमात्रप्रच्छन्नः काचकोशस्थदीपवत्॥ (भा.)

तथा—

सूर्यो दिवि यथा तिष्ठन् तेजोयुक्तैर्गभस्तिभिः ।
विशोषयति सर्वाणि पल्वलानि सरांसि च ॥
तद्वच्छरीरिणां भुक्तं ज्वलनेनाभिमाश्रितः ।
मयूखैः पच्यते क्षिप्रं नानाव्यञ्जनसंस्कृतम् ॥
स्थूलकायेषु सत्त्वेषु यवमात्रः प्रमाणतः ।
कृमिकीटपतङ्गेषु वालमात्रोऽवतिष्ठते ॥

(रस. प्र.)

" नाभिके वाम भागमें सोमका मण्डल है, मध्यमें सूर्य मण्डल है, उसके अन्दर अग्नि स्वदस्थासे रहा है । जैसा शीशेमें दीप होता है " इस अग्निको सम रखना मनुष्यका कार्य है, सब वैद्योंको भी यही कार्य करना चाहिये । इसी प्रकार— " जैसा सूर्य आकाशमें रहता हुआ अपने किरणोंसे सब जल स्थानोंको सुखाता है, उस प्रकार यह जाठर अग्नि प्राणियोंका भक्षण किया अन्न अपने किरणोंसे पकाता है, स्थूल देहवाले प्राणियोंमें यह जौके समान होता है और छोटे कृमियोंमें यह बालके समान सूक्ष्म प्रमाणमें रहता है । " इससे सब अन्न पचता है, आरोग्य स्थिर रहता है और दीर्घजीवन प्राप्त होता है । जैसा सूर्यके सामने घने बादल आनेसे और मेघाच्छादित दिन अनेक दिवस रहनेसे सौर शक्ति न प्राप्त होनेके कारण प्राणियोंकी पाचनशक्ति कम होती है, वर्षा‌ऋतुमें इसी कारण पाचनशक्ति क्षीण होती है, इसी प्रकार प्राणियोंके अन्दरका जाठर अग्नि प्रदीप्त स्थितिमें बहुत समय न रहा तो पाचनशक्ति कम होती है, अपचन होता है, रोग बढते हैं और जीवनकी मर्यादा क्षीण हो जाती है । इस प्रकार जाठर अग्निके सम होने और विषम होनेसे प्राणियोंकी जीवन मर्यादा संबंधित है । इसी कारण (मंत्र १३ वेमें) अग्निको अर्थात् जाठर अग्निको (आयुष्मत्) आयुवाला अर्थात् आयु बढानेवाला, जिसके पास आयु है, (अमृतः) अमर, रोगादि कम करनेवाला, जिसके पास रोग और मृत्यु नहीं होते, (अग्नेः प्राणं) इस जाठर अग्निसे प्राणशक्ति-जीवनशक्ति बढती है, इत्यादि विशेषण प्रयुक्त हुए हैं । इन सब विशेषणोंकी सार्थकता इसका स्वरूप जाठराग्नि है ऐसा माननेसेही हो सकती है । इसके निम्नलिखित संस्कृत नाम भी शरीरस्थ जाठराग्निके विषयमें कैसे संगत होते हैं यह देखिये—

१ तनू-न-पात् = शरीरको न गिरानेवाला, शरीरका पतन न होने देनेवाला,

२ पावकः = पवित्रता करनेवाला,

३ हुतभुक्, हव्यभुक् = अन्न खानेवाला,

४ पाचनः = पचन करनेवाला,

आश्रयाशः, आशयाशः = पेटमें गया अन्न खानेवाला ।

ये जाठर अग्निके नाम कितने सार्थ हैं यह भी पाठक यहां देख सकते हैं । यहांतक जाठर अग्निके गुणोंका वर्णन वैद्यक ग्रंथोंमें है । पाठक इसका यहां विचार करें । अब अग्निके गुण वैद्यशास्त्रमें क्या लिखे हैं सो देखते हैं—

(अग्नितापः) वात कफस्तम्भताशीतकम्पघ्नः ।
आमाशयकरः रक्तपित्तकोपनश्च ॥ (राज. मा.)

" अग्निका ताप वात, कफ, स्तब्धता, शीत और कम्पको दूर करता है, रक्त और पित्तका प्रकोप करता है । आमाशय अर्थात् पेटको ठीक करता है । " यदि अग्नितापसे भी वात, कफ और शीत संबंधके रोगोंमें लाभ होते हैं तो प्रतिदिन हवन करनेवाले लोग और हवनकी अग्निसे शरीरको तपानेवाले लोग कमसे कम इन रोगोंसे तो बच सकते हैं । हवनसे यह एक लाभ वैद्यक ग्रंथोंके प्रतिपादन द्वारा सिद्ध हुआ है । अब औषधि उपायका विचार करते हैं—

औषधिप्रयोग

दीर्घ आयु प्राप्त करनेके अनेक उपाय हैं, उनमें औषधिका सेवन भी एक उपाय है । योग्य औषधिका सेवन योग्य रीतिसे करनेसे रोग दूर होते हैं, नीरोगता बढती है और दीर्घ आयु भी प्राप्त हो जाती है । इसलिये इस सूक्तमें कहा है —

इमां अमृतस्य श्नुष्टिं आरभस्व । (मं. १)

" हे मनुष्य! तू इस अमृत रसके पानका प्रारंभ कर । " अर्थात् औषधीका रस जो जीवनवर्धक होगा उसका योग्य रीतिसे सेवन कर । ' अमृत-श्नुष्टि ' का अर्थ अमरत्व देनेवाला रसपान है । ऐसे रसपानका सेवन करना चाहिये कि जो अमरपनको बढानेवाला हो । अमरपनका अर्थ दीर्घ जीवन, दीर्घ आरोग्य और रोगोंसे पूर्णतया दूर रहना है । जो औषधिरस इन गुणोंकी वृद्धि करते हैं उनका सेवन करना योग्य है । अतः कहा है—

कृणोम्यस्मै भेषजं, मृत्यो मा पुरुषं वधीः। (मं. ५)

" इस मनुष्यके लिये रोगनिवृत्तिके उद्देश्यसे मैं औषध बनाता हूं, हे मृत्यु! अब इस पुरुषका वध न कर।" इस मंत्रसे स्पष्ट है कि पूर्वोक्त प्रकार विविध चिकित्साएं करनेसे मनुष्य पूर्ण रोगमुक्त हो सकता है और उसका मृत्युभय दूर हो जाता है। इसी विषयमें निम्नलिखित मंत्र देखिये—

जीवलां नघारिषां जीवन्तीमोषधीमहम्।
त्रायमाणां सहमानां सहस्वतीमिह हुवे ऽस्मा अरिष्टतातये ॥ (मं. ६)

" मैं इस रोगीको सुखका विस्तार करनेके लिये जीवन देनेवाली और कभी हानी न करनेवाली रक्षा करनेवाली, रोग हटानेवाली और बल बढानेवाली जीवन्ती नामक औषधीको देता हूं।" इस मंत्रमें जीवन्ती औषधीका उपयोग करनेका विधान है। इस औषधीका नाम जीवन्ती इसलिये है कि यह औषधि मनुष्यको दीर्घ जीवन देती है। (त्रायमाणा) रोगोंसे बचाती है, आरोग्य देती है, (सहस्वती) बल देनेवाली है, मनुष्यको बलशाली करती है इतना ही नहीं परंतु (सहमाना) विविध रोगोंको परास्त करती है, अपने बलसे क्षीणता आदिको हटाती है, इस प्रकार अनेक रीतियोंसे (त्रायमाणा) मनुष्यकी रक्षा करती है। यह औषधी कभी किसीकी हानि नहीं (न घारिषा) करती, सदा किसी न किसी रूपसे लाभ ही पहुंचाती है। इस प्रकार इस जीवन्ती औषधीका वर्णन इस वेदमंत्रमें है। इस जीवन्ती औषधीके विषयमें वैद्यक ग्रंथोंमें निम्नलिखित बातें मिलती हैं—

इसके फूल अत्यंत मीठे होते हैं अतः इसको 'जीवशाक' कहते हैं। इसके मधुर और अमधुर ये दो भेद हैं। मधुर जीवन्तीसे त्रिदोष हटता है और अमधुर जीवन्तीसे पित्त दूर होता है। मधुर जीवन्तीका रस मीठा, शीत वीर्य और परिपाक भी मधुर होता है। इससे दृष्टिदोष दूर होते हैं और प्रायः सभी रोग दूर होते हैं। वा. सू. अ. १५ में (वरा शाकेषु जीवन्ती) शाकमें जीवन्ती श्रेष्ठ शाक है ऐसा कहा है। वैद्य शास्त्रमें 'जीवन्ती' के अर्थ गुळवेल (गुडूची), हरीतकी, मेदा, काकोली, हरिणी, मधुवृक्ष, शमी, इतने हैं। इसके नाम "जीवनी, जीवनीया, जीवा, जीवना, मंगल्य नामधेया, जीव्या, जीवदा, जीवदात्री, जीवभद्रा, भद्रा, मंगल्या, यशस्या, जीवदृष्टा, पुत्रभद्रा, जीवपुत्रा, सुखंकरी, जीवपत्री, जीवपुष्पी" संस्कृतमें और वैद्यक ग्रंथोंमें है। इन नामोंसे स्पष्ट हो जाता है कि यह वनस्पति जीवन देनेवाली है। अतः इस विषयमें कहा है—

जीवन्ती स्वर्णवर्णाभा सुराष्ट्रजा च।
जीवनोद्योगाज्जीवन्ती नाम ॥ (मद. व. १)

" इस जीवन्ती औषधीका सुवर्णके समान वर्ण है, यह (सौराष्ट्र) काठियावाडमें होती है। इससे दीर्घजीवन प्राप्त होता है, इस कारण इसका नाम जीवन्ती है।"

इसके गुण ये हैं— " मधुर; शीत; रक्तपीत्त, वात, क्षय, दाह, ज्वरका नाश करनेवाली, कफ बढानेवाली, वीर्य बढानेवाली, रसायनधर्मवाली और भूतरोग दूर करनेवाली है।"

जीवन्ती शीतला स्वादुः स्निग्धा दोषत्रयापहा।
रसायना बलकरी चक्षुष्या ग्राहिणी लघुः। (भा.)
चक्षुष्या सर्वदोषघ्नी जीवन्ती मधुरा हिमा ॥ (अत्रि. अ. १४)

इस प्रकार इस जीवन्ती औषधिके गुण हैं। पाठक इस औषधिका सेवन करें। वैद्यकग्रंथोंमें इसके विविध प्रयोग लिखे हैं और सुयोग्य वैद्यके द्वारा इसके सेवनविधिका ज्ञान हो सकता है। यह उत्तम औषधि है और आरोग्य बल और दीर्घायु देनेवाली है। इसी प्रकार निम्नलिखित मंत्र यहां देखने योग्य हैं—

शिवे ते स्तां द्यावापृथिवी असंतापे अभिश्रियौ।
शं ते सूर्य आतपतु शं वातो वातु ते हृदे ॥
शिवा अभि रक्षन्तु त्वापो दिव्याः पयस्वतीः ॥ (मं. १४)

शिवास्ते सन्त्वोषधय उ त्वाहार्षमधरस्या उत्तरां पृथिवीमभि।
तत्र त्वादित्यौ रक्षतां सूर्याचन्द्रमसावुभा ॥ (मं. १५)

"द्युलोक और पृथ्वी लोकके सब पदार्थ तेरा संताप न बढावें, इतना ही नहीं परंतु वे तेरे लिये शोभा और ऐश्वर्य देवें। सूर्य तेरे लिये सुख देवे, वायु तुझे सुख देवे। जलसे तुझे आनन्द प्राप्त होवे। औषधियां तेरा सुख बढावें। ये औषधियां भूमिसे आयी हैं। सूर्य और चन्द्र तेरी रक्षा करें।" इन मंत्रोंमें कहा है कि जगत्के सब पदार्थ अर्थात्

सूर्य, चन्द्र, वायु, जल, भूमि, औषधि, अन्न, वायु, तेज आदि अनन्त पदार्थ मनुष्यका सुख बढावें। मनुष्यको शान्ति दें। मनुष्यका सन्ताप बढानेवाले न हों। इसका तात्पर्य यह है कि ये सब पदार्थ योग्य रीतिसे बर्ते जानेपर मनुष्यका सुख बढानेवाले होते हैं। इन पदार्थोंका उपयोग करनेकी विधि वैद्यग्रंथोंमें अर्थात् आयुर्वेदमें लिखी है। जो पाठक लाभ प्राप्त करनेके इच्छुक हैं वे इसका अभ्यास करें। इसी संबंधमें निम्नलिखित मंत्र देखने योग्य है--

अग्नेः शरीरमसि पारयिष्णु रक्षोहासि सपत्नहा।
अथो अमीवचातनः पुतुद्रुर्नाम भेषजम्॥ (मं. २८)

"अग्निका शरीर रोगोंसे पार करनेवाला है, यह अग्निका शरीर राक्षसों (रोगजन्तुओं) का नाश करता है तथा अन्यान्य शत्रुओंको दूर करनेवाला है। इसी प्रकार यह आमाशयके सब दोषोंको हटाता है। यह पुतुद्रु नामक औषध है।" अग्निका यह वर्णन हरएकको ध्यानसे धारण करनेयोग्य है। अग्नि रोगोंसे पार करनेवाला है, जहां विविध रोग बढते हैं वहां अग्नि प्रदीप्त करनेसे रोगकी हवा वहांसे हट जाती है और वहां नीरोगता हो जाती है। इसलिये जिस ग्राममें सांसर्गिक रोग बहुत फैलते हैं उस ग्राममें नाके नाके पर और गलीगलीमें बृहत् हवन किये जांय तो लाभकारी होगा। आजकल दूषित ग्रामों और स्थानोंमें इसीलिये आग जलाते हैं।

अग्निको 'रक्षो-हा' अर्थात् राक्षस संहारक कहा है, यहां राक्षस, रक्षस्, तथा रक्षः शब्दका अर्थ रोगबीज है। रोगबीजोंका नाश अग्नि करता है। आरोग्यके जो अन्यान्य शत्रु हैं उनका भी नाश अग्निसे होता है। रोगकृमि आदि सब रोगबीजोंका नाम राक्षस है ये राक्षस--

ये अन्नेषु विविध्यन्ति पात्रेषु पिबतो जनान्।
(वा. यजु. १६।६२)

"जो अन्नों और पानपात्रों अर्थात् खानपानके पदार्थोंमेंसे पेटमें जाकर विविध रोग उत्पन्न करते हैं।" यह वर्णन रोगबीजोंका है। रोगबीज अन्न और जल द्वारा पेटमें जाते हैं और रोग उत्पन्न करते हैं। इनके नाम रुद्र और रक्षस् आदि अनेक हैं। यहां अग्नि इन रोगबीज रूपी राक्षसोंका नाश करनेवाला कहा है। इसी प्रकार अग्नि आमाशयके रोगोंको दूर करनेवाला (अमीवचातनः) है। इसका वर्णन इसी सूक्तकी व्याख्यामें इससे पूर्व बताया है।

अग्नि यह एक 'पु-तु-द्रु' नामक औषध है। यह पुतुद्रु क्या है इसका विचार करना चाहिये। 'पु' का अर्थ (पवने) 'पवित्र करना, मल दूर करना, शुद्ध करना' है। 'तु' का अर्थ (वृद्धौ) 'वृद्धि, बढना, संवर्धन होना' है और 'द्रु' का अर्थ (गतौ) 'गति, प्रगति' आदि है। जिससे 'पवित्रता, वृद्धि और प्रगति होती है' उसको पुतुद्रु औषधि कहते हैं। चिकित्सामें क्या करना चाहिये इसका विधान इस शब्दमें हुआ है। वैद्य रोगीके शरीरसे रोगको दूर करनेके लिये तीन बातें करे- (१) पु=रोगीका शरीर पवित्र शुद्ध और दोषरहित करे, (२) तु=शरीरकी वृद्धि करे, शरीरको पुष्ट करे, शरीर बलवान् करे और (३) द्रु=शरीरकी नीरोग अवस्थामें प्रगति करे। ये तीन बातें प्रत्येक चिकित्सकको करना चाहिये तभी रोगोंका प्रतिकार होगा। चिकित्साके ये तीन मुख्य कार्य हैं। जो इन कार्योंको करता है, वही उत्तम यश प्राप्त करता है। शरीरशुद्धि, शरीरबलवर्धन और व्याधिप्रतिकार ये तीन भाग हैं जिन भागोंका विचार करनेसे पूर्ण चिकित्सा हो जाती है। 'पु-तु-द्रु' इस एक ही शब्दने वेदकी चिकित्सा-शैलीको उत्तम रीतिसे दर्शाया है। यह सर्वांगपूर्ण चिकित्साकी पद्धति है।

वेदने इस एक शब्दमें चिकित्साकी रीति कैसी उत्तम शैलीसे बतायी है यह देखिये। इस रीतिका अवलंबन करनेवाले वैद्य सुखका विस्तार करते हैं--

मृडतं शर्म यच्छतम्। (मं. ७)

"सुखी करो और शान्ति प्रदान करो" पूर्वोक्त प्रकार "पवित्रता, वृद्धि और प्रगति" करनेसे सब लोग सुखी होंगे और सबको शान्ति प्राप्त होगी इसमें कोई संशय नहीं है। सुख शान्ति और दीर्घ आयुष्य यही मनुष्यका प्राप्तव्य इस जगत्में है। इसीका स्पष्टीकरण करनेके लिये निम्नलिखित मंत्र है--

अरिष्टः सर्वाङ्गः सुश्रुज्जरसा शतहायन।
आत्मना भुजमश्नुताम्। (मं. ८)

"इस रीतिसे सब अंगों और अवयवोंसे पूर्ण, अक्षीण अवयववाला, उत्तम ज्ञानी, वृद्धावस्थामें सौ वर्षतक जीवित रहनेवाला होकर अपनी शक्तिसे सब भोग प्राप्त करनेवाला बने।" अर्थात् यह मनुष्य अतिवृद्ध अवस्थातक जीवित रहे और उस वृद्ध अवस्थामें भी अपनी शक्तिसे और अपने

प्रयत्नसे अपने लिये भोग प्राप्त करे । परावलम्बी न बने, जबतक स्वावलम्बनशील रहे । इस स्थानपर वेदका आदेश बताया है । केवल अतिवृद्ध होना वेदको अभीष्ट नहीं है, परन्तु अतिवृद्ध होते हुए नीरोग और बलवान् बनना वेदका साध्य है । प्रत्येक अवयव सुदृढ बने, सब अवयव और इन्द्रिय ठीक अवस्थामें रहें, बल स्थिर रहे और यह सब होते हुए मनुष्य वृद्ध बने यह वेदका आदर्श है । वेद कहता है कि अन्यान्य उपभोगभी मनुष्य लेते रहें; उत्तम कपडे पहनें और सुखसे रहें, इस विषयमें निम्नलिखित मंत्र देखिये—

यत्ते वासः परिधानं यां नीविं कृणुषे त्वम् ।
शिवं त तन्वे तत्कृण्मः संस्पर्शेऽद्रूक्ष्णमस्तु ते ॥
(मं. १६)

"जो तेरा ओढनेका वस्त्र तू कमरपर बांधता है वह कपडा तेरे शरीरको सुखदायक हो और वह स्पर्शके लिये मृदु हो ।" खुरदरा न हो । इस मन्त्रका आशय स्पष्ट तो यह दीखता है कि सुंदर और उत्तम कपडे जिनका स्पर्श शरीरको उत्तम सुखकारक होता है, वैसे उत्तमोत्तम कपडे मनुष्य पहने और शरीरका सुख ले । इसी प्रकार हजामत बनवाकर मुखकी सुंदरता बढानेके विषयमें निम्नलिखित मंत्र मनन करने योग्य है—

यत्क्षुरेण मर्चयता सुतेजसा वप्ता वपसि केशश्मश्रु ।
शुभं मुखं मा न आयुः प्र मोषीः ॥ (मं. १७)

"जो तू नापित स्वच्छता करनेवाले तेजधारवाले छुरेसे जो बालों और मूछोंका मुण्डन करता है, उससे मुख सुन्दर दीखता है, परन्तु यह सुन्दरता किसीकी आयुका नाश न करे ।" उत्तम उस्तरेसे हजामत बनाकर मुखकी सुन्दरता बढानेका उपदेश वेदमें इस प्रकार दिया है । हजामत बढनेसे मुख शोभाहीन होता है और हजामत बनानेसे वही मुख सुन्दर होता है, यह कहनेका उद्देश यह है कि मनुष्य हजामत बनावें और अपने मुखकी सुन्दरता बढावें । कोई मनुष्य अपना शोभाहीन मुख न रखे । सब लोग सुन्दर, नीरोग, बलवान्, पूर्णायु और कर्तव्यतत्पर बनें, यह वेदका उपदेश है । इसी प्रकार उत्तम भोजनके विषयमें भी वेदका उपदेश देखने योग्य है—

शिवौ ते स्तां व्रीहियवावबलासावदोमधौ ।
एतौ यक्ष्मं वि बाधेते एतौ मुञ्चतो अंहसः ॥
(मं. १८)

"चावल और जौ कल्याणकारी हैं, कफ दोषको दूर करनेवाले और भक्षण करनेके लिये मधुर हैं । ये यक्ष्म रोगको दूर करेंगे और दोषोंसे मुक्त करेंगे ।" भोजनके विषयमें अनेक मंत्र वेदमें हैं, उनका इस समय विचार करनेकी आवश्यकता नहीं है । यहां केवल यही बताना है कि, भोजनके विविध पदार्थ भी वेदने दिये हैं अर्थात् जिस प्रकार वेद बल, आरोग्य और दीर्घ आयु देना चाहता है उसी प्रकार सुंदर वस्त्र और उत्तम भोजन देकर भी मनुष्यकी सुखसमृद्धि बढाना चाहता है । यह भोजन निर्विष होनेकी सूचना भी समय पर वेद देता है, पाठक इसको यहां देखें-

यदश्नासि यत्पिबसि धान्यं कृष्याः पयः ।
यदाद्यं यदनाद्यं सर्वं ते अन्नमविषं कृणोमि ॥
(मं. १९)

"जो कृषिसे उत्पन्न होनेवाला धान्य तू खाता है जो दुग्धादि पेय पदार्थ पीता है वह सब खाने योग्य और जो न खानेकी चीज हो, वह सब निर्विष बनाता हूं," अर्थात् वह सब खानपान विष रहित हो । यहां विषसे बचनेका सावधानी धारण करनेका उपदेश दिया है । मनुष्यके खानपानमें मद्य, गांजा, भांग, अफीम, तमाखू, चा, काफी, आदि अनेकानेक पदार्थ विषमय हैं, इनका परिपाक भी विषरूप है । ऐसे पदार्थ खानेसे मनुष्यका स्वास्थ्य बिगड जाता है और मनुष्य अल्पायु हो जाता है । अतः मनुष्य विचार करे कि जो पदार्थ मैं खाता और पीता हूं, वे कैसे हैं, वे निर्विष हैं या नहीं ? वे आरोग्य वर्धक और दीर्घायुकारक हैं या नहीं ? ऐसा विचार करके मनुष्य अपने खानपानका सेवन करे । सुयोग्य पदार्थ ही खानेपानेमें आने चाहियें परंतु मनुष्यको कभी उचित नहीं कि वह विषमय पदार्थोंकी झालचमें फंसे और अपनी हानि करे । अतः मनुष्यको सदा उत्तम उपदेश श्रवण करना चाहिये, अतः कहा है—

उपदेशकका कार्य

अधि ब्रूहि, मा रभथाः, सृजेमं तवैव सन्त्सर्वहाया इहास्तु । (मं. ७)

"उत्तम उपदेश कर, बुरा काम न कर, इस मनुष्यको जगत्में भेजो, तेरे नियमानुकूल चलता हुआ यह मनुष्य पूर्णायु होकर यहां रहे। उपदेशक इस प्रकारका उपदेश जनताको करे और जनताको ऐसे मार्गसे चलावे कि सारे लोग उपदेश सुनकर बुरे कार्यसे हटें, जगत्में जाते हुए धर्म-नियमानुकूल चलें और नीरोग बलवान् और पूर्णायु बनें। तथा सब प्रकारकी उन्नति प्राप्त करें—

अस्मै अधिब्रूहि, इमं दयस्व, अयं इतः उत् एतु।
(मं. ८)

"इस मनुष्यको उत्तम उपदेश कर, इस पर दया कर, और इसको ऐसा मार्ग बताओ कि यह यहांसे उन्नति करे" उच्च अवस्था प्राप्त करे। यह उपदेशकोंकी जिम्मेवारी है कि वेही राष्ट्रके लोगोंपर उत्तम शुभ संस्कार डालें, उनको शुभ मार्ग बतावें और वे सीधे उन्नतिके पथपर ले जावें। जिस देशके और राष्ट्रके उपदेशक इस रीतिसे अपना ज्ञान प्रचारका कर्तव्य उत्तम रीतिसे करते हैं, वहांके लोग नीरोग, सुदृढ, दीर्घायु तथा परम पुरुषार्थी होते हैं। परमपुरुषार्थी मनुष्य अपनी आयुका योग्य उपयोग करे। मनुष्यकी आयुका उत्तरदायित्व उसीके ऊपर है यह बात कोई न भूले—

समयविभाग

शतं ते युतं हायनान्द्वे युगे त्रीणि चत्वारि कृण्मः।
(मं. २१)

शरदे त्वा हेमन्ताय वसन्ताय ग्रीष्माय परि दद्मसि।
वर्षाणि तुभ्यं स्योनानि येषु वर्धन्त ओषधीः॥
(मं. २२)

अह्ने त्वा रात्रये चोभाभ्यां परि दद्मसि। (मं. २०)

"मैं तेरी सौ वर्षकी आयु अखण्डित करता हूं, उसमें दो संधिकालके जोडे, सर्दी, गर्मी, वर्षा ये तीन काल और बाल्य तरुण मध्यम और वार्धक्य ये चार अवस्थाएं हैं। वसन्त, ग्रीष्म और वर्षा, शरत्, हेमन्त, आदि ऋतु तेरे लिये शुभ कारक हों। दिन और रात्रीके समयके लिये मैं तुझे सौंप देता हूं।"

दीर्घ जीवनकी आयुष्यमर्यादाका सौ वर्षका समय है, उसमें सौ वर्ष, वर्षमें दो अयन, छः ऋतु और तीन काल अर्थात् सर्दी, गर्मी और वर्षा ये तीन समय होते हैं। प्रत्येक दिनमें दो संधिकाल और दिन तथा रात्रीका समय इतने समयविभाग होते हैं। इन समयविभागोंके लिये मनुष्य सौंपा हुआ होना चाहिये। समय विभागके लिये मनुष्यका सौंपा हुआ होना, इसका अर्थ यह है कि समयविभागके अनुसार मनुष्यने अपना व्यवहार करना। जो समयविभाग बनाया हो उसके अनुसार ही मनुष्यको अपना कामकाज करना चाहिये। इसीसे बहुत कार्य होता है और उन्नतिका निश्चय भी हो जाता है। अतः इन मंत्रोंके उपदेशसे मनुष्य यह बोध लेवे कि मनुष्यको समयविभागके अनुसार कार्य करना चाहिये, व्यर्थ बेकारीमें समय गमाना उचित नहीं। अपने पास जो समय होगा उसका योग्य उपयोग करना चाहिये। समयका व्यय व्यर्थ नहीं होना चाहिये।

इस सूक्तमें बहुत ही उत्तमोत्तम आदेश दिये हैं, जो पाठक इन आदेशोंके अनुसार चलेंगे वे निःसन्देह लाभ प्राप्त कर सकते हैं। विशेषतः दीर्घायु प्राप्त करनेके इच्छुक इस सूक्तसे बहुत बोध प्राप्त कर सकते हैं।

दुष्टोंका नाश।

[३]

(ऋषिः— चातनः। देवता— अग्निः।)

रक्षोहणं वाजिनमा जिघर्मि मित्रं प्रथिष्ठमुप यामि शर्म।
शिशानो अग्निः क्रतुभिः समिद्धः स नो दिवा स रिषः पातु नक्तम् ॥ १ ॥
अयोदंष्ट्रो अर्चिषा यातुधानानुप स्पृश जातवेदः समिद्धः।
आ जिह्वया मूरदेवान्रभस्व क्रव्यादो वृष्ट्वापि धत्स्वासन् ॥ २ ॥
उभोभयाविन्नुप धेहि दंष्ट्रौ हिंस्रः शिशानोऽवरं परं च।
उतान्तरिक्षे परि याह्यग्ने जम्भैः सं धेह्यभि यातुधानान् ॥ ३ ॥

अर्थ— (रक्षो-हणं वाजिनं प्रथिष्ठं मित्रं आ जिघर्मि) राक्षसोंका नाश करनेवाले बलवान् प्रसिद्ध मित्रको मैं प्रकाशित करता हूं। और उससे (शर्म उपयामि) सुख प्राप्त करता हूं। (सः क्रतुभिः समिद्धः) वह यज्ञोंसे प्रदीप्त हुआ (शिशानः अग्निः) तीक्ष्ण अग्नि (सः नः दिवा नक्तं रिषः पातुः) हमें दिन रात्र शत्रुओंसे बचावे ॥ १ ॥

हे (जातवेदः) जातवेद अग्ने! (समिद्धः अयोदंष्ट्रः) प्रदीप्त होकर लोहेकी दाढोंसे युक्त होकर (अर्चिषा यातु-धानान् उपस्पृश) अपने प्रकाशसे यातना देनेवालोंको छूओ। तथा (मूरदेवान् जिह्वया आरभस्व) मूढ-विरोधोंको अपनी जिह्वारूप ज्वालासे ठीक करना आरंभ कर। (वृष्ट्वा) बलयुक्त होकर (क्रव्यादः आसनि अपि धत्स्व) मांस खानेवाले हिंसकोंको अपने मुखमें डाल ॥ २ ॥

हे (उभयाविन् अग्ने) दोनोंको जाननेवाले अग्ने! तू (हिंस्रः शिशानः) शत्रुओंकी हिंसा करनेवाला तीक्ष्ण बन कर (अवरं परं च उभौ) हमसे निकृष्ट और उत्कृष्ट दोनों प्रकारके शत्रुओंको अपने (दंष्ट्रौ उपधेहि) दाढोंमें रख। (उत् अन्तरिक्षे परियाहि) और अन्तरिक्षमें तू संचार कर। और वहांसे (जम्भैः यातु-धानान् अभिसंधेहि) अपने जबडोंसे यातना देनेवाले शत्रुओंपर चढाई कर ॥ ३ ॥

भावार्थ— दुष्टोंका नाश करनेवाला बलवान् प्रसिद्ध हितकर्ता सदा प्रशंसनीय है। इससे सुख प्राप्त होता है। वह उत्तम प्रशस्त कर्म करनेवाला, तीक्ष्ण अथवा उग्र, प्रयत्न करके हमें दिन रात शत्रुओंसे बचावें ॥ १ ॥

ज्ञानी अपने तेजसे दुष्टोंको निर्बल करे, मूढोंको अपने जिह्वाके उपदेशोंसे सुधारे। मांस भक्षक क्रूरोंको अपने मुखसे आच्छादित करे अर्थात् क्रूरतासे निवृत्त करे ॥ २ ॥

दोनोंको जाननेवाला देव बलवान् और निर्बल हिंसकोंको अपने काबूमें रखे। सब स्थानपर संचार करके कष्ट देनेवाले दुष्टोंको दबावे ॥ ३ ॥

अग्ने त्वचं यातुधानस्य भिन्धि हिंस्राशनिर्हरसा हन्त्वेनम् ।
प्र पर्वाणि जातवेदः शृणीहि क्रव्यात्क्रविष्णुर्वि चिनोत्वेनम् ॥ ४ ॥
यत्रेदानीं पश्यसि जातवेदस्तिष्ठन्तमग्न उत वा चरन्तम् ।
उतान्तरिक्षे पतन्तं यातुधानं तमस्ता विध्य शर्वा शिशानः ॥ ५ ॥
यज्ञैरिषूः संनममानो अग्ने वाचा शल्याँ अशनिभिर्दिहानः ।
ताभिर्विध्य हृदये यातुधानान्प्रतीचो बाहून्प्रति भङ्ग्ध्येषाम् ॥ ६ ॥
उतारब्धान्स्पृणुहि जातवेद उतारेभाणाँ ऋष्टिभिर्यातुधानान् ।
अग्ने पूर्वो नि जहि शोशुचान आमादः क्ष्विङ्कास्तमदन्त्वेनीः ॥ ७ ॥
इह प्र ब्रूहि यतमः सो अग्ने यातुधानो य इदं कृणोति ।
तमा रभस्व समिधा यविष्ठ नृचक्षसश्चक्षुषे रन्धयैनम् ॥ ८ ॥

अर्थ— हे अग्ने ! (यातुधानस्य त्वचं भिन्धि) कष्ट देनेवालेकी त्वचाको छिन्नभिन्न कर। (हिंस्र-अशनिः हरसा एनं हन्तु) हिंसक विद्युत् वेगसे इसका नाश करे। हे (जातवेदः) जातवेद ! शत्रुके (पर्वाणि शृणीहि) पर्वोंको काट। (क्रविष्णुः क्रव्यात् एनं विचिनोतु) मांसभक्षक क्रूर प्राणी इस दुष्टको पकड पकड कर खा जाय ॥ ४ ॥

हे (जातवेदः) ज्ञानी अग्ने ! तू (यत्र इदानीं) जहां अब (तिष्ठन्तं चरन्तं उत अन्तरिक्षे पतन्तं यातुधानं पश्यसि) खडे हुए, भ्रमण करनेवाले और अन्तरिक्षमें संचार करनेवाले यातना देनेवाले दुष्टको देखता है वहां (शिशानः अस्ता शर्वा) तीक्ष्ण शस्त्र फेंकनेवाला शत्रुहिंसक तू (तं विध्य) उस शत्रुका वेध कर ॥ ५ ॥

हे अग्ने ! (यज्ञैः) सत्कर्मों द्वारा बढता हुआ तू (इषूः संनममानः) अपने बाणोंको ठीक करके (वाचा) वाणीसे उपदेश करता हुआ (शल्यान् अशनीभिः दिहानः) शल्योंको बिजुलीसे तीक्ष्ण करता हुआ (ताभिः प्रतीचः यातुधानान् हृदये विध्य) उनसे शत्रुके संमुख होकर उन दुष्टोंको हृदयपर वेध करके, (एषां बाहून् प्रति भिन्धि) इनके बाहुओंको तोड डाला ॥ ६ ॥

हे जातवेद ! (उत आरब्धान् उत आरेभाणान्) सत्कार्यका आरंभ करनेवाले और किये हुए लोगोंको (ऋष्टिभिः स्पृणुहि) शस्त्रोंसे सुरक्षित रख। हे अग्ने ! (यातुधानान् पूर्वः शोशुचानः निजहि) दुष्टोंको सबसे प्रथम प्रकाशित होकर नाश कर। (आमादः एनीः क्ष्विङ्काः एनं अदन्तु) मांस खानेवाले काले पक्षी इनको खा जावें ॥ ७ ॥

हे अग्ने ! (यः यातुधानः इदं कृणोति) जो दुष्ट यह दुष्ट कार्य करता है (यतमः सः इह प्रब्रूहि) वह कौनसा है यह यहां कह दे। (तं आरभस्व) उसको दण्ड देना आरंभ कर। (तं समिधा आरभस्व) उसको लकडियोंसे जलाना आरंभ कर। (नृचक्षसः चक्षुषे एनं रन्धय) मनुष्योंके हितकी दृष्टिसे इस दुष्टका नाश कर। ॥ ८ ॥

भावार्थ— दुष्टोंको पीटकर उनके चमडेको छिन्नभिन्न कर। बिजुलीके आघातसे दुष्टोंका नाश हो। दुष्टोंके जोडोंको काटो। मांस भक्षक हिंसक और क्रूरको पकड पकडकर नाश करो ॥ ४ ॥

जहां कष्ट देनेवाले हिंसक दुष्ट होंगे वहां उनको दबा दिया जावे ॥ ५ ॥

सत्कर्मोंसे बढो, अपने शस्त्रास्त्र तैयार रखो, वाणीसे उत्तम उपदेश करो, अपने शस्त्रोंको बिजुलीसे तीक्ष्ण करो, और उनसे शत्रुओंके हृदयोंका वेध करो, तथा उनके बाहुका छेदन करो ॥ ६ ॥

शुभ कर्म करनेवालोंकी रक्षा अपने शस्त्रोंसे कर। दुष्टोंका नाश कर। मांस खानेवाले पक्षी दुष्टोंका मांस खावें ॥ ७ ॥

जो दुष्ट है उनकी दुष्टता यहां कहो, उनको दण्ड दो, जनताका हित करनेकी दृष्टिसे उनका नाश कर ॥ ८ ॥

तीक्ष्णेनाग्ने चक्षुषा रक्ष यज्ञं प्राञ्चं वसुभ्यः प्र णय प्रचेतः ।
हिंस्रं रक्षांस्यभि शोशुचानं मा त्वा दभन्यातुधाना नृचक्षः ॥ ९ ॥

नृचक्षा रक्षः परि पश्य विक्षु तस्य त्रीणि प्रति शृणीह्यग्रा ।
तस्याग्ने पृष्टीर्हरसा शृणीहि त्रेधा मूलं यातुधानस्य वृश्च ॥ १० ॥

त्रिर्यातुधानः प्रसितिं त एत्वृतं यो अग्ने अनृतेन हन्ति ।
तमर्चिषा स्फूर्जयञ्जातवेदः समक्षमेनं गृणते नि युङ्ग्धि ॥ ११ ॥

यदग्ने अद्य मिथुना शपातो यद्वाचस्तृष्टं जनयन्त रेभाः ।
मन्योर्मनसः शरव्या जायते या तया विध्य हृदये यातुधानान् ॥ १२ ॥

अर्थ— हे अग्ने ! (तीक्ष्णेन चक्षुषा प्राञ्चं यज्ञं रक्ष) तू अपने तीक्ष्ण आंखसे श्रेष्ठ यज्ञकी रक्षा कर। हे (प्र-चेतः) ज्ञानी ! तू (वसुभ्यः प्रणय) वसुओंके लिये इसको ले जा। हे (नृ-चक्षः) लोगोंके निरीक्षक (हिंस्रं रक्षांसि अभिशोचन्) हिंसकको और राक्षसोंको तपाते हुए (त्वा) तुझको (यातुधाना मा दभन्) यातना देनेवाले न दबावें ॥ ९ ॥

हे अग्ने ! तू (नृ-चक्षाः विक्षु रक्षः परिपश्य) मनुष्योंका निरीक्षण करता हुआ सब दिशाओंमें राक्षसोंको देख। (तस्य त्रीणि अग्रा प्रति शृणीहि) उसके तीनों अग्रभागोंका नाश कर। (तस्य पृष्टीः हरसा शृणीहि) उसकी पसुलियोंको अपने बलसे तोड। (यातुधानस्य मूलं त्रेधा वृश्च) यातना देनेवालेकी तीनों प्रकारोंसे काट डाल ॥ १० ॥

हे अग्ने ! (यः अनृतेन ऋतं हन्ति) जो असत्यसे सत्यका नाश करता है, वह (यातुधानः ते प्रसितिं त्रिः एतु) दुष्ट तेरे बन्धनमें तीन प्रकारोंसे प्राप्त होवे। हे जातवेद ! (तं अर्चिषा स्फूर्जयन्) उसको अपने प्रकाशसे प्रभावित करता हुआ तू (एनं समक्षं गृणते नि युङ्ग्धि) इसको अपने सामने ईशस्तुति करनेवालेके हितके लिये प्रतिबन्धमें रख ॥ ११ ॥

हे अग्ने ! (यत् अद्य मिथुना शपातः) जो आज दोनों एक दूसरेको शापते हैं, (यत् रेभाः वाचः तृष्टं जनयन्त) जो आक्रोश करनेवाले वाणीकी कठोरता प्रकाशित करते हैं। (या मन्योः मनसः शरव्या जायते) जो क्रोधी मनसे शस्त्र होता है (तया यातुधानान् हृदये विध्य) उससे पीडकोंको हृदयमें वेध डाल ॥ १२ ॥

भावार्थ— अपनी दृष्टिसे-शक्तिसे-सत्कर्मका संरक्षण कर। और निवासकोंकी ओर उसे ले चल। हिंसकोंको अपने तेजसे हटा और ऐसा कर कि दुष्ट तुझे न दबावें ॥ ९ ॥

जनताकी रक्षा करनेके लिये तू सब दिशाओंसे दुष्टोंको ढूंढ निकाल। और उनके तीनों प्रकारके प्रयत्नोंको प्रतिबंध कर। दुष्टोंकी पीठ तोड और उनकी जड उखाड दो ॥ १० ॥

जो असत्यसे सत्यको दबाता है उस दुष्टको बंधनमें डाल। अपने तेजसे उसको निःसत्त्व कर और ईश्वर भक्तके सन्मुख उसको प्रतिबंध कर ॥ ११ ॥

जो दुष्ट परस्परको शाप देते हैं और आक्रोश करके कठोर भाषण बोलते हैं, उनके मनके दुष्ट भावोंसे जो घातक परिणाम होता है, उससे दुष्टोंके हृदय जल जावें ॥ १२ ॥

परा॑ शृणीहि॒ तप॑सा यातु॒धाना॒न्परा॑ग्ने॒ रक्षो॒ हर॑सा शृणीहि ।
परा॒र्चिषा॒ मूर॑देवाञ्छृणीहि॒ परा॑सु॒तृप॑: शोशु॑चतः शृणीहि ॥ १३ ॥
परा॒द्य दे॒वा वृ॑जि॒नं शृ॑णन्तु प्र॒त्यगे॑नं श॒पथा॑ यन्तु सृ॒ष्टाः ।
वा॒चास्ते॒नं शर॑व ऋच्छन्तु॒ मर्म॒न्विश्व॑स्यैतु॒ प्रसि॑तिं यातु॒धान॑: ॥ १४ ॥
यः पौरु॑षेयेण क्र॒विषा॑ सम॒ङ्क्ते यो अश्व्ये॑न प॒शुना॑ यातु॒धान॑: ।
यो अ॒घ्न्याया॒ भर॑ति क्षी॒रम॑ग्ने॒ तेषां॑ शी॒र्षाणि॒ हर॒सापि॑ वृश्च ॥ १५ ॥
वि॒षं गवां॑ यातु॒धाना॑ भरन्ता॒मा वृ॑श्चन्ता॒मदि॑तये दु॒रेवा॑: ।
परै॑णान्दे॒वः स॑वि॒ता द॑दातु॒ परा॑ भा॒गमोष॑धीनां जयन्ताम् ॥ १६ ॥

अर्थ— (यातुधानान् तपसा परा शृणीहि) यातना देनेवालोंको अपने तपसे दूर करके नाश कर। और हे अग्ने ! (हरसा रक्षः परा शृणीहि) अपने बलसे दूर करके नाश कर। (मूरदेवान् अर्चिषा परा शृणीहि) मूढोंको अपने तेजसे दूर करके नाश कर तथा (असुतृपः शोशुचतः पराशृणीहि) दूसरोंके प्राणों पर तृप्त होनेवाले शोक करनेवाले दुष्टोंको भी दूर करके नाश कर ॥ १३ ॥

(देवाः अद्य वृजिनं परा शृणन्तु) देव आज पाप करनेवाले पापीको दूर करें ! (सृष्टाः शपथाः एनं प्रयत्क् यन्तु) भेजी हुई गालियां उनके प्रति वापस जांय। (वाचा स्तेनं शरवः मर्मन् ऋच्छन्तु) वाणीके चोरको शस्त्र मर्मोंमें काटें। (यातुधानः विश्वस्य प्रसितिं एतु) यातना देनेवाला दुष्ट सबके बन्धनमें जाय ॥ १४ ॥

(यः पौरुषेयेण क्रविषा समंक्ते) जो मनुष्यके मांससे अपने आपको पुष्ट करता है और (यः यातुधानः अश्व्येन पशुना) जो दुष्ट अश्व आदि पशुके मांससे अपने आपको पुष्ट करता है, हे अग्ने ! (यः अघ्न्यायाः क्षीरं भरति) जो गायका दूध चुराकर ले जाता है (तेषां शीर्षाणि हरसा अपि वृश्च) उनके सिरोंको अपने बलसे तोड डाल ॥ १५ ॥

(यातुधानाः गवां विषं भरन्तां) जो दुष्ट गौओंको विष देते हैं, और (दुरेवाः अदितये आवृश्चन्तां) जो दुष्ट गौको काटते हैं, (सविता देवः एनान् परा ददातु) सविता देव इनको दूर हटावे। (ओषधीनां भागं पराजयन्तां) इनको औषधियोंका भाग भी न दिया जावे ॥ १६ ॥

भावार्थ— जो दुष्ट लोगोंको कष्ट देते हैं उनको अपने तप, बल और तेजसे दूर कर और उनका नाश कर। मूढोंकी उपासना करनेवालोंको भी दूर कर। जो दूसरेके प्राण लेकर तृप्त होते हैं उनको रुलाते हुए हटा दो ॥ १३ ॥

पापी मनुष्यको और पापको दूर किया जाय। गालियां दीं हुई देनेवालेके पास वापस जांय। वाणीसे चोरी करनेवालेके मर्मस्थान शस्त्रोंसे काटे जांय। जनताको यातना देनेवालेको प्रतिबंधमें रखो ॥ १४ ॥

मनुष्यका घोडे आदि पशुका मांस खा कर जो दुष्ट अपना शरीर पुष्ट करता है और गायका दूध चोरी करके पीता है उसका सिर काट ॥ १५ ॥

जो दुष्ट मनुष्य गौको विष देते हैं और गो काटते हैं, उनको समाजसे हटाया जावे और उनको धान्यादिका भाग भी न दिया जावे ॥ १६ ॥

×

संवत्सरीणं पय उस्रियायास्तस्य माशीद्यातुधानो नृचक्षः ।
पीयूषमग्ने यतमस्तितृप्सात्तं प्रत्यञ्चमर्चिषा विध्य मर्मणि ॥ १७ ॥
सनादग्ने मृणसि यातुधानान्न त्वा रक्षांसि पृतनासु जिग्युः ।
सहमूरानतु दह क्रव्यादो मा ते हेत्या मुक्षत दैव्यायाः ॥ १८ ॥
त्वं नो अग्ने अधरादुदक्तस्त्वं पश्चादुत रक्षा पुरस्तात् ।
प्रति त्ये ते अजरासस्तपिष्ठा अघशंसं शोशुचतो दहन्तु ॥ १९ ॥
पश्चात्पुरस्तादधरादुतोत्तरात्कविः काव्येन परि पाह्यग्ने ।
सखा सखायमजरो जरिम्णे अग्ने मर्ताँ अमर्त्यस्त्वं नः ॥ २० ॥
तदग्ने चक्षुः प्रति धेहि रेभे शफारुजो येन पश्यसि यातुधानान् ।
अथर्ववज्ज्योतिषा दैव्येन सत्यं धूर्वन्तमचितं न्योष ॥ २१ ॥

अर्थ— हे (नृ-चक्षः) मनुष्योंके निरीक्षक ! (उस्रियायाः संवत्सरीणं पयः) गायका वर्षभर प्राप्त होनेवाला जो दूध है (तस्य यातुधानः मा आशीत्) उसका पान यातना देनेवाला दुष्ट न करे। हे अग्ने ! (यतमः पीयूषं तितृप्सात्) उनमेंसे जो दुष्ट दूधरूपी अमृतको पीयेगा, (तं प्रत्यञ्चं अर्चिषा मर्मणि विध्य) उसको सबके संमुख अपने तेजसे मर्मस्थानमें वेध डाल ॥ १७ ॥

हे अग्ने ! तू (यातुधानान् सनात् मृणासि) यातना देनेवाले दुष्टोंका सदा नाश करता है। (रक्षांसि त्वा पृतनासु न जिग्युः) राक्षस तुझे युद्धोंमें नहीं जीत सकते। (सहमूरान् क्रव्यादः अनुदह) मूढोंके साथ मांस भक्षकोंको जला दे। (ते दैव्यायाः हेत्याः) वे तेरे दिव्य शस्त्रास्त्रसे (मा मुक्षत) न छूट जांय ॥ १८ ॥

हे अग्ने ! (त्वं नः अधरात् उदक्तः पश्चात् उत पुरस्तात् रक्ष) तू हमें नीचेसे ऊपरसे पीछेसे और आगेसे रक्षा कर। (ते त्ये शोशुचतः अजरासः तपिष्ठाः) वे सब तेजस्वी, अक्षीण होकर तपानेवाले (अघशंसं प्रति दहन्तु) पापीको जला देवें ॥ १९ ॥

हे अग्ने ! तू (कविः काव्येन) कवि है अतः अपने काव्यसे (पश्चात् पुरस्तात् अधरात् उत उत्तरात् परिपाहि) पीछेसे आगेसे नीचेसे और ऊपरसे सब रीतिसे रक्षा कर। (त्वं सखा सखायं) तू मित्र है अतः मुझ जैसे मित्रकी, (अजरः जरिम्णे) तू जरारहित है अतः मुझ जराग्रस्तकी और (अमरः मर्त्यान् नः परिपाहि) तू अमर है अतः हम मरनेवालोंकी रक्षा कर ॥ २० ॥

अग्ने ! (येन शफा-रुजः यातुधानान् पश्यसि) जिससे तू लातोंद्वारा ठोकरें लगानेवाले दुष्टोंका निरीक्षण करता है, (तत् चक्षुः रेभे प्रतिधेहि) वह आंख शोर मचानेवालेपर रख। (अथर्व-वत् दैव्येन-ज्योतिषा) अहिंसक दिव्य तेजसे (सत्यं अचितं धूर्वन्तं) सत्य अचेत नाश करनेवालेको (नि ओष) जला दो ॥ २१ ॥

भावार्थ— हे मनुष्योंका हित करनेवाले ! गायका दूध दुष्ट मनुष्य न पीवे। जो दुष्ट चुराकर पीयेगा उसको शारीरिक दण्ड दिया जावे ॥ १७ ॥

तू सदा दुष्टोंका नाश करता है, तुझे राक्षस पराभूत नहीं कर सकते। तू मांसभक्षक क्रूरोंको जला, तेरे पाशसे वे दुष्ट न छूटें ॥ १८ ॥

तू सब ओरसे हमारी रक्षा कर। तेजस्वी लोग पापियोंको दण्ड देवें ॥ १९ ॥

तू कवि, मित्र, जरारहित और अमर है अतः तू हमारी रक्षा कर। हम तेरे मित्र बनना चाहते हैं। और हम जराग्रस्त होते हैं और मृत्युसे भी ग्रस्त हैं अतः तू हमारी सहायता कर ॥ २० ॥

परि॑ त्वाग्ने॒ पुरं॑ व॒यं विप्रं॑ सहस्य धीमहि ।
धृ॒षद्व॑र्णं दि॒वेदि॑वे ह॒न्तारं॑ भङ्गु॒राव॑तः ॥ २२ ॥
वि॒षेण॑ भङ्गु॒राव॑तः॒ प्रति॑ ष्म र॒क्षसो॑ जहि ।
अग्ने॑ ति॒ग्मेन॑ शो॒चिषा॒ तपु॑रग्राभिर॒र्चिभिः॑ ॥ २३ ॥
वि ज्योति॑षा बृह॒ता भा॑त्य॒ग्निरा॒विर्विश्वा॑नि कृणुते महि॒त्वा ।
प्रादे॑वीर्मा॒याः स॑हते दु॒रेवाः॒ शिशी॑ते॒ शृङ्गे॒ रक्षो॑भ्यो॒ विनिक्ष्वे॑ ॥ २४ ॥
ये ते॒ शृङ्गे॑ अ॒जरे॑ जातवेदस्ति॒ग्महे॑ती॒ ब्रह्म॑संशिते ।
ताभ्यां॑ दु॒र्हार्द॑मभि॒दास॑न्तं किमी॒दिनं॑ प्र॒त्यञ्च॑म॒र्चिषा॑ जातवेदो॒ वि नि॑क्ष्व ॥२५॥
अ॒ग्नी रक्षां॑सि सेधति शु॒क्रशो॑चि॒रम॑र्त्यः ।
शुचिः॑ पाव॒क ईड्यः॑ ॥ २६ ॥

अर्थ— हे अग्ने ! हे (सहस्य) बलवान् ! (वयं) हम सब (विप्रं पुरं) ज्ञानी और पूर्णता करनेवाले, (धृषद्वर्णं) धर्षण करनेवाले और (भंगुरावतः हन्तारं) विनाशकोंका नाश करनेवाले, (त्वा दिवे दिवे परिधीमहि) तेरा प्रतिदिन ध्यान करते हैं ॥ २२ ॥

हे अग्ने ! (तिग्मेन शोचिषा) तीक्ष्ण तेजसे युक्त (तपुः अग्राभिः अर्चिभिः) तपानेवाले तेजकी दीप्तियोंसे (विषेण भंगुरावतः रक्षसः प्रति जहि स्म) विषसे नाश करनेवाले राक्षसोंका नाश कर । ॥ २३ ॥

(अग्निः बृहता ज्योतिषा विभाति) अग्नि विशेष तेजसे प्रकाशता है । (महित्वा विश्वानि आविः कृणुते) अपने सामर्थ्यसे सब जगत्को प्रकट करता है । (अदेवीः दुरेवाः मायाः प्रसहते) राक्षसोंकी दुःखदायक कपट जालोंको जीतता है । (शृंगे रक्षोभ्यः विनिक्ष्वे शिशीते) अपने दोनों सींग राक्षसोंका नाश करनेके लिये तीक्ष्ण करता है ॥२४॥

हे (जातवेदः) वेदज्ञ ! (ये ते अजरे तिग्म-हेती) जो तेरे तीक्ष्ण हथियारके समान (ब्रह्मसंशिते शृंगे) ज्ञानसे तीक्ष्ण किये हुए सींग हैं, हे जातवेद ! (ताभ्यां) उन दोनों सींगोंसे और (अर्चिषा) अपने तेजसे (दुर्हार्दं किमीदिनं अभिदासन्तं) दुष्ट हृदय भूखे और दूसरेका नाश करनेवाले दुष्टका (प्रत्यञ्चं वि निक्ष्व) सामने नाश कर ॥ २५ ॥

(शुक्रशोचिः अमर्त्यः) शुद्ध प्रकाशवाला अमर (शुचिः पावकः ईड्यः) पवित्र, शुद्धता करनेवाला स्तुत्य अग्नि (रक्षांसि सेधति) राक्षसोंका नाश करता है ॥ २६ ॥

भावार्थ—जो दुष्ट लातें मारकर हमारे शरीर तोडते हैं तथा जो विरुद्ध कोलाहल मचाते हैं उनको तू देख । तू अपने तेजसे हमारा नाश करनेवालेका नाश कर ॥ २१ ॥

ज्ञानी, मनकामना पूर्ण करनेवाले, शत्रुका धर्षण करनेवाले, दुष्टोंका नाश करनेवाले तुझ बलवान् देवका हम सब प्रतिदिन ध्यान करते हैं ॥ २२ ॥

विष देकर जगत्में नाश करनेवाले दुष्टोंका नाश तू अपने तीक्ष्ण और उग्र तेजसे कर ॥ २३ ॥

अग्नि विशेष तेजसे प्रकाशता है और अपने सामर्थ्यसे जगत्को प्रकाशित करता है । राक्षसोंके कपट जाल दूर करके उनके नाशके लिये अपने दो सींग तीक्ष्ण करता है ॥ २४ ॥

तेरे सींग तीक्ष्ण हथियार जैसे हैं और वे ज्ञानसे तीक्ष्ण हुए हैं, उनसे और अपने तेजसे दुष्ट हृदयवाले घातकी शत्रुका नाश कर ॥ २५ ॥

शुद्ध, तेजस्वी, अमर, पवित्र, शुद्धता करनेवाला प्रशंसनीय अग्नि राक्षसोंका नाश करनेवाला है । ॥ २६ ॥

दुष्टोंका नाश

दुष्टोंके लक्षण

इस सूक्तमें दुष्ट मनुष्योंका नाश करनेका विषय है। अतः दुष्ट कौन है इसका पहिले निश्चय करना चाहिये। यह निश्चय न हुआ तो कदाचित् दुष्ट बचेगा और सुष्टका ही नाश अज्ञानसे किया जायगा। अतः वेदने इस सूक्तमें दुष्टोंके लक्षण कहे हैं, देखिये—

१ दुर्हार्दः (दुः+हार्द)- दुष्ट हृदयवाला, जिसके अन्तःकरणमें दुष्ट विचार रहते हैं, जो दुष्ट भाव मनमें धारण करता है, जो हृदयमें घातपातकी कल्पनाओंको धारण करता है। (मं. २५)

२ रक्षः, राक्षसः (रक्षति)- जो रक्षण करनेका आविर्भाव बताकर घात करता है। जो बाहरसे रक्षा करनेका ढोंग रखकर अन्दरसे उसीका नाश करता रहता है (मं. ९)

३ असु-तृप्- जो दूसरोंके प्राणोंका बलि लेकर तृप्त होता है, जो दूसरोंका नाश करके अपना स्वार्थसाधन करता है, जो दूसरोंका घात करके अपनी पुष्टि करता है। (१३)

४ धूर्वन्- जो दूसरोंका घात पात और नाश करता है। (२१)

५ भंगुरावत्- जो दूसरोंका सत्यानाश करता है (२२)

६ अभिदासम्- जो दूसरोंका वध करता है, दूसरोंको बंधनमें डालता है, दूसरोंको गुलाम बनाता है, दूसरोंको पारतंत्र्यमें रखकर स्वयं अपने भोग बढाता है, जो दूसरोंको दास बनाता है। (२५)

७ हिंस्रः (१); शरुः (१४)- जो हिंसा करता है, घातपात करता है। दूसरोंका नाश करता है।

८ शफा-रुज्- अपनी लातोंके प्रहारोंसे जो दूसरोंको मारता है, दूसरोंके अवयव लातोंकी मारसे तोड देता है। (२१)

९ रिपः- हिंसक, घात पात करनेवाला, जो दूसरोंका विध्वंस करता है। (१)

१० क्रव्यात् (२), क्रविष्णुः, आमाद (४)- जो मांस खाता है, जो कच्चा मांस खाता है, जो रक्त पीता है, जो दूसरोंके जीवनपर जीवित रहता है।

११ यः पौरुषेयेण अश्व्येन क्रविषा, यः पशुना समंक्ते- जो मनुष्य, अश्व और अन्यान्य पशुओंके मांससे अपना शरीर पुष्ट करता है, जो पशुपक्षियोंके मांससे अपने आपको पुष्ट करता है, जो अपने पेटके लिये दूसरोंका जीव लेता है। (१५)

१२ दुरेवाः अदितये आवृश्चन्तां- जो दुष्ट गायको काटता है अथवा कटवाता है। अ-दिति अर्थात् हिंसनीय गौका भी जो वध करता है। (१६)

१३ गवां विषं भरन्तां-गौवोंको जो विष देते हैं और विषसे गौका वध करते हैं। (१६)

१४ किमीदिन्- (किं-इदानीं) अब आज क्या खायें, कल इसका वध किया और पेट पाला, आज किसका वध करके पेटपूर्ती करें इसका जो सदा विचार करते हैं। जो कभी दूसरोंका घात किये विना नहीं रहते। (१५)

१५ यातुधानाः (यातु+धानाः)- यातना देनेवाले, दूसरोंको सतानेवाले दूसरोंको पीडा देनेवाले। (२)

१६ दुरेवाः- (दुः+एव)- दुष्ट मार्गपर चलनेवाला, बुरे कार्यमें प्रवृत्त होकर दूसरोंको कष्ट देकर अपना सुख बढानेका प्रयत्न करनेवाला। (२४)

१७ अदेवीः मायाः- (अ-दिव्य मायाः)- जो बुराई और कपट करते हैं, जो धोखा देकर दूसरोंको लूटते हैं, धोखेबाजीसे अपना ऐश्वर्य बढाते हैं। (२४)

१८ वृजिनः- जो पाप करता है, पापकर्ममें प्रवृत्त होता है। (१४)

१९ वाचास्तेनः- (वाचा+स्तेनः)- जो वाणीका चोर है, जिसका भाषण सत्य नहीं होता। जो एक बोलता है और दूसरा ही करता है, जो विश्वास रखने अयोग्य है (१४)

२० मूरदेवाः, (२) सहमूरः (१८)- घात पात करनेवाला मूढ, डाकुओंके साथ रहनेवाला, महामूर्ख, महाघातकी, महाहिंसक। (२)

२१ मिथुना शपातः- एक दूसरेको गालियां देते हैं, परस्पर बुरे शब्दोंके प्रयोग करते हैं। अपशब्द बोलते हैं। (१२)

ये सब दुष्ट हैं। ये दुष्टोंके लक्षण हैं। पाठक इन वचनोंका विचार करके अपने समाजमें अथवा इस संसारमें इन लक्षणोंसे युक्त कौन कौन हैं, इसका निश्चय करें और उन

दुष्टोंको दूर करनेका प्रयत्न करें। इन लक्षणोंका विचार करके पाठक श्रेष्ठ सज्जनोंके लक्षण भी जान सकते हैं। जैसा "जो दूसरोंका घात पात नहीं करते, जो किसीकी हिंसा नहीं करते, जो अहिंसा भावसे वर्तते हैं, जो सदा सत्य बोलते हैं, कभी कपट नहीं करते, हृदयमें शुद्ध भाव धारण करते हैं, कभी किसीका नाश करके अपना पेट भरना नहीं चाहते, परंतु अपने प्रयत्नसे दूसरोंका सुख बढाना चाहते हैं, दुष्ट मनुष्योंके साथ कभी नहीं रहते, मुखसे कभी बुरे शब्द नहीं उच्चारते, जो पापकर्ममें प्रवृत्त नहीं होते, जो मांस भोजन नहीं करते, जो दूसरोंको मारपीट नहीं करते, जो दूसरोंको दासभावसे छुडानेके लिये प्रयत्न करते हैं, जो दूसरोंकी रक्षा करते हैं।" जो ऐसा शुद्ध सदाचार रखते हैं वे सज्जन कहे जाते हैं। इन सज्जनोंको पूर्वोक्त दुष्ट दुर्जन सदा कष्ट देते हैं, अतः दुष्टोंको दूर करना धर्म होता है। सज्जनोंका परित्राण करना, दुष्ट दुर्जनोंका नाश करना और धर्मकी व्यवस्था स्थापित करना यह सब श्रेष्ठ पुरुषोंका कर्तव्य है। जो यह कर्तव्य करेंगे वेही आदरके योग्य पुरुष हैं। यही मनुष्यका धर्म है, अतः इस सूक्त द्वारा कहा है कि इन दुष्टोंका नाश करना चाहिये। नाश करनेका भाव यह है- कि उनका दुष्ट भाव दूर करना, उनके स्वभावका सुधार करना, उनको दुष्ट व्यवहारसे निवृत्त करना, उनको समाज या राष्ट्रसे बहिष्कृत करना और इतनेसे भी कार्य न हुआ, तो उनका नाश करना। इस सूक्तका यह कार्य है। अब इन दुष्टोंका नाश करनेवाला कैसा हो, इस विषयमें देखिये—

दुष्टोंका नाश करनेवाला कैसा हो ?

पूर्वोक्त विवरणमें दुष्टोंके लक्षण कहे हैं, इन लक्षणोंसे दुष्टोंकी पहचान हो सकती है। इन लक्षणोंसे दुष्टोंका ज्ञान होनेके पश्चात् उनका नाश करनेका कार्य कौन करे, इसका विचार करना चाहिये। हरएक मनुष्य दुष्टोंका नाश करनेका कार्य करनेका अधिकारी नहीं है, यह कार्य विशेष जिम्मेवारीका कार्य है, अतः यह कार्य विशेष सावधानतासे होना चाहिये और विशेष योग्यतावाले मनुष्यके आधीन यह कार्य रहना चाहिये। इस विषयके निर्देश इस सूक्तमें हैं, उनका अब यहां विचार करते हैं—

१ मित्रः (मं. १), सखा (मं. १०)- जो मनुष्य सब मनुष्योंकी ओर मित्रताका वर्ताव करता है, जो सबका सखा अर्थात् हित चाहनेवाला है। जनताका हित करनेमें जो तत्पर रहता है,

२ विप्रः (मं. २२), कविः (मं. १०)- जो विशेष प्राज्ञ अर्थात् ज्ञानी है, जो कवि है अर्थात् कान्तदर्शी है, जो दूरदृष्टि है, जो गहराईसे हरएक बातका विचार कर सकता है, जो पवित्र दृष्टिके साथ सब बातोंका आगेपीछेका विचार करनेमें चतुर है,

३ जातवेद्ः (ज्ञातवेदः)- जो ज्ञानी है, जिसने अध्ययन उत्तम प्रकारसे पूर्ण किया है, जो बहुश्रुत और वेदशास्त्रज्ञ है, जिसके अंदर ज्ञानकी दृष्टि उत्पन्न हुई है, (मं. १)

४ अथर्ववत् दिव्यज्योतिः (मं. २१)- जो (अ-थर्व) अचञ्चल स्थितप्रज्ञ योगीके समान दिव्य तेजसे युक्त है, जिसने योगसाधनादि द्वारा अपना मन स्थिर किया है, जो चञ्चल वृत्तिवाला नहीं है, जो शान्ति और गंभीरतासे सब बातोंका विचार कर सकता है और शीघ्रता करके जो कार्यका बिगाड नहीं करता है।

५ शुक्रशोचिः, शुचिः, पावकः (मं. ११)- जो पवित्र तेजसे युक्त, स्वयं आचारसे शुद्ध और पवित्रता करनेवाला है, जो स्वयं पवित्र विचार, पवित्र उच्चार और पवित्र आचारसे युक्त है, जिसका मन, बुद्धि, चित्त आदि अन्तरिन्द्रिय तथा जिसके बाह्य इंद्रिय पवित्र हैं और शुद्ध व्यवहार ही करते हैं,

६ ईड्यः (मं. ११), प्रथिष्ठः (मं. १)= पूर्वोक्त कारणसे जो प्रशंसनीय है, स्तुति करने योग्य है, सब लोग जिसके पवित्र आचारकी प्रशंसा करते हैं,

७ वाजी (मं. १), सहस्यः (मं. ११)- जो बलवान् है, कर्तव्य करनेका निश्चय होनेके पश्चात् जो निश्चय-पूर्वक अपने बलसे उसको निभाता है, जो प्रतिपक्षीको परास्त कर सकता है, जो अपने बलसे अपने कर्तव्य कर सकता है,

८ ब्रह्मसंशितः (मं. २५)- ज्ञानसे तीक्ष्ण, ज्ञानसे तेजस्वी, ज्ञानसे सुसंस्कृत, ज्ञानसे प्रशंसायुक्त बना हुआ,

९ अजरः, अमर्त्यः (मं. १०) = जरारहित और मृत्युरहित बना हुआ, क्षीण न होनेवाला और मृत्युसे न मरनेवाला, देवोंके समान जरामृत्युको दूर रखनेवाला दिव्य-जीवन युक्त,

१० क्रतुभिः समिद्धः (मं. १)- विविध सत्कर्मोंसे प्रदीप्त हुआ, श्रेष्ठ प्रशस्ततम कर्मोंसे प्रकाशित, सत्यमय प्रशंसनीय उत्तम कर्म करनेवाला, जिससे उत्तम कर्म ही होते हैं,

११ शिशानः (मं. १)- तीक्ष्ण, तेजस्वी,

१२ शर्वा (मं. ५)- शत्रुओंका नाश करनेवाला,

१३ प्रतीचः (मं. ४)- दुष्टोंका सामना करनेवाला, शत्रुओंके सन्मुख खडा होकर उनका प्रतिकार करनेवाला,

१४ भंगुरावतः हन्ता (मं. ११)- घातकोंका नाश करनेवाला,

१५ रक्षोहा (मं. १)- राक्षसों, क्रूरकर्म करनेवालोंका नाश करनेवाला,

१६ क्रव्यादः अपिधत्स्व (मं. १)- मांसभक्षकों, दूसरोंके जीवनोंपर अपनी पुष्टी करनेवालोंको दबाओ,

१७ अर्चिषा यातुधानान् उपस्पृश (मं. २)- अपने तेजसे दूसरोंको यातना देनेवालोंका नाश कर,

१८ दिवा नक्तं रिषः पातु (मं. १)- दिन रात्र घातकोंसे सज्जनोंकी रक्षा कर,

१९ जम्भैः यातुधानान् संधेहि (मं. ३)- हथियारोंसे दुष्टोंको दण्ड दे।

इस ढंगसे इस सूक्तमें दुष्टोंका नाश कौन करे इस विषयमें कहा है। दुष्टोंका नाश करनेवाला ज्ञानी, शान्त, सम बुद्धि रखनेवाला, गंभीर, विचारवान्, जनताका हित करनेवाला, पवित्र विचारवाला ऐसा सुयोग्य पुरुष होना चाहिये। हरएक मनुष्य यह पवित्र कार्य कर नहीं सकता। जिससे कभी अन्याय होनेकी संभावना नहीं होती, ऐसे सज्जनके आधीन यह अधिकार होना चाहिये। पाठक स्मरण रखें कि जब कभी न्यायाधीश अथवा दण्डविधान करनेके कार्यके लिये किसी मनुष्यको नियुक्त करना हो, तो इस स्थानके लिये इन गुणोंसे युक्त पुरुष नियुक्त किया जावे। और इन गुणोंसे युक्त मनुष्य ही उस स्थानपर जाकर कार्य करे। इस दृष्टीसे इस सूक्तके मंत्र बडे उपयोगी हैं। ऐसे सात्विक पुरुषसे कभी अन्याय नहीं होगा, जो योग्य होगा, वही कार्य वह करेगा, और सब मनुष्योंको इसके कार्यसे संतोष होगा।

इन दुष्टोंको जो दण्ड देना योग्य है वह दण्डोंके विविध प्रकार भी इस सूक्तमें लिखे हैं, जो इन मंत्रोंमें स्पष्ट लिखे हैं, तथापि सुबोधताके लिये वर्णन यहां करते हैं—

दण्डका विधान

इस समयतक जो विवरण किया उससे दुष्टोंके लक्षण और दुष्टोंको दण्ड देनेवालोंके लक्षण ज्ञात हुए। दुष्टोंको दण्ड देनेवालोंके लक्षणोंमें भी अन्तिम कुछ लक्षण ऐसे हैं कि जिनसे दण्डविधानका भी पता चल सकता है। अब इसी दण्डविधानका अधिक विचार करते हैं—

१ रक्षो-हा- इस शब्दसे राक्षसोंको 'वध' दण्ड योग्य है यह सिद्ध होता है। 'हन्' धातुका दूसरा अर्थ 'गति' है। यह अर्थ लिया जाय तो राक्षसोंको अपने स्थानसे भगा देना अर्थात् 'देशसे निकाल देना' यह अर्थ होगा। 'रक्षस्' (रक्षन्ति यस्मात् इति रक्षः) शब्दका अर्थ जिससे सुरक्षित रहनेकी आवश्यकता होती है, जिससे जनताका बचाव किया जाता है। ऐसे दुष्टोंको ऐसे स्थानमें रखना और उनपर ऐसा पहारा रखना कि ये दुष्ट दूसरोंको यातना न दे सकें, आदि बोध इससे प्राप्त होता है। (मं. १)

२ अयोदंष्ट्रः- लोहेकी दाढें। इस यंत्रमें दुष्टको रख कर उसका नाश करना। ऊपरसे और नीचेसे कील आकर दुष्टके शरीरको काटते हैं। (मं. २)

३ क्रव्यादः अपिधत्स्व- दूसरोंके मांसपर अपने शरीरकी पुष्टी करनेवालोंको बंद करके रख, कैदमें रख, (स्व आसन्) जैसा खाद्य पदार्थ अपने मुखमें बंद रखा जाता है, उस प्रकार उन दुष्टोंको रख। (मं. १)

४ अवरं परं च दंष्ट्रौ उपधेहि- दोनों प्रकारके कनिष्ठ और श्रेष्ठ शत्रुको अपनी दाढोंमें बंद रख। अर्थात् उसको इधर उधर हिलनेका प्रतिबंध कर। (मं. ३)

५ यातुधानान् जंभैः संधेहि- यातना देनेवालोंपर जबडोंके समान शस्त्रोंके साथ चढाई कर। शस्त्रोंसे उनका नाश कर। (मं. ३)

६ यातुधानस्य त्वचं भिन्धि- यातना देनेवाले दुष्टोंकी चमडी छिन्न विच्छिन्न कर। अर्थात् उनको इतना ताडनकर कि उनकी चमडी फट जाय। मं. ४)

७ हिंस्र-अशनिः एनं हरसा हन्तु- हिंसक बिजली इनका वध वेगसे करे। अर्थात् विद्युत्के प्रयोगसे इन दुष्टोंका वध किया जावे। (मं. ४)

८ पर्वाणि प्रशृणीहि- दुष्टके जोडोंको काट दो (मं. ४)

९ क्रविष्णुः क्रव्यात् एनं विचिनोतु- मांसभक्षक [?] व्याघ्र आदि प्राणियों द्वारा दुष्टोंके शरीरोंका वध किया जावे । (मं. ४)

१० यातुधानं विध्य- यातना देनेवाले दुष्टको बाण आदिसे वेध डाल । (मं. ५)

हृदये विध्य- हृदयपर बाण मार । (मं. ६)

११ एषां बाहून् प्रतिभंधि- दुष्टोंके बाहु काट दे । (मं. ६)

१२ यातुधानान् ऋष्टिभिः स्पृणुहि- यातना देनेवालोंका शस्त्रोंसे वध कर । (मं. ७)

१३ यातुधानान् निजहि- दूसरोंको यातना देनेवालोंका नाश कर । (आमादः पक्षी अदन्तु) दूसरोंका मांस खाकर अपनी पुष्टी करनेवालोंको गीध खा जायं । (मं. ७)

१४ रक्षः प्रति शृणीहि- राक्षसोंका नाश कर (मं १०)

१५ पृष्टीः हरसा शृणीहि- दुष्टोंकी पसलियां वेगसे तोड दे । (यातुधानस्य मूलं वृश्च) यातना देनेवाले दुष्टकी जड काट डाल । (मं. १०)

१६ यातुधानं नियुङ्धि- यातना देनेवालोंको कारागृहमें रख । (मं. ११)

१७ यातुधानान् हृदये विध्य- यातना देनेवाले दुष्टोंका हृदयमें वेध कर । (मं. १२)

१८ असुतृपः पराशृणीहि- दूसरोंके प्राणोंको लेकर अपनी तृप्ती करनेवाले दुष्टोंका नाश कर । उनको दूर करके उनका नाश कर । (मं. १३)

१९ मर्मन् कृन्तन्तु- दुष्टोंके मर्म स्थान काटे जांय । (मं १४)

२० यातुधानः प्रसितिं एतु- दुष्ट बंधनस्थान-कारागार-को प्राप्त होवें । अर्थात् दुष्टोंको कारागृहमें रखा जावे । (मं. १४)

२१ तेषां शीर्षाणि वृश्च- दुष्टोंके सिर काट जांय (मं. १५)

२२ यातुधानः उस्रियायाः संवत्सरीणं पयः माशीत्- दुष्टको गायका दूध एक वर्षतक पीनेको न दिया जावे । एक वर्ष गायका दूध पीनेको न देना यह एक दण्ड है । आजकल तो जो भैंसका ही दूध पीते हैं, उनको तोय ही दण्ड स्वभावतः हो रहा है, क्योंकि गायका दूध बहुतोंको प्राप्त ही नहीं होता है । आजकल कैदियोंको भैंसका ही दूध दिया जायगा तो उनको कुछ भी बुरा नहीं प्रतीत होगा । परंतु वैदिक कालमें गायका दूध पीनेके लिये न मिलना भी एक दण्ड माना जाता था । इससे ऐसा प्रतीत होता है कि कारागृहवासी कैदियोंको भी गायका दूध पीनेको प्रतिदिन मिलता होगा और जो विशेष प्रकारके दुष्ट लोग होंगे, उनको ही वर्षभरतक गायका दूध न देनेका दण्ड होता होगा । इसीलिये आगे इसी मंत्रमें कहा है कि — (यतमः पीयूषं तितृप्सात् तं मर्माणि विध्य) - इन दुष्टोंको गायका दूध न पीनेका दण्ड होनेपर भी जो दुष्ट चोरी करके या अन्य युक्तिसे गायका दूध पीनेकी चेष्टा करेगा, उसके मर्म स्थानको वेध डाल । इससे स्पष्ट होता है कि विशेष प्रकारके घोर अत्याचारी कैदियोंको ही गायका दूध न पीनेका दण्ड होता था, और ऐसे जेली यदि गायका दूध नियम तोडकर पीवेंगे, तो उनको कठोर दण्ड किया जाता था । (मं. १७) इस दण्डकी दृष्टीसे इस मंत्रका विचार पाठक अवश्य करें ।

२३ अघशंसं दहन्तु- पापीको जलाया जावे । यह वधदण्ड है । यही जलाकर वध करना है । (मं १९) यही भाव (धूर्वन्तं म्योष) विनाश करनेवालेका वध कर, नाश कर अथवा जलाकर नाश कर, इस आदेशमें है ।

२४ रक्षसः प्रतिजहि- दुष्ट राक्षसोंका नाश कर । (मं. २३)

२५ दुर्हार्द अभिदासन्तं विनिक्ष्व- दुष्ट हृदयवाले और दूसरोंको दास बनानेवाले दुष्टका नाश कर । (मं. २५)

इस प्रकार विविध प्रकारके दण्डोंका विधान इस सूक्तमें है । विविध प्रकारके अपराधोंके प्रमाणसे ये विविध दंड देना योग्य ही है । जो ज्ञानी और समपक्ष विद्वान न्यायाधीश होगा वही अपराधोंकी न्यूनाधिकताके अनुसार न्यूनाधिक दण्ड दे सकता है । किस अपराधको कौनसा दण्ड देना योग्य है, इसका विचार करनेवाला शान्त और गंभीर स्वभाववाला न्यायाधीश होना योग्य है, यह विचार इसी विवरणमें इसके पूर्व हो चुका है, उसका हेतु इससे पाठकोंके मनमें अब आ गया होगा ।

इस दृष्टीसे पाठक इस सूक्तका विचार करें और न्यायसभाका कार्य करनेकी रीति जानें ।

शत्रुदमन।

[४]

(ऋषिः— चातनः। देवता— इन्द्रासोमौ।)

इन्द्रा॑सोमा॒ तप॑तं॒ रक्ष॑ उ॒ब्जतं॒ न्य॑र्पयतं वृषणा तमो॒वृधः॑।
परा॑ शृणीतम॒चितो॒ न्यो॑षतं ह॒तं नु॒देथां॒ नि शि॑शीतम॒त्त्रिणः॑ ॥ १ ॥
इन्द्रा॑सोमा॒ सम॒घशं॑स॒म॒भ्य१॒॑घं तपु॑र्ययस्तु च॒रुर॑ग्नि॒माँ इ॑व।
ब्र॒ह्म॒द्विषे॑ क्र॒व्यादे॑ घो॒रच॑क्षसे॒ द्वेषो॑ धत्तमनवा॒यं कि॑मी॒दिने॑ ॥ २ ॥
इन्द्रा॑सोमा दु॒ष्कृतो॑ व॒व्रे अ॒न्तर॑नारम्भ॒णे तम॑सि॒ प्र वि॑ध्यतम्।
यतो॒ नैषां॒ पुन॒रेक॑श्च॒नोद॑य॒त्तद्वा॑मस्तु॒ सह॑से म॒न्यु॒मच्छवः॑ ॥ ३ ॥
इन्द्रा॑सोमा व॒र्तय॑तं दि॒वो व॒धं सं पृ॑थि॒व्या अ॒घशं॑साय॒ तर्ह॑णम्।
उत्त॑क्षतं स्व॒र्यं१॒॑ पर्व॑तेभ्यो॒ येन॒ रक्षो॑ वावृधा॒नं नि॒जूर्व॑थः ॥ ४ ॥

अर्थ— हे (वृषणा) बलवान् इन्द्र और सोम! (रक्षः तपतं) राक्षसोंको ताप दो, (उब्जतं) उनको मारो। (तमो-वृधः निअर्पयतं) अन्धकार बढानेवालोंको नीचे हटा दो। (अ-चितः परा शृणीतं) अन्तःकरण रहित दुष्टोंको नाश करो, (नि ओषतं, हतं,) उनका नाश करो, उनका वध करो। उनको (नुदेथां) हकाल दो, (अत्त्रिणः निशिशीतं) दूसरोंको खानेवालोंको निर्बल करो ॥ १ ॥

हे इन्द्र और सोम! (अग्निमान् चरुः इव) आगपर चढे हुए हाण्डीके समान (अघशंसं अघं अभि) पाप करनेवाले पापीके सम्मुख (तपुः सं ययस्तु) ताप-दुःख-देता रहे। (ब्रह्मद्विषे क्रव्यादे) ज्ञानके शत्रु, मांसभक्षक, (घोरचक्षसे किमीदिने) क्रूर दृष्टिवाले दुष्टके साथ (अनवायं द्वेषः धत्तं) निरन्तर द्वेषका धारण कीजिये ॥ २ ॥

हे इन्द्र और सोम! (अनारम्भणे वव्रे तमसि अन्तः) अगाध आवरक अन्धकारके बीचमें (दुष्कृतः प्रविध्यतं) दुष्कर्म करनेवालोंको वेध डालो, (यतः एषां एकः चन) जिससे इनमेंसे एक भी (न उत् अयत्) न उठ सके। इस प्रकारका (वां मन्युमत् तत् शवः) आपका उत्साहयुक्त वह बल (सहसे अस्तु) शत्रुदमनके लिये होवे ॥ ३ ॥

हे इन्द्र और सोम! आप दोनों (अघ-शंसाय) पाप करनेवाले दुष्ट मनुष्यके लिये (दिवः पृथिव्याः) द्युलोक और पृथ्वी लोकके बीचमें (तर्हणं वधं संवर्त्तयतं) विनाशक वध करनेवाले शस्त्रको प्रवृत्त करो। (पर्वतेभ्यः स्वर्यं उत् तक्षतं) पर्वतनिवासी शत्रुओंके लिये अतितीक्ष्ण शस्त्र सिद्ध रखो। (येन वावृधानं रक्षः निजूर्वथः) जिससे बढनेवाले राक्षसोंका तुम नाश करोगे ॥ ४ ॥

भावार्थ— दुष्टोंको दण्ड दो, उनको ताडन करो, अज्ञान फैलानेवालोंको दूर हटा दो, दुष्ट हृदयवालोंको समाजसे बाहर करो, उनका वध भी करो, अथवा उनको बाहर हकाल दो। जो दूसरोंको खाते हैं उनको निर्बल बनाओ ॥ १ ॥

जो सदा पाप करता है उसको कठिन दण्ड दें। ज्ञानका नाश करनेवाले, मांसभक्षक, क्रूर और हिंसकोंका द्वेष करो ॥ २ ॥

गाढ अन्धकारमें रहनेवाले, दुष्कर्मियोंको वेध डालो। ऐसी व्यवस्था करो कि इनमेंसे एक भी फिर कष्ट देनेके लिये न बच जावे। तुम्हारा उत्साहयुक्त बल अपने विजयके लिये ही लग जावे ॥ ३ ॥

पाप करनेवाले दुष्टकी निन्दा करो और वध करो। उनको दूर करनेके लिये अपने शस्त्र सिद्ध रखो जिससे तुम उनका नाश कर सकोगे ॥ ४ ॥

इन्द्रा॑सोमा व॒र्तय॑तं दि॒वस्पर्य॑ग्नित॒प्तेभि॑र्यु॒वमश्म॑हन्मभिः ।
तपु॑र्वधेभिर॒जरे॑भिर॒त्त्रिणो॒ नि पर्शा॑ने विध्यतं॒ यन्तु॑ निस्व॒रम् ॥ ५ ॥

इन्द्रा॑सोमा॒ परि॑ वां भूतु वि॒श्वत॑ इ॒यं म॒तिः क॒क्ष्याश्वे॑व वा॒जिना॑ ।
यां वां॒ होत्रां॑ परिहि॒नोमि॑ मे॒धये॒मा ब्रह्मा॑णि नृ॒पती॑ इव जिन्वतम् ॥ ६ ॥

प्रति॑ स्मरेथां तु॒जय॑द्भि॒रेवै॑र्ह॒तं द्रु॒हो र॒क्षसो॑ भङ्गु॒राव॑तः ।
इन्द्रा॑सोमा दु॒ष्कृते॒ मा सु॒गं भू॒द्यो मा॑ क॒दा चि॑दभि॒दास॑ति द्रु॒हुः ॥ ७ ॥

यो मा॒ पाके॑न॒ मन॑सा॒ चर॑न्तमभि॒चष्टे॒ अनृ॑तेभि॒र्वचो॑भिः ।
आप॑ इव का॒शिना॒ संगृ॑भीता॒ अस॑न्नस्त्वास॑त इन्द्र व॒क्ता ॥ ८ ॥

अर्थ— हे इन्द्र और सोम ! (युवं) तुम दोनों (अग्नितप्तेभिः अश्महन्मभिः) अग्निमें तपे और फौलादसे बने हुए (अजरेभिः तपुर्वधेभिः) क्षीण न होनेवाले और संताप देकर वध करनेवाले शस्त्रोंसे (दिवः अत्त्रिणः परिवर्तयतं) द्युलोकसे भोगी लोगोंको हटा दो और (पर्शाने नि विध्यतं) कठिन स्थानमें इनको वेध करो, जिससे वे (निस्वरं यन्तु) शब्द न करते हुए भाग जांय ॥ ५ ॥

हे इन्द्र और सोम ! (कक्ष्या वाजिना अश्वा इव) जैसे चर्मपट्टी बलवान् घोडोंसे संबंधित होती है वैसे ही (इयं मतिः) यह हमारी बुद्धि (वां परि भूतु) तुमको सब प्रकार प्राप्त होवे । (यां होत्रां वां मेधया परिहिनोमि) इस आह्वान करनेवाली वाणीको अपनी बुद्धिके साथ तुम्हारे प्रति प्रेरित करता हूं, अतः तुम दोनों (नृपती इव) राजाओंके समान (ब्रह्माणि आ जिन्वतं) इन स्तुति वाक्योंको प्रेमसे स्वीकार करो ॥ ६ ॥

हे इन्द्र और सोम ! (तुजयद्भिः एवैः प्रतिस्मरेथां) वेगवान् वाहनोंसे दुष्टोंके गतिका पीछा करो । (भंगुरावतः द्रुहः रक्षसः हतं) विनाशक और द्रोहशील राक्षसोंका नाश करो । (दुष्कृते सुगं मा भूत्) इस दुष्कर्म करनेवालेको सुखसे घूमनेका अवकाश न हो । (यः द्रुहुः कदाचित् मा अभिदासति) जो दुष्ट कभी मुझे कष्ट पहुंचायेगा ॥ ७ ॥

हे इन्द्र ! (पाकेन मनसा चरन्तं मा) परिपक्व शुद्ध मनसे आचरण करनेवाले मुझको (यः अनृतैः वचोभिः अभिचष्टे) जो असत्य वचनोंसे झिडकता है, (काशिना संगृभीताः आपः इव) मुठ्ठीद्वारा पकडे जलके समान वह (असतः वक्ता) असत्य वचन बोलनेवाला (अ-सन् अस्तु) न होनेके समान होवे ॥ ८ ॥

भावार्थ— अग्निमें तपाकर फौलादसे बनाये अतितीक्ष्ण और शत्रुका नाश करनेमें समर्थ शस्त्रोंसे अपने दुष्ट शत्रुओंको वेध डालो, जिससे वे न चिल्लाते हुए नाशको प्राप्त हों ॥ ५ ॥

तुम्हारे अन्दर यह विचार-शत्रुनाश करनेका विचार स्थिर रहे, जिससे तुम प्रशंसाको प्राप्त होंगे जैसे बन्दिजनोंसे राजालोक प्रशंसित होते हैं ॥ ६ ॥

वेगवान् वाहनोंमें बैठकर शत्रुओंका पीछा करो। सब दुष्टोंको प्राप्त करके उनका नाश करो। दुष्ट कर्म करनेवाले तुम्हारे समाजमें सुखसे न भ्रमण कर सकें। और किसीको कष्ट न पहुंचावें ॥ ७ ॥

शुद्ध मनसे कार्य करनेवालेको जो विना कारण झूठमूठ गालियां देता है, वह असत्यवादी जीवित न रहनेवालेके समान बन जावे ॥ ८ ॥

×

ये पाकशंसं विहरन्त एवैर्ये वा भद्रं दूषयन्ति स्वधाभिः ।
अहये वा तान्प्रददातु सोम आ वा दधातु निर्ऋतेरुपस्थे ॥ ९ ॥
यो नो रसं दिप्सति पित्वो अग्ने अश्वानां गवां यस्तनूनाम् ।
रिपु स्तेन स्तेयकृद्दभ्रमेतु नि ष हीयतां तन्वा३ तना च ॥ १० ॥
परः सो अस्तु तन्वा३ तना च तिस्रः पृथिवीरधो अस्तु विश्वाः ।
प्रति शुष्यतु यशो अस्य देवा यो मा दिवा दिप्सति यश्च नक्तम् ॥ ११ ॥
सुविज्ञानं चिकितुषे जनाय सच्चासच्च वचसी पस्पृधाते ।
तयोर्यत्सत्यं यतरदृजीयस्तदित्सोमोऽवति हन्त्यासत् ॥ १२ ॥
न वा उ सोमो वृजिनं हिनोति न क्षत्रियं मिथुया धारयन्तम् ।
हन्ति रक्षो हन्त्यासद्वदन्तमुभाविन्द्रस्य प्रसितौ शयाते ॥ १३ ॥

अर्थ—(ये एवैः पाकशंसं विहरन्ते) जो विशेष गति साधनोंसे परिपक्व बुद्धिवालेको विशेष प्रकारसे हराते हैं, (ये वा भद्रं स्वधाभिः दूषयन्ति) जो अच्छे मनुष्यको अन्नोंसे दूषित करते हैं, (सोमः वा तान् अहये प्रददातु) सोम उन दुष्टोंको सांपके लिये सौंप देवे अथवा (निर्ऋतेः उपस्थे वा आदधातु) विनाशके समीप उनको पहुंचावे ॥९॥

हे अग्ने ! (यः नः पित्वः रसं दिप्सति) जो हमारे अन्नके रसको बिगाडता है, (यः अश्वानां गवां तनूनां) जो घोडों गौओं और अन्य शरीरोंका नाश करता है, वह (स्तेयकृत् रिपुः स्तेनः) चोरी करनेवाला शत्रुरूपी चोर (दभ्रं एतु) नाशको प्राप्त होवे । (सः तन्वा तना च नि हीयतां) वह शरीरसे और पुत्रादिसे हीन बने ॥ १० ॥

हे देवो ! (यः मा दिवा) जो मुझे दिनके समय (यः च नक्तं दिप्सति) और जो रात्रीके समय पीडा देता है, (सः तन्वा तना च परः अस्तु) वह अपने शरीरके साथ और पुत्रके साथ दूर रहे, (विश्वाः तिस्रः पृथिवीः अधः अस्तु) सब तीनों भूविभागोंसे नीचे रहे और (अस्य यशः प्रति शुष्यतु) इसका यश सूख जाय ॥ ११ ॥

(चिकितुषे जनाय सुविज्ञानं) ज्ञान प्राप्त करनेवाले मनुष्यके लिये यह उत्तम ज्ञान कहा जाता है कि, (सत् च असत् च) सत्य और असत्य (वचसी पस्पृधाते) भाषणोंमें स्पर्धा रहती है । (तयोः यत् सत्यं) उनमें जो सत्य है और (यतरत् ऋजीयः) जो सरल है, (तत् इत् सोमः अवति) उसकी सोम रक्षा करता है और (असत् हन्ति) असत्यका विनाश करता है ॥ १२ ॥

(सोमः वृजिनं न वा उ हिनोति) सोम पापको कभी नहीं सहाय करता, (मिथुया धारयन्तं क्षत्रियं न) मिथ्या व्यवहार करनेवाले क्षत्रियको कभी नहीं सहाय करता । (रक्षः हन्ति) वह राक्षसोंको मारता है, (असत् वदन्तं हन्ति) असत्य बोलनेवालेको मारता है, वे दोनों (इन्द्रस्य प्रसितौ शयाते) इन्द्रके बंधनमें रहते हैं ॥ १३ ॥

भावार्थ— जो दुष्ट अपने अनेक साधनोंसे सज्जनोंको लूटते हैं, और अच्छे आदमियोंके अन्नोंका बिगाड करते हैं, वे वधके लिये योग्य हैं ॥ ९ ॥

जो अन्नरसोंको बिगाडता है, मनुष्यों और पशुओंका घात करता है, चोरी करता है वह अपने बालबच्चोंके साथ नाशको प्राप्त होवे ॥ १० ॥

जो दुष्ट दिन रात्र दूसरोंको पीडा देता है वह अपने बालबच्चोंके साथ नाशको प्राप्त होवे और उसका यश कम होवे ॥ ११ ॥

सब लोगोंको यह सत्य ज्ञान कहा जाता है कि सत्य और असत्यकी स्पर्धा इस जगत्में चल रही है । जो सत्य और जो सीधा है उसकी रक्षा परमेश्वर करता है और जो असत्य है उसका नाश करता है ॥ १२ ॥

यदि॒ वा॒हमनृ॑तदेवो॒ अस्मि॒ मोघं॑ वा दे॒वाँ अ॑प्यू॒हे अ॑ग्ने ।
किम॒स्मभ्यं॑ जातवेदो हृणीषे द्रोघ॒वाच॑स्ते निर्‌ऋ॒थं स॑चन्ताम् ॥ १४ ॥

अ॒द्या मु॑रीय॒ यदि॑ यातुधा॒नो अस्मि॒ यदि॒ वायु॑स्त॒तप॒ पूरु॑षस्य ।
अधा॒ स वी॒रैर्द॒शभि॒र्वि यू॑या॒ यो मा॒ मोघं॒ यातु॑धा॒नेत्याह॑ ॥ १५ ॥

यो मायातुं॒ यातु॑धा॒नेत्याह॒ यो वा॑ र॒क्षाः शुचि॑र॒स्मीत्याह॑ ।
इन्द्र॒स्तं ह॑न्तु मह॒ता व॒धेन॒ विश्व॑स्य ज॒न्तोर॑ध॒मस्प॑दीष्ट ॥ १६ ॥

प्र या जिगा॑ति ख॒र्गले॑व॒ नक्त॒मप॑ द्रु॒हुस्त॒न्वं१ गूह॑माना ।
व॒व्रमन॒न्तमव॒ सा प॑दीष्ट॒ ग्रावा॑णो घ्नन्तु र॒क्षस॑ उप॒ब्दैः ॥ १७ ॥

अर्थ— (यदि वा अहं अनृतदेवः अस्मि) यदि मैं असत्यका उपासक बनूं, (अपि वा देवान् मोघं ऊहे) अथवा देवोंकी व्यर्थ उपासना करूं, तो ही हे (जातवेदः अग्ने) जातवेद अग्ने ! (अस्मभ्यं हृणीषे किं) हमारे ऊपर क्रोध करोगे क्या ? (द्रोघवाचः ते निर्ऋथं सचन्तां) द्रोहका भाषण करनेवाले तो विनाशको प्राप्त होंगे ॥ १४ ॥

(यदि यातुधानः अस्मि) यदि मैं पीडा देनेवाला हूं (यदि वा पूरुषस्य आयुः ततप) और यदि मैं किसी मनुष्यकी आयुको ताप देऊं तो (अद्य मुरीय) आज ही मर जाऊं। (अधा) और (यः मा मोघं यातुधान इति आह) जो मुझे व्यर्थ दुष्ट करके कहता है, (सः दशभिः वीरैः वि यूयाः) वह दसों वीरोंसे वियुक्त हो जाय ॥ १५ ॥

(यः मां अ-यातुं यातुधान इति आह) जो मुझ यातना न देनेवालेको दुष्ट करके कहता है, (यः वा) और जो (रक्षाः) स्वयं राक्षस होते हुए भी (शुचिः अस्मि इति आह) मैं शुद्ध हूं ऐसा कहता है। (इन्द्रः तं महता वधेन हन्तु) इन्द्र उसको बडे वधसाधनसे मारे। और वह (विश्वस्य जन्तोः अधमः पदीष्ट) सब प्राणियोंसे नीचे गिर जावे ॥ १६ ॥

(या नक्तं खर्गला इव) जो रात्रीके समय उल्लुनीके समान (तन्वं गूहमाना) अपने शरीरको छिपाती हुई (प्रजिगाति) जाती है और (द्रुहः अपजिगाति) द्रोह करके भटकती है, (सा अनन्तं वव्रं पदीष्ट) वह अगाध गढेमें गिर पडे और (ग्रावाणः रक्षसः उपब्दैः घ्नन्तु) पत्थर राक्षसोंको शब्दोंके साथ मारें ॥ १७ ॥

भावार्थ— जो पाप करता है, मिथ्या व्यवहार करता है, असत्य भाषण करता है और घातपात करता है उनको बंधनमें डालना चाहिये अथवा उनका वध करना चाहिये ॥ १३ ॥

यदि हमने असत्य कहा अथवा देवोंकी पूजा कपटसे की, तो हमारी अधोगति होगी। सब द्रोहका भाषण करनेवाले नाशको प्राप्त होंगे ॥ १४ ॥

यदि मैंने किसीको पीडा दी हो अथवा किसीके स्वास्थ्यमें बिगाड किया हो, तो मेरी मृत्यु हो जावे। परंतु मैंने ऐसा कभी नहीं किया है तथापि जो मुझे दुष्ट करके कहता है उसके दसों प्राण दूर हों ॥ १५ ॥

मैं शुद्धाचार होते हुए मुझे दुष्ट करके कहे और जो दुराचारी स्वयं दुष्ट होते हुए अपने आपको पवित्र कहता रहे, उसका वध होवे और वह सबसे अधोगतिको प्राप्त होवे ॥ १६ ॥

जो उल्लूके समान रात्रीके समय छिप छिपकर दुष्टभावसे संचार करती है वह गढेमें पडे और पत्थरोंसे उसका वध किया जावे ॥ १७ ॥

वि तिष्ठध्वं मरुतो विक्ष्वी१च्छत गृभायत रक्षसः सं पिनष्टन ।
वयो ये भूत्वा पतयन्ति नक्तभिर्ये वा रिपो दधिरे देवे अध्वरे ॥ १८ ॥

प्र वर्तय दिवोऽश्मानमिन्द्र सोमशितं मघवन्त्सं शिशाधि ।
प्राक्तो अपाक्तो अधरादुदक्तो३ऽभि जहि रक्षसः पर्वतेन ॥ १९ ॥

एत उ त्ये पतयन्ति श्वयातव इन्द्रं दिप्सन्ति दिप्सवोऽदाभ्यम् ।
शिशीते शक्रः पिशुनेभ्यो वधं नूनं सृजदशनिं यातुमद्भ्यः ॥ २० ॥

इन्द्रो यातूनामभवत्पराशरो हविर्मथीनामभ्या३विवासताम् ।
अभीदु शक्रः परशुर्यथा वनं पात्रेव भिन्दन्त्सत एतु रक्षसः ॥ २१ ॥

अर्थ – हे (मरुतः) मरुतो ! (विक्षु वि तिष्ठध्वं) प्रजाओंमें विशेष प्रकारसे ठहरो। (इच्छत) अपना कार्य करनेकी इच्छा करो, (रक्षसः गृभायत) राक्षसोंको पकडो और उनको (संपिनष्टन) पीस डालो। (ये वयः भूत्वा) जो पक्षियोंके समान होकर (नक्तभिः पतयन्ति) रात्रियोंमें घूमते हैं, (ये वा) अथवा जो (देवे अध्वरे रिपः दधिरे) यज्ञ देवके विषयमें विनाशक भाव धारण करते हैं ॥ १८ ॥

हे (मघवन् इन्द्र) धनवान् इन्द्र ! (दिवः अश्मानं प्रवर्तय) द्युलोकसे अश्मास्त्रको चला और (सोमशितं सं शिशाधि) सोमद्वारा तीक्ष्ण किये हुए शस्त्रको नियमसे प्रेरित कर। (पर्वतेन) पर्वतास्त्रसे (प्राक्तः अपाक्तः अधरात् उदक्तः रक्षसः) सामनेसे, पीछेसे, नीचेसे और ऊपरसे राक्षसोंको (अभिजहि) विनाश कर ॥ १९ ॥

(एते उ त्ये श्व-यातवः) ये वे कुत्तोंके समान बर्ताव करनेवाले दुष्ट (पतयन्ति) हमला चढाते हैं, (दिप्सवः अदाभ्यं इन्द्रं दिप्सन्ति) हिंसक शत्रु न दबनेवाले इन्द्रको सताते हैं। (शक्रः पिशुनेभ्यः वधं शिशीते) इन्द्र इन हीन दुष्टोंको वधदण्ड देता है। (यातुमद्भ्यः अशनिं नूनं सृजत्) यातना देनेवालोंके लिये विद्युत्‌को भेजता है ॥ २० ॥

(इन्द्रः) इन्द्र (हविर्मथीनां) हवियोंके विनाशक (अभि आविवासतां) समीप स्थित (यातूनां) यातना देनेवाले दुष्टोंको (परा-शरः अभवत्) दूर हटाकर नाश करनेवाला होता है। (यथा वनं परशुः) जैसे वनको कुल्हाडा काटता है, तथा जैसे (पात्रा इव) मिट्टीके बर्तनोंको तोडा जाता है उस प्रकार (शक्रः) समर्थ इन्द्र (सतः रक्षसः भिन्दन्) उपस्थित राक्षसोंको तोडता हुआ (इत् उ अभि एतु) आगे बढे ॥ २१ ॥

भावार्थ— प्रजाजनोंमें दक्षतासे पहारा करो, दुष्टको ढूंढकर निकालनेकी इच्छा करो, दुष्टोंको पकडो, उनको पीस डालो, जो दुष्ट रात्रीके समय संचार करते हैं और ईश्वर तथा यज्ञके विषयमें बुरा भाव धारण करते हैं, उनका नाश किया जावे ॥ १८ ॥

अपने तीक्ष्ण शस्त्रास्त्रोंसे दुष्टोंको सब ओरसे नाश करो ॥ १९ ॥

जो कुत्तोंके समान दुष्ट हैं, जो दूसरोंकी हिंसा करते हैं, उनका वध और नाश शस्त्रास्त्रोंसे किया जावे ॥ २० ॥

यज्ञोंका नाश करनेवाले, हवनसामग्री बिगाडनेवाले, दूसरोंका सतानेवाले दुष्टोंको हटा दो और जैसे पशुसे वनका नाश किया जाता है वैसा उनका नाश किया जावे ॥ २१ ॥

उलूकयातुं शुशुलूकयातुं जहि श्वयातुमुत कोकयातुम् ।
सुपर्णयातुमुत गृध्रयातुं दृषदेव प्र मृण रक्ष इन्द्र ॥ २२ ॥
मा नो रक्षो अभि नड्यातुमावदपोच्छन्तु मिथुना ये किमीदिनः ।
पृथिवी नः पार्थिवात्पात्वंहसोऽन्तरिक्षं दिव्यात्पात्वस्मान् ॥ २३ ॥
इन्द्र जहि पुमांसं यातुधानमुत स्त्रियं मायया शाशदानाम् ।
विग्रीवासो मूरदेवा ऋदन्तु मा ते दृशन्त्सूर्यमुच्चरन्तम् ॥ २४ ॥
प्रति चक्ष्व वि चक्ष्वेन्द्रश्च सोम जागृतम् ।
रक्षोभ्यो वधमस्यतमशनिं यातुमद्भ्यः ॥ २५ ॥

अर्थ—हे इन्द्र ! (कोकयातुं) चिडियोंके समान व्यवहार करनेवाले अर्थात् कामी, (शुशुलूकयातुं) भेडियेके समान वर्ताव करनेवाले अर्थात् क्रोधी, (गृध्रयातुं) गीधके समान वर्ताव करनेवाले अर्थात् लोभी, (उलूकयातुं) उल्लूके समान वर्ताव करनेवाले अर्थात् मोहित, (सुपर्णयातुं) गरुडके समान वर्ताव करनेवाले अर्थात् घमंडी, (उत श्वयातुं) और कुत्तेके समान आपसमें झगडा करनेवाले अर्थात् मत्सरी लोगोंको (जहि) मार और (दृषदा इव) जैसे पत्थरोंसे पक्षीको मारते हैं वैसे (रक्षः प्रमृण) राक्षसोंका नाश कर ॥ २२ ॥

(यातुमावत् रक्षः नः मा अभिनट्) यातना देनेवाला राक्षस हमतक न आवे । ये किमीदिनः) जो भूखे हैं और जो (मिथुनाः अप उच्छन्तु) घातक हैं वे दूर भाग जावें । (पार्थिवात् अंहसः) पृथिवी संबंधी पापसे (पृथिवी नः पातु) पृथिवी हमारी रक्षा करे । तथा (दिव्यात् अंहसः) द्युलोक संबंधी पापसे (अन्तरिक्षं अस्मान् पातु) अन्तरिक्ष हमें बचावे ॥ २३ ॥

हे इन्द्र ! (यातुधानं पुमांसं) यातना देनेवाले पुरुषको तथा (मायया शाशदानां स्त्रियं) कपटसे व्यवहार करनेवाली स्त्रीको (जहि) नाश कर । (मूरदेवाः विग्रीवासः ऋदन्तु) मूर्खोंके उपासक गर्दन रहित होकर नाशको प्राप्त हों । (ते उच्चरन्तं सूर्यं मा दृशन्) वे ऊपर उदयको प्राप्त होनेवाले सूर्यको न देख सकें ॥ २४ ॥

हे सोम ! (इन्द्रः प्रतिचक्ष्व) इन्द्र निरीक्षण करे, (विचक्ष्व) विशेष प्रकारसे देखे । आप दोनों (जागृतं) जाग्रत रहो । (रक्षोभ्यः यातुमद्भ्यः) राक्षस और पीडक इन सबको (वधं अशनिं) मृत्युदण्ड और वज्रदण्ड (अस्यतं) अर्पण करो ॥ २५ ॥

भावार्थ— कामी, क्रोधी, लोभी, अज्ञानी, घमंडी और मत्सरी ये छः प्रकारके दुष्ट हैं, इनका नाश कर ॥ २२ ॥

यातना देनेवाले हमसे दूर हों, सदा भूखे रहनेके समान व्यवहार करनेवाले दुष्ट दूर भाग जावें । पृथ्वी और स्वर्ग संबंधसे होनेवाले सब पापोंसे हम बच जांय ॥ २३ ॥

यातना देनेवाला पुरुष हो या स्त्री हो, उसका नाश हो । मूर्खोंके अनुयायियोंकी गर्दन काटी जाय । ये दुष्ट सूर्योदय होनेतक भी जीवित न रहें ॥ २४ ॥

निरीक्षण करो और सबका अवलोकन करो, जागते रहो । जो राक्षस अर्थात् घातपात करनेवाले और दूसरोंको सताने-वाले हों, उनको वधका दण्ड दिया जावे ॥ २५ ॥

शत्रुदमन

दुष्टोंका दमन

दुष्ट मनुष्योंका दमन करनेका विषय इस सूक्तमें है। यही विषय पूर्व सूक्तमें भी था। 'चातन' ऋषिके सूक्तोंमें प्रायः ऐसे ही शत्रुदमनके विषय हुआ करते हैं। 'चातन' शब्दका ही अर्थ 'हटाना, हटा देना, निकाल देना, दूर करना, नाश करना' है। यह ऋषिके नामका अर्थ ही इनके नामपर मिलनेवाले सूक्तोंके तात्पर्यमें दिखाई देता है, यह बात विशेष रीतिसे विचार करने योग्य है। शत्रुको हटानेका उपदेश करनेवाले सूक्तोंके ऋषिके नामका भी 'शत्रुको हटाना' ही अर्थ है, ऐसे अर्थवाला यही एक सूक्त और यही ऋषि है ऐसा नहीं है। कई अन्य सूक्तोंमें यह बात ऐसी ही दिखाई देती है। ऋग्वेदमें (ऋ. १० सू. १८६ का) 'उलो वातायनः' ऋषि है और इसमें शुद्ध वायु जीवन देनेवाला है ऐसा विषय आया है। वातायनका अर्थ खिडकी है और खिडकीका संबंध शुद्ध हवा घरमें आनेके साथ है। इस प्रकार कई ऋषियोंके नाम और उनके सूक्तोंके आशय परस्पर संबंधित हैं यह बात विशेष मनन करने योग्य है। अस्तु। इस सूक्तमें दुष्टोंका दमन करनेका उपदेश है। अतः प्रथम दुष्टोंके कुछ लक्षण यहां देखते हैं। पूर्व सूक्तके विवरणके प्रसंगमें जिन लक्षणोंका विचार किया है, उनको यहां नहीं दुहरायेंगे। इस सूक्तमें जो नये लक्षण आ गये हैं वे ही यहां देखेंगे-

दुष्टोंके लक्षण

पूर्वके सूक्तमें 'रक्षः, राक्षसः, भंगुरावत्, क्रव्यात्, किमीदिन्, यातुधान, मूरदेव' ये शब्द दुष्ट वाचक आ गये हैं, इस लिये पाठक इनके अर्थ वहां देखें। जो लक्षण पूर्व सूक्तमें नहीं दिये और इस सूक्तमें विशेष रूपसे कहे हैं, उनका ही विचार यहां अब करते हैं—

१ तमोवृध्- अज्ञानको बढानेवाले, अज्ञान फैलानेवाले, ज्ञानप्रसारका प्रतिबंध करनेवाले, ज्ञान देनेवालोंको कष्ट देनेवाले अथवा उनको रुकावट करनेवाले। (मं. १)

२ अचित्- जिनको चित्त नहीं है, अर्थात् जिसका अन्तःकरण उत्तम नहीं है, भेड मनुष्यके चित्तके समान जिसका चित्त नहीं, किंवा जिसके मनमें दुष्टताके विचार हैं। (Heartless) (मं. १) पूर्व सूक्तमें इसीका भाव बतानेवाला 'दुर्हार्द्' शब्द है।

३ अत्रिन्- (अत्ति इति) जो दूसरोंकी जान लेकर अपनी पुष्टी करता है, अपने स्वार्थके लिये जो दूसरोंके गलोंपर छुरी चलाता है। (मं. १)

४ अघ अघशंसः- पापकर्मके लिये जिसका नाम विख्यात हुआ है, जिसके पापकर्मके कारण ही जिसको सब लोग जानते हैं। (मं. २)

५ ब्रह्मद्विष्- ज्ञानका द्वेष करनेवाला, ज्ञानका प्रतिबंध करनेवाला, ज्ञान प्रसारमें रुकावटें उत्पन्न करनेवाला। (मं. २) तमोवृध (मं. १) यह शब्द इसी अर्थका सूचक है।

६ दुष्कृत्- दुष्कर्म करनेवाला, पापी। (मं. ३)

७ द्रुह्- द्रोह करनेवाले, जो विश्वासघात करते हैं, जो कपटसे लूटमार करते हैं, जो अत्याचारी हैं। (मं. ७)

८ अनृतेभिः वचोभिः अभिचष्टे- असत्य भाषण करता है, असत्य गवाही देकर दूसरोंको कष्ट पहुंचाता है। (मं. ८)

९ असतः वक्ता- (मं. ८); असत् वदन् (मं. ११)- असत्य वचन बोलनेवाला।

१० ये पवैः वि-हरन्ते- जो विविध साधनोंसे दूसरोंके धनादिकोंका विशेष रीतिसे हरण करते हैं। (मं. ९)

११ स्वधाभिः भद्रं दूषयन्ति— जो अपनी शक्तियोंसे दूसरोंको दूषण देते हैं। जो अन्नोंके द्वारा भले मनुष्योंको दूषित करते हैं, बुरे अन्न प्रयोगसे सज्जनोंको कष्ट पहुंचाते हैं। (मं. ९)

१२ स्तेनः, स्तेनकृत्- चोर और चोरी करनेवाला, अथवा चोरोंका संगठन बनानेवाला बडा डाकू। (मं. १०)

१३ रिपुः— जो शत्रुता करता है, छलकपट करनेवाला है। (मं. १०)

१४ मिथुया चारयन्— मिथ्या व्यवहार करनेवाला, मिथ्या भावको धारण करनेवाला। (मं. ११)

१५ अनृतदेवः— असत्यका उपासक, सदा असत्य विचार, असत्य भाषण और असत्य आचार करनेवाला। (मं. १७)

१६ देवान् मोघं ऊहे (वहति)— जो देवोंको व्यर्थ उठाकर घूमता है, जो कपटसे देवताओंके उत्सव करता है, जो स्वयं भक्तिहीन होता हुआ अपने स्वार्थ साधनके लिये देवताके महोत्सव रचता है। (मं. १४)

१७ द्रोहवाक्— द्रोहयुक्त भाषण करनेवाला, कठोर भाषण करनेवाला, दूसरोंको दुःख देनेके लिये कठोर भाषण करनेवाला। (मं. १४)

१८ रक्षः शुचिः अस्मि इति आह— जो स्वयं राक्षस होता हुआ अपने आपको शुद्ध और पवित्र बताता है। (मं १६)

१९ अयातुं यातुधान इत्याह— जो भलेको बुरा कहके पुकारता है। (मं० १६)

२० तन्वं गूहमाना नक्तं प्रजिगाति—छिपकर रात्रीके समय हमला करती है। (मं० १७)

२१ रिपुः— हिंसक, घातक, (मं० २०)

२२ पिशुनः— चुगली करनेवाला (मं० २०)

२३ हविर्मथिन्— हविका नाश करनेवाला (मं. २१)

२४ कोकयातुः— चिडियाके समान काम व्यवहार करनेवाला अर्थात् अत्यंत काम व्यवहारमें आसक्त, (मं० २२)

२५ शुशुलूकयातुः— भेडियेके समान क्रूरता करनेवाला क्रूरतासे दूसरोंका नाश करनेवाला, महाक्रूर,

२६ गृध्रयातुः— गीधके समान दूसरोंके जीवन लेकर तृप्त होनेवाला, लोभी, इसीको पूर्व सूक्तमें ' असु-तृप् ' कहा है,

२७ सुपर्णयातुः— गरुडके समान ऊपरही ऊपर घमंडसे व्यवहार करनेवाला, गर्विष्ठ, घमंडी,

२८ उलूकयातुः— उल्लूके समान दिवाभीत जैसे व्यवहार करनेवाला अर्थात् महामूढ,

२९ श्वयातुः— कुत्तोंके समान आपसमें लडनेवाला, स्वजातीयोंसे लडना और दूसरोंके सामने लांगूल चालन करना, ऐसे नीच स्वभाववाला, (मं० २२)

३० मायया शाशदानः— कपटसे सब व्यवहार करनेवाला, कपटी छली। (मं. २४)

इतने लक्षण दुष्टोंके हैं ऐसा इस सूक्तमें कहा है। पूर्व सूक्तमें २१ और इस सूक्तमें २९ लक्षण दुष्टोंके कहे हैं, दोनों सूक्तोंके मिलकर पचास लक्षण हुए हैं। इन पचास लक्षणोंसे दुष्टोंकी पहचान हो सकती है। ये दुष्टों और राक्षसोंके लक्षण हैं। इन लक्षणोंकी तुलना श्रीमद्भगवद्गीताके (अ०१६ में कहे) आसुर संपत्तिके लक्षणोंके साथ करनेसे दुष्टोंका निश्चय करनेमें बडी सहायता हो सकती है। ये राक्षस कोई भिन्न योनीके प्राणी नहीं हैं, ये मानवजातीमें ही दुष्ट स्वभावके जो पुरुष हैं, यह बात यहां भूलना नहीं चाहिये। अतः इन राक्षसोंसे अपनी रक्षा करनेका तात्पर्य अपने समाजके अथवा मानव जातीके दुष्ट जनोंसे रक्षा करना है। इसीलिये इस सूक्तमें कहा है—

प्रतिचक्ष्व, विचक्ष्व, जागृतम्। (मं० १५)

"प्रत्येक स्थानपर देख, विशेष रीतिसे देख और जाग्रत रह।" ये तीनों संदेश आत्मरक्षाकी दृष्टिसे अत्यंत महत्त्वके हैं, जो इस जनताकी रक्षा करनेके कार्यमें नियुक्त होते हैं, जो स्वयं सेवक होकर जनताकी रक्षा करना चाहते हैं वे पहिले जाग्रत रहें, न सोयें। अपनी रक्षा जाग्रत रहनेसे ही हो सकती है। जो सोते हैं या जो सुस्त हैं वे अपनी रक्षा नहीं कर सकते। जाग्रत रहनेके पश्चात् (प्रतिचक्ष्व) प्रत्येक मनुष्यका व्यवहार देखना चाहिये, अपने और पराये सब मनुष्योंके व्यवहारकी अच्छी प्रकार परीक्षा करनी चाहिये। और देखना चाहिये कि कौन मनुष्य सहायक है और कौन घातक है। यह निरीक्षण (विचक्ष्व) विशेष रीतिसे करना चाहिये, गहराईके साथ निरीक्षण करना चाहिये, क्यों कि कई शत्रु ऐसे होते हैं कि जो मित्रता करनेके मिषसे पास आते हैं और किस समय कपटसे गला काट देते हैं, इसका पताही नहीं चलता। अतः हरएक बातका विशेष दक्षतासे निरीक्षण करना योग्य है। अपनी रक्षा करनेके इच्छुक पाठक इन तीन आज्ञाओंका अच्छी प्रकार स्मरण रखें। इसी भावका अधिक स्पष्टीकरण करनेवाली आज्ञाएं १८ वे मंत्रमें निम्नलिखित प्रकार आ गई हैं—

विक्षु वितिष्ठध्वं, विक्षु इच्छत, रक्षसः गृभायत, रक्षसः संपिनष्टन। (मं० १८)

"प्रजाजनोंमें विशेष प्रकारसे उपस्थित रहो, प्रजाजनोंमें शान्ति सुख स्थापन करनेकी इच्छा करो, और इस कार्यके लिये राक्षसोंको ढूंढ निकालो, उनको पकडे रखो और उनको पीस डालो।" यहां प्रजाजनोंमें विशेष रीतिसे उपस्थित होनेकी आज्ञा है, साधारण मनुष्य जैसे होते हैं वैसा रहनेकी आज्ञा यहां नहीं है, यहां वेद कहता है कि असाधारण रीतिसे प्रजाजनोंमें सर्वत्र संचार करो, विविध रूपोंको धारण करके सब जनोंका विशेष व्यापकके साथ निरीक्षण करो, और पता लगा दो कि कौन मनुष्य राक्षस हैं और कौन देव हैं।

सज्जनोंकी रक्षा और दुर्जनोंका नाश करनेके लिये पहिले ये सज्जन हैं और ये दुर्जन हैं इसका निश्चय करना चाहिये। यह निश्चय विशेष निरीक्षणके विना नहीं हो सकता, अतः यह आज्ञा कही है।

(विक्षु इच्छत) प्रजाजनोंमें शांति और सुख स्थापन करनेकी इच्छा धारण करो, इसी उद्देश्यसे विविध प्रकारसे उपस्थित हो जाओ और राक्षस कौन हैं इस बातका पता लगा दो। जो राक्षस हैं ऐसा निश्चित ज्ञान हो जायगा, उन राक्षसोंको (गृभायत) पकड रखो, उनको जनसमाजमें घूमनेसे रोक दो, उनकी हलचलपर बंधन डालो और उनको (संपिनष्टन) पीस डालो। यहां पीसनेका अर्थ चूर्ण करना अभीष्ट नहीं है। उनके संगठन तोड दो, उनके संगठन बढने न दो, उनको अलग अलग करके उनका नाश करो। उनको असफल बनाओ। इसी विषयमें देखिये—

रक्षसः प्राक्तो अपाक्तो अधरात् उदक्तः जहि। (मं. १९)

"इन दुष्टोंको सामनेसे, पीछेसे, नीचेसे और ऊपरसे अर्थात् सब ओरसे प्रतिबंधमें रखकर नष्ट करो।" यहां उनके देहोंको काटनेका तात्पर्य नहीं है। शरीर उनके बेशक जीवित रहें, परंतु उनकी गति (प्राक्तः) सामनेसे रुक जाय, (अपाक्तः) वे पीछे न जा सकें, (अधरात्) वे नीचे न जा सकें, और (उदक्तः) ऊपर भी न हो सकें, अर्थात् चारों ओरसे उनकी हलचल बंद हो जावे और वे ऐसे प्रतिबंधमें रहें कि वे किसी प्रकार दुष्टता न कर सकें। इस प्रकार वे अपनी दुष्टतामें असफल हुए तो उनका मानो पूर्ण नाश ही हुआ। अर्थात् यहां उनको दुष्ट कर्म करनेसे रोकना अथवा उनकी दुष्टताका नाश करना अभीष्ट है, इसीलिये कहा है—

उभौ प्रसितौ शयाते। (मं. १३)

"दोनों प्रकारके दुष्ट बंधनमें सोते रहें।" अर्थात् कारागारमें पडें, जिससे वे आगे पीछे नीचे और ऊपर हिल न सकें। ये दुष्ट पुरुष हों या स्त्रियां हों, दोनोंको समान रीतिसे प्रतिबंध करना चाहिये, इस विषयमें निम्नलिखित मंत्र देखने योग्य है—

पुमांसं यातुधानं जहि। मायया शाशदानां स्त्रियं जहि। (मं. १४)

"पुरुष दुष्ट हो, या कपटाचारिणी स्त्री हो, दोनोंको उसी प्रकार असफल करना चाहिये।" स्त्री है इसलिये उसको क्षमा करना योग्य नहीं, क्योंकि एक दुष्ट अनेकोंको कष्ट पहुंचाता है, अतः किसी दुष्टको भी क्षमा नहीं होनी चाहिये। सबही दुष्ट लोग अपनी दुष्टता छोडें और सज्जन बनें, ऐसा प्रबंध होना आवश्यक है। राष्ट्रमें ऐसी व्यवस्था करना चाहिये कि—

दुष्कृते सुगं मा भूत्। (मं. ७)

"दुष्कर्म करनेवाले दुष्ट मनुष्य इधर उधर सुखसे न घूमें।" उनके भ्रमणके लिये प्रतिबंध हो। जब वे अपनी दुष्टता छोड देंगे तब, उनको सब प्रदेशमें भ्रमण करना सुगम होवे। इस उपदेशसे पता लगता है कि वेद चाहता है कि राष्ट्रका प्रबंध करनेवाले अपने राष्ट्रमें अथवा ग्रामके प्रबंधकर्ता ग्रामके दुष्ट मनुष्योंकी एक पूर्ण सूची बनावें, और उनके ऊपर निग्राणी रखें, वे कहां रहते हैं क्या करते हैं यह देखें, और उनको ऐसे दबावमें रखें कि वे बुराई न कर सकें। सज्जनोंकी रक्षा करनेके लिये दुष्टोंपर इस रीतिसे दबाव रखना अत्यंत आवश्यक है, इसलिये ही कहा है कि—

इयं मतिः विश्वतः परिभूतु। (मं. ६)

"यह आत्मरक्षा और सज्जनरक्षा करनेकी बुद्धि मनुष्योंमें सर्वत्र, अर्थात् सब नगरोंके नागरिकोंमें स्थिर रहे।" कोई मनुष्य इसको न भूलें और—

वां मन्युमत् शवः सहसे अस्तु। (मं. ३)

"तुम्हारा उत्साह युक्त बल अपने विजय और शत्रुकी पराजयके लिये समर्पित हो।" शत्रु तो वेही लोग हैं कि जिनके लक्षण इस सूक्तमें और पूर्व सूक्तमें दुष्ट संज्ञाके साथ कहे हैं। इन दुष्टोंको दूर करने और सज्जनोंकी रक्षा करनेके कार्यके लिये सबका बल लगाना चाहिये। इसके करनेका उद्देश्य क्या है, इसका ज्ञान पाठकोंको इस सूक्तके मननसे ही हो सकता है। दुष्टोंके संचारके मार्ग बंद हों और सज्जनोंके मार्ग अधिक खुले हों। यह बात अनेक प्रयत्नोंसे साध्य करना चाहिये। हरएक मनुष्य अपने अपने कार्यक्षेत्रमें इस बातकी सिद्धताके लिये परम प्रयत्न करे। इस प्रयत्नका स्वरूप यह है—

असतः पक्ता अ-सन् अस्तु। (मं. ८)

"असत्य भाषण करनेवाला अर्थात् दुष्ट मनुष्य (अ-सन्) न होनेके समान होवे।" न होनेके समान होनेका अर्थ यही है कि वह दुष्ट मनुष्य या तो प्रतिबन्धमें रहे, कारागृहमें रखा जावे, निग्राणीमें रहे, उसके दुष्टताके मार्ग

उसके लिये खुले न रहें, किंवा उसकी ऐसी व्यवस्था की जावे कि वह अपनी दुष्टताके कर्म किसी प्रकार भी कर न सके। यहां तक जो मनन किया है उसका संबंध इस मन्त्र-भागसे पाठक देखें और संगति लगाकर इस दुष्टोंके प्रबंध विषयक बोध प्राप्त कर सकें।

सत्यका रक्षक ईश्वर

इस सूक्तमें एक महत्वपूर्ण बात कही है वह 'सत्यका रक्षक परमेश्वर है' ऐसा कहा है। सत्यमार्गपर जानेवालेके सम्मुख अनन्त आपत्तियां आ खडीं हुईं तो भी वह भय नहीं करेगा, क्योंकि वह इस आदेशके अनुसार जान जायगा कि उसका रक्षक परमेश्वर है। जब सत्यका रक्षक परमेश्वर है तब उसको डरानेवाला कौन हो सकता है? इस विषयमें देखिये—

सुविज्ञानं चिकितुषे जनाय सच्चासच्च वचसी पस्पृधाते।
तयोर्यत्सत्यं यतरदृजीयस्तदित्सोमोऽवति हन्त्यासत्॥ (मं. १२)

"यह उत्तम ज्ञान ज्ञानी बननेकी इच्छा करनेवाले मनुष्यके हितके लिये कहा जाता है कि सत्य और असत्य भाषणकी इस जगतमें स्पर्धा चल रही है। इनमेंसे जो सत्य और जो सीधा होता है, उसकी परमेश्वर रक्षा करता है और जो असत्य और कुटिल होता है उसका नाश करता है।" अर्थात् सत्यका पालन करनेवाले और सरल आचरण करनेवाले मनुष्यकी रक्षा परमेश्वर स्वयं करता है और असत्य भाषणी तथा कुटिल व्यवहार करनेवालेका नाश करता है। हरएक मनुष्य इस ईश्वरके नियमका स्मरण रखें और अपना आचरण सीधा और सत्यके अनुसार रखें। जो अपना आचरण ऐसा रखेंगे वे कभी दोषी नहीं हो सकते और उनको ईश्वरकी ओरसे कभी दण्ड नहीं मिल सकता। परमेश्वरकी रक्षा प्राप्त करनेका यह एक उत्तम उपाय है। आशा है कि पाठक वृंद इस वेदके संदेशसे लाभ उठावेंगे और परमेश्वरकी रक्षामें सुरक्षित रहते हुए सत्य और सरलताके मार्गसे जाकर अपने आपको कृतकृत्य करेंगे।

जो ऐसा आचरण करेंगे और सत्य पालनमें दत्तचित्त होंगे वे कभी दुष्ट नहीं होंगे। परंतु दुष्ट वे बनेंगे जो असत्य और कुटिल व्यवहार करेंगे। इन दुष्टोंको दण्ड देना परमेश्वरका ही कार्य है। इनको विविध दण्ड दिये जाते हैं, वे इस प्रकार हैं—

वधदण्ड

इन दुष्टोंको वध दण्ड देनेके विषयमें निम्नलिखित मंत्र-भाग प्रमाण हैं—

अत्रिणः हतं, न्योषतं,
अघशंसं तर्हणं वधं वर्तयतम्। (मं. ४)
द्रुहः भंगुरावतः रक्षसः हतम्। (मं. ७)
रक्षः हन्ति। असत् वदन्तं हन्ति। (मं. १३)
तं महता वधेन हन्तु। (मं. १६)
पिशुनेभ्यो वधं शिशीते। (मं. २०)
रक्षोभ्यो वधं। (मं. २५)

"भोगी, पापी, द्रोही, नाश करनेवाले, असत्य भाषण करनेवाले, चुगली करनेवाले, जो राक्षसवृत्तीवाले लोग होंगे वे वधदण्डके लिये योग्य हैं। इसी प्रकार—

दुष्कृतः अनारंभणे तमसि वव्रे प्रविध्यतम्। (मं. ३)

सा असन्तं वज्रं अव पद्यष्ट। (मं. १७)
अग्नितप्तेभिः अश्महन्मभिः तपुर्वधेभिः अत्रिणः विध्यतम्। (मं. ५)

"दुष्ट कर्म करनेवालोंको अन्धकारके स्थानमें रखो और उनपर शस्त्रका वेध करो। अग्निमें तपे, फौलादसे बने, घातक शस्त्रसे भोगी लोगोंका वेध करो।" वेध करनेका अर्थ यह है कि उनपर शस्त्र फेंककर उनके शरीरको घायल करना। बाणोंसे अथवा बंदूककी गोलीसे वेध करना आदि वेध दूरसे ही किया जाता है। इसी प्रकार—

यातुमद्भ्यः अशनिं सृजत्। (मं. २०)
यातुमद्भ्यः अशनिं अस्यतम्। (मं. २५)
मूरदेवा विग्रीवासः ऋदन्तु। (मं. २४)
तान् निर्ऋतेः उपस्थे आदधातु। (मं. ९)
द्रोघवाचः निर्ऋथं सचन्ताम्। (मं. १४)

"यातना देनेवालोंपर बिजली छोडी जावे, मूर्खोंके उपासकोंका गला काटा जावे, वे नाशके द्वारपर पहुंचें, द्रोहका भाषण करनेवाले नाशको प्राप्त हों।" इस प्रकार यह करीब वध दण्ड ही है। तथापि इसमें अन्य प्रकारका नाश भी संभवनीय है। पत्थरोंसे दुष्टका वध करनेका भी उल्लेख है—

ग्रावाणः रक्षसः उपब्दैः घ्नन्तु । (मं. १०)

दृषदा इव रक्षः प्रमृण । (मं. २२)

" पत्थरोंसे राक्षसोंका वध किया जावे । " जो राक्षस है ऐसा निश्चय हो जाय, उसको किसी स्थानपर खडा करके अथवा वृक्षके साथ रसीसे बांधकर दूरसे उसपर पत्थर मारनेसे उसका वध हो जायगा। इस प्रकारका वधदण्ड इस समय अफगानिस्थानमें है। पाठकोंको विचार करना चाहिये कि यह रीति और इस मंत्रमें कही रीति एक ही है या भिन्न हैं।

देशसे निकाल देना

यातूनां पराशरः अभवत् । रक्षसः भिन्दन् एतु ।
(मं. २१)

" यातना देनेवालोंको दूर करनेवाला वीर राक्षसोंको तोडता हुआ चले । " यह वीरका लक्षण है, वह वीर यातना देनेवालोंके कर्तृत्वोंको सह नहीं सकता। यहां पाठक 'परा+शर' शब्द देखिये कैसे विलक्षण अर्थमें पडा है। (परा) दूर ले जाकर (शर) नाश करनेवाला जो वीर है उसको पराशर कहते हैं। राक्षसोंको समाजसे और ग्रामसे दूर करना चाहिये, वे कभी ग्रामवासियोंको कष्ट देनेके लिये न आवें, इस विषयमें वेदकी आज्ञा देखिये—

अचितः परा शृणीतं, नुदेथाम् । (मं० १)

यतः एषां पुनः एकश्चन न उदयत् । (मं० ३)

यातुमावत् रक्षः नः मा अभिनट् । (मं० २३)

किमीदिनः मिथुना अपोच्छन्तु (मं० २३)

" जिनको सदय अन्तःकरण नहीं है वे दूर हटाये जाय, इनमेंसे एक भी फिर न लौट सके, मिथ्याचारी सब दूर भाग जावें।" ये सब आज्ञाएं दुष्टोंको राज्यसे बहार करनेका ही भाव बताती हैं। इस प्रकार देशसे निकाला हुआ कोई दुष्ट फिर देशमें या ग्राममें न आ सके। ऐसा करनेसे ही प्रजा सुखी रह सकती है।

दुष्टोंको तपाना।

दुष्ट दुर्जनोंको संताप देनेका भी एक दण्ड इस सूक्तमें कहा है, विचार करना चाहिये कि इस तपानेका अर्थ क्या है। इस विषयके मंत्र ये हैं—

रक्षः तपतं, उब्जतं । (मं० १)

अघशंसं अघं तपुः ययस्तु । (मं० २)

" राक्षसों दुष्टों, पापवृत्तिवालोंको ताप हो । " उनको संताप उत्पन्न करे। किन साधनोंसे संताप उत्पन्न करना है, इसका यहां उल्लेख नहीं। तथापि सूक्तका विचार करनेसे हमें ऐसा प्रतीत होता है कि जब दुष्ट अपनी दुष्टताके कार्यसे हटाये जायंगे और चारों ओरसे उनको रोका जायगा, तब उनको संताप होगा और इस प्रकारका संताप ही यहां अभीष्ट होगा।

दुष्टोंका द्वेष।

वस्तुतः देखा जाय तो कोई मनुष्य किसीका कभी द्वेष न करे। परस्पर मित्रदृष्टीसे देखें। यह निःसंदेह धर्म है। परंतु दुष्ट मनुष्य और दुष्टताका द्वेष करनेकी आज्ञा वेद देता है। यदि द्वेष करना हो तो दुष्ट मनुष्योंका और उनकी दुष्टताका द्वेष करना योग्य है देखिये—

ब्रह्मद्विषे क्रव्यादे घोरचक्षसे किमीदिने अनवायं द्वेषो धत्तम् । (मं० २)

" ज्ञानका द्वेष करनेवाले, मांसभोजी, क्रूरदृष्टी, सदा भोगविचार करनेवाले दुष्टके साथ निरंतर द्वेष करो।" यदि द्वेष करना है, तो इससे द्वेष करो, अन्यथा (मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे । यजु०) मित्रकी दृष्टीसे सबकी ओर देखो और किसीका कभी द्वेष न करो। द्वेष करना हो तो केवल दुष्टोंके साथ ही द्वेष करना चाहिये। स्वयं शुद्धाचारी होकर दुष्टोंसे द्वेष करना योग्य है। मनुष्य स्वयं पापसे बचनेके लिये इस प्रकार प्रार्थना करे—

पार्थिवात् दिव्यात् च अंहसः नः पातु । (मं० २३)

" भूमिके संबंधसे तथा स्वर्गके प्रयत्नमें जो पाप होगा, उससे हमें बचाओ।" इस प्रकार मनुष्य ईश्वरकी प्रार्थना करे। अपने आपको पापसे बचावे। ऐसे मनुष्यको ही अर्थात् स्वयं पापसे बचनेवालेको ही दुष्टका द्वेष करनेका अधिकार है। जो स्वयं पाप करता है उसको दूसरेका द्वेष करनेका अधिकार नहीं है।

पापकी अधोगति।

पापी दुष्ट मनुष्यकी अधोगति होती है, उसकी अकीर्ति होती है, वह बदनाम होता है इस विषयमें इस सूक्तमें निम्न-लिखित मंत्रभाग मिलते हैं—

अस्य यशः प्रतिशुष्यतु ।

यः दिवानक्तं दिप्साति स अधः अस्तु । (मं. ११)

स्तेनकृत् स्तेनः रिपुः दभ्रं एतु। स तन्वा तना च निहीयताम्। (मं. १०)
स दशभिः वीरैः वि यूयाः। (मं. १५)
विश्वस्य जन्तोः अधमः पस्पदीष्ट। (मं. १६)

"इस दुष्टका नाश हो जावे, जो दिनरात दुष्टता करता है वह नीचे गिरे, चोर लुटेरा दुष्ट शत्रु तन धनसे हीन होवे, वह बालबच्चोंसे हीन होवे। उसके दसोंप्राण दूर हों। ऐसा दुष्ट सब प्राणियोंसे भी सबसे नीचे गिर जावे" अर्थात् जो इस प्रकारका दुष्ट है वह परमेश्वरीय नियमसे अधोगतिको प्राप्त होता है, जब तक वह अपनी दुष्टता नहीं छोडता तबतक उसकी उन्नतिकी कोई आशा नहीं है। उन्नतिकी इच्छा है तो दुष्टता छोडनेकी आवश्यकता है, यह बात यहां सिद्ध होती है। सब दुष्टोंको उन्नतिका यह मार्ग खुला है, अर्थात् उन्नतिका साधन करना उनके आधीन है। वे यदि पूर्वोक्त प्रकार 'पापसे बचनेके लिये' ईश्वरकी प्रार्थना करेंगे तो उनमें दुष्टता छोडनेका बल आ जायगा। इसके नियम ये हैं-

आत्मदण्ड

यः अ-यातुं यातुधान इत्याह।
यः रक्षः शुचिः अस्मि इत्याह। (मं. १६)

"भलेको बुरा कहना और अपवित्रको पवित्र समझना" यह दुष्टका लक्षण है। जो उन्नत होना चाहते हैं वे ऐसा न करें, वे तो भलेको भला, बुरेको बुरा, राक्षसको राक्षस, पवित्रको पवित्र, अपवित्रको अपवित्र कहनेका अभ्यास करें। न डरते हुए ऐसा माननेसे और माननेके अनुकूल कहनेसे आत्मिक बल बढता है। इसी रीतिसे हरएक मनुष्य कहे कि-

यदि यातुधानोऽस्मि, यदि वा पुरुषस्य आयुः ततप, अद्या मुरीय। (मं. १५)

"यदि मैं किसीको यातना देनेवाला बनूं अथवा किसी मनुष्यको ताप दूं तो मैं आजही मर जाऊं।" ऐसा उन्नत होनेवाला मनुष्य कहे अर्थात् यदि अपने हाथसे कुछ पाप या दोष हुआ होगा, तो उसका प्रायश्चित्त लेनेको मनुष्य तैयार रहना चाहिये। अपने द्वारा विशेष दोष होनेपर मरने-तक तैयार होना चाहिये। जिसकी जिस प्रमाणसे इस प्रकारकी तैयारी होगी, वह उस प्रमाणसे उन्नत होगा। पाठक यह उन्नत होनेका मार्ग अपने मनमें धारण करें, इसका बहुत विचार करें और इसको अपने जीवनमें जहांतक हो सके ढालनेका यत्न करें। इस आत्मदण्डके मार्गसे मनुष्य शीघ्र उन्नत हो सकता है।

प्रतिसर मणि

[५]

(ऋषिः— शुक्रः। देवता— कृत्यादूषणं, मन्त्रोक्तदेवताः।)

अयं प्रतिसरो मणिर्वीरो वीराय बध्यते।
वीर्यवान्त्सपत्नहा शूरवीरः परिपाणः सुमङ्गलः ॥ १ ॥

अर्थ— (अयं प्रतिसरः) यह शत्रुके ऊपर आक्रमण करनेवाला, (वीर्यवान् वीरः) वीर्ययुक्त वीर (सपत्नहा परिपाणः) शत्रुका नाश करनेवाला और सब प्रकारकी रक्षा करनेवाला, (सुमङ्गलः शूरवीरः) मङ्गल करनेवाला शूरवीरका चिन्हरूप (मणिः वीराय बध्यते) मणि वीर पुरुषके ऊपर बांधा जाता है ॥ १ ॥

भावार्थ— यह मणि (या पदक) शूरवीर पराक्रमी शत्रुनाशक मंगलकारी है, अतः यह वीरके शरीरपर बांधा जाता है ॥ १ ॥

अयं मणिः सपत्नहा सुवीरः सहस्वान्वाजी सहमान उग्रः ।
प्रत्यक्कृत्या दूषयन्नेति वीरः ॥ २ ॥
अनेनेन्द्रो मणिना वृत्रमहन्ननेनासुरान्पराभावयन्मनीषी ।
अनेनाजयद् द्यावापृथिवी उभे इमे अनेनाजयत्प्रदिशश्चतस्रः । ॥ ३ ॥
अयं स्राक्त्यो मणिः प्रतीवर्तः प्रतिसरः ।
ओजस्वान्विमृधो वशी सो अस्मान्पातु सर्वतः ॥ ४ ॥
तदग्निराह तदु सोम आह बृहस्पतिः सविता तदिन्द्रः ।
ते मे देवाः पुरोहिताः प्रतीचीः कृत्याः प्रतिसरैरजन्तु ॥ ५ ॥
अन्तर्दधे द्यावापृथिवी उताहरुत सूर्यम् ।
ते मे देवाः पुरोहिताः प्रतीचीः कृत्याः प्रतिसरैरजन्तु ॥ ६ ॥

अर्थ— (अयं मणिः) यह मणि (सपत्नहा सुवीरः) शत्रुका नाश करनेवाला उत्तम वीर (सहस्वान् वाजी) शत्रु वेगको सहन करनेवाला बलवान् (सहमानः उग्रः वीरः) शत्रुपराजय करनेवाला उग्र वीर (कृत्याः दूषयन् एति) घातक प्रयोगोंको विफल करता हुआ जाता है ॥ २ ॥

(अनेन मणिना इन्द्रः वृत्रं अहन्) इस मणिसे इन्द्रने वृत्रका नाश किया, (अनेन मनीषी असुरान् पराभावयत्) इसीसे संयमी वीरने असुरोंका पराभव किया। (अनेन उभे इमे द्यावापृथिवी अजयत्) इसीसे ये दोनों द्युलोक और पृथिवी लोक जीत लिये, (अनेन चतस्रः प्रदिशः अजयत्) इसीसे चारों दिशाओंको जीत लिया ॥ ३ ॥

(अयं स्राक्त्यः मणिः) यह प्रगति करनेवाला मणि (प्रतिवर्तः प्रतिसरः) शत्रुओंपर हमला करनेवाला और उनपर धावा करनेवाला (ओजस्वान् विमृधः वशी) बलशाली युद्धमें गमन करनेवाला और वशी है, यह (अस्मान् सर्वतः पातु) हम सबकी सब प्रकारसे रक्षा करे ॥ ४ ॥

(अग्निः तत् आह) अग्निने यह कह दिया, (सोमः तत् उ आह) सोमने भी यह कहा, (बृहस्पतिः सविता इन्द्रः तत्) बृहस्पति सविता और इन्द्रने भी यही कहा है। (ते पुरोहिताः देवाः) वे अग्रेसर देव (प्रतिसरैः मे कृत्याः प्रतीचीः अजन्तु) हमलोंसे मेरे ऊपर आनेवाले घातक प्रयोग विरुद्धदिशासे हटा देवें ॥ ५ ॥

(द्यावापृथिवी अन्तः दधे) द्युलोक और पृथ्वी लोकको मैं अपने अन्दर धारण करता हूं (उत अहः उत सूर्यम्) दिनको और सूर्यको भी अन्दर रखता हूं। वे अग्रेसर देव हमलोंसे मेरे ऊपर होनेवाले घातक प्रयोग विरुद्ध दिशासे हटा देवें ॥ ६ ॥

भावार्थ— यह मणि बलवान् शत्रुनाशक, उग्र वीर है जो सब शत्रुके घातक प्रयोगोंको दूर करता है ॥ २ ॥

इस मणिसे इन्द्रने वृत्रको मारा, राक्षसोंका पराभव किया, द्यावापृथिवीको जीत लिया, और सब दिशाओंमें विजय किया ॥ ३ ॥

यह शत्रुपर धावा करनेवाला, बलवान् शत्रुको वश करनेवाला मणि हमारी रक्षा करे ॥ ४ ॥

सब देव इस मणिके द्वारा मेरे ऊपर किये घातक प्रयोग हटा देवें ॥ ५ ॥

द्युलोक, पृथ्वी, सूर्य और दिनकी शक्तियाँ मैं अपने अन्दर धारण करता हूं। वे सब मेरे ऊपर किये विनाशक प्रयोग हटा देवें ॥ ६ ॥

ये स्राक्त्यं मणिं जना वर्माणि कृण्वते।
सूर्य इव दिवमारुह्य वि कृत्या बाधते वशी ॥ ७ ॥
स्राक्त्येन मणिना ऋषिणेव मनीषिणा।
अजैषं सर्वाः पृतना वि मृधो हन्मि रक्षसः ॥ ८ ॥
याः कृत्या आङ्गिरसीर्याः कृत्या आसुरीर्याः कृत्याः।
स्वयंकृता या उ चान्येभिराभृताः।
उभयीस्ताः परा यन्तु परावतो नवतिं नाव्या३ अति ॥ ९ ॥
अस्मै मणिं वर्म बध्नन्तु देवा इन्द्रो विष्णुः सविता रुद्रो अग्निः।
प्रजापतिः परमेष्ठी विराड्वैश्वानर ऋषयश्च सर्वे ॥ १० ॥
उत्तमो अस्योषधीनामनड्वान्जगतामिव व्याघ्रः श्वपदामिव।
यमैच्छामाविदाम तं प्रतिस्पाशनमन्तितम् ॥ ११ ॥

अर्थ— (ये जनाः स्राक्त्यं मणिं) जो लोग प्रगतिशील इस मणिको (वर्माणि कृण्वते) कवचोंके स्थानपर करते हैं, वे (सूर्यः इव दिवं आरुह्य) सूर्यके समान द्युलोकपर चढकर (वशी) सबको वशमें करता हुआ (कृत्याः वि बाधते) घातक प्रयोगोंका नाश करते हैं ॥ ७ ॥

(मनीषिणा ऋषिणा इव) ज्ञानी ऋषिके समान इस (स्राक्त्येन मणिना) प्रगतिशील मणिके द्वारा (सर्वाः पृतनाः अजैषं) सब शत्रुसेनाओंको पराभूत करता हूं और (रक्षसः मृधः वि हन्मि) राक्षसोंको युद्धोंमें मारता हूं ॥ ८ ॥

(याः आङ्गिरसीः कृत्याः) जो आंगिरस घातक प्रयोग हैं, (याः आसुरीः कृत्याः) जो असुरोंके घातक प्रयोग हैं, (याः स्वयंकृताः कृत्याः) जो स्वयं किये हुए घातक प्रयोग हैं, (याः उ अन्येभिः आभृताः) जो दूसरोंके द्वारा भर दिये गये हैं, (उभयीः ताः नवतिं नाव्याः अति) दोनों वे सब नब्बे नदियोंके परे (परावतः परा यन्तु) दूर स्थानको जावें ॥ ९ ॥

इन्द्र, विष्णु, सविता, रुद्र, अग्नि, प्रजापति, परमेष्ठी, विराट् और वैश्वानर, ये सब (देवाः) देव तथा (सर्वे च ऋषयः) सब ऋषि (अस्मै मणिं वर्म बध्नन्तु) इस वीरके शरीरपर मणिरूप कवचको बांधें ॥ १० ॥

(ओषधीनां उत्तमः असि) औषधियोंमें तू उत्तम है, (जगतां अनड्वान् इव) जैसे गतिशीलोंमें बैल और (श्वपदां व्याघ्रः इव) श्वापदोंमें बाघ होता है। (यं ऐच्छाम) जिसकी हम इच्छा करें (तं प्रतिस्पाशनं) उस प्रतिस्पर्धीको (अन्तितं अविदाम) मरा हुआ पावें ॥ ११ ॥

भावार्थ— जो लोग कवचरूप इस मणिका धारण करते हैं वे सूर्यके समान तेजस्वी होकर अपने ऊपर किये हुए घातक प्रयोगोंको हटा देते हैं ॥ ७ ॥

इस मणिके द्वारा सब शत्रुसेनाको जीत लिया है। और दुष्टोंको मार दिया है ॥ ८ ॥

सब प्रकारके घातक प्रयोग इसके द्वारा दूर होते हैं ॥ ९ ॥

सब देव और ऋषि अपनी शक्तियोंसे इस मणिको मेरे शरीरपर बाँधें ॥ १० ॥

यह मणि सबसे उत्तम है। इसके धारण करनेपर जिसको चाहे जीत सकते हैं ॥ ११ ॥

स इद्व्याघ्रो भवत्यथो सिंहो अथो वृषा ।
अथो सपत्नकर्शनो यो बिभर्तीमं मणिम् ॥ १२ ॥
नैनं घ्नन्त्यप्सरसो न गन्धर्वा न मर्त्याः ।
सर्वा दिशो वि राजति यो बिभर्तीमं मणिम् ॥ १३ ॥
कश्यपस्त्वामसृजत कश्यपस्त्वा समैरयत् ।
अबिभस्त्वेन्द्रो मानुषे बिभ्रत्संश्रेषिणेऽजयत् ।
मणिं सहस्रवीर्यं वर्म देवा अकृण्वत ॥ १४ ॥
यस्त्वा कृत्याभिर्यस्त्वा दीक्षाभिर्यज्ञैर्यस्त्वा जिघांसति ।
प्रत्यक्त्वमिन्द्र तं जहि वज्रेण शतपर्वणा ॥ १५ ॥
अयमिद्वै प्रतीवर्त ओजस्वान्संजयो मणिः ।
प्रजां धनं च रक्षतु परिपाणः सुमङ्गलः ॥ १६ ॥

अर्थ— (यः इमं मणिं बिभर्ति) जो इस मणीका धारण करता है, (सः इत् व्याघ्र भवति) वह निःसन्देह बाघके समान (अथो सिंहः अथो वृषा) सिंहके समान अथवा बैलके समान (अथो सपत्नकर्शनः) शत्रुका दमन करनेवाला होता है ॥ १२ ॥

(यः इमं मणिं बिभर्ति) जो इस मणिका धारण करता है वह (सर्वाः दिशः विराजति) सब दिशाओंमें शोभता है। (एनं अप्सरसः न घ्नन्ति) इसको अप्सराएं नहीं मारतीं और (न गन्धर्वाः न मर्त्याः) न गन्धर्व और आदि मनुष्य मार सकते हैं ॥ १३ ॥

(कश्यपः त्वां असृजत) कश्यपने तुझे बनाया है, (कश्यपः त्वां समैरयत) कश्यपने तुझे प्रेरित किया। (इन्द्रः त्वा मानुषे संश्रेषिणे बिभ्रत्) इन्द्रने तुझे मानवी संग्राममें धारण किया और (अजयत्) विजय किया। ऐसे (सहस्रवीर्यं मणिं) सहस्र सामर्थ्यवान् मणिको (देवाः वर्म अकृण्वत) देवोंने कवच रूप बनाया है ॥ १४ ॥

हे इन्द्र ! (यः त्वा कृत्याभिः) जो तुझे मारक प्रयोगोंसे, (यः त्वा दीक्षाभिः) जो तुझे दीक्षाओंमेंसे, अथवा (यः त्वा यज्ञैः जिघांसति) जो तुझे यज्ञोंसे मारना चाहता है, (तं) उसको (त्वं) तू (शतपर्वणा वज्रेण प्रत्यङ् (जहि) सैंकडों पर्वोंवाले वज्रसे प्रत्यक्ष स्थानमें मार ॥ १५ ॥

(अयं इत् वै) यह निश्चयसे (प्रतिवर्तः) शत्रुपर हमला करनेवाला (परिपाणः संजयः) रक्षक और विजय, (सुमंगलः मणिः) उत्तम मंगल करनेवाला मणि है, (प्रजां धनं च रक्षतु) वह हमारी संतान और संपत्तिकी रक्षा करे ॥ १६ ॥

भावार्थ— जो इस मणिको धारण करता है वह बलवान् होकर अपने सब शत्रुओंको जीतता है ॥ १२ ॥

इस मणिका धारण करनेवाला सब दिशाओंमें विराजता है और इसका वध कोई कर नहीं सकते ॥ १३ ॥

कश्यपके द्वारा मणि निर्माण करनेकी कलाका प्रारंभ हुआ। इसको इन्द्रने सबसे पहिले धारण किया था और जगत्में विजय भी किया था ॥ १४ ॥

इस मणिधारणसे सब मारक प्रयोग दूर होते हैं। हर एक प्रकारके मारक प्रयोग इससे हटते हैं ॥ १५ ॥

शत्रुको दूर करके रक्षा करनेवाला यह मणि है। इसका धारण करनेवालेका कल्याण होता है, प्रजा और धनकी रक्षा इससे होती है ॥ १६ ॥

असपत्नं नो अधरादसपत्नं न उत्तरात् ।
इन्द्रासपत्नं नः पश्चाज्ज्योतिः शूर पुरस्कृधि　　॥ १७ ॥
वर्म मे द्यावापृथिवी वर्माहर्वर्म सूर्यः ।
वर्म म इन्द्रश्चाग्निश्च वर्म धाता दधातु मे　　॥ १८ ॥
ऐन्द्राग्नं वर्म बहुलं यदुग्रं विश्वे देवा नाति विध्यन्ति सर्वे ।
तन्मे तन्वं त्रायतां सर्वतो बृहदायुष्मां जरदष्टिर्यथासानि　　॥ १९ ॥
आ मारुक्षद्देवमणिर्मह्या अरिष्टतातये ।
इमं मेथिमभिसंविशध्वं तनूपानं त्रिवरूथमोजसे　　॥ २० ॥
अस्मिन्निन्द्रो नि दधातु नृम्णमिमं देवासो अभिसंविशध्वम् ।
दीर्घायुत्वाय शतशारदायायुष्माञ्जरदष्टिर्यथासत्　　॥ २१ ॥

अर्थ— हे शूर इन्द्र ! (नः अधरात् असपत्न) हमारे नीचेसे अविरोध, (नः उत्तरात् असपत्नं) हमारे ऊपरसे अविरोध, (नः पश्चात् असपत्नं) हमारे पीछेसे अविरोध दर्शक (ज्योतिः पुरः कृधि) हमारे सम्मुख कर ॥ १७ ॥

(द्यावापृथिवी मे वर्म) द्यावापृथिवी मेरे लिये कवच धारण करावें, (अहः वर्म, सूर्यः वर्म) दिन और सूर्य मेरे लिये कवच पहनावें । (इन्द्रः च अग्निः च धाता च) इन्द्र, अग्नि और धाता ये तीनों देव प्रत्येकमें (मे वर्म दधातु) मेरे लिये कवच पहनावें ॥ १८ ॥

(सर्वे विश्वे देवाः) सब देव (यत् न अतिविध्यन्ति) जिसका अतिक्रमण कर नहीं सकते (तत् उग्रं बहुलं ऐन्द्राग्नं बृहत् वर्म) वह उग्र, बडा इन्द्र और अग्निका बडा कवच (मे तन्वं सर्वतः त्रायतां) मेरे शरीरकी रक्षा सब ओरसे करे । (यथा) जिससे मैं (जरदष्टिः) वृद्धावस्था तक कार्य व्याप्ति करनेवाला (आयुष्यमान् असानि) दीर्घायु होऊं ॥ १९ ॥

यह (देवमणिः) दिव्य मणि (मा मह्यै अ-रिष्ट-तातये) मुझपर बडी सुख समृद्धि के लिये (आरुक्षत्) आरूढ होवे । (इमं मेथिं) इस शत्रुनाशक (तनूपानं त्रिवरूथं) शरीर रक्षक और तीनों बलोंके रक्षकको (ओजसे अभि संविशध्वं) बलके लिये आश्रित होवे ॥ २० ॥

(अस्मिन् इन्द्रः नृम्णं निदधातु) इसमें इन्द्र बल धारण करे, (देवासः इमं अभि सं विशध्वम्) देव इसमें प्रविष्ट हों (यथा) जिससे (शतशारदाय दीर्घायुत्वाय) सौवर्षकी दीर्घायुके लिये (आयुष्यमान् जरदष्टिः असत्) दीर्घजीवी और वृद्धावस्था तक युक्त रहे ॥ २१ ॥

भावार्थ— हमारी रक्षा चारों ओरसे होती रहे और हमारे सम्मुख प्रकाशका मार्ग स्थिर रहे ॥ १७ ॥

सब देव इस कवच धारण करनेमें मुझे सहायक हों । यह दैवी शक्तिसे युक्त हो ॥ १८ ॥

सब दैवी शक्तिसे युक्त इस मणिरूप कवचसे मेरी उत्तम रक्षा होवे और मेरी आयु दीर्घ होवे ॥ १९ ॥

इस दिव्य मणिके शरीरपर धारण करनेसे मेरी रक्षा होवे और मेरे बलकी वृद्धि होवे ॥ २० ॥

इसमें सब देव अपने बलकी स्थापना करें जिससे मुझे शतायुवाला दीर्घजीवन प्राप्त हो ॥ २१ ॥

स्वस्तिदा विशां पतिर्वृत्रहा विमृधो वशी ।
इन्द्रो बध्नातु ते मणिं जिगीवाँ अपराजितः सोमपा अभयंकरो वृषा ।
स त्वा रक्षतु सर्वतो दिवा नक्तं च विश्वतः ॥ २२ ॥

अर्थ— (स्वस्तिदा विशांपतिः वृत्रहा) कल्याण करनेवाला, प्रजापालक शत्रुनाशक, (विमृधः वशी) शत्रुओंको वशमें करनेवाला, (जिगीवां अपराजितः सोमपा अभयंकरः) विजयी, अपराजित, सोमरस पीनेवाला, सौम्य (वृषा इन्द्रः) बलवान् इन्द्र (ते मणिं बध्नातु) तेरे शरीरपर मणिको बांधे । (सः सर्वतः दिवा नक्तं) वह सब ओरसे दिनरात (त्वा विश्वतः पातु) तेरी सब ओरसे रक्षा करे ॥ २२ ॥

भावार्थ— शूर वीर शत्रुनाशक बलवान विजयी जेता पुरुष इस मणिको शरीरपर बांधे जिससे उसकी दिनरात रक्षा होवे ॥ २२ ॥

प्रतिसर मणि

मणिधारण

इस सूक्तमें मणिधारणका विषय है । कईयोंका कथन है कि यहां ' मणि ' शब्दसे वीर पुरुषका ग्रहण किया जावे । परन्तु यह बात सत्य नहीं है । इस प्रकार अर्थका अनर्थ करना किसीको भी योग्य नहीं है । इस सूक्तमें कहा मणि किसी वनस्पतिका बनाया जाता है और उसका धारण शरीर पर किया जाता है । प्रायः गलेमें बान्धा जाता होगा। जिस प्रकार आजकलके सैनिकोंको विशेष शौर्यवीर्य धैर्यके कार्य करनेपर ' पदक ' दिया जाता है और वह पदक छातीपर लटकाया जाता है, उसी प्रकारका यह मणि गलेमें या हाथपर किंवा बाहुपर बांधा जाता है । यह एक शौर्यका अथवा जनहितके कार्य करनेका चिन्ह है । इसके धारण करनेसे वीरकी प्रतिष्ठा बढती है, उसका उत्साह बढता है, और उत्साह बढनेसे वह मनुष्य अधिक पराक्रम करनेके लिये समर्थ होता है ।

पहिले किये हुए शौर्यके कार्यके लिये अधिकारी पुरुषोंसे इनाम मिलजानेपर अधिक पराक्रम करनेका साहस मनुष्य करता है, अर्थात् वह इनाम, या पदक, अथवा अन्य प्रकारका सन्मान वीरता बढानेवाला, रक्षाका कार्य करनेवाला, उत्तम वीरता करनेवाला, नम्रता बढानेवाला, इत्यादि गुणविशिष्ट है ऐसा मानना अयोग्य नहीं है । इसी उद्देश्यसे इस सूक्तमें इस मणिके गुण " सुवीरः, वाजी, अग्र " आदि कहे हैं । अन्य वर्णन भी इसी दृष्टीसे विचार करके जानने योग्य है ।

एक शंका

कई लोग कहते हैं कि वृक्षकी लकडीसे बना हुआ वह ' मणि ' वीरता बढानेवाला, मंगल करनेवाला और बल बढानेवाला कैसा हो सकता है, चूंकी लकडीके मणिमें यह सामर्थ्य नहीं होता, अतः यहांके मणिशब्दसे ' वीर सेनापति ' अर्थ लेना योग्य है । वह युक्ति अथवा यह विचारपद्धति विवेकयुक्त नहीं है । सरकारका सिपाही हाथमें एक विशेष प्रकारका काष्ठ लेकर, और विशेष प्रकारका पोशाख धारण करके हजारों लोगोंमें जाता है और निडर होकर उनको धमकाता है और विशेष कार्य करता है। यह सामर्थ्य उसके अन्दर उस सरकारी पोशाख और सरकारी चिन्हके काष्ठधारणसे ही आता है। वस्तुतः देखा जाय तो उसकी शारीरिक शक्ति अन्य लोगोंके समान ही होती है। परंतु सरकारी चिन्ह धारण करनेसे उसकी शक्ति कई गुणा बढ जाती है। इसी प्रकार यह विशेष सम्मानका मणि जब महाराजाके द्वारा किसी वीर पुरुषको दिया जाता, या शरीरपर बांधा जाता है, तो यह राजचिन्ह होनेसे इसके धारणसे उस पुरुषका बल और वीर्य बहुत बढ जाना स्वाभाविक है ।

इस दृष्टिसे इस सूक्तका विचार पाठक करें और इसका आशय समझें । यह सूक्त इस दृष्टीसे देखनेसे बहुत सरल है अतः प्रत्येक मंत्रका अधिक स्पष्टीकरण करनेकी आवश्यकता नहीं है ।

गर्भदोषनिवारणम् ।

[६]

(ऋषिः– मातृनामा। देवताः– मन्त्रोक्ताः, मातृनामा, १५ ब्रह्मणस्पतिः। छन्दः– अनुष्टुप् २ पुरस्ताद्बृहती; १० त्र्यवसाना षट्पदा जगती; ११, १२, १४, १६, पथ्यापङ्क्तिः; १५ त्र्यवसाना सप्तपदा शक्वरी; १७ त्र्यवसाना सप्तपदा जगती ।)

यौ ते॑ मा॒तोन्म॒मार्ज॑ जा॒तायाः॑ पति॒वेद॑नौ ।
दु॒र्णामा॒ तत्र॒ मा गृ॑धद॒लिंश॑ उ॒त व॒त्सपः॑ ॥ १ ॥
प॒ला॒लानुप॒ला॒लौ श॒र्कुं कोकं॑ मलिम्लु॒चं प॒लीज॑कम् ।
आ॒श्रेषं॑ व॒व्रिवा॑ससमृ॒क्षग्री॑वं प्रमी॒लिन॑म् ॥ २ ॥
मा सं वृ॑तो॒ मोप॑ सृप ऊ॒रू माव॑ सृ॒पोऽन्त॒रा ।
कृ॒णोम्य॑स्यै भेष॒जं ब॒जं दु॑र्णाम॒चात॑नम् ॥ ३ ॥
दु॒र्णामा॑ च सु॒नामा॑ चो॒भा सं॒वृत॑मिच्छतः ।
अ॒राया॒नप॑ हन्मः सु॒नामा॒ स्त्रैण॑मिच्छताम् ॥ ४ ॥

अर्थ– (जातायाः ते) उत्पन्न होतेही तेरे (यौ पतिवेदनौ) जो पतिको प्राप्त होनेवाले दोनों भाग तेरी (माता उन्ममार्ज) माताने स्वच्छ किये थे (तत्र) उनमें (दुर्णामा, अलिंशः उत वत्सपः) दुर्णामा, अलिंश तथा वत्सप ये रोगकृमि (मा गृधत्) न पहुंचें ॥ १ ॥

(पलालानुपलालौ) मांस और मांससंबंधी, (शर्कुं) हिंसक, (कोकं) कामसंबंधी अथवा वीर्यसंबंधी, (मलिम्लुचं पलीजकं) मलिन, पलित, रोग, (आश्रेषं) चिपकनेवाले, (वव्रिवाससं) रूपहीनता करनेवाले, (ऋक्षग्रीवं) रीछके समान गर्दन बनानेवाले (प्रमीलिनं) आंखे मूंदनेवाले रोगोंको मैं दूर करता हूं ॥ २ ॥

(मा सं वृतः) मत रह, (मा उप सृप) न पास जा, (ऊरू अन्तरा मा अव सृप) जंघाओंके बीच न रह। (अस्यै भेषजं कृणोमि) इसके लिये औषध बनाता हूं, यह औषध (बजं दुर्णामचातनं) बज नामक है इससे दुर्नाम कृमि दूर होते हैं ॥ ३ ॥

(दुर्णामा च सुनामा च उभौ) दुष्ट नामवाला और उत्तम नामवाला ये दोनों (सं वृतं इच्छतः) संगति करना चाहते हैं, उनमेंसे (अ–रायान् अप हन्मः) निकृष्टोंका हम नाश करते हैं और जो (सुनामा) उत्तम नामवाला है वह (स्त्रैणं इच्छतां) स्त्रीजातिकी इच्छा करे ॥ ४ ॥

भावार्थ– बच्चा उत्पन्न होते ही स्तनमें तथा अन्यत्र रोग उत्पन्न करनेवाले कृमि न पहुंचें ॥ १ ॥

मांसमें उत्पन्न होनेवाले, हिंसक, वीर्यदोष उत्पन्न करनेवाले, बाल सफेद करनेवाले, कुरूपता बढानेवाले, गर्दनमें रोग बनानेवाले, आखोंमें सुस्ती लानेवाले रोगोंको मैं दूर करता हूं ॥ २ ॥

रोगजन्तु पास न रहे, प्रसवस्थानमें जघांओंके मध्यमें न जावे, इसको दूर करनेके लिये यह औषध बनाता हूं, यह बज नामक औषध इस दुष्ट क्रिमिको दूर करता है ॥ ३ ॥

दो प्रकारके क्रिमि होते हैं, एक दुष्ट और दुसरा हितकारी। दोनों पास जाते हैं, उनमें दुष्टको हटाते हैं और उत्तमको स्त्री जातीके पास रखते हैं ॥ ४ ॥

×

यः कृष्णः केश्यसुर स्तम्बज उत तुण्डिकः ।
अरायानस्या मुष्काभ्यां भंससोप हन्मसि ॥ ५ ॥
अनुजिघ्रं प्रमृशन्तं क्रव्यादमुत रेरिहम् ।
अरायांछ्वकिष्किणो बजः पिङ्गो अनीनशत् ॥ ६ ॥
यस्त्वा स्वप्ने निपद्यते भ्राता भूत्वा पितेव च ।
बजस्तान्त्सहतामितः क्लीबरूपांस्तिरीटिनः ॥ ७ ॥
यस्त्वा स्वपन्तीं त्सरति यस्त्वा दिप्सति जाग्रतीम् ।
छायामिव प्र तान्त्सूर्यः परिक्रामन्ननीनशत् ॥ ८ ॥
यः कृणोति मृतवत्सामवतोकामिमां स्त्रियम् ।
तमोषधे त्वं नाशयास्याः कमलमञ्जिवम् ॥ ९ ॥

अर्थ— (यः कृष्णः) जो काला (केशी असुरः) बालोंवाला असुर है, (स्तंबजः उत तुण्डिकः) जो शरीर स्तंभमें रहता है अथवा मुखमें रहता है, इन (अरायान्) दुष्टोंको (अस्याः मुष्काभ्यां) इस स्त्रीके दोनों प्रदेशोंसे तथा (भंससः) कटिप्रदेशसे (अप हन्मि) हटा देता हूं ॥ ५ ॥

(अनुजिघ्रं प्रमृशन्तं) गन्ध लेनेसे नाश करनेवाले, स्पर्श करनेवालेका नाश करनेवाले, (क्रव्यादं उत रेरिहं) मांस खानेवाले और हिंसक (श्वकिष्किणः अरायान्) कुत्तेके समान कष्ट देनेवाले निःसत्व करनेवाले रोग-बीजोंको (पिंगः बजः अनीनशत्) पीला बज औषध नाश करता है ॥ ६ ॥

(भ्राता भूत्वा) भाई बनकर (पिता इव च) अथवा पिता बनकर, (त्वा यः स्वप्ने निपद्यते) तेरे पास जो स्वप्नमें आता है, (क्लीबरूपान् तान् तिरीटिनः) क्लीबरूप उन गुप्त रहनेवाले रोगबीजोंको (इतः बजः सहतां) यहांसे बज औषध हटा देवे ॥ ७ ॥

(स्वपन्तीं त्वा यः त्सरति) सोती हुई तेरे पास जो आता है, (यः जाग्रतीं त्वा दिप्सति) जो जागती हुई तेरे पास आकर कष्ट पहुंचाता है, (सूर्यः छायां इव) सूर्य जैसा अन्धकारका नाश करता है, उस प्रकार (परिक्रामन् प्र अनीनशत्) भ्रमण करता हुआ उनका नाश करे ॥ ८ ॥

(यः इमां स्त्रियं) जो इस स्त्रीको (मृतवत्सां अवतोकां कृणोति) मरे बच्चोंवाली अथवा गर्भपात होनेवाली करता है, हे औषधे ! (त्वं अस्याः तं नाशय) तू इसके उस रोगका नाश कर तथा (कमलं अंजिवं) गर्भद्वाररूपी कमलको रोगरहित कर ॥ ९ ॥

भावार्थ— काला, बालोंवाला, प्राणघातक, मुखवाला, शरीरके स्तंभमें रहनेवाला, घातकी, क्षीणता बढानेवाला कृमि है, उसको स्त्रीके अवयवोंसे हटा देते हैं ॥ ५ ॥

कई क्रिमी सूंघनेसे प्राणघात करते हैं, कई स्पर्शसे नाश करते हैं, कई मांसको क्षीण करते हैं, कई अन्य रीतिसे घात करते हैं, कई कष्ट देते हैं, उन सब रोगबीजोंको पीली बज्र औषधि हटा देती है ॥ ६ ॥

भाई अथवा पिताके रूपसे स्वप्नमें जो आते हैं, वे निर्वीर्य हैं, परंतु घातक होते हैं, इनको इस बज औषधिसे हटाया जा सकता है ॥ ७ ॥

सोनेकी अवस्थामें अथवा जागनेकी अवस्थामें जो रोगबीज पास आते हैं, उनको सूर्य अन्धकारका नाश करनेके समान नाश करता है ॥ ८ ॥

जो रोगबीज स्त्रीको मृतवत्सा अथवा गर्भपात करनेवाली बनाते हैं, उन रोगबीजोंका नाश कर और उस स्त्रीका गर्भस्थान नीरोग बना ॥ ९ ॥

ये शालाः परिनृत्यन्ति सायं गर्दभनादिनः ।
कुसूला ये च कुक्षिलाः ककुभाः करुमाः स्रिमाः ।
तानोषधे त्वं गन्धेन विषूचीनान्वि नाशय ॥ १० ॥

ये कुकुन्धाः कुकूरभाः कृत्तीर्दूर्शानि बिभ्रति ।
क्लीबा इव प्रनृत्यन्तो वने कुर्वते घोषं तानितो नाशयामसि ॥ ११ ॥

ये सूर्यं न तितिक्षन्त आतपन्तममुं दिवः ।
अरायान्बस्तवासिनो दुर्गन्धींल्लोहितास्यान्मककान्नाशयामसि ॥ १२ ॥

य आत्मानमतिमात्रमंस आधाय बिभ्रति ।
स्त्रीणां श्रोणिप्रतोदिन इन्द्र रक्षांसि नाशय ॥ १३ ॥

अर्थ— (ये गर्दभनादिनः) जो गधेके समान शब्द करनेवाले (सायं शालाः परिनृत्यन्ति) सायं कालके समय घरोंके चारों ओर नाचते हैं, (कुसूलाः कुक्षिलाः) सूईके समान अग्र भागवाले, बडे पेटवाले, (ककुभाः करुमाः स्रिमाः) टेडे मेडे, बुरा शब्द करनेवाले, छोटे रोगक्रिमि हैं; हे औषधे ! (त्वं तान् गंधेन) तू उनको अपने गंधसे (विषूचीनान् विनाशय) फैलाकर नाश कर ॥ १० ॥

(ये कुकुन्धाः कुकूरभाः) जो बुरा शब्द करते हैं और थोडेसे चमकते हैं और जो (कृत्तीः दूर्शानि बिभ्रति) काटनेवाले दंश करनेके साधनोंको धारण करते हैं, (ये घोषं कुर्वते) जो शब्द करते हुए (क्लीबा इव वने प्रनृत्यन्तः) षढोंके समान वनमें नाचते हैं, (तान् इतः नाशयामसि) उनको यहांसे नाश करते हैं ॥ ११ ॥

(ये दिवः आपतन्तं अमुं सूर्यं न तितिक्षन्ते) जो द्युलोकसे आनेवाले इस सूर्यको नहीं सहन कर सकते, उन (अरायान् बस्तवासिनः) सत्वहीन करनेवाले चर्ममें रहनेवाले (दुर्गन्धीन् लोहितास्यान्) दुर्गंधवाले रक्त युक्त मुंहवाले, (मककान् नाशयामि) मच्छरोंको यहांसे नाश करो ॥ १२ ॥

(यः आत्मानं अतिमात्रं अंसे आधाय) जो अपने आपको अत्यंत रूपसे कन्धेपर चढाकर (बिभ्रति) धारण करता है, हे इन्द्र ! उन (स्त्रीणां प्रतोदिनः रक्षांसि नाशय) स्त्रियोंके गर्भभागको पीडा करनेवाले रोग क्रुमियोंका नाश कर ॥ १३ ॥

भावार्थ— गधेके समान बुरा शब्द करनेवाले मच्छर आदि जो सायंकालके समय घरके पास नाचते और गाते रहते हैं, जिनके मुखमें सुईके समान चुभनेवाला शस्त्र रहता है, जिनका पेट बडा, और टेढामेढा होता है और जिनके शब्दसे दुःख होता है, उन रोगक्रिमी मच्छर आदिकोंको इस गंधवाली औषधिसे चारों ओर फैलाकर नाश करो ॥ १० ॥

बुरा शब्द करनेवाले, सब मिलकर बडा आवाज करनेवाले, मुखमें काटने और दंश करनेके साधन रखनेवाले, वनमें नाचनेवाले रोगोत्पादक मच्छर आदि क्रिमियोंको यहांसे हटा दो ॥ ११ ॥

द्युलोकसे प्रकाशनेवाले सूर्यके प्रकाशको जो सह नहीं सकते, दुर्गंधियुक्त चर्म आदि पदार्थोंमें जो रहते हैं, उन रक्त पीनेवाले मच्छरोंका हम नाश करते हैं ॥ १२ ॥

जो अपने आपको कन्धेके सहारे ऊपर ही ऊपर धारण करता है, वह रोगक्रुमि स्त्रीके गर्भाशयका रोग बनानेवाला है, उसका नाश कर ॥ १३ ॥

ये पूर्वे वध्वो३ यन्ति हस्ते शृङ्गाणि बिभ्रतः ।
आपाकेष्ठाः प्रहासिन स्तम्बे ये कुर्वते ज्योतिस्तानितो नाशयामसि ॥ १४ ॥

येषां पश्चात्प्रपदानि पुरः पार्ष्णीः पुरो मुखा ।
खलजाः शकधूमजा उरुण्डा ये च मट्मटाः कुम्भमुष्का अयाशवः ।
तानस्या ब्रह्मणस्पते प्रतीबोधेन नाशय ॥ १५ ॥

पर्यस्ताक्षा अप्रचङ्कशा अस्त्रैणाः सन्तु पण्डगाः
अव भेषज पादय य इमां संविवृत्सत्यपतिः स्वपतिं स्त्रियम् ॥ १६ ॥

उद्धर्षिणं मुनिकेशं जम्भयन्तं मरीमृशम् ।
उपेषन्तमुदुम्बलं तुण्डेलमुत शालुडम् ॥
पदा प्र विध्य पार्ष्ण्या स्थालीं गौरिव स्पन्दना ॥ १७ ॥

अर्थ—(ये पूर्वे हस्ते शृंगाणि बिभ्रतः) जो पहिले अपने हाथमें सींगोंको लेकर (वध्वः यन्ति) स्त्रीके पास पहुंचते हैं, (ये आपाकेष्ठाः प्रहासिनः) जो पाक स्थानमें रहते हैं और जो हंसाते हैं, (ये स्तंबे ज्योतिः कुर्वते) जो स्तंभमें प्रकाश करते हैं, (इतः तान् नाशयामसि) यहांसे उनको नाश करते हैं ॥ १४ ॥

(येषां प्रपदानि पश्चात्) जिनके पांव पीछे और (पार्ष्णीः पुरः) एडियां आगे हैं और (मुखा पुरः) मुख भी आगे हैं, (खलजाः शकधूमजाः) खलमें उत्पन्न, गोबरके धूमसे उत्पन्न, (उरुण्डा ये च मट्मटाः) जो बडे मुखवाले और कष्ट बढानेवाले (कुम्भमुष्काः अयाशवः) बडे अण्डवाले गतिमान होते हैं उनको हे ब्रह्मणस्पते ! (अस्याः तान्) इस स्त्रीके उन रोगबीजोंको (प्रतीबोधेन नाशय) ज्ञानसे नाश कर ॥ १५ ॥

(पर्यस्त अक्षाः) जिनकी आंखें बिगडी हैं, (अ-प्र-चंकशाः) विशेष क्षीण (पण्डगाः) निर्बुद्ध मनुष्य (अ-स्त्रैणाः सन्तु) स्त्रीसुखसे रहित हों। (इमां स्वपतिं स्त्रियं) इस अपने पतिके साथ रहनेवाली स्त्रीको जो (अ-पतिः संविवृत्सति) स्वयं किसीका पति न होता हुआ प्राप्त करनेकी इच्छा करता है, हे (भेषज) औषध ! उसको (अवपादय) नीचे गिरा ॥ १६ ॥

(स्पन्दना गौः स्थालीं इव) कूदनेवाली गाय जिसप्रकार दुग्धपात्रको लातसे धकेलती है उस प्रकार (पार्ष्ण्या पदा च) एडि और पदसे (उद्धर्षिणं मुनिकेशं) ऊटपटांग करनेवाले, मुनियोंके समान केशधारी कपटी, (जम्भयन्तं मरीमृशं) हिंसक और बुरा स्पर्श करनेवाले (उपेषन्तं उदुम्बलं) पास जानेवाले, मारनेवाले, (तुण्डेलं उत शालुडं) भयानक मुखवाले और दुष्टको (प्रविध्य) विशेष रीतिसे वेध डाल ॥ १७ ॥

भावार्थ— जो अपने पास सींग रखते हैं, पाकगृहमें रहते हैं, जो चमकते हैं और स्त्रियोंके पास जाकर रोग उत्पन्न करते हैं, उन कृमियोंको यहांसे नाश करो ॥ १४ ॥

इनके पांव पीछेकी ओर और एडि आगेकी ओर होती है, मुख भी आगेकी ओर होता है, जो गोबर आदिमें उत्पन्न होते हैं ये बडा कष्ट देनेवाले रोगबीज यहांसे हटा दो ॥ १५ ॥

जिनकी आंखें खराब होती हैं, जो विशेष क्षीण हैं, वे स्त्रीसे सम्बन्ध न रखें। जो पुरुष अपनी स्त्रीको छोडकर अन्यकी स्त्रीसे कुकर्म करता है, उसको औषधसे गिरा दो ॥ १६ ॥

जैसी गौ मट्टीका बर्तन तोडती है, उस प्रकार एडी और पांवसे झूठे, मुनिवेषधारी, हिंसक दम्भी आदि सब प्रकारके दुष्ट मनुष्यको वेध डाल ॥ १७ ॥

यस्ते गर्भं प्रतिमृशाज्जातं वा मारयाति ते ।
पिङ्गस्तमुग्रधन्वा कृणोतु हृदयाविधम् ॥ १८ ॥
ये अम्नो जातान्मारयन्ति सूतिका अनुशेरते ।
स्त्रीभागान्पिङ्गो गन्धर्वान्वातो अभ्रमिवाजतु ॥ १९ ॥
परिसृष्टं धारयतु यद्धितं माव पादि तत् ।
गर्भं त उग्रौ रक्षतां भेषजौ नीविभार्यौ ॥ २० ॥
पवीनसात्तङ्गल्वाइच्छायकादुत नग्नकात् ।
प्रजायै पत्ये त्वा पिङ्गः परि पातु किमीदिनः ॥ २१ ॥
द्व्यास्याच्चतुरक्षात्पञ्चपादादनङ्गुरेः ।
वृन्तादभि प्रसर्पतः परि पाहि वरीवृतात् ॥ २२ ॥

अर्थ— (यः ते गर्भं प्रतिमृशात्) जो तेरे गर्भका नाश करे, और (ते जातं वा मारयाति) तेरे जन्मे हुए बालकको जो मारता है, (तं) उसको (उग्रधन्वा पिंगः) उग्रधनुर्धारी पीतवर्णवाला (हृदयाविधं कृणोतु) हृदयमें प्रहार करे ॥ १८ ॥

(ये अम्नः जातान् मारयन्ति) जो अभी उत्पन्न गर्भोंको मारते हैं, जो (सूतिकाः अनुशेरते) प्रसूती गृहमें रहते हैं, उन (गंधर्वान् स्त्रीभागान्) गंधवान् स्त्रीयोंके भागमें रहेवाले रोगक्रिमियोंको (पिंगः) पीली बज औषधि (वातः अभ्रं इव) वायु मेघको हटता है वैसे (अजतु) हटा देवे ॥ १९ ॥

(परिसृष्टं धारयतु) सब प्रकारसे उत्पन्न हुए गर्भका धारण करे। (यत् हितं तत् मा अव पादि) जो गर्भ रखा है वह न गिरे। (नीविभार्यौ उग्रौ भेषजौ) कपडेमें धारण करने योग्य दोनों उग्र औषध (ते गर्भं रक्षतां) तेरे गर्भकी रक्षा करें ॥ २० ॥

(पवीनसात् तंगल्वात्) वज्रसमान नाकवाले, बडे गालवाले, (छायकात् उत नग्नकात्) काले और नंगे (किमीदिनः) भूखे रोगक्रिमीसे (प्रजायै पत्ये) प्रजा और पतिके सुखके कारण (पिंगः त्वा परिपातु) पीला औषध तेरी रक्षा करे ॥ २१ ॥

(द्व्यास्यात् चतुरक्षात्) दो मुखवाले, चार आंखोंवाले, (पञ्चपादात् अनंगुरेः) पांच पांववाले और बिना अंगुलियोंवाले (अभिप्रसर्पतः वरीवृतात् वृन्तात्) आगे बढनेवाले घेरे हुए जडोंसे युक्तसे (परिपाहि) रक्षा कर ॥२२॥

भावार्थ— जो गर्भका नाश करेगा, अथवा उत्पन्न हुए बालकको खावेगा, उसके हृदयपर प्रहार कर ॥ १८ ॥

जो जन्मे बालकोंको मारता है, जो सूतिकागृहमें रहते हैं, जो स्त्रियोंके पास रहते हैं उन रोगक्रमियोंको यह पीली औषधि दूर करे ॥ १९ ॥

गर्भाशयमें गर्भकी उत्तम धारणा हो, गर्भ न गिरे, दोनों उग्र औषधियां गर्भकी रक्षा करें ॥ २० ॥

प्रजाकी सुरक्षितताके लिये वज्रनासिकावाले, बडे गालवाले, काले नंगे भूखे रोगक्रमिसे पीली औषधिके द्वारा तेरी रक्षा करते हैं ॥ २१ ॥

दो मुखवाले, चार आंखवाले, पांच पांववाले, अंगुलीरहित, रोगक्रमि जो पास आते हैं, उनसे रक्षा हो ॥ २२ ॥

य आमं मांसमदन्ति पौरुषेयं च ये क्रविः ।
गर्भान्खादन्ति केशवास्तानितो नाशयामसि ॥ २३ ॥

ये सूर्यात्परिसर्पन्ति स्नुषेव श्वशुरादधि ।
बजश्च तेषां पिङ्गश्च हृदयेऽधि नि विध्यताम् ॥ २४ ॥

पिङ्ग रक्ष जायमानं मा पुमांसं स्त्रियं क्रन् ।
आण्डादो गर्भान्मा दभन्वाधस्वेतः किमीदिनः ॥ २५ ॥

अप्रजास्त्वं मार्तवत्समाद्रोदमघमावयम् ।
वृक्षादिव स्रजं कृत्वाप्रिये प्रति मुञ्च तत् ॥ २६ ॥

अर्थ— (ये आमं मांसं अदन्ति) जो कच्चा मांस खाते हैं, (ये च पौरुषेयं क्रविः) और जो पुरुषका मांस खाते हैं, (केशवाः गर्भान् खादन्ति) बालोंवाले जो गर्भोंको खाते हैं (तान् इतः नाशयामसि) उनको यहांसे हम हटा देते हैं ॥ २३ ॥

(ये सूर्यात् परिसर्पन्ति) जो सूर्यसे पीछे हटते हैं (श्वशुरात् स्नुषा इव अधि) जैसे श्वशुरसे बहु दूर जाती है । (बजः च पिंगः च) बज और पिंग (तेषां हृदयं अधि निविध्यतां) उनके हृदयके ऊपर वेध करें ॥२४॥

हे (पिंग) पीले औषध ! (जायमानं रक्ष) उत्पन्न होनेवाले बालककी रक्षा कर (पुमांसं स्त्रियं मा क्रन् ः) पुरुष और स्त्रीको न मारें । (आण्डादः गर्भान् मा दभन्) अण्ड खानेवाले गर्भोंका न नाश करें । (इतः किमीदिन) बाधस्व) यहांसे भूखे क्रिमियोंको दूर कर ॥ २५ ॥

(अ-प्रजास्त्वं) वंध्यापन, (मार्त—वत्सं) बच्चोंका मरना, (आत् रोदं) रोना पीटना, (अघं आवयं) पापका भोग (तत्) यह सब दुःख (वृक्षात् स्रजं इव) वृक्षसे फूल गिरनेके समान (अप्रिये प्रतिमुञ्च) अप्रिय स्थानमें छोड दो ॥ २६ ॥

भावार्थ— जो कच्चा मांस खाते हैं, गर्भोंको खाते हैं, उनको यहांसे नाश कर ॥ २३ ॥

जो कृमि सूर्यसे छिपते हैं, सूर्यकिरणोंके सामने ठहर नहीं सकते, उनका नाश अब औषधिसे कर ॥ २४ ॥

उत्पन्न होनेवाले बच्चेकी रक्षा कर । स्त्री पुरुषको दुःख न हो । अण्ड खानेवाले गर्भका नाश न करें । दुष्टोंको यहांसे दूर कर ॥ २५ ॥

वंध्यापन, बच्चे मरना, रोनेकी ओर प्रवृत्ती, पाप प्रवृत्ति, ये सब दोष दूर जांय । वृक्षसे फूल गिरनेके समान ये सब दोष मनुष्यसे दूर हों ॥ २६ ॥

गर्भदोषनिवारण

प्रसूतिके दोष

प्रसूतिके समय स्त्रियोंको विविध रोग होते हैं, उसका कारण मलिनता है, अतः इस स्थानकी पवित्रता करके और कुछ औषधियोंका उपयोग करके स्त्रियोंके प्रसूतिके कष्ट दूर करने चाहिये, इस महत्त्वपूर्ण विषयका वर्णन इस सूक्तमें कहा है। इसका ऋषि 'मातृ-नामा' है अर्थात् यह माता हि है। माताओंके अनुभव सूक्ष्मरीतिसे देखकर उनका संग्रह करके जो अनुभवज्ञान प्राप्त हो सकता है, वह इस सूक्तमें है। इस सूक्तका विषय इसी सूक्तके ९ वे मन्त्रमें कहा है—

यः स्त्रियं मृतवत्सां अवतोकां करोति।
अस्याः तं नाशय, कमलं अञ्जिवं (कुरु)॥ (मं० ९)

"जिस रोगके कारण स्त्रीके बच्चे मरते हैं, अथवा जिस दोषसे स्त्रीका गर्भ पतनको प्राप्त होता है, उस स्त्रीका वह दोष दूर करना चाहिये और उसके गर्भाशयको निर्दोष बनाना चाहिये।" यह इस सूक्तका साध्य है। स्त्रीका गर्भपात न होवे और बाल बच्चे भी दीर्घायु हों। यह उपाय करना इस सूक्तका वाञ्छित विषय है। यह विषय सब स्त्रीजातिका हित करनेवाला होनेके कारण बडा उपयोगी है। सब कुटुम्बी इससे लाभ उठा सकते हैं। इस सूक्तमें कहा है कि सूतिकागृहमें कुछ रोगबीज होते हैं अथवा बाहरसे घुसते हैं, उनका नाश करनेके लिये 'बज पिंग' नामक औषधि है, देखिये—

ये अम्नः जातान् मारयन्ति, सूतिकाः अनुशेरते।
स्त्रीभागान् पिङ्गः अजतु॥ (मं० १९)

"जो रोगबीज जन्मे हुए बच्चोंको मारते हैं, वे सूतिका गृहमें रहते हैं, वेही स्त्रियोंके भागोंमें पहुंचते हैं। उनको दूर करनेके लिये पिंग नामक औषधि है।" इस पिंग औषधिका विचार हम आगे करेंगे, यहां इतनाही देखना है कि ये रोगबीज सूतिकागृहके मलोंके कारण उत्पन्न होते हैं। और इसके कारण गर्भस्राव होता है, गर्भपात होता है और बच्चेभी मर जाते हैं। प्रायः सूतिकागृहमें अज्ञानी लोग अन्धेरा रखते हैं, सूर्यप्रकाश वहां नहीं पहुंचता, अतः अन्धेरेके दोषसे ये रोगबीज वहां होते और बढते हैं, ये सूर्यप्रकाशमें नहीं रहते, इस विषयमें निम्नलिखित मंत्र देखिये—

ये सूर्यात् परिसर्पन्ति स्नुषेव श्वशुरादधि।
बजः तेषां हृदये अधि निविध्यताम्। (मं० २४)

"ये रोगबीज सूर्यप्रकाशसे दूर भागते हैं जिस प्रकार बहु श्वशुरसे दूर भागती है। उन रोगक्रिमियोंके हृदयोंपर बज औषधि बडा धक्का लगाती है।" यहां उपमा उत्तम रीतिसे विचार करने योग्य है। बहु अर्थात् स्नुषा श्वशुरके पास नहीं ठहरती, वह उसके सन्मुख भी खडी नहीं होती, श्वशुर आते ही पीछे हटकर भागती है उसी प्रकार ये रोगबीज सूर्यप्रकाशके सन्मुख खडे नहीं रह सकते, सूर्यप्रकाशमें जीवित भी नहीं रह सकते, जहां सूर्यप्रकाश पहुंचता है वहां ये नहीं रहते। अतः जहां नीरोगता करनेकी इच्छा हो वहां सूर्यप्रकाश विपुल रखना चाहिये। यदि प्रसूतिगृहके रोगबीज नष्ट करनेकी इच्छा हो तो वहां सूर्यप्रकाश पहुंचानेकी व्यवस्था करनी चाहिये।

बज औषधि इनके हृदयोंपर प्रहार करती है ऐसा यहां कहा है, इससे इनको हृदय है यह बात सिद्ध होती है। अर्थात् ये रोगबीज हृदयवाले होनेसे कृमिरूप हैं, ये निर्जीव नहीं हैं, ये कृमि चूंकि अन्धेरेमें बढते हैं और सूर्यप्रकाशमें नाशको प्राप्त होते हैं, अतः इनसे बचनेका उपाय सूर्यप्रकाश हि है यह बात निश्चित हो गयी है। परमेश्वरने सूर्यप्रकाश एक ऐसी औषधि दी है कि जिससे अनेक रोग दूर होते हैं और मनुष्य नीरोग और दीर्घायु हो सकता है। इसलिये कहा है—

अप्रजास्त्वं मार्तवत्सं रोदं अघं आवयं प्रतिमुञ्च।
(मं० २६)

"संतान न होना, बच्चे पैदा होनेके बाद मरने, उस कारण रोने पीटनेका संभव होना, पापाचरणमें प्रवृत्ति होना, इत्यादि बातोंसे मनुष्यको मुक्त होना चाहिये।" अर्थात् मनुष्यको ऐसा प्रबंध करना चाहिये कि घरमें संतती पैदा होवे, उत्पन्न हुए बच्चे न मरें दीर्घकाल जीवित रहें, मनुष्यको कुटुंबियोंकी मृत्युके कारण रोने पीटनेका समय न आवे, सब कुटुंबि आनंदसे कालक्रमण करते रहें और किसीकी प्रवृत्ति पापकी ओर न होवे। यह साध्य करनेके लिये विपुल सूर्यप्रकाशमें

रहनेकी अत्यंत आवश्यकता है। इसका कार्यकारणभाव यह है कि सूर्यप्रकाशसे नीरोगता होती है, रोगबीज दूर होते हैं, नीरोग होनेसे शरीर पुष्ट और वीर्यवान् होता है। स्त्रीपुरुषोंके शरीर वीर्यवान् और हृष्टपुष्ट होनेसे ऐसे दोनों पतिपत्नियोंसे होनेवाला गर्भाधान उत्तम होता है, वह स्थिर होता है, संतान नीरोग, बलवान् और सुदृढ होता है, दीर्घजीवी होता है, अर्थात् ऐसे संतान होनेसे अपमृत्युके कारण होनेवाली रोनेपीटनेकी संभावना नहीं होती, इत्यादि लाभ पाठक विचार करके जान सकते हैं। प्रसूतिगृहका आरोग्य रखनेसे ऐसे अनेक लाभ होते हैं। और प्रसूतिगृहका आरोग्य सूर्यप्रकाशसे स्थिर हो सकता है, अतः कहा है—

यः स्वपन्तीं जाग्रतीं रिप्सति (तं) सूर्यः अनीनशत् ॥ (मं० ८)

"जो रोगबीज सोती हुई या जागती हुई स्त्रीके शरीरमें जाकर उनको कष्ट देता है, उस रोगबीजका नाश सूर्य करता है।" सूर्यप्रकाशसे ये सब रोगबीज दूर होते हैं, रोगजन्तु भी सूर्यप्रकाशसे दूर हटते हैं, यह बात आजका नवीन शास्त्र भी कहता है। अब पाठक देखें कि यदि हमारे प्रसूतिगृह इस वेदाज्ञाके अनुसार बनाये जांय, तो कितना कल्याण होगा। परंतु इसका विचार बहुत थोडे लोग करते हैं, इसी सूर्यप्रकाशका महत्त्व निम्नलिखित मंत्रमें विशेष रीतिसे कहा है—

ये सूर्यं न तितिक्षन्ते तान् नाशयामसि। (मं. १२)

"जो सूर्यको नहीं सह सकते उन रोगकृमियोंका नाश हम करते हैं।" यहां कहा है कि ये रोगजन्तु सूर्यप्रकाशको सह नहीं सकते। अन्धकारमें हि ये होते, बढते और रोगोत्पत्ति करते हैं। जो सूर्यप्रकाशको सह नहीं सकते, वे सूर्यप्रकाशसे हि नष्ट होते हैं। सूतिकागृहका आरोग्य इस प्रकार सूर्य प्रकाशसे सहजहीमें प्राप्त हो सकता है अतः कहा है—

यः गर्भं प्रतिमृशात् जातं वा मारयाति।
तं पिंगः हृदयाविधं कृणोतु। (मं० १८)

"जो रोगकृमि गर्भका नाश करता है, जन्मे हुए बच्चोंका नाश करता है, उसको पिंगलवर्णका सूर्य (अथवा पीली औषधि) हृदयमें वेध करके नाश करे।" यहां 'पिंग' शब्दके दोनों अर्थ होना संभव है। सूर्य भी (पिंगल) पीत वर्ण होता है और वह वनस्पति भी वैसीहि पीली होती है। जो रोगकृमि पूर्वोक्त प्रकार प्रसूतिगृहमें अंधेरेमें और मलिनतामें उत्पन्न होते हैं, वे इस प्रकार नाश करते हैं—

ये आमं मांसं खादन्ति, ये पौरुषेयं च क्रविः।
केशवाः गर्भान् खादन्ति तान् इतः नाशयामसि। (मं० २३)

"ये रोगजन्तु शरीरका कच्चादि मांस खाते हैं, मानवी शरीरके टुकडे वहांके वहांही खाते हैं, वेही गर्भोंको खाते हैं, अतः उनका नाश करना उचित है।" उनका नाश करना सूर्यप्रकाशसेहि हो सकता है। जब ये रोगक्रिमी शरीरमें घुसते हैं तब जहां वे जाते हैं वहां रक्त और मांस खाकर मनुष्यको क्षीण करते हैं, और यदि ये गर्भमें पहुंचे तब गर्भको भी सुखा देते हैं, इसलिये सूर्यप्रकाशकी शरण जाना अत्यन्त योग्य है। अतः कहा है—

पिंग जायमानं रक्ष, पुमांसं स्त्रियं मा क्रन्।
आण्डादः गर्भान् मा दभन्, इतः किमीदिनः बाधस्व ॥ (मं० २५)

पिंगलवर्ण सूर्य (अथवा औषध) जन्मे हुए बालककी रक्षा करता है, स्त्री या पुरुषको रोनेका अवसर नहीं देता, गर्भोंको रोगकृमि दबा नहीं सकते, और ये जो भूखे क्रिमी हैं उनको सूर्यप्रकाश ही दूर हटा देता है।" ये सूर्यप्रकाशसे लाभ होते हैं। इस मन्त्रमें इन रोगक्रिमियोंका नाम 'किमीदिन्' और 'आण्डाद' कहा है। किमीदिनोंका अर्थ (कि–इदानीं) अब क्या खायें, अब क्या खायें, ऐसा कहनेवाले ये कृमी होते हैं अर्थात् ये सदा भूखे होते हैं, कभी इनकी भूख शान्त नहीं होती, क्योंकि इनको अनुकूल पदार्थ खानेको मिला, तो वे बहुत संख्यामें बढते हैं और अधिक खानेकी इच्छा करते हैं। इसी प्रकार ये (आण्डाद) अण्डमें स्थित वीर्यको खा जाते हैं और मनुष्यको निर्वीर्य बना देते हैं, इसलिये इनका हमला होनेसे मनुष्य अकालमें मरता है, परन्तु यदि यह मनुष्य सूर्यप्रकाशसे नीरोग बननेका यत्न करेगा, तो इसकी अकालमृत्यु हटती है।

ये रोगबीज प्रसूतिगृहमें स्त्रीके शरीरपर हमला करते हैं और उसके शरीरमें रोग उत्पन्न होता है। रोग उत्पन्न होनेके पश्चात् उसके निवारणका उपाय करनेकी अपेक्षा रोग न होनेका यत्न करना अधिक लाभकारी है, इसलिये कहा है—

जातायाः दुर्णामा अलिंशः वत्सपः मा गृधत्। (मं० १)

"बालक जन्मतेही दुर्णामा, अलिंश और वत्सप ये रोगबीज स्त्रीपर हमला करनेकी इच्छा न करें।" प्रसूतिगृहमें ये रोगक्रिमी होते हैं और स्त्रीपर हमला करते हैं। अतः ऐसा प्रबंध करना चाहिये कि, ये कृमि प्रसूतिगृहमें न उत्पन्न हों, उत्पन्न हुए तो स्त्रीके शरीरपर हमला न करें, हमला किया तो रोग उत्पन्न करनेमें समर्थ न हों। प्रसूतिगृहमें बज नामक औषधि रखनेसे अथवा सूर्यकिरण वहां पहुंचानेसे यह बात सिद्ध हो सकती है, अतः कहा है—

बजं दुर्णामचातनं। (मं० ३)

"बज औषधी इस दुर्णाम नामक रोगबीजको दूर करनेवाली होती है।" यह वनस्पति प्रसूतिगृहमें रखनेसे वहांका आरोग्य स्थिर रह सकता है। सब कृमि रोग उत्पन्न करते हैं ऐसी बात नहीं है, इन कृमियोंमें दो प्रकारके कृमि हैं, उनमेंसे एक अच्छा है और दूसरा बुरा, इस विषयमें निम्नलिखित मंत्र देखने योग्य है—

दुर्णामा च सुनामा च उभौ संवृतं इच्छतः।
अरायान् अप हन्मः सुनामा स्त्रैणं इच्छताम्॥ (मं० ४)

"दो प्रकारके ये कृमी हैं, एक (सुनामा) उत्तम नामवाला अर्थात् जो शरीरमें हितकारी है और दूसरा (दुः-नामा) दुष्ट नामवाला, जिससे शरीरमें रोग उत्पन्न होते हैं। ये दोनों शरीरपर आक्रमण करना चाहते हैं। इनमें जो (अ-रायान्) कृपण, अनुदार अथवा दुष्ट होते हैं उनका नाश हम करते हैं; और जो उत्तम हैं वे स्त्रीके पास पहुंचें।" अर्थात् उत्तम कृमि मनुष्यके लिये हितकारक हैं, परन्तु जो रोगजन्तु हैं वेही घातक हैं, अतः ऐसा प्रबन्ध होना चाहिये कि ये घातक रोगजन्तु यहां किसीको कष्ट न पहुंचा सकें। ये कृमि किस रूपके होते हैं, इसका वर्णन निम्नलिखित मन्त्रमें कहा है—

द्व्यास्यात् चतुरक्षात् पञ्चपदात् अनंगुरेः।
अभिसर्पतः परिवृतात् वृन्तात्परिपाहि। (मं. ११)

"इन कृमियोंको दो मुख, चार आंख और पांच पांव होते हैं। इनको अंगुलियां नहीं होती। ये हमला चढाते हैं, और संघशक्तिसे रहते हैं, इनसे बचना चाहिये।" यह इन कृमियोंका वर्णन है, इसके साथ निम्नलिखित वर्णन और देखिये—

येषां प्रपदानि पश्चात्, पार्ष्णीः मुखानि च पुरः।
खलजाः शकधूमजाः उरुण्डाः मट्मटाः कुम्भमुष्काः अयाशवः। अस्याः तान् प्रतिबोधेन नाशय। (मं. १५)

"इनके पांव पीछेकी ओर तथा एडी और मुख आगेकी ओर होता है।" इन कृमियोंका वर्णन करनेवाले शब्द इस मंत्रमें 'खलजाः, शकधूमजाः, उरुण्डाः, मट्मटाः, कुम्भमुष्काः, अयाशवः' ये हैं, इनमें 'शकधूमज' शब्दका अर्थ 'गोबरके धूवेसे उत्पन्न' है, अन्य शब्दोंके अर्थ अभीतक विशेष विचार करने योग्य स्पष्ट नहीं हुए हैं। पाठक इनकी खोज करें और अधिक यत्नके द्वारा इनके अर्थको जानें। इस सूक्तमें ऐसे और भी बहुतसे शब्द हैं कि जिनका अर्थ स्पष्ट खुलता नहीं है। ये कृमि स्त्रियोंके शरीरोंमें रोग उत्पन्न करते हैं, इस विषयमें कहा है—

ये हस्ते शृंगाणि बिभ्रतः बभ्वः यन्ति।
ये स्तम्बे ज्योतिः कुर्वते।
ये आ-पाके-स्थाः प्रहासिनः नाशयामसि। (मं० १४)

"जो हाथोंमें अपने सींगोंको धारण करते हैं और स्त्रीके पास पहुंचते हैं, जो चमकते हैं और पाकशालामें निवास करते हैं, उनका नाश करते हैं।" ऐसे कृमि स्त्रियोंके शरीरमें घुसते हैं और वहां विविध रोग उत्पन्न करते हैं, अतः इनका नाश करना योग्य है। इस वर्णनका 'स्तंबमें ज्योति करनेका' क्या अर्थ है इसका ज्ञान नहीं होता। इसकी भी खोज होनी चाहिये। इस सूक्तमें रोगजंतुओंके दो भेद कहे हैं— एक सूक्ष्म और एक बडे। यहांतक सूक्ष्मकृमियोंका वर्णन हुआ अब बडे मच्छर जैसे कृमियोंका वर्णन देखिये—

मच्छरोंका गायन।

गर्दभनादिनः कुसूलाः कुक्षिलाः ककुभाः करुमाः स्त्रिमाः।
सायं शालाः परिनृत्यन्ति, तान् गन्धेन नाशय॥ (मं० १०)

"गधे जैसा शब्द करनेवाले, जिनके पास चुभानेके लिये सूई जैसे हथियार होते हैं जिनका पेट बडा होता है, जो सायंकालके समय घरके पास नाचते हैं, इनका गन्धसे

नाश कर। " यह वर्णन प्रायः मच्छरों अथवा मच्छर जैसे कीड़ोंका वर्णन है। ये शब्द करते हैं, सायंकाल इनका शब्द सुनाई देता है, इनके काटनेकी सुईयां बडी तीक्ष्ण होती हैं। इनका नाश करनेके लिये उग्रगन्धवाले अथवा सुगन्धवाले पदार्थ जलाना चाहिये। ऊद या धूप जलानेसे और घरमें इसका धूवां करनेसे मच्छर हटते हैं, यह आजका भी अनुभव है। इसी प्रकार उग्रगन्धवाले पदार्थ भी जलानेसे इन कीटोंको हटाया जा सकता है इन्हींका वर्णन निम्नलिखित मन्त्रमें है—

मच्छरोंके शस्त्र।

कुकुम्धाः कुकूरभाः कृतीः दूर्शानि बिभ्रति।
ये घोषं कुर्वतः वने प्रनृत्यतः; तान् नाशयामसि।
(मं० ११)

"(कृतीः) काटनेवाले (दूर्शानि) दंश करनेके साधन अपनेपास धारण करते हैं। ये शब्द करते हैं और जङ्गलमें नाच करते हैं, इनका नाश करते हैं।" यह वर्णनभी पूर्वके समानही मच्छरोंका वर्णन है। मच्छरोंके मुखोंमें जो काटनेके साधन होते हैं, उनका नाम यहां 'दूर्श' दिया है। और काटनेके कारणहि इनकों 'कृती' अर्थात् काटनेवाला कहा है। ये ज्वरादिको बढाते हैं इसलिये इनका उग्रगन्धवाले पदार्थ जलाकर नाश करना उचित है। इस मन्त्रमें और पूर्व मन्त्रमें कई ऐसे शब्द हैं कि जिनका अर्थ स्पष्ट नहीं ज्ञात होता। ये शब्द खोजके योग्य हैं तथा और देखिये—

मच्छरोंके स्थान।

अरायान् बस्तवासिनः दुर्गन्धीन् लोहितास्यान्
मककान् नाशयामसि॥ (मं० १२)

"ये कृमि वस्त अर्थात् चर्म आदिपर रहते हैं, इनको दुर्गन्ध आती है, इनके मुख लाल होते हैं, इन मशकोंका अर्थात् मच्छरोंका नाश करते हैं।" इस मंत्रमें 'मकक' शब्द बहुत करके मच्छरोंका वाचक है। 'बस्त' शब्दके निश्चित अर्थकी भी खोज करना आवश्यक है। इन कृमियोंको यहां 'अराय' कहा है। इस शब्दका अर्थ 'न देनेवाला' है। ये कृमि आरोग्यको नहीं देते, खूनको नहीं देते, आयुष्यको नहीं देते तथा शरीरकी शोभाको और बलको भी नहीं देते हैं। क्योंकि इनसे अनेक रोग होते हैं और उस कारण उक्त बातोंका क्षय होता है। रोगकृमियोंके कुछ लक्षण निम्नलिखित शब्दोंद्वारा प्रकट होते हैं, अतः वे शब्द अब देखिये, द्वितीय मन्त्रमें निम्नलिखित रोगजन्तुओंके नाम हैं—

रोगक्रिमियोंके नाम।

१ पलाल-अनुपलालौ— मांस जिनको अनुकूल है, मांस रससे जो बढते हैं, मांस खाकर जिनकी वृद्धि होती है।

२ शर्कुः— हिंसक, जो नाश करते हैं,

३ कोकः— कामको बढाकर वीर्यनाश करनेवाले,

४ मलिम्लुच्— मलीनतासे बढनेवाले, मलीनतामें उत्पन्न होनेवाले,

५ पलीजकः— पलित रोगको करनेवाले,

६ आश्रेषः— किसीके साथ रहनेवाले,

७ प्रमीलिन— सुस्ती लानेवाले,

इस मंत्रके अन्यशब्द "वव्रिवासस्, ऋक्षग्रीव" ये खोज करने योग्य हैं, क्योंकि इनका अर्थ स्पष्ट नहीं हुआ है। पंचम मंत्रमें निम्नलिखित शब्द हैं—

८ कृष्णाः = काले रंगवाले, किंवा खींचनेवाले,

९ केशी = बालोंवाले अथवा, तन्तुवाले,

१० अ-सुरः = प्राणघात करनेवाले,

११ तुण्डिकः = छोटे मुखवाले,

१२ अ-रायः = आरोग्यादि न देनेवाले,

इस पञ्चम मंत्रमें 'स्तंबज' शब्द है, इसका अर्थ समझमें नहीं आता है। अतः वह खोजकी अपेक्षा करता है। षष्ठ मंत्रमें निम्नलिखित शब्द हैं—

१३ अनुजिघ्रः = सूंघनेसे शरीरमें प्रवेश करनेवाले, नासिका द्वारा शरीरमें प्रवेश करनेवाले, फेफडोंमें जो जाते हैं,

१४ प्रमृशन् = स्पर्श करनेवाले, स्पर्शसे प्राप्त होनेवाले, स्पर्शजन्य रोगके बीज,

१५ क्रव्यादः = मांस खानेवाले, शरीरका रक्त और मांस खानेवाले,

१६ रेरिह् = हिंसक, घातक, नाशक,
१७ श्वकिष्की = कुत्तेके समान पीडा करनेवाले,

इसी प्रकार अन्य मंत्रोंमें जो शब्द हैं, उनका भी यहां विचार करेंगे तो उनसे इन रोगकृमियोंका ज्ञान हो सकता है।

इन सब रोगबीजोंको ' पिंग बज ' दूर करता है। इस विषयमें निम्नलिखित मंत्रभाग देखने योग्य है—

पिंग बज।

परिसृष्टं धारयतु, हितं मा अवपादि।
उभौ भेषजौ गर्भं रक्षताम् ॥ (मं. २०)
पवीनसात् तंगल्वात् छायकात् नग्नकात् किमीदिनः।
प्रजायै पत्ये पिंगः परिपातु । (मं २१)

" गर्भाशयमें आधान किया हुआ गर्भ उत्तम रीतिसे धारण किया जावे, गर्भाशयमें स्थित गर्भ पतनको न प्राप्त हो, यह दोनों तीव्र औषधियां उसकी रक्षा करें। इन रोग-बीजोंसे उत्तम संतान होनेके लिये पिंग वनस्पतिसे गर्भाशयकी रक्षा होवे। "

इसीलिये मंत्रके रोगबीजवाचक शब्द बडे दुर्बोध हैं तथा इस सूक्तमें कहे " पिंग बज " वनस्पतिका भी कुछ पता नहीं चलता कि यह वनस्पति कौनसी है। वैद्यक ग्रंथोंमें इसका नाम नहीं है। अतः इसकी खोज होना कठीन है। श्री० सायनाचार्यजीने अपने अथर्वभाष्यमें इस सूक्तपर भाष्य करते हुए इसका अर्थ ' श्वेतसर्षप ' किया है, अर्थात् " सफेद सरीसा, सर्षों, राई। " संभव है यही ' पिंग बज ' का अर्थ होगा इसके गुण वैद्यकग्रंथोंमें निम्नलिखित प्रकार दिये हैं—

पिंगबजके गुण

तिक्तः तीक्ष्णोष्णः वातकफघ्न, उष्णः कृमिकुष्ठघ्नः।
सितासित भेदेन द्विधा। (राज०)
कटूष्णो वातशूलनुत्। गुल्मकण्डूकुष्ठव्रणापहः।
वातरक्तग्रहापहः। त्वग्दोषशमनो
विषभूतव्रणापहः।
सर्षपतैलगुणाः— वातकफविकारघ्नं कृमिकुष्ठघ्नं
चक्षुष्यम्।

" सरीसा तिक्त, तीक्ष्ण, उष्ण, वात और कफको हटानेवाला, कृमि और कुष्ठरोगको दूर करनेवाला है। श्वेत और काला ऐसे इसके दो भेद हैं। यह कटु, उष्ण, वातशूलका नाश करनेवाला, गुल्म, कण्डु, कुष्ठ, व्रणका नाश करनेवाला है। वात रक्तदोषको दूर करनेवाला, त्वचाके दोषको दूर करनेवाला, विषसे उत्पन्न व्रणको हटानेवाला है। सरीसके तेलके गुण ये हैं— वात कफ विकारको दूर करता है, कृमि और कुष्ठका नाश करता है और आंखके लिये हितकर है "

इस वर्णनमें सर्षोंका गुण कृमिनाशक, कुष्ठनाशक दिया है जो पूर्वोक्त सूक्तके उपदेशके साथ संगत है, अतः बहुत संभव है कि यही अर्थ ' पिंग बज ' का होगा। इसकी विशेष खोज होना अत्यंत आवश्यक है। वस्तुतः यह सब सूक्त हि विशेष खोज करने योग्य है क्योंकि इसके कई शब्द और कई दुर्बोध हैं और आधुनिक कोशोंसे इनका अर्थ करनेके लिये कोई विशेष सहायता नहीं मिलती है। जिनके पास खोज करनेके विशेष साधन हैं वे इस दिशासे यत्न करें।

ओषधयः

[७]

(ऋषिः- अथर्वा। देवताः- भैषज्यं, आयुष्यं, ओषधयः। छन्दः- अनुष्टुप्; २ उपरिष्टाद्भुरिग्बृहती; ३ पुर उष्णिक्; ४ पञ्चपदा परानुष्टुबतिजगती; ५-६, १०, २५ पथ्यापङ्क्तिः (६ विराड्गर्भा भुरिक्); ९ द्विपदार्ची भुरिगनुष्टुप्; १२ पञ्चपदा विराडतिशक्वरी; १४ उपरिष्टान्निचृद्बृहती; २६ निचृत्; २८ भुरिक्।)

या ब॒भ्रवो॒ याश्च॑ शु॒क्रा रोहि॑णीरु॒त पृश्न॑यः ।
असि॑क्नीः कृ॒ष्णा ओष॑धीः सर्वा॑ अ॒च्छाव॑दामसि ॥ १ ॥
त्राय॑न्तामि॒मं पुरु॑षं यक्ष्मा॑द्देवेषि॑ता॒दधि॑ ।
यासां॒ द्यौष्पि॒ता पृ॑थि॒वी मा॒ता स॑मु॒द्रो मूलं॑ वी॒रुधां॑ ब॒भूव॑ ॥ २ ॥
आपो॒ अग्रं॑ दि॒व्या ओष॑धयः । तास्ते॒ यक्ष्म॑मेन॒स्य१॒मङ्गा॑दङ्गादनीनशन् ॥ ३ ॥
प्र॒स्तृ॒ण॒ती स्त॒म्बिनी॒रेक॑शुङ्गाः प्रतन्व॒तीरोष॑धी॒रा व॑दामि ।
अं॒शु॒मतीः॑ का॒ण्डिनी॒र्या विशा॑खा॒ ह्वया॑मि ते वी॒रुधो॑ वैश्वदे॒वीरु॒ग्राः पु॑रुष॒जीव॑नीः ॥ ४ ॥

अर्थ— (याः) जो औषधियां (बभ्रवः) पोषण करनेवाली, (याः च शुक्राः) जो वीर्य बढानेवाली (उत रोहिणीः) और जो बढानेवाली तथा (पृश्नयः) जो विविध रंगवाली (असिक्नीः कृष्णाः ओषधीः) श्याम, काली औषधियां हैं उन (सर्वाः अच्छा आवदामसि) सबको मुख्यतया पुकारते हैं ॥ १ ॥

(इमं पुरुषं) इस मनुष्यको (देव-इषितात् यक्ष्मात्) देवसे प्रेरित रोगसे (अधि त्रायन्तां) बचावें। (यासां वीरुधां) जिन औषधियोंका (द्यौः पिता) द्युलोक पिता, पृथिवी माता और समुद्र मूल (बभूव) हुआ है ॥ २ ॥

(आपः अग्रं) जल मुख्य है और (ओषधयः दिव्याः) औषधियाँ भी दिव्य हैं। (ताः ते एनस्यं यक्ष्मं) वे तेरे पापसे उत्पन्न रोगको (अंगात् अंगात् अनीनशन्) अंगप्रत्यंगसे नाश करते हैं ॥ ३ ॥

(प्रस्तृणतीः) विशेष विस्तारवाली, (स्तम्बिनीः) गुच्छोंवाली, (एक शुङ्गाः) एक कोपलवाली, (प्रतन्वतीः) बहुत फैलनेवाली, (ओषधीः आवदामि) औषधियोंको मैं पुकारता हूं। (अंशुमतीः) प्रकाशवाली (काण्डिनीः) पर्वोंवाली (याः विशाखाः) जो शाखारहित हैं (ते आह्वयामि) मैं तेरे लिये उनको पुकारता हूं। ये (वीरुधः वैश्वदेवीः) औषधियां विशेष दैवी शक्तिसे युक्त (उग्राः पुरुषजीवनीः) प्रभावयुक्त और मनुष्यका जीवन बढानेवाली हैं ॥ ४ ॥

भावार्थ— कई औषधियां पोषण करनेवाली, कई वीर्य बढानेवाली और कई मांसको भरनेवाली हैं। ये विविध रंगरूपवाली श्याम और काली हैं इनका औषधिप्रयोगमें उपयोग होता है ॥ १ ॥

औषधियां भूमिपर उगती हैं और इनकी रक्षा आकाशस्थ सूर्यादिकोंसे होती है। ये औषधियां जल वायु आदि देवोंके प्रकोपसे होनेवाले रोगोंसे बचाती हैं ॥ २ ॥

मुख्य औषध जल है, औषधियां भी दिव्य वीर्यवाली हैं। ये वनस्पतियां पापसे उत्पन्न होनेवाले हर एक रोगसे बचाती हैं ॥ ३ ॥

कई औषधियां बहुत फैलती हैं, कई गुच्छोंवाली होती हैं, कई कोपलोंवाली रहती हैं, कईयोंका विस्तार बहुत होता है। इन सबकी प्रशंसा आयुर्वेद प्रयोगमें होती है। ये वनस्पतियां अनेक दिव्यशक्तियोंसे युक्त होती है और मनुष्यका दीर्घजीवन करती हैं ॥ ४ ॥

यद्वः सहः सहमाना वीर्यं१ यच्च वो बलम् ।
तेनेममस्माद्यक्ष्मात्पुरुषं मुञ्चतौषधीरथो कृणोमि भेषजम् ॥ ५ ॥
जीवलां नघारिषां जीवन्तीमोषधीमहम् ।
अरुन्धतीमुन्नयन्तीं पुष्पां मधुमतीमिह हुवेऽस्मा अरिष्टतातये ॥ ६ ॥
इहा यन्तु प्रचेतसो मेदिनीर्वचसो मम ।
यथेमं पारयामसि पुरुषं दुरितादधि ॥ ७ ॥
अग्नेर्घासो अपां गर्भो या रोहन्ति पुनर्णवाः ।
ध्रुवाः सहस्रनाम्नीर्भेषजीः सन्त्वाभृताः ॥ ८ ॥
अवकोल्वा उदकात्मान ओषधयः । व्यृषन्तु दुरितं तीक्ष्णशृङ्ग्यः ॥ ९ ॥

अर्थ— हे (सहमानाः औषधीः) रोगनाशक औषधियो ! (यत् वः सहः) जो तुम्हारी सामर्थ्य है, (यत् च वः वीर्यं बलं) और जो वीर्य और बल हैं (तेन इमं पुरुषं) उससे इस पुरुषको (अस्मात् यक्ष्मात् मुञ्चत) इस रोगसे बचाओ । (अथो भेषजं कृणोमि) और मैं औषध बनाता हूं ॥ ५ ॥

(जीवलां जीवन्तीं) आयु देनेवाली (नघारिषां) हानि न करनेवाली (अरुंधतीं) जीवनमें रुकावट न करनेवाली (उन्नयतीं मधुमतीं) बढानेवाली मीठी (पुष्पां ओषधीं) फूलोंवाली औषधीको (इह अस्मै अरिष्ट-तातये अहं हुवे) यहां इसकी नीरोगता प्राप्तिके लिये मैं बुलाता हूं ॥ ६ ॥

(प्रचेतसः मम वचसः) ज्ञानी मुझ वैद्यके वचनोंसे (मेदिनीः इह आयन्तु) पुष्टिकारक औषधियां यहां आजावें । (यथा) जिससे (इमं पुरुषं) इस पुरुषको (दुरितात् अधि पारयामसि) पापके दुःखरूप भोगसे पार करते हैं ॥ ७ ॥

(याः भेषजीः) जो औषधियां, (अग्नेः घासः) अग्निका अन्न और (अपां गर्भः) जलोंका गर्भरूप (पुनः-नवाः रोहन्ति) पुनः नवीन जैसी बढती हैं वे (सहस्रनाम्नीः) हजार नामवाली (अमृताः ध्रुवाः सन्तु) लायी हुई औषधियां स्थिर होवें ॥ ८ ॥

(अव-का-उल्वाः उदकात्मानः) शैवालमें उत्पन्न होनेवाली, जल जिनका आत्मा है (तीक्ष्णशृङ्ग्यः ओषधयः) तीखे सींगवाली औषधियां (दुरितं विऋषन्तु) पापरूपी रोगको दूर करें ॥ ९ ॥

भावार्थ— औषधियोंमें जो सामर्थ्य, वीर्य और बल है, उससे इस मनुष्यका यह रोग दूर होवे । इसीके लिये यह औषध बनाया जाता है ॥ ५ ॥

जीवनशक्ति बढानेवाली, दीर्घजीवन देनेवाली, न्यूनता न करनेवाली, शरीरव्यापारमें रुकावट न करनेवाली, शरीरकी सुस्थिति बढानेवाली, मधुरपरिपाकवाली फूलोंवाली औषधि इस प्रकारके औषधियोंको इस मनुष्यके आरोग्य लिये मैं लाता हूं ॥ ६ ॥

मेरे वचनके अनुसार ये सब औषधियां मिलकर इस मनुष्यको नीरोग बनावें । इसका यह रोग पापाचरणसे हुआ है ॥ ७ ॥

ये औषधियां अग्निका भोजनरूप हैं और वे जलका धारण करती हैं, ये वारंवार बढती हैं । इनके नाम हजारों हैं । ये गुणधर्मसे स्थिर हों ॥ ८ ॥

शैवालसे उत्पन्न होकर औषधियां बनी, ये सब पापरूपी दोषसे मनुष्योंको बचावें ॥ ९ ॥

उन्मुञ्चन्तीर्विवरुणा उग्रा या विषदूषणीः ।
अथो बलासनाशनीः कृत्यादूषणीश्च यास्ता इहा यन्त्वोषधीः ॥ १० ॥

अपक्रीताः सहीयसीर्वीरुधो या अभिष्टुताः ।
त्रायन्तामस्मिन्ग्रामे गामश्वं पुरुषं पशुम् ॥ ११ ॥

मधुमन्मूलं मधुमदग्रमासां मधुमन्मध्यं वीरुधां बभूव ।
मधुमत्पर्णं मधुमत्पुष्पमासां मधोः संभक्ता अमृतस्य
भक्षो घृतमन्नं दुहतां गोपुरोगवम् ॥ १२ ॥

यावतीः कियतीश्चेमाः पृथिव्यामध्योषधीः ।
ता मा सहस्रपर्ण्यो मृत्योर्मुञ्चन्त्वंहसः ॥ १३ ॥

अर्थ— (उन्मुञ्चन्तीः विवरुणाः) रोगसे मुक्त करनेवाली, विशेष रंगरूपवाली (उग्राः विषदूषणीः) तीव्र, विषनाशक (अथो बलासनाशनीः) और कफको दूर करनेवाली, (कृत्यादूषणीः या ओषधीः) घातक प्रयोगोंका नाश करनेवाली जो औषधियां हैं, (ताः इह आयन्तु) वे यहां प्राप्त हों ॥ १० ॥

(अभिष्टुताः अपक्रीताः) प्रशंसित और मोलसे प्राप्त की हुई (याः सहीयसीः वीरुधः) जो बलवाली औषधियां हैं वे (अस्मिन् ग्रामे) इस नगरमें (गां अश्वं पुरुषं पशुं) गौ, घोडा, मनुष्य और अन्य पशुकी (त्रायन्तां) रक्षा करें ॥ ११ ॥

(आसां वीरुधां) इन औषधियोंका (मूलं मधुमत्) मूल मीठा है, (अग्रं मधुमत्) अग्रभाग मीठा है, (मध्यं मधुमत् बभूव) मध्यभागभी मीठा है। (आसां पर्णं मधुमत्) इनका पत्ता मधु (पुष्पं मधुमत्) फूल भी मीठा है। यह औषधियां (मधोः संभक्ता) मधुसे भरपूर सींची हैं। ये (अमृतस्य भक्षः) अमृतका भक्ष्य हैं। ये औषधियां (गो-पुरो-गवं) गाय जिसके अग्रभागमें रखी होती है ऐसा (घृतं अन्नं दुहतां) घी और अन्न देवें ॥ १२ ॥

(पृथिव्यां यावतीः कियतीः इमाः ओषधीः) पृथ्वीपर जितनी कितनी ये औषधियां हैं (ताः सहस्रपर्ण्यः) वे हजार पत्तोंवाली औषधियां (मा अंहसः मृत्योः मुञ्चन्तु) मुझे पापरूपी मृत्युसे बचावें ॥ १३ ॥

(वीरुधां वैयाघ्रः मणिः) औषधियोंसे बना व्याघ्र जैसा प्रतापी मणि (अभिशस्ति-पाः त्रायमाणः) विनाशसे बचानेवाला संरक्षक है। वह (सर्वाः अमीवाः) सब रोगोंको और (रक्षांसि) रोगकृमियोंको (अस्मत् दूरं अप अधि हन्तु) हमसे दूर ले जाकर मारे ॥ १४ ॥

भावार्थ— रोगको दूर करनेवाली, तीव्र गुणवाली, शरीरसे विषको दूर करनेवाली, कफका दोष दूर करनेवाली, घातपात दूर करनेवाली औषधियां इस स्थानपर उपयोगी हों ॥ १० ॥

वीर्यवती औषधियां इस ग्रामके गौ, घोडे और मनुष्य आदिकोंकी रक्षा करें ॥ ११ ॥

इन औषधियोंका मूल, मध्य और अग्रभाग, तथा इनके पत्ते और फूल मीठे हैं। यह अमृतका ही भोजन है, इससे गौ आदि प्राणियोंके लिये विपुल घृतादिकी प्राप्ति हो ॥ १२ ॥

पृथ्वीपर जो भी औषधियां हैं उन अनन्त पत्तोंवाली औषधियां हम सबको मृत्युसे बचावें ॥ १३ ॥

औषधियोंसे बना मणि विनाशसे बचानेवाला होता है; वह सब रोगों और रोगबीजोंको हम सबसे दूर करे ॥ १४ ॥

वैयाघ्रो मणिर्वीरुधां त्रायमाणोऽभिशस्तिपाः ।
अमीवाः सर्वा रक्षांस्यप हन्त्वधि दूरमस्मत् ॥ १४ ॥

सिंहस्येव स्तनथोः सं विजन्तेऽग्नेरिव विजन्त आभृताभ्यः ।
गवां यक्ष्मः पुरुषाणां वीरुद्भिरतिनुत्तो नाव्या एतु स्रोत्याः ॥ १५ ॥

मुमुचाना ओषधयोऽग्नेर्वैश्वानरादधि ।
भूमिं संतन्वतीरित यासां राजा वनस्पतिः ॥ १६ ॥

या रोहन्त्याङ्गिरसीः पर्वतेषु समेषु च ।
ता नः पयस्वतीः शिवा ओषधीः सन्तु शं हृदे ॥ १७ ॥

याश्चाहं वेद वीरुधो याश्च पश्यामि चक्षुषा ।
अज्ञाता जानीमश्च या यासु विद्म च संभृतम् ॥ १८ ॥

अर्थ— (आभृताभ्यः) लाई हुई औषधियोंसे रोग (सं विजन्ते) भयभीत होते हैं (स्तनथोः सिंहस्य इव) जैसे गर्जनेवाले सिंहसे और (अग्नेः इव विजन्ते) जैसे अग्निसे घबराते हैं। (वीरुद्भिः अतिनुत्तः) औषधियोंसे भगाया हुआ (गवां पुरुषाणां यक्ष्मः) गौओं और पुरुषोंका रोग (नाव्याः स्रोत्याः एतु) नौकाओंसे जाने योग्य नदियोंसे दूर चला जावे ॥ १५ ॥

(यासां राजा वनस्पतिः) जिनका राजा वनस्पति है, वे (ओषधयः) औषधियां (मुमुचानाः) रोगोंसे छुडाती हुई (वैश्वानरात् अग्नेः अधि) वैश्वानर अग्निके ऊपर स्थित (भूमिं संतन्वतीः इतः) भूमिपर फैलती हुई जांय ॥१६॥

(याः आंगिरसीः) जो अंगोंमें रस बढानेवाली औषधियां (पर्वतेषु समेषु च रोहन्ति) पहाडों और समभूमि पर फैलती हैं (ताः शिवाः पयस्वतीः ओषधीः) वे शुभ, रसवाली औषधियां (नः हृदे शं सन्तु) हमारे हृदयोंमें शान्ति देनेवाली होवें ॥ १७ ॥

(अहं याः वीरुधः वेद) मैं जिन औषधियोंको जानता हूं, (याः च चक्षुषा पश्यामि) और जो मैं आंखसे देखता हूं, (याः अज्ञाताः जानीमः) जो नहीं जानी हुई औषधियां अब हम जानते हैं, (यासु च संभृतं विद्म) जिनमें वीर्य भरपूर है ऐसा हम जानते हैं ॥ १८ ॥

भावार्थ— जिस प्रकार शेरसे सब प्राणी डरते हैं, उस प्रकार औषधियोंसे रोग डरते हैं। अतः इन औषधियोंसे गौओं और मनुष्योंके रोग दूर हों ॥ १५ ॥

सोम राजाके राज्यमें ये सब औषधियां इस विशाल भूमिपर फैल जांय ॥ १६ ॥

औषधियां अङ्गरस बढानेवाली हैं, वे पहाडों और समभूमिपर उगती हैं वे सब रसदार औषधियां हमारे हृदयोंको शान्ति देवें ॥ १७ ॥

जिन औषधियोंको हम पहचानते हैं और जिनको नहीं पहचानते, उन सबमें स्थितमें वीर्य जानना चाहिये ॥ १८ ॥

सर्वाः समग्रा ओषधीर्बोधन्तु वचसो मम ।
यथेमं पारयामसि पुरुषं दुरितादधि ॥ १९ ॥

अश्वत्थो दर्भो वीरुधां सोमो राजामृतं हविः ।
व्रीहिर्यवश्च भेषजौ दिवस्पुत्रावमर्त्यौ ॥ २० ॥

उज्जिहीध्वे स्तनयत्यभिक्रन्दत्योषधीः ।
यदा वः पृश्निमातरः पर्जन्यो रेतसावति ॥ २१ ॥

तस्यामृतस्येमं बलं पुरुषं पाययामसि ।
अथो कृणोमि भेषजं यथासच्छतहायनः ॥ २२ ॥

वराहो वेद वीरुधं नकुलो वेद भेषजीम् ।
सर्पा गन्धर्वा या विदुस्ता अस्मा अवसे हुवे ॥ २३ ॥

अर्थ— (सर्वाः समग्राः ओषधीः) सब संपूर्ण औषधियां (मम वचसः बोधन्तु) मेरे वचनसे जानें, (यथा) जिस रीतिसे (इमं पुरुषं दुरितात् अधि पारयामसि) इस पुरुषको पापरूपी रोगसे छुडाते हैं ॥ १९ ॥

(अश्वत्थः) पीपल, (दर्भः) कुशा, (वीरुधां राजा सोमः) औषधियोंका राजा सोम, (हविः अमृतं) अन्न और जल, (व्रीहिः यवः च) चावल और जौ, (अमर्त्यौ भेषजौ) अमर औषधियां हैं। ये (दिवः पुत्रौ) द्युलोकसे पुत्रवत् पालन करते हैं ॥ २० ॥

(यदा पर्जन्यः स्तनयति अभिक्रन्दति) जब पर्जन्य गर्जता है और शब्द करता है कि हे (पृश्निमातरः ओषधीः) पृथ्वीसे उत्पन्न होनेवाली औषधियो ! (उज्जिहीध्वे) ऊपर उठो, तब (पर्जन्यः रेतसा वः अवति) पर्जन्य अपने जलसे आपकी रक्षा करता है ॥ २१ ॥

(तस्य अमृतस्य इमं बलं) उस अमृतका यह बल (इमं पुरुषं पाययामसि) इस पुरुषको पिलाते हैं। (अथो कृणोमि भेषजं) और औषध बनाता हूं; (यथा शतहायनः असत्) जिससे शतायु होता है ॥ २२ ॥

(वराहः वीरुधं वेद) सूकर औषधीको जानता है, (नकुलः भेषजीं वेद) नेवला औषधीको पहचानता है, (सर्पाः गंधर्वाः याः विदुः) सर्प और गंधर्व जिनको जानते हैं, (ताः अस्मै अवसे हुवे) उनको इसकी रक्षाके लिये बुलाते हैं ॥ २३ ॥

भावार्थ—सब औषधियां मेरे अनुकूल रहकर इस मनुष्यको पापरूप रोगसे बचावें ॥ १९ ॥

पीपल, दर्भ, औषधियोंका राजा सोम, अन्न, जल, चावल और जौ ये सब दिव्य औषधियां हैं। इनसे अमरत्व अर्थात् दीर्घायुष्यकी प्राप्ति हो सकती है ॥ २० ॥

बडी गर्जना करके मेघ औषधियोंसे कहता है कि अब ऊपर उठो ॥ २१ ॥

उसीका बल औषधियोंमें संग्रहित हुआ है जो मनुष्यको पिलाया जाता है और जिससे मनुष्य दीर्घायु बनता है ॥२२॥

सूवर, नेवला, सांप, गन्धर्व ये औषधियां जानते हैं। इन औषधियोंसे प्राणियोंकी रक्षा हो ॥ २३ ॥

याः सुपर्णा आङ्गिरसीर्दिव्या या रघटो विदुः ।
वयांसि हंसा या विदुर्याश्च सर्वे पतत्रिणः ।
मृगा या विदुरोषधीस्ता अस्मा अवसे हुवे ॥ २४ ॥

यावतीनामोषधीनां गावः प्राश्नन्त्यघ्न्या यावतीनामजावयः ।
तावतीस्तुभ्यमोषधीः शर्म यच्छन्त्वाभृताः ॥ २५ ॥

यावतीषु मनुष्या भेषजं भिषजो विदुः ।
तावतीर्विश्वभेषजीरा भरामि त्वामभि ॥ २६ ॥

पुष्पवतीः प्रसूमतीः फलिनीरफला उत ।
संमातर इव दुह्रामस्मा अरिष्टतातये ॥ २७ ॥

उत्त्वाहार्षं पञ्चशलादथो दशशलादुत ।
अथो यमस्य पड्वीशाद्विश्वस्माद्देवकिल्बिषात् ॥ २८ ॥

अर्थ— (सुपर्णाः याः आंगिरसीः) गरुड जिन अंगरसवाली औषधियोंको (विदुः) जानते हैं, (याः दिव्याः रघटः विदुः) जिन दिव्य औषधियोंको चीडियां जानते हैं, (वयांसि हंसा याः विदुः) पंछी और हंस जिनको पहचानते हैं, (याः च सर्वे पक्षिणः) जिनको सब पक्षी जानते हैं (याः ओषधीः मृगाः विदुः) जिन औषधियोंको हरिन जानते हैं, (ताः अस्मै अवसे हुवे) उनको इसकी रक्षाके लिये बुलाते हैं ॥ २४ ॥

(यावतीनां ओषधीनां) जिन औषधियोंको (अघ्न्याः गावः प्राश्नन्ति) अवध्य गौवें खाती हैं, (यावतीनां अजावयः) जिनको भेड, बकरियां खाती हैं, (तावतीः आभृताः ओषधीः) उतनी लाई औषधियां (तुभ्यं शर्म यच्छन्तु) तुम्हारे लिये सुख देवें ॥ २५ ॥

(भिषजः मनुष्याः) वैद्य लोग (यावतीषु भेषजं विदुः) जितनी औषधियोंमें औषध प्रयोग जानते हैं, (तावतीः विश्वभेषजीः) उतनी सब औषधवाली औषधियां (त्वां अभि आभरामि) तेरे पास सब ओरसे लाता हूं ॥ २६ ॥

(पुष्पवतीः प्रसूमतीः) फूलवाली, पल्लवोंवाली, (फलवतीः उत अफलाः) फलोंवाली और फलरहित औषधियां (अस्मै अरिष्टतातये) इसकी सुखशान्तिके विस्तारके लिये (संमातरः इव दुह्रां) उत्तम माताओंके समान रस प्रदान करें ॥ २७ ॥

(पञ्चशलात् उत दशशलात्) पांच प्रकारके और दस प्रकारके दुःखोंसे (अथो यमस्य पड्वीशात्) और यमकी बेडियोंसे और (विश्वस्मात् देवकिल्बिषात्) सब देवोंके संबंधमें किये पापोंसे (त्वा उत् आहार्षं) तुझे ऊपर उठाया है ॥ २८ ॥

भावार्थ– गरुड, चिडियां, पक्षी, हंस, मृग आदिक जिन औषधियोंको जानते हैं उनसे प्राणियोंकी रक्षा की जावे ॥२४॥

जो औषधियां गौवें, भेड और बकरियां खाती हैं उनसे मनुष्योंका कल्याण हो ॥ २५ ॥

मनुष्य जिनसे औषध बनाना जानते हैं, उन सबको यहां लाते हैं ॥ २६ ॥

फूलों, फलों और पल्लवोंवाली औषधियां इसकी नीरोगताके लिये लायी जाती हैं वे उत्तम रस इसके लिये देवें ॥२७॥

पांच और दस प्रकारके दुःख, यमके पाश, देवोंके संबंधमें होनेवाले पाप आदिसे औषधियोंद्वारा हम सब तुझे बचाते हैं ॥ २८ ॥

×

औषधि।

औषधियोंकी शक्तियां।

इस सूक्तमें औषधियोंका वर्णन करते हुए जो विशेष महत्त्वकी बात कही है वह यह है कि रोगका मूल पापमें है। देखिये—

दुरितात् पारयामसि। (मं० ७, १९)
तीक्ष्णशृङ्ग्यः दुरितं व्यृषन्तु (मं० ९)
सहस्रपर्ण्यो मृत्योर्मुञ्चन्त्वंहसः। (मं० १३)

" ये औषधियां दुरितरूपी रोग अथवा मृत्युसे बचाती हैं। " यहां " दुरित, अंहस्, मृत्यु " ये शब्द " पाप, रोग और मरण " के वाचक हैं। पापसे हि रोग होते हैं और रोगोंसे मनुष्य मरते हैं अर्थात् रोग, दुःख और मृत्यु ये सब पापसे हि होते हैं। यदि मनुष्य काया, वाचा, मन और बुद्धिसे पाप न करेगा, तो उसको कभी रोग न होगा, कभी दुःख न होगा और कभी उसको मृत्युके वश होना नहीं पडेगा। मनुष्यकी पापप्रवृत्ति हि उसके नाशका कारण है। मनुष्य शारीरिक पाप करके शारीरिक कष्ट भोगता है, वाचिक पाप करके वाणीसंबंधी दुःख अनुभवता है, और मनसे जो पाप करता है उस कारण मनके दुःख भोगने पडते हैं। दुःख, कष्ट, रोग और मृत्यु न्यूनाधिक भेदसे एकहि अवस्थाके भिन्न नाम हैं। इसलिये मृत्यु तरनेका तात्पर्य दुःखसे मुक्त होना, रोगोंसे छूटना और मृत्युसे दूर होना हो सकता है। वेद और उपनिषदोंमें यह विषय अनेक बार आगया है अतः इसका विचार पाठक इस ढंगसे करें।

पापसे रोग।

इस सूक्तमें कहा है कि औषधियां पापसे बचाती हैं और पापसे बचनेके कारण मनुष्य रोगसे बचता है और पाप समूल दूर होनेके कारण मनुष्य अन्तमें मृत्युसे भी बचता है। पाठक यहां केवल यह न समझें कि औषधियोंसे रोगोंकी चिकित्सा हि होती है, योग्य औषधिसेवनसे शरीर, वाणी और मनकी पापवृत्ति हट जाती है, रोगोंको दूर करनेसे चिकित्साका कार्य हुआ ऐसा यदि कोई माने तो उसका वह भ्रम है। वास्तवमें रोग एक बाह्य चिन्ह है जिससे मनुष्यकी अन्तःप्रवृत्ति विदित होती है।

पाठक यहां पूछेंगे कि औषधियोंसे पापप्रवृत्ति कैसे हट जाती है? इस विषयमें कहना इतना हि है कि सात्विक, राजसिक और तामसिक अन्नके सेवन करनेसे मनुष्य की वैसी प्रवृत्ति बन जाती है। चावल, दूध, घृत आदि सात्विक पदार्थ खानेसे मनुष्य सात्विक बनता है, मांस और मद्य सेवन करनेसे और प्याज आदि भक्षण करनेसे राजसिक, और तामसिक प्रवृत्ति बनती है। इस विषयमें भगवद्गीताके श्लोक यहां मनन करने योग्य हैं—

तीन प्रकारका भोजन।

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः
सात्त्विकप्रियाः ॥ ८ ॥

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥ ९ ॥
यातयामं गतरसं पूतिपर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥१०॥
भ० गी. १७

" आयु, सत्व, बल, निरोगता, सुख और रुचीको बढानेवाले रसदार, स्निग्ध, पौष्टिक और मनको प्रसन्न करनेवाले भोजन सात्विक लोगोंको प्रिय होते हैं। कडुवे, खट्टे, खारे, गर्म, तीखे, रूखे और जलन पैदा करनेवाले भोजन राजस लोगोंको प्रिय होते हैं और ये भोजन दुःख, शोक और रोग उत्पन्न करनेवाले होते हैं। एक प्रहरतक पडा हुआ बासा, रसरहित, बदबूवाला झूठा अपवित्र अन्न तामस लोगोंको प्रिय होता है। " अर्थात् एक अन्न आयु, बल, नीरोगता और सुख बढानेवाला है और दूसरा इन्हींको घटाता है। अतः जो मनुष्य दीर्घायु चाहता है उसको उचित है कि वह सात्विक भोजन करे। इतना विचार प्रदर्शित करनेके लिये हि पापसे रोग और मृत्यु होते हैं और सात्विक अन्नसे पापप्रवृत्ति हटती है, इत्यादि बातें इस सूक्तमें कहीं हैं, तथा—

अमर्त्य औषध।

व्रीहिर्यवश्च भेषजौ अमर्त्यौ ॥ (मं० २०)

' चावल और जौ अमर होनेकी औषधियां हैं। ' ऐसा

कहा है। यह अत्यंत सात्त्विक भोजन है। इसी प्रकार सोम नामक जो अमृत रस है वह भी अमरत्व देनेवाला है ऐसा–

सोमो राजा अमृतं हविः। (मं. २०)

इस मंत्रमें कहा है। तथा–

मधोः संभक्ता अमृतस्य भक्षः। घृतं अन्नं
गोपुरोगवं दुहताम्। (मं. १२)

" मधुरतासे संमिश्रित अमृतान्न, घीसे मिश्रित अन्न और गोरस यह श्रेष्ठ अन्न है। "

इस प्रकार इस सूक्तमें जो अनेक बार उपदेश कहा है वह श्रीमद्भगवद्गीताके वचनके साथ देखने योग्य है। मनुष्य इस प्रकारका सात्त्विक अन्न भक्षण करे और दीर्घायु, नीरोगता और सुख प्राप्त करे।

जीवला, जीवन्ती, अरुंधती, रोहिणी, कृष्णा, असिक्नी आदि नाम औषधियोंके वाचक हैं।

१ जीवन्ती= यह औषधि दीर्घजीवन करनेवाली है, क्योंकि इसको (सर्व-दोष-घ्नः) सब दोष दूर करनेवाली वैद्यक ग्रंथोंमें कहा है। इसकी साक भी बडी हितकारी है।

२ कृष्णा= यह नाम कसमोत्तम वनस्पतियोंका है, जो विविध औषधियोंमें प्रयुक्त होती हैं।

जीवला– यह नाम सिंहपिप्पलीका है। यह औषधि बडी आरोग्य प्रद है।

इनमेंसे कई औषधियां दीर्घायु देनेवाले पाकादिमें पडती हैं। कई वैद्यकग्रंथोंमें इसका वर्णन है, पाठक यह वर्णन वहां देखें।

सूक्तकी अन्यान्य बातें सुबोध हैं अतः उनका अधिक स्पष्टीकरण करनेकी यहां आवश्यकता नहीं है। पाठक इस ढंगसे इस सूक्तका विचार करेंगे तो उनको इसका आशय स्पष्ट हो जायगा।

शत्रुपराजयः।

[८]

ऋषिः— भृग्वङ्गिराः। देवताः— इन्द्रः, वनस्पतिः परसेनाहननं च। छन्दः— अनुष्टुप्; २, ८–१०, २३ उपरिष्टाद्बृहती; ३ विराड् बृहती; ४ बृहती पुरस्तात्प्रस्तारपङ्क्तिः; ६ आस्तारपङ्क्तिः, ७ विपरीत पादलक्ष्मा चतुष्पदातिजगती; ११ पथ्या बृहती; १२ भुरिक्; १९ पुरस्ताद्विराड् बृहती; २० पुरस्तान्निचृद्बृहती; २१ त्रिष्टुप्, २२ चतुष्पदा शक्वरी; २४ त्र्यवसाना त्रिष्टुबुष्णिग्गर्भा पराशक्वरी पञ्चपदा जगती।

इन्द्रो॑ मन्थतु॒ मन्थि॑ता श॒क्रः शूरः॑ पुरंद॒रः।
यथा॒ हना॑म॒ सेना॑ अ॒मित्रा॑णां सहस्र॒शः ॥ १ ॥

अर्थ– (पुरं-दरः शूरः शक्रः मंथिता इन्द्रः) शत्रुके नगरोंको तोडनेवाला शूर समर्थ शत्रुसैन्यका मन्थनकर्ता इन्द्र (मन्थतु) शत्रुसेनाका मन्थन करे। (यथा) जिसकी शक्तिसे (अमित्राणां सहस्रशः सेनाः) शत्रुओंके हजारों सैनिकोंको (हनाम) हम मारें॥ १॥

भावार्थ– शूरवीर शत्रुओंके किलोंको तोडे और शत्रुसैन्यको मथ डाले। हम भी सहस्रों शत्रुवीरोंको मारें॥ १॥

पूतिरज्जुरुपध्मानी पूतिं सेनां कृणोत्वमूम् ।
धूममग्निं परादृश्यामित्रा हृत्स्वा दधतां भयम् ॥ २ ॥
अमूनश्वत्थ निः शृणीहि खादामूनखदिराजिरम् ।
ताजद्भङ्ग इव भज्यन्तां हन्त्वेनान्वधको वधैः ॥ ३ ॥
परुषानमून्परुषाह्वः कृणोतु हन्त्वेनान्वधको वधैः ।
क्षिप्रं शर इव भज्यन्तां बृहज्जालेन संदिताः ॥ ४ ॥
अन्तरिक्षं जालमासीज्जालदण्डा दिशो महीः ।
तेनाभिधाय दस्यूनां शक्रः सेनामपावपत् ॥ ५ ॥
बृहद्धि जालं बृहतः शक्रस्य वाजिनीवतः ।
तेन शत्रूनभि सर्वान्न्युब्ज यथा न मुच्यातै कतमश्चनैषाम् ॥ ६ ॥

अर्थ— (उपध्मानी पूति-रज्जुः) सिलगाई हुई दुर्गंधयुक्त रस्सी (अमूं सेनां पूतिं कृणोतु) इस सेनाको दुर्गन्धयुक्त करे। (धूमं अग्निं परादृश्य) धूम और अग्निको दूरसे देखकर (अमित्राः हृत्सु भयं आदधतां) शत्रु हृदयोंमें भय धारण करें ॥ २ ॥

हे (अश्व-त्थ) घोडे पर चढे वीर ! (अमून् निः शृणीहि) इनको काटो। हे (खदि-र) शत्रुको खानेवाले वीर ! (अमून् अजिरं खाद) इनको शीघ्र खाओ। (ताजद्-भङ्ग इव) शीघ्र भंजन करनेवालेके समान (भज्यन्तां) भग्न छिन्न होंय। और (वधः वधैः एनान् हन्तु) वध करनेवाला शस्त्रोंसे इनको मारे ॥ ३ ॥

(परुष-आह्वः) कठोर आह्वान करनेवाला वीर (अमून् परुषान् कृणोतु) इनको कठोर बनावे। (वधकः वधैः एनान् हन्तु) वधकर्ता शस्त्रोंसे इनका वध करे। (बृहत्-जालेन संदिताः) बडे जालसे बंधे हुए शत्रु (शरं इव क्षिप्रं भज्यन्तां) सरकंडेके समान शीघ्र टूट जांय ॥ ४ ॥

(अन्तरिक्षं जालं आसीत्) अन्तरिक्ष जाल है, और (महीः दिशः जालदण्डाः) विस्तृत दिशाएं जालके दण्डे हैं। (तेन दस्यूनां सेनां अभिधाय) उससे शत्रुकी सेनाको पकड कर (शक्रः अप अवपत्) शूर वीर भगाता है ॥ ५ ॥

(वाजिनीवतः बृहतः शक्रस्य) सेनाके साथ रहनेवाले बडे इन्द्रका (बृहत् हि जालं) बडा जाल है। (तेन सर्वान् शत्रून् अभिमन्युब्ज), उससे सब शत्रुओंको सब ओरसे आधीन कर, (यथा एषां कतमःचन न मुच्यातै) जिससे इनमेंसे एक भी न छूट सके ॥ ६ ॥

भावार्थ— शत्रुसेना पर हमला करनेके लिये सिलगाई हुई बारूदकी बत्ती शत्रुसैन्यमें बदबूवाला धूंवा उत्पन्न करे। जिस धूवेको और ज्वालाको देखकर शत्रु भयभीत होवें ॥ २ ॥

घुडसवार शत्रुको मारें। हमारे शत्रुको खाजावें, अर्थात् उनका नाश करें। हमारे वीर अपने शस्त्रोंसे शत्रुका नाश करें ॥ ३ ॥

हमारा सेनापति अपने भाषणसे हमारे सैनिकोंको वीरत्व देकर कठोर बनावें। हमारे वीर शत्रुसेनाका नाश करें। बडे जालके अन्दर शत्रुसैनिकोंको पकडकर नाश करें ॥ ४ ॥

यह अन्तरिक्ष बडा जाल है, इसके दण्ड ये बडी दिशाएं हैं। इस जालसे शत्रुको पकडकर शूर वीर उनका नाश करें ॥ ५ ॥

सेनाके साथ हमला करनेवाले इन्द्रके पास बडा जाल है। उससे शत्रुसैन्य बान्धा जाता है और कोई बच नहीं सकता ॥ ६ ॥

बृहत्ते जालं बृहत इन्द्र शूर सहस्रार्घस्य शतवीर्यस्य ।
तेन शतं सहस्रमयुतं न्यर्बुदं जघान शक्रो दस्यूनामभिधाय सेनया ॥ ७ ॥
अयं लोको जालमासीच्छक्रस्य महतो महान् ।
तेनाहमिन्द्रजालेनामूंस्तमसाभि दधामि सर्वान् ॥ ८ ॥
सेदिरुग्रा व्यृद्धिरार्तिश्चानपवाचना ।
श्रमस्तन्द्रीश्च मोहश्च तैरमूनभि दधामि सर्वान् ॥ ९ ॥
मृत्यवेऽमून्प्र यच्छामि मृत्युपाशैरमी सिताः ।
मृत्योर्ये अघला दूतास्तेभ्य एनान्प्रति नयामि बद्ध्वा ॥ १० ॥
नयतामून्मृत्युदूता यमदूता अपोम्भत ।
परःसहस्रा हन्यन्तां तृणेढ्वेनान्मत्यं भवस्य ॥ ११ ॥

अर्थ— हे (शूर इन्द्र) शूर इन्द्र ! (सहस्रार्घस्य शतवीर्यस्य बृहतः ते) सहस्रों द्वारा पूजित और सैंकडो सामर्थ्यवाले बडे तुझ इन्द्रका (बृहत् जालं) बडा जाल है । (तेन अभिधाय) उस जालसे घेरकर तथा (सेनया) अपनी सेनाके द्वारा (शक्रः) इन्द्र (दस्यूनां शतं सहस्रं अयुतं न्यर्बुदं अभिधाय जघान) शत्रुओंके सैंकडों हजारों लाखों और करोडों सैनिकोंको मारता है ॥ ७ ॥

(महतः शक्रस्य) बडे इन्द्रका (अयं महान् लोकः) यह बडा लोक (जालं आसीत्) जाल था । (तेन इन्द्रजालेन) उस इन्द्रके जालसे (सर्वान् अमून् तमसा अहं अभिदधामि) सब इन शत्रुवीरोंको अन्धेरेसे मैं घेरता हूं ॥ ८ ॥

(उग्रा सेदिः) बडी थकावट, (व्यृद्धिः) निर्धनता, (अनपवाचना आर्तिः च) अकथनीय कष्ट, (श्रमः) कष्ट परिश्रम, (तन्द्रीः मोहः च) आलस्य और मोह, (तैः अमून् सर्वान् अभिदधामि) उनसे इन सब शत्रुओंको मैं घेरता हूं ॥ ९ ॥

(अमून् मृत्यवे प्रयच्छामि) इन शत्रुओंको मैं मृत्युके लिये सौंप देता हूं (मृत्युपाशैः अमी सिताः) मृत्युके पाशोंसे ये बांधे हैं । (मृत्योः ये अघ-लाः दूताः) मृत्युके जो पापसे मारनेवाले दूत हैं (तेभ्यः एनान् बद्ध्वा प्रति नयामि) उनके पास इनको बांध कर ले जाता हूं ॥ १० ॥

हे (मृत्युदूताः) मृत्युके दूतों ! (अमून् नयत) इनको ले चलो । हे (यमदूताः) यमके दूतों ! (अपोम्भत) इनको समाप्त करो । (परः सहस्राः हन्यन्तां) हजारोंसे अधिक मारे जांय । (एनान् भवस्य मत्यं तृणेढु) इनको ईश्वरके मतानुसार नाश करो ॥ ११ ॥

भावार्थ— अनेक पराक्रम करनेवाले पूजनीय इन्द्रदेवका बडा जाल है उस जालमें शत्रुसैनिक बान्धे जाते हैं और उनके हजारों और लाखों मारे जाते हैं ॥ ७ ॥

बडे इन्द्रका यह विस्तृत लोकहि बडा जाल है । इस इन्द्रजालमें सब शत्रु अन्धकारसे बान्धे जाते हैं ॥ ८ ॥

थकावट, निर्धनता, कष्ट, परिश्रम, आलस्य, अज्ञान इत्यादिसे शत्रुओंको घेरते हैं ॥ ९ ॥

इन शत्रुओंको मृत्युके पास भेजता हूं । मृत्युपाशोंसे ये बान्धे गये हैं । मृत्युके जो मारक दूत हैं उनके पास शत्रुओंको ले जाता हूं ॥ १० ॥

मृत्युके दूत हमारे शत्रुओंको पकडें, यमदूत उनकी समाप्ति करें । इस प्रकार हजारों शत्रु मारे जांय ॥ ११ ॥

साध्या एकं जालदण्डमुद्यत्य यन्त्योजसा ।
रुद्रा एकं वसव एकमादित्यैरेक उद्यतः ॥ १२ ॥
विश्वे देवा उपरिष्टादुब्जन्तो यन्त्वोजसा ।
मध्येन घ्नन्तो यन्तु सेनामङ्गिरसो महीम् ॥ १३ ॥
वनस्पतीन्वानस्पत्यानोषधीरुत वीरुधः ।
द्विपाच्चतुष्पादिष्णामि यथा सेनाममूं हनन् ॥ १४ ॥
गन्धर्वाप्सरसः सर्पान्देवान्पुण्यजनान्पितॄन् ।
दृष्टानदृष्टानिष्णामि यथा सेनाममूं हनन् ॥ १५ ॥
इम उप्ता मृत्युपाशा यानाक्रम्य न मुच्यसे ।
अमुष्या हन्तु सेनाया इदं कूटं सहस्रशः ॥ १६ ॥

अर्थ— (साध्याः एकं जालदण्डं उद्यत्य) साध्य देव एक जालके दण्डको उठाकर (ओजसा यन्ति) बलके साथ जाते हैं। (रुद्राः एकं) रुद्रदेव एकको, (वसवः एकं) वसुदेव एकको पकडते हैं और (आदित्यैः एकः उद्यतः) आदित्य देवोंने एक उठाया है ॥ १२ ॥

(विश्वे देवाः उपरिष्टात् उब्जन्तः) विश्वे देव ऊपर हि ऊपरसे दुष्टोंको दबाते हुए (ओजसा यन्ति) बलसे चलते हैं (अंगिरसः मध्येन महीं सेनां घ्नन्तः) आंगिरस बीचमें बडी सेनाका नाश करके (यन्तु) जावें ॥ १३ ॥

(वनस्पतीन् वानस्पत्यान्) वनस्पति और उनसे बने पदार्थ, (ओषधीः उत वीरुधः) औषधियां और लताएं, (चतुष्पाद् द्विपात्) चार पांववाले और दो पांववाले इनको (इष्णामि) मैं प्रेरित करता हूं, (यथा अमूं सेनां हनन्) जिससे इस सेनाका नाश करते हैं ॥ १४ ॥

(गंधर्वाप्सरसः सर्पान्) गंधर्व, अप्सरा, सर्प (देवान् पुण्यजनान् पितॄन्) देव, पुण्यजन और पितर इन (दृष्टान् अदृष्टान् इष्णामि) देखे और न देखे हुओंको मैं प्रेरित करता हूं (यथा अमूं सेनां हनन्) जिससे इस सेनाका नाश करते हैं ॥ १५ ॥

(इमे मृत्युपाशाः उप्ताः) ये मृत्युके पाश रखे हैं (यान् आक्रम्य न मुच्यसे) जिनका आक्रमण करके तू नहीं छूटेगा। (अमुष्याः सेनायाः) इस सेनाके (इदं कूटं) इस केन्द्रको (सहस्रशः हन्तु) सहस्र प्रकारसे हनन करे ॥ १६ ॥

भावार्थ— साध्य, रुद्र, वसु और आदित्य ये इस जालके चारों खंबोंको पकडकर वेगसे दौडते हैं ॥ १२ ॥

विश्वेदेव ऊपरसे हमला चढाते हैं और आंगिरसोंने शत्रुसेनाके मध्यभागमें हमला चढाया है ॥ १३ ॥

वनस्पति, वनस्पतिसे बने पदार्थ, औषधि, लता, द्विपाद और चतुष्पाद आदि सब मेरे सहायक हों और इनकी सहायतासे मैं शत्रुका नाश करूं ॥ १४ ॥

गंधर्व, अप्सराएं, सर्प, देव, पुण्यजन, पितर, परिचित और अपरिचित मुझे सहायता करें, जिनकी सहायतासे मैं शत्रुका नाश करूं ॥ १५ ॥

ये मृत्युपाश लगाये हैं, इनमेंसे कोई नहीं छूटेगा, इस शत्रुसेनाका यह केन्द्र सब प्रकारसे मैं नाश करूंगा ॥ १६ ॥

घर्मः समिद्धो अग्निनायं होमः सहस्रहः।
भवश्च पृश्निबाहुश्च शर्व सेनाममूं हतम् ॥ १७ ॥
मृत्योराषमा पद्यन्तां क्षुधं सेदिं वधं भयम्।
इन्द्रश्चाक्षुजालाभ्यां शर्व सेनाममूं हतम् ॥ १८ ॥
पराजिताः प्र त्रसतामित्रा नुत्ता धावत ब्रह्मणा।
बृहस्पतिप्रणुत्तानां मामीषां मोचि कश्चन ॥ १९ ॥
अव पद्यन्तामेषामायुधानि मा शकन्प्रतिधामिषुम्।
अथैषां बहु बिभ्यतामिषवो घ्नन्तु मर्माणि ॥ २० ॥
सं क्रोशतामेनान्द्यावापृथिवी समन्तरिक्षं सह देवताभिः
मा ज्ञातारं मा प्रतिष्ठां विदन्त मिथो विघ्नाना उप यन्तु मृत्युम् ॥ २१ ॥

अर्थ— (अयं घर्मः होमः) यह प्रदीप्त होम (अग्निना सहस्रहः समिद्धः) अग्निद्वारा सहस्रों प्रकारोंसे प्रज्वलित हुआ है। (भवः पृश्निबाहु शर्वः) भव और विचित्र बाहुवाला शर्व ये तुम दोनों (अमूं सेनां हतम्) इस सेनाको मारो ॥ १७ ॥

(मृत्योः आषं क्षुदं सेदिं वधं भयं) मृत्युसे कष्ट, भूख, बंधन, वध और भयको (आपद्यन्तां) प्राप्त होओ। हे शर्व ! (इन्द्रः च) और इन्द्र तुम दोनों (अमूं सेनां हतं) इस सेनाको मारो ॥ १८ ॥

हे (अमित्राः शत्रुओ ! तुम (पराजिताः प्र त्रसत) पराजित होकर त्रस्त होओ। (ब्रह्मणा नुत्ताः धावत) ज्ञानसे प्रेरित होकर भाग जाओ। (बृहस्पति-प्रणुत्तानां अमीषां) ज्ञानीके द्वारा प्रेरित हुए इनमेंसे (कश्चन मा मोचि) कोई भी एक न बचे ॥ १९ ॥

(एषां आयुधानि अवपद्यन्तां) इनके शस्त्रास्त्र गिर जांय। (प्रतिधां इषुं मा शकन्) प्रतिपक्षसे आये बाणको ये न सह सकें। (अथ एषां बहु बिभ्यतां) अब इनको बहुत डर लगे। इनके (मर्माणि इषवः घ्नन्तु) मर्मोंमें बाण लगें ॥ २० ॥

(द्यावापृथिवी एनान् संक्रोशन्तां) द्युलोक और पृथिवी इनकी निंदा करें। (अन्तरिक्षं देवताभिः सह सं) अन्तरिक्ष देवोंके साथ इनकी निंदा करें। (ज्ञातारं मा) ज्ञानीको ये न प्राप्त करें (मा प्रतिष्ठां विदन्त) प्रतिष्ठाको भी ये प्राप्त न करें। (मिथः विघ्नानाः मृत्युं उपयन्तु) परस्पर विघ्न करते हुए ये सब मृत्युको प्राप्त हों ॥ २१ ॥

भावार्थ— यह यज्ञ अग्निसे प्रदीप्त हुआ है। इस यज्ञके द्वारा शत्रुसेना नाश होवे ॥ १७ ॥

मृत्युसे कष्ट, क्षुधा, बंधन, वध और भय शत्रुको प्राप्त होवे। और इस प्रकार भयभीत हुए शत्रुका नाश होवे ॥ १८ ॥

शत्रु पराजित हों, वे भाग जांय। हमारे ज्ञानी वीर द्वारा प्रेरित हुए शत्रु किसी प्रकार भी न बचें ॥ १९ ॥

शत्रुके शस्त्र गिर जांय, वे हमारे शस्त्रास्त्रोंको न सह सकें, वे डर जांय और इनके मर्म वेधे जांय ॥ २० ॥

सब लोग इन शत्रुओंकी निंदा करें, हमारे शत्रुको किसी ज्ञानीकी सहायता न प्राप्त हो, वे किसी स्थानपर न ठहर सकें। वे आपसमें एक दूसरेको टकराते हुए मर जांय ॥ २१ ॥

दिशश्चतस्रोऽश्वतर्यो॒ देवरथस्य पुरोडाशाः शफा अन्तरिक्षमुद्धिः ।
द्यावापृथिवी पक्षसी ऋतवोऽभीशवोऽन्तर्देशाः किंकरा वाक्परिरथ्यम् ॥ २२ ॥

संवत्सरो रथः परिवत्सरो रथोपस्थो विराडीषाग्नी रथमुखम् ।
इन्द्रः सव्यष्ठाश्चन्द्रमाः सारथिः ॥ २३ ॥

इतो जयेतो वि जय सं जय जय स्वाहा ।
इमे जयन्तु परामी जयन्तां स्वाहैभ्यो दुराहामीभ्यः ।
नीललोहितेनामूनभ्यवतनोमि ॥ २४ ॥

अर्थ - (चतस्रः दिशः) चार दिशाएं (देवरथस्य अश्वतर्यः) देवरथकी घोडियां हैं (पुरोडाशाः शफाः) पुरोडाश खुर हैं। (अन्तरिक्षं उद्धिः) अन्तरिक्ष ऊपरका भाग है। (द्यावापृथिवी पक्षसी) द्युलोक और पृथिवी ये दोनों पासे हैं। (ऋतवः अभीशवः) ऋतु रस्सियां हैं। (अन्तर्देशाः किंकराः) बीचके प्रदेश रथरक्षक हैं और (वाक् परिरथ्यं) वाणी रथका अन्य भाग है ॥ २२ ॥

(संवत्सरः रथः) वर्ष रथ है, (परिवत्सरः रथोपस्थः) परिवत्सर रथमें बैठनेका स्थान है, (विराड् ईषा) विराड जोतनेका दण्ड है, (अग्निः रथमुखं) अग्नि रथका मुख है। (इन्द्रः सव्यष्ठाः) इन्द्र बाईं ओर बैठनेवाला है और (चन्द्रमाः सारथिः) चन्द्र सारथी है ॥ २३ ॥

(इतः जय) यहांसे जय प्राप्त कर (इतः विजय) यहांसे विजय हो। (संजय जय) अच्छी प्रकार जय प्राप्त कर (स्व-आहा) आत्मसमर्पण कर (इमे जयन्तु) ये हमारे वीर जय प्राप्त करें। (अमी पराजयन्तां) ये शत्रुसैनिक पराभवको प्राप्त हों। (एभ्यः स्वाहा) इनके लिये शुभवचन (अमीभ्यः दुराहा) इन शत्रुओंके लिये बुरा वचन। (नीललोहितेन अमून् अभि अवतनोमि) नील और लोहित-रक्तसे इन शत्रुओंको सब प्रकार गिराता हूं ॥ २४ ॥

भावार्थ— देवरथकी घोडियां चारों दिशाएं हैं, इस रथके विविध भाग पुरोडाश, अन्तरिक्ष, द्युलोक, पृथिवी, ये हैं। छः ऋतु घोडियोंके लगाम हैं, बीचके स्थान-संरक्षक नौकर हैं और वाणी ही मध्यस्थान है ॥ २२ ॥

संवत्सर, परिवत्सर, विराट्, अग्नि ये क्रमशः रथ, बैठनेका स्थान, दण्ड और रथमुख हैं, इन्द्र इस रथमें बाईं ओर बैठता है और चन्द्रमा सारथ्य करता है ॥ २३ ॥

इस प्रकार जय प्राप्त कर, विजय संपादन कर। आत्मसमर्पणसे हि जय मिलता है। ये हमारे वीर जय प्राप्त करें। शत्रुका पराजय हो। अपने लोगोंको शुभ आशीर्वाद। शत्रुको शाप। सब शत्रुओंकी गिरावट हो ॥ २४ ॥

पराक्रमसे विजय

युद्धकी नीति।

युद्धनीतिका वर्णन करनेवाले सूक्त वेदमें अनेक हैं, परंतु इस सूक्तमें 'जाल-युद्ध' का वर्णन है, यह इस सूक्तकी विशेषता है। जालमें शत्रुसैन्यको पकडकर सब सैनिक जालमें बंधे जानेके पश्चात् उनका उचित शस्त्रास्त्रोंसे वध करनेका नाम जालयुद्ध है। पाठकोंने जाल देखेहि होंगे। प्रायः मछलियां पकडनेवाले धीवरलोग सूत्रके जाल बनाते हैं और इसमें मछलियां पकडते हैं। ये सूत्रके जाल युद्धमें उपयोगी नहीं

होते, क्योंकि शत्रुके सैनिक यदि इस सूत्रके जालमें पकडे गये, तो वे अपने तीक्ष्ण शस्त्रोंसे जाल काटकर बाहर आसकते हैं। अतः यहांका युद्धका जाल ऐसा होना चाहिये कि, जो सहजहीमें काटा न जासके।

आजकलके युद्धोंमें तारोंके जाल, अथवा कंटकित तारोंके जाल बर्तते हैं। बहुत संभव है कि जिस इन्द्रजालका वर्णन इस सूक्तमें किया है, वह इसी प्रकारके लोहेके कंटकित अथवा अन्य तारोंका ही जाल होगा। इन्द्रके शत्रु राक्षस हैं, वे बलाढ्य और धनधान्यसंपन्न होते हैं, वे कदापि सूत्रके जालसे बांधे जायगे और सहजहीमें मारे जांयगे यह संभव नहीं है। इस सूक्तमें इन्द्रने इस जालके द्वारा हजारों और लाखों शत्रुओंको बांधा और मारा ऐसा वर्णन है, अतः यह जाल निःसन्देह लोहेका होना योग्य है। इसका वर्णन इस प्रकार है—

बृहज्जालेन संदिताः क्षिप्रं अज्यन्ताम् (मं० ५)
शक्रस्य अन्तरिक्षं जालं आसीत्। महीदिशः जालदण्डाः।
तेन अभिधाय दस्यूनां सेनां अपावत्। (मं० ५)
वाजिनीवतः शक्रस्य बृहत् जालम्। तेन सर्वान् शत्रून् न्युब्ज, यथा एषां कतमश्चन न मुच्यातै॥ (मं० ६)
हे शूर इन्द्र ! शतवीर्यस्य ते बृहत् जालम्। तेन सहस्रं अयुतं जघान दस्यूनां॥ (मं० ७)

' इन्द्र स्वयं बडा शूर है, उसके पास सैन्यभी बहुत है। वह स्वयं सैंकडों प्रकारके पराक्रम करता है। उसका बडा भारी जाल है। मानो उसका जाल इस अन्तरिक्ष जैसा विस्तृत है। चारों दिशाओंमें उसके जालके स्तंभ खडे किये होते हैं। इस विस्तृत जालमें शत्रुकी सेना पकडी जाती है, और एकवार सेना इस जालमें पकडी गयी, तो उनमेंसे एकभी नहीं बच सकता। इस रीतिसे इस ढंगके जालयुद्ध द्वारा इन्द्र हजारों और लाखों शत्रुओंका संहार करता है।'

इन मंत्रभागोंमें यह वर्णन बडा मनोरम है और जालयुद्धका महत्त्व भी इससे प्रकट होता है, एकवार शत्रु जालमें बान्धे गये, तो ऐसा प्रतीत होता है कि उनकी हलचल भी बन्ध हो जाती है। इस प्रकार जालसे बान्धे गये शत्रुओंका वध करना बडा सहज कार्य होता है, क्योंकि इन्द्र एक वार शत्रुको जालमें पकडकर पश्चात् अपने सैनिकोंसेहि उनका वध कराता है, ऐसा इसी सूक्तमें कहा है—

शक्रः सेनया तेन (जालन बद्धं) दस्यूनां सहस्रं जघान। (मं० ७)

" इन्द्र अपनी सेनाद्वारा उस जालसे बान्धे गये शत्रुके हजारों सैनिकोंको मारता है। " इस वर्णनसे स्पष्ट हो जाता है कि जालमें बन्धे शत्रुसैन्यका वध करना सहज बात है। यह जाल पृथ्वीपर बहुत बडा फैलाया जाता है इसविषयमें निम्नलिखित मन्त्र देखिये—

अयं महान् लोकः शक्रस्य जालं आसीत्।
तेन इन्द्रजालेन सर्वान् तमसा अभिदधामि॥ (मं. ८)
साध्याः रुद्राः वसवः जालदण्डं उद्यम्य ओजसा यन्ति। आदित्यैः एकः (दण्डः) उद्यतः॥ (मं. १२)
विश्वेदेवाः ओजसा उपरिष्टात् यन्तु।
अंगिरसः मध्येन सेनां घ्नन्तः यन्तु॥ (मं. १३)

" इस पृथ्वीभर इन्द्रका जाल फैला है। इस इन्द्रके जालसे सब शत्रुओंको अन्धेरेसे घेरते हैं। साध्य, रुद्र, वसु और आदित्य ये सब देव जालका एक एक स्तंभ पकडकर वेगसे दौडते हैं। विश्वेदेव और आंगिरसभी शत्रुसेनाके बीचमें और ऊपरसे हमला करते हैं। " इतना विस्तार इस जालका होता है। इस जालसे सब पृथ्वी और अन्तरिक्ष भर जाता है, अर्थात् शत्रुका सब सैन्य चारों ओरसे इस जालके द्वारा घेरा जाता है। इन मंत्रोंसे ऐसा प्रतीत होता है कि जिस प्रकार शत्रुका सैन्य घूमता है, उसी रीतिसे वह जालभी घुमाया जाता है। इसीलिये जालके दण्ड पकडकर वसु, रुद्र, आदित्य और साध्य वेगसे भ्रमण करते हैं। विश्वेदेव अपने सैन्यसे ऊपरके भागसे हमला करते हैं और आंगिरसोंकी सेना बीचमें हमला चढाती है। इस प्रकार शत्रुसैन्यको युद्धमें रखकर वसु, रुद्र और आदित्य जालदण्डोंको पकडकर दौड दौड कर शत्रुके इर्द गिर्द जालको दण्डोंके आधारपर ऐसे ढंगसे जाल रखते हैं, कि शत्रु न जानते हुए स्वयंहि जालमें आकर फंस जांय। यह युद्धकौशलकी बात है और जो युद्धविद्या जानते हैं उनके

ही समझमें यह बात आसकती है। यहां मन्त्रोंद्वारा उक्त विषय प्रकट हुआ है। इन मंत्रभागोंका विचार करके पाठक भी इस विषयका थोडासा ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। यहां साध्य, वसु, रुद्र आदित्य, विश्वेदेव और आंगिरस ये सेनाविभागों और सेनाध्यक्षोंके नाम हैं। इनके विशेष कार्य युद्धभूमिमें होते हैं, अतः ये अलग अलग नाम इनके होते हैं। इन सबका मुख्य इन्द्र है इसका कार्य इन्+द्र शत्रुका विदारण करना है। इसका कार्य प्रथम मन्त्रने इस प्रकार कहा है—

मन्थिता शूरः शक्रः पुरंदरः इन्द्र मन्थतु।
(मं. १)

"शत्रुसैन्यका मन्थन करनेवाला इन्द्र शूर और समर्थ होकर (पुरं-दरः) शत्रुके किलोंका भेदन करे।" इसमें प्रत्येक शब्द इन्द्रका कार्य बता रहा है। शत्रुके किलोंको तोडनेका कार्य इन्द्र करता है, किलोंसे शत्रुसैन्यको बाहर निकालकर, उनको अपने जालोंसे बान्धकर मारता है। इस प्रकार यह जालयुद्धकी नीति है।

इस रीतिके जालयुद्धके सामान अपने पास रहे तो शत्रुपर विजय प्राप्त करनेका विश्वास अपने सैनिकोंमें आता है और वे कह सकते हैं—

अमित्राणां सहस्रशः सेनाः हनाम। (मं. १)
वधकः वधैः एनान् हन्तु। (मं. ३; ४)
अमून् निः शृणीहि। अमून् अजिरं खाद। (मं. ९)
मृत्यवे अमून् प्रयच्छामि। अमी मृत्युपाशैः सिताः।
मृत्योः ये अघला दूताः तेभ्यः एनान् बद्ध्वा
प्रतिनयामि॥ (मं. १०)
मृत्युदूता अमून् नयत। यमदूता अपोम्भत।
पराःसहस्रा हन्यन्ताम्॥ (मं. ११)
यथा अमुं सेनां हनन्। (मं. १४, १५)
उताः मृत्युपाशाः यान् आक्रम्य न मुच्यसे।
अमुष्याः सेनायाः इदं कूटं सहस्रशः हन्तु।
(मं. १६)

"शत्रुके हजारों सैनिकोंको हम मारेंगे। वधके साधनोंसे इनको मारें। इन शत्रुसैनिकोंको निःशेष मारो। इनको मृत्युको सौंप देता हूं। ये मृत्युके पाशसे बांधे हैं। इन शत्रुओंको बांधकर मैं मृत्युके दूतोंके हवाले करता हूं। यमदूत इनको ले चलें, यमदूत इनको खींच लें और हजारोंका वध किया जावे। इस संपूर्ण सेनाका नाश किया जावे। ये मृत्युके पाश फैलाये हैं, इनसे नहीं छूटोगे, इस शत्रुसेनाके इस केन्द्रको प्राप्त करके उनके हजारों सैनिक मारे जांय॥"

इस प्रकारकी भाषा तभी बोली जा सकती है कि जब शत्रुको पकडकर उसका वध करना निश्चित सा हो। जालमें पकडे शत्रुका वध करना निश्चित और सहज होता है इसी लिये जालयोधी वीर इस प्रकारके निश्चयात्मक वाक्य बोल सकते हैं। इसी प्रकारके वाक्य और देखिये—

पराजिताः अमित्राः प्र त्रसन्तां,
ब्रह्मणा नुत्ताः धावत।
बृहस्पतिप्रणुत्तानां अमीषां कश्चन मा मोचि॥
(मं. १९)

"पराजित हुए शत्रु त्रासको प्राप्त हों, भगाये शत्रु भागते हुए दौड जावें। भगाये इन शत्रुओंमेंसे भी कोई न बचे।" ये शब्द शत्रुपराजयका निश्चय बता रहे हैं। जालयुद्धका यह महत्त्व है कि एक बार उनमें फंसा शत्रु बचना असंभव है। जालमें फंसे शत्रुकी अवस्था कैसी बनती है देखिये—

एषां आयुधानि अवपद्यन्ताम्। इषुं प्रतिधां मा शकन्।
एषां बहु बिभ्यतां इषवः मर्माणि घ्नन्तु। (मं० १०)

"इन शत्रुओंके आयुध गिर जांय। हमारे शस्त्रोंको वे सह न सकें। इन बहुत घबराये शत्रुओंके मर्मोंमें हमारे शस्त्र आघात करें।" तथा और देखिये—

त्रातारं प्रतिष्ठां मा विदन्त। मिथो विघ्नानाः मृत्युं उपयन्तु। (मं० २१॥

"शत्रु भयभीत होकर किधर भी आश्रयको न प्राप्त हों, उनको कोई उत्तम सलाह देनेवाला न मिले। वे आपसमें एक दूसरेको विघ्न करते हुए मृत्युको प्राप्त हों।" यह अवस्था शत्रुकी तब होगी जब की अपने निश्चित विजयकी संभावना हो।

इन्द्रः शर्वः च अश्रुजालाभ्यां अमूं सेनां हतम्।
(मं. १८)

"इन्द्र और शर्व अश्रु और जालोंके द्वारा इस सेनाको मारे।" इस मंत्रमें जालयुद्धकी शक्ति बताई है। संपूर्ण शत्रुसेनाको मारना केवल जालयुद्धसे हि संभवनीय है। जालमें पकडे गये शत्रुसेनापर कितनी भयानक आपत्ति आती है इसकी कल्पना अगले मंत्रभागसे हो सकती है—

मृत्योः आषं क्षुधं सेदिं वधं भयं आपद्यन्ताम्।
(मं. १८)

जालमें पकडे गये शत्रुओंपर ' मृत्युके समान कष्ट, भूख, बंधन, वध और भय ' आपडते हैं। शत्रुका कोई मनुष्य इनसे बच नहीं सकता। शत्रुसेनापर ऐसी भयानक आपत्ति आती है इसलिये यह जालयुद्ध शत्रुको बहुत डर उत्पन्न करनेवाला होता है। इसी मंत्रके साथ निम्नलिखित मंत्र देखिये—

सेदिः उग्रा व्यृद्धिः आर्तिः अनपवाचना श्रमः तन्द्री मोहः च तैः अमून् सर्वान् अभिदधामि। (मं. ९)

" बंधन, उग्र विपत्ति, न कहने योग्य कष्ट, श्रम, आलस्य, मोह इनसे ये सब हमारे शत्रु जर्जर हो जांय। " इसकी सिद्धि होनेके लिये युद्धमें जालप्रयोग निःसन्देह उपकारक है। जालमें बंधा वीर कितना भी बलवान हुआ तो भी वह कुछ प्रतिकार करनेमें असमर्थ होजाता है। इसलिये युक्तिसे शत्रुको जालमें बांध देनेसे उनका पूर्णतया नाश हो जाता है। इस युद्धमें और एक दुर्गन्धयुक्तका प्रयोग वर्णन किया है वह भी बडा घोर प्रयोग है देखिये—

दुर्गंधयुक्त धूँवां।

पूतिरज्जुः उपध्मानी अमूं सेनां पूतिं कृणोतु। मं. २)

" दुर्गंधयुक्त रस्सी जलाकर इस सेनामें सर्वत्र दुर्गंधीको फैला देवे। " कुछ विशेष रासायनिक पदार्थोंसे यह रस्सी भिगोयी रहती है। इस रस्सीको जलाकर सिलगाकर उसको शत्रुसेनामें फेंकनेसे शत्रुसेनामें ऐसी दुर्गंधी फैलती है कि उससे त्रस्त हुए शत्रुके सैनिक युद्ध करनेमें असमर्थ हो जाते हैं। इससे कितना भय प्राप्त होता है देखिये—

धूममग्निं परादृश्य अमित्रा हृत्स्वादधतां भयं।
(मं. २)

" पूर्वोक्त धूममय अग्नि दूरसे देखकर शत्रुके सब लोग हृदयोंमें भय धारण करते हैं। " इतना यह दुर्गन्धयुक्त महाभयंकर है। एकवार यह (पूतिरज्जु) दुर्गन्धकी रस्सीका जलना प्रारंभ होकर दुर्गन्ध फैलने लगा तो सब सैनिक किसी भी कार्यके लिये बडे निकम्मे हो जाते हैं और मानने लगते हैं कि अब अपने नाशका समय आपडा है। यदि जाल प्रयोग और यह दुर्गन्ध प्रयोग ये दोनों प्रयोग किये जांय, तो शत्रुका शीघ्र नाश करना बिलकुल आसानीसे होसकता है। इस प्रकार ये दोनों प्रयोग करनेसे अपना विजय होता है अतः कहा है—

विजय।

इतो जय विजय संजय जय स्वाहा।
इमे जयन्तु परामी जयन्तां स्वाहैभ्यो
दुराहामीभ्यः॥ (मं. २४)

" इस पूर्वोक्त युक्तिसे जय और विजय प्राप्त करो, वह तुम्हारा उत्तम जय हो। ये तुम्हारे सैनिक विजयी हों, तुम्हारे शत्रु पराजित हों। तुम्हारा उत्तम कल्याण हो, तुम्हारे शत्रुओंका अकल्याण हो। " इस प्रकार अन्तमें इस जालयुद्ध करनेवालोंको शुभ आशीर्वाद दिया है।

इस प्रकार वेदमें उपदेश किये जालयुद्धका वर्णन है। पाठक इसका विचार करके वेदकी युद्धनीति जानें।

" इन्द्र जाल " शब्द आध्यात्मिक बन्धनका भी भाव बताता है। इस दृष्टीसे इस सूक्तका विचार कोई करे। यह विषय अन्वेषणीय है।

एकही उपास्य देव !

विराट्

[९]

ऋषिः— अथर्वा । देवताः - कश्यपः, सर्वे ऋषयः, छन्दांसि च; विराट् । छन्दः— त्रिष्टुप्;
२ पङ्क्तिः; ३ आस्तारपङ्क्तिः; ४-५, २३, २५, २६ अनुष्टुप्; ८, ११-१२, २२ जगती;
९ भुरिक्; १४ चतुष्पदातिजगती ।

कुतस्तौ जातौ कतमः सो अर्धः कस्माल्लोकात्कतमस्याः पृथिव्याः ।
वत्सौ विराजः सलिलादुदैतां तौ त्वा पृच्छामि कतरेण दुग्धा ॥ १ ॥
यो अक्रन्दयत्सलिलं महित्वा योनिं कृत्वा त्रिभुजं शयानः ।
वत्सः कामदुघो विराजः स गुहा चक्रे तन्वः पराचैः ॥ २ ॥
यानि त्रीणि बृहन्ति येषां चतुर्थं वियुनक्ति वाचम् ।
ब्रह्मैनद्विद्यात्तपसा विपश्चिद्यस्मिन्नेकं युज्यते यस्मिन्नेकम् ॥ ३ ॥
बृहतः परि सामानि षष्ठात्पञ्चाधि निर्मिता ।
बृहद्बृहत्या निर्मितं कुतोऽधि बृहती मिता ॥ ४ ॥

अर्थ— (तौ कुतः जातौ) वे दोनों कहांसे प्रकट हुए ? (सः अर्धः कतमः) वह कौनसा अर्धभाग है ? और वह (कस्मात् लोकात्) कौनसे लोकसे और (कतमस्याः पृथिव्याः) कौनसे भूविभागके उपर (सलिलात् विराजः) आप तत्वसे विराजके (वत्सौ उत् ऐतां) दोनों बच्चे प्रकट होते हैं ? (तौ त्वा पृच्छामि) इन दोनोंके विषयमें तुझे मैं पूछता हूं । इनमेंसे वह गौ (कतरेण दुग्धा) किससे दोही जाती है ? ॥ १ ॥

(त्रिभुजं योनिं कृत्वा) तीन भुजावाला आश्रयस्थान बनाकर (शयानः यः) विश्राम करनेवाला जो अपने (महित्वा सलिलं अक्रन्दयत्) महत्वसे जलको प्रक्षुब्ध बनाता है । (विराजः कामदुघः स वत्सः) विराज रूपी कामधेनुका वह बच्चा (पराचैः गुहा) दूर और गुप्त (तन्वः चक्र) शरीरोंको बनाता है ॥ २ ॥

(यानि बृहन्ति त्रीणि) जो बडे तीन हैं और (येषां चतुर्थं वाचं वियुनक्ति) जिनका चौथा वाणीको प्रकट करता है । (विपश्चित् तपसा) ज्ञानी तपसे (एनत् ब्रह्म विद्यात्) इसको ब्रह्म जाने । (यस्मिन् एकं युज्यते) जिसमें एकका योग किया जाता है और (यस्मिन् एकं) जिसमें एकका होता है ॥ ३ ॥

(बृहतः षष्ठात् परि) बडे षष्ठके ऊपर (पञ्च सामानि अधि निर्मिता) पांच सामोंका निर्माण हुआ है । (बृहत्याः बृहत् निर्मितं) बडीसे बडा बनाया है । (बृहती कुतः अधि निर्मिता) बडी कहांसे निर्माण हुई है ? ॥४॥

भावार्थ— (स्त्रीत्व और पुरुषत्व) ये दोनों कहांसे प्रकट होगये हैं ? इसमें वह आधा भाग कहांसे माना जाता है ? कौनसी पृथ्वीके ऊपर कौनसे स्थानसे किस जलतत्वसे विराट् उत्पन्न होकर उसके (रयि और प्राण ये) दोनों बच्चे किस प्रकार उत्पन्न हुए ? इस विराट् रूपी गौका दोहन किस बच्चेके साथ हुआ ? ये प्रश्न मैं तुमसे पूछता हूं ॥ १ ॥

त्रिगुणमयी प्रकृतिमें व्यापनेवाला अपनी शक्तिसे ही उसमें गति उत्पन्न करता है । उससे विराट् नामक कामधेनु होती है, उसीका वह बच्चा है, जो दूरकी गुहामें अपने शरीरोंको बनाता है ॥ २ ॥

तीन बडे तत्त्व हैं । जो चौथा है वह वाणीको प्रेरित करता है । ज्ञानी तपसे इस ब्रह्मको जानता है, जिसमें एक (मन) का योग किया जाता है ॥ ३ ॥

बडे छठे तत्वके आधारपर पांच सामोंकी रचना हुई है । बडीसे ही बडेका निर्माण होता है । परंतु पहिली बडी कहांसे होती है ? ॥ ४ ॥

बृहती परि मात्राया मातुर्मात्राधि निर्मिता ।
माया ह जज्ञे मायाया मायाया मातली परि ॥ ५ ॥

वैश्वानरस्य प्रतिमोपरि द्यौर्यावद्रोदसी विबबाधे अग्निः ।
ततः षष्ठादामुतो यन्ति स्तोमा उदितो यन्त्यभि षष्ठमह्नः ॥ ६ ॥

षट् त्वा पृच्छाम ऋषयः कश्यपेमे त्वं हि युक्तं युयुक्षे योग्यं च ।
विराजमाहुर्ब्रह्मणः पितरं तां नो वि धेहि यतिधा सखिभ्यः ॥ ७ ॥

यां प्रच्युतामनु यज्ञाः प्रच्यवन्त उपतिष्ठन्त उपतिष्ठमानाम् ।
यस्या व्रते प्रसवे यक्षमेजति सा विराडृषयः परमे व्योमन् ॥ ८ ॥

अप्राणैति प्राणेन प्राणतीनां विराट् स्वराजमभ्येति पश्चात् ।
विश्वं मृशन्तीमभिरूपां विराजं पश्यन्ति त्वे न त्वे पश्यन्त्येनाम् ॥ ९ ॥

अर्थ— (मातुः मात्रायाः परि) माताकी तन्मात्राके आधारपर (बृहती मात्रा अधिनिर्मिता) बडी मात्रा निर्माण हुई है। (माया ह मायायाः जज्ञे) माया निश्चयसे मायासे उत्पन्न होती है। और (मायायाः परि मातली) मायाके ऊपर मातली है ॥ ५ ॥

(उपरि द्यौः वैश्वानरस्य प्रतिमा) ऊपर जो द्युलोक है वह वैश्वानरकी प्रतिमा है। (यावत् अग्निः रोदसी विबबाधे) जहांतक अग्नि द्युलोक और पृथिवीको बाधित करता है। (ततः अमुतः षष्ठात् स्तोमाः आयन्ति) वहांसे दूरके छठे स्थानसे स्तोम आते हैं। और वे (इतः अह्नः षष्ठं अभि उत् यन्ति) यहांसे छठे दिन ऊपर उठते हैं ॥ ६ ॥

हे कश्यप ! (इमे षट् ऋषयः त्वा पृच्छामः) ये हम छः ऋषि तुझसे प्रश्न पूछते हैं क्योंकि (त्वं हि युक्तं योग्यं च युयुक्षे) तू ही युक्त और योग्यको संयुक्त करता है। (विराजं ब्रह्मणः पितरं आहुः) विराजको ब्रह्माका पिता कहते हैं (तां नः सखिभ्यः) उसको हम मित्रोंको (यतिधा विधेहि) जितने प्रकारोंसे हो उतने प्रकारोंसे वर्णन करो ॥ ७ ॥

हे (ऋषयः) ऋषिगण ! (यां प्रच्युतां) जिसके स्थानसे चलनेपर (यज्ञाः अनु प्रच्यवन्ते) यज्ञ चलते हैं। और जिसके (उपतिष्ठमानां उपतिष्ठन्ते) उपस्थित होनेसे उपस्थित होते हैं। (यस्याः प्रसवे व्रते) जिसके प्रकट होनेके नियममें (यक्षं एजति) यजनीय देव हलचल करता है। (सा विराट्) वह विराट् (परमे व्योमन्) परम आकाशमें है ॥ ८ ॥

(अ-प्राणा प्राणतीनां प्राणेन एति) स्वयं विना प्राण होकर भी प्राणवालोंके प्राणके साथ चलती है। पश्चात् (विराट् स्वराजं अभ्येति) विराट् स्वयं प्रकाशके पास पहुंचती है। (विश्वं मृशन्तीं अभिरूपां विराजं) सबको स्पर्श करनेवाली अनुरूप विराट्को (त्वे पश्यन्ति) वे कई देखते हैं, परंतु (त्वे एनां न पश्यन्ति) वे इसको नहीं देखते ॥ ९ ॥

भावार्थ— प्रकृतिमातासे तन्मात्राकी उत्पत्ति होती है और उससे पृथिवी आदिकी उत्पत्ति होती है। मायासे इस प्रकार माया की उत्पत्ति होती है, और इस मायाके ऊपर मायाका निरीक्षक भी है ॥ ५ ॥

वैश्वानर उतना है कि जितनी द्यौ है। जहांतक द्युलोकसे पृथ्वीतक अन्तर है उसमें वैश्वानरकी व्याप्ति है। वैश्वानर छठवां है, जिससे स्तोम और यज्ञ प्रचलित होते हैं, और ये सब फिर उसीमें जा मिलते हैं ॥ ६ ॥

हे कश्यप ! ये हम छः ऋषि तुझसे पूछते हैं। तू सबको योग्य स्थानमें नियुक्त करता है। अतः इसका उत्तर दो। विराट् ब्रह्माका पिता कहते हैं उस विषयमें हम सबको सब प्रकारसे कहो ॥ ७ ॥

हे ऋषिगण ! जिसके चलनेसे यज्ञ चलते और जिसके स्थिर होनेसे यज्ञ स्थिर होते हैं, जिसकी प्रेरणासे आत्मा प्रेरणा करता है वही विराट् देवता है ॥ ८ ॥

को विराजो मिथुनत्वं प्र वेद क ऋतून्क उ कल्पमस्याः।
क्रमान्को अस्याः कतिधा विदुग्धान्को अस्या धाम कतिधा व्युष्टीः ॥ १० ॥
इयमेव सा या प्रथमा व्यौच्छदास्वितरासु चरति प्रविष्टा।
महान्तो अस्यां महिमानो अन्तर्वधूर्जिगाय नवगज्जनित्री ॥ ११ ॥
छन्दःपक्षे उषसा पेपिशाने समानं योनिमनु सं चरेते।
सूर्यपत्नी सं चरतः प्रजानती केतुमती अजरे भूरिरेतसा ॥ १२ ॥
ऋतस्य पन्थामनु तिस्र आगुस्त्रयो घर्मा अनु रेत आगुः।
प्रजामेका जिन्वत्यूर्जमेका राष्ट्रमेका रक्षति देवयूनाम् ॥ १३ ॥

अर्थ— (विराजः मिथुनत्वं कः प्रवेद) विराट्के स्त्रीत्व और पुरुषत्वको कौन जानता है ? (कः ऋतून्) कौन ऋतुओंको और (कः अस्याः कल्पं उ) कौन इसके कल्पको जानता है ? (अस्याः क्रमान् कः) इसके क्रमोंको कौन जानता है ? (कतिधा विदुग्धान्) कितनी वार दोही गयी यह कौन जानता है ? (कः अस्याः धाम) कौन इसका स्थान जानता है और (कतिधा व्युष्टीः) कितने प्रकारसे इसके प्रभात समय होते हैं ? ॥ १० ॥

(इयं एव सा या प्रथमा व्यौच्छत्) यही वह है कि जो पहिली होकर प्रकाशित होती है, जो (आसु इतरासु प्रविष्टा चरति) इनमें और अन्योंमें प्रविष्ट होकर चलती है। (अस्यां अन्तः महान्तः महिमानः) इसमें बडी शक्तियां हैं। (नवगत् जनित्री वधूः जिगाय) नूतन जननी वधूके समान सबको जीतती है ॥ ११ ॥

(छन्दःपक्षे उषसा पेपिशाने) छन्दके दो पक्ष उषासे सुन्दर बनते हुए (समानं योनिं अनु संचरेते) एक स्थानको लक्ष्य करके चलते हैं। (प्रजानती केतुमती सूर्यपत्नी) जानती हुई केतुवाली सूर्यपत्नी प्रभा (अजरे भूरि-रेतसा संचरतः) अजर बहुत वीर्यवाली संचार करती हैं ॥ १२ ॥

(तिस्रः ऋतस्य पन्थां अनु आगुः) तीनों सत्यके मार्गको अनुकूल होती हैं। (त्रयः घर्माः रेतः अनु आगुः) तीनों यज्ञ वीर्यको अनुकूल होते हैं। (एका प्रजां जिन्वति) एक प्रजा-संततिको तृप्त करती है। (एका ऊर्जं) दूसरी बलकी रक्षा करती है और (एका देव-यू-नां राष्ट्रं रक्षति) तीसरी देवके साथ योग करनेवालोंके राष्ट्रकी रक्षा करती है ॥ १३ ॥

भावार्थ— यह विराट् स्वयं प्राणवाली न होती हुई प्राणियोंके प्राणके साथ चलती है। तथा यह विराट् स्वयंप्रकाश आत्माके पास भी पहुंचती है। सबको स्पर्श करनेवाले इस विराट्को कई देखते हैं और कई इसको देख नहीं सकते ॥ ९ ॥

इस विराट्के अन्दर स्त्रीत्व और पुरुषत्व किस प्रकार रहता है। इसके ऋतु और कल्प किस क्रमसे होते हैं ? और कौन इसको यथावत् जानता है। इस विराट्का धाम किसने देखा है, और इसके प्रभातसमयका किसको पता है ? इस विराट्का कितने प्रकारोंसे दोहन किया है अर्थात् कितने रस इससे निकाले जाते हैं ॥ १० ॥

यही विराट् पहिली प्रकाशित हुई है, जो अन्योंमें प्रविष्ट होकर विचरती है। इसके अन्दर बडी बडी शक्तियां हैं। यह नववधूके समान सब पर प्रभाव डालती है ॥ ११ ॥

छन्दके दो पक्ष हैं, जो एकही छन्दमें अनुकूलतासे कार्य करते हैं। जैसी सूर्यपत्नी प्रभा उषःकालसे प्रकाशित होनेका प्रारंभ होता है, उसी प्रकार ये दोनों छन्दके पक्ष बलीष्ठ होकर विशेष बलके साथ सर्वत्र संचार करते हैं ॥ १२ ॥

तीनों शक्तियां सत्यके अनुकूलताके साथ होती हैं तथा तीनों यज्ञ वीर्यके साथ चलते हैं। एक संतानकी रक्षा, दूसरी बलकी रक्षा और तीसरी देवके उपासकोंके राष्ट्रकी रक्षा करती है ॥ १३ ॥

अग्नीषोमावदधुर्या तुरीयासीद्यज्ञस्य पक्षावृषयः कल्पयन्तः ।
गायत्रीं त्रिष्टुभं जगतीमनुष्टुभं बृहदर्कीं यजमानाय स्वराभरन्तीम् ॥ १४ ॥

पञ्च व्युष्टीरनु पञ्च दोहा गां पञ्चनाम्नीमृतवोऽनु पञ्च ।
पञ्च दिशः पञ्चदशेन क्लृप्तास्ता एकमूर्ध्नीरभि लोकमेकम् ॥ १५ ॥

षड् जाता भूता प्रथमजर्तस्य षडु सामानि षडहं वहन्ति ।
षड्योगं सीरमनु सामसाम षडाहुर्द्यावापृथिवीः षडुर्वीः ॥ १६ ॥

षडाहुः शीतान्षडु मास उष्णानृतुं नो ब्रूत यतमोऽतिरिक्तः ।
सप्त सुपर्णाः कवयो नि षेदुः सप्त च्छन्दांस्यनु सप्त दीक्षाः ॥ १७ ॥

अर्थ— (अग्नीषोमौ यज्ञस्य पक्षौ) अग्नि और सोम ये दो यज्ञके दो पंख हैं ऐसा (ऋषयः कल्पयन्तः) ऋषियोंने माना है । (या तुरीया आसीत्) जो चतुर्थ अवस्था है, उसको और (गायत्रीं त्रिष्टुभं जगतीं अनुष्टुभं) गायत्री, त्रिष्टुप् , जगती और अनुष्टुप् रूपसे (यजमानाय स्वः आभरन्तीं बृहदर्कीं) यजमानको प्रकाश देनेवाली बडी उपासनाको वे (अदधुः) धारण करते हैं ॥ १४ ॥

(पञ्च व्युष्टीः) पांच उषाएं, (पञ्च दोहाः अनु) पांच अनुकूल दोहन समय (पञ्चनाम्नीं गां अनु) नाम-वाली पांच अनुरूप गौ, (पञ्च ऋतवः) पांच ऋतु, (पञ्चदशेन पञ्च दिशः क्लृप्ताः) पंद्रहवेंने पांच दिशाओंको अनुकूल किया है, (ताः एकमूर्ध्नीः) वे सब एक सिरवाले होकर (एकं लोकं अभि) एक लोकके चारों ओर हैं ॥ १५ ॥

(ऋतस्य प्रथमजाः) सत्यका पहिला प्रवर्तक (षट् भूताः जाताः) छः भूत बने हैं । (षट् उ सामानि) छः साम (षट्-अहं वहन्ति) छः दिनोंको ले जाते हैं । (षट्-योगं सीरं अनु साम-साम) छः बैल जोते हुए हलको साम साम कहते हैं, (द्यावापृथिवीः षट् आहुः) द्युलोकसे पृथ्वीपर्यंत छः केन्द्र हैं, जिनको (षट् उर्वीः) छः भूमि कहते हैं ॥ १६ ॥

(षट् शीतान् आहुः) छः शीतकालके महिने हैं, (षट् उष्णान् मासः) छः उष्णताके महिने हैं । (नः ऋतुं ब्रूहि) इनके ऋतु हमें बतलाओ, (यतमः अतिरिक्तः) इनमें कौनसा विशेष रिक्त है ? (सप्त सुपर्णाः कवयः) सात उत्तमपर्णवाले कवि (निषेदुः) निवास करते हैं । (सप्त छन्दांसि) सात छन्द हैं (अनु सप्त दीक्षाः) उनके अनुकूल सात दीक्षा भी हैं ॥ १७ ॥

भावार्थ— अग्नि और सोम ये यज्ञके दो पक्ष हैं यह बात ऋषियोंने मानी है। और वे ऐसा भी मानते हैं कि जो चतुर्थ अवस्था है वह त्रिष्टुभ् जगती अनुष्टुप् रूपसे यजमानके लिये स्वर्गका सुख भर देती है ॥ १४ ॥

एक गौके अनुकूल पांच उषाएं, पांच दोहन समय हैं पांच ऋतु, पांच दिशाएं, इनके ऊपर एकका अधिकार है। इस एकके पास सबको पहुंचना है ॥ १५ ॥

सत्यमार्गका प्रथम प्रवर्तक आत्मा है, उससे छः तत्त्व उत्पन्न हुए हैं। छः साम छः दिनोंका यज्ञ समाप्त करते हैं। जिस प्रकार छः बैल जोते हुए हलको किसान चलाते हैं, वैसा ही यह साम छः दिनोंवाले यज्ञको चलाता है। जगत्में द्युलोक और पृथिवीके अंदर भी छः पृथ्वी सरीखे गोल हैं ॥ १६ ॥

शीतकालके छः मास हैं, उष्ण कालके भी छः मास हैं। इनके ऋतु हमें बताओ और यह भी बताओ कि इनमें रिक्त कौन है ? सात कवि उत्तम पत्र लेकर यहां बैठे हैं, उनके साथ सात छन्द हैं और सात दीक्षाएं भी हैं ॥ १७ ॥

सप्त होमाः समिधो ह सप्त मधूनि सप्तर्तवो ह सप्त ।
सप्ताज्यानि परि भूतमायन्ताः सप्तगृध्रा इति शुश्रुमा वयम् ॥ १८ ॥

सप्त च्छन्दांसि चतुरुत्तराण्यन्यो अन्यस्मिन्नध्यार्पितानि ।
कथं स्तोमाः प्रति तिष्ठन्ति तेषु तानि स्तोमेषु कथमार्पितानि ॥ १९ ॥

कथं गायत्री त्रिवृतं व्याप कथं त्रिष्टुप्पञ्चदशेन कल्पते ।
त्रयस्त्रिंशेन जगती कथमनुष्टुप्कथमेकविंशः ॥ २० ॥

अष्ट जाता भूता प्रथमजर्तस्याष्टेन्द्रर्त्विजो दैव्या ये ।
अष्टयोनिरदितिरष्टपुत्राष्टमीं रात्रिमभि हव्यमेति ॥ २१ ॥

अर्थ— (सप्त होमाः) सात यज्ञ हैं, (समिधः ह सप्त) समिधाएं सात हैं, (मधूनि सप्त) सात मधु और (सप्त ऋतवः ह) सात ऋतु हैं। (सप्त आज्यानि भूतं परि आयन्) सात प्रकारके घृत सब जगत्में प्राप्त हैं, (ताः सप्तगृध्राः) वे सात गीध हैं (इति वयं शुश्रुम) ऐसा हम सुनते हैं ॥ १८ ॥

(सप्त छन्दांसि) सात छन्द हैं, (उत्तराणि चतुः) उनसे श्रेष्ठ चार हैं। ये (अन्यः अन्यस्मिन्) एक दूसरेमें (अधि आ अर्पितानि) समर्पित हैं। (स्तोमाः तेषु कथं प्रति तिष्ठन्ति) स्तोम उनमें कैसे रहते हैं? (तानि स्तोमेषु कथं अर्पितानि) वे स्तोमोंमें कैसे समर्पित हुए हैं? ॥ १९ ॥

(गायत्री त्रिवृतं कथं व्याप) गायत्री त्रिवृत्को कैसे व्यापती है? (कथं त्रिष्टुप् पञ्चदशेन कल्पते) कैसे त्रिष्टुप् पंद्रहसे होता है? (त्रयस्त्रिंशेन जगती कथं) तैंतीससे जगती कैसी होती है और (अनुष्टुप् एकविंशः कथं) अनुष्टुप् इकीसका कैसे होता है? ॥ २० ॥

(ऋतस्य प्रथमजाः अष्ट भूताः जाताः) सत्यके पहिले प्रवर्तकसे आठ भूत उत्पन्न होगये हैं। हे इन्द्र! (ये दैव्याः ऋत्विजः अष्ट) जो दिव्य ऋत्विज हैं वे भी आठ हैं। (अदितिः अष्टयोनिः अष्टपुत्रा) अदिति आठ उत्पत्तिस्थानवाली है और उसको आठ पुत्र भी हैं। (अष्टमीं रात्रिं) अष्टमी रात्रिको (हव्यं अभि एति) हव्य प्राप्त होता है ॥ २१ ॥

भावार्थ— सात होम, सात समिधाएं, सात शहद, सात ऋतु और सात घृत भूतमात्रके चारों ओर हैं। इनके साथ सात गीध भी हैं ऐसा हम सुनते हैं ॥ १८ ॥

सात छन्द, उनके चार उत्तर पक्ष, एक दूसरेके साथ मिले हुए होते हैं। ये स्तोमोंमें कैसे रहते हैं और ये स्तोम उनमें कैसे रहते हैं? ॥ १९ ॥

गायत्रीने त्रिवृत्को कैसे व्यापा है? त्रिष्टुप् पञ्चदशके साथ कैसा युक्त हुआ है? तैंतीसके साथ जगती कैसी व्यापती है और अनुष्टुप् इकीससे कैसे संबंध रखता है? ॥ २० ॥

सत्यके पहिले प्रवर्तकसे आठ तत्व उत्पन्न हुए हैं। ये आठ दिव्य ऋत्विज हैं। अदितिके भी ये आठ पुत्र हैं। आठवीं रात्रीसे वही अदिति हवनीय पदार्थोंको प्राप्त होती है ॥ २१ ॥

इत्थं श्रेयो मन्यमानेदमागमं युष्माकं सख्ये अहमस्मि शेवा ।
समानजन्मा क्रतुरस्ति वः शिवः स वः सर्वाः सं चरति प्रजानन् ॥ २२ ॥
अष्टेन्द्रस्य षड्यमस्य ऋषीणां सप्त सप्तधा ।
अपो मनुष्या३नोषधीस्ताँ उ पञ्चानु सेचिरे ॥ २३ ॥
केवलीन्द्राय दुदुहे हि गृष्टिर्वशं पीयूषं प्रथमं दुहाना ।
अथातर्पयच्चतुरश्चतुर्धा देवान्मनुष्याँ३ असुरानुत ऋषीन् ॥ २४ ॥
को नु गौः क एकऋषिः किमु धाम का आशिषः ।
यक्षं पृथिव्यामेकवृदेकर्तुः कतमो नु सः ॥ २५ ॥
एको गौरेक एकऋषिरेकं धामैकधाशिषः ।
यक्षं पृथिव्यामेकवृदेकर्तुर्नाति रिच्यते ॥ २६ ॥

अर्थ— (इत्थं श्रेदः मन्यमाना) इस प्रकार कल्याणको माननेवाली (इदं युष्माकं सख्ये) इस प्रकार तुम्हारी मित्रतामें (आगमं) आगयी हूं (अहं शेवा अस्मि) मैं सेवनीय हूं। (समान-जन्मा वः क्रतुः) तुम्हारे साथ उत्पन्न हुआ तुम्हारा यज्ञ (शिवः अस्तु) कल्याणकारी होवे। (सः प्रजानन्) वह जानता हुआ (वः सर्वाः संचरति) तुम सबमें संचार करता है ॥ २२ ॥

(इन्द्रस्य अष्ट) इन्द्रके आठ, (यमस्य षट्) यमके छः (ऋषीणां सप्तधा सप्त) ऋषियोंके सात प्रकारके सात हैं। (पञ्च आपः) पांच प्रकारके जल (तान् मनुष्यान् ओषधीः) उन मनुष्यों और ओषधियोंके प्रति (उ अनु सेचिरे) अनुकूलताके सिंचन करते हैं ॥ २३ ॥

(केवली गृष्टिः) केवल गौहि (पीयूषं प्रथमं दुहाना) अमृतरूपी दूध सबसे प्रथम देनेवाली (इन्द्राय वशं दुदुहे) इन्द्रके लिये अनुकूलताके साथ दुहती है। (अथ) और (चतुरः) चारों देव मनुष्य असुर और ऋषियोंको (चतुर्धा अतर्पयत्) चार प्रकारसे तृप्त करती है ॥ २४ ॥

(कः नु गौः) कौन गौ है ? (कः एकः ऋषिः) कौन एक ऋषि है ? (किं उ धाम) कौनसा धाम है ? (काः आशिषः) कौनसे आशीर्वाद हैं ? (पृथिव्यां एकवृत् यक्षं) पृथ्वीमें एकहि व्यापक पूजनीय देव है। (सः एकऋतुः कः नु) वह एक ऋतु कौनसा है भला ? ॥ २५ ॥

(एकः गौः) एकहि गौ है, (एकः एकऋषिः) एकहि एक ऋषि है। (एकं धाम) एकहि धाम है, (आशिषः एकधा) आशीर्वाद एकहि प्रकार दिया जाता है। (पृथिव्यां एकवृत् यक्षं) पृथ्वीपर एकहि व्यापक पूज्य देव है। (एकः ऋतुः) एकहि ऋतु है। (न अतिरिच्यते) उससे बढकर दूसरा कोई नहीं है ॥ २६ ॥

भावार्थ— इस प्रकार अपना कल्याण है यह जानकर आपकी मित्रतामें मैं प्राप्त हुई हूं। मैं सेवनीय हूं। आपका यज्ञ सबके सम प्रयत्नसे होनेवाला है। वह आपके लिये कल्याणकारी होवे। वह यज्ञ आप सबमें प्रचलित रहे ॥ २२ ॥

इन्द्रके आठ, यमके छः, ऋषियोंके सात प्रकारके सात हैं। पांच प्रकारके जल औषधियोंमें प्रविष्ट होकर सब मनुष्योंकी सेवा करते हैं ॥ २३ ॥

केवल एक गौ अमृतरूपी दूध देती हुई इन्द्रके लिये अपना दुग्ध अर्पण करती है। और यही देव, मनुष्य, असुर और ऋषियोंको चारों प्रकारसे तृप्त करती है ॥ २४ ॥

यह एक गौ कौन है ? वह एक ऋषि कौन है, उसका धाम कहां है ? उसके आशीर्वाद कौनसे हैं ? इस पृथ्वीपर एक उपास्य कौन है ? और एक ऋतु कौनसा है ? ॥ २५ ॥

एकहि गौ है, और एकही ऋषि है, उसका धाम भी एकहि है, आशीर्वाद भी एकहि रीतिसे होता है। पृथ्वीभर एकहि पूज्य देव है। सबका ऋतु भी एकहि है। उसका अतिक्रमण कोई कर नहीं सकते ॥ २६ ॥

×

एकही उपास्य देव।

एक उपास्य देव।

संपूर्ण पृथ्वीपर जितने मनुष्य हैं, उन सबका एकहि उपास्य देव है यह बात इस सूक्तके अन्तिम मंत्रमें कही है, देखिये—

पृथिव्यां एकवृत् यक्षम् न अतिरिच्यते (मं २१)

" इस संपूर्ण पृथ्वीपर एक ही सर्वव्यापक सबका उपास्य देव है। इसका अतिक्रमण कोई कर नहीं सकता।" क्योंकि इसकी शक्ति सर्वतोपरी है। इसी उपास्य देवकी महिमा इस सूक्तमें वर्णन की है, परंतु वर्णनकी रीति ऐसी गूढ है कि कई मंत्रोंका अर्थ विचार करनेपर भी पूर्णतया समझमें नहीं आता। तथापि इस समयतक जितनी खोज हुई है उसके अनुसार कुछ स्पष्टीकरण यहां करते हैं। इसके पश्चात् पाठक अधिक खोज करनेका यत्न करें।

इस सूक्तके पहिले मंत्रमें " कुतः तौ जातौ ? " वे दो कहांसे प्रकट हुए, यह प्रश्न पूछा है। अर्थात् किसी एक पदार्थसे ये जगत्में सुप्रसिद्ध दो पदार्थ कैसे उत्पन्न हुए यह प्रश्नका तात्पर्य है। स्त्री और पुरुष, रयि और प्राण, इन दोनोंका सांकेतिक नाम चन्द्र और सूर्यभी है। यहां वे चांद और सूरज अपेक्षित नहीं हैं, परंतु जगत्की सोमशक्ति और अग्निशक्ति अपेक्षित है। इसी सूक्तके चौदहवे मंत्रमें 'अग्नी-षोमौ' शब्द है। यह शब्द इस जगत्की आग्नेयी शक्ति और सोमशक्तिका वाचक है। इस जगत्को 'अग्नी-षोमीयं जगत्' कहते हैं क्योंकि इसमें येहि दो पदार्थ हैं। जो रसात्मक, शान्त शक्ति है वह सोमकी है और जो उग्र तीव्र तथा उष्ण है वह आग्नेयी शक्ति है। इन दोनोंको रयि प्राण, चन्द्र सूर्य, इडा पिंगला, प्रकृति पुरुष, जड चैतन्य, अनात्मा आत्मा, इस प्रकारके अनेक नाम हैं। इन अनेक द्वन्द्वसूचक नामोंसे दो तत्त्वोंका ज्ञान होता है। जिसको स्त्री और पुरुष कहा जाता है, ये दो उत्पन्न होनेके पूर्व एकही तत्त्व विद्यमान था, इस एकसे ये दो तत्त्व कैसे उत्पन्न हुए ? मनुष्यको इसी प्रकार विचार करके जानना चाहिये कि इन दोनोंका मूल कहां है।

मूल एक तत्त्व था, उसके एक अंशसे प्रकृतिपुरुषकी उत्पत्ति हुई; शेष जो रहा, उसके विषयमें 'कतमः सः अर्धः' वह अर्ध कौनसा है, जिसमें स्त्रीपुरुषशक्ति विभिन्न नहीं हुई वह मूलतत्त्वका आधा भाग कहां रहा है ? इसी विषयमें वेदमें कहा है—

त्रिपादूर्ध्वमुदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाभवत्पुनः॥
(ऋ० १०।९०।४)

" इसके तीन हिस्से ऊपर हैं और इसका एक भाग हि यहां वारंवार बनता है।" अर्थात् मूलतत्त्वका थोडासा हिस्सा इस जगत्में विविधरूपोंका धारण करता है किंवा स्त्रीपुरुषरूपसे दिखाई देता है। यह विभाग—

कस्माल्लोकात्कतमस्याः पृथिव्याः। (मं. १)

" किस लोकसे कौनसी पृथ्वीके किस विभागपर प्रकट हुआ है ? " अर्थात् इस जगत्में अनंत पृथ्वीलोक हैं, उनमेंसे किस भूमिपर और उस भूमिके किस विभागपर यह प्रकट हुआ है और यह आया कहांसे ? तत्त्वज्ञानकी दृष्टिसे ये सब प्रश्न विचार करने योग्य हैं। इस अपने भूविभागपर भी सर्वत्र एक समय प्राणियोंकी उत्पत्ति नहीं हुई। किसी स्थानपर होगई और अन्यत्र फैली। इसी प्रकार सर्वत्र समझना चाहिये और कई महोग्रह ऐसे हैं कि जहां इस प्रकारके प्राणी अभीतक बने भी नहीं हैं।

गौके दो बच्चे।

ये स्त्रीपुरुष दो बच्चोंके समान हैं। ये अपनी माताका दूध पीते हैं, ये दोनों—

वत्सौ विराजः सलिलादुदैताम्। (मं. १)

" ये विराट् रूपी गौके दोनों बच्चे जगत् बननेके पूर्व जो सर्वत्र प्राकृतिक समुद्र था, उससे उदयको प्राप्त हुए।" प्रायः प्रथम जल प्रकट होता है और तत्पश्चात् उत्पत्ति होती है, बच्चा उत्पन्न होनेके पूर्व भी जल उत्पन्न होता है, इस भूमिपर भी प्रारंभमें जल था, उसमें वनस्पतियां उत्पन्न हुईं उसी जलमें जलजन्तु उत्पन्न हुए। इस प्रकार सबका उदय जलसे हि है। जन्मसे लेकर लयतक यह 'ज-ल' हि साथ देनेवाला है। इस स्त्रीपुरुषका जलसे हि उदय हुआ है। ये दोनों बच्चे इस एकहि धेनुके हैं। इनमेंसे

कौन अपनी माताका दूध पीता है यह प्रश्न निम्न मंत्रभागमें पूछा है—

तौ त्वा पृच्छामि कतरेण दुग्धा। (मं. १)

" इन दोनोंके विषयमें मैं पूछता हूं कि उनमेंसे किसने अपनी माताका दूध पीया है ? " और किसने नहीं पीया? यहां प्रकृति पुरुष इन दोनों बच्चोंमें कौन प्रकृति माता गौके दूधसे पुष्ट होता है और कौन नहीं होता है यह प्रश्नका भाव है। सबको इस प्रश्नका विचार करना चाहिये। अपने हि अंदर देखिये, अपने अंदर देह और आत्मा है, येहि प्रकृति पुरुष हैं। इनमेंसे प्राकृतिक पुष्टिसाधनोंसे देहकी पुष्टि की जाती है, आत्माकी नहीं, अर्थात् देहहि अपनी प्रकृतिमाताका दूध पीकर पुष्ट होता है। आत्मा सदा एकरस रहता है। इस प्रकार विचार करके प्रश्नका भाव और उसका उत्तर जानना चाहिये।

इस विश्वकी रचना होनेके पूर्व कैसी अवस्था थी ? यह एक प्रश्न तत्त्वज्ञानका विचार करनेवालोंके सन्मुख आता है, इसका उत्तर वेदने 'सलिल अवस्था' थी ऐसा दिया है। अगाध, अपरंपार, अति शान्त और गंभीर महासागरकी जो अवस्था होती है उसके समान प्राकृतिक परमाणुओंका समुद्र अति शांत था। उसमें कुछ भी हलचल न थी, कुछ भी न्यूनाधिकता नहीं थी, सर्वत्र शान्तता थी। यहां प्रश्न उत्पन्न होता है, कि ऐसी शान्तिकी स्थितिमें चञ्चलता किसने उत्पन्न की। यदि चञ्चलता उसी समुद्रका स्वतः सिद्ध धर्म माना जाय, तो उसमें शान्ति कैसे हो सकती है? यदि न माना जाय, तो यह अशान्ति किसने उत्पन्न की ? इसका उत्तर इस प्रकार द्वितीय मंत्रने दिया है—

त्रि-भुजं योनिं कृत्वा शयानः। (मं. २)

" सत्त्व रज और तम रूपी तीन गुणोंसे युक्त प्राकृतिक त्रिकोनेपर सोनेवाला यह एक देव है। " जबतक यह (शयानः) सोया हुआ रहता है, तब तक इस प्राकृतिक समुद्रमें बिलकुल हलचल नहीं होती, इसकी निद्रा समाप्त होनेतक सर्वत्र शान्ति फैली रहती है। जब यह जागने लगता है तब इसमें हलचल होती है।

यः महित्वा सलिलं अक्रन्दयत्। (मं. २)

'जो अपनी महिमासे इस सलिल अवस्थामें बडी हलचल शुरु करता है। " यह तीन गुणोंपर सोता है इस कारण वे हलचल कर नहीं सकते, परंतु जब यह जागता है तब वे हलचलके लिये खुले होते हैं और सत्त्वगुण समता चाहता, रजोगुण खिलबिली मचाना चाहता, और तमोगुण स्तब्धता चाहता है। इस प्रकार उस एकहि सलिलके ये तीनों परमाणु एक दूसरेपर अपने अपने विभिन्न गुणोंके कारण आपसमें हमला करते हैं और इस कारण उसका शान्त सलिल प्रक्षुब्ध होता है। और इस प्रक्षोभका कारण उस उपास्य देवकी 'महिमा' ही है। शान्त सलिलमें क्षोभ करना और क्षोभमें फिर शान्ति स्थापन करना, यही उसकी महिमा है।

विराजः कामदुघः सः वत्सः गुहा तन्वः चक्रे। (मं. ३)

" इस विराट् रूपी कामधेनुका यह बच्चा गुहाके अंदर अपने रहनेके लिये तीन शरीर बनाता है। " ये तीन शरीर (गुहा) गुप्त हैं, प्रकट नहीं है, प्रकट होते तो गुहाके अन्दर न होते। ये सूक्ष्म शरीर, कारण शरीर और महाकारण शरीर हैं। किंवा प्राण शरीर, सूक्ष्मशरीर और कारणशरीर ये तीन शरीर हैं। ये शरीर गुप्त हैं और इनके कारणहि इस जगत्‌की स्थिति है। यह आत्मदेव ये शरीर (गुहा) अति गुप्त रीतिसे करता है, इस कारण इनकी उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि आदिका पता साधारण लोगोंको नहीं लगता।

यानि त्रीणि बृहन्ति, चतुर्थं वाचं नियुनक्ति। (मं. ३)

" ये तीनों शरीर बडे विलक्षण शक्तिसे युक्त हैं, इनमें बडी शक्ति है। जो चौथा शरीर है उस चतुर्थ शरीरके साथ वाणीका योग होता है। यही स्थूल शरीर है। " यह स्थूल शरीर भाषण करता है, वक्तृत्व करता है, आत्माके अंदरके भाव प्रकट करता है। इसके अन्दर गुप्त तीन शरीर हैं, परंतु उनमेंसे एक भी इस प्रकार वक्तृत्व करनेमें समर्थ नहीं है। जिससे यह सब जगत् निर्माण होता है उसको ब्रह्म कहते हैं, इस ब्रह्मका ज्ञान तपसे होता है, देखिये—

विपश्चित् तपसा एनत् ब्रह्म विद्यात्। (मं. ३)

" ज्ञानी मनुष्य तपसे इस ब्रह्मको जानता है। " अर्थात् अज्ञानी मनुष्य इसको जाननेमें असमर्थ है, तपके बिना कोई भी इसे जान नहीं सकता। विपश्चित् (वि-पश्-चित्) का अर्थ " जो सबको विशेष सूक्ष्म दृष्टिसे देखता [illegible] " वही इस ब्रह्मको जान सकता है, न साधारण

दृष्टीसे इस जगत्का निरीक्षण करता है, वह नहीं जान सकता। इसके जाननेकी रीति यह है—

यस्मिन् एकं (मनः) युज्यते। (मं. १)

" जिसमें एक मनका योग किया जाता है। " जिस तपमें एक अपने मनका योग किया करते हैं, इस मनके योगसे हि अर्थात् चित्तवृत्ति निरोधसे जब यह आत्मिका मन शान्त और स्तब्ध होता है, तब उस विज्ञानी पुरुषको ब्रह्मका साक्षात्कार होता है। सबसे पहिले—

बृहत्याः बृहत् निर्मितम्। (मं. ४)

" बडी प्रकृतिसे महत् तत्त्व निर्माण हुआ। " पहिले प्रथम मंत्रकी व्याख्या प्रसंगमें कहा है कि सबसे पूर्व प्राकृतिक शान्त समुद्र था। इस महती दैवी प्रकृतिसे (बृहत्) महत्तत्त्व उत्पन्न हुआ। यही सबसे पहिला सर्ग है। यहां (बृहती) दैवी महती मूल प्रकृतिसे यह महत्तत्त्वकी उत्पत्ति बताई। परंतु यहां शंका होती है कि यह मूल प्रकृति—

बृहती कुतः अधिमिता ? (मं. ४)

" महती दैवी प्रकृति कहांसे बनी ? " इस प्रकार प्रश्न पूछे जांय तो अनवस्थाप्रसंगहि होगा। अतः द्वितीय मंत्रमें कहा है, कि एक सलिल अवस्था सबसे प्रथम थी। यही सबसे पहिली अवस्था है, यह कैसी बनी ऐसा प्रश्न कोई न करे। क्योंकि यह सबसे प्रथम अवस्था है। इसी महती प्रकृतिके साथ एक आत्मा शयन करता था। इससे भी पूर्व कोई नहीं है। इस प्रकार सबसे पूर्वके ये दोनों हैं। अतः ये कहांसे उत्पन्न हुए ऐसा प्रश्न कोई न पूछे। तत्त्वज्ञानमें इस प्रकार अनवस्थाप्रसंग करना बडा दोष गिना है। अस्तु।

बृहतः परि पञ्च सामा अधिनिर्मितानि। (मं. ४)

" इस महत्तत्त्वके ऊपर, अर्थात् इस महत्तत्त्वका मसाला लेकर पांच सामोंकी रचना हुई है। " महत्तत्त्वसे पांच तन्मात्रोंकी उत्पत्ति यहां कही है। यहां तक जो सृष्टिका वर्णन हुआ वह इस प्रकार बताया जाता है—

१	मूलप्रकृति, सलिल, माता, बृहती, विराट्, कामधेनु		पुरुष, ब्रह्म, स्वराट् यक्ष, वैश्वानर, विराट्
२	महत्तत्त्व बृहत्, कारण मात्रा	कारणदेह	जीव, वत्सः, ब्रह्मा
३	पंच तन्मात्र, पञ्च साम,	पञ्च सूक्ष्म इंद्रिय	
४	शरीर स्थूल	,, स्थूल इंद्रियां	,, निरीक्षक

यहांतक सृष्टिरचनाका तीसरा युग यहां वर्णित हुआ है, इनसे जीवात्माको शान्ति प्राप्त होती है इस लिये इनका नाम यहां साम है। और इस शरीरधारी आत्माके जीवनको आगे 'यज्ञ' का रूपक बताना है, उस विशेषकार्यके लिये भी यहां इनको साम नामसे दर्शाया है यह बात स्पष्ट है। यही बात अगले मंत्रमें अन्य शब्दोंसे कही है—

मात्राया परि बृहती। मातुः मात्रा अधिनिर्मिता। (मं. ५)

" बृहती प्रकृति तन्मात्राके ऊपर है। वह आदिमाता है। इस मातासे तन्मात्रा निर्माण होगई। " यहां माता, आदिमाता, जगन्माता, बृहती ये मूलप्रकृतिके हि नाम हैं। उससे पंच तन्मात्राओंकी उत्पत्ति होती है। यहां एक प्रकृतिके पांच विभिन्न गुणधर्मवाले पदार्थ तत्त्व बने यह इसकी विशेषता है। इसीको कहते हैं—

मायायाः माया जज्ञे। मायायाः परि मातली। (मं. ५)

" आदिमायासे दूसरी माया बनी, और मायाके ऊपर निरीक्षक भी तैयार हुआ। " मूल आदिमायासे यह प्राकृतिक शरीर बना और उसका अधिष्ठाता या निरीक्षक जीवात्मा भी बना। यह चतुर्थ अवस्थाकी सृष्टि है, इसीका नाम जगत् है। आदिमायासे यह माया रची गयी है। इसका निरीक्षक यहां आत्मा है। यहां तक अविकृत मूल प्रकृतीसे विकृत जगत्का निर्माण होनेका वर्णन इन पांच मंत्रोंमें किया गया। अब इसमें व्यापक देवका वर्णन करते हैं—

वैश्वानरकी प्रतिमा।

वैश्वानरस्य प्रतिमोपरि द्यौर्यावद्रोदसी विबबाधे अग्निः। (मं. ६)

" वैश्वानरकी प्रतिमा इतनी है कि जितना द्युलोक ऊपर विस्तृत है और जहांतक अग्निका तेज फैला है। " अर्थात्

यह वैश्वानर भूलोकसे द्युलोक तक फैला है, यही विश्वका नेता अतः इसको वैश्वानर कहते हैं। यह वैश्वानर प्रकृतिके साथ रहता हुआ जगत्के सब रचनादि कार्य करता है। संपूर्ण जगत्का यदि कोई प्रमुख नेता है तो वह यही है। यह छठा है। पूर्वोक्त कोष्टकमें (१) स्थूल, (२) सूक्ष्म, (३) कारण, (४) मूल प्रकृति, (५) जीव ये पांच और यह (६) वैश्वानर छठवां है। पहिले चार जड हैं और अन्तके दो चेतन हैं। इस छठे वैश्वानरसे—

ततः षष्ठात् अमुत उदितः स्तोमाः आयन्ति। (मं. ६)

"इस छठे वैश्वानरसे प्रकाशित होनेवाले यज्ञ यहां मनुष्यलोकमें आते हैं।" यही मुख्य देव सब यज्ञोंका प्रकाशक है। मनुष्यकी उत्पत्तिके साथ जो यज्ञ उत्पन्न होता है वह यही है। और वेहि यज्ञकर्म (अह्नः षष्ठं अभि यन्ति) दिनके षष्ठ भागकी समाप्तिके समय पुनः उसीके पास पहुंचते हैं। उसीसे ज्ञान और कर्मकी प्रेरणा होती है और उसीमें वह अन्तमें जा मिलती है। इसको सबका द्रष्टा कहते हैं, इसलिये इसको कश्यप (पश्यकः) देखनेवाला सबका द्रष्टा किंवा निरीक्षक कहा है। यह—

त्वं हि युक्तं योग्यं च युयुक्षे। (मं. ७)

"युक्त और योग्यका संयोग करता है।" जो पदार्थ जहां रखना योग्य है और जैसा संयुक्त करना उचित है उसी प्रकार वह सबकी योजना यथायोग्य करता है, उसमें कोई गलती नहीं करता। इसीलिये उससे इस प्रकार सुयोग्य सृष्टिकी रचना निर्दोष होती है। यह उत्तम द्रष्टा होनेसे भी जहां जो पदार्थ जैसा चाहिये वह उसको ठीक प्रकार ज्ञात होता है और वैसा वह बनाता है। यदि वह योग्य द्रष्टा न होता तो सुयोग्य संसारका बनाना उसके लिये अशक्य हो जाता। उससे ऋषिगण प्रश्न करते हैं—

इमे षड् ऋषयः (वयं) त्वां पृच्छामः। (मं. ७)

"हम छः ऋषि तुझे प्रश्न पूछते हैं।" वैश्वानरसे प्रश्न करनेका अधिकार ऋषियोंकाही है। कौन दूसरा उसको प्रश्न पूछ सकता है? और वह भी किस दूसरेको उत्तर क्यों देगा। उससे प्रश्न पूछनेके लिये भी चित्तकी शुद्धता चाहिये और उससे उत्तर लेनेकी भी तयारी चाहिये। वैसी तैयारी ऋषिमुनियोंकी होती है, इस कारण वे वैश्वानरसे प्रश्न पूछते हैं और उससे उत्तर लेते हैं। धन्य हैं उनकी कि जो परमात्मासे अपना इस प्रकार संबंध जोड सकते हैं। वस्तुतः हरएक मनुष्य जो यहां आया है वह इस प्रकारकी योग्यता प्राप्त करनेके लिये हि आया है। परंतु बहुत थोडे लोग इस अवस्था तक अपनी उन्नति कर सकते हैं। ऋषियोंका प्रश्न इस प्रकार है—

विराजं ब्रह्मणः पितरं आहुः तां नः सखिभ्यः यतिधा विधेहि। (मं. ७)

"विराट्को ब्रह्माका पिता कहते हैं, वह किस प्रकार होता है यह बात हम सबको कहिये।" यहां "आत्मा–परमात्मा, ब्रह्मा–ब्रह्म, पुरुष–पुरुषोत्तम, इन्द्र–महेन्द्र" ये पुत्र और पिताके संयुक्त नाम हैं। यह पिता-पुत्रसंबंध किस प्रकार है यह महत्वपूर्ण प्रश्न है। हरएक मनुष्यको इसका विचार करना चाहिये और अपना और अपने पिताका ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। मनुष्य को तो अपना भी ज्ञान नहीं है और न अपने पिताका ज्ञान उसको है। जहां अपना भी ज्ञान नहीं वहां पिताका ज्ञान कहांसे संभवनीय है।

पूर्वोक्त कोष्टकमें 'विराज् अथवा विराट्' ये शब्द प्रकृति और पुरुषके लिये समानतया लिखे हैं। इन मंत्रोंमें भी विराज् शब्द पुल्लिंगमें है और स्त्रीलिंगमें भी है। जो तो पुल्लिंगमें वह आत्मा, परमात्मवाचक है और जो स्त्रीलिंगमें है वह प्रकृति, आदि शक्ति आदिका वाचक है परंतु सर्वत्र यह नियम भी नहीं है क्योंकि पितामाता वही होनेसे दोनों प्रयोग उस एकके लिये भी होते हैं। 'वि–राज्' शब्दका अर्थ 'विशेष तेजस्वी' है, इस कारण यह शब्द दोनोंके लिये प्रयुक्त होता है।

यहां 'ब्रह्मा' पुराण पुरुषसे उत्पन्न होनेके कारण जीवात्माका नाम है, उसका पिता पुरुष या परमात्मा है। पाठक यहां देखें कि सर्वत्र वेदमें पितापुत्रोंके नाम एक जैसे हैं, दोनोंको 'इन्द्र, आत्मा, पुरुष, विराट्' आदि नाम हैं। पिताकी शक्ति बडी और पुत्रकी शक्ति अल्प है। तथापि गुणधर्म और कर्म समान हैं। इससे पुत्रको पता लग सकता है कि यद्यपि मेरी शक्ति आज अल्प है तथापि मैं उसको बढाकर अपने पिताके समान 'समर्थ' बन सकता हूं। यही विश्वास दिलानेके हेतुसे इस मंत्रके प्रश्नकी प्रवृत्ति

हुई है। इसका विशेष उत्तर अगले मंत्रमें दिया है वह अब देखिये—

हे ऋषयः यां प्रच्युतां यज्ञाः अनु प्रच्यवन्ते, (यां) उपतिष्ठमानां (यज्ञाः) उपतिष्ठन्ते, यस्याः व्रते प्रसवे यक्षं एजति, सा परमे व्योमन् विराट् (अस्ति)। (मं. ८)

"हे ऋषि लोगो ! जिसकी प्रेरणासे सब यज्ञ चलते और जिसकी प्रेरणा बन्द होनेसे सब यज्ञ स्तब्ध होते हैं, जिसके प्रकट होनेके लिये पूजनीय देवकी गति कारण होती है वह परम आकाशमें सर्वत्र व्यापक विशेष प्रकाशमान देवता है।" यह परमात्माका वर्णन है, यही सबका पिता और माता है। सभी जगत् इसकी प्रेरणासे चल रहा है, इसीके नियममें रहता है इसने चलाया तो चलता है और नहीं चलाया तो स्तब्ध होता है। ऐसी इसकी अगाध शक्ति है। इसी शक्तिका चिन्तन करना चाहिये। सर्वत्र इसकी शक्ति हि फैल रही है और इस जगत्का सब चमत्कार इसकी शक्तिसे हि हो रहा है। जितना परम आकाश सर्वत्र व्याप्त है उतनी इसकी व्याप्ति है, अर्थात् यह सर्वत्र भरकर भी अवशिष्ट है। अगले मंत्रका वर्णन इससे भी और विचारणीय है—

अप्राणा प्राणतीनां प्राणेन एति। (मं. ९)

"जो स्वयं प्राणसे जीवित नहीं रहती परंतु अपनी शक्तिसेहि जीवित रहती है, ऐसी विराट् प्राणियोंके प्राणको साथ लेकर जाती है।" मुख्य देवके लिये प्राणकी सहायताकी आवश्यकता नहीं है, वह तो अपनीहि सत्तासे स्वयं है। इसलिये उसको स्वयंभू कहते हैं। अन्य प्राणियोंके लिये जीवनधारणके अर्थ प्राणकी आवश्यकता होती है। यह प्राण उसीके साथ रहकर प्राणियोंके जीवनका हेतु बनता है। पश्चात् यह—

विराट् स्वराजं अभ्येति। (मं. ९)

"विराट् स्वराज्‌के पास पहुंचती है।" इस वाक्यमें एक राजनैतिक भावभी है। (वि-राज्) जहां राजा नहीं है ऐसा राजसंस्थाहीन समाज (स्व-राजं) स्वराज्यशासन अर्थात् स्वसंमत राजशासनको प्राप्त करता है। जहां राजारूप संस्था उत्पन्न नहीं हुई वहांकी जनता स्वयंशासित होती है, वे अपनी राज्यव्यवस्था स्वयं करते हैं। यह राजनैतिक भाव विचारणीय है।

इस मंत्रभागका दूसरा और एक अर्थ बनता है, वह यह है- (वि-राज्) राज्‌का अर्थ है प्रकाश, जिसके पास प्रकाश नहीं उसको वि-राज् कहते हैं। जो स्वयंप्रकाशी नहीं है वह (स्वराजं) अपने तेजसे जो प्रकाशता है उसके पास (अभ्येति) जाता है, और उससे तेज प्राप्त करके प्रकाशित होता है।

परंतु यहांका अर्थ इस प्रकार दीखता है- विराट् अर्थात् जो आत्मा जगत्प्रपंचमें लगा है वह शुद्धात्माके पास जाता है। जो त्रिपाद आत्मा अवशिष्ट है। उसको "स्वराट्" कहते हैं क्योंकि वह अपने प्रकाशसे प्रकाशित होता है। उसकी अपेक्षा जो एकपाद आत्मा जगत्में वारंवार आता-जाता है, वह वैसा स्वयंप्रभावान् नहीं दिखाई देता। यह भाव केवल लक्षणासेहि समझना चाहिये। इस प्रकार यह आत्मा है—

त्वे विश्वं सृजन्तीं अभिरूपां विराजं पश्यन्ति, त्वे एनां न पश्यन्ति। (मं. ९)

"कई लोग इस सर्व जगत्को सुंदरताके साथ प्रकाशित करनेवाले आत्माको देखते हैं, परंतु कई उसको देख नहीं सकते।" वह सर्वत्र उपस्थित है, परंतु कई तो उसका साक्षात्कार कर सकते हैं और कई ऐसे अन्धे होते हैं कि वे सब जगत्के प्रकाशकको भी नहीं देख सकते !! प्रायः सब प्राणी ऐसे ही अन्धे होते हैं, विरलाहि कोई उसको देख सकते हैं।

विराजः मिथुनत्वं कः प्रवेद ? कः ऋतून् वेद ? कः अस्याः कल्पं वेद। (मं. १०)

"इस विराट्से उत्पन्न होनेवाले स्त्री पुरुषभेदको कौन जानता है ? कौन ऋतुओंकी उत्पत्तिको जानता है और कौन कल्पके समयको जानता है।" तत्वज्ञानकी दृष्टीसे इन बातोंका ज्ञान मनुष्यको होना चाहिये। तथा—

अस्याः कतिधा विदुग्धान् क्रमान् कः वेद ? अस्याः धाम कः वेद ? अस्याः कतिधा व्युष्टिः ? (मं. १०)

"इसके अन्नादि रस देनेवाले ऋतु आदिके क्रमोंको कौन जानता है, इसका मूल स्थान किसने जाना है और इस सृष्टीके प्रभातकालको कौन जानता है ?" तत्वविचारकको इन प्रश्नोंका विचार करना योग्य है और इनका ज्ञानभी

प्राप्त करना चाहिये। इसमेंसे कुछ प्रश्नोंका उत्तर आगे आवेगा—

इयं एव सा या प्रथमा व्यौच्छत् । (मं. ११)

" यही वह है कि जो पहिले प्रकाश करती है। " पहिली उषा यही करती है, जगत्में प्रकाशका संचार इसीसे होता है। यह—

आसु इतरासु प्रविष्टा चरति । (मं. ११)

" इसमें और अन्योंमें व्यापकर यह चलती है। " यह सर्वत्र व्यापक है और सर्वत्र संचार करती हुई सब जगत्का कार्य करती है। इसकी शक्तिसेहि संपूर्ण जगत्के कार्य सुव्यवस्थित रीतिसे हो रहे हैं। तथा—

अस्यां अन्तः महान्तः महिमानः । (मं. ११)

" इसके अन्दर बडी बडी महत्वपूर्ण शक्तियां हैं। " और इन शक्तियोंसेहि इस जगत्के संपूर्ण कार्य करनेमें यह समर्थ होती है। (नवगत् जनित्री वधूः जिगाय) घरमें नवीन आयी पुत्रका प्रसव करनेवाली जैसी सुंदर कुल-वधू घरमें स्वामिनी होती है, उसी प्रकार यह विराट् इस जगत्में सर्वोपरि विराजमान है, जानते हुए या न जानते हुए सभी इसपर प्रेम करते हैं।

जिस प्रकार एकहि छन्दमें पूर्व और उत्तर ऐसे दो चरण (छन्दःपक्षे) होते हैं, और वे एकहि छन्दमें समान अधिकारसे रहते हुए परस्परकी अनुकूलताके साथ छन्दकी शोभा बढाते हैं, उसी प्रकार इस जगत्में स्त्री और पुरुष ये इस संसाररूपी छंदके दो पक्ष हैं, दोनों परस्परकी सहायता और पूर्तीके लिये हैं, अलग होनेके लिये नहीं हैं। वे इस गृहस्थके संसारमें समान अधिकारसे रहते हुए (समानं योनिं) अपने समान अधिकारके गृहस्थाश्रमके अन्दर (अनुसंचरेते) अनुकूलतासे रहते हुए इस जगत्में संचार करते हैं। इसके लिये उदाहरण सूर्यपत्नीका है—

सूर्यपत्नी प्रजानती केतुमती अजरा भूरिरेतसा संचरति । (मं० १२)

" जैसी सूर्यकी धर्मपत्नी प्रभा ज्ञान प्राप्त करके, विज्ञान-युक्त होकर, क्षीण न होती हुई, विशेष पराक्रमी बनकर इस जगत्में संचार करती है। " ठीक इस प्रकार गृहस्थकी धर्मपत्नी ज्ञानविज्ञानयुक्त, बलयुक्त, पराक्रमयुक्त होकर अपने संसारके कार्य दक्षताके साथ करे। गृहस्थका गृहस्थाश्रम धर्मपत्नीके होनेसे हि होता है, इसलिये धर्म-पत्नीका निर्देश यहां किया है। परंतु येही शब्द धर्मपतिका भी कर्तव्य बताते हैं। पतिभी ज्ञानविज्ञानयुक्त बने, हृष्टपुष्ट होकर विशेष पराक्रमके कार्य करता हुआ इस संसारमें विविध कार्य करे और अपने गृहस्थधर्मकी उन्नति करे। पति और पत्नीके धर्म साधारण तथा पूर्वोक्त विषयोंमें समानहि हैं, इसलिये एकका निर्देश करनेसे दूसरेके धर्मकाभी ज्ञान हो जाता है। पूर्वोक्त स्थानमें इनके सामान्य-धर्मका उल्लेख है, न कि विशेष धर्मोंका। अस्तु। अब इस गृहस्थधर्मका प्रसंग प्राप्त थोडासा वर्णन अगले मंत्रमें करते हैं—

तिस्रः ऋतस्य पन्थां अनु आगुः ।
त्रयो घर्माः रेतः अनु आगुः । (मं० १३)

" तीनों शक्तियां सत्यकी अनुकूलताके साथ रहती हैं और तीनों धर्म वीर्यकी अनुकूलताके साथ होते हैं। " यह सिद्धांत गृहस्थीको सदा ध्यानमें धारण करना चाहिये। शरीरकी, अन्तःकरणकी और आत्माकी ये तीनों शक्तियां सत्यके आधारसे प्राप्त होती हैं। जो सत्यका पूजक नहीं है उसके पास कोई शक्ति नहीं रह सकती। तथा ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थके तीनों धर्म वीर्य-बल-पराक्रमके साथ सिद्ध किये जा सकते हैं। अशक्त मनुष्य इनको सिद्ध नहीं कर सकता। हरएक मनुष्यके लिये ये दोनों उपदेश सदा चित्तमें धारण करने योग्य हैं। संन्यास धर्म तो विशेष योग्यतावाले मनुष्यके लिये सिद्ध होनेवाला है, अतः सर्व साधारणके लिये उसका निर्देश यहां नहीं किया है। इसीका आगे और स्पष्टीकरण किया है—

एका प्रजां जिन्वति । एका ऊर्जं जिन्वति ।
एका देवयूनां राष्ट्रं रक्षति । (मं० १३)

" एक प्रजाकी रक्षा, दूसरी बलकी वृद्धि और तीसरी देवोपासकोंके राष्ट्रकी रक्षा करती है " इस प्रकार संतानरक्षा, बलरक्षा और राष्ट्ररक्षा करनेका भार गृहस्थियों पर है, यह गृहस्थधर्म है। जो अपना प्रजाका संवर्धन, बालकोंका पोषण और उत्तम शिक्षादि प्रबंध नहीं करता, वह अपने गृहस्थ धर्मसे भ्रष्ट होता है, जो अपना बल नहीं बढाता और अपनेसे अपने राष्ट्रकी रक्षा नहीं करता, वहभी वैसाहि गृहस्थधर्मसे च्युत होता है। गृहस्थमें जो तीन शक्तियां हैं, उन शक्तियोंका उपयोग यह है। हरएक गृहस्थको इनका उपयोग करके

अपना कर्तव्य पालन करना चाहिये। सत्य और वीर्यके अनुकूल जो गृहस्थके धर्म हैं, वे ये धर्म हैं।

अग्नीषोमौ यज्ञस्य पक्षौ। (मं० १४)

" अग्नि और सोम ये दो यज्ञके पक्ष हैं " जिस प्रकार पक्षीके दो पंख होते हैं उसी प्रकार ये यज्ञके दो पंख हैं। हवन रूप यज्ञमें अग्नि मुख्य है क्यों कि अग्निके विना यज्ञ हो नहीं सकता और सोमरस भी प्रधान द्रव्य है। इस रीतिसे हवनरूप यज्ञमें ये दो पदार्थ मुख्य हैं। परंतु यही केवल यज्ञ नहीं है। मनुष्यका जीवन एक महान् यज्ञ है, इसमें भी अग्नि और सोम मुख्य हैं। यहां सोमका रूप मनुष्यमें मन है और अग्निका रूप वाणी है। मनुष्यमें मन और वाणीहि सब कुछ है। इस ढंगसे इसका और भी विचार हो सकता है। सोम एक शान्ति और अहिंसा की सूचना देता है और अग्नि उग्रता और प्रतापकी सूचना देता है। मनुष्यके व्यवहार इनसे हो रहे हैं। यह यज्ञ जहांतक हो सके, वहांतक पूर्ण और उत्तम हो ऐसा करना हरएक मनुष्यका कर्तव्य है।

पूर्व स्थानमें तीन शक्तियोंका वर्णन है। यहां एक (तुरीया अतीता) चतुर्थ शक्ति कही है वह पारमार्थिक विश्वव्यापिनी शक्ति है। जिस शक्तिको ऋषि लोग प्राप्त करते हैं और जिससे यजमानको (स्वः) स्वर्गकी प्राप्ति होती है। इस मंत्रमें तथा इस सूक्तमें अन्यत्र जो छन्दोंके नाम हैं वे वेदमंत्रोंके उपासनायोग्य छन्द हैं। यह मंत्रोक्त उपासना मनुष्यको (स्वः आभरन्ती) स्वर्ग स्थानको पहुंचाती है। " स्वः " का अर्थ (स्व-र) आत्मप्रकाश है। इस उपासनासे आत्माका प्रकाश अधिकाधिक उज्वल होता है।

आगे मंत्र १५ से मंत्र २१ तक पांच, छः, सात और आठ संख्याके गण कहे हैं। ये गण वारंवार वैदिक मंत्रोंमें आते हैं। पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, छः ऋतु, सप्त ऋषि, अष्ट वसु आदि इन गणोंकी गणना अनेक स्थानपर है। इनमेंसे कई गण मनुष्यशरीरमें हैं, कई कालविभाग हैं, कई बाह्य देवताओंके हैं। ये सब मिलकर संपूर्ण जगत् होता है और एक दूसरेके साथ अनुकूलतासे रहकर उन्नति करनेसे सबकी उच्च अवस्था होती है। अलग होनेसे हानि और मिलकर रहनेसे उन्नति यह नियम साधारणतया सर्वत्र है।

सात गीध।

अठारहवें मन्त्रमें ' सप्त गृध्राः ' पद है। ये सात गीधभी मानवी शरीरमें हि हैं। जैसे सप्त ऋषि यहां हैं वैसेहि सात गीध हैं। जो ऋषि हैं वे हि गीध बनते हैं। दो नाक, दो कान, दो आंख और एकमुख ये अच्छे कर्ममें प्रवृत्त हुए तो ऋषि कहलाते हैं और येही स्वार्थान्ध हुए तो येही गीध या राक्षस बनते हैं। पाठक अपने शरीरमें देखें कि ये ऋषि हैं या गीध हैं। और यदि गीध हों तो उनको ऋषि बनानेका यत्न करें।

जब मनुष्य अनासक्तिभावसे बर्तता है, तब सब संसार या प्रकृति उसकी सेवाके लिये तत्पर रहती है, यह कहती है—

श्रेयः मन्यमाना युष्माकं सख्ये आगमं,
अहं शेवा अस्मि। (मं० २२)

" तुम्हारा कल्याण करनेकी इच्छासे आपके पास मैं आगयी हूं, मैं आपकी सेवा करनेवाली दासी हूं। " जब प्रकृति इस प्रकार अनुकूल होती है, तब समझना चाहिये कि इसका योग सफलताको पहुंचने लगा है। जो प्रकृति प्रारंभमें जीवपर अधिकार चलाती थी, वही उदासीनभावके कारण कैसी सेविका बनकर अनुकूल होती है यह यहां देखने योग्य है। उसका वशीभूत होनेका और एक कारण है —

वः समानजन्मा क्रतुः शिवः अस्तु स वः
सर्वाः संचरति। (मं० २२)

" तुम्हारे साथ जन्मा हुआ यज्ञ तुम्हारे लिये कल्याण करनेवाला होवे और वह तुम्हारे अंदर संचार करे। " भगवद्गीतामें " सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा (भ० गी० ३।१०)" कहा है। प्रजाके साथ यज्ञ उत्पन्न होनेका वर्णन वहां है। यही बात इस मंत्रके " समानजन्मा क्रतुः " शब्दोंके द्वारा कही है। मनुष्यके साथ यज्ञ उत्पन्न हुआ है, उसके करनेसे मनुष्यकी उन्नति व न करनेसे उसका नाश निःसंदेह होता है।

गोमहिमा।

केवली गृष्टिः प्रथमं इन्द्राय पीयूषं दुदुहे।
अथ देवान् ऋषीन् मनुष्यान् असुरान् अतर्पयत्॥
(मं० २४)

" अकेली गाय सबसे पहिले अपना अमृतरूपी दूध इन्द्रके यज्ञकर्मके लिये देती है। और पश्चात् जो दूध बचता है उससे देव, ऋषि, मनुष्य और असुरोंकी तृप्ति करती है। "

यज्ञके लिये इस प्रकार गौकी उत्पत्ति है। इस हवनरूपी यज्ञसे वायुशुद्धि, जलशुद्धि, नीरोगता आदि होती है और मनुष्यका जीवन सुखपूर्ण होता है। इस कारण यज्ञयाग होमहवन करना मनुष्यका धर्म है और वह उसकी उन्नतिका एक एक उत्तम साधन है। आगेके दो मंत्रोंमें—

को नु गौः क एक ऋषिः किमु धाम का आशिषः।
यक्षं पृथिव्यामेकवृदेकर्तुः कतमोऽनु सः ॥ २५ ॥

एको गौरेक ऋषिरेकं धामैका आशिषः।
यक्षं पृथिव्यामेकवृदेकर्तुर्नाति रिच्यते ॥ २६ ॥

यहां एकही प्रकृतिरूप गौ है, जो जीवात्माओंकी पुष्टि करनेके लिये दूध देती है। इस सबका निरीक्षक एकहि ऋषि सबका एक आत्म निरीक्षक-परमात्मा ही परम ऋषि है। इस पृथ्वीपर सर्वव्यापक एकहि परमात्मादेव सबका उपास्य है। और उसका सबके लिये उत्तम आशीर्वाद है। इस प्रकार विचार करके इन मंत्रोंका आशय जानना चाहिये।

एक प्रकृतिरूपी गौ, एक दिव्यदृष्टिरूप ऋषि, एक परमात्माका धाम, एक स्वस्तिरूप आशीर्वाद, और इस भूमिपर व्यापक एकहि पूज्य देव है ये बातें यहां कहीं है। पूर्वोक्त वर्णनसे इनका सहज बोध हो सकता है।

इस सूक्तमें पञ्च, षड, सप्त और अष्ट शब्दों द्वारा वेदोक्त अनेक कोष्टक बनते हैं, परंतु वे अभीतक पूर्ण नहीं हुए, इस लिये यहां नहीं दिये। जब पूर्णतासे तैयार होंगे तब उनका प्रकाशन किया जायगा।

विराट्

[१०]

ऋषिः— अथर्वाचार्यः। देवताः— विराट्।

[१]

विराड्वा इदमग्र आसीत्तस्यां जातायां सर्वमबिभेदियमेवेदं भविष्यतीति ॥ १ ॥
सोदक्रामत्सा गार्हपत्ये न्यक्रामत् ॥ २ ॥
गृहमेधी गृहपतिर्भवति य एवं वेद ॥ ३ ॥

अर्थ—(विराट् वै) विराट् निश्चयसे (अग्रे इदं आसीत्) प्रारंभमें यह जगत् था। (तस्याः जातायाः) उसके होनेपर (इयं एव इदं भविष्यति इति) यही ऐसा यही होगा इस कारण (सर्वं अबिभेत्) सब भयभीत होगये ॥ १ ॥

(सा उद् अक्रामत्) वह उत्क्रान्त होगई और (सा गार्हपत्ये न्यक्रामत्) वह गृहपतिसंस्थामें परिणत होगई, (यः एवं वेद) जो ऐसा जानता है वह (गृहमेधी) गृहयज्ञ करनेवाला होकर (गृहपतिः भवति) गृहपालक होता है ॥ २-३ ॥

×

सोदक्रामत्साहवनीये न्यक्रामत् ॥ ४ ॥
यन्त्यस्य देवा देवहूतिं प्रियो देवानां भवति य एवं वेद ॥ ५ ॥
सोदक्रामत्सा दक्षिणाग्नौ न्यक्रामत् ॥ ६ ॥
यज्ञर्तो दक्षिणीयो वासतेयो भवति य एवं वेद ॥ ७ ॥
सोदक्रामत्सा सभायां न्यक्रामत् ॥ ८ ॥
यन्त्यस्य सभां सभ्यो भवति य एवं वेद ॥ ९ ॥
सोदक्रामत्सा समितौ न्यक्रामत् ॥ १० ॥
यन्त्यस्य समितिं सामित्यो भवति य एवं वेद ॥ ११ ॥
सोदक्रामत्सामन्त्रणे न्यक्रामत् ॥ १२ ॥
यन्त्यस्यामन्त्रणमामन्त्रणीयो भवति य एवं वेद ॥ १३ ॥

[२]

सोदक्रामत्सान्तरिक्षे चतुर्धा विक्रान्तातिष्ठत् ॥ १ ॥
तां देवमनुष्या अब्रुवन्नियमेव तद्वेद यदुभय उपजीवेमेमामुप ह्वयामहा इति ॥ २ ॥

अर्थ— (सा उद् अक्रामत्) वह उत्क्रान्त होगई और (सा आहवनीये न्यक्रामत्) वह आहवनीय अग्नि संस्थामें परिणत होगई । (यः एवं वेद) जो इस प्रकार जानता है वह (देवानां प्रियः भवति) वह देवोंका प्रिय बनता है और (देवाः अस्य देवहूतिं यन्ति) सब देव इसकी देवोंकी पुकारके स्थानपर जाते हैं ॥ ४-५ ॥

(सा उद् अक्रामत्) वह उत्क्रान्त होगई और (सा दक्षिणाग्नौ न्यक्रामत्) वह दक्षिणाग्नि संस्थामें परिणत हुई । (यः एवं वेद) जो इस प्रकार जानता है, वह (यज्ञर्तः दक्षिणीयः वासतेयः भवति) योग्य रीतिसे यज्ञ करनेवाला, संमानयोग्य और दूसरोंको रहनेका स्थान देनेवाला होता है ॥ ६-७ ॥

(सा उद् अक्रामत्) वह उत्क्रान्त होगई और (सभायां न्यक्रामत्) वह सभामें परिणत होगई । (यः एवं वेद) जो यह जानता है वह (सभ्यः भवति) सभाके योग्य होता है और लोग (अस्य सभां यन्ति) इसकी सभामें जाते हैं ॥ ८-९ ॥

(सा उद् अक्रामत्) वह उत्क्रान्त होगई और (सा समितौ न्यक्रामत्) वह समितिमें परिणत होगई । (यः एवं वेद) जो यह जानता है वह (सामित्यः भवति) समितिके योग्य होता है और लोग (यस्य समितिं यन्ति) इसकी समितिमें जाते हैं ॥ १०-११ ॥

(सा उद् अक्रामत्) वह उत्क्रान्त होगई और (सा आमन्त्रणे न्यक्रामत) वह मन्त्रिसभामें परिणत होगई । (यः एवं वेद) जो यह जानता है वह (आमंत्रणीयः भवति) वह [illegible] होता है और लोग (अस्य आमन्त्रणं [illegible]) [illegible] ॥ १२-१३ ॥

(सा उद् अक्रामत्) वह विराट् उत्क्रान्त होगई और (सा अन्तरिक्षे चतुर्धा) वह अन्तरिक्षमें चार प्रकारसे (विक्रान्ता अतिष्ठत्) [illegible] ॥ १ ॥

(देवमनुष्याः तां अब्रुवन्) देव और मनुष्य उसके विषयमें बोले कि, (इयं एव तत् वेद) यही वह जानती है, (यत् उभये उपजीवेम) जिससे हम दोनों जीवित रहते हैं । अतः (इमां उप ह्वयामहे इति) इसको हम बुलाते हैं ॥ २ ॥

तामुपाह्वयन्त ॥ ३ ॥

ऊर्ज॒ एहि॒ स्वध॒ एहि॒ सूनृ॑त॒ एहीरा॑व॒त्येहीति॑ ॥ ४ ॥

तस्या॒ इन्द्रो॑ व॒त्स आसी॑द्गाय॒त्र्य॑भिधान्य॒भ्रमूधः॑ ॥ ५ ॥

बृ॒हच्च॑ रथन्त॒रं च॒ द्वौ स्तना॒वास्तां॑ यज्ञाय॒ज्ञियं॑ च वामदे॒व्यं च॒ द्वौ ॥ ६ ॥

ओष॑धीरे॒व र॑थन्त॒रेण॑ दे॒वा अ॑दुह॒न्व्यचो॑ बृह॒ता ॥ ७ ॥

अ॒पो वा॑मदे॒व्येन॑ य॒ज्ञं य॑ज्ञाय॒ज्ञिये॑न ॥ ८ ॥

ओष॑धीरे॒वास्मै॑ रथन्त॒रं दु॑हे॒ व्यचो॑ बृ॒हत् ॥ ९ ॥

अ॒पो वा॑मदे॒व्यं य॒ज्ञं य॑ज्ञाय॒ज्ञियं॒ य ए॒वं वेद॑ ॥ १० ॥

[३]

सोद॑क्राम॒त्सा वन॒स्पती॒नाग॑च्छ॒त्तां वन॒स्पत॑योऽघ्नत॒ सा सं॑वत्स॒रे सम॑भवत् ॥ १ ॥

तस्मा॒द्वन॒स्पती॑नां संवत्स॒रे वृ॒क्णमपि॑ रोहति वृश्च॒तेऽस्याप्रि॑यो॒ भ्रातृ॑व्यो॒ य ए॒वं वेद॑ ॥ २ ॥

सोद॑क्राम॒त्सा पि॒तॄनाग॑च्छ॒त्तां पि॒तरो॑ऽघ्नत॒ सा मा॒सि सम॑भवत् ॥ ३ ॥

तस्मा॑त्पि॒तृभ्यो॑ मा॒स्युप॑मास्यं ददति॒ प्र पि॑तृ॒याणं॒ पन्थां॑ जानाति॒ य ए॒वं वेद॑ ॥ ४ ॥

अर्थ— (तां उपाह्वयन्त) उसको उन्होंने बुलाया, पुकारा ॥ ३ ॥

(ऊर्जे एहि) हे बल, आ। (स्वधे एहि) हे अपनी धारण शक्ति, आ। (सूनृते एहि) हे सत्य, आ। (इरावति एहि) हे अन्नवाली, आ। ॥ ४ ॥

(तस्याः वत्सः इन्द्रः आसीत्) उसका बछडा इन्द्र था, (गायत्री अभिधानी) गायत्री रस्सी थी और (अभ्रं ऊधः) मेघ दुग्धस्थान था ॥ ५ ॥

(बृहत् च रथन्तरं च) बृहत् और रथन्तर (द्वौ स्तनौ आस्तां) ये दो स्तन थे। और (यज्ञायज्ञियं च वामदेव्यं च द्वौ) यज्ञायज्ञिय और वामदेव्य ये दो स्तन थे ॥ ६ ॥

(देवाः रथन्तरेण ओषधीः अदुहन्) देवोंने रथन्तरसे औषधियाँ दोहन करके निकालीं और (बृहता व्यचः) बृहत्से विस्तारयुक्त आकाशको निकाला ॥ ७ ॥

(वामदेव्येन अपः) वामदेव्यसे जल निकाला और (यज्ञायज्ञियेन यज्ञं) यज्ञायज्ञियसे यज्ञको निकाला ॥ ८ ॥

(यः एवं वेद) जो यह जानता है (अस्मै रथन्तर एव ओषधीः दुहे) उसके लिये रथन्तर औषधियाँ देता है, (बृहत् व्यचः) बृहत् अवकाश देता है, (वामदेव्यं अपः) वामदेव्य जल देता है और (यज्ञायज्ञियं यज्ञं) यज्ञायज्ञिय यज्ञ देता है ॥ (९-१०) ॥

(सा उदक्रामत्) वह उत्क्रान्त हो गई और (सा वनस्पतीन् आगच्छत्) वह वनस्पतियोंके पास आगई। (तां वनस्पतयः अघ्नत) उसको वनस्पतियोंने मारा, परंतु (सा संवत्सरे समभवत्) वह वर्षमें पुनः होगयी। (तस्मात् वनस्पतीनां वृक्णं अपि रोहति) इसलिये वनस्पतियोंके व्रण भर जाते हैं। (यः एवं वेद) जो यह जानता है (अस्य अप्रियः भ्रातृव्यः वृश्चते) उसका अप्रिय शत्रु काटा जाता है ॥ १-२ ॥

(सा उदक्रामत्) वह उत्क्रान्त होगई, (सा पितॄन् आगच्छत्) वह पितरोंके पास आगई, (तां पितरः अघ्नत) उसको पितरोंने मारा, परंतु (सा मासि समभवत्) वह प्रतिमास उत्पन्न होने लगी। (यः एवं वेद) जो यह जानता है वह (पितृयाणं पन्थां प्रजानाति) पितृयाण मार्ग जानता है और (तस्मात्) इसलिये (पितृभ्यः मासि उपमास्यं ददति) पितरोंको प्रतिमास दान दिया जाता है ॥ ३-४ ॥

सोदक्रामत्सा देवानागच्छत्तां देवा अघ्नत साऽर्धमासे समभवत् ॥ ५ ॥
तस्माद्देवेभ्योऽर्धमासे वषट् कुर्वन्ति प्र देवयानं पन्थां जानाति य एवं वेद ॥ ६ ॥
सोदक्रामत्सा मनुष्याइनागच्छत्तां मनुष्याअघ्नत सा सद्यः समभवत् ॥ ७ ॥
तस्मान्मनुष्येभ्य उभयद्युरुप हरन्त्युपास्य गृहे हरन्ति य एवं वेद ॥ ८ ॥

[४]

सोदक्रामत्सासुरानागच्छत्तामसुरा उपाह्वयन्त माय एहीति ॥ १ ॥
तस्या विरोचनः प्राह्लादिर्वत्स आसीदयस्पात्रं पात्रम् ॥ २ ॥
तां द्विमूर्धार्त्व्योऽधोक्तां मायामेवाधोक् ॥ ३ ॥
तां मायामसुरा उप जीवन्त्युपजीवनीयो भवति य एवं वेद ॥ ४ ॥
सोदक्रामत्सा पितॄनागच्छत्तां पितर उपाह्वयन्त स्वध एहीति ॥ ५ ॥
तस्या यमो राजा वत्स आसीद्रजतपात्रं पात्रम् ॥ ६ ॥
तामन्तको मार्त्यवोऽधोक्तां स्वधामेवाधोक् ॥ ७ ॥
तां स्वधां पितर उप जीवन्त्युपजीवनीयो भवति य एवं वेद ॥ ८ ॥

अर्थ—(सा उदक्रामत्) वह उत्क्रान्त होगई (सा देवान् आगच्छत्) वह देवोंके पास आगई। (तां देवा अघ्नत) उसको देवोंने मारा, (सा अर्धमासे समभवत्) वह आधे मासमें होने लगी। (यः एवं वेद) जो यह जानता है वह (देवयानं पन्थां प्रजानाति) देवयान मार्गको जानता है। और (तस्मात्) इसीलिये (देवेभ्यः अर्धमासे वषट् कुर्वन्ति) देवोंके लिये अर्धमासमें वषट् कर्म करते हैं ॥ ५-६ ॥

(सा उदक्रामत्) वह उत्क्रान्त होगई (सा मनुष्यान् आगच्छत्) वह मनुष्योंके पास आगई। (तां मनुष्याः अघ्नत) उसको मनुष्योंने मारा (सा सद्यः समभवत्) वह तत्काल उत्पन्न होगई। (यः एवं वेद) जो यह जानता है (अस्य गृहे उपहरन्ति) उसके घरमें लोग उपहार लाते हैं। और (तस्मात्) इस कारण (मनुष्येभ्यः उभयद्युः उपहरन्ति) मनुष्योंके लिये दोनों दिन-दिनमें दोवार-अन्न करते हैं ॥ ७-८ ॥

(सा उदक्रामत्) वह उत्क्रान्त होगई (सा असुरान् आगच्छत्) वह असुरोंके पास आगई, (तां असुराः उपाह्वयन्त) उसे असुरोंने पुकारा कि (माये एहि इति) 'हे माये ! आ' इस प्रकार। (तस्याः प्राह्लादिः विरोचनः वत्सः आसीत्) उसका प्रल्हाद पुत्र विरोचन बछा था। उनका (अयस्पात्रं पात्रं) लोहेका पात्र था। (तां द्विमूर्धा अर्त्व्यः अधोक्) उसका ऋतु पुत्र द्विमूर्धाने दोहन किया, (तां मायां एव अधोक्) उससे माया ही दोहन करके मिली। (तां मायां असुराः उपजीवन्ति) उस मायापर असुरोंका जीवन होता है। (यः एवं वेद) जो यह जानता है (उपजीवनीयः भवति) वह जीविकाका निर्वाह करनेवाला होता है ॥ १-४ ॥

(सा उदक्रामत्) वह उत्क्रान्त होगई और (सा पितॄन् आगच्छत्) वह पितरोंके पास आगई। (तां पितरः उपाह्वयन्त) उसे पितरोंने इस प्रकार बुलाया कि (स्वधे एहि इति) 'हे अपनी धारकशक्ति ! यहां आ' (तस्याः यमः राजा वत्सः आसीत्) उसका यम राजा बछडा था और उसका (रजतपात्रं पात्रं) चांदीका पात्र था। (तां अन्तकः मार्त्यवः अधोक्) उसका मृत्युसंबंधी अन्तकने दोहन किया। (तां स्वधां एव अधोक्) उससे अपनी धारक शक्तिका हि दोहन हुआ इसलिये। (तां स्वधां पितरः उपजीवन्ति) उस अपनी धारक शक्तिसे पितरोंका जीवन होता है। (यः एवं वेद) जो यह जानता है वह (उपजीवनीयः भवति) जीविका निर्वाह करनेवाला होता है ॥ ५-८ ॥

सोदक्रामत्सा मनुष्याँ३नागच्छत्तां मनुष्याँ३ उपाह्वयन्तेरावत्येहीति ॥ ९ ॥
तस्या मनुर्वैवस्वतो वत्स आसीत्पृथिवी पात्रम् ॥ १० ॥
तां पृथी वैन्योऽधोक्तां कृषिं च सस्यं चाधोक् ॥ ११ ॥
पिं च सस्यं च मनुष्याँ३ उप जीवन्ति कृष्टराधिरुपजीवनीयो भवति य एवं वेद ॥ १२ ॥
सोदक्रामत्सा सप्तऋषीनागच्छत्तां सप्तऋषय उपाह्वयन्त ब्रह्मण्वत्येहीति ॥ १३ ॥
तस्याः सोमो राजा वत्स आसीच्छन्दः पात्रम् ॥ १४ ॥
तां बृहस्पतिराङ्गिरसोऽधोक्तां ब्रह्म च तपश्चाधोक् ॥ १५ ॥
पिं च तपश्च सप्तऋषय उप जीवन्ति ब्रह्मवर्चस्युपजीवनीयो भवति य एवं वेद ॥ १६ ॥

[५]

सोदक्रामत्सा देवानागच्छत्तां देवा उपाह्वयन्तोर्ज एहीति ॥ १ ॥
तस्या इन्द्रो वत्स आसीच्चमसः पात्रम् ॥ २ ॥
तां देवः सविताधोक्तामूर्जामेवाधोक् ॥ ३ ॥
तामूर्जां देवा उप जीवन्त्युपजीवनीयो भवति य एवं वेद ॥ ४ ॥

अर्थ— (सा उदक्रामत्) वह उत्क्रान्त होगई और (सा मनुष्यान् आगच्छत्) वह मनुष्योंके पास आगई, (तां मनुष्याः उपाह्वयन्त) उसको मनुष्योंने इस प्रकार बुलाया, कि (इरावति एहि इति) 'हे अन्नवाली! यहां आ'। (तस्याः मनुः वैवस्वतः वत्सः आसीत्) उसका विवस्वान्‌का पुत्र मनु बछडा था। उसका (पृथिवी पात्रं) पृथिवी पात्र था। (तां पृथी वैन्यः अधोक्) उसका वेन पुत्र पृथिने दोहन किया। (तां कृषिं च सस्यं च अधोक्) उस दोहनसे कृषि और धान्य हुआ। इस कारण (ते मनुष्याः कृषिं च सस्यं च उपजीवन्ति) मनुष्य कृषि और धान्यपरहि जीवन करते हैं। (यः एवं वेद) जो यह जानता है वह (कृष्ट-राधिः) कृषिमें सिद्धि प्राप्त करनेवाला होकर (उपजीवनीयः भवति) दूसरोंकी जीविका निर्वाह करनेवाला होता है ॥ ९–१२ ॥

(सा उदक्रामत्) वह उत्क्रान्त होगई (सा सप्तऋषीन् आगच्छत्) वह सप्तऋषियोंके पास आगई। (तां सप्त ऋषयः उपाह्वयन्त) उसको सप्त ऋषियोंने इस प्रकार बुलाया कि (ब्रह्मण्वति एहि इति) 'हे ब्रह्मज्ञानवाली! यहां आ।' (तस्याः सोमः राजा वत्सः आसीत्) उसका सोम राजा बछडा था और (छन्दः पात्रं) छन्द पात्र था। (तां बृहस्पतिः आंगिरसः अधोक्) उसका अंगिरसकुलोत्पन्न बृहस्पतीने दोहन किया, (तां ब्रह्म च तपः च अधोक्) उससे ज्ञान और तप मिला। (तत् ब्रह्म च तपः च) इसलिये ज्ञान और तप पर (सप्त ऋषयः उपजीवन्ति) सप्त ऋषि अपना जीवन धारण करते हैं, (यः एवं वेद) जो यह जानता है वह (ब्रह्मवर्चसी) ज्ञानवान होकर (उपजीवनीयः भवति) जीविका निर्वाह करनेवाला होता है ॥ १३–१६ ॥

(सा उदक्रामत्) वह उत्क्रान्त हो गई (सा देवान् आगच्छत्) वह देवोंके पास आगई (तां देवा उपाह्वयन्त) उसको देवोंने इस प्रकार बुलाया कि (ऊर्जे एहि इति) 'हे बलवति! यहां आ।' (तस्या इन्द्रः वत्सः आसीत्) उसका बछडा इन्द्र था, और (चमसः पात्रं) चमस पात्र था। (तां देवः सविता अधोक्) उसका दोहन सविता देवने किया (तां ऊर्जां एव अधोक्) उससे बल प्राप्त हुआ। अतः (तां ऊर्जां देवाः उपजीवन्ति) उस बलपर देवोंका जीवन होता है, (यः एवं वेद) जो यह जानता है वह (उपजीवनीयः भवति) जीविका निर्वाह करनेवाला होता है ॥ १–४ ॥

सोदक्रामत्सा गन्धर्वाप्सरस आगच्छत्तां गन्धर्वाप्सरस उपाह्वयन्त पुण्यगन्ध एहीति ॥ ५ ॥
तस्याश्चित्ररथः सौर्यवर्चसो वत्स आसीत्पुष्करपर्णं पात्रम् ॥ ६ ॥
तां वसुरुचिः सौर्यवर्चसोऽधोक्तां पुण्यमेव गन्धमधोक् ॥ ७ ॥
तं पुण्यं गन्धं गन्धर्वाप्सरस उप जीवन्ति पुण्यगन्धिरुपजीवनीयो भवति य एवं वेद ॥ ८ ॥
सोदक्रामत्सेतरजनानागच्छत्तामितरजना उपाह्वयन्त तिरोध एहीति ॥ ९ ॥
तस्याः कुबेरो वैश्रवणो वत्स आसीदामपात्रं पात्रम् ॥ १० ॥
तां रजतनाभिः काबेरकोऽधोक्तां तिरोधामेवाधोक् ॥ ११ ॥
तां तिरोधामितरजना उप जीवन्ति तिरो धत्ते सर्वं पाप्मानमुपजीवनीयो
भवति य एवं वेद ॥ १२ ॥
सोदक्रामत्सा सर्पानागच्छत्तां सर्पा उपाह्वयन्त विषवत्येहीति ॥ १३ ॥
तस्यास्तक्षको वैशालेयो वत्स आसीदलाबुपात्रं पात्रम् ॥ १४ ॥
तां धृतराष्ट्र ऐरावतोऽधोक्तां विषमेवाधोक् ॥ १५ ॥
तद्विषं सर्पा उप जीवन्त्युपजीवनीयो भवति य एवं वेद ॥ १६ ॥

अर्थ— (सा उदक्रामत्) वह उत्क्रान्त होगई और (सा गन्धर्वाप्सरसः आगच्छत्) वह गन्धर्व और अप्सराओंके पास आगई। (तां गन्धर्वाप्सरसः उपाह्वयन्त) उसको गन्धर्व और अप्सराओंने इस प्रकार बुलाया कि (पुण्यगन्धे एहि इति) 'हे उत्तम सुवासवाली ! यहां आ।' (तस्याः चित्ररथः सौर्यवर्चसः वत्सः आसीत्) उसका सूर्यवर्चसपुत्र चित्ररथ बछडा था, और (पुष्करपर्णं पात्रं) कमल पात्र था। (तां वसुरुचिः सौर्यवर्चसः अधोक्) उसका सूर्यवर्चसपुत्र वसुरुचिने दोहन किया। (तां पुण्यं गंधं एव अधोक्) उससे उत्तम सुवास प्राप्त हुआ। इसलिये (तं पुण्यं गन्धं गन्धर्वाप्सरसः उपजीवन्ति) उस सुवासपर गन्धर्व और अप्सराएं जीवित रहती हैं। (यः एवं वेद) जो यह जानता है वह (पुण्यगन्धिः) उत्तम सुगंधयुक्त होकर (उपजीवनीयः भवति) जीविका निर्वाह करनेवाला होता है ॥ ५-८ ॥

(सा उदक्रामत्) वह उत्क्रान्त होगई (सा इतरजनान् आगच्छत्) वह इतर जनोंके पास आगई (तां इतर जनाः उपाह्वयन्त) उसको इतर जनोंने इस प्रकार बुलाया कि (तिरोधे एहि इति) 'हे अंतर्धान शक्ति ! यहां आ।' (तस्याः कुबेरः वैश्रवणः वत्सः आसीत्) उसका विश्रवाका पुत्र कुबेर पुत्र था। और (आमपात्रं पात्रं) आमपात्र पात्र था। (तां रजतनाभिः काबेरकः अधोक्) उसका काबेरक पुत्र रजतनाभिने दोहन किया। (तां तिरोधां एव अधोक्) उससे अन्तर्धान शक्ति प्राप्त की। इसलिये (इतरजनाः तां तिरोधां उपजीवन्ति) इतर जन इस तिरोधान शक्तिपर जीवित रहते हैं। (यः एवं वेद) जो यह जानता है वह (सर्वं पाप्मानं तिरः धत्ते) सब पापको दूर रखता है और (उपजीवनीयः भवति) जीविका निर्वाह करनेवाला होता है ॥ ९-१२ ॥

(सा उदक्रामत्) वह उत्क्रान्त होगई (सा सर्पान् आगच्छत्) वह सर्पोंके पास आगयी। (तां सर्पाः उपाह्वयन्त) उसको सर्पोंने इस प्रकार बुलाया कि (विषवति एहि इति) 'हे विषवाली ! यहां आ।' (तस्याः तक्षकः वैशालेयः वत्सः आसीत्) उसका विशालापुत्र तक्षक बछडा था, (अलाबुपात्रं पात्रं) और अलाबुका पात्र था। (तां धृतराष्ट्रः ऐरावतः अधोक्) उसका इरावान्के पुत्र धृतराष्ट्रने दोहन किया। (तां विषं एव अधोक्) उससे विषही मिला। (तत् विषं सर्पाः उपजीवन्ति) उस विषसे सर्प जीवन धारण करते हैं (यः एवं वेद) जो यह जानता है वह (उपजीवनीयः भवति) जीविका निर्वाह करनेवाला होता है ॥ १३-१६ ॥

[६]

तद्यस्मा एवं विदुषेऽलाबुनाभिषिञ्चेत्प्रत्याहन्यात्	॥ १ ॥
न च प्रत्याहन्यान्मनसा त्वा प्रत्याहन्मीति प्रत्याहन्यात्	॥ २ ॥
यत्प्रत्याहन्ति विषमेव तत्प्रत्याहन्ति	॥ ३ ॥
विषमेवास्याप्रियं भ्रातृव्यमनुविषिच्यते य एवं वेद	॥ ४ ॥

अर्थ— (तत् एवं विदुषे यस्मै) इसलिये ऐसा जाननेवाले जिस विद्वान्के लिये (अलाबुना अभिषिञ्चेत्) अलाबुसे अभिषेक किया जाय, वह उसका (प्रत्याहन्यात्) प्रतिकार करे। (न च प्रत्याहन्यात्) और यदि न प्रतिकार करे तो (मनसा त्वा प्रति प्रति-आहन्मि) मनसे 'तेरा प्रतिघात करता हूं' (इति प्रत्याहन्यात्) ऐसा प्रतिकार करे। (यत् प्रत्याहन्ति) जो प्रतिकार होता है (तत् विषं एव प्रत्याहन्ति) वह विषका हि प्रत्याघात करता है। (यः एवं वेद) जो यह जानता है (विषं एव अस्य अप्रियं भ्रातृव्यं) विषहि इसके अप्रिय भ्रातृव्य पर (अनुविषिच्यते) जा गिरता है। ॥ १-४ ॥

विराट्

कामधेनुका दूध।

इस सूक्तमें जगन्माता विराट् देवीरूपी कामधेनुका दूध किन लोगोंने किस प्रकार निकाला इसका उत्तम वर्णन है। कामधेनु तो सबकी माता एक जैसी हि है, उसमें कोई भेद नहीं है, परंतु उसके पास आनेवाले विभिन्न हैं, उनका मन भिन्न प्रकारका है, उनकी कामनाएं भिन्न होती हैं, उनके पुरुषार्थ भिन्न होते हैं, इस कारण परिणाम भी भिन्न हुआ करते हैं। किसी गायका दूध सांपके पेटमें गया तो वहां उसका विष बनता है और उसी दूधको उत्तम आमके मूलमें सींचा तो उसीसे उत्तम स्वादुरस तैयार होता है। इसी प्रकार एकहि समुद्रका जल मेघोंमें आकर वृष्टिरूपसे नीचे आता है और संपूर्ण वृक्ष वनस्पतियोंपर पडता है, इसी एक हि जलसे छः प्रकारके रस छः प्रकारके वृक्षोंमें उत्पन्न होते हैं, ईखमें मधुर, इमलीमें खट्टा, मिरचमें कटु इस प्रकार विभिन्न रस हो जाते हैं। मेघोंसे आनेवाला पानी एकसा होता है, परंतु वनस्पतियोंके भेदसे रसमें भिन्नता उत्पन्न होती है। भूमिभी एक है परंतु उसीमें उपजे गुलाबकी सुगंध और प्रकारकी है, चमेलीकी अन्य प्रकारकी और पारिजातक की और प्रकारकी होती है। एकहि भूमीमें रस लेनेवाले भिन्न होनेके कारण विभिन्न रसोंकी उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार विराट् रूपी विश्व कामधेनु एकहि है, परंतु उससे देव, ऋषि, पितर, असुर, मनुष्य सर्प, गन्धर्व आदि भिन्नभिन्न गुण प्राप्त करते हैं, इसका वर्णन इस सूक्तमें देखने योग्य है, यही बात इस कोष्टक में देखिये—

१ विराट्, दिव्य कामधेनु ।

लोक	दोहनकर्ता	वत्सः	दोहन पात्र	बुलानेका नाम	दूध	जीवन साधन	क्या करता है अथवा कैसा होता है
असुरः	द्विमूर्धा आर्त्व्यः	विरोचनः प्राह्लादिः	अयस्पात्रं	माया	माया	माया	
पितरः	अन्तकोमार्त्यः	यमः राजा	रजतपात्र	स्वधा	स्वधा	स्वधा	
मनुष्यः	पृथी वैन्यः	मनुः वैवस्वतः	पृथिवी (मिट्टी)	इरावती	कृषि, सस्य	कृष्टि सस्य	कृष्टि-राधिः
सप्तऋषि	बृहस्पतिः आंगिरसः	सोमोराजा	छन्दः	ब्रह्मण्वती	ब्रह्म, तपः	ब्रह्म, तपः	ब्रह्मवर्चसी
देव	सवितादेवः	इन्द्रः	चमसः	ऊर्जा	ऊर्जा	ऊर्जा	
गन्धर्व	वसुरुचिः	चित्ररथः	पुष्करपर्ण	पुण्यगन्धा	पुण्यगन्धः	पुण्यगन्धः	सुगन्धित होता है ।
अप्सराः	सौर्यवर्चसः	सौर्यवर्चसः	(कमलपत्र)		(सुगंध)		
इतरजन	रजतनाभिः काबेरकः	कुबेरः वैश्रवणः	आमपात्रं	तिरोधा	तिरोधा	तिरोधा	पाप दूर करता है
सर्प	धृतराष्ट्रः ऐरावतः	तक्षकः वैशालेयः	अलाबुपात्र	विषवती	विष	विष	

२ विराट्, दिव्य कामधेनु ।

दोहनकर्ता	दुग्धाशय ऊधस्	वत्स	रस्सा गौ बांधनेकी डोरी	गौके नाम	स्तन	दूध
देव मनुष्य	अभ्र	इन्द्र	गायत्री	ऊर्जा	बृहत्	व्यचः (आकाश)
				स्वधा	रथन्तर	ओषधिः
				सूनृता	यज्ञायज्ञियं	यज्ञ
				इरावती	वामदेव्य	आपः

३ विराट् गौ ।

किसके पास गई	पुनः बननेका समय	क्या होता है	ज्ञान
वनस्पती	संवत्सर	वर्षमें व्रण भरता है ।	
पितर	मास	मासिक दान देते हैं	पितृयानज्ञान
देव	पक्ष	अर्धमासमें वषट् करते हैं	देवयानज्ञान
मनुष्य	सद्यः तत्काल	प्रतिदिन अन्न ग्रहण करते हैं	

इन कोष्टकोंसे पता लगता है कि इस विराटरूपी कामधेनुसे किसने किस प्रकारका दूध प्राप्त किया। कामधेनुके पास जो मांगा जाता है, वही उसको प्राप्त होता है। आप चाहे अमृत मांगे अथवा चाहे आप विष मांगे। एकहि कामधेनु अमृत मांगनेवालेको अमृत देती और विष मांगनेवालेको विष देती। कामधेनु तो वर मांगनेवालेकी इच्छा तृप्त कर सकती है। यहां वर मांगनेवालेको योग्य बुद्धि चाहिये। नहीं तो विराट् देवता प्रसन्न होनेपर भी बेढंगावर मांगकर अपनाहि नाश कर लेगा।

पूर्वोक्त कोष्टकको देखनेसे पता लगेगा कि असुरोंने उस विराट् देवीको ' माया ' नामसे पुकारा, मायाका अर्थ है– " छल, कपट, धोखा, जैसा दीखता है वैसा वास्तविक न होना, भ्रम, कौशल्य।" असुरोंने विराट् देवीमें ये गुण देखे और उनसे येहि गुण मांगे, उनको येहि गुण मिले। जो असुरोंने मांगा वही उनको मिला। प्राचीन और अर्वाचीन कालके असुरोंमें कपट और धोखा हि दिखाई देता है। इनही धोखेबाजीके कृत्योंसे असुर पहचाने जाते हैं। असुरोंका सब इतिहास धोखेबाजीका ही इतिहास है।

उसी विराट् कामधेनुसे देवोंने बल और अन्नकी प्रार्थना की और उनको अन्न और बल प्राप्त हुआ। इस बलसे देवोंने असुरोंका पराभव किया और देवोंका राज्य इस सृष्टीमें होगया।

मनुष्योंने विराट् देवीसे कृषि और फल आदि मिलनेकी प्रार्थना की और वह कृषि विद्या उन्होंने प्राप्त की, आजतक मनुष्य कृषिसे अपना जीविका निर्वाह कर रहे हैं।

सर्पोंने देखिये ऐसी उत्तम देवताकी उपासना करके क्या मांगा, जो न उनको लाभकारी है और न दूसरोंका हित कर सकता है। ऐसी बडी देवता आदिमाताकी प्रसन्नता होनेके बाद उससे सर्प ऐसी एक चीज मांगते हैं कि जो जगत्का नाश कर सकती है। जगद्रचना करनेवाली देवी प्रसन्न हुई तो उससे जो चाहे सो मिल सकता है, परंतु उससे सर्पोंने ' विष ' मांगा, जो प्राणीमात्रका नाश कर सकता है। इस प्रकारकी आत्मघातक मांग किसीको करना उचित नहीं है। यदि सर्प उस देवतासे विशेष महती शक्ति मांगते, तो वह उनको मिलती, परंतु उसके लिये भी शुद्ध बुद्धि चाहिये। उसके अभावमें ऐसा हि होगा। इसका तात्पर्य यह है कि बडीसे बडी शक्ति भी हाथमें आगयी, तो भी मनुष्यका कोई लाभ नहीं हो सकता, क्यों कि उस शक्तिका उत्तम उपयोग करनेका ज्ञान उसको चाहिये। उस ज्ञानके अभावमें वह प्राप्त हुई बडी शक्ति निःसंदेह इसकी हानि करेगी। जैसा सर्प और असुर इस देवताकी कृपासे लाभ न उठा सके। परंतु ऋषि, देव और मानवोंने उससे बडा लाभ प्राप्त किया। विशेष कर ऋषियोंने उस देवतासे ' ब्रह्म और तप ' प्राप्त किया, जो सब मानवजातीकी उन्नतिका एकमात्र साधन है, ऐसा हम कह सकते हैं। यदि मांगनेका समय आया तो ऐसा मांगना चाहिये।

इस सूक्तकी अन्य बातें इस पूर्वोक्त उपदेशका गौरव करनेके लिये हैं, अतः उनका विशेष विवरण करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है।

पाठक यहां इस बातका स्मरण रखें कि वह विराट् देवता केवल असुर, पितर, देव, मनुष्य, इतरजन, सर्प आदिकोंकोहि प्रसन्न हुई और हम सब मनुष्योंको वह वर देनेको तैयार नहीं है, ऐसी बात नहीं है। वह आदिमाता जगन्माता हम सबको जो चाहे सो देनेको तैयार नहीं है, हम सब जो चाहे सो लेतेभी हैं, परंतु जो लेना चाहिये वह लेते। अयोग्य पदार्थ लेकर हम अपनी अवनति कर रहे हैं, इसलिये वेदने हमें इस सूक्तद्वारा यह उपदेश देकर कहा कि उससे अच्छी शक्ति हि मांगना चाहिये और कोई हानिकारक बात नहीं मांगनी चाहिये।

प्रत्येक मनुष्य मनमें संकल्प करता है, इच्छा करता है, कामना करता है वह सब पूर्वोक्त कामधेनुसे मांगहि होती है। प्रत्येक मनुष्य कामधेनुके समीप है। यह सब ' विराट् ' कामधेनुहि है और उसके सामने बैठकर मनुष्य इच्छा करता है। कल्पवृक्षके नीचे अथवा कामधेनुके सामने बैठकर मनमें भली या बुरी कामना की जायगी, तो वह तत्काल सिद्ध होगी। भली कामना मनमें उत्पन्न हुई तो कोई दोष नहीं होगा, परंतु बुरी कामना उठी तो हानि होनेमें कोई संदेहहि नहीं। यहां पाठक स्मरण रखें कि जो हानि बुरा संकल्प करनेसे होगी, उस हानिकी जिम्मेवारी अपनेहिपर है। इस-प्रकार विचार करनेपर पता लगेगा कि मनुष्य स्वयं अपना नाश कर रहा है। इसने बुरी कामना की और कामधेनुसे वैसा फल मिला, तो इसमें कामधेनुका क्या दोष है? दोष सब कामना करनेवालेका है। यह बात पाठकोंके मनमें स्थिर करनेके लियेहि इस सूक्तका उपदेश हुआ है।

पाठक यहां अपनी संकल्पशक्तिका बल देखें और सदा शुभसंकल्प करके अपनी उन्नतिका मार्ग सुगम करें।

राष्ट्रीय उपदेश।

इस सूक्तका जो पहिला भाग है वह राष्ट्रीय उन्नति-विषयक है। उसमें जनताकी उन्नति कैसी हुई, राष्ट्रीय संघटना कैसी हुई और लोगोंकी प्रातिनिधिक सभा कैसी बनी इस विषयका उपदेश इस सूक्तमें है। यहां 'वि-राट् या वि-राज्' शब्दका अर्थ 'राजहीन स्थिति' है। जिस समय राजा बना नहीं था, राजा बनानेकी कल्पना अथवा राजाकी भी कल्पना जिस समय जनतामें नहीं थी, उस समयकी जनताकी अवस्था 'वि-राज्' शब्द द्वारा यहां बतायी है। राजसंस्था शुरू होनेके पूर्वकी स्थिति इस शब्दने यहां प्रकट की है। यह शब्द 'अ-राज-क' शब्दका पर्यायशब्द नहीं है। अराजक लोग राजाकी उत्पत्तिके पश्चात् होते हैं। पहिले राजाकी उत्पत्ति हुई, पश्चात् राजा और राजपुरुष प्रजापर अत्याचार करने लगे, उनके अत्याचारसे त्रस्त होकर राजाका नाश करनेकी इच्छासे 'अराजक' लोगोंका जन्म हुआ है। अर्थात् राजाके उत्तर कालमें 'अराजक' की उत्पत्ति और पूर्व कालमें 'विराज्' की स्थिति होती है। इस प्रकार विचार करनेसे विराज्का अर्थ पाठकोंके मनमें स्थिर हो सकता है। जनता विराज् स्थितिमें थी, इसका अर्थ केवल बिखरे लोक थे और उनमें कोई संघटना नहीं थी।

तत्पश्चात् सबसे प्रथम जो संघटनाका प्रारंभ हुआ वह 'स्त्रीपुरुषोंके मेल' से हि प्रारंभ हुआ है। स्त्री पुरुष तो पशुओंमें भी मिलते हैं, परंतु वे अपना गृहस्थ संसार नहीं करते। उनका मेल तो केवल कामुकताके समयमें हि होता है। मनुष्यमें बुद्धि है, मन है और प्रेमभी है। प्रारंभिक मनुष्योंमें पशुवत् स्त्रीपुरुष संबंध होते होते, जब उनका प्रेम अधिक दृढ होने लगा, तब वे एकत्र रहने लगे। इस एकत्र निवासको धर्मकी नियंत्रणा होनेसे 'गृहपति' संस्थाकी उत्पत्ति होगई है। धर्मकी नियंत्रणाके साथ प्रतिदिनका अग्निहोत्र तथा अन्यान्य गृहस्थधर्म मनुष्यके साथ संबंधित होगये। इस समय यह मनुष्य घर करके रहने लगा। घरमें रहनेसे घरका स्वामी, स्वामीकी सहचारिणी स्त्री और उसके सहायक भाई और पुत्र हैं, यह कल्पना मनुष्यमें उत्पन्न होगई और यही कल्पना बढते बढते बडे साम्राज्यमें परिणत हुई। इसी उन्नतिका क्रम इस सूक्तमें दर्शाया है।

गृहपति, आहवनीय और दक्षिणाग्नि ये तीनों संस्थाएं गृहव्यवस्थामें हि अधिकाधिक संघटना होनेका आशय बता रही हैं। गृहपति संस्थामें यज्ञ भी छोटे होते हैं, आहवानीय और दक्षिणाग्निमें यज्ञ बढ गये और उसके कारण मानव-संघटना भी बढ गयी। परंतु अभीतक ग्रामसंस्थाका अस्तित्व नहीं हुआ था। अनेक कुटुंब एक स्थानपर रहते थे, परंतु ग्रामसंस्थाके बंधनसे वे संबंधित नहीं थे। एक स्थानपर अनेक कुटुंब रहनेके पश्चात् सब कुटुंबियोंकी मिलकर एक ग्रामसंस्था होनी चाहिये, इससे ग्रामकी संघटना अथवा सच कहें तो जो उस स्थानपर कुटुंब रहते हैं, उनकी संघटना होगी, यह कल्पना उत्पन्न हुई होगी। गृहपति संस्थाके पश्चात् ग्रामकी और ग्रामसंस्थाकी कल्पना स्वभावतः हि उत्पन्न होगी। क्यों कि गृहपति संस्थामें जो घरके नियंताकी भावनाका और संघटनासे सुखका अनुभव है, उसी अनुभवसे अनेक गृहस्थियोंका मिलकर एक कुटुंब बनाने और उससे अपना संघबल बढानेकी कल्पना मनुष्योंमें उत्पन्न होना स्वाभाविक है।

इससे हि 'सभा' की उत्पत्ति होगई है। यहां सभा शब्द 'ग्राम-सभा' है। 'ग्राम' शब्दका हि अर्थ 'संघटित समाज' है, अनेक कुटुंब एक नियमसे बंधकर एकत्र रहते हैं उसका नाम 'ग्राम' है। इस ग्रामकी जो सभा उसका नाम ग्रामसभा है। यह सभा उस ग्रामके चुने हुए प्रतिनिधियोंकी हि होती है। कोई बाहरका मनुष्य इस सभाका सदस्य नहीं हो सकता। जो उस ग्रामका रहनेवाला है, ऊपरी नहीं है, जिसका घरदार ग्राममें है और जो उस ग्रामके कुटुंबियोंका चुना हुआ प्रतिनिधि है, वह उस सभाका सदस्य हो सकता है। इस प्रकारके जो लोगोंके प्रतिनिधि होंगे उनकी ग्रामसभा होगी। और यह सभा ग्रामकी रक्षा, आरोग्य प्रबंध, शिक्षाव्यवस्था आदि कार्य करेगी। मानो इस ग्रामसभासे उस ग्रामकी नियंत्रणा होगी।

इस प्रकार अनेक ग्राम बने, उनकी व्यवस्थापिका सभाएं बनीं, तो उनके आपसमें 'संग्राम' होना संभव है। ऐसे 'सं-ग्राम' होनेके पश्चात् हि संग्रामोंसे अहित होनेका अनुभव ज्ञान होगा और अनेक ग्रामोंकी एक संघटित सभा बनानेकी कल्पना सबको प्रिय होगी।

इसी कारण 'समिति' की निर्मिति होगई ऐसा आगे इस सूक्तमें कहा है। पूर्वोक्त ग्रामजनोंके द्वारा चुने हुए प्रतिनिधियोंकी हि यह राष्ट्रसमिति अथवा राष्ट्रीय सभा होती है। और इसके द्वारा राष्ट्रका शासन होता है। इसके बीचमें प्रांत सभाएं छोटी अथवा बडी होनेका अनुमान पाठक कर सकते हैं और इससे बढकर साम्राज्यमहासभाका होना भी पाठकोंकी कल्पनामें आसकता है।

महासभा अथवा समिति तो राष्ट्रकी होती है और इसमें सब ग्रामोंके प्रतिनिधि आनेसे प्रतिनिधियोंकी संख्या बडी होती है। जब बहुत किंवा सैंकडों प्रतिनिधि होते हैं तब उनका उपस्थित होना और एक मतसे काम चलना अत्यंत कठिन होता है, इस लिये उनमेंसे कुछ थोडेसे चुने हुए अधिक योग्य कार्यकर्ताओंका 'मंत्रिमंडल' बनाना आवश्यक हुआ करता है। कार्य करनेके समय इसकी अत्यंत आवश्यकता होती है। अतः इसी सूक्तके अन्तिम भागमें 'आमंत्रणा' परिषद् बनानेका उल्लेख है। आमंत्रणा अथवा मंत्रणा करनेवाला हि मंत्रिमंडल होता है। यह सब राष्ट्रके शासन व्यवहारका विचार करता है और तदनुसार सब ओहदेदारों द्वारा राष्ट्रका तथा तदन्तर्गत ग्रामोंका शासन व्यवहार करता है। इस ढंगसे वेदने लोकशासन संस्थाकी उत्पत्तिका क्रम बताया है।

मनुष्यमें जो आत्मशक्ति है वह बडी प्रभावशालिनी है। उस आत्मशक्तिमें ज्ञान, वीरता, संग्रह और कर्म ये चार भेद हैं। जहां आत्मा है वहां ये चार शक्तिविभाग न्यूनाधिक रीतिसे हैं। मनुष्यमें वेही ब्रह्म, क्षत्र, विराट्, शूद्र नामसे प्रसिद्ध हैं। ज्ञानसंग्रह, राष्ट्रपालन, धनसंचय और कर्मकौशल्य ये इनके कार्य जगत्में सुप्रसिद्ध हैं।

जब अनेक कुटुंब एक स्थानपर आजाते हैं तब उनमें कई लोग ज्ञानका संग्रह करनेवाले, विचारसंपन्न, केवल ध्यानधारणामें रत होते हैं, वे जगत्के व्यवहारके जालमें नहीं फंसते। दूसरे कई लोग ऐसे होते हैं कि जो अपने बाहुबलसे ग्रामकी रक्षा करनेमें तत्पर होते हैं।

इनके बलसे होनेवाली रक्षासे अन्य लोग अपने आपको सुरक्षित समझते हैं। दूसरोंकी रक्षाके लिये आत्मसमर्पण करनेमें हि इनका यश होता है। ये ग्राम या राष्ट्रकी रक्षाके लिये अपने जीवितका भी समर्पण करते हैं। परोपकारके लिये ये क्षत्रिय लोक बडी बडी आपत्तियां सहन करते, अपने जीवितको संकटोंमें और साहसोंके कार्योंमें सौंप देते हैं और संपूर्ण जनताके धन्यवादको योग्य बनते हैं।

वैश्य लोग खेती, और व्यापार व्यवहार करते हैं, धन और जनताके हितके कार्य करनेके लिये उस धनका समर्पण भी करते हैं। ये वैश्य लोग संग्रहमें भी चतुर होते हैं और दानमें भी शूर होते हैं। इसीमें इनका यश हुआ करता है।

चौथे कर्मवीर हैं, इनको शूद्र कहते हैं— अनेक हुनर या कारीगरीके कर्म करना इनका कर्तव्य है। विविध प्रकारके कुशलताके कर्म करके ये अनेकानेक सुखसाधन निर्माण करते हैं। सब अन्य लोग इनकी कारीगरीसे सुखके साधन प्राप्त करते हैं। जो लोग इन चारों वर्गोंमें नहीं संमिलित होते उनको अवर्गीकृत पंचम वर्गमें संमिलित किया जाता है। ये पांच प्रकारके 'पंच-जन' हैं। इन पंचजनोंकाही ग्राम नगर पत्तन और राष्ट्र होता है। इन वर्गोंके प्रतिनिधि जहां इकट्ठे होते हैं, उस सभाका नाम 'पंचायत' है, यही ग्रामसभा, नगरसमिति, राष्ट्रसभा और आमंत्रणपरिषद् है।

जहां सभा होती है वहां उसका अध्यक्ष, मंत्री आदि अधिकारी होते हि हैं, इस कारण ग्रामसभामें ग्रामसभाध्यक्ष, राष्ट्रसमितिमें उसका अध्यक्ष और मंत्रिमंडलमें उसका मुख्य मंत्री, होना स्वाभाविक है। जिस प्रकार घरमें घरका स्वामी होता है, उसी प्रकार सभामें सभाका नियामक होना आवश्यक है। आगे चलकर युद्धादि प्रसंग छिडजानेपर युद्धनायक सेनाका विशेष बल हाथमें आनेसे अध्यक्षहि स्वयं शासक राजा या महाराजा बनता है। अथवा जिसको प्रजाजन राज्यका अध्यक्ष चुनते हैं वही अपना बल बढाकर स्वयंशासक राजा बनता है! यह राजाका विषय यहां नहीं है, यहां केवल ग्रामसभा, राष्ट्रसमिती और मन्त्रिमंडल प्रजाजनोंद्वारा चुने हुए प्रतिनिधियोंका कैसा बनता है, इसीका वर्णन यहां है। पाठक इस व्यवस्थाको देखें और अपने अपने ग्रामों और प्रान्तों तथा राष्ट्रमें इस प्रकारके प्रजानियुक्त प्रतिनिधियोंकी शासक संस्था नियुक्त करें और इसके द्वारा शासन करके अपनी सर्वांगपूर्ण उन्नति सिद्ध करें।

अष्टम काण्ड समाप्त।

अथर्ववेदका स्वाध्याय ।

अष्टम काण्डकी विषयसूची ।

अष्टम काण्ड समाप्त ।

ॐ

अथर्ववेद

का

सुबोध भाष्य ।

नवमं काण्डम् ।

ॐ

अथर्ववेदका सुबोध भाष्य।

नवम काण्ड।

इस नवम काण्डका प्रारंभ ' दिवः ' शब्दसे हुआ है। इसका अर्थ ' प्रकाशमय ' स्वर्गलोक है। प्रकाशमय लोक मंगल है अतः इस काण्डका प्रारंभ मंगल शब्दसे हुआ है। इस सूक्तकी देवता ' मधु ' अर्थात् मीठास है। जिस सूत्रात्मासे यह संपूर्ण विश्व बंधा गया है उस मधुर सूत्रका वर्णन इस मंत्रमें होनेसे इस काण्डका प्रारंभ मंगलके वर्णनसे हुआ है, इसमें संदेह नहीं है।

इस काण्डमें ५ अनुवाक, १० सूक्त और ३०२ मंत्र हैं। इनका विभाग इस प्रकार है—

अनुवाक	सूक्त	दशतिविभाग	पर्याय	मंत्रसंख्या	कुलसंख्या
१	१	१०+१४		२४	
	२	१०+१०+५		२५	४९
२	३	१०+१०+११		३१	
	४	१०+१४		२४	५५
३	५	१०+१०+१०+८		३८	
	६	——	६	६२	१००
४	७	——	१	२६	
	८	१०+१२		२२	४८
५	९	१०+१२		२२	
	१०	१०+१०+८		२८	५०
				३०२	३०२

*

इस काण्डमें १० सूक्त हैं, उनके ऋषि देवता छन्द देखिये-

सूक्तोंके ऋषि-देवता-छन्द।

सूक्त	मंत्रसंख्या	ऋषि	देवता	छन्द
प्रथमोऽनुवाकः।				
विंशः प्रपाठकः।				
१	२४	अथर्वा	मधु अश्विनौ	त्रिष्टुप् २ त्रिष्टुब्गर्भा पंक्तिः; ३ परानुष्टुप्; ६ महाबृहती अतिशक्वरगर्भा; ७ अति जागतगर्भा महाबृहती; ८ बृहतीगर्भा संस्तारपंक्तिः; ९ पराबृहती प्रस्तारपंक्तिः; १० पुरोष्णिकपंक्तिः; ११-१३, १५, १६, १८, १९ अनुष्टुभः; १४ पुरउष्णिग्; १७ उपरिष्टाद्विराड् बृहती; २० भुरिग्विष्टारपंक्तिः; २१ एकाव० द्विप० आर्ची अनुष्टुप्; २२ त्रिप० ब्राह्मी पुरउष्णिग; २३ द्विप० आर्ची पंक्तिः; २४ त्र्यव० षट्प० अष्टिः।
२	२५	,,	कामः	त्रिष्टुप् ५ अतिजगती; ७ जगती ८ द्विप० आर्ची पंक्तिः; ११, २०, २३ भुरिजः; १२ अनुष्टुप्; १३ द्विप० आर्ची अनुष्टुप्; १४, १५, १७, १८, २१, २२ जगत्यः; १६ चतुष्प० शाक्वरगर्भा परा जगती।
द्वितीयोऽनुवाकः।				
३	३१	भृग्वंगिराः	शाला	अनुष्टुप्। ६ पथ्या पंक्तिः; ७ पुर उष्णिक्; १५ त्र्यव० पंच० अतिशक्वरी; १७ प्रस्तारपंक्तिः; २१ आस्तार पंक्तिः; २५, ३१ त्रिप० प्राजापत्या बृहती; २६ साम्नी त्रिष्टुभ्, २७-३० प्रतिष्ठा नाम गायत्री; (२५-३१ एकाव० त्रिपदा)
४	२४	ब्रह्मा	ऋषभः	त्रिष्टुभ्; ८ भुरिक् ६, १० २४, जगत्यः; ११-१७, १९, २०, २३ अनुष्टुभः; १८ उपरिष्टाद्बृहती; २१ आस्तारपंक्तिः।
तृतीयोऽनुवाकः।				
५	३८	भृगुः	अजः पंचौदनः	त्रिष्टुभ् ३ चतु० पुरोतिशक्वरी जगती; ४, १० जगत्यौ; १४, १७, २७-३० अनुष्टुभः (३० ककुम्मती); १६ त्रिप० अनुष्टुप्; १८, ३७ त्रिप० विराड्गायत्री; २३ पुर उष्णिक्; २४ पंचप० अनुष्टुबुष्णिग्गर्भोपरिष्टाद्बार्हता विराड् जगती; २६ पंचप० अनुष्टुबुष्णिग्गर्भोपरिष्टाद्बार्हता भुरिक्; ३१ सप्त० अष्टी; ३२-३५ दशप० प्रकृती; ३६ दशपदा आकृतिः; ३८ एकाव० द्वि० साम्नी त्रिष्टुभ्।

एकविंशः प्रपाठकः ।

६	६२	ब्रह्मा	अतिथ्या विद्या	
	(१) १७	,,	,,	१ त्रिप० गायत्री; २ त्रिप० आर्षी गायत्री ३, ७ साम्नी त्रिष्टुप्; ४, ९ आर्ची अनुष्टुभ् ५ आसुरी गायत्री; ६ त्रिप० साम्नी जगती; ८ याजुषी त्रिष्टुभ्;-१० साम्नी भुरिग्बृहती; ११, १४-१६ साम्न्यनुष्टुभ् १२ विराड् गायत्री; १३ साम्नी निचृत्पंक्ति; १७ त्रिप० विराड् भुरिग्गायत्री ।
	(२) १३	,,	,,	१८ विराट् पुरस्ताद्बृहती; १९, २९ साम्नी त्रिष्टुभ्; २० आसुरी अनुष्टुभ्; २१ साम्नी उष्णिग्; २२, २८ साम्नी बृहती (२८ भुरिग्); २३ आर्ची अनुष्टुभ्; २४ त्रिप० स्वराडनुष्टुप; २५ आसुरी गायत्री; २६ साम्नी अनुष्टुभ्; २७ त्रिप० आर्षी त्रिष्टुप्; ३० द्वि० आर्षी पंक्तिः ।
	(३) ९	,,	,,	३१-३६, ३९ त्रिप० पिपीलिकमध्या गायत्री; ३७ साम्नी बृहती; ३८ पिपीलिकामध्योष्णिक् । ४०-४३ (१) प्राजापत्यानुष्टुप् (१) ४४ भुरिक् (२) ४०-४३ त्रिप० गायत्री; (२) ४४ चतु० प्रस्तारपंक्तिः ।
	(४) ५	,,	,,	
	(५) ४	,,	,,	४५ (१) साम्नी उष्णिक्, ४५ (२) पुर उष्णिक् ४५ (३), ४८ (३) साम्नी भुरिग्बृहती ४६ (१), ४७ (१), ४८ (२) साम्नी अनुष्टुभ्; ४६ (२) त्रिप० निचृद्विराण्नाम गायत्री; ४७ (२) त्रिप० विराड् विषमा नाम गायत्री; ४८ (१) त्रिप० विराडनुष्टुप् ।
	(६) १४	,,	,,	४९ आसुरी गायत्री; ५० साम्नी अनुष्टुप; ५१, ५३ त्रिप० आर्ची पंक्तिः; ५२ एकप० प्राजापत्या गायत्री; ५४—५९ आर्ची बृहती; ६० एकपदा आसुरी जगती; ६१ याजुषी त्रिष्टुप्; ६२ एकप० आसुरी उष्णिक् ।

चतुर्थोऽनुवाकः ।

७	२६	ब्रह्मा	गौः	१ आर्ची बृहती; २ आर्ची उष्णिक; ३, ५ आर्ची अनुष्टुभ्; ४, १४, १५, १६ साम्नी बृहती; ६, ८ आसुरी गायत्री; ७ त्रिपदा पिपीलिकमध्या निचृद्गायत्री; ९, १३ साम्नी गायत्री; १० पुरउष्णिक्; ११, १२, १७, २५ साम्नी उष्णिक्; १८, २२ एकप० आसुरी जगती; १९ एकप० आसुरी पंक्तिः; २० याजुषी जगती; २१ आसुरी अनुष्टुभ्; २३ एकप० आसुरी बृहती; २४ साम्नी भुरिग् बृहती; २६ साम्नी त्रिष्टुप्

८	२२	भृग्वंगिराः	सर्वशीर्षामयापाकरणं,	अनुष्टुभ् १२ अनुष्टुब्गर्भा ककुम्मती चतुष्प० उष्णिक्; १५ विराडनुष्टुप; २१ विराट् पथ्या बृहती; १२ पथ्या पंक्तिः

पंचमोऽनुवाकः ।

९	२२	ब्रह्मा	नाम: अध्यात्मं आदित्यः	त्रिष्टुभ्; १२, १४, १६, १८ जगत्यः।
१०	२८	,,	गौः विराट् अध्यात्मं	त्रिष्टुभ् १, ७, १४, १७ १८ जगत्यः; २१ पंच० अतिशक्वरी; २४ चतु० पुर० भुरिगति जगती; २, २६, २७ भुरिग् ।

ऋषिक्रमानुसार सूक्तविभाग ।

इस प्रकार इस नवम काण्डके ऋषि, देवता और छंदोंकी व्यवस्था है। अब इसका ऋषिक्रमानुसार सूक्तविभाग देखिये-

१ ब्रह्मा ऋषिके ४, ६, ७, ९, १० ये पांच सूक्त हैं,
२ अथर्वा ,, १, २ ये दो सूक्त हैं,
३ भृग्वंगिरा ,, ३, ८ ,, ,,
४ भृगु ऋषिका ५ वां एक सूक्त है।

इस तरह चार ऋषियोंके देखे मंत्र इस नवम काण्डमें हैं। इस काण्डमें ब्रह्मा ऋषिके मंत्र अधिक हैं। अब देवताक्रमानुसार सूक्तविभाग देखिये—

देवताक्रमानुसार सूक्तविभाग ।

१ गौ देवताके ७ और १०वे दो सूक्त हैं,
२ अध्यात्म ,, ९ ,, १० ,, ,,
३ मधु देवताका १ यह एक सूक्त है,
४ अश्विनौ ,, १ ,, ,,
५ काम ,, २ ,, ,,
६ शाला देवता का ३ रा यह एक सूक्त है,
७ ऋषभः ,, ४ ,, ,,
८ अजः पञ्चौदनः ,, ५ ,, ,,
९ अतिथ्या विद्या ,, ६ ,, ,,
१० सर्वशीर्षामयाद्यपाकरणं ,, ८ ,, ,,
११ नाम ,, ९ ,, ,,
१२ आदित्य ,, ९ ,, ,,
१३ विराट् ,, १० ,, ,,

इस प्रकार तेरह देवताओंके सूक्त इस नवम काण्डमें हैं। इस काण्डमें ' वर्चस्यगण ' का पहिला सूक्त है, ' सक्तिगण ' का नवमसूक्त है और चतुर्थसूक्तके ' पुष्टिकमंत्र ' हैं। इतनी बातोंका विचार मनमें रखकर पाठक इस काण्डका मनन करें।

—:०:—

ॐ

अथर्ववेदका सुबोध भाष्य।

नवम काण्डम्।

मधुविद्या और गोमहिमा।

(१)

(ऋषिः=अथर्वा। देवता–मधु, अश्विनौ)

दिवस्पृथिव्या अन्तरिक्षात् समुद्रादग्नेर्वातान्मधुकशा हि जज्ञे।
तां चायित्वामृतं वसानां हृद्भिः प्रजाः प्रति नन्दन्ति सर्वाः ॥ १ ॥
महत् पयो विश्वरूपमस्याः समुद्रस्य त्वोत रेत आहुः।
यत ऐति मधुकशा रराणा तत् प्राणस्तदमृतं निविष्टम् ॥ २ ॥
पश्यन्त्यस्याश्चरितं पृथिव्यां पृथङ् नरो बहुधा मीमांसमानाः।
अग्नेर्वातान्मधुकशा हि जज्ञे मरुतामुग्रा नप्तिः ॥ ३ ॥

अर्थ—[दिवः अन्तरिक्षात् पृथिव्याः] द्युलोक, अन्तरिक्ष और पृथ्वी, [समुद्रात् अग्नेः वातात्] समुद्रका जल, अग्नि और वायुसे [मधुकशा जज्ञे] मधुकशा उत्पन्न होती है। [अमृतं वसानां तां चायित्वा] अमृतका धारण करनेवाली उस मधुकशा को सुपूजित करके [सर्वाः प्रजाः हृद्भिः प्रतिनन्दन्ति] सब प्रजाजन हृदयसे आनंदित होते हैं ॥ १ ॥

(अस्याः पयः) इसका दूध (महत् विश्वरूपं) बडा विश्वरूपही है। (उत त्वा समुद्रस्य रेतः आहुः) और तुझे समुद्रका वीर्य कहते हैं। (यतः मधुकशा रराणा एति) जहांसे यह मधुकशा शब्द करती हुई आती है, (तत् प्राणः) वह प्राण है, (तत् निविष्टं अमृतं) वह सर्वत्र प्रविष्ट अमृत है ॥ २ ॥

(बहुधा पृथक् मीमांसमानाः नरः) बहुत प्रकारसे पृथक् पृथक् विचार करनेवाले लोग (पृथिव्याः) इस पृथ्वीपर (अस्याः चरितं पश्यन्ति) इसका चरित्र अवलोकन करते हैं। (मधुकशा अग्नेः वातात् जज्ञे) यह मधुकशा अग्नि और वायुसे उत्पन्न हुई है। यह (मरुतां उग्रा नप्तिः) मरुतों की उग्र पुत्री है ॥ ३ ॥

भावार्थ–पृथ्वी, आप, तेज, वायु आकाश और प्रकाशसे मधुर दूध देनेवाली गौ माता उत्पन्न हुई है, इस अमृतरूपी दूध देनेवाली गोमताकी पूजा करनेसे सब प्रजाएं हृदयसे आनंदित होती हैं ॥ १ ॥

इस गौमाताका दूध मानो संपूर्ण विश्वकी बडी शक्ति है। अथवा मानो, यह संपूर्ण जलतत्वका सार है। जो यह शब्द करती हुई गौ है, वह सबका प्राण है और उसका दूध प्रत्यक्ष अमृत है ॥ २ ॥

विचार करनेवाले मनुष्य इस पृथ्वीपर इस गौका चरित्र देखते हैं। यह मधुर रस देनेवाली गौ अग्नि और वायु से उत्पन्न हुई है, अतः इसको मरुतों—वायुओं की प्रभावशालिनी पुत्री कहते हैं ॥ ३ ॥

मातादित्यानां दुहिता वसूनां प्राणः प्रजानाममृतस्य नाभिः।
हिरण्यवर्णा मधुकशा घृताची महान् भर्गश्चरति मर्त्येषु ॥ ४ ॥
मधोः कशामजनयन्त देवास्तस्या गर्भो-अभवद् विश्वरूपः ।
तं जातं तरुणं पिपर्ति माता स जातो विश्वा भुवना वि चष्टे ॥ ५ ॥
कस्तं प्र वेद क उ तं चिकेत यो अस्या हृदः कलशः सोमधानो अक्षितः।
ब्रह्मा सुमेधाः सो अस्मिन् मदेत ॥ ६ ॥
स तौ प्र वेद स उ तौ चिकेत यावस्याः स्तनौ सहस्रधारावक्षितौ ।
ऊर्जं दुहाते अनपस्फुरन्तौ ॥ ७ ॥
हिङ्करिक्रती बृहती वयोधा उच्चैर्घोषाभ्येति या व्रतम् ।
त्रीन् घर्मानभि वावशाना मिमाति मायुं पयते पयोभिः ॥ ८ ॥

अर्थ– (आदित्यानां माता) यह आदित्योंकी माता, (वसूनां दुहिता) वसुओंकी दुहिता, (प्रजानां प्राणः) प्रजाओं का प्राण और (अमृतस्य नाभिः) यह अमृतका केन्द्र है, (हिरण्यवर्णा मधुकशा घृताची) सुवर्ण के समान वर्णवाली यह मधुकशा घृतका सिंचन करनेवाली है, यह (मर्त्येषु महान् गर्भः चरति) मर्त्योंमें यह महान् तेजहि संचार करता है ॥ ४ ॥

(देवाः मधोः कशां अजनयन्त) इस मधुकी कशाको देवोंने बनाया है, (तस्याः विश्वरूपः गर्भः अभवत्) उसका यह विश्वरूप गर्भ हुआ है । (तं तरुणं जातं माता पिपर्ति) उस जन्मे हुए तरुणको वही माता पालती है, (सः जातः विश्वा भुवना विचष्टे) वह होतेहि सब भुवनोंका निरीक्षण करता है ॥ ५ ॥

(कः तं प्रवेद) कौन उसे जानता है, (कः उ तं चिकेत) कौन उसका विचार करता है ? (अस्याः हृदः) इसके हृदयके पास (यः सोमधानः कलशः अक्षितः) जो सोमरससे भरपूर पूर्ण कलश विद्यमान है, (अस्मिन्) इसमें (सः सुमेधाः ब्रह्मा) वह उत्तम मेधावाला ब्रह्मा (मदेत) आनंद करेगा ॥ ६ ॥

(सः तौ प्रवेद) वह उनको जानता है, (सः उ तौ चिकेत) वह उनका विचार करता है, (यौ अस्याः सहस्रधारौ अक्षितौ स्तनौ)जो इसके सहस्रधारायुक्त अक्षय स्तन हैं । वे(अनपस्फुरन्तौ ऊर्जं दुहाते)अविचलित होते हुए बलवान रसका दोहन करते हैं ॥ ७ ॥

(या हिंकरिक्रती) जो हिंकार करनेवाली (वयो-धा उच्चैर्घोषा) अन्न देनेवाली उच्च स्वरसे पुकारनेवाली(व्रतं अभ्येति) व्रतके स्थानको प्राप्त होती है। (त्रीन् घर्मान् अभि वावशाना) तीनों यज्ञोंको वशमें रखनेवाली (मायुं मिमाति) सूर्यका मापन करती है और (पयोभिः पयते) दूधकी धाराओंसे दूध देती है ॥ ८ ॥

भावार्थ—यह गौ आदित्योंकी माता, वसुओंकी पुत्री, प्रजाओंका प्राण है और यही अमृतका केन्द्र है । यह उत्तम रंगवाली, घृत देनेवाली और मधुर रसका निर्माण करनेवाली गौ सब मर्त्योंमें एक बडे तेजकी मूर्तीहि है ॥ ४ ॥

देवोंने इस गौका निर्माण किया है, इसको सब प्रकारके रंगरूपका गर्भ होता है, बच्चा होनेके बाद वह उसका प्रेमसे पालन करती है, वह बच्चा होकर सब स्थानको देखता है ॥ ५ ॥

इस गौके अन्दर सोमरससे परिपूर्ण कलश अक्षयरूपसे रखा है, उस कलशको कौन जानता है और कौन उसका भला विचार करता है ? इसीके दुग्धरूपी रससे अपनी मेधाका वृद्धी करनेवाला ब्रह्मा आनंदित होता है ॥ ६ ॥

जो इस गौके दो स्तन हजारों धाराओंसे सदा अन्नरस देते हैं कौन उनका महत्त्व जानता है और कौन उनके महत्त्वका विचार करता है? ॥ ७ ॥

यह गौ हिंकार करनेवाली, अन्न देनेवाली, उच्च स्वरसे हिंकार करनेवाली यज्ञभूमिमें विचरती है, तीनों यज्ञोंको पालन करती हुई यज्ञके द्वारा कालका मापन करती है और यज्ञके लिए अपना दूध देती है ॥ ८ ॥

यामापीनामुपसीदन्त्यापः शाक्वरा वृषभा ये स्वराजः ।
ते वर्षन्ति ते वर्षयन्ति तद्विदे काममूर्जमापः ॥ ९ ॥
स्तनयित्नुस्ते वाक् प्रजापते वृषा शुष्मं क्षिपसि भूम्यामधि ।
अग्नेर्वातान्मधुकशा हि जज्ञे मरुतामुग्रा नप्तिः ॥ १० ॥(१)
यथा सोमः प्रातःसवने अश्विनोर्भवति प्रियः ।
एवा मे अश्विना वर्च आत्मनि ध्रियताम् ॥ ११ ॥
यथा सोमो द्वितीये सवन इन्द्राग्न्योर्भवति प्रियः ।
एवा म इन्द्राग्नी वर्च आत्मनि ध्रियताम् ॥ १२ ॥
यथा सोमस्तृतीये सवन ऋभूणां भवति प्रियः ।
एवा म ऋभवो वर्च आत्मनि ध्रियताम् ॥ १३ ॥
मधु जनिषीय मधु वंशिषीय । पयस्वानग्न आगमं तं मा सं सृज वर्चसा ॥ १४ ॥

अर्थ- (ये वृषभाः) जो वर्षासे भरनेवाले बैल (स्वराजः शाक्वराः आपः) तेजस्वी शक्तिशाली जल (या आपीनां उपसीदन्ति) जिस पान करनेवालीके पास पहुंचते हैं। (तद्विदे कामं ऊर्जं) तत्वज्ञानीको यथेच्छ बल देनेवाले अन्नकी (ते वर्षन्ती) वे वृष्टी करते हैं, (ते वर्षयन्ति) वे वृष्टी कराते हैं ॥ ९ ॥

हे (प्रजापते) प्रजापालक ! (ते वाक् स्तनयित्नुः) तेरी वाणी गर्जना करनेवाला मेघ है, तू (वृषा) बलवान होकर (भूम्यां अधि शुष्मं क्षिपसि) भूमिपर बलको फैंकता है । (अग्नेः वातात् मधुकशा हि जज्ञे) अग्नि और वायुसे मधुकशा उत्पन्न हुई है, यह (मरुतां उग्रा नप्तिः) मरुतोंकी उग्र पुत्री है ॥ १० ॥

(यथा सोमः प्रातःसवने) जैसा सोमरस प्रातःसवन यज्ञमें (आश्विनोः प्रियः भवति) अश्विनी देवोंको प्रिय होता है, हे अश्विदेवो ! (एवा मे आत्मनि) इस प्रकार मेरे आत्मामें (वर्चः ध्रियतां) तेज धारण करें ॥ ११ ॥

(यथा सोमः द्वितीये सवने) जैसा सोमरस द्वितीयसवन-माध्यंदिनसवन-यज्ञमें (इन्द्राग्न्योः प्रियः भवति) इन्द्र और अग्निको प्रिय होता है, हे इन्द्र और अग्नि ! इस प्रकार मेरे आत्मामें तेज धारण करें ॥ १२ ॥

जैसा सोम (तृतीये सवने) तृतीयसवन—सायंसवन-यज्ञमें (ऋभूणां प्रियः भवति) ऋभूओंको प्रिय होता है, हे ऋभुदेवो ! इस प्रकार मेरे आत्मामें तेज धारण करें ॥ १३ ॥

(मधु जनिषीय) मीठास उत्पन्न करूंगा, (मधु वंशिषीय) मीठास प्राप्त करूं। हे अग्ने ! (पयस्वान् आगमं) दूध लेकर मैं आगया हूं, (तं मा वर्चसा संसृज) उस मुझको तेजसे संयुक्त कर ॥ १४ ॥

भावार्थ-जो बैल अपने तेज और बलसे पुष्ट गौओंके समीप होते हैं वे तत्वज्ञानीको यथेच्छ बल देनेवाले अन्न की वृष्टी करते और कराते हैं ॥ ९ ॥ हे प्रजापालक देव ! मेघगर्जना तेरी वाणी है, उससे तू भूमिके ऊपर अपना बल फेंकता है, वही गाय और बैलके रूपसे अग्नि और वायुका सत्वांश लेकर उत्पन्न हुआ है ॥ १० ॥

जिस प्रकार सोम प्रातःसवनमें आश्विनी देवोंको प्रिय होता है, उस प्रकार मेरे अन्दर तेज प्रिय होकर बढे ॥ ११ ॥

जैसा सोम माध्यंदिन सवनमें इन्द्र और अग्निको प्रिय होता है वैसा मेरे अन्दर तेज प्रिय होकर बढे ॥ १२ ॥

जिस तरह सोम सायंसवनमें ऋभुओंको प्रिय होता है उस तरह मेरे अंदर तेज प्रिय होकर बढे ॥ १३ ॥

मधुरता उत्पन्न करता हूं, मधुरता संपादन करता हूं, हे देव ! मैं दूध समर्पण करनेके लिये आगया हूं, अतः मुझे इससे तेजसे युक्त कर ॥ १४ ॥

सं माग्ने वर्चसा सृज सं प्रजया समायुषा ।
विद्युर्मे अस्य देवा इन्द्रो विद्यात् सह ऋषिभिः ॥ १५ ॥
यथा मधु मधुकृतः संभरन्ति मधावधि।
एवा मे अश्विना वर्च आत्मनि ध्रियताम् ॥ १६ ॥
यथा मक्षा इदं मधु न्यञ्जन्ति मधावधि ।
एवा मे अश्विना वर्चस्तेजो बलमोजश्च ध्रियताम् ॥ १७ ॥
यद् गिरिषु पर्वतेषु गोष्वश्वेषु यन्मधु ।
सुरायां सिच्यमानायां यत् तत्र मधु तन्मयि ॥ १८ ॥
अश्विना सारघेण मा मधुनाङ्क्तं शुभस्पती ।
यथा वर्चस्वतीं वाचमावदानि जनाँ अनु ॥ ॥ १९ ॥
स्तनयित्नुस्ते वाक् प्रजापते वृषा शुष्मं क्षिपसि भूम्यां दिवि ।
तां पशव उप जीवन्ति सर्वे तेनो सेषमूर्जं पिपर्ति ॥ २० ॥

अर्थ— हे अग्ने ! (मा वर्चसा) मुझे तेजसे (प्रजया आयुषा) प्रजासे और आयुसे (सं सं सं सृज) संयुक्त कर। (अस्य मे देवाः विद्युः) इस मुझे सब देव जानें, (ऋषिभीःसह इन्द्रः विद्यात्) ऋषियोंके साथ इन्द्रभी मुझे जानें ॥ १५ ॥

(यथा मधुकृतः) जैसे मधुमक्खियां (मधौ अधि) अपने मधुमें (मधु संभरन्ति) मधु संचित करती हैं, हे अश्विदेवो!(एवा मे)इस प्रकार मेरा(वर्चः तेजः बलं ओजः च)ज्ञान,तेज,बल और वीर्य (ध्रियता) संचित हो,बढता जाय।१६॥

(यथा मक्षाः) जैसी मधुमक्षिकाएं (इदं मधु) इस मधुको (मधौ अधि न्यञ्जन्ति) अपने पूर्वसंचित मधुमें संगृहीत करते हैं, इस प्रकार हे अश्विदेवो ! मेरा ज्ञान, तेज,बल और वीर्य संचित हो,बढे ॥ १७ ॥

(यथा गिरिषु पर्वतेषु) जैसा पहाडों और पर्वतोंपर और (गोषु अश्वेषु यत् मधु) गौवों और अश्वोंमें जो मीठास है, (सिच्यमानायां सुरायां) सिंचित होनेवाले वृष्टिजलमें (तत्र यत् मधु) उसमें जो मधु है । (यत् मयि) वह मुझमें हो ॥१८

हे (शुभस्पती अश्विनौ) शुभके पालक अश्विदेवो ! (सारघेण मधुना मा सं अंक्तं) मधुमक्खियोंके मधुसे मुझे युक्त करें । (यथा) जिससे (वर्चस्वतीं वाचं) तेजस्वी भाषण (जनान् अनु आवदानि) लोगोंके प्रति मैं बोलूं ॥१९ ॥

हे(प्रजापते) प्रजापालक! तू (वृषा)बलवान है और (ते वाक् स्तनयित्नुः) तेरी वाणी मेघगर्जना है, तू (भूम्यां दिवि) भूमिपर और द्युलोकमें (शुष्मं क्षिपसि) बलकी वर्षा करता है, [तां सर्वे पशवः उपजीवन्ति] उसपर सब पशुओंकी जीविका होती है । और [तेन उ सा इषं ऊर्जं पिपर्ति] उससे वह अन्न और बलवर्धक रसकी पूर्णता करती है ॥ २० ॥

भावार्थ–हे देव! मुझे तेज,प्रजा और दीर्घ आयुसे युक्त कर। देव इस मेरे अभिलाषितको जानें और ऋषि भी समझलें॥१५

जिस प्रकार मधुमक्खियां अपने मधु स्थानमें स्थान स्थानसे मधु इकट्ठा करके भर देती हैं, उस प्रकार मेरे अन्दर ज्ञान, तेज, बल और वीर्य संचित हो जावे ॥ १६ ॥

जैसी मधुमक्खियां अपने मधुस्थान में स्थान स्थानसे मधु इकट्ठा करके भर देती हैं, उस प्रकार मेरे अन्दर ज्ञान,तेज, बल और वीर्य भरता रहे ॥ १७ ॥

जैसी पहाडों और पर्वतोंमें, गौओं और घोडोंमें और वृष्टी जलमें मधुरता है वैसी मधुरता मेरे अन्दर हो जावे ॥ १८ ॥

हे देवो! मुझे उस मधुमक्खियोंके मधुसे संयुक्त कीजिये। जिससे मैं यह मीठास का संदेश संपूर्ण जनोंके पास पहुंचाऊं १९

हे प्रजापालक देव ! तू बलवान है और मेघगर्जना तेरी वाणी है । तूही द्युलोकसे भूलोकतक बलकी वृष्टी करता है, सब जीव उसपर जीवित रहते हैं। वह अन्न और बल हम सबको प्राप्त हो ॥ २० ॥

पृथिवी दण्डो३ऽन्तरिक्षं गर्भो द्यौः कशा विद्युत् प्रकशो हिरण्ययो बिन्दुः ॥ २१ ॥
यो वै कशायाः सप्त मधूनि वेद मधुमान् भवति ।
ब्राह्मणश्च राजा च धेनुश्चानड्वांश्च व्रीहिश्च यवश्च मधु सप्तमम् ॥ २२ ॥
मधुमान् भवति मधुमदस्याहार्यं भवति । मधुमतो लोकान् जयति य एवं वेद ॥ २३ ॥
यद् वीध्रे स्तनयति प्रजापतिरेव तत् प्रजाभ्यः प्रादुर्भवति ।
तस्मात् प्राचीनोपवीतस्तिष्ठे प्रजापतेऽनु मा बुध्यस्वेति ।
अन्वेनं प्रजा अनु प्रजापतिर्बुध्यते य एवं वेद ॥ २४ ॥ (२)

अर्थ— [पृथिवी दण्डः] पृथिवी दण्ड है, [अन्तरिक्षं गर्भः] अन्तरिक्ष मध्यभाग है, [द्यौः कशा] द्युलोक तन्तु हैं, [विद्युत् प्रकशः] बिजुली उसके धागे हैं, और [हिरण्ययः बिन्दुः] सुवर्णमय बिन्दु हैं ॥ २१ ॥

[यः वै कशायाः सप्त मधूनि वेद] जो इस कशाके सात मधु जानता है, वह [मधुमान् भवति] मधुवाला होता है । [ब्राह्मणः च राजा च] ब्राह्मण और राजा, [धेनुः च अनड्वान् च] गाय और बैल, [व्रीहिः च यवः च] चावल और जौ तथा [मधु सप्तमं] सातवां मधु हैं ॥ २२ ॥

[यः एवं वेद] जो यह जानता है वह [मधुमान् भवति] मधुवाला होता है, [अस्य आहार्यं मधुमत् भवति] इसका सब संग्रह मधुयुक्त होता है । और [मधुमतः लोकान् जयति] मीठे लोकोंको प्राप्त करता है ॥ २३ ॥

[यद् वीध्रे स्तनयति] जो आकाशमें गर्जना होती है, [प्रजापतिः एव तत्] प्रजापति हि वह [प्रजाभ्यः प्रादुर्भवति] प्रजाओंके लिये, मानो, प्रकट होता है । [तस्मात् प्राचीनोपवीतः तिष्ठे] इसलिए दायें भागमें वस्त्र लेकर खडा होता हूं, हे [प्रजापते] प्रजापालक ईश्वर ! [मा अनु बुध्यस्व] मेरा स्मरण रखो । [यः एवं वेद] जो यह जानता है, [एनं प्रजाः अनु] इसके अनुकूल प्रजाएं होती है तथा इसको [प्रजापतिः अनुबुध्यते] प्रजापति अनुकूलतापूर्वक स्मरणमें रखता है ॥ २४ ॥

भावार्थ— भूमि दण्ड, अन्तरिक्ष मध्यभाग, द्युलोक बडे बाल और बिजली सूक्ष्म बाल हैं और उस पर सुवर्णका बिंदु भूषणके सदृश है । यह गौका विश्वरूप है ॥ २१ ॥

जो इस गौके सात मीठे रूप जानता है, वह मधुर बनता है । ब्राह्मण, क्षत्रिय, गाय, बैल, चावल और जौ और शहद सातवां है । गौके ये सात मीठे रूप हैं ॥ २२ ॥

जो इस बातको जानता है, वह मधुर होता है, मधुवाला होता है और मीठे स्थान प्राप्त करता है ॥ २३ ॥

जो आकाशमें गर्जना होती है, मानो वह परमेश्वर संपूर्ण प्रजाओंके लिए प्रकट होकर उपदेश करता है । उस समय लोग ऐसी प्रार्थना करें कि " हे देव ! हे प्रजापालक ! मेरा स्मरण करो, मुझे न भूल जा । " जो इस प्रकार प्रार्थना करना जानता है, प्रजाजन उसके अनुकूल होते हैं और प्रजापालक परमेश्वर भी उसका स्मरण पूर्वक भला करता है ॥ २४ ॥

सात मधु ।

इस सूक्तमें विशेष कर गौकी महिमा वर्णन की है । इस सूक्तका भावार्थ विचारपूर्वक पढनेसे पाठक स्वयं इस सूक्तमें कही गोमहिमा जान सकते हैं । वेदकी दृष्टीसे गौका महत्त्व कितना है, यह बात इस सूक्तके प्रत्येक मंत्रमें सुबोध रीतिसे दर्शायी है ।

यह गौ संपूर्ण जगत्का सत्त्व है, यह पृथ्वी, आप, तेज, वायु, आकाश और प्रकाश का सार है । इस गौमें अमृत रस है जिसका पान करनेसे सब प्रजाजन आनंदित और हृष्टपुष्ट होते हैं । इसका दूध मानो संपूर्ण जगत्के पदार्थोंका वीर्य ही है,

*

वही सबका प्राण और वही अद्भुत अमृत है। विशेष मननशील मनुष्य ही इस गौके महत्त्वको जानते हैं और अनुभव कर सकते हैं। यह गौ देवोंकी माता है और यही सब प्रजाजनोंका प्राण है, क्योंकि इसमें अमृतका मधुर रस भरा है। जो इसका दूध पीते हैं वे मानो अपने अंदर अमृत रस लेते हैं और उस कारण वे दीर्घायुषी होते हैं। संपूर्ण अमृत रस का केन्द्र स्रोत इस गौके अंदर है।

अमृतका कलश।

यह गौ संपूर्ण देवोंने अपनी दिव्य शक्तियोंसे उत्पन्न की है। उन्होंने इसके दुग्धाशयमें अमृतका घडा रखा है। जो अपनी मेधाबुद्धी बढाना चाहते हैं वे इस दूधरूपी अमृतको अवश्य पीवें। इस गौके स्तनोंसे जो दुग्धरूपी रस निकलता है, वह मानो अद्भुत बल देनेवाला रस है।

यह अन्नरस देती है, यज्ञ कराती है, व्रत धारण कराती है, और अपने दूधसे सबकी पुष्ट करती है। बैल भी इन सबको अनंत प्रकारके सुख देता है। जिस प्रकार सोमरस देवोंको प्रिय होता है, उस प्रकार गायका दूध मनुष्योंको प्रिय होवे और उससे मनुष्योंका तेज बढे। जिस प्रकार मधुमक्खियां थोडा थोडा मधु इकट्ठा करती हैं और अपने मधुस्थानमें उसका संग्रह करती हैं, इसी प्रकार मनुष्योंको उचित है कि वे इन मधुमक्खियोंका अनुकरण करें और अपने अन्दर ज्ञान, तेज, बल, वीर्य और पराक्रम बढावें। शनैः शनैः प्रयत्न करनेपर मनुष्य इन बातोंको अपने अन्दर बढा सकता है।

पहाडों पर्वतों और संपूर्ण जगत्में सर्वत्र मधु भरा है, वह मधुरता मेरे अन्दर आवे। इस गौके रूपसे परमेश्वरकी अद्भुत शक्ति हि पृथ्वीपर मनुष्योंकी उन्नतिके लिए आगयी है। यह बात स्मरण में अवश्य रखिये।

इस मधुरताके सात रूप इस पृथ्वीपर हैं, एक मधुरता ब्राह्मणोंमें ज्ञान रूपसे है, दूसरी मधुरता क्षत्रियोंमें पराक्रमके रूपसे विद्यमान है, इसी प्रकार गौ, बैल, चावल, जौ और शहदमें भी मधुरता है। अतः जो मनुष्य यह बात जानता है वह इन सात पदार्थोंसे अपनी उन्नति करता है।

यह सब उपदेश स्वयं प्रजापतिने दिया है, अतः पाठक इसका स्मरण रखें और इन सात शब्दोंसे अपना बल बढावें।

इस सूक्तका यह आशय स्पष्ट है, अतः अधिक विवरण करनेकी आवश्यकता नहीं है।

—:०:—

काम।

[२]

(ऋषिः—अथर्वा। देवता-कामः)

सपत्नहनमृषभं घृतेन कामं शिक्षामि हविषाज्येन।
नीचैः सपत्नान् मम पादय त्वमभिष्टुतो महता वीर्येण ॥ १ ॥
यन्मे मनसो न प्रियं न चक्षुषो यन्मे बभस्ति नाभिनन्दति।
तद् दुष्वप्न्यं प्रति मुञ्चामि सपत्ने कामं स्तुत्वोदहं भिदेयम् ॥ २ ॥
दुष्वप्न्यं काम दुरितं च कामाप्रजस्तामस्वगतामवर्तिम्।
उग्र ईशानः प्रति मुञ्च तस्मिन् यो अस्मभ्यमंहूरणा चिकित्सात् ॥ ३ ॥
नुदस्व काम प्र णुदस्व कामावर्तिं यन्तु मम ये सपत्नाः।
तेषां नुत्तानामधमा तमांस्यग्ने वास्तूनि निर्दह त्वम् ॥ ४ ॥

अर्थ- [सपत्नहनं ऋषभं कामं] शत्रुको नाश करनेवाले बलवान काम को मैं [हविषा आज्येन घृतेन शिक्षामि] हवि घी आदिसे शिक्षित करता हूं। [महता वीर्येण अभिष्टुतः] बडे पराक्रमसे प्रशंसित होकर [त्वं] तू [मम सपत्नान् नीचैः पादय] मेरे शत्रुओंको नीचे कर दे ॥ १ ॥

[यद् मे मनसः न प्रियं] जो मेरे मनको प्रिय नहीं है, [यत् मे चक्षुषः प्रियं न] जो मेरे आंखोंको प्रिय नहीं है, [यत् मे बभस्ति] जो मेरा तिरस्कार करता है और [न अभिनन्दति] न मुझे आनन्द देता है, [तद् दुष्वप्न्यं] वह बुरा स्वप्न [सपत्ने प्रतिमुञ्चामि] शत्रुके ऊपर भेज देता हूं [अहं कामं स्तुत्वा] मैं काम की स्तुति करके [उत् भिदेयं] ऊपर उठता हूं ॥ २ ॥

हे काम! [दुष्वप्न्यं] दुष्ट स्वप्न, [दुरितं च] पाप और [अप्रजस्तां] संतान न होना, (अ-स्व-गतां) निर्धन अवस्था, (अवर्तिं) आपत्ती इन सबको, हे (उग्र काम) बलवान् काम! तू (ईशानः तस्मिन् प्रतिमुञ्च) सबका स्वामी है, अतः उसपर छोड कि (यः अस्माकं अंहूरणा चिकित्सात्) जो हम सबको पापमय विपत्तिमें डालनेका विचार करता है ॥ ३ ॥

हे काम (नुदस्व) उनको दूर कर, हे काम! उनको (प्रणुदस्व) हटादे, (ये मम सपत्नाः) जो मेरे शत्रु हैं वे (अवर्तिं यन्तु) आपत्ती को प्राप्त हों। हे अग्ने! (अधमा तमांसि नुत्तानां) गाढ अंधारमें भेजे हुए उन शत्रुओंके (त्वं वास्तूनि निर्दह) तू घरोंको जला दे ॥ ४ ॥

भावार्थ— काम (संकल्प) बडा बलवान है और शत्रुका नाश करनेवाला है, उसको दक्षसे शिक्षित करना चाहिये। यह बडे वीर्यसे प्रशंसित हुआ तो शत्रुओंको नीचे करता है ॥ १ ॥

जो मेरे मन और अन्य इंद्रियोंको अप्रिय है, जो मुझे आनंदित नहीं करता, जो मेरा तिरस्कार करता है, वह दुष्ट स्वप्न मेरे शत्रुकी ओर जावे। मैं इस संकल्पशक्तिके द्वारा उन्नत होता हूं ॥ २ ॥

दुष्ट स्वप्न, पाप, संतान न होना, दारिद्र्य, आपत्ति आदि सब हमारे उन शत्रुओंको प्राप्त हों, जो कि हमें पापमूलक विपत्तिमें डालनेका विचार करते हैं ॥ ३ ॥

काम हमारे शत्रुओंको दूर हटादेवे, उन शत्रुओंको विपत्ति घेरे और जब वे शत्रु गाढ अन्धकारमें पडें तब अग्नि उनके घरोंको जला देवे ॥ ४ ॥

सा ते काम दुहिता धेनुरुच्यते यामाहुर्वाचं कवयो विराजम् ।
तया सपत्नान् परि वृङ्ग्धि ये मम पर्येनान् प्राणः पशवो जीवनं वृणक्तु ॥ ५ ॥
कामस्येन्द्रस्य वरुणस्य राज्ञो विष्णोर्बलेन सवितुः सवेन ।
अग्नेर्होत्रेण प्र णुदे सपत्नाञ्छम्बीव नावमुदकेषु धीरः ॥ ६ ॥
अध्यक्षो वाजी मम काम उग्रः कृणोतु मह्यमसपत्नमेव ।
विश्वे देवा मम नाथं भवन्तु सर्वे देवा हवमा यन्तु म इमम् ॥ ७ ॥
इदमाज्यं घृतवज्जुषाणाः कामज्येष्ठा इह मादयध्वम् । कृण्वन्तो मह्यमसपत्नमेव ॥ ८ ॥
इन्द्राग्नी काम सरथं हि भूत्वा नीचैः सपत्नान् मम पादयाथः ।
तेषां पन्नानामधमा तमांस्यग्ने वास्तून्यनुनिर्दह त्वम् ॥ ९ ॥

अर्थ- हे काम! (सा धेनुः ते दुहिता उच्यते) वह धेनु तेरी दुहिता कही जाती है, (यां कवयः विराजं वाचं आहुः) जिस को कवि लोग विशेष तेजस्वी वाणी कहते हैं। (ये मम) जो मेरे शत्रु हैं उन (सपत्नान् तया परि वृङ्ग्धि) शत्रुओंको उससे दूर हटा दे। (एनान्) इन शत्रुओंको (प्राणः पशवः जीवनं परि वृणक्तु) प्राण, पशु और आयु छोड देवे ॥ ५ ॥

(कामस्य इन्द्रस्य वरुणस्य राज्ञः) काम इन्द्र वरुण राजा इनके और (विष्णोः बलेन सवितुः सवेन) विष्णुके बल और सविताकी प्रेरणासे तथा (अग्नेः होत्रेण) अग्निके हवनसे (सपत्नान् प्रणुदे) शत्रुओंको दूर करता हूं। (इव) जैसा (उदकेषु शंबी धीरः नावं) जलमें धैर्यवान् धीवर नौकाको चलाता है ॥ ६ ॥

(उग्रः वाजी कामः) प्रतापी बलवान् काम (मम अध्यक्षः) मेरा अधिष्ठाता है। (मह्यं असपत्नं एव कृणोतु) मुझे सपत्नरहित करे। (विश्वेदेवाः मम नाथं भवन्तु) सब देव मेरे नाथ हों, (सर्वे देवाः मे इमं हवं आयन्तु) सब देव मेरे इस हवन के स्थानमें आवें ॥ ७ ॥

हे (कामज्येष्ठाः) कामको श्रेष्ठ माननेवाले सब देवो! (इदं घृतवत् आज्यं जुषाणाः) इस घृतयुक्त हवनका सेवन करते हुए (इह मादयध्वं) यहां हर्षित हो जाओ और (मह्यं असपत्नं एव कृण्वन्तः) मुझे शत्रुरहित करो ॥ ८ ॥

हे (इन्द्राग्नी) इन्द्र और अग्नि! हे काम! तुम सब (सरथं हि भूत्वा) समान रथपर चढनेवाले होकर (मम सपत्नान् नीचैः पादयाथः) मेरे शत्रुओंको नीचे करो। (तेषां अधमा तमांसि पन्नानां) वे शत्रु गाढ अन्धकारमें पडनेपर हे अग्ने! (त्वं वास्तूनि अनुनिर्दह) तू उनके घरोंको जला दे ॥ ९ ॥

भावार्थ- सब कवि लोक कहते हैं कि वाणी काम की पुत्री है। इस वाणीके द्वारा हमारे सब शत्रु दूर हों और उनको प्राण, पशु और आयु छोड देवे ॥ ५ ॥

जिस प्रकार अगाध समुद्रमें नौकाको धीवर लोग चलाते हैं, उस प्रकार देवोंकी शक्तिसे मैं शत्रुओंको इस भवसागर में प्रेरित करता हूं ॥ ६ ॥

बलवान; प्रतापी काम मेरा अधिष्ठाता है। वह मुझे शत्रुरहित करे, देव मेरे स्वामी बनें, सब देव मेरे यज्ञमें आजांय ॥ ७ ॥

काम जिनमें श्रेष्ठ है ऐसे सब देव इस यज्ञमें आकर इस हवन द्वारा आनंदित हों और मुझे शत्रुरहित बनावें ॥ ८ ॥

हे इन्द्र, अग्नि और काम! तुम सब मेरे शत्रुओंको नीचे गिरा दो। वे अन्धकारमें भागें और पश्चात् अग्नि उनके घरोंको जलावे ॥ ९ ॥

जहि त्वं काम मम ये सपत्ना अन्धा तमांस्यव पादयैनान् ।
निरिन्द्रिया अरसाः सन्तु सर्वे मा ते जीविषुः कतमच्चनाहः ॥ १० ॥ (३)
अवधीत् कामो मम ये सपत्ना उरुं लोकमकरन्मह्यमेधतुम् ।
मह्यं नमन्तां प्रदिशश्चतस्रो मह्यं षडुर्वीर्घृतमा वहन्तु ॥ ११ ॥
तेऽधराञ्चः प्र प्लवन्तां छिन्ना नौरिव बन्धनात् ।
न सायकप्रणुत्तानां पुनरस्ति निवर्तनम् ॥ १२ ॥
अग्निर्यव इन्द्रो यवः सोमो यवः । यवयावानो देवा यावयन्त्वेनम् ॥ १३ ॥
असर्ववीरश्चरतु प्रणुत्तो द्वेष्यो मित्राणां परिवर्ग्यः स्वानाम् ।
उत पृथिव्यामव स्यन्ति विद्युत उग्रो वो देवः प्र मृणत् सपत्नान् ॥ १४ ॥
च्युता चेयं बृहत्यच्युता च विद्युद् बिभर्ति स्तनयित्नूंश्च सर्वान् ।
उद्यन्नादित्यो द्रविणेन तेजसा नीचैः सपत्नान् नुदतां मे सहस्वान् ॥ १५ ॥

अर्थ-(ये मम सपत्नाः) जो मेरे शत्रु हैं, उनका (त्वं जहि) तू नाश कर दे । तथा (एनान् अधमा तमांसि अव पादय) इनको हीन अन्धकारमें गिरा दे । वे (सर्वे निरिन्द्रियाः अरसाः सन्तु) सब इंद्रियरहित और रसहीन हों, (ते कतमच्चन अहः मा जीविषुः) वे एक भी दिन न जीवित रहें ॥ १० ॥

(मम ये सपत्नाः) मेरे जो शत्रु हैं उनका (कामः अवधीत्) काम ने वध किया है । तथा उसने (मह्यं एधतुं उरुं लोकं अकरत्) मुझे बढनेके लिए विस्तृत स्थान दिया है । (चतस्रः प्रदिशः मह्यं नमन्तां) चारों दिशाएं मेरे सन्मुख नम्र हों । (षट् उर्वीः मह्यं घृतं आवहन्तु) छः भूमिके विभाग मेरे पास घृत ले आवें ॥ ११ ॥

(बन्धनात् छिन्ना नौः इव) बन्धनसे कटी हुई नौकाके समान (ते अधराञ्चः प्र प्लवन्तां) वे नीचे बहते जांय । (सायकप्रणुत्तानां पुनः निवर्तनं न अस्ति) बाणोंसे भगाये शत्रुओंका फिर वापस आना नहीं हो सकता ॥ १२ ॥

(अग्निः यवः) अग्नि हटानेवाला है, (इन्द्रः यवः) इन्द्र हटानेवाला है और (सोमः यवः) सोम भी हटाने वाला है । (यवयावानः देवाः) हटानेवालेको हटानेवाले देव (एनं यावयन्तु) इस शत्रुको दूर करें ॥ १३ ॥

(प्रणुत्तः द्वेष्यः) भगाया हुआ शत्रु (असर्ववीरः) सर्ववीरोंसे रहित होकर (स्वानां मित्राणां परिवर्ग्यः) अपने मित्रोंके द्वारा भी त्यागा हुआ (चरतु) विचरे । (उत पृथिव्यां विद्युतः अवस्यन्ति) और प्रकाश देनेवाली बिजलियां पृथ्वीपर आजांय । (वः उग्रः देवः) आपका वह प्रतापी देव (सपत्नान् प्रमृणत्) शत्रुओंका नाश करे ॥ १४ ॥

(च्युता च अच्युता च इयं बृहती विद्युत्) विचलित अथवा अविचलित हुई यह बडी विद्युत (सर्वान् स्तनयित्नून् च बिभर्ति) सब गर्जना करनेवालों का धारण करती है । (द्रविणेन तेजसा उद्यन् सहस्वान् आदित्यः) धन और तेजके साथ उदयको प्राप्त होनेवाला बलवान् सूर्य (मे सपत्नान् नीचैः नुदतां) मेरे शत्रुओंको नीचे की ओर भगावे ॥ १५ ॥

भावार्थ— मेरे शत्रुओंका तू नाश कर । वे गाढ अन्धकारमें जांय । वे सब इंद्रियहीन और सत्त्वहीन बनें और एक दिन भी न जीवित रहें ॥ १० ॥ इस कामसे मेरे शत्रु दूर हो गये और मुझे बडा कार्यक्षेत्र प्राप्त हुआ है । चारों दिशाओंमें रहनेवाले लोग मेरे सामने नम्र हो चुके हैं और सब पृथ्वी मेरे अधिकारमें आ चुकी है ॥ ११ ॥

बंधनसे रहित हुई नौका जैसी महासागरमें जिधर चाहे उधर भटकती है, वैसी मेरे शत्रुओंकी भ्रान्त अवस्था हो गई है, जो अब कभी अपनी पूर्व स्थितिमें नहीं आसकते ॥ १२ ॥ सब देव मुझे सहायता करें और मेरे शत्रुओंको भगा देवें ॥ १३ ॥

हमारे पराक्रमसे भगाये हुए शत्रु अब चारों ओर भटक रहे हैं, न उनके पास कोई वीर हैं, न उनके पास कोई मित्र है, न उनके लिये कोई परिवार रहा है । सब देव मुझे सहायता करें और शत्रु नष्ट हों ॥ १४ ॥

यत् ते काम शर्म त्रिवरूथमुद्भु ब्रह्म वर्म विततमनतिव्याध्यं कृतम् ।
तेन सपत्नान् परि वृङ्ग्धि ये मम पर्येनान् प्राणः पशवो जीवनं वृणक्तु ॥ १६ ॥
येन देवा असुरान् प्राणुदन्त येनेन्द्रो दस्यूनधमं तमो निनाय ।
तेन त्वं काम मम ये सपत्नास्तानस्माल्लोकात् प्र णुदस्व दूरम् ॥ १७ ॥
यथा देवा असुरान् प्राणुदन्त यथेन्द्रो दस्यूनधमं तमो बबाधे ।
तथा त्वं काम मम ये सपत्नास्तानस्माल्लोकात् प्र णुदस्व दूरम् ॥ १८ ॥
कामो जज्ञे प्रथमो नैनं देवा आपुः पितरो न मर्त्याः ।
ततस्त्वमसि ज्यायान् विश्वहा महांस्तस्मै ते काम नम इत् कृणोमि ॥ १९ ॥
यावती द्यावापृथिवी वरिम्णा यावदापः सिष्यदुर्यावदग्निः ।
ततस्त्वमसि ज्यायान् विश्वहा महांस्तस्मै ते काम नम इत् कृणोमि ॥ २० ॥ (४)

अर्थ- हे काम! (यत् ते त्रिवरूथं उद्भु) जो तेरा तीनों ओरसे रक्षक उत्कृष्ट शक्तिवाला [विततं ब्रह्म वर्म] फैला हुआ ज्ञान का कवच [अनतिव्याध्यं कृतं] शस्त्रोंसे वेध न होने योग्य बनाया और [शर्म] सुखदायक है [तेन] उससे [ये मम] जो मेरे शत्रु हैं उन [सपत्नान् परिवृङ्ग्धि] शत्रुओंको दूर कर । [एनान् प्राणः पशवः जीवनं परि वृणक्तु]. इनको प्राण, पशु और आयु छोड देवे ॥ १६ ॥

[येन देवाः असुरान् प्राणुदन्त] जिससे देव असुरोंको दूर करते रहे, [येन दस्यून् इन्द्रः अधमं तमः निनाय] जिससे शत्रुओंको इन्द्रने हीन अन्धकारमें डाल दिया, हे काम! [तेन] उससे [मम ये सपत्नाः] मेरे जो शत्रु हैं [तान् सपत्नान्] उन शत्रुओंको [त्वं अस्मात् लोकात्] तू इस लोकसे [दूरं प्रणुदस्व] दूर भगा ॥ १७ ॥

[यथा देवाः असुरान् प्राणुदन्त] जिस रीतिसे देवोंने असुरोंको हटाया, [यथा इन्द्रः दस्यून् अधमं तमः बबाधे] जिस प्रकार इन्द्रने शत्रुओंको हीन अन्धकारमें डाला, [तथा त्वं काम] उस प्रकार हे काम ! तू [मम ये सपत्नाः] मेरे जो शत्रु हैं (तान् अस्मात् लोकात् दूरं प्रणुदस्व) उनको इस लोकसे दूर हटा दे ॥ १८ ॥

(कामः प्रथमः जज्ञे) काम सबसे पहिले उत्पन्न हुआ (देवाः एनं न आपुः) देवोंने इसको प्राप्त नहीं किया और (पितरः मर्त्याः न) पितरोंको और मर्त्योंको भी यह प्राप्त नहीं हुआ । [ततः त्वं ज्यायान् असि) अतः तू श्रेष्ठ है और (विश्वहा महान्) सदा महान् है । हे काम ! (तस्मै ते इत् नमः कृणोमि) उस तुझे मैं नमस्कार करता हूं ॥ १९ ॥

(यावती वरिम्णा द्यावापृथिवी) जितनी विस्तारसे द्यौ और पृथिवी बडी है, (यावत् आपः सिष्यदुः) जहांतक जल फैला है, (यावत् अग्निः) जबतक अग्नि फैला है, (ततः त्वं ज्यायान् असि) उससे भी तू बडा है, और (विश्वहा महान्) सदा बडा है । हे काम (तस्मै ते०) उस तुझे मैं नमस्कार करता हूं ॥ २० ॥

भावार्थ-- यह विद्युत् और यह सूर्य अर्थात् इनमें जो देव है वह मेरे शत्रुओंको दूर भगा देवे ॥ १५ ॥

इस कामका बडा संरक्षक ज्ञानमय कवच है वह सब सुखोंका देनेवाला है । इसको मैं पहनता हूं, जिससे शत्रुके शस्त्र मेरा वेध नहीं करेंगे, और सब शत्रु प्राण, पशु और आयुसे रहित हो जायगे ॥ १६ ॥

जिस शक्तिसे देवोंने असुरोंका और इन्द्रने दस्युओंका पराभव किया उस शक्तिसे मैं अपने शत्रुओंको इस स्थानसे भगा दूंगा ॥ १७-१८ ॥

काम सबसे प्रथम उत्पन्न हुआ । देवों, पितरों और मर्त्योंका प्रकट होना उसके पश्चात् है । अतः काम सबसे श्रेष्ठ है । इस लिये मैं उसको नमन करता हूं ॥ १९ ॥

यावंतीर्दिशः प्रदिशो विषूचीर्यावंतीराशां अभिचक्षणा दिवः ।
ततस्त्वमंसि ज्यायान् विश्वहा महांस्तस्मैं ते काम नम इत् कृणोमि ॥ २१ ॥
यावंतीर्भृङ्गा जत्व॑ः कुरूरवो यावंतीर्वघा वृक्षसर्प्यो॑ बभूवुः ।
ततस्त्वमंसि ज्यायान् विश्वहा महांस्तस्मैं ते काम नम इत् कृणोमि ॥ २२ ॥
ज्यायांन् निमिषतोऽसि तिष्ठंतो ज्यायांन्त्समुद्रादंसि काम मन्यो ।
ततस्त्वमंसि ज्यायान् विश्वहा महांस्तस्मैं ते काम नम इत् कृणोमि ॥ २३ ॥
न वै वातंश्चन काममाप्नोति नाग्निः सूर्यो नोत चन्द्रमाः ।
ततस्त्वमंसि ज्यायान् विश्वहा महांस्तस्मैं ते काम नम इत् कृणोमि ॥ २४ ॥
यास्तें शिवास्तन्व॑ः काम भद्रा याभिः सत्यं भवति यद् वृणीषे ।
ताभिष्ट्वमस्माँ अभिसंविंशस्वान्यत्र पापीरपं वेशया धियः ॥ २५ ॥ (५)

॥ इति प्रथमोऽनुवाकः ॥

अर्थ- (यावतीः दिशः प्रदिशः विषूचीः) जहांतक दिशाएं और उपदिशाएं फैली हैं और (यावतीः दिवः अभिचक्षणाः आशाः) जहां तक द्युलोकका प्रकाश फैलानेवाली दिशाएं हैं, (ततः त्वं०) उनसे भी तू बडा और सदा महान् है, हे काम मैं उस तुझको नमस्कार करता हूं ॥ २१ ॥

(यावतीः भृंगाः जत्वः) जहांतक भौरे, मक्खियां, (यावतीः कुरूरवः वघाः) जहांतक भीलें और काटनेवाले डेमू और (वृक्षसर्प्यः बभूवुः) वृक्षपर चढनेवाले सर्प होते हैं (ततः त्वं०) उनसे तू बडा और सदा श्रेष्ठ है, हे काम ! उस तुझे मैं नमस्कार करता हूं ॥ २२ ॥

हे काम ! हे (मन्यो) उत्साह ! तू (निमिषतः ज्यायान्) पलक मारने वालोंसे बडा, (तिष्ठतः ज्यायान्) ठहरनेवालोंसे भी बडा, (समुद्रात् असि) समुद्रसे भी बडा है। (ततः त्वं०) उनसे तू बडा और सदा श्रेष्ठ है, हे काम ! उस तुझे मैं नमस्कार करता हूं ॥ २३ ॥

(वातः चन कामं न आप्नोति) वायु कामको नहीं प्राप्त करता, (न अग्निः, सूर्यः, न उत चन्द्रमाः) अग्नि, सूर्य और चन्द्र इनमेंसे कोई भी उसको प्राप्त नहीं कर सकता। (ततः त्वं०) उनसे तू बडा और सदा श्रेष्ठ है, हे काम! उस तुझे मैं नमस्कार करता हूं ॥ २४ ॥

हे काम (याः ते शिवाः भद्राः तन्वः) जो तेरी कल्याणकारी और हितकर शरीरें हैं, (याभिः) जिनसे तू (यत् सत्यं भवति) जो सच्चा होता है उसका (वृणीषे) स्वीकार करता है। (ताभिः त्वं अस्मान् अभि सं विशस्व) उनसे तू हम सबमें प्रविष्ट हो और (पापीः धियः) पाप बुद्धियोंको (अन्यत्र अपवेशय) दूर करो ॥ २५ ॥

भावार्थ— जितना पृथ्वीका विस्तार है, जहांतक जल फैले हैं, जहांतक प्रकाशकी व्याप्ति है, दिशाएं जहांतक फैली हैं, पशुपक्षी जहांतक दौडते हैं उन सबकी व्याप्तिसे कामकी व्यापकता बढकर है ॥ २०-२२ ॥

आंखें मूदनेवाले प्राणियोंसे कामकी शक्ति बढकर है, स्थिर पदार्थोंसे भी बढकर है, पृथ्वी, आप, तेज, वायु और आकाश से भी बडी है। सूर्य चन्द्रसे भी बढकर है अर्थात् यह काम सबसे बढकर है ॥ २३-२४ ॥

अतः हे काम ! शुभ, भद्र और सत्य जो है वह मेरे पास प्राप्त हो और पापबुद्धि मुझसे दूर चली जाय ॥ २५ ॥

संकल्पशक्ति ।

इस सूक्तमें ' काम ' शब्द है वह स्त्री संबंधके विषयका वाचक नहीं है, परंतु संकल्पशक्तिका वाचक है । यह काम सबसे प्रथम उत्पन्न हुआ है ऐसा इस सूक्तके निम्नलिखित मंत्रमें कहा है--

कामो जज्ञे प्रथमः । (मं० १९)

" काम सबसे पहिले प्रकट हुआ । " यही बात वेदमें अन्यत्र कही है—

कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत् । ऋ० १० । १२९ । ४

" आरंभमें मनका वीर्य बढानेवाला काम सबसे प्रथम उत्पन्न हुआ । इस प्रकार कामकी उत्पत्ति सबसे प्रथम कही है । उपनिषदोंमें भी देखिये—

कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृति र्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव ॥ बृ० उ० १ । ५ । ३

काम एव यस्यायतनं हृदयं लोको मनो ज्योतिः० य एवायं काममयः पुरुषः० ॥ बृ० उ० ३ । ९ । ११

कामोऽकार्षीन्नाहं करोमि, कामः करोति, कामः कर्ता, कामः कारयिता ॥ महानारा० उ० १८ । २

" काम, संकल्प, विचिकित्सा, श्रद्धा, अश्रद्धा, धृति, अधृति, ह्री (लज्जा), धीः (बुद्धि), भीः (भय) यह सब मनमें रहता है । इन सबमें जो पहली लहरी है वह कामकी लहरी है । काम सबका आधारस्थान है, उसका तेज मन है और हृदय लोक है । यह मनुष्य काममय है अर्थात् जिस प्रकार के इसके काम होते हैं वैसा यह बनता है । काम ही सबका कर्ता है, मैं कर्ता नहीं हूं । कामके द्वारा यह सब चलाया जाता है । " इस रीतिसे उपनिषदोंमें कामके विषयमें कहा है । यहां कामका अर्थ ' संकल्प ' है यह बात स्पष्ट हो गई है । यह संकल्प अच्छा हुआ तो मनुष्यका भला होता है और बुरा हुआ तो बुरा होता है । यह बुरा हो या भला हो, इसमें बडी भारी शक्ति रहती है । मानो संपूर्ण मनुष्य इसीकी प्रेरणासे प्रेरित होकर बुरा भला कर्म कर रहे हैं । यह मानवोंका व्यवहार देखनेसे कहना पडता है कि इस काम-संकल्प-की शक्ति बहुत ही बडी है, इसी शक्तिका वर्णन इस सूक्तमें किया है ।

जगत्के प्रारंभमें आत्माके अन्दर ' काम किंवा संकल्प ' उत्पन्न हुआ, इसका दर्शक उपनिषद्वचन यह है— 'सोऽकामयत' (बृ० उ० १ । २ । ४, तै० उ० २ । ६ । १) उस आत्माने कामना की और उसकी कामना सिद्ध हुई जिससे यह सब जगत् निर्माण हुआ है। परमात्माके संकल्प शुद्ध थे अतः वे सिद्ध हो गये । जिसके संकल्प शुद्ध होते हैं उसके सब संकल्प सिद्ध होते हैं, अतः कहा है—

यं यं काममं कामयते, सोऽस्य संकल्पादेव समुत्तिष्ठति । छां० उ० ८ । २ । १०

" जो कामना करता है वह संकल्प होते ही सिद्ध हो जाती है । " यह संकल्पका बल है । इस संपूर्ण सृष्टीकी उत्पत्ति भी इसी प्रकार हो गई है । मनुष्यकी कामनामें भी यह बल अल्प अंशसे है । इसीका वर्णन इस सूक्तमें किया है। यदि इस काममें इतनी प्रचण्ड शक्ति है तो अवश्य ही उसको सुशिक्षासे युक्त करना चाहिये, अतः कहा है—

सपत्नहनं वृषभं कामं हविषा शिक्षामि । (मं० १)

" शत्रुका नाश करनेवाला बलवान् काम है, उसको यज्ञसे शिक्षित करता हूं। " इस कामनामें- इस संकल्पमें- बडी शक्ति है, परंतु वह यदि अशिक्षित रहा, तो हानि करेगी, अतः उसको शिक्षा देकर उत्तम नियम व्यवस्थामें चलनेवाली करनी चाहिये । अतः शिक्षाकी आवश्यकता है । शिक्षा यज्ञसे-हविसे अर्थात् आत्मसमर्पणसे- होती है । हवि जैसा जगत् की भलाई के लिये स्वयं जल जाता है, पूर्णतया समर्पित होता है वैसा मनुष्यको आत्मसमर्पण करना चाहिये । आत्मसमर्पण की शिक्षासे अपने संकल्प को शिक्षित करना चाहिये । इस रीतिसे सुशिक्षित हुआ यह काम [महता वीर्येण] बडे वीर्य-पराक्रमसे युक्त होता है और मनुष्य इसके प्रभावसे अपने सब शत्रु दूर कर सकता है।

यन्मे मनसो न प्रियं न चक्षुषः यन्मे नाभिनन्दति । [मं० २]

" जो मनको और आंखको प्रिय नहीं होता है और जो अन्य इंद्रियोंको भी अप्रिय होता है, जो अपने आत्माको सन्तोष नहीं देता। " उसको दूर करना इसी सुशिक्षित कामसे होता है। इसीसे [अहं तत् भिदेयं] अपने ऊपरका दबाव हटाकर, उसका भेदन करके अपनी उच्च अवस्था की जा सकती है। यह सब मनुष्य के प्रयत्नसे साध्य होनेवाली बात है। परंतु यह तब होगा जब कि मनुष्यकी कामना सुशिक्षायुक्त होगी अन्यथा यही प्रचंड शक्ति इसका नाश करेगी।

[कामः उग्रः ईशानः] काम बडा उग्र अर्थात् प्रतापी है और वह ईश्वर है अर्थात् मनुष्यकी भवितव्यताका वह स्वामी है। क्यों कि मनुष्यका भूत, भविष्य, वर्तमान यही घडता है। जैसा यह बनाता है वैसी मनुष्यकी स्थिति बनती है। अतः इसका महत्त्व बडा भारी है। इसका ऐसा विलक्षण प्रभाव है इसी लिये इसकी सहायतासे मनुष्य निःसन्देह उन्नति प्राप्त कर सकता है-

दुरितं अप्रजस्तां अ-स्व-गतां अवर्तिं मुञ्च। [मं० ३]

" पाप, संतान न होना, निर्धनता और विपत्ति इनको दूर कर सकता है। " मनुष्यकी भी यही इच्छा हुआ करती है। कोई मनुष्य नहीं चाहता कि मुझे पाप लगे, संतान न हो, दारिद्र्य मेरे पास आजाय और मैं विपत्तिमें सडता रहूं, ऐसा कोई भी नहीं चाहता। परंतु ये संपूर्ण विपत्तियां मनुष्यको भोगनी पडती हैं, इसका कारण यह है कि मनुष्यकी कामना अशिक्षित होती है, वह विपरीत संकल्प करती है और उसका फल विपत्तिरूप उसे भोगना ही पडता है। इस कामकी पुत्री वाणीरूपी धेनु है, इसका वर्णन इस प्रकार है-

ते दुहिता धेनुः यां कवयो वाचं आहुः। (मं० ५)

" कामकी पुत्री एक धेनु है जिसको कवि लोग वाणी कहते हैं। " यह वाणी भी कामके समान ही बडी प्रभावशालिनी है। यदि यह वाणी उत्तम रीतिसे प्रयुक्त की गई तो शत्रु मित्र बनते हैं और यदि बुरी तरहसे इसका प्रयोग किया गया तो मित्र शत्रु होते हैं। इसलिये काम को सुशिक्षित करनेके समय वाणीको भी शिक्षित करना अत्यन्त आवश्यक है, यह बात अनुभवसिद्ध ही है।

उग्रः वाजी कामः मम अध्यक्षः मह्यं असपत्नं कृणोतु। (मं० ७)

" प्रतापी, बलवान् काम मेरा अध्यक्ष है वह मुझे शत्रुरहित करे। " अर्थात् यह काम किंवा संकल्प हरएक मनुष्यका अधिष्ठाता है। अधिष्ठाता वह होता है कि जो सतत साथ रहता हुआ निरीक्षण करता है। यही कामका कार्य है। यह मनुष्योंके चालचलन का अधिष्ठाता होकर निरीक्षण करता है। यदि अधिष्ठाता शिक्षित हुआ, तो अच्छी सहायता होती है और यदि बुरा रहा तो हीन प्रवृत्ती करता है, बुरे मार्गसे ले जाता है, जिसका परिणाम खराब होता है। इसलिये प्रार्थना की है कि-

विश्वे देवा मम नाथं भवन्तु। सर्वे देवा मम हवमायन्तु॥ (मं० ७)

" सब देव मेरे रक्षक बनें, सब देव मेरे यज्ञका स्वीकार करें। " इस प्रकार देवोंके द्वारा मेरी सहायता होती रही, तो निःसंदेह मेरी कामना शुद्ध होगी और मेरी उन्नति हो जायगी। अतः यह मेरी प्रार्थना सब देव सुनें और कृपा करके मेरी रक्षा करें। ये देव "काम-ज्येष्ठाः" अर्थात् इनमें काम हि श्रेष्ठ है, सब देवोंमें यह काम देव सबसे श्रेष्ठ है। क्योंकि जगत् रचना करनेमें सब देव सहायता करतेही हैं, परंतु परमात्माका काम-संकल्प-जबतक आगे नहीं उठता, तबतक कोई अन्य देव रचनाके कार्य में अपने आपको नहीं लगा सकते। यह कामका महत्त्व है। मनुष्यके व्यवहारमें भी देखिये सबसे पहिले संकल्प होता है, तत्पश्चात् इंद्रियव्यापार होजाते हैं। इसीलिये सर्वत्र कामका-संकल्पका-महत्त्व वर्णन किया है। जीवात्माका परमात्मामें तथा कामका अन्य देवोंके साथ संबंध होता है। यह देखनेसेहि सब देवोंमें काम श्रेष्ठ कैसा है यह जान सकते हैं-

परमात्मा	जीवात्मा
काम, संकल्प [अधिष्ठाता]	काम, संकल्प
महत्तत्त्व	बुद्धि
चन्द्रमाः	मन
इन्द्र	चित्त
सूर्य	नेत्र

वायु	प्राण
अग्नि	वाणी
जल	वीर्य

इस रीतिसे सब देवोंका अधिष्ठाता काम है। शरीरमें जो देव हैं वे विश्वके देवोंके सूक्ष्म अंशही हैं, अतः दोनों स्थानोंमें देवोंका संबंध एक जैसा ही है। जैसा संकल्प होता है वैसे अन्यान्य देव शरीरमें तथा जगत्‌में अनुकूलतासे कार्य करते हैं। अपने शत्रु नाश पावें और मेरा विजय जगत्‌में होवे, यही सबकी भावना सर्वसाधारण होती है अतः कहा है—

अवधीत्कामो मम ये सपत्ना: । उरुं लोकमकरन्मह्यमेधतुम् ।

मह्यं नमन्तां प्रदिशश्चतस्रो, मह्यं षडुर्वीर्घृतमा वहन्तु ॥ (मं० ११)

"संकल्पहि शत्रुओंका नाश करता है, संकल्प हि वृद्धी करनेके लिए विस्तृत कार्यक्षेत्र देता है। सकल्पसे हि चारों दिशाएं मनुष्यके सामने नम्र होती हैं और संकल्पसे हि सब भूप्रदेशोंसे घृतादि अन्नभोग प्राप्त होते हैं।" यदि किसीने संकल्प हि इस प्रकार नहीं किया तो उसका क्या होगा? पाठक विचार की दृष्टिसे जगत्‌में देखें, तो उनको स्पष्ट दिखाई देगा कि इस जगत्‌के व्यवहारमें सर्वत्र 'काम' की ही प्रेरणा हो रही है, हरएक कर्मके पीछे काम होता है, यदि किसी स्थानपर काम न रहा तो कोई कार्य बनता नहीं। अतः इस मंत्रमें कहा है कि जो भी कुछ इस जगत्‌में बन रहा है कामकी प्रेरणासे हि बन रहा है।

पूर्वोक्त कोष्टकमें दर्शाया है कि अग्नि, इन्द्र, सोम अथवा अन्य देव ये सब कामकी प्रेरणासे कार्य कर रहे हैं, उनके प्रतिनिधि वाणी, मन और चित्त ये भी संकल्पसेहि अपने अपने कार्यमें प्रेरित हो रहे हैं। इसी रीतिसे (अग्निः यथा) अग्नि शत्रु दूर करता है, अन्य देवभी शत्रुओंको दूर करते हैं, यह सब पूर्वोक्त रीतिसे हि समझना चाहिये।

कामका कवच ।

यह काम एक ऐसा कवच पहनता है, कि जिससे शत्रुके आघात अपने ऊपर लगतेहि नहीं, देखिये—

यत्ते काम शर्म त्रिवरूथमुद्भु ब्रह्म वर्म विततमनतिव्याध्यं कृतम् । (मं० १६)

"यह कामका एक विलक्षण कवच है जो तीनों केन्द्रोंमें उत्तम रक्षा करता है, इससे (अन्‌— अतिव्याधि) शत्रुके शस्त्रोंका प्रहार अपने ऊपर नहीं लगता, यह (ब्रह्म वर्म) ज्ञानका कवच है। इस ब्रह्मवर्मका वर्णन इससे पूर्व इसी काण्डमें द्वितीय सूक्तके दशम मंत्रमें आया है। वहां की व्याख्यामें इसका वर्णन पाठक अवश्य देखें।

यह काम [प्रथमः जज्ञे] सबसे पूर्व उत्पन्न हुआ, इसके बाद अन्य देव जोग उठे हैं अतः अन्य देव इसको प्राप्त कर नहीं सकते। जो हमारे पूर्व दो हजार वर्ष हुए होंगे, उनको हम कदापि प्राप्त नहीं कर सकते। इसी प्रकार काम की उत्पत्ति पहिले और अन्य देवोंकी बाद होनेसे अन्य देव कामको प्राप्त नहीं कर सकते यह बिलकुल ठीक है। अतः कहा है—

कामो जज्ञे प्रथमो नैनं देवा आपुः पितरो न मर्त्याः ।

ततस्त्वमसि ज्यायान् विश्वहा महान्० । [मं० १९]

" काम सबसे पहिले उत्पन्न हुआ अतः इसको देव प्राप्त नहीं कर सकते और पितर अथवा मर्त्यभी नहीं प्राप्त कर सकते, क्योंकि पितर और मर्त्य तो देवोंके पश्चात् उत्पन्न हुए हैं। इस कारण यह काम सबसे उच्च और समर्थ है, इसकी श्रेष्ठता सदा सर्वदा स्थिर रहनेवाली है। अतः इसका सामर्थ्य सर्वतोपरि है।

आगे मंत्र २१ से २४ तक के चार मंत्रोंमें काम सबसे श्रेष्ठ है यही बात कही है। संपूर्ण पदार्थोंसे, स्थिरचरोंसे, अर्थात् सबसे यह श्रेष्ठ है। पंचमहाभूतोंसे, सब प्राणियोंसे, सूर्य और चन्द्रमासे तथा सब अन्योंसे, काम श्रेष्ठ और समर्थ है। अतः अन्तिम मंत्रमें प्रार्थना यह है कि–

यास्ते शिवास्तन्वः काम भद्रा याभिः सत्यं भवति यद् वृणीषे ।

ताभिष्ट्वमस्माँ अभि संविशस्वान्यत्र पापीरप वेशया धियः । [मं० २५]

" कामके अंदर जो शुभ और कल्याणकारी भाग है, जिससे सब सत्य की सिद्धी होती है, वह शुभ भाग मेरे अंदर घुस आय और जो पापका भाग है, वह दूर हो।" संकल्प एक बडी भारी शक्ति है, उससे पापभी होगा और पुण्यभी। इस कारण मनुष्य को उचित है कि वह सदा शिवसंकल्प करे और पाप संकल्पसे दूर रहे। इस रीतिसे मनुष्य अपनी कामना शुभ कराके सदा उन्नतिके पथसे ऊपर जा सकता है ॥

गृहनिर्माण।

(३)

(ऋषिः—भृग्वंगिराः । देवता—शाला)

उपमितां प्रतिमितामथो परिमितामुत । शालाया विश्ववाराया नद्धानि वि चृतामसि ॥ १ ॥
यत् ते नद्धं विश्ववारे पाशो ग्रन्थिश्च यः कृतः ।
बृहस्पतिरिवाहं बलं वाचा वि स्रंसयामि तत् ॥ २ ॥
आ ययाम सं बबर्ह ग्रन्थींश्चकार ते दृढान् । परूंषि विद्वाञ्छस्तेवेन्द्रेण वि चृतामसि ॥ ३ ॥
वंशानां ते नहनानां प्राणाहस्य तृणस्य च । पक्षाणां विश्ववारे ते नद्धानि वि चृतामसि ॥४॥
संदंशानां पलदानां परिष्वञ्जल्यस्य च । इदं मानस्य पत्न्या नद्धानि वि चृतामसि ॥५॥

अर्थ- (विश्ववारायाः शालायाः उपमितां) सब भयके निवारक घरके स्तंभों, (प्रतिमितां) स्तंभोंके जोडों (अथो उत परिमितां) और उत्तम बंधनोंके (नद्धानि वि चृतामसि) ग्रंथियोंको हम बांधते हैं ॥ १ ॥

हे (विश्व-वारे) सब दुःखोंका निवारण करनेवाले घर ! (यत् ते नद्धं) जो तेरा बन्धन है, [यः पाशः ग्रन्थिः च कृतः] जो पाश और ग्रंथि पहिले किए हैं, (बृहस्पतिः वाचा बलं इव) बृहस्पति अपनी वाणीके द्वारा जैसा शत्रुसैन्यका नाश करता है, उस प्रकार (तत् विस्रंसयामि) उनको मैं खोलता हूं ॥ २ ॥

(आययाम) इकठ्ठा किया, (सं बबर्ह) जोड दिया और [ते दृढान् ग्रंथीन् चकार] तेरे गांठोंको सुदृढ कर दिया है । (परूंषि विद्वान् शस्ता इव) जोडोंको जान कर काटनेवालेके समान (इन्द्रेण विचृतामसि) इन्द्रकी सहायतासे हम बांध देते हैं ॥ ३ ॥

हे (विश्व-वारे) सब कष्टोंका निवारण करनेवाले घर ! (ते वंशानां नहनानां) तेरे बांसों और बंधनों तथा (प्राणाहस्य तृणस्य च) जोडों और घासका तथा (ते पक्षाणां नद्धानि) तेरे दोनों ओरके बंधनोंको (वि चृतामसि) मैं बांधता हूं ॥ ४ ॥

(मानस्य पत्न्याः) प्रमाण लेनेवालेके द्वारा पालित हुए घरके (संदंशानां पलदानां) कैंचियोंके और चटाइयोंके (च परिष्वंजल्यस्य) तथा विलासस्थानके (इदं नद्धानि विचृतामसि) इस प्रकारके बंधनोंको मैं बांधता हूं ॥ ५ ॥

भावार्थ- बहुत कष्टोंको दूर करनेके लिए घर बनाया जाता है । उस घरके स्तंभों, सहारोंकी लकडियों, बंडियोंकी तथा छप्परकी लकडियोंको हम उत्तम रीतिसे सख्त जोड देते हैं ॥ १ ॥

जो बंधन और ग्रंथियां तथा जो और पाश पहिले बांधे थे,उनको मैं अब ढीला करता हूं। जिस प्रकार ज्ञानी अपनी वाणीसे शत्रुसैन्यको ढीला बना देता है ॥ २ ॥

पहिले सब सामान इकठ्ठा किया, उसको यथास्थान जोड दिया, उनके जोड बडे मजबूत किये । जोडनेके स्थानोंको यथायोग्य रीतिसे काटनेका ज्ञान जिसको है, उसके समानहि काटा और सबको प्रभुत्वके साथ बांधा है ॥ ३ ।

घरके बांसों, बंधनों, जोडोंके स्थान, घास और दोनों ओरके बंधनोंको योग्य रीतिसे मैं मजबूत बांध देता हूं ॥ ४ ॥

प्रमाणसे बंधे हुए इस घरके कैंचियों, चटाइयों और आन्तरिक स्थानोंके सब बंधनोंको मैं अच्छी प्रकार बांधता हूं ॥ ५ ॥

यानि तेऽन्तः शिक्यान्याबेधू रण्याय कम् ।
प्र ते तानि चृतामसि शिवा मानस्य पत्नी न उद्धिता तन्वे भव ॥ ६ ॥
हविर्धानमग्निशालं पत्नीनां सदनं सदः । सदो देवानामसि देवि शाले ॥ ७ ॥
अक्षुमोपशं विततं सहस्राक्षं विषूवति । अवनद्धमभिहितं ब्रह्मणा वि चृतामसि ॥ ८ ॥
यस्त्वा शाले प्रतिगृह्णाति येन चासि मिता त्वम् ।
उभौ मानस्य पत्नि तौ जीवतां जरदष्टी ॥ ९ ॥
अमुत्रैनमा गच्छताद् दृढा नद्धा परिष्कृता ।
यस्यास्ते विचृतामस्यङ्गमङ्गं परुष्परुः ॥ १० ॥ (६)

अर्थ- (यानि ते अन्तः शिक्यानि) जो तेरे अन्दर छींके (रण्याय कं आबेधुः) रमणीयताके लिए सुखसे बांधे हैं, (ते तानि प्रचृतामसि) तेरेसे उनको हम बांधते हैं। तू (मानस्य पत्नी) प्रमाण लेनेवालेके द्वारा पालित होनेवाली (उद्धिता) ऊपर उठायी हुई (नः तन्वे शिवा भव) हमारे शरीरके लिए कल्याणकारिणी हो ॥ ६ ॥

हे (शाले देवि) गृहरूपी देवते ! (हविर्धानं) हविष्य अन्नका स्थान, (अग्निशालं) अग्निशाला अथवा यज्ञशाला, (पत्नीनां सदनं) स्त्रियोंके रहनेका स्थान, (सदः) रहनेका स्थान, और (देवानां सदः) देवताओंका स्थान (असि) तू है ॥ ७ ॥

(विषूवति ओपशं) आकाश रेखापर आभूषण रूप हुआ (विततं सहस्राक्षं अक्षुं) फैला हुआ हजारों छिद्रोंवाला जाल (अवनद्धं अभिहितं) बंधा और तना हुआ (ब्रह्मणा वि चृतामसि) ज्ञानसे बांधते हैं ॥ ८ ॥

हे (मानस्य पत्नि शाले) प्रमाण लेनेवालेके द्वारा पालित घर ! (यः त्वा प्रतिगृह्णाति) जो तुझे लेता है, (येन च त्वं मिता असि) जिसने तेरा प्रमाण किया है, (उभौ तौ) दोनों वे (जरदष्टी जीवतां) वृद्धावस्थातक जीवित रहें ॥ ९ ॥

(यस्याः ते) जिस तेरे (अंगं अंगं परुः परुः) प्रत्येक अंग और प्रत्येक जोड (विचृतामसि) हमने मजबूत बनाया है, वह तू (अमुत्र दृढा नद्धा परिष्कृता) वहां सुदृढ, बंधी हुई और सुसिद्ध होकर (एनं आगच्छतात्) इसके पास आ ॥ १० ॥

भावार्थ- घरके अन्दर जो छींके रखीं हैं, जिनपर सुख देनेवाले पदार्थ भरकर रखे हैं उनको हम उत्तम रीतिसे बांध देते हैं। इस प्रकार बनाई यह उच्च शाला हमारे शरीरोंको सुख देनेवाली हो ॥ ६ ॥

घरके अन्दर धान्यका स्थान, हवनका कमरा, स्त्रीयोंका बैठनेका स्थान, अन्य मनुष्योंके लिए बैठने उठनेका स्थान और देवोंके लिए स्थान होवे ॥ ७ ॥

ऊपरके भागमें भूषणके समान दिखाई देनेवाला, हजार सुंदर छिद्रोंवाला फैला हुआ जाल हम उत्तम रीतिसे फैलाकर और तानकर बांधते हैं ॥ ८ ॥

यह प्रमाणसे बंधा हुआ घर है, जिसने इसका माप किया और जिसने यह बनाया वे दीर्घकाल तक जीवित रहें ॥ ९ ॥

इस घरका प्रत्येक भाग और हरएक पुर्जा अच्छी प्रकार सुदृढ बनाया है, इस प्रकार सुदृढ बना हुआ यह घर इसके आधीन होवे ॥ १० ॥

यस्त्वा शाले निमिमाय संजभार वनस्पतीन्।
प्रजायै चक्रे त्वा शाले परमेष्ठी प्रजापतिः ॥ ११ ॥
नमस्तस्मै नमो दात्रे शालापतये च कृण्मः।
नमोऽग्नये प्रचरते पुरुषाय च ते नमः ॥ १२ ॥
गोभ्यो अश्वेभ्यो नमो यच्छालायां विजायते।
विजावति प्रजावति वि ते पाशांश्चृतामसि ॥ १३ ॥
अग्निमन्तश्छादयसि पुरुषान् पशुभिः सह। विजावति प्रजावति वि ते पाशांश्चृतामसि॥१४॥
अन्तरा द्यां च पृथिवीं च यद् व्यचस्तेन शालां प्रति गृह्णामि त इमाम्।
यदन्तरिक्षं रजसो विमानं तत् कृण्वेऽहमुदरं शेवधिभ्यः।
तेन शालां प्रति गृह्णामि तस्मै ॥ १५ ॥

अर्थ- हे शाले ! (यः त्वा निमिमाय) जिसने तुझे बनाया, और जिसने(वनस्पतीन् संजभार)वृक्षोंको काटकर जमाया, हे शाले ! (परमेष्ठी प्रजापतिः) परमेष्ठी प्रजापतिने (त्वा प्रजायै चक्रे) तुझे-प्रजाके लिए निर्माण किया ॥ ११ ॥

(तस्मै दात्रे नमः) उस काटनेवालेको नमस्कार । (शालापतये नमः कृण्मः) शालाके स्वामीको नमस्कार करते हैं। (नमः प्रचरते अग्नये) चलनेवाले अग्निके लिए नमस्कार और (ते पुरुषाय च नमः) तेरे पुरुषके लिए नमस्कार है १२

(यत् शालायां विजायते) जो शालामें होता है उस (गोभ्यः अश्वेभ्यः नमः) गौओं और घोडोंके लिए नमस्कार। हे (विजावति प्रजावति) उत्पादक और संतानयुक्त घर ! (ते पाशान् वि चृतामसि) तेरे पाशोंको हम बांधते हैं ॥ १३ ॥

(पशुभिः सह पुरुषान्) पशुओंके साथ मनुष्योंको और (अग्निं) अग्निको (अन्तः छादयसि) अन्दर गुप्त रखती है। हे (विजावति प्रजावति) उत्पादक और सन्तानयुक्त घर ! तेरे पाशोंको हम बांधते हैं ॥ १४ ॥

(द्यां च पृथिवीं च अन्तरा) द्यु और पृथ्वीके मध्यमें (यत् व्यचः) जो विस्तृत अवकाश है, (तेन ते इमां शालां प्रति गृह्णामि) उससे तेरे इस घरको मैं स्वीकारता हूं। (यत् अन्तरिक्षं रजसः विमानं) जो अन्तरिक्षलोकका बीचमें परिमाण है, (तत् अहं शेवधिभ्यः उदरं कृण्वे) वह मैं खजानोंके लिए उदर जैसा स्थान करता हूं। (तेन तस्मै शालां प्रति गृह्णामि) उससे उसके लिए मैं इस घरका स्वीकार करता हूं ॥ १५ ॥

भावार्थ- प्रजाका पालन करनेकी इच्छा करनेवाले, उच्च स्थानमें स्थिर रहनेवाले बडे कारीगरने इस प्रमाणसे बनाया और इस कार्यके लिये अनेक वृक्षोंको काटा है ॥ ११ ॥

वृक्षोंको काटनेवाले, घरका रक्षक करनेवाले, अग्निको अंदर रखनेवाले तथा अन्य मनुष्योंके लिये मैं नमस्कार करता हूं ॥ १२ ॥

घरमें उत्पन्न होनेवाले उन घोडे और गौओंके लिये मैं नमस्कार करता हूं। इस घरको सुदृढ बनाता हूं ॥ १३ ॥

इस घरके अन्दर मनुष्य, पशु और अग्नि रहते हैं अतः इस सन्तानयुक्त और उपजाऊ घरके बंधनोंको मैं सुदृढ करता हूं ॥ १४ ॥

पृथ्वी और द्युलोकमें जो अन्तर है उसमें यह घर निर्माण हुआ है। इसके मध्यभागमें मैं धनसंग्रह करनेका स्थान करता हूं। इस खजानेके स्थानके साथ जो घर होगा वहां मैं लेता हूं ॥ १५ ॥

ऊर्जस्वती पर्यस्वती पृथिव्यां निमिता मिता ।
विश्वान्नं बिभ्रती शाले मा हिंसीः प्रतिगृह्णतः ॥ १६ ॥
तृणैरावृता पलदान्वसाना रात्रीव शाला जगतो निवेशनी ।
मिता पृथिव्यां तिष्ठसि हस्तिनीव पद्वती ॥ १७ ॥
इटस्य ते वि चृताम्यपिनद्धमपोर्णुवन् । वरुणेन समुब्जितां मित्रः प्रातर्व्युब्जतु ॥ १८ ॥
ब्रह्मणा शालां निमितां कविभिर्निमितां मिताम् ।
इन्द्राग्नी रक्षतां शालाममृतौ सोम्यं सदः ॥ १९ ॥
कुलायेऽधि कुलायं कोशे कोशः समुब्जितः ।
तत्र मर्तो वि जायते यस्माद् विश्वं प्रजायते ॥ २० ॥ (७)

अर्थ— हे शाले ! (ऊर्जस्वती पयस्वती) तू अन्न युक्त और रसपानयुक्त (पृथिव्यां निमिता मिता) पृथ्वीपर माप लकर निर्माण की है । तू (विश्वान्नं बिभ्रती) सब प्रकारके अन्नका धारण करनेवाली (प्रतिगृह्णतः मा हिंसीः) लेनेवालेका नाश न कर ॥ १६ ॥

(तृणैः आवृता) घाससे आच्छादित, (पलदान् वसाना) चटाईयोंसे ढंकी (मिता शाला) माप की हुई शाला (रात्री इव) रात्रीके समान (जगतः निवेशनी) जगत्‌को आश्रय देनेवाली (पद्वती हस्तिनी इव) उत्तम पांववाली हाथिनीके समान (पद्वती पृथिव्यां तिष्ठसि) उत्तम स्तंभोंवाली होकर पृथ्वीपर तू ठहरती है ॥ १७ ॥

(ते इटस्य अपिनद्धं) तेरी चटाईसे बंधे हुएको (अपऊर्णुवन्) आच्छादित करता हुआ (विचृतामि) मैं बांधता हूं । (वरुणेन समुब्जितां) वरुणने जलसे सीधी की हुईको (मित्रः प्रातः व्युब्जतु) सूर्य सबेरे सीधी बना देवे ॥ १८ ॥

(ब्रह्मणा निमितां शालां) ज्ञानीने निर्माण किई हुई शालाकी और (कविभिः मितां निमितां) कवियोंने प्रमाणसे रची हुई (शालां) शालाकी (अमृतौ इन्द्राग्नी रक्षतां) अमर इन्द्र और अग्नि रक्षा करें । यह (सोम्यं सदः) सोम-वनस्पतियों-का घर है ॥ १९ ॥

(कुलाये अधि कुलायं) घोसलेपर घोसला और (कोशे कोशः समुब्जितः) कोशपर कोश सीधा रखा है । (तत्र मर्तः विजायते) वहां मर्त्य उत्पन्न होता है । (यस्मात् विश्वं प्रजायते) जिससे सब उत्पन्न होता है ॥ २० ॥

भावार्थ- घरमें सब प्रकारका अन्न, रसपानका साधन, जल आदि सदा उपस्थित हो । घर प्रमाणसे बनाया जावे । सब प्रकारका अन्न उसमें सिद्ध हो । यह घर कभी किसीका नाश नहीं कर सकता ॥ १६ ॥

इस घरपर घासका छप्पर रखा है, चारों ओर चटाइयोंका वेष्टन है, सब स्थान प्रमाणसे रखे हैं, इस प्रकारका यह घर सुदृढ स्तंभोंपर वैसा सुरक्षित रहता है, जिस प्रकार हाथिन अपने चार पावोंपर सुरक्षित रहती है॥ १७ ॥

यह स्थान पहिले चटाईसे आच्छादित था, उसीको मैं सुदृढ बनाता हूं । रात्रीके समय इस घरको चन्द्र और दिनके समय सूर्य सरलता का मार्ग दिखाते हैं ॥ १८ ॥

ज्ञानी और कवियोंने इस घरकी रचना प्रमाणसे की है । इसकी रक्षा इन्द्र और अग्नि करें । यह घर शान्ति देनेवाला हो ॥ १९ ॥

घोसलेपर घोसला अथवा कोशपर कोश रखनेके समान यहां पहिले मजलेपर दूसरा मजला रखा है । इसमें मनुष्यका जन्म होता है, इसीसे सबकी उत्पत्ति होती है ॥ २० ॥

या द्विपक्षा चतुष्पक्षा षट्पक्षा या निमीयते ।
अष्टापक्षां दशपक्षां शालां मानस्य पत्नीमग्निर्गर्भ इवा शये ॥ २१ ॥
प्रतीचीं त्वा प्रतीचीनः शाले प्रैम्यहिंसतीम् । अग्निर्ह्यन्तरापश्चर्तस्य प्रथमा द्वाः ॥ २२ ॥
इमा आपः प्र भराम्ययक्ष्मा यक्ष्मनाशनीः । गृहानुप प्र सीदाम्यमृतेन सहाग्निना ॥ २३ ॥
मा नः पाशं प्रति मुचो गुरुर्भारो लघुर्भव । वधूमिव त्वा शाले यत्रकामं भरामसि ॥ २४ ॥
प्राच्या दिशः शालाया नमो महिम्ने स्वाहा देवेभ्यः स्वाह्येभ्यः ॥ २५ ॥
दक्षिणाया दिशः शालाया नमो महिम्ने स्वाहा देवेभ्यः स्वाह्येभ्यः ॥ २६ ॥
प्रतीच्या दिशः शालाया नमो महिम्ने स्वाहा देवेभ्यः स्वाह्येभ्यः ॥ २७ ॥
उदीच्या दिशः शालाया नमो महिम्ने स्वाहा देवेभ्यः स्वाह्येभ्यः ॥ २८ ॥
ध्रुवाया दिशः शालाया नमो महिम्ने स्वाहा देवेभ्यः स्वाह्येभ्यः ॥ २९ ॥
ऊर्ध्वाया दिशः शालाया नमो महिम्ने स्वाहा देवेभ्यः स्वाह्येभ्यः ॥ ३० ॥
दिशोदिशः शालाया नमो महिम्ने स्वाहा देवेभ्यः स्वाह्येभ्यः ॥ ३१ ॥ (८)

अर्थ— [या द्विपक्षा] जो दो पक्षवाली [या चतुष्पक्षा षट्पक्षा निमीयते] और जो चार तथा छः पक्षोंवाली बनायी जाती है, [अष्टापक्षां दशपक्षां] आठ पक्षों तथा दशपक्षोंवाली [मानस्य पत्नीं शालां] प्रमाणसे मापनेवालेद्वारा पालित शालाका [गर्भः अग्निः इव] गूढस्थानमें स्थित अग्निके समान मैं [आशये] आश्रय लेता हूं ॥ २१ ॥

हे शाले ! [प्रतीचीनः] पश्चिमकी ओर मुख करनेवाला मैं [प्रतीचीं अहिंसतीं त्वा प्रैमि] पश्चिमाभिमुख खडी और न हिंसा करनेवाली तुझ शालाके पास मैं आता हूं । [अग्निः आपः च अन्तः] अग्नि और जल अन्दर हैं जो [ऋतस्य प्रथमा द्वाः] यज्ञके पहिले द्वार हैं । ॥ २२ ॥

[इमाः अयक्ष्माः यक्ष्मनाशनीः आपः] ये रोगरहित, रोगनाशक जल [प्रभरामि] शालामें भरता हूं। [अमृतेन अग्निना सह] जल और अग्निके साथ [गृहान् उप प्र सीदामि] घरोंके प्रति मैं आता हूं ॥ २३ ॥

हे शाले ! [नः पाशं मा प्रतिमुचः] हमपर पाश न छोड, [गुरुः भारः, लघुः भव] बडे भार को हलका करनेवाली हो । [वधूं इव] वधूके समान [त्वा यत्र कामं भरामसि] तुझे इच्छाके अनुसार भर देते हैं ॥ २४ ॥

[शालायाः प्राच्याः दक्षिणायाः] घरकी पूर्व और दक्षिण [प्रतीच्याः उदीच्याः] पश्चिम और उत्तर [ध्रुवायाः ऊर्ध्वायाः] ध्रुव और ऊर्ध्व [दिशोदिशः] दिशा और उपदिशाओंके [महिम्ने नमः] महिमाके लिये नमस्कार हो, तथा [स्वाह्येभ्यः देवेभ्यः स्वाहा] उत्तम वर्णन करने योग्य देवोंके लिये [स्वाहा = सु+आह] उत्तम प्रशंसा कहते हैं ॥ २५-३१ ॥

भावार्थ— यह घर दो, चार, छः, आठ या दस कक्षावाला होता है, जैसा पेटमें गर्भ सुरक्षित रहता है उसी प्रकार मैं इसके आश्रयमें रहता हुआ सुरक्षित रहता हूं ॥ २१ ॥

घरकी पश्चिमकी ओर मुख करके घरमें मनुष्य प्रवेश करे । घर में अग्नि और जल सदा रखा जावे । ये ही दो पदार्थ गृहस्थाश्रमके यज्ञको सिद्ध करनेवाले हैं । इस प्रकारका घर सदा सुख देनेवाला होगा ॥ २२ ॥

जहां रोग दूर करनेवाला पानी होगा, वहांसे वह घरमें भरना चाहिये । घरमें जल और अग्नि सदा रहने चाहिये । ऐसे घरमें मनुष्य निवास करे ॥ २३ ॥

भावार्थ— इस प्रकारके घरमें रहनेसे संसारका बडा भार बहुत हलका होगा । जिस प्रकार कुलवधूका संरक्षण और पोषण लोग करते हैं उसी प्रकार ऐसे घरकी रक्षा करना चाहिये और इस घरमें उत्तमोत्तम पदार्थ लाकर रखने चाहिये ॥ २४ ॥

घरकी चारों दिशाओं और उपदिशाओंमें जो सुंदर दृश्यों की महिमा होगी, उसकी सत्कारपूर्वक प्रसन्नता बढानी चाहिये । उत्तम प्रशंसनीय पृथ्वी, आप, अग्नि, वायु, चन्द्र, सूर्य, आदि देवोंकी प्रसन्नता इस घरपर रहेगी, ऐसा आचार व्यवहार करना चाहिये ॥ २५-३१ ॥

घरकी प्रसन्नता ।

गृहनिर्माण करनेका और उनको आनंदित, प्रसन्न तथा उत्तम स्वास्थ्यसंपन्न रखनेका उपदेश इस सूक्तमें है । घर उत्तम प्रमाणसे निर्माण किया जावे,उसके स्तंभ,ऊपरकी लकडियां, छप्परका लकडीका सामान सब सुंदर तथा सुव्यवस्थित होवे और सब जोड अच्छे प्रकार मजबूत किये जावें । किसी स्थानपर कमजोरी न रहे । क्योंकि सब घरवालोंका स्वास्थ्य घरकी सुरक्षितता पर निर्भर है । ऐसा सुंदर और मजबूत घर रहनेवालोंके कष्टोंको दूर कर सकता है,परंतु कमजोर और अशक्त तथा बेपरवाहसे बनाया गया घर रहनेवालोंका कब नाश करेगा, इसका भी पता नहीं होगा ।

सुतार, तर्खाण और अन्य कारीगर ऐसे लगाये जावें कि जो संधिस्थानोंको (परुंषि विद्वान् शसता) अच्छी प्रकार काटने और जोडनेकी कला जाननेवाले हों । बांस, लकडियां, घास, चटाइयां आदि जो भी सामान घरमें रखनेका अथवा घरपर लगानेका हो वह सब उत्तम, निर्दोष और सुव्यवस्थासे रखा जावे ।

गृहनिर्माण करनेकी विद्या जाननेवाले को ' मानपति ' कहते हैं । वह घरके प्रमाण से नकशा तैयार करता है और उसी प्रमाणसे भूमिपर रचना करवाता है । इसके लिए प्रमाणोंसे प्रमाणयुक्त जो घर होता है वह सुखदायी होता है । ' मानपति ' (इंजिनियर) को ' सूत्रधार ' भी कहते हैं क्योंकि वह सूत्रसे सबका प्रमाण दिखाता है । इस ' मानपती ' द्वारा बनाई होनेके कारण इस शालाको ' मान-पत्नी ' कहते हैं, इसका शब्दार्थ " प्रमाण दर्शानेमें जो कुशल कारीगर है उसके प्रमाणसे इसकी पालना हुई है । " हरएक घरके विषयमें यह सत्य है ।

घरमें छींके टंगे हों और उनपर घृतदुग्धादि पदार्थ रखे जांय । यहां ये पदार्थ रखनेसे चूंटियों और चूहोंसे बचते हैं । और इस कारण आरोग्य देनेवाले होते हैं ।

घर (उद्रित) ऊंचे स्थानपर और ऊंचा हो । ठिगना न हो क्योंकि ऊंचे घरमें शुद्धवायु आता है जो मनुष्योंको नीरोग बना देती है । अतः कहा है कि-

उद्रिता शाला तन्वे शं भवति (मं० ६)

'ऊंचा घर शरीरके लिए सुखकारक होता है । ' वैसा ठिगना नहीं होता । घरमें एक उपासना करनेका स्थान, संध्या हवन करनेका योग्य कमरा, एक भोजनशाला, एक स्त्रियोंके लिए स्थान, एक अतिथियों और घरवालोंके रहनेका स्थान, एक धान्यादिका संग्रह स्थान ऐसे अलग अलग कमरे हों । घरकी छतपर सुंदर कपडा ताना जावे, जिससे कमरेकी शोभा बढती है । घरमें रहनेवाले ऐसा कहें कि घरका निर्माण करनेवाला " मानपति " (इंजिनियर) और बनानेवाले कारीगर दीर्घ आयुतक जीवित रहें । घरमें रहनेवालोंको सुख हुआ तो ही वे ऐसा कहेंगे, अतः बनानेवाले लोग कुशलतापूर्वक गृहनिर्माणका कार्य करें । और घरमें रहनेवालोंको सुख लगे, इस विचारसे घर बनावें । केवल वेतनके लिए बनाया जाय तो यह बात नहीं बनेगी । यह तो एक परस्पर प्रेमका विचार है । इसी विचारसे ग्रामके कारीगर और गृहके स्वामी इनमें परस्पर हितकी बुद्धि जाग्रत रहेगी ।

वृक्ष काटनेवाले, विविध लकडियां बनानेवाले, अन्य गृहोपयोगी सामान संग्रहित करनेवाले, जोडनेवाले और घरमें रहनेवाले इन सबकी सहकारितासे घर निर्माण होता है, अतः ग्राममें इनकी सहकारिता होनी चाहिए । और एकका हित दूसरेको करना चाहिये घरका स्वामी धनवान और प्रतिष्ठित क्यों न हो, परंतु जिस समय वह लकडी काटनेवालेको मिले, वह (तस्मै दात्रे नमः)उस लकडी काटनेवाले को नमस्कार करे,वह लकडी काटनेवाले निर्धन ही क्यों न हो,परंतु वह घरके मालिकसे मिले तो वह (शालापतये नमः) घरके स्वामीको नमस्कार करे । इस प्रकार ये लोग परस्पर सन्मान करें, एक दूसरेका आदर करें । कोई किसीका निरादर न करे ।

यहांतक आदर दर्शाना चाहिए कि घरका स्वामी अपने घोडों, गौवों, बैल आदि पशुओंका भी उत्तम प्रकार आदर सत्कार करें। इस प्रकार जहां सबका सत्कार होता है ऐसे घरमें रहनेवाले मनुष्य उत्तम आनन्दका अनुभव करेंगे, इसमें संदेह ही क्या हो सकता है ?

घर ऐसा बनाया जावे कि जो पीछेके आकाशपर सुंदर दिखाई देवे। घरके आसपास की शोभा वृक्षादिकोंसे सुंदर दिखाई देवे। और प्रयत्नसे अधिक सौंदर्य बनाया जावे। घरके मध्यमें अत्यंत सुरक्षित स्थानमें धन, जेवर आदि रखनेका स्थान—खजानेका कमरा—बनाया जावे। (शेवधिभ्यः उदरं) जैसा मनुष्यके शरीरमें पेट बीचमें होता है, अतिसुरक्षित स्थानपर होता है, उसी प्रकार यहां घरके मध्यमें खजानेका कमरा बनाया जावे। घरमें धान्यके स्थानमें सब प्रकार (ऊर्जः) धान्य, (विश्वान्नं) अन्नकी सामग्री संग्रहित की जावे, (पयः) जल, पेय पदार्थ, रसपानके साधन घरमें भरपूर हों। ऐसा घर सब रहनेवाले पारिवारिक जनोंको सुख देता है।

घरके स्तंभ ऐसे बलवान हों जैसे हथिनीके पांव होते हैं, क्योंकि इन्हींपर घरका छप्पर आदि रहता है। दूसरा मजला करना हो तो एकके ऊपर दूसरा बनाया जावे, जैसे (कुलाये अधि कुलायं) घोसला एकपर दूसरा बनाते हैं और (कोशे कोशः) एक कोश पर दूसरा कोश रखा जाता है। नीचेका स्थान मजबूत हो, नहीं तो ऊपरके भारसे निचला स्थान दब जायगा। ऐसे उत्तम घरमें मनुष्यका जन्म होवे। सभी प्राणियोंके लिए ऐसे स्थान बनाये जावें। पक्षी भी प्रसूतिके पूर्व उत्तम घोसले निर्माण करते हैं, पशु भी सुरक्षित स्थान देखते हैं, यह देखकर मनुष्योंको अपने घरोंमें प्रसूतिके लिए उत्तम स्थान बनाने चाहिये।

घरमें दो, चार, छः, आठ, दस कमरे अथवा चौक बनाये जा सकते हैं। अंदर रहनेवाले मनुष्योंकी संख्याके अनुसार तथा उस घरमें होनेवाले कार्योंके अनुसार घर छोटा या बडा होना चाहिए।

अग्निरन्तरापश्चर्तस्य प्रथमा द्वाः। [मं २२]

"घरमें अग्नि और जल अवश्य रहे, क्योंकि इन्हींसे सब प्रकारके यज्ञ होते हैं।" कोई अतिथि आगया तो उसको श्रमपरिहारके लिए कमसे कम जलपान दिया जावे, और शीतनिवारणके लिए आगके स्थान के पास उसको बिठलाया जावे। ये दो पदार्थ गरीबसे गरीब और धनीसे धनी मनुष्यके घरमें अवश्य रहें और इनसे आदरातिथ्य होता जावे। मनुस्मृतिमें भी कहा है कि–

तृणानि भूमिरुदकं वाक्चतुर्थी च सूनृता।
एतान्यपि सतां गेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन। [मनु० ३। १०१]

"बैठनेके लिए चटाई, भूमि, जल और मीठा भाषण ये चार बातें अतिथिके आदरके लिए सज्जनोंके घरमें कभी न्यून नहीं होतीं।" यहां उदक है। वेदके ऊपरके मंत्रमें जल पीनेके लिए और आग सेकनेके लिए प्रत्येक घरमें अवश्य रहे ऐसा कहा है। अतिथिके सत्कारके ये प्रकार ध्यानसे देखने योग्य हैं। घरमें जल रखना हो तो उत्तम निर्दोष रखना चाहिये इस विषयमें सूचना यह है–

अयक्ष्मा यक्ष्मनाशनीः आपः प्रभरामि। गृहान् उपप्रसीदामि। [मं० २३]

"मैं घरमें ऐसा जल भरता हूं कि जो स्वयं रोग उत्पन्न करनेवाला न हो और जो रोगोंको दूर करनेवाला हो। इस रीतिसे मैं घरकी प्रसन्नता बढाता हूं।" हरएक गृहस्थी ऐसा ही कहे और अपने घरकी अधिकसे अधिक प्रसन्नता करनेका यत्न करे। [वधूं इव] जैसे स्त्रीकी रक्षा करना चाहिए उसी प्रकार गृहकी भी रक्षा करना योग्य है। यहां वधूकी प्रसन्नता रखना, उसको हृष्टपुष्ट रखना, निर्दोष रखना, सुरक्षित रखना आदि बातें जानने योग्य हैं और इस दृष्टांतसे घरकी सुरक्षितताकी बातें भी जानी जाती है। शाला [घर] भी एक कुलवधु है ऐसा मानकर उसकी सुरक्षितता और शोभाके बढानेके लिए प्रयत्न करना चाहिए। ऐसा करनेसे ही [गुरुः भारः लघुः] संसार का बडा भारी बोझ बहुत हलका हो जाता है।

जहां ऐसे ढंगसे कुलवधुके समान घरकी सुव्यवस्था की जाती है, वहां घरके चारों ओरकी दिशा और उपदिशाएं प्रसन्न होती हैं, और वहां देवताओंका निवास होनेयोग्य स्थान बनता है। और घरकी महिमा बढ जाती है।

हरएक गृहस्थी अपने घरकी महिमा इस प्रकार बढावे और अपना घर देवताओंके निवास करने योग्य करे और अपने सिरपरका संसारका बोझ हलका करे।

*

बैल ।

[४].

(ऋषिः—ब्रह्मा । देवता-ऋषभः)

साहस्रस्त्वेष ऋषभः पयस्वान् विश्वा रूपाणि वक्षणासु बिभ्रत् ।
भद्रं दात्रे यजमानाय शिक्षन् बार्हस्पत्य उस्रियस्तन्तुमातान् ॥ १ ॥

अपां यो अग्रे प्रतिमा बभूव प्रभूः सर्वस्मै पृथिवीव देवी ।
पिता वत्सानां पतिरघ्न्यानां साहस्रे पोषे अपि नः कृणोतु ॥ २ ॥

पुमानन्तर्वान्त्स्थविरः पयस्वान् वसोः कबन्धमृषभो बिभर्ति ।
तमिन्द्राय पथिभिर्देवयानैर्हुतमग्निर्वहतु जातवेदाः ॥ ३ ॥

पिता वत्सानां पतिरघ्न्यानामथो पिता महतां गर्गराणाम् ।
वत्सो जरायु प्रतिधुक् पीयूष आमिक्षा घृतं तद् वस्य रेतः ॥ ४ ॥

अर्थ— [साहस्रः त्वेषः] हजारों शक्तियोंसे युक्त तेजस्वी, [पयस्वान् ऋषभः] दूधवाला बैल [वक्षणासु विश्वा रूपाणि बिभ्रत्] नदी तीरोंपर बहुत रूपोंको धारण करता हुआ [बार्हस्पत्यः उस्रियः] बृहस्पतिके संबंधका यह बैल [दात्रे यजमानाय भद्रं शिक्षन्] दान देनेवाले यजमानके लिए भलाईकी शिक्षा देता हुआ [तन्तुं आतान्] यज्ञके धागेको फैलाता है ॥ १ ॥

[यः अग्रे] जो पहिले [अपां प्रतिमा बभूव] जलोंके मेघकी उपमा हुआ करती है [देवी पृथ्वी इव] पृथिवी देवीके समान [सर्वस्मै प्रभूः] सब पर प्रभाव चलानेवाला, [वत्सानां पिता] बच्चोंका स्वामी [अघ्न्यानां पतिः] गौवोंका पति [नः] हमें [साहस्रे पोषे अपि कृणोतु] हजारों प्रकारकी पुष्टिमें करे, रखे ॥ २ ॥

[पुमान् अन्तर्वान्] पुरुष अपने अन्दर शक्ति धारण करनेवाला, [स्थविरः पयस्वान्] बड़ा दूधवाला [ऋषभः वसोः कबन्धं बिभर्ति] बैल धनके शरीरको धारण करता है । [तं देवयानैः पथिभिः हुतं] उस देवयान मार्गोंसे समर्पितको [जातवेदाः अग्निः इन्द्राय वहतु] जातवेद अग्नि इन्द्रके लिए ले जाये ॥ ३ ॥

[वत्सानां पिता] बच्चोंका पिता, [अघ्न्यानां पतिः] गौवोंका पति, [अथो] और [महतां गर्गराणां पिता] बड़े प्रवाहोंका पालक, [वत्सः जरायु] बच्चा जेर से आवर [प्रतिधुक् पीयूषः] प्रतिदिन अमृत का दोहन करता हुआ [आमिक्षा घृतं] दही और घी देता है [तत् उ अस्य रेतः] वह निःसन्देह इसका वीर्य है ॥ ४ ॥

भावार्थ— बैल हजारों शक्तियोंसे युक्त है । बैल ही दूधवाला है । नदियोंके तटोंपर इसके विविध रूप दीखते हैं । इसका दान करनेसे हित होता है और यज्ञका प्रचार होता है ॥ १ ॥

इसको जलदायी मेघोंकी उपमा दी जाती है । पृथ्वी देवापर यह अधिक प्रभाववाला है, यह बछडोंका पिता और गौवोंका पति है । इससे हमारी हजारों प्रकारकी पुष्टी होती है ॥ २ ॥

यह पुरुष है, इसके अन्दर शक्ति है, यह सामर्थ्यवाला और दूधवाला है । यह धनका धारण करता है । उस समर्पित हुए को जातवेद अग्नि इंद्रके लिये देवयानके मार्गों से लेजाता है ॥ ३ ॥

देवानां भाग उपनाह एषोऽपां रस ओषधीनां घृतस्य।
सोमस्य भक्षमवृणीत शक्रो बृहन्नद्रिरभवद् यच्छरीरम् ॥ ५ ॥
सोमेन पूर्णं कलशं बिभर्षि त्वष्टा रूपाणां जनिता पशूनाम्।
शिवास्ते सन्तु प्रजन्व इह या इमा न्यस्मभ्यं स्वधिते यच्छ या अमूः ॥ ६ ॥
आज्यं बिभर्ति घृतमस्य रेतः साहस्रः पोषस्तमु यज्ञमाहुः।
इन्द्रस्य रूपमृषभो वसानः सो अस्मान् देवाः शिव ऐतु दत्तः ॥ ७ ॥
इन्द्रस्यौजो वरुणस्य बाहू अश्विनोरंसौ मरुतामियं ककुत्।
बृहस्पतिं संभृतमेतमाहुर्ये धीरासः कवयो ये मनीषिणः ॥ ८ ॥

अर्थ- [एषः देवानां उपनाहः भागः] यह देवोंका समीप स्थित भाग है, [अपां ओषधीनां घृतस्य रसः] जल का औषधियोंका और घीका यह रस है, [सोमस्य भक्षं शक्रः अवृणीत] यही सोमका रस इन्द्रने प्राप्त किया, इसका [यत् शरीरं बृहत् अद्रिः अभवत्] जो शरीर था वही बडा मेघ बना है ॥ ५ ॥

[सोमेन पूर्णं कलशं बिभर्षि] सोमरससे परिपूर्ण कलशको तू धारण करता है। और तू [रूपाणां त्वष्टा] रूपोंका बनानेवाला और (पशूनां जनिता) पशुओंका उत्पादक है, (याः इमाः ते प्रजन्वः) जो ये तेरे सन्तान हैं वे (शिवाः सन्तु) हमारे लिए शुभ हों। हे (स्वधिते) शस्त्र! (याः अमूः अस्मभ्यं नि यच्छ) जो वहां हैं वे हमारे लिए दें ॥ ६ ॥

(अस्य घृतं आज्यं) इसका घी और आज्य (रेतः बिभर्ति) वीर्यको धारण करता है। (साहस्रः पोषः) जो हजारोंका पोषक है (तं उ यज्ञं आहुः) उसको यज्ञ कहते हैं। (ऋषभः इन्द्रस्य रूपं वसानः) बैल इन्द्रका रूप धारण करता हुआ, हे (देवाः) देवो! (सः दत्तः अस्मान् शिवः आ एतु) वह दान दिया हुआ हमारे पास शुभ होकर प्राप्त होवे ॥ ७ ॥

(ये धीरासः) जो धैर्यवाले और (ये मनीषिणः कवयः) जो मननशील कवि हैं वे (एतं संभृतं बृहस्पतिं आहुः) इस संभारयुक्तको बृहस्पति कहते हैं तथा यह (इन्द्रस्य ओजः) इन्द्रकी शक्ति, (वरुणस्य बाहू) वरुणके बाहू, (अश्विनोः अंसौ) अश्विदेवोंके कन्धे, (मरुतां इयं ककुद्) मरुतोंकी यह कोहनि है ऐसा कहते हैं ॥ ८ ॥

भावार्थ- बछडोंका पिता और गौवोंका पति, बडी जलधाराओंका स्वामी, जन्मते ही अमृतका दोहन करके देता है, तथ दही और घी देता है, मानो यह इसीका बल है ॥ ४ ॥

यह दूध देवोंका भाग है, यह औषधियोंका रस है, यह सोमरसके साथ पिया जाता है। इसके शरीरको मेघकी ही उपमा है ॥ ५ ॥

सोमरससे भरा हुआ कलश यह धारण करता है, यह गौ आदिका उत्पन्न कर्ता, विविध रूपोंका बनानेवाला है, इसके सन्तान हमें कल्याणदायी हों, शस्त्र इनकी रक्षा करके हमें देवें ॥ ६ ॥

यह घी, और वीर्य धारण करता है, हजारों प्रकारकी पुष्टि देता है अतः इसको यज्ञ कहते हैं। यह इन्द्रका रूप धारण करके हमारे लिए शुभ होवे ॥ ७ ॥

जो धैर्ययुक्त कवि और ज्ञानी हैं वे इसको देवताओंकी शक्तियोंसे युक्त मानते हैं, इसमें बृहस्पति, इन्द्र, वरुण, अश्विनी मरुत् इनकी शक्तियां हैं ॥ ८ ॥

देवीर्विशः पयस्वाना तनोषि त्वामिन्द्रं त्वां सरस्वन्तमाहुः ।
सहस्रं स एकमुखा ददाति यो ब्राह्मण ऋषभमाजुहोति ॥ ९ ॥

बृहस्पतिः सविता ते वयो दधौ त्वष्टुर्वायोः पर्यात्मा त आभृतः ।
अन्तरिक्षे मनसा त्वा जुहोमि बर्हिष्टे द्यावापृथिवी उभे स्ताम् ॥ १० ॥(९)

य इन्द्र इव देवेषु गोष्वेति विवावदत् । तस्य ऋषभस्याङ्गानि ब्रह्मा सं स्तौतु भद्रया ११

पार्श्वे आस्तामनुमत्या भगस्यास्तामनूवृजौ ।
अष्ठीवन्तावब्रवीन्मित्रो ममैतौ केवलाविति ॥ १२ ॥

भसदासीदादित्यानां श्रोणी आस्तां बृहस्पतेः ।
पुच्छं वातस्य देवस्य तेन धूनोत्योषधीः ॥ १३ ॥

गुदा आसन्त्सिनीवाल्याः सूर्यायास्त्वचमब्रुवन् ।
उत्थातुरब्रुवन् पद ऋषभं यदकल्पयन् ॥ १४ ॥

अर्थ—तू (पयस्वान् दैवीः विशः आ तनोषि) दूधवाला दिव्यगुणी प्रजाको उत्पन्न करता है। (त्वां इन्द्रं) तुझे इन्द्र और (त्वां सरस्वन्तं आहुः) सारवाला कहते हैं (यः ब्राह्मणः) जो ब्राह्मण (ऋषभं आ जुहोति) बैलका दान करता है (सः एकमुखाः सहस्रं ददाति) वह एक स्थानपर मुख करता हुआ हजारोंका दान करता है ॥ ९ ॥

(बृहस्पतिः सविता) बृहस्पति और सविता (ते वयः दधौ) तेरी आयुका धारण करते हैं। (ते आत्मा) तेरा आत्मा (त्वष्टुः वायोः परि आभृतः) त्वष्टा और वायुसे परिपूर्ण है। (मनसा त्वा अन्तरिक्षे जुहोमि) मनसे तुझे अन्तरिक्षमें अर्पण करता हूं, (उभे द्यावापृथिवी ते बर्हिः स्ताम्) दोनों द्युलोक और भूलोक तेरे आसन हों ॥ १० ॥

(देवेषु इन्द्रः इव) देवोंमें जैसा इन्द्र वैसा (यः गोषु विवावदत् एति) गौओंमें शब्द करता हुआ चलता है। (तस्य ऋषभस्य अंगानि) उस बैलके अंगोंकी (भद्रया ब्रह्मा संस्तौतु) प्रशंसा शुभवाणीसे ब्रह्मा करे ॥ ११ ॥

(पार्श्वे अनुमत्याः आस्तां) दोनों पासे अनुमतिके हैं, (अनूवृजौ भगस्य आस्तां) पसलियोंके दोनों भाग भगके हैं, (मित्रः अब्रवीत्) मित्रने कहा कि (अष्ठीवन्तौ केवलौ एतौ मम इति) दो घुटने केवल मेरे हैं ॥ १२ ॥

(भसद् आदित्यानां आसीत्) पृष्ठवंशका अन्तिम भाग आदित्योंका है, (श्रोणी बृहस्पतेः आस्तां) कूल्हे बृहस्पतिके हैं, (पुच्छं वातस्य देवस्य) पुच्छ वायु देवका है, (तेन ओषधीः धूनोति) उससे औषधियोंको हिलाता है ॥ १३ ॥

(गुदाः सिनीवाल्याः आसन्) गुदाभाग सिनीवालीके हैं, (त्वचं सूर्यायाः अब्रुवन्) त्वचा सूर्यप्रभाकी है, ऐसा कहते हैं। (पदः उत्थातुः अब्रुवन्) पैर उत्थाताके हैं ऐसा कहा है, (यत् ऋषभं अकल्पयन्) इस प्रकार बैलकी कल्पना विद्वानोंने की है ॥ १४ ॥

भावार्थ— यह दूध देनेवाला बैल उत्तम प्रजा उत्पन्न करता है, उसको सारवान् इन्द्र कहते हैं। जो बैलका समर्पण करता है उसको हजारों दानोंका श्रेय होता है ॥ ९ ॥

बृहस्पति और सविताने उसकी आयुका धारण किया है। त्वष्टा और वायुका सत्त्व इसमें है। इसका मनसे अन्तरिक्षमें समर्पण करनेसे भूमिपर और आकाशके नीचे यह रहता है ॥ १० ॥

जैसा देवोंमें इन्द्र वैसा यह बैल गौवोंमें है। ज्ञानी ही इसके अवयवोंके महत्त्व का कथन कर सकता है ॥ ११ ॥

इसके अवयवोंमें अनुमति, भग, मित्र, आदित्य, बृहस्पति, वायु आदि देवताओंका अधिष्ठान है ॥१२-१३॥

क्रोड आसीज्जामिशंसस्य सोमस्य कलशो धृतः ।
देवाः संगत्य यत् सर्व ऋषभं व्यकल्पयन् ॥ १५ ॥
ते कुष्ठिकाः सरमायै कूर्मेभ्यो अदधुः शफान् ।
ऊवध्यमस्य कीटेभ्यः श्ववर्तेभ्यो अधारयन् ॥ १६ ॥
शृङ्गाभ्यां रक्ष ऋषत्यवर्तिं हन्ति चक्षुषा ।
शृणोति भद्रं कर्णाभ्यां गवां यः पतिरघ्न्यः ॥ १७ ॥
शतयाजं स यजते नैनं दुन्वन्त्यग्नयः ।
जिन्वन्ति विश्वे तं देवा यो ब्राह्मण ऋषभमाजुहोति ॥ १८ ॥
ब्राह्मणेभ्य ऋषभं दत्त्वा वरीयः कृणुते मनः ।
पुष्टिं सो अघ्न्यानां स्वे गोष्ठेऽव पश्यते ॥ १९ ॥

अर्थ- [क्रोडः जामिशंसस्य आसीत्] गोद जामिशंसकी थी, [कलशः सोमस्य धृतः] कलश सोमका धारण किया है, इस प्रकार [सर्वे देवाः संगत्य] सब देव मिलकर [यत् ऋषभं व्यकल्पयन्] बैलकी कल्पना करते रहे ॥ १५ ॥

[कुष्ठिकाः सरमायै ते अदधुः] कुष्ठिकोंको सरमाके लिए वे धारण करते रहे। और [शफान् कूर्मेभ्यः] खुरोंको कछुओंके लिए धारण करते रहे। [अस्य ऊवध्यं]इसका अपक्व अन्न [श्ववर्तेभ्यः कीटेभ्यः अधारयन्] कुत्तेके साथ रहनेवाले कीडोंके लिए रख दिया ॥ १६ ॥

[यः अघ्न्यः गवां पतिः] जो गौवोंका हननके अयोग्य पति अर्थात् बैल है, वह [कर्णाभ्यां भद्रं शृणोति] कानोंसे कल्याणकी बातें सुनता है, [शृंगाभ्यां रक्षः ऋषति] सींगोंसे राक्षसोंको हटा देता है और [चक्षुषा अवर्तिं हन्ति] आंखसे अकालको नष्ट करता है ॥ १७ ॥

[यः ब्राह्मणे ऋषभं आजुहोति] जो ब्राह्मणोंको बैल समर्पण करता है (तं विश्वे देवाः जिन्वन्ति) उसको सब देव तृप्त करते हैं। (सः शतयाजं यजति) वह सैंकडों याजकों द्वारा यज्ञ करता है और (एनं अग्नयः न दुन्वन्ति) इसको अग्नि कष्ट नहीं देते ॥ १८ ॥

(ब्राह्मणेभ्यः ऋषभं दत्वा) ब्राह्मणोंको बैल देकर जो अपना (मनः वरीयः कृणुते) मन श्रेष्ठ बनाता है। (सः स्वे गोष्ठे) वह अपनी गोशालामें (अघ्न्यानां पुष्टिं अव पश्यते) गौवोंकी पुष्टि देखता है ॥ १९ ॥

भावार्थ—सिनीवाली,सूर्यप्रभा,उत्थाता,जामिशंस,सोम इन देवताओंके लिए क्रमशः गुदा, त्वचा, पैर,गोद, कलश ये इसके अवयव माने गये हैं। इस तरह सब देवोंने इस बैलके विषयमें कल्पना की है ॥ १४-१५ ॥

सरमा, कूर्म, श्ववर्ति, क्रिमी आदिके लिए इसके कुष्ठिका, खुर, और अपचित् अन्नभाग रखे हैं ॥ १६ ॥

बैल गौका पति है। वह कानोंसे उत्तम शब्द सुनता है, सींगोंसे शत्रुओंको हटाता है और आंखसे अकालको दूर करता है ॥ १७ ॥

जो ब्राह्मणको बैल दान देता है, उसकी सब देव तृप्ति करते हैं। वह सैंकडों प्रकारके याजकों द्वारा यज्ञ करता हुआ अग्निके भयसे दूर रहता है ॥ १८ ॥

जो ब्राह्मणोंको बैल दान करके अपना मन श्रेष्ठ बनाता है, वह अपनी गोशालामें बहुत गौवें पुष्ट हुई हैं, इसका अनुभव करता है ॥ १९ ॥

गावः सन्तु प्रजाः सन्त्वथो अस्तु तनूबलम् ।
तत् सर्वमनु मन्यन्तां देवा ऋषभदायिने ॥ २० ॥
अयं पिपान इन्द्र इद् रयिं दधातु चेतनीम् ।
अयं धेनुं सुदुघां नित्यवत्सां वशं दुहां विपश्चितं परो दिवः ॥ २१ ॥
पिशङ्गरूपो नभसो वयोधा ऐन्द्रः शुष्मो विश्वरूपो न आगन् ।
आयुरस्मभ्यं दधत् प्रजां च रायश्च पोषैरभि नः सचताम् ॥ २२ ॥
उपेहोपपर्चनास्मिन् गोष्ठ उप पृञ्च नः । उप ऋषभस्य यद् रेत उपेन्द्र तव वीर्यम् २३
एतं वो युवानं प्रति दध्मो अत्र तेन क्रीडन्तीश्चरत वशाँ अनु ।
मा नो हासिष्ट जनुषा सुभागा रायश्च पोषैरभि नः सचध्वम् ॥ २४॥ (२४)

॥ इति द्वितीयोऽनुवाकः ॥

अर्थ- (गावः सन्तु) गौवें हों, (प्रजाः सन्तु) प्रजाएं हों, (अथो तनूबलं अस्तु) और शारीरिक बल हो । (तत् सर्वं) यह सब (ऋषभदायिने) बैल देनेवालेके लिये (देवाः अनुमन्यन्तां) देव अपनी अनुमतिके साथ देवें ॥ २० ॥

(अयं पिपानः इन्द्रः इत्) यह पुष्ट इन्द्र (चेतनीं रयिं दधातु) चेतना देनेवाले धनका धारण करे । तथा (अयं) यह इन्द्र (सुदुघां) उत्तम दोहने योग्य (नित्यवत्सां) बछडोंके साथ उपस्थित, (वशं दुहां) वशमें रहकर दुहने योग्य, (विपश्चितं धेनुं) ज्ञानयुक्त धेनुको (परः दिवः) श्रेष्ठ द्युलोकके परेसे धारण करे ॥ २१ ॥

(पिशंगरूपः) लाल रंगवाला, (नभसः) आकाशसे (ऐन्द्रः शुष्मः) इन्द्रके संबंधी बल धारण करनेवाला (विश्वरूपः वयोधाः नः आगन्) समस्त रूपोंसे युक्त अन्नका धारण करनेवाला हमारे पास आगया है । वह (आयुः प्रजां च रायः च) आयु, प्रजा और धन (अस्मभ्यं दधत्) हमारे लिए धारण करता हुआ (पोषैः नः अभिसचन्तां) पुष्टियोंसे हमें प्राप्त होवे ॥ २२ ॥

(इह अस्मिन् गोष्ठे) यहां इस गोशालामें (उप इह पर्चन) समीप रह । और (नः उपपृञ्च) हमें प्राप्त हो । (ऋषभस्य यत् रेतः) वृषभका जो वीर्य है, हे इन्द्र ! (तव वीर्यं उप) वह तेरा वीर्य हमारे पास आजावे ॥ २३ ॥

(एतं युवानं वः प्रतिदध्मः) इस युवाको हम आपके लिए समर्पित करते हैं, (अत्र तेन क्रीडन्तीः चरत) यहां उसके साथ खेलती हुई विचरो और (वशान् अनु) इच्छित स्थानोंके प्रति जाओ । हे (सुभागाः) भाग्ययुक्त गौवो ! (जनुषा मा हासिष्ट) जन्मके साथ हमारा त्याग न करो, (च पोषैः रायः) पुष्टियोंके साथ रहनेवाले धन (नः अभिसचध्वं) हमें दो ॥ २४ ॥

भावार्थ- बैलका दान करनेवालेकी देवोंकी अनुमतिसे गौवें मिलतीं, प्रजा होती और शरीरका बल भी प्राप्त होता है ॥ २० ॥

यह प्रभु चैतन्ययुक्त गोरूपी धन हमें देवे । यह द्युलोकके परेसे ऐसी गौ लावे कि जो उत्तम दूध देनेवाली, नित्य बछडेको साथ रखनेवाली, विनाकष्ट दूध देनेवाली और स्वामीको पहचाननेवाली हो ॥ २१ ॥

आकाशके पाससे बैल ऐसा आया है कि जो लाल रंगवाला, बलवान, अनेक रंगोंसे युक्त, अन्नको देनेवाला है । यह हमें आयु, प्रजा और धन हमारे लिए देवे और हमें पुष्टि देवे ॥ २२ ॥

यह बैल इस गोशालामें रहे, हमारे पास रहे । इस बैलका जो बल है वह इन्द्रकी शक्ति है, यह हमें प्राप्त हो ॥ २३ ॥

इन गौवोंके पास हम इस बैलको धर देते हैं । इसके साथ ये गौवें खेलें, कूदें और विचरें । जहां चाहें वहां घूमें । गौवें हमारा त्याग न करें, हमारे पास रहें । पुष्ट हों और हम सबको पुष्ट करें ॥ २४ ॥

—:—:—

बैलकी महिमा ।

इस सूक्तमें बैलकी महिमा वर्णन की है । उत्तमसे उत्तम बैलका घरमें पालन करनेसे कितने लाभ होते हैं इसका वर्णन इस सूक्तमें पाठक देखें-

साहस्रस्त्वेषः ऋषभः पयस्वान् । (मं० १)

"हजारों तेजोंसे और बलोंसे युक्त यह बैल है, और यह (पयस्वान्) दूध देनेवाला है । " पाठक यहां आश्चर्य करेंगे कि बैल दूध देनेवाला किस प्रकार हो सकता है ? प्रथम और तृतीय मंत्रमें इस बैलको (पयस्वान्) दूधवाला कहा है । अतः इस वर्णनमें कुछ हेतु है। जैसा बैल होता है वैसा उसकी गौरूप संततिमें दूध न्यूनाधिक होता है । अर्थात् गौमें दूध उत्पन्न करनेकी शक्ति बैलपर निर्भर है । कई जातिके बैल कम दूध देनेवाली संतान पैदा करते हैं और कई जातिके बैल विशेष दूध देनेवाली संतान उत्पन्न करते हैं । अतः यदि अधिक दूध देनेवाली गौवें उत्पन्न करानेकी इच्छा हो, तो अधिक दूध देनेवाली गौओंके साथ उस जातिका बैल रखना चाहिये कि जो अधिक दूध देनेवाली जातिका हो। ऐसी गौवें और ऐसे बैल एक स्थानपर रखने चाहिए। अर्थात् कम दूध देनेवाली जातिके बैल अधिक दूध देनेवाली गौके साथ कदापि नहीं रखना चाहिये क्योंकि इससे उत्पन्न होनेवाली गौका दूध घट जायगा । अतः २४ वें मंत्रमें कहा है-

एवं वो युवानं प्रतिदध्मः तेन क्रीडन्तीश्चरत वशाँ अनु ॥ (मं० २४)

" इस युवा बैलको गौवोंके साथ रखते हैं, इसके साथ ये हो गौवें खेलें और इष्ट प्रदेशमें विचरें । " अर्थात् यह फलानी जातिका बैल है और ये फलानी जातिकी गौवें हैं, इन दोनोंका संबंध हम करना चाहते हैं । इस संबंधसे विशेष प्रकारकी संतान पैदा होगी । इस प्रकार गौओंमें भी किसी गौका किसी बैलके साथ संबंध होना इष्ट नहीं है । विशेष जातिकी गौके साथ विशेष जातिके बैलका ही संबंध होना अभीष्ट है । गौवोंमें जातिका संकर कदापि होने देना युक्त नहीं है। यदि भिन्न जातिमें संबन्ध होना है तो उच्च जातिवाले नरके साथ संबंध हो और नीच जातिवाले नर के साथ संबंध न हो । यदि दूध बढानेकी इच्छा हो तो अधिक दूध देनेवाली जातिके बैलके साथ गौका संबंध हो, यदि वाहक शक्तिवाले बैल उत्पन्न करनेकी इच्छा हो तो उत्तम वाहक शक्तिवाले बैलके साथ संबंध हो । गौओंके अंदरकी उपजातियोंकी भी रक्षा करना योग्य है और संतान विशेष जातिकी ही उत्पन्न करनेका यत्न होना चाहिये । जातिसंकर होनेसे गुणोंकी न्यूनता होती है और जातिकी शुद्धता रहनेसे गुणोंका संवर्धन होजाता है । इस सूक्तमें इस तरह गौओंकी जातियोंकी रक्षा करके अथवा अनुलोम संबंधसे उच्च नरके साथ संबंध रखके गऊओंका संवर्धन करनेका उपदेश है और यह उपदेश देनेके लिए बैलके रेतमें दूध बढानेका गुण है। यह बात कही है । इसका विचार पाठक करें । अस्तु यह बैल-

वक्षणासु बिभ्रा रूपाणि बिभ्रत् । (मं० १)

" नदीके किनारोंपर यह बैल अपने विविध रूपोंको धारण करता है । " अर्थात् यह नदीके किनारेपर रहकर घास आदि खाकर यथेष्ट पुष्ट होकर विचरता है और गौवोंमें विविध प्रकारके अपने रूपोंका आधान करता है । यदि यह खा पी कर पुष्ट न बने, तो उत्तम संतान निर्माण करनेमें असमर्थ होगा । इसलिए सांडको बडा पुष्ट बनाना चाहिये । इस प्रकारका-

उस्त्रियः तन्तुं आतान् (मं० ३)

" अपने प्रजातन्तु को फैलाता है । " अर्थात् गौवोंमें गर्भाधान करके उत्तम संतान उत्पन्न करता है । यही रीति है कि जिससे गौवें और बैल उत्तम निर्माण हो सकते हैं । ऐसे उत्तम जातिके बैल-

दात्रे भद्रं बिभ्रन् । (मं० १)

" दाता के लिए कल्याण देते हैं । " जो मनुष्य ऐसे उत्तम बैल आचार्योंको दान देता है उसका कल्याण होता है । अर्थात् आचार्य, ब्राह्मण आदिके पास बहुत शिष्य होते हैं, अतः उनके आश्रमोंमें अधिक दूध देनेवाली गौवें रहीं, तो वहांके ब्रह्मचारी दूध पीकर पुष्ट रह सकते हैं। अतः ऐसे उत्तम बैल और उत्तम गौवें ऐसे आचार्योंको देना कल्याणकर है। इस सूक्तमें इस प्रकारके दान के लिए प्रेरणा इस तरह की है-

सहस्रं स एकमुखा ददाति यो ब्राह्मण ऋषभमाजुहोति। (मं० ९)
जिन्वन्ति विश्वे तं देवा यो ब्राह्मण ऋषभमाजुहोति ॥ (मं० १८)
ब्राह्मणेभ्य ऋषभं दत्त्वा वरीयः कृणुते मनः ॥ (मं० १९)
तत्सर्वमनुमन्यन्तां देवा ऋषभदायिने ॥ (मं० २०)

जो (ब्राह्मणे) ब्राह्मण को बैल समर्पण करता है वह एक रूपमें हजारों दान करता है। उसको सब देव संतुष्ट करते हैं जो (ब्राह्मणे) ब्राह्मणके घरमें बैलका समर्पण करता है। ब्राह्मणोंको बैल दान देकर मन श्रेष्ठ बनाता है। जो बैलका दान करता है उसके लिए सब देव अनुकूल होते हैं ॥''

विद्वान, ज्ञानी, सदाचारी आचार्यजीको उत्तम बैल दान करनेकी प्रेरणा इस प्रकार इस सूक्तमें की है। इसका तात्पर्य पूर्व स्थानमें जैसा बताया है वैसा ही समझना चाहिये। यही विषय महाभारतमें निम्नलिखित रीतिसे स्पष्ट किया है–

दत्त्वा धेनुं सुव्रतां कांस्यदोहां कल्याणवत्सामपलायिनीं च ।
यावन्ति रोमाणि भवन्ति तस्यास्तावद्वर्षाण्यश्नुते स्वर्गलोकम् ॥ ३३ ॥
तथाऽनड्वाहं ब्राह्मणेभ्यः प्रदाय दान्तं धुर्यं बलवन्तं युवानम् ।
कुलानुजीव्यं वीर्यवन्तं बृहन्तं भुङ्क्ते लोकान्संमितान्धेनुदस्य ॥ ३४ ॥
गोषु क्षान्तं गोशरण्यं कृतज्ञं वृत्तिग्लानं तादृशं पात्रमाहुः ।
वृद्धे ग्लाने संभ्रमे वा महार्थे कृष्यर्थं वा होम्यहेतोः प्रसूत्याम् ॥ ३५ ॥
गुर्वर्थे वा बालपुष्ट्याभिषङ्गां गां वै दातुं देशकालोऽविशिष्टः ।

म० भा० अनुशा० अ० ७१

" दान करनेके लिए गौ ऐसी हो कि जो उत्तम स्वभाववाली, बडे कांस्य के बर्तनमें जिसका दोहन होता हो, जिसके बछडे उत्तम होते हैं, जो न भागती हो। इसी प्रकार ब्राह्मणोंको दान करनेके लिए योग्य बैल बोझा ढोनेवाला, उत्तम बलवान, युवा, वीर्यवान्, बडे शरीरवाला हो। ऐसे बैलका दान करनेवालेको स्वर्गलाभ होता है। गौ ऐसे विद्वान्को देनी चाहिये कि जो गौका भक्त हो, गोपालक हो, गौके विषयमें कृतज्ञ हो, वृत्तिहीन हो, । गुरुजीको शिष्य उत्तम गौ दान देवे। " इस रीतिसे महाभारतमें गौ दान और वृषभ दानका विषय कहा है। हरएक ब्राह्मण गौका दान लेनेका अधिकारी नहीं है। इस विषयमें महाभारत और अथर्ववेदके सूक्तोंमें बहुत नियम हैं, उनका विचार पाठक अवश्य करें—

असद्वृत्ताय पापाय लुब्धायानृतवादिने ।
हव्यकव्यव्यपेताय न देया गौः कथंचन ॥ १५ ॥
भिक्षवे बहुपुत्राय श्रोत्रियायाहिताग्नये ।
दत्त्वा दशगवां दाता लोकानाप्नोत्यनुत्तमान् ॥ १६ ॥

म० भा० अनुशा० अ० ६९

" दुराचारी, पापी, लोभी, असत्यभाषणी, हव्यकव्य न करनेवालेको कभी गौ दान देनी नहीं चाहिये । भिक्षापर जीविका निर्वाह करनेवाला, बहुत पुत्रवाला, वेदज्ञानी, अग्निहोत्री को गोदान करनेसे स्वर्गप्राप्त होता है। " इस प्रकार महाभारतमें वर्णन है। यह देखनेसे पता लगता है कि विद्वान् सदाचारी आचार्यको ही गौ दान करना योग्य है। केवल ब्राह्मणकुलमें उत्पन्न होनेसे गौ दान लेनेका अधिकारी नहीं हो सकता। तथा अथर्ववेदमें अन्यत्र जो कहा है वह भी यहां देखिये—

यो ददाति शतौदनाम् । अथर्व १०।९।५,६, १०
ब्राह्मणेभ्यो वशां दत्त्वा सर्वांल्लोकान्समश्नुते ॥ अ० १०।१०।३३
आपो देवीर्मधुमतीर्घृतश्चुतो ब्रह्मणां हस्तेषु प्र पृथक्सादयामि ॥

अ० १०।९।२७

" शतौदना गौका दान करता है। ब्राह्मणोंको वशा गौदान करनेसे सब श्रेष्ठ लोकोंकी प्राप्ति होती है। ब्राह्मणोंके हाथोंपर दानका उदक पृथक् पृथक् छोडता हूं अर्थात् दान करता हूं।" इन मंत्रोंसे स्पष्ट बोध होता है कि ब्राह्मणोंको गोदान करना चाहिये। यहां विचार करना चाहिए कि कौनसे ब्राह्मणको इस प्रकार गौका दान करना चाहिये। निम्नलिखित मंत्रोंसे इसका उत्तर मिलता है-

शिरो यज्ञस्य यो विद्यात्स वशां प्रतिगृह्णीयात्।
य एवं विद्यात्स वशां प्रतिगृह्णीयात् ॥
य एवं विदुषे वशां ददुस्ते गतास्त्रिदिवं दिवः ॥
सा वशा दुष्प्रतिग्रहा ॥

अथर्व० १०।१०।२;२७;३२;२८

" जो यज्ञके सिरको अर्थात् मुख्य भागको ठीक प्रकार जानता है वह गौका दान लेवे। जो इस ज्ञानसे युक्त है वह गौका दान लेवे। जो इस प्रकारके ज्ञानीको गौका दान करते हैं वे स्वर्गको प्राप्त करते हैं। अन्योंको अर्थात् जो इस ज्ञानसे युक्त नहीं हैं उनको गौका दान नहीं लेना चाहिए।"

इन मंत्रोंमें विशेष ज्ञानी आत्मनिष्ठ ब्राह्मणोंको गौका दान करना योग्य है ऐसा स्पष्ट कहा है। इसलिए ब्राह्मणको गौदान करनेमें कोई पक्षपात नहीं है। जो ब्राह्मण राष्ट्रके नवयुवकोंको ज्ञान देता है और जो धर्म की मूर्ति है, उसको उत्तम गौओंका दान करना योग्य है। ब्राह्मण जातिमें उत्पन्न पापी मनुष्योंको कदापि गौओंका दान करना योग्य नहीं है। गौके और बैलके दानके विषयमें यही समान उपदेश है।

अपां यो अग्रे प्रतिमा बभूव प्रभूः सर्वस्मै पृथिवीव देवी। [मं० १]

" बैलकी उपमा केवल मेघकी है, यह सबका प्रभु है और देवी पृथ्वीके समान वह सबका उपकारक है" जिस प्रकार जलदान करनेसे मेघ सबको जीवन देता है और अन्न देनेके कारण पुष्टिका हेतु होता है, उस प्रकार बैल भी अन्न उत्पन्न करता है, कृषीका साधक है और गौके द्वारा अमृत रूपी जीवनरस देता है। इसलिए मेघ और बैल समानतया उपकारक हैं। अतः बैलको वेदमें मेघोंकी उपमा दी है। यह बैल हमें

साहस्रे पोषे अपि नः कृणोतु। [मं० २]

" हजारों प्रकारकी पुष्टिमें रखे।" अर्थात् हमारा उत्तम रीतिसे सहायक बने। इसके आगे मंत्र ३ और ४ में बैलके गुणोंका उत्तम वर्णन है वह अति स्पष्ट है। पंचम मंत्रमें [सोमस्य भक्षः] सोमका अन्न बनानेका वर्णन है। सोमरसके साथ दूध मिलानेसे उत्तम पेय होता है, ऐसा अन्यत्र वेदमें कई स्थानोंमें कहा है। उसी सोमके अन्नका यहाँ उल्लेख है। [ओषधीनां रसः] औषधियोंके रसके साथ गायका दूध पीनेकी यह वैदिक रीति यहां देखने योग्य है। बैलके कारण गौमें दूध उत्पन्न होता है, इसलिए इस पेयका हेतु बैल है ऐसा यहां कहा है, वह बात युक्तियुक्त है। यह बैल-

सोमेन पूर्णं कलशं बिभर्षि। [मं० ६]

" सोमरससे भरे हुए कलशका धारण करता है।" यह अमृत रसका कलश गौका स्तन या ऊध है जिसमें विपुल दूध रहता है। गायका दूध भी सोमशक्तिसे युक्त होता है, यह सोमशक्ति सोमादि शुद्ध वनस्पतियोंके भक्षणसे गौमें उत्पन्न होती है। इस रीतिसे देखा जाय तो गौ सोमरसका कलश धारण करती है और यह बैल गौके अन्दर इस सोमरसका धारण करता है, यह बात स्पष्ट होजाती है। इस प्रकार यह सोमरसका आधार बैल—

इन्द्रस्य रूपं वसानः [मं ७]

" इन्द्रके रूपको धारण करनेवाला है।" यह बैल इन्द्रकी शक्तिको अपने अन्दर धारण करता है, इसीलिए इसको-

आज्यं बिभर्ति घृतमस्य रेतः साहस्रः पोषस्तमु यज्ञमाहुः। [मं० ७]

" घीका धारक, वीर्यका स्थान और हजारों प्रकारकी पुष्टियां देनेवाला कहते हैं। " विचार करनेपर पाठकोंको इस बातका अनुभव अवश्य मिलेगा। यदि यह बैल गौमें दूध अधिक उत्पन्न करनेका हेतु है, तो यही घी और वीर्यका वर्धक भी निश्चयसे है, क्योंकि जो दूधका बढानेवाला है वही वीर्यका बढानेवाला होता है। गौके दूधको वैद्यक ग्रंथोंमें (सकृत् शुक्रकरं स्वादु) शीघ्र वीर्य बढानेवाला कहा है। हजारों अन्य उपायोंसे जो शरीरका पोषण होता है वह इस अकेले गौके दूधसे हो सकता है। यह सामर्थ्य गायके दूधमें है। गौका और बैलका इतना महत्त्व होनेसे इसका काव्यमय वर्णन इस सूक्तमें आगे किया है। इसके हर-एक अवयवमें देवताका अंश है यह बात मं० ८ से मं० १६ तक कही है। प्रत्येक अवयवमें किस देवताका अंश है यह वर्णन देखनेसे गौका और बैलका शरीर देवतामय है, यह बात स्पष्ट हो जाती है। मानो गौका दूध देवताओंका सत्व है। यहां पाठक विचार करें कि वेदने गौके दूधका जो इतना माहात्म्य वर्णन किया है वह इसलिये कि वैदिकधर्मी लोग गायका ही दूध पियें और गायका ही घी आदि सेवन करें। भैंस का दूध कभी न पियें।

१७ वें मंत्रमें कहा है कि यह बैल सींगोंसे राक्षसोंका नाश करता है और आंखसे अकालका नाश करता है। यद्यपि यह आ-लंकारिक वर्णन है, तथापि यह सत्य है। बैलके मानव जातिपर इतने अनंत उपकार हैं कि उनका यथार्थ वर्णन करना असंभव है। राक्षस नाशक बैलका वर्णन शतपथ ब्राह्मणमें इस प्रकार आता है—

मनोर्ह वा ऋषभ आस। तस्मिन्नसुरघ्नी सपत्नघ्नी वाक्प्रविष्टास।
तस्य ह श्वसथाद्रवथादसुररक्षसानि मृद्यमानानि यन्ति। ते हासुराः
समूदिरे पापं बत नोऽयमृषभः सचते कथं न्विमं दभ्नुयामेति० ॥ श० ब्रा० १

" मनुका एक बैल था, उसमें असुरों और सपत्नोंकी नाशक वाणी प्रविष्ट हुई थी, अतः उसके श्वाससे असुर और राक्षस मर्दित होते हुए नष्ट हो जाते थे। वे असुर मिलकर विचार करने लगे कि, ' यह बैल बडा पापी है, इसका कैसा नाश करें " इत्यादि। यह सब वर्णन आलंकारिक है। इससे यहां इतना ही लेना है कि बैलमें असुरनाशक शक्ति है।

१८ वें मंत्रमें ब्राह्मणको बैल दान करनेका महत्त्व पुनः कहा है। यह एक दान सैकडों दानोंके समान है यह कथन भी विशेष मननीय है। आगेके तीन मंत्रोंमें बैलके दानका महत्त्व वर्णन किया है, इस विषयमें इससे पूर्व बहुत लिखा गया है। इसी प्रकार अन्तिम तीन मंत्रोंमें बैलकी ऐन्द्री शक्तिका वर्णन है, ऐसे बैल गौवोंकेसाथ रखनेका उपदेश अन्तिम मंत्रमें किया है। ये सब विचार गौ और बैल का महत्त्व वर्णन कर रहे हैं। पाठक इन सब उपदेशोंका महत्त्व जानकर, और बैलका अपने घरमें स्वागत करें और उनसे विशेष लाभ उठावें।

—:०:—

पञ्चौदन अज।

[५]

(ऋषिः- भृगुः । देवता-पञ्चौदनोऽजः)

(१)

आ नयैतमा रभस्व सुकृतां लोकमपि गच्छतु प्रजानन् ।
तीर्त्वा तमांसि बहुधा महान्त्यजो नाकमा क्रमतां तृतीयम् ॥ १ ॥
इन्द्राय भागं परि त्वा नयाम्यस्मिन् यज्ञे यजमानाय सूरिम् ।
ये नो द्विषन्त्यनु तान् रभस्वानागसो यजमानस्य वीराः ॥ २ ॥
प्र पदोऽव नेनिग्धि दुश्चरितं यच्चचार शुद्धैः शफैरा क्रमतां प्रजानन् ।
तीर्त्वा तमांसि बहुधा विपश्यन्नजो नाकमा क्रमतां तृतीयम् ॥ ३ ॥

अर्थ-- (एतं आनय) इसको यहां ला और ऐसे (आरभस्व) कर्मोंका प्रारंभ कर कि जिससे यह (प्रजानन्) मार्गको जानता हुआ (सुकृतां लोकं अपि गच्छतु) सत्कर्म करनेवालोंके स्थानको प्राप्त होवे । मार्गमें (महान्ति तमांसि बहुधा तीर्त्वा) बडे अंधकारोंको बहुत प्रकारसे तरके यह (अजः तृतीयं नाकं आक्रमतां) अजन्मा तीसरे स्वर्गधामको प्राप्त होवे ॥ १ ॥

(अस्मिन् यज्ञे) इस यज्ञमें स्थित (इन्द्राय यजमानाय भागं सूरिं त्वा) इन्द्र और यजमानके लिए भागभूत बने तुझ ज्ञानीको (परि नयामि) सब ओर लेजाता हूं। (ये नः द्विषन्ति) जो हमारा द्वेष करते हैं (तान् अनुरभस्व) उनको नाश करना आरंभ कर। और (यजमानस्य वीराः अनागसः) यजमानके पुत्र अथवा वीर पापरहित हों ॥ २ ॥

(यत् दुःचरितं चचार) जो दुराचार इसने किया होगा, वह सब (पदः प्र अव नेनिग्धि) इसके पांवसे धो डाल। इसके पश्चात् यह (शुद्धैः शफैः प्रजानन् आक्रमतां) शुद्ध पांवोंसे मार्गको जानता हुआ चले। (विपश्यन् तमांसि बहुधा तीर्त्वा) देखता हुआ अंधकारोंको बहुत प्रकार से तरके, (अजः) यह अजन्मा (तृतीयं नाकं आक्रमतां) तृतीय स्वर्ग धामको प्राप्त करे ॥ ३ ॥

भावार्थ-इसको यहां ले आओ, शुभ कर्मोंका प्रारंभ करो, अपनी उन्नतिके मार्गको जान लो, और सत्कर्म करनेवाले जहां जाते हैं उस स्थानको प्राप्त करो । मार्गमें बडे अन्धकारके स्थान लगेंगे, उनको लांघना चाहिये, इस प्रकार यह अजन्मा आत्मा परम उच्च अवस्थाको प्राप्त होता है ॥ १ ॥

इस यज्ञमें तुझे सब ओर ले जाता हूं। तू ज्ञानी बनकर प्रभुके लिए आत्मसमर्पण कर और यज्ञकर्ताके साथ समभागी बन। जो द्वेष करेंगे उनको दूर कर। इस तरह यज्ञकर्ताके कार्यभाग निष्पाप बनें और कार्य करें ॥ २ ॥

पूर्व समयमें जो दुराचार हुआ होगा; उसको धो डाल, आगे शुद्ध पांवोंसे अपना मार्ग आक्रमण कर। चारों ओर मार्गको देख, सब अंधकारोंको लांघ कर, जन्ममरणको दूर करके परम उच्च अवस्थाको प्राप्त हो ॥ ३ ॥

अनु च्छय श्यामेन त्वचमेतां विशस्तर्यथापर्वऽसिना माभि मंस्थाः ।
माभि द्रुहः परुशः कल्पयैनं तृतीये नाके अधि वि श्रयैनम् ॥ ४ ॥
ऋचा कुम्भीमध्यग्नौ श्रयाम्या सिञ्चोदकमव धेह्येनम् ।
पर्याधत्ताग्निना शमितारः शृतो गच्छतु सुकृतां यत्र लोकः ॥ ५ ॥
उत्क्रामातः परि चेदतप्तस्तप्ताच्चरोरधि नाकं तृतीयम् ।
अग्नेरग्निरधि सं बभूविथ ज्योतिष्मन्तमभि लोकं जयैतम् ॥ ६ ॥
अजो अग्निरजमु ज्योतिराहुरजं जीवता ब्रह्मणे देयमाहुः ।
अजस्तमांस्यप हन्ति दूरमस्मिंल्लोके श्रद्दधानेन दत्तः ॥ ७ ॥

अर्थ- हे (विशस्तः) विशेष शासक! तू (एतां त्वचं यथा परु) इस त्वचा को जोडोंके अनुसार (श्यामेन असिना अनुच्छय) काले शस्त्रसे काट डाल । (मा अभि मंस्थाः) मत् अभिमान कर, (मा अभि द्रुहः) मत द्रोह कर । (परुशः एनं कल्पय) जोडोंके अनुसार इसको समर्थ बना । और (तृतीये नाके एनं अधि विश्रय) तीसरे स्वर्गधाममें इसको स्थापित कर ॥ ४ ॥

(ऋचा कुंभीं अग्नौ अधिश्रयामि) मंत्रसे इस पात्रको मैं अग्निपर रखता हूं । उसमें तू (उदकं आ सिञ्च) जल डाल और (एनं अव धेहि) इसको वहीं स्थापित कर । हे (शमितारः) शान्त करनेवालो ! तुम (अग्निना पर्याधत्त) अग्नि द्वारा चारों ओरसे इसकी धारणा करो । यह (शृतः गच्छतु) परिपक्व होकर वहां जावे कि (यत्र सुकृतां लोकः) जहां सत्कर्म करनेवालोंका स्थान है ॥ ५ ॥

(अतः तप्तात् चरोः) इस तपे हुए बर्तनसे (अतप्तः) न संतप्त होता हुआ तू (परि उत् क्राम) ऊपर चढ और (तृतीयं नाकं अधि) तीसरे स्वर्गधामको प्राप्त हो । (अग्नेः अधि) अग्निके ऊपर (अग्निः सं बभूविथ) अग्नि प्रकट होता है, अतः (एतं ज्योतिष्मन्तं लोकं अभिजय) इस तेजस्वी लोक का जय कर ॥ ६ ॥

(अजः अग्निः) अजन्मा अग्नि है (अजं उ ज्योतिः आहुः) न जन्मनेवाला तेज है ऐसा कहते हैं । [जीवता अजं ब्रह्मणे देयं आहुः] जीते हुए मनुष्यके द्वारा अपना अजन्मा आत्मा परब्रह्मके लिए समर्पण करने योग्य है ऐसा कहते हैं । [अस्मिन् लोके श्रद्धानेन दत्तः] इस लोकमें श्रद्धा धारण करनेवालेने समर्पित किया हुआ [अजः तमांसि दूरं अप हन्ति] अजन्मा आत्मा अन्धकारोंको दूर भगाता है ॥ ७ ॥

भावार्थ- योग्य शासक किंवा छेदक जोडोंके अनुसार तीक्ष्ण शस्त्रसे शस्त्रप्रयोग करे और रोगादि दोषोंको दूर करे। अभिमान न धरे और किसीका द्रोह भी न करे । प्रत्येक अवयवमें सामर्थ्य उत्पन्न करे और परम उच्च स्थानको प्राप्त करे ॥४॥

पकानेका बर्तन अग्निपर रखा जाय, उसमें पानी डाला जाय, चारों ओरसे अच्छी प्रकार सेक दिया जावे, पकनेके पश्चात् जहां सुकृत करनेवाले बैठे हों वहां लेजाकर उनको दिया जावे ॥ ५ ॥

तपे बर्तनसे ऐसा बाहर निकलो कि जैसा न तपा हुआ होता है । और परम उच्च अवस्थाको प्राप्त हो । अग्निपर अग्नि अर्थात् आत्मापर परमात्मा विराजमान है । उस तेजोमय लोकको अपने शुभ कर्मसे प्राप्त करो ॥ ६ ॥

अजन्मा आत्मा भी अग्नि कहलाता है, अजन्मा परमात्मा भी तेजोमय है ऐसा ज्ञानी कहते हैं । जीवित देहधारी लोगोंके अन्दर जो अजन्मा जीवात्मा है वह परमात्मा अथवा परब्रह्मके लिये समर्पित होने योग्य है ऐसा ज्ञानी कहते हैं । इस लोकमें श्रद्धासे यदि इसका समर्पण किया जाय, तो वह अजन्मा आत्मा सब अन्धकारोंको दूर कर सकता है ॥ ७ ॥

पञ्चौदनः पञ्चधा वि क्रमतामाक्रंस्यमानस्त्रीणि ज्योतींषि ।
ईजानानां सुकृतां प्रेहि मध्यं तृतीये नाके अधि वि श्रयस्व ॥ ८ ॥
अजा रोह सुकृतां यत्र लोकः शरभो न चत्तोऽति दुर्गाण्येषः ।
पञ्चौदनो ब्रह्मणे दीयमानः स दातारं तृप्त्या तर्पयाति ॥ ९ ॥
अजस्त्रिनाके त्रिदिवे त्रिपृष्ठे नाकस्य पृष्ठे ददिवांसं दधाति ।
पञ्चौदनो ब्रह्मणे दीयमानो विश्वरूपा धेनुः कामदुघास्येका ॥ १० ॥ (११)
एतद् वो ज्योतिः पितरस्तृतीयं पञ्चौदनं ब्रह्मणेऽजं ददाति ।
अजस्तमांस्यप हन्ति दूरमस्मिंल्लोके श्रद्दधानेन दत्तः ॥ ११ ॥
ईजानानां सुकृतां लोकमीप्सन् पञ्चौदनं ब्रह्मणेऽजं ददाति ।
स व्याप्तिमभि लोकं जयैतं शिवोऽस्मभ्यं प्रतिगृहीतो अस्तु ॥ १२ ॥

अर्थ- [त्रीणि ज्योतींषि आक्रंस्यमानः] तीनों तेजोंपर आक्रमण करनेवाला [पञ्चौदनः] पांच भोजनोंवाला अजन्मा (पञ्चधा विक्रमतां) पांच प्रकारसे पराक्रम करे । (ईजानानां सुकृतां मध्यं प्रेहि) यज्ञकर्ता सत्कर्म करनेवालोंके मध्यमें प्राप्त हो। (तृतीये नाके अधिविश्रयस्व) तृतीय स्वर्गधाममें प्राप्त हो ॥ ८ ॥

(अज ! आरोह) हे अजन्मा ! ऊपर चढ (यत्र सुकृतां लोकः) जहां शुभ कर्म करनेवालोंका स्थान है । (चत्तः शरभः न) छिपे हुए व्याघ्र के समान (दुर्गाणि अति एषः) संकटोंके परे जा । पञ्चौदनः ब्रह्मणे दीयमानः) पांचोंका भोजन करनेवाला आत्मा परब्रह्म के लिये समर्पित होता हुआ (सः) वह [दातारं तृप्त्या तर्पयाति] दाताको तृप्तिसे संतुष्ट करता है ॥ ९ ॥

(अजः) अजन्मा आत्मा (ददिवांसं) आत्मसमर्पण करनेवालेको (त्रिनाके त्रिदिवे त्रिपृष्ठे) तीनों सुखोंको देनेवाले, तीनों प्रकाशोंसे युक्त, तीन पीठों आधारोंसे युक्त (नाकस्य पृष्ठे) स्वर्गधामके स्थानपर (दधाति) धारण करता है । (पञ्चौदनः ब्रह्मणे दीयमानः) पांच भोजनोंवाला जो परब्रह्मको समर्पित होता है ऐसा तू स्वयं (एका विश्वरूपा धेनुः असि) एक विश्वरूप कामधेनुके समान होता है ॥ १० ॥

हे (पितरः) पितरो ! (वः एतत् तृतीयं ज्योतिः) आपके लिये यह तीसरा तेज है जो (पञ्चौदनं अजं ब्रह्मणे ददाति) पञ्च भोजन करनेवाले अजन्मा आत्मा का परब्रह्मके लिये समर्पण करना है । (श्रद्धानेन दत्तः अजः) श्रद्धालु-द्वारा समर्पित हुआ अजन्मा आत्मा (अस्मिन् लोके तमांसि दूरं अपहन्ति) इस लोकमें सब अन्धकारोंको दूर करता है ॥ ११ ॥

(ईजानानां सुकृतां लोकं ईप्सन्) यज्ञकर्ता शुभकर्म करनेवालोंके लोककी प्राप्तिकी इच्छा करनेवाला जो (पञ्चौदनं अजं ब्रह्मणे ददाति) पञ्च भोजन करनेवाले अजन्मा आत्माको परब्रह्मके लिए समर्पित करता है । (सः व्याप्तिं एतं लोकं जय) वह तू व्याप्तिवाले इस लोकको जीत ले (यह प्रतिगृहीतः अस्मभ्यं शिवः अस्तु) स्वीकृत हुआ हमारे लिए कल्याणकारी होवे ॥ १२ ॥

भावार्थ-तीन तेजोंको प्राप्त करनेवाला यह आत्मा पांच भोग प्राप्त करनेवाला है। यह पांच कार्यक्षेत्रोंमें पराक्रम करे। यज्ञ करनेवाले शुभकर्म करनेवालोंके मध्यमें प्रमुख स्थान प्राप्त करें और परम उच्च अवस्थामें विराजमान होवे ॥ ८ ॥

हे जन्मरहित जीवात्मन्! उच्च मार्गसे चल, और सत्कर्म करनेवाले लोग जहां पहुंचते हैं वहां प्राप्त हो। जिस प्रकार छिपा हुआ व्याघ्र होता है, वैसा तू सुरक्षित होकर सब कष्टोंके परे जा। पांच भोजनोंका भोग लेनेवाला जिवात्मा परमात्माके लिये समर्पित होकर समर्पण करनेवालेको संतुष्ट करता है ॥ ९ ॥

अजो ह्य१ग्नेरजनिष्ट शोकाद् विप्रो विप्रस्य सहसो विपश्चित् ।
इष्टं पूर्तमभिपूर्तं वषट्कृतं तद् देवा ऋतुशः कल्पयन्तु ॥ १३ ॥
अमोतं वासो दद्याद्धिरण्यमपि दक्षिणाम् ।
तथा लोकान्त्समाप्नोति ये दिव्या ये च पार्थिवाः ॥ १४ ॥
एतास्त्वाजोप यन्तु धाराः सोम्या देवीर्घृतपृष्ठा मधुश्चुतः ।
स्तभान पृथिवीमुत द्यां नाकस्य पृष्ठेऽधि सप्तरश्मौ ॥ १५ ॥
अजोऽस्यज स्वर्गोऽसि त्वया लोकमङ्गिरसः प्राजानन् । तं लोकं पुण्यं प्र ज्ञेषम् ॥ १६ ॥

अर्थ-- (अजः अग्नेः शोकात् हि अजनिष्ट) अजन्मा आत्मा अग्निरूप तेजस्वी परमात्माके तेजसे प्रकट हुआ है। विप्रस्य महसः) विशेष ज्ञानी परमात्माकी शक्तिसे [विपश्चित् विप्रः] यह ज्ञानी चेतन प्रकट हुआ है। (इष्टं पूर्तं) इष्ट और पूर्त (अभिपूर्तं वषट्कृतं तत्) संपूर्ण यज्ञके द्वारा समर्पित उसको (देवाः ऋतुशः तत् कल्पयन्तु) देव ऋतुके अनुकूल समर्थ बनाते हैं ॥ १३ ॥

(अमोतं हिरण्ययं वासः) साथ बैठकर बुना हुआ सुवर्णमय वस्त्र और (दक्षिणां अपि दद्यात्) दक्षिणा भी दी जावे। (तथा लोकान् समाप्नोति) इससे वे लोक वह प्राप्त करता है, (ये दिव्याः ये च पार्थिवाः) जो द्युलोकमें और जो इस पृथ्वीपर हैं ॥ १४ ॥

हे (अज) अजन्मा आत्मन् ! (एताः सोम्याः देवीः) ये सोम संबंधी दिव्य (घृतपृष्ठाः मधुश्चुतः) घी और शहदसे युक्त (धाराः त्वा उपयन्तु) रसधाराएं तेरे पास पहुंचें। और तू (सप्तरश्मौ अधि) सात किरणोंवाले सूर्यके ऊपर (नाकस्य पृष्ठे द्यां) स्वर्गके पृष्ठभागपर द्युलोकको (उत पृथिवीं स्तभान) और पृथ्वीको स्थिर कर ॥ १५ ॥

हे (अज) अजन्मा ! तू (अजः असि) जन्मरहित है, तू (स्वर्गः असि) सुखमय है, [त्वया अंगिरसः लोकं प्रजानन्] तू तैजस् लोकको जाननेवाला है ; [तं पुण्यं लोकं प्र ज्ञेषं] उस पुण्यकारक लोकको मैं जानना चाहता हूं ॥ १६ ॥

भावार्थ--अजन्मा आत्मा आत्मसमर्पण करनेवालेको सब प्रकारके उच्च सुखपूर्ण स्थानके लिए योग्य बनाता है। पांच भोजनोंका भोक्ता जीवात्मा परमात्माके लिए समर्पित होनेपर वह एक कामधेनु जैसा बनता है ॥ १० ॥

जो पांच अन्नोंका भोक्ता जीवात्माका परमात्माको समर्पित करना है वह मानो, सब पितरोंके लिये तृतीय ज्योति देनेके समान है। यह समर्पण यदि श्रद्धासे किया तो वह सब अज्ञानान्धकारको दूर करता है ॥ ११ ॥

जिस लोकको यज्ञ करनेवाले श्रेष्ठ पुरुष प्राप्त करते हैं, वहां पञ्चभोजनी जीवात्माका परमात्माके लिये समर्पण करनेवाला जाता है। अतः तू इस व्यापक लोकको प्राप्त हो। यह लोक प्राप्त होनेपर सबके लिये कल्याणकारी होवे ॥ १२ ॥

परमात्माके तेजसे अजन्मा जीवात्मा प्रकट होता है। महान् ज्ञानी परमात्माकी महिमासे यह चेतन जीवात्मा प्रकट होता है। इसके सब प्रकारके ऋतुओंके अनुकूल सब कर्म सब देव मिलकर पूर्ण करते हैं ॥ १३ ॥

स्वयं बैठकर बुना हुआ वस्त्र सुवर्ण दक्षिणाके साथ दान करना उचित है। इस दानसे भौतिक और अभौतिक लोकोंकी प्राप्ति होती है ॥ १४ ॥

ये दिव्य सोमरसकी धाराएं घी और मधुके साथ मिलकर प्राप्त हों इनका सेवन करके तू इस भूमिको सूर्यसे भी परे स्वर्गधाममें स्थापित कर ॥ १५ ॥

तू जन्मरहित और सुखरूप है। तू सब तेजस्वी लोकोंको जानता है। उन पुण्यमय लोकोंको मैं भी जानना चाहता हूं ॥ १६ ॥

येना॑ स॒हस्रं॒ वह॑सि॒ येना॑ग्ने सर्ववेद॒सम् । तेने॒मं य॒ज्ञं नो॑ वह॒ स्व॑र्दे॒वेषु॒ गन्त॑वे ॥ १७ ॥
अ॒जः प॒क्वः स्व॒र्गे लो॒के द॑धाति॒ पञ्चौ॑दनो॒ निर्ऋ॑तिं॒ बाध॑मानः ।
तेन॑ लो॒कान्त्सूर्य॑वतो जयेम ॥ १८ ॥
यं ब्रा॑ह्म॒णे नि॑द॒धे यं च॑ वि॒क्षु या वि॒प्रुष॑ ओद॒नाना॑म॒जस्य॑ ।
सर्वं॒ तद॑ग्ने सुकृ॒तस्य॑ लो॒के जा॑नी॒तान्नः॑ संग॒मने॑ पथी॒नाम् ॥ १९ ॥
अ॒जो वा इ॒दम॑ग्रे व्य॑क्रमत॒ तस्यो॒र इ॒यम॑भव॒द् द्यौः पृ॒ष्ठम् ।
अ॒न्तरि॑क्षं॒ मध्यं॒ दिशः॑ पा॒र्श्वे स॑मु॒द्रौ कु॒क्षी ॥ २० ॥ (१२)
स॒त्यं च॒र्तं च॒ चक्षु॑षी॒ विश्वं॑ स॒त्यं श्र॒द्धा प्रा॒णो वि॒राट् शिरः॑ ।
ए॒ष वा अप॑रिमितो य॒ज्ञो यद॒जः पञ्चौ॑दनः ॥ २१ ॥

अर्थ- हे अग्ने ! (येन सहस्रं वहसि) जिससे तू सहस्रोंको ले जाता है और (येन सर्ववेदसं) जिससे सब ज्ञान तू पहुंचाता है, (तेन) उससे (नः इमं यज्ञं) हमारे इस यज्ञको (देवेषु स्वः गन्तवे) देवोंके अन्दर विद्यमान तेजको प्राप्त करनेके लिये (वह) ले चल ॥ १७ ॥

(पञ्चौदनः पक्वः अजः) पञ्च भोजनवाला परिपक्व हुआ अजन्मा आत्मा (निर्ऋतिं बाधमानः) दुरवस्थाका नाश करता हुआ (स्वर्गे लोके) स्वर्ग लोकमें (दधाति) धारण करता है। (तेन) उससे (सूर्यवतः लोकान् जयेम) सूर्यवाले लोकोंको जीतकर प्राप्त करेंगे ॥ १८ ॥

(यं ब्राह्मणे निदधे) जिसको ब्राह्मणमें रखता हूं, (यं च विक्षु) जिसको प्रजाजनोंमें रखता हूं और (अजस्य ओदनानां याः विप्रुषः) जो अजन्मा आत्माके भोगोंकी पूर्तियां हैं, हे अग्ने ! (नः सर्वं तत्) हमारा वह सब (सुकृतस्य लोके) पुण्य लोकमें, (पथीनां संगमने) मार्गोंके संगममें है, ऐसा (जानीतात्) जानो ॥ १९ ॥

(अजः वै अग्रे इदं व्यक्रमत) अजन्मा आत्मा ही पूर्वकालमें इस संसारमें विक्रम करता रहा। (तस्य उरः इयं अभवत्) उसकी छाती यह भूमि बनी और (द्यौः पृष्ठं) द्युलोक पीठ होगया। (अन्तरिक्षं मध्यं) अन्तरिक्ष मध्यभाग और (दिशः पार्श्वे) दिशाएं पार्श्वभाग तथा [समुद्रौ कुक्षी] समुद्र कोखें बनी ॥ २० ॥

[सत्यं च ऋतं च चक्षुषी] सत्य और ऋत ये उसकी आंखें, [विश्वं सत्यं] सब विश्व अस्तित्व, [श्रद्धा प्राणः] श्रद्धा प्राण, और [विराट् शिरः] विराट् सिर बना। [यत् पञ्चौदनः अजः] जो पञ्च भोजन अजन्मा आत्मा है वह [एषः वै अपरिमितः यज्ञः] वह सचमुच अपरिमित यज्ञ है ॥ २१ ॥

भावार्थ— हे तेजस्वी देव ! जिस शक्तिसे तू सहस्रों लोगोंको उच्च अवस्थातक लेजाता है, सब ज्ञान सबको पहुंचाता है, उस अद्वितीय शक्तिसे इस मेरे यज्ञको तू सब देवोंके पास पहुंचा, जिससे मुझे दिव्य तेजकी प्राप्ति होवे ॥ १७ ॥

पञ्चभोजन करनेवाला अजन्मा आत्मा परिपक्व होता हुआ अवनति दूर करता है और स्वर्गलोक प्राप्त करता है। हम सब उस परिपक्व आत्माके द्वारा प्रकाशवाले लोक प्राप्त कर सकेंगे ॥ १८ ॥

जो ज्ञानियोंके लिए हम समर्पण करते हैं, जो प्रजाजनोंके लिए अर्पण करते हैं, जो अजन्मा आत्माके भोगोंकी पूर्तियां हैं, वे सब पुण्यलोकमें पहुंचानेवाले मार्गोंके सहायक हैं ऐसा जानो ॥ १९ ॥

इस जगत् में जो विक्रम है वह अजन्मा आत्माका ही है। इस आत्माकी छाती भूमी है, पीठ द्युलोक है, अन्तरिक्ष मध्य-भाग है, दिशाएं बगल हैं और कोखें समुद्र हैं ॥ २० ॥

उसकी आंखें सत्य और ऋत हैं, उसका अस्तित्व सब विश्व है, उसका प्राण श्रद्धा और सिर संपूर्ण चमकनेवाले लोक हैं। यह पञ्चभोजनी अजन्मा आत्मा अनन्त यज्ञरूप है ॥ २१ ॥

अपरिमितमेव यज्ञमाप्नोत्यपरिमितं लोकमव रुन्धे ।
योऽजं पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति ॥ २२ ॥
नास्यास्थीनि भिन्द्यान्न मज्ज्ञो निर्धयेत् । सर्वमेनं समादायेदमिदं प्र वेशयेत् ॥ २३ ॥
इदमिदमेवास्य रूपं भवति तेनैनं सं गमयति ।
इषं मह ऊर्जमस्मै दुहे योऽजं पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति ॥ २४ ॥
पञ्च रुक्मा पञ्च नवानि वस्त्रा पञ्चास्मै धेनवः कामदुघा भवन्ति ।
योऽजं पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति ॥ २५ ॥
पञ्च रुक्मा ज्योतिरस्मै भवन्ति वर्म वासांसि तन्वे भवन्ति ।
स्वर्गं लोकमश्नुते योऽजं पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति ॥ २६ ॥

अर्थ— [यः पञ्चौदनं] जो पांच भोजनोंवाले [दक्षिणाज्योतिषं अजं ददाति] दक्षिणाके तेजसे प्रकाशित अजन्मा आत्माका समर्पण करता है, वह [अपरिमितं यज्ञं आप्नोति] अपरिमित यज्ञको प्राप्त करता है, तथा [अपरिमितं लोकं अवरुंधे] अपरिमित लोकको अपने आधीन करता है ॥ २२ ॥

[अस्य अस्थीनि न भिंद्यात्] इसकी हड्डियोंको न तोडे, [मज्ज्ञः न निः धयेत्] मज्जाओंको न पीवे, [एनं सर्वं समादाय] इस सबको लेकर [इदं इदं प्रवेशयेत्] इसको इसमें प्रवेश करे ॥ २३ ॥

[इदं इदं एव अस्य रूपं भवति] यह यह ही इसका रूप होता है, [तेन एनं संगमयति] उसके साथ इसको मिलाता है । [अस्मै इषं महः ऊर्जं दुहे] इसके लिए अन्न तेज और बल मिलता है, [यः दक्षिणाज्योतिषं पञ्चौदनं अजं ददाति] जो दक्षिणाके तेजके साथ पञ्चभोजनवाले अजन्मा आत्माको समर्पित करता है ॥ २४ ॥

[यः दक्षिणा०] जो जो दक्षिणाके तेजके साथ पञ्चभोजनवाले अजन्मा आत्माका समर्पण करता है [अस्मै] इसके लिए [पञ्च रुक्मा] पांच मोहरें, [पञ्च नवानि वस्त्रा] पांच नये वस्त्र और [पञ्च कामदुघः धेनवः] पांच इष्ट समय दूध देनेवाली गौवें [भवन्ति] होती हैं ॥ २५ ॥

[यः दक्षिणा०] जो दक्षिणाके तेजके साथ पञ्चभोजनवाले अजन्मा आत्माका समर्पण करता है [अस्मै] इसके लिए [पञ्च रुक्मा] पांच सुवर्ण मुद्राएं [ज्योतिः भवन्ति] प्रकाशमान होती हैं । (तन्वे) शरीर के लिए [वर्म वासांसि भवन्ति] कवचरूपी वस्त्र होते हैं । और वह [स्वर्गं लोकं अश्नुते] स्वर्ग लोक प्राप्त करता है ॥ २६ ॥

भावार्थ—यह पञ्चभोजनी अजन्मा आत्मा जो समर्पण करता है उसको उक्त कारण अनन्त यज्ञ करनेका फल प्राप्त होता है, और वह अनन्त लोकोंको प्राप्त करता है ॥ २२ ॥

इस यज्ञके लिए किसी की हड्डियोंको तोडनेकी आवश्यकता नहीं और मज्जाओंको निचोडनेकी भी आवश्यकता नहीं है । इसका सबका सब लेकर इस विशालमें प्रविष्ट करना चाहिए ॥ २३ ॥

यही इस यज्ञका रूप है । उस विशालके साथ इसका संबंध जोडता है । इससे इसको अन्न बल और तेज प्राप्त होता है जो पंचभोजनी अजन्म आत्माका समर्पण करता है ॥ २४ ॥

इस समर्पण करनेवालेको पांच सुवर्ण, पांच नवीन वस्त्र, और पांच कामधेनु प्राप्त होती हैं ॥ २५ ॥

इस समर्पण करनेवालेको पांच सुवर्ण और पांच प्रकाश प्राप्त होकर शरीरके लिए कवच जैसे वस्त्र प्राप्त होते हैं और स्वर्ग लोक प्राप्त होता है ॥ २६ ॥

या पूर्वं पतिं वित्त्वाथान्यं विन्दतेऽपरम् ।
पञ्चौदनं च तावजं ददातो न वि योषतः ॥ २७ ॥
समानलोको भवति पुनर्भुवापरः पतिः ।
योऽजं पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति ॥ २८ ॥
अनुपूर्ववत्सां धेनुमनड्वाहमुपबर्हणम् । वासो हिरण्यं दत्त्वा ते यन्ति दिवमुत्तमाम् ॥२९॥
आत्मानं पितरं पुत्रं पौत्रं पितामहम् ।
जायां जनित्रीं मातरं ये प्रियास्तानुप ह्वये ॥ ३० ॥ (१३)
यो वै नैदाघं नामर्तुं वेद । एष वै नैदाघो नामर्तुर्यदजः पञ्चौदनः ॥
निरेवाप्रियस्य भ्रातृव्यस्य श्रियं दहति भवत्यात्मना ।
योऽजं पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति ॥ ३१ ॥

अर्थ—[या पूर्वं पतिं वित्वा] जो पहिले पतिको प्राप्त करके, [अथ अपरं विन्दते] पश्चात् दूसरे अन्यको प्राप्त करती है, [तौ पञ्चौदनं अजं ददतः] वे दोनों पञ्च भोजनवाले अजन्मा आत्माका समर्पण करके [न वियोषतः] वियुक्त नहीं होती ॥ २७ ॥

(यः पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं अजं ददाति) जो पञ्च भोजनवाले दक्षिणाके तेजसे युक्त अजन्मा आत्माका समर्पण करता है वह (अपरः पतिः) दूसरा पति (पुनर्भुवा समानलोकः भवति) पुनर्विवाहित स्त्रीके साथ समान स्थानवाला होता है ॥ २८ ॥

(अनुपूर्ववत्सां धेनुं) क्रमसे प्रतिवर्ष बछडा देनेवाली गौको और (अनड्वाहं) बैलको तथा (उपबर्हणं वासः हिरण्यं) ओढनी, वस्त्र और सोना (दत्वा) देकर (ते उत्तमां दिवं यन्ति) वे उत्तम स्वर्गलोकको प्राप्त होते हैं ॥ २९ ॥

(आत्मानं पितरं पुत्रं) अपने आपको, पिताको, पुत्रको, (पौत्रं पितामहं) पौत्रको और पितामहको (जायां जनित्रीं मातरं) स्त्री और जननी माताको और (ये प्रियाः तान्) जो इष्ट हैं उनको मैं (उपह्वये) पास बुलाता हूं ॥ ३० ॥

(एष वै नैदाघः नाम ऋतुः) यह निश्चयसे निदाघ अर्थात् ग्रीष्म ऋतु है (यः पञ्चौदनः अजः) जो पञ्चभोजनी अज है। (यः वै नैदाघं नाम ऋतुं वेद) जो इस ग्रीष्म ऋतुको जानता है और (यः दक्षिणा-ज्योतिषं पञ्चौदनं अजं ददाति) जो दक्षिणाके तेजसे युक्त पञ्चभोजनी अजका समर्पण करता है वह (अप्रियस्य भ्रातृव्यस्य श्रियं निः दहति) अप्रिय शत्रुके श्रीको सर्वथा जला देता है और वह (आत्मना भवति) अपनी आत्मशक्तिसे प्रभावित होता है ॥ ३१ ॥

भावार्थ– जो पहिले पतिको प्राप्त करके पश्चात् पुनर्विवाहसे दूसरे पतिको प्राप्त करती है, वह इस पञ्चभोजनी अजका समर्पण करके वियुक्त नहीं होती ॥ २७ ॥

जो पञ्चभोजनी अजन्मा आत्माका समर्पण करता है वह दूसरा पति पुनर्विवाहित पतिके समान ही होता है ॥२८॥

प्रतिवर्ष बच्चा देनेवाली गौ, उत्तम बैल, ओढनेका वस्त्र और सुवर्ण इनका दान करनेसे उत्तम स्वर्ग प्राप्त होता है ॥ २९ ॥

अपना आत्मा, पिता, पितामह, पुत्र, पौत्र, धर्मपत्नी, जन्मदेनेवाली माता, और जो हमारे प्रिय हैं उन सबको मैं बुलाता हूं और यह बात सुनाता हूं ॥ ३० ॥

*

यो वै कुर्वन्तं नामर्तुं वेद ।
कुर्वतींकुर्वतीमेवाप्रियस्य भ्रातृव्यस्य श्रियमा दत्ते ॥
एष वै कुर्वन्नामर्तुर्यदजः ०।०।० ॥ ३२ ॥
यो वै संयन्तं नामर्तुं वेद ।
संयतींसंयतीमेवाप्रियस्य भ्रातृव्यस्य श्रियमा दत्ते ॥
एष वै संयन्नाम ०।०।० ॥ ३३ ॥
यो वै पिन्वन्तं नामर्तुं वेद ।
पिन्वतींपिन्वतीमेवाप्रियस्य भ्रातृव्यस्य श्रियमा दत्ते ॥
एष वै पिन्वन्नाम ०।०।० ॥ ३४ ॥
यो वा उद्यन्तं नामर्तुं वेद ।
उद्यतीमुद्यतीमेवाप्रियस्य भ्रातृव्यस्य श्रियमा दत्ते ॥
एष वा उद्यन्नाम ०।०।० ॥ ३५ ॥
यो वा अभिभुवं नामर्तुं वेद ।
अभिभवन्तीमभिभवन्तीमेवाप्रियस्य भ्रातृव्यस्य श्रियमा दत्ते ॥

अर्थ— (एष वै कुर्वन् नाम ऋतुः यत् अजः ०) यह निःसंदेह कर्ता नामक ऋतु है जो अज पञ्चभोजनी है। (यः वै कुर्वन्तं नाम ऋतुं वेद०) कर्ता नामक इस ऋतुको जानता है और जो दक्षिणाके तेजसे युक्त इस पञ्चभोजनी अजका दान करता है वह (अप्रियस्य भ्रातृव्यस्य) अप्रिय शत्रुके (कुर्वतीं कुर्वतीं एव श्रियं आदत्ते) प्रयत्नमयी श्रीको हर लेता है ॥ ३२ ॥

(एष वै संयत् नाम ऋतुः यत् अजः ०) यह संयम नामक ऋतु है जो पञ्चभोजनी अज है। (यः वै संयन्तं नाम ऋतुं वेद०) जो निश्चयसे संयम नामक ऋतुको जानता है और जो दक्षिणाके तेजसे युक्त पञ्चभोजनी अजका समर्पण करता है वह (अप्रियस्य भ्रातृव्यस्य) अप्रिय शत्रुको (संयतीं संयतीं एव श्रियं आदत्ते) संयमसे प्राप्त श्रीको हर लेता है ॥ ३३ ॥

(एष वै पिन्वन् नाम ऋतुः यत् अजः ०) यह पोषण नामक ऋतु है जो पञ्चभोजनी अज है। (यः वै पिन्वन्तं नाम ऋतुं वेद०) जो निश्चयसे पोषक नामक ऋतुको जानता है और दक्षिणाके तेजसे युक्त पञ्च भोजनी अजका समर्पण करता है, वह (अप्रियस्य भ्रातृव्यस्य पिन्वन्तीं नाम श्रियं आदत्ते) अप्रिय शत्रुकी पोषक श्रीको हर लेता है ॥३४॥

(एष वै उद्यन् नाम ऋतुः यत् अज०) यह निःसन्देह उदय नामक ऋतु है जो पञ्चभोजनी अज है। (यः वै उद्यन्तं नाम ऋतुं वेद०) जो निश्चयसे उदयरूपी ऋतुको जानता है और दक्षिणायुक्त पञ्चभोजनी अजको देता है, वह (अप्रियस्य भ्रातृव्यस्य) अप्रिय शत्रुकी (उद्यतीं उद्यतीं एव श्रियं आदत्ते) उदयको प्राप्त होनेवाली श्रीको हर लेता है ॥ ३५ ॥

(एष वै अभिभूः नाम ऋतुः) यह निःसन्देह विजय नामक ऋतु है (यत् अजः पञ्चौदनः) जो पञ्चभोजनी अज है। (यः वै अभिभुवं नाम ऋतुं वेद) जो विजय नामक इस ऋतुको जानता है और (यः दक्षिणा) जो दक्षिणाके तेजसे युक्त पञ्चभोजनी अजका समर्पण करता है वह (अप्रियस्य भ्रातृव्यस्य) अप्रिय शत्रुके (अभिभवन्ती

एष वा अभिभूर्नामर्तुर्यदजः पञ्चौदनः।
निरेवाप्रियस्य भ्रातृव्यस्य श्रियं दहति भवत्यात्मना ॥
योऽ३जं पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति ॥ ३६ ॥
अजं च पचत पञ्च चौदनान्।
सर्वा दिशः संमनसः सध्रीचीः सान्तर्देशाः प्रति गृह्णन्तु त एतम् ॥ ३७ ॥
तास्ते रक्षन्तु तव तुभ्यमेतं ताभ्य आज्यं हविरिदं जुहोमि ॥ ३८ ॥ (१४)

अभिभवन्तीं एव श्रियं आदत्ते) परास्त करनेवाली शोभाको हर लेता है। इसके (अप्रियस्य०) अप्रिय शत्रुकी श्रीको जला देता है और (आत्मना भवति) अपनी शक्तिसे रहता है ॥ ३६ ॥

(अजं पञ्च ओदनान् च पचत) इस अजन्माको और पांच भोजनोंको परिपक्व करो। (ते एतं) तेरे इस अजको (सर्वाः दिशः) सब दिशाएं (सान्तर्देशाः) आंतरिक प्रदेशोंके साथ (सध्रीचीः संमनसः) सहमत और एक विचारसे युक्त होकर (प्रतिगृह्णन्तु) स्वीकार करें ॥ ३७ ॥

(ताः ते तुभ्यं तव एतं रक्षन्तु) वे तेरी तेरे लिए तेरे इस आत्माकी रक्षा करें। (ताभ्यः इदं आज्यं हविः जुहोमि) उनके लिए इस घी और हवन सामग्रीका हवन करता हूं ॥ ३८ ॥

भावार्थ— उग्रता, कर्म, संयम, पुष्टि, उद्यम, और विजय ये छः ऋतु हैं। ये छः ऋतु इस पंचओदनी अजका रूप है। जो इसका स्वरूप जानता है और इसका समर्पण करता है, वह शत्रुको परास्त करता है और अपने आत्माकी शक्ति बढाता अर्थात् आत्मिक बलसे युक्त होता है ॥ ३१-३६ ॥

इस अजको और इसके पांचों भोगोंको परिपक्व बनाओ, सब दिशा और उपदिशाएं इसको अपनाएं, अर्थात् यह सब दिशाओंका बने ॥ ३७ ॥

वे सब आत्माकी रक्षा करें और आत्मरक्षासे तेरी उन्नति हो। इसी उद्देश्यसे इस घी की आहुती मैं देता हूं, यह एक समर्पणका उदाहरण है ॥ ३८ ॥

पञ्चौदन अज।

इस सूक्तमें 'पञ्चौदन अज' को स्वर्गधाम कैसा प्राप्त होता है, इसका वर्णन है। सबसे पहिले यह पञ्चौदन अज कौन है इस बातका परिचय करना चाहिये। 'पञ्चौदन अज' (पञ्च+ओदन अज) का अर्थ पांच प्रकारके भोजनोंवाले अज हैं। अर्थात् पांच प्रकार के अन्नका भोग करनेवाला यह अज है।

'अज' शब्दके अर्थ—" अजन्मा, सदासे रहनेवाला, एवं शक्तिमान् परमात्मा, जीव, आत्मा चालक, बकरा, धान्य " ये होते हैं। इनमेंसे यहां किसका ग्रहण करना चाहिये यह एक विचारणीय बात है। 'अज' शब्दसे यहां परमात्माका ग्रहण करना अयोग्य है, क्योंकि वह स्वभावसे परम उच्च लोकमें सदा विराजमान ही है उसको उच्च लोकमें जानेकी आवश्यकता ही नहीं है। यहां इस सूक्तमें जिस अजका वर्णन है उसके विषयमें निम्न लिखित मंत्र देखिये—

सुकृतां लोकं गच्छतु प्रजानन् ॥ (मं० १)
तीर्त्वा तमांसि बहुधा महान्तमजो नाकमा क्रमताम् (मं० १, ३)
तृतीये नाके अधि वि श्रयैनम् ॥ (मं० ४)
अतो गच्छतु सुकृतां यत्र लोकः ॥ (मं० ५)
तृतीये नाके अधि विश्रयस्व ॥ (मं० ८)

" यह मार्ग जानता हुआ पुण्य कर्म करनेवालोंके लोकको प्राप्त करे। अन्धकार दूर करके तृतीय स्वर्गधामको प्राप्त होवे। परिपक्व होकर पुण्यवालोंके लोकको जावे। तृतीय स्वर्गधाममें आश्रय करे। "

ये मंत्रभाग ऐसे आत्माको स्वर्गधाम प्राप्त करनेके सूचक हैं कि जिसको पहिले स्वर्ग नहीं प्राप्त हुआ है, जो उत्तम लोक में नहीं पहुचा है, जो अधम लोकमें है। अर्थात् यहांका अज शब्द परमात्माका वाचक नहीं, अपि तु ऐसे आत्माका वाचक है,जो उत्तम लोक को अभीतक प्राप्त नहीं हुआ है। 'अज' शब्दके दूसरे अर्थ 'धान्य' और 'बकरा' ये हैं। इनमें धान्यका स्वर्गधामको प्राप्त होना असंभव है और बकरा स्वर्गधामको जा सकता है या नहीं, इस विषयमें शंका ही है। क्योंकि स्वर्ग तो (सुकृतां लोकः) सत्कर्म करनेवालोंका लोक है। जो स्वयं सत्कर्म कर सकते हैं, वे ही अपने किये सत्कर्मोंके बलसे स्वर्गधामको जा सकते हैं। अतः धान्य और बकरा स्वयं सत्कर्म करनेमें समर्थ न होनेके कारण सुकृत-लोक को प्राप्त करने में असमर्थ हैं।

यहां कई कहेंगे कि जो बकरा यज्ञमें समर्पित किया जाता है, वह समर्पित होनेके कारण स्वर्गका भागी हो सकता है। यहां विचारणीय बात यह है कि, जो स्वयं स्वेच्छासे दूसरोंकी भलाईके लिये समर्पित होते हैं, जो परोपकारके लिए आत्मसमर्पण कर सकते हैं, वे स्वर्गधाम प्राप्त करनेके अधिकारी माने जा सकते हैं। जो लोग बकरेको पकडते हैं और उसके मांसका हवन करते हैं, वे बकरेकी इच्छाका विचार ही नहीं करते। यदि इस प्रकारकी जबरदस्ती से स्वर्गधामकी प्राप्ति होनेका संभव होगा, तो जो गौवें और बकरियां व्याघ्रके जीवनके लिये समर्पित हो जाती हैं, वे सबकी सब स्वर्गको पहुंचेंगी; इतना ही नहीं परंतु अज संज्ञक धान्य यज्ञाग्निमे आहुतिद्वारा समर्पित होनेपर सीधा स्वर्गको जायगा, समिधाएं और घी भी वहां पहुंचेगा। यह तो अव्यवस्था है। व्याघ्रने गौको मारा और खाया, तो इसमें गायका आत्मसमर्पण नहीं है। क्रूर राजा प्रजाको लूटकर प्रजाकी धन संपति इकठ्ठी करके लेजाता है, यहां भी उस पददलित प्रजाको परोपकार, दान या सर्वस्वका मेध करनेका पुण्य नहीं मिल सकता। फल तब मिलेगा कि जब आत्मसर्वस्वका समर्पण स्वेच्छासे किया गया हो। पूर्वोक्त 'अज' के अर्थोंमें 'धान्य, बकरा' ये आत्मसमर्पण की बात जान ही नहीं सकते, इसलिये आत्मसमर्पण कर नहीं सकते। और ये स्वर्गधामको प्राप्त नहीं होसकते। परमात्मा उत्तम लोकमें सदा उपस्थित होनेसे उसको कर्म विशेषसे आत्मसमर्पण द्वारा वह लोक प्राप्त होना है ऐसी बात नहीं है। अतः शेष रहा 'जीव आत्मा' यही अर्थ यहां अपेक्षित है। यह सुकृत करता हुआ स्वर्गधाम को प्राप्त करता है और इसी कार्य के लिए संपूर्ण धर्मशास्त्र रचे गये हैं।

इस सूक्तके 'अज' शब्दका प्रसिद्ध अर्थ 'बकरा' लेकर कईयोंने बकरेको काटना, पकाना, उसके अंश उसको देना और उसको स्वर्गको भेजना ऐसे अर्थ किये हैं। वे उक्त कारण युक्तियुक्त नहीं है। अस्तु, इस तरह यहां इस सूक्तमें अज शब्दका अर्थ जीव, आत्मा किंवा जीवात्मा है।

अब देखना है कि इसको 'पञ्चौदन' क्यों कहा है। यह पांच प्रकारका अन्न खाता है इसी लिए इसको 'पञ्चभोजनी' अज कहा है। इसके पांच भोजन कौनसे हैं, ? शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध ये पांच विषय इसके पांच भोजन हैं, ये परस्पर भिन्न हैं और ये इसके उपभोग के विषय हैं। इस विषयमें कहा है-

> द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
> तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥
> ऋ० १।१६४।२०; अथर्व० ९।९।(१४)।२०

" एकही (शरीररूपी) वृक्षपर दो पक्षी (दो आत्मा—जीवात्मा और परमात्मा) बैठे हैं। उनमें से एक (जीवात्मा) इस वृक्षका मीठा फल खाता है और दूसरा न खाता हुआ केवल प्रकाशता है।

इस वृक्षको शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध ये पांच भोगरूपी फल लगते हैं। इनका भोग यह अजन्मा आत्मा करता है। इसके पञ्च ज्ञानेंद्रियोंसे ये पांच फल इसके पास पहुंचते हैं। मनुष्य ज्ञानी हो अथवा अज्ञानी हो, बद्ध हो या मुक्त हो, जबतक यह आत्मा शरीरमें रहेगा, तबतक इसके पास ये पांच प्रकारके भोग प्राप्त होते रहेंगे। बद्ध स्थितिमें रहनेवाला आत्मा आसक्तिसे विषय सेवन करेगा और जीवन्मुक्त स्थितिमें रहा आत्मा आसक्ति छोडकर उदासीनतासे दर्शन करेगा। दोनोंको कानोंसे शब्द,

त्वचासे स्पर्श, नेत्रसे रूप, जिह्वासे रस और नाकसे गन्ध प्राप्त होगा। ये पांच भोजन इसके पास आवेंगे, कोई भोग करेगा और कोई नहीं यह बात दूसरी है। 'पंचौदन अज' का यह अर्थ है और यह हरएक जीवात्मा के विषयमें अनुभवमें आसकता है। इस 'अज' के स्वरूपका निश्चय स्वयं इस सूक्तने किया है, वह अब देखिये—

> अजो अग्निः ; अजमु ज्योतिः आहुः,
> अजः तमांसि अपहन्ति ॥ [मं० ७]
> अग्नेः अग्निः सं बभूविथ ॥ (मं० ६)
> अजः हि अग्नेः शोकात् अजनिष्ट। (मं० १३)
> विप्रस्य महसः विपश्चित् विप्रः अजनिष्ट। (मं० १६)
> एष वा अपरिमितो यज्ञः यदजः पञ्चौदनः। (मं० २१)

"अग्निका नाम अज है, ज्योतिका नाम अज है, यह अज अन्धकारको दूर करता है। अग्निसे अग्नि उत्पन्न हुआ है। अग्निके तजसे अज उत्पन्न हुआ है। ज्ञानीकी महिमासे ज्ञानी विद्वान् जन्मा है। यह पञ्चौदन अज अपरिमित यज्ञ है।" ये सब मंत्र भाग यहां अज शब्दसे आत्माका भाव है, ऐसा स्पष्ट कहते हैं। क्योंकि आत्मा, ज्योति, अग्नि, ज्ञानी, यज्ञ आदि शब्द जीवात्माके लिए वैदिक वाङ्मयमें आते हैं। येही प्रतिशब्द 'अज' शब्दका अर्थ बतानेके लिए वेदने स्वयं दिये हैं और अज शब्दके अर्थके विषयमें संदेह निवृत्ति की है। इतना करनेपर भी यहांके अज शब्दका अर्थ 'बकरा' है ऐसा जो मानते हैं, उनकी विचार शक्तिके विषयमें क्या कहा जाय, यही हमारे समझमें नहीं आता।

यहां उक्त वचनोंमें कहा है कि इस सूक्तमें जिस अजका वर्णन है, वह अग्निके समान तेजस्वी; ज्योतिके समान प्रकाशमय, दीपके समान अन्धकारको दूर करनेवाला है, परमात्मारूप महान् अग्निसे इसकी उत्पत्ति हुई है, जिस प्रकार अग्नि प्रज्वलित होनेसे उसकी ज्वालासे स्फुलिंग चारों ओर उडते हैं, उसी प्रकार परमात्माकी दीप्तिसे जो स्फुलिंग चारों ओर फैले हैं, वेही अनंत जीवात्मा हैं। परमात्मा चेतनस्वरूप है, उससे यह चेतनस्वरूप जीव आत्मा प्रगट हुआ है। यही यज्ञ स्वरूप है। इस प्रकारका वर्णन उक्त मंत्रभागोंमें है। यह देखनेसे स्पष्ट हो जाता है कि यहां अज शब्दसे 'जीव आत्मा' का ग्रहण करना योग्य है।

बकरा ऐसा अर्थ यहां के अज शब्दका लेनेसे क्या बनता है? और इन मंत्रोंकी संगति भी कैसी लग सकती है? क्या बकरा अग्नि है और ज्योति है, क्या कभी बकरेके द्वारा अंधकार दूर हुआ है? क्या कभी अग्निके प्रकाशसे बकरा प्रकट हुआ है? अर्थात् अज शब्दका अर्थ बकरा करनेपर पूर्वोक्त मंत्रोंका कोई सरल अर्थ नहीं लग सकता। अतः अज शब्दसे यहां 'जीव आत्मा' अर्थ लेना चाहिए यह बात सिद्ध होगई। अब इसकी उन्नति होनेके विषयमें इस सूक्तमें क्या कहा है, देखिये—

> अजो वा इदमग्रे व्यक्रमत। (मं० २०)
> अजः पक्वः स्वर्गे लोके दधाति, निर्ऋतिं बाधमानः। (मं० १९)
> अजं च पचत पञ्च चौदनान्। (मं० ३७)

"यह (अजः) अजन्मा आत्मा जगतके प्रारंभसे पराक्रम कर रहा है। यह अजन्मा आत्मा परिपक्व होनेपर अवनतिको दूर करके स्वर्गमें अपने आपको धारण करता है। अजको और पांच अन्नोंको परिपक्व करो।" इस जगत्में जो कुछ भी पराक्रम हुए हैं वे इस आत्माके कारणही हैं, इस जगत्में जो चल रहा है वह आत्माकी शक्ति ही है। शरीरमें जीवात्मा और विश्वमें परमात्मा कार्य कर रहा है। जीवात्मा प्रारंभमें अपरिपक्व अवस्थामें होता है, वह शुभ संस्कारों द्वारा परिपक्व बनता है और इसकी जितनी परिपक्वता होती है, उतना यह अपनीही शक्तिसे अवनतिको दूर करता रहता है। इससे सिद्ध होता है, कि जीवात्माकी दो अवस्थाएं हैं, कई तो परिपक्व स्थितिको प्राप्त होते हैं, शेष जितने हैं उतने सब अपरिपक्व अवस्थामें हैं अथवा परिपक्व होनेके मार्गमें होते हैं। इसीको मुक्त और बद्ध अवस्था कहते हैं

यहां के 'अजः पक्वः' ये शब्द देखनेसे 'पकाया हुआ बकरा' ऐसा अर्थ कई लोग करते हैं, परन्तु पकाया हुआ बकरा स्वर्गमें जानेका अनुभव तो नहीं है, वह सीधा मांस भक्षकोंके पेटमें जाता है। परंतु यहां का परिपक्व हुआ अज सीधा स्वर्गधामको

जाता है, अतः यहां का अज अलग है। दूसरी बात यह है कि, 'पक्व' शब्द कई अर्थोंमें प्रयुक्त होता है, मनुष्यके विचार परिपक्व हुए हैं, उसका ज्ञान पक्व हुआ है, फल परिपक्व हुआ है, इस तरह इसका भाव बड़ा व्यापक है। यह परिपक्व कैसा होता है इस विषयमें निम्नलिखित मंत्रभाग देखिए-

नैदाघं... कुर्वन्तं... संयन्तं... पिन्वन्तं... उद्यन्तं... अभिभुवं
नाम ऋतुं वेद... श्रियं आदत्ते... आत्मना भवति ॥ (मं० ३१—३६)

" उष्णता, कर्तृत्व, संयम, पोषण, उद्यम और शत्रुजय ये छः आत्माके ऋतु हैं। जो इन ऋतुओंसे काम लेना जानता है वह श्रीको प्राप्त करता है और आत्माकी शक्तिसे युक्त होता है।" ये छः मंत्र आत्माकी उन्नति करनेवाली शक्तियोंके सूचक हैं। सबसे पहिले मनुष्यमें उष्णता-गर्मी-चाहिए, हरएक कार्य करनेकी स्फूर्ति इसीसे होती है, पश्चात् कर्म करने चाहिए,क्योंकि शुभ कर्मोंसे ही सुकृत लोक प्राप्त होते हैं। शुभ कर्म करनेके लिए संयम चाहिए। बहुत कर्म होनेके लिए पुष्टि होनी चाहिए। सतत उद्यम करना चाहिए और बीचमें जो विघ्न आवेंगे उनको दूर हटा देनेका बल भी चाहिए। ये छः गुण होनेसे और इनके द्वारा योग्य दिशासे प्रयत्न होने से मनुष्यकी उन्नति होती है।

वस्तुतः यह अजन्मा आत्मा सुख स्वरूप और स्वर्गका अधिकारी है, यह कोई अनधिकारी नहीं है,यह अग्निका ही स्फुलिंग है, अतः प्रकाशित होनेका अधिकारी है। यह परमात्माका अमृतपुत्र है इसलिए कहा है—

अजोऽसि, अज स्वर्गोऽसि। (मं० १६)

" तू अजन्मरहित है, तू स्वयं स्वर्ग है।" तू अपने आपको पतित होने योग्य न मान, जन्ममरण धारण करने योग्य न समझ। तू वस्तुतः जन्म न धारण करनेवाला है और तू ही स्वर्ग है। फिर यह दुःख तुम्हारे ऊपर क्यों आता है? इसका विचार कर, अपने पूर्व कर्म देख और आगे अपनी उन्नतिके लिये उद्यम करके अपनी उन्नतिका साधन कर। इसकी उन्नतिके साधनका मार्ग यह है—

एतं आ नय; आरभस्व; प्रजानन्, सुकृतां लोकं गच्छतु ॥ (मं० १)

" इसको उत्तम मार्गसे चला; शुभ कर्मका प्रारंभ कर; उन्नतिके मार्गको जानकर; पुण्य लोकको प्राप्त कर।" इस उपदेशमें चार भाग हैं और ये महत्त्वपूर्ण हैं। सबसे पहिला भाग धर्ममार्गसे जानेका है, यह तो किसी उत्तम गुरुके आधीन रहकर ही तक किया जा सकता है, अतः पहिला (एतं नय) यह वाक्य गुरुसे कहा कि 'हे गुरो! तू इस शिष्यको सहारा देकर योग्य मार्ग से ले चल।' दूसरा वाक्य ऐसा है कि (आरभस्व) शुभ कर्मोंका प्रारंभ कर, जो पाठ गुरुसे प्राप्त हुआ है उसके अनुसार कर्म करना प्रारंभ कर। यहां कर्मोंका प्रारंभ हो जाता है। कर्म करते मनुष्य का अनुभव ज्ञान बढता है और वह (प्रजानन्) ज्ञानी होकर बढता जाता है। और अन्तमें (सुकृतां लोकं) पुण्य कर्म करनेवालोंके लोकको प्राप्त करता है। सामान्यतः मनुष्य की उन्नतिका सीधा मार्ग यही है। इस मार्गसे जानेवालेको अपने आपको अजन्मा होनेका तथा स्वयं स्वर्गरूप होनेका अनुभव अन्तमें आजाता है। इस प्रकार यह मार्गका आक्रमण करता हुआ—

अजः महान्ति तमांसि बहुधा तीर्त्वा। (मं० १)
अजः विपश्यन् तमांसि बहुधा तीर्त्वा। (मं० ३)
अजः तमांसि दूरं अपहन्ति (मं० ७, ११)

" यह अजन्मा आत्मा मार्गमें बडे बडे अन्धकारोंको (विपश्यन्) विशेष रीतिसे देखता है। और उन सब अन्धकारोंको (बहुधा) अनेक रीतियोंसे [तीर्त्वा] तैरकर, लांघ कर, दूर करके पार हो जाता है।" इस तरह यह अपना मार्ग खुला करता है और आगे बढता है। आगे बढते बढते—

अजः तृतीयं नाकं आक्रमताम् ॥ (मं० १,३)
सुकृतां लोकं गच्छतु ॥ (मं० १)
एवं तृतीये नाके अधि विश्रय। (मं० ४)

शृतः गच्छतु सुकृतां यत्र लोकः। (मं० ५)

अतः परि...तृतीयं नाकं उत्क्राम। (मं० ६)

सुकृतां मध्यं प्रेहि; तृतीये नाके अधि विश्रयस्व। (मं० ८)

" शुभ कर्म करनेवालोंके मध्यमें जा और वे पुण्यशील महात्मा लोग जहां जाते हैं, उस तृतीय स्वर्गधाम में जाकर विराजमान हो।" इस प्रकार इसकी उन्नति हो जाती है। तीसरे स्वर्गधामको प्राप्त करनेकी योग्यता प्राप्त करनेके पूर्व पहिले और दूसरे स्वर्गकी योग्यता मनुष्य प्राप्त कर सकता है और अन्तमें उसको तृतीय स्वर्गधामकी प्राप्ति होना संभव है। ये तीन स्वर्ग कौनसे हैं, इसका भी यहां विचार करना चाहिये।

सब जानते हैं कि यह मनुष्यलोक है, जो स्थूल जगत् है इसीको मृत्युलोक कहते हैं, क्योंकि इसमें सदा घट बढ हुआ करती है। इससे दूसरा परन्तु इसमें गुप्त रूपसे रहा सूक्ष्म लोक है, इस जगत्के प्रत्येक पदार्थकी प्रतिकृति इस सूक्ष्म सृष्टिमें रहती है। जागृतीके अन्दर कार्य करनेवाला मन सुप्त होनेपर अनेक और विविध—दृश्य—इससे भी अतितेजस्वी दृश्य-दिखाई देते हैं। यह सूक्ष्म सृष्टि है। इसको कामसृष्टि भी कहते हैं। स्थूल जगत्की ही यह प्रतिकृति होनेके कारण जो सुखदुःख स्थूल सृष्टिमें है वैसे ही इसमें होते हैं, तथापि स्थूलके बन्धन और प्रतिबंध इसमें न होनेसे इसका महत्त्व स्थूलसे अधिक है। ये दोनों अनुभव जब समाप्त हो जाते हैं और कारण अवस्थामें जब मनुष्य पहुंचकर स्वतंत्रतासे विराजता है, तो उसको स्वर्गधाम प्राप्त होता है, ऐसा कहते हैं। इसमें तीन दर्जे हैं ऐसा मानते हैं। प्रथम मध्यम और उत्तम ये तीन अवस्थाएं इस स्वर्गमें हैं जिसके जैसे सुकृत होते हैं उसको वैसी अवस्था यहां प्राप्त होती है। सुकृतके अनुसार प्राप्त होनेवाली यह अवस्था होनेके कारण इसमें प्रत्येकका अनुभव सुखात्मक होनेके कारण भिन्न भिन्न होता है। जिस प्रकार सुषुप्ति समाधि और मुक्तिमें ब्रह्मरूपता होती है, परंतु सुषुप्तिकी निचले स्थानकी और मुक्तिकी उच्च स्थानकी होती है, इसी प्रकार यहां समझना उचित है।

तृतीय स्वर्गधाममें पहुंचनेका आशय यह है। अतः पाठक इस अत्यन्त उच्च अवस्थाकी प्राप्ति करनेका यत्न करें। यही उत्तम स्थान, परमधाम, स्वर्ग या जो कुछ धर्मग्रंथोंसे वर्णित हुआ है वह यही है। सदाचारसे इसकी प्राप्ति होती है। परिपक्व आत्मा होनेपर इसको प्राप्त कर सकता है, इस विषयमें निम्नलिखित मंत्रभाग देखने योग्य है—

तप्तात् चरोः अतप्तः (सन्) उत्क्राम। (मं ६)

"तपे हुए पात्रमें रहता हुआ भी जो तप्त नहीं होता, वह उत्क्रान्त होनेका अधिकारी है।" ये ही विचार भिन्न शब्दोंमें इस प्रकार लिखे जा सकते हैं— "दुःखी घरमें रहता हुआ भी दुःखसे अलिप्त रहनेवाला, रोगियोंके स्थानमें रहता हुआ भी नीरोग रहनेवाला, परतन्त्र लोगोंमें विचरता हुआ भी जो परतन्त्र नहीं रहता, वही संतप्त प्रदेशमें शान्तिसे रह सकता है।" इसीका नाम तपस्या है।

एक बर्तनमें खिचडी पक रही हो तो उसमें रहनेवाले सभी चावल और मूंगके दाने उबलने लगते हैं, यदि एकाध दाना न उबलता वैसाही रहा, तो वह किसीके भी पेटमें हजम नहीं होता। इसी प्रकार इस विश्वके बर्तनमें यह सब जगत्की खिचडी पक रही है। इस तपे और उबलते हुए बर्तनमें जो न तपता हुआ और न गलता या न उबलता हुआ रहेगा, तो उसके इससे बाहर फेंका जाता है। यही उसकी उत्क्रान्ति है। आगे अथर्ववेद कां० ११ (३) में ही ब्रह्मौदन पक रहा है, इस सब सृष्टिके विशाल पात्रमें यह सब खिचडी पक रही है, ऐसा बडा मनोरंजक वर्णन अलंकार रूपसे आवेगा। वहां सबका पाक हो रहा है ऐसा कहा है। इस तपे पात्रमें जहां सबको ही संताप दुःख और कष्ट हो रहे हैं, वहां जो शान्त रहेगा उसीको धन्यता प्राप्त हो सकती है। कमलपत्र जैसा पानीमें रहता हुआ भी पानीसे नहीं भीगता, उसी प्रकार परिपक्वताको प्राप्त हुआ मनुष्य इस दुःखी जगत्में रहता हुआ भी इस जगत्के दुःखों और कष्टोंसे अलिप्त रहता है। यह उदासीपन, वैराग्य, अलिप्तता, असंगवृत्ति अथवा अनासक्ति उन्नतिका श्रेष्ठ साधन है।

भला जो लोग 'बकरेके मांसको पकानेका भाव' इन मंत्रोंसे निकालते हैं, वे तपे हुए पात्रसे न तपे हुए बकरेके भागको किस प्रकार उन्नतिका पथ दिखा सकते हैं और तपे हुए पात्रमें कौनसा बकरेका भाग शान्त स्थितिमें रह सकता है? वस्तुतः यह वर्णन ही अन्य स्थितिका वर्णन है। परंतु शब्दोंका भाव न समझनेके कारण कई लोगोंने इसका विपरीत अर्थ कर लिया है।

श्रीमद्भगवद्गीतामें जो असंगभाव और अनासक्तिका उपदेश है वही यहां इस मंत्रमें ' तपे पात्रमें न तपते हुए रहना ' इन शब्दोंसे किया है । पाठक इसको इस ढंगसे देखेंगे तो उनको कोई संदेह नहीं हो सकता । इस विषयमें आगे आत्मशुद्धिका एक अपूर्व उपाय भी बताया है—

"यत् दुश्चरितं चचार, पदः प्र क्षनेनिग्धि,
प्रजानन् शुद्धैः शफैः आक्रमताम् ॥ (मं० ३)

"जो दुराचार हुआ है और जिससे पांव मलिन हुए हैं, तो अपने पांव धो डाल और इस बातको जान ले कि इस प्रकार चलनेसे पांव मलिन हो जाते हैं । अतः शुद्ध पांवोंसे आगे बढ ।" दुराचारसे पांव मलिन होते हैं उनको धोना चाहिये । अपने पांव स्वच्छ रखकर स्वच्छ भूमिपर पांव रखनेसे आगे दुष्ट आचार होनेकी संभावना नहीं है । यहां उपलक्षणसे (दृष्टिपूतं न्यसेत् पादं) इस स्मृतिके वचनका ही आशय कहा है । इस प्रकार आत्मशुद्धिका मार्ग बताया है, अथर्ववेदमें पूर्वस्थानपर इसीका वर्णन अन्य रीतिसे किया है—

द्रुपदादिव मुमुचानः स्विन्नः स्नात्वा मलादिव ।
पूतं पवित्रेणेवाज्यं विश्वे शुम्भन्तु मैनसः ॥ अथर्व० ६।११५।३ ॥

"जिस प्रकार बंधनस्तंभसे पशु मुक्त होता है, जैसा मनुष्य स्नानके द्वारा मलसे मुक्त होता है अथवा जैसा छाननीसे घी पवित्र होता है, उस प्रकार मुझे पापसे पवित्र करो ।" इसी मंत्रके उपदेशके अनुसार इस सूक्तके मंत्रमें (शुद्धैः शफैः आक्रमतां) अपने पांव निर्मल करके आगे बढनेको कहा है । अपना शुद्ध चालचलन रखनेका उपदेश इस आज्ञामें है । वेदमें 'चरित्र' शब्दके 'पांव' और 'चालचलन' ऐसे दो अर्थ हैं । अर्थात् पांव (पाद) वाचक शब्दोंका अर्थ चालचलन ऐसा हो सकता है । इस प्रकार आचरण-शुद्धिसे आत्मशुद्धि करनेका उपदेश यहां किया है । इस तरह आत्मशुद्धि होनेके नंतर इसका परब्रह्मके लिये समर्पण होना चाहिये, यही इसका आत्मसमर्पण है । देखिये, इस विषयमें यह मंत्र विचारणीय है—

जीवता अजं ब्रह्मणे देयं आहुः । (मं० ७)
श्रद्दधानेन दत्तः अजः तमांसि अपहन्ति । (मं० ७)

" जीवित मनुष्यको उचित है कि वह अपने (अ-जं) आत्माका समर्पण (ब्रह्मणे) परब्रह्मके लिये करे । आत्मा परमात्माके लिये समर्पित होवे । इस प्रकार श्रद्धापूर्वक समर्पित हुआ यह अजन्मा आत्मा सब प्रकारके अज्ञानान्धकार दूर करता है ।" समर्पित होनेसे इसकी शक्ति बढती है, समर्पित होनेसे इसका तेज संवर्धित होता है । अब इसके पराक्रमका क्षेत्र देखिये—

पञ्चौदनः पञ्चधा विक्रमताम् । (मं० ८)

"उक्त पञ्चभोजनी अजन्मा आत्मा पांच प्रकारके कार्यक्षेत्रमें पराक्रम करे ।" कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय, मन, चित्त और बुद्धि ये इसके पांच कार्यक्षेत्र हैं, इन क्षेत्रोंमें यह जीव आत्मा कार्य करता है । इन क्षेत्रोंमें यह खूब विक्रम करे । क्योंकि इसके विक्रम करनेसे ही इसकी उन्नति हो सकती है । विक्रमके विना किसीकी भी उन्नतिकी संभावना नहीं हो सकती । यह विक्रम करनेसे इसको (त्रीणि ज्योतींषि आक्रंस्यमानः । मं० ८) तीन तेजोंकी प्राप्ति करता है । इसमें एक तेज स्थूलका है, दूसरा मनका है और तीसरा तेज आत्मिक है । इन तीनों तेजोंमें उन्नति होती है, अर्थात् इसके ये तेज बढते हैं । परंतु इसमें तेजोंकी वृद्धि तब होती है कि जब इसका परमात्माके लिये समर्पण होता है । तात्पर्य यह है कि, आत्माका समर्पण मुख्य है, वही उन्नतिका मुख्य साधन है । इसके विना उन्नति असंभव है । यह दर्शानेके लिये—

त्वा इन्द्राय भागं परिणयामि । (मं० २)
पञ्चौदनः ब्रह्मणे दीयमानः । (९ ; १०)
पञ्चौदनं अजं ब्रह्मणे ददाति । (मं० ११ , १२)
यं ब्रह्मणे निदधे । (मं० १९)

इतने मंत्रोंमें ब्रह्मके लिये अजन्मा आत्माका समर्पण करनेका बारंवार उपदेश किया है। जो बात विशेष महत्त्वपूर्ण होती है, वह वेदमें इस प्रकार बारंवार दुहराई जाती है। अर्थात् वेदमें जो उपदेश बारंवार आता है, वह अधिक महत्त्वपूर्ण है ऐसा समझना चाहिये।

अब चतुर्थ और पञ्चम मंत्रमें शमिताके कर्मका उल्लेख है। इसमें त्वचाके काटने और जोडोंके अनुसार व्यवस्था करनेका तथा पात्रमें भर देनेका उल्लेख है। इस क्रियाके करनेसे यह सुकृती लोगोंके मध्यमें जाता है ऐसा कहा है। यदि इन मंत्रोंसे पशुके काटनेका ही उद्देश है तो आगे ऐसा क्यों कहेंगे कि–

नास्यास्थीनि भिन्द्यान्न मज्ज्ञो निर्धयेत्।
सर्वमेनं समादायेदमिदं प्रवेशयेत्॥ (मं० २३)

" इसकी हड्डियां न टूटें, न इसकी मज्जा पी जावे या चूवे, इस सबको लेकर इसमें प्रवेश करावे।" यह इसके अवयव न काटनेकी ओर इशारा है, मज्जा भी नहीं पी जावे अर्थात् इसको काटना नहीं चाहिये। इसकी हड्डियां अलग नहीं करनी चाहिये। इसकी मज्जा निकालनी नहीं चाहिये। यह इशारा स्पष्ट है। इसमें कहा है कि इसके सबके सब भागको लेकर इसमें अर्थात् ब्रह्म या परमात्मामें समर्पण करो। यही आशय इसके सब भागको उसमें प्रविष्ट करनेका है। अपने आपको परमात्माकी गोदमें सौंप देना, यही भक्तिभावकी अन्तिम सीमा है।

यदि ऐसा है तो शमिताका त्वचाका काटना और जोडोंके अनुसार उसके अवयवोंको समर्थ बनानेका भाव क्या है, यह शंका यहां आसकती है। इस शंकाके उत्तरमें निवेदन यह है कि पूर्वोक्त मंत्रोंमें जो काटना कूटना लिखा है, वह उसी मर्यादातक है कि जिस मर्यादामें उसकी हड्डियां अलग न हों, मज्जा बाहर न चूवे और अवयव अलग न हों, परंतु सब अवयव समर्थ हों। (मा अभिद्रुहः, परुशः एनं कल्पय। मं० ५) इसका द्रोह न करना और प्रत्येक जोडमें इसका समर्थ बनना। वध करना यदि चतुर्थ और पञ्चम मंत्रको अभीष्ट होता, तो उसका द्रोह न करनेकी आज्ञा उसमें क्यों आती? वधसे और दूसरा द्रोह तो क्या हो सकता है? और प्रत्येक अवयवको समर्थ बनाना भी वधसे कैसा होगा? वध न किया तो कदाचित किसी उपायसे उसके अवयव समर्थ बनाये जा सकते हैं; परंतु वध करनेके पश्चात् तो समर्थ बनाना ही असंभव है। अतः यहां वध अभीष्ट नहीं है, यह निश्चय है।

हमें ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ चमडीके खुरचने और जोडोंमें धमनियोंको शस्त्रोंद्वारा उत्तेजित करनेकी विधि इन मंत्रोंमें लिखी है। जैसे एक प्रकारका संधिवात जोडोंमें सुईके अग्रभाग द्वारा कुछ वनस्पतिरस डालनेसे ठीक होता है। ये सुईयां तांबेकी, चांदीकी और सोनेकी होती हैं और इसी प्रकारके कुछ शस्त्रविशेष भी होते हैं। इनसे चर्मको कुछ अंशमें हटाकर उसमें विशेष औषधिप्रयोग करनेसे शरीरके अवयव समर्थ होते होंगे। यह विधि अभीतक अज्ञात है, परंतु इसका स्वरूप इस प्रकारका कुछ है इसमें संदेह नहीं है। अस्तु, यह विषय खोजने योग्य है।

यदि कोई मनुष्य यहां इन मंत्रोंमें [अज] बकरेके वधका उल्लेख है, ऐसा ही आग्रह करे, तो वह मंत्र२० और २१ देखे, इनमें " अजके विश्वरूपका वर्णन " है। समुद्र जिसकी कोखमें हैं, उर पृथ्वी है, द्युलोक उसकी पीठ है इत्यादि वर्णन कभी बकरेका नहीं हो सकता। और यदि हो सकता है तो ' अज ' अर्थात् अजन्मा परमात्माका हो सकता है। इस परमात्माके पुत्र जीवात्माका भी यह वर्णन हो सकता है। क्योंकि परमपिताके गुणधर्म अंशरूपसे पुत्रमें आते हैं और पुत्रका विकास होनेपर पुत्रके भी गुणधर्म पिताके समान होना संभव है, अर्थात् जब जीवात्मा उन्नत होता हुआ परमात्मरूप बनता है, उस समय ये ही वर्णन उसमें घट सकते हैं। इसका विचार करने पर इस सूक्तके ' अज ' शब्दका अर्थ आत्मा है, इस विषयमें सन्देह नहीं हो सकता और जीवात्माका पूर्णतया समर्पण परमात्माके लिए करनेसे ही जब जीवात्मामें परमात्म भाव आजाय, उसी समय इसका भी पृष्ठ भाग द्युलोक और अन्तरिक्ष मध्यभाग और पृथ्वी तलका भाग हो सकता है। जैसा कि मं० २० और २१ में कहा है। और इसीलिए इसको आगे–

७

एष वा अपरिमितो यज्ञो यदजः पञ्चौदनः ॥ [मं० २१]

" यह अपरिमित यज्ञ है जिसका नाम अज अर्थात् अजन्मा आत्मा है। " जीवात्मा-परमात्मामें ही यह अपरिमितता हो सकती है, बकरेमें इस प्रकारकी अपरिमितताकी कल्पना करना असंभव प्रतीत होता है। जीवात्मा की शक्ति और उन्नति अपरिमित है, इसीलिए-

अपरिमितं यज्ञं आप्नोति । अपरिमितं लोकं अवरुन्द्धे । [मं० २२]

" आत्माका समर्पण करनेसे अपरिमित यज्ञ होता है और आत्मसमर्पण करनेसे अपरिमित लोक प्राप्त होते हैं। " अपरिमितके दानसे ही अपरिमित फल प्राप्त हो सकता है। अन्य सब दान परिमित हैं, आत्माका दान ही अपरिमित दान है। इसी लिए अन्य पदार्थके दानसे परिमित लोक प्राप्त होते हैं और इस आत्माका समर्पण करनेसे अपरिमित लोकोंकी प्राप्ति हो जाती है।

आत्मसमर्पणके साथ वस्त्र और सुवर्ण दान भी होना चाहिए, इस विषयका विधान मं० २५, २६ और २९ में है। क्योंकि सदा दान दक्षिणाके साथ ही हुआ करता है। दक्षिणाके विना दान फलहीन हुआ करता है। मंत्र २७ और २८ में " पुनर्विवाहित पतिपत्नी पञ्चौदन अजका दान करेंगे तो वियुक्त नहीं होती " ऐसा कहा है। पाठक यहां देखें कि इन मंत्रोंमें ' ब्रह्मणे ' पद नहीं है। अर्थात् यहांका आत्मसमर्पण ब्रह्मके लिए नहीं है। पतिका पञ्चभोजनी आत्मा पत्निको समर्पित होवे और पत्नीका आत्मा पतिके लिए समर्पित होवे। पुनर्विवाहित पति हो अथवा पत्नी हो, वे पूर्व पत्नी या पतिका चिन्तन न करें, वे इस पत्नी पति को ही अपना सर्वस्व समझें। पूर्वका स्मरण करते रहनेसे परिवारमें झगडा हो सकता है और संसारका सुख दूर होता है, इसलिए कहा है कि, पति पत्नीके लिए आत्मसमर्पण करे और पत्नी पतिके लिए आत्मसमर्पण करे। यहां कई पूछेंगे कि प्रथम वारके पतिपत्नीके विषयमें ऐसा आदेश क्यों नहीं दिया है ? इसका कारण इतना ही है कि, प्रथम वार की पतिपत्नीको सामने रखनेके लिए दूसरी पत्नी या दूसरा पति नहीं होता, इससे उनको परस्पर प्रेम करना क्रमप्राप्त ही है। परंतु पुनर्विवाहित पति-पत्नीको पूर्वसंबंधका स्मरण होना संभव है, इसलिए उस दोषका निवारण करनेके लिए यहां सूचना दी है। और वह नितान्त योग्य है।

उन्तीसवे मन्त्रमें कहा है कि गौ, वस्त्र और सुवर्णका दान करनेसे स्वर्ग प्राप्ति होती है। सत्पात्रमें दान करनेसे बडा फल हो सकता है। इनके दानका महत्त्व अन्यान्य शास्त्रोंमें भी वर्णन किया है। तीसवे मंत्रमें अपने सब संबंधियों और इष्टमित्रोंको पुकार पुकार कर कहा है कि, पूर्वोक्त उपदेशका वे उत्तम प्रकार स्मरण रखें और उस रीतिसे अपनी उन्नतिकी प्राप्ति करा लेवें।

इस प्रकार इस सूक्तमें आत्मोन्नतिका विषय कहा है। निःसन्देह इसके कुछ मन्त्रभाग कठिन और संदिग्ध हैं, तथापि यहां वर्णन की हुई रीतिके अनुसार विचार करनेसे पाठकोंको इसका आशय समझमें आसकता है। आशा है इस ढंगसे विचार करके पाठक इस सूक्तके कुछ संदेह-स्थानोंको अधिक सुबोध कर सकेंगे।

अतिथि सत्कार।

(६)

(ऋषिः- ब्रह्मा । देवता-अतिथिः, विद्या ।)

[१]

यो विद्याद् ब्रह्म प्रत्यक्षं परूंषि यस्य संभारा ऋचो यस्यानूक्यम् ॥ १ ॥
सामानि यस्य लोमानि यजुर्हृदयमुच्यते परिस्तरणमिद्धविः ॥ २ ॥
यद् वा अतिथिपतिरतिथीन् प्रतिपश्यति देवयजनं प्रेक्षते ॥ ३ ॥
यदभिवदति दीक्षामुपैति यदुदकं याचत्यपः प्र णयति ॥ ४ ॥
या एव यज्ञ आपः प्रणीयन्ते ता एव ताः ॥ ५ ॥
यत् तर्पणमाहरन्ति य एवाग्नीषोमीयः पशुर्बध्यते स एव सः ॥ ६ ॥
यदावसथान् कल्पयन्ति सदोहविर्धानान्येव तत् कल्पयन्ति ॥ ७ ॥
यदुपस्तृणन्ति बर्हिरेव तत् ॥ ८ ॥
यदुपरिशयनमाहरन्ति स्वर्गमेव तेन लोकमवरुन्द्धे ॥ ९ ॥

अर्थ- (यः प्रत्यक्षं ब्रह्म विद्यात्) जो प्रत्यक्ष ब्रह्मको जानता है, (यस्य परूंषि संभाराः) उसके अवयव यज्ञसामग्री हैं, (यस्य अनूक्यं ऋचः) उसकी रीढ ऋचाएं हैं ॥ (यस्य लोमानि सामानि) उसके बाल साम हैं, और उसका (हृदयं यजुः उच्यते) हृदय यजु है ऐसा कहा जाता है ; तथा उसका (परिस्तरणं इत् हविः) ओढनेका वस्त्र हवि है ॥ १-२ ॥

(यत् वै अतिथिपतिः) जो तो गृहस्थ (अतिथीन् प्रतिपश्यति) अतिथियोंकी ओर देखता है, मानो वह (देवयजनं प्रेक्षते) देवयज्ञ को ही देखता है ॥ (यत् अभिवदति दीक्षां उपैति) जो अतिथिसे बात करता है वह यज्ञदीक्षा लेनेके समान है । (यत् उदकं याचति) जो तो वह जल मांगता है, और (अपः प्र णयति) जल उसके आगे धर देता है ॥ वह मानो (याः एव यज्ञे आपः प्रणीयन्ते) जो यज्ञमें जल ले जाते हैं (ताः एव ताः) वही जल है ॥ ३-५ ॥

(यत् तर्पणं आहरन्ति) जो पदार्थ अतिथिकी तृप्ति करनेके लिए ले जाते हैं, (यः एव अग्नीषोमीयः पशुः बध्यते स एव सः) वह मानो अग्नी और सोमके लिये पशु बांधा जाता है, वही वह है ॥ (यत् आवसथान् कल्पयन्ति) जो अतिथिके लिए स्थानका प्रबंध करते हैं (सदोहविर्धानानि एव तत् कल्पयन्ति) वह मानो यज्ञमें सद और हविर्धानकी रचना करना ही है ॥ (यत् उपस्तृणन्ति) जो बिछाया जाता है (बर्हिः एव तत्) वह मानो यज्ञका कुशा घास ही है ॥ (यत् उपरिशयनं आहरन्ति) जो उसपर बिछौना लाते हैं (तेन स्वर्गं लोकं अवरुन्द्धे) उससे स्वर्ग लोक ही मानो समीप लाते हैं ॥ ६—९ ॥

यत् कशिपूपबर्हणमाहरन्ति परिधय एव ते ॥ १० ॥
यदाञ्जनाभ्यञ्जनमाहरन्त्याज्यमेव तत् ॥ ११ ॥
यत् पुरा परिवेषात् खादमाहरन्ति पुरोडाशावेव तौ ॥ १२ ॥
यदशनकृतं ह्वयन्ति हविष्कृतमेव तद्ध्वयन्ति ॥ १३ ॥
ये व्रीहयो यवा निरूप्यन्तेंऽशव एव ते ॥ १४ ॥
यान्युलूखलमुसलानि ग्रावाण एव ते ॥ १५ ॥
शूर्पं पवित्रं तुषा ऋजीषाभिषवणीरापः ॥ १६ ॥
स्रुग् दर्विर्नेक्षणमायवनं द्रोणकलशाः कुम्भ्यो वायव्यानि
पात्राणीयमेव कृष्णाजिनम् ॥ १७ ॥ (१५)

[२]

यजमानब्राह्मणं वा एतदतिथिपतिः कुरुते यदाहार्याणि
प्रेक्षत इदं भूया ३ इदा ३ मिति ॥ १ ॥ १८ ॥

अर्थ-(यत् कशिपु उपबर्हणं आहरन्ति) जो चादर और सिरहना-अतिथिके लिए ले आते हैं, वह मानो यज्ञके (ते परिधयः एव) परिधि हैं ॥ (यत् आञ्जन—अभ्यञ्जनं आहरन्ति) जो आंखोंके लिए अञ्जन और शरीरके मलनेके लिए तेल लाते हैं, वह मानो, (तत् आज्यं एव) वह घृत ही है ॥ १०-११ ॥

(यत् परिवेशात् पुरा) जो भोजन परोसनेके पूर्व अतिथिके लिये (खादं आहरन्ति) खानेके हेतुसे लाते हैं वह मानो, (तौ पुरोडाशौ एव) पुरोडाश हैं ॥ (यत् अशनकृतं ह्वयन्ति) जो भोजन बनानेवालेको बुलाते हैं, वह मानो (हविष्कृतं एव तत् ह्वयन्ति) हविकी सिद्धता करनेवालेको बुलाना है ॥ १२—१३ ॥

(ये व्रीहयो यवा निरूप्यन्ते) जो चावल और जौ देखे जाते हैं (ते अंशवः एव) वे सोमलताके खण्ड ही हैं ॥ (यानि उलूखलमुसलानि) जो ओखली और मुसल अतिथिके लिए धान्य कूटनेके काम आते हैं मानो (ते ग्रावाणः एव) वे सोमरस निकालनेके पत्थर ही हैं ॥ १४-१५ ॥

(शूर्पं पवित्रं) अतिथिके लिए जो छाज बर्ता जाता है वह यज्ञमें बर्ते जानेवाले पवित्र के समान है, इसी प्रकार (तुषा ऋजीषा) धानके तुष होते हैं वे सोमरस छाननेके बाद अवशिष्ट रहनेवाले सोमतन्तुओंके समान हैं। (अभिषवणीः आपः) अतिथिभोजनके लिए प्रयुक्त होनेवाला जल यज्ञके जलके समान है ॥ (दर्वी स्रुक्) कडछी स्रुचा के समान है, (आयवनं ईक्षणं) पकते समय अन्नका हिलाना यज्ञके ईक्षण कर्मके समान है, (कुम्भ्यः द्रोणकलशाः) पकानेके देगची आदि पात्र यज्ञके द्रोणकलशों के समान हैं, (पात्राणि वाय = व्यानि) अतिथिके लिए जो अन्य पात्र लाये जाते हैं वे यज्ञके वायव्य पात्र ही हैं और (इयं एव कृष्णाजिनं) यही कृष्णाजिन है ॥ (१६-१७)

[२] (इदं भूयाः इदं इति) यह अधिक या यह ठीक है ऐसा जो (आहार्याणि प्रेक्षते) अतिथिको देने योग्य पदार्थोंका निरीक्षण करता है, वह (अतिथिपतिः) अतिथिका पालन करनेवाला यजमान (एतत्) इससे मानो (यजमान ब्राह्मणं वै कुरुते) यजमानके ब्राह्मणके समान कार्य करता है ॥ १ ॥ १८ ॥

भावार्थ—अतिथि घरमें आनेपर उसके लिए जो जो पदार्थ दिये जाते हैं वे मानो यज्ञके अन्दर प्रयुक्त होनेवाले पदार्थों के समान ही हैं। अर्थात् अतिथिका सत्कार करना एक यज्ञ करनेके समान ही है ॥ १-१७ ॥

यदाह भूय उद्धरेति प्राणमेव तेन वर्षीयांसं कुरुते ॥ २ ॥ १९ ॥
उप हरति हवींष्या सादयति ॥ ३ ॥ २० ॥
तेषामासन्नानामतिथिरात्मन् जुहोति ॥ ४ ॥ २१ ॥
स्रुचा हस्तेन प्राणे यूपे स्रुक्कारेण वषट्कारेण ॥ ५ ॥ २२ ॥
एते वै प्रियाश्चाप्रियाश्चर्त्विजः स्वर्गं लोकं गमयन्ति यदतिथयः ॥ ६ ॥ २३ ॥
स य एवं विद्वान् न द्विषन्नश्नीयान्न द्विषतोऽन्नमश्नीयान्न
मीमांसितस्य न मीमांसमानस्य ॥ ७ ॥ २४ ॥
सर्वो वा एष जग्धपाप्मा यस्यान्नमश्नन्ति ॥ ८ ॥ २५ ॥
सर्वो वा एषोऽजग्धपाप्मा यस्यान्नं नाश्नन्ति ॥ ९ ॥ २६ ॥
सर्वदा वा एष युक्तग्रावार्द्रपवित्रो विततांध्वर आहृतयज्ञक्रतुर्य उपहरति ॥ १० ॥ २७ ॥
प्राजापत्यो वा एतस्य यज्ञो विततो य उपहरति ॥ ११ ॥ २८ ॥

अर्थ- (यत् आह) जो कहता है कि (भूयः उद्धर इति) अधिक परोस कर अतिथिको दो, तो (तेन) इससे वह (प्राणं वर्षीयांसं एव कुरुते) अपने प्राणको चिरस्थायी बनाता है ॥ जो उसके पास अन्नादि (उपहरति) ले जाता है वह मानो (हवींषि आसादयति) हविके पदार्थ लाता है ॥ २—३ ॥ १९-२० ॥

(तेषां आसन्नानां) उन लाये पदार्थोंमेंसे कुछ पदार्थोंका (अतिथिः आत्मन् जुहोति) अतिथि अपने अन्दर हवन करता है, वह भोजन स्वीकारता है ॥ (हस्तेन स्रुचा) हाथरूपी स्रुचासे, (प्राणे यूपे) प्राणरूपी यूपमें (स्रुक्कारेण वषट्कारेण) भोजन खानेके 'स्रुक् स्रुक्' ऐसे शब्दरूपी वषट्कारसे वह अपनेमें एक एक आहुति डालता है ॥ (यत् अतिथयः) जो ये अतिथि हैं वे (प्रियाः अप्रियाः च) प्रिय हों अथवा अप्रिय हों, वे (ऋत्विजः) आतिथ्य यज्ञके ऋत्विज यजमानको (स्वर्गं लोकं गमयन्ति) स्वर्गलोकको पहुंचाते हैं ॥ ४-६ ॥ २१—२३ ॥

(यः एवं विद्वान्) इस तत्त्वको जानता हुआ (सः द्विषन्) न अश्नीयात् वह किसीका द्वेष करता हुआ न भोजन करे। (द्विषतः अन्नं न अश्नीयात्) द्वेष करनेवाले भोजन न खावे (न मीमांसितस्य) संशयित आचरणवाले मनुष्यका भोजन न खावे और (न मीमांसमानस्य) न संदेह करनेवालेका अन्न अतिथि खावे ॥ ७ ॥ २४ ॥

(यस्य अन्नं अश्नन्ति) जिसका अन्न अतिथि लोग खाते हैं, (सर्वः वै एष जग्धपाप्मा) उसके सब पाप जल जाते हैं। तथा (यस्य अन्नं न अश्नन्ति) जिसका अन्न अतिथि नहीं खाते (सर्वः वै एष अजग्धपाप्मा) उसके सब पाप वैसे के वैसे रहते हैं॥ ८-९ ॥ २५-२६ ॥

(यः उपहरति) जो गृहस्थ अतिथिकी सेवाके लिए आवश्यक सामग्री उसके पास ले जाता है वह मानो (सर्वदा वै एषः युक्तग्रावा) वह सदासर्वदा सोमरस निकालनेके पत्थरोंसे रस निकालता ही रहता है, वह सर्वदा (आर्द्र पवित्रः) रस छानता रहता है, जिसकी छाननी सदा गीली रहती है, वह (वितत—अध्वरः) सदा यज्ञ करता है, वह सदा (आहृत, यज्ञ क्रतुः) यज्ञ समाप्त करनेके समान रहता है ॥ १०॥ २७ ॥

(यः उपहरति) जो अतिथिको समर्पण करता है वह मानो (एतस्य प्राजापत्यः वै यज्ञः विततः) उसके प्राजापत्य यज्ञका फैलाव हुआ है ॥ (यः उपहरति) जो अतिथिको दान देता है वह मानो (प्रजापतेः विक्रमान् अनुविक्रमते) प्रजापतिके विक्रमोंका अनुकरण करता है ॥ ११-१२ ॥ २८-२९ ॥

भावार्थ-अतिथिका योग्य आदर-सत्कार करना मानो बडे बडे यज्ञ करनेके समान है ॥ १-१२ ॥ १८-३०॥

प्रजापतेर्वा एष विक्रमाननुविक्रमते य उपहरति ॥ १२ ॥ २९ ॥

योऽतिथीनां स आहवनीयो यो वेश्मनि स गार्हपत्यो
यस्मिन् पचन्ति स दक्षिणाग्निः ॥ १३ ॥ ३० ॥ (१६)

(३)

इष्टं च वा एष पूर्तं च गृहाणामश्नाति यः पूर्वोऽतिथेरश्नाति ॥ १ ॥ ३१ ॥
पयश्च वा एष रसं च गृहाणामश्नाति यः पूर्वोऽतिथेरश्नाति ॥ २ ॥ ३२ ॥
ऊर्जां च वा एष स्फातिं च गृहाणामश्नाति यः पूर्वोऽतिथेरश्नाति ॥ ३ ॥ ३३ ॥
प्रजां च वा एष पशूंश्च गृहाणामश्नाति यः पूर्वोऽतिथेरश्नाति ॥ ४ ॥ ३४ ॥
कीर्तिं च वा एष यशश्च गृहाणामश्नाति यः पूर्वोऽतिथेरश्नाति ॥ ५ ॥ ३५ ॥
श्रियं च वा एष संविदं च गृहाणामश्नाति यः पूर्वोऽतिथेरश्नाति ॥ ६ ॥ ३६ ॥
एष वा अतिथिर्यच्छ्रोत्रियस्तस्मात् पूर्वो नाश्नीयात् ॥ ७ ॥ ३७ ॥
अशितावत्यतिथावश्नीयाद् यज्ञस्य सात्मत्वाय यज्ञस्याविच्छेदाय तद् व्रतम् ॥ ८ ॥ ३८ ॥
एतद् वा उ स्वादीयो यदधिगवं क्षीरं वा मांसं वा तदेव नाश्नीयात् ॥ ९ ॥ ३९ ॥ (१७)

अर्थ- (यः अतिथीनां) जो अतिथियोंके शरीरमें पाचक अग्नि है (सः आहवनीयः) वह आहवनीय अग्नि है, (यः वेश्मनि सः गार्हपत्यः) जो घरमें अग्नि होता है वह गार्हपत्य अग्नि है, (यस्मिन् पचन्ति स दक्षिणाग्निः) जिस पर अन्न पकाते हैं वह दक्षिणाग्नि है ॥ १३ ॥ ३० ॥

[३] [यः अतिथेः पूर्वं अश्नाति] जो अतिथिके पूर्व स्वयं भोजन करता है (एष) वह [गृहाणां इष्टं च वै पूर्तं च अश्नाति] अपने घरके इष्ट और पूर्तको ही खाजाता है ॥ जो अतिथिके भोजन करनेके पूर्व भोजन करता है वह मानो घरके (पयः च रसं च) दूध और रसको, (ऊर्जां च स्फातिं च) अन्न और समृद्धिको, [प्रजां च पशून् च] प्रजा और पशुको, [कीर्तिं च यशः च] कीर्ति और यशको, [श्रियं च संविदं च] श्री और सज्ञान को (अश्नाति) खाजाता है ॥ १—६ ॥ ३१-३६ ॥

[एष वै अतिथिः यत् श्रोत्रियः] यह अतिथि निश्चयसे श्रोत्रिय है [तस्मात् पूर्वः न अश्नीयात्] इसलिए उससे पूर्व स्वयं भोजन करना उचित नहीं है ॥ ७ ॥ ३७ ॥

[अतिथौ अशितावति अश्नीयात्] अतिथिके भोजन करनेके पश्चात् गृहस्थ स्वयं भोजन करे। [यज्ञस्य सात्मत्वाय] यज्ञकी सांगता के लिए (यज्ञस्य अविच्छेदाय) यज्ञका भंग न होनेके लिये [तत् व्रतं] यह व्रत पालन करना गृहस्थीको योग्य है ॥ ८ ॥ ३८ ॥

[एतत् वै उ स्वादीयः] वह जो स्वादयुक्त है [यत् अधिगवं क्षीरं वा मांसं वा] जो गौसे प्राप्त होनेवाले दूध या अन्य मांसादि पदार्थ हैं [तत् एव न अश्नीयात्] उसमें से कोई पदार्थ अतिथिके पूर्व भी न खावे ॥ ९ ॥ ३९ ॥

भावार्थ-अतिथिका भोजन पहिले होवे, पश्चात् जो अवशिष्ट बचा हो वह घरके मनुष्य खावें। कभी किसी अवस्थामें अतिथिके भोजन करनेके पूर्व घरका कोई मनुष्य भोजन न करे। ऐसा करनेसे गृहस्थ यज्ञ की पूर्णता होती है। प्रत्येक गृहस्थ इस व्रत का पालन करे ॥ १—९ ॥ ३१—३९ ॥

(४)

स य एवं विद्वान् क्षीरमुपसिच्योपहरति ॥ १ ॥
यावदग्निष्टोमेनेष्ट्वा सुसमृद्धेनावरुन्द्धे तावदेनेनाव रुन्द्धे ॥ २ ॥ ४० ॥
स य एवं विद्वान्त्सर्पिरुपसिच्योपहरति ॥ ३ ॥
यावदतिरात्रेणेष्ट्वा सुसमृद्धेनावरुन्द्धे तावदेनेनाव रुन्द्धे ॥ ४ ॥ ४१ ॥
स य एवं विद्वान् मधूपसिच्योपहरति ॥ ५ ॥
यावत् सत्त्रसद्येनेष्ट्वा सुसमृद्धेनावरुन्द्धे तावदेनेनाव रुन्द्धे ॥ ६ ॥ ४२ ॥
स य एवं विद्वान् मांसमुपसिच्योपहरति ॥ ७ ॥
यावद् द्वादशाहेनेष्ट्वा सुसमृद्धेनावरुन्द्धे तावदेनेनाव रुन्द्धे ॥ ८ ॥ ४३ ॥
स य एवं विद्वानुदकमुपसिच्योपहरति ॥ ९ ॥
प्रजानां प्रजननाय गच्छति प्रतिष्ठां प्रियः प्रजानां भवति य एवं
विद्वानुदकमुपसिच्योपहरति ॥ १० ॥ ४४ ॥ (१८)

(५)

तस्मा उषा हिङ्कृणोति सविता प्र स्तौति ॥ १ ॥
बृहस्पतिरूर्जयोद्गायति त्वष्टा पुष्ट्या प्रति हरति विश्वे देवा निधनम् ॥ २ ॥

अर्थ- [४] [यः एवं विद्वान्] जो इस बातको जानता हुआ अतिथिके लिए [क्षीरं उपसिच्य उपहरति] दूध अच्छे पात्रमें रखकर ले आता है, उसको [यावत् सुसमृद्धेन अग्निष्टोमेन इष्ट्वा अवरुन्धे] जितना उत्तम समृद्ध अग्निष्टोम यज्ञका यजन करनेसे फल मिलता है, [तावत् एतेन अवरुन्धे] उतना इससे मिलता है ॥ १—२॥४०॥

(यः एवं विद्वान्) जो इस बातको जानता हुआ अतिथिके लिए (सर्पिः उपसिच्य उपहरति) घी बर्तन में रख कर ले आता है उसको उतना फल मिलता है कि जितना किसीको उत्तम (सुसमृद्धेन अतिरात्रेण) समृद्ध अतिरात्र नामक यज्ञ करनेसे प्राप्त हो सकता है ॥ ३-४ ॥ ४१ ॥

जो इस बातको जानता हुआ मनुष्य अतिथिको देनेके लिए (मधु उपसिच्य उपहरति) मधु अर्थात् शहद उत्तम पात्रमें रखकर अतिथिके पास ले आता है, उसको उतना फल मिलता है कि जितना किसीको (सुसमृद्धेन सत्रसद्येन इष्ट्वा) उत्तम समृद्ध सत्रसद्य नामक यज्ञके करनेसे मिलता है ॥ ५-६ ॥ ४२ ॥

जो इस बातको जानता हुआ (मांसं उपसिच्य) मांसको पात्रमें रखकर अतिथिके पास ले आता है, उसको उतना फल मिलता है जितना उत्तम समृद्ध (द्वादशाहेन इष्ट्वा) द्वादशाह यज्ञके करनेसे किसीको प्राप्त हो सकता है ॥ ७-८ ॥ ४३ ॥

जो इस बातको जानता हुआ (उदकं उपसिच्य) जल उत्तम पात्रमें डालकर अतिथिके पास ले आता है, वह (प्रजानां प्रजननाय प्रतिष्ठां गच्छति) प्रजाओंके प्रजनन अर्थात् उत्पत्तिके लिए स्थिरताको प्राप्त होता है और (प्रजानां प्रियः भवति) प्रजाओंके लिए प्रिय होता है ॥ ९—१०॥ ४४ ॥

भावार्थ— जो गृहस्थी उत्तम श्रद्धासे दुग्धादि पदार्थ उत्तम स्वच्छ पात्रमें रखकर अतिथिको समर्पण करनेकी बुद्धिसे उसके पास ले आता है, उसको बडे बडे यज्ञ यथार्थ करनेका फल प्राप्त होता है ॥ १-१० ॥ ४०-४४ ॥

निधनं भूत्याः प्रजायाः पशूनां भवति य एवं वेद ॥ ३ ॥ ४५ ॥
तस्मा उद्यन्त्सूर्यो हिङ्कृणोति संगवः प्र स्तौति ॥ ४ ॥
मध्यंदिन उद्गायत्यपराह्णः प्रति हरत्यस्तंयन्निधनम् ।
निधनं भूत्याः प्रजायाः पशूनां भवति य एवं वेद ॥ ५ ॥ ४६ ॥
तस्मा अभ्रो भवन् हिङ्कृणोति स्तनयन् प्र स्तौति ॥ ६ ॥
विद्योतमानः प्रति हरति वर्षन्नुद्गायत्युद्गृह्णन् निधनम् ।
निधनं भूत्याः प्रजायाः पशूनां भवति य एवं वेद ॥ ७ ॥ ४७ ॥
अतिथीन् प्रति पश्यति हिङ्कृणोत्यभि वदति प्र स्तौत्युदकं याचत्युद्गायति ॥ ८ ॥
उप हरति प्रति हरत्युच्छिष्टं निधनम् ॥ ९ ॥
निधनं भूत्याः प्रजायाः पशूनां भवति य एवं वेद ॥ १० ॥ ४८ ॥ (१९)

अर्थ-[५] (यः एवं वेद) जो इस अतिथिसत्कारके व्रतको जानता है (तस्मै) उस मनुष्यके लिये (उषा हिंकृणोति) उषा आनंद-सन्देश देती है, (सविता प्र स्तौति) सूर्य विशेष प्रशंसा करता है, (बृहस्पतिः ऊर्जया उद्गायति) बृहस्पति बल के साथ उसके गुणोंका गान करता है, (त्वष्टा पुष्ट्या प्रतिहरति) त्वष्टा उसको पुष्टि प्रदान करता है, (विश्वेदेवाः निधनं) सब अन्य देव उसको आश्रय प्रदान करते हैं। अतः वह (भूत्याः प्रजायाः पशूनां निधनं भवति) संपत्ति, प्रजा और पशुओंका आश्रयस्थान बनता है ॥ १-३ ॥ ४५ ॥

जो इस अतिथि सत्कारके व्रतको जानता है, (तस्मै उद्यन् सूर्यः हिंकृणोति) उसके लिये उदय होता हुआ सूर्य आनन्दका सन्देश देता है, (संगवः प्र स्तौति) प्रभात समय प्रशंसा करता है, (मध्यंदिनः उद्गायति) मध्यदिन उसका गुण गान करता है, (अपराह्णः प्रति हरति) अपराह्ण समय पुष्टि देता है (अस्तं यन् निधनं) अस्त जाता हुआ सूर्य आश्रय देता है। इस प्रकार वह संपत्ति, प्रजा और पशुओंका आश्रयस्थान होता है॥४—५ ॥ ४६॥

जो इस अतिथिसत्कारके व्रत को जानता है, (तस्मै अभ्रः भवन् हिंकृणोति) उसके लिये उत्पन्न होनेवाला मेघ आनन्द सन्देश देता है, (स्तनयन् प्रस्तौति) गर्जना करनेवाला मेघ प्रशंसा करता है, (विद्योतमानः प्रतिहरति) प्रकाशनेवाला पुष्टि देता है, (वर्षन् उद्गायति) वृष्टि करता हुआ मेघ इसका गुणगान करता है (उद्गृह्णन् निधनं) ऊपर लेनेवाला आश्रय देता है। इस प्रकार वह संपत्ति, प्रजा और पशुओंका आश्रयस्थान होता है ॥ ६-७ ॥४७॥

जो इस अतिथिसत्कारके व्रतको जानता है वह जब (अतिथीन् पश्यति) अतिथियोंका दर्शन करता है तो मानो वह (हिंकृणोति) आनन्दका शब्द करता है, जब वह अतिथियोंको (अभिवदति) नमस्कार करता है, तो वह कृत्य उसके (प्रस्तौति) प्रस्ताव करनेके समान होता है। जब वह (उदकं याचति) जल मांगता है तो मानो वह (उद्गायति) यज्ञके उद्गाताका कार्य करता है। (उपहरति प्रतिहरति) जब वह पदार्थ अतिथिके पास लाता है, तो वह यज्ञके प्रतिहर्ताका कार्य करता है। (उच्छिष्टं निधनं) जो अन्नादिक अतिथिके भोजन करनेके पश्चात् अवशिष्ट रहता है उसको यज्ञका अन्तिम प्रसाद समझो। इस प्रकार अतिथिसत्कार करनेवाला संपत्ति,प्रजा और पशुओंका आश्रयस्थान बनता है ॥८-१०॥४८॥

भावार्थ-हिंकार, प्रस्ताव, उद्गान, प्रतिहार और निधन ये पांच अंग सामके हैं। अतिथिसत्कार करनेवालेको ये पांचों इस प्रकार सिद्ध होते हैं। अर्थात् अतिथिसत्कार एक श्रेष्ठ यज्ञका पूर्ण साम है। अतिथिसत्कार ही गृहस्थीका परम पवित्र और श्रेष्ठ कर्म है ॥ ८—१० ॥ ४८ ॥

(६)

यत् क्षत्तारं ह्वयत्या श्रावयत्येव तत् ॥ १ ॥ ४९ ॥
यत् प्रतिशृणोति प्रत्याश्रावयत्येव तत् ॥ २ ॥ ५० ॥
यत् परिवेष्टारः पात्रहस्ताः पूर्वे चापरे च प्रपद्यन्ते चमसाध्वर्यव एव ते ॥ ३ ॥ ५१ ॥
तेषां न कश्चनाहोता ॥ ४ ॥ ५२ ॥
यद् वा अतिथिपतिरतिथीन् परिविष्य गृहानुपोदैत्यवभृथमेव तदुपावैति ॥ ५ ॥ ५३ ॥
यत् सभागयति दक्षिणाः सभागयति यदनुतिष्ठत उदवस्यत्येव तत् ॥ ६ ॥ ५४ ॥
स उपहूतः पृथिव्यां भक्षयत्युपहूतस्तस्मिन् यत् पृथिव्यां विश्वरूपम् ॥ ७ ॥ ५५ ॥
स उपहूतोऽन्तरिक्षे भक्षयत्युपहूतस्तस्मिन् यदन्तरिक्षे विश्वरूपम् ॥ ८ ॥ ५६ ॥
स उपहूतो दिवि भक्षयत्युपहूतस्तस्मिन् यद् दिवि विश्वरूपम् ॥ ९ ॥ ५७ ॥
स उपहूतो देवेषु भक्षयत्युपहूतस्तस्मिन् यद् देवेषु विश्वरूपम् ॥ १० ॥ ५८ ॥
स उपहूतो लोकेषुभक्षयत्युपहूतस्तस्मिन् यल्लोकेषु विश्वरूपम् ॥ ११ ॥ ५९ ॥
स उपहूत उपहूतः ॥ १२ ॥ ६० ॥
आप्नोतीमं लोकमाप्नोत्यमुम् ॥ १३ ॥ ६१ ॥
ज्योतिष्मतो लोकान् जयति य एवं वेद ॥१४॥ ६२ ॥ (२०)

॥ इति तृतीयोऽनुवाकः ॥

अर्थ- [६]— (यत् क्षत्तारं ह्वयति) जब वह द्वारपालको बुलाता है, मानो (तत् आश्रावयति एव) वह अभिश्रवण करता है। (यत् प्रतिशृणोति) जब वह सुनता है, मानो (तत् प्रत्याश्रावयति एव) वह प्रत्याश्रवण ही है। अब अतिथिके लिए (पूर्वे च अपरे च परिवेष्टारः पात्र हस्ताः प्रपद्यन्ते) पहिले और बाद के परोसनेवाले सेवक पात्र हाथोंमें लेकर उसके पास आते हैं, मानो (ते चमसाध्वर्यव एव) यज्ञके चमसाध्वर्यु हैं॥ (तेषां न कश्चन अहोता) उनमें कोई भी अयाजक नहीं होता है ॥ १-४ ॥ ४९-५२॥

(यत् वै अतिथिपतिः अतिथीन् परिविष्य) जो तो गृहस्थी अतिथियोंको भोजन देकर (गृहान् उप उदैति) अपने घरके प्रति जाता है, मानो (तत् अवभृथं एव उप अवैति) वह अवभृथ स्नानके लिये ही जाता है। (यत् सभागयति) जो भेट करता है, मानो वह (दक्षिणाः सभागयति) दक्षिणा प्रदान करता है। (यत् अनुतिष्ठते) जो उसके लिये अनुष्ठान करता है मानो (तत् उदवसति एव) वह यज्ञ यथासांग करता है ॥ ५-६ ॥ ५३-५४ ॥

(सः पृथिव्यां उपहूतः) वह इस पृथ्वीपर किसी देशमें आदरसे बुलाये अतिथि (यत् पृथिव्यां विश्वरूपं) जो कुछ इस पृथ्वीपर अनेक रंगरूपवाला अन्न है (तस्मिन् उपहूतः भक्षयति) उसको वहां निमंत्रित होकर खाता है। वह आदरसे बुलाया हुआ अतिथि (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्षमें (दिवि) द्युलोकमें, (देवेषु) देवताओंमें और (लोकेषु) सब लोकोंमें जो (विश्वरूपं) अनेक रंगरूपवाला अन्न होता है उसको वहां बैठा हुआ (भक्षयति) भक्षण करता है ॥ ७-११ ॥ ५५-५९ ॥

*

(सः उपहूतः) वह आदरसे निमंत्रित किया हुआ अतिथि बहुत लाभ देता है ॥ अतिथिको आदरके साथ बुलानेवाला गृहस्थी (इमं लोकं आप्नोति) इस लोकको प्राप्त करता है और (अमुं आप्नोति) उस लोकको भी प्राप्त करता है। (यः एवं वेद) जो इस अतिथिसत्कारके व्रतको जानता है वह (ज्योतिष्मतः लोकान् जयति) तेजस्वी लोकोंको प्राप्त करता है ॥ १२-१४ ॥ ६०—६२ ॥

अतिथिका आदर ।

अतिथिका आदरसत्कार प्रेमके साथ करनेका उपदेश करनेके लिये ये ६२ मंत्र इस सूक्तके छः पर्यायों में दिये हैं । ये मंत्र सरल होनेसे इनकी व्याख्या विशेष करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। अतिथिसत्कारसे विविध प्रकार के यज्ञ यथासांग करनेका फल प्राप्त होता है अर्थात् जो अतिथिसत्कार उत्तम श्रद्धासे करेगा, उसको अन्यान्य यज्ञयाग करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। गृहस्थ—धर्मका यह प्रधान अंग अतिथिसत्कार है। पाठक इस सूक्तका पाठ करें और इसके इस आशयको जानें और अतिथिसत्कार करके उसके श्रेष्ठ फलके भागी बनें ॥

इन मंत्रोंमें 'मांस' शब्द आया है। इस मांस शब्दके अन्य अर्थ भी होते होंगे, परंतु यहां 'मांस' अर्थ अपेक्षित है ऐसा हमारा मत है और यह लेनेपर भी कोई आपत्ति नहीं है। क्योंकि मांसभोजी मनुष्यके घरमें कोई अतिथि आवे, तो अतिथिके पूर्व वह मांस भी न खावे, इत्यादि भाव यहां लेना योग्य है। वेदमें जैसा निर्मांस भोजी मनुष्योंका वर्णन है वैसा मांस भोजियोंका भी वर्णन है।

—:०:—

गौका विश्वरूप।

(७)

(ऋषिः-ब्रह्मा । देवता-गौः)

(१२) (७)

प्रजापतिश्च परमेष्ठी च शृङ्गे इन्द्रः शिरो अग्निर्ललाटं यमः कृकाटम् ॥ १ ॥
सोमो राजा मस्तिष्को द्यौरुत्तरहनुः पृथिव्यधरहनुः ॥ २ ॥
विद्युज्जिह्वा मरुतो दन्ता रेवतीर्ग्रीवाः कृत्तिका स्कन्धा घर्मो वहः ॥ ३ ॥
विश्वं वायुः स्वर्गो लोकः कृष्णद्रं विधरणी निवेष्यः ॥ ४ ॥
श्येनः क्रोडोऽन्तरिक्षं पाजस्यं१ बृहस्पतिः ककुद् बृहतीः कीकसाः ॥ ५ ॥
देवानां पत्नीः पृष्टय उपसदः पर्शवः ॥ ६ ॥
मित्रश्च वरुणश्चांसौ त्वष्टा चार्यमा च दोषणी महादेवो बाहू ॥ ७ ॥
इन्द्राणी भसद् वायुः पुच्छं पवमानो बालाः ॥ ८ ॥
ब्रह्म च क्षत्रं च श्रोणी बलमूरू ॥ ९ ॥
धाता च सविता चाष्ठीवन्तौ जङ्घा गन्धर्वा अप्सरसः कुष्ठिका अदितिः शफाः ॥ १० ॥

अर्थ— (प्रजापतिः च परमेष्ठी च शृंगे) प्रजापति और परमेष्ठी ये गौके दो सींग हैं, (इन्द्रः शिरः) इन्द्र सिर है, (अग्निः ललाटं) अग्नि ललाट है, (यमः कृकाटं) यम गलेकी घंटी है ॥ (सोमः राजा मस्तिष्कः) राजा सोम मस्तिष्क है, (द्यौः उत्तराः हनुः) द्युलोक उपरका जबडा और (पृथ्वी अधरहनुः) पृथ्वी नीचेका जबडा है ॥ १-२ ॥

(विद्युत् जिह्वा) बिजली जीभ है, (मरुतः दन्ताः) मरुत् दांत हैं (रेवतीः ग्रीवा, कृत्तिका स्कन्धाः) रेवती गर्दन और कृत्तिका कन्धे हैं। (घर्मः वहः) उष्णता देनेवाला सूर्य वहनेका ककुद्के पासका भाग है ॥ (वायुः विश्वं स्वर्गः लोकः कृष्णद्रं) वायु सब अवयव और स्वर्गलोक कृष्णद्र है और (विधरणी निवेष्यः) धारक शक्ति पृष्ठवंश-की सीमा है ॥ ३—४ ॥

(श्येनः क्रोडः) श्येन उसकी गोद है, (अन्तरिक्षं पाजस्यं) अन्तरिक्ष पेट है, (बृहस्पतिः ककुद्) बृहस्पति ककुद् है, (बृहतीः कीकसाः) बृहस्पति कोहनेका भाग है ॥ (देवानां पत्नीः पृष्ठयः) देवोंकी पत्नियां पीठके भाग हैं, (उपसदः पर्शवः) उपसद् इष्टियां पसुलियां हैं ॥ ५-६ ॥

(मित्रः च वरुणः च अंसौ) मित्र और वरुण कंधे हैं, (त्वष्टा च अर्यमा च दोषणी) त्वष्टा और अर्यमा बाहुभाग हैं, और (महादेवः बाहू) महादेव बाहु हैं ॥ (इन्द्राणी भसत्) इन्द्रपत्नी गुह्यभाग है, (वायुः पुच्छं) वायु पुच्छ है और (पवमानः बालाः) पवमान वायु बाल हैं ॥ ७—८ ॥

(ब्रह्म च क्षत्रं च श्रोणी) ब्राह्मण और क्षत्रिय चूतर हैं, (बलं ऊरू) बल जांघें हैं ॥ (धाता च सविता च (अष्ठीवन्तौ) धाता और सविता ये टखने हैं, (गन्धर्वाः जङ्घाः) गन्धर्व जांघें हैं (अप्सरसः कुष्ठिकाः) अप्सराएं

चेतो हृदयं यकृन्मेधा व्रतं पुरीतत् ॥ ११ ॥
क्षुत् कुक्षिरिरा वनिष्ठुः पर्वताः प्लाशयः ॥ १२ ॥
क्रोधो वृक्कौ मन्युराण्डौ प्रजा शेपः ॥ १३ ॥
नदी सूत्री वर्षस्य पतय स्तना स्तनयित्नुरूधः ॥ १४ ॥
विश्वव्यचाश्चर्मौषधयो लोमानि नक्षत्राणि रूपम् ॥ १५ ॥
देवजना गुदा मनुष्या आन्त्राण्यत्रा उदरम् ॥ १६ ॥
रक्षांसि लोहितमितरजना ऊबध्यम् ॥ १७ ॥
अभ्रं पीबो मज्जा निधनम् ॥ १८ ॥
अग्निरासीन उत्थितोऽश्विना ॥ १९ ॥
इन्द्रः प्राङ् तिष्ठन् दक्षिणा तिष्ठन् यमः ॥ २० ॥
प्रत्यङ् तिष्ठन् धातोदङ् तिष्ठन्त्सविता ॥ २१ ॥
तृणानि प्राप्तः सोमो राजा ॥ २२ ॥
मित्र ईक्षमाण आवृत्त आनन्दः ॥ २३ ॥
युज्यमानो वैश्वदेवो युक्तः प्रजापतिर्विमुक्तः सर्वम् ॥ २४ ॥

खुरभाग हैं, (अदितिः शफाः) अदिति खुर हैं ॥ (चेतः हृदयं) चेतना उसका हृदय है (मेधा यकृत्) मेधाबुद्धि यकृत् है, (व्रतं पुरीततं) व्रत उसकी आतें हैं ॥ ९—११

[क्षुत् कुक्षिः] क्षुधा कोख है, [इरा वनिष्ठुः] अन्न बडी आतें है, [पर्वताः प्लाशयः] पहाड छोटी आतें हैं ॥ [क्रोधः वृक्कौ] क्रोध उसके गुर्दे हैं, [मन्युः आण्डौ] उत्साह अण्डकोश है, [प्रजाः शेपः] प्रजा जननेन्द्रिय है ॥१२—१३ ॥

[नदी सूत्री] नदी सूत्रनाडी है, [वर्षस्य पतयः स्तनाः] वर्षापति मेघ उसके स्तन हैं, [स्तनयित्नु ऊधः] गर्जनेवाला मेघ दूधसे पूर्ण स्तन हैं ॥ [विश्वव्यचा चर्म] सर्वत्र फैला आकाश चर्म है, [ओषधयः लोमानि) औषधियां लोम हैं, [नक्षत्राणि रूपं] नक्षत्र रूप है ॥ १४—१५ ॥

[देवजनाः गुदा] देवजन गुदा हैं, [मनुष्याः आन्त्राणि] मनुष्य आतें हैं, [अत्रा उदरं] भक्षक प्राणी उदर है ॥ [रक्षांसि लोहितं] राक्षस रक्त है; [इतरजना ऊबध्यं] इतर जन अपचित अन्न है॥ [अभ्रं पीवः] मेघ मेदा है [निधनं मज्जा] निधन मज्जा है ॥ [अग्निः आसीनः] अग्नि आसन है और [अश्विनौ उत्थितः] अश्विदेव उत्थान है ॥ १६—१९ ॥

[इन्द्रः प्राङ् तिष्ठन्] इन्द्र प्राची दिशामें ठहरता है, [यमः दक्षिणा तिष्ठन्] यम दक्षिणदिशामें अवस्थान है, [प्रत्यङ् तिष्ठन् धाता] पश्चिम दिशामें ठहरता धाता है और [सविता उदङ् तिष्ठन्] सविता उत्तर दिशामें ठहरता है ॥२०-२१॥

[सोमः राजा तृणानि प्राप्तः]जब तृणको प्राप्त होता है तब वह सोम राजा होता है,[ईक्षमाणः मित्रः] अवलोकन करनेवाला सूर्य और [आवृत्तः आनन्दः] पराङ्मुख होनेपर वही आनंद है ॥ [युज्यमानः वैश्वदेवः] जब जोता जाता है तब वह सब देवोंके संबंधका होता है, [युक्तः प्रजापतिः] जोतनेपर प्रजापति और [विमुक्तः सर्वं] छोडनेपर सब कुछ बनता है ॥ २२—२४॥

एतद् वै विश्वरूपम् सर्वरूपम् गोरूपम् ॥ २५ ॥
उपैनं विश्वरूपाः सर्वरूपाः पशवस्तिष्ठन्ति य एवं वेद ॥ २६ ॥ (२१)

[एतद् वै गोरूपं] यह निःसन्देह गौका रूप है, यही [विश्वरूपं सर्वरूपं] गौका विश्वरूप और सर्वरूप है ॥ [यः एवं वेद] जो इस बातको जानता है [एनं] उसके पास [विश्वरूपाः सर्वरूपाः पशवः उपतिष्ठन्ति] विश्वरूपी और सर्वरूपी सब पशु रहते हैं ॥ २५-२६ ॥

गौका महात्म्य ।

इस सूक्त में गौका महत्त्व वर्णन किया है । यहां गौ शब्दसे गाय और बैलका ग्रहण करना चाहिये यह स्पष्ट है । गायके अंगोंमें संपूर्ण देवताओंका निवास है और गाय ही सब देवोंके रूप बन जाती है। इतना गायका अधिकार इस सूक्तने वर्णन किया है। वैदिक धर्ममें गायका इतना महत्त्व है । गायका दूध, दही, मक्खन, घी, छाछ आदि सेवन करनेसे देवताओंका तत्त्व सेवन करनेका श्रेय प्राप्त होता है । इसी प्रकार गोमूत्र और गोमय सेवन करनेसे शरीर शुद्ध होता है । इस तरह गायका महत्त्व जान-कर वैदिक धर्मी लोग गायकी सेवा करें ।

—:०:—

यक्ष्म-निवारण ।

(८)

(ऋषिः—भृग्वंगिराः । देवता—सर्वशीर्षामयाद्यपाकरणम्)

(१३) (८)

शीर्षक्तिं शीर्षामयं कर्णशूलं विलोहितम् । सर्वं शीर्षण्यं ते रोगं बहिर्निर्मन्त्रयामहे ॥ १ ॥
कर्णाभ्यां ते कङ्कूषेभ्यः कर्णशूलं विसल्पकम् ।
सर्वं शीर्षण्यं ते रोगं बहिर्निर्मन्त्रयामहे ॥ २ ॥

अर्थ— [शीर्षक्तिं] मस्तकशूल, [शीर्षामयं] सिरदर्द [कर्णशूलं] कर्णशूल, [विलोहितं] रक्तरहित होना, अथवा पाण्डुरोग, [ते सर्वं शीर्षण्यं रोगं] तेरा सब मस्तक विकार [बहिः निर्मन्त्रयामहे] बाहर करते हैं ॥ १ ॥

(ते कर्णाभ्यां] तेरे कानोंसे, और [कंकूषेभ्यः] कानोंके भीतरी भागसे [विसल्पकं कर्णशूलं] विशेष कष्ट देने-वाले कर्णशूलको तथा [सर्वं शीर्षण्यं ते रोगं] तेरा सब मस्तकका रोग हम [बहिः निर्मन्त्रयामहे] बाहर करते हैं ॥ २ ॥

यस्य॒ हे॒तोः प्र॒च्यव॑ते॒ यक्ष्मः॒ कर्ण॒त आ॒स्य॒तः ।
सर्वं॑ शी॒र्ष॒ण्यं॑ ते॒ रोगं॑ ब॒हिर्नि॒र्मन्त्र॑यामहे ॥ ३ ॥
यः कृ॒णोति॑ प्र॒मोत॑म॒न्धं कृ॒णोति॒ पूरु॑षम् । सर्वं॑ शी॒र्ष॒ण्यं॑ ते॒ रोगं॑ ब॒हिर्नि॒र्मन्त्र॑यामहे ॥ ४ ॥
अ॒ङ्ग॒भे॒दम॑ङ्गज्व॒रं वि॒श्वा॒ङ्ग्यं॑ वि॒स॒ल्प॒कम् । सर्वं॑ शी॒र्ष॒ण्यं॑ ते॒ रोगं॑ ब॒हिर्नि॒र्मन्त्र॑यामहे ॥ ५ ॥
यस्य॑ भी॒मः प्र॑ती॒का॒श उ॑द्वे॒पय॑ति॒ पूरु॑षम् । त॒क्मानं॑ वि॒श्वश॑ारदं ब॒हिर्नि॒र्मन्त्र॑यामहे ॥ ६ ॥
य ऊ॒रू अ॑नु॒सर्प॒त्यथो॒ एति॑ ग॒वीनि॑के । यक्ष्मं॑ ते अ॒न्तर॒ङ्गेभ्यो॑ ब॒हिर्नि॒र्मन्त्र॑यामहे ॥ ७ ॥
यदि॒ कामा॑दपका॒माद्धृद॑याज्जा॒य॑ते॒ परि॑ । हृ॒दो ब॒लास॒मङ्गे॑भ्यो ब॒हिर्नि॒र्मन्त्र॑यामहे ॥ ८ ॥
ह॒रि॒माणं॑ ते॒ अङ्गे॑भ्यो॒ऽप्वाम॒न्तरो॒दरा॑त् । य॒क्ष्मो॒धाम॒न्तरा॒त्मनो॑ ब॒हिर्नि॒र्मन्त्र॑यामहे ॥ ९ ॥
आ॒सो ब॒लासो॒ भव॑तु॒ मूत्रं॑ भवत्वा॒मय॑त् ।
यक्ष्मा॑णां॒ सर्वे॑षां वि॒षं निर॑वोच॒म॒हं त्वत् ॥ १० ॥ (२२)
ब॒हि॒र्बिलं॒ निर्द्र॑वतु॒ काहा॑बाहं॒ तवो॒दरा॑त् । यक्ष्मा॑णां॒ सर्वे॑षां वि॒षं निर॑वोच॒म॒हं त्वत् ॥ ११ ॥

अर्थ— [यस्य हेतोः] जिस कारण [यक्ष्मः कर्णतः आस्यतः प्रच्यवते] यक्ष्म रोग कानसे और मुखसे बहता है, उस [सर्वं शीर्षण्यं ते रोगं] तेरे सब सिरके रोगको हम बाहर हटाते हैं ॥ ३ ॥

[यः प्रमोतं कृणोति] जो बहिरा बनाता है, तथा [पुरुषं अन्धं कृणोति] मनुष्यको अन्धा बनाता है, [सर्वं०] उस सब सिरसंबंधी रोगको हम दूर करते हैं ॥ ४ ॥

[अंग-भेदं] अंगोंको तोडनेवाले, [अंग-ज्वरं] अंगोंमें ज्वर उत्पन्न करनेवाले, (विश्वांग्यं विसल्पकं) संपूर्ण अंगोंमें पीडा करनेवाले (सर्वं०) सब सिरसंबंधी रोगको हम दूर हटा देते हैं ॥ ५ ॥

(यस्य भीमः प्रतीकाशः) जिसका भयंकर रूप [पुरुषं उद्वेपयति] मनुष्यको कंपाता है उस [विश्वशारदं तक्मानं] सब सालभर होनेवाले उष्णरोगको [बहिः निर्मन्त्रयामहे] हम बाहर हटाते हैं ॥ ६ ॥

[यः ऊरू अनुसर्पति] जो जंघाओंतक बढता है [अथो गवीनिके एति] और जो नाडियोंतक पहुंचता है, उस (यक्ष्मं ते अन्तरंगेभ्यः) रोगको तेरे आन्तरिक अंगोंसे हम [बहि०] बाहर हटा देते हैं ॥ ७ ॥

[यदि कामात्] यदि कामुकतासे अथवा यदि [अ कामात्] कामको छोडकर किसी अन्य कारणोंसे [हृदयात् परि जायते] हृदयके ऊपर उत्पन्न होता है, तो उस [बलासं हृदः अंगेभ्यः] कफको हृदयसे और अंगों से [बहि०] बाहर हम हटा देते हैं ॥ ८ ॥

(ते हरिमाणं) तेरा कामिला रोग-रक्तहीनताका रोग-(अंगेभ्यः) तेरे अवयवोंसे,[उदरात् अन्तः अप्वां] उदरके अन्दरसे जलोदर रोगको तथा [आत्मनः अन्तः यक्ष्मः-धां] अपने अन्दरसे यक्ष्मरोगको धारण करनेवाली अवस्थाको (बहि०) बाहर हम निकालते हैं ॥ ९ ॥

(बलासः आसः भवतु) कफ थूंकके रूपमें होवे और बाहर जावे । [आमयत् मूत्रं भवतु] आमदोष मूत्र होकर बाहर जावे । (सर्वेषां यक्ष्माणां विषं) सब यक्ष्मरोगोंका विष [अहं त्वत् निरवोचं] मैं तेरेसे बाहर निकालता हूं ॥ १० ॥

[तव उदरात्] तेरे पेटसे [काहाबाहं बिलं] शब्द करते हुए विष मूत्रनलिकासे [निर्द्रवतु] निकल जावे । [सर्वेषां यक्ष्माणां०] सब रोगोंका विष मैं तेरेसे बाहर निकालता हूं ॥ ११ ॥

उदरात् ते क्लोम्नो नाभ्या हृदयादधि । यक्ष्माणां सर्वेषां विषं निरवोचमहं त्वत् ॥ १२ ॥
याः सीमानं विरुजन्ति मूर्धानं प्रत्यर्षणीः । अहिंसन्तीरनामया निर्द्रवन्तु बहिर्बिलम् ॥ १३ ॥
या हृदयमुपर्षन्त्यनुतन्वन्ति कीकसाः । अहिंसन्तीरनामया निर्द्रवन्तु बहिर्बिलम् ॥ १४ ॥
याः पार्श्वे उपर्षन्त्यनुनिक्षन्ति पृष्टीः । अहिंसन्तीरनामया निर्द्रवन्तु बहिर्बिलम् ॥ १५ ॥
यास्तिरश्चीरुपर्षन्त्यर्षणीर्वक्षणासु ते । अहिंसन्तीरनामया निर्द्रवन्तु बहिर्बिलम् ॥ १६ ॥
या गुदा अनुसर्पन्त्यान्त्राणि मोहयन्ति च । अहिंसन्तीरनामया निर्द्रवन्तु बहिर्बिलम् ॥ १७ ॥
या मज्ज्ञो निर्धयन्ति परूंषि विरुजन्ति च । अहिंसन्तीरनामया निर्द्रवन्तु बहिर्बिलम् ॥ १८ ॥
ये अङ्गानि मदयन्ति यक्ष्मासो रोपणास्तव ।
यक्ष्माणां सर्वेषां विषं निरवोचमहं त्वत् ॥ १९ ॥
विसल्पस्य विद्रधस्य वातीकारस्य वालजेः ।
यक्ष्माणां सर्वेषां विषं निरवोचमहं त्वत् ॥ २० ॥

अर्थ— (ते उदरात्) तेरे पेटसे [क्लोम्नः नाभ्याः हृदयात् अधि] फेफडोंसे, नाभीसे और हृदयसे [सर्वेषां०] सब रोगोंका विष मैं तेरेसे हटाता हूं ॥ १२ ॥

(याः सीमानं विरुजन्ति) जो सीमा भागको पीडा देते हैं, और जो (मूर्धानं प्रति अर्षणीः) सिरतक बढते जाते हैं, वे रोग (अनामयाः अहिंसन्तीः) दोषरहित होकर न मारते हुए (बहिः बिलं निर्द्रवन्तु) द्रवरूपसे रन्ध्रोंके बीचसे बाहर चले जावें ॥ १३ ॥

(याः हृदयं उप ऋषन्ति) जो हृदयपर आक्रमण करती हैं और (कीकसाः अनुतन्वन्ति) हंसलीकी हड्डियोंमें फैलती हैं वे सब पीडाएं (अनामया०) दोषरहित होकर मारक न बनती हुई सब रन्ध्रोंसे द्रवरूपसे दूर हो जांय ॥१४॥

[याः पार्श्वे उप ऋषन्ति] जो पृष्ठभागपर आक्रमण करती हैं और [पृष्टीः अनुनिक्षन्ति] पीठ पर जो फैलती हैं, वे सब पीडाएं (अना०) दोषरहित होकर और मारक न बनती हुई सब रन्ध्रोंसे द्रवरूप होकर दूर हो जांय ॥ १५ ॥

(याः तिरश्चीः उप ऋषन्ति) जो तिरछी होकर आक्रमण करती हैं, और (ते वक्षणासु अर्षणीः) तेरी पसुलियोंमें प्रवेश करती हैं वे (अना०) सब दोषरहित और अमारक होकर द्रवरूपसे रोमरन्ध्रोंके द्वारा शरीरके बाहर चले जावें ॥ १६ ॥

(याः गुदाः अनुसर्पन्ति) जो गुदातक फैलती हैं, और (आन्त्राणि मोहयन्ति च) आंतोंको रोकती हैं वे सब पीडाएं (अना०) दोषरहित और अमारक होकर द्रवरूपसे शरीरके रोमरन्ध्रोंसे बाहर चली जावें ॥ १७ ॥

[याः मज्ज्ञः निर्धयन्ति] जो मज्जाओंको रक्तहीन करती हैं, और [परूंषि विरुजन्ति च] जोडोंमें वेदना उत्पन्न करती हैं, वे सब रोग [अना०] दोषरहित और अमारक होकर रन्ध्रोंसे बाहर द्रवरूप होकर निकल जावें ॥ १८ ॥

[ये यक्ष्मासः] जो यक्ष्मरोग [रोपणाः] व्याकुल करते हुए [तव अंगानि मदयन्ति] तेरे अंगोंको मदयुक्त करते हैं उन [सर्वेषां यक्ष्माणां विषं] सब यक्ष्मरोगोंका विष [अहं त्वत् निरवोचं] मैं तेरेसे हटाता हूं ॥ १९ ॥

(विसल्पस्य) पीडा, (विद्रधस्य) सूजन, (वातीकारस्य) वातरोग और (वा अलजेः) रोग इन सबके तथा (सर्वेषां यक्ष्मणां विषं०) संपूर्ण रोगोंके विषको मैं तेरेसे हटाता हूं ॥ २० ॥

पादा॑भ्यां ते जानु॑भ्यां श्रोणि॑भ्यां परि॑ भंस॑सः ।
अनू॑कादर्षणीरुष्णिहा॑भ्यः शी॒र्ष्णो रोग॑मनीनशम् ॥ २१ ॥
सं ते॑ शी॒र्ष्णः क॒पाला॑नि हृद॑यस्य च॒ यो वि॒धुः ।
उ॒द्यन्ना॑दित्य र॒श्मिभि॑ः शी॒र्ष्णो रोग॑मनीनशोऽङ्गभे॒दम॑शीशमः ॥ २२ ॥ (२३)

॥ इति चतुर्थोऽनुवाकः ॥

अर्थ— (पादाभ्यां ते जानुभ्यां) तेरे पांवोंसे और जानुओंसे, (श्रोणिभ्यां भंससः परि) कुल्होंसे और गुह्यभागसे (अनूकात् उष्णिहाभ्यः) रीढसे और गुद्देकी नाडियोंसे (अर्षणीः) फैलनेवाली पीडाओंको और (शीर्ष्णः रोगं) सिरकी पीडाको मैं (अनीनशम्) नाश करता हूं ॥ २१ ॥

(ते शीर्ष्णः कपालानि) तेरे सिरके कपालभाग, (हृदयस्य च यः विधुः) और हृदय की जो व्याधि है, (उद्यन् आदित्यः रश्मिभिः) उगता हुआ सूर्य अपनी किरणोंसे (शीर्ष्णः रोगं सं अनीनशः) सिरके रोगको नाश करता है और (अंगभेदं अशीशमः) अंगोंकी पीडाको शांत करता है ॥ २२ ॥

सिरदर्द ।

इस सूक्तमें सिरदर्द को हटानेके लिये सूर्यकिरण यह एक उपाय है, यह बात कही है । सूर्यकिरण शरीरपर लेनेसे सिरका रोग, कर्णके रोग, पाण्डुरोग तथा अन्यान्य कई रोग दूर होते हैं । संभव है कि ये सूर्य किरण विशेष प्रबंधसे उस रोगग्रस्त स्थानपरभी लेने योग्य होंगे । इस सूक्तमें यह चिकित्साकी विधि तो बतायी नहीं है, परंतु इतना कहा है कि सूर्यकिरणसे दूर ... में कहे अनेक रोग दूर होते हैं ।

कई सिरके रोग दृष्टीको मन्द करते हैं, अंधा बनाते हैं, बहिरा बनाते हैं, रक्त कम होनेसे कई सिरके रोग होते हैं, ... आंखोंके दोषसे भी सिरकी पीडा होती है, कानसे और मुखसे पीप आदि बाहर निकलता रहता है जिससे सिरदर्द होता है, इस प्रकार अनेक लक्षण और हेतु सिरदर्दके इस सूक्तमें दिये हैं । इन सबका विचार वैद्य डाक्तर करें और सूर्यकिरणोंका उपाय इन सबपर किस प्रकार करना चाहिए इसका भी निश्चय करें ।

अथवा कोई अन्य उपाय यहां लक्षणासे बताया है, इसका भी निश्चय होना उचित है । यह सूक्त वस्तुतः अति सुबोध है, तथापि सिरदर्दका विषय अति शास्त्रीय होनेसे इस सूक्तके कई शब्द वैद्य और डाक्तर ही जान सकते हैं । इसलिए ऐसे सूक्तोंका अन्वेषण करना उनका ही कार्य है ऐसी सूचना हम यहां करते हैं ।

एक वृक्षपर दो सुपर्ण।

(९)

(ऋषिः- ब्रह्मा। देवता-वामः, अध्यात्मं, आदित्यः,)

[१४](९)

अस्य वामस्य पलितस्य होतुस्तस्य भ्राता मध्यमो अस्त्यश्नः।
तृतीयो भ्राता घृतपृष्ठो अस्यात्रापश्यं विश्पतिं सप्तपुत्रम् ॥ १ ॥
सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमेको अश्वो वहति सप्तनामा।
त्रिनाभि चक्रमजरमनर्वं यत्रेमा विश्वा भुवनाधि तस्थुः ॥ २ ॥
इमं रथमधि ये सप्त तस्थुः सप्तचक्रं सप्त वहन्त्यश्वाः।
सप्त स्वसारो अभि सं नवन्त यत्र गवां निहिता सप्त नाम ॥ ३ ॥

अर्थ- (तस्य अस्य वामस्य पलितस्य) उस इस सुंदर श्वेत वृद्ध (होतुः) [illegible] (मध्यमः भ्राता) बीचका भाई (अश्नः अस्ति) बडा खानेवाला है। (अस्य तृतीयः भ्राता) इसका तीसरा भाई अपने (घृतपृष्ठः) पृष्ठभागपर पुष्टिकारक घी रखता है। (अत्र) यहीं मैंने (सप्तपुत्र विश्पतिं अपश्यं) सात पुत्रोंवाले प्रजापालकको देखा है ॥ १ ॥ (ऋ० १। १६४। १)

(एकचक्रं रथं सप्त युञ्जन्ति) एक चक्रवाले रथको सात घोडे जोते जाते हैं, (सप्तनामा एकः अश्वः वहति) सात नामवाला एक घोडा उसको खींचता है। इसका(त्रिनाभि अजरं अनर्वं चक्रं) तीन केन्द्रोंवाला जरारहित और नाशरहित यह चक्र है [यत्र] जिसमें [इमा विश्वा भुवना] ये सब भुवन [अधि तस्थुः] ठहरे हैं ॥ २ ॥ (ऋ० १। १६४। २ अथर्व १३। ३। १८)

(इमं सप्तचक्रं रथं) इस सात चक्रोंवाले रथके ऊपर (ये सप्त अधि तस्थुः) जो सात रहते हैं, उसको (सप्त अश्वाः वहन्ति) सात घोडे खींचते हैं। (सप्त स्वसारः) सात बहिनें (अभि सं नवन्ते) जिसके साथ रहती हैं। (यत्र) और जहां (गवां सप्त नामा निहिता) गौओंके सात पद रहते हैं ॥ ३ ॥ [ऋ० १। १६४। ३]

भावार्थ— इस अलौकिक सुंदर दाता पुराण पुरुषका बीचका भाई भोक्ता जीवात्मा है, और इसको एक तीसरा भाई भी है जो अपनी पीठपर घृतादि पोषक पदार्थ धारण करता है, यही संसार है। इसी स्थानपर सब प्रजाओंका पालनेहारा एक देव है, जिसको सात पुत्र हैं ॥ १ ॥

इस एकचक्रवाले रथको सात घोडे जोते हैं, परंतु वस्तुतः सात नामोंवाला एकही घोडा इस रथको खींचता है। इसी तीन केन्द्रोंवाले जरारहित अविनाशी चक्रमें ये संपूर्ण भुवन रहे हैं ॥ २ ॥

इन सातचक्रोंसे युक्त रथके ऊपर सात वीर खडे हैं, इस रथको सात घोडे खींच रहे हैं। इस रथपर सात बहिनें भी उनके साथ बैठी हैं, जहां गौओंके साथ उनके सात पद भी विराजमान हैं ॥ ३ ॥

को दंदर्श प्रथमं जायमानमस्थन्वन्तं यदनस्था बिभर्ति ।
भूम्या असुरसृगात्मा क्व स्वित् को विद्वांसमुप गात् प्रष्टुमेतत् ॥ ४ ॥
इह ब्रवीतु य ईमङ्ग वेदास्य वामस्य निहितं पदं वेः ।
शीर्ष्णः क्षीरं दुह्रते गावो अस्य वव्रिं वसाना उदकं पदापुः ॥ ५ ॥
पाकः पृच्छामि मनसाविजानन् देवानामेना निहिता पदानि ।
वत्से बष्कयेऽधि सप्त तन्तून् वि तत्निरे कवय ओतवा उ ॥ ६ ॥
अचिकित्वांश्चिकितुषश्चिदत्र कवीन् पृच्छामि विद्मनो न विद्वान् ।
वि यस्तस्तम्भ षडिमा रजांस्यजस्य रूपे किमपि स्विदेकम् ॥ ७ ॥

अर्थ- [प्रथमं जायमानं] पहिले प्रकट होनेवालेको [कः ददर्श] किसने देखा है ? [यत् अनस्था अस्थन्वन्तं बिभर्ति] जो हड्डीरहित हड्डीवालेको धारण करता है । (भूम्याः असुः असृक् आत्मा क स्वित्) इस मिट्टीके अन्दर प्राण रक्त और आत्मा कहां भला रहते हैं? [कः विद्वांसं] कौनसा मनुष्य किस ज्ञानीके पास [एतत् प्रष्टुं उपगात्] यह पूछनेके लिए गया ? ४ ॥ [ऋ० १ । १६४ । ४]

हे [अंग] प्रिय मनुष्य ! [यः अस्य वामस्य वेः] जो इस प्रिय सुपर्णके [निहित पदं वेद] रखे हुए पदको जानता है, वह आकर [इह ब्रवीतु] यहां कहे । [गावः अस्य शीर्ष्णः] गौवें, किरणें, इसके शिरोभागसे [क्षीरं दुह्रते] दूध, अमृत दुहती हैं, वे [वव्रिं वसानाः] रूपका धारण करती हुई [पदा उदकं अपुः] अपने पदसे जलका पान करती हैं ॥५॥ [ऋ० १।१६४ । ७]

(पाकः) परिपक्व होनेवाला और (मनसा अविजानन्) मनसे न जाननेवाला मैं (देवानां एना निहिता पदानि) देवताओंके ये रखे हुए पदोंके विषयमें (पृच्छामि) पूछता हूं । (कवयः) कवि लोगोंने (बष्कये वत्से अधि) बडे बछडेके ऊपर (ओतवै उ) बुननेके लिए (सप्त तन्तून् वि तत्निरे) सात तन्तुओंको फैलाया है ॥ ६ ॥ (ऋ० १ । १६४ । ५)

(अचिकित्वान्, न विद्वान् चित्) अज्ञानी और विद्या न जाननेवाला मैं (चिकितुषः विद्मनः कवीन् चित्) ज्ञानी विद्वान् कवियोंसे ही (पृच्छामि) पूछता हूं । (यः इमाः षट् रजांसि तस्तंभ) जो इन छः लोकोंको आधार देता है, उस (अजस्य रूपे) अजन्माके रूपमें (किं अपि एकं स्वित्) एक कौनसा तत्व है ? ॥ ७ ॥ (ऋ० १ । १६४ । ६)

भावार्थ- सबसे प्रथम प्रकट होनेके समय इस आत्माको किसने देखा है ? यहां तो हड्डीवाले शरीरको हड्डीरहित आत्मा धारण करता है । इस पार्थिव शरीरमें प्राण, रक्त और आत्मा—मन—कहां रहता है ? मनुष्य किस विद्वान को इसके विषयमें पूछने के लिए जाता है ? ॥ ४ ॥

हे प्रिय शिष्य ! जो इस परम रमणीय सुपर्ण—आत्माका परम पद यथावत् जानता है, वहां इस विषयमें उपदेश करे । इसी आत्माके मुख्य भागसे संपूर्ण गौवोंमें अमृत जैसा दूध आता है, उन गौवोंमें जलपान करके लोगोंको सुंदर रूप और रस देनेका सामर्थ्य है ॥ ५ ॥

हे गुरुजी! मैं परिपक्व नहीं हूं और मनसे भी कुछ जानता नहीं हूं । इसलिए आपसे देवोंके रखे हुए पदोंके विषयमें पूछता हूं। आप इस विषयमें कहिए । कवि लोग जो सात धागे वस्त्र बुननेके लिये बछडेके ऊपर फैलाते हैं, उसका क्या आशय है?॥६॥

मैं अज्ञानी और निर्बुद्धसा हूं, अतः आप जैसे ज्ञानी और सुबुद्धसे प्रश्न कर रहा हूं । जिसने ये छः लोक धारण किए हैं, उस अजन्मा आत्माका एक सत्य स्वरूप कौनसा है? ॥ ७ ॥

माता पितरमृत आ बभाज धीत्यग्रे मनसा सं हि जग्मे ।
सा बीभत्सुर्गर्भरसा निविद्धा नमस्वन्त इदुपवाकमीयुः ॥ ८ ॥
युक्ता मातासीद्धुरि दक्षिणाया अतिष्ठद् गर्भो वृजनीष्वन्तः ।
अमीमेद् वत्सो अनु गामपश्यद् विश्वरूप्यं त्रिषु योजनेषु ॥ ९ ॥
तिस्रो मातॄस्त्रीन् पितॄन् बिभ्रदेक ऊर्ध्वस्तस्थौ नेमव ग्लापयन्त ।
मन्त्रयन्ते दिवो अमुष्य पृष्ठे विश्वविदो वाचमविश्वविन्नाम् ॥ १० ॥ (२४)
पञ्चारे चक्रे परिवर्तमाने यस्मिन्नातस्थुर्भुवनानि विश्वा ।
तस्य नाक्षस्तप्यते भूरिभारः सनादेव न च्छिद्यते सनाभिः ॥ ११ ॥

अर्थ— (माता पितरं ऋते आबभाज) माता बालकके पिताको अर्थात् अपने पतिको सत्यधर्ममें भाग देती है। (अग्रे धीती) प्रारंभमें बुद्धिसे और (मनसा) मनसे वह (हि सं जग्मे) निश्चयपूर्वक संगति करती है। (सा बीभत्सुः गर्भरसा निविद्धा) वह भरण करनेवाली अपने बीच रस धारण करनेवाली विद्ध हुई है। जो (नमस्वन्तः इत् उपवाकं ईयुः) नमस्कार करनेवाले भक्त निश्चयसे इसकी प्रशंसा करते हैं ॥ ८ ॥ (ऋ० १ । १६४ । ८)

(दक्षिणायाः धुरि माता युक्ता आसीत्) दक्षिणाकी धुरामें माता जोती गई थी, तथा इसका (गर्भः वृजनीषु अन्तः अतिष्ठत्) बछडा अपनी शक्तियोंमें था। (वत्सः गां अनु अमीमेत्) बछडा गौको देखकर जाता है और (त्रिषु योजनेषु) तीनों योजनाओंमें (विश्वरूप्यं अपश्यत्) संपूर्ण रूपोंको देखता है ॥ ९ ॥ [ऋ० १ । १६४ । ९]

(एकः तिस्रः मातॄः) अकेला तीन माताओंको और (त्रीन् पितॄन्) तीन पिताओंको (बिभ्रत्) धारण करता हुआ (ऊर्ध्वः तस्थौ) सीधा खडा है। वे इसको (न ईं अव ग्लापयन्त) ग्लानीको प्राप्त नहीं होने देते। (अमुष्य दिवः पृष्ठे) उस द्युलोकके पीठपर विराजमान होकर (विश्वविदः) सर्वज्ञ लोग (अ-विश्व-विदां वाचं मन्त्रयन्ते) सबको न समझनेवाले गूढ वचनका मनन करते हैं ॥ १० ॥ (ऋ० १ । १६४ । १०)

(यस्मिन् परिवर्तमाने पञ्चारे चक्रे) जिस घूमते हुए पांच आरोंवाले चक्रमें (विश्वा भुवनानि आतस्थुः) सब भुवन ठहरे हैं। (तस्य भूरिभारः अक्षः न तप्यते) उस चक्रका बहुत भारवाला अक्षदण्ड नहीं तपता और (सनात् एव सनाभिः न छिद्यते) चिरकालसे केन्द्रस्थान होनेपर भी नहीं छिन्नभिन्न होता है ॥ ११ ॥ (ऋ० १ । १६४ । १३)

भावार्थ— माता प्रकृति परमात्मारूपी पिताको सत्यधर्मका भाग समर्पण करती है, अर्थात् सत्यधर्म उसीका है ऐसा दर्शाती है। सबसे पहिले बुद्धि, कर्म और विचारशक्तिका संगतीकरण हो गया, जिससे इसकी रचना होगयी है। यह प्रकृति सबका पोषण करनेमें समर्थ है, इसीमें सब प्रकारके उत्तम पोषक रस हैं। जो भक्त नमस्कारपूर्वक इसकी भक्ति करते हैं, वे निश्चय पूर्वक इसकी प्रशंसा करने लगते हैं ॥ ८ ॥

माता इस यज्ञरूप रथमें प्रमुख स्थानमें जोती गई है। उसके गर्भका धारण अनेक शक्तियोंसे होता है। जब वह जन्मते है, तो गौके पीछे पीछे चलता है। और बढकर पूर्वोक्त तीन केन्द्रोंमें सब विश्वका रूप ठहरा है, इस बातको देखता है ॥ ९ ॥

अकेला एक अपनी तीनों माताओं और तीनों पिताओंका धारण करता हुआ सीधा खडा रहता है। इसको कोई ग्लानि नहीं उत्पन्न कर सकता। अन्तमें इसको इस बातका ज्ञान होता है कि द्युलोकके ऊपर सर्वज्ञ लोग गुप्त मंत्रोंका विचार करते हैं ॥ १० ॥

जिस घूमते हुए पांच आरोंवाले चक्रमें संपूर्ण भुवन ठहरे हैं, उसका बहुत भारवाला अक्षदण्ड सतत घूमता हुआ भी नहीं तपता और चिरकालसे चक्रकी नाभिमें घूमता हुआ भी नहीं टूटता है ॥ ११ ॥

पञ्चपादं पितरं द्वादशाकृतिं दिव आहुः परे अर्धे पुरीषिणम् ।
अथेमे अन्य उपरे विचक्षणे सप्तचक्रे षडर आहुरर्पितम् ॥ १२ ॥
द्वादशारं नहि तज्जराय वर्वर्ति चक्रं परि द्यामृतस्य ।
आ पुत्रा अग्ने मिथुनासो अत्र सप्त शतानि विंशतिश्च तस्थुः ॥ १३ ॥
सनेमि चक्रमजरं वि वावृत उत्तानायां दश युक्ता वहन्ति ।
सूर्यस्य चक्षू रजसैत्यावृतं यस्मिन्नातस्थुर्भुवनानि विश्वा ॥ १४ ॥
स्त्रियः सतीस्ताँ उ मे पुंस आहुः पश्यदक्षण्वान्न वि चेतदन्धः ।
कविर्यः पुत्रः स ईमा चिकेत यस्ता विजानात् स पितुष्पितासत् ॥ १५ ॥

अर्थ- (पञ्चपादं द्वादशाकृतिं पितरं) पांच पांववाला बारह आकारवाला पिता (दिवः परे अर्धे पुरीषिणं आहुः) द्युलोकके परले आधे भागमें है ऐसा कहते हैं । (अथ इमे अन्ये आहुः) द्युलोकके परले आधे भागमें है ऐसा कहते हैं । (अथ इमे अन्ये आहुः) और ये दूसरे कहते हैं कि वह (उपरे विचक्षणे) अति विलक्षण (सप्तचक्रे षडरे अर्पितं) सातचक्रोंवाले और छः आरोंवाले चक्रमें रहा है ॥ १२ ॥ (ऋ० १ । १६४ । १२)

(द्वादशारं तत् चक्रं) बारह आरोंवाला चक्र (नहि जराय) जीर्ण नहीं होता, वह (ऋतस्य द्यां परि वर्वर्ति) सत्यके द्युलोकके ऊपर घूमता है । हे (अग्ने) अग्ने ! (अत्र सप्त शतानि विंशतिः च) यहां सात सौ बीस (मिथुनासः पुत्राः आ तस्थुः) जुडे हुए पुत्र ठहरे हैं ॥ १३ (॥ ऋ० १ । १६४ । ११)

(सनेमि अजरं चक्रं) परिघवाला अविनाशी चक्र (वि—वावृते) विशेष रीतिसे घूम रहा है । (उत्तानायां दश युक्ताः वहन्ति) तनी हुई धुरामें दश जोडे हुए खींचते हैं । (सूर्यस्य रजसा आवृतं चक्षुः) सूर्यका रजसे व्याप्त हुआ आंख (एति) चलता है [यस्मिन् विश्वा भुवना आतस्थुः) जिसमें सब भुवन रहे हैं ॥ १४ ॥ [ऋ० १ । १६४ । १४]

(स्त्रियः सतीः) वे स्त्रियां होनेपर भी [तान् उ मे पुंसः आहुः] उनको मुझे पुरुष हैं ऐसा कहा । यह बात [अक्षण्वान् पश्यत्] आँखवाला देखता है, परंतु (अन्धः न विचेतत्) अन्धा उसको नहीं जानता । [यः कविः पुत्रः) जो पुत्र कवि है (सः ईं आ चिकेत) वह भली प्रकार इसको जानता है, (यः ताः विजानात्)जो उनको जानता है (सः पितुः पिता असत्) वह पिताका भी पिता होता है ॥ १५ ॥ (ऋ० १ । १६४ । १६)

भावार्थ- पिताको पांच पांव हैं,उसके बारह रूप हैं,और वह द्युलोकके परले आधे भागमें रहता है,ऐसा एक प्रकारके लोग उसका वर्णन करते हैं; परंतु कई दूसरे ज्ञानी उसीका ऐसा वर्णन करते हैं कि वह अतिविलक्षण छः आरोंवाले सात चक्रोंमें रहता है ॥ १२ ॥

बारह आरोंवाला वह चक्र कभी क्षीण नहीं होता है, वह सत्यमय द्युलोक में बारंवार घूमता है । इसमें सातसौ बीस जुडे भाई उसके पुत्र विराजमान हैं ॥ १३ ॥

यह परिघवाला नाशरहित चक्र बारंवार घूमता है । इस रथकी तनी हुई महती धुरामें दस घोडे इस रथको खींचते हैं । जिससे संपूर्ण भुवन ठहरे हैं; वह सूर्यका चक्षु रजसे व्याप्त है ॥ १४ ॥

वस्तुतः स्त्रियां होनेपर भी उनको पुरुष कहते हैं । क्योंकि जिसके आंख अच्छे होंगे वही देख सकता है, अन्धेको यह नहीं दीखता । इनमेंसे जो कवि होगा वही सत्य बातको जान सकेगा, और जो जानता है वही पिताका भी पिता बन जाता है ॥ १५ ॥

साकंजानां सप्तथमाहुरेकजं षळिद्यमा ऋषयो देवजा इति ।
तेषामिष्टानि विहितानि धामश स्थात्रे रेजन्ते विकृतानि रूपशः ॥ १६ ॥
अवः परेण पर एनावरेण पदा वत्सं बिभ्रती गौरुदस्थात् ।
सा कद्रीची कं स्विदर्धं परागात् क्व स्वित् सूते नहि यूथे अस्मिन् ॥ १७ ॥
अवः परेण पितरं यो अस्य वेदावः परेण पर एनावरेण ।
कवीयमानः क इह प्र वोचद् देवं मनः कुतो अधि प्रजातम् ॥ १८ ॥
ये अर्वाञ्चस्ताँ उ पराच आहुर्ये पराञ्चस्ताँ उ अर्वाच आहुः ।
इन्द्रश्च या चक्रथुः सोम तानि धुरा न युक्ता रजसो वहन्ति ॥ १९ ॥

अर्थ-(साकंजानां सप्तथं एकजं आहुः) साथ जन्मे हुओंमें सातवां एक ही बना है ऐसा कहते हैं। (षट् इत् यमाः) जो छः मिलकरसे जुडे हैं, वे (देवजाः ऋषयः इति) देवोंसे उत्पन्न ऋषि हैं । (तेषां धामशः) उनके लिए स्थानसे (इष्टानि विहितानि) इष्ट बातें बनाई हैं । [स्थात्रे रूपशः विकृतानि रेजन्ते] ठहरनेवाले एकके लिए आकारसे विकृत होकर कांपते हैं ॥ १६ ॥ [ऋ० १ । १६४ । १५]

[एना गौः] यह गाय [अवः परेण] निम्न स्थानके दूरके पदसे और [परः अवरेण] परकेको पासवाले [पदा] पदसे [वत्सं बिभ्रती] बछडेका धारण करती हुई [उत् अस्थात्] ऊपर उठती है । [सा कद्रीची] वह कहांसे आती है और [कं स्वित् अर्धं परा अगात्] किस अर्ध भागके पास जाती है ? वह [क स्वित् सूते] कहां प्रसूत होती है ? [अस्मिन् यूथे न] इस संघमें तो नहीं होती ॥ १७ ॥ [ऋ० १ । १६४ । १७]

[परेण अवः अस्य पितरं] ऊपरसे नीचे तक इसके पिताको [यः वेद] जो जानता है तथा [परेण अवः एना अवरेण परः] दूरसे नीचेतक इसको नीचेसे ऊपरतक जो जानता है, [कवीयमानः कः इह प्रवोचत्] कविके समान आचरण करनेवाला कौन यहां कहेगा ? [देवं मनः कुतः अधिजातं] दैवी शक्तिसे युक्त मन कहांसे प्रकट हुआ है ? ॥ १८ ॥ [ऋ० १।१६४।१८]

[ये अर्वाञ्चः] जो यहांके हैं [तान् उ पराचः आहुः] उनको दूरके कहा जाता है तथा [ये पराञ्चः तान् उ] जो दूरके हैं उनको [अर्वाचः आहुः] समीपके करके कहा जाता है । हे [सोम] सोम ! तू और [इन्द्रः च] इन्द्र [या चक्रथुः] जिनकी रचना करते हैं, [तानि] उनको [धुरा युक्ता न] धुराको जोडे हुओंके समान [रजसः वहन्ति] लोकोंमें खींचते हैं ॥ १९ ॥ [ऋ० १ । १६४ । १९]

भावार्थ- एक साथ सात उत्पन्न हुए हैं, उनमें एक ऐसा है कि जो अकेला जन्मा है । इनमें छः जुडे हैं, उनको देवताओंसे उत्पन्न ऋषि कहा जाता है । उनका स्थानस्थानसे इष्ट करना योग्य है । एक जो सदा रहनेवाला है उसके लिए आकारसे बनाये विविध पदार्थ कंप उत्पन्न करते हैं ॥ १६ ॥

यह गौ अपने दूरके पदसे पासवाले और पासके पदसे दूरवाले बच्चेको धारण पोषण करती है । यह कहांसे आगई, किस आधे भागसे पास पहुंचती है, कहां प्रसूत होती है, इसको जानना चाहिए । वह इस संघमें तो नहीं रहती ॥ १७ ॥

दूरसे पास तक इसके पिताको जो जानता है वह सबको नीचेसे ऊपर तक और ऊपरसे नीचे तक जानता है । कौन कवि इसको जानकर यहां आकर कहेगा ? हमारा दैवी शक्तिसे युक्त मन कहांसे प्रकट हुआ है ? ॥ १८ ॥

जो यहांके होते हैं, इनको दूरके हैं ऐसा कहते हैं, और जो दूरके होते हैं उनको समीपके हैं ऐसा मानते हैं । सोम और इन्द्र यहांकी सब रचना करते हैं, ये सब इस विश्वकी धुरामें जुडे जाकर संपूर्ण लोकोंको चलाते हैं ॥ १९ ॥

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परि षस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति ॥ २० ॥
यस्मिन् वृक्षे मध्वदः सुपर्णा निविशन्ते सुवते चाधि विश्वे ।
तस्य यदाहुः पिप्पलं स्वाद्वग्रे तन्नोन्नशद्यः पितरं न वेद ॥ २१ ॥
यत्रा सुपर्णा अमृतस्य भक्षमनिमेषं विदथाभिस्वरन्ति ।
एना विश्वस्य भुवनस्य गोपाः स मा धीरः पाकमत्रा विवेश ॥ २२ ॥ (२५)

अर्थ— (द्वा सुपर्णा) दो उत्तम पंखवाले पक्षी हैं, वे (सयुजा सखाया) साथ रहनेवाले मित्र हैं, वे (समानं वृक्षं परिषस्वजाते) एक ही वृक्षपर मिलकर रहते हैं। (तयोः अन्यः) उनमेंसे एक (स्वादु पिप्पलं अत्ति) मीठा फल खाता है, (अन्यः अनश्नन्) दूसरा न खाता हुआ (अभि चाकशीति) चमकता है ॥ २० ॥ ऋ० १ । १६४ । २०)

(यस्मिन् वृक्षे) जिस वृक्षपर (मध्वदः सुपर्णाः) मधुर रस खानेवाले पक्षी (निविशन्ते) निवास करते हैं, और (विश्वे अधि सुवते) सब संतान उत्पन्न करते हैं, (तस्य यत् अग्रे स्वादु पिप्पलं आहुः) उसका जो प्रारंभमें मीठा फल है ऐसा कहते हैं, (तत् न उत् नशत्) वह उसको नहीं मिलता, (यः पितरं न वेद) जो पिताको नहीं जानता ॥२१॥ (ऋ० १।१६४।२२)

(सुपर्णाः) ये पक्षी (यत्र अमृतस्य भक्षं) जहां अमृतका अन्न (विदथाभिः अनिमेषं अभिस्वरन्ति) ज्ञानपूर्वक विश्राम न लेते हुए एकस्वरसे प्राप्त करते हैं, (एना विश्वस्य भुवनस्य गोपाः) वह सब भुवनोंका रक्षक (सः धीरः) वह धैर्यशाली (अत्र मा पाकं आविवेश) यहां मुझ परिपक्व होनेवाले में प्रविष्ट होता है ॥ २२ ॥ (ऋ० १६४ । २१)

भावार्थ— दो आत्मा हैं, वे साथ रहनेवाले परस्परके परम मित्र हैं। ये दोनों संसाररूपी वृक्षपर मिल जुलकर रहते हैं। उनमेंसे एक इस संसारवृक्षका मीठा फल खाता है और दूसरा न भोग करता हुआ केवल चमकता रहता है ॥ २० ॥

इस संसाररूपी वृक्षपर मीठा फल खानेवाले अनंत आत्मारूपी पक्षी निवास करते हैं। ये सब यहां संतान उत्पन्न करते हैं। इनमेंसे जो अपने पिताको नहीं जानता उसके सामनेका मीठा फल भी उसको नहीं मिलता ॥ २१ ॥

ये सब आत्मारूपी अनंत पक्षी अमृतका फल खानेकी इच्छासे विश्राम न लेते हुए ज्ञानपूर्वक पुकारते हैं। संपूर्ण भुवनोंका रक्षक वह धैर्यशाली परमात्मा इस जगत्में मुझ जैसे अपरिपक्वमें अर्थात् प्रत्येक प्राणीमें प्रविष्ट हुआ है ॥ २२ ॥

जीवात्मा, परमात्मा और संसार।

इस सूक्तमें अध्यात्मविद्याका उत्तम विचार हुआ है। ऋग्वेदमें (१ । १६४ स्थानपर) यही सूक्त है। वहां इस सूक्तके ५२ मंत्र है, इस ऋग्वेदके एक ही सूक्त के दो भाग करके इस अथर्ववेद कां० ९ के नवम और दशम ये दो सूक्त बने हैं। नवम सूक्तके २२ मंत्र है और दशम सूक्तके २८ मंत्र हैं। ये दोनों सूक्तोंके मिलकर ५० मंत्र होते हैं। पूर्वोक्त ऋग्वेद १ । १६४ के ५२ मंत्र हैं। कुछ पाठभेद, मंत्रक्रम भेद और मंत्रोंकी न्यूनाधिकता भी है। तथापि सर्वसाधारण रीतिसे ऐसा कह सकते हैं कि, इस ऋग्वेद सूक्तके ये अथर्ववेदके दो सूक्त बने हैं। अथर्ववेदमें ऋग्वेदके कई सूक्त हैं, उनमें यह भी एक सूक्त है।

ऋग्वेदके इस सूक्तके पहिले २९ मंत्र कुछ थोडे क्रमभेदसे यहां हैं। और अगले मंत्रोंका अगला सूक्त बना है।

इस सूक्तमें जीवात्मा, परमात्मा, और संसारवृक्षका उत्तम वर्णन है। वेदका जो उत्तम विषय है वह यही है। जो ब्रह्मविद्या और आत्मविद्या कही गई है वह ऐसे ही सूक्तोंमें कही है। यह गुप्तविद्या है, इसीलिए व्यंग्य शब्दोंकी योजना द्वारा यह अध्यात्मविद्या यहां कही है, स्पष्ट शब्दोंसे नहीं कही है। इसी कारण मंत्रोंके शब्दोंसे स्पष्ट बोध नहीं होता, परंतु सूक्ष्म विचार करने

पर बोध होने लगता है। इस सूक्तका विचार करनेके लिए अन्तिम मंत्रोंका विचार सबसे प्रथम करना चाहिए; इसका कारण यह है कि इन तीन मंत्रोंमें वक्तव्य बात अधिक स्पष्ट शब्दोंद्वारा व्यक्त की गई है। इसलिए इन तीन मंत्रोंका विचार हम यहां पर प्रथम करते हैं—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। (मं० २०)

इस मंत्रभागका व्यक्त अर्थ यह है कि "दो उत्तम पंखवाले पक्षी साथ साथ रहनेवाले परस्परके मित्र हैं और वे दोनों एक ही वृक्षपर एक दूसरेको आलिंगन देकर रहते हैं।" यहां जिन पक्षियोंका वर्णन है वे केवल दोही नहीं हैं, परंतु अगले ही मंत्रमें कहा है कि (मध्वदः सुपर्णाः) मीठे फलका भोग करनेवाले पक्षी बहुत हैं, असंख्य हैं, अनंत हैं। यहां (मधु-अदः) मीठे फलका भोग करनेवाले पक्षी अनंत है ऐसा कहा है, परंतु दूसरा पक्षी मीठा फल खानेका इच्छुक नहीं है और जो केवल इसका हमेशाका साथी है, वह (अभिचाकशीति) प्रकाशता तो है, परंतु (अन्—अश्नन्) भोग नहीं करता। यह पक्षी एक ही है। इस संपूर्ण वृक्षपर भोग करनेवाले पक्षी अनंत हैं परंतु भोग न करनेवाला पक्षी एक ही है, तथापि यह एक होता हुआ भी, सब अन्य भोगी पक्षियोंको ऐसा प्रतीत होता है कि यह हमारा (सयुज् सखा) साथी मित्र है। यह पक्षी एक होते हुए भी सबके साथ रहता और सबका प्यारा मित्र बना रहता है, यह बात कैसी बनती है, यह विचार करके ही समझ लेना चाहिये।

यह वृक्ष 'संसार वृक्ष' ही है। इस संसार वृक्षपर बहुत फल लगते हैं, कई फल पकते हैं और कई कच्चे भी रहते हैं। इसी संसारवृक्षपर एक परमात्मा सर्वत्र व्यापक होकर रहता है, इस संसारवृक्षकी हरएक शाखापर यह विराजमान है। यह संसारवृक्षका एक भी फल नहीं खाता, परंतु अपने निज तेजसे चमकता रहता है, क्योंकि इसके समान किसीका भी तेज नहीं है।

इसी संसारवृक्षपर सदा मीठे फल खानेकी इच्छा करनेवाले अनंत जीवात्मा रहते हैं, इनके विषयमें ऐसा वर्णन है—

यस्मिन् वृक्षे मध्वदः सुपर्णा निविशन्ते
सुवते चाधि विश्वे॥ (मं २१)

"इस संसारवृक्षपर मीठा फल खानेवाले अनंत पक्षी निवास करते हैं यहां अपनी संतानवृद्धि करते हैं और सब इस वृक्षपर ही रहते हैं।" ये पक्षी निःसंदेह जीवात्मा ही हैं। क्योंकि यही जीवात्मा वारंवार जन्म लेता है, सुखभोगकी लालसा धारण करता है, संसारमें रहता है और संतान उत्पन्न करता है। यही जीवात्मा—

तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति, अनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति। (मं० २०)

"उनमेंसे एक मीठा फल खाता है, परंतु दूसरा फलभोग न करता हुआ केवल प्रकाशता है।" मीठा फल खानेवाला जीव आत्मा है और फलभोग न करनेवाला परमात्मा है। उसका वर्णन वेदमें अन्यत्र इस तरह आगया है—

अकामो धीरो अमृतः स्वयंभू रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः।
तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्योरात्मानं धीरमजरं युवानम्॥ अथर्व. १०। ८। ४४

"भोगकी कमनारहित, धैर्यवान्, अमर, स्वयंभु, रससे तृप्त, कहीं भी न्यून नहीं, जरारहित तरुण इस परम आत्माको जानकर ही मृत्युका भय दूर होता है।" यह परमात्मा 'अकाम' होनेके कारण फल भोग नहीं करता और इसका मित्र जीवात्मा सकाम होनेके कारण सदा मीठे फल खानेकी इच्छा करता है। तथापि इसको सदा मीठे फल मिलते ही हैं ऐसा कोई नियम नहीं। यह जैसा कर्म करता है, उसके अनुसार उसको मीठे या कडुवे फल मिलते रहते हैं और जो मिलते हैं उनका भोग वह करता रहता है।

जीवात्मा और परमात्मा 'स-युज्' अर्थात् एक दूसरेके साथ लगे हैं, इनके मध्यमें कोई स्थानका अन्तर नहीं है। जिस स्थानमें एक है उसी स्थानमें उसके साथ दूसरा है। जीवात्मा (मध्वदः सुपर्णाः) मीठा भोग करनेवाले ये जीव अनंत हैं, अनंत होनेके कारण इनका आकार अणु है, अर्थात् ये छोटे छोटे परिच्छिन्न हैं। परंतु परमात्मा प्रत्येकके साथ समानतया होनेके कारण विभु (न कुतश्चन ऊनः) सर्वत्र व्यापक और कहींभी न्यून नहीं ऐसा है। यह परमात्मा हरएकमें व्यापक है, देखिये इसका वर्णन—

एना विश्वस्य भुवनस्य गोपाः स मा धीरः पाकमत्रा विवेश। (मं० २२)

" यह संपूर्ण भुवनोंका रक्षक धैर्यशाली परमात्मा यहां मुझ जैसे अपरिपक्क जीवमें भी प्रविष्ट हुआ है। " जैसा मुझमें है वैसा ही सबमें है। सर्वव्यापक होनेसे ही वह सबके साथ मिला जुला रह सकता है। इस तरह यह परमात्मा एक सर्वव्यापक और सर्वत्र परिपूर्ण है, और जीवात्मा अनेक परिच्छिन्न, अपूर्ण और भोगी हैं। अतः इनकी सदा इच्छा रहती है कि-

सुपर्णा अमृतस्य भक्षमनिमेषं विदथाभिस्वरन्ति। [मं० २२]

" ये जीवात्मा अमृतका अन्न सदा प्राप्त करनेके लिये पुकारते रहते हैं। " यदि इन जीवात्माओंकी कोई पुकार है तो ' अमृत चाहिये ' यही एक पुकार है, मुझे ऐसा अन्नभोग चाहिये कि जिससे मैं नीरोग होकर अमर बनूं सदा यही पुकार प्रत्येककी है। पाठक इस जगत्में देखेंगे तो प्रत्येक जीवकी यही पुकार है, यह बात प्रत्यक्ष हो जायगी। प्रत्येक मनुष्यकी अथवा प्रत्येक प्राणीकी यह पुकार है और उसका प्रयत्न भी इसीलिये हो रहा है। मुझे सदा टिकनेवाला सुख मिल जावे, इसलिये प्रयत्न होता है। सुखकी इसको इच्छा है और दुःखकी अनिच्छा है, परंतु दुःख मिलता है और सुख दूर होता है, इससे भी स्पष्ट होता है कि इसकी नियामक शक्ति कोई दूसरी है।

यह जीवात्मा परमात्माके साथ रहता है, उसके पास है, अत्यंत समीप है, जीवात्मा परमात्मा (परिषस्वजाते) आलिंगन देनेके समान रहते हैं अथवा इससे भी और (आविवेश) जीवात्मामें परमात्मा है, इतनी इसकी समीपता होनेपर भी यह जीवात्मा परमात्माको जानता है ऐसी बात नहीं है। और परमात्माको अपने परम पिताको न जाननेके कारण इसका सुख दूर हो जाता है, इसी उद्देश्यसे यह बात कही है-

तस्य यदाहुः पिप्पलं स्वाद्वग्रे तन्नोन्नशद्यः पितरं न वेद। (मं० २१)

" जो अपने पिताको नहीं जानता उसके पास भी मीठा फल हुआ तो भी वह उसके लिये नष्ट हो जाता है। " हरएकके पास मीठा फल होता है, परंतु वह उसको प्राप्त होता है कि जो अपने पिताको जानता है। जो नहीं जानता उसको फल पास होनेपर भी भोगनेको नहीं प्राप्त होता। जीवात्मा और परमात्मा इतने संनिध होनेपर भी और परमात्मा इतना हितकर्ता समर्थ मित्र बिलकुल साथ रहनेपर भी, यह जीव उस परम पिताको नहीं जानता और दुःख भोगता रहता है, इससे और शोककी बात कौनसी हो सकती है ? जीवात्मा परमात्माको जान सकता है और जानकर परम सुख भी निश्चयपूर्वक प्राप्त कर सकता है, परंतु हाय ! कितने जीवात्मा ऐसे हैं कि जो इस ज्ञानको प्राप्त करनेका यत्न तक नहीं करते और दुःख भोगते हुए संतप्त होते हैं। यह मनुष्य इतने समीप स्थितको नहीं जानता, परंतु इस सृष्टिमें दूरस्थित पदार्थोंको जाननेका यत्न करता है, ऐसी विपरीत इसकी बुद्धि है, देखिये—

"ये अर्वाञ्चस्ताँ उ पराच आहुर्ये पराञ्चस्ताँ उ अर्वाच आहुः। (मं० १९)

"जो पासके हैं वे इसको दूरके प्रतीत होते हैं और जो दूरके हैं वे ही इसको समीप हैं ऐसा प्रतीत होता है।" यही मिथ्या ज्ञान इसके दुःखका कारण है। परमात्मा इतना समीपसे समीप होनेपर भी वह इसको अतिदूर प्रतीत होता है और जगत्के भोग अतिदूर होनेपर भी इसको समीप प्रतीत होते हैं। इसलिये यह परमात्माको जाननेका यत्न नहीं करता और जागतिक भोग प्राप्त करनेमें दत्तचित्त होता है। परंतु इससे यह होता है कि अपने पिताको न जाननेके कारण इसको किसी प्रकारका सुख प्राप्त नहीं होता और वारंवार दुःखके भंवरमें पडता है। इसलिये-

अवः परेण पितरं यो अस्य वेदावः परेण पर एनावरेण। (मं० १८)

"अपना पिता ऊपरसे नीचे तक है ऐसा जो जानता है" वही निःसंदेह सुखका भागी हो सकता है। परमपिता परमात्माकी शक्ति विशाल है, वह अपना साथी और सत्य मित्र है वह मेरा साथी है, सदा हितकर्ता है, वह मेरे अन्दर है, वह निष्काम, अकाम और सदा तृप्त होता हुआ भी मेरे अन्दर है, यह बात जो जानता है वही सच्चे सुखका भागी है। इस परमपिताका ज्ञान प्राप्त होनेके लिये अपना मन दिव्य शक्तिसे युक्त अथवा पवित्र होना चाहिये। यह मन-

देवं मनः कुतो अधिप्रजातम् ? (मं० १८)

" यह मन किस तरह दिव्य बनता है ? " राक्षसी मन तो हरएकका बन सकता है। विशेष स्वार्थसे तो मनमें राक्षसी

वृत्ति आसकती है, परंतु दिव्यभाव मनमें किस रीतिसे आसकते हैं, इसका विचार हरएक मनुष्यको करना चाहिये । क्योंकि मनुष्यका देव बनना अथवा राक्षस बनना यह केवल मनकी इस अवस्थापर सर्वथा निर्भर है, इस मनको देव बनाना किस तरह होगा इसका विचार-

कवीयमानः क इह प्रवोचत् । (मं० १८)

"कौनसा श्रेष्ठ विद्वान् यहां आकर हमें कहेगा ?' ' ऐसी चिन्ता हरएकको करनी चाहिये । और जो विद्वान इस प्रकारका उपदेश करनेमें समर्थ होगा उसके पास आकर उससे इस विद्याका ग्रहण करना चाहिये, तथा उसका अनुष्ठान करके अपना मन सुसंस्कारोंसे दैवीगुणोंसे युक्त बनाना चाहिये । जिसका मन दिव्य गुणोंसे युक्त होता है और जिसके मनसे राक्षसी भाव सचमुच नष्ट हो जाते हैं, वही अपने पिताको अपने अन्दर प्रविष्ट देख सकते हैं। और परमसुखके भागी बना सकते हैं । इस प्रकार यहां गुरुकी तलाश करनेके लिये सूचना की है ।

इतने विवरणसे पाठकोंको पता चला होगा कि एक विभु परमात्मा, दूसरा परिच्छिन्न जीवात्मा और तीसरा यह संसार ये तीन पदार्थ यहां कहे हैं । इनमें जीवात्मा और परमात्मा आत्मा होनेसे एक जैसे हैं, परंतु तीसरा संसारवृक्ष जीवात्माको भोग देनेके कार्यमें उपयुक्त है । इन तीनोंका वर्णन इस सूक्तके प्रारंभिक मंत्रमें एक नये ही ढंगसे दिया है । देखिए-

अस्य वामस्य पलितस्य होतुस्तस्य भ्राता मध्यो अस्त्यश्नः (मं० १)

" एक दाता सुन्दर पुराणपुरुष है और उसका बीचका भाई भोक्ता है " यहां दो पदार्थोंका वर्णन है । पहिला [पलित] अतिवृद्ध पुराण पुरुष है, इसको ' वृद्ध स्थविर पलित पुराण ' आदि नाम स्थानपर प्रयुक्त होते हैं तथापि यह ' युवा ' [अ० १० । ८ । १४४] भी हैं अर्थात् सबसे पूर्वकालसे वर्तमान होनेके कारण यह पुराण है, न कि पुराना जीर्ण होनेके कारण इसको कोई वृद्ध कहते है । यह परमात्मा सबसे पुराण होता हुआ भी तरुण है, अतएव इसको यहां 'वाम' अर्थात् सुन्दर, रमणीय कहा है । यह 'होता' अर्थात् सबको दानसे अनुग्रह करनेवाला है, सब जगत्के ऊपर इसका बडा अनुग्रह है उसीके अनुग्रहसे सब संसार चल रहा है । ऐसा और एक पुरुष है जिसको परमात्मा कहते हैं । यह सबसे वृद्ध अर्थात् बडा भाई है । इसका बीचका मझला भाई [मध्यमः भ्राता] एक है । वह [अश्नः] बडा खानेवाला है, भोग भोगनेवाला है, भोगके बिना रह नहीं सकता । बडा भाई तो भोग नहीं भोगता, वह विरक्त है, विरक्तिके कारण बलिष्ठ है और यह भोग भोगनेसे रोगोंसे ग्रस्त होकर निर्बल रहता है । इस प्रकार यहां इन दो भाइयोंका वर्णन किया है । ये ' द्वौ सुपर्णौ ' द्वारा वर्णित जीव और शिव ही हैं । इनका एक तीसरा भी भाई है, उसका वर्णन ऐसा होता है--

तृतीयो भ्राता घृतपृष्ठो अस्य । (मं० १)

" इसका एक तीसरा भाई है जो पीठपर घी लेकर रहता है । " इन तीनों भाइयोंमें बडा भाई तो कुछ भी खाता नहीं है, संभव है अतिवृद्ध होनेके कारण उसकी क्षुधा मंद हुई होगी, बीचका भाई तरुण होनेसे बहुत खाता रहता है, और जो यह तीसरा भाई है वह अपने पीठपर घी जैसे पौष्टिक पदार्थ अथवा रस धारण करता है और बीचके भाईको खिलाता रहता है । अन्नरस तैयार करनेका कार्य इस तीसरे भाईके आधीन है, ज्ञान, सुख तथा शान्ति प्रदान करना वृद्ध भाईके आधीन है और बीचका भाई इन दोनों भाइयोंकी सहायता लेता हुआ अपनी उन्नति करता रहता है । इस प्रकार यहां तीन भाइयोंका वर्णन है वह १८ वें मंत्रके वर्णनके साथ मिलता जुलता है ।

इसी वर्णन पर तीन तेजोंकी कल्पना करके यज्ञोंकी रचना की है । सूर्य द्युस्थानमें, विद्युत् अन्तरिक्षमें और अग्नि भूस्थानमें, ये तीन तेज हैं । सूर्य सबसे बडा भाई है [वाम] सुंदर भी है और [पलित] श्वेत किरणोंसे युक्त है । उसका मध्यम भाई विद्युत् तेज है यह बडा खानेवाला है, जहां बिजली गिरती है वहां उस चीजको वह खाती है, इनका एक सबसे छोटा भाई इस पृथ्वीपर अग्नि रूपसे है यह अपने पीठपर आहुतियोंसे डाला हुआ घी तथा हवन सामग्रीका भार लेकर खडा रहता है और अन्यान्य देवताओंको वह भाग देकर उनका पोषण करता है । इससे भाग लेकर अन्यान्य देवतांश पुष्ट होते हैं । अग्नि यहां भूस्थानका प्रतिनिधि है । सब यज्ञकी उत्पत्ति इस विधानको दर्शानेके लिये हुई है । सूर्य प्रकाश देनेवाला, अग्नि पोषक घी

देनेवाला और इन दोनोंसे शक्तियां प्राप्त करके पुष्ट होनेवाला तीसरा मध्यम भाई है। यह वर्णन भी पूर्वोक्त जीवात्मा, परमात्मा और पोषक संसारका ही सूचक है। विद्युत्‌से मन और जीवात्माका भी वर्णन किया जाता है, क्षणमात्र चमकनेका धर्म इनमें समान है। जिस तरह विद्युत् एकक्षणमें चमकती है पूर्वक्षणमें नहीं होती और उत्तर क्षणमें भी नहीं होती, उसी प्रकार जीवभी जन्मसे मृत्युतक चमकता है और पूर्व तथा उत्तर कालमें छिपा रहता है। अस्तु। इस रीतिसे इस प्रथम मंत्रमें सूर्यादि तीन तेजोंके वर्णनके मिषसे जीवात्मा, परमात्मा और संसारका वर्णन किया है, सो पाठक देखें। इसी मंत्रमें और कहा है कि—

अत्रापश्यं विश्पतिं सप्तपुत्रम्। (मं० १)

" यहां सात पुत्रोंवाले प्रजापतिका मैंने दर्शन किया " पूर्वोक्त वर्णनमें विश्पति अर्थात् प्रजापतिका वर्णन है यह बात इस मंत्रसे स्पष्ट होती है। यहां विश्पति प्रजापति ये नाम सब जगत् के पालनेवालेके सूचक हैं। इसके सात पुत्र हैं, इसके सात पुत्र ये ही सात लोक हैं क्योंकि इसीने इनकी उत्पत्ति की है। यह उन सात लोकोंका पिता है और ये उसके पुत्र हैं। जो " वाम पलित " आदि नामोंसे प्रथम मंत्रमें वर्णित हुआ है, वही जगत्पालक सबका पिता और जेठा भाई परमेश्वर है। उसके भाई अथवा पुत्र सब जीव हैं और इन जीवोंको भोग देनेवाला यह सब संसार है। यह बात इस प्रथम मंत्र के मननसे स्पष्ट हो गई है। आगे कहा है कि—

सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रम्। एको अश्वो वहति सप्त नामा। (मं० २)

" एक रथको सात जोडे हैं। " अर्थात् इस शरीर रूपी रथको सात घोडे जोडे हैं परन्तु ये सात घोडे होते हुए भी वस्तुतः "सप्तनामक एक ही घोडा इसको चलाता है। अर्थात् इस रथको चलानेवाली गति एक ही है, परंतु वह सात प्रकारके रूपोंमें दीखती है। जैसा आंख, नाक, कान, रसना, त्वचा, मन ये सात ज्ञानेंद्रिय हैं, ये ज्ञानेंद्रियरूपी सात घोडे इस शरीरको जोते हैं, परंतु देखा जाय तो ऐसा स्पष्ट प्रतीत होगा कि आत्माकी एक चित् शक्ति इन सातों इंद्रियोंमें विभक्त हो गई है अतः यहां कह सकते हैं कि यहां घोडे सात भी हैं और सात नामोंवाला एक ही घोडा है। एक कथनमें स्थूल की ओर दूसरे कथनमें सूक्ष्म की ओर से देखा गया है।

इसी प्रकार दो हाथ दो पांव, मुख, गुदा और शिश्न ये सात कर्मेंद्रियां यद्यपि सात हैं, तथापि आत्मा की कर्मशक्ति के ही ये सात विभाग हुए हैं इसलिये स्थूल दृष्टिसे ये सात घोडे इस शरीर रूपी रथको जोते हैं; ऐसा हम कह सकते हैं तथापि आत्मा की दृष्टिसे हम ऐसा भी कह सकते हैं कि एक ही आत्माकी कर्मशक्ति यहां सात रीतिसे विभक्त होकर कार्य कर रही है।

कर्मेंद्रिय, ज्ञानेंद्रिय, प्राण, मन, चित्त अहंकार, बुद्धि ये भी सात घोडे इस शरीरके साथ जोते गये हैं परंतु आत्माकी ओरसे देखनेसे ऐसा भी कह सकते हैं कि एक ही इन्द्रशक्ति इस सब इंद्रियोंमें कार्य कर रही है।

इसी प्रकार अन्यान्य विषयोंके संबंधमें समझना योग्य है। जैसा एक ही प्राण शरीरमें ग्यारह स्थानोंमें रहनेसे प्राण, अपान आदि नामोंको प्राप्त करता है। यह भाव शारीरिक विषयोंके संबंधमें हुआ, परंतु जैसा यह शरीर छोटा ब्रह्माण्ड है उसी प्रकार यह संपूर्ण जगत् भी एक बडा शरीर ही है। अतः दोनों स्थानोंमें नियम एक जैसा है, अतः 'एक रथको सात घोडे जोते हैं, परंतु सात नामोंवाला एक ही घोडा इस रथको खींचता है' इस बातको इस जगत्‌में भी देखना चाहिये।

यह जगत् पृथ्वी, आप, तेज, वायु, आकाश, तन्मात्र और महत्तत्त्व इन सातोंके द्वारा चलाया जाता है यह सत्य है, तथापि एक ही महत्तत्त्व इन सातोंमें परिणत होकर इस जगत्‌को चलाता है यह भी उतना ही सत्य है। सूर्यके किरणोंमें सात रंगोंके सात किरण हैं यह बात जैसी सत्य है उसी प्रकार सूर्यका एक ही किरण उन सात प्रकाशकिरणोंमें विभक्त हुआ है यह भी उतना ही सत्य है। इसी कारण सूर्यको सप्ताश्व, सप्तरश्मि इत्यादि नाम दिये गये हैं।

एक संवत्सर कालके सात ऋतु हैं, वसंत, ग्रीष्म, वर्षा, शरद्, हेमंत शिशिर ये छः और अधिक मासका एक मिल कर सात ऋतु हैं। तथापि इन सातों ऋतुओंमें एक ही काल व्यापता है और सात ऋतुओंमें परिणत होता है।

बाल्य, कौमार्य, तारुण्य, यौवन, परिहाण, वार्धक्य, जरा ये सात आयुके जैसे सात भाग हैं और इनमें एक ही जीवन की अवधि अर्थात् आयु व्यतीत होती है; उसी प्रकार इस जगतकी आयुके भी सात भाग हैं और उनमें जगतकी आयु विभक्त होती है। इस दृष्टिसे सर्वत्र देखना योग्य है। तात्पर्य यह है कि स्थूल दृष्टिसे विभक्त अवस्था ज्ञात होती है और सूक्ष्म दृष्टिसे

एकावस्था किंवा साम्यावस्था प्रतीत होती है। इसके लिये और भी एक उदाहरण देते हैं। मिट्टी एक है परंतु उसके पात्र अनंत होते हैं, सोना एक है परंतु उसके अनंत आभूषण होते हैं। यहां मिट्टी और सोनेकी दृष्टिसे सब पात्र और आभूषण एक ही हैं, तथापि व्यवहारके आकार भेदसे उनमें भेद भी है। इसी प्रकार 'एक रथको जोडनेवाले सात घोडे हैं तथापि उन सातोंका नाम धारण करनेवाली एक ही खींचनेवाली शक्ति है,' इस मंत्रके कथनमें " एक ही शक्ति सात स्थानोंमें विभक्त होकर इस जगतमें कार्य कर रही है" इतना ही विषय मुख्य है, फिर पाठक उसको शरीरमें देखें अथवा जगत्में देखें।

जिस रथको ये सात घोडे जोते हैं उस रथको एक ही चक्र है। और वह चक्र-

त्रिनाभि चक्रमजरमनर्वम्। (मं० २)

"तीन नाभिवाला यह एक चक्र जरारहित और अप्रतिबंधसे चलनेवाला है।" इसका विचार प्रथम इस जगत्में देखेंगे, कालचक्र एक है, और उसके भूत, भविष्य, वर्तमान ये तीन केन्द्र हैं। यह चक्र कदापि क्षीण नहीं होता और न इसको कोई प्रतिबंध करता है। संवत्सरचक्र एक है और उसके शीत, उष्ण और वृष्टिके तीन केन्द्र हैं। इनमें यह घूम रहा है। प्रकृतिचक्र एक ही है और उसके सत्व,रज और तम ये तीन केन्द्र हैं इनमें यह घूम रहा है। जगत् चक्र एक है और उसके उत्पत्ति,स्थिति और लय ये तीन केन्द्र हैं इनमें यह घूम रहा है, इस तरह सृष्टिके अन्दर इस एकचक्रकी बातको पाठक देखें और अनुभव करें।

इसी ढंग से मनुष्य के अन्दर भी इस चक्रको देखना उचित है। एक ही शरीरचक्र कफ, पित्त, वात इन तीन केन्द्रों पर चल रहा है। यही प्रवृत्तिचक्र सत्व, रज, तमके ऊपर घूम रहा है। इसी तरह और कई नाभियां यहां भी हैं।

यत्रेमा विश्वा भुवनाधि तस्थुः। (मं० २)

" इसके अन्दर सब भुवन ठहरे हैं।" यह जो चक्र पूर्वस्थानमें कहा है उसमें सब भुवन रहे हैं। जगत् के पक्षमें संपूर्ण भुवन रहे हैं यह बात स्पष्ट ही है। शरीरके पक्षमें शरीरान्तर्गत सब अंग और अवयव ही यहां भुवन लेनेसे मंत्रमें कहा तत्त्व शरीरमें अनुभव हो सकता है। शरीरमें कफपित्तवात नामक तीनों नाभियोंमें भ्रमण करनेवाले चक्रमें ये सब अंग और अवयव कार्य करते हैं। इसी ढंगसे अन्यान्य चक्रों के विषयमें जानना योग्य है।

अगले तृतीय मंत्रमें (इमं रथं ये सप्त अधितस्थुः) इस रथके आश्रयपर जो सात तत्त्व अधिष्ठित हुए हैं, ऐसा कहकर आगे सप्तचक्र रथ, सप्त अश्व, सात (स्वसारः) बहिनें तथा (गवां सप्त) सात गौवें ' हैं ऐसा कहा है यह रथ सात चक्रोंवाला है, इसके सात गति—साधन हैं, येही सात गतियां इसके अश्व हैं, गौ नाम वाणीका है इस शरीरमें इस वाणीके सात भेद हैं; इंद्रियां सात सात विभक्तियां, सात, कालविभाग,(अयन, ऋतु, मास, पक्ष, दिन, रात्री, मुहूर्त ये सात कालविभाग)हैं। सात बहिनें यहां शरीरमें सात मज्जा केन्द्रोंसे चलनेवाले प्रवाह हैं, सात इंद्रियोंमें चलनेवाले प्रवाह हैं। बाह्य जगत् में सप्त लोक, सप्त अवस्था, सात किरणें, सात नदियां आदिकी कल्पना करना योग्य है।

यह कूटमंत्र है और इसका अर्थ इस प्रकारके मनन से जाना जा सकता है। आगे चतुर्थ मंत्र देखिये-

अनस्था अस्थन्वन्तं बिभर्ति (मं० ४)

" (अन्- अस्था) जिसमें हड्डी नहीं है ऐसा आत्मा (अस्थन्- वन्तं) हड्डीवाले शरीरका धारण करता है। " यह महत्त्वपूर्ण कथन इस मंत्रमें कहा है। आत्माके लिए ' अनस्था' शब्द है और शरीरके लिए 'अस्थन्वान्' शब्द है। इसी प्रकारका भाव निम्नलिखित यजुर्वेदके मंत्रमें है-

अकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्। वा० यजु० ४० । ८

" वह आत्मा शरीररहित, व्रणरहित, स्नायु-मांस-रहित है, अतएव शुद्ध और पापरहित है। " यह ' अन् – अस्था ' (अस्थिरहित) शब्दका ही अधिक विवरण है, अधिक अर्थका विस्तार है। वह आत्मा हड्डीरहित मांसरहित शरीररहित व्रणरहित, रक्तरहित, धमनीरहित, चर्मरहित है, इसी प्रकार और भी वर्णन हो सकता है। शरीर हड्डी, मांस, व्रण, रक्त, धमनी आदिसे युक्त है। इस शरीरका धारण उक्त प्रकार का आत्मा कर रहा है। जब शरीरका धारण चेतन आत्मा करता है। इसको कौन देखता है ? —

कः जायमानं प्रथमं ददर्श ? (मं० ४)

" इस प्रकट होनेवाले आत्माका सबसे प्रथम किसने दर्शन किया ? " इसके अस्तित्वके विषयमें किसने प्रथमसे प्रथम अनुभव किया ? किसने निश्चित रूपसे इसको जान लिया ? किसने इसकी आश्चर्यमयी शक्तियोंका सबसे पहिले अनुभव किया ? अर्थात् कौन इसको पूर्णतासे जानता है ? और-

भूम्याः असृक् असुः आत्मा क्वस्वित् ? (४)

" इस भूमिके अन्दर अर्थात् स्थूल शरीरके अन्दर रक्त मांस, प्राण और आत्मा कहां भला निवास करते हैं। " यह स्थूल शरीर पृथ्वीतत्त्वका बना है, उससे भिन्न जलतत्त्व है, वायुतत्त्व भी भिन्न है, तथापि इस शरीरके अन्दर ये पञ्चतत्त्व एक स्थानपर विराजमान हुए हैं और एक उद्देश्यसे कार्य कर रहे हैं ? इन विभिन्न तत्त्वोंको एक उद्देश्यसे चलानेवाला यहां कौन है ? यहां पृथ्वी तत्त्वसे हड्डी आदि कठीन पदार्थ, जलतत्त्वसे रक्त रेत आदि प्रवाही पदार्थ, अग्नि तत्त्वसे पाचन शक्ति, उष्णता आदिकी स्थिति, वायुतत्त्वसे प्राण आदिकी स्थिति और परमात्मासे आत्मा का प्रकटीकरण इस शरीरमें हुआ है। परंतु ये कहां कैसे रहते हैं ? कौन इनका संचालक है । इसी विषयका एक मंत्र अथर्ववेदमें है वह यहां देखिये-

को अस्मिन्नापो व्यदधाद्विषूवृतः पुरूवृतः सिंधुसृत्याय जाताः ।

तीव्रा अरुणा लोहिनीस्ताम्रधूम्रा ऊर्ध्वा अवाचीः पुरुषे तिरश्चीः ॥ अथर्व. १० । २ । ११

" किस देवताने इस शरीरमें शीघ्र गतिवाले, लाल रंगवाले और तांबेके धूम्रके समान रंगवाले, ऊपर, नीचे और तिरछे चलनेवाले जलप्रवाह शुरू किए हैं ?" यह रक्तके अभिसरणके संबंधमें वर्णन है, इसी (१० । २) केन सूक्तमें शरीरके अन्यान्य अवयवोंके विषयमें भी पृच्छा की है । इस प्रकार किस देवताके द्वारा यह सब शरीर धारण हुआ है ? यह तत्त्वज्ञानके विषयमें एक महत्त्वका प्रश्न है।

कः विद्वांसं प्रष्टुं उपगात् ? (मं ४)

" कौन शिष्य इसके विषयमें पूछनेके लिये विद्वान्‌के पास जाता है " और कौन इसके विषयमें ज्ञान प्राप्त करना चाहता है और कौन इसके विषयमें निश्चित ज्ञान देता है ?

यः वेद इह ब्रवीतु । (मं० ५)

" जो इस आत्माके विषयमें ठीक ठीक ज्ञान जानता है वह यहां आवे, और हम सब शिष्योंसे उपदेश करें " और हमको बतावे कि यह आत्मा इस शरीरका धारण किस प्रकार करता है ? यह आत्मा अस्थिरहित होता हुआ अस्थिवाले शरीरको चलाता है, मूक शरीरसे यही वार्तालाप करता है और पंगु शरीरको यही चलाता है । पांवोंसे चलना होता है, परंतु ये पांव शरीरके पास हैं और आत्मामें नहीं हैं, तथापि शरीर आत्माकी प्रेरणाके विना चल नहीं सकता । इसी प्रकार शब्दोच्चार करनेवाला मुख है तो शरीरके पास, परंतु आत्माकी प्रेरणाके विना केवल शरीरसे शब्दोच्चार हो नहीं सकते । इसीलिये-

अस्य वामस्य वेः निहितं पदं वेद । (मं० ५)

" इस परमप्रिय गतिमान आत्माका इस शरीरमें रखा हुआ जो पद है, " उसको जानना चाहिये । यही पद प्राप्त करना चाहिये, यह गुप्त है इसीलिये इसकी खोज करनी होती है । सब योगी मुनि, ऋषि, सन्त महन्त इसीकी खोज करते हैं, प्राप्ति करते हैं और आनन्दके भागी बनते हैं।

गावः अस्य शीर्ष्णः क्षीरं दुह्रते । (मं०५)

" इंद्रियरूपी गौवें इसके सिरके स्थानसे दूध निचोडती है । " आंख, नाक, कान, जिह्वा, त्वचा आदि इंद्रियरूपी गौवें रूप, गंध, शब्द, रस और स्पर्श रूपी दूध निकालती हैं और इन विषयरूपी दूधको यह प्राप्त करके सुखका भागी होता है । इसके विषयमें जिज्ञासु पुरुषके मनमें बहुतवार अनेक प्रश्न पूछनेके लिये उपस्थित होते हैं और वह पूछता भी है-

पाकः मनसा अविजानन् पृच्छामि ।

देवानां एना निहिता पदानि ॥ (मं० ६)

" (पाकः) पक कर तैयार होनेवाला मुमुक्षु मनुष्य (मनसा अविजानन्) मनसे कुछ भी आत्मज्ञान नहीं जानता है इसलिये पूछता है कि इस देहके अन्दर (देवानां पदानि) अनेक देवोंके स्थान कहां कहां रखे हैं ।" मनुष्य पक कर परिपक्व अर्थात् पूर्ण होनेके लिये यहां रखे हैं, इनमें जिसको अपने अज्ञानका पता लगता है, वह मुमुक्षु बनता है और वह सद्गुरुके पास जाकर उससे प्रश्न पूछता है कि 'हे गुरो ! जो अनेक देवताओंके पद इस शरीरमें रखे गये हैं वे कहां हैं ? किस देवताका पद यहां किस स्थानपर रखा गया है ? यहां सूर्यदेवने अपना पद चक्षुस्थानमें रखा है, वायुदेवने अपना पद फेफडोंमें रखा है, जलदेवने अपना पद जिह्वास्थानमें तथा रक्तमें रखा है इसी प्रकार अन्यान्य देवोंने अन्यान्य स्थानोंमें अपने पद रखे हैं । इस तरह इस शरीरमें अनेक देवताओंके पद अर्थात् स्थान किंवा निवासस्थान हैं । पाठक इनका अनुभव करें और यह किस प्रकार देवमंदिर है इसका ज्ञान प्राप्त करें । यही बात अन्यत्र निम्न प्रकार कही है—

> दश साकमजायन्त देवा देवेभ्यः पुरा ।
> यो वै तान्विद्यात्प्रत्यक्षं स वा अद्य महद्वदेत् ॥ ३ ॥
> प्राणापानौ चक्षुः श्रोत्रमक्षितिश्च क्षितिश्च या ।
> व्यानोदानौ वाङ्मनस्ते वा आकूतिमावहन् ॥ ४ ॥
> ये त आसन् दश जाता देवा देवेभ्यः पुरा ।
> पुत्रेभ्यो लोकं दत्वा कस्मिंस्ते लोक आसते ॥ १० ॥
> संसिचो नाम ते देवा ये संभारान्त्समभरन् ।
> सर्वं संसिच्य मर्त्यं देवाः पुरुषमाविशन् ॥ १३ ॥
> गृहं कृत्वा मर्त्यं देवाः पुरुषमाविशन् ॥ १८ ॥
> रेतः कृत्वाज्यं देवाः पुरुषमाविशन् ॥ २९ ॥
> तस्माद्वै विद्वान् पुरुषमिदं ब्रह्मेति मन्यते ।
> सर्वा ह्यस्मिन्देवता गावो गोष्ठ इवासते ॥ ३२ ॥ अथर्व. ११।८ (१०)

" दस देवोंसे दस देवपुत्र उत्पन्न हुए, जो इनको प्रत्यक्ष देखता है वह बडा तत्त्वज्ञान कह सकता है । प्राण, अपान, चक्षु, श्रोत्र, अमरत्व और नाश, व्यान, उदान वाणी और मन ये दस तेरे संकल्पको चलाते हैं । दस देवोंसे जो दस देवपुत्र हुए, वे अपने पुत्रोंको स्थान देकर किस लोकमें चले गये ? सिंचन करनेवाले देव हैं जो सब संभार इकट्ठा करते हैं, सब मर्त्य देहको सिंचन करके ये देव मनुष्य देहमें घुसे हैं । देह रूपी मर्त्य घर करके इसमें देव रहने लगे हैं, रेतका घी बनाकर देव इस पुरुषमें आगये हैं । जो ज्ञानी है वह इस पुरुषको ब्रह्म करके मानता है, क्योंकि इसमें सब देवताएं रहती हैं, जैसी गोशालामें गौवें रहती हैं ॥"

इस प्रकार इस शरीररूपी देवशालाका वर्णन है। यहां आंखमें सूर्य, फेफडोंमें प्राण किंवा वायु, इस प्रकार अन्यान्य देव अन्यान्य स्थानोंमें विराजते हैं। बडे सूर्य वायु आदि देव बाह्य विश्वमें हैं और उनके छोटे पुत्र नेत्रादि स्थानपर निवास करते हैं । यहां मानों उनके पद रखे हैं अर्थात् सूर्यने अपना पद नेत्रस्थानमें रखा है, वायुने अपना पद फेफडोंमें रखा है, जलने अपना पद जिह्वापर रखा है इसी प्रकार अन्यान्य देवोंने अपने पद शरीरस्थानीय अन्यान्य अन्यान्य भागोंमें रखे हैं । इन्हींका वर्णन (देवानां निहिता [illegible]नि) देवोंके पद यहां रखे हैं इन शब्दोंसे हुआ है । तथा—

> कवयः ओतवै उ सप्त तन्तून् वितत्निरे । (मं० ५)

" कवि लोग जीवनका वस्त्र बुननेके लिये सात धागोंको फैलाते हैं । " जिस प्रकार जोलाहा ताना फैलाता है और उसमें बानेके धागे रखकर उत्तम वस्त्र तैयार करता है, उसी प्रकार नेत्रसे रूपके, कानसे शब्दके, नाकसे गंधके, जिह्वासे आस्वादके, त्वचासे स्पर्शके, मनसे ज्ञानके और बुद्धिसे विज्ञानके धागे फैलाकर इस तानेमें कर्मयोग और ज्ञानयोगका बाना मिलाकर सुंदर जीवन का वस्त्र बनता है। यही पुरुषार्थी जीवनका वर्णन है । ये सात तन्तु हैं प्रायः हरएक मनुष्य की खुड्डीपर ताना फैलाया है, जो इसमें पुरुषार्थका बाना मिलायेगा वही उत्तम जीवनवस्त्र बना सकता है । इस प्रकार सात तन्तुओंका वर्णन पाठक देखें और इससे पूर्व जो 'सात' संख्यावाले पदार्थोंका वर्णन आया है उसके साथ इसका अनुसन्धान करें ।

अचिकित्वान् न विद्वान्, चिकितुषः विद्वनः कवीन् पृच्छामि। (मं० ७)

अज्ञानी अविद्वान मैं ज्ञानी विद्वान् कवियोंसे पूछता हूं। ये ज्ञानी लोग मेरी आशंका को दूर करें। अज्ञान ज्ञानीसे पूछे, अविद्वान् विद्वान् के पास जाय, साधारण मनुष्य कविके साथ रहे और अपनी आशंकाएँ पूछें और इस तरह ज्ञान प्राप्त करें। विद्वानसे पूछने योग्य प्रश्न यह है–

यः इमाः षट् रजांसि तस्तंभ (मं० ७)

" किस एकने इन छः लोकोंको आधार दिया है?" किस एकका आधार इस संपूर्ण जगतको प्राप्त होता है? किसके आधार पर यह विश्व है और चल रहा है? यह प्रश्न विद्वानको प्राप्त कर उसे पूछना योग्य है,और भी एक प्रश्न पूछना योग्य है–

अजस्य रूपे किं एकं स्वित् ? (मं० ७)

"अजन्मा आत्माके रूपमें एक रूप कौनसा है? अनेक अजन्माजीवात्मा हैं,इनकी संख्या अनन्त है। इन अनन्त जीवात्माओंमें एक तत्त्व जो है वह कौनसा तत्त्व है। एक ही परमात्मा सर्वत्र व्याप्त है। यह एकरस और सर्वत्र अनुस्यूत है। जीवोंमें अनेकत्व और अणुत्व है। इसमें अनेकत्व नहीं और अणुत्व भी नहीं है। प्रत्युत इसमें एकत्व और सर्वव्यापकत्व है। यही एक तत्त्व सर्वत्र भरपूर है। कोई पदार्थ इससे खाली नहीं है। यह परमात्मा अपनी प्रकृतिके साथ रहता है, यह एक गृहस्थके समान है। प्रकृति उसकी धर्मपत्नी है और वह उस प्रकृतिका धर्मपति है। ये किस प्रकार बर्ताव करते हैं देखिये—

माता पितरं ऋते आबभाजे। (मं० ८)

"माता पिताकी सत्यधर्ममें-यज्ञमें-सेवा करती है सहायता करती है।" धर्मपत्नी अपने पतिकी सेवा करे और उसको यज्ञ करनेमें सहायक बने। यह गृहस्थ धर्मका उपदेश यहां मिलता है सबकी माता प्रकृति परमपिता परमात्माकी सहायता करती है और सृष्टिरूप यज्ञ सिद्ध करनेमें सहायक होती है। यह आदर्श गृहस्थाश्रम है। हरएक गृहस्थी इस प्रकार अपना व्यवहार करे।

धीती अग्रे मनसा सं जग्मे। (मं० ८)

" यह गृहस्थाश्रमका धारण करनेवाली धर्मपत्नी पहिलेसे ही मनसे उसके साथ मिलती है।" वह केवल बाहरके दिखावेके लिये ही पतिके साथ मिलकर रहती है, ऐसी बात नहीं परंतु वह मनके आन्तरिक भावसे भी पतिके साथ मिलकर रहती है। गृहस्थाश्रमी स्त्रीपुरुष इसी प्रकार मनसे एकरूप होकर अपना गृहस्थाश्रम चलावें और कृतकृत्य बनें। प्रकृतिमाता तो अपने मनसे परमात्माके साथ ऐसी मिलजुल कर रहती है कि कभी उसके विरोध नहीं करती। जो परमात्माकी इच्छा होती है वैसा विश्वरचना का कार्य करती है। यहां भी गृहस्थाश्रमियोंको बडा अनुकरणीय उदाहरण मिलता है।

सा बीभत्सुः गर्भरसा निविद्धा। (मं० ८)

" वह माता गर्भका धारण पोषण करनेवाली गर्भके रससे रंगी गर्भके पोषणमें लगी रहती है।" दूसरा कोई कार्य उसको सूझता नहीं है। हरएक स्त्री जो गृहस्थाश्रममें है इसी प्रकार गृहमें रहनेवाले पुत्रादिकों की पालना करनेमें दत्तचित्त रहे, गर्भधारण होनेपर गर्भके पालन में योग्य रीतिसे दत्तचित्त हो और ऐसे किसी भी कार्यमें व्यग्र न हो कि जो गर्भके पोषण के प्रतिकूल हों। प्रकृतिमाता अपने गर्भका धारण पोषण और उत्पत्ति आदिके विषयमें कैसी दत्तचित्त होती है और किसी भी प्रकार प्रमाद न करती हुई अपना कार्य तत्परतासे करती है।

नमस्वन्तः उपवाकं ईयुः(मं० ८)

(नमस्वन्तः) नमस्कार करते हुए अथवा अन्नसे युक्त पुरुष उनकी प्रशंसा करते हुए उनके पास आते हैं।" उक्त प्रकारके गृहस्थी जहां होते हैं वहां सब अन्य लोग उनको नमस्कार करते हैं और उनके सत्संगमें रहना चाहते हैं। अथवा अन्न की भेंट लेकर उनके पास उपस्थित होते हैं और उनका उस भेंटसे सत्कार करते हैं। आदर्श गृहस्थीका इस प्रकार सत्कार होता है और आदर्श गृहस्थका घर कैसा होता है, इस विषयमें प्रकृति पुरुषके दृष्टान्तसे ऊपर लिखा ही है। पाठक इसका विचार करें। और देखिये—

माता धुरि युक्ता आसीत्। (मं ९)

" माता गृहस्थके कार्यकी धुरामें लगाई है।" माता पीछे रहनेवाली नहीं है। वह धुरामें रहकर कार्य करनेवाली है।

गृहस्थाश्रममें धर्मपत्नीका यही कार्य है। गृहस्थके सब कार्योंमें वह धुरामें रहकर दत्तचित्त होकर कार्यका भार उठाती है, इसीलिये उसको सहधर्मचारिणी गृहिणी कहते हैं। गर्भवती होनेपर भी वह इसी प्रकार धुरामें रहकर कार्य करती है।

गर्भो वृजनीष्वन्तः अतिष्ठत् (मं० ९)

" गर्भ अपने अन्दर अन्तःशक्तियोंके आधारपर रहता है। " गर्भको अन्दर धारण करती हुई गृहिणी धुरामें रहकर सब कार्यका भार उठाती है। इसी प्रकार गृहिणी अपने घरमें कार्य करे। पतिके अनुकूल धर्मपत्नी रही तो उनके बच्चे भी पिता माताके (अनु) अनुकूल होते हैं, जिस प्रकार (गां अनु वत्सः) गौके अनुकूल बछडा होता है, ठीक उस प्रकार सद्वर्तनी गृहिणीके बालबच्चे उनके अनुकूल रहते हैं और इस प्रकार अपने पुत्रोंमें वे माता पिता (विश्वरूप्यं अपश्यत्) सब अपना रूप देखते हैं। मातापिताका सब प्रकारका रूप पुत्रोंमें आता है। जैसे मातापिताके शरीर, मन और बुद्धिके भाव होते हैं वैसे ही पुत्र और पुत्रियोंमें होते हैं। अतः कहा है (त्रिषु योजनेषु) तीनों शरीर मन बुद्धिमें सब प्रकार की सादृश्यता दिखाई देती है। पूर्ण गृहस्थाश्रम का यह फल है। इसमें माता पिता, पुत्र और पुत्रियां एक विचारसे परिपूर्ण होती हैं और किसी प्रकार इनमें आपसी विरोध नहीं होता है।

एकः तिस्रः मातॄः त्रीन् पितॄन् बिभ्रत् ऊर्ध्वः तस्थौ ॥ (मं० १०)

" अकेला वह सुपुत्र तीन माताओंको और तीन पिताओंको अपने अन्दर धारण करता हुआ सीधा खडा रहता है। " अर्थात् टेढी चाल नहीं रखता। तीन माताएं ये हैं– " प्रकृतिमाता, विद्यामाता और अपनी माता। " तीन पिता ये हैं— "परमात्मा, गुरु और अपना जनक।" इन तीनोंको वह अपने अन्दर धारण करता है और सीधे व्यवहार करता है। और कभी (न अवग्लापयन्त) कभी ग्लानीको प्राप्त नहीं होता। इस प्रकार उपासना और आचरणसे इनकी उच्च योग्यता होती है। और ये स्वर्गमें जाते हैं और वहां–

अमुष्य दिवः पृष्ठे विश्वविदः अविश्वविन्नां वाचं मन्त्रयन्ते। (मं० १०)

" उस द्युलोकके पृष्ठभाग पर विराजते हुए ये ज्ञानी लोग सबके ध्यानमें न आनेवाली बातोंका मनन करते हैं। " वहां स्वर्गमें रहकर ऐसे तत्त्वोंका विचार करते हैं कि जिनका ज्ञान साधारण मनुष्यके ध्यानमें भी नहीं आसकता।

परिवर्तमाने पञ्चारे चक्रे विश्वा भुवनानि आतस्थुः (मं० ११)

" घूमते हुए पांच आरोंवाले चक्रमें संपूर्ण भुवन रहे हैं " अर्थात् इस चक्रके आधारसे सब भुवन रहते हैं। पञ्च प्राणों-का जो पांच आरोंवाला प्राणचक्र है उसके आधारसे संपूर्ण भुवन ठहरे हैं। यहां शरीरमें प्राणचक्रके आधारपर सब शरीरके अवयव रहते हैं। प्राण चला गया तो कोई रह नहीं सकता। इसी प्रकार यह संपूर्ण विश्व भी बृहत्प्राणचक्रपर रहा है, विश्वव्यापक महाप्राण जगतके सब भुवनोंका धारण करता है। यह चक्र भ्रमण होरहा है, तथापि इसका मध्यदण्ड (अक्षः न तप्यते) नहीं तपता है। अनादि कालसे यह विश्व घूमता रहनेपर भी इसका कोई भाग तपता नहीं। कोई चक्र जब घूमता है, तब उसका मध्यदण्ड न तपे, इसलिये तेल डालना पडता है,परंतु यहां तेल न डालते हुए ही स्वयं यह मध्यदण्ड नहीं तपता है, यह परमात्माका अद्भुत सामर्थ्य देखने योग्य है। ये जगत्‌के सब लोकलोकान्तर एक गतिसे घूम रहे हैं, वे कभी ठहरते नहीं, न कभी इनकी गतिमें विघ्न होता है। इस चक्रके मध्यदण्डपर (भूरिभारः) बहुत ही भार है। जो ये लोकलोकांतर हैं उनका भार बहुत ही है, इस भारकी कल्पना भी नहीं हो सकती। इतना भार होनेपर भी यह विश्वचक्र विलक्षण शान्तिसे और गतिसे चल रहा है। और अनादिकालसे घूमनेपर भी (सनात् एव सनाभिः न छिद्यते) नहीं छिन्नभिन्न होता है। इस प्रकार यह जगच्चक्र विलक्षण सामर्थ्यसे धारण किया है।

आगे बारहवें मंत्रमें " कालचक्र "का वर्णन है इसको यहां (द्वादश आकृति) बारह मासोंकी बारह अवस्थाओंवाला यह कालचक्र अथवा संवत्सरचक्र है। यह संवत्सरचक्र (षड्—अरे) छः अरों में विभक्त हुआ है, छः ऋतु येही इसके छः आरे हैं। अधिक मासका और एक ऋतु माना जाता है, इसके साथ सात ऋतु होते हैं, यहां दर्शानेके लिये (सप्तचक्रे) शब्द आया है। अथवा संवत्सर, अयन, ऋतु मास, पक्ष, अहोरात्र, मुहूर्त, ये भी कालचक्रके अन्तर्गत सात छोटे चक्र हैं, यह भी अधिक योग्य प्रतीत होता है। यह संवत्सर (पञ्चपाद) पांच पांव वाला है, शीतकाल, उष्णकाल और वर्षाकाल और ये

तीन काल वर्षके हैं इनमें चान्द्रमान और सौरमान ये दो गणनात्मक विभाग माननेसे ये संवत्सरके पांच पांच होते हैं, क्योंकि इन्हीं पांचोंसे यह सबका पिता चलता है और सबका (पिता-माता) संरक्षण करता है। इस प्रकारका यह कालचक्र एक वर्षमें घूमता है और सब संसार का कल्याण करता है। इस चक्रमें-

मिथुनासः पुत्राः अत्र सप्तशतानि विंशतिः च आतस्थुः ॥ (मं० १३)

" मिथुन अर्थात् दो दो जुडे हुए पुत्र सातसौबीस हैं।" ये दिन और रात ही हैं। दिनके साथ रात्री और रात्रीके साथ दिन जुडे हैं। चान्द्रवर्षका और सौर वर्षका मध्य अर्थात् ३६० दिनोंका मध्यम वर्ष है। इसके दिन और रात्री ऐसे प्रत्येक दिनके दो जुडे पुत्र माननेसे ७२० होते हैं। अर्थात् यह न चान्द्रवर्ष है और न सौर, परंतु दोनों वर्षोंके मध्यम परिमाणका यह वर्ष है। यह द्वादश महिनोंका (द्वादशारं चक्रं न हि जराय) बारह आरोंवाला चक्र कदाचित् भी जीर्ण नहीं होता है। यह जैसा पहिले था वैसा ही आज भी चल रहा है, कभी जीर्ण (सनेमि अजरं चक्रं) अथवा क्षीण नहीं होता है। ऐसा यह सामर्थ्यवाला कालचक्र है, और इसमें (विश्वा भुवनानि आतस्थुः) सब भुवन रहे हैं। सभी की आयु इस कालचक्रसे गिनी जाती है। जो ज्ञानी है (अक्षण्वान् पश्यत्, न अन्धः) जिसके आंख उत्तम हैं, वह इस बातको देख सकता है, परंतु जो अन्धा होगा, वह कैसे देख सकेगा ?

यः कविः स आचिकेत, यः ता विजानात्,
सः पितुः पिता असत्। (मं० १५)

" जो कवि है वही यह सब ज्ञान प्राप्त करता है, और जो इस ज्ञानको यथावत् जानता है वह पिताका भी पिता होता है।" अर्थात् उसकी योग्यता बहुत ही बडी होती है। वह मानो मुक्त है। यहां एक आश्चर्य है कि—

स्त्रियः सतीः ताँ उ पुंसः आहुः। (मं० १५)

" कई स्त्रियां होती हुई उनको पुरुष कहा जाता है " ऐसा ही जगतमें व्यवहार हो रहा है। मनुष्योंमें भी कईयोंको पुरुष और कईयोंके स्त्रियां कहा जाता है, परंतु आत्माकी दृष्टिसे सब एक जैसे हैं और शरीरकी दृष्टिसे भी सब एक जैसे ही हैं। अतः न कोई स्त्री है और न कोई पुरुष है। वस्तुतः आत्मा पुरुष है और सब प्रकृति स्त्री है। जीवात्मा तो स्त्रीशरीरमें भी जाता है और पुरुषशरीरमें भी जाता है। यह सत्य सिद्धांत होता हुआ भी जगतमें भ्रमसे स्त्रीपुरुष व्यवहार चल ही रहा है। इस वर्णनके पश्चात् सोलहवे मंत्रमें पुनः कालचक्रका और एक प्रकारसे वर्णन करते हैं-

षड् यमाः एकः एकजः देवजाः ऋषयः। (मं० १६)

" देवतासे उत्पन्न हुए ऋषि हैं, उनमें छः जुडे हैं और एक अकेला है।" छः ऋतु प्रत्येक दो दो मासोंवाला होता है और तेरहवें मासका ऋतु होता है वह अकेला ही एक होता है। ये सब ऋतु सूर्य देवसे उत्पन्न होते हैं और (ऋषयः = रश्मयः) सूर्यकिरणोंके संबन्धसे इनमें उष्णताकी न्यूनाधिकता होती है। अतः इन ऋतुओंको (सप्त) सात प्रकारके हैं ऐसा कहा जाता है। आगे सतरहवें मंत्रमें प्रकृतिरूपी गौका वर्णन है यह अद्भुत गौ अपने सूर्यादि बच्चोंको साथ लेकर कहां रहती, क्या करती, और अपने पदसे बच्चेको किस प्रकार धारण करती है, इत्यादि कहा है वह यद्यपि संदिग्धसा है, तथापि पूर्वस्थान के वर्णनका विचार और मनन करनेसे कुछ बोध हो सकता है।

इसके आगेके मंत्रोंका विवरण सबसे प्रथम हो चुका है। अतः उनका अधिक विचार फिर करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है।

इस प्रकार इस सूक्त की संगति है। आत्मा परमात्मा, काल और विश्वके सब भूत इनका सुन्दर वर्णन यहां है। पाठक इन मन्त्रोंका मनन करें और आध्यात्मिक आशय जानें। इस सूक्तका संबन्ध अगले सूक्तसे है, अतः उनका मनन अब करें-

——:०:——

एक आत्माके अनेक नाम ।

(१०)

(ऋषिः ब्रह्मा । देवता—गौः, विराट् अध्यात्मम्)

१५ (१०)

यद् गा॑य॒त्रे अधि॑ गाय॒त्रमाहि॑तं॒ त्रैष्टु॑भं वा॒ त्रैष्टु॑भान्नि॒रत॑क्षत ।
यद्वा॒ जग॒ज्जग॒त्याहि॑तं प॒दं य इत् तद् वि॒दुस्ते अ॑मृत॒त्वमा॑नशुः ॥ १ ॥
गा॒य॒त्रेण॒ प्रति॑ मिमीते अ॒र्कम॒र्केण॒ साम॒ त्रैष्टु॑भेन वा॒कम् ।
वा॒केन॑ वा॒कं द्वि॒पदा॒ चतु॑ष्पदा॒क्षरे॑ण मिमते स॒प्त वाणीः॑ ॥ २ ॥
जग॑ता॒ सिन्धुं॑ दि॒व्य॑स्कभायद् रथन्त॒रे सूर्यं॒ पर्य॑पश्यत् ।
गा॒य॒त्रस्य॑ स॒मिध॑स्ति॒स्र आ॑हु॒स्ततो॑ म॒ह्ना प्र रि॑रिचे महि॒त्वा ॥ ३ ॥

अर्थ-(यत्) जो (गायत्रे) गायत्रमें (गायत्रं अधि आहितं) गायत्र रखा है। और (त्रैष्टुभात् वा त्रैष्टुभं) त्रैष्टुभसे त्रैष्टुभ की (निरतक्षत) रचना की है, (यत् वा) अथवा जो (जगत् जगति आहितं) जगत् जगतिमें रखा है, (ये इत्) जो (यत् पदं विदुः) इस पदको जानते हैं (ते अमृतत्वं आनशुः) अमरत्वको प्राप्त करते हैं ॥ १ ॥

(गायत्रेण अर्कं प्रतिमिमीते) गायत्री छन्दसे अर्चनीय देवका प्रतिमापन अर्थात् गुणवर्णन करता है, (अर्केण साम) अर्चनीय देवताके द्वारा साम अर्थात् शान्तिको प्राप्त करता है। (त्रैष्टुभेन वाक्) त्रिष्टुप् छन्दसे वाणीका मापन करता है और (वाकेन वाकं) वाणीसे वर्णन करता है। इस प्रकार (द्विपदा चतुष्पदा सप्त वाणीः अक्षरेण मिमते) दो चरणों और चार चरणोंवाले सात छन्दोंको अक्षरोंकी गिनतीसे गिनते हैं ॥ २ ॥

(जगता सिन्धुं दिवि अस्कभायत्) जगति छन्द द्वारा समुद्रको द्युलोकमें थाम रखा है, द्युलोकका समुद्रके समान वर्णन किया है। [रथन्तरे सूर्यं परि अपश्यत्] रथन्तरमें सूर्यका दर्शन किया है, सूर्यका वर्णन है। [गायत्रस्य तिस्रः समिधः आहुः] गायत्री छन्द की तीन समिधायें—तीन पाद—हैं ऐसा कहते हैं। (ततः मह्ना महित्वा प्ररिरिचे) उससे बडी महिमासे संयुक्त होता है ॥ ३ ॥

भवार्थ-गायत्री, त्रिष्टुप् और जगति आदि छंदों में जो महत्वपूर्ण ज्ञान रखा है, उस ज्ञानको जो जानते हैं, वे अमृतत्व-मोक्ष-को प्राप्त होते हैं ॥ १ ॥

गायत्री छन्दसे पूज्य ईश्वरका वर्णन होता है, इसकी उपासनासे शान्ति प्राप्त होती है। त्रिष्टुप् छन्दसे भी उसी वर्णनीय देवका वर्णन होता है और इसी तरह दो चरण और चार चरणोंवाले सब छंदोंसे यही वर्णन होता है। ये सातों छन्द अक्षरोंकी गिनतीसे मापे जाते हैं ॥ २ ॥

जगति छन्दसे उसका वर्णन है कि जिसने इस द्युलोकको आधार दिया है। रथन्तर साम मंत्रसे सबके प्रकाशक सूर्यका वर्णन होता है। गायत्री छन्दमें तीन पाद होते हैं और उस छन्दमें महत्वपूर्ण ज्ञान भरा रखा है ॥ ३ ॥

*

उपं ह्वये सुदुघां धेनुमेतां सुहस्तों गोधुगुत दोहदेनाम् ।
श्रेष्ठं सुवं संविता साविषन्नोऽभीद्धो घर्मस्तदु षु प्र वोचत् ॥ ४ ॥

हिङ्कृण्वती वसुपत्नी वसूनां वत्समिच्छन्ती मनसाभ्यागात् ।
दुहामश्विभ्यां पयो अघ्न्येयं सा वर्धतां महते सौभगाय ॥ ५ ॥

गौरमीमेदभि वत्सं मिषन्तं मूर्धानं हिङ्ङकृणोन्मातवा उ ।
सृक्वाणं घर्ममभि वावशाना मिमाति मायुं पयते पयोभिः ॥ ६ ॥

अयं स शिङ्क्ते येन गौरभीवृता मिमाति मायुं ध्वसनावधि श्रिता ।
सा चित्तिभिर्नि हि चकार मर्त्यान् विद्युद्भवन्ती प्रति वव्रिमौहत ॥ ७ ॥

(सुहस्तः एतां सुदुघां धेनुं उपह्वये) उत्तम हाथवाला मैं इस सुखसे दोहने योग्य धेनुको बुलाता हूं। (उत गोधुक् एनां दोहत्) और गायका दोहन करनेवाला इसका दोहन करे। [सविता श्रेष्ठं सवं नः साविषत्] सबका उत्पन्न करनेवाला सविता यह श्रेष्ठ अन्न हमें देवे। (अभीद्धः घर्मः तत् उ सु प्रवोचत्) प्रदीप्त तेजरूपी दूध यही बता देवे ॥ ४ ॥

(हिंकृण्वती वसूनां वसुपत्नी) हीं हीं करनेवाली ऐश्वर्योंका पालन करनेवाली [मनसा वत्सं इच्छन्ती] मनसे बछडेकी इच्छा करनेवाली (नि आगात्) समीप आगई है। (इयं अघ्न्या अश्विभ्यां पयः दुहां) यह अवध्य गौ दोनों अश्विदेवोंके लिए दूध देवे। (सा महते सौभगाय वर्धतां) और वह बडे सौभाग्य के लिए बढे ॥ ५ ॥

(गौः मिषन्तं वत्सं अभि अमीमेत्) गाय उत्सुक बछडेको चारों ओरसे प्रेम करती है। और (मातवै उ मूर्धानं हिङ्कृणोत्) मानवताके लिए अपने सिरको हिंकारसे युक्त करती है। (सृकाणं घर्मं वावशाना) उत्पादक उष्णताको चाहती हुई [पयोभिः मायुं अभिमिमीते पयते] दूधके साथ प्रकाशको चारों ओर फैलती और साथ साथ दूध भी देती है ॥ ६ ॥

[अयं सः शिङ्क्ते] यही वह शब्द करता है। [येन अभीवृता गौः] जिससे संयुक्त हुई गौ उसीमें [ध्वसनौ अधिश्रिता] प्रलयमें आश्रित होती हुई (मायुं मिमाति) प्रकाशका मापन करती है। [सा चित्तिभिः मर्त्यान् नि चकार] वह चिन्तनशक्तियोंके साथ मनुष्योंको युक्त करती है और [विद्युत् भवन्ती वव्रिं प्रति औहत] बिजलीके समान चमकदार होकर उत्तम रूपको प्राप्त होती है ॥ ७ ॥

भावार्थ- मैं उत्तम स्वच्छ हाथोंसे युक्त होकर इस अमृत-मोक्ष-रूपी दूधको देनेवाली ज्ञानमयी वाणीरूप धेनुकी प्रार्थना करता हूं। जो इस गायका दोहन करना जानता है वही इसका दोहन करे। सबका उत्पादक देव हमें यह ज्ञानरूपी अन्न देवे और इससे प्रकाशमय यज्ञरूपी धर्म हमारे द्वारा सिद्ध होवे ॥ ४ ॥

हिंकारसे युक्त और मनसे शिष्यरूपी वत्सकी कामना करती हुई यह दिव्यज्ञानपूर्ण वेदवाणी रूपी गौ हमारे पास आगयी है। यह अवध्य गौ हमें अमृत जैसा ज्ञानरूपी दूध देवे और हमारा महान् सौभाग्य बढावे ॥ ५ ॥

यह गौ उसी बच्चेको दूध देती है जो बडा उत्सुक है। उसीको यह अनुकूल रहती है। यह यज्ञरूप धर्मको फैलाना चाहती है और जो यज्ञरूप जीवन बनाता है उसीको अपने अमृतरसधाराओंसे पुष्ट करती है ॥ ६ ॥

यही वह एक शब्द है जिससे युक्त हुई यह वाणीरूपी धेनु प्रलयकालमें भी अर्थात् मृत्युके अनंतर भी प्रकाश देती है। यह मननशक्तियोंसे मनुष्योंको युक्त करती है और विद्युत्के समान विशेष प्रकाश देकर मार्ग बताती है ॥ ७ ॥

अनच्छये तुरगातु जीवमेजद् ध्रुवं मध्य आ पस्त्यानाम् ।
जीवो मृतस्य चरति स्वधाभिरमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः ॥ ८ ॥
विधुं दद्राणं सलिलस्य पृष्ठे युवानं सन्तं पलितो जगार ।
देवस्य पश्य काव्यं महित्वाद्या ममार स ह्यः समान ॥ ९ ॥
य ईं चकार न सो अस्य वेद य ईं ददर्श हिरुगिन्नु तस्मात् ।
स मातुर्योना परिवीतो अन्तर्बहुप्रजा निर्ऋतिरा विवेश ॥ १० ॥ (२६)
अपश्यं गोपामनिपद्यमानमा च परा च पथिभिश्चरन्तम् ।
स सध्रीचीः स विषूचीर्वसान आ वरीवर्ति भुवनेष्वन्तः ॥ ११ ॥

अर्थ—[पस्त्यानां मध्ये] लोगोंके बीचमें [ध्रुवं एजत् जीवं] स्थिर चालक जीव [तुरगातु अनत् शये] तीव्र गतिमान प्राणशक्तिवाला होकर रहता है। यह [मृतस्य जीवः] मरे मनुष्य का जीव [अमर्त्यः] स्वयं अमर होता हुआ भी [मर्त्येन सयोनिः] मर्त्य शरीरके साथ समान योनिमें प्रविष्ट होकर [स्व-धाभिः चरति] अपनी धारक शक्तियोंसे चलता है ॥ ८ ॥

[सलिलस्य पृष्ठे] प्रकृतिसमुद्रकी पीठपर [दद्राणं विधुं] गतिमान विधान-कर्म कर्ता [युवानं सन्तं] युवा सत् पदार्थको [पलितः जगार] एक वृद्ध निगलता है। [देवस्य पश्य काव्यं] ईश्वरका यह काव्य देख। (महित्वा) महिमासे जो [ह्यः सं आन] कल प्राण धारण करता था। [सः अद्य ममार] वह आज मरगया ॥ ९ ॥

[यः ईं चकार] जो करता है, [सः अस्य न वेद] वह इसको जानता नहीं। [यः ईं ददर्श] जो देखता है [तस्मात् हिरुग् इत् नु] उसके नीचे ही वह है। (सः मातुः योनौ अन्तः परिवीतः) वह माताकी योनिके अन्दर परिवेष्टित होकर [बहुप्रजा निर्ऋतिः आविवेश] बहुत संतान उत्पन्न करनेवाली इस प्रकृतिमें प्रविष्ट होता है ॥ १० ॥

(गो—पां अनिपद्यमानं) इंद्रियोंका रक्षक पतनको न प्राप्त होनेवाले (पथिभिः आ च परा च चरन्तं) अपने मार्गोंसे पास और दूर जानेवालेको (अपश्यं) मैंने देखा। (सः सध्रीचीः) वह साथ विराजमान है, (सः विषूचीः) वह सर्वत्र है, वह (भुवनेषु अन्तः वसानः) भुवनोंके अन्दर वसता हुआ (आ वरीवर्ति) वारंवार आवर्तन करता है ॥ ११ ॥

भावार्थ- मनुष्योंके शरीरमें एक जीव है, जो स्थिर है तथापि चलानेवाला है यह शीघ्रगति है, और प्राणको भी अपने साथ शरीरमें रखता है। यही जीव इस शरीरमें रहता है। मरे हुए मनुष्यका यह जीव स्वयं अमर है, इसलिए वह अपनी निज शक्तिसे चलता है और दूसरे मर्त्य देहको धारण करनेके लिये किसी योनिमें देह धारण करता है ॥ ८ ॥

इस प्राकृतिक संसारसागरमें यह जीव प्रगति करता है और विशेष कर्म भी करता है। यह जीवात्मा युवा होता हुआ भी यह दूसरे बडे वृद्ध परमात्माके अन्दर प्रविष्ट होता है। यह उस देवकी काव्यमय शक्ति देखने योग्य है। जो जीव कल जीवित होता है वही आज मरता है [और पश्चात् दूसरा शरीर भी धारण करता है] यह सब उस देव की महिमा है ॥ ९ ॥

जो कर्ममार्गी कर्म करता है, वह इस देवके महत्त्वको नहीं जानता। परंतु जो ज्ञानमार्गी इस देवका साक्षात्कार करता है, उसके नीचे अर्थात् उसके अन्दर ही वह देव उसको दीखता है। यह जीव दूसरा शरीर धारण करनेके लिये जब माताके गर्भमें प्रविष्ट होता है, तब बहुत संतान उत्पन्न करनेवाली प्रकृति उसको घेरती है और इस प्रकार उसको नया शरीर मिलता है ॥ १० ॥

यह जीवात्मा इंद्रियोंका रक्षक है और स्वयं पतनशील नहीं है। वह शरीरमें आता है और शरीरसे दूर भी जाता है वह परमात्मा इसके साथ है, सर्वत्र व्याप्त है और सब पदार्थोंमें विराजमान है ॥ ११ ॥

द्यौर्नः पिता जनिता नाभिरत्र बन्धुर्नो माता पृथिवी महीयम् ।
उत्तानयोश्चम्वो३र्योनिरन्तरत्रा पिता दुहितुर्गर्भमाधात् ॥ १२ ॥
पृच्छामि त्वा परमन्तं पृथिव्याः पृच्छामि वृष्णो अश्वस्य रेतः ।
पृच्छामि विश्वस्य भुवनस्य नाभिं पृच्छामि वाचः परमं व्योम ॥१३॥
इयं वेदिः परो अन्तः पृथिव्या अयं सोमो वृष्णो अश्वस्य रेतः ।
अयं यज्ञो विश्वस्य भुवनस्य नाभिर्ब्रह्मायं वाचः परमं व्योम ॥१४॥
न वि जानामि यदिवेदमस्मि निण्यः संनद्धो मनसा चरामि ।
यदा मागन् प्रथमजा ऋतस्यादिद् वाचो अश्नुवे भागमस्याः ॥१५॥

अर्थ- (द्यौः नः पिता जनिता) प्रकाशक देव हमारा रक्षक और उत्पादक है, वही (नाभिः) हमारा मध्य है और (नः बन्धुः) हमारा बन्धु है । तथा (इयं मही पृथिवी माता) यह बडी पृथिवी माता है । (उत्तानयोः चम्वोः योनिः अत्र) ऊपर चौडे मुखवाले इन दो वर्तनोंका मूल उत्पत्तिस्थान यहां ही है । यहां (पिता दुहितुः गर्भं आधात्) पालक दूर स्थित प्रकृतिमें गर्भकी स्थापना करता है ॥ १२ ॥

(पृथिव्याः परं अन्तः त्वा पृच्छामि) पृथ्वीका परला अन्त कौनसा है यह मैं तुझे पूछता हूं । (वृष्णः अश्वस्य रेतः पृच्छामि) बलवान अश्वके वीर्यके विषयमें मैं पूछता हूं । (विश्वस्य भुवनस्य नाभिं पृच्छामि) सब भुवनके केन्द्रके विषयमें पूछता हूं । (वाचः परमं व्योम पृच्छामि) वाणीका परम आकाश अर्थात् उत्पत्तिस्थान पूछता हूं ॥ १३ ॥

(इयं वेदिः पृथिव्याः परः अन्तः) यह वेदी भूमिका परला अन्त भाग है । (अयं सोमः वृष्णः अश्वस्य रेतः) यह सोम बलवान अश्वका वीर्य है । (अयं यज्ञः विश्वस्य भुवनस्य नाभिः) यह यज्ञ सब भुवनोंका मध्य है। और (अयं ब्रह्मा वाचः परमं व्योम) वह ब्रह्मा वाणीका परम स्थान है ॥ १४ ॥

(न विजानामि यत् इव इदं अस्मि) मैं नहीं जानता कि मैं किसके सदृश हूं । (निण्यः संनद्धः मनसा चरामि) अंदर बंधा हुआ मैं मनसे चलता हूं । (यदा ऋतस्य प्रथमजाः मा अगन्) जब सत्यका पहिला प्रवर्तक मेरे समीप आगया, (आत् इत् अस्याः वाचः भागं अश्नुवे) उसी समय इसके वाणीके भागको मैंने प्राप्त किया ॥ १५ ॥

भावार्थ-वह परमात्मा द्यु अर्थात् सूर्यके समान प्रकाशमान है, वही हम सबका पिता, जनक, बन्धु, और केन्द्र है। यह पृथ्वी अर्थात् प्रकृति हमारी बडी माता है । यह पिता इस दुहिता रूपी प्रकृतिमें गर्भका आधान करता है ।जिससे सब सृष्टि उत्पन्न होती है । इन दोनों प्रकृति पुरुषमें सबका उत्पत्ति स्थान है ॥ १२ ॥

इस पृथ्वीका परला अन्तिम भाग कौनसा है ? बलवान् अश्वका वीर्य कौनसा है ? संपूर्ण जगत्का केन्द्र कौनसा है ? और वाणीका परम उत्पत्तिस्थान कौनसा है ? ॥ १३ ॥

यही यज्ञकी वेदी इस भूमिका परला अन्तभाग है । बलवान् अश्वका वीर्य यह सोम है । यज्ञ ही सब जगत् का केन्द्र है और यह ब्रह्मा-आत्मा-ही वाणीका परम उत्पत्तिस्थान है ॥ १४ ॥

यह आत्मा किसके समान है यह विदित नहीं है । यह आत्मा इस शरीरमें बद्ध होकर रहा है परंतु मनसे बडी हलचल करता है। जिस समय सत्यधर्मका पहिला प्रवर्तक परमात्माको प्राप्त होता है, उसी समय इस दिव्य मंत्रकी वाणीका भाव इसको प्राप्त होता है ॥ १५ ॥

अपाङ् प्राङेति स्वधया गृभीतोऽमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः ।
ता शश्वन्ता विषूचीना वियन्ता न्य१न्यं चिक्युर्न नि चिक्युरन्यम् ॥१६॥

सप्तार्धगर्भा भुवनस्य रेतो विष्णोस्तिष्ठन्ति प्रदिशा विधर्मणि ।
ते धीतिभिर्मनसा ते विपश्चितः परिभुवः परि भवन्ति विश्वतः ॥१७॥

ऋचो अक्षरे परमे व्योमिन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः ।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत् तद् विदुस्त इमे समासते ॥१८॥

ऋचः पदं मात्रया कल्पयन्तोऽर्धर्चेन चाक्लृपुर्विश्वमेजत् ।
त्रिपाद् ब्रह्म पुरुरूपं वि तष्टे तेन जीवन्ति प्रदिशश्चतस्रः ॥१९॥

अर्थ— (अमर्त्यः मर्त्येन सयोनिः) अमर आत्मा मरणधर्मवाले शरीरके साथ एक उत्पत्तिस्थानमें प्राप्त होकर (स्वधया गृभीतः अपाङ् प्राङ् एति) अपनी धारणा शक्तिसे युक्त होकर नीचे तथा ऊपर जाता है। [ता शश्वन्ता विषूचीना) वे दोनों शाश्वत रहनेवाले, विविध गतिवाले परंतु (वियन्ता) विरुद्ध गतिवाले हैं उनमेंसे (अन्यं निचिक्युः) एकको जानते हैं और (अन्यं न निचिक्युः) दूसरेको नहीं जानते ॥ १६ ॥

(भुवनस्य रेतः सप्त अर्धगर्भाः) सब भुवनोंका वीर्य सात अर्ध गर्भमें परिणत होकर (विष्णोः प्रदिशा विधर्मणि तिष्ठन्ति) व्यापक देवकी आज्ञामें रहकर विशेष गुणधर्मोंमें ठहरते हैं। (ते धीतिभिः मनसा) वे बुद्धि और मनसे युक्त होकर तथा (ते विपश्चितः परिभुवः) वे ज्ञानी और सर्वत्र उपस्थित होकर (विश्वतः परिभवन्ति) सब ओरसे घेरते हैं ॥ १७ ॥

(परमे व्योमन्) परम आकाशमें उत्पन्न होनेवाले (यस्मिन् ऋचः अक्षरे) जिस मंत्रके अक्षरमें (विश्वे देवाः अधि-निषेदुः) सब देव निवास करते हैं, (यः तत् न वेद) जो यह बात नहीं जानता वह (ऋचा किं करिष्यति) वेद मंत्र लेकर क्या करेगा ! (ये इत् तत् विदुः ते इमे समासते) जो निश्चय से उसको जानते हैं वे ये उत्तम स्थानमें बैठते हैं ॥ १८ ॥

(ऋचः पदं मात्रया कल्पयन्तः) मंत्रके पदको मात्रासे समर्थ बनाते हैं। (अर्धर्चेन एजत् विश्वं चाक्लृपुः) आधे मंत्रसे चलनेवाले जगतको समर्थ करते हैं। इस प्रकार (त्रिपात् ब्रह्म पुरुरूपं वि तष्टे) तीन पादोंवाला ज्ञान बहुतरूपोंसे ठहरा है। (तेन चतस्रः प्रदिशः जीवन्ति) उसीसे चारों दिशाएं जीवित रहती हैं ॥ १९ ॥

भावार्थ- यह आत्मा अमर है। तथापि मरण धर्मवाले शरीरके साथ रहनेके कारण विविध योनियोंमें जन्मता है। यह अपनी धारक शक्तिके साथ ही शरीरमें आता अथवा शरीरसे पृथक् होता है। ये दोनों शाश्वत हैं और गतिमान भी हैं, तथापि उनकी गतियोंमें अन्तर है। उनमेंसे एक को जानते हैं. परंतु दूसरे का ज्ञान नहीं होता है ॥ १६ ॥

सब बने हुए पदार्थोंका मूल बीज सात तत्त्वोंमें है। ये सातों मूल तत्त्व व्यापक परमात्माकी आज्ञामें कार्य करते हैं। ज्ञानी लोग मनसे इस ज्ञानको प्राप्त करके सर्वत्र उपस्थित होनेके समान ज्ञानवान् होते हैं। ॥ १७ ॥

इस बडे आकाशमें शब्द उत्पन्न होता है, उस शब्दसे बननेवाली ऋचाके अक्षरमें अनेक देवताओंका निवास होता है। जो मनुष्य इस बातको नहीं जानता, वह केवल मंत्रको लेकर क्या करेगा ? परंतु जो इस तत्त्वको जानते हैं, वे परम पदमें जाकर विराजमान होते हैं ॥ १८ ॥

सूयवसाद् भगवती हि भूया अथो वयं भगवन्तः स्याम।
अद्धि तृणमघ्न्ये विश्वदानीं पिब शुद्धमुदकमाचरन्ती ॥ २० ॥ (२७)
गौरिन्मिमाय सलिलानि तक्षत्येकपदी द्विपदी सा चतुष्पदी।
अष्टापदी नवपदी बभूवुषी सहस्राक्षरा भुवनस्य पङ्क्तिस्तस्याः समुद्रा
अधि वि क्षरन्ति ॥ २१ ॥
कृष्णं नियानं हरयः सुपर्णा अपो वसाना दिवमुत्पतन्ति।
त आववृत्रन्त्सदनादृतस्यादिद् घृतेन पृथिवीं व्यूदुः ॥ २२ ॥
अपादेति प्रथमा पद्वतीनां कस्तद् वां मित्रावरुणा चिकेत।
गर्भो भारं भरत्या चिदस्या ऋतं पिपर्त्यनृतं नि पाति ॥२३॥

अर्थ-हे (अघ्न्ये) न मारने योग्य गौ! तू [सु-यवस-अद् भगवती हि भूयाः] उत्तम घास खानेवाली भाग्यशालिनी हो। [अथा वयं भगवन्तः स्याम] और हम भाग्यवान होंगे। [विश्वदानीं तृणं अद्धि] सर्वदा तृण भक्षण कर और [आचरन्ती शुद्धं उदकं पिब] भ्रमण करती हुई शुद्ध जल पी ॥ २० ॥

(गौः इत् सलिलानि तक्षती) गौ निश्चयसे जलोंको हिलाती हुई (मिमाय) शब्द करती है। (सा एक-पदी द्विपदी चतुष्पदी) वह एक पादवाली, दो पादवाली, चार पादवाली, (अष्टापदी नवपदी) आठ पादवाली, नौ पादवाली (बभूवुषी) बहुत होनेकी इच्छा करनेवाली [सहस्र अक्षरा] हजारों अक्षरोंवाली[भुवनस्य पंक्तिः] भुवनकी पंक्ति है। (तस्याः समुद्राः अधि विक्षरन्ति) उससे सब समुद्रके रस बहते हैं ॥ २१ ॥

[अपः वसानाः] जलको अपने साथ लेते हुए [सुपर्णाः हरयः] उत्तम गतिशील सूर्यकिरण, (कृष्णं नियानं दिवं] सबका आकर्षण करनेवाले सबके यान रूप सूर्यको (उत्पतंति) चढते हैं। (ते ऋतस्य सदनात्) वे जलके स्थानरूप अन्तरिक्षसे (आववृत्रन्) नीचे आते हैं (आत् इत् घृतेन पृथिवीं वि ऊदुः) और जलसे भूमिको भिगाते हैं ॥ २२ ॥

(पद्वतीनां प्रथमा अपात् एति) पांववाली प्राकृत मूर्तियोंमें सबसे प्रथम स्थानमें रहनेवाली शक्ति पावरहित है। हे मित्र और वरुणो! [वां कः तत् चिकेत] तुम दोनोंमेंसे कौन उसको जानता है? (गर्भः अस्याः भारं आभरति चित्). गर्भमें रहनेवाला इस प्रकृति का भार उठाता है। वही [ऋतं पिपर्ति] सत्यकी पूर्णता करता है और [अनृतं नि पाति] असत्यका नाश करता है ॥ २३ ॥

भावार्थ- मंत्रोंके पाद मात्राओंकी संख्यासे गिनते हैं। इस मंत्रके आधे भागसे भी संपूर्ण चेतन और विश्व सामर्थ्यवान् बनता है। यह त्रिपाद् ब्रह्म अनेक रूपोंमें ठहरा है और इसीसे चारों दिशाउपदिशाओंका जीवन होता है ॥ १९ ॥

हे अवध्य वाक्रूपी गौ! तू अर्थात् तुम्हारा प्रयुक्तकर्ता वक्ता उत्तम सात्विक अन्नसे उत्तम भाग्ययुक्त होवे और तेरे भाग्यसे हम भी भाग्ययुक्त बनें। सर्वदा शुद्ध अन्न और जलका सेवन कर ॥ २० ॥

यह वाक्रूपी गौ अर्थात् काव्यमयी वाक् एक, दो,चार,आठ अथवा नौ पदोंवाले छन्दोंमें विभक्त हुई है यह अनेक प्रकारकी है और हजार अक्षरोंतक इसकी मर्यादा है। यह मानो सब भुवनोंको पूर्ण करनेवाली है और इससे विविध रस स्रवते हैं ॥ २१ ॥

सूर्यकिरण अपने साथ जलको उठाते हैं वह जल उनके साथ ऊपर मेघमंडलमें पहुंचता है, वहांसे फिर वृष्टिद्वारा वह नीचे आता है और भूमिको भिगाता है ॥ २२ ॥

विराड् वाग् विराट् पृथिवी विराडन्तरिक्षं विराट् प्रजापतिः ।
विराण्मृत्युः साध्यानामधिराजो बभूव तस्य भूतं भव्यं वशे
स मे भूतं भव्यं वशे कृणोतु ॥ २४ ॥

शकमयं धूममारादपश्यं विषूवता पर एनावरेण ।
उक्षाणं पृश्निमपचन्त वीरास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् ॥ २५ ॥

त्रयः केशिन ऋतुथा वि चक्षते संवत्सरे वपत एक एषाम् ।
विश्वमन्यो अभिचष्टे शचीभिर्ध्राजिरेकस्य ददृशे न रूपम् ॥२६॥

चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः ।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति ॥२७॥

अर्थ-विराट् वाणी, पृथिवी, अन्तरिक्ष, प्रजापति और मृत्यु है । वही विराट् [साध्यानां अधिराजः बभूव]साध्योंका अधिराजा है । (तस्य वशे भूतं भव्यं) उसके आधीन भूत और भविष्य है । (सः मे वशे भूतं भव्यं कृणोतु) वह मेरे आधीन भूत और भविष्य करे ॥ २४ ॥

(विषूवता परः आरात् अपरेण) अनेक रूपोंसे बहुत दूर और पास भी (एना शकमयं धूमं अपश्यं) इस शक्ति- वाले धूमको मैंने देखा। वहां (वीराः पृश्निं उक्षाणं अपचन्त) वीर छोटे वृक्षाको परिपक्व बना रहे थे । [तानि धर्माणि प्रथमानि आसन्] वे धर्म प्रथम थे ॥ २५ ॥

(त्रयः केशिनः ऋतुथा विचक्षते) तीन किरणवाले पदार्थ ऋतुके अनुसार दिखाई देते हैं। [एषां एकः संवत्सरे वपते) इनमें से एक वर्षमें एकवार उपजता है। [अन्यः शचीभिः विश्वं अभिचष्टे] दूसरा शक्तियोंसे विश्वको प्रकाशित करता है (एकस्य ध्राजिः ददृशे) एककी गति दीखती है परंतु उसका [रूपं न] रूप नहीं- दीखता ॥ २६ ॥

[वाक् चत्वारि पदानि परिमिता] वाणीके चार स्थान परिमित हुए हैं। (ये मनीषिणः ब्राह्मणाः) जो ज्ञानी ब्राह्मण हैं वे [तानि विदुः] उनको जानते हैं। उनमेंसे (त्रीणि गुहा निहिता) तीन गुप्त स्थानमें रखे हैं वे [न इंग- यन्ति] नहीं प्रकट होते । [मनुष्याः वाचः तुरीयं वदन्ति] मनुष्य वाणीके चतुर्थ रूपको बोलते हैं ॥ २७ ॥

भावार्थ-पांववाले शरीरोंका चालक पांवरहित आत्मा है। कौन इस चालक आत्माको जानता है ? वह चालक आत्मा इस- स्थूल का सब भार वहन करता है और सत्यकी रक्षा करके असत्यका नाश करता है ॥ २३ ॥

इस विराट् आत्माका रूप वाणी, भूमि, अन्तरिक्ष, प्रजापालक, और प्रजासंहारक मृत्यु भी है । वह सबका राजाधिराज है और इसीके आधीन सब भूत भविष्य वर्तमान है। वह मेरे आधीन सब भूत भविष्य वर्तमानको करे ॥ २४ ॥

पास और बहुत दूर भी मैंने धूवेंको देखा और उससे अग्निका अनुमान किया। उसी अग्निपर वीर लोग छोटे वृक्षाको परि- पक्व बनाते हैं। ये यज्ञकर्म सबसे प्रारंभमें होते थे ॥ २५ ॥

तीन देव किरणोंवाले अर्थात् प्रकाशमान हैं । इनमेंसे एक वर्षमें एक समय प्रकाशता है, दूसरा अपनी निज शक्तियोंसे सब विश्वको प्रकाशित करता है और तीसरेकी केवल गति प्रतीत होती है परंतु उसका रूप नहीं दिखाई देता ॥ २६ ॥

वाणीके चार स्थान हैं इनको मननशील ब्रह्मज्ञानी जानते हैं, इनमेंसे तीन स्थान हृदयमें गुप्त हैं और जो मनुष्य बोलते हैं वह चतुर्थ स्थानमें उत्पन्न व्यक्त वाणी है ॥ २७ ॥

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् ।
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥ २८ ॥ (२८)

॥ इति पञ्चमोऽनुवाकः ॥

॥ नवमं काण्डं समाप्तम् ॥

अर्थ- [एकं सत्] एक सत् वस्तु है उसीका [विप्राः बहुधा वदन्ति] ज्ञानी लोग अनेक प्रकार वर्णन करते हैं। उसी एकको इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, दिव्य सुपर्ण, गरुत्मान्, यम और मातरिश्वा [अथो आहुः] कहते हैं ॥ २८ ॥

भावार्थ- सत्य तत्त्व केवल एक ही है, परंतु ज्ञानी लोग उसी एक सत्य तत्त्वका वर्णन गुणबोधक अनेक नामोंसे करते हैं। उसी एक सत्य तत्त्वको वे इन्द्र, मित्र, वरुण आदि भिन्न भिन्न नाम देते हैं ॥ २८ ॥

छन्दोंका महत्त्व ।

वाणी और गोरक्षण ।

गायत्री, त्रिष्टुप्, जगती आदि सात छंद मुख्य हैं। इनके भेद और बहुत ही हैं। इन सात छन्दोंमें वेदका ज्ञान भरा रखा है, इसीलिए कहा है कि अज्ञानका आच्छादन करके ज्ञानका प्रकाशन करनेवाले ये छन्द हैं। इन छन्दोंमें किस प्रकारका ज्ञान है इस विषयमें थोडासा विवरण प्रथम मंत्रमें है। उसमें कहा है-

(गायत्रे गाय-त्रे) गायत्री छन्दमें (गाय) प्राणोंकी (त्रं) रक्षा करनेका ज्ञान है। जो लोग गायत्री छंदवाले मंत्रोंका उत्तम अध्ययन करेंगे, वे प्राणरक्षा करनेकी विद्या उत्तम रीतिसे जान सकते हैं। (त्रैष्टुभात्) त्रिष्टुप् छन्दमें (त्रै-ष्टुभं) तीनोंका अर्थात् प्रकृति, जीवात्मा और परमात्माका गुणवर्णन है, इस कारण जो लोग त्रिष्टुप् छन्दोंवाले मंत्रोंका उत्तम अध्ययन करेंगे उनको प्रकृतिविद्या आत्मविद्या और ब्रह्मविद्याका ज्ञान हो सकता है और वे प्रकृतिविद्यासे ऐहिक सुख और आत्मविद्यासे अमृतत्वकी प्राप्ति कर सकते हैं। इस प्रकार यह वेदमंत्रोंकी विद्या इहपरलोकके सुखका साधन होती है।

(जगति जगत्) जगति छन्दमें जगत् संबंधी अद्भुत ज्ञान भरा है। जो ज्ञान प्राप्त करनेसे मनुष्य इस जगत्में विजयी हो सकता है। इसीलिए इसी मंत्रमें आगे कहा है कि—

य इत् तद् विदुः ते अमृतत्वं आनशुः (मं० १)

" जो ज्ञानी इस ज्ञानको-इस वैदिक ज्ञानको-यथावत् जानते हैं, वे अमृतको अर्थात् मोक्षको प्राप्त करते हैं।" उक्त प्रकार छंदोविद्याको जाननेवाले मोक्षके अधिकारी होते हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि वे केवल मोक्षके ही अधिकारी हैं और इस जगत् की उन्नतिको वे नहीं प्राप्त कर सकते, प्रत्युत वे जागतिक उन्नतिको जैसे प्राप्त होते हैं उसी प्रकार आत्मिक उन्नतिको भी वे प्राप्त होते हैं। जो मोक्षके अथवा अमृतत्वके अधिकारी होते हैं वे सामान्य भौतिक उन्नतिको प्राप्त कर सकते हैं यह कहनेकी भी कोई आवश्यकता नहीं। क्योंकि श्रीकृष्ण भगवान्, राजा जनक, श्रीरामचन्द्र आदि मुक्त पुरुष इह लोकका व्यवहार करनेमें भी उत्तम दक्ष थे और उन्होंने ऐहिक व्यवहार उत्तम तरह किये थे। और ये तो अमृतत्वके अधिकारी थे इस विषयमें किसीको भी संदेह नहीं है। इस प्रकार इस वेदमंत्रोंके ज्ञानको प्राप्त करनेवाले मनुष्य इह परलोकमें परमोच्च गतिको प्राप्त कर सकते हैं। प्रत्येक मनुष्य जो इस भूलोकमें देहधारण करके आया है वह अमरत्व प्राप्त करनेके लिये ही है। इसीलिए कहा जाता है कि वेदका ज्ञान प्रत्येक मनुष्यके लिये उन्नतिका मार्ग बतानेमें समर्थ है।

(गायत्रेण अर्कं प्रतिमिमीते) गायत्री छन्दसे अर्चनीय देवकी शब्दरूपी प्रतिमा निर्माण की है। प्रत्येक मनुष्यको जिस एक अद्वितीय देवकी अर्चा करनी अत्यंत आवश्यक है, उस देवकी वस्तुतः प्रतिमा तो नहीं है, परंतु उसकी शब्दमयी प्रतिमा 'गायत्री छंद' है। इस कारण पाठक यदि किसी स्थानपर परमात्म देवकी प्रतिमा देख सकते हैं तो वे इस छन्दमें ही देख सकते हैं।

(अर्केण साम) इस अर्चनीय अर्थात् पूजनीय देवकी सहायतासे ' साम ' अर्थात् शान्ति प्राप्त होती है । इस शान्तिका ही दूसरा नाम ' अमृत ' है । अमृत और साम एक ही अवस्थाके वाचक शब्द हैं अस्तु । इसी तरह त्रिष्टुप् छन्दसे भी वर्णनीय देवता का वर्णन किया जाता है। त्रिष्टुभ छन्दकी वाणी उसीका वर्णन करती है । पूर्व मंत्रमें कहा है कि त्रिष्टुप् छन्दसे प्रकृति,जीव और परमात्माका वर्णन होता है, वही बात यहां इस मंत्रमें अनुसंधेय है । इस प्रकार-

सात छन्द ।

द्विपदा चतुष्पदा सप्तवाणीः अक्षरेण मिमते । (मं० २)

" दो चरण और चार चरणोंवाले जो सात छन्द हैं, उनके प्रत्येक चरणमें अक्षर संख्याका परिमाण अक्षरोंकी संख्याकी गिनती करनेसे ही होता है ।" जैसा अनुष्टुभमें चरणमें आठ अक्षर, इसी प्रकार अन्यान्य छन्दोंके पादोंमें अन्य संख्या अक्षरोंकी होती है । इस प्रकार अक्षर संख्याकी न्यूनाधिकतासे ये छन्द होते हैं ।

(गायत्रस्य तिस्रः समिधः) गायत्री छन्दके पाद तीन हैं । प्रत्येकमें अक्षर आठ होते हैं । जगती छंदसे जगतका वर्णन है यह बात प्रथम मंत्रमें कही है, वही फिर इस तृतीय मंत्रमें दुहराते हैं और कहते हैं कि-(जगता दिवि सिंधुं अस्कभायत्) जगति छन्दसे मानो द्युलोकमें महासागरको फैला रखा है । अर्थात् जैसा महासागरका वर्णन होता है वैसा ही द्युलोकका वर्णन किया है । इस महासागर में ये नक्षत्र छोटे छोटे द्वीपोंके समान हैं इत्यादि आलंकारिक वर्णन यहां समझना उचित है ।

इसी प्रकार (रथंतरेण सूर्यं पर्यपश्यत्) रथन्तर से सूर्यका ज्ञान प्रत्यक्ष होता है । क्योंकि उसमें यह वर्णन अतिस्पष्ट है । इस ज्ञानकी (मह्ना महित्वा) महत्ता क्या कथन करनी है, यह ज्ञान तो मनुष्यको अन्तिम मंजलतक पहुंचा देता है । यह ज्ञान तो मनुष्यको इस जगत्में और उस स्वर्गमें और अन्तमें मोक्षतक उत्तम मार्गदर्शक होता है । अतः यही वेदमंत्रोंका ज्ञान सबसे अधिक महत्वपूर्ण है ।

सुहस्त गोरक्षक ।

जिस प्रकार (सुहस्तः सुदुघां धेनुं उपह्वये) उत्तम हाथवाला उत्तम दोहन करने योग्य धेनुको पुकारता है, उसी प्रकार मनुष्य इस वेदवाणीरूपी कामधेनुको अपने पास बुलावे । गायका दूध निचोडनेवाला 'सुहस्त' अर्थात् उत्तम प्रेमपूर्ण हाथवाला होना चाहिये । 'दुर्हस्त' नहीं होना चाहिये । दुर्हस्त मनुष्य वह है कि जो गौको कष्ट पहुंचाता है, ऐसा दुर्हस्त मनुष्य कभी गायको अपने पास न बुलावे । परंतु जो हाथ सदा गायकी सेवाके लिये तत्पर रहता है, गायका प्रिय करनेमें जो दक्ष है, वही मनुष्य गायको बुलावे । गौ अवध्य होनेसे गायके साथ किसी प्रकार भी 'दुर्हस्त'का संबंध नहीं आना चाहिये । 'सुहस्त' होकर ही मनुष्य गायके पास आवे, यह वेदका उपदेश स्पष्टतासे कहता है कि 'गोरक्षण' करना मनुष्यका वेदोक्त धर्म है । जो प्रेमसे गोपालन करता है वही सच्चा वैदिकधर्मी है, क्योंकि गौ' नाम जैसा गायका वाचक है वैसा ही वह 'वेदवाणी' का भी वाचक है । अतः 'गोरक्षा' का अर्थ ' गायकी रक्षा' और ' वेदज्ञानकी रक्षा ' है इसलिये कहा जाता है कि गोरक्षक ही वैदिक धर्मी हो सकता है ।

(गोधुक् एनां दोहत) गायका दोहन करनेवाला इस गौका और इस वेदवाणीका दोहन करें । गौका दोहन करनेसे अमृत रूपी दूध प्राप्त होता है और वेदवाणीरूपी वाग्गौका दोहन करनेसे अमृत जैसा ज्ञान प्राप्त होता है । गायके दूधसे जैसा यज्ञ होता है, वैसा ही वेदज्ञानसे भी होता है । यही यज्ञ करनेके दोनों साधन हैं । इसीलिये कहा है कि (तत् घर्मः सुप्र-वोचत्) यज्ञका ही ये मंत्र वर्णन करते हैं । वेदवाणीरूपी गौ अपने ज्ञानसे यज्ञ का मार्ग बता रही है और यह गौ अपने दूध से यज्ञ करती है। इस तरह दोनों गौवोंकी समानता है ।

(वसूनां वसुपत्नी) यह गौ-वेदवाणी और गोमाता-वसुओंकी पालनेहारी है । वसु नाम ऐश्वर्यका वाचक है। सब प्रकारके ऐश्वर्य ज्ञानसे और बलसे ही प्राप्त होते हैं । वेदवाणीरूपी गौसे ज्ञान मिलता और गोमातासे पोषक अन्न मिलता है । इस प्रकार ये दोनों गौवें ऐश्वर्योंका प्रदान करती हैं । जिस प्रकार यह गोमाता अपने (वत्सं इच्छन्ती) बछडेकी इच्छा करती हुई घरमें आती है, उसी प्रकार यह वेदवाणी भी इस भूमंडलपर इसलिए अवतीर्ण होगई है कि ये अनन्त मानवजीव इस ज्ञानामृतका पान

*

करें और अमर बनें। इस प्रकार दोनों गौवोंमें अपने बछडोंके पालन पोषणकी इच्छा है। ये गौवें (महते सौभगाय वर्धतां) हमारा बडा सौभाग्य बढावें। ये तो बढाती ही हैं। परंतु मनुष्योंको उचित है कि वे उन गौवोंके पास जावें और उनका अमृत रस पीवें और पुष्ट होवें। ये गौवें तो हमारा कल्याण करनेके लिए तैयार हैं, परंतु मनुष्य ही ऐसे मंदमती हैं, कि वे गौका दूध नहीं पीते और भैंसके पीछे लगते हैं, इसी तरह वेदवाणीकी शरण नहीं लेते, प्रत्युत किसी अन्य मतवाले ग्रंथोंकी शरणमें जाते हैं और भ्रममें फंसते हैं। अतः यहां उपदेश सब मनुष्योंको लेना चाहिये कि जो मनुष्य उन्नति चाहता है वह गौका दूध पीवे और वेदका उपदेश ग्रहण करे।

गाय भी (गौः मिषन्तं वत्सं अमीमेत्) अपने उत्सुक बछडेपर ही प्रेम कर सकती है। यदि प्रेमसे बच्चा माताके पास न गया अथवा कुछ पेटकी अस्वस्थतासे वह दूध न पीता रहा, तो माता क्या करेगी? इसलिये बच्चेमें उत्सुकता चाहिये। जिस बच्चोंका पेट ठीक है, भूख अच्छी लगती है और जिसकी पाचनशक्ति ठीक है उसी बच्चोंको माताके दूधसे लाभ होता है। इसी प्रकार वेदवाणीरूपी गौभी उत्सुक शिष्यको ही लाभ पहुंचा सकती है। जो मनुष्य वेद न पढे, पढनेपर उसके समझनेका कष्ट न उठावे, समझनेपर अनुष्ठान न करे, अनुष्ठान करनेके समय तत्पर न होवे, उसको वेदवाणीरूपी गौसे क्या लाभ होगा। इस प्रकार मुमुक्षु होना भी आवश्यक है। यह गौ (पयोभिः मायुं अभिमिमीते) अपने दूधके साथ प्रकाशको फैलाती है, यह बात स्पष्ट है क्योंकि सबेरे गोदोहन होते ही सूर्योदय होता है और विश्वमें सर्वत्र प्रकाश ही प्रकाश होता है। वेदवाणीरूपी गौभी अपना ज्ञानामृत देती है और ज्ञानका ही प्रकाश उपासकके मनमें फैलाती है। इस प्रकार दोनों स्थानमें दूधको देना और प्रकाशको फैलाना समान है।

गौकी सहायता।

यह गौ (ध्वसनौ अधिश्रिता) विनाशके समय आश्रय करने योग्य है। रोग क्षीणता अपचन आदिके समय गायका दूध ही अमृतके समान है। रोगी होनेके समय अथवा बालक होनेके समय भी गायका दूध ही लाभप्रद है। इसी तरह उदासी होनेसे जगत्‌का नाश होनेके पश्चात् जो मोक्षमार्गका मार्ग आक्रमण करना है, उस समय वेदरूपी गौ ही आश्रय की जाती है। वहां वेदके मंत्र ही (मायुं मिमाति) मार्गमें दीप जैसे सहायक होते हैं। (सा चित्तिभिः मर्त्यान् निचकार) वह गौ मनुष्योंमें चिन्तन मनन शक्तियोंसे सहायक होती है। अर्थात् गायके दूधसे मनुष्योंकी बुद्धि तीव्र और सूक्ष्म होती है और मनुष्य बुद्धिमान होता है। वेद रूपी गौसे भी मनुष्य मनन कर सकता है। मनन शक्ति बढानेके कारण ही छन्दको मंत्र कहा जाता है। इस प्रकार दोनों स्थानोंमें गौ मनन शक्तियोंसे मनुष्यकी साथ करती है। (विद्युत् भवन्ती) वह बिजली जैसी होती है। जिस प्रकार बिजली वेग बढाती है, उसी प्रकार गौके दूधसे भी मनुष्यमें फूर्ती आती है और वेदज्ञानसे बुद्धिकी तीव्रता बढती है। विद्युत्‌के समान प्रकाश किंवा तेज बढानेका कार्य दोनों गौवोंसे होता है।

यहांतक सात मंत्रोंमें गौ और वेदवाणीका एक जैसा वर्णन किया है और आगे २० और २१ इन दो मंत्रोंमें ऐसा ही वर्णन है। अतः विषय सादृश्यके कारण वे दो मंत्र यहां देखते हैं—

यह गौ (सु—यवस—अद्) उत्तम जौ खानेवाली होनेसे (भगवती भूयाः) भाग्यवानी होती है। यदि वह अन्यान्य पदार्थ खाने लगी तो उसका दूध वैसा हितकर नहीं होता। वेदवाणीरूपी गौके पक्षमें भी जौ भक्षण करनेसे भी वर्णोच्चार उत्तम शुद्ध होता है। यहां भी देखा गया है कि जौ और चावल खानेवाले वर्णोच्चारण ठीक कर सकते हैं और उत्तम सूक्ष्म कुशाग्र बुद्धिवाले भी होते हैं। इसी रीतिसे हम—

अथा वयं भगवन्तः स्याम। (मं ३०)

" इससे हम भी भाग्यवान् बनें। " अर्थात् हम भी जौका अन्न खाकर बुद्धिमान बनें और गौ भी जौका भक्षण करके उत्तम दूध देनेवाली हो। जौ का घास गौ खाय और मनुष्य जौका आटा अर्थात् सत्तू खावें। श्रावणी उत्सवके समय सत्तु भक्षण आवश्यक कहा है और सूचित किया है कि यह शुद्ध और सात्विक अन्न है। वेदमें भी (सक्तुमिव तितउना पुनन्तः ऋ० १० । ७१ । २) इत्यादि मंत्रोंमें सत्तुका अन्न ही निर्दिष्ट है। इससे इस अन्नका महत्व स्पष्ट हो जाता है। गौ जौका घास

(तृणं आदि) खावे और (शुद्धं उदकं पिब) शुद्ध निर्मल जल पीवे। मनुष्यको भी शुद्ध वस्तु खाना और छाना हुआ वस्त्रपूत जल पीना योग्य है। इस प्रकार गौ और वाणीका एक ही पथ्य है। मनुष्यका खानपान सात्विक होनेसे उसकी वाणी पवित्र होती है, यह यहां तात्पर्य है। मनुष्य जिस गौका दूध पीते हैं वह गौ भी उक्त पदार्थ ही खावे और अन्य अमेध्य पदार्थोंका भक्षण न करे। इस विचारसे पता लग सकता है कि बाजारोंमें जो दूध प्राप्त होता है वह दूध अमृत नहीं है, प्रत्युत घरमें गौ पाली जाय, उसको मेध्य पदार्थ खिलाये जाय और शुद्ध उदक पिलाया जाय, तब उसका दूध ' अमृत ' पदवीको प्राप्त हो सकता है। वेद जिस प्रकार गोरक्षण करना चाहता है वह विधि यह है। पाठक विचारें और समझें कि वेदमें गोरक्षणका विधि कैसा है।

आगेके मंत्रमें (गौ सलिलानि तक्षति) गौ जलोंको हिलाती है ऐसा कहा है,गौ शुद्ध जलमें प्रविष्ट होनेसे जल हिलने लगता है यह शुद्ध जल गौ पीती है और तृप्त होती है। यह सामान्य वर्णन करके यह गौ (एकपदी, द्विपदी, चतुष्पदी, अष्टापदी, नवपदी सहस्राक्षरा) एक दो चार आठ नौ पाववली है और सहस्र अक्षरोंसे युक्त है ऐसा जो कहा है वह स्पष्टतया वेदवाणी का ही केवल वर्णन है। वेदके छंद एक चरणवाले, दो चरणोंवाले, आठ चरणोंवाले नौ चरणोंवाले और सहस्र अक्षरोंवाले हैं। क्योंकि गाय सदा चतुष्पाद अर्थात् चार चरणोंवाली ही होती है, और कभी आठ नौ पांववाली नहीं होती। चरण और पाद ये नाम मंत्रोंके भागोंके हैं। इसलिये यह मंत्रभाग वेदवाणी रूपी गौका ही वर्णन कर रहा है। यह वेदवाणी रूपी गौ (सहस्र-अक्षरा) हजारों अक्षय अमृत धाराओंको प्रदान करती है और (भुवनस्य पंक्तिः) सब भुवनोंको पूर्णतया पावन करती है, और (तस्याः समुद्राः अधि विक्षरन्ति)इससे समुद्रके समान रसप्रवाह पर्याप्त प्रमाणमें लोगोंको प्राप्त होते हैं। इसलिये मनुष्यों को उचित है कि वे इस वेदवाणी रूपी गौका ज्ञानामृत प्राशन करें और मोक्षमार्गपर चलकर अमरत्व प्राप्त करें।

यहांतक गौके वर्णनके मिषसे— अर्थात् गोरक्षणके मिषसे वेदज्ञानका महत्त्व वर्णन किया है। आगे यह ज्ञान मनुष्यको उन्नतिके पथमें चलानेमें किस तरह सहायक होता है यह देखिए-

जीवात्मा।

प्राणियोंके शरीरमें जीवात्मा है और वही यहांका जीवनका कार्य करता है इस विषयमें अष्टममंत्रका विधान देखिए—

पस्त्यानां मध्ये ध्रुवं एजत् जीवं तुरगातु अनत् शये। (मं० ८)

" प्राणियोंके शरीरमें जीवात्मा है अर्थात् स्थिर,चालक,वेगवान, प्राणको चलानेवाला है और वह इस शरीरमें रहता है।" यह शरीरमें शयन करनेवाले जीवात्माका वर्णन है। " पुरुष " शब्दके अर्थका " पुरि शेते इति पुरुषः " शरीररूपी नगरीमें शयन करता है इसलिए इस आत्माको ' पुरुष ' (पुरिशय) कहते हैं ऐसा कहा है वही अर्थ यहां है। इस जीवात्माके विशेषण " ध्रुव, एजत्, जीव,तुरगातु,अनत्"ये विचार करने योग्य हैं। ये विशेषण अन्यत्र भी आगये हैं। जबतक शरीरमें यह जीवात्मा रहता है तबतक उक्त कार्य शरीरमें दिखाई देते हैं। यह शरीरसे भिन्न है अतः शरीर क्षीण और निकम्मा होनेपर शरीरको वह छोड देता है इस विषयमें इसी मंत्रमें कहा है—

मृतस्य जीवः अमर्त्यः स्वधाभिः चरति मर्त्येन सयोनिः (मं० ८)

अमर्त्यः मर्त्येन सयोनिः अपाङ् प्राङ् एति। (मं० १५)

"मृत मनुष्यका जीव वास्तविक रीतिसे अमर है,वह अपनी निज शक्तियोंसे कार्य करता है और इस देहके छोड देनेके बाद दूसरे मर्त्य देहके साथ संयुक्त होता है।"मनुष्यदेह मरनेवाला है,परंतु उसका आत्मा अमर है,अर्थात् देह भिन्न है और आत्मा भिन्न है। इन दो परस्पर भिन्न पदार्थोंका संयोग किसी कारण वश होगया है। इसी संबंधके कारणका विचार करना इस तत्त्वज्ञान-का मुख्य प्रयोजन है। (मृतस्य जीवः अमर्त्यः) मरे हुए प्राणीका जीवात्मा अमर है, यह महासिद्धान्त सदा स्मरण रखना चाहिये। यदि जीवात्मा अमर है तो वह देहप्राप्तिके पूर्व और देहपातके पश्चात् भी रहेगा। देहके मरनेसे न मरेगा और देहके जन्मसे न जन्मेगा। यह जीव अपनी निजशक्तियोंसे रहता है। इसकी यह (स्व-धा) निज शक्ति है अतः यह सदा इसके साथ रहती है और कभी दूर नहीं होती। परंतु शरीरकी शक्ति अन्नादि पदार्थों पर अवलंबित है। इसलिये शरीरकी शक्तियोंको 'स्वधा' नहीं कहते। आत्माकी शक्तिका नाम 'स्वधा' है क्योंकि किसी बाह्य कारणपर यह अवलंबित नहीं है। शरीर मिला या न-

मिला तो भी वह इसके साथ एक जैसी रहती है । पूर्व शरीर छोडनेपर और दूसरा शरीर प्राप्त होनेतक जैसा आत्मा अपनी निज शक्तियोंके साथ विचरता है, उसी प्रकार शरीरमें आनेपर भी उन्ही शक्तियोंको शरीरमें नियुक्त करके कार्य लेता है। यहां अमर होता हुआ भी (मर्त्येन सयोनिः) मर्त्य शरीरके साथ समान योनिमें आता है। अर्थात् जिस योनिमें जिस जातीके प्राणीमें आत्मा जाता है उस जातिकी योनीमें जाकर उस शरीरको प्राप्त होता है । इस मृत्युलोकका जीवन क्षणभंगुर होता है, क्योंकि शरीर कितनी भी रक्षा करनेपर किसी न किसी समय मर ही जायगा, अतः कहा है—

यः सं आन, सः अद्य ममार । (मं० ९)

" जो कल उत्तम प्रकार जीवित था, वह आज मर जाता है । " आज सबेरे जो जीवित होता है वह शामके समय मर जाता है । इस प्रकार पिता,माता, पुत्र, भाई आदि मर रहे हैं, यह देखकर अपनेको भी किसी न किसी समय मरना अवश्य है ऐसा प्रतीत होता है । यद्यपि यह अपना शरीर मरेगा, तथापि इस शरीरका अधिष्ठाता कदापि मरनेवाला नहीं है, यह अमर है, यह न कभी बाल होता है, और न वृद्ध । यह सदा एक अवस्थामें रहता है इसीलिये इसको (युवानं सन्तं) युवा है ऐसा कहते हैं । इस जीवात्माको युवा कहा जाय, तो परमात्माको वृद्ध किंवा पुराण पुरुष कहना योग्य है। इसीका नाम इस मंत्रमें " पलित " अर्थात् श्वेतबाल हुआ वृद्ध कहा है । यह पलित पूर्वोक्त युवाको निगल जाता है । परमात्मा सर्वव्यापक है इसलिये इस एकदेशीय जीवात्माको चारों ओरसे घेरता है इसलिये कहा जाता है कि वह परमात्मा इस जीवात्माको निगल जाता है, अपने पेटमें रखता है । (युवानं सन्तं पलितः जगार) तरुण को वृद्ध निगल जाता है, इस विधानसे दोनोंके आकारका प्रमाण स्पष्ट होता है । तरुण जीवात्माको वृद्ध परमात्मा निगल जाता है, अतः वह वृद्ध तरुणसे कई गुणा बडा है यह बात स्पष्ट है ।

यह जीवात्मा ' विधु है ' अर्थात् कर्मशील है । कर्म करनेवाला है और विविध कर्म करनेके लिये ही शरीर धारण करता है और जब शरीर जीर्ण होनेके कारण कर्म करनेमें असमर्थ होजाता है उस समय यह शरीरको छोडता है और दूसरे समर्थ शरीर धारण करता है । शरीर धारण करनेका हेतु यह है—

सः मातुः योनौ अन्तः परिवीतः बहुप्रजा निर्ऋतिः आविवेश । (मं० १०)

" वह जीवात्मा जब माताकी योनिमें-गर्भाशयमें-होता है उस समय प्रकृतिके शरीरसे परिवेष्टित होता है, और पश्चात् अनुकूल समयमें बहुत प्रजा प्रसवनेहारी इस भूमिपर अथवा इस प्रकृतिमें आविष्ट होकर पृथ्वीपर अवतीर्ण होता है ।" यहां विवाहादि द्वारा यह अपने संतानादि बहुत बढाता है, वंशका विस्तार करता है और समय आनेपर मर जाता है। फिर इसको ऐसा ही नवीन शरीर मिल जाता है । यह क्रम वारंवार होता है। यह इसका आना और जाना नियमके अनुसार करनेवाला जो कोई है, उसके नियमको यह नहीं जानता—

यः ईं चकार अस्य सः न वेद । (मं० १०)

' जो यह सब करता है, उसके उस कर्तृत्व को यह नहीं जानता। " प्रत्येक मनुष्य इसका विचार करके जान सकते हैं । अपने आपको यहां किसने लाया, भवितव्य कौन नियत करता है, इत्यादि विषय हरएक मनुष्य जान नहीं सकता । परंतु—

यः ईं ददर्श तस्मात् हिरुग् इत् नु । (मं० १०)

" जो इसको देखता है अर्थात् इसका साक्षात्कार करता है, उसके नीचे ही —उसके अतिसमीप ही—वह विद्यमान रहता है । " उसके लिये वह समीपसे समीप है । परंतु अन्य मनुष्योंके लिये यह बहुत दूर होता है । अर्थात् इसकी दूरता और समीपता मनुष्यके प्रयत्नपर निर्भर है ।

यह जीवात्मा (गो-पा) इंद्रियोंका पालन करनेवाला है, अपने शरीरमें जीवनशक्तिका संचार करके सब शरीरको जीवित रखनेवाला है अतः यह (अनिपद्यमानं) गिरानेवाला है, शरीर जीवित रखनेके कारण यह शरीरको न गिरानेवाला है । शरीर उठानेवाला और चलानेवाला यही जीवात्मा है । " तनू-न-पात् " यह नाम भी इसी अर्थका सूचक है। (तनु) शरीरको (न) नहीं (पात्) गिरानेवाला आत्मा है, वही भाव " अनि-

पवमान " शब्दमें है। इतना होनेपर भी—

पथिभिः आ च परा च चरन्तं। (मं० ११)

" निश्चित मार्गोंसे पास और दूर जानेवाला " अर्थात् इस शरीरके पास और शरीरसे दूर जानेवाला यह आत्मा है। जन्म लेनेके समय शरीरके पास आता है और शरीरकी मृत्यु होते ही यह शरीरसे दूर जाता है इस प्रकार इसका पास आना और दूर जाना जिन मार्गोंसे होता है, उन मार्गोंका ज्ञान हमें नहीं हो सकता। वे अदृश्य मार्ग हैं, और परमात्मा ही इसको उन मार्गोंसे चलाता है। यह परमात्मा—

स सध्रीचीः विषूचीः भुवनेषु अन्तः वसानः। (मं० ११)

" यह परमात्मा इस जीवात्माके साथ रहता है, सर्वत्र विराजमान है और संपूर्ण पदार्थमात्रमें भी वसनेवाला यह है। " यह किसी स्थानपर नहीं ऐसा कोई स्थान नहीं है। प्रत्येक पदार्थ के अन्दर, बाहर और चारों ओर यह विराजमान है, इसलिये यह इस जीवात्माको अपने अन्दर लेकर जहां जानेसे इसका कल्याण होगा वहां इसको पहुंचा देता है।

यही देव (नः पिता जनिता नाभिः बन्धुः) हम सबका पिता, जनक, संबंधी और भाई है। (पृथ्वी माता) यह भूमि हमारी मातृभूमि है। इन पिता और माताकी उपासना हमको करनी चाहिये। उक्त देवसे जो इस प्रकृतिमातामें गर्भका आधान होती है, उससे सब सृष्टिकी रचना होती है।

प्रश्नोत्तर।

आगे तेरहवें और चौदहवें मंत्रमें क्रमशः कुछ प्रश्न और उनके उत्तर आगये हैं, यह मनोरंजक प्रश्नोत्तरका विषय अब देखते हैं-

प्रश्न - पृथिव्याः परं अन्तः पृच्छामि (मं० १३)

उत्तर — इयं वेदिः पृथिव्याः परः अन्तः। (मं० १४)

" पृथ्वीका परला अन्तिम भाग कौनसा है ? यह वेदी ही पृथ्वीका परला अन्तिम भाग है। " यज्ञवेदीके पास खडा होकर एक प्रश्न पूछ रहा है कि पृथ्वीका परला अन्त वह है कि जिसपर हम खडे हैं, परंतु इसका परला अन्त कौनसा है ! यह भूमि कहां समाप्त होगई है ? इस प्रश्नका उत्तर, यह अपने पासका वेदीका भाग ही भूमिकी अन्तिम सीमा यह है। इस उत्तरके देखनेसे पता लगता है कि वेदके अनुसार भूमि गोल-गेंदके समान ही है। यदि यह भूमि फलकके समान होती तो यह उत्तर आना संभव ही नहीं है। यदि भूमि गेंदके समान गोल होगी तभी तो जिस बिंदुमें प्रारंभ होगा उसी बिंदुमें अन्त होनेकी संभावना होगी। पृथ्वी गेंदके समान गोल होनेसे यदि किसी स्थानसे सीधी लकीर खींची जायगी तो उस रेखाका अन्तिम बिन्दु प्रारंभिक बिन्दुमें ही मिल जायगा। इसी नियमको ध्यानमें रखकर उक्त मंत्रमें कहा है इस पृथ्वीका प्रारंभ इस वेदीमें है और अन्तिम भागभी यही वेदी है। पृथ्वीको गेंदके समान गोल माननेपर ही यह बात सिद्ध हो सकती है।

सृष्टिका प्रारंभ यज्ञमें और अन्तभी यज्ञमें हो सकता है। परमेश्वरके यज्ञसे इस सृष्टिका प्रारंभ हुआ है, यज्ञपर ही यह सृष्टि निर्भर है और अन्तमें भी इसकी समाप्ति यज्ञमें ही होगी। इस प्रकार कर्मभूमिका प्रारंभ वेदीमें और अन्त भी यज्ञमें होता है। इस दृष्टिसे भी यह प्रश्नोत्तर विचार करने योग्य है। अब दूसरा प्रश्न देखिये—

अश्वशक्ति।

प्रश्न– वृष्णः अश्वस्य रेतः पृच्छामि। (मं० १३)

उत्तर— अयं सोमः वृष्णः अश्वस्य रेतः। (मं० १४)

" बलवान अश्वका वीर्य कौनसा है ? यह सोम ही बलवान अश्वका वीर्य है। " अश्वशक्ति शब्द वीर्य पराक्रम और बलके सूचक हैं। ' वाजीकरण ' शब्दका अर्थ वीर्यवर्धक उपाय है। अश्वशक्ति, अश्वबल, अश्वरेत, अश्ववीर्य शब्द

एक ही अर्थ के वाचक हैं । बलवती अश्वशक्ति किससे प्राप्त होती है यह प्रश्नका आशय है । इसका उत्तर यह है कि " सोम वनस्पति ही अश्वशक्ति है " सोमका अर्थ सोमवल्ली, किंवा वनस्पति है । ये वनस्पति ही अश्ववीर्य देनेमें समर्थ हैं ।

यहां वेदने स्पष्ट शब्दोंमें कहा है कि, शरीर में अश्ववीर्य बढानेकी इच्छा है तो वनस्पतिके सेवन से ही वह बढ सकता है । क्योंकि सोमादि औषधियोंमें ही (अश्वस्य रेतः) अश्ववीर्य है । जो लोग मांसभक्षणके पक्षमें हैं वे यहां वेदके उपदेशसे बोध लें । वेदमें " सोम " को ही अन्न कहा है, मांसको नहीं । सोमको ही अश्ववीर्य कहा है, मांसको नहीं । जिस वाजीकरणके लिये मनुष्य प्रयत्न करता है वह (वाजी) घोडा केवल घास अर्थात् वनस्पति खाकर ही वाजी बना है, मांस खाकर नहीं बना । अतः स्पष्ट कहा है कि जो बल औषधि वनस्पतिके अन्नमें है,वह मांसमें नहीं है। अतःजो अपना बल बढाना चाहते हैं, वे मांसभक्षण न करें और योग्य वनस्पतियोंका सेवन करके अपना वीर्य बढावें । जो लोग पूछते हैं कि वेदमें मांसभक्षणके लिये अनुकूल संमति है वा प्रतिकूल ? उनको इस प्रश्नोत्तर का विचार करना चाहिये और जानना चाहिये कि, सोमादि औषधियोंका रसरूप अन्न ही वेदानुकूल मनुष्योंको भक्ष्य अन्न है । वेदमें मांसको भक्ष्य अन्न करके भी कहीं कहा नहीं है ।

प्रश्न— विश्वस्य भुवनस्य नाभिं पृच्छामि । (मं० १३)

उत्तर— अयं यज्ञः विश्वस्य भुवनस्य नाभिः । (मं० १४)

" सब भुवनोंका केन्द्र कौनसा है । यज्ञ ही सब भुवनोंका केन्द्र है । " केन्द्र कहते हैं मध्यबिंदुको, इस मध्यबिंदुपर सब बाह्य रचना रची जाती है । मध्यबिंदुपर ही संपूर्ण चक्रकी स्थिति होती है, यदि मध्यबिंदु अपने स्थानसे च्युत होगया, तो चक्रकी शक्ति नष्ट होजाती है । इसीलिये इस प्रश्नमें पृच्छा की है कि इस विश्वका केन्द्र कौनसा है अर्थात् किस केन्द्रपर यह विश्व रहा है ? उत्तरमें कहा है कि इस विश्वका केन्द्र यज्ञ है । अर्थात् यज्ञपर यह सब विश्व स्थिर रहा है । यज्ञ कम हुआ तो यह विश्व नहीं रहेगा । यज्ञ विधिहीन हुआ तो विश्वकी रचना बिगड जायगी । यह बतानेके लिये यहां कहा है कि इस संपूर्ण विश्वकी स्थिति यज्ञपर है । श्रीमद्भगवद्गीतामें

अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् । (भ० गी० ३।१०)

इस यज्ञद्वारा तुम वृद्धिको प्राप्त होवो,वह यज्ञ तुम्हें सब कामना देनेवाला होवे । ऐसा जो कहा है उसका कारण यही है कि वह विश्वकी उत्पत्तिका केन्द्र है । संपूर्ण वेदोंमें ' यज्ञ ' विषय ही कहा है,इसका भी कारण यह है कि यज्ञ सब विश्वका केन्द्र है,उस केन्द्रको जाननेके लिये सब उत्पन्न हुए हैं । अब अन्तिम प्रश्न देखिये—

प्रश्न— वाचः परमं व्योम पृच्छामि । (मं १३)

उत्तर— अयं ब्रह्मा वाचः परमं व्योम । (मं० १४)

" वाणीका परम आकाश अर्थात् उत्पत्तिस्थान कहां है ? यह ब्रह्मा ही वाणीका परम उत्पत्तिस्थान है। " आकाश का गुण शब्द है और शब्द आकाशसे उत्पन्न होता है । यहां केवल(वाचः व्योम) वाणीका आकाश पूछा नहीं है, प्रत्युत (वाचः परमं व्योम) वाणीका परम आकाश पूछा है । आकाशका भी जो आकाश होगा इसको परम आकाश कहना योग्य है । अग्निका अग्नि, वायुका वायु, और आकाशका आकाश वह परमात्मा ही है। देवका भी देव वही है । उस आत्मासे आकाश की उत्पत्ति है—

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः । (तै० उ० २।१।१)

" उस आत्मासे आकाश उत्पन्न हुआ है " और उस आकाशसे शब्द उत्पन्न होता है । अतः शब्दके आकाशका जो उत्पत्तिस्थान है उसका नाम " परम व्योम " है। यह वाणीका मूल उत्पत्तिस्थान और परम आकाश परमात्मा है । इसीलिये कहते हैं कि वेद परमात्माका निश्वसित है, अर्थात् उसीका यह शब्द है । इसी तरह सामान्य शब्द भी आत्माका शब्द है और यही ब्रह्मा वाणीका परम आकाश है । आत्मा बुद्धिसे मिलकर बोलनेकी कामना करता है, व मनको प्रेरणा करता है, मन शारीरिक उष्णताको हिलाता है, वह अग्नि वायुको चलाता है, वह उरसे मुखमें आकर स्थानोंमें आघात करता हुआ अनेक शब्द उत्पन्न करता है । इस प्रकार आत्मासे शब्द उत्पन्न होता है । इसीलिये यहां ब्रह्मा को शब्दका महा आकाश कहा है। यह बात स्मरण में रखना चाहिये और शब्दमें आत्माकी शक्ति है ऐसा मानकर, पवित्र भावना ही शब्दद्वारा उच्चारित करना

चाहिये। और कदापि व्यर्थ शब्दोच्चार करके आत्माकी शक्ति क्षीण नहीं करनी चाहिये । अस्तु। इस प्रकार प्रश्नोत्तरसे ज्ञान इन दो मंत्रोंमें दिया है। इसके अगले मंत्रमें कहा है कि--

न विजानामि यद् इव इदं अस्मि। (मं० १५)

" मैं नहीं जानता कि किसके समान यह मैं हूं। " प्रत्येक मनुष्य जानता है कि मैं हूं। परंतु मैं कैसा हूं, किसके समान हूं, मेरा गुण धर्म क्या है, मेरा स्वरूप क्या है, इत्यादि बात कोई नहीं जानता। पढे लिखे और शास्त्र देखनेवाले यह कहते हैं कि शरीर भिन्न है और आत्मा भिन्न है, परंतु यह आत्मा कैसा और कमसे कम किसके सदृश है यह क चेत कोई जानते हैं, प्रायः कोई नहीं जानते। इसीलिये इस आत्माको अज्ञेय, अतर्क्य ऐसे शब्द प्रयुक्त किये जाते हैं। यह आत्मा जब शरीरमें आता है, उस समय वह--

निण्यः संनद्धः। (मं० १५)

" अन्दर गुप्त है और बंधा है। " यही इसका बंधन है और इस बंधनसे मुक्ति प्राप्त करनेके लिये प्रयत्न करना चाहिये। यह आत्मा (निण्यः) गुप्त है, छिपा है, ढंका है, अव्यक्त है और बद्ध है। यह इस आत्माकी स्थिति है। हरएक पाठकको इसका विचार करना चाहिये।

इस आत्माको बंधन कैसा होता है, इसकी मुक्ति कैसी होती है और कौन इसकी मुक्ति कर सकता है, यह विषय तत्त्व-ज्ञानका है। यह विषय इसी मंत्रके उत्तरार्धने इस प्रकार कहा है—

यदा मा आगन् प्रथमजा ऋतस्य । आद् इद् अस्याः
वाचः भागं अश्नुवे ॥ (मं० १५)

" जिस समय सत्यका पहिला प्रवर्तक परमात्मा मेरे सन्मुख हुआ, जब मुझे उसका साक्षात्कार हुआ, उस समय उसकी इस वाणीका–देववाणीका–भाग्य मुझे प्राप्त हुआ। यह एक नियम यहां कहा है। जिस समय परमेश्वर साक्षात्कार होता है, अथवा परम ऋषिका उपदेश होता है, उस समय उसके अन्तःकरणमें सत्य ज्ञानका प्रकाश होता है। यही विद्याका भाग्य है। यह आत्मसाक्षात्कारके विना नहीं हो सकता।

यहां आत्मा शरीर धारण करता है यह ' मर्त्य और अमर्त्य ' का संबंध है। अर्थात् ये दो पदार्थ यहां हैं। मर्त्य अमर्त्य नहीं हो सकता और अमर्त्य मर्त्य नहीं हो सकता।

ता शश्वन्ता विषूचीना वियन्ता। अन्यं नि चिक्युः।
अन्यं न नि चिक्युः ॥ (मं १६)

" ये दोनों मर्त्य और अमर्त्य अर्थात् जड और चेतन ये दोनों सनातन शाश्वत हैं, ये सर्वत्र हैं, परस्पर विरुद्ध गुणकर्म स्वभाववाले हैं। इनमेंसे एकको जानते हैं, परंतु दूसरे का ज्ञान नहीं होता। " मर्त्य पदार्थोंका ज्ञान कुछ अंशमें होता है, इस ज्ञानको भौतिक ज्ञान, पदार्थज्ञान किंवा विज्ञान कहते हैं। मनुष्य इसको प्राप्त कर सकते हैं। परंतु दूसरा जो चेतन आत्मा है, जिसमें आत्मा और परमात्मा संमिलित हैं, वह अतर्क्य, अज्ञेय और गूढ हैं।

जगत्की रचना।

पूर्वोक्त प्रकार जड और चेतन मिलकर इस जगत्की रचना होगई है। इस विषयमें अगले ही मंत्रमें इस तरह कहा है--

भुवनस्य रेतः सप्त अर्धगर्भाः विष्णोः प्रदिशा विधर्मणि
तिष्ठन्ति। (मं० १७)

" सब सृष्टिके वीर्यसे सात मूलतत्त्व विविधगुण धर्मोंसे युक्त होकर व्यापक परमात्माकी आज्ञामें रहते हैं। " सृष्टि उत्पन्न करनेवाले ये सात मूलतत्त्व हैं, उनके गुणधर्म परस्पर भिन्न हैं और ये व्यापक ईश्वरकी आज्ञामें कार्य करते हैं। इन सात तत्त्वोंको जानना तथा आत्माको जानना इतना ही ज्ञान है, और यह ज्ञान मनुष्यके उद्धारका हेतु है। इस ज्ञानके विना मनुष्यका उद्धार हो नहीं सकता। ऐसे--

ते विपश्चितः धीतिभिः मनसा परिभुवः विश्वतः परिभवन्ति ॥ (मं १७)

" वे विशेषज्ञानी अपनी बुद्धियोंसे, कर्मोंसे और मनके विचार से विशेष श्रेष्ठ होकर सब प्रकारसे सर्वोपरि होते हैं । " सबके ऊपर अपना प्रभाव जमाते हैं । सर्वत्र उपस्थित होकर सबको प्रभावित करते हैं । यह कार्य इन ज्ञानियोंसे इसलिये होता है कि इनके पास पूर्वोक्त प्राकृतिक और आत्मिक ज्ञान पूर्णतया रहता है । इस ज्ञानका महत्त्व यह है–

ऋचः अक्षरे विश्वे देवाः अधिनिषेदुः । (मं० १८)

" ऋचाके अक्षरमें सब देव निवास करते हैं । " यह योग्यता वेदमंत्रके ज्ञानकी है । एक वेदमंत्रका ज्ञान होनेका नाम इतनी देवताओंका ज्ञान होना है । वेदका ज्ञान प्रत्यक्ष देवताओंका ही ज्ञान है । अग्निमंत्रसे अग्निविद्या, वायुके मंत्रोंसे वायु–विद्या, इसी प्रकार अन्यान्य मंत्रोंसे अन्यान्य देवताओंकी विद्या जानी जाती है । यह विद्या जैसी प्राकृतिक पदार्थोंका ज्ञान देती है उसी प्रकार आत्माका भी ज्ञान देती है । अग्नि, वायु, रवि, इन्द्र आदि शब्दोंसे एक सत्य आत्माका बोध होता है, यह बात इसी सूक्तके अन्तिम मंत्रमें कही है । वह अत्यंत महत्त्वका मंत्र यह है––

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् ।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥ (मं० २८)

" एक ही सत्य आत्माका वर्णन ज्ञानी लोग अनेक प्रकारसे करते हैं, उसीको इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, दिव्य, सुपर्ण गरुत्मान्, यम, मातरिश्वा इत्यादि नाम वे देते हैं । " अर्थात् इन्द्र, मित्र, वरुण आदि नाम एक आत्माके हैं, प्रत्येक नामसे व्यक्त होनेवाला गुण उसमें है, वह शत्रुनाशक होनेसे इन्द्र, सबका हितचिन्तक होनेसे मित्र, सबसे वरिष्ठ होनेसे वरुण, गति–मान होनेसे अग्नि, द्युस्थानमें होनेसे दिव्य, उत्तम पूर्ण होनेसे सुपर्ण, श्रेष्ठ होनेसे गरुत्मान्, एक अद्वितीय होनेसे एक, तीनों कालोंमें सत्य होनेसे सत्, सबका नियामक होनेसे यम, अन्तरालमें रहनेसे मातरिश्वा कहा जाता है । उसी एकके ये अनेक नाम हैं । और वेदमंत्रमें उस सत्य आत्माकी विद्या इस तरह है ।

इसके साथ साथ ये नाम अग्नि वायु आदि हैं वे भौतिक पदार्थोंके भी वाचक हैं, इसलिये इन देवताओंके नामोंसे और मंत्रोंसे इन पदार्थोंकी भी विद्या होती है । इस तरह इन्ही मंत्रोंसे इन देवोंकी विद्या, भूत विद्या, और प्राकृतिक विज्ञान प्राप्त होना संभव है । अतः कहा है वेदमंत्रोंके अक्षरोंमें देव उपस्थित है, यहां देवोंकी ज्ञान रूपसे उपस्थिति समझना योग्य है ।

यः तत् न वेद किं ऋचा करिष्यति ? (मं० १८)

" जो इस विद्याको नहीं जानता वह वेदमंत्र लेकर क्या करेगा ? " अर्थात् केवल कंठ करना, अथवा केवल शब्दका अर्थ जानना व्यर्थ है । मंत्रका ठीक ठीक अर्थ तब विदित हुआ ऐसा कहा जा सकता है कि जब पाठकको मंत्रवर्णित देवताका साक्षात्कार यथावत् हो जायगा । यदि भौतिक देवताका साक्षात्कार हुआ तो भूतविद्या समझमें आयगी, और यदि आत्माका साक्षात्कार हुआ, तब आत्मविद्या समझमें आयगी । ज्ञानी की योग्यता श्रेष्ठ है वह ऐसे साक्षात्कार हुए ज्ञानी की है, न कि केवल शब्दशास्त्री की । अतः कहा है—

ये इत् तत् विदुः, ते इमे समासते (मं० १८)

" जो ज्ञानी पूर्वोक्त विद्याको यथावत् जानते हैं वेही श्रेष्ठ स्थानमें विराजमान हो सकते हैं । सुखात्मक उत्तम वा परम स्थान को प्राप्त हो सकते हैं । सत्य ज्ञानका इतना महत्त्व है । इसी विषयमें यह मंत्र अब देखिये–

अर्धर्चेन चक्लृप् विश्वं चाक्लृपुः (मं० १९)

" आधे मंत्रभागसे चेतन आत्मा और सब जगत् समर्थ बन सकता है । " आधे मंत्रका ठीक ठीक ज्ञान होनेसे आत्म भी बलवान् होता है और जगत्के पदार्थ भी अपने अपने सामर्थ्यसे सामर्थ्यवान् होते हैं । आधे मंत्रमें यदि इतना विलक्षण ज्ञान है तो सूक्तमें और अनुवाकमें कितना ज्ञान होगा और वह मनुष्यका कैसा उद्धार कर सकता है, इस विषयकी कल्पना पाठक कर सकते हैं । इसीलिये वेदके ज्ञानका गौरव सर्वत्र आर्य शास्त्रोंमें किया है । परंतु यह ज्ञान सद्गुरुसे प्राप्त करना चाहिये,

वेदकी परंपरासे मिलना चाहिये और उससे मनन द्वारा वह आत्मसात् होना चाहिये और अन्तमें देवताका साक्षात्कार होना चाहिये। साक्षात्कारके पश्चात् उस ज्ञानसे पूर्वोक्त लाभ होसकता है, केवल शब्दज्ञानसे नहीं। सारांशरूपसे जानना हो तो इतनी बात पाठक ध्यानमें धारण करें–

त्रिपाद् ब्रह्म पुरुरूपं वि तस्थे, तेन जीवन्ति प्रदिशः चतस्रः। (मं १९)

"त्रिपाद ब्रह्म विविध रूपसे जगत्में विशेष रीतिसे ठहरा है, और इसके जीवनसे चारों दिशाओंमें रहनेवाले पदार्थ जीवित रहते हैं।" यह ब्रह्म अथवा परमात्मा सर्व पदार्थोंके अन्दर व्यापक है और उसकी अगाध शक्तिसे यह सब जगत् जीवित रहा है। यदि उस ब्रह्मकी शक्ति इस जगत् को आधार न देगी, तो इस जगत्‌मेंसे कोई पदार्थ जीवित नहीं रहेगा। सबका जीवनाधार वही श्रेष्ठ ब्रह्म है।

जगत्‌का चक्र।

जगत् का चक्र किस तरह घूमता है यह बतानेके लिये बाईसवें मंत्रमें वृष्टिका उदाहरण दिया है, पृथ्वीपरके पानीकी भाप सूर्यकिरणोंसे होकर ऊपर जाती है, वहां उसके मेघ बनते हैं और योग्य समयमें वृष्टि होकर पृथ्वीपर जल होता है, फिर भाप मेघ और वृष्टि ऐसा यह जल चक्र सनातन चल रहा है। इसी प्रकार अनेक चक्र हैं और उसमें जगच्चक्र भी एक है। पदार्थ की उत्पत्ति, स्थिति और लय और लयके पश्चात् फिर उत्पत्ति इस प्रकार यह जगच्चक्र चल रहा है। चक्रका एक बिन्दु एक समय ऊपर होता और दूसरे समय वही नीचे आता है, इसी प्रकार जिसका जन्म होता है वही योग्य कालमें युवा होता है, और पश्चात् भाशको प्राप्त होता है और पश्चात् नवीन बनता है। इस तरह जगत् के सब चक्र चल रहे हैं। प्रवाहसे जगत सनातन किंवा अनादि अनन्त है,ऐसा जो कहते हैं उसका कारण यही है, परंतु प्रत्येक पदार्थकी दृष्टिसे देखा जाय तो जगत उत्पत्तिवाला और नाशवान् है। मनुष्य व्यक्तिशः मरता है तथापि मानव समाज अनादि कालसे चला आता है और भविष्यमें भी रहेगा। इसी तरह जगत् के विषयमें जानना योग्य है।

इस जगत् में एक विलक्षण बात है, वह यह है कि–

पद्वतीनां प्रथमा अपात् एति। (मं० २३)

"पांववालोंके पहिले पांवरहित दौडता है।" वस्तुतः पांववाले की दौड तेजीसे होना योग्य है, परंतु यहां पांववाल चलनेमें असमर्थ है और पांवरहित दौड लगाता है, इतना ही नहीं, प्रत्युत पांववालेको ही यह पांवरहित चलाता है। यहां अपने शरीरमें ही देखिये, शरीरको पांव हैं परंतु वह शरीर स्वयं चल नहीं सकता और आत्माको पांव नहीं हैं परंतु वह इस पांववाले शरीरको चला सकता है, कितना यह आश्चर्य है। इसीलिये एक सुभाषितमें कहा है–

मूकं करोति वाचालं पंगुं लंघयते गिरीन् ॥

"मूक शरीरको यह आत्मा वाचाल करता है और पंगुको पहाडोंकी सैर कराता है।" ऐसी अद्भुत शक्ति इस आत्मामें है। इस बातको यथावत्–

कः तत् चिकेत ? (मं० २३)

"कौन इस बातको जानता है?" बहुत लोग तो रीतिसे जानते हैं, परंतु साक्षात्कारके समान जानना कठिन है। यह ज्ञान यद्यपि हरएकको प्राप्त करना आवश्यक है, तथापि मनुष्य ऐसे भ्रमचक्रमें गोते खाते हैं कि उनमेंसे बहुत ही थोडे मनुष्य इस सत्य ज्ञानको यथावत जान सकते हैं। इस आत्माकी शक्तिके विषयमें देखिये—

गर्भः अस्याः भारं आभरति। (मं० २३)

"मध्यमें स्थित आत्मा--प्रत्येक का केन्द्र--इस प्रकृतिका सब भार उठाता है।" इस जड शरीरका भार वह चेतन आत्मा उठा रहा है। यही इस शरीरको कुदवाता है, दौडाता है, छलांगें मरवाता है, यह सब इस शरीरसे होना सर्वथा असंभव है, परंतु ये सब बातें इस शरीरसे हो रही हैं, यह इस आत्माकी शक्तिसे ही हो रहीं हैं। जडको चेतनवत् चलानेका कार्य करना यह इसकी अद्भुत शक्तिका द्योतक है। इतना करता हुआ यह आत्मा—

*

ऋतं पिपर्ति, अनृतं निपाति । (मं० २३)

" सत्यकी पूर्णता करता है और असत्यको नीचे दबाता है । " जगत् में इसकी हलचल इसीलिये हो रही है । सत्यका विजय हो और असत्यका विजय न हो, इसीलिये इसकी सब हलचल हो रही है, यही बात भगवद्गीतामें इस प्रकार कही है-

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥ भ० गी० ४।८

" सत्य मार्गीयोंकी रक्षा करनेके लिये और असत्यमार्गीयोंका नाश करनेके लिये अर्थात् सत्यधर्मकी स्थापनाके लिये आत्मा सत्य और असत्यके संयुग अर्थात् युद्धके समयमें प्रकट होता है । " सत्य और असत्य का युद्ध चलरहा है, यह हमेश चलता है । और यह आत्मा अपनी शक्ति इस प्रकारके युद्ध छिडनेपर सत्यकी रक्षा करनेके लिये प्रकट करता है । और अपनी शक्तिसे सत्यकी रक्षा करता है, असत्यका नाश करता है और सत्य धर्मका संस्थापन करता है ।

इसी आत्माका नाम विराट् है और यह पृथ्वी, आप आदि जगतमें जगद्रूप बना है और यह (अधिराजः बभूव) सबका राजाधिराज है । यही सबका ईश्वर है और इसके (वशे भूतं भव्यं) आधीन भूत, भविष्य और वर्तमानका संपूर्ण जगत है । सब पर इसीका शासन चल रहा है । यही सबका एक ईश्वर है और इसीके शासनमें सब जगत् चल रहा है । इसकी प्रसन्नता हुई तो वह (मे वशे भूत भव्यं) मुझ जैसे मनुष्य के वशमें भी भूत भविष्य वर्तमान करता है । उसकी कृपा होनेकी ही केवल आवश्यकता है । इसकी कृपा यज्ञीय जीवन करनेसे ही हो सकती है दूसरा कोई मार्ग नहीं है । पहिले समयमें यज्ञ इसी ईशकृपा संपादन करनेके लिये किये जाते थे (तानि धर्माणि प्रथमानि आसन्) येही पहिले शुद्ध आत्माओंके धर्म थे । (वीराः पृश्निं उक्षाणं अपचन्त) ये वीर लोग छोटे उक्षाको परिपक्व बनाते थे । अर्थात् इन यज्ञकर्मोंसे छोटे उक्षाकी परिपक्वता होती है । यहां (पृश्निं उक्षाणं) छोटा उक्षा कौन है इसक विचार करना चाहिये । वेदमें अन्यत्र कहा है कि-

उक्षास द्यावापृथिवी बिभर्ति ॥ ऋ० १।३१।८
अग्रिय उक्षा बिभर्ति भुवनानि वाजयुः ॥ ऋ० ९।८३।३
अनड्वान्दाधार पृथिवीमुत द्यामनड्वान्दाधारोर्वन्तरिक्षम् ।
अनड्वान्दाधार प्रदिशः षडुर्वीरनड्वान्विश्वं भुवनमाविवेश ॥ अथर्व ४।११।१

'उक्षा द्युलोकका और पृथ्वी का भरण पोषण करता है । बडा भाई उक्षा अन्न देता हुआ सब भुवनोंका धारण पोषण करता है । अनड्वान पृथ्वी, अन्तरिक्ष, द्यु, सब दिशाओं, छः पृथ्वीयों और सब भुवनोंका धारण पोषण करता है ।" यहां उक्षा और अनड्वान् एक ही है यह सब जानते हैं । भाषामें इन शब्दोंका अर्थ " बैल " है और इनका यौगिक अर्थ "उठानेवाला, खींचनेवाला, शकट चलानेवाला" है। उक्त मंत्रोंमें त्रिभुवनका चलानेवाला सब भुवनोंका चलानेवाला, सबका अधार उक्षा है ऐसा कहा है । इस लिए यहां का उक्षा या अनड्वान् शब्द निश्चयसे बैलवाचक नहीं है ।

उक्त ऋग्वेदके मंत्रमें 'अग्रिय उक्षा' शब्द है, इनका अर्थ 'बडा भाई उक्षा' है । अर्थात् जो सब भुवनोंका आधार है वह बडा भाई उक्षा है। इससे सिद्ध होता है कि इस बडेभाई उक्षाका कोई दूसरा छोटा भाई उक्षा है। निःसंदेह ही इस छोटे भाई के वाचक ही यहां ' पृश्निं उक्षाणं ' ये शब्द हैं । पृश्निका अर्थ "छोटा" है ।

अग्रियः उक्षा । ऋ० ९।८३।३
पृश्निः उक्षा । अथर्व ९।१० (१५)।२५

ये दो मंत्रोक्त शब्द स्पष्ट बता रहे हैं कि इनमेंसे एक भाई और दूसरा छोटा भाई है । बडाभाई पहिलेसे परिपक्व है परंतु दूसरा भाई परिपक्व बनानेवाला है । इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह परिपक्व होनेवालेका वर्णन जीवात्माका है । परमात्मा शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव अत एव परिपक्व है और जीवात्मा अशुद्ध और अमुक्त होनेसे अपरिपक्व है । अपरिपक्व को परिपक्व बनाना होता है, यही कार्य वीर अर्थात् बलवान

लोग करते हैं, क्योंकि (नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः। कठ उ. १।२।२२) बलहीन मनुष्यसे इसके परिपक्व बनानेका अनुष्ठान नहीं हो सकता है। इस हेतुसे कहा है कि वीर लोग ही इस छोटेभाई उक्षाको परिपक्व बनानेका कार्य करते हैं। अर्थात् यह (पृश्नि उक्षा) छोटाभाई उक्षा, जीवात्मा है। दो सुपर्ण, दो उक्षा ये वैदिक वर्णन जीवात्मा परमात्माके ही वाचक हैं। अस्तु। यहां छोटे उक्षा—जीवात्मा—के परिपक्व बनानेका साधन 'यज्ञ' कहा है।

विषूवता आरात् शकमयं धूमं अपश्यं (मं० २५)

" सर्वत्र दूर और समीप शक्तिमान यज्ञाग्निका धूवां मैं देखता हूं। " और इस यज्ञाग्निद्वारा ही वीर लोग इस छोटे उक्षा-को परिपक्व बनाते हैं। यज्ञसे ही इसकी परिपक्वता होती है। अग्निमें हवन करना यह यज्ञका उपलक्षण है। यज्ञका मुख्यार्थ 'देव पूजा, संगतिकरण और दान' है। इस मुख्यार्थ को लेकर और उपलक्षण को सूचक मानकर ही इसका अर्थ करना उचित है, कई लोग यहां 'उक्षा, धूम और पचन्ति, शब्द देखकर प्राचीन लोग बैलको अग्निपर पकाते थे, ऐसा भाव निकालते हैं। परंतु यहां किसी को ऐसा संदेह न हो इसलिये इस मंत्रका इतना स्पष्टीकरण करना पड़ा है। आशा है कि इस स्पष्टीकरणसे किसी वाचकके मनमें इस विषयमें कोई शंका नहीं रहेगी।

किरणवाले तीन देव।

(त्रयः केशिनः) किरणवाले अर्थात् प्रकाशमान तीन देव हैं। ये तीनों देव (ऋतुथा विचक्षते) ऋतुके अनुसार प्रकाशते हैं। यहां इस प्रकारके कई देवोंके गण हैं, पहिला सूर्यगण है, इसमें सूर्य, विद्युत् और अग्नि ये तीन देव क्रमशः द्यु, अन्तरिक्ष और भू स्थानमें हैं। तीनों प्रकाशमान होनेसे 'केशी' अर्थात् किरणोंसे युक्त किंवा बालोंवाले हैं।

(एषां एकः संवत्सरे वपते) इनमेंसे एक वर्षमें एकवार अन्नादि का बीजारोपण करता है, सूर्यके कारण वर्षमें एकवार भूमिमें बीजक्षेप करके धान्य उत्पन्न होता है। (अन्यः शचीभिः विश्वं अभिचष्टे) दूसरा तेजस्वी देव अपने किरणोंसे सबको प्रकाशित करता है। यह अग्नि अपने तेजसे रात्रीके समयमें भी जगत्में प्रकाश करता है। तीसरा देव विद्युत् है (एकस्य ध्राजिः ददृशे) उसकी गति दिखाई देती है परंतु (न रूपं) उसका रूप नहीं दीखता, क्योंकि यह क्षणमात्र प्रकाशता है और पश्चात् किस स्थानपर जाता है इसका पता भी नहीं लगता। यंत्रद्वारा दीप आदि जलानेका कार्य करनेवाली बिजली भी दिखाई नहीं देती, परंतु उसका वेग अनुभवमें आता है।

इसी प्रकार अग्नि, वायु और सूर्य ये तीन देव उक्त तीन स्थानोंमें हैं जिनमें बीचका नहीं दीखता है और अन्य देव दीखते हैं। शरीरमें भी वाणी, प्राण और नेत्र हैं जिनमेंसे प्राण मध्यस्थानीय देव नहीं दीखता, परंतु वेगसे अनुभव होता है। इस प्रकार तीन तीन देवोंके अनेक गण हैं। पाठक इस प्रकार विचार करेंगे तो उनको इन गणोंका ज्ञान होगा। यहां स्मरण रखना चाहिये कि ये तीन यद्यपि स्थूल दृष्टिसे विभिन्न प्रतीत होते हैं तथापि एक के ही ये तीन रूप हैं।

चतुष्पाद गौ।

"गौ" का अर्थ 'वाचा' है। यह वाक् चतुष्पाद अर्थात् चार पादवाली है। (वाक् चत्वारि पदानि परिमिता) नाभि, उर और कण्ठमें तीन पाद गुप्त हैं और मुखमें जो चतुर्थ पाद है वह व्यक्त है। इस प्रकार ये वाणीके चार पाद हैं। इन चार पादों अर्थात् स्थानोंमें यह वाणी उत्पन्न होती है, परंतु ये वाणीके स्थान साधारण मनुष्य जान नहीं सकते, क्योंकि ये योगी लोग ही ध्यानधारणासे जान सकते हैं। ये (मनीषिणः ब्राह्मणाः विदुः) ज्ञानी ब्रह्मको जाननेवाले ही इस बातको जान सकते हैं। अर्थात् वाणीकी उत्पत्तिका इस प्रकार विचार करनेसे मनुष्य आत्मातक पहुंच सकता है।

पाठक इस तरह मनन करके आत्मज्ञान प्राप्त कर सकते हैं।

——:०:——

अथर्ववेदके नवम काण्डका मनन ।

सात मधु ।

इस काण्डमें ३०२ मंत्र हैं और इनमें कई मंत्र विशेष ही मनन करने योग्य हैं । इनमें सबसे प्रथम सूक्तका " सात मधु ' अर्थात् सात मीठे पदार्थोंका वर्णन करनेवाला मंत्र पाठक विशेष स्मरण रखें—

ब्राह्मणश्च राजा च धेनुश्चानड्वांश्च व्रीहिश्च यवश्च मधु सप्तमम् ॥ कां० ९।१।२२

" ब्राह्मण , राजा, धेनु, बैल, चावल, जौ और मध (शहद) ये सात मधु इस जगत् में हैं । " प्रत्येक मनुष्य मिठाई चाहता है, मधुरता चाहता है, मीठे पदार्थ खानेकी इच्छा करता है । वेद कहता है कि ये " सात मधुर पदार्थ हैं " जो मनुष्य मिठाई सेवन करना चाहे वह इनका सेवन करें । यहां प्रत्येकका सेवन करनेका विधि भिन्न भिन्न है । प्रथम हम इन सात मधु-ओंका स्वरूप देखेंगे-

" ब्राह्मण " पहिला मधु है । इसके पास ज्ञान का मीठा रस रहता है । यही साक्षात् अमृत है, ज्ञान और विज्ञान इसमें संमिलित है । अभ्युदय और निःश्रेयस की सिद्धि इस ज्ञानपर अवलंबित है । ब्राह्मणके आधीन राष्ट्रका अध्ययन अध्यापन है । अर्थात् यही राष्ट्रकी भावी संतान उदयोन्मुख करता है। यह " ज्ञानमधु" है । हरएक मनुष्य और प्रत्येक युवा इसका सेवन करे ।

' राजा ' दूसरा मधु है । (रञ्जयति इति राजा) प्रजाका रंजन करनेवाला राजा होता है । जो प्रजाके उत्साहको कुचलता है उसका नाम राजा नहीं । राजा शब्दसे सब क्षत्रियोंका ग्रहण हो जाता है । दुःखसे प्रजाकी रक्षा करना और उसका रञ्जन करना, यही राज्यशासन का कार्य है । यहां ' प्रजारञ्जनरूप ' मधु देनेवाला राजा होता है । राष्ट्रका प्रत्येक मनुष्य इस रक्षाका कार्य करनेमें समर्थ चाहिये, तभी यह मधु प्रजाको प्राप्त होता है । जहां ब्राह्मण और क्षत्रिय मिलजुलकर राष्ट्रकी उन्नति करनेमें तत्पर होते हैं वही राष्ट्र उन्नत होता है ।

इसके पश्चात् तीसरा मधु " गौ " है । ज्ञान और रक्षा होनेके पश्चात् गायका दूध रूपी अमृत प्रत्येक मनुष्यको प्राप्त होना चाहिए । यह अमृत है और यही जीवन है। चतुर्थ मधु ' बैल ' है। उत्तम गौकी उत्पत्ति उत्तम बैलके वीर्य पर अवलंबित है इस-लिये बैलकी गणना मधुमें की है। इसके अतिरिक्त हमारी खेती भी बैलपर ही निर्भर है। आगेके तीन मधु चावल जौ और शहद हैं। ये उत्तम भक्ष्यान्न है ये चावल और जौ बुद्धिवर्धक हैं और शरीर की स्वस्थताके लिये यह अन्न उत्तम है । मधु अर्थात् शहद तो सर्वोत्तम स्वादु पदार्थ है। वनस्पतियोंमें उत्तम फूल और फूलोंमें मधु उत्तम । ऋषियों का यही चावल जौ और शहद अन्न था, इसीलिये उनकी बुद्धि अत्यंत कुशाग्र होती थी । इस प्रकार यह सात मधुओंका विषय है । इसका विचार पाठक करें ।

सूर्यकिरण ।

अष्टम सूक्तमें सूर्यकिरणोंका महत्व वर्णन किया है । सूर्यकिरणसे शरीरके रोग दूर होते हैं जो ऐसा कहा है वह प्रत्येक मनुष्यको विशेष रीतिसे स्मरण रखना चाहिये—

सं ते शीर्ष्णः कपालानि हृदयस्य च यो विधुः ।

उद्यन्नादित्य रश्मिभिः शीर्ष्णो रोगमनीनशोऽङ्गभेदमशीशमः ॥ अथर्व० ९।८।२२

"उदयको प्राप्त हुआ सूर्य अपने किरणोंके द्वारा सिरका दर्द,अंगोंके रोग हृदयके रोग,तथा अन्य रोग दूर करता है।" यह मंत्रका कथन सब लोगोंको सदा स्मरण करना आवश्यक है। आजकल रोग बढ रहे हैं,जो रोग पूर्व समयमें नहीं थे,वे इस समय चारों ओर फैल रहे हैं। ऐसी अवस्थामें सूर्यकिरणोंके इस रोगनाशक धर्मका हमें विशेष उपयोग हो सकता है। आजकल प्रायः प्रत्येक मनुष्य सिरदर्दसे पीडित है, पेटके रोग अपचन आदि बहुतोंको सता रहे हैं। शरीरकी दुर्बलता तो प्रमाणसे भी अधिक बढ रही है । ऐसी अवस्थामें सूर्यकिरणों का उपयोग मनुष्य करेंगे तो निःसंदेह अधिक लाभ होगा। सूर्यके पास टकटकी लगाकर देखनेसे नेत्ररोग और

दृष्टिके दोष दूर होते हैं यह अनुभवसिद्ध बात है। जो लोग धूपमें अपने शरीरकी चमडीको तपावेंगे, उनको ज्वरादि की बाधा नहीं होगी, इसी प्रकार सूर्यकिरणोंके द्वारा अनंत लाभ होना संभव है। इसका विचार पाठक करें।

एक देव।

सूक्त नवम और दशम बडे महत्त्वके हैं। ऋग्वेदमें इन दोनों सूक्तोंका मिलकर एक ही सूक्त है। इन दोनों सूक्तोंका विषय प्रायः एक ही है। आत्मा और जगत्‌का ज्ञान देना यही मुख्यतया इसका विषय है। यह विषय इन सूक्तोंमें अनेक प्रकारसे समझाया है। वेद पढते पढते एक बात पाठकोंके मनमें खटकती है वह यह है कि ये भिन्न भिन्न देवताएं विभिन्न ही हैं कि इनकी एक देवतामें परिणति होती है। अर्थात् वेदमें "एकदेवतावाद" है या "बहुदेवतावाद" है। इसका उत्तर दशमसूक्त ने उत्तम रीतिसे दिया है—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सत् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥ अथ० ९।१०।२८

यह मंत्र ऋग्वेदके प्रथम मंडलमें भी है। इस मंत्रका कथन है कि (एकं सत्) एक ही सत्य तत्त्व है, एक ही आत्मा, परमात्मा, ब्रह्म, परब्रह्म, देव, ईश्वर किंवा परमेश्वर है। जिसका कोई नाम नहीं है, परंतु जिसके सब नाम भी हैं। उसके 'सत्' इतना ही यहां कहा है। 'सत्' का अर्थ है 'जो है'। अर्थात् ऐसी कोई विलक्षण शक्ति है कि जो इस जगत्‌के पीछे रहकर सब जगत्‌के कार्य चला रही है। जिसकी शक्तिसे अग्नि जलता, सूर्य प्रकाशता, विद्युत् चमकती, वायु बहता, और जल प्रवाहित होता है। अतः उस अनाम सत्य तत्त्वको अग्नि, सूर्य आदि नाम दिये गये हैं।

वेदका पाठ करनेके समय इस सत्य सिद्धान्तकी मनमें स्थिरता करना चाहिये। वेदका सत्य ज्ञान होनेके लिये इस सिद्धान्तके जानने और समझनेकी अत्यंत आवश्यकता है। जो लोग इस मंत्रके उपदेशको नहीं मानते, वेदका अर्थ समझने के अधिकारी ही नहीं हो सकते। अतः वेदने स्वयं इन्हीं सूक्तोंमें कहा है कि जो इसी तत्त्वको नहीं जानते वे

किं ऋचा करिष्यति।

"वेदके मंत्र लेकर क्या करेंगे?" अर्थात् उनको इससे कोई लाभ नहीं होगा। लाभ तो उनको होगा कि जो वेदकी प्रक्रिया स्वीकार करके वेदको पढते हैं। दुर्दैव से आजकल ऐसे भी कई लोग हैं, कि जो इस मंत्रको ही-अप्रमाण मानते हैं। वस्तुतः वेदमें यही प्रधान मंत्र है। क्योंकि इसी के आधारसे वेदमंत्रोंका अर्थ स्पष्ट होता है। अतः पाठकोंसे प्रार्थना है कि वे इस मंत्रका अच्छी प्रकार मनन करें और सब वैदिक देवताओंके नाम एक ही सद्वस्तु के हैं ऐसा मानकर वेदका अर्थ करने लग जांय। इस प्रकार कुछ महत्त्वकी बातें इस नवम काण्डमें हैं जो विशेष महत्त्वकी होनेसे यहां पाठकोंके सन्मुख दुबारा रखी हैं।

अथर्ववेदका स्वाध्याय।

नवम काण्डकी विषयसूची।

ॐ

अथर्ववेदका सुबोधभाष्य

प्रस्तावना

दशम-काण्ड

अथर्ववेदके दूसरे महाविभागमें यह दशम काण्ड तीसरा है। इसमें दस सूक्त हैं, पर्यायवाले सूक्त इसमें नहीं हैं। इन दस सूक्तोंके ५ अनुवाक हैं और सूक्तमें मंत्र-संख्या इस प्रकार है—

अनुवाक	सूक्त	मंत्रसंख्या	दशतिविभाग
१	१	३२	३ (१० + १० + १२)
	२	३३	३ (१० + १० + १३)
२	३	२५	३ (१० + १० + ५)
	४	२६	३ (१० + १० + ६)
३	५	५०	५ (१० + १० + १० + १० + १०)
	६	३५	४ (१० + १० + १० + ५)
४	७	४४	४ (१० + १० + १० + १४)
	८	४४	४ (१० + १० + १० + १४)
५	९	२७	३ (१० + १० + ७)
	१०	३४	३ (१० + १० + १४)
५	१०	३५०	३५

अब इन सूक्तोंके ऋषि-देवता-छंद देखिये—

ऋषि-देवता-छंद

प्रथमोऽनुवाकः ।

सूक्त	मंत्रसंख्या	ऋषिः	देवता	छन्दः
१	३२	प्रत्यङ्गिरसः	कृत्यादूषणं	अनुष्टुप्; १ महाबृहती; २ विराण्णाम्नी; ९ पथ्यापंक्तिः; १२ पंक्ति; १३ उरोबृहती; १५ चतुष्पदा विराड्जगती; १७, २०, २४ प्रस्तारपंक्तिः २० (विराट्); १६, १८ त्रिष्टुभौ; १९ चतुष्पदा जगती, २२ एकावसाना द्विपदार्ची उष्णिक्; २३ त्रिपदा भुरिग्विषमा गायत्री; २८ त्रिपदा गायत्री; २९ मध्ये ज्योतिष्मती जगती; ३२ द्व्यनुष्टुब्गर्भा पञ्चपदातिजगती ।
२	३३	नारायणः	पुरुषः पार्ष्णिसूक्तं, ब्रह्मप्रकाशनम् ३१-३३ साक्षात्परब्रह्म	अनुष्टुप्; १-४, ७-८ त्रिष्टुभः; ६, ११ जगत्यौ; २८ भुरिग्बृहती ।

द्वितीयोऽनुवाकः ।

सूक्त	मंत्रसंख्या	ऋषिः	देवता	छन्दः
३	२५	अथर्वा	वरणमणिः वनस्पतिः, चन्द्रमाः	अनुष्टुप् । २-३, ६ भुरिक् त्रिष्टुभः; ८, १३-१४ पथ्यापंक्तिः; ११, १६ भुरिजौ; १५, १७-२५ षट्पदा जगत्यः ।
४	२६	अथर्वा	तक्षकः	अनुष्टुप् । १ पथ्यापंक्ति; २ त्रिपदा यवमध्या गायत्री; ३,४ पथ्याबृहत्यौ; ८ उष्णिग्गर्भा परा त्रिष्टुप्; १२ भुरिग्गायत्री; १६ त्रिपदा प्रतिष्ठागायत्री; २१ ककुम्मती; २३ त्रिष्टुप्; २६ द्व्यवसाना षट्पदा बृहती गर्भा ककुम्मती भुरिक् त्रिष्टुप् ।

तृतीयोऽनुवाकः ।

सूक्त	मंत्रसंख्या	ऋषिः	देवता	छन्दः
५	१-२४	सिन्धुद्वीपः	आपः चन्द्रमाः	अनुष्टुप् । १-५ त्रिपदा पुरोभिकृतयः ककुम्मतीगर्भा पंक्तयः; ६ चतुष्पदा जगतीगर्भा जगती; ७-१०, १२, १३ त्र्यवसाना पञ्चपदा विपरीतपादलक्ष्मा बृहत्यः; ११, १४ पथ्यापंक्ति; १५-१८,२१ चतुरवसाना दशपदा त्रैष्टुग्गर्भा अतिधृतय; १९-२० कृती; २४ त्रिपदा विराड्गायत्री ।
	२५-३५	कौशिकः	विष्णुक्रमः मंत्रोक्ताः	२५— ३५ त्र्यवसाना षट्पदा यथाक्षरं शक्वर्योऽतिशक्वर्यश्च; ३६ पञ्चपदा अतिशाक्वर अतिजागतगर्भाष्टिः ।
	३६-५०	ब्रह्मा	मंत्रोक्ताः	३७ विराट् पुरस्ताद्बृहती; ३८ पुरोविराट्; ३९,४१ आर्षी गायत्र्यौ; ४० विराड्विषमा गायत्री ।

	४२-५०	विहव्यः	प्रजापतिः	४४ त्रिपदा गायत्रीगर्भानुष्टुप्; ५० त्रिष्टुप् ।
६	३५	बृहस्पतिः	फालमणिः वनस्पतिः ३ आपः	अनुष्टुप् । १, ४, २१ गायत्र्यः; ५ षट्पदा जगती; ६ सप्तपदा विराट् शक्वरी; ७-९ त्र्यवसाना अष्टपदा अष्टयः; १० नवपदा धृतिः; ११, २०; २३-२७ पथ्या पंक्तयः; १२-१७ त्र्यवसाना सप्तपदा शक्वर्यः; ३१ त्र्यवसाना षट्पदा जगती; ३५ पंचपदानुष्टुब्गर्भा जगती ।

चतुर्थोऽनुवाकः ।

७	४४	अथर्वा (क्षुद्रः)	स्कंभः अध्यात्मं मंत्रोक्ताः	त्रिष्टुभः । १ विराड् जगती; २, ८ भुरिजौ; ७, ११ परोष्णिहौ; १०, १४, १६, १८, १९ उपरिष्टाद्बृहत्यः; ११-१२, १५, २०, २२, ३९ उपरिष्टाज्ज्योतिर्जगत्यः; १७ त्र्यवसाना षट्पदा जगती; २१ बृहतीगर्भानुष्टुप्; २३-३०, ३७, ४०, अनुष्टुभः; ३१ मध्ये ज्योतिर्जगती; ३२, ३४, ३६ उपरिष्टाद्विराड् बृहत्यः; ३५ चतुष्पदा जगती; ४१ आर्षी त्रिपाद् गायत्री; ४४ आर्षी अनुष्टुप् ।
८	४४	कुत्सः	अध्यात्मं	त्रिष्टुभः । १ उपरिष्टाद्विराड् बृहती; २ बृहती गर्भानुष्टुप्; ५ भुरिगनुष्टुप् । ६, १४, १९-२१, २३, २५, २९, ३१-३४, ३७, ३८, ४१, ४३ अनुष्टुभः; ७ पराबृहती; १० अनुष्टुब्गर्भा बृहती; ११ जगती; १२ पुरोबृहती; त्रिष्टुब्गर्भार्षी पंक्तिः; १५; २७ भुरिग्बृहत्यौ; २२ पुरउष्णिक्; २६ द्व्युष्णिग्गर्भानुष्टुप्, ३० भुरिक्; ३९ बृहती गर्भा त्रिष्टुप्; ४२ विराड् गायत्री ।

पंचमोऽनुवाकः ।

९	२७	अथर्वा	शतौदना	अनुष्टुभः । १ त्रिष्टुप्; १२ पथ्यापंक्तिः; २५ द्व्यनुष्टुब्गर्भानुष्टुप्; २६ पंचपदा बृहत्यनुष्टुबुष्णिग्गर्भा जगती; २७ पञ्चपदातिजगत्यनुष्टुब्गर्भा शक्वरी ।
१०	३४	कश्यपः	वशा	अनुष्टुभः । १ ककुम्मती अनुष्टुप्; ५ स्कंधोग्रीवी बृहती; ६, ८, १० विराजः; २३ बृहती; २४ उपरिष्टाद्बृहती; २६ आस्तारपंक्तिः; २७ शंकुमती; २९ त्रिपदा विराड् गायत्री; ३१ उष्णिग्गर्भा; ३२ विराट् पथ्याबृहती ।

इस दशम काण्डमें अंगिरस ऋषिका १, नारायण ऋषिका १, बृहस्पतिका १, कुत्स ऋषिका १, कश्यप ऋषिका १, अथर्वा ऋषिके ४ और सिंधुद्वीप-कौशिक-ब्रह्मा-विहव्य इन चार ऋषियोंका मिलकर १ ऐसे दस सूक्त हैं। इस तरह ऋषिविभाग है।

तथा कृत्यादूषण देवताका १, पुरुष-ब्रह्मदेवताके ४, मणिदेवताके २, तक्षक देवताका १ और शतौदना वशा दोके २ मिलकर कुल दस सूक्त हैं।

अब इन मंत्रोंका अर्थ भावार्थ और विवरण देखिये—

ॐ

अथर्ववेदका सुबोधभाष्य।

दशमं काण्डम्।

---

(१) कृत्यादूषणं।

घातक प्रयोगको असफल बनाना।

यां कल्पयन्ति वहतौ वधूमिव विश्वरूपां हस्तकृतां चिकित्सवः।
सारादेत्वप नुदाम एनाम् ॥ १ ॥
शीर्षण्वती नस्वती कर्णिनी कृत्याकृता संभृता विश्वरूपा।
सारादेत्वप नुदाम एनाम् ॥ २ ॥
शूद्रकृता राजकृता स्त्रीकृता ब्रह्मभिः कृता।
जाया पत्या नुत्तेव कर्तारं बन्ध्वृच्छतु ॥ ३ ॥

अर्थ— (चिकित्सवः) निर्माता लोग (यां हस्तकृतां विश्वरूपां कल्पयन्ति) जिस कृत्या- घातक प्रयोग— को अपने हाथोंसे अनेक रूपोंवाली बना देते हैं, जैसे (वहतौ वधूं इव) वरातके समय वधूको सजाते हैं, (सा) वह कृत्या वह घातक प्रयोग (आरात् एतु) दूर चली जावे। हम (एनां अप नुदामः) इस घातक प्रयोगको दूर कर देते हैं॥ १॥

(विश्वरूपा शीर्षण्वती नस्वती कर्णिनी) अनेक रूपोंवाली सिरवाली, नाकवाली तथा कानवाली (कृत्यकृता संभृता) बनायी कृत्या जो तैयार हुई हो (सा आरात् एतु) वह दूर चली जावे, (एनां अप नुदामः) इसको हम दूर कर देते हैं॥ २॥

(पत्या नुत्ता जाया इव) पतिकी छोडी स्त्री जैसी (कर्तारं बन्धु) पिताके पास अथवा बन्धुके पास सीधी जाती है, उस प्रकार (शूद्रकृता, स्त्रीकृता, राजकृता, ब्रह्मभिः कृता) शूद्र, स्त्री, राजा अथवा ब्राह्मणों द्वारा की हुई कृत्या (कर्तारं ऋच्छतु) उसके कर्ताके पास वापिस जावे॥ २॥

अनयाहमोषध्या सर्वाः कृत्या अदूदुषम् ।
यां क्षेत्रे चक्रुर्यां गोषु यां वा ते पुरुषेषु ॥ ४ ॥
अघमस्त्वघकृते शपथः शपथीयते ।
प्रत्यक् प्रतिप्रहिण्मो यथा कृत्याकृतं हनत् ॥ ५ ॥
प्रतीचीन आङ्गिरसोऽध्यक्षो नः पुरोहितः ।
प्रतीचीः कृत्या आकृत्याऽमून् कृत्याकृतो जहि ॥ ६ ॥
यस्त्वोवाच परेहीति प्रतिकूलमुदाय्यम् ।
तं कृत्येऽभिनिवर्तस्व माऽस्मानिच्छो अनागसः ॥ ७ ॥
यस्ते परूंषि संदधौ रथस्येवर्भुर्धिया ।
तं गच्छ तत्र तेऽयनमज्ञातस्तेऽयं जनः ॥ ८ ॥
ये त्वा कृत्वाऽऽलेभिरे विद्वला अभिचारिणः ।
शंभ्वी३दं कृत्यादूषणं प्रतिवर्त्म पुनःसरं तेन त्वा स्नपयामसि ॥ ९ ॥

अर्थ— (यां क्षेत्रे) जिस कृत्या-घातक प्रयोग-को खेतमें (यां गोषु) जिसको गौओंमें करते हैं, (यां वा ते पुरुषेषु चक्रुः) अथवा जिसको तेरे पुरुषोंमें-पुरुषोंपर करते हैं, (सर्वाः ताः कृत्याः) वे सब घातक प्रयोग (अहं अनया ओषध्या* अदूदुषं) इस औषधिसे असफल बनाता हूं ॥ ४ ॥ (अथर्व० ४।१८।५ * अपामार्ग औषधि)

(अघकृते अघं अस्तु) पापाचरण करनेवालेको पाप लग जावे, (शपथीयते शपथः) शाप देनेवालेकोही शाप लग जावे, (प्रत्यक् प्रति प्रहिण्मः) हम सब बुराई वापस भेज देते हैं, (यथा कृत्याकृतं हनत्) जिससे घातक प्रयोग करनेवालेका नाश करे ॥ ५ ॥

(प्रतीचीनः आंगिरसः) घातक प्रयोगको वापिस भेजनेमें समर्थ आंगिरसी विद्यामें प्रवीण (अध्यक्षः नः पुरोहितः) अध्यक्ष ही हमारा मुखिया नेता है। वह (कृत्याः प्रतीचीः आकृत्य) घातक प्रयोगोंको लौटा देता है और वह इस साधनसे (अमून् कृत्याकृतः जहि) उन घातपात करनेवालोंका नाश करे ॥ ६ ॥

हे (कृत्ये) घातक प्रयोग ! (यः त्वा 'परा इहि' इति उवाच) जिस प्रयोगकर्ताने तुझे 'आगे बढ' ऐसा कहा, (तं प्रतिकूलं उदाय्यं अभिनिवर्तस्व) उस विरोधकर्ता शत्रुके पास पहुंच जा, और (अनागसः अस्मान् मा इच्छः) निरपराधी हम, लोगोंकी इच्छा मत कर अर्थात् हम पर आक्रमण न कर ॥ ७ ॥

हे कृत्ये (ऋभुः धिया रथस्य परूंषि) जैसा शिल्पी अपनी बुद्धिसे रथके अवयवोंको बनाता है वैसाही (यः ते परूंषि संदधौ) जो तेरे—घातक प्रयोगके-अवयवोंको बनाता है, उसी निर्माताके पास (तं गच्छ) वापिस जा, (तत्र ते अयनं) वहांही तुझे वापिस पहुंचना है, (अयं जनः ते अज्ञातः) यह मनुष्य तुझे अज्ञात ही रहे, अर्थात् इसपर हमला न होकर घातक प्रयोगकर्ताके पास वापिस चला जावे ॥ ८ ॥

(ये विद्वलाः=विह्वराः अभिचारिणः) जो धूर्त घातक प्रयोग करनेवाले (त्वा कृत्वा) हे कृत्ये तुझको बनाकर (आलेभिरे) धारण करते हैं, उस घातक प्रयोगका (कृत्यादूषणं इदं) प्रतिकार करनेवाला यह (शं-भु) शुभ साधन है (पुनःसरं प्रतिवर्त्म) यह पुनः घातक प्रयोगको लौटानेवाला है, अतः (तेन त्वा स्नपयामः) इससे तुझे स्नान कराते हैं, जिससे सब दोष दूर हो जावें ॥ ९ ॥

यद् दुर्भगां प्रस्नंपितां मृतवंत्सामुपेयिम ।
अपैतु सर्वं मत् पापं द्रविणं मोपं तिष्ठतु ॥ १० ॥ (१)

यत् ते पितृभ्यो ददंतो यज्ञे वा नाम जगृहुः ।
संदेश्याऽत् सर्वस्मात् पापादिमा मुञ्चन्तु त्वौषधीः ॥ ११ ॥

देवैनसात् पित्र्यान्नामग्राहात् संदेश्यादभिनिष्कृतात् ।
मुञ्चन्तु त्वा वीरुधो वीर्येण ब्रह्मण ऋग्भिः पयस ऋषीणाम् ॥ १२ ॥

यथा वातश्च्यावयति भूम्या रेणुमन्तरिक्षाच्चाभ्रम् ।
एवा मत् सर्वं दुर्भूतं ब्रह्मनुत्तमपायति ॥ १३ ॥

अपं क्राम नानंदती विनद्धा गर्दभीवं ।
कर्तॄन् नक्षस्वेतो नुत्ता ब्रह्मणा वीर्यावता ॥ १४ ॥

अयं पन्थाः कृत्येति त्वा नयामोऽभिप्रहितां प्रति त्वा प्र हिण्मः ।
तेनाभि याहि भञ्जत्यनस्वतीव वाहिनी विश्वरूपा कुरूटिनी ॥ १५ ॥

अर्थ— (यत् दुर्भगां प्रस्नपितां मृतवत्सां) जो दुर्भाग्ययुक्त, न्हाई हुई, मरे हुए पुत्रवालीको (उप ईयिम) प्राप्त करना आदिको प्राप्त होता है, यह (मत् सर्वं पापं अप एतु) मुझसे सब पाप दूर हो जावे और (द्रविणं मा उप तिष्ठतु) द्रव्य मेरे पास आजावे ॥ १० ॥

हे मनुष्य (यत् पितृभ्यः ददतः) जो पितरोंको देनेके समय, तथा (यज्ञे वा) यज्ञमें (ते नाम जगृहुः) तेरा नाम लेवें, तो (इमाः ओषधीः) ये औषधियां उस (संदेश्यात् सर्वस्मात् पापात्) होनेवाले सब पापसे (त्वा मुञ्चन्तु) तेरी मुक्तता करें ॥ ११ ॥

हे मनुष्य ! (वीरुधः) औषधियां (त्वा) तुझे (देव-एनसात् पित्र्यात्) देवता संबंधी पापसे, पितरोंके संबंधके पापसे नामग्राहात् संदेश्यात्) निंदित नाम लेने और बुरा कहनेके पापसे (अभिनिःकृतात्) अपमान करनेके पापसे (ब्रह्मणः वीर्येण) ज्ञानके बलसे, (ऋग्भिः) मंत्रोंकी शक्तिसे और (ऋषीणां पयसा) ऋषियोंके अमृतसे तेरी (मुञ्चन्तु) मुक्तता करे ॥ १२ ॥

(यथा वातः जैसा वायु (भूम्याः रेणुं अन्तरिक्षात् अभ्रं) भूमिसे धूली और अन्तरिक्षसे मेघको (च्यावयति) उडा देता है (एवा सर्वं दुर्भूतं) वैसा सब दुष्ट भाव (ब्रह्मनुत्तं अपायति) ज्ञानद्वारा निवारित होकर दूर हो जावे ॥ १३ ॥

हे कृत्ये ! (विनद्धा गर्दभी इव) बंधनसे छूटी गर्दभीके समान (नानदती अप क्राम) शब्द करती हुई दूर चली जा । (वीर्यावता ब्रह्मणा) वीर्ययुक्त ज्ञानसे (नुत्ता) वापस फेंकी हुई (इतः कर्तॄन् नक्षस्व) यहांसे कर्ताओंके पास भाग जा ॥ १४ ॥

हे कृत्ये ! (अयं पन्था त्वा अति नयामः) यह मार्ग है इससे दूर तुझे ले जाते हैं (अभि प्रहितां त्वा प्रति प्रहिण्मः) हमारे ऊपर फेंकी हुई तुझको हम वापस फेंक देते हैं । (तेन भञ्जती अभि याहि) उससे तोडती हुई आगे बढ (अनस्वती विश्वरूपा कुरूटिनी वाहिनी इव) रथयुक्त अनेक रूपोंसे युक्त भयंकर शब्द करती हुई सेना जैसी जाती है ॥ १५ ॥

परा॑क् ते॒ ज्योति॑रप॒थं ते॑ अ॒र्वाग॒न्यत्रा॒स्मदय॑ना कृणुष्व ।
परे॑णेहि नव॒तिं ना॒व्या॒३॒॑ अति॑ दु॒र्गाः स्रो॒त्या मा क्ष॑णिष्ठाः॒ परे॑हि ॥ १६ ॥

वात॑ इव वृ॒क्षान् नि मृ॑णीहि पा॒दय॒ मा गामश्वं॒ पुरु॑षमुच्छिष एषाम् ।
क॒र्तॄन् नि॒वृत्ये॒तः कृ॑त्येऽप्रजा॒स्त्वाय॑ बोधय ॥ १७ ॥

यां ते॑ ब॒र्हिषि॒ यां श्म॑शा॒ने क्षेत्रे॑ कृ॒त्यां व॑ल॒गं वा॑ निच॒ख्नुः ।
अ॒ग्नौ वा॑ त्वा॒ गार्ह॑पत्येऽभिचे॒रुः पाकं॒ सन्तं॒ धीर॑तरा अना॒गस॑म् ॥ १८ ॥

उ॒पाहृ॑तमनु॑बुद्धं॒ निखा॑तं॒ वैरं॑ त्सा॒र्यन्व॑विदाम॒ कर्त्र॑म् ।
तदे॑तु॒ यत॒ आभृ॑तं॒ तत्राश्व॑ इव॒ वि व॑र्ततां॒ हन्तु॑ कृत्या॒कृतः॑ प्र॒जाम् ॥ १९ ॥

स्वा॒य॒सा अ॒सयः॑ सन्ति नो गृ॒हे वि॒द्मा ते॑ कृत्ये यति॒धा परूं॑षि ।
उत्ति॑ष्ठै॒व परे॑ही॒तोऽज्ञा॑ते॒ किमि॒हेच्छ॑सि ॥ २० ॥ (२)

ग्री॒वास्ते॑ कृत्ये॒ पादौ॒ चापि॑ कर्त्स्यामि॒ निर्द्र॑व ।
इ॒न्द्रा॒ग्नी अ॒स्मान् र॑क्षतां॒ यौ प्र॒जानां॑ प्र॒जाव॑ती ॥ २१ ॥

अर्थ— हे कृत्ये ! (ते ज्योतिः पराक्) तुझे वापस होनेके लिये आगे प्रकाश दीखे, (ते अर्वाक् अपथं) तेरे लिये इधर आनेके लिये कोई मार्ग न दीखे, (अस्मत् अन्यत्र अयना कृणुष्व) हमको छोडकर दूसरी ओर गमन कर। (नाव्याः दुर्गाः नवतिं स्रोत्याः अति परेण इहि) नौकाद्वारा दुर्गम नव्वे नदियोंके पार दूर चली जा। (मा क्षणिष्ठाः) मत् मार, (परा इहि) दूर चली जा ॥ १६ ॥

हे कृत्ये ! (वातः वृक्षान् इव) वायु वृक्षोंको तोडता है ऐसे ही तू (कर्तॄन् नि मृणीहि) हिंसा कर्ताओंका नाश कर और (नि पादय) उखाड डाल। (एषां गां अश्वं पुरुषं मा उच्छिषः) इनके गौ घोडे और पुरुषोंको अवशिष्ट न रख (इतः निवृत्य) यहांसे निवृत्त होकर (अप्रजास्त्वाय बोधय) संतति नाशकी चेतावनी कृत्याके बनानेवालोंको दे ॥ १७ ॥

(यां कृत्यां ते बर्हिषि) जो घातक प्रयोग तेरे धान्यमें (यां श्मशाने) जो श्मशानमें, और (क्षेत्रे निचख्नुः) खेतमें गाड दिया हो, जो (गार्हपत्ये अग्नौ अभिचेरुः) जो गार्हपत्य अग्निमें अभिचार कर्म किया हो, (पाकं अनागसं सन्तं त्वा) तू पवित्र और निष्पाप होनेपर भी (धीरतराः) धूर्त लोगोंने जो अभिचार किया हो उसको निर्मूल करते हैं ॥ १८ ॥

(उपाहृतं अनुबुद्धं) लाया हुआ और जाना गया (नि-खातं वैरं त्सारि कर्त्रं अनु अविदाम) गाडा हुआ वैररूपी विनाशक अभिचार प्रयोगका हमें ज्ञात हुआ है. (यतः आभृतं तत् एतु) जहांसे वह लाया हो वहां वह वापिस पहुंचे, (तत्र अश्व इव वर्तताम्) वहां घोडेके समान भ्रमण करे और (कृत्याकृतः प्रजां हन्तु) अभिचारप्रयोग करनेवालेकी संतानोंका नाश करे ॥ १९ ॥

(स्वायसः असयः नः गृहे सन्ति) उत्तम लोहेकी तलवारें हमारे घरमें हैं। हे कृत्ये ! (ते परूंषि विद्म) तेरे जोडोंको हम जानते हैं कि वे (यतिधा) किस प्रकार और कितने हैं (उत्तिष्ठ एव, इतः परा इहि) उठ और यहांसे दूर भाग जा। हे (अज्ञाते) अज्ञात-मारण-प्रयोग ! (इह किं इच्छसि) यहां तू क्या चाहता है ? ॥ २० ॥

हे कृत्ये ! (ते ग्रीवाः पादौ च अपि कर्त्स्यामि) तेरी गर्दन और पांव मैं काट देता हूं यहांसे तू (निर्द्रव) भाग जा। (इन्द्राग्नी अस्मान् रक्षतां) इन्द्र और अग्नि हमारी रक्षा करें। जैसी (यौ प्रजानां प्रजावती) संतानोंकी रक्षा माताएं करती हैं ॥ २१ ॥

सोमो राजाधिपा मृडिता च भूतस्य नः पतयो मृडयन्तु ॥ २२ ॥
भवाशर्वावस्यतां पापकृते कृत्याकृते । दुष्कृते विद्युतं देवहेतिम् ॥ २३ ॥
यद्येयथ द्विपदी चतुष्पदी कृत्याकृता संभृता विश्वरूपा ।
सेतोऽष्टापदी भूत्वा पुनः परेहि दुच्छुने ॥ २४ ॥
अभ्यक्ताक्ता स्वरंकृता सर्वं भरन्ती दुरितं परेहि ।
जानीहि कृत्ये कर्तारं दुहितेव पितरं स्वम् ॥ २५ ॥
परेहि कृत्ये मा तिष्ठो विद्धस्येव पदं नय ।
मृगः स मृगयुस्त्वं न त्वा निकर्तुमर्हति ॥ २६ ॥
उत हन्ति पूर्वासिनं प्रत्यादायापर इष्वा ।
उत पूर्वस्य निघ्नतो नि हन्त्यपरः प्रति ॥ २७ ॥
एतद्धि शृणु मे वचोऽथेहि यत एयथ ।
यस्त्वा चकार तं प्रति ॥ २८ ॥

अर्थ—(सोमः राजा मृडिता) राजा सोम हमें सुख देवे तथा (भूतस्य पतयः नः मृडयन्तु) भूतोंके पति हमें सुख देवें ॥ २२ ॥

(भवाशर्वौ देवहेतिं विद्युतं) भव और शर्व ये देव देवोंके विद्युत् रूपी हथियारको (कृत्याकृते दुष्कृते पापकृते) घातक दुराचारी पापीके ऊपर (अस्यतां) फेंके ॥ २३ ॥

(यदि कृत्याकृता संभृता विश्वरूपा) यदि मारकप्रयोग तैयार होकर अनेकरूप धारण करके (द्विपदी चतुष्पदी एयथ) दो अथवा चार पांववाली बनकर हमारे पास आजावे, तो (हे दुच्छुने ! सा इतः अष्टापदी भूत्वा पुनः परा इहि) हे दुःख देनेवाले कृत्ये ! वह तूं यहांसे आठ पांववाली– अतिशीघ्र चलनेवाली होकर फिर वापिस चली जा ॥ २४ ॥

(अभ्यक्ता अक्ता स्वरंकृता) खूब तेल लगाई और सुशोभित की गई (सर्वं दुरितं भरन्ती) सब दुर्दशाको देनेवाली (परा इहि) दूर चली जा। (दुहिता स्वं पितरं इव) जैसी पुत्री अपने पिताको जानती है उस तरह तु (कर्तारं जानीहि) अपने कर्ताको जान ॥ २५ ॥

हे कृत्ये ! (परा इहि) दूर हो जा। (मा तिष्ठ) यहां मत ठहर। (विद्धस्य इव पदं नय) घायल हुए शिकारके स्थानको जैसा शिकारी जाता है वैसेही तू अपने स्थानको पहुंच, (मृगः सः मृगयुः त्वं) वह मृग है और तू शिकारी है (त्वा निकर्तुं न अर्हसि) इसको काटनेके लिये तू योग्य नहीं हो, अतः तू वापिस जा ॥ २६ ॥

(पूर्वासिनं अपरः प्रति आदाय इष्वा हन्ति) पहिले बैठे वीरको दूसरा शत्रु पकडकर बाणसे मारता है और (पूर्वस्य निघ्नतः अपरः प्रति नि हन्ति) और पहिला मारने लगता है उस समय दूसरा उसको भी पीटता है, इस तरह परस्पर आघात करते है ॥ २७ ॥

(एतत् हि मे वचः शृणु) यह मेरा भाषण सुन (अथ इहि यतः एयथ) और जा जहांसे आयी थी (यः त्वा चकार तं प्रति) जिसने तुझे बनाया उसके पास घातक प्रयोग वापिस चला जावे ॥ २८ ॥

×

अनागोहत्या वै भीमा कृत्ये मा नो गामश्वं पुरुषं वधीः ।
यत्रयत्रासि निहिता ततस्त्वोत्थापयामसि पर्णाल्लघीयसी भव ॥ २९ ॥
यदि स्थ तमसाऽऽवृता जालेनाभिहिता इव ।
सर्वाः संलुप्येतः कृत्याः पुनः कर्त्रे प्र हिण्मसि ॥ ३० ॥
कृत्याकृतो वलगिनोऽभिनिष्कारिणः प्रजाम् ।
मृणीहि कृत्ये मोच्छिषोऽमून् कृत्याकृतो जहि ॥ ३१ ॥
यथा सूर्यो मुच्यते तमसस्परि रात्रिं जहात्युषसश्च केतून् ।
एवाहं सर्वं दुर्भूतं कर्त्रं कृत्याकृता कृतं हस्तीव रजो दुरितं जहामि ॥ ३२ ॥ (३)

अर्थ— हे कृत्ये ! तू (अनागः-हत्या भीमा) निरपराधोंका वध करनेवाली भयंकर है (नः गां अश्वं पुरुषं मा वधीः) हमारे गौ घोडे और मनुष्योंका वध न कर । (यत्र यत्र निहिता असि) जहां जहां तू रखी गयी है (ततः त्वा उत्थापयामसि) वहांसे तुझे उखाड देते हैं । (तू पर्णात् लघीयसी भव) तू पत्तेसे भी छोटी हो जा ॥ २९ ॥

(यदि तमसा आवृताः स्थ) यदि तुम अंधेरेसे आच्छादित हुए हो जैसे (जालेन अभिहिता इव) जालसे घेरे जाते हैं तो तुमसे (सर्वाः कृत्याः इतः संलुप्य) सब घातक प्रयोग यहांसे लुप्त करके उनको मैं (पुनः कर्त्रे इतः प्र हिण्मसि) फिर कर्ताके प्रति यहांसे मैं वापिस भेजता हूं ॥ ३० ॥

हे कृत्ये ! (कृत्याकृतः वलगिनः) घातक प्रयोग करनेवाले बलशाली दुष्ट (प्रजां अभि निः कारिणः मृणीहि) जो प्रजाका नाश करते हैं उनकाही तू नाश कर । (अमून् कृत्याकृतः उच्छिषः) उन घातकोंमेंसे एक भी न बचे । उन सबको (जहि) मार ॥ ३१ ॥

(यथा सूर्यः तमसः परि मुच्यते) जैसा सूर्य अन्धकारसे छूटता है, (रात्रिं उषसः केतून् जहाति) रात्री तथा उषाके ध्वजोंको त्याग देता है, (एव अहं कृत्याकृता कृतं) इस तरह मैं घातकके द्वारा किया हुआ, (दुर्भूतं कर्त्रं जहामि ।) दुष्ट कृत्य त्याग देता हूं । जैसा (हस्ती रजः इव) हाथी धूलीको फेंकता है, उतने सहज भावसे मैं शत्रुके दुष्ट घातक प्रयोगको दूर करता हूं ॥ ३२ ॥

कृत्या-प्रयोग ।

' कृत्या ' नाम उस प्रयोगका है कि जिसके द्वारा किसीका मारण किया जाता है । किसीके घरमें, खेतमें, खानपानके वस्तुमें, कपडोंमें अथवा किसी अन्य स्थानमें कुछ मारक वस्तु रखी जाती है जिसके परिणामसे वह मर जाता है । इस प्रयोगको कृत्या प्रयोग, अथवा मारण प्रयोग कहते हैं ।

यह कुछ आंख नाक कानवाली मूर्ति करते हैं, बडी शोभावाली मूर्ति बनाते हैं, जो हाथमें पकडे वह मर जाता है । मूर्तिके अतिरिक्त कुछ अन्य वस्तु भी निर्माण की जाती है जिससे मारण हो जाता है ।

इस प्रयोगमें क्या होता है, इसका विधि क्या है, इसका किसीको भी आज पता नहीं है, आज इसके ग्रंथ भी उपलब्ध नहीं हैं । अतः इस प्रयोगके विषयमें निश्चित रूपसे हम कुछ कह नहीं सकते ।

इस प्रकारके प्रयोगोंका परिणाम अपने लोगोंपर न हो और यह घातक प्रयोग अपने लोगोंसे वापिस चला जाय, इस कार्यके लिये यह सूक्त है । इस सूक्तके इच्छाशक्तिपूर्वक पठनसे जो एक मानसिक बल पैदा होता है, उस बलसे उक्त कृत्या-प्रयोग पीछे हटता है और जिसने उस कृत्याका निर्माण किया था उसपर आकर परिणाम करता है ।

सब मंत्रोंका आशय यही है और वह आशय स्पष्ट है । अब इसको बनाना कैसा, और वापिस लौटाना कैसा यह तो एक बडा खोजका विषय है । मंत्रशास्त्रज्ञ कोई सच्चा जानकार हो वही इस विषयमें कह सकता है । अतः इस विषयमें हम कुछ भी नहीं लिख सकते, ऐसा कहते हुए हम इस सूक्तका विवरण यहांही समाप्त करते हैं ।

(२) केन-सूक्तम् ।

स्थूल शरीरमें अवयवोंके संबंधमें प्रश्न ।

केन पार्ष्णी आभृते पूरुषस्य केन मांसं संभृतं केन गुल्फौ ।
केनाङ्गुलीः पेशनीः केन खानि केनोच्छ्लङ्खौ मध्यतः कः प्रतिष्ठाम् ॥ १ ॥

कस्मान्नु गुल्फावधरावकृण्वन्नष्ठीवन्तावुत्तरौ पूरुषस्य ।
जङ्घे निर्ऋत्य न्यदधुः क्व स्विज्जानुनोः संधी क उ तच्चिकेत ॥ २ ॥

चतुष्टयं युज्यते संहितान्तं जानुभ्यामूर्ध्वं शिथिरं कबन्धम् ।
श्रोणी यदूरू क उ तज्जजान याभ्यां कुसिन्धं सुदृढं बभूव ॥ ३ ॥

कति देवाः कतमे त आसन् य उरो ग्रीवाश्चिक्युः पूरुषस्य ।
कति स्तनौ व्यदधुः कः कफोडौ कति स्कन्धान् कति पृष्टीरचिन्वन् ॥ ४ ॥

को अस्य बाहू समभरद् वीर्यं करवादिति ।
अंसौ को अस्य तद्देवः कुसिन्धे अध्या दधौ ॥ ५ ॥

अर्थ— (पुरुषस्य पार्ष्णी केन आभृते ?) मनुष्यकी एडियां किसने बनाईं ? (केन मांसं संभृतं ?) किसने मांस भर दिया ? (केन गुल्फौ) किसने टखने बनाये ? (केन पेशनीः अंगुलीः ?) किसने सुंदर अंगुलियां बनाईं ? (केन खानि ?) किसने इंद्रियोंके सुराख बनाये ? (केन उच्छ्लंखौ ?) किसने पांवके तलवे जोड दिये ? (मध्यतः कः प्रतिष्ठाम् ?) बीचमें कौन आधार देता है ? ॥ १ ॥

(नु कस्मात् अधरौ गुल्फौ अकृण्वन् ?) भला किसने नीचेके टखने बनाये हैं ? और (पुरुषस्य उत्तरौ अष्ठीवन्तौ) मनुष्यके ऊपरके घुटने ? (जंघे निर्ऋत्य क्व स्वित् न्यदधुः ?) जांघे अलग अलग बनाकर कहां भला लगा दी हैं (जानुनोः संधी क उ तत् चिकेत ?) जानुओंके संधीका किसने भला ढांचा बनाया ? ॥ २ ॥

(चतुष्टयं संहितान्तं शिथिरं कबंधं जानुभ्यां ऊर्ध्वं युज्यते ।) चार प्रकारसे अंतमें जोडा हुआ शिथिल (ढीला) यह पेट घुटनोंके ऊपर जोडा गया है। (श्रोणी, यत् ऊरू, क उ तत् जजान ? याभ्यां कुसिंधं सुदृढं बभूव) कुल्हे और जांघे किसने भला यह सब बनाया है जिससे धड बडा दृढ हुआ है ॥ ३ ॥

(ते कति कतमे देवाः आसन् ये पुरुषस्य उरः ग्रीवाः चिक्युः ?) वे कितने और कौनसे देव थे, जिन्होंने मनुष्यकी छाति और गलेको एकत्र किया ? (कति स्तनौ व्यदधुः ?) कितनोंने स्तनोंको बनाया ? (कः कफोडौ ?) किसने कोहनियां बनाईं ? (कति स्कंधान् ?) कितनोंने कंधोंको बनाया ? (कति पृष्टीः अचिन्वन् ?) कितनोंने पसलियोंको जोड दिया ? ॥ ४ ॥

(वीर्यं करवात् इति, अस्य बाहू कः समभरत् ?) यह पराक्रम करे इसलिये, इसके बाहू किसने भर दिये ? (कः देवः अस्य तत् अंसौ कुसिंधे अध्यादधौ ?) किस देवने इसके उन कंधोंको धडमें धर दिया है ? ॥ ५ ॥

कः सप्त खानि वि ततर्द शीर्षणि कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम् ।
येषां पुरुत्रा विजयस्य मह्मनि चतुष्पादो द्विपदो यन्ति यामम् ॥ ६ ॥

हन्वोर्हि जिह्वामदधात् पुरूचीमधा महीमधि शिश्राय वाचम् ।
स आ वरीवर्ति भुवनेष्वन्तरपो वसानः क उ तच्चिकेत ॥ ७ ॥

मस्तिष्कमस्य यतमो ललाटं ककाटिकां प्रथमो यः कपालम् ।
चित्वा चित्यं हन्वोः पूरुषस्य दिवं रुरोह कतमः स देवः ॥ ८ ॥

प्रियाऽप्रियाणि बहुला स्वप्नं संबाधतन्द्यः ।
आनन्दानुग्रो नन्दांश्च कस्माद्वहति पूरुषः ॥ ९ ॥

आर्तिरवर्तिर्निर्ऋतिः कुतो नु पुरुषेऽमतिः ।
राद्धिः समृद्धिरव्यृद्धिर्मतिरुदितयः कुतः ॥ १० ॥

को अस्मिन्नापो व्यदधाद् विषूवृतः पुरूवृतः सिन्धुसृत्याय जाताः ।
तीव्रा अरुणा लोहिनीस्ताम्रधूम्रा ऊर्ध्वा अवाचीः पुरुषे तिरश्चीः ॥ ११ ॥

अर्थ— (इमौ कर्णौ, नासिके, चक्षणी, मुखं, सप्त खानि शीर्षणि कः वि ततर्द ?) ये दो कान, दो नाक, दो आंख और एक मुख मिलकर सात सुराख सिरमें किसने खोदे हैं ? (येषां विजयस्य मह्मनि चतुष्पादः द्विपदः यामं पुरुत्रा यन्ति ।) जिनके विजयकी महिमामें चतुष्पाद और द्विपाद अपना मार्ग बहुत प्रकार आक्रमण करते हैं ॥ ६ ॥

(हि पुरूचीं जिह्वां हन्वोः अदधात् ।) बहुत चलनेवाली जीभके दोनों जबडोंके बीचमें रख दिया है- (अध महीं वाचं अधि शिश्राय !) और प्रभावशाली वाणीको उसमें आश्रित किया है ! (अपः वसानः सः भुवनेषु अन्तः आ वरीवर्ति !) कर्मोंको धारण करनेवाला वह सब भुवनोंके अंदर गुप्त रहा है ! (क उ तत् चिकेत ?) कौन भला उसको जानता है ? ॥ ७ ॥

(अस्य पूरुषस्य मस्तिष्कं, ललाटं, ककाटिकां, कपालं, हन्वोः चित्यं, यः यतमः प्रथमः चित्वा, दिवं रुरोह, स देवः कतमः ?) इस मनुष्यका मस्तिष्क, माथा, सिरका पिछला भाग, कपाल और जाबडोंका संचय, आदिको जिस पहिले देवने बनाया और जो द्युलोकमें चढ गया, वह देव कौनसा है ! ॥ ८ ॥

(बहुला प्रियाऽप्रियाणि, स्वप्नं संबाधतन्द्यः आनंदान् नंदान् च, उग्रः पुरुषः कस्माद् वहति ?) बहुत प्रिय और अप्रिय बातें, निद्रा, बाधाओं और थकावटों, आनंदों, और हर्षोंको यह प्रचंड पुरुष किस कारण धारण करता है ? ॥ ९ ॥

(आर्तिः अवर्तिः, निर्ऋतिः अमतिः, पुरुषे कुतः नु) पीडा, दरिद्रता, बीमारी, कुमति मनुष्यमें कहांसे होती है (राद्धिः समृद्धिः, अ-वि-ऋद्धिः, मतिः, उदितयः कुतः ?) पूर्णता, समृद्धि, अ-हीनता, बुद्धि, और उदयकी प्रवृत्ति कहांसे होती है ? ॥ १० ॥

(अस्मिन् पुरुषे वि-सु-वृतः, पुरु-वृत सिंधु-सृत्याय जाताः, अरुणाः, लोहिनीः, ताम्रधूम्राः, ऊर्ध्वाः, अवाचीः, तिरश्चीः, तीव्राः अपः कः व्यदधात् ?) इस मनुष्यमें विशेष घूमनेवाले, सर्वत्र घूमनेवाले, नदीके समान बहनेके लिये बने हुए, लाल रंगवाले, लोहेको साथ ले जानेवाले, तांबेके धूवेंके समान रंगवाले, ऊपर, नीचे और तिरछे, बगेसे चलनेवाले जलप्रवाह (अर्थात् रक्तके प्रवाह) किसने बनाये हैं ॥ ११ ॥

को अस्मिन् रूपमदधात् को मह्मानं च नाम च ।
गातुं को अस्मिन् कः केतुं कश्चरित्राणि पूरुषे ॥ १२ ॥
को अस्मिन् प्राणमवयत् को अपानं व्यानमु ।
समानमस्मिन् को देवोऽधि शिश्राय पूरुषे ॥ १३ ॥
को अस्मिन् यज्ञमदधादेको देवोऽधि पूरुषे ।
को अस्मिन्त्सत्यं कोऽनृतं कुतो मृत्युः कुतोऽमृतम् ॥ १४ ॥
को अस्मै वासः पर्यदधात् को अस्यायुरकल्पयत् ।
बलं को अस्मै प्रायच्छत् को अस्याकल्पयज्जवम् ॥ १५ ॥
केनापो अन्वतनुत केनाहरकरोद् रुचे ।
उषसं केनान्वैन्द्ध केन सायंभवं ददे ॥ १६ ॥
को अस्मिन् रेतो न्यदधात् तन्तुरा तायतामिति ।
मेधां को अस्मिन्नध्यौहत् को बाणं को नृतो दधौ ॥ १७ ॥
केनेमां भूमिमौर्णोत् केन पर्यभवद्दिवम् ।
केनाभि मह्ना पर्वतान् केन कर्माणि पूरुषः ॥ १८ ॥

अर्थ— (अस्मिन् रूपं कः अदधात् ?) इसमें रूप किसने रखा है ? (मह्मानं च नाम च कः अदधात्) महिमा और नाम यश किसने रखा है ? (अस्मिन् गातुं कः ?) इसमें गति किसने रखी है ? (कः केतुं ?) किसने ज्ञान रखा है ? और (पुरुषे चरित्राणि कः अदधात् ?) मनुष्यमें चरित्र किसने रखे हैं ? ॥ १२ ॥

(अस्मिन् कः प्राणं अवयत् ?) इसमें किसने प्राण चलाया है ? (कः अपानं व्यानं उ ?) किसने अपान और व्यानको लगाया है। (अस्मिन् पुरुषे कः देवः समानं अधि शिश्राय ?) इस पुरुषमें किस देवने समानको ठहराया है ? ॥ १३ ॥

(कः एकः देवः अस्मिन् पुरुषे यज्ञं अदधात् ?) किस एक देवने इस पुरुषमें यज्ञ रख दिया है ? (कः अस्मिन् सत्यं ?) कौन इसमें सत्य रखता है ? (कः अन्-ऋतम् ?) कौन असत्य रखता है ? (कुत मृत्युः) कहांसे मृत्यु होता है और (कुतः अमृतम् ?) कहांसे अमरपन मिलता है ॥ १४ ॥

(अस्मै वासः कः परि-अदधात्) इसके लिये कपडे किसने पहनाये हैं ? कपडे=शरीर। (अस्य आयुः कः अकल्पयत् ?) इसकी आयु किसने संकल्पित की ? (अस्मै बलं कः प्रायच्छत् ?) इसको बल किसने दिया ? और (अस्य जवं कः अकल्पयत् ?) इसका वेग किसने निश्चित किया है ? ॥ १५ ॥

(केन आपः अन्वतनुत ?) किसने जल फैलाया ? (केन अहः रुचे अकरोत् ?) किसने दिन प्रकाशके लिये बनाया (केन उषसं अनु ऐन्द्ध ?) किसने उषाको चमकाया ? (केन सायंभवं ददे ?) किसने सायंकाल दिया है ? ॥ १६ ॥

(तन्तुः आ तायतां इति, अस्मिन् रेतः कः नि-अदधात् ?) प्रजातंतु चलता रहे इसलिये, इसमें वीर्य किसने रख दिया है (अस्मिन् मेधां कः अधि-औहत् ?) इसमें बुद्धि किसने लगा दी है ? (कः बाणं ?) किसने वाणी रखी है ? (कः नृतः दधौ ?) किसने नृत्यका भाव रखा है ? ॥ १७ ॥

(केन इमां भूमिं और्णोत् ?) किसने इस भूमिको आच्छादित किया है ? (केन दिवं पर्यभवत् ?) किसने द्युलोकको घेरा है ? (केन मह्ना पर्वतान् अभि ?) किसने महत्वसे पहाडोंको ढंका है ? (पूरुषः केन कर्माणि ?) पुरुष किससे कर्मोंको करता है ? ॥ १८ ॥

केन॑ प॒र्जन्य॒मन्वे॑ति॒ केन॒ सोमं॑ विचक्ष॒णम् ।
केन॑ य॒ज्ञं च॑ श्र॒द्धां च॒ केना॑स्मि॒न्निहि॑तं॒ मनः॑ ॥ १९ ॥

केन॒ श्रोत्रि॑यमाप्नोति॒ केने॒मं प॑रमे॒ष्ठिन॑म् ।
केने॒मम॒ग्निं पूरु॑षः॒ केन॑ संवत्स॒रं म॑मे ॥ २० ॥

ब्रह्म॒ श्रोत्रि॑यमाप्नोति॒ ब्रह्मे॒मं प॑रमे॒ष्ठिन॑म् ।
ब्रह्मे॒मम॒ग्निं पूरु॑षो॒ ब्रह्म॑ संवत्स॒रं म॑मे ॥ २१ ॥

केन॑ दे॒वाँ अनु॑ क्षियति॒ केन॒ दैव॑जनी॒र्विशः॑ ।
केने॒दम॒न्यन्नक्ष॑त्रं॒ केन॒ सत् क्ष॒त्रमु॑च्यते ॥ २२ ॥

ब्रह्म॑ दे॒वाँ अनु॑ क्षियति॒ ब्रह्म॒ दैव॑जनी॒र्विशः॑ ।
ब्रह्मे॒दम॒न्यन्नक्ष॑त्रं॒ ब्रह्म॒ सत्क्ष॒त्रमु॑च्यते ॥ २३ ॥

केने॒यं भूमि॒र्विहि॑ता॒ केन॒ द्यौरुत्त॑रा हि॒ता ।
केने॒दमू॒र्ध्वं ति॒र्यक्चा॒न्तरि॑क्षं॒ व्यचो॑ हि॒तम् ॥ २४ ॥

अर्थ— (पर्जन्यं केन अन्वेति ?) पर्जन्यको किससे प्राप्त करता है ? (विचक्षणं सोमं केन ?) विलक्षण सोमको किससे पाता है ? (केन यज्ञं च श्रद्धां च ?) किससे यज्ञ और श्रद्धाको प्राप्त करता है ? (अस्मिन् मनः केन निहितं) इसमें मन किसने रखा है ? ॥ १९ ॥

(केन श्रोत्रियं आप्नोति ?) किससे ज्ञानीको प्राप्त करता है ? (केन इमं परमेष्ठिनम् ?) किससे इस परमात्माको प्राप्त करता है ? (पूरुषः केन इमं अग्निं) मनुष्य किससे इस अग्निको प्राप्त करता है ? (केन संवत्सरं ममे) किससे संवत्सर–कालको मापता है ? ॥ २० ॥

(ब्रह्म श्रोत्रियं आप्नोति ।) ज्ञान ज्ञानीको प्राप्त करता है। (ब्रह्म इमं परमेष्ठिनम् ।) ज्ञान इस परमात्माको प्राप्त करता है। (पूरुषः ब्रह्म इमं अग्निम् ।) मनुष्य ज्ञानसे इस अग्निको प्राप्त करता है। (ब्रह्म संवत्सरं ममे ।) ज्ञान ही कालको मापता है। ॥ २१ ॥

(केन देवान् अनु क्षियति ?) किससे देवोंको अनुकूल बनाकर बसाया जाता है ? (केन दैव–जनीः विशः ?) किससे दिव्यजन रूप प्रजाको अनुकूल बनाकर बसाया जाता है ? (केन सत् क्षत्रं उच्यते ?) किससे उत्तम क्षात्र कहा जाता है ? (केन इदं अन्यत् न–क्षत्रम् ।) किससे यह दूसरा न–क्षत्र है ऐसा कहते हैं ? ॥ २२ ॥

(ब्रह्म देवान् अनु क्षियति ।) ज्ञान ही देवोंको अनुकूल बनाकर बसाता है। (ब्रह्म दैव-जनीः विशः) ज्ञान ही दिव्यजन रूप प्रजाको अनुकूल बनाकर बसाता है। (ब्रह्म सत् क्षत्रं उच्यते ।) ज्ञान ही उत्तम क्षात्र है ऐसा कहा जाता है। (ब्रह्म इदं अन्यत् न-क्षत्रम् ।) ज्ञान यह दूसरा न-क्षत्र अर्थात् क्षात्रसे भिन्न अन्य बल है ॥ २३ ॥

(केन इयं भूमिः विहिता ?) किसने यह भूमि विशेष रीतिसे रखी है। (केन द्यौः उत्तरा हिता ?) किसने द्युलोक ऊपर रखा है ? (केन इदं अंतरिक्षं ऊर्ध्वं, तिर्यक् व्यचः च हितम् ?) किसने यह अंतरिक्ष ऊपर, तिरछा और फैला हुआ रखा है ? ॥ २४ ॥

ब्रह्मणा भूमिर्विहिता ब्रह्म द्यौरुत्तरा हिता। ब्रह्मेदमूर्ध्वं तिर्यक् चान्तरिक्षं व्यचो हितम् ॥२५॥
मूर्धानमस्य संसीव्याथर्वा हृदयं च यत्। मस्तिष्कादूर्ध्वः प्रैरयत् पवमानोऽधि शीर्षतः ॥२६॥
तद्वा अथर्वणः शिरो देवकोशः समुब्जितः। तत्प्राणो अभि रक्षति शिरो अन्नमथो मनः ॥२७॥
ऊर्ध्वो नु सृष्टा३स्तिर्यङ् नु सृष्टा३ः सर्वा दिशः पुरुष आ बभूवाँ३।
पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते ॥ २८ ॥
यो वै तां ब्रह्मणो वेदामृतेनावृतां पुरम्। तस्मै ब्रह्म च ब्राह्माश्च चक्षुः प्राणं प्रजां ददुः ॥२९॥
न वै तं चक्षुर्जहाति न प्राणो जरसः पुरा। पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते ॥३०॥
अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या। तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः ॥३१॥
तस्मिन् हिरण्यये कोशे त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठिते। तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत् तद्वै ब्रह्मविदो विदुः ॥३२॥
प्रभ्राजमानां हरिणीं यशसा संपरीवृताम्। पुरं हिरण्ययीं ब्रह्मा विवेशापराजिताम् ॥३३॥

अर्थ— (ब्रह्मणा भूमिः विहिता) ब्रह्मने भूमि विशेष प्रकार रखी है (ब्रह्म द्यौः उत्तरा हिता।) ब्रह्मने द्युलोक ऊपर रखा है। (ब्रह्म इदं अन्तरिक्षं ऊर्ध्वं, तिर्यक्, व्यचः च हितम्।) ब्रह्मने ही यह अंतरिक्ष ऊपर, तिरछा और फैला हुआ रखा है ॥ २५ ॥

(अथर्वा अस्य मूर्धानं, यत् च हृदयं, संसीव्य) अ-थर्वा अर्थात् निश्चल योगी अपना सिर, और जो हृदय है, उसको आपसमें सीकर; (पवमानः शीर्षतः अधि, मस्तिष्कात् ऊर्ध्वः प्रैरयत्।) प्राण सिरके बीचमें, परंतु मस्तिष्कके ऊपर, प्रेरित करता है ॥ २६ ॥

(तद् वा अथर्वणः शिरः समुब्जितः देव-कोशः।) वह निश्चयसे योगीका सिर देवोंका सुरक्षित खजाना है। (तत् शिरः प्राणः, अन्नं, अथो मनः अभि रक्षति।) उस सिरका रक्षण प्राण, अन्न और मन करते हैं ॥ २७ ॥

(पुरुषः ऊर्ध्वः नु सृष्टाः।) पुरुष ऊपर निश्चयसे फैला है। (तिर्यङ् नु सृष्टाः) निश्चयसे तिरछा फैला है। तात्पर्य (पुरुषः सर्वाः दिशः आबभूव।) पुरुष सब दिशाओंमें है। (यः ब्रह्मणः पुरं वेद।) जो ब्रह्मकी नगरी जानता है। (यस्याः पुरुष उच्यते।) जिस नगरीके कारण ही उसको पुरुष कहा जाता है ॥ २८ ॥

(यः वै अमृतेन आवृतां तां ब्रह्मणः पुरं वेद।) जो निश्चयसे अमृतसे परिपूर्ण उस ब्रह्मकी नगरीको जानता है। (तस्मै ब्रह्म ब्राह्माः च चक्षुः प्राणं, प्रजां च ददुः) उसको ब्रह्म और इतर देव चक्षु, प्राण और प्रजा देते आये हैं ॥ २९ ॥

(यस्याः पुरुष उच्यते, ब्रह्मणः पुरं यः वेद।) जिसके कारण (आत्माको) पुरुष कहते हैं, उस ब्रह्मकी नगरीको जो जानता है; (तं जरसः पुरा चक्षुः न जहाति, न वै प्राणः।) उसको वृद्धावस्थाके पूर्व चक्षु छोडता नहीं, और न प्राण छोडता है ॥ ३० ॥

(अष्टा-चक्रा, नव-द्वारा, अयोध्या देवानां पूः।) जिसमें आठ चक्र हैं, और नौ द्वार हैं, ऐसी यह अयोध्या, देवोंकी नगरी है (तस्यां हिरण्ययः कोशः, ज्योतिषा आवृतः स्वर्गः।) उसमें तेजस्वी कोश है, जो तेजसे परिपूर्ण स्वर्ग है ॥ ३१ ॥

(त्रि-अरे, त्रि-प्रतिष्ठिते, तस्मिन् तस्मिन् हिरण्यये कोशे, यत् आत्मन्वत् यक्षं तद् वै ब्रह्म-विदः विदुः) तीन आरोंसे युक्त, तीन केंद्रोंमें स्थिर, ऐसे उसी तेजस्वी कोशमें, जो आत्मवान् यक्ष है, उसको निश्चयसे ब्रह्मज्ञानी जानते हैं ॥ ३२ ॥

(प्रभ्राजमानां, हरिणीं, यशसा सं परिवृतां, अपराजितां, हिरण्ययीं पुरं, ब्रह्म आ विवेश।) तेजस्वी, दुःख हरण करनेवाली, यशसे परिपूर्ण, कभी पराजित न हुई, ऐसी प्रकाशमय पुरीमें ब्रह्म आविष्ट होता है ॥ ३३ ॥

केन-सूक्तका विचार ।

(१) किसने अवयव बनाये ?

चतुर्थ मंत्रमें " कति देवाः " देव कितने हैं, जो मनुष्यके अवयव बनानेवाले हैं ? यह प्रश्न आता है । इससे पूर्व तथा उत्तर मंत्रोंमें भी " देव " शब्दका अनुसंधान करके अर्थ करना चाहिये । " मनुष्यकी एडियां किस देवने बनायीं हैं?" इत्यादि प्रकार सर्वत्र अर्थ समझना उचित है । मनुष्यका शरीर बनानेवाले देव एक हैं या अनेक हैं और किस देवने कौनसा भाग, अवयव तथा इंद्रिय बनाया है ? यह प्रश्नोंका तात्पर्य है । इसी प्रकार आगे भी समझना चाहिये ।

(२) ज्ञानेंद्रियों और मानसिक भावनाओंके संबंधमें प्रश्न ।

मंत्र छः में सात इंद्रियोंके नाम कहे हैं । दो कान, दो नाक, दो आंख और एक मुख । ये सात ज्ञानके इंद्रिय हैं । वेदमें अन्यत्र इनको ही १ सप्त ऋषि, २ सप्त अश्व, ३ सप्त किरण, ४ सप्त अग्नि, ५ सप्त जिह्वा, ६ सप्त प्राण आदि नामोंसे वर्णन किया है । उस उस स्थानमें यही अर्थ जानकर मंत्रका अर्थ करना चाहिये । गुदा और मूत्रद्वारके और दो सुराख हैं । सब मिलकर नौ सुराख होते हैं । ये ही इस शरीररूपी नगरीके नौ महाद्वार हैं । मुख पूर्वद्वार है, गुदा पश्चिमद्वार है, अन्यद्वार इससे छोटे हैं । (इसी सूक्तका मंत्र ३१ देखो)

यद्यपि ..." पुरुष " शब्द (पुर्-वस) उक्त नगरीमें वसनेवालेका बोध कराता है, इसलिये सर्व साधारण प्राणिमात्रका वाचक होता है, तथापि यहांका वर्णन विशेषतः मनुष्यके शरीरकाही समझना उचित है । " चतुष्पाद और द्विपाद " शब्दोंसे संपूर्ण प्राणिमात्रका बोध मंत्र ६ में लेना आवश्यक ही है, इस प्रकार अन्य मंत्रोंमें लेनेसे कोई हानि नहीं है, तथापि मंत्र ७ में जो वाणीका वर्णन है वह मनुष्यकी वाणीका ही है, क्योंकि सब प्राणियोंमें यह वाक्शक्ति वैसी नहीं है, जैसी मनुष्यप्राणीमें पूर्ण विकसित हो गई है । मंत्र ९, १० में " मति अमति " आदि शब्द मनुष्यका ही वर्णन कर रहे हैं । इस प्रकार यद्यपि मुख्यतः सब वर्णन मनुष्यका है, तथापि प्रसंगविशेषमें जो मंत्र सामान्य अर्थके बोधक हैं, वे सर्व सामान्य प्राणिजातिके विषयमें समझनेमें कोई हानि नहीं है ।

मंत्र आठमें " स्वर्गपर चढनेवाला देव कौनसा है ? यह प्रश्न अत्यंत महत्त्वपूर्ण है । यह मंत्र जीवात्माका मार्ग बता रहा है । इस प्रश्नका दूसरा एक अनुक्त भाग है वह यह है कि, " नरकमें कौन गिर जाता है ? " तात्पर्य जीव स्वर्गमें क्यों जाता है ? और नरकमें क्यों गिरता है ?

मंत्र ९ और १० में अच्छे और बुरे दोनों पहलुओंके प्रश्न हैं । १ अप्रिय, स्वप्न, संबाध, तंद्री, आर्ति, अवर्ति, निर्ऋति, अमति ये शब्द हीन अवस्था बता रहे हैं, २ और प्रिय, आनंद, नंद, राद्धि, समृद्धि ऋद्धि, मति, उदिति ये शब्द उच्च अवस्था बता रहे हैं । दोनों स्थानोंमें आठ आठ शब्द हैं और उनका परस्पर संबंध भी है । पाठक विचार करनेपर उस संबंधको जान सकते हैं । तथा—

(३) रुधिर, प्राण, चारित्र्य, अमरत्व आदिके विषयमें प्रश्न ।

मंत्र ११ में शरीरमें रक्तका प्रवाह किसने संचारित किया है ? यह प्रश्न है । प्रायः लोग समझते हैं, कि शरीरमें रुधिराभिसरणका तत्त्व यूरोपके डाक्टरोंने ढूंढा है । परंतु इस अथर्ववेदके मंत्रोंमें यह स्पष्ट ही है । रुधिरका नाम इस मंत्रमें " लोहिनीः आपः " है, इसका अर्थ " (लोह-नीः) लोहेको अपने साथ ले जानेवाला (आपः) जल " ऐसा होता है । अर्थात् रुधिरमें जल है और उसके साथ लोहा भी है । लोहा होनेके कारण उसका यह लाल रंग है । लोहे जिसमें है वही " लोहित " (लोह+इत) होता है । दो प्रकारका रक्त होता है एक " अरुणाः आपः " अर्थात् लाल रंगवाला और दूसरा " ताम्र-धूम्राः आपः " तांबेके जंगके समान मलिन रंगवाला । पहिला शुद्ध रक्त है जो हृदयसे बाहिर आता है और सब शरीरमें ऊपर, नीचे और चारों ओर व्यापता है । दूसरा मलिन रंगका रक्त है, जो शरीरमें भ्रमण करके और वहांकी शुद्धता करनेके पश्चात् हृदयकी ओर वापिस आता है । इस प्रकारकी यह

... पंकारक अधिरामिसरण की योजना किसने की है, यह ... यहां किया है। किस देवताका यह कार्य है? पाठको सोचिये।

मंत्र १२ में प्रश्न पूछा है. कि, "मनुष्यमें सौन्दर्य, महत्त्व, यश, प्रयत्न, शक्ति, ज्ञान और चारित्र्य किस देवताके प्रभावसे दिखाई देता है?" इस मंत्रके "चरित्र" शब्दका अर्थ कई लोग "पांव" ऐसा समझते हैं, परंतु इस मंत्रके पूर्वापर संबंधसे यह अर्थ नहीं दिखाई देता। क्योंकि स्थूल पांवका वर्णन पहिले मंत्रमें हो चुका है। यहां सूक्ष्म गुणधर्मोंका वर्णन चला है। तथा महिमा, यश, ज्ञान आदिके साथ चारित्र्य ही अर्थ ठीक दिखाई देता है।

...त्र १५ में "वासः" शब्द "कपडों" का वाचक है। यह जीवात्माके ऊपर जो शरीररूपी कपडे हैं, उनका संबंध है, धोती आदिका नहीं। श्रीमद्भगवद्गीतामें कहा है कि — "जिस प्रकार मनुष्य पुराने वस्त्रोंको छोडकर नये ग्रहण करता है उसी प्रकार शरीरका स्वामी आत्मा पुराने शरीर त्याग कर नये शरीर धारण करता है। (गीता २।२२)" इसमें शरीरकी तुलना कपडोंके साथ की है। इस गीताके श्लोकमें "वासांसि" अर्थात् "वासः" यही शब्द है, इसलिये गीताकी यह कल्पना इस अथर्ववेदके मंत्रसे ली हुई है। कई विद्वान् यहां इस मंत्रमें "वासः" का अर्थ "निवास" करते हैं, परंतु "परि-अदधात्-(पहनाया)" यह क्रिया बता रही है कि यहां कपडोंका पहनाना अभीष्ट है। इस आत्मापर शरीररूपी कपडे किसने पहनाये? यह इस प्रश्नका सीधा तात्पर्य है।

(४) मन, वाणी, कर्म, मेधा, श्रद्धा तथा बाह्य जगत् के विषयमें प्रश्न।

(समष्टि-व्यष्टिका संबंध)

मंत्र १५ तक व्यक्तिके शरीरके संबंधमें विविध प्रश्न हो रहे थे, परंतु अब मंत्र १६ से जगत्के विषयमें प्रश्न पूछे जा रहे हैं, इसके आगे मंत्र २१ और २२ में समाज और राष्ट्रके विषयमें भी प्रश्न आ जांयगे। तात्पर्य इससे वेदकी शैलीका पता लगता है, (१) अध्यात्ममें व्यक्तिका संबंध, (२) अधिभूतमें प्राणिसमष्टिका अर्थात् समाजका संबंध, और (३) अधिदैवतमें संपूर्ण जगत्का संबंध है। वेद व्यक्तिसे प्रारंभ करता है और चलते चलते सम्पूर्ण जगतका ज्ञान यथाक्रम देता है। यही वेदकी शैली है। जो इसको नहीं समझते, उनके ध्यानमें उक्त प्रश्नोंकी संगति नहीं आती। इसलिये इस शैलीको समझना चाहिये।

वेद समझता है, कि जैसा एक अवयव हाथ पांव आदि शरीरके साथ जुडा है, उसी प्रकार एक शरीर समाजके साथ संयुक्त हुआ है और समाज संपूर्ण जगत्के साथ मिला है। "व्यक्ति समाज और जगत्" ये अलग नहीं हो सकते। हाथ पांव आदि अवयव जैसे शरीरमें हैं, उसी प्रकार व्यक्ति और कुटुंब समाजके साथ लगे हैं और सब प्राणियोंकी समष्टि संपूर्ण जगतसे संलग्न हो गई है। इसलिये तीनों स्थानोंमें नियम एक जैसे ही हैं। (चित्र अगले २० में पृष्ठपर देखो.)

सोलहवें मंत्रमें "आपः, अह्नः उषा, सायंभव" ये चार शब्द क्रमशः बाह्य जगत्में "जल, दिन, उषःकाल और सायंकाल" के वाचक हैं, तथा व्यक्तिके शरीरमें "जीवन, जागृति, इच्छा और विश्रांति" के सूचक हैं। इसलिये इस सोलहवें मंत्रका भाव दोनों प्रकार समझना उचित है। ये चार भाव समाज और राष्ट्रके विषयमें भी होते हैं, सामाजिक जीवन, राष्ट्रीय जागृति, जनताकी इच्छा और लोगोंका आराम ये भाव सामुदयिक जीवन में हैं। पाठक इस प्रकार इस मंत्रका भाव समझें।

मंत्र १७ में फिर वैयक्तिक बातका उल्लेख है। प्रजातंतु अर्थात् संततिका तांता (धागा) टूट न जाय, इसलिये शरीरमें वीर्य है यह बात यहां स्पष्ट कही है। तैत्तिरीय उपनिषद्में "प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः (तै० १। ११।१)" संततिका तांता न तोड। यह उपदेश है। वही भाव यहां सूचित किया है। यहां दूसरी बात सूचित होती है कि वीर्य योंही खोनेके लिये नहीं है, परंतु उत्तम संतति करनेके लियेही है। इसलिये कामोपभोगके अतिरेकमें वीर्यका नाश नहीं करना चाहिये, प्रत्युत उसको सुरक्षित करके उत्तम संतति उत्पन्न करनेमें ही खर्च करना चाहिये। इसी सूक्तमें आगे आकर मंत्र २९ में कहेंगे कि "जो ब्रह्मकी नगरीको जानता है उसको ब्रह्म और इतर देव उत्तम इंद्रिय, दीर्घ जीवन और उत्तम संतति देते हैं।" उस मंत्रके अनुसंधानमें इस मंत्रके प्रश्नको देखना चाहिये। वंश अथवा कुलका क्षय नहीं होना चाहिये, और संततिका क्रम चलता रहना चाहिये; इतना नहीं परंतु उत्तरोत्तर संततिमें शुभगुणोंकी वृद्धि होनी चाहिये इसलिये उक्त सूचना दी है। अज्ञानी लोग वीर्यका नाश दुर्व्यसनोंमें कर देते हैं, और उससे अपना और कुलका घात करते हैं;

त्वष्टा
अग्नि
नारायण
(वि-भूति)
आधिदैव
विश्वे देव
मरुतः
इन्द्र
वायु
आधिदैवत
(परमेष्ठी)
विश्व
जगत्
राष्ट्र
समाज
वैश्वानर
(सं-भूति)
अधिभूत
(प्राणिसमष्टि)
(अ-सं-भूति नर)
व्यक्ति
अध्यात्म (व्यष्टि)

परंतु ज्ञानी लोग वीर्यका संरक्षण करते हैं और सुसंतति निर्माण करने द्वारा अपना और कुलका संवर्धन करते हैं। यही धार्मिकों और अधार्मिकोंमें भेद है।

इसी मंत्रमें "वाण" शब्द "वाणी" का वाचक और "नृतः" शब्द "नाटय" का वाचक है। मनुष्य जिस समय बोलता है उस समय हाथ पांवसे अंगोंके विशेष तथा विशेष प्रकारके आविर्भाव करता है। यही "नृत्" हैं। भाषणके साथ मनके भाव व्यक्त करनेके लिये अंगोंके विशेष आविर्भाव होने चाहियें, यह आशय यहां स्पष्ट व्यक्त हो रहा है।

मंत्र १८ में जगत्के विषयमें प्रश्न है। भूमि, द्युलोक और पर्वत किसने व्यापे हैं? अर्थात् व्यापक परमात्मा सब जगत्में व्याप्त हो रहा है, यह इसका उत्तर आगे मिलता है। व्यक्तिमें जैसा आत्मा है, वैसा संपूर्ण जगत् में परमात्मा विद्यमान है। पुरुष शब्दसे दोनोंका बोध होता है। व्यक्तिमें जीवात्मा पुरुष है और जगत्में परमात्मा पुरुष है। यह आत्मा कर्म क्यों करता है। यह प्रश्न इस मंत्रमें हुआ है।

मंत्र १९ में यज्ञ करनेका भाव तथा श्रद्धाका श्रेष्ठ भाव मनुष्यमें कैसा आता है, यह प्रश्न है। पाठक भी इसका बहुत विचार करें, क्योंकि इन गुणोंके कारण ही मनुष्यका श्रेष्ठत्व है। ये भाव मनमें रहते हैं और मनके प्रभावके कारण ही मनुष्य श्रेष्ठ होता है। तथा—

(५) ज्ञान और ज्ञानी।

मंत्र २० में चार प्रश्न हैं और उनका उत्तर मंत्र २१ में दिया है। श्रोत्रियको कैसा प्राप्त किया जाता है? गुरुको किस रीतिसे प्राप्त करना है? इसका उत्तर "ज्ञानसे ही

प्राप्त करना चाहिये " अर्थात् गुरु पहचाननेका ज्ञान शिष्यमें चाहिये। अन्यथा ढोंगी धूर्तके जालमें फंस जाना असंभव नहीं है।

परमात्माको कैसे प्राप्त किया जाता है। इस प्रश्नका उत्तर " ज्ञानसे " ही है, ज्ञानसे ही परमात्माका ज्ञान होता है। " परमेष्ठी " शब्दका अर्थ " परम स्थानमें रहने-वाला आत्मा " ऐसा है। परेसे परे जो स्थान है, उसमें जो रहता है, वह परमेष्ठी परमात्मा है। (१) स्थूल, (२) सूक्ष्म, (३) कारण और (४) महाकारण इससे परे वह है, इसलिये उसको " परमेष्ठी " किंवा " पर-तमे-ष्ठी " परमात्मा कहते हैं। इसका पता ज्ञानसे ही लगता है। सबसे पहिले अपने ज्ञानसे सद्गुरुको प्राप्त करना है, तत्पश्चात् उस सद्गुरुसे दिव्यज्ञान प्राप्त करके परमेष्ठी परमात्माके जानना होता है।

तीसरा प्रश्न " अग्नि कैसा प्राप्त होता है ? " यह है; यहां ' अग्नि ' शब्दसे सामान्य आग्नेय भाव लेना उचित है। ज्ञानाग्नि, प्राणाग्नि, आत्माग्नि, ब्रह्माग्नि आदि जो सांकेतिक अग्नि हैं, उनका यहां बोध लेना चाहिये। क्योंकि गुरुका उपदेश और परमात्मज्ञानके साथ संबंध रखनेवाले तेजके भाव ही यहां अपेक्षित हैं। वे सब गुरुके उपदेशसे प्राप्त होनेवाले ज्ञानसे ही प्राप्त होता है।

चौथा प्रश्न संवत्सरकी गिनतीके विषयमें है। संवत्सर " वर्ष " का नाम है। इससे " काल " का बोध होता है। इसके अतिरिक्त " सं-वत्सर " का अर्थ ऐसा होता है— (सं सम्यक् वसति वासयति वा स सं-वत्सरः) जो उत्तम प्रकार सर्वत्र रहता है और सबको उत्तम रीतिसे बसाता है वह संवत्सर कहलाता है। विष्णुसहस्र-नाममें संवत्सरका अर्थ सर्वव्यापक परमात्मा किया है। " सम्यक् निवास " इतना ही अर्थ यहां अपेक्षित है। सम्यक् निवास अर्थात् उत्तम प्रकारसे रहना सहना किससे होता है ? यह प्रश्न है। उसका उत्तर " ज्ञानसे ही उत्तम निवास हो सकता है " अर्थात् ज्ञानसे ही मनुष्य अपना वैयक्तिक और सामुदायिक कर्तव्य जानता है, और ज्ञानसे ही उस कर्तव्यका पालन करता है; तात्पर्य व्यक्ति समाज और जगत्में उत्तम शांतिकी स्थापना उत्तम ज्ञानसे ही होती है। ज्ञान ही सब की सुस्थितिका हेतु है। इस प्रकार इन मंत्रों द्वारा ज्ञानका महत्त्व वर्णन किया है।

ज्ञान गुण आत्माका होनेसे यहां ब्रह्म शब्दसे आत्माका भी बोध होता है, और आत्माके ज्ञानसे यह सब होता है। ऐसा भाव व्यक्त होता है। क्योंकि ज्ञान आत्मासे पृथक् नहीं है। इसी लिये ब्रह्म शब्दके ज्ञान, आत्मा, परमात्मा, परब्रह्म आदि अर्थ हैं।

(६) देव और देवजन।

मंत्र २२ में " देव " शब्दके तीन अर्थ हैं– (१) इंद्रियां, (२) ज्ञानी शूर आदि सज्जन, (३) और अग्नि इंद्र आदि देवतायें। ये अर्थ लेकर पहिले प्रश्नका अर्थ करना चाहिये। देवोंको अनुकूल बनाना और उनको उत्तम स्थान देना, यह किससे होता है यह प्रश्न है। इसका निम्न प्रकार तात्पर्य है। (१) आध्यात्मिक भाव = (व्यक्तिके देहमें) = किससे इंद्रियों अवयवों और सब अंगोंको अनुकूल बनाया जाता है ? और किससे उनका उत्तम प्रकारसे स्वास्थ्यपूर्वक निवास होता है ? इसका उत्तर ज्ञानसे इंद्रियोंको अनुकूल बनाया जाता है और उनका निवास उत्तम स्वास्थ्यपूर्वक होनेकी व्यवस्था की जाती है। (२) आधिभौतिक भाव = (राष्ट्रके देहमें) = राष्ट्रमें देवोंका पंचायतन होता है। एक " ज्ञान-देव " ब्राह्मण होते हैं, दूसरे " बल-देव " क्षत्रिय होते हैं, तीसरे ' धन-देव ' वैश्य होते हैं, चौथे " कर्म-देव " शूद्र होते हैं, पांचवे " वन देव " नगरोंसे बाहिर रहनेवाले लोग होते हैं। इन पांचोंके प्रतिनिधि जिस सभामें होते हैं, उस सभाको " पंचायत " अथवा " पंचायतन " कहते हैं और उस सभाके सभासदोंको " पंच " कहते हैं। ये पांचों प्रकारके देव राष्ट्र-पुरुषके शरीरमें अनुकूल बनकर किससे रहते हैं ? यह प्रश्नका तात्पर्य है। " ज्ञानसे ही सब जन अनुकूल व्यवहार करते हैं, और ज्ञानसे ही सबका योग्य निवास होता है। " यह उक्त प्रश्नका उत्तर है। राष्ट्रमें ज्ञानका प्रचार होनेसे सबका ठीक व्यवहार होता है। इन दोनों मंत्रोंमें " देव-जनीः विशः " ये शब्द हैं, इसका अर्थ " देवसे जन्मी हुई प्रजा " ऐसा होता है। अर्थात् सब प्रजाजनोंकी उत्पत्तिका हेतु देव है। यह सब संतान देवोंकी है। तात्पर्य कोई भी अपने आपको नीच न समझे और दूसरेको भी हीन दीन न माने; क्योंकि सब लोग देवतासे उत्पन्न हुवे हैं इसलिये श्रेष्ठ हैं और समान हैं। इनकी उत्पत्ति ज्ञानसे होती है, (३) आधिदैविक भाव = (जगत्में) = अग्नि, विद्युत्, वायु, सूर्य आदि सब देवताओंको अनुकूल बनाना किससे होता है ? और निवासके लिये उनसे सहायता किससे मिलती है। इस प्रश्नका उत्तर भी " ज्ञानसे यह सब होता है, " यही है।

ज्ञानसेही भूमि, जल, तेज, वायु, सूर्य आदि देवताओंकी अनुकूलता संपादन की जाती है और ज्ञानसेही अपने सुखमय निवासके लिये उनकी सहायता ली जाती है; अथवा जो ज्ञानस्वरूप परब्रह्म है वही सब करता है। उक्त प्रश्नका तीनों स्थानोंमें अर्थ इस प्रकार होता है। यहां भी "ब्रह्म" शब्दसे ज्ञान, आत्मा, परमात्मा आदि अर्थ लिये जा सकते हैं, क्योंकि केवल ज्ञान आत्मासे भिन्न नहीं रहता है।

दूसरे प्रश्नमें "देव-जनीः विशः" अर्थात् विव्यप्रजा परस्पर अनुकूल बनकर किस रीतिसे सुखपूर्ण निवास करती है, यह भाव है। इस विषयमें पूर्व स्थलमें लिखाही है। इस प्रश्नके उत्तर भी 'ज्ञानसे यह सब होता है' यही है।

तीसरे प्रश्नमें पूछा है कि "सत् क्ष-त्र" उत्तम क्षात्र किससे होता है? क्षतों अर्थात् दुःखोंसे जो त्राण अर्थात् रक्षण किया जाता है, उसको क्षत्र कहते हैं। दुःख, कष्ट, आपत्ति, हानि, अवनति आदिसे बचाव करनेकी शक्ति किससे प्राप्त होती है, यह प्रश्न है। इसका उत्तर "ज्ञानसे वह शक्ति आती है" यही है। ज्ञानसे सब कष्ट दूर होते हैं, यह बात जैसी व्यक्तिमें वैसीही समाजमें और राष्ट्रमें बिलकुल सत्य है।

"दूसरा न-क्षत्र किससे होता है?" यह चौथा प्रश्न है। यहां "न-क्षत्र" शब्द विशेष अर्थसे प्रयुक्त हुआ है। आकाशमें जो तारागण हैं उनको "नक्षत्र" कहते हैं, इसलिये कि वे (न क्षरन्ति) अपने स्थानसे पतित नहीं होते। अर्थात् अपने स्थानसे पतित न होनेका भाव जो "न-क्षत्र" शब्दमें है वह यहां अभीष्ट है। यह अर्थ लेनेसे उक्त प्रश्नका तात्पर्य निम्नलिखित प्रकार हो जाता है, 'किससे यह दूसरा न गिरनेका सद्गुण प्राप्त होता है?' इसका उत्तर "ज्ञानसे न गिरनेका सद्गुण प्राप्त होता है" यह है। जिसके पास ज्ञान होता है, वह अपने स्थानसे कभी गिरता नहीं। यह जैसा एक व्यक्तिमें सत्य है वैसाही समाजमें और राष्ट्रमें भी है। अर्थात् ज्ञानके कारण एक व्यक्तिमें ऐसा विलक्षण सामर्थ्य प्राप्त होता है कि वह व्यक्ति कभी स्वकीय उच्च अवस्थासे गिर नहीं सकती। तथा जिस समाज और राष्ट्रमें ज्ञान भरपूर रहेगा, वह समाज भी कभी अवनत नहीं हो सकता।

इन मंत्रोंमें व्यक्ति और समाजकी उन्नतिके तत्त्व उत्तम प्रकारसे कहे हैं। ज्ञानके कारण व्यक्तिके इंद्रिय, राष्ट्रके राष्ट्र हीं जब उत्तम अवस्थामें रहते हैं, प्रजाओंका अभ्युदय होता है, उनमें दुःख दूर करनेका सामर्थ्य आता है और ज्ञानके कारण वे कभी अपनी श्रेष्ठ अवस्थासे गिरते नहीं। यहां ज्ञानवाचक ब्रह्म शब्द है, यह पूर्वोक्त प्रकारही "ज्ञान, आत्मा, परमात्मा, परब्रह्म" का वाचक है, क्योंकि सत्य ज्ञान इनमें ही रहता है।

(७) अधिदैवत।

इस प्रश्नोत्तरमें त्रिलोकीका विषय आ गया है, इसका थोडासा विचार सूक्ष्म दृष्टिसे करना चाहिये। भूलोक, अंतरिक्ष लोक और द्युलोक मिलकर त्रिलोकी होती है। यह व्यक्तिमें भी है। और जगत्में भी है। देखिये—

लोक	व्यक्तिमें रूप	राष्ट्रमें रूप	जगत्में रूप
		(विशः)	
भूः	नाभिसे गुदा-तकका प्रवेश, पांव	जनता प्रजा धनी और कारीगर लोग	पृथ्वी (अग्नि)
		(क्षत्र)	
भुवः	छाति और हृदय	शूर लोग लोकसभा समिति	अंतरिक्ष (वायु) इंद्र
		(ब्रह्म)	
स्वः स्वर्ग	सिर मस्तिष्क	ज्ञानी लोग मंत्रिमंडल	द्युलोक नभो मंडल (सूर्य)

मंत्र २४ में पूछा है कि, पृथिवी, अंतरिक्ष, और द्युलोकोंको अपने अपने स्थानमें किसने रखा है? उत्तरमें निवेदन किया है कि उक्त तीनों लोकोंको ब्रह्मने अपने अपने स्थानमें रख दिया है। उक्त कोष्टकसे तीनों लोक व्यक्तिमें, राष्ट्रमें और जगत्में कहां रहते हैं, इसका पता लग सकता है। व्यक्तिमें सिर, हृदय और नाभिके निचला भाग ये तीन लोक हैं, इनका धारण आत्मा कर रहा है। शरीरमें अधिष्ठाता जो अमूर्त आत्मा है, वह शरीरस्थ इन तीनों केंद्रोंको धारण करता है और वहांका सब कार्य चलाता है। अमूर्त राजशक्ति राष्ट्रीय त्रिलोकीकी सुरक्षितता करती है। तथा अमूर्त व्यापक ब्रह्म जगत्की त्रिलोकीकी धारणा कर रहा है।

इस २४ वे मंत्रके प्रश्नमें पूर्व मंत्रोंमें किये सब ही प्रश्न संग्रहीत हो गये हैं। यह बात यहां विशेष रीतिसे ध्यानमें धरना चाहिये कि पहिले दो मंत्रोंमें नाभिके निचले भागोंके विषयमें प्रश्न हैं, मंत्र ३ से ५ तक मध्यमभाग और छातिके संबंधके प्रश्न हैं, मंत्र ६ से ८ तक सिरके विषयमें प्रश्न हैं। इस प्रकार ये प्रश्न व्यक्तिकी त्रिलोकीके विषयमें स्थूल शरीरके संबंधमें हैं। मंत्र ९, १० में मनकी शक्ति और भावनाके प्रश्न हैं, मंत्र ११ में सर्व शरीरमें व्यापक रक्तके विषयका प्रश्न है, मंत्र १२ में नाम, रूप, यश, ज्ञान और चारित्र्यके प्रश्न हैं, मंत्र १३ में प्राणके संबंधके प्रश्न हैं, मंत्र १४ और १५ में जन्म मृत्यु आदिके विषयमें प्रश्न है। मंत्र १७ में संतति वीर्य आदिके प्रश्न हैं। ये सब मंत्र व्यक्तिके शरीरमें जो त्रिलोकी है, उसके संबंधमें हैं। उक्त मंत्रोंका विचार करनेसे उक्त बात स्पष्ट हो जाती है। इन मंत्रोंके प्रश्नोंका क्रम देखनेसे पता लग जायगा कि वेदने स्थूलसे स्थूल पांवसे प्रारंभ करके कैसे सूक्ष्म आत्मशक्तिके विचार पाठकोंके मनमें उत्तम रीतिसे जमा दिये हैं। जड शरीरके मोटे भागसे प्रारंभ करके चेतन आत्मातक अनायाससे पाठक आ गये हैं! केवल प्रश्न पूछनेसे ही पाठकोंमें इतना अद्भुत ज्ञान उत्पन्न हुआ है। यह खूबी केवल प्रश्न पूछनेकी और प्रश्नोंके क्रमकी है।

चोवीसवें मंत्रमें प्रश्न किये हैं कि, यह त्रिलोकी किसने धारण की है। इसका उत्तर २५ वे मंत्रमें है कि, "ब्रह्मही इस त्रिलोकीका धारण करता है।" अर्थात् शरीरकी त्रिलोकी शरीरके अधिष्ठाता आत्माने धारण की है, यह "आध्यात्मिक भाव" यहां स्पष्ट हो गया है। इस प्रकार पचास प्रश्नोंका उत्तर इस एकही मंत्रने दिया है।

अन्य मंत्रोंमें (मंत्र १६, १८ से २४ तक) जितने प्रश्न पूछे हैं उनके "आधिभौतिक" और "आधिदैविक" ऐसे दो ही विभाग होते हैं, इनका वैकल्पिक भाग पूर्व विभागमें आ गया है। इनका उत्तर भी २५ वा मंत्र ही दे रहा है। अर्थात् सबका धारण "ब्रह्म" ही कर रहा है। तात्पर्य संपूर्ण ७१ प्रश्नोंका उत्तर एक ही "ब्रह्म" शब्दमें समाया है। प्रकरणके अनुसार "ब्रह्म" शब्दके अर्थ "ज्ञान, आत्मा परमात्मा, परब्रह्म" आदि हो सकते हैं। इसका संबंध पूर्व स्थानमें बतायाही है।

व्यक्तिमें और जगत्में जो 'प्रेरक' है उसका 'ब्रह्म' शब्दसे इस प्रकार बोध हो गया। परंतु यह केवल शब्दकाही बोध है, प्रत्यक्ष अनुभव नहीं है। शब्दसे बोध होनेपर मनमें चिंता उत्पन्न होती है कि, इसका प्रत्यक्ष ज्ञान किस रीतिसे प्राप्त किया जा सकता है? हमें शरीरका ज्ञान होता है और बाह्य जगत्को भी प्रत्यक्ष करते हैं, परंतु उसके अंतर्यामी प्रेरकको नहीं जानते!! उसको जाननेका उपाय अगले मंत्रमें कहा है–

ब्रह्म-प्राप्तिका उपाय।

इस २६ वें मंत्रमें अनुष्ठानकी विद्या कही है। यही अनुष्ठान है जो कि, आत्मरूपका दर्शन कराता है। सबसे पहिली बात है "अथर्वा" बननेकी। "अ-थर्वा" का अर्थ है निश्चल। थर्व का अर्थ है गति अथवा चंचलता। चंचलता सब प्राणियोंमें होती है। शरीर चंचल है, उससे इंद्रियां चंचल है, किसी एक स्थानपर नहीं ठहरतीं। उनसे भी मन चंचल है, इस मनकी चंचलताकी तो कोई हद्दही नहीं है। इस प्रकार जो चंचलता है उसके कारण आत्मशक्तिका आविर्भाव नहीं होता। जब मन, इंद्रियां और शरीर स्थिर होता है, तब आत्माकी शक्ति विकसित होकर प्रगट होती है।

आसनोंके अभ्याससे शरीरकी स्थिरता होती है, और शारीरिक आरोग्य प्राप्त होनेके कारण सुख मिलता है। ध्यानसे इंद्रियोंकी स्थिरता होती है और भक्तिसे मन शांत होता है। इस प्रकार योगी अपनी चंचलताका निरोध करता है। इसलिये इस योगीका "अ-थर्वा" अर्थात् 'निश्चल" कहते हैं। यह निश्चलता प्राप्त करना बडेही अभ्यासका कार्य है। सुगमतासे साध्य नहीं होती। बालकोंतक निरंतर

और एकनिष्ठासे प्रयत्न करनेपर मनुष्य " अ-थर्वा " बन सकता है। इस अथर्वाका जो वेद है वह अथर्ववेद कहलाता है। हरएक मनुष्य योगी नहीं होता, इसलिये हरएकके कामका भी अथर्व वेद नहीं है। परंतु इतर तीन वेद " सद्बोध-सत्कर्म-सदुपासना " रूप होनेसे सब लोगोंके लिये ही हैं। इसलिये वेदको " त्रयी विद्या " कहते हैं। चतुर्थ " अथर्ववेद " किंवा " ब्रह्मवेद " विशिष्ट अवस्थामें पहुंचनेका प्रयत्न करनेवाले विशेष पुरुषोंके लिये होनेसे उनको " त्रयी " में नहीं गिनते। तात्पर्य इस दृष्टिसे देखनेपर भी " अथर्वा " की विशेषता स्पष्ट दिखाई देती है।

इस प्रकार " अ-थर्वा " अर्थात् निश्चल बननेके पश्चात् सिर और हृदयको सीना चाहिये। सीनेका तात्पर्य एक करना अथवा एकही कार्यमें लगाना है। सिर विचारका कार्य करता है और हृदय भक्तिमें तल्लीन होता है। सिरके तर्क जब चलते हैं, तब वहां हृदय की भक्ति नहीं रहती; तथा जब हृदय भक्तिसे परिपूर्ण हो जाता है तब वहां तर्क बंद हो जाता है। केवल तर्क बढनेपर नास्तिकता और केवल भक्ति बढने पर अंधविश्वास होना स्वाभाविक है। इसलिये वेदने इस मंत्रमें कहा है कि, सिर और हृदयको सी दो। ऐसा करनेसे सिर अपने तर्क भक्तिके साथ रहते हुए करेगा और नास्तिक बनेगा नहीं, तथा भक्ति करते करते हृदय अंधा बनने लगेगा, तो सिर उसको ज्ञानके नेत्र देगा। इस प्रकार दोनोंका लाभ है। सिरमें ज्ञान नेत्र हैं और हृदयको भक्तिमें बडा बल है। इसलिये दोनोंके एकत्रित होनेसे बडाही लाभ है।

राष्ट्रीय शिक्षाका विचार करनेवालोंको इस मंत्रसे बडाही बोध मिल सकता है। शिक्षाकी व्यवस्था ऐसी होनी चाहिये की जिससे पढनेवालोंके सिरकी विचार शक्ति बढे और साथ साथ हृदयकी भक्ति भी बढे जिस शिक्षणप्रणालीसे केवल तर्कना-शक्ति बढती है, अथवा केवल भक्ति बढती है वह बडी घातक शिक्षा है।

सिर और हृदयको एक मार्गमें लाकर उनको साथ साथ चलानेका जो स्पष्ट उपदेश इस मंत्रमें है, वह किसी अन्य ग्रंथोंमें नहीं है। किसी अन्य शास्त्रमें यह बात नहीं है। वेदके ज्ञानकी विशेषता इस मंत्रसे ही सिद्ध होती है। उपासना की सिद्धि इसीसे होती है। पाठक इस मंत्रमें वेदके ज्ञानकी सच्चाई देख सकते हैं।

पहिली अवस्था " अ-थर्वा " बनना है, तत्पश्चात् सिर और हृदयको सीकर एक करना चाहिए। जब दोनों एक ही मार्गसे चलने लगेंगे तब बडी प्रगति होती है। इतनी योग्यता आनेके लिये बडे दृढ अभ्यास की आवश्यकता है। इसके पश्चात् प्राणको सिरके अंदर परंतु मस्तिष्कके परे प्रेरित करना है। सिरमें मस्तिष्कके उच्चतम भागमें ब्रह्मलोक है। इस ब्रह्मलोकमें प्राणके साथ आत्मा जाता है। यह योगसे साध्य अंतिम उच्चतम अवस्था है। वहां प्राण कैसा जाता है ? ऐसा प्रश्न यहां पूछा जा सकता है। गुदाके पास मूलाधार स्थान है, वहांसे प्राण पृष्ठ-वंशके बीचमेंसे ऊपर चढने लगता है। मूलाधार स्वाधिष्ठान आदि आठ चक्र इसी पृष्ठवंश किंवा मेरुदण्डके साथ लगे हैं। इनमेंसे होता हुआ, जैसा जैसा अभ्यास होता है वैसा वैसा प्राण ऊपर चढता है और अंतमें ब्रह्मलोकमें किंवा सिरमें परंतु मस्तिष्कके ऊपर प्राण पहुंचता है। यहां जाकर उस उपासकको ब्रह्म स्वरूपका साक्षात् होता है। तात्पर्य जो सबका प्रेरक ब्रह्म है वह यहां पहुंचनेके पश्चात् अनुभवमें आता है। पूर्व पच्चीस मंत्रोंद्वारा जिसका वर्णन हुआ, उसको जाननेका यह मार्ग है। सिरकी तर्कशक्तिके परे ब्रह्मका स्थान है, इसलिये जबतक तर्क चलते रहते हैं, तबतक ब्रह्मका अनुभव नहीं होता। परंतु जिस समय तर्कसे परे जाना होता है, उस समय उस तत्त्वका अनुभव होता है। इस अनुष्ठानका फल अगले चार मंत्रोंमें कहा है।

(९) अथर्वाका सिर।

इस २७ वें मंत्रमें अथर्वाके सिरकी योग्यता कही है। स्थिरचित्त योगीका नाम " अ-थर्वा " है। इस योगीका सिर देवोंका सुरक्षित भण्डार है। अर्थात् देवोंका जो वैभव है वह इसके सिरमें सुरक्षित होता है। शरीरमें ये सब इन्द्रिय ज्ञान और कर्म इंद्रियदेव हैं; तथा पृथिवी, आप, तेज, वायु, विद्युत् सूर्य आदि देवोंके अंश जो शरीरमें अन्य स्थानोंमें हैं, वे भी देव हैं। इन सब देवोंका संबंध सिरमें होता है, मानो सब देवताओंकी मुख्य सभा सिरमें होती है। सब देव अपना सत्व सिरमें रख देते हैं। सब देवोंके सत्वांशसे यह सिर बना है और सिरका यह मस्तिष्कका भाग बडा ही सुरक्षित है। इसकी सुरक्षितता " प्राण, अन्न और मन " के कारण होती है। अर्थात् प्राणायामसे, सात्त्विक अन्नके सेवनसे और मनकी शांतिसे देवोंका उक्त खजाना सुरक्षित रहता है। प्राणायामसे सब

दोष बस जाते हैं, सात्विक अन्नसे शुद्ध परमाणुओंका संचय होता है और मनकी शांतिसे समता रहती है। अर्थात् प्राणायाम न करनेसे मस्तकमें दोष-बीज जैसे के वैसे ही रहते हैं, बुरा अन्न सेवन करनेसे रोग-बीज बढते हैं और मनकी अशांतिसे पागलपन बढ जाता है। इस कारण देवोंका खजाना नष्टभ्रष्ट हो जाता है।

इस मंत्रमें योगीके सिरकी योग्यता बताई है और आरोग्यकी कुंजी प्रकट की है। (१) विधिपूर्वक प्राणायाम (२) शुद्ध सात्विक अन्नका सेवन और (३) मनकी परिशुद्ध शांति, ये आरोग्यके मूल कारण हैं। योगसाधनकी सिद्धताके लिये तथा बहुत अंशमें पूर्ण स्वास्थ्यके लिये सदा सर्वदा इनकी आवश्यकता है।

अपना सिर देवोंका कोश बनानेके लिये हरएकको प्रयत्न करना चाहिये। अन्यथा वह राक्षसोंका निवास-स्थान बनेगा और फिर कष्टोंकी कोई सीमाही नहीं रहेगी। राक्षस सदा हमला करनेके लिये तत्पर रहते हैं, उनका बल भी बडा होता है। इसलिये सदा तत्परताके साथ दक्षता धारण करके स्वसंरक्षण करना चाहिये। तथा दैवी भावनाका विकास करके राक्षसी भावनाको समूल हटाना चाहिये। ऐसी दैवी भावनाकी स्थिति होनेके पश्चात् जो अनुभव होता है, वह अगले मंत्रमें लिखा है।

(१०) सर्वत्र पुरुष ।

जब मंत्र २६ के अनुसार अनुष्ठान किया जाता है और मंत्र २७ के अनुसार " दैवी संपत्ति " की सुरक्षा की जाती है, तब मंत्र २८ का फल अनुभवमें आता है। " ऊपर, नीचे, तिरछा सभी स्थानमें वह पुरुष व्यापक है " ऐसा अनुभव आता है। इसके बिना कोई स्थान रिक्त नहीं है। परमात्माकी सर्वव्यापकता इस प्रकार ज्ञात होती है। पुरीमें बसनेके कारण (पुरि+वस; पुर्+वस् = पुरुषः) आत्माको पुरुष कहते हैं। वह पुरुष जैसा बाहिर है वैसा इस शरीरमें भी है। इसलिये बाहिर ढूंढनेकी अपेक्षा इसको शरीरमें देखना बडा सुगम है। गोपथ-ब्राह्मणमें " अथर्वा " शब्दकी व्युत्पत्ति इसी दृष्टिसे निम्न प्रकार की है—

' अथ अर्वाक् एनं एतासु अप्सु अन्विच्छ इति ॥'
(गो. १।४)

(अब इधरही इसको तूं इस जलमें ढूंढ।) तात्पर्य बाहिर ढूंढनेसे वह आत्मा प्राप्त नहीं होगा, अंदर ढूंढनेसे ही प्राप्त होगा। यही अथर्ववेदका कार्य बताया है—

अथ+(अ)र्वा (क्) = अथर्वा ।

अपने अंदर आत्माको ढूंढनेकी विद्या जिसने बता दी है, वही अथर्ववेद है। सब अथर्ववेदकी यही विद्या है। अथर्ववेद अन्य वेदोंसे पृथक् और वह वेदत्रयीसे बाहिर क्यों है, इसका पता यहां लग सकता है। संपूर्ण जनता अपने अंदर आत्माका अनुभव नहीं कर सकती, इसलिये जो विशेष सज्जन योगमार्गमें प्रगति करना चाहते हैं, उनके लिये तथा जो सिद्ध पुरुष होते हैं उनके लिये यह वेद है।

जो जहां रहता है, उसको वहां देखना चाहिये। चूंकी वह आत्मा पुरिमें रहता है, इसलिये इसको पुरिमें ही ढूंढना चाहिये। इस शरीरको पुरि कहते हैं, क्योंकि यह सप्त धातुओंसे तथा अन्यान्य उपयोगी शक्तियोंसे परिपूर्ण है। इस पुरिमें जो बसता है, उसको पुरुष कहते हैं। पुरुष किंवा पूरुष ये दोनों शब्द हैं और दोनोंका अर्थ एकही है।

आगे मंत्र ३१ में इस पुरिका वर्णन आ जायगा। पाठक वहां ही पुरिका वर्णन देख सकते हैं। इस ब्रह्मपुरी, ब्रह्मनगरी, अमरावती, देवनगरी, अयोध्यानगरी आदिको यथावत् जाननेसे जो फल प्राप्त होता है, उसको इस मंत्र २८ ने बताया है। ब्रह्मनगरीको जो उत्तम प्रकारसे जानता है, उसको सर्वात्मभावका अनुभव आता है। जो पुरुष अपने आत्मामें, अपने हृदयाकाशमें है वह ऊपर नीचे तिरछा सब दिशाओंमें पूर्णतया व्यापक है। वह किसी स्थानपर नहीं ऐसा एक भी स्थान नहीं है। यह अनुभव उपासकको यहां होता है। " अपने आपको आत्मामें और आत्माको अपनेमें वह देखने लगता है। " (ईश उ० ६) जो इस प्रकार देखता है, उसको शोक मोह नहीं होते और उससे कोई अपवित्र कार्य भी नहीं होता।

इस मंत्रमें " सृष्ट " शब्द विशेष अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। (poured out, connected, abundant, ornamented) फैला हुआ, संबंधित रहा हुआ, विपुल, सुशोभित ये "सृष्ट" शब्दके यहां अर्थ हैं। (१) जिस प्रकार जल झरनेसे बहता हुआ चारों और फैलता है, उस प्रकार आत्मा सर्वत्र फैला है, आत्माको सबका मूल " स्रोत " कहते ही हैं। स्रोतसे जलका निकलना और फैलना होता है। इसलिये

यह अर्थ यहां है। (२) फैलनेसे उसका सबके साथ संबंध आता है। (३) वह विपुल होनेके कारण ही चारों तर्फ फैल रहा है। (४) सबकी शोभा उसी कारण होती है, इसलिये वह सुशोभित भी है। ये " सुष्ठ " शब्दके अर्थ सब कोशोंमें हैं और इस प्रसंगमें बडे योग्य हैं। परंतु इसका विचार न करते हुए कईयोंने " उत्पन्न हुआ " ऐसा प्रसिद्ध अर्थ लेकर इस मंत्रका अर्थ करनेका यत्न किया है। इसका विचार पाठक ही कर सकते हैं।

इस मंत्रमें " सुप्ता-३ " तथा " बभूवाँ३ " शब्द प्लुत हैं। प्लुत स्वरका उच्चार तीन गुना लंबा करना चाहिये। प्लुत शब्दका उच्चारण अत्यंत आनंदके समय प्रेमातिशयमें होता है। इसके अन्य भी प्रसंग हैं, परंतु यहां आनंदातिशयके प्रसंगमें इसका उपयोग किया है। ब्रह्मपुरीको जाननेसे अत्यंत आनंद होता है और परमात्माकी सर्वव्यापकता प्रत्यक्ष अनुभवमें आनेसे उस आनंदका पारावार ही क्या कहना है ? इस परम आनंदको शब्दोंमें व्यक्त करनेके लिये प्लुत स्वरका प्रयोग इस मंत्रमें हुआ है।

जिस पुरुषको परमात्मसाक्षात्कारका अनुभव उक्त प्रकार आ जाता है, वह आनंदसे नाचने लगता है, वह उस आनंदमें मग्न हो जाता है, वह प्रेमसे ओतप्रोत भर जाता है, वह शोकमोहसे रहित अतएव अत्यंत आनंदमय हो जाता है। अब ब्रह्मज्ञानका और एक फल देखिये-

(११) ब्रह्मज्ञानका फल

ब्रह्मनगरीका थोडासा अधिक वर्णन इस २९ वे मंत्रमें है। " अमृतेन आवृता ब्रह्मणः पुरिः " अर्थात् " अमृतसे आवृत ब्रह्मकी नगरी है। " यहां " अ-मृत " शब्दसे अज, अमर, अजरामर आत्मा लेना उचित है। इस ब्रह्मपुरिमें आत्मा परिपूर्ण है। आत्मा अ-मृत रूप होनेसे जो उसको प्राप्त करता है, वह अमर बन जाता है। इसलिये हरएकको यथाशक्ति इस मार्गमें प्रयत्न करना चाहिये। यह ब्रह्मकी नगरी कहां है, उस स्थानका पता मंत्र ३१ में पाठक देखेंगे।

ब्रह्मनगरीको यथावत् जाननेसे ब्रह्म और ब्राह्म प्रसन्न होते हैं और उपासकको चक्षु, प्राण और प्रजा देते हैं। " ब्रह्म " शब्दसे " आत्मा, परमात्मा, परब्रह्म " का बोध होता है और " ब्राह्मा " शब्दसे " ब्रह्मसे बने हुए इतर देव, अर्थात् अग्नि, वायु, रवि, विद्युत्, इंद्र, वरुण आदि देव बोधित होते हैं। " ब्रह्मनगरीको जाननेसे ब्रह्मकी प्रसन्नता होती है और संपूर्ण इतर देवोंकी भी प्रसन्नता होती है। प्रसन्न होनेसे वे सब देव और सब देवोंका मूल प्रेरक ब्रह्म इस उपासकको तीन पदार्थोंका अर्पण करते हैं। ये तीन पदार्थ " चक्षु, प्राण और प्रजा " नामसे इस मंत्रमें कहे हैं।

" चक्षु " शब्दसे इंद्रियोंका बोध होता है, सब इंद्रियोंमें चक्षु मुख्य होनेसे, मुख्यका ग्रहण करनेसे गौणोंका स्वयं बोध होता है। " प्राण " शब्दसे आयुका बोध होता है। क्योंकि प्राणही आयु है। " प्रजा " शब्दसे " अपनी औरस संतति " ली जाती है। तात्पर्य " चक्षु, प्राण और प्रजा " शब्दोंसे क्रमशः (१) संपूर्ण इंद्रियोंका स्वास्थ्य, (२) दीर्घ आयुष्य और (३) उत्तम संततिका बोध होता है। उपासनासे प्रसन्न हुए ब्रह्म और देव उक्त तीन बातें अर्पण करते हैं। ब्रह्मज्ञानका यह फल है।

(१) शरीरका उत्तम बल और आरोग्य, (२) अति-दीर्घ आयुष्य और (३) सुप्रजानिर्माणकी शक्ति ब्रह्मज्ञानसे प्राप्त होती है। इनमें मनकी शांति, बुद्धिकी समता और आत्मिक बलकी संपन्नता अंतर्भूत है, यह बात पाठक न भूलें। इनके अतिरिक्त उक्त सिद्धि हो नहीं सकती। मानसिक शांतिके अभावमें, बौद्धिक समता न होनेपर तथा आत्मिक निर्बलता की अवस्थामें, न तो शारीरिक स्वास्थ्य प्राप्त होनेकी संभावना है और न दीर्घायुष्य तथा सुप्रजा-निर्माणकी शक्यता है। ये सद्गुण तथा इनके सिवाय अन्य सब शुभ गुण ब्रह्मज्ञानसे सहज प्राप्त होते हैं।

ब्रह्मकी कृपा और देवोंकी प्रसन्नता होनेसे जो उत्तम फल मिल सकता है वह यही है। हमारे आर्यराष्ट्रमें प्राचीन कालके लोग अति दीर्घ आयुष्यसे संपन्न थे, बलिष्ठ थे और अपनी इच्छानुसार स्त्रीपुरुष संतानकी उत्पत्ति तथा विद्वान् शूर आदि जिस चाहे उस प्रवृत्तिकी संतति उत्पन्न करते थे। इस विषयमें शतपथ ब्राह्मणके अंतिम अध्यायमें अथवा बृहदारण्यक उपनिषद्के अंतिम विभागमें प्रयोग ही स्पष्ट शब्दोंमें लिखे हैं। इतिहास ग्रंथोंमें इस विषयकी बहुतसी साक्षियां हैं। पाठक वहां इस बातको देख सकते हैं। उसका यहां उद्धरण करनेके लिये स्थान नहीं है। यहां इतना ही बताना है कि, ब्रह्मज्ञान होनेसे अपना शारीरिक स्वास्थ्य संपादन करके अतिदीर्घ आयुष्य प्राप्त करनेके साथ साथ अपनी इच्छाके अनुसार उत्तम संतति की उत्पत्ति की जा सकती है; जिस कालमें, जिस देशमें, जिन लोगोंको यह

विद्या साध्य होगी वे लोग ही धन्य हो सकते हैं। एक कालमें आर्योंको यह विद्या प्राप्त थी, आगे भी प्रयत्न करनेपर इस विद्याकी प्राप्ति हो सकती है।

संतान-उत्पत्तिकी संभावना होनेकी आयुमें ही ब्रह्मज्ञान होने योग्य शिक्षाप्रणाली होनी चाहिये। आठ वर्षकी आयुमें अध्ययन करके उत्तम गुरुके पास योगादि अभ्यासका प्रारंभ करनेसे २०, २५ वर्षकी अवधिमें ब्रह्मसाक्षात्कार होना असंभव नहीं है। अष्टावक्र, शुकाचार्य, सनत्कुमार आदिकोंको बीस वर्षके पूर्व ही तत्त्वज्ञान हुआ था। इससे बडी उमरमें जिनको तत्त्वज्ञान हो गया था ऐसे सत्पुरुष भरतखंडके इतिहासमें बहुतही है। तात्पर्य विशेष योग्यतावाले पुरुष जो कार्य अल्प आयुमें कर सकते हैं, वही कार्य मध्यम योग्यतावालोंको अधिक कालमें सिद्ध होगा, और कनिष्ठ योग्यतावालोंको बहुतही काल लगेगा। इसलिये यहां सर्वसाधारण रीतिसे इतनाही कहा जा सकता है कि ब्रह्मचर्य-समाप्तितक उक्त योग्यता प्राप्त हो सकती है, और तत्पश्चात् गृहस्थाश्रममें सुयोग्य संतान उत्पन्न करनेकी संभावना कोई असंभव कोटीकी बात नहीं।

आजकल ब्रह्मज्ञानका विषय वृद्धोंकाही है ऐसा समजा जाता है, उनके मतका निराकरण इस मंत्रके कथनसे हो गया है। ब्रह्मज्ञानका विषय वास्तविक रीतिसे "ब्रह्म-चारी" योंका ही है। वनमें गुरुकुलोंमें रहते हुए ये "ब्रह्म-चारी" ही ब्रह्मप्राप्तिका उपाय कर सकते हैं और ब्रह्मचर्य-आश्रमकी समाप्तितक "ब्रह्म-पुरी" का पता लगा सकते हैं। तथा इसी आयुमें (१) शारीरिक स्वास्थ्य, (२) वीर्य आरोग्य और (३) सुप्रजा निर्माणकी शक्ति, आदिकी नींव डाल सकते हैं। इस रीतिसे सच्चे ब्रह्मचारी, ब्रह्मपुरीमें जाकर, ब्रह्मज्ञानी बनकर, ब्रह्मनिष्ठ रहते हुए उत्तर तीनों आश्रमोंमें शांतिके साथ त्यागपूर्वक भोग करते हुए भी कमलपत्रके समान निर्लेप और निर्दोष जीवन व्यतीत कर सकते हैं। इस विषयके आदर्श वसिष्ठ, याज्ञवल्क्य, जनक श्रीकृष्ण आदि हैं।

हरएक आयुमें ब्रह्मज्ञानके लिये प्रयत्न होना ही चाहिये। यहां उक्त बात इसलिये लिखी है कि यदि नवयुवकोंकी प्रवृत्ति इस विद्यामें हो गई तो उनको अपना जीवन पवित्र बनाकर उत्तम नागरिक बननेद्वारा सब जगत्‌में सच्ची शांति स्थापन करनेके महत्कार्यमें अपना जीवन समर्पण करनेका बडा सौभाग्य प्राप्त हो सकता है। अस्तु। यह मंत्र और भी

×

बहुत बातोंका बोध कर रहा है, परंतु यहां स्थान न होनेसे अधिक स्पष्टीकरण यहां नहीं हो सकता। आशा है कि पाठक उक्त दृष्टिसे इस मंत्रका अधिक विचार करेंगे। इसी मंत्रका और स्पष्टीकरण अगले मंत्रमें है, देखिये—

मंत्र २९ में जो कथन है उसीका स्पष्टीकरण इस मंत्रमें है। ब्रह्मपुरीका ज्ञान प्राप्त होनेपर जो अपूर्व लाभ होता है उसका वर्णन इस मंत्रमें है। (१) अति वृद्ध अवस्थाके पूर्व उसके चक्षु आदि इंद्रिय उसको छोडते नहीं, (२) और न प्राण उसको उस वृद्ध अवस्थाके पूर्वही छोडता है। प्राण जल्दी चला गया तो अकालमें मृत्यु होता है, और अल्प आयुमें इंद्रिय नष्ट होनेसे अंधापन आदि शारीरिक न्यूनता कष्ट देती है। ब्रह्मज्ञानीको ये कष्ट नहीं होते।

आठ	वर्षकी	आयुतक	कुमार	अवस्था
सोलह	,,	,,	बाल्य	,,
सत्तर	,,	,,	तारुण्य	,,
सौ	,,	,,	वृद्ध	,,
एकसो बीस	,,	,,	जीर्ण	पश्चात् मृत्यु।

ब्रह्मज्ञानीका प्राण जरा अवस्थाके पूर्व नहीं जाता। इस अवस्थातक वह आरोग्य और शांतिका उपभोग लेता है और तत्पश्चात् अपनी इच्छासे शरीरका त्याग करता है। जैसा कि भीष्मपितामह आदिकोंने किया था। (इस विषयमें "मानवी आयुष्य" नामक पुस्तक देखिये)

तात्पर्य यह ब्रह्मविद्या इस प्रकार लाभदायक है। ये लाभ प्रत्यक्ष हैं। इसके अतिरिक्त जो अलौकिक अमृतका लाभ होता है तथा आत्मिक शक्तियोंके विकासका अनुभव होता है वह अलगही है। पाठक इसका विचार करें। अगले मंत्रमें देवोंकी नगरीका स्वरूप बताया है, देखिये—

(१२) ब्रह्मकी नगरी। अयोध्या नगरी।

यह मनुष्यशरीर ही "देवोंकी अयोध्या नगरी" है। इसके नौ द्वार हैं। दो आंख, दो कान, दो नाक, एक मुख, एक मूत्रद्वार और एक गुदद्वार मिलकर नौ दरवाजे हैं। पूर्वद्वार मुख है और पश्चिमद्वार गुदा है। पूर्वद्वारसे अंदर प्रवेश होता है और पश्चिमद्वारसे बाहिर गमन होता है। अन्य द्वार छोटे हैं और उनसे करनेके कार्य निश्चितही हैं। प्रत्येक द्वारमें रक्षक देव मौजूद हैं और वे कभी अपना नियोजित कार्य छोडकर अन्य कार्य नहीं करते। इन नौ

द्वारोंके विषयमें श्रीमद्भगवद्गीतामें निम्न प्रकार कहा है— " जो ब्रह्ममें अर्पण कर आसक्तिविरहित कर्म करता है, उसको वैसेही पाप नहीं लगता, जैसे कि कमलके पत्तेको पानी नहीं लगता। अतएव कर्मयोगी शरीरसे, मनसे, बुद्धिसे और इंद्रियोंसे भी आसक्ति छोडकर आत्मशुद्धिके लिये कर्म किया करते हैं। जो योगयुक्त हो गया, वह कर्मफल छोडकर अंतकी पूर्ण शांति पाता है, परंतु जो योगयुक्त नहीं है वह वासनासे फलके विषयमें आसक्त होकर बद्ध हो जाता है। सब कर्मोंका मनसे संन्यास कर, जितेंद्रिय देहवान् पुरुष नौ द्वारोंके इस देहरूपी नगरमें न कुछ करता और न कराता हुआ आनंदसे रहता है। (गीता ५।१०–१३) " अर्थात् सब कुछ करता हुआ न करनेवालेके समान शांत रहता है। यह श्रेष्ठ सिद्धि इस देहमें रहते हुए प्रयत्नसे प्राप्त हो सकती है।

नौ द्वारोंके अतिरिक्त इस देहमें किंवा इस ब्रह्मपुरीमें आठ चक्र हैं। (१) मूलाधार चक्र–गुदाके पास पृष्ठवंश-समाप्तिके स्थानमें हैं, यही इस नगरीका मूल आधार है। (२) स्वाधिष्ठान चक्र– उसके ऊपर है। (३) मणिपूरक चक्र– नाभिस्थानमें है। (४) अनाहत चक्र–हृदय–स्थानमें है। (५) विशुद्धि चक्र– कंठस्थानमें है। (६) ललना चक्र– जिह्वामूलमें है। (७) आज्ञाचक्र– दोनों भौहोंके बीचमें है। (८) सहस्रार चक्र– मस्तिष्कमें है। इसके अतिरिक्त और भी चक्र हैं, परंतु ये मुख्य है। इनमेंसे एक एक चक्रका महत्त्व योगसाधनके मार्गमें अत्यंत है, क्योंकि प्रत्येक चक्रमें प्राण पहुंचनेसे वहांसे अद्भुत शक्तिका आविष्कार होता है। इन आठ चक्रोंके कारण यह नगरी बडी शक्तिशाली हुई है। जैसे कीलेपर शत्रु निवारणके लिये शस्त्रास्त्र रहते हैं। वैसे ही इस नगरीके संरक्षणके लिये इन आठ चक्रोंमें संपूर्ण शक्तियां शस्त्रास्त्रोंसमेत रखी हैं। इन चक्रोंके द्वारा ही हमारा आरोग्य है और बुद्धि, मन, इंद्रियां और शरीरकी शक्ति है। जो मनुष्य ये सब शक्तियोंके आठ केंद्र अपने आधीन कर लेता है, उसको शारीरिक आरोग्य, दीर्घ आयुष्य, सुप्रजा निर्माणकी शक्ति, इंद्रियोंकी स्वाधीनता, मनकी शांति, बुद्धिकी समता और आत्मिक बल सहज प्राप्त होते हैं।

इसमें जो हृदयकोश है, उस कोशमें " आत्मन्वत् यक्ष " रहता है, इस यक्षको ब्रह्मज्ञानीही जानते हैं। यही यक्ष केन उपनिषद्में है और वैसी भागवतकी कथामें भी है। यह यक्षही सबका प्रेरक है. यह " आत्मवान् यक्ष " है। यह सब इंद्रियों, और प्राणोंको प्रेरणा करके सबसे कार्य कराता है। यही अन्य देवोंका अधिदेव है; शरीरमें जो देवोंके अंश हैं, उन सब देवोंकी नियंत्रणा करनेवाला यही आत्मदेव है। यही आत्माराम है। इस " राम " की यह दिव्य नगरी " अयोध्या " नामसे सुप्रसिद्ध है।

इस नगरीमें तेजोमय स्वर्ग है। स्वर्गधाम यहांही है. स्वर्ग-प्राप्तिके लिये बाहिर जानेकी जरूरत नहीं है। इस पुरीमें ही स्वर्ग है, जो इसको देखना चाहते हैं यहां ही देखें। सात्त्विक भावना, राजस भावना और तामस भावना ये तीन इसके आरे हैं। इसके कारण इसमें तीन गतियां उत्पन्न होती हैं। इसको देखनेसे इसकी अद्भुत रचनाका पता लग सकता है। इन तीनों गतियोंको शांत करके त्रिगुणोंके परे जानेसे उस " आत्मवान् यक्ष " का दर्शन होता है।

यह जैसी ब्रह्मकी नगरी (ब्रह्मणः पूः) है, उसी प्रकार यही (देवानां पूः) देवोंकी नगरी भी है। जैसी यह ब्रह्मसे परिपूर्ण है वैसीही यह देवोंसे परिपूर्ण है। पृथिव्यादि सब देव और देवतायें इसमें रहती है, और उनको आकर्षण करनेवाला यह आत्मदेव इसमें अधिष्ठाता रहता है। यह आत्मवान् यक्ष " आत्मा " शब्दके पुल्लिंग होनेपर न पुरुष है, " देवी " शब्दके स्त्रीलिंग होनेपर न स्त्री है, और " यक्ष " शब्द नपुंसकलिंग होनेसे न यह नपुंसक हैं, तीनों लिंगोंसे भिन्न यह शुद्ध तेजस्वि ' केवल आत्मा ' हैं। यही दर्शनीय है। उक्त ब्रह्मपुरीमें जाकर इसका दर्शन कैसा, किया जाता है, यह बात अगले मंत्रमें कही है—

(१३) अपनी राजधानीमें ब्रह्माका प्रवेश ।

यह ब्रह्मपुरी तेजस्वी है और (हरिणी) दुःखोंका हरण करनेवाली है। इसको प्राप्त करनेसे तथा पूर्णतासे यशसे युक्त करनेसे सबही दुःख दूर हो जाते हैं। इसी लिये इसको " पुरी " कहते हैं क्योंकि इसमें पूर्णता है। जो पूर्ण होती है वही " पुरी " कहलाती है। पूर्ण होनाही यशस्वी बनना है। जो परिपूर्ण बनता है वही यशस्वी होता है। अपूर्णताके साथ यशका संबंध नहीं होता, परंतु सदा पूर्णताके साथही यशका संबंध होता है।

जो तेजस्वी, दुःखहारक पूर्ण और यशस्वी होता है वह कभी पराजित नहीं होता, अर्थात् सदा विजयी होता है। " (१) तेज, (२) निर्दोषता, (३) पूर्णता, (४) यश और (५) विजय " ये पांच गुण एक दूसरेके साथ मिले

मुळे रहते हैं (१) भ्राज, (२) हरण, (३) पुरी, (४) यश, (५) अपराजित ये मंत्रके पांच शब्द उक्त पांच गुणोंके सूचक हैं। पाठक इन शब्दोंको स्मरण रखें और उक्त पांच गुणोंको अपनेमें स्थिर करने और बढानेका यत्न करें। जहां ये पांच गुण होंगे, वहां (हिरण्य) धन रहेगा इसमें कोई संदेह ही नहीं है। सम्पत्ति जिससे मिलती है वही धन होता है और उक्त पांच गुणोंके साथ सम्पत्ति अवश्यही रहेगी।

उक्त पांच गुणोंसे युक्त, ब्रह्म-नगरीमें ब्रह्म प्रविष्ट होता है। पाठक प्रत्यक्ष अनुभव कर सकते हैं कि अपने अंदर व्यापक यह ब्रह्म हृदयाकाशमें है। जब अपना मन बाहिरके कामनाओं छोडकर एकाग्र हो जाता है तब आत्माका ज्ञान होनेकी संभावना होती है और तभी ब्रह्मका पता लगना संभव है। क्योंकि वेदमें अन्यत्र कहा है कि "जो पुरुषमें ब्रह्मको देखते हैं वेही परमेष्ठीको जान सकते हैं। (अथर्व० १०।७।१७)" अर्थात् जो अपने हृदयमें ब्रह्मका आवेश अनुभव करते हैं वेही परमेष्ठी प्रजापतिको जान सकते हैं।

(१४) अयोध्याके मार्गका पता।

प्रिय पाठको ! यहांतक आपका मार्ग है; आप कहांतक चले आये हैं और आपके स्थानसे यह अयोध्या नगरी कितनी दूर है, इसका विचार कीजिये। इस अयोध्या नगरीमें पहुंचतेही रामराजाका दर्शन नहीं होगा, क्योंकि राजधानीमें जाते ही महाराजाकी मुलाकात नहीं हो सकती। वहां रहकर तथा वहां के स्थानिक अधिकारी सत्य श्रद्धा आदिकों की प्रसन्नता संपादन करके महाराजाके दरबारमें पहुंचना होता है। इसलिये आशा है कि आप जरा शीघ्र गतिसे चलेंगे और वहां जलदी पहुंचेंगे। आपके साथी ये ईर्ष्या द्वेष आदि हैं, ये आपको जलदी चलने नहीं देते; प्रतिक्षण इनके कारण आपकी शक्ति क्षीण हो रही है, इसका विचार कीजिये। और सब झंझावटोंको दूर कर एकही उद्देश्यसे अयोध्याजीके मार्गका आक्रमण कीजिये। फिर आपको उसी "यक्ष" का दर्शन होगा कि जिसका वर्णन एकवार इंद्रने किया था। आपको मार्गमें "हैमवती उमादेवी" दिखाई देगी। उसको मिलकर आप आगे बढ जाईये। वह देवी आपको ठीक मार्ग बता देगी। इस प्रकार आप भक्तिकी शांत रोशनीमें सुविचारोंके साथ मार्ग आक्रमण कीजिये, तो बडा दूरका मार्ग भी आपके लिये छोटा हो सकता है। आशा है कि आप ऐसाही करेंगे फिर भूलकर भटकेंगे नहीं।

(१५) केनसूक्त और केनो केनोपनिषद्।

जैसा यह केनसूक्त अथर्ववेदमें है वैसाही उपनिषदोंमें केनोपनिषद् है। दोनोंका प्रारंभ 'केन' इस पदसे ही हुआ है। यही 'केन' पद बडा महत्त्वपूर्ण है, इसका अर्थ 'किससे' ऐसा होता है। सब तत्त्वज्ञानोंका उगम इसी पदसे होता है। यह जो संसार दीखता है यह (केन) किसने बनाया, और (केन) किससे बनाया, तथा (केन) किसने इसका विचार किया, (केन) किसकी सहायतासे विचार किया, (केन) किस साधनसे विचार किया, किस कारण विचार किया, इसको जो बोध हो रहा है वह कैसे होता है, इत्यादि अनेक विचार इस "केन" शब्दमें हैं।

मनुष्य जो देखता है उसका हेतु जानना चाहता है, छोटेसे छोटा बालक भी जब आश्चर्यसे किसीकी ओर देखता है, तो उसका कारण जानना चाहता है, यह कौन है, क्या करता है, कहांसे आया, कहां जायगा ऐसे अनेकविध प्रश्न बालक करता है और हरएक प्रश्नका उत्तर जानना चाहता है। उत्तरसे समाधान हुआ तो ही वह चुप रहता है। नहीं तो फिर प्रश्न पूछता ही रहता है। इतनी विलक्षण जिज्ञासा मानवके मनमें स्वभावतया होती है।

परंतु जब मनुष्य बडा होता है, तब संसारकी चिन्तामें फंसकर इस जिज्ञासाको खो बैठता है और फिर वह (केन) किससे यह हुआ, ऐसा प्रश्न करना भूल जाता है। जब वह प्रश्न करना भूल जाता है तबसे इसको ज्ञान प्राप्त होना भी बंद होता है। क्योंकि ज्ञान तो जिज्ञासा रही तोही हो सकता है।

इस विश्वमें करोडों मनुष्य हैं, परंतु उनमेंसे कितने लोग 'मैं कहांसे आया, क्यों यहां आया हूं, किधर मुझे जाना है' इत्यादि स्वाभाविक उत्पन्न होनेवाले प्रश्नोंको अपने मनमें उत्पन्न होने देते हैं, येही प्रश्न इस 'केन' पदसे यहां किये गये हैं। साधारणतः मनुष्य जागता है, खाता है, सोता है, फिर जागता है और अन्तमें मर जाता है।

यह जीवनमरणका व्यापार इतना आश्चर्यकारक है कि कोई मननशील मनुष्यके मनमें इस संबंधके प्रश्न आयेबिना नहीं रह सकते। परंतु कितने मनुष्य इसका विचार करते हैं। मनन करनेवाला ही मनुष्य कहलायेगा। जो मनुष्य मनन नहीं करता उसको मनुष्य कहना असंभव है। अतः इस

मनुष्यसमाजमें वे ही मनुष्य हैं कि जो 'केन' यह प्रश्न करते हैं, यह है 'केन' शब्दका महत्त्व। यह प्रश्न मनुष्यकी मानवता सिद्ध करनेवाला है, पाठक इस शब्दका महत्त्व जानें और अपने जीवनका विचार करना इससे सीखें।

मैं किस शक्तिसे बोलता हूं, किस शक्तिसे सोचता हूं, किस शक्तिसे जीवित रहता हूं, किस शक्तिसे जन्ममरण तथा प्रजनन हो रहे हैं, इस संपूर्ण संसारके आधारमें कौन है, वह इसका निर्माण क्यों करता है? ये प्रश्न है जो हरएक मनुष्यके मनमें उत्पन्न होने चाहिये। परंतु किन मनुष्योंके अन्तःकरणमें ये प्रश्न उठते हैं? पाठकों विचार तो कीजिये।

अर्थात् मनुष्यजाति अगणित वर्षोंसे इस भूमंडलपर उत्पन्न हुई है, परंतु अभीतक सब मनुष्य सच्चे मानव नहीं बने जो 'केन' इस प्रश्नको कर सकते हैं और उत्तर सुयोग्य गुरुसे प्राप्त होनेतक चुप नहीं रह सकते।

जैसे अन्यान्य कृमिकीटक है जन्मते और मरते, वैसेही मनुष्य प्राणी भी जन्मते और मरते और मैं क्यों जन्मको प्राप्त हुआ और क्यों मर गया इसका विचारतक करते नहीं। अपने जीवनके विषयमें कैसे प्रश्न करने चाहिये यह इस सूक्तने स्पष्ट कर दिया है। मानवजीवनके विषयमें कई प्रश्न यहां हैं, यदि इतने ही प्रश्न मनुष्य करना सीख जायगे तो उनको आत्मज्ञान हो जायगा और उनका जीवित सफल भी हो जायगा।

अतः पाठक इस जिज्ञासा-बुद्धिकी जागृति करनेवाले इस केनसूक्तका मनन करें, और विश्वके अंदर जो अद्भुत शक्ति है उस अद्भुत शक्तिके विषयमें ज्ञान प्राप्त करके अपने जीवनका सार्थक करें। मानवी जीवनकी सफलता करनेवाला यह ज्ञान है। आशा है कि इस केनसूक्तने जो यह जिज्ञासा जागृतिका-साधन बताया है यह आचरणमें लाकर सब साधक सिद्ध बनेगें।

---

(३) सपत्ननाशक वरणमणि।

(ऋषिः- अथर्वा। देवता- वरणमणिः, वनस्पतिः, चन्द्रमाः।)

अयं मे वरणो मणिः सपत्नक्षयणो वृषा। तेना रभस्व त्वं शत्रून् प्र मृणीहि दुरस्यतः ॥ १ ॥
प्रैणाञ्छृणीहि प्र मृणा रभस्व मणिस्ते अस्तु पुरएता पुरस्तात्।
अवारयन्त वरणेन देवा अभ्याचारमसुराणां श्वःश्वः ॥ २ ॥
अयं मणिर्वरणो विश्वभेषजः सहस्राक्षो हरितो हिरण्ययः।
स ते शत्रूनधरान् पादयाति पूर्वस्तान् दभ्नुहि ये त्वा द्विषन्ति ॥ ३ ॥

अर्थ— (मे अयं वरणः मणिः) मेरा यह वरण मणि (वृषा सपत्नक्षयणः) बलवान् है और शत्रुओंका नाश करनेवाला है। (तेन) उसके सहायसे (त्वं शत्रून् आ रभस्व) तू शत्रुका नाश कर और (दुरस्यतः प्र मृणीहि) दुष्ट इच्छा करनेवालोंका नाश कर ॥ १ ॥

(एनान् प्र शृणीहि) इनको मार, (प्रमृण) नाश कर, (आ रभस्व) नष्ट कर। यह (मणिः) मणि (ते पुरस्तात् पुरएता अस्तु) तेरे अग्रभागमें जानेवाला अग्रेसर होवे। (देवाः वरणेन) देवोंने इस वरण मणिसे ही (असुराणां श्वः श्वः अभ्याचारं) असुरोंके प्रतिदिन होनेवाले अत्याचारोंका (अवारयन्त) निवारण किया ॥ २ ॥

(अयं वरणो मणिः विश्वभेषजः) यह वरणमणि सब औषधियोंका सार है। (सहस्राक्षः हरितः) सहस्र आंखवाला, सब दुःखोंका हरण करनेवाला है और यह (हिरण्ययः) सुवर्णसे युक्त है (सः ते शत्रून् अधरान् पादयाति) वह तेरे सब शत्रुओंको नीचे गिराता है। (ये त्वा द्विषन्ति) जो तेरा द्वेष करते हैं (तान् पूर्वः दभ्नुहि) उनको सबसे पूर्व दबाकर नीचे रखो ॥ ३ ॥

अयं ते कृत्यां वितंतां पौरुषेयादयं भयात् । अयं त्वा सर्वस्मात् पापाद् वरणो वारयिष्यते ॥४॥
वरणो वारयाता अयं देवो वनस्पतिः । यक्ष्मो यो अस्मिन्नाविष्टस्तमु देवा अवीवरन् ॥ ५ ॥
स्वप्नं सुप्त्वा यदि पश्यासि पापं मृगः सृतिं यति धावादजुष्टाम् ।
परिक्षवाच्छकुनेः पापवादादयं मणिर्वरणो वारयिष्यते ॥ ६ ॥
अरात्यास्त्वा निर्ऋत्या अभिचारादथो भयात् । मृत्योरोजीयसो वधाद् वरणो वारयिष्यते ॥७॥
यन्मे माता यन्मे पिता भ्रातरो यच्च मे स्वा यदेनश्चकृमा वयम् ।
ततो नो वारयिष्यतेऽयं देवो वनस्पतिः ॥ ८ ॥
वरणेन प्रव्यथिता भ्रातृव्या मे सबन्धवः । असूर्तं रजो अप्यगुस्ते यन्त्वधमं तमः ॥ ९ ॥
अरिष्टोऽहमरिष्टगुरायुष्मान्त्सर्वपूरुषः । तं मायं वरणो मणिः परि पातु दिशोदिशः ॥१०॥(७)
अयं मे वरण उरसि राजा देवो वनस्पतिः ।
स मे शत्रून् वि बाधतामिन्द्रो दस्यूनिवासुरान् ॥ ११ ॥

अर्थ— (अयं वरणः) यह वरण मणि (ते वितता कृत्यां) तेरे चारों ओर फैले हुए हत्याप्रयोगको (पौरुषेयात् भयात्) मनुष्यकृत भयसे, (अयं त्वा सर्वस्मात् पापात्) यह तुझे सब प्रकारके पापोंसे (वारयिष्यते) निवारण करेगा ॥ ४ ॥

(अयं वरणः देवो वनस्पतिः) यह वरण मणि वनस्पति देव (वारयाता) दुःखनिवारक है । (यः यक्ष्मः अस्मिन् आविष्टः) जो क्षयरोग इसमें प्रविष्ट हुआ है, (तं उ देवा अवीवरन्) उसको देव निवारण करते हैं ॥ ५ ॥

(स्वप्नं सुप्त्वा) स्वप्नमें निद्राके समय (यदि पापं पश्यासि) यदि तू पापके दृश्य देखता है (यति अजुष्टां सृतिं धावत्) यदि अयोग्य गतिसे कोई दौडे, (शकुनेः परिक्षवात्) शकुनिके अत्यंत दुष्ट शब्दसे और (पापवादात्) निन्दाके शब्दोंसे (अयं वरणो मणिः वारयिष्यते) यह वरण मणि निवारण करता है ॥ ६ ॥

(अरात्याः निर्ऋत्याः) शत्रुभयसे विनाशसे, (अभिचारात् अथो भयात्) विनाशक प्रयोगसे और अन्य भयसे, (मृत्योः ओजीयसो वधात्) मृत्युसे भयानक वधसे (त्वा वरणः वारयिष्यते) तुझे यह वरण मणि निवारण करेगा ॥ ७ ॥

(यत् मे माता) जो मेरी माता, (यत् मे पिता) जो मेरा पिता (यत् च मे भ्रातरः) जो मेरे भाई, जो मेरे (स्वाः) आप्तजन तथा (वयं यत् एनः चकृम) हम सब जो पाप करते रहे हैं, (ततः) उस पापसे (अयं वनस्पतिः देवः) यह वनस्पति देव (नः वारयिष्यते) हमारा निवारण करेगा ॥ ८ ॥

(मे सबन्धवः भ्रातृव्याः) मेरे बांधवोंके साथ शत्रुगण (वरणेन प्रव्यथिताः) वरण मणिके कारण पीडित होकर (असूर्तं रजः अपि अगुः) अन्धकारमय धूलिमय स्थानको प्राप्त हों । (ते अधमं तमः यन्तु) वे निकृष्ट अन्धकारको प्राप्त हों ॥ ९ ॥

(अहं अरिष्टः) मैं अविनाशी, (अरिष्टगुः) अविनाशी वस्तुओंको प्राप्त करनेवाला (आयुष्मान् सर्वपूरुषः) दीर्घायु और समस्त पुरुषार्थी जनोंसे युक्त हूं । (अयं वरणः मणिः) यह वरण मणि (दिशोदिशः मा परि पातु) समस्त दिशाओंमें मेरी रक्षा करे ॥ १० ॥

(अयं वरणः राजा वनस्पतिः देवः) यह वरण मणि राजा वनस्पति देव (मे उरसि) मेरी छातीमें विराजता हुआ (सः मे शत्रून् वि बाधतां) मेरे शत्रुओंको पीडा देवे (इन्द्रः दस्यून असुरान् इव) जैसा इन्द्र असुरों और शत्रुओंको ताप देता है ॥ ११ ॥

इमं बिभर्मि वरणमायुष्मान्छतशारदः । स मे राष्ट्रं च क्षत्रं च पशूनोजश्च मे दधत् ॥ १२ ॥

यथा वातो वनस्पतीन् वृक्षान् भनक्त्योजसा ।
एवा सपत्नान् मे भङ्ग्धि पूर्वान् जाताँ उतापरान् वरणस्त्वाभि रक्षतु ॥ १३ ॥

यथा वातश्चाग्निश्च वृक्षान् प्सातो वनस्पतीन् ।
एवा सपत्नान् मे प्साहि पूर्वान् जाताँ उतापरान् वरणस्त्वाभि रक्षतु ॥ १४ ॥

यथा वातेन प्रक्षीणा वृक्षाः शेरे न्यर्पिताः ।
एवा सपत्नांस्त्वं मम प्र क्षिणीहि न्यर्पय पूर्वान् जाताँ उतापरान् वरणस्त्वाभि रक्षतु ॥ १५ ॥

तांस्त्वं प्र च्छिन्धि वरण पुरा दिष्टात् पुरायुषः । य एनं पशुषु दिप्सन्ति ये चास्य राष्ट्रदिप्सवः ॥ १६

यथा सूर्यो अतिभाति यथास्मिन् तेज आहितम् ।
एवा मे वरणो मणिः कीर्तिं भूतिं नि यच्छतु तेजसा मा समुक्षतु यशसा समनक्तु मा ॥ १७॥

यथा यशश्चन्द्रमस्यादित्ये च नृचक्षसि । एवा मे० ॥ १८ ॥

अर्थ— (इमं वरणं बिभर्मि) इस वरण मणिको मैं धारण करता हूं । जिससे मैं (आयुष्मान् शतशारदः) दीर्घायु और शतायु होऊंगा । (सः मे राष्ट्रं च क्षत्रं च) वह मेरे लिये राष्ट्र और क्षत्रियबलको तथा (पशून् ओजः च मे दधत्) पशुओं तथा ओजको मेरे लिये धारण करे ॥ १२ ॥

(यथा वातः) जैसा वायु (ओजसा) वेगसे (वृक्षान् वनस्पतीन्) वृक्षों और वनस्पतियोंको (भनक्ति) तोड देता है, (एवा) उसी तरह (मे पूर्वान् जातान्) मेरे पहिले बने हुए (उत अपरान् सपत्नान्) और दूसरे शत्रुओंको (भङ्ग्धि) तोड दे । (वरणः त्वा अभिरक्षतु) वरण मणि तेरी रक्षा करे ॥ १३ ॥

(यथा वातः अग्निः च) जैसा वायु और अग्नि मिलकर (वनस्पतीन् वृक्षान्) वृक्षवनस्पतियोंको (प्सातः) नष्ट कर देते हैं, (एवा सपत्नान् मे प्साहि) इस तरह मेरे शत्रुओंका नाश कर० ॥ १४ ॥

(यथा वातेन प्रक्षीणा वृक्षाः) जिस तरह वायुसे क्षीण वृक्ष (न्यर्पिताः शेरे) गिराये हुए लेट जाते हैं, (एवा त्वं मम सपत्नान्) उसी तरह मेरे शत्रुओंको तू वरण मणि (न्यर्पय) गिरा दे० ॥ १५ ॥

हे (वरण) वरण मणि ! (ये एनं पशुषु दिप्सन्ति) जो इसको पशुओंमें घातक होते हैं तथा (ये अस्य राष्ट्रदिप्सवः) जो इसके राष्ट्रविघातक शत्रु हैं, हे वरण मणि ! तू (पुरा आयुषः) आयुके क्षय होनेके पूर्व और (दिष्टात् पुरा) निश्चित समयसे भी पूर्व (त्वं तान् प्रच्छिन्धि) तू उनको छिन्न भिन्न कर ॥ १६ ॥

(यथा सूर्यः अतिभाति) जैसा सूर्य प्रकाशित होता है, (यथा अस्मिन् तेजः आहितं) जैसा इसमें तेज रखा है, (एवा वरणः मणिः) इसी तरह यह वरण मणि (मे कीर्तिं भूतिं नि यच्छतु) मुझे कीर्ति और ऐश्वर्य देवे ! (मा तेजसा समुक्षतु) मुझे तेजके साथ संयुक्त करे, (मा यशसा समनक्तु) मुझे यशसे यशस्वी बनावे ॥ १७ ॥

(यथा यशः चन्द्रमसि नृचक्षसि आदित्ये०) जैसा यश चन्द्रमा और दर्शनीय आदित्यमें है, (यथा यशः पृथिव्यां अस्मिन् जातवेदसि०) जैसा यश पृथिवी और जातवेद अग्निमें है, (कन्यायां संभृते रथे०) जैसा यश कन्याओंमें और युद्धके लिये सिद्ध हुए रथमें है, (सोमपीथे मधुपर्के०) जैसा यश सोमपीथ और मधुपर्कमें है, (अग्निहोत्रे वषट्कारे०) जैसा यश अग्निहोत्र और वषट्कारमें है, (यजमाने यज्ञे०) जैसा यश यजमानमें है और यज्ञमें है (प्रजापतौ परमेष्ठिनि०) जैसा यश प्रजापति और परमेष्ठीमें है, इसी तरहका यश यह वरण मणि मुझे देवे और तेज और यशसे युक्त करे ॥ १८–२४ ॥

यथा यशः पृथिव्यां यथाऽस्मिन् जातवेदसि । एवा मे० ॥ १९ ॥
यथा यशः कन्यायां यथाऽस्मिन्त्संभृते रथे । एवा मे० ॥ २० ॥
यथा यशः सोमपीथे मधुपर्के यथा यशः । एवा मे० ॥ २१ ॥
यथा यशोऽग्निहोत्रे वषट्कारे यथा यशः । एवा मे० ॥ २२ ॥
यथा यशो यजमाने यथाऽस्मिन् यज्ञ आहितम् । एवा मे० ॥ २३ ॥
यथा यशः प्रजापतौ यथाऽस्मिन् परमेष्ठिनि । एवा मे० ॥ २४ ॥
यथा देवेष्वमृतं यथैषु सत्यमाहितम् । एवा मे वरणो मणिः कीर्तिं भूतिं नि यच्छतु
तेजसा मा समुक्षतु यशसा समनक्तु मा ॥ २५ ॥

(यथा देवेषु अमृतं) जैसा देवोंमें अमृत है (यथा एषु सत्यं आहितं) जैसा देवमें सत्य रखा है, (एवा मे वरणो मणिः) इसी तरह मेरे लिये यह वरण मणि कीर्ति और ऐश्वर्य (नि यच्छतु) देवे और मुझे (तेजसा समुक्षतु) तेजसे युक्त करे और (यशसा मा समनक्तु) यशसे संयुक्त करे ॥ २५ ॥

इस सूक्तमें शत्रुनाश और अपने यशकी अभिवृद्धिके लिये प्रार्थना है। यह सूक्त सुबोध होनेसे अधिक स्पष्टीकरण की कोई आवश्यकता नहीं है।

(४) सर्पविष दूर करना ।

(ऋषिः— गरुत्मान् । देवता—तक्षकः ।)

(१)इन्द्रस्य प्रथमो रथो देवानामपरो रथो वरुणस्य तृतीय इत्। अहीनामपमा रथ स्थाणुमारदथार्षत्॥ १॥
दर्भः शोचिस्तरूणकमश्वस्य वारः परुषस्य वारः । रथस्य बन्धुरम् ॥ २ ॥
अव श्वेत पदा जहि पूर्वेण चापरेण च । उदप्लुतमिव दार्वहीनामरसं विषं वारुग्रम् ॥ ३ ॥
अरंघुषो निमज्योन्मज्य पुनरब्रवीत् । उदप्लुतमिव दार्वहीनामरसं विषं वारुग्रम् ॥ ४ ॥

---

[१] अर्थ— (इन्द्रस्य प्रथमः रथः) इन्द्रका पहिला रथ है, (देवानां अपरः रथः) देवोंका दूसरा रथ है (वरुणस्य तृतीयः इत्) वरुणका तीसरा है। (अहीनां अपमा रथः) सर्पोंका रथ नीच गतिवाला है जो (स्थाणुं आरत् अथ अर्षत्) स्तंभपर चलता है और नाशको प्राप्त होता है ॥ १ ॥

(दर्भः शोचिः तरूणकं) कुशा, आग, तृणविशेष और (अश्वस्य वारः पुरुषस्य वारः) अश्ववार और पुरुषवार ये सब औषधियां तथा (रथस्य बन्धुरम्) रथ-बंधुर या नाभि ये सब सर्पविष दूर करनेवाला है ॥ २ ॥

हे (श्वेत) श्वेत औषधे ! (पूर्वेण अपरेण च) पूर्व और उत्तर (पदा अव जहि) पदसे विषका नाश कर। इससे (विषं उग्रं अरसं) भयानक विष भी निरस हो जाय। (उदप्लुतं दारु इव) भरे हुए जलमें लकडी तिरनेके समान विष बह जाय ॥ ३ ॥

(अरंघुषः निमज्य उन्मज्य) अलंघुर औषधि निमज्जन और उन्मज्जन करके (पुनः अब्रवीत्) फिर कहने लगी कि उग्र भयानक विष भी सारहीन हो जायगा जैसी बहती लकडी होती है ॥ ४ ॥

पैद्वो हन्ति कसर्णीलं पैद्वः श्वित्रमुतासितम्। पैद्वो रथर्व्याः शिरः सं बिभेद पृदाक्वः ॥ ५ ॥
पैद्व प्रेहि प्रथमोऽनु त्वा वयमेमसि। अहीन् व्यस्यतात् पथो येन स्मा वयमेमसि ॥ ६ ॥
इदं पैद्वो अजायतेदमस्य परायणम्। इमान्यर्वतः पदाहिघ्न्यो वाजिनीवतः ॥ ७ ॥
संयतं न वि ष्परद् व्यात्तं न सं यमत्। अस्मिन् क्षेत्रे द्वावही स्त्री च पुमांश्च तावुभावरसा ॥८॥
अरसास इहाहयो ये अन्ति ये च दूरके। घनेन हन्मि वृश्चिकमहिं दण्डेनागतम् ॥ ९ ॥
अघाश्वस्येदं भेषजमुभयोः स्वजस्य च। इन्द्रो मेऽहिमघायन्तमहिं पैद्वो अरन्धयत् ॥१०॥ (१०)
पैद्वस्य मन्महे वयं स्थिरस्य स्थिरधाम्नः। इमे पश्चा पृदाकवः प्रदीध्यत आसते ॥ ११ ॥
नष्टासवो नष्टविषा हता इन्द्रेण वज्रिणा। जघानेन्द्रो जघ्निमा वयम् ॥ १२ ॥
हतास्तिरश्चिराजयो निपिष्टासः पृदाकवः। दर्विं करिक्रतं श्वित्रं दर्भेष्वसितं जहि ॥ १३ ॥
कैरातिका कुमारिका सका खनति भेषजम्। हिरण्ययीभिरभ्रिभिर्गिरीणामुप सानुषु ॥ १४ ॥

अर्थ— (पैद्वः कसर्णीलं श्वित्रं उत असितं) पैद्व कसर्णील श्वित्र और असित सर्पोंको मारता है, (पैद्वः रथर्व्याः पृदाक्वः शिरः सं बिभेद) पैद्व रथर्वी और पृदाकुका सिर तोड देता है ॥ ५ ॥

हे (पैद्व) पैद्व ! (प्रथमः प्रेहि) तू प्रथम आगे जा (त्वा अनु वयं एमसि) तेरे पीछे हम चलेंगे। और (येन वयं एमसि) जिन मार्गोंसे हम जांयगे उन (पथः अहीन् व्यस्यतात्) मार्गोंसे सर्पोंको दूर कर दें ॥ ६ ॥

(इदं पैद्वो अजायत) यह पैद्व हुआ है, (इदं अस्य परायणं) यह इसका परम स्थान है। (वाजिनीवतः अहिघ्न्यः अर्वतः) बलवान् सर्पनाशक अश्वके (इमानि पदा) ये पदचिन्ह हैं ॥ ७ ॥

(संयतं न वि ष्परत्) सर्पका बंद मुख न खुले और (व्यात्तं न यमत्) खुला हुआ बंद न होवे। (अस्मिन् क्षेत्रे द्वौ अही) इस खेतमें दो सर्प हैं। (स्त्री च पुमान् च) एक स्त्री और दूसरा पुरुष है। (तौ उभौ अरसौ) वे दोनों सारहीन हो जांय ॥ ८ ॥

(इह ये अन्ति ये दूरके) यहां जो पास और जो दूर (अहयः अरसासः) सांप हैं वे सारहीन हो जांय (घनेन हन्मि वृश्चिकं) हथौडेसे बिच्छुको मारता हूं और (आगतं अहिं दण्डेन) आये हुए सर्पको दण्डसे मारता हूं ॥ ९ ॥

(अघाश्वस्य स्वजस्य च) अघाश्व और स्वज इन (उभयोः इदं भेषजं) दोनोंका यही औषध है, (इन्द्रः मे अघायन्तं अहिं) इन्द्र मेरे ऊपर आक्रमण करनेवाले सर्पको तथा (पैद्वः अहिं अरन्धयत्) पैद्व सर्पको नष्ट करता है ॥ १० ॥

(स्थिरस्य स्थिरधाम्नः पैद्वस्य) स्थिर और अचल धामवाले पैद्वकी महिमा (वयं मन्महे) हम मनन करते हैं जिसके (पश्चा) पीछे (इमे पृदाकवः प्रदीध्यतः आसते) ये पृदाकु नामक सर्प देखते हुवे दूर खडे रहते हैं ॥ ११ ॥

(नष्टासवः नष्टविषाः) जिनके प्राण और विष नष्ट हो चुके हैं, (इन्द्रेण वज्रिणा हताः) जो वज्रधारी इन्द्रने मारे हैं, जिनको (इन्द्रः जघान) इन्द्रने मारा है और (वयं जघ्निम) हम भी सर्पोंको मारते हैं ॥ १२ ॥

(तिरश्चिराजयः हताः) तिरछी लकीरोंवाले सर्प मारे गये, (पृदाकवः निपिष्टासः) पृदाकु सांप पीसे गये, (दर्विं, करिक्रतं श्वित्रं) दर्वि, करिक्रत और श्वेत जातिके सांपको तथा (असितं दर्भेषु आदि) काले सांपको दर्भोंमें मार ॥ १३ ॥

(सका कैरातिका कुमारिका) वह भीलोंकी लडकी (हिरण्ययीभिः अभ्रिभिः) लोहेकी कुदारोंसे (गिरीणां सानुषु) पहाडोंके शिखरोंपर (भेषजं उप खनति) औषधिको खोदती है ॥ १४ ॥

आयमगन्युवा भिषक्पृश्निहापराजितः । स वै स्वजस्य जम्भन उभयोर्वृश्चिकस्य च ॥ १५ ॥
इन्द्रो मेऽहिमरन्धयन्मित्रश्च वरुणश्च । वातापर्जन्योभा ॥ १६ ॥
इन्द्रो मेऽहिमरन्धयत्पृदाकुं च पृदाक्वम् । स्वजं तिरश्चिराजिं कसर्णीलं दशोनसिम् ॥ १७ ॥
इन्द्रो जघान प्रथमं जनितारमहे तव । तेषामु तृह्यमाणानां कः स्वित्तेषामसद्रसः ॥ १८ ॥
सं हि शीर्षाण्यग्रभं पौञ्जिष्ठ इव कर्वरम् । सिन्धोर्मध्यं परेत्य व्यनिजमहेर्विषम् ॥ १९ ॥
अहीनां सर्वेषां विषं परा वहन्तु सिन्धवः । हतास्तिरश्चिराजयो निपिष्टासः पृदाकवः २०(११)
ओषधीनामहं वृण उर्वरीरिव साधुया । नयाम्यर्वतीरिवाहे निरैतु ते विषम् ॥ २१ ॥
यदग्नौ सूर्ये विषं पृथिव्यामोषधीषु यत् । कान्दाविषं कनक्नकं निरैत्वैतु ते विषम् ॥ २२ ॥
ये अग्निजा ओषधिजा अहीनां ये अप्सुजा विद्युत आबभूवुः ।
येषां जातानि बहुधा महान्ति तेभ्यः सर्पेभ्यो नमसा विधेम ॥ २३ ॥

अर्थ— (अयं युवा पृश्निहा) यह तरुण सर्पनाशक (अपराजितः भिषक्) अपराजित वैद्य आता है। (सः वै स्वजस्य वृश्चिकस्य) वह निःसंदेह स्वज नामक सर्पका और बिच्छुका इन (उभयोः जम्भनः) दोनोंका नाश करनेवाला है ॥ १५ ॥

(इन्द्रः मित्रः वरुणश्च) इन्द्र, सूर्य और वरुण (मे अहिं पृदाकुं च अरन्धयन्) ये मेरे पास आये सर्पोंको मारते हैं तथा (वातापर्जन्यौ उभा) वायु और पर्जन्य ये दोनों भी सर्पोंको मारते हैं ॥ १६ ॥

पृदाकु, पृदाक्व, स्वज, तिरश्चिराजी, कसर्णील, दशोनसि इन सर्पोंकी जातियोंको (इन्द्रः अरन्धयत्) इन्द्र नाश देता है ॥ १७ ॥

हे (अहे) सर्प ! (तव प्रथमं जनितारं) तेरे पहिले उत्पादकको (इन्द्रः जघान) इन्द्र नाश करता है। (तेषां तृह्यमाणानां) उनके नाशको प्राप्त हुओंमें (तेषां कः स्वित् रसः असत्) क्या उनका कुछ रस रहता है ? अर्थात् वे सब पूर्ण मर जाते हैं ॥ १८ ॥

मैं सर्पोंके (शीर्षाणि अग्रभं) सिरोंको पकड लूं (इव) जैसा (पौञ्जिष्ठः सिन्धोः कर्वरं मध्यं परेत्य) केवट नदीके गहरे मध्य भागतक जाकर सहजही वापिस आता है, उस प्रकार मैं भी (अहेः विषं व्यनिजं) सांपका विष विशेष प्रकारसे नष्ट करता हूं ॥ १९ ॥

(सर्वेषां अहीनां विषं) सब सर्पोंके विषको (सिन्धवः परा वहन्तु) नदियां दूर बहा ले जांय। इस तरह तिरश्चिराजी और पृदाकु जातिके सब सर्प मारे गये हैं ॥ २० ॥

(अहं ओषधीनां उर्वरीः इव साधुया वृणे) मैं औषधियोंको उपजाऊ भूमीपर धान्य उगनेके समान सहजहीसे प्राप्त करूं और (अर्वतीः इव नयामि) उनको ले जाऊं, अतः हे (अहे) सर्प ! (ते विषं निः ऐतु) तेरा विष दूर हो जावे ॥ २१ ॥

(यत् विषं अग्नौ पृथिव्यां ओषधिषु) जो विष, अग्नि, भूमि और औषधियोंमें है, तथा जो (कान्दाविषं कनक्नकं) कन्दोंमें तथा वनस्पति विशेषोंमें संगठित होता है, वह तेरा विष (निः ऐतु ऐतु) निःशेष चला जावे ॥२२॥

(ये अग्निजाः ओषधिजाः) जो अग्निसे उत्पन्न, औषधियोंमें उत्पन्न (ये अहीनां अप्सुजाः) जो सांपोंमें जलोंमें उत्पन्न, (विद्युतः आबभूवुः) जो बिजलीसे प्रकट होते हैं, (येषां जातानि बहुधा महान्ति) जिनकी अनेक प्रकारकी जातियां हैं, (तेभ्यः सर्पेभ्यः नमसा विधेम) उन सांपोंको हम नमन करते हैं ॥ २३ ॥

+

तौद्वी नामासि कन्या॒ घृताची॒ नाम॒ वा अ॑सि। अ॒ध॒स्प॒देन॑ ते प॒दमा द॑दे विषदूषण॑म् ॥ २४ ॥
अङ्गा॑दङ्गात्प्र च्या॑वय॒ हृद॑यं॒ परि॑ वर्जय। अधा॑ वि॒षस्य॒ यत्तेजो॑ऽवा॒चीनं॒ तदे॑तु ते ॥ २५ ॥
आरे अ॑भूद्वि॒षम॑रौद्वि॒षे वि॒षम॑प्रा॒गपि॑। अ॒ग्निर्वि॒षमहे॒र्निर॑धा॒त्सोमो॒ निर॑णयीत् ॥
दं॒ष्टार॒मन्व॑गाद्वि॒षमहि॑रमृत ॥ २६ ॥ (१२)

॥ इति द्वितीयोऽनुवाकः ॥

अर्थ— (तौद्वी नाम घृताची नाम) तौदी और घृताची इन नामोंकी (कन्या असि) कन्या नामकी एक औषधि है। (अधः पदेन ते विषदूषणं पदं आददे) नीचेवाले विषनाशक भागके साथ तेरी जड में प्राप्त करता हूं॥ २४॥

हे औषधि ! तूं (अंगात् अंगात्) प्रत्येक अवयवसे (प्र च्यावय) विषको दूर कर, (हृदयं परिवर्जय) हृदयको भी छुडा दे, (विषस्य यत् तेजः) विषकी जो चमक है, (तत् ते अवाचीनं एतु) वह तेरे शरीरसे नीचेकी ओर दूर हो जावे॥ २५॥

(विषं आरे अभूत्) विष दूर हुआ, (विषं अरौत्) विष चला गया, (विषे विषं अप्राग् अपि) विषमें विष मिलकर पहिले जैसा विषरहित हो चुका। (अहेः विषं अग्निः निरधात्) सर्पका विष अग्नि दूर करता है, (सोमः निरणयीत्) सोम औषधि विष दूर करती है। (दंष्टारं विषं अन्वगात्) दंश करनेवाले सर्पको विष पहुंचा और उससे (अहिः अमृत) वही सर्प मर गया॥ २६॥

यह संपूर्ण सूक्त सर्पविषको दूर करनेके लिये है। इसमें कई नाम औषधियोंके है, जो अच्छे वैद्योंको ही ज्ञात हो सकते हैं। यह जीने मरनेका विषय है, इसलिये वैद्यविद्या न जाननेवाले केवल कोशोंको देखकर न लिखेंगे, तो ही अच्छा है। वैसा तो यह सूक्त सरल है, परंतु कई मंत्र मंत्रशास्त्र की दृष्टिसे देखनेवाले हैं और कई संकेत वैद्यशास्त्रकी दृष्टिसे खुलनेवाले हैं। इसलिये उन विषयोंके विशेषज्ञ इस सूक्तकी अधिक खोज करें, इतना ही यहां लिखा जा सकता है।

---

(५) विजयप्राप्ति।

(ऋषिः—१–२४ सिन्धुद्वीपः, २५–३५ कौशिकः, ३६–४१ ब्रह्मा, ४२–५० विहव्यः।
देवता—१–२४ आपः चद्रमाश्च, २५–३५ विष्णुक्रमः, मन्त्रोक्ताः, ३६–५० मंत्रोक्ताः)

(१)इन्द्र॒स्यौज॒ स्थेन्द्र॑स्य॒ सह॒ स्थेन्द्र॑स्य॒ बलं॒ स्थेन्द्र॑स्य वी॒र्यं॑१ स्थेन्द्र॑स्य॒ नृम्णं॒ स्थ।
जि॒ष्णवे॒ योगा॑य ब्रह्मयो॒गैर्वो॑ युनज्मि ॥ १ ॥
इन्द्र॒स्यौज॒०। जि॒ष्णवे॒ योगा॑य क्षत्रयो॒गैर्वो॑ युनज्मि ॥ २ ॥

अर्थ— (इन्द्रस्य ओजः स्थ) आप इंद्रका बल हो, (इन्द्रस्य सहः स्थ) आप इंद्रका शत्रुपराभवका सामर्थ्य हो, (इन्द्रस्य बलं स्थ) आप इन्द्रका बल हो, (इन्द्रस्य वीर्यं स्थ) आप इन्द्रका पराक्रम हो, (इन्द्रस्य नृम्णं स्थ) आप इंद्रका ऐश्वर्य हो, आपको (जिष्णवे योगाय) विजयप्राप्तिके कार्यमें (ब्रह्मयोगैः वः युनज्मि) ज्ञानसाधनोंके साथ संयुक्त करता हूं॥ १॥ ०(क्षत्रयोगैः) क्षात्रबलके साथ, ... ०(इन्द्रयोगैः) इन्द्रशक्तियोंके साथ ...०(सोमयोगैः) सोमादि औषधियोंके शक्तियोंके साथ ...०(अप्सुयोगैः) जलादि योजनाओंके साथ संयुक्त करता हूं॥ २—५॥

इन्द्रस्यौज० । जिष्णवे योगायेन्द्रयोगैर्वो युनज्मि ॥ ३ ॥
इन्द्रस्यौज० । जिष्णवे योगाय सोमयोगैर्वो युनज्मि ॥ ४ ॥
इन्द्रस्यौज० । जिष्णवे योगायाप्सुयोगैर्वो युनज्मि ॥ ५ ॥
इन्द्रस्यौज स्थेन्द्रस्य सह स्थेन्द्रस्य बलं स्थेन्द्रस्य वीर्यं स्थेन्द्रस्य नृम्णं स्थ ।
जिष्णवे योगाय विश्वानि मा भूतान्युप तिष्ठन्तु युक्ता म आप स्थ ॥ ६ ॥
(२)अग्नेर्भाग स्थ । अपां शुक्रमापो देवीर्वर्चो अस्मासु धत्त ।
प्रजापतेर्वो धाम्नास्मै लोकाय सादये ॥ ७ ॥
इन्द्रस्य भाग स्थ ।०।०।८। सोमस्य भाग स्थ ।०।०।९। वरुणस्य भाग स्थ ।०।०॥१०॥(१२)
मित्रावरुणयोर्भाग स्थ ।०।०।११। यमस्य भाग स्थ ।०।१२। पितृणां भाग स्थ ।०।० ॥ १३ ॥
देवस्य सवितुर्भाग स्थ । अपां शुक्रमापो देवीर्वर्चो अस्मासु धत्त ।
प्रजापतेर्वो धाम्नास्मै लोकाय सादये ॥ १४ ॥
(३)यो व आपोऽपां भागो३ऽप्स्व१न्तर्यजुष्यो॑ देवयजनः । इदं तमति सृजामि तं माभ्यवनिक्षि ।
तेन तमभ्यतिसृजामो यो३ऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ।
तं वधेयं तं स्तृषीयानेन ब्रह्मणानेन कर्मणानया मेन्या ॥ १५ ॥
यो व आपोऽपामूर्मिरप्स्व१न्त०।०।०।०।१६। यो व आपोऽपां वत्सो३ऽप्स्व१न्त०।०।०।०॥१७॥

अर्थ— (जिष्णवे योगाय) विजयप्राप्तिके लिये (विश्वानि भूतानि उपतिष्ठन्तु) सब भूत आपके पास आ जाय तथा (आपः मे युक्ता स्थ) जल मुझे समयपर प्राप्त होवे ॥ ६ ॥

[२] (अग्नेः भागः स्थ) आप अग्निका भाग हो, हे (देवीः आपः) दिव्य जलो ! (अस्मासु वर्चः धत्त) हमारेमें तेजको धारण करो, क्योंकि आप (अपां शुक्रं) जलोंका वीर्यही हो । (प्रजापतेः धाम्ना) प्रजापतिके धामसे आये (वः) आपको (अस्मै लोकाय सादये) इस लोकके लिये स्थिर स्थान देता हूं ॥ ७ ॥ आप (इन्द्रस्य भागः स्थ) इन्द्रका भाग हो,० (सोमस्य भागः०) सोमादि औषधियोंका भाग हो, ० (वरुणस्य) वरुणका०, (मित्रा-वरुणयोः०) सूर्य और वरुणका० (यमस्य) यमका०, (पितृणां) पितरोंका०, (देवस्य सवितुः) सवितादेवका भाग आप हैं० ॥ ८-१४ ॥

[३] हे (आपः) जलो ! (यः वः अपां भागः) जो आपमें जलोंका भाग है, जो (अप्सु अन्तर्, यजुष्यः देवयजनः) जलोंके अन्दर होता हुआ यज्ञकर्ममें लगनेवाला देवोंके लिये यजनरूप है, (इदं तं अति सृजामि) यह मैं उसे छोड देता हूं, (तं मा अभि अवनिक्षि) उसका तिरस्कार न करें। (तेन तं अभि अति सृजामः) उससे उनको दूर कर देते हैं। (यः अस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः) जो हमारा द्वेष करता है और जिसका हम द्वेष करते हैं। (अनेन ब्रह्मणा अनेन कर्मणा अनया मेन्या) इस ज्ञानसे, इस कर्मसे और इस इच्छासे (तं वधेयं तं स्तृषीय) उसका वध करें और उसका नाश करें ॥ १५ ॥ ... (यः अपः अपां ऊर्मिः०) जो जलोंके तरंग हैं०, (अपां वृषभः) जो जलोंका वर्षण करनेवाला मेघ है०, (अपां हिरण्यगर्भः०) जो जलोंका सुवर्णके समान तेजस्वी भाग है०, (अपां अश्मा पृश्निः दिव्यः०) जो जलोंका पत्थर जैसा बर्फादिका दिव्य भाग है, तथा जो (अपां अग्नयः०) जलोंमें अग्नि जैसा उष्णताका भाग है०, उसकी सहायतासे हम द्वेषीका नाश करते हैं ॥ १५-२१ ॥

यो वं आपोऽपां वृषभोऽ३ऽप्स्व१न्त०।०।०।० ॥ १८ ॥

यो वं आपोऽपां हिरण्यगर्भोऽ३ऽप्स्व१न्त०।०।०।०।० ॥ १९ ॥

यो वं आपोपामश्मा पृश्निर्दिव्योऽ३ऽप्स्व१न्त०।०।०।०।० ॥ २० ॥ (१४)

ये वं आपोऽपाम॒ग्नयोऽप्स्व१न्तर्यजुष्या देवयजनाः ।

इदं तानति सृजामि तान्माभ्यवनिक्षि ।

तैस्तमभ्यतिसृजामो योऽ३ऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ।

तं वंधेयं तं स्तृषीयानेन ब्रह्मणानेन कर्मणानया मेन्या ॥ २१ ॥

(४)यदर्वाचीनं त्रैहायणादनृतं किं चोदिम । आपो मा तस्मात्सर्वस्माद्दुरितात्पान्त्वंहसः ॥ २२ ॥

समुद्रं वः प्र हिणोमि स्वां योनिमपीतन । अरिष्टाः सर्वहायसो मा च नः किं चनाममत् ॥ २३ ॥

अरिप्रा आपो अप रिप्रमस्मत् ।

प्रास्मदेनो दुरितं सुप्रतीकाः प्र दुःष्वप्न्यं प्र मलं वहन्तु ॥ २४ ॥

(५)विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहा पृथिवीसंशितोऽग्नितेजाः ।

पृथिवीमनु वि क्रमेऽहं पृथिव्यास्तं निर्भजामो योऽ३ऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥

स मा जीवीत्तं प्राणो जहातु ॥ २५ ॥

विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहान्तरिक्षसंशितो वायुतेजाः ।

अन्तरिक्षमनु वि क्रमेऽहमन्तरिक्षात् तं निर्भजामो०।० ॥ २६ ॥

---

[४] अर्थ— (त्रैहायणात् अर्वाचीनं यत् किं च) तीन वर्षोंके अन्दर अन्दर जो कुछ (अनृतं ऊदिम) असत्य भाषण किया है, (तस्मात् सर्वस्माद् दुरितात् अंहसः) उस सब पापसे (आपः मा पान्तु) जल मुझे बचावें ॥ २२ ॥

हे आपः! (वः समुद्रं प्र हिणोमि) आपको में समुद्रके प्रति भेजता हूं, आप (स्वां योनिं अपीतन) अपने उगमस्थानको प्राप्त होओ! (सर्वहायसः अरिष्टाः) संपूर्ण आयुतक अहिंसित होते हुए (नः किंचन मा आममत्) हम सबको किसी तरह रोग न हो ॥ २३ ॥

(आपः अरिप्राः) जल निर्दोष है, इसलिये वह (अस्मात् रिप्रं अप) हम सबसे दोष दूर करें। (सुप्रतीकाः अस्मत् दुरितं एनः प्र) उत्तम रूपवाला जल हम सबसे पाप और मल दूर करे। (दुष्वप्न्यं मलं प्र प्र वहन्तु) दुष्ट स्वप्न और मल बहाकर दूर ले जावें ॥ २४ ॥

[५] तू (विष्णोः क्रमः असि) तूं विष्णुका आक्रमण जैसा आक्रमक है, तथा (सपत्नहा पृथिवीसंशितः अग्नितेजाः) शत्रुका नाश करनेवाला, पृथ्वीपर तेजस्वी और अग्निके समान प्रतापी है, मैं (अहं पृथिवीं अनु वि क्रमे) पृथ्वीपर पराक्रम करता हूं, (तं पृथिव्याः निर्भजामः) हम उसको पृथ्वीसे हटा देते हैं (यः अस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः) जो हमारा द्वेष करता है और जिसका हम द्वेष करते हैं, (सः मा जीवीत्) वह जीवित न रहे, (तं प्राणो जहातु) उसे प्राण छोड देवे ॥ २५ ॥

तू (अन्तरिक्षसंशितः वायुतेजाः) अन्तरिक्षमें तेजस्वी और वायुके तेजसे युक्त, (अहं अन्तरिक्षं अनु वि क्रमे) मैं अन्तरिक्षमें पराक्रम करता हूं और (अन्तरिक्षात् तं निर्भजामः) अन्तरिक्षसे उसको हटा देते हैं... ॥ २६ ॥

विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहा द्यौसंशितः सूर्यतेजाः। दिवमनु वि क्रमेऽहं दिवस्तं ०।० ॥२७॥
विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहा दिक्संशितो मनस्तेजाः। दिशोऽनु वि क्रमेऽहं दिग्भ्यस्तं ०।०।२८।
विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहाशासंशितो वाततेजाः। आशा अनु वि क्रमेऽहमाशाभ्यस्तं ०।०॥२९॥
विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नह ऋक्संशितः सामतेजाः। ऋचोऽनु वि क्रमेऽहमृग्भ्यस्तं ०।०।३०।(१५)
विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहा यज्ञसंशितो ब्रह्मतेजाः। यज्ञमनु वि क्रमेऽहं यज्ञात्तं ०।०। ॥३१॥
विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहौषधीसंशितः सोमतेजाः।
ओषधीरनु वि क्रमेऽहमोषधीभ्यस्तं ०।० ॥ ३२ ॥
विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहाऽप्सुसंशितो वरुणतेजाः। अपोऽनु वि क्रमेऽहमद्भ्यस्तं०।०॥ ३३ ॥
विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहा कृषिसंशितोऽन्नतेजाः। कृषिमनु वि क्रमेऽहं कृष्यास्तं ०।०॥३४॥
विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहा प्राणसंशितः पुरुषतेजाः।
प्राणमनु वि क्रमेऽहं प्राणात् तं निर्भजामो योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥
स मा जीवीत् तं प्राणो जहातु ॥ ३५ ॥
जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकमभ्यष्ठां विश्वाः पृतना अरातीः।
इदमहमामुष्यायणस्यामुष्याः पुत्रस्य वर्चस्तेजः प्राणमायुर्नि वेष्टयामीदमेनमधराञ्चं पादयामि ३६

अर्थ— (द्यौः संशितः सूर्यतेजाः) तू द्युलोकमें तेजस्वी और सूर्यके तेजसे युक्त है, मैं (दिवं अनु वि क्रमे) द्युलोकमें पराक्रम करता हूं और उस द्युलोकसे उसे हटा देता हूं० ॥ २७॥... (दिक्संशितः मनस्तेजाः०) तू दिशाओंमें तेजस्वी और मनके तेजसे युक्त युक्त है, मैं (दिशः०) दिशाओंमें पराक्रम करता हूं और दिशाओंमें उसको हटा देता हूं० ॥ २८ ॥ ... (आशासंशितः वाततेजाः) तू उपदिशाओंमें तेजस्वी और वातके तेजसे युक्त है, सब उपदिशाओंमें में पराक्रम करता हूं और उसको वहांसे हटा देता हूं ॥ २९ ॥ (ऋक्संशितः सामतेजाः) ऋग्वेदके ज्ञानसे तेजस्वी और सामके तेजसे युक्त है, मैं (ऋचः अनु वि क्रमे) ऋग्विज्ञानमें पराक्रम करता हूं और ऋचाओंसे उसको हटाता हूं ॥३०॥

(यज्ञसंशितः ब्रह्मतेजाः) तू यज्ञसे तेजस्वी व ज्ञानके तेजसे युक्त है, मैं यज्ञक्षेत्रमें पराक्रम करता हूं और उसको यज्ञसे हटाता हूं० ॥३१॥ ... (औषधिसंशितः सोमतेजाः) तू औषधिद्वारा तेजस्वी और सोमके तेजसे युक्त हूं, मैं (ओषधीः अनु वि क्रमे) औषधिविद्यामें पराक्रम करता हूं और औषधियोंसे उसको हटाता हूं ॥३२॥... (अप्सुसंशितः वरुणतेजाः) तू जलोंसे तेजस्वी और वरुणके तेजसे युक्त (अपः अनु वि क्रमे) जलोंमें मैं पराक्रम करता हूं और जलोंसे उसको हटाता हूं० ॥३३॥ (कृषिसंशितः अन्नतेजाः) तू कृषिसे तेजस्वि और अन्नके तेजसे युक्त है, मैं (कृषिं अनु वि क्रमे) कृषिमें पराक्रम करता हूं और कृषिसे उसे हटाता हूं ॥३४॥ .. (प्राणसंशित पुरुषतेजाः) तू प्राणसे तेजस्वी और पुरुषके तेजसे युक्त है (प्राणं अनु वि क्रमे) प्राण क्षेत्रमें विक्रम करता हूं और (प्राणात् तं निर्भजामः) प्राणसे उसको हटाता हूं, कि जो हमारा द्वेष करता और जिसका हम द्वेष करते हैं, वह न जीवे, उसको प्राण छोड देवें ॥ ३५ ॥

[६] (अस्माकं जितं) हमारा विजय है, (अस्माकं उद्भिन्नं) हमारा प्रभाव है। (विश्वाः पृतना अरातीः अभ्यष्ठां) सब शत्रुसेना और वैरी परास्त हुए हैं। (अहं इदं) मैं यह (आमुष्यायणस्य अमुष्याः पुत्रस्य) अमुक गोत्रके अमुक माताके पुत्रके अमुके (वर्चः तेजः प्राणं आयुः निवेष्टयामि) वर्चस्, तेज, प्राण और आयुको पूर्ण रीतिसे बांधता हूं और (इदं एनं अधराञ्चं पादयामि) इस तरह इसको मैं नीचे गिराता हूं ॥ ३६॥

सूर्यस्यावृतमन्वावर्ते दक्षिणामन्वावृतम् । सा मे द्रविणं यच्छतु सा मे ब्राह्मणवर्चसम् ॥ ३७ ॥

दिशो ज्योतिष्मतीरभ्यावर्ते । ता मे द्रविणं यच्छन्तु ता मे ब्राह्मणवर्चसम् ॥ ३८ ॥

सप्तऋषीनभ्यावर्ते । ते मे द्रविणं यच्छन्तु ते मे ब्राह्मणवर्चसम् ॥ ३९ ॥

ब्रह्माभ्यावर्ते । तन्मे द्रविणं यच्छतु तन्मे ब्राह्मणवर्चसम् ॥ ४० ॥

ब्राह्मणाँ अभ्यावर्ते । ते मे द्रविणं यच्छन्तु ते मे ब्राह्मणवर्चसम् ॥ ४१ ॥

(७)यं वयं मृगयामहे तं वधैः स्तृणवामहे । व्याते परमेष्ठिनो ब्रह्मणापीपदाम तम् ॥ ४२ ॥

वैश्वानरस्य दंष्ट्राभ्यां हेतिस्तं समधादभि । इयं तं प्सात्वाहुतिः समिद्देवी सहीयसी ॥ ४३ ॥

राज्ञो वरुणस्य बन्धोऽसि । सोऽमुमामुष्यायणममुष्याः पुत्रमन्ने प्राणे बधान ॥ ४४ ॥

यत्ते अन्नं भुवस्पत आक्षियति पृथिवीमनु । तस्य नस्त्वं भुवस्पते संप्रयच्छ प्रजापते ॥ ४५ ॥

अपो दिव्या अचायिषं रसेन समपृक्ष्महि । पयस्वानग्न आगमं तं मा सं सृज वर्चसा ॥ ४६ ॥

अर्थ— (सूर्यस्य आवृतं) सूर्यका आवर्तन अर्थात् (दक्षिणां अन्वावृतं) दक्षिण दिशामें गमन है, उसके साथ (अनु आवर्ते) मैं अनुकूल होकर जाता हूं । (सा मे द्रविणं यच्छतु) वह मुझे धन देवे । (सा मे ब्राह्मणवर्चसं) वह मुझे ज्ञानतेज देवे ॥ ३७ ॥

(ज्योतिष्मतीः दिशः अभ्यावर्ते) तेजोयुक्त दिशाओंमें मैं गमन करता हूं । वे (ता:०) मुझे धन और ज्ञान-तेज देवें ॥ ३८ ॥

(सप्तऋषीन् अभ्यावर्ते) सप्त ऋषियोंके अनुकूल गमन करता हूं । (ते०) वे मुझे धन और ज्ञानतेज देवें ॥ ३९ ॥

(ब्रह्म अभ्यावर्ते) ज्ञानके अनुकूल मैं चलता हूं । (तत्०) वह मुझे धन और ज्ञानका तेज देवे ॥ ४० ॥

(ब्राह्मणां अभ्यावर्ते) ब्राह्मणोंके अनुकूल मैं चलता हूं । (ते०) वे मुझे धन और ज्ञानतेज देवें ॥ ४१ ॥

[७] (यं वयं मृगयामहे) जिसे हम ढूंढते हैं, (तं वधैः स्तृणवामहे) उसे वधोंसे-हथियारोंसे नष्ट करते हैं, और (परमेष्ठिनः व्याते) परमेश्वरकी विकराल दंष्ट्रामें (तं ब्रह्मणा आपीपदाम) उसे हम ज्ञानके योगसे डाल देते हैं ॥ ४२ ॥

(वैश्वानरस्य दंष्ट्राभ्यां) ईश्वरकी दाढों द्वारा बननेवाला जो (हेतिः) हथियार है, उससे (तं अभि समधात्) उसका नाश करते हैं । (तं प्सात्वा) उसका नाश करके (इयं समित्) यह जो समिधा इस यज्ञमें डाली जाती है, वह (देवी सहीयसी) शत्रुको दूर करनेके लिये समर्थ है ॥ ४३ ॥

(वरुणस्य राज्ञः बन्धः असि) वरुणराजाके तू बंधनमें पडा है, (सः अमुं) वह इस (आमुष्यायणं अमुष्याः पुत्रं) इस गोत्रके अमुक माताके पुत्रको (अन्ने प्राणे बधान) अन्न और प्राणमें बांध देता हूं ॥ ४४ ॥

हे (भुवः पते) पृथ्वीके स्वामी ! (यत् ते अन्नं) जो तेरा अन्न (पृथिवीं अनु आक्षियति) पृथ्वीपर है, हे (प्रजापते) प्रजाके पालक ! (तस्य त्वं नः संप्रयच्छ) तुम उसको हमें प्रदान करो ॥ ४५ ॥

हे दिव्य (आपः) जलो ! (अचायिषं) याचना करता हूं, कि (रसेन समपृक्ष्महि) हमें रससे संयुक्त करो । हे (अग्ने) अग्ने ! (पयस्वान् आगमं) रसके साथ मैं आ रहा हूं (तं मा वर्चसा सं सृज) मुझे तेजसे युक्त कर ॥ ४६ ॥

सं मा॑ग्ने॒ वर्च॑सा सृज॒ सं प्र॒जया॒ समायु॑षा।
वि॒द्युर्मे॑ अ॒स्य दे॒वा इन्द्रो॑ वि॒द्यात् स॒ह ऋषि॑भिः ॥ ४७ ॥
यद॑ग्ने अ॒द्य मि॑थु॒ना शपा॑तो॒ यद्वा॒चस्तृ॒ष्टं ज॒नय॑न्त रे॒भाः।
म॒न्योर्मन॑सः श॒रव्या॒३ जाय॑ते॒ या तया॑ विध्य॒ हृद॑ये यातु॒धाना॑न् ॥ ४८ ॥
परा॑ शृणीहि॒ तप॑सा यातु॒धाना॒न् परा॑ऽग्ने॒ रक्षो॒ हर॑सा शृणीहि।
परा॒ऽर्चिषा॒ मूर॑देवाञ्छृणीहि॒ परा॑सु॒तृपः॒ शोशु॑चतः शृणीहि ॥ ४९ ॥
अ॒पाम॑स्मै॒ वज्रं॒ प्र ह॑रामि॒ चतु॑र्भृष्टिं शीर्ष॒भिद्या॑य वि॒द्वान्।
सो अ॒स्याङ्गा॑नि॒ प्र शृ॑णातु॒ सर्वा॒ तन्मे॑ दे॒वा अनु॑ जानन्तु॒ विश्वे॑ ॥ ५० ॥ (१७)

अर्थ— हे अग्ने ! (मा वर्चसा संसृज) मुझे तेजसे युक्त कर, (प्रजया आयुषा सं) प्रजा और आयुसे युक्त कर। (देवाः अस्य मे विद्युः) देवता मेरे इस बोधको जानें। (इन्द्रः ऋषिभिः सह विद्यात्) इन्द्र ऋषियोंके साथ इस विषयको जानें ॥ ४७ ॥

हे अग्ने ! (यत् अद्य मिथुना शपातः) आज जो मिलकर गाली देते हैं, (यत् रेभाः वाचः तृष्टं जनयन्त) जो वक्ता वाणीका दोष करते हैं, (या मन्योः मनसः शरव्या जायते) जो क्रोधसे मनकी हिंसा होती है, (तया यातुधानान् हृदये विध्य) उससे दुष्टोंके हृदयोंका वेध कर ॥ ४८ ॥

(यातुधानान् तपसा परा शृणीहि) दुष्टोंको अपने तापसे दूर भगा, हे अग्ने ! (रक्षः हरसा परा शृणीहि) राक्षसोंको अपने बलसे दूर कर। (अर्चिषा मूरदेवान् परा शृणीहि) अपनी ज्वालासे मूर्खोंको दूर फेंक, और (असुतृपः शोशुचतः परा शृणीहि) दूसरोंके प्राणोंपर तृप्त होनेवालोंको शोक कराते हुए दूर भगाओ ॥ ४९ ॥

(विद्वान्) मैं यह सब जानता हुआ, (अस्मै शीर्षभिद्याय) इसका सिर तोडनेके लिये (अपां चतुर्भृष्टिं वज्रं प्र हरामि) जलोंके चारों ओर नाश करनेवाले वज्रको फेंकता हूं। (सः अस्य सर्वा अंगानि प्रशृणोतु) वह इसके सब अंगोंको काटे, (तत् मे विश्वेदेवाः अनु जानन्तु) वह मेरा कर्म सब देव अनुकूलताके साथ जानें ॥ ५० ॥

शत्रुके पराजयके लिये यत्न।

शत्रुका पराभव करनेके लिये (ओज) शारीरिक बल, (सहः) शत्रुके हमले सहन करनेका सामर्थ्य, (बल) सैन्य तथा अन्यान्य प्रकारके बल, (वीर्य) पराक्रम, वीर्यकी शक्ति, (नृम्णं) मानवी अनुकूल्यका सामर्थ्य, इतने साधन अवश्य हैं। पश्चात् [जिष्णुयोग] विजय प्राप्त करनेकी चातुर्यमयी योजना कैसी करनी है, इसका उत्तम ज्ञान चाहिये, सब अन्य बल होनेपर भी समयपर 'जिष्णु-योग' में न्यूनता हुई, तो कुछ भी सिद्धि नहीं हो सकती। इसीके साथ 'ब्रह्मयोग' अर्थात् ज्ञानसे सिद्ध होनेवाली योजना अवश्य चाहिये। इसी तरह 'क्षत्रयोग' क्षात्र युद्धक्षेत्रमें कुशलतासे करनेयोग्य युद्धके व्यूह आदि रचनाविशेष करनेकी प्रवीणता आवश्यक है। 'इन्द्रयोग' राजा और राजैश्वर्य इनके साथ योग होना चाहिये; इसके अभावमें शेष कार्योंका कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता। 'सोमयोग' का दूसरा नाम है औषधियोग, शत्रुके साथ युद्ध छिडनेपर अपने लोग जखमी हो गये तो उनको शीघ्र आरोग्यसंपन्न करनेके लिये इस वैद्योंके औषधियोगका बडा उपयोग हो सकता है। इसी तरह स्वपक्षीय लोगोंका शारीरिक बल बढानेके लिये भी इस औषधि-योगकी अत्यंत आवश्यकता है।

'अप्सुयोग' का नाम है जलयोग। जलका तो मानवी जीवनके साथ बडा उपयोग है। इसलिये विजयप्राप्तिके लिये जलका संयोग अच्छी प्रकार होना चाहिये। जल न मिला तो पराजय होनेमें कोई देरी न लगेगी।

संक्षेपसे प्रथमके ६ मंत्रोंमें विजयप्राप्तिके लिये अत्यंत आवश्यक विषयोंकी सूचना इस तरह दी है।

मंत्र ७ से २१ तक कहा है कि जो जलादि साधन अपने पास हैं, उनका उपयोग शत्रुनाश करनेके लिये करना चाहिये, जिससे शत्रुनाशको प्राप्त हो और अपना विजय हो।

मंत्र २२ से २४ तक कहा है कि जलसे सब शरीर, मन आदिकी निर्दोषता सिद्ध होती है, उसीसे शरीरके और मनके मल दूर होते हैं। मनके मलोंसे स्वप्नदोष होता है और शरीरके मलोंसे रोग होते हैं। जलप्रयोगसे ये सब दोष दूर होते हैं और मनुष्य निर्दोष होता है और विजय प्राप्त करनेमें समर्थ होता है। जबतक शरीर और मनसे दोष होंगे, तबतक विजय प्राप्त नहीं हो सकता और प्राप्त होनेपर स्थिर भी नहीं रह सकता।

पृथ्वी, अन्तरिक्ष, द्यौ, दिशा उपदिशा, ऋतु, यजु, यज्ञ, औषधि, सोम, आप, कृषि, अन्न, प्राण आदि सब स्थानोंसे शत्रुको हटाना चाहिये और इनस्थानोंको शत्रुरहित करना चाहिये, यह आशय २५ से ३५ तक मंत्रोंका है।

इतना करनेपर विजय होगा और ऐसा पवित्र वीरही शत्रुको बांधकर उसको पांवके तले दबा सकता है. यह बात ३६ वे मंत्रमें कही है।

सूर्यसे तेजस्विता, दिशाओंसे विस्तृत कार्यक्षेत्र, ऋषियोंसे ज्ञान, ब्रह्म अर्थात् मंत्रोंसे सुविचार और ब्राह्मणोंसे उत्तम उपदेश प्राप्त करके विजयी होनेकी सूचना मंत्र ३७ से ४१ तकके मंत्रोंमें है।

४२-४३ इन दो मंत्रोंमें अपने शत्रुको परमेश्वरके अधीन अर्थात् उसके न्यायके अधीन करनेको लिखा है। स्वयं उसके नाश न करते हुए ऐसा करना, कि वह अपना कुछ न कर सके, और पश्चात् उसे ईश्वरके हवाले करना। परंतु ऐसा करनेके लिये अपना बल बढना चाहिये, शत्रुका घटाना चाहिये और ऐसी व्यवस्था करनी चाहिये कि शत्रु अपना कुछ भी न बिगाड सके।

शत्रु अपना वैरी होनेपर भी उसे परमेश्वरका वैरी मानना चाहिये। उसका नाश करना है तो परमेश्वर करे।

अपने पास बल, अन्न, जल, शौर्य, तेजस्विता आदिकी अधिकता रहे, और शत्रुके पास येही वस्तुएं कम हों, ऐसी योजना करना चाहिये। यहांतक ४७ वें मंत्रतकके मंत्रभागसे बोध मिलता है।

बाकी श्लोक अपने राज्यमें कोई किसीको न देवे। यह पापीका अपव्यवहार शत्रुके राज्यमें जारी होता रहे। दुष्टोंका विध्वंस इस तरह करना और सज्जनोंकी रक्षा करनी चाहिये। यह इस सूक्तका संक्षेपसे आशय है।

---

(६) मणिबन्धन ।

(ऋषिः-बृहस्पतिः । देवता-फालमणिः, वनस्पतिः, ३ आपः)

अरातीयोर्भ्रातृव्यस्य दुर्हार्दो द्विषतः शिरः । अपि वृश्चाम्योजसा ॥ १ ॥
वर्म मह्यमयं मणिः फालाज्जातः करिष्यति । पूर्णो मन्थेन मागमद्रसेन सह वर्चसा ॥ २ ॥

अर्थ— (अरातीयोः भ्रातृव्यस्य) शत्रु वैरी (दुर्हार्दः द्विषतः शिरः) दुष्ट हृदयी और द्वेष करनेवालेका सिर (ओजसा अपि वृश्चामि) वेगसे मैं काटता हूं ॥ १ ॥

(फालात् जातः अयं मणिः) फालसे बना हुआ यह मणि (मह्यं वर्म करिष्यति) मेरे लिये कवच जैसी रक्षा करेगा। (मन्थेन रसेन वर्चसा सह पूर्णः) मन्थन-सामर्थ्य रस और वर्चसे युक्त होनेके कारण पूर्ण समर्थ यह मणि (मा आगमत्) मेरे पास आगया है ॥ २ ॥

यत् त्वा शिक्वः पराऽवधीत् तक्षा हस्तेन वास्या ।
आपस्त्वा तस्माज्जीवलाः पुनन्तु शुचयः शुचिम् ॥ ३ ॥
हिरण्यस्रगयं मणिः श्रद्धां यज्ञं महो दधत् । गृहे वसतु नोऽतिथिः ॥ ४ ॥
तस्मै घृतं सुरां मध्वन्नमन्नं क्षदामहे ।
स नः पितेव पुत्रेभ्यः श्रेयः श्रेयश्चिकित्सतु भूयोभूयः श्वःश्वो देवेभ्यो मणिरेत्य ॥ ५ ॥
यमबध्नाद् बृहस्पतिर्मणिं फालं घृतश्चुतमुग्रं खदिरमोजसे ।
तमग्निः प्रत्यमुञ्चत सो अस्मै दुह आज्यं भूयोभूयः श्वःश्वस्तेन त्वं द्विषतो जहि ॥ ६ ॥
यमबध्नाद् बृहस्पतिर्मणिं फालं घृतश्चुतमुग्रं खदिरमोजसे । तमिन्द्रः प्रत्यमुञ्चतौजसे वीर्याय कम् ।
सो अस्मै बलमिद् दुहे भूयोभूयः श्वःश्वस्तेन त्वं द्विषतो जहि ॥ ७ ॥
यमबध्नाद् बृहस्पतिर्मणिं फालं घृतश्चुतमुग्रं खदिरमोजसे ।
तं सोमः प्रत्यमुञ्चत महे श्रोत्राय चक्षसे ।
सो अस्मै वर्च इद् दुहे भूयोभूयः श्वःश्वस्तेन त्वं द्विषतो जहि ॥ ८ ॥
यमबध्नाद् बृहस्पतिर्मणिं फालं घृतश्चुतमुग्रं खदिरमोजसे ।
तं सूर्यः प्रत्यमुञ्चत तेनेमा अजयद् दिशः ।
सो अस्मै भूतिमिद् दुहे भूयोभूयः श्वःश्वस्तेन त्वं द्विषतो जहि ॥ ९ ॥

अर्थ— (यत् त्वा शिक्वः तक्षा) जो तुझे कुशल कारीगर (वास्या हस्तेन परा अवधीत्) शस्त्रयुक्त हाथसे मारता है (तस्मात्) उससे (जीवलाः शुचयः आपः) जीवन देनेवाले शुद्ध जल (शुचिं त्वा पुनन्तु) तुझ पवित्र वीरको पवित्र बनावें ॥ ३ ॥

(अयं मणिः) यह मणि (हिरण्यस्रक्) सुवर्णमाला, (श्रद्धां यज्ञं महः दधत्) श्रद्धा भक्ति, यज्ञ और महत्त्वको धारण करे और यह (नः गृहे अतिथिः वसतु) हमारे घरमें पूजनीय जैसा होकर रहे ॥ ४ ॥

(तस्मै घृतं सुरां मधु अन्नं क्षदामहे) उसके लिये घी, वृष्टि जल, शहद और अन्न हम देते हैं, (सः नः पुत्रेभ्यः पिता इव) वह हमें जैसा पिता पुत्रोंको देता है, वैसे (श्रेयः चिकित्सतु) परम कल्याण देवे । यह (मणिः देवेभ्यः एत्य) मणि देवोंके पाससे यहां आकर (भूयोभूयः श्वः-श्वः) वारंवार और प्रतिदिन हमें सुख देवें ॥ ५ ॥

(फालं घृतश्चुतं खदिरं उग्रं मणिं) फालसे उत्पन्न घीसे भरपूर खादिरका बनाया और वीरता बढानेवाला मणि है, (यं ओजसे बृहस्पतिः अबध्नात्) जिसको बलवृद्धिके लिये बृहस्पतिने यह मणि बांधा है, (तं अग्निः प्रति अमुञ्चत) उसे अग्नि मुझे देवे, धारण करावे, (सः अस्मै भूयो-भूयः श्वः-श्वः आज्यं दुहे) वह इसके लिये प्रतिदिन वारंवार घी देवे । (तेन त्वं द्विषतो जहि) उससे तू शत्रुओंको मार अर्थात् विध्वंस कर ॥ ६ ॥

(यं०) जिसपर बृहस्पतिने... मणि बांधा है, (तं इन्द्रः प्रति अमुञ्चत) उसे इन्द्र मुझे देवे और (ओजसे वीर्याय कम्) ओज, वीर्य और सुख प्राप्त करावे । (सः अस्मै बलं इत् दुहे०) वह उसको बल देवे० ॥ ७ ॥

(यं) जिसपर०... (तं सोमः प्रति अमुञ्चत) उस सोम मुझे देवे, (महे श्रोत्राय चक्षसे) महत्त्व, श्रोत्र और दृष्टि देवे । उसे (वर्चः दुहे०) वह वर्च देवे० ॥ ८ ॥ (यं०) जिसपर०... (तं सूर्यः प्रति अमुञ्चत) उसे सूर्य देवे (तेन इमा दिशः अजयत्) और उससे यह सब दिशाओंको जीते, (सः अस्मै भूतिं दुहे०) वह इसके लिये ऐश्वर्य देवे० ॥ ९ ॥

यमबध्नाद् बृहस्पतिर्मणिं फालं घृतश्चुतमुग्रं खदिरमोजसे ।
तं बिभ्रच्चन्द्रमा मणिमसुराणां पुरोऽजयद् दानवानां हिरण्ययीः ॥
सो अस्मै श्रियमिद् दुहे भूयोभूयः श्वःश्वस्तेन त्वं द्विषतो जहि ॥ १० ॥ (१८)
यमबध्नाद् बृहस्पतिर्वाताय मणिमाशवे ।
सो अस्मै वाजिनं दुहे भूयोभूयः श्वःश्वस्तेन त्वं द्विषतो जहि ॥ ११ ॥
यमबध्नाद् बृहस्पतिर्वाताय मणिमाशवे । तेनेमां मणिना कृषिमश्विनावभि रक्षतः ।
स भिषग्भ्यां महो दुहे भूयोभूयः श्वःश्वस्तेन त्वं द्विषतो जहि ॥ १२ ॥
यमबध्नाद् बृहस्पतिर्वाताय मणिमाशवे । तं बिभ्रत् सविता मणिं तेनेदमजयत् स्वः ।
सो अस्मै सूनृतां दुहे भूयोभूयः श्वःश्वस्तेन त्वं द्विषतो जहि ॥ १३ ॥
यमबध्नाद् बृहस्पतिर्वाताय मणिमाशवे । तमापो बिभ्रतीर्मणिं सदा धावन्त्यक्षिताः ।
स आभ्योऽमृतमिद् दुहे भूयोभूयः श्वः श्वस्तेन त्वं द्विषतो जहि ॥ १४ ॥
यमबध्नाद् बृहस्पतिर्वाताय मणिमाशवे । तं राजा वरुणो मणिं प्रत्यमुञ्चत शंभुवम् ।
सो अस्मै सत्यमिद् दुहे भूयोभूयः श्वःश्वस्तेन त्वं द्विषतो जहि ॥ १५ ॥
यमबध्नाद् बृहस्पतिर्वाताय मणिमाशवे । तं देवा बिभ्रतो मणिं सर्वाँल्लोकान् युधाऽजयन् ।
स एभ्यो जितिमिद् दुहे भूयोभूयः श्वःश्वस्तेन त्वं द्विषतो जहि ॥ १६ ॥

अर्थ— (यं)... (तं मणिं बिभ्रत् चन्द्रमाः) उस मणिको धारण करनेवाला चन्द्रमा (असुराणां दानवानां हिरण्ययीः पुरः अजयत्) असुरों और दानवोंकी सुवर्णयुक्त नगरियोंको पराजित करता है। (सः अस्मै श्रियं दुहे०) वह इसके लिये श्री देता है० ॥ १० ॥

(यं) जिसको बृहस्पति मणि बांधता है और (आशवे वाताय) गतिमय वायुकी शक्तिसे युक्त करता है; (सः अस्मै वाजिनं दुहे०) वह इसके लिये अन्न देता है० ॥ ११ ॥

(यं) जिसको बृहस्पति मणि बांधता है, (तेन मणिना) उस मणिसे (अश्विनौ इमां कृषिं अभिरक्षतः) अश्विनौदेव इसकी कृषिकी रक्षा करते हैं। (सः भिषग्भ्यां महः दुहे) वह उन वैद्योंके द्वारा इसे बडा तेज या अन्न देता है० ॥ १२ ॥

(यं)... (तं मणिं सविता बिभ्रत्) उस मणिको सविताने धारण किया, (तेन स्वः अजयत्) उससे स्वर्गीय प्रकाशका जय किया, (सः अस्मै सूनृतां दुहे) वह इसके लिये सत्य देता है० ॥ १३ ॥

(यं)... (तं मणिं आपः बिभ्रतीः) उस मणिको जल धारण करती हैं, (सदाः अक्षिताः धावन्ति) अक्षय होकर सदा दौडती हैं (सः आभ्यः अमृतं दुहे०) वह इनके लिये अमृत देता है० ॥ १४ ॥

(यं०)... (तं शंभुवं मणिं राजा वरुणः प्रत्यमुञ्चत) उस सुखदायी मणिको राजा वरुण छोड देता है, (सः अस्मै सत्यं दुहे) वह इसके लिये सत्य देता है० ॥ १५ ॥

(यं)... (तं मणिं देवाः बिभ्रतः) उस मणिको देवोंने धारण किया और (युधा सर्वान् लोकान् अजयन्) युद्ध करके सब लोकोंको जीत लिया। (सः एभ्यः जितिं इत् दुहे०) वह इनको विजय देता है० ॥ १६ ॥

यमबध्नाद् बृहस्पतिर्वाताय मणिमाशवे । तमिमं देवता मणिं प्रत्यमुञ्चन्त शंभुवम् ।
स आभ्यो विश्वमिद् दुहे भूयोभूयः श्वःश्वस्तेन त्वं द्विषतो जहि ॥ १७ ॥
ऋतवस्तमबध्नतार्तवास्तमबध्नत । संवत्सरस्तं बद्ध्वा सर्वं भूतं वि रक्षति ॥ १८ ॥
अन्तर्देशा अबध्नत प्रदिशस्तमबध्नत । प्रजापतिसृष्टो मणिर्द्विषतो मेऽधराँ अकः ॥ १९ ॥
अथर्वाणो अबध्नताथर्वणा अबध्नत ।
तैर्मेदिनो अङ्गिरसो दस्यूनां बिभिदुः पुरस्तेन त्वं द्विषतो जहि ॥ २० ॥ (१९)
तं धाता प्रत्यमुञ्चत स भूतं व्यकल्पयत् । तेन त्वं द्विषतो जहि ॥ २१ ॥
यमबध्नाद् बृहस्पतिर्देवेभ्यो असुरक्षितिम् । स मायं मणिरागमद् रसेन सह वर्चसा ॥ २२ ॥
यमबध्नाद् बृहस्पतिर्देवेभ्यो असुरक्षितिम् ।
स मायं मणिरागमत् सह गोभिरजाविभिरन्नेन प्रजया सह ॥ २३ ॥
यमबध्नाद् बृहस्पतिर्देवेभ्यो असुरक्षितिम् ।
स मायं मणिरागमत् सह व्रीहियवाभ्यां महसा भूत्या सह ॥ २४ ॥
यमबध्नाद् बृहस्पतिर्देवेभ्यो असुरक्षितिम् ।
स मायं मणिरागमन्मधोर्घृतस्य धारया कीलालेन मणिः सह ॥ २५ ॥
यमबध्नाद् बृहस्पतिर्देवेभ्यो असुरक्षितिम् ।
स मायं मणिरागमदूर्जया पयसा सह द्रविणेन श्रिया सह ॥ २६ ॥

अर्थ— (यं०) (तं शंभुवं इमं मणिं देवताः प्रत्यमुञ्चन्त) उस सुखदायी मणिको देवताओंने छोड दिया, (सः आभ्यः विश्वं इत् दुहे) वह इनके लिये सब कुछ देता है० ॥ १७ ॥

(ऋतवः तं अबध्नत) ऋतु उसको बांधते रहे, (आर्तवाः तं अबध्नत) ऋतुसे उत्पन्न पदार्थ उसको बांधते हैं। (संवत्सरः तं बध्वा) संवत्सर उसे बांधकर (सर्वं भूतं विरक्षति) सब भूतमात्रकी रक्षा करता है ॥ १८ ॥

(अन्तर्देशाः तं अबध्नन) अन्तर्दिशाओंने उसे बांधा, (प्रदिशः तं अबध्नन) दिशाओंने उसे बांधा, यह (प्रजापति सृष्टो मणिः) प्रजापतिने निर्माण किया मणि (मे द्विषतः अधरान् अकः) मेरे शत्रुओंको नीचे करता है ॥ १९ ॥

(अथर्वाणो अबध्नन) अथर्वाओंने इसे बांधा (आथर्वणा अबध्नन) आथर्वणिकोंने इसे बांधा था, (तैः मेदिनः अंगिरसः) उससे बलवान् हुए आंगिरस (दस्यूनां पुरः बिभिदुः) शत्रुओंके नगरोंको तोडते रहे, (तेन त्वं द्विषतः जहि) इससे तू अपने शत्रुओंको परास्त कर ॥ २० ॥

(तं धाता प्रत्यमुञ्चत) उसे धाताने धारण किया था। (सः भूतं व्यकल्पयत्) वह भूतोंको बनानेमें समर्थ हुआ (तेन त्वं द्विषतः जहि) उसके बलसे तू अपने शत्रुओंको परास्त कर ॥ २१ ॥

(यं)... (असुरक्षितिं) जिस असुर–विनाशकको (देवेभ्यः बृहस्पतिः अबध्नात्) देवोंके लिये बृहस्पतीने बांधा था, (सः अयं मणिः मा) वह मणि मेरे पास (रसेन वर्चसा सह आगमत्) रस और तेजके साथ आगया है ॥ २२ ॥

(यं०)... वह (गोभिः अजाविभिः अन्नेन प्रजया सह) गौवें बकरियां, अन्न और प्रजाके साथ०। ॥ २३ ॥

(यं)... (व्रीहियवाभ्यां महसा भूत्या सह) चावल जौं तथा ऐश्वर्यके साथ ॥ २४ ॥... (मधोः घृतस्य धारया कीलालेन सह) घी, मधु और पेयकी धाराओंके साथ० ॥ २५ ॥... (पयसा द्रविणेन श्रिया सह) दूध धन और शोभाके साथ० ॥ २६ ॥

यमबध्नाद् बृहस्पतिर्देवेभ्यो असुरक्षितिम् ।
स मायं मणिरागमत् तेजसा त्विष्या सह यशसा कीर्त्या सह ॥ २७ ॥
यमबध्नाद् बृहस्पतिर्देवेभ्यो असुरक्षितिम् । स मायं मणिरागमत् सर्वाभिर्भूतिभिः सह ॥ २८ ॥
तमिमं देवता मणिं मह्यं ददतु पुष्टये । अभिभुं क्षत्रवर्धनं सपत्नदम्भनं मणिम् ॥ २९ ॥
ब्रह्मणा तेजसा सह प्रति मुञ्चामि मे शिवम् ।
असपत्नः सपत्नहा सपत्नान् मेऽधराँ अकः ॥ ३० ॥ (२०)
उत्तरं द्विषतो मामयं मणिः कृणोतु देवजाः । यस्य लोका इमे त्रयः पयो दुग्धमुपासते ॥
स मायमधि रोहतु मणिः श्रैष्ठ्याय मूर्धतः ॥ ३१॥
यं देवाः पितरो मनुष्या उपजीवन्ति सर्वदा । स मायमधि रोहतु मणिः श्रैष्ठ्याय मूर्धतः॥३२॥
यथा बीजमुर्वरायां कृष्टे फालेन रोहति । एवा मयि प्रजा पशवोऽन्नमन्नं वि रोहतु ॥ ३३ ॥
यस्मै त्वा यज्ञवर्धन मणे प्रत्यमुचं शिवम् । तं त्वं शतदक्षिण मणे श्रैष्ठ्याय जिन्वतात् ॥३४॥
एतमिध्मं समाहितं जुषाणो अग्ने प्रति हर्य होमैः ।
तस्मिन् विदेम सुमतिं स्वस्ति प्रजां चक्षुः पशून्त्समिद्धे जातवेदसि ब्रह्मणा ॥ ३५ ॥ (२१)

॥ इति तृतीयोऽनुवाकः ॥ ३ ॥

अर्थ— (तेजसा त्विष्या यशसा कीर्त्या सह) तेज, चमक, यश और कीर्तिके साथ० ॥ २७ ॥

(सर्वाभिः भूतिभिः सह......) सब ऐश्वर्योंके साथ वह मणि (मा आगमत्) मेरे पास आया है ॥ २८ ॥

(तं इमं मणिं) इस मणिको (देवता पुष्टये मह्यं ददतु) देवताएं पुष्टिके लिये मुझे देवें। यह (अभिभुं क्षत्रवर्धनं सपत्नदम्भनं मणिं) शत्रुनाशक, क्षात्रतेज बढानेवाला, वैरीका विध्वंसक यह मणि है ॥ २९ ॥

(ब्रह्मणा तेजसा सह) ज्ञान और तेजके साथ (मे शिवं प्रति मुंचामि) मैं इस कल्याणकारी मणिको धारण करता हूं। यह मणि (असपत्नः सपत्नहा) शत्रुरहित और शत्रुघातक है, तथा (मे सपत्नान् अधरान् अकः) इसने मेरे शत्रुओंको नीचे किया है ॥ ३० ॥

(अयं देवजाः मणिः) यह देवोंसे उत्पन्न होनेवाला मणि (मां द्विषतः उत्तरं कृणोतु) मुझे शत्रुओंसे अधिक उत्तम अवस्थामें रखे। (यस्य दुग्धं) जिससे दुहा गया सार (इमे त्रयः लोकाः उपासते) ये तीनों लोक प्राप्त करते हैं। (सः अयं मणिः) वह यह मणि (मा श्रैष्ठ्याय मूर्धतः अधिरोहतु) मुझे श्रेष्ठ स्थानके ऊपर चढावे ॥३१॥

(देवाः पितरः, मनुष्याः यं सर्वदा उपजीवन्ति) देव पितर और मनुष्य जिसपर सदा निर्भर रहते हैं, वह (श्रैष्ठ्याय०) श्रेष्ठ स्थानपर मुझे चढावे ॥ ३२ ॥

(फालेन कृष्टे उर्वरायां) फालसे हल किये हुए भूमिमें (यथा बीजं रोहति) जैसा बीज उगता है, (एव मयि प्रजाः पशवः अन्नं वि रोहतु) वैसाही मेरे पास संतान, पशु और अन्न बहुत हो जावे ॥ ३३ ॥

हे (यज्ञवर्धन मणे) यज्ञ बढानेवाले मणे ! (त्वां शिवं यस्मै प्रति अमुचं) तुझ शुभ मणिको जिसके लिये मैं धारण कराऊं, हे (शतदक्षिण मणे) सौ प्रकारकी दक्षिणा देनेवाले मणि ! (तं त्वं श्रैष्ठ्याय जिन्वतात्) उसे तू श्रेष्ठताके लिये बढाओ ॥ ३४ ॥

हे अग्ने ! (समाहितं इध्मं जुषाणः) प्रदीप्त इंधनका सेवन करता हुआ (होमैः प्रति हर्य) होमहवनोंसे समृद्ध हो। (तस्मिन् समिद्धे जातवेदसि) उस प्रदीप्त अग्निसे (ब्रह्मणा) ज्ञानसे (सुमतिं स्वस्ति प्रजां) उत्तम बुद्धि, कल्याण, संतान, (चक्षुः पशून्) दृष्टि और पशुओंको (विदेम) प्राप्त करें ॥ ३५ ॥

इस सूक्तमें विशेष प्रकारके मणिके धारण करनेका महत्त्व बताया है।

(७) सर्वाधारका वर्णन ।

(ऋषिः—अथर्वा । देवता—स्कम्भः आत्मा वा)

कस्मिन्नङ्गे तपो अस्याधि तिष्ठति कस्मिन्नङ्ग ऋतमस्याध्याहितम् ।
क्व व्रतं क्व श्रद्धाऽस्य तिष्ठति कस्मिन्नङ्गे सत्यमस्य प्रतिष्ठितम् ॥ १ ॥
कस्मादङ्गाद् दीप्यते अग्निरस्य कस्मादङ्गात् पवते मातरिश्वा ।
कस्मादङ्गाद् वि मिमीतेऽधि चन्द्रमा मह स्कम्भस्य मिमानो अङ्गम् ॥ २ ॥
कस्मिन्नङ्गे तिष्ठति भूमिरस्य कस्मिन्नङ्गे तिष्ठत्यन्तरिक्षम् ।
कस्मिन्नङ्गे तिष्ठत्याहिता द्यौः कस्मिन्नङ्गे तिष्ठत्युत्तरं दिवः ॥ ३ ॥
क्व प्रेप्सन् दीप्यत ऊर्ध्वो अग्निः क्व प्रेप्सन् पवते मातरिश्वा ।
यत्र प्रेप्सन्तीरभियन्त्यावृतः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ ४ ॥
क्वार्धमासाः क्व यन्ति मासाः संवत्सरेण सह संविदानाः ।
यत्र यन्त्यृतवो यत्रार्तवाः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ ५ ॥
क्व प्रेप्सन्ती युवती विरूपे अहोरात्रे द्रवतः संविदाने ।
यत्र प्रेप्सन्तीरभियन्त्यापः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ ६ ॥

अर्थ— (अस्य कस्मिन् अंगे तपः अधितिष्ठति) इस मनुष्यके किस अवयवमें तप करनेकी शक्ति रहती है ? (अस्य कस्मिन् अंगे ऋतं अध्याहितं) इस मनुष्यके किस भागमें ऋत— सरलताका भाव रहता है ? (अस्य श्रद्धा व्रतं क तिष्ठति) इसमें श्रद्धा और व्रत कहां रहते हैं ? (अस्य कस्मिन् अंगे सत्यं प्रतिष्ठितम्) इसके किस अवयवमें सत्य रहता है ॥ १ ॥

(अस्य कस्मात् अंगात् अग्निः दीप्यते) इस परमात्माके किस अंगसे अग्नि प्रदीप्त होता है ? (कस्मात् अंगात् मातरिश्वा पवते) इसके किस अवयवसे वायु बहता है ? (कस्मात् अंगात् चन्द्रमा अधि वि मिमीते) किस अवयवसे चन्द्रमा प्रकाशित होता है ? (मह्रः स्कंभस्य अंगं मिमानः) और महान् स्कंभ अर्थात् विश्वाधारके किस अंगका मापन वह करता है ? ॥ २ ॥

(अस्य कस्मिन् अंगे भूमिः तिष्ठति) इस परमात्माके किस अंगमें भूमि रहती है ? (कस्मिन् अंगे अन्तरिक्षं तिष्ठति) किस अंगमें अन्तरिक्ष रहता है ? (कस्मिन् अंगे आहिता द्यौः तिष्ठति) किस अंगमें यह सुरक्षित द्युलोक रहता है । और (कस्मिन् अंगे उत्तरं दिवः तिष्ठति) किस अंगमें उच्चतर द्युलोकके परला भाग रहता है ? ॥ ३ ॥

(ऊर्ध्वः अग्निः क प्र-ईप्सन् दीप्यते) ऊपरका अग्नि अर्थात् सूर्य किस ओर देखता हुआ प्रकाशता है ? (मातरिश्वा क्व प्र-ईप्सन् पवते) वायु कहां दृष्टि रखकर बहता है ? (यत्र प्र-ईप्सन्तीः आवृतः अभियन्ति) जहां दृष्टि रखते हुए ये जलप्रवाह चल रहे हैं, (तं स्कंभं ब्रूहि) उस सर्वाधारके विषयमें मुझे कह दे कि (सः कतमः स्विद् एव) वह कौनसा है ? ॥ ४ ॥

(अर्धमासाः मासाः) पक्ष और महीने (संवत्सरेण सह संविदानाः) वर्षके साथ मिलते हुए (क क यन्ति) कहां कहां भला चल रहे हैं ? (यत्र ऋतवः यत्र आर्तवाः यन्ति) जहां ये ऋतु और ऋतुमें उत्पन्न पदार्थ चल रहे हैं, (तं स्कंभं ब्रूहि) उस सर्वाधारके विषयमें कहो कि वह कौनसा पदार्थ है ? ॥ ५ ॥

(क्व प्र-ईप्सन्ती विरूपे युवती) किस ओर लक्ष्य रखकर ये विरुद्ध रूपवाली स्त्रियें अर्थात् (अहोरात्रे) दिन प्रभा और रात्री (संविदाने द्रवतः) मिलकर दौड रहीं हैं ? (यत्र प्र-ईप्सन्तीः आपः अभियन्ति) जहां लक्ष्य रखकर जल जा रहे हैं, (स्कंभं०) उसी सर्वाधारके विषयमें कह दे कि वह कौनसा पदार्थ है ? ॥ ६ ॥

यस्मिन्त्स्तब्ध्वा प्रजापतिर्लोकान्त्सर्वाँ अधारयत् । स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ ७ ॥
यत्परममवमं यच्च मध्यमं प्रजापतिः ससृजे विश्वरूपम् ।
कियता स्कम्भः प्र विवेश तत्र यन्न प्राविशत्कियत्तद्बभूव ॥ ८ ॥
कियता स्कम्भः प्र विवेश भूतं कियद्भविष्यदन्वाशयेऽस्य ।
एकं यदङ्गमकृणोत्सहस्रधा कियता स्कम्भः प्र विवेश तत्र ॥ ९ ॥
यत्र लोकांश्च कोशांश्चापो ब्रह्म जना विदुः ।
असच्च यत्र सच्चान्त स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ १० ॥ (२२)
यत्र तपः पराक्रम्य व्रतं धारयत्युत्तरम् ।
ऋतं च यत्र श्रद्धा चापो ब्रह्म समाहिताः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ ११ ॥
यस्मिन्भूमिरन्तरिक्षं द्यौर्यस्मिन्नध्याहिता ।
यत्राग्निश्चन्द्रमाः सूर्यो वातस्तिष्ठन्त्यार्पिताः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ १२ ॥
यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा अङ्गे सर्वे समाहिताः । स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ १३ ॥

अर्थ— (यस्मिन् स्तब्ध्वा) जिस आधारपर रहकर (प्रजापतिः सर्वान् लोकान् अधारयत्) प्रजापतिने सब लोकोंका धारण किया (तं स्कंभं०) उस सर्वाधारके विषयमें कह कि वह कौन है ? ॥ ७ ॥

(यत् परमं अवमं यत् च मध्यमं) जो श्रेष्ठ निकृष्ट और जो मध्यम (विश्वरूपं प्रजापतिः ससृजे) विश्वरूप प्रजापतिने उत्पन्न किया है, (तत्र स्कम्भः कियता प्रविवेश) वहां सर्वाधारने कितना प्रवेश किया है और (यत् न प्राविशत् तत् कियत् बभूव) जहां वह प्रविष्ट नहीं हुआ वह कितना हुआ है ? ॥ ८ ॥

(स्कम्भः भूतं कियता प्रविवेश) यह सर्वाधार भूतकालके विश्वमें कितने अंशसे प्रविष्ट हुआ था ? (अस्य कियत् भविष्यत् अनु आशये) इसका कितना अंश भविष्यमें उत्पन्न होनेवाले विश्वमें प्रविष्ट होगा ? (यत् एकं अंगं सहस्रधा अकृणोत्) जिसने अपने एक अंगको ही हजारों प्रकारोंमें वर्तमानकालमें प्रकट किया है (तत्र स्कंभः कियता प्रविवेश) वहां सर्वाधार कितना प्रविष्ट हुआ है ॥ ९ ॥

(यत्र लोकान् कोशान्) जिसमें सब लोक और कोश रहते हैं और (आपः ब्रह्म) वहां जल और ब्रह्म रहता है ऐसा (जनाः विदुः) लोग जानते हैं, (असत् च सत् च यत्र अन्तः) सत् और असत् जहां मिला है (तं स्कंभं ब्रूहि) उस सर्वाधारका वर्णन मुझे कह (सः कतमः स्वित् एव) वह भला कौन है ? ॥ १० ॥

(यत्र) जिसके आधारसे (पराक्रम्य तपः) बडा प्रयत्न करके तप (उत्तरं व्रतं धारयति) उच्चतर व्रतका धारण करता है तथा जहां (यत्र ऋतं श्रद्धा च आपः ब्रह्म) ऋत श्रद्धा, आप् और ब्रह्म (समाहिताः) सुस्थिर रहे हैं (तं स्कंभं ब्रूहि०) उस सर्वाधारके विषयमें कह कि वह कौन है ॥ ११ ॥

(यस्मिन्) जिसमें (भूमिः अन्तरिक्षं द्यौः) पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्युलोक (अध्याहिता) टिके हैं और (यत्र अग्निः चन्द्रमाः सूर्यः वातः) जिसमें अग्नि, चन्द्र, सूर्य और वायु (आर्पिताः तिष्ठन्ति) आश्रय लेकर रहते हैं उस (तं स्कंभं०) सर्वाधारके विषयमें कह कि वह कौन है ? ॥ १२ ॥

(सर्वे त्रयः त्रिंशत् देवाः) सब तेतीस देव (यस्य अंगे समाहिताः) जिसके शरीरमें स्थिर हुए हैं (तं स्कंभं०) उस सर्वाधारके विषयमें कह कि वह कौन है ? ॥ १३ ॥

यत्र ऋषयः प्रथमजा ऋचः साम यजुर्मही ।
एकर्षिर्यस्मिन्नार्पितः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ १४ ॥
यत्रामृतं च मृत्युश्च पुरुषेऽधि समाहिते ।
समुद्रो यस्य नाड्यः पुरुषेऽधि समाहिताः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ १५ ॥
यस्य चतस्रः प्रदिशो नाड्यस्तिष्ठन्ति प्रथमाः ।
यज्ञो यत्र पराक्रान्तः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ १६ ॥
ये पुरुषे ब्रह्म विदुस्ते विदुः परमेष्ठिनम् । यो वेद परमेष्ठिनं यश्च वेद प्रजापतिम् ।
ज्येष्ठं ये ब्राह्मणं विदुस्ते स्कम्भमनुसंविदुः ॥ १७ ॥
यस्य शिरो वैश्वानरश्चक्षुरङ्गिरसोऽभवन् ।
अङ्गानि यस्य यातवः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ १८ ॥
यस्य ब्रह्म मुखमाहुर्जिह्वां मधुकशामुत ।
विराजमूधो यस्याहुः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ १९ ॥
यस्मादृचो अपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन् ।
सामानि यस्य लोमान्यथर्वाङ्गिरसो मुखं स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ २० ॥

अर्थ— (यत्र प्रथमजाः ऋषयः) जिसमें पहिले बने ऋषि तथा (ऋचः साम यजुः मही) ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद व बडी ब्रह्मविद्या अर्थात् अथर्ववेद रहे हैं, (यस्मिन् एक ऋषिः अर्पितः) जिसमें एक मुख्य ऋषि आधार लिये हैं, (तं स्कंभं०) उस सर्वाधारके विषयमें कह कि वह कौन है ? ॥ १४ ॥

(यत्र पुरुषे) जिस पुरुषमें (अमृतं च मृत्युः च समाहिते) अमरत्व और मरण रहता है, (यस्य नाड्यः समुद्रः) जिसकी नाडियां समुद्र है, जो (पुरुषे अधि समाहिताः) जो पुरुषके शरीरमें हैं, (तं स्कंभं०) उस सर्वाधारके विषयमें कह कि वह कौन है ? ॥ १५ ॥

(चतस्रः प्रथमाः प्रदिशः) चारों पहिली दिशाएं (यत्र नाड्यः तिष्ठन्ति) जहां नाडियां होकर रहीं है, (यत्र यज्ञः पराक्रान्तः) जहां यज्ञ पराक्रम कर रहा है (तं स्कंभं०) उस स्कंभके विषयमें कह कि वह कौनसा है ॥ १६ ॥

(ये पुरुषे ब्रह्म विदुः) जो इस मनुष्यके ब्रह्मका साक्षात्कार करते हैं (ते विदुः परमेष्ठिनं) वे परमेष्ठिको जानते हैं, (यः वेद परमेष्ठिनं) जो परमेष्ठीको जानता है और (यः च प्रजापतिं वेद) जो प्रजापतिको जानता है, और (ये ज्येष्ठं ब्राह्मणं विदुः) जो ज्येष्ठ ब्राह्मणको जानते हैं (ते स्कंभं अनुसंविदुः) वे सर्वाधारको अच्छी तरह जानते हैं ? ॥ १७ ॥

(यस्य शिरः वैश्वानरः) जिसका सिर वैश्वानर अग्नि है, (चक्षुः अंगिरसः अभवन्) और आंख अंगिरस हो गये हैं, (यस्य अंगानि यातवः) जिसके अवयव यातु—राक्षस— हैं (तं स्कंभं०) उस स्कंभके विषयमें कह कि वह कौन है ? ॥ १८ ॥

(यस्य मुखं ब्रह्म आहुः) जिसका मुख ब्रह्म है ऐसा कहते हैं, (उत मधुकशां जिह्वां) और जिह्वा मधुकशा हुई है। (यस्य ऊधः विराजं) जिसके स्तन-दुग्धाशय वह विराट् स्वरूप है। (तं स्कंभं०) उस स्कंभके विषयमें कह कि वह कौन है ? ॥ १९ ॥

(यस्मात् ऋचः अपातक्षन्) जिससे ऋचाएं बनीं, (यस्मात् यजुः अपाकषन्) जिससे यजु बने, (यस्य लोमानि सामानि) जिसके लोम साम हैं, जिसका (मुखं अथर्वा अंगिरसः) मुख आंगिरस अथर्वा है। (तं स्कंभं०) उस सर्वाधारके विषयमें कह कि वह कौन है ? ॥ २० ॥

असुच्छाखां प्रतिष्ठन्तीं परममिव जना विदुः । उतो सन्मन्यन्तेऽवरे ये ते शाखामुपासते ॥२१॥
यत्रादित्याश्च रुद्राश्च वसवश्च समाहिताः ।
भूतं च यत्र भव्यं च सर्वे लोकाः प्रतिष्ठिताः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ २२ ॥
यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा निधिं रक्षन्ति सर्वदा । निधिं तमद्य को वेद यं देवा अभिरक्षथ ॥ २३ ॥
यत्र देवा ब्रह्मविदो ब्रह्म ज्येष्ठमुपासते । यो वै तान्विद्यात्प्रत्यक्षं स ब्रह्मा वेदिता स्यात् ॥२४॥
बृहन्तो नाम ते देवा येऽसतः परि जज्ञिरे । एकं तदङ्गं स्कम्भस्यासदाहुः परो जनाः ॥२५॥
यत्र स्कम्भः प्रजनयन् पुराणं व्यवर्तयत् । एकं तदङ्गं स्कम्भस्य पुराणमनुसंविदुः ॥ २६ ॥
यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा अङ्गे गात्रा विभेजिरे । तान् वै त्रयस्त्रिंशद्देवानेके ब्रह्मविदो विदुः ॥ २७ ॥
हिरण्यगर्भं परममनत्युद्यं जना विदुः । स्कम्भस्तदग्रे प्रासिञ्चद्धिरण्यं लोके अन्तरा ॥ २८ ॥
स्कम्भे लोकाः स्कम्भे तपः स्कम्भेऽध्यृतमाहितम् ।
स्कम्भ त्वा वेद प्रत्यक्षमिन्द्रे सर्वं समाहितम् ॥ २९ ॥

अर्थ— (असत्-शाखां प्रतिष्ठन्ती) असत्‌से उत्पन्न हुई और स्थिरतासे रहनेवाली एक शाखा है उसे (जनाः परमं इव विदुः) मनुष्य परमश्रेष्ठ तत्त्व है ऐसा मानते हैं। (उत ये अवरे सत् मन्यन्ते) और जो दूसरे लोग हैं वे उसको सत् ही मानते हैं (ते शाखां उपासते) वे उसी शाखाकी उपासना करते हैं ॥ २१ ॥

(यत्र) जहां आदित्य रुद्र और वसु (समाहिताः) रहते हैं, (भूतं भव्यं च) भूत, वर्तमान और भविष्य तथा (यत्र सर्वे लोकाः प्रतिष्ठिताः) जहां ये सब लोक आधार लिये हैं (तं स्कंभं०) उस सर्वाधारके विषयमें कह कि वह कौन है ? ॥ २२ ॥

(त्रयः त्रिंशत् देवाः) तैंतीस देव (यस्य निधिं सर्वदा रक्षन्ति) जिसके निधिकी सर्वदा रक्षा करते हैं, हे देवो! (यं अभिरक्षथ) जिसकी तुम रक्षा करते हो, (तं निधिं अद्य कः वेद) उस निधिको आज कौन जानता है ? ॥ २३ ॥

(यत्र ब्रह्मविदः देवाः) जहां ब्रह्म जाननेवाले विद्वान् ज्ञानी (ज्येष्ठं ब्रह्म उपासते) श्रेष्ठ ब्रह्मकी उपासना करते हैं, (यः वै तान् प्रत्यक्षं विद्यात्) जो निश्चयपूर्वक उनको प्रत्यक्ष जानेगा (सः वेदिता ब्रह्मा स्यात्) वह ज्ञाता ब्रह्मा हो जायगा ॥ २४ ॥

(ते देवाः बृहन्तः नाम) वे देव बडे प्रसिद्ध हैं, (ये असतः परि जज्ञिरे) जो असत् से अर्थात् प्रकृतिसे उत्पन्न हुए हैं, (तत् एकं स्कम्भस्य अंगं) वह स्कंभका एक अंग है, जिसको (जनाः असत् परः आहुः) ज्ञानी लोग असत् परंतु श्रेष्ठ है ऐसा कहते हैं ॥ २५ ॥

(यत्र स्कंभः प्रजनयन्) जहां सर्वाधार आत्मा सृष्टि-उत्पत्ति करता हुआ (पुराणं व्यवर्तयत्) पुराणकोही विवर्तित करता है, (तत् स्कंभस्य एकं अंगं) वह सर्वाधार आत्माका एक अंग (पुराणं अनुसंविदुः) पुराण करकेही जानते हैं ॥ २६ ॥

(यस्य अंगे गात्रा) जिसके शरीरके अवयवोंमें (त्रयःत्रिंशत् देवाः विभेजिरे) तैंतीस देव विभक्त होकर रहे हैं, (तान् वै त्रयःत्रिंशत् देवान्) उन तैंतीस देवोंको (एके ब्रह्मविदः विदुः) अकेले ब्रह्मज्ञानीही जानते हैं ॥ २७ ॥

(जनाः हिरण्यगर्भं) लोक हिरण्यगर्भको (परमं अनति-उद्यं विदुः) श्रेष्ठ और उच्च जानते हैं, (लोके अन्तरा) इस लोकके बीचमें (अग्रे स्कंभः तत् हिरण्यं प्रासिञ्चत) प्रारंभमें सर्वाधार आत्मानेही वह सुवर्णमय हिरण्यगर्भ निर्माण किया ॥ २८ ॥

(स्कंभे लोकाः) स्कम्भ सर्वाधार परमात्मा है, उसके आधारसे सब लोग रहे हैं, (स्कंभे तपः) उसीमें तप रहता है, (स्कंभे अधि ऋतं आहितं) उसीके आधारसे ऋत रहता है, हे (स्कंभ) सर्वाधार ! मैं (त्वा प्रत्यक्षं वेद) मैं तुझे प्रत्यक्ष जानता हूं, कि तुम (इन्द्रे सर्वं समाहितं) इन्द्रमेंही यह सब समाया है ॥ २९ ॥

इन्द्रे लोका इन्द्रे तप इन्द्रेऽध्यृतमाहितम् । इन्द्रं त्वा वेद प्रत्यक्षं स्कम्भे सर्वं प्रतिष्ठितम् ३०(२४)

नाम नाम्ना जोहवीति पुरा सूर्यात् पुरोषसः ।

यदजः प्रथमं संबभूव स ह तत् स्वराज्यमियाय यस्मान्नान्यत् परमस्ति भूतम् ॥ ३१ ॥

यस्य भूमिः प्रमाऽन्तरिक्षमुतोदरम् । दिवं यश्चक्रे मूर्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥ ३२ ॥

यस्य सूर्यश्चक्षुश्चन्द्रमाश्च पुनर्णवः । अग्निं यश्चक्र आस्यं१ तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥ ३३ ॥

यस्य वातः प्राणापानौ चक्षुरङ्गिरसोऽभवन् । दिशो यश्चक्रे प्रज्ञानीस्तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ३४

स्कम्भो दाधार द्यावापृथिवी उभे इमे स्कम्भो दाधारोर्व१न्तरिक्षम् ।

स्कम्भो दाधार प्रदिशः षडुर्वीः स्कम्भ इदं विश्वं भुवनमा विवेश ॥ ३५ ॥

यः श्रमात् तपसो जातो लोकान्त्सर्वान्त्समानशे ।

सोमं यश्चक्रे केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥ ३६ ॥

अर्थ—(इन्द्रे) इन्द्रमें सब लोक, तप और ऋत रहता है। हे इन्द्र ! मैं (त्वा प्रत्यक्षं वेद) तुझे प्रत्यक्ष जानता हूं कि तूही (स्कंभे सर्वं प्रतिष्ठितम्) स्कंभ है जिसमें यह सब समाया है ॥ ३० ॥

(सूर्यात् पुरा उषसः पुरा) सूर्योदयके पूर्व उषःकालके भी पूर्व (नाम्ना नाम जोहवीति) नामके साथ ईश्वरके यशका गान करता है, ईशभक्ति करता है। (यत् अजः प्रथमं सं बभूव) जब इस प्रकार प्रयत्नशील आत्मा प्रथम ईश्वरसे सम्यक् संगत होता है, (सः ह तत् स्वराज्यं इयाय) वही उस स्वराज्य—स्वात्मानंद स्वराज्यको प्राप्त करता है कि (यस्मात् अन्यत् परं भूतं न अस्ति) जिससे दूसरा श्रेष्ठ कुछ भी बना नहीं है ॥ ३१ ॥

(यस्य भूमिः प्रमा) जिसकी भूमि एक पांवका प्रमाण है, (उत अन्तरिक्षं उदरं) और अन्तरिक्ष उदर है, (यः दिवं मूर्धानं चक्रे) जिसने द्युलोकको अपना सिर बनाया है (तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः) उस श्रेष्ठ ब्रह्मके लिये नमस्कार है ॥ ३२ ॥

(यस्य सूर्यः चक्षुः) जिसके आंख सूर्य, (पुनः नवः चन्द्रमाः च) और फिरफिर नया बननेवाला चन्द्रमा है, (यः अग्निं आस्यं चक्रे) जिसने अग्निको अपना मुख बनाया है, (तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः) उस श्रेष्ठ ब्रह्मके लिये नमस्कार है ॥ ३३ ॥

(यस्य प्राणापानौ वातः) जिसके प्राण और अपान यह वायु हैं, और (चक्षुः अंगिरसः अभवन्) आंख आंगिरस बने हैं, (यः दिशः प्रज्ञानीः चक्रे) जिसने दिशाओंको प्रज्ञा साधन कान बनाये हैं, (तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः) उस श्रेष्ठ ब्रह्मके लिये नमस्कार है ॥ ३४ ॥

(स्कंभः इमे उभे द्यावापृथिवी दाधार) इस सर्वाधारने ये पृथ्वी और द्युलोक धारण किये हैं, (स्कंभः उरु अन्तरिक्षं दाधार) उसीने विस्तृत अन्तरिक्ष धारण किया है, (स्कंभः षट् उर्वीः प्रदिशः दाधार) उसीने ये छः बडी दिशाएं धारण की है, (स्कंभः इदं विश्वं भुवनं आविवेश) वही इस सब विश्वमें प्रविष्ट है ॥ ३५ ॥

(यः तपसः श्रमात् जातः) जो तपके श्रमसे प्रकट होकर (सर्वान् लोकान् सं आनशे) सब लोकोंको व्यापता है, (यः सोमं केवलं चक्रे) जिसने सोमकोही केवल (एकही उत्तम औषधिरूप बनाया) है, (तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः) उस श्रेष्ठ ब्रह्मके लिये नमस्कार है ॥ ३६ ॥

+

कथं वातो नेलयति कथं न रमते मनः। किमापः सत्यं प्रेप्सन्तीर्नेलयन्ति कदा चन ॥ ३७ ॥
महद्यक्षं भुवनस्य मध्ये तपसि क्रान्तं सलिलस्य पृष्ठे।
तस्मिञ्छ्रयन्ते य उ के च देवा वृक्षस्य स्कन्धः परित इव शाखाः ॥ ३८ ॥
यस्मै हस्ताभ्यां पादाभ्यां वाचा श्रोत्रेण चक्षुषा।
यस्मै देवाः सदा बलिं प्रयच्छन्ति विमितेऽमितं स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ ३९ ॥
अप तस्य हतं तमो व्यावृत्तः स पाप्मना। सर्वाणि तस्मिन् ज्योतींषि यानि त्रीणि प्रजापतौ ॥ ४० ॥
यो वेतसं हिरण्ययं तिष्ठन्तं सलिले वेद। स वै गुह्यः प्रजापतिः ॥ ४१ ॥
तन्त्रमेके युवती विरूपे अभ्याक्रामं वयतः षण्मयूखम्।
प्रान्या तन्तूंस्तिरते धत्ते अन्या नाप वृञ्जाते न गमातो अन्तम् ॥ ४२ ॥
तयोरहं परिनृत्यन्त्योरिव न वि जानामि यतरा परस्तात्।
पुमानेनद्वयत्युद्गृणत्ति पुमानेनद्वि जभाराधि नाके ॥ ४३ ॥
इमे मयूखा उप तस्तभुर्दिवं सामानि चक्रुस्तसराणि वातवे ॥ ४४ ॥ (२५)

अर्थ— (कथं वातः न ईलयति) कैसा वायु स्थिर नहीं रहता? (कथं मनः न रमते) क्यों मन नहीं रमता? (किं सत्यं प्र-ईप्सन्तीः आपः) क्या सत्यकी प्राप्तिकी इच्छासे जल (कदा चन न ईलयन्ति) कभी स्थिर नहीं रहता ॥ ३७ ॥

(भुवनस्य मध्ये महत् यक्षं) इस विश्वके मध्यमें बडा पूज्य एक देव है, (तपसि क्रान्तं सलिलस्य पृष्ठे) ताप-उष्णता देनेमें विशेष कान्तिवाला जो जलके पृष्ठभागमें है, (तस्मिन् ये उ के च देवाः श्रयन्ते) उसीमें जो कोई देव हैं, -रहते हैं, (वृक्षस्य स्कन्धः परितः शाखा इव) जिस तरह वृक्षका स्कन्ध और उसके चारों ओर शाखा होते हैं ॥ ३८ ॥

(यस्मै हस्ताभ्यां पादाभ्यां) जिसके लिये हाथों पावों (वाचा श्रोत्रेण चक्षुषा) वाणी, कानों और आंखोंसे (देवाः सदा अमितं बलिं यस्मै विमिते प्रयच्छन्ति) देव सदा अपरिमित उपहार जिसके अपरिमितके लिये देते हैं, (स्कंभं तं ब्रूहि कतमः स्वित् एव सः) उस सर्वाधारके विषयमें कह, कि वह कौन है? ॥ ३९ ॥

(तस्य तमः अपहतं) इसका अज्ञान दूर हो चुका है, (सः पाप्मना व्यावृत्तः) वह पापसे दूर हो चुका है, (यानि त्रीणि ज्योतींषि) जो तीन ज्योतियां हैं, (सर्वाणि तस्मिन् प्रजापतौ) वे सब प्रजापतिमें हैं ॥ ४० ॥

(यः सलिले हिरण्ययं वेतसं तिष्ठन्तं वेद) जो जलमें सुवर्णका वेतस ठहरा हुआ है, यह जानता है, (सः वै गुह्यः प्रजापतिः) वही गुह्य प्रजापति है ॥ ४१ ॥

(एके विरूपे युवती) दो विरुद्ध रूपवाली स्त्रियां (षट् मयूखं तंत्रं) छः खूंटियोंवाला ताना (अभि आ क्रामं वयतः) बारंवार घूमघूमकर बुनती हैं, उनमेंसे (अन्या तन्तून् प्रतिरते) दूसरी धागोंको फैलाती है और (अन्या धत्ते) दूसरी उनको धारण करती है, (न अपवृञ्जाते) न विश्राम करती हैं और (न गमातो अन्तं) न समाप्त करती है ॥ ४२ ॥

(परिनृत्यन्त्योः इव तयोः) नाचती हुई सी उन दोनों स्त्रियोंमेंसे (यतरा परस्तात् न विजानामि) कौनसी परली है, यह मैं नहीं जानता। (एनत् पुमान वयति) इसको एक पुरुष बुनता है (एनत् पुमान् उद्गृणत्ति) इसको दूसरा पुरुष उकेलता है और वह (अधि नाके विजभार) स्वर्गमें इसको धारण करता है ॥ ४३ ॥

(इमे मयूखाः दिवं उप तस्तभुः) ये खूंटियां द्युलोकको थाम कर धारण करती हैं। (सामानि वातवे तसराणि चक्रुः) सामोंको बुननेके लिये तन्तुवाल जैसे बनाये हैं ॥ ४४ ॥

(८) ज्येष्ठ ब्रह्मका वर्णन ।

(ऋषिः- कुत्सः । देवता- आत्मा)

यो भूतं च भव्यं च सर्वं यश्चाधितिष्ठति । स्वर्१यस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥१॥

स्कम्भेनेमे विष्टभिते द्यौश्च भूमिश्च तिष्ठतः । स्कम्भ इदं सर्वमात्मन्वद्यत्प्राणन्निमिषच्च यत् ॥२॥

तिस्रो ह प्रजा अत्यायमायन् न्य१न्या अर्कमभितोऽविशन्त ।
बृहन् ह तस्थौ रजसो विमानो हरितो हरिणीरा विवेश ॥ ३ ॥

द्वादश प्रधयश्चक्रमेकं त्रीणि नभ्यानि क उ तच्चिकेत ।
तत्राहतास्त्रीणि शतानि शङ्कवः षष्टिश्च खीला अविचाचला ये ॥ ४ ॥

इदं सवितर्वि जानीहि षड्यमा एक एकजः । तस्मिन् हापित्वमिच्छन्ते य एषामेक एकजः ॥५॥

आविः सन्निहितं गुहा जरन्नाम महत्पदम् । तत्रेदं सर्वमार्पितमेजत्प्राणत्प्रतिष्ठितम् ॥ ६ ॥

अर्थ— (यः भूतं भव्यं) जो भूतकालके और भविष्यकालके तथा वर्तमानकालके भी (यः सर्वं अधितिष्ठति) जो सबपर अधिष्ठाता होकर रहता है, (यस्य च केवलं स्वः) जिसका केवल प्रकाशमय स्वरूप है, (तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः) उस श्रेष्ठ ब्रह्मके लिये नमस्कार है ॥ १ ॥

(स्कंभेन वि-ष्टभिते) इस सर्वाधार परमात्माने थाँमे हुए (द्यौः च भूमिः च तिष्ठतः) द्युलोक और भूमि ये ठहरे हैं, (यत् प्राणत् यत् निमिषत् च) जो प्राण धारण करता है और जो आँखें झपकता है, (इदं सर्वं आत्मन्वत् स्कंभे) यह सब आत्मासे युक्त विश्व स्कंभमें है ॥ २ ॥

(तिस्रः ह प्रजाः अत्यायं आयन्) तीन प्रकारकी प्रजाएं अतिक्रमणको प्राप्त होती हैं, (अन्या अर्कं अभितः नि अविशन्त) एक प्रकारकी (सत्त्वगुणी प्रजा) सूर्यको प्राप्त होती है, दूसरी (बृहन् ह रजसः विमानः तस्थौ) बडे रजोलोकको मापती हुई रहती है, और तीसरी (हरिणीः हरितः आविवेश) हरण करनेवाली हरिद्वर्णको प्रविष्ट होती है ॥ ३ ॥

(द्वादश प्रधयः) बारह प्रधियां हैं, (एकं चक्रं) एक चक्र है, (त्रीणि नभ्यानि) तीन नाभियां हैं, (कः उ तत् चिकेत) कौन भला उसे जानता है ? (तत्र त्रीणि शतानि षष्टिः च शङ्कवः आहताः) उस चक्रमें तीन सौ साठ खूंटियां लगायी हैं और उतने ही (खीलाः) खील लगाये हैं, (ये अविचाचलाः) जो हिलनेवाले नहीं हैं ॥४॥

हे (सवितः) सविता ! (इदं विजानीहि) यह तू जान कि यहां (षट् यमाः एकः एकजः) छः जोडे हैं और एक अकेला है । (यः एषां एकजः एकः) जो इनमें अकेला एक है (तस्मिन्) उसमें (ह आपित्वं इच्छन्ते) निश्चयसे अपना संबन्ध जोडनेकी इच्छा अन्य करते हैं ॥ ५ ॥

(गुहा जरत् नाम) गुहामें संचार करनेवाला जो (महत् पदं) बडा प्रसिद्ध स्थान है, वह (आविः सन्निहितं) वह प्रकट होनेयोग्य संनिध भी है, जो (एजत् प्राणत्) कांपनेवाला और प्राणवाला है, वह (तत्र इदं सर्वं आर्पितं प्रतिष्ठितं) वहीं उस गुहामें समर्पित और प्रतिष्ठित है ॥ ६ ॥

एकचक्रं वर्तत एकनेमि सहस्राक्षरं प्र पुरो नि पश्चा।
अर्धेन विश्वं भुवनं जजान यदस्यार्धं क्व१ तद्बभूव ॥ ७ ॥
पञ्चवाही वहत्यग्रमेषां प्रष्टयो युक्ता अनुसंवहन्ति।
अयातमस्य ददृशे न यातं परं नेदीयोऽवरं दवीयः ॥ ८ ॥
तिर्यग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नस्तस्मिन् यशो निहितं विश्वरूपम्।
तदासत ऋषयः सप्त साकं ये अस्य गोपा महतो बभूवुः ॥ ९ ॥
या पुरस्ताद्युज्यते या च पश्चाद्या विश्वतो युज्यते या च सर्वतः।
यया यज्ञः प्राङ् तायते तां त्वा पृच्छामि कतमा सर्चाम् ॥ १० ॥ (२६)
यदेजति पतति यच्च तिष्ठति प्राणदप्राणन्निमिषच्च यद्भुवत्।
तद्दाधार पृथिवीं विश्वरूपं तत्संभूय भवत्येकमेव ॥ ११ ॥
अनन्तं विततं पुरुत्रानन्तमन्तवच्चा समन्ते।
ते नाकपालश्चरति विचिन्वन्विद्वान्भूतमुत भव्यमस्य ॥ १२ ॥

अर्थ— (एक चक्रं एकनेमि वर्तते) एक चक्र एकही नाभिवाला है, जो (सहस्र-आरं प्र पुरः नि पश्चा) हजारों आरोंसे युक्त आगे और पीछे होता है। (अर्धेन विश्वं भुवनं जजान) आधेसे सब भुवन बनाये हैं और (यत् अस्य अर्धं क्व तत् बभूव) जो इसका आधा भाग है, वह कहां रहा है ॥ ७ ॥

(एषां पञ्चवाही अग्रं वहति) इनमें जो पांचोंसे उठायी जानेवाली है, वह अन्ततक पहुंचती है। (प्रष्टयः युक्ताः अनुसंवहन्ति) जो घोडे जोते हैं, वे ठीक प्रकार उठा रहे हैं। (अस्य अयातं ददृशे, न यातं) इसका न चलना ही दीखता है; परंतु चलना नहीं दीखता। तथा (परं नेदीयः अवरं दवीयः) बहुत दूरका बहुत समीप है और जो पास है, वही अति दूर है ॥ ८ ॥

(तिर्यग्बिलः ऊर्ध्वबुध्नः चमसः) तिरछे मुखवाला और ऊपर पृष्ठभागवाला एक पात्र है (तस्मिन् विश्वरूपं यशः निहितं) उसमें नानारूपवाला यश रखा है। (तत् सप्त ऋषयः साकं आसत) वहां साथ साथ सात ऋषि बैठे हैं (ये अस्य महतः गोपाः बभूवुः) जो इस महानुभावके संरक्षक हैं ॥ ९ ॥

(या पुरस्तात् युज्यते या च पश्चात्) जो आगे और पीछे जुडी रहती है, (या विश्वतो युज्यते या च सर्वतः) जो चारों ओरसे सब प्रकार जुडी रहती है। (यया यज्ञः प्राङ् तायते) जिससे यज्ञ पूर्वकी ओर फैलाया जाता है, (तां त्वा पृच्छामि) उस विषयमें मैं तुझे पूछता हूं (ऋचां सा कतमा) ऋचाओंमें वह कौनसी है ? ॥ १० ॥

(यत् एजति, पतति, यत् च तिष्ठति) जो कांपता है, गिरता है और जो स्थिर रहता है, (यत् प्राणत् अप्राणत् निमिषत् च भुवत्) जो प्राण धारण करनेवाला, प्राणरहित और जो निमेषोन्मेष करता है और जो होता है, (तत् विश्वरूपं पृथिवीं दाधार) वह विश्वरूपी तत्त्व इस पृथ्वीका धारण करता है (तत् संभूय एकं एव भवति) वह सब मिलकर एक ही होता है ॥ ११ ॥

(अनन्तं पुरुत्रा विततं) अनन्त चारों ओर फैला है, (अनन्तं अन्तवत् च समन्ते) अनन्त और अन्तवाला ये दोनों एक दूसरेसे मिले हैं। (अस्य भूतं उत भव्यं ते विचिन्वन्) इसके भूतकालीन और भविष्यकालीन तथा वर्तमानकालीन सब वस्तुमात्रके संबंधमें विवेक करता हुआ और पश्चात् (विद्वान्) सबको जानता हुआ, (नाकपालः चरति) सुखपालक चलता है ॥ १२ ॥

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरदृश्यमानो बहुधा वि जायते ।
अर्धेन विश्वं भुवनं जजान यदस्यार्धं कतमः स केतुः ॥ १३ ॥
ऊर्ध्वं भरन्तमुदकं कुम्भेनेवोदहार्यम् । पश्यन्ति सर्वे चक्षुषा न सर्वे मनसा विदुः ॥ १४ ॥
दूरे पूर्णेन वसति दूर ऊनेन हीयते । महद्यक्षं भुवनस्य मध्ये तस्मै बलिं राष्ट्रभृतो भरन्ति॥१५॥
यतः सूर्यं उदेत्यस्तं यत्र च गच्छति । तदेव मन्ये ऽहं ज्येष्ठं तदु नात्येति किं चन ॥ १६ ॥
ये अर्वाङ् मध्यं उत वा पुराणं वेदं विद्वांसमभितो वदन्ति ।
आदित्यमेव ते परि वदन्ति सर्वे अग्निं द्वितीयं त्रिवृतं च हंसम् ॥ १७ ॥
सहस्राह्ण्यं वियतावस्य पक्षौ हरेर्हंसस्य पततः स्वर्गम् ।
स देवान्त्सर्वानुरस्युपदद्य संपश्यन् याति भुवनानि विश्वा ॥ १८ ॥
सत्येनोर्ध्वस्तपति ब्रह्मणाऽर्वाङ् वि पश्यति ।
प्राणेन तिर्यङ् प्राणति यस्मिन् ज्येष्ठमधि श्रितम् ॥ १९ ॥

अर्थ— (प्रजापतिः अदृश्यमानः गर्भे अन्तः चरति) प्रजापति अदृश्य होता हुआ गर्भके अन्दर संचार करता है, और (बहुधा विजायते) वह अनेक प्रकारसे उत्पन्न होता है। (अर्धेन विश्वं भुवनं जजान) आधे भागसे सब भुवनोंको उत्पन्न करता है, (यत् अस्य अर्धं सः कतमः केतुः) जो इसका दूसरा आधा है, उसकी निशानी क्या है ? ॥ १३ ॥

(कुम्भेन उदकं ऊर्ध्वं भरन्तं उदहार्यं इव) जैसा घडेसे जलको भरकर ऊपर लानेवाला कहार होता है। (सर्वे चक्षुषा पश्यन्ति) सब आंखसे देखते हैं, (सर्वे मनसा न विदुः) परंतु सब मनसे नहीं जानते ॥ १४ ॥

(पूर्णेन दूरे वसति) पूर्ण होनेपर भी दूर रहता है, (ऊनेन दूरे हीयते) न्यून होनेपर भी दूर ही रहता है। (भुवनस्य मध्ये महत् यक्षं) विश्वके बीचमें बडा पूज्य देव है, (तस्मै राष्ट्रभृतः बलिं भरन्ति) उसके लिये राष्ट्रसेवक अपना बलिदान करते हैं ॥ १५ ॥

(यतः सूर्यः उदेति) जहांसे सूर्य उगता है और (यत्र च अस्तं गच्छति) जहां अस्तको जाता है, (तत् एव अहं ज्येष्ठं मन्ये) वही श्रेष्ठ है, ऐसा मैं मानता हूं, (तत् उ किं चन न अत्येति) उसका अतिक्रमण कोई नहीं करता ॥ १६ ॥

(ये अर्वाक् मध्ये उत वा पुराणं) जो उरेवाले बीचके अथवा पुराने (वेदं विद्वांसं अभितः वदन्ति) वेदवेत्ताकी चारों ओरसे प्रशंसा करते हैं, (ते सर्वे आदित्यं एव परि वदन्ति) वे सब आदित्यकी ही प्रशंसा करते हैं (द्वितीयं अग्निं) दूसरा अग्नि और (त्रिवृतं हंसं) त्रिवृत हंसकी ही प्रशंसा करते हैं ॥ १७ ॥

(अस्य हंसस्य) इस हंसके (स्वर्गं पततः) स्वर्गको जाते हुए (पक्षौ सहस्राह्ण्यं वियतौ) इसके दोनों पक्ष सहस्र दिनोंतक फैलाये रहते हैं। (सः सर्वान् देवान् उरसि उपपद्य) वह सब देवोंको अपनी छातीपर लेकर (विश्वा भुवनानि संपश्यन् याति) सब भुवनोंको देखता हुआ जाता है ॥ १८ ॥

(सत्येन ऊर्ध्वः तपति) सत्यके साथ ऊपर तपता है, (ब्रह्मणा अर्वाङ् विपश्यति) ज्ञानसे नीचे देखता है (प्राणेन तिर्यङ् प्राणति) प्राणसे तिरछा प्राण लेता है, (यस्मिन् ज्येष्ठं अधिश्रितं) जिसमें श्रेष्ठ ब्रह्म रहता है॥ १९॥

यो वै ते वि॒द्याद॒रणी॒ याभ्यां॑ निर्म॒थ्यते॒ वसु॑ ।
स वि॒द्वान् ज्ये॒ष्ठं म॑न्येत॒ स वि॑द्या॒द्ब्राह्म॑णं म॒हत् ॥ २० ॥ (२७)

अ॒पाद॑ग्रे॒ सम॑भव॒त् सो अग्रे॒ स्व॑१राभ॑रत् । चतु॑ष्पाद् भू॒त्वा भोग्यः॒ सर्व॒माद॑त्त॒ भोज॑नम् ॥ २१ ॥

भोग्यो॑ भव॒दथो॒ अन्न॑मदद्ब॒हु । यो दे॒वमु॑त्त॒राव॑न्तमु॒पासा॑तै सना॒तन॑म् ॥ २२ ॥

सना॒तन॑मेनमाहुरु॒ताद्य स्या॒त्पुन॑र्णवः । अ॒हो॒रा॒त्रे प्र जा॑येते अ॒न्यो अ॒न्यस्य॑ रू॒पयोः॑ ॥ २३ ॥

श॒तं स॒हस्र॑म॒युतं॒ न्य॑१र्बुदम॑संख्ये॒यं स्वम॑स्मि॒न्निवि॑ष्टम् ।
तद॑स्य घ्नन्त्यभि॒पश्य॑त ए॒व तस्मा॑द्दे॒वो रो॑चत ए॒ष ए॒तत् ॥ २४ ॥

बा॒लादेक॑मणीय॒स्कमु॒तैकं॒ नेव॑ दृश्यते । त॒तः परि॑ष्वजीयसी दे॒वता॑ सा मम॑ प्रि॒या ॥ २५ ॥

इ॒यं क॑ल्या॒ण्य१॒जरा॒ मर्त्य॑स्या॒मृता॑ गृ॒हे । यस्मै॑ कृ॒ता शये॒ स यश्च॒कार॑ ज॒जार॒ सः ॥ २६ ॥

अर्थ— (यः वै ते अरणी विद्यात्) जो उन दोनों अरणियोंको जानता है, (याभ्यां वसु निर्मथ्यते) जिससे वसु निर्माण किया जाता है। (सः विद्वान् ज्येष्ठं मन्यते) वह ज्ञानी ज्येष्ठ ब्रह्मको जानता है और (सः महत् ब्राह्मणं विद्यात्) वह बडे ब्रह्मको भी जानता है ॥ २० ॥

(अग्रे अपात् सं अभवत्) प्रारंभमें पावरहित आत्मा एक ही था। (सः अग्रे स्वः आभरत्) वह प्रारंभमें स्वात्मानंद भरता रहा। वही (चतुष्पाद् भोग्यः भूत्वा) चार पाँववाला भोग्य होकर (सर्वं भोजनं आदत्त) सब भोजनको प्राप्त करने लगा ॥ २१ ॥

(भोग्यः अभवत्) वह भोग्य हुआ (अथो बहु अन्नं अदत्) बहुत अन्न खाने लगा। (यः सनातनं उत्तरावन्तं देवं उपासाते) जो सनातन और श्रेष्ठ देवकी उपासना करता है ॥ २२ ॥

(एनं सनातनं आहुः) इसे सनातन कहते हैं (उत अद्य पुनः नवः स्यात्) और वह आजही फिर नया होता है। इससे (अन्यः अन्यस्य रूपयोः) परस्परके रूपके (अहोरात्रे प्र जायेते) दिन और रात्र होते हैं ॥ २३ ॥

(शतं सहस्रं अयुतं) सौ, हजार, दस हजार, (न्यर्बुदं असंख्येयं स्वं अस्मिन् निविष्टम्) लाख अथवा असंख्य स्वत्व इसमें हैं। (अस्य अभिपश्यतः एव) इसके देखते ही (तत् घ्नन्ति) वह सत्व आघात करता है (तस्मात् एष देवः एतत् रोचते) इससे यह देव इसको प्रकाशित करता है ॥ २४ ॥

(एकं बालात् अणीयस्कं) एक बालसे भी सूक्ष्म है, (उत एकं नैव दृश्यते) और दूसरा दीखता ही नहीं। (ततः परिष्वजीयसी देवता) उससे जो दोनोंकी आलिंगन देनेवाली देवता है; (सा मम प्रिया) वह मुझे प्रिय है ॥ २५ ॥

(इयं कल्याणी अजरा) यह कल्याण करनेवाली अक्षय है, (मर्त्यस्य गृहे अमृता) मरनेवालेके घरमें अमर है। (यस्मै कृता सः शये) जिसके लिये की जाती है, वह लेटता है और (यः चकार सः जजार) जो करता है वह वृद्ध होता है ॥ २६ ॥

त्वं स्त्री त्वं पुमा॑नसि॒ त्वं कु॑मा॒र उ॒त वा॑ कुमा॒री ।
त्वं जी॒र्णो द॒ण्डेन॑ वञ्चसि॒ त्वं जा॒तो भ॑वसि वि॒श्वतो॑मुखः ॥ २७ ॥
उ॒तैषां॑ पि॒तोत वा॑ पु॒त्र ए॑षामु॒तैषां॑ ज्ये॒ष्ठ उ॒त वा॑ कनि॒ष्ठः ।
एको॑ ह दे॒वो मन॑सि॒ प्रवि॑ष्टः प्रथ॒मो जा॒तः स उ॒ गर्भे॑ अ॒न्तः ॥ २८ ॥
पू॒र्णात्पू॒र्णमुद॑चति पू॒र्णं पू॒र्णेन॑ सिच्यते । उ॒तो तद॒द्य वि॑द्याम॒ यत॒स्तत्प॑रिषि॒च्यते॑ ॥ २९ ॥
ए॒षा स॒नत्नी॒ सन॑मे॒व जा॒तैषा पु॑रा॒णी परि॒ सर्वं॑ बभूव ।
म॒ही दे॒व्यु१॒॑षसो॑ विभा॒ती सैके॑नैकेन मिष॒ता वि च॑ष्टे ॥ ३० ॥
अवि॒र्वै नाम॑ दे॒वत॒र्तेना॑स्ते॒ परी॑वृता । तस्या॑ रू॒पेणे॒मे वृ॒क्षा हरि॑ता॒ हरि॑तस्रजः ॥ ३१ ॥
अन्ति॒ सन्तं॒ न ज॑हा॒त्यन्ति॒ सन्तं॒ न प॑श्यति । दे॒वस्य॑ पश्य॒ काव्यं॒ न म॑मार॒ न जी॑र्यति ॥ ३२ ॥
अ॒पू॒र्वेणे॑षि॒ता वाच॒स्ता व॑दन्ति यथाय॒थम् । वद॑न्ती॒र्यत्र॒ गच्छ॑न्ति॒ तदा॑हु॒र्ब्राह्म॑णं म॒हत् ॥ ३३ ॥

अर्थ— (त्वं स्त्री त्वं पुमान् असि) तू स्त्री है और तूही पुरुष है। (त्वं कुमारः उत वा कुमारी) तू लडका है और लडकी भी तूही है। (त्वं जीर्णः दण्डेन वञ्चसि) तू वृद्ध होनेपर दण्डके सहारे चलता है, (त्वं जातः विश्वतो मुखः भवसि) तू प्रकट होकर सब ओर मुखवाला होता है ॥ २७ ॥

(उत एषां पिता) इनका पिता, (उत वा एषां पुत्रः) और इनका पुत्र (एषां ज्येष्ठः उत वा कनिष्ठः) इनमें ज्येष्ठ अथवा कनिष्ठ, यह सब (एकः ह देवः मनसि प्रविष्टः) एकही देव मनमें प्रविष्ट होकर (प्रथमः जातः स उ गर्भे अन्तः) पहिले जो हुआ था, वही गर्भमें आता है ॥ २८ ॥

(पूर्णात् पूर्णं उदचति) पूर्णसे पूर्ण होता है, (पूर्णं पूर्णेन सिच्यते) पूर्ण ही पूर्णके द्वारा सींचा जाता है, (उतो अद्य तत् विद्याम) अब आज वह हम जाने, कि (यतः तत् परिषिच्यते) जहांसे वह सींचा जाता है ॥ २९ ॥

(एषा सनत्नी) यह सनातन शक्ति है, (सनं एव जाता) सनातन कालसे विद्यमान है, यही (पुराणी सर्वं परि बभूव) पुरानी शक्ति सब कुछ बनी है, (मही देवी उषसः विभाति) यही बडी देवी उषाओंको प्रकाशित करती है, (सा एकेन-एकेन मिषता वि चष्टे) वह अकेले अकेले प्राणीके साथ दीखती है ॥ ३० ॥

(अविः वै नाम देवता) रक्षणकर्त्री नामक एक देवता है, वह (ऋतेन परिवृता आस्ते) सत्यसे घेरी हुई है। (तस्याः रूपेण इमे वृक्षाः) उसके रूपसे ये सब वृक्ष (हरिताः हरितस्रजः) हरे और हरे पत्तोंवाले हुए हैं ॥३१॥

(अन्ति सन्तं न जहाति) समीप होनेपर भी वह छोडता नहीं और (अन्ति सन्तं न पश्यति) वह समीप होनेपर भी दीखता भी नहीं। (देवस्य पश्य काव्यं) इस देवका यह काव्य देखो, जो (न ममार न जीर्यति) नहीं मरता और नहीं जीर्ण होता है ॥ ३२ ॥

(अपूर्वेण इषिताः वाचः) जिसके पूर्व कोई नहीं है, इस देवताने प्रेरित की ये वाचाएं हैं, (ताः यथायथं वदन्ति) वह वाणियाँ यथायोग्य वर्णन करती हैं। (वदन्तीः यत्र गच्छन्ति) बोलती हुई जहां पहुंचती हैं, (तत् महत् ब्राह्मणं आहुः) वह बडा ब्रह्म है, ऐसा कहते हैं ॥ ३३ ॥

यत्र॑ दे॒वाश्च॑ मनु॒ष्या॒श्चा॒रा नाभा॑विव श्रि॒ताः ।
अ॒पां त्वा॒ पुष्पं॑ पृच्छामि॒ यत्र॒ तन्मा॒यया॑ हि॒तम् ॥ ३४ ॥
येभि॒र्वात॑ इषि॒तः प्र॒वाति॒ ये दद॑न्ते॒ पञ्च॒ दिशः॑ स॒ध्रीचीः॑ ।
य आहु॑तिम॒त्यम॑न्यन्त दे॒वा अ॒पां ने॒तारः॑ कत॒मे त आ॑सन् ॥ ३५ ॥
इ॒माम॑षां पृथि॒वीं वस्त॒ एको॑ऽन्तरि॑क्षं॒ पर्ये॑को बभूव ।
दिव॑मेषां ददते॒ यो वि॑ध॒र्ता विश्वा॒ आशाः॒ प्रति॑ रक्षन्त्येके॑ ॥ ३६ ॥
यो वि॒द्यात्सूत्रं॒ वित॑तं॒ यस्मि॒न्नोताः॑ प्र॒जा इ॒माः ।
सूत्रं॒ सूत्र॑स्य॒ यो वि॒द्यात्स वि॑द्या॒द्ब्राह्म॑णं म॒हत् ॥ ३७ ॥
वेदा॒हं सूत्रं॒ वित॑तं॒ यस्मि॒न्नोताः॑ प्र॒जा इ॒माः । सूत्रं॒ सूत्र॑स्या॒हं वे॑दा॒थो॒ यद्ब्राह्म॑णं म॒हत् ॥ ३८ ॥
यद॑न्त॒रा द्यावा॑पृथि॒वी अ॒ग्निरैत्प्र॒दह॑न्विश्वदा॒व्यः॑ ।
यत्राति॑ष्ठ॒न्नेक॑पत्नीः प॒रस्ता॒त्क्वे॑वासी॒न्मात॒रिश्वा॑ त॒दानी॑म् ॥ ३९ ॥
अ॒प्स्वा॑सीन्मात॒रिश्वा॒ प्रवि॑ष्टः॒ प्रवि॑ष्टा दे॒वाः स॑लि॒लान्या॑सन् ।
बृ॒हन्ह॑ तस्थौ॒ रज॑सो वि॒मानः॒ पव॑मानो ह॒रित॒ आ वि॑वेश ॥ ४० ॥

अर्थ— (देवाः च मनुष्याः च) देव और मनुष्य (नाभौ आराः इव यत्र श्रिताः) नाभिमें और लगनेके समान जहां आश्रित हुए हैं, उस (अपां पुष्पं त्वा पृच्छामि) आप्-तत्वके पुष्पको मैं तुझे पूछता हूं कि, (यत्र तत् मायया हितम्) जहां वह मायासे आच्छादित होकर रहता है ॥ ३४ ॥

(येभिः इषितः वातः प्रवाति) जिनसे प्रेरित हुआ वायु बहता है, (ये सध्रीचीः पञ्च प्रदिशः ददन्ते) जो मिलीजुली पांचों दिशायें धारण करते हैं, (ये देवाः आहुतिं अति अमन्यन्त) जो देव आहुतिको अधिक मानते हैं, (ते अपां नेतारः कतमे आसन्) वे जलोंके नेता कौनसे हैं ? ॥ ३५ ॥

(एषां एकः इमां पृथिवीं वस्ते) इनमेंसे एक इस पृथ्वीपर रहता है (एकः अन्तरिक्षं परिबभूव) एक अन्तरिक्षमें व्यापता है, (एषां यः विधर्ता) इनमें जो धारक है, वह (दिवं ददते) द्युलोकका धारण करता है, और (एके विश्वाः आशाः प्रति रक्षति) कुछ सब दिशाओंकी रक्षा करते हैं ॥ ३६ ॥

(यस्मिन् इमाः प्रजाः ओताः) जिसमें ये सब प्रजा पिरोयी हैं, (यः विततं सूत्रं विद्यात्) जो इस फैले सूत्रको जानता है, और (सूत्रस्य सूत्रं यः विद्यात्) सूत्रके सूत्रको जो जानता है, (सः महत् ब्राह्मणं विद्यात्) वह बडे ब्रह्मको जानता है ॥ ३७ ॥

(यस्मिन् इमाः प्रजाः ओताः) जिसमें ये प्रजाएं पिरोयी हैं, (अहं विततं सूत्रं वेद) मैं यह फैला हुआ सूत्र जानता हूं। (सूत्रस्य सूत्रं अहं वेद) सूत्रका सूत्र भी मैं जानता हूं और (अथो यत् महत् ब्राह्मणं) और जो बडा ब्रह्म है, वह भी मैं जानता हूं ॥ ३८ ॥

(यत् द्यावापृथिवी अन्तरा) जो द्युलोक और पृथ्वीके बीचमें (विश्वदाव्यः प्रदहन् अग्निः ऐत्) विश्वको जलानेवाला अग्नि होता है, (यत्र परस्तात् एकपत्नीः अतिष्ठन्) जहां दूरतक एक पत्नीही रहती है, (तदानीं मातरिश्वा क्व इव आसीत्) उस समय वायु कहां था ? ॥ ३९ ॥

(मातरिश्वा अप्सु प्रविष्टः आसीत्) वायु जलोंमें प्रविष्ट था, (देवाः सलिलानि प्रविष्टाः आसन्) सब देव जलोंमें प्रविष्ट थे, (बृहत् ह रजसः विमानः तस्थौ) उस समय बडा ही रजका विशेष प्रमाप था, और (पवमानः हरितः आ विवेश) वायु सूर्यकिरणोंके साथ था ॥ ४० ॥

उत्त॒रेणे॑व गाय॒त्रीम॒मृते॒ऽधि॒ वि च॑क्रमे । साम्ना॒ ये साम॑ संवि॒दुर॒जस्तद्द॑दृशे॒ क्व॑ ॥ ४१ ॥
नि॒वेश॑नः सं॒गम॑नो॒ वसू॑नां दे॒व इ॑व सवि॒ता स॒त्यध॑र्मा । इन्द्रो॒ न त॑स्थौ सम॒रे धना॑नाम् ॥ ४२ ॥
पु॒ण्डरी॑कं॒ नव॑द्वारं त्रि॒भिर्गु॒णेभि॒रावृ॑तम् । तस्मि॒न्यद्य॒क्षमा॑त्म॒न्वत्तद्वै ब्र॑ह्म॒विदो॑ विदुः ॥ ४३ ॥
अ॒का॒मो धीरो॑ अ॒मृतः॑ स्वयं॒भू रसे॑न तृ॒प्तो न कुत॑श्च॒नोनः॑ ।
तमे॒व वि॒द्वान्न बि॑भाय मृ॒त्योरा॒त्मानं॒ धीर॑म॒जरं॒ युवा॑नम् ॥ ४४ ॥

अर्थ— (उत्तरेण अमृते अधि गायत्रीं अधि वि चक्रमे) उच्चतर रूपसे अमृतमें गायत्रीको विशेष रीतिसे प्राप्त करते हैं। (ये साम्ना साम सं विदुः) जो सामसे साम जानते हैं, (तत् अजः क ददृशे) वह अजन्माने कहां देखा ? ॥ ४१ ॥

(सत्यधर्मा सविता देवः इव) सत्यके धर्मसे युक्त सविता देवके समान (वसूनां संगमनः निवेशनः) सब धनोंका देनेवाला और निवासका हेतु है वह (धनानां समरे) धनोंके युद्धमें (इन्द्रः न तस्थौ) इन्द्रके समान स्थिर रहता है ॥ ४२ ॥

(नवद्वारं पुण्डरीकं) नव द्वारवाला कमल (त्रिभिः गुणेभिः आवृतं) सत्व-रज-तम इन तीन गुणोंसे घेरा हुआ है। (तस्मिन् यत् आत्मन्वत् यक्षं) उसमें जो आत्मावाला पूज्य देव है (तत् वै ब्रह्मविदः विदुः) उसे ब्रह्मज्ञानी जानते हैं ॥ ४३ ॥

(अकामः धीरः अमृतः स्वयंभूः) निष्काम, धीर, अमर, स्वयंभू (रसेन तृप्तः) रससे संतुष्ट वह देव (न कुतश्चन ऊनः) कहींसे भी न्यून नहीं है, (तं एव विद्वान् मृत्योः न बिभाय) उसे जाननेवाला ज्ञानी मृत्युसे डरता नहीं, क्योंकि (आत्मानं धीरं अजरं युवानं) वही धीर अजर युवा आत्मा है ॥ ४४ ॥

---

(९) शतौदना गौ।

(ऋषिः— अथर्वा । देवता— शतौदना)

(५) अ॒घा॒य॒ताम॑पि॒ नह्या॒ मुखा॑नि स॒पत्ने॑षु॒ वज्र॒मर्प॑यै॒तम् ।
इन्द्रे॑ण द॒त्ता प्र॑थ॒मा श॒तौद॑ना भ्रातृ॒व्यघ्नी॒ यज॑मानस्य गा॒तुः ॥ १ ॥
वेदि॑ष्टे॒ चर्म॑ भवतु ब॒र्हिर्लोमा॑नि॒ यानि॑ ते । ए॒षा त्वा॑ रश॒नाग्र॑भीद्ग्रावा॑ त्वै॒षोऽधि॑ नृत्यतु ॥ २ ॥
बाला॑स्ते॒ प्रोक्ष॑णीः सन्तु जि॒ह्वा सं मा॑र्ष्ट्वघ्न्ये ।
शु॒द्धा त्वं य॒ज्ञिया॑ भू॒त्वा दिवं॒ प्रेहि॑ शतौदने ॥ ३ ॥

अर्थ— (अघायतां मुखानि अपि नह्य) पापी लोगोंके मुख बंद कर। (सपत्नेषु एतं वज्रं अर्पय) शत्रुओंपर यह वज्र फेंक। (इन्द्रेण दत्ता प्रथमा शतौदना) इन्द्रने दी हुई पहिली सैंकडों भोजन देनेवाली (भ्रातृव्यघ्नी यजमानस्य गातुः) शत्रुका नाश करनेवाली, यजमानका मार्ग दर्शानेवाली गौ ही है ॥ १ ॥

(ते चर्म वेदिः भवतु) तेरा चर्म वेदी बने, (यानि ते लोमानि बर्हिः) जो तेरे रोम हैं वे दर्भ हैं, (एषा रशना त्वा अग्रभीत्) जो रस्सी तुझे बांधी है, हे (ओषधि) सोमवल्ली ! (एषः ग्रावा त्वा अधिनृत्यतु) यह ग्रावा तेरे ऊपर आनंदसे नाचे, तेरा रस निकालनेके लिये वनस्पतिपर पत्थर नाचे ॥ २ ॥

हे (अघ्न्ये) अहिंसनीय गौ ! (ते बालाः प्रोक्षणीः सन्तु) तेरे बाल प्रोक्षणी होवें, (जिह्वा सं मार्ष्टु) तेरी जिह्वा शोधन करे, (त्वं यज्ञिया शुद्धा भूत्वा) तू पूज्य और शुद्ध होकर, हे शतौदना गौ ! (त्वं दिवं प्रेहि) तू द्युलोकमें जा ॥ ३ ॥

+

यः शतौदनां पचति कामप्रेण स कल्पते। प्रीता ह्यस्यर्त्विजः सर्वे यन्ति यथायथम् ॥ ४ ॥
स स्वर्गमा रोहति यत्रादस्त्रिदिवं दिवः। अपूपनाभिं कृत्वा यो ददाति शतौदनाम् ॥ ५ ॥
स तांल्लोकान्त्समाप्नोति ये दिव्या ये च पार्थिवाः।
हिरण्यज्योतिषं कृत्वा यो ददाति शतौदनाम् ॥ ६ ॥
ये ते देवि शमितारः पक्तारो ये च ते जनाः। ते त्वा सर्वे गोप्स्यन्ति मैभ्यो भैषीः शतौदने ॥ ७ ॥
वसवस्त्वा दक्षिणत उत्तरान्मरुतस्त्वा। आदित्याः पश्चाद्गोप्स्यन्ति साग्निष्टोममति द्रव ॥ ८ ॥
देवाः पितरो मनुष्या गन्धर्वाप्सरसश्च ये। ते त्वा सर्वे गोप्स्यन्ति सातिरात्रमति द्रव ॥ ९ ॥
अन्तरिक्षं दिवं भूमिमादित्यान्मरुतो दिशः। लोकान्त्स सर्वानाप्नोति यो ददाति शतौदनाम् ॥ १० ॥
घृतं प्रोक्षन्ती सुभगा देवी देवान्गमिष्यति। पक्तारमघ्न्ये मा हिंसीर्दिवं प्रेहि शतौदने ॥ ११ ॥
ये देवा दिविषदो अन्तरिक्षसदश्च ये ये चेमे भूम्यामधि।
तेभ्यस्त्वं धुक्ष्व सर्वदा क्षीरं सर्पिरथो मधु ॥ १२ ॥

अर्थ— (यः शतौदनां पचति) जो शतौदनाका परिपाक करता है, वह (सः कामप्रेण कल्पते) वह संकल्पोंको पूर्ण करता है। (अस्य सर्वे प्रीताः ऋत्विजः) इसके सब संतुष्ट हुए ऋत्विज (यथायथं यन्ति) यथायोग्य मार्गसे वापस जाते हैं ॥ ४ ॥

(सः स्वर्गं आरोहति) वह स्वर्गपर चढता है (यत्र अदः त्रिदिवं दिवः) जहां वह स्वर्गधाम है, (यः शतौदनां अपूपनाभिं कृत्वा ददाति) जो शतौदनाको मालपूवोंके रूपमें करके दान देता है ॥ ५ ॥

(ये दिव्याः ये च पार्थिवाः) जो दिव्य और जो पार्थिव लोग हैं, (तान् लोकान् सः समाप्नोति) उन सब लोगोंको वह प्राप्त करता है, (यः शतौदनां हिरण्यज्योतिषं कृत्वा ददाति) जो शतौदना गौको सुवर्णसे तेजस्वी करके दान देता है ॥ ६ ॥

(ये शमितारः ये च पक्तारः जनाः) जो शमिता और जो पकानेवाले लोग हैं, (ते सर्वे त्वा गोप्स्यन्ति) वे सब तेरी रक्षा करेंगे। हे (शतौदने) सौ मनुष्योंका भोजन देनेवाली गौ ! (एभ्यः मा भैषीः) इनसे तू न भय कर ॥ ७ ॥

(दक्षिणतः त्वा वसवः) दक्षिणकी ओरसे तुझे वसुदेव, (उत्तरात् त्वा मरुतः) उत्तरकी ओरसे तुझे मरुत् देव, (आदित्याः पश्चात् गोप्स्यन्ति) आदित्य तेरी पीछेसे रक्षा करेंगे, (सा त्वं अग्निष्टोमं अति द्रव) वह तू अग्निष्टोम यज्ञके पार जा ॥ ८ ॥

(ये) जो देव, पितर, मनुष्य और गन्धर्व–अप्सरागण हैं, (ते सर्वे त्वा गोप्स्यन्ति) वे सब तेरी रक्षा करेंगे, (सा अतिरात्रं अति द्रव) वह तू अतिरात्र यज्ञके पार जा ॥ ९ ॥

(यः शतौदनां ददाति) जो शतौदनाको देता है, (सः सर्वान् लोकान् आप्नोति) वह सब लोगोंको प्राप्त करता है, जो लोक अन्तरिक्ष, द्यु, भूमि, आदित्य, मरुत् और दिशाओंके नामसे प्रसिद्ध है ॥ १० ॥

(घृतं प्रोक्षन्ती सुभगा देवी) घीका सिंचन करनेवाली भाग्यवाली देवी (देवान् गमिष्यसि) देवताओंको प्राप्त होगी। हे शतौदने (अघ्न्ये) अहिंसनीय गौ ! (पक्तारं मा हिंसी) पकानेवालेकी हिंसा मत कर, (दिवं प्रेही) स्वर्गको प्राप्त हो ॥ ११ ॥

(ये दिवि-सदः देवाः) जो द्युलोकमें रहनेवाले देव हैं, (ये च अन्तरिक्ष-सदः) जो अन्तरिक्षमें रहते हैं, (ये च इमे भूम्यां अधि) जो भूमिपर रहते हैं, (तेभ्यः त्वं सर्वदा) उनके लिये तू सर्वदा (क्षीरं सर्पिः अथो मधु धुक्ष्व) दूध, घी और मधु दे ॥ १२ ॥

यत् ते शिरो यत् ते मुखं यौ कर्णौ ये च ते हनू। आमिक्षां दुह्रतां दात्रे क्षीरं सर्पिरथो मधु ॥१३॥
यौ त ओष्ठौ ये नासिके ये शृङ्गे ये च तेऽक्षिणी। आमिक्षां दुह्रतां दात्रे क्षीरं सर्पिरथो मधु ॥१४॥
यत् ते क्लोमा यद्धृदयं पुरीतत्सहकण्ठिका। आमिक्षां दुह्रतां दात्रे क्षीरं सर्पिरथो मधु ॥१५॥
यत् ते यकृद्ये मतस्ने यदान्त्रं याश्च ते गुदाः। आमिक्षां दुह्रतां दात्रे क्षीरं सर्पिरथो मधु ॥१६॥
यस्ते प्लाशिर्यो वनिष्ठुर्यौ कुक्षी यच्च चर्म ते। आमिक्षां दुह्रतां दात्रे क्षीरं सर्पिरथो मधु ॥१७॥
यत् ते मज्जा यदस्थि यन्मांसं यच्च लोहितम्। आमिक्षां दुह्रतां दात्रे क्षीरं सर्पिरथो मधु ॥१८॥
यौ ते बाहू ये दोषणी यावंसौ या च ते ककुत्। आमिक्षां दुह्रतां दात्रे क्षीरं सर्पिरथो मधु ॥१९॥
यास्ते ग्रीवा ये स्कन्धा याः पृष्टीर्याश्च पर्शवः। आमिक्षां दुह्रतां दात्रे क्षीरं सर्पिरथो मधु २०।(३१)
यौ त ऊरू अष्ठीवन्तौ ये श्रोणी या च ते भसत्। आमिक्षां दुह्रतां दात्रे क्षीरं सर्पिरथो मधु॥२१॥
यत् ते पुच्छं ये ते बाला यदूधो ये च ते स्तनाः। आमिक्षां दुह्रतां दात्रे क्षीरं सर्पिरथो मधु ॥२२॥
यास्ते जङ्घा याः कुष्ठिका ऋच्छरा ये च ते शफाः। आमिक्षां दुह्रतां दात्रे क्षीरं सर्पिरथो मधु ॥२३॥
यत् ते चर्म शतौदने यानि लोमान्यघ्न्ये। आमिक्षां दुह्रतां दात्रे क्षीरं सर्पिरथो मधु ॥२४॥
क्रोडौ ते स्तां पुरोडाशावाज्येनाभिघारितौ। तौ पक्षौ देवि कृत्वा सा पक्तारं दिवं वह ॥२५॥
उलूखले मुसले यश्च चर्मणि यो वा शूर्पे तण्डुलः कणः।
यं वा वातो मातरिश्वा पवमानो ममाथाग्निष्टद्धोता सुहुतं कृणोतु ॥२६॥

अर्थ— (यत् ते शिरः) जो तेरा सिर, (यत् ते मुखं) जो तेरा मुख है, (यौ च ते कर्णौ) जो तेरे कान हैं, (ये च ते हनू) जो तेरी हनू है, (दात्रे आमिक्षां क्षीरं सर्पिः अथो मधु दुह्रतां) दाताको दही, दूध, घी और मधु देवें ॥ १३ ॥

(यौ ते ओष्ठौ) जो तेरे ओष्ठ हैं (शृंगे अक्षिणी) जो तेरे सींग और आंख हैं, (ते क्लोमा हृदयं पुरीतत् सह कंठिका) जो फेंफडा, हृदय, मलाशय और कण्ठका भाग है, (ते यकृत् मतस्ने आन्त्रं गुदाः) जो तेरा यकृत, गुर्दे आंतें और गुदा हैं, (ते प्लाशीः, वनिष्ठुः, कुक्षी, चर्म) जो तेरे तिल्ली, गुदाभाग, कोख और चर्म है, (ते मज्जा, अस्थि, मांसं लोहितं) जो तेरी मज्जा, अस्थि, मांस और रुधिर है, (ते बाहू दोषणी अंसौ, ककुत्) जो तेरे बाहु, बाजूएं, कन्धे और कुहान हैं, (ते ग्रीवा स्कन्धाः पृष्टीः पर्शवः) जो तेरे गर्दन, कन्धे, पीठ और पसुलियां हैं, (ते ऊरू अष्ठीवन्तौ श्रोणी भसत्) जो तेरी जंघाएं, घुटने, कुल्हे और गुह्यांग हैं, (ते पुच्छं बालाः ऊधः स्तनाः) जो तेरा पूंछ, बाल, दुग्धाशय और स्तन हैं, (ते जंघाः कुष्ठिकाः ऋच्छराः शफाः) जो तेरी जंघाएं, खुट्टियां, कलाईके भाग और खुर हैं, (ते चर्म लोमानि) जो तेरे चर्म और लोम हैं, हे (शतौदने) गौ ! (दात्रे क्षीरं आमिक्षां०) दाताको दूध, दही, घी और मधु देते रहें ॥ १४-२४ ॥

हे शतौदने गौ ! (ते क्रोडौ) तेरे पार्श्वभाग (आज्येन अभिघारितौ पुरोडाशौ स्तां) घीद्वारा सिंचित पुरोडाश हों। हे देवि ! (तौ पक्षौ कृत्वा) उनके पंख बनाकर (सा त्वं पक्तारं दिवं वह) वह तू पकानेवालेको स्वर्गपर ले जा ॥ २५ ॥

(उलूखले मुसले) ओखली और मुसल, (चर्मणि शूर्पे च वा यः तण्डुलः कणः) चर्मपर तथा सूपमें जो चावलोंके कण रहते हैं, (यं वा वातो मातरिश्वा पवमानः ममाथ) जिसको पवित्र करनेवाले वायुने मथा था, (तत् होता अग्निः सुहुतं कृणोतु) उसे होता अग्नि उत्तम आहुतिरूप बनावें ॥ २६ ॥

अपो देवीर्मधुमतीर्घृतश्चुतो ब्रह्मणां हस्तेषु प्रपृथक्सादयामि ।
यत्काम इदमभिषिञ्चामि वोऽहं तन्मे सर्वं सं पद्यतां वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥२७॥(३२)

अर्थ— (मधुमतीः घृतश्चुतः देवीः आपः) मधुयुक्त घीको देनेवाली दिव्य जलधाराएं (ब्रह्मणां हस्तेषु प्र पृथक् सादयामि) ब्राह्मणोंके हाथोंमें अलग अलग देता हूं। (यत् कामः इदं वः अहं अभिषिञ्चामि) जिसकी इच्छा करता हुआ, मैं यह आपको अभिषेक करता हूं, (तत् मे सर्वं संपद्यतां) वह मुझे सब प्राप्त हो, (वयं रयीणां पतयः स्याम) हम सब धनोंके पति बनें ॥ २७ ॥

(१०) वशा गौ ।

(ऋषि— कश्यपः । देवता— वशा ।)

नमस्ते जायमानायै जातायां उत ते नमः । बालेभ्यः शफेभ्यो रूपायाघ्न्ये ते नमः ॥१॥
यो विद्यात्सप्त प्रवतः सप्त विद्यात्परावतः । शिरो यज्ञस्य यो विद्यात्स वशां प्रति गृह्णीयात् ॥२॥
वेदाहं सप्त प्रवतः सप्त वेद परावतः । शिरो यज्ञस्याहं वेद सोमं चास्यां विचक्षणम् ॥३॥
यया द्यौर्यया पृथिवी ययापो गुपिता इमाः । वशां सहस्रधारां ब्रह्मणाच्छावदामसि ॥४॥
शतं कंसाः शतं दोग्धारः शतं गोप्तारो अधि पृष्ठे अस्याः ।
ये देवास्तस्यां प्राणन्ति ते वशां विदुरेकधा ॥५॥

अर्थ— हे (अघ्न्ये) हनन करने अयोग्य गौ! (ते जायमानायै नमः) उत्पन्न होनेके समय तुझे नमस्कार है। (उत जातायै नमः) उत्पन्न हुई तुझको नमस्कार है। (ते बालेभ्यः शफेभ्यः रूपाय नमः) तेरे बालों, शफों और रूपके लिये नमस्कार है ॥ १ ॥

(यः सप्त प्रवतः विद्यात्) जो सात प्रवाह-जीवनप्रवाह—जानता है, (यः च सप्त परावतः विद्यात्) और जो सात अन्तरोंको-स्थानोंको-जानता है, तथा जो (यज्ञस्य शिरः विद्यात्) यज्ञका सिर जानता है, वही (वशां प्रति गृह्णीयात्) वशा गौका स्वीकार करे ॥ २ ॥

(अहं सप्त प्रवतः वेद) मैं सात जीवनप्रवाहोंको-प्राणोंको-जानता हूं, (सप्त परावतः वेद) सात स्थानोंको-इंद्रिय स्थानोंको-भी जानता हूं। (यज्ञस्य शिरः च अहं वेद) यज्ञका सिर भी-यज्ञका मुख्य साध्य भी जानता हूं (अस्यां विचक्षणं सोमं च वेद) इसमें विशेष चमकनेवाले सोमको भी मैं जानता हूं ॥ ३ ॥

(यया द्यौः पृथिवी इमाः आपः च गुपिताः) जिसने द्युलोक, पृथिवी और सब जलोंकी सुरक्षा की है, उस (सहस्र धारां वशां) उस हजारों अमृतधारा देनेवाली वशा गौको (ब्रह्मणा अच्छा वदामसि) ज्ञानद्वारा उत्तम रीतिसे प्रवर्णित करते हैं, उसकी प्रशंसा करते हैं ॥ ४ ॥

(अस्याः अधिपृष्ठे) इसकी रक्षा करनेके लिये इसकी पीठपर (शतं दोग्धारः शतं कंसाः) सौ मनुष्य दूध दोहनेवाले, सौ उत्तम पात्रोंको लेकर, तथा, साथ (शतं गोप्तारः) सौ इसके रक्षक भी इस गौके साथ चलते हैं। (ये देवाः तस्यां प्राणन्ति) जो देव उस गौसे जीवित रहते हैं (ते एकधा वशां विदुः) वे एकमतसे गौका महत्त्व यथावत् जानते हैं ॥ ५ ॥

यज्ञपदीराक्षीरा स्वधाप्राणा महीलुका । वशा पर्जन्यपत्नी देवाँ अप्येति ब्रह्मणा ॥ ६ ॥
अनु त्वाग्निः प्राविशदनु सोमो वशे त्वा । ऊधस्ते भद्रे पर्जन्यो विद्युतस्ते स्तना वशे ॥ ७ ॥
अपस्त्वं धुक्षे प्रथमा उर्वरा अपरा वशे । तृतीयं राष्ट्रं धुक्षेऽन्नं क्षीरं वशे त्वम् ॥ ८ ॥
यदादित्यैर्हूयमानोपातिष्ठ ऋतावरि । इन्द्रः सहस्रं पात्रान्त्सोमं त्वापाययद्वशे ॥ ९ ॥
यदनूचीन्द्रमैरात्व ऋषभोऽह्वयत् । तस्मात्ते वृत्रहा पयः क्षीरं क्रुद्धोऽहरद्वशे ॥ १० ॥
यत्ते क्रुद्धो धनपतिरा क्षीरमहरद्वशे । इदं तदद्य नाकस्त्रिषु पात्रेषु रक्षति ॥ ११ ॥
त्रिषु पात्रेषु तं सोममा देव्यहरद्वशा । अथर्वा यत्र दीक्षितो बर्हिष्यास्त हिरण्यये ॥ १२ ॥
सं हि सोमेनागत समु सर्वेण पद्वता । वशा समुद्रमध्यष्ठाद्गन्धर्वैः कलिभिः सह ॥ १३ ॥

अर्थ— (यज्ञपदी आक्षीरा) यज्ञमें जिसको स्थान प्राप्त हुआ है, जो दूध देती है, (स्वधाप्राणा महीलुका) अन्नरूप प्राणका धारण करनेवाली होनेके कारण इस पृथ्वीपर जो प्रसिद्ध है। यह (पर्जन्यपत्नी वशा) वृष्टिद्वारा घास आदि उत्पन्न होनेसे जिसका पालनपोषण होता है, वह गौ (ब्रह्मणा देवान् अप्येति) ब्रह्मरूप अन्नसे देवोंको प्राप्त करती है ॥ ६ ॥

हे (वशे) गौ ! (त्वा अग्निः अनुप्रविशत्) तुझे अग्नि प्राप्त हुआ है, (सोमः अनु) सोम भी प्राप्त हुआ है। हे (भद्रे) कल्याण करनेवाली गौ ! (ते ऊधः पर्जन्यः) तेरा दूधस्थान पर्जन्य ही है। हे वशा गौ ! (ते स्तनाः विद्युतः) तेरे स्तन विद्युत् हैं। इस तरह अग्न्यादि देवताओंकी शक्तियां तेरे अंदर हैं ॥ ७ ॥

हे (वशे) वशा गौ ! (त्वं प्रथमः अपः धुक्षे) तू सबसे प्रथम जलको दुहती—देती है, (अपरा उर्वरा) पश्चात् उपजाऊ भूमिके समान धान्य देती है। (तृतीयं राष्ट्रं धुक्षे) तीसरा राष्ट्रीय शक्ति देती है, (त्वं अन्नं क्षीरं) तू अन्न और क्षीर-दूध-देती है ॥ ८ ॥

हे (वशे) गौ ! हे (ऋतावरी) दूधरूपी अन्न देनेवाली गौ ! (यत् आदित्यैः हूयमाना) जब तू आदित्यों द्वारा शक्ति प्राप्त करती हुई (उपातिष्ठः) समीप आती है, तब (इन्द्रः सहस्रं पात्रान्) इन्द्र हजारों बर्तनोंको लेकर (त्वा सोमं पाययत्) सोमरस पिलाता है ॥ ९ ॥

हे (वशे) गौ ! (यत् अनूचीः इन्द्रं ऐः) जब तू अनुकूलतासे इन्द्रको प्राप्त होती है, (त्वा ऋषभः आत् अह्वयत्) तब तुझे वृषभ समीपसे पुकारता रहा। हे वशा गौ ! (तस्मात् क्रुद्धः वृत्रहा) इस कारण क्रोधित हुआ इन्द्र (ते पयः क्षीरं अहरत्) तेरा दूध और जल हरता रहा ॥ १० ॥

हे वशा गौ ! (यत् क्रुद्धः धनपतिः) जब कोधित हुआ धनपति (ते क्षीरं अहरत्) तेरा दूध लेता है, तब समझो कि (इदं तत् अद्य) यह वह आज (नाकः त्रिषु पात्रेषु रक्षति) स्वर्गधामही सोमके रूपसे तीन बर्तनोंमें रखता है ॥ ११ ॥

(यत्र दीक्षितः अथर्वा) जहां दीक्षा लिया अथर्ववेदी यज्ञकर्ता (हिरण्यये बर्हिषि आस्ते) सुवर्णमय आसन पर बैठता है, (तं) उसके पास (त्रिषु पात्रेषु सोमं) तीनों बर्तनोंमें रखा सोम (वशा देवी अहरत्) देवी वशा गौ ले जाती है, दूध रूपसे पहुंचा देती है ॥ १२ ॥

(वशा सोमेन सं अगत) गौ सोम ओषधीको प्राप्त हुई, और (सर्वेण पद्वता सं उ) सब पांववालों-मनुष्योंको भी प्राप्त हुई। (वशा कलिभिः गंधर्वैः सह) यह गौ कलह करनेवाले गंधर्वोंके साथ (समुद्रं अध्यष्ठात्) समुद्रपर अधिष्ठान करती रही। अर्थात् समुद्रपर भी गौका मान वैसाही है, जैसा मानवोंमें है ॥ १३ ॥

सं हि वातेनागंत समु सर्वैः पतत्रिभिः । वशा संमुद्रे प्रानृत्यदृचः सामानि बिभ्रंती ॥१४॥
सं हि सूर्येणागंत समु सर्वेण चक्षुषा । वशा संमुद्रमत्यंख्यद्भद्रा ज्योतींषि बिभ्रंती ॥१५॥
अभीवृंता हिरंण्येन यदतिष्ठ ऋतावरि । अश्वः समुद्रो भूत्वाध्यस्कन्दद्वशे त्वा ॥१६॥
तद्भद्राः समंगच्छन्त वशा देष्ट्र्यथो स्वधा । अथर्वा यत्र दीक्षितो बर्हिष्यास्त हिरण्यये ॥१७॥
वशा माता राजन्यस्य वशा माता स्वधे तव । वशायां यज्ञ आयुधं ततंश्चित्तमंजायत ॥१८॥
ऊर्ध्वो बिन्दुरुदंचरद्ब्रह्मणः ककुदादधि । ततस्त्वं जज्ञिषे वशे ततो होताजायत ॥१९॥
आस्नस्ते गाथा अभवन्नुष्णिहाभ्यो बलं वशे । पाजस्याज्जज्ञे यज्ञ स्तनेभ्यो रश्मयस्तव ॥२०॥(१४)
ईर्माभ्यामयनं जातं सक्थिभ्यां च वशे तव । आन्त्रेभ्यो जज्ञिरे अत्रा उदरादधि वीरुधः ॥२१॥

अर्थ— (वशा ऋचः सामानि बिभ्रती) गौ यज्ञमें ऋचा और सामोंको धारण करती हुई (वातेन सं अगत) वायुसे संगत हुई, (सर्वैः पतत्रिभिः हि सं) सब पांखवालोंसे मिलकर (समुद्रे प्रानृत्यत्) समुद्रपर नाचने लगी। इस तरह गौका संमान सर्वत्र होता है ॥ १४ ॥

(वशा सूर्येण सं अगत) गौ सूर्यसे मिली है, (सर्वेण चक्षुषा सं उ) सब आंखवालोंसे मिली है। (भद्रा वशा ज्योतींषि बिभ्रती) कल्याणकारिणी गौ अनेक तेजोंका धारण करती हुई (समुद्रं अत्यख्यत्) समुद्रके परे देखने लगी। दूरतक उसकी प्रतिष्ठा हुई है ॥ १५ ॥

हे (ऋतावरि) हे अन्नको देनेवाली गौ ! (हिरण्येन अभिवृता यत् अतिष्ठः) जब सुवर्णाभूषणोंसे युक्त होकर जब तू खडी होती है, हे (वशे) गौ ! (त्वा अधि समुद्रः अश्वः भूत्वा अस्कन्दत्) तेरे पास समुद्र अश्व बनकर आ गया, यह तेरा महत्त्व है ॥ १६ ॥

(यत्र दीक्षितः अथर्वा) जहां जिस यज्ञमें दीक्षित अथर्ववेदी (हिरण्यये बर्हिषि आस्ते) सुवर्णमय आसनपर बैठता है, वहां (भद्राः समगच्छन्त) भद्र पुरुष इकट्ठे हुए और वहां (वशा देष्ट्री अथो स्वधा) दान देनेवाली गौ और स्वयं अन्नरूपमें उपस्थित हुई ॥ १७ ॥

(राजन्यस्य माता वशा) क्षत्रियकी माता गौ है, हे (स्वधे) अन्न ! (तव माता वशा) तेरी भी माता गौही है। (वशाया आयुधं जज्ञे) गौसे शस्त्र उत्पन्न हुआ है, और (ततः चित्तं अजायत) उससे चित्त बना है। अर्थात् गौसे बल और बुद्धि दोनों होती हैं ॥ १८ ॥

(ब्रह्मणः ककुदादधि) ब्रह्माके उच्च भागसे (बिन्दुः ऊर्ध्वः उदचरत्) एक बूंद ऊपर चल पडा, हे (वशे) गौ ! (ततः त्वं जज्ञिषे) उससे तू उत्पन्न हुई है। और (ततः होता अजायत) उससेही पश्चात् होता-हवन कर्ता-उत्पन्न हुआ। अर्थात् गौमें ब्रह्मशक्ति अधिक है, क्योंकि वह पहिले हुई है ॥ १९ ॥

हे (वशे) गौ ! (ते आस्नः गाथाः अभवन्) तेरे मुखसे गाथाएं बनीं, (उष्णिहाभ्यः बलं) तेरे गर्दनके भागोंसे बल उत्पन्न हुआ है, (पाजस्यात् यज्ञः जज्ञे) तेरे दुग्धाशयसे यज्ञ हुआ, और (तव) तेरे (स्तनेभ्यः रश्मयः) स्तनोंसे किरण हुए हैं। इस तरह गौसे यह सब उत्पन्न हुआ है, इतना गौका महिमा है ॥ २० ॥

(तव ईर्माभ्यां) तेरे बाहुओंसे तथा (सक्थिभ्यां अयनं जातं) टांगोंसे गमन होता है। हे (वशे) गौ ! तेरे (आन्त्रेभ्यः अत्राः) आंतोंसे अनेक पदार्थ और (उदरात् वीरुधः) पेटसे वनस्पतियां उत्पन्न हुई हैं ॥ २१ ॥

यदुदरं वरुणस्यानुप्रविशथा वशे। ततस्त्वा ब्रह्मोदह्वयत्स हि नेत्रमवेत्तव ॥ २१ ॥
सर्वे गर्भादवेपन्त जायमानादसूस्वः।
ससूव हि तामाहुर्वशेति ब्रह्मभिः क्लृप्तः स ह्यस्या बन्धुः ॥ २३ ॥
युध एकः सं सृजति यो अस्या एक इद्वशी। तरांसि यज्ञा अभवन्तरसां चक्षुरभवद्वशा ॥ २४ ॥
वशा यज्ञं प्रत्यगृह्णाद्वशा सूर्यमधारयत्। वशायामन्तरविशदोदनो ब्रह्मणा सह ॥ २५ ॥
वशामेवामृतमाहुर्वशां मृत्युमुपासते। वशेदं सर्वमभवद्देवा मनुष्या३ असुराः पितर ऋषयः ॥ २६ ॥
य एवं विद्यात्स वशां प्रति गृह्णीयात्। तथा हि यज्ञः सर्वपाद्दुहे दात्रेऽनपस्फुरन् ॥ २७ ॥
तिस्रो जिह्वा वरुणस्यान्तर्दीद्यत्यासनि। तासां या मध्ये राजति सा वशा दुष्प्रतिग्रहा ॥ २८ ॥
चतुर्धा रेतो अभवद्वशायाः। आपस्तुरीयममृतं तुरीयं यज्ञस्तुरीयं पशवस्तुरीयम् ॥ २९ ॥

अर्थ— हे (वशे) गौ! (यत् वरुणस्य उदरं) जो वरुणके उदरमें तू (अनु प्रविशथाः) प्रविष्ट हुई है, (ततः ब्रह्मा त्वा उत् अह्वयत्) तब ब्रह्माने तुझे आह्वान किया था। (सः हि तव नेत्रं अवेत्) वह तेरा नेत्र जानता है। अर्थात् गौका महत्त्व ज्ञानी ही जानता है ॥ २१ ॥

(असूस्वः जायमानात्) प्रसवमें असमर्थ गौकी (गर्भात् सर्वे अवेपन्त) गर्भस्थितिसे सब कांपने लगते हैं। (तां आहुः वशा असूस्व इति) उसीको कहते हैं कि यह गौ प्रसवके लिये असमर्थ है। (सः हि ब्रह्मभिः अस्याः बन्धुः क्लृप्तः) वही ब्राह्मणोंने इसका बंधु माना है ॥ २३ ॥

(एकः युधः संसृजति) एक योद्धा व्यवस्थाको उत्पन्न करता है। (यः अस्याः इत् वशी एकः) जो इस गौका एक ही वश करनेवाला है। (यज्ञाः तरांसि अभवन्) यज्ञ पार करनेवाले हैं, और (तरसां चक्षुः वशा अभवत्) पार होनेवालोंकी आंख गौ बनी है। गौकी सहायतासे सब लोग दुःखोंसे पार होते हैं ॥ २४ ॥

(वशा यज्ञं प्रत्यगृह्णात) वशा गौ यज्ञ स्वीकारती है, (वशा सूर्यं अधारयत्) वशा गौने सूर्य धारण किया है। (वशायां ओदनः अविशत्) गौमें भात अन्न प्रविष्ट है और वह (ब्रह्मणा सह) ज्ञानके साथ प्रविष्ट हुआ है। गौके आधारसे यज्ञ, अन्न और ज्ञान सुरक्षित रहते हैं ॥ २५ ॥

(देवाः वशां अमृतं आहुः) देव गौको अमृत कहते हैं, (वशां मृत्युं उपासते) गौको मृत्यु समझकर उपासना करते हैं। (वशा इदं सर्वं अभवत्) गौ ही यह सब हुई है, अर्थात् (देवाः मनुष्याः असुराः पितर ऋषयः) देव, मनुष्य, असुर, पितर और ऋषि यह वशाकाही रूप है ॥ २६ ॥

(यः एवं विद्यात्) जो यह तत्त्वज्ञान जानता है, (सः वशां प्रतिगृह्णीयात्) वह वशा गौका दान लेवे। तथा वशा गौके दाताको (यज्ञः सर्वपात् अनपस्फुरन् दुहे) यज्ञ सब प्रकारसे सफल होकर विचलित न होता हुआ सुयोग्य फल प्रदान करता है ॥ २७ ॥

(वरुणस्य आसनि अन्तः तिस्रः जिह्वाः) वरुणके मुखमें तीन जिह्वाएं (दीद्यति) चमकती हैं। (तासां मध्ये या राजति) उनके बीचमें जो विशेष चमकती है, (सा वशा) वह वशा गौ ही है, अतः वह (दुष्प्रतिग्रहा) दानमें स्वीकार करना कठिन है ॥ २८ ॥

(वशायाः रेतः चतुर्धा अभवत्) वशा गौका वीर्य चार प्रकारसे विभक्त हुआ है। (आपः तुरीयं) जल चतुर्थ भाग है, (अमृतं तुरीयं) अमृत अन्न चौथा भाग है, (यज्ञः तुरीयं) यज्ञ चौथा भाग है और (पशवः तुरीयं) पशु चौथा भाग है। यह सब वशाका चतुर्धा वीर्य है ॥ २९ ॥

वशा द्यौर्वशा पृथिवी वशा विष्णुः प्रजापतिः । वशाया दुग्धमपिबन्त्साध्या वसवश्च ये ॥३०॥
वशाया दुग्धं पीत्वा साध्या वसवश्च ये । ते वै ब्रध्नस्य विष्टपि पयो अस्या उपासते ॥ ३१ ॥
सोममेनामेके दुह्रे घृतमेक उपासते । ये एवं विदुषे वशां ददुस्ते गतास्त्रिदिवं दिवः ॥ ३२ ॥
ब्राह्मणेभ्यो वशां दत्त्वा सर्वाँल्लोकान्त्समश्नुते । ऋतं ह्यस्यामार्पितमपि ब्रह्माथो तपः ॥ ३३ ॥
वशां देवा उप जीवन्ति वशां मनुष्या उत । वशेदं सर्वमभवद्यावत्सूर्यो विपश्यति ३४ (३५)

॥ इति पञ्चमोऽनुवाकः ॥ ५ ॥

॥ इति दशमं काण्डं समाप्तम् ॥

अर्थ— (वशा द्यौः) वशा द्यौ है, (वशा पृथिवी) वशा ही पृथिवी है, (वशा प्रजापति विष्णुः) वशा ही प्रजापालक विष्णु है। (ये साध्याः वसवः च) जो साध्य और वसु हैं, वे (वशायाः दुग्धं अपिबन्) वशा गौका दूध पीते हैं ॥ ३० ॥

(ये साध्याः वसवः च) जो साध्य और वसु हैं, वे (वशायाः दुग्धं पीत्वा) वशा गौका दूध पीकर पश्चात् (ते वै ब्रध्नस्य विष्टपि) वे स्वर्गके स्थानमें (अस्याः पयः उपासते) इससे दूधकी प्राप्ति करते हैं ॥ ३१ ॥

(एनां सोमं एके दुह्रे) इससे सोमका कईयोंने दोहन किया है, (एके घृतं उपासते) कई इससे घृतकी प्राप्ति करते हैं। (एवं विदुषे वशां ददुः) जो इस प्रकारके विद्वान को गौका प्रदान करते हैं, (ते दिवः त्रिदिवं गताः) वे स्वर्गमें जाते हैं ॥ ३२ ॥

(ब्राह्मणेभ्यः वशां दत्त्वा) ब्राह्मणोंको वशा गौ देकर (सर्वान् लोकान् सं अश्नुते) सब लोकोंको प्राप्त. करते हैं। (अस्य ऋतं ब्रह्म अथो तपः हि आर्पितम्) इसमें ऋत, ज्ञान, तप आश्रित होते हैं ॥ ३३ ॥

(देवाः वशां उपजीवन्ति) देवताएं वशा गौपर उपजीवन करती हैं (उत मनुष्याः वशां) और मनुष्य भी वशा गौ पर ही जीवित रहते हैं। (वशा इदं सर्वं अभवत्) वशा गौ ही यह सब हो गयी है (यावत् सूर्यः विपश्यति) जहां तक सूर्य का प्रकाश पहुंचता है ॥ ३४ ॥

पंचम अनुवाक समाप्त ।

दशम काण्ड समाप्त ।

सर्वाधार श्रेष्ठ ब्रह्म ।

सूक्त ७ से सूक्त १० तकका स्पष्टीकरण किया नहीं, वह सब संक्षेपसे करना है।

सूक्त ७ और ८ में सर्वाधार श्रेष्ठ ब्रह्मका वर्णन है और यह विशेष सूक्ष्म दृष्टिसे देखने योग्य है।

प्रथमके २२ मंत्रोंतक 'कतमः स्विद् एव सः' वह देव कौनसा है ? ऐसा प्रश्न किया है। उस एक सर्वाधार देवताके विषयमें किसीको संदेह नहीं है उसका वर्णन पूर्व मंत्रभागमें करते हैं और अन्तमें पूछते हैं, कि 'वह देव, जिसका की यहांतक वर्णन हुआ है, वह कौनसा है, इस उपदेशकी अपूर्व विधिका तात्पर्य यह है कि, जिसका वर्णन पूर्व मंत्रभागमें अथवा मंत्रभागोंमें किया गया है वह देव कहां है, उसका अनुभव पाठक लेवें। जो श्रेष्ठ ब्रह्म है उसका वर्णन मंत्रोंमें किया है, वह अनुभवमें आने योग्य है मनुष्यका जन्म ही इस कार्यके लिये है। अब देखिये इस वर्णनका अनुभव कैसा आ सकता है।

प्रथम मंत्रमें "तप, व्रत, ऋत, श्रद्धा और सत्य किस अंग या अवयवमें रहता है," यह पूछा है। मनुष्यके किस अंगमें 'सत्य' रहता है ? पाठक सोचें और अपने अन्दर देखें, तथा अनुभव लें, कि अपने अन्दर कहां किस स्थानमें सत्य रहता है. वही आत्मा है. यह निश्चयसे पाठक जान सकते हैं, आत्म-बुद्धि-मन-चित्त इस अन्तःकरण चतुष्टयमें हि सत्य श्रद्धा आदिका निवास है।

आगे मंत्र २, ३ और ४ इन तीन मंत्रोंमें विश्वात्माके किस अंगमें अग्नि, वायु, चन्द्रमा, भूमि, अन्तरिक्ष, द्युलोक, उत्तर द्युलोक, जलप्रवाह ये रहते हैं इसकी पृच्छा की है।

पहिले मंत्रमें सत्य श्रद्धा आदिका स्थान मानव-व्यक्तिमें पूछा है और अगले इन तीन मंत्रोंमें विश्वात्माके देहके अग्नि वायु आदि देव किस अंगमें और किस अवयवमें रहते हैं, यह प्रश्न पूछा है। वेदमें व्यक्तिगत आत्मतत्त्व और विश्वगत आत्मतत्त्वका विचार विभिन्न रीतिसे नहीं होता है, यह पाठक यहां देखें। विश्वव्यापक आत्मतत्त्वका ज्ञान यथार्थ रीतिसे होनेके लिये इस वर्णनकी शैलीको यथावत् जानना चाहिये।

+

आगे मंत्र ५ और ६ कालस्वरूपका वर्णन है। इस काल-स्वरूपके मास, पक्ष, ऋतु, अयन, अहोरात्र, पर्जन्यधाराएं (सर्वकाल) सर्वाधार परमात्माके आधारसे रहते हैं।

यहांतक पाठक देख सकते हैं कि प्रथम मंत्रमें वैयक्तिक सत्य श्रद्धा आदि गुण, आगेके तीन मंत्रोंमें पृथिव्यादि विश्वके पदार्थ और आगेके दो मंत्रोंमें कालके सब अवयव उसी एक सर्वाधार परमात्माके आधारसे रहते हैं, ऐसा कहा है। यहां वैयक्तिक श्रद्धादि गुण व्यक्तिगत आत्माके आधारसे रहते हैं ऐसा नहीं कहा, प्रत्युत ये भी विश्वात्माके ही आधारसे रहते हैं, ऐसा कहा है।

जो संपूर्ण लोकलोकान्तरोंको धारण कर रहा है, वह प्रजापति भी उसी सर्वाधार स्कंभमें आश्रित है, यह कथन मंत्र ७ में है। यहां प्रजापति नाम सर्वाधार विश्वात्माके आधारसे रहनेवाले लोकपालकका है। अष्टम मंत्रमें कहा है, कि प्रजापति उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ [सात्त्विक, राजस और तामस] विश्वके पदार्थ निर्माण करता है और इस तरह त्रिविध विश्वकी उत्पत्ति होते ही स्कंभ नामक जो सर्वाधार आत्मा है, वह उस त्रिविध विश्वमें प्रविष्ट होता है और अन्दर व्याप कर रहने लगता है। ऐसा होनेपर मंत्रमें प्रश्न पूछा है, कि इस तरह सर्वाधार आत्माका प्रवेश त्रिविध विश्वमें होनेके पश्चात् उस विश्वात्माके कितनेसे अंशने इस विश्वको बनाया है और कितना विश्वात्माका भाग अवशिष्ट रहा है, जो इस विश्वके साथ संबंधित ही नहीं हुआ ? अर्थात्—

पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥
(ऋ. १०।९०)

एक अंशमात्रमें ये सब भूत हैं और शेष सब परमात्मा अपने स्वरूपमें विराजता है। यह अनंत विश्व यद्यपि हमारी दृष्टिमें अनन्त और अगाध है, तथापि परमात्माकी दृष्टिसे वह अत्यंत अल्प, अंशमात्र है। यही बात समझानेके लिये इस अष्टम मंत्रमें ये दो प्रश्न किये हैं, कि विश्वमें इसका कितना अंश प्रविष्ट हुआ है और इसका शेष अंश कितना है ? इसका उत्तर यही है, कि विश्व एक अल्पसा अंश है और शेष अनन्त परमात्मा है, जो इस विश्वके बाहर है।

नवम मंत्रमें फिर पूछा है, कि भूतकालके विश्वमें कितना

परमात्मा प्रविष्ट हुआ था, और भविष्यकालके विश्वमें कितना प्रविष्ट होगा, और वर्तमानकालीन विश्वमें कितना प्रविष्ट हुआ है ? अर्थात् इसका उत्तर यही है, कि भूत, वर्तमान और भविष्यकालीन सब मिलकर विश्व एक अल्प अंशके बराबर है, विश्वके बडेपनसे परमात्माका बडापन अनंतगुणा है, यही यहां कहनेका तात्पर्य है। इस मंत्रमें तीसरा चरण अत्यंत महत्त्वका है वह यह है—

यत् एकं अंगं सहस्रधा अकरोत् । (मं० ९)

" जो अपने एक अंगको सहस्रों भागोंमें विभक्त करता है। " जैसा सूर्यका विभाग होकर ग्रह और उपग्रह बने, पृथ्वीके विभाग होकर स्थावर, जंगम, वृक्ष, पशु, पक्षी, मनुष्य बने। एक अंगके सहस्रों पदार्थ इस तरह बनते हैं। यही बात इसी सूक्तके २५ वें मंत्रमें इस तरह कही है—

बृहन्तो नाम ते देवाः ये असतः परिजज्ञिरे ।
एकं तदङ्गं स्कम्भस्य असदाहुः परो जनाः ॥२५

" वे बडे देव असत् से उत्पन्न हो चुके हैं और वह असत् सर्वाधार परमात्माका एक अंग ही है, ऐसा ज्ञानी लोग कहते हैं। "

स्कम्भ नाम सर्वाधार परमात्मा है, इसके दो अंग हैं। एकका नाम सत् और दूसरेका नाम असत् है। इन दोनों अंगोंका मिलकर नाम स्कम्भ अर्थात् सर्वाधार परमात्मा है। इस स्कंभके एक अंशसे पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्यु आदि सब लोक लोकान्तर बने हैं, इसीका अर्थ " इसने अपने एक अंगको सहस्रधा विभक्त कर दिया। " इस ९ म मंत्रमें स्पष्ट कह दिया है। पाठक इस तरह मंत्रका आशय जान सकते हैं। शतपथादि ब्राह्मणमें कहा है कि—

द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तं च ॥

' ब्रह्मके दो रूप हैं, मूर्त और अमूर्त '। इनका अधिक स्पष्टीकरण ऐसा किया है, कि मूर्त शरीर और इन्द्रियां हैं और अमूर्त प्राण, मन आदि हैं। यह मूर्त और अमूर्त मिलकर ब्रह्म होता है। यही आशय स्कंभ नाम सर्वाधार परमात्माके असत् नामक एक अंगसे सब लोकलोकान्तर बने हैं, इस मंत्रमें प्रकट हुआ है, और वे कैसे बने हैं, इसका स्पष्टीकरण इस स्कंभ नामक विश्वात्माने अपने एक अंगको सहस्रधा विभक्त करके यह विश्व बनाया, इस ९ म मंत्रमें हुआ है।

दशम मंत्रमें इस स्कम्भ नामक सर्वाधारमें लोक, कोश, आप, असत् और सत् रहते हैं और वे कहां है, यह बात ब्रह्मज्ञानी लोग यथावत् जानते हैं, ऐसा कहा है, यह उक्त बात उक्त दृष्टिसे ही समझना चाहिये।

आगे ११ और १२ इन दो मंत्रोंमें वही बात दुहराई है, कि जो पहिले १ से ४ मंत्रोंमें कही है। स्कम्भ नामक विश्वाधारके अंगमें अर्थात् शरीरमें अग्नि आदि देवताएं अपने अपने स्थानमें रही हैं। अर्थात् अग्नि, आप, पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र मिलकर उस सर्वाधारका शरीर है। आगेके चार मंत्रोंमें अर्थात् मंत्र १३ से १६ तक यही बात कही है—

मंत्र १३ = जिस सर्वाधारके शरीरके अंगोंमें ३३ देवताएं रही हैं।

मंत्र १४ = सब पहिले उत्पन्न हुए ऋषि, भूमि, ऋचा, साम, यजु, एक मुख्य ऋषि ये सब उसी सर्वाधारमें रहते हैं।

मंत्र १५ = पुरुषमें अमृत और मृत्यु रहते हैं। समुद्र जिसकी धमनियां हैं।

मंत्र १६ = चारों दिशा-उपदिशाएं जिसमें नाडियां हैं जहां यज्ञ विशेष महत्त्वका स्थान पाकर रहा है।

इस तरह सर्वाधार परमात्माके शरीरके अंग बनकर ये सब पदार्थ रहे हैं। इसका ही स्पष्टीकरण पाठक आगे देख सकते हैं।

मंत्र १८ = इस सर्वाधारका मुख अग्नि है, चक्षु अंगिरस हैं, अन्य अवयव यातु-अनुमात्र है।

मंत्र १९ = ब्राह्मण जिस सर्वाधारका मुख है, जिह्वा मधुकशा- गौ है, जिसका दुग्धाशय विराट् विश्व है।

मंत्र २० = उससे ऋग्वेद, यजुर्वेद हुए और साम जिसके लोम है और अथर्वा-ब्रह्मा जिसका मुख है।

पाठक इस वर्णनकी तुलना १३ से १६ मंत्रोंके साथ करें। मंत्र १३ से १६ तक जो कहा है, वही अधिक सुदृढ करनेके लिये मंत्र १८ से २० तकके मंत्र हैं। विश्वरूपी परमात्माके ये सूर्यादि अवयव हैं, यह विश्वही उसका शरीर है, वेद ही उसकी वाणी है, वेदके द्वारा वही सब मनुष्योंके साथ बोल रहा है। जो वेदवेत्ता ब्राह्मण है, वही उसका मुख है इस तरह परमात्मा प्रत्यक्ष हो रहा है, पाठक इस रूपमें परमात्माका साक्षात्कार करना सीखें।

१७ वे मंत्रमें परमात्मसाक्षात्कार करनेकी और एक विशेष युक्ति दी है, वह यह है कि—

ये पुरुषे ब्रह्म विदुः ते विदुः परमेष्ठिनम् ॥ (१७)

"जो पुरुषमें-मनुष्यके अन्दर ब्रह्म जानते हैं वे ही परमेष्ठी परमात्माको जानते हैं। यहां व्यष्टि, समष्टि और परमेष्ठी का भेद देखना चाहिये। व्यष्टि एक व्यक्ति है, समष्टि व्यक्तिसमूह का नाम है, और परमेष्ठी स्थिरचर विश्वसंपूर्णका नाम है। मनुष्य विश्वव्यापक परमेष्ठी को किस तरह जान सकता है? मनुष्यका इन्द्रियसमूह अल्प शक्तिवाला है, उससे विश्वसमष्टि का आकलन कैसे हो सकता है? उत्तरमें कहते हैं कि मनुष्य अपने अन्दर यही विश्वकी बातें अनुभव करे। मनुष्य अपने अन्दर देखे, कि मेरा आंख सूर्य ही है, अग्नि शरीरमें उष्णता रूप धारण किये है, जलतत्त्व रक्तरूपसे मेरे शरीरमें है और नाडियोंमें प्रवाहित हो रहा है, वायु मेरा प्राण बना है, पृथ्वी भी हड्डियोंके रूपसे शरीरमें है, दिशाएं कान में रही हैं, इसी तरह ३३ देवताएं मेरे इस छोटेसे शरीर में अंशरूपसे आकर रही हैं और यहां मुझे सहायता दे रही है। मैं आत्मा हूं और ये ३३ देव यहां मेरे सहायक होकर इस शरीरमें मेरे वशवर्ती हो रहे हैं। यही ज्ञान पुरुष-मनुष्यके शरीरमें लेने योग्य है। यही शरीरमें मूर्त और अमूर्त ब्रह्म रहता है। इसको यथावत् जाननेसे विश्वमें-विश्वात्मामें येही ३३ देव कैसे रहे हैं, यह साधक जान सकता है और अपने शरीरके अंशरूप देवोंका विश्वव्यापक परमात्मदेहमें रहनेवाले देवोंके साथ क्या संबंध है, यह भी देखा जा सकता है। जैसा आंखका सूर्यसे संबंध इ०। इस तरह विचार करनेसे साधक अपने आपको परमात्माके विश्वव्यापक देहमें एक अंश-अल्प अंशरूप देख सकता है। जो इस तरह अपने शरीरमें अनुभव कर सकेंगे, वेही ब्रह्माण्ड देहमें ब्रह्मका अनुभव और साक्षात्कार कर सकते हैं। यह ब्रह्मसाक्षात्कार की साधना है।

जो इस तरह मनुष्य अपने अन्दर ब्रह्म देख सकते हैं, वे परमेष्ठी प्रजापति और ज्येष्ठ ब्रह्मको भी क्रमशः जान सकते हैं और अन्ततः सर्वाधार परमात्माको जान सकते हैं।

कई साधक असत्‌को ही श्रेष्ठ मानकर उसकी उपासना करते हैं, और दूसरे साधक सत्‌को ही श्रेष्ठ मानकर उपासना करते हैं। इस तरह दोनों उपासनाएं मनुष्योंमें शुरू हैं। यह मंत्र २१ में वर्णन है। परंतु आगे (मं० २२ में) कहा है, कि जिसमें आदित्य, रुद्र और वसु रहते हैं, और जिसमें भूत, वर्तमान और भविष्य काल के सब लोकलोकान्तर रहे हैं, वही सर्वाधार परमेश्वर सबका उपास्य देव है॥

(मं० २३ =) जिस परमात्माके निधिका संरक्षण सब तैंतीस देव करते हैं, उस निधिको कौन जानता है? इस मंत्रका अनुभव पाठक अपने अन्दर भी देख सकते हैं, क्योंकि सब ३३ देवों द्वारा—देवताओंके अंशोद्वारा ही यहांके आत्माकी रक्षा हो रही है। यहां सूर्य, चन्द्र, वायु, अग्नि, पृथ्वी आदि आये हैं, रहे हैं और यहांके निधिकी रक्षा कर रहे हैं। इसीका वर्णन आगेके २४ वें मंत्रमें कहा है कि ब्रह्मज्ञानी और देव ज्येष्ठ ब्रह्मकी उपासना करते हैं; यह जो जानता है, वही ज्ञानी होता है। २५ वे मंत्रमें सर्वाधार परमात्मा का एक अंग असत् है, जिससे अग्न्यादि सब देवताएं बनी हैं, ऐसा वर्णन है अर्थात् यह बात यहां स्पष्ट हो चुकी है कि सर्वाधार परमात्मा के शरीर के दो अंग हैं, एक सत् और दूसरा असत्। दोनों मिलकर सर्वाधार परमात्मा होता है, जिसका आधार सब विश्वको है। इसी बातका अधिक स्पष्टीकरण मंत्र २७ में करते हैं—जिसके शरीरमें ३३ देव एक एक अवयवमें रहते हैं, अर्थात् जिसके शरीरके अवयव इन देवताओंके हि बने हैं, वही सर्वाधार परमात्मा है, इसको ब्रह्मज्ञानी ही जानते हैं।

इस स्थानपर परमात्मा मूर्त-अमूर्त, दोनों रूपोंवाला है, यह बात स्पष्ट हो चुकी है। परमात्माका प्रत्येक गात्र एक एक देवताका बना है। वस्तुतः मनुष्यके गात्र भी सब देवताओंके ही बने हैं। क्या हमारे गात्रों और अंगोंमें पृथ्वी, आप, अग्नि वायु आकाश ये देवताएं नहीं हैं? हैं और अवश्य हैं। इसी तरह विश्वाधार परमात्माके विश्वदेहके प्रत्येक अंग भी देवताओंके ही बने हैं। इस तत्त्वज्ञानको ब्रह्मज्ञानी ही जानते हैं, अन्य मूढ क्या जानेंगे?

२६ वे मंत्रमें एक विशेष ही महत्त्वकी बात कही है, वह यह कि—

स्कंभः पुराणं प्रजनयन् व्यवर्तयत् ॥ (२६)

"सर्वाधार परमात्मा अपने पुराणे अंगको पुनः जन्म देता हुआ, उसको परिवर्तित करता है, अर्थात् नया ही बनाता है। यह इस सर्वाधारका अंग पुराण होनेपर भी उसीकाही समझना चाहिये। उसीका है ऐसा ज्ञानी जन मानते हैं। यही बात आगे अगले सूक्तमें दर्शायेंगे—

एको ह देवो मनसि प्रविष्टः प्रथमो जातः स उ गर्भे अन्तः। (सूक्त ८। २८)

'एकही देव जो मनमें प्रविष्ट हुआ है, वह पहिले जन्मा था, वही पुनः गर्भमें आ गया है।' वह नया बननेके लिये ही गर्भमें आ गया है। यही बात अन्य वेदोंमें भी है—

> एषो ह देवः प्रदिशोऽनु सर्वाः पूर्वो
> ह जातः स उ गर्भे अन्तः।
> स एव जातः स जनिष्यमाणः
> प्रत्यङ् जनास्तिष्ठति सर्वतोमुखः॥
> (वा० यजु०३२।४,)

"यह देव सब दिशाओंमें व्याप्त है, यही पहिले जन्मा था और यही सब गर्भमें आ गया है, यही भूत कालमें हुआ था और यही भविष्य कालमें जन्म लेनेवाला है, तात्पर्य यह कि यही सब अनंत मुखवाला प्रत्येक मनुष्यमें रहता है।" अतः यही पुराना हो जानेपर पुनः पुनः जन्म लेता है और नया बनता है क्योंकि मृत्यु भी यही है और जन्म भी यही है; यम (मृत्यु) भी यही है और प्रजापति भी अथवा पिता भी यही है।

मं० २८ में हिरण्यगर्भ भी उसी स्कंभ–सर्वाधारसे सामर्थ्य प्राप्त करके हुआ, यह बात दर्शाई है। तात्पर्य यह कि इस सर्वाधार परमात्मामें सब लोक, सब तप, सब ऋत, अर्थात् सब कुछ समाया है। इसीका नाम इन्द्र है और इसी कारण इन्द्रमें यह सब कुछ है, ऐसा कहा जाता है। (मं० २९–३०) इस परम देवका नाम प्रातःकालमें सूर्योदयके पूर्व और उषःकालके पूर्व ध्यानद्वारा स्मरण करनेसे अपना आत्मिक स्वराज्य प्राप्त होता है, जो सबसे श्रेष्ठ मनुष्यका प्राप्तव्य है। यह नामजप एक प्रकारका ध्यान ही है।

ईश्वरका शरीर।

आगे ३ मंत्रोंमें (अर्थात् मं० ३२-३४ इन मंत्रोंमें) ईश्वरके शरीरका वर्णन है। भूमि उसके पांव हैं, अन्तरिक्ष पेट है, द्युलोक सिर है, सूर्य आंख है, नया नया बननेवाला चन्द्रमा भी उसका दूसरा आंख है, अग्नि मुख हैं, वायु प्राण और अपान है, अंगिरस आंख बने हैं, दिशाएं कान है। इस तरह इस सर्वाधारका ब्रह्माण्ड देह है। पाठक इस तरह इस परमात्माका साक्षात्कार करें। इसी परमात्माने यह पृथ्वी, अन्तरिक्ष, द्युलोक, सब दिशा उपदिशाओंका धारण किया है, वह सब भुवनोंके अन्दर व्याप कर रहता है। सबका धारण करता है। (मं० ३५)

इस परमात्माने ही 'सोम' नामक दिव्य औषधि बनायी है, वायु और मनको बलवान बनाया है, जलोंको प्रवाही बनाया है। इसी भुवनोंके बीचमें वर्तमान देवताके आश्रयसे सब देवताएं रहती है, जिस तरह शाखाएं वृक्षके आश्रयसे रहती हैं। हाथ, पांव, वाणी, कान, चक्षुसे जिसको उपहार पहुंचाया जाता है, सब देवता जिसकी उपासना करके उपहार पहुंचाते हैं, वही अनन्त ईश्वर सबका उपास्य है। (मं० ३६–३९)

उसमें अन्धकार नहीं है, पाप उससे दूर है, तीनों ज्योतियां उसीमें हैं। वही सर्वत्र गुप्त रहनेवाला प्रजापति है। दिन-प्रभा और रात्री ये दो स्त्रियें छः ऋतुवाला संवत्सररूपी वस्त्र बुन रहीं हैं, न ये कभी थकती हैं और न अपना कार्य समाप्त करती हैं। इनपर अधिष्ठाता एक पुरुष भी है, जो धागा देता है और कार्य करवाता है। सब ताना और बाना यह काल ही है। यह उसी परमात्माकी शक्तिका एक महिमा है। (मं० ४०–४४)

पाठक इस तरह इस सूक्तका मनन करें और परमात्माका साक्षात्कार करनेको सोचें। इसीलिये मनुष्यजन्म प्राप्त हुआ है। अब इसी परमात्माके वर्णनपरका आगेका मनोरम सूक्त देखिये—

सूक्त ८ ज्येष्ठ ब्रह्म।

पूर्व सूक्तमें जिस स्कंभ-स्तंभ-सर्वाधार परमात्माका वर्णन हुआ है, उसीका वर्णन करके पुनः इसी सूक्तमें वही विषय समझाते हैं—

भूत, वर्तमान और भविष्य कालमें जो कुछ विश्व है, उस सबका अधिष्ठाता वही परमात्मा है, वही सबका प्रकाशक है, वही सबका उपास्य है (मं० १)। इसी परमात्माने पृथ्वी और द्यु धारण किये हैं, इतनाही नहीं परंतु—

> स्कंभः इदं सर्वं, आत्मन्वत्,
> यत् प्राणत्, यत् निमिषत्। (मं० २)

यह सर्वाधार परमात्माही यह सब कुछ विश्व है, जिसमें आत्मा है और जो प्राणायाम लेताछोडता है और निमेषोन्मेष करता है। देखिये—

> स्कंभ इदं सर्वं। (अथर्व० १०।८।२)
> पुरुष एवेदं सर्वं। (ऋ. १०।९०।२)
> एकं अंगं सहस्रधा अकृणोत्। (ऋ० १०।७।९)
> वासुदेवः सर्वं (भ० गीता ७।१९)
> विश्वं विष्णुः। विष्णुसहस्रनाम (म० भारत)

स्कंभही सब कुछ है, पुरुषही सब कुछ है उसके एक अंगसे सहस्रों वस्तुएं बनी हैं, वही सब कुछ है। ये सब वर्णन

विश्वात्माके ही हैं। यदि वही सब कुछ है, तो जो दीखता है, वह भी सब उसीका रूप है। यह सिद्ध है।

(मं ३) तीन प्रकारकी प्रजाएं हैं, एक सत्वगुणी, दूसरी रजोगुणी और तीसरी तमोगुणी। सब विश्व इन तीनों गुणोंसे भरपूर है, कोई वस्तु इन गुणोंसे रहित नहीं है। सत्व-गुणी प्रकाशमें रहते हैं, रजोगुणी भोगमें विराजते हैं और तमोगुणी अंधकारमें जाते हैं।

(मं० ४-५) बारह महिने, तीन काल अर्थात् गर्मी, वृष्टी और सर्दी, और तीन सौ साठ दिवस यह सुस्थिर कालचक्र है। इसमें ६ ऋतु हैं, एक अधिक मास है, वह अकेला ही रहता है।

(मं० ६-८) एक पुराणकालसे विद्यमान महत्चक्र है; उसी चक्रके साथ स्थावर जंगम सब कुछ संबन्धित है। कोई वस्तु उससे संबंध न रखनेवाली यहां नहीं है। एक चक्र है जो आगेपीछे चलता रहता है, उसके आधे भागसे यह सब विश्व उत्पन्न हुआ है, जो दूसरा आधा भाग है वही गूढ है वह हरएक जान नहीं सकता। इसकी गति दीखती नहीं है, परंतु उसकी जो स्थिति है, वही दीखती है। गतिमें भूतकाल गया है, इसलिये दीखती नहीं, और भविष्य काल आया नहीं है, इस कारण दीखता नहीं है, वर्तमान काल अति अल्प है, वह अंशरूप दीखता है।

(मं० ९) मनुष्यका सिर एक पात्र है, उसका मुख नीचे है, इसमें सब विश्वरूपी यश रहता है, सब मनुष्यका सामर्थ्य इसीमें रहता है। मस्तक बिगड गया तो मनुष्यत्व ही नष्ट होता है। यहां सात ऋषि साथसाथ रहते हैं, दो आंख, दो कान, दो नाक और एक मुख ये सात ऋषि हैं। यही इस खजानेके बडे संरक्षक हैं। मनुष्यको चाहिये कि वह इसका महत्त्व जाने और इसकी उत्तम रक्षा करे। क्योंकि संपूर्ण मानवता यही है।

एकही है।

> यत् एजति, पतति, यत् च
> तिष्ठति, प्राणत्, अप्राणत्,
> निमिषत् च यत् भुवत्।
> तत् विश्वरूपं पृथिवीं दाधार, तत्
> संभूय एकं एव भवति। (मं० ११)

'इस विश्वमें कंपन, पतन, स्थिरत्वसे युक्त, प्राणयुक्त, प्राणरहित, निमेष करनेवाले ऐसे अनेक वस्तुमात्र हैं। यह सब मिलकर एकही सत् तत्त्व होता है और वही तत्त्व विश्वरूप है अर्थात् सब रूपोंका धारण करता है, उसीने इस पृथ्वीको धारण किया है।' वही एक तत्त्व है, शेष जो है, वे सब उसके रूप हैं।

(मं० १२) एक अनन्त सत् तत्त्व है, वही सर्वत्र व्याप्त है। अनन्त और सान्त ये दोनों अन्तमें एक दूसरेमें मिले हुए हैं। इसका भूत भविष्य देखता हुआ विद्वान् ही आगे बढता है उन्नति करता है।

(मं० १३) एक प्रजापति है, वह वस्तुतः अदृश्यमान है, वह गर्भमें संचार करता है और गुप्त रूपसे अनेक रूपोंमें उत्पन्न होता है। उसके एक आधे भागसे ही यह सब विश्व उत्पन्न हुआ है, उसका जो शेष भाग है, वह गुप्त है, वह पहचानना कठिन है।

सब लोग इस सत् तत्त्वको आंखसे देखते हैं, परंतु सब इसको मनसे जानते नहीं। (मं० १४) जो दिखाई देता है, वह भी उसीका रूप है, परंतु यह सबको समझमें नहीं आता है। (मं० १५) वह सत् तत्त्व सर्वत्र परिपूर्ण है, वह दूर भी है और पास भी है, वह पूर्ण भी है और हीनमें भी वही है। यही बडा पवित्र और उपास्य है, सब इसीके पास उपहार पहुंचाते हैं। (मं० १६) जिसके बलसे सूर्य उदय-को प्राप्त होता है और जिसमें अस्तको प्राप्त होता है, वही श्रेष्ठ ब्रह्म है, उससे और दूसरा कोई भी श्रेष्ठ तत्त्व नहीं है। (मं० १७) वेदवेत्ता जिसकी प्रशंसा करते हैं, वही प्रकाश देनेवाला आदित्य है, जो सबका आदान करता है। वही सबका आधार है। उसीके आधारसे सब अन्य देव हैं। सबको प्रकाशित करनेवाला वही एक देव है। (मं० १८)

एकही ज्येष्ठ ब्रह्म है। सत्य, ज्ञान और प्राण उसीसे संबंधित हैं। जैसा दोनों अरणियोंसे अग्नि निकलता है, वैसा ही सर्वत्र वही सत्तत्त्व है और प्रकट भी होता है। गर्भमें (अपाद) पादरहित ही गर्भ सर्वप्रथम होता है, वही आगे (स्वर) प्रकाशको प्राप्त करता है, और वही चतुष्पाद— दो हाथों और दो पावोंसे युक्त— होकर सब प्रकारके भोग भोगता है। (मं० १९-२१) वह भोग्य होता है, भोक्ता होता है बहुत अन्न प्राप्त करता है और वही सनातन देवता-की उपासना करके कृतकृत्य होता है। (मं० २२)

वही एक सनातन सत् तत्त्व है। जो फिरसे नया नया

होता है, जैसे वारंवार दिन और रात होते हैं इसी तरह यह उत्पत्ति और लय होता है। (मं० १३) सौ, हजार, दस लक्ष, अर्बुद असंख्य शक्ति इसमें है, इसकी यह शक्ति कोई जान नहीं सकता। यही वेद इस सबको प्रकाशित करता है। (मं० २४) बालसे भी सूक्ष्म यह है, सबको प्रेरनेवाली ही यह देवता है और वही प्रियरूप है। (मं० २५) यही कल्याण करनेवाली, अजर और अमर है। इस मृत देहमें यह न मरनेवाली, देवता है। यह स्त्री, पुरुष, कुमार, कुमारी, वृद्ध आदि सब रूपोंमें होती है, इसी लिये इसको विश्वतोमुख कहते हैं। (मं० २६-२७)

यही पिता और यही पुत्र है, यही ज्येष्ठ है और यही कनिष्ठ है। यही एक देव मनमें प्रविष्ट हुआ है, वही एक बार जन्मकर फिर गर्भमें पुनर्जन्मके लिये आता है। (मं० २८)

पूर्ण परमात्मासे ही यह पूर्ण विश्व बना है, क्योंकि जैसा वह पूर्ण है, वैसा यह भी पूर्ण है। इसको जीवन उसीसे मिलता है। जहांसे इसको जीवन मिलता है, उस मूल स्रोतको जानना चाहिये। (मं० २९) यही सनातन है, और यही सब कुछ बन गयी है। यही बडी देवता है। (मं० ३०) एक देवता है जो फूलसे युक्त है, उसकी ही शक्तिसे ये वृक्ष हरे भरे दीख रहे हैं। (मं० ३१) पास होनेपर भी दीखता नहीं और पास होनेपर भी उसका त्याग नहीं किया जाता। उसी ईश्वरका यह काव्य है, जो नाशको नहीं प्राप्त होता और जीर्ण भी नहीं होता। (मं० ३२)

अपूर्व देवताने प्रेरित हुई वाणी सब कोई बोलते हैं, इस वाणीको मूल प्रेरणा जहांतक पहुंचा देती है, वही बडा ब्रह्म है। ब्रह्मको प्राप्त करनेका यही साधन है कि वाणीका मूल देखो। (मं० ३३) जहां देव और मनुष्य नाभिमें आरे रहनेके समान आश्रित हुए हैं, वही मायासे छिपा हुआ सत्तत्त्व है, उसीको जलका पुष्प कहते हैं, क्योंकि उसी फूलसे विश्वका बीज उत्पन्न होता है। (मं० ३४) वायुका संचलन, दिशाओंका अवकाश, तथा अन्यान्य कार्य उसीसे हो रहे हैं। (मं० ३५)

पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्युलोकमें जो रहता है वह वही एक देव है, इसीके ये रूप हैं, प्रत्येक दिशामें वही भिन्न-भिन्न दीखता है। (मं० ३६) जो इस फैले हुए विश्वव्यापक सूत्रात्माको जानता है, जिस सूत्रमें सब विश्वके लोकलोकान्तर पिरोये हैं, सब प्राणी उसीमें हैं और कोई उससे बाहर नहीं है। (मं० ३७-३८)

विश्वको जलानेवाला अग्नि पृथ्वीपर है, उसका सहायक वायु भी अन्तरिक्षमें है, द्युलोकमें सबको प्रकाश देनेवाला सत्यधर्मा सूर्य है। यह सब एकके ही सामर्थ्यसे कार्य हो रहा है। (मं० ३९-४२)

एक कमल है, तीन गुणोंसे वह बंधा है, नौ द्वार हैं, उनमें वह कमल रहता है। यही हृदयकमल है। नौ द्वारोंवाला स्थान यह शरीर ही है। इस कमलमें जो पूज्य देव है, वही ब्रह्मज्ञानी जानते हैं। (मं० ४३)

निष्काम, धैर्ययुक्त, अमर, स्वयंभू, रससे संतुष्ट होनेवाला, कहीं भी न्यून नहीं, सर्वत्र ओतप्रोत भरा हुआ यह देव है, उसको यथावत् जाननेसे ही मृत्युका डर दूर हो जाता है, यही आत्मा अजर, अमर और सदा तरुण है। यही सब शक्तियोंका केन्द्र है। यही आनंद देनेवाला है। उसको यथावत् जाननेके लिये ही मनुष्य यहां उत्पन्न हुए हैं।

गौ।

आगे सूक्त ९ और १० में गौका वर्णन है। गौका यहां नाम 'शतौदना' है। सैंकडों मनुष्योंका अन्न देनेवाली गौ शतौदना कहलाती है। कल्पना करिये कि प्रतिदिन १० सेर दूध गौ देती है। इस हिसाबसे प्रतिदिन पांच मनुष्योंका पेट भरती है, एक मासमें १५० मनुष्योंका पेट भरती है और छः मास महिनोंमें एक सहस्र मनुष्योंका पेट पालन करती है। इस हिसाबसे एक आयुमें गौ दस हजार मनुष्योंका पेट पालन कर सकती है और उसकी संतानसे और अधिक। गौका यह महत्त्व है। गौका दूध बीमारों और अशक्तोंको तो अमृत जैसा है, बालकोंके लिये तो गौ माताका स्थान धारण करती है। गौके दूधसे बल मेधा और बुद्धिकी वृद्धि होती है। शतौदना गौका यह महत्त्व है।

यह गौ स्वर्गीय वस्तु है। कामधेनु यही है, जो गौ जिस समय चाहिये उस समय दूध देती है, उसका नाम 'कामदुघा' है। कामधेनु यही है। गौ विद्वान् ब्राह्मणको दान देनेसे बडा लाभ है, यह दान अन्न और सुवर्णके साथ, (अपूप, हिरण्य) होना चाहिये। (मं० ७-८) यज्ञके शमिता, यज्ञके पाचक, देवोंके वसु, मरुत् और आदित्य ये सब गौके संरक्षक हैं। देव पितर, मनुष्य, गंधर्व और अप्सरागण ये सब गौकी रक्षा करनेवाले हैं, क्योंकि गौके दूधसे ही अग्निष्टोम और अतिरात्र ये यज्ञ होते हैं। (मं० ९)

इसीप्रकार गौका दान विद्वान्को करता है, उसको अन्त-रिक्ष, भूमि, दिशा, मरुत् तथा अन्य सब लोकोंमें उत्तम स्थान प्राप्त होता है। (मं० १०) सबको पवित्रता करती हुई यह गौ देवोंको यज्ञद्वारा प्राप्त करती है। त्रिलोकमें जो देवताएं हैं वे सब गौके दूधसे तृप्त होती हैं, दूध, घी इसीसे उनको प्राप्त होता है। (मं० ११-१२)

आगे मं० १३ से २४ तक कहा है कि इसी तरह गौका वर्णन है कि यह गौके अवयव और गौ दाताका कल्याण करे और दूधदहीघृत आदि सब वस्तु उसको पर्याप्त प्राप्त हों और दाता स्वर्गको प्राप्त हो।

आगे २७ मंत्रतक ब्राह्मणोंको पृथक् पृथक् गौ दान करने का वर्णन है।

इसाम सूक्तमें भी ऐसा ही गौका वर्णन है। गौका दान लेनेका अधिकारी कौन हैं, इस विषयमें द्वितीय मंत्रकी सूचना अत्यंत महत्वकी है। जो यज्ञका तत्व जानता है, वही गौका दान लेवे। गौ अपने भोगके लिये लेनी नहीं है, प्रत्युत यज्ञके लिये लेनी है यह जो जानता है, वही दान लेवे और उसीको दान दिया जावे। (मं० १-३)

इस सूक्तमें गौका नाम वशा है। वशा गौ वह है कि जो सुखसे दोहि जाती है। दूसरी 'सूतवशा' है, अर्थात् जो नौकरको वश रहती है। अन्य गौवें वशमें नहीं रहतीं। वशा गौ सबमें उत्तम है, क्योंकि वह न मारती है, न लातें लगाती है और हर समय दूध देती है।

संपूर्ण पृथ्वी, तथा आप इन सबकी रक्षा यह गौ करती है। सहस्र धाराओंसे दूध देकर यह गौ हरएकका संरक्षण करती है। (मं० ४)

गौका उत्सव ।

जो उत्तमसे उत्तम गौ होती हैं, उसका महोत्सव करते हैं गौ आगे चलायी जाती है उसके पीछे सौ मनुष्य पात्र लेकर चलते हैं, सौ मनुष्य दोहन करनेवाले चलते हैं, सौ मनुष्य उसकी रक्षा करनेवाले गोपके रूपमें चलते हैं; गौके पछे इस तरह ३०० मनुष्य बडे आनंदसे चलते हैं। (मं० ५) बडबाजे बजाये जाते हैं और नगर भरमें इसका यह उत्सव मनाया जाता है। यज्ञद्वारा गौके दूधसे सबका जीवन उत्तम रीतिसे होता है, इसलिये उत्तम गौका यह वार्षिक उत्सव किया जाता है।

गौको 'यज्ञपदी' अर्थात् यज्ञका आधार कहा जाता है, क्योंकि इसके दूध और घृतसे यज्ञ होता है, पर्जन्यसे घासकी उत्पत्ति होकर इस गौकी रक्षा होती है (मं० ६)। सोमवल्ली गौ खाती है, और उसका परिणाम दूधपर होता है, वह दूध पीनेसे मनुष्यमें भी सोमका बल प्राप्त होता है। दूध दही घृत तो गौके अधीनही है, परंतु बैलसे खेती होती है, जिससे सब राष्ट्रकी रक्षा होती है, इस तरह गौही सबकी रक्षा करती है। (मं० ७-१७)

गौ क्षत्रियकी माता है, ब्रह्मकी भी वही माता है (मं० १८), ब्रह्मकी विशेष बलवत्तर शक्तिसे गौकी उत्पत्ति हुई है (मं० १९), गौके अवयवोंको विशेष बल प्राप्त होता है, उससे सब विश्वका धारण होता है। गौ यज्ञहीका रूप है (मं० २०-२५)

गौ अमृतका धारण करती है, जो मृत्युके मार्गपर होते हैं वे गौकी उपासना करके दीर्घजीवी होते हैं। गौही सब कुछ बनी है; देव, मानव, असुर, पितर और ऋषि गौके दूधसेही पुष्ट होते हैं (मं० २६)। इस तरहका सब ज्ञान जो जानता है वही वशा गौका दान लेवे (मं० २७)।

(मं० २८) वरुण राजाकी जैसी जिह्वा बडी तेजस्विनी होती है, कोई उसका विरोध नहीं कर सकता, उसी तरह वशा गौ प्रतिग्रह करनेके लिये कठिन होती है। अज्ञानी मनुष्य उसका दान नहीं ले सकता (मं० २९)। विश्वात्मा-का वीर्य चार वस्तुओंमें विभक्त हुआ, उसमें एक वशाके रूपमें प्रकट हुआ है। अन्य तीन भाग यज्ञ, जल और पशुके रूपमें प्रकट हुए हैं।

साध्य वसु आदि देव वशाका दूध पीकर ही सिद्धिको प्राप्त हुए। वशा गौ ही पृथ्वीपर भूमि थी और प्रजापतिका कार्य कर रही है (मं० ३०-३१)। यह सब ज्ञान जो जानते हैं वे ज्ञानीको गौ दान देकर स्वर्गके भागी हुए हैं। (३२-३३)

वशा गौपर देव उपजीवन करते हैं, गौका दूध पीकर मनुष्य भी जीवित रहते हैं। जहांतक सूर्य प्रकाशता है वहांतकका विश्व मानो वशाका ही रूप है, इतना महत्व गौका है। पाठक इस तरह गौका महत्व जानें और गोपालन तथा गौ संवर्धन करके अपनी पुष्टि प्राप्त करें और दीर्घायुका सेवन करके यशस्वी बनें।

अथर्ववेदका सुबोध भाष्य ।

दशमकाण्डकी विषयसूची ।

अथर्ववेदके सुभाषित

सूक्ति-संग्रह

विभाग ४, काण्ड ११ से १८ तक

इस चतुर्थ भागमें काण्ड ११ से १८ तकके सुभाषितोंका संग्रह है। इसमें कुछ प्रकरण हैं। वस्तुतः इस विभागमें प्रकरण विभागसे ही काण्ड विभाग हैं। इसलिये सुभाषित भी प्रायः उसी क्रमसे दिये हैं। कुछ सुभाषित उनके अर्थोंके अनुसार इधर उधर किये हैं; शेष काण्ड विभागके अनुसार ही रखे हैं। प्रथम ईश्वर विषयके सुभाषित देखो—

ईश्वर

उच्छिष्टे द्यावापृथिवी विश्वं भूतं समाहितं (११।७।२)— ईश्वरमें द्यु, पृथिवी तथा जो बना है वह सब ठहरा है।

ऋक्साम यजुरुच्छिष्टे (११।७।५)— ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद इस ईश्वरमें रहे हैं।

नव भूमीः समुद्रा उच्छिष्टेऽधि श्रिता दिवः (११।७।१४)— नौ भूमियां, सब समुद्र ईश्वरके आधारसे रहे हैं।

ऋतं सत्यं तपो राष्ट्रं श्रमो धर्मश्च कर्म च। भूतं भविष्यदुच्छिष्टे वीर्यं लक्ष्मीर्बलं बले (११।७।१७)— सत्य, ऋत, तप, राष्ट्र, श्रम, धर्म, कर्म, भूत, भविष्य, वीर्य, लक्ष्मी, बलिष्ठका बल यह सब परमेश्वरके आधारसे रहा है।

यच्च प्राणति प्राणेन यच्च पश्यति चक्षुषा। उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रिताः (११।७।२३)—जो प्राणसे जीवित है, जो आंखसे देखता है, जो द्युलोकमें या अन्यत्र देव हैं वे सब परमेश्वरसे उत्पन्न हुए हैं।

ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह। उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे (११।७।२४)— ऋग्वेद, सामवेद, छन्द, यजुर्वेदके साथ पुराण ये सब परमेश्वरसे बने हैं।

प्राणापानौ चक्षुः श्रोत्रमक्षितिश्च क्षितिश्च या। उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे (११।७।२५)— प्राण, अपान, आंख, कान, भौतिक तथा अभौतिक पदार्थ ये सब परमेश्वरसे बने हैं।

आनन्दा मोदाः प्रमुदोऽभीमोदमुदश्च ये। उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे (११।७।२६)— आनंद, मोद, विशेष आनन्द, प्रत्यक्ष आनन्द, सुख ये सब परमेश्वरसे ही बने हैं।

देवाः पितरो मनुष्या गन्धर्वाप्सरसश्च ये। उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे (११।७।२७)— देव, पितर, मनुष्य, गंधर्व, अप्सराएं ये सब परमेश्वरसे बनी हैं।

यो रोहितो विश्वमिदं जजान, स त्वा राष्ट्राय सुभृतं बिभर्तु (१३।१।१)— जिस देवने यह सब उत्पन्न किया वह तुझे इस राष्ट्रके लिये उत्तम भरण-पोषण-पूर्वक धारण करे।

द्यावापृथिवी जनयन् देव एकः (१३।२।२६)— द्यु और पृथिवीका बनानेवाला एक देव है।

य इमे द्यावापृथिवी जजान यो द्रापिं कृत्वा भुवनानि वस्ते (१३।३।१)— जो द्यु और पृथ्वीको उत्पन्न करता है और जो सब भुवनोंको अपना चोला बनाकर पहना है।

यो मारयति प्राणयति, यस्मात् प्राणन्ति भुवनानि विश्वा (१३।३।३)— जो जीवित रखता है और मारता है, जिससे सब भुवन जीवित रहते हैं।

य इदं विश्वं भुवनं जजान (१३।३।१५)— जिसने यह सब भुवन बनाया है।

य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः (१३।३।२४)— जो आत्मबल देता है और जो बल देता है, सब देव जिसकी आज्ञा मानते हैं।

कीर्तिश्च यशश्च नभश्च ब्राह्मणवर्चसं चान्नं चान्नाद्यं च, य एतं देवं एकवृतं वेद (१३।५।१४)— कीर्ति, यश, अवकाश, ब्रह्मतेज, अन्न, खानपान यह सब उसको मिलता है जो इस एक देवको जानता है।

न द्वितीयो न तृतीयश्चतुर्थो नाप्युच्यये (१३।५।१६)- वह दूसरा, तीसरा, चौथा नहीं है।

स एष एक एकवृदेक एव (१३।५।२०)— वह देव एक है, एकमात्र है, केवल एक ही है।

सर्वे अस्मिन् देवा एकवृतो भवन्ति (१३।५।२१)— इसमें सब देव एकरूप होते हैं।

महस्पुत्रासो असुरस्य वीरा दिवो धर्तार उर्विया परि ख्यन् (१८।१।२)— बडे ईश्वरके द्युलोकका धारण करनेवाले वीर पुत्र पृथ्वीपर ऐसे कुसंबंधका निषेध करते हैं।

स्तुहि श्रुतं गर्तसदं जनानां राजानं भीममुपहत्नुमुग्रम् (१८।१।४०)— रथमें बैठनेवाले भयंकर उग्र शत्रुको समीपसे मारनेवाले लोगोंके राजाकी स्तुति करो- रुद्रदेवकी स्तुति करो।

मृडा जरित्रे रुद्र स्तवानो अन्यमस्मत् ते नि वपन्तु सेन्यम् (१८।१।४०)— हे रुद्र! स्तुति करनेपर स्तुति करनेवालेको सुखी कर, हमसे भिन्न दूसरे पर तेरा सैन्य हमला करे।

धन

इदं मे ज्योतिरमृतं हिरण्यं पक्वं क्षेत्रात् कामदुघा म एषा। इदं धनं नि दधे ब्राह्मणेषु, कृण्वे पन्थां पितृषु यः स्वर्गः (११।१।२८)— यह मेरा परिपक्व तेजस्वी सुवर्ण है, यह मेरी कामधेनु है, यह धन मैं ब्राह्मणोंमें बांटता हूं। यह पितरोंमें स्वर्गीय मार्ग मैं करता हूं।

एतं शुश्रुम गृहराजस्य भागं (११।१।२९)— यह श्रेष्ठ घरका भाग है ऐसा हम सुनते हैं।

अथो विद्म निर्ऋतेर्भागधेयम्— और यह विपत्तिका भाग है ऐसा जानते हैं।

घृतेन गात्रानु सर्वा वि मृड्ढि (११।१।३१)— घीसे सब गात्र शुद्ध कर।

विश्वे देवा अभि रक्षन्तु पक्वं (११।१।३३)— सब देव पके अन्नका रक्षण करें।

धेनुं सदनं रयीणां (११।१।३४)— गौ धनोंका घर है।

प्रजामृतत्वमुत दीर्घमायुः रायश्च पोषैरुप त्वा सदेम (११।१।३४)— संतान, अमरत्व, दीर्घ आयु, धन, पोषणके साधनोंके साथ तेरे पास आते हैं।

इषं दधानो, वहमानो अश्वैः, आ स द्युमां अमवान् भूषति द्यून् (१८।१।२४)— अन्नका धारण करनेवाला, घोडोंके वाहनसे जानेवाला, तेजस्वी और बलवान् दिनोंको (अपने व्यवहारसे) सुशोभित करता है।

पत्नी

एमा अगुर्योषितः शुम्भमानाः (११।१।१४)— ये स्त्रियां सुशोभित होकर आ गई हैं।

उत्तिष्ठ नारि तवसं रभस्व— स्त्री उठ, बलसे भर।

सुपत्नी पत्या— पतिके साथ रहकर उत्तम पत्नी बन।

प्रजया प्रजावती— संतानसे संतानवाली हो।

अयं यज्ञो गातुवित् नाथवित्, प्रजाविदुग्रः पशुविद् वीरविद् वो अस्तु— (११।१।१५)— यह यज्ञ आपके लिये मार्गदर्शक, ऐश्वर्यवर्धक, प्रजा देनेवाला, पशु देनेवाला, उग्रता देनेवाला, वीर पुत्र-पौत्र देनेवाला हो।

शुद्धाः पूता योषितो यज्ञिया इमाः (११।१।१७)— ये स्त्रियां शुद्ध, पवित्र और पूजनीय हैं।

अदुः प्रजां बहुलान् पशून् नः—हमें संतान और बहुत पशु दे देवें।

ब्रह्मणा शुद्धा, उत पूता घृतेन सोमस्यांशवः तण्डुला यज्ञिया इमे (११।१।१८)— ज्ञानसे पवित्र, घीसे शुद्ध, सोमके अंश ये चावल यज्ञके लिये योग्य हैं।

उदेहि वेदिं प्रजया वर्धयैनां (११।१।२१)— हे वेदि! इसको उन्नत कर, प्रजासे इस स्त्रीको बढाओ।

नुदस्व रक्षः— राक्षसोंको दूर कर।

प्रतरं धेह्येनाम्— इस स्त्रीको विशेष उन्नत कर ।

श्रिया समानानति सर्वान्त्स्याम— संपत्तिसे हम सब समानोंसे विशेष हों ।

अधस्पदं द्विषतस्पादयामि— द्वेष करनेवालोंको नीचे गिराते हैं ।

मा त्वा प्रापत् शपथो माभिचारः (११।१।२२)— तुझे शाप प्राप्त न हो और वध भी तेरे पास न आवे।

अभ्यावर्तस्व पशुभिः सहैनाम् (११।१।२२)— इस पत्नीको पशुओंके साथ प्राप्त हो ।

स्वे क्षेत्रे अनमीवा वि राज— अपने क्षेत्रमें नीरोग होकर विराजो ।

असंद्री शुद्धामुप धेहि नारि, तत्रौदनं सादय दैवानाम् (११।१।२३)— शुद्ध न टूटी थालीको, हे स्त्री ! चूलेपर रख, उसमें देवोंके लिये अन्न पकाओ।

ते मा रिषन् प्राशितारः (११।१।२५)— इस अन्नको पीनेवाले नष्ट न हों । (अन्नमें दोष न हो ।)

दयाशील स्त्री

अहं पचामि, अहं ददामि, ममेदु कर्मन् करुणेऽधि जाया, कौमारो लोको अजनिष्ट पुत्रोऽन्वारभेथां वय उत्तरावत् (१२।३।४७)— मैं पकाता हूं, मैं देता हूं, मेरी पत्नी दयाके कर्ममें यत्न करती है, इसमें कुमार पुत्र उत्पन्न हुआ है। उच्च अवस्था प्राप्त करता हुआ उच्च जीवन व्यतीत करे ।

दान

ददामीत्येव ब्रूयात् (१२।४।१)— देता हूं ऐसा ही कहना चाहिये ।

पापसे बचाव

ते नो मुञ्चन्त्वंहसः (११।६।१-२२)— वे हमें पापसे बचावें ।

न चतुरा चकमा कद नूनमृतं वदन्तो अनृतं रपेम (१८।१।४)— जो पहिले किया नहीं वह अब कैसा करें, सत्य बोलनेवाले असत्य कार्य कैसे करें ?

न तिष्ठन्ति न नि मिषन्त्येते देवानां स्पश इह ये चरन्ति (१८।१।९)— देवोंके पास यहां जो चलते हैं, वे न ठहरते हैं न आंखें बंद करते है (वे पापीको पकडते ही हैं ।)

पापमाहुर्यः स्वसारं निगच्छात् (१८।१।१४)— बहिनके पास आना पाप कहलाता है ।

पुत्रकामना

ब्रह्मौदनं पचति पुत्रकामा (११।१।१)— पुत्रकी इच्छा करनेवाली माता ज्ञान बढानेवाला अन्न पकाती है ।

अद्रोघाविता वाचमच्छ (११।१।२)— द्रोह न करनेवालोंकी रक्षा करनेकी भाषा बोल ।

पृतनाषाट् सुवीरो येन देवा असहन्त शत्रून् (११।१।२)— सेनाका पराभव करनेवाला उत्तम वीर है, इससे देव शत्रुओंका पराभव करते हैं ।

अजनिष्ठा महते वीर्याय (११।१।३)— बडे पराक्रम करनेके लिये जन्म लो ।

अस्मै रयिं सर्ववीरं नि यच्छ — सब पुत्रपौत्रोंके साथ रहनेवाला धन इसको दो ।

विद्वान् देवान् यज्ञियां एह वक्षः (११।१।४)— तू विद्वान् पूजनीय देवोंको यहां ले आ ।

न्युब्ज द्विषतः सपत्नान् (११।१।६)— द्वेष करनेवाले सपत्नोंको दूर कर ।

सजातांस्ते बलिहृतः कृणोतु (११।१।६)— स्वजातियोंको कर देनेवाले करे ।

उदुब्जैनां महते वीर्याय (११।१।७)— महान् पराक्रम करनेके लिये ऊंची प्रेरणा कर ।

गच्छेम सुकृतस्य लोकं (११।१।८)— पुण्यकर्म करनेवालेके लोकको हम जांय ।

ऊर्ध्वं प्रजामुद्धरन्त्युदूह (११।१।९)— प्रजाका उद्धार करनेके लिये ऊपर उठावो ।

श्रिया समानानति सर्वान् स्याम (११।१।१२)— धनसे हम सब समानोंसे आगे बढेंगे ।

अधस्पदं द्विषतस्पादयामि— शत्रुको नीचे गिरा देते हैं ।

पशु पालन

मा नो हिंसिष्ट द्विपदो मा चतुष्पदः (११।२।१)— हमारे द्विपाद, चतुष्पादोंकी हिंसा न करो ।

प्राण

प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे (११।४।१)— जिसके अधीन सब हैं उस प्राणके लिये नमस्कार करता हूं ।

यो भूतः सर्वस्येश्वरो यस्मिन् सर्वं प्रतिष्ठितम्— प्राण सबका ईश्वर है और उसमें सब रहा है।

यद् भेषजं तव तस्य नो धेहि जीवसे (११।४।९)— हे प्राण! जो तेरे अन्दर औषध है वह दीर्घ जीवनके लिये मुझे दो।

प्राणो ह सर्वस्येश्वरो यच्च प्राणति यच्च न (११।४।१०)— जो जीवित है और जो अचेतन है, उस सबका प्राण ही ईश्वर है।

प्राणो मृत्युः प्राणस्तक्मा प्राणं देवा उपासते (११।४।११)— प्राण मृत्यु है, प्राण शक्ति है, इस लिये सब देव प्राणकी उपासना करते हैं।

प्राणमाहुः प्रजापतिम् (११।४।१२)— प्राण ही प्रजापालक है।

अपानति प्राणति पुरुषो गर्भे अन्तरा (११।४।१४)— आत्मा गर्भमें प्राण और अपानके कार्य करता है।

प्राणे ह भूतं भव्यं च प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम् (११।४।१५)— प्राणमें भूत, भविष्य सर्व प्राणमें रहता है।

आथर्वणीराङ्गिरसीर्दैवीर्मनुष्यजा उत। ओषधयः प्र जायन्ते यदा त्वं प्राण जिन्वसि (११।४।१६) — आथर्वणी, आंगिरसी, दैवी और मानवी ये औषधियां तब कार्य करती हैं जब प्राण प्रेरणा देता है।

एकं पादं नोत्खिदति सलिलाद्धंस उच्चरन्। यदङ्ग स तमुत्खिदेत् नैवाद्य न श्वः स्यात्, न रात्री नाहः स्यात्, न व्युच्छेत्कदा चन (११।४।२१)- हंस जलसे ऊपर उठता हुआ एक पांव अंदर रखता है, यदि वह दूसरा पांव भी ऊपर उठावेगा तो आज-कल, रातदिन कुछ भी नहीं होगा। अंधेरा भी नहीं होगा।

प्राण मा मत् पर्यावृतो न मदन्यो भविष्यसि (११।४।२६)— हे प्राण! तू मुझसे पृथक न हो, मुझसे दूर न जा।

ब्रह्मचर्य

ब्रह्मचारीष्णन् चरति रोदसी उभे तस्मिन् देवाः संमनसो भवन्ति (११।५।१)— ब्रह्मचारी उन्नतिकी इच्छा करता हुआ दोनों लोकोंमें चलता है, उसके लिये सब देव अनुकूल मनके साथ सहायक होते हैं।

ब्रह्मचारिणं पितरो देवजनाः पृथग्देवा अनुसंयन्ति सर्वे (११।५।२)— ब्रह्मचारीके अनुकूल पितर, देवजन, देव ये सब रहते हैं।

त्रयस्त्रिंशत् त्रिशताः षट् सहस्राः। सर्वान् स देवान् तपसा पिपर्ति— तैंतीस, तीन सौ, छः हजार इन सब देवोंको वह अपने तपसे प्रसन्न करता है।

आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः (११।५।३)— आचार्य उपनयन करके ब्रह्मचारीको अपने (विद्यामाताके) गर्भमें रखता है।

तं रात्रीस्तिस्र उदरे बिभर्ति तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः— उस ब्रह्मचारीको वह आचार्य तीन रात्री तक अपने उदरमें रखता है। जब वह बाहर आता है तब उसको सब देव देखनेके लिये आते हैं।

ब्रह्मचारी······लोकांस्तपसा पिपर्ति (११।५।४)— ब्रह्मचारी······लोकोंको अपने तपसे पूर्ण करता है।

स सद्य एति पूर्वस्मादुत्तरं समुद्रं लोकान् संगृभ्य मुहुराचरिक्रत् (११।५।६)— वह ब्रह्मचारी पूर्व समुद्रसे उत्तर समुद्रतक लोकसंग्रह करता है और उनको सदाचारका उपदेश देता है।

तत् केवलं कृणुते ब्रह्म विद्वान् (११।५।१०)— वह ज्ञानी केवल ज्ञानका प्रचार करता है।

आचार्यो ब्रह्मचारी ब्रह्मचारी प्रजापतिः (११।५।१६) —शिक्षक ब्रह्मचारी हो, और प्रजापालक ब्रह्मचारी हो।

ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं वि रक्षति (११।५।१७) —ब्रह्मचर्यरूप तपसे राजा राष्ट्रकी सुरक्षा करता है।

आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते— आचार्य ब्रह्मचर्यसे ब्रह्मचारीकी इच्छा करता है।

ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिं (११।५।१८) —ब्रह्मचर्य पालन करके कन्या युवा पतिको प्राप्त होती है।

ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत (११।५।१९)— ब्रह्मचर्यरूप तपसे देवोंने मृत्युको दूर किया।

तान् सर्वान् ब्रह्म रक्षति ब्रह्मचारिण्याभृतम् (११।५।२२)— ब्रह्मचारीने धारण किया ब्रह्म उन सबकी रक्षा करता है।

मातृभूमि

सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति (१२।१।१)— सत्य, बृहत् ऋत, उग्रवीरता, दीक्षा, तप, ज्ञान और यज्ञ ये गुण मातृभूमिका रक्षण करते हैं।

सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्नी उरुं लोकं पृथिवी नः कृणोतु— वह भूत और भविष्यकी पालन करनेवाली मातृभूमि हमारे लिये विशेष विस्तृत कार्यक्षेत्र देवे।

असंबाधं बध्यतो मानवानां यस्या उद्वतः प्रवतः समं बहु (१२।१।२)— जिस मातृभूमिके मानवोंमें ऊंचा-नीचा होनेपर भी समानता बहुत है इस कारण झगडे नहीं है।

पृथिवी नः प्रथतां राध्यतां नः— हमारी मातृभूमि हमारे यशकी वृद्धि करे।

यस्यामन्नं कृष्टयः संबभूवुः (१२।१।३)— जिस मातृभूमिमें किसान मिलकर खेती करके अन्न उपजाते हैं।

सा नो भूमिः पूर्वपेये दधातु— वह हमारी मातृभूमि हमें अपूर्व पेय देवे।

सा नो भूमिर्गोष्वप्यन्ने दधातु (१२।१।४)— वह हमारी मातृभूमि हमें गौवों और अन्नमें धारण करे।

यस्यां पूर्वे पूर्वजना विचक्रिरे (१२।१।५)— जिस मातृभूमिमें प्राचीन पूर्वजोंने बहुत पराक्रम किये थे।

यस्यां देवा असुरानभ्यवर्तयन्— जिस मातृभूमिमें देवोंने असुरोंका पराभव किया था।

गवामश्वानां वयसश्च विष्ठा भगं वर्चः पृथिवी नो दधातु— गौवें, घोडे, और पक्षियोंका जो स्थान है वह मातृभूमि हमें ऐश्वर्य और तेज देवे।

यां रक्षन्त्यस्वप्ना विश्वदानीं देवा भूमिं पृथिवीमप्रमादम् (१२।१।७)— जिस मातृभूमिका संरक्षण देव प्रमाद न करते हुए सदा करते रहते हैं।

सा नो मधु प्रियं दुहामथो उक्षतु वर्चसा— वह मातृभूमि हमें प्रिय मधुर रस देवे, और तेजसे युक्त करे।

यां मायाभिरन्वचरन् मनीषिणः (१२।१।८)— जिस मातृभूमिकी कौशल्ययुक्त कर्मोंसे बुद्धिमान् लोग सेवा करते हैं।

सा नो भूमिस्त्विषिं बलं राष्ट्रे दधातूत्तमे— वह हमारी मातृभूमि हमारे उत्तम राष्ट्रमें तेज और बल धारण करे।

विष्णुर्यस्यां विचक्रमे (१२।१।१०)— विष्णु जिस मातृभूमिमें पराक्रम करता रहा।

इन्द्रो यां चक्र आत्मनेऽनमित्रां शचीपतिः— शक्तिके स्वामी इन्द्रने जिस मातृभूमिको शत्रुरहित किया।

अजीतोऽहतो अक्षतोऽध्यष्ठां पृथिवीमहम् (१२।१।११)— अपराजित, अहत और अक्षत होकर मैं इस मातृभूमिका अध्यक्ष होऊंगा।

माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः (१२।१।१२)— मेरी माता, भूमि और मैं इस मातृभूमिका पुत्र हूं।

सा नो भूमिर्वर्धयद् वर्धमाना (१२।१।१३)— वह हमारी मातृभूमि बढाई जानेपर हमारा संवर्धन करे।

यो नो द्वेषत् पृथिवि, यः पृतन्यात्, योऽभिदासान्मनसा, यो वधेन। तं नो भूमे रन्धय पूर्वकृत्वरि (१२।१।१४)— हे मातृभूमे ! जो हमारा द्वेष करता है, जो हमपर सैन्य भेजता है, जो मनसे हमें दास बनाना चाहता है, जो वध करता है, हे शत्रुनाश करनेवाली ! उसका नाश कर।

त्वज्जातास्त्वयि चरन्ति मर्त्यास्त्वं बिभर्षि द्विपदस्त्वं चतुष्पदः (१२।१।१५)— तेरेसे उत्पन्न हुए मानव तेरे ऊपर संचार करते हैं। तू द्विपाद और चतुष्पादोंका धारण करती है।

तवेमे पृथिवि पञ्च मानवाः— ये पांचों प्रकारके मानव तेरे ही पुत्र हैं।

ध्रुवां भूमिं पृथिवीं धर्मणा धृतां। शिवां स्योनामनु चरेम विश्वहा (१२।१।१७)— धर्मसे धारण की हुई शुभकल्याणकारिणी मातृभूमिकी हम सर्वदा सेवा करेंगे।

मा नो द्विक्षत कश्चन (१२।१।१८)— हमारा कोई द्वेष न करे।

त्विषीमन्तं संशितं मा कृणोतु (१२।१।२१)— मातृभूमि मुझे तेजस्वी और तीक्ष्ण करे।

भूम्यां मनुष्या जीवन्ति स्वधयान्नेन मर्त्याः (१२।१।२२)— भूमिमें मर्त्य मनुष्य धारक पोषक अन्न खानेसे जीवित रहते हैं।

सा नो भूमिः प्राणमायुर्दधातु जरदष्टिं मा पृथिवी कृणोतु— वह हमारी मातृभूमि मेरे अन्दर प्राण और दीर्घ आयु धारण करे और मुझे वृद्धावस्थातक जीवित रहनेवाला करे।

तेन मा सुरभिं कृणु (१२।१।२३)— मातृभूमी उस सुवाससे मुझे सुगंधयुक्त करे।

तस्यै हिरण्यवक्षसे पृथिव्या अकरं नमः (१२।१।२६)- उस सुवर्ण अपने अन्दर धारण करनेवाले मातृभूमिके लिये मैं नमन करता हूं।

शुद्धा न आपस्तन्वे क्षरन्तु (१२।१।३०)— शुद्ध जल हमारे शरीरके लिये बहे।

यो नः सेदुरप्रिये तं नि दध्मः— जो दुष्ट है उसको अप्रिय अवस्थामें रखते हैं।

पवित्रेण पृथिवि मोत् पुनामि— हे पृथिवी! पवित्रसे मैं अपने आपको पवित्र करता हूं।

स्योनास्ता मह्यं चरते भवन्तु, मा नि पप्तं भुवने शिश्रियाणः (१२।१।३१)— सब दिशायें घूमनेवाले मुझे सुखदायक हो, भूमिपर रहनेवाले मुझे कोई न गिरावे।

स्वस्ति नो भूमे भव (१२।१।३२)— हे मातृभूमे! तू हमारे लिये कल्याण करनेवाली हो।

मा विदन् परिपन्थिनः— शत्रु हमें न जाने।

वरीयो यावया वधम्— वध हमसे दूर जाय।

मा हिंसीस्तत्र नो भूमे सर्वस्य प्रतिशीवरी (१२।१।३४)— सबको आश्रय देनेवाली मातृभूमि! मेरी हिंसा न कर।

यस्यां पूर्वे भूतकृत ऋषयो गा उदानृचुः (१२।१।३९)- प्राचीनकालका इतिहास बनानेवाले ऋषियोंने वाणीसे तेरी स्तुति गायी।

सा नो भूमिरा दिशतु यद्धनं कामयामहे (१२।१।४०) — वह भूमि हमें वह धन देवे जो हम चाहते हैं।

यस्यां गायन्ति नृत्यन्ति भूम्यां मर्त्या व्यैलबाः (१२।१।४१)— विशेष प्रेरित हुए वीर जिस भूमिमें आनन्दसे गाते और नाचते हैं।

युध्यन्ते यस्यामाक्रन्दो यस्यां वदति दुन्दुभिः— जिस मातृभूमिमें युद्ध किये जाते हैं, और जिसमें दुन्दुभि बजाता है।

सा नो भूमिः प्र णुदतां सपत्नान्— वह मातृभूमि हमारे शत्रुओंको दूर करे।

असपत्नं मा पृथिवि कृणोतु— मातृभूमि मुझे शत्रुरहित बनावे।

यस्याः पुरो देवकृतः क्षेत्रे यस्या विकुर्वते (१२।१।४३) — जिस मातृभूमिके नगर देवोंके बनाये हैं, जिसके क्षेत्रमें मनुष्य नाना कार्य करते हैं।

प्रजापतिः पृथिवीं विश्वगर्भामाशामाशां रण्यां नः कृणोतु— प्रजापालक सब पदार्थोंको अपनेमें धारण करनेवाली हमारी मातृभूमिको प्रत्येक दिशामें रमणीय बनावे।

निधिं बिभ्रती बहुधा गुहा वसु मणिं हिरण्यं पृथिवी ददातु मे (१२।१।४४)— अनेक प्रकारका धनका खजाना धारण करनेवाली हमारी मातृभूमि हमें रत्न और सुवर्ण देवे।

वसूनि नो वसुदा रासमाना देवी दधातु सुमनस्यमाना— धन देनेवाली प्रकाशमान् देवी मातृभूमि प्रसन्नचित्तसे हमें धन देवे।

जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसं (१२।१।४५)— अनेक भाषा बोलनेवाले, नाना धर्मोंवाले लोगोंको जो एक घरमें रहनेवालोंके समान धारण करती है।

सहस्रं धारा द्रविणस्य मे दुहां ध्रुवेव धेनुरनपस्फुरन्ती (१२।१।४५)—वह हमारी मातृभूमि, न हिलनेवाली गौके समान, हमें धनकी सहस्रों धाराएं देवे।

यच्छिवं तेन नो मृड (१२।१।४६)— जो कल्याण करनेवाला है उससे हमें सुख दे।

ये ते पन्थानो बहवो जनायना रथस्य वर्त्मानसश्च यातवे। यैः संचरन्ति उभये भद्रपापाः तं पंथानं जयेम अनमित्रमतस्करं (१२।१।४७)— जो बहुतसे मार्ग आने-जानेके और रथके हैं जिनपर सज्जन और दुर्जन जाते हैं, वे मार्ग शत्रुरहित और चोररहित हों।

अहमस्मि सहमान उत्तरो नाम भूम्यां। अभीषाडस्मि विश्वाषाडाशां आशां विषासहिः (१२।१।५४)— मैं विजयी और अपनी मातृ-

भूमिपर श्रेष्ठ हूं। सब प्रकारका पराक्रम करनेवाला, प्रत्येक दिशामें विजयी हूं।

ये ग्रामा यदरण्यं याः सभा अधि भूम्याम्। ये संग्रामाः समितयस्तेषु चारु वदामि ते (१२।१।५६)— जो ग्राम हैं, जो अरण्य हैं, जो सभाएं और समितियां होती हैं, जो युद्ध होते हैं उनमें मैं हे मातृभूमि! तेरे विषयमें उत्तम भाव रखनेवाला भाषण करूंगा।

यद्वदामि मधुमत्तद्वदामि (१२।१।५८)— जो बोलूंगा वह मीठा ही बोलूंगा।

त्विषीमानस्मि जूतिमान् अवान्यान् हन्मि दोधतः— मैं तेजस्वी हूं, और प्रगति करनेवाला हूं। जो हमारी भूमिको दुह लेते हैं उन शत्रुओंको मैं मारता हूं।

यत्त ऊनं तत्त आ पूरयाति प्रजापतिः प्रथमजा ऋतस्य (१२।१।६१)— हे मातृभूमि! जो तेरे अन्दर न्यून है उसकी परिपूर्णता सत्यका प्रथम प्रवर्तक प्रजापति करता है।

उपस्थास्ते अनमीवा अयक्ष्मा अस्मभ्यं सन्तु पृथिवि प्रसूताः (१२।१।६२)— हे मातृभूमि! तुम्हारे अन्दर रहनेवाले लोग नीरोग रहें और तुम्हारी सेवा करनेके लिये तुम्हारे पास उपस्थित रहें।

दीर्घं न आयुः प्रतिबुध्यमानाः— हम ज्ञानी हों और हमारी आयु दीर्घ हो।

वयं तुभ्यं बलिहृतः स्याम— हम तुम्हारे लिये अपना बली देनेवाले हों।

भूमे मातर्नि धेहि मा भद्रया सुप्रतिष्ठितम् (१२।१।६३) — हे मातृभूमे! मुझे कल्याणसे संयुक्त कर।

संविदाना दिवा कवे श्रियां मा धेहि भूत्याम्— प्रतिदिन जाननेवाली होकर तू मुझे पृथिवीमें संपत्तिमें रख (अर्थात् संपत्ति दो।)

युद्ध

ये बाहवो या इषवो धन्वनां वीर्याणि च। असीन् परशूनायुधं चित्ताकूतं च यद्धृदि। सर्वं तदर्बुदे त्वममित्रेभ्यो दृशे कुरु उदारांश्च प्र दर्शय (११।९।१)— जो वीरोंके बाहु, बाण, धनुष्य, पराक्रम, तलवारे, फरशियां, आयुध, हृदयमें जो विचार हैं, हे सेनापते! तू यह सब शत्रुओंको दिखाओ और स्फोटक बम भी दिखाओ। (जो देखकर शत्रु घबरा जाय और युद्धसे पराङ्मुख हो।)

उत्तिष्ठत सं नह्यध्वं (११।९।२)— उठो, तैयार हो जाओ।

संदृष्टा गुप्ता वः सन्तु या नो मित्राणि— जो हमारे मित्र हों वे उत्तम रीतिसे देखे और सुरक्षित हों।

उत्तिष्ठतमा रभेथामादानसंदानाभ्यां, अमित्राणां सेना अभि धत्तं (११।९।३)— उठो, आदान संदान करके युद्ध शुरू करो और शत्रुकी सेनाको पकडो।

उत्तिष्ठ त्वं देवजनार्बुदे सेनया सह। भञ्जन्नमित्राणां सेनां भोगेभिः परि वारय॥ (११।९।५)— हे देवजन सेनापते! तू सेनाके साथ उठो। शत्रुकी सेनाको अपनी पकडोंसे पकडकर नष्ट कर।

उत्तिष्ठ सेनया (११।९।६)— सेनासे उठो।

प्रतिघ्नानाश्रुमुखी कृधुकर्णी च क्रोशतु। विकेशी पुरुषे हते (११।९।७)— छाती पीटती, आंखोंमें अश्रुवाली, कानमें आभूषण न हों ऐसी, पुरुष मरनेपर बिखरे बालवाली शत्रु स्त्री आक्रोश करें।

अथो सर्वं श्वापदं मक्षिका तृप्यतु क्रिमिः। पौरुषेयेऽधि कुणपे रदिते अर्बुदे तव (११।९।१०)— हे सेनापते, तेरा आक्रमण होनेपर जो प्रेत रणक्षेत्रमें पडेंगे उनपर सब पशु, मक्खियां, क्रिमी तृप्त होते रहें।

मुह्यन्त्वेषां बाहवः चित्ताकूतं च यद्धृदि। मैषामुच्छेषि कश्चन रदिते अर्बुदे तव। (११।९।१३) — हे सेनापति! तेरा आक्रमण होनेपर शत्रुमेंसे कोई न रहे, उनके बाहु मोहित हो, उनके मनमें जो हो वह भी भ्रान्त बने।

उद्वेपय त्वमर्बुदेऽमित्राणाममूः सिचः। जयांश्च जिष्णुश्चामित्राँ जयतां (११।९।१८)— शत्रुके सेनासमूहोंको कंपायमान् करो, शत्रुको जीतो, अपने वीर विजयी हों।

तयार्बुदे प्रणुत्तानामिन्द्रो हन्तु वरं वरं (११।९।२०)— प्रेरित हुए शत्रुसेनाके मुख्य मुख्य वीरको मारे।

अमित्रान् नो वि विध्यतां (११।९।२३)— शत्रुओंको बींधो।

तेषां सर्वेषामीशाना उत्तिष्ठत सं नह्यध्वं (११।९।२६) — उन शत्रुओंके तुम स्वामी हो, उठो, तैयार हो जाओ।

इमं संग्रामं संजित्य यथालोकं वि तिष्ठध्वम्— इस संग्रामको जीतकर अपने स्थानपर जाकर सुखसे रहो।

उत्तिष्ठत सं नह्यध्वं उदाराः केतुभिः सह। सर्पा इतरजना रक्षांस्यनु धावत। (११।१०।१)— उठो, अपने ध्वजोंसे तैयार हो जाओ, हे सर्पों और इतर जनो! राक्षसोंपर हमला चढाओ।

उत्तिष्ठ त्वं देवजनार्बुदे सेनया सह (११।१०।५)— हे देवजन सेनापते! तू उठ, सेनाके साथ चढाई कर।

जयामित्रान् प्र पद्यस्व (११।१०।१८)— शत्रुको जीत और अपने अधीन कर।

तमसा त्वममित्रान् परि वारय (११।१०।१९)— तू तमसास्त्रसे शत्रुका निवारण कर।

मामीषां मोचि कश्चन— उन शत्रुओंमेंसे किसीको न छोड।

शितिपदी सं पतत्वमित्राणां अमूः सिचः (११।१०।२०) —इन शत्रुओंके सेनासमूहपर श्वेत पांववाली शक्ति गिरे।

मुह्यन्त्वद्यामूः सेना अमित्राणां— शत्रुकी सेनायें मोहित हों।

मूढा अमित्रा न्यर्बुदे जह्येषां वरं वरं (११।१०।२१)— हे सेनापते! शत्रुसेना मूढ बनी है, इनके मुखिया वीरोंको मार।

अनया जहि सेनया— इस सेनासे जीतो।

यश्च कवची यश्चाकवचोऽमित्रो यश्चाज्मनि। ज्यापाशैः कवचपाशैः अज्मना अभिहतः शयाम् (११।१०।२२)— जो शत्रु कवचधारी है, जो कवचसे रहित है, जो रथपर बैठा है, वह शत्रु ज्यापाशोंसे, कवचपाशोंसे तथा रथके आघातसे मरा होकर सो जाय।

ये वर्मिणो येऽवर्माणो अमित्रा ये च वर्मिणः। सर्वांस्तानर्बुदे हतान् श्वानोऽदन्तु भूम्याम् (११।१०।२३)— जो कवचधारी अथवा कवचके बिना शत्रु हैं, ये सब युद्धमें मरें और भूमिमें पडे। उनके प्रेत कुत्ते खायें।

ये रथिनो ये अरथा असादा ये च सादिनः। सर्वानदन्तु तान् हतान् गृध्राः श्येनाः पतत्रिणः (११।१०।२४)— जो रथी, जो रथके बिना, जो घोडोंवाले अथवा जो घोडोंके बिना शत्रु हैं, उन सबको युद्धमें मरनेपर गीध, श्येन आदि पक्षी खायें।

सहस्रकुणपा शेतामामित्री सेना समरे वधानां। विविद्धा ककजाकृता (११।१०।२५)— युद्धमें मारी गयी, शस्त्रोंसे बींधी और विकृत आकारवाली होकर शत्रुसेना सहस्रों प्रेतोंमें युद्धभूमीपर शयन करे।

शरीर

इन्द्रादिन्द्रः सोमात्सोमो अग्नेरग्निरजायत। त्वष्टा ह जज्ञे त्वष्टुर्धातुर्धाताऽजायत (११।८।९)— इन्द्रसे इन्द्र, सोमसे सोम, अग्निसे अग्नि, त्वष्टासे त्वष्टा और धातासे धाता हुआ। (ये देव पुत्र शरीरमें आकर रहे हैं।)

ये त आसन् दश जाता देवा देवेभ्यः पुरा। पुत्रेभ्यो लोकं दत्त्वा कस्मिंस्ते लोक आसते (११।८।१०) —पूर्व समयमें दस देवोंसे दस पुत्र देव उत्पन्न हुए। पुत्रोंको उन्होंने स्थान दिया और वे किस लोकमें भला रहने लगे हैं?

संसिचो नाम ते देवा ये संभारान्त्समभरन्। सर्वं संसिच्य मर्त्यं देवाः पुरुषमाविशन् (११।८।१३) —सिंचन करनेवाले वे देव हैं जिन्होंने सब संभार इकट्ठा किया। सब मर्त्यको जीवनरससे सिंचित करके ये सब देव शरीरमें आकर रहे हैं।

गृहं कृत्वा मर्त्यं देवाः पुरुषमाविशन् (११।८।१८)- मर्त्य घर करके सब देवपुरुष शरीरमें आकर रहे हैं।

विद्याश्च वाऽविद्याश्च यच्चान्यदुपदेश्यम्। शरीरं ब्रह्म प्राविशदृचः सामाथो यजुः (११।८।२३) —विद्या, अविद्या (विज्ञान), और जो उपदेश करने योग्य है, वह सब ज्ञान शरीरमें प्रविष्ट हुआ, वही ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद हैं।

रेतः कृत्वाज्यं देवाः पुरुषमाविशन् (११।८।२९)- रेतका घी बनाकर देव पुरुषमें प्रविष्ट हुए हैं।

तस्माद्वै विद्वान् पुरुषं इद ब्रह्मेति मन्यते (११।८।३२) —इसलिये ज्ञानी इस पुरुषको यह ब्रह्म है ऐसा मानता है।

सर्वा ह्यस्मिन् देवता गावो गोष्ठ इवासते— सब देवताएं यहां, गोशालामें जैसी गौवें रहती हैं, वैसी रहती हैं।

रोग-निवारण

इदं सीसं भागधेयं त एहि (१२।२।१)— यह सीस तेरा भाग्य है।

यो गोषु यक्ष्मः पुरुषेषु यक्ष्मस्तेन त्वं साकमधराङ् परेहि— जो क्षयरोग गौओंमें और पुरुषोंमें होगा, उसको तुम दूर कर।

यक्ष्मं च सर्वं तेनेतो मृत्युं च निरजामसि (१२।२।२)- क्षयरोगको और मृत्युको दूर करता हूं।

निरितो मृत्युं निर्ऋतिं निररातिं अजामसि (१२।२।३) —हम मृत्यु, दुःख और शत्रुको दूर करते हैं।

यो नो द्वेष्टि तमद्धि अग्ने— जो हमारा द्वेष करता है, हे अग्ने ! उसे खा।

त्वा ब्रह्मणस्पतिराधाद् दीर्घायुत्वाय शतशारदाय (१२।२।६)— ज्ञान पति तुझे सौ वर्षकी दीर्घायु देवे।

ते ते यक्ष्मं स वेदसो दूराद्दूरमनीनशन् (१२।२।१४) — वे देव तेरे क्षयरोगको दूरसे दूर करके नष्ट करें।

शुद्धा भवत यज्ञियाः (१२।२।२०)— शुद्ध और पूजनीय बनो।

इहेमे वीरा बहवो भवन्तु (१२।२।२१)—यहां ये वीर बहुत हों।

अभूद् भद्रा देवहूतिर्नो अद्य (१२।२।२२)— हमारी देव प्रार्थना आज कल्याणकारिणी हो गयी है।

प्राञ्चो अगाम नृतये हसाय (१२।२।२२)— नाचने और हसनेके लिये हम आगे बढें।

सुवीरासो विदथमा वदेम— उत्तम वीर बनकर युद्धका विचार करेंगे।

इमं जीवेभ्यः परिधिं दधामि मैषां नु गादपरो अर्थमेतं (१२।२।२३)— मानवप्राणियोंके लिये यह आयुर्मर्यादा मैंने दी है, नीच बनकर इस आयुरूपी धनका कोई नाश न करे।

शतं जीवन्तः शरदः पुरूचीस्तिरो मृत्युं दधतां पर्वतेन— सौ वर्षोंका दीर्घकाल लोग जीवित रहें और पर्वतके द्वारा (पीठकी रीढके द्वारा) मृत्युको दूर रखे।

आ रोहत आयुर्जरसं वृणाना अनुपूर्वं यतमाना यति स्थ (१२।२।२४)— वृद्ध अवस्थाका स्वीकार करते हुए दीर्घायुको प्राप्त करो, एकके पीछे दूसरे सिद्धितक यत्न करो।

तान् वः त्वष्टा सुजनिमा सजोषाः सर्वमायुर्नयतु जीवनाय— उत्तम जन्मवाला उत्साही त्वष्टा आप सबको दीर्घ जीवनके लिये पूर्ण आयुतक ले जावे।

यथा न पूर्वं अपरो जहाति, धातरायूंषि कल्पयैषां (१२।२।२५)— जिस तरह पूर्व जन्मके पूर्व पश्चात् जन्मा न मरे इस तरह हे धाता ! इनकी आयुकी योजना कर।

अश्मन्वती रीयते सं रभध्वं वीरयध्वं प्र तरता सखायः (१२।२।२६)— पत्थरोंवाली नदी वेगसे चल रही है, हे मित्रो ! संभालो और वीरता धारण करो।

अत्रा जहीत ये असन् दुरेवा अनमीवानुत्तरेमाभि वाजान्— जो दुःखदायी पदार्थ हैं उनको यहीं छोड दो, हम पार होनेपर रोगरहित अन्न प्राप्त करेंगे।

उत्तिष्ठता प्र तरता सखायोऽश्मन्वती नदी स्यन्दत इयं (१२।२।२७)— उठो और तैरो। हे मित्रो ! यह पत्थरोंवाली नदी वेगसे बह रही है।

अत्रा जहीत ये असन्नशिवाः शिवान्त्स्योनानुत्तरेमाभि वाजान्— जो बुरे पदार्थ हैं उनको यहीं छोड दो, जब हम पार हो जांयगे तब सुखकारक भोगोंको प्राप्त करेंगे।

वैश्वदेवीं वर्चस आ रभध्वं, शुद्धा भवन्तः शुचयः पावकाः (१२।२।२८)— सब देवोंकी उपासना अपना तेज बढानेके लिये प्रारंभ करो, तुम शुद्ध, पवित्र और मलरहित बनो।

अतिक्रामन्तो दुरिता पदानि शतं हिमाः सर्ववीरा मदेम— पापके स्थानोंको दूर करते हुए सब वीरोंके समेत सौ वर्षतक आनंदसे रहेंगे।

मृत्युं प्रत्यौहन् पदयोपनेन (१२।२।२९)— अपने आचरणसे मृत्युको दूर करते हैं।

मृत्योः पदं योपयन्त एत द्राघीय आयुः प्रतरं दधानाः (१२।२।३०)— मृत्युके पांवको दूर करके, दीर्घ आयुको अति दीर्घ करके धारण करके चलो।

आसीना मृत्युं नुदता सधस्थेऽथ जीवासो विदथमा वदेम— आसनादि करके मृत्युको दूर करो, और यदि जीवेंगे, सभामें यज्ञकी बात करेंगे।

इमा नारीरविधवाः सुपत्नीराञ्जनेन सर्पिषा सं स्पृशन्तां। अनश्रवो अनमीवाः सुरत्ना आरोहन्तु जनयो योनिमग्रे (१२।२।३१)— ये स्त्रियां उत्तम पत्नीयां हों, विधवा न हों, अंजन और घी लगावें, रोगरहित, अश्रुरहित, उत्तम रत्न धारण करनेवाली स्त्रियां प्रथम अपने घरमें ऊंचे स्थानपर चढें।

दीर्घेणायुषा समिमान् सृजामि (१२।२।३२)— इनको दीर्घायुसे युक्त करता हूं।

ग्राह्याः गृहाः सं सृज्यन्ते स्त्रिया यन् म्रियते पतिः (१२।२।३९)— जब स्त्रीका पति मरता है तब घर-पीडाओंसे युक्त होते हैं।

जीवानामायुः प्र तिर (१२।२।४५)— जीवितोंकी आयु दीर्घ कर।

एषां ऊर्जं रयिं अस्मासु धेहि (१२।२।४६)— इनका बल और धन हमें दे।

दीर्घेणायुषा समिमान्त्सृजामि (१२।२।५५)— मैं इनको दीर्घायुसे युक्त करता हूं।

इमं जीवं जीवधन्याः समेत्य, तासां भजध्वममृतं यमाहुः (१२।३।४)— जीवनको धन्य करनेवालो! इस जीवदशाको प्राप्त होकर वहांका अमृत प्राप्त करो।

उत्तरं राष्ट्रं प्रजयोत्तरावत् (१२।३।१०)— श्रेष्ठ राष्ट्र सुप्रजासे अधिक श्रेष्ठ होता है।

वनस्पतिः सह देवैर्न आगन् रक्षः पिशाचानपबाधमानः (१२।३।१५)— राक्षस और पिशाचोंको दूर करता हुआ यह वनस्पति दिव्य शक्तियोंसे हमारे पास आया है।

तेन लोकानभि सर्वान् जयेम— उससे सब लोकोंको जीतेंगे।

विवाह

इह प्रियं प्रजायै ते समृध्यतां अस्मिन् गृहे गार्हपत्याय जागृहि (१४।१।२१)— यहां तेरी प्रजाके लिये समृद्धि प्राप्त हो, इस घरमें गृहकी पालक बनकर जागती रहे।

एना पत्या तन्वं सं स्पृशस्व— इस पतिके साथ अपने शरीरका स्पर्श कर।

इहैव स्तं, मा वि यौष्टं, विश्वमायुर्व्यश्नुतम् (१४।१।२२)— यहीं रहो, मत पृथक होओ, सब आयु होनेतक मिलकर रहो।

क्रीळन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वस्तकौ— पुत्रों और नातोंके साथ खेलते हुए अपने घरमें आनन्दसे रहो।

अनृक्षरा ऋजवः सन्तु पन्थानो येभिः सखायो यन्ति नो वरेयम् (१४।१।३४)— कांटोंसे रहित सरल मार्ग हों जिनसे हमारे मित्र कन्याके घर जाते हैं।

आशासाना सौमनसं प्रजां सौभाग्यं रयिं। पत्युरनुव्रता भूत्वा सं नह्यस्व अमृताय कम् (१४।१।४२)— उत्तम मन, संतान और सौभाग्यकी आशा करनेवाली तू पतिके अनुकूल आचरण करनेवाली होकर अमरत्व प्राप्तिके लिये तू सिद्ध हो।

एवा त्वं सम्राज्ञ्येधि पत्युरस्तं परेत्य (१४।१।४३)- वैसी तू पतिके घर पहुंचकर वहां सम्राज्ञी होकर रह।

सम्राज्ञ्येधि श्वशुरेषु सम्राज्ञ्युत देवृषु। ननान्दुः सम्राज्ञ्येधि सम्राज्ञ्युत श्वश्र्वाः (१४।१।४४)— श्वशुर, देवर, ननन्द, सास इनके साथ सम्राज्ञी होकर रह।

दीर्घं त आयुः सविता कृणोतु (१४।१।४७)— सविता तेरी दीर्घ आयु करे।

तेन गृह्णामि ते हस्तं, मा व्यथिष्ठा, मया सह प्रजया च धनेन च (१४।१।४८)— तेरा हाथ मैं ग्रहण करता हूं, मत घबरा, मेरे साथ प्रजा और धनके साथ रह।

गृह्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथासः (१४।१।५०)— मैं तेरा हाथ पकडता हूं, मुझ पतिके साथ वृद्धावस्थातक रह।

पत्नी त्वमसि धर्मणाहं गृहपतिस्तव (१४।१।५१)- तू मेरी धर्मसे पत्नी है, मैं तेरा गृहपति हूं।

ममेयमस्तु पोष्या, मह्यं त्वादाद्बृहस्पतिः। मया पत्या प्रजावति सं जीव शरदः शतम् (१४।१।५२) —यह स्त्री मेरे द्वारा पोषण करने योग्य हो, बृहस्पतिने तुझे मुझे दिया है। मेरे साथ रहकर, प्रजावाली हो और सौ वर्ष जीवित रह।

शिवा स्योना पतिलोके वि राज (१४।१।६४)— कल्याण करनेवाली सुखदायिनी होकर पतिके घर विराज।

दीर्घायुरस्याः यः पतिर्जीवाति शरदः शतम् (१४।२।२)-- इसका पति दीर्घायु होकर सौ वर्ष जीवित रहता है।

रयिं च पुत्रांश्चादादग्निर्मह्यमथो इमाम् (१४।२।४) — धन और पुत्रोंको तथा इस स्त्रीको अग्निने मुझे दिया।

या ओषधयो या नद्यो यानि क्षेत्राणि या वना। तास्त्वा वधु प्रजावतीं पत्ये रक्षन्तु रक्षसः (१४।२।७)— औषधियां, नदियां, क्षेत्र और जो वन हैं, वे सब पतिके लिये प्रजावाली तुझे राक्षसोंसे सुरक्षित रखें।

यस्मिन्वीरो न रिष्यति, अन्येषां विन्दते वसु (१४।२।८)— वीर पुत्रका नाश नहीं होता और अन्योंकी अपेक्षा अधिक धन मिलता है।

स्योनास्ते अस्यै वध्वै भवन्तु मा हिंसिषुर्वहतुमुह्यमानम् (१४।२।९)— इस वधुके लिये सब पदार्थ सुखदायी हों, कोई लीया जानेवाले इस रथका नाश न करे।

मा विदन् परिपन्थिनो य आसीदन्ति दम्पती। सुगेन दुर्गमतीतां अप द्रान्त्वरातयः (१४।२।११)— जो शत्रु समीप प्राप्त होंगे वे इस दम्पतीको न जाने, ये वधूवर सुखसे दुर्गम प्रसंगोंके पार जांय, और इनसे शत्रु दूर हों।

सं काशयामि वहतुं ब्रह्मणा गृहैरघोरेण चक्षुषा मित्रियेण (१४।२।१२)— मैं पुकारकर कहता हूं कि वधुके दहेजको ज्ञानपूर्वक मित्रकी दृष्टिसे देखें।

पर्याणद्धं विश्वरूपं यदस्ति स्योनं पतिभ्यः सविता तत्कृणोतु (१४।२।१२)— जो कुछ अनेक रंगरूपवाला यहां इसमें बंधा है वह पतिके लिये सुखकर हो ऐसा सविता करे।

शिवा नारीयमस्तमागन् (१४।२।१३)— यह कल्याणी नारी अपने घरको जा रही है।

प्रजापतिः प्रजया वर्धयन्तु— प्रजापति प्रजासे इसको बढावे।

आत्मन्वत्युर्वरा नारीयमागन्, तस्यां नरो वपत बीजमस्याम्। सा वः प्रजां जनयद् वक्षणाभ्यो बिभ्रती दुग्धं वृषभस्य रेतः॥ (१४।२।१४)— यह नारी आत्मबलसे युक्त, प्रजा उत्पन्न करनेवाली है, इसमें पुरुष बीज बोये, वह आपके लिये संतान अपने गर्भाशयसे उत्पन्न करे, दूध और वीर्यवान् पुरुषका रेत धारण करे।

अघोरचक्षुरपतिघ्नी स्योना शग्मा सुशेवा सुयमा गृहेभ्यः। वीरसूर्देवृकामा सं त्वयैधिषीमहि सुमनस्यमाना। (१४।२।१७)— प्रेमपूर्ण दृष्टिवाली, पतिका घात न करनेवाली, सुख देनेवाली, सुन्दर, सेवा उत्तम करनेवाली, घरोंके लिये सुखदायक, वीर पुत्र उत्पन्न करनेवाली, पतिको भाई रहे ऐसी इच्छावाली, उत्तम मनवाली ऐसी स्त्रीसे हम संपन्न हों।

अदेवृघ्नी अपतिघ्नीहैधि शिवा पशुभ्यः सुयमा सुवर्चाः। प्रजावती वीरसूर्देवृकामा स्योनेममग्निं गार्हपत्यं सपर्य। (१४।२।१८)— देवरका नाश न करनेवाली, पतिका घात न करनेवाली, पशुओंका हित करनेवाली, उत्तम नियमसे चलनेवाली, तेजस्विनी, संतानवाली, वीर पुत्र उत्पन्न करनेवाली, घरमें देवर रहें ऐसी इच्छावाली, कल्याण करनेवाली तू अग्निकी पूजा घरमें कर।

उत्तिष्ठ, इतः किमिच्छन्तीदमागाः, अहं त्वेडे अभिभूः स्वाद् गृहात् (१४।२।१९)— हे दुर्गति! तू यहांसे उठ, यहां क्या चाहती है, यहां क्यों आ गई है? मैं तेरा पराभव करूंगी, अपने घरसे तुझे दूर करूंगी।

शून्यैषी निर्ऋते याजगन्थोत्तिष्ठाराते प्र पत मेह रंस्थाः— हे दुर्गति ! तू इस घरको शून्य करना चाहती है, यहांसे उठ, दूर जा, यहां न रममाण हो।

देवो हन्ति रक्षांसि सर्वा (१४।२।२५)— अग्नि देव सब राक्षसोंको मारता है।

इह प्रजां जनय पत्ये अस्मै सुज्येष्ठ्यो भवत् पुत्रस्त एषः— यहां संतान उत्पन्न कर, इस पतिके लिये यह श्रेष्ठ पुत्र बने।

सुमंगली प्रतरणी गृहाणां सुशेवा पत्ये श्वशुराय शंभूः। स्योना श्वश्र्वै प्र गृहान् विशेमान् (१४।२।२६)— उत्तम मंगल कामनावाली, घरोंका दुःख दूर करनेवाली, पतिकी सेवा उत्तम करनेवाली, श्वशुरके लिये सुख देनेवाली, सासके लिये हितकर ऐसी अपने घरमें प्रविष्ट हो।

स्योना भव श्वशुरेभ्यः स्योना पत्ये गृहेभ्यः। स्योनास्यै सर्वस्यै विशे स्योना पुष्टायैषां भव (१४।२।२७)— श्वशुरके लिये, पति और घरके लोगोंके लिये, सब प्रजाके लिये सुखकर हो और इनका पोषण करनेवाली हो।

सुमंगलीरियं वधूरिमां समेत पश्यत। सौभाग्यमस्यै दत्त्वा दौर्भाग्यैर्विपरेतन। (१४।२।२८) — यह वधू उत्तम कल्याण करनेवाली है, आओ और इसे देखो, इसको सौभाग्य देकर दुर्भाग्यको दूर करते हुए वापस जाओ।

या दुर्हार्दो युवतयो याश्चेह जरतीरपि। वर्चो न्वस्यै सं दत्ताथास्तं विपरेतन। (१४।२।२९)— जो दुष्ट हृदयवाली तथा वृद्ध स्त्रियां हैं, वे इस वधुको तेजस्वी होनेका आशीर्वाद दें और अपने घरको जांय।

आ रोह तल्पं सुमनस्यमानेह प्रजां जनय पत्ये अस्मै (१४।२।३१)— बिस्तरपर चढ, उत्तम मनवाली इस पतिके लिये संतान उत्पन्न कर।

सूर्येव नारि विश्वरूपा महित्वा प्रजावती पत्या सं भवेह (१४।२।३२)— हे स्त्री ! तू इस संसारमें सूर्यप्रभाके समान महत्त्वसे अनेक रंगरूपको प्राप्त होकर संतान उत्पन्न करके पतिके साथ आनंदसे रह।

मर्य इव योषामधिरोहयैनां प्रजां कृण्वाथामिह पुष्यतं रयिम् (१४।२।३७)— मर्दके समान स्त्रीके साथ रह, प्रजा उत्पन्न कर, और यहां धनको बढाओ।

प्रजां कृण्वाथामिह मोदमानौ दीर्घं वामायुः सविता कृणोतु (१४।२।३९)— यहां प्रजा उत्पन्न करके आनंदसे रहो, आप दोनोंकी आयु सविता देव लंबी करे।

अदुर्मंगली पतिलोकमा विशेमं शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे (१४।२।४०)— दुष्ट भाव छोडकर पतिके घरमें प्रवेश कर, द्विपाद और चतुष्पादके लिये कल्याण करनेवाली हो।

स्योनाद्योनेरधि बुध्यमानौ हसामुदौ महसा मोदमानौ। सुगू सुपुत्रौ सुगृहौ तराथो जीवावुषसो विभातीः (१४।२।४३)— हास्यविनोद करनेवाले, सुखदायी स्थानसे उठनेवाले, उत्तम इंद्रियों और गौवोंसे युक्त, उत्तम बालबच्चोंवाले, उत्तम घरवाले स्त्रीपुरुष ये दो जीव प्रकाशमान् उषःकालके समान प्रकाशते रहें।

मा वयं रिषामः (१४।२।५०)— हमारा नाश न हो।

उशतीः कन्यला इमाः पितृलोकात् पतिं यतीः। अव दीक्षामसृक्षत। (१४।२।५२)— पिताके घरसे पतिके घर जानेवाली ये कन्याएं सदिच्छा धारण करें, दक्षतासे रहें।

इयं नार्युप ब्रूते पूल्यान्यावपन्तिका। दीर्घायुरस्तु मे पतिः जीवाति शरदः शतम् (१४।२।६३) — यह स्त्री धानका हवन करती हुई यह कहती है, कि मेरा पति दीर्घायु हो और सौ वर्ष जीवे।

चक्रवाकेव दम्पती। प्रजयैनौ स्वस्तकौ विश्वमायुर्व्यश्नुताम् (१४।२।६४)— चक्रवाक पक्षीके जोडेके समान ये दम्पती, ये उत्तम घरवाले प्रजाके साथ पूर्ण आयु प्राप्त करें।

अभूम यज्ञियाः शुद्धाः प्र ण आयूंषि तारिषत् (१४।२।६७)— हम पूज्य और शुद्ध बने और हमारी आयु दीर्घ हो।

अंगादंगाद् वयमस्या अप यक्ष्मं नि दध्मसि (१४।२।६९)— इसके अंग-अंगसे हम रोग दूर करते हैं।

अमोऽहमस्मि सा त्वं सामाहमस्मि ऋक्त्वं, द्यौरहं पृथिवी त्वं। ताविह सं भवाव प्रजामा जनयावहै। (१४।२।७१)— मैं प्राण हूं तू शक्ति है, गान मैं हूं और ऋचा तू है, द्यु मैं हूं पृथिवी तू है, यहां हम इकट्ठे रहें और प्रजा उत्पन्न करें।

प्र बुध्यस्व सुबुधा बुध्यमाना दीर्घायुत्वाय शतशारदाय (१४।२।७५)— उत्तम ज्ञान प्राप्त करके घरमें जागती रह, सौ वर्षकी दीर्घायुके लिये यत्न कर।

गृहान् गच्छ गृहपत्नी यथासो दीर्घं त आयुः सविता कृणोतु— घरमें जा, घरकी स्वामिनी होकर रह; सविता तेरी आयु दीर्घ करे।

व्रात्य

सोऽवर्धत, स महानभवत्स महादेवोऽभवत् (१५।१।४)— वह बढ गया, वह बडा हो गया, वह महादेव हुआ।

स देवानामीशां पर्यैत् स ईशानोऽभवत् (१५।१।५) —वह देवोंका अधिष्ठाता हुआ, वह ईश्वर हुआ।

नीलेनैवाप्रियं भ्रातृव्यं प्रोर्णोति, लोहितेन द्विषन्तं विध्यतीति ब्रह्मवादिनो वदन्ति (१५।१।८)- [illegible] अप्रिय दुष्टको घेरता है और लोहितसे [illegible] बींधता है ऐसा ब्रह्मवादियोंका कहना है।

शत्रु दूर करना

यूयमुग्रा मरुतः पृश्निमातर इन्द्रेण युजा प्र मृणीत शत्रून् (१३।१।३)— हे उग्रवीर मरुतो! तुम भूमिको माता माननेवाले इन्द्रसे युक्त होकर शत्रुओंका नाश करो।

सं ते राष्ट्रं अनक्तु पयसा घृतेन (१३।१।८)— तेरा राष्ट्र दूध और घीसे भरपूर हो।

विशि राष्ट्रे जागृहि (१३।१।९)— प्रजामें तथा राष्ट्रमें जागते रहो।

गोपोषं च मे वीरपोषं च धेहि (१३।१।१२)— मुझे गोपालन और वीरपालनका सामर्थ्य दे।

सर्वा अरातीरवक्रामन्नेहीदं राष्ट्रमकरः सूनृतावत् (१३।१।२०)— सब शत्रुओंपर आक्रमण कर और इस राष्ट्रको आनन्दपूर्ण कर।

तया वाजान् विश्वरूपां जयेम, तया विश्वा पृतना अभि ष्याम (१३।१।२२)— अनेक प्रकारके अन्न और बल जीतेंगे और उससे सब सैन्योंका पराभव करेंगे।

तां रक्षन्ति कवयोऽप्रमादम् (१३।१।२३)— कवि प्रमाद न करते हुए उस शक्तिका रक्षण करते हैं।

सपत्नानधरान् पादयस्मत् (१३।१।३१)— हमारे शत्रुओंको नीचे गिरा दो।

दुष्वप्न्यं तस्मिंछमलं दुरितानि च मृज्महे (१३।१।५८)— दुष्ट स्वप्न, दुष्ट कल्पना और पापोंको हम शुद्ध करते हैं।

सुदृढ शरीर

सर्वांग एव सर्वपरुः सर्वतनूः सं भवति य एवं वेद (११।३।३२)— सब अंगोंसे युक्त, सब पर्वोंसे युक्त, सब अवयवोंसे युक्त वह होता है जो यह ज्ञान जानता है।

दुःख दूर करना

शिवेन मा चक्षुषा पश्यतापः, शिवया तन्वोप स्पृशत त्वचं मे। मयि क्षत्रं वर्च आ धत्त देवीः (१६।१।१२-१३)— हे जलदेवता! शुभ दृष्टिसे मुझे देखो, शुभ स्पर्शसे मेरी त्वचाको स्पर्श करो। मुझे तेज और क्षात्रबल धारण करो।

निर्दुरर्मण्य ऊर्जा मधुमती वाक् (१६।२।१)— दुर्गति दूर हो, वाणी मीठी हो।

मधुमती स्थ, मधुमतीं वाचमुदेयम् (१६।२।२)— मीठी वाणी हो, मीठी वाणी हम बोलें।

सुश्रुतौ कर्णौ, भद्रश्रुतौ कर्णौ, भद्रं श्लोकं श्रूयासम् (१६।२।४)— मेरे कान उत्तम ज्ञान सुनें, मेरे कान कल्याणवचन सुने, कल्याणकारक वचन मैं सुनूंगा।

सुश्रुतिश्च मोपश्रुतिश्च मा हासिष्टां, सौपर्णं चक्षुः, अजस्रं ज्योतिः (१६।२।५)— उत्तम श्रवण

शक्ति और दूरसे सुननेकी शक्ति मुझे न छोडें, गरुडके समान दृष्टि और बडा तेज मेरे पास रहे ।

मूर्धाहं रयीणां मूर्धा समानानां भूयासम् (१६।३।१) धनोंका उच्च स्थान तथा समानोंमें मैं श्रेष्ठ बनूं ।

रुजश्च मा वेनश्च मा हासिष्टां (१६।३।२)— तेज और कान्ति मुझे न छोडें ।

मूर्धा च मा विधर्मा च मा हासिष्टाम् — उच्च स्थान और विशेष धर्म मुझे न छोडें ।

असंतापं मे हृदयं (१६।३।६)— मेरे हृदयको संताप न हो ।

प्राणापानौ मा मा हासिष्टं, मा जने प्र मेषि (१६।४।५) —प्राण, अपान मुझे न छोडें, मनुष्योंमें मैं घातक न बनूं ।

अजैष्माद्यासनामाद्याभूमानागसो वयं (१६।६।१)— आज हम विजय प्राप्त करेंगे, प्राप्तव्यको प्राप्त किया है, हम निष्पाप हुए हैं ।

द्विषते तत्परा वह, शपते तत्परा वह (१७।६।३)— द्वेष करनेवालेको दूर कर, गाली देनेवालेको दूर कर ।

यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तस्मा एनद् गमयामः (१६।६।५)— जिसका हम सब द्वेष करते हैं और जो हमारा द्वेष करता है, उसको नीचे पहुंचाते हैं ।

तेऽमुष्मै परा वहन्तु अरायान् दुर्णाम्नः सदान्वाः कुम्भीका दूषिकाः पीयकान् (१६।६।७-८)— वे निर्धनता, कष्ट, आपत्तियां, रोग, दोष, विपत्तियोंको दूर ले जांय ।

तेनैनं विध्याम्यभूत्यैनं विध्यामि निर्भूत्यैनं विध्यामि, पराभूत्यैनं विध्यामि ग्राह्यैनं विध्यामि तमसैनं विध्यामि (१६।७।१)— उससे इस पापका वध करता हूं । दुर्गति, दारिद्र्य और रोगसे शत्रुको बींधता हूं । पराभवसे और अन्धकारसे शत्रुको पीडित करता हूं ।

जितमस्माकं उद्भिन्नमस्माकं ऋतमस्माकं तेजोऽस्माकं ब्रह्मास्माकं स्वरस्माकं, यज्ञोऽस्माकं पशवोऽस्माकं प्रजा अस्माकं वीरा अस्माकम् (१६।८।१)— हमारे विजय, उदय, सत्य, तेज, ज्ञान, आत्मतेज, यज्ञ, पशु, प्रजा वीर हों । यह सब हमें प्राप्त हों ।

स ग्राह्याः पाशान्मा मोचि (१६।८।३)— वह शत्रु रोगके पाशोंसे न छूटे ।

तस्येदं वर्चस्तेजः प्राणमायुर्नि वेष्टयामि, इदमेनमधराञ्चं पादयामि (१६।८।४)— इसके तेज, बल, प्राण, आयुको मैं घेरता हूं । इस शत्रुको नीचे गिराता हूं ।

वसुमान् भूयासं, वसु मयि धेहि (१६।९।४)— मैं धनवान् होऊं, धन मेरे पास रख ।

अभ्युदय

विषासहिं सहमानं सासहानं सहीयांसं । सहमानं सहोजितं स्वर्जितं गोजितं संधनाजितं । ईड्यं नाम ह्व इन्द्रमायुष्मान् भूयासम् । (१७।१।१) — सामर्थ्यवान्, बलवान्, विजयी शत्रुको दबानेवाले, शक्तिमान्, दिग्विजयी, स्वसामर्थ्यसे जीतनेवाले, भूमिको जीतनेवाले, धन जीतनेवाले प्रशंसनीय स्तुत्य इन्द्रकी हम भक्ति करते हैं, मैं दीर्घायु बनूं ।

प्रियो देवानां भूयासं (१७।१।२)— देवोंको मैं प्रिय बनूं ।

प्रियः प्रजानां भूयासं (१७।१।३)— मैं प्रजाओंको प्रिय बनूं ।

प्रियः पशूनां भूयासं (१७।१।४)— मैं पशुओंको प्रिय बनूं ।

प्रियः समानानां भूयासं (१७।१।५)— मैं समानोंको प्रिय बनूं ।

द्विषंश्च मह्यं रध्यतु, मा चाहं द्विषते रधं (१७।१।६) — शत्रुओंको मेरे हितके लिये वशमें करे, परंतु मैं कभी शत्रुके अधीन न बनूं ।

सुधायां मा धेहि (१७।१।७)— अमृतमें मुझे रख ।

स नो मृड, सुमतौ ते स्याम (१७।१।८)— वह तू हमें आनंदमें रख, तेरी उत्तम संमतिमें हम रहें ।

त्वमिन्द्रासि विश्वजित् सर्ववित् (१७।१।११)— हे इन्द्र । तू विश्वको जीतनेवाला और सबको जाननेवाला है ।

सपत्नान् मह्यं रन्धयन् (१७।१।२४)— मेरे लिये शत्रुओंका नाश कर।

जरदष्टिः कृतवीर्यो विहायाः सहस्रायुः सुकृतश्चरेयं (१७।१।२७)— वृद्ध अवस्थातक वीर्यवान् होकर विविध कर्मोंको करता हुआ सहस्रायु होकर विचरूंगा।

सरस्वती

सरस्वतीं देवयन्तो हवन्ते सरस्वतीमध्वरे तायमाने। सरस्वतीं सुकृतो हवन्ते सरस्वती दाशुषे वार्यं दात् (१८।१।४१)— देव बननेकी इच्छा करनेवाले सरस्वतीकी प्रार्थना करते हैं, यज्ञ शुरू होनेपर सरस्वतीकी प्रार्थना करते हैं, उत्तम कार्य करनेवाली सरस्वतीकी प्रार्थना करते हैं, सरस्वती-विद्या-धन देती है।

अनमीवा इष आ धेह्यस्मे (१८।१।४२)— नीरोग अन्न हमें दे।

सहस्रार्घमिडो अत्र भागं रायस्पोषं यजमानाय धेहि (१८।१।४३)— हजारों प्रकारका अन्नभाग और धनके साथ पुष्टि यजमानको दे।

पितृमेध

असुं य ईयुरवृका ऋतज्ञास्ते नोऽवन्तु पितरो हवेषु (१८।१।४४)— जिन हिंसा न करनेवाले पितरोंने प्राणको प्राप्त किया है। अर्थात् जो प्राणधारी पितर हैं वे सत्य यज्ञको जाननेवाले पितर बुलानेपर हमारी रक्षा करें।

इदं पितृभ्यो नमो अस्तु अद्य ये पूर्वासो अपरास ईयुः (१८।१।४६)— जो पूर्व और आधुनिक पितर हैं उनके लिये नमन करते हैं।

मा हिंसिष्ट पितरः केन चिन्नो यद्व आगः पुरुषता कराम (१८।१।५२)— हमने मनुष्य होनेसे जो पाप किया हो उसके लिये, हे पितरो! हमारी हिंसा न करो।

इदं नम ऋषिभ्यः पूर्वजेभ्यः पूर्वेभ्यः पथिकृद्भ्यः (१८।२।२)— मार्ग करनेवाले प्राचीन पूर्वज ऋषियोंको यह नमन करता हूं।

स नो जीवेष्वा यमेद्दीर्घायुः प्र जीवसे (१८।२।३)— वह यम हमें इस जीवित लोगोंमें जीनेके लिये दीर्घ आयु देवे।

ये युध्यन्ते प्रधनेषु शूरासो ये तनूत्यजः। ये वा सहस्रदक्षिणास्तांश्चिदेवापि गच्छतात् (१८।२।१७)— जो शूर युद्धोंमें लडते हैं, युद्धोंमें जो अपना शरीर त्यागते हैं, तथा जो हजारोंका दान करते हैं उनके पास तू जा।

स्योनास्मै भव पृथिव्यनृक्षरा निवेशनी। यच्छास्मै शर्म सप्रथाः (१८।२।१९)— हे पृथिवी! इसके लिये सुख देनेवाली हो, कांटोंसे रहित, रहनेके लिये स्थान देनेवाली हो और इसे विस्तृत स्थान और सुख दे।

ये निखाता ये परोप्ता ये दग्धा ये चोद्धिताः। सर्वांस्तानग्न आ वह पितॄन् हविषे अत्तवे (१८।२।३४)— जो गाडे गये, जो बहाये, जो जलाये, जो ऊपर हवामें रखे, उन सब पितरोंको हवि खानेके लिये, हे अग्ने! ले आओ।

उदन्वती द्यौरवमा, पीलुमतीति मध्यमा। तृतीया ह प्रद्यौरिति यस्यां पितर आसते (१८।२।४८)— जलवाला द्युलोक सबसे नीचे है, नक्षत्र जिसमें है वह मध्य स्थानमें है, प्रद्यु नामक तीसरा द्युलोक है जिसमें पितर रहते हैं।

इमौ युनज्मि ते वह्नी असुनीताय वोढवे। ताभ्यां यमस्य सादनं समितीश्चाव गच्छतात् (१८।२।५६)- प्राण जिसका गया है उसको ले जानेके लिये मैं दो बैल (गाडीको) जोडता हूं। उन दोनोंसे यमके घर जाते हैं, उनके साथ मंडली भी जाय।

यो ममार प्रथमो मर्त्यानां यः प्रेयाय प्रथमो लोकमेतम्। वैवस्वतं संगमनं जनानां यमं राजानं हविषा सपर्यत। (१८।३।१३)— जो मानवोंमें प्रथम मरा, जो इस लोकमें प्रथम गया, उस वैवस्वत यमराजको, जो जनोंका संगमन करता है, उसको हवि अर्पण कर।

कस्ये मृजाना अति यन्ति रिप्रं, आयुर्दधानाः प्रतरं नवीयः। आप्यायमानाः प्रजया धनेनाध

स्याम सुरभयो गृहेषु (१८।३।१७)— ज्ञानसे पवित्र होकर नवीन आयु धारण करके पापको दूर करते हैं। प्रजा और धनसे बढते हुए हम घरोंमें सुगंधियुक्त बनें।

वि श्लोक एति पथ्येव सूरिः शृण्वन्तु विश्वे अमृतास एतत् (१८।३।३९)— जैसा विद्वान् धर्ममार्गसे जाता है वैसा मेरा श्लोक सीधा तुम्हारे पास पहुंचता है। यह सब अमर देव सुनें।

रयिं धत्त दाशुषे मर्त्याय (१८।३।४३)— दानी मनुष्यके लिये धन दो।

पुत्रेभ्यः पितरः तस्य वस्वः प्र यच्छत तं इह ऊर्जं दधात (१८।३।४३)— हे पितरो! पुत्रोंके लिये उसका धन दो, वे यहां अन्न धारण करें।

रयिं च नः सर्ववीरं दधात (१८।३।४४)— सब वीर पुत्रोंके साथ हमें धन दो।

ते गृहासो घृतश्चुतः स्योना विश्वाहास्मै शरणाः सन्त्वत्र (१८।३।५१)— वे घर सुखदायी, घीसे भरे सर्वदा इसके लिये शरण आने योग्य हों।

इहेमे वीरा बहवो भवन्तु गोमदश्ववन्मय्यस्तु पुष्टम् (१८।३।६१)— यहां ये वीर पुत्र बहुत हों, गौओं और घोडोंसे युक्त मेरे अन्दर पुष्टि हो।

परैतु मृत्युरमृतं न ऐतु (१८।३।६२)— मृत्यु दूर हो, अमरत्व हमारे पास आवे।

आ रोहत दिवमुत्तमामृषयो मा बिभीतन (१८।३।६४) —हे ऋषियो! उत्तम द्युलोकमें चढो, भयभीत न होओ।

मर्त्योऽयममृतत्वमेति तस्मै गृहान् कृणुत यावत्सबन्धु (१८।४।३७)— यह मर्त्य मनुष्य अमरत्व प्राप्त करता है, उसके लिये बांधवोंसे युक्त घर करो।

पर्णो राजापिधानं चरूणां ऊर्जो बलं सह ओजो न आगन्। आयुर्जीवेभ्यो विदधद् दीर्घायुत्वाय शतशारदाय (१८।४।५३)— यह राजा पर्ण चरूपर रखनेका ढक्कन है। यह तेज, बल, ओजके साथ हमारे पास आगया है, यह जीवोंको आयु देता है, सौ वर्षोंकी दीर्घायु करता है।

साङ्गाः स्वर्गे पितरो मादयध्वम् (१८।४।६४)— अपने सब अंगोंके साथ पितर स्वर्गमें आनन्द प्राप्त करें।

जीवेम शरदं शतानि त्वया राजन् गुपिता रक्षमाणाः (१८।४।७०)— हम सौ वर्ष जीवें, हे राजन्! तेरे द्वारा सुरक्षित होंगे।

इस तरह ये सुभाषित चतुर्थ विभागमें हैं। पाठक इनका योग्य उपयोग करके अपना लाभ प्राप्त करें।

ॐ

अथर्ववेद

का

सुबोध भाष्य ।

एकादशं काण्डम् ।

अथर्ववेदका सुबोध भाष्य ।

एकादश काण्ड ।

यह ग्यारहवां काण्ड अथर्ववेदके द्वितीय विभागका चौथा काण्ड है। इसके अनुवाक, सूक्त, मंत्र और दशति इस प्रकार हैं।

अनुवाक	सूक्त	दशति+मंत्र	मंत्रसंख्या
१	१	३ + ७	३७
२	२	२ + ११	३१
	३	(३ पर्याय)	५६
	४	२ + ६	२६
३	५	२ + ६	२६
	६	१ + १३	२३
४	७	२ + ७	२७
	८	२ + १४	३४
५	९	२ + ६	२६
	१०	२ + ७	२७
५	१०		३१३ कुल मंत्रसंख्या

अब इस काण्डके सूक्तोंके ऋषि देवता और छन्द देखिये--

ऋषि-देवता-छन्द ।

सूक्त	मंत्रसंख्या	ऋषि	देवता	छन्द
१	३७	ब्रह्मा	ब्रह्मौदनः	त्रिष्टुप्, अनुष्टुब्गर्भाभूरिक्पंक्तिः, २, ५ बृहती--गर्भाविराट्; ३ चतुष्पदा शाक्करगर्भा जगती; ४, १५—१६ भुरिक्, ६ उष्णिक्, ८ विराड् गायत्री; ९ शाक्करातिजागतगर्भा जगती १० विराट् पुरोतिजगती विराड् जगती; ११ जगती; १७ २१, २४, २६ विराड् जगती, १८ अतिजगतीगर्भा परातिजागता विराड् जगती; २० अतिजागतगर्भा पराशक्करा, चतुष्पदा भुरिग्जगती; २९, ३१ भुरिक्; २७ अतिजागतगर्भा जगती; ३५ चतुष्पदा ककुम्मती—उष्णिग्, ३६ पुरोविराड् व्याघ्राविं०, ३७ विराड् जगती।

२	३१	अथर्वा	रुद्रः	त्रिष्टुप्, १ परातिजागता विराड् जगती; २ अनुष्टुब्गर्भा पंचपदा पथ्या जगती; ३ चतुष्पदा स्वराडुष्णिक्; ४, ५, ७, १३, १५,१६,२१ अनुष्टुप्; ६ आर्षी गायत्री; ८ महाबृहती; ९ आर्षी; १० पुरोकृति त्रिपदाविराट्; ११ पंचपदा विराड् जगतीगर्भा शक्वरी; १२ भुरिक्; १४, १७-१९, २३, २६,२७ विराड् गायत्री; २० भुरिग्गायत्री; २२ विषमपादलक्ष्म्या त्रिपदा महाबृहती; २४, २९ जगती; २५ पंचपदातिशक्वरी; ३० चतुष्पदा उष्णिक्; ३१ त्र्यव० विपरीतपादलक्ष्म्या षट्पदा जगती।
३	५६	,,	ओदनः	१, १४ आसुरी गायत्री; २ त्रिपदा समविषमा गायत्री; ३, ६, १० आसुरी पंक्तिः; ४, ८ साम्नी अनुष्टुभ्; ५, १३, १५, २५ साम्नी उष्णिक्, ७, १९-२२ प्राजापत्यानुष्टुभ्; ९, १७-१८ आसुरी अनुष्टुभ्; ११ भुरिगार्ची अनुष्टुभ्; १२ याजुषी जगती; १६, २३ आसुरी बृहती; २४ त्रिपदा प्राजापत्या बृहती २६ आर्ची अनुष्टुभ्; २७ (२८, २९) साम्नी बृहती, [२९ भुरिक्]; ३० याजुषी त्रिष्टुप्; ३१ अल्पापंक्तिः याजुषी।
	(१ पर्यायः ३१		बार्हस्पत्यौदनः)	
	(२ पर्यायः १८ ,,		ओदनः)	३२,१८, ४१ (प्र०), ३२-३९ साम्नी त्रिष्टुप्; ३२, ३५, ४२ (द्वि०), ३२-४९ (तृ०), ३३, ३४, ४४-४८ (पं०) एकपदा आसुरी गायत्री; ३२, ४१, ४३, ४७ (च०) दैवी जगती; ३८, ४४, ४६ (द्वि०), ३२, ३५-४३, ४९ [पं०] आसुरी अनुष्टुभ्; ३२-४९ [पं०] साम्नी अनुष्टुभ्; ३३-४९ [प्र०] आसुरी अनुष्टुभ्; ४२-४९ [पं० ; साम्न्यनुष्टुभः; ३३-४९ [प्र०] आर्ची-अनुष्टुभ्; ३७ [प्र०] साम्नीपंक्तिः; ३३, ३६, ४०, ४७, ४८ [द्वि०] आसुरी जगती; ३४, ३७, ४१, ४३, ४५ [द्वि०] आसुरी पंक्तिः ३४ (च०) आसुरी त्रिष्टुप्; ३५, ४६, ४८ (च०) याजुषी गायत्री; ३६, ४०, ३७ (च०) दैवी पंक्तिः; ३८, ३९ (च०) प्राजापत्या गायत्री, ३९ (द्वि०) आसुरी उष्णिक्; ४२, ४५, ४९ (च०) दैवी त्रिष्टुभ्; ४९ [द्वि०] एकपदा भुरिक् साम्नी बृहती।
	[३ पर्यायः ७ ,,		,,]	५० आसुरी अनुष्टुभ्; ५१ आर्ची अनुष्टुभ्; ५२ त्रिपदाभुरिक्साम्नी त्रिष्टुप्; ५३ आसुरी बृहती; ५४ द्विपदा भुरिक् साम्नी बृहती; ५५ साम्नी उष्णिक्; ५६ प्राजापत्या बृहती।
४	२६	भार्गवो वैदर्भिः	प्राणः	अनुष्टुप्; १ शंकुमती; ८ पथ्यापंक्तिः, १४ निचृत्; १५ भुरिक्; २० अनुष्टु० गर्भा त्रिष्टुप्, २१ मध्ये ज्योतिर्जगती; २२ त्रिष्टुभ्; २६ बृहती गर्भा।

५	२६	ब्रह्मा	ब्रह्मचारी	त्रिष्टुभ्; १ पुरोतिजागतविराड्गर्भा; २ पंचपदा बृहतीगर्भा विराट् शक्वरी; ६ शाक्वरगर्भा चतुष्पदा जगती ७ विराड्गर्भा; ८ पुरोतिजागता विराट् जगती ९ बृहती गर्भा; १० भुरिक् ११ जगती; १२ शाक्वरगर्भा चतुष्पदा विराडतिजगती, १३ जगती; १५ पुरस्ताज्ज्योतिः; १४ १६-२२ अनुष्टुभ्; २३ पुरो बार्हतातिजागतगर्भा; २५ एकावसाना आर्ची उष्णिक्; २६ मध्ये ज्योतिरुष्णिग्गर्भा ।
६	२३	शन्तातिः	चन्द्रमाः मन्त्रोक्ताः	अनुष्टुभ्; २३ बृहतीगर्भा ।
७	२७	अथर्वा	अध्यात्मं उच्छिष्टः	अनुष्टुभ्; ६ पुरोष्णिग्बार्हतपरा; २१ स्वराट्; २२ विराट् पथ्या बृहती ।
८	३४	कौरुपथिः	अध्यात्मं, मन्युः	अनुष्टुभ्; ३३ पथ्यापंक्तिः ।
९	२६	कांकायनः	अर्बुदिः	अनुष्टुभ्; १ सप्तपदा विराट् शक्वरी त्र्यवसाना; ३ परोष्णिक् ४ त्र्यवसाना उष्णिग्बृहतीगर्भा परात्रिष्टुप् षट्पदातिजगती; ९ ११, १४, २३, २६ पथ्यापंक्तिः; १५, २२, २४, २५ त्र्यवसाना सप्तपदा शक्वरी; १६ त्र्यव० पंचप० विराट् उपरिष्टाज्ज्योतिस्त्रिष्टुभ्; १७ त्रिपदा गायत्री ।
१०	२७	भृग्वंगिराः	त्रिषन्धिः	अनुष्टुभ्; १ विराट् पथ्या बृहती, २ त्र्यव० षट्प० त्रिष्टु० गर्भातिजगती; ३ विराडास्तारपंक्तिः, ४ विराट्; ८ विराट् त्रिष्टुभ्; ९ पुरोविराट् पुरस्ताज्ज्योतिस्त्रिष्टुभ्; १२ पंच पदा० पथ्या पंक्तिः; १३ षट्पदा जगती; १६ त्र्यव०षट्पदा०ककुम्मत्यनुष्टुप् त्रिष्टुब्गर्भा शक्वरी; १७ पथ्यापंक्तिः; २१ त्रिपदा गायत्री; २२ विराट् पुरस्ताद्बृहती; २५ प्रस्तार पंक्तिः ।

इस प्रकार इन दस सूक्तोंके ऋषि देवता और छन्द हैं। इनमें अध्यात्म और युद्ध ये दो प्रकरण विशेष महत्त्वके हैं, अतः पाठक इनका अधिक मनन करें। इस काण्डके पश्चात् के बारहवें काण्डमें मातृभूमिका वैदिक राष्ट्रगीत है और इस ग्यारहवें काण्डमें उसके पूर्व युद्धकी तैयारीका वर्णन है। इस तरह यह बडा मनोरंजक विषय इस काण्डमें है; इसका योग्य अभ्यास पाठक करें।

ॐ

अथर्ववेदका सुबोध भाष्य

एकादशं काण्डम्

ब्रह्मौदन-सूक्त

(१)

अग्ने जायस्वादितिर्नाथितेयं ब्रह्मौदनं पचति पुत्रकामा ।
सप्तऋषयो भूतकृतस्ते त्वा मन्थन्तु प्रजया सहेह ॥ १ ॥
कृणुत धूमं वृषणः सखायोऽद्रोघाविता वाचमच्छ ।
अयमग्निः पृतनाषाट् सुवीरो येन देवा असहन्त दस्यून् ॥ २ ॥
अग्नेऽजनिष्ठा महते वीर्याय ब्रह्मौदनाय पक्तवे जातवेदः ।
सप्तऋषयो भूतकृतस्ते त्वाजीजनन्नस्यै रयिं सर्ववीरं नि यच्छ ॥ ३ ॥

अर्थ—हे अग्ने ! (जायस्व) प्रकट हो। (इयं नाथिता अदितिः) यह प्रार्थना करनेवाली अदीन माता (पुत्र-कामा ब्रह्मौदनं पचति) पुत्रोंकी इच्छा करती हुई ज्ञान बढानेवाला अन्न पकाती है। (भूतकृतः सप्त ऋषयः) भूतोंको बनानेवाले सात ऋषि (इह त्वा प्रजया सह मन्थन्तु) यहां तुझे प्रजाके साथ मंथन करें ॥ १ ॥

हे (वृषणः सखायः) बलवान् मित्रो ! (धूमं कृणुत) धूवाँ करो, अग्निको प्रदीप्त करो। (अद्रोघ--अविता वाचं अच्छ) द्रोह न करनेवालोंकी रक्षा करनेवाली भाषा बोलो। (अयं अग्निः पृतनाषाट् सुवीरः) यह अग्नि शत्रु-सेनाको पराजित करनेवाला उत्तम वीर है। [येन देवाः दस्यून् असहन्त) जिससे देवोंने शत्रुओंको पराजित किया ॥ २ ॥

हे अग्ने! हे जातवेद! तू [महते वीर्याय अजनिष्ठाः] बडा पराक्रम करनेके लिये प्रकट हुआ है। [ब्रह्म-ओदनाय पक्तवे] और ज्ञानवर्धक अन्न पकानेके लिये प्रकट हुआ है। (भूतकृतः सप्त ऋषयः त्वा अजीजनन्) भूतोंकी उत्पत्ति करने-वाले सात ऋषियोंने तुझे प्रकट किया है। (अस्यै सर्ववीरं रयिं नि यच्छ) इस माताके लिये सब प्रकारका धन प्रदान कर ॥ ३ ॥

भावार्थ-माता उत्तम वीर पुत्र होनेके लिये ईश्वरकी प्रार्थना करे, उसके लिये सुयोग्य अन्न पकावे। जगत्के निर्माण करने-वाले सप्त ऋषि उस माताको सुप्रजा प्रदान करें ॥ १ ॥

बल प्राप्त कर, यज्ञ कर, द्रोह करनेवाली भाषा न बोल, तेजस्वी बन, जिससे समरविजयी सुपुत्र होगा, जो शत्रुओंको दूर भगा देगा ॥ २ ॥

तू बडा पराक्रम करनेके लिये उत्पन्न हुआ है। उत्तम अन्न द्वारा पाकयज्ञ करके सप्त ऋषियोंका संतोष करनेसे वे सब प्रकारके वीर भावोंसे युक्त सुपुत्र अवश्य प्रदान करेंगे और उत्तम धन देंगे ॥ ३ ॥

समिद्धो अग्ने समिधा समिध्यस्व विद्वान् देवान् यज्ञियाँ एह वक्षः।
तेभ्यो हविः श्रपयं जातवेद उत्तमं नाकमधि रोहयेमम् ॥ ४ ॥
त्रेधा भागो निहितो यः पुरा वो देवानां पितृणां मर्त्यानाम्।
अंशान् जानीध्वं वि भजामि तान् वो यो देवानां स इमां पारयाति ॥ ५ ॥
अग्ने सहस्वानभिभूरभीदसि नीचो न्युब्ज द्विषतः सपत्नान्।
इयं मात्रा मीयमाना मिता च सजातांस्ते बलिहृतः कृणोतु ॥ ६ ॥
साकं सजातैः पयसा सहैध्युदुब्जैनां महते वीर्याय।
ऊर्ध्वो नाकस्याधि रोह विष्टपं स्वर्गो लोक इति यं वदन्ति ॥ ७ ॥
इयं मही प्रति गृह्णातु चर्म पृथिवी देवी सुमनस्यमाना। अथ गच्छेम सुकृतस्य लोकम्॥ ८ ॥

अर्थ—हे अग्ने! (समिधा समिद्धः सं इध्यस्व) समिधासे प्रदीप्त हुआ तू प्रदीप्त हो। [यज्ञियान् देवान् इह आवक्षः] यज्ञके योग्य देवोंको तू यहां ले आ। हे जातवेद! (तेभ्यः हविः श्रपयन्) उनके लिये हवि पकाता हुआ, [इमं उत्तमं नाकं अधिरोहय] इसको उत्तम स्वर्गपर चढा ॥ ४ ॥

[यः पुरा त्रेधा भागः निहितः] जो पहले तीन प्रकारका भाग रखा है, वह (देवानां पितृणां मर्त्यानां) देवोंका पितरोंका और मर्त्योंका है। [अहं वः तान् विभजामि] मैं तुम्हें उन भागोंको पृथक् पृथक् अर्पण करता हूं। [अंशान् जानीध्वं] इन भागोंको समझो। (यः देवानां सः इमां पारयाति) जो देवोंका भाग है वह इस स्त्रीको आपत्तिसे पार करेगा ॥ ५ ॥

हे अग्ने! (सहस्वान् अभिभूः इत् अभि असि) तू बलवान् और शत्रुका पराजय करनेवाला है। अतः [द्विषतः सपत्नान् नीचः न्युब्ज] द्वेष करनेवाले शत्रुओंको नीचे दबा। [इयं मात्रा मीयमाना मिता च] यह परिमाण मापा हुआ परिमित प्रमाणमें [ते सजातान् बलिहृतः कृणोतु] तेरे सजातीय वीरोंको तुझे कर देनेवाला बनाये ॥ ६ ॥

[पयसा सजातैः साकं एधि] तू दूधके साथ स्वजातियोंके साथ बढ। [महते वीर्याय एनां उत् उब्ज] बडे पराक्रमके लिये इसको तैयार कर। [ऊर्ध्वः नाकस्य विष्टपं अधि रोह] ऊंचा होकर स्वर्गके ऊपर चढ। [यं स्वर्गः लोकः इति वदन्ति] जिसे स्वर्ग लोक कहते हैं ॥ ७ ॥

[इयं मही पृथिवी देवी] यह बडी पृथ्वी देवता [सुमनस्यमाना चर्म प्रति गृह्णातु] शुभ विचारवाली होकर यह चर्मकी ढाल अपनी रक्षाके लिये लेवे। इससे [अथ सुकृतस्य लोकं गच्छेम] हम पुण्य लोकको प्राप्त हों ॥ ८ ॥

भावार्थ—अग्नि प्रदीप्त कर, उसमें हविका हवन कर, इससे उत्तम स्वर्ग अवश्य प्राप्त होगा ॥ ४ ॥

देव पितर और मर्त्य इन तीनोंका भाग अन्नमें होता है। अतः उनको वह भाग अर्पण करना उचित है ॥ ५ ॥

बलवान् और शत्रुका पराभव करनेवाला हो, शत्रुओंको दूर भगा दे और वे तुझे कर देंगे ऐसा पराक्रम कर ॥६॥

बडा पराक्रम करनेके लिये तैयार हो, दूध पीकर सजातियोंके साथ पुष्ट हो। इस प्रकार पराक्रम करके स्वर्गके योग्य बन ॥ ७ ॥

यह पृथ्वी बडी देवी है, अपने मनको शुभसंकल्पयुक्त करके उसकी रक्षाके लिये तैयार रह जिससे पुण्यवानोंका लोक प्राप्त होगा ॥ ८ ॥

एतौ ग्रावाणौ सयुजा युङ्ग्धि चर्मणि निर्भिन्ध्यंशून् यजमानाय साधु ।
अवघ्नती नि जहि य इमां पृतन्यव ऊर्ध्वं प्रजामुद्भरन्त्युदूह ॥ ९ ॥

गृहाण ग्रावाणौ सकृतौ वीर हस्त आ ते देवा यज्ञिया यज्ञमगुः ।
त्रयो वरा यतमांस्त्वं वृणीषे तास्ते समृद्धीरिह राधयामि ॥ १० ॥ (१)

इयं ते धीतिरिदमु ते जनित्रं गृह्णातु त्वामदितिः शूरपुत्रा ।
परा पुनीहि य इमां पृतन्यवोऽस्यै रयिं सर्ववीरं नि यच्छ ॥ ११ ॥

उपश्वसे द्रुवये सीदता यूयं वि विच्यध्वं यज्ञियासस्तुषैः ।
श्रिया समानानति सर्वान्त्स्यामाधस्पदं द्विषतस्पादयामि ॥ १२ ॥

अर्थ-[एतौ सयुजौ ग्रावाणौ] ये साथ रहनेवाले दो पत्थर [चर्मणि युङ्ग्धि] चर्मपर रखो । [यजमानाय अंशून् निर्भिन्धि] यजमानके लिये सोमरसको कूटकर निकालो । [ये इमां पृतन्यवः] जो इस स्त्रीपर हमला करते हैं उनका [निजहि] नाश कर । [अवघ्नती उद्भरन्ती प्रजा ऊर्ध्वं उदूह] कूटती हुई और भरणपोषण करती हुई प्रजाका उद्धार कर ॥ ९ ॥

हे वीर [सकृतौ ग्रावाणौ हस्ते गृहाण] उत्तम कर्म करनेवाले ये दो पत्थर हाथमें ले। [यज्ञियाः देवाः ते यज्ञं आ अगुः] पूज्य देव तेरे यज्ञमें आजावें । [यतमान् त्वं वृणीषे] जो तू मांगता है वे [त्रयः वराः] तीन वर हैं । [ताः समृद्धीः ते इह राधयामि] उन संपत्तियोंको तेरे लिये सिद्ध करता हूं ॥ १० ॥

(इयं ते धीतिः) यह तुम्हारा पानस्थान है, और [इदं उ ते जनित्रं] यह तेरा जन्मस्थान है । [शूरपुत्रा अदितिः त्वां गृह्णातु] शूर पुत्रोंवाली अदीन माता तुझे स्वीकार करे । [ये पृतन्यवः इमां परा पुनीहि] जो सेनावाले शत्रु इस स्त्रीको कष्ट देते हैं उनको दूर कर और [अस्यै सर्ववीरं रयिं नि यच्छ] इसको सर्व वीरोंसे युक्त धन दे ॥ ११ ॥

[यूयं द्रुवये उपश्वसे सीदत] तुम सब उत्तम जीवनके लिये बैठो । हे [यज्ञियासः] याजको ! आप [तुषैः विविच्यध्वं] तुषोंको पृथक् करें। हम [समानान् सर्वान् श्रिया अति स्याम] सब समान जनोंसे धनसे श्रेष्ठ बनेंगे । और मैं [द्विषतः अधः पदं आपादयामि] शत्रुओंका स्थान नीचे करता हूं ॥ १२ ॥

भावार्थ- ये सोमका रस निकालनेवाले पत्थर हैं । इनसे सोमका रस निकालो । जो सेना लेकर तुम्हारा नाश करना चाहते हैं उनका नाश कर और अपनी प्रजाका उद्धार कर ॥ ९ ॥

यज्ञके लिये जो योग्य देव हैं उनको इस यज्ञमें बुला । जिस विषयमें तुम्हारा प्रयत्न होगा उन वरोंको तुम प्राप्त होंगे और उससे यथेष्ट समृद्धि मिलेगी ॥ १० ॥

यह जन्मभूमि है, यहां यज्ञमें सोमपान होता है, जो शत्रु तुमपर हमला करते हैं उनको परास्त कर और सर्व वीरोंसे युक्त धन तुम्हें प्राप्त हो ॥ ११ ॥

जैसे तुषोंको दूर फेंक देते हैं वैसे शत्रुओंको भगा दो, सजातियोंको धनसंपत्तिसे युक्त करो और शत्रुओंको दबा दो ॥ १२ ॥

परेहि नारि पुनरेहि क्षिप्रमपां त्वा गोष्ठोऽध्यरुक्षद् भराय ।
तासां गृह्णीताद् यतमा यज्ञिया असन् विभाज्य धीरीतरा जहीतात् ॥ १३ ॥

एमा अगुर्योषितः शुम्भमाना उत्तिष्ठ नारि तवसं रभस्व ।
सुपत्नी पत्या प्रजया प्रजावत्या त्वाऽऽगन् यज्ञः प्रति कुम्भं गृभाय ॥ १४ ॥

ऊर्जो भागो निहितो यः पुरा व ऋषिप्रशिष्टाप आ भरैताः ।
अयं यज्ञो गातुविन्नाथवित् प्रजाविदुग्रः पशुविद् वीरविद् वो अस्तु ॥ १५ ॥

अग्ने चरुर्यज्ञियस्त्वाऽध्यरुक्षच्छुचिस्तपिष्ठस्तपसा तपैनम् ।
आर्षेया दैवा अभिसंगत्य भागमिमं तपिष्ठा ऋतुभिस्तपन्तु ॥ १६ ॥

अर्थ- हे नारि ! [परा इहि] दूर जा और [पुनः क्षिप्रं एहि] फिर शीघ्र आ जा। [अपां गोष्ठः भराय त्वा अधि अरुक्षत्] जलोंका स्थान भरनेके लिये तेरे लिये तैयार है । [तासां यतमाः यज्ञियाः असन्] इनमें जो पूजनीय किंवा यज्ञके लिये योग्य जल हैं, उनका [गृह्णीतात्] स्वीकार कर और [धीरी इतराः विभाज्य जहीतात्] बुद्धिसे इतरोंको पृथक् करके छोड दे ॥ १३ ॥

[इमाः योषितः शुम्भमानाः आ अगुः] ये स्त्रियाँ सुशोभित होकर यहां आगई हैं। हे नारि ! [उत्तिष्ठ तवसं रभस्व] उठ और बलसे प्राप्त हो । तू [पत्या सुपत्नी] उत्तम पतिके साथ उत्तम पत्नी हो, [प्रजया प्रजावती] उत्तम संतानसे प्रजावाली हो, [यज्ञः त्वा आ अगन्] यज्ञ तेरे पास पहुंचा है, [कुम्भं प्रति गृभाय] घडेका ग्रहण कर ॥१४॥

हे [आपः] जलो ! [यः वः ऊर्जः भागः पुरा निहितः] जो आपका बलवान् भाग पहिले रखा गया है, [ऋषिप्रशिष्टाः एताः आभर] ऋषियोंकी आज्ञासे इसे भरकर ले आ । [अयं यज्ञः वः] यह यज्ञ आपके लिये [गातु-वित् नाथवित् प्रजावित्] मार्गदर्शक, ऐश्वर्यवर्धक, प्रजाको देनेवाला, [उग्रः पशुवित् वीरवित् अस्तु] उग्रता देनेवाला, पशु देनेवाला, और वीर बढानेवाला होवे ॥ १५ ॥

हे अग्ने ! [यज्ञियः शुचिः तपिष्ठः चरुः त्वा अधि आरुक्षत्] यज्ञके योग्य, पवित्र और तपःसामर्थ्यसे युक्त अन्न तुझे प्राप्त हुआ है, अतः तू [एनं तपसा तप] इसको अपनी उष्णतासे तपा । [आर्षेयाः दैवाः तपिष्ठाः] ऋषियों और देवोंसे उत्पन्न तपनसामर्थ्य [इमं भागं अभिसंगत्य ऋतुभिः तपन्तु] इस अन्नभागके पास आकर ऋतुओंके अनुकूल तपावें ॥ १६ ॥

भावार्थ—स्त्री अपने घरकेपास सब ओर घूमकर देखे । जलका स्थान जहां हो वहांसे जल भर लावे । जो जल उत्तम हो वही ले आवे । अन्य जल दूर रखे ॥ १३ ॥

स्त्रियां सुंदर वस्त्राभूषणोंसे सुशोभित रहें । स्त्रियां उत्तम पति प्राप्त करें, सुपुत्र उत्पन्न करें, घरका सौंदर्य बढावें और उत्तम जलसे घडे भर रखें ॥ १४ ॥

जो जल उत्तम बल बढानेवाला हो वही लाया जावे । घर घरमें यजन होता रहे । यही मार्गदर्शक, ऐश्वर्यवर्धक, सुप्रजाकी उत्पत्ति करनेवाला, बल बढानेवाला, पशुओंकी वृद्धि करनेवाला, वीरभाव बढानेवाला है ॥ १५ ॥

यह अन्न पवित्र निर्मल और तेजस्विता बढानेवाला है, यह अन्न देवताओंको अर्पण किया जावे और इससे संगठित होकर अपना तपःप्रभाव बढावें ॥ १६ ॥

शुद्धाः पूता योषितो यज्ञिया इमा आपश्चरुमव सर्पन्तु शुभ्राः ।
अदुः प्रजां बहुलान् पशून् नः पक्तौदनस्य सुकृतामेतु लोकम् ॥ १७ ॥
ब्रह्मणा शुद्धा उत पूता घृतेन सोमस्यांशवस्तण्डुला यज्ञिया इमे ।
अपः प्र विशत प्रति गृह्णातु वश्चरुरिमं पक्त्वा सुकृतामेत लोकम् ॥ १८ ॥
उरुः प्रथस्व महता महिम्ना सहस्रपृष्ठः सुकृतस्य लोके ।
पितामहाः पितरः प्रजोपजाहं पक्ता पञ्चदशस्ते अस्मि ॥ १९ ॥
सहस्रपृष्ठः शतधारो अक्षितो ब्रह्मौदनो देवयानः स्वर्गः ।
अमूंस्त आ दधामि प्रजया रेषयैनान् बलिहाराय मृडतान्मह्यमेव ॥ २० ॥ (२)
उदेहि वेदिं प्रजया वर्धयैनां नुदस्व रक्षः प्रतरं धेह्येनाम् ।
श्रिया समानानति सर्वान्त्स्यामाधस्पदं द्विषतस्पादयामि ॥ २१ ॥

अर्थ-[इमाः शुद्धाः पूताः यज्ञियाः योषितः] ये शुद्ध पवित्र और पूजनीय स्त्रियाँ [शुभ्राः आपः चरुं अवसर्पन्तु] और स्वच्छ जल इस अन्नके पास आजावे। [नः प्रजां बहुलान् पशून् अदुः] हमें संतान और उत्तम पशु देवें। [ओदनस्य पक्ता सुकृतां लोकं एतु] अन्नका पकानेवाला पुण्यलोकको प्राप्त हो ॥ १७ ॥

[ब्रह्मणा शुद्धाः उत घृतेन पूताः] ज्ञानसे पवित्र और जलसे या घीसे पुनीत हुए [सोमस्य अंशवः तण्डुलाः] ये सोमके भाग जैसे चावल हैं। हे [आपः] जलो! [प्रविशत] तुम अन्दर प्रविष्ट हो जावो, [वः चरुः प्रति गृह्णातु] तुम्हें यह अन्न प्राप्त हो, (इमं पक्त्वा सुकृतां लोकं एत) इसको पकाकर पुण्यवानोंके लोकको जाओ ॥ १८ ॥

[उरुः महता महिम्ना प्रथस्व] बडा होकर बडे महत्त्वके साथ फैल जा। [सहस्रपृष्ठः सुकृतस्य लोके] हजारों पीठवाला होकर पुण्य लोकमें विराज। [पितामहाः पितरः प्रजाः उपजाः] पितामह, पितर, संतानें और उनकी संतानें ऐसा क्रम चले। [अहं पक्ता पञ्चदशः अस्मि] मैं पकानेवाला पन्द्रहवां होऊं ॥ १९ ॥

(सहस्रपृष्ठः शतधारः अक्षितः) हजारों पीठोंवाला सैकडों धारोंवाला अक्षय [ब्रह्मौदनः देवयानः स्वर्गः] ज्ञान बढानेवाले अन्नसे प्राप्त होनेवाला देवयान स्वर्ग है। [ते अमून् आदधामि] तेरे लिये इनको मैं धारण करता हूं। [एनान् प्रजया बलिहाराय रेषय] इनको संतानके साथ कर देनेके लिये सिद्ध कर। ये सब [मह्यं एव मृडतात्]मुझेही सुखी करें। २०

[वेदिं उदेहि] वेदिको उठाओ, [एनां प्रजया वर्धय] इसकी प्रजासे उन्नति कर। [रक्षः नुदस्व] शत्रुओंको भगा दो, [एनां प्रतरं धेहि] इनको विशेष रीतिसे धारण कर। [समानान् सर्वान् श्रिया अति स्याम] सब समानोंसे धनसे अधिक हम हों। [द्विषतः अधः पदं पादयामि] शत्रुओंको नीचे गिराता हूं ॥ २१ ॥

भावार्थ- ये स्त्रियां शुद्ध और पवित्र संमानके लिये योग्य हैं, ये उत्तम अन्न तैयार करें। हमें उत्तम संतान और बहुत पशु प्राप्त हों। उत्तम अन्नका प्रदान करनेवाला पुण्यलोक प्राप्त हो ॥ १७ ॥

यह चावल पवित्र और उत्तम है, जल उनके साथ मिले। सब मिलकर पकाया जावे। सब लोग इससे आनंद प्राप्त करें। १८

बडा महत्त्वका स्थान प्राप्त कर और पुण्यलोकमें विराजमान हो। पितामह, पिता पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र आदिक्रमसे अखंड वंशका विस्तार होता रहे। हरएकको अपने पंद्रह वंशपुरुषोंका ज्ञान हो और वह कहे कि मैं फलानेसे पंद्रहवां हूं ॥ १९ ॥

यह अन्नही स्वर्ग है इस अन्नसे इस सबका धारण पोषण होता रहे। ये सब सुखकी वृद्धि करें और उनकी संताने अन्योंको कर देनेवाली धरि बने ॥ २० ॥

यज्ञ करो, प्रजाकी वृद्धि करो, शत्रुओंको दूर भगाओ, स्त्रियोंको धारण करो, स्वजातियोंको धनसे समृद्ध करके उनसेभी अधिक बन जाओ और शत्रुओंको दबा दो ॥ २१ ॥

*

अभ्यावर्तस्व पशुभिः सहैनां प्रत्यङेनां देवताभिः सहैधि ।
मा त्वा प्रापच्छपथो माभिचारः स्वे क्षेत्रे अनमीवा वि राज ॥ २२ ॥
ऋतेन तष्टा मनसा हितैषा ब्रह्मौदनस्य विहिता वेदिरग्रे ।
अंसध्रीं शुद्धामुप धेहि नारि तत्रौदनं सादय दैवानाम् ॥ २३ ॥
अदितेर्हस्तां स्रुचमेतां द्वितीयां सप्तऋषयो भूतकृतो यामकृण्वन् ।
सा गात्राणि विदुष्योदनस्य दर्विर्वेद्यामध्येनं चिनोतु ॥ २४ ॥
शृतं त्वा हव्यमुप सीदन्तु दैवा निःसृप्याग्नेः पुनरेनान् प्र सीद ।
सोमेन पूतो जठरे सीद ब्रह्मणामार्षेयास्ते मा रिषन् प्राशितारः ॥ २५ ॥
सोम राजन्त्संज्ञानमा वपैभ्यः सुब्राह्मणा यतमे त्वोपसीदान् ।
ऋषीनार्षेयांस्तपसोऽधि जातान् ब्रह्मौदने सुहवा जोहवीमि ॥ २६ ॥

अर्थ—[एनां पशुभिः सह अभि आवर्तस्व] इस स्त्रीको पशुओंके साथ प्राप्त हो। और [एनां देवताभिःसह प्रत्यङ् एधि] इस स्त्रीको देवताओंके साथ प्रत्यक्ष मिलो। [त्वा शपथः मा प्रापत्] तुझे शाप न मिले। [अभिचारः मा] वध न प्राप्त हो। [स्वे क्षेत्रे अनमीवा विराज] अपनी भूमिमें नीरोग होकर प्रकाशित हो ॥ २२ ॥

[ऋतेन तष्टा] सत्यसे बनाई, [मनसा हिता] मनसे रखी, [एषा ब्रह्म-ओदनस्य वेदिः] यह ज्ञान बढानेवाले अन्नकी वेदी [अग्रे विहिता] आगे बनाई है। हे नारि! [शुद्धां अंसध्रीं उपधेहि] शुद्ध थालीको ऊपर रख, और [तत्र देवानां ओदनं सादय] वहां देवोंका अन्न तैयार कर ॥ २३ ॥

[भूतकृतः सप्त-ऋषयः] भूतमात्रको बनानेवाले सात ऋषियोंने [अदितेः हस्तां यां एतां द्वितीयां स्रुचं अकृण्वन्] अदितिमाताका दूसरा हाथ जैसा यह चमस बनाया है। [सा दर्विः ओदनस्य गात्राणि विदुषी] वह कडछी अन्नके भागोंको जानती हुई [एनं वेद्यां अधि चिनोतु] इसको वेदीके मध्यमें रखे ॥ २४ ॥

[त्वा शृतं हव्यं देवाः उप सीदन्तु] तैयार हुए अन्नके पास देव आ बैठे। [अग्नेः निः सृप्य पुनः एनान् प्रसीद] अग्निसे चलकर फिर इन देवोंको प्रसन्न कर। [सोमेन पूतः ब्रह्मणां जठरे सीद] सोमसे पवित्र होकर ज्ञानियोंके पेटमें जा, [ते प्राशितारः आर्षेयाः मा रिषन्] तेरा प्राशन करनेवाले ऋषिपुत्र दुःखी न हों ॥ २५ ॥

हे [सोम राजन्] राजा सोम! [यतमे सुब्राह्मणाः त्वा उपसीदन्) जो उत्तम ब्राह्मण तेरे पास आ बैठेंगे, [एभ्यः संज्ञानं आवप] इनको उत्तम ज्ञान दे। [तपसः अभिजातान् आर्षेयान् ऋषीन्] तपसे उत्पन्न ऋषिपुत्र ऋषिजनोंको [ब्रह्मौदने सुहवा जोहवीमि] ज्ञान बढानेवाले अन्नमें उत्तम बुलाने योग्योंको भी बुलाता हूं॥ २६ ॥

भावार्थ-देवता और गौ आदि पशुओंके साथ स्त्रीको सुरक्षित रखो, शाप तुमे कष्ट न दें। वधसे तुम्हें दुःख न हो, अपनी मातृभूमिमें नीरोग होकर विराजते रहो ॥ २२ ॥

सत्यसे निर्मित, मनसे सुरक्षित, यह अन्नका स्थान है। यह अन्न शुद्ध पात्रमें रख और देवोंको अर्पण कर ॥ २३ ॥

जगत् बनानेवाले सप्त-ऋषियोंने यह कडछी निर्माण की है। इस कडछीसे बारंवार अन्न लेकर वेदीपर रख ॥ २४ ॥

अन्न तैयार करके देवताओंको समर्पण कर, उससे वे प्रसन्न हों, सोमके साथ अन्न ब्राह्मण खावें और खानेवाले पुष्ट हों ॥ २५

जो उत्तम ब्राह्मण हों, उनको सोम और अन्न दिया जावे। तप करनेवाले ऋषिलोगोंका सत्कार उत्तम अन्नसे किया जावे ॥ २६ ॥

शुद्धाः पूता योषितो यज्ञिया इमा ब्रह्मणां हस्तेषु प्रपृथक् सादयामि ।
यत्काम इदमभिषिञ्चामि वोऽहमिन्द्रो मरुत्वान्त्स ददादिदं मे ॥ २७ ॥
इदं मे ज्योतिरमृतं हिरण्यं पक्वं क्षेत्रात् कामदुघा म एषा ।
इदं धनं नि दधे ब्राह्मणेषु कृण्वे पन्थां पितृषु यः स्वर्गः ॥ २८ ॥
अग्नौ तुषाना वप जातवेदसि परः कम्बूकाँ अप मृड्ढि दूरम् ।
एतं शुश्रुम गृहराजस्य भागमथो विद्म निर्ऋतेर्भागधेयम् ॥ २९ ॥
श्राम्यतः पचतो विद्धि सुन्वतः पन्थां स्वर्गमधि रोहयैनम् ।
येन रोहात् परमापद्य यद् वय उत्तमं नाकं परमं व्योम ॥ ३० ॥ (३)
बभ्रेरध्वर्यो मुखमेतद् वि मृड्ढ्याज्याय लोकं कृणुहि प्रविद्वान् ।
घृतेन गात्रानु सर्वा वि मृड्ढि कृण्वे पन्थां पितृषु यः स्वर्गः ॥ ३१ ॥

अर्थ– [इमाः शुद्धाः पूताः यज्ञियाः योषितः] ये शुद्ध और पवित्र स्त्रियां यज्ञके योग्य हैं। इनको [ब्रह्मणां हस्तेषु पृथक् प्रसादयामि] ब्राह्मणोंके हाथोंमें अलग अलग अर्पण करता हूं। [यत्कामः अहं वः इदं अभिषिञ्चामि] जिस कामनासे मैं तुम देवताओंके उद्देश्यसे यह देता हूं, [मरुत्वान् सः इन्द्रः मे इदं ददात्] मरुतोंके साथ रहनेवाला वह इन्द्र मुझे वह देवे ॥ २७ ॥

[इदं हिरण्यं मे क्षेत्रात् पक्वं अमृतं ज्योतिः] यह सुवर्ण मेरे खेतसे पका हुआ अमर तेजही है। [एषा मे कामदुघा] यह मेरी इच्छाके अनुसार दुही जानेवाली गौ है। [ब्राह्मणेषु इदं धनं निदधे] ब्राह्मणोंको यह धन देता हूं [यः स्वर्गः पन्थां पितृषु कृण्वे] जो स्वर्गका मार्ग है उसे मैं पितरोंके लिये बनाता हूं ॥ २८ ॥

[जातवेदसि अग्नौ तुषान् आ वप] जातवेद अग्निमें तुषोंको डाल, [कंबूकान् दूरं अपमृड्ढि] छिलकोंको दूर फेंक दो, [एतं गृहराजस्य भागं शुश्रुम] यह श्रेष्ठ गृहस्थके घरका भाग है ऐसा हम सुनते हैं। [अथो निर्ऋतेः भागधेयं विद्म] इससे विपरीत अधोगतिका भाग है ऐसा हम समझते हैं ॥ २९ ॥

[श्रम्यतः पचतः सुन्वतः विद्धि] परिश्रमी, अन्न पकानेवाले और औषधिरस निकालनेवालोंको तू जान। [एनं स्वर्गं पन्थां अधिरोहय] इसको स्वर्गके मार्गपर चढाओ। यह [येन परं वयः आपद्य] जिससे परम आयुको प्राप्त होकर [उत्तमं नाकं परमं व्योम रोहात्] उत्तम स्वर्गरूप परम आकाशपर आ पहुंचे ॥ ३० ॥

हे अध्वर्युं ! [बभ्रेः एतत् मुखं विमृड्ढि] इस बर्तनका यह मुख स्वच्छ कर। [प्रविद्वान् आज्याय लोकं कृणुहि] जानता हुआ घीके लिये स्थान बना। [घृतेन सर्वा गात्रा विमृड्ढि] घीसे सब गात्र स्वच्छ कर। [यः स्वर्गः पंथां पितृष कृण्वे] जो स्वर्गका मार्ग है उसको मैं पितरोंके लिये करता हूं ॥ ३१ ॥

भावार्थ– शुद्ध पवित्र संमानयोग्य स्त्रियोंको ब्राह्मणोंके हाथमें अलग अलग दिया जाय। अर्थात् एक एक ब्राह्मण एक एक स्त्रीका पाणिग्रहण करे। जो जिसकी इच्छा हो वह उसकी पूर्ण हो ॥ २७ ॥

यह सुवर्ण है और यह खेतमें पका हुआ उत्तम धान्य है। यह मैं ब्राह्मणोंको देता हूं। यह स्वर्गकाही मार्ग है ॥ २८ ॥

अग्निमें तुषोंको रख और छिलकोंको दूर फेंक। शेष उत्तम धान्य घरका राजा है, उसको सुरक्षित रख। अन्यथा विनाशका समय प्राप्त होगा ॥ २९ ॥

परिश्रम करो, अन्न पकाओ, औषधियोंका रस निकालो, इससे स्वर्गसुख मिलेगा, आयु बढेगी और श्रेष्ठ आनंद प्राप्त होगा ३०

बर्तन स्वच्छ करके उसमें घी भरकर रखो। घीसे सब गात्र स्वच्छ होकर उत्तम सुख प्राप्त होगा ॥ ३१ ॥

अग्ने रक्षः समदमा वपेभ्योऽब्राह्मणा य_मे त्वोपसीदान् ।
पुरीषिणः प्रथमानाः पुरस्तादार्षेयास्ते मा रिषन् प्राशितारः ॥ ३२ ॥
आर्षेयेषु नि दध ओदन त्वा नानार्षेयाणामप्यस्त्यत्र ।
अग्निर्मे गोप्ता मरुतश्च सर्वे विश्वे देवा अभि रक्षन्तु पक्वम् ॥ ३३ ॥
यज्ञं दुहानं सदमित् प्रपीनं पुमांसं धेनुं सदनं रयीणाम् ।
प्रजामृतत्वमुत दीर्घमायू रायश्च पोषैरुप त्वा सदेम ॥ ३४ ॥
वृषभोऽसि स्वर्ग ऋषीनार्षेयान् गच्छ । सुकृतां लोके सीद तत्र नौ संस्कृतम् ॥ ३५ ॥
समाचिनुष्वानुसंप्रयाह्यग्ने पथः कल्पय देवयानान् ।
एतैः सुकृतैरनु गच्छेम यज्ञं नाके तिष्ठन्तमधि सप्तरश्मौ ॥ ३६ ॥
येन देवा ज्योतिषा द्यामुदायन् ब्रह्मौदनं पक्त्वा सुकृतस्य लोकम् ।
तेन गेष्म सुकृतस्य लोकं स्वरारोहन्तो अभि नाकमुत्तमम् ॥ ३७ ॥ (४)

अर्थ- हे [अग्ने] अग्रणी ! [यतमे ब्राह्मणाः त्वा उपसीदान्] जो ब्राह्मण तेरे पास आकर बैठते हैं [एभ्यः सम्मदं रक्षः आवप] इन सबसे घमंडवाले राक्षसोंको भी दूर कर । [ते प्राशितारः पुरीषिणः] तेरेमेंसे प्राशन करनेवाले अन्नवाले [प्रथमानाः आर्षेयाः पुरस्तात् मा रिषन्] यशस्वी ऋषिपुत्र कभी न नष्ट हों ॥ ३२ ॥

हे [ओदन अन्न] ! [आर्षेयेषु त्वा निदधे] ऋषिपुत्रोंमें तुम्हें रखता हूं । [अनार्षेयाणां अपि अत्र न अस्ति] जो ऋषिसंतान नहीं हैं उनका भाग यहां नहीं है । [मे गोप्ता अग्निः] मेरी रक्षा करनेवाला अग्नि है । [सर्वे मरुतः विश्वे देवाः च पक्वं अभि रक्षन्तु) सब मरुत् और सब देव इस परिपक्वकी रक्षा करें ॥ ३३ ॥

(यज्ञं दुहानं प्रपीनं सदं इत्) यज्ञ करनेवाला सदा समृद्ध; (रयीणां सदनं धेनुं) संपत्तिका घर ऐसी गौ है। (त्वा पुमांसं) तुम पुरुषके पास (पोषैः प्रजाऽमृतत्वं उत दीर्घं आयुः) पुष्टियोंसे प्रजाकी पुष्टि और उनकी दीर्घ आयु (रायः च उप सदेम) और धन लेकर आते हैं ॥ ३४ ॥

(वृषभः असि) तू बलवान् है, तू (स्वर्गः असि) सुखदायक है। (आर्षेयान् ऋषीन् गच्छ) ऋषिपुत्रों और ऋषियोंके पास जा,(सुकृतां लोके सीद) पुण्यवानोंके स्थानमें रह । (तत्र नौ संस्कृतं) वह हम दोनोंका सुसंस्कृत कर्म फल रहे ॥ ३५ ॥

हे अग्ने ! (सं आ चिनुष्व) संगठन कर, (अनुसंप्रयाहि) अनुकूलताके साथ मिलकर जा। (देवयानान् पथः कल्पय) देवोंके जानेयोग्य मार्गोंको तैयार कर । (एतैः सुकृतैः सप्तरश्मौ नाके तिष्ठन्तं) इन पुण्यकर्मोंके साथ सात किरणोंवाले स्वर्गस्थानमें रहनेवाले (यज्ञं अनुगच्छेम) यज्ञके अनुकूल होकर जायेंगे ॥ ३६ ॥

[येन ज्योतिषा देवाः द्यां उदायन्] जिस ज्योतिसे देव स्वर्गको पहुंचे, (ब्रह्मौदनं पक्त्वा सुकृतस्य लोकं) ज्ञान बढानेवाला अन्न पकाकर पुण्यलोकको प्राप्त हुए [तेन स्वः आरोहन्तः] उससे स्वर्गपर चढते हुए (उत्तमं नाकं सुकृतस्य लोकं) उत्तम सुखमय पुण्यलोकको (गेष्म) प्राप्त हो ॥ ३७ ॥

भावार्थ- जो ब्राह्मण आवेंगे उनसे शत्रुओंको दूर भगा दो । उन ब्राह्मणोंको अन्न समर्पण करो, जिससे वे पुष्ट हों ॥ ३२ ॥
ब्राह्मणोंको अन्न दो, यहां दूसरोंका काम नहीं है । इससे सबकी रक्षा होगी ॥ ३३ ॥
गौ सब संपत्तियोंका घर है, इससे प्रजाकी पुष्टि और दीर्घायु करनी चाहिये ॥ ३४ ॥
बलवान् बनो, स्वर्ग प्राप्त करो, ऋषियोंके पीछे चलो, पुण्यलोक प्राप्त करो और अपने आपको सुसंस्कृत करो ॥ ३५ ॥
संगठन करो,अनुकूल बनो, देवमार्गोंसे जाओ, सुकृत करो, सूर्यकिरणोंके स्थानमें रहो,यज्ञ करो,यही सुखदायक मार्ग है ३६
तेजके साथ पुण्यलोक प्राप्त करो; स्वर्गपर चढो, इसीसे कल्याण प्राप्त होगा ॥ ३७ ॥

ज्ञान बढानेवाला अन्न ।

ब्रह्मका अर्थ ज्ञान है और ओदनका अर्थ अन्न है। विशेषतः चावलोंका पका अन्न ओदन है । मनुष्यकी ज्ञानशक्तिकी वृद्धि करनेवाला यह अन्न है, इस कारण इसको ब्रह्मौदन कहते हैं। चावलोंके साथ उत्तम जल उत्तम दूध, सोमादि औषधियोंका रस मिश्रित करके यह अन्न बनता है । बुद्धिवर्धक औषधियों-के रस इसमें संमिलित होते हैं, इससे ज्ञानकी वृद्धि और दीर्घ आयुकी प्राप्ति होकर पुष्टिभी मिलती है । गृहस्थियोंके लिये यह अन्न अत्यंत उत्तम है, क्योंकि इससे वीर्यकी वृद्धि होनेके कारण गृहस्थसुखकी प्राप्ति करनेवाला यह अन्न है ।

गृहस्थियोंको सुप्रजा निर्माण करनेका मुख्य कार्य होता है। उसके लिये स्त्रियोंको " पुत्रकामा अदिति " का आदर्श पालन करना चाहिये । सुपुत्र उत्पन्न करनेकी इच्छा धारण करके तदनुसार दीनताके सब भाव हटाना चाहिये। घरमें और अपने राष्ट्रमें स्वाधीन होकर विराजना चाहिये। अदितिका आदर्श संपूर्ण आर्य-स्त्रियोंके संमुख है । उसने केवल सत्पुत्रोंको ही जनना है । उनके कल्याणके लिये जो अन्न खाना चाहिये वही अन्न वह खाती है, वही अन्न पकाती है। अपने पुत्रोंके कल्याणके लियेही वह सुयोग्य अन्न पकाती है। सुपुत्रोंके ज्ञानकी वृद्धि हो, उनकी बुद्धि विकसित हो एतदर्थ वह पर्याप्त परिश्रम करती है। यही आदर्श आर्यस्त्रियोंको अपने सामने रखना चाहिये ।

सात ऋषि इस संपूर्ण विश्वकी रचना करते हैं, सात ऋषि आकाशमें हैं, उनमें सात तत्त्व प्रधान हैं, जिनके मेलसे सब जगत् बनता है । सात ऋषि प्राणादि तत्त्वोंके वाचक हैं जो इस विश्वके निर्माता सुप्रसिद्ध हैं । इनकी प्रसन्नतासे संतानकी उत्पत्ति और वृद्धि होती है। यह एक महत्त्वका विज्ञान है । इन सात ऋषियोंका वर्णन इस सूक्तमें अनेक बार आ गया है। अतः इसकी खोज करके निश्चय करना चाहिये कि ये विश्वकी रचना कैसे करते हैं ।

द्वितीय मंत्रमें कहा है कि यज्ञके लिये अग्नि प्रदीप्त करो, द्रोहरहित भाषण करो। यह वाग्यज्ञ है और दूसरा हवनयज्ञ है। इन दोनों यज्ञोंसे मानवोंकी उन्नति होती है । द्रोह न करना ही बडाभारी यज्ञ है। इन सब प्रकारके यज्ञोंसे सुपुत्र ऐसे बनेंगे कि जो [पृतनाषाड् सुवीरः] समरमें विजय करनेवाले और उत्तम वीर हों । जो अपने शत्रुओंको परास्त कर सकते हैं ।

शत्रुओंको परास्त करना ।

अपने शत्रुओंको परास्त करना एक महत्त्वपूर्ण कार्य इस संसारमें है । जिसके विना मनुष्य क्षणमात्र जीवित रह नहीं सकता । मनुष्यके शत्रु आध्यात्मिक, बौद्धिक, मानसिक, शारी-रिक, सामाजिक और राष्ट्रीय क्षेत्रोंमें होते हैं । उन सबको परास्त करनेसे ही मनुष्य उन्नत हो सकता है । इसलिये वेद यहां शत्रुनिर्दलनपर इतना जोर दे रहा है । पाठक इसका विचार करें, और शत्रुको परास्त करनेका महत्त्व जानें ।

तीसरे मंत्रमें कहा है (महते वीर्याय अजनिष्ठाः) मनुष्य बडा पुरुषार्थ करनेके लिये यहां उत्पन्न हुआ है । पुरुषार्थ कर-के अपने सब शत्रुओंको दूर भगा देवे । और (सर्ववीरं रयिं) सब प्रकारके वीरताके भावोंसे युक्त धन प्राप्त करे। यहां वेद-का महत्त्व इस बातमें है कि वह केवल धन कमानेको नहीं कहता, परंतु धनके साथ वीरत्वको प्राप्त करनेको भी कहता है, क्योंकि वीरताके विना धनकी रक्षा नहीं हो सकती । अतः जिस धनके साथ वीरता न होगी वह धन स्थिर नहीं रह सकेगा ।

आगे चतुर्थ मंत्रमें कहते हैं कि यज्ञके योग्य देवोंको यज्ञमें बुलाओ । यहाँ सहायकोंको और सन्मान्योंको बुलाने तथा अपने पास करनेकी सूचना मिलती है । जो सहायता करनेवाले नहीं हैं उनको बुलाना नहीं है । जैसे (सातघ्नो देवान् निषेध । अथर्व. ३ । १५ । ५) लाभका नाश करनेवाले देवोंका निषेध करनेको कहा है। इससे भी सहायकोंको पास करने और विरोध-कोंको दूर करनेकी सूचना मिलती है ।

पंचम मंत्रमें कहा है कि अन्नमें देवों, पितरों और मानवोंका भाग होता है। वह जिसका उसको देना मनुष्यका कर्तव्य है । एकका भाग दूसरेको लेना उचित नहीं, वही अन्याय और अधर्म है । मनुष्य अपने अन्नमेंसे इनका भाग उनको देवे और पश्चात् शेषका स्वयं भोग करे ।

यह मंत्रका कथन है कि मनुष्य (सहस्वान्) बलवान बने, सहायक बने, [अभिभूः] शत्रुका पराभव करनेवाला बने। और [सपत्नान् नीचः न्युब्ज] शत्रुओंको नीचे दबाकर रखे, उनको उठने न दे, इतनाही नहीं परंतु उनको [कल्हिलः] का भार देनेवाले बनावे। अर्थात् जो पहिले शत्रुता करते थे वे अब इसको कर देनेवाले बनें। इतनी शक्ति इसको अपने अंदर बढानी चाहिये।

सप्तम मंत्रमें [महते वीर्याय] बडा पराक्रम करनेके लिये फिर सूचना दी है। तृतीय मंत्रमें यही बात कही थी, वह फिर यहां दुहराई है। क्योंकि मानवी जीवनमें पराक्रमका स्थान बडाही ऊंचा है। [पयसा] दूध पीकर बलवान् बनना और बडा पराक्रम करना हरएकको उचित है। इसी तरह स्वर्गलोकका मार्ग खुल जाता है।

आगेके तीन मंत्रोंमें पत्थरोंद्वारा सोमरस निकालनेका वर्णन है। यह सोमरस सब प्रकारसे मनुष्योंका स्वास्थ्य बढानेवाला और उत्साह बढानेवाला है। यज्ञाग्निमें इसका हवन करके सब लोग इसका पान करते हैं। यह रस पिया जाता है, दूधके साथ मिलाकर पीते हैं और भुने आटेके साथ मिलाकर भी खाते हैं। अनेक रीतिसे इस रसका सेवन किया जा सकता है।

शूरपुत्रा स्त्री।

ग्यारहवें मंत्रमें आदर्श स्त्री ' शूरपुत्रा ' होती है, ऐसा कहा है। स्त्रियोंको यह बात स्मरण रखनी चाहिये। पुत्र बडे शूर होने चाहिये। भीरु और डरनेवाले नहीं होने चाहिये। गृहस्थियोंको इस बातका ध्यान रखना चाहिये। क्योंकि-[सर्ववीरा रयि] सब वीरताके गुणोंके साथ धन प्राप्त करना गृहस्थीका धर्म है। वीर पुत्र होनेपरही सर्ववीर युक्त धन प्राप्त होना संभव हो सकता है।

बारहवें मंत्रमें दो मंत्रभाग मुख्य हैं। [श्रिया सर्वान् अतिस्थाम] संपत्तिसे सबसे बढकर हों और [द्विषतः पदं अधः पादयामि] शत्रुओंका स्थान नीचे करता हूं। आगे २१ वे मंत्रमें भी यही कहा है। संसारी मनुष्यको यही उपदेश सदा ध्यानमें धारण करने चाहिये। हरएक समय यही मार्ग मनुष्योंको अपने सम्मुख रखना चाहिये।

स्त्रियोंका कर्तव्य।

घरमें पानी भरना प्रथम कर्तव्य है। उत्तमसे उत्तम पानी घरमें भरना चाहिये। घडा लेकर उत्तम जल भरनेका यत्न भी करें, स्त्रियां मिलकर पानी भरनेके लिये जांय। उत्तम जल घरमें लाना यह (वः ऊर्जः भागः) बल देनेवाला भाग है। संतान, पशु आदिके लिये इसकी बडी आवश्यकता होती है। यह उपदेश मंत्र १६ तक किया है।

सोलहवें मंत्रमें (चरुः) चावल आदि अन्न पकनेकी आयोजना करनेका उत्तम उपदेश है। (ऋतुभिः) ऋतुओंके अनुकूल अन्न तैयार किया जाय। जिसका सेवन करके सब आयुके लोग सुदृढ और दीर्घायु बनें।

सत्रहवें मंत्रमें कहा है कि स्त्रियां शुद्ध, पवित्र और सुंदर वस्त्र आभूषणादिसे युक्त होकर घरमें पानी लावें और अन्न पकावें, यज्ञमें उपस्थित हों, सबका आतिथ्यसत्कार करें, पशुओं और संतानोंको तृप्त करें और घरकी सब सुव्यवस्था करें। किसी तरह न्यूनता रहने न दें।

अठारहवें मंत्रमें चावल, घी, सोमरस आदिसे उत्तम पक्व अन्न तैयार करनेका उपदेश है। उत्तम अन्न पकाना स्त्रियोंका मुख्य गृहकृत्यही है।

उन्नीसवें मंत्रमें कहा है कि पितामह, पिता, पुत्र आदि १५ पुरुषोंतक अविच्छिन्न वंश हो। घरमें ऐसा खानपान रहना चाहिये और ऐसी सुव्यवस्था होनी चाहिये कि, वंश बीचमें न टूटे, पुरुष दीर्घायु हों और अटूट वंश हो। पंद्रह पुरुषोंतक कमसे कम वंश अटूट रहे, आगे जितना रहेगा उतना अच्छाही है, परंतु कमसे कम इतना तो अवश्य रहे। यह सब ब्रह्मौदन अर्थात ज्ञान बढानेवाले अन्नसे होता है। ब्रह्मौदनका अर्थ बुद्धिवर्धक अन्न है। इससे बुद्धि बढती है और बुद्धिसे यह सीधा मार्ग दीखता है। इससे मनुष्य (रक्षः सुरस्व) राक्षसोंको दूर कर सकता है और अपने आपको आगे बढा सकता है।

आगे बाईसवें मंत्रमें कहा है कि (शपथः अभिचारः मा प्रापत्) शापों और हमलोंसे यह दूर रहे। शरीरमें रोग न हों। सब प्रकारसे कुशलता रहे। पाठक जान सकते हैं कि शरीरकी नीरोगिता शरीर शुद्ध रहनेसे होती है, वाणीकी नीरोगिता शाप गालियाँ आदि न होनेसे होती है और समाजकी नीरोगिता वधादिके अपराध न होनेसे हो सकती है। शरीर, वाणी और समाज निरोग रहने चाहियें। यदि यह इच्छा है तो सर्वत्र निर्दोषता रखनी चाहिये। कुपथ्यसे शरीरमें रोग होते हैं, अपशब्दोंसे वाणी रोगी होती है और अपराधकी वृत्तिसे समाज रोगी होता है।

पाठकोंको उचित है कि वे अपने इन सब क्षेत्रोंमें स्वास्थ्य रखने का यत्न करें ।

तेईसवें मंत्रमें चावल आदि अन्न तैयार होनेपर उसको परोसनेकी विधि बतायी है । चौबीसवें मंत्रमें कडछीका उपयोग करके चावलोंको ठीक करनेको कहा है । पच्चीसवें मंत्रमें कहा है कि—

आशितारः मा रिषन् ।

अन्न भक्षण करनेवाले कृश या रोगी न हों । अन्न ऐसा उत्तम हो कि जिससे खानेवाले तृप्त होकर पुष्ट होते जांय । पकानेवालेका यही चातुर्य है कि खानेवाले उसे आनंदसे खाय और प्रसन्न रहें और पुष्ट हों । ऐसा अन्न पकाकर उत्तम विद्वानोंको खिलाना चाहिये । यह सूचना २६ वें मंत्रमें कही है ।

विवाह ।

सत्ताईसवें मंत्रने विवाहका विषय संक्षेपसे कहा है । स्त्रियां (शुद्धाः पूताः योषितः यज्ञियाः) शुद्ध, पवित्र और पूज्य हैं, यह शब्द यहां बहुतही महत्त्व रखता है । स्त्रियोंकी निंदा नहीं करनी चाहिये, उनकी घर घरमें पूजा होनी चाहिये । जहां इनकी पूजा होगी वहां पवित्रता रहेगी और पवित्रतासे उच्चता साध्य होगी । यह वर्णन स्त्रियोंका दर्जा समाजमें कैसा उच्च है, इसका स्पष्ट निर्देश कर रहा है ।

इन स्त्रियोंका विवाह ज्ञानियोंके साथ करना चाहिये । (ब्रह्मणां हस्तेषु प्र पृथक् सादयामि) ज्ञानियोंके हाथमें पृथक् पृथक् एक एकके हाथमें एक एकही देना योग्य है । एक पुरुष अनेक स्त्रियां न करें, एक स्त्री अनेक पुरुषोंके साथ संबंध न करे । एक स्त्री एकही पुरुषके साथ रममाण हो और एक पुरुष एकही स्त्रीके साथ आनंदके साथ रहे । यह आदर्श गृहस्थाश्रमका वर्णन यहां अति संक्षेपके साथ किया है । इस मंत्रका ' पृथक् ' शब्द बडा महत्त्वका है । इसी शब्दके कारण विवाहका नियम स्पष्ट हो जाता है ।

आगे अठ्ठाईसवें मंत्रमें गृहस्थाश्रममें ' कामधेनु ' (कामदुघा) रखनी चाहिये यह आदेश है । घर घरमें गौका पालन होना चाहिये । कामधेनु वह है कि जो इच्छा होनेके समय दूध देती है । घरमें छोटे बालक, वृद्ध और रोगी होंगे, उनका रक्षण इस गौके दूधसे होगा । इस गौमाताका यह महत्त्व है । गृहस्थियोंको तीन बातोंका ख्याल करना चाहिये । (ज्योतिः अमृतं हिरण्यं) तेजस्वी जीवन, अमरत्व और सुवर्ण । सुवर्ण अर्थात् सोनेका महत्त्व हरएक जानता है, गृहस्थीके हरएक व्यवहारमें इसका काम पडता है । सबही दैनिक और सार्वकालिक व्यवहार धनसे साध्य होते हैं । अमृत नाम मोक्षका है, यही अमरत्व है। सब जगत् मृत्युसे घेरा गया है । उस मृत्युके पाशको तोडकर अमरत्व प्राप्त करना मनुष्यका जीवनोद्देश्य है । सब धर्म कर्म इसी उद्देश्यसे किये जाते हैं । इसी तरह तेजस्वी जीवन यहां व्यतीत करना चाहिये । इसी तरह (स्वर्गः पन्थाः कृण्वे) स्वर्गीय मार्ग बनता है । स्वर्ग मार्गके ये तीन पहलू हैं । धन यहांके सुखके लिये चाहिये, तेजस्वी जीवन यहांके सन्मानके लिये चाहिये और अमरपन पारमार्थिक उन्नतिके लिये चाहिये । स्वर्गका यह स्वरूप यहां पाठक देखें ।

गृहराज ।

उनतीसवें मंत्रमें ' गृहराजस्य भागं ' गृहराजके कार्यभागका वर्णन है । गृहराज घरका स्वामी है, अथवा घरोंमें जो श्रेष्ठ घर है उसमें कौनसा कार्य होना चाहिये ? तुषों और छिलकोंको अलग करके स्वच्छ चावलोंको अपने पास रखना चाहिये । यही नियम सर्व व्यवहारको करनेके समय ध्यानमें रखना चाहिये । छिलकोंको हटाना और सारद्रव्यको अपने पास रखना चाहिये । पाठक जिस व्यवहारमें देखेंगे उस व्यवहारमें उत्तम सिद्धिका यही एकमात्र नियम है। पढाईमें भी देखिये तत्त्वज्ञानको स्वीकारना चाहिये, कच्चे ग्रंथोंको दूर हटाना चाहिये ।

एक भाग निर्ऋतिका अथवा नाशका होता है और दूसरा उन्नतिका होता है । विनाश करनेवाले भागको दूर करो और उन्नतिके भागको अपने पास रखो, यही सीधा सादा नियम है । जो इसको पकडेंगे वे उन्नत होंगे इसमें संदेहही नहीं है ।

(श्राम्यतः, पचतः, सुन्वतः विद्धि) परिश्रम करनेवाले, पकानेवाले और रस निकालनेवाले कौन हैं, इसको जानो । परिश्रम करनेसेही मानवोंकी उन्नति होती है; अतः परिश्रम करनेका स्वभाव मनुष्यको अपनाना चाहिये, परिपक्व बनाना भी चाहिये । हरएककी परिपक्व अवस्था उत्तम होती है, वही प्राप्त करनी चाहिये, तथा रसग्रहण करनेका यत्न करना चाहिये । वनस्पतिमें सारभूत रस होता है, उस सारभूत रसका ग्रहण करना चाहिये और अवशिष्ट साररहित भागको फेंक देना चाहिये । यह उपदेश व्यापक

दृष्टिसे विशेषही उपयोगी है। स्वर्गपर चढनेके लिये ये तीन उपदेश अत्यन्त महत्त्वके हैं।

(घृतेन गात्रानु सर्वा विमृड्ढि) घीसे सब गात्रोंकी मालिश करो। शरीरावयवोंकी सुस्थितिके लिये घीकी मालिश आवश्यक है। घीकी मालिश पावोंके तलोंपर करनेसे आंख उत्तम अवस्थामें रहते हैं, संधिस्थानोंपर मालिश करनेसे संधिरोग नहीं होते, सिरपर मालिश करनेसे मस्तिष्क शान्त रहता है और गरमी हटती है, इसी तरह अन्यान्य अवयवोंपर मालिश करनेसे अनेक लाभ होते हैं। इसके अतिरिक्त विविध औषधियोंसे घृतको सुसंस्कृत करनेसे घीके गुण बढ जाते हैं। जैसा ब्राह्मी घृत बनानेसे उसकी मस्तकपर मालिश बुद्धिसहायक और गर्मी हटानेवाली होती है इसी तरह आमलक्यादि चूर्ण तथा अन्यान्य घृत वैद्यशास्त्रमें प्रसिद्ध हैं। इनकी शरीरपर मालिश बडी लाभदायक है। यह बात इकतीसवें मंत्रमें कही है।

पोषक अन्न।

अन्न घर घरमें पकाना चाहिये, वह पोषक अन्न होना चाहिये (प्राशितारः मा रिषन्) उस अन्नको खानेवाले कभी दुखी नहीं होने चाहिये, कभी हिंसित नहीं होने चाहिये, कभी क्षीण नहीं होने चाहिये। ऐसा अन्न गृहस्थीके घरमें पकाया जावे यह सूचना ३२ वें मंत्रमें की है।

जो अन्न परिपक्व किया हो वह (आर्षेयेषु निदध्मे) ऋषि-प्रणालीके अनुसार चलनेवालोंके लिये समर्पित करना चाहिये। न कि (न अनार्षेयाणां) ऋषिप्रणालीको छोडनेवालोंको कुछ समर्पण करना है। ऋषिप्रणालीको संजीवित रखनेके लिये ही हरएकको प्रयत्न करना चाहिये।

घर कैसा हो !

घर ऐसा हो कि जहां (यज्ञं दुहानं) सदा यज्ञ होते रहें, (सदनं रयीणां) ऐश्वर्योंका स्थान हो, (प्रपीनं धर्म) पुष्टि और समृद्धिका केन्द्र हो, (पोषैः प्रजाअमृतत्वं) अनेक पुष्टिके साधनोंके साथ प्रजाजनोंको अमृतत्व देनेवाला हो। जहां (धेनुः) गौ होती हो और धनसंपत्तियोंके साथ [दीर्घं आयुः] दीर्घायु लोग हों, घर ऐसा हो। घरमें ये बातें रहें। घरमें धनकी कमी न हो, ऐश्वर्य की समृद्धि हो, गौवें दूध देनेवाली हों, हरएक हृष्टपुष्ट हो, सत्कारसंगतिशिक्षानात्मक यज्ञ होता रहे, सब लोग आनंदप्रसन्न रहें, कोई दुखी कहीं न हो। यह उपदेश ३४ वें मंत्रमें है।

३५ वें मंत्रमें [वृषभः असि] तू बलवान् है, तू निर्बल नहीं है, तू (स्वर्गः असि) स्वर्गका अधिकारी है, तू सुखात्मक स्थानका अधिकारी है। अतः जिस मार्गसे ऋषिलोग गये और जिस मार्गसे ऋषियोंको सुखसे स्थान प्राप्त हुए उस मार्गसे तू जा। वही सुकृतियोंका लोक है, वहां जाकर रह, हमारी संस्कृतिका यही ध्येय है।

आगेके मंत्रमें कहते हैं कि (देवयानान् पथः कल्पय) देवोंके आनेजानेके मार्गोंको सुदृढ कर, वे ही मार्ग तुम्हारे लिये आनेजानेके लिये हैं, (एतैः सुकृतैः यज्ञं अनुगच्छेम) इन सुकृतोंके साथ हमको यज्ञकी ओर जाना चाहिये। सुकृत करते करते आगे बढना चाहिये। सुकृत करनेमें पीछे हटना उचित नहीं है। सदा सत्कर्म ही मनुष्यमात्रका मार्गदर्शक हो। मनुष्य उससे पीछे न रहे।

आज जो स्वर्गमें देव हैं वे इसी मार्गसे तेजस्वी बने हैं। अतः मनुष्यको इसी यज्ञमार्गका अवलंबन करना चाहिये।

इस तरह अनेक प्रकारका उपदेश इस सूक्तमें किया है, जिसका मनन करनेसे पाठकोंको सन्मार्ग सुस्पष्ट रीतिसे दीख सकता है।

रुद्र-देव।

[२]

[ऋषिः– अथर्वा। देवता-भव-शर्व-रुद्र]

भवाशर्वौ मृडतं माऽभि यातं भूतपती पशुपती नमो वाम्।
प्रतिहितामायतां मा वि स्राष्टं मा नो हिंसिष्टं द्विपदो मा चतुष्पदः ॥ १ ॥
शुने क्रोष्ट्रे मा शरीराणि कर्तमलिक्लवेभ्यो गृध्रेभ्यो ये च कृष्णा अविष्यवः।
मक्षिकास्ते पशुपते वयांसि ते विघसे मा विदन्त ॥ २ ॥
क्रन्दाय ते प्राणाय याश्च ते भव रोपयः। नमस्ते रुद्र कृण्मः सहस्राक्षायामर्त्य ॥ ३ ॥
पुरस्तात् ते नमः कृण्म उत्तरादधरादुत। अभीवर्गाद् दिवस्पर्यन्तरिक्षाय ते नमः ॥ ४ ॥
मुखाय ते पशुपते यानि चक्षूंषि ते भव। त्वचे रूपाय संदृशे प्रतीचीनाय ते नमः ॥ ५ ॥
अङ्गेभ्यस्त उदराय जिह्वाया आस्याय ते। दद्भ्यो गन्धाय ते नमः ॥ ६ ॥

अर्थ— हे [भवाशर्वौ] भव और शर्व! हे उत्पादक और संहारक! आप दोनों [मृडतं] हम सबको सुखी करें। [माऽभियातं] हमपर हमला न करें। आप दोनों [भूतपती, पशुपती] भूतोंके पालक और पशुओंके पालक हैं। [वां नमः] आप दोनोंको नमस्कार है। [प्रतिहितां आयतां मा वि स्राष्टं] धनुषपर रखे और खींचे गये बाणको हमपर न छोडें, [नः द्विपदः चतुष्पदः मा हिंसिष्टं] हमारे द्विपाद और चतुष्पादोंकी हिंसा न करें ॥ १ ॥

जो [कृष्णाः अविष्यवः] काले और हिंसक कृमि हैं, उन (शुने क्रोष्ट्रे) कुत्ते और गीदडोंके लिये तथा (अलिक्लवेभ्यः गृध्रेभ्यः) कठोर शब्द करनेवाले गीधोंके लिये (शरीराणि मा कर्त) शरीरोंको मत काटो। हे [पशुपते] पशुओंके पालक! [ते मक्षिकाः ते वयांसि] तेरी मक्खियां और कौवे (विघसे मा विदन्त) खानेके लिये उन कटे शरीरोंको न प्राप्त करें, अर्थात् आप हमारे शरीरोंका इस तरह नाश न करें ॥ २ ॥

हे (भव) सबके उत्पन्नकर्ता देव! [ते क्रन्दाय प्राणाय] तेरे शब्दरूपी प्राणके लिये नमस्कार हो। [ते याः रोपयः] तेरे जो शक्तिप्रभाव हैं, हे [अमर्त्य रुद्र] अमर रुद्रदेव! [सहस्राक्षाय ते नमः कृण्मः] सहस्र नेत्रवाले तुझ देवके लिये नमस्कार करते हैं ॥ ३ ॥

(ते पुरस्तात् उत्तरात् उत अधरात् नमः कृण्मः) तुझे आगेसे ऊपरसे और नीचेसे नमस्कार करते हैं। [अभीवर्गात् दिवः परि अन्तरिक्षाय ते नमः] सब ओरसे द्युलोक और अन्तरिक्ष लोकरूपी तेरे रूपके लिये नमस्कार करते हैं ॥ ४ ॥

हे पशुपते! हे भव! (ते मुखाय नमः] तेरे मुखके लिये नमस्कार है। (यानि ते चक्षूंषि) जो तेरी आंखें हैं, उनको नमस्कार है। तेरे (त्वचे रूपाय संदृशे प्रतीचीनाय नमः) त्वचारूप, दर्शन और पीठके लिये नमस्कार है ॥ ५ ॥

(ते अंगेभ्यः उदराय जिह्वायै आस्याय) तेरे अंगों, उदर, जिह्वा और मुखके लिये नमस्कार है, (ते दद्भ्यः गंधाय नमः) तेरे दांतोंके लिये और गन्धके लिये नमस्कार है ॥ ६ ॥

अस्त्रा नीलशिखण्डेन सहस्राक्षेण वाजिना । रुद्रेणार्धकघातिना तेन मा समरामहि ॥ ७ ॥

स नो भवः परि वृणक्तु विश्वत आप इवाग्निः परि वृणक्तु नो भवः ।
मा नोऽभि मांस्त नमो अस्त्वस्मै ॥ ८ ॥

चतुर्नमो अष्टकृत्वो भवाय दश कृत्वः पशुपते नमस्ते ।
तवेमे पञ्च पशवो विभक्ता गावो अश्वाः पुरुषा अजावयः ॥ ९ ॥

तव चतस्रः प्रदिशस्तव द्यौस्तव पृथिवी तवेदमुग्रोर्वन्तरिक्षम् ।
तवेदं सर्वमात्मन्वद् यत् प्राणत् पृथिवीमनु ॥ १० ॥ (५)

उरुः कोशो वसुधानस्तवायं यस्मिन्निमा विश्वा भुवनान्यन्तः ।
स नो मृड पशुपते नमस्ते परः क्रोष्टारो अभिभाः श्वानः परो यन्त्वघरुदो विकेश्यः ॥ ११ ॥

धनुर्बिभर्षि हरितं हिरण्ययं सहस्रघ्नि शतवधं शिखण्डिनम् ।
रुद्रस्येषुश्चरति देवहेतिस्तस्यै नमो यतमस्यां दिशीतः ॥ १२ ॥

अर्थ(नीलशिखण्डेन वाजिना अस्त्रा) नील शिखावाले बलवान् अस्त्रसे (सहस्राक्षेण अर्धकघातिना रुद्रेण) हजारों आंखों-वाले सबके विनाशक रुद्रसे (मा समरामहि) हम कभी विरुद्ध न रहें ॥ ७ ॥

(सः भवः विश्वतः नः परिवृणक्तु) वह उत्पत्तिकर्ता सब ओरसे हमें सुरक्षित रखे । (आप इव अग्निः) जल जैसे अग्निको घेरता है, वैसाही (भवः नः परिवृणक्तु) उत्पत्तिकर्ता हमें घेर रखे । (नः मा अभि मांस्त) हमे नष्ट न करे, (अस्मै नमः अस्तु) इसको नमस्कार हो ॥ ८ ॥

हे पशुपते ! (भवाय चतुः अष्टकृत्वः नमः) उत्पत्ति करनेवाले देवको चार वार तथा आठ वार नमस्कार हो । [ते दशकृत्वः नमः] तेरे लिये दसवार नमस्कार हो।(इमेपञ्च पशवः तव विभक्ताः) ये पांच पशु तेरे लिये रखे हैं, (गावः) गौवें, (अश्वाः) घोडे,(पुरुषाः) पुरुष, (अजावयः) बकरियां और भेडें हैं ॥ ९ ॥

(तव चतस्रः प्रदिशः) तेरी ये चारों दिशाएं हैं, (तव द्यौः, तव पृथिवी) तेरा द्यु और पृथ्वी लोक है, (तव इदं उग्र उरु अन्तरिक्षं) तेरा ही यह बडा तेजस्वी अन्तरिक्ष है । (इदं सर्वं आत्मन्वत् तव) तेराही यह सब चेतनावाला है, (यत् पृथिवीं अनु प्राणत्) जो पृथिवीपर जीव धारण करता है, वह सब तेरा ही है ॥ १० ॥ (५)

(यस्मिन् इमा विश्वा भुवनानि अन्तः) जिसमें ये सब भुवन हैं, वह (वसुधानः अयं उरुः कोशः) वसुओंका निवासस्थानरूप यह विश्वरूपी बडा कोश (तव) तेराही है । हे (पशुपते) पशुपालक ! (सः नः मृड, ते नमः) वह तू हमे सुख दे, तेरे लिये नमस्कार हो । (क्रोष्टारः अभिभाः श्वानः परः) सियार, गीदड, कुत्ते सब दूर हों । (अघरुद्रः विकेश्यः) बुरे स्वरसे रोनेवाली बालोंको खोलकर चिल्लानेवाली स्त्रियां भी दूर हों, अर्थात् ये शोकके प्रसंग हमारे पास न आवें ॥ ११ ॥

हे (शिखंडिन्) कलगी धारण करनेवाले ! तू [सहस्रघ्नि शतवधं हिरण्ययं हरितं धनुः बिभर्षि) हजारोंका नाश करनेवाला, सैकडोंका वध करनेवाला, सुवर्णमय धातुका धनुष्य धारण करता है । (रुद्रस्य इषुः देवहेतिः चरति) रुद्रका बाण देवोंका शस्त्र विचरता है, वह (इतः यतमस्यां दिशि) जिस दिशामें हो, (तस्मै नमः) उसको नमस्कार हो ॥ १२ ॥

योऽ॑भियातो निलय॑ते त्वां रुद्र निचिकी॑र्षति । पश्चाद॑नुप्रयुं॑क्षे तं विद्धस्य॑ पदनीरि॑व ॥१३॥
भवारुद्रौ सयुजा॑ संविदानावुभावुग्रौ च॑रतो वीर्या॑य । ताभ्यां नमो॑ यतमस्यां॑ दिशीतः॑॥१४॥
नम॑स्तेऽस्त्वायते नमो॑ अस्तु परायते । नम॑स्ते रुद्र तिष्ठ॑त आसी॑नायोत ते नम॑ः ॥१५॥
नम॑ः सायं नम॑ः प्रातर्नमो॑ रात्र्या नमो॑ दिवा॑ । भवाय॑ च शर्वाय॑ चोभाभ्यामकरं नम॑ः ॥१६॥
सहस्राक्षम॑तिपश्यं पुरस्ता॑द् रुद्रमस्य॑न्तं बहुधा वि॑पश्चितम् । मोपा॑राम जिह्वयेय॑मानम् ॥१७॥
श्यावाश्वं॑ कृष्णमसि॑तं मृणन्तं॑ भीमं रथं॑ केशिनः॑ पादय॑न्तम् । पूर्वे प्रती॑मो नमो॑ अस्त्वस्मै ।१८॥
मा नोऽभि स्रा॑ मत्यं॑ देवहेतिं॑ मा नः॑ क्रुधः पशुपते नम॑स्ते ।
अन्यत्रास्मद् दिव्यां॑ शाखां॑ वि धू॑नु ॥ १९ ॥
मा नो॑ हिंसीरधि॑ नो ब्रूहि परि॑ णो वृङ्ग्धि मा क्रु॑धः । मा त्वया॑ सम॑रामहि ॥२०॥ (६)
मा नो॑ गोषु पुरु॑षेषु मा गृ॑धो नो अजावि॑षु । अन्यत्रो॑ग्र वि व॑र्तय पिया॑रूणां प्रजां॑ ज॑हि ॥२१॥

अर्थ—हे रुद्र ! (यः अभियातः निलयते) जो हमला होनेपर छिप जाता है और (त्वां नि चिकीर्षति) तुझे नीचे करना चाहता है, (विद्धस्य पदनीः इव) घायलके पदक्षेपके समान (तं पश्चात् अनु प्रयुंक्षे) उसके पीछेसे तू उसका बदला लेता है ॥ १३ ॥

(भवारुद्रौ सयुजौ संविदानौ) उत्पत्ति करनेवाले और संहार करनेवाले देव मिलकर रहनेवाले ज्ञानी हैं । (उभौ उग्रौ वीर्याय चरतः) वे दोनों तेजस्वी पराक्रमके लिये विचरते हैं । (इतः यतमस्यां दिशि) वे यहांसे जिस दिशामें हों वहां (ताभ्यां नमः) उन दोनोंको नमस्कार हो ॥ १४ ॥

हे रुद्र [आयते परायते तिष्ठते आसीनाय] आनेवाले, जानेवाले, ठहरनेवाले और बैठनेवाले [ते नमः] तुझे नमस्कार हो ॥ १५ ॥

[सायं प्रातः रात्र्याः दिवा नमः] शामको सवेरे रात्रिके समय और दिनके समय नमस्कार हो [भवाय शर्वाय च उभाभ्यां नमः अकरं] भव और शर्व इन दोनोंको नमस्कार करता हूं ॥ १६ ॥

[सहस्राक्षं विपश्चितं बहुधा अस्यन्तं रुद्रं] सहस्रनेत्र ज्ञानी बहुत प्रकारसे शस्त्र फेंकनेवाले रुद्रको [पुरस्तात् अति पश्यं] आगे देखता हूं । [ईयमानं जिह्वया मा उपाराम] उस गतिमान्को हम अपनी जिह्वासे धर्षित न करें ॥ १७ ॥

[श्यावाश्वं कृष्णं असितं मृणन्तं] अश्वयुक्त, आकर्षक, बन्धनरहित, दुःखदायी [भीमं केशिनः रथं पादयन्तं] किरणोंवालोंके बडे भारी रथको भी परास्त करनेवाले [पूर्वे प्रतीमः] पहिले प्राप्त करते हैं और [अस्मै नमः अस्तु] इसको नमस्कार हो ॥ १८ ॥

हे पशुपते ! [मर्त्यं देवहेतिं नः मा अभिस्राः] जानबूझकर फेंका हुआ देवोंका शस्त्र हमारे पास न आवे । [नः मा क्रुधः, ते नमः] हमपर क्रोध न हो, तेरे लिये नमस्कार हो । [अस्मत् अन्यत्र दिव्यां शाखां विधूनु] हमसे दूर दिव्य शाखाको फेंक ॥ १९ ॥

[नः मा हिंसीः] हमारी हिंसा न कर, [नः अधि ब्रूहि] हमें उपदेश कर, [नः परिवृङ्ग्धि] हमारी रक्षा कर, [मा क्रुधः] क्रोध न कर, [त्वया मा समरामहि] तेरे साथ हम विरोध न करें ॥ २० ॥ (६)

हे [उग्र] उग्रवीर ! [नः गोषु पुरुषेषु अजाविषु मा गृधः] हमारी गौवें, मनुष्य, भेड, बकरियोंके विषयमें लालच न कर । (अन्यत्र विवर्तय] दूसरे स्थानपर भयको लेजा । [पियारूणां प्रजां जहि] हिंसकोंकी प्रजाका नाश कर ॥२१॥

यस्यं तुक्मा कासिंका हेतिरेकमश्वंस्येव वृषणः क्रन्द एति ।
अभिपूर्वं निर्णयंते नमों अस्त्वस्मै ॥ २२ ॥

योऽन्तरिक्षे तिष्ठति विष्टंभितोऽयंज्वनः प्रमृणन् देवपीयून् । तस्मै नमों दुशभिः शक्वरीभिः ॥ २३ ॥

तुभ्यमारण्याः पुशवों मृगा वनें हिता हंसाः सुपर्णाः शकुना वयांसि ।
तवं यक्षं पंशुपते अप्स्वं१न्तस्तुभ्यं क्षरन्ति दिव्या आपों वृधे ॥ २४ ॥

शिंशुमारा अजगराः पुरीकया जुषा मत्स्यां रजसा येभ्यो अस्यसि ।
न तें दूरं न परिष्ठास्ति ते भव सद्यः सर्वान् परिं
पश्यसि भूमिं पूर्वस्माद्धंस्युत्तरस्मिन्त्समुद्रे ॥ २५ ॥

मा नों रुद्र तुक्मना मा विषेण मा नः सं स्रा दिव्येनाग्निना ।
अन्यत्रास्मद् विद्युतं पातयैताम् ॥ २६ ॥

भवो दिवो भव ईशे पृथिव्या भव आ पंप्र उुर्व१न्तरिक्षम् ।
तस्मै नमों यतुमस्यां दिशीतः ॥ २७ ॥

अर्थ-[यस्य तक्मा कासिका हेतिः] जिसके हथियार क्षयज्वर और खांसी हैं, [वृषणः अश्वस्य क्रन्दः इव एकं एति]बल-वान् घोडेके हिनहिनानेके स्वरके समान निःसन्देह एक पुरुषपर जिसका हथियार जाता है, [अभि पूर्वं निर्णयते] जो पहिलेही निश्चय करता है, [अस्मै नमः अस्तु] इसके लिये नमस्कार है ॥ २२ ॥

[यः अन्तरिक्षे विष्टभितः तिष्ठति] जो अन्तरिक्षमें स्थिर रहता है और [अयज्वनः देवपीयून् प्रमृणन्] यज्ञ न कर-नेवाले देवोंके द्वेषकोंका नाश करता है, (तस्मै दशभिः शक्वरीभिः नमः] उसको दश शक्तियोंसे हमारा नमस्कार है ॥ २३ ॥

(आरण्याः पशवः वने हिताः मृगाः) अरण्यमें उत्पन्न जंगलमें रहनेवाले मृग आदि पशु तथा (हंसाः सुपर्णाः शकुना वयांसि तुभ्यं) हंस गरुड शकुनि और अन्य पक्षीगण ये सब तेरेही हैं । हे पशुपते ! [तव यक्षं अप्सु अन्तः] तेरा पूज्य आत्मा जलोंके अन्दर है, (तुभ्यं दिव्याः आपः वृधे क्षरन्ति) तेरे लिये दिव्य जल बधाईके लिये गिरते हैं ॥२४॥

[शिशुमाराः अजगराः पुरीकयाः] घडियाल, अजगर, कछुए, (जषाः मत्स्याः रजसा येभ्यः अस्यसि) मछलियां और जलजन्तु मलिन प्राणी जिनपर तू अपना शस्त्र फेंकता है । इनमेंसे (न ते दूरं, न ते परिष्ठाः) दूर कोई नहीं है, न कोई तेरेसे भिन्न स्थानपर है, तू तो (सर्वान् सद्यः परिपश्यसि) सबको एकही वार देखता है, और (पूर्वस्मात् उत्तर-स्मिन् समुद्रे भूमिं हंसि] पूर्वसे उत्तर समुद्रतक व्यापनेवाली सब भूमिपर आघात करता है ॥ २५ ॥

हे रुद्र ! (तक्मना नः मा संस्राः] ज्वरसे हमें पीडा न हो, (विषेण मा) विषबाधा न हो, [दिव्येन अग्निना मा] दिव्य अग्निसे कष्ट न हों । [अस्मात् अन्यत्र एतां विद्युतं पातय) हमसे भिन्न दूसरे स्थानपर इस बिजलीको गिरा ॥ २६ ॥

[भवः दिवः ईशे] भव द्युलोकका ईश्वर है, [भवः पृथिव्याः] भव पृथ्वीका स्वामी है । [भवः उरु अन्तरिक्षं आपप्रे] भव बडे अन्तरिक्षमें व्यापक है । वह (इतः यतमस्यां दिशि तस्मै नमः] यहांसे जिस दिशामें हो वहां हमारा नम-स्कार उसके लिये है ॥ २७ ॥

भवं राजन् यजमानाय मृड पशूनां हि पशुपतिर्बभूथ ।
यः श्रद्दधाति सन्ति देवा इति चतुष्पदे द्विपदेऽस्य मृड ॥ २८ ॥
मा नो महान्तमुत मा नो अर्भकं मा नो वहन्तमुत मा नो वक्ष्यतः ।
मा नो हिंसीः पितरं मातरं च स्वां तन्वं रुद्र मा रीरिषो नः ॥ २९ ॥
रुद्रस्यैलबकारेभ्योऽसंसूक्तगिलेभ्यः । इदं महास्येभ्यः श्वभ्यो अकरं नमः ॥ ३० ॥
नमस्ते घोषिणीभ्यो नमस्ते केशिनीभ्यः । नमो नमस्कृताभ्यो नमः संभुञ्जतीभ्यः ॥
नमस्ते देव सेनाभ्यः स्वस्ति नो अभयं च नः ॥ ३१ ॥(७)

॥ इति प्रथमोऽनुवाकः ॥ १ ॥

अर्थ–हे [राजन् भव] उत्पादक देवराज ! [यजमानाय मृड] यजमानको सुखी कर, [पशूनां पशुपतिः हि बभूथ] तू पशुओंका स्वामी हो । [यः श्रद् दधाति) जो श्रद्धा रखता है, [देवाः सन्ति इति] देवताएं हैं ऐसा मानता है, [अस्य द्विपदे चतुष्पदे मृड) उसके द्विपाद और चतुष्पदोंको सुखी कर ॥ २८ ॥

[नः महान्तं मा हिंसीः] हमारे बडोंकी हिंसा न कर, [नः अर्भकं मा] हमारे बालकोंकी हिंसा न कर, [नः वहन्तं मा] हमारे समर्थ पुरुषकी हिंसा न कर, [नः वक्ष्यतः मा) हमारे बलवान बननेवालोंकी हिंसा न कर । [नः पितरं मातरं च मा हिंसीः] हमारे पिता माताकी हिंसा न कर, हे रुद्र [नः स्वां तन्वं मा रीरिषः] हमारे शरीरोंको दुखी न कर ॥ २९ ॥

[रुद्रस्य ऐलबकारेभ्यः असंसूक्तगिलेभ्यः] रुद्रके भयानक शब्द करनेवाले अस्पष्ट शब्द करनेवाले [महास्येभ्यः श्वभ्य] बडे मुखवाले कुत्तोंको [इदं नमः अकरं] यह नमस्कार करता हूं ॥ ३० ॥

हे देव ! [ते घोषिणीभ्यः केशिनीभ्यः] तेरी बडा शब्दघोष करनेवाली केश रखनेवाली, [नमस्कृताभ्यः संभुञ्जतीभ्यः] नमस्कारोंसे सत्कृत और उत्तम अन्नभोग करनेवाली [ते सेनाभ्यः नमः] तेरी सेनाओंके लिये नमस्कार हो, [नः स्वस्ति अभयं च] हमारा कल्याण हो और हमारे लिये निर्भयता हो ॥ ३१ ॥ ॥ ७ ॥

प्रथम अनुवाक समाप्त ॥ १ ॥

भव और शर्वके सूक्तका आशय।

यह सूक्त " भव और शर्व " देवताके वर्णनपर है। कोई यहां यह न समझे कि भव और शर्व ये देवताएं परस्पर भिन्न हैं। ' भवाशर्वौ ' ऐसा द्विवचनी प्रयोग है, तथापि एकही देवताके ये दो गुण हैं। सर्व विश्वमें व्यापनेवाली एकही देवता है, वह सृष्टिकी उत्पत्ति करती है इसलिये उसका नाम ' भव ' है और वह सबका संहार करती है इसलिये उसी देवताका नाम 'शर्व' है।

पुराणोंमें भी भव और शर्व ये दो नाम एकही रुद्र देवके हैं, वही बात वेदके इस सूक्तमें है और अन्यत्र भी जहां जहां भव शर्व आदिनाम आये हैं वहां ऐसाही अर्थ समझना योग्य है। इस सूक्तमें रुद्र, भव, शर्व, पशुपति, आदि शब्द आये हैं, जो उस एकही परमेश्वरके वाचक हैं।

प्रथम मंत्रमें इस देवताके दो गुणोंका स्मरण कराया है। यहां सूचना मिलती है कि यदि दो गुणोंके कारण एकही देवताके दो देव माने जा सकते हैं, तो अनेक गुणोंके कारण एकही ईश्वरकी अनेक देवताएं मानना संभव है। वैदिक धर्ममें अनेक देवताओंकी कल्पना इस प्रकार एकही परमात्मापर अधिष्ठित है। एक ईश्वरके अनेक गुणोंकी अनेक देवताएं मानी गयी हैं।

ईश्वरके मारक गुणको शर्व करके यहां कहा है, यह देवता अपना मारण, हिंसन अथवा विनाशक कार्य जिन साधनोंसे करती है उनकी गिनती इस सूक्तके अनेक मंत्रोंमें की है — कुत्ते, गीदड, सियार, मक्खियां, कौवे, अस्त्र, शस्त्र, धनुष्य, बाण विद्युत् अग्नि, ज्वर, क्षय ये मारणसाधन हैं। मक्खियोंको रुद्रके मारक साधनोंमें रखा है, वह बात पाठक विशेष रीतिसे स्मरण रखें। मक्खियोंके कारण अनेक रोग फैलते हैं और प्राणियोंका संहार होता है। अतः रोगोंसे बचनेके लिये चारों ओर स्वच्छता करनी चाहिये जिससे मक्खियां न होंगी, और मनुष्य रोगोंसे बचेंगे। इसी तरह अन्यान्य मारणसाधनोंके विषयमें जानना चाहिये। [मंत्र २ देखो]

आगे मंत्र ७ तक रुद्रके अंगप्रत्यंगोंको नमस्कार कहा है। यह एक मृत्यु देवताका उपासना प्रकार है। सातवें मंत्रमें रुद्रसे विरोध न हो ऐसी इच्छा प्रकट की है। यही भाव आगेके कई मंत्रोंमें है (मा समरामहि) येही शब्द आयेके कई मंत्रोंमें बारबार आगये हैं।

नवम मंत्रमें अनेकबार रुद्रके लिये नमन किया है। दशम मंत्रमें कहा है कि इस रुद्रदेवताके आधीनही संपूर्ण विश्व है। इसी कथनसे विश्वनियामक देवही मारकभावके भिन्नसे इस नाम से यहां कहा है ऐसा स्पष्ट हो जाता है। क्योंकि सब विश्वका नियंता देव एकही है।

चौदहवें मंत्रमें भव और शर्व ये दो नाम फिर आये हैं। यहां द्विवचन देखनेसे ये दो देव परस्पर भिन्न हैं। ऐसी कई-योंको शंका हो सकती है, परंतु ये दो देव गुणतः भिन्न परंतु स्वरूपतः एक हैं, इसका स्पष्टीकरण इसके पूर्व किया जा चुका है। आगे १९ वें मंत्रतक रुद्रदेवको नमनही किया है। आगे तीन मंत्रोंमें मृत्यु दूर करनेकी प्रार्थना है।

तेईसवें मंत्रमें रुद्रदेव इस अन्तरिक्षमें व्यापता है ऐसा कह-कर देवविरोधियोंका नाश करता है, यह भी कहा है। यह सर्वव्यापक देवका ही वर्णन निःसंदेह है। आगेके दो मंत्रोंमें सब प्राणी उसी एक देवके आधारसे रहते हैं, वह देव सबको समदृष्टीसे देखता है और विघातक शत्रुका नाश करता है इत्यादि वर्णन देखनेयोग्य है।

सत्ताईसवें मंत्रमें यह देव संपूर्ण स्थिरचर जगत्का ईश है यह स्पष्ट शब्दोंसे कहा है। यह मंत्र पढनेसे ही संपूर्ण विश्वका एक प्रभु है, इसमें संदेह ही नहीं रह सकता। आगेके मंत्रमें यह देव (भव) विश्वका राजा है ऐसा कहा है। इसके अति-रिक्त (देवाः सन्ति) देवीशक्तियां इस जगत्में कार्य कर रही हैं ऐसा जो (यः श्रद्दधाति) श्रद्धापूर्वक मानता है वही सुखी होता है, यह कथन विशेष महत्त्वका है। इस जगत् का प्रभु एक है और उसकी अनंत शक्तियां इस विश्वमें कार्य कर रही हैं। यदि यह कल्पना पाठकोंको ठीक तरह हो जायगी, तो मनुष्यके दिव्य बन जानेमें कोई संदेह ही नहीं है।

आगेके मंत्रोंमें सर्व साधारण निर्भयताकी प्रार्थना है। इस प्रकार इस सूक्तका आशय है।

--०--

विराड् अन्न ।

[३]

(ऋषिः-- अथर्वा । देवता--ओदनः)

तस्यौदनस्य बृहस्पतिः शिरो ब्रह्म मुखम् ॥ १ ॥
द्यावापृथिवी श्रोत्रे सूर्याचन्द्रमसावक्षिणी सप्तऋषयः प्राणापानाः ॥ २ ॥
चक्षुर्मुसलं काम उलूखलम् ॥ ३ ॥
दितिः शूर्पमदितिः शूर्पग्राही वातोऽपाविनक् ॥ ४ ॥
अश्वाः कणा गावस्तण्डुला मशकास्तुषाः ॥ ५ ॥
कब्रु फलीकरणाः शरोऽभ्रम् ॥ ६ ॥
श्याममयोऽस्य मांसानि लोहितमस्य लोहितम् ॥ ७ ॥
त्रपु भस्म हरितं वर्णः पुष्करमस्य गन्धः ॥ ८ ॥
खलः पात्रं स्फ्यावंसावीषे अनूक्ये ॥ ९ ॥
आन्त्राणि जत्रवो गुदा वरत्राः ॥ १० ॥

अर्थ-- (तस्य ओदनस्य बृहस्पतिः शिरः) उस अन्न का बृहस्पति सिर है, [ब्रह्म मुखं) ब्राह्मण मुख है ॥ १ ॥ (द्यावापृथिवी श्रोत्रे) द्यु और पृथ्वी कान हैं, (सूर्याचन्द्रमसौ अक्षिणी) सूर्य और चन्द्र आंखें है, (सप्तऋषयः प्राणापानाः) सात ऋषि प्राण और अपान हैं ॥ २ ॥ (मुसलं चक्षुः, उलूखलं कामः) मुसल दृष्टि है और उलूखल काम है ॥ ३ ॥ (दितिः शूर्पं) विभाग छाज है, [अदितिः शूर्पग्राही] अविभक्तता सूपको पकडनेवाली है, [वातः अपाविनक्] वायु तुषोंको पृथक् करनेवाला है ॥ ४ ॥ [कणाः अश्वाः] अन्न के कण घोडे है, [तण्डुलाः गावः] चावल गौवें हैं, [तुषाः मशकाः] तुष मशक-मच्छर हैं, ॥ ५ ॥ [फलीकरणाः कब्रु] टुकडे ये दृश्य हैं, [अभ्रं शरः] मेघ ही ऊपरका छिलका है ॥ ६ ॥ [श्यामं अयः अस्य मांसानि] काला लोहा इसके मांस हैं, [लोहितं अस्य लोहितं] लाल लोहा इसका रक्त है ॥ ७ ॥ (त्रपु भस्म) टीन-कथिल इसका भस्म है, (हरितं वर्णः) हरा इसका वर्ण है, [पुष्करं अस्य गन्धः] पुष्कर इसका गन्ध है ॥ ८ ॥ (खलः पात्रं) खल इसका पात्र है, (स्फ्यौ अंसौ) दोनों स्फ्य नामक यज्ञसाधन कंधे हैं, [ईषे अनूक्ये] ईषा नामक साधन हंसली की हड्डी है ॥ ९ ॥ [जत्रवः आन्त्राणि] रस्सियां आंतें हैं और [वरत्राः गुदाः] बैल जोडनेके चर्म गुदा है ॥ १० ॥

इयमेव पृथिवी कुम्भी भवति राध्यमानस्यौदनस्य द्यौरपिधानम् ॥ ११ ॥
सीताः पर्शवः सिकता ऊबध्यम् ॥ १२ ॥
ऋतं हस्तावनेजनं कुल्योपसेचनम् ॥ १३ ॥
ऋचा कुम्भ्यधिहितार्त्विज्येन प्रेषिता ॥ १४ ॥
ब्रह्मणा परिगृहीता साम्ना पर्यूढा ॥ १५ ॥
बृहदायवनं रथन्तरं दर्विः ॥ १६ ॥
ऋतवः पक्तार आर्तवाः समिन्धते ॥ १७ ॥
चरुं पञ्चबिलमुखं घर्मोऽभीन्धे ॥ १८ ॥
ओदनेन यज्ञवचः सर्वे लोकाः समाप्याः ॥ १९ ॥
यस्मिन्त्समुद्रो द्यौर्भूमिस्त्रयोऽवरपरं श्रिताः ॥ २० ॥
यस्य देवा अकल्पन्तोच्छिष्टे षडशीतयः ॥ २१ ॥
तं त्वौदनस्य पृच्छामि यो अस्य महिमा महान् ॥ २२ ॥
स य ओदनस्य महिमानं विद्यात् ॥ २३ ॥
नाल्प इति ब्रूयान्नानुपसेचन इति नेदं च किं चेति ॥ २४ ॥
यावद् दाताभिमनस्येत तन्नाति वदेत् ॥ २५ ॥

अर्थ- [राध्यमानस्य ओदनस्य] पकाये जानेवाले चावलोंकी [इयं एव पृथिवी कुंभी भवति] यही भूमि डेगची होती है, और [द्यौः अपिधानं] द्युलोक ढक्कन होता है ॥ ११ ॥ [सिताः पर्शवः] हल पसुलियां और [सिकताः ऊबध्यं] रेत और मलस्थान है ॥ १२ ॥ [ऋतं हस्तावनेजनं] सत्य ही हाथ धोनेवाला जल है, [कुल्या उपसेचनं] नहरें जलसिंचन हैं ॥ १३ ॥ [ऋचा कुंभी अधिहिता] ऋग्वेदमंत्र द्वारा डेगची रखी गई है, [आर्त्विज्येन प्रेषिता] यजुर्वेदद्वारा हिलाई गई ॥ १४ ॥ [ब्रह्मणा परिगृहीता] अथर्ववेद द्वारा पकडी गई और [साम्ना पर्यूढा] सामवेदसे ढांकी गई है। ॥ १५ ॥ [बृहत् आयवनं, रथंतरं दर्विः] बृहत्साम मिलानेवाला है और रथन्तर साम कडछी है ॥ १६ ॥ [ऋतवः पक्तारः, आर्तवः समिन्धते] ऋतु पकानेवाले हैं और ऋतुके दिन अग्नि प्रदीप्त करते हैं ॥ १७ ॥ [पञ्चबिलं मुखं चरुं घर्मः अभीन्धे] पांच मुखवाले देगचीमें रहनेवाले चावलको गर्मी उबालती है ॥ १८ ॥ इस [ओदनेन यज्ञवचः सर्वे लोकाः समाप्याः] अन्नसे यज्ञद्वारा मिलनेवाले सब लोक प्राप्त होते हैं ॥ १९ ॥ [यस्मिन् समुद्रः द्यौः भूमिः त्रयः] जिसमें समुद्र द्युलोक भूमि ये तीनों [अवरपरं श्रिताः] ऊपर नीचे आश्रित हुए हैं ॥ २० ॥ [यस्य उच्छिष्टे षट् अशीतयः देवाः] जिसके शेष भागमें छः गुणा अस्सी देव [अकल्पयन्त, समर्थ बने हैं ॥ २१ ॥ [त्वा ओदनस्य तं पृच्छामि] तुझसे मैं उस अन्नकी उस महिमा को पूछता हूं [यः अस्य महान् महिमा] जो इसका महान् महिमा है ॥ २२ ॥ [सः यः ओदनस्य महिमानं विद्यात्] वह जो इस अन्नकी महिमाको जानता है ॥ २३ ॥ वह [अल्पः इति न ब्रूयात्] थोडा है ऐसा न कहे, [अनुपसेचन इति न] जलका अभाव है ऐसा भी न कहे, [इदं च किं इति न] यह थोडा है ऐसा भी न कहे ॥ २४ ॥ [यावत् दाता अभिमनस्येत् तत् न अतिवदेत्] जितनी दाताकी इच्छा हो उसे कम न कहे ॥ २५ ॥

ब्रह्मवादिनो वदन्ति पराञ्चमोदनं प्राशी३ः प्रत्यञ्चा३मिति ॥ २६ ॥
त्वमोदनं प्राशी३स्त्वामोदना३ इति ॥ २७ ॥
पराञ्चं चैनं प्राशीः प्राणास्त्वा हास्यन्तीत्येनमाह ॥ २८ ॥
प्रत्यञ्चं चैनं प्राशीरपानास्त्वा हास्यन्तीत्येनमाह ॥ २९ ॥
नैवाहमोदनं न मामोदनः ॥ ३० ॥ ओदन एवौदनं प्राशीत् ॥ ३१ ॥ (८)

(२) ततश्चैनमन्येन शीर्ष्णा प्राशीर्येन चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन्। ज्येष्ठतस्ते प्रजा मरिष्यती-
त्येनमाह । तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम् । बृहस्पतिना शीर्ष्णा ।
तेनैनं प्राशिषं तेनैनमजीगमम् । एष वा ओदनः सर्वाङ्गः सर्वपरुः सर्वतनूः ।
सर्वाङ्ग एव सर्वपरुः सर्वतनूः सं भवति य एवं वेद ॥ ३२ ॥
ततश्चैनमन्याभ्यां श्रोत्राभ्यां प्राशीर्याभ्यां चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन् ।
बधिरो भविष्यसीत्येनमाह॥ तं वा० । द्यावापृथिवीभ्यां श्रोत्राभ्याम् ।
ताभ्यामेनं प्राशिषं ताभ्यामेनमजीगमम् । एष वा० ॥ ३३ ॥

अर्थ- [ब्रह्मवादिनः वदन्ति] ब्रह्मज्ञानी लोग कहते हैं कि [पराञ्चं ओदनं प्राशीः प्रत्यञ्चं इति] दूरका चावल तुमने खाया अथवा समीपका खाया ? ॥ २६ ॥ [त्वं ओदनं प्राशीः, त्वां ओदनः इति] तूने अन्नको खाया अथवा अन्नने तुझे खाया? ॥ २७ ॥ [पराञ्चं ओदनं प्राशीः] यदि तूने परला अन्न खाया है तो [त्वा प्राणाः हास्यन्ति इति एनं आह] तुझे प्राण छोड देंगे ऐसा इसे कहता है ॥ २८ ॥

[प्रत्यञ्चं च एनं प्राशीः] यदि सन्मुख का खाया है तो [अपानाः त्वा हास्यन्ति इति एनं आह] अपान तुझे छोडेंगे ऐसा इसे कहे ॥ २९ ॥ [न एव अहं ओदनं] नहीं मैंने अन्नको खाया और [न मां ओदनः] न मुझे अन्नने खाया ॥ ३० ॥ प्रत्युत [ओदनः एव ओदनं प्राशीत्] अन्न ही अन्नको खाया है ॥ ३१ ॥ (८)

[ततः च एनं अन्येन शीर्ष्णा प्राशीः] पश्चात् इसका अन्य सिरसे तू प्राशन करेगा [येन च पूर्वे ऋषयः प्राश्नन्] जिससे पूर्व ऋषियोंने प्राशन किया था उससे न करेगा तो [ज्येष्ठतः ते प्रजा मरिष्यति इति एनं आह] ज्येष्ठको प्रारंभ करके तेरी संतान मर जायगी ऐसा इसे कहे । [तं वा अहं न अर्वाञ्चं न पराञ्चं] उसको मैंने नीचेसे, उरली ओर और परली ओर प्राशन नहीं किया, मैंने [बृहस्पतिना शीर्ष्णा] बृहस्पतिको मुखिया बनाकर [तेन एनं प्राशिषं] उनसे इस अन्नका प्राशन किया, [तेन एनं अजीगमं] उसने इसको प्राप्त किया । अतः [एषः ओदनः सर्वांगः वै] यह अन्न परिपूर्ण है [सर्वपरुः सर्वतनूः] सब अंगों और सब अवयवोंसे युक्त है । इस तरह [य एवं वेद सर्वांगः सर्वपरुः सर्वतनूः भवति] ऐसा जो जानता है वह सर्वांग और सब अंगों और अवयवोंसे युक्त होता है ॥ ३२ ॥

[याभ्यां च एनं पूर्वे ऋषयः प्राश्नन्] जिनसे इसका प्राशन पूर्वऋषियोंने किया था उससे [अन्याभ्यां श्रोत्राभ्यां ततः एनं प्राशीः] भिन्न दूसरे कानोंसे प्राशन करेगा तो [बधिरो भविष्यसि इति एनं आह] बधिर हो जायगा, ऐसा इसे कहे। [तं वा०... द्यावापृथिवीभ्यां श्रोत्राभ्यां] उसको मैंने... द्युलोक और पृथ्वीलोकके कानोंसे [ताभ्यां एनं प्राशिषं] उनसे मैंने प्राशन किया, [ताभ्यां एनं अजीगमम्] उनसे इसको प्राप्त किया० ॥ ३३ ॥

ततश्चैनमन्याभ्यामक्षीभ्यां प्राशीर्याभ्यां चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन् ।
अन्धो भविष्यसीत्येनमाह । तं वा० । सूर्याचन्द्रमसाभ्यामक्षीभ्याम् । ताभ्यामेनं ०।० ०
॥ ३४ ॥ ततश्चैनमन्येन मुखेन प्राशीर्येनं चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन् । मुखतस्ते प्रजा मरिष्यतीत्येनमाह । तं वा० । ब्रह्मणा मुखेन । तेनैनं प्राशिषं तेनैनमजीगमम् । एष वा० ॥ ३५ ॥
ततश्चैनमन्यया जिह्वया प्राशीर्यया चैनं पूर्व ऋषयः प्राश्नन् । जिह्वा ते मरिष्यतीत्येनमाह ।
तं वा । अग्नेर्जिह्वया । तयैनं प्राशिषं तयैनमजीगमम् । एष वा० ।०।०॥ ३६ ॥
ततश्चैनमन्यैर्दन्तैः प्राशीर्यैश्चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन् । दन्तास्ते शत्स्यन्तीत्येनमाह । तं वा०।
ऋतुभिर्दन्तैः । तैरेनं प्राशिषं तैरेनमजीगमम् । एष वा ० । ० ॥ ३७ ॥
ततश्चैनमन्यैः प्राणापानैः प्राशीर्यैश्चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन् । प्राणापानास्त्वा हास्यन्तीत्येनमाह ।
तं वा ० । सप्तर्षिभिः प्राणापानैः । तैरेनं ०। ०।० ॥ ३८ ॥
ततश्चैनमन्येन व्यचसा प्राशीर्येनं चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन् । राजयक्ष्मस्त्वा हनिष्यतीत्येनमाह
। तं वा ०। अन्तरिक्षेण व्यचसा । तेनैनं प्राशिषं तेनैनमजीगमम् । एष वा ।०।०॥ ३९ ॥
ततश्चैनमन्येन पृष्ठेन प्राशीर्येनं चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन् । विद्युत् त्वा हनिष्यतीत्येनमाह ॥
तं वा ०। दिवा पृष्ठेन । तेनैनं ०।०।०॥ ४० ॥

अर्थ- [याभ्यां च एतं पूर्वे ऋषयः प्राश्नन्] जिनसे पूर्व ऋषियोंने प्राशन किया था, उनसे भिन्न [ततः च एनं अन्याभ्यां अक्षिभ्यां प्राशीः] दूसरी आखोंसे तूने इसका सेवन किया तो [अंधः भविष्यसि इति एनं आह] अन्धा हो जायगा ऐसा इसे कहे । [तं वा०... सूर्याचन्द्रमसाभ्यां अक्षीभ्यां ताभ्यां एनं० ...] उसका मैने सूर्यचन्द्रमारूपी आखोंसे सेवन किया इ० ॥ ३४ ॥ [येन च एतं पूर्वे ऋषयः प्राश्नन्] जिससे इसका पूर्व ऋषियोंने सेवन किया उससे भिन्न [ततः च एनं अन्येन मुखेन प्राशीः] दूसरे मुखसे प्राशन करेगा तो [मुखतः ते प्रजा मरिष्यति इति एनं आह] मुखसे तेरी संतान मरेगी ऐसा इसे समझा दो । [तं वा०... ब्रह्मणा मुखेन तेन एनं प्राशिषं तेन अजीगमं] उसका... मैने ज्ञानके मुखसे सेवन किया और उससे इसको प्राप्त किया० ॥ ३५ ॥ (यया एतं पूर्वे ऋषयः प्राश्नन्) जिससे पूर्वके ज्ञानियोंने प्राशन किया था उससे भिन्न [ततः च एनं अन्यया जिह्वया प्राशीः] दूसरी जिह्वासे इसका सेवन करोगे तो [जिह्वा ते मरिष्यति इति एनं आह] तेरी जिह्वा मरेगी ऐसा इसे कह । [तं वा० ... अग्नेः जिह्वया प्राशिषं०] उसका मैने अग्नि की जिह्वासे प्राशन किया० ॥ ३६ ॥

जिनसे पूर्व ऋषियोंने उसका सेवन किया था उससे भिन्न [ततः च एनं अन्यैः दन्तैः प्राशीः] दूसरे अन्य दांतोंसे तूने इसका सेवन किया [दन्ताः ते शत्स्यन्ति इति०] तेरे दांत टूट जांयगे ऐसा इसे कहो । [तं०... ऋतुभिः दन्तैः०] उसका मैंने ऋतुरूपी दांतोंसे प्राशन किया था ॥ ३७ ॥ जिससे पूर्व ऋषियोंने इसका सेवन किया था उससे भिन्न [अन्यैः प्राणापानैः प्राशीः] प्राण अपानोंसे तूने इसका स्वीकार किया तो तेरे प्राण और अपान तुझे छोड देंगे ऐसा कह । उसे मैंने [सप्तर्षिभिः प्राणापानैः०] सप्तऋषिरूप प्राण अपानोंसे मैंने सेवन किया था० ॥ ३८ ॥

जिससे इसको पूर्व ऋषियोंने सेवन किया था उससे भिन्न [अन्येन व्यचसा प्राशीः] दूसरे अन्य प्राणोंसे प्राशन करोगे तो [राजयक्ष्मः त्वा हनिष्यति] राजयक्ष्मा तेरा नाश करेगा ऐसा इससे कह, [तं वै०... अन्तरिक्षेण व्यचसा तेन एनं प्राशिषं०..] उसे मैंने अन्तरिक्षरूप अन्तःप्राणसे सेवन किया और उससे प्राप्त किया० ॥ ३९ ॥ जिससे पूर्व ऋषियोंने प्राशन किया उससे भिन्न दूसरे [पृष्ठेन०] पृष्ठभागसे तू प्राशन करेगा तो [विद्युत् त्वा हनिष्यति] बिजली तेरा नाश करेगी, ऐसा इसे कहो । [तं वा०... दिवा पृष्ठेन० ...] उसको मैंने द्युलोकरूपी पीठसे प्राशन किया० ॥ ४० ॥

ततश्चैनमन्येनोरसा प्राशीर्येनं चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन् । कृष्या न रात्स्यसीत्यैनमाह । तं वा०। पृथिव्योरसा ॥ तेनैनं ०।०।० ॥४१॥

ततश्चैनमन्येनोदरेण प्राशीर्येनं चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन् । उदरदारस्त्वा हनिष्यतीत्यैनमाह । तं वा०। सत्येनोदरेण ॥ तेनैनं ०।०।० ॥४२॥

ततश्चैनमन्येन वस्तिना प्राशीर्येनं चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन्। अप्सु मरिष्यसीत्यैनमाह॥ तं वा०। समुद्रेण वस्तिना। तेनैनं ०।०।० ॥ ४३ ॥

ततश्चैनमन्याभ्यामूरुभ्यां प्राशीर्याभ्यां चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन् । ऊरू ते मरिष्यत इत्यैनमाह । तं वा ०। मित्रावरुणयोरूरुभ्याम् । ताभ्यामेनं प्राशिषं ताभ्यामेनमजीगमम् ॥ एष वा ०।०।० ॥ ४४ ॥

ततश्चैनमन्याभ्यामष्ठीवद्भ्यां प्राशीर्याभ्यां चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन्। स्रामो भविष्यसीत्यैनमाह ॥ तं वा० । त्वष्टुरष्ठीवद्भ्याम् ॥ ताभ्यामेनं ०।०।० ॥ ४५ ॥

ततश्चैनमन्याभ्यां पादाभ्यां प्राशीर्याभ्यां चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन् । बहुचारी भविष्यसीत्यै-नमाह । तं वा ० । अश्विनोः पादाभ्याम् । ताभ्यामेनं ०।०।० ॥ ४६ ॥

ततश्चैनमन्याभ्यां प्रपदाभ्यां प्राशीर्याभ्यां चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन् । सर्पस्त्वा हनिष्यतीत्यै-नमाह । तं वा ० । सवितुः प्रपदाभ्याम् । ताभ्यामेनं ०।०।०॥ ४७ ॥

अर्थ- जिसे पूर्व ऋषियोंने सेवन किया उससे भिन्न [अन्येन उरसा] छातीसे सेवन करोगे तो [कृष्या न रोत्स्यसि इति० ...] खेतीमें समृद्ध न होगा । [तं वै०... पृथिव्या उरसा०...] उसे मैंने पृथ्वीरूप उरसे सेवन किया० ॥ ४१ ॥

जिसको पूर्व ऋषियोंने जिससे सेवन किया था उससे भिन्न [अन्येन उदरेण०] दूसरे पेटसे तुम सेवन करोगे तो [उदर-दारः त्वा हनिष्यति इति] पेटको फाडनेवाला अतिसाररोग तेरा नाश करेगा ऐसा इसे कहो॥ [तं वा०···सत्येन उदरेण०।...] उसे मैंने सत्यरूप पेटके द्वारा सेवन किया०... ॥ ४२ ॥

पूर्व ऋषियोंने जिससे सेवन किया था उससे भिन्न [अन्येन वस्तिना प्राशीः०...] दूसरी बस्तिसे तूने सेवन किया तो तू [अप्सु मरिष्यसि] जलमें मरेगा । [तं वै०...समुद्रेण वस्तिना०...] उसका मैंने समुद्ररूपी बस्तिसे सेवन किया०...॥४३॥

जिससे पूर्व ऋषियोंने सेवन किया था उससे भिन्न [अन्याभ्यां ऊरुभ्यां प्राशीः] दूसरी जंघाओंसे उसका सेवन करोगे तो [ते ऊरू मरिष्यतः]तेरी जंघाएं नष्ट हो जांयगी, [तं वै०... मित्रावरुणयोः ऊरुभ्यां प्राशिषं०—] उसका मैंने मित्रवरुणकी ऊरुओंसे सेवन किया०— ॥ ४४ ॥ पूर्व ऋषियोंने जिससे इसका सेवन किया था उससे भिन्न [अन्याभ्यां अष्ठीवद्भ्यां प्राशीः] दूसरी जानुओंसे सेवन करोगे, तो तू [स्रामः भविष्यसि] लंगडा हो जायगा ऐसा इसे कहो। [तं वै०... त्वष्टुः अष्ठीवद्भ्यां] उसे मैंने त्वष्टाकी जानुओंसे सेवन किया०... ॥ ४५ ॥ जिससे पूर्व ऋषियोंने सेवन किया था उससे भिन्न [अन्याभ्यां पादाभ्यां] दूसरे पावोंसे सेवन करोगे तो [बहुचारी भविष्यसि] तुम्हें बहुत चलना पडेगा । [तं वै०... अश्विनोः पादाभ्यां०...] उसका मैंने अश्विदेवोंके पावोंसे सेवन किया०... ॥ ४६ ॥ जिससे पूर्व ऋषियोंने सेवन किया था उससे भिन्न [अन्याभ्यां प्रपदाभ्यां०] दूसरे पंजोंसे तूने सेवन किया तो [सर्पः त्वा हनिष्यति०] सांप तुझे मारेगा । [तं वै सवितुः प्रपदाभ्यां०...] उसे सविताके पंजोंसे मैंने सेवन किया० ॥ ४७ ॥

ततश्चैनमन्याभ्यां हस्ताभ्यां प्राशीर्याभ्यां चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन्। ब्राह्मणं हनिष्यसीत्येनमाह। तं वा ०। ऋतस्य हस्ताभ्याम्। ताभ्यामेनं ०।०।० ॥ ४८ ॥

ततश्चैनमन्यया प्रतिष्ठया प्राशीर्यया चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन्। अप्रतिष्ठानोऽनायतनो मरिष्यसीत्येनमाह। तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम्। सत्ये प्रतिष्ठाय। तयैनं प्राशिषं तयैनमजीगमम्। एष वा ओदनः सर्वाङ्गः सर्वपरुः सर्वतनूः। सर्वाङ्ग एव सर्वपरुः सर्वतनूः सं भवति य एवं वेद ॥ ४९ ॥ (९)

[३] एतद् वै ब्रध्नस्य विष्टपं यदोदनः ॥ ५० ॥

ब्रध्नलोको भवति ब्रध्नस्य विष्टपि श्रयते य एवं वेद ॥ ५१ ॥

एतस्माद् वा ओदनात् त्रयस्त्रिंशतं लोकान् निरमिमीत प्रजापतिः ॥ ५२ ॥

तेषां प्रज्ञानाय यज्ञमसृजत ॥ ५३ ॥

स य एवं विदुष उपद्रष्टा भवति प्राणं रुणद्धि ॥ ५४ ॥

न च प्राणं रुणद्धि सर्वज्यानिं जीयते ॥ ५५ ॥

न च सर्वज्यानिं जीयते पुरैनं जरसः प्राणो जहाति ॥ ५६ ॥ (१०)

अर्थ- जिनसे पूर्व ऋषियोंने सेवन किया उनसे भिन्न [अन्याभ्यां हस्ताभ्यां० ...] दूसरे हाथोंसे यदि तूने इसका सेवन किया तो [ब्राह्मणं हनिष्यसि०] तू ब्राह्मणका घात करेगा [तं वा० ... ऋतस्य हस्ताभ्यां० ...] इसे मैंने ऋतके हाथोंसे सेवन किया० ... ॥ ४८ ॥ जिनसे पूर्व ऋषियोंने इसका सेवन किया था उससे [अन्यया प्रतिष्ठया प्राशीः० ...] दूसरी प्रतिष्ठासे तूने सेवन किया, तो [अप्रतिष्ठानः अनायतनः मरिष्यसि] तू प्रतिष्ठारहित आधाररहित होकर मरेगा, ऐसा कहो। [तं० वा० ... सत्ये प्रतिष्ठाय तया एनं प्राशिषं०] सत्यमें प्रतिष्ठा प्राप्त होनेके लिये सेवन किया जिससे मैं सब अंगों और अवयवोंसे युक्त हुआ। जो यह जानता है वह भी सब अंगों और अवयवोंसे युक्त होगा ॥ ४९ ॥ (९)

[यत् ओदनः एतत् वै ब्रध्नस्य विष्टपं] जो अन्न है वह सचमुच स्वर्गधाम है ॥ ५० ॥ [यः एवं वेद] जो ऐसा जानता है वह [ब्रध्नलोको भवति] स्वर्गलोकके लिये योग्य होता है, [ब्रध्नस्य विष्टपि श्रयते] स्वर्गलोकमें रहता है ॥ ५१ ॥ [एतस्मात् ओदनात् प्रजापतिः त्रयस्त्रिंशतं लोकान् निरमिमीत] इस अन्नसे प्रजापतिने तैंतीस लोकोंका निर्माण किया ॥ ५२ ॥ [तेषां प्रज्ञानाय यज्ञं असृजत] उनके ज्ञानके लिये यज्ञको निर्माण किया ॥ ५३ ॥ [यः एवं विदुषः उपद्रष्टा भवति प्राणं रुणद्धि] वह जो इसको जाननेवालोंका निंदक होता है वह प्राणका नाश करता है ॥ ५४ ॥ [न च प्राणं रुणद्धि सर्वज्यानिं जीयते] न केवल प्राणका ही नाश होता है, परंतु सब जीवनका नाश होता है ॥ ५५ ॥ (न च सर्वज्यानिं जीयते) सर्वस्वनाश होता है ऐसाही नहीं परंतु (जरसः पुरा एनं प्राणः जहाति) वृद्धावस्थाके पूर्व इसको प्राण छोड जाता है ॥ ५६ ॥ (१०)

अन्नका महत्त्व।

अन्नके महत्त्वका वर्णन इस सूक्तमें काव्यकी आलंकारिक भाषामें किया है। यह देखनेसे पता लगता है कि अन्न भी मनुष्यको स्वर्गधामका सुख देनेवाले हैं। संपूर्ण विश्व अन्नमय है। यह जो कुछ है वह सब अन्न ही है। यही अन्नका विश्वरूप है।

अन्न सेवन करना हो तो जैसा ऋषिलोग उसका सेवन किया करते थे वैसाही करना चाहिये, अन्यथा मनुष्यका नाश होगा। यह सूचना इस सूक्तमें विशेष महत्त्वकी है।

पाठक इस दृष्टिसे इस सूक्तका मनन करें। इस सूक्तके प्रारंभमें तत्त्वज्ञानकी दृष्टिसे कुछ बातें विचारणीय हैं। २७ वें मंत्रमें एक प्रश्न पूछा है—

त्वं ओदनं प्राशीः त्वां ओदनः इति ? (२७)

"तूने इस अन्नका प्राशन किया अथवा इस अन्नने तेरा प्राशन किया?" यह प्रश्न बडा ही विचारणीय है। हम जो अन्न खा रहे हैं वह हमें खा रहा है अथवा हम उस अन्नको भोग रहे हैं? हम जो भोग भोग रहे हैं वे भोग हमारा उपभोग ले रहे हैं अथवा हम उन भोगोंका उपभोग ले रहे हैं? कितना गंभीर प्रश्न है! हरएक मनुष्यको इसका विचार करना चाहिये। क्या हो रहा है? मनुष्य भोगोंको खा रहे हैं? उन भोगोंसे बडा ऐसे कितनी शक्ति व्यय हो रही है? इतनी शक्तिका व्यय करके मनुष्य भोगोंको भोग रहे हैं या वे भोगही मनुष्यकी जीवनको खा रहे हैं इसका कोई विचार नहीं करता! कितना आश्चर्य है?

मनुष्यके अन्न वस्त्र गृह स्त्री राज्य धन ऐश्वर्य ये भोग मनुष्यको ही खा रहे हैं। मनुष्यको चाहिये कि वह इनका भोग करके आनंद प्राप्त करे। परंतु होता है यह कि मनुष्य दुःखही बढ रहा है। क्यों ऐसा होता है, इसका विचार मनुष्यको करना चाहिये। इस मंत्रके प्रश्नमें यह महत्त्वपूर्ण आशय है। पाठक विचार करें कि वेदने एकही प्रश्नसे कितनी महत्त्वपूर्ण विचार-परंपराको चालना दी। जो विचार करेंगे और सोचेंगे उनके लिये यह प्रश्न जीवनका परिवर्तन करनेवाला है।

इस प्रश्नका उत्तर कैसा होना चाहिये, यह बात इसी सूक्तने बतायी है। मंत्रही उत्तर देता है—

न एव अहं ओदनं न मां ओदनः। (३०)

"न मुझे अन्नने खाया, न मैंने अन्नको खाया।" अर्थात् हम दोनों ऐसे निर्विकार भावसे एक दूसरेके पास आगये कि जिससे दोनोंमेंसे किसीका दूसरेपर बुरा प्रभाव नहीं हुआ। न मैंने अन्नको खा खाकर कम किया, अर्थात् आवश्यकताकी अपेक्षा अधिक नहीं खाया और ना ही अपने पास भोग्य वस्तुओंका संग्रह करके दूसरोंसे वंचित रखा। और नहीं अन्नने मुझे खाया, अर्थात् न अन्नही मेरे ऊपर सवार होकर मेरा नाश करने लगा। मैं और अन्न साथसाथ रहे, एक दूसरेके सहायक हुए, एक दूसरेकी प्रतिष्ठा बढाने लगे, एक दूसरेकी महिमा बढाते हुए जगत् का उपकार करनेमें सहायक हुए।

पाठक इस उत्तरका विचार करें। क्या यह उत्तर पाठकोंके विषयमें सार्थ हो सकता है? पाठकोंके जीवनमें यह उत्तर घट रहा है या नहीं, इसका विचार पाठक ही करें। भोग और भोग लेनेवाला एक दूसरेके पास आगये, तो परस्परके उपकारक होने चाहिये, यह नियम यहां बताया है, एक दूसरेकी शक्ति घटानेवाले नहीं होने चाहिये। कितना उत्तम उपदेश है, इसका मनन पाठक करें। यहां इस जीवनके तत्त्वज्ञानकी समाप्ति नहीं हुई। आगे मंत्र सबकी एकरूपता कहता है—

ओदन एव ओदनं प्राशीत्। (३१)

"अन्नने ही अन्नको खाया है।" अर्थात् भोक्ता और भोग्य एकही तत्त्व है। जैसा भगवद्गीतामें कहा है—

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्॥ (गी० ४।२४)
अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाऽहमहमौषधम्।
मंत्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम्॥ (गी० ९।१६)

"ब्रह्मही अर्पणद्रव्य है और ब्रह्मही अर्पणकर्ता है।" यह जो गीतामें कहा यह इसी मंत्रके आधारसे कहा, अथवा हम यों कह सकते हैं, वेदके विचार और गीताके विचार यहां समान हैं।

हम खानेवाले भी अन्नही हैं और हम जो खाते हैं वह भी अन्नही है। पाठक विचार करेंगे तो उनको यह बात समझमें आसकती है कि मनुष्य भी अन्नही है। मनुष्यका शरीर क्रिमप्राणियोंका अन्न तो है ही, परंतु उच्छ्वास जो वायु मनुष्यादि प्राणी बाहर फेंकते हैं वह लेकर वनस्पतियां पुष्ट हो सकती हैं। इस तरह यह विचार अनेक रीतियोंसे अनुभवमें आसकता है।

एकतत्त्वका अभ्यास इस तरह यहां वेदमंत्र पाठकोंको करा रहा है। आशा है इस तरह विचार करके पाठक इस सूक्तसे योग्य बोध ले सकते हैं।

प्राणकी विद्या ।

(४)

(ऋषिः-- भार्गवो वैदर्भिः । देवता--प्राणः)

प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे । यो भूतः सर्वस्येश्वरो यस्मिन्त्सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥ १ ॥
नमस्ते प्राण क्रन्दाय नमस्ते स्तनयित्नवे । नमस्ते प्राण विद्युते नमस्ते प्राण वर्षते ॥ २ ॥
यत् प्राण स्तनयित्नुनाभिक्रन्दत्योषधीः । प्र वीयन्ते गर्भान् दधतेऽथो बह्वीर्वि जायन्ते ॥ ३ ॥
यत्प्राण ऋतावागतेऽभिक्रन्दत्योषधीः । सर्वं तदा प्र मोदते यत् किं च भूम्यामधि ॥ ४ ॥
यदा प्राणो अभ्यवर्षीद् वर्षेण पृथिवीं महीम् । पशवस्तत् प्र मोदन्ते महो वै नो भविष्यति ॥ ५ ॥
अभिवृष्टा ओषधयः प्राणेन समवादिरन् । आयुर्वै नः प्रातीतरः सर्वा नः सुरभीरकः ॥ ६ ॥
नमस्ते अस्त्वायते नमो अस्तु परायते । नमस्ते प्राण तिष्ठत आसीनायोत ते नमः ॥ ७ ॥

अर्थ- (यस्य वशे) जिसके आधीन (इदं सर्वं) यह सब जगत् है उस (प्राणाय नमः) प्राणके लिये मेरा नमस्कार है (यः सर्वस्य ईश्वरः) वह प्राण सबका ईश्वर (भूतः) है और (यस्मिन् सर्वं प्रतिष्ठितं) उसमें सब जगत् रहा है ॥ १ ॥

हे प्राण ! (क्रन्दाय ते नमः) गर्जना करनेवाले तुझको नमस्कार है, (स्तनयित्नवे) मेघोंमें नाद करनेवाले तुझको नमस्कार है । हे प्राण ! (विद्युते) चमकनेवाले तुझको नमस्कार है और हे प्राण ! (वर्षते) वृष्टि करनेवाले तुझको नमस्कार है ॥ २ ॥

हे प्राण ! (यत् स्तनयित्नुना ओषधीः क्रन्दति) जब तू मेघोंके द्वारा औषधियोंके सन्मुख बडी गर्जना करता है, तब औषधियां (प्रवीयन्ते) तेजस्वी होती हैं, (गर्भान् दधते) गर्भधारण करती हैं और (अथो बह्वीः विजायन्ते) बहुत प्रकारके विस्तारको प्राप्त होती हैं ॥ ३ ॥

हे प्राण ! (ऋतौ आगते) वर्षा ऋतु आते ही जब तू (ओषधीः अभिक्रन्दति) औषधियोंके उद्देशसे गर्जन करने लगता है; (तदा यत् किं च भूम्यां अधि तत् सर्वं प्रमोदते) तब सब जगत् आनंदित होता है, जो कुछ इस पृथ्वीपर है ॥ ४ ॥

(यदा प्राणः) जब प्राण (वर्षेण महीं पृथिवीं अभ्यवर्षीत्) वृष्टिद्वारा इस बडी भूमिपर वर्षा करता है, (तत् पशवः प्रमोदन्ते) तब पशु हर्षित होते हैं [और समझते हैं कि] निश्चयसे अब (नः वै महः भविष्यति) हम सबकी वृद्धि होगी॥५

(अभिवृष्टाः ओषधयः) औषधियों पर वृष्टि होनेके पश्चात् औषधियां (प्राणेन समवादिरन्) प्राणके साथ भाषण करती हैं कि हे प्राण ! (नः आयुः वै प्रातीतरः) तूने हमारी आयु बढा दी है और हम सबको (सुरभीः) सुगंधियुक्त (अकः) किया है ॥ ६ ॥

(आयते ते नमः अस्तु) आगमन करनेवाले प्राणके लिये नमस्कार है, (परायते नमः अस्तु) गमन करनेवाले प्राणके लिये नमस्कार है । हे प्राण ! (तिष्ठते) स्थिर रहनेवाले और (आसीनाय ते नमः) बैठनेवाले प्राणके लिये नमस्कार है ॥ ७ ॥

नमस्ते प्राण प्राणते नमो अस्त्वपानते।
पराचीनाय ते नमः प्रतीचीनाय ते नमः सर्वस्मै त इदं नमः ॥८॥
या ते प्राण प्रिया तनूर्यो ते प्राण प्रेयसी। अथो यद् भेषजं तव तस्य नो धेहि जीवसे ॥९॥
प्राणः प्रजा अनु वस्ते पिता पुत्रमिव प्रियम्। प्राणो ह सर्वस्येश्वरो यच्च प्राणति यच्च न॥१०॥
प्राणो मृत्युः प्राणस्तक्मा प्राणं देवा उपासते। प्राणो ह सत्यवादिनमुत्तमे लोक आ दधत् ॥११॥
प्राणो विराट् प्राणो देष्ट्री प्राणं सर्व उपासते। प्राणो ह सूर्यश्चन्द्रमाः प्राणमाहुः प्रजापतिम्॥१२॥
प्राणापानौ व्रीहियवावनड्वान् प्राण उच्यते। यवे ह प्राण आहितोऽपानो व्रीहिरुच्यते ॥१३॥
अपानति प्राणति पुरुषो गर्भे अन्तरा। यदा त्वं प्राण जिन्वस्यथ स जायते पुनः ॥१४॥
प्राणमाहुर्मातरिश्वानं वातो ह प्राण उच्यते। प्राणे ह भूतं भव्यं च प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम्॥१५॥
आथर्वणीराङ्गिरसीर्दैवीर्मनुष्यजा उत। ओषधयः प्र जायन्ते यदा त्वं प्राण जिन्वसि ॥१६॥

अर्थ- हे प्राण! (प्राणते) जीवनका कार्य करनेवाले तुझे नमस्कार है, (अपानते) अपानका कार्य करनेवाले तेरे लिये नमस्कार है। (पराचीनाय) आगे बढनेवाले और (प्रतीचीनाय) पीछे हटनेवाले प्राणके लिये नमस्कार है (सर्वस्मै त इदं नमः) सब कार्य करनेवाले तेरे लिये यह मेरा नमस्कार है ॥ ८ ॥

हे प्राण [या ते प्रिया तनूः] जो तेरा [प्राणमय] प्रिय शरीर है, [या ते प्रेयसी] और जो तेरे [प्राणापानरूप] प्रिय काम हैं, तथा [अथो यद् तव भेषजं] जो तेरा औषध है वह [जीवसे नः धेहि] दीर्घजीवनके लिये हमको दे ॥ ९ ॥

[पिता प्रियं पुत्रं इव] जिस प्रकार प्रिय पुत्रके साथ पिता रहता है, उस प्रकार [प्राणः प्रजाः अनुवस्ते] सब प्रजाओंके साथ प्राण रहता है। [यत् प्राणिति] जो प्राण धारण करते हैं और [यत् च न] जो नहीं धारण करते, [प्राणः सर्वस्य ईश्वरः] उन सबका प्राणही ईश्वर है ॥ १० ॥

[प्राणः मृत्युः] प्राण ही मृत्यु है और [प्राणः तक्मा] प्राणही जीवनकी शक्ति है। इसलिये [प्राणं देवाः उपासते] सब देव प्राणकी उपासना करते हैं। [प्राणः ह सत्यवादिनं] क्योंकि सत्यवादीको प्राणही [उत्तमे लोके आभरत्] उत्तम लोकमें पहुंचाता है ॥ ११ ॥

प्राण [वि-राट्] विशेष तेजस्वी है, और प्राण ही [देष्ट्री] सबका प्रेरक है, इसलिये [प्राणं सर्वे उपासते] प्राणकी ही सब उपासना करते हैं। सूर्य, चंद्रमा और प्रजापति भी (प्राणं आहुः) प्राणही है॥ १२ ॥

(प्राणापानौ व्रीहियवौ) प्राण और अपान ही चावल और जौ हैं। (अनड्वान्) बैल ही (प्राणः उच्यते) मुख्य प्राण है। (यवे ह प्राणः आहितः) जौ में प्राण रखा है और (व्रीहिः अपानः उच्यते) चावल अपानको कहते हैं ॥ १३ ॥

(पुरुषः गर्भे अन्तरा) जीव गर्भके अंदर (प्राणति अपानति) प्राण और अपानके व्यापार करता है। हे प्राण! जब तू (जिन्वसि) प्रेरणा करता है तब वह (अथ सः पुनः जायते) जीव पुनः उत्पन्न होता है ॥ १४ ॥

(प्राणं मातरिश्वानं आहुः) प्राणको मातरिश्वा कहते हैं, और (वातः ह प्राणः उच्यते) वायुका नामही प्राण है। (भूतं भव्यं च ह प्राणे) भूत, भविष्य और सब कुछ वर्तमान कालमें जो है वह सब प्राणमें (सर्वं प्रतिष्ठितं) ही रहता है ॥ १५ ॥

हे प्राण! (यदा) जबतक तू [जिन्वसि] प्रेरणा करता है तबतक ही आथर्वणी, आंगिरसी, दैवी और मनुष्यकृत [ओषधयः] औषधियां [प्र जायंते] फल देती हैं ॥ १६ ॥

यदा प्राणो अभ्यवर्षीद् वर्षेण पृथिवीं महीम्। ओषधयः प्र जायन्तेऽथो याः काश्च वीरुधः॥१७॥
यस्ते प्राणेदं वेद यस्मिंश्चासि प्रतिष्ठितः । सर्वे तस्मै बलिं हरानमुष्मिंल्लोक उत्तमे ॥१८॥
यथा प्राण बलिहृतस्तुभ्यं सर्वाः प्रजा इमाः।एवा तस्मै बलिं हरान् यस्त्वा शृणवत् सुश्रवः॥१९॥
अन्तर्गर्भश्चरति देवतास्वाभूतो भूतः स उ जायते पुनः।
स भूतो भव्यं भविष्यत् पिता पुत्रं प्र विवेशा शचीभिः ॥२०॥ [१२]
एकं पादं नोत्खिदति सलिलाद्धंस उच्चरन् ।
यदङ्ग स तमुत्खिदेन्नैवाद्य न श्वः स्यान्न रात्री नाहः स्यान्न व्युच्छेत् कदाचन ॥२१॥
अष्टाचक्रं वर्तत एकनेमि सहस्राक्षरं प्र पुरो नि पश्चा ।
अर्धेन विश्वं भुवनं जजान यदस्यार्धं कतमः स केतुः ॥२२॥
यो अस्य विश्वजन्मन ईशे विश्वस्य चेष्टतः।अन्येषु क्षिप्रधन्वने तस्मै प्राण नमोऽस्तु ते ॥२३॥

अर्थ[यदा प्राणः महीं पृथिवीं अभ्यवर्षीत] जब प्राण इस बडी पृथ्वीपर वृष्टि करता है तब [ओषधयः वीरुधः याः काश्च प्रजायन्ते] औषधियां और वनस्पतियां बढ जाती हैं॥ १७ ॥

हे प्राण ! [यः ते इदं वेद] जो मनुष्य तेरी इस शक्तिको जानता है और [यस्मिन् प्रतिष्ठितः असि] जिस मनुष्यमें तू प्रतिष्ठित होता है, [तस्मै सर्वे बलिं हरान्] उस मनुष्यके लिये उस उत्तम लोकमें सबही सत्कारका समर्पण करते हैं ॥ १८ ॥

हे प्राण ! [यथा] जिस प्रकार ये [तुभ्यं सर्वाः इमाः प्रजाः बलिहृतः] सब प्रजाजन तेरा सत्कार करते हैं कि [यः] जो [सुश्रवाः] उत्तम यशस्वी है और [त्वा] तेरा सामर्थ्य [शृणवत्] सुनता है [तस्मै बलिं हरान्] उसके लिये भी बली देते है ॥ १९ ॥

[देवतासु आभूतः] इंद्रियादिकोंमें जो व्यापक प्राण है वह ही [अंतः गर्भः चरति] गर्भके अंदर चलता है। जो [भूतः] पहेले हुआ था [सः उ] वह ही [पुनः जायते] फिर उत्पन्न होता है। जो [भूतः] पहिले हुआ था [स] वह ही [भव्यं भविष्यत्] अब होता है और आगे भी होगा। पिता [शचीभिः] अपनी सब शक्तियोंके साथ [पुत्रं प्रविवेश]पुत्रमें प्रविष्ट होता है ॥ २० ॥

[सलिलात् हंस उच्चारन्] जलसे हंस ऊपर उठता हुआ [एकं पादं न उत्खिदति] एक पांवको उठाता नहीं। [अंग] हे प्रिय [यत् स तं उत्खिदेत्] यदि वह उस पांवको उठावेगा [न एव अद्य स्यात्, न श्वः न रात्रीः न अहः स्यात्, न व्युच्छेत् कदाचन] तो आज, कल, रात्री, दिन, प्रकाश और अंधेरा कुछ भी नहीं होगा ॥ २१ ॥

(अष्टाचक्रं) आठ चक्रोंसे युक्त,(सहस्रारं) अक्षरोंसे व्यक्त (एकनेमि वर्तते) जिसका है, ऐसा यह प्राणचक्र (प्र पुरः नि पश्चा)आगे और पीछे चलता है। (अर्धेन विश्वं भुवनं जजान) आधे भागसे सब भुवनोंको उत्पन्न करके (यत् अस्य अर्धं) जो इसका आधा भाग शेष रहा है (कतमः सः केतुः) वह किसका चिन्ह है ?॥ २२ ॥

हे प्राण ! [अस्य विश्व-जन्मनः] सबको जन्म देनेवाले और इस सब (विश्वस्य चेष्टतः) हलचल करनेवाले (यः ईशे) जगत्का जो ईश है, उस (अन्येषु) अन्योंमें (क्षिप्र-धन्वने नमः) शीघ्र गतिवाले तेरे लिये नमन है ॥ २३ ॥

यो अस्य सर्वजन्मन ईशे सर्वस्य चेष्टतः। अतन्द्रो ब्रह्मणा धीरः प्राणो माऽनु तिष्ठतु ॥ २४ ॥
ऊर्ध्वः सुप्तेषु जागार ननु तिर्यङ् नि पद्यते । न सुप्तमस्य सुप्तेष्वनु शुश्राव कश्चन ॥ २५ ॥
प्राण मा मत् पर्यावृतो न मदन्यो भविष्यसि ।
अपां गर्भमिव जीवसे प्राण बध्नामि त्वा मयि ॥२६॥ (१३)

॥ इति द्वितीयोऽनुवाकः ॥ २॥

अर्थ-(यः अस्य सर्वजन्मनः) जन्म धारण करनेवाले और (चेष्टतः सर्वस्य) हलचल करनेवाले सबका जो (ईशे) स्वामी है, वह धैर्यमय प्राण (अतन्द्रः) आलस्यरहित होकर (ब्रह्मणा धीरः) आत्मशक्तिसे युक्त होता हुआ प्राण (मा) मेरे पास (अनुतिष्ठतु) सदा रहे ॥ २४ ॥

[सुप्तेषु] सब सो जानेपर भी यह प्राण [ऊर्ध्वः] खडा रहकर [जागार] जागता है [ननु तिर्यङ् निपद्यते] कभी तिरछा गिरता नहीं । [सुप्तेषु अस्य सुप्तं] सबके सो जानेपर इसका सोना [कश्चन न अनुशुश्राव] किसीने भी सुना नहीं है ॥ २५ ॥

हे प्राण ! [मत् मा पर्यावृतः] मेरेसे पृथक् न होओ । [न मत् अन्यः भविष्यसि] मेरेसे दूर न होओ । [जीवसे अपः गर्भं इव] पानीके गर्भके समान, हे प्राण ! [जीवसे मयि त्वा बध्नामि] जीवनके लिये मेरे अंदर तुझको बांधता हूं ॥ २६ ॥

प्राणसूक्त समाप्त

द्वितीय अनुवाक समाप्त ॥ २ ॥

—०—

प्राणका महत्व।

प्राणकी जो विद्या होती है, उसको "प्राण-विद्या" कहते हैं। मनुष्योंके लिये सब अन्य विद्याओंकी अपेक्षा प्राणविद्याकी अत्यंत आवश्यकता है। मनुष्यके शरीरमें भौतिक और अभौतिक अनेक शक्तियां हैं। उन सब शक्तियोंमें प्राणशक्तिका महत्त्व सर्वोपरि है। सब अन्य शक्तियोंके अस्त होनेपर भी इस शरीरमें प्राणशक्ति कार्य करती है, परंतु प्राणका अस्त होनेपर कोई अन्य शक्ति कार्य करनेके लिये रह नहीं सकती। इससे प्राणका महत्त्व स्वयं स्पष्ट हो सकता है।

इस सूक्तके प्रथम मंत्रमें "प्राण" शब्दसे परमेश्वरकी विश्वव्यापक जीवन-शक्ति (Life energy) कही है। इस परमात्माकी जीवनशक्तिके आधीन यह सब संसार है, इसीके आधारसे रहा है और इसीसे सब संसारका नियमन भी हो रहा है। समष्टि दृष्टिसे सर्वत्र प्राणका राज्य है। व्यष्टि दृष्टिसे प्रत्येक शरीरमें भी प्राणका ही आधिपत्य है। प्राणिमात्रके प्रत्येक शरीरमें जो जो इंद्रियादिक शक्तियां हैं, तथा विभिन्न अवयव और इंद्रिय हैं, सब ही प्राणके वशमें हैं। प्राणके आधीनही सब शरीर है। शरीरमें प्राणही सब इंद्रियों और अवयवोंका ईश्वर है, क्योंकि उसीके आधारसे सब शरीर प्रतिष्ठाको प्राप्त हुआ है। प्राणके विना इस शरीरकी स्थिति ही नहीं हो सकती। अर्थात् प्राणके वश होनेसे सब शरीर सुदृढ और नीरोग हो सकता है और प्राणके निर्बल होनेसे सब शरीर निर्बल हो सकता है। इसलिये प्राणको स्वाधीन करनेकी आवश्यकता है।

अपने शरीरमें श्वास उच्छ्वास रूप प्राण चल रहा है और जन्मसे मरणपर्यंत यह कार्य करता है। सब इंद्रिय और अवयव मरजानेके पश्चात् भी कुछ देरतक प्राण कार्य करता है, इसलिये सबमें प्राणही मुख्य है और वह सबका आधार है। अपने प्राणको केवल साधारण श्वासरूप ही समझना नहीं चाहिये, परंतु उसको श्रेष्ठ दिव्यशक्तिका अंश समझना उचित है। मनकी इच्छाशक्तिसे प्रेरित प्राण सबही शरीरका आरोग्य संपादन करनेमें समर्थ होता है, इस दृष्टिसे प्राणका महत्त्व सब शरीरमें अधिक है। इसके महत्त्वको समझना और सदा मनमें धारण करना चाहिये। "अपने प्राणके आधीन मेरा सब शरीर है, प्राणके कारण वह स्थिर रहा है और उसकी सब हलचल प्राणकी प्रेरणासे होती है इस प्रकारके प्राणकी मैं उपासना करूंगा और उसको अपने आधीन करूंगा। प्राणायामसे उसको प्रसन्न करूंगा और वशीभूत प्राणसे अपनी इच्छानुरूप अपने शरीरमें कार्य करूंगा।" यह भावना मनमें धारण करके अपने प्राणकी शक्तिका चिंतन करना चाहिए।

यह प्राण जैसा शरीरमें है वैसा बाहर भी है। इस विषयमें द्वितीय मंत्र देखने योग्य है।

इस द्वितीय मंत्रमें केवल गरजनेवाले मेघोंका नाम 'क्रंद' है, बडा गर्जना और विद्युत्पात जिनसे होता है उन मेघोंका नाम 'स्तनयित्नु' है, जिनसे बिजली बहुत चमकती है उनको 'विद्युत्' कहते हैं और वृष्टि करनेवाले मेघोंका नाम है 'वर्षत्'। ये सब मेघ अंतरिक्षमें प्राणवायुको धारण करते हैं और वृष्टिद्वारा वह प्राण भूमंडल पर आता है। और वृक्षवनस्पतियोंमें संचारित होता है।

तृतीय मंत्रमें कहा है कि अंतरिक्ष स्थानका प्राण वृष्टिद्वारा औषधिवनस्पतियोंमें आकर वनस्पतियोंका विस्तार करता है। प्राणकी यह शक्ति प्रत्यक्ष देखने योग्य है।

वृष्टिद्वारा प्राप्त होनेवाले प्राणसे न केवल वृक्षवनस्पतियां प्रफुल्लित होतीं हैं, परंतु अन्य जीव जंतु और प्राणी भी बडे हर्षित होते हैं। मनुष्य भी इसका स्वयं अनुभव करते हैं। यह तृतीय मंत्रका कथन है।

अंतरिक्षस्थ प्राणका कार्य इस प्रकार चतुर्थ और पंचम मंत्रमें पाठक देखें और जगत्‌में इस प्राणका महत्त्व कितना है, इसका अनुभव करें। पहिले मंत्रमें प्राणका सामान्य स्वरूप वर्णन किया है, उसकी अंतरिक्षस्थानीय एक विभूति यहां बता दी है। अब इसीकी वैयक्तिक विभूति सप्तम और अष्टम मंत्रोंमें बतायी जाती है।

श्वासके साथ प्राणका अंदर गमन होता है और उच्छ्वासके साथ बाहर आना होता है। प्राणायामके पूरक और रेचकका बोध "आयत्, परायत्" इन दो शब्दोंसे होता है। स्थिर (तिष्ठत्) रहनेवाले प्राणसे कुंभकका बोध होता है। और बाह्य कुंभकका ज्ञान 'आसीन' पदसे होता है। "(१) पूरक, (२) कुंभक, (३) रेचक और (४) बाह्य कुंभक ये प्राणायामके चार भाग हैं। ये चारों मिलकर परिपूर्ण प्राणायाम होता है।

इनका वर्णन इस मंत्रमें "(१) आयत्, (२) तिष्ठत्, (३) परावत्, (४) आसीन," इन चार शब्दोंसे हुआ है। जो अंदर आनेवाला प्राण होता है, उसको "आयत् प्राण" कहा जाता है, यही पूरक प्राणायाम है। आने जानेकी गतिका निरोध करके प्राणको अंदर स्थिर किया जाता है, उसको "तिष्ठत् प्राण" कहते हैं, यही कुंभक अथवा अंतःकुंभक प्राणायाम होता है जो अंदरसे बाहर जाता है, उसको "परावत्प्राण" कहते हैं, यही रेचक प्राणायाम है। सब प्राण रेचकद्वारा बाहर निकालनेके पश्चात् उसको बाहर ही बिठलाना "आसीनप्राण" द्वारा होता है, यही बाह्य कुंभक है। प्राणायामके ये चार भाग हैं। इन चारोंके अभ्याससे प्राण वश होता है। यही इस प्राणदेवताकी प्रसन्नता करनेका उपाय है। यही प्राणोपासनाकी विधि है।

प्राण नाम उसका है कि जो नासिकाद्वारा छातीमें पहुंचता है। अपान उसका नाम है कि जो नाभिके निम्न देशसे गुदाके द्वारतक कार्य करता है। इन्हींके दो अन्य नाम "प्राचीन" और "प्रतीचीन" प्राण हैं। प्राणके स्वाधीन रखनेका तात्पर्य प्राण और अपानको स्वाधीन करना है। अपानकी स्वाधीनतासे मलमूत्रोत्सर्ग उत्तम प्रकारसे होते हैं और प्राणकी स्वाधीनताके रुधिरकी शुद्धि होती है। इस प्रकार दोनोंके वशीभूत होनेसे शरीरकी नीरोगता सिद्ध होती है। इस प्रकारकी प्राणकी स्वाधीनता होनेसे प्राणके अधीन सब शरीर है, इसका अनुभव होता है। इसी उद्देश्यसे मंत्र कहता है कि "सर्वस्मै त इदं नमः" अर्थात् 'तू सब कुछ है, इसलिये तेरा सत्कार करता हूं'। शरीरका कोई भाग प्राणशक्तिके बिना कार्य नहीं कर सकता, इसलिये सब अवयवोंमें सब प्रकारका कार्य करनेवाले प्राणका सदाही सत्कार करना चाहिये। हरएक मनुष्यको उचित है कि, वह अपने प्राणकी इस शक्तिका ध्यान करे, विश्वास पूर्वक इस शक्तिका स्मरण रखें, क्योंकि निज आरोग्यकी सिद्धि इसीपर निर्भर है। इस प्राणशक्तिका इतना महत्त्व है कि इसकी विद्यमानतामें ही अन्य औषध कार्य कर सकते हैं। परंतु इस शक्तिके कमजोर होनेपर कोई औषध कार्य नहीं कर सकता। प्राणही सब औषधियोंकी औषधि है, इस विषयमें नवम मंत्र देखनेयोग्य है।

अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनंदमय ये पांच कोश हैं। इनको पांच शरीर भी कह सकते हैं। इन पांच कोशोंमेंसे "प्राणमय शरीर" का वर्णन इस मंत्रमें किया है। "प्रिया तनू" यह प्राणमय कोश ही है। सब ही इसपर प्रेम करते हैं, सब चाहते हैं कि वह प्राणमय शरीर सदा रहे। प्राण और अपान ये इस शरीरके दो प्रेममय कार्य हैं। प्राणसे शक्तिका संवर्धन होता है और अपानसे विषको दूर करके स्वास्थ्यका संरक्षण होता है। प्राणके अंदर एक प्रकारका "भेषजं" अर्थात् औषध है. दोषोंको दूर करनेकी शक्तिका नाम (दोष-ध) औषध अथवा भेषज होता है। शरीरके सब दोष दूर करना और वहां शरीरमें आरोग्यकी स्थापना करना, यह पवित्र कार्य करना, प्राणकाही धर्म है। प्राणका दूसरा नाम "रुद्र" है और रुद्र शब्दका अर्थ वैद्य भी होता है।

इस प्राणमें औषध है, यह वेदका कथन है। इसपर अवश्य विश्वास रखना चाहिये, क्योंकि यह विश्वास अवास्तविक नहीं है, अपनी निज शक्तिपर विश्वास रखनेके समान ही यह वास्तविक विश्वास है। मानस-चिकित्साका यह मूल है। पाठक इस दृष्टिसे इस मंत्रका विचार करें। अपनी प्राणशक्तिसे अपनी ही चिकित्सा की जा सकती है। 'मैं अपनी प्राणशक्तिसे अपने रोगोंका निवारण अवश्य करूंगा,' यह भाव यहां धारण करनेसे बडा लाभ होता है।

दशम मंत्रमें ऐसा कहा है कि जिस प्रकार पुत्रका संरक्षण करनेकी इच्छा पिता करता है उसी प्रकार प्राण सबका रक्षण करना चाहता है। सब प्रजाओंके शरीरोंमें नसनाडियोंमें जाकर, वहां रहकर सब प्रजाका संरक्षण यह प्राण करता है। न केवल प्राण धारण करनेवाले प्राणियोंका, परंतु जो प्राण धारण नहीं करते हैं, ऐसे स्थावर पदार्थोंका भी रक्षण प्राणही करता है। अर्थात् कोई यह न समझे कि श्वासोच्छ्वास करनेवाले प्राणियोंमें ही प्राण है, परंतु वृक्षवनस्पति, पत्थर आदि पदार्थोंमें भी प्राण है और इन सब पदार्थोंमें रहकर प्राण सबका संरक्षण करता है। प्राणको पिताकेसमान पूज्य समझना चाहिये और उसको सब पदार्थोंमें व्यापक जानना चाहिए।

शरीरसे प्राण चले जानेसे मृत्यु होती है और जबतक शरीरमें प्राण कार्य करता है, तबतक ही शरीरमें सामर्थ्य अथवा सहनशक्ति रहती है, यह ग्यारहवें मंत्रका कथन है। इस प्रकार एकही प्राण जीवन और मृत्युका कर्ता होता है। 'देव' शब्दसे इस मंत्रमें इंद्रियोंका ग्रहण होता है। सब इंद्रियां प्राणकी ही उपासना करती हैं अर्थात् प्राणके साथ रहकर अपने अंदर बल प्राप्त करती हैं। जो इंद्रिय प्राणके साथ रहकर बल प्राप्त करता है वहही कार्यक्षम होता है, परंतु जो इंद्रिय प्राणसे वियुक्त होता है, वह मर जाता है। यही प्राण उपासना और यही रुद्र उपासना है। सब देवोंमें महादेवकी शक्ति कैसी कार्य करती है, इसका यहां अनुभव हो सकता है। प्राणही महादेव, रुद्र, शंभु आदि नामोंसे

बोधित होता है। व्यक्तिके शरीरमें प्राणही उसकी विभूति है। सब जगत्में उसका स्वरूप विश्वव्यापक प्राणशक्ति ही है। इस व्यापक प्राणशक्तिके आश्रयसे अग्नि, वायु, इंद्र, सूर्य आदि देवतागण रहते हैं और अपना कार्य करते हैं। व्यष्टिमें और समष्टिमें एकही नियम कार्य कर रहा है व्यष्टिमें प्राणके साथ इंद्रियां रहतीं हैं और समष्टिमें व्यापक प्राणशक्तिके साथ अग्नि आदि देव रहते हैं। दोनों स्थानोंमें दोनों प्रकारके देव प्राणकी उपासनासे ही अपनी शक्ति प्राप्त करते हैं। तीसरे देव समाज और राष्ट्रमें विद्वान् शूर आदि प्रकारके हैं, वे सत्यवादी, सत्यनिष्ठ, सत्यपरायण और सत्याग्रही बनकर प्राणायामद्वारा प्राणोपासना करते हैं। प्राणही इनको उत्तम लोकमें पहुंचता है। अर्थात् इनको श्रेष्ठ बनाता है। अर्थात् प्राणोपासनासे सबही श्रेष्ठ बनते हैं।

सत्यसे बलप्राप्ति।

कई लोग यहां पूछेंगे कि 'सत्यवादिताका प्राण उपासनाके साथ क्या संबंध है?' उत्तरमें निवेदन है कि सत्यसे मन पवित्र होता है और उसकी शक्ति बढती है। प्राणकी शक्तिके साथ मानसिक शक्तिका विकास होनेसे बडा लाभ होता है। प्राणायामसे प्राणकी शक्ति बढती है और सत्यनिष्ठासे मनकी शक्ति विकसित होती है। इस प्रकार दोनों शक्तियोंका विकास होनेसे मनुष्यकी योग्यता असाधारण हो जाती है।

द्वादश मंत्रका अब विचार करिये। प्राण विशेष तेजस्वी है। जबतक शरीरमें प्राण रहता है, तबतक ही शरीरमें तेज होता है। प्राणके चले जानेसे शरीरका तेज नष्ट होता है। सब शरीरमें प्राणसे ही प्रेरणा होती है। बोलना, हिलना, चलना आदि सब प्राणकी प्रेरणासे ही होता है। अर्थात् शरीरमें तेज और प्रेरणा प्राणसे होती है। इसलिये सब प्राणीमात्र प्राणकीही उपासना करते हैं अथवा यों समझिए कि जबतक वे प्राणके साथ रहते हैं तबतकही उनकी स्थिति होती है। जब वे प्राणका साहचर्य छोड देते हैं तब उनकी मृत्यु ही होती है। इच्छा न होनेपर भी सब प्राणी प्राणकी ही उपासना कर रहे हैं। यदि मानसिक इच्छाके साथ प्राणोपासना की जायगी तो निःसंदेह बडा लाभ हो सकता है। क्योंकि इस जीवनका जो वैभव है, वह प्राणसेही प्राप्त हुआ है। इसलिये अधिक वैभव प्राप्त करना है, तो प्रयत्नसे उसकी ही उपासना करनी चाहिये। प्राणायामका यही फल है। इस जगत्में सूर्यचंद्र ये प्राणही हैं सूर्यकिरणोंके द्वारा वायुमें प्राण रखा जाता है और चंद्र अपनी किरणोंसे औषधियोंमें प्राण रखता है। मेघ विद्युत आदि अपने अपने कार्यद्वारा जगत्को प्राण दे ही रहे हैं। अंतमें प्राणोंका प्राण जो प्रजापति परमात्मा है, वही सच्चा प्राण है, क्योंकि जीवनकी सब प्राणशक्तिका वह एक मात्र आधार है। यही कारण है कि वेदमें प्रजापति परमात्माका नाम प्राणही है। अन्य पदार्थोंमें भी प्राण है उसका वर्णन तेरहवें मंत्रमें इस प्रकार किया है—

मुख्य प्राण एकही है, उसके बलसे शरीरमें प्राण और अपान कार्य करते हैं। इसी प्रकार खेतीमें बैलकी शक्ति मुख्य है, उसकी शक्तिसे ही चावल और जौ आदि धान्य उत्पन्न होता है। वेदमें "अनड्वान्" यह बैलवाचक शब्द प्राणका ही वाचक है। समझो कि शरीररूपी खेतमें यह प्राणरूपी बैलही खेती करता है और यहांका किसान जीवात्मा है। शरीर क्षेत्र है, जीवात्मा क्षेत्रज्ञ है, प्राण बैल है और जीवनव्यवहाररूप खेती यहां चल रही है। वेदमें अनड्वान शब्दका प्राण अर्थ है, यह न समझनेके कारण कईयोंने बडा अर्थका अनर्थ किया है।

अनड्वान् दाधार पृथिवीमुत द्याम्॥ (अथर्व. ४।११।१)
"प्राणका पृथिवी और द्युलोकको आधार है," यह वास्तविक अर्थ न लेकर, बैलका पृथिवी और द्युलोकको आधार है, ऐसा भाव कईयोंने समझा है। यदि पाठक इस अनड्वान् सूक्तका अर्थ इस प्राणसूक्तके अर्थके साथ देखेंगे, तो उनको स्पष्ट पता लग जायगा कि वहां अनड्वान् अर्थ केवल बैल ही नहीं है, प्रत्युत प्राण भी है। इसी कारण इस सूक्तमें प्राणका नाम अनड्वान् कहा है। यव प्राण है और चावल अपान है, यह कथन आलंकारिक है। धान्यमें प्राण और अपान अर्थात् प्राणकी संपूर्ण शक्तियां व्याप्त हैं; धान्यका योग्य सेवन करनेसे अपने शरीरमें प्राणादिक आते हैं और अपने शरीरके अवयव बनकर कार्य करते हैं।

गर्भके अंदर रहनेवाला जीव भी वहीं गर्भमें प्राण और अपानके व्यापार करता है। और इसीलिये वहां उसका जीवन होता है। जब जन्मके समय प्राण जन्म होने योग्य प्रेरणा करता है, तब उसको जन्म प्राप्त होता है। अर्थात् जन्मके अनुकूल प्रेरणा करना प्राणके ही आधीन है। इस चतुर्दश मंत्रमें "सः पुनः जायते" यह वाक्य पुनर्जन्म की कल्पनाका मूल वेदमें बता रहा है, जीवात्मा पुनः पुनः जन्म धारण करता है, वह सब प्राणकी प्रेरणासे होता है, यह भाव इस मंत्रमें स्पष्ट है।

१५ वें मंत्रमें " मातरि-श्वा " शब्दका अर्थ ' माता के अंदर रहनेवाला, माताके गर्भमें रहनेवाला' है। माताके गर्भमें प्राणरूप अवस्थामें जीव रहता है, इसलिये जीवका नाम ' मातरिश्वा ' है। गर्भमें इसकी स्थिति प्राणरूप होनेसे इसका नाम ही प्राण होता है। इस कारण प्राण और मातरिश्वा शब्द समान अर्थ बताते हैं।

' मातरिश्वा ' का दूसरा अर्थ वायु है। वायु, वात आदि शब्द भी प्राणवाचक ही हैं। क्योंकि वायुरूप प्राण ही हम अंदर लेते हैं और प्राणधारण कर रहे हैं। प्राणका विचार करनेसे ऐसा पता लगता है कि उसके आधारसे भूत, भविष्य और वर्तमान का सबही जगत् रहता है। प्राणके आधारसे ही सब रहता है। प्राणके बिना जगत्‌में किसीकी भी स्थिति नहीं हो सकती। पूर्व-जन्म, यह जन्म और पुनर्जन्म ये सब प्राणके कारण होते हैं। अर्थात् भूत, भविष्य और वर्तमान कालमें जो कर्मके संस्कार प्राणमें संचित होते हैं, उसके कारण यथायोग्य रीतिसे पुन-र्जन्मादि होते हैं।

औषधियोंका उपयोग तबतक ही होता है कि जबतक प्राणकी शक्ति शरीरमें है। जब प्राणकी शक्ति शरीरसे अलग होने लगती है, तब किसी औषधिका कोई उपयोग नहीं होता। इसी सूक्तके मंत्र ९ में " प्राणही औषधि है कि जो जीवनका हेतु है, " ऐसा कहा है, उसका अनुसंधान इस १६ वे मंत्रके साथ करना उचित है।

इस मंत्रमें "(१)आथर्वणीः; (२)आंगिरसीः, (३) दैवीः और (४) मनुष्यजाः" ये चार नाम चार प्रकारकी चिकित्साओंके बोधक हैं। इसका विचार निम्न प्रकार है-(१) मनुष्यजाः ओषधयः = मनुष्योंकी बनाई औषधियाँ, अर्थात् कषाय, चूर्ण, अवलेह, भस्म, कल्प, आदि प्रकार जो वैद्यों, डाक्टरों और हकीमोंके बनाये होते हैं, उनका समावेश इसमें होता है। ये मानवी औषधियोंके प्रकार हैं। इससे श्रेष्ठ दैवी विधि है। (२) दैवीः ओषधयः-आप, तेज, वायु, आदि देवोंके द्वारा जो चिकित्सा की जाती है, वह दैवी-चिकित्सा है। जलचिकित्सा, सौर चिकित्सा, वायुचिकित्सा विद्युच्चिकित्सा आदि सब दैवी चि-कित्साके प्रकार हैं। सूर्य चंद्र वायु आदि देवताओंके साक्षात् संबं-धसे यह चिकित्सा होती है और आश्चर्यकारक गुण प्राप्त होता है, इसलिये इसकी योग्यता बडी है। इसके अतिरिक्त देवयज्ञ अर्थात् हवन आदि द्वारा जो चिकित्सा होती है उसका भी समावेश इसमें होता है। देवयज्ञद्वारा देवताओंकी प्रसन्नता करके, उन देवताओंके जो जो अंश अपने शरीरमें हैं, उनका आरोग्य संपादन करना कोई अस्वाभाविक प्रकार नहीं है। यह बात युक्तियुक्त और तर्कगम्य भी है। (३) आंगिरसीः ओष-धयः = अंगों, अवयवों और इंद्रियोंमें एक प्रकारका रस रहता है, जिसके कारण हमारे अथवा प्राणियोंके शरीरकी स्थिति होती है। उस रसके द्वारा जो चिकित्सा होती है वह आंगि-रस-चिकित्सा कहलाता है। मानसिक इच्छाशक्तिकी प्रबल प्रेरणासे इस रसका अंगप्रत्यंगोंमें संचार करनेसे रोगोंकी निवृत्ति होती है। मानसिक चित्तैकाग्र्यका इसमें विशेष संबंध है। रुग्ण अव-यवको संबोधित करके नीरोगताके भावकी सूचना देना, तथा रोगाको निज अंगस्थ शक्तिकी प्रेरणा करनेके लिये उत्तेजित करना, इस विधिमें मुख्य है। निज आरोग्यके लिये बाह्य साध-नोंकी निरपेक्षता इसमें होनेसे इसको आंगिरस-चिकित्सा अर्थात् अपने निज अंगोंके रसद्वारा होनेवाली चिकित्सा कहते हैं। (४) आथर्वणीः ओषधयः=' अ-थर्वा ' नाम है योगीका। मनकी विविध वृत्तियोंका निरोध करनेवाला, चित्तवृत्तियोंको स्वा-धीन रखनेवाला योगी अथर्वा कहलाता है। इस शब्दका अर्थ (अ-थर्वा) निश्चल, स्तब्ध, स्थिर, गतिहीन ऐसा है। स्थित-प्रज्ञ, स्थिरबुद्धि, स्थितमति आदि शब्द इसका भाव बताते हैं। योगी लोग मंत्रप्रयोगसे जो चिकित्सा करते हैं उसका नाम आथर्वणी-चिकित्सा होता है। हृदयके प्रेमसे, परमेश्वरभक्तिसे, मानसशक्तिसे और आत्मविश्वाससे मंत्रसिद्धि होती है। यह आथ-र्वणी-चिकित्सा सबसे श्रेष्ठ है क्योंकि इसमें जो कार्य होता है, वह आत्माकी शक्तिसे होता है, इसलिये अन्य चिकित्साओंकी अपेक्षा इसकी श्रेष्ठता है। इसमें कोई संदेह ही नहीं है। ये सब चिकित्साके प्रकार तबतक कार्य करते हैं कि जबतक प्राण शरीरमें रहना चाहता है। जब प्राण चला जाता है, तब कोई चिकित्सा फलदायक नहीं हो सकती। इस प्रकार प्राणका महत्त्व विशेष है।

प्राणकी वृष्टि।

जो मनुष्य प्राणकी शक्तिका वर्णन श्रद्धासे सुनता है, प्राणके बलको विश्वाससे जानता है, प्राणका बल प्राप्त करनेमें यशस्वी होता है और जिस मनुष्यमें प्राण उत्तम रीतिसे प्रतिष्ठित और स्थिर रहता है, उसका ही सब सत्कार करते हैं उसकी स्थिति

उत्तम लोकमें होती है और उसीका यश सर्वत्र फैलता है। प्राणायामद्वारा जो अपने प्राणको प्रसन्न और स्वाधीन करता है, उसका यश सब प्रकारसे बढता है। इस उन्नीसवें मंत्रमें 'बलि' शब्दका अर्थ सत्कार, पूजा, अर्पण, शक्तिप्रदान आदि प्रकारका है। सब अन्य देव प्राणको ही पूजते हैं, इस बातका अनुभव अपने शरीरमें भी आ सकता है। नेत्र कर्ण नासिका आदि सब अन्य देव प्राणकी ही पूजा करते हैं, प्राणकी उपासनासे ही प्राणकी शक्ति उनमें प्रकट होती है। इसी प्रकार प्राणायामकी साधना करनेवाले योगीका सत्कार अन्य सज्जन करते हैं और उसके उपदेशसे प्राणोपासनाका मार्ग जानकर स्वयं बलवान् बन सकते हैं। यही कारण है कि प्राणायाम करनेवाले योगीकी सर्वत्र प्रशंसा होती है।

बीसवें मंत्रमें कहा है कि सूर्य चंद्र वायु आदि देवताओंके अंश मनुष्यादि प्राणियोंके शरीरमें रहते हैं। वे ही आंख, नाक आदि अवयव किंवा इंद्रियोंके स्थानमें रहते हैं। इन देवताओंमें प्राणकी शक्ति व्याप्त है। यही व्यापक प्राण पूर्व देहको छोडकर दूसरे गर्भमें प्रविष्ट होता है। अर्थात् एकवार जन्म लेनेके पश्चात् पुनः जन्म लेता है। आत्माकी शक्तियोंका नाम शची है। इंद्रकी धर्मपत्नीका नाम शची होता है। धर्मपत्नीका भाव यहाँ निजशक्ति ही है। इंद्र जीवात्माका है और उसकी शक्तियां शची नामसे प्रसिद्ध हैं। पिताका अंश अपनी सब शक्तियोंके साथ पुत्रमें प्रविष्ट होता है। पिताके अंगों, अवयवों और इन्द्रियोंके समानही पुत्रके कई अंग अवयव और इंद्रिय होते हैं। स्वभाव तथा गुणधर्म भी कई अंशोंमें मिलते हैं। इस बातको देखनेसे पता लग सकता है कि पिता अपनी शक्तियोंके साथ पुत्रमें किस प्रकार प्रविष्ट होता है। गृहस्थी लोगोंको इस बातका विशेष विचार करना चाहिए, क्योंकि प्रजा निर्माण करना उनका ही विषय है। मातापिताके अच्छे और बुरे गुणदोष संतानमें आते हैं, इसलिये मातापिताको स्वयं निर्दोष होकर ही संतान उत्पन्न करनेका विचार करना चाहिए। अर्थात् दोषी मातापिताको संतान उत्पन्न करनेका अधिकार नहीं है।

इक्कीसवें मंत्रमें "हंस" नाम प्राणका है। श्वास अंदर आनेके समय "स" की ध्वनि होती है और उच्छ्वास बाहर आनेके समय "ह" की ध्वनि होती है। 'ह' और 'स' मिलकर "हंस" शब्द प्राणवाचक बनता है। उसीके अन्य रूप 'अ-हंसः, सोऽहं" आदि उपासनाके लिये बनाये गये हैं। इनमें 'हंस' शब्द ही मुख्य है। उलटा शब्द बनानेसे इसीका "सोऽहं" बन जाता है, अथवा 'हंस' के साथ 'ओं' मिलानेसे 'सोऽहं' बन जाता है।

स-ह ह-स
ओ-म् म्-अ ओ (अः)
सोऽहं हं सः

पाठक यहां दोनों प्रकारके रूप देख सकते हैं। सांप्रदायिक झगडोंसे दूर रहकर मूल वैदिक कल्पनाको यदि पाठक देखेंगे तो उनको बडा आश्चर्य प्रतीत होगा। 'ओं' शब्द आत्माका वाचक है और 'हंस' शब्द प्राणका वाचक है। आत्माका प्राणके साथ इस प्रकारका संबंध है। आत्मा ब्रह्माका वाचक है और ब्रह्माका वाहन हंस है, इस पौराणिक रूपकमें आत्माका प्राणके साथका अखंड संबंधही वर्णन किया है। यह हंस मानस सरोवरमें क्रीडा करता है। यहां प्राण भी हृदयरूपी अंतःकरणस्थानीय मानससरोवरमें क्रिडा कर रहा है। हृदयकमलमें जीवात्माका निवास सुप्रसिद्ध है अर्थात् कमलासन ब्रह्मदेव और उसका वाहन हंस, इसकी मूल वैदिक कल्पना इस प्रकार यहां स्पष्ट होती है—

ब्रह्मा, ब्रह्मदेव	आत्मा, जीवात्मा, ब्रह्म
हंस–वाहन	प्राण–वाहन
कमल-आसन	हृदय कमल
मानस सरोवर	अंतःकरण (हृदय)
प्रेरक कर्ता देव	प्रेरक आत्मा

वेदमें हंसका वर्णन अनेक मंत्रोंमें आगया है, उसका मूल आशय इस प्रकार देखना उचित है। वेदमें "असौ अहं (यजु. ४०।१७)" कहा है। "असु अर्थात् प्राणशक्तिके अंदर रहनेवाला मैं आत्मा हूं।" यह भाव उक्त मंत्रका है। वही भाव उक्त स्थानमें है। प्राणके साथ आत्माका अवस्थान है। यह प्राण ही 'हंस' है। वह (सलिल) हृदयके मानस सरोवरमें क्रीडा करता है। श्वास लेनेके समय वह प्राण उस सरोवरमें गोता लगता है और उच्छ्वास लेनेके समय ऊपर उठता है। यहां प्रश्न उत्पन्न होता है, कि जब उच्छ्वासके समय प्राण बाहर आता है तब प्राणी मरता क्यों नहीं? पूर्ण उच्छ्वास लेकर श्वासको पूर्ण बाहर निकालनेपर भी मनुष्य मरता नहीं। इसका कारण इस मंत्रमें बताया है। जिस प्रकार हंस पक्षी एक पांव पानीमें ही रखकर दूसरा पांव ऊपर उठाता है, उसी प्रकार प्राण ऊपर उठते समय अपना एक पांव हृदयके रक्तागारमें हमेशासे रखता है और दूसरे पांवको ही बाहर उठता है। कभी दूसरे पांवको हिलाता नहीं।

तात्पर्य प्राण अपनी एक शक्तिको शरीरमें स्थिर रखता हुआ दूसरी शक्तिसे बाहर आकर कार्य करता है। इसलिये मनुष्य मरता नहीं। यदि यह अपने दूसरे पांवको भी बाहर निकालेगा तो आज, कल, दिन, रात, प्रकाश अंधेरा आदि कुछ भी नहीं होगा अर्थात् कोई प्राणी जीवित नहीं रह सकेगा। जीवनके पश्चात् ही कालका ज्ञान होता है। इस प्रकारका यह प्राणका संबंध है। प्रत्येक मनुष्यको उत्तम विचार करके इस संबंधका ज्ञान ठीक प्रकारसे प्राप्त करना चाहिए। 'हंस' शब्दके साथ प्राण उपासनाका प्रकार भी इस मंत्रसे व्यक्त होता है। श्वासके साथ 'स' कारका श्रवण और उच्छ्वासके साथ 'हं' कारका श्रवण करनेसे प्राण उपासना होती है। इससे चित्तकी एकाग्रता शीघ्र ही साध्य होती है। यही "सो" अक्षरका श्रवण श्वासके साथ और "हं" का श्रवण उच्छ्वासके साथ करनेसे 'हंस' का ही जप बन जाता है। यह प्राण उपासनाका प्रकार है। सांप्रदायिक लोगोंने इसपर विलक्षण और विभिन्न कल्पनाएं रची है, परंतु मूलकी ओर ध्यान देकर झगडोंसे दूर रहना ही हमको उचित है। अब इसका और वर्णन देखिये —

इस शरीरमें आठ चक्र हैं जिनमें प्राण जाता है और विलक्षण कार्य-करता है यह बात२२वें मंत्रमें कही है। मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूरक, सूर्य, अनाहत, विशुद्धि, आज्ञा और सहस्रार ये आठ चक्र हैं, क्रमशः गुदासे लेकर सिरके उपरले भाग तक आठ स्थानोंमें ये आठ चक्र हैं। पीठके मेरुदंडमें इनकी स्थिति है। इस प्रत्येक चक्रमें प्राण जाता है और अपने अपने नियत कार्य करता है। जो सज्जन प्राणायामका अभ्यास करते हैं उनको अपना प्राण इस चक्रमें पहुंचा है, इस बातका अनुभव होता है, और वहांकी स्थितिका भी पता लगता है। ऊपर मस्तिष्कमें सहस्रार चक्रका स्थान है। यही मस्तिष्कका मध्य और मुख्य भाग है। प्राणका एक केंद्र हृदयमें है। इस प्रकार एक केंद्रके साथ आठ चक्रोंमें सहस्र आरोंके द्वारा आगे और पीछे चलनेवाला यह प्राणचक्र है। श्वास उच्छ्वास तथा प्राण अपान द्वारा प्राणचक्रकी आगे और पीछे गति होती है। पाठकोंको उचित है कि वे इन बातोंको जानने और अनुभव करनेका यत्न करें। प्राणका एक भाग शरीरकी शक्तियोंके साथ संबंध रखता है और दूसरा भाग आत्माकी शक्तिके साथ संबंध रखता है। शारीरिक शक्तिके साथ संबंध रखनेवाले प्राणके भागका ज्ञान प्राप्त करना बडा सुगम है, परंतु आत्मिक शक्तिके साथ संबंध रखनेवाले प्राणके भागका ज्ञान करना बडा कठिन है। आधे भागके साथ सब भुवनको बनाता है, जो इसका दूसरा अर्ध है वह किसका चिन्ह है अर्थात् उसका ज्ञान किससे हो सकता है? आत्माके ज्ञानके साथ ही उसका ज्ञान हो सकता है।

प्राण सबकाही ईश है इस विषयमें पहिले ही मंत्रमें कहा है। सबमें गतिमान और सबमें मुख्य यह प्राण है। ब्रह्म अर्थात् आत्मशक्तिके साथ रहनेवाला यह प्राण आलस्य रहित होकर और धैर्यके साथ कार्य करनेमें समर्थ बनकर मेरे शरीरमें अनुकूलताके साथ रहे। यह इच्छा उपासकको मनमें धारण करनी चाहिए। अन्य इंद्रियोंमें आलस्य होता है, प्राणमें आलस्य कभी नहीं होता; इसलिये प्राणका विशेषण 'अतंद्र' अर्थात् आलस्य रहित ऐसा रखा है। यही भाव पच्चीसवें मंत्रमें कहा है।

सब इंद्रियां आराम लेती हैं, आलसी बनती हैं, सो जाती हैं और नीचे गिरजाती हैं, परंतु प्राण ही रातदिन खडा रहकर जागता है, अथवा मानो इस मंदिरका संरक्षण करनेके लिये खडा रहकर पहरा करता है। कभी सोता नहीं, कभी आराम नहीं करता और अपने कार्यसे कभी पीछे नहीं हटता। सब इंद्रियां सोती हैं परंतु इस प्राणका सोना कभी किसीने सुना ही नहीं। अर्थात् विश्राम न लेता हुआ यह प्राण रातदिन शरीरमें कार्य करता है।

इसीलिये प्राण उपासना निरंतर हो सकती है। देखिए-किसी आलंबनपर दृष्टि रखकर ध्यान करना हो तो दृष्टि थक जाती है। दृष्टि थकनेपर उसकी उपासना नेत्रों द्वारा नहीं हो सकती। इसी प्रकार अन्य इंद्रियां थकती हैं और विश्राम चाहती हैं, इसलिये अन्य इंद्रियोंके साथ उपासना निरंतर नहीं हो सकती। परंतु यह प्राण कभी थकता नहीं और कभी विश्राम नहीं चाहता। इसलिये इसके साथ जो प्राण उपासना की जाती है वह निरंतर हो सकती है। बिना रुकावट प्राणोपासना हो सकती है, इसलिये इसका अत्यंत महत्त्व है। अब इस सूक्तका अन्तिम मंत्र कहता है कि—

"हे प्राण! मेरेसे दूर न हो जाओ, दीर्घ कालतक मेरे अंदर रहो, मैं दीर्घ जीवन व्यतीत करूंगा, मैं दीर्घ आयुष्यसे युक्त होकर सौ वर्षसे भी अधिक जीवन व्यतीत करूंगा।

इसलिये मेरेसे पृथक् न होओ!" यह भावना उपासकको मनमें धारण करनी चाहिए। अन्नमय मन है और आपोमय प्राण है। इसलिये प्राणको पानीका गर्भ कहा है। उपासकके मनमें यह भावना स्थिर रहनी चाहिए, कि मैंने प्राणायामादि द्वारा अपने शरीरमें प्राणको बांधकर रख दिया है। इसलिये यह प्राण कभी वियुक्त होकर दूर नहीं होगा। प्राणायामादि साधनोंपर दृढ विश्वास रखकर, उन साधनोंके द्वारा मेरे शरीरमें प्राण स्थिर हुआ है, ऐसा दृढ भाव चाहिए और कभी अकाल मृत्युका विचारतक मनमें नहीं आना चाहिए। आत्मापर विश्वास रखनेसे उक्त भावना दृढ हो जाती है। इस प्राण सूक्तमें निम्न भाव हैं-

प्राणसूक्तका सारांश।

(१) प्राणके आधीन ही सब कुछ है, प्राणही सबका मुखिया है।

(२) प्राण पृथ्वीपर है, अंतरिक्षमें है और द्युलोकमें है।

(३) द्युलोकका प्राण सूर्य किरणों द्वारा पृथ्वीपर आता है, अंतरिक्षका प्राण वृष्टिद्वारा पृथ्वीपर पहुंचता है,और पृथ्वीपरका प्राण यहां सदा ही वायुरूपसे रहता है।

(४) अंतरिक्षस्थ और द्युलोकस्थ प्राणसे ही सबका जीवन है। इस प्राणकी प्राप्तिसे सबको आनंद होता है।

(५) एक ही प्राण व्यक्तिके शरीरमें प्राण अपान आदि रूपमें परिणत होता है। शरीरके प्रत्येक अंग, अवयव और इंद्रियोंमें अर्थात् सर्वत्र प्राण ही कार्य करता है।

(६) प्राण ही सब औषधियोंकी औषधि है। प्राणके कारण ही सब शरीरके दोष दूर होते हैं। प्राणकी अनुकूलता न होनेपर कोई औषध कार्य नहीं कर सकता, और प्राणकी अनुकूलता होनेपर बिना औषध आरोग्य रह सकता है।

(७) प्राण ही दीर्घ आयु देनेवाला है।

(८) प्राण ही सबका पिता और पालक है। सर्वत्र व्यापक भी है।

(९) मृत्यु, रोग और बल ये सब प्राणके कारण ही होते हैं। सब इंद्रिय प्राणके साथ रहनेपर ही बल प्राप्त करते हैं। श्रेष्ठ पुरुष प्राणको वशमें करके बल प्राप्त कर सकते हैं। सत्यनिष्ठ पुरुष प्राणकी प्रसन्नतासे उत्तम योग्यता प्राप्त करते हैं।

(१०) प्राणके साथ ही सब देवताएं हैं। सबको प्रेरणा करनेवाला प्राण ही है।

(११) धान्यमें प्राण रहता है। वह भोजनके द्वारा शरीरमें जाकर शरीरका बल बढाता है।

(१२) गर्भमें भी प्राण कार्य करता है। प्राणकी प्रेरणासे ही गर्भ बाहर आता है और बढता है।

(१३) प्राणके द्वारा ही पिताके सब गुण कर्म स्वभाव और शक्तियां पुत्रमें आती हैं।

(१४) प्राण ही हंस है और यह हृदयके मानस सरोवरमें क्रीडा करता है। जब यह चला जाता है तब कुछ भी ज्ञान नहीं होता।

(१५) शरीरके आठ चक्रोंमें, मस्तिष्कमें तथा हृदयके केंद्रमें भिन्न रूपसे प्राण रहता है। वह स्थूल शक्तिसे सब शरीरका धारण करता है और सूक्ष्म शक्तिसे आत्माके साथ गुप्त संबंध रखता है।

(१६) प्राणमें आलस्य और थकावट नहीं होती है। भीति और संकोच नहीं होता। क्योंकि इसका ब्रह्म अथवा आत्माके साथ संबंध है।

(१७) यह शरीरमें रहता हुआ कडा पहरा रखता है। अन्य इंद्रिय थकते,रुकते और सोते हैं; परंतु यह कभी थकता नहीं और कभी विश्राम नहीं लेता। इसका विश्राम होनेपर मृत्यु ही होती है।

(१८) इसलिये सबको प्राणकी स्वाधीनता प्राप्त करनी चाहिये। और उसकी शक्तिसे बलवान होना चाहिये।

इस प्रकार इस सूक्तका भाव देखनेके पश्चात् वेदोंमें अन्यत्र प्राण विषयक जो जो उपदेश है उसका विचार करते हैं।

ऋग्वेदमें प्राणविषयक उपदेश.

ऋग्वेदमें प्राणविषयक निम्न मंत्र है,उनको देखनेसे ऋग्वेदका इस विषयमें उपदेश ज्ञात हो सकता है।—

प्राणाद्वायुरजायत ॥ ऋ० १०।९०।१३, अथ. १९।६।७

" परमेश्वरीय प्राण शक्तिसे इस वायुकी उत्पत्ति हुई है। " यह वायु हमारा पृथ्वीस्थानीय प्राण है। वायुके बिना क्षणमात्र भी जीवन रहना कठिन है। सभी प्राणी इस वायुको चाहते हैं। परंतु कोई यह न समझे कि यह वायु ही वास्तविक प्राण है, क्योंकि परमेश्वरकी प्राणशक्तिसे इसकी उत्पत्ति है।

यह वायु हमारे फेंफडोंके अंदर जब जाता है, तब उसके साथ परमेश्वरकी प्राणशक्ति हमारे अंदर जाती है, और उससे हमारा जीवन होता है। यह भाव प्राणायामके समय मनमें धारण करना चाहिये। प्राण ही आयु है, इस विषयमें निम्न मंत्र देखिये–

आयुर्न प्राणः॥ ऋ. १।६६।१

"प्राण ही आयु है।" जबतक प्राण रहता है तब तक ही जीवन रहता है। इसलिये जो दीर्घ आयु चाहते हैं उनको उचित है कि वे अपने प्राणको तथा प्राणके स्थानको बलवान् बनावें। प्राणका स्थान फेंफडोंमें होता है। फेंफडे बलवान् करनेसे प्राणमें बल आजाता है और उसके द्वारा दीर्घ आयु प्राप्त हो सकती है।

असु—नीति

राजनीति, समाजनीति, गृहनीति इन शब्दोंके समान "असु-नीति" शब्द है। राज्य चलानेका प्रकार राजनीतिसे व्यक्त होता है, इसी प्रकार "असु" अर्थात् प्राणका व्यवहार करनेकी रीति "असुनीति" शब्दसे व्यक्त होती है Guide to life, way to life अर्थात् "जीवनका मार्ग" इस भावको "असु—नीति" शब्द व्यक्त कर रहा है, यह प्रो० मोक्षमुलर, प्रो. रॉथ आदिका कथन सत्य है। देखिये–

असुनीते पुनरस्मासु चक्षुः पुनः प्राणमिह नो धेहि भोगम्।
ज्योक्पश्येम सूर्यमुच्चरन्तमनुमते मृळया नः स्वस्ति॥
ऋ. १०।५९।६

"हे असुनीते! यहां हमारे अंदर पुनः चक्षु, प्राण और भोग धारण करो। सूर्यका उदय हम बहुत देरतक देख सकें। हे अनुमते! हम सबको सुखी करो और हमको स्वास्थ्यसे युक्त रखो।"

"असु-नीति" अर्थात् "प्राण धारण करनेकी रीति" जब ज्ञात होती है, तब चक्षुकी शक्ति हीन होनेपर भी पुनः उत्तम दृष्टि प्राप्त की जा सकती है, प्राण जानेकी संभावना होनेपर भी पुनः प्राणकी स्थिरता की जा सकती है, भोग भोगनेकी अशक्यता होनेपर भी भोग भोगनेकी अशक्यता दूर हो सकती है। मृत्यु पास आनेके कारण सूर्य-दर्शन अशक्य होनेपर भी दीर्घ आयुष्यकी प्राप्ति होनेके पश्चात् पुनः सूर्यकी उपासना हो सकती है। प्राण-नीतिके अनुकूल मति रखनेसे यह सब कुछ हो सकता है, इसमें कोई संदेह ही नहीं। तथा—

असुनीते मनो अस्मासु धारय जीवातवे सु प्रतिरा न आयुः॥
रारन्धि नः सूर्यस्य संदृशि घृतेन त्वं तन्वं वर्धयस्व॥ ऋ. १०।५९।५

"हे असुनीते! हमारे अंदर मनकी धारणा करो और हमारी आयु बडी दीर्घ करो। सूर्यका दर्शन हम करें। तू घीसे शरीर बढा।"

आयुष्य बढानेकी रीति इस मंत्रमें वर्णन की है। पहली बात मनकी धारणा की है। मनकी धारणा ऐसी दृढ और पक्की करनी चाहिये कि, मैं योगसाधनादि द्वारा अवश्य ही दीर्घ आयु प्राप्त करूंगा, तथा किसी कारण भी मेरी आयु क्षीण नहीं होगी इसप्रकार मनकी पक्की धारणा करनी चाहिये। मनकी दृढ शक्तिपर ही और मनके दृढ विश्वासपर ही सिद्धि अवलंबित होती है। सूर्य प्रकाशका दीर्घ आयुके साथ संबंध वेदमें सुप्रसिद्ध ही है। प्राणायाम आदि द्वारा जो मनुष्य प्राणका बल बढाना चाहते हैं उनको घी बहुत खाकर अपना शरीर पुष्ट रखना चाहिये। प्राणायाम बहुत करनेपर घी न खानेसे शरीर कृश होता है। इसलिये प्राणायाम करनेवालोंको उचित है कि वे अपने भोजनमें घी अधिक सेवन करें।

इस प्रकार यह प्राणनीतिका शास्त्र है। पाठक इन मंत्रोंका विचार करके दीर्घ आयु प्राप्त करनेके उपायोंका साधन प्राणायामादि द्वारा करें।

यजुर्वेदमें प्राणविषयक उपदेश।

प्राणकी वृद्धि

प्राणका संवर्धन करनेके विषयमें वेदका उपदेश निम्न मंत्रमें आगया है–

प्राणस्त आप्यायताम्॥ यजु० ६।१५

"तेरा प्राण संवर्धित हो।" प्राणकी शक्ति बढानेकी बडी ही आवश्यकता है, क्योंकि प्राणकी शक्तिके साथ ही सब अवयवोंकी शक्ति संबंध रखती है, इसकी सूचना निम्न मंत्र दे रहा है–

ऐन्द्रः प्राणो अंगे अंगे निदीध्यदैन्द्र उदानो अंगे अंगे निधीतः॥ य० ६।२०

(ऐंद्रः प्राणः) आत्माकी शक्तिसे प्रेरित प्राण प्रत्येक अंगमें पहुंचा है, आत्माकी शक्तिसे प्रेरित उदान प्रत्येक अंगमें रखा है। " इस प्रकार आंतरिक शक्तिका वर्णन वेदने किया है।

प्रत्येक अंगमें प्राण रहता है और वहां आत्माकी प्रेरणासे कार्य करता है। इस मंत्रके उपदेशसे यह सूचना मिलती है कि जिस अंग, अवयव अथवा इंद्रियमें प्राणकी शक्ति न्यून होगी, वहां आत्माकी प्रबल इच्छाशक्ति द्वारा प्राणकी शक्ति बढाई जा सकती है। यही पूर्व सूक्तोक्त " आंगि-रस—विद्या " है। अपने किस अंगमें प्राणकी न्यूनता है, इसको जानना और वहां अपनी आत्मिक इच्छा शक्ति द्वारा प्राणको पहुंचाना चाहिये यही अपना आरोग्य बढानेका उपाय है। वेदमें जो "आंगिरस विद्या " है वह यही है। प्राणका रक्षण करनेके विषयमें निम्न लिखित मंत्र देखिये—

प्राणं मे पाह्यपानं मे पाहि व्यानं मे पाहि ॥ य० १४।८; १७

" मेरे प्राण, अपान, व्यानका संरक्षण करो। " इनका संरक्षण करनेसे ही ये प्राण सब शरीरका संरक्षण कर सकते हैं। तथा—

प्राणं ते शुंधामि ॥ यजु. ६।१४

प्राणं मे तर्पयत ॥ यजु. ६।३१

" प्राणकी पवित्रता करता हूं। प्राणकी तृप्ति करो। " तृप्ति और पवित्रतासे ही प्राणका संरक्षण होता है। अतृप्त इंद्रिय होनेसे मनुष्य भोगोंकी ओर जाता है, और पतित होता है। इस प्रकार भोगोंमें फंसे हुए मनुष्य अपनी प्राणकी शक्ति व्यर्थ खो बैठते हैं। इसलिये प्राणका संवर्धन करनेवाले मनुष्योंको उचित है कि वे अपना जीवन पवित्रतासे और नित्यतृप्त वृत्तिसे व्यतीत करें। अपवित्रता और असंतुष्टता ये दो दोष प्राणकी शक्ति घटानेवाले हैं। शक्ति घटानेवाला कोई कार्य नहीं करना चाहिये, क्योंकि—

प्राणं न वीर्यं नासि। य० २१।४९

" नाकमें प्राणशक्ति और वीर्य बढाओ। " प्राणशक्ति नासिकाके साथ संबंध रखती है, और जब यह प्राणशक्ति बलवान् होती है, तब वीर्य भी बढता है और स्थिर होता है। वीर्य और प्राण ये दोनों शक्तियां साथ साथ रहती हैं। शरीरमें वीर्य रहनेसे प्राण रहता है, और प्राणके साथ वीर्य भी रहता है। एक दूसरेके आश्रयसे रहनेवाली ये शक्तियां हैं। जो मनुष्य ब्रह्मचर्यकी रक्षा करके ऊर्ध्वरेता बनते हैं, उनका प्राण भी बलवान हो जाता है, और उनको आसानीसे प्राणवशकी सिद्धि होती है। तथा जो प्रारंभसे प्राणायामका अभ्यास नियम पूर्वक करते हैं उनका वीर्य स्थिर हो जाता है। यद्यपि किसी-का किसी कारणवश प्रथम आयुमें ब्रह्मचर्य न रहा हो, तो भी वह नियम पूर्वक अनुष्ठानसे उत्तर आयुमें प्राणसाधनसे अपने शरीरमें प्राणशक्तिका संवर्धन और वीर्यरक्षण कर सकता है। जिसका ब्रह्मचर्य आदि प्रारंभसे ही सिद्ध होता है उसको शीघ्र और सहजसिद्धि होती है। परंतु जिसको प्रारंभसे सिद्ध नहीं होता, उसको यह बात प्रयत्नसे सिद्ध होती है। प्राणशक्तिके संवर्धनके उपायोंमें गायन भी एक उपाय है।

गायन और प्राणशक्ति।

साम प्राणं प्रपद्ये। ३६।१

' प्राणको लेकर सामकी शरण लेता हूं। ' सामवेद गायन और उपासनाका वेद है। ईश उपासना और ईशगुणोंके गायनसे प्राणका बल बढता है। केवल गानविद्यासे भी मनकी एकाग्रता और शांति प्राप्त होती है। इसलिये गायनसे दीर्घ आयु और आरोग्य प्राप्त कर सकते हैं। गायक लोग यदि दुर्व्यसनोंमें न फसेंगे तो वे अन्योंकी अपेक्षा अधिक दीर्घ आयु और आरोग्य प्राप्त कर सकते हैं, गायनका आरोग्यके साथ अत्यंत संबंध है। उपासनाके साथ भी गायनका अत्यंत संबंध है। मन गायनसे उपासनामें अत्यंत तल्लीन होता है और यही तल्लीनता प्राणशक्तिको प्रबल करनेवाली है। यह बात और है कि गायनका धंदा करनेवाले आजकलके कीपुरुषोंने अपने आचरण बहुत ही गिरा दिये हैं। परंतु यह दोष गायनका नहीं है, वह उन मनुष्योंका दोष है। तात्पर्य यह है कि जो पाठक अपने प्राणको बलवान करना चाहते हैं, वे सामगान अवश्य सीखें, अथवा साधारण गायन सीखकर उसका उपासनामें उपयोग करके मनकी तल्लीनता प्राप्त करें।

स्थौ प्राणापानौ। य० ३६।१

' मेरे अंदर प्राण और अपान बलवान रहें। ' यह इच्छा हर एक मनुष्य स्वभावतः धारण करता ही है। परंतु कभी कभी व्यवहार उस इच्छासे विरुद्ध करता है। जब इच्छाके अनुसार व्यवहार हो जायगा, तब सिद्धिमें किसी प्रकारका विघ्न हो नहीं सकता। प्रस्तुत प्राणका प्रकरण है, इसका संबंध बाहरके शुद्ध वायुके साथ है, और अंदरका संबंध नासिका आदि

स्थानके साथ है इसलिये कहा है-

वातं प्राणेन अपानेन नासिके। य० २५। २

" प्राणसे वायुकी प्रसन्नता और अपानसे नासिकाकी पूर्तता करनी चाहिए।" बाह्य शुद्ध और प्रसन्न वायुके साथ प्राण हमारे शरीरोंमें आता है, और नासिका ही उसका प्रवेश द्वार है। बाह्य वायुकी प्रसन्नता और नासिकाकी शुद्धि अवश्य करनी चाहिए। नाककी मलिनता और अपवित्रताके कारण प्राणकी गतिमें रुकावट होती है। प्राणकी प्रतिष्ठाके लिये ही हमारे सब प्रयत्न होने चाहिए, इसकी सूचना निम्न मंत्रोंसे मिलती है-

प्राणकी प्रतिष्ठा।

विश्वस्मै प्राणायापानाय व्यानायोदानाय प्रतिष्ठायै चरित्राय॥ य० १३।१९; १४।१२; १५।६४

विश्वस्मै प्राणायापानाय व्यानाय विश्वं ज्योतिर्यच्छ॥ य० १३।२४; १४।१४; १५।२८

प्राणाय स्वाहापानाय स्वाहा व्यानाय स्वाहा॥ य० २२।२३; २३।१८

" प्राण, अपान, व्यान, उदान आदि सब प्राणोंकी प्रतिष्ठा और उनका व्यवहार उत्तम रीतिसे होना चाहिए। सब प्राणोंको तेजस्वी करो। सब प्राणोंके लिये त्याग करो।"

प्रत्येक मनुष्यको उचित है कि वह देखे कि, अपने आचरणसे अपने प्राणोंका बढ रहा है या घट रहा है, अपने प्राणोंकी प्रतिष्ठा बढ रही है या घट रही है; अपने प्राणोंके सब ही व्यवहार उत्तम चल रहे हैं अथवा किसीमें कोई त्रुटी है; अपने प्राणोंका तेज बढ रहा है या घट रहा है। इसका विचार करना हरएकका कर्तव्य है। क्योंकि इसका विचार करनेसे ही हरएक जान सकता है कि मैं प्राणविषयक अपना कर्तव्य ठीक प्रकार कर रहा हूं या नहीं। प्राणविषयक कर्तव्यका स्वरूप " स्वाहा " शब्दद्वारा स्पष्ट हो रहा है। सब अन्य इंद्रिय गौण हैं और प्राण मुख्य है, इस लिये अन्य इंद्रियोंके भोगोंका स्वाहाकार प्राणके संवर्धनके लिये होना चाहिये। अर्थात् इंद्रियोंके भोग भोगनेके लिये जो शक्ति खर्च हो रही है, उसका बहुतसा हिस्सा प्राणकी शक्ति बढानेके लिये खर्च होना चाहिए। मनुष्योंके सामान्य व्यवहारमें देखा जायगा तो प्रतीत होगा कि इंद्रियभोग भोगनेमें यदि शक्तिके १०० मेंसे ९९ भागका खर्च हो रहा है, तो प्राणसंवर्धनमें एक भाग भी खर्च नहीं होता है। मुख्य प्राणके लिये कुछ शक्ति नहीं खर्च होती परंतु गौण इंद्रियभोगके लिये ही सब शक्तिका व्यय हो रहा है!! क्या यह आश्चर्य नहीं है? वास्तवमें मुख्यके लिये अधिक और गौणके लिये कम व्यय होना चाहिए। यही वेदने कहा है कि प्राणसंवर्धनके लिये अपनी शक्तिका स्वाहा करो। अपना समय, अपना प्रयत्न, अपना बल और अपने अन्य साधन प्राणसंवर्धनके लिये कितने खर्च किये जाते हैं और भोगोंके लिये कितने खर्च किये जाते हैं, इसका विचार कीजिए। मनुष्योंका उलटा व्यवहार हो रहा है, इसलिये इस विषयमें सावधानता रखनी चाहिए। प्रतिदिनका ऐसा विभाग करना चाहिए कि जिसमें बहुतसा हिस्सा प्राणवर्धनके कार्यके लिये समर्पित हो सके! देखिए-

राजा मे प्राणः॥ य० २०। ५

" मेरा प्राण राजा है " सब शरीरका विचार कीजिए तो आपको पता लग जायगा कि सबका राजा प्राण ही है। आप समझ लीजिए कि अपना प्राण यह सचमुच राजा है। जब आपके घरमें राजा ही अतिथी आता है, उस समय आप राजाका ही आदरातिथ्य करते हैं, और उसके नौकरोंकी तरफ ध्यान अवश्य देते हैं, परंतु जितना राजाकी ओर ध्यान दिया जाता है उतना अन्योंके विषयमें ध्यान नहीं दिया जाता। यही न्याय यहां है। इस शरीरमें प्राण नामक राजा अतिथी आया है और उसके अनुचर अन्य इंद्रियगण हैं। इसलिये प्राणकी सेवा शुश्रूषा अधिक करनी चाहिए, क्योंकि वह ठीक रहा तो अन्य अनुचर ठीक रह सकते है। परंतु यदि राजा असंतुष्ट होकर चलागया तो एकभी अनुचर आपकी सहायता नहीं कर सकेगा।

आजकल इंद्रियोंके भोग बढानेमें सब लोग लगे हैं, प्राणकी शक्ति बढानेका कोई ख्याल नहीं करता। इसलिये प्राण अप्रसन्न होकर शीघ्र ही इस शरीरको छोड देता है। जब प्राण छोडने लगता है, तब अन्य इंद्रियशक्तियां भी उसके साथ इस शरीरको छोड देती हैं। यही अल्पायुताका कारण है। परंतु इसका विचार बहुत ही थोडे लोग प्रारंभसे करते हैं। तात्पर्य इंद्रियभोग भोगनेके लिये शक्ति कम खर्च करनी चाहिए, इसका संयम ही करना चाहिए और जो बल होगा उसको अर्पणकरके प्राणकी शक्ति बढानेमें पराकाष्ठा करनी चाहिये। अपने प्राणको बुरे कार्योंमें समर्पित करनेसे बडी ही हानि होती है। कितने दुर्व्यसन और कितने कुकर्म हैं कि जिनमें लोग अपने

प्राण अर्पण करनेके लिये आनंदसे प्रवृत्त होते हैं !! वास्तवमें सत्कर्मके साथ ही अपने प्राणोंको जोडना चाहिये । देखिये वेद कहता है-

सत्कर्म और प्राण ।

आयुर्यज्ञेन कल्पतां प्राणो यज्ञेन कल्पतां ॥
य० ९।२१,१८।२९;२२।३३

प्राणश्च मेऽपानश्च मे व्यानश्च मेऽसुश्च मे
यज्ञेन कल्पंताम् ॥
य० १८।२

प्राणश्च मे यज्ञेन कल्पंताम् ॥
य० १८।२२

" मेरी आयु यज्ञसे बढे, मेरा प्राण यज्ञसे समर्थ हो । मेरा प्राण, अपान, व्यान और साधारण प्राण यज्ञद्वारा बलवान बने । मेरा प्राण यज्ञके लिये समर्पित हो ।"

यज्ञका अर्थ सत्कर्म है । जिस कर्मके साथ बडोंका सत्कार होता है, सबमें विरोध हटकर एकताकी वृद्धि होती है और परस्पर उपकार होता है वह यज्ञ हुआ करता है । यज्ञ अनेक प्रकारके हैं, परंतु सूत्ररूपसे सब यज्ञोंका तत्त्व उक्त प्रकारकाही है । इसलिये यज्ञके साथ प्राणका संबंध आनेसे प्राणमें बल बढने लगता है । स्वार्थ तथा क्षुद्रताओंके कर्मोंमें लगे रहनेसे प्राणशक्तिका संकोच होता है, और जनताके हितके व्यापक कर्म करनेमें प्रवृत्त होनेसे प्राणकी शक्ति विकसित होती है । आशा है कि पाठक इस प्रकारके शुभ कर्मोंमें अपने आपको समर्पित करके अपने प्राणको विशाल करेंगे । वेदमें अग्नि आदि देवताओंका जहां वर्णन आया है वहां उनका प्राणरक्षक गुण भी वर्णन किया है । क्योंकि जो देवता प्राणरक्षक होगी उसकी ही उपासना करनी चाहिये । देखिये-

प्राणदाता अग्नि ।

प्राणदा अपानदा व्यानदा वर्चोदा वरिवोदाः ॥
य० १७।१५

प्राणपा मे अपानपाश्चक्षुष्पाः श्रोत्रपाश्च मे ॥
वाचो मे विश्वभेषजो मनसोऽसि विलायकः ॥
य० २०।३४

" तू प्राण, अपान, व्यान, तेज और स्वातंत्र्य देनेवाला है। तू मेरे प्राण, अपान, चक्षु, श्रोत्र आदिका संरक्षक है, मेरी वाणीके दोष दूर करनेवाला तथा मनको शुद्ध और पवित्र करनेवाला है ।"

प्राणका सत्कर्ममें प्रदान करना, प्राणका संरक्षण करना, इंद्रियोंका संयम करना, वाचाके दोष दूर करने और मनकी पवित्रता करना, यह कार्य सूक्ष्मरूपसे उक्त मंत्रमें कहा है । इतना करनेसे ही मनुष्यका बेडा पार हो सकता है । मन और वाणीकी शुद्धता न होनेसे जगत्‌में कितने अनर्थ हो रहे हैं, इसकी कोई गिनती नहीं हो सकती । मन, वाणी, इंद्रियां और प्राण इनकी स्वाधीनता प्राप्त करनेके लिये ही सब धर्म और कर्म होते हैं । इसलिये अपनी उन्नति चाहनेवालोंको इस कर्तव्यकी ओर अपना ख्याल सदा रखना चाहिये । अब प्राणकी विभूति बतानेवाला अगला मंत्र है, देखिये-

अयं पुरो भुवस्तस्य प्राणो भौवायनो वसन्तः
प्राणायनः ॥ य० १३।५४

" वह आगे भूवर्लोक है, उसमें रहता है इसलिये प्राणको भौवायन कहते हैं । वसन्त प्राणायन है ।"

भूर्लोक पृथ्वी है, और अंतरिक्ष लोक भूवर्लोक है । यह प्राणका स्थान है, इस अवकाशमें प्राण व्यापक है, वायुका और प्राणका एक ही स्थान है । अंतरिक्षमें ही दोनों रहते हैं । वसंत प्राणका ऋतु है । क्योंकि इस ऋतुमें सब जगतमें प्राणशक्तिका संचार होकर सब वृक्षोंको नवजीवन प्राप्त होता है । यह प्राणका अवतार हरएकको देखना चाहिये । प्राणके संचारसे जगतमें कितना परिवर्तन होता है, इसका प्रत्यक्ष अनुभव यहां दिखाई देता है । इस ऋतुमें सब वृक्ष आदि नूतन पल्लवोंसे सुशोभित होते हैं, फलोंसे युक्त होनेके कारण पूर्णताको प्राप्त होते हैं । फल, फूल और पत्र ही सब सृष्टिके मनर्जवनकी साक्षी देते हैं । इसी प्रकार जिनको प्राण प्रसन्न होता है उनको भी स—फल—ता—प्राप्त होती है । जिसप्रकार सब सृष्टि प्राणकी प्रसन्नतासे पुष्पवती और फलवती होती है, उसी प्रकार मनुष्य भी प्राणको वश करनेसे अपने अभीष्टमें सफलता प्राप्त कर सकता है ।

प्राणके साथ इंद्रियोंका विकास ।

सोनेके समय अपने इंद्रिय कैसे लीन होते हैं । और फिर जागृतिके समय कैसे व्यक्त होते हैं, इसका विचार प्रत्येकको करना चाहिए । इससे अपने

आत्मा और प्राणशक्तिके महत्त्वका पता लगता है। इसका प्रकार देखिए—

> पुनर्मनः पुनरायुर्म आगन्पुनः प्राणः पुनरात्मा म आगन॥ पुनश्चक्षुः पुनः श्रोत्रं म आगन् वैश्वानरो अदब्धस्तनूपा अग्निर्नः पातु दुरितादवद्यात्॥
>
> य० ४।१५

"मेरा मन, आयुष्य, प्राण, आत्मा, चक्षु, श्रोत्र आदि पुनः मुझे प्राप्त हुए हैं। शरीरका रक्षक, सब जनोंका हितकारी आत्मा पापोंसे हम सबको बचावे।"

सोनेके समय मन आदि सब इंद्रियां लीन हो गईं थीं, यद्यपि प्राण जागता था तथापि उसके कार्यका भी पता हमको नहीं था। वह सब कलके समान आज पुनः प्राप्त हुआ है। यह आत्माकी शक्तिका कितना आश्चर्यकारक प्रभाव है? वह आत्मशक्ति हमको पापोंसे बचावे। प्राणशक्तिके साथ इन शक्तियोंका लीन होना और पुनः प्राप्त होना, प्रतिदिन हो रहा है। इसका विचार करनेसे पुनर्जन्मका ज्ञान होता है। क्योंकि जो बात निद्राके समय होती है वह ही वैसी ही मृत्युके समय होती है। और उसी प्रकार महाप्रलयके समयमें भी होती है। नियम सर्वत्र एक ही है। प्राणके साथ अन्य इंद्रियां कैसी रहती हैं, प्राण कैसे जागता है और अन्य इंद्रियां वैसी थककर लीन होती हैं, इसका विचार करनेसे अपनी आत्मशक्तिका ज्ञान होता है, और वह ज्ञान अपनी शक्तिका विकास करनेके लिये सहायक होता है। अपने प्राणका विश्वव्यापक प्राणके साथ संबंध देखना चाहिये इसकी सूचना निम्न मंत्र देते हैं—

विश्वव्यापक प्राण।

> सं प्राणः प्राणेन गच्छताम्॥ य० ६। १८
>
> सं ते प्राणो वातेन गच्छताम्॥ य० ६। १०

"अपना प्राण विश्वव्यापक प्राणके साथ संगत हो। तेरा प्राण वायुके साथ संगत हो।" तात्पर्य अपना प्राण अलग नहीं है, वह सार्वभौमिक प्राणका एक हिस्सा है। इस दृष्टिसे अपने प्राणको जानना चाहिये। सब अंतरिक्षमें प्राणका समुद्र भरा है, उसमेंसे थोडासा प्राण मेरे अंदर आकर मेरे शरीरका जीवन दे रहा है, श्वास प्रश्वास द्वारा वह ही सार्वभौमिक प्राण अंदर जा रहा है, इत्यादि भावना मनमें धारण करनी चाहिये। तात्पर्य यह सार्वभौमिक दृष्टि सदा धारण करनी चाहिए। सबकी उन्नतिमें एककी उन्नति है, समष्टिकी उन्नतिमें व्यष्टिकी भलाई है यह वैदिक सिद्धांत है। इसलिये समष्टिकी व्यापक दृष्टि प्रत्येक उपासकके अंदर उत्पन्न होनी चाहिये। वह उक्त प्रकारसे हो सकती है। इस प्राणकी और बातें निम्न मंत्रमें देखिये—

लडनेवाला प्राण।

> अविर्न मेषो नसि वीर्याय, प्राणस्य पंथा अमृतो ग्रहाभ्याम।
>
> सरस्वत्युपवाकैर्व्यानं नस्यानि बर्हिर्बदरैर्जजान॥
>
> य० १९।९०

"(मेषः न) मेंढेके समान लडनेवाला (अविः) संरक्षक प्राणवायु वीर्यके लिये (नसि) नाकमें रखा है। (ग्रहाभ्यां) श्वास उच्छ्वास रूप दोनों प्राणोंसे प्राणका अमृतमय मार्ग बना है। (बदरैः उपवाकैः) स्थिर स्तुतियोंके द्वारा (सरस्वती) सुषुम्ना नाडी (व्यानं) सर्व शरीर व्यापक व्यान प्राणको तथा (नस्यानि) नासिका के साथ संबंध रखनेवाले अन्य प्राणोंको (बर्हिः जजान) प्रकट करती है।"

स्पर्धा करनेवाला, शत्रुके साथ युद्ध करके उसका पराजय करनेवाला मेंढा होता है। यही प्राणका कार्य अपने शरीरमें है। सब व्याधियों और शरीरके सब शत्रुओंके साथ लडकर शरीरका आरोग्य नित्य स्थिर रखनेका बडा कार्य करनेवाला महावीर अपने शरीरमें मुख्य प्राण ही है। यह मेंढेके समान लडता है। इसका नाम "अविः" है क्योंकि यह अवन अर्थात् सब शरीरका संरक्षण करता है। अवनके अन्य अर्थ भी यहां देखने योग्य हैं—रक्षण, गति कांति, प्रीति, तृप्ति, ज्ञान, प्रवेश, श्रवण स्वामित्व, प्रार्थना, कर्म, इच्छा, तेज, प्राप्ति, आलिंगन, हिंसा, दान, भाग और वृद्धि इतने अव् धातुके अर्थ हैं। ये सब अर्थ प्राणवाचक "अवि" शब्दमें हैं। प्राणके कार्य इन शब्दोंसे व्यक्त होते हैं। पाठक इन अर्थोंको लेकर अपने प्राणके धर्म और कर्म जाननेका यत्न करें।

इतने कार्य करनेवाला संरक्षण प्राण हमारी नासिकामें रहा है। नासिका स्थानीय एक ही प्राण हमारे शरीरमें उक्त कार्य करता है। यहां इसका महत्त्व है। यह प्राणका मार्ग "अमृत" मय है। अर्थात् इस मार्गमें मरण नहीं है। इस मार्गका रक्षण करनेवाले दो ग्रह हैं। "श्वास और उच्छ्वास"

ये दो ग्रह इस मार्गका संरक्षण कर रहे हैं। सबको स्वाधीन रखनेवाले, सबका ग्रहण करनेवाले ग्रह होते हैं। श्वास और उच्छ्वासोंसे सब शरीरका उत्तम ग्रहण हो रहा है इसलिये ये ग्रह हैं। इन दो ग्रहोंके कार्यसे प्राणका मार्ग मरण रहित हुआ है, जबतक श्वास और उच्छ्वास चलते हैं, तबतक मरण होता ही नहीं, इसलिये श्वासोच्छ्वासके अस्तित्व तक शरीरमें "अमृत" ही रहता है। परंतु जब ये दो ग्रह दूर हो जाते हैं, तब मरण आता है।

" इडा, पिंगला और सुषुम्ना " ये तीन नाडियां शरीरमें हैं। इन्हींको क्रमसे " गंगा यमुना और सरस्वती " कहा जाता है। अर्थात् सरस्वती सुषुम्ना है। इसमें प्राणकी प्रेरक शक्ति है। स्थिर चित्तसे जो उपासना करते हैं, अर्थात् दृढ विश्वाससे जो परमात्मभक्ति करते हैं, उनके अंदर सुषुम्नाद्वारा यह प्राण विशेष प्रभाव बताता है। तात्पर्य उपासनाके साथ ही प्राणका बल बढता है। व्यान प्राण वह है कि जो शरीरमें व्यापक है, और अन्य नस्य अर्थात् नासिकाके साथ संबंध रखनेवाले प्राण हैं। इन सब प्राणोंकी प्रेरणा उक्त सुषुम्ना करती है। परमेश्वर भक्तिका बल इस सुषुम्नामें बढता है और इसके द्वारा प्राणोंका सामर्थ्य भी प्रकट होता है।

सरस्वतीमें प्राण

इस मंत्रमें प्राणायाम साधनकी बहुतसी गुह्य बातें सरल शब्दोंद्वारा लिखी हैं, इसलिये पाठकोंको इस मंत्रका विशेष विचार करना चाहिए। इस मंत्रमें जिस सरस्वतीका वर्णन आया है उसीका वर्णन निम्न मंत्रमें देखिए-

> अश्विना तेजसा चक्षुः प्राणेन सरस्वती वीर्यं ॥
> वाचेंद्रो बलेनेंद्राय दधुरिंद्रियम् ॥ य० २०।८०

" अश्विदेव तेजके साथ चक्षु देते हैं, सरस्वती प्राण शक्तिके साथ वीर्य देती है, इंद्र (इंद्राय) जीवात्माके लिये वाणी और बलके साथ इंद्रियशक्ति अर्पण करता है। "

इसमें सरस्वती जीवनशक्तिके साथ वीर्य देती है ऐसा कहा है। यह सरस्वती शब्द भी पूर्वोक्त सुषुम्ना नाडीका वाचक है। अश्विनौ शब्द धन और ऋण शक्तियोंका वाचक है। इस मंत्रमें दो इंद्र शब्द हैं। पहिला परमात्माका वाचक और दूसरा जीवात्माका वाचक है। इंद्रिय शब्द आत्माकी शक्तिका वाचक है। कई लोग सरस्वती शब्दका नदी आदि अर्थ लेकर विलक्षण अर्थ करते हैं, उनको यह बात स्मरण रखनी चाहिए कि वैदिक आध्यात्मिक शक्तियोंके वाचक मुख्यतः हैं, पश्चात् अन्य पदार्थोंके वाचक हैं। अस्तु अब प्राणविषयमें और दो मंत्र देखिए-

भोजन और प्राण।

> धान्यमसि धिनुहि देवान् प्राणाय त्वोदानाय त्वा
> व्यानाय त्वा ॥ दीर्घामनु प्रसितिमायुषे धां ॥ य० १।२०
> प्राणाय मे वर्चोदा वर्चसे पवस्व व्यानाय मे वर्चोदा
> वर्चसे पवस्वोदानाय मे वर्चोदा वर्चसे पवस्व ॥ य० ७।२७

" तू धान्य है। देवोंको धन्य करो। प्राण, उदान और व्यानके लिये तेरा स्वीकार करता हूं। आयुष्यके लिये दीर्घ मर्यादा धारण करता हूं॥ मेरे प्राण, व्यान और उदानके तेजकी वृद्धिके लिये शुद्ध बनो। "

सात्विक धान्यका आहार इंद्रियादिक देवोंको शुद्ध, पवित्र और प्रसन्न करता है। सात्विक भोजनसे प्राणका बल बढता है और आयुष्य बढता है। शुद्धतासे प्राणकी शक्ति विकसित होती है। इत्यादि बहुत उत्तम भाव उक्त मंत्रोंमें पाठक देख सकते हैं। तथा और एक मंत्र देखिए-

सहस्राक्ष अग्नि

> अग्ने सहस्राक्ष शतमूर्धं छतं ते प्राणाः सहस्रं व्यानाः।
> त्वं साहस्रस्य राय ईशिषे तस्मै ते विधेम वाजाय
> स्वाहा ॥ य० १७।७१

" हे सहस्र नेत्रवाले अग्ने! तेरे सैकडों प्राण, सैकडों उदान और सहस्र व्यान हैं। सहस्रों धनोंपर तेरा प्रभुत्व है। इसलिये शक्तिके लिये हम तेरी प्रशंसा करते हैं। "

इस मंत्रका " सहस्राक्ष अग्नि " आत्मा ही है। शतक्रतु, इंद्र, सहस्राक्ष आदि शब्द आत्मावाचक ही हैं। सहस्र तेजोंका धारण करनेवाला आत्मा ही सहस्राक्ष अग्नि है। प्राण, उदान, व्यान आदि सब प्राण सैकडों प्रकारके हैं। प्राणका स्थान शरीरमें निश्चित है। हृदयमें प्राण है, गुदाके प्रांतमें अपान है। नाभिस्थानमें समान है, कंठमें उदान है और सर्व शरीरमें व्यान है, प्रत्येक स्थानमें छोटे मोटे अनेक अवयव हैं, और प्रत्येक अवयवके सूक्ष्म भेद सहस्रों हैं। प्रत्येक स्थानमें और सूक्ष्मसे सूक्ष्म भेदमें उस उस प्राणकी अवस्थिति है, तात्पर्य प्रत्येकके प्राणके सैकडों और सहस्रों भेद हो सकते हैं। इस

प्रकार यह प्राणशक्तिका विस्तार हजारों रूपोंसे सब शरीर भर पूर्णतासे भरा हुआ है। यही कारण है, कि प्राणशक्ति वश होनेके कारण सब अंग प्रत्यंग अपने आधीन हो जाते हैं और प्राणशक्तिके वश होनेसे सब शरीरकी नीरोगता भी सिद्ध हो सकती है।

इस प्रकार यजुर्वेदका प्राणविषयक उपदेश है। यजुर्वेदका उपदेश क्रिया-प्रधान होता है। इसलिये पाठक इस उपदेश की ओर अनुष्ठानकी दृष्टिसे देखें और इस उपदेशको अपने आचरणमें ढालनेका यत्न करें।

सामवेद उपासनात्मक होनेसे प्राणके साथ उसका घनिष्ठ संबंध है। कई उसको उक्त कारणसे "प्राण वेद" भी समझते हैं। उपासना द्वारा जो प्राणका बल बढता है उतनीही सहायता सामवेदसे इस विषयमें होती है। अन्य बातोंका उपदेश करना अन्यवेदोंका ही कार्य है। इसलिये यहां इतनाही लिखते हैं कि जो परमात्मोपासनाका विषय है, उसको प्राणशक्तिका विकास करनेके लिये पाठक अत्यंत आवश्यक समझें और अनुष्ठान करनेके समय उसको किया करें॥ अब अथर्ववेदका प्राणविषयक उपदेश देखते हैं।

अथर्ववेदका प्राणविषयक उपदेश।

प्राणापानौ मृत्योर्मा पातं स्वाहा॥ (अ. २।१६।१)

मेमं प्राणो हासीन्मो अपानः॥ (अ. २।२८।३)

"प्राण अपान मुझे मृत्युसे बचावें॥ प्राण अपान इसको न छोडें।" इन मंत्रोंमें प्राणकी शक्तिका स्वरूप बताया है। प्राणकी सहायतासे मृत्युसे संरक्षण होता है। प्राण बशमें आ जायगा तो मृत्युका भय नहीं रहता। मृत्युका भय हटानेके लिये प्राणकी प्रसन्नता करनी चाहिये। देखिये-

> प्राण प्राणं त्रायस्वासो असवे मृड॥
> निर्ऋते निर्ऋत्या नः पाशेभ्यो मुंच॥ ४॥
> वातः प्राणः॥ ५॥ (अ. १६।४४)

"हे प्राण! हमारे प्राणका रक्षण कर। हे जीवन। हमारे जीवनको सुखमय कर। हे अनियम! अनियमके पाशोंसे हमें बचा।"

अपनी प्राणशक्तिका संरक्षण करना चाहिये, अपने जीवनको मंगलमय बनाना चाहिये। निर्ऋतिके जालोंसे बचाना चाहिये। "ऋति" का अर्थ — "प्रगति" उन्नति, सन्मार्ग, उत्कर्ष, अभ्युदय, योग्यता, सत्य, सीधा मार्ग, संरक्षण, पवित्रता" इतना है। अर्थात् निर्ऋतिका अर्थ-अवनति, कुमार्ग, अपकर्ष, अयोग्य रीति, अधर्ममार्ग, टेढीचाल, घातपातकी रीति, अपवित्रता यह होता है। निर्ऋतिके साथ जानेवाला निःसंदेह अधोगतिको चला जाता है। इसलिये इस टेढेमार्गके भ्रमजालसे बचनेकी सूचना उक्त मंत्रमें दी है। हरएक मनुष्य, जो उन्नति चाहता है, सावधान रहता हुआ अपने आपको इस अधोगतिके मार्गसे बचावे। निर्ऋतिके जाल प्रारंभमें बडे सुंदर दिखाई देते हैं। परंतु जो उनमें एकबार फंसता है, उसको उठना बडा मुश्किल प्रतीत होता है। सब प्रकारके दुर्व्यसन, भ्रम, आलस्य, छल, कपट आदि सबही इस निर्ऋतिके जालके रूप हैं। जो लोक इस जालमें फंसते हैं उनको उठना मुश्किल हो जाता है। इसलिये उन्नति चाहनेवाले सज्जनोंको उचित है कि, वे इस बुरे रास्तेसे अपने आपको बचावें। योगसाधन करनेवालोंको यह उपदेश अमूल्य है। योगके यम नियम इसी उपदेशके अनुसार बने हैं। अपने विषयमें किस प्रकारकी भावना करनी चाहिए इसका उपदेश निम्न मंत्रमें किया है-

मैं विजयी हूँ।

सूर्यो मे चक्षुर्वातः प्राणो ऽन्तरिक्षमात्मा पृथिवी शरीरम्। अस्तृतो नामाहमयमस्मि स आत्मानं निदधे द्यावापृथिवीभ्यां गोपीथाय॥ (अ. ५।९।७)

"सूर्य मेरा नेत्र है, वायु मेरा प्राण है, अंतरिक्षस्थ तत्त्व मेरा आत्मा है, पृथिवी मेरा स्थूल शरीर है। इस प्रकारका मैं अपराजित हूं। मैं अपने आपको द्यु और पृथिवी लोकके अंतर्गत जो कुछ है उस सबके संरक्षणके लिये अर्पण करता हूं।"

आत्मशक्तिका विकास करनेके लिये समष्टिकी भलाईके लिये अपने आपको समर्पित करना चाहिए। और अपनी आंतरिक शक्तियोंके साथ बाह्य देवताओंका संबंध देखना चाहिए। इतना ही नहीं प्रत्युत बाह्य देवताओंके अंश अपने शरीरमें रहे हैं, और बाह्य देवताओंके सूक्ष्म अंशोंका बना हुआ मैं एक छोटासा पुतला हूं, ऐसी भावना धारण करके अपने आपको देवताओंका अंशरूप, तथा अपने शरीरको देवताओंका संघ अथवा मंदिर समझना चाहिए। योगसाधनमें यही भावना मुख्य है। अपने आपको निकृष्ट और हीनदीन समझना नहीं चाहिए, परंतु (अहं अस्तृतः अस्मि (I am invincible) मैं अपराजित हूं, मैं शक्तिशाली हूं, इस प्रकारकी भावना धारण करनी चाहिए।

देखिये वेदका कैसा उपदेश है, और साधारण लोग क्या समझ रहे हैं। जैसे जिसके विचार होंगे वैसीही उसकी अवस्था बनेगी। इसलिये अपने विषयमें कदापि तुच्छ बुद्धि धारण करना उचित नहीं है। प्राणायाम करनेवाले सज्जनको तो अत्यंत आवश्यक है कि अपने शरीरको देवताओंका मंदिर, ऋषियोंका आश्रम समझे और अपने आपको उसका अधिष्ठाता तथा परमात्माका सहचारी समझे। अपनी भावना जैसी दृढ होगी वैसाही अनुभव आ सकता है। वेदमें—

पंचमुखी महादेव ।

प्राणापानौ व्यानोदानौ ॥ (अ. ११।८।२६)

प्राण, अपान, व्यान, उदान आदि नाम आये हैं। उपप्राणोंके नाम वेदमें दिखाई नहीं दिये। किसी अन्य रूपसे होंगे तो पता नहीं। यदि किसी विद्वान्‌को इस विषयमें ज्ञान हो तो उसको प्रकाशित करना चाहिए। पंच प्राणही पंचमुखी रुद्र है, रुद्रके जितने नाम हैं वे सब प्राणवाचकही हैं। महादेव, शंभु आदि सब रुद्रके नाम प्राणवाचक हैं। महादेवके पांच मुख जो पुराणोंमें हैं उनका इस प्रकार मूल विचार है। महादेव मृत्युंजय कैसा है, इसका यहां निर्णय होता है। शतपथमें एकादश रुद्रोंका वर्णन है।

कतमे रुद्रा इति। दशेमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादशः ॥ (शत० ब्रा० १४।५)

" कौनसे रुद्र हैं ? पुरुषमें दश प्राण हैं और ग्यारहवां आत्मा है। ये ग्यारह रुद्र हैं। " अर्थात् प्राणही रुद्र है, और इसलिये भव, शर्व, पशुपति आदि देवताके सब सूक्त अपने अनेक अर्थोंमें प्राणवाचक एक अर्थ भी व्यक्त करते हैं। पशुपति शब्द प्राणवाचक माननेपर पशु शब्दका अर्थ इंद्रिय ऐसा ही होगा। इंद्रियोंका घोडे, गौवें पशु आदि अनेक प्रकार से वर्णन कियाही है। इस रीतिसे वेदमें अनेक स्थानमें प्राणकी उपासना दिखाई देगी। आशा है कि पाठक इस प्रकार वेदका विचार करेंगे। इस लेखमें रुद्रवाचक सब सूक्तोंका प्राणवाचक भाव बतानेके लिये स्थान नहीं है, इसलिये इस स्थानपर केवल दिग्दर्शनही किया है। अग्नि शब्द भी विशेष प्रसंगमें प्राणवाचक है। पंचप्राण, पंच अग्नि, प्राणाग्निहोत्र आदि शब्दोंद्वारा प्राणकी अग्निरूपता सिद्ध है। इस भावको देखनेसे पता लगता है कि, अग्निदेवताके मंत्रोंमें भी प्राणका वर्णन गौणवृत्तिसे है, मध्यस्थानीय देवताओंमें वायु और इंद्र ये दो देवताएं प्रमुख हैं। वायु देवताकी प्राणरूपता सुप्रसिद्धही है। स्थान साहचर्य से इंद्रमें भी प्राणरूपत्व आ सकता है। इस दृष्टिसे इंद्र देवताके मंत्रोंसे भी वेदमें प्राणका वर्णन मिल सकता है। इस प्रकार अनेक देवताओं द्वारा वेदमें प्राणशक्तिका वर्णन है। किसी स्थानपर व्यष्टि दृष्टिसे है और किसी स्थानपर समष्टि दृष्टिसे है। यह सब प्राणका वर्णन एकत्र करनेसे ग्रंथविस्तार बहुत हो सकता है, इसलिये यहां केवल उतनाही लेख लिखा जाता है कि जिन मंत्रोंमें स्पष्ट रूपसे प्राणका वर्णन आगया है। अब प्राणकी सत्ता कितनी व्यापक है उसका वर्णन निम्न मंत्रोंमें देखिये—

प्राणका मीठा चाबुक ।

महत्पयो विश्वरूपमस्याः समुद्रस्य त्वोत रेत आहुः। यत ऐति मधुकशा रराणा तत् प्राणस्तदमृतं निविष्टम् ॥ २ ॥ मातादित्यानां दुहिता वसूनां प्राणः प्रजानाममृतस्य नाभिः । हिरण्यवर्णा मधुकशा घृताची महान्भर्गश्चरति मर्त्येषु ॥ ४ ॥ (अथर्व ९।१)

" (अस्याः) इस पृथिवीकी और समुद्रकी बडी (रेतः) शक्ति तू है ऐसा सब कहते हैं। जहांसे चमकता हुआ मीठा-चाबुक चलता है वहीं प्राण और वही अमृत है। आदित्योंकी माता, वसुओंकी दुहिता, प्रजाओंका प्राण और अमृतकी नाभि यह मीठा—चाबुक है। यह तेजस्वी, तेज उत्पन्न करनेवाली और (मर्त्येषु गर्भः) मर्त्योंके अंदर संचार करनेवाली है ॥

इस मंत्रमें " मधु—कशा " शब्द है। " मधु" का अर्थ मीठा, स्वादु है। और "कशा" का अर्थ चाबुक है। चाबुक घोडा गाडी चलानेवालेके पास होता है। चाबुक मारनेसे गाडीके घोडे चलते हैं। उक्त मंत्रोंमें " मधु—कशा " अर्थात् मीठा—चाबुकका वर्णन है। यह मीठा-चाबुक अश्विनी देवोंका है। अश्विनी देव प्राणरूपसे नासिका स्थानमें रहते हैं,प्राण अपान, श्वास उच्छ्वास, दांये और बांये नाकका श्वास यह अश्विनीदेवोंका प्राणमयरूप शरीरमें है। इस शरीरमें अश्विनीरूप प्राणोंका ' मीठा-चाबुक ' कार्य कर रहा है और शरीररूपी रथके इंद्रियरूप घोडोंको चला रहा है। इस चाबुकका यह स्वरूप देखनेसे वेदके इस अद्वितीय और विलक्षण

अलंकारकी कल्पना पाठकोंके मनमें स्थिर हो सकती है। यह प्राणोंका मीठा चाबुक हम सबको प्रेरणा कर रहा है, इसकी प्रेरणाके बिना इस शरीरमें कोई कार्य होता नहीं है। इतनाही नहीं परंतु सब जगत्में यह 'मीठा--चाबुक' ही सबको गति दे रहा है। सब जगत्में यह प्राणका कार्य देखने योग्य है। मंत्र कहता है कि "इस मीठे चाबुकमें पृथ्वी और उसकी सब शक्ति रहती है, जहांसे यह मीठा चाबुक चलाया जाता है वहीं प्राण और अमृत रहता है।" प्राण और अमृत एकत्र ही रहता है क्योंकि जबतक शरीरमें प्राण रहता है तब-तक मरणकी भीति नहीं होती। और सभी जानते हैं कि प्राणियोंके शरीरोंमें प्राणही सबका प्रेरक है, इसलिये उसके चाबुककी कल्पना उक्त मंत्रमें कही है क्योंकि शरीररूपी रथके घोडे चलानेका कार्य यही चाबुक कर रहा है। दूसरे मंत्रमें कहा है कि "यह चाबुक शरीरस्थ वसु आदि देवताओंका सहायक है, यह प्रजाओंका प्राण ही है, अमृतका मध्य यही है। यह प्राण मर्त्योंमें तेज और चेतना उत्पन्न करता है, और सब प्राणियोंके बीचमें यह चलता है।" यह वर्णन उत्तम अलंकारसे युक्त है, परंतु स्पष्ट होनेके कारण हरएक इसका उपदेश जान सकता है। तथा—

अपनी स्वतंत्रता और पूर्णता।

नसोः प्राणः ॥ (अ. १९।६०)

श्रोत्रं चक्षुः प्राणोऽच्छिन्नो नो अस्त्वच्छिन्ना वयमायुषो वर्चसः ॥ ५ ॥ (अ० १९।५८)

अयुतोऽहमयुतो म आत्माऽयुतं मे चक्षुरयुतं मे श्रोत्रमयुतो मे प्राणोऽयुतो मेऽपानोऽयुतो मे व्यानो-ऽयुतोऽहं सर्वः ॥ १ ॥ (अ० १९।५१)

"मेरे नाकमें प्राण स्थिरतासे रहे ॥ मेरा कान, नेत्र और प्राण छिन्नभिन्न न होता हुआ मेरे शरीरमें कार्य करे। मेरी आयु और तेज अविच्छिन्न अर्थात् दीर्घ होवे ॥ मैं, अपना आत्मा, चक्षु श्रोत्र, प्राण, अपान, व्यान आदि मेरी सब शक्तियां पूर्ण स्वतंत्र और उन्नत होकर मेरे शरीरमें रहें ॥"

आयु और प्राण अविच्छिन्न रूपसे अपने शरीरमें रहनेकी प्रबल इच्छा उक्त मंत्रमें है। सब इंद्रियां तथा सब अन्य शक्तियां अविच्छिन्न तथा पूर्ण उन्नत रूपसे अपने शरीरमें प्रकट होनेकी व्यवस्था हरएकको करनी चाहिये। उक्त मंत्रमें कई शब्द अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं—

अहं अयुतः

अहं सर्वः अयुतः

"मैं संपूर्ण रूपसे स्वतंत्र, दूसरे किसीकी सहायताकी अपेक्षा न करने योग्य समर्थ, किसी कष्टसे खलबली न मचने योग्य दृढ हूं।" यह भावना यदि मनमें स्थिर हो जायगी तो मनुष्यकी शक्ति कितनी बढ सकती है इसका विचार पाठक भी कर सकते हैं। मेरी इंद्रियां, मेरे प्राण तथा मेरे अन्य अवयव ऐसे दृढ और बलवान होने चाहिये कि मुझे उनके कारण कभी क्लेश न हो सके, तथा किसी दूसरी शक्तिकी अपेक्षा न करता हुआ, मैं पूर्ण स्वतंत्रताके साथ आनंदसे अपने महान महान पुरुषार्थ कर सकूं। कोई यह न समझे कि यह केवल ख्यालही है परंतु मैं यहां कह सकता हूं कि यदि मनुष्य निश्चय करेंगे तो निःसंदेह वे अपने आपको इस प्रकार पूर्ण स्वतंत्र बना सकते हैं और उक्त शक्तियोंका पूर्ण विकास वे अपने अंदर कर सकते हैं, तथा—

प्राणकी मित्रता।

इहैव प्राणः सख्ये नो अस्तु तं त्वा परमेष्ठिन् पर्यहमायुषा वर्चसा दधातु ॥ (अ० १३।१।१७)

"यहीं प्राण हमारा मित्र बने! हे परमेष्ठिन्! हमें यह दीर्घ आयु और तेजके साथ प्राप्त हो।" प्राणके साथ मित्रता का तात्पर्य इतनाही है कि अपने शरीरमें प्राण बलिष्ठ होकर रहे। कभी अल्प आयुमें प्राण दूर न हो। अपने आयुष्यमें परमेष्ठी परमात्माकी ही सेवा और उपासना करनी चाहिये। परमात्मा सर्व श्रेष्ठ गुणोंका केंद्र होनेसे परमात्मचिंतन द्वारा सभी श्रेष्ठ सद्गुणोंका ध्यान होता है और मनुष्य जिसका सदा ध्यान करता है उसके समान बन जाता है, इस नियमके अनुसार परमेश्वरके गुणोंके चिंतनसे मनुष्य भी श्रेष्ठ बनता है। यह उपासनाका और मानवी उन्नतीका संबंध है। इस प्रकार जो सत्पुरुष अपनी प्राणशक्तिको बढाता है उसकी प्राणशक्ति कितनी विस्तृत होती है इसकी कल्पना निम्न मंत्रोंसे हो सकती है। देखिए—

तस्य व्रात्यस्य ॥ सप्त प्राणाः सप्तापानाः सप्त व्यानाः ॥ योऽस्य प्रथमः प्राण ऊर्ध्वो नामायं सो अग्निः ॥ योऽस्य द्वितीयः प्राणः प्रौढो नामासौ स आदित्यः ॥ योऽस्य तृतीयः प्राणोऽभ्यूढो नामासौ स चन्द्रमाः ॥ योऽस्य चतुर्थः प्राणो विभूर्नामायं स पवमानः ॥ योऽस्य पंचमः प्राणो योनिर्नाम ता इमा आपः ॥ योऽस्य षष्ठः प्राणः प्रियो नाम

त इमे पशवः ॥ योऽस्य सप्तमः प्राणोऽपरिमितो नाम ता इमाः प्रजाः ॥ (अ. १५।१५।१-२)

"उस (व्रात्यस्य) संन्यासी सत्पुरुषके सात प्राण, सात अपान, सात व्यान हैं। उसके सातों प्राणोंके क्रमशः नाम ऊर्ध्व-प्रौढ, अभ्यूढ, विभू, योनि, प्रिय और अपरिमित हैं। और उनके सात स्वरूप क्रमशः अग्नि, आदित्य, चंद्रमा, पवमान, आप पशु और प्रजा हैं।" इसी प्रकार इसके अपान और व्यानका वर्णन उक्त स्थानमें ही वेदने किया है। वहांही उसको पाठक देखें। विस्तार होनेके भयसे उस सबको यहां नहीं लिया है। मनुष्य अपनी शक्तिको इस प्रकार बढा सकता है। मनुष्य अपने सातों प्राणोंको अपरिमित रूपमें बढा सकता है वही अपने आपको सब प्रजाजनोंके हितके कार्यमें अर्पण करता है, जो अपने प्राणका ऊर्ध्व अर्थात् उदय करता है वह अग्निके समान तेजस्वी होता है। इस प्रकार उक्त कथनका भाव समझना चाहिए। तथा—

समयकी अनुकूलता।

कालें मनः काले प्राणः काले नाम समाहितम्।
कालेन सर्वा नन्दन्त्यागतेन प्रजा इमाः ॥७॥ (अ० १९।५३)

"कालकी अनुकूलतासे मन, प्राण और नाम रहता है। कालकी अनुकूलतासे सब प्रजाओंका आनंद होता है।"

कालका नियम पालन करना चाहिये। पुरुषार्थके साथ काल की अनुकूलता होनेसे उत्तम फल प्राप्त होता है। कालका धिक्कार नहीं करना चाहिये। जो अनुकूलता प्राप्त होती है उसका उपयोग अवश्य करना चाहिए। प्राणायामादि साधन करनेवालेको उचित है कि वह योग्य कालमें नियमपूर्वक अपना अभ्यास किया करें, तथा जिस समय जो करना योग्य है उसको अवश्य ही उस समय करना चाहिए। अब प्राणके संरक्षक ऋषियोंका वर्णन निम्नलिखित मंत्रमें देखिये—

प्राणरक्षक ऋषि।

ऋषी बोधप्रतीबोधावस्वप्नो यश्च जागृविः।
तौ ते प्राणस्य गोप्तारौ दिवा नक्तं च जागृताम् ॥

(अ० ५।३०।१०)

"बोध और प्रतिबोध अर्थात स्फूर्ति और जागृति ये दो ऋषि हैं। ये दोनों तेरे प्राणकी रक्षा करते हुए दिनरात जागते रहें।"

प्रत्येक मनुष्यमें ये दो ऋषि हैं। "स्फूर्ति और जागृति" ये दो ऋषि हैं। एक उत्साहकी प्रेरणा करता है और दूसरा सावधान रहनेकी चेतना देता है। उत्साह और सावधानता ये दो सद्गुण जिस मनुष्यमें जितने होंगे, उतनी योग्यता उस मनुष्यकी हो सकती है। ये दो ऋषि प्राणके संरक्षणका कार्य करते हैं, और यदि ये दिन रात जागते रहेंगे तो मनुष्यको मृत्युकी बाधा नहीं हो सकती। जबतक मनुष्यका मन उत्साहसे परिपूर्ण रहेगा और जबतक सावधानताके साथ वह अपना व्यवहार करेगा, तबतक उसको मरणकी भांति नहीं होगी, यह साधारण नियम समझिये।

जो लोग असावधानताके साथ अपना दैनिक व्यवहार करते हैं, तथा जो सदा हीनदीन और दुर्बलताके ही विचार मनमें धारण करते हैं; उनको इस मंत्रका भाव ध्यानमें धरना उचित है। वेद कहता है कि मनमें उत्साहके विचार धारण करो और प्रतिक्षण सावधान रहो। जो मनुष्य अपने आपको वैदिक धर्मी समझता है उसको उचित है कि वह अपने मनमें वेदके ही अनुकूल भाव धारण करे। वैदिक धर्मी मनुष्यको उचित नहीं कि वह वेदके विरुद्ध हीन और दीनताके विचार अपने मनमें धारण करके मृत्युके वशमें होवे। वैदिक धर्मका विशेष उद्देश सर्वसाधारण जनताकी आयुष्यवृद्धि और आरोग्यवृद्धि करना है। इसीलिये स्थान स्थानके वैदिक सूक्तोंमें दीर्घायुत्वके अनेक उपदेश आते हैं। पाठक इन बातोंको ठीक प्रकार अपने मनमें धारण करें।

वृद्धताका धन।

प्र विशतं प्राणापानावनड्वाहाविव व्रजम्। अयं जरिम्णः शेवधिररिष्ट इह वर्धताम् ॥ ५ ॥ आ ते प्राणं सुवामसि परा यक्ष्मं सुवामि ते ॥ आयुर्नो विश्वतो दधदयमग्निर्वरेण्यः ॥ ६ ॥ (अ० ७।५३)

"जिस प्रकार बैल अपने स्थानपर वापस आते हैं, उस प्रकार प्राण और अपान अपने स्थानपर आ जावें। वृद्धावस्थाका जो खजाना है वह यहां कम न होता हुआ बढता रहे। तेरे अंदर प्राणको प्रेरित करता हूं और बीमारीको दूर फेंकता हूं। यह श्रेष्ठ अग्नि हम सबको सब प्रकारसे दीर्घ आयु देवे।"

बैल शामके समय वेगसे अपने स्थानपर आ जाते हैं। उस प्रकारके बलयुक्त वेगसे प्राण और अपान अपने अपने स्थानमें रहें। जब प्राण और अपान बलवान बनकर अपना अपना कार्य करेंगे तब मृत्युका भय नहीं हो सकता और मनुष्य दीर्घ आयुष्य रूपी धन प्राप्त कर सकता है। सब धनोंमें आयुष्यरूपी धन

ही सबसे श्रेष्ठ है, क्योंकि सब अन्य धनोंका उपयोग इसके होने-पर ही हो सकता है। उक्त मंत्रमें-

अरिष्टः सर्वाङ्गः सुश्रुतो जरसा शतहायन आत्मना भुजमश्नुताम् ॥ (अ० ७।५३।५)

ये शब्द मनन करने योग्य हैं। "वृद्ध आयुका खजाना सदा बढता रहे।" अर्थात् इस लोकमें आयु बढती रहे, ये शब्द स्पष्टतासे बता रहे हैं कि आयु निश्चित नहीं, प्रत्युत बढनेवाली है। जो मनुष्य अपनी आयु बढाना चाहेगा वह उस प्रकारके आयुष्यवर्धक सुनियमोंका पालन करके आयु बढा सकता है। इस प्रकार वेदका उपदेश अत्यंत स्पष्ट है। परंतु कई वैदिक धर्मी समझते ही हैं कि आयु निश्चित है और घट बढ नहीं सकती। जिन बातोंमें वेदका कथन स्पष्ट है, उन बातोंमें कमसे कम भिन्न विचार वैदिक धर्मियोंको धारण करना उचित नहीं है।

बोध और प्रतिबोध।

पूर्व स्थानमें बोध और प्रतिबोध ये दो ऋषि हैं, ऐसा कहा ही है। वही भाव थोडेसे फरकसे निम्नलिखित मंत्रमें आया है, देखिये—

बोधश्च त्वा प्रतिबोधश्च रक्षतामस्वप्नश्च त्वाऽनवद्राणश्च रक्षताम्। गोपायंश्च त्वा जागृविश्च रक्षताम्॥ (अ० ८।१।१३)

"उत्साह और सावधानता तेरा रक्षण करें। स्फूर्ति और जागृति तेरा संरक्षण करें। रक्षक और जागृत तेरा पालन करें।"

इस मंत्रमें संरक्षक गुणोंका वर्णन है। उत्साह, सावधानता स्फूर्ति, जागृति, रक्षण और खबरदारी ये गुण संरक्षण करनेवाले हैं इनके विरुद्ध गुण घातक हैं। इसलिये अपनी अभिवृद्धि-की इच्छा करनेवालेको उचित है कि वह उक्त गुणोंकी वृद्धि अपनेमें करे। इस मंत्रके साथ पूर्व मंत्र, जिसमें दो ऋषियोंका वर्णन है तुलना करके देखें। अब निम्नलिखित मंत्र देखिये-

उन्नति ही तेरा मार्ग है।

उद्यानं ते पुरुष नावयानं जीवातुं ते दक्षतातिं कृणोमि। आ हि रोहेममसृतं सुखं रथमथ जिर्विर्विदथमा वदासि॥ (अ० ८।१।६)

"हे मनुष्य! तेरी गति (उत् यानं) उन्नतिकी ओर ही होनी चाहिये। कभी भी (अव यानं न) अवनतिकी ओर होनी नहीं चाहिये। तेरी दीर्घ आयुष्यके लिये मैं बलका विस्तार करता हूं। इस सुखमय शरीररूपी अमृतमय रथपर (आरोह) चढो। और जब तुम दीर्घ आयुसे युक्त हो जाओगे तब (विदथं) सभाओंमें (आवदासि) संभाषण करोगे।"

अपना अभ्युदय करनेका यत्न करना चाहिये, कभी ऐसा कर्म करना नहीं चाहिये कि जिससे अवनति होनेकी संभावना हो सके। जीवनके लिये प्राणका बल फैलाना चाहिए। प्राणका बल बढानेसे दीर्घ आयुष्य प्राप्त हो सकता है। यह शरीररूपी उत्तम रथ है, जिसको इंद्रियरूपी घोडे जुते हैं। इस रथमें प्राण-रूपी अमृत है। इसलिये इसको सुखमय रथ कहा जाता है। इस सर्वोत्तम रथपर आरूढ हो जाओ और अपनी उन्नतिके मार्गमें आगे बढो। जब तुम बल और दीर्घ आयु प्राप्त करोगे तब तुम-को बडी बडी सभाओंमें अवश्य ही संभाषण करना होगा, क्यों-कि दूसरोंका सुधार करनेके लिये तुमको प्रयत्न करना चाहिए। जीवनार्थ युद्धमें सब जनताको उत्तम मार्ग बतानेका कार्य तुम्हारा ही है। तुमको स्वार्थी बनना नहीं चाहिए। प्रत्युत जनताकी उन्नतिमें अपनी उन्नति समझनी चाहिए। इस मंत्रसे पता लगता है कि प्राणायामादि साधनों द्वारा दीर्घ आयु, उत्तम आरोग्य, अद्वितीय बल, सूक्ष्म बुद्धि और विशाल मन प्राप्त करनेके पश्चात् मनुष्यको अपना जीवन सार्वजनिक हितसाधन करनेमें लगाना चाहिए। समाजसे अलग होकर अपनी ही शांति प्राप्त करने-मात्रसे मनुष्य कृतकार्य नहीं हो सकता, परंतु जब एक "नर" अपने आपको उन्नत करनेके पश्चात् "वैश्वा—नर" के लिये आत्मसमर्पण करता है, तब ही वह उच्चतम अवस्थाको प्राप्त कर सकता है। यही सर्व-मेध-यज्ञ है। अस्तु। इस प्रकार उक्त मंत्रने योगी मनुष्यके सम्मुख अंतिम उच्च आदर्श रख दिया है। आशा है कि, सब श्रेष्ठ मनुष्य इस वैदिक आदर्शको अपने सम्मुख रखकर अपना जीवन इसके अनुसार ढालनेका यत्न करेंगे। अब अन्य बातोंका विचार यहां करना है। योगी जनोंका अधिकार कहांतक पहुंचता है, इसका पता निम्न मंत्रोंसे लग सकता है—

यमके दूत।

कृणोमि ते प्राणापानौ जरां मृत्युं दीर्घमायुः स्वस्ति। वैवस्वतेन प्रहितान् यमदूतांश्चरतोऽप सेधामि सर्वान् ॥ ११ ॥ आराद्रातिं निर्ऋतिं परो ग्राहिं क्रव्यादः पिशाचान्। रक्षो यत्सर्वं दुर्भूतं तत्तम इवाप हन्मसि ॥ १२ ॥ अग्नेष्टे प्राणममृतादायुष्मतो वन्वे जातवेदसः। यथा न रिष्या अमृतः सजूरसस्तत्ते कृणोमि तदु ते समृध्यताम् ॥ १३ ॥ अ. ८।२

" मैं तेरे अंदर प्राण और अपानका बल, दीर्घ आयु, (स्वस्ति) स्वास्थ्य आदि सब अच्छे भाव, वृद्धावस्थाके पश्चात् योग्य समयमें मृत्यु आदि स्थापना करता हूं वैवस्वत यमके द्वारा भेजे हुए यमदूतोंको मैं ढूंढ ढूंढ कर दूर करता हूं ॥ (अरातिं) अदावत, (निर्ऋतिं) नियमविरुद्ध व्यवहार, (ग्राहिं) देरसे चलनेवाले रोग, (क्रव्यादः) मांसको क्षीण करनेवाली बीमारी, (पिशाचान्) रक्तको निर्बल करनेवाले रक्तके कृमि, (रक्षांसि) सब क्षयके कारण, (सर्वं दुर्भूतं) सब बुरा व्यवहार आदि जो कुछ विनाशक है, उस सबको अंधकारके समान मैं दूर करता हूं ॥ तेरे लिये मैं तेजस्वी, अमर और आयुष्मान् जातवेदसे प्राण प्राप्त करता हूं । जिस प्रकार तेरा अकालमृत्यु न होगा, तू अमर अर्थात् दीर्घजीवी बनेगा, (सजूः) मित्रभावसे संतुष्ट रहेगा और तुझे कष्ट न होगा उस प्रकारकी समृद्धि तेरे लिये मैं अर्पण करता हूं ॥ "

इन मंत्रोंमें प्राणसाधन करके जो विलक्षण सिद्धि प्राप्त होती है उसका उत्तम वर्णन है। प्राणका बल प्राप्त करनेसे सब प्रकारका स्वास्थ्य, दीर्घ आयु, बल तथा योग्य कालमें मृत्यु हो सकती है । परंतु प्राणका बल न होनेकी अवस्थामें नाना प्रकारके रोग, अल्प आयु, अशक्तता और अकाल मृत्यु होती है । इससे प्राणायामादि द्वारा प्राणकी शक्ति बढानेकी आवश्यकता स्पष्ट सिद्ध होती है । जो विद्वान् आयुको परिमित और निश्चित मानते हैं वे कहते हैं कि यमके दूत सब जगत्में संचार करते हैं, वे आयुकी समाप्तिके समय मनुष्यके प्राणोंका हरण करते हैं । इसलिये आयु बढ नहीं सकती । इस अवैदिक मतका खंडन करते हुए वेद कहता है कि जो यमदूत इस जगत्में संचार करते होंगे, उनको भी प्राणके अनुष्ठानसे दूर किया जा सकता है । इसमें मनुष्य पराधीन नहीं है । अनुष्ठान की रीतिसे प्राणका बल बढावेंगे, तो उसी क्षण यमदूत आपसे दूर हो सकते हैं । प्राणोपासना करनेवालोंके ऊपर यमदूत अपना प्रभाव नहीं डाल सकते । इस प्रकारका अभयदान वेद दे रहा है, इसकी ओर हरएक वैदिक धर्मीका ध्यान अवश्य जाना चाहिए । इस विचारको धारण करके निर्भय बनकर प्राणायामद्वारा अपनी आयु हरएकको दीर्घ बनानी चाहिए तथा अन्य प्रकारका स्वास्थ्य भी प्राप्त करना चाहिए । प्राणायामके अनुष्ठानसे मनुष्य इतना बल प्राप्त कर सकता है कि जिससे वह यमदूतोंको भी दूर भगा सकता है । इतना सामर्थ्य प्राप्त होता है इसलिये ही सब श्रेष्ठ पुरुष प्राणायामका महत्त्व वर्णन करते हैं ।

प्राणायामसे सब ही प्रकारके व्याधि-दोष और रोगोंके मूल कारण दूर हो सकते हैं । दुष्टभाव, बुरा आचार, विधिनियमोंके विरुद्ध व्यवहार आदि सब दोष इस अभ्याससे दूर होते हैं । सब प्रकारके रोगोंके बीज शरीरसे हट जाते हैं । जिस प्रकार सूर्य अपनी किरणों द्वारा अंधकारका निर्मूलन करता है, उस प्रकार योगी अपनी प्राणशक्तिके प्रभावसे सब रोगबीजोंको दूर कर सकता है ।

जो सब बने हुए पदार्थोंको यथावत् जानता है वह आत्मा " जात-वेदअग्नि " है । वह आत्मा अमृतरूप तथा आयुष्मान है । इसलिये वही सबको अमर और आयुष्मान् कर सकता है । जो उसके साथ अपनी आत्माको योगसाधनद्वारा संयुक्त कर सकते हैं वे अपने आपको दीर्घ आयुसे युक्त और अमरत्वसे पूर्ण बना सकते हैं । इस प्रकारसे साधनसंपन्न योगी अकाल मृत्युसे मरते नहीं, अमर बनते हैं, सदा संतुष्ट और प्रेमपूर्ण बनते हैं, इसलिये सब प्रकारकी समृद्धिसे युक्त होते हैं । यही सच्ची समृद्धि है । मनुष्यका अधिकार है कि वह इस समृद्धिको प्राप्त करे ।

अथर्वाका सिर ।

चित्तवृत्तियोंका निरोध करना और मनकी सब वृत्तियोंको स्वाधीन रखकर उनको अच्छे ही कर्ममें लगाना योग कहलाता है । इस प्रकारका पुरुषार्थ जो करता है उसको योगी कहते हैं ।

योगीके अंदर चंचलता नहीं रहती और दृढ स्थिरता मनोवृत्तियोंमें शोभा बढाने लगती है । इस प्रकारके योगीका नाम " अ-थर्वा " होता है । ' अचंचल ' यह अथर्वा शब्दका भाव है । एकाग्रताकी सिद्धि उसको प्राप्त होती है । इस अथर्वाका जो वेद है वह अथर्ववेद है । अथर्ववेद सर्वसामान्य मनुष्योंके लिये नहीं है । योगसाधनका इसमें मुख्य भाग होनेसे तथा सिद्ध अवस्थाकी बातें इसमें होनेसे यह अथर्ववेदका योगियोंका वेद है । इसमें इसी कारण प्राणायामविषयक उपदेश सब अन्य वेदोंकी अपेक्षा अधिक है । इस वेदमें अथर्वाके सिरका वर्णन निम्न प्रकार किया है-

मूर्धानमस्य संसीव्याथर्वा हृदयं च यत्।मस्तिष्कादूर्ध्वः
प्रैरयत्पवमानोऽधि शीर्षतः ॥ २६ ॥ तद्वा अथर्वणः
शिरो देवकोशः समुब्जितः तत्प्राणो अभि रक्षति शिरो

अन्नमयो मनः ॥ २७ ॥ यो वै तां ब्रह्मणो वेदामृतेनावृतां पुरम्। तस्मै ब्रह्म च ब्राह्माश्च चक्षुः प्राणं प्रजां ददुः ॥ २९ ॥ न वै तं चक्षुर्जहाति न प्राणो जरसः पुरा। पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते ॥ ३० ॥ अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या। तस्यां हिरण्मयः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः ॥ ३१ ॥ तस्मिन् हिरण्मये कोशे त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठिते। तस्मिन् यद्यक्षमात्मन्वत् तद् वै ब्रह्मविदो विदुः ॥ ३२ ॥ प्रभ्राजमानां हरिणीं यशसा संपरीवृताम्॥ पुरं हिरण्ययीं ब्रह्मा विवेशापराजिताम् ॥ ३३ ॥ (अ० १०।२)

" (अ—थर्वा) स्थिरचित्त योगी अपने (मूर्धानं) मस्तिष्कके साथ हृदयको सीता है, और सिरके मस्तिष्कके ऊपर अपने (पवमानः) प्राणको भेज देता है ॥ वही अथर्वा का सिर है कि जिसको देवोंका कोश कहा जाता है। उसका रक्षण प्राण, अन्न और मन करते हैं॥ अमृतसे परिपूर्ण इस ब्रह्मकी नगरीको जो जानता है उसको ब्रह्म और इतर देव चक्षु, प्राण और प्रजा देते हैं॥ वृद्धावस्थाके पूर्व चक्षु और प्राण उसको छोडते नहीं, जो इस ब्रह्मपुरीको जानता है, और जिसमें रहनेके कारण आत्माको पुरुष कहते हैं॥ आठ चक्र और नौ द्वारोंसे युक्त यह देवोंकी अयोध्या नगरी है, इसमें तेजस्वी कोश है वही देदीप्यमान स्वर्ग है। तीन आरोंसे युक्त और तीन स्थानोंपर रहे हुए उस तेजस्वी कोशमें जो पूज्य आत्मा है उसको ब्रह्मज्ञानी लोग जानते हैं। इस देदीप्यमान, मनोहर, यशस्वी और अपराजित नगरीमें ब्रह्मा प्रवेश करता है।"

योगसाधन करनेवालोंके लिये यह उपदेश अमूल्य है। इसमें सबसे पहली बात यह कही है कि हृदय और मस्तिष्कको एक रूप बनावे। हृदयका धर्म भक्ति है और मस्तिष्कका धर्म विचार है। भक्ति और विचारका विरोध नहीं होना चाहिये। दोनों एक ही कार्यमें सम अधिकारसे प्रवृत्त होने चाहिये। जहां ये दोनों कंद विभक्त होते हैं उसमें दोष उत्पन्न होते हैं। धर्ममें विशेषतः मस्तिष्ककी तर्कना और हृदयकी भक्तिको समान स्थान मिलना चाहिये। जिस धर्ममें इनको समान स्थान नहीं होता, उस धर्ममें बडे दोष होते हैं। शिक्षाविभागमें भी मस्तिष्क और हृदयका समविकास होने योग्य शिक्षा होनी चाहिए। जिस शिक्षामें केवल मस्तिष्ककी तर्कशक्ति बढती है उस शिक्षा प्रणालीसे नास्तिकता उत्पन्न होती है और जिससे केवल भक्ति बढती है उस प्रणालीसे अंधविश्वास बढता है। इसलिये तर्क और भक्तिका समविकास होनेसे दोनों दोष दूर होते हैं और सब प्रकारकी उन्नति होती है। योगसाधन करनेवालेको उचित है कि वह अपनेमें मस्तककी तर्कशक्ति और हृदयकी भक्ति समप्रमाणमें विकसित करे। यही भाव " मूर्धा और हृदयको सीने" के उपदेशमें है। दोनोंको सीकर एक करना चाहिए और दोनोंको मिलाकर आत्मोन्नतिके कार्यमें समर्पित करना चाहिए।

ब्रह्मलोककी प्राप्ति।

"मस्तिष्कके ऊपर के स्थानमें प्राणको प्रेरित करना" यह दूसरा उपदेश उक्त मंत्रोंमें है। मस्तिष्कमें सहस्रार चक्र है और इसके नीचे पृष्ठवंशके साथ कई चक्र हैं। प्राणायामद्वारा नीचेसे एक एक चक्रमें प्राण भरनेकी क्रिया साध्य होती है और सबसे अंतमें इस मस्तिष्कके सहस्रार चक्रमें प्राण भेजा जाता है, इस अवस्थासे पूर्व पृष्ठवंशकी नाडियोंमें प्राणका उत्तम संचार होता है। तत्पश्चात् मस्तिष्कके सहस्रार चक्रमें प्राण पहुंचता है और ब्रह्मरंध्रतक प्राणकी गति होती है। यह प्राणकी सर्वोत्तम गति है। यही ब्रह्मलोक होनेसे तथा इस स्थानमें प्राणके साथ आत्माकी गति होनेसे, इस अवस्थामें मुमुक्षुको ब्रह्मलोक प्राप्त होता है। इसलिये इस अवस्थाको सबसे श्रेष्ठ अवस्था कहते हैं। यह सबसे श्रेष्ठ अवस्था प्राणायामके नियमपूर्वक अभ्याससे प्राप्त होती है, इस कारण यह योगियोंको प्राप्त होनेवाली अवस्था है।

देवोंका कोश।

अ-थर्वा अर्थात् योगीका उक्त प्रकारका सिर सचमुच देवोंका खजाना है। इस प्रकारके अथर्वाके सिरमें सब दिव्य भावनाएं रहती हैं। सब दिव्य श्रेष्ठ दैवी शक्तियोंका निवास उसके शरीरमें होता है इसलिये उसका देह देवताओंका सच्चा मंदिर है। इस देवोंके मंदिरकी रक्षा करनेवाले जो वीर हैं उनके नाम प्राण, मन और अन्न हैं। बलवान प्राण सब रोगबीजों और शारीरिक दोषोंको हटाता है, श्रेष्ठ सद्गुणी और सत्यनिष्ठ मन अपने सुविचारों द्वारा इसको सुरक्षित रखता है। मनकी प्रबल इच्छाशक्तिद्वारा सब ही दोष दूर हो सकते हैं और आदर्श अवस्था प्राप्त हो सकती है। सात्त्विक अन्नके सेवन करनेसे शरीर निर्दोष बनता है, मन भी सात्त्विक बनता है और प्राणका बल भी बढता है। इस प्रकार ये तीन वीर—"प्राण, मन और अन्न"–

परस्परोंका संवर्धन करते हुए, सब मिलकर योगीकी सहायता करते हैं। यही प्राणायामका यश है।

ब्रह्मकी नगरी।

ब्रह्मकी नगरी हृदयमें है और उसमें अमृत है। यह अमृत देव प्राशन करते हैं और पुष्ट होते हैं। अर्थात् हृदय स्थानीय रुधिर ही सब इंद्रियोंमें जाकर वहांका आरोग्य स्थिर रखता है। इस अमृतपूर्ण ब्रह्मकी नगरीको जो ठीक प्रकार जानता है, इस पुरीके सब गुणधर्मोंसे जो परिचित होता है, अपने इस हृदयकी शक्तियोंको जो जानता है उसको ब्रह्म और ब्रह्मकी शक्तियां चक्षु, प्राण और प्रजा देती हैं। चक्षु शब्दसे सब इंद्रिय और अवयवोंकी सूचना होती है, प्रजाशब्द सुप्रजाका बोध करता है और प्राणशब्दसे सामर्थ्ययुक्त जीवनका ज्ञान होता है। तात्पर्य इस अपने हृदयकी शक्तियोंका उत्तम ज्ञान प्राप्त करनेसे उक्त प्रकारके लाभ हो सकते हैं। हृदयको तथा अपने आंतरिक इंद्रियों और अवयवोंको जानना, प्राणायामसे जो चित्तकी एकाग्रता होती है तब कई अज्ञात शक्तियोंका विज्ञान होता है, उसी अवस्थामें आंतरिक उपकरणोंका विज्ञान होता है इसी रीतिसे हृदयादि अंतरंगोंका पूर्ण ज्ञान होनेके पश्चात् वहां अपने आत्माकी शक्ति कैसे अद्भुत रीतिसे कार्य कर रही है, इसका साक्षात्कार होता है। इस प्रकार अपने आत्माकी शक्ति विदित होते ही उक्त फल प्राप्त होता है। सुप्रजा निर्माण करनेकी शक्ति, दीर्घ आयु और बलवान इंद्रिय ये तीन फल अपने हृदयका तथा वहांकी आत्मशक्तिका ज्ञान प्राप्त करनेवालेको होते हैं।

जो पुरुष ब्रह्मज्ञानी बनता है वह अकाल मृत्युसे नहीं मरता, पूर्ण आयुष्यकी समाप्तिके पश्चात् स्वकीय इच्छासे वह मरता है। आयुष्यकी समाप्तितक उसके संपूर्ण इंद्रिय, अवयव और अंग बलवान् और कार्यक्षम रहते हैं। यह ब्रह्मज्ञानका फल है। कई यहां शंका करेंगे कि ब्रह्मज्ञानका यह फल कैसा प्राप्त होता है? इस शंकाके उत्तरमें निवेदन है कि ब्रह्मज्ञानसे आत्मिक शांति होती है और उस कारण उसको उक्त फल प्राप्त हो सकते हैं। तथा जो ब्रह्मज्ञानी होता है उसका आचार-विचार शक्ति क्षीण करनेवाला न होनेके कारण उसकी शक्ति कभी क्षीण होती ही नहीं, प्रत्युत उसकी शक्तिविकास होता है। जिसकी शक्तिकी अभिवृद्धि होती है, उसको उक्त बातें प्राप्त करनी शक्य ही है।

अयोध्या नगरी।

आठचक्र और नौ द्वारोंसे युक्त यह देवताओंकी नगरी है, इसका नाम "अयोध्या" है। जिसमें देवभावना और आसुरीभावनाओंका संग्राम नहीं होता, अर्थात् जहां दैवी वृत्ति ही सदा शांतिके साथ निवास करती है। इसलिये उसका नाम "अ-योध्या" नगरी है। जबतक यह नगरी देवोंके आधीन होती है तबतक उसमें शांतिका रामराज्य हो जाता है। इंद्रियोंके नौ द्वार हैं और इसमें पृष्ठवंशमें मूलाधार आदि आठ चक्र हैं। इस नगरीमें हृदयस्थानमें प्रकाशमय स्वर्ग है। वहां प्राणायामादि साधनोंके द्वारा प्राप्तव्य स्थान है। प्राप्तव्यका अर्थ स्वकीय इच्छासे प्राप्तव्य है, अन्यथा वह स्थान सभी प्राणिमात्रके पास है ही, परंतु बहुत ही थोडे लोग हैं कि जो अपनी इच्छासे उसमें प्रवेश कर सकते हैं। आत्मशक्तिका प्रभाव जानते हुए उस स्थानको जानना और ज्ञानके साथ उसमें निवास करना योगसाधनसे साध्य है।

अयोध्याका राम।

इस नगरीमें जो पूजनीय देव है वही आत्माराम है, उसको ब्रह्मज्ञानी लोग ही जानते हैं। अन्योंको उसका पता नहीं लग सकता।

इस यशस्वी नगरीमें विजयी ब्रह्म प्रवेश करता है। जीवात्मा जब आसुरी भावनाओंपर विजय प्राप्त करता है तब वह अपनी राजधानीमें विजयोत्सव करता हुआ प्रवेश करता है। यह राजधानी अयोध्या नगरी यशसे परिपूर्ण है, दुःखोंका हरण करनेवाली है और तेजसे प्रकाशित है। इसका पराजय आसुरी भावनाओंके द्वारा कभी हो ही नहीं सकता। इसलिये इसका नाम ही "अपराजित अयोध्या" है। अपने हृदयकी इस शक्तिको जानना चाहिये। 'मैं अपराजित हूं। दुष्टभावोंसे मैं कभी पराजित नहीं हो सकता। मैं सदा विजयी ही रहूंगा। मेरा नाम ही "विजय" है।' इत्यादि भाव उपासकको अपने अंदर धारण करने चाहिये। 'मैं हीन-दीन दुर्बल और अधम हूं' इस प्रकारके भाव कदापि मनमें धारण नहीं करने चाहिये। ये अवैदिक भाव हैं। इस मंत्रमें आत्माका विजयी स्वरूप बताया है, आशा है कि वैदिक धर्मी सज्जन इस भावको धारण करेंगे।

अपनी आत्माका ही यह वर्णन है। आत्मा किस प्रकारके भावसे पराजित होती है और किस भावनाके धारण करनेसे

विजयी होता है, इसका सूक्ष्म वर्णन इसमें दिया है। आत्मा ही ब्रह्मा है, वह हृदयकमलमें निवास करती है, हंस अर्थात् प्राण उसका वाहन है, आदि वर्णन पूर्व स्थलमें आ चुका है। यह ब्रह्माकी नगरी है, यही देवोंकी पुरी अमरावती है, यही सब कुछ है। पाठक प्रयत्न करके अपने अंदर इस शक्तिका अनुभव करें और अपना विजय संपादन करें।

अब चारों वेदोंमेंसे अनेक मंत्रोंद्वारा जो जो उपदेश ऊपर दिया है उसका सारांश नीचे देता हूं, जिसको पढनेसे पूर्वोक्त सब कथनका भाव हृदयमें प्रकाशित हो सकेगा—

(१) आंतरिक प्राणका बाह्य वायुके साथ नित्य संबंध है।

(२) जितना प्राण होता है उतनी ही आयु होती है,इसलिये प्राणशक्तिकी वृद्धि करनेसे आयुष्यकी वृद्धि हो सकती है।

(३) प्राणरक्षणके नियमोंके अनुकूल आचरण करनेसे न केवल प्राणका बल बढता है, प्रत्युत चक्षु आदि सभी इंद्रियों अवयवों और अंगोंकी शक्ति बढती हैं और उत्तम आरोग्य प्राप्त हो सकता है।

(४) प्राणायामके साथ मनमें शुभ विचारों की धारणा करनेसे बडा लाभ होता है।

(५) सूर्य प्रकाशका सेवन तथा भोजनमें घीका सेवन करनेसे प्राणायाम की शीघ्र सिद्धि होती है।

(६) प्राणशक्तिका विकास करना हरएकका कर्तव्य है। क्योंकि आत्माकी शक्तिके साथ प्रेरित प्राण शरीरके प्रत्येक अंगमें जाकर वहांके स्वास्थ्यकी रक्षा और बलकी वृद्धि करता है।

(७) एकही प्राणके प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान ये भेद हैं तथा अन्य उप प्राणभी उसीके प्रभेद हैं।

(८) संतोषवृत्ति और पवित्रतासे प्राणका सामर्थ्य बढता है।

(९) प्राणका वीर्यके साथ संबंध है। वीर्यरक्षणसे प्राणशक्तिकी वृद्धि होती है और प्राणायामसे वीर्यकी स्थिरता होती है। इसप्रकार इनका परस्पर संबंध है।

(१०) परमेश्वरकी उपासना और संगीतका अभ्यास इन दोनोंसे प्राणका बल बढ जाता है।

(११) प्राणशक्तिकी रक्षा और अभिवृद्धिके लिये सब अन्य इंद्रियोंके सुखोंको त्यागना चाहिये, अर्थात् अन्य इंद्रियोंके सुख प्राप्त करनेके लिये प्राणकी हानि करना नहीं चाहिए।

(१२) सब शक्तियोंमें प्राणशक्तिही मुख्य और प्रमुख शक्ति है।

(१३) सत्कर्मके साथ प्राणका पोषण करना चाहिए।

(१४) वाचा, मन और कर्ममें शुद्धता और पवित्रता रखनी चाहिए। इनसे बल बढता है।

(१५) सोनेके समय अपनी सब इंद्रियशक्तियां किस प्रकार आत्मामें लीन होती हैं, और उठनेके समय पुनः किस प्रकार व्यक्त रूपमें कार्य करने लगती है इसका विचार करना और इनमें प्राणके कार्यका अनुभव लेना चाहिए। इस अभ्याससे आत्माकी विलक्षण शक्ति जानी जाती है।

(१६) संपूर्ण रोगबीजों और शारीरिक दोषोंको प्राण ही दूर करता है। जबतक प्राण है तबतक शरीरमें अमृत है।

(१७) भोजनके साथ, प्राणशक्ति, आयुष्य, आरोग्य आदिका संबंध है। इसलिये ऐसा उत्तम सात्विक भोजन करना चाहिए कि जो आयुष्य आरोग्य आदिकी वृद्धि कर सके।

(१८) सहस्रों सूक्ष्म रूपोंसे शरीरमें प्राण कार्य करता है।

(१९) प्राण संवर्धनके नियमोंके विरुद्ध व्यवहार करनेसे सब शक्ति क्षीण होकर अकाल मृत्यु होती है। इसलिये इस प्रकारकी नियमविरुद्ध आचरण करनेकी प्रवृत्तिको रोकना चाहिये।

(२०) अग्नि,वायु,रवि आदि बाह्य देवताएं अपने शरीरमें वाचा, प्राण, चक्षु आदि रूपसे रहती हैं। इस प्रकार अपना शरीर देवताओंका मंदिर है और मैं उन सब देवताओंका अधिष्ठाता हूं। यह भावना मनमें स्थिर करनी चाहिये। और अपने आपको उक्त भावनारूप ही समझना चाहिये।

(२१) अपने आपको अपराजित विजयी और शक्तिका केंद्र मानना उचित है।

(२२) प्राण ही रुद्र है। रुद्रवाचक सब शब्द प्राणवाचक हैं।

(२३) प्राणके आधारसे ही सब विश्व चल रहा है। प्राणियोंके अंदर यह बडी विलक्षण शक्ति है।

(२४) मैं पुरुषार्थसे अवश्य ही अपनी सब शक्तियोंका विकास करूंगा, ऐसा दृढ निश्चय करना योग्य है।

(२५) अपने आपको कभी हीन, दीन, दुर्बल नहीं समझना चाहिये परंतु अपने प्रभावका गौरव ही सदा देखना चाहिए।

(२६) जगत्‌में ऐसी कोई शक्ति नहीं है कि जो मुझे कष्ट दे सकेगी। मैं सब कष्टोंको दूर करनेका सामर्थ्य रखता हूं। यह भाव मनमें रखना चाहिए।

(२७) सर्व शक्तिमान् परमेश्वर मेरा मित्र है, इस बातपर पूर्ण विश्वास रखना, तथा उसको अपना पिता, माता, भाई आदि समझना। उसमें और मेरेमें स्थान काल आदिका भेद नहीं है।

(२८) योग्य कालमें योग्य कार्य करना। कालकी अनुकूलता प्राप्त होनेपर उसको दूर न करना। आजका कर्तव्य कलके लिये न रखना।

(२९) स्फूर्ति और जागृति धारण करनेसे उन्नति होती है।

(३०) दीर्घ आयु ही बडा धन है, इसको और भी बढाना चाहिए। निर्दोष बननेसे उस धनकी वृद्धि होती है।

(३१) उत्साह, सावधानता, स्फूर्ति, जागृति, स्वसंरक्षण की भावना और योजनासे उन्नतिका साधन किया जा सकता है।

(३२) सदा ऊपर उठनेके लिये प्रयत्न होना चाहिए, ऐसा कोई कार्य करना नहीं चाहिए कि जिससे नीचे गिरनेकी संभावना हो सके।

(३३) इस अमृतमय शरीरमें आकर व्यक्तिकी उन्नति और सब जनताकी उन्नति करनेके लिये प्रयत्न करना चाहिए। जीवन का यही उद्देश है।

(३४) संपूर्ण अनिष्टोंके साथ युद्ध करके अपनी विजय संपादन करनी चाहिए।

(३५) हृदयकी भक्ति और मस्तिष्कका तर्क इन दोनों शक्तियोंको एक ही सत्कार्यमें लगाना चाहिए तथा इन दोनोंका सम विकास करना चाहिये।

(३६) योगीका सिर सचमुच देवोंका वसतिस्थान है।

(३७) अपने ही हृदयमें ब्रह्मनगरी है, वही स्वर्ग और वही अमरावती है। यहां देवोंकी अयोध्या है। ब्रह्मज्ञानी इसको ठीक प्रकार जानते हैं।

(३८) जो आत्मशक्तिका विकास करता है वही स्वकीय गौरवके साथ इस अपनी राजधानीमें प्रवेश करता है।

(३९) प्राणको अपने स्वाधीन करके मस्तिष्कके ऊपर भेजना चाहिए। जहां विचारोंकी गति नहीं है वहां पहुंचना चाहिए, वही आत्माका स्थान है।

(४०) निश्चयके साथ पुरुषार्थके प्रयत्नसे उन्नतिके पथपर चलनेवाला योगी अपनी सब प्रकारसे उन्नति कर सकता है।

इसप्रकार वेदमंत्रोंका आशय है। पाठक इसका वारंवार विचार करें और अपनी उन्नतिके लिये उपयोगी बोध लेलें। तथा प्राप्त बोधके अनुसार आचरण करके अपने और जनताके अभ्युदय और निःश्रेयस प्राप्तिके साधनमें सदा तत्पर रहें।

इस लेखमें थोडेसे वेदमंत्र दिये हैं जिनमें प्राणविषयक उपदेश विशेष रीतिसे स्पष्ट है। परंतु इसके अतिरिक्त अन्य देवताओंके सूक्तोंमें गुप्त रीतिसे जो प्राणविद्याका वर्णन है उसकी भी खोज होनी चाहिए। आशा है कि पाठक स्वयं प्राणविद्याका अभ्यास करके उक्त खोज करनेके पवित्र कार्यमें अपने आपको समर्पित करेंगे।

स्वयं अनुभव लेनेके विना उक्त प्रकारकी खोज नहीं हो सकती, इसलिये प्रथम प्राणायामका साधन स्वयं करना चाहिए। जो सज्जन प्राणायामका साधन स्वयं करेंगे और उच्च भूमिकाओंमें जाकर वहांका प्रत्यक्ष अनुभव करेंगे, उनको ही वैदिक संकेतोंका उत्तम ज्ञान होना संभव है। इसलिये पाठकोंसे प्रार्थना है कि वे प्रथम अनुष्ठान द्वारा स्वयं अनुभव लेनेका यत्न करें, और पश्चात् वैदिक प्राणविद्याकी खोज करके पीछेसे आनेवाले सज्जनोंका मार्ग सुगम करें। हरएकके थोडे थोडे प्रयत्नसे महान कार्य सिद्ध हो सकता है। आशा है कि पाठक उत्साहके साथ अपूर्व प्रयत्न करेंगे।

उपनिषदोंमें प्राण-विद्या।

वेदमंत्रोंमें जो अध्यात्मविद्या है वही उपनिषदोंमें बतलाई है। अध्यात्मविद्याके अनेक अंगोंमें प्राणविद्या नामक एक मुख्य अंग है। वह जैसा वेदके मंत्रोंमें है वैसा उपनिषदोंके मंत्रोंमें भी है। इससे पूर्व वेदमंत्रोंकी प्राणविद्या सारांशरूपसे बताई है, अब उपनिषदोंकी प्राणविद्या देखनी है।

प्राणकी श्रेष्ठता।

प्राण सब शक्तियोंमें सबसे श्रेष्ठ शक्ति है, इस विषयमें निम्न वचन देखिये—

प्राणो ब्रह्मेति व्यजानात्। प्राणाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायंते। प्राणेन जातानि जीवंति। प्राणं प्रयंत्यभि सं

वि शंतीति ॥ तै० उ० ३ ३

'प्राणही ब्रह्म है,क्योंकि प्राणसे ये सब भूत उत्पन्न होते हैं, प्राणसे जीवित रहते हैं और अंतमें प्राणमेंही जाकर मिल जाते हैं।'

यह प्राणशक्तिका महत्त्व है। प्राण सबसे बडी शक्ति है, सब अन्य शक्तियां प्राणपरही अवलंबित रहती हैं। जबतक प्राण रहता है तबतक अन्य शक्तियां रहती हैं, प्राण जाने लगता है तो अन्यशक्तियां प्रथम चली जाती हैं,और पश्चात् प्राण निकल जाता है। न केवल प्राणियोंकोही प्राणका आधार है,परंतु औषधि वनस्पति तथा अन्य स्थिरचर पदार्थ, इन सबको भी प्राणशक्तिकाही आधार है। प्राणशक्ति सर्वत्र व्यापक है और सबके अंदर रहती हुई सबका धारण पोषण कर रही है। प्रजापति परमात्माने सबसे प्रथम जो दो पदार्थ उत्पन्न किये उनमेंसे एक प्राण है और दूसरी रयि है। इस विषयमें देखिये-

स मिथुनमुत्पादयते । रयिं च प्राणं च ॥४॥ आदित्यो ह वै प्राणो रयिरेव चंद्रमा रयिर्वा एतत्सर्वं यन्मूर्तं चामूर्तं च तस्मान्मूर्तिरेव रयिः ॥ ५ ॥ प्रश्न. उ० १

"परमेश्वरने सबसे प्रथम स्त्रीपुरुषका एक जोडा उत्पन्न किया उसमें एक प्राण है और दूसरी रयि है। जगतमें आदित्य ही प्राण है और चंद्रमा तथा मूर्तिमान् जगत् जिसमें दृश्य और अदृश्य पदार्थ मात्र हैं रयि है।"

अर्थात् एक प्राणशक्ति और दूसरी रयिशक्ति सबसे प्रथम उत्पन्न हुई। इसका भाव निम्न कोष्टकसे ज्ञात होगा, देखिये-

प्राण	रयि
आदित्य	चंद्रमाः
पुरुष	स्त्री, प्रकृति
Positive	Negative

जगत्के ये मातापिता हैं, इनसे सृष्टिकी उत्पत्ति हुई है। संपूर्ण जगतमें इनका कार्य है। सूर्यमालामें सूर्य प्राण है, अन्य चंद्र आदि रयि है, शरीरमें मुख्य-प्राण प्राण है और अन्य स्थूल शरीर रयि है देहमें सीधी बगल प्राण है और बांई बगल रयि है। इस प्रकार एक दूसरेके अंदर रयि और प्राणशक्तियां व्यापक हैं, किसी स्थानपर ये दोनों शक्तियां नहीं हैं ऐसा नहीं है। सर्वत्र रहकर सब स्थिरचरमें इनका कार्य हो रहा है;इसको देखनेसे प्राणकी सर्वव्यापकताका पता लग सकता है। इस प्रकार यह सब देवोंका देव है इसलिये कहा है कि—

कतम एको देव इति प्राण इति ॥ बृ. ३।९।९

"एक देव कौनसा है ? प्राण है।" अर्थात् सब देवोंमें मुख्य एक देव कौनसा है ? उत्तरमें निवेदन है कि प्राणही सबसे मुख्य और श्रेष्ठ देव है। और देखिये-

प्राणो वाव ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च ॥ छां. ५।१।१ बृ. ६।१।१

"प्राणही सबसे मुख्य और श्रेष्ठ है।" सब अन्य देव इसीके आधारसे रहते हैं। तथा—

(१) प्राणो वै बलं तत्प्राणे प्रतिष्ठितम् ॥ बृ. ५।१४।४

(२) प्राणो वा अमृतम् ॥ बृ. १।६।३

(३) प्राणो वै सत्यम् ॥ बृ. २।१।२०

(४) प्राणो वै यशो बलम् ॥ बृ १।२।६

"(१) प्राणही बल है, यह बल प्राणमें रहता है। (२) प्राणही अमृत है, (३) प्राणही सत्य है, (४) प्राणही यश और बल है।" इसप्रकार प्राणका महत्त्व है। प्राणकी श्रेष्ठता इतनी है कि उसका वर्णन शब्दोंसे नहीं हो सकता।

प्राण कहांसे आता है ?

परमात्माने प्राणकी उत्पत्ति की है, इसका वर्णन पूर्व स्थलमें हो चुका है। परंतु इस प्राणशक्तिकी प्राप्ति प्राणियोंको कैसे होती है, इस विषयमें निम्न मंत्र देखने योग्य है—

आदित्य उदयन् यत्प्राचीं दिशं प्रविशति तेन प्राच्यान् प्राणान् रश्मिषु संनिधत्ते ॥ यद्दक्षिणां यत्प्रतीचीं यदुदीचीं यदधो यदूर्ध्वं यदन्तरा दिशो यत्सर्वं प्रकाशयति तेन सर्वान् प्राणान् रश्मिषु संनिधत्ते ॥ ६ ॥ स एष वैश्वानरो विश्वरूपः प्राणोऽग्निरुदयते ॥ तदेतदृचाऽभ्युक्तम् ॥ ७ ॥ विश्वरूपं हरिणं जातवेदसं परायणं ज्योतिरेकं तपन्तम् ॥ सहस्ररश्मिः शतधा वर्तमानः प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः ॥ ८ ॥ प्रश्न. उ १।६-८

"सूर्यका जब उदय होता है तब सभी दिशाओंमें सूर्य किरणोंके द्वारा प्राण रखा जाता है। इसप्रकार सर्वत्र सूर्यकिरणोंके द्वाराही प्राण पहुंचता है ॥ यह सूर्यही प्राणरूप वैश्वानर अग्नि है ॥ यह सूर्य (विश्व-रूपं) सब रूपका प्रकाशक, (हरिणं) अंधकारका हरण करनेवाला (जात-वेदसं) धनोंका उत्पादक, एक, श्रेष्ठ तेजसे युक्त, सैंकडों किरणोंके साथ प्रकाशनेवाला यह प्रजाओंका हृदयको प्राप्त होता है।"

यह सूर्यका वर्णन बता रहा है कि सूर्यका प्राणके साथ क्या संबंध है। सूर्यकिरणोंके विना प्राणकी प्राप्ति नहीं हो सकती। इस सूर्य मालिकाका मूल प्राण यह सूर्य देव ही है। इसी कारण

वेदमंत्रमें आयु, आरोग्य, बल आदिके साथ सूर्यका संबंध वर्णन किया है। सूर्यप्रकाशका हमारे आरोग्यके साथ कितना घनिष्ट संबंध है इसका यहां पता लग सकता है। जो लोग सदा अंधेरे स्थानमें रहते हैं, सूर्यप्रकाशमें क्रीडा नहीं करते, सूर्यके प्रकाशसे अपना आरोग्य नहीं संपादन करते हैं और अपने आरोग्यके लिये वैद्यों हकीमों और डाक्टरोंके घर भरते रहते हैं। विषरूप दवाइयां पीते हैं, उनकी अज्ञानताकी सीमा कहां है? परमात्माने अपार दयासे सूर्य और वायु उत्पन्न किया है, और उनसे पूर्ण आरोग्य संपादन हो सकता है। योग्य रीतिसे प्राणायामद्वारा उनका सेवन किया जायगा तो स्वभावतः ही आरोग्य मिल सकता है इतना सस्ता आरोग्य होनेपर भी मनुष्य ऐसी अवस्थातक आ पहुंचे हैं कि अनंत संपत्तिका व्यय करनेपर भी उनको आरोग्य नहीं प्राप्त होता। पाठको, देखिये कि वेदके उपदेशोंसे जनता कितनी दूर गयी है। अस्तु। विश्वव्यापक प्राण प्राप्त होनेका मार्ग इस प्रकार है। यह प्राण सूर्यमें केंद्रित हुआ है, वहांसे सूर्यकिरणोंद्वारा वायुमें आता है और वायुके साथ हमारे खूनमें जाकर हमारा जीवन बढाता है। जो प्राणायाम करना चाहते हैं उनको इस बातका ठीक ठीक पता होना चाहिये। इसी प्राणका और वर्णन देखिये--

देवोंका घमंड।

"एक समय ऐसा हुआ कि बाह्य सृष्टिमें पृथिवी, आप, तेज, वायु ये देव, तथा शरीरके अंदर वाचा, मन, चक्षु और श्रोत्र ये देव समझने लगे कि हम ही इस जगतको धारण करते हैं, और हमारेसे कोई श्रेष्ठ शक्ति नहीं है। इन देवोंका यह गर्व देखकर प्राण कहने लगा कि, हे देवो! ऐसी घमंड न कीजिये, मैं ही अपने आपको पांच विभागोंमें विभक्त करके इसकी धारणा कर रहा हूं। परंतु इस कथनको उन देवोंने माना नहीं, उस समय मुख्य प्राण वहांसे हटने लगा, तब सब देव कांपने लगे। फिर जब प्राण आगया तब देव प्रसन्न हुए। इससे देवोंको पता लगा कि यह सब प्राणकी शक्ति है कि जिसके कारण हम कार्य कर रहे हैं, हमारी ही केवल शक्तिसे हम इस कार्यको चलानेमें सर्वथा असमर्थ हैं।" इसप्रकार जब देवोंने प्राणकी महिमा विदित की, तब वे प्राणकी स्तुति करने लगे। यह स्तुति निम्न मंत्रोंमें है--

प्राणस्तुति।

एषोऽग्निस्तपत्येष सूर्य एष पर्जन्यो मघवानेष वायुरेष पृथिवी रयिर्देवः सदसच्चामृतं च यत् ॥ ५ ॥ अरा इव रथनाभौ प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥ ऋचो यजूंषि सामानि यज्ञः क्षत्रं ब्रह्म च ॥ ६ ॥ प्रजापतिश्चरसि गर्भे त्वमेव प्रति जायसे ॥ तुभ्यं प्राणः प्रजास्त्विमा बलिं हरन्ति यः प्राणैः प्रति तिष्ठसि ॥ ७ ॥ देवानामसि वह्नितमः पितॄणां प्रथमा स्वधा ॥ ऋषीणां चरितं सत्यमथर्वांगिरसामसि ॥ ८ ॥ इंद्रस्त्वं प्राण तेजसा रुद्रोऽसि परिरक्षिता ॥ त्वमन्तरिक्षे चरसि सूर्यस्त्वं ज्योतिषां पतिः ॥ यदा त्वमभि वर्षस्यथेमाः प्राण ते प्रजाः आनंदरूपास्तिष्ठंति कामायान्नं भविष्यतीति ॥ १० ॥ व्रात्यस्त्वं प्राणैकऋषिरत्ता विश्वस्य सत्पतिः ॥ वयमाद्यस्य दातारः पिता त्वं मातरिश्वनः ॥ ११ ॥ या ते तनूर्वाचि प्रतिष्ठिता या श्रोत्रे या च चक्षुषि ॥ या च मनसि संतता शिवां तां कुरु मोत्क्रमीः ॥ १२ ॥ प्राणस्येदं वशे सर्वं त्रिदिवे यत्प्रतिष्ठितम् ॥ मातेव पुत्रान् रक्षस्व श्रीश्च प्रज्ञां च विधेहि न इति ॥ १३ ॥ प्रश्न. उ. २

"यह प्राण अग्नि, वायु, सूर्य, पर्जन्य, इंद्र, पृथिवी, रयि आदि सब है। जिस प्रकार रथ नाभीमें आरे जुडे होते हैं, उसी प्रकार प्राणमें सब जुडा हुआ है। ऋचा, यजु, साम, यज्ञ, क्षत्र और ज्ञान सबही प्राणके आधारसे हैं। हे प्राण! तू प्रजापति है और गर्भमें तू ही जाता है। सब प्रजायें तेरे लिये ही बली अर्पण करती हैं। तू देवोंका श्रेष्ठ संचालक और पितरोंकी स्वकीय धारण शक्ति है। अथर्वा आंगिरस ऋषियोंका सत्य सदाचरण भी तेरा ही प्रभाव है। तू इंद्र, रुद्र, सूर्य है, तू ही तेजसे तेजस्वी हो रहा है जब तू वृष्टि करता है तब सब प्रजायें आनंदित होती हैं क्योंकि उनको बहुत अन्न इस वृष्टिसे प्राप्त होता है। तू ही व्रात्य एक ऋषि और सब विश्वका स्वामी है। हम दाता हैं और तू हम सबका पिता है। जो तेरा शरीर वाचा, चक्षु, श्रोत्र और मनमें है, उसको कल्याण रूप कर और हमारेसे दूर न हो। जो कुछ त्रिलोकीमें है वह सब प्राणके वशमें है। माताके समान हमारा संरक्षण करो और शोभा तथा प्रज्ञा हमें दो।"

यह देवोंका बनाया प्राणसूक्त देखनेसे प्राणका महत्त्व ध्यानमें आ सकता है। यह सूक्त कई दृष्टियोंसे विचार करने योग्य है।

पहिली बात जो इसमें कही है वह यह है कि चक्षु श्रोत्र आदि इंद्रियां शरीरमें तथा सूर्य, चंद्र, वायु आदि जगतमें देव हैं और ये सब प्राणके वशमें है। प्राणकी शक्ति इनके अंदर जाती है और इनके द्वारा कार्य करती है। जिस प्रकार शक्ति आंखमें जाकर आंखको देखनेके लिये समर्थ बनाती है, उसी प्रकार सूर्यके अंदर विश्वव्यापक प्राणशक्ति रहकर प्रकाश कर रही है। इसलिये आंखकी दृष्टि और सूर्यकी प्रकाशशक्ति आंख और सूर्यकी नहीं है प्रत्युत प्राणकी है इसी प्रकार अन्य इंद्रियों और देवताओंके विषयमें जानना उचित है। देव शब्द जैसा शरीरमें इंद्रिय वाचक है उसी प्रकार जगतमें अग्नि वायु आदि देवताओंका भी वाचक है। पाठक इस दृष्टिको धारण करके अग्नि आदि देवताओंके सूक्तोंका विचार करें।

उक्त सूक्तमें दूसरी बात यह है कि, अग्नि, सूर्य, इंद्र, वायु, पृथिवी, रुद्र आदि शब्द प्राणवाचक होनेसे इन देवताओंके सूक्तोंमें भी प्राणविद्या प्रकाशित हुई है। इसलिये जो सज्जन अग्नि आदि सूक्तोंका विचार करते हैं वे उक्त सूक्तोंमें विद्यमान प्राणविद्याकाभी विचार करें। अर्थात् अग्नि सूर्य आदि देवताओंके नामोंका "प्राण" अर्थ समझकर उन सूक्तोंका अर्थ करें। जो सूक्त सामान्य अर्थवाले होंगे उनके अर्थ इस प्रकार हो सकते हैं। देखिये-

प्राणरूप अग्नि।

अग्निना रयिमश्नवत् पोषमेव दिवे दिवे॥
यशसं वीरवत्तमम्॥ ऋ. १।१।३

"(अग्निना) प्राणसे (रयि) शोभा और (पोषं) पुष्टि (दिवे दिवे) प्रतिदिन (अश्नवत्) प्राप्त होती है। और वीर्ययुक्त यश भी मिलता है।"

यह अत्यंत स्पष्ट ही है कि प्राण चला जायगा तो न तो शरीरकी शोभा बढेगी और न शरीरकी पुष्टि होगी, फिर यश मिलना तो दुरापास्त ही है। इसप्रकार बहुत विचार हो सकता है, यहां उतना स्थान नहीं है, इसलिये यहां केवल दिग्दर्शन ही किया है। वेदके गूढ रहस्योंका इसप्रकार पता लग जाता है इसलिये पाठकोंको उचित है कि वे वेदका स्वाध्याय प्रतिदिन किया करें। स्वाध्याय करते करते किसी न किसी समय वैदिक दृष्टि प्राप्त होगी और पश्चात् कोई कठिनता नहीं होगी।

उक्त सूक्तोंमें तीसरी बात यह है कि अग्नि आदि शब्दके गूढ अर्थोंसे प्राणविद्याका महत्त्व उसमें वर्णन किया है। इसका थोडासा स्पष्टीकरण देखिए-

(१) देवानां वह्निमः असि = प्राण "इंद्रियोंको" चलानेवाला है, सूर्यादिकोंको" चलाता है, प्राणायाम द्वारा "विद्वान्" उन्नति प्राप्त करते हैं।

(२) पितॄणां प्रथमा स्वधा असि = संपूर्ण पालक शक्तियोंमें सबसे श्रेष्ठ और (प्रथमा) पहिले दर्जेकी पालकशक्ति प्राण है और वही (स्व-धा) आत्मसत्त्वकी धारणा करती है।

(३) ऋषीणां सत्यं चरितं असि = सप्त ऋषियोंका सत्य (चरितं) चाल चलन अथवा आचरण प्राण ही करता है। दो आंख, दो कान, दो नाक और एक मुख ये सप्त ऋषी हैं ऐसा वेद और उपनिषदोंमें कहा है।

(४) अथर्वांगिरसां चरितं असि = (अ-थर्वा, अंगिरसां) स्थिर अंगोंके रसोंका (चरितं) चलन अथवा भ्रमण प्राण ही करता है। प्राणके कारण पोषक रस सब अंगोंमें भ्रमण करता है और सर्वत्र पहुंच कर सर्वत्र पुष्टि करता है।

इसप्रकार भाव उक्त सूक्तके वाक्योंमें गुप्त रीतिसे है। प्रत्येक शब्दका आशय देखनेसे इसका पता लग सकता है। साधारण सूचना देनेके लिये यहां उपयोगी होनेवाले शब्दार्थ नीचे देता हूं। (१) अग्निः- गति देनेवाला, उष्णता और तेज उत्पन्न करनेवाला; (२) सूर्य-प्रेरणा करनेवाला, प्रकाश देनेवाला; (३) पर्जन्य (पर-जन्य) पूर्णता करनेवाला; (४) मघवान्- महत्त्वसे युक्त; (५) वायुः= हिलानेवाला और अनिष्टको दूर करनेवाला, (६) पृथिवी-विस्तृत, आधार देनेवाली (७) रयिः- तेज, संपत्ति, शरीरसंपत्ति आदि; (८) देवः- क्रीडा, विजिगीषा, व्यवहार, तेज, आनंद, हर्ष, निद्रा, उत्साह, स्फूर्ति आदि देनेवाला, दिव्य; (९) अ-मृतः = अमरत्वसे युक्त; (१०) प्रजा-पतिः = चक्षु आदि सब प्रजाओंका पालक, प्रजा उत्पन्न करनेवाला; (११) वह्नितमः = अत्यंत प्रेरक; (१२) इंद्रः = ऐश्वर्यवान्, भेदन करनेवाला; (१३) रुद्रः = (रुत्-रः) शब्दका प्रेरक, (रुद्-रः) दुःखको दूर करके आरोग्य देनेवाला; (१४) व्रात्यः = (व्रत) नियमके अनुसार आचरण करने वाला। इस प्रकार शब्दोंके अर्थ देखनेसे पता लगेगा कि उक्त शब्दों द्वारा प्राणकी किस शक्तिका कैसा उत्तम वर्णन किया गया है। वैदिक शब्दोंके गूढ आशय

देखनेसे ही वेदकी गंभीरता व्यक्त होती है। आशा है कि पाठक उक्तप्रकार उक्त सूक्तका विचार करेंगे।

अस्तु। इसप्रकार प्राणकी मुख्यता और श्रेष्ठता है और यह प्राण सूर्य किरणोंके द्वारा प्राणियों तक पहुंचता है। सूर्य किरणोंसे वायुमें आता है। वायु श्वाससे अंदर जाता है, उससमय मनुष्यके शरीरमें पहुंचता है। प्राणायामके समय इसप्रकार इस प्राणका महत्त्व ध्यानमें धरना चाहिए।

प्राणका प्रेरक।

केन उपनिषद्में प्राणके प्रेरकका विचार किया है। प्राणके आधीन संपूर्ण जगत् है, तथापि प्राणको प्रेरणा देनेवाला कौन है? जिसप्रकार दीवानके आधीन सब राज्य होता है, उसीप्रकार प्राणके आधीन सब इंद्रियादिकोंका राज्य है। परंतु राजाकी प्रेरणासे दिवान कार्य करता है उस प्रकार यहां प्राणका प्रेरक कौन है, यह प्रश्नका तात्पर्य है।

केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः ॥ केन उ० १।१

"किससे नियुक्त होता हुआ प्राण चलता है?" अर्थात् प्राणकी प्रेरक शक्ति कौनसी है? इसके उत्तरमें उपनिषद् कहता है कि—

स उ प्राणस्य प्राणः ॥ केन उ० १।२

"वह आत्मा प्राणका प्राण है" अर्थात् प्राणका प्रेरक आत्मा है। इसका और वर्णन देखिए—

यत्प्राणेन न प्राणिति येन प्राणः प्रणीयते ॥
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥ केन उ० १।८

"जिसका जीवन प्राणसे नहीं होता, परंतु जिससे प्राणका जीवन होता है, वह (ब्रह्म) आत्मा है, ऐसा तू समझ। यह नहीं कि जिसकी उपासना की जाती है।"

अर्थात आत्माकी शक्तिसे प्राण अपना सब कारोबार चला रहा है इसलिये प्राणका प्रेरक शक्ति आत्मा ही है। इस विषयमें ईशोपनिषद्का मंत्र देखने योग्य है—

योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि ॥ ईश० १६
योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्॥ वा० यजु० १७

"जो यह (असौ) असु अर्थात् प्राणके अंदर रहनेवाला पुरुष है वह मैं हूं।" मैं आत्मा हूं, मेरे चारों ओर प्राण विद्यमान है और मैं उसका प्रेरक हूं। मेरी प्रेरणासे प्राण चल रहा है और सब इंद्रियोंकी शक्तियोंको उत्तेजित कर रहा है। इसप्रकार विश्वास रखना चाहिए और अपने प्रभावका गौरव देखना चाहिए। इस विषयमें ऐतरेय उपनिषद्का वचन देखिए—

नासिके निरभिद्येतां नासिकाभ्यां प्राणः प्राणाद्वायुः ॥
ऐ० उ० १।१।४॥ वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत् ॥
ऐ० उ० १।२।४

"नासिका रूप इंद्रिय खुल गये, नासिकासे प्राण और प्राणसे वायु हो गया।" अर्थात् प्राणसे वायु हो गया। आत्माकी प्रबल इच्छाशक्ति थी कि मैं सुगंधका आस्वाद ले लूं। इस इच्छाशक्तिसे नासिकाके स्थानमें दो छेद बन गये, ये ही नासिकाके दो छेद हैं। इसप्रकार नाक बनते ही प्राण हुआ और प्राणसे वायु बना है। आत्माकी इच्छाशक्ति कितनी प्रबल है उसकी कल्पना यहां स्पष्ट हो सकती है। इस प्रकार शरीरमें छेद करनेवाली शक्ति जो शरीरके अंदर रहती है वही आत्मा है, इस को इंद्र कहते हैं क्योंकि यह आत्मा (इदं-द्र) इस शरीरमें सुराख करनेकी शक्ति रखती है। इसकी प्रबल इच्छाशक्तिसे विलक्षण घटनायें यहां सिद्ध हो रही हैं, इसका अनुभव अपने शरीरमें ही देखा जा सकता है। जो ऐसा समर्थ जीवात्मा है वही प्राणका प्रेरक है। इसका सेवक प्राण है यह प्राण वायुका पुत्र है क्योंकि ऊपर दिये मंत्रमें कहा है कि "वायु प्राण बनकर नासिकामें प्रविष्ट हुआ है।" इसलिये वायुका यह प्राण पुत्र है। यही "मारुती" है, मारुतीका अर्थ 'मारुत' अर्थात् वायुका पुत्र। विश्वमें व्यापनेवाला पवन वायु है उसका एक अंश शरीरमें अवतार लेता है, इसलिये इसको 'पवनात्मज' कहते हैं। यही हनुमान, मारुती, राम-सखा है। अवतारकी मूल कल्पना यहां स्पष्ट हो सकती है। विश्वव्यापक शक्तियां अवताररूपसे कर्मभूमिमें अर्थात् इस देहमें आकर कार्य करतीं हैं। वायु के पुत्रोंकी जो कल्पना पौराणिक साहित्यमें है वह यही है। इसको चिरंजीव कहा है, इसका कारण इस लेखमें पूर्व स्थलमें बताया ही है। प्राणके अमरत्वके साथ इसका चिरंजीवत्व सिद्ध होता है। इसप्रकार यह हनुमानजीका रूपक है। इसका संपूर्ण वर्णन किसी अन्य स्थानमें किया जायगा। यहां संक्षेपसे सूचना मात्र लिखी है। अर्थात् हनुमानजीकी उपासना मूलमें प्राणोपासना ही है। यह "दशरथके राम" का सहायक है, दश इंद्रियोंके रथमें जो आनंद रूप आत्मा है उसका यह प्राण नित्य सहायक ही है, तथा "दशमुखकी लंका" को जलानेवाला है, दश इंद्रियोंसे मुख्यतया भोगमें जो प्रवृत्तियां होती हैं उनका प्राणायामके अभ्याससे दहन होता है।

इत्यादि विचारसे पूर्वोक्त कल्पना अधिक स्पष्ट होगी। पाठक इसका विचार करें। पूर्वोक्त उपनिषद्में "प्राणका प्रेरक आत्मा" कहा है और उक्त इतिहासमें "वायुपुत्रका प्रेरक दाशरथी राम" कहा है, दोनोंका तात्पर्य एक ही है। सूक्ष्म बाधक विचारके द्वारा इसके मूलभावको जान सकते हैं।

पूर्वोक्त ईशोपनिषद् के वचनमें "असौ अहं" शब्द आये हैं, "प्राणके अंदर रहनेवाला मैं आत्मा" यही भाव बृहदारण्यक के निम्न वचनमें है-

यः प्राणे तिष्ठन्प्राणादंतरो यं प्राणो न वेद यस्य प्राणः शरीरं यः प्राणमंतरो यमयति, एष त आत्मा अन्तर्याम्यमृतः

बृ० ३।७।१६

जो प्राणके अंदर रहता है, प्राणके अंदर रहनेपर भी जिसको (प्राणः न वेद) प्राण जानता नहीं, जिसका शरीर प्राण है, जो अंदरसे (प्राणं यमयति) प्राणका नियमन करता है, (एषः) यह तेरा अंतर्यामी अमर आत्मा है।"

प्राणके अंदर रहनेवाला और प्राणका नियमन करनेवाला यह आत्मा है। इस कथनके अनुसार आत्माका प्राणके साथ नित्य संबंध है यह बात स्पष्ट होती है। मैं आत्मा हूं, प्राण मेरा अनुचर है और प्राणके आधीन संपूर्ण इंद्रियां और शरीर है, यह मेरा वैभव और साम्राज्य है। इसका मैं सदा सम्राट् बनूंगा और विजयी तथा यशस्वी बनूंगा, यह वैदिक धर्मकी आदर्श कल्पना है इस प्राणका वर्णन अन्य रीतिसे निम्न वचन में हुआ है-

प्राणो वै रं प्राणे हीमानि सर्वाणि भूतानि रमंते ॥

बृ० ५।१२।१

प्राणो वा उक्थं प्राणो हीदं सर्वमुत्थापयति ॥१॥ प्राणो वै यजुः प्राणे हीमानि सर्वाणि भूतानि युज्यंते ॥ २ ॥ प्राणो वै साम प्राणे हीमानि सर्वाणि भूतानि सम्यंचि॥३॥ प्राणो वै क्षत्रं प्राणो हि वै क्षत्रं त्रायते ॥४॥

बृ० उ० ५।१३

" प्राण 'र' है क्योंकि सब भूत प्राणमें रमते हैं। प्राण 'उक्थ' है क्योंकि प्राण सबको उठाता है। प्राण 'यजु' है क्योंकि प्राणमें सब भूत संयुक्त होते हैं। प्राण 'साम' है क्योंकि सब भूत प्राणमें सम्यक् रीतिसे रहते हैं। प्राण 'क्षत्र' है क्योंकि प्राण ही क्षतों अर्थात् कष्टोंसे बचाता है।"

इसका प्रत्येक मुख्य शब्द प्राणकी शक्तिका वर्णन कर रहा है। 'साम, यजु' आदि शब्द अन्यत्र वेदवाचक होते हुए भी यहां केवल गुणवाचक हैं। इस शब्दप्रयोगसे स्पष्ट पता लग जाता है कि वैदिक समयमें शब्दोंका विशेष रीतिसे भी उपयोग होता था और सामान्य रीतिसे भी होता था। यहां सामान्य रीतिका प्रयोग है। जहां सामान्य रीतिसे प्रयोग होगा वहां उसका यौगिक अर्थ करना चाहिये और जहां विशेष रीतिसे प्रयोग होगा वहां योग-रूढीका अर्थ समझना चाहिए। इस प्रकार एक ही शब्द के दोनों अर्थ होनेपर भी अर्थविषयक ठीक व्यवस्था लगाई जा सकती है। आशा है कि पाठक इस व्यवस्थाको वेदमंत्रोंमें देखेंगे। यह बात वेदका अर्थ करनेके समय विशेष महत्त्वकी है इसलिये यहां लिखी है।

अंगोंका रस।

शरीरके अंगोंमें एक प्रकारका जीवनका आधाररूप रस है। इसका वर्णन निम्न मंत्रमें है--

आंगिरसोऽगानां हि रसः, प्राणो वा अंगानां रसः ··· तस्माद्यस्मात्कस्माच्चांगात् प्राण उत्क्रामति, तदेव तच्छुष्यति।

बृ० १।३।१९

" प्राण ही अंगोंका रस है, इसलिये जिस अंगसे प्राण चला जाता है, वह अंग सूख जाता है।"

वृक्षोंमें भी यही बात दिखाई देती है। यह अंग--रसका महत्त्व है। जीवात्माकी इच्छासे प्राणके द्वारा यह रस सब शरीरमें घुमाया जाता है और प्रत्येक अंगमें आरोग्य और बल बढाया जाता है। प्रबल इच्छाशक्तिद्वारा आरोग्य संपादन करनेका उपाय इससे विदित होता है। इच्छाशक्ति और प्राण इनका बल बढानेसे उक्त सिद्धि होती है। आत्माकी प्रेरणा प्राणमें होती है, प्राणसे मन संलग्न रहता है, मनसे इच्छा शक्तिका नियमन होता है, इच्छासे रुधिरमें परिणाम होकर इसके द्वारा संपूर्ण शरीरमें इष्ट कार्य होता है। देखिये-

पुरुषस्य प्रयतो वाङ्मनसि संपद्यते, मनः प्राणे,
प्राणस्तेजसि, तेजः परस्यां देवतायाम् ॥ छां उ० ६।८।६

" पुरुषकी वाणी मनमें, मन प्राणमें, प्राण तेजमें, और तेज परदेवतामें संलग्न होता है।" यही परंपरा है। परदेवताका तात्पर्य यहां आत्मा है। प्राणविद्याकी परमसिद्धि इस प्रकारसे सिद्ध होती है।

प्राण और अन्य शक्तियां।

प्राणके आधीन अनेक शक्तियां हैं, उनका प्राणके साथ संबंध देखनेके लिये निम्न मंत्र देखिये-

प्राणो वाव संवर्गः। स यदा स्वपिति, प्राणमेव वागप्येति,प्राणं चक्षुः, प्राणं श्रोत्रं, प्राणं मनः, प्राणो ह्येवैतान् संवृंक्त ॥ ३ ॥ छां० ४।३।३

" जब वह सोता है तब वाक्, चक्षु, श्रोत्र, मन आदि सब प्राणमें ही लीन होती हैं क्योंकि प्राण ही इनका संवारक है।"

जिसप्रकार सूर्य उगनेके समय उसकी किरणें फैलती हैं और अस्तके समय फिर अंदर लीन होती हैं, इसीप्रकार प्राणरूपी सूर्यका जागृतिके प्रारंभमें उदय होता है। उस समय उसकी किरणें इंद्रियादिकोंमें फैलती हैं और निद्राके समय फिर उसीमें लीन होती हैं। इसप्रकार प्राणका सूर्य होना सिद्ध होता है। इसका सादृश्य एक अंशमें है, यह बात भूलनी नहीं चाहिये। सूर्यके समान प्राण भी कभी अस्त नहीं होता, परंतु अस्त और उदय ये शब्द हमारी अपेक्षासे उसमें प्रयुक्त हो रहे हैं। इस विषयमें निम्न वचन और देखिये—

पतंग।

स यथा शकुनिः सूत्रेण प्रबद्धो, दिशं दिशं पतित्वा, अन्यत्रायतनमलब्ध्वा, बंधनमेवोपश्रयत; एवमेव खलु, सोम्य, तन्मनो दिशं दिशं पतित्वाऽन्यत्रायतनमलब्ध्वा, प्राणमेवोपश्रयते, प्राणबंधनं हि सोम्य मनः ॥ छां० उ० ६।८।२

" जिसप्रकार पतंग, डोरीसे बंधा हुआ, अनेक दिशाओंमें घूम कर, दूसरे स्थानपर आधार न मिलनेके कारण, अपने मूल स्थानपर ही आजाता है; इसीप्रकार निश्चयसे, हे प्रिय शिष्य ! वह मन अनेक दिशाओंमें घूम घाम कर, दूसरे स्थानपर आश्रय न मिलनेके कारण, प्राणका ही आश्रय करता है क्योंकि हे प्रियशिष्य ! मन प्राणके साथ ही बंधा है।"

इसप्रकार प्राणका मनके साथ संबंध है, यही कारण है कि प्राणायामसे प्राण बलवान् होनेपर मन भी बलिष्ठ होता है, प्राणका निरोध होनेसे मनका संयम होता है। प्राणकी चंचलतासे मन चंचल होता है और प्राणकी स्थिरतासे मन भी स्थिर होता है। इससे प्राणायामका महत्व और उसका मनके संयमके साथ संबंध विदित हो सकता है।

प्राणसे मनका संयम होनेके कारण अन्य इंद्रियां भी प्राणके निरोधसे स्वाधीन होतीं हैं, यह स्पष्ट ही है; क्योंकि प्राणसे मनका संयम, और मनके वश होनेसे अन्य इंद्रियोंका वश होना स्वाभाविक ही है। इसप्रकार प्राणायामसे संपूर्ण शक्तियां वशीभूत होती हैं। यही भाव निम्न वचनमें गुप्त रीतिसे है—

वसु रुद्र आदित्य।

प्राणा वाव वसव, एते हीदं सर्वं वासयंति ॥ १ ॥
प्राणा वाव रुद्रा एते हीदं सर्वं रोदयंति ॥ २ ॥
प्राणा वावादित्याः एते हीदं सर्वमाददते ॥ ३ ॥
छां० ३।१६

" प्राण वसु हैं क्योंकि ये सबको वसाते हैं, प्राण रुद्र हैं क्योंकि इनके चले जानेसे सब रोते हैं, प्राण आदित्य हैं क्यों कि ये सबको स्वीकारते हैं।"

इस स्थान पर " प्राणा वाव रुद्राः एते हीदं सर्वं रोदनं द्रावयन्ति " अर्थात् " प्राण रुद्र है क्योंकि ये इस सब दुःखको दूर करते हैं।" ऐसा वाक्य होता तो प्राणका दुःख निवारक कार्य व्यक्त हो सकता था। परंतु उपनिषद्में " एते हीदं सर्वं रोदयन्ति। " अर्थात् ये प्राण जब चले जाते हैं तब वे सबको रुलाते हैं, इतना प्राणोंपर प्राणियोंका प्रेम है, ऐसा लिखा है। शतपथादिमें भी रुद्रका रोदन धर्मही वर्णन किया है, परंतु दुःख निवारक धर्म भी उनमें उससे अधिक प्रबल है। इसका पाठक विचार करें। इसप्रकार प्राणका महत्त्व होनेसे ही कहा है—

प्राणो ह पिता, प्राणो माता, प्राणो भ्राता, प्राणः स्वसा, प्राण आचार्यः, प्राणो ब्राह्मणः ॥
छां० उ० ७।१५।१

" प्राण ही माता, पिता, भाई, बहन, आचार्य, ब्राह्मण आदि है " ये शब्द प्राणका महत्त्व बता रहे हैं। [१] माता पिता—मान्यहित करनेवाला; [२] पिता— पालक, संरक्षक, [३] भ्राता—भरण पोषण करनेवाला; [४] स्वसा—[सु असा] उत्तम प्रकार रखनेवाला; [५] आचार्य-आत्मिक गुरु है, क्योंकि प्राणके आयामसे आत्माका साक्षात्कार होता है इसलिये, [६] ब्राह्मणः—यह ब्रह्मके पास लेजानेवाला है।

ये शब्दोंके मूलभाव यहां प्राणके गुण बता रहे हैं। यह प्राणका वर्णन है, इतना प्राणका महत्त्व है इसलिये अपने प्राणके विषयमें कोई भी उदासीन न रहे। सब लोग स्वर्ग प्राप्त करने की इच्छा करते हैं वह स्वर्ग प्राण ही है। देखिये—

तीन लोक।

वागेवायं लोकः मनो अन्तरिक्षलोकः प्राणोऽसौ लोकः ॥

(बृ० १।५।४)

" यह वाणी पृथिवीलोक है, मन अंतरिक्षलोक है और प्राण स्वर्गलोक है। "

इसीलिये प्राणायामके अभ्याससे स्वर्गधामकी प्राप्ति होती है। देखिये प्राणकी कितनी श्रेष्ठता है!! इस प्रकार उपनिषदोंमें प्राणविद्या है। विस्तार करनेकी कोई जरूरत नहीं है। संक्षेपसे आवश्यक बातोंका उल्लेख यहां किया है। इससे उपनिषदोंकी प्राणविद्याकी कल्पना हो सकती है। जो पाठक इसकी और अधिक गहराई देखना चाहते हैं वे स्वयं उपनिषदोंमें इसको देख सकते हैं। आशा है कि पाठक इस प्रकार इस विद्याका अभ्यास करेंगे।

प्राणायामसे बहुत प्रकारकी शक्तियां प्राप्त होती हैं ऐसा प्राणके विविध शास्त्रोंमें लिखा है। प्राणायामका अभ्यास किए बिना ही उक्त शक्तियोंकी प्राप्ति होना असंभव है। अभ्यासके विना उन्नति की प्राप्ति सर्वथा ही असंभव है। प्राणायामका अभ्यास करनेके लिये प्राणकी शक्तिकी कल्पना प्रथम होनेकी आवश्यकता है। यह कार्य सिद्ध होनेके लिये इस लेखका उपयोग हो सकता है। इस सूक्तको अच्छी प्रकार पढनेके पश्चात् मननद्वारा अपनी प्राणशक्तिका आकलन करना चाहिये। अपने प्राणका यह स्वरूप है उसका यह महत्व है और इसकी उपासनासे इस प्रकार लाभ हो सकता है, इत्यादि विषयकी उत्तम कल्पना इस सूक्तके अभ्याससे होगी। इतनी कल्पना दृढ होनेके पश्चात् प्राणायामका अभ्यास करनेसे बहुत लाभ हो सकता है।

इति द्वितीय अनुवाक समाप्त ॥ २ ॥

ब्रह्मचर्य ।

(५)

(ऋषिः–ब्रह्मा। देवता–ब्रह्मचारी)

ब्रह्मचारीष्णंश्चरति रोदसी उभे तस्मिन् देवाः संमनसो भवन्ति ।
स दाधार पृथिवीं दिवं च स आचार्यं१ तपसा पिपर्ति ॥ १ ॥

ब्रह्मचारिणं पितरो देवजनाः पृथग्देवा अनुसंयन्ति सर्वे ।
गन्धर्वा एनमन्वायन् त्रयस्त्रिंशत् त्रिशताः षट्सहस्राः
सर्वान्त्स देवांस्तपसा पिपर्ति ॥ २ ॥

अर्थ–ब्रह्मचारी (उभे रोदसी) पृथिवी और द्युलोक इन दोनोंको (इष्णन्) पुनः पुनः अनुकूल बनाता हुआ (चरति) चलता है, इसलिये (तस्मिन्) उस ब्रह्मचारीके अंदर सब देव (संमनसः) अनुकूल मनके साथ (भवन्ति) रहते हैं। (सः) वह ब्रह्मचारी पृथिवी और (दिवं) द्युलोकका धारण करता है और वह अपने तपसे अपने आचार्यको (पिपर्ति) परिपूर्ण बनाता है ॥ १ ॥

देव, पितर, गंधर्व और देवजन ये (सर्वे) सब ब्रह्मचारीको अनुसरते हैं। (त्रयः त्रिंशत्) तीन, तीस (त्रिशताः) तीन सौ और (षट्–सहस्राः) छः हजार देव हैं। (सर्वान् देवान्) इन सब देवोंका (सः) वह ब्रह्मचारी अपने तपसे (पिपर्ति) पालन करता है ॥ २ ॥

भावार्थ–[१] पृथिवीसे लेकर द्युलोकपर्यन्त जो जो विविध पदार्थ हैं, उनको ब्रह्मचारी अपने अनुकूल बनाता है, [२] इससे उस ब्रह्मचारीमें सब देव अनुकूल बनकर निवास करते हैं, [३] इस प्रकार वह पृथिवी और द्युलोकको अपने तपसे धारण करता है, और [४] उसी तपसे वह अपने आचार्यको भी परिपूर्ण बनाता है ॥ १ ॥

देव, पितर आदि सब ब्रह्मचारीके सहायक होते हैं। और ब्रह्मचारी अपने तपसे उनका सहायक बनता है ॥ २ ॥

आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः ।
तं रात्रीस्तिस्र उदरे बिभर्ति तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः ॥ ३ ॥
इयं समित् पृथिवी द्यौर्द्वितीयोतान्तरिक्षं समिधा पृणाति ।
ब्रह्मचारी समिधा मेखलया श्रमेण लोकांस्तपसा पिपर्ति ॥ ४ ॥
पूर्वो जातो ब्रह्मणो ब्रह्मचारी घर्मं वसानस्तपसोदतिष्ठत् ।
तस्माज्जातं ब्राह्मणं ब्रह्म ज्येष्ठं देवाश्च सर्वे अमृतेन साकम् ॥ ५ ॥
ब्रह्मचार्येति समिधा समिद्धः कार्ष्णं वसानो दीक्षितो दीर्घश्मश्रुः ।
स सद्य एति पूर्वस्मादुत्तरं समुद्रं लोकान्त्संगृभ्य मुहुराचरिक्रत् ॥ ६ ॥

अर्थ- ब्रह्मचारीको (उपनयमानः आचार्यः) अपने पास करनेवाला आचार्य उसको (अंतः गर्भं) अपने अंदर करता है। उस ब्रह्मचारीको अपने उदरमें (तिस्रः रात्रीः) तीन रात्रितक रखता है, जब वह ब्रह्मचारी (जातं) द्वितीय जन्म लेकर बाहर आता है, तब उसको देखनेके लिये सब (देवाः) विद्वान् (अभि संयन्ति) सब प्रकारसे इकट्ठे होते हैं ॥ ३ ॥

(इयं पृथिवी) यह पृथिवी पहिली (समित्) समिधा है, और (द्वितीया) दूसरी समिधा (द्यौः) द्युलोक है। इस (समिधा) समिधासे यह ब्रह्मचारी अंतरिक्षको (पृणाति) पूर्णता करता है। समिधा, मेखला, श्रम करनेका अभ्यास और तप इनके द्वारा यह ब्रह्मचारी सब (लोकान् पिपर्ति) लोकोंको पूर्ण करता है ॥ ४ ॥

[ब्रह्मणः पूर्वः] ज्ञानके पूर्व [ब्रह्मचारी जातः] ब्रह्मचारी होता है। [घर्मं वसानः] उष्णता धारण करता हुआ तपसे (उत्+अतिष्ठत्) ऊपर उठता है। उस ब्रह्मचारीसे [ब्राह्मणं ज्येष्ठं ब्रह्म] ब्रह्मसंबंधी श्रेष्ठ ज्ञान [जातं] प्रसिद्ध होता है॥ तथा सब देव अमृतके साथ होते हैं ॥ ५ ॥

(१) (समिधा समिद्धः) तेजसे प्रकाशित (कार्ष्णं वसानः) कृष्णचर्म धारण करता हुआ, (दीक्षितः) व्रतके अनुकूल आचरण करनेवाला और (दीर्घ-श्मश्रुः) बडी बडी दाढी मूंछ धारण करनेवाला ब्रह्मचारी (एति) प्रगति करता है। (२) (सः) वह (लोकान् संगृभ्य) लोगोंको इकट्ठा करता हुआ अर्थात् लोकसंग्रह करता हुआ और (मुहुः) बारंबार उनको (आचरिक्रत्) उत्साह देता है और (३) पूर्वसे उत्तर समुद्रतक (सद्यः एति) शीघ्र ही पहुंचता है ॥ ६ ॥

भावार्थ—[१] जो आचार्य ब्रह्मचारीको अपने पास रखता है, वह उसको अपने अंदर ही प्रविष्ट करता है। [२] मानो वह शिष्य उस गुरुके पेटमें तीन रात्रि रहता है और उस गर्भसे उसका जन्म हो जाता है। [३] जब वह द्विज बन जाता है, तब उसका सन्मान सभी विद्वान् करते हैं ॥ ३ ॥

पृथिवी और द्युलोक इनकी समिधाओंसे ब्रह्मचारी अंतरिक्षकी पूर्णता करता है। तथा ब्रह्मचारी श्रम और तप आदि करके सब जनताको आधार देता है ॥ ४ ॥

ज्ञानप्राप्तिके पूर्व ब्रह्मचारी बनना आवश्यक है। ब्रह्मचर्यमें श्रम और तप करनेसे उच्चता प्राप्त होती है। इस प्रकारके ब्रह्मचारीसे ही परमात्माका श्रेष्ठ ज्ञान प्रसिद्ध होता है, तथा देव अमरत्वके साथ संयुक्त होते हैं ॥ ५ ॥

(१) समिधा कृष्णाजिन आदिसे सुशोभित होता हुआ, बडी बडी दाढी मूंछ धारण करनेवाला तेजस्वी ब्रह्मचारी नियमानुकूल आचरण करनेके कारण अपनी प्रगति करता है। (२) अध्ययन समाप्तिके पश्चात् धर्मजागृति करता हुआ अपने उपदेशोंसे जनतामें उत्साह उत्पन्न करता है और बारंबार उनमें चेतना बढाता है। (३) इस प्रकार धर्मोपदेश करता हुआ वह पूर्व समुद्रसे उत्तरसमुद्रतक पहुंचता है ॥ ६ ॥

ब्रह्मचारी जनयन् ब्रह्मापो लोकं प्रजापतिं परमेष्ठिनं विराजम् ।
गर्भो भूत्वाऽमृतस्य योनाविन्द्रो ह भूत्वाऽसुरांस्ततर्ह ॥ ७ ॥
आचार्यस्ततक्ष नभसी उभे इमे उर्वी गम्भीरे पृथिवीं दिवं च ।
ते रक्षति तपसा ब्रह्मचारी तस्मिन् देवाः संमनसो भवन्ति ॥ ८ ॥
इमां भूमिं पृथिवीं ब्रह्मचारी भिक्षामा जभार प्रथमो दिवं च ।
ते कृत्वा समिधावुपास्ते तयोरार्पिता भुवनानि विश्वा ॥ ९ ॥
अर्वागन्यः परो अन्यो दिवस्पृष्ठाद् गुहा निधी निहितौ ब्राह्मणस्य ।
तौ रक्षति तपसा ब्रह्मचारी तत् केवलं कृणुते ब्रह्म विद्वान् ॥१०॥ (१४)

अर्थ- जो (अमृतस्य योनौ) ज्ञानामृतके केंद्रस्थानमें (गर्भः भूत्वा) गर्भरूप रहकर ब्रह्मचारी हुआ, वही (ब्रह्म)ज्ञान, (अपः) कर्म, (लोकं) जनता, (प्रजा-पतिं) प्रजापालक राजा और (विराजं परमेष्ठिनं) विशेष तेजस्वी परमेष्ठी परमात्माको (जनयन्) प्रकट करता हुआ, अब (इंद्रः भूत्वा) इन्द्र बनकर (ह) निश्चयसे (असुरान् ततर्ह) असुरोंका नाश करता है ॥ ७ ॥

[इमे] ये (उर्वी गंभीरे) बडे गंभीर (उभे नभसी) दोनों लोक (पृथिवीं दिवं च) पृथिवी और द्युलोक आचार्यने [ततक्ष] बनाये हैं । ब्रह्मचारी अपने तपसे (ते रक्षति) उन दोनोंका रक्षण करता है। इसलिये (तस्मिन्) उस ब्रह्मचारी-के अंदर सब देव अनुकूल मनके साथ रहते हैं ॥ ८ ॥

(प्रथमः ब्रह्मचारी) पहिले ब्रह्मचारीने (पृथिवीं भूमिं) इस विस्तृत भूमिकी तथा (दिवं) द्युलोककी (भिक्षां आजभार) भिक्षा प्राप्त की है। अब वह ब्रह्मचारी (ते समिधौ कृत्वा) उनको दो समिधायें करके (उपास्ते) उपासना करता है। क्योंकि (तयोः) उन दोनोंके बीचमें सब भुवन (अर्पिताः) स्थापित हैं ॥ ९ ॥

[अन्यः अर्वाक्] एक पास है और [अन्यः दिवः पृष्ठात् परः] दूसरा द्युलोकके पृष्ठभागसे परे है। ये दोनों [निधी] कोश [ब्राह्मणस्य गुहा] ज्ञानीकी बुद्धिमें (निहितौ) रखे हैं। [तौ] उन दोनों कोशोंका संरक्षण ब्रह्मचारी अपने तपसे करता है। तथा वही विद्वान् ब्रह्मचारी [तत् केवलं ब्रह्म] वह केवल ब्रह्मज्ञान [कृणुते] विस्तृत करता है, ज्ञान फैलाता है ॥ १० ॥

भावार्थ-जो एक समय आचार्यके पास विद्यामाताके गर्भमें रहता था, वही ब्रह्मचारी विद्याध्ययनके पश्चात् ज्ञान, सत्कर्म, प्रजा और राजाके धर्म, और परमात्माका स्वरूप इन सबका प्रचार करता रहा; अब वही शत्रुनिवारक वीर बनकर शत्रुओंका नाश करता है ॥ ७ ॥

आचार्य ही पृथिवीसे लेकर द्युलोकतक सब पदार्थोंका ज्ञान ब्रह्मचारीको देता है, मानो वह अपने शिष्यके लिये ये लोकही बना देता है। ब्रह्मचारी अपने तपसे उनका संरक्षण करता है। अतः उस ब्रह्मचारीमें सब देवता रहते हैं ॥ ८ ॥

ब्रह्मचारीने प्रथमतः भिक्षामें द्युलोक और पृथिवीलोकको प्राप्त किया। इन दो लोकोंमें ही सब अन्य भुवन स्थापित हुए हैं, दोनों लोकोंकी प्राप्ति होनेपर वही ब्रह्मचारी अब उक्त दोनों लोकोंको दो समिधायें बनाकर ज्ञानयज्ञद्वारा उपासना करता है ॥ ९ ॥

स्थूल शरीर और मन ये दो कोश मनुष्यमें हैं ॥ १० ॥

अर्वागन्य इतो अन्यः पृथिव्या अग्नी समेतो नभसी अन्तरेमे।
तयोः श्रयन्ते रश्मयोऽधि दृढास्ताना तिष्ठति तपसा ब्रह्मचारी ॥११॥

अभिक्रन्दन् स्तनयन्नरुणः शितिङ्गो बृहच्छेपोऽनु भूमौ जभार।
ब्रह्मचारी सिञ्चति सानौ रेतः पृथिव्यां तेन जीवन्ति प्रदिशश्चतस्रः ॥१२॥

अग्नौ सूर्ये चन्द्रमसि मातरिश्वन् ब्रह्मचार्यप्सु समिधमा दधाति।
तासामर्चींषि पृथगभ्रे चरन्ति तासामाज्यं पुरुषो वर्षमापः ॥१३॥

आचार्यो मृत्युर्वरुणः सोम ओषधयः पयः।
जीमूता आसन्त्सत्वानस्तैरिदं स्वराभृतम् ॥ १४ ॥

अमा घृतं कृणुते केवलमाचार्यो भूत्वा वरुणो यद्यदैच्छत् प्रजापतौ।
तद् ब्रह्मचारी प्रायच्छत् स्वान् मित्रो अध्यात्मनः ॥ १५ ॥

अर्थ—(अर्वाक् अन्यः) इधर एक है और [इतः पृथिव्याः अन्यः] इस पृथिवीसे दूर दूसरा है। ये [अग्नी] दोनों अग्नि [इमे अंतरा नभसी] इन पृथिवी और द्युलोकके बीचमें [समेतः] मिलते हैं। [तयोः दृढाः रश्मयः] उनकी बलवान् किरणें [अधि श्रयन्ते] फैलती हैं। ब्रह्मचारी तपसे [तान् आतिष्ठति] उन किरणोंका अधिष्ठाता होता है ॥११॥

[अभिक्रंदन् स्तनयन्] गर्जना करनेवाला [अरुणः शितिंगः] भूरे और काले रंगसे युक्त [बृहत् शेपः] बडा प्रभावशाली [ब्रह्मचारी] ब्रह्म अर्थात् उदकको साथ ले जानेवाला मेघ [भूमौ अनु जभार] भूमिका योग्य पोषण करता है। तथा [सानौ पृथिव्यां] पहाड और भूमिपर [रेतः सिञ्चति] जलकी वृष्टि करता है। [तेन] इससे [चतस्रः प्रदिशः जीवन्ति] चारों दिशायें जीवित रहतीं हैं॥ १२ ॥

अग्नि, सूर्य, चंद्रमा, वायु, [अप्सु] जल इनमें ब्रह्मचारी समिधा डालता है। उनके तेज पृथक् पृथक् [अभ्रे] मेघोंमें संचार करते हैं। (तासां) उनसे (वर्षं) वृष्टि (आपः) जल और (आज्यं) घी और पुरुषकी उत्पत्ति होती है॥ १३ ॥

आचार्य ही मृत्यु, वरुण, सोम, औषधि तथा पयरूप है। उसके जो (सत्वानः) सात्विक भाव हैं, वे (जीमूताः) मेघरूप हैं, क्योंकि (तैः) उनके द्वारा ही (इदं स्वः आभृतं) वह स्वत्व रहा है ॥ १४ ॥

(अमा) एकत्व, सहवास (केवलं घृतं) केवल शुद्ध तेज करता है। आचार्य वरुण बनकर (प्रजा-पतौ) प्रजापालकके विषयमें (यत् यत् ऐच्छत्) जो जो चाहता है (तत्) उसको मित्र ब्रह्मचारी (स्वात् आत्मनः) अपनी आत्मशक्तिसे (अधि प्रायच्छत्) देता है ॥ १५ ॥

भावार्थ— दो अग्नि हैं जो इस त्रिलोकीमें कार्य कर रहे हैं, उनका अधिष्ठाता ब्रह्मचारी है ॥ ११ ॥

मेघ ब्रह्मचारी है वह अपने तपसे भूमि की शांति करता है। ब्रह्मचारी इससे यह बोध लेवे ॥ १२ ॥

ब्रह्मचारीका अग्निहोत्रके समय अग्निमें आहुति डालना जगत्को तृप्त करना है॥ १३ ॥

आचार्य देवतामय है वह ब्रह्मचारीके सत्त्वकी उन्नति करता है ॥ १४ ॥

गुरुशिष्यके सहवाससे ही दिव्य तेज अथवा तेजस्वी ज्ञानका प्रवाह प्रचलित होता है। आचार्य वरुण बनकर जो इच्छा करता है, उसकी पूर्ति शिष्य अपनी शक्तिके अनुसार करता है ॥ १५ ॥

आचार्यो ब्रह्मचारी ब्रह्मचारी प्रजापतिः। प्रजापतिर्वि राजति विराडिन्द्रोऽभवद् वशी॥१६॥
ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं वि रक्षति। आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते ॥ १७॥
ब्रह्मचर्येण कन्या३ युवानं विन्दते पतिम्। अनड्वान् ब्रह्मचर्येणाश्वो घासं जिगीर्षति॥१८॥
ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत। इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्व१राभरत् ॥१९॥
ओषधयो भूतभव्यमहोरात्रे वनस्पतिः। संवत्सरः सहर्तुभिस्ते जाता ब्रह्मचारिणः ॥२०॥
पार्थिवा दिव्याः पशव आरण्या ग्राम्याश्च ये।
अपक्षाः पक्षिणश्च ये ते जाता ब्रह्मचारिणः ॥ २१ ॥

अर्थ— आचार्य ब्रह्मचारी होना चाहिये, [प्रजापतिः] प्रजापालक भी ब्रह्मचारी होना चाहिये। इस प्रकारका प्रजापति [विराजति] विशेष शोभता है। जो [वशी] संयमी [वि-राट्] राजा होता है, वही इंद्र कहलाता है॥ १६॥

ब्रह्मचर्यरूप तपके साधनसे राजा राष्ट्रका विशेष संरक्षण करता है। आचार्य भी ब्रह्मचर्यके साथ रहनेवाले ब्रह्मचारीकी ही इच्छा करता है॥ १७॥

कन्या ब्रह्मचर्य पालन करनेके पश्चात् तरुण पतिको (विंदते) प्राप्त करती है। [अनड्वान्] बैल और (अश्वः) घोडा भी ब्रह्मचर्य पालन करनेसेही घास खाता है॥ १८॥

ब्रह्मचर्यरूप तपसे सब देवोंने मृत्युको (अप अघ्नत) दूर किया। इंद्र ब्रह्मचर्यसे ही देवोंको (स्वः) तेज (आभरत्) देता है॥ १९॥

ओषधियां, वनस्पतियां, (ऋतुभिः सह संवत्सरः) ऋतुओंके साथ गमन करनेवाला संवत्सर, अहोरात्र, भूत और (भव्यं) भविष्य ये सब ब्रह्मचारी (जाताः) हो गये हैं॥ २०॥

(पार्थिवाः) पृथिवीपर उत्पन्न होनेवाले (आरण्या ग्राम्याश्च) अरण्य और ग्राममें उत्पन्न होनेवाले जो (अपक्षा पशवः) पक्षहीन पशु हैं, तथा (दिव्याः पक्षिणः) आकाशमें संचार करनेवाले जो पक्षी हैं, वे सब ब्रह्मचारी (जाताः) बने हैं॥ २१॥

भावार्थ— सब शिक्षक ब्रह्मचारी होने चाहिये, सब राजाधिकारी—प्रजापालनके कार्यमें नियुक्त पुरुष भी ब्रह्मचारी ही होने चाहिये। जो योग्य रीतिसे प्रजाका पालन करेंगे वेही सुशोभित होंगे तथा जो जितेंद्रिय राजपुरुष होंगे वेही इंद्र कहलावेंगे॥१६॥

राजा राजप्रबंधद्वारा सब लोगोंसे ब्रह्मचर्य पालन कराके राष्ट्रका विशेष रक्षण करता है। अध्यापक भी ऐसे ब्रह्मचारीकी इच्छा करता है कि जो ब्रह्मचर्यका पालन करता है॥ १७॥

ब्रह्मचर्य पालन करनेके पश्चात् कन्या अपने योग्य पतिको प्राप्त करती है। बैल और घोडा भी ब्रह्मचारी रहते हैं, इसलिये घास खाकर उसे पचा सकते हैं॥ १८॥

ब्रह्मचर्यके पालन करनेके कारण ही सब देव अमर बने हैं। तथा ब्रह्मचर्यके सामर्थ्यसे ही देवराज इंद्र सब इतर देवोंको तेज दे सकता है॥ १९॥

सब विश्व ब्रह्मचर्यसे युक्त है॥ २०॥

सब पशुपक्षी जन्मसे ही ब्रह्मचारी हैं॥ २१॥

पृथक् सर्वे प्राजापत्याः प्राणानात्मसु बिभ्रति ।
तान्त्सर्वान् ब्रह्म रक्षति ब्रह्मचारिण्याभृतम् ॥ २२ ॥
देवानामेतत् परिषूतमनभ्यारूढं चरति रोचमानम् ।
तस्माज्जातं ब्राह्मणं ब्रह्म ज्येष्ठं देवाश्च सर्वे अमृतेन साकम् ॥ २३ ॥
ब्रह्मचारी ब्रह्म भ्राजद् बिभर्ति तस्मिन् देवा अधि विश्वे समोताः ।
प्राणापानौ जनयन्नाद् व्यानं वाचं मनो हृदयं ब्रह्म मेधाम् ॥ २४ ॥
चक्षुः श्रोत्रं यशो अस्मासु धेह्यन्नं रेतो लोहितमुदरम् ॥ २५ ॥
तानि कल्पद् ब्रह्मचारी सलिलस्य पृष्ठे तपोऽतिष्ठत् तप्यमानः समुद्रे ।
स स्नातो बभ्रुः पिङ्गलः पृथिव्यां बहु रोचते ॥ २६ ॥ [१६]

अर्थ—(सर्वे प्राजापत्याः) प्रजापति परमात्मासे उत्पन्न हुए हुए सब ही पदार्थ पृथक् पृथक् (आत्मसु प्राणान्) अपने अंदर प्राणोंको (बिभ्रति) धारण करते हैं। (ब्रह्मचारिणि आभृतं) ब्रह्मचारीमें रहा हुआ (ब्रह्म) ज्ञान (तान् सर्वान् रक्षति) उन सबका रक्षण करता है ॥ २२ ॥

देवोंका (एतत्) यह (परि—षूतं) उत्साह देनेवाला (अन् अभ्यारूढं) सबसे श्रेष्ठ (रोचमानं) तेज (चरति) चलता है। उससे (ब्राह्मणं) ब्रह्मसंबंधी (ज्येष्ठ ब्रह्म) श्रेष्ठ ज्ञान हुआ है और (अमृतेन साकं) अमर उनके साथ (सर्वे देवाः) सब देव प्रकट हो गये ॥ २३ ॥

(भ्राजत् ब्रह्म) चमकनेवाला ज्ञान ब्रह्मचारी धारण करता है। इसलिये उसमें सब देव (अधि समोताः) रहे हैं। वह प्राण, अपान, व्यान, वाचा, मन, हृदय, ज्ञान (आत्) और मेधा (जनयन्) प्रकट करता है ॥ इसलिये हे ब्रह्मचारी ! (अस्मासु) हम सबमें चक्षु, श्रोत्र, यश, अन्न, (रेतः) वीर्य, (लोहितं) रुधिर और (उदरं) पेट (धेहि) पुष्ट करो ॥ २४-२५ ॥

ब्रह्मचारी [तानि] उनके विषयमें [कल्पत्] योजना करता है। [सलिलस्य पृष्ठे] जलके समीप तप करता है। इस ज्ञानसमुद्रमें [तप्यमानः] तप्त होनेवाला वह ब्रह्मचारी [स स्नातः] जब स्नातक हो जाता है तब [बभ्रुः पिंगलः] अत्यंत तेजस्वी होनेके कारण वह इस पृथिवीपर बहुत चमकता है ॥ २६ ॥

भावार्थ— ब्रह्मचारीका तेज सबकी रक्षा करता है ॥ २२ ॥
ब्रह्मचर्यके तेजसे अमर हुए हैं ॥ २३ ॥
ब्रह्मचारीके तेजसे सबकी पुष्टि होती है ॥ २४-२५ ॥
ब्रह्मचारी अपने तेजसे विराजता है ॥ २६ ॥

—•—

ब्रह्मचर्य-सूक्त ।

इस सूक्तका प्रथम मंत्र ब्रह्मचारीका कर्तव्यकर्म व्यक्त कर रहा है। ब्रह्मचारी वह होता है कि जो (ब्रह्म) बडा होनेके लिये (चारी) पुरुषार्थ करता रहता है। " ब्रह्म " शब्दका अर्थ-वृद्धि, महत्त्व बडप्पन, ज्ञान, अमृत आदि है। " चारी" शब्दका भाव-आचरण करना, नियमपूर्वक योग्य व्यवहार करना है। इन दोनों पदोंके भाव निम्न प्रकार व्यक्त होते हैं-' अभिवृद्धिके लिये प्रयत्न करना, सब प्रकारसे श्रेष्ठ बननेका पुरुषार्थ करना, सत्य और शुद्ध ज्ञान बढानेका यत्न करना, अमरत्वकी प्राप्तिके लिये परम पुरुषार्थ करना।' यह मुख्य भाव " ब्रह्मचारी " शब्दमें है। उक्त पुरुषार्थ करनेकी शक्ति शरीरमें वीर्यकी स्थिरता होनेसे ही प्राप्त हो सकती है- इसलिये ब्रह्मचारीको वीर्यरक्षण करनेकी अत्यंत आवश्यकता है।

उक्त मंत्रका पहिला कथन यह है कि " ब्रह्मचारी उभे रोदसी इष्णन् चरति। " अर्थात् " अपनी अभिवृद्धिकी इच्छा करनेवाला पुरुष पृथिवी और द्युलोकको अनुकूल बनाकर अपना व्यवहार करता है।" पृथिवीसे लेकर द्युलोकपर्यंत जो जो पदार्थ हैं, उनको अपने अनुकूल बनानेसे अभ्युदयका मार्ग सुगम होता है। यह अत्यंत स्पष्टही है कि, यदि हम सृष्टिके पदार्थोंके साथ विरोध करेंगे, तो उनकी शक्ति बडी होनेके कारण हमाराही घात होगा। परंतु यदि हम पृथिवी, जल, अग्नि, वायु आदि सब पदार्थोंको अपने अनुकूल बनायेंगे; हम उनके नियमानुकूल अपना व्यवहार करेंगे और इस प्रकार आपसकी अनुकूलताके साथ परस्परके व्यवहार होंगे, तब हम सबका अभ्युदय हो सकता है। यही भाव इस मंत्रभागमें कहा है।

जब ब्रह्मचारी सृष्टिका निरीक्षण करता है, तब उसको विदित होता है कि, पृथिवी सबको आधार देती है; यह देखकर, वह निराश्रितोंका आश्रय देनेका स्वभाव अपनेमें बढाता है। जलदेवता सबको शांति प्रदान करनेके लिये उच्चसे नीच स्थानमें पहुंचती है, यह देखकर ब्रह्मचारी निश्चय करता है, कि मुझे अपनी उच्चताके घमंडमें रहना उचित नहीं है, इसलिये मैं नीचसे नीच अवस्थामें रहनेवाले पतित जनोंके उद्धारके लिये तथा उनके आत्माओंको शांत करनेके लिये अवश्य यत्न करूंगा। अग्निदेवताकी ऊर्ध्व ज्योति देखकर ब्रह्मचारी उपदेश लेता है कि, दूसरोंको प्रकाश देनेके लिये मुझे इस प्रकार जलना चाहिये और सीधा होना चाहिये। वायुदेवताकी हलचल देखकर ब्रह्मचारी निश्चय करता है कि, मैं भी हलचल द्वारा जनताकी शुद्धता संपादन करूंगा। सूर्यका तेज अवलोकन करके ब्रह्मचारी संकल्प करता है कि, मैं ज्ञानसे इसी प्रकार प्रकाशित हो जाऊंगा। चंद्रकी शांत अमृतमयी प्रभाका निरीक्षण करके वह बोध लेता है कि, मैं भी इसी प्रकार अमृतरूपी शांतिका स्रोत बन जाऊंगा। इसी ढंगसे अन्य देवताओंका निरीक्षण करके वह अपने अंदर उनके गुणधर्मोंको धारण करने और बढानेका यत्न करता है। मानो अग्न्यादि देव उसके लिये आदर्श बन जाते हैं और उक्त प्रकार उसको उपदेश देते हैं।

वेदमंत्रोंमें जो अग्नि, वायु, आदि देवताओंके गुणवर्णन किये हैं उसका यही तात्पर्य है। ब्रह्मचारी एक एक सूक्तको पढता है और प्रारंभमें उक्त गुण उन देवताओंमें देखकर अपने अंदर उनका धारण करनेका यत्न करता है। इन देवताओंमें परमात्माके विविध गुणोंका आविर्भाव होनेके कारण वह परंपरासे परमात्माके गुणोंकोही अपने अंदर बढाता है।

इसी प्रकार हरएक देवताके प्रशंसनीय सद्गुण देखनेका उस ब्रह्मचारीको अभ्यास होता है, दोष देखनेकी दृष्टि दूर होती है और सद्गुण स्वीकारनेका भाव बढ जाता है। हरएक मनुष्यकी उन्नतिका यही वैदिक मार्ग है। आजकल दोष देखनेकाही भाव बढ गया है, इसलिये प्रतिदिन मनुष्य गिरताही जाता है। इस कारण मनुष्यमात्रको इस वैदिक धर्मके मार्गमेंही आकर सब जगत्में शांतिस्थापनाद्वारा अपने अपने आत्माकी शांति बढानी चाहिये। शतपथब्राह्मणमें कहा है कि—

यद्वै देवा अकुर्वंस्तत्करवाणि। (शत० ब्रा० ३।१।२६) अर्थात् " जो देव करते आये हैं वह मैं करूंगा।" यही बात उक्त स्थानपर कही है। इस प्रकार ब्रह्मचारी देवोंका अनुकरण करने लगता है, देवोंके विषयमें आदरभाव धारण

करता है, और अन्य प्रकार देवोंको प्रसन्न करनेका यत्न करता है, । इस तपस्यासे देव भी संतुष्ट और प्रसन्न होकर उसके साथ अथवा स्वाभाविक रीतिसे उसके शरीरमेंही निवास करने लगते हैं । इसका वर्णन आगेके मंत्रभागमें है —

देवताओंकी अनुकूलता ।

जो ब्रह्मचारी उक्त प्रकार देवताओंका निरीक्षण और गुणग्रहण करता है, उसमें अंशरूपसे निवास करनेवाले देवता उसके साथ अनुकूल बनकर रहते हैं । मंत्र कहता है कि-

"तस्मिन् देवाः सं-मनसो भवन्ति ।" अर्थात् "उस ब्रह्मचारीमें सब देव अनुकूल मनके साथ रहते हैं ।" उसके शरीरमें जिन जिन देवताओंके अंश हैं वे सब उस ब्रह्मचारीके मनके अनुकूल अपना मन बनाकर उसके शरीरमें निवास करते हैं । अपने शरीरमें देवताओंका निवास किस प्रकारसे होता है, देखिये-

१ अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्,
२ वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्,
३ आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाऽक्षिणी प्राविशत्,
४ दिशः श्रोत्रं भूत्वा कर्णौ प्राविशन्,
५ ओषधिवनस्पतयो लोमानि भूत्वा त्वचं प्राविशन्,
६ चंद्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविशत्,
७ मृत्युरपानो भूत्वा नाभिं प्राविशत्,
८ आपो रेतो भूत्वा शिश्नं प्राविशन्.

(ऐतरेय उ० २।४)

(१) 'अग्नि वक्तृत्वका इंद्रिय बनकर मुखमें प्रविष्ट हुआ, (२) वायु प्राण बनकर नासिकामें संचार करने लगा, (३) सूर्यने चक्षुका रूप धारण करके आंखोंके स्थानमें निवास किया, (४) दिशाएं श्रोत्र बनकर कानमें रहने लगीं, (५) औषधि वनस्पतियां केश बनकर त्वचामें रहने लगीं, (६) चंद्रमा मन बनकर हृदयस्थानमें प्रविष्ट हुआ, (७) मृत्यु अपानका रूप धारण करके नाभिस्थानमें रहने लगा, (८) जलदेवता रेत बनकर शिश्नमें रहने लगीं ।"

इस ऐतरेय उपनिषद्के कथनानुसार अग्नि, वायु, रवि, दिशा, औषधि, चंद्र, मृत्यु, आप इन आठ देवताओंका निवास इनके आठ स्थानोंमें हुआ है। पाठक जान सकते हैं कि, इसी प्रकार अन्य देवता, जो बाहरके जगत्में हैं, और जिनका वर्णन वेदमें सर्वत्र है, उनके अंश मनुष्यके शरीरमें विविध स्थानोंमें रहते हैं । इस प्रकार हमारा एक एक शरीर सब देवताओंका दिव्य साम्राज्य है और उसका अधिष्ठाता आत्मा है, तथा इसी आत्माकी शक्ति उक्त सब देवताओंमें प्रविष्ट होकर कार्य करती है; इसका अधिक विचार करनेके पूर्व अथर्ववेदके निम्नलिखित मंत्र देखने योग्य हैं—

१ दश साकमजायन्त देवा देवेभ्यः पुरा ।
यो वै तान्विद्यात्प्रत्यक्षं स वा अद्य महद्वदेत् ३
२ ये त आसन् दश जाता देवा देवेभ्यः पुरा ।
पुत्रेभ्यो लोकं दत्त्वा कस्मिंस्ते लोक आसते १०
३ संसिचो नाम ते देवा ये संभारान्त्समभरन् ।
सर्वं संसिच्य मर्त्यं देवाः पुरुषमाविशन् १३
४ यदा त्वष्टा व्यतृणत् पिता त्वष्टुर्य उत्तरः ।
गृहं कृत्वा मर्त्यं देवाः पुरुषमाविशन् १८
५ अस्थि कृत्वा समिधं तदष्टापो असादयन् ।
रेतः कृत्वाऽऽज्यं देवाः पुरुषमाविशन् २९
६ या आपो याश्च देवता या विराड् ब्रह्मणा सह ।
शरीरं ब्रह्म प्राविशच्छरीरेऽधि प्रजापतिः ३०
७ सूर्यश्चक्षुर्वातः प्राणं पुरुषस्य वि भेजिरे ।
अथास्येतरमात्मानं देवाः प्रायच्छन्नग्नये ३१,
८ तस्माद्वै विद्वान् पुरुषमिदं ब्रह्मेति मन्यते।
सर्वा ह्यस्मिन् देवता गावो गोष्ठ इवासते ३२

(अथर्व. ११।८)

"(१) सबसे प्रथम (देवेभ्यः दश देवाः) देवोंसे दस देव उत्पन्न हो गये । जो इनको प्रत्यक्ष (विज्ञान) जानेगा, वह (अद्य) आजही (महत् वदेत्) महान् ब्रह्मके विषयमें बोलेगा । (२) जो पहिले देवोंसे दस देव हुए थे, पुत्रोंको स्थान देकर स्वयं किस लोकमें रहने लगे हैं ? (३) सिंचन करनेवाले वे देव हैं कि, जो सब सामग्री को एकत्र करते हैं । (देवाः) ये देव सब (मर्त्यं) मरणधर्मी शरीरको सिंचित करके पुरुषमें प्रविष्ट हुए हैं । (४) जो (त्वष्टुः पिता) कारीगर जीवका पिता (उत्तरः त्वष्टा) अधिक उत्तम कारीगर है, वह इस शरीरमें छेद करता है, तब मरणधर्मवाला (गृहं) घर बनाकर सब देव इस पुरुषमें प्रविष्ट होते हैं । (५) हड्डियोंकी समिधाएं बनाकर, रेतका घी बनाकर (अष्टं आपः) आठ प्रकारके रसोंको लेकर सब देवोंने पुरुषमें प्रवेश किया है । (६) जो आप तथा अन्य देवताएं

है, और ब्रह्मके सह वर्तमान जो विराट् है, ब्रह्मही उन सबके साथ (शरीरं प्राविशत्) शरीरमें प्रविष्ट हुआ है और प्रजापति शरीरमें अधिष्ठाता हुआ है। (७) सूर्य चक्षु बना; वायु प्राण हुआ और ये देव इस पुरुषमें रहने लगे, पश्चात् इसके दूसरे आत्माको देवोंने अग्निके लिये अर्पण किया। (८) इसलिये इस पुरुषको (विद्वान्) जाननेवाला ज्ञानी (इदं ब्रह्म इति) यह ब्रह्म है ऐसा (मन्यते) मानता है। क्योंकि इसमें सब देवताएं उसी प्रकार इकट्ठे रहते हैं, कि जैसे गौवें गोशालाम रहती है।

इन मंत्रोंमें स्पष्ट कहा है कि, अग्नि वायु आदि देवताएं इस शरीरमें निवास करती हैं। अर्थात् प्रत्येक देवताका थोडा थोडा अंश इस शरीरमें निवास करता है। यही देवोंका "अंशावतरण" है। जो इस प्रकार अपने शरीरमें देवताओंके अंशोंको जानता है, वह अपनी आत्माकी शक्ति जान लेता है। और जो शरीरमें रहनेवाले देवताओंके समेत अपनी आत्माको जानता है, वही परमेष्ठी परमात्माको जानता है। इस विषयमें निम्न मंत्र देखिये—

ये पुरुषे ब्रह्म विदुस्ते विदुः परमेष्ठिनम्।
यो वेद परमेष्ठिनं यश्च वेद प्रजापतिम्।
ज्येष्ठं ये ब्राह्मणं विदुस्ते स्कंभमनुसंविदुः॥
(अथर्व. १०।७।१७)

"जो पुरुषमें ब्रह्म जानते हैं, वे परमेष्ठीको जानते हैं। जो परमेष्ठीको जानता है, और जो प्रजापतिको जानते हैं, तथा जो (ज्येष्ठं ब्राह्मणं) श्रेष्ठ ब्रह्मको जानते हैं, वे स्कंभको उत्तम प्रकार जानते हैं।"

अपने शरीरके अंदर ब्रह्मका अनुभव करनेका यह फल है। परमात्माके साक्षात्कारका यही मार्ग है। इसलिये अपने शरीरमें देवताओंके अंशोंका ज्ञान प्राप्त करके उन देवताओंका अधिष्ठाता जो एक आत्मा है, उसका अनुभव प्रथम करना चाहिए। पूर्वोक्त ऐतरेय उपनिषद्के वचनमें प्रत्येक देवताका भिन्न भिन्न स्थान कहा है। उस उस स्थानमें उक्त देवताके अंशका स्थान समझना चाहिए।

बाहरकी सृष्टिमें अग्नि वायु आदि देवता विशाल रूपमें हैं। उनके अंश प्रत्येक शरीरमें आकर रहते हैं, और इस प्रकार यह जीवात्माका साम्राज्य अर्थात् शरीर बन जाता है। यहां प्रश्न हो सकता है कि ये सब देवता मनके साथ हैं, या मनविहीन हैं? इस प्रश्नका उत्तर ब्रह्मचर्य-सूक्तके मंत्रने ही दिया है, कि "तस्मिन् देवाः संमनसो भवन्ति" अर्थात् "इस ब्रह्मचारीमें उक्त सब देव अनुकूल मन धारण करके रहते हैं।" इस मंत्रके "सं-मनसः देवाः" ये दो शब्द विशेष लक्ष्यपूर्वक देखने योग्य हैं। इनका अर्थ देखिये—

सं-मिले हुए, अनुकूल, मनसः-मनसे युक्त,
देवाः— अग्नि आदि देव, तथा शरीरमें निवास करनेवाले देवताओंके अंश।

"जो ब्रह्मचारी सूर्यचन्द्रमा अग्नि वायु आदि विशाल देवताओंका निरीक्षण और अनुकरण करके उपदेश लेता है, उनको अनुकूल बनाकर स्वयं उनके अनुकूल व्यवहार करता है, उस ब्रह्मचारीके अंदर वे ही देव अर्थात् उनके अंश अनुकूल बनकर रहते हैं। तात्पर्य यह कि ब्रह्मचारीके मनके साथ अपना मन मिलाकर उक्त देव निवास करते हैं।"

प्रत्येक इंद्रियमें एक एक देव है, और वह देव इस ब्रह्मचारीके अनुकूल होकर रहता है। इस सबका तात्पर्य ब्रह्मचारीकी सब इंद्रियशक्तियां उसके वशमें रहती हैं, इतनाही है। प्रत्येक देवताका मन भिन्न भिन्न ही होता है। अर्थात् प्रत्येक इंद्रियस्थानीय उस देवताके अंशका भी मन भिन्न भिन्न होता है। आंख नाक, कान, मुख, हृदय, नाभी, शिश्न, हाथ, पांव आदि प्रत्येक इंद्रिय और अवयवका मन विभिन्न है, परंतु सबके विभिन्न मनोंको अपने आधीन रखनेवाला "जीवात्माका मुख्य मन" होता है। ब्रह्मचर्यके नियमानुसार अपना आचरण करके ब्रह्मचारी बनता है। उसके शरीरमें निवास करनेवाले देवताओंके संपूर्ण अंश ब्रह्मचारीके मनके अनुकूल अपना मन धारण करके उसके अनुकूल ही अपना कार्य करनेमें तत्पर होते हैं। परंतु जो नियम छोडकर जैसा चाहे व्यवहार करता है, उस स्वच्छंद पुरुषके इंद्रियस्थानीय देवता गण भी स्वेच्छाचारी होते हैं। और प्रत्येक इंद्रिय स्वतंत्र है नेसे अंतमें इस मनुष्यकाही नाश होता है। इसलिये ब्रह्मचारीको उचित है कि, वह नियमानुसार आचरण करके इंद्रियस्थानीय सब देवताओंको अपने आधीन रखे और अपनी इच्छानुसार उनसे योग्य कार्य लेता रहे।

देवताओंका साम्राज्य

अपने शरीरको इस प्रकार "देवताओंका साम्राज्य" समझना और सब देवताओंका अधिष्ठाता मैं हूं इस विचारको अपने मनमें दृढ करना चाहिये। अपनी मनकी शक्ति शरीरकी

प्रत्येक इंद्रियमें आकर वहां कैसा विलक्षण कार्य करती है, यह विचारपूर्वक देखनेसे अपनी आत्मशक्तिका अनुभव हरएकको प्राप्त हो सकता है। इस अनुभवसे इंद्रियशमन और इंद्रियदमन साध्य होता है।

प्रत्येक इंद्रिय भिन्न देवताके अंशका बना है। इन देवताओंमें भूस्थानीय, अंतरिक्षस्थानीय तथा द्युस्थानीय ऐसे देवताओंके तीन वर्ग हैं। सभी देवताओंका निवास शरीरमें है, ऐसा कहने मात्रसे उक्त त्रिलोकीका ही निवास इस शरीरमें है, यह बात स्पष्ट ही हो गई। क्योंकि भूलोक, भुवर्लोक और स्वर्लोक इन तीन स्थानोंमें ही सब देवता रहते हैं। अब उक्त तीनों लोकोंके एक एक पदार्थका अंश शरीरमें आता है, तो मानो त्रैलोक्यका ही थोडा थोडा अंश लेकर यह मानवदेह बनाया गया है। इस विषयका स्पष्टीकरण निम्न स्थानमें दिये कोष्टकसे हो सकता है—

इस प्रकार बाहरकी त्रिलोकीका अंश शरीरमें आया है। इसी कारण कहा जाता है कि यह ब्रह्मचारी त्रैलोक्यका आधार है। देखिये — "स दाधार पृथिवीं दिवं च" अर्थात् यह पूर्वोक्त संयमी ब्रह्मचारी पृथिवी और द्युलोक तथा तदन्तर्गत बीचके अंतरिक्ष लोकका भी आधार देता है। यह बात उक्त कोष्टकसे अब स्पष्ट हो चुकी है। इस प्रकार मंत्रका प्रत्येक भाग अनुभवकी बात ही बता रहा है। यहां किसी अलंकारकी कल्पना करनेकी आवश्यकता ही नहीं है। प्रत्येक मनुष्य विचारकी दृष्टिसे मंत्रोक्त बातको अपने अंदर ही देख सकता है। केवल काल्पनिक बातें वेदमें नहीं हैं, प्रत्यक्ष होनेवाली बातें ही वेद वर्णन करता है। परंतु उसको प्रत्यक्ष देखनेकी रीतिसे ही देखना चाहिये। जो रीति यहां बताई है, उससे प्रत्येक मनुष्य अपने अंदर ही मंत्रोक्त बातें प्रत्यक्ष देख सकता है।

त्रिलोकीका कोष्टक।

बाह्य स्थानकी त्रिलोकी (समष्टि) — शरीरमें त्रिलोकी (व्यष्टि)

लोक	देवता		मनुष्यके इंद्रिय
स्वर्ग लोक [द्युलोक स्वः]	द्यौः सूर्य दिशा अग्नि	--सिर--	सिर आंख कान मुख, वागिन्द्रिय
[भुवर्लोक अंतरिक्षलोक] भुवः	इंद्र चंद्र वायु और मरुत	कंठ, छाती, पेट	आत्मा मन मुख्य और गौण प्राण
भूलोक [पृथिवी लोक भूः]	मृत्यु आप, जल भूमि	नाभि, शिश्न, पांव	अपान रेत, वीर्य पांव

अब मंत्रका अंतिम भाग रहा है। वह यह है "स आचार्यं तपसा पिपर्ति।" अर्थात् उक्त प्रकारका "ब्रह्मचारी अपने तपसे अपने आचार्यका पालन और पूर्णत्व करता है।" जो तप ब्रह्मचारीको करना है उसका स्वरूप मंत्रके तीन चरणोंमें कहा ही है। सूर्य, अग्नि आदि देवताओंका निरीक्षण करना, उनको अपने अनुकूल बनाना, उनके अनुकूल स्वयं व्यवहार करना, तथा अपने शरीरमें जो उनके अंश रहते हैं, उनको अपने मनके अनुकूल चलाना, यह सब तप ही है। इस प्रकारका तप जो ब्रह्मचारी करता है, वही आचार्यको परिपूर्ण बनाता है। अर्थात् नियम विरुद्ध आचरण करनेवाले विद्यार्थी गुरुजी की पूर्णता तो क्या करेंगे, परंतु वे उनमें न्यूनता ही उत्पन्न करते हैं, यह बात स्पष्ट ही है।

उक्त मंत्रभागमें "पिपर्ति" पद है। इसका अर्थ "(१) पालन करता है और (२) परिपूर्ण करता है" यह है। तात्पर्य यह कि आचार्यके पालनपोषणका भार विद्यार्थियोंपर [किंवा विद्यार्थियोंके पालकोंपर] होता है, तथा आचार्यकी इच्छा पूर्ण करनेका भार भी विद्यार्थियोंपर ही रहता है।

द्वितीय मंत्रमें कहा है कि देव, पितर, गंधर्व और मनुष्य ये चारों वर्णोंके लोग ब्रह्मचारीका अनुकरण करते हैं। यह मंत्रका प्रथम कथन है। ब्रह्मचारी जैसा आचरण करता है वैसा ही व्यवहार इतर लोग करने लगते हैं। यह बात ब्रह्मचारीको अवश्य ध्यानमें रखनी चाहिए। इससे ब्रह्मचारीपर एक विलक्षण जिम्मेवारी आजाती है। यदि कोई दोष ब्रह्मचारीके आचरणमें होगा, तो उसका अनुकरण अन्य लोग करेंगे।

विशेषतः गुणोंकी अपेक्षा दोषोंका अनुकरण अधिक होता है। श्रेष्ठ मनुष्य जैसा आचरण करता है, वैसा अन्य लोग करते हैं ऐसा कहते हैं। परंतु यह नियम सदाचारके अनुकरणकी अपेक्षा दुराचारके अनुकरणके विषयमें अधिक सत्य प्रतीत होता है!! यदि बडा आदमी अच्छा आचरण करेगा, तो उसके अनुसार छोटे आदमी आचरण करेंगे, यह निश्चित नहीं है, परंतु यदि बडा आदमी बुरे कार्य करेगा, तो बहुधा उसका अनुकरण अन्य लोग करने लगेंगे। इसलिये बडे आदमीको अपना आचरण विचारपूर्वक शुद्ध रखना चाहिये। यही जिम्मेवारी ब्रह्मचारीपर भी रहती है, क्योंकि अपने अपने स्थानपर ब्रह्मचारीकी प्रशंसा होगी, वहांके छोटे मोटे लोग उसको देखकर उसके समान बननेका यत्न करेंगे। जो बाहरसे विशेष विद्या पढकर आता है, उसपर इसी प्रकार जिम्मेवारी होती है, इसलिये नवशिक्षितोंको अपनी जिम्मेवारी समझकर ही व्यवहार करना उचित है।

प्रत्येक प्राणिमात्रमें जो चातुर्वर्ण्य है, वह ब्रह्मचारीके देहमें भी है। अर्थात् इसके देहमें चार वर्ण एक दूसरेके साथ मिल जुलकर रहते हैं, अनुकूल होकर रहते हैं। शरीरके अंदर ज्ञान प्राप्त करके ज्ञानसंचय करनेवाले जो भाग हैं उनको देव किंवा ब्राह्मण समझिये। देहमें विरोधी दोषोंको हटानेवाले जो सूक्ष्म संरक्षण विभाग होते हैं, उनको क्षत्रिय मानिये। जो पोषक अंश होते हैं उनको वैश्य कह सकते हैं, और जो स्थूल भारवाहक अंश होंगे उनको शूद्र कहिये। शरीरमें मज्जा ब्राह्मण है, वीर्य क्षत्रिय है, रस वैश्य है और अस्थि शूद्र है इनको आप चाहे अन्य शब्द भी प्रयुक्त कर सकते हैं। यहां केवल उक्त कथनका भाव ध्यानमें रखना चाहिये। चातुर्वर्ण्यके चार शब्द जो इस मंत्रमें आगये हैं, वे भी गुणसंबोधक तथा भावबोधक ही हैं।

मंत्रमें कहा है कि देव, पितर, गंधर्व और देवजन ये सब ब्रह्मचारीके अनुकूल होकर चलते हैं अर्थात् अनुकूल बनकर अपना अपना कार्यव्यवहार करते हैं। यह जितना बडा समाजमें सत्य है, उससे कई गुना अधिक शरीरके शक्तिकेंद्रोंके अंदर सत्य है। शरीरके अस्थि-रस-वीर्य— मज्जा आदि मूलभूत आधार तत्व ब्रह्मचारीके अनुकूल होकर रहते हैं। ब्रह्मचारीके शरीरकी सब शक्तियां उसके अनुकूल रहती हैं। क्योंकि वह संयमी पुरुष होता है। शरीरमें अंगों, अवयवों, इंद्रियों और तत्त्वोंका चातुर्वर्ण्य है, वह सभी उसको अनुकूल होता है, यह बात अब पाठकोंके मनमें आगई होगी। उक्त रीतिसे विचार करनेपर इस वैदिक भावका प्रकाश पाठकोंके मनमें पड सकता है और वैदिक विचारकी सूक्ष्मता भी ज्ञात हो सकती है।

तीन और तीस देव।

अग्नि वायु इंद्र आदि बाह्य देवताओंमें चातुर्वर्ण्य है, इतना कहनेमात्रसे शरीरके अंदरके देवताओंमें चातुर्वर्ण्य है, यह बात सिद्ध हो ही चुकी है; क्योंकि संपूर्ण देवताओंके अंश अपने शरीरमें विद्यमान हैं। अर्थात् जो उनके गुणधर्म बाहर हैं, वे ही अंदर हैं; इसमें विवाद नहीं हो सकता। अब इन देवताओंकी संख्या कितनी है इसका उत्तर इस मंत्रने निम्नप्रकार दिया है।

त्रयः	—तीन	३
त्रिंशत्	—तीस	३०

त्रिशताः —तीन सौ ३००
षट् सहस्राः —छः हजार ६०००

पहिले मंत्रके स्पष्टीकरणके के प्रकरणमें बताया ही है कि, नाभिसे निचला भाग पृथिवी स्थानीय, नाभिसे गलेतक का भाग अंतरिक्षस्थानीय और सिर द्युस्थानीय है। अर्थात् शरीरके अंदरके इन तीनों स्थानोंमें बाहरके तीनों स्थानोंमें रहनेवाले सब देव हैं। वेदमें अन्यत्र कहा है कि, प्रत्येक स्थानमें ग्यारह ग्यारह देवता हैं, उनमें भी दस गौण और एक मुख्य है।

सिरमें मस्तिष्क है उसकी देवता सूर्य है। हृदयमें मन और उसकी देवता चंद्र किंवा इंद्र है। तथा जठरमें अग्निदेवता है। इस प्रकार तीनों स्थानोंमें ये तीन देवताएं मुख्य है। प्रत्येक देवताके आधीन दस गौण देवताएं हैं। तीन मुख्य और तीस गौण मिलकर ३३ देवता होती है। प्रत्येक देवता एक एक अंगमें रहती है। अर्थात् ३३ देवताओंके आधीन ३३ अंग हैं। इस भावको लेकर निम्नमंत्र देखिये—

(१) यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा अंगे सर्वे समाहिताः ॥ १३ ॥
(२) यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा अंगे गात्रा विभेजिरे ॥
तान्वै त्रयस्त्रिंशद्देवानेके ब्रह्मविदो विदुः ॥ २७ ॥
(३) यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा निधिं रक्षन्ति सर्वदा
निधिं तमद्य को वेद यं देवा अभिरक्षथ ॥ २३ ॥
(अथर्व० १०।७)

"(१) जिसके अंगमें तैंतीस देव रहे हैं। (२) जिसके अंगोंके गात्रमें तैंतीस देव विशेष सेवा करते हैं, उन तैंतीस देवोंको ब्रह्मज्ञानी पुरुष ही केवल जानते हैं। (३) तैंतीस देव जिसका कोश सर्वदा रक्षण करते हैं, उस निधिको आज कौन जानता है ?"

यह वर्णन परमात्मामें पूर्णरूपसे और जीवात्मामें अंशरूपसे लगता है। क्योंकि यह बात पूर्व स्थलमें कही ही है कि अग्नि, इन्द्र और सूर्य आदि देवता पूर्णरूपसे परमात्माके साथ जगतमें हैं और अंशरूपसे जीवात्माके साथ शरीरमें है। परमात्माका व्यापकत्व और महत्त्व तथा जीवात्माका अव्यापकत्व और अणुत्व छोड दिया जाय, तो तत्त्वरूपसे दोनोंका वर्णन एक जैसा ही हुआ करता है। वेदमें इस प्रकार के वर्णन सहस्रों स्थानोंमें हैं।

तीन और तीस देवोंका यह स्वरूप है। ये तैंतीस देव मेरुपर्वतमें रहते हैं। "मेरुपर्वत" पृष्ठवंश ही है, जिसको रीढ मेरुदंड आदि कहा जाता है। इस पृष्ठवंशमें छोटी छोटी हड्डियां एकके ऊपर दूसरी ऐसी लगी हैं और बीचके संधिपर्वमें एक एक ग्रंथि है, जिस ग्रंथिमें इन देवताओंका स्थान है। योगमें जिस "ग्रंथिभेदन" का माहात्म्य वर्णन किया है, वे ग्रंथियां ये ही हैं। प्राणायामादि साधनोंद्वारा प्राणको इनमेंसे ले जाना होता है। योगसाधनमें इस प्रत्येक स्थानका अत्यंत महत्त्व है। इन सब देवताओंकी ग्रंथियोंमेंसे गुजरकर मेरुपर्वत अथवा मेरुदंडके सबसे ऊपरके भागमें, मस्तकके मध्यमें जब आत्माके साथ प्राण पहुंचता है, तब उस स्थितिको "ब्रह्मलोककी प्राप्ति" कहते हैं।

ये तैंतीस देवताएं अथवा तीन और तीस देवताएं ब्रह्मचारीके आधीन होती हैं, क्योंकि ब्रह्मचर्याश्रममें वीर्यरक्षणपूर्वक योगाभ्यासद्वारा इन सबको स्वाधीन ही करना होता है। इसलिए इस ब्रह्मचर्य-सूक्तमें बारबार कहा है कि, ये सब देव ब्रह्मचारीके अनुकूल रहते हैं। ब्रह्मचारी इन सब देवोंको पूर्ण तृप्त और स्वाधीन करता है। पूर्ण करनेका तात्पर्य प्राणसे भरना और पूर्ण विकसित करना है।

उक्त तैंतीस देवोंसे भिन्न (त्रिशताः) तीन सौ देव हैं। तीन स्थानोंमें सौ सौ मिलकर तीन सौ होते हैं। मस्तिष्कके स्थानमें सौ, हृदयके स्थानमें सौ और नाभिस्थानमें सौ, इस प्रकार ये "शिवजीके त्रि-शतगण" होते हैं। साथ साथ (षट् सहस्राः) छः हजार भी हैं। पृष्ठवंशके साथ साथ छः चक्र हैं— (१) गुदाके स्थानमें मूलाधारचक्र, (२) नाभिस्थानके पास स्वाधिष्ठानचक्र और (३) मणिपूरकचक्र (४) हृदयस्थानके पास अनाहतचक्र, (५) कंठस्थानमें विशुद्धिचक्र और (६) दोनों भौंहोंके बीचमें आज्ञाचक्र है। प्रत्येक चक्रमें सहस्रों शक्तियोंके अंश केंद्रित हुए हैं। इस प्रकार छः स्थानोंमें छः हजार शक्तियां बंट गयी हैं। यहां "तीन सौ" और छः हजार" यह संख्या गिनतीकी है अथवा बहुत्वदर्शक ही है। इस विषयमें मुझे स्वयं कोई ज्ञान नहीं है। अनुभवी योगी ही इस विषयमें कह सकता है। इस लिये इस विषयमें अधिक लिखना उचित भी नहीं है।

यह देवताओंकी संख्या वेदों और ब्राह्मणोंमें ३; ३३; ३३० इसी प्रकार बढाई है। सहस्रों, लाखों और करोडों तक यह गिनती गई है। मस्तिष्क मज्जातंतुओंका मुख्य केंद्र है, उसके आधीन मस्तक, हृदय और नाभि ये तीन स्थान हैं; प्रत्येक स्थानमें दस दस गौण विभाग मिलकर तीस तकके और सूक्ष्म सौ सौ विभाग मिलकर तीनसौ, इस प्रकार

सूक्ष्मसे सूक्ष्म विभाग अगणित हुए हैं । इनको करोडोंमें बांटना अथवा लाखोंमें बांटना यह केवल कल्पनामात्र ही होगा, प्रत्यक्ष गिनतीका कदापि न होगा। परंतु इस विषयमें सत्यासत्य निर्णय विशेष अधिकारी पुरुष ही कर सकता है ।

इस प्रकार (१) तीन, (२) तीस, (३) तीन सौ और (४) छः हजार देवताओंका स्वरूप, स्थान और माहात्म्य है । ब्रह्मचर्यके आधीन ये सब देव रहते हैं। जो ब्रह्मचर्य नहीं रखता और योगादि साधन नहीं करता उसके आधीन उक्त देव रह नहीं सकते। जब ये देव स्वाधीन नहीं रहते, स्वेच्छासे अपना व्यवहार करने लगते हैं, तब बडी भयानक अवस्था हो जाती है । प्रत्येक इंद्रिय स्वच्छंद होनेसे मनुष्यकी अवस्था कितनी गिर सकती है, इसकी कल्पना पाठक स्वयं कर सकते हैं।

ब्रह्मचर्य, वीर्यरक्षण, सद्ग्रंथपठन, सत्समागम, उच्च विचारोंका धारण यम नियम, ईश्वरोपासना आदि सब साधना से यही करना है कि, अपने शरीरमें विद्यमान देवताओंके अंश अपने आधीन हो जांय, अर्थात् अपने अंदरकी संपूर्ण शक्तियां स्वाधीन होकर आत्माकी शक्ति पूर्णतासे विकसित हो जाय।

इस प्रकार ब्रह्मचर्यकी परम सिद्धिका वर्णन इस मंत्रमें हुआ है । पाठक इस मंत्रके अर्थकी अधिक खोज करें और जहांतक हो सके वहांतक प्रयत्न करके इस दृष्टिसे अपनी उन्नति करनेका प्रयत्न करें ।

अब अगले तृतीय मंत्रमें, ब्रह्मचर्याश्रममें करने योग्य "तीन प्रकारके अज्ञानोंका निवारण" बताया है । साधारण मनुष्य तीन प्रकारके अज्ञानके अंधकारोंमें रहता है, उन तीनों अज्ञानोंका निराकरण करना और तीनों ज्ञानोंकी प्राप्ति करना इस आश्रममें होता है ।

गुरुशिष्य–संबंध ।

इस तृतीय मंत्रके पहिले अर्धभागमें कहा है कि, "जब आचार्य ब्रह्मचारीको शिष्य समझकर अपने पास रखता है तब वह उसको अपने अंदर कर लेता है ।" यहां अंदर करनेका तात्पर्य केवल अपने परिवारमें अथवा कुलमें संमिलित करना इतना ही नहीं है, परंतु उस विद्यार्थीको अपने हृदयमें रखना है । हृदयमें अथवा अपने गर्भमें रखनेका भाव यह है कि, उससे छिपाकर कुछ भी नहीं रखना है । जिसका प्रवेश अपने घरमें अथवा परिवारमें होता है, उससे कोई बात छिपी नहीं रहती । परंतु इस ब्रह्मचारीका प्रवेश तो अंदरके गर्भमें होता है, इसलिए हृदयकी कोई बात उससे छिपी नहीं रहती। यही गुरुशिष्यका संबंध है। गुरु अपने शिष्यसे कोई बात छल कपटसे छिपाकर दूर न रखे, जो विद्या स्वयं प्राप्त की है, उसे पूर्ण रीतिसे शिष्यको पढावे, तथा शिष्यभी आचार्यके पेटमें रहकर मातृवत् गुरुको किसी प्रकार क्लेश न देवे।

तीन रात्रिका निवास ।

इस मंत्रका दूसरा कथन है कि "वह आचार्य अपने पेटमें उस ब्रह्मचारीको तीन रात्रिका समय व्यतीत होनेतक धारण करता है ।" उदरमें ब्रह्मचारीको धारण करनेका तात्पर्य पूर्वस्थलमें बताया ही है। यहां तीन रात्रिका भाव देखना है। मंत्रमें "तीन दिन" ऐसा नहीं कहा है, परंतु "तिस्रः रात्रीः (तीन रात्रियां)" ऐसा कहा है। रात्रि शब्द अंधकारका भाव बताता है और अंधकार अज्ञानका बोधक स्पष्ट ही है। अर्थात् तीन रात्रियोंका तात्पर्य तीन प्रकारका अज्ञान है। इसलिये तीन रात्रि गुरुके पास रहनेका आशय यह सिद्ध होता है, कि तीन प्रकारका अज्ञान दूर होनेतक गुरुके पास निवास करना है। एक अज्ञान स्थूलसूक्ष्म सृष्टिविषयक होता है, दूसरा अज्ञान आत्माके विषयमें होता है और तीसरा आत्मा अनात्माके संबंधके विषयमें अज्ञान होता है। इन तीनों अज्ञानोंको दूर करना ही विद्याध्ययनका उद्देश्य है । उक्त तीनों प्रकारके गाढ अज्ञान अंधकारकी रात्रिमें जीव सोते हैं । आचार्यकी कृपासे ज्ञानसूर्यका उदय होनेके कारण वह प्रबुद्ध शिष्य रात्रिका समय व्यतीत करके स्वच्छ और पवित्र प्रकाशमें आता है ।

यह तीन रात्रियोंका विषय कठोपनिषद्में भी आया है। पाठक विस्तारपूर्वक वहीं देखें । यहां थोडासा दिग्दर्शन किया जाता है ।

> तिस्रो रात्रीर्यदवात्सीर्गृहे मेऽनश्नन् ब्रह्मन् अतिथिर्नमस्यः॥
> (कठ उ० १।९)

यम नचिकेतासे कहता है कि "तू नमस्कार करने योग्य ब्राह्मण अतिथि मेरे घरमें तीन रात्रि रहा है" इसलिये–

> त्रीन् वरान् वृणीष्व ॥ (कठ १।९)

"तीन वर मांग ले।" तत्पश्चात् नचिकेताने तीन वर मांग लिये । उनमेंसे यम महाराजने (१) आत्मविद्या, (२) अविद्या और दोनोंका संबंध बतानेवाली (३) कर्मविद्या ही बतायी है । इस उपनिषद्में नचिकेताको विद्या देनेवाले गुरुका नाम "यम" है, इस ब्रह्मचर्य–सूक्तके १४ वें मंत्रमें भी "आचार्यो मृत्युः" अर्थात् "आचार्य मृत्यु है" ऐसा

स्पष्ट कहा है। इसलिये प्रतीत होता है कि, इस ब्रह्मचर्य-सूक्तके साथ कठोपनिषद्‌का संबंध है और कठोपनिषद्‌की कथाका स्पष्टीकरण इस ब्रह्मचर्यसूक्तके स्पष्टीकरणसे होना संभव है। इसका विचार पाठक करें।

मंत्रका तीसरा कथन है कि, " जब वह ब्रह्मचारी जन्म लेकर गुरुके उदरसे बाहर आता है, तब उसको देखनेके लिये सब विद्वान् इकट्ठे होते हैं।" पूर्वोक्त तीन रात्रि समाप्त होनेतक अर्थात् तीन प्रकारके अज्ञान दूर होनेतक वह ब्रह्मचारी गुरुके पास रहता है किंवा गुरुके आधीन रहता है। जब तीन प्रकारके अज्ञान दूर हो जाते हैं, तब वह स्वतंत्रतासे जगत्‌में संचार करने योग्य होता है। मंत्रके अंतिम चरणमें " जातं " पद है। इसका अर्थ " जिसने जन्म लिया है " ऐसा होता है। गुरु पिता है और विद्या माता है। इस विद्यारूपी मातासे इस समय जन्म होता है। यह दूसरा जन्म है, इस विषयमें कहा है—

स हि विद्यातस्तं जनयति। तच्छ्रेष्ठं जन्म।
शरीरमेव मातापितरौ जनयतः॥

(आप० ध० सू० १।१।१५—१७)

" वह आचार्य विद्यासे उस ब्रह्मचारीको उत्पन्न करता है। यह श्रेष्ठ जन्म है। मातापिता केवल शरीर ही उत्पन्न करते हैं।" इस प्रकार आचार्यद्वारा जो द्वितीय जन्म होता है, वही श्रेष्ठ जन्म है। इस जन्मको प्राप्त करनेपर ही द्विज बनते हैं। द्विज बननेसे सर्वत्र सम्मान होना योग्य ही है। गुरुकुलोंसे इस प्रकार द्विज बननेसे सर्वत्र सम्मान होना योग्य ही है। गुरुकुलोंसे इस प्रकार द्विज बननेके पश्चात् स्नातक जब अपने अपने घर वापस आ जाते हैं, तब वहांके लोग उनका बहुत सम्मान करते हैं।

इस चतुर्थ मंत्रमें पृथिवीकी प्रथम समिधासे " भोग " और द्युलोककी द्वितीय समिधासे " ज्ञान " का तात्पर्य यहां अभीष्ट है। ज्ञान और भोग इन दोनों समिधाओंके द्वारा अंतरिक्षस्थानीय हृदयकी संतुष्टि और पूर्णता करना ब्रह्मचारीका उद्देश्य है। इस मंत्रके " पृथिवी, अंतरिक्ष और द्यौः " ये तीनों शब्द बाह्य लोकोंके वाचक नहीं हैं, क्योंकि द्युलोक तो इसको अप्राप्य ही है। इस कारण अपने अंदरके स्थानोंका ही भाव यहां लेना उचित है। सभी शिक्षाप्रणाली हृदयकी शुद्धताके लिये ही होनी चाहिये। केवल भोगोंकी समृद्धि अथवा केवल ज्ञानसमृद्धि होनेसे भी कार्य नहीं होगा। केवल उदरपोषण अथवा केवल ग्रंथावलोकन होनेसे कार्यभाग नहीं हो सकता; परंतु जब हृदयकी शुद्धि, पवित्रता और निर्मलता होगी, तभी जीवनोद्देश्यकी पूर्ति होती है। इस उद्देश्यकी स्पष्टता करनेके लिये यह मंत्र है। भूमिके भोग और द्युलोकका ज्ञान इन दोनोंका उपयोग अंतःकरणकी शुद्धि करनेके लिये ही होना चाहिये। जगत्‌में शांति स्थापित होनेका यही एक साधन है। साधारण लोग केवल ज्ञानविज्ञानका प्रचार करते हैं अथवा भोग बढानेमें प्रवृत्त होते हैं; परन्तु वेद यहां सबको सावधान कर रहा है और स्पष्टतासे बता रहा है कि, इन " भोग और ज्ञान " का समर्पण जब हृदयकी पूर्णताके लिये होगा, तभी मानवजातिकी सच्ची उन्नति हो सकती है। इस मंत्रभागसे पाठक बहुत बोध ले सकते हैं।

श्रमका तत्त्वज्ञान।

अब अगले मंत्रभागमें कहा है कि, " ब्रह्मचारी अपनी समिधा, मेखला, परिश्रम और तपसे सब लोगोंको सहारा देता है " समिधा शब्दका अर्थ पूर्व स्थलमें बताया ही है " मेखला " कटिबद्ध होनेकी सूचना दे रही है। जनताके हितके कार्य तथा सबकी उन्नतिके कार्य करनेके लिये और अपने अभ्युदयनिश्श्रेयसके साधन करनेके लिये ब्रह्मचारीको सदा " कटिबद्ध " रहना चाहिये। " श्रम " का तात्पर्य परिश्रम है। सब प्रकारके पुरुषार्थ करना परिश्रमसे ही साध्य हो सकता है; वेदमें कहा ही है कि—

न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः॥ (ऋ० ४।३३।११)

' श्रम किये बिना देव सहायता नहीं करते ' तथा ऐतरेय ब्राह्मणमें कहा है कि—

नाऽनाश्रांताय श्रीरस्ति। पापो नृषद्वरो जन
इन्द्र इच्चरतः सखा। चरैवेति चरैवेति॥ १॥
पुष्पिण्यौ चरतो जंघे भूष्णुरात्मा फलग्रहिः।
शेरे अस्य सर्वे पाप्मानः श्रमेण प्रपथे हताः।
चरैवेति चरैवेति॥ २॥
आस्ते भग आसीनस्योर्ध्वस्तिष्ठति तिष्ठतः।
शेते निपद्यमानस्य चराति चरतो भगः
चरैवेति चरैवेति॥ ३॥
कलिः शयानो भवति संजिहानस्तु द्वापरः।
उत्तिष्ठंस्त्रेता भवति कृतं संपद्यते चरन्॥
चरैवेति चरैवेति॥ ४॥

चरन्वै मधु विन्दति चरन्स्वादुमुदुंबरम्।
सूर्यस्य पश्य श्रेमाणं यो न तन्द्रयते चरन् ॥
चरैवेति चरैवेति ॥ ५ ॥

(ऐत० ब्रा० ७।१५)

"(१) श्रम किये बिना श्रीकी प्राप्ति नहीं होती। सुस्त मनुष्य ही पापी है। पुरुषार्थीका मित्र ईश्वर है। इसलिये प्रयत्न करो पुरुषार्थ करो ॥ (२) जो चलता है उसकी जांघें पुष्ट होती हैं, फल मिलनेतक प्रयत्न करनेवाला आत्मा प्रभावशाली होता है। प्रयत्न करनेवालेके पापभाव मार्गमें ही मर जाते हैं। इस कारण प्रयत्न करो और श्रम करो ॥ (३) जो बैठता है, उसका दैव बैठता है; जो खडा होता है उसका दैव खडा होता है, जो सोता है उसका दैव सो जाता है, तथा जो चलता है उसका दैव भी पास आ जाता है। इसलिये प्रयत्न करो, परिश्रम करो ॥ (४) सो जाना कलियुग है, आलस्य छोडना द्वापरयुग है, उठना त्रेतायुग है और पुरुषार्थ करना कृतयुग है। इसलिये पुरुषार्थ करो ॥ (५) मधुमक्खी चलकर मधु प्राप्त करती है, पक्षी भ्रमण करनेसे ही मीठा फल प्राप्त करते हैं। सूर्यकी जो शोभा है, वह उसके निरलस भ्रमणके कारण ही है। इसलिये प्रयत्न करो, परिश्रम करो ॥"

इस प्रकार परिश्रम करनेका उपदेश ब्राह्मणकार करते हैं। हरएक मनुष्यके लिये यह उपदेश स्मरण रखने योग्य है। तथा—

श्रमयुवः पदव्यो धियंधास्तस्थुः पदे परमे चार्वग्नेः ॥

(ऋ० १।७२।२)

"(श्रम-युवः) परिश्रम करनेवाले, (पद-व्यः) मार्गपर चलनेवाले, (धियं-धाः) धारणावती बुद्धिको धारण करनेवाले पुरुषार्थी लोग ही (अग्नेः परमे पदे) आत्माग्निके सुंदर परम स्थानको प्राप्त करते हैं।" तथा—

श्रान्ताय सुन्वते वरूथमस्ति। (ऋ० ८।६७।६)

" परिश्रम करके यज्ञ करनेवालेके लिये ही [ईश्वरका] संरक्षण प्राप्त होता है।" इस प्रकार परिश्रमका महत्त्व वेद वर्णन करता है। परिश्रम करनेवाला पुरुषार्थी, प्रयत्न करनेवाला मनुष्य अपना तथा जनताका अभ्युदय कर सकता है। अब तपके विषयमें थोडासा लिखना है। देखिये, तपका स्वरूप कितना व्यापक है—

ऋतं तपः, सत्यं तपः, श्रुतं तपः, शान्तं तपो, दमस्तपः, शमस्तपो, दानं तपो, यज्ञस्तपो, भूर्भुवः सुवर्ब्रह्मैतदुपास्वैतत्तपः ॥

(तै० आ० १०।८)

"ऋत, सत्य, अध्ययन, शांति, इंद्रियदमन, मनोविकारोंका शमन, दान, यज्ञ, (भूः) अस्तित्व, (भुवः) ज्ञान (स्वः) आनंद आदि सब तप ही हैं।" विचार करनेसे पता लग जाय गा कि जन्मसे लेकर मरनेतक हरएक योग्य प्रयत्न तप ही है। तपसे ही हम सब जीवित रहते हैं, तपसे उन्नति करते हैं, तपसे ही उच्च अवस्थामें पहुंचते हैं और तपसे ही अपना तथा जनताका अभ्युदय साध्य किया जाता है इसी लिये वेदने इस मंत्रमें कहा है कि, "ब्रह्मचारी श्रम और तपसे सब लोगोंको पूर्ण उन्नत करता है।" यदि ब्रह्मचारी श्रम न करेगा और तप न आचारेगा, तो न उसकी उन्नति ही हो सकती है और न वह दूसरोंका भला ही कर सकता है। (१) आत्मशक्तिरूपी समिधा अर्पण करनी है, (२) सदा कटिबद्ध रहकर जनताके हितके लिये परम पुरुषार्थ करना है, (३) आनंदसे परिश्रम करके प्रारंभ किया हुआ शुभ कर्म समाप्त करना है, तथा (४) सत्यनिष्ठापूर्वक सब योग्य श्रेष्ठ कार्य करते हुए जो कष्ट होंगे, उनको शांतिके साथ सहन करना और फल प्राप्त होनेतक प्रारंभ किये हुए शुभ कार्यको बीचमें ही न छोडना, ये बोध इस मंत्रद्वारा प्राप्त हो रहे हैं।

मृत्यु स्वीकारनेकी सिद्धता।

इस मंत्रके विचार करनेके अवसरपर निम्न मंत्र देखिये—

मृत्योरहं ब्रह्मचारी यदस्मि निर्याचन् भूतात्पुरुषं यमाय।
तमहं ब्रह्मणा तपसा श्रमेणानयैनं मेखलया सिनामि ॥

(अथर्व० ६।१३३।३)

"(मृत्योः ब्रह्मचारी) मैं मृत्युको समर्पित हुआ हुआ ब्रह्मचारी हूं। इसलिये (भूतात्) मनुष्योंमेसे यमके लिये और एक पुरुषकी (याचन्) इच्छा करता हूं। [जो पुरुष आयेगा] उसको भी मैं (ब्रह्मणा) ज्ञानसे, तपसे, परिश्रमसे और इस मेखलासे (सिनामि) बांधता हूं।"

ब्रह्मचारीका संबंध मृत्यु अथवा यमसे है, इस बातका कथन इस मंत्रमें भी है। ब्रह्मचारी भी समझता है कि मैं अब मातापिताका नहीं हूं, परंतु मृत्युको समर्पित हो चुका हूं। अर्थात् घरके प्रलोभन दूर हो चुके हैं। पहिले जन्मसे प्राप्त शरीरका मृत्यु होनेके पूर्व दूसरा जन्म प्राप्त नहीं हो सकता। इसलिये जो " द्वि-जन्मा " होते हैं, उनको " द्विज "

होनेके पूर्व एक बार मृत्युके वश होना ही चाहिये। इस प्रसंगमें आचार्यही मृत्युका कार्य करता है। मातापितासे प्राप्त शारीरिक और मानसिक स्थितिमें बड़ा परिवर्तन करना तथा उसको सुयोग्य बनाना आचार्यका कार्य है। कठोपनिषद्में भी इसी दृष्टिसे गुरुके स्थानमें मृत्युको ही माना है, ब्रह्मचर्यसूक्तमें भी " आचार्यको मृत्यु " ही कहा है। तथा इस मंत्रमें स्वयं ब्रह्मचारी कहता है कि "मैं अब मृत्युको समर्पित हुआ हूं। इस प्रकारका मृत्युको समर्पित हुआ ब्रह्मचारी गुरुकुलका विद्यामृत पान करता हुआ आनंदसे कह रहा है कि " मैं श्रमनासे और भी पुरुष-इसी प्रकार मृत्युको (आचार्यको) समर्पित करने की इच्छा करता हूं। " अर्थात् ब्रह्मचारीकी यह भावना चाहिये कि, वह अपने गुरुकुलमें और और ब्रह्मचारी आकर्षित करे। इतना योग्य बने कि उसको देखकर अन्य विद्यार्थी वहां आवें ब्रह्मचारियोंका परस्पर संबंध भी " ज्ञान, तप, परिश्रम, " आदि उच्च भावोंका ही होना चाहिये। एक ब्रह्मचारीका दूसरे बह्मचारीसे यही संबंध है। अर्थात् एक ब्रह्मचारी दूसरेको ज्ञान देवे, जो स्वयं जानता है, वह दूसरोंको समझावे। दूसरोंके हितार्थ परिश्रम करे और दूसरोंका हित करनेके लिये स्वयं क्लेश भी सहन करे।

जब ब्रह्मचारी अपने आपको मृत्युके लिये समर्पित समझें, तथा ब्रह्मचारियोंके मातापिता भी समझें कि हमने अपने पुत्रको मृत्युके लिये ही समर्पित किया है। क्योंकि गुरुकुलमें प्रविष्ट हुआ ब्रह्मचारी अब संपूर्ण जनताका ही हो चुका है! वह अब केवल माता पिताओंका ही नहीं रहा। वह अब संपूर्ण जनताका पुत्र है, जनता उसकी माता है, राष्ट्र उसका पिता है!! इतनाही नहीं परंतु अब वह ब्रह्मचारी ही स्वयं अपने आपको मृत्युको समर्पित समझने लगा है!!! जो आनंदसे मृत्युको ही स्वीकारनेके लिये कटिबद्ध होता है, जो अपनी अस्थियोंकी समिधा बनाने के लिये सिद्ध हो चुका है, जो अपने वीर्य, बल, पराक्रम के आज्यसे राष्ट्रीय नरमेधमें आहुतियां देनेके लिये उत्सुक है, तथा जो आत्मसर्वस्वकी पूर्णाहुति हाथमें लेकर तैयार है, उसको अन्य क्लेश हटा नहीं सकते, परिश्रमोंके भयसे वह स्वकार्यसे परावृत्त नहीं हो सकता। यह है ब्रह्मचारीका पराक्रम।

तपसे उन्नति।

पंचम मंत्रमें तपका महत्त्व कहा है। ब्रह्मचर्यमें "धर्म और तप"का जीवन व्यतीत करना चाहिये। गर्मी-ठण्डाईका नाम धर्म है और योग्य व्यवहार करनेके समय जो कलह होते हैं, उनको आनंदसे सहन करनेका नाम तप है। इन दोनोंकी सहायतासे ही हरएक की उन्नति होती है। शीत उष्ण सहन करनेसे शरीरका आयुष्य बढता है, हानिलाभका ध्यान छोड़कर कर्तव्यतत्पर होनेसे कार्यसिद्धितक कार्य करनेका उत्साह कायम रहता है। इसी प्रकार अन्य द्वंद्व सहन करनेसे अपना बल बढ जाता है। शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक और आत्मिक बल बढनाही उच्चता प्राप्त होनेका फल है। यही बात " घर्मं वसानः तपसा उदतिष्ठत्। " अर्थात् " उष्णता धारण करके कष्ट सहन करनेसे उच्च होता है। " इस मंत्रभागमें स्पष्टता से कही है।

ब्रह्मचारी ही श्रेष्ठ ज्ञानका प्रचार करता है। पूर्वोक्त प्रकार ब्रह्मचर्यके सुनियमोंका पालन करनेके पश्चात् जब वह, ज्ञानी बनता है, और अपनी योग्यता उच्च बनाता है, तब उससे श्रेष्ठ ज्ञानका प्रचार होता है, यह भाव " तस्मात् ज्येष्ठं ब्रह्म जातं" इस मंत्रभागमें कहा है। ज्ञानका प्रचार होनेके पूर्व जिस प्रकारकी योग्यता चाहिये, उस प्रकारकी योग्यता इस मंत्रमें कही है। सत्य धर्मज्ञानके प्रचारक, वैतनिक हों अथवा अवैतनिक हों, परंतु वे उक्त प्रकारसे ब्रह्मचर्यका पूर्णता करनेवाले चाहिये। उक्त प्रकार ब्रह्मचर्य समाप्त करके श्रम और तपसे अपनी उच्चता जिन्होंने प्राप्त की है उस प्रकारके धर्मोपदेशकोंसे ही ब्रह्मसंबंधी श्रेष्ठ ज्ञानका प्रचार हो सकता है। अन्य उपदेशक सत्यधर्मके प्रचारके लिये योग्य नहीं हैं।

तथा वही ज्ञानी और अनुभवी ब्रह्मचारी " देवाः अमृतेन साकं " सब देवोंको अमरपनके साथ मिला देता है। यहां देव ' शब्दसे व्यवहार करनेवाले सज्जन लेना युक्त है। " भूदेव " ब्राह्मण हैं, वीरोंका नाम "क्षात्रदेव" है, वैश्योंको " धनदेव " कहते हैं, तथा शूद्रोंको " कर्मदेव " कहते हैं। ये चारों प्रकारके तथा निषाद आदि पंचम " वनदेव " भी उक्त ब्रह्मचारीके उपदेशसे अमरपन प्राप्त करते हैं। इस प्रकार सबको अमृत प्रदान करना, इस प्रकार सुयोग्य सूज्ञ धर्मज्ञानी उपदेशकका ही साध्य हो सकता है, इसलिये वेदमें अन्यत्र कहा है-

ब्रह्म ब्रह्मचारिभिरुदक्रामत्। तां पुरं प्रणयामि वः।
तामा विशत, तां प्रविशत। सा वः शर्म च वर्म च यच्छतु॥
(अथ० १९।१९।८)

" ब्रह्मचारियोंसे ही ज्ञानकी उत्क्रांति होती है। उस ज्ञानकी नगरीमें आपको मैं ले जाता हूं। उसमें प्रवेश कीजिये, उसमें घुस जाइये। वह ज्ञानकी नगरी ही आपको सुख और संरक्षण देवे।"

यह ज्ञानका महत्त्व है। पूर्वोक्त प्रकारके सच्चे ब्रह्मचारीही इस ज्ञानकी उन्नति करते हैं। अन्य वेतनेच्छुक उपदेशकोंसे यह पवित्र कार्य नहीं हो सकता। यह ज्ञानकी नगरी ज्ञानियोंके विचारक्षेत्रमें हुआ करती है। जो सज्जन उस विचार क्षेत्रमें पहुंच जाते हैं, उसमें घुस जाते हैं और वहां निवास करते हैं, उन्हेंही सच्चा सुख और सच्चा संरक्षण प्राप्त हो सकता है। इस ज्ञानकी नगरीका मार्ग ब्रह्मचर्य आश्रम ही है। कोई दूसरा मार्ग इस नगरीतक नहीं जाता।

वास्तविक रीतिसे हरएकको इस पवित्र भूमिमें जाना चाहिये। जो इसमें प्रविष्ट होता है वह देवताका अंश बन जाता है, देखिये—

ब्रह्मचारी चरति वेविषद्विषः स देवानां भवत्येकमङ्गम्॥
(ऋ० १०।१०९।५, अथ० ५।१७।५)

" ब्रह्मचारी (विषः) सत्कर्मोंको (वेविषत् चरति) करता हुआ चलता है, इसलिये वह देवोंका एक अंग बन जाता है।"

ब्रह्मचारी नियमानुकूल व्यवहार करता है तथा सत्कर्म दक्षतापूर्वक करता है, इसलिये वह देवोंका अवयव, भाग किंवा अंग समझा जाता है। कोई उसको साधारण मनुष्य न समझे। ब्रह्मचारी साधारण मनुष्य नहीं है वह देवोंका अंग है। परंतु जो नियमानुकूल चलनेवाला होता है वही इस प्रकार श्रेष्ठ है, न कि नकली ब्रह्मचारी श्रेष्ठ होता है।

षष्ठ मंत्रके पूर्वार्धमें ब्रह्मचारीका रहना सहना अत्यंत सीधा साधा होनेकी सूचना दी गई है। काला कंबल अथवा कृष्णाजिनही उसका ओढनेका वस्त्र है, शीत निवारणार्थ अग्नि जलानेका साधन समिधायें सिद्ध हैं, हजामत आदिका झंझट नहीं है। इस प्रकारका सीधा साधा ब्रह्मचारी होना चाहिये। जहांतक सीधेसाधेपनका अवलंबन होना संभव होगा, उतना होना आवश्यक है। खादीका लंगोट, खादीकी धोती, उपवीत और कुडता, काला कंबल यही ब्रह्मचारीका पोशाक है। इसप्रकार सादगीके साथ ब्रह्मचर्य नियमोंका उत्तम प्रकारसे पालन करता हुआ, अपने आपको पवित्र बनानेके कर्ममें दत्तचित्त होकर, विद्याध्ययन बडी महनतसे करता है और सुफलताके साथ सफलता प्राप्त करता है। इस रितिसे विद्याध्ययन समाप्त करनेके पश्चात् वह जनपदमें भ्रमण करता है और लोकसंग्रह करता है। एकविचारसे लोगोंको एकत्रित करके, उनको महान् कार्यमें प्रवृत्त करना "लोक-संग्रह" का तात्पर्य है। जनता की उन्नति करनेके लिये इस प्रकार वह कार्य करता है, वारंवार भ्रमण करके व्याख्यानादि द्वारा वह सर्वत्र जागृति कर देता है। पूर्वसे उत्तर समुद्र तक वह प्रचार करता करता पहुंच जाता है, अर्थात् पूर्व अवस्थासे उच्चतर अवस्थातक वह स्वयं पहुंचता है और जनताको पहुंचाता है। इस प्रकार ब्रह्मचर्याश्रमरूपी पूर्व अवस्थासे गृहस्थाश्रमरूपी उत्तर अवस्थाको वह प्राप्त करता है।

"समुद्र" (सं+उत्+द्रु) शब्द हलचलका वाचक है (सं) एक होकर (उत्) उत्कर्षके लिये (द्रु) गति अथवा हलचल करनेका नाम समुद्र है। इस समुद्रमें अब वह अपनी नौका चलानेको सिद्ध होता है। जनताकी उन्नति करनेके लिये जो जो हलचल करना आवश्यक है वह हलचल अब वह करने लगता है।

ब्रह्मचारीकी हलचल।

सप्तम मंत्रमें कहा है कि प्रथम अवस्थामें ब्रह्मचारी माता-पिता और घरबारके मोहजालको तोडकर, अपने आपको मृत्युके लिये समर्पित समझ कर, सब प्रकारके कष्ट और क्लेश सहन करनेके दृढ निश्चयके साथ, गुरुकुलमें निवासकर विद्याप्राप्तिके कार्यमें लगा हुआ था। इसी अवस्थामें वह विद्यासमाप्तितक रहा, सीधा साधा रहना सहना और उच्चविचार करना यही स्वभाव उसका बन गया था। जब वह विद्याके गर्भसे बाहर आगया अर्थात् जब वह द्विज बना, तब वह (ब्रह्म) सत्यज्ञानका प्रचार करने लगा, सत्यज्ञानके प्रचारसे लोगोंको (अपः) सत्कर्मोंका उपदेश उसने दिया। सत्यज्ञान तथा सत्कर्मका ज्ञान जनतामें और होनेसे जनतामें स्वकर्तव्य जागृति उत्पन्न हो गई स्वकीय परिस्थितिकी जागृतिसे (लोकं) लोगोंको अपने वास्तविक स्थानका पता लगा। हमारा जन्मसिद्ध अधिकार यह है, यह हमारी योग्यता है, हमारी उन्नति इस रीतिसे हो सकती है, इत्यादि बातोंका ज्ञान जनतामें हुआ। इतनाही करके वह ब्रह्मचारी चुप न रहा, परंतु उसने (प्रजा-पतिं) प्रजाके पालन करनेवालेके धर्म भी बताये। राजाको इस

प्रकार बर्ताव करना चाहिये, अधिकारियोंके ये कर्तव्य हैं, इत्यादि सब उत्तम प्रकारसे बताया। साथ साथ परमेष्ठी परमेश्वरका स्वरूप भी लोगोंको बताया। जगत्‌का सच्चा नियंता वह एक ही परमेश्वर है, उसके सम्मुख राजा और प्रजाके प्रत्येक मनुष्यको खडा रहना है, वही सबका सच्चा न्यायकारी है, इसलिये उसीको सर्वोपरि मानना उचित है, इत्यादि सत्य व धर्मानुकूल तत्वोंका उन्होंने उपदेश किया।

इस प्रकार ब्रह्मचारीके द्वारा जो जागृति हो गई, उससे राष्ट्रके सब लोगोंको पता लगा कि, ये सुर हैं और ये असुर हैं। असुरोंको दूर करने और सुरोंके अधिष्ठातृत्वमें राष्ट्र रहे बिना सत्य-धर्मकी स्थिरता नहीं हो सकती। ऐसा निश्चय होते ही सब जनताने उसी को अपना इंद्र अर्थात् प्रमुख बनाया। और अब वह असुरोंको दूर करनेकी तैयारीमें लगा है। पहिले जो केवल ज्ञान प्रचारके कार्य करता था, वही अब क्षात्रधर्मका पुरस्कार करने लगा है। "इन्द्र" शब्द "(इन्) शत्रुओंका (द्र) विदारण करनेवाला" इस अर्थमें यहां है। इस मंत्रसे ज्ञात होता है और अनुमान होता है कि, ब्रह्मचर्य अवस्थामें जो अध्ययन होता है, उसमें ब्रह्मवर्चस् के साथही क्षात्रतेजका भी संवर्धन होना आवश्यक है। हरएक ब्रह्मचारीको ब्रह्म-क्षत्रत्वका पूर्ण अध्ययन करना चाहिये। जनताका हित करते समय जो जो कार्य आवश्यक होंगे, उनको तत्परताके साथ करनेका बल और ओज उसमें चाहिये। यह आशय यहां इस मंत्रमें प्रतीत होता है,

अब वही ब्रह्मचारी इंद्र अर्थात् क्षात्र दलका मुखिया बन कर (असुरान् ततर्ह) असुरोंको भगा देता है। "ततर्ह" शब्द विनाश करनेके अर्थमें ही प्रयुक्त होता है। असुर वे होते हैं कि, जो संपूर्ण जनताको उपद्रव देनेवाले होते हैं। श्रीमद्भगवद्गीतामें अ० १६, श्लो० ६ से १८ तक असुरोंके लक्षण कहे हैं। "निरीश्वरवादी, नास्तिक गर्विष्ठ, घमंडी, स्वार्थी, दुष्ट, भोगी, कामी, क्रोधी अत्याचारी, क्रूर" आदि असुरोंके लक्षण वहां दिये हैं। सब घातक प्रवृत्तिके लोग असुर होते हैं। सब जनता इनसे त्रस्त होती है, इसलिये उक्त ब्रह्मचारी जनताका मुखिया बनकर इस प्रकारके असुरोंको दूर करके जनताको शांति देता है। यही ब्रह्मचारीका आत्मयज्ञ है।

आठवें मंत्रमें कहा है कि, "आचार्य ततक्ष" अर्थात् "आचार्य आकार बनाता है।" "तक्ष्" धातुका अर्थ तर्खाणके हथियारोंसे काम करना, आकार बनाना, लकडीसे विविध पदार्थ बनाना, कल्पनासे नवीन यंत्रादिक की रचना योग्य रीतिसे बनाना" है। इस धातुसे 'तक्षक, तक्षन्' ये शब्द बने हैं, जिनका अर्थ "बढई, लकडीका काम करनेवाला, लकडीसे विविध आकार बनानेवाला" ऐसा होता है। "तक्षण" शब्दका भाव काटना ही है, तथा बढईके औजार हथियार आदिका नामही 'तक्षणी' है। इससे पाठकोंको विदित होगा कि, "ततक्ष" शब्दका भाव "आकार घडना है।" गुरु आचार्य का भाव "परमेश्वर" भी है, योगदर्शन में भगवान् पतंजली महामुनिने कहा ही है कि—

स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ॥ (यो. द.)

'वह ईश्वर प्राचीनोंका भी आचार्य है क्योंकि वहां कालकी कोई मर्यादा नहीं है।" इस कथनसे आचार्योंका आचार्य और गुरुओंका गुरु परमेश्वर है। और वह पृथिवीसे लेकर द्युलोक तकके संपूर्ण पदार्थोंके आकार बनाता है। भाव स्पष्ट ही है। जो कार्य परात्पर गुरु परमेश्वर करता है, वही कार्य यहां शिष्यकी मानसिक सृष्टिमें गुरु करता है। संपूर्ण सृष्टिकी यथावत् कल्पना शिष्यके मनमें उत्पन्न करना, यह काम अध्यापकका ही है इस दृष्टिसे कहा जा सकता है कि गुरु शिष्यके लिये पृथ्वी और द्युलोक बनाता है। सृष्टिकी कल्पना हमारे ज्ञानमें ही है, सृष्टिविषयक जितना ज्ञान हमें होता है, उतनी ही सृष्टि हमारे लिये होती है। जिन पदार्थोंका ज्ञान हमको नहीं होता, उन पदार्थोंका अस्तित्वही हमारे लिये नहीं होता। अर्थात् ज्ञानपूर्वक ही सृष्टिका अस्तित्व हमारे लिये हुआ करता है। इस हेतुसे भी कहा जा सकता है कि आचार्य जिन जिन पदार्थोंका ज्ञान देता है, साथ साथ वे पदार्थ भी देता है। आचार्य पृथ्वीसे लेकर द्युलोकपर्यंत सभी पदार्थोंका ज्ञान देता है इसलिये उक्त लोकही शिष्यको समर्पित करता है।

जो इस समय आचार्य है, वही एक समय शिष्य तथा ब्रह्मचारी था। उस समय उसके गुरुने त्रिभुवनविषयक जो जो ज्ञान उसको दिया था, उसका संरक्षण करके उसने आचार्य बननेके पश्चात् वही ज्ञान अपने शिष्यको दिया। ज्ञान देनेसे ऋषिऋण उतर जाता है। इसी प्रकार इस शिष्यकोभी उचित है की वह गुरुसे प्राप्त त्रिभुवन और उसका ज्ञान अपने पास रक्षित रखे। इसी मंत्रमें कहा है कि "तं रक्षति तपसा ब्रह्मचारी" अर्थात् "ब्रह्मचारी अपने तपसे उसका रक्षण करता है" आचार्य जो जो बात शिष्यके लिये घडता है, बनाता है तैयार

कर देता है अथवा ज्ञानरूपसे देता है, उसका संरक्षण शिष्य करता है अथवा प्राप्त ज्ञानका संरक्षण शिष्यको करना चाहिये। ज्ञानरूपसे त्रिभुवनकी स्थिति गुरुशिष्योंके मनमें है, यह बात जो जान लेंगे, वे इस मंत्रका आशय ठीक समझ सकते हैं।

मंत्रके अंतिम भागमें कहा है कि, उक्त प्रकारके "ब्रह्मचारीमें उसके मनके साथ अनुकूल मन धारण करके सब देव रहते हैं।" प्रथम मंत्रके स्पष्टीकरणमें इसका विचार होही चुका है। इस प्रकारके सुयोग्य ब्रह्मचारीकी सब इंद्रियां और अवयव उसके मनकी इच्छाके अनुकूल रहते हैं, वह संयमी हो जाता है। मन आदि आंतरिक इंद्रियोंका दमन और सब बाह्य इंद्रियोंका शमन होनेसे वह दान्त और शान्त होता है, यही संयम है। जिसको पूर्ण रीतिसे "सं-यम" सिद्ध होता है, उसीका नाम "यम" है और उत्तम यमका नामही "सं-यम" है। इससे पाठक जान सकते हैं कि, जो प्रथम साधारण ब्रह्मचारी होता है, वही आगे जाकर आचार्य बननेसे पूर्व "यम" अथवा "सं-यमी" बनता है। आचार्यका ही नाम "यम" होता है।

ब्रह्मचारीकी भिक्षा।

सप्तम मंत्रका कथन अब देखिये ब्रह्मचारी गुरुके पास जाता है और उससे दोनों लोकोंकी भिक्षा लेता है। भूलोककी भिक्षासे उसको सब भोगोंकी प्राप्ति होती है और द्युलोककी भिक्षासे उसको आत्मिक ज्ञान प्राप्त होता है। इस प्रकार शारीरिक और आत्मिक पुष्टि वह ब्रह्मचारी प्राप्त करता है। पृथ्वी और द्युलोकका संबंध शारीरिक और आत्मिक अभिवृद्धिके साथ है, यह पूर्व स्थलमें बात दी है, तथा इन लोकोंके अंश अपने शरीरमें कहां रहते हैं, यह भी पहिले बताया हो है। आचार्यके पाससे वह ज्ञानमय भिक्षा प्राप्त करता है और आचार्य अपने शिष्यको पृथ्वीसे लेकर द्युलोकपर्यंत संपूर्ण विश्वकी भिक्षा अर्पण करता है। पृथ्वी और द्युलोकके अंदर संपूर्ण विश्व आगया है। अर्थात् शारीरिक, मानसिक और आत्मिक उन्नतिके संपूर्ण साधन इस भिक्षासे उस ब्रह्मचारीको प्राप्त होते हैं।

ब्रह्मचारीका आत्मयज्ञ।

जब इस प्रकार परिपूर्ण साधनोंसे संपन्न हो जाता है, तब वह ब्रह्मचारी उक्त दोनोंके लोकोंकी दो समिधायें बनाकर हवन करता है। इस ज्ञानयज्ञमें उस ब्रह्मचारीको अपनी सब भिक्षा अर्पण करनी होती है। यही उसका सर्वस्व-त्याग है। जो प्राप्त हुआ था, वह सबकी भलाईके लिये अर्पण करनेका नाम ही आत्मयज्ञ है। शारीरिक, मानसिक और आत्मिक शक्तियोंका समर्पण करके अंतमें अपनी पूर्णाहुति देकर, इस आत्मयज्ञकी समाप्ति होती है।

जो कुछ प्राप्त किया जाता है, उसका समर्पण समष्टिकी भलाई के लिये करनेका नामही यज्ञ है। समष्टिका एक अंग व्यष्टि है। समाजका एक अंग एक व्यक्ति है। इस कारण व्यक्तिकी अंतिम सफलता, संपूर्ण समाजकी पूर्णताके लिये अपने आपको समर्पित करना ही है। यही यज्ञ है, यही पूजा और उपासना है। जो जिसके पास शक्ति है, उसका स्वयं संपूर्ण समाजके उदयके लिये करनाही उस शक्तिका सबसे उत्तम उपयोग है। इस प्रकारका आत्मयज्ञ ब्रह्मचारी करता है।

दो कोश।

दसवें मंत्रमें दो कोशोंका वर्णन है। एक भूलोक का कोश है और दूसरा द्युलोक का कोश है। दोनों कोश ब्राह्मणकी बुद्धिमें रहते हैं। ब्राह्मण अर्थात् गुरु अपने शिष्यको जो उक्त दोनों लोकोंकी भिक्षा देता है, वह अपनी बुद्धिसे ही देता है। विद्वान् की बुद्धिमें पृथिवी, अंतरिक्ष और द्युलोक तथा सब अन्य विश्व रहते हैं और वह ज्ञानी अपने शिष्यको उपदेशद्वारा उनका प्रदान करता है। इस मंत्रसे यह बात स्पष्ट हो गई है कि पृथिवी और द्युलोक वस्तुतः ज्ञानीकी बुद्धिमें है, बाहरमें ही संपूर्ण जगत् का निवास है। ज्ञानी अपनी इच्छानुसार दूसरोंको उक्त विश्वका दान करता है।

कोशरक्षक ब्रह्मचारी।

आचार्यके पाससे उक्त दोनों कोश शिष्यकी बुद्धिमें आते हैं, अर्थात् पृथिवीसे लेकर स्वर्गपर्यंतका संपूर्ण ज्ञान उसको प्राप्त होता है। अब विचार करना है कि, इन दोनों खजानोंका किस रीतिसे संरक्षण होता है। मंत्रमें ही कहा है कि, "तपसे" संरक्षण किया जाता है। जो ब्रह्मचारी तप करता है, शीत, उष्ण आदि द्वंद्व सहन करनेकी शक्ति बढाता है, वही उक्त कोशोंका संरक्षण कर सकता है। तपके बिना, कष्ट सहन करनेके बिना उनका रक्षण नहीं हो सकता, यह बात इस मंत्रमें स्पष्टतासे कही है।

दो अग्नि।

ग्यारहवें मंत्रमें अग्नियोंका वर्णन है। पृथिवीपर एक अग्नि है और द्युलोकमें दूसरी अग्नि सूर्यरूपमें है। ये दोनों प्रकाश किरणोंके बीचमें अर्थात् अंतरिक्षमें मिल जाती हैं। इनकी किरणें सर्वत्र फैलती हैं, और ब्रह्मचारी उनका अधिक रो होता है। पूर्व दोनों मंत्रोंके साथ इस मंत्रके कथनकी तुलना करनेसे विदित होता कि-(१) दोनों लोकोंकी भिक्षा, (२) बुद्धिमें रहनेवाले दोनों कोश, (३) तथा दो लोकोंकी दो अग्नि ये सब एकही मुख्य बातको बता रहे हैं।

शरीरमें भूस्थानीय जाठर अग्नि और द्युस्थानीय मस्तिष्क निवासी सूर्य अग्नि है। जाठर अग्नि और मस्तिष्कका चैतन्य अग्नि इनका मिलाप बीचमें हृदयके स्थानमें होता है। वहांसे ही सब स्थानोंमें किरणें फैलती हैं। इस प्रकार ये दोनों अग्नि हैं।

ऊर्ध्वरेता मेघ और ब्रह्मचारी।

बारहवें मंत्रमें मेघोंका ब्रह्मचर्य कहा है। वृष्टि करनेवाले मेघ बडी गर्जना करते हुए वृष्टि करते हैं और सबको जीवन देते हैं। दूसरे कई मेघ होते हैं वे जलहीन होते हैं परंतु बडी गर्जना करते हैं; इनकी गर्जनासे जनताको केवल कष्टही होते हैं। इसका कारण पहिले प्रकारके मेघ (ऊर्ध्वरेताः) जलसे भरपूर होते हैं और दूसरे प्रकारके मेघ (निर्वीर्य) जलहीन होते हैं।

इसी प्रकार ऊर्ध्वरेता तेजस्वी ब्रह्मचारी मेघनादके समान अपनी बडी विशाल आवाजसे व्याख्यान देकर अपने ज्ञानामृतकी वृष्टि करता है और जनतामें " नवजीवन " फैलाता है। परंतु दूसरे कई निर्वीर्य उपदेशक ऐसे होते हैं कि जो व्याख्यानोंका घटाटोप करते हैं, परंतु उनके खोखले व्याख्यानोंसे किसीका भी लाभ नहीं होता। इसका कारण पहलेमें वीर्यके साथ तप होता है और दूसरेमें दोनों नहीं होते।

बडे ब्रह्मचारीका कार्य।

तेरहवें मंत्रमें सबसे बडा ब्रह्मचारी परमात्मा है। वह अग्नि, सूर्य, चंद्र, वायु, जल आदि देवताओंमें विशेष प्रकारकी समिधायें डाल देता है। उस समिधासे उक्त देव अपना कार्य करनेमें समर्थ होते हैं। अग्नि, सूर्य आदि देव परमात्माके तेजसे प्रकाशते हैं, वायु परमात्माके बलसे बहता है, जल उसीकी शांतिसे दूसरोंको शांति दे रहा है। अर्थात् परमात्मा अपनी शक्तिरूप समिधा इनमें रखता है, इस कारण अग्न्यादि देव अपना कार्य करते हैं। प्रत्येक देवतासे भिन्न भिन्न तेज उत्पन्न होता है और वह तेज अंतरिक्षमें इकट्ठा होता है। इससे वृष्टि और जल होता है. जलसे वृक्षवनस्पतियां, उससे अन्न, अन्नसे वीर्य और वीर्यसे पुरुष किंवा मनुष्य आदि प्राणियोंकी उत्पत्ति होती है। यह बडे ब्रह्मचारीका जगत्में कार्य होता है।

छोटे ब्रह्मचारीका कार्य।

अब छोटे ब्रह्मचारीका कार्य देखिये। छोटा ब्रह्मचारी वह है, जो कि गुरुके घरमें जाता है और यमनियमादिकोंका पालन करके विद्याध्ययन करता है। परमात्मा में जो (१) अग्नि, (२) सूर्य, (३) चंद्र, (४) वायु (५) जल आदि देवता हैं, उनके अंश इस ब्रह्मचारीमें क्रमशः (१) वाक् (२) नेत्र, (३) मन, (४) प्राण, (५) वीर्य आदि हैं। यह छोटा ब्रह्मचारी अपनी समिधा इनमें डालता है और इनको प्रज्वलित करता है। वक्तृत्वशक्ति, दृष्टि, विचारशक्ति जीवनकी कला, और वीर्य तथा अन्यान्य शक्तियोंका विकास करना इस छोटे ब्रह्मचारीका कार्य है। अपनी स्वकीय आत्मिक शक्तिकी समिधा वह अपनी उक्त अग्नियोंमें डालता है और उनको प्रज्वलित अर्थात् अधिक तेजस्वी करता है। जब उक्त शक्तियां बढ जाती हैं, तब सबकी ज्वालायें अंतरिक्षमें अर्थात् अंतःकरणमें किंवा हृदयमें मिल जाती हैं। वाणी, नेत्र, कर्ण, मन, प्राण आदिका संबंध अंतःकरणमें हो जाता है। उससे एक प्रकारका विलक्षण तेज उत्पन्न होता है, जिससे पुरुषकी प्रसिद्धि होती है, उससे ज्ञानकी वृष्टि होनेसे सर्वत्र शांति फैलती है।

छोटे और बडे ब्रह्मचारीके ये कार्य देखने योग्य हैं। इन कार्योंको देखनेसे दोनोंके कार्यक्षेत्रोंकी समानता व्यक्त होती है। यही समानता देखने योग्य है। आत्मा परमात्माका कार्यक्षेत्र और गुणधर्म्य इस प्रकार देखने योग्य है।

आचार्यका स्वरूप।

चौदहवें मंत्रमें आचार्यकोही मृत्यु कहा है। क्योंकि उसकी कृपासे दूसरा जन्म प्राप्त होता है और शिष्य, 'द्वि-ज' बनता है। पहिला जन्म मातापितासे मिलता है। पहिले जन्मसे प्राप्त शरीरका मृत्यु अथवा मरण उपनयन-संस्कारके समय होता है, तत्पश्चात् उस ब्रह्मचारीका आत्मा विद्यादेवीके गर्भमें रहता है; विद्या और आचार्यके गर्भमें नियत समय अर्थात् १२, २४, ३६, ४८ वर्षतक रहकर उस गर्भसे बाहर आता है यह उसका दूसरा जन्म है। परमात्माका नाम मृत्यु है।, इसलिये कि वह पहिले जीर्ण शरीरको छुडवाकर दूसरा कार्यक्षम नवीन शरीर

देता है। आचार्य भी वही कार्य संस्काररूपसे करता है इसलिये आचार्य भी मृत्यु ही है।

आचार्य वरुण है। वरुण निवारकको कहते हैं। पापसे निवारण करता है, और पुण्यमार्गमें प्रवृत्त करता है, इसलिये आचार्य ही वरुण है। वरुण शब्द वरत्व अर्थात् श्रेष्ठत्वदर्शक भी है। आचार्यकी श्रेष्ठता सुप्रसिद्ध ही है। आचार्यका अर्थ ही यह है कि (आचारं ग्राहयति) जो सदाचारकी शिक्षा देता है।

आचार्य सोम अर्थात् चंद्र है। चंद्रके समान शांति और आह्लाद देनेका कार्य आचार्य करता है। आचार्यसे जो विद्या प्राप्त होती है, वह शिष्यके अंतःकरणमें शांति और आनंद स्थिर करनेके लिये कारणीभूत होती है। "सोम" शब्दका दूसरा अर्थ (स+उमा) ज्ञानी ऐसा भी है। "उमा" शब्द संरक्षक विद्या अथवा ज्ञान किंवा मूलशक्तिका वाचक केन उपनिषद् (३।१२) में आया है। वहां उमा शब्दका 'ब्रह्मविद्या' अथवा 'मूलशक्ति' ऐसा अर्थ होता है। (अवति इति उमा) जो रक्षक विद्या किंवा शक्ति होती है, उसका नाम "उमा" है। इस प्रकारकी संरक्षक विद्या जिसके पास होती है (उमया सहितः सोमः) उसको ज्ञानी अथवा समर्थ कहते हैं।

आचार्य औषधि है। औषधि शब्द "दोषधी" शब्दसे निरुक्तकार (निरु० दै० ३।३।२८) बनाते हैं। दोषोंको दूर करनेका और स्वास्थ्य प्राप्त करनेका काम औषधिका है। वही कार्य आचार्य करता है शिष्यके दोष दूर करके उसके अंदर (स्व-स्थ-ता) स्वावलंबन अर्थात् अपनी शक्तिसे खडा रहनेका बल आचार्य देता है, इस कारण आचार्य ही औषधि है।

आचार्य दूध है। "पयः" शब्दका अर्थ "दूध, जल, वीर्य, अन्न, बल, उत्साह" इतना है। इन सब अर्थोंका भाव "पुष्टिका साधन" इतना ही है।

पंद्रहवें मंत्रमें गुरुशिष्यके सहवासका महत्त्व कहा है। जो लाभ विशेषतः शिष्यको होता है वह गुरुसहवाससे ही होता है। मंत्रमें "अमा" शब्द सहवास, अर्थात् साथ रहने का भाव बता रहा है। सूर्यचंद्रके सहवासके अहोरात्रका नाम "अमा" अथवा "अमावास्या है। यहां सूर्य स्वयंप्रकाशक होनेसे गुरु किंवा आचार्य है और चंद्र परप्रकाशक किंवा सूर्यके तेजसेही प्रकाशनेवाला होनेसे उसका शिष्य है। यह जो सूर्यचंद्रका सहवास "अमा-वास्या" के दिन होता है, वही सहवास गुरुशिष्यके विषयमें यहां "अमा" शब्दसे बताया गया है। आचार्यरूपी सूर्यके विद्यातेजसे शिष्यरूपी चंद्रमा प्रकाशित होता है और ये सूर्यचंद्र विद्याध्ययनकी समाप्तितक एकत्रही रहते हैं। इतनाही नहीं परंतु यहां का "अमा" शब्द सूचित कर रहा है कि गुरुशिष्यका सहवास विद्याध्ययनकी समाप्तितक अवश्य ही होना चाहिये। नियत समयपर पढानेके लिये गुरुका आना और पढाईके पश्चात् चले जाना, अध्यापनका यह ढंग ठीक नहीं है। गुरुके निरंतरके सहवाससे ही शिष्यको अत्यंत लाभ पहुंचता है। इसी उद्देश्यसे गुरुकुलवासकी प्रणाली वेदने बताई है। गुरुके घरमें उसके पुत्रके समान शिष्य रहता है, इस समय में वह गुरुके सब गुण देखता है और उनका अनुकरण करता है। गुरुशिष्यके नित्य सहवाससे अत्यंत लाभ हैं और इस समय उन लाभोंको सबही मानने लगे हैं।

इस मंत्रमें "घुत" शब्द है। "घु-रक्षण-दीप्त्योः" इस धातुसे वह शब्द बना है। (१) प्रवाह चलना और (२) तेज फैलना ये दो अर्थ "घु" धातुके हैं। घुत शब्दमें भी ये दोनों भाव हैं। गुरु-शिष्यका सहवास घुत करता है, यह मंत्रका कथन है अर्थात् गुरुशिष्यके सहवाससे विद्याका प्रवाह चलता है और ज्ञानतेज फैलता है। इस समयतक ज्ञानका प्रवाह गुरु-शिष्यसंबंधसे ही हमारे पास पहुंचा है। और यही ज्ञान मनुष्योंका तेज बढा रहा है, इसमें विवाद नहीं हो सकता।

अब यहां प्रश्न उत्पन्न होता है कि, गुरु अपने शिष्यसे किस प्रकारकी गुरुदक्षिणा मांगता है? गुरुदक्षिणाका स्वरूप बतानेवाला शब्द इस मंत्रमें "प्रजा-पतौ" यह है। यह गुरुदक्षिणा "प्रजाके पालन करनेके विषयमें" होती है। प्रजाके पालनके विषयमें अथवा जनताके हितके संबंधमें ही दक्षिणा होती है। अर्थात् गुरु अपने स्वार्थका साधन करनेके लिये दक्षिणा नहीं मांगता, अथवा आचार्य ऐसी दक्षिणा मांगता है कि जिससे सब जनताके पालनसंबंधी कुछ भाग बन सके। यह आचार्यका सार्वजनिक हित करनेका निःस्वार्थी भाव देखने योग्य है। उस प्रकार आचार्य स्वयं शिष्यको बता रहा है कि संपूर्ण प्रजाजनोंके पालनके विषयमें उचित कर्तव्य करनेमें अपने आपको समर्पित करना ही मनुष्यका मनुष्यत्व है, और राष्ट्रीय शिक्षाका यही आदर्श है। गुरुके समान शिष्य भी प्रजापालनात्मक कर्तव्यका अपना हिस्सा करके अपने आपको उत्तम नागरिक सिद्ध करे।

सब जनतामें जैसे पुत्रोंका वैसाही कन्याओंका भी ब्रह्मचर्य पालन होना चाहिये। पुत्रोंके ब्रह्मचर्यके विषयमें किसीको शंका नहीं हो सकती, क्योंकि ब्रह्मचारी शब्द पुल्लिंगमें होनेसे पुरुषोंके ब्रह्मचर्यकी आज्ञा वेदसे सिद्ध हो गई है। इस अठारहवें मंत्रमें 'कन्या' शब्दसे बालिकाके ब्रह्मचर्यकी सूचना हो गई है। अर्थात् बालक और बालिकाओंके लिये समानही ब्रह्मचर्य है और पूर्व मंत्रके अनुसार दोनोंके ब्रह्मचर्यका पालन राजप्रबंधद्वारा ही होना चाहिये।

पशुओंका ब्रह्मचर्य।

घोडे बैल आदि पशु सचमुच ब्रह्मचारी ही रहते हैं। अति कामभाव उनमें नहीं होता। कामुक मनुष्योंके समान पशुओंमें क्षीणता नहीं होती। मनुष्योंकी अपेक्षा पशुओंमें स्त्रीसंबंध न्यूनही होता है, इसलिये वे आयुभर ब्रह्मचर्यका पालन करते हैं। उनको देखकर मनुष्योंको बहुत बोध लेना उचित है।

अपमृत्युको हटानेका उपाय।

उन्नीसवें मंत्रमें कहा है कि अपमृत्यु दूर करनेका उपाय ब्रह्मचर्य ही है। ब्रह्मचर्य आयुष्य वृद्धि करनेवाला और रोग दूर करनेवाला है। जो ब्रह्मचर्यका पालन करता है, वह मृत्युको दूर कर सकता है। इसी रीतिसे देव अमर बने हैं। जो देवोंको साध्य हुआ वह तपस्यासे मनुष्य भी साध्य कर सकते हैं। देवोंका राजाधिराज इंद्र भी सबसे अधिक तेजस्वी है, क्योंकि उसने सबसे अधिक ब्रह्मचर्यका पालन किया था। जो इसप्रकार ब्रह्मचर्यका अधिक पालन करेगा वह सब अधिक तेजस्वी हो सकता है। ब्रह्मचर्यका तेज उसके मुखपर ही दिखाई देता है। ब्रह्मचारी जितेंद्रिय पुरुषका मुख कमलके समान तेजस्वी, उत्साही और स्फूर्तियुक्त होता है। इसलिये हरएकको ब्रह्मचर्यका पालन अवश्यमेव करना चाहिये।

औषधि आदिकोंका ब्रह्मचर्य।

सूर्य ब्रह्मचारी है क्योंकि वह ब्रह्मके साथ संचार करता है किंवा तेजके साथ रहता है। इस ब्रह्मचारी-सूर्यसे संवत्सर अर्थात वर्ष, ऋतु, मास, दिन, रात्रि तथा भूत वर्तमान और भविष्य ये तीनों काल प्रगट हो रहे हैं। यह सूर्यके ब्रह्मचर्यकी महिमा है।

औषधि वनस्पति भी ऊर्ध्वरेता होनेके कारण ब्रह्मचारिणी है। औषधि वनस्पतियोंका जनक मेघ किंवा पर्जन्य है। वह मेघ भी ब्रह्मचारी है, क्योंकि वह "ऊर्ध्व-रेताः" है। "ऊर्ध्व" अर्थात् ऊपर धारण किया है, "रेतः" अर्थात् उदक जिसने, ऐसा मेघ है, इसलिये वह "ऊर्ध्व-रेता" है और इसी हेतुसे ब्रह्मचारी भी है। इसी ब्रह्मचर्य-सूक्तके मंत्र १२ में मेघ ब्रह्मचारीका वर्णन आ चुका है। वहां कहा है कि यह "ब्रह्मचारी मेघगर्जना करता हुआ पहाडोंपर और भूमिपर (रेतः) उदकका सिंचन करता है, उससे सब दिशायें जीवित रहती हैं।" ऊर्ध्वरेता होनेके कारण मेघमें सृष्टिका पालन करनेकी शक्ति आगई है, इस प्रकार जो ऊर्ध्वरेता होगा उसमें भी पालन करनेकी शक्ति आ सकती है। सूर्य भी अपनी किरणोंसे उदकरूपी रेतको ऊपर खींचता है। मनुष्य भी प्राणके आकर्षणसे वीर्यको अपने ऊपर खींच सकता है। इस प्रकार मेघ और सूर्यके उदाहरणसे ब्रह्मचर्यका माहात्म्य वर्णन किया है।

पशुपक्षियोंका ब्रह्मचर्य।

पहिले बैल और घोडेके विषयमें मंत्र १८ में कहा ही है कि वे ब्रह्मचारी हैं। प्रायः सभी पशुपक्षी ब्रह्मचारी हैं। बंदर आदिमें वीर्यके नाश करनेका अभ्यास दिखाई देता है, परंतु साधारणतः पशु ऋतुगामी होते हैं। ऋतुकालसे भिन्न समयमें न तो वे स्त्री के पास जाते हैं और न स्त्री उनको अपने पास आने देती है। सिंह व्याघ्र आदि क्रूर पशुओंमें तो यह ब्रह्मचर्य और एकपत्नीव्रत विशेष ही तीव्र है। परमात्माने उनमें कुछ ऐसी व्यवस्था की है कि उनको ऋतुकालको छोडकर अन्य समयमें स्त्रीपुरुषाभिलाष भी नहीं होता। कई पशुपक्षी इस नियममें अपवाद भी हैं, परंतु वह अपवाद पूर्वोक्त नियम ही सिद्ध कर रहा है। पशुपक्षियोंका ब्रह्मचर्य देखकर उनसे मनुष्योंको इस विषयमें बोध लेना चाहिये। पूर्व मंत्रमें कहा है कि औषधिवनस्पतियां आदि भी ऋतुकालमें ही पुष्पवती होनेके कारण ऋतुगामी होनेसे ब्रह्मचारी हैं। संवत्सर तो ऋतुओंमें ही गमन करता है, इसलिये वह भी ऋतुगामी होनेसे ब्रह्मचारी है।

ब्रह्मचारीका ज्ञान सबका संरक्षण करता है, यह मंत्रका कथन स्पष्ट ही है। क्यों कि ज्ञानसे ही सबका संरक्षण होता है, यह बाईसवे मंत्रमें कहा है।

देवोंका तेज।

तेईसवें मंत्रमें देवोंके तेजका वर्णन है। जो उत्साह और स्फुरण देता है, जो सबसे श्रेष्ठ भाव उत्पन्न करता है और जो स्वयं तेजयुक्त होकर दूसरोंको भी तेजस्वी करता है वह देवोंका तेज है। राष्ट्रमें विद्वान् देव होते हैं और वे उक्त प्रकारका चैतन्यपूर्ण तेज अपने राष्ट्रमें उत्पन्न करते हैं। शरीरमें ज्ञान-इंद्रिय तथा अंत:करण आदि देव हैं कि, जो जड शरीरमें रहकर उससे भी विलक्षण स्फूर्तिका कार्य करा रहे हैं। तथा संपूर्ण जगत्में सूर्यचंद्रादिक देव अपना विलक्षण तेज फैलाकर सब जगत्को चेतना दे रहे हैं। तात्पर्य यह कि सर्वत्र यही नियम है कि जो देव होते हैं, वे श्रेष्ठ तेजका प्रसार करके विलक्षण उत्साह उत्पन्न करते हैं।

वही तेज, ज्ञान और स्फूर्ति ब्रह्मचारीसे फैलती है और देवोंमें कार्य करती है तथा अमरपन भी देती है।

उपदेशका अधिकारी।

चौबीस और पचीसवें मंत्र में ब्रह्मचारीके विशेष ज्ञानका उल्लेख है। ब्रह्मचारी विलक्षण ज्ञान प्राप्त करता है और इस लिये उसका अद्भुत तेज फैलता है। इस हेतुसे उसके अंदर सब देवताएं ओतप्रोत होकर रहती हैं। उससे कोई देवता और उसकी शक्ति अलग नहीं होती। अर्थात् सब देवताओंकी पूर्ण शक्तिके साथ वह अपना कार्य चलाता है। प्राणायामादि योगसाधन द्वारा वह अपने प्राण, अपान, व्यान आदि सब प्राणोंको अपने आधीन करता है। प्राण वश होनेसे उसका मन वश होता है, क्यों कि प्राण और मन शरीरमें एकत्र मिलेजुले रहते हैं। यदि प्राण निर्बल रहा तो मन निर्बल रहता है और मन स्थिर होनेपर प्राणकी चंचलता भी दूर हो जाती है। प्राण और मन स्थिर होनेसे हृदयकी दिव्य शक्ति प्रकट होती है, तथा हृदय और मन नियमबद्ध होनेसे मेधाबुद्धिमें ज्ञानका संचय होने और बढने लगता है। अब उसकी योग्यता होती है कि वाणीद्वारा वह अपने ज्ञानका प्रचार करे। इसी प्रकारके सुयोग्य उपदेशकके वक्तृत्वसे जनता प्रभावित होती है। क्यों कि उसका कथन अनुभवके अनुकूल होता है।

इस कारण लोग चाहते है कि अपने उद्धारका कोई सदुपदेश उससे प्राप्त हो। जहां उक्त ब्रह्मचारी पहुंचता है वहांके सज्जन उससे कहते हैं कि हे ब्रह्मचारी! हमें उपदेश दो! चक्षु, श्रोत्र आदि इंद्रियोंकी शक्ति बढाने तथा उनको नीरोग और प्रभावशाली करनेकी रीति बताओ! कोई कहते हैं कि अन्नकी न्यूनता बडा कष्ट दे रही है, इसलिये कहो कि विपुल अन्न कैसे प्राप्त होगा? कोई महाजन पूछते हैं कि पेट ठीक करनेका उपाय क्या है! हाजमा ठीक नहीं है, इसका कोई उपाय कहो। वे पूछते हैं कि हमारा वीर्य स्थिर नहीं रहता और खून भी खराब हो गया है; इसके लिये क्या उपाय करने चाहिये।

पूर्वोक्त प्रकार जो जो प्रश्न लोग पूछते हैं, उनका यथायोग्य-उत्तर ब्रह्मचारी देता है, योजना और युक्तिपूर्वक सबकी शंकाओंका निरसन करता है और उनको ठीक मार्गपर चलाता है। इतनी योजना होनेपर भी अपनी आत्मिक शक्ति बढानेके लिये वह पवित्र स्थानमें रहता हुआ तप करता है और आत्मशक्तिका विकास करता ही रहता है। इस प्रकारका तपस्वी जब अपने तपकी समाप्ति करता है और तपस्याके प्रभावसे जब प्रभावित आत्मशक्तिसे युक्त होता है, तब अत्यंत तेजस्वी होनेसे इस पृथिवीपर उसकी शोभा अत्यंत बढती है। यह ब्रह्मचर्यका तेज है, इसलिये हरएकको ब्रह्मचर्यके सुनियमोंका पालन करके अपनी आत्मशक्तिका विकास करना चाहिये।

पापसे बचानेकी प्रार्थना।

(६)

(ऋषिः–शंतातिः । देवता–चन्द्रमाः, मन्त्रोक्ताः ।)

अग्निं ब्रूमो वनस्पतीनोषधीरुत वीरुधः । इन्द्रं बृहस्पतिं सूर्यं ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ १ ॥
ब्रूमो राजानं वरुणं मित्रं विष्णुमथो भगम् । अंशं विवस्वन्तं ब्रूमस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ २ ॥
ब्रूमो देवं सवितारं धातारमुत पूषणम् । त्वष्टारमग्रियं ब्रूमस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ ३ ॥
गन्धर्वाप्सरसो ब्रूमो अश्विना ब्रह्मणस्पतिम् । अर्यमा नाम यो देवस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ ४ ॥
अहोरात्रे इदं ब्रूमः सूर्याचन्द्रमसावुभा । विश्वानादित्यान् ब्रूमस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ ५ ॥
वातं ब्रूमः पर्जन्यमन्तरिक्षमथो दिशः । आशाश्च सर्वा ब्रूमस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः । ॥ ६ ॥
मुञ्चन्तु मा शपथ्यादहोरात्रे अथो उषाः । सोमो मा देवो मुञ्चन्तु यमाहुश्चन्द्रमा इति ॥ ७ ॥
पार्थिवा दिव्याः पशव आरण्या उत ये मृगाः । शकुन्तान् पक्षिणो ब्रूमस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ ८ ॥
भवाशर्वाविदं ब्रूमो रुद्रं पशुपतिश्च यः । इषूर्या एषां संविद्म ता नः सन्तु सदा शिवाः ॥ ९ ॥

अर्थ— अग्नि, वनस्पति, औषधि, (वीरुधः) लता, इन्द्र, बृहस्पति और सूर्यकी (ब्रूमः) हम सब प्रार्थना करते हैं कि (ते) वे (नः अंहसः) हम सबको पापसे (मुञ्चन्तु) बचावें ॥१॥

राजा, वरुण, मित्र (अथो) और भग, अंश, विवस्वान्० ॥ २ ॥ सविता देव, धाता, पूषा, (अग्रियं त्वष्टारं) मुख्य त्वष्टा० ॥ ३ ॥ गंधर्व और अप्सरागण, अश्विनी देव, ब्रह्मणस्पति, (यः अर्यमा नाम देवः) और जो अर्यमा नामक देव है० ॥ ४ ॥ अहोरात्र, सूर्य और चन्द्र ये (उभौ) दोनों, (विश्वान् आदित्यान्) सब आदित्य० ॥ ५ ॥ (वातः) वायु पर्जन्य, अन्तरिक्ष, (अथो) और दिशा, (आशाः) उपदिशाकी (ब्रूमः) हम सब प्रार्थना करते हैं कि (ते नः अंहसः मुञ्चन्तु) वे हम सबको पापसे बचावें ॥ ६ ॥

अहोरात्र और उषाएं (मा शपथ्यात् मुञ्चन्तु) मुझे शपथसे मुक्त करें, (यं चन्द्रमा इति आहुः) जिसे चन्द्रमा कहा जाता है, वह सोमदेव (मा मुञ्चतु) मुझे पापसे मुक्त करे ॥ ७ ॥

(पार्थिवाः दिव्याः पशवः) पृथ्वीके ऊपरके पशु और आकाशमें रहनेवाले पक्षी (उत ये आरण्या मृगाः) और जो अरण्यमें रहनेवाले मृग हैं, शकुन्त पक्षी हैं, उनसे प्रार्थना करते हैं कि वे हमें पापसे बचावें ॥ ८ ॥

भव और शर्व (यः पशुपतिः रुद्रं) जो पशुपालक रुद्र है, (या एषां इषूः) जो इनके बाण (सं विद्मः) हमें विदित हैं (ताः) वे (नः सदा शिवाः सन्तु) हमारे लिये सदा कल्याणकारी हों ॥ ९ ॥

दिवं ब्रूमो नक्षत्राणि भूमिं यक्षाणि पर्वतान्। समुद्रा नद्यो वेशन्तास्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः॥१०॥
सप्तर्षीन् वा इदं ब्रूमोऽपो देवीः प्रजापतिम्। पितॄन् यमश्रेष्ठान् ब्रूमस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः॥११॥
ये देवा दिविषदो अन्तरिक्षसदश्च ये। पृथिव्यां शक्रा ये श्रितास्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः॥ १२॥
आदित्या रुद्रा वसवो दिवि देवा अथर्वाणः। अङ्गिरसो मनीषिणस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः॥ १३॥
यज्ञं ब्रूमो यजमानमृचः सामानि भेषजा। यजूंषि होत्रा ब्रूमस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः॥ १४॥
पञ्च राज्यानि वीरुधां सोमश्रेष्ठानि ब्रूमः। दर्भो भङ्गो यवः सहस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः॥ १५॥
अरायान् ब्रूमो रक्षांसि सर्पान् पुण्यजनान् पितॄन्। मृत्यूनेकशतं ब्रूमस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः॥१६॥
ऋतून् ब्रूम ऋतुपतीनार्तवानुत हायनान्। समाः संवत्सरान् मासांस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः॥ १७॥
एत देवा दक्षिणतः पश्चात् प्राञ्च उदेत।
पुरस्तादुत्तराच्छक्रा विश्वे देवाः समेत्य ते नो मुञ्चन्त्वंहसः॥ १८॥
विश्वान् देवानिदं ब्रूमः सत्यसंधानृतावृधः विश्वाभिः पत्नीभिः सह ते नो मुञ्चन्त्वंहसः॥१९॥

अर्थ- (दिवं) द्युलोक, नक्षत्र, भूमि, (यक्षाणि) यक्ष, पर्वत, समुद्र, नदियां, (वेशन्ताः) जलाशय, ॥१०॥ सप्तर्षिगण, (आपः देवी) जल, प्रजापति, (यमश्रेष्ठान् पितॄन्) पितर और उनका अधिपति यम० ॥ ११॥

(ये दिविषदः देवा) जो द्युलोकमें रहनेवाले देव हैं, (च ये अन्तरिक्षसदः) और अन्तरिक्षमें रहनेवाले हैं (ये शक्राः) जो समर्थ देव (पृथिव्यां श्रिताः) पृथिवीका आश्रय किये हैं (ते नः अंहसः मुञ्चन्तु) वे हम सबको पापसे बचावें ॥ १२॥

आदित्य, रुद्र, वसु, (दिवि अ-थर्वाणः देवाः) द्युलोकमें जो निश्चल देव हैं, तथा (मनीषिणः अंगिरः) मननशील अंगिरस हैं (ते नः अंहसः मुञ्चन्तु) वे हम सबको पापसे बचावें ॥ १३॥

यज्ञ, यजमान, [ऋचः] ऋग्वेद, साम, [भेषजा] वैद्यके साथ [यजूंषि] यजुर्वेद, [होत्राः] होमहवन कर्म० ॥ १४॥

[वीरुधां सोमश्रेष्ठानि पञ्चराज्यानि] जिसमें सोम श्रेष्ठ है ऐसी औषधियोंके पांच राज्य, दर्भ [भङ्ग] भांग [यवः] जौ, और [सहः] बलशाली धान को [ब्रूमः] हम कहते हैं कि [ते] वे हम सबको पापसे बचावें ॥ १५॥

[अरायान् रक्षांसि] अराजक राक्षसों, सर्पों, पुण्यजनों और पितरों [एकशतं मृत्यून्] एक सौ मृत्युओंको० ॥ १६॥

ऋतुओं, ऋतुओंके पतियों, [आर्तवान् हायनान्] ऋतुओंसे बननेवाले अयनों [समाः संवत्सरान् मासान्] सब वर्ष, संवत्सर और महिनोंको हम कहते हैं कि वे हमको पापसे बचावें ॥ १७॥

हे (देवाः) देवो! (दक्षिणतः एत) दक्षिण दिशासे आओ, पश्चात् (प्राञ्चः उदेत) पूर्व दिशामें उदयको प्राप्त होओ, (विश्वे शक्राः देवाः) सब समर्थ देव (पुरस्तात् उत्तरात् समेत्य) समक्ष उत्तर दिशामें इकट्ठे होकर (ते नः०) हम सबको पापसे बचाओ ॥ १८॥

(सत्यसंधान्) सत्यप्रतिज्ञ (ऋतावृधः) सत्यको बढानेवाला (विश्वान् देवान्) सब देवोंको (इदं ब्रूमः) यह कहते हैं कि वे (विश्वाभिः पत्नीभिः सह) अपनी सब पत्नियोंके साथ आकर (नः०) हम सबको पापसे बचावें ॥ १९-२०॥

*

सर्वान् देवानिदं ब्रूमः सत्यसंधानृतावृधः। सर्वाभिः पत्नीभिः सह ते नो मुञ्चन्त्वंहसः॥ २०॥
भूतं ब्रूमो भूतपतिं भूतानामुत यो वशी। भूतानि सर्वा संगत्य ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥२१॥
या देवीः पञ्च प्रदिशो ये देवा द्वादशर्तवः। संवत्सरस्य ये दंष्ट्रास्ते नः सन्तु सदा शिवाः ॥२२॥
यन्मातली रथक्रीतममृतं वेद भेषजम्। तदिन्द्रो अप्सु प्रावेशयत् तदापो दत्त भेषजम् ॥२३॥

॥ इति तृतीयोऽनुवाकः ॥

(यः वशी) जो सबको वश करनेवाला है उस (भूतानां भूतपतिं) भूतोंके अधिपतिको तथा (भूतं) भूतको हम (ब्रूमः) कहते हैं कि (सर्वा भूतानि संगत्य) सब भूत मिलकर हम सबको पापसे बचावें ॥ २१ ॥

(याः पञ्च देवीः प्रदिशः) जो दिव्य पांच दिशाएं हैं, (ये द्वादश ऋतवः देवाः) जो बारह ऋतु देव हैं, [ये संवत्सरस्य दंष्ट्रा] जो वर्षके दाढके समान हैं [ते नः सदा शिवाः सन्तु] वे हम सबको सदा शुभ हों॥ २२ ॥

[मातलिः] मातलि [यत् रथक्रीतं अमृतं भेषजं वेद] जिस रथके द्वारा प्राप्त अमरपन देनेवाले औषधको जानता है [इन्द्रः तत् अप्सु प्रावेशयत्] इन्द्रने उस औषधको जलोंमें प्रविष्ट किया है, हे [आपः] जलो! [तत् भेषजं दत्त] उस औषधको हमें दीजिये ॥ २३ ॥

भावार्थ—इन सब देवताओंकी सहायतासे मनुष्यमात्र पापसे बच जावे ॥१–२३॥

इस सूक्तका विचार।

इस सूक्तमें मानवोंको पापोंसे दूर करनेके लिये अर्थात् उनको निष्पाप करनेके लिये देवताओंकी प्रार्थना है।

इस प्रार्थनाकी विशेषता यह है कि यह प्रार्थना सार्वजनिक अर्थात् सांघिक है। सब लोगोंसे मिलकर की जानेवाली यह प्रार्थना है, अतः इसमें 'ते नो मुञ्चन्तु अंहसः' वे हम सब प्रार्थना करनेवालोंको पापसे मुक्त करें, ऐसा बहुवचन प्रयोग किया है। सांघिक प्रार्थनाका महत्व वैदिक सारस्वतमें विशेष है, क्योंकि उससे संघशक्ति बढती है।

अब इस सूक्तमें जिन देवताओंका नामनिर्देश आया है उनका वर्गीकरण इस तरह है–

पृथ्वीस्थानीय देवता।

१ अग्नि १
२ वनस्पति १
३ ओषधि १
४ वीरुधः १
५ अहोरात्र ५, ७
६ छावय ७
७ उषाः ७
८ पार्थिवाः पशवः ८
९ आरण्याः मृगाः ८
१० भूमि १०

११ वक्ष १०
१२ पर्वत १०
१३ समुद्र १०
१४ नदी १०
१५ वेशन्ताः १०
१६ पृथिव्यां शकाः शिवाः १२
१७ वसवः [अष्टौ] १३
१८ अथर्वाणः १३
१९ अङ्गिरसः १३
२० यज्ञ १४
२१ यजमानः १४
२२ ऋचः १४
२३ सामानि १४
२४ भेषजानि १४
२५ यजु १४
२६ होत्राः १४
२७ वीरुधां पञ्च राज्यानि १५
२८ सोम (वनस्पति) १५
२९ दर्भ १५
३० भंग १५
३१ यवः १५
३२ सहः १५
३३ अराय १६
३४ रक्षांसि १६
३५ सर्प १६
३६ पुण्यजन १६
३७ मृत्यु (एकशतं मृत्यवः) १६
३८ ऋतु (द्वादश) १७, २२
३९ ऋतुपति १७
४० आर्तव १७
४१ हायन १७
४२ समाः १७
४३ संवत्सर १७
४४ मासाः १७
४५ विश्वेदेवाः १८, १९
४६ देवपत्नयः १९
४७ भूत २१
४८ भूतानां, भूतपति २१
४९ भेषज २३

अन्तरिक्ष स्थानीय देवता

१ गंधर्व ४
२ अप्सराः ४
३ चन्द्रमाः ५
४ वायु ६
५ पर्जन्य ६
६ अन्तरिक्ष ६
७ दिशः ६
८ सर्वाः आशाः ७
९ सोमः ७
१० पक्षिणः ८
११ शकुन्त ८
१२ भव ९
१३ शर्व ९
१४ रुद्र ९
१५ पशुपतिः ९
१६ इषु ९
१७ यम ११
१८ पितर ११, १६
१९ अन्तरिक्षसदः देवाः १२
२० रुद्राः (एकादश) १३

द्युस्थानीय देवता ।

१ इन्द्र १
२ बृहस्पति १
३ सूर्य १, ५
४ राजा वरुणः २

५ मित्र २
६ विष्णु २
७ भग २
८ अंश २
९ विवस्वान् २
१० सवितादेव ३
११ धाता ३
१२ पूषा ३
१३ त्वष्टा ३
१४ अश्विनौ ४
१५ ब्रह्मणस्पति ४
१६ अर्यमा ४
१७ विश्वे आदित्याः (द्वादश) ५, १३
१८ दिव्याः पशवः (पक्षिणः) ८
१९ द्युः १०
२० नक्षत्राणि १०
२१ सप्तर्षयः ११
२२ देवीः आपः ११
२३ प्रजापतिः ११
२४ दिविषदः देवाः १२, १३

यहां तीन स्थानोंमे देवताओंको बांटकर रखा है · देवतानामके आगे जिस मंत्रमें वे देवता आये हैं उनके अंक रखे हैं। और कई देवताएं अन्तरिक्ष स्थानमें अथवा द्युस्थानमें रखने योग्य होने परभी उनको पृथ्वी स्थानीय मानवोंके साथ संबंध आनेके कारण पृथ्वीस्थान में रखा है । इतना भेद विचार की सुबोधताके लिये किया है यह पाठक ध्यानमें रखें।

पृथ्वीस्थानमें ४८
अन्तरिक्षस्थानमें २०
द्युस्थानमें २३

मिलकर कुल ९१ इतनी देवताएं हुईं ।

इनमें ८वसु, ११रुद्र, १२आदित्य, ७ऋषिगण, १००मृत्यु, १२मास, १२क्रतु, ६ऋतु, २अयन, ६ऋतुपति, ४दिशा, ४ उपदिशा, ये १८४ देवताएं अधिक होती हैं । इनमेंसे १२ पुनरुक्त होनेसे कम किये जायं तो शेष १७२ रह जाती हैं। इनके साथ पूर्वोक्त ९१ देवताओंको मिलानेसे २६३ देवताएं होती हैं ।

इन देवताओंका मानवोंके साथ कैसा संबंध आता है यह देखकर पापसे बचनेका यत्न साधक को करना उचित है ।

इसमें कई देवताएं पापके लिये साधकभी होती हैं । जैसे भूमि, जल, वनस्पती, पशु, पक्षी, इनके कारणही मनुष्य युद्ध करते आये हैं, आपसमें झगडते रहे हैं, भूमिके कारण कितने युद्ध हुए हैं और कितने मानव काटे गये हैं, यह इतिहास में देखने योग्य है । मानवोंमें राक्षसभाव इनके कारण ही आता है । बचना तो इसी राक्षसभावसे है । व्यवहार ऐसा करना चाहिये कि मानवोंका राक्षसभाव दूर हो जाय और उनमें दैवी भाव स्थिर हो जाय । इसीलिये कहा है कि—

ते नः सन्तु सदा शिवाः । ११ । ९

' ये सब देव हमारे लिये सदा शुभमार्ग बतानेवाले हों। ' इस प्रार्थनामें अशुभवृत्ती होनेकी संभावना सूचित होती है । मन वश में रखकर किसी प्रकारसी अशुभवृत्ती मनमें न उठे ऐसा प्रबंध करना चाहिये ।

इसतरह मनुष्य पापसे बच सकता है । मन ढीला रहेगा तो पाप होगा, यदि मन बलवान होगा तो मनुष्य पापसे दूर रहेगा।

इसतरह विचार करके मानव पापसे बचनेका साधन करे और पवित्रात्मा होकर यशस्वी बने ।

उच्छिष्ट ब्रह्मसूक्त ।

(७)

(ऋषिः-अथर्वा । देवता-- अध्यात्मं, उच्छिष्टः)

उच्छिष्टे नाम रूपं चोच्छिष्टे लोक आहितः। उच्छिष्ट इन्द्रश्चाग्निश्च विश्वमन्तः समाहितम् ॥१॥
उच्छिष्टे द्यावापृथिवी विश्वं भूतं समाहितम् । आपः समुद्र उच्छिष्टे चन्द्रमा वात आहितः ॥२॥
सन्नुच्छिष्टे असंश्चोभौ मृत्युर्वाजः प्रजापतिः। लौक्या उच्छिष्ट आयत्ता व्रश्च द्रश्चापि श्रीर्मयि ॥३॥
दृढो दृंहस्थिरो न्यो ब्रह्म विश्वसृजो दश । नाभिमिव सर्वतश्चक्रमुच्छिष्टे देवताः श्रिताः ॥४॥
ऋक् साम यजुरुच्छिष्ट उद्गीथः प्रस्तुतं स्तुतम् ।
हिङ्कार उच्छिष्टे स्वरः साम्नो मेडिश्च तन्मयि ॥५॥
ऐन्द्राग्नं पावमानं महानाम्नीर्महाव्रतम् । उच्छिष्टे यज्ञस्याङ्गान्यन्तर्गर्भ इव मातरि ॥६॥

अर्थ--- (उच्छिष्टे नाम रूपं) उच्छिष्ट अर्थात् अवशिष्ट आत्मामें नाम और रूप, (उच्छिष्टे लोकः आहितः) उच्छिष्टमें लोकलोकान्तर स्थित हैं । (उच्छिष्टे इन्द्रः च अग्निः च) उच्छिष्टमें इन्द्र और अग्नि तथा (अन्तः विश्वं समाहितं) उसके अन्दर संपूर्ण विश्व समाया है ॥ १ ॥

(उच्छिष्टे द्यावापृथिवी) उच्छिष्टमें द्युलोक और भूलोक (विश्वं भूतं समाहितं) सब भूतमात्र ठहरे हैं, (उच्छिष्टे आपः समुद्रः चन्द्रमाः वातः आहितः) जल, समुद्र, चन्द्रमा, वायु, ये सब उसीमें स्थिर हुए हैं ॥ २ ॥

(सत् असत् च उभौ उच्छिष्टे) सत् और असत् ये दोनों उच्छिष्टमें हैं, (मृत्युः वाजः प्रजापतिः) मृत्यु, अन्न अथवा बल और प्रजापालक, (लौक्याः व्रः च द्रः च) लोकोंके संबंधमें सब धन तथा स्वीकारने योग्य और नाश करने योग्य सभी पदार्थ (उच्छिष्टे आयत्ताः) उच्छिष्टमें ही संबंधित हुए हैं । (श्रीः मयि) शोभा मुझमें है ॥ ३ ॥

(दृढः दृंह स्थिरः न्यः) सुदृढ, दृढतासे स्थिर रहनेवाला और गतिमान् (ब्रह्म विश्वसृजः दश देवताः) ज्ञान, विश्वकी उत्पत्ति करनेवाली दस शक्तियां धारण करनेवाली देवताएं (नाभिं चक्रं इव सर्वतः) नाभिचक्रके चारों ओर रहनेके समान सब ओरसे (उच्छिष्टे श्रिताः) उच्छिष्टमें ही स्थित हैं ॥ ४ ॥

ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद, उद्गीथ, (प्रस्तुतं स्थितं) स्तुति और स्तवन, हिंकार, स्वर, (साम्नो मेडिः) सामगानके आलाप यह सब उच्छिष्टमें हैं, (तन्मयि) यह सब मुझमें रहे ॥ ५ ॥

(ऐन्द्राग्नं पावमानं) इन्द्र, अग्नि और पवमान वायुके सूक्त, (महानाम्नीः महाव्रतं) महानाम और महाव्रतवाले मंत्र-भाग ये सब (यज्ञस्य अंगानि उच्छिष्टे) यज्ञके अंग उच्छिष्टमें स्थित हैं जैसे (मातरि अन्तः गर्भः इव) माताके अन्दर गर्भ रहता है ॥ ६ ॥

राजसूयं वाजपेयमग्निष्टोमस्तदध्वरः । अर्काश्वमेधावुच्छिष्टे जीवबर्हिर्मदिन्तमः ॥७॥

अग्न्याधेयमथो दीक्षा कामप्रश्छन्दसा सह । उत्सन्ना यज्ञाः सत्राण्युच्छिष्टेऽधि समाहिताः॥८॥

अग्निहोत्रं च श्रद्धा च वषट्कारो व्रतं तपः । दक्षिणेष्टं पूर्तं चोच्छिष्टेऽधि समाहिताः ॥९॥

एकरात्रो द्विरात्रः सद्यः क्रीः प्रक्रीरुक्थ्यः।
ओतं निहितमुच्छिष्टे यज्ञस्याणूनि विद्यया ॥ १० ॥ (१९)

चतूरात्रः पञ्चरात्रः षड्रात्रश्चोभयः सह ।
षोडशी सप्तरात्रश्चोच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे ये यज्ञा अमृते हिताः ॥११॥

प्रतीहारो निधनं विश्वजिच्चाभिजिच्च यः ।
साह्नातिरात्रावुच्छिष्टे द्वादशाहोऽपि तन्मयि ॥१२॥

सूनृता संनतिः क्षेमः स्वधोर्जामृतं सहः ।
उच्छिष्टे सर्वे प्रत्यञ्चः कामाः कामेन तातृपुः ॥१३॥

नव भूमीः समुद्रा उच्छिष्टेऽधि श्रिता दिवः। आ सूर्यो भात्युच्छिष्टेऽहोरात्रे अपि तन्मयि॥१४॥

अर्थ- राजसूय, वाजपेय, अग्निष्टोम, (तत् अध्वरः) वह हिंसारहित यज्ञ, अर्क- अश्वमेध, (मदिन्तमः जीवबर्हिः) आनन्द देनेवाला जीवोंका रक्षक यज्ञ ये सब उच्छिष्टमें ही स्थित हैं ॥ ७ ॥

(अग्न्याधेयं अथो दीक्षा) अग्न्याधान, दीक्षा, (छन्दसा सह कामः) छन्दोंके कामोंकी पूर्णता करनेवाला यज्ञ, उत्सन्नाः यज्ञाः सत्राणि) उत्सन्न यज्ञ और सब सत्र ये सब उच्छिष्टमें स्थित हैं ॥ ८ ॥

अग्निहोत्र, श्रद्धा, वषट्कार, व्रत, तप, दक्षिणा, इष्ट, पूर्त ये सब उच्छिष्टमें रहते हैं ॥ ९ ॥

एकरात्र, द्विरात्र, सद्यःक्रीः, प्रक्रीः उक्थ्य ये सब यज्ञ और (यज्ञस्य अणूनि) यज्ञके अन्य अंश (विद्यया उच्छिष्टे ओतं निहित) विद्याके साथ उच्छिष्टमें ओतप्रोत हुए हैं ॥ १० ॥

चार रात्री, पांच रात्री, छः रात्री, (उभयः) उभय अर्थात् आठ, दस और बारह रात्रीवाला, (षोडशी) सोलह, (सप्तरात्र और सात रात्रीवाला ये सब यज्ञ उच्छिष्टसे बने हैं और (अमृते हिताः) ये अमृतमें रहते हैं ॥ ११ ॥

प्रतीहार, निधन, विश्वजित्, अभिजित्, साह्न अतिरात्र, द्वादशाह ये सब उच्छिष्टमें रहे हैं। यह सब ज्ञान मुझमें रहे ॥ १२ ॥

(सूनृता संनतिः) सत्य भाषण, नम्रभाव, (क्षेमः स्वधा ऊर्ज) कल्याण, स्वधा, बल (अमृतं सहः) अमरपन, सहन शक्ति, य (सर्वे कामाः कामेन तातृपुः) सब काम और कामनाएं तृप्त करनेवाले हैं, (उच्छिष्टे प्रत्यञ्चः) उच्छिष्टमें रहे हैं ॥ १३ ॥

नव भूमि, सब समुद्र और (दिवः) द्युलोक भी (उच्छिष्टे अधिश्रिताः) उच्छिष्टमें आश्रित हैं । सूर्य उच्छिष्टमें ही [illegible] भाति) प्रकाशता है, जिससे अहोरात्र होते हैं । यह सब ज्ञान (मयि) मुझमें रहे ॥ १४ ॥

उपहव्यं विषूवन्तं ये च यज्ञा गुहा हिताः ।
बिभर्ति भर्ता विश्वस्योच्छिष्टो जनितुः पिता ॥ १५ ॥
पिता जनितुरुच्छिष्टोऽसोः पौत्रः पितामहः ।
स क्षियति विश्वस्येशानो वृषा भूम्यामतिघ्न्यः ॥ १६ ॥
ऋतं सत्यं तपो राष्ट्रं श्रमो धर्मश्च कर्म च । भूतं भविष्यदुच्छिष्टे वीर्यं लक्ष्मीर्बलं बले ॥ १७ ॥
समृद्धिरोज आकूतिः क्षत्रं राष्ट्रं षडुर्व्यः । संवत्सरोऽध्युच्छिष्ट इडा प्रैषा ग्रहा हविः ॥ १८ ॥
चतुर्होतार आप्रियश्चातुर्मास्यानि नीविदः। उच्छिष्टे यज्ञा होत्राः पशुबन्धास्तदिष्टयः ॥ १९ ॥
अर्धमासाश्च मासाश्चार्तवा ऋतुभिः सह ।
उच्छिष्टे घोषिणीरापः स्तनयित्नुः श्रुतिर्मही ॥ २० ॥ (२०)
शर्कराः सिकता अश्मान ओषधयो वीरुधस्तृणा ।
अभ्राणि विद्युतो वर्षमुच्छिष्टे संश्रिता श्रिता ॥ २१ ॥
राद्धिः प्राप्तिः समाप्तिर्व्याप्तिर्मह एधतुः । अत्याप्तिरुच्छिष्टे भूतिश्चाहिता निहिता हिता ॥ २२ ॥
यच्च प्राणति प्राणेन यच्च पश्यति चक्षुषा ।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रितः ॥ २३ ॥

अर्थ- उपहव्य, विषूवान् और (ये च गुहा हिताः यज्ञाः) जो गुहामें आश्रित यज्ञ हैं, उनको (विश्वस्य भर्ता जनितुः पिता) विश्वका पोषक और पिताका भी पिता (उच्छिष्टः बिभर्ति) उच्छिष्ट संज्ञक परमात्मा धारण करता है ॥ १५ ॥

(उच्छिष्टः जनितुः पिता) उच्छिष्ट पिताका भी परम पिता है वह (असोः पौत्रः पितामहः) प्राणका पौत्र है, परंतु वह सबका पितामह ही है, (सः विश्वस्य ईशानः क्षियति) वह विश्वका ईश्वर होकर सर्वत्र रहता है वह (वृषा भूम्यां अतिघ्न्यः) बलवान् और भूमिमें सबसे श्रेष्ठ है ॥ १६ ॥

ऋत, सत्य, तप, राष्ट्र, श्रम, धर्म, कर्म, भूत, भविष्यत्, वीर्य, लक्ष्मी, (बले बलं) बलिष्ठमें रहनेवाला बल यह सब उच्छिष्टमें रहता है ॥ १७ ॥

समृद्धि, (ओजः) शक्ति, (आकूतिः) संकल्प, क्षात्र, राष्ट्र, (षट् ऊर्व्यः) छः भूमियां, संवत्सर, (इडा) अन्न, (प्रैषाः ग्रहाः) प्रैष ग्रह और हवि यह सब उच्छिष्टमें रहा है ॥ १८ ॥

चतुर्होता, आप्रियं, चातुर्मास्य, नीविद, यज्ञ, होत्रा, पशुबन्ध और उनकी इष्टियां उच्छिष्टमें रहती हैं ॥ १९ ॥

(अर्धमासाः) पक्ष (मासाः) महिने, (आर्तवाः ऋतुभिः सह) ऋतुओंके साथ ऋतुसंबंधी पदार्थ, (स्तनयित्नुः) मेघ (महीश्रुतिः)बडी गर्जना और (घोषिणी आपः) घोष करनेवाले जलप्रवाह ये सब उच्छिष्टमें रहे हैं ॥ २० ॥

(शर्कराः सिकताः अश्मानः) पथरीली बालू, बालू, पत्थर (ओषधयः वीरुधः तृणा) औषधियां वनस्पतियाँ और घास, [अभ्राणि विद्युतः वर्षं] मेघ बिजलियां और वृष्टि [उच्छिष्टे संश्रिताः श्रिताः] उच्छिष्टमें आश्रित हुए हैं ॥ २१ ॥

[राद्धिः प्राप्तिः समाप्तिः] सिद्धि, प्राप्ति और समाप्ति, [व्याप्तिः महः एधतुः] व्याप्ति, महत्व और वृद्धि, [अत्याप्तिः, भूतिः] अतिशय प्राप्ति, ऐश्वर्य यह सब उच्छिष्टमें [आहिता निहिता हिता] रखे हैं ॥ २२ ॥

[यत् च प्राणेन प्राणिति] जो प्राणसे प्राण धारण करता है और [यत् च चक्षुषा पश्यति] जो आंखसे देखता है, यह सब उच्छिष्टसे [जज्ञिरे] निर्माण हुआ है [दिवि-श्रितः देवा दिविः] जो देव द्युलोकमें हैं वे सब द्युलोकमें रहे हैं और उच्छिष्टमें ही हैं ॥ २३ ॥

ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह । उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रितः ॥२४॥
प्राणापानौ चक्षुः श्रोत्रमक्षितिश्च क्षितिश्च या । उच्छिष्टाज्जज्ञिरे० ॥२५॥
आनन्दा मोदाः प्रमुदोऽभीमोदमुदश्च ये । उच्छिष्टाज्जज्ञिरे० ॥२६॥
देवाः पितरो मनुष्या गन्धर्वाप्सरसश्च ये ।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रितः ॥ २७ ॥ (२१)

अर्थ— ऋचा, साम, छन्द, पुराण और यजुर्वेद, प्राण, अपान, चक्षु, श्रोत्र, [क्षितिः अक्षितिः] भौतिक और अभौतिक पदार्थ, आनन्द, मोद, प्रमोद, [अभीमोदः मुदः] प्रत्यक्ष आनंद, देव, पितर, मनुष्य, गंधर्व, अप्सरा, द्युलोकमें रहनेवाले सब देव ये सब [उच्छिष्टात् जज्ञिरे] उच्छिष्टसे उत्पन्न हुए हैं ॥ २४-२७ ॥

उच्छिष्ट सूक्तका आशय ।

इस सूक्तकी भाषा अत्यंत सरल होनेके कारण इसका भावार्थ पृथक् लिखनेकी कोई आवश्यकता नहीं है ।

उच्छिष्टका अर्थ ।

" उच्छिष्ट " अर्थात् ' ऊर्ध्व भागमें अवशिष्ट,' जो उच्च स्थानमें अवशिष्ट रहा है । विश्व बननेके पश्चात् जो भाग अवशिष्ट रहा है उसका नाम ' उच्छिष्ट ' है । पुरुषसूक्तमें कहा है—

त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाभवत्पुनः ।
(ऋ. १०।९०।४)

'त्रिपात् पुरुष उच्च स्थानमें उदित हुआ है, और उसका एक अंश यहां इस विश्वमें पुनः पुनः होता है । ' एक अंशका यह विश्व बनता और बिगडता है, परंतु जो त्रिपात् पुरुष अवशिष्ट ऊर्ध्व भागमें रहा है वह वैसा ही एकरूपमें रहता है । इस तरह परब्रह्मका एक अल्पसा भाग विश्वरूपाकार होता रहता है और शेष सब मूल स्थितिमें अवशिष्ट रहा है । इसीका नाम उच्छिष्ट है । यही ऊर्ध्व भागमें अवशिष्ट रहा है ।

(उच्छिष्टे नाम रूपं) इसी परब्रह्ममें नामरूप रहा है, इतना कहनेसे सब कुछ उसीमें है ऐसा कहा है, क्योंकि जो कुछ इस विश्वमें है वह रूपवाला है और नामवाला भी है । जिसका रूप नहीं और जिसका नाम नहीं ऐसा वहां कुछ भी नहीं है । संपूर्ण विश्वही नामरूपात्मक है । हम किसीका नाम लेते हैं और नाम लेते ही आंख के सामने वह रूप आता है, यही नामरूप है और यह सब नामरूप इस उच्छिष्ट परब्रह्ममें रहा है ।

नाम भी उच्छिष्टमें है और रूप भी उच्छिष्टमें है इतना कहनेसे उस उच्छिष्ट परब्रह्ममें नामरूप रहा है ऐसा अर्थ हुआ। जैसे घडा यह नाम और घडेका रूप यह सब मिट्टीमें रहता है। अर्थात् यह मिट्टी ही नामरूपात्मक घटाकार होकर हमारे सामने आती है । इसी तरह उच्छिष्ट परब्रह्म नामरूप धारण करके विश्वाकार होकर, विश्वरूपी बनकर हमारे सामने आता है। यही परमात्माका विश्वरूपदर्शन जो भगवद्गीताके ११वें अध्यायमें कहा गया है और यजुर्वेदके रुद्राध्यायमें वर्णित हुआ है ।

उच्छिष्टमें रूप ।

'उच्छिष्टमें नामरूप रहे हैं,' यही मंत्रभाग मुख्य है; आगे इसी का स्पष्टीकरण ही है, जैसा—उच्छिष्टमें लोक, इंद्र, अग्नि विश्व, द्यावापृथिवी, सब भूतमात्र, जल, समुद्र, चन्द्र, वायु, (मंत्र १—२) नौ भूमियां, सूर्य (मं० १४), वालु, पत्थर, शिला, ओषधिवनस्पतियां, घास, अभ्र, विद्युत, वृष्टि, (मं० २१), जो प्राणसे जीवित रहता है, जो आंखसे देखता है, जो आकाशमें है (मं० २३), देव, पितर, मनुष्य, गंधर्व, अप्सरा(मं० २७)विश्व उत्पन्न करनेवाले दस देव (मं० ४) । यह सब उच्छिष्टमें है, ये सब रूपवाले पदार्थ हैं । इनका आश्रय उच्छिष्ट—परमात्माही है ।

उच्छिष्टमें नाम

अब नामका वर्णन देखिये—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, उद्गीथ, स्तवन, हिंकार, स्वर, सामके आलाप, (मं० ५), इन्द्राग्निके सूक्त, पवमानसूक्त, महाव्रतादिसूक्त, (मं०—६) छन्द, पुराण, (मं० २४) ये सब नाम हैं, ये सब शब्द हैं । शब्दसृष्टीका यह विस्तार है और ये सब नाम उच्छिष्टके आधारपर रहते हैं ।

इस रीतिसे नाम और रूप उच्छिष्ट ब्रह्ममें रहते हैं, जो रूप है वह उच्छिष्टका ही रूप है और जो नाम है वह भी उसी का नाम है । इसीलिये ये नामरूप उसमें रहते हैं ।

उच्छिष्टमें कर्म ।

नाम और रूप इस रीतिसे उच्छिष्ट ब्रह्ममें हैं यह बात देखनेके पश्चात् ' कर्म ' कहां रहता है यह प्रश्न उपस्थित होता है, उसका उत्तर भी इस सूक्तने दिया है कि सब कर्म सब यज्ञ उच्छिष्ट ब्रह्ममेंही रहते हैं, देखिये—'राजसूय, वाजपेय, अग्निष्टोम, अध्वर, अश्वमेध (मं० ७) अग्न्याधान, दीक्षा, यज्ञ, सत्र, (मं० ८) अग्निहोत्र, व्रत, तप, दक्षिणा; इष्टापूर्त (मं० ९), एकरात्र, द्विरात्र, सद्यःक्रीः, प्रक्रीः उक्थ, (मं० १०) चतूरात्र, पंचरात्र, षड्रात्र, सप्तरात्र, अष्टरात्र, दशरात्र, द्वादशाह, षोडशी, (मं० ११), विश्वजित्, अतिरात्र, (मं० १२) आदि सब यज्ञकर्म ही हैं और ये सब

उसी उच्छिष्टमें रहते हैं, उसी उच्छिष्ट ब्रह्मके आधारपर इस संपूर्ण कर्ममार्गकी व्यवस्था रची गयी है। अर्थात् सब कर्मोंका आधार ब्रह्म ही है।

उच्छिष्टमें काल।

'काल' भी उच्छिष्ट ब्रह्मके आधारसे रहता है, अतः कहा है कि- 'अर्ध मास (पक्ष), मास (महिना), ऋतु (मं० २०), अयन, वर्ष, संवत्सर (मं० १८) यह सब उच्छिष्ट ब्रह्ममें रहा है। भूत, भविष्यत् (मं० १७) संपूर्ण काल और कालके अवयव इस तरह उच्छिष्ट ब्रह्मके आधारसे रहे हैं ऐसा यहां कहा है।

कालके साथ कर्मका संबंध है, एकरात्र, द्विरात्र आदि अनेक यज्ञ कालमर्यादा के साथ संबंध रखते हैं। कई इष्टियां छोटे कालखंड के साथ संबंधित हैं और कई सत्र दीर्घकालके हैं। तथापि सब यज्ञ इस तरह कालसे मर्यादित होते हैं। अर्थात् जैसा नामरूपका परस्परसंबंध है वसी तरह काल और कर्मका परस्परसंबंध है। पाठक इसका अच्छी तरह विचार करें, और इसका अनुभव करें।

श्रद्धा, तप, व्रत, दीक्षा (मं० ९), सूनृत, नम्रभाव, कल्याण, स्वधा--अर्थात् अपनी धारणाशक्ति, बल, अमृतत्व, सहनसामर्थ्य, कामना, वासना (मं० १३), ऋत, सत्य, श्रम, धर्म, वीर्य--पराक्रम, लक्ष्मी शोभा, (मं० १७), समृद्धि, संकल्प, क्षात्रबल (मं० १८), सिद्धि, प्राप्ति, समाप्ति, व्याप्ति, महत्त्व, वृद्धि (मं० २२) आनंद, मोद, प्रमोद (मं० २५) ये सब जो कर्मके साथ संबंध रखनेवाले गुण हैं वे भी मानवकी उन्नतिके लिये अत्यंत आवश्यक हैं। ये सब उच्छिष्ट ब्रह्मके आधारपर रहते हैं।

जो प्राणसे सजीव रहते हैं और जो आंखसे देखते हैं वे सब प्राणिमात्र उच्छिष्ट ब्रह्मसे आश्रय पाकर रहते हैं अर्थात् वह उच्छिष्ट ब्रह्मसे पृथक् नहीं है। (मं० २३)

सत् असत्, जीवन मृत्यु, व और द (वरण और द्रावण), यह सब द्वन्द्व उच्छिष्ट ब्रह्ममें ही रहता है अर्थात् जो कुछ यहां है उस सबका संबंध परब्रह्मसे है, परब्रह्मसे पृथक् अस्तित्व किसीका नहीं है।

इसमें अनेक यज्ञोंके नाम आये हैं, इनका स्वरूप यजुर्वेदकी व्याख्याके प्रसंगमें विशद किया जायगा। क्योंकि कर्मकाण्ड यजुर्वेद का विषय है।

जो विश्वरूपदर्शन का विषय यहां कहा है वही श्रीमद्भगवद्गीताके ११ वें अध्यायमें विस्तारसे कहा है, और यजुर्वेदके रुद्राध्यायमें भी अधिक ही विस्तारसे कहा है। पाठक तुलना करके वेदका तत्त्व जानें।

शरीरकी रचना।

(८)

(ऋषिः—कौरुपथिः। देवता—अध्यात्मं, मन्युः)

यन्मन्युर्जायामावहत् संकल्पस्य गृहादधि। क आसं जन्याः के वराः क उ ज्येष्ठवरोऽभवत्॥१॥
तपश्चैवास्तां कर्म चान्तर्महत्यर्णवे। त आसं जन्यास्ते वरा ब्रह्म ज्येष्ठवरोऽभवत् ॥२॥
दश साकमजायन्त देवा देवेभ्यः पुरा। यो वै तान् विद्यात् प्रत्यक्षं स वा अद्य महद् वदेत्॥३॥
प्राणापानौ चक्षुः श्रोत्रमक्षितिश्च क्षितिश्च या। व्यानोदानौ वाङ् मनस्ते वा आकूतिमावहन्॥४॥
अजाता आसन्नृतवोऽथो धाता बृहस्पतिः। इन्द्राग्नी अश्विना तर्हि कं ते ज्येष्ठमुपासत ॥५॥
तपश्चैवास्तां कर्म चान्तर्महत्यर्णवे। तपो ह जज्ञे कर्मणस्तत् ते ज्येष्ठमुपासत ॥६॥

अर्थ- (यत् मन्युः संकल्पस्य गृहात्) जब उत्साहने संकल्पके घरसे (जायां अधि आवहत्) अपनी स्त्रीको प्राप्त किया, विवाह करके अपने घर ले आया, उस समय (के जन्याः) कौन कन्या- पक्षके लोग थे और (के वराः) कौनसे वरपक्षके लोग थे, और उनमें (कः उ ज्येष्ठवरः अभवत्) कौन श्रेष्ठ वर माना गया था॥ १ ॥

(महति अर्णवे अन्तः) बडे महासागरके अन्दर (तपः कर्म च आस्तां) तप और कर्म ये दो पक्ष थे, (ते जन्याः ते वराः आसन्) वे ही कन्यापक्षके और वरपक्षके लोग थे, और उस समय (ब्रह्म ज्येष्ठवरः अभवत्) ब्रह्म ही सबमें श्रेष्ठवर था॥ २ ॥

(देवेभ्यः दश देवाः साकं अजायन्त) देवोंसे दस देव साथ साथ बने हैं, (यः वै तान् प्रत्यक्षं विद्यात्) जो निश्चयसे उनको प्रत्यक्ष जानता है (सः वै अद्य महत् वदेत्) वही निश्चयसे आजही महत् ब्रह्मका ज्ञान कह सकता है॥ ३ ॥

(प्राणापानौ, चक्षुः श्रोत्रं, या अक्षितिः च क्षितिः च) प्राण, अपान, चक्षु, श्रोत्र, अभौतिक और भौतिक शक्ति, (व्यान-उदानौ वाङ्मनः) व्यान उदान और वाणी तथा मन, (ते वै आकूतिं आवहन्) ये ही निश्चय संकल्पशक्तिको धारण करते हैं॥ ४ ॥

(ऋतवः अथो धाता बृहस्पतिः इन्द्राग्नी अश्विनौ) ऋतु, धाता, बृहस्पति, इन्द्र, अग्नि, अश्विनी ये देव (अजाताः आसन्) नहीं बने थे, (तर्हि ते कं ज्येष्ठं उपासत) तब वे किस श्रेष्ठ ब्रह्मकी उपासना करते थे॥ ५ ॥

(तपः कर्म च एव) तप और कर्म (महति अर्णवे आस्तां) बडे संसार सागरमें थे। (कर्मणः तपः ह जज्ञे) कर्मसे तप उत्पन्न हुआ, (ते तत् ज्येष्ठं उपासते) वे सब उस श्रेष्ठकी उपासना करते थे॥ ६ ॥

येत आसीद् भूमिः पूर्वा यामद्धातय इद् विदुः ।
यो वै तां विद्यान्नामथा स मन्येत पुराणवित् ॥७॥
कुत इन्द्रः कुतः सोमः कुतो अग्निरजायत । कुतस्त्वष्टा समभवत् कुतो धाताऽजायत ॥८॥
इन्द्रादिन्द्रः सोमात् सोमो अग्नेरग्निरजायत । त्वष्टा ह जज्ञे त्वष्टुर्धातुर्धाताजायत ॥९॥
ये त आसन् दश जाता देवा देवेभ्यः पुरा । पुत्रेभ्यो लोकं दत्वा कस्मिंस्ते लोक आसते॥१०॥
यदा केशानस्थि स्नाव मांसं मज्जानमाभरत् ।
शरीरं कृत्वा पादवत् कं लोकमनु प्राविशत् ॥११॥
कुतः केशान् कुतः स्नाव कुतो अस्थीन्याभरत् ।
अङ्गा पर्वाणि मज्जानं को मांसं कुत आभरत् ॥१२॥
संसिचो नाम ते देवा ये संभारान्त्समभरन् । सर्वं संसिच्य मर्त्यं देवाः पुरुषमाविशन् ॥१३॥
ऊरू पादावष्ठीवन्तौ शिरो हस्तावथो मुखम् । पृष्टीर्बर्जह्ये पार्श्वे कस्तत् समदधादृषिः ॥१४॥

(या इतः पूर्वा भूमिः आसीत्) जो इससे पूर्वकी भूमि थी, (यां अद्धातयः इत् विदुः) जिसको बुद्धिमान् लोगोंने जान लिया था, (यः वै तां नामथा विद्यात्) जो उसे अलग अलग नामसे जानता है, (सः पुराणवित् मन्येत) उसे पुराणवित् कहा जाता है ॥ ७ ॥

(कुतः इन्द्रः, कुतः सोमः कुतः अग्निः अजायत) किससे इन्द्र, सोम और अग्नि उत्पन्न हुआ ? (कुतःत्वष्टा समभवत्) किससे त्वष्टा उत्पन्न हुआ और (कुतः धाता अजायत) किससे धाता बना है ॥ ८ ॥

(इन्द्रात् इंद्रः, सोमात् सोमः) इन्द्रसे इन्द्र, सोमसे सोम, (अग्नेः अग्निः अजायत) अग्निसे अग्नि उत्पन्न हुआ।(त्वष्टा ह त्वष्टुः जज्ञे) त्वष्टासे त्वष्टा उत्पन्न हुआ तथा (धातुः धाता अजायत) धातासे धाता हुआ है ॥ ९ ॥

(ये ते दश देवाः) जो वे दस देव (पुरा देवेभ्यः जाताः आसन्) पूर्व समयमें देवोंसे उत्पन्न हुए थे, वे (पुत्रेभ्यः लोकं दत्वा) अपने पुत्रोंको स्थान देकर, (ते कस्मिन् लोके आसते) किस लोकमें रहने लगे ? ॥ १० ॥

(यदा केशान् अस्थि स्नाव) जब केशों हड्डियों, स्नायुओं [मांसं मज्जानं आभरत्] मांस और मज्जाको इस देहमें भर दिया, और [शरीरं पादवत् कृत्वा] शरीरको पांववाला किया, तब वह भरनेवाला [कं लोकं अनुप्राविशत्) किस लोकमें अनुकूलताके साथ प्रविष्ट हुआ ? ॥ ११ ॥

[कुतः केशान् कुतः स्नाव] किससे केशोंको और किससे स्नायुओंको [कुतः अस्थीनि आभरत्] कहांसे हड्डियोंको इसने भर दिया ? [कः अंगा पर्वाणि मज्जानं] किसने अवयवों पर्वों और मज्जाको तथा [मांसं कुतः आभरत्] मांसको कहाँसे भर दिया ? ॥ १२ ॥

[ते देवाः संसिचः नाम] वे देव ' संसिच् ' अर्थात् सींचनेवाले इस नामके है [ये संभारान् समभरन्] जो संभारको भर देते हैं, [सर्वं मर्त्यं संसिच्य] सब मरण धर्मवाले शरीरको सींच कर [देवाः पुरुषं आविशन्] ये देव पुरुषके प्रति प्रविष्ट हुए हैं ॥ १३ ॥

(कः ऋषिः) कौनसा ऋषि है जिसने (ऊरू अष्ठीवन्तौ पादौ) जांघों और जानुवाले पावोंको (शिरः हस्तौ मुखं) सिर हाथ और मुखको (पृष्टीः बर्जह्ये पार्श्वे) पीठ हंसली और पसलियोंको (तत् समदधात्) वह सब जोड दिया है ? ॥ १४ ॥

शिरो हस्तावथो मुखं जिह्वां ग्रीवाश्च कीकसाः।
त्वचा प्रावृत्य सर्वं तत् संधा समदधान्मही ॥१५॥
यत्तच्छरीरमशयत् संधया संहितं महत्। येनेदमद्य रोचते को अस्मिन् वर्णमाभरत् ॥१६॥
सर्वे देवा उपाशिक्षन् तदजानाद् वधूः सती। ईशा वशस्य या जाया सास्मिन् वर्णमाभरत् १७
यदा त्वष्टा व्यतृणत् पिता त्वष्टुर्य उत्तरः। गृहं कृत्वा मर्त्यं देवाः पुरुषमाविशन् ॥१८॥
स्वप्नो वै तन्द्रीर्निर्ऋतिः पाप्मानो नाम देवताः। जरा खालत्यं पालित्यं शरीरमनु प्राविशन्॥१९॥
स्तेयं दुष्कृतं वृजिनं सत्यं यज्ञो यशो बृहत्। बलं च क्षत्रमोजश्च शरीरमनु प्राविशन् ॥२०॥
भूतिश्च वा अभूतिश्च रातयोऽरातयश्च याः। क्षुधश्च सर्वास्तृष्णाश्च शरीरमनु प्राविशन् ॥२१॥
निन्दाश्च वा अनिन्दाश्च यच्च हन्तेति नेति च। शरीरं श्रद्धा दक्षिणाश्रद्धा चानु प्राविशन् २२
विद्याश्च वा अविद्याश्च यच्चान्यदुपदेश्यम्। शरीरं ब्रह्म प्राविशदृचः सामाथो यजुः ॥२३॥
आनन्दा मोदाः प्रमुदोऽभीमोदमुदश्च ये। हसो नरिष्टा नृत्तानि शरीरमनु प्राविशन् ॥२४॥

(शिरः हस्तौ अथो मुखं) सिर हाथ और मुख, (जिह्वां ग्रीवाः च कीकसाः) जीभ गर्दन और हड्डियां (तत् सर्वं त्वचा प्रावृत्य) इस सबपर चर्मका वेष्टन करके (मही संधा समदधात्) बडी जोडनेकी शक्तिने जोड दिया है ॥ १५ ॥

(यत् तत् महत् शरीरं) जो यह बडा शरीर (संधया संहितं) संधा नाम जोडनेकी शक्तिद्वारा जोडा गया, (येन इदं अद्य रोचते) जिससे आज यह प्रकाशता है, (अस्मिन् कः वर्णं आभरत्) इसमें किसने वर्णको भर दिया है? ॥ १६ ॥

(सर्वे देवाः उपाशिक्षन्) सब देवोंनें शिक्षा दी, (तत् सती वधूः अजानात्) उसे सती वधूने-अर्थात् बुद्धिने जान लिया। (या वशस्य ईशा जाया) जो सबको वशमें रखनेवाले की ईश-शक्ति नाम भार्या है (सा अस्मिन् वर्णं आभरत्) उसने इसमें वर्णको भर दिया है ॥ १७ ॥

(यः त्वष्टुः पिता उत्तरः त्वष्टा) जो त्वष्टाका पिता उच्चतर श्रेष्ठ त्वष्टा है उसने (यदा व्यतृणत्) जब इस शरीरमें छिद्र किये, (मर्त्यं गृहं कृत्वा) तब मरणधर्मवाला घर करके (देवाः पुरुषं आविशन्) देवोंने पुरुषमें प्रवेश किया ॥ १८ ॥

(स्वप्नः तन्द्री, निर्ऋतिः) निद्रा, आलस्य, पापभावना ये (पाप्मनः देवताः वै नाम) पापी मनकी देवताएं हैं तथा (जरा खालत्यं पालित्यं) वृद्धावस्था, गंजापन और श्वेत बाल होना ये सब (शरीरं अनुप्राविशन्) शरीरके अन्दर प्रविष्ट हुए ॥ १९ ॥

(स्तेयं दुष्कृतं वृजिनं) चोरी, दुराचार और कुटिलता (सत्यं यज्ञः बृहत् यशः) सत्य, यज्ञ और बडा यश (बलं च क्षत्रं ओजः च) बल, क्षात्रतेज और सामर्थ्य ये सब (शरीरं अनुप्राविशन्) शरीरके अन्दर प्रविष्ट हुए ॥ २० ॥

(भूतिः च अभूतिः च) ऐश्वर्य और दारिद्र्य, (रातयः याः अरातयः च) दान और कंजूसी, (क्षुधः च सर्वाः तृष्णा च) भूख और सब प्रकारकी तृष्णा (शरीरं अनुप्राविशन्) शरीरमें प्रविष्ट हुईं॥ २१ ॥

(निन्दाः च वै अनिन्दाः च) निन्दा और स्तुति (यत् च हन्त इति न इति च) जो हां और ना करते हैं, (श्रद्धा दक्षिणा अश्रद्धा च) श्रद्धा, दक्षता और अश्रद्धा ये सब शरीरमें प्रविष्ट हुए ॥ २२ ॥

(विद्याः च वै अविद्याः च) विद्या और अविद्याएं (यत् च अन्यत् उपदेश्यं) जो अन्य उपदेश करने योग्य है, वह (ऋचः साम अथो यजुः ब्रह्म शरीरं प्राविशत्) ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद और ब्रह्मवेद शरीरमें प्रविष्ट हुए ॥ २३ ॥

(आनन्दाः मोदाः प्रमुदः ये अभीमोदमुदः च) आनन्द, मोद, प्रमोद और हास्यविनोद ये सब (हसः नरिष्टा नृत्तानि) हास्य, चेष्टा और नृत्य (शरीरं अनुप्राविशन्) शरीरमें प्रविष्ट हो गए ॥ २४ ॥

आलापाश्च प्रलापाश्चाभीलापलपश्च ये। शरीरं सर्वे प्राविशन्नायुजः प्रयुजो युजः ॥२५॥
प्राणापानौ चक्षुः श्रोत्रमक्षितिश्च क्षितिश्च या। व्यानोदानौ वाङ् मनः शरीरेण त ईयन्ते २६
आशिषश्च प्रशिषश्च संशिषो विशिषश्च याः। चित्तानि सर्वे संकल्पाः शरीरमनु प्राविशन् ॥२७॥
आस्तेयीश्च वास्तेयीश्च त्वरणाः कृपणाश्च याः। गुह्याः शुक्रा स्थूला अपस्ता बीभत्सावसादयन्२८
अस्थि कृत्वा समिधं तदष्टापो असादयन्। रेतः कृत्वाज्यं देवाः पुरुषमाविशन् ॥२९॥
या आपो याश्च देवता या विराड् ब्रह्मणा सह। शरीरं ब्रह्म प्राविशच्छरीरेऽधि प्रजापतिः॥३०॥
सूर्यश्चक्षुर्वातः प्राणं पुरुषस्य वि भेजिरे। अथास्येतरमात्मानं देवाः प्रायच्छन्नग्नये ॥३१॥
तस्माद् वै विद्वान् पुरुषमिदं ब्रह्मेति मन्यते। सर्वा ह्यस्मिन् देवता गावो गोष्ठ इवासते ॥३२॥
प्रथमेन प्रमारेण त्रेधा विष्वङ् वि गच्छति।
अद एकेन गच्छत्यद एकेन गच्छतीहैकेन नि षेवते ॥३३॥
अप्सु स्तीमासु वृद्धासु शरीरमन्तरा हितम्। तस्मिञ्छवोऽध्यन्तरा तस्माच्छवोऽध्युच्यते ॥३४॥

॥ इति चतुर्थोऽनुवाक ॥ ८

(आलापाः च प्रलापाः च ये अभीलापलपः) आलाप प्रलाप और वार्तालाप, तथा (आयुजः प्रयुजः युजः) आयोजना प्रयोग और योग ये (सर्वे शरीरं प्राविशन्) सब शरीरमें प्रविष्ट हुए ॥ २५ ॥

(प्राणापानौ चक्षुः श्रोत्रं) प्राण, अपान, चक्षु और श्रोत्र (अक्षितिः च या क्षितिः) अभौतिक और भौतिक शक्तियां (व्यानोदानौ वाङ्मनः) व्यान, उदान, वाणी और मन (ते शरीरेण ईयन्ते) ये शरीरके साथ चलते हैं ॥ २६ ॥

(आशिषः च प्रशिषः च) आशीर्वाद और घोषणा, (संशिषः च विशिषः च याः) संमतियां और विशेष अनुशासन (चित्तानि सर्वे संकल्पाः) चित्त और सब संकल्प (शरीरं अनुप्राविशन्) शरीरमें प्रविष्ट हुए ॥ २७ ॥

(आस्तेयीः वास्तेयीः च) बैठना और रहना, (त्वरणाः याः कृपणाः च) त्वरा और कृपणता, (गुह्याः शुक्राः स्थूलाः, ताः अपः बीभत्सौ) गुह्य, शुक्र, स्थूल, जलरूप तथा बीभत्स भाव ये सब शरीरके साथ (असादयन्) रहे हैं ॥ २८ ॥

(तत् अस्थि समिधं कृत्वा) उस हड्डी की समिधा बनाकर (अष्ट आपः असादयन्) आठ प्रकारके जलोंने सब शरीरकी बनावट की है, (रेतः आज्यं कृत्वा) रेतका घी बनाकर (देवाः पुरुषं आविशन्) सब देव पुरुषमें घुस गये हैं ॥ २९ ॥

(याः आपः याः च देवताः) जो जल और जो देवताएं (या विराट् ब्रह्मणा सह) जो ब्रह्मके साथ विराट् है वह सब (ब्रह्म शरीरं प्राविशत्) ब्रह्म शरीरमें प्रविष्ट हुआ है,(शरीरे अधि प्रजापतिः) शरीरमें वही प्रजापति नामक अधिष्ठाता है॥३०॥

(पुरुषस्य चक्षुः सूर्यः) पुरुषकी आंख सूर्य (प्राणं वातः वि भेजिरे) और प्राण वायु विशेष रीतिसे विभक्त करके बनाये गये हैं (अथ अस्य इतरं आत्मानं) और इसकी अन्य आत्मा (देवाः अग्नये प्रायच्छन्) देवोंने अग्निके पास दी ॥ ३१ ॥

(तस्मात् वै विद्वान्)इसलिये निश्चयसे ज्ञानी विद्वान्(पुरुषं इदं ब्रह्म इति मन्यते) पुरुषको यह ब्रह्म ऐसा मानता है। (हि सर्वाः देवता अस्मिन् आसते) क्योंकि सब देवताएं इसमें निवास करती हैं(इव गावः गोष्ठे) जैसे गौवें गोशालामें रहती हैं॥३२॥

(प्रथमेन प्रमारेण) प्रथम मृत्युसे (त्रेधा विष्वङ् विगच्छति) तीन प्रकारसे सर्वत्र जाता है। (अदः एकेन गच्छति) वहां एकसे जाता है, (अदः एकेन गच्छति) वहां एकसे जाता है और (इह एकेन निषेवते) यहां एकसे सेवन करता है॥३३॥

(स्तीमासु अप्सु वृद्धासु)गीला करनेवाले जलोंकी वृद्धि होनेपर उसमें(अन्तरा शरीरं हितं)अन्दर शरीर रखा गया है।(तस्मिन् अन्तरा अधि शवः) इसके बीचमें यह शवरूपी शरीर रहता है (तस्मात् शवः अधि उच्यते) इसलिये उसे शव कहते हैं॥३४॥

चतुर्थ अनुवाक समाप्त ॥ ४ ॥

(सूचना-यह सब अर्थ सरल है इसलिये भावार्थ नहीं दिया है।)

शरीरकी रचना और योग्यता ।

सब प्राणियोंके शरीरकी रचना विशेष अद्भुत है । उसमें मानवी शरीरकी रचना तो विशेषही विलक्षण है । मानवी शरीरकी रचनाको परमात्माकी कारीगरीकी परमावधि कहा जाय तो कोई अत्युक्ति नहीं । इस मानव शरीर की रचना और उसमें आत्माका निवास तथा संपूर्ण देवताओंका स्थान आदिका रहस्यमय वर्णन इस सूक्तमें किया है, इस दृष्टिसे यह सूक्त विशेष महत्त्वका है ।

एक संकल्प था, उसकी कन्या ' संकल्पशक्ति ' थी । इस-शक्तिका विवाह होना था । दूसरा आत्मा था उसका मन्यु अर्थात् उत्साहरूप सामर्थ्य था, इसका विवाह संकल्पशक्तिके साथ करनेका निश्चय हुआ । इसमें वरपक्ष और वधूपक्षके बहुतसे लोग थे और इसमें जो वरपक्षमें मुखिया था, उसीका नाम ' ज्येष्ठवर ' था, यही ' मन्यु ' भी कहा जाता था । (मंत्र १)

इस महान् अर्णव संसारसागरमें तप और कर्म ये दो पक्ष थे । एक पक्ष तप करनेवाले संयमियोंका था और दूसरा पक्ष कर्म करनेवालोंका था । कर्म करनेवालोंमें भी एक सकाम कर्म वाले और दूसरे निष्काम कर्मवाले थे । इसतरह ये दो पक्षके लोग थे । इनमें वधूके पक्षमें कई थे और दूसरे वरपक्षमें थे । इनमें ब्रह्माही सबसे मुखिया वर था । (मं० २)

दस बडे देव हैं, उनके छोटे पुत्र दस होते हैं । ये देव कौन हैं और उनके पुत्र कौन हैं इस तत्त्वको जो जानते हैं उनको ही बडे ब्रह्मका ज्ञान होता है और वेही उसका उपदेश कर सकते हैं । अतः इस तत्त्वका ज्ञान प्राप्त करना मनुष्यके लिये अत्यंत आवश्यक है । (मं० ३)

प्राण, अपान, व्यान, उदान, आंख, कान (क्षितिः = भूमितत्त्वसे उत्पन्न) नाक, वाणी, मन और (अ-क्षिति = अभौतिक) बुद्धितत्त्व ये दस देव हैं जो मानवी शरीरमें निवास करते हैं, वेही संकल्प विविध प्रकारके करते हैं । और बुरेभले विचार मनुष्य करता रहता है । (मं० ४) इनमें प्राण, अपान, व्यान और उदान ये प्राण हैं और ये तप करनेवाले देव हैं, अर्थात् ये निराहार रहकर भोग न करते हुए जन्मसे लकर मृत्युपर्यंत कर्म करते हैं । इस कारण इनको तप करनेवाले ऋषि कह सकते हैं । दूसरे देव आंख, नाक, कान, वाणी और मन हैं, ये काम करनेमें दत्तचित्त रहते हैं, कर्म करते हुए ये थक जाते हैं तब इनको विश्राम देना पडता है, ये भोग भी भोगते हैं, ज्ञान भी प्राप्त करते हैं और कुछ कर्म भी करते हैं । इनको अन्न देनेसे ये समर्थ रहते हैं और कार्यक्षम होते हैं, अन्न न मिला तो ये कृश होते हैं और अन्तमें अति क्षीण होते हैं । प्राणोंके समान ये भूखे रहकर तपस्या ही नहीं कर सकते । आंख, नाक आदिको विश्राम चाहिये, निद्रा चाहिये और भोग भी चाहिये । यहां ' संकल्पशक्ति ' नामक एक देवशक्ति है, जिसका विवाह होना है । इस वधूपक्षके साथ ये आंख, नाक, कान आदि भोगविलासी लोग हैं और वरपक्षके साथ प्राण, अपान आदि तपस्वी लोग हैं । इसतरह विवाह करनेके लिये इस शरीररूपी मंडपमें ये इकट्ठे हुए हैं और यहां यह बडी धूमधामसे विवाहसंस्कार होना है ।

सूर्य, चन्द्र, वायु आदि दस बडे देव इस विश्वमें हैं । इनकी शक्ति बडी भारी है । इन बडे देवोंसे अंशरूप छोटे देव, आंख, मन, प्राण आदि बने और इस शरीरमें आकर बसे हैं । इनमें कई वधूपक्षवाले और कई वरपक्षवाले हैं । दोनोंका यहां मेल हुआ है । इसीका नाम विवाहका मंगल कार्य है ।

ऋतु, धाता, बृहस्पति, इन्द्र, अग्नि, अश्विनी ये देव अपने ही स्थानमें जब रहते थे और जब इनके छोटे अंश यहां विविध रूपोंमें नहीं उतरे थे, तब वे कहां रहते थे ? अर्थात् किस श्रेष्ठ देवके साथ रहते थे ? इसी श्रेष्ठ देवताका नाम ' ज्येष्ठ ब्रह्म ' है । इस ज्येष्ठ ब्रह्मके साथ ये सब देव रहते थे, इस बडे विश्वमें कार्य करते थे । परंतु वहांसे इस छोटे विश्वमें अर्थात् शरीरमें आकर इनका निवास नहीं हुआ था । (मं० ५) अर्थात् यह समय शरीररचनाके पूर्वका है । शरीररचना के समय सब देवताओंके अंश यहां इस पिण्डदेहमें उतरे और निवास करने लगे, कई अपना तप करते रहे और कई अपने कर्म करने लगे । इसतरह यहांका संसार चलने लगा । इसीका नाम शरीरनिर्मिति है ।

तप और कर्म करनेवाले देव हैं, ऐसा कहा गया । यहां ध्यानमें रखना चाहिये कि कर्मसेही तप होता है, कर्म न

किया जाय तो तप बनता ही नहीं, अतः कर्म मुख्य है, श्रेष्ठ ब्रह्मकी उपासना भी एक पवित्र कर्म है। (मं० ६) सभी संसार इस कर्मसे ही चल रहा है। कर्मके बिना कुछ भी नहीं होता। यह देखकर मनुष्य को शुभ कर्म करने चाहिये।

इस शरीरकी रचना होनेके पूर्व एक विस्तृत भूमि थी, इसका नाम प्रकृतिकी भूमि है। इसी भूमिपर इस शरीरकी रचना होती है और इस रचनाके करनेके लिये ये दस देव अंशरूपसे यहां आते हैं और शरीरकी निर्मिति करते हैं। इस स्थान, आदिके नाम तथा उसके धर्म जो जानता है, उसको 'पुराणवित्' कहते हैं। (मं० ७) जो पहिले था और जो फिर नया बनता है उसको पुराण (पुरा अपि नवं) कहते हैं। इसको यथाशास्त्र जानना चाहिये।

ये जो देव इस पिण्डशरीरमें आकर बसे हैं वे कहांसे आये हैं? मूल-देव कहां थे और वे कहांसे यहां आये और किस स्थानपर आकर बसे? इसकी खोज करनी चाहिये। (मं० ८) इन्द्र, सोम, अग्नि, त्वष्टा, धाता इन बडे देवोंसे छोटे अंशरूप देव उत्पन्न हो गये, उनके भी ये ही नाम हैं। जो पिताका नाम है वही पुत्रका होता है, क्योंकि नाम किसी न किसी गुणका बोधक होता है और पिताका ही गुण पुत्रमें आता है। इसलिये पिताका नाम पुत्रको दिया जाता है, अतः यहां इन्द्रसे इन्द्र ही हुआ ऐसा कहा है। (मं ९) इनमेंसे एक इन्द्र विश्वात्माके विश्वरूपी देहमें रहनेवाला है और दूसरा उसका पुत्ररूपी इन्द्र पिण्डदेहमें रहनेवाला है। इसीतरह अन्य देवोंके विषयमें समझना चाहिये।

ये देव दस हैं और प्रत्येक बडे देवका एक एक अंशरूप पुत्र है। इसतरह दस बडे देवोंके दस पुत्र इस पिण्डदेहमें आकर बसे हैं। पिण्डदेहमें ये दस देव दस स्थानोंमें रहे हैं। इन दस देवोंने अपने दस पुत्रोंका निर्माण किया और उनको इस पिण्डदेहमें यथायोग्य स्थान दिया और वे अपने मूल स्थानमें जाकर रहे। (मं० १०) विश्वमें बडा सूर्य है, उसका अंशरूप पुत्र 'नेत्रेंद्रिय' उसे नेत्रके स्थानमें रखकर सूर्यदेव अपने द्युलोकके स्थानमें ही विराजता है। इसी तरह अन्यान्य देवोंके विषयमें समझना चाहिये हरएक देवताके नामका उच्चार करके यहां वारंवार वही बात लिखने की कोई आवश्यकता नहीं है। जो देवोंके अंशावतार की कल्पना पुराणग्रन्थमें है वह यही है। हरएक देवका अंशरूप अवतार मानव-देहमें (अथवा प्राणीके देहमें) हुआ है। इस अंशरूप देवको ही अवतार कहा जाता है। बडे देवका एक छोटासा अंश यहां उतरा है और इस पतनशील देहका तारण करनेके लिये यहां रहा है। जब ये अंशावतार यहांसे चले जाते हैं तब इस देहका पतन होता है, फिर यह देह उठता नहीं, जलाया जाता है अथवा त्यागा जाता है। देवोंसे पावन होनेकी अवस्थामें यह देह पवित्र माना जाता है, देवोंके अभाव होनेके समय इसे कोई छूता भी नहीं।

जब इस शरीरमें विविध देवोंने आकर यहां केश, हड्डियां, स्नायु, मांस, मज्जा आदि भर दिया और शरीरको हस्तपादादि अवयवोंसे युक्त किया, तब वे देव कहां गये? (मं ११) अर्थात् देव अपना कार्य करनेके पश्चात् वे यहां रहे अथवा यहांसे चले गये? इसका उत्तर यही है कि वे यहीं निवास करके रहते हैं, क्योंकि मृत्युके समय ही ये जाते हैं। इस देहमें कौनसा देव कहां रहता है इसका ज्ञान उपनिषदोंके आधारसे इस तरह है—

विश्वके देव	शरीरमें देवतांश
परब्रह्म	जीव, आत्मा
सूर्य	नेत्र (आंख)
भूमि	नासिका (नाक)
आपः	रसना (जिह्वा)
अग्नि	वाणी (वाक्) मुख
दिशा (आकाश)	कान
वायु, रुद्र	प्राण, त्वचा
ओषधि वनस्पतयः	केश (बाल)
लोहिनीः आपः	रक्त, रुधिर
द्यौः	मस्तक, मस्तिष्क
अन्तरिक्ष	नाभि, उदर, पेट, छाती
पृथ्वी	पाद (पांव)
पर्वत (पर्ववान्)	पर्व (जोड, संधी)
मृत्यु-आपः	वीर्य [रज]
अश्विनौ	श्वास-उच्छ्वास

इसतरह अनेक देवोंके अंश यहां शरीरमें आकर बसे हैं। ये ही देवताओंके अंश अवतार हैं। इसका वर्णन उपनिषदोंमें विस्तारसे किया है-विशेषतः ऐतरेय उपनिषद्में यह वर्णन अधिक स्पष्ट है। केश, स्नायु, हड्डी मज्जा, पर्व-जोड, मांस

कहांसे किसने और किस तरह भर दिये गये, ऐसा प्रश्न [मंत्र १२ में] पूछा गया है। पूर्वोक्त कोष्टकके देखनेसे इसका उत्तर मिल सकता है।

इन देवताओंका नाम ' संसिच् ' है। सम्यक् सिंचन करने वाले, सींचनेवाले अर्थात् अपना स्थान सजीव करनेवाले, जीवन-मय करनेवाले ये देव हैं। इन सब देवोंने (सर्वं मर्त्यं संसिच्य) सब मरणधर्मवाले अंगोंको अथवा देहको जीवनधर्मसे युक्त किया है। इसी कार्यके लिये ये सब देव (पुरुषं आविशन्) मानवदेहमें आकर बसे हैं, इस शरीरमें आकर अपने अपने स्थानमें रहे। (मं० १३)

किस ऋषिने ऊरु, पांव, जानु, सिर, हाथ, मुख, पीठ, हंसली पसलियां, जिह्वा, गर्दन, गर्दनकी हड्डियां, त्वचा ये सब भाग बनाये और जोड दिये ? (मं० १४-१५) अनेक देवोंने अपने अपने कार्य किये, अपने अपने अवयव बना दिये और ' संधा ' नामक देवता है जिसने इनको जोड दिया और जिस जोडनेसे यह शरीर अखण्ड एक जैसा बन गया है। इसमें रंग, शोभा और कान्ति भरनेवाली भी एक देवता है। (मं० १६)

ये सब देव संमिलित हुए, इन देवोंका यहां संमेलन हुआ, यह बात एक सती देवीने जान ली। यही सती देवी सब अवयवोंको अपने वशमें रखनेवाले आत्मदेवकी भार्या है। यही भार्या यहांकी कान्ति, शोभा और रमणीयता रखने वाली है। (मं० १७) इसी वधू और वरकी शादी होनेका वर्णन इस सूक्तके पहिले दो मंत्रोंमें है।

ये सब देव बडे कारीगर हैं। अतः त्वष्टा नाम कारीगर देवताका होता है। जो छोटे अंशरूप देव इस शरीरकी कारी-गरी करनेके लिये यहां आये होते हैं, उनमें जो सबका अधि-ष्ठाता देव होता है, उसको सब कारीगरोंका कारीगर होनेसे ' त्वष्टा ' कहते हैं। इसका पिता, परमात्मा, सब देवोंका देव, सब कारीगरोंका कारीगर सर्वोपरि विराजमान है, वह भी बडा ' त्वष्टा ' ही है। उससे शक्ति पाकर जब छोटे कारीगर इस शरीरमें सुराख करते हैं, तब एक एक सुराखसे एक एक देव शरीरमें प्रवेश करता है और अपने अपने स्थान-में विराजता है। इस [मर्त्यं गृहं कृत्वा] मर्त्य घरकी सुयोग्य रचना करके [देवाः पुरुषं आविशन्] सब देव मनुष्यके देहमें घुसकर अपने स्थानमें रहते हैं। [मं० १८] यह घर वास्तविक मरनेवाला है, परंतु यहां देवोंकी अमर शक्तियां रहनेके कारण यह मरनेवाला देह अमरसा बना है। जब देव यहांका यज्ञ समाप्त करके चले जाते हैं, उस समय यह देह मर जाता है। देवोंकी अमर शक्ति इस तरह अनुभवमें आती है।

*

इस शरीरमें निद्रा-जाग्रति, तन्द्री (सुस्ती) -उत्साह, निर्ऋति (पापवासना)- पुण्य भावना, पाप-पुण्य, जरा-(वृद्धत्व)- तारुण्य, खालित्य (गंजापन)- बहुकेश होना, पालित्य (श्वेतत्व)- कृष्णत्व, बालोंका श्वेत होना और काले होना, स्तेय (चोरी)- अस्तेय, दुष्कृत-सुकृत, वृजिनं (कुटिलता) सरलता, सत्य- असत्य, यज्ञ -अयज्ञ, यश -अयश, बल -बलहीनता, क्षात्र -निर्बलता, ओज (शरीरशक्ति) अशक्ति, भूति (ऐश्वर्य) अभूति (निर्धनता), (राति) दान-(अराति) कंजूसी, क्षुधः (भूख)-भूख न लगना, तृष्णा-प्यास न लगना, निन्दा-स्तुति (अनिन्दा), हां और ना करना (हन्त इति न इति), श्रद्धा-अश्रद्धा, दक्षता-अदा-क्षिण्य, विद्या-अविद्या, ज्ञान -अज्ञान, आनन्द -दुःख, मोद-कष्ट, हास्य-रोदन, नरिष्ट (अनाश)- नाश, नृत्य- अनृत्य, आलाप प्रलाप-मौन, प्रयोग -वियोग, ये सब भाव शरीरमें होने लगे हैं। ये भाव शरीरमें प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं। (मं० १९-२५)

प्राण, अपान, व्यान, उदान, चक्षु श्रोत्र, क्षिति, अक्षिति, वाणी, मन ये दस हो शक्तियां शरीरमें रहती हैं और उक्त कार्य करती हैं। (मं० २६)

आशीर्वाद-क्रोधके शब्द, अनुकूल- प्रतिकूल शब्द, संकल्प-विकल्प, स्थिरता-चचलता, त्वरा-शान्ति, कृपणता- उदारता, गुह्य-प्रकट, शुक्र-निर्वीर्य, स्थूल- कृश, बीभत्स- सभ्य ये सब भाव शरीरमें प्रविष्ट हुए हैं। (मं० २७-२९) इस यज्ञके हवनके लिये रेतका घी बनाकर उस रेतकी आहुति स्त्रीके गर्भाशयमें डाली होती है। उस रेतके साथ सब देव शरीरमें घुस जाते हैं। वीर्यके प्रत्येक अणुमें पिताके संपूर्ण शरीरका अर्थात् उस शरीरके हरएक इंद्रियका सत्त्वांश रहता है और उस सत्त्वांशके साथ पिताके शरीरके देवताका अंश भी रहता है, अथवा देवतांशको ही सत्त्वांश समझ लीजिये। पिताके सदृश पुत्रके शरीरके अंग प्रत्यंग होते हैं, इसका यही कारण है। इस रेतमें शरीरका सब सत्त्व होता है, इस लिये पुत्र बढकर पिता जैसा होता है। इससे रेतका घी बनाकर

सब देव शरीरमें किस रीतिसे घूमते हैं, इस बातका पता पाठकोंको लग सकता है।

जो सब देवताएं हैं और जो पानी है, जो ब्रह्मके साथ विराट् पुरुष है, ये सब देव रेतके साथ शरीरमें घुसते हैं। [मं० ३०] जल तो प्रवाही पदार्थ-रूपसे गर्भाशयमें रहता है। उसमें वीर्यके साथ सब देवतांश पहुंचते हैं, सब विराट् पुरुष का सत्त्व वहां पहुंचता है, स्वयं ब्रह्मका अंश जीवभावसे वहां पहुंचता है। इस ब्रह्मके अंशके साथ सब अन्य देव अपने अपने स्थानमें रहते हैं और वहांके अवयव अपने रहने योग्य बना देते हैं। हरएक स्थानमें योग्य सुरक्षा बनाते हैं और वहां ठीक रीतिसे रहते हैं। जो ब्रह्मका अंश जीवभावसे शरीरमें आता है वही इस शरीरमें प्रजापति-संज्ञक जीवात्मा होकर सबका पालन करता है। जब तक यह इस शरीरमें रहता है, तभीतक अन्य देवोंका निवास यहां रहता है। जब यह ब्रह्मांश शरीरको छोड देता है, तब अन्य देव भी छोडकर उसके साथ चले जाते हैं। इसलिये इनका पालक होनेसे शरीरमें यही प्रजापति कहलाता है।

मनुष्यके शरीरमें सूर्य आंख बना है, वायु प्राण बना है और अन्य देव अन्य इंद्रियस्थानोंमें रहे हैं। यहां सबको उष्णता देनेका कार्य अग्नि कर रहा है। [मं० ३१] जब अग्निदेव अपना कार्य स्थगित करता है, तब यह शरीर ठंडा हो जाता है और अन्यान्य देव यहां रहनेमें असमर्थ हो जाते हैं।

जैसी गौवें गोशालामें यथाक्रम रहती हैं, उसी तरह सब देवताएं इस शरीरमें यथाक्रम रहती हैं। जहां जिस देवताने रहना योग्य है वहीं वह देवता रहती है। ये सब देवताएं मानो गौवें हैं और ये सब गौवें इस शरीररूपी गोशालामें रहती हैं। इन सब देवतारूपी गौवोंका एक गवालिया है, उसका नाम आत्मा है, जो ब्रह्मका अंश यहां रहा है। इसका चित्र इस तरह हो सकता है—

ब्रह्म
इन्द्र, वरुण, सूर्य, वायु, अग्नि आदि सब देव।

बडी गोशाला—विश्व--विराट्।

इस तरह यह गोशालाका वर्णन है। यह गोशाला अपना शरीर ही है। इसमें सब इंद्रियोंके स्थानके देव गोरूपी हैं और उनका अधिष्ठाता आत्मा उनका गवालिया, गोपाल, भगवान् है। वही अंशरूपसे यहां आया है और सबका तारण कर रहा है। इसी कारण इस पुरुषको [इदं ब्रह्म] 'यह ब्रह्म है' ऐसा कहते हैं। क्योंकि सब देवताएं इसके आधीन रहती हैं। [मं० ३२]

यहां गौओं और गोपालका विचार पाठक मननपूर्वक देख सकते हैं।

इस पुरुषमें तीन भाग हैं। एक भागसे यहांके पार्थिव भोग भोगे जाते हैं, दूसरे भागसे दिव्य सुख प्राप्त किया जाता है और तीसरे भागसे दोनोंका संबंध जोडा जाता है। [मं० ३३] ये तीन भाग स्थूल सूक्ष्म कारण नामसे प्रसिद्ध हैं।

जीवात्मा
देवतांश मन, आंख, प्राण, वाणी आदि देवोंके अंश।

छोटी गोशाला--देह।

जब गर्भाशयमें वीर्यबिंदु चला जाता है, तब वहां रजमें वह स्थिर होकर गर्भ बढने लगता है। वहां बुद्बुदावस्था होनेसे जलमें शव तैरनेके समान वहां गर्भ बढने लगता है। उसके चारों ओर एक प्रकारका जल रहता है। इस जलसे उसकी रक्षा होती है। इस जलमें यह रहनेके कारण ही इसको शव अथवा [के-शव] उदकमें शवरूप कहा जाता है। [मं० ३४]

इस तरह यह शरीररचना देवोंका एक विलक्षण कार्य है। यह अद्भुत रचना है, यह आश्चर्यमयी घटना है, यही देवोंका मन्दिर है और यहां सप्त ऋषियोंका आश्रम है। हरएक मनुष्यको यह प्राप्त हुआ है। इसको अपनी तपस्यासे उन्नत करें और साधक अपना जीवन सफल करें।

युद्धकी तैयारी ।

[९]

(ऋषि—कांकायनः । देवता- अर्बुदिः)

ये बाहवो या इषवो धन्वनां वीर्याणि च । असीन् परशूनायुधं चित्ताकूतं च यद्धृदि ।
सर्वं तदर्बुदे त्वममित्रेभ्यो दृशे कुरूदारांश्च प्र दर्शय ॥१॥
उत्तिष्ठत सं नह्यध्वं मित्रा देवजना यूयम् । संदृष्टा गुप्ता वः सन्तु या नो मित्राण्यर्बुदे ॥२॥
उत्तिष्ठतमा रभेथामादानसंदानाभ्याम् । अमित्राणां सेना अभि धत्तमर्बुदे ॥३॥
अर्बुदिर्नाम यो देव ईशानश्च न्यर्बुदिः । याभ्यामन्तरिक्षमावृतमियं च पृथिवी मही ।
ताभ्यामिन्द्रमेदिभ्यामहं जितमन्वेमि सेनया ॥४॥
उत्तिष्ठ त्वं देवजनार्बुदे सेनया सह । भञ्जन्नमित्राणां सेनां भोगेभिः परि वारय ॥५॥
सप्त जातान् न्यर्बुद उदाराणां समीक्षयन् । तेभिष्ट्वमाज्ये हुते सर्वैरुत्तिष्ठ सेनया ॥६॥

अर्थ—हे (अर्बुद) शत्रुका नाश करनेवाले ! (ये बाहवः) जो बाहु हुए हैं, (याः इषवः) जो बाण हैं, जो (धन्वनां वीर्याणि) शस्त्रधारियोंके पराक्रम हैं, तथा (असीन् परशून् आयुधं) तलवारों, फरसों और आयुधोंको तथा (यत् हृदि चित्ताकूतं च) जो हृदयमें संकल्प हैं, (तत् सर्वं) उस सबको (त्वं अमित्रेभ्यः दृशे कुरु) तू शत्रुओंको भीति दिखानेके लिये तैयार कर और (उदारान् च प्रदर्शय) बडे बडे स्फोटक अस्त्र शत्रुओंको दिखा॥ १ ॥

हे (मित्राः देवजनाः) मित्रो ! और हे देवजनो ! (यूयं उत्तिष्ठत) तुम उठो, (सं नह्यध्वं) तैयार हो जाओ। हे (अर्बुदे) शत्रुके नाश करनेवाले ! (या नः मित्राणि) जो हमारे मित्र हैं, उनको तुम ध्यानमें रखो और (वः संदृष्टा गुप्ताः सन्तु) तुम्हारे सब सैनिक देखे हुए और सुरक्षित हों ॥ २ ॥

हे (अर्बुदे) शत्रुविनाशक ! (उत्तिष्ठतं आरभेथां) उठो, युद्धका प्रारंभ करो, (आदान--संदानाभ्यां) पकड पकड करके (अमित्राणां सेनाः अभिधत्तं) शत्रुओंकी सेनाओंको घेर लो ॥ ३ ॥

(यः अर्बुदिः नाम देवः) जो अर्बुदि नामक सेनाध्यक्ष है, और (यः न्यर्बुदिः ईशानः) जो न्यर्बुदि नामक सेनाका मुखिया है। (याभ्यां अन्तरिक्षं आवृतं) जिन्होंने अन्तरिक्ष घेरा हुआ है, (इयं च मही पृथिवी) यह बडी पृथिवी भी व्याप्त हुई है। (ताभ्यां इन्द्रमेदिभ्यां सेनया जितं इति अहं अन्वेमि) उन इन्द्र और मेदिके द्वारा सेनासे शत्रुको जीत लिया, अतः उनके पश्चात् मैं जाता हूं ॥ ४ ॥

हे (देवजन अर्बुदे) देवजन-शत्रुविध्वंसक ! (त्वं सेनया सह उत्तिष्ठ) तू सेनाके साथ उठ। (अमित्राणां सेनां) शत्रुओंकी सेनाको (भोगेभिः भञ्जन् परिवारय) अपनी पकडोंसे घेर करके नष्ट कर ॥ ५ ॥

हे (न्यर्बुदे) शत्रुविध्वंसक! (उदाराणां सप्त जातान् समीक्षयन्) स्फोटक अस्त्रोंके सात प्रकारोंको देखकर (आज्ये हुते) घृतकी आहुति देते ही (तेभिः सर्वैः सेनया त्वं उत्तिष्ठ) उन सबको साथ लेकर अपनी सेनाके साथ तू उठ॥ ६ ॥

प्रतिघ्नानाश्रुमुखी कृधुकर्णी च क्रोशतु । विकेशी पुरुषे हते रदिते अर्बुदे तव ॥७॥
संकर्षन्ती करूकरं मनसा पुत्रमिच्छन्ती । पतिं भ्रातरमात्स्वान् रदिते अर्बुदे तव ॥८॥
अलिक्लवा जाष्कमदा गृध्राः श्येनाः पतत्रिणः ।
ध्वाङ्क्षाः शकुनयस्तृप्यन्त्वमित्रेषु समीक्षयन् रदिते अर्बुदे तव ॥९॥
अथो सर्वं श्वापदं मक्षिका तृप्यतु क्रिमिः । पौरुषेयेऽधि कुणपे रदिते अर्बुदे तव ॥१०॥(२५)
आ गृह्णीतं सं बृहतं प्राणापानान् न्यर्बुदे ।
निवाशा घोषाः सं यन्त्वमित्रेषु समीक्षयन् रदिते अर्बुदे तव ॥११॥
उद् वेपय सं विजन्तां भियामित्रान्त्सं सृज । उरुग्राहैर्बाह्वङ्कैर्विध्यामित्रान् न्यर्बुदे ॥१२॥
मुह्यन्त्वेषां बाहवश्चित्ताकूतं च यद्धृदि । मैषामुच्छेषि किं चन रदिते अर्बुदे तव ॥१३॥
प्रतिघ्नानाः सं धावन्तूरः पटूरावाघ्नानाः ।
अघारिणीर्विकेश्यो रुदत्यः पुरुषे हते रदिते अर्बुदे तव ॥१४॥

अर्थ- हे (अर्बुदे) शत्रुनाशक वीर ! (तव रदिते) तेरे आक्रमणमें (पुरुष हते) शत्रुके वीर मरनेपर, उसकी स्त्री (विकेशी कृधुकर्णी) बालोंको खोलकर आभूषणरहित कानोंसे (अश्रुमुखी प्रतिघ्नाना) आंसुओंसे भरे हुए मुखसे छाती पीटती हुई, (क्रोशतु) बडा आक्रोश करे ॥ ७ ॥

हे (अर्बुदे) शत्रुनाशक वीर ! (तव रदिते) तेरे आक्रमण होनेपर (करूकरं संकर्षन्ती) हाथ पैर घिसती हुई, (मनसा पुत्रं इच्छन्ती) मनसे पुत्रकी कामना करनेवाली, (पतिं भ्रातरं आत् स्वान्) पति, भाई और अपने बांधवोंका हित चाहनेवाली शत्रुका पत्नी खूब रोवे ॥ ८ ॥

हे (अर्बुदे) शत्रुनाशक ! (तव रदिते) तेरे द्वारा शत्रुपर आक्रमण होनेपर (अलिक्लवाः जाष्कमदाः) भयानक बडे बडे मांस खानेवाले पक्षी (गृध्राः श्येनाः पतत्रिणः) गीध, श्येन आदि पक्षी (ध्वाङ्क्षाः शकुनयः) कौवे और शकुनि पक्षी (अमित्रेषु तृप्यन्तु) शत्रुकी मृत सेनाका मांस खाकर तृप्त हों, यह तू (समीक्षयन्) देखता रह॥ ९ ॥

हे (अर्बुदे) शत्रुघातक वीर ! (तव रदिते) तेरे द्वारा शत्रुपर आक्रमण होनेपर (पौरुषेये कुणपे अधि) शत्रुके पुरुषोंके मुर्दोंपर (अथो सर्वं श्वापदं) सब जानवर (मक्षिकाः कृमिः तृप्यतु) मक्खियां और कीडे सब तृप्त हो जांय ॥ १० ॥

हे [अर्बुदे, न्यर्बुदे] शत्रुघातक वीरो ! [तव रदिते] तेरे शत्रुपर आक्रमण होनेपर [समीक्षयन्] और देख देखकर हमला होनेपर, [प्राणापानान् बृहन्तं सं आगृह्णीतं] शत्रुके प्राणोंको पकडो और बडा हमला करो । उससे [अमित्रेषु निवाशाः घोषाः सं यन्तु] शत्रुओंमें बडा कोलाहल मच जावे ॥ ११ ॥

हे (अर्बुदे) शत्रुघातक वीरो ! (अमित्रान् उद्वेपय) शत्रुओंको भयभीत करो । (सं विजन्तां) शत्रु भयसे भागने लग जांय ! (भिया संसृज) शत्रु भयभीत हों । (उरुग्राहैः बाह्वङ्कैः अमित्रान् विध्य) बडे पकडवाले बाहुओंसे फेंकनेयोग्य शस्त्रोंसे शत्रुओंको मार ॥ १२ ॥

हे (अर्बुदे) शत्रुघातक वीर ! (तव रदिते) तेरे आक्रमण होनेपर (एषां बाहवः मुह्यन्तु) इनकी बाहुएं शिथिल हो जांय, (यत् हृदि चित्ताकूतं च) जो हृदयके संकल्प हों वे निःसत्त्व बनें, (एषां किंचन मा उच्छेषि) इन शत्रुओंमेंसे कोई भी न बचे ॥ १३ ॥

हे (अर्बुदे) शत्रुनाशक वीर ! (तव रदिते) तेरे आक्रमण होनेपर (पुरुषे हते) शत्रुके वीर पुरुष मरनेपर उनकी स्त्रियां (उरः प्रतिघ्नानाः) छाती पीटती हुई, (पटूरौ आघ्नानाः) जंघाओंको ठोकती हुई (अघारिणी विकेश्यः रुदत्यः) तेल न लगाकर बालोंको न समेटती हुई रोती रहें ॥ १४ ॥

अन्वतीरप्सरसो रूपका उतार्बुदे । अन्तःपात्रे रेरिहतीं रिशां दुर्णिहितैषिणीम् ।
सर्वास्ता अर्बुदे त्वममित्रेभ्यो दृशे कुरूदारांश्च प्र दर्शय ॥१५॥
खडूरेऽधिचङ्क्रमां खर्विकां खर्ववासिनीम् । य उदारा अन्तर्हिता गन्धर्वाप्सरसश्च ये ।
सर्पा इतरजना रक्षांसि ॥१६॥
चतुर्दंष्ट्रांछ्यावदतः कुम्भमुष्काँ असृङ्मुखान् । स्वभ्यसा ये चोद्भ्यसाः ॥१७॥
उद् वेपय त्वमर्बुदेऽमित्राणाममूः सिचः । जयांश्च जिष्णुश्चामित्राँ जयतामिन्द्रमेदिनौ ॥१८॥
प्रब्लीनो मृदितः शयां हतोऽमित्रो न्यर्बुदे ।
अग्निजिह्वा धूमशिखा जयन्तीर्यन्तु सेनया ॥१९॥
तयार्बुदे प्रणुत्तानामिन्द्रो हन्तु वरंवरम् । अमित्राणां शचीपतिर्मामीषां मोचि कश्चन ॥२०॥(२६)
उत्कसन्तु हृदयान्यूर्ध्वः प्राण उदीषतु । शौष्कास्यमनु वर्ततामामित्रान् मोत मित्रिणः ॥२१॥
ये च धीरा ये चाधीराः पराञ्चो बधिराश्च ये । तमसा ये च तूपरा अथो बस्ताभिवासिनः ।
सर्वांस्ताँ अर्बुदे त्वममित्रेभ्यो दृशे कुरूदारांश्च प्रदर्शय ॥२२॥

अर्थ-हे (अर्बुदे) शत्रुनाशक वीर ! (अन्वतीः रूपकाः अप्सरसः) कुत्तोंको साथ लेकर चलनेवाली स्त्रियां, (उत) और (अन्तः पात्रे रेरिहती रिशां) बर्तनके अन्दर चाटनेवाली हिंसक स्वभाववाली (दुर्णिहितैषिणी) दुष्ट दृष्टिवाली कुत्तियां (सर्वाः ताः त्वं अमित्रेभ्यः दृशे कुरु) ये सब तू शत्रुओंको दिखानेके लिये तैयार कर और (उदारान् च प्रदर्शय) स्फोटक अस्त्र भी दिखा ॥ १५ ॥

(ख-डूरे अधि चंक्रमां) आकाशमें घूमनेवाली (खर्विकां खर्ववासिनीं) छोटी और छोटे स्थानपर रहनेवाली हिंस्र पक्षिकाको दिखा । (ये अन्तर्हिताः उदाराः) जो छिपाकर रखे हुए स्फोटक अस्त्र हैं उनका प्रयोग कर । (ये गन्धर्वाप्सरसः च सर्पाः इतरजनाः रक्षांसि) गंधर्व, अप्सरा, सर्प, राक्षस और इतर लोग हैं, तथा जो (चतुर्दंष्ट्रान् श्यावदतः) चार दाढोंवाले, काले दांतोंवाले, (कुम्भमुष्कान् असृङ्मुखान) घडेके समान अण्डवाले और मुंहसे रक्त गिरानेवाले, (ये स्वभ्यसाः ये च उद्भ्यसाः) जो भयभीत होनेवाले और डरानेवाले हैं, उन सबको शत्रुओंको दिखा ॥ १६-१७ ॥

हे अर्बुदे ! (त्वं अमित्राणां चमूः सिचः उद्वेपय) तू इन शत्रुओंके सेनासमूहोंको कंपायमान कर । (जिष्णुः अमित्रान् जयान्) जयशील वीर शत्रुओंको जीते और (इन्द्रमेदिनौ जयतां) राजा और मित्र दोनों विजयी हों ॥ १८ ॥

हे अर्बुदे ! (अमित्रः प्रब्लीनः मृदितः हतः शयां) शत्रु घेरा जाकर काटा हुआ मर जाय । अपनी (सेनया अग्निजिह्वाः धूमशिखाः जयन्तीः यन्तु) सेनाके साथ अग्निकी ज्वालाएं और धूमकी शिखाएं विजय करती हुई चलें ॥ १९ ॥

हे अर्बुदे ! (तया प्रणुत्तानां अमित्राणां) उस सेनासे भगाए गये शत्रुओंके (वरं वरं शचीपतिः इन्द्रः हन्तु) मुख्य वीरोंको समर्थ वीर मार डाले (अमीषां कः चन मा मोचि) उनमेंसे कोई भी न बचे ॥ २० ॥

(हृदयानि उत्कसन्तु) शत्रुओंके हृदय उखड जांय, (प्राणः ऊर्ध्वः उदीषतु) शत्रुका प्राण ऊपर ही ऊपर चला जाय, (अमित्रान् शौष्कास्यं अनुवर्तता) शत्रुओंके मुख सूख जांय । परंतु (मित्रिणः मा उत) हमारे मित्रोंको यह कष्ट न हो ॥ २१ ॥

हे अर्बुदे ! (ये च धीराः ये च अधीराः) जो धैर्यवाले और जो भीरु हैं, (ये पराञ्चः ये च बधिराः) जो दूर भागनेवाले और जो बधिर हैं, (तमसा ये च तूपराः) अन्धकारसे जो घेरे हुए हैं, (अथो बस्ताभिवासिनः) और जो बकरोंके समान गुजारा करनेवाले हैं (सर्वान् तान् त्वं अमित्रेभ्यः दृशे कुरु) उन सबको तू शत्रुओंको दिखानेके लिये आगे कर, और (उदारान् च प्रदर्शय) स्फोटक अस्त्रोंको शत्रुओंके प्रति दिखा ॥ २२ ॥

श्वन्वतीरप्सरसो रूपका उतार्बुदे। अन्तःपात्रे रेरिहतीं रिशां दुर्णिहितैषिणीम्।
सर्वास्ता अर्बुदे त्वममित्रेभ्यो दृशे कुरूदारांश्च प्र दर्शय ॥१५॥
खडूरेऽधिचङ्क्रमां खर्विकां खर्ववासिनीम्। य उदारा अन्तर्हिता गन्धर्वाप्सरसश्च ये।
सर्पा इतरजना रक्षांसि ॥१६॥
चतुर्दंष्ट्रांछ्यावदतः कुम्भमुष्काँ असृङ्मुखान्। स्वभ्यसा ये चोद्भ्यसाः ॥१७॥
उद् वेपय त्वमर्बुदेऽमित्राणाममूः सिचः। जयांश्च जिष्णुश्चामित्राँ जयतामिन्द्रमेदिनौ ॥१८॥
प्रव्लीनो मृदितः शयां हतोऽमित्रो न्यर्बुदे।
अग्निजिह्वा धूमशिखा जयन्तीर्यन्तु सेनया ॥१९॥
तयार्बुदे प्रणुत्तानामिन्द्रो हन्तु वरंवरम्। अमित्राणां शचीपतिर्मामीषां मोचि कश्चन॥२०॥(२६)
उत्कसन्तु हृदयान्यूर्ध्वः प्राण उदीषतु। शौष्कास्यमनु वर्ततामामित्रान् मोत मित्रिणः ॥२१॥
ये च धीरा ये चाधीराः पराञ्चो बधिराश्च ये। तमसा ये च तूपरा अथो बस्ताभिवासिनः।
सर्वांस्ताँ अर्बुदे त्वममित्रेभ्यो दृशे कुरूदारांश्च प्रदर्शय ॥२२॥

अर्थ-हे (अर्बुदे) शत्रुनाशक वीर ! (श्वन्वतीः रूपकाः अप्सरसः) कुत्तोंको साथ लेकर चलनेवाली स्त्रियां, (उत) और (अन्तः पात्रे रेरिहती रिशां) बर्तनके अन्दर चाटनेवाली हिंसक स्वभाववाली (दुर्णिहितैषिणीं) दुष्ट दृष्टिवाली कुत्तियां (सर्वाः ताः त्वं अमित्रेभ्यः दृशे कुरु) ये सब तू शत्रुओंको दिखानेके लिये तैयार कर और (उदारान् च प्रदर्शय) स्फोटक अस्त्र भी दिखा ॥ १५ ॥

(ख- डूरे अधि चंक्रमां) आकाशमें घूमनेवाली (खर्विकां खर्ववासिनीं) छोटी और छोटे स्थानपर रहनेवाली हिंस पक्षिकाको दिखा। (ये अन्तर्हिताः उदाराः) जो छिपाकर रखे हुए स्फोटक अस्त्र हैं उनका प्रयोग कर। (ये गन्धर्वाप्सरसः च सर्पाः इतरजनाः रक्षांसि) गंधर्व, अप्सरा, सर्प, राक्षस और इतर लोग हैं, तथा जो (चतुर्दंष्ट्रान् श्यावदतः) चार दाढोंवाले, काले दांतोंवाले, (कुम्भमुष्कान् असृङ्मुखान) घडेके समान अण्डवाले और मुंहसे रक्त गिरानेवाले, (ये स्वभ्यसाः ये च उद्भ्यसाः) जो भयभीत होनेवाले और डरानेवाले हैं, उन सबको शत्रुओंको दिखा ॥ १६-१७ ॥

हे अर्बुदे ! (त्वं अमित्राणां चमूः सिचः उद्वेपय) तू इन शत्रुओंके सेनासमूहोंको कंपायमान कर। (जिष्णुः अमित्रान् जयान्) जयशील वीर शत्रुओंको जीते और (इन्द्रमेदिनौ जयतां) राजा और मित्र दोनों विजयी हों ॥ १८ ॥

हे अर्बुदे ! (अमित्रः प्रव्लीनः मृदितः हतः शयां) शत्रु घेरा जाकर काटा हुआ मर जाय। अपनी (सेनया अग्निजिह्वाः धूमशिखाः जयन्तीः यन्तु) सेनाके साथ अग्निकी ज्वालाएं और धूमकी शिखाएं विजय करती हुई चलें ॥ १९ ॥

हे अर्बुदे ! (तया प्रणुत्तानां अमित्राणां) उस सेनासे भगाए गये शत्रुओंके (वरं वरं शचीपतिः इन्द्रः हन्तु) मुख्य वीरोंको समर्थ वीर मार डाले (अमीषां कः चन मा मोचि) उनमेंसे कोई भी न बचे ॥ २० ॥

(हृदयानि उत्कसन्तु) शत्रुओंके हृदय उखड जांय, (प्राणः ऊर्ध्वः उदीषतु) शत्रुका प्राण ऊपर ही ऊपर चला जाय, (अमित्रान् शौष्कास्यं अनुवर्ततां) शत्रुओंके मुख सूख जांय। परंतु (मित्रिणः मा उत) हमारे मित्रोंको यह कष्ट न हो ॥ २१ ॥

हे अर्बुदे ! (ये च धीराः ये च अधीराः) जो धैर्यवाले और जो भीरू हैं, (ये पराञ्चः ये च बधिराः) जो दूर भागनेवाले और जो बधिर हैं, (तमसा ये च तूपराः) अन्धकारसे जो घेरे हुए हैं, (अथो बस्ताभिवासिनः) और जो बकरोंके समान गुजारा करनेवाले हैं (सर्वान् तान् त्वं अमित्रेभ्यः दृशे कुरु) उन सबको तू शत्रुओंको दिखानेके लिये आगे कर, और (उदारान् च प्रदर्शय) स्फोटक अस्त्रोंको शत्रुओंके प्रति दिखा ॥ २२ ॥

अर्बुदिश्च त्रिषन्धिश्चामित्रान् नो वि विध्यताम् ।
यथैषामिन्द्र वृत्रहन् हनाम शचीपतेऽमित्राणां सहस्रशः ॥ २३ ॥

वनस्पतीन् वानस्पत्यानोषधीरुत वीरुधः ।
गन्धर्वाप्सरसः सर्पान् देवान् पुण्यजनान् पितॄन् ।
सर्वांस्ताँ अर्बुदे त्वममित्रेभ्यो दृशे कुरूदारांश्च प्र दर्शय ॥ २४ ॥

ईशां वो मरुतो देव आदित्यो ब्रह्मणस्पतिः ।
ईशां व इन्द्रश्चाग्निश्च धाता मित्रः प्रजापतिः ।
ईशां व ऋषयश्चक्रुरमित्रेषु समीक्षयन् रदिते अर्बुदे तव ॥ २५ ॥

तेषां सर्वेषामीशाना उत्तिष्ठत सं नह्यध्वं मित्रा देवजना यूयम् ।
इमं संग्रामं संजित्य यथालोकं वि तिष्ठध्वम् ॥२६॥ (२७)

अर्थ- (अर्बुदिः च त्रिषन्धिः च) अर्बुदि और त्रिसन्धि ये हमारे वीरनायक, (नः अमित्रान् विविध्यतां) हमारे शत्रुओंको मार दें। (वृत्रहन् शचीपते इन्द्र) हे वृत्रनाशक शचीपते इन्द्र प्रभो! [यथा एषां अमित्राणां सहस्रशः हनाम] इन शत्रुओंको सहस्रों की संख्यामें हम मार दें ॥२३॥

हे अर्बुदे! वनस्पतियों और वनस्पतिसे बने पदार्थों औषधियों, लताओं, गंधर्व, अप्सरा, सर्प, देव, पुण्यजन और पितरोंको तू [अमित्रेभ्य दृशे कुरु] शत्रुओंको दिखा और [उदारान् च प्रदर्शय] स्फोटक अस्त्रोंको प्रदर्शित कर, जिससे शत्रु डर जांय ॥ २४ ॥

हे अर्बुदे [तव रदिते] तुम्हारा आक्रमण होनेपर [अमित्रेषु समीक्षयन्] शत्रुओंका निरीक्षण करनेके पश्चात् हमारे शत्रुओंके ऊपर [मरुतः देवः आदित्य ब्रह्मणस्पतिः] आदित्य देव, बृहस्पति और मरुत [ईशां चक्रुः] अधिकार करें। इन्द्र, अग्नि, धाता, मित्र, प्रजापति ये देव [वः । ईशां चक्रुः] तुम शत्रुओंपर शासन करें। (ऋषयः) ऋषिलोग [ईशां चक्रुः] शासन करें ॥२५॥

हे [मित्राः] मित्रो, हे [देवजनाः] देवजनो! [यूयं तेषां सर्वेषां ईशानाः] तुम उन सब शत्रुओंके अधिपति हो [उत्तिष्ठत सं नह्यध्वं] उठो, तैयार हो जाओ। [इमं संग्रामं संजित्य] इस युद्धमें उत्तम प्रकार जय प्राप्त करके [यथालोकं वितिष्ठध्वं] अपने अपने देश जाकर सुखसे रहो ॥ २६ ॥

युद्धकी नीति

वेदमें युद्ध—विषयक अनेक सूक्त हैं और अनेक सूक्तोंमें युद्धविषयक निर्देश हैं। इसी प्रकारका यह सूक्त है। इसका देवता "अर्बुद" है। "अर्बुद" शब्द संख्यावाचक है, वैसाही न्यर्बुद भी है।

अर्बुद १०,००,००,०००
न्यर्बुद१,००,००,००,०००

इस तरह यह संख्या मानी गयी है। अर्बुदसे दस गुना न्यर्बुद है। दस कोटी संख्या अर्बुदमें और सौ कोटी न्यर्बुदमें होता है। कईयोंके मतसे दोनों संख्याका समान अर्थ दस कोटी ही होता है। कुछ भी हो दस कोटी संख्यावाचक ये शब्द हैं; इसमें संदेह नहीं है।

इतनी सेना किसी सेनापतिके आधीन रहेगी, ऐसा प्रतीत नहीं होता। दस बीस लाख सेनाको सेनापति चलाता है, ऐसे उदाहरण इतिहासमें हैं। अतः यहांतक इस संख्याको मर्यादित समझना चाहिये ऐसा कई कहते हैं। इनके मतसे 'अर्बुद' शब्दसे 'एक लाख सेना' समझी जाय और "न्यर्बुद" शब्दसे "दस लाख सेना' मानी जाय। परंतु यह एक मत है, इसके लिये कोई विशेष प्रमाण नहीं है।

जिस सेनापतिके आधीन जितनी सेना होती है,उसको वैसा नाम मिलता है। अर्थात् जिसके पास अर्बुद सेना हो उसका नाम "अर्बुदी" और जिसके पास न्यर्बुद सेना हो उसका नाम "न्यर्बुदी" होना स्वाभाविक है। अतः ये नाम सेना-पतिके वाचक हैं। श्री० सायणाचार्य कहते हैं कि, ये नाम सर्प के वाचक हैं—

अर्बुदः काद्रवेयः सर्पऋषिर्मन्त्रकृत्।
(ऐ० ब्रा० ६।१।)

इस वचनके अनुसार अर्बुद कद्रुका पुत्र सर्पजातिका ऋषि है, उसके दो पुत्र थे, एक अर्बुदि और दूसरा न्यर्बुदि। ऐसा माननेपर भी ये सेनापति थे, ऐसाही मानना पडता है।

अर्थात् अर्बुदि और न्यर्बुदि ये नामस्वपक्षके सेनापतियोंके हैं, इसमें सन्देह नहीं है। हमारे विचारसे इन शब्दोंके निश्चित अर्थोंके विषयमें अभी बहुत खोजकी आवश्यकता है। तबतक सूक्तके पूर्वापर संबंधसे हम इनको विशेष अधिकारके शूर सेनापति ही समझते हैं। इस सूक्तका अर्थ ध्यानमें आनेके लिये ऐसा समझ लीजिये कि, एक राजा है, उसके पास इस तरहके सैनिक और सेनापति हैं और शत्रुसे युद्ध छिड गया है। इस अव-स्थामें क्या करना चाहिये यह उपदेश यहां है।

"अपने सैनिकोंका जो बाहुबल है, उसके पास जो धनुष्य, बाण,परशु,तलवार आदि आयुधसमूह है, उन सबकी ऐसे ढंगसे रचना करो कि उनको देखकर ही शत्रु भयभीत हो जाय।' [मं. १]अपने सैन्यकी और अपने शस्त्रास्त्रोंकी सुसज्जता ऐसी करनी चाहिये और उसका प्रभाव शत्रुपर ऐसा पडना चाहिये कि शत्रु युद्ध करनेके लिये खडा तक न रहे। जो अपने मनके संकल्प हैं, जिस कारण युद्धके क्षेत्रमें उतरना पडता है, वह सब ऐसी योजनासे जगत्में उद्घोषित करना चाहिये कि, जिससे जनता-को पता लगे कि शत्रुके पक्षमें ही बडा भारी दोष है और अपना पक्ष निर्दोषी है, परंतु धर्मरक्षाके लिये ही हमें युद्ध करना आवश्यक हुआ है। इस ढंगसे जनताके मनमें शत्रुका पक्ष अत्यंत निर्बल होता है और अपने पक्षको जनताकी अनुकूल संमति मिलती है। युद्धमें जय मिलनेके लिये इसकी बडी भारी आवश्यकता है।

पांडवोंका सैन्यबल कम था और कौरवोंका अधिक था। शस्त्रास्त्र-बल भी पाण्डवोंकी अपेक्षा कौरवोंका ही अधिक था। तथापि कौरवोंकी निंदा जनतामें इतनी हो चुकी थी कि वे जनताकी दृष्टिमें मर चुके थे। इसका लाभ पाण्डवोंको मिल गया। यहीं युद्धनीतिकी बात इस मंत्रमें सूचित की है। जिसको परास्त करना है, उसपर अपने शस्त्रास्त्रसाधनोंका प्रभाव जमाना चाहिये और मनके संकल्पोंसे भी उसे जीतना चाहिये। इस प्रकारकी जीत होनेके पश्चात् युद्धमें प्रत्यक्ष रणक्षेत्रपर जीत होनेकी संभावना हो सकती है।

शत्रुको अपने "उदारों' का प्रदर्शन कराना चाहिये। उदार नामक वे अस्त्र हैं कि जो शत्रुपर दूरसे फेंके जाते हैं और वे वहां गिरकर शत्रुका भयंकर नाश करते हैं। जैसे बारूदके पात्र होते हैं, उनको आग लगानेसे जलती है और

अंधेरेमें उस बारूदके ज्वलनका बडा वृक्षसा बाहर आता है। इसका नाम है उदार [उत्—आर], अंदरसे ऊपर फेंकना, अन्दरसे एकदम बाहर आना और चारों ओर फेंका जाना। जो अन्दरसे बाहर और ऊपरकी ओर फेंका जाता है, उसका नाम " उत्—आर " है। इस अस्त्रको शत्रुके ऊपर फेंका जानेपर वह वहां फटता है और उसके अन्दरके विनाशक पदार्थ वेगसे बाहर फेंके जाते हैं, जिससे शत्रुका नाश हो जाता है। इस तरहके उदार अनेक प्रकारके अपने पास हैं और युद्ध होनेपर इनके द्वारा शत्रुका नाश अतिशीघ्र करना हमें सुलभ है, यह बात शत्रुके हृदयमें जैसी हो वैसी स्थिर करनी चाहिये। जिससे शत्रु डरेगा और युद्धके लिये खडा ही नहीं होगा। इस दिखावेसे भी बहुत वार कार्यभाग हो सकता है।

जितना दिखावा करना होगा, उतनाही करना, परंतु अपने गुप्त शस्त्रास्त्र शत्रुको नहीं दिखाने चाहिये। क्योंकि अपने सब शस्त्रास्त्रोंका पूर्ण पता शत्रुको लगना नहीं चाहिये। अपने पास अद्भुत शस्त्रास्त्र हैं, उनसे शत्रुका विनाश शीघ्र हो सकता है, इतना ही प्रभाव शत्रुके मनपर स्थिर करना चाहिये। युद्धके विना शत्रुका नाश करनेकी यह योजना है। इन अपने उदार नामक शस्त्रास्त्रोंका प्रदर्शन करनेका उपदेश मंत्र १, १५,२२,२४ में किया है। इसका ठीक अर्थ समझना चाहिये। नहीं तो अर्थका अनर्थ होनेमें विलंब नहीं लगेगा। यहां केवल प्रदर्शन अर्थात् 'दिखावा' करना है, यह दिखावा केवल शत्रुपर अपनी शक्तिका प्रभाव जमानेके लिये ही है। जो अपनी असली सामर्थ्य है, वह इस दिखावेमें प्रदर्शित नहीं होनी चाहिये। अर्थात् दिखावा ऐसा हो कि शत्रु इस दिखावेसे ही दब जावे।

पश्चात् सब सेनाको सज्ज करके सब सेनापति तैयार रहें। किस समय लडना पडे इसका पता नहीं होता है, अतः सर्वदा संनद्ध रहना चाहिये। अपने जो मित्र राजा हैं, उनकी शक्तिका भी विचार करना चाहिये। सुरक्षितताके साथ वे अपनेको यथासमय मिलें इस विषयमें सदा दक्ष होकर कार्य करना चाहिये। (मं० २) अपने विजयकी निश्चितता होनेके लिये यह सब इसी तरह करना योग्य है।

बाहर अपनी शक्ति बडी है ऐसा प्रभाव फैलाना, उसी तरह अपनी तैयारी करना, सदा अपनी सेनाकी सज्जता रखनी और अपने मित्रदलोंकी सुरक्षितता स्थिर करनी, ये कार्य युद्धके पूर्व करनेके हैं।

जब युद्ध छिडना अपरिहार्य हो जावे, तब अपनी तैयारी करके उठना और युद्धका प्रारंभ करना। इसमें शत्रुको सोचनेकी भी फुरसत नहीं देनी चाहिये, यह विशेष सूचना मनन करने योग्य है। शत्रुके साथ जो युद्ध करना है, उसमें 'आदान और संदान' ये दो प्रकारकी युद्धविधियाँ हैं। एकसे शत्रुको एकदम चारों ओरसे घेरकर पकडना होता है और दूसरेमें मिलकर शत्रुपर एकदम हल्ला करना होता है। इस तरहके युद्धसे शत्रुकी बडी सेना हुई तो भी युद्धमें विजय संपादन किया जा सकता है। जब इसतरह विजयकी संभावना हो तभी शत्रुके सामने आकर [अभिधत्त] उसपर चढाई करनी चाहिये। (मं०३) इस मंत्रके शब्दोंका मनन करनेसे युद्धकी नीतिका पता लग सकता है।

एक बडा सेनापति है और दूसरा उसके नीचे कार्य करनेवाला है। ये दोनों मिलकर पृथ्वी और आकाशमें ऐसा पराक्रम करें कि वहांके शत्रु पूर्णतासे उखड जांय। पृथ्वीके ऊपर पैदल, घुडसवार और रथियोंसे युद्ध होगा, आकाशमें विमानोंसे युद्ध होगा और पहाडोंपर तथा पर्वतशिखरोंपर तोपोंसे युद्ध होगा। जहां जिससे युद्ध करना हो, वहां उसका युद्ध अत्यंत कुशलताके साथ करके अपनी विजय और शत्रुकी पराजय करनी चाहिये। इस तरहसे विजय प्राप्त करनेके पश्चात् राजा अपनी सेनाके साथ शत्रुसे प्राप्त किये प्रदेशमें प्रवेश करे। (सेनया अहं अन्वेमि) सेनासे मैं राजा उस स्थानमें प्रवेश करता हूं। राजा ऐसा ही करे। पूर्ण विजय होनेके पूर्व कभी शत्रुके प्रदेशमें राजा प्रविष्ट न हो। (मं० ४) क्योंकि राजापर ही राष्ट्रका सौभाग्य अवलंबित होता है। यदि राजा असावधानीसे शत्रुके प्रदेशमें गया और वहां बंधनमें फंस गया तो सब सेनाका पराभव और राष्ट्रकी मानहानि होना संभव है। इसलिये अपनी पूर्ण जय होनेपर, वह शत्रुप्रदेश अपने अधिकारमें पूर्णतासे आ चुकनेपर और कोई डर न रहे तभी राजाने अपनी सुरक्षितताके लिये अपनी विश्वास रखने योग्य सेना अपने साथ लेकर उस विजित प्रदेशमें प्रवेश करना चाहिये। राजाकी सुरक्षिततापर ही सब कुछ अवलंबित है। यहां राजा का अर्थ मुख्य राज्यशासक समझना चाहिये।

योग्य समयपर सेनाका (उत्थान) उठाव करना, चढाई की

तैयारी करके उठना और शत्रुकी सेनाको ऐसा घेरना कि जैसा सांप या अजगर किसीसे लिपट जाता है। और इस तरह शत्रुको घेर घेरकर, चिपटकर, लपटकर, मारना चाहिये। सेनाको चारों ओरसे घेरना, अपनी सेना इतनी अधिक रखनी कि जिससे शत्रु घिर जाय। अपने सेनारूपी सांपसे शत्रुको वेष्टन करना और उसकी हलचल बंद करना, उसका अन्य जगत्से संबंध तोडना और उसको हैरान करना। [मं०५]

जो उदार नामक स्फोटक अस्त्र हैं, वे सात प्रकारके होते हैं, एक भूमिमें [अन्तर्हिताः उदाराः] गाडकर रखे जानेवाले, दूसरे पानीके अन्दर रखे जानवाले, तीसरे हाथसे फेंके जानेवाले, चौथे आकाशमें जाकर फेंके जानेवाले, पांचवे बाणपर रखकर शत्रुपर फेंके जानेवाले, छठे नदी तालाव आदि छोटे जलाशयोंमें रखे जानेवाले और सातवें पहाडोंपर काम देनेवाले। ये सात प्रकारके महाघातक विस्फोटक उदार होते हैं। जहां ये रखे जाते हैं वहां शत्रुको घेर कर लाया जाता है और शत्रु वहां आया तो इनका विस्फोटक द्रव्य फट जाता है, इनसे उद्गार निकलते हैं जो शत्रुको एकाएक छिन्नभिन्न कर देते हैं। इन सातों प्रकारोंके उदारोंको अपने पास लेकर अपनी सेनासे शत्रुपर चढाई करनी चाहिये। हवनाग्निमें घृतकी आहुतियां देकर सब सैनिकोंको सिद्ध होना चाहिये और एकदम शत्रुपर हमला प्रारम्भ होना चाहिये [मं० ६] यह प्रायः सबेरे का ही हवन है जो चढाईका सूचक है।

इस तरह सिद्ध होकर शत्रुपर हमला करनेसे शत्रु मारा जायगा, परास्त होगा, भाग जायगा अथवा ऐसा नष्ट होगा कि उसके राज्यमें स्त्रियोंको रोने और आक्रोश करनेके सिवाय दूसरा कोई कार्य रहेगा ही नहीं। [मं० ७—९] शत्रुकी सेनाके पुरुष मर जाय और क्रूर जानवर उनके प्रेत खा जांय। (म०१०) उनकी स्त्रियां छाती पीट पीटकर आक्रोश करें [मं० १४] शत्रु मारे जाय और उनमें रोने पीटनेका बडा कोलाहल मच जाय [मं० ११] ऐसा हमला किया जाय कि शत्रु भयभीत होकर भाग जाय अथवा पकडा और मारा तथा काटा जाय [मं०१२] शत्रु मोहित हो जाय और उनका कोई शेष न रहे [मं० १३] शत्रुको मुर्दे खानेवाले पशुपक्षी नोचते रहें, कुत्ते उनके मुर्दोंको खाते रहें, हिंसक क्रूर श्वापद उनके स्थानमें घूमते रहें [मं० १५]

[ख—दूरे] आकाशमें दूर ऊपर अपनी सेना जाकर शत्रुपर हमला करे [खर्वे—वासनी] निम्न स्थानमें रहनेवाली शत्रु-सेनाको ऊपरसे मारा जाय, [अन्तर्हिताः उदाराः] भूमिमें अथवा जलमें अदृश्य करके जो उद्गरणशील अस्त्र हैं उनका स्फोट होकर शत्रु मारे जांय, गंधर्व, अप्सरा, सर्प, राक्षस व इतर लोगों की सहायता लेकर शत्रुको उखाडा जाय। इस तरह शत्रुका पूर्ण पराभव किया जाय [मं० १६–१७]।

उक्त रीतिसे शत्रुका पूरा नाश किया जाय। अपनी सेनाका सर्वत्र विजय हो। [मं० १८]

शत्रुको घेरकर मारा जाय। अपनी सेना के साथ अग्निकी ज्वालाएं और धूमकी शिखाएं हों। अर्थात् ऐसे अस्त्र हों कि जिनसे अग्निकी ज्वालाएं निकले और धूंवेसे शत्रु घेरा जाय इस तरह शत्रुका नाश हो। [मं० १९]

शत्रुसेनाके [वरं वरं हन्तु] बडे बडे वीरोंको चुनचुन-कर मारा जाय और उनमें नेता कोई न रहे। उनमें कोई नेता न बचे (मं० २०)। इस तरह पराजित होनेपर शत्रु के हृदय उखड जांय, प्राण चले जांय, मुख सूख जांय, ऐसा शत्रु न बचने तक हमला होता रहे। परंतु ध्यान रहे कि अपने पक्षके लोगोंको [मित्रिणः मा] इनमेंसे कोई कष्ट न हो। [मं० २१]

धैर्यवान् और भीरु जो भी हों, जहां कहीं रहनेवाले हों, इन सबको परास्त किया जाय। शत्रुसेनाके हजारों वीर काटे जांय। वनस्पति औषधि स्फोटक पदार्थ आदि हरएक प्रकारसे शत्रुको परास्त किया जाय। [मं० २२—२४]

हमारे अग्नि, सूर्य, धाता, प्रजापति आदि तथा हमारे ऋषि और हमारे वीर शत्रुओंपर अधिकार करें, अर्थात् हमारी सभ्यताके अन्दर शत्रुकी सब जनता आकर आश्रय लेवे। अर्थात् शत्रुपर हमारा केवल भौगोलिक साम्राज्य ही न हो प्रत्युत हमारी आर्य सभ्यताका भी राज्य उनपर हो-और वे पूर्णतया हमारी सभ्यतामें आ जांय। [मं० २५]

सब हमारे सैनिक इतनी विजय संपादन करके पश्चात् अपने अपने स्थानमें जाकर विश्राम करें। उनका शत्रुओंपर स्वामित्व बना रहे। [मं० २६]

यह आशय इस सूक्तका है। आगे भी इसी प्रकार का सूक्त है, अब वह देखिये—

युद्धकी रीति।

[१० (१२)]

(ऋषिः-भृग्वंगिराः । देवता-त्रिषन्धिः)

उत्तिष्ठत सं नह्यध्वमुदाराः केतुभिः सह । सर्पा इतरजना रक्षांस्यमित्राननु धावत ॥१॥

ईशां वो वेद राज्यं त्रिषन्धे अरुणैः केतुभिः सह ।
ये अन्तरिक्षे ये दिवि पृथिव्यां ये च मानवाः ॥
त्रिषन्धेस्ते चेतसि दुर्णामान उपासताम् ॥२॥

अयोमुखाः सूचीमुखा अथो विकङ्कतीमुखाः ।
क्रव्यादो वातरंहस आ सजन्त्वमित्रान् वज्रेण त्रिषन्धिना ॥३॥

अन्तर्धेहि जातवेद आदित्य कुणपं बहु । त्रिषन्धेरियं सेना सुहितास्तु मे वशे ॥४॥

उत्तिष्ठ त्वं देवजनार्बुदे सेनया सह । अयं बलिर्व आहुतस्त्रिषन्धेराहुतिः प्रिया ॥५॥

अर्थ- हे (उदाराः) अपने जीवनपर उदार हुए वीर सैनिको ! (केतुभिः सह उत्तिष्ठत, सं नह्यध्वं) अपनी ध्वजाओंके साथ उठो और तैयार हो जावो। हे (सर्पाः इतरजनाः) सर्पो और हे अन्य लोगो ! हे (रक्षांसि) राक्षसो ! हमारे (अमित्रान् अनुधावत) शत्रुओंपर चढाई करो ॥ १ ॥

हे (त्रिषंध) त्रिषंधि वज्रयुक्त वीर ! (अरुणैः केतुभिः सह) लाल झण्डोंके साथ (ईशां वः राज्यं वेद) आप सब अधिकारियोंका यह राज्य है ऐसाही मैं मानता हूं। (ये अन्तरिक्षे, ये दिवि, पृथिव्यां च ये मानवाः) जो अन्तरिक्षमें, जो द्युलोकमें और जो पृथ्वीपर मनुष्य हैं उनमें जो(दुः-नामानः) दुष्ट नामवाले हैं, वे सब (ते त्रि-संधेः चेतसि उपासतां) त्रिषंधि वीरके चित्तमें रहें, अर्थात् वह वीर उनका योग्य विचार करे ॥ २ ॥

(त्रिषंधिना वज्रेण) तीन संधियोंवाले वज्रके साथ (अयोमुखाः सूचीमुखाः) लोहेके मुखवाले, सूईके समान नोकवाले,(अथो विकंकती मुखाः) कठोर कंघेके समान मुखवाले (क्रव्यादः वातरंहसः) मांस खानेवाले और वायुके वेगसे जानेवाले बाण (अमित्रान् आ सजन्तु) शत्रुओंपर जाकर गिरें ॥ ३ ॥

हे जातवेद आदित्य ! (बहु कुणपं अन्तः धेहि) तू शत्रुसेनाके बहुत मुर्दे भूमिमें गिरा दे । (त्रि-षंधेः इयं सेना) त्रिषंधिवज्र धारण करनेवाली यह सेना (मे वशे सुहिता अस्तु) मेरे वशमें उत्तम प्रकारसे रहे ॥ ४ ॥

हे (देवजन अर्बुदे) दिव्य जन शत्रुनाशक वीर ! (त्वं सेनया सह उत्तिष्ठ) सेनाके साथ उठ। (वः अयं बलिः आहुतः) तुम लोगोंके लिये यह शस्त्ररूपी बली लाया गया है।(त्रिषन्धेः आहुतिः प्रिया) त्रिषंधि नामक वज्रके लिये इस बलिकी आहुति अत्यंत प्रिय है ॥ ५ ॥

श्वितिपदी सं द्यतु शरव्ये॒३यं चतु॑ष्पदी । कृत्येऽमित्रे॑भ्यो भव त्रिषं॑न्धेः सह सेनया ॥६॥
धू॒माक्षी सं प॑ततु कृधुक॒र्णी च॑ क्रोशतु । त्रिषं॑न्धेः सेन॑या जि॒ते अ॑रु॒णाः स॑न्तु के॒तवः ॥७॥
अवा॑यन्तां प॒क्षिणो॒ ये वयां॑स्य॒न्तरि॑क्षे दि॒वि ये चर॑न्ति
श्वाप॑दो मक्षि॑काः सं र॑भन्तामा॒मादो॒ गृध्राः॑ कुण॑पे रदन्ताम् ॥८॥
यामिन्द्रे॑ण सं॒धां स॒मध॑त्था ब्रह्म॑णा च बृहस्पते ।
तया॒हमि॑न्द्रसं॒धया॒ सर्वा॑न् दे॒वानि॒ह हु॑व इ॒तो ज॑यत॒ मामुतः॑ ॥९॥
बृहस्पति॑राङ्गिर॒स ऋष॑यो॒ ब्रह्म॑संशिताः । असुर॒क्षय॑णं व॒धं त्रिषं॑न्धि दि॒व्याश्र॑यन् ॥१०॥ (२८)
येना॒सौ गु॒प्त आ॑दि॒त्य उ॒भावि॑न्द्र॑श्च॒ तिष्ठ॑तः ।
त्रिषं॑न्धि दे॒वा अ॑भज॒न्तौज॑से च॒ बलाय च ॥११॥
सर्वाँ॑ल्लो॒कान्त्सम॑जयन् दे॒वा आहु॑त्या॒नया॑ ।
बृ॒हस्पति॑राङ्गिरसो॒ वज्रं॒ यमसि॑ञ्चतासुर॒क्षय॑णं व॒धम् ॥१२॥
बृ॒हस्पति॑राङ्गिर॒सो वज्रं॒ यमसि॑ञ्चतासुर॒क्षय॑णं व॒धम् ।
तेना॒हम॒मूं सेनां॒ नि लि॑म्पामि बृहस्पते॒ऽमित्रा॑न् ह॒न्म्योज॑सा ॥१३॥

अर्थ-(श्वितिपदी चतुष्पदी इयं शरव्या) श्वेत पांववाली और चार पांववाली यह बाणोंकी पंक्ति शत्रुका (सं द्यतु) नाश करे । हे (कृत्ये) विनाश करनेवाले ! (त्रि-षन्धेः सेनया सह) त्रिषंधि नामक वज्र धारण करनेवाली सेनाके साथ (अमित्रेभ्यः भव) शत्रुके नाश करनेके लिये तैयार हो ॥ ६ ॥

(धूमाक्षी सं पततु) धूंवेसे आंख पीडित होकर शत्रुसेना गिर जावे, (कृधुकर्णी च क्रोशतु) कानोंमें क्लेश होकर शत्रु रोता रहे । (त्रिषन्धेः सेनया जिते) त्रिषंधिकी सेनाका जय होनेपर (अरुणाः केतवः सन्तु) लाल रंगके ध्वज खडे हो जांय ॥ ७॥

(ये दिवि अन्तरिक्षे च चरन्ति) जो द्युलोक और अन्तरिक्षलोकमें संचार करते हैं वे (वयांसि अव-अयन्तां) पक्षी इस ओर आ जांय । (श्वापदः मक्षिकाः सं रभन्तां) हिंस्र पशु, मक्खियां शत्रुके मुर्दे खाने लग जांय। (आमादः गृध्राः कुणपे रदन्तां) कच्चा मांस खानेवाले गीध मुर्दोंको खा जांय ॥ ८ ॥

हे बृहस्पते ! (इन्द्रेण ब्रह्मणा च यां संधां) इन्द्र और ब्रह्माके द्वारा जिस संधिको (समधत्थाः) किया था । (तया इन्द्र संधया अहं सर्वान् देवान्) उस इन्द्रकी संधिसे मैं सब देवोंको (इह हुवे) यहां बुलाता हूं और कहता हूं कि (इतः जयत मा अमुतः) यहां जीत लो, वहां नहीं ॥ ९ ॥

(आंगिरसः बृहस्पतिः) आंगिरसका बृहस्पति और (ब्रह्मसंशिताः ऋषयः) ज्ञानसे तीक्ष्ण हुए सब ऋषि, (असुरक्षयणं त्रि-षंधिं वधं) असुरनाशक त्रिषंधि नामक वज्रका (दिवि आश्रयन्) द्युलोकमें आश्रय लेते रहें ॥ १० ॥

(येन असौ आदित्यः गुप्तः) जिसके द्वारा यह सूर्य सुरक्षित हुआ है, (उभौ इन्द्र च तिष्ठतः) और दूसरा इन्द्र ये दोनों सुरक्षित रहते हैं । उस (त्रिषंधिं ओजसे बलाय च) त्रिषंधि नामक वज्रको ओज और बलके लिये (देवाः अभजन्त) देवोंने स्वीकृत किया है ॥ ११ ॥

(आंगिरसः बृहस्पतिः यं असुरक्षयणं वधं] आंगिरस बृहस्पतिने जिस असुरविनाशक वज्रको [असिंचत] सींच कर तैयार किया, [अनया आहुत्या] उस वज्रके स्वीकारसे [देवाः सर्वान् लोकान् अजयन्] सब देवोंने सब लोकोंको जीत लिया ॥१२॥

[आंगिरसः बृहस्पतिः यं असुरक्षयणं वधं वज्रं असिंचत] आंगिरस बृहस्पतिने जिस असुरनाशक वज्रको सींच-

सर्वे देवा अत्यायन्तु ये अश्नन्ति वषट् कृतम् ।
इमां जुषध्वमाहुतिमितो जयत मामुतः ॥१४॥
सर्वे देवा अत्यायन्तु त्रिषन्धेराहुतिः प्रिया । संधां महतीं रक्षत ययाग्रे असुरा जिताः ॥१५॥
वायुरमित्राणामिष्वग्राण्याञ्चतु । इन्द्र एषां बाहून् प्रति भनक्तु मा शकन् प्रतिधामिषुम् ।
आदित्य एषामस्त्रं वि नाशयतु चन्द्रमा युतामगतस्य पन्थाम् ॥१६॥
यदि प्रेयुर्देवपुरा ब्रह्म वर्माणि चक्रिरे ।
तनूपानं परिपाणं कृण्वाना यदुपोचिरे सर्वं तदरसं कृधि ॥१७॥
क्रव्यादानुवर्तयन् मृत्युना च पुरोहितम् । त्रिषन्धे प्रेहि सेनया जयामित्रान् प्र पद्यस्व ॥ १८ ॥
त्रिषन्धे तमसा त्वममित्रान् परि वारय । पृषदाज्यप्रणुत्तानां मामीषां मोचि कश्चन ॥ १९ ॥
शितिपदी सं पतत्वमित्राणाममूः सिचः । मुह्यन्त्वद्यामूः सेना अमित्राणां न्यर्बुदे ॥ २० ॥
मूढा अमित्रा न्यर्बुदे जह्येषां वरंवरम् । अनया जहि सेनया ॥ २१ ॥

अर्थ- कर तैयार किया, [तेन अमूं सेनां नि लिंपामि] उस वज्रसे इस शत्रुसेनाको नष्ट करता हूं । हे बृहस्पते ! [ओजसा अमित्रान् हन्मि] सामर्थ्यसे शत्रुओंका नाश करता हूं ॥ १३ ॥

[ये वषट् कृतं अश्नन्ति] जो वषट्कारसे अन्न भक्षण करते हैं, वे [सर्वे देवाः अति-आयन्ति] सब देव शत्रुका अतिक्रमण करते हैं। हे देवो ! [इमां आहुतिं जुषध्वं] इस आहुतिको स्वीकार करो, और [इतः जयत, मा अमुतः] यहांसे शत्रुको जीत लो, वहांसे नहीं ॥ १४ ॥

[सर्वे देवाः अति आयन्तु] सब देवगण शत्रुका अतिक्रमण करें [त्रिषंधेः आहुतिः प्रिया] त्रिषंधि वज्रको बलिदान प्रिय है । [यया अग्रे असुराः जिताः] जिससे प्रारंभमें असुरोंका पराभव किया था, उस [महतीं संधां रक्षत] बडी संधिकी तुम सब मिलकर रक्षा करो ॥ १५ ॥

[वायुः अमित्राणां इष्वग्राणि अञ्चतु] वायु शत्रुओंके बाणोंके अग्रभागोंको नष्ट करे । [इन्द्रः एषां बाहून् प्रतिभनक्तु] इन्द्र इनकी बाहुओंको तोड दे । ये शत्रु [इषुं प्रतिधां मा शकन्] बाण धनुष्योंपर लगानेके लिये समर्थ न हों [आदित्यः एषां अस्त्रं विनाशयतु] सूर्य इनके अस्त्रों का नाश करे । [चन्द्रमा अगतस्य पंथां युतां] चन्द्रमा अप्राप्त शत्रुका मार्ग रोक देवे॥१६॥

(यदि देवपुराः प्रेयुः) यदि पूर्व देव अर्थात् शत्रुरूप राक्षस यहांसे दूर भाग गये हैं और उन्होंने (ब्रह्म वर्माणि चक्रिरे) ज्ञानसे कवचोंको तैयार किया है, और (तनूपानं परिपाणं कृण्वानाः) शरीरके रक्षण और ग्रामादिका सब रक्षण करते हैं और जो (उपोचिरे) संघटन कर रहे हैं (तत् सर्वं अरसं कृधि) उस सबको नीरस बनाओ ॥ १७ ॥

हे त्रिषंधे ! (क्रव्यादा अनुवर्तयन्) मांसभक्षकोंको घेरकर (मृत्युना च पुरोहितं) मृत्युके आगे रखकर (सेनया प्रेहि) सेनाके साथ आगे बढ । (अमित्रान् जय प्रपद्यस्व) शत्रुओंको जीत लो और उनको प्राप्त कर अर्थात् अपने आधीन कर ॥१८॥

हे त्रिषंधे (त्वं अमित्रान् तमसा परिवारय) तू शत्रुओंको अन्धकारसे घेर, (पृषद्-- आज्य-- प्रणुत्तानां अमीषां) पृषदाज्यसे प्रेरित हुए इन शत्रुओंमेंसे (कश्चन मा मोचि) किसीको भी मत छोड ॥ १९ ॥

(शितिपदी अमित्राणां अमूः सिचः संपततु) श्वेत पांववाली शक्ति शत्रुओंकी इस सेनाके ऊपर पडे । हे न्यर्बुदे ! (अद्य अमूः अमित्राणां सेनाः मुह्यन्तु) आज ये शत्रुओंकी सेनाएं मोहित हो जांय ॥ २० ॥

हे न्यर्बुदे ! (अमित्राः मूढाः) शत्रु मूढ हो जांय । (एषां वरं वरं जहि) इनके मुखियाओंका पराभव कर । और इनको (अनया सेनया जहि) इस सेनासे जीत ले अथवा मार डाल ॥ २१ ॥

यश्च कवची यश्चाकवचोऽमित्रो यश्चाज्मनि। ज्यापाशैः कवचपाशैरज्मनाभिहतः शयाम् ॥२२॥
ये वर्मिणो येऽवर्माणो अमित्रा ये च वर्मिणः। सर्वांस्ताँ अर्बुदे हताञ्छ्वानोऽदन्तु भूम्याम् ॥२३॥
ये रथिनो ये अरथा असादा ये च सादिनः।
सर्वानदन्तु तान् हतान् गृध्राः श्येनाः पतत्रिणः ॥२४॥
सहस्रकुणपा शेतामामित्री सेना समरे वधानाम्। विविद्धा ककजाकृता ॥२५॥
मर्माविधं रोरुवतं सुपर्णैरदन्तु दुश्चितं मृदितं शयानम्।
य इमां प्रतीचीमाहुतिममित्रो नो युयुत्सति ॥२६॥
यां देवा अनुतिष्ठन्ति यस्या नास्ति विराधनम्।
तयेन्द्रो हन्तु वृत्रहा वज्रेण त्रिषन्धिना ॥२७॥ (३०)

॥ इति पंचमोऽनुवाकः ॥

॥ एकादशं काण्डं समाप्तम् ॥

अर्थ-(यः च कवचः)जो कवचधारी है, (यः च अकवचः अमित्रः) और जो कवच न धारण करनेवाले शत्रु हैं, (यः च अज्मनि) और जो रथमें है, वह सब शत्रु (ज्यापाशैः कवचपाशैः अज्मना अभिहतः शयां) ज्याके पाशसे और कवचके पाशसे तथा रथके आघातसे घायल होकर गिर जाय ॥ २२ ॥

(ये वर्मिणः ये अवर्माणः) जो कवचधारी और जो कवच न धारण करनेवाले और (ये च वर्मिणः अमित्रिणः) जो कवचधारी शत्रु हैं, हे अर्बुदे ! (तान् सर्वान् हतान्) उन सब मारे हुओंको (भूम्यां श्वानः अदन्तु) भूमिपर कुत्ते खावें ॥ २३ ॥

(ये रथिनः ये अरथाः) जो रथवाले और जो रथहीन (ये असादाः ये च सादिनः) जिनके पास घोडे नहीं हैं और जो घोडोंपर सवार हैं, (सर्वान् तान् हतान्) उन सब मारे हुए शत्रुओंको (गृध्राः श्येनाः पतत्रिणः अदन्तु) गीध श्येन आदि पक्षी खाएं ॥ २४ ॥

(समरे वधानां आमित्री सेना) युद्धमें मारी गयी शत्रुओंकी सेना (विविद्धा ककजाकृता शेताम्) शस्त्रोंसे विद्ध हुई और विकृत आकार होकर गिरे ॥ २५ ॥

(यः अमित्रः) जो शत्रु (नः इमां प्रतीचीं आहुतिं युयुत्सति) हमारी इस पूर्वाभिमुख आयी हुई सैन्यकी आहुतिके साथ युद्ध करना चाहता है, (सुपर्णैः मर्माविधं रोरुवतं) बाणोंसे मर्मोंका छेदन होनेके कारण रोनेवाले (दुश्चितं मृदितं शयानं अदन्तु) दुःखी चित्तवाले मर्दित होनेके कारण भूमिपर पडे उस शत्रुको हिंस्र पशु खांय ॥ २६ ॥

(यां देवाः अनुतिष्ठन्ति) जिसका देव अनुष्ठान करते हैं (यस्या विराधनं नास्ति) जिसका विरोध नहीं होता है, (तया त्रिषंधिना वज्रेण) उसके द्वारा तथा त्रिषंधि वज्रसे (वृत्रहा इन्द्रः हन्तु) वृत्रनाशक इन्द्र शत्रुका हनन करे ॥ २७ ॥

भयानक युद्ध।

युद्ध है बडा भयानक, परंतु जबतक मानव-जातिके हृदय परिशुद्ध नहीं होते, तबतक युद्ध अपरिहार्य ही है। जब युद्ध टलनेवाला नहीं है, कमसे कम अतिशीघ्र युद्ध टल नहीं सकता, तब उसे परिणामकारक बनाना चाहिये। अतः युद्धको परिणामकारक बनानेके लिये और क्षात्र भावकी वृद्धि करनेके लिये वेदमें कई सूक्त दिये हैं, उनमें यह सूक्त विशेष महत्त्व रखता है। पाठक इस दृष्टीसे इस सूक्तका अध्ययन करें।

लडनेवाले वीर अपने जीवनको पूर्णतया समर्पण करके युद्धके लिये तैयार रहें, (उदाराः) जीवनपर उदार हो जांय। बिलकुल अपने जीवन की चिंता न करें। सब सेनाके वीर अपने अपने झण्डे लेकर चढाईके लिये उठें और तैयार हो जांय। अपने झण्डेकी रक्षा करना सैनिकोंका कर्तव्य है। सब सैनिक अर्थात् अपने साथ अपनी सहायता करनेके लिये आये सब वीर मिलकर शत्रुपर धावा करें। (मं० १) यहां सर्प, राक्षस और अन्य लोगभी शत्रुपर हमला करनेके लिये आये दीखते है। जो भी अपना मित्रदल हो वह सब एक विचारसे चढाई करे, आपसमें फूट न हो, प्रत्येकका विचार भिन्न भिन्न न हो, सब एकही विचारसे एक योजनामें संमिलित होकर शत्रुसे लडें और शत्रुको पूर्णताके साथ परास्त करें।

वज्रनिर्माण।

त्रिसंधि नामक एक प्रकारका वज्र है। यह बडा प्रखर होता है। तीन स्थानोंमें इस शस्त्रमें संधि किया होता है, इसलिये इसका नाम त्रिसंधि रखा गया है। त्रिसंधि वज्र है, यह बात निम्न लिखित मंत्रमें कही है—

वज्रेण त्रिषन्धिना। (मं० ३, २७)

यं वज्रं असिंचत। (मं० १२, १३)

यह त्रिसंधिवाला वज्र है, उसमें तीन जोड होते हैं और वह पानीमें सिंचित करके बनाया जाता है, अर्थात् यह फौलाद का ही होना चाहिये, जो तपाकर पानीमें अथवा तैलादि द्रव पदार्थोंमें भिगाकर बनाया जाता है। इसके निर्माणके विषयमें इस सूक्तमें थोडेसे निर्देश हैं। जो पाठक शस्त्रनिर्माण की विद्या जानना चाहते हैं, उनको इस तरहके निर्देश ध्यानमें रखना योग्य है।

लाल झण्डे।

अरुण रंगवाले झण्डे लेकर तथा अपने वज्र साथ रखकर सब सैनिकोंको तैयार होना चाहिये। इस रीतिसे सब सैन्य सज्ज होनेपर राजा सैनिकोंको संबोधित करके ऐसा भाषण करे--" हे शूर सैनिको! आप सभी इस राज्यके सच्चे स्वामी हैं, आप ही इस राज्यके रक्षक हैं और आपही इसके बढानेवाले हैं। जो इस भूमडल पर मनुष्यमात्र हैं, उनमें जो दुश्चरित्र अथवा दुष्ट हैं, [दुः- नाम] दुष्टताके साथ जिनका नाम प्रसिद्ध हुआ है, उनको दण्ड देना आप सब वीरोंका कर्तव्य है। इस भूमंडल का राज्य निष्कंटक करनेके लिये आप सुसज्जित हुए हैं। आपके हाथमें त्रिसंधि नामक बडा शक्ति-शाली वज्र है। उसकी सहायतासे आप हरएक शत्रुको जीत सकते हैं, अतः दुष्ट लोगोंको दंड देना यह एकमात्र आपका कर्तव्य है, यह बात अपने चित्तमें आप [चेतसि उपासत] रखें और इसे कभी न भूलें। [मं० २] जिस कारण आपका कर्तव्य दुष्टोंको दंड देना है, उस कारण आपके हाथसे ऐसा कोई कर्म नहीं होना चाहिये कि जो दोषयुक्त हो। इस कारण आपको अपना आचरण बारंबार देखना चाहिये। " ऐसा भाषण करके राजा अपने सैनिकोंको उत्साहित और सावधान करे।

बाणोंका स्वरूप।

त्रि-संधि वज्र के साथ बाणधारी सैनिक भी रहें। दोनोंकी चढाई शत्रुपर एक साथ हो। बाण अनेक प्रकार के होते होंगे, परंतु तृतीय मंत्रमें निम्नलिखित बाणोंका उल्लेख है-

अयोमुखाः- जिनके अग्रभागमें फौलाद लगा है, जिससे बाणकी नोक तीखी रह सकती है-

२ सूचीमुखाः- सूईके समान अग्रभागवाले बाण। ये बाण शत्रुके शरीरमें शीघ्रतासे घुस सकते हैं।

३ विकंकतीमुखाः- कंगवेके समान कांटेदार मुखवाले

अथवा कंकपक्षीके मुखके समान मुखवाले। इससे विशेष मारकता सूचित होती है।

'वातरंहसः' और 'कङ्काद्दशः' ये शब्द बाणोंका वेग और उनकी मारकता सूचित करते हैं। इस प्रकारके बाण शत्रुपर फेंके जाते हैं और साथ साथ त्रिसंधि वज्रका भी प्रयोग होता है। [मं० ३]

त्रिसंधि वज्रका प्रयोग करनेवाली सेना जिसके पास रहेगी वह शत्रुको जीतनेमें निःसंदेह समर्थ होगा, क्योंकि इस सेनाके वीर अपने जीवनका बलिदान करनेके लिये तैयार रहते हैं और युद्धसाधन भी इनके पास सर्वोत्तम रहते हैं। अतः इस सेनाके द्वारा समरभूमिमें शत्रुके बहुत मुर्दे गिराना संभव हो सकता है। [मं० ४]

राजा अपनी ऐसी सेनाके साथ उठे और चढाई करे। युद्धमें अपने जीवनकी आहुति देनेवाले सैनिक चाहिये। अन्यथा त्रिसंधि वज्रको समाधान नहीं होता। (त्रिषंधेः आहुतिः प्रिया) त्रिसंधि वज्रको इस तरहकी आहुति प्रिय होती है। (मं० ५)

इससे पता लगता है कि त्रिसंधि नामक वज्रका चलाना सुलभ नहीं है, शत्रुसैन्यमें घुसकर उसका उपयोग किया जाता होगा और इसलिये अपने जीवनकी आहुति देनेवाले वीर ही त्रिसंधि वज्रके लिये प्रिय समझे जाते हैं।

पूर्वोक्त तीसरे मंत्रमें बाणोंके ३ प्रकार बताये हैं। अब यहां दो प्रकार और बताते हैं—

४ शितिपदी- तीखे पदवाले बाण, जो बाणका भाग फौलाद का होता है वह अत्यंत तीक्ष्ण होवे। यह विशेषण हरएक बाणके लिये प्रयुक्त हो सकता है।

५ चतुष्पदी— चार पदवाले बाण। इनमें काटनेवाली धाराएं चार हुआ करती हैं। पूर्वोक्त बाणोंके वर्णनके साथ इन दो प्रकारोंका विचार भी पाठक करें।

ये सब बाण शत्रुसेनाको पर्याप्त प्रमाणमें काटें। इस मंत्रमें 'कृत्या' नामक किसी विनाशक प्रयोगका उल्लेख है। 'कृत्या' का अर्थ काटनेवाली। इस कृत्याका वर्णन अथर्ववेद में अनेक स्थानोंपर आया है। इस प्रयोग का ठीक पता नहीं लगता कि यह क्या है। यहां त्रिसंधि वज्र धारण करनेवाली सेनाके साथ इस कृत्याका प्रयोग होकर शत्रुसेनाका नाश होता है। अतः यह एक शस्त्रविशेष ही होगा। परंतु कृत्या प्रयोगकी विशेष खोज करनी चाहिये। (मं० ६)

धूवेंका प्रयोग

धूवेंके प्रयोगसे शत्रुसेनाको पीडित करनेका वर्णन 'धूमाक्षी' शब्दद्वारा सातवें मंत्रमें किया है। यह धूवाँ किस तरह किया जाता है इसका पता नहीं चलता। परंतु शत्रुसेना खुले मैदानमें होनेपर इस धूवेंसे पीडित की जाती है, इसमें संदेह नहीं। धूमास्त्र प्रयोग ही यह है। धूवेंका कुछ अस्त्र शत्रुपर फेंका जाता है, ऐसा यहां प्रतीत होता है। शत्रुकी सेनामें वह जाता है, गिरता है, फटता है और उसका धूवां वहांके सैनिकोंमें फैलता है और वे घबरा जाते हैं। इस धूवेंसे (संतपतु) शत्रुका सैन्य तप जाता है, संभवतः ज्वर चढता होगा, केवल मानसिक संताप यहां अपेक्षित नहीं है। परंतु शारीरिक ज्वरही अपेक्षित है।

इस धूवेंसे जैसा ज्वर होता है वैसा ही कर्णशूलभी (क्षुधुकर्णी) होता होगा और वह शूल इतना भयानक होता होगा कि सैनिक (क्रोशतु) आक्रोश करने लगते हैं। इतनी भयानक वेदना होती है। इतना प्रबल यह धूम्रप्रयोग है। इस धूवेंके प्रयोग आंख, फेफडे आदिको कष्ट, शरीरको ज्वर, कानमें वेदना और सबका परिणाम शत्रुसेना का आक्रोश है। इतने प्रबल शस्त्रास्त्र जिसके पास होंगे वह विजयी होगा उसमें कोई संदेह ही नहीं है। इस प्रकार विजय प्राप्त होनेपर सैनिक अपने लाल रंगवाले झण्डे खडे कर देते हैं और विजयानंद प्रकट करते हैं। (मं० ७)

उक्त रीतिसे शत्रुसेना काटी जानेपर उस सेनाके मुर्दोको हिंस्र पशुपक्षी खायें। उनके मुर्दोंकी व्यवस्था करनेके लिये शत्रुके पास कोई न बचे। यह आशय यहां है। इसका आशय यही है कि शत्रुका इतना पराभव हो। (मं० ८)

संधि किये हुए मित्र राजाओंके सैनिक इकट्ठे हो जांय और निश्चित किये मार्गसे शत्रुपर आक्रमण करके शत्रुको परास्त करें। शत्रुसेना का नाश करनेके लिये त्रिसंधि वज्रका प्रयोग किया करें (मं० ९-१०)

त्रिसंधि वज्रसे सैनिकों में विलक्षण सामर्थ्य उत्पन्न होता है। देव भी इसी वज्रका आश्रय करते हैं फिर मनुष्य उसका आश्रय क्यों न करें? (मं० ११) शत्रुनाशक इस वज्रसे देवोंने सब लोगोंको जीत लिया था, अतः उस वज्रका प्रयोग मनुष्य करें और विजय प्राप्त करें। (मं० १२-१५) इन मंत्रोंमें इतना ही कहा है कि इस त्रिसंधि नामक वज्रका उपयोग

देवभी करते हैं। इससे सूचित होता है कि मानव भी इसका प्रयोग किया करें।

शत्रुकी सेनाके बाणोंकी धारा खराब करना, उनके शस्त्रास्त्र निकम्मे बनाना, उनके बाहुओं को काटना अथवा ऐसा अशक्त बनाना कि वे बाण न चला सकें। उनके अस्त्रोंको निकम्मा बनाना, उनका मार्ग अशुद्ध करना। इस तरह शत्रुका कार्य असफल करना चाहिये। (मं० १६)

शत्रुके (तनूपानं) कवच तोडने या फाडने, उनके (परिपाणं) किले अथवा इसी प्रकारके संरक्षक साधन सामर्थ्यहीन बनाने और उनकी सब योजनाएं असफल करके उनको जीतना चाहिये। (मं० १७)

शत्रुसेना के सामने मृत्यु ही खडा रहे, हिंसक शस्त्रास्त्रोंका आघात उनपर होता रहे, इस तरह अपनी सेनाका हमला शत्रुपर करना चाहिये और शत्रुको परास्त करना चाहिये। (मं० १८)

तमसास्त्र का प्रयोग।

उन्नीसवें मंत्रमें भी शत्रुपर (तमसा परिवारय) अंधकार का प्रयोग करनेकी सूचना है। यह भी धूवेंका ही प्रयोग होगा जिससे अंधेरेमें गिरनेके समान शत्रुको कुछ भी दीखता नहीं होगा। यह चढाई ऐसी भयानक है कि इससे शत्रुका कोई वीर बचता ही नहीं। (मं० १९)

संमोहनास्त्र का प्रयोग।

आगे बीसवें मंत्रमें (मुह्यतु) संमोहन करनेका उल्लेख है। शत्रुसेना सबकी सब मोहित हो जाय। उसको कुछभी न सूझे। यहां कुछ शक्ति शत्रुपर फेंकनी है, जिसके शत्रुसेना में गिरनेसे शत्रुसेना की मति मोहित हो जाती है। जब सब सैनिकोंके चित्त भ्रांत हो जांयगे तब उनके पास जाकर उनको कोई काटे। (मं० २०) शत्रु (मूढाः) मोहित होकर मूढ बन जांय। उनको कर्तव्य करनेकी बुद्धि न रहे। इस तरह मोहित होनेपर (वरं वरं जहि) उनके वीरोंको काटा जावे। क्योंकि मोहित अवस्थामें कोई उनके पास पहुंचा तो उसको कोई भय नहीं हो सकता। परंतु यह सब शीघ्रताके साथ करना चाहिये, क्योंकि मोहनास्त्रका परिणाम कुछ समय तक ही रहता है, अतः उतनी ही देरीमें अपना कार्य समाप्त करना चाहिये। (मं० २१)

शत्रु कवचधारी हो अथवा बिना कवच धारण करके आया हो, उसको पाशोंसे बांधकर नाश करना चाहिये। इस तरह नाश हुई शत्रुकी सेना भूमिमें गिर जाय और उन मुर्दोंको कुत्ते खा जांय। (मं० २२-२३) रथी, पदाती तथा अन्य प्रकारकी शत्रुसेना भी इसी तरह नष्ट हो जांय। (मं० २४-२५) युद्ध ऐसा करना चाहिये कि जिससे एकभी शत्रु न बचे। शत्रुको निःशेष पराजित करना अथवा काट डालना चाहिये। क्योंकि शत्रु थोडा भी अवशिष्ट रहा तो वह फिर उठता और कष्ट देता रहेगा। अतः युद्धमें उसका पूरा नाश करना चाहिये।

शत्रुका पूर्ण पराजय होवे। बाणोंसे शत्रुके मर्म काटे जांय वह आतंकित होवे और रोनेके सिवा उसे दूसरा कुछ भी न सूझे। [मं० २६] त्रिसंधिवज्र ही बडा भारी प्रभावशाली शत्रुनाशक शस्त्र है, उसके प्रयोगसे शत्रुको पूर्णतया नष्ट किया जावे। (मं० २७)

इस तरह इस काण्डमें इन सूक्तोंमें युद्धविद्याका उपदेश किया है। पाठक इनके अध्ययनसे वेदकी युद्धनीति जानें और उनमें जो ग्राह्य भाग हो उसका ग्रहण करें।

॥ यहां ग्यारहवां काण्ड समाप्त हुआ ॥ ११ ॥

अथर्ववेदके एकादश काण्डकी विषयसूची

ॐ

अथर्ववेद

का

सुबोध भाष्य।

द्वादशं काण्डम्।

ॐ

अथर्ववेदका सुबोध भाष्य

द्वादश काण्ड ।

यह बारहवां काण्ड अथर्ववेदके द्वितीय महाविभागका पांचवां काण्ड है। इसमें पांच सूक्त हैं, इनके अनुवाक, सूक्त और मंत्रसंख्या निम्नलिखित प्रकार है।

अनुवाक्	सूक्त	दशति	मंत्रसंख्या
१	१	५+(१३)	६३
२	२	५+(५)	५५
३	३	६	६०
४	४	४+(१३)	५३
५	५	७(पर्याय)	७३
			३०४ कुल-मंत्रसंख्या

इन सूक्तोंके ऋषि देवता छन्द अब देखिये--

ऋषि-देवता-छन्द ।

सूक्त	मंत्रसंख्या	ऋषि	देवता	छन्द
१	६३	अथर्वा	भूमि	त्रिष्टुप्; २ भुरिज्; ४-६, १०, ३८, त्र्यव० षट्पदा जगती; ७ प्रस्तारपंक्तिः ८, ११ त्र्यव० षट्पदा विराडष्टिः; ९ परानुष्टुप्; १२, १३, १५, पंचपदा शक्करी (१२, १३, त्र्यवसाना); १४ महाबृहती, १६,२१ एकावसाना साम्नी त्रिष्टुप्, १८ त्र्यव० षट्पदा त्रिष्टु० अनुष्टुब्गर्भातिशक्करी; १९, २० उरोबृहती (२० विराट्); २२ त्र्यव० षट्पदा विराडतिजगती, २३ पंचप० विराडतिजगती, २४ पंचपदा अनुष्टुब्गर्भा जगती, २५ त्र्यव० सप्तपदा उष्णिगनुष्टुब्गर्भा शक्करी; २६—२८,३३,३५, ३९, ४०, ५०, ५३

सूक्त	मंत्रसंख्या	ऋषि	देवता	छंद	
					५७, ५६, ५९, ६३, अनुष्टुभः (५३ पुरो बार्हता); ३० विराड्गायत्री; ३२ पुरस्ताज्ज्योतिः; ३४ त्र्यव० षट्पदा त्रिष्टुब्बृहतीगर्भातिजगती; ३६ विपरीतपादलक्ष्मी पंक्तिः; ३७ त्र्यव० पंचपदा शक्करी; ४१त्र्यव० षट्पदा ककुंमती शक्करी; ४२ स्वराडनुष्टुप्; ४३ विराडास्तारपंक्तिः, ४४, ४५, ४९ जगत्यः; ४६ षट्पदा अनुष्टुब्गर्भा पराशक्वरी; ४७ षट्पदा उष्णिगनुष्टुब्गर्भा परातिशक्वरी; ४८ पुरोनुष्टुप्; ५१त्र्यव० षट्पदा अनुष्टुब्गर्भा ककुंमती शक्वरी; ५२ पंचपदा अनुष्टुब्गर्भा परातिजगती; ५७ पुरोतिजागता जगती; ५८ पुरस्ताद्बृहती; ६१ पुरोबार्हता; ६२ पराविराज् ।
२	५५	भृगुः	अग्निः मन्त्रोक्त देवता २१—३३ मृत्युः	त्रिष्टुप्;	२—५, १२, २०, ३४-३६, ३८-४१, ४३ ५१, ५४ अनुष्टुभः (१६ ककुंमती पराबृहती; १८ निचृत्; ४० पुरस्तात्ककुंमती); ३ आस्तारपंक्तिः; ६ भुरिगार्षी पंक्तिः; ७, ४५ जगती; ८, ४८, ४९ भुरिज; ९ अनुष्टुब्गर्भा विपरीतपादलक्ष्मी पंक्तिः; ३७ पुरस्ताद्बृहती; ४२ त्रिपादेकावसाना भुरिगार्षी गायत्री; ४४ एकावसाना द्विपदा आर्षी बृहती; ४६ एका० द्विपदा० साम्नी त्रिष्टुप्; ४७ पंचपदा बार्हतवैराजगर्भा जगती; ५० उपरिष्टाद्विराड् बृहती, ५२ पुरस्ताद्विराड् बृहती; ५५ बृहती गर्भा ।
३	६०	यमः स्वर्गः;	ओदनः अग्निः	त्रिष्टुप्;	१, ४२, ४३, ४७ भुरिजः; ८, १२, २१,२२,२४ जगत्यः; १३, १७ स्वराडार्षी पंक्तिः; ३४ विराड्गर्भा; ३९ अनुष्टुब्गर्भा; ४४ पराबृहती; ५५— ६० त्र्यव० सप्तपदा० शंकुमत्यतिजागत शाक्वरातिशाक्वरधार्त्यगर्भातिधृतिः (५५, ५७—६० कृतिः ५६ विराट् कृतिः) ।
४	५३	कश्यपः	वशा	अनुष्टुप्;	-७ भुरिज्; २०विराड्; उष्णिग्बृहतीगर्भा; ४२ बृहतीगर्भा ।
५	७३ १ पर्याय ६	अथर्वाचार्यः	ब्रह्मगविः		१प्राजापत्याऽनुष्टुप्; २,६भुरिक्साम्न्यनुष्टुप्; ३चतुष्पदा स्वराडुष्णिक्, ४ आसुरी अनुष्टुप्; ५ साम्नी पंक्तिः ।
	२ ,, ५				७ साम्नी त्रिष्टुप्; ८, ९ आर्षी अनुष्टुप्; (८ भुरिक्); १० उष्णिक् (७-१० एकपदा); ११ आर्षी निचृत्पंक्तिः ।

३	पर्याय	१६	१२ विराड्विषमा गायत्री; १३ आसुरी अनुष्टुभ्; १४, २६ साम्नी उष्णिक्; १५ गायत्री; १६, १७, १९, २० प्राजापत्यानुष्टुभः; १८ याजुषी जगती; २१, २५ साम्न्यनुष्टुभौ; २२ साम्नी बृहती; २३ याजुषी त्रिष्टुप्; २४ आसुरी गायत्री; आर्षी उष्णिक्।
४	,,	११	२८ आसुरी गायत्री; २९, ३७ आसुर्यनुष्टुभौ; ३० साम्नी अनुष्टुभ्; ३१ याजुषी त्रिष्टुप्; ३२ साम्नी गायत्री; ३३, ३४ साम्नी बृहती; ३५ भुरिक्साम्नी अनुष्टुप्; ३६ साम्नी उष्णिक्; ३८ प्रतिष्ठा गायत्री।
५	,,	८	३९ साम्नी पंक्तिः; ४० याजुषी अनुष्टुभ्; ४१, ४६ भुरिक्साम्न्यनुष्टुप्; ४२ आसुरी बृहती; ४३ साम्नी बृहती; ४४ पिपीलिकमध्यानुष्टुप्; ४५ आर्षी बृहती।
६	,,	१५	४७, ४९, ५१–५३, ५७—५९, ६१ प्राजापत्याऽनुष्टुभः; ४८ आर्षी अनुष्टुप्; ५० साम्नी बृहती; ५४, ५५ प्राजापत्योष्णिक्; ५६ आसुरी गायत्री; ६० गायत्री।
७	,,	१२	६२—६४, ६६, ६८-७० प्राजापत्याऽनुष्टुभः; ६५ गायत्री; ६७ प्राजापत्या गायत्री; ७१ आसुरी पंक्तिः; ७२ प्राजापत्या त्रिष्टुप्; ७३ आसुरी उष्णिक्।

इस तरह इन सूक्तोंके ऋषि, देवता और छन्द हैं। यहां प्रत्येक सूक्तकी देवता विभिन्न है। अतः प्रत्येक सूक्तका अर्थ और भावार्थ देकर उसका विवरण साथ साथ ही दिया जायगा। इसमें पहिला सूक्त मातृभूमिका सूक्त है, यह बडा मनोरंजक और बोध प्रद है, वह अब देखिये—

ॐ

अथर्ववेदका सुबोध भाष्य।

द्वादशं काण्डम्।

मातृभूमिका सूक्त

[१]

सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति।
सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्न्युरुं लोकं पृथिवी नः कृणोतु ॥ १ ॥

अर्थ— (बृहत् सत्यम्) बडी या अटल सत्यनिष्ठा (ऋतम्) यथार्थ ज्ञान, (उग्रम्) क्षात्र तेज, (तपः) धर्मानुष्ठान या धर्मका पालन, (दीक्षा) हरएक कामके करनेमें चतुराई-दक्षता, (ब्रह्म) बडा ज्ञान, (यज्ञ) यज्ञ दान अथवा त्याग ये गुण (पृथिवीम्) भूमि देश या राष्ट्रका (धारयन्ति) पालन पोषण और रक्षण करते हैं। [सा पृथिवी] वह मातृभूमि (भूतस्य) प्राचीन और (भव्यस्य) भविष्यके तथा बीचमें आ आनेवाले वर्तमान समयके सब पदार्थोंकी [पत्नी] पालन करनेवाली, ऐसी वह हमारी मातृभूमि (नः) हमको (उरुं) बडा भारी (लोकं) स्थान (कृणोतु) करे ॥ १ ॥

भावार्थ- जो मनुष्य यह चाहता हो कि राष्ट्रपर अपनी सत्ता, अधिकार, बना रहे उसमें निम्नलिखित गुणोंका होना आवश्यक है, सत्यप्रियता, उद्योगशीलता, महत्त्वाकांक्षाके साथ कार्य आरम्भ करने और उसको सिद्ध करनेका उत्साह, वस्तुस्थितिका उत्तम ज्ञान, धैर्य, साहस और तेजस्विता, धर्मनिष्ठा, इंद्रियोंका निग्रह, ग्रंथोंका पढना और व्याख्यान सुनना, शान्त स्वभाव और अचापल्य, परोपकारिता, ईश्वरभक्ति, अङ्गीकार किये हुए कार्यमें दक्षता, नियमानुसार चलनेका अभ्यास, खूब धनसंचय, सर्व सहायक पदार्थोंका विपुल संग्रह, आपसमें एक दूसरेका सत्कार करना, एकतासे रहना, दुःख और आपत्तिमें पडे हुए लोगोंको सहायता करना, यज्ञ अर्थात् स्वार्थत्याग करना, मातृभूमिपर अटल निष्ठा इत्यादि। जिन मनुष्योंमें ये गुण होते हैं वेही अपने राज्यको संभाल सकते और नया राज्य प्राप्तकर सकते हैं। इस पहिले मन्त्रमें राष्ट्रसंरक्षक मनुष्योंके लिये आवश्यक गुणोंका स्पष्ट उल्लेख कर यह प्रार्थना की गयी है कि— हे मातृभूमि ! हम पूर्वोक्त संपूर्ण उत्तम गुणोंसे युक्त हो तेरा संरक्षण करते हैं और सदा ऐसा करनेको तैयार हैं; तू अपने आधारसे भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों कालोंके सम्पूर्ण पदार्थोंका उत्तम प्रकारसे पोषण करनेमें समर्थ है। जब कि हम रात दिन तेरा संरक्षण करते हैं, तू भी हमारी कीर्ति बढानेका कारण हो ॥ १ ॥

असंबाधं बध्यतो मानवानां यस्या उद्वतः प्रवतः समं बहु ।
नानावीर्या ओषधीर्या बिभर्ति पृथिवी नः प्रथतां राध्यतां नः ॥ २ ॥
यस्यां समुद्र उत सिन्धुरापो यस्यामन्नं कृष्टयः संबभूवुः ।
यस्यामिदं जिन्वति प्राणदेजत् सा नो भूमिः पूर्वपेये दधातु ॥ ३ ॥
यस्याश्चतस्रः प्रदिशः पृथिव्या यस्यामन्नं कृष्टयः संबभूवुः ।
या बिभर्ति बहुधा प्राणदेजत् सा नो भूमिर्गोष्वप्यन्ने दधातु ॥ ४ ॥

अर्थ-(यस्याः) जिस हमारी मातृभूमिके (मानवानां) मननशील मनुष्योंके (म[-ब-] ध्यतः) मध्यमें (प्रवतः) नीचता उच्चता रहनेपर भी परस्पर (बहु) बहुतही (समं) समता (असंबाधं) और ऐक्य या मैत्रीभाव है; (या) जो (नः) हमारी (पृथिवी) मातृभूमि (नानावीर्याः) रोगोंको दूर करनेवाली अनेक उत्तम गुणयुक्त (ओषधीः) वनस्पति (बिभर्ति) धारण करती है, वह मातृभूमि (नः) हमारी (प्रथतां) कीर्ति या यशकी · वृद्धिका (राध्यतां) साधन करे ॥ २ ॥

(यस्यां समुद्रः) जिस हमारी मातृभूमिमें महासागर (उत) और (सिन्धुः) अनेक नद नदी, (आपः) झरने शील और ताक तलैयां बहुत हैं, (यस्याम्) जिस मातृभूमिमें (अन्नम्) सब भांतिके अन्न और फल तथा शाक इत्यादि बहुत यत्नसे उपजते हैं, (यस्यां इदं प्राणत्) जिसमें सजीव, (एजत् जिन्वति) प्राणी चलते फिरते हैं, जिसमें, (कृष्टयः) कृषीवल खेती करनेवाले मनुष्य, शिल्पकर्मविशारद कारीगर तथा उद्योगशील जन (संबभूवुः) बहुत संगठित हुए हैं, (सा) इस तरह की (भूमिः) हमारी मातृभूमि (नो) हमको (पूर्वपेये) समस्त भोग ऐश्वर्य (दधातु) दे ॥ ३ ॥

[यस्याम्] जिस हमारी मातृभूमिमें [कृष्टयः] उद्यमशील तथा शिल्पचातुरीमें निपुण निज परिश्रमसे खेती करनेवाले [संबभूवुः] हुए हैं, [यस्याः पृथिव्याः चतस्रः प्रदिशः] जिस भूमिमें चार दिशायें और चार विदिशायें (अन्नम्) चावल, गेहूं आदि उपजाती हैं, (या बहुधा) जो अनेक प्रकारसे, [प्राणत् एजत्] प्राण धारण करनेवालों और चलने फिरनेवालोंका [बिभर्ति] धारण-पोषण करती है (सा नः भूमिः) वह हमारी मातृभूमि हम सब के लिये (गोषु अपि अन्ने दधातु) गौओं और अन्नादिमें रखकर धारण-पोषण करे ॥ ४ ॥

भावार्थ- जिस हमारे राष्ट्र या देश के मनुष्यों में परस्पर द्रोह नहीं है, प्रत्युत उनमें पूर्ण ऐक्यभाव है। विशेषकर हमारे अगुआ लोगों में अर्थात् हमारी सब प्रकारकी रक्षा करनेवाले लोकाग्रणियों में परस्पर ऐक्य मत है और वे एकत्र हो मिलकर सब काम करते हैं। जिस भूमिमें उत्तम प्रकार की पुष्टिकारक रोगविनाशक अनेक औषधियां, और सब तरह की वनस्पतियां पैदा होती हैं, वह हमारी प्रिय मातृभूमि हमारी कीर्ति और यशको दिगन्तरमें फैलानेके लिये कारणीभूत हो ॥ २ ॥

जिस हमारी मातृभूमि में सागर, महासागर, नद, नदी, तालाव, कुए, बावली, नहर, झीलें इत्यादि खेतीको पानी मिलनेके बडे बडे साधन हैं और जिस भूमि में सब तरहके विपुल अन्न पैदा होकर सबको खानेको मिलता है। जिससे सब प्राणी मात्र सुखी हैं तथा जिसमें कारीगर लोग कलाकौशलमें कुशल हैं, किसान लोग खेतीके काम में प्रवीण हैं और अन्य लोग भी उद्योगी हैं, वह हमारी मातृभूमि हमें सदैव उत्तम उत्तम भोग्य पदार्थ और ऐश्वर्य देनेवाली होवे ॥ ३ ॥

जिस हमारी मातृभूमिमें अत्यन्त उद्योगी तथा कलाकौशल,खेती बारीमें प्रवीण और परिश्रमी लोग होते आये हैं,और जिस भूमि की चारों दिशा और विदिशाओं में सर्वत्र उत्तम धन धान्य खूब उत्पन्न होता है, जिसके कारण सम्पूर्ण पशु पक्षी आदिक वनस्पति और अन्य जीवधारियों को उत्तम प्रकार पालन, पोषण और संरक्षण होता है, वह हमारी मातृभूमि हमें सदैव गाय, घोडे और अन्न इत्यादि देनेवाली होवे ॥ ४ ॥

यार्णवेऽधि सलिलमग्र आसीद् यां मायाभिरन्वचरन् मनीषिणः ।
यस्या हृदयं परमे व्योमन्त्सत्येनावृतममृतं पृथिव्याः ।
सा नो भूमिस्त्विषिं बलं राष्ट्रे दधातूत्तमे ॥ ८ ॥
यस्यामापः परिचराः समानीरहोरात्रे अप्रमादं क्षरन्ति ।
सा नो भूमिर्भूरिधारा पयो दुहामथो उक्षतु वर्चसा ॥ ९ ॥
यामश्विनावमिमातां विष्णुर्यस्यां विचक्रमे । इन्द्रो यां चक्र आत्मनेऽनमित्रां शचीपतिः ।
सा नो भूमिर्वि सृजतां माता पुत्राय मे पयः ॥ १० ॥ १

अर्थ—[या] जो भूमि [अग्रे] पहले [सलिलं अधि] जलके भीतर [अर्णवे] समुद्रमें (आसीत्) थी, [यस्याः पृथिव्याः हृदयम्] जिस पृथ्वीका अन्तर्भाग [अमृतं इव] अमर स्थानके सदृश [सत्येन] सत्य संकल्प के बलसे [आवृतम्] व्याप्त है, जो भूमि [परमे व्योमन्] महत् आकाशमें है, [याम्] जिसकी [मायाभिः] कुशलताओंके साथ [मनीषिणः] मननशील विद्वान् [अन्वचरन्] अच्छी तरह सेवा करते आये हैं, [सा नः भूमिः] वह भूमि हमको [उत्तमे राष्ट्रे] उत्कृष्ट राज्यमें [त्विषिम्] तेज या दीप्ति, [बलम्] शूरता, वीरता, शारीरिक बल किंवा सैन्यबल [दधातु] धारण करे ॥ ८ ॥

[यस्याम्] जिस भूमिमें [परिचराः] सब ओर जानेवाले परिव्राजक संन्यासी [आपः] जलकी भांति [समानीः] समदृष्टि हों, [अहोरात्रे] रात दिन [अप्रमादम्] सावधान रह [क्षरन्ति] परिभ्रमण करते हैं, [अथो] और भी जो [भूरि-धारा] अनेक तरहका [पयः] खाने तथा पीनेकी वस्तु-भोज्य या पेय आदि दूध, घी इत्यादि [दुहाम्] देती है, [सा नो भूमिः] वह हमारी मातृभूमि [वर्चसा] तेज, प्रताप, बल, वीर्य आदि [उक्षतु] बढावे ॥ ९ ॥

[याम्] जिस भूमिका [अश्विनौ] अभिगण भर्ता और हन्ता शूर वीरने [अमिमाताम्] मापन किया, [यस्यां विष्णुः] जिसमें पालकने [विचक्रमे] भांति भांतिका पराक्रम दिखाया है, [इन्द्रः] शत्रुविनाशक [शचीपतिः] शचिपति कर्मकुशल ज्ञानवान् पुरुषने [यां आत्मने अनमित्राम्] जिसको शत्रुरहित किया है, [सा नः माता भूमिः] वह माताके समान हमारी मातृभूमि [पुत्राय पयः] जैसा पुत्रको दूध देती है वैसाही [पुत्राय मे] हम सब पुत्रोंको [विसृजताम्] खानेपीनेकी वस्तु प्रदान करे ॥ १० ॥

भावार्थ- जो भूमि पहिले समुद्रके गर्भमें थी । जिसके बाहर, भीतर परमेश्वर व्याप्त है, जो आकाशमें अधर है और जिसकी सेवा विचारवान् लोग विशेष प्रसंगमें, गुप्त प्रयत्नोंसे तथा कुशलतासे करते हैं, वह हमारी मातृभूमि हमारे उत्तम राष्ट्रमें तेजस्विता, विद्वत्ता, शूरता, शक्तिमत्ता इत्यादि गुण सदैव बढानेवाली हो ॥ ८ ॥

जैसे मेघोंका जल प्राणिमात्रको एक समान मिलता है, वैसेही जिनका उपदेश सबके लिये एक समान होता है ऐसे परोपकाररत संन्यासी जिस भूमिमें रात दिन उत्तम आचरण न छोडते हुए सदैव एक समान संचार करते रहते हैं और जो भूमि हमें सब प्रकारके अन्न-जल देती रहती है, वह हमारी मातृभूमि हमारी तेजस्विताके द्वारा हमारी रक्षा करे ॥ ९ ॥

लोगोंका पोषण करनेवाले और शत्रुओंका हनन करनेवाले लोग जिसकी सदैव भलाई किया करते हैं, जिसके लिये पालनकर्ता लोग बडे बडे पराक्रम करते हैं और ज्ञानी शूर पुरुष जिसे अपना मित्र समझते हैं, वह हमारी भूमि जिस प्रकार माता अपने बच्चोंको दूध पिलाती है, उसही प्रकार हमें संपूर्ण उपयोगके पदार्थ देवे ॥ १० ॥

गिरयस्ते पर्वता हिमवन्तोऽरण्यं ते पृथिवि स्योनमस्तु ।
बभ्रुं कृष्णां रोहिणीं विश्वरूपां ध्रुवां भूमिं पृथिवीमिन्द्रगुप्ताम् ।
अजीतोऽहतो अक्षतोऽध्यष्ठां पृथिवीमहम् ॥ ११ ॥

यत् ते मध्यं पृथिवि यच्च नभ्यं यास्त ऊर्जस्तन्वः संबभूवुः ।
तासु नो धेह्यभि नः पवस्व माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः ।
पर्जन्यः पिता स उ नः पिपर्तु ॥ १२ ॥

यस्यां वेदिं परिगृह्णन्ति भूम्यां यस्यां यज्ञं तन्वते विश्वकर्माणः ।
यस्यां मीयन्ते स्वरवः पृथिव्यामूर्ध्वाः शुक्रा आहुत्याः पुरस्तात् ।
सा नो भूमिर्वर्धयद् वर्धमाना ॥ १३ ॥

अर्थ— हे [पृथिवि ते गिरयः हिमवन्तः पर्वताः अरण्यं च ते] मातृभूमि ! पहाड़, बर्फसे ढके पर्वत और वन तुझे [स्योनम्] सुखके देनेवाले [अस्तु] हों, उन पर्वतोंमें शत्रु न रहें, वे शत्रु रहित हों, इसलिये तुम [बभ्रुम्] सबका भरण-पोषण करनेवाली हो, [कृष्णाम्] कृषिकर्मके उपयुक्त हो, [रोहिणीम्] वृक्षादिकोंको उपजानेवाली हो, [विश्व-रूपाम्] सब तरहका रूप धारण करनेवाली, [ध्रुवाम्] स्थिर [पृथिवी] बड़ी विस्तृत लम्बी चौड़ी [इन्द्र—गुप्ताम्] वीरोंसे रक्षित [भूमिम्] मातृभूमिको [अजितः] जिसे शत्रुओंने नहीं जीता, [अहतः] युद्ध आदिमें जिसे हानि नहीं पहुंची, [अक्षतः] कहींपर किसी अंगमें जिसे घाव नहीं हुआ, [अहं अध्यष्ठाम्] ऐसा रहकर मैं इसका अधिष्ठाता या स्वामी होऊंगा ॥ ११ ॥

हे [पृथिवि यत् ते मध्यम्] भूमि! जो तेरे मध्यमें है [यत् च नभ्यम्] जो नाभिस्थान है, (ते याः ऊर्जः) जो तुम्हारा बलयुक्त या अन्न आदि पोषणयुक्त [तन्वः] शरीरधारी अर्थात् [मनुष्य संबभूवुः] आपसमें संगठित हुए अर्थात् एका किए हुए हैं, [तासु] उस उनके समाजमें (नः) हमको [अभिधेहि] स्थापित कर और इस तरह [नः पवस्व] हमारी रक्षा कर, [भूमिः] भूमि ! तुम हमारी [माता] माता हो [अहम्] हम उस [पृथिव्याः पुत्रः] पृथिवीके पुत्र हैं, [नरकसे या दुःखसे जो त्राण या रक्षा करे वह पुत्र है । भूमि, हम तेरे दुःखको दूर करेंगे इससे पुत्र हैं] [पर्जन्यः] जलकी वृष्टिसे पोषण करनेवाले मेघ हमारे पिता अर्थात् शस्यसंपत्तिसे पालन करनेवाले हैं [स उ नः] वह हमें निश्चय [पिपर्तु] पालन करे ॥ १२ ॥

(यस्याम् भूम्याम् वेदिं परिगृह्णन्ति) जिस भूमिमें सब ओरसे वेदीका स्वीकार करते हैं । (यस्यां विश्व-कर्माणः) जिसमें उन्नतिके साधन करनेवाले सब लोग (यज्ञं तन्वते) परोपकारका ऐसा यज्ञकार्य करते हैं, जिसमें भले लोगोंका सत्कार हो या ऐसे लोगोंका सत्संग हो, [यस्यां च पृथिव्यां पुरस्तात्] जिस पृथिवीमें पहले [ऊर्ध्वाः] उन्नति करनेवाले, [शुक्राः] वीर्ययुक्त (आहुत्याः) आहुतिके साथ (स्वरवः) यज्ञीय यूप होते हैं, जहां अच्छे अच्छे उपदेश [मीयन्ते] कहे जाते हैं, [सा नो भूमिः वर्धमाना] वह पृथ्वी हम लोगों द्वारा बढाई गई हो, हम लोगोंकी [वर्धयतु] उन्नति करे ॥ १३ ॥

भावार्थ- हे मातृभूमे! तुझपर जो पहाड़ और बरफसे ढके हुए पर्वत हैं तथा जो छोटे बड़े जंगल हैं, उनमें तेरे शत्रु कभी न रहें, तू शत्रुरहित होकर सदैव सबका पोषण करनेवाले उपजाऊ उत्तम वृक्षादिसे युक्त, स्थिर और वीरोंद्वारा रक्षित हो ऐसी सर्वगुणसम्पन्न तुझपर हम शत्रुओं द्वारा पराजित न होते हुए तथा मृत अथवा घायल न होते हुए आनन्दसे रहें और महान् पदवीको प्राप्त हों, राष्ट्रको अपने अधिकारमें रखें ॥ ११ ॥

*

यो नो द्वेषत् पृथिवि यः पृतन्याद् योऽभिदासान्मनसा यो वधेन।
तं नो भूमे रन्धय पूर्वकृत्वरि ॥ १४ ॥
त्वज्जातास्त्वयि चरन्ति मर्त्यास्त्वं बिभर्षि द्विपदस्त्वं चतुष्पदः।
तवेमे पृथिवि पञ्च मानवा येभ्यो ज्योतिरमृतं मर्त्येभ्य उद्यन्त्सूर्यो
रश्मिभिरातनोति ॥ १५ ॥
ता नः प्रजाः सं दुहतां समग्रा वाचो मधु पृथिवि धेहि मह्यम् ॥ १६ ॥

अर्थ- हे [पृथिवि यः नः द्वेषत्] मातृभूमि! जो हमसे द्वेष करता है,(यः पृतन्यात्)जो सेनासे हमारा पराभव करना चाहता है, (यः मनसा) जो मनसे हमारा अनिष्ट चाहता है (अभिदासात्) जो हमें दास या गुलाम बनाना चाहता है, (वधेन) जो वध कत्ल कर हमें कष्ट पहुंचाना चाहता है, हे (पूर्वकृत्वरि) पहिलेसे ही शत्रुनाश करनेवाली मातृभूमि! (तं रन्धय) उसका नाश कर ॥ १४ ॥

हे (पृथिवि) हमारी मातृभूमि ! जो (मर्त्याः) मनुष्य (त्वज्जाताः) तुम्हारेही में पैदा हुए हैं, (त्वयि चरन्ति) तुम्हारेही में चलते फिरते हैं, जिन (द्विपदः) दो पांववाले अर्थात् मनुष्योंको (चतुष्पदः) चौपायोंको [त्वं बिभर्षि] धारण पोषण करते हो, [येभ्यः मर्त्येभ्यः] जिन मनुष्योंके लिये [अमृतम्] जीवनका हेतुभूत [ज्योतिः] तेज [उद्यन् सूर्यः रश्मिभिः] उदित हुआ सूर्यकिरणोंसे [आतनोति] विस्तार करता है, [इमे] ये हम लोग [पंच मानवाः] पांच प्रकारके मनुष्य [तव] तुम्हारी सेवा करनेकी इच्छा करते हैं ॥ १५ ॥

हे [नः पृथिवि ताः] हमारी मातृभूमि ! हम सब लोग तुम्हारी [प्रजाः] प्रजा [समग्राः] सब [वाचः] वाणी [मधु] मधुर प्रेमपूर्ण [संदुहताम्] एकत्र हो बोलें, [मह्यम्] हमको भी मधुर वचन बोलनेकी शक्ति दे ॥ १६ ॥

भावार्थ- हे मातृभूमि! तेरे भीतर और ऊपर जो जो पदार्थ हैं उन सबकी और तेरी, शत्रुओंके हाथसे रक्षा करनेके लिये जो विद्वान्, बलवान् और धनवान् मनुष्य एकत्र होकर यत्न करते हैं, उनके उस संघमें हमें स्थान दे और हमारी रक्षा कर, क्योंकि तू हमारी माता और हम तेरे पुत्र दुःखसे छुडानेवाले हैं, इस पर्जन्य (मेघ) द्वारा धान्यादिक उत्पन्न होते हैं, इसलिये हम सबका वह पिता (पालक) है, यथार्थमें वह नियमित समयमें वर्षा कर हमारी रक्षा करे ॥१२॥

जिस भूमिके लोग यज्ञकी वेदीके पास जाकर हवन करनेके लिये तैयार रहते हैं, जिस भूमिमें लोग सदैव परोपकार और उन्नतिके काम करते रहते हैं और जिसमें विशेष कर उन्नतिकारक तथा बलोत्पादक यज्ञ किये जाते हैं, इसी प्रकार उत्साह देनेवाले भाषण और उपदेश सदैव किये जाते हैं। हमारे द्वारा उन्नति पानेवाली वह हमारी मातृभूमि हमारे लिये सब प्रकारसे उन्नतिका कारण हो ॥ १३ ॥

हे हमारी मातृभूमि ! जो हमसे शब्दोंद्वारा द्वेष करते हैं, जो हमारे वैरी सेना ले हमपर चढाई कर हमें जीतना चाहते हैं, जो हमारा नाश करनेके लिये टपे बैठे हैं, जो हमें परतन्त्र और गुलाम बनाना चाहते हैं, जो मनसे हमारा अनिष्ट सोचते रहते हैं, हमारे उन सब शत्रुओंका पूर्णरूपसे सत्यानाश कर ॥ १४ ॥

हे हमारी मातृभूमि ! जो हम लोग तेरेसे उत्पन्न हो, तेरेही आधारसे अपने सम्पूर्ण व्यवहार करते हैं; जो सम्पूर्ण पशु, पक्षी, मनुष्य और अन्य सम्पूर्ण प्राणिमात्रको तू आधार देकर पालती पोषती है; जिस हमारे जीवनके लिये यह देदीप्यमान सूर्य अपनी अमृतमय किरणोंको चारों ओर फैलाता रहता है; वे हम पांच प्रकारके मनुष्य विद्वान्, शूरवीर, व्यापारी, कारीगर और सेवावृत्तिवाले मनुष्य तुम्हारी सेवा करनेकी इच्छा करते हैं ॥ १५ ॥

हे हमारी मातृभूमि ! हम सब लोग आपसमें जो बातचीत करें वह सत्य, हितकारी, मधुर और परस्पर प्रेमयुक्त हो; शठ अहितकारी तथा कटु न हो; हम सब लोगोंको एकत्र हो आपसमें प्रेमसे मीठा वचन बोलनेकी शक्ति दे ॥ १६ ॥

विश्वस्वं मातरमोषधीनां ध्रुवां भूमिं पृथिवीं धर्मणा धृताम् ।
शिवां स्योनामनु चरेम विश्वहा ॥ १७ ॥
महत्सधस्थं महती बभूविथ महान्वेग एजथुर्वेपथुष्टे महांस्त्वेन्द्रो रक्षत्यप्रमादम् ।
सा नो भूमे प्र रोचय हिरण्यस्येव संदृशि मा नो द्विक्षत कश्चन ॥ १८ ॥
अग्निर्भूम्यामोषधीष्वग्निमापो बिभ्रत्यग्निरश्मसु ।
अग्निरन्तः पुरुषेषु गोष्वश्वेष्वग्नयः ॥ १९ ॥

अर्थ-(विश्वस्वम्) सब (ओषधीनाम्) वनस्पति, वृक्ष, लता आदि की [मातरं ध्रुवां पृथिवीम्] यह माता विस्तीर्ण, लम्बी, चौडी, स्थिर पृथिवी (धर्मणा) सत्य, ज्ञान, शूरता, वीरता आदि धर्मसे (धृताम्) पालित पोषित (शिवाम्) कल्याणमयी (स्योनाम्) सुख की देनेवाली (भूमिम्) मातृभूमिकी [विश्वहा] सदा [अनुचरेम] हम सेवा करें ॥ १७ ॥

हे मातृभूमि ! तुम हम सबका [महत् सधस्थम्] एक साथ मिलकर रहनेका स्थान हो, इस तरह तुम [महती बभूविथ] बडी होती रही हो । [ते] तुम्हारा [एजथुः वेपथुः] हिलना डोलना [महान्] बडा [वेगः] वेग या गतियुक्त होता है । इस प्रकारकी [त्वाम्] तुमको [महान् इंद्रः] शत्रुके नाश करनेवाले बडा ज्ञान, बल, उत्साह, ऐश्वर्य, संपत्तियुक्त शूर वीर [अप्रमादम्] चौकसीके साथ [रक्षति] तुम्हारी रक्षा करते हैं । [भूमे] हे मातृभूमि ! [सा] सो तुम [हिरण्यस्य इव] सोनेकी तरह [संदृशि] चमकती हुई [नः] हमको [कश्चन] कोई भी आपसमें [मा द्विक्षत] वैरभाव न रक्खे ॥ १८ ॥

[भूम्याम्] पृथिवीके मध्यभागमें [अग्नि] अग्नि है, [ओषधीषु] औषधियोंमें (अग्निः) अग्नि है, जिन औषधियोंके सेवनसे अन्न पचता है, दीपन अर्थात् भूख लगती है, [आपः] जल (अपि) जब मेघरूपमें होता है तब वह अग्नि (बिभ्रति) विद्युत्‌के रूपमें अग्निको धारण करता है । (अश्मसु) पत्थरोंमें चकमक इत्यादिमें (अग्निः) अग्नि है, (पुरुषेषु) मनुष्योंमें (अन्तः) भीतर जाठराग्निके रूपमें (अग्नि) अग्नि है, (गोषु अश्वेषु अपि) गऊ घोडे आदि पशुओंमें (अग्निः) अग्नि है जिससे उनका भोजन पचता है ॥ १९ ॥

भावार्थ- जिसमें सब तरहकी उत्तम औषधियां और वनस्पतियां उपजती हैं; जो बडी लम्बी चौडी और स्थिर हो; विद्या, शूरता, सत्य, स्नेह आदि सदाचार और सद्‌गुण युक्त पुरुष जिसकी रक्षा करते हैं; जो कल्याणमयी और सब प्रकारके सुखसाधन हमें देती है; उस मातृभूमिकी हम सदा सेवा करें ॥ १७ ॥

हे हमारी मातृभूमि ! तू हम सबको एकत्र रहनेका स्थान देती है; हम सब लोगोंका समावेश होनेयोग्य तेरा विस्तार है; तू आकाशमें हिलते डोलते जिस वेगसे जाती है वह वेग बहुतही बडा है; ज्ञानी,शूर,वीर, उत्साही और ऐश्वर्यशाली,शत्रुको नाश करनेवाले वीर पुरुषही चौकसीके साथ तेरी रक्षा कर सकते हैं; अनाडी, भीरु और विगतधैर्य नहीं कर सकते; तू स्वयं सोनेके समान तेजस्वी है, हमें भी तेजस्वी कर और ऐसा कर कि हममेंसे कोई भी परस्परका द्वेष न करे, सब एक मतसे व्यवहार करें ॥ १८ ॥

सब पदार्थ अग्निमय हैं । उस अग्निद्वारा भूमि, औषधि, वनस्पति, जल (मेघादिक), पत्थर, मनुष्य,गाय, घोडे इत्यादि प्राणियोंके शरीर जैसे तेजस्वी दीखते हैं, उसी प्रकार हम मनुष्य जो उन सब पदार्थोंके भोक्ता हैं, अपने ब्रह्मचर्य की रक्षा कर और वीर्यरूपी अग्नि को शरीरमें प्रवेश कर सब अधिक तेजस्वी हों ॥ १९ ॥

अ॒ग्निर्दि॒व आ त॑पत्य॒ग्नेर्दे॒वस्यो॒र्व१॒॑न्तरि॑क्षम् । अ॒ग्निं मर्ता॑स इन्धते हव्य॒वाहं॑ घृत॒प्रिय॑म् ॥ २० ॥ [२]

अ॒ग्निवा॑साः पृथि॒व्य॑सित॒ज्ञूस्त्वि॒षीम॑न्तं॒ संशि॑तं मा कृणोतु ॥ २१ ॥

भूम्यां॑ दे॒वेभ्यो॑ ददति य॒ज्ञं ह॒व्यमरं॑कृतम् ।
भूम्यां॑ मनु॒ष्या॑ जीवन्ति स्व॒धयान्ने॑न॒ मर्त्याः॑ ।
सा नो॒ भूमिः॑ प्रा॒णमायु॑र्दधातु ज॒रद॑ष्टिं मा पृथि॒वी कृ॑णोतु ॥ २२ ॥

यस्ते॑ ग॒न्धः पृ॑थिवि संब॒भूव॒ यं बिभ्र॒त्योष॑धयो॒ यमापः॑ ।
यं ग॑न्ध॒र्वा अ॑प्स॒रस॑श्च भेजि॒रे तेन॑ मा सुर॒भिं कृ॑णु॒ मा नो॑ द्विक्षत॒ कश्च॒न ॥ २३ ॥

अर्थ- (दिवः) आकाशमें (अग्निः) सूर्यके रूपमें अग्नि है । (आतपति) जो सब ओर प्रकाश देता हुआ तप रहा है। (देवस्य अग्नेः) प्रकाशमय उस अग्निके प्रकाशसे (उरु) बडे (अन्तरिक्षं) प्रकाशमें प्रकाशित होता है, इस तरह अनेक रूपमें अग्नि विद्यमान है । (हव्यवाहम्) होम की हुई आहुति का ले जानेवाला (घृत-प्रियं) घी को प्यार करनेवाला (अग्निं) भौतिक अग्नि ऋतुओंके बदलनेपर रोगोंके नाशके लिये (मर्तासः) मनुष्य लोग (इन्धते) दीपित करते हैं ॥ २० ॥

[अग्निवासाः] आग्निसे व्याप्त [असितज्ञूः] कालें कज्जलसे जो जाना जाय वह अग्नि (पृथिवी असि) पृथिवीके रूपमें हो (मां) मुझको (त्विषीमन्तं) प्रकाशयुक्त (कृणोतु) करे ॥ २१ ॥

मनुष्य जिस भूमिमें (भूम्यां अरंकृतं) अलंकृत सुसंकृत (हव्यम्) आहुतियुक्त (यज्ञं) यज्ञ (देवेभ्यः) देवताओंको (ददति) देते हैं । इससे जिस भूमिमें (स्वधया अन्नेन) उत्तम अन्न खानेपीने की वस्तुसे (मर्त्याः) मरणधर्मा मनुष्य (मनुष्याः जीवन्ति) जीते हैं । (सा नो भूमिः प्राणं आयुः) वह भूमि हमें बल आयु (दधातु) दे और वही भूमि (मा) मुझे (जरदष्टिं) अच्छी वृद्धि या उन्नति (कृणोतु) करनेवाली हो ॥ २२ ॥

हे (पृथिवि ! यस्ते गन्धः संबभूव) पृथिवी जो तेरेमेंसे गन्ध पैदा होती है, (यं) जिस गन्धको (ओषधयः बिभ्रति) ओषधियां धारण करती हैं, (यः) जिसे (आपः बिभ्रति) जल धारण करता है, जिसे (गन्धर्वा) सूर्य धारण करते, (अप्सरसः च) किरणें धारण करती हैं, (यं गन्धं) जिस गन्धका (भेजिरे) सुख भोगा (तेन) सुगन्धिसे (मा) मुझ-को [सुरभिं] सुगन्धियुक्त [कृणु] करो । [नः] हम लोगोंमें [कश्चन] कोई भी [मा द्विक्षत] किसीसे द्वेष न करे, सब लोग आपसमें मित्रतासे रहें ॥ २३ ॥

भावार्थ—आकाशमें चारों ओर अपना प्रकाश फैलानेवाली सूर्य नामकी एक बडी भारी अग्नि है । उससे उत्पन्न हुए द्रव्य-को हवनद्वारा चारों ओर फैलाने के लिये तथा सुखकी प्राप्ति और दुःख की निवृत्ति के लिये मनुष्य घृत आदिसे होम करते हैं। उस अग्निमें हम भी दिन रात हवन करते हैं ॥ २० ॥

जिस हमारी मातृभूमिमें चारों ओर अग्नि व्याप्त है और जिस भूमिका वर्ण काला है, वह भूमि हमारे ज्ञान कीर्ति और यशको बढानेवाली हो ॥ २१ ॥

जिस हमारी भूमिमें मनुष्य यज्ञ करते हैं और उसमें उत्तम उत्तम पदार्थोंका हवन करके वायु और जल आदिको शुद्ध करते हैं, जिस भूमिमें यज्ञोंके कारण उत्तम वृष्टि होकर विपुल अन्न उपजता है, जिसको खाकर मनुष्य आनन्दसे निवास करते हैं वह मातृभूमि हमको उत्तम प्राण और पूर्ण आयुष्य देनेवाली हो ॥ २२ ॥

हे मातृभूमि ! जो तुम्हारेमें उत्तम सुगन्धि है, वह औषधि और वनस्पतियोंमें प्रगट होती है, उसी सुगन्धिको सूर्य अपनी किरणोंसे उद्दीपन करते हैं । हमें उस उत्तम सुगन्धि से भूषित करो और हमारे बीच कोई आपसमें किसीसे भी वैर न करे, सब लोग परस्पर मैत्रीभावसे रहें ॥ २३ ॥

यस्ते॑ ग॒न्धः पु॒ष्कर॑मावि॒वेश॒ यं सं॑ज॒भ्रुः सू॒र्या॑या विवा॒हे ।
अम॑र्त्याः पृथिवि ग॒न्धमग्रे॒ तेन॑ मा सुर॒भिं कृ॑णु॒ मा नो॑ द्विक्षत॒ कश्च॒न ॥ २४ ॥
यस्ते॑ ग॒न्धः पुरु॑षेषु स्त्री॒षु पुं॒सु भगो॒ रुचिः॑ ।
यो अश्वे॑षु वी॒रेषु॒ यो मृ॒गेषू॒त ह॒स्तिषु॑ ।
क॒न्या॒या॑ वर्चो॒ यद् भू॑मे॒ तेना॒स्माँ अपि॒ सं सृ॑ज॒ मा नो॑ द्विक्षत॒ कश्च॒न ॥ २५ ॥
शि॒ला भूमि॒रश्मा॑ पां॒सुः सा भूमिः॒ संधृ॑ता धृ॒ता
तस्यै॒ हिर॑ण्यवक्षसे पृथि॒व्या अ॑करं॒ नमः॑ ॥ २६ ॥
यस्यां॑ वृ॒क्षा वा॑नस्प॒त्या ध्रु॒वास्तिष्ठ॑न्ति वि॒श्वहा॑ ।
पृ॒थि॒वीं वि॒श्वधा॑यसं धृ॒ताम॒च्छाव॑दामसि ॥ २७ ॥

अर्थ- हे [पृथिवि यः ते गन्धं पुष्करं] जो तुम्हारी गन्ध कमलमें [आविवेश] प्रविष्ट हुई है, [अग्रे] पहिले [यं गन्धं अमर्त्याः] जिस गन्धको वायु आदि देवता [सूर्यायाः] उषाके [विवाहे] विवाहके समय [संजभ्रुः] धारण करते हैं, [तेन मां सुरभिं कृणु] उस सुगन्धिसे हमें सुगन्धित करो। [कश्चन] कोई भी [नः] हम लोगोंसे [मा द्विक्षत] द्वेष न करे ॥ २४ ॥

हे [भूमे] भूमि, [यः ते गन्धः वीरेषु पुरुषेषु स्त्रीषु पुंसु भगः] वीर पुरुषोंमें, स्त्रियोंमें, साधारण पुरुषोंमें तेजोमय कान्तिरूप है, [यः अश्वेषु उत मृगेषु हस्तिषु] जो घोडोंमें, चौपायोंमें, हाथियोंमें, [यत् वर्चः] जो तेज रूप है, [कन्यायां] बिना ब्याही कन्याओंमें जो तेज है, [तेन] दिव्य तेजसे [अस्मान् अपि] हममें भी वही तेज (संसृज) पैदा कर दे। [कश्चन मा द्विक्षत] हममें कोई किसीसे द्रोह न करे ॥२५॥

जो (शिला अश्मा पांसुः) शिला, पर्वत, पत्थर और धूलियुक्त (भूमिः) भूमि है (सा भूमिः) वह भूमि हम लोगोंसे विद्या, अनेक विज्ञान और वीरतासे (धृता) भलीभांति रक्षित हुई, [संधृता] अच्छी तरह योग्यताके साथ सुरक्षित हुई कहलावेगी, (तस्यै हिरण्यवक्षसे)उस भूमिको जिसमें सोनेकी खान है,(नमः अकरं) नमस्कार करते हैं ॥२६॥

(यस्या) जिसमें (वानस्पत्याः) वनस्पति (वृक्षाः) पेड और लता आदि (विश्वहा) सदा [ध्रुवाः] स्थिर (तिष्ठन्ति) रहते हैं, (विश्वधायसं) पूर्वोक्त गुणोंसे जो सबको धारण करनेवाली है, [धृताम्] धारण की गई अर्थात् भलीभांति सुरक्षित रखी गई, [पृथिवीं अच्छ] उस पृथिवी की हम मुख्यतया [आवदामसि] प्रशंसा गाते हैं ॥ २७ ॥

भावार्थ- हे मातृभूमि ! जो सुगन्धि तुम्हारे कमलोंमें है, सूर्योदयके समय जिसे वायु ले जाती है, उस सुगन्धिसे हमें सुगन्धित करो। हममें कोई किसीसे द्वेष न करे। हममें सबका एक दूसरेके साथ स्नेह बढे और सब समाजके लिये हितकारी हों ॥ २४ ॥

हे मातृभूमि ! वीर पुरुषों तथा साधारण स्त्री पुरुषोंमें, हाथी घोडे चौपाये आदिमें, ब्रह्मचारियों ब्रह्मचारिणी कन्याओंमें जो तेज है, वह हममें भी बचपनसे ही हो। हममें कोई भी किसीसे द्रोह न करे ॥ २५ ॥

जिस हमारी मातृभूमिके ऊपर शिला, पत्थर और धूल है और जिसके भीतर सुवर्ण रत्नादिक अमूल्य पदार्थ बहुतसे हैं, उस मातृ-भूमिको हम नमस्कार करते हैं। जबतक ज्ञान, शौर्य आदि गुण हममें बने रहते हैं तभी तक हमारी मातृभूमिका संरक्षण है, इसलिये हमको इस प्रकार आचरण करना चाहिये कि ये गुण हममें सर्वदा बने रहें और हमसे सदा मातृभूमिकी रक्षा होती रहे ॥ २६ ॥

जिस हमारी मातृभूमिमें वृक्ष और वनस्पति बहुतायतसे हैं और सब स्थिर हो रहते हैं, जो अपने अनेक ऊपर कहे हुए

उदीराणा उतासीनास्तिष्ठन्तः प्रक्रामन्तः ।
पद्भ्यां दक्षिणसव्याभ्यां मा व्यथिष्महि भूम्याम् ॥ २८ ॥
विमृग्वरीं पृथिवीमा वदामि क्षमां भूमिं ब्रह्मणा वावृधानाम् ।
ऊर्जं पुष्टं बिभ्रतीमन्नभागं घृतं त्वाभि नि षीदेम भूमे ॥ २९ ॥
शुद्धा न आपस्तन्वे क्षरन्तु यो नः सेदुरप्रिये तं नि दध्मः ।
पवित्रेण पृथिवि मोत् पुनामि ॥ ३० ॥ (३)
यास्ते प्राचीः प्रदिशो या उदीचीर्यास्ते भूमे अधराद् याश्च पश्चात् ।
स्योनास्ता मह्यं चरते भवन्तु मा नि पप्तं भुवने शिश्रियाणः ॥ ३१ ॥

अर्थ- [उदीराणाः] चलते फिरते [उत आसीनाः] बैठे हुए [तिष्ठन्तः] खड़े हुए [प्रक्रामन्तः दक्षिणसव्याभ्यां पद्भ्यां] दाहिने या बायें पांवसे टहलते हुए [भूम्यां मा व्यथिष्महि] भूमिमें हम किसीको दुःख न दें ॥ २८ ॥

[विमृग्वरीं] विशेष खोजनेके योग्य [ब्रह्मणा] परमात्मासे [वावृधानां] बढाई गई [ऊर्जं] बल बढानेवाली [पुष्टं] पुष्टि करनेवाली [घृतं अन्नभागं च] घी और खानेके पदार्थ अन्न आदि [बिभ्रतीं] धारण करनेवाली [पृथ्वीं] लम्बी चौडी [क्षमां] प्राणिमात्रके निवास योग्य [भूमिं] मातृभूमिसे [आवदामि] प्रार्थना करते हैं। हे [भूमे] हमारी मातृभूमि। [त्वां] तुम्हारा [अभिनिषीदेम] हम आसरा लें ॥२९ ॥

हे [पृथिवि ! नः तन्वे] हमारे शरीरको शुद्धिके लिये [शुद्धाः आपः] निर्मल जल, [क्षरन्तु] बहा करें; [यः नः] जो हमको [अप्रिये] अनिष्ट है या प्रिय नहीं है [सेदुः] उसे अलगकर [पवित्रेण] पवित्र जो हमारा कर्तव्य कर्म है [मा उत्पुनामि] उससे मुझे पवित्र करता हूं ॥ ३० ॥

हे [भूमे !] मातृभूमि ! [याः ते प्राचीः] जो तुम्हारी पूर्व दिशा है, [याः उदीची] जो उत्तरकी दिशा है, [याः ते प्रदिशः] जो तुम्हारी उपदिशा अग्नि, नैर्ऋत्य, वायव्य, ईशान ये चार कोनेकी दिशाएं हैं, [याः ते अधरात्] जो तुम्हारे नीचे हैं, [याः ते पश्चात्] जो तुम्हारे पृष्ठभागमें या पीछे है [ताः] उन सब दिशाओंमें [चरते] लोग चलते फिरते हैं; [मह्यं स्योनाः भवन्तु] मुझे सुख की देनेवाले हों, [भुवने] जिस देशमें हम [शिश्रियाणः] रहें [मा निपप्तं] कहीं हमारा अधःपात न हो ॥ ३१ ॥

गुणोंसे भरी पूरी है, और सबका आधार है, हमसे अच्छी तरह सुरक्षित रखी गई उस पृथिवीकी हम प्रेमसहित स्तुति गाते हैं॥२७

भावार्थ— हम किसीके दुःखका कारण न बनें ॥ २८ ॥

जिसकी ऊपर की सतहको तलाश करनेसे अनेक लाभ हो सकते हैं, जिसे अनन्त शक्तिमान् परमेश्वरने अपनी शक्तिसे धारण किया है, बल बढानेवाले घृत और पुष्टिकारक अनेक भोजनके पदार्थ अन्न आदिको जो उत्पन्न करती है, लंबी चौडी और प्राणिमात्रके रहनेके योग्य है, उस भूमिसे हम प्रार्थना करते हैं कि हे मातृभूमि ! तुम हमें सहारा दो ॥ २९ ॥

हे हमारी मातृभूमि ! तुम चारों ओरसे हमारी शुद्धिके लिये निर्मल जल बहाती हो। जो कोई हमारा अप्रिय करनेकी इच्छा करे अथवा हमारा अनिष्ट करे, उसके साथ हम भी वैसा ही बर्ताव करें और उत्कृष्ट उद्योग करके हम अपनी हर प्रकारसे उन्नति करें ॥ ३० ॥

हे हमारी मातृभूमि ! तुम्हारी जो जो दिशाएं और उपदिशाएं हैं, उनमें सब मनुष्य तुम्हारे हित करनेवाले होवें- इसी प्रकार तेरे हितके लिये यत्न करते हुए हम भी उन सबका कल्याण करें, हम जहां कहीं रहें अपनी योग्यता बढाते रहें, सुखसे रहें और हमारा अधःपात कभी न हो ॥ ३१ ॥

मा नः पश्चान्मा पुरस्तान्नुदिष्ठा मोत्तरादधरादुत ।
स्वस्ति भूमे नो भव मा विदन् परिपन्थिनो वरीयो यावया वधम् ॥ ३२ ॥
यावत् तेऽभि विपश्यामि भूमे सूर्येण मेदिना । तावन्मे चक्षुर्मा मेष्टोत्तरामुत्तरां समाम् ॥ ३३ ॥
यच्छयानः पर्यावर्ते दक्षिणं सव्यमभि भूमे पार्श्वम् ।
उत्तानास्त्वा प्रतीचीं यत् पृष्टीभिरधिशेमहे । मा हिंसीस्तत्र नो भूमे सर्वस्य प्रतिशीवरि ३४
यत् ते भूमे विखनामि क्षिप्रं तदपि रोहतु । मा ते मर्म विमृग्वरि मा ते हृदयमर्पिपम् ॥ ३५ ॥

अर्थ– हे [भूमे! पश्चात् नः मा नुदिष्ठाः] मातृभूमि ! जो तुम्हारे पृष्ठभाग हैं वे हमारा नाश न करें, [मा पुरस्तात् मा उत्तरात् उत अधरात् मा नुदिष्ठाः] जो तुम्हारे पूर्व है, उत्तर है या नीचे है, वह भी हमारा नाश न करें, [स्वस्ति] हमारा कल्याण हो । [परिपन्थिनः] शत्रु लोग हमें [मा विदन्] न जानें [किञ्च] उन शत्रुओंके [वधं] वधके लिये [वरीयः] जो हम लोगोंमें सबसे श्रेष्ठ हो [यावय] वह जाय ॥ ३२ ॥

[भूमे मेदिना] हे हमारी मातृभूमि ! –अपने प्रकाशसे आनंद देनेवाले [सूर्येण] सूर्यसे [यावत् ते अभि विपश्यामि] जहांतक सब ओर हम तुम्हारे विस्तारको देखते हैं, [तावत् उत्तरां उत्तरां समां मे चक्षुः मा मेष्ट] वहांतक ज्यों ज्यों मेरी उमर बढती जाय मेरी इंद्रियां नेत्र आदि अपना अपना काम करनेमें शिथिल न हों, अर्थात् कहींसे उनमें कमी न हो, अपनी पूरी उमरतक हम सब उत्तम कर्म करते रहें ॥ ३३ ॥

हे [भूमे] हमारी मातृभूमि ! [यत्] जब [शयानः] सोते हुए [दक्षिणं सव्यं पार्श्वं] दाहिने और बांये [अभिपर्यावर्ते] करवट लें [यत् त्वा] जब तुमपर [प्रतीचीं] पश्चिम की ओर पांव कर [उत्तानाः पृष्टीभिः] पीठ नीचे कर [अधिशेमहे] शयन करें, उस स्थानमें [सर्वस्य प्रतिशीवरि] सब लोगोंको सहारा देनेवाली [भूमे नः मा हिंसीः] हे हमारी मातृभूमि हमारा नाश न कर ॥ ३४ ॥

हे [भूमे] हमारी मातृभूमि [ते] तुम्हारेमें [यत् विखनामि] जो हलसे जोतकर हम बोवें [तत् क्षिप्रं रोहतु] वह जल्द उगे और बढे [विमृग्वरि] विशेष खोजनेके योग्य हमारी मातृभूमि [ते] तुम्हारे [मर्म] नाजुक स्थानोंमें किसी तरह की क्षति या चोट न पहुंचे और [ते अर्पिपं] तुम्हारे अर्पित [हृदयं] मन या चित्त [मा] दुःखित न हो ॥ ३५ ॥

भावार्थ— हे हमारी मातृभूमि ! हमें किसी प्रकारसे हानि न पहुंचे, सब तरहसे हमारी उन्नति ही हो । हमारी चालोंको हमारे शत्रु न समझ सकें और हमारे अगुआ लोग सदा हमारे शत्रुओंके नाश करनेका प्रयत्न करते रहें ॥ ३२ ॥

हे मातृभूमि ! जबतक हम प्रकाश और ज्ञानकी सहायतासे तेरी बाहरी भीतरी स्थिति सूक्ष्म दृष्टिसे देखते रहें, तबतक हमारी बाहरी इन्द्रियां और भीतरी बुद्धि अपना अपना काम करनेमें समर्थ रहें ॥ ३३ ॥

हे हमारी मातृभूमि ! जिस समय हम तेरे भक्त विश्राम करनेके लिये दाएं, बाएं अथवा सीधे तेरे ऊपर सोवें उस समय तुम हमें आश्रय दो, जिससे कि हम बेखटके सोवें और कोई हमारा घात न कर सके ॥ ३४ ॥

हे हमारी मातृभूमि जहां तुम ऊंची नीची हो उसे सम भूभाग कर जो हम बोवें वह जल्द उगे और बढे । तुम्हारे ऊंचा नीचा रहनेसे हमारे भवनादि और गिर जानेकी संभावना है, सो तुम्हारे लिये यत्न करते हुए मर्मस्थानमें चोट या क्षति न पहुंचे और तुम्हारे लिये जो हम अपना तन, मन अर्पित किये हैं कि तुम्हारी उन्नति करें सो दुःखित न हो, हम सदा प्रसन्न चित्त रहें ॥ ३५ ॥

ग्रीष्मस्ते भूमे वर्षाणि शरद्धेमन्तः शिशिरो वसन्तः ।
ऋतवस्ते विहिता हायनीरहोरात्रे पृथिवि नो दुहाताम् ॥ ३६ ॥

याप सर्पं विजमाना विमृग्वरी यस्यामासन्नग्नयो ये अप्स्वन्तः ।
परा दस्यून् ददती देवपीयूनिन्द्रं वृणाना पृथिवी न वृत्रम् ।
शक्राय दध्रे वृषभाय वृष्णे ॥ ३७ ॥

यस्यां सदोहविर्धाने यूपो यस्यां निमीयते ।
ब्रह्माणो यस्यामर्चन्त्यृग्भिः साम्ना यजुर्विदः ।
युज्यन्ते यस्यामृत्विजः सोममिन्द्राय पातवे ॥ ३८ ॥

अर्थ- हे (पृथिवी भूमे) विस्तृत मातृभूमि ! (ते ग्रीष्मः वर्षाणि शरद् हेमन्तः शिशिरः वसन्तः) तुम्हारे में जो गरमी, बरसात, शरद्, हेमन्त, शिशिर, वसन्त (ऋतवः ते हायनीः) ये छः ऋतु वर्षभरमें (विहिताः) स्थापित की गई हैं और (अहोरात्रे) दिन तथा रात (नः दुहताम्) हमको सुख देनेवाले पदार्थ दें ॥३६॥

(या विमृग्वरी) जो विशेष खोजनेके योग्य है, (विजमाना अपसर्पं) जो हिलती हुई चलती है, (ये अप्सु) जो मेघोंमें (अन्तः अग्नयः) बिजलीके आकारमें अग्नि हैं वे (यस्यां आसन्) जिसमें है, वह हमारी मातृभूमि (देवपीयून्) देवोंके हिंसक (दस्यून्) ज्ञानमार्गके उच्छेदक अनार्योंका नाशकर्त्री (शक्राय) समर्थ (वृष्णेन) वीर्ययुक्त (वृषभाय) सिंचन करनेवालेको (दध्रे) धारण करती है और शत्रुको (परादद्ती] दूर करती हुई [वृत्रं न] शत्रुका [इन्द्रं] नाश करनेवाले शूर वीरको [वृणाना] वरण करनेवाली अर्थात् अपनेमें मिलानेवाली हमारी मातृभूमि है ॥ ३७ ॥

(यस्यां सदो) जिस भूमिमें घर है (हविर्धाने) जिसमें हविष्य अर्थात् हवनके पदार्थ सुरक्षित रह सकते हैं (यस्यां यूपः निमीयते) जिसमें यज्ञस्तम्भ रखे जाते हैं, (यस्यां यजुर्विदः ऋत्विजः) जिसमें यजुर्वेदके जाननेवाले ब्राह्मण यज्ञ करने या करानेवाले (यस्यां ब्रह्माणः ऋग्विभिः साम्ना च अर्चन्ति) जिसमें ऋग्वेद और सामवेदके जाननेवाले ब्राह्मण ब्रह्मा बन परमात्माका पूजन करते हैं और (सोमं पातवे) सोमपानके लिये (इन्द्राय युज्यन्ते) इन्द्रका पूजन करते हैं ॥ ३८ ॥

हे मातृभूमि ! छः ऋतु होनेका उत्तम गुण तुम्हारे ही में है और किसी देशकी भूमिमें छः ऋतु नहीं होती। सो वर्षकी ये छः ऋतु अपने अपने समयमें उपजे फल फूल आदिसे हमें सुख देती रहें, उन उन ऋतुके रात और दिन सब भांति हमें सुहावने हों ॥ ३६ ॥

जो हमारी भूमि ऐसी है कि इसे जितना ही खोजते रहो इसमें लाभदायक सार वस्तु मिलती रहे, हिलते, डोलते, चलते मेघोंमें बिजलीके आकारमें अग्नि जिसमें है वह हमारी मातृभूमि सज्जनोंको दुख देनेवाले दुष्टोंका नाश। वीरोंके हितके लिये नाश करती है, वह हमारी मातृभूमि शत्रुनाशक वीरोंको ही अपनेमें धारण करती है ॥ ३७ ॥

जहां वेदके जाननेवाले ब्राह्मणोंने बार बार यज्ञ किया है, इससे सिद्ध हुआ कि यह हमारी मातृभूमि पवित्र यज्ञभूमि है ॥ ३८ ॥

यस्यां पूर्वे भूतकृत ऋषयो गा उदानृचुः । सप्त सत्रेण वेधसो यज्ञेन तपसा सह ॥३९॥
सा नो भूमिरा दिशतु यद्धनं कामयामहे । भगो अनुप्रयुङ्क्तामिन्द्र एतु पुरोगवः ॥ ४० ॥
यस्यां गायन्ति नृत्यन्ति भूम्यां मर्त्या व्यैलबाः ।
युध्यन्ते यस्यामाक्रन्दो यस्यां वदति दुन्दुभिः ॥
सा नो भूमिः प्र णुदतां सपत्नानसपत्नं मा पृथिवी कृणोतु ॥ ४१ ॥
यस्यामन्नं व्रीहियवौ यस्या इमाः पञ्च कृष्टयः । भूम्यै पर्जन्यपत्न्यै नमोऽस्तु वर्षमेदसे ४२

अर्थ- (यस्यां पूर्वे भूत कृतः) जिस भूमिमें पहिले अद्भुत काम करनेवाले (ऋषयः वेधसः) अतीन्द्रियार्थदर्शी और ज्ञानी (सप्त सत्रेण) सात प्रकारके सत्र आदि (यज्ञेन) यज्ञसे या सत्कार दान मान आदि उत्तम कामोंसे (तपसा) धर्मके करनेसे (गाः उदानृचुः) उत्तम वाणीके द्वारा स्तुति करते रहे ॥ ३९ ॥

[सा नो भूमिः] वह हमारी मातृभूमि [यत् धनं] जो धन हम [कामयामहे] इच्छा करते हैं कि हमें मिले वह हमें [आ दिशतु] दे, [भगः] ऐश्वर्यसंपन्न अपने ऐश्वर्यसे शूर वीर पुरुषोंके [अनुप्रयुङ्क्ताम्] सहायक हो, [इन्द्रः] शत्रुके नाश करनेवाले वीरोंको [पुरोगवः] अगुआ होकर [एतु] शत्रुपर चढाई करे ॥ ४० ॥

[यस्याम् भूम्यां मर्त्याः] जिस भूमिमें मनुष्य [गायन्ति] गाते हैं, [नृत्यन्ति] नाचते हैं, [व्यैलबाः] विशेष प्रेरित वीर लोग अपने राष्ट्रकी रक्षाके लिये [युध्यन्त] युद्ध करते हैं [यस्यां आक्रन्दः] जिसमें घोडोंके हिनहिनानेका शब्द होता है, [दुन्दुभिः च वदति] नगाडा बजता है [सा नो भूमिः] वह हमारी मातृभूमि [सपत्नान्] शत्रुओंको [प्रणुदताम्] दूर भगा दे, वह [पृथिवी] भूमि [मा] हमें [असपत्नं] शत्रुरहित [कृणोतु] करे ॥ ४१ ॥

[यस्यां व्रीहियवौ] जिसमें चावल, जौ, गेहूं आदि अन्न बहुत उपजते हैं, [अन्नं] खानेके पदार्थ जहां अधिकतासे हैं, [यस्यां इमा पंच कृष्टयः] जहां पांच प्रकारके लोग विद्वान्, शूरवीर, व्यापारी, कारीगर और नौकर रहते हैं, उस [वर्षमेदसे] बरसात होनेसे जहां अन्न आदि अच्छे उपजते हैं, [पर्जन्यपत्न्यै] पर्जन्य अर्थात् वर्षासे जिस भूमिका पालन होता है, उस [भूम्यै नमः अस्तु] मातृभूमिको नमस्कार है ॥ ४२ ॥

भावार्थ— हमारी मातृभूमि ऐसी है जिसमें अतीन्द्रियार्थदर्शी सज्जनोंकी रक्षाके लिये बडे बडे काम करनेवाले धर्मानुष्ठान और ज्ञानमार्गसे सुशोभित सत्पुरुष हुए हैं, उस मातृभूमिकी हम स्तुति करते हैं ॥ ३९ ॥

जितने सुखकी हम इच्छा करें उतना मातृभूमि हमें दे। ऐश्वर्य और धनसम्पन्न लोग अपने ऐश्वर्य और धनसे वीरोंकी सहायता करें और वीर पुरुष धुरीण होकर धैर्यके साथ शत्रुओंके नाश करनेके लिये आगे बढें ॥ ४० ॥

जिस भूमिमें आनन्द बधाइयां बज रही हैं, जहां लोग प्रसन्न रह नाचते हैं, गाते हैं और वीर लोग वीरताके उत्साहमें भरे अपने राष्ट्रकी रक्षाके लिये युद्ध करते—घोडे जहां हिनहिना रहे हैं, नगाडे बजते हैं, वह हमारी मातृभूमि हमारे शत्रुओंका नाश कर हमें शत्रुरहित करे ॥ ४१ ॥

जहां चावल, गेहूं, जौ आदि तथा और और खानेके पदार्थ बहुत होते हैं, जहां विद्वान्, शूर, व्यापारी, कारीगर तथा सेवक लोग यह पांच प्रकारके मनुष्य आनन्दसे बसते हैं, जिस भूमिमें नियमित समयमें वृष्टि हो सम्पूर्ण धान्यादिक उत्पन्न हो लोगोंका योग्य पालन होता है, उस मातृभूमिको नमस्कार है ॥ ४२ ॥

यस्याः पुरो देवकृताः क्षेत्रे यस्या विकुर्वते ।
प्रजापतिः पृथिवीं विश्वगर्भामाशामाशां रण्यां नः कृणोतु ॥ ४३ ॥
निधिं बिभ्रती बहुधा गुहा वसु मणिं हिरण्यं पृथिवी ददातु मे ।
वसूनि नो वसुदा रासमाना देवी दधातु सुमनस्यमाना ॥ ४४ ॥
जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसम् ।
सहस्रं धारा द्रविणस्य मे दुहां ध्रुवेव धेनुरनपस्फुरन्ती ॥ ४५ ॥
यस्ते सर्पो वृश्चिकस्तृष्टदंश्मा हेमन्तजब्धो भृमलो गुहा शये ।
क्रिमिर्जिन्वत् पृथिवि यद्यदेजति प्रावृषि तन्नः सर्पन्मोप सृपद् यच्छिवं तेन नो मृड ॥ ४६ ॥

अर्थ- [यस्याः देवकृताः पुरः] जिस मातृभूमिके नगर देवोंके बनाये या बसाये हैं, [यस्याः क्षेत्रे विकुर्वते] जिसके प्रत्येक प्रान्तमें मनुष्य अपने अपने काम अच्छी तरहसे कर सकते हैं, प्रजापति [प्रजाका पालक उस भूमिको जो [विश्वगर्भा] सब पदार्थोंको पैदा करनेवाली है, [पृथिवीं] उस हमारी मातृभूमिको [आशां आशां] प्रत्येक दिशाओंमें [रण्यां] रमणीय करे ॥ ४३ ॥

[बहुधा गुहा] बहुत तरह की खानोंमें [वसु] धन, [मणिं] रत्न हीरा पन्ना आदि [हिरण्यं] सोना चांदी आदि [निधिं] संचय [बिभ्रती] धारण करनेवाली हमारी पृथिवी [मे] हमको वह सब [ददातु] दे, [वसुदा] धनकी देनेवाली [रासमाना] दान करनेवाली [देवी] देवस्वरूप हमारा सब काम साधनेवाली [सुमनस्यमाना] जो हमसे शुभचित्त होकर [नः] हमको [वसूनि ददातु] धन दे ॥ ४४ ॥

(बहुधा नानाधर्माणं) बहुत तरहके धर्मोंके माननेवाले (विवाचसम्) अनेक भाषा बोलनेवाले (जनं) जनसमुदायको (यथा ओकसं] जैसा एक घरमें कोई रहे उस तरह (बिभ्रती) धारण करनेवाली (अनपस्फुरन्ती) जिसका नाश न हो इससे (ध्रुवा पृथ्वी) स्थिर भूमि (द्रविणस्य धाराः) हजारों तरह पर (मे) मुझको (धेनुः इव दुहां) धेनु जैसा दूध देती है उसी तरह हमें धन दे ॥ ४५ ॥

हे (पृथिवि ते) हमारी मातृभूमि तुम्हारे (यः सर्पः वृश्चिकः) जो सांप या बीछू (तृष्टदंश्मा) ऐसे जीव कीडे आदि जिनके काटनेसे प्यास अधिक लगती हो (हेमन्त-जब्धः) हिमविनाशक अर्थात् ज्वरके पैदा करनेवाले (भृमलः) या जिनके काटनेसे घुमरी पैदा हो (क्रिमिः) ऐसे कीडे (गुहाशये) जो बिलोंमें पडे सोया करते हैं (प्रावृषि) बरसात के मौसममें (यत् जिन्वत् यत् एजति) जो कांपते हुए चलते हैं या रेंगते हैं (तत् सर्पन्) जो रेंगा करते हैं, वे सब (नः मा उपसृपत्) हमारे पास न आवें, (यत् शिवम्) जो हमारे लिये कल्याणकारी हो (तेन नः मृड) उससे हमें सुखी कर ॥ ४६ ॥

भावार्थ- जिस मातृभूमिमें देवोंद्वारा बसाये अनेक नगर हैं, जिसके प्रत्येक प्रान्तमें मनुष्य अनेक प्रकारके अच्छे अच्छे उद्योगों में सदैव लगे रहते हैं, अर्थात् जो घनी बसी है, कोई भाग जिसका सूना और उजाड नहीं है, जहां सब तरहके पदार्थ पैदा होते हैं, उस भूमिको प्रजाका पालक पूर्ण करे अर्थात् वहां विद्याका अधिक प्रचार करे और वह भूमि प्राकृतिक पदार्थों तथा सौन्दर्यसे सुसंपन्न रहे ॥ ४३ ॥

जिसमें रत्न और सुवर्ण आदिकी बहुतसी खानें हैं और जो हमें उत्तम धन रत्न आदि देती है, वह मातृभूमि सद हमें धनकी देनेवाली हो ॥ ४४ ॥

ये ते पन्थानो बहवो जनायना रथस्य वर्त्मानसश्च यातवे ।
यैः संचरन्त्युभये भद्रपापास्तं पन्थानं जयेमानमित्रमतस्करं यच्छिवं तेन नो मृड ॥४७॥
मल्वं बिभ्रती गुरुभृद् भद्रपापस्य निधनं तितिक्षुः ।
वराहेण पृथिवी संविदाना सूकराय वि जिहीते मृगाय ॥ ४८ ॥
ये त आरण्याः पशवो मृगा वने हिताः सिंहा व्याघ्राः पुरुषादश्चरन्ति ।
उलं वृकं पृथिवि दुच्छुनामित ऋक्षीकां रक्षो अप बाधयास्मत् ॥४९॥

अर्थ - हे भूमि ! (ये ते बहवः पन्थानः जनायनाः) मनुष्योंके चलने फिरने योग्य जो तुम्हारे बहुतसे मार्ग हैं, (रथस्य वर्त्म) रथके चलने योग्य [अनसः यातवे] छकडोंके आनेजाने लायक अथवा अन्नको ढोकर जानेलायक जो मार्ग हैं, [यैः संचरन्ति भद्रपापाः] जिनसे परोपकारी भले लोग या जिन परसे दुष्ट स्वार्थरत लोगभी चलते हैं [तं] उसे [अनमित्रं] शत्रुरहित [अतस्करं] ठग और चोरोंके भयसे रहित कर । [जयेम] हम जय प्राप्त करें, (यच्छिवं) जो कल्याणकारी है (तेन नो मृड) उससे हमें सुख दो॥ ४७ ॥

(गुरु भृत्) भारी पदार्थको अपनी ओर खींचनेवाली और (मल्वं) धारण करनेकी शक्ति (बिभ्रती) धारण करनेवाली (भद्रपापस्य) धर्मात्मा और पापात्मा मनुष्यके (निधनं) मरण (तितिक्षुः) सहती हुई वह (पृथिवी) भूमि (वराहेण) उत्तम जल देनेवालेके साथ (संविदाना) अच्छी तरह पाकर अर्थात् अच्छा बरसातवाली होकर (सूकराय) अच्छी किरणवाले (मृगाय) अपनी किरणोंसे अपवित्रताको पवित्र करनेवाले सूर्यके चारों ओर (विजिहीते) विशेष जाती है ॥ ४८ ॥

(पृथिवि ये ते वने हिताः) हे हमारी मातृभूमि ! जो तुम्हारे वनमें रखे गये हैं (सिंहाः व्याघ्राः पुरुषादः) सिंह, बाघ और दूसरे प्राणियोंको हिंसा करनेवाले मांसाहारी जीव (आरण्याः पशवः मृगाः) वनके रहनेवाले चतुष्पाद तृणभोजी मृगादिक (चरन्ति) चलते फिरते हैं उनको और (उलं वृकं दुच्छुनां) वनपशु, पागल कुत्ते [ऋक्षीकां] भालू आदि भेडिये [इतः अस्मात् अपबाधय] यहां हमसे दूर रखो ॥ ४९ ॥

भावार्थ- अनेक प्रकारके उत्पादक धनोंको पालनेवाले, विविध भाषा बोलनेवाले लोगोंको आश्रय देनेवाली हमारी अविनाशी मातृभूमि जैसा गऊ दूध देती है, उस तरह हजारों पदार्थोंकी देनेवाली हो तथा धनकी देनेवाली हो ॥ ४५ ॥

हे मातृभूमि ! तेरे विषैले सांप बिच्छू या ऐसे जीव जिनके काटनेसे दाह पैदा होती है, या जो शाप उत्पन्न करते हैं, वे भयंकर विषैले जीव कभी हमें स्पर्श भी न करें, जो पदार्थ हमारे लिये हितकारी और कल्याण करनेवाले हों वे सदा हमारे पास आ हमें सुख देवें ॥ ४६ ॥

हे हमारी मातृभूमि ! जो तुम्हारा रस्ता - जिसपरमनुष्य चलते फिरते हैं--रथ और छकडोंके चलने योग्य है, जिसपर भले और बुरे दोनों तरहके लोग चलते हैं, अन्न आदि पदार्थ जिसपर ढोये जाते हैं,वह मार्ग बिना शत्रु और चोररहित अर्थात् निर्भय और सुरक्षित कर हम विजयी हों उस बटार चलें । जो हमारे लिये भलाई हो उससे हमें सुखी करो ॥ ४७ ॥

गुरु पदार्थको अपनी ओर खींचने तथा धारण करनेकी शक्ति जिसमें है, भले और बुरे दोनोंको जो धारण किये है, दोनोंके मरणको जो सह लेती है । अच्छा जल बरसानेवाले मेघसे युक्त सूर्य जिसकी अपवित्रताको अपनी किरणोंसे हटा देता है, ऐसी हमारी मातृभूमि विशेष प्रकारसे सूर्यके साथ साथ जाती है ॥ ४८ ॥

हे हमारी मातृभूमि ! जो तुम्हारे हिंस्र जीव, शिकारी जानवर, चौपाये, भेडिये, पागल कुत्ते,भालू इत्यादि हैं, उन सबको हमसे दूर रखो ॥ ४९ ॥

ये गन्धर्वा अप्सरसो ये चारायाः किमीदिनः।
पिशाचान्त्सर्वा रक्षांसि तानस्मद् भूमे यावय ॥ ५० ॥ (५)
यां द्विपादः पक्षिणः संपतन्ति हंसाः सुपर्णाः शकुना वयांसि।
यस्यां वातो मातरिश्वेयते रजांसि कृण्वंश्च्यावयंश्च वृक्षान्।
वातस्य प्रवामुपवामनु वात्यर्चिः ॥ ५१ ॥
यस्यां कृष्णमरुणं च संहिते अहोरात्रे विहिते भूम्यामधि।
वर्षेण भूमिः पृथिवी वृतावृता सा नो दधातु भद्रया प्रिये धामनिधामनि ॥ ५२ ॥
द्यौश्च म इदं पृथिवी चान्तरिक्षं च मे व्यचः। अग्निः सूर्य आपो मेधां विश्वे देवाश्च सं ददुः॥५३

अर्थ- हे [भूमे ये गन्धर्वाः] मातृभूमि जो हिंसक आततायी हमारे वध करनेको उद्यत हैं [अप्-सरसः] कर्मत्यागमें आलसी हैं, [ये अरायाः] जो निर्धन हैं किमीदिनः] पर धनके हरनेवाले हैं, [पिशाचान्] मांस खानेवाले हैं, [रक्षांसि] राक्षसी स्वभाववाले हैं, [सर्वान् अस्मत् यावय] सबको हमसे दूर हटाओ ॥ ५० ॥

हमारी वह मातृभूमि है [यां द्विपादः हंसाः सुपर्णाः शकुनाः वयांसि पक्षिणः संपतन्ति] जहां दो पांववाले जीव हंस, गरुड आदि पक्षी उडते हैं, [यस्यां मातरिश्वा वातः] आकाशमें बहनेवाली या संचार करनेवाली हवा [रजांसि कृण्वन्] धूल उडाती हुई [वृक्षान् च्यावयन्] पेडोंको जडसे उखाडती हुई [ईयते] बहती है । [तस्य वातस्य प्रवां उपवां] उस वायुकी गतिको [अर्चिः] तेज या प्रकाश [अनुवाति] अनुसरण करता हुआ चलता है ॥ ५१ ॥

[यस्यां भूम्यां कृष्णं अरुणं च] जिस भूमिमें तमोमय अंधकार और प्रकाशमय दिन [संहिते] इकट्ठे हो (अहोरात्रे) दिन और रात [अधिविहिते] होते हैं [सा पृथिवी भूमिः [वह विस्तृत भूमि] [वर्षेण वृता वृता] वृष्टिसे ढकी हुई [भद्रया] कल्याणके साथ [प्रिये धामनि-धामनि] हितकारी स्थानोंमें [नः] हमको [दधातु] धरे ॥ ५२ ॥

(द्यौः) प्रकाशमय आकाश [पृथिवी] भूमि [अन्तरिक्षम्] आकाश और पृथ्वीका बीच [अग्निः सूर्यः] अग्नि और सूर्य [विश्वे देवाः च] सब प्रकाश करनेवाले देव तथा विद्वान् लोग, विजया, या व्यवहारचतुर [इदं] यह सब [मे] मुझको [मेधां] धारणाशक्तिवाली बुद्धि [मे व्यचः] हमारी सबमें व्याप्ति या आकलनशक्ति [संददुः] अच्छी तरह दें ॥ ५३ ॥

भावार्थ -हे हमारी मातृभूमे ! जो हिंसक, आलसी, निर्धन, परधन हरनेवाले, मांसाहारी, अनारम्भवादी नास्तिक और आतताई हैं, उनको दूर करो ॥ ५० ॥

जिस भूमिमें सर्वदा आकाशमें हंस आदि पखेरु आनन्दसे उडते हैं, जहां धूलिको उडाते पेडोंको उखाडते वायु वेरोकटोक सपाटेसे बहती है और जंगलकी अग्नि जहां जोरोंसे भभकती है, वह हमारी प्रिय मातृभूमि है ॥ ५१ ॥

जिस भूमिमें ठीक प्रमाणसे रात और दिन होते हैं और उनकी सदा एकसी व्यवस्था रहती है वह हमारी विस्तृत मातृभूमि हमें हितकर स्थानोंमें सुखसे रखे ॥ ५२ ॥

स्थावर या जंगम, चेतन या अचेतन सब पदार्थोंकी सहायतासे हमारी बुद्धि बढे और कीर्तिरूपसे चारों ओर व्यापक हो॥५३

अहमस्मि सहमान उत्तरो नाम भूम्याम्। अभीषाडस्मि विश्वाषाडाशामाशां विषासहिः ॥५४॥
अदो यद् देवि प्रथमाना पुरस्ताद् देवैरुक्ता व्यसर्पो महित्वम्।
आ त्वा सुभूतमविशत् तदानीमकल्पयथाः प्रदिशश्चतस्रः ॥ ५५ ॥
ये ग्रामा यदरण्यं याः सभा अधि भूम्याम्। ये संग्रामाः समितयस्तेषु चारु वदेम ते ॥५६॥
अश्व इव रजो दुधुवे वि तान् जनान् य आक्षियन् पृथिवीं यादजायत।
मन्द्राग्रेत्वरी भुवनस्य गोपा वनस्पतीनां गृभिरोषधीनाम् ॥ ५७ ॥

अर्थ- [अहं सहमानः] गरमी, सरदी, सुख, दुःख सह लेनेवाले [नाम] यश और प्रतिष्ठासे [उत्तरः] उत्कृष्टतर [भूम्यां अस्मि] भूमिमें [आशां आशाम्] हरएक दिशाओंमें [विषासहिः] विशेष विजयी [अभीषाड्] सब ओर पराक्रम करनेवाला [विश्वाषाड्] सब शत्रुओंका नाश करनेवाला [अस्मि] हूं ॥ ५४ ॥

हे [देवि] दिव्य मातृभूमि तुम (यत्) जब (पुरस्तात्] पहिले (देवैः) देवों और विद्वान् विजिगीषु या व्यवहारकुशल लोगोंद्वारा [प्रथमाना] प्रख्यात होकर [उक्ता] प्रशंसित हो गई तब [व्यसर्पः] विशेष उत्कर्षको पहुंची [तदानीम्] तब इसको [चतस्रः प्रदिशः] चारों दिशाओंमें [सुभूतम् महित्वम्] बडी प्रतिष्ठा [अकल्पयथाः] प्राप्त हो गई, हे भूमि वह तुम्हारी प्रतिष्ठा [त्वा] तुममें [आविशत्] अब भी पहले की सी हो ॥ ५५ ॥

[ये ग्रामाः] जो गांव या नगर [यत् अरण्यं] जो वन [याः सभाः] जो राजसभा न्यायसभा धर्मसभा आदि [ये संग्रामाः] जो युद्ध [याः च समितयः] जो बडी बडी परिषदें [अधिभूम्याम्] हमारी भूमिमें [सन्ति] हैं [तेषु] उन सबको [ते] तुम्हारे बारेमें [चारु वदेम] अच्छा कहेंगे ॥५६ ॥

[यात्] जब [पृथिवाम्] भूमिमें कोई युद्ध आदिसे [आक्षियन्] आकर बसे या बसाया जाय तब [तान् जनान्] उन रहनेवाले मनुष्योंको [यः रजः] जो सेनाके आनेसे उठा धूलि [अश्वः इव वि दुधुवे] घोडोंसे चलनेके समान उडो वह (मन्द्रा] प्रसन्न करनेवाली [अग्रेत्वरी] अग्रभागमें जदद जानेवाली [भुवनस्य गोपा] संसार की रक्षा करनेवाली [वनस्पतीनां ओषधीनां च गृभिः] वनस्पति और औषधियोंका ग्रहण करनेवाली है ॥ ५७ ॥

भावार्थ- मैं अपनी मातृभूमिके लिये तथा उसके दुःख निवारण करनेके लिये हर तरहके कष्ट सहन करनेको तैयार हूं। और प्रयत्नसे सब शत्रुओंको परास्त करूंगा। एक भी शत्रुको रहने नहीं दूंगा ॥ ५४ ॥

हे मातृभूमि पहलेके लोग जब तुम्हारी स्तुति करते थे उस समय तुम्हारा महत्त्व और कीर्ति चारों दिशाओंमें फैल जाती थी, वही तुम्हारा महत्त्व अब भी वैसाही फैले ॥ ५५ ॥

हे हमारी मातृभूमि ! तुम्हारेमें जहां जहां नगर, वन, सभा, परिषद्, संग्राम किंवा मनुष्य एकत्र हों वहाँ वहाँ हम तुम्हारी प्रशंसा करें। अर्थात् कभी तुम्हारे अहितकी बात न कहें ॥ ५६ ॥

युद्धमें विजयी हो कर जब सेनाके घोडोंके चलनेसे धूलि उडकर मनुष्योंके चित्तोंको प्रसन्न करती है। अथवा जब किसी विशेष कारणके लिये मनुष्य अपना संघकर एकत्रित होते हैं तब उस संघसे जो फल स्वरूपमें एक विलक्षण शक्ति उत्पन्न होती है, वह शक्ति सब को आनन्द देनेवाली, सब देश का संरक्षण करने वाली और औषध आदि भक्ष्य पदार्थ देनेवाली होती है। इसलिये इसे मातृभूमिके संपूर्ण भक्त सदैव ध्यानमें रक्खें ॥ ५७ ॥

यद् वदामि मधुमत् तद् वदामि यदीक्षे तद् वनन्ति मा ।
त्विषीमानस्मि जूतिमानवान्यान् हन्मि दोधतः ॥ ५८ ॥
शन्तिवा सुरभिः स्योना कीलालोध्नी पयस्वती। भूमिरधि ब्रवीतु मे पृथिवी पयसा सह॥५९॥
यामन्वैच्छद्धविषा विश्वकर्मान्तरर्णवे रजसि प्रविष्टाम् ।
भुजिष्यं१ पात्रं निहितं गुहा यदाविर्भोगे अभवन्मातृमद्भ्यः ॥ ६० ॥
त्वमस्यावपनी जनानामदितिः कामदुघा पप्रथाना ।
यत् त ऊनं तत् त आ पूरयाति प्रजापतिः प्रथमजा ऋतस्य ॥ ६१ ॥

अर्थ- [यत्] हम अपने राष्ट्र या देशके सम्बन्धमें जो [वदामि] कहते हैं [तत् मधुमत् वदामि] वह हितकर और मधुर शब्दोंसे कहते हैं [यत् ईक्षे] जो देखते हैं [तत्] वह सब [मा] हमको सहायक हो [अहं त्विषीमान्] हम प्रकाशमान, तेजस्वी, दीप्तिमान् और [जूतिमान] ज्ञानवान हों इससे [अन्यान्] दूसरे जो हमारी भूमिको दुहते हैं [अवहन्मि] उनका नाश करते हैं ॥ ५८ ॥

[शन्तिवा] शान्तिकारक [सुरभिः] सुगन्धियुक्त [स्योना] सुख देनेवाली [कीलालोध्नी] अन्न की देनेवाली [पयस्वती] जहां बहुत जल हो ऐसी [मे पृथिवी भूमिः पयसा सह] हमारी भूमि भोग्य पदार्थ जो पीनेके काममें आवें उनसे हमें [अधि ब्रवीतु] कहे ॥ ५९ ॥

[यत्] जब [विश्वकर्मा] सब काम करनेवाले [रजसि अर्णवे] अन्तरिक्षमें [अन्तः प्रविष्टां याम्] भीतर प्रविष्ट जिस भूमिको [हविषा] अन्नादि पदार्थोंसे [अन्वैच्छत्] सेवा करनेकी इच्छा करता है तब [गुहा निहितं] गुप्तस्थानमें रक्खा हुआ [भुजिष्यं पात्रम्] भोजनके योग्य अन्न आदि [मातृमद्भ्यः मातृभक्तोंके [भोगे] उपभोगके लिये [आविः अभवत्] प्रगट होता है ॥ ६० ॥

हे मातृभूमि [त्वं जनानां अदितिः] तुम लोगोंको दुःख न देनेवाली [कामदुघा] इच्छित पदार्थोंकी देनेवाली [पप्रथाना] स्तुतिके योग्य [आवपनी] जिसमें अच्छी तरह बोनेसे बहुत अन्न उपजता है [असि] ऐसा तुम हो [यत् ते ऊनम्] जो तुम्हारेमें कमी है [तत् ते ऋतस्य] सो तुम्हारेमें जो यज्ञ किये जाते हैं [प्रथमजाः] सृष्टिके आदिमें प्रगट हुआ [प्रजापतिः] परमेश्वर [आपूरयाति] पूर्ण कर देते हैं ॥ ६१ ॥

भावार्थ— हम जो कुछ भी भाषण करेंगे वह सब हमारी मातृभूमिके लिये हितकारी होगा, जो कुछ हम आंखोंसे देखेंगे वह सब भी मातृभूमि ही के लिये सहायक होगा, इसी प्रकार हमारे सब काम मातृभूमि ही के अर्पण होंगे। हम तेजस्वी और बुद्धिमान हों, जो हमारे शत्रु हमारी मातृभूमिका दोहन करेंगे उनका हम नाश करेंगे ॥ ५८ ॥

शान्ति, सुख, अन्न, पानी आदि की देनेवाली हमारी मातृभूमि हमें सब भोगके पदार्थ और ऐश्वर्य देनेवाली हो इस तरह और हमारी रक्षा करती रहे ॥ ५९ ॥

जहां सब तरह के उद्योग करनेवाले कुशल पुरुष मातृभूमि की सेवा करनेके लिये कटिबद्ध होते हैं वहां मातृभूमिके गुप्तस्थानमें रक्खा हुआ तथा परोसा हुआ थाल (जो केवल भक्तों ही के लिये है) आकर उनके सामने प्रगट होता है। अर्थात् उनके उपभोगके सारे पदार्थ उन्हें सहज ही मिल सकते हैं ॥ ६० ॥

हे हमारी मातृभूमि तू हम सबको सुख देनेवाली है, इच्छित पदार्थोंकी देनेवाली है इसलिये जो तेरे में कमी हो उसे परमेश्वर पूरा करे ॥ ६१ ॥

उपस्थास्ते अनमीवा अयक्ष्मा अस्मभ्यं सन्तु पृथिवि प्रसूताः ।
दीर्घं न आयुः प्रतिबुध्यमाना वयं तुभ्यं बलिहृतः स्याम ॥ ६२ ॥
भूमे मातर्नि धेहि मा भद्रया सुप्रतिष्ठितम् ।
संविदाना दिवा कवे श्रियां मा धेहि भूत्याम् ॥ ६३ ॥ (६)

॥ इति प्रथमोऽनुवाकः ॥

हे [पृथिवि ते प्रसूताः] भूमि ! तुम्हारेमें उत्पन्न सब लोग [अनमीवाः] रोगरहित [अयक्ष्माः] क्षयरोगरहित [अस्मभ्यं उपस्थाः] हमारे पास रहनेवाले [सन्तु] हों [नः आयुः दीर्घं भवतु] हमारी उमर बडी हो, हम बहुत दिन जीवें [वयं प्रतिबुध्यमानाः] हम ज्ञान विज्ञानयुक्त हों [तुभ्यं बलिहृतः स्याम] तुम्हें बलि, करभार देनेवाले हों ॥ ६२ ॥

हे [मातर् भूमे] मातृभूमि ! [भद्रया] कल्याणको बढानेवाली बुद्धिसे हमें [सुप्रतिष्ठितम्] सुस्थिर या युक्त कर, [मा] मुझको [निधेहि] रक्खो [दिवा] प्रतिदिन (संविदाना] सब बातकी जाननेवाली करो [कवे मां] हे क्रान्तदर्शनी ! हमें [भूम्यां श्रियं धेहि] पृथिवीमें संपत्ति प्राप्त हो ॥ ६३ ॥

भावार्थ-हे हमारी मातृभूमि जो हम लोग तुम्हारेमें उत्पन्न हुये हैं वे निरोग, दृढाङ्ग, दीर्घायु, बुद्धिमान, जागृतिसंपन्न रहें और मातृभूमिके हितके लिये अपने निजके स्वार्थ का बलि देनेमें उद्यत रहें, सब भांति तुम्हारा हित करनेमें तत्पर रहें ॥ ६२ ॥

हे मातृभूमि ! मुझे बुद्धिवान कर और तेरे विषयमें प्रतिदिन चिन्ता करनेवाले सूक्ष्म विचारी और दूरदर्शी मनुष्य को तथा मुझे अपनी भूमिगत सम्पत्ति प्राप्त कर देनेवाली हो ॥ ६३ ॥

प्रथम सूक्त समाप्त ॥ १ ॥

मातृभूमिका वैदिक गीत।

जिस देश में जो लोग रहते हैं वह उनकी मातृभूमि कहलाती है। जैसे भारतीयोंकी भारतभूमि, चीनी लोगों की चीनभूमि, अंग्रेजोंकी इंग्लैंडभूमि और इसी तरह दूसरे दूसरे लोगोंकी अलग अलग मातृभूमि है। जिस तरह माता के रक्तमांस आदिसे बच्चेका देह बनता है उसी तरह मातृभूमि में उत्पन्न होनेवाले अनाज, पानी, वहांकी हवा और वनस्पतियों से उस देश के मनुष्योंके देह बनते हैं। इसलिये उस देश को अपनी मातृभूमि समझना उस देश के निवासियों का स्वभाव होता है।

परमेश्वर का नियम ही है कि माता के दूधपर बच्चे का ही अधिकार रहना चाहिये, क्योंकि माताके स्तनों में जो दूध परमेश्वर अपने अटल नियमों से उत्पन्न करता है, वह उस माता से उत्पन्न होनेवाले बच्चे के लिये ही रहता है। बच्चे का पालन उसकी माता के दूध से ही होना चाहिये। माता का दूध पीना बच्चेका जन्मसिद्ध अधिकार है और वह उसका धर्म भी है। यदि कोई जबरदस्त बालक अपनी माताका दूध पीकर दूसरे बालक की माताका भी दूध जबरदस्तीसे पियेगा और दूसरे बच्चेकी भूखा रखेगा, तो उसका वह कार्य परमेश्वरके नियमोंके विरुद्ध होगा और वह जबरदस्त बच्चा ईश्वर के नियमोंके अनुसार अपराधी समझा जावेगा। इसी तरह एक देशके मातृभूमि के बालक दूसरे देशके मातृभूमिके बालकोंको परतंत्र बनावें और उस देशमें उत्पन्न होनेवाले उपभोगके पदार्थ उस देशके निवासियों को न देकर अपने ही सुखके लिये उपयोग करें, तो वह उनका बहुत बडा अपराध होगा। किसीको भी भूलना न चाहिये कि जो स्थिति माता और बच्चेकी है वही मातृभूमि और उसके बच्चोंकी है।

प्रत्येक मनुष्य जानता है कि जिस घरमें वह रहता है उस घरपर उसका कितना प्रेम रहता है। रात्रिके समय कोई चोर आता है और उस घरमेंसे कोई वस्तु अपने भोगके लिये ले जाता है। न्यायी सरकार ऐसे चोरको पकडकर सजा देती है क्योंकि न्यायका मुख्य हेतु यह है कि किसीके भी घरकी उसके पूर्वजोंसे चली आई वस्तुपर उसीका अधिकार होना चाहिए। चोरका उसपर अधिकार नहीं है, इसलिये वह सजा पानेके योग्य होता है। जिस तरह एक छोटासा घर किसी एक कुटुंबका रहता है, उसी तरह देश यह एक बडा घर है; और वह घर सब देशवासियोंका है। यदि इस राष्ट्ररूप घरपर दूसरे देशोंके बलवान लोग मिलकर हमला करें और वहांकी वस्तुओंपर अपना अधिकार बतावें तो वास्तवमें वह अपराध एक घरपर हमला करनेवाले डाकूके समान है। उसीके समान किन्तु उससे कुछ उग्र स्वरूपका यह अपराध है। यह सिद्ध करनेकी ज्यादा जरूरत नहीं है। इस संसारके बडे बडे तत्वज्ञानी लोग यही कहते हैं। लेकिन संसारका राजकारभार तत्वज्ञानियोंके हाथमें न होनेसे बलवान लोग इस तरहकी राष्ट्रीय लूटमारको अपराध नहीं समझते और इस बडे अपराधोंको इसी कारण सजा नहीं होती। परंतु ईश्वरके नियमोंमें इस तरहका पक्षपात नहीं हो सकता।

हमें यह देखना नहीं है कि अपराधीको दण्ड मिलना आवश्यक है या नहीं है। हमें सिर्फ यही दिखलाना है कि माताके दूधपर उसके बच्चेका, घरपर उस घरके मालिकका, राष्ट्रपर उस राष्ट्रके लोगोंका और मातृभूमिकी उपयोगी वस्तुओंपर उस मातृभूमिके बच्चेका अधिकार है।

बच्चा अपनी माताका दूध पीता है इसलिये उसका अपनी मातापर बहुत प्रेम रहता है। मनुष्य अपनी मातृभूमिमें पैदा होनेवाले अनाज, फल, कंद, मूल इत्यादि खाते हैं और पुष्ट बनते हैं। इसलिये उनका अपनी मातृभूमि पर प्रेम रहता है। इसलिये कवि जिस तरह मातृभूमिके गाने बनाते हैं, उसी तरह लोग माता के गाने गाते है और दूसरों को उत्साहित करते हैं।

पाठकों को यह बात पुनः पुनः बतलाने की आवश्यकता नहीं है कि माता और मातृभूमि के विषयमें लिखे हुए काव्य नैसर्गिक प्रेम उपजाते हैं। काव्यके भिन्न भिन्न रसों में प्रेमरस श्रेष्ठ है। मातृदेवताके काव्य में जैसा प्रेमरस भरता है वैसा अन्य किसी काव्यमें हो नहीं सकता। माता क्या है? असीम प्रेम की मूर्ति है। उसके प्रेमको अन्य किसी बात की उपमा ही नहीं है। उसका प्रेम वास्तवमें अनुपम है। यदि माताके प्रेमको कोई उपमा देनी ही हो तो वह मातृ-प्रेमकी ही हो सकती है, दूसरी नहीं।

यह मनुष्य विरला ही होता है जिसे माताके प्रति आदर न हो। माताके प्रेम से ही प्रत्येक मनुष्य का पालन होता है। मातृभूमि पर भी मनुष्यका प्रेम होता है। यह देशप्रेम भी असीम होता है। कैसी भी आपत्ति, कैसा भी संकट क्यों न हो, मनुष्य मातृभूमिका त्याग करनेको तैयार नहीं होता। माता के वा मातृभूमिके यश के कारण शरीर निछावर करने तक को मनुष्य तैयार रहता है।

यही असीम प्रेम है जिससे सब देश के लोगोंने अपनी जन्मभूमि के गीत भक्तिभर प्रयत्न करके उत्तम उत्तम बनाए हैं। मातृ-भूमि के लिये लोगोंने काव्य बनाये हैं। सभी देशों में यह प्रथा है कि आनंदोत्सव में, विजयोत्सवमें देशवासी अपने अपने राष्ट्रगीत का गान करते हैं।

इस प्रकार का कोई राष्ट्रगीत या मातृभूमिगीत भारतवासियों में है या नहीं इस के विषयमें कई विद्वानोंके भिन्न भिन्न मत हैं। कई विद्वान यह बतलाते हैं कि भारतवासियोंका एक राष्ट्र कभी भी नहीं था, इसलिये उनमें राष्ट्रगीत होना असम्भव है। मध्यकालमें अपने विस्तृत देशके बहुतसे छोटे छोटे राज्य बन गये थे। इसलिये यदि कहा जाय कि उस कालमें एक राष्ट्रियत्व की कल्पना न थी तो वह सच हो सकता है। परन्तु हम में प्रारंभसे राष्ट्रीयताकी कल्पना है, वह ऋषियोंके कालसे चली आयी है और इसका निदर्शक राष्ट्रगीत भी हमारे पास है। इसीका समर्थन करनेके लिये इस लेखमें मातृभूमिके वैदिक सूक्तका विचार किया है। यह सूक्त अथर्ववेदके १२ वें कांडका पहला सूक्त है।

सूक्तका उपयोग

जिस सूक्त के विषय में हम यहां लिख रहे हैं उसका महत्व राष्ट्रीय है या नहीं यह हम उसके उपयोगसे जान सकते हैं। इसलिये इसका उपयोग कहां किया जाता है देखो—

१ ग्रामपत्तनादिरक्षणार्थम्० (सायनभाष्य)

(अथर्व० १२।१।१)

" ग्राम, पत्तन, नगर आदि की रक्षाके समय इसका उपयोग करना चाहिये।" अर्थात् ग्राम, नगर, प्रान्त, राष्ट्र, स्वदेश आदि की रक्षाके समय इसका उपयोग करना चाहिये। स्वदेश की रक्षाके लिये जब कोई काम करना हो तब यह सूक्त कहना चाहिये। इससे यह सिद्ध है कि स्वराष्ट्र रक्षा से इस सूक्तका निकट संबंध है। सब लोग जानते हैं कि राष्ट्रगीतका यही उपयोग है। सब देशोंमें राष्ट्रगीतका उपयोग इसी कामके लिये किया जाता है। परन्तु इसका विशेष विचार करना चाहिये, इसलिये नीचे और प्रमाण दिये हैं।

२ पार्थिवीं भूमिकामस्य। (नक्षत्रकल्प १७)

" पृथ्वीकी इच्छा करनेवाला पार्थिवी महाशांति करनेके समय इसका उपयोग करे।" देशमें या राष्ट्रमें जब अशांति उत्पन्न होती है तब उस अवस्थाको दूर करनेके लिये जो प्रयत्न किया जाता है उसे 'पार्थिवी महाशांति' यह वैदिक नाम है। इसमें कई महत्त्वपूर्ण बातें करनी पडती हैं। ऐसे समय यह सूक्त कहना चाहिये। यह नक्षत्र-कल्पकर्ताका कहना है। " भूमिकामः अर्थात् भूमीकी इच्छा करनेवाला या अपनी मातृभूमिमें शांतता करने की इच्छा करनेवाला जो मनुष्य है, उसने वह काम करते समय यह सूक्त कहना चाहिये इस सूक्तके कहनेसे मातृभूमि के हितका काम करनेके लिये उत्साह मिलता है। इसी प्रकार—

भौमस्य दतिकर्मणि। (कौशीतकी सूत्र. ५।२)

" (भौम) प्रदेशके वा राष्ट्रके (दतिकर्म) आदरके लिये जो काम करना है, उस काममें इस सूक्तका उपयोग करना चाहिये।" "दति" का अर्थ 'आदर'। "दतिकर्म" का अर्थ है आदरके लिये किया हुआ काम। राष्ट्रीय महोत्सव विजयोत्सवके समय इस सूक्तका उपयोग करना चाहिये। सायणाचार्यजीने अपने भाष्यमें यह भी बतलाया है कि इस सूक्तका उपयोग कौन कौन कर सकते हैं। हम अब उसीको देखेंगे।—

१ पुष्टिकामः।
२ व्रीहियवाद्यकामः।
३ मणिहिरण्यकामः।

(सायनभाष्य अथर्व० १२।१)

" पुष्टीकी इच्छा करनेवालेको, अन्नकी इच्छा करनेवालेको, रत्न, सुवर्ण आदि की इच्छा करनेवालेको इस सूक्तका पाठ करना चाहिये।" तात्पर्य यह है कि इस सूक्तका गायन उस समय करना चाहिये जब हम राष्ट्रीय उन्नतिके काम करते हों। यदि वाचक विचारें कि राष्ट्रगीत ऐसे ही अवसरपर गाये जाते हैं, तो वे सूत्रकार एवं भाष्यकारके कथनका रहस्य समझ सकते हैं।

इस सूक्तका विचार करते समय हमें देखना चाहिये कि यह सूक्त किस गणमें है। पूर्व के ऋषियोंने अथर्ववेदके कुछ गण बना दिये हैं। उनमेंसे " वास्तोष्पति " नामका जो गण है उसमें यह सूक्त है। ' वस्तु ' पर पतित्वका या मलकियतका हक बतलाने या सिद्ध करनेवाले सूक्त ' वास्तोष्पति ' गणमें हैं। ऊपर बतलाया गया है कि पूर्वोक्त सूक्त उस समय कहनेका है जब किसी देशके निवासी मातृभूमिपर अपना हक बतलाते हों। इसलिये यह सूक्त " वास्तोष्पति " गणमें शामिल किया गया है।

यदि हम उक्त बातोंपर ध्यान दें, तो हमें उक्त सूक्त की महत्ता दिखाई देगी, और विशेषरूपसे विदित होगा कि मातृभूमिका यह वैदिक गीत विशेष प्रकारका राष्ट्रगीत ही है, तथा वह राष्ट्रीय अवसरपर ही गाना चाहिये।

मातृभूमि की कल्पना।

इन बाहरी प्रमाणोंका विचार करके ही अबतक हमने मातृभूमिके सूक्तका स्वरूप देखा। अब भीतरी प्रमाणोंका विचार करेंगे और देखेंगे कि इसके विचार कहांतक राष्ट्रीयमहत्त्वके हैं। अतएव पहले यह देखेंगे कि इस सूक्तमें जो मातृभूमि की कल्पना है, वह किस प्रकार की है। जो लोग समझते हैं कि हम लोगोंमें " मातृभूमि " की कल्पनातक नहीं है, वे इन वचनोंका विचार अच्छी तरह करें और प्रत्यक्ष देख लें कि हमारे अति प्राचीन साहित्यमें मातृभूमिके विचार विद्यमान हैं, तब यह भी सिद्ध होगा कि मातृभूमि की कल्पना सर्वप्रथम ऋषियों की है।

माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः। (अथर्व० १२।१।१२)

" मेरी माता भूमि है और मैं मातृभूमिका पुत्र हूं। " हमारी देशभूमि ही हमारी माता है और हम सब उस मातृभूमिके पुत्र हैं। अर्थात् हम सब देशवासी एकही माताके पुत्र हैं, अतएव हम सब सच्चे देशबंधु हैं। स्पष्ट ही है कि प्रत्येक देशके निवासीको यही भाव मनमें लाना चाहिये। मातृभूमिके भक्तोंके गौरवके विषयमें ऋग्वेदका यह मंत्र पढने योग्य है।

ते अज्येष्ठा अकनिष्ठास उद्भिदोऽमध्यमासो महसा वि वावृधुः।

सुजातासो जनुषा पृश्निमातरो दिवो मर्या आ नो अच्छा जिगातन ॥ ६ ॥

(ऋग्वेद ५।५९।६)

अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते सं भ्रातरो वावृधुः सौभगाय। (ऋग्वेद ५।६०।५)

" संपूर्ण (पृश्नि-मातरः) मातृभूमि को माता माननेवाले सब (मर्त्याः) मनुष्य सच्चे कुलीन हैं। उनमें न कोई (ज्येष्ठ) श्रेष्ठ है न कोई कनिष्ठ है और न कोई मध्यम है। उन सबका दर्जा समान है। वे सब (उत्-भिदः) अपने ऊपरके दबाव को भेदकर ऊपर उठनेवाले हैं। सबका विचार एकसा है अर्थात् वे (भ्रातरः) बन्धु ही हैं। वे अपने (सौभगाय) धनके बढानेके लिये (सं-वावृधुः) सब मिलकर प्रयत्न करते हैं। "

इस मंत्रमें " पृश्नि-मातरः " अर्थात् भूमिको माता माननेवाले सत्पुरुषोंका वर्णन देखने योग्य है। मातृभूमिके भक्त एकही विचारवाले रहते हैं। उनमें उच्चनीच भाव नहीं रहता। उन सब लोगोंका दर्जा एकसा रहता है और वे सब मिलकर एक विचारसे मातृभूमिके उद्धारार्थ कार्य करते हैं। वे आपसमें बंधुप्रेम रखते हैं और अपनी उन्नति कर लेते हैं। मातृभूमिको अपनी सबकी माता माननेसे आचरणमें जो फरक पडता है, वह इस मंत्रमें स्पष्ट रीतिसे बताया गया है। अपने व्यवहारका केन्द्र मातृभूमि है यह माननेवाले और न माननेवाले लोगोंके व्यवहारमें यह भेद होता है। वेदोंमें यह बात इतने साफ तौरसे बतलाई है, इसका कारण यह है कि वैदिक धर्मियोंको यह बतलाना है कि इसका विचार करके उन लोगोंमें मातृभूमिकी भक्ति बढे और अपनी उन्नति कर लें। उसी तरह—

इळा सरस्वती मही तिस्रो देवीर्मयोभुवः।
बर्हिः सीदन्त्वस्रिधः।

(ऋग्वेद १।१३।९)

"(मही) मातृभूमि, (सरस्वती) मातृसंस्कृति और (इळा) मातृभाषा ये तीन सुख देनेवाली देवताएं हैं। वे सर्वकाल अंतःकरणमें रहें। "

इस मंत्र की तीन देवताओंमें मातृभूमिको स्थान दिया है। तीन देवताओंका संबंध स्पष्ट करके बतलाने की यहां आवश्यकता नहीं है। क्योंकि वह इतना स्पष्ट है कि वह एकदम मालूम हो जायगा। इन सब मंत्रोंका विचार करनेसे मालूम होगा कि हमारे धर्मग्रंथोंमें मातृभूमिका महत्व और श्रेष्ठत्व कितना वर्णन किया हुआ है, इसीके बारेमें और बातें देखनेके पहिले यह मंत्र देखिये—

भूमे मातर्निधेहि मा भद्रया सुप्रतिष्ठितम् ॥

(अथर्व० १२।१।६३)

" हे (मातः भूमे) मातृभूमि ! मुझे कल्याण अवस्थासे युक्त कर " अर्थात् मेरा सब प्रकारसे कल्याण कर। इसमें " भूमे मातः " आदि पदोंसे मातृभूमि की योग्यता जान सकते हैं। इसी तरह—

सा नो भूमिः पूर्वपेये दधातु ॥ ३ ॥

सा नो भूमिर्गोष्वप्यन्ने दधातु ॥ ४ ॥

सा नो भूमिर्भूरिधारा पयो दुहाम् ॥ ९ ॥

सा नो भूमिर्वर्धयद्वर्धमाना ॥ १३ ॥

सा नो भूमिरादिशतु यद्धनं कामयामहे ॥ ४० ॥

सा नो भूमिः प्रणुदतां सपत्नानसपत्नं मा पृथिवी कृणोतु ॥ ४१ ॥

(अथर्ववेद १२।१)

" वह हमारी मातृभूमि हमें अपूर्व पेय पदार्थ देवे। वह हमारी भूमि हमें गायें और अन्न देवे। वह हमारी भूमि हमें बहुत दूध देवे। वह हमारी भूमि हमारा संवर्धन करे। वह हमारी भूमि हमारी इच्छानुसार धन देवे। वह हमारी भूमि हमारे शत्रुओंको दूर करे और मुझे शत्रुरहित बनावे। "

पिछले संबंधका ध्यान रखनेसे विदित होगा कि इन सब मंत्रोंमें ' भूमि ' शब्द ' मातृभूमि ' के अर्थमें आया है। " मातृभूमि हमारे लिये यह करे, वह करे" आदि रचना काव्यमय अलंकार है। इसका अर्थ वास्तवमें यह है कि "मातृभूमिकी कृपासे हमारे हाथसे यह कार्य होवे या यह कार्य होकर यह फल मिले। " क्योंकि प्रत्येक काव्यमें इस तरह की अलंकारिक याचना रहती है। उन सब प्रार्थनाओंका शाब्दिक अर्थ भिन्न रहता है और अंदरका भाव भिन्न रहता है। इस विषयमें यह मननयोग्य मंत्र देखिये—

सा नो भूमिर्विसृजतां माता पुत्राय मे पयः ॥ १० ॥

(अथर्ववेद १२। १)

" वह हमारी मातृभूमि मुझे अर्थात् अपने पुत्रको बहुत दूध देवे। " यह मंत्र कितना अच्छा है और अलंकारिक है देखिये। माता और पुत्रका संबंध दूध पीनेसेही शुरू होता है। माताका दूध पुत्र पीता है, यह सब जानते हैं। गायका दूध हम सब पीते हैं, इसलिये गाय हमारी माता है। भूमिका अनाज रस आदि दूध हमें मिलता है, इसलिये वह हमारी माता है। यह सर्वसाधारण और सीधा व्यवहार है। इसका वर्णन करते समय उपरोक्त मंत्रका जो भाग अर्थात् " मेरी माता मुझेही दूध देवे " और इसी तरहके वर्णनसे हमारी मातृभूमिमें पैदा होनेवाले उपभोगके पदार्थ हमें ही मिलें और दूसरा कोई उन्हें हमसे दूर न ले जावे " आदि अर्थका जो भाग है, वह बहुत अच्छा है और बोधप्रद है। इस तरफ पाठकगणोंको अवश्य ध्यान देना चाहिये।

अब कोई यह भी कह सकता है कि " भूमि या हमारी भूमि " आदि शब्दोंसे " हमारी राष्ट्रभूमि " यह भावार्थ नहीं निकल सकता और इस बातको बिना सिद्ध किये हम यह भी नहीं कह सकते कि मातृभूमिके बारेमें हमारे धर्मग्रंथोंमें पूर्णरूपसे वर्णन किया हुआ है। यह संदेह योग्य है और उसके निवारणके लिये हम यह मंत्र पाठकोंके सन्मुख रखते हैं—

सा नो भूमिस्त्विषिं बलं राष्ट्रे दधातूत्तमे।

(अथर्व० १२।१।८)

"वह हमारी मातृभूमि हमारे उत्तम राष्ट्रमें (उत्तमे राष्ट्रे) तेज और बल बढ़ावे।"

इस में "उत्तमे राष्ट्रे" का अर्थ और "हमारी भूमि" का अर्थ एकही है। "हमारे उत्तम राष्ट्रमें अर्थात् " हमारी मातृभूमि में ' तेज और बल की बाढ होवे। "हमारी मातृभूमि में ' या ' हमारे राष्ट्र में ' आदि शब्दों का अर्थ यही है कि ' हम लोगों में ' या ' हमारे देशबांधवों में ' और यह बात साधारण विचार करनेवाला जान सकता है। परन्तु "हम लोगों में" या "देशबांधवों में तेज और बल बढे" कहने से यह कहना कि "हमारे राष्ट्र में या हमारी मातृभूमि में तेज और बल बढे ' उच्च भावना प्रदर्शित करता है। इसी दृष्टि से "मातृभूमि, हमारा राष्ट्र, हमारा देश" आदि शब्दों में कितना गूढ रस भरा हुआ है।

अब इसी मंत्र के "उत्तमे राष्ट्रे" (हमारे अच्छे राष्ट्रमें) शब्द और भी एक उच्च भाव प्रदर्शित करते हैं। उसका अब विचार करना चाहिये। राष्ट्रभक्तों की दृष्टि से राष्ट्र किस दशा में होना चाहिये वह इन शब्दों से स्पष्ट है। इन शब्दोंसे सूचित होता है कि राष्ट्रभक्तों की महत् आकांक्षा होनी चाहिये कि 'हमारा राष्ट्र सब राष्ट्रों में उत्तम हो।' 'तर, तम' तुलनात्मक उच्चता बतलानेवाले प्रत्यय हैं। ' उत् ' उत्तर

और उत्तम' उच्चता की तीन सीढियां बतलाते हैं। "उत्तम" से सर्वोत्कृष्ट अवस्था मालूम होती है। राष्ट्रभक्तों की प्रबल इच्छा होनी चाहिये कि हमारा राष्ट्र सब राष्ट्रों में अति उत्तमदशामें हो। इस इच्छा से प्रेरित हो उन्हें चाहिये कि वे अपने राष्ट्रको अत्युच्च कोटिका बनाने में शक्ति भर प्रयत्न करें। उक्त शब्दका यही भाव है कि राष्ट्रके किसी भी दशा में स्वतंत्र या परतंत्र होनेसे संतोष न होना चाहिये,अपितु देशवासियों का लक्ष होना चाहिये कि किसी निश्चित उच्चतम कोटि को पहुंचे और वे उस लक्ष की पूर्ति करनेमें भरसक प्रयत्न करें।

इस मंत्र का विचार करनेसे मालूम हो सकता है कि इस वैदिक सूक्त में केवल मातृभूमि की ही कल्पना नहीं है, बल्कि राष्ट्र के बारे में स्पष्ट भाव है और अपना राष्ट्र सब राष्ट्रों के आगे रहे यह उच्च महत्वाकांक्षा इसमें व्यक्त है। वाचका स्मरण रखें कि अपना धर्म इतनी उच्च राष्ट्रीय भावना जागृत करनेवाला है और वह इस आदर्श को स्पष्ट शब्दों में जनता के सन्मुख रखता है। जिस किसी को सन्देह हो वह ऊपर लिखे वचनों को पढकर उसे दूर कर ले।

इतना स्पष्ट उपदेश हमारे धर्मवचनों में होते हुए भी हमारे राष्ट्र में राष्ट्रीय भावना यथोचित रीति से जागृत नहीं है। यद्यपि यह बात सच है तो भी इसका कारण धर्म अयोग्य होना नहीं है, परंतु धर्म की ओर ध्यान न देना और दूसरी अयोग्य बातों की ओर ध्यान देना है। जिस वेद में यह उच्च राष्ट्रीय भावना जागृत करनेवाले वचन हैं, उस के प्रति लोगों में जो श्रद्धा या विश्वास है, वह केवल दिखावटी है। लोग आधुनिक ग्रंथोंपर ही अधिक विश्वास करते हैं। इसलिये सच्चा सोना दूर रह गया और मिट्टी हाथ लगी है।

अपनी मातृभूमि और अपने राष्ट्रके बारेमें इस तरह स्पष्ट विधान अथर्ववेदीय मातृभूमिके गीतोंमें हैं। उन गीतोंको देखनेसे सिद्ध होगा कि हमारा धर्म शुरुसे ही राष्ट्रीय भावना जागृत रखनेवाला और उसकी वृद्धि करनेवाला है। यह भूलना नहीं चाहिये कि राष्ट्रके संबंधमें जो कर्तव्य है,वह अपने धर्मका मुख्य भाग है।

अध्यात्मज्ञान और राष्ट्रभक्ति।

हम लोगोंमें धार्मिक बातोंकी ओर कितना दुर्लक्ष हो रहा है, यह उदाहरण देकर बतलाना अयोग्य नहीं होगा। अध्यात्मज्ञानका और मातृभूमिकी भक्तिका एक दूसरे से संबंध है, ऐसा यदि कहा जाय तो उसे कोई सत्य नहीं समझेगा। इतना दुर्लक्ष उसकी तरफ हो रहा है। अध्यात्मविचार करनेवाले वेदान्ती सब संसारको छोडकर किसी गुफा में जाकर बैठने का प्रयत्न करते हैं और जिनको सब लोग राष्ट्रभक्त कहते हैं वे लोग साफ कहते हैं कि धर्मका राजकारण में कोई संबंध नहीं है। इस विरोध के देखते यदि कोई कहे कि 'अध्यात्मविद्या और राष्ट्रभक्ति का निकट संबंध है, तो उसे कौन सच कह सकता है?' वास्तविक दशा देखने के पहले हम इतिहासके एक दो उदाहरणसे देखेंगे कि यह विषय कैसा होना चाहिये।

अर्जुन युद्धभूमि में उतरा था और शत्रुको जीतने की महत्वाकांक्षा रखकर उसने युद्ध की तैयारी की थी। पर युद्ध को प्रारम्भ होने के समय ही वह मोह में पड गया और जंगल में जाकर तपश्चर्या करने के लिये तैयार हो गया। वह सोचने लगा कि युद्ध करके स्वराज्य लेनेसे तपश्चर्या करके उच्च अवस्था प्राप्त कर लेना कहीं अधिक उच्च है। तब भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको वैदिक अध्यात्मविद्याका उपदेश किया। यह भगवद्गीता का उपदेश सुनकर अर्जुन का मोह दूर हो गया, उसे उसकी अवस्था का ज्ञान प्राप्त हो गया और वह शत्रुको मारने के लिये तैयार हो गया। इसके बाद उसने युद्ध किया और निष्कंटक स्वराज्य पूर्णतासे प्राप्त कर लिया।

दूसरा उदाहरण श्रीरामचंद्रजीका है। रामचंद्रजीका विद्याभ्यास पूर्ण होनेपर उन्हें यह भ्रम हुआ कि "सब बातें दैवाधीन हैं और पुरुषार्थ से कुछ नहीं हो सकता।" इस भ्रमके कारण उन्होंने पुरुषार्थ के काम करना छोड दिया। तब वसिष्ठ ऋषि ने उन्हें वेदान्तशास्त्रका-अध्यात्मशास्त्रका-उपदेश किया। इस उपदेश के बाद उनका भ्रम दूर हो गया और वे प्रबल पुरुषार्थी बन गये। इसके बाद उन्होंने लंकाद्वीपके राक्षसों का नाश किया, संपूर्ण भरतखंड के ३३ कोटी देवोंको बंदिवास से मुक्त कर पूर्ण स्वतंत्र बना दिया और आर्य क्षत्रियोंका यश उज्ज्वल बना दिया।

इन दोनों उदाहरणोंमें यह बतलाया है कि अध्यात्मज्ञानके बाद प्रबल पुरुषार्थ करके स्वराष्ट्रके शत्रुओंका पूर्णतासे नाश करके राष्ट्रीय स्वतंत्रता प्राप्त कर लेनी चाहिये।

श्रीशिवाजी महाराज को भी एक दो समय उदासीनताने आ घेरा था और वह रामदासस्वामी और संत तुकारामके

उपदेश से दूर हुई। ये बातें महाराष्ट्रके इतिहास में हैं। इन सब बातोंका विचार करनेपर हमें यह कहना पडता है कि अध्यात्मज्ञान या वेदान्तज्ञान राष्ट्रीय इच्छा के विरोधी नहीं है। यह इतिहास देखने के बाद हम जिस मातृभूमिके वैदिक गीत के बारेमें विचार कर रहे हैं, उस के आगे के और पीछे के सूक्तों में कौन से विषय आये हुए हैं, देखो—

यह मातृभूमि का वैदिक राष्ट्रगीत अथर्ववेदके १२ वें कांड का प्रथम सूक्त है। इसके पूर्व जो सूक्त हैं वे सूक्त और उनके विषय क्रमसे आगे दिये हुए हैं—

दशम कांड

सूक्त दूसरा केनसूक्त (केन उपनिषद् का विषय) ब्रह्मविद्या।

सूक्त ३ से ६ तक शत्रु का नाश करना

सूक्त ७ और ८ ज्येष्ठ ब्रह्मसूक्त (ब्रह्मज्ञान)

सूक्त ९ शत्रुपर शस्त्रप्रहार करना

सूक्त १० गौमाताका रक्षण। गौको दुःख देनेवाले शत्रुका नाश करना।

एकादश कांड

सूक्त१ ब्रह्मौदन सूक्त (अन्नसूक्त)

,, २ रुद्रसूक्त (पशुपतिसूक्त)

,, ३ ओदनसूक्त (भात, अन्न)

,, ४ प्राणसूक्त (प्राणशक्तिका वर्णन)

,, ५ ब्रह्मचर्य (ब्रह्मचर्य पालन करना)

" ६ कालचक्रवर्णन

" ७ उच्छिष्ट ब्रह्मसूक्त (संपूर्ण जगत् धारण करनेवाले ब्रह्मका सूक्त)

" ८ ब्रह्मसूक्त (शरीर में प्रविष्ट होनेवाले ब्रह्मका सूक्त।)

" ९ और १० युद्धकी तैयारीका सूक्त।

द्वादश कांड सूक्त १ मातृभूमि का वैदिक गीत।

इन सूक्तों के क्रम में युद्ध, शत्रुनाश आदि विषयोंके पहले ब्रह्मज्ञानके सूक्त आये हुए हैं। ब्रह्मज्ञानके बाद शत्रुका नाश करनेका विषय आया है। अथर्ववेदके दशमकांड में ऐसा दो बार निर्देश है। ग्यारहवें कांड में अन्न, प्राण, ब्रह्मचर्य, काल आदि के बाद ब्रह्मज्ञान है, उसके बाद युद्ध की तैयारीका वर्णन है और उसके बाद मातृभूमिका वैदिक गीत है। सूक्तोंका यह क्रम देखनेसे स्पष्टतासे मालूम होता है कि " ब्रह्मज्ञानके बाद स्वातंत्र्यके लिये युद्ध होता है। " वाचकोंको यह विधान कदाचित् आश्चर्यकारक मालूम होगा। इसलिये ऊपर दिये हुए सूक्तोंका अर्थ समझने के लिये और यह जाननेके लिये कि हमने किया हुआ विधान योग्य है या नहीं, प्रत्येक सूक्तमेंसे नमूनेके लिये एक एक मंत्र यहां दिये हैं।

अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या।
तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः ॥ ३१ ॥
तस्मिन्हिरण्यये कोशे त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठिते।
तस्मिन्यद्यक्षमात्मन्वत्तद्वै ब्रह्मविदो विदुः ॥ ३२ ॥
(अथर्ववेद कांड १० सू २)

" अष्ट चक्र और नौ द्वारोंसे युक्त देवोंकी अयोध्या नगरी है। उस नगरीमें तेजयुक्त स्वर्गकोश है। उस कोशमें जो पूज्य देव हैं, उसे ब्रह्मज्ञानीही जानते हैं। " यह हृदयस्थानीय ब्रह्मका वर्णन देखनेके बाद अगले सूक्तमेंसे शत्रुका छिन्नभिन्न करनेके मंत्र देखो—

तेनारभस्व त्वं शत्रून् प्रमृणीहि दुरस्यतः।
(अथर्व० १०।३।१)

अरातीयोर्भ्रातृव्यस्यदुर्हार्दो द्विषतः शिरः।
अपिवृश्चाम्योजसा ॥
अथर्व० १०।६।१

" दुष्ट शत्रुओंका नाश करना शुरू करो। दुष्ट शत्रुका सिर मैं तोडता हूं। " इस तरह ये सूक्त देखनेके बाद ७ और ८ सूक्तोंमेंका वेदान्तवर्णन देखो—

यस्य सूर्यश्चक्षुश्चंद्रमाश्च पुनर्णवः। अग्निं यश्चक्र आस्यं
तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥ ३३ ॥
(अथर्व० १०।७)

पुंडरीकं नवद्वारं त्रिभिर्गुणेभिरावृतम्
तस्मिन् यद्यक्षमात्मन्वत्तद्वै ब्रह्मविदो विदुः ॥४३॥
अथर्व० १०।८

" चंद्रमा और सूर्य जिसकी आंखें हैं, अग्नि जिसका मुख है, उस ज्येष्ठ ब्रह्मको नमन करता हूं। नौ दलके कमलमें जो देव है, उसे ब्रह्मज्ञानी ही जान सकते हैं। " यह ब्रह्मवर्णन देखनेके बाद उसीके आगेके सूक्तका पहला मंत्र देखो—

अपायसामपि मह्ना मुखानि सपत्नेषु वज्रमर्पयैतम् ॥
(अथर्व० ११।५।१)

" पापी लोगोंका मुह बंद करो और यही शस्त्र शत्रुपर फेंको। " इसी तरह तीसरे प्रकारके सूक्तोंका क्रम है। उन सूक्तोंका विषय यहां नहीं बतलाते। केवल ११ वें कांडमेंके आठवें सूक्तका एक मंत्र यहां देते हैं और बाकीके प्राण और ब्रह्मचर्यके सूक्तोंमें का वर्णन विस्तारभयसे छोड देते हैं।

तस्माद्वै पुरुषमिदं ब्रह्मेति मन्यते ।
सर्वा ह्यस्मिन्देवता गावो गोष्ठ इवासते ॥ ३२ ॥
(अथर्व० ११।८)

" इसलिये इस (पुरुषं) पुरुषको ब्रह्म कहते हैं। क्योंकि जिस तरह गायें अपने बांधनेकी जगहमें रहती हैं, उसी तरह सब देवताएं इसीके आश्रयसे रहती हैं। " इस ब्रह्मज्ञानके सूक्तके आगेका सूक्त देखो-

तेषां सर्वेषामीशाना उत्तिष्ठत संनह्यध्वं मित्रा देवजना यूयम्। इमं संग्रामं संजित्य यथा लोकं वितिष्ठध्वम्॥२६॥
(अथर्व० ११।९)

" मित्रो ! तैयारी करो, उठो। इस युद्धमें जीतनेके बाद अपने अपने देशको जाओ। " उसी तरह-

सहस्रकुणपा शेतामामित्री सेना समरे वधानाम्।
विविद्धा ककजा कृता ॥ २५ ॥ (अथर्व० ११।१०)

" शत्रुकी सेनामेंसे हजारों मुरदे युद्धभूमिमें पडें "। इस तरहका वर्णन अध्यात्मज्ञानके बाद कई बार आ चुका है।

इसे अचानक काकतालीय न्यायसे आया हुआ नहीं कह सकते, क्योंकि वह तीन जगह इसी तरह आया है। राम और अर्जुनके उपदेशके समय भी यही हुआ है। इसलिये " अध्यात्मज्ञानके बाद स्वातंत्र्यके लिये युद्ध " होना स्वाभाविक है। इन सब सूक्तोंके बाद वैदिक राष्ट्रगीत आया हुआ है। इससे यह समझ सकते हैं कि जिस सूक्तके बारेमें यह लेख लिखा गया है, वह सूक्त वास्तवमें राष्ट्रीय महत्वका है क्योंकि वह युद्धके समय आया हुआ है।

इस सूक्तके बारेमें विचार करनेके पहिले हमें यही देखना चाहिये कि अध्यात्मज्ञान, ब्रह्मज्ञान आदि विषयोंका युद्धादि राष्ट्रीय बातोंसे क्या संबंध है।

[१] अध्यात्मज्ञान।

बुद्धि, मन, अहंकार, प्राण, इंद्रिय और शरीरके सब अंगोंको आत्माका आधार है। ये सब बडी शक्तियां हैं; इन शक्तियोंका ज्ञान होना अध्यात्मज्ञान कहलाता है।

ये सब शक्तियां हममें हैं। हम बिलकुल क्षुद्र नहीं हैं। हमारे अधीन ये बडी बडी शक्तियां हैं। उनको चलानेवाले हम हैं। यह अपनी शक्ति अध्यात्मज्ञानसे मालूम होती है। अध्यात्मज्ञान प्राप्त करनेके पूर्व जो मनुष्य अपनेको क्षुद्र और निर्बल समझता है, वह यदि अध्यात्मज्ञान प्राप्त करनेपर स्वतःको सुबल और समर्थ समझने लगे तो उसमें कोई आश्चर्य नहीं है। इसलिये रामचन्द्रजी जो अपनेको दैवाधीन और परतंत्र समझते थे, वे ही अध्यात्मज्ञान प्राप्त होनेपर दैव को भी अपने अधीन समझने लगे और अपने पुरुषार्थसे विपरीत दैव को भी अपने मनके अनुसार बनाने में समर्थ समझने लगे। यह शक्ति अध्यात्मज्ञान से प्राप्त हो सकती है।

[२] ब्रह्मज्ञान।

विश्वव्यापी सच्चिदानंद शक्ति का अस्तित्व स्थिर और चर सब में एकसा है। इस ज्ञान से सब संसार की तरफ देखने की दृष्टि बदल जाती है।

उसे अपने अंदर की शक्ति का और जगत् की शक्तियोंका ज्ञान रहता है, इसलिये उसे योग्य काम करते समय शोक या मोह का होना असम्भव है। वह अच्छे अच्छे लोगोंकी रक्षा करता है और दुष्ट लोगों का नाश करता है। वह धर्म का अच्छी तरह पालन करके लोगोंमें शांतता रखता है। जगत् की ओर देखने की उसकी दृष्टि उच्च होती है, इसलिये उसे स्त्री और बालबच्चों का मोह नहीं होता, घर या दौलत का लोभ नहीं होता, या ऐशआरामके कारण वह अपने कर्तव्य को छोड नहीं सकता।

इसके सिवा इस ज्ञानसे दूसरा एक लाभ हो सकता है। वह यह है कि पृथ्वीपर जितने युद्ध स्वार्थ के लिये होते हैं, वे नहीं होंगे और उनसे जिन सज्जनों को कष्ट पहुंचते हैं, वे नहीं पहुंचेंगे। क्योंकि ब्रह्मज्ञानके कारण उसकी दृष्टि पवित्र हो जाती है। और फिर वह स्वार्थ के कारण दूसरे को परतंत्र करे या लूटे, यह बात असम्भव है। जगत् के सज्जनों को दुःख देनेवालों का नाश करने के लिये ही उसकी तलवार म्यान के बाहर निकलेगी। आजकल जिस तरह स्वार्थ से लडाइयां होती हैं, दूसरे राष्ट्र को निष्कारण लूटनेके लिये संगठित राष्ट्रीय अन्याय

हो रहे हैं, केवल अपनी सेनामें तोपें हैं इसलिये दूसरों को कष्ट देना और दूसरों की उन्नति कम करनेके जो राक्षसों के समान भयंकर काम हो रहे हैं; यदि हरएक देशमें अध्यात्मज्ञान और ब्रह्मज्ञान हो जावें तो वे सब बंद हो जावेंगे। राष्ट्र की जो क्षात्रशक्ति है वह बहुत बडी महाशक्ति है, उस शक्ति को ब्रह्मज्ञानी मनुष्य ही अच्छी तरह सम्हाल सकता है। ब्रह्मज्ञानहीन स्वार्थी लोग इस राष्ट्रीय क्षात्रशक्ति का दुरुपयोग करके जगत् में जबरदस्ती का पापी साम्राज्य फैलाते हैं। इन सब बातोंका विचार करनेसे मालूम होगा कि पहले ब्रह्मज्ञान प्राप्त करके दृष्टि शुद्ध बनानी चाहिये और उसके बाद राष्ट्रीय महाशक्तिका उपयोग करना चाहिये। यही वेदों की आज्ञा है और यही उनकी अपूर्व दूरदर्शिताको बतलाती है। यह बात हमारे वैदिक धर्मने ही पहले पहल सब जगत् को प्राचीन कालमें बतलाई। यह बात यद्यपि अतिप्राचीन काल में भरतखंडमें जारी थी तथापि वह बादमें लुप्त हो गई और फिर वह कहीं भी शुरू नहीं हुई। यह बात फिर शुरू करनेके लिये हमें स्वतंत्रता प्राप्त करनी चाहिये और यह बात जगत् में प्रचलित करनेपर जगत् में शांति रखनेका महामंत्र सबको बतलाना चाहिये।

इस तरह ब्रह्मज्ञान युद्धके पूर्व क्यों होना चाहिये और उसका महत्त्व क्या है, यह सारांशमें बतलाया है। वास्तवमें यह बात विस्तृत करके लिखनी थी। परन्तु वैसा करनेके लिये जगह नहीं है। इसलिये यह विषय सारांशमें दिया है। अब इसके आगे वैदिक राष्ट्रीय गीतका स्वरूप बतलाना है।

यहांतकके लेखमें मातृभूमिके वैदिक राष्ट्रगीतके संबंधमें सामान्य परिचय होनेके लिये जितनी बातें आवश्यक हैं उतनी दी हैं। उससे वाचकोंको मालूम हो जायगा कि इस राष्ट्रगीतका विचार राष्ट्रपुष्टि की दृष्टिसे कितना महत्त्वका है। अब हमें यह देखना है कि इस राष्ट्रगीतके मंत्र कौन कौन महत्त्वपूर्ण बातोंका उपदेश करते हैं। इसलिये प्रथम पहलाही मंत्र देखना चाहिये।

> सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति।
> सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्न्युरुं लोकं पृथिवी नः कृणोतु॥
> (अ० १२।१।१)

'सत्य, सीधापन, उग्रता, उदारता, तप, ज्ञान और यज्ञ आदि गुण मातृभूमिको धारण करते हैं। वह हमारे भूत, भविष्यत् और वर्तमान स्थितिका पालन करनेवाली हमारी मातृभूमि हमें कार्य करनेके लिये विस्तृत स्थान देवे!'

इस मंत्रके पहले आधे भागमें यह साफ तौरसे बतलाया है कि मातृभूमिको कौन कौनसे लोग धारण कर सकते हैं। यह सब लोगोंके याद रखने लायक बात है। सब मनुष्य अपने राष्ट्रको धारण नहीं कर सकते और न उसका पोषण ही कर सकते हैं। जो लोग विशेष गुणोंसे युक्त हैं, वे ही राष्ट्र की उन्नति कर सकते हैं। दूसरे लोग सिर्फ संख्या बढानेके लिये कारणमात्र है। यह बात पहले मंत्रसे स्पष्ट है और उसे वाचकोंको देखना चाहिये।

सर्वप्रथम राष्ट्रीय गुण 'सत्य' है। जिन मनुष्योंमें सत्यप्रियता, सत्य-पालनमें आत्मसर्वस्व अर्पण करने की तत्परता है, वे ही राष्ट्रका उद्धार कर सकते हैं। जिनमें सत्याग्रह है अर्थात् जो सत्यका आग्रहसे पालन करते हैं, वे ही स्वराष्ट्रका उद्धार कर सकते हैं। सूक्तका आरंभही 'सत्य' शब्दसे हुआ है। सूक्तके आरंभका शब्द मंगलार्थक और सबसे अधिक महत्त्वका होता है। इस विचारसे भी सिद्ध होता है कि वैदिक राष्ट्रीयतामें 'सत्य' अत्यंत महत्त्वका गुण है। अब यह बात सब पर प्रकट है कि सत्याग्रहरूपी शस्त्रको निःशस्त्र प्रजा शस्त्र-धारी राजाके विरुद्ध काममें ला सकती है। और विजय भी पा सकती है। सत्यके व्यक्तिगत सत्य, सामाजिक सत्य और राष्ट्रीय सत्य आदि भेद हो सकते हैं। हिंदवासी व्यक्तिगत सत्यका पालन करनेमें संसारके अन्य लोगोंकी तुलनामें अधिक तत्पर एवं दक्ष हैं, किन्तु वे सामाजिक और राष्ट्रीय सत्य अर्थात् सामुदायिक सत्यका पालन नहीं कर सकते। सामुदायिक सत्यपालन के अभ्यास ही से सत्याग्रहका मार्ग सफल हो सकता है। यदि भारतवासी जान लें कि सामुदायिक सत्य क्या है और उसका पालन किस प्रकार हो सकता है, साथ ही उचित रीतिसे उसका पालन करें, तो केवल इसी गुण से ही उनका बृहत् कल्याण होगा।

उसके आगेका गुण ऋत अर्थात् सीधापन है। वह भी सत्यके समान महत्त्वपूर्ण है और उसका आचरण सत्यके बाद होता है। जो मनुष्य सत्यका पालन नहीं करते और जिनका आचरण सीधा नहीं है, उनकी सच्ची उन्नति होना असम्भव है। वे खुद अवनत होंगे इतनाही नहीं बल्कि उनसे जिनका

संबंध है, वे भी गढे में गिरेंगे।

उग्रता शूर वीरोंका गुण है। इस गुणसे मंडित जो क्षत्रिय हैं, वे सत्याग्रहके सीधे मार्गसे अपने राष्ट्रका धन बढा सकते हैं। दक्षता अगला गुण है और वह दाक्षिण्यको बतलाता है, जो प्रत्येक कार्यमें आवश्यक है। दक्षताके सिवा किसी भी कार्यमें यश प्राप्त नहीं हो सकता, यह सब लोग जानते हैं। अतः इसके बारेमें अधिक लिखने की कोई आवश्यकता नहीं है।

तप उसके आगेका गुण है। यह गुण राष्ट्रीय महत्त्वका है। करनेके कार्यमें शीत उष्ण, हानि लाभ, सुख दुःख आदि द्वन्द्व आनेपर भी उन्हें सहकर आगे पैर बढाना ही तप का अर्थ है। यदि किसीको धूपमें थोडी देर घूमनेसे गर्मी होगी, ठंडमें काम करनेसे बधिरता आवे, तो ऐसे कोमल मनुष्यसे राष्ट्रका कोई भी काम हो नहीं सकता, अतः यह बात निर्विवाद है कि ठंडी और गर्मी सहना आदि तप राष्ट्रीय सद्गुणोंमें शामिल है। आजकल अपने देशमें लोग तपके नामपर जिसका आचरण करते हैं, वह वैयक्तिक महत्त्वका है। राष्ट्रीय महत्त्वका तप दूसराही है और उसे किये बिना राष्ट्रीय दृष्टिसे अपनी उन्नति नहीं होगी।

अगला राष्ट्रीय गुण "ब्रह्म" अर्थात् "ज्ञान" है। "ज्ञानान्मोक्षः" इस सूत्रको सब लोग जानते हैं। पर वह राष्ट्रीय दृष्टिसे भी सत्य है, यह बात बहुत थोडे लोग जानते हैं। ज्ञानसे जिस तरह किसी व्यक्तिकी आत्मा बंधनसे मुक्त हो जाती है और वह व्यक्ति भी मुक्त हो जाती है, उसी प्रकार ज्ञान–से राष्ट्र भी दूसरोंकी आधीनतासे मुक्त होता है और इस तरह राष्ट्र स्वतंत्र हो सकता है। आजकल की भरतखंडकी पराधीनताका कारण अधिकतर भौतिक विज्ञान शास्त्रोंके ज्ञानका अभाव है। वह इस विज्ञानकी प्राप्तिके बिना दूर नहीं हो सकती और यदि दूर हो गई तो भी स्वतंत्रताकी रक्षा करना कठिन होगा। यह बात सूर्यप्रकाशके समान सिद्ध है। जागृत राष्ट्रको चाहिये कि वह अपना ज्ञान संसारके ज्ञानके बराबर रखे, या संसारके आगे अपने राष्ट्रका ज्ञान जावे, इसके लिये प्रयत्न करना चाहिये। तभी राष्ट्रकी स्वतंत्रता की रक्षा हो सकती है। स्वाधीनतासे ज्ञानका संबंध अनादिसिद्ध है।

इसके आगेका गुण यज्ञ है। " यज्ञ " से आत्मसमर्पणका भाव प्रगट होता है। राष्ट्रोन्नतिके लिये आत्मसमर्पण करने की तैयारी लोगोंमें होनी चाहिये, तभी राष्ट्रोन्नति होना सम्भव है, उसके अभावमें कदापि नहीं हो सकती।

वैदिक राष्ट्रगीतके पहले मंत्रने यह महत्त्वपूर्ण उपदेश दिया है। अपने राष्ट्रकी उन्नति किन गुणोंके बढनेसे होगी और किन गुणोंके अभावसे अपने राष्ट्रका अधःपात होगा, यह सब इस मंत्रने स्पष्ट रीतिसे बतलाया है और उसका उपयोग आज भी होने लायक है।

राष्ट्रीय उन्नति करनेवाले गुण " सत्याग्रह, सीधा बर्ताव, उग्रता या शौर्य, दक्षता या तत्परता, सत्कार्य करनेके लिये लगनेवाले परिश्रम करनेका सामर्थ्य या वह करते समय लगनेवाले शीत और उष्णताको सहनेका सामर्थ्य, ज्ञान और अच्छे कार्य के लिये आत्मसमर्पण करनेकी इच्छा। " यदि ये गुण जनतामें या जनताके मुखियोंमें हों, तो उस राष्ट्रका उद्धार हो सकता है और यदि न हों तो नहीं।

अब उन अवगुणोंको देखिये जो राष्ट्रकी अवनति करते हैं–

" सत्याग्रहकी तैयारी न रहना अथवा सत्यकी पर्वाह न कर मनमाना आचरण कर येनकेन प्रकारेण जीवन व्यतीत करनेकी प्रवृत्ति रहना, कपटका आचरण, कायरता या शौर्य–का अभाव, दक्षताका अभाव, परिश्रम करनेकी शक्ति न रहना, अज्ञान, आत्मसमर्पणके लिये तैयार न रहना। " पाठकगण स्वयं ही विचार करें कि हम लोगोंमें उपरि उक्त राष्ट्रीय गुणोंकी अधिकता है या अवगुणोंकी। इस बातका विचार करने ही से उनपर प्रकट होगा कि आज हमें क्या करने की आवश्यकता है?

इस प्रकार मंत्रके प्रथम अर्धमें राष्ट्र को धारण करनेके लिये आवश्यक गुणोंकी वृद्धि करनेका उपदेश है। तत्पश्चात् उत्तर अर्ध में एक महत्वपूर्ण आकांक्षा जनता के सम्मुख रखी गई है। वह इस प्रकार है—" हमारी मातृभूमि हमारे भूत—भविष्यत वर्तमान कालकी परिस्थिति की देवता है। वह हमें अपने देशमें विस्तृत कार्यक्षेत्र देवे। "

राष्ट्रभक्त मातृभूमि के उपासक हैं। उनके सब काम मातृ-भूमि को ही अपने उद्देशों का केन्द्र समझकर हो सकते हैं। अत-एव स्पष्ट ही है कि राष्ट्रभक्तों के भूत–भविष्यत्—वर्तमान काल की नियामक देवता मातृभूमि ही रहेगी। भूतकाल में

उन्होंने मातृभूमि की जैसी सेवा की होगी वैसी ही उनकी वर्तमान कालकी स्थिति होगी। वर्तमान काल में वे जैसी उपासना करेंगे, उसीके अनुसार भविष्यतमें उनकी स्थिति होगी। अतएव राष्ट्रभक्त सदैव मातृभूमि की उपासना उत्तम रीतिसे करें। वे कोई भी ऐसा घातक बर्ताव न करें जिससे उनकी अवनति होगी।

प्रत्येक मनुष्य को चाहिये कि वह ऐसी आकांक्षा धारण करे कि 'मेरे राष्ट्रमें मुझे विस्तृत कार्यक्षेत्र प्राप्त हो।' यदि अनुकूल परिस्थिति न हो तो उसे प्राप्त करनेमें कठिन परिश्रम की आवश्यकता है। अपने को अपने घरमें व्यवहार करने में जैसी पूर्ण स्वतंत्रता रहती है, उसी प्रकार स्वदेश में भी रुकावटें न होनी चाहियें। लोगों को अपने अपने देशमें पूर्ण स्वतंत्रता होनी चाहिये। दूसरे हस्तक्षेप कदापि न करें और देशवासियों की उन्नति में विघ्न बाधाएं न डालें। अपने अपने घर में हरएक मुख्तियार हो। हमारे देशमें हमें विस्तृत कार्यक्षेत्र मिलनाही चाहिये। दूसरों को हमारे देश में विस्तृत कार्यक्षेत्र मिले और हमारा कार्यक्षेत्र प्रतिदिन घटता जाय, यह परिस्थिति जितनी जल्द हो सके, बदलनी चाहिये। इसे बदल देना ही हमारा प्रथम आवश्यक कर्तव्य है।

पाठक गण प्रथम मंत्रके इस आशय को विचारें और वैदिक राष्ट्रगीतके उच्च ध्येयका अनुभव करें।

यदि राष्ट्रकी उन्नति साधना है, तो राष्ट्रभक्तोंमें आवश्यकता है एकता की। बिना ऐक्य के सामुदायिक कार्यका सिद्ध होना असंभव है। सब लोग इस बात को मानते हैं। किन्तु लोग यही नहीं समझते कि यह राष्ट्रीय एकता अपने देशमें किस प्रकार साध्य होगी। लोगों का कथन है कि हमारे देशमें भिन्न भिन्न धर्मके लोग हैं, अनेक भाषाएं और विविध जातियां हैं। रीति-रिवाजों में भी अनेक भेद हैं। ऐसी दशामें एकता हो ही कैसे सकती है? यह कहकर लोग निराश हो चुप बैठ जाते हैं। ऐक्य के लिये ज्यों ज्यों प्रयत्न करते हैं, त्यों त्यों फूट ही होती जाती है। एकता के लिये जो प्रयत्न या उपाय किया जाता है, वह अधिकाधिक फूट का ही फल देता है। इसी कारण राष्ट्रभक्त घबडा गये हैं। ऐसेही समय निम्नलिखित वैदिक राष्ट्रगीत का मंत्र बहुत ही विचारणीय एवं बोधप्रद होगा। देखिये—

जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसम्।
सहस्रधारा द्रविणस्य मे दुहां ध्रुवेव धेनुरन— पस्फुरन्ती॥

(अथर्व० १२।१।४५)

"[वि--वाचसं] अनेक भाषा बोलनेवाली और [नाना-धर्माणं] नाना धर्मोंसे युक्त जो जनता है उसे [यथा ओकसं] एकही घरके समान धारण करनेवाली मातृभूमि धन के हजारों प्रवाह मुझे दे, जिस प्रकार उछलकूद न करनेवाली गाय दूध देती है, उसी प्रकार।"

राष्ट्र की प्रगति तभी हो सकती है जब कि विविध भाषा बोलनेवाले, विविध धर्मोंको माननेवाले एवं विविध रीति रस्मों पर चलनेवाले लोग एक ही कुटुंब के एकही घरमें रहनेवाले भाइयों के समान एकही देश में रह सकें। [वि-वाचसं जनं] अनेक भाषा-भाषी लोगोंके रहते भी और [नाना-धर्माणं जनं] विविध धर्मके अनुयायी होते हुए भी उन सब की एक माता-सब की आदि माता-यही मातृभूमि है, इससे सबको चाहिये कि आपसी भेदभाव भूलकर उसके सम्मुख खडे हों। मातृभूमिकी उपासना करनेमें भाषाका भेद, प्रांतका भेद, धर्म का भेद या जाति का भेद आडे न आना चाहिये। सब लोगोंको चाहिये कि वे सब मिलकर यही समझें कि वे सब [यथा ओकसं] एकही घर में रहनेवाले एकही कुटुंबके लोग हैं। और सब लोग अन्य किसी भेद को प्रधानता न देकर अपनी अभेद्य एकता बतावें।

एकही घरके लोगोंमें कुछ बडे, कुछ छोटे, कुछ मध्यम, कुछ गोरे, कुछ सांवले, कुछ न गोरे न सांवले, कुछ बूढे, कुछ युवा, कुछ पुरुष और कुछ स्त्रियां रहती हैं। एकही घरके लोगोंमें इतने भेद रहते हैं!! इनमें से प्रत्येक यदि कहे कि 'मैं अन्य सबसे भिन्न हूं,' तथा अपनी भिन्नताके कारण उसने कुटुंबके हितकी ओर दृष्टि न दी, तो उस घरका, उस कुटुंबका नाश होनेमें देर ही क्या? इसके विरुद्ध यदि उस घरके निवासी उस कुटुंबके घटक क्षुद्र भेदोंको भूल जावें और अपने मनमें यही मुख्य विचार रखें कि सारे कुटुंबका हित हो, तो वही घर नंदनवनके समान आनंदसे भरा हुआ दिखेगा। जहां कहीं मनुष्य है वहां भेद आवश्य ही होंगे। किन्तु मनुष्य का धर्म यही है कि क्षुद्र भेदोंको गौण समझकर सब मिलकर अपने घरका, अपने देशका, अपने राष्ट्रका हित साधन करें। राष्ट्रीयताके

*

यही बात बतलाई गई है। राष्ट्रके घटक जिस समय आपसी क्षुद्र भेदोंको प्रधानता देकर आपसमें लडते झगडते हैं, उस समय राष्ट्रकी शक्ति क्षीण होती है। परन्तु जब भेदभावोंको मिटाकर वे सब मिलकर देशहितका कार्य करनेमें लग जाते हैं, तब उनकी शक्ति बढती है और उनकी उन्नति होती है।

किसी भी देशको या किसी भी राष्ट्रको देखिये। भाषा, जाति, वंश, धंधे आदि अनेक कारणोंसे उसमें अनेक भेद होते ही हैं। आज संसारमें एक भी राष्ट्र ऐसा नहीं जिसमें उपर्युक्त भेदोंका नामनिशान न हो। परन्तु विचारशील राष्ट्रके धर्मज्ञ लोग इन भेदभावोंकी ओर ध्यान नहीं देते। वे यही समझते हैं कि राष्ट्रहित ही उनका लक्ष्य है। बस अपने लक्ष्यपर दृष्टि रख वे एकतासे उसीकी प्राप्तिमें लग जाते हैं। आपसमें लडाई-झगडा करनेवाली जातियां भी जब देखती हैं कि सारे राष्ट्रपर आपत्ति आगई है, तो वे आपसी झगड छोड देती हैं, आपसमें मिल जाती हैं और राष्ट्रीय आपत्तिका सामना करती हैं। परिणाम यही होता है कि उस आपत्तिसे वे बच जाते हैं। परन्तु इसके विपरीत जो लोग अपने भेदभावोंकी ओर ही दृष्टि रखते हैं, जो राष्ट्रीय हित की ओर नहीं देखते, जिन्हें राष्ट्रकी अपेक्षा अपने भेद ही अधिक महत्वके मालूम होते हैं, वे क्षुद्र भेदभावोंमें ही फंसे रहते हैं और अपनी उन्नति कभी भी नहीं कर पाते। भेदोंके रहते भी जो उसीमें अभेदका अनुभव प्राप्त करने को तैयार रहते हैं, वे ही कुछ राष्ट्रहित साधन कर सकते हैं।

हमारे हिंदुस्थानमें ही सब मनुष्य भेदभावोंसे विभक्त हैं, यह नहीं। किन्तु अन्यान्य देशोंका भी यही हाल है। तब क्या इस देशके निवासियोंको उचित है कि वे ही अपने भेदोंको सदा बढाते रहें और इससे अपने शत्रुको मदद दें? क्या भारतवासी इस महत्वकी बातका विचार न करेंगे? जो लोग सदैव यही चिल्लाते रहते हैं कि "प्रथम आपसी भेदभावोंको मिटा दो" उन्हें स्मरण रखना चाहिये कि ऐसा समाज जिसमें भेदभावोंका बिलकुल अभाव हो, न कभी इस पृथ्वीतल पर था, न अब विद्यमान है और न भविष्यत्में भी होनेकी संभावना है। किसी भी देशमें किसी भी समय जो बात कभी न हुई, वह इस देशमें कैसे हो सकती है? सब देशोंमें एक बात साध्य हुई है और वह है आपसी भेदोंको मर्यादाका उल्लंघन न करने देना। बस यही बात हमारे देशमें भी साध्य हो सकती है। अतएव उचित यही है कि लोग असाध्यको साधनेके प्रयत्नमें न लगें, परंतु साध्य बातों को ही करें और अपनी उन्नति कर लें।

भारतवर्षमें तीन धर्म विद्यमान हैं, (आर्य) हिंदु, मुसलमानी और ईसाई। यह समझ कि जबतक ये तीन धर्म हैं, तबतक स्वराज्यके लिए प्रयत्न न करना, अथवा ये तीन भेद नष्ट होकर जब सबका मिलकर कोई नया धर्म बनेगा, तभी स्वराज्यप्राप्तिका प्रयत्न करना, निरा अज्ञान है। इन तीन भिन्न धर्मोंके रहते भी सबको मिलकर मातृभूमि की उपासना के लिए तैयार होना चाहिये। यह तो असंभव है कि तीनों धर्म सदाके लिये नष्ट हो जांय। इन भिन्न धर्मोंके रहते भी सबको चाहिए कि अपना 'अभिन्न राष्ट्रधर्म' देखें। जातिभेद, भाषाभेद, वर्णभेद आदि अनेकानेक भेद अवश्य ही रहेंगे। इन भेदोंका सदाके लिए नष्ट होना यदि संभव माना जाय, तो उसे इतना अधिक समय लगेगा कि उसके साध्य होनेतक स्वराज्यको दूर रखनेसे हमारी बडी भारी हानि ही होगी। अतएव हरएक मनुष्यको, हरएक व्यक्तिको यही सीखना आवश्यक है कि अनेक भेदोंके रहते भी उन्हें भूलकर एक घरके, एक कुटुंबके भाइयोंके समान एकतासे रहें। इस मंत्रका यही उपदेश है और हरएक राष्ट्रभक्त उसपर ध्यान दे। अब आगेका मंत्र देखिए—

> असंबाधं मध्यतो मानवानां यस्या उद्वतः प्रवतः समं बहु।
> नानावीर्या ओषधीर्या बिभर्ति पृथिवी नः प्रथतां
> राध्यतां नः॥ (अथर्व० १२।१।२)

' जिस मातृभूमिके मनुष्योंमें उच्चता, नीचता और समताके संबंधमें (बहु अ-संबाधं) बहुत ही निर्वैरता है अर्थात् झगडे नहीं हैं और जो नाना गुणोंसे युक्त औषधी उत्पन्न करती है, वह हमारी मातृभूमि हमारी (प्रथतां) कीर्ति या ख्याति बढावे। "

यह मंत्र बताता है कि विषमता होते हुए भी राष्ट्रीय हितका साधन कैसे करना चाहिये। मनुष्यका भेदभाव पूर्णतया मिटानेकी चेष्टा भले ही की जाय, पर शरीर, इंद्रिय, मन, बुद्धि आत्माके न्यूनाधिक विकासके कारण तथा उनकी व्यवहारकुशलताकी न्यूनाधिकतासे उनमें ऊंच, नीच, मध्यम आदि भेद रहना स्वाभाविक है। अतएव संभव नहीं कि सब मनुष्य समान योग्यताके, बिलकुल एकसे बनें। ऐसी असमानता

रहनेपर भी प्रयत्न यह होना चाहिए कि उनके अभेदकी ओर ही ध्यान देकर सबका उत्कर्ष हो।

मंत्रमें 'अ-सं-बाध' शब्द है। यह अतीव महत्त्वका है। गौण भेदोंको प्रधानता दी जाय तो एक समाजके मनुष्यों-का दूसरे समाजसे विरोध होने लगेगा। एक समाज दूसरे-को प्रतिबंध करने लगेगा। दूसरेको मिटाकर स्वयं ही जीवित रहनेका प्रयत्न करने लगेगा। ऐसा होनेसे जातियोंमें 'संबाध' उत्पन्न होता है। जातिजातिके झगडे, विरोध आदि बातें इस शब्दसे बतलाई जाती हैं। परस्पर बाधा करने ही का नाम 'संबाध' है। संबाधका अर्थ है आपसी युद्ध। जब युद्ध होने लगते हैं, तब राष्ट्रकी शक्ति क्षीण होती है। जब एक समाज दूसरे समाजको बाधा पहुंचाता है, एक जाति जब दूसरी जातिको कष्ट पहुंचाने लगती है, तब राष्ट्र क्षीण होता है। इसीलिये राष्ट्रहितकी दृष्टिसे जाति—जातिमें, समाज—समाजमें एकताका होना परम आवश्यक है। यही बात बतलानेके हेतु मंत्रमें कहा है—

'यस्याः मानवानां मध्यतः बहु असंबाधम्।'

'जिस मातृभूमिके मनुष्योंमें बहुत निर्वैरभाव रहता है।' वही मातृभूमि अपने सुपुत्रोंको उत्तम धन दे सकती है। परंतु जिस भूमिके लोग आपसमें वैरभाव रखते हैं, वहांकी जनता आधा पेट रहती है। कोई ऊंचा हो, कोई ज्ञानी हो, कोई अज्ञानी, पर शरीरसे हृष्टपुष्ट हो। सबको चाहिए कि वे जो कुछ करें मातृभूमिके लिये करें। अपने गुणाधिक्यके घमण्डमें उन्हें गुणहीनोंको वा न्यून गुणवालोंको न दबाना चाहिये। कुछ लोग गूंगे हों और कुछ वाचाल हों, तो दोनों मिलकर, आपसमें न लडकर दोनोंको अपनी शक्तियोंका मेल करना चाहिये और उन्हें मातृभूमिकी वेदीपर चढा देना चाहिए। तभी राष्ट्रकी उन्नति होगी। मनुष्यमें जो (उद्वतः) उच्चता, (समं) समता, और (प्रवतः) नीचता रहती है, वह एक दूसरेका घात करनेके लिए नहीं रहती है। एक मनुष्य यदि किसी एक बातमें ऊंचा है, तो वह दूसरी बातोंमें नीचा होगा। बडा विद्वान् ज्ञानमें ऊंचा होगा, तो शक्तिमें उसका दर्जा कम हो सकता है। कोई शक्तिशाली पहलवान हो तो ज्ञानमें उसका हलका होना संभव है। किन्तु मातृभूमिको दोनों प्रकारके मनु-ष्योंकी आवश्यकता है। ज्ञानी मनुष्य ज्ञानके घमण्डसे और बलवान् शक्तिके घमण्डसे एक दूसरेके सिर न फोडें, बल्कि दोनोंको चाहिए कि वे मिलकर देशके शत्रुओंको दूर करें और अपनी उन्नति करें।

मानवोंका कर्तव्य यही है कि अनेक भेदोंके रहते भी अभेद-भावसे अपना मार्ग निकालें। जो मनन करनेमें समर्थ है उसीको मानव कहते हैं। मनन करनेवाला झगडे उत्पन्न नहीं करता, वह सोच विचार कर झगडे कम करता है और उन्नतिके मार्गसे आगे जाता है। जो अपना परिस्थितिका विचार नहीं करते, अपनी उन्नतिके लिए प्रयत्न नहीं करते, किन्तु आपसके झगडे ही बढाते हैं, वे दो पैरवाले होनेपर भी मानव या मनुष्य नहीं कहे जा सकते।

इस मंत्रका उपदेश हम लोगोंकी वर्तमान दशामें अच्छी तरह उपयोगी हो सकता है। उपर्युक्त मंत्रोंके पढनेसे ज्ञात होगा कि इस वैदिक राष्ट्रगीतके द्वारा देशवासियोंमें एकता बढानेके लिए जो कुछ कहा जा सकता है, कह दिया गया है। अब हम चाहें तो उसका उपयोग करें, चाहें तो न करें। यदि हम उससे लाभ न उठावें तो उसमें धर्मग्रंथका क्या दोष? दोष है अनुयायियोंका। ऐक्यका उपदेश सुन लेनेपर प्रत्येकको जान लेना चाहिए कि हमारे देशके प्रति हमारा पुत्रत्वका नाता किस प्रकार है। इस संबंधको जानकर उसे सदैव अपने मनमें जागृत भी रखना होगा। निम्नलिखित मंत्रको अब देखिए—

त्वज्जातास्त्वयि चरन्ति मर्त्यास्त्वं बिभर्षि द्विपदस्त्वं चतुष्पदः। तवेमे पृथिवि पंच मानवा येभ्यो ज्योतिरमृतं मर्त्येभ्य उद्यन्त्सूर्यो रश्मिभिरातनोति॥ १५॥

"हे मातृभूमि! तेरेसे उत्पन्न हुए हम सब मनुष्य तुझपर ही घूम रहे हैं। तू ही द्विपाद और चतुष्पादका पोषण करती है। हम पांचों प्रकारके मनुष्य तेरे ही हैं। हम मानवोंको प्रतिदिन उगनेवाला सूर्य अपनी किरणोंसे तेज और अमृत देता है।"

इस मंत्रमें सर्वप्रथम यही बतलाया गया है कि 'हम मनुष्य भूमातासे [त्वत्-जाताः] ही उत्पन्न हुए हैं और तुझपर ही घूमते फिरते हैं।' यह भाव स्पष्ट एवं असंदिग्ध है। प्रत्येक राष्ट्रभक्त अपने मनमें यही भाव रखता है। यदि नहीं रखता तो उसे अवश्य ही रखना चाहिए। तभी वह राष्ट्रकी उन्न-तिके योग्य कार्य कर सकेगा मातृभूमि हमारी अलंकारिक या काल्पनिक माता नहीं, वास्तविक माता है। यह अनुभव जितना जीवित होगा, उतनी ही दृढ भावनासे वह मनुष्य मातृभूमिकी सेवा करेगा।

यदि वाचक विचार करेंगे तो वे जानेंगे कि हमारे देशमें जो जातीय झगडे होते हैं उनका कारण यह है कि इस देशके निवासी नहीं समझते कि सचमुच हम सब मातृभूमिके पुत्र हैं। लोग अपने अपने पंथके हितकी दृष्टि रखते हैं। सबका मिलकर जो राष्ट्रधर्म है उसका पालन कोई नहीं करता। इससे सबको एक राष्ट्रधर्मका बंधन नहीं रहता। प्रत्येकको अपना पंथ ही अधिक प्रिय होता है। सार्व-राष्ट्रीय धर्मके पालनकी कोई फिकर ही नहीं करता। ऐसे घातक विचार किसी भी देशके निवासियोंमेंसे किसी भी जातिके लोग न रखें। इसी मंत्रमें स्पष्ट शब्दोंमें कहा गया है कि ' हम सब मातृभूमिके बालक हैं। ' वाचक यदि इस अनुपम मंत्रपर विचार करें तो उन्हें विदित होगा कि आपसी फूट की यह अकसीर दवा है। मनुष्य किसी भी धर्म के या पंथके रहें, या उनमें जाति और वर्णके कारण कैसी भी भिन्नता क्यों न आई हो; यदि वे एक राष्ट्र-धर्मसे बंधे जायेंगे, तो परस्पर वैरभाव उत्पन्न ही न होगा।

हमारी मातृभूमि हम द्विपदोंका और अन्य चतुष्पादोंका उत्तम प्रकारसे पोषण करती है। इस स्वार्थी दृष्टिसे भी यदि देखें तब भी हरएक मनुष्यके लिए उत्तम बात यही होगी कि वह हृदयमें मातृभूमिकी भक्ति रखे और उसकी रक्षाके लिए सदैव तैयार रहे। हम अपने मकानकी रक्षा करते हैं, अपनी जमीन की रक्षा करते हैं, यह सब हम इसीलिए करते हैं कि उससे हमारा हित होता है। हमारा हित मातृभूमिसे भी होता है। क्योंकि वही मातृभूमि मनुष्योंको और पशुपक्षियोंको अन्न, उदक आदि देती है और उनकी रक्षा करती है। यदि हम मातृ-भूमिकी रक्षा न करेंगे तो वह किसी दूसरेके आधीन हो जावे-गी और तब हमारी आफत होगी, हमें भूखों मरनेकी नौबत आवेगी।

इस समय भारतीयोंका यही हाल है। उन्होंने योग्य समय मातृभूमिकी रक्षा न की अतएव अब हमें कष्ट सहने पडते हैं। इस आपत्तिके समय भी हम आपसी झगडोंको नहीं भूलते, और एकतासे मातृभूमिकी सेवा करनेको तैयार नहीं होते !! गत कालमें हम लोगोंने जो गलतियां कीं सो तो हो चुकीं। उनके बारेमें अब कोई कितना ही क्यों न कहे, वे बदल नहीं सकतीं। परंतु उन गलतियोंका फल भोगते समय भी उनसे उचित शिक्षा न लेकर पुनः पुनः वेही भूलें करना और प्रतिदिन आपसी भेदभावों को बढाना भयंकर भावी आपत्तिका चिह्न है। क्या भारतवासी इसपर विचार न करेंगे ?

इस विचारको मनमें न रखना कि " हे मातृभूमि ! हम तेरे बालक हैं। " हम समझते हैं कि हम अपने भिन्न भिन्न पंथोंके हैं। इसके समान दूसरी भयंकर भूल नहीं है। सर्वप्रथम हम अपने राष्ट्रके हैं, तत्पश्चात् अपने पंथके हैं। यही भावना हरएक मनुष्यको रखना उचित है। यदि मनुष्य यह भावना न रखें तो राष्ट्रहानि होना टाल नहीं सकते। वाचक देख सकते हैं कि अथर्ववेदके इस वैदिक राष्ट्र-गीतके प्रत्येकमंत्रमें कैसे महत्त्वका उपदेश किया है। हमारी वर्तमान गिरी दशामें ये अनमोल उपदेश-रत्न ही हमारा उत्थान कर सकते हैं। इतना ही नहीं वे हमारा यश चारों दिशामें फैला सकते हैं। प्रिय वाचक ! आप इसी दृष्टिसे इन मंत्रोंका विचार करें और उसके उपदेशों-को कार्यमें परिणत करें।

यहांतकके लेखमें बतलाया गया कि मातृभूमिके वैदिक गीतकी साधारण बातें क्या हैं, तथा यह भी दिखाया गया कि जनतामें भिन्नता रहते हुए भी एकताका साधन कैसे करना चाहिए और मातृभूमिकी सेवाके लिये सब मिलकर किस प्रकार तैयारी करें। पिछले लेखोंसे वाचकोंको निश्चय हुआ होगा कि इस वैदिक राष्ट्रगीतमें राष्ट्रकी उन्नतिके जैसे उच्च तत्त्वोंका समावेश हुआ है, वैसे तत्त्व अन्य किसी देशके राष्ट्रगीतमें नहीं हैं। तथापि आवश्यक यह है कि इस राष्ट्रगीतपर और भी कई दृष्टियोंसे विचार किया जाय।

जनतामें मातृभूमिके लिये प्रेम उत्पन्न होना चाहिए। यह प्रेम तभी हो सकता है जब कि देशके नगरों, पहाडों एवं अन्यान्य स्थानोंके प्रति आदर हो। आदर किसी विशेष महत्त्वके कारण-से ही हो सकता है। यदि हम कहें कि इसका आदर करो, तो हमारे कहनेसे कोई आदर न करेगा। किसी स्थानके प्रति आदर तभी हो सकता है जब उसका किसी महत्त्वकी पुण्यमयी घटनासे संबंध हो, या उसका किसी महात्मासे संबंध हो, या अन्य किसी विशेष घटनासे उसका संबंध हो। अतएव हमें यह देखना है कि वैदिक राष्ट्रगीत इसकी सूचना किस प्रकार देता है–

देवोंद्वारा बसाए हुए स्थान।

यस्याः पुरो देवकृतः क्षेत्रे यस्या विकुर्वते।
प्रजापतिः पृथिवीं विश्वगर्भामाशामाशां रण्यां नः कृणोतु॥
(अथर्व. १२।१।४३)

" हमारी जिस मातृभूमिके नगर देवों द्वारा बनाए गए हैं और जिसके खेतोंमें सब मनुष्य विविध काम करते हैं, उन सब पदार्थोंको अपने गर्भमें धारण करनेवाली मातृभूमिको परमेश्वर सब दिशाओंमें हमारे लिये रमणीय बनावे।"

अब इसके (यस्याः देवकृतः पुरः) 'जिसके नगर देवों द्वारा बनाये गए हैं' वाला भाग देखिए। जनताको विश्वास होना चाहिये कि हमारी मातृभूमिके नगर देवोंने बसाए हैं, हमारे नगरोंसे देवोंका संबंध है, देवोंका देवत्व हमारे नगरोंने देखा है। इस प्रकारका जीवित विश्वास यदि जनताके मनमें स्थान बना ले, तो निश्चय ही है कि अपने देशके बारेमें मनमें जागृति होगी।

इतिहासमें उल्लेख है कि हमारी हिंदभूमिके विविध नगरोंका संबंध देवोंसे हुआ है। भगवान श्री रामचंद्रजीका संबंध अयोध्यासे और रामेश्वरसे है। श्रीकृष्णजीका संबंध गोकुल वृंदावन, तथा द्वारकासे है। इंद्रका संबंध इंद्रप्रस्थसे है। हमारे देशके आबालवृद्ध जानते हैं कि इस प्रकार अनेक नगरोंसे देवोंका संबंध है। नदियां, तालाव, सरोवर, पर्वत-शृंग, गुफाएं आदि स्थानोंसे देवदेवताओंका वा पुण्य पुरुषोंका संबंध रहा है। इसका हाल ग्रंथोंमें भी पाया जाता है और सब स्त्रीपुरुषोंको भी कथा-पुराण आदि सुननेसे मालूम हुआ है। गौरीशंकर और कैलासके पर्वत-शिखरोंका संबंध साक्षात् भगवान् शंकरके साथ है। बद्रीकेदारके आश्रमका संबंध नर-नारायण ऋषिमुनियोंसे है। मातृभूमिकी दृढ भक्तिके लिए परम आवश्यक है कि यह संबंध देशके सब स्त्रीपुरुषोंको विदित होवे।

कुछ अधिक शिक्षित लोग कहेंगे कि 'यह अंधविश्वास किस लिए? बिलकुल व्यावहारिक हितकी दृष्टिसे भी मातृभूमिके प्रति भक्ति हो सकती है।' बात बिलकुल ठीक है। पर व्यावहारिक कामके साथ ही यदि लोगोंके हृदयमें ऊपर लिखे संबंधोंका भी विचार आवे तो भी नुकसान कुछ न होगा। बालक अपनी मातापर प्रेम करता है। पर इसलिए नहीं कि माता सुंदर है, या माता दूध देती है। वह प्रेम करता है क्योंकि 'मातृदेवो भव' के अनुसार माता एक देवता है। बालकका माताके प्रति प्रेम इसी दिव्य भावनाके कारण रहता है। बालकका माताके प्रति और माताका बालकके प्रति अकृत्रिम प्रेम रहता है। बदलेकी आशा न कर जो प्रेम किया जाता है, वही दिव्य प्रेम है वही निरपेक्ष अकृत्रिम प्रेम है। इसीलिए मातृप्रेम व्यावहारिक प्रेम नहीं है। मातृभूमिका प्रेम भी इसी प्रकार अकृत्रिम, निःसीम, आत्यंतिक और दिव्य होना चाहिए। अकृत्रिम प्रेम उत्पन्न होनेके हेतु उपर्युक्त मंत्रमें लिखा है कि अपने देशके नगरोंका संबंध देवोंसे है यह बात सब लोगोंको मालूम रहनी चाहिए और सब लोग यही सोचें कि हमारे नगर देवोंने बसाए हैं।

जो ज्ञानी लोग आर्थिक या व्यावहारिक हितकी दृष्टिसे मातृभूमि की भक्ति करते हों, वे भले ही वैसा करें। उसमें किसीकी रुकावट नहीं। परंतु सब जनता उस कोटिकी ज्ञानी नहीं हो सकती। अतएव साधारण लोगोंमें विशेष प्रेम उत्पन्न होवे इसी गरजसे सबको मालूम होना आवश्यक है कि हमारे देशके स्थानोंका संबंध देवोंसे वा ऋषियोंसे है।

प्रतापगढसे तथा सिंहगढसे शिवाजी महाराजका संबंध, उदयपूरसे महाराणा प्रतापसिंहका संबंध झांसीसे रानी लक्ष्मीबाईका संबंध, गढ मंडलासे रानी दुर्गावतीका संबंध परलीसे स्वामी रामदासका संबंध और इसी प्रकार भिन्न भिन्न इतिहासप्रसिद्ध स्थानोंसे ऐतिहासिक व्यक्तियोंका संबंध मालूम होना परम आवश्यक है। सिंहगडका या अन्य किसी स्थानका उस स्थानका जिससे शिवाजी महाराजका संबंध रहा है, यदि कोई भंग करे या अन्य इतिहासप्रसिद्ध व्यक्तिके स्थानका कोई अपमान करे तो उस दुष्ट कार्यसे संपूर्ण भारतके हृदयमें चोट पहुंचती है। संपूर्ण भारत उस दुष्कृत्यका जवाब पूछनेको तैयार हो जाता है। इसीमें राष्ट्रीय उन्नतिका बीज है।

इसीलिए जब विदेशी सरकार दूसरे देशपर अपना अधिकार जमाती है, तब उस देशके ऐसे इतिहासप्रसिद्ध स्थानोंको भुलानेमें दक्ष रहती है। वह तत्पर रहती है कि ऐसे स्थानोंका लोगोंको पता भी न रहे। इसका भी मर्म यही है। मुसलमानोंने प्रयागका नाम अलाहाबाद रखा, सहस्रतीर्थका नाम इस्लामाबाद रखा, मार्तण्डको मटन कहा, बाबा महर्षिका बापं मोइद्दिनर्षि कर डाला, श्री शंकराचार्यके स्थानको तख्त-ए-सुलेमान कहा और इसी प्रकार हजारों शहरोंके और स्थानोंके नाम बदल दिये। इसका रहस्य हम ऊपर बतला चुके हैं।

जब अंग्रेजोंका राज हुआ तब उन्होंने धवलगिरीके गौरीशंकरका नाम मौंट एव्हरेस्ट रख दिया और सिमला, महाबलेश्वर आदि पर्वतराजोंके शिखरके अंग्रेजी नाम बना दिये। इसी प्रकार अन्य कई स्थानोंका अंग्रेजीकरण हुआ।

मुसलमानोंने मंदिरों और मूर्तियोंका विध्वंस किया और बलात्कारसे लोगोंको अपने धर्ममें मिलाया। अब ईसाई लोग

धर्मांतर करा रहे हैं । वे प्रायः प्रत्येक देवस्थान और तीर्थस्थानमें खडे रहकर उसकी निंदा करते हैं । इसका भी कारण यही है जिससे कि हमारा हमारे देशके स्थानोंका अभिमान नष्ट हो जाय ।

विजेता मुसलमान रहें, अंग्रेज रहें या जापानी रहें, उनका सबका स्वभाव एकहीसा होता है । जिन लोगोंके हृदयसे मातृभूमिकी भक्ति नष्ट करनेके लिए वे जो कुछ कर सकते हैं वह करनेमें चूकते नहीं । मातृभूमिके विषयमें प्रेम और भक्ति उत्पन्न होनेके लिए अपने देशके तीर्थस्थानोंका प्रेमपूर्ण इतिहास जनताके हृदयमें सदैव जागृत रहना चाहिये । जबतक जनतामें मातृभूमिका प्रेम जागृत रहेगा तबतक विदेशी जेताओंके पैर जम नहीं सकते । यही सार्वत्रिक नियम होनेसे सब जेते जाती हुई पादाक्रांत जनताकी मातृभूमिके प्रेमके सब चिह्न जलदी मिटानेका प्रयत्न करते हैं । संसारके इतिहाससे वाचक इसकी पुष्टिके उदाहरण स्पष्टतया देख सकते हैं । पुष्टि देखनेपर ही उन्हें ऊपरके मंत्रके उपदेशका रहस्य विदित होगा ।

यह तो स्वाभाविक ही है कि लोगोंको मालूम हो कि हमारे देशके नगर देवोंके बनाए हैं, हमारे पूर्वजोंका उनसे जो संबंध है उसका स्मरण रहे, बडे बडे महात्माओंके चरणरजका स्पर्श होनेसे वे स्थान तारक हो गये हैं । वेदमंत्रने ऊपरके राष्ट्रगीतके इन भावोंका खास परिचय करा दिया है । अतएव पाठक इस मंत्रका जितना अधिक विचार करेंगे उतना ही उनके लिए अच्छा होगा ।

ऊपरके मंत्रमें और दो बातें ध्यान देने योग्य हैं—(१) लोग अपने अपने क्षेत्रमें ध्यानसे काम करें । और (२) देशके निवासीको चारों दिशाएं रमणीय मालूम हों । अपने ही देशकी चारों दिशाएं हमको रमणीय नहीं मालूम होती, इसका कारण हमारी पराधीनता है । स्वतंत्र लोगोंको सब दिशाएं रमणीय मालूम होती हैं । यह कहना कि ' सब दिशाएं हमें रमणीय दिखें ' ' हम स्वतंत्र रहें, कहनेके बराबर है । वर्तमान पराधीनताके ही कारण यदि हम पश्चिममें आफ्रिकामें, दक्षिणमें आस्ट्रेलियामें, पूर्वमें अमेरिकामें जाते हैं, तो हमें रहनेको भी स्थान नहीं मिलता ! तब फिर वे देश हमारे लिए रमणीय कैसे हो सकते हैं ? इसका कारण यही कि हम पराधीन हैं । स्वतंत्र देशके लोगोंका यह हाल नहीं है । स्वतंत्र देशके लोग जहां जावेंगे वहीं उनके लिए रमणीय स्थान तैयार रहते हैं । स्वातंत्र्य और पारतंत्र्यका यह भेद ध्यानमें रखना चाहिये ।

देशके नगरोंके प्रति अपनेपनका भाव मालूम होनेका महत्त्व जो ऊपरके मंत्रमें बतलाया गया है वह कैसे भारी महत्त्वका है, सो अपने देशकी अवस्थासे सहज ही समझ सकते हैं । आज जो सात करोड भारतीय मुसलमान हैं, वे सब प्रतिशत हिंदू ही हैं । पर धर्मांतरके कारण वे हिंदुओंके बाहर हैं । इसीलिए बनारस, रामेश्वर आदि पवित्र तीर्थस्थानोंके प्रति उनमें अपनेपनके भाव नहीं है और विदेशके मक्का, मदीनासे उन्होंने नाता जोड लिया है । इससे उन्हें भारतदेश अपनी मातृभूमि नहीं मालूम होती । वाचक देख सकते हैं कि राष्ट्रकी उन्नतिकी दृष्टिसे इस देशका कैसा भारी नुकसान हुआ है । धर्मांतरके बारेमें यदि प्राचीन आर्य हिंदुओंने अपनी नीति उचित रखी होती, तो आज यह दशा न होती । हमारी इस वर्तमान दशाको ध्यानमें रखकर उक्त मंत्रपर विचार करना चाहिये, तब उस मंत्रकी महत्ता और उसके अमोल उपदेशका रहस्य मालूम होगा ।

ऋषि--ऋण ।

यस्यां पूर्वे भूतकृत ऋषयो गा उदानृचुः ।
सप्त सत्रेण वेधसो यज्ञेन तपसा सह ॥ ३९ ॥

" जिस मातृभूमिमें पूर्वके ज्ञानी, देशका भूतकाल बनानेवाले ऋषियोंने सत्र और यज्ञ करके तथा तप करके उन्नत (गाः) भूमियोंका उद्धार किया " वह हमारी श्रेष्ठ मातृभूमि है।

(भूतकृतः ऋषयः) हमारे देशका भूतकालका इतिहास बनानेवाले तपस्वी ऋषि थे । देशवासी यदि इस बातका विश्वास करें तो उन्हें प्राचीन कालके दिव्य समयका निश्चय होगा । पूर्वकालके दिव्यत्वका एवं उत्तमताका निश्चय हो जानेपर उन्हें इच्छा होगी कि भविष्यकाल भी ऐसा ही उज्ज्वल होवे और इस इच्छासे प्रयत्न भी करेंगे । जिनका भूतकाल तेजस्वी है, उनका भविष्यकाल भी तेजस्वी होनेका निश्चय जानो ।

हमारे प्राचीन पूर्वज जिन्होंने हमारे प्राचीन इतिहासमें बडे बडे बृहत् कार्य किये, अत्यंत तपस्वी और बडे थे । हमारा इतिहास जंगली लोगोंकी कार्यवाहीसे मलिन नहीं है, किंतु महान् तपस्वी ऋषिमुनियोंके प्रशस्ततम कार्योंसे उज्ज्वल हुआ है । यह विचार कैसी भारी उत्तेजना देनेवाला है ? हमारी राष्ट्रभूमिके सब लोगोंका एक मत होकर वे सब राष्ट्रभूमिके प्रति प्रेम दर्शाने लगें ऐसा होनेके लिए आवश्यक है कि ऊपरकी

भावना मनमें स्थिर हो जावे। हमारे विचारसे इसमें दो मत हो नहीं सकते।

जिन्होंने धर्मांतर किया वे लोग भी अपने ही हैं। वे उन्ही प्राचीन ऋषियोंके वंशज होते हुए भी धर्मांतरके कारण उन्हें अपने प्राचीन देदीप्यमान इतिहासके विषयका अभिमान नष्ट हो गया। इससे इनकी बात छोड दें तब ऊपरके सिद्धान्तका कोई इन्कार नहीं कर सकता।

ऊपरके विवेचनसे विदित होता है कि यह मातृभूमिका वैदिक राष्ट्रगीत कितनी अनेकानेक दृष्टिसे वाचकोंके मनमें अपनी मातृभूमिके प्रति आदर बढाता है। इस अति प्राचीन राष्ट्रगीतके प्रति वाचकोंके मनमें निःसंदेह आदर उत्पन्न होगा।

ऋषि लोग सत्र और यज्ञसे राष्ट्रकी उन्नति और राष्ट्रकी जागृति करते थे। वर्तमान संक्षिप्त यज्ञपद्धतिसे कोई भी प्राचीन सत्र और यज्ञकी कल्पना नहीं कर सकता। इस पद्धतिका स्वरूप हम स्वतंत्र लेखमालिकामें दिखावेंगे, अतएव यहां उसके बारेमें विशेष न लिखेंगे। पहलेके वैदिक कालके यज्ञ और सत्र आजकलके समान छोटेसे मंडपोंमें नहीं हो सकते थे। उनके मंडपोंका विस्तार कई कोसों तक रहा करता था। यह एकही बात बतला देगी कि प्राचीन कालके यज्ञोंका स्वरूप बिलकुल भिन्न था। राष्ट्रीयताका विचार ऋषियोंके अथक परिश्रमसे जनतामें जारी हुआ। इसीलिए ऊपरके मंत्रोंमें " भूतकाल बनानेवाले ऋषि " कहकर उनका सन्मान किया है। इसीके संबंधका निम्नलिखित अथर्ववेदका मंत्र देखिये—

भद्रमिच्छन्त ऋषयः स्वर्विदस्तपोदीक्षामुपनिषेदुरग्रे।
ततो राष्ट्रं बलमोजश्च जातं तदस्मै देवा उपसंनमन्तु ॥
(अथर्ववेद १९।४१।१॥)

" लोगोंका कल्याण करनेकी इच्छा करनेवाले आत्मज्ञानी ऋषियोंने प्रारंभमें तप किया, उससे राष्ट्र, बल और ओज हुआ। अतएव देवोंको चाहिए कि इसे नमन करें। "

इसमें बतलाया है कि राष्ट्रीयताकी कल्पना ऋषियोंके प्रयत्नसे कैसे उत्पन्न हुई। वाचक देख लें कि ऋषि ' भूतकाल बनानेवाले ' किस प्रकार थे। राष्ट्रीय भाव ऋषिऋण है। उसे चुकानेका प्रयत्न हरएकको करना चाहिए। ऋषियोंने राष्ट्रनिर्माणमें जैसे प्रयत्न किये वैसे ही अन्य पूर्वजोंने भी किये। उसका स्मरण करना भी आवश्यक है। आगेके मंत्रमें उन पूर्वजोंका स्मरण है—

देव-ऋण।

यस्यां पूर्वे पूर्वजना विचक्रिरे यस्यां देवा असुरानभ्यवर्तयन्।
गवामश्वानां वयसश्च विष्ठा भगं वर्चः पृथिवी नो दधातु॥५॥

" हमारी जिस मातृभूमिमें हमारे प्राचीन पूर्वजोंने पराक्रम किया और जिसमें देवोंने असुरोंको भगा दिया; जो गौवें, घोडे और पक्षियोंको अच्छा स्थान देती है, वह हमारी मातृभूमि हमें ऐश्वर्य और तेज देवे। "

हमारे प्राचीन कालके पूर्वजोंने इस भूमिमें बडे बडे प्रयत्न किये, अनेक लडाइयां कीं, अनेक चढाइयां कीं, गनीमी नीतिके युद्ध किये और खुले मैदानमें लडाइयां कीं, इतना सब काम करके अपनी मातृभूमिका यश उज्ज्वल किया। वह हमारी मातृभूमि आज हमने कैसी रखी है? हमारे पूर्वजोंका प्राचीन इतिहास हमारी दृष्टिके सामने है। क्या हम लोगोंका बर्ताव उस इतिहासके योग्य है? उन समरविजयी पूर्वजोंके वंशज होनेका हमें कुछ तो अभिमान चाहिए। उनकी कीर्तिको शोभा देने योग्य हमें कुछ भी तो काम करना चाहिए। पाठक गण! विचार कीजिये। हमारा वैदिक राष्ट्रगीत क्या कहता है जरा देखिये तो।

जिस देशमें प्राचीन समयमें देवोंने असुरोंको युद्धमें पराजित कर भगा दिया और हम लोगोंके लिये यह देश स्वतंत्र रखा, उसी देशमें हम लोगोंने पराधीनताकी कालिमा लगा दी! कैसे शोक की कथा!! वाचक ही विचार करें कि राष्ट्रगीत हमें किन बातोंका स्मरण दिलाता है। प्राचीन पूर्वजोंने यों किया और त्यों किया। ये बातें केवल उसे अभिमान और गर्वके लिए नहीं कही जाती। उनके कहनेका उद्देश्य यह होता है कि उन पूर्वजोंके उज्ज्वल कार्योंसे हमें स्फूर्ति मिले और हम भी कुछ वैसा ही कार्य करें। हम लोगोंको चाहिए कि उस उद्देश्य की पूर्ति हम लोगोंसे कहां तक हो सकी है यह देखें और उस न्यूनताको पूरा करनेका निश्चय करें।

हमारा यह वैदिक राष्ट्रगीत हमारे धर्मग्रंथोंमें लिखा हुआ है। इसके जैसा राष्ट्रगीत दूसरे देशोंके धर्मग्रंथोंमें तो है ही नहीं, पर उन लोगोंके अन्य किसी ग्रंथमें भी नहीं है। ऐसे होते हुए भी हमारे देशके लोग राष्ट्रकी उन्नति के विषयमें लापरवाह हैं और अन्य बहुतसे देशोंके लोग राष्ट्रके हितके लिये तत्पर हैं। इस दशा को देखकर कैसा भारी आश्चर्य होता है!! हमारा राष्ट्रगीत इतना विस्तृत है। उसमें उदात्त विचारोंके

अप्रतिम विचारोंसे लबालब भरे हुए दिव्य मंत्र हैं। ऐसा होते हुए भी हमारे साहित्यमें राष्ट्रीयताका भाव ही नहीं और यह भाव हमारे लिए परकीय है इस प्रकारका भ्रम रखनेवाले हरीके लाल हममें हैं। अस्तु। वस्तुस्थिति जैसी है वैसी हमने जनताके सम्मुख रख दी है। "जहां उपजता है वहां बिकता नहीं और जहां बिकता है वहां उपजता नहीं" की कहावत यहां चरितार्थ होती है। और देखिये—

यामश्विनावमिमातां विष्णुर्यस्यां विचक्रमे ।
इन्द्रो यां चक्र आत्मनेऽनमित्रां शचीपतिः ॥
सा नो भूमिर्विसृजतां माता पुत्राय मे पयः ॥ १० ॥

"जिस भूमिकी नाप अश्विनी कुमारोंने की, जिस भूमिमें भगवान् विष्णुने पराक्रम किया, शक्तिशाली इन्द्रने जिसे अपने लिए शत्रुरहित किया, वही हमारी मातृभूमि, जैसे माता अपने बालकको दूध देती है वैसे ही, मुझे उपभोगके पदार्थ देवे।"

इस मंत्रमें स्पष्ट शब्दोंमें बतलाया है कि देवोंने इस मातृभूमिके लिये क्या क्या किया। अश्विनीकुमारोंने देशदेशांतरोंके क्षेत्रोंकी नाप की, देशोंकी सीमाएं निश्चित कीं जमीन नाप ली और इस प्रकार मातृभूमिकी सेवा की। भगवान विष्णुने जो पराक्रम किये वे सबको विदित ही हैं। इन्द्रने हजारों युद्ध किये और इस मातृभूमिको शत्रुके कष्टोंसे छुडाया। इस प्रकार अन्यान्य देवताओंने भी इस मातृभूमिके लिए जो कुछ बन सकता है किया। उसमें कुछ कसर न रखी। देव और असुरोंके युद्धमें हजारों देववीरोंने इस मातृभूमिके उद्धारके लिए युद्धक्षेत्रमें अपना बलि-दान किया और इस भूमिको स्वतंत्रताका सौभाग्य प्राप्त किया। वही देवोंका व्रत हमें भी चलाना चाहिए। देवोंने निश्चित किए हुए मार्गका ही निश्चय हम लोग भी करें। यह जानकर कि हम लोगोंके लिये देवोंने तथा इस समयके पुरुषोंने क्या क्या किया, हमें उनके ऋणसे छुटकारा पानेका प्रयत्न करना चाहिए।

ऋषिऋण कौनसा है सो बतला दिया गया; देवऋण कौनसा है सो भी बतला दिया गया। इन ऋणोंसे मुक्त होनेके लिए हमें प्रयत्नशील बनना चाहिए। प्रत्येकको सोचना चाहिए कि हम ऋणमुक्त होनेकी चेष्टा कर रहे हैं या नहीं। इस देवऋणके बारेमें एक और मंत्र देखने योग्य है—

यां रक्षन्त्यस्वप्ना विश्वदानीं देवा भूमिं पृथिवीमप्रमादम् ।
सा नो मधुप्रियं दुहामथो उक्षतु वर्चसा ॥ ७ ॥

"देव जिस मातृभूमिकी रक्षा गलती न करके और आलस न करके करते आए हैं, वह मातृभूमि हम लोगोंको तेज और मीठा शहद आदि खानेके पदार्थ देवे।"

(अ-स्वप्नाः देवाः) आलस न करते हुए देव इस भूमिकी रक्षा करते आए हैं। आलस न कर सदैव काम करनेवाले उन देवोंके सन्मुख खडे होनेमें आलसी लोगोंको शरम आनी चाहिए। न थकते हुए, विश्रांति न लेते हुए हम लोगोंके लिए जिन देवोंने ऐसे भारी परिश्रम किए, उनके उस पवित्र कार्यके बदलेमें हम लोगोंने क्या किया? उनका स्वातंत्र्यरक्षाका कार्य क्या हम लोगोंने चलाया है? और कुछ नहीं तो क्या हम लोगोंने राष्ट्रोन्नतिका कार्य सदैव जारी रखनेका भी निश्चय किया है? वाचक न भूलें कि इन बातोंपर विचार करनेका समय आ गया है।

ऊपरके मंत्रमें यह भी कहा है कि (देवाः अप्रमादं रक्षन्ति) देव गलती न करके रक्षा करते हैं। गलती न करके रक्षण किया इसीसे तो देव बंधनसे छुटकारा पा सके। असुरोंने अनेक बार देवोंको चिरकालकी पराधीनताकी बेडीमें जकड देना चाहा। रावण, बली और इनके सदृश अन्य राक्षसोंने इस प्रयत्नमें कुछ भी कसर न रखी। किंतु ऐसे सब अवसरोंपर देवोंने पुरुषार्थकी पराकाष्ठा की थी, अपनी स्वाधीनता बनाए रखी और असुरोंको भगा दिया। गलती न कर दक्षतासे कर्तव्य करनेकी जो दीक्षा देवोंने हमें दी। क्या हमें उसका अभ्यास सावधानीसे न करना चाहिये? स्वदेशके कार्यमें हम लोगोंकी दक्षता क्या वैसी है, जैसी होनी चाहिए? हम लोग निरे हठके कारण पग पग पर क्या भारी भूलें नहीं कर रहे? वास्तवमें राष्ट्रकार्यके लिए आत्मसमर्पण करनेको हमें सदैव तैयार रहना चाहिये। किन्तु आत्मसमर्पणका समय आनेपर उसकी ओर ध्यान न देनेवाले कितने ही लोग हममें हैं। यदि वाचक स्वयं ही इस बातको सोचेंगे तो उन्हें विदित हो जावेगा कि हमें क्या करनेकी आवश्यकता है।

विद्वानोंका ऋण।

ऋषियों का राष्ट्रकार्य हम देख चुके। देवोंने क्या किया सो भी देख लिया। हमें अब देखना है कि जो ऋषि नहीं उन मननशील बुद्धिमान पुरुषोंने कौनसा कार्य करके राष्ट्रकी सेवा की—

याऽर्णवेऽधि सलिलमग्र आसीद्यां मायाभिरन्वचरन्मनीषिणः ।
सा नो भूमिस्त्विषिं बलं राष्ट्रे दधातूत्तमे ॥ ८ ॥

" हमारी जो मातृभूमि प्रथमारंभमें समुद्रके नीचे थी और जिसकी सेवा मननशील विद्वानोंने अनेक प्रकारके कौशलके काम करके की, वह हमारी मातृभूमि हमारे उत्तम राष्ट्रमें तेज और बल धारण करे । "

इस मंत्रका ' यां मायाभिः अन्वचरन् मनीषिणः ' यह भाग प्रस्तुत लेखके प्रतिपाद्य विषयकी दृष्टिसे अतिशय महत्त्व रखता है। इसका ' माया ' शब्द अतीव महत्त्वका है। इस माया शब्दका अर्थ अद्वैतमतका मायावाद नहीं है। माया शब्दके कई अर्थ हैं— "(१) कुशलता, कामकी कुशलता, कौशलसे किया हुआ कारीगरीका काम, चातुर्य, (२) कपट दांवपेंच जिनकी आवश्यकता राजनीतिमें है, शत्रुको चकमा देनेकी विद्या । " ये सब अर्थ माया शब्दके ही हैं। इन सब अर्थोंसे माया शब्द मंत्रमें आया है। (मनीषी) मननशील लोग समयको देखकर कुशलतासे, चतुराईसे, कपटसे, या राजनीतिके नियमोंसे मातृभूमिकी सेवा करते हैं। यही इस मंत्रका आशय है।

इस प्रकार देव, ऋषि, और अन्य विद्वानोंने हमारी मातृभूमिकी सेवा की है। जो मार्ग ऋषि, देव और अन्य बडे बडे ज्ञानी लोगोंने दिखा दिया, उसीसे हमें आक्रमण करना चाहिए, उसी रास्तेसे हमें जाना चाहिए। तभी हमारी भलाई होगी। हमपर तीन ऋण हैं; ऋषि-ऋण, देव—ऋण और अन्य ज्ञानियोंका ऋण। हमें इन ऋणोंको देखना चाहिये और उनसे मुक्त होनेकी चेष्टा करनी चाहिये।

इस लेखके वैदिक राष्ट्रगीतके मंत्र हमारे राष्ट्रीय कर्तव्यका संबंध ऋषि-कालकी बडी विभूतियोंसे मिलाते हैं। हमारा सनातन राष्ट्रीय कर्तव्य ऋषियोंने आरंभ किया, देवोंने उसकी पुष्टि की और अन्य विद्वानोंने उसे बढाया। इस त्रिवेणी-संगमसे वह हमारे पास आया है। इसीसे हमें उसे आगे चलाना चाहिये। उसे चलाना हमारा आवश्यक कर्तव्य ही है। यदि हम उस कार्यको नहीं चलाते तो ऋषि और देव हमें कारण पूछेंगे। हरएकको यह बात अच्छी तरह स्मरण रखनी चाहिए।

पाठक विचार करें, इस मंत्रके उपदेशपर अच्छी तरह ध्यान दें और देखें कि हमारा धर्म कैसे विलक्षण और उच्च राष्ट्रीय धर्मका उपदेश करता है; और वे उसके अनुसार आचरणके लिए तत्पर हों। हमारे राष्ट्रको संसारके राष्ट्रोंमें उच्चसे उच्च स्थानपर पहुंचानेकी जबाबदेही हमपर ही है। उसे निभानेके लिए हमें सदैव तैयार रहना चाहिए।

मंत्रोंकी संगति।

यहां इस विवरणको समाप्त करते हुए हमें इस सूक्तके मंत्रोंकी संगति देखनेका विषय थोडासा कथन करना चाहिये। इस सूक्तमें कुल ६३ मंत्र हैं। इनमें सबसे प्रथमके मंत्रमें मातृभूमिकी धारणा किन गुणोंसे होती है यह बात कही है, इसलिए यह मंत्र सबसे अधिक महत्त्वका है। प्रत्येक राष्ट्रभक्तको उचित है कि वह इस मंत्रको देखे, विचारे, मनन करे और इन गुणोंको अपने अंदर बढाकर अपने आपको मातृभूमिकी सेवा करनेके लिये सुयोग्य बनावे।

द्वितीय मंत्रमें राष्ट्रके लोगोंके अन्दर आपसकी अभेद्य एकता चाहिये, तथा आपसी झगडे नहीं चाहिए, इत्यादि जो महत्त्वपूर्ण उपदेश कहा है वह सदा स्मरण करने योग्य है। तृतीय और चतुर्थ मंत्रमें सामान्यतया भूवर्णन है, परंतु उनमें (कृष्टयः संबभूवुः) किसानोंकी संघटनाका जो वर्णन है वह सनातन महत्त्वका विषय है।

पंचम मंत्रमें पूर्वजोंके पराक्रमों (पूर्वे पूर्वजना विचक्रिरे) का स्मरण करनेकी जो सूचना मिली है वह आबालवृद्धोंको कभी भूलना योग्य नहीं। जो अपने पूर्वजोंका महत्त्वपूर्ण इतिहास नहीं जानते वे निःसंदेह आगे बढ नहीं सकते। इस कारण यहां यह उपदेश किया है। सातवें मंत्रमें भी (अस्वप्नं भूमिं अप्रमादं रक्षन्ति) आलस्यरहित होकर मातृभूमिकी रक्षा करनेका महत्त्वपूर्ण उपदेश है। इसका पंचम मंत्रके साथ संबंध देखकर पाठक बहुत बोध प्राप्त कर सकते हैं।

मंत्र ६ और ७ में मातृभूमिका मनोहर वर्णन है। नवम मंत्रमें उदारचरित संन्यासियोंके संचारसे सर्वत्र ज्ञानप्रसार होकर सब प्रजाजनोंके अन्तःकरण ज्ञानविज्ञानके द्वारा शान्तिसे भरपूर होनेका बोधप्रद वर्णन है। दशम मंत्रमें इन्द्र और विष्णुके पराक्रमोंका जो कथन है, वह ५ वें और ७ वे मंत्रके साथ मिलाकर पढना चाहिए, तब उसकी संपूर्ण गम्भीरता ध्यानमें आ सकती है। ११ वें मंत्रमें (अजीतो अहं पृथिवीं अध्यष्ठां) ' मैं अजिंक्य होकर मातृभूमिका अधिष्ठाता बनूं ' यह उत्कर्षपूर्ण महत्त्वाकांक्षा राष्ट्रके प्रत्येक मनुष्यमें उत्पन्न होनी चाहिये, ऐसा जो सूचित किया है वह विशेष ही उत्तम संदेश है।

१२ वें मंत्रमें ' माता भूमि और उसका मैं पुत्र हूं ' यह मातृप्रीति और वत्सता प्रेम सूचित करनेवाला वाक्य पढकर प्रत्येक पाठक प्रेमसे सद्गदित होगा इसमें संदेह नहीं है। १३ वें मंत्रमें यज्ञका संदेश पाठक देखें। १४ वें मंत्रमें वीरोचित भाव बडी क्षात्रतेज बढानेवाली है। ' जो हमारा नाश करेगा उसका नाश हम करेंगे और आगे बढेंगे ' इसे पढकर किसमें वीरता न बढेगी? १५ वें मंत्रमें एकही मातासे उत्पन्न हुए पांच मानवजातियोंकी अभेद्य एकताका सुंदर वर्णन है । १६ से १८ तकके मंत्रोंमें (भूमिं विश्वहा अनुचरेम) हम मातृभूमिकी प्रतिदिन सेवा करेंगे ' यह प्रतिज्ञा सबके अपने मनमें धारण करने योग्य है। क्या कभी ऐसी प्रतिज्ञा करनेवाले मातृभूमिकी उपेक्षा करेंगे ?

१९ वें मंत्रसे ३१ वें मंत्रतक मातृभूमिका सुंदर वर्णन अलंकारोंसे भरपूर भरा हुआ है । अग्नि, यज्ञमें हवन, पृथ्वीका गन्धगुण, वनस्पतियोंकी उत्तमता, जलकी महत्ता आदि वर्णन देखनेसे सचमुच हृदयका आनंद बढता है। मंत्र ३२ वें में (परिपंथिनो वधं) बटमारोंका वध आदि द्वारा शासन करनेकी सूचना है । मंत्र ३३ वे में सूर्यप्रकाशसे नेत्रादि इंद्रियोंकी उत्तम पालना करनेका महत्त्वपूर्ण संदेश दिया है। ३४ वे मंत्रमें ' अहिंसा ' और ३५ वे मंत्रमें मर्मच्छेदन न करनेका उपदेश विलक्षण युक्तिके साथ दिया है ।

३६ वें मंत्रमें छः ऋतुओं, दो अयनों और अहोरात्रका उल्लेख संवत्सरचक्रकी परिपूर्ण कल्पना बता रहा है। ३७ वें मंत्रमें इन्द्रवृत्रयुद्धके मिषसे अपनी मातृभूमिके सब शत्रुओंको दूर करनेकी सूचना बडी मननीय है। ३८ वें मंत्रमें सोमयज्ञका बडाही मनोरंजक वर्णन है । सत्र और यज्ञसंस्थाके चलानेवाले ऋषियोंके अपूर्व सत्कर्ममार्गका प्रशंसापूर्ण उल्लेख ३९ वें मंत्रमें है ।

४० वें और ४४ वें मंत्रमें धनकी कामना प्रमुख स्थान रखती है। ४१वें मंत्रमें जनताका गायन, नर्तन और आनन्दके साथ नगरकीर्तनका उल्लेख है। यह राष्ट्रीय जीवनकी तेजस्विता बता रहा है। ४२ वे मंत्रमें मातृभूमिको नमन किया है।

४३ वें मंत्रमें अपने राष्ट्रमें देवोंद्वारा बनाये, बसाये और बढाये नगरोंके विषयमें पूज्यभाव धारण करनेका उपदेश है। अपने लिये जगत्की सब दिशाएं रमणीय होनेका महत्त्वपूर्ण भाव इसीमें पाठक मननपूर्वक देख सकते हैं ।

४५ वां मंत्र ' नानाधर्मोंवाले और नानाभाषावाले विविध जनोंकी एकता राष्ट्रभक्तिसे होगी ' यह महत्त्वपूर्ण उपदेश देता है, इसलिए यह मंत्र अनेक भेदोंसे विभक्त रहनेवाले और कारणके विना आपसमें झगडे बढानेवाले लोगोंको बडाही बोधप्रद है । ४६ वे मंत्रमें जहरीले जीवोंके भाव मानवोंमें न आवे, ऐसा कहकर सद्भाव बढानेका उपदेश अपूर्व रीतिसे किया है ।

४७ वें मंत्रमें सार्वजनिक स्थानपर सबका समान अधिकार होनेकी घोषणा की है। दुराचारी और सदाचारी मार्गपर समान अधिकारसे चलते हैं। इस सार्वजनिक स्थानमें हरएक मनुष्य जा सकता है । यहां एकको आज्ञा और दूसरेको प्रतिबंध नहीं हो सकता ।

मातृभूमिको पापी और सदाचारी पुत्ररूपेण समान है, यह भाव मंत्र ४८ में देखनेयोग्य है। ४९ से ५१ के तीन मंत्रोंमें पशुओं, पिशाचादिकों और पक्षियोंका वर्णन है। मंत्र ५२ और ५३ में प्रिय धाम और मेधा की प्राप्तिका कथन है।

५४ वें मंत्रमें अपने दिग्विजयकी महत्त्वाकांक्षा है । ५५ वे मंत्रमें चारों दिशाओंमें उत्कर्ष फैलानेका संदेश है। और ५८ वें मंत्रोंमें सार्वजनिक सभाओंमें मातृभूमिके विषयमें शुभ भावसे भाषण करनेका उपदेश है। ५७ वें मंत्रमें सेनाकी तैयारीका वर्णन है। मंत्र ५९ से ६१ तक सर्वसाधारण उपदेश है। ६२ वें मंत्रमें मातृभूमिके हितके लिए आत्मसमर्पण करनेका आदेश है और ६३ वें मंत्रमें सब प्रजाओंकी सुप्रतिष्ठा स्थिर करनेका संदेश देकर सूक्तकी पूर्णता की है ।

पाठक यह संगति देखकर इस सूक्तका मनन करें और बोध प्राप्त करके यशके भागी बनें।

यक्ष्मरोगनाशन ।

[२]

(ऋषिः—भृगुः । देवता--अग्निः, मंत्रोक्ताः २१--३३, मत्यः)

नडमा रोह न ते अत्र लोक इदं सीसं भागधेयं त एहि ।
यो गोषु यक्ष्मः पुरुषेषु यक्ष्मस्तेन त्वं साकमधराङ् परेहि ॥१॥
अघशंसदुःशंसाभ्यां करेणानुकरेण च । यक्ष्मं च सर्वं तेनेतो मृत्युं च निरजामसि ॥२॥
निरितो मृत्युं निर्ऋतिं निररातिमजामसि ।
यो नो द्वेष्टि तमद्ध्यग्ने अक्रव्याद् यमु द्विष्मस्तमु ते प्र सुवामसि ॥३॥
यद्यग्निः क्रव्याद् यदि वा व्याघ्र इमं गोष्ठं प्रविवेशान्योकाः ।
तं माषाज्यं कृत्वा प्र हिणोमि दूरं स गच्छत्वप्सुषदोऽप्यग्नीन् ॥४॥

अर्थ— (नडं आरोह) नडपर चढ, (ते अत्र लोकः न) तेरे लिये यहां स्थान नहीं है । (इदं सीसं ते भागधेयं) यह सीस तेरा भाग्य है । (एहि) तू इधर आ । (यः गोषु यक्ष्मः) जो गौवोंमें क्षयरोग है, (पुरुषेषु यक्ष्मः) जो मनुष्योंमें रोग है, (तेन साकं त्वं अधराङ् परा इहि) उस रोगके साथ तू नीचेकी ओरसे जा ॥ १ ॥

(अघशंस--दुःशंसाभ्यां तेन करेण अनुकरेण च) पापी और दुष्टके साथ इस कृति और अनुकरणके द्वारा (सर्वं यक्ष्मं मृत्युं च) सब रोग और मृत्युको भी (इतः निरजामसि) यहांसे दूर करते हैं ॥ २ ॥

(इतः मृत्युं निः) यहांसे मृत्युको (ऋतिं निः अरातिं निः अजामसि) दुःखको और शत्रुको दूर भगा देते हैं । हे अग्ने ! (यः नः द्वेष्टि) जो हमारा द्वेष करता है (तं अद्धि) उसको खा अर्थात् उसका नाश कर । (यं उ द्विष्मः) जिसका हम द्वेष करते हैं (तं उ ते प्रसुवामः) उसको तेरे पास धर देते हैं ॥ ३ ॥

(यदि क्रव्याद् अग्निः) यदि मांस खानेवाला अग्नि और (यदि वा अनि—ओकः व्याघ्रः) यदि घरबारसे रहित व्याघ्र—हिंसक— (इमं गोष्ठं प्रविवेश) इस गोशालामें प्रविष्ट हुआ, तो (तं माषाज्यं कृत्वा) उसे माष—घी-युक्त बनाकर (दूरं प्रहिणोमि) दूर भगा देता हूं, (सः अप्सुसदः अग्नीन् गच्छतु) वह जलोंमें रहनेवाले अग्नियोंके पास जावे ॥ ४ ॥

भावार्थ कोई रोग मनुष्योंके स्थानमें न रहे । किसी दूरके स्थानपर वह चला जाय। जो रोग मनुष्यों और पशुओंमें हो, वह एकदम दूर होवे । सब मनुष्य और पशु नीरोग और स्वस्थ हों ॥ १ ॥

सब रोग पापियों और दुराचारियोंके साथ दूर चले जावें । वैसी ही कृति और अनुकृति होवे कि जिससे सब रोग दूर हो सकें ॥ २ ॥

यहांसे मृत्यु, दुःख, दरिद्रता और शत्रु दूर हों । हम सब इनका द्वेष करते हैं, इसलिये ये हमारे पास न रहें ॥ ३ ॥

प्रेतदाहक अग्नि यदि किसीके घरमें प्रविष्ट हुआ हो अर्थात् यदि किसीके घर किसीकी मृत्यु हुई हो, तो वहां माषाज्यविधि होनेके पश्चात् उस घरका वह मृत्युभय दूर होवे अर्थात् मृत्यु फिर वहां न आवे ॥ ४ ॥

यत् त्वा क्रुद्धाः प्रचक्रुर्मन्युना पुरुषे मृते । सुकल्पमग्ने तत् त्वया पुनस्त्वोद्दीपयामसि ॥५॥

पुनस्त्वादित्या रुद्रा वसवः पुनर्ब्रह्मा वसुनीतिरग्ने ।
पुनस्त्वा ब्रह्मणस्पतिराधाद् दीर्घायुत्वाय शतशारदाय ॥६॥

यो अग्निः क्रव्यात् प्रविवेश नो गृहमिमं पश्यन्नितरं जातवेदसम् ।
तं हरामि पितृयज्ञाय दूरं स घर्ममिन्धां परमे सधस्थे ॥७॥

क्रव्यादमग्निं प्र हिणोमि दूरं यमराज्ञो गच्छतु रिप्रवाहः ।
इहायमितरो जातवेदा देवो देवेभ्यो हव्यं वहतु प्रजानन् ॥८॥

क्रव्यादमग्निमिषितो हरामि जनान् दृंहन्तं वज्रेण मृत्युम् ।
नि तं शास्मि गार्हपत्येन विद्वान् पितॄणां लोकेऽपि भागो अस्तु ॥९॥

अर्थ-(मृते पुरुषे) मनुष्य मरनेपर (यत् क्रुद्धाः मन्युना त्वा प्रचक्रुः) जो क्रुद्ध होकर क्रोधसे तेरा अन्याय करते हैं, हे अग्ने ! (त्वया तत् सुकल्पं) तेरे द्वारा वह अन्याय ठीक होनेयोग्य है। अतः (पुनः त्वा उत् दीपयामसि) फिरसे तुझे प्रदीप्त करते हैं ॥ ५ ॥

हे अग्ने ! (आदित्याः, रुद्राः, वसवः) आदित्य, रुद्र और वसु, (वसु—नीतिः ब्रह्मा ब्रह्मणस्पतिः) धन देनेवाला ब्रह्मा और ब्रह्मणस्पति (शतशारदाय दीर्घायुत्वाय त्वा पुनः अधात्) सौ वर्षकी दीर्घ आयुके लिये तुझे पुनःस्थापित करते हैं ॥ ६ ॥

(यः क्रव्यात् अग्निः) जो मांसभक्षक अग्नि (इतरं जातवेदसं पश्यन्) दूसरे जातवेदस् अग्निको देखता हुआ (नः गृहं प्रविवेश) हमारे घरमें प्रविष्ट हुआ है, (तं पितृयज्ञाय दूरं हरामि) उस अग्निको पितृयज्ञके लिये दूर ले जाता हूं। (सः परमे सधस्थे घर्मं इन्धां) वह परम धाममें उष्णता बढावे ॥ ७ ॥

[क्रव्यादं अग्निं दूरं प्रहिणोमि] मांसभक्षक अग्निको दूर ले जाता हूं। वह [रिप्रवाहः यमराज्ञः गच्छतु] दोष दूर करनेवाला यमराजके पास चला जावे । [इह अयं इतरः जातवेदः] यहां यह दूसरा जातवेद अग्नि है वह [प्रजानन् देवः देवेभ्यः हव्यं वहतु] जानता हुआ देव सब देवोंके लिये हवनीय भाग ले जावे ॥ ८ ॥

[जनान् वज्रेण मृत्युं दृंहन्तं] लोगोंको वज्रके द्वारा मृत्युके प्रति ले जानेवाले [क्रव्यादं अग्निं इषितः हरामि) मांसभक्षक अग्निको इच्छापूर्वक ले जाता हूं। (विद्वान् गार्हपत्येन तं निशास्मि) जानता हुआ मैं गार्हपत्य अग्निद्वारा उसका शासन करता हूं। उसका (पितॄणां लोके भागः अपि अस्तु) पितरोंके लोकमें भाग अवश्य रहे ॥ ९ ॥

भावार्थ- किसी घरपर कोई मनुष्य मर गया तो वहां उसको जलानेके लिये अग्नि कोपित उग्र अर्थात् प्रज्वलित करते हैं। उससे आगे किसी प्रकार भय न हो। फिर अग्नि प्रदीप्त करनेपर सर्वत्र शान्ति हो जावे ॥ ५ ॥

घरमें यज्ञादि करनेके लिये जो अग्नि स्थापित करते हैं, उससे उन घरवालोंको सौ वर्षकी दीर्घ आयु प्राप्त हो सकती है॥६॥

एक प्रेतमांसभक्षक अग्नि है और दूसरा यजनका अग्नि है। प्रेतदाहक अग्नि पितृयज्ञ करे और उस यज्ञको पितरोंके परले स्थानमें ले जावे ॥ ७ ॥

प्रेतमांसभक्षक अग्नि मनुष्यस्थानसे दूर रहे अर्थात् प्रेतोंका दहन मनुष्यस्थानसे दूर होवे। परंतु जो यह दूसरा जातवेद नामक अग्नि यजन करनेके लिये स्थापन किया जाता है, वह हवनद्वारा देवताओंकी तृप्ति करता रहे अर्थात् वह मनुष्योंके घरोंमें रहे ॥ ८ ॥

मनुष्योंके प्रेतोंका दहन करनेवाले अग्निके कार्यकी शान्ति गार्हपत्य अग्निसे अर्थात् विवाहके समयके अग्निसे करते हैं। अर्थात् इनका कार्य परस्परभिन्न है। एकसे वंशका नाश और दूसरेसे वंशवृद्धि होती है ॥ ९ ॥

क्रव्यादम्ग्निं शंशमानमुक्थ्यं १ प्र हिणोमि पथिभिः पितृयाणैः ।
मा देवयानैः पुनरा गा अत्रैवैधि पितृषु जागृहि त्वम् ॥१०॥ (७)
समिन्धते सङ्कसुकं स्वस्तये शुद्धा भवन्तः शुचयः पावकाः ।
जहाति रिप्रमत्येन एति समिद्धो अग्निः सुपुना पुनाति ॥११॥
देवो अग्निः संकसुको दिवस्पृष्ठान्यारुहत् । मुच्यमानो निरेणसोऽमोगस्माँ अशस्त्याः ॥१२॥
अस्मिन् वयं संकसुके अग्नौ रिप्राणि मृज्महे ।
अभूम यज्ञियाः शुद्धाः प्र ण आयूंषि तारिषत् ॥१३॥
संकसुको विकसुको निर्ऋथो यश्च निस्वरः । ते ते यक्ष्मं सवेदसो दूराद् दूरमनीनशन् ॥१४॥
यो नो अश्वेषु वीरेषु यो नो गोष्वजाविषु । क्रव्यादं निर्णुदामसि यो अग्निर्जनयोपनः ॥१५॥

अर्थ—(उक्थ्यं शशमानं क्रव्यादं अग्निं) प्रशंसनीय गतिमान् मांसभक्षक अग्निको (पितृयाणैः पथिभिः प्रहिणोमि) पितृयानके मार्गोंसे दूर भगाता हूं । (देवयानैः पुनः मा आगाः) देवयानके मार्गोंसे पुनः यहां मत आ । (अत्र एव एधि) यहीं रह (त्वं पितृषु जागृहि) तू पितरोंमें जाग्रत रह ॥ १० ॥

(शुचयः पावकाः शुद्धाः भवन्तः) शुचि, पवित्र और शुद्ध होकर (स्वस्तये संकसुकं सं इन्धते) कल्याणके लिये विदाहक अग्निको प्रदीप्त करते हैं । वह (रिप्रं जहाति) दुष्टपापको त्यागता है और (एनः अति एति) पापका अतिक्रमण करता है । (समिद्धः सुपुना अग्निः पुनाति) प्रदीप्त हुआ पवित्रता करनेवाला अग्नि सबको पवित्र करता है ॥ ११ ॥

(संकसुकः देवः अग्निः) विदाहक अग्नि देव (दिवः पृष्ठानि आरुहत्) द्युलोकके ऊपर चढा है, वह (अस्मान् एनसः विमुच्यमानः) हम सबको पापसे छुडाता हुआ (अ-शस्त्याः अमोक्) अप्रशस्ततासे मुक्त कर देता है ॥ १२ ॥

(अस्मिन् संकसुके अग्नौ) इस विदाहक अग्निमें (वयं रिप्राणि मृज्महे) हम सब अपने दोषोंको शुद्ध करते हैं । इससे (यज्ञियाः शुद्धाः अभूम) हम पवित्र और शुद्ध होते हैं । वह [नः आयूंषि प्रतारिषत्] हमारे आयुष्य बढावें ॥१३॥

(संकसुकः विकसुकः) संघातक और विघातक [निर्ऋथः यः च निस्वरः] विनाशक और शब्दरहित अग्नि (ते ते यक्ष्मं) तेरे रोगको (स-वेदसः दूरात् दूरं अनीनशन) ज्ञानवाले प्राज्ञके द्वारा दूरसे दूरकर नाश करे ॥ १४ ॥

(यः नः अश्वेषु, यः वीरेषु) जो हमारे घोडों और वीरोंमें, (यः नः गोषु अजाविषु) जो हमारी गौओंमें और भेडबकरियोंमें, (जनयोपनः अग्निः) लोगोंको कष्ट देनेवाला अग्नि है, उस [क्रव्यादं निः नुदामसि] मांसभक्षक अग्निको हम दूर करते हैं ॥ १५ ॥

भावार्थ—पितर चले जानेके मार्गोंपर (स्मशानमें) यह मांसभक्षक अग्नि है और देवोंके मंगल मार्गोंपर दूसरा यजनका अग्नि है ॥ १० ॥

मनुष्य शुद्ध पवित्र और मलरहित होकर अपने कल्याणके लिये इस अग्निको प्रदीप्त करते हैं । इससे सब दोष दूर होते हैं, पाप दूर होता है और पवित्रता बढती है ॥ ११ ॥

यह अग्नि प्रदीप्त होकर उसकी ज्वालाएं आकाशतक जाती हैं, और हमें पापसे बचाती हैं और अप्रशस्तमार्गसे हमारी रक्षा करती हैं ॥ १२ ॥

इस अग्निमें हम हवन करते हैं और हम अपने दोषोंको शुद्ध करते हैं । इससे हम शुद्ध, पवित्र और यज्ञके योग्य बनकर अपनी आयुको बढाते हैं ॥ १३ ॥

अग्निमें संघातक, विघातक गुण हैं, इनका ज्ञानपूर्वक प्रयोग करनेसे ज्ञानी योजक इसकी सहायतासे रोगोंको दूर कर सकता है १४

इस तरह घोडे, वीर, गौवें भेड, बकरियां आदिको नीरोग करना संभव है ॥१५ ॥

अन्येभ्यस्त्वा पुरुषेभ्यो गोभ्यो अश्वेभ्यस्त्वा ।
निःक्रव्यादं नुदामसि यो अग्निर्जीवितयोपनः ॥१६॥
यस्मिन् देवा अमृजत यस्मिन् मनुष्या उत । तस्मिन् घृतस्तावो मृष्ट्वा त्वमग्ने दिवं रुह ॥१७॥
समिद्धो अग्न आहुत स नो माभ्यपक्रमीः । अत्रैव दीदिहि द्यवि ज्योक् च सूर्यं दृशे ॥ १८ ॥
सीसे मृड्ढ्वं नडे मृड्ढ्वमग्नौ संकसुके च यत् । अथो अव्यां रामायां शीर्षक्तिमुपबर्हणे ॥१९॥
सीसे मलं सादयित्वा शीर्षक्तिमुपबर्हणे ।
अव्यामसिक्न्यां मृष्ट्वा शुद्धा भवत यज्ञियाः ॥ २० ॥ (८)
परं मृत्यो अनु परेहि पन्थां यस्ते एष इतरो देवयानात् ।
चक्षुष्मते शृण्वते ते ब्रवीमीहेमे वीरा बहवो भवन्तु ॥ २१ ॥

अर्थ-(यः जीवयोपनः अग्निः तं क्रव्यादं) जो जीवनाशक क्रव्याद् अग्नि है उसको (अन्येभ्यः पुरुषेभ्यः गोभ्यः अश्वेभ्यः त्वा) अन्य मनुष्यों गौवों और घोडोंसे (निः नुदामसि) निःशेष रीतिसे दूर हटाते हैं ॥ १६ ॥

हे अग्ने ! (यस्मिन् देवाः अमृजत) जिसमें देव शुद्ध हुए, (उत यस्मिन् मनुष्याः) और जिसमें मनुष्य भी शुद्ध हुए, (तस्मिन् घृतस्तावः मृष्ट्वा) उसमें घृत-आहुति देकर, शुद्ध होकर [त्वं दिवं रुह] तू स्वर्गपर चढ ॥ १७ ॥

(आहुत अग्ने !) आहुति दिये हुए अग्नि! (समिद्धः सः नः मा अभि अपक्रमीः) प्रदीप्त होकर तू हमारा अतिक्रमण मत कर। (अत्र एव द्यवि दीदिहि) यहां द्युस्थानमें प्रकाशित हो। (सूर्यं ज्योक् दृशे) सूर्यको निरंतर हम देखें ॥ १८ ॥

(यत् सीसे मृड्ढ्वं) जो सीसेमें लगा, जो (नडे मृड्ढ्वं) नडमें लगा, और जो [संकसुके अग्नौ] विनाशक अग्निमें तपकर लगा है, (अथो अव्यां रामायां उपबर्हणे शीर्षक्तिं) और जो भेडमें काले रंगवालोंमें तथा सिर रखनेके सिरहनेमें लगा है, उस मलको शुद्ध करो ॥ १९ ॥

(सीसे मलं सादयित्वा) सीसेमें मल शुद्ध करके, (उपबर्हणे शीर्षक्तिं) सिरहनेपर सिर रखकर, (असिक्न्यां अव्यां मृष्ट्वा) काली भेडमें शुद्ध करके (यज्ञियाः शुद्धाः भवत) पवित्र और शुद्ध हो जावो ॥ २० ॥

हे मृत्यो ! (देवयानात् इतरः यः ते एषः) देवयानसे भिन्न जो तेरा यह मार्ग है, उस (परं पन्थां अनुपरा इहि) परले मार्गसे दूर चला जा। (चक्षुष्मते शृण्वते ते ब्रवीमि) आंखवाले और सुननेवाले तुझे मैं यह कहता हूं। (इमे वीराः बहवः भवन्तु) ये वीर बहुत हों ॥ २१ ॥ (ऋ० १०।१८।१, यजु० ३५।७)

भावार्थ— इनसे प्रेतदाहक अग्निको दूर करना योग्य है ॥ १६ ॥

यज्ञसे देवताओंकी शुद्धि हुई, याजक भी यज्ञसे शुद्ध बने। इस तरह यज्ञमें घृतकी आहुतियां देनेसे मनुष्य शुद्ध होकर उत्तम स्थान प्राप्त कर सकता है ॥ १७ ॥

यज्ञकी अग्नि प्रदीप्त होकर घरदारके ऊपर न आवे। अपनी यज्ञशालामें प्रदीप्त होकर रहे। उपासक सूर्यको प्रतिदिन देखे॥१८

जहां जहां मल लगा हो वह स्थान शुद्ध और पवित्र करना चाहिये ॥ १९-२० ॥

मृत्यु हम सबसे दूर रहे, हमारे पास न आवे। हमारे बालबच्चे हृष्टपुष्ट और नीरोग तथा दीर्घजीवी बनें ॥ २१ ॥

इमे जीवा वि मृतैराववृत्रन्नभूद् भद्रा देवहूतिर्नो अद्य ।
प्राञ्चो अगाम नृतये हसाय सुवीरासो विदथमा वदेम ॥२२॥

इमं जीवेभ्यः परिधिं दधामि मैषां नु गादपरो अर्थमेतम् ।
शतं जीवन्तः शरदः पुरूचीस्तिरो मृत्युं दधतां पर्वतेन ॥२३॥

आ रोहतायुर्जरसं वृणाना अनुपूर्वं यतमाना यति स्थ ।
तान् वस्त्वष्टा सुजनिमा सजोषाः सर्वमायुर्नयतु जीवनाय ॥२४॥

यथाहान्यनुपूर्वं भवन्ति यथर्तव ऋतुभिर्यन्ति साकम् ।
यथा न पूर्वमपरो जहात्येवा धातरायूंषि कल्पयैषाम् ॥२५॥

अर्थ--(इमे जीवाः मृतैः आ ववृत्रन्) ये जीवित लोग मरे हुओंसे घिरे हुए हैं। (नः देवहूतिः अद्य भद्रा अभूत्) हमारी ईशप्रार्थना आज कल्याणमयी हो गयी। (नृतये हसाय प्राञ्चः अगाम) नृत्य और हास्यके लिये हम सब आगे बढें और हम (सुवीरासः विदथं आ वदेम) उत्तम वीर होकर युद्धका विचार करेंगे ॥ २२ ॥ (ऋ० १०।१८।३)

(जीवेभ्यः इमं परिधिं दधामि) जीवोंके लिये मैं यह मर्यादा देता हूं। (एषां अपरः एतं अर्थं मा नु गात्) इनमेंसे कोई एक भी इस अर्थके पार कभी मत जावे। (शतं शरदः पुरूचीः जीवन्तः) अतिदीर्घ सौ वर्षोंका जीवन अनुभव करते हुए (पर्वतेन मृत्युं तिरो दधतां) पर्वतके द्वारा मृत्युको परे रखें ॥२३॥ (ऋ० १०।१८।४; यजु० ३५।१५)

(जरसं वृणानाः आयुः आरोहत) वृद्धावस्थाका स्वीकार करते हुए दीर्घ आयुको प्राप्त करो। [अनुपूर्वं यतमानाः यति स्थ] एकके पीछे दूसरा सिद्धि तक प्रयत्न करता रहे, यत्नमें रहे। [सुजनिमा सजोषाः त्वष्टा] उत्तम जन्मवाला उत्साहवाला त्वष्टा [तान् वः जीवनाय सर्वं आयुः नयतु] आप सबको दीर्घजीवनके लिये संपूर्ण आयुतक ले जावे ॥२४॥ [ऋ० १०।१८।६]

[यथा अहानि अनुपूर्वं भवन्ति] जैसे दिन एकके पीछे दूसरा ऐसे आते हैं। [यथा ऋतवः ऋतुभिः साकं यान्ति] जैसे ऋतु ऋतुओंके साथ चलते हैं। [यथा पूर्वं अपरः न जहाति] जैसा पहिलेको दूसरा नहीं छोडता, हे धाता! [एवा एषां आयूंषि कल्पय] इनकी आयुकी योजना कर ॥ २५॥ [ऋ० १०।१८।५ ॥]

भावार्थ—यहां जो लोग जीवित हैं वे चारों ओरसे मृतोंसे घिरे हैं अर्थात् उनके चारों ओर मृत जीव हैं। हम ईशप्रार्थना करके कल्याण प्राप्त करें। हम हास्यमें और नृत्यमें अपना मंगल समय व्यतीत करें। हम सब उत्तम वीर बनें और युद्धमें अपना शौर्य प्रकट करें ॥ २२ ॥

जीवोंके लिये आयुष्यकी मर्यादा निश्चित हुई है। कोई मनुष्य इस दीर्घजीवनकी मर्यादा न तोडे अर्थात् अल्पायुमें न मरे। सब लोग अतिदीर्घ आयुतक जीवित रहें और मृत्युको दूर करें ॥ २३ ॥

वृद्धावस्थाको प्राप्त होकर दीर्घ आयुका स्वीकार करें। एकके पीछे एक अर्थात् वृद्धके पश्चात् तरुण चले, वृद्धके पूर्व तरुण न मरे। दीर्घ आयुष्यको प्राप्त करनेका यत्न प्रत्येक करे। ईश्वर सब यत्न करनेवालोंको दीर्घायु देवे ॥ २४ ॥

जैसे दिनके पीछे दिन, ऋतुके पीछे ऋतु और जैसे पहिलेके पीछे दूसरा जाता है वैसे ही वृद्धके पीछेसे तरुण चले जावें, वृद्धोंके पूर्व कोई न मरे अर्थात् सब लोग वृद्ध होकर ही पूर्ण आयुकी समाप्तिपर मरें ॥ २५ ॥

अश्मन्वती रीयते सं रभध्वं वीरयध्वं प्र तरता सखायः।
अत्रा जहीत ये असन् दुरेवा अनमीवानुत्तरेमाभि वाजान् ॥२६॥

उत्तिष्ठता प्र तरता सखायोऽश्मन्वती नदी स्यन्दत इयम्।
अत्रा जहीत ये असन्नशिवाःशिवान्त्स्योनानुत्तरेमाभि वाजान् ॥२७॥

वैश्वदेवीं वर्चस आ रभध्वं शुद्धा भवन्तः शुचयः पावकाः।
अतिक्रामन्तो दुरिता पदानि शतं हिमाः सर्ववीरा मदेम ॥२८॥

उदीचीनैः पथिभिर्वायुमद्भिरतिक्रामन्तोऽवरान् परेभिः।
त्रिः सप्त कृत्व ऋषयः परेता मृत्युं प्रत्यौहन् पदयोपनेन ॥२९॥

अर्थ-[अश्मन्वती रीयते] पत्थरोंवाली नदी वेगसे चल रही है। [संरभध्वं] संभालो, [वीरयध्वं] वीरता धारण करो, और [सखायः प्रतरत] हे मित्रो ! तैर जाओ। [ये दुरेवा असन् अत्र जहीत] जो दुःखदायी हों उनको यहां ही फेंक दो। [उत्तरेम अनमीवान् वाजान्] यदि हम पार हो जायगे तो नीरोग अन्न प्राप्त करेंगे ॥ २६ ॥ [ऋ० १०।५३।८; यजु० २५।१०]

हे [सखायः] मित्रो ! [उत्तिष्ठत प्रतरत] उठो और तैरो। [इयं अश्मन्वती नदी स्यन्दते] यह पत्थरोंवाली नदी वेगसे चल रही है। [ये अशिवा असन् अत्र जहीत] जो अशुभ है उसको यहां ही फेंक दो। [उत्तरेम शिवान् स्योनान् अभि] यदि हम तैर जायगे तो हम शुभ और सुखदायक अन्नोंको प्राप्त करेंगे ॥ २७ ॥ [ऋ० १०।५३।८]

[शुद्धाः शुचयः पावकाः भवन्तः] शुद्ध पवित्र और मलरहित होकर [वर्चसे वैश्वदेवीं आरभध्वं] कल्याणके लिये विश्वदेवकी उपासना आरंभ करो। [दुरिता पदानि अतिक्रामन्तः] पापके स्थानोंको . करते हुए [सर्ववीराः शतं हिमाः मदेम] सब वीरोंके समेत हम सौ वर्ष तक आनंदसे रहेंगे ॥ २८ ॥

[वायुमद्भिः उदीचीनैः परेभि पथिभिः] वायुवाले ऊपरके श्रेष्ठ मार्गोंसे [अवरान् अतिक्रामन्तः] नीचोंका अतिक्रमण करते हुए [परेताः ऋषयः त्रिःसप्त कृत्वः] दूर पहुंचे हुए ऋषि तीन वार सात समय तपस्या करके [पदयोपनेन-मृत्युं प्रत्यौहन्] अपने पदविन्याससे मृत्युको दूर करते रहें ॥ २९ ॥

भावार्थ-यह संसार एक बडीभारी पत्थरोंवाली नदी है, अर्थात् इसमें दुःखोंके और कष्टोंके बडे बडे पत्थर हैं। इस नदीका वेग भी बडा भारी है। इसलिए इस नदीसे पार करनेके लिए सावधानीसे वीरतायुक्त संगठन करना चाहिये। इस तरह मिलकर चलोगे तो पार कर सकोगे, आपसमें फूट बढाओगे तो इस नदीमें बह जाओगे। जो चीजें आपके पास अनावश्यक हैं उन सबको यहीं फेंक दो, जब आप तैरकर पार हो जाओगे तब वहीं उत्तम उत्तम चीजोंको प्राप्त कर सकोगे। परंतु यदि अनावश्यक चीजोंका भार अपने ऊपर रखोगे, तो तुम उस भारके कारण ही डूब जाओगे ॥२६-२७॥

शुद्ध पवित्र और मलरहित बनो और ईश्वरकी भक्ति करो। पापके स्थानमें अपना पद न रखो। इस तरह निर्दोष बनकर आनंदसे सौ वर्ष रहो ॥ २८ ॥

प्राणायामका अभ्यास करके प्राणकी स्वाधीनता करनेवाले योगी स्थूल शरीरको निर्दोष बनाकर अपने आधीन करते हैं। ये ही ऋषि तपस्याके द्वारा मृत्युको दूर करके दीर्घजीवी बनते हैं ॥ २९ ॥

मृत्योः पदं योपयन्त एत द्राघीय आयुः प्रतरं दधानाः ।
आसीना मृत्युं नुदता सधस्थेऽथ जीवासो विदथमा वदेम ॥३०॥ [९]
इमा नारीरविधवाः सुपत्नीराञ्जनेन सर्पिषा सं स्पृशन्ताम् ।
अनश्रवो अनमीवाः सुरत्ना आ रोहन्तु जनयो योनिमग्रे ॥३१॥
व्याकरोमि हविषाहमेतौ ब्रह्मणा व्य१हं कल्पयामि ।
स्वधां पितृभ्यो अजरां कृणोमि दीर्घेणायुषा समिमान्त्सृजामि ॥३२॥
यो नो अग्निः पितरो हृत्स्व१न्तराविवेशामृतो मर्त्येषु ।
मय्यहं तं परि गृह्णामि देवं मा सो अस्मान् द्विक्षत मा वयं तम् ॥३३॥
अपावृत्य गार्हपत्यात् क्रव्यादा प्रेत दक्षिणा ।
प्रियं पितृभ्य आत्मने ब्रह्मभ्यः कृणुता प्रियम् ॥३४॥

अर्थ-(मृत्योः पदं योपयन्तः) मृत्युके पांवको दूर करते हुए (एतत् आयुः द्राघीयः प्रतरं दधानाः) यह आयु दीर्घ और श्रेष्ठ बनाकर धारण करते हुए (आसीनाः मृत्युं नुदत) आसनादि करते हुए मृत्युको दूर करो। (अथ जीवासः सधस्थे विदथं आवदेम) और यदि जीवोगे तो अपने घरमें यज्ञकी बात करोगे ॥ ३० ॥ (ऋ० १०।१८।२)

(इमाः नारीः सुपत्नीः अविधवाः) ये स्त्रियां उत्तम धर्मपत्नियाँ बनें और कभी विधवा न बनें। (आञ्जनेन सर्पिषा संस्पृशन्तां) तथा अञ्जन और घृत शरीरको लगावें।तथा(अनमीवाः अनश्रवः सुरत्नाः)रोगरहित अश्रुरहित होकर उत्तम रत्नोंसे युक्त हों। ऐसी (जनयः अग्रे योनिं आरोहन्तु) स्त्रियाँ प्रथम अपने घरमें ऊँचे स्थानपर चढें ॥ ३१ ॥

[अहं एतौ हविषा व्याकरोमि] मैं इन दोनोंको हविसे विशेष उन्नत करता हूं। [ब्रह्मणा अहं विकल्पयामि] ज्ञान-से मैं इसकी विशेष कल्पना करता हूं। [पितृभ्यः अजरां स्वधां कृणोमि] पितरोंके लिये मैं अविनाशी स्वकीय धारक-शक्ति बढाता हूं। [इमान् दीर्घेण आयुषा संसृजामि] इनको दीर्घ आयुसे युक्त करता हूं ॥ ३२ ॥

हे [पितरः] पितरो ! [नः यः अमृतः अग्निः] हमारा जो अमर अग्नि (मर्त्येषु हृत्सु अन्तः आविवेश) मर्त्य हृदयोंमें आवेश उत्पन्न करता है,[तं देवं अहं मयि परिगृह्णामि] उस दिव्य अग्निको मैं अपनेमें धारण करता हूं। [सः अस्मान् मा द्विक्षत] वह हमारा द्वेष न करे, तथा [तं वयं मा] उसका हम द्वेष न करें ॥ ३३ ॥

[गार्हपत्यात् अपावृत्य दक्षिणा क्रव्यादा प्रेत] गार्हपत्य अग्निसे हटकर दक्षिणकी और प्रेतमांसभक्षक अग्निके प्रति चलो। और [पितृभ्यः आत्मने ब्रह्मभ्यः प्रियं कृणुत] पितरोंके लिये, अपने लिये तथा ब्राह्मणोंके लिये प्रिय करो॥३४॥

भावार्थ-- इस रीतिसे मृत्युका पांव अपने सिरपरसे दूर करते हुए अपनी आयुको अतिदीर्घ बनाकर आसन प्राणायामादिद्वारा मृत्युको दूर करके और दीर्घ जीवन प्राप्त करके उत्तम स्थानमें विराज कर अपना जीवन यज्ञरूप बनाओ ॥ ३० ॥

स्त्रियां उत्तम धर्मपत्नियां बनें, ये कभी विधवा न बनें। वे सौभाग्ययुक्त होकर अपने शरीरको अञ्जन आदि द्वारा सुशोभित करें। नीरोग बनें, शोकरहित होकर अश्रुरहित रहें और उत्तम आभूषणोंसे सुशोभित रहें। अपने घरमें ये स्त्रियां सुपूजित होती हुई महत्त्वका स्थान प्राप्त करें॥ ३१ ॥

हवन द्वारा मृत और जीवितोंको अर्थात् दोनोंको लाभ पहुंचता है। ज्ञानसे ही इसकी विशेष कल्पना हो सकती है। हवनसे मृतोंको स्वत्वधारक बल प्राप्त होता है और जीवितोंको दीर्घ आयुष्य प्राप्त होता है ॥ ३२ ॥

यह अमरधर्मयुक्त अग्नि मनुष्योंका हितकर्ता होनेसे सबको प्रिय है। इसको मनुष्य प्रज्वलित करें और उसकी सहायतासे उन्नति प्राप्त करें ॥ ३३ ॥

मनुष्योंको ऐसा आचरण करना चाहिये कि जिससे आपना हित हो, ज्ञानियोंका सन्मान बढे और पितरोंका यश वृद्धिंगत

द्विभागधनमादाय प्र क्षिणात्यवर्त्या। अग्निः पुत्रस्य ज्येष्ठस्य यः क्रव्यादनिराहितः ॥३५॥
यत् कृषते यद् वनुते यच्च वस्नेन विन्दते। सर्वं मर्त्यस्य तन्नास्ति क्रव्याच्चेदनिराहितः ॥३६॥
अयज्ञियो हतवर्चा भवति नैनेन हविरत्तवे। छिनत्ति कृष्या गोर्धनाद् यं क्रव्यादनुवर्तते ॥३७॥
मुहुर्गृध्यैः प्र वदत्यार्तिं मर्त्यो नीत्य। क्रव्याद् यानग्निरन्तिकादनुविद्वान् वितावति ॥३८॥
ग्राह्याः गृहाः सं सृज्यन्ते स्त्रिया यन्म्रियते पतिः।
ब्रह्मैव विद्वानेष्यो३ यः क्रव्यादं निरादधत् ॥३९॥

अर्थ— (यः अनिराहितः क्रव्याद् अग्निः) जो न बुझाया हुआ प्रेतमांसभक्षक अग्नि होता है, वह अग्नि [ज्येष्ठस्य पुत्रस्य द्विभागं धनं आदाय] बडे भाईको धनके दो भाग प्राप्त होनेपर भी [अवर्त्या प्रक्षिणाति] दारिद्र्यसे उसकी क्षीणता करता है ॥ ३५ ॥

[क्रव्यात् अनिराहितः चेत्] प्रेतमांसभक्षक अग्नि यदि न बुझाया जाय, तो वह [मर्त्यस्य तत् सर्वं न अस्ति] मर्त्यका वह सब नष्ट करता है कि जो [यत् कृषते] जो खेतीसे मिलता है, [यत् वनुते] जो अपने संविभागसे प्राप्त होता है और [यत् च वस्नेन विन्दते] जो कारीगरीसे मिलता है ॥ ३६ ॥

वह मनुष्य [अयज्ञियः हतवर्चाः भवति] अपवित्र और निस्तेज होता है, [एनेन हविः अत्तवे न] इसका दिया हुआ अन्न खाने योग्य नहीं होता, [कृष्याः गोः धनात् छिनत्ति] कृषि गौ और धनसे वह छीना जाता है, [यं क्रव्यात् अनुवर्तते] जिसके साथ शवमांसभक्षक अग्नि चलता है ॥ ३७ ॥

[यान् अन्तिकात् क्रव्यात् अग्निः] जिनको यह शवमांसदाहक अग्नि [विद्वान् अनु वितावति] जानकर पीछे पीछे पड़ता है, वह [मर्त्यः आर्तिं नीत्य] मनुष्य कष्टको प्राप्त होकर [गृध्यैः मुहुः प्रवदति] प्रलोभनोंके साथ वारंवार पुकारता रहता है अर्थात् रोता रहता है ॥ ३८ ॥

[यतः स्त्रियाः पतिः म्रियते] जब स्त्रीका पति मर जाता है, तब [गृहाः ग्राह्याः सं सृज्यन्ते] घर पीडाओंसे युक्त होते हैं। उस समय [विद्वान् ब्रह्मा एव ऐष्यः] ज्ञानी ब्राह्मण ही बुलाने योग्य है, [यः क्रव्यादं निरधात्] जो शवमांसभक्षक अग्निको हटा सकता है ॥ ३९ ॥

भावार्थ— होवे। गृहस्थधर्म स्वीकारनेसे अंत्येष्टितक मनुष्य यही करता रहे ॥ ३४ ॥

प्रेतदाहक अग्निको अच्छी तरह विधिपूर्वक शान्त न किया तो ज्येष्ठ पुत्रको पितृधनके दो भाग प्राप्त होनेपर भी उसको दारिद्र्यके कष्ट भोगने पडते हैं, इसलिये अन्त्येष्टिके अग्निको विधिपूर्वक शान्त करना चाहिये ॥ ३५ ॥

कृषिसे, कारीगरीसे तथा पैत्रिक विभागसे प्राप्त हुआ धन भी नष्ट होता है, यदि अन्त्येष्टिकी अग्निकी शान्ति न की जाय ॥ ३६ ॥

अंत्येष्टिकी अग्नि सतत मनुष्यके साथ रहनेसे मनुष्य अपवित्र और निस्तेज होता है। उसका अन्न अभक्ष्य होता है, उसकी कृषि, गौवें और धन नष्ट होती हैं। इसलिये उसकी शान्ति करके मनुष्यको स्नानादिसे पवित्र बनना चाहिये ॥ ३७ ॥

जिनके घरमें अथवा जिन मनुष्योंमें यह अन्त्येष्टिकी अग्नि वार वार प्रज्वलित होता है अर्थात् जिनमें वारंवार मृत्यु होती है उनको बहुत कष्ट होते हैं और वे लोग वारंवार रोते पीटते हुए मरे हुओंके कामोंका वर्णन करते हुए पुकारते रहते हैं ॥ ३८ ॥

जब किसी स्त्रीका पति मर जाता है तब उस घरमें बडी पीडा होती है। उस समय विद्वान् ब्राह्मणको बुलाकर उस प्रेतदाहक अग्निकी शान्ति करनी चाहिये ॥ ३९ ॥

यद् रिप्रं शमलं चकृम यच्च दुष्कृतम्। आपो मा तस्माच्छुम्भन्त्वग्नेः संकसुकाच्च यत् ४०[१०]
ता अधरादुदीचीरावंवृत्रन् प्रजानतीः पथिभिर्देवयानैः।
पर्वतस्य वृषभस्याधि पृष्ठे नवाश्चरन्ति सरितः पुराणीः ॥४१॥
अग्ने अक्रव्यान्निः क्रव्यादं नुदा देवयजनं वह ॥४२॥
इमं क्रव्यादा विवेशायं क्रव्यादमन्वगात्। व्याघ्रौ कृत्वा नानानं तं हरामि शिवापरम् ॥४३॥
अन्तर्धिर्देवानां परिधिर्मनुष्याणामग्निर्गार्हपत्य उभयानन्तरा श्रितः ॥४४॥
जीवानामायुः प्र तिर त्वमग्ने पितृणां लोकमपि गच्छन्तु ये मृताः।
सुगार्हपत्यो वितपन्नरातिमुषामुषां श्रेयसीं धेह्यस्मै ॥४५॥

अर्थ- [यत् रिप्रं शमलं] जो पाप और मलिनता [यत् च दुष्कृतं चकृम] जो दुराचार हमने किया है, [तस्मात् संकसुकात् अग्नेः] उस विघातक अग्निसे [आपः मा शुंभन्तु] जल मुझे पवित्र करें॥ ४० ॥

[ताः अधरात् उदीचीः] वे नीचे उपरकी ओरसे जाती हुई (प्रजानतीः देवयानैः पथिभिः आववृत्रन्) ज्ञान प्राप्त कर देवयानके मार्गोंसे वारंवार चलती है, [वृषभस्य पर्वतस्य आधिपृष्ठे] वृष्टि करनेवाले पर्वतके ऊपर [पुराणीः सरितः नवाः चरन्ति] पुरानी नदियां नवीन होकर चलती हैं ॥ ४१ ॥

हे अग्ने ! तू [अ-क्रव्याद् क्रव्यादं निः नुद] मांसभक्षक न बनकर मांसाहारीको दूर कर। और [देवयजनं वह] देवोंका यजन करनेवालेको पास कर ॥ ४२ ॥

[इमं क्रव्यात् आविवेश] इसके पास मांसभक्षक आ गया है। और [अयं क्रव्यादं अन्वगात्] यह मांसभक्षकके पास चला गया है। [व्याघ्रौ नानानं कृत्वा] इन क्रूर श्वापदोंको विभिन्न बनाकर [तं शिवापरं हरामि] उस अशुभको मैं दूर करता हूं ॥ ४३ ॥

[देवानां अन्तर्धिः] देवोंको अपने अंदर रखनेवाला [मनुष्याणां परिधिः] मनुष्योंका संरक्षणकर्ता [गार्हपत्यः अग्निः] गार्हपत्य अग्नि [उभयान् अन्तरा श्रितः] दोनोंके मध्यमें रहता है। ॥ ४४ ॥

हे अग्ने ! [त्वं जीवानां आयुः प्रतिर] तू जीवोंकी आयु निर्विघ्नताके साथ पार कर दे, तथा [ये मृताः पितॄणां लोकं अपि गच्छन्तु] जो मर चुके हैं वे पितृलोकमें चले जावें। [सुगार्हपत्यः अरातीं वितपन्] उत्तम गार्हपत्य अग्नि शत्रुको ताप देवे। [उषां उषं अस्मै श्रेयसीं धेहि] प्रत्येक उषःकाल इसके लिये कल्याणमय कर देवे ॥ ४५ ॥

भावार्थ— जो पाप, दोष और दुराचार प्रेतदाहक अग्निके कारण होता है, उससे शुद्धि जलस्नानसे होती है ॥ ४० ॥

नदियां पर्वतोंपरसे नीचेकी ओर चलती हैं, वे गर्मीके दिनोंमें कृश होती और वृष्टिके दिनोंमें नवीन होकर चलती हैं। (इसी तरह) मनुष्य मरनेके पश्चात् दूसरा शरीर धारण करके नवीनसा बनकर विचरता है ॥ ४१ ॥

जिसमें देवोंके उद्देश्यसे हवन होता है, वह अग्नि प्रेतदाहक अग्निको दूर करे, अर्थात् घर घरमें इष्टियां हों और मनुष्य दीर्घायु हों ॥ ४२ ॥

एक अग्नि प्रेतदाहक है और दूसरा देवयाजक है। दोनोंमें भक्षक भाव है, परंतु एक शिव है और दूसरा अशिव है। मनुष्य ऐसा आचरण करे कि जिससे शुभ अग्नि सदा प्रदीप्त रहे और अशुभ कभी प्रदीप्त करनेका अवसर न आवे ॥ ४३ ॥

देवोंके अन्दर रहनेवाला मनुष्योंका रक्षणकर्ता गार्हपत्य अग्नि दोनों जन्म और मृत्युके अग्नियोंमें रहता है ॥ ४४ ॥

अग्निमें हवन करनेसे मनुष्योंकी आयु दीर्घ होती है। इसी हवनसे मृतोंको पितृलोक प्राप्त होता है। गार्हपत्य अग्नि शत्रुको दूर करता है, और प्रतिदिन कल्याण प्राप्त कर देता है ॥ ४५ ॥

सर्वानग्ने सहमानः सपत्नानैषामूर्जं रयिमस्मासु धेहि ॥४६॥
इममिन्द्रं वह्निं पप्रिमन्वारभध्वं स वो निर्वक्षद् दुरितादवद्यात् ।
तेनाप हत शरुमापतन्तं तेन रुद्रस्य परि पातास्ताम् ॥४७॥
अनड्वाहं प्लवमन्वारभध्वं स वो निर्वक्षद् दुरितादवद्यात् ।
आ रोहत सवितुर्नावमेतां षड्भिरुर्वीभिरमतिं तरेम ॥४८॥
अहोरात्रे अन्वेषि बिभ्रत् क्षेम्यस्तिष्ठन् प्रतरणः सुवीरः ।
अनातुरान्त्सुमनसस्तल्प बिभ्रज्ज्योगेव नः पुरुषगन्धिरेधि ॥४९॥
ते देवेभ्य आ वृश्चन्ते पापं जीवन्ति सर्वदा । क्रव्याद् यानग्निरन्तिकादश्व इवानुवपते नडम् ॥५०॥

अर्थ— हे अग्ने ! [सर्वान् सपत्नान् सहमानः] सब शत्रुओंको परास्त करता हुआ तू (एषां रयिं ऊर्जं अस्मासु धेहि) इनका धन और बल हमारे अंदर स्थापित कर ॥ ४६ ॥

[इमं इन्द्रं वह्निं पप्रिं अन्वारभध्वं] इस ऐश्वर्ययुक्त पालकको अनुकूलतापूर्वक शुरू करो। [सः वः अवद्यात् दुरितात् निः वक्षत्] वह हमें निंदनीय पापसे छुडावे। [तेन आपतन्तं शरुं अपहत] उसके द्वारा हमला करनेवाले घातकका नाश करो। [तेन रुद्रस्य अस्तां परिपात] उसकी सहायतासे रुद्रके अस्त्रसे सब ओरसे अपने आपको सुरक्षित करो ॥ ४७ ॥

(अनड्वाहं प्लवं अन्वारभध्वं) बलवान् नौकाको तैयार करो। (सः वः अवद्यात् दुरितात् निर्वक्षत्) वह आपको निंद्य पापसे बचावे। (एतां सवितुः नावं आरोहत) इस सविताकी नौकापर चढो। (षड्भिः उर्वीभिः अमतिं तरेम) छः बडी विशाल नौकाओंसे दुष्टबुद्धि शत्रुके भयसे पार होवेंगे ॥ ४८ ॥

तू [अहो रात्रे क्षेम्यः प्रतरणः] दिनरात सुख देकर दुःखसे पार करनेवाला [सुवीरः बिभ्रत् तिष्ठन् अन्वेषि] उत्तम वीरोंसे युक्त धनादिका धारण करनेवाला स्वयं स्थिर होकर अनुकूल रहता है। हे [तल्प] पलंग, हे बिछोने ! तू [सुमनसः अनातुरान् बिभ्रत्] उत्तम मनवाले नीरोग मनुष्योंको धारण करता है, ऐसा तू [ज्योक् एव पुरुषगंधिः नः एधि] सदा मनुष्योंके सुगंधसे युक्त होकर हमारे पास रह ॥ ४९ ॥

[ते देवेभ्यः आवृश्चन्ते] जो देवोंसे अपने आपको अलग करते हैं वे [सर्वदा पापं जीवन्ति] सदा पापका जीवन व्यतीत करते हैं। [यान् क्रव्यात् अग्नि अन्तिकात् अनुपवते] जिनका मांसभक्षक अग्नि पाससे ही नाश करता है [अश्वः इव नडं] जैसा घोडा घासका नाश करता है ॥ ५० ॥

भावार्थ— अग्नि सब शत्रुओंको परास्त करे और उनके धन और अन्न हमारे पास लाकर रखे ॥ ४६ ॥

यह अग्नि धनदाता, सुखके पास पहुंचानेवाला और सब कामनाओंको पूर्ण करनेवाला है। उससे मनुष्य पापसे बचता है। इससे शत्रुका नाश करना योग्य है और उसीसे घातपातके शस्त्रोंसे बचाव भी होसकता है ॥ ४७ ॥

बलवती नौका तैयार करो और उससे भयानक जलाशयके पार हो जाओ। इस नौकापर चढो, ऐसी छः नौकाओंकी सहायतासे दुर्मति शत्रुका पराभव करेंगे। (अर्थात् यज्ञरूपी नौकासे मृत्युको दूर करेंगे ॥ ४८ ॥

घर-घरमें पलंग रहता है, सब उसपर सोते हैं, उससे सुख प्राप्त करते हैं, वीर पुत्रोंका पालन उनपर होता है। सदा, सर्वदा ऐसे पलंगोंपर उत्तम बिछोने रखकर मनुष्य सोवें और आनंद प्राप्त करें (यशरूप विश्रामदायी पलंग सब घरोंमें हो।] ॥ ४९ ॥

जो अपने आपको देवोंसे अलग करते हैं वे पापमार्गमें प्रवृत्त होते हैं और उनका वैसा नाश होता है जैसा घोडा खेतका नाश करता है ॥ ५० ॥

येऽश्रद्धा धनकाम्या क्रव्यादा समासते। ते वा अन्येषां कुम्भीं पर्यादधति सर्वदा ॥५१॥
प्रेव पिपतिषति मनसा मुहुरा वर्तते पुनः। क्रव्याद् यानग्निरन्तिकादनु विद्वान् वितावति॥५२॥
अविः कृष्णा भागधेयं पशूनां सीसं क्रव्यादपि चन्द्रं त आहुः।
माषाः पिष्टा भागधेयं ते हव्यमरण्यान्या गह्वरं सचस्व ॥५३॥
इषीकां जरतीमिष्ट्वा तिल्पिञ्जं दण्डनं नडम्।
तमिन्द्र इध्मं कृत्वा यमस्याग्निं निरादधौ ॥५४॥
प्रत्यञ्चमर्कं प्रत्यर्पयित्वा प्रविद्वान् पन्थां वि ह्याविवेश।
परामीषामसून् दिदेश दीर्घेणायुषा समिमान्त्सृजामि ॥५५॥ (१२)

अर्थ—[ये अश्रद्धा धनकाम्याः] जो श्रद्धाहीन परंतु धनलोभी हैं [क्रव्यादा सं आसते] मांसभक्षणके लिये एकत्र बैठते हैं, [ते वै अन्येषां कुंभीं सर्वदा पर्यादधति] वे निश्चयसे दूसरोंकी हंडीपर सदा मन रखते हैं ॥ ५१ ॥

[मनसा प्र पिपतिषति इव] वे मनसे मानो गिरना चाहते हैं, [पुनः मुहुः आवर्तते] और फिर लौटना चाहते हैं, [यान् विद्वान् क्रव्याद् अग्निः अन्तिकात् अनु वितावति] जिनको जानता हुआ मांसभक्षक अग्नि पास जाकर पीछे पडता है ॥ ५२ ॥

हे [क्रव्यात्] मांसभक्षक अग्ने ! (पशूनां कृष्णा अविः ते भागधेयं) पशुओंमें काली भेड तेरा भाग्य है। तथा [सीसं चन्द्रं अपि ते आहुः] सीस और लोहभी तेरा ही कहते हैं। [पिष्टाः माषाः ते हव्यं भागधेयं] पिसे उडद तेरा हव्यभाग है। अतः तू [अरण्यान्या गह्वरं सचस्व] वनके गहरे भागमें रह ॥ ५३ ॥

हे इन्द्र ! [जरती इषीकां] अतिजीर्ण मूंजको [तिल् पिंजं दण्डनं नडं इष्ट्वा] तिलोंका पुंज, समिधा और नडकी आहुति देकर अर्थात् [तं इध्म कृत्वा] इसको इंधन बनाकर [यमस्य अग्निं निरादधौ] यमकी अग्निका आधान करे ॥ ५४ ॥

[प्रत्यञ्चं अर्कं प्रत्यर्पयित्वा] अस्त होनेवाले सूर्यको सत्कार समर्पण करके [पन्थां प्रविद्वान् हि वि आविवेश] सन्मार्गका जाननेवाला धर्मपथमें विशेष रीतिसे प्रविष्ट होता है। [अमीषां असून् परादिदेश] वह मृतोंके प्राणोंको परम गतिको भेजता है और [इमान् दीर्घेण आयुषा सं सृजामि] मैं इन जीवितोंको दीर्घ आयुसे संयुक्त करता हूं ॥ ५५ ॥

भावार्थ- जो श्रद्धाहीन और धनलोभी होते हैं, वे सदा दूसरोंके पकाये अन्नपर अपनी दृष्टी रखते हैं, वे दुर्गति पाते हैं और वे शवदाहक अग्निके भक्ष्य होते हैं, अर्थात् अल्पायु होते हैं ॥ ५१ ॥

जिनके पास सदा शवदाहक अग्नि रहता है अर्थात् जिनके घरमें वारंवार मृत्यु होता है, वे वारंवार दुःखी कष्टी और मलीन होते हैं। इनको उचित है कि वे प्रयत्न करके अपना बचाव करनेका उपाय करें ॥ ५२ ॥

पिसे उडद का हव्य बनाकर उसका हवन अग्निमें किया जाये। काली भेडका दूध या घृत इसमें हवन किया जावे। इस तरहका शवदाहक अग्नि मनुष्य स्थानसे दूर वनमें प्रदीप्त किया जावे। अर्थात् प्रेतका दहन नगरसे दूर हो ॥५३॥

इस शवदाहक अग्निमें जीर्ण इषिका, तिलकी पुञ्ज, समिधा और सरकंडेकी आहुतियां दी जावें। इस साधनसे इस समयकी अग्निका आधान किया जावे ॥ ५४ ॥

सन्मार्गको जाननेवाला मनुष्य अस्तंगत सूर्यकी अर्चना करके अपने आपको धर्ममार्गके योग्य पवित्र बना सकता है। मृतोंको परम गतिकी ओर हवनद्वारा प्रेरित करके जीवित मनुष्योंको उसी हवनसे दीर्घायु करना योग्य है ॥ ५५ ॥

द्वितीय अनुवाक समाप्त।

यक्ष्मरोगको दूर करना ।

इस द्वितीय सूक्तमें मुख्य विषय यक्ष्मरोगके दूर करनेका है। इस रोगका दूर करना परमेश्वरकी प्रार्थनासे मुख्यतः करनेका उत्तम उपदेश यहां किया है। ईश्वरप्रार्थनामें बडा भारी बल है। जो मन एकाग्र करके प्रार्थना करते हैं और अपना हृदय ईश्वरके सामने खोल देते हैं, अनन्य होकर ईश्वरको आत्मनिवेदन करते हैं, उनको ही इस बलका अनुभव हो सकता है। अतः कोई पाठक इस बलसे वंचित न रहें, इतना ही यहां कहना है।

नीचेके मार्ग ।

पहले मंत्रका कथन यह है—जैसे बाण दूर चला जाता है, वैसे मनुष्यमें जो रोग है वह नीचेके मार्गसे शीघ्र चला जावे। अर्थात् दूर चला जावे, मनुष्यके पास न रहे। नीचेके मार्गसे (अधराङ्) जानेका तात्पर्य यह है कि सब रोगबीज दूर करनेका उपाय ही नीचेके मार्ग खुले रखना है। मूत्रमार्ग, पुरीषमार्ग (पाखाना अथवा शौच होनेका मार्ग), पसीनेका मार्ग (अर्थात् संपूर्ण रोमरंध्रोंका मार्ग), नासिका मार्ग (जिसमें श्लेष्माद्वारा मल दूर होते हैं) ये सब मार्ग परमेश्वरने किये हैं। शरीररूपी मंदिरकी ये सब मोरियां हैं, जिनमेंसे मल त्यागे जाते हैं। पाठकोंको उचित है कि वे विचार करें कि ये मार्ग अपना अपना कार्य ठीक प्रकार कर रहे हैं या नहीं। यदि कर रहे हैं तो उत्तम है, नहीं तो उनको ठीक कार्य करनेके लिये प्रवृत्त करनेका यत्न करना आवश्यक है, अन्यथा मृत्युकी भेंट हो जायगी।

पापाचार और दुष्ट विचार ।

द्वितीय मंत्रमें ' अघशंस और दुःशंस ' अर्थात् पापाचारी और दुष्टविचारी ये दोनों मृत्युके दरबारतक पहुंचानेवाले हैं, ऐसा स्पष्ट सूचित किया है। अतः मनुष्योंको पापसे और दुष्टविचारसे बचना चाहिए। दुष्टविचार और पापाचार ये परस्पर साथी हैं। दुष्ट विचार पहिले आता है और पश्चात् पापका आचरण होता है। इसलिये मनुष्यको बडी सावधानताके साथ रहना और इनसे बचना चाहिये।

मनुष्य जो पतित होता है वह ' कृति और अनुकृति के द्वारा ही होता है। मनुष्य प्रथम दूसरेके दुष्ट विचार सुनता है और उन विचारोंकी अनुकृति (अनुकरण) करता है। पहिले केवल अनुकरणकी ही इच्छा होती है, परंतु अनुकरण करते करते वैसे ही विचार करने लगता है। इसी तरह पापके आचरण पहले देखता है और वैसा करनेकी चेष्टा करता है। इसमें प्रथम केवल अनुकरण इच्छा ही प्रबल रहती है। परंतु अभ्यास होनेपर वही स्वभाव बनता है। इसलिये अनुकरण करनेके विषयमें भी बडी सावधानता धारण करनी चाहिए।

सत्पुरुषोंकी, अच्छे आचारविचारकी अनुकृति और कृति करनी योग्य है, इससे मनुष्यकी उन्नति होगी। परंतु मनुष्य अच्छी बातोंका अनुकरण नहीं करता, प्रत्युत मनुष्यको बुरेका ही अनुकरण करना पसंद होता है। इसलिये वेद सावधान करता है कि देखो ऐसा बुरेका अनुकरण करोगे तो मृत्युका डर है। सावधान रहो ! यदि मनुष्य इस विषयमें सावध रहेगा तो मृत्युका भय दूर होगा।

कंजूसी, दारिद्र्य और मृत्यु ।

मृत्यु, दरिद्रता और कंजूसी इनको दूर करनेकी सूचना तीसरे मंत्रमें है। कंजूसीसे दरिद्रता आती है और दारिद्र्यसे आगे मृत्युका भय होता है। ये एकदूसरेको साधक हैं। उदारता संपन्नता और अखंड जीवन यह मनुष्यको प्राप्त करना चाहिये। यही अखंड जीवन अमरपन है, जो सबको प्राप्त करना चाहिए।

यदि किसी स्थानपर व्याघ्रके समान सबका भक्षणकर्ता प्रेतदाहक अग्नि पहुंचता है अर्थात् यदि किसीके कुटुंबमें मृत्यु हो गई है, तो वहांसे उस मृत्युको इस प्रकारसे दूर करना चाहिये यह चतुर्थ मंत्रका उपदेश है। इस स्थानपर 'माषाज्य' विधिका उल्लेख है। माषका रस लेकर उसको घीके साथ खानेसे माषाज्य बनता है। एकदिन पूर्व माष बहुत जलमें भिगो लेवे। इसमें जल पर्याप्त डालना चाहिये, तीन चार घण्टे दूसरे

दिन पकाकर उनका जल लेवे और उसमें घृत नमक आदि डालकर सेवन करे यह बलवृद्धि करनेवाला होता है। इसमें अन्यान्य पदार्थ भी डाले जा सकते हैं। यह माषाज्य पेय है। यह सेवन करनेसे दुर्बल मनुष्य भी सबल हो सकता है। इसकी संपूर्ण विधि उत्तम वैद्योंको खोजकर निकालनी चाहिये। यह एक ऐसा विषय है कि जिससे अनेक मनुष्योंको लाभ हो सकता है। यह पेय तो बड़ा सस्ता, मधुर और बड़ा पौष्टिक है। ज्ञानी वैद्य इसकी खोज करके निर्णय करें।

घरमें किसी मनुष्यकी मृत्यु होनेके पश्चात् घरमें दुःखके कारण हवन बंद रहता है। परंतु प्रेताग्निका शमन करके हवनाग्निका प्रदीपन करना चाहिये, क्योंकि यही हवनाग्नि आरोग्यवर्धन करनेवाला है। यह पंचम मंत्रका उपदेश है। अर्थात् खानेमें माषाज्य मिला और हवनके लिये अग्नि प्रदीप्त रहा, तो मृत्यु दूर हो सकता है।

षष्ठ मंत्रमें सौ वर्षकी दीर्घायुके लिये हवनाग्नि घरमें स्थापित करनेका विधान है, वह प्रत्येक गृहस्थीको देखने योग्य है।

पितृयज्ञ

किसीके घरमें मृत्यु हो गयी तो उस प्रेतका दाहसंस्कार [पितृयज्ञाय दूरं हरामि] अर्थात् पितृयज्ञ करनेके लिये दूर स्थान नियत करना चाहिये। घरके या ग्रामके, मानवोंकी बस्तीके समीप प्रेतदाहसंस्कार करना नहीं चाहिये। क्योंकि इस दाहसे जो दुर्गंधयुक्त विषमय वायु बाहर आती है, वह जीवित मनुष्योंको अनेक रोग उत्पन्न करती है। इसलिये सप्तम और अष्टम मंत्रमें प्रेतदाह बस्तीसे दूर करनेका आदेश दिया है।

जो प्रेतका दहन करता है उस अग्निका वैदिक नाम है ' क्रव्याद् ' अर्थात् मांस खानेवाला अग्नि। दूसरा अग्नि है ' जातवेदाः ' यह घरोंमें प्रदीप्त रहता है, जिसके हवनके साथ वेदारंभसंस्कार किया जाता है, यह हवनीय वस्तु सब देवताओंको पहुंचाता है और हवनकर्ताको आरोग्य देता है। सब दोष दूर करके सबको आनंद देनेवाला यह अग्नि है। जो प्रेतदाहक अग्नि है वह मृतकको यमराजके आधीन करता है और हवनाग्नि देवताओंके साथ संबंध जोड देता है। इस तरह इन दोनों अग्नियोंके कार्य हैं। पाठक इसका विचार करके अपना आरोग्य संपादनद्वारा लाभ उठा सकते हैं।

यही बात नवम मंत्रमें कही है। प्रेतदाहक अग्नि और गार्हपत्य अग्नि ऐसे दो अग्नि हैं। इनका ध्येय भिन्न है। प्रेतदाहक अग्नि प्रेतको जलाकर मृतको पितरोंके स्थानमें पहुंचाता है और दूसरा जो गार्हपत्य अग्नि है, वह यहांके निवासियोंको आरोग्य प्रदान करता है। इसलिये प्रेतदाहक अग्निका कार्य सतत नहीं चलता रहना चाहिये। देवताग्निही मनुष्योंके घरोंमें प्रतिदिन प्रदीप्त होना चाहिये। नवम मंत्रका भी यही भाव है।

इसी आशयको दशम मंत्रमें प्रगट करते हुए कहा है कि प्रेतदाहक अग्नि पुनः पुनः यहां न आवे। वह पितृलोकमें प्रदीप्त होता रहे। मनुष्योंके स्थानमें तो यही जातवेद अग्नि ही प्रदीप्त होना चाहिये। जातवेद अग्निका मार्ग देवयान है और प्रेतदाहक अग्निका मार्ग पितृयान है।

हवन-अग्नि।

ग्यारहवें मंत्रमें कहा है कि शुद्ध, पवित्र और निर्मल होकर इस हवनाग्निको लोग प्रदीप्त करते हैं। इस हवनसे सब दोष दूर होते हैं और यह हवनाग्नि सब प्रकारकी पवित्रता करता है, लोगोंको आरोग्य देता है और दीर्घायु करता है। वैदिक धर्मियोंके घरका यह अग्नि एक महत्वका स्थान रखता है। इसीको केन्द्र करके वैदिक धर्मियोंके सब संस्कार होते हैं।

बारहवें मंत्रमें कहा है कि यह हवनाग्नि [एनसः मुच्यमानः] पापसे छुडाता है, दोषको दूर करता है, [अशस्त्याः अमोक्] अप्रशस्त अवस्थाको हटाता है और सब प्रकारकी [आरुहत्] उन्नति करता है। तेरहवें मंत्रमें कहा है कि इसी अग्निमें हम [अस्मिन् अग्नौ रिप्राणि मृज्महे] संपूर्ण दोषोंको हवन करते हैं। अर्थात् हमारे संपूर्ण दोष, इस अग्निमें हवन सामग्रीका हवन करनेसे दूर भाग जायगे। और हम (शुद्धाः पूताः) बाहरसे शुद्ध और अन्दरसे पवित्र बनेंगे जिसका परिणाम (प्र ण आयूंषि तारिषत्) हमारी आयुकी वृद्धि होगी, क्योंकि दोष रहनेसे ही शीघ्र मृत्यु होती है और पवित्रता होनेसे ही मृत्यु दूर होती है।

चौदहवें मंत्रमें कहा है कि यही हवनाग्नि यक्ष्मबीजोंको दूरसे दूरतक ले जाता है अर्थात् हवनकर्ताके घरमें रोगबीज नहीं रहते इसलिये उनको नीरोगता और दीर्घायु प्राप्त होती है। इस तरह घोडे, गौवें, बालबच्चे, भेडबकरियाँ आदिमें जो रोगबीज और मृत्युका भय रहता है वह सब इस हवनाग्निके द्वारा दूर किया जा सकता है। यह आशय पंद्रहवें और सोलहवें मंत्रका है।

सतरहवें मंत्रमें भी यह विषय पुनः अन्यरीतिसे आया है। जिस अग्निमें (घृतस्तावः मृहुवा) घृतकी शुद्धिकारक आहुतियां डाली जाती है, उसी हवनाग्निकी सहायतासे (रुह) उन्नति प्राप्त करना संभवनीय है। अठारहवें मंत्रमें कहा है कि जहां ऐसा हवन होता है, वही स्वर्गलोक है। मनुष्य हवनसे ही इस भूमिको स्वर्गधाम बना सकता है।

सूर्यप्रकाशका महत्त्व।

आरोग्यकी दृष्टिसे सूर्यप्रकाशका अत्यंत महत्त्व है। सूर्यप्रकाशसे ही संपूर्ण आरोग्यकी प्राप्ति होती है। इसलिये वेदमें (ज्योक् च सूर्यं दृशे) निरंतर सूर्यदर्शन होता रहे, ऐसी प्रार्थनाएं आती हैं। सूर्यदर्शन करना ही मनुष्यको आल्हादका स्थान है। प्रत्यक्ष सूर्यदर्शन करनेसे आंखोंके रोग दूर होते हैं, युक्तिसे सूर्यदर्शनका अभ्यास बढानेसे आयनक लगानेका कारण भी नहीं रहता। संपूर्ण शरीर सूर्यातपस्नानसे अर्थात् सब शरीरको सूर्यकिरण लग जानेसे संपूर्ण शरीरका तेज बढ जाता है, आरोग्य बढता है और रक्तसंचार यथायोग्य होकर बहुतसे रोग दूर होते हैं। सूर्यप्रकाश ही आरोग्यदाता है।

[illegible]का उपाय।

मंत्र १९ और २० वें में कुछ शुद्धिका उपाय कहा है। परंतु [शुद्धाः यज्ञियाः भवत] शुद्ध और पवित्र बनो इतने संकेतसे ये मंत्र शुद्धिके विषयमें आदेश दे रहे हैं ऐसा पता लगता है, परंतु जो शुद्धिके साधन इन मंत्रोंमें वर्णन किये गये हैं वे क्या हैं और उनका उपयोग कैसा करना चाहिये यह बात अनेकवार विचार करनेपर भी अबतक हमारी समझमें नहीं आयी है। इन मंत्रोंमें जो शुद्धिके साधन कहे हैं वे [सीस] सीसा, [नड] नल, [संकसुक] हवनीय अग्नि, [रामा = श्यामकनी अवी] काली भेड [उपबर्हण] सिरोना ये हैं। इनमें हवनाग्निसे शुद्धता होनेका कुछ ज्ञान हमें है। परंतु अन्य साधनोंके विषयमें हमें इस समयतक कोई पता नहीं लगा। जो पाठक इस विषयकी खोज करते हैं वे इस आवश्यक विषय की खोज करें और प्रकाशित करें। मनुष्यके नीरोग और दीर्घजीवी होनेके लिये इन शुद्धियोंकी अवश्यकता है, अतः इस विषयका महत्त्व बहुत है। इन शब्दोंके येही अर्थ हैं अथवा दूसरे कुछ अर्थ हैं, इसकी भी खोज होनी चाहिये।

१ अवि = अवि शब्दका अर्थ ' कुलित्थ, ' कुलथी है। यह चक्षुष्य अर्थात् नेत्रके दोष दूर करनेवाली वनस्पति है, ऐसा रत्नमाला नामक वैद्यक ग्रंथमें कहा है।

२ (नड) = नल, देवनल यह एक प्रकारका बडा घास है। इसके गुण वैद्यग्रंथोंमें ये दिये हैं- [रुचिकरः] मुखकी रुचि बढानेवाला [मधुरः] मीठा, [रक्तपित्तघ्नः] रक्तदोष दूर करनेवाला [दीपनः] क्षुधा प्रदीप्त करनेवाला, [बलदः] शक्ति देनेवाला, [वृष्यः] वीर्य बढानेवाला, [वीर्याधिकः] वीर्य अधिक करनेवाला। [देखो राजनिघण्टु व० ८]

३ सीस- सीस, सीसा, सीषा, सीसक। इसके गुण [मेह-नाशनं] मेह रोगका नाश करनेवाला, [नागशततुल्यबलं-ददाति] सौ हाथियोंके समान शक्ति देता है, [व्याधिं नाशयति] रोग दूर करता है, [जीवितं आतनोति] दीर्घ-जीवी बना देता है। [वह्निं प्रदीपयति] क्षुधा प्रदीप्त करता है, [कामबलं करोति] कामका बल करता है, [मृत्युं च नाशयति] मृत्युको दूर करता है [वेदनाहरः] पीडा हरता है, [रक्तरोधकः] रक्त-स्राव बंद करता है। कुष्ठ, गुल्म, पाण्डु, प्रमेह, अग्निमांद्य, सूजन, भगन्दर आदि रोगोंको दूर करता है॥ [भाव० पू० १ भ० धा० व० देखो]

४ रामा- एक औषधी है जिसके गुण राजनिघण्टु व० ४, १०, १२ और १३ में दिये हैं।

५ आञ्जनी- एक औषधि है जो नेत्रको लाभदायी है।

६ शीर्ष [शीर्षक्ति]- अगुरुवृक्ष, जिसके जलानेसे वायु-शुद्धि होती है।

इन मंत्रोंमें आये शुद्धिसाधनोंके ये वैद्यशास्त्रोक्त अर्थ हैं। इनका उपयोग कैसा करना और इनसे शुद्धि किस रीतिसे करनी चाहिये इसका निश्चय सुविज्ञ वैद्य ही कर सकते हैं, यह कार्य अनभिज्ञोंका नहीं है। यह खोजका विषय है, करनेवाले खोज करें।

इक्कीसवें मंत्रमें प्रार्थना है कि इस तरह मृत्यु दूर होवे और अपने घरके बालबच्चे हृष्टपुष्ट, आनंदित और उत्साही हों, अर्थात् कोई न मरे। यह उपदेश (चक्षुष्मते शृण्वते) देखने और सुननेवालेके लिये कहा है। अर्थात् जो विचारसे देखता है और सुनकर समझता है उसीके लिये यह सब कहा है। जो देखेंगे नहीं और सुनेंगे नहीं उनके लिये कहनेसे क्या लाभ होगा?

नृत्य और हास्य।

बाईसवें मंत्रमें कहा है कि ये जो हमलोग यहां जीवित हैं, उनके चारों ओर [मृतैः आववृत्रन्] मृत जीव हैं, अर्थात् वे इस अंतरालमें भ्रमण करते हैं। हमारे चारों ओर आते होंगे, परंतु उनका स्थूल देह नष्ट हो जानेसे वे हमें दिखाई नहीं देते। वे तो मृत हो चुके हैं। जो जीवित हैं उनके [नृतये हसाय] नाचने और हंसनेके लिये अर्थात् उनकी आनन्दप्रसन्नताके लिये ही यत्न करना चाहिये।

मनुष्यके आरोग्यके लिये नृत्य और हास्यकी अत्यंत आवश्यकता है। हास्यसे मनकी प्रसन्नता रहती है और शरीरके पुट्ठोंमें उत्साह बढता है। नाच एक बडा उत्तम व्यायाम है और आनंदके साथ किया जाता है। आर्योंको नाच सीखना चाहिये और उससे बडा लाभ प्राप्त करना चाहियें। आजकल नाचको बुरा मानते हैं, परंतु नाच कोई बुरी चीज नहीं है, नाच करनेवालोंमें कई लोग बुरे होंगे। परंतु नाच आरोग्यवर्धक होनेसे बडा लाभकारी है।

[सुवीरासः विदथं आवदेम] हम उत्तम वीर बनें और शत्रुको दूर करनेका ही विचार करें। इस तरह जो जिस क्षेत्रका शत्रु होगा उसको दूर करना चाहिये। ऐसे सब शत्रु दूर होगये तो पूर्ण आरोग्य, उत्तम स्वास्थ्य, अतुल आनंद और पूर्ण सुख प्राप्त होगा। यही मनुष्यका साध्य है। जबतक किसी स्थानपर शत्रु रहेगा तबतक किसी प्रकार सुख प्राप्त नहीं हो सकता। इसलिये शत्रुके साथ ऐसा बर्ताव करना चाहिये कि वह दूर हो और उससे हम स्वतंत्र रहें। यही [भद्रा देवहूतिः] कल्याणकारक प्रार्थना हम करते हैं। अर्थात् हरएक मनुष्यको उचित है कि वह इस कल्याणमयी प्रार्थनाको करे और अपना कल्याण प्राप्त करे।

मनुष्यकी आयुष्यमर्यादा॥

तेईसवें मंत्रमें कहा है कि मनुष्योंकी [अविदभ्यः परिधिः] आयुष्यकी मर्यादा, जीवोंकी आयुष्यमर्यादा, प्रत्येक योनिमें उत्पन्न होनेवाले प्राणियोंकी आयुष्यमर्यादा निश्चित है। मनुष्योंकी आयुष्यमर्यादा (शतं शरदः) सौ वर्षकी है। यह निश्चित मर्यादा है अर्थात् सुनियमोंके पालनसे यह बढ सकती है और अनियमोंके अवलंबन करनेसे घट भी सकती है। यह मनुष्यके आधीन है मनुष्य चाहे योगादि साधनोंके अनुष्ठानसे अपनी आयुष्यमर्यादा बढा सकता है अथवा व्यभिचारादि द्वारा घटा भी सकता है। इस तरह दोनों बातें संभवनीय हैं. इसलिये मंत्रमें उपदेश है कि (मृत्युं अन्तर्दधतां) मृत्युको अन्तर्हित करो, अर्थात् मृत्युको अवसर न दो, वह छिपा पडा रहे, वह उठकर किसीको अपने वश न कर सके। तुम ऐसा व्यवहार करो कि जिससे वह मृत्यु दूर हो जावे।

चौबीसवें मंत्रमें कहा है कि वृद्धावस्थाका स्वीकार करते हुए दीर्घायु (आरोहत आयुः) धारण करो। अर्थात् अल्प आयुमें न मरो। ब्रह्मचर्यादि सुनियमपालन करते हुए मृत्युको दूर करो। [यतमानाः यति स्थ] दीर्घायुप्राप्तिका यत्न करते हुए अपने सुनियमोंमें रहो। उन धर्मनियमोंका उल्लंघन न करो। ऐसा करोगे तो तुमको [जीवमःय सर्वं आयुर्नयतु] दीर्घजीवनके लिये पूर्ण आयुतक जानेकी संभावना होगी।

यहां दीर्घजीवन कैसा प्राप्त होता है इसकी कुंजी है। पहिला नियम ' सुजनिमा ' शब्दद्वारा प्रकट हुआ है। सुजनिशास्त्र [युजेनिक्स] का यथायोग्य पालन होना चाहिये। जननशास्त्रके नियम जानकर और उनका यथायोग्य पालन करके संतान उत्पन्न करनी चाहिये। मातापिता वैषयिक अत्याचारसे अपने आपको बचावें। सुसंतान निर्माणद्वारा राष्ट्रका यश वृद्धिंगत करना अपना कर्तव्य है, यही मनमें धारण करें और सुप्रजा-जनन करें। दूसरा नियम 'सजोषाः' शब्दद्वारा प्रकट हुआ है। प्रीतिके साथ, उत्साहके साथ, एक जीवनके भावके साथ कौटुंबिक संबंध होना चाहिये। इसी तरह राष्ट्रमें सबका प्रेमसे संबंध हो, सबका जीवन एक हो और सब लोग उत्साहके साथ अपना कर्तव्य उत्तम प्रकार करते रहें। यह परस्पर व्यवहारका उपदेश है। तीसरा नियम ' त्वष्टा ' शब्दद्वारा बताया है। त्वष्टाका अर्थ है कारीगर, कुशल कर्म करनेवाला, कर्ममें कुशल। मनुष्य जो दीर्घजीवन प्राप्त करना चाहता है, वह किसी कारीगरीमें निपुण होवे। क्योंकि कारीगरीसे मनकी तल्लीनता प्राप्त होती है और इसी कारण आन्तरिक दुःखोंसे मुक्तता होती है और दीर्घजीवन प्राप्त होता है। दीर्घजीवन प्राप्त करनेके लिये मनुष्यको किस तरह बर्ताव करना चाहिये, इसका निर्देश इन तीन

शब्दोंद्वारा इस मंत्रने यहां दिया है । पाठक इसका उत्तम मनन करें और योग्य बोध प्राप्त करके उसको अपने आचारमें डालनेका यत्न करें ।

पच्चीसवें मंत्रमें यथाक्रम मनुष्यको मृत्यु प्राप्त होवे ऐसा कहा है. अर्थात् वृद्ध मनुष्य पहिले मरें, उनके पीछे आयुके क्रमसे मनुष्य मरें । वृद्धोंके पूर्व तरुण अथवा बालक न मरें । सब लोगोंका यथायोग्य जनन, पालन और पोषण होता रहेगा तो अकालमृत्यु दूर होगी और यथाक्रम मृत्यु होगी ।

नदीका प्रचंड वेग ।

आगेके [२६ और २७ इन] दो मंत्रोंमें संसाररूपं प्रचंड वेगवाली महानदीका उत्तम काव्यमय वर्णन है । ये मंत्र सबको ध्यानमें धारण करने चाहिये । इस प्रचंड वेगवती नदीसे ही हम सबको पार होना है । यह [अश्मन्वती] पत्थरोंवाली भयानक नदी है । इसमें स्थानस्थानपर पत्थर हैं, अतः मार्ग अच्छी प्रकार नहीं मिलता । चलने लगे तो पत्थरोंपर टक्कर लगती है, गढेमें पडनेकी संभावना है । यह नदी [स्यंदते, रीयते] बडे प्रचंड वेगसे चल रही है, इस वेगके कारण पार होनेवालेका किसी स्थानपर पांव नहीं ठहरता । यहां बडा भय है । इससे पार हुऐ बिना कार्य नहीं चलेगा । पार तो होना ही चाहिये । अतः हरएकको पार होनेके लिये कटिबद्ध होना चाहिये ।

कैसे पार हो सकते हैं ? क्या अकेला अकेला मनुष्य इस नदीसे पार हो सकता है ? कभी नहीं । इस नदीसे पार होनेके लिये कहा है कि (उत्तिष्ठत, संरभध्वं) उठो, भाई ! अपनी अपनी चीजोंको संभालो, अपने जीवनको संभालो । असावधानतासे ही सर्वस्वनाश होगा, ध्यान रखो । समय बडा ही कठीन है, सबको बडी सावधानी धारण करके तैयार होना चाहिए । (वीरयध्वं, प्रतरत) भाई ! वीरता धारण करो, डरनेसे कोई प्रयोजन नहीं होगा । भाईजी ! डरोगे तो भी मरना है और न डरोगे तो भी मरोगे, परंतु संभलकर मिलकर युक्तिसे उपाय करोगे तोही पार हो सकते हो । यहां रहकर रोतेपीटते जाओगे तो कोई लाभ नहीं होगा । रोना पीटना डरना छोड दो, (प्रतरत) तैरनेका यत्न करो, मिलकर तैरनेका यत्न बडी सावधानीसे करो, तभी कुछ बन सकता है । नहीं तो कोई दूसरा उपाय नहीं है ।

परंतु आपके पास व्यर्थकी चीजोंका भार बहुत ही है । यह सबभार अपने पास रखोगे तो निश्चयसे बीचमें ही डूब मरोगे । ये व्यर्थकी चीजें आपने अपने पास क्यों रखी हैं ? (अत्र जहीत ये असन् दुरेवा अशिवाः) भाईजी ! इनमेंसे जो चीजें अनावश्यक हैं, व्यर्थ हैं, जिनका कोई उपयोग नहीं है, उनको यहीं फेंक दीजिये । इतना भार नदीके बीचमें संभाला नहीं जायगा । अतः ये अनावश्यक पदार्थ आप यहीं छोड दीजिये । जो पदार्थ ऐसे हैं कि जो फेंक दिये तो भी कुछ पर्वाह नहीं है उनको यहीं फेंक दो । इससे अपने पासका बोझा कम होगा और हम आनंदसे पार हो सकेंगे । अतः अनावश्यक पदार्थोंका लोभ छोड दो ।

यदि हम [उत्तरेम] नदी पार हो जायगे तो उस परले तीरपर बडा क्षेत्र है, वहां जो जो आवश्यक वस्तुएं होंगी, वे लेंगे । उसकी चिन्ता यहां करनेकी क्या आवश्यकता है ? वहां उतरने पर (अनमीवान् शिवान् स्योनान् वाजान् अभि) नीरोग, शुभ, सुखदायी भोग अवश्य प्राप्त करेंगे । परंतु इन अनावश्यक पदार्थोंका भार सिरपर रखोगे तो परले तीरपर पहुंचना असंभवनीय है ।

यहां काव्यमयी भाषासे बडा मनोहर उपदेश दिया है । जो इसका मनन करेंगे वे बहुत बोध प्राप्त कर सकेंगे । हरएक स्थानपर कष्टका समय दूर करनेके लिये यही उपदेश अत्यंत उपयोगी है । पाठक इसका मनन करें और आवश्यक बोध प्राप्त करें और उसको अपने जीवनमें परिवर्तित कर दें ।

सौ वर्षोंकी पूर्ण आयु ।

अठ्ठाईसवें मंत्रमें [शतं हिमाः सर्ववीरा मदेम] सौ वर्षतक सब बालबच्चोंके समेत हम आनंदसे रहेंगे, ऐसा कहा है । कैसे सौ वर्षकी दीर्घ आयु प्राप्त कर सकेंगे ? अपमृत्युको किस तरह दूर कर सकेंगे ? इसका उत्तर यह है कि [दुरिता पदानि अतिक्रामन्तः] पापोंके स्थानोंका अतिक्रमण करनेसे यह सब हो सकेगा । पापके स्थान अनेक हैं, उनकी गिनती नहीं हो सकेगी । परंतु जो पापका स्थान होगा, वहां जाना नहीं, उस कार्यमें भाग नहीं लेना और पापमार्गपर पांव नहीं रखना यही एक उपाय है कि जिससे निश्चयसे दीर्घायु प्राप्त हो सकेगी ।

पापके मार्गसे न जानेसे ही [शुद्धाः शुचयः पावकाः] शुद्ध, पुनीत और पवित्र होना संभव है। और शुद्ध और पवित्र होनेसेही दीर्घायु होना संभव है। इसकी साधनाके लिये [वर्चसे वैश्वदेवीं आरभध्वं] सब देवताओं की अपने अन्दर धारणा करनी चाहिये, प्रार्थना करनी चाहिये । सब देवताएं तो अपने शरीरमें हैं ही, उनको जानकर उनका यथायोग्य स्वागत करना चाहिये। सब देवताओंका निवास वेदमंत्रोंमें भी है, उस दैवी वाणीका धारण करनेसे मनुष्य पवित्र और शुद्ध हो सकता है।

यदि उन्नतिकी साधना करनेकी इच्छा है तो २९ वें मंत्रमें कहा है उसके अनुसार [अवरान् अतिक्रामन्तः] नीच मार्गोंका अतिक्रमण करना चाहिये । कभी नीचमार्गसे एक भी कदम आगे बढाना नहीं चाहिये । यही बडा दृढनिश्चय लगता है, क्योंकि नीच मार्गसे गिरना बडा आसान है । ऊंचे मार्गपर चढना ही प्रयाससे साध्य होनेवाली बात है । [उदीचीनैः पथिभिः] उच्च स्थानके मार्गोंसे जाना चाहिये, तभी उन्नति होगी । [ऋषयः परेताः] इसी तरह अपनी उन्नति करते हुए ऋषिलोग उच्च धामको पहुंच चुके हैं। उन्होंने बडे बडे यत्न करके तीन तीन बार और सात सात बार तप [त्रिः सप्तकृत्वः] करके अपनी उन्नतिका साधन किया। इसी साधनासे (मृत्युं प्रत्यौहन्) वे मृत्युको दूर करनेमें समर्थ हुए। यही मार्ग दीर्घजीवन प्राप्त करनेका है। अतः पाठक अपने आपको इसी मार्गसे ले जांय और निश्चय पूर्वक उन्नतिको प्राप्त करें।

(मृत्योः पदं योपयन्तः) अपने सिरपर जो मृत्युका पांव है, उसको अपने प्रयत्नसे दूर करो। तुम प्रयत्न करोगे तो वह पांव दूर हो सकता है । तुमने प्रयत्न न किया तो उस पांवके नीचे तुम्हारा सिर दब जायगा । अतः अपमृत्यु दूर करनेके लिये तुम्हें प्रतिदिन प्रयत्न करना चाहिये। (द्राघीयं आयुः प्रतरं दधानाः) यह सौ वर्षकी पूर्ण आयु अधिक दीर्घ बनाकर धारण करो। पहिले तुम्हारी सौ वर्षकी आयु है, यह तो स्वाभाविक मर्यादा है। इस मूल धनकी वृद्धि करना तुम्हारे आधीन है, तुम्हारे प्रयत्नसे ही इस आयुरूपी धनकी वृद्धि हो सकती है। (आसीनाः मृत्युं नुदत) आसनादि योगसाधन तत्परताके साथ करते हुए तुम सब अपमृत्युको दूर करो। यम नियम आसन प्राणायाम आदि योग साधन करनेसे शरीरस्वास्थ्य उत्तम प्राप्त होता है, ध्यान धारणासे उत्तम मानसिक स्वास्थ्य मिलता है, इस तरह मानसिक और शारीरिक स्वास्थ्य प्राप्त होनेसे मनुष्यकी आयु बढती है। मनुष्य इस तरह जीवित रहें तो ही वे (विदथं आवदेम) ज्ञानके बढानेका विचार कर सकते हैं।

आगे ३१ वें मंत्रमें कहा है कि "स्त्रियां विधवा न हों" अर्थात् उनके पति अल्प आयुमें न मरें । स्त्रियां सौभाग्यसे युक्त हों और (अञ्जनेन) आंखमें कज्जल- अंजन लगाकर, तेल आदि सिरमें मलकर आभूषण धारण करके सुंदर रहें। ये घरके भूषण हैं। ये देवियां हैं, अतः इनकी पूजा घरघरमें होती रहे। स्त्रियां किसीभी घरमें न (अन्- अश्रव) रोती रहें वे आनंदप्रसन्न रहें तथा वे (अन्-अमीवाः) नीरोग रहें और (सुरत्नाः) उत्तम रत्नोंके आभूषण धारण करके अपना सौंदर्य बढाती रहें। अर्थात् घरमें स्त्रियोंको उदास नहीं रहना चाहिए । ऐसी स्त्रियाँ पतिके साथ आनन्दप्रसन्नतापूर्वक गृहस्थधर्म पालन करें।

घरमें रहनेवाले सभी लोग हवन करते रहें। प्रतिदिन आनंदप्रसन्न होकर हवन करें। इस हवनसे पितरोंको स्वधाशक्ति मिलेगी और जीवित मनुष्योंको दीर्घायु प्राप्त होगी। (मंत्र ३२)

३३ वें मंत्रमें इतना ही कहा है कि हवनाग्निके साथ कोई द्वेषभाव अथवा विरुद्ध भाव न रखे। सब लोग आदरके साथ हवन करें। ३४ से ३६ तकके तीन मंत्रोंमें कहा है कि प्रेतदाहक अग्नि सतत जलता न रहे, इसके लिये यत्न करना चाहिये। अर्थात् मनुष्योंको अपनी दीर्घायुके लिये यत्न करना चाहिये। हरएक मनुष्यका कर्तव्य है कि वह(पितृभ्यः)पितरोंके लिये अपने(ब्रह्मभ्य)ज्ञानी विद्वानोंके लिये और(आत्मने)अपने लिये जो हितकारक होगा,वही करे। इनका अहित कभी न करे।

आगेके ३ मंत्रोंमें भी वही क्रव्याद अग्निकीही बात कही है। जिनके घरमें मृत्यु होती है, वे घर (अ-यज्ञियाः) अपवित्र होते हैं, (हतवर्चाः) निस्तेज होते हैं शोभारहित होते हैं। कृषि, गौ और धनसे हीन होते हैं । [प्राद्याः गृहाः] वे घर पीडासे दुःख होते हैं। सब लोग क्लेशसे युक्त होते हैं। वहां कोई भी मनुष्य आनन्दप्रसन्न नहीं रहता है जहां पुरुषकी मृत्यु होती है, वहां स्त्री विधवा होती है और वह घर सुखदायक नहीं रहता है। इसीलिये। हरएकको

दीर्घजीवन प्राप्त करनेका यत्न करना चाहिए। ३१ वें मंत्रका विचार इन मंत्रोंके साथ करनेसे प्रतीत होता है कि विधवा स्त्रियां न अञ्जन आंखमें डालती हैं, न माथेपर तेल मलती हैं, न अच्छे कपडे पहनती हैं, न जेवर पहनती हैं, वे तो सदा रोती रहती हैं, आंसू बहाती हैं और दुःखके कारण कृश होती हैं और रोगी भी होती हैं।

आगे ४० वें मंत्रमें कहा है कि जो (रिप्रं) पाप और [शमलं] दोष मनुष्य करता है, जो [दुष्कृतं] कुकर्म मनुष्य करता है, उसकी शुद्धि जलसे होगी। जलप्रयोग शुद्धता करनेवाला है। सब रोगबीज जलके प्रयोगसे दूर होते हैं, शरीर निर्मल होनेसे दीर्घजीवी होता है। ४१ वें मंत्रमें पर्वतशिखरपर (पर्वतस्य अधिपृष्ठे) वास करनेसे बडा लाभ होता है ऐसा कहा है। पर्वतके शिखरपर वायु शुद्ध होती है और उसके सेवनसे मनुष्य नीरोग हो जाता है। यह अनुभवकी बात है। यहां ' पर्वत ' को ' वृषभ ' कहा है, यहां वृषभका अर्थ बल बढानेवाला है। पर्वतशिखरपर शुद्ध वायु बल बढानेवाली ही होता है। वायु ही प्राणका रूप धारण करके मनुष्योंमें जीवनशक्ति बढाता है। यहां पर्वतसे (नवाः स्रवितः) नूतन झरने चलते हैं, उनका जलभी आरोग्यवर्धक होता है। व्यायाम, शुद्ध वायु, उत्तम जल और परिशुद्ध वायुमंडल इतनी बातें पर्वत शिखरपर होती हैं, इसलिए पर्वतशिखर दीर्घायु देनेवाला होता है। पाठक अपने देशमें देखें कि ऐसे उत्तम आरोग्यसंपन्न पर्वतशिखर कौनसे हैं। वहां जांय और वहांकी शुभ वायुसे अधिकसे अधिक लाभ उठावें।

मंत्र ४२ और ४३ में क्रव्याद् अग्निको हटानेका ही विधान है। क्रव्याद् अग्निको दूर करनेका ही अर्थ मृत्युको दूर करना है। आगेके तीन मंत्रोंमें मुख्यतया यह कहा है कि गृहस्थी लोग घर घरमें अग्नि प्रदीप्त करके हवन करें। इस हवनसे मनुष्योंको दीर्घ आयु प्राप्त हो। जो मर चुके हैं वे पितृलोकमें चले जावें और जो जीवित हैं उनको कल्याण, धन और यश प्राप्त हो और वे दीर्घजीवी बनें। सब शत्रु दूर हो जांय और जनताको सुख और शान्ति मिले।

आगेके ४३ से ४९ तकके मंत्रोंमें कहा है कि गृहस्थी लोग अपने घरमें हवनाग्नि प्रदीप्त करें। यह अग्नि उनको शुभ अवस्थाको प्राप्त करा देगा। गृहस्थी लोग यज्ञरूप नौकाके द्वारा अपने दुःख दूर करें, सूर्यप्रकाशसे लाभ उठावें, अपने रोग और व्याधी दूर करें और नीरोगता प्राप्त करके आनंदके साथ दीर्घायुका आनंद भोगें।

जो लोग पापमें अपना जीवन व्यतीत करते हैं, वे अपमृत्युके दुःख भोगते हैं। अतः मनुष्योंको उचित है कि वे पाप न करें और सदा पुण्यमार्गमें ही दत्तचित्त रहें। यह आशय ५० वें मंत्रका है। एकावनवें मंत्रमें कहा है कि जो श्रद्धाहीन, धनलोभी, मांसभक्षी लोग हैं और जो दूसरोंके सिरपर चढकर उनको खाते हैं, या लूटते या उनको दुःख देते हैं, वे सदा पापभागी होते हैं। उनके पाप अनगिनत होते हैं और उस कारण उनके दुःख भी बहुत ही होते हैं। अतः मनुष्य पापसे बचे रहें जिससे वे सुखी हो सकते हैं। बावनवें मंत्रमें ऐसा कहा है कि जो वारंवार पाप मार्गसे ही चलते हैं, उनको दुःख भोगना ही पडता है। अतः दुःख और मृत्युसे बचनेका एक मात्र उपाय यह है कि वे पापसे बचे रहें। पापसे बचनेसे ही केवल दुःखसे और अपमृत्युसे बचना संभव है।

आगे त्रेपनवें मंत्रमें कहा है कि [कृष्णा अविः] काली भेड अथवा कुलथी [सीसं] सीसा, [चन्द्रं] लोहा, [माषा पिष्टाः] पिसे उडद यह सब मारणका साधन हैं। वैद्य लोग इन शब्दोंका विचार करें और इनसे किसतरह आरोग्य प्राप्त हो सकता है, इसकी विधि निश्चित करें। यह मंत्र बडा महत्वका है और खोज करने योग्य है। आगे ५४ वे मंत्रमें भी [इषीकां] इषिका, मूंज, [तिलपिञ्ज] तिलके डंठल नल, आदि शब्दों द्वारा कुछ महत्वका प्रयोग कहा है। यह भी अन्वेषणीय है। इसका विचार सुविज्ञ वैद्य करें। यह यज्ञशास्त्रका विषय है और आरोग्यके साथ इसका घनिष्ठ संबंध है। अतः इसकी पद्धति सुविज्ञ वैद्योंद्वारा निश्चित होनी उचित है।

आगे ५५ वे मंत्रमें कहा है कि सूर्यदर्शन आदरपूर्वक मनुष्य करें। यह तो आरोग्यका एक साधन अपूर्वताके साथ मनुष्यके पास आया। मनुष्य इसका उत्तम उपयोग करे और लाभ उठावे। जो मनुष्य मर चुके हैं वे तो पितृ लोकके मार्गके पथिक बन चुके हैं। परंतु जो जीवित हैं उनको यहां रहकर ऐसा कार्य करना चाहिये कि जिससे उनको दीर्घ आयु प्राप्त होवे।

इस तरह इस सूक्तमें केवल प्रार्थनाएं ही हैं, परंतु उनमें भी बडा बोधप्रद उपदेश दिया है। जो लोग इसका मनन करेंगे और आवश्यक बातें अपने आचरणमें लावेंगे, वे बहुत लाभ प्राप्त करते हुए इहपरलोकमें सुखके भागी हो सकते हैं।

स्वर्ग और ओदन।

(१)

(ऋषिः—यमः । देवता–स्वर्गः, ओदनः, अग्निः)

पुमा॑न् पुंसोऽधि॑ तिष्ठ॒ चर्मे॑हि॒ तत्र॑ ह्वयस्व यत॒मा प्रि॒या ते॑ ।
याव॑न्ता॒वग्रे॑ प्रथ॒मं स॑मे॒यथु॒स्तद् वां॒ वयो॑ यम॒राज्ये॑ समा॒नम् ॥१॥
ताव॒द् वां॒ चक्षु॒स्तति॑ वी॒र्या॑णि॒ ताव॒त् तेज॑स्तति॒धा वाजि॑नानि ।
अ॒ग्निः शरी॑रं सचते य॒दैधोऽधा॑ प॒क्वान्मि॑थु॒ना सं भ॑वाथः ॥२॥
सम॒स्मिँल्लो॒के सम् दे॑व॒याने॒ सं स्मा॑ स॒मेतं॑ यम॒राज्ये॑षु ।
पू॒तौ प॒वित्रै॒रुप॒ तद्ध्व॑येथां॒ यद्य॒द् रेतो॒ अधि॑ वां संब॒भूव॑ ॥३॥

अर्थ—(पुंसः पुमान्) मनुष्योंमें वीर्यवान् पुरुष तू (अधितिष्ठ) अन्योंका अधिष्ठाता बनकर विराज। (चर्म इहि) आसनपर बैठ। (तत्र ते यतमा प्रिया ह्वयस्व) वहां जो तेरे विशेष प्रिय हैं उनको बुला। (अग्रे यावन्तौ प्रथमं सं ईयथुः) पहिले जो सबसे प्रथम मिल गये थे (तत् वां वयः) वह आपका सामर्थ्य (यमराज्ये समानं) यमराज्यमें समान है ॥ १ ॥

(तावत् वां चक्षुः) वैसी बलवान् आपकी दृष्टि है, (तति वीर्याणि) वैसे आपके पराक्रम हैं। (तावत् तेजः) वैसा आपका तेज है, (ततिधा वाजिनानि) और वैसे आपके बल हैं। (यदा अग्निः एधः शरीरं सचते) जब अग्नि समिधाके समान हुए शरीरको प्रदीप्त करता है (अधा) तब हे (मिथुना) पतिपत्नी (पक्वात् संभवाथः) परिपक्व होनेके पश्चात् तुम उत्पन्न होते हो ॥ २ ॥

(अस्मिन् लोके सं एतं) इस लोकमें मिलकर रहो। (देवयाने उ सं एतं) देवमार्गमें मिलकर चलो। (यमराज्येषु सं समेतं) नियन्ताके राज्यमें भी मिलकर जाओ। (यत् यत् वां रेतः) जो जो तुम दोनोंका वीर्य पराक्रम आदि (सं बभूव) मिलकर होनेवाला है, (तत्) वह (पूतौ) स्वयं पवित्र होते हुए तुम दोनों (उप ह्वयेथां) प्राप्त करो, अपने पास बुलाओ ॥ ३ ॥

भावार्थ— मनुष्योंमें जो सबसे अधिक बलवान् होगा, वही सबका अधिष्ठाता होने योग्य है। वैसा मनुष्य अधिष्ठाता बने। वह मुख्य आसनपर बैठे। वहां अपने हितकारी अनुयायियोंको बुलावे, सबको एकत्र मिलावे। यह मिलाप ही शक्ति उत्पन्न करता है। और इसीसे राज्यका नियंत्रण होता है। राष्ट्रमें यह शक्ति समान रीतिसे बांटी जावे, अर्थात् किसी एकमें वह अत्यधिक रीतिसे केंद्रित न होवे ॥ १ ॥

ऐसा होनेसे ही उसकी दूरदृष्टी होगी, उससे पराक्रम होगा, उसका तेज फैलेगा और बल बढेगा। जैसा अग्नि लकडियोंका तेज बढाता है, वैसा यह सांघिक बल मनुष्योंका तेज बढाता है, इसीसे सब प्रकारकी शक्तियोंकी परिपक्वता होती है और इसीसे वृद्धि भी हो सकती है ॥ २ ॥

दोनों मिलकर रहें, आपसमें कभी विरोध न रखें। इस लोकमें करनेके कार्यमें, देवमार्गके प्रवासमें और यमराज्यमें भी मिलकर रहनेसे लाभ होंगे। आपसकी फूट होनेसे ही दुःख होगा। जो कुछ वीर्य पराक्रम करना हो, वह सब स्वयं पवित्र होकर अपना संगठन करके करो ॥ ३ ॥

आपस्पुत्रासो अभि सं विशध्वमिमं जीवं जीवधन्याः समेत्य ।
तासां भजध्वममृतं यमाहुर्यमोदनं पचति वां जनित्री ॥४॥
यं वां पिता पचति यं च माता रिप्रान्निर्मुक्त्यै शमलाच्च वाचः ।
स ओदनः शतधारः स्वर्ग उभे व्याप नभसी महित्वा ॥५॥
उभे नभसी उभयांश्च लोकान् ये यज्वनामभिजिताः स्वर्गाः ।
तेषां ज्योतिष्मान् मधुमान् यो अग्रे तस्मिन् पुत्रैर्जरसि सं श्रयेथाम् ॥६॥
प्राचींप्राचीं प्रदिशमा रभेथामेतं लोकं श्रद्दधानाः सचन्ते ।
यद् वां पक्वं परिविष्टमग्नौ तस्य गुप्तये दम्पती सं श्रयेथाम् ॥७॥

अर्थ- हे (पुत्रासः) पुत्रो ! (आपः अभिसंविशध्वं) जलोंमें घुसो । हे (जीवधन्याः) जीवको धन्य करनेवालो ! (इमं जीवं समेत्य) इस जीवदशाको प्राप्त होकर (तासां अमृतं भजध्वं) उन जीवदशाओंसे अमृतको प्राप्त करो । (यं ओदनं वां जनित्री पचति) जिस अमृतान्नको आपकी जननी-प्रकृति—पका रही है इसका सब (आहुः) वर्णन करते हैं ॥ ४ ॥

(वां पिता माता च) आपके माता और पिता (रिप्रात् शमलात् च वाचः निर्मुक्त्यै) पापयुक्त और मलिनता युक्त वाणीसे मुक्त होनेके लिये (यं पचति) जिसको परिपक्व कर रहे हैं, (सः शतधारः स्वर्गः ओदनः) वह सैकडों प्रवाहोंसे सुख देनेवाला स्वर्गदायक अन्न (महित्वा उभे नभसी व्याप) अपनी महिमासे दोनों लोकोंको व्यापता है ॥ ५ ॥

(ये यज्वनां अभिजिताः स्वर्गाः) जो याजकोंको प्राप्त होनेवाले स्वर्गलोक हैं, उन (उभे नभसी, उभयान् च लोकान्) उन दोनों लोकोंको प्राप्त होवो । (तेषां यः मधुमान् ज्योतिष्मान्) उनमें जो मीठा और तेजस्वी स्वर्ग है, वह प्राप्त करो । (तस्मिन् अग्रे) उनमें मुख्य स्थानपर (पुत्रैः जरसि संश्रयेथाम्) पुत्रोंके साथ वृद्ध अवस्थामें आश्रय करो ॥ ६ ॥

(प्राचीं प्राचीं प्रदिशं आरभेथां) पूर्व दिशाकी ओर आगे बढो, (एतं लोकं श्रद्दधानाः सचन्ते) इस लोकको श्रद्धावान् लोग प्राप्त करते हैं । (यत् वां पक्वं अग्नौ परिविष्टं) जो तुम्हारा परिपक्व होकर अग्निमें हवन किया गया है, हे (दंपती) स्त्रीपुरुषो ! (तस्य गुप्तये संश्रयेथाम्) उसकी रक्षाके लिये गृहस्थधर्मका आश्रय करो ॥ ७ ॥

भावार्थ— हे अपने आत्माको धन्य करनेवाले साधको ! तुम अपने जीवनमें शुद्ध रहो, कभी अशुद्ध न बनो । इस जीवनको प्राप्त करके अमर बनो, तुम्हारे लिये अमृत प्रदान करनेके लिये ही तुम्हारी प्रकृतिमाता इस अपूर्व अमृतान्नको तैयार कर रही है ॥ ४ ॥

पापप्रवृत्ति और मलिन वाणीके दोषोंसे मुक्त होना चाहिये । यही माता पिता और पुत्रोंको भी करना चाहिये ! सब लोग वाणीको शुद्ध करें । इसीसे सौगुना स्वर्गसुख प्राप्त हो सकता है, जो इह-पर लोकमें मिलनेवाला है ॥ ५ ॥

यज्ञकर्ताओंको जो शुभलोक प्राप्त होते हैं उनमें जो श्रेष्ठसे श्रेष्ठ स्थान है, जो अधिक सुखदायी और अधिक तेजस्वी है, उसको प्राप्त करके वृद्ध अवस्थामें पुत्रोंके समेत वहां आनंदसे रहो ॥ ६ ॥

श्रद्धासे प्रकाशकी दिशासे आगे बढो, श्रद्धासे ही उन्नति प्राप्त होती है । जो कुछ परिपक्व फल हुआ है उसकी रक्षा करनेका यत्न मिलकर करो ॥ ७ ॥

पितेव पुत्रानभि सं स्वजस्व नः शिवा नो वाता इह वान्तु भूमौ ।
यमोदनं पचतो देवते इह तं नस्तप उत सत्यं च वेत्तु ॥१२॥

यद्यत् कृष्णः शकुन एह गत्वा त्सरन् विषक्तं बिल आससाद ।
यद्वा दास्यार्द्रहस्ता समङ्क्त उलूखलं मुसलं शुम्भतापः ॥१३॥

अयं ग्रावा पृथुबुध्नो वयोधाः पूतः पवित्रैरप हन्तु रक्षः ।
आ रोह चर्म महि शर्म यच्छ मा दम्पती पौत्रमघं नि गाताम् ॥१४॥

वनस्पतिः सह देवैर्न आगन् रक्षः पिशाचाँ अपबाधमानः ।
स उच्छ्रयाते प्र वदाति वाचं तेन लोकाँ अभि सर्वान् जयेम ॥१५॥

अर्थ-(पिता इव पुत्रान् नः अभि सं सजस्व) जैसे पिता पुत्रोंको वैसे तुम हम सबको मिलो। (इह भूमौ नः वाताः शिवाः वान्तु) इस भूमिमें हमारे लिये शुभ वायु बहते रहें। हे देवते ! (इह यं ओदनं पचतः) यहां जिस अन्नको ये दो पकाते हैं (तं नः तपः सत्यं च वेत्तु) वह हमारे तप और सत्यको जाने ॥ १२ ॥

(यत् यत् कृष्णः शकुनः इह आगत्वा) यदि काला पक्षी-कौवा-यहां आकर (त्सरत् विसक्तं बिले आससाद) हिलता हुआ छिपछिपकर अपने बिलमें-घरमें-घुसकर बैठ जाय, (यत् वा आर्द्रहस्ता दासी) अथवा यदि गीले हाथों-वाली दासी (उलूखलं मुसलं समंक्त) ऊखल और मूसलको गीला करे, (आपः शुम्भत) वह जल हमें पवित्र करे ॥ १३ ॥

(अयं ग्रावा पृथुबुध्नः वयोधाः) यह पत्थर विशाल आधारवाला अन्न देता है- अन्न कूटकर तैयार कर देता है (पवित्रैः पूतः रक्षः अप हन्तु) पवित्रता करनेवाले साधनोंसे पुनीत होता हुआ यह दुष्टोंका नाश करे। (आरोह चर्म) चर्मपर बैठ, (महि शर्म यच्छ) बडा सुख दे। (दम्पती पौत्रं अघं मा निगातां) स्त्रीपुरुषोंपर पुत्रका पाप न आवे ॥ १४ ॥

(वनस्पतिः देवैः सह नः आगन्) वृक्ष सब देवशक्तियोंके साथ यहां हमारे पास आगया है। (रक्षः पिशाचान् अप बाधमानः) वह राक्षसों और पिशाचोंको दूर करता है। (स उच्छ्रयाते वाचं प्रवदाति) वह ऊंचा उठता है और घोषणा करता है, कि (तेन सर्वान् लोकान् अभिजयेम) उससे सब लोकोंको जीतेंगे ॥ १५ ॥

भावार्थ— पिता पुत्रोंको प्यार करता है वैसा प्यार सब परस्पर करें। हमें जलवायु हितकारी हों। यज्ञके लिये अन्नका परिपाक करनेवाले तप और सत्यका महत्त्व जानें ॥ १२ ॥

यदि कौवा आकर एकदम अपने घोसलेमें घुसे अथवा गीले हाथसे दासी ऊखलमूसलको गीला करे, तो वह दोनों योग्य नहीं हैं, अर्थात् गीले हाथसे कोई इनको स्पर्श न करे ॥ १३ ॥

पत्थरोंका ऊखल और मूसल धान स्वच्छ करनेके लिये अच्छा है। पहिले पानी आदिसे स्वच्छ करो और उपयोग करो किसी चर्म आदिपर रखो और कूटो। कूटनेसे सब दोष दूर होंगे और वह धान हितकारी होगा। इससे स्त्रीपुरुषोंको पुत्रके नाशका दुःख सहना न पडे, अर्थात् पुत्र शीघ्र नहीं मरेंगे ॥ १४ ॥

वनस्पति सब रोगबीजरूपी राक्षसों और पिशाचोंको दूर करती है, उसकी घोषणा है कि उसके बलसे सब सुख प्राप्त होंगे ॥ १५ ॥

सप्त मेधान् पशवः पर्यगृह्णन् य एषां ज्योतिष्माँ उत यश्चकर्श ।
त्रयस्त्रिंशद् देवतास्तान्त्सचन्ते स नः स्वर्गमभि नेष लोकम् ॥१६॥
स्वर्गं लोकमभि नो नयासि सं जायया सह पुत्रैः स्याम ।
गृह्णामि हस्तमनु मैत्वत्र मा नस्तारीन्निर्ऋतिर्मो अरातिः ॥१७॥
ग्राहिं पाप्मानमति ताँ अयाम तमो व्यस्य प्र वदासि वल्गु ।
वानस्पत्य उद्यतो मा जिहिंसीर्मा तण्डुलं वि शरीर्देवयन्तम् ॥१८॥
विश्वव्यचा घृतपृष्ठो भविष्यन्त्सयोनिर्लोकमुप याह्येतम् ।
वर्षवृद्धमुप यच्छ शूर्पं तुषं पलावानप तद् विनक्तु ॥१९॥

अर्थ-(पशवः सप्त मेधान् परि अगृह्णन्) पशु सातों यज्ञोंको घेरते है। (त्रयः त्रिंशत् देवताः तान् सचन्ते) तैंतीस देवताएं उनका सेवन करते हैं। (यः एषां ज्योतिष्मान् उत यः चकर्श) जो इनमें तेजस्वी और जो इनमें सूक्ष्म होता है (सः नः स्वर्गं लोकं अभिनेष) वह सोम हमें स्वर्गलोकको प्राप्त करावे ॥ १६ ॥

(नः स्वर्गं लोकं अभिनयसि) हमें तू स्वर्गलोकमें पहुंचाता है, (जायया पुत्रैः सह स्याम) स्त्री और पुत्रोंके साथ हम यहां सुखसे रहें। (हस्तं गृभ्णामि) जिसका मैं पाणिग्रहण करूं वह स्त्री (मा अत्र अनु एतु) मेरा यहां अनुसरण करे। (निर्ऋतिः अरातिः नः मा तारीत्) दुर्गति और शत्रु हमें कष्ट न देवें ॥ १७ ॥

(तां पाप्मानं ग्राहिं) उस पापसे उत्पन्न होनेवाले रोगको (अति अयाम) पार करेंगे। (तमः व्यस्य वल्गु प्रवदसि) अंधेरेको दूर करके मनोहर वचन बोलेंगे। हे (वानस्पत्य) वनस्पतिसे बने हुए ! तू (उद्यतः मा जिहिंसीः) उठकर मत हिंसा कर। (मा तंडुलं) चावलका नाश न कर। (देवयन्तं मा वि शारीः) देव बननेकी इच्छा करनेवालेका नाश न कर ॥ १८ ॥

(विश्वव्यचाः घृतपृष्ठः भविष्यन्) चारों ओर फैला हुआ घी जिसपर डाला है ऐसा होता हुआ (सयोनिः एतं लोकं उपयाहि) एक स्थानमें उत्पन्न हुआ तू इस लोकको प्राप्त हो। (वर्षवृद्धं शूर्पं उपयच्छ) एक वर्षका सूप पास रख और (तत् तुषं पलावान् विनक्तु) वह तुष और तिनकोंको दूर करे ॥१९॥

भावार्थ-सातों यज्ञोंमें गौ आदि पशुओंके घृत आदि पदार्थोंका उपयोग होता है। तैंतीस देवताओंका इनयज्ञोंमें संबंध आता है। शुक्लपक्षमें तेजस्वी होनेवाला और कृष्णपक्षमें क्षीण होनेवाला सोम अर्थात् यज्ञ हमें स्वर्गलोकको पहुंचावेगा ॥ १६ ॥

मृत्युके पीछे हम स्वर्गको प्राप्त होंगे, तबतक यहां स्त्री और पुत्रोंके साथ आनंदसे रहेंगे। मैं जिस स्त्रीका पाणिग्रहण करूंगा वह स्त्री मेरे साथ मेरी अनुगामिनी होकर रहे। हमें कोई दुर्गति और शत्रु कभी कष्ट न देवे ॥ १७ ॥

हीन आचारसे रोग उत्पन्न होते हैं, उनको दूर करना चाहिये। अज्ञानान्धकार दूर करना चाहिये। मनोहर भाषण बोलना चाहिये। वृक्षसे बना ऊखलमूसल किसीका नाश न करे, उसमें चावलोंका भी नाश न हो। दैवी शक्ति प्राप्त करनेके इच्छुकका कभी नाश न हो ॥ १८ ॥

अच्छा फैला हुआ छाज हाथमें लेकर धानसे तुष और तिनकोंको दूर करके उत्तम धानका संग्रह करो ॥ १९ ॥

त्रयो लोकाः संमिता ब्राह्मणेन द्यौरेवासौ पृथिव्य१न्तरिक्षम् ।
अंशून् गृभीत्वान्वारभेथामा प्यायन्तां पुनरा यन्तु शूर्पम् ॥२०॥(१४)
पृथग्रूपाणि बहुधा पशूनामेकरूपो भवसि सं समृद्ध्या ।
एतां त्वचं लोहिनीं तां नुदस्व ग्रावा शुम्भाति मलग इव वस्त्रा ॥२१॥
पृथिवीं त्वा पृथिव्यामा वेशयामि तनूः समानी विकृता त एषा ।
यद्यद् द्युत्तं लिखितमर्पणेन तेन मा सुस्रोर्ब्रह्मणापि तद् वपामि ॥२२॥
जनित्रीव प्रति हर्यासि सूनुं सं त्वा दधामि पृथिवीं पृथिव्या ।
उखा कुम्भी वेद्यां मा व्यथिष्ठा यज्ञायुधैराज्येनातिषक्ता ॥२३॥

अर्थ-(ब्राह्मणेन त्रयः लोकाः संमिलिताः) ब्राह्मणके ज्ञानसे तीनों लोक प्राप्त हुए हैं। (असौ द्यौः एव, पृथिवी अन्तरिक्षं) यह द्यु, यह अन्तरिक्ष और यह पृथ्वी है। (अंशून् गृभीत्वा अनु आरभेथां) धान्यके अंशोंको लेकर अनुकूलतासे फटकना आरंभ करो और (आप्यायतां) वृद्धिको प्राप्त हो तथा [पुनः शूर्पं आयन्तु] फिर छाजपर शुद्ध होनेके लिये धान लिया जावे ॥ २० ॥

[पशूनां पृथक् बहुधा रूपाणि] पशुओंके पृथक् पृथक् अनेक रूप हैं, तथापि [समृद्ध्या एकरूपः भवसि] अपनी महिमासे सोम एकरूप होता है। [एतां तां लोहिनीं त्वचं नुदस्व] इस लाल त्वचाको दूर कर । [मलगः वस्त्रा इव] जैसा धोबी वस्त्रोंको शुद्ध करता है, वैसा ही धोनेका [ग्रावा शुंभाति] पत्थर भी शुद्धता करता है ॥ २१ ॥

[त्वा पृथिवीं पृथिव्यां आवेशयामि] पृथ्वीतत्वको पृथ्वीमें ही स्थापित करता हूं। [एष ते विकृता तनूः] यह तेरी [सृष्टिरूपी] विकृत हुई तनू है। दूसरी तेरी (समानी) समानी अर्थात् न बिगडी हुई (प्रकृतिरूप) तनू है।(यत् यत् द्युत्तं अर्पणेन लिखितं) जो कुछ पहिननेसे घिसा या खुर्चा गया है, (तेन मा सुस्रोः) उस कारण वह न चूवे। [तत् ब्रह्मणा अपि वपामि] वह ज्ञानद्वारा ठीक करता हूं ॥ २२ ॥

[जनित्री सूनुं इव] जननी जैसे अपने पुत्रको लती है वैसे ही [त्वा प्रति हर्यासि] तुझे प्यार करती है। [पृथिवीं पृथिव्या संदधामि] पृथ्वीतत्वको पृथ्वीके साथ मिलाता हूं। [उखा कुंभी वेद्यां मा व्यथिष्टाः] घडे और बर्तन आगपर न टूटें, [यज्ञायुधैः आज्येन अतिषक्ता] वे यज्ञसाधनों और घृतादिसे सिंचत हुए हैं ॥ २३ ॥

भावार्थ-- ब्राह्मणके ज्ञानसे भूमि, अन्तरिक्ष और द्युलोककी प्राप्ति होती है। वैसे ही छाजसे धान्य स्वच्छ होता है, तुष दूर होता है और उत्तम स्वच्छ धान मिलता है । इस तरह बारंवार धान्य स्वच्छ करना योग्य है ॥ २० ॥

पशुओंमें अनेक रंगरूप हैं परंतु औषधि एक होती है। यही औषधि लाल चमडीको ठीक करती है । धोबी कपडे साफ करता है, उस प्रकार धोनेका पत्थरभी कपडोंको साफ करता है ॥ २१ ॥

पृथ्वीमें पृथ्वीतत्त्व है, इसी तरह अन्य तत्त्व अन्योंमें हैं। मूल प्रकृति गुणसाम्या है, उससे बिगडकर यह सृष्टि बनी है, अतः यह विकृति है । उपयोगसे इसमें बिगाड होता है। ज्ञानसे यह विकृति कम की जा सकती है ॥ २२ ॥

माता पुत्रको जैसे प्यारसे पकडती है वैसे ही बर्तनोंको बर्तना चाहिये। बर्तनोंको अव्यवस्थासे तोडना नहीं चाहिये । घडे डेकची आदि बर्तनोंमें घी भरा होता है और यज्ञसाधनोंका उससे संबंध आता है ॥ २३ ॥

अग्निः पर्चन् रक्षतु त्वा पुरस्तादिन्द्रों रक्षतु दक्षिणतो मरुत्वान् ।
वरुणस्त्वा दृंहाद्धरुणे प्रतीच्या उत्तरात् त्वा सोमः सं ददाते ॥२४॥
पूताः पवित्रैः पवन्ते अभ्राद् दिवं च यन्ति पृथिवीं च लोकान् ।
ता जीवला जीवधन्याः प्रतिष्ठाः पात्र आसिक्ताः पर्यग्निरिन्धाम् ॥२५॥
आ यन्ति दिवः पृथिवीं सचन्ते भूम्याः सचन्ते अध्यन्तरिक्षम् ।
शुद्धाः सतीस्ता उ शुम्भन्त एव ता नः स्वर्गमभि लोकं नयन्तु ॥२६॥
उतेव प्रभ्वीरुत संमितास उत शुक्राः शुचयश्चामृतासः ।
ता ओदनं दम्पतिभ्यां प्रशिष्टा आपः शिक्षन्तीः पचता सुनाथाः ॥२७॥
संख्याता स्तोकाः पृथिवीं सचन्ते प्राणापानैः संमिता ओषधीभिः ।
असंख्याता ओप्यमानाः सुवर्णाः सर्वं व्यापुः शुचयः शुचित्वम् ॥२८॥

अर्थ-[पचन् अग्निः पुरस्तात् त्वा रक्षतु] पकानेवाला अग्नि तेरी आगेसे रक्षा करे । [मरुत्वान् इन्द्रो दक्षिणतः रक्षतु] मरुतोंके साथ इन्द्र दक्षिणकी ओरसे रक्षा करे । [प्रतीच्याः वरुणः धरुणे त्वा दृंहात्] पश्चिमसे वरुण तुझे आधारके स्थानमें सुदृढ करे । [सोमः त्वा उत्तरात् संददाते] सोम तुझे उत्तर दिशासे जोडकर सुरक्षित रखे ॥ २४ ॥

जलधाराएं [पवित्रैः पूताः अभ्रात् पवन्ते] पवित्रसे पुनीत होकर मेघोंसे आकर सबको पवित्र करते हैं । [दिवं पृथिवीं च लोकं यन्ति] द्यु और पृथिवीको प्राप्त होते हैं । [ताः जीवलाः जीवधन्याः प्रतिष्ठाः] वह जीवन देनेवाली और जीवको धन्यता देनेवाली तथा सबको आधार देनेवाली [पात्रे आसिक्ताः] पात्रमें डाली गई जलधाराओंको [अग्निः परि इन्धां] अग्नि चारों ओरसे तपावे ॥ २५ ॥

[दिवः आयन्ति] जलधाराएं द्युलोकसे आती हैं, [पृथिवीं सचन्ते] पृथ्वीपर एकत्रित होती हैं, [भूम्याः अन्तरिक्षं अधिसचन्ते) भूमिसे बाष्परूपसे अन्तरिक्षमें जमा होती हैं । वे (शुद्धाः सतीः ताः उ शुंभन्त एव) शुद्धहुए जल सबको पवित्र करते हैं । (ताः नः स्वर्गं लोकं अभिनयन्तु) वे हमें स्वर्गलोकको प्राप्त करावें ॥ २६ ॥

(उत एव प्रभ्वीः, उत संमितासः) जल निश्चयसे प्रभावयुक्त है और संमत, [उत शुक्राः शुचयः अमृतास च] और वह बलवर्धक, पवित्र और अमृत है । [ताः प्रशिष्टाः सुनीथाः आपः] वह उत्तम शिष्टसंमत, उत्तम लाया हुआ जल [दंपतीभ्यां ओदनं पचत] स्त्रीपुरुषके लिये चावल अन्न पकाता है ॥ २७ ॥

[संख्याताः स्तोकाः पृथिवीं सचन्ते] गिनेचुने जलबिंदु पृथ्वीपर आते हैं । वे [प्राणापानैः ओषधीभिः संमिताः] औषधियोंके साथ मिलनेसे प्राणापानके गुणोंसे युक्त होते हैं । [असंख्याताः ओप्यमानाः सुवर्णाः शुचयः] असंख्यात बिखरे हुए उत्तम रंगवाले शुद्ध जलबिंदु [सर्वं शुचित्वं व्यापुः] सब पवित्रको व्यापते हैं ॥ २८ ॥

भावार्थ— अग्नि, इन्द्र, वरुण और सोम ये देव पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर दिशासे सबकी रक्षा करें ॥ २४ ॥
मेघसे वृष्टिद्वारा पृथ्वीपर आया जल पात्रोंमें भरकर रखा जाता है । यह जल जीवोंको जीवन देता, तृप्त करता और धन्य बनाता है । इसको अग्निद्वारा उष्ण किया जावे ॥ २५ ॥

जल बाष्परूपसे ऊपर जाता है और वहांसे वृष्टिरूपसे नीचे पृथ्वीपर आता है । यह शुद्ध अवस्थामें सबको शुद्ध करता हुआ सुख पहुंचाता है ॥ २६ ॥

जल प्रभावशाली, प्रशंसनीय, बलवर्धक, पवित्र, रोग दूर करनेवाला है । ऐसा उत्तम जल परिशुद्ध रीतिसे लाये हुए अन्नका पाक करनेमें प्रयुक्त हो ॥ २७ ॥

कुछ थोडे जलके बिंदु औषधियोंसे मिश्रित होकर प्राणियोंके प्राण धारण करते हैं । परंतु असंख्यात सुंदर जलबिंदु इधर उधर बिखर जाते हैं । ये ही सर्वत्र फैले रहते हैं ॥ २८ ॥

उद्योधन्त्यभि वल्गन्ति तप्ताः फेनमस्यन्ति बहुलांश्च बिन्दून् ।
योषेव दृष्ट्वा पतिमृत्वियायैतैस्तण्डुलैर्भवता समापः ॥२९॥
उत्थापय सीदतो बुध्न एनानद्भिरात्मानमभि सं स्पृशन्ताम् ।
अमासि पात्रैरुदकं यदेतन्मितास्तण्डुलाः प्रदिशो यदीमाः ॥३०॥ (१५)
प्र यच्छ पर्शुं त्वरया हरौषमहिंसन्त ओषधीर्दान्तु पर्वन् ।
यासां सोमः परि राज्यं बभूवामन्युता नो वीरुधो भवन्तु ॥३१॥
नवं बर्हिरोदनाय स्तृणीत प्रियं हृदश्चक्षुषो वल्ग्वस्तु ।
तस्मिन् देवाः सह दैवीर्विशन्त्विमं प्राश्नन्त्वृतुभिर्निषद्य ॥३२॥
वनस्पते स्तीर्णमा सीद बर्हिरग्निष्टोमैः संमितो देवताभिः ।
त्वष्ट्रेव रूपं सुकृतं स्वधित्यैना एहाः परि पात्रे ददृश्राम् ॥३३॥

अर्थ—[तप्ताः उद्योधन्ति, अभिवल्गन्ति] तपा जल युद्ध करता है, पुकारता है [फेनं बहुलान् बिन्दून् च अस्यन्ति] फेन और बुद्बुदको फेंकता है। हे [आपः] जलो ! [योषा पतिं दृष्ट्वा ऋत्वियाय संभवति] जैसी ऋतुयुक्त स्त्री पतिको देखकर ऋतुकर्मके लिये एक होती है, उसी प्रकार [एतैः तण्डुलैः संभवत] इन चावलोंके साथ यह जल मिल जावे ॥ २९ ॥

[बुध्ने सीदतः एनान् उत्थापय] नीचे बैठे हुए इन चावलोंको ऊपर उठाओ। [अद्भिः आत्मानं अभिसंस्पृशन्ताम्] जलोंके साथ वह स्वयं अच्छी तरह संयुक्त हो जाय। [यत् एतत् उदकं पात्रैः अमासि] यह जल पात्रोंसे मैंने माप किया है। [इमाः प्रदिशः तण्डुलाः मिताः] तथा ये चारों दिशाओंमें जानेवाले चावल भी मापे हुए हैं ॥ ३० ॥

[पर्शुं प्रयच्छ] फरसा दो, [त्वरय] शीघ्रता कर और [ओषं हर] यहां ले आ। [अहिंसन्तः ओषधीः पर्वन् दान्तु] हिंसा न करते हुए शाककी पर्वोंको काटा जावे। (यासां राज्यं सोमः परि बभूव) इन औषधियोंके राज्य का राजा सोम है। [वीरुधः नः अमन्युता भवन्तु] औषधियां हमारे साथ क्रोधरहित हों ॥ ३१ ॥

[नवं बर्हिः ओदनाय स्तृणीत] नवीन चटाई इस चावलके लिये फैलाओ। [हृदः प्रियं चक्षुषः वल्गु अस्तु] यह सब हृदयके लिये प्रिय और देखनेके लिये सुंदर हो। [तस्मिन् देवाः दैवीः सह विशन्तु] वहां देवियों समेत सब देव आ जावें। [निषद्य इमं ऋतुभिः प्राश्नन्तु] बैठकर इस अन्नको ऋतुओंके अनुसार खावें ॥ ३२ ॥

[वनस्पते स्तीर्णं बर्हिः आसीद] हे वनस्पतिसे उत्पन्न स्तंभ ! इस फैले आसनपर बैठ। तू [अग्निष्टोमैः देवताभिः संमितः] अग्निष्टोम यज्ञके देवोंसे संमानित हो। [त्वष्टा स्वधित्या रूपं सुकृतं] त्वष्टा अपने शस्त्रसे तेरे रूपको सुंदर बनाता है। [एना एहाः पात्रे परि ददृश्रां] ये साथवाले इस पात्रमें रहें ॥ ३३ ॥

भावार्थ— जल तप जानेपर उछलता है, शब्द करता है, बूंद और बुद्बुदोंको ऊपर फेंकता है, युद्ध करनेके समान हलचल करता है। जैसी ऋतुयुक्त स्त्री पतिके साथ मिलती है, वैसा ही यह जल चावलोंके साथ मिल जाता है ॥ २९ ॥

चावल पकानेके समय आधे पकनेपर नीचेसे ऊपर करने चाहिये, जिससे वे सब जलके साथ मिल जावें। पकानेके पात्रमें चावल और जल भी मिलने चाहिये ॥ ३० ॥

शाकभाजी काटनेके लिये शीघ्र अच्छा फरसा हाथमें लो, शीघ्रतासे जोड जोडपर काटो, परंतु ओषधियोंका नाश न करो। ये सब शाक सोम राजाके राज्यमें हैं। इनसे ही हमारा पोषण होता है ॥ ३१ ॥

चावल पकनेपर उनको रखनेके लिये नई चटाई फैलाओ। वह ऐसी हो कि जो दीखनेके लिये सुंदर और हृदयके लिये प्रिय हो। यहीं सब देव आकर बैठें और यथेच्छ सेवन करें ॥ ३२ ॥

यज्ञस्तंभ अपने स्थानपर रखा जावे। वह स्तंभ तर्खाणके हथियारोंसे बना है। कारीगरीसे इसका रूप सुंदर बनाया गया है। इसके साथ पात्रमें यह धान रहे ॥ ३३ ॥

षष्ट्यां शरत्सु निधिपा अभीच्छात् स्वः पक्वेनाभ्यश्नवातै ।
उपैनं जीवान् पितरश्च पुत्रा एतं स्वर्गं गमयान्तमग्नेः ॥३४॥

धर्ता ध्रियस्व धरुणे पृथिव्या अच्युतं त्वा देवताश्च्यावयन्तु ।
तं त्वा दंपती जीवन्तौ जीवपुत्रावुद् वासयातः पर्यग्निधानात् ॥३५॥

सर्वान्त्समागा अभिजित्य लोकान् यावन्तः कामाः समतीतृपस्तान् ।
वि गाहेथामायवनं च दर्विरेकस्मिन् पात्रे अध्युद्धरैनम् ॥३६॥

उप स्तृणीहि प्रथय पुरस्ताद् घृतेन पात्रमभि घारयैतत् ।
वाश्रेवोस्रा तरुणं स्तनस्युमिमं देवासो अभिहिङ्कृणोत ॥३७॥

अर्थ— [निधिपाः षष्ट्यां शरत्सु] अन्नका पालक दाता साठ वर्षोंमें [पक्वेन अश्नवातै स्वः अभीच्छात्] पके अन्नके दानसे स्वर्गप्राप्तिकी इच्छा करे। [पितरः पुत्राः च एनं उपजीवान्] पिता और पुत्र इसपर जिवित रहें। [एतं अग्ने अन्तं स्वर्गं गमय] इसको अग्निके पाससे स्वर्गके प्रति पहुंचाओ ॥ ३४ ॥

[धर्ता पृथिव्याः धरुणं ध्रियस्व] धारण करनेवाला तू अग्नि पृथिवीके आधारपर स्थिर रह। [अच्युतं त्वा देवताः च्यावयन्तु] न हिलनेवाले तुझे देवताएं हिला देवें। [जीवपुत्रौ जीवन्तौ दम्पती] जिनके पुत्र जीवित हैं ऐसे जीवित स्त्रीपुरुष [तं त्वा अग्निधानात् परि उत् वासयातः] तुझे अग्निधानके स्थानसे उठा देवें ॥ ३५ ॥

[तान् सर्वान् लोकान् अभिजित्य] उन सब लोकोंको जीतकर [समागाः यावन्तः कामाः समतीतृपः] संगत हुए जिन कामनाओंको तुमने तृप्त किया है। [आयवनं च दार्विः विगाहेथां] कड़छी और चमस अंदर डाल दो और [एकस्मिन् पात्रे एनं अधि उद्धर] एकही पात्रमें इसको रख ॥ ३६ ॥

[उपस्तृणीहि, पुरस्तात् प्रथय] घी डालो, आगे फैलाओ, [घृतेन एतत् पात्रं अभिघारय] घीसे यह पात्र भर दो। हे [देवासः] देवो! [स्तनस्युं तरुणं वाश्रा उस्रा इव] स्तन पीनेवाले बछडेको जैसी गौ चाहती है वैसे ही देव इसे [अभि हिंकृणोत] प्रसन्नताका शब्द करते हुए स्वीकार करें ॥ ३७ ॥

भावार्थ-जो अन्नका संग्रह करके उसको पकाकर दान करता है, वह साठ वर्षतक दान करता रहेगा, तो वह स्वर्गका अधिकारी होता है। इसी अन्नसे सब परिवारिक जन जीवित रहते हैं। और वह अन्नका हवन अग्निमें करता है, जो अग्नि इसको स्वर्गमें पंहुचाता है ॥ ३४ ॥

अग्नि सबका धारण करता है, वह भूमिपर स्थिर रहे। देवतागण उसे अपने स्थानसे हटा देवें। जिनके पुत्रपौत्र जीवित हैं, ऐसे स्त्रीपुरुष अग्निस्थानसे अग्निको उठाकर हवनस्थानमें रखें ॥ ३५ ॥

स्वर्गादि सब लोकोंको यज्ञद्वारा जीतकर अपनी सब मनकामनाओंको तृप्त करनेके लिये इस अन्नमें चमस डालकर उसका थोडा भाग इस पात्रमें ले लो ॥ ३६ ॥

पात्रमें घी डालो, उसे फैलाओ, घीसे पात्र भर दो, चारों ओर लगाओ। उसमें अन्न रखकर वह देवताओंको दो, वे इसका स्वीकार करें। जैसे स्तन पीनेवाले बछडेको गौ स्वीकार करती है ॥ ३७ ॥

उपास्तरीरकरो लोकमेतमुरुः प्रथतामसमः स्वर्गः ।
तस्मिञ्छ्रयातै महिषः सुपर्णो देवा एनं देवताभ्यः प्र यच्छान् ॥३८॥
यद्यज्जाया पचति त्वत् परःपरः पतिर्वा जाये त्वत् तिरः ।
सं तत् सृजेथां सह वां तदस्तु संपादयन्तौ सह लोकमेकम् ॥३९॥
यावन्तो अस्याः पृथिवीं सचन्ते अस्मत् पुत्राः परि ये संबभूवुः ।
सर्वांस्ताँ उप पात्रे ह्वयेथां नाभिं जानानाः शिशवः समायान् ॥४०॥
वसोर्या धारा मधुना प्रपीना घृतेन मिश्रा अमृतस्य नाभयः ।
सर्वास्ता अव रुन्धे स्वर्गः षष्ट्यां शरत्सु निधिपा अभीच्छात् ॥४१॥

अर्थ- तूने [एतं लोकं अकरः] इस लोकको बनाया और [उप अस्तरीः] उसको व्यवस्थित किया है। [असमः स्वर्गः उरुः प्रथतां] जिसके सदृश कोई नहीं है ऐसा यह स्वर्ग खूब फैले । [तस्मिन् महिषः सुपर्णः श्रयातै] उसमें बलवान् सुपर्ण -सूर्य-आश्रय करता है । [एनं देवाः देवताभ्यः प्रयच्छान्] इसको देव देवताओंके लिये देते हैं ॥ ३८ ॥

(यत् यत् त्वत् परः परः जाया पचति) जो कुछ तेरेसे अलग तेरी धर्मपत्नी पकाती है, हे (जाये) स्त्री ! (त्वत् तिरः पतिः वा) तेरेसे भिन्न छिपकर पति जो कुछ करता है, (तत् संसृजेथाः) वह तुम दोनों मिलाओ, (तत् वां सह अस्तु) वह तुम दोनोंका साथ साथ किया हुआ हो, (एकं लोकं सह संपादयन्तौ) तुम दोनों एक ही लोकको साथ साथ प्राप्त करते हो ॥ ३९ ॥

(यावन्तः अस्मत् अस्याः पुत्राः) जितने मुझसे इस स्त्रीमें उत्पन्न हुए पुत्र (ये परि संबभूवुः) जो यहां चारों ओर हैं और जो पृथिवीं सचन्ते) मातृभूमिकी सेवा करते हैं, (तान् सर्वान् पात्रे उपह्वयेथां) उन सबको पात्रमें भोजनके लिये बुलायें । (शिशवः जानानाः नाभिं समायान्) पुत्र भी जानते हुए इस एक ही केन्द्रमें आ जावें ॥ ४० ॥

(याः मधुना प्रपीनाः घृतेन मिश्राः) जो मधुसे भरपूर और घीसे मिश्रित (अमृतस्य नाभयः वसोः धाराः) अमृतके केन्द्रभूत धनकी धाराएं हैं, (ताः सर्वाः स्वर्गः अवरुन्धे) उन सबको स्वर्ग अपने पास रखे । (निधिपाः षष्ठ्यां शरत्सु अभीच्छात्) निधिका रक्षक साठ वर्षोंकी आयुमें इसकी इच्छा करे ॥ ४१ ॥

भावार्थ-- ईश्वरने इस लोकको और स्वर्गको बनाया और विस्तीर्ण करके फैलाया है। उसमें प्रकाशमान सूर्य विराजता है। सब देव इसके प्रकाशसे सुप्रकाशित होते हैं ॥ ३८ ॥

पत्नी जो करे अथवा पति जो करे, वह सब मिलाया जावे, दोनोंका मिलकर एक संसार हो। दोनोंमें भेद न हो । दोनों मिलजुल कर रहें और एक ही गृहस्थधर्मकी शोभा बढावें ॥ ३९ ॥

पतिपत्नीको जितने पुत्र हों अथवा संतान हों, भोजनके समय सबको एकत्र बुलाया जावे। क्योंकि एक केन्द्रमें आना सबको योग्य है। सब मातृभूमिकी सेवा करें ॥ ४० ॥

जो ऐश्वर्यके प्रवाह शहद और घीसे मिले हुए अमरत्व देनेवाले स्वर्गमें हैं, उनकी इच्छा यजमान अपनी आयुष्य साठ वर्ष होनेके पश्चात् करे ॥ ४१ ॥

निधिं निधिपा अभ्येनमिच्छादनीश्वरा अभितः सन्तु येऽन्ये ।
अस्माभिर्दत्तो निहितः स्वर्गस्त्रिभिः काण्डैस्त्रीन्त्स्वर्गानरुक्षत् ॥४२॥
अग्नी रक्षस्तपतु यद् विदेवं क्रव्यात् पिशाच इह मा प्र पास्त ।
नुदाम एनमप रुध्मो अस्मदादित्या एनमङ्गिरसः सचन्ताम् ॥४३॥
आदित्येभ्यो अङ्गिरोभ्यो मध्विदं घृतेन मिश्रं प्रति वेदयामि ।
शुद्धहस्तौ ब्राह्मणस्यानिहत्यैतं स्वर्गं सुकृतावपीतम् ॥४४॥
इदं प्रापमुत्तमं काण्डमस्य यस्माल्लोकात् परमेष्ठी समाप ।
आ सिञ्च सर्पिर्घृतवत् समङ्ग्ध्येष भागो अङ्गिरसो नो अत्र ॥४५॥

अर्थ-(निधिपाः एनं निधिं अभीच्छात्) निधिका रक्षक यजमान इस निधिकी इच्छा करे । (ये अन्ये अनीश्वराः अभितः सन्तु) जो दूसरे ऐश्वर्यहीन हैं वे चारों ओर भटकते रहें । (अस्माभिः दत्तः स्वर्गः निहितः) हमारे द्वारा दानसे प्राप्त हुआ स्वर्ग सुरक्षित रखा है । वह (त्रिभिः काण्डैः त्रीन् स्वर्गान् अरुक्षत्) तीनों विभागोंसे तीन स्वर्गोंके ऊपर चढे ॥ ४२ ॥

(यत् विदेवं रक्षः अग्निः तपतु) जो ईश्वरके विरोधी राक्षस हैं उनको अग्नि ताप देवे । (क्रव्यात् पिशाचः इह मा प्रपास्त) रक्तमांसभक्षक लोग यहां जलपान भी न करें । (एनं नुदामः) इस दुष्टको हम दूर करते हैं, (अस्मत् अपरुध्मः) अपनेसे इसको पास आने नहीं देते । (आदित्याः अंगिरसः एनं सचन्तां) आदित्य और अंगिरस इस दुष्टको पकड रखें ॥ ४३ ॥

(इदं मधु घृतेन मिश्रं) यह मधु घीसे मिश्रित हुआ (आदित्येभ्यः अंगिरोभ्यः प्रतिवेदयामि) आदित्यों और अंगिरसोंके लिये है, ऐसा कहता हूं । (शुद्ध-हस्तौ ब्राह्मणस्य अनिहत्य सुकृतौ) जो शुद्ध हाथ ज्ञानी मनुष्यका आहित नहीं करते, वे पुण्यवान् होते हैं । वे (एतं स्वर्गं अपि इतं) इस स्वर्गको प्राप्त हों ॥ ४४ ॥

(यस्मात् लोकात् परमेष्ठी समाप) जिस लोकसे परमेष्ठी परमेश्वर प्राप्त होता है, (अस्य इदं उत्तमं काण्डं प्रापं) इसका यह उत्तम भाग मैंने प्राप्त किया है । (घृतवत् सर्पिः आसिञ्च, समङ्ग्धि) घीसे युक्त मधु यहां रख और मिला, (नः एव भागः अत्र अंगिरसः) हमारा यह भाग आंगिरसोंका है ॥ ४५ ॥

भावार्थ— निधिका रक्षक यजमान दानद्वारा श्रेष्ठ ऐश्वर्यकी इच्छा करे । जो दूसरे शक्तिहीन हैं वे चारों ओर भटकते रहें । हमारे दानसे प्राप्त हुआ स्वर्ग ही यह है, जो तीनों विभागोंसे, तीनों स्वर्गोंसे श्रेष्ठ है ॥ ४२ ॥

जो ईश्वरका विरोध करते हैं, जो रक्त या मांस खाते हैं, उनको पास आने न दो, दूर रखो । ये समाजके शत्रु हैं ॥ ४३ ॥

शहद और घी सब देवताओंको दिया जावे । जो किसीकी हिंसा नहीं करते उनको पवित्र हाथ कहते हैं । वे ही स्वर्गको प्राप्त कर सकते हैं ॥ ४४ ॥

जहांसे परमेश्वर साधकको प्राप्त होता है, उसका उत्तम स्थान मनुष्य प्राप्त करे । घी और मधु भरपूर सेवन किया जावे और देवताओंके उद्देश्यसे अर्पण किया जावे ॥ ४५ ॥

सत्याय च तपसे देवताभ्यो निधिं शेवधिं परि दद्म एतम् ।
मा नो द्यूतेऽव गान्मा समित्यां मा स्मान्यस्मा उत्सृजता पुरा मत् ॥४६॥
अहं पचाम्यहं ददामि ममेदु कर्मन् करुणेऽधि जाया ।
कौमारो लोको अजनिष्ट पुत्रोऽन्वारभेथां वय उत्तरावत् ॥४७॥
न किल्बिषमत्र नाधारो अस्ति न यन्मित्रैः सममममान एति ।
अनूनं पात्रं निहितं न एतत् पक्तारं पक्वः पुनरा विशाति ॥४८॥
प्रियं प्रियाणां कृणवाम तमस्ते यन्तु यतमे द्विषन्ति ।
धेनुरनड्वान् वयोवय आयदेव पौरुषेयमप मृत्युं नुदन्तु ॥४९॥
समग्नयो विदुरन्यो अन्यं य ओषधीः सचते यश्च सिन्धून् ।
यावन्तो देवा दिव्यातपन्ति हिरण्यं ज्योतिः पचतो बभूव ॥५०॥(१७)

अर्थ— (सत्याय तपसे देवताभ्यः च) सत्य, तप और देवताओंके लिये (एतं शेवधिं निधिं परि दद्मः) इस खजानेरूपी निधिको देते हैं । (द्यूते समित्यां नः मा अव गात्) खेल और सभामें वह हमसे दूर न होवे और (मत् पुरा अन्यस्मै मा उत्सृजत) मुझे छोडकर दूसरेको भी न मिले॥ ४६ ॥

(अहं पचामि, अहं ददामि) मैं पकाता हूं, मैं दान देता हूं । (मम जाया करुणे कर्मन् अधि) मेरी धर्मपत्नी दयामय कर्ममें प्रयत्न करती है । (कौमारः पुत्रः लोकः अजनिष्ट) कुमार पुत्र इस लोकके लिये हुआ है । (उत्तरावत् वयः अन्वारभेथां) उच्च अवस्था प्राप्त करनेवाला अपना जीवन उत्तमतासे व्यतीत करें ॥ ४७ ॥

(अत्र न किल्बिषं) यहां अर्पणमें कोई पाप नहीं, (न आधारः अस्ति) न कोई आधारमें पीछे रखना है । (यत् मित्रैः सं-अममानः न एति) जो मित्रोंके साथ मिल जुलकर भी जाता नहीं । (एतत् पात्रं अ- नूनं निहितं) यह पात्र परिपूर्ण रखा है । (पक्वः पक्तारं पुनः आविशाति) पका हुआ पकानेवालेके पास फिर आ जाता है ॥ ४८ ॥

(प्रियाणां प्रियं कृणवाम) मित्रोंका प्रिय हम करें । (यतमे द्विषन्ति ते तमः यन्तु) जो द्वेष करते हैं वे अन्धेरेमें जांय । (धेनुः अनड्वान् वयोवयः आयत् एव) गौ और बैल ये बल ही लाते हैं । वे (पौरुषेयं मृत्युं अप नुदन्तु) मनुष्यकी मृत्यु दूर करें ॥ ४९ ॥

(अग्नयः अन्यो अन्यं सं विदुः) अग्नि परस्परको जानते हैं । (यः ओषधीः सचत, यः च सिन्धून्) जो औषधियोंके साथ रहता है और जो दूसरा जलोंमें रहता है । (यावन्तः देवाः दिवि आतपन्ति) जितने देव द्युलोकमें प्रकाशते हैं, उनकी (हिरण्यं ज्योतिः पचतः बभूव) तेजस्वी ज्योति अन्न पकानेवाले दाताके लिये मिले ॥ ५० ॥ (१७)

भावार्थ— सत्य, तप और देवताओंके लिये यह हम समर्पण करते हैं । यह फल हमसे किसी प्रकार दूर न होवे, न खेलोंमें दूर हो और न सभामें दूर हो अर्थात् सर्वदा हमारे पास रहे ॥ ४६ ॥

मनुष्य अन्न पकावे और दान करे । स्त्री भी धर्मकर्ममें दक्षतासे यत्न करे । इस तरह दोनों पुत्रको उत्पन्न करें और उच्च अवस्था प्राप्त करें ॥ ४७ ॥

दान करनेमें कोई पाप नहीं, न दानमें कुछ पीछे रखना है. वह इष्ट मित्रोंके साथ भी जाता नहीं । वह दानपात्र भरकर पूर्ण रखा जावे, जो परिपक्व होनेपर फिर फल रूपसे दाताके पास पहुंचेगा ॥ ४८ ॥

मनुष्य अपने मित्रका हित करे । द्वेषी शत्रुको दूर हटा देवे । गौ अपने दूधसे मनुष्यको आरोग्य, आयु और बल देती है और मृत्युको दूर करती है ॥४९ ॥

एषा त्वचां पुरुषे सं बभूवानग्नाः सर्वे पशवो ये अन्ये ।
क्षत्रेणात्मानं परि धापयाथोऽमोतं वासो मुखमोदनस्य ॥५१॥
यदक्षेषु वदा यत् समित्यां यद्वा वदा अनृतं वित्तकाम्या ।
समानं तन्तुमभि संवसानौ तस्मिन्त्सर्वं शमलं सादयाथः ॥५२॥
वर्षं वनुष्वापि गच्छ देवांस्त्वचो धूमं पर्युत्पातयासि ।
विश्वव्यचा घृतपृष्ठो भविष्यन्त्सयोनिर्लोकमुप याह्येतम् ॥५३॥
तन्वं स्वर्गो बहुधा वि चक्रे यथा विद आत्मन्नन्यवर्णाम् ।
अपाजैत् कृष्णां रुशतीं पुनानो या लोहिनी तां ते अग्नौ जुहोमि ॥५४॥

अर्थ- (पुरुषे एषा त्वचां संबभूव) मनुष्यमें यह त्वचा अन्य त्वचाओंसे उत्पन्न होती है। (ये अन्ये सर्वे पशवः अ-नग्नाः) जो दूसरे पशु हैं वे नग्न नहीं हैं। (क्षत्रेण आत्मानं परि धापयाथः) शौर्यसे अपने आपको ओढनेके लिये लो। (अमा — उतं वासः ओदनस्य मुखं) मिलकर बुना वस्त्र चावलोंपर डालने योग्य मुख्य वस्त्र है ॥ ५१ ॥

(यत् अक्षेषु वदाः) जो खेलोंमें तुम बोलते हो, (यत् समित्यां) जो सभामें बोलते हो, (यत् वा वित्तकाम्या अनृतं वदाः) जो धनकी इच्छासे असत्य भाषण किया हो, उसका (सर्वं शमलं तस्मिन् सादयाथः) सब दोष उसीमें रख दो और (समानं तन्तुं अभिसंवसानौ) समान वस्त्रका पहनाव तुम कर दो ॥ ५२ ॥

(वर्षं वनुष्व) वृष्टिकी प्राप्ति करो, (देवान् अपि गच्छ) देवोंके पास जाओ, (त्वचः परि धूमं उत्पातयासि) त्वचाके ऊपरका धूवां उडा दो। (विश्वव्यचाः घृतपृष्ठः भविष्यन्) विश्वमें विस्तृत, घृतसे युक्त होनेकी इच्छा करनेवाला (सयोनिः एतं लोकं उपयाहि) सजातीय होकर इस लोकको प्राप्त हो ॥ ५३ ॥

(स्वर्गः बहुधा तन्वं विचक्रे) द्युलोक ही बहु प्रकारसे अपने शरीरको बनाता है (यथा आत्मन् अन्यवर्णं विद) आत्मवत् दूसरे वर्णको भी देखता है। (रुशतीं पुनानः) तेजस्वी आकारको पवित्र करता है, (कृष्णां अपाजैत्) काले रूपको दूर करता है, (या लोहिनी तां ते अग्नौ जुहोमि) जो लाल रूप है उसको अग्नीमें हवन करता हूं ॥ ५४ ॥

भावार्थ-अग्नियोंका परस्पर संबंध है।एक औषधिमें और दूसरा जलमें रहता है। आकाशमें प्रकाशनेवाले देव अपना प्रकाश उदार दाताको देवें ॥ ५० ॥

सब अन्य पशु नंगे नहीं हैं, उनको ईश्वरनिर्मित वस्त्र हैं। परंतु मनुष्यके लिये ओढनेको वस्त्र चाहिये, ऐसीही त्वचा मनुष्यको स्वभावसे मिली है। इसलिये मिलजुलकर वस्त्र बुनो और पहनो। यही वस्त्र चावल आदिपर भी ढांपनेके लिये रखो ॥ ५१ ॥

जो खेलोंमें असत्य बोलते हैं, जो सभामें और जो धनकी इच्छासे असत्य बोलते हैं, उसके सब दोषको दूर करो समानता धारण करो और समानताके लिये समान ही वस्त्रका पहनाव करो ॥ ५२ ॥

वृष्टिका योग्य उपयोग करो, जल व्यर्थ जाने न दो। देवताकी उपासना करो, अपनी निर्मलता करो। जगत्में प्रसिद्ध होओ; पुष्टिकारक पदार्थ पास रखो, इस भूलोकमें मानवजातिकी सेवा करो ॥ ५३ ॥

द्युलोकने ही अनेक रूप धारण करके इस विश्वको बनाया है। ज्ञानी सबको आत्मवत् ही देखता है। मनुष्य तमोगुणको दूर करे, सत्वगुणको बढावे और रजोगुणका त्याग करे ॥ ५४ ॥

प्राच्यै त्वा दिशेऽग्नयेऽधिपतयेऽसिताय रक्षित्र आदित्यायेषुमते ।
एतं परि दद्मस्तं नो गोपायतास्माकमैतोः ॥
दिष्टं नो अत्र जरसे नि नेषज्जरा मृत्यवे परि णो ददात्वथ पक्वेन सह सं भवेम ॥५५॥
दक्षिणायै त्वा दिश इन्द्रायाधिपतये तिरश्चिराजये रक्षित्रे यमायेषुमते । एतं ०।० ॥५६॥
प्रतीच्यै त्वा दिशे वरुणायाधिपतये पृदाकवे रक्षित्रेऽन्नायेषुमते । एतं ०।० ॥५७॥
उदीच्यै त्वा दिशे सोमायाधिपतये स्वजाय रक्षित्रेऽशन्या इषुमत्यै । एतं ०।० ॥५८॥
ध्रुवायै त्वा दिशे विष्णवेऽधिपतये कल्माषग्रीवाय रक्षित्र ओषधीभ्य इषुमतीभ्यः। एतं ०।० ॥५९॥
ऊर्ध्वायै त्वा दिशे बृहस्पतयेऽधिपतये श्वित्राय रक्षित्रे वर्षायेषुमते ।
एतं परि दद्मस्त नो गोपायतास्माकमैतोः ॥
दिष्टं नो अत्र जरसे नि नेषज्जरा मृत्यवे परि णो ददात्वथ पक्वेन सह सं भवेम ॥६०॥ (१८)

॥ इति तृतीयोऽनुवाकः ॥

अर्थ-- (प्राच्यै दिशे) पूर्व दिशामें (अग्नये अधिपतये) अग्नि अधिपति, (रक्षित्रे असिताय) रक्षणकर्ता असित, (इषुमते आदित्याय) इषुवाला आदित्य, (दक्षिणायै दिशे०) दक्षिण दिशामें इन्द्र अधिपति, रक्षणकर्ता तिरश्चिराजी, यम इषुमान् (प्रतीच्यै दिशे०) पश्चिम दिशामें वरुण अधिपति, रक्षणकर्ता पृदाकु, इषुवाला अन्न, (उदीच्यै दिशे०) उत्तर दिशामें सोम अधिपति, स्वज रक्षणकर्ता और अशनी इषुवाली है, (ध्रुवायै दिशे०) ध्रुव-दिशामें विष्णु अधिपति, कल्माषग्रीव रक्षिता और औषधियां इषुवाली हैं, (ऊर्ध्वायै दिशे०) ऊर्ध्व दिशामें बृहस्पति अधिपति, श्वित्र रक्षिता और वर्षा इषुमान् है । इनके लिये (एतं परिदद्मः) हम इसका दान करते हैं । (तं नः गोपायत) उसका स्वीकार करके हमारी रक्षा करो । (अस्माकं आ एतोः) हमारी उन्नतिके लिये सहायक हो । (अत्र नः जरसे दिष्टं निनेषत्) यहां हमारी वृद्ध आयु होनेके लिये योग्य मार्गसे हमें ले जावे । (जरा नः मृत्यवे परि ददातु) वृद्धावस्था हमें मृत्युतक पहुंचावे । (अथ पक्वेन सह संभवेम) और परिपक्व फलके साथ हम पुनः उत्पन्न होंगे ॥ ५५-६० ॥

भावार्थ— प्रत्येक दिशामें अधिपति, रक्षक और इषुमान् योद्धा हैं, वे सबकी रक्षा करें । उनको हम योग्य दान देवें । वे पालन करते हुए हमें उन्नतितक पहुंचावें । वे हमें वृद्धावस्थातक सुरक्षित पहुंचावें और वहांसे मृत्युतक ले जावें, मृत्युके पश्चात् परिपक्व कर्मफलके साथ हम फिर जन्म लेंगे और वहां उन्नतिको प्राप्त करेंगे ॥ ५५-६० ॥

तृतीय अनुवाक समाप्त ॥ ३ ॥

स्वर्गका साम्राज्य ।

स्वर्गका साम्राज्य सब मानव जातिके लिये खुला हुआ है । उसको प्राप्त करना और वहां दीर्घकालतक रहना हर-एकके लिये योग्य है । परंतु वह सुकृतका लोक होनेसे वह उत्तम कर्म किये बिना प्राप्त नहीं हो सकता, यह बात सबको मनमें रखनी चाहिये । यह स्वर्ग इस भूलोकमें भी है और परलोकमें भी है । परलोकका स्वर्ग प्राप्त करनेके लिये भी यहीं प्रयत्न करना पडता है । इससे स्पष्ट होगा कि, यहां अथवा परलोकमें स्वर्गसुख प्राप्त करना मनुष्यके पुरुषार्थपर अवलंबित है । इस सूक्तका संक्षेपसे यह तात्पर्य है । अब क्रमशः इन मंत्रोंमें जो मुख्य मुख्य उपदेश कहे हैं उनका निरीक्षण करते हैं—

बलका महत्त्व ।

स्वर्ग प्राप्त करनेमें बलका महत्त्व है, बलके बिना कोइ उन्नति प्राप्त नहीं हो सकती । वह बल हरएकको प्राप्त करना चाहिये । मनुष्योंमें जो सबसे अधिक सामर्थ्यवान् और प्रभाव-शाली होगा, वही राष्ट्रका अधिष्ठाता बने । कोई दुर्बल राजगद्दीपर न रहे । क्योंकि राष्ट्रकी उन्नति प्रबल राजशक्तिपर ही अवलंबित रहती है । निर्बल राजाके कारण संपूर्ण राष्ट्र दुर्बल हो जाता है । अतः सुख प्राप्तिकी इच्छा करनेवालोंको उचित है कि वे सामर्थ्यवान् पुरुषकी राष्ट्राधिष्ठाताके स्थानपर नियुक्ति करें । वह अधिष्ठाता अपने सुयोग्य सामर्थ्यवान् अनुयायियोंको इकट्ठा करे और उनकी सहायतासे राष्ट्रका शासन चलावे । सबका उत्तम नियंत्रण करे और सबकी उन्नति होने योग्य सुव्यवस्था रखे । इसीका नाम यमराज्य अर्थात् नियमके अनुसार चलनेवाला राज्य है । [१]

इस तरहका राज्यशासन होनेके पश्चात् आपको उचित है कि आप अपनी दृष्टि सूक्ष्म और परिशुद्ध करें अर्थात् सुयोग्य ज्ञान प्राप्त करें, वीर्य अर्थात् अनेक बलोंको प्राप्त करें। आपके राष्ट्रमें दूरदृष्टि और सामर्थ्य जितना अधिक होगा उतना ही आपका उत्कर्ष होनेवाला है । अतः तेज, बल, सामर्थ्य, ज्ञान और दूरदृष्टि बढाना आपका मुख्य कर्तव्य है । परिपक्व होनेपर ही मिठास उत्पन्न होती है, अतः आपको उचित है कि आप अपने आपको परिपक्व करें जिससे आपका कल्याण होगा । [२]

एकताका संदेश ।

इस लोकमें तुम सब मिलजुलकर एकभावसे रहो, परमेश्वर उपासना भी मिलकर करो, राज्यव्यवस्था भी मिलकर चलओ, जो कुछ पराक्रम करना हो वह मिलकर ही हो सकता है । मिलनेसे ही बल बढता है । मिलनेके लिये अपनी पवित्रता और निर्दोषता संपादन करनी चाहिये । जितना संगठन होगा, उतना बल बढेगा और जितना बल बढेगा, उतना प्रभाव विशेष होगा । इस तरह यह एकताका संदेश मानवी उन्नतिके लिये यहां कहा है । [३]

सब लोगोंसे यह कहना है कि वे अपने जीवनको धन्य बनानेके लिये प्रयत्न करें । यह प्रयत्न जितना मिलकर होगा उतना यश तुम्हें प्राप्त होगा । आपसमें फूट रखोगे तो वहीं नाशका बीज बढेगा । तुममेंसे प्रत्येकको अमृत प्राप्त करनेका अधिकार है । घरमें स्त्री, पुत्र और गृहपति मिलकर रहते हैं, यहां एकताका उपदेश मिलता है और यहीं सुखकी प्राप्ति हो सकती है इस गृहस्थाश्रममें माता अन्न पकाती है, पिता अन्न लाता है, पुत्र अन्यान्य कार्य करते हैं। इस तरह परस्परको सहायता करनेसे सबको अत्यधिक सुख प्राप्त हो सकता है । इस तरह विचार करके पाठक एकताका बोध प्राप्त करें और उसका आचरण करके उन्नत हो जांय । [४-५]

घरमें पुत्रपौत्र बडे हुए हैं, वे कार्यभार संभाल रहे हैं, वृद्धोंकी यथायोग्य सेवा हो रही है, तरुणोंका आश्रय यथा-योग्य रीतिसे वृद्धोंको मिल रहा है, यही इस लोकका तेजस्वी स्वर्ग है, जो प्रत्येक गृहस्थीको प्राप्त करना चाहिये । [६]

चारों दिशाओंमें हलचल ।

उन्नतिके लिये हलचल तो चारों दिशाओंमें शुरू करनी चाहिये । पूर्व दिशा ज्ञानकी दिशा है, सब प्रकाश इसी

दिशासे प्राप्त होता है। श्रद्धावान् लोग ज्ञान प्राप्त करके ज्ञानका प्रसार खूब करें। जैसा सूर्य सबको प्रकाश देता है वैसा प्रकाश सबको मिले। ज्ञानका उपयोग अपनी रक्षाके लिये किया जावे। स्त्रीपुरुष मिलकर कार्य करें और सब लोग ज्ञानसे सुप्रकाशित हों। [७]

ज्ञान प्राप्त करनेके पश्चात् दक्षतासे उद्योग करने चाहिये। दक्षता न रही तो सब यत्न विफल हो जाते हैं। यह संदेश दक्षिण दिशा दे रही है। यहां यम अर्थात् नियामक देव है। यह कहता है कि ' नियमोंमें रहो। नियम छोडकर चलोगे, तो मेरा दण्ड उद्यत है। उससे छुटकारा नहीं हो सकता। इस नियामकके साथ पितर भी हैं। ये सबके रक्षक हैं। रक्षा करना और नियमविरुद्ध आचरण न करना ही यहां का उपदेश है। जो यह उपदेश लेकर तदनुकूल चलेंगे, वे ही उन्नत हो सकते हैं। [८]

पश्चिम दिशा विश्रामकी सूचना देती है। योग्य पुरुषार्थ करनेके पश्चात् विश्राम अवश्य लेना चाहिये, जिससे आगे-और प्रयत्न करनेका बल प्राप्त होता है। अर्थात विश्राम अधिक पुरुषार्थके लिये होना चाहिये। यहां सोमादि औषधियां हैं जिनका सेवन करनेसे बल, पुष्टि और आयु बढती है। [९]

उत्तर दिशा उन्नततर अवस्था प्राप्त करनेकी सूचना दे रही है। अपने राष्ट्रकी अवस्था उन्नततर करो, श्रेष्ठ करो, सब प्रकारसे आगे बढो, पांच जनोंका समुदाय उन्नत हो, सर्वांगीण उन्नति करो, किसी भी अंगमें पीछे न रहो। यह उपदेश यहां मिलता है। [१०]

ध्रुवदिशा स्थिरताका संदेश दे रही है। अपने वचनपर स्थिर रहो, अपनी प्रतिज्ञापर स्थिर रहो, युद्धमें अपने स्थान-पर स्थिर रहो, व्यर्थ चंचल न हो। अपनी रक्षा करनेके लिये, पुत्रोंका योग्य रीतिसे पालन करनेके लिये, अनेक शुभ कर्म करनेके लिये स्थिर होनेकी सूचना इस दिशासे मिलती है।

इस तरह ये सब दिशाएं मनुष्यको ये उपदेश दे रही हैं। यह उपदेश सुनकर मनुष्यको उन्नतिका साधन करनेका मार्ग विदित हो सकता है। इस मार्गसे मनुष्य जाय और अपनी उन्नतिका साधन करे ॥ [११]

ऊखल और मूसल

पुत्रोंका पालन उत्तम रीतिसे किया जावे। जलवायु सर्वत्र शुद्ध और कल्याणकारी रखा जावे। सत्यकी प्रीति और तपकी रुचि मनुष्योंमें बढे और सबको अन्न भी पर्याप्त प्राप्त हो। घरमें ऊखल और मूसल पानीसे कोई न भिगावे, क्योंकि वह सूखा रहा तो ही अच्छा कार्य कर सकता है। वह पवित्र स्थानमें रहे और धान्य आदि स्वच्छ करके वही बर्ता जावे [अर्थात् यहां वेदका उपदेश यह है कि [मशीन] यंत्रद्वारा साफ किये चावल, आटा आदि कोई न खावे। परंतु घर घरमें ऊखल मूसल रखकर हाथसे पीसा आटा और ऊखल मूसल द्वारा हाथसे साफ किये चावल मनुष्य खावें]। पाठक-गण इसका विचार करें। क्योंकि इस कार्यके लिये चारों ओर यंत्र शुरू हुए हैं। यंत्रसे स्वच्छ करनेसे धान्यके जीवनकण नष्ट होते हैं और हाथसे साफ करनेसे वे जीवनकण सुरक्षित रखे जाते हैं। वेद उपदेश द्वारा बताना चाहता है कि यंत्रद्वारा बनाया आटा कोई न खावे और यंत्रके निर्मित चावल भी कोई न लेवे। इससे परिपूर्ण जीवनायु प्राप्त होंगे और उत्तम आरोग्य रहेगा। कौनसा वैदिकधर्मी ऐसा है कि जो आजसे ऐसा करेगा और कमसे कम खानेपीनेमें तो वेदका उपदेश मानेगा ?] [१२-१४]

यही लकडीसे बना ऊखल और मूसल दैवी शक्तिवाला है, जो राक्षसों और पिशाचोंको हम लोगोंसे दूर कर सकता है। यह इस ऊखलकी घोषणा है। जनता इस घोषको सुनें। जो लोग घर घरमें ऊखल मूसलसे धान्यको साफ करके उसीका सेवन करेंगे उनपर राक्षसों और पिशाचोंका हमला नहीं हो सकता। [अर्थात् जो मशीन-यंत्र-द्वारा सडे चावल आदि खायेंगे उनका नाश ये ही राक्षस और पिशाच करेंगे। अतः लोग संभलकर रहें] [१५]

पशुपालन।

घर घरमें गौ आदि पशुओंका पालन हो। घर घरमें यज्ञयाग होते रहें। घर घरमें देवताओंका सन्तोष होता रहे। जल वायु आदि देवता किसी भी घरमें अप्रसन्न न रहें। कहीं भी अप्रसन्नता उत्पन्न न होवे। [१६]

गृहव्यवस्था ॥

स्त्री और पुत्र तथा गृहपति मिलकर घर होता है। ये सब घरमें मिल जुलकर रहें। इस एकताके विषयमें अथर्ववेद

कां० ३ सू० ३० में जो उपदेश आया है वह पाठक यहां देखें। वह उत्तम उपदेश है और हरएक गृहस्थाश्रमीको सदा ध्यानमें धारण करने योग्य है। पुरुष जिस स्त्रीका पाणिग्रहण करे, वे दोनों परस्पर अनुकूलताके साथ रहें, आपसमें झगडा न बढावें, आपसमें झगडा करेंगे तो दुर्गति और नाशको प्राप्त होंगे, यह हरएक गृहस्थीको स्मरण रखना चाहिये। घरके सब लोग आनंद-प्रसन्न और मिलजुलकर रहें और प्रयत्न करके अपनी उन्नतिका साधन करते रहें। [१७]

सब मिलकर दक्षतासे सब रोगोंको दूर करें, अज्ञान और अन्धकार दूर करें। घरमें अन्धकार न रहे, क्योंकि अन्धकारमें रोगजन्तु बढते हैं और रोग होते हैं। अतः घरमें बहुत अन्धेरा न रहने पावे ऐसा घर बनाया जाय। घरघरमें लकडीका बना ऊखल और मूसल हो और उसीमें चावल साफ करके उनका ही सेवन घरके लोग करें। [१८]

ऊखल मूसलसे साफ किये धान्यसे तुष आदि दूर करनेके लिये सूप घरमें रहे। इस सूप-छाजसे चावल आदि साफ किये जांय, तुष हटाया जावे और स्वच्छ चावल लिये जांय। इनका ही सेवन गृहस्थी करे। (१९)

जिनसे तीनों लोकोंका आनंद और स्वास्थ्य प्राप्त होता ऐसे शुद्ध चावल इसी तरह स्वच्छ होते हैं। [यंत्र-मशीन द्वारा साफ किये चावल तो राक्षसों और पिशाचों अर्थात् अनेक रोगोंको बुलानेवाले हैं।] ये चावल जो ऊखल और मूसल द्वारा तथा छाजसे साफ होते हैं वे तो आप्यायन करनेवाले अर्थात् सब प्रकारकी पुष्टि करनेवाले हैं। (२०)

छाजमें पुनः पुन ले लेकर इस तरह धान्य स्वच्छ किया जावे। चावलोंपर जो लाल रंगकी त्वचासी होती है उसको मूसलसे कूट कूटकर हटाया जावे। जैसा धोबी वस्त्रको स्वच्छ करता है वैसा ही ऊखलमूसलद्वारा ये चावल स्वच्छ किये जांय और इनका सेवन गृहस्थी करे। पशुओंमें विविध रंग होते हैं, परंतु एक ही घास खाकर वे परिपुष्ट होते हैं। इसी प्रकार विविध रंगरूपवाले मनुष्य इन चावलोंका सेवन करके हृष्ट, पुष्ट और दीर्घजीवी बनें। (२१)

पकानेका कार्य।

अब पकानेका समय आता है। इसके लिये बहुत प्रकारके बर्तन होते हैं। ये बर्तन मिट्टीसे ही अनेक प्रकारके बनाये जाते हैं। ये फूटे टूटे न हों, चूनेवाले न हों। किसी स्थानपर सुराख हो तो उसको ज्ञानद्वारा बंद किया जावे। जैसी माता पुत्रको प्यारसे संभाल कर लेती है, उस प्रकार ये बर्तन बर्ते जांय। ऐसे बर्ते जांय कि वे न टूटें। डेकची, बटलोई, पतेला आदि बर्तन चूलेपर संभालकर रखे जांय। इनमें चमस रखे जांय और ये पात्र घृत आदिसे सिंचित रहें। (२२—२३)

इन पात्रोंकी रक्षा चारों ओरसे होवे। अग्निसे रक्षा हो अर्थात् पात्र अच्छी तरह पका हुआ हो; वरुणदेवताके जलसे इसकी रक्षा हो अर्थात् पानीमें गल जानेवाला न हो, वनस्पतियो द्वारा इसके टूट जानेका संभव न हो। (२४)

जलका महत्त्व।

पृथ्वीके जलकी भाप बनकर मेघमंडलमें जाती है, वहां मेघ बनते हैं, उनसे वृष्टि होकर फिर वह जल पृथ्वीपर आता है। यह जल प्राणियोंको जीवन देनेवाला और जीवनकी धन्यता करनेवाला है। यह पात्रोंमें भरकर रखना और पकानेके समय वह पात्र चूल्हेपर रखना चाहिये। यह परिशुद्ध जल मनुष्यको सुख देनेवाला है (२५—२६)

यह जल मनुष्यमें बल लाता, प्रसन्नता उत्पन्न करता, वीर्य बढाता, पवित्रता करता और रोगादि मृत्युदूतोंको दूर करता है। यही जल गृहस्थियोंके अन्न पकानेमें प्रयुक्त होवे। [२७]

थोडासा जल वृष्टिद्वारा भूमिपर गिरकर औषधिवनस्पतियोंमें जाकर-उसका गुणकारी औषधिरस बनता है। यह मनुष्योंका हित करता है। इसके अतिरिक्त इतना हितकारी दूसरा जल मेघोंसे बहुत ही गिरता है, वह सब जगत् को व्यापता है। [२८]

जब बर्तनमें जल डालकर तपाया जाता है, तो जलके अणु एक दूसरेपर उछलते हैं और ऐसा प्रतीत होता है कि वे परस्पर युद्ध करते हैं, वार्तालाप करते हैं, या झगडा करते हैं। जैसी स्त्री पतिको देखकर उसके साथ प्रेमसे मिलना चाहती है, वैसा ही जल पकानेके समय चावलोंके साथ मिलता है, जिससे चावल पकते हैं। [२९]

पकानेके समय बर्तनमें कडछी डालकर नीचेके चावल ऊपर और ऊपरके नीचे करने चाहिये। अर्थात् अच्छी तरह चावल हिलाने चाहिए। जिससे जल हरएक चावलके साथ अच्छी

तरह मिल जायें जाता है और चावल उत्तम रीतिसे पक जायें। [३०]

शाकभाजी।

जैसे चावल पकाने होते हैं उसी प्रकार शाकभाजी पकानेकी भी रीति है। उत्तम परशु, छुरा भाजी काटनेके लिये लो। उसकी धारा ठीक करो। औषधियां शाकभाजी आदि हाथमें लो। उसको ऐसा काटो कि जिससे उनका सत्व न बिगडे। औषधियोंकी हिंसा न हो और उनका क्रोध हमपर न हो। [३१]

पकनेपर।

चावल पकनेपर उनको बर्तनसे निकालना चाहिये। उनको रखनेके लिये उत्तम नई चटाई [बांसकी बनी] शुद्ध भूमिपर फैलानी चाहिये और उसपर बर्तनसे सब चावल रखने चाहिये। यह दृश्य ऐसा करना चाहिये कि जो आंखको प्रिय और हृदयको मनोहर प्रतीत हो। देवताएं वहां अपनी धर्मपत्नियोंके समेत आजांय और इस अन्नका सेवन करें। (३२)

इस तरह यज्ञ करनेसे यजमान स्वर्गको प्राप्त करता है। साठ वर्ष कोई गृहस्थी इस रीतिसे यज्ञ करेगा तो उसको स्वर्ग मिलेगा। घरमें पिता माता पुत्र आदि संतुष्ट रहें तो वही भूलोकका स्वर्ग है और अन्नदानसे परलोक मिलता है। (३३-३५)

संपूर्ण सुखोपभोग विजय प्राप्त होनेसे ही प्राप्त होते हैं। विजयके बिना भोग मिलना असंभव है। यह एक उन्नतिके लिये बडी महत्त्वकी सूचना यहां दी है। शुद्ध अन्न, उत्तम घी, मधु (शहद) आदि पदार्थ हितकारी, पौष्टिक और बलवर्धक हैं। इनका स्वयं सेवन करना, दूसरोंको देना और देवताओंके उद्देश्यसे समर्पण करना चाहिये। यह लोक अर्थात् इस भूलोकमें स्वयं पुरुषार्थसे ही जो कुछ होगा सो होगा। इसलिये यह लोक पुरुषार्थप्रधान है। जो पुरुषार्थ करता है, उसको सब देवताओंका सहाय्य होता है। (३६-३८)

कुटुंबमें एकता।

स्त्री कुछ करती है, पुरुष भी कामधंधेमें लगा है, युवक अपने कार्य करते हैं। ये सब जो भी कुछ करें कुटुंबकी रक्षा और उन्नतिके लिये करें। संमेलनसे ही घरमें स्वर्गसुख प्राप्त हो सकता है, अतः भोजनके समय कमसे कम सब पुत्रों, पुत्रियों और परिवारिक जनोंको बुलाना चाहिये और साथ साथ बैठकर भोजन करना चाहिये। सब बालकोंको इससे एकताका पाठ मिल जायगा और इस एकतामें ही सब सुखका बीज है। (३९-४०)

मधु घृत आदिसे मिश्रित अन्न हो, धनके प्रवाह चलते रहें, आयुके साठ वर्षतक इनका दान होता रहे, सर्वत्र भरपूरता हो, किसी प्रकार न्यूनता कहीं भी न हो। यही स्वर्ग देनेवाला है। अन्य लोग कितने भी कंजूस हों, उनको वह आनंद नहीं मिलेगा जो इस प्रकारके दाताको प्राप्त हो सकता है। (४१-४२)

देवनिंदकको दूर करो।

कई लोग देवताओंकी निंदा करनेवाले होते हैं, उनको समाजसे बाहर करना चाहिये। उनको कोई अधिकार नहीं देना चाहिये। सब राज्याधिकार ऐसे लोगोंके हाथमें रहे कि जो देवोंके अनुकूल चलनेवाले हों। देवद्रोहियोंको सब मिलकर एकमतसे बहिष्कृत करें। जो ज्ञानी, शूर इस कार्यमें सहायक होंगे, उनको मधु और घी तथा अन्न भरपूर मिलना चाहिये। (४३-४४)

परमेष्ठी प्रजापति।

परमेष्ठी प्रजापति परम उच्च स्थानमें विराजमान है, इसी लिये उसे (परमे-स्थि) परमेष्ठी कहते हैं। इसको प्राप्त करनेके लिये ही सब कुछ धर्मकर्म किये जाते हैं। आप जो दान करते हैं, घीका दान हो, मधुका हो, या अन्य किसीका हो वह सब इस एक ही कार्यके लिये होता है। सत्य और तप मुख्यतः इसकी प्राप्तिके लिये हैं। सत्यका अवलंबन करनेसे बडा फल प्राप्त होता है, तप बडी पवित्रता करनेवाला है। येही सत्य और तप बडा आध्यात्मिक ऐश्वर्य तथा ऐहिक धन देते हैं। मनुष्यको यहांतक सावधान रहना चाहिये कि खेलमें भी वह सत्यसे दूर न हो, सभाओंमें सदा सत्य ही का अवलंबन करना चाहिये। जो सत्य और तपको छोडेंगे उनकी उन्नति कभी नहीं हो सकती। हरएक मनुष्यके कार्यमें उन्नतिकी इच्छा होगी, तो इनका अवलंबन करना अनिवार्य है। (४५-४६)

आदर्श गृहस्थाश्रम।

'मैं अन्न पकाता हूं, मैं दान देता हूं, मेरी धर्मपत्नी धर्मकर्ममें सहायता करती है, मेरे पुत्र जनहित करनेके कार्य करते हैं,

में दीर्घ जीवन प्राप्त करके उसका उपयोग धर्मकार्य करनेके लिये करूंगा । ऐसा हरएक गृहस्थीको कहनेका सौभाग्य प्राप्त हो । यही एक बडा ऐश्वर्य है । जिसका ऐसा कुटुंब हो वह धन्य है । इसी तरह यहां हमारे घरमें पाप करनेवाला कोई न रहे, दान देनेके समय उसमेंसे कुछ पीछे रखनेवाला कंजूस कोई न हो, चारों ओर मित्र बढें, दानके पात्र सदा भरपूर हों और सब शुभ कर्मका परिपक्व फल ऐसे गृहस्थीको प्राप्त होता रहे । यह है आदर्श गृहस्थाश्रम । गृहस्थी मित्रोंका प्रिय करे, सतत प्रयत्न करता रहे, गौका दूध पीये, बैलोंका उपयोग खेतीके लिये होता रहे, रोग और मृत्यु दूर होता रहे । (४७-४९)

परस्परका हृदय जानना चाहिये । मित्रताके लिये इसकी अत्यंत आवश्यकता है । हृदयके ज्ञानके विना संगठन भी नहीं हो सकता । जोभी पृथिवी आदि देव हैं, वे सब योग्य मनुष्यको सुवर्ण और तेज देनेके लिये बैठे हैं । परंतु उनसे लेनेके लिये भी तो यत्न करना चाहिये । अपने अन्दर क्षात्रतेज बढाना और उससे अपनी रक्षा करनी चाहिये । यह आत्मरक्षा करनेका कार्य तो प्रत्येकका है । अतः कोई इस क्षात्रतेजके बिना न रहे, सब लोग तेजस्वी बनें। (५०-५१)

जो किसी कार्यके लिये असत्य बोलना है, वह सब पापका हेतु है । फिर वह असत्य भाषण खेलमें हो, या धनलोभसे हो । सबकी उन्नतिका एक ही तन्तु है और वह केवल एकमात्र सत्य है । सत्यके बिना किसीकी उन्नति होनी नहीं है । [५२]

जो वृष्टि होती है उसका उत्तम उपयोग करो, अर्थात् जल व्यर्थ न जाने दो । सब पदार्थ स्वच्छ रखो, किसीभी स्थानमें मलिनता न रहे । अपना प्रभाव चारों ओर फैलाओ, घृत आदि पदार्थ भरपूर रहें, अन्नकी न्यूनता न रहे । [५३]

सब विश्व इस स्वर्गधामके ही तत्त्वसे विविध रूपोंमें बना है । इस विश्वमें सत्व, रज और तम गुण हैं, जिनकी तेजस्विता, रक्तिमा और मलिनता सुप्रसिद्ध है । मलिनता दूर करनी चाहिये, तेजस्विताको अपनाना चाहिये और रजोगुणका दान - करना चाहिये । यह एक उन्नतिका नियम सर्वसाधारण है [५४]

हरएक दिशामें अधिपति, रक्षणकर्ता, शस्त्रास्त्रधारी सैनिक रखकर अपने राष्ट्रकी सुरक्षा उत्तम करनी चाहिये । ये रक्षणका कार्य करें और सुरक्षित हुए लोग इनका योगक्षेम चलानेके लिये उनको योग्य दान देवें । इनकी रक्षासे सुरक्षित हुए लोग वृद्धावस्थातक अपनी उन्नतिका कार्य करें । इस तरह करनेसे यही स्वर्गधाम होगा और मृत्युके पश्चात् स्वर्गलोक भी प्राप्त होगा । [५५-६०]

यहांतक इस सूक्तमें मंत्रोंका सरल आशय खुली भाषासे दिया है । मंत्रोंका हृद्गतभाव इससे पाठक जान सकेंगे । इस सूक्तमें वेदने इस भूलोकको ही स्वर्गधाम बनानेकी विधि बतायी है । जो लोग ऐसा करेंगे वे न केवल इस संसारमें जीते जी स्वर्गसुख प्राप्त करेंगे, परंतु मरणोत्तर मिलनेवाले स्वर्गलोक भी निःसन्देह प्राप्त करके वहां बहुत समय अपूर्व सुख प्राप्त करके उत्तम कुलमें जन्म लेकर फिर भी आगेकी उन्नति संपादन करेंगे ।

आशा है कि यह उपदेश वैदिक धर्मियोंके आचरणमें आजाय और सब संसारका स्वर्गधाम बन जाय ।

वशा गौ ।

[४]

(ऋषिः-कश्यपः । देवता-वशा)

ददामीत्येव ब्रूयादनु चैनामभुत्सत । वशां ब्रह्मभ्यो याचद्भ्यस्तत् प्रजावदपत्यवत् ॥१॥
प्रजया स वि क्रीणीते पशुभिश्चोप दस्यति ।
य आर्षेयेभ्यो याचद्भ्यो देवानां गां न दित्सति ॥२॥
कूटयास्य सं शीर्यन्ते श्लोणया काटमर्दति । बण्डया दह्यन्ते गृहाः काणया दीयते स्वम् ॥३॥
विलोहितो अधिष्ठानाच्छक्नो विन्दति गोपतिम् ।
तथा वशायाः संविद्यं दुरदभ्ना ह्यु१च्यसे ॥४॥

अर्थ— (ददामि इति एव ब्रूयात्) देता हूं ऐसा ही कहे । (च एनां अनु अभुत्सत) और इसके विषयमें अनुकूल भाव रखे । (याचद्भ्यः ब्रह्मभ्यः एनां) मांगनेवाले ब्राह्मणोंको इस गौको देवे, (तत् प्रजावत् अपत्यवत्) यह दान प्रजा और संतान देनेवाला है ॥ १ ॥

(यः याचद्भ्यः आर्षेयेभ्यः देवानां गां न दित्सति) जो मांगनेवाले ऋषिपुत्रोंको देवोंकी गौ नहीं देता (सः प्रजया विक्रीणीते) वह अपनी प्रजाको ही बेचता है, (पशुभिः च उपदस्यति) पशुओंके साथ नाशको प्राप्त होता है ॥ २ ॥

(कूटया अस्य सं शीर्यन्ते) विना सींगके पशुसे भी इस अदानी मनुष्यके लोग मारे जांयगे और [श्लोणया काटं अर्दति) लंगडी लूलीके द्वारा भी गढेमें इसके लोग गिराये जांयगे । (बण्डया गृहाः दह्यन्ते) विकल गौसे इसके घर जलाये जांयगे और (काणया स्वं दीयते) एक आंखसे हीन गौ द्वारा इसका धन नष्ट किया जायगा ॥ ३ ॥

(विलोहितः शक्नः अधिष्ठानात् गोपतिं विन्दति) रक्तज्वर गोबरके स्थानसे गौके कंजूस स्वामीको पकडता है । (तथा वशायाः संविद्यं) वैसी गौका नाम है (हि दुरदभ्ना उच्यसे) इसी कारण वह दमन करनेके लिये कठिन है, ऐसा कहा जाता है ॥ ४ ॥

भावार्थ— हरएक गृहस्थी अथवा मनुष्य 'दान देता हूं' ऐसा ही सदा कहे । दानके विषयमें तथा गौके विषयमें मनमें अनुकूल भाव धारण करे । ज्ञानी मनुष्योंको गौवोंका दान करनेसे दाताका भाग्य बढता है ॥ १ ॥

जो गौका दान विद्वानोंके मांगनेपर भी नहीं करता, उसको कष्ट प्राप्त होते हैं ॥ २ ॥

जहांसे भयका संभव नहीं वहांसे उसको भय प्राप्त होते हैं ॥ ३ ॥

गौके गोबरसे रक्तज्वर उत्पन्न होकर वह कंजूस मालिकका नाश करता है । अर्थात् उसे अनेक व्याधियां सताती हैं । अतः गौके विषयमें सदा आदर रखना चाहिये । क्योंकि गौका अपमान क्षमा नहीं किया जाता ॥ ४ ॥

पदोरस्या अधिष्ठानाद् विक्लिन्दुर्नाम विन्दति । अनामनात् सं शीर्यन्ते या मुखेनोपजिघ्रति ॥५॥
यो अस्याः कर्णावास्कुनोत्या स देवेषु वृश्चते ।
लक्ष्म कुर्व इति मन्यते कनीयः कृणुते स्वम् ॥६॥
यदस्याः कस्मै चिद् भोगाय बालान् कश्चित् प्रकृन्तति ।
ततः किशोरा म्रियन्ते वत्सांश्च घातुको वृकः ॥७॥
यदस्या गोपतौ सत्या लोम ध्वाङ्क्षो अजीहिडत् ।
ततः कुमारा म्रियन्ते यक्ष्मो विन्दत्यनामनात् ॥८॥
यदस्याः पल्पूलनं शकृद् दासी समस्यति । ततोऽपरूपं जायते तस्मादव्येष्यदेनसः ॥९॥
जायमानाभि जायते देवान्त्सब्राह्मणान् वशा ।
तस्माद् ब्रह्मभ्यो देयैषा तदाहुः स्वस्य गोपनम् ॥१०॥ (१९)

अर्थ-(अस्याः पदोः अधिष्ठानात्) इस गौके पांव रखनेके स्थानसे (विक्लिंदुःनाम जानते)विक्लिंदु नामक रोग होता है। (याः मुखेन उपजिघ्रति) जिनको मुखसे सूंघती है वे(अनामनात् संशीर्यन्ते) न जानते हुए ही क्षीण होकर नष्ट होते हैं ॥५॥

(यः अस्याः कर्णौ आस्कुनोति) जो इस गौके कानोंको दुःख देता है, (सः देवेषु आवृश्चते) वह मानो देवोंपर आघात करता है, जो गायपर (लक्ष्म कुर्वे इति मन्यते) चिह्न करता हूं ऐसा मानता है, वह (स्वं कनीयः कृणुते) अपना धन न्यून करता है ॥ ६ ॥

(यत् कश्चित् कस्मैचित् भोगाय) जो किसी भोगविशेषके लिये (अस्याः बालान् प्रकृन्तति) इस गौके बालोंको काटता है, उससे (ततः किशोराः म्रियन्ते) उसके बालक मरते हैं तथा (वृकः वत्सान् च घातुकः) भेडिया बच्चोंका घात करता है ॥ ७ ॥

[यत् अस्याः सत्याः गोपतौ] यदि इसके साथ गोरक्षक रहते हुए भी यदि [ध्वाङ्क्षः लोम अजीहिडत्) कौवा- बालोंको नोचेगा, तो (ततः कुमाराः म्रियन्ते) उससे बच्चे मर जाते हैं और (अनामनात् यक्ष्मः विन्दति) सहजहीसे क्षय-रोग पकड लेता है ॥ ८ ॥

(यत् अस्याः पल्पूलनं शकृत्) इस गौका मूत्र और गोबर (दासी समस्यति) नौकरानी फेंक देगी, तो उससे (ततः तस्मात् एनसः अ—व्येषत्) उस पापसे न छूटनेके कारण (अप रूपं जायते) विरूप होता है ॥ ९ ॥

(जायमाना वशा स—ब्राह्मणान् देवान् अभिजायते) उत्पन्न होते ही गौ ब्राह्मणोंके साथ देवोंके लिये होती है। (तस्मात् एषा ब्रह्मभ्यः देया) इसलिये यह गौ ब्राह्मणोंको देनी चाहिये। [तत् स्वस्य गोपनं आहुः] वह अपनी सुर-क्षिता है ऐसा कहते हैं ॥ १० ॥

भावार्थ- गौके पांवके स्थानमें विक्लिन्दु नामक रोग फैलता है। जिसे गाय सूंघती है उसे वह होता है और वह मरता है॥५॥

गौके कानोंपर चिह्न करनेसे जो गौको वेदना होती है, उससे गौके स्वामीका धन कम होता है ॥ ६ ॥

यदि कोई मनुष्य अपनी सजावटके लिये गौके बाल काटेगा, तो उसके बालबच्चे मर जायगे ॥ ७ ॥

यदि गवालिया गौकी रखवाली करता हुआ, गौको कौवा कष्ट देवे, तो उस गवालियेके बच्चे मर जायगे ॥ ८ ॥

यदि गौकी परिचारिका गौका मूत और गोबर इधर उधर फेंक देवे तो उस पापसे उसका रूप बिगड जायगा ॥ ९ ॥

गौ जो उत्पन्न होती है वह ब्राह्मणोंके लिये ही देवोंने उत्पन्न की होती है। इसीलिये उसका दान ब्राह्मणोंको देना उचित है। उससे दाता की ही रक्षा होती है ॥ १२ ॥

य एनां वनिमायन्ति तेषां देवकृता वशा । ब्रह्मज्येयं तदब्रुवन् य एनां निप्रियायते ॥११॥
य आर्षेयेभ्यो याचद्भ्यो देवानां गां न दित्सति ।
आ स देवेषु वृश्चते ब्राह्मणानां च मन्यवे ॥१२॥
यो अस्य स्याद् वशाभोगो अन्यामिच्छेत तर्हि सः ।
हिंस्ते अदत्ता पुरुषं याचितां च न दित्सति ॥१३॥
यथा शेवधिर्निहितो ब्राह्मणानां तथा वशा ।
तामेतदच्छायन्ति यस्मिन् कस्मिंश्च जायते ॥१४॥
स्वमेतदच्छायन्ति यद् वशां ब्राह्मणा अभि ।
यथैनानन्यस्मिन् जिनीयादेवास्या निरोधनम् ॥१५॥

अर्थ— [ये एनां वनिं आयन्ति] जो ब्राह्मण इस गौको मांगने आते हैं [तेषां देवकृता वशा] उनके लिये ही यह गौ देवोंने बनाई है । [यः एनां नि प्रियायते] जो इसको अपनी प्रिय है करके अपने ही पास रखता है, अर्थात् दान नहीं देता, (तत् ब्रह्मज्येयं अब्रुवन्) वह उसका कृत्य ब्राह्मणोंपर अत्याचार जैसा ही है ॥ ११ ॥

[यः याचद्भ्यः आर्षेयेभ्यः) जो मांगनेवाले ऋषिपुत्रोंको (देवानां गां न दित्सति) देवोंकी गौ देता नहीं, (सः ब्राह्मणानां मन्यवे] वह ब्राह्मणोंके कोपके लिये [देवेषु आवृश्चते] देवोंमें आघात करता है ॥ १२ ॥

[यः अस्य वशाभोगः स्यात्] जो इस गौका उपभोग लेना है, [सः तर्हि अन्यां इच्छेत] वह तो दूसरी गौसे प्राप्त करे । [अदत्ता पुरुषं हिंस्ते] दान न दी हुई गौ उस पुरुषकी हिंसा करती है, कि [याचितां च न दित्सति] जो याचना करनेपर भी नहीं देता ॥ १३ ॥

(यथा निहितः शेवधिः) जैसा सुरक्षित खजाना होता है, [तथा ब्राह्मणानां वशा] वैसी ही ब्राह्मणोंकी यह गौ है । [यस्मिन् कस्मिन् च जायते] जहां कहीं उत्पन्न हुई हो [एतम् अच्छ आयन्ति] उसके पास वे ब्राह्मण पहुंचाते ही हैं ॥ १४ ॥

[यत् ब्राह्मणाः वशां अभि] यदि ब्राह्मण गौके पास आते हैं तो [एतत् स्वं अच्छ आयन्ति] वे अपने धनके पास ही आते हैं । [अस्याः निरोधनं] इस गौको प्रतिबंध करना मानो [यथा एनान् अन्यस्मिन् जिनीयात्] जैसा इन. को दूसरे अर्थमें कष्ट देना है ॥ १५ ॥

भावार्थ-- ब्राह्मण याचना करनेके लिये आनेपर उनको गौ प्रदान न करना, उनपर अत्याचार करनेके समान है । क्योंकि देवोंने ही उनके लिये वह बनाई होती है ॥ ११ ॥

अतः जो मांगनेपर भी ब्राह्मणोंको गौ नहीं देता वह मानो देवोंपर ही आघात करता है । उससे उसपर ब्राह्मणोंका कोप और देवोंका संताप होता है ॥ १२ ॥

यदि गौसे किसीको लाभ होता हो, तो वह दूसरी गौसे वह प्राप्त करे । क्योंकि जो गौको मांगनेपर भी नहीं देता, वह गौ ही उसकी नाशक बनती है ॥ १३ ॥

यह गौ ब्राह्मणोंकी ही है जैसा सुरक्षित खजाना होता है वैसी ही यह है । कहीं किसीके पास भी उत्पन्न हुई हो जिसकी वह होगी वे ब्राह्मण उसे मांगने आवेंगे ॥ १४ ॥

ब्राह्मण जिस गौको मांगते हैं वह उनकी ही होती है । अतः उनको उस गौका दान न करना अपराध है ॥ १५ ॥

चरेदेवा त्रैहायणादविज्ञातगदा सती । वशां च विद्यान्नारद ब्राह्मणास्तर्ह्येष्याः ॥१६॥
य एनामवशामाह देवानां निहितं निधिम् । उभौ तस्मै भवाशर्वौ परिक्रम्येषुमस्यतः ॥१७॥
यो अस्या ऊधो न वेदाथो अस्या स्तनानुत ।
उभयेनैवास्मै दुहे दातुं चेदशकद् वशाम् ॥१८॥
दुरदभ्नैनमा शये याचितां च न दित्सति ।
नास्मै कामाः समृध्यन्ते यामदत्त्वा चिकीर्षति ॥१९॥
देवा वशामयाचन् मुखं कृत्वा ब्राह्मणम् ।
तेषां सर्वेषामददद्धेडं न्येति मानुषः ॥ २० ॥ (२०)
हेडं पशूनां न्येति ब्राह्मणेभ्योऽददद् वशाम् ।
देवानां निहितं भागं मर्त्यश्चेन्निप्रियायते ॥२१॥

अर्थ-- [अविज्ञात—गदा सती आ त्रैहायणात् चरेत् एव] अज्ञातनामवाली गौ तीन वर्ष होनेतक माताके साथ घूम करे। हे नारद ! [वशां विद्यात्, तर्हि ब्राह्मणाः एष्याः] गौ देने योग्य होनेपर, तो उसके लिये ब्राह्मण ढूंढे जांय ॥ १६ ॥

[यः देवानां निहितं निधिं एनां अवशां आह] देवोंके निश्चित खजाना रूप इस गौको न देने योग्य कहे, [तस्मै भवाशर्वौ उभौ परिक्रम्य इषुं अस्यतः] उसे भव और शर्व दोनों घेरकर बाण मारते हैं ॥ १७ ॥

(यः अस्याः ऊधः अथो उत अस्याः स्तनान् न वेद) जो इसके दुग्धाशयको और इसके स्तनोंको नहीं जानता, (चेत् दातुं अशकत्) वह यदि दान देनेमें समर्थ हुआ तो [उभयेन अस्मै दुहे] वह गौ उसे उक्त दोनोंसे दूध देती है ॥ १८ ॥

[याचितां न दित्सति] मांगनेपर भी ब्राह्मणको जो नहीं दी जाती वह गौ (दुः—अदभ्ना एनं आशये) वश होनेमें कठिन होकर इसके साथ रहती है। (अस्मै कामाः न समृध्यन्ते) इसके मनोरथ सफल नहीं होते [यां अदत्त्वा चिकीर्षति] जिसे न दान करके कमाना चाहता है ॥ १९ ॥

(ब्राह्मणं मुखं कृत्वा) ब्राह्मणरूपी मुख करके (देवाः वशां अयाचन्) देव गौकी याचना करते हैं। [अददत् मानुषः] न देनेवाला मनुष्य (तेषां सर्वेषां हेडं नि एति) उन सबके क्रोधको प्राप्त करता है ॥ २० ॥

[मर्त्यः देवानां निहितं भागं निप्रियायते चेत्] मनुष्य देवोंका निश्चित भाग अपने पास यदि रखेगा और [ब्राह्मणेभ्यः वशां अददत्] ब्राह्मणोंको गौ न देगा तो [पशूनां हेडं नि एति] पशुओंके क्रोधको भी प्राप्त होता है ॥२१॥

भावार्थ—तीन वर्षतक गौको उसका स्वामी पाले, पश्चात् कोई मांगने न आवे तो सुयोग्य ब्राह्मणकी खोज करे और उसे देवे ॥ १६ ॥

गौ देवोंका खजाना है। जो उसे नहीं दान करता, उसका नाश भव और शर्व करते हैं ॥ १७ ॥

जो गौको दान करता है उसको दूध आदि पर्याप्त मिलता है ॥ १८ ॥

जो मांगनेपर भी गौका दान ब्राह्मणोंको नहीं करता, उसके घरमें गौ वशमें नहीं रहती। गौ न देनेवालेकी कामना तृप्त नहीं होती ॥ १९ ॥

देवोंका मुख ब्राह्मण है। ब्राह्मणके मुखसे ही देव मांगते हैं। अतः दान न देनेवाला मनुष्य देवोंके क्रोधको अपने ऊपर लेता है ॥ २० ॥

कोई मनुष्य इस देवोंके भागको ब्राह्मणोंको दान न देगा तो पशुओंके क्रोधको प्राप्त होगा ॥ २१ ॥

यदुन्ये शतं याचेयुर्ब्राह्मणा गोपतिं वशाम् । अथैनां देवा अब्रुवन्नेवं ह विदुषो वशा ॥२२॥

य एवं विदुषेऽदत्त्वाथान्येभ्यो ददद् वशाम् ।
दुर्गा तस्मा अधिष्ठाने पृथिवी सहदेवता ॥२३॥

देवा वशामयाचन् यस्मिन्नग्रे अजायत । तामेतां विद्यान्नारदः सह देवैरुदाजत ॥२४॥

अनपत्यमल्पपशुं वशा कृणोति पूरुषम् । ब्राह्मणैश्च याचितामथैनां निप्रियायते ॥२५॥

अग्नीषोमाभ्यां कामाय मित्राय वरुणाय च ।
तेभ्यो याचन्ति ब्राह्मणास्तेष्वा वृश्चतेऽददत् ॥२६॥

यावदस्या गोपतिर्नोपशृणुयादृचः स्वयम् ।
चरेदस्य तावद् गोषु नास्य श्रुत्वा गृहे वसेत् ॥२७॥

अर्थ-(यत् गोपतिं शतं अन्ये वशां याचेयुः) यदि गौके स्वामीके पास दूसरे सौ आकर गौको मांगे, (अथ एनां देवाः एवं अब्रुवन्) इस विषयमें देवोंने ऐसा कहा है कि (विदुषः वशा ह) विद्वान्‌की ही गौ है ॥ २२ ॥

(यः एवं विदुषे अदत्त्वा) जो इस तरह विद्वान्‌को गौ न देकर (अन्येभ्यः वशां ददत्) दूसरे अविद्वानोंको गौ देवे, (तस्मै अधिष्ठाने सह देवता पृथ्वी दुर्गा) उसके लिये उसके स्थानमें सब देवताओंके साथ पृथ्वी दुःखदायी होती है ॥ २३ ॥

(यस्मिन् अग्रे अजायत) जिसमें गौ पहिले हुई, (देवाः वशां अयाचन्) देवोंने उसीके पास गौकी याचना की । (नारदः विद्यात्) नारद समझे कि (तां एतां देवैः सह उदाजत) उस गौकी देवोंके साथ उन्नति होती है ॥ २४ ॥

(ब्राह्मणैः याचितां एनां नि प्रियायते) ब्राह्मणोंके द्वारा याचना होनेपर भी जो उसको प्रिय समझकर अपने पास रखता है वह (वशा पुरुषं अनपत्यं अल्पपशुं कृणोति) गौ उस मनुष्यको संतानहीन और अल्पपशुवाला करती है ॥ २५ ॥

(अग्नी-सोमाभ्यां मित्राय वरुणाय कामाय तेभ्यः) अग्नि, सोम, मित्र, वरुण और काम इनके लिये ही (ब्राह्मणाः याचन्ति) ब्राह्मण गौकी याचना करते हैं, अतः (अददत् तेषु आवृश्चते) न देनेवाला उन देवोंपर आघात करता है ॥ २६ ॥

(यावत् अस्याः गोपतिः) जबतक इस गौका स्वामी (स्वयं ऋचः न उपशृणुयात्) स्वयं ऋचाएं नहीं सुनेगा, (तावत् अस्य गोषु चरेत्) तबतक इसकी गौवोंमें गौ चरा करे, परंतु (श्रुत्वा अस्य गृहे न वसेत्) सुननेके पश्चात् वह गौ उसके घरमें न रहे ॥ २७ ॥

भावार्थ— गौके स्वामीके पास सैंकडो याचक गौके लिये आजांय, परंतु देवोंकी आज्ञा है कि विद्वान् ब्राह्मणको ही गौ देनी चाहिये ॥ २२ ॥

जो विद्वान् ब्राह्मणको गौ न देकर, दूसरेको देता है, उसको बडे कष्ट प्राप्त होते हैं ॥ २३ ॥

जहां गौ उत्पन्न होती है, मानो वहीं देव उसकी याचना करते हैं । और देवोंको वह देनेसे सबकी उन्नति होती है ॥२४॥

ब्राह्मणोंकी याचना होनेपर जो मनुष्य गौका दान नहीं करता, उसको संतान नहीं होती और उसके पास पशु भी कम होते हैं ॥ २५ ॥

ब्राह्मण जो गौकी याचना करते हैं, वे केवल अग्नि आदि देवताओंके लिये ही याचना करते हैं, अपने लिये नहीं, अतः उनको न देना देवताओंका अपमान करना है ॥ २६ ॥

जब तक गौका स्वामी गज्ञका मंत्रघोष नहीं सुनता, तबतक उसके पास गौ रहे । मंत्रघोष सुननेके पश्चात् उसके घरमें गौ न रहे ॥ २७ ॥

यो अस्या ऋचं उपश्रुत्याथ गोष्वचींचरत् ।
आयुश्च तस्य भूतिं च देवा वृश्चन्ति हीडिताः ॥ २८ ॥
वशा चरन्ती बहुधा देवानां निहितो निधिः ।
आविष्कृणुष्व रूपाणि यदा स्थाम जिघांसति ॥ २९ ॥
आविरात्मानं कृणुते यदा स्थाम जिघांसति ।
अथो ह ब्रह्मभ्यो वशा याच्ञ्याय कृणुते मनः ॥ ३० ॥ (२१)
मनसा सं कल्पयति तद् देवाँ अपि गच्छति ।
ततो ह ब्रह्माणो वशामुपप्रयन्ति याचितुम् ॥ ३१ ॥
स्वधाकारेण पितृभ्यो यज्ञेन देवताभ्यः ।
दानेन राजन्यो वशाया मातुर्हेडं न गच्छति ॥ ३२ ॥

अर्थ-(यः अस्याः गोपतिः ऋचः उपश्रुत्य) जो इस गौका स्वामी ऋचाएं सुनकर (अथ गोषु अचीचरत्) पश्चात् भी गौओंमें ही अपनी गौको चराया करता है, (देवाः हीडिताः तस्य आयुः च भूतिं च वृश्चन्ति) देव क्रोधित होकर उसकी आयु और संपत्तिको विनष्ट करते हैं ॥ २८ ॥

(वशा बहुधा चरन्ती देवानां निधिः निहितः)गौ बहुत स्थानोंमें भ्रमण करती हुई देवोंका सुरक्षित खजाना ही है। (यदा स्थाम जिघांसति) जब वह रहनेके स्थानके पास जाना चाहती है, तब (रूपाणि आविष्कृणुष्व) अनेक रूप प्रकट करती है ॥ २९ ॥

(यदा स्थाम जिघांसति) जब रहनेके स्थानके पास जाना चाहती है, तब (आत्मानं आविः कृणोति) अपने आपको प्रकट करती है। (अथो ह ब्रह्मभ्यः याच्ञ्याय मनः कृणुते) ब्राह्मणोंकी याचनाके लिये वह गौ अपना मन करती है ॥ ३० ॥

वह गौ (मनसा संकल्पयति) मनसे संकल्प करती है, (तत् देवान् अपि गच्छति) वह संकल्प देवोंके पास पहुंचता है, (ततः ह ब्राह्मणः वशां याचितुं उप प्रयन्ति)उसके पश्चात् ही ब्राह्मण गौकी याचना करनेके लिये आते हैं ॥ ३१ ॥

[पितृभ्यः स्वधाकारेणे] पितरोंके लिये स्वधाकारसे, [देवताभ्यः यज्ञेन] देवताओंके यज्ञसे, तथा [दानेन] दानसे [राजन्यः वशायाः मातुः हेडं न गच्छति] क्षत्रिय गौकी माताका क्रोध प्राप्त नहीं करता ॥ ३२ ॥

भावार्थ– मंत्रघोष सुननेके पश्चात् यदि गौके स्वामीने गौ अपने घरमें रखी तो उसके ऊपर देवोंका क्रोध होता है ॥२८॥
गौ यह देवोंका सुरक्षित खजाना है। जब वह अपने स्थानपर जाना चाहती है तब वह अनेक भाव प्रकट करती है ॥ २९ ॥
जब वह गौ अपने स्थानके पास जाना चाहती है तब अपने भावको प्रकट करती है अर्थात् वह अपने लिये ब्राह्मणोंकी याचना हो ऐसा भाव मनमें लाती है ॥ ३० ॥

गौ यह संकल्प मनमें लाती है, वह संकल्प देवोंके पास पहुँचता है, देव ब्राह्मणोंको प्रेरणा करते हैं, और ब्राह्मण गौको मांगनेके लिये आते हैं ॥ ३१ ॥

स्वधाकारसे पितरोंकी तृप्ती, यज्ञसे देवोंकी संतुष्टता, और दानसे अन्योंकी तृप्ती होती है इसलिये गौका दान करनेसे उसकी माताका क्रोध क्षत्रियपर नहीं होता है ॥ ३२ ॥

वशा माता राजन्यस्य तथा संभूतमग्रशः। तस्या आहुरनर्पणं यद् ब्रह्मभ्यः प्रदीयते ॥३३॥

यथाज्यं प्रगृहीतमालुम्पेत् स्रुचो अग्नये ।
एवा ह ब्रह्मभ्यो वशामग्नय आ वृश्चतेऽददत् ॥३४॥

पुरोडाशवत्सा सुदुघा लोकेऽस्मा उप तिष्ठति ।
सास्मै सर्वान् कामान् वशा प्रददुषे दुहे ॥३५॥

सर्वान् कामान् यमराज्ये वशा प्रददुषे दुहे ।
अथाहुर्नारकं लोकं निरुन्धानस्य याचिताम् ॥३६॥

प्रवीयमाना चरति क्रुद्धा गोपतये वशा ।
वेहतं मा मन्यमानो मृत्योः पाशेषु बध्यताम् ॥३७॥

यो वेहतं मन्यमानोऽमा च पचते वशाम् ।
अप्यस्य पुत्रान् पौत्रांश्च याचयते बृहस्पतिः ॥३८॥

अर्थ–[वशा राजन्यस्य माता] गौ क्षत्रियकी माता है, [तथा अग्रशः सं भूतं] ऐसा पहिलेसे ही हुआ है। [यत् ब्रह्मभ्यः प्रदीयते] जो गौ ब्राह्मणोंके लिये दी जाती है [तस्या अनर्पणं आहुः] उसका वह दान ही नहीं है [क्योंकि वह गौ ब्राह्मण की ही होती है] ॥ ३३ ॥

[यथा अग्नये प्रगृहीतं आज्यं स्रुचः आलुंपेत्] जैसा अग्निके लिये लिया हुआ घी स्रुचासे गिरता है, [एवा वशां ब्रह्मभ्यः अददत्] ऐसे ही गौ ब्राह्मणोंको न देनेवाला [अग्नये आवृश्चत्] अग्निके लिये अपराधी होता है ॥ ३४ ॥

[पुरोडाशवत्सा सुदुघा लोके अस्मै उपतिष्ठति] अन्नरूपी बच्चा जिसके पास है ऐसी उत्तम दूध देनेवाली गौ परलोकमें इस दाताके पास आकर खडी रहती है। (सा वशा अस्मै प्रददुषे सर्वान् कामान् दुहे] वह गौ इस दाताके लिये सब कामनाएं पूर्ण करती है ॥ ३५ ॥

[यमराज्ये वशा प्रददुषे सर्वान् कामान् दुहे] यमराज्यमें गौ दाताके लिये सब कामनाएं देती है; [अथ याचितां निरुन्धानस्य नारकं लोकं आहुः] और याचना करनेपर न देनेवालेको नरक लोक है, ऐसा कहते हैं ॥ ३६ ॥

[प्रवीयमाना वशा गोपतये क्रुद्धा चरति] सन्तान उत्पन्न करनेवाली गौ अपने स्वामीके लिये क्रुद्ध होकर विचरती है। वह कहती है कि [मा वेहतं मन्यमानः मृत्योः पाशेषु बध्यतां] मुझे गर्भपातिनी कहनेवाला मृत्युके पाशोंसे बांधा जावे ॥ ३७ ॥

[यः वशां वेहतं मन्यमानः] जो गौको गर्भ गिरानेवाली मानकर [अमा च वशां पचते] घरमें गौको पकाता है [अस्य पुत्रान् पौत्रान् अपि बृहस्पतिः याचयते] इसके पुत्रों और पौत्रोंको बृहस्पति भीख मंगवाता है ॥ ३८ ॥

भावार्थ–– गौ क्षत्रियकी माता कही जाती है, इसका ब्राह्मणोंको प्रदान करना दान नहीं है, क्योंकि वह ब्राह्मणोंकी ही होती है ॥ ३३ ॥

जैसा स्त्रुवासे घी अग्निमें गिरता है। वैसा ही गौका दान न करनेवाला गिरता है ॥ ३४ ॥

दान दी हुई गौ दाताकी परलोकमें हरएक प्रकारकी कामना सफल करती है ॥ ३५ ॥

गोदान करनेवालेकी समस्त कामनाएं यमराज्यमें सफल होती हैं, परंतु दान न देनेवालेको तो नरक ही प्राप्त होगा ॥३६॥

गौका अपमान करनेवालेको गौ क्रुद्ध होकर शाप देती है, कि वह मृत्युके पाशोंसे बांधा जावे ॥ ३७ ॥

जो गौको वेध्या मानकर अपने घरमें पकाता है, उसके पुत्र–पौत्रोंको ईश्वर भीख मंगवाता है ॥ ३८ ॥

महद्वेषाव तपति चरन्ती गोषु गौरपि । अथो ह गोपतये वशाददुषे विषं दुहे ॥ ३९ ॥
प्रियं पशूनां भवति यद् ब्रह्मभ्यः प्रदीयते
अथो वशायास्तत् प्रियं यद् देवत्रा हविः स्यात् ॥४०॥(२१)
या वशा उदकल्पयन् देवा यज्ञादुदेत्य । तासां विलिप्त्यं भीमामुदाकुरुत नारदः ॥ ४१ ॥
तां देवा अमीमांसन्त वशेया ३ मवशेति । तामब्रवीन्नारद एषा वशानां वशतमेति ॥ ४२ ॥
कति नु वशा नारद यास्त्वं वेत्थ मनुष्यजाः ।
तास्त्वां पृच्छामि विद्वांसं कस्या नाश्नीयादब्राह्मणः ॥ ४३ ॥
विलिप्त्या बृहस्पते या च सूतवशा वशा ।
तस्या नाश्नीयादब्राह्मणो य आशंसेत भूत्याम् ॥ ४४ ॥

अर्थ-(गोषु गौः चरन्ती अपि) गौओंमें गौ चरती हुई भी (एषा महत् अवतपति) यह बडा ताप देती है । (अथो अददुषे गोपतये विषं दुहे) मानो दान न करनेवाले गौके स्वामीके लिये यह विष देती है ॥ ३९ ॥

(यत् ब्रह्मभ्यः प्रदीयते) जो ब्राह्मणोंके लिये दी जाती है वह (पशूनां प्रियं भवति) पशुओंको भी हितकारी होता है, (अथो वशायाः तत् प्रियं) और गौके लिये वह प्रिय है (यत् देवत्रा हविः स्यात्) जो देवोंके लिये हवि होवे ॥ ४० ॥

(याः वशाः देवाः) जिन गौवोंको देवताओंने (यज्ञात् उदेत्य उदकल्पयन्) यज्ञसे आकर संकल्पित किया था (तासां-भीमां विलिप्त्यं नारदः उदाकुरुत) उनकी भयानक, अधिक घीवाली गौको नारदने अनुभव किया ॥ ४१ ॥

(तां देवाः अमीमांसत) उस विषयमें देवोंने विचार किया, (वशा इयं अवशा) यह गौ अपने वशमें रखने योग्य नहीं है । (नारदः तां अब्रवीत्) नारदने उसके विषयमें कहा कि (एषा वशानां वशतमा इति) यह गौवोंमें अधिक वश होनेवाली है ॥ ४२ ॥

हे नारद ! (याः त्वं मनुष्यजाः वेत्थ) जिनको तू मनुष्योंमें उत्पन्न जानता है वे (कति नु वशा) गौवें कितनी प्रका हैं । (त्वा विद्वांसं पृच्छामि) तुम विद्वान्से मैं पूछता हूं कि (कस्याः अब्राह्मणः न अश्नीयात्) किसका ब्राह्मण-भिन्न अतिथि न खावे ! ॥ ४३ ॥

हे बृहस्पते ! (यः भूत्यां आशंसेत) जो ऐश्वर्य चाहता है, वह (विलिप्त्याः या च सूतवशा वशा) अधिक घी देनेवाली गौ है, जो सूतको ही वश होती है, और जो सबको वश है (अब्राह्मण तस्याः नाश्नीयात्) अब्राह्मणने उसका अन्न न खाना चाहिये (यः भूत्यां आशंसेत) जो ऐश्वर्य चाहे ॥ ४४ ॥

भावार्थ—जो गौका दान नहीं करता उसके लिये; उसकी गौ विष दुहती है ॥ ३९ ॥

गौका दान करनेसे पशुओंका हित होता है, गौओंका हित होता है । क्योंकि गौसे हव्यपदार्थ देवताओंके लिये मिलते हैं ॥ ४० ॥

यज्ञसे आकर सब देवताओंने मिलकर गौकी रचना की, उनमें जो अधिक घी देनेवाली है उसकी योग्यता विशेष है ॥ ४१ ॥

देवोंने निश्चय ठहराया कि वह स्वामीके वशमें रहने योग्य नहीं है, क्योंकि वह उत्कृष्ट गौ है, अतः वह दानके योग्य है ॥ ४२ ॥

मनुष्योंके पास जो गौवें होती हैं उनमेंसे कौनसी गौका अन्न अब्राह्मण स्वामी न खावे ? ॥ ४३ ॥

निश्चय यह हुआ कि अधिक घी देनेवाली, सर्वदा वशमें रहनेवाली और नौकरके वश रहनेवाली, ये तीन गौवें दानके योग्य हैं, अतः इनका अन्न अब्राह्मण स्वामी न खावे ॥ ४४ ॥

नम॑स्ते अस्तु नारदानुष्ठु वि॒दुषे॑ व॒शा । क॒त॒मासां॒ भीम॑त॑मा यामद॑त्त्वा परा॒भवे॑त् ॥ ४५ ॥

वि॒लि॒प्ती या बृ॑हस्पते॒ऽथो॑ सू॒तव॑शा व॒शा ।
तस्या॒ नाश्नी॑या॒दब्रा॑ह्म॒णो॒ य आ॒शंसे॑त॒ भूत्या॑म् ॥ ४६ ॥

त्रीणि॒ वै व॑शाजा॒तानि॑ वि॒लि॒प्ती सू॒तव॑शा व॒शा ।
ताः प्र य॑च्छेद् ब्र॒ह्मभ्यः॒ सो॑ऽनाव्र॒स्कः प्र॒जाप॑तौ ॥ ४७ ॥

ए॒तद् वो॑ ब्राह्मणा ह॒विरि॑ति॒ मन्वी॑त या॒चि॒तः ।
व॒शां चेदे॑नं॒ याचे॑यु॒र्या भी॒माद॑दुषो गृ॒हे ॥ ४८ ॥

दे॒वा व॒शां पर्य॑वद॒न् न नो॑ऽदा॒दिति॑ हीडि॒ताः ।
ए॒ताभि॑र्ऋ॒ग्भिर्भे॒दं तस्मा॒द् वै स परा॑भवत् ॥ ४९ ॥

अर्थ- हे नारद ! (ते नमः अस्तु) तेरे लिये नमस्कार है । (अनुष्ठु विदुषे वशा) अनुकूलतासे विद्वान्‌को गौ प्रदान करनी चाहिये । (आसां कतमा भीमतमा) इनमें कौनसी भयानक है (यां अदत्त्वा पराभवेत्) जिसका दान न करनेसे पराभव होगा ? ॥ ४५ ॥

हे बृहस्पते ! (या विलिप्ती अथो सूतवशा वशा) जो अधिक घी देनेवाली और सूतको वश करनेवाली और सबको वश रहनेवाली गौ है, (अब्राह्मणः तस्याः न अश्नीयात्) अब्राह्मण उसका अन्न न खावे (यः भूत्यां आशंसेत) जो ऐश्वर्य-समृद्धिकी इच्छा करता है ॥ ४६ ॥

[त्रीणि वै वशाजातानि विलिप्ती सूतवशा वशा] गौकी तीन जातियां हैं-एक अधिक घी देनेवाली, दूसरी नौकरको वश होनेवाली और तीसरी सबको वश होनेवाली, । [ताः यः ब्रह्मभ्यः प्रयच्छेत्] उनको जो ब्राह्मणोंको देगा, [सः प्रजापतौ अनाव्रस्कः] वह प्रजापतिके पास निरपराधी होता है ॥ ४७ ॥

हे ब्राह्मणो ! [एतत् वः हविः] यह आपका हवि है [इति याचितः मन्वीत] ऐसा याचना करनेपर गौका स्वामी कहे । [वशां चेत् एनं याचेयुः] गौकी जब इसके पास याचना की जाती है तब [या भीमा अददुषः गृहे] वह भयंकर होती है अदाताके घरमें रखना ॥ ४८ ॥

[नः न अदात् इति हीडिताः देवाः] हमें इसने दिया नहीं इस कारण क्रोधित हुए देव [वशां] गौसे [एताभिः भेदं पर्यवदन्] इन मंत्रोसे भेदके विषयमें कहने लगे [तस्मात् वै सः पराभवत्] इस कारण उसका पराभव हुआ ॥ ४९ ॥

भावार्थ—जिस गौका दान न करनेसे अधिक हानिकी संभावना है, वह कौनसी गौ है ? ॥ ४५ ॥

गौओंमें तीन जातियां है, एक अधिक घी देनेवाली, दूसरी सबके वशमें रहनेवाली और तीसरी नौकरसे वश होनेवाली ये तीन प्रकार की गौवें हैं जिनका अन्न गौका स्वामी न खावे । स्वामी ये गौएं ब्राह्मणको दान देवे, जिससे वह निर्दोष होता है ॥ ४६-४७ ॥

मांगनेपर गौका स्वामी कहे कि ' हे ब्राह्मणों ? यह आपका अन्न है । ' मांगनेपर भी जो न देवे उसके घरमें वह गौ भयंकर हानि करनेवाली होती है ॥ ४८ ॥

गौका दान न करनेसे देव क्रोधित होकर उसके घरमें भेद करते हैं और इस कारण उसका पराभव होता है ॥ ४९ ॥

उतैनां भेदो नाददाद् वशामिन्द्रेण याचितः । तस्मात् तं देवा आगसोऽवृश्चन्नहमुत्तरे ॥ ५० ॥
ये वशाया अदानाय वदन्ति परिरापिणः ।
इन्द्रस्य मन्यवे जाल्मा आ वृश्चन्ते अचित्त्या ॥ ५१ ॥
ये गोपतिं पराणीयाथाहुर्मा ददा इति । रुद्रस्यास्तां ते हेतिं परि यन्त्यचित्त्या ॥ ५२ ॥
यदि हुतां यद्यहुताममा च पचते वशाम् ।
देवान्त्सब्राह्मणानृत्वा जिह्मो लोकान्निर्ऋच्छति ॥ ५३ ॥ (२३)

॥ इति चतुर्थोऽनुवाकः ॥

अर्थ— [उत एनां वशां इन्द्रेण याचितः भेदः] और इस गौको इन्द्रसे याचना करनेपर भी भेदने [न अददात्] नहीं दिया [तस्मात् आगसः देवाः तं अहमुत्तरे अवृश्चन्] उस पापके कारण देवोंने उसे युद्धमें काट डाला ॥ ५० ॥

[ये परिरापिणः वशायाः अदानाय वदन्ति] जो दुष्ट लोग गौका दान न करनेका भाषण बोलते हैं, वे [जाल्माः अचित्त्या इन्द्रस्य मन्यवे आवृश्चन्ते] दुष्ट मनुष्य मतिहीनता के कारण इन्द्रके क्रोधकेलिये काटे जाते हैं ॥ ५१ ॥

[ये गोपतिं परानीय] जो गोके स्वामीको दूर ले जाकर [अथ आहुः मा दाः इति] कहते हैं कि मत दान कर [ते अचित्त्या रुद्रस्य अस्तां हेतिं परि यन्ति] वे न समझते हुए रुद्रके फेंके हुए हथीयारको प्राप्त होते हैं ॥ ५२ ॥

[यदि हुतां यदि अहुतां] यदि हवन की गई अथवा न की गई [वशां अमा च पचते] गौको अपने घरमें जो पकाता है, वह [स ब्राह्मणान् देवान् ऋत्वा] ब्राह्मणोंके साथ देवोंका अपराधी बनकर [जिह्मः] कुटिल होकर [लोकात् निः ऋच्छति] इस लोकसे गिरता है ॥ ५३ ॥

चतुर्थ अनुवाक समाप्त ॥ ४ ॥

भावार्थ— गौ की याचना करनेपर भी जो नहीं देता उसके राज्यमें भेद उत्पन्न होकर युद्धमें उसका पराभव होता है ॥ ५० ॥
जो गौका दान न करनेके विषयमें उपदेश करते हैं उनका भी इन्द्रके क्रोधसे नाश होता है ॥ ५१ ॥
जो लोग गौके स्वामीको दूर ले जाकर गौ दान न करनेका उपदेश करते हैं, उनका नाश रुद्रके शस्त्रसे होता है ॥ ५२ ॥
जो गौके अन्नको घरमें पकाते हैं उनपर देवों और ब्राह्मणोंका क्रोध होता है और वे गिरते हैं ॥ ५३ ॥

चतुर्थ अनुवाक समाप्त ॥ ४ ॥

ब्राह्मणकी गौ ।

[५]

(ऋषिः-- अथर्वाचार्यः । देवता-ब्रह्मगविः)

(५।१)

श्रमे॑ण॒ तप॑सा सृ॒ष्टा ब्रह्म॑णा वि॒त्तर्ते॑ श्रि॒ता ॥ १ ॥
स॒त्येनावृ॑ता श्रि॒या प्रावृ॑ता॒ यश॑सा॒ परी॑वृता ॥ २ ॥
स्व॒धया॒ परि॑हिता श्र॒द्धया॒ पर्यू॑ढा दी॒क्षया॑ गु॒प्ता य॒ज्ञे प्रति॑ष्ठिता लो॒को नि॒धन॑म् ॥ ३ ॥
ब्रह्म॑ पद॒वायं॑ ब्रा॒ह्मणोऽधि॑पतिः ॥ ४ ॥
ताम॒ाद॒दा॑नस्य ब्रह्मग॒वीं जि॒नतो॑ ब्रा॒ह्म॒णं क्ष॒त्रिय॑स्य ॥ ५ ॥
अप॑ क्रामति सू॒नृता॑ वी॒र्यं१ पुण्या॑ ल॒क्ष्मीः ॥ ६ ॥ (२४)

(५।२)

ओज॑श्च॒ तेज॑श्च॒ सह॑श्च॒ बलं॑ च॒ वाक् चे॑न्द्रि॒यं च॒ श्रीश्च॒ धर्म॑श्च ॥ ७ ॥
ब्रह्म॑ च क्ष॒त्रं च॑ रा॒ष्ट्रं च॒ विश॑श्च॒ त्विषि॑श्च॒ यश॑श्च॒ वर्च॑श्च॒ द्रवि॑णं च ॥ ८ ॥

अर्थ-- (श्रमेण तपसा सृष्टा) श्रम और तपसे उत्पन्न हुई (ब्रह्मणा वित्ता) ज्ञानसे प्राप्त हुई और (ऋते श्रिता) सत्यके आश्रयपर रही है ॥ १ ॥ (सत्येन आवृता) सत्यसे आच्छादित (श्रिया प्रवृता) श्रीसे भरी हुई और (यशसा परीवृता) यशसे घिरी है ॥ २ ॥ (स्वधया परिहिता) अपनी धारणासे सुरक्षित हुई (श्रद्धया पर्यूढा) श्रद्धाभक्तिसे युक्त (दीक्षया गुप्ता) दीक्षाव्रतसे सुरक्षित हुई (यज्ञे प्रतिष्ठिता) यज्ञमें प्रतिष्ठित हुई और (लोके निधनं) इस लोकमें आश्रयको प्राप्त हुई है ॥ ३ ॥ जो (ब्रह्म पदवायं) ज्ञानरूप पदसमूह है उसका (अधिपतिः ब्राह्मणः) स्वामी ब्राह्मण है ॥ ४ ॥ (तां ब्रह्म-गावीं आददानस्य) उस ब्राह्मणकी गौको छीननेवाले (ब्राह्मणं जिनतः क्षत्रियस्य) ब्राह्मणका नाश करनेवाले क्षत्रिय की ॥५॥ (सूनृता वीर्यं पुण्या लक्ष्मीः अपक्रामति) सत्य वीर्यवती पुण्यमयी लक्ष्मी दूर होती है ॥ ६ ॥ [२४]

(५।२)

ओज, तेज (सहः) सहनसामर्थ्य, बल, वाणी, इन्द्रियशक्ति, (श्रीः) शोभा, धर्म ॥ ७ ॥ (ब्रह्म) ज्ञान, (क्षत्रं) शौर्य, राष्ट्र, (विश) प्रजा, (त्विषिः) तेज, यश (वर्चः) पराक्रम, (द्रविणं) धन, ॥ ८ ॥ आयु, रूप, नाम

आयुश्च रूपं च नाम च कीर्तिश्च प्राणश्चापानश्च चक्षुश्च श्रोत्रं च ॥ ९ ॥
पयश्च रसश्चान्नं चान्नाद्यं चर्तं च सत्यं चेष्टं च पूर्तं च प्रजा च पशवश्च ॥ १० ॥
तानि सर्वाण्यप क्रामन्ति ब्रह्मगवीमाददानस्य जिनतो ब्राह्मणं क्षत्रियस्य ॥ ११ (२५)

(५।३)

सैषा भीमा ब्रह्मगव्यु१घविषा साक्षात् कृत्या कूल्बजमावृता ॥ १२ ॥
सर्वाण्यस्यां घोराणि सर्वे च मृत्यवः ॥ १३ ॥
सर्वाण्यस्यां क्रूराणि सर्वे पुरुषवधाः ॥ १४ ॥
सा ब्रह्मज्यं देवपीयुं ब्रह्मगव्यादीयमाना मृत्योः पड्वीश आ द्यति ॥ १५ ॥
मेनिः शतवधा हि सा ब्रह्मज्यस्य क्षितिर्हि सा ॥ १६ ॥
तस्माद् वै ब्राह्मणानां गौर्दुराधर्षा विजानता ॥ १७ ॥
वज्रो धावन्ती वैश्वानर उद्वीता ॥ १८ ॥
हेतिः शफानुत्खिदन्ती महादेवो ऽपेक्षमाणा ॥ १९ ॥
क्षुरपविरीक्षमाणा वाश्यमानाभि स्फूर्जति ॥ २० ॥

अर्थ- कीर्ति, प्राण, अपान, चक्षु, श्रोत्र ॥९॥ (पयः) दूध, रस, अन्न, (अन्नाद्यं) खाद्य पदार्थ, ऋत, सत्य, (इष्टं च पूर्तं च) इष्ट वस्तु, पूर्णता, प्रजा, पशु ॥१०॥ (तानि सर्वाणि) ये सब ३४ पदार्थ (ब्रह्मगावीं आददानस्य ब्राह्मणं जिनतः क्षत्रियस्य अपक्रामन्ति) ब्राह्मणकी गौको छीननेवाले और ब्राह्मणका नाश करनेवाले क्षत्रियके दूर होते हैं ॥ ११ ॥ [२५]

(५।३)

(सा एषा ब्रह्मगवि भीमा) वह यह ब्राह्मणकी गौ भयानक है, यह (अघ-विषा, साक्षात् कृत्या) विषैली और साक्षात् घात करनेवाली (कूल्बजं आवृता) विनाशक पदार्थसे व्याप्त है ॥१२॥ (अस्यां सर्वाणि घोराणि) इसमें सब भयंकरता है (सर्वे च मृत्यवः) इसमें सब मृत्यु हैं ॥ १३ ॥ (अस्यां सर्वाणि क्रूराणि) इसमें सब क्रूरता है (सर्वे पुरुषवधाः) सब पुरुषोंके वध हैं ॥ १४ ॥

(सा ब्रह्मगवी आदीयमाना) यह ब्राह्मणकी गौ पकडी जानेपर (ब्रह्मज्यं देवपीयुं मृत्योः पड्वीशे आद्यतिः) ब्रह्मघाती देवशत्रुको मृत्युके पाशमें डाल देती है ॥ १५ ॥ (सा शतवधा मेनिः) वह सौका घात करनेवाली हथियार ही है (सा ब्रह्मज्यस्य क्षितिः हि) वह ब्रह्मघातकीका विनाश ही है॥ १६ ॥ (तस्मात् वै विजानता ब्राह्मणानां गौः दुराधर्षा) इसलिये ही ज्ञानीको समझना चाहिये कि ब्राह्मणकी गौ धर्षण करनेके लिये कठिन है ॥ १७ ॥ (धावन्ती वज्रः, उद्वीता वैश्वानरः) वह जब दौडती है तब वज्र बनती है, जब उठती है तब वह आग जैसी होती है ॥ १८ ॥ (शफान् उत्खिदन्ती हेतिः) खुरोंसे मारती हुई यह हथियारके समान है और (अपेक्षमाणा महादेवः) देखती हुई महादेवके समान होती है ॥ १९ ॥ (ईक्षमाणा क्षुरपविः) छुरेके समान तीक्ष्ण होती है और (वाश्यमाना अभिस्फूर्जति) शब्द करनेपर गर्जना करनेके समान बनती है ॥ २० ॥ (हिंकृण्वती मृत्युः) हिंकार करनेपर मृत्यु होती है, और (पुच्छं पर्यस्यन्ती उग्रः देवः) पूंछ

मृत्युर्हिङ्कृण्वत्युँ१ग्रो देवः पुच्छं पर्यस्यन्ती ॥ २१ ॥
सर्वज्यानिः कर्णौ वरीवर्जयन्ती राजयक्ष्मो मेहन्ती ॥ २२ ॥
मेनिर्दुह्यमाना शीर्षक्तिर्दुग्धा ॥ २३ ॥
सेदिरुपतिष्ठन्ती मिथोयोधः परामृष्टा ॥ २४ ॥
शरव्या३ मुखेऽपिनह्यमान ऋतिर्हन्यमाना ॥ २५ ॥
अघविषा निपतन्ती तमो निपतिता ॥ २६ ॥
अनुगच्छन्ती प्राणानुप दासयति ब्रह्मगवी ब्रह्मज्यस्य ॥ २७ ॥ (२६)

(५।४)

वैरं विकृत्यमाना पौत्राद्यं विभाज्यमाना ॥ २८ ॥
देवहेतिर्ह्रियमाणा व्यृद्धिर्हृता ॥ २९ ॥
पाप्माधिधीयमाना पारुष्यमवधीयमाना ॥ ३० ॥
विषं प्रयस्यन्ती तक्मा प्रयस्ता ॥ ३१ ॥
अघं पच्यमाना दुष्वप्न्यं पक्वा ॥ ३२ ॥
मूलबर्हणी पर्याक्रियमाणा क्षितिः पर्याकृता ॥ ३३ ॥

अर्थ– ऊपर करनेवाली उग्र देवके समान भयंकर होती है ॥ २१ ॥ (कर्णौ वरीवर्जयन्ती सर्वज्यानिः) कान ऊपर करनेपर सबका नाश करनेवाली होती है और (मेहन्ती राजयक्ष्मः) मूत्र करनेपर क्षयरोग ही बनती है ॥ २२ ॥ (दुह्यमाना मेनिः) दुहों द्वारा दुही जाते समय शस्त्ररूप होती है (दुग्धा शीर्षक्तिः) दुही जानेपर सिरपीडा स्वरूप बनती है ॥ २३ ॥ (उपतिष्ठन्ती सेदिः) पास खडी होनेपर विनाशक होती है और (परामृष्टा मिथोयोधः) स्पर्श होनेपर द्वन्द्वयुद्ध करनेवाले शत्रुके समान होती है ॥ २४ ॥ (मुखे अपिनह्यमाने शरव्या) मुखमें बांधी जानेपर शरोंके समान और (हन्यमाना ऋतिः) ताडित होनेपर विनाशक होती है ॥ २५ ॥ (निपतन्ती अघविषा) बैठती हुई भयानक विषरूपी और (निपतिता तमः) बैठी होनेपर साक्षात मृत्युरूपी अन्धकारके समान होती है ॥ २६ ॥ (ब्रह्मगवी अनुगच्छन्ती) ब्राह्मणकी गौ—(ब्रह्मज्यस्य प्राणान् उपदासयति) ब्राह्मणघातकीके प्राणोंका नाश करती है ॥ २७ ॥

(५।४)

(विकृत्यमाना वैरं) गौको काट देनेपर वैर करती है और (विभज्यमाना पौत्राद्यं) काटकर विभक्त करनेपर पुत्रादिकोंके खानेवाली होती है ॥ २८ ॥ (ह्रियमाणा देवहेतिः) ले जानेपर देवोंका वज्र बनती है और (हृता व्यृद्धिः) हरण होनेपर विपत्ति बनती है ॥ २९ ॥ (अधियाना पाप्मा) काबूमें रखनेपर पापदश होती है और (अवधीयमाना पारुष्यं) तिरस्कृत होनेपर कठोरता बनती है ॥ ३० ॥ (प्रयस्यन्ती विषं) कष्टी होनेपर विष होती है और (प्रयस्ता तक्मा) सतानेपर ज्वरके समान होती है ॥ ३१ ॥

(पच्यमाना अघं) पकानेपर पाप रूप बनती है और (पक्वा दुष्वप्न्यं) पक जानेपर दुष्ट स्वप्नके समान दुःखदायिनि बनती है ॥ ३२ ॥ (पर्याक्रियमाणा मूलबर्हणी) घुमाई जानेपर मूलका नाश करनेवाली और (पर्याकृता क्षितिः) परोसी हुई तो विनाशक बनती है ॥ ३३ ॥

असंज्ञा गन्धेन शुगुद्धियमाणाशीविष उद्धृता ॥ ३४ ॥

अभूतिरुपह्रियमाणा पराभूतिरुपहृता ॥ ३५ ॥

शर्वः क्रुद्धः पिश्यमाना शिमिदा पिशिता ॥ ३६ ॥

अवर्तिरश्यमाना निर्ऋतिरशिता ॥ ३७ ॥

अशिता लोकाच्छिनत्ति ब्रह्मगवी ब्रह्मज्यमस्माच्चामुष्माच्च ॥ ३८ ॥ (२७)

(५।५)

तस्या आहननं कृत्या मेनिराशसनं वलग ऊबध्यम् ॥ ३९ ॥

अस्वगता परिह्णुता ॥ ४० ॥

अग्निः क्रव्याद् भूत्वा ब्रह्मगवी ब्रह्मज्यं प्रविश्यात्ति ॥ ४१ ॥

सर्वास्याङ्गा पर्वा मूलानि वृश्चति ॥ ४२ ॥

छिनत्त्यस्य पितृबन्धु परा भावयति मातृबन्धु ॥ ४३ ॥

विवाहां ज्ञातीन्त्सर्वानपि क्षापयति ब्रह्मगवी ब्रह्मज्यस्य क्षत्रियेणापुनर्दीयमाना ॥ ४४ ॥

अवास्तुमेनमस्वगमप्रजसं करोत्यपरापरणो भवति क्षीयते ॥ ४५ ॥

य एवं विदुषो ब्राह्मणस्य क्षत्रियो गामादत्ते ॥ ४६ ॥ (२८)

अर्थ (गन्धेन असंज्ञा) वह गंधसे बेहोषी करती है. (उद्ध्रियमाणां शुक्) उठाई जानेपर शोक पैदा करती है और (उद्भृतां आशीविषः) उठाई गयी सांपके समान होती है ॥ ३४ ॥ (उपह्रियमाणा अभूतिः) पास ली गई विपत्ति बनती है, (उपहृता पराभूतिः) पास रखी पराभवरूप होती है ॥ ३५ ॥ (पिश्यमाना क्रुद्धः शर्वः) पीसी जाते समय क्रोधित रुद्रके समान और (पिशिता शिमिदा) पीसी हुई सुखका नाश करनेवाली होती है ॥ ३६ ॥ (अश्यमाना अवर्तिः) खायी जाती हुई विपदा होती है और (अशिता निर्ऋतिः) खाई जानेपर गिरावट बनती है ॥ ३७ ॥ (अशिता ब्रह्मगवी) खाई हुई ब्राह्मणकी गौ (ब्रह्मज्यं अस्मात् अमुष्मात् च लोकात् छिनत्ति) ब्राह्मणघातकीको इस लोकसे और परलोकसे उखाड देती है ॥ ३८ ॥

(५।५)

(तस्याः आहननं कृत्या) उसका वध घात करनेवाला है (आशसनं मेनिः) उसके टुकडे करना वज्रघातसमान है। और (ऊबध्यं वलगः) उसका पक्व अन्न विनाशक होता है ॥ ३९ ॥

वह (परिह्णुता अस्वगता) ली जानेपरभी अपने पास नहीं रहती अर्थात् अपना घात करती है ॥ ४० ॥ (ब्रह्मगवी क्रव्यात् अग्निः भूत्वा ब्रह्मज्यं प्रविश्य अत्ति) ब्राह्मणकी गौ मांसभक्षक आग बनकर ब्राह्मणघातकीमें प्रवेश करके उसे खा जाती है ॥ ४१ ॥ (अस्य सर्वा अंगा मूलानि वृश्चति) इसके सब अंगों और मूलोंको काट डालती है ॥ ४२ ॥ (अस्य पितृबन्धु छिनत्ति) इसके पिताके बन्धुओंको छेदती है और (मातृबन्धु पराभावयति) माताके बन्धुओंको परास्त करती है ॥ ४३ ॥ (क्षत्रियेण अपुनर्दीयमाना ब्रह्मगवी) क्षत्रियके द्वारा पुनः वापस न दी गयी ब्राह्मणकी गौ (क्षत्रियस्य विवाहान् सर्वान् ज्ञातीन् क्षापयति) क्षत्रियके सब विवाहों और सब जातवालोंका नाश करती है ॥ ४४ ॥ (एनं अवास्तुं अस्वगं अप्रजसं करोति) इसे घरके विना, आश्रयरहित और प्रजारहित करती है, (अपरापरणः भवति, क्षीयते] सहायकसे रहित होता है और नष्ट होता है ॥ ४५ ॥ (यः क्षत्रियः विदुषः ब्राह्मस्य गां एवं आदत्ते) जो क्षत्रिय विद्वान् ब्राह्मणकी गौको इसी तरह छीनता है ॥ ४६ ॥ [२८]

(५।६)

क्षिप्रं वै तस्याहनने गृध्राः कुर्वत ऐलबम् ॥ ४७ ॥
क्षिप्रं वै तस्यादहनं परि नृत्यन्ति केशिनीराघ्नानाः पाणिनोरसि कुर्वाणाः पापमैलबम् ॥ ४८ ॥
क्षिप्रं वै तस्य वास्तुषु वृकाः कुर्वत ऐलबम् ॥ ४९ ॥
क्षिप्रं वै तस्य पृच्छन्ति यत् तदासी३ दिदं नु ता३ दिति ॥ ५० ॥
छिन्ध्या च्छिन्धि प्र च्छिन्ध्यपि क्षापय क्षापय ॥ ५१ ॥
आददानमाङ्गिरसि ब्रह्मज्यमुप दासय ॥ ५२ ॥
वैश्वदेवी ह्यु१ च्यसे कृत्या कूल्बजमावृता ॥ ५३ ॥
ओषन्ती समोषन्ती ब्रह्मणो वज्रः ॥ ५४ ॥
क्षुरपविर्मृत्युर्भूत्वा वि धाव त्वम् ॥ ५५ ॥
आ दत्से जिनतां वर्च इष्टं पूर्तं चाशिषः ॥ ५६ ॥
आदाय जीतं जीताय लोके३ मुष्मिन् प्र यच्छसि ॥ ५७ ॥
अघ्न्ये पदवीर्भव ब्राह्मणस्याभिशस्त्या ॥ ५८ ॥
मेनिः शरव्या भवाघादघविषा भव ॥ ५९ ॥

(५।६)

अर्थ— (तस्य आहनने गृध्राः क्षिप्रं वै ऐलबं कुर्वते) उस दुष्टके हनन होनेपर गीध शीघ्र ही कोलाहल मचाते हैं ॥ ४७ ॥

(तस्य आदहनं) उसकी जलती चिताको देखकर (केशिनीः पाणिना उरसि आघ्नानाः पापं ऐलबं कुर्वाणाः परिनृत्यन्ति) बाल छोडकर हाथोंसे छातियोंपर मार मार बुरा शब्द करती हुई स्त्रियाँ इतस्ततः नाचती हैं ॥ ४८ ॥ (तस्य वास्तुषु वृकाः ऐलबं क्षिप्रं कुर्वन्ति] उसके घरोंमें भेडिये शीघ्र ही अपना शब्द करने लगते हैं ॥ ४९ ॥ (क्षिप्रं वै तस्य पृच्छन्ति) शीघ्र ही उसके विषयमें पूछते है कि (यत् तत् आसीत्) जैसा वह था (इदं नु तत् इति)क्या यह वही है ।५०। (छिन्धि आच्छिन्धि प्रच्छिन्धि) उसको काटो, काट डालो और टुकडे करो। (अपि क्षापय क्षापय) नाश करो, उसका नाश करो ॥ ५१ ॥ हे (आंगिरसि) अंगरसकी शक्ति ! (आददानं ब्रह्मज्यं उपदासय) ब्राह्मणकी गौको छीननेवाले घातकीका नाश करो ॥ ५२ ॥ तू (वैश्वदेवी हि कृत्या) सब देवोंकी विनाशक शक्ति (कूल्बजं आवृता उच्यसे) विनाशिनी है ऐसा कहते हैं ॥ ५३ ॥ (ओषन्ती समोषन्ती ब्राह्मणः वज्रः) तापदायक कष्ट करनेवाली यह ब्राह्मणकी वज्ररूप शक्ति है ॥ ५४ ॥ (त्वं क्षुरपविः मृत्युः भूत्वा विधाव) तू क्षुरके समान तीक्ष्ण बनकर उसका मृत्यु करनेके लिये दौड ॥ ५५ ॥ (जिनतां वर्चः इष्टं पूर्तं च आशिषः आदत्से) विनाश करनेवालेका तेज इष्टपूर्तता और आशिषोंको तू छीनती है ॥ ५६ ॥

(जीतं आदाय अमुष्मिन् लोके) हिंसक घातकी पुरुषको पकडकर परलोकमें (जीताय प्रयच्छसि) उसके घातके लिये तू देती है ॥ ५७ ॥ हे (अघ्नये) अवध्य गो ! तू (ब्राह्मणस्य अभिशस्त्याः पदवीः भव) ब्राह्मणप्रशंसासे सबकी प्रतिष्ठा करनेवाली हो ॥ ५८ ॥ तू (मेनिः शरव्या भव) विनाशक शस्त्र बन, [अघात् अघविषा भव] पापसे पापरूपी बन ॥ ५९ ॥

अघ्न्ये प्र शिरो जहि ब्रह्मज्यस्य कृतागसो देवपीयोरराधसः ॥ ६० ॥
त्वया प्रमूर्णं मृदितमग्निर्दहतु दुश्चितम् ॥ ६१ ॥ (२९)

(५१७)

वृश्च प्र वृश्च सं वृश्च दह प्र दह सं दह ॥ ६२ ॥
ब्रह्मज्यं देव्यघ्न्य आ मूलादनुसंदह ॥ ६३ ॥
यथायाद् यमसादनात् पापलोकान् परावतः ॥ ६४ ॥
एवा त्वं देव्यघ्न्ये ब्रह्मज्यस्य कृतागसो देवपीयोरराधसः ॥ ६५ ॥
वज्रेण शतपर्वणा तीक्ष्णेन क्षुरभृष्टिना ॥ ६६ ॥
प्र स्कन्धान् प्र शिरो जहि ॥ ६७ ॥
लोमान्यस्य सं छिन्धि त्वचमस्य वि वेष्टय ॥ ६८ ॥
मांसान्यस्य शातय स्नावान्यस्य सं वृह ॥ ६९ ॥
अस्थीन्यस्य पीडय मज्जानमस्य निर्जहि ॥ ७० ॥
सर्वास्याङ्गा पर्वाणि वि श्रथय ॥ ७१ ॥
अग्निरेनं क्रव्यात् पृथिव्या नुदतामुदोषतु वायुरन्तरिक्षान्महतो वरिम्णः ॥ ७२ ॥
सूर्य एनं दिवः प्र णुदतां न्योषतु ॥ ७३ ॥ (३०)

॥ इति पञ्चमोऽनुवाकः ॥

॥ द्वादशं काण्डं समाप्तम् ॥

हे [अघ्न्ये] अवध्य गौ ! तू [ब्रह्मज्यस्य कृतागसः देवपीयोः अराधसः शिरः प्रजहि] ब्रह्मघातकी पापी देवनिंदक अदानी पापीका शिर काट डाल ॥ ६० ॥ [त्वया प्रमूर्णं मृदितं दुश्चितं अग्निः दहतु] तेरे द्वारा मारा गया नष्ट भ्रष्ट हुए दुष्टबुद्धि शत्रुको अग्नि जला दे ॥ ६१ ॥

[वृश्च प्रवृश्च संवृश्च] काट, अधिक काट, अच्छीतरहसे काट, [दह प्रदह संदह] जला, अधिक जला, अच्छी तरहसे जला ॥ ६२ ॥ हे [अघ्न्ये देवि] अहिंसनीय गौ देवि ! [ब्रह्मज्यं आमूलात् अनुसंदह] ब्रह्मघातकीको समूल जला डाल ॥ ६३ ॥ [यथा यमसदनात् परावतः पापलोकान् अयात्] जैसा यमसदनसे परले पापी लोकोंके प्रति वह जावे [एवा कृतागसः देवपीयोः अराधसः ब्रह्मज्यस्य] इस तरह पापी देवशत्रु कंजूस ब्रह्मघातकी मनुष्यका [शिरः स्कन्धान्] सिर और कंधे [शतपर्वणा क्षुरभृष्टिना तीक्ष्णेन वज्रेण प्रजहि] सौ नोकवाले क्षुरके समान धारवाले तीक्ष्ण वज्रसे काट डाल ॥ ६४-६७ ॥ [अस्य लोमानि सं छिन्धि] इसके लोम काट डाल, [अस्य त्वचं वि वेष्टय] इसकी त्वचाको उधेड़, [अस्य मांसानि शातय] इसके मांसको काट डाल, [अस्य स्नावानि संवृह] इसके स्नायुओंको कुचल, [अस्थीनि पीडय] इसकी हड्डियोंको पीडा दे, [अस्य मज्जानं निर्जहि] इसकी मज्जाको नाश कर, [अस्य सर्वा पर्वाणि विश्रथय] इसके सब पर्वोंको अलग कर ॥ ६८-७१ ॥ [एनं क्रव्याद् अग्निः पृथिव्याः नुदतां] इसको मांसभक्षक अग्नि पृथिवीके बाहर निकाले और [उत् ओषतु] जला देवे ॥ [वायुः महतः वरिम्णः अन्तरिक्षात्] वायु बडे भारी अन्तरिक्षसे दूर करे ॥ [सूर्यः एनं दिवः प्र नुदतां] सूर्य इसे द्युलोकसे दूर कर देवे और [नि ओषतु] जला देवे ॥ ७२-७३ ॥ [३०]

गौका महत्त्व ।

इस सूक्तमें और अगले सूक्तमें गौका महत्त्व वर्णन किया है इस दृष्टिसे ये दोनों सूक्त मनन करने योग्य हैं। पहिले ही मंत्रमें कहा है कि (ददामि इति एव ब्रूयात् ॥ १ ॥) मैं दान देता हूं ऐसा ही यजमान बोले, दान देनेमें संकोच न हो, न देनेकी और किसी प्रकार विचार न हो, सदा उपकार करनेका ही विचार मन में रहे।

ब्राह्मण क्यों याचना करते हैं ?

ब्राह्मणोंका घर एक गुरुकुल होता है, वहां अनेक छात्र होते हैं, उनका पोषण करना और उनको विद्या पढाना उस ब्राह्मणका कर्तव्य होता है। यज्ञयाग करनाभी उनका कर्तव्य है इस सबके लिये विद्वान् ब्राह्मणोंको गौकी आवश्यकता होती है। इस परोपकार और जगदुद्धारके कार्यके लिये ब्राह्मण लोग गौओंकी प्रार्थना करते हैं और अन्य लोग उनको न मांगने पर भी सत्पात्र ब्राह्मण देखकर गौदान करते हैं।

गौका दान तो ऐसे सत्पात्र ब्राह्मणको स्वयं करना चाहिये। जो ऐसा नहीं करते, परंतु मांगनेपरभी नहीं देते, उनसे न समझते हुए बडा सार्वजनिक पाप होता है। ब्राह्मणोंको जिस राष्ट्रमें मांगनेकी आवश्यकता होती है अर्थात् उनकी सहायताकी न्यूनता रहती है, उस राष्ट्रमें बडा पाप होता है। क्योंकि सद्ब्राह्मणोंके विद्याप्रचारसे ही राष्ट्रमें संस्कृति और सभ्यता स्थिर रह सकती है। इस तरह विचार करनेसे विदित होगा कि ब्राह्मणोंके मांगनेपर भी न देना कितना राष्ट्रीय पतनका हेतु हो सकता है।

दानका अधिकारी ब्राह्मण ।

हरएक ब्राह्मण मांगनेका भी अधिकारी नहीं है और गौका दान लेनेका भी अधिकारी नहीं है। इस विषयमें वेदने स्पष्ट दानके अधिकारी ब्राह्मण का लक्षण बताया है-

शतं याचन्तु ब्राह्मणा गोपतिं वशाम्।
अथैनां देवा अब्रुवन्नेवं ह विदुषो वशा॥ (मं० २२)

" सैकडों ब्राह्मण लोग गौकी याचना करते रहें, परंतु उनमें केवल विद्वानको ही गौ देनी चाहिये।" यह वेदका आदेश सदा स्मरण रखनेयोग्य है। जो चाहे सो ब्राह्मण दानका अधिकारी नहीं है, जो विद्वान् ब्राह्मण होगा वही दान लेनेका अधिकारी होगा। यहां वेदने ब्राह्मण जातीका पक्षपात नहीं किया है, केवल विद्वान् तत्त्वज्ञानी आचारसंपन्न ब्राह्मण जो कि अपने अध्ययन अध्यापनमें मग्न रहते हैं, जिनसे अपने लिये धन कमानेका व्यवसाय नहीं हो सकता, जो कि अपना जीवन ज्ञानवृद्धिके लिये लगाये हुए हैं, जिनके सत्संगमें रहते हुए अनेक छात्र कृतकृत्य हो रहे हैं, ऐसे सुयोग्य विद्वान् को ही गौ दान देनी चाहिये। यह आदेश सब दानोंके लिये है और गौके दानके लिये विशेष ही है।

यहां पाठकोंको विदित हुआ कि ऐसे सद्ब्राह्मणका ही गौपर अधिकार है और ऐसा यह अधिकार है यह बात (देवाः अब्रुवन्) देवोंने स्वयं कही है। अतः इसमें कोई किसी प्रकारका पक्षपात नहीं है।

मंत्र २ और ३ में ऐसे विद्वान् ब्राह्मणको गौ न देनेसे कैसी दुर्गति होती है यह बात कही है। विद्वान् ब्राह्मण राष्ट्रमें न रहे तो ज्ञानवृद्धि नहीं होगी, और राष्ट्रमें ज्ञान न रहा तो सब प्रकार की उन्नति होना असंभव है, यह बात स्पष्ट हो सकती है।

चौथे मंत्रमें 'विलोहित' ज्वर और पांचवें मंत्रमें "विक्लन्दु" नामक रोगका वर्णन है। (या मुखेन उपजिघ्रति) गौ जिसे मुखसे सूंघती है उसे यह रोग होता है और वह मरता है। इस लक्षणसे यह रोग कौनसा है, इसका पता आजकल के वैद्य भी लगा सकते हैं। वैद्य और पशुडाक्टर इसकी खोज करें।

छठे मंत्रमें कहा है कि कई लोग गौके शरीरपर चिह्न करनेकी इच्छासे कानपर अथवा किसी अन्यभागपर चिह्न करते हैं। यह भी लोगोंकी परिपाटी बहुत बुरी है, क्योंकि इससे भी गौको बडे क्लेश होते हैं। गौको ऐसे क्लेश देना योग्य नहीं है। गौको ऐसी उत्तमतासे रखना चाहिये कि उसको किसी प्रकार भी कोई कष्ट न हो, वह आनन्दप्रसन्न रहे। ऐसा आनन्द प्रसन्न गौ रहेगी तो ही उसके सब गुण प्रकट होते हैं और वही गौ उत्तम गोरस देती है, जो कि मनुष्यमात्रके लिये हितकारी हो सकता है।

गौकी रक्षा ।

कई लोग गौके बाल काटते हैं। ऐसा करना भी उचित नहीं है ऐसा सातवें मंत्रमें कहा है। आठवें मंत्रमें गौकी रक्षा करनेके संबंधमें एक बडी महत्त्वपूर्ण बात कही है। गवालिये

गौवोंको लेकर गोचर भूमिमें जाते हैं और गौवोंको चरनेके लिये छोड देते हैं और स्वयं इधर उधर भटकते रहते हैं। ऐसी दशामें कौवे गौके पीछे पडकर उनको सताते हैं। ऐसा न हो यह सूचना मंत्र ८ वें में है। गवालिया गौकी योग्य रक्षा करे, कौवे आदिसे गौको पीडा तो नहीं होती है इस विषयमें सावधानता रखे। रघुवंशमें दिलीप राजा जैसी वसिष्ठकी गौकी रक्षा करता था, वैसी रक्षा हरएक गौरक्षक करे। कोई जीवजन्तु गौको पीडा न देवे। ऐसी रक्षा करनेवाला ही सुयोग्य गोरक्षक कहलावेगा।

गोबर और मूत्र।

नवम मंत्रमें गौका गोबर और मूत्र इधर उधर न फेंकनेकी आज्ञा कही है। किसी विशेष स्थानमें उनको अर्थात् गोबरको और मूत्रको सुरक्षित रखना चाहिये। क्योंकि यह उत्तम खाद है, जिससे धान्य फल फूल साग आदि उत्तम पैदा हो सकती है। इधर उधर नौकरानी फेंक देगी और उससे बडी हानि होगी। ऐसी अवस्था किसीभी गृहस्थीके घरमें न हो इसलिये यह आज्ञा दी है, गोबर और मूत्र इधर उधर फेंक देना [एनसः] पाप है, यह पतनका हेतु है। यह पाप कोई न करे।

आगे दशमसे द्वादशतक के मंत्रोंमें फिर कहा है कि यह गौ विद्वान् सुयोग्य सदाचारी ब्राह्मणकी होती है। [आर्षेय] ऋषिप्रणालीके अनुसार आचरण करनेवाले को ही इसका दान करना चाहिये।

तेरहवें मंत्रमें कहा है कि जो भोग्य पदार्थ गौसे प्राप्त होता है उसका विचार दाता गौका दान करनेके समय न करे। क्योंकि उसको वह भोग अन्य रीतिसे भी प्राप्त होगा। यदि कोई दाता दान देनेके समयमें यह विचार लावे कि " अरेरे, मुझे तो इससे यह भोग मिलेगा, और मैं इस भोगसे ऐसे सुख प्राप्त करूंगा, इसका दान करनेसे मुझे ये दुःख उठाने पडेंगे ई० ई०।" कोई दाता ऐसे कंजूसीके विचार मनमें न लावे। इस प्रकार विचार मनमें लानेसे दान का सब महत्व नष्ट हो जायगा। दानसे जो मनकी उच्चता होती है, वह इस प्रकारके विचारोंसे समूल दूर होगी।

सोलहवें मंत्रमें फिर कहा है कि " गौ तो ऐसे सत्पात्र ब्राह्मणोंका ही धन है।' गौके स्वामीके पास तो वह तीन वर्षपर्यंत रहे, उसके पश्चात् वह सुविद्य सत्पात्र ब्राह्मणको दी जाय। योग्य ब्राह्मण प्रार्थना करनेके लिये न आवे तो वैसे ब्राह्मणको ढूंढना चाहिये, परंतु कभी अयोग्यको दान देना नहीं।

आगे २१ वें मंत्रतक दानका ही महत्व वर्णन किया है। २२ वें मंत्रमें विद्वान् ब्राह्मणको ही गौका दान करना चाहिये यह बात फिर कही है। सैकडों अविद्वान मांगें तो उनको देनी नहीं चाहिये। केवल विद्वान ही दान लेनेका अधिकारी है, यह बात हरएक दान देनेवालेको स्मरण रखनी चाहिये। इस तरह दान होते रहेंगे, तो जगत्का उद्धार होगा। कुपात्रमें दिये दान ही अधोगति करनेवाले होते हैं।

आगे तेईसवें मंत्रमे विशेष ही बलसे कहा है कि यदि कोई मनुष्य ऐसे विद्वान्को दान न देकर अन्य अविद्वानोंको देगा, तो उसको बडा दुःख होगा।

आगेके तीन मंत्रोंमें कहा है कि ब्राह्मण अग्न्यादि देवताओंके उद्देश्यसे गौके घृतदुग्धादिकी आहुतियां देते हैं और देवताओंका संतोष करते हैं, इसलिये उनको गौ दान करना चाहिये। यदि दान न किया तो यजमानको बडा कष्ट भोगना पडेगा। आगे ३२ वें मंत्रतक यही विषय कहा है।

क्षत्रियकी माता।

३३ वें मंत्रमें कहा है कि ' गौ क्षत्रियकी माता है ' (वशा राजन्यस्य माता) इसलिये क्षत्रियको उचित है कि वह गौको माता मानकर उसका सत्कार यथायोग्य करे। गौको यदि कोई मनुष्य कष्ट देवे, तो क्षत्रिय अपनी माताको कष्ट देनेवाला समझकर यथायोग्य दण्ड देवे।

आगे ५३ वें मंत्रतक अर्थात् सूक्तकी समाप्ति तक गौका दान सुयोग्य ब्राह्मणको देना चाहिये, दान न देनेका भाव कोईभी मनमें न धारण करे, दान देनेसे कल्याण और न देनेसे दुःख होता है यही वर्णन है।

इन मंत्रोंमें कई स्थानोंपर गोदान न देकर जो स्वयं अपने लिये [पचते वशा] गौको पकाता है " ऐसे वाक्य हैं। जिनको वेदकी भाषाका परिचय नहीं है वे इससे ऐसा अनुमान करेंगे कि ' गौको पकाना, अर्थात् गोमांसका पकाना ही यहां अभीष्ट है।' जो लोग ऐसा विचार मनमें रखेंगे उनके विकल्पके निरासके लिये यहां थोडासा लिखनेकी आवश्यकता है।

*

वेदमें लुप्ततद्धित शब्दप्रयोग होते हैं जिससे "गौ" शब्द 'गौसे उत्पन्न हुए पदार्थोंका वाचक' होता है। अर्थात् ' वशां पचति'का अर्थ 'गौसे उत्पन्न दूध, घृत, दही, छाछ' आदि पकाता है, गोदुग्धसे किया पायस तैयार करता है। ऐसा है। इसी प्रकार 'गौ' या ' वशा ' के अर्थ जैसे 'दूध, दही, छाछ, घृत' आदि पदार्थ हैं वैसे ही इस शब्दके अर्थ 'मांस, रक्त, हड्डी, चमडा, बाल, गोबर, गोमूत्र,' आदि भी हैं। हमारे विचारसे 'दूध, दही, छाछ, घृत' आदि अर्थ ही यहां लेना चाहिये। पाठक इसका विचार करें और इन मंत्रोंका आशय समझें।

चतुर्थ अनुवाक समाप्त।

पंचम अनुवाक।

इस पंचम अनुवाकमें ७ पर्याय (विभाग) और ७३ मंत्र हैं। इस संपूर्ण सूक्तमें गौकी महिमा कही है और ब्राह्मणकी गौ कोई न छीने, ब्राह्मणको गौ दानमें दी जावे, जो ब्राह्मणों—अर्थात् विद्वान् ब्राह्मणोंको सताते हैं, उनकी गौ चुराकर ले आते हैं, उनके सर्वस्वका नाश होता है, इत्यादि वर्णन है।

विषय यहां होनेसे इस सूक्तका विशेष स्पष्टीकरण करनेकी आवश्यकता नहीं है। जो पाठक मंत्रका अर्थ पढेंगे उनकी समझमें उनका आशय सहजहीमें आ सकता है। वर्णन कवि कल्पनासे पूर्ण है और उसी दृष्टिसे यह सूक्त देखना चाहिये।

पञ्चम अनुवाक समाप्त ॥

द्वादश काण्ड समाप्त ॥ १२ ॥

द्वादश काण्डकी विषयसूची।

ॐ

अथर्ववेद

का

सुबोध भाष्य ।

त्रयोदशं काण्डम् ।

ॐ

अथर्ववेदका सुबोध

भाष्य ।

त्रयोदश काण्ड ।

यह त्रयोदश काण्ड अथर्ववेदके तृतीय महाविभागका पहिला काण्ड है । पहिला महाविभाग १ से ७ तक के सात काण्डोंका है । दूसरा महाविभाग ८ से १२ तक के पांच काण्डोंका है और तीसरा महाविभाग १३ से १८ काण्डतक के छः काण्डोंका है । इस तृतीय महाविभागका यह तेरहवां कांड पहिला है । इस काण्डमें चार सूक्त हैं और चारों सूक्तोंमें ' अध्यात्म रोहित आदित्य ' का वर्णन है । इस काण्डकी मंत्रसंख्या इस प्रकार है—

सूक्त	अनुवाक	दशति	मंत्रसंख्या
१	१	६	६०
२	२	४+६ मंत्र	४६
३	३	२+६ "	२६
४	४	६ पर्याय	५६
४ सूक्त	४ अनुवाक		१८८ कुल मंत्रसंख्या

अब इनके ऋषि, देवता और छन्द देखिये—

ऋषि देवता और छंद ।

सूक्त	मंत्रसंख्या	ऋषि	देवता	छन्द
१	६०	ब्रह्मा	अध्यात्मं रोहितः आदित्यः,	त्रिष्टुप् । ३ ५, ९, १२ जगत्यः। १५ अतिजगतीगर्भा जगती; ८ भुरिक्; १७ पंचपदाककुंमतीजगती;

७

			३ मरुतः, २८, ३१ अग्निः ३१ बहुदैवत्यं।	१३ अतिशाक्वरगर्भातिजगती; १४त्रिपदा पुरःपरशाक्वरा विपरीतपादलक्ष्म्या पंक्तिः, १८, १९ ककुंमत्यतिजगत्यौ (१८ परशाक्वरा भुरिक्;) २१ आर्षी निचृद्गायत्री; २२, २३, २७ प्रकृता; २६ विराट् परोष्णिक्; २८-३०, ३२ ३९, ४०, ४५-५०; ५१-५६; ५७-५८ अनुष्टुभः (२८ भुरिक्, ५२-५५ पथ्यापंक्तिः, ५५ ककुंमती बृहतीगर्भा; ५७ ककुंमती); ३१ पंचपदा ककुंमतीशाक्वरगर्भा-जगती; ३५ उपरिष्टाद्बृहती; ३६ निचृन्महा बृहती; ३७ परशाक्वरा विराड् अतिजगती; ४२ विराड् जगती; ४३ विराड् महाबृहती; ४४ परोष्णिक् , ५ - ६० गायत्र्यौ।
	४६	,,	अध्यात्मं रोहितः आदित्यः	,, १, १२-१५, ३९-४१ अनुष्टुभः; २, ३, ८, ४३ जगत्यः; १० आस्तारपंक्तिः, ११ बृहतीगर्भा; १६-२४ आर्षी गायत्री; २५ ककुंमती आस्तारपंक्तिः; २६ पुरोद्व्यतिजागता भुरिग्जगती; २७ विराड्जगती; २९ बार्हतगर्भाऽनुष्टुप्; ३० पंचपदा उष्णिग्गर्भाऽतिजगती; ३४ आर्षी पंक्तिः; ३७ पंचपदा विराड्गर्भा जगती; ४४, ४५ जगत्यौ [४४ चतुष्पदा पुरः शाक्वरा भुरिक् ४५ अतिजागतगर्भा]।
३	२६	,,	,,	,, १ चतुरवसानाष्टपदा आकृतिः, २-४ त्र्यवसाना षट्पदा [२, ३ अष्टिः २ भुरिक्, ४ अतिशक्वरगर्भा-धृतिः]; ५-७ चतुरवसाना सप्तपदा [५, ६ शाक्वरातिशाक्वरगर्भा प्रकृतिः, ७ अनुष्टुब्गर्भाति धृतिः], ८ त्र्यवसाना षट्पदा अत्यष्टिः, ९-१९ चतुरवसाना [९-१२, १५, १७ सप्तपदा भुरिगतिधृतिः, १५ निचृत्; १७ कृतिः; १३, १४, १६, १८, १९ अष्टपदा; १४, १४ विकृतिः; १६, १८, १९, आकृतिः; १९ भुरिक्], २०, २२ त्र्यवसाना अष्टपदा अत्यष्टिः; २१ २३-२५ चतुरवसाना अष्टपदा [२४ सप्तपदा कृतिः; २१ आकृतिः; २३, २५ विकृतिः]
४ (१)	१३	,,	,,	,, १-११ प्राजापत्यानुष्टुभः; १२ विराड् गायत्री; १३ आसुरी उष्णिक्।
(२)	८	,,	,,	,, १४ भुरिक् साम्नी त्रिष्टुप् ; १५ आसुरी पंक्तिः, १६ १९ प्राजापत्याऽनुष्टुप् ; १७, १८ आसुरी गायत्री।
(३)	७	,,	,,	,, २२ भुरिक् प्राजापत्या त्रिष्टुप् ; २३ आर्ची गायत्री, २५ एकपदा आसुरी गायत्री; २६ आर्ची अनुष्टुप् ; २७ २८ प्राजापत्याऽनुष्टुप्।

(४)	१७	,,	,,	,, २९, ३३, ३९, ४०, ४५ आसुरीगायत्र्यः; ३०, ३२, ३५, ३६, ४२ प्राजापत्याऽनुष्टुभः; ३१ विराड् गायत्री; ३४, ३७, ३८ साम्न्युष्णिहः; ४१ साम्नी बृहती; ४३ आर्षी गायत्री; ४४ साम्न्यनुष्टुप्।
(५)	६	,,	,,	,, ४६ आसुरी गायत्री; ४७ यवमध्या गायत्री; ४८ साम्नी उष्णिक्; ४९ निचृत्साम्नी बृहती; ५० प्राजापत्या-ऽनुष्टुप् ; ५१ विराड् गायत्री ।
(६)	५	,,	,,	,, ५२, ५३ प्राजापत्यानुष्टुभौ, ५४ आर्षी गायत्री ।

इस प्रकार इन सूक्तोंके ऋषि, देवता और छंद हैं । इन सब सूक्तोंकी देवता एक ही है, इसलिये चारों सूक्तोंका अर्थ समाप्त होनेपर सबका मिलकर इकट्ठा ही स्पष्टीकरण किया जायगा ।

ॐ

अथर्ववेदका सुबोध भाष्य ।

त्रयोदशं काण्डम् ।

अध्यात्म—प्रकरण।

(१)

उदेहि वाजिन् यो अप्स्व १ न्तरिदं राष्ट्रं प्र विंश सूनृतावत् ।
यो रोहितो विश्वमिदं जजान स त्वा राष्ट्राय सुभृतं बिभर्तु ॥ १ ॥
उद्वाज आ गन् यो अप्स्व १ न्तर्विश आ रोह त्वद्योनयो याः ।
सोमं दधानोऽप ओषधीर्गाश्चतुष्पदो द्विपद आ वेशयेह ॥ २ ॥

अर्थ- हे (वाजिन् ! उत् एहि) सामर्थ्यवान् आत्मदेव ! तू उदयको प्राप्त हो । (यः अप्सु अन्तः) जो तू आपोमय प्राणोंके परे है, वह तू (इदं सूनृतावत् राष्ट्रं प्रविश) इस प्रिय राष्ट्रमें प्रविष्ट हो, (यः रोहितः इदं विश्वं जजान) जिस देवने यह सब उत्पन्न किया है, (सः त्वा राष्ट्राय सुभृतं बिभर्तु) वह तुझे इस राष्ट्रके लिए उत्तम भरणपोषणपूर्वक धारण करे ॥ १ ॥

(यः अप्सु अन्तः) जो आपोमय प्राणोंके अन्दर विद्यमान है वह (वाजः उत् आगन्) सामर्थ्य ऊपर आगया है। (याः त्वत्- योनयः विशः) जो तेरी जातिकी प्रजाएं हैं, उनमें तू (आरोह) उच्च स्थानमें विराजमान हो । (इह सोमं दधानः) इस राष्ट्रमें सोमादि वनस्पतियोंका पोषण करते हुए (अपः ओषधीः गाः चतुष्पदः द्विपदः) जल, औषधियां गौवें, चतुष्पाद और द्विपाद् प्राणियोंको (आवेशय) निवास कराओ ॥ २ ॥

भावार्थ— प्रत्येक आत्मा अभ्युदय और निःश्रेयस प्राप्त करे । प्रत्येक मनुष्य राष्ट्रकी उन्नतिके साथ अपनी उन्नति करे । अपने राष्ट्रपर प्रेम करे और उसकी उन्नति करनेका प्रयत्न करे । इस सूर्यदेवने इस जगत् की उत्पत्ति की है, वही तुम्हें राष्ट्रीय उन्नति करनेके लिये हृष्टपुष्ट करेगा ॥ १ ॥

मनुष्यका सामर्थ्य वही है जो उसके प्राणमें विद्यमान है । उस सामर्थ्यसे युक्त होकर अपनी सजातीय प्रजामें— अर्थात् अपने राष्ट्रमें रहकर अभ्युदय प्राप्त करना चाहिये । यहां अपने राष्ट्रमें रहकर वनस्पतियां, जलस्थान, औषधियां, गौवें और अनेक द्विपाद तथा चतुष्पाद पशुओंका धारण करें ॥ २ ॥

यूयमुग्रा मरुतः पृश्निमातर इन्द्रेण युजा प्र मृणीत शत्रून् ।
आ वो रोहितः शृणवत् सुदानवस्त्रिषप्तासो मरुतः स्वादुसंमुदः ॥ ३ ॥

रुहो रुरोह रोहित आ रुरोह गर्भो जनीनां जनुषामुपस्थम् ।
ताभिः संरब्धमन्वविन्दन् षडुर्वीर्गातुं प्रपश्यन्निह राष्ट्रमाहाः ॥ ४ ॥

आ ते राष्ट्रमिह रोहितोऽहार्षीद् व्यास्थन्मृधो अभयं ते अभूत् ।
तस्मै ते द्यावापृथिवी रेवतीभिः कामं दुहाथामिह शक्वरीभिः ॥ ५ ॥

रोहितो द्यावापृथिवी जजान तत्र तन्तुं परमेष्ठी ततान ।
तत्र शिश्रियेऽज एकपादोऽदृंहद् द्यावापृथिवी बलेन ॥ ६ ॥

अर्थ- हे (मरुतः) मरनेतक लडनेवाले वीरो ! (यूयं उग्राः पृश्निमातरः) तुम सब बहुत शूर और भूमिको अपनी माता माननेवाले हो, तुम (इन्द्रेण युजा शत्रून् प्रमृणीत) इन्द्रके साथ रहकर शत्रुओंका नाश करो। हे (सुदानवः! रोहितः आ शृणवत्) उत्तम दान देनेवाले वीरो ! वह सूर्यदेव तुम्हारी बात सुने । (त्रि—सप्तासः मरुतः स्वादुसंमुदः) आप तीन गुणा सात अर्थात् इक्कीस प्रकारके वीर उत्तम आनंद देनेवाले हैं ॥ ३ ॥

(रोहितः रुहः रुरोह) प्रकाशवान सूर्यदेव उच्च स्थानमें विराजमान हुआ है, अर्थात् (जनुषां जनीनां उपस्थं गर्भः आरुरोह) स्त्रीयोंकी गोदमें यह गर्भ बैठ गया है । (षट् उर्वीः ताभिः संरब्धं अन्वविन्दन्) छः दिशाओंने उनके द्वारा बढाये गर्भको प्राप्त किया । वह (गातुं प्रपश्यन् इह राष्ट्रं आहाः) उन्नतिका मार्ग जानता हुआ यहां राष्ट्रको उन्नत करता है ॥ ४ ॥

(ते राष्ट्रं इह रोहितः आहार्षीत्) तेरे राष्ट्रको यहां उसी सूर्यदेवने लाया है । (मृधः वि आस्थत्) शत्रुओंको दूर किया, और (ते अभयं अभूत्) तेरे लिए निर्भयता हो गयी है । (तस्मै ते रेवतीभिः शक्वरीभिः द्यावापृथिवी इह कामं दुहाथां) उस तेरे हितके लिए धन और शक्तियोंद्वारा ये द्युलोक और पृथिवीको यहां इस राष्ट्रमें यथेच्छ उपभोग देवें ॥ ५ ॥

[रोहितः द्यावापृथिवी जजान) इस सूर्यदेवने इस द्युलोक और पृथ्वीलोकको उत्पन्न किया है । [तत्र परमेष्ठी तन्तुं ततान] वहां परमात्माने सूत्रात्माको फैलाया है । [तत्र एकपादः अजः शिश्रिये] वहां एकपाद आत्माने आश्रय किया है । उसीने [बलेन द्यावापृथिवी अदृंहत्] अपने बलसे द्युलोक और पृथ्वीको सुदृढ बनाया ॥ ६ ॥

भावार्थ- सब लोग अपनी मातृभूमिकी रक्षा अपने उग्र शौर्यसे करें । मातृभूमिके शत्रुओंका नाश करें । मनमें उदारतायुक्त दातृत्वका भाव धारण करें । जो वीर मरनेतक लडनेवाले होते हैं, वे ही उत्तम आनंद देनेवाले होते हैं ॥ ३ ॥

यह सूर्य उदयको प्राप्त हुआ है, मानो यह अपनी माताकी गोदमें बैठा है । इस समय मानो छहों दिशाओंने उस गर्भका धारण किया है । यह गर्भ आगे उन्नत होता है, स्वयं उन्नतिका मार्ग जानता है और राष्ट्रको भी उन्नत करता है ॥४॥

इस सूर्यदेवने ही तेरे राष्ट्रको उच्च स्थितिमें लाया है । उसीने शत्रुओंको दूर किया और तुझे निर्भय किया है। इस राष्ट्रमें रहनेवालोंके लिए इस भूमिमें धन और शक्तियां पर्याप्त हों ॥ ५ ॥

इस सूर्यदेवने द्युलोक और पृथ्वीलोकको बनाया है । यहां परमात्माने सूत्ररूप आत्माको फैलाया है । वहां जीवात्माने आश्रय लिया है । उसीने अपने बलसे इस पृथ्वीको सुदृढ बनाया है ॥ ६ ॥

रोहितो द्यावापृथिवी अदंहत् तेन स्वस्तभितं तेन नाकः ।
तेनान्तरिक्षं विमिता रजांसि तेन देवा अमृतमन्वविन्दन् ॥ ७ ॥
वि रोहितो अमृशद् विश्वरूपं समाकुर्वाणः प्ररुहो रुहश्च ।
दिवं रूढ्वा महता महिम्ना सं ते राष्ट्रमनक्तु पयसा घृतेन ॥ ८ ॥
यास्ते रुहः प्ररुहो यास्त आरुहो याभिरापृणासि दिवमन्तरिक्षम् ।
तासां ब्रह्मणा पयसा वावृधानो विशि राष्ट्रे जागृहि रोहितस्य ॥ ९ ॥
यास्ते विशस्तपसः संबभूवुर्वत्सं गायत्रीमनु ता इहागुः ।
तास्त्वा विशन्तु मनसा शिवेन संमाता वत्सो अभ्येतु रोहितः । ॥ १० ॥(१)
ऊर्ध्वो रोहितो अधि नाके अस्थाद् विश्वा रूपाणि जनयन् युवा कविः ।
तिग्मेनाग्निर्ज्योतिषा वि भाति तृतीये चक्रे रजसि प्रियाणि ॥ ११ ॥

अर्थ— (रोहितः द्यावापृथिवी अदंहत्) सूर्यदेवने द्युलोक और पृथिवी लोकको सुदृढ बनाया । (तेन तेन स्वः नाकः स्तभितं) उसीने स्वर्गनामक सुखपूर्ण लोक ऊपर थाम रखा है । (तेन अन्तरिक्षं रजांसि विमिता) उसने अन्तरिक्ष लोकको बनाया और (तेन देवाः अमृतं अन्वविन्दन्) उसीके द्वारा सब देवोंको अमरत्व प्राप्त हुआ ॥ ७ ॥

(रोहितः प्ररुहः रुहः च समाकुर्वाणः विश्वरूपं वि अमृशत्) सूर्यदेवने ऊंचे और नीचे सब दिशाओंको इकठ्ठा करके सब विश्वके रूपको बनानेका विचार किया । वह (महता महिम्ना दिवं रूढ्वा) अपने बडे सामर्थ्यसे द्युलोकपर आरूढ होकर (ते राष्ट्रं पयसा घृतेन सं अनक्तु) तेरे राष्ट्रको घी और दूधसे भरपूर करे ॥ ८ ॥

(याः ते रुहः प्ररुहः याः ते आरुहः) जो तुम्हारे आगे, पीछे और ऊपर बढनेके मार्ग हैं (याभिः दिवं अंतरिक्षं आपृणासि) जिनके द्वारा तू द्युलोक और अन्तरिक्ष लोकको भरपूर करता है, (तासां ब्रह्मणा पयसा वावृधानः) उनके बलवर्धक रससे बढता हुआ तू (रोहितस्य विशि राष्ट्रे जागृहि) सूर्यदेवकी प्रजामें और राष्ट्रमें जाग्रत रह ॥ ९ ॥

[ते तपसः याः विशः संबभूवुः] तेरे प्रकाशसे जो प्रजाएं उत्पन्न होगयीं हैं, [ताः इह वत्सं गायत्रीं अनु आगुः] वे प्रजाएं यहां संतान और अपने प्राणत्राणसंबंधी व्यापारके अनुकूल होकर चलती हैं । [ताः शिवेन मनसा त्वा विशन्तु] वे प्रजाएं शुभसंकल्पयुक्त मनसे तेरे अन्दर प्रविष्ट हों । (संमाता रोहितः वत्सः अभ्येतु) माता और सूर्य रूपी बछडा मिलकर आगे बढें ॥ १० ॥

(युवा कविः विश्वा रूपाणि जनयन्) तरुण ज्ञानी सब जगत् के रूपको प्रकाशित करता हुआ (रोहितः ऊर्ध्वः नाके अधि अस्थात्) सूर्य ऊपर स्वर्गमें ठहरा है । यह (अग्निः तिग्मेन ज्योतिषा विभाति) अग्नि तीक्ष्ण प्रकाशसे प्रकाशता है । यह (तृतीये रजसि प्रियाणि चक्रे) तीसरे अन्तरिक्ष लोकमें प्रिय पदार्थोंको बनाता है ॥ ११ ॥

भावार्थ-सूर्यदेवने ही पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्युलोक को सुदृढ बनाया है उसीसे सब देवोंको अमरत्व प्राप्त हुआ है ॥७॥

सूर्यके कारण ही सब जगत् को सुंदर रूप मिला है । वह अपनी महिमासे स्वर्गलोकपर चढकर इस राष्ट्रको दूध और घीसे भरपूर करता है ॥ ८ ॥

जो अनेक मार्ग स्वर्गधामको प्राप्त करनेके हैं, उनके ज्ञानसे तथा घृतदुग्ध आदिसे हृष्टपुष्ट होते हुए इस राष्ट्रमें और इस प्रजामें सतत जाग्रत रहो ॥ ९ ॥

सूर्यसे ही ये सब प्रजाजन-सब प्राणिमात्र-उत्पन्न हो गये हैं, ये सब प्राणरक्षण के प्रयत्नमें सदा दत्तचित्त रहते हैं । ये सब की सब प्रजाएं उत्तम शिवसंकल्पयुक्त मनसे ईश्वरमें आश्रय लेकर रहें । माता और पुत्र मिलकर उन्नतिको प्राप्त हों ॥ १० ॥

सहस्रशृङ्गो वृषभो जातवेदा घृताहुतः सोमपृष्ठः सुवीरः ।
मा मा हासीन्नाथितो नेत् त्वा जहानि गोपोषं च मे वीरपोषं च धेहि ॥ १२ ॥
रोहितो यज्ञस्य जनिता मुखं च रोहिताय वाचा श्रोत्रेण मनसा जुहोमि ।
रोहितं देवा यन्ति सुमनस्यमाना स मा रोहैः सामित्यै रोहयतु ॥ १३ ॥
रोहितो यज्ञं व्यदधाद् विश्वकर्मणे तस्मात् तेजांस्युप मेमान्यागुः ।
वोचेयं ते नाभिं भुवनस्याधि मज्मनि ॥ १४ ॥
आ त्वा रुरोह बृहत्युत पङ्क्तिरा ककुब् वर्चसा जातवेदः ।
आ त्वा रुरोहोष्णिहाक्षरो वषट्कार आ त्वा रुरोह रोहितो रेतसा सह ॥ १५ ॥

अर्थ- यह (जातवेदाः सहस्रशृङ्गः वृषभः) बने हुए सब पदार्थोंको जाननेवाला हजारों किरणोंसे युक्त वृष्टि करनेवाला [घृताहुतः सोमपृष्ठः सुवीरः] घृतकी आहुतियां स्वीकारनेवाला, सोमका हवन जिसपर होता है ऐसा उत्तम वीर यह है। यह [नाथितः मा मा हासीत्] याचना करनेपर मेरा त्याग न करे। तथा [त्वा इत् न जहानि] तुझे निश्चयसे मैं नहीं छोडूंगा। [मे गो-पोषं वीर-पोषं च धेहि] मुझे गोपालनका तथा वीरोंके पालनका सामर्थ्य दे ॥ १२ ॥

[रोहितः यज्ञस्य जनिता मुखं च] सूर्य यज्ञका उत्पन्नकर्ता और यज्ञका मुख है। [वाचा श्रोत्रेण मनसा च रोहिताय जुहोमि] वाणीसे, कानसे और मनसे इस सूर्यके लिये हवन करता हूं। [सुमनस्यमानाः देवाः रोहितं यन्ति] उत्तम संकल्प करनेवाले देव सूर्यको प्राप्त होते हैं। [सः सामित्यै रोहैः मा रोहयतु] वह सभाके लिये अनेक उन्नतियोंसे मुझे उन्नत करे ॥ १३ ॥

[रोहितः विश्वकर्मणे यज्ञं व्यदधात्] सूर्यने विश्वकर्माके लिए यज्ञ किया। [तस्मात् इमानि तेजांसि मा उप आ गुः] उस यज्ञसे ये तेज मेरे पास प्राप्त हुए हैं। [भुवनस्य मज्मनि अधि ते नाभिं वोचेयम्] अतः इस भुवनके महत्वके बीच तेरा मुख्य भाग है, ऐसा मैं कहता हूं ॥ १४ ॥

हे (जातवेदः) सब उत्पन्न हुएको जाननेवाले! (त्वा बृहती आ रुरोह) तुझपर बृहती चढी है, [उत पंक्तिः आ, ककुब् वर्चसा आ) पंक्ति और ककुब अपने तेजके साथ चढे हैं। (उष्णिहाक्षरः त्वा आरुरोह) उष्णिक् छंदके अक्षर भी तेरे उपर चढे हैं। तथा (रोहितः रेतसा सह) सूर्य अपने वीर्यके साथ है ॥ १५ ॥

भावार्थ- यह सदा तरुण सब देखनेवाला सूर्य सबके रूपोंको प्रकाशित करता हुआ द्युलोकमें रहा है। सब अपने प्रखर तेजके साथ प्रकाशता है और तीसरे लोकमें रहकर सब का प्रिय करता है ॥ ११ ॥

यही सूर्य अग्नि है, जिसमें घृत और सोमकी आहुतियां होमी जाती हैं। यह मेरा कभी त्याग न करे और मैं उसका कभी त्याग न करूं। इससे हमारी गौवें तथा संतानें हृष्ट पुष्ट हों ॥ १२ ॥

इसी सूर्यसे यज्ञ बने हैं, यज्ञमें अग्नि रूपसे यही मुख्य है। हवन करने के समय वाणी, कान और मनका साथ साथ उपयोग होना चाहिये। शुभ संकल्प करनेवाले सब इसीको प्राप्त होते हैं। यह मुझपर कृपा करे और सभाओंद्वारा जो मानवी उन्नति होना संभव है, वह मुझे प्राप्त करावे ॥ १३ ॥

सूर्यदेवके द्वारा ही सब शुभ कर्मोका स्रोतरूप यज्ञ बना है। इससे जो सामर्थ्य प्राप्त होता है, वह सब मुझे प्राप्त हो। इस सब संसारके मध्यमें महत्त्वकी दृष्टिसे यही मुख्य है ॥ १४ ॥

बृहती, पंक्ति, ककुब्, उष्णिक्, वषट्कार आदि सब उसी एक देवका वर्णन कर रहे हैं, मानो वह इनमें रहा है। ॥ १५ ॥

अयं वस्ते गर्भं पृथिव्या दिवं वस्तेऽयमन्तरिक्षम् ।
अयं ब्रध्नस्य विष्टपि स्वर्लोकान् व्यानशे ॥ १६ ॥
वाचस्पते पृथिवी नः स्योना स्योना योनिस्तल्पा नः सुशेवा ।
इहैव प्राणः सख्ये नो अस्तु तं त्वा परमेष्ठिन् पर्यग्निरायुषा वर्चसा दधातु ॥ १७ ॥
वाचस्पत ऋतवः पञ्च ये नौ वैश्वकर्मणाः परि ये संबभूवुः ।
इहैव प्राणः सख्ये नो अस्तु तं त्वा परमेष्ठिन् परि रोहित आयुषा वर्चसा दधातु ॥ १८ ॥
वाचस्पते सौमनसं मनश्च गोष्ठे नो गा जनय योनिषु प्रजाः ।
इहैव प्राणः सख्ये नो अस्तु तं त्वा परमेष्ठिन् पर्यहमायुषा वर्चसा दधामि ॥ १९ ॥
परि त्वा धात् सविता देवो अग्निर्वर्चसा मित्रावरुणावभि त्वा ।
सर्वा अरातीरवक्रामन्नेहीदं राष्ट्रमकरः सूनृतावत् ॥ २० ॥(२)

अर्थ- (अयं पृथिव्याः गर्भं वस्ते) यह पृथिवीके गर्भमें बसता है। (अयं दिवं अन्तरिक्षं वस्ते) यह द्युलोक और अन्तरिक्ष लोकमें बसता है। (अयं ब्रध्नस्य विष्टपि स्वर्लोकान् व्यानशे) यह प्रकाशलोकके शिरोभागपर स्वर्गलोकमें व्यापता है ॥ १६ ॥

हे (वाचस्पते) वाणीके स्वामिन् ! (नः पृथिवी स्योना) हमारे लिए पृथिवी सुखकर होवे। (योनिः स्योना) हमारे लिए हमारा घर सुखदायी हो। (नः तल्पा सुशेवा) हमारे लिए बिछौने सुखदायी हों। (इह एव नः सख्ये प्राणः अस्तु) यहां ही हमारे सख्यमें प्राण रहे। हे परमेष्ठिन् ! (तं त्वा अग्निः आयुषा वर्चसा परि दधातु) तुझको यह अग्नि आयु और तेजसे धारण करे ॥ १७ ॥

हे वाचस्पते ! (ये नौ विश्वकर्मणाः पंच ऋतवः परि संबभूवुः) जो हमारे संपूर्ण कर्मोंको पावन करनेवाले पांच ऋतु उत्पन्न हुए हैं। यहां ही प्राण हमारे सख्यमें रहें। हे परमेष्ठिन् ! उस तुझको यह (रोहितः) सूर्य आयु और तेजके साथ धारण करे ॥ १८ ॥

हे वाचस्पते ! हमारा (मनः सौमनसं) मन उत्तम शुभसंकल्पयुक्त हो। (नः गोष्ठे गाः जनय) हमारी गोशालामें गौको उत्पन्न कर और (योनिषु प्रजाः) घरोंमें संतानोंको उत्पन्न कर। यहां हमारे सख्यमें यह प्राण रहे। हे परमेष्ठिन् ! उस तुझको (अहं) मैं आयु और तेजके साथ (दधामि) धारण करता हूं ॥ १९ ॥

(सविता देवः त्वा परि धात्) सविता देव तेरे चारों ओर रहे। (अग्निः वर्चसा, मित्रावरुणौ त्वा अभि) अग्नि अपने तेजसे और मित्र तथा वरुण तेरी चारों ओरसे रक्षा करें। (सर्वाः अरातीः अवक्रामन् एहि) सब शत्रुओंके ऊपर चढाई करते हुए आगे बढ तथा (इदं राष्ट्रं सूनृतावत् अकरः) इस राष्ट्रको आनंदपूर्ण कर ॥ २० ॥

भावार्थ--यह एक देव पृथ्वी अन्तरिक्ष और द्युलोकके अंदर विद्यमान है। यह द्युलोकके उच्च स्थानपर रहता हुआ सर्वत्र व्यापता है ॥ १६ ॥

हे वाणीके स्वामी ! हमारे लिए पृथ्वी, घर, बिछौना आदि सब पदार्थ सुखदायक हों। हममें प्राण दीर्घकालतक रहे और हमें वह दीर्घ आयु और तेजके साथ प्राप्त हो ॥ १७ ॥

जो विविध कर्म करनेवाले ऋतु हैं, वे हमें सहायक हों, उनसे हमें दीर्घ आयु और तेजस्विता प्राप्त हो ॥ १८ ॥

हमारा मन शुभसंकल्प करनेवाला बने, हमारी गोशाला में विपुल गौवें और घरमें वीर संतान हों। मैं परमात्माका धारण दीर्घायु और तेजस्विताके साथ करता हूं ॥ १९ ॥

यं त्वा पृषती रथे प्रष्टिर्वहति रोहित । शुभा यासि रिणन्नपः ॥ २१ ॥
अनुव्रता रोहिणी रोहितस्य सूरिः सुवर्णा बृहती सुवर्चाः ।
तया वाजान् विश्वरूपां जयेम तया विश्वाः पृतना अभि ष्याम ॥ २२ ॥
इदं सदो रोहिणी रोहितस्यासौ पन्थाः पृषती येन याति ।
तां गन्धर्वाः कश्यपा उन्नयन्ति तां रक्षन्ति कवयोऽप्रमादम् ॥२३॥
सूर्यस्याश्वा हरयः केतुमन्तः सदा वहन्त्यमृताः सुखं रथम् ।
घृतपावा रोहितो भ्राजमानो दिवं देवः पृषतीमा विवेश ॥ २४ ॥
यो रोहितो वृषभस्तिग्मशृङ्गः पर्यग्निं परि सूर्यं बभूव ।
यो विष्टभ्नाति पृथिवीं दिवं च तस्माद् देवा अधि सृष्टिः सृजन्ते ॥ २५ ॥

अर्थ—हे (रोहित) सूर्य ! (यं त्वा पृषतीः पृष्टिः वहति) जिस तुझको विविध रंगवाली घोडी ले जाती है, वह तू (अपः रिणन् शुभा यासि) पानीको चलाता हुआ प्रकाशके साथ शुभ रीतिसे चलता है ॥ २१ ॥

(रोहितस्य अनुव्रता) सूर्यके अनुकूल चलनेवाली (सूरिः सुवर्णा सुवर्चाः बृहती रोहिणी) ज्ञानी, उत्तम रंगवाली, तेजस्विनी बडी रोहिणी है । उससे (विश्वरूपान् वाजान् जयेम) हम अनेक प्रकारसे अन्न प्राप्त करेंगे और (विश्वाःपृतनाः अभिष्याम) सब शत्रुओंकी सेनाओंको परास्त करेंगे ॥ २२ ॥

(इदं रोहितस्य सदः रोहिणी) यह सूर्यका घर रोहिणी है । (असौ पन्थाः येन पृषती याति) यह मार्ग है जिससे उसकी विविधरंगवाली घोडी जाती है । (तां गन्धर्वाः कश्यपाः उन्नयंति) उसको गंधर्व और कश्यप उन्नत करते हैं, (कवयः तां अप्रमादं रक्षन्ति) ज्ञानी प्रमादरहित होकर उसकी रक्षा करते हैं ॥ २३ ॥

(केतुमन्तः अमृताः हरयः अश्वाः सूर्यस्य रथं सदा सुखं वहन्ति) प्रकाशयुक्त अमर गतिमान् घोडे सूर्यके रथको सदा सुखपूर्वक चलाते हैं । (घृतपावा भ्राजमानः देवः रोहितः इमा पृषती दिवं विवेश) घृतसे पवित्र करनेवाला तेजस्वी सूर्यदेव इस विविध रंगवाली प्रभा समेत द्युलोकमें प्रविष्ट होता है ॥ २४ ॥

(यः तिग्मशृंगः वृषभः रोहितः) जो तीक्ष्ण सींगवाला बलवान् रोहित (अग्निं परि, सूर्यं परि बभूव) अग्नि और सूर्यके चारों ओर होता है । (यः पृथिवीं दिवं च विष्टभ्नाति) जो पृथ्वी और द्युलोकको थाम रखता है [तस्मात् देवाः सृष्टिः अधिसृजन्ते] उससे देव सृष्टिकी उत्पत्ति करते हैं ॥ २५ ॥

भावार्थ—सब देव हमें सहायक हों । सब शत्रु परास्त हों और यह हमारा राष्ट्र आनंदप्रसन्नतासे युक्त हो ॥ २० ॥

सूर्यसे विविध रंगवाली किरणें सूर्यतत्त्वको यहांतक लाती हैं, जिससे हमें प्रकाश मिलता है ॥ २१ ॥

सूर्यप्रकाशमें बढानेकी शक्ति है, उससे हमें अनेक प्रकारके अन्न और बल प्राप्त होते हैं ॥ २२ ॥

सूर्य ही इस अद्भुत शक्तिका घर है, सब विविध रंगवाली किरणोंसे वह शक्ति फैलती है । ज्ञानी लोग विशेष दक्षतासे उसीको अपने अन्दर धारण करते हैं ॥ २३ ॥

ये प्रकाशमान अद्भुत अमर शक्तिसे युक्त सूर्यकिरण सदा सुखदायक हैं । इन पुष्टिकारक किरणोंसे युक्त सूर्य इस द्युलोकमें प्रकाशता है ॥ २४ ॥

यह तीक्ष्ण किरणवाला बलवान् सूर्य चारों ओर घूमकर सब जगत्‌के पदार्थोंका धारण करता है ॥ २५ ॥

रोहितो दिवमारुहन्महतः पर्यर्णवात् । सर्वा रुरोह रोहितो रुहः ॥ २६ ॥
वि मिमीष्व पयस्वतीं घृताचीं देवानां धेनुरनपस्पृगेषा ।
इन्द्रः सोमं पिबतु क्षेमो अस्त्वग्निः प्र स्तौतु वि मृधो नुदस्व ॥ २७ ॥
समिद्धो अग्निः समिधानो घृतवृद्धो घृताहुतः ।
अभीषाड् विश्वाषाडग्निः सपत्नान् हन्तु ये मम ॥ २८ ॥
हन्त्वेनान् प्र दहत्वरिर्यो नः पृतन्यति ।
क्रव्यादाग्निना वयं सपत्नान् प्र दहामसि ॥ २९ ॥
अवाचीनानव जहीन्द्र वज्रेण बाहुमान् ।
अधा सपत्नान् मामकानग्नेस्तेजोभिरादिषि ॥ ३० ॥ (६)
अग्ने सपत्नानधरान् पादयास्मद् व्यथया सजातमुत्पिपानं बृहस्पते ।
इन्द्राग्नी मित्रावरुणावधरे पद्यन्तामप्रतिमन्यूयमानाः ॥ ३१ ॥

अर्थ- (महतः अर्णवात् रोहितः दिवं परि आरुहत्) बडे समुद्रसे सूर्य द्युलोकसे भी ऊपर चढा है । (रोहितः सर्वाः रुहः रुरोह) यह सूर्य सब उच्चताओंपर चढा है ॥ २६ ॥

(पयस्वतीं घृताचीं वि मिमीष्व) दूधवाली और घीवाली गौको सिद्ध करो, [एषा देवानां धेनुः अनपस्पृक्] यह देवोंकी गौ हलचल न करनेवाली है । (इन्द्रः सोमं पिबतु) इन्द्र सोम पीवे, (क्षेमः अस्तु) सबका क्षेम हो, (अग्निः प्र स्तौतु) अग्नि स्तुति करे, (मृधः विनुदस्व) शत्रुओंको दूर कर ॥ २७ ॥

(अग्निः समिद्धः घृतवृद्धः घृताहुतः समिधानः) अग्नि उत्तम प्रदीप्त होनेपर घीकी आहुतियां डालकर बनाया हुआ अच्छी प्रकार जलने लगा है। वह (अभीषाड् विश्वाषाड् अग्निः ये मम सपत्नान् हन्तु) सर्वत्र विजय करके शत्रुओंको दूर करनेवाला अग्नि जो मेरे शत्रु हैं, उन सबका नाश करे ॥ २८ ॥

(यः अरिः नः पृतन्यति) जो शत्रु हमपर सेना चलाकर हमला करता है (एनान् हन्तु, प्रदहतु) इन शत्रुओंको मारे, अच्छो प्रकार भस्म करे । (क्रव्यादा अग्निना वयं सपत्नान् प्र दहामसि) मांसभक्षक अग्निद्वारा हम शत्रुओंको भस्म करते हैं ॥ २९ ॥

हे इन्द्र! (वज्रेण बाहुमान् अवाचीनान् अवजहि) वज्रसे बहुत सामर्थ्यवान् होकर शत्रुओंको नीचे दबाकर मार दे । (अधा मामकान् सपत्नान् अग्नेः तेजोभिः आदिषि) और मेरे शत्रुओंको अग्निके तेजोंसे अपने वशमें करता हूं ॥३०॥

हे अग्ने ! (सपत्नान् अस्मद् अधरान् पादय) हमारे शत्रुओंको हमारे सन्मुख नीचे गिराओ । हे बृहस्पते! (उत्पिपानं सजातं व्यथय) कष्ट देनेवाले सजातीय शत्रुको व्यथा कर । हे इन्द्राग्नी ! हे मित्रावरुणो ! (अप्रति--मन्यूयमानाः अधरे पद्यन्ताम्) हमारे शत्रु निष्फल क्रोधवाले होकर नीचे गिर जांय ॥ ३१ ॥

भावार्थ- सूर्य उदय होनेपर आकाशके मध्यतक ऊपर चढता है, और वहांसे सबके ऊपर प्रकाशता है ॥ २६ ॥

उत्तम दूध और घी देनेवाली गौवें पाली जांय, उनके दूध घी का यज्ञमें हवन किया जावे । दही दूध आदिके साथ सोम रस पिया जावे । इससे सबका कल्याण हो और यह यज्ञ द्वारा उपासना सबका भला करे ॥ २७ ॥

अग्निमें घीका हवन हो, अग्नि उपासनासे समाज की संघटना हो और सब मिलकर अपने शत्रुओंको दूर भगा देवें॥ २८॥

यदि बाहरका शत्रु सेना लेकर अपने ऊपर आगया तो वीर लोग उसको परास्त करके भगा देवें । अपने अंदरके जो शत्रु होंगे, उनको भी वशमें रखना चाहिए। कोई शत्रु सिर ऊपर न कर सके ॥ २९-३१ ॥

उद्यँस्त्वं देव सूर्य सपत्नानवं मे जहि ।
अवैनानश्मना जहि ते यन्त्वधमं तमः ॥ ३२ ॥

वत्सो विराजो वृषभो मतीनामा रुरोह शुक्रपृष्ठोऽन्तरिक्षम् ।
घृतेनार्कमभ्यर्चन्ति वत्सं ब्रह्म सन्तं ब्रह्मणा वर्धयन्ति ॥ ३३ ॥

दिवं च रोह पृथिवीं च रोह राष्ट्रं च रोह द्रविणं च रोह ।
प्रजां च रोहामृतं च रोह रोहितेन तन्वं सं स्पृशस्व ॥ ३४ ॥

ये देवा राष्ट्रभृतोऽभितो यन्ति सूर्यम् ।
तैष्टे रोहितः संविदानो राष्ट्रं दधातु सुमनस्यमानः ॥ ३५ ॥

उत् त्वा यज्ञा ब्रह्मपूता वहन्त्यध्वगतो हरयस्त्वा वहन्ति ।
तिरः समुद्रमति रोचसेऽर्णवम् ॥ ३६ ॥

अर्थ— हे सूर्यदेव ! (त्वं उद्यन् मे सपत्नान् अवजहि) तू उगता हुआ मेरे शत्रुओंका नाश कर । (एनान् अश्मना अवजहि) इन शत्रुओंका पत्थरसे नाश कर । (ते अधमं तमः यन्तु) वे गहरे अंधेरेमें जावें ॥ ३२ ॥

(विराजः वत्सः मतीनां वृषभः शुक्रपृष्ठः अन्तरिक्षं आ रुरोह) विराट्का बच्चा, मतियोंको बढानेवाला बलशाली पीठवाला होकर अन्तरिक्षपर चढा है । (घृतेन वत्सं अर्कं अभि अर्चन्ति) घीसे बच्चारूपी सूर्यकी पूजा करते हैं । वह स्वयं (ब्रह्म सन्तं ब्रह्मणा वर्धयन्ति) ब्रह्म होता हुआ भी उसीको ब्रह्म नाम स्तुतियोंसे बढाते हैं ॥ ३३ ॥

(दिवं च रोह, पृथिवीं च रोह) द्युलोक पर चढ और पृथ्वीपर चढ । (राष्ट्रं च रोह, द्रविणं च रोह) राष्ट्रपर चढ और धनपर चढ । (प्रजां च रोह, अमृतं च रोह) प्रजा और अमरपनपर चढ, (रोहितेन तन्वं सं स्पृशस्व) अपने लालवर्णसे मेरे शरीरको पूर्ण कर ॥ ३४ ॥

[ये राष्ट्रभृतः देवाः सूर्यं अभितः यन्ति] जो राष्ट्रपोषक देव सूर्यके चारों ओर घूमते हैं, (तैः संविदानः रोहित सुमनस्यमानः ते राष्ट्रं दधातु) उनके साथ मिला हुआ रोहित सुप्रसन्न होकर तेरे राष्ट्रका धारण करे ॥ ३५ ॥

[ब्रह्मपूताः यज्ञाः त्वा उत् वहन्ति] मंत्रसे पवित्र हुए यज्ञ तुझे ऊपर उठाते हैं । [अध्वगतः हरयः त्वा वहन्ति] मार्गसे जानेवाले घोडे तुझे ले चलते हैं । [समुद्रं अर्णवं तिरः अति रोचसे] समुद्र महासागर तू अति प्रकाशित करता है ॥ ३६ ॥

भावार्थ-- परमेश्वर कृपा करे और हमारे शत्रुओंका बल कम करे । शत्रु नीच स्थानमें भाग जावें ॥ ३२ ॥

सूर्य बलवर्धक, बुद्धिवर्धक है । उसीका बच्चा अग्नि है । अग्निमें घीके हवन करनेसे उसकी पूजा होती है । सूर्य स्वयं ब्रह्मका स्वरूप है और वही ब्रह्म नाम मंत्रसे स्तुतियों द्वारा बढाया जाता है ॥ ३३ ॥

स्वर्ग, पृथ्वी, राष्ट्र, धन, प्रजा, अमरपन आदि विषयमें प्रगति संपादन करना चाहिये । इस कार्य करनेका बल प्राप्त करना हो तो सूर्य प्रकाशसे अपने शरीरका संबंध जोड दो, जिससे विलक्षण बल प्राप्त होकर उक्त कार्य सिद्ध होगा ॥ ३४ ॥

राष्ट्रका भरणपोषण करनेवाले देव सूर्यकी उपासना करते हैं, इसलिये सूर्यके प्रकाशमें रहते हैं । वे बल प्राप्त करते हैं, मन सुसंस्कृत करते हैं, राष्ट्र धारण करने योग्य बनते हैं ॥ ३५ ॥

सूर्य उदय होते ही मंत्रघोष और यज्ञ प्रारंभ होते हैं । सूर्यकिरण सर्वत्र फैलते हैं और समुद्रतक सब भूमिपर प्रकाश होता है ॥ ३६ ॥

रोहिते द्यावापृथिवी अधि श्रिते वसुजिति गोजिति संधनाजिति।
सहस्रं यस्य जनिमानि सप्त च वोचेयं ते नाभिं भुवनस्याधि मज्मनि ॥ ३७ ॥
यशा यासि प्रदिशो दिशश्च यशाः पशूनामुत चर्षणीनाम्।
यशाः पृथिव्या अदित्या उपस्थेऽहं भूयासं सवितेव चारुः ॥ ३८ ॥
अमुत्र सन्निह वेत्थेतः संस्तानि पश्यसि।
इतः पश्यन्ति रोचनं दिवि सूर्यं विपश्चितम् ॥ ३९ ॥
देवो देवान् मर्चयस्यन्तश्चरस्यर्णवे।
समानमग्निमिन्धते तं विदुः कवयः परे ॥ ४० ॥ (६)
अवः परेण पर एनावरेण पदा वत्सं बिभ्रती गौरुदस्थात्।
सा कद्रीची कं स्विदर्धं परागात् क्व स्वित् सूते नहि यूथे अस्मिन् ॥ ४१ ॥

अर्थ— [वसुजिति गोजिति संधनाजिति रोहिते द्यावापृथिवी अधिश्रिते] धन, गौवें और ऐश्वर्य प्राप्त करनेवाले सूर्यके आश्रयसे द्युलोक और भूलोक ठहरे हैं [यस्य सहस्रं सप्त च जनिमानि] जिस तेरे हजार और सात जन्म हैं। [भुवनस्य मज्मनि अधि ते नाभिं वोचेयं] इस जगत् की महिमामें तेरा ही केन्द्र है, ऐसा मैं कहूंगा ॥ ३७ ॥

[प्रदिशः दिशः च यशाः यासि] दिशा और उपदिशाओंमें यशस्वी होकर तू जाता है। (पशूनां उत चर्षणीनां यशाः] पशु और प्रजाओंमें यशस्वी होकर तू जाता है। [पृथिव्याः अदित्याः उपस्थे यशाः] पृथ्वीके ऊपर और अदितिकी गोद में यशस्वी होकर [अहं सविता इव चारुः भूयासं] मैं ऐसे सविताके समान सुंदर बनूं ॥ ३८ ॥

[अमुत्र सन् इह वेत्थ, इतः सन् तानि पश्यसि] वहां रहकर यहां का ज्ञान प्राप्त करते और यहां रहकर उनको देखते हैं। [इतः दिवि रोचनं विपश्चितं सूर्यं पश्यन्ति] यहांसे द्युलोकमें प्रकाशमान ज्ञानी सूर्यको देखते हैं ॥ ३९ ॥

[देवः देवान् मर्चयसि, अर्णवे अन्तः चरसि] प्रकाशमान होकर अन्य प्रकाशकोंको शुद्ध करता है, समुद्रके अन्दर संचार करते हैं [समानं अग्निं इंधते] समान तेजस्वी अग्निको प्रदीप्त करता है। [कवयः तं परे विदुः] ज्ञानी उसको परे जानते हैं ॥ ४० ॥

[एना गौः अवः परेण, परः अवरेण पदा वत्सं बिभ्रती] यह गाय निम्न स्थानवालेको दूरके पदसे और परवालेको पासवाले पदसे बछडेको धारण करती हुई [उत् अस्थात्] ऊपर उठती है। [सा कद्रीची कं स्वित् अर्धं परा अगात्] वह कहांसे आती है और किस अर्धभागके पास जाती है? वह [क्व स्वित् सूते] कहां प्रसूत होती है ? [अस्मिन् यूथे न] इस संघमें तो नहीं होती ॥ ४१ ॥ (ऋ० १।१६४।१७; अथर्व० ९।९।१७)

भावार्थ— धन, गौवें और ऐश्वर्य सूर्यसे संबंधित है। इसके हजारों प्रकार हैं, उन सबका मध्य केंद्र सूर्य ही है ॥३७॥

दिशा, उपदिशा, पशु, प्रजाजन, भूमि, आदि सबका यश केवल सूर्य है। सूर्यको आदर्श मानकर सब लोग सूर्यके समान सुंदर बनें ॥ ३८ ॥

सूर्य दूरदूरका भी देखता है। द्युलोकमें रहता हुआ सर्वत्र प्रकाशता है ॥ ३९ ॥

सूर्य सब अन्य प्रकाशकेन्द्रोंको भी प्रकाशित करता है। उसके उदयसे अग्नि प्रदीप्त होता है। ज्ञानी लोग सूर्यको ही श्रेष्ठ मानते हैं ॥ ४० ॥

यह गौ अपने दूरके पदसे पासवाले और पासवाले पदसे दूर बच्चेको धारण पोषण करती है। यह कहांसे आयी, कि आधे भागके पास पहुंचती है, कहां प्रसूत होती है, इसको जानना चाहिए। वह इस संघमें तो नहीं रहती ॥ ४१ ॥

एकंपदी द्विपदी सा चतुंष्पद्यष्टापंदी नवंपदी बभूवुषी ।
सहस्राक्षरा भुवंनस्य पुङ्क्तिस्तस्याः समुद्रा अधि वि क्षरन्ति ॥ ४२ ॥
आरोहन् द्यामुमृतः प्राव मे वचः ।
उत् त्वां युज्ञा ब्रह्मपूता वहन्त्यध्वगतो हरयस्त्वा वहन्ति ॥ ४३ ॥
वेद तत् ते अमर्त्य यत् तं आक्रमणं दिवि ।
यत् ते सधस्थं परमे व्योमन् ॥ ४४ ॥
सूर्यो द्यां सूर्यः पृथिवीं सूर्य आपोऽति पश्यति ।
सूर्यो भूतस्यैकं चक्षुरा रुरोह दिवं महीम् ॥ ४५ ॥
उर्वीरासन् परिधयो वेदिर्भूमिरकल्पत ।
तत्रैतावग्नी आर्धत्त हिमं घ्रंसं च रोहितः ॥ ४६ ॥

अर्थ- [सा एकपदी द्विपदी चतुष्पदी अष्टापदी नवपदी बभूवुषी] वह एक दो चार आठ और नौ पादावाली तथा बहुत होनेकी इच्छा करनेवाली [सहस्राक्षरा भुवनस्य पंक्तिः] हजारों अक्षरोंवाली भुवनकी पंक्ति है। [तस्याः समुद्राः अधि विक्षरन्ति] उससे सब समुद्रके रस बहते हैं ॥ ४२ ॥ (ऋ० १।१६४।४१; अथर्व० ९।१०।२१)

(अमृतः द्यां आरोहन् मे वचः प्र अव) तू अमर देव द्युलोक पर आरूढ होकर मेरे भाषण की रक्षा कर। (त्वा ब्रह्मपूताः यज्ञाः उत् वहन्ति) तुझे मंत्रसे पवित्र हुए यज्ञ बढाते हैं, तथा (अध्वगतः हरयः त्वा वहन्ति) मार्गस्थ घोडे तुझे ले चलते हैं ॥ ४३ ॥

हे (अमर्त्य) देव ! (यत् ते दिवि आक्रमणं) जो तेरा द्युलोकमें आक्रमण है और (यत् ते परमे व्योमन् सधस्थं) जो तेरा परले आकाशमें स्थान है (तत् ते वेद) तेरा वह तुझे विदित है ॥ ४४ ॥

(सूर्यः द्यां, सूर्यः पृथिवीं, सूर्यः आपः अति पश्यति) सूर्य द्युलोक पृथ्वी और जल को अत्यंत पूर्णतासे देखता है । (सूर्यः भुवनस्य एकः चक्षुः महीं दिवं आरुरोह) सूर्य सब भुवनका एकमात्र नेत्र है, वह बडे द्युलोक पर आरूढ हुआ ॥ ४५ ॥

(उर्वीः परिधयः आसन्) बडी परिधियें थीं, (भूमिः वेदिः अकल्पयत) भूमि वेदी बनायी गयी। (तत्र रोहितः हिमं घ्रंसं च एतौ अग्नी आधत्त) वहां सूर्यने शीत और उष्ण ये अग्नि रखे ॥ ४६ ॥

भावार्थ- यह वाणीरूपी गौ अर्थात् काव्यमयी वाणी एक, दो, चार, आठ अथवा नौ पादोंवाले छन्दोंमें विभक्त हुई है। यह अनेक प्रकारकी है और हजार अक्षरों तक इसकी मर्यादा है। मानो यह सब भुवनोंको पूर्ण करनेवाली है और इससे विविध काव्य रस स्रवते हैं ॥ ४२ ॥

सूर्य वाणीका रक्षक है, अकाशमें चढकर सबको सामर्थ्य देता है। सब यज्ञ उसीका महिमा बढाते हैं, उसके किरण उसको सब जगत्में पहुंचाते हैं ॥ ४३ ॥

सूर्यका द्युलोकमें स्थान, उसका महत्व यह सब ज्ञानी लोग जानते हैं ॥ ४४ ॥

सूर्य द्युलोक, आकाश, पृथ्वी, आप आदिको देखता है। सूर्य ही सबका प्रकाशक है। वह पृथ्वी और आकाशको प्रकाशित करता है ॥ ४५ ॥

इस यज्ञका प्रारंभ भूमिरूपी वेदीपर हुआ । इसकी परिधियें बडी विस्तृत थीं। शीतकाल और उष्णकाल ये दो अग्नि इस यज्ञमें थे ॥ ४६ ॥

हिमं घ्रंसं चाधाय यूपान् कृत्वा पर्वतान् ।
वर्षाज्यावग्नी ईजाते रोहितस्य स्वर्विदः ॥ ४७ ॥
स्वर्विदो रोहितस्य ब्रह्मणाग्निः समिध्यते ।
तस्माद् घ्रंसस्तस्माद्धिमस्तस्माद् यज्ञोऽजायत ॥ ४८ ॥
ब्रह्मणाग्नी वावृधानौ ब्रह्मवृद्धौ ब्रह्माहुतौ ।
ब्रह्मेद्धावग्नी ईजाते रोहितस्य स्वर्विदः ॥ ४९ ॥
सत्ये अन्यः समाहितोऽप्स्वन्यः समिध्यते ।
ब्रह्मेद्धावग्नी ईजाते रोहितस्य स्वर्विदः ॥ ५० ॥ (५)
यं वातः परि शुम्भति यं वेन्द्रो ब्रह्मणस्पतिः ।
ब्रह्मेद्धावग्नी ईजाते रोहितस्य स्वर्विदः ॥ ५१ ॥
वेदिं भूमिं कल्पयित्वा दिवं कृत्वा दक्षिणाम् ।
घ्रंसं तदग्निं कृत्वा चकार विश्वमात्मन्वद् वर्षेणाज्येन रोहितः ॥ ५२ ॥
वर्षमाज्यं घ्रंसो अग्निर्वेदिर्भूमिरकल्पत ।
तत्रैतान् पर्वतानग्निर्गीर्भिरूर्ध्वाँ अकल्पयत् ॥ ५३ ॥

अर्थ-(हिमं घ्रंसं च आधाय, पर्वतान् यूपान् कृत्वा) शीत और उष्ण ऋतु बनाकर, पर्वतोंको यूप बनाकर, (वर्षाज्यौ अग्नी स्वर्विदः रोहितस्य ईजाते) वर्षारूप घृतको प्राप्त करनेवाले ये दोनों अग्नि आत्मज्ञ रोहित देवके लिये यज्ञ करते हैं ॥४७॥

(स्वर्विदः रोहितस्य ब्रह्मणा अग्निः समिध्यते) आत्मज्ञानी सूर्यके मंत्रोंसे अग्नि प्रदीप्त किया जाता है। [तस्मात् घ्रंसः तस्मात् हिमः, तस्मात् यज्ञः अजायत] उससे उष्णता, उससे सर्दी और उससे यज्ञ होता है ॥ ४८ ॥

[ब्रह्मणा वावृधानौ ब्रह्मवृद्धौ ब्रह्माहुतौ अग्नी] ज्ञानसे बढनेवाले, मंत्रके साथ प्रदीप्त होनेवाले मंत्रसे हवन किये गये, दो अग्नी हैं। (स्वर्विदः रोहितस्य ब्रह्मेद्धौ अग्नी ईजाते) आत्मज्ञानी सूर्यके प्रकाशमें मंत्रसे प्रज्वलित हुए ये दो अग्नी प्रदीप्त होते हैं ॥ ४९ ॥

[अन्यः सत्ये समाहितः] एक सत्यमें स्थिर है, [अन्यः अप्सु समिध्यते] दूसरा जलमें प्रदीप्त होता है। [स्वर्विदः रोहितस्य ब्रह्मेद्धौ अग्नी ईजाते] आत्मज्ञानी सूर्यके प्रकाशमें ये मंत्रसे प्रदीप्त हुए दोनों अग्नि प्रदीप्त होते हैं ॥ ५० ॥ [५]

(वातः इन्द्रः ब्रह्मणस्पतिः वा यं परि शुंभति) वायु, इन्द्र और ब्रह्मणस्पति ये जिसके लिए प्रकाश फैला रहे हैं, उस (स्वर्विद०) आत्मज्ञानी सूर्यदेवके लिए ये अग्नि प्रकाशित हो रहे हैं ॥ ५१ ॥

(भूमिं वेदिं कृत्वा, दिवं दक्षिणां कृत्वा) भूमिकी वेदी बनाकर, द्युलोककी दक्षिणा करके, (घ्रंसं तदग्निं कृत्वा वर्षेण आज्येन रोहितः विश्वं आत्मन्वत् चकार) उष्ण ऋतुको वहांका अग्नि करके वृष्टिरूप घीसे सूर्यने सब जगत् को आत्मवान् बना दिया है ॥ ५२ ॥

[वर्षं आज्यं, घ्रंसः अग्निः, भूमिः, वेदिः अकल्पयत्] वृष्टिको घी, उष्णताको अग्नि, भूमिको वेदी बनाया गया। (तत्र अग्निः गीर्भिः एतान् पर्वतान् ऊर्ध्वान् अकल्पयत्) वहां अग्निने शब्दोंसे इन पर्वतोंको ऊंचा बना दिया है ॥ ५३॥

गीर्भिरूर्ध्वान् कल्पयित्वा रोहितो भूमिमब्रवीत् ।
त्वयीदं सर्वं जायतां यद् भूतं यच्च भाव्यम् ॥ ५४ ॥

स यज्ञः प्रथमो भूतो भव्यो अजायत ।
तस्माद्ध जज्ञ इदं सर्वं यत् किं चेदं विरोचते रोहितेन ऋषिणाभृतम् ॥ ५५ ॥

यश्च गां पदा स्फुरति प्रत्यङ् सूर्यं च मेहति ।
तस्य वृश्चामि ते मूलं न च्छायां करवोऽपरम् ॥ ५६ ॥

यो माभिच्छायमत्येषि मां चाग्निं चान्तरा ।
तस्य वृश्चामि ते मूलं न च्छायां करवोऽपरम् ॥ ५७ ॥

यो अद्य देव सूर्य त्वां च मां चान्तरायति ।
दुष्वप्न्यं तस्मिञ्छमलं दुरितानि च मृज्महे ॥ ५८ ॥

अर्थ-(गीर्भिः ऊर्ध्वान् कल्पयित्वा, रोहितः भूमिं अब्रवीत्) शब्दोंसे पर्वतोंको ऊंचा बनाकर सूर्य भूमिसे बोला कि (यत् भूतं यच्च भाव्यं सर्वं त्वदीयं जायताम्) जो हो चुका और जो होनेवाला है, वह सब तेराही बनकर रहे ॥ ५४ ॥

(सः प्रथमः यज्ञः भूतः भव्यः अजायत) वह पहिला यज्ञ भूत और भविष्यके लिए बना। (तस्मात् इदं सर्वं जज्ञे, यत् किं च इदं विरोचते) उससे यह सब उत्पन्न हुआ, जो कुछ यह विराजता है, यह (ऋषिणा रोहितेन आभृतं) रोहित ऋषिने—सूर्यदेवने भरण किया हुआ है ॥ ५५ ॥

(यः गां च पदा स्फुरति) जो गौको पांवसे ठुकराता है, (सूर्यं च प्रत्यङ् मेहति) किंवा सूर्यके सन्मुख मूत्र करता है, (तस्य ते मूलं वृश्चामि, परं छायां न करवः) उस पुरुषका मूल काटता हूं, इसके पश्चात् तू अपनी छाया वहां नहीं करेगा ॥ ५६ ॥

(यः मां अभिच्छायं अत्येषि) जो तू मुझे अपनी छायामें रखकर चलता है, (मां अग्निं च अन्तरा) मेरे और अग्निके बीचमें गुजरता है, उस तेरा मूल मैं काटता हूं, जिससे तू इस तरह आगे छाया न कर सकेगा ॥ ५७ ॥

हे देव सूर्य ! (यः अद्य त्वां च मां च अन्तरा आयति) जो आज तेरे और मेरे बीचमें आता है, (तस्मिन् दुष्वप्न्यं शमलं दुरितानि च मृज्महे) उसमें दुष्ट स्वप्न, दुष्ट कल्पना और पाप जमा देते हैं ॥ ५८ ॥

भावार्थ—पर्वत यूप बनाये गये, वृष्टि घीका कार्य करने लगी, और मंत्रपाठपूर्वक यह यज्ञ प्रारंभ हुआ ॥ इसमें वायु ब्रह्मणस्पति होकर कार्य करने लगा। स्वर्ग की दक्षिणा याजकों के लिये रखी गयी। इस यज्ञसे सबमें आत्मिक बल आगया ॥ ४७–५३ ॥

जो भूत, भविष्य और वर्तमान है, वह सब इसीसे संबंधित है ॥ ५४ ॥

यही यज्ञ भूत भविष्यके लिए आदर्श हुआ। इसी यज्ञसे सब कुछ बना ॥ ५५ ॥

जो गायको लात मारता है, सूर्यके सन्मुख मूत्रादि मल त्याग करता है, वह दण्डनीय है ॥ ५६ ॥

जो अपनी छायामें दूसरेको रखता है, अग्नि तथा सूर्य और उपासक के बीच खडा रहता है, वह भी दण्डनीय है ॥ ५७–५८ ॥

मा प्र गाम पथो वयं मा यज्ञादिन्द्र सोमिनः ।
मान्त स्थुर्नो अरातयः ॥ ५९ ॥

यो यज्ञस्य प्रसाधनस्तन्तुर्देवेष्वाततः ।
तमाहुतमशीमहि ॥ ६० ॥ (६)

॥ इति प्रथमोऽनुवाकः ॥

अर्थ--(वयं पथः मा प्रगाम) हम मार्गको न छोडें, हे इन्द्र! (सोमिनः यज्ञात् मा) हम सोम यागसे भी दूर न जावें, (नः अरातयः अन्तः मा स्थुः) हमारे शत्रु हमारी उन्नतिके बीचमें न खडे रहें ॥ ५९ ॥ [ऋ० १०।५७।१]

(यः यज्ञस्य प्रसाधनः तन्तुः देवेषु आततः) जो यज्ञका साधक ज्ञानतन्तु देवोंमें फैला है, (तं आहुतं अशीमहि) उसका सेवन हम करें ॥ ६० ॥

(५) ऋ० १०।५७।२

भावार्थ- हम अपना शुद्ध मार्ग कभी न छोडें। यज्ञसे दूर न हों। हमारे शत्रु कभी प्रबल न हों ॥ ५९ ॥
जो यज्ञ सब देवोंमें देवत्वका लक्षण होकर रहा है, वह हम सबमें रहे ॥ ६० ॥

प्रथम अनुवाक समाप्त ॥ १ ॥

॥ २ ॥

उदस्य केतवो दिवि शुक्रा भ्राजन्त ईरते ।
आदित्यस्य नृचक्षसो महिव्रतस्य मीढुषः ॥ १ ॥

दिशां प्रज्ञानां स्वरयन्तमर्चिषा सुपक्षमाशुं पतयन्तमर्णवे ।
स्तवाम सूर्यं भुवनस्य गोपां यो रश्मिभिर्दिश आभाति सर्वाः ॥ २ ॥

अर्थ--(मीढुषः महिव्रतस्य नृचक्षसः अस्य आदित्यस्य) सिंचन करनेवाले, बडे व्रत करनेवाले, मनुष्योंके निरीक्षक इस सूर्यके (शुक्राः भ्राजन्तः केतवः उत् ईरते) शुद्ध तेजस्वी किरण उदित होकर चमकते हैं ॥ १ ॥

(अर्चिषा प्रज्ञानां दिशां स्वरयन्तं) प्रकाशसे ज्ञापक दिशाओंको प्रकाशित करनेवाले, (अर्णवे सुपक्षं आशुं पतयन्तं) समुद्रमें उत्तम किरणोंके साथ चलनेवाले, [भुवनस्य गोपां सूर्यं स्तवाम] त्रिभुवनके रक्षक सूर्यकी हम प्रशंसा करते हैं। (यः रश्मिभिः सर्वाः दिशः आभाति) जो अपने किरणोंद्वारा सब दिशाओंको प्रकाशित करता है ॥ २ ॥

भावार्थ-सूर्य से वृष्टि होती है, वह बडा व्रती है, मनुष्योंका निरीक्षण करता है, पृथिवी आदिका धारण करता है. इसके उदय होनेपर चारों ओर स्वच्छ प्रकाश होता है ॥ १ ॥

यह सूर्य अपने प्रकाशसे दश दिशाओंको प्रकाशित करता है, अन्तरिक्षमें संचार करता है, यह सब भुवनोंकी रक्षा करने-वाला है, इसकी स्तुति करना योग्य है ॥ २ ॥

यत् प्राङ् प्रत्यङ् स्वधया यासि शीभं नानारूपे अहनी कर्षि मायया ।
तदादित्य महि तत् ते महि श्रवो यदेको विश्वं परि भूम जायसे ॥ ३ ॥
विपश्चितं तरणिं भ्राजमानं वहन्ति यं हरितः सप्त बह्वीः ।
स्रुताद् यमत्रिर्दिवमुन्निनाय तं त्वा पश्यन्ति परियान्तमाजिम् ॥ ४ ॥
मा त्वा दभन् परियान्तमाजिं स्वस्ति दुर्गाँ अति याहि शीभम् ।
दिवं च सूर्य पृथिवीं च देवीमहोरात्रे विमिमानो यदेषि ॥ ५ ॥
स्वस्ति ते सूर्य चरसे रथाय येनोभावन्तौ परियासि सद्यः ।
यं ते वहन्ति हरितो वहिष्ठाः शतमश्वा यदि वा सप्त बह्वीः ॥ ६ ॥
सुखं सूर्य रथमंशुमन्तं स्योनं सुवह्निमधि तिष्ठ वाजिनम् ।
यं ते वहन्ति हरितो वहिष्ठाः शतमश्वा यदि वा सप्त बह्वीः ॥ ७ ॥

अर्थ-(यत् प्राङ् प्रत्यङ् स्वधया शीभं यासि) जो तू पूर्व और पश्चिम दिशामें अपनी धारक शक्तिके साथ शीघ्र जाता है, (मायया नानारूपे अहनी कर्षि) अपनी शक्तिसे अनेक रूपवाले दिन और रात बनाता है । हे आदित्य ! (तत् ते महि महि श्रवः) वह तेरा ही बडा महिमा है । (यत् एकः विश्वं भूम परि जायसे) जो अकेला तू सब संसारके ऊपर प्रभाव करता है ॥ ३ ॥

(बह्वीः सप्त हरितः) बडी सात किरणें, (यं भ्राजमानं तरणिं विपश्चितं वहन्ति) जिस तेजस्वी तारनेवाले ज्ञानी देवको ले जाती हैं । (यं अत्रिः स्रुतात् दिवं उन्निनाय) जिसको अत्ता आत्माने स्रवनेवाले जलसे द्युलोक तक पहुंचाया है, (तं त्वा आजिं परियान्तं पश्यन्ति) उस तुझको चारों ओर घूमते हुए देखते हैं ॥ ४ ॥

(परियान्तं आजिं त्वा मा दभन्) चारों ओर घूमनेवाले तुझको शत्रु न दबा देवें । (स्वस्ति, दुर्गान् शीभं अति याहि)सुखरूपतासे कठिन स्थानोंके पार शीघ्रतासे चल । हे सूर्य ! (दिवं च देवीं पृथिवीं च अहोरात्रे विमिमानः यत् एषि) द्युलोक और दिव्य पृथिवीको, अहोरात्रको निर्माण करता हुआ तू जाता है ॥ ५ ॥

हे सूर्य ! (ते चरसे रथाय स्वस्ति) तेरे चलनेवाले रथके लिए शुभमंगल हो । (येन उभौ अन्तौ सद्यः परि यासि) जिससे दोनों सीमाओंतक तत्काल जाता है । (सप्त बह्वीः यदि वा वहिष्ठाः हरितः शतं अश्वाः यं ते वहन्ति) सात किरणें किंवा चलनेवाली सौ अश्वरूप किरणें जिस तुझको चलाती हैं ॥ ६ ॥

हे सूर्य ! (अंशुमन्तं स्योनं सुवह्निं वाजिनं सुखं रथं अधितिष्ठ) तेजस्वी सुखदायी चलानेवाले गतिवाले उत्तम रथपर चढ । (सप्त०) उस तुझको सात किरणें अथवा सेकडों किरणें ले चलती हैं ॥ ७ ॥

भावार्थ- जो पूर्व दिशामें उदय होकर पश्चिम दिशामें अस्त होता है, जो अपने प्रकाशसे दिन और अप्रकाशसे रात्रि निर्माण करता है, उसका महिमा बडा है, वही संसारमें बडा प्रभावशाली है ॥ ३ ॥

सात तेजस्वी किरणें सूर्यका प्रकाश प्रभावयुक्त बनाती हैं । ज्ञानी लोग इसका महत्त्व जानते हैं । यह सूर्य द्युलोकमें चढकर सर्वत्र अपना तेज फैलाता है ॥ ४ ॥

तू चारों ओर प्रकाश को फैलाता है, तेरी किरणें शीघ्रगतिवाली हैं, तेरे प्रकाशसे सबका कल्याण होता है । तू द्युलोक और पृथ्वीको प्रकाशित करता हुआ दिन और रात्रिको निर्माण करता है ॥ ५ ॥

तेरा रथ कल्याणरूप है, इसीसे तू उदयसे अस्ततक आक्रमण करता है । सात किरणें और अनंत प्रकाश तेरा प्रभाव बढा रहे हैं ॥ ६ ॥

सप्त सूर्यो हरितो यातवे रथे हिरण्यत्वचसो बृहतीरयुक्त ।
अमोचि शुक्रो रजसः परस्ताद् विधूय देवस्तमो दिवमारुहत् ॥ ८ ॥
उत् केतुना बृहता देव आगन्नपावृक् तमोऽभि ज्योतिरश्रैत् ।
दिव्यः सुपर्णः स वीरो व्यख्यददितेः पुत्रो भुवनानि विश्वा ॥ ९ ॥
उद्यन् रश्मीना तनुषे विश्वा रूपाणि पुष्यसि ।
उभा समुद्रौ क्रतुना वि भासि सर्वांल्लोकान् परिभूर्भ्राजमानः ॥ १० ॥ (७)
पूर्वापरं चरतो माययैतौ शिशू क्रीडन्तौ परि यातोऽर्णवम् ।
विश्वान्यो भुवना विचष्टे हैरण्यैरन्यं हरितो वहन्ति ॥ ११ ॥

अर्थ-(सूर्यः हिरण्यत्वचसः बृहतीः सप्त हरितः यातवे रथे अयुक्त) सूर्यने सुवर्णके समान चमकनेवाले बडे सात किरण चलनेके लिए अपने रथमें जोडे हैं। (शुक्रः देवः तमो विधूय रजसः परस्तात् अमोचि दिवं आरुहत्) शुद्ध देवने अंधकारको स्थानसे हटाकर रजोलोकसे परे छोड दिया और स्वयं द्युलोकपर चढा ॥ ८ ॥

(देवः बृहता केतुना उत् आगन्) सूर्यदेव बडे प्रकाशके साथ उदयको प्राप्त हुआ है, (तमः अपावृक् ज्योतिः अश्रैत्) उसने अन्धकार दूर किया और तेजका आश्रय किया है। (सः दिव्यः सुपर्णः अदितेः वीरः पुत्रः विश्वा भुवनानि व्यख्यत्) उस दिव्य प्रकाशमान अदितिके वीर पुत्र सूर्यने सब भुवनोंको प्रकाशित किया है ॥ ९ ॥

(उद्यन् रश्मीन् आ तनुषे) उदय होनेपर किरणोंको तू फैलाता है। (विश्वा रूपाणि पुष्यसि) सब रूपोंको पुष्ट करता है। (उभौ समुद्रौ क्रतुना विभासि) दोनों समुद्रोंको यज्ञसे प्रकाशित करता है और (परिभूः भ्राजमानः सर्वान् लोकान्) सबपर प्रभाव करता हुआ तेजस्वी तू सब लोकोंको प्रकाशित करता है ॥ १० ॥ (७)

(एतौ शिशू क्रीडन्तौ मायया पूर्वापरं चरतः) ये दो बालक अर्थात् सूर्य और चन्द्र खेलते हुए, स्वशक्तिसे आगे पीछे चलते हैं। और (अर्णवं परियातः) समुद्रतक भ्रमण करते हुए पहुंचते हैं। [अन्यः विश्वा भुवना विचष्टे] उनमेंसे एक सब भुवनोंको प्रकाशित करता है और (अन्यः ऋतून् विदधत् नवः जायसे) दूसरा ऋतुओंको बनाता हुआ नया नया बनाता है ॥ ११ ॥ (अथर्व० ७।८१ (८६) ।१; १४।१।२३)

भावार्थ-- तेरा रथ तेजस्वी, सुखदायी, गतिमान् बलवान् है। उसकी किरणें तेरा प्रभाव बढा रही हैं ॥ ७ ॥

सूर्य अपने चमकनेवाली किरणोंके साथ अपने रथमें विराजता है। यह प्रकाशमान देव अन्धकारको दूर करके उसको दूर भगा देता है और द्युलोकमें विराजता है ॥ ८ ॥

सूर्य उदय होता है, उससे अन्धकार दूर होता है, उसके प्रकाशसे संपूर्ण विश्व प्रकाशित होता है ॥ ९ ॥

सूर्य उदय होनेपर उसका प्रकाश फैलता है, समुद्रतकके संपूर्ण भूमिपर सब लोक यज्ञकर्म शुरू करते हैं, इस तरह सब जगत् देदीप्यमान होता है ॥ १२ ॥

संसाररूपी घरके छोटे बडे (चंद्र और सूर्य) बालक अपनी शक्तिसे खेलते हुए समुद्र तक पुरुषार्थ करते हुए जाते हैं। उनमें से एक जगत्को प्रकाशित करता है, और दूसरा ऋतुओंको बनाता है। इसी तरह सब गृहस्थियोंके पुत्र अपने पुरुषार्थसे जगत् को प्रकाशित करें ॥ ११ ॥

दिवि त्वात्त्रिरधारयत् सूर्या मासाय कर्तवे ।
स एषि सुधृतस्तपन् विश्वा भूतावचाकशत् ॥ १२ ॥
उभावन्तौ समर्षसि वत्सः संमातराविव ।
नन्वेतदितः पुरा ब्रह्म देवा अमी विदुः ॥ १३ ॥
यत् समुद्रमनु श्रितं तत् सिषासति सूर्यः ।
अध्वास्य विततो महान् पूर्वश्चापरश्च यः ॥ १४ ॥
तं समाप्नोति जूतिभिस्ततो नापं चिकित्सति ।
तेनामृतस्य भक्षं देवानां नाव रुन्धते ॥ १५ ॥
उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः ।
दृशे विश्वाय सूर्यम् ॥ १६ ॥

अर्थ- हे सूर्य (मासाय कर्तवे अत्रिः त्वा दिवि अधारयत्) महिने बनानेके लिए अत्रिने तुझे द्युलोकमें धारण किया। (सः तपन् विश्वा भूता अवचाकशत् सुधृतः एषि) वह तपता हुआ सब भूतोंको प्रकाशित करता हुआ स्वयं सुस्थिर होकर चलता है ॥ १२ ॥

[वत्सः मातरौ इव उभौ अन्तौ सं अर्षसि] जैसा बछडा मातापिताओंको प्राप्त होता है वैसा तू दोनों अन्तिम भागोंको प्राप्त होता है । (ननु इतः पुरा अमी देवाः एतत् ब्रह्म विदुः) निश्चयपूर्वक इससे पूर्व ही ये देव इस ब्रह्मको जानते हैं ॥ १३ ॥

(यत् समुद्रं अनुश्रितं तत् सूर्यः सिषासति) जो समुद्रके आश्रयसे रहता है वह सूर्य प्राप्त करना चाहता है । (अस्य यः पूर्वः अपरः च महान् अध्वा विततः) इसका यह पूर्व पश्चिम बडा मार्ग फैला है ॥ १४ ॥

(तं जूतिभिः समाप्नोति, ततो न अपचिकित्सति) उस मार्गको वह वेगोंसे समाप्त करता है, उस मार्गसे वह इधर उधर मनको नहीं जाने देता, (तेन देवानां अमृतस्य भक्षं न अवरुन्धते) उस कारण देवोंके अमृत अन्नके मार्गसे दूर नहीं होता ॥ १५ ॥

(केतवः त्यं जातवेदसं देवं सूर्यं) किरण उस बने हुएको जाननेवाले सूर्य देवको (विश्वाय दृशे) समस्त संसार के दर्शनके लिए (उत् उ वहन्ति) उच्च स्थानमें प्रकाशित करते हैं ॥ १६ ॥ (ऋ० १ । ५० । १, वा० यजु० ७ । ४१, अथर्व० २० । ४७ । १३)

भावार्थ- सूर्य महिने बनानेके लिए द्युलोकमें प्रकाशित होता है, वह प्रकाशता है, सबका धारण भी करता है ॥ १२ ॥

जैसा बच्चा माता पिताओंको प्राप्त करता है, वैसाही सूर्य उदय और अस्तके प्रान्तको प्राप्त होता है । इसका सब तत्त्व सब देव यथावत् जानते हैं ॥ १३ ॥

जो समुद्रमें रत्नादि है वह सूर्य प्राप्त करता है, इस सूर्य का यह पूर्वसे पश्चिमतकका मार्ग बडाभारी है ॥ १४ ॥

वह अपने मार्गको शीघ्रतासे समाप्त करता है, अपना मन इधर उधर होने नहीं देता । इस कारण उसको अमृतान्नका भाग नियमसे प्राप्त होता है ॥ १५ ॥

सूर्यदेवकी किरणें संपूर्ण विश्वको प्रकाशित करनेके लिए ही प्रकाशती हैं और उसको उच्च भागमें धारण करती हैं ॥ १६ ॥

अप त्ये तायवो यथा नक्षत्रा यन्त्यक्तुभिः ।
सूराय विश्वचक्षसे ॥ १७ ॥
अदृश्रन्नस्य केतवो वि रश्मयो जनाँ अनु । भ्राजन्तो अग्नयो यथा ॥ १८ ॥
तरणिर्विश्वदर्शतो ज्योतिष्कृदसि सूर्य । विश्वमा भासि रोचन ॥ १९ ॥
प्रत्यङ् देवानां विशः प्रत्यङ्ङुदेषि मानुषीः
प्रत्यङ् विश्वं स्वर्दृशे ॥ २० ॥ (८)
येना पावक चक्षसा भुरण्यन्तं जनाँ अनु ।
त्वं वरुण पश्यसि ॥ २१ ॥
वि द्यामेषि रजस्पृथ्वहर्मिमानो अक्तुभिः ।
पश्यन् जन्मानि सूर्य ॥ २२ ॥

अर्थ- (यथा त्ये तायवः, नक्षत्रा अक्तुभिः अप यान्ति) जैसे वे चोर वैसे नक्षत्रगण रात्रिके साथ दूर भाग जाते हैं और (विश्वचक्षसे सूराय) संसारके प्रकाशित करनेवाले सूर्यके लिए स्थान करते हैं ॥ १७ ॥ (ऋ० १ । ५० । २; अथर्व, २० । ४७ । १४)

(यथा भ्राजन्तः अग्नयः) जैसे चमकनेवाले अग्नि होते हैं, (अस्य केतवः रश्मयः जनान् अनु वि अदृश्रन्) इसके ध्वजरूपी किरण लोगोंके प्रति जाते हुए दीखते हैं ॥ १८ ॥ (ऋ० १ । ५० । ३, वा० य० ८ । ४०; अथर्व. २० ४७ । १५)

हे (रोचन सूर्य) प्रकाशक सूर्य ! तू (तरणिः विश्वदर्शतः ज्योतिष्कृत् असि) तारक विश्वको दर्शानेवाला और प्रकाश करनेवाला है (विश्वं आ भासि) सब जगत् को प्रकाशित करता है ॥ १९ ॥ (ऋ० १।५०।४)

[देवानां विशः प्रत्यङ्] देवोंकी प्रजाओंके प्रति और (मानुषीः प्रत्यङ् उदेषि) मानवी प्रजाओंके प्रति तू उदित होता है तथा (स्वः दृशे विश्वं प्रत्यङ्) प्रकाशके दर्शनके लिए सब विश्वके प्रति जाता है ॥ २० ॥ ८ ॥ [ऋ० १। ५० । ५]

हे (पावक वरुण) पवित्र करनेवाले श्रेष्ठ देव ! [येन चक्षसा त्वं जनान् भुरण्यन्तं अनु पश्यसि] जिस नेत्रसे तू मनुष्योंमें भरणपोषण करनेवाले मनुष्यको देखता है, उससे मुझे देख ॥ २१ ॥ [ऋ० १।५०।६]

हे सूर्य ! [अक्तुभिः अहः मिमानः] रात्रियोंसे दिनको मापता हुआ [पृथु रजः द्यां एषि] विस्तृत अन्तरिक्ष लोकको और द्युलोकको प्राप्त होता है और [जन्मानि पश्यन्] सब जन्म लेनेवालोंको देखता है ॥ २२ ॥ [ऋ० १ । ५० । ७]

भावार्थ— जैसे चोर स्वामीके आनेसे भाग जाते हैं, वैसेही सूर्यके आनेसे सब नक्षत्र भाग जाते हैं और सूर्यदेवके लिए स्थान खुला छोड देते हैं ॥ १७ ॥

चमकनेवाले अग्निके समान इसके किरण अत्यंत तेजस्वी और सबको प्रकाश देनेवाले हैं ॥ १८ ॥

सूर्य तेजस्वी है, तारक है, सबको रूप दर्शानेवाला है, कान्तिको फैलानेवाला है, उसीसे सब जगत तेजस्वी होता है ॥ १९ ॥

दैवी और मानवी प्रजाओंके हितार्थ यह सूर्य उदित होता है । सब विश्वको यह तेजका मार्ग दर्शाता है ॥ २० ॥

सूर्य जिस प्रेममय नेत्रसे पुरुषार्थी मनुष्यको देखता है, उसी नेत्रसे वह मुझे देखे, अर्थात् वह मुझपर प्रेम करे ॥ २१ ॥

सप्त त्वा हरितो रथे वहन्ति देव सूर्य ।
शोचिष्केशं विचक्षणम् ॥ २३ ॥
अयुक्त सप्त शुन्ध्युवः सूरो रथस्य नप्त्यः ।
ताभिर्याति स्वयुक्तिभिः ॥ २४ ॥
रोहितो दिवमारुहत् तपसा तपस्वी ।
स योनिमैति स उ जायते पुनः स देवानामधिपतिर्बभूव ॥ २५ ॥
यो विश्वचर्षणिरुत विश्वतोमुखो यो विश्वतस्पाणिरुत विश्वतस्पृथः ।
सं बाहुभ्यां भरति सं पतत्रैर्द्यावापृथिवी जनयन् देव एकः ॥ २६ ॥
एकपाद् द्विपदो भूयो वि चक्रमे द्विपात् त्रिपादमभ्येति पश्चात् ।
द्विपाद्ध षट्पदो भूयो वि चक्रमे त एकपदस्तन्वं 1 समासते ॥ २७ ॥

अर्थ- हे सूर्यदेव ! [सप्त हरितः शोचिष्केशं विचक्षणं त्वा रथे वहन्ति] सात किरण शुद्ध करनेवाले दर्शक ऐसे तुझको रथमें चलाते हैं ॥ २३ ॥ (ऋ० १ । ५० । ८)

(सूरः रथस्य नप्त्यः सप्त शुन्ध्युवः अयुक्त) ज्ञानमय रथको सात शुद्ध किरण जोडे हैं (ताभिः स्वयुक्तिभिः याति) उनसे अपनी योजनाओंसे वह जाता है ॥ २४ ॥ (ऋ० १।५०।९)

(तपसः तपस्वी रोहितः दिवं आरुहत्) प्रकाशसे तेजस्वी बना सूर्य द्युलोकपर चढा है । [सः योनिं एति] वह मूलस्थानको प्राप्त होता है, [सः उ पुनः जायते] वह पुनः पुनः उत्पन्न होता है, [सः देवानां अधिपतिः बभूव] वह देवोंका स्वामी हुआ है ॥ २५ ॥

[यः विश्वचर्षणिः उत विश्वतः-मुखः] जो सब प्राणिमात्रके रूपवाला और सब ओर मुखवाला है, [यः विश्वतः-पाणिः उत विश्वतः पृथः] जिसके हाथ और भुजा सब ओर हैं, [बाहुभ्यां पतत्रैः सं सं भरति] जो अपने बाहुओं और चरणों द्वारा भरणपोषण करता है, ऐसा [द्यावा-पृथिवी जनयन् देवः एकः] भूलोक और द्युलोकका निर्माण करनेवाला देव एक ही है ॥ २६ ॥ [ऋ० १० । ८१ । ३; वा० य० १७ । १९ पाठान्तरयुक्त]

[एकपाद् द्विपदः भूयः विचक्रमे] एक पांववाला दो पांववालेसे अधिक चलता है, [द्विपात् त्रिपादं पश्चात् अभ्येति] दो पांववाला तीन पांववाले के पीछेसे आकर मिलता है । (द्विपात् ह षट्पदः भूयः विचक्रमे) दो पांववाला निश्चयसे छः पांववालेसे भी अधिक चलता है, [ते एकपदः तन्वं समासते] वे एक पांववालेके शरीरका आश्रय करते हैं ॥ २७ ॥ [ऋ० १० । ११७ ।८; अथर्व. १३।३।२५ पाठान्तरयुक्त]

भावार्थ- सूर्य अन्तरिक्ष लोकमें संचार करता हुआ, और सब लोगोंके व्यवहारोंका निरीक्षण करता हुआ, दिन और रात्रिका विभाग करता हुआ, द्युलोकमें विराजता है ॥ २२ ॥

सूर्यदेवकी सात किरणें उसको रथमें चलाती हैं, वह पवित्र किरणोंवाला और ज्ञानी है ॥ २३ ॥

ज्ञानमय सूर्यके रथमें सात किरणें जोडी हैं, वे शुद्धता करनेवाले हैं । वे अपनी योजनाओंसे चलते हैं ॥ २४ ॥

प्रकाशमान सूर्य द्युलोकमें आरूढ होकर पश्चात् अपने स्थानमें पहुंचता है और फिर उदयको प्राप्त होता है, इस तरह वह सब अन्य देवोंका अधिपति हुआ है ॥ २५ ॥

सब प्राणियोंको रूप देनेवाला सूर्य है । इसका मुख सर्वत्र है, वैसे ही हाथ और भुजाएं सर्वत्र हैं । वह अपने हाथों द्वारा सबका पोषण करता है । यह एक ही देव पृथ्वीसे द्युलोक तकके सब पदार्थ मात्रको उत्पन्न करता है ॥ २६ ॥

अतन्द्रो यास्यन् हरितो यदास्थाद् द्वे रूपे कृणुते रोचमानः ।
केतुमानुद्यन्त्सहमानो रजांसि विश्वा आदित्य प्रवतो वि भासि ॥ २८ ॥
बण्महाँ३असि सूर्य बडादित्य महाँ असि ।
महांस्ते महतो महिमा त्वमादित्य महाँ असि ॥ २९ ॥
रोचसे दिवि रोचसे अन्तरिक्षे पतङ्ग पृथिव्यां रोचसे रोचसे अप्स्व१न्तः ।
उभा समुद्रौ रुच्या व्यापिथ देवो देवासि महिषः स्वर्जित् ॥ ३० ॥ (९)
अर्वाङ् परस्तात् प्रयतो व्यध्व आशुर्विपश्चित् पतयन् पतङ्गः ।
विष्णुर्विचित्तः शवसाधितिष्ठन् प्र केतुना सहते विश्वमेजत् ॥ ३१ ॥
चित्रश्चिकित्वान् महिषः सुपर्ण आरोचयन् रोदसी अन्तरिक्षम् ।
अहोरात्रे परि सूर्यं वसाने प्रास्य विश्वा तिरतो वीर्याणि ॥ ३२ ॥

अर्थ— (अतन्द्रः यास्यन् हरितः यदा आस्थात्) आलस्य न करनेवाला जब जानेकी इच्छा करता है तब वह अपने अश्वोंपर आरूढ होकर (रोचमानः द्वे रूपे कृणुते) प्रकाशित होकर दो रूप बनाता है। हे आदित्य ! (केतुमान् उद्यन् विश्वा रजांसि सहमानः) किरणोंसे युक्त होकर उदयको प्राप्त होनेवाला सब लोकोंको जीतनेवाला तू (प्रवतः विभासि) उच्च स्थानसे चमकता है ॥ २८ ॥

हे सूर्य ! हे आदित्य ! (बट् महान् असि] तू सबसे बडा है (ते महतः महिमा महान्) तुझ महान् देवका महिमा बहुत बडा है ॥ २९ ॥ [ऋ० ८।१०१।११; वा. यजु० ३३।२९; अथर्व० २०।५८।३]

हे (देव पतंग) चालक देव ! तू (दिवि अन्तरिक्षे पृथिव्यां अप्सु अन्तः रोचसे) द्युलोक, अन्तरिक्षलोक, भूलोक और जलोंके अन्दर प्रकाशित होता है। (रुच्या उभौ समुद्रौ व्यापिथ) तू अपने तेजसे दोनों समुद्रतक व्यापता है। ऐसा तू (स्वः-जित् देवः महिषः असि) प्रकाशको प्राप्त करनेवाला देव महासामर्थ्ययुक्त है ॥ ३० ॥ ९ ॥

[आशुः विपश्चित् पतंगः व्यध्वे प्रयतः] शीघ्रगामी ज्ञानी संचालक विशेषतः मार्गमें शुद्ध [परस्तात् अर्वाङ्] ऊपरसे यहां तक [विष्णुः विचित्रः शवसा अधितिष्ठन्] व्यापक और विशेष चिन्तनशक्तिसे युक्त अपने बलसे अधिष्ठाता होता हुआ (केतुना एजत् विश्वं प्र सहते) प्रकाशसे गतिमान् विश्वका धारण करता है ॥ ३१ ॥

[चित्रः चिकित्वान् महिषः सुपर्णः] विलक्षण ज्ञानी, समर्थ, और उत्तम गतिमान् [अन्तरिक्षं रोदसी आरोचयन्] अन्तरिक्ष, पृथिवी और द्युलोकको प्रकाशित करनेवाला सूर्य है। ऐसे [सूर्यं अहोरात्रे परिवसाने] सूर्यपर दिन और रात बसते हुए [अस्य विश्वा वीर्याणि प्र तिरतः] इसके सब वीर्य फैलाते हैं ॥ ३२ ॥

भावार्थ- यह एक पांववाला होनेपर भी अनेक पांववालोंसे आगे बढता है। सब अनेक पांववाले इसी एक पांववाले के आश्रयसे रहते हैं ॥ २७ ॥

यह आलस्य छोडकर सदा अपने कर्तव्यमें तत्पर रहता है। यह प्रकाश और अंधेरा उत्पन्न करता है। यह किरणोंसे सबको प्रभावित करके उच्च स्थानमें विराजता है ॥ २८ ॥

सूर्य सबसे बडा है, उसकी महिमा भी बहुत बडी है ॥ २९ ॥

यह सूर्य पृथ्वी जल अन्तरिक्ष तथा द्युलोकमें प्रकाशता है, पृथ्वीपर और अन्तरिक्ष के दोनों जलस्थानोंमें अपना प्रकाश यह फैलाता है। यही सबमें अधिक सामर्थ्यशाली है ॥ ३० ॥

यह शीघ्रगामी देखनेवाला संचालक शुद्ध मार्गका दर्शक वहांसे यहांतक सब विश्वको अपने प्रकाशसे प्रकाशित करता है ॥ ३१ ॥

तिग्मो विभ्राजन् तन्वं १ शिशानोऽरंगमासः प्रवतो रराणः ।
ज्योतिष्मान् पक्षी महिषो वयोधा विश्वा आस्थात् प्रदिशः कल्पमानः ॥ ३३ ॥
चित्रं देवानां केतुरनीकं ज्योतिष्मान् प्रदिशः सूर्य उद्यन् ।
दिवाकरोऽति द्युम्नैस्तमांसि विश्वातारीद् दुरितानि शुक्रः ॥ ३४ ॥
चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः ।
आप्राद् द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ॥ ३५ ॥
उच्चा पतन्तमरुणं सुपर्णं मध्ये दिवस्तरणिं भ्राजमानम् ।
पश्याम त्वा सवितारं यमाहुरजस्रं ज्योतिर्यदविन्ददत्रिः ॥ ३६ ॥

अर्थ- (तिग्मः विभ्राजन् तन्वं शिशानः) तीक्ष्ण प्रकाशवाला अपने शरीरको तीक्ष्ण करनेवाला, [अरंगमासः प्रवतः रराणः] पर्याप्त गतिवाला उच्च स्थानपर रमनेवाला [ज्योतिष्मान् पक्षी महिषः वयोधाः] तेजस्वी आकाशमें संचार करनेवाला बलवान् और बल धारण करनेवाला (विश्वा: प्रदिशः कल्पमानः आस्थात्) सब दिशाओंमें सामर्थ्ययुक्त होता हुआ स्थिर रहता है ॥ ३३ ॥

[देवानां केतुः चित्रं अनीकं] देवोंका ध्वज, विलक्षण मूल आधाररूप (ज्योतिष्मान् सूर्यः प्रदिशः उद्यन्) तेजस्वी सूर्य दिशाओंमें उदित होता हुआ [शुक्रः विश्वा दुरितानि तमांसि द्युम्नैः अतारीत्] शुद्ध सूर्य सब पापरूप अंधकारोंको अपने तेजोंसे पार करता है, और [दिवा करोति] दिनका प्रकाश करता है ॥ ३४ ॥ [अथर्व. २०।१०७।१३]

(देवानां चित्रं अनीकं, मित्रस्य वरुणस्य अग्नेः चक्षुः) देवोंका अद्भुत धारक बल, मित्र वरुण और अग्निकी आंख (द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं आप्राद्) द्युलोक, अन्तरिक्ष और पृथिवीको व्यापता है ऐसा [सूर्यः जगतः तस्थुषः च आत्मा] सूर्य जंगम और स्थावरका आत्मा है ॥ ३५ ॥ [ऋ० १ । ११५ । १; वा० यजु० ६ । ४२, १३ । ४६; अथर्व २०।१०७।१४]

(उच्चा पतन्तं सुपर्णं दिवः मध्ये भ्राजमानं तरणिं) उच्च स्थानसे गमन करनेवाले पक्षी जैसे आकाशके मध्यमें तेजस्वी होकर तैरनेवाले [यं अजस्रं ज्योतिः आहुः तं सवितारं त्वा पश्याम] जिसे विशेष तेजस्वी करके कहते हैं उस तुझ सूर्यको हम देखते हैं, (यत् अत्रिः अविन्दत्) जिसे भोक्ता प्राप्त करता है ॥ ३६ ॥

भावार्थ- यह विलक्षण सामर्थ्यशाली इस त्रिलोकीको प्रकाशित करता है। यह दिन और रातको निर्माण करके सबमें पराक्रमशक्तिको समर्पित करता है ॥ ३२ ॥

यह तेजस्वी और तीखा सूर्य, पर्याप्त गतिसे युक्त और सदा उच्च स्थानमें विराजनेवाला पक्षीके समान आकाशमें संचार करता हुआ सब दिशाओंको तेज देता हुआ ठहरा है ॥ ३३ ॥

यह देवोंके आगमनकी सूचना देता है, यह विचित्र अद्भुत बलसे युक्त है. यह जब उदयको प्राप्त होता है, तब सब स्थानका अंधेरा दूर करके सर्वत्र प्रकाश करता है ॥ ३४ ॥

यह सब देवोंका बल और सबकी आंख ही है। यह अपने प्रकाशसे विश्वको भर देता है। यही सूर्य मानो सब स्थावर जंगम जगत् का आत्मा है ॥ ३५ ॥

यह शीघ्रगामी पक्षीके समान आकाशमें तैरता है। इसका विलक्षण तेज है, जो हम देखते हैं। जो इस तेजका स्वीकार करना चाहे उसको यह प्राप्त हो सकता है ॥ ३६ ॥

दिवस्पृष्ठे धावमानं सुपर्णमदित्याः पुत्रं नाथकाम उप यामि भीतः ।
स नः सूर्य प्र तिर दीर्घमायुर्मा रिषाम सुमतौ ते स्याम ॥ ३७ ॥
सहस्राह्ण्यं वियतावस्य पक्षौ हरेर्हंसस्य पततः स्वर्गम् ।
स देवान्त्सर्वानुरस्युपदद्य संपश्यन् याति भुवनानि विश्वा ॥ ३८ ॥
रोहितः कालो अभवद् रोहितोऽग्रे प्रजापतिः ।
रोहितो यज्ञानां मुखं रोहितः स्वराभरत् ॥ ३९ ॥
रोहितो लोको अभवद् रोहितोऽत्यतपद् दिवम् ।
रोहितो रश्मिभिर्भूमिं समुद्रमनु सं चरत् ॥ ४० ॥ (१०)
सर्वा दिशः समचरद् रोहितोऽधिपतिर्दिवः ।
दिवं समुद्रमाद् भूमिं सर्वं भूतं वि रक्षति ॥ ४१ ॥

अर्थ- (दिवः पृष्ठे धावमानं सुपर्णं अदित्याः पुत्रं) द्युलोकके पीठपर दौडनेवाले पक्षीके समान अदितीके पुत्रको [नाथकामः भीतः उपयामि] नाथ की इच्छा करनेवाला भयभीत हुआ मैं शरण जाता हूं । हे सूर्य ! (सः नः दीर्घं आयुः प्रतिर) वह तू हमें दीर्घ आयु दे, (ते सुमतौ स्याम, मा रिषाम) तेरी उत्तम बुद्धिमें हम रहें और हमारा नाश न हो ॥ ३७ ॥

(हरेः हंसस्य सहस्राह्ण्यं स्वर्गं पततः अस्य पक्षौ वियतौ) हरणशील हंसके समान गतिशील, हजार दिनके मार्ग पर स्थित द्युलोक पर चलनेवाले इस सूर्यके दोनों ओर किरण फैले हैं । (स सर्वान् उरसि उपदद्य) वह सब देवोंको अपनी छातीपर धारण करता हुआ, (विश्वा भुवनानि सं पश्यन् याति) सब भुवनोंको देखता हुआ चलता है ॥ ३८ ॥ (अथर्व १० । ८।१८, १३।२।१४)

(रोहितः कालः अभवत्) वह सूर्य ही काल हुआ है, (अग्रे रोहितः प्रजापतिः) आगे सूर्यही प्रजापालक बना है, (रोहितः यज्ञानां मुखं) यही सूर्य यज्ञोंका मुख्य होकर (स्वः आभरत्) प्रकाश प्रदान करता है ॥ ३९ ॥

(रोहितः लोकः अभवत्, दिवं अतपत्) सूर्य ही सब लोक बना और द्युलोक को प्रकाशित करने लगा । (रोहितः रश्मिभिः भूमिं समुद्रं अनु सं चरत्) सूर्यही अपने किरणोंसे भूमि और समुद्रमें संचार करता है ॥ ४० ॥ (१०)

(दिवः अधिपतिः रोहितः सर्वाः दिशः समचरत्) द्युलोक का स्वामी सूर्य सब दिशाओंमें संचार करता है । (दिवं समुद्रं आत् भूमिं सर्वं भूतं वि रक्षति) द्युलोक समुद्र भूमि सब प्राणी आदि सबकी वह रक्षा करता है ॥ ४१ ॥

भावार्थ—आकाशके पृष्ठभागपर दौडनेवाले पक्षीके समान यह सूर्य है । मैं दुःखोंसे पीडित होकर भयभीत हुआ इसकी प्रार्थना करता हूं कि यह हमें दीर्घ आयु देवे और हमें सुरक्षित रखे ॥ ३७ ॥

इस तेजस्वी सूर्यके किरण सब ओर हजार दिनतक प्रवास करते हुए दूरीतक जाते हैं । यही सब देवोंका आधार है, यह सबका निरीक्षण करता हुआ चलता है ॥ ३८ ॥

यह सूर्य काल, प्रजापालक, यज्ञ, तेज, सब लोकको बनाता है, यही अपने प्रकाशसे सब जगत् को परिपूर्ण करता है॥ ३९-४० ॥

यह द्युलोकका स्वामी सर्वत्र संचार करके सब जगत की रक्षा करता है ॥ ४१ ॥

आरोहञ्छुक्रो बृहतीरतन्द्रो द्वे रूपे कृणुते रोचमानः ।
चित्रश्चिकित्वान् महिषो वातमाया यावतो लोकानभि यद् विभाति ॥ ४२ ॥
अभ्य१न्यदेति पर्यन्यदस्यतेऽहोरात्राभ्यां महिषः कल्पमानः ।
सूर्यं वयं रजसि क्षियन्तं गातुविदं हवामहे नाधमानाः ॥ ४३ ॥
पृथिवीप्रो महिषो नाधमानस्य गातुरदब्धचक्षुः परि विश्वं बभूव ।
विश्वं संपश्यन्त्सुविदत्रो यजत्र इदं शृणोतु यदहं ब्रवीमि ॥ ४४ ॥
पर्यस्य महिमा पृथिवीं समुद्रं ज्योतिषा विभ्राजन् परि द्यामन्तरिक्षम् ।
सर्वं संपश्यन्त्सुविदत्रो यजत्र इदं शृणोतु यदहं ब्रवीमि ॥ ४५ ॥
अबोध्यग्निः समिधा जनानां प्रति धेनुमिवायतीमुषासम् ।
यह्वा इव प्र वयामुज्जिहानाः प्र भानवः सिस्रते नाकमच्छ ॥ ४६ ॥ (११)

॥ इति द्वितीयोऽनुवाकः ॥

अर्थ- (अतन्द्रः शुक्रः रोचमानः बृहतीः आरोहन्) आलस्यरहित बलवान् तेजस्वी सूर्य बडी दिशाओंमें आरूढ होकर (द्वे रूपे कृणुते) दो रूप बनाता है। वह (चित्रः चिकित्वान् महिषः) विलक्षण ज्ञानी और समर्थ (वातं आयाः) वायुको प्राप्त होता है, और (यत् यावतः लोकान् अभि विभाति) जितने लोक हैं उन सबको वह प्रकाशित करता है ॥ ४२ ॥

(अहोरात्राभ्यां कल्पमानः महिषः) दिन और रात्रिसे समर्थ होता हुआ यह सूर्य (अन्यत् अभि एति, अन्यत् अभि अस्यते) एक भागके सन्मुख होता है और दूसरा भाग दूसरी ओर फेंका जाता है । [वयं नाधमानाः गातुविदं रजसि क्षियन्तं सूर्यं हवामहे] हम सब त्रस्त हुए मार्गदर्शक और अन्तरिक्षमें निवास करनेवाले सूर्यकी स्तुति करते हैं ॥ ४३ ॥

(महिषः पृथिवी प्रः) बलवान् पृथिवीको पूर्ण करनेवाला (नाधमानस्य गातुः, अदब्धचक्षुः विश्वं परि बभूव) दुखी मनुष्यका मार्गदर्शक, जिसका आंख न दबा है ऐसा सूर्य इस विश्वपर है । यह [विश्वं संपश्यन् सुविदत्रः यजत्रः] सब विश्वको देखनेवाला ज्ञानी याजक [इदं शृणोतु यत् अहं ब्रवीमि] यह सुनें जो मैं कहता हूं ॥ ४४ ॥

[अस्य महिमा पृथिवीं समुद्रं परि] इस का महिमा पृथिवी और समुद्रके चारों ओर फैला है । [ज्योतिषा विभ्राजन् द्यां अन्तरिक्षं परि] तेजसे प्रकाशता हुआ द्युलोक और अन्तरिक्ष में चारों ओर फैला है । (सर्वं संपश्यन्०) सब को देखता हुआ यह ज्ञानी याजक यह सुनें कि जो मैं कहता हूं ॥ ४५ ॥

[जनानां समिधा अग्निः प्रति अबोधि] जनोंकी समिधाओंसे अग्नि जाग उठा है। (धेनुं इव उषसं आयतिं) गौ जैसी उषा आनेके समय जागती है। (वयां प्र उज्जिहानाः यह्वा इव) शाखाओंको ऊपर फेंकनेवाले पौधोंके समान (भानवः नाकं अच्छ प्र सिस्रते) किरण स्वर्गधामकी ओर पहुंचते हैं ॥ ४६ ॥ [११]

भावार्थ- आलस्य छोडकर समर्थ और तेजस्वी यह सूर्य सबसे ऊंचे स्थानपर आरूढ होता है। अन्धकार और प्रकाश इसीसे उत्पन्न होते हैं । जहांतक लोक हैं वहांतक इसका प्रकाश फैलता है ॥ ४२ ॥

यह सूर्य दिन और रात बनाता है, जिस समय यह जिस भूभागके सन्मुख होता है वहां दिन होता है और दूसरे भूभागमें रात्रि होती है । इस अन्तरिक्ष लोकमें विराजमान तेजस्वी सूर्यकी हम स्तुति करते हैं, यह हमें मार्गदर्शक होवे ॥ ४३ ॥

यह सूर्य सामर्थ्यशाली है, दुःखी मनुष्यको यही सुखका मार्ग बताता है । सब विश्वपर इसकी प्रभुता है । यह वर्णन वह सुनें ॥ ४४ ॥

इसकी महिमा पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्युलोकमें फैली है । ॥ ४५ ॥

(३)

य इमे द्यावापृथिवी जजान यो द्रापिं कृत्वा भुवनानि वस्ते ।
यस्मिन् क्षियन्ति प्रदिशः षडुर्वीर्याः पतंगो अनु विचाकशीति ॥
तस्य देवस्य क्रुद्धस्यैतदागो य एवं विद्वांसं ब्राह्मणं जिनाति ।
उद् वेपय रोहित प्र क्षिणीहि ब्रह्मज्यस्य प्रति मुञ्च पाशान् ॥ १ ॥
यस्माद् वाता ऋतुथा पवन्ते यस्मात् समुद्रा अधि विक्षरन्ति । तस्य देवस्य ० ॥ २ ॥
यो मारयति प्राणयति यस्मात् प्राणन्ति भुवनानि विश्वा । तस्य देवस्य ० ॥ ३ ॥
यः प्राणेन द्यावापृथिवी तर्पयत्यपानेन समुद्रस्य जठरं यः पिपर्ति । तस्य देवस्य० ॥ ४ ॥
यस्मिन् विराट् परमेष्ठी प्रजापतिरग्निर्वैश्वानरः सह पङ्क्त्या श्रितः ।
यः परस्य प्राणं परमस्य तेज आददे ॥ तस्य देवस्य ० ॥ ५ ॥

अर्थ-(यः इमे द्यावा-पृथिवी जजान) जो इन दोनों द्युलोक और पृथिवी लोकको उत्पन्न करता है, (यः भुवनानि द्रापिं कृत्वा वस्ते) जो सब भुवनोंको चोला बनाकर उसमें रहता है, (यस्मिन् षट् उर्वीः प्रदिशः क्षियन्ति) जिसमें छः बडी दिशाएं निवास करती हैं, (याः पतङ्गः अनु विचाकशीति) जिनको गतिमान् सूर्य प्रकाशित करता है। (यः एवं विद्वांसं ब्राह्मणं जिनाति) जो ऐसे ज्ञानी ब्राह्मणको नाश करता है, या कष्ट देता है, (एतत् आगः तस्य क्रुद्धस्य देवस्य) इसका पाप उस क्रुद्ध देवके प्रति होता है। हे (रोहित) सूर्य! उस पापीको (उत् वेपय) कम्पा दे, तथा (प्रक्षिणीहि) उसका नाश कर, (ब्रह्मज्यस्य पाशान् प्रतिमुञ्च) ब्रह्मघातकीके ऊपर पाशोंको गिरा दे, अर्थात् उसे बंधनमें डाल दे ॥ १ ॥

(यस्मात् वाताः ऋतुथा पवन्ते) जिससे वायु ऋतुओंके अनुसार बहते हैं, (यस्मात् समुद्राः अधि वि क्षरन्ति) जिससे समुद्र-जलप्रवाह-विविध प्रकारसे प्रवाहित होते हैं ॥ ० ॥ (यः मारयति प्राणयति) जो मारता है, जो जीवित रखता है, (यस्मात् विश्वा भुवनानि प्राणन्ति) जिससे सब भुवन जीवित रहते हैं॥ ० ॥ २--३ ॥

(यः प्राणेन द्यावापृथिवी तर्पयति) जो प्राणसे द्युलोक और भूलोकको तृप्त करता है और (यः अपानेन समुद्रस्य जठरं पिपर्ति) जो अपानसे समुद्रका पेट पूर्ण करता है ॥ ० ॥ (यस्मिन्) जिसमें विराट् परमेष्ठी प्रजापति अग्नि वैश्वानर (सह पंक्त्या श्रितः) पंक्तिके साथ आश्रय लिए हैं ॥ ० ॥ ४-५ ॥

भावार्थ- जनताने जो समिधायें होमी थीं, उनसे यह अग्नि प्रदीप्त हुआ है। जैसी गौ प्रातःकाल जागती है, वैसा यह अग्नि जाग उठा है। जैसे पौधे अपनी शाखाओंको ऊपर आकाशमें फैलाते हैं, वैसेही अग्निकी ज्वालाएं सीधी ऊपर जाती हैं और प्रकाशको फैलाती हैं ॥ ४६ ॥

द्वितीय अनुवाक समाप्त ॥ २ ॥

जिस परमात्माने यह संपूर्ण जगत् निर्माण किया है और जो उसके अन्दर व्यापकर रहता है, जिसके अन्दर ये सूर्यसे प्रकाशित होनेवाली सब दिशा और उपदिशाएं रहती हैं, वह विश्वाधिपति परमात्मा उसपर बडा क्रुद्ध होता है, जो ज्ञानी मनुष्यको कष्ट देता है, उसको कंपायमान करता है, क्षीणबल करता है और अन्तमें बंधनमें डाल देता है ॥ १ ॥

यस्मिन् षडुर्वीः पञ्च दिशो अधि श्रिताश्चतंस्र आपो यज्ञस्य त्रयोऽक्षराः ।
यो अन्तरा रोदसी क्रुद्धश्चक्षुषैक्षत ॥ तस्य देवस्य० ॥ ६ ॥
यो अन्नादो अन्नपतिर्बभूव ब्रह्मणस्पतिरुत यः ।
भूतो भविष्यद् भुवनस्य यस्पतिः ॥ तस्य देवस्य० ॥ ७ ॥
अहोरात्रैर्विमितं त्रिंशदङ्गं त्रयोदशं मासं यो निर्मिमीते ॥ तस्य देवस्य० ॥ ८ ॥
कृष्णं नियानं हरयः सुपर्णा अपो वसाना दिवमुत् पतन्ति ।
त आववृत्रन्त्सदनादृतस्य ॥ तस्य देवस्य० ॥ ९ ॥
यत् ते चन्द्रं कश्यप रोचनावद् यत् संहितं पुष्कलं चित्रभानु ।
यस्मिन्त्सूर्या आर्पिताः सप्त साकम् ॥ तस्य देवस्य० ॥ १० ॥ (१२)
बृहदेनमनु वस्ते पुरस्ताद् रथंतरं प्रति गृह्णाति पश्चात् ।
ज्योतिर्वसाने सदमप्रमादम् ॥ तस्य देवस्य० ॥ ११ ॥

अर्थ- (यस्मिन् षट् उर्वीः पञ्च दिशः अधिश्रिताः) जिसमें छः तथा पांच बडी दिशाएं आश्रित हुई हैं तथा जिसमें (चतस्रः आपः यज्ञस्य त्रयः अक्षराः) चार प्रकारके जल और यज्ञके तीन अक्षर हैं, (यः अन्तरा क्रुद्धः चक्षुषा रोदसी ऐक्षत) जो अंदरसे क्रुद्ध होकर आंखसे द्युलोक और भूलोकको देखता है ॥ ० ॥ ६ ॥

(यः अन्नादः अन्नपतिः उत यः ब्रह्मणस्पतिः बभूव) जो अन्नभक्षक, अन्नका स्वामी और ज्ञानका स्वामी बना है, तथा (यः भुवनस्य पतिः भूतः भविष्यत्) जो जगत् का स्वामी था और रहेगा ॥ ० ॥ [यः अहोरात्रैः विमितं त्रिंशत् अंगं] जो दिन और रात्रीके तीस दिनोंका बना एक महिना ऐसे (त्रयोदशं मासं यः निर्मिमीते) तेरह महिने जो निर्माण करता है ॥ ० ॥ ७-८ ॥

(अपः वसानाः सुपर्णाः हरयः) जलका धारण करनेवाले उत्तम गतिमान् सूर्यकिरण (कृष्णं नियानं दिवं उत्पतन्ति) कृष्ण वर्ण या नीलवर्णवाले सबके स्थानरूप द्युलोक के प्रति चलते हैं, [ते ऋतस्य सदनात् आववृत्रन्] वे किरण जलके स्थानसे पुनः पुनः लौटते हैं ॥ ० ॥ हे [कश्यप] देखनेवाले देव ! (यत् ते चन्द्रं रोचनावत् पुष्कलं संहितं चित्रभानु) जो तेरा आनन्दकारी प्रकाशमय बहुत इकट्ठा हुआ विचित्र तेज है (यस्मिन् सप्त सूर्याः साकं अर्पिताः) इसमें सात सूर्य साथ साथ रहते हैं ॥ ० ॥ ९-१० ॥

[बृहत् एनं पुरस्तात् अनुवस्ते] बृहत् गान इसके सामने होता है और (रथंतरं पश्चात् प्रतिगृह्णाति) रथन्तर गान पीछेसे इसका ग्रहण करता है ॥ ० ॥ (बृहत् अन्यतः पक्ष आसीत्) बृहत् गानका एक पक्ष है और [रथंतरं

भावार्थ- जिसकी प्रेरणासे वायु और जलप्रवाह चल रहे हैं। जो सबको मारता और जीवित करता है, जिसकी जीवनशक्तिसे सब प्राणिमात्र जीवित रहते हैं ॥ जो प्राणसे द्यावापृथिवीको तृप्त करके अपानसे समुद्रको परिपूर्ण करता है, जिसमें अग्नि आदि सब देव पंक्ति बांधकर रहते हैं, जिसमें सब दिशाएं, सब जलप्रवाह, यज्ञके सब विधिज्ञान आश्रित हुए हैं, जो क्रुद्ध होकर अपने आंखसे सबका निरीक्षण करता है ॥ २-६ ॥

जो एक मात्र सबका भक्षक है तथापि जो अन्न और ज्ञान सबको देता है, जो सबका एक मात्र स्वामी था, है और रहेगा, जो दिन रात, महिना और वर्षरूपी कालचक्र निर्माण करता है, जिसके किरण पृथ्वीपरका जल लेकर आकाशमें उडते हैं और वहां मेघमंडलमें वारंवार प्रकाशित होते हैं, जिसका प्रकाश एकत्रित होकर सबको प्रकाशित करता है और जिसमें ये सब सूर्य रहते हैं ॥ ७-१० ॥

बृहदुन्यतः पुक्ष आसीद् रथंतरमन्यतः सबले सध्रीचीं ।
यद् रोहितमजनयन्त देवाः ॥ तस्यं देवस्यं० ॥ १२ ॥
स वरुणः सायमग्निर्भवति स मित्रो भवति प्रातरुद्यन् ।
स संविता भूत्वान्तरिक्षेण याति स इन्द्रो भूत्वा तंपति मध्यतो दिवम् ॥
तस्यं देवस्यं० ॥ १३ ॥
सहस्राह्ण्यं वियंतावस्य पक्षौ हरेर्हंसस्य पततः स्वर्गम् ।
स देवान्त्सर्वानुरस्युपदद्यं संपश्यन् याति भुवनानि विश्वा ॥ तस्यं देवस्यं० ॥ १४ ॥
अयं स देवो अप्स्वं१न्तः सहस्रमूलः पुरुशाको अत्रिः ।
य इदं विश्वं भुवनं जजान ॥ तस्यं देवस्यं० ॥ १५ ॥
शुक्रं वहन्ति हरयो रघुष्यदो देवं दिवि वर्चसा भ्राजमानम् ।
यस्योर्ध्वा दिवं तन्व१स्तपन्त्यर्वाङ् सुवर्णैः पटरैर्वि भाति ॥ तस्यं देवस्यं० ॥ १६ ॥
येनादित्यान् हरितः संवहन्ति येन यज्ञेन बहवो यन्ति प्रजानन्तः ।
यदेकं ज्योतिर्बहुधा विभाति ॥ तस्यं देवस्यं० ॥ १७ ॥

अन्यतः] रथन्तर गानका दूसरा पक्ष है, [सबले सध्रीची] ये दोनों बलवान् तथा साथ रहनेवाले पक्ष हैं। [यद् रोहितं देवाः अजनयन्त] वहां देवोंने रोहित सूर्यको निर्माण किया ॥ ० ॥ ११-१२ ॥

[सः वरुणः सायं अग्निः भवति] वह वरुण है, परंतु वह सायंकाल अग्नि होता है, [सः प्रातः उद्यन् मित्रः भवति] वह सवेरे उदय होनेके समय मित्र कहलाता है। [सः सविता भूत्वा अन्तरिक्षेण याति] वही सविता बनकर अन्तरिक्षमें संचार करता है, [सः इन्द्रः भूत्वा मध्यतः दिवं तपति] वह इन्द्र होकर द्युलोकके मध्यमें तपता है ॥ ० ॥ १३ ॥

[अर्थ देखो अथर्व० १०।८।१८;१३।२।३८] ॥ ० ॥ १४ ॥

[यः इदं विश्वं भुवनं जजान] जिसने यह सब जगत् निर्माण किया [अयं सः देवः सहस्रमूलः पुरुशाखः अत्रिः अप्सु अन्तः] वह देव यही है जिसके हजारों मूल और शाखाएं हैं और जो सबका भक्षक है, वह जलोंमें है ॥ ० ॥ १५ ॥

(वर्चसा भ्राजमानं शुक्रं देवं) तेजसे चमकनेवाले पवित्र देवको (रघुष्यदः हरयः दिवि वहन्ति) गतिमान् किरण द्युलोकमें चलाते हैं। (यस्य ऊर्ध्वाः तन्वः दिवं तपन्ति) जिसके ऊपरके भाग सूर्यलोकको तपाते हैं और (अर्वाक् सुवर्णैः पटरैः विभाति) इस ओर उत्तम रंगवाले तेजोंसे वह चमकता है ॥ ० ॥ (येन हरितः आदित्यान् सं वहन्ति) जिसके साथ किरण सूर्योंको चलाते हैं, (येन यज्ञेन प्रजानन्तः बहवः यन्ति) जिस यज्ञके साथ बहुत ज्ञानी जाते हैं, (यत् एकं ज्योतिः बहुधा विभाति) जो एक तेज अनेक प्रकारसे प्रकाशता है ॥ ० ॥ १६—१७ ॥

भावार्थ- बृहत् और रथन्तर गान इसके आगेपीछे चलते हैं। ये दोनों यज्ञके प्रबल पक्ष हैं इनका गान होता है तब सूर्य देव उदयको प्राप्त होते हैं। वही वरुण अग्नि मित्र सविता और इन्द्र क्रमशः सायं प्रातः द्वितीय प्रहर और मध्य दिनमें कहलाता है। (मंत्र १४ का भावार्थ १३।२।३८ में देखो) जिसने यह जगत् निर्माण किया वह देव यही है, जिसकी जड और शाखाएं हजारहां हैं, वह जलमें विराजमान है ॥ ११-१५ ॥

तेजस्वी सूर्यको द्युलोकमें किरण प्रकाशित करते हैं। इसके ऊपरके किरण द्युलोकको प्रकाशित करते हैं और इस ओरके किरण इस ओर प्रकाश देते हैं। एकचक्रवाले सूर्यरथको सात किरण प्रकाशित करते हैं। एकके ही ये सात भाग हैं। इसका चक्र

सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमेको अश्वो वहति सप्तनामा ।
त्रिनाभि चक्रमजरमनर्वं यत्रेमा विश्वा भुवनाधि तस्थुः ॥ तस्य देवस्य० ॥ १८ ॥
अष्टधा युक्तो वहति वह्निरुग्रः पिता देवानां जनिता मतीनाम् ।
ऋतस्य तन्तुं मनसा मिमानः सर्वा दिशः पवते मातरिश्वा ॥ तस्य देवस्य ॥ १९ ॥
सम्यञ्चं तन्तुं प्रदिशोऽनु सर्वा अन्तर्गायत्र्याममृतस्य गर्भे । तस्य देवस्य० ॥२०॥(१३)
निम्रुचस्तिस्रो व्युषो ह तिस्रस्त्रीणि रजांसि दिवो अङ्ग तिस्रः ।
विद्मा ते अग्ने त्रेधा जनित्रं त्रेधा देवानां जनिमानि विद्म ॥ तस्य देवस्य० ॥ २१ ॥
वि य और्णोत् पृथिवीं जायमान आ समुद्रमदधादन्तरिक्षे । तस्य देवस्य० ॥ २२ ॥
त्वमग्ने क्रतुभिः केतुभिर्हितोऽर्कः समिद्ध उदरोचथा दिवि ।
किमभ्यार्चन्मरुतः पृश्निमातरो यद् रोहितमजनयन्त देवाः । तस्य देवस्य० ॥ २३ ॥

अर्थ- [एकचक्रं रथं सप्त युञ्जन्ति] एक चक्रवाले रथको सात अश्व-किरण-जोते हैं । [सप्तनामा एकः अश्वः वहति] सात नामवाला एक अश्व उसको चलाता है । इसका [त्रिनाभि अजरं अनर्वं चक्रं] तीन केंद्रोंवाला जरा रहित और नाश-रहित यह चक्र है, (यत्र इमा विश्वा भुवना अधि तस्थुः) जहां ये सब भुवन ठहरे हैं ॥ ० ॥ १८ ॥ [ऋ० १।१६४।२; अथर्व ९।९।२]

(देवानां पिता मतीनां जनिता) देवोंका पालक और बुद्धियोंका उत्पादक (उग्रः वह्निः अष्टधा युक्तः वहति) उग्र अग्नि आठ प्रकारसे युक्त होकर चलता है । [ऋतस्य तंतुं मनसा मिमानः] यज्ञके धागेको मनसे मापता हुआ (मातरिश्वा सर्वाः दिशः पवते) अंतरिक्षमें निवास करनेवाला सब दिशाओंमें गति करता है ॥ ० ॥ १९ ॥

(सम्यञ्चं तन्तुं सर्वाः प्रदिशः अनु) इस सीधे यज्ञके धागेको सब दिशाओंके अनुसार (गायत्र्यां अंतः अमृतस्य गर्भे) गायत्रीके अंदर अमृतके गर्भमें देखते हैं ॥ ० ॥ २० ॥

(तिस्रः निम्रुचः तिस्रः व्युषः) तीन अस्त और तीन उषःकाल हैं । हे (अंग) प्रिय ! (त्रीणि रजांसि तिस्रः दिवः) तीन अन्तरिक्ष और तीन द्युलोक हैं । हे अग्ने ! (ते त्रेधा जनित्रं विद्म) तेरा तीन प्रकारका जन्म हम जानते हैं । तथा (देवानां त्रेधा जनिमानि विद्म) देवोंके तीन जन्म हम जानते हैं ॥ ० ॥ (यः जायमानः पृथिवीं वि और्णोत्) जो जन्मते ही पृथ्वीको आच्छादित करता है (अन्तरिक्षे समुद्रं आ अदधात्) अन्तरिक्षमें समुद्रको धारण करता है ॥ ० ॥ २१—२२ ॥

हे अग्ने! [त्वं क्रतुभिः, अर्कः केतुभिः हितः] तू यज्ञोंसे और सूर्य किरणोंसे युक्त है, तू (समिद्धः दिवि उत् अरोचथाः) प्रदीप्त होकर द्युलोकमें प्रकाशता है । (मरुतः पृश्निमातरः किं अभ्यार्चन्) भूमिको माता माननेवाले मरुत् सब उसकी अ करने लगे कि (यत् देवाः रोहितं अजनयन्त) जिस समय देवोंने सूर्यको प्रकट किया ॥ ० ॥ २३ ॥

अजर अमर है और इसीके आधारसे सब भुवन रहते हैं। यह सब देवोंका और बुद्धियोंका उत्पादक और पालक है । यह प्रचण्ड अग्नि है और आठ प्रकारका होकर प्रकाशता है । इसीसे यज्ञका अखंड धागा फैलाया जाता है । यह अन्तरिक्षमें रहकर सर्वत्र प्रकाशित होता है । यह यज्ञका तन्तु सब दिशाओंमें फैल रहा है यह गायत्रीमें अमृतके केन्द्रमें है ॥ १९-२० ॥

अस्त, उदय, उषा, द्यु, अन्तरिक्ष ये सब तीन हैं । सबका जन्म तीन प्रकारका है । जन्मतेही पृथ्वीको प्रकाशित करता और अन्तरिक्षमें जलोंको धरता है । अग्नि यज्ञोंके साथ और सूर्यकिरणोंके साथ प्रकाशित होता है । प्रदीप्त अग्नि यज्ञमें और चमकनेवाला सूर्य द्युलोकमें प्रकाशता है । जब देवोंके द्वारा सूर्य उदय हुआ तब वायु भी बह रहे थे ॥ २१-२३ ॥

य आ॑त्म॒दा ब॑ल॒दा यस्य॒ विश्व॑ उ॒पास॑ते प्र॒शिषं॒ यस्य॑ दे॒वाः ।
यो॒३॑स्येशे॑ द्वि॒पदो॒ यश्चतु॑ष्पदः ॥ तस्य॑ दे॒वस्य॑० ॥ २४ ॥
एक॑पा॒द् द्विप॑दो॒ भूयो॒ वि च॑क्रमे॒ द्विपा॒त् त्रिपा॑दम॒भ्ये॑ति प॒श्चात् ।
चतु॑ष्पाच्चक्रे॒ द्विप॑दामभिस्व॒रे सं॒पश्य॑न् प॒ङ्क्तिमु॑प॒तिष्ठ॑मा॒नः तस्य॑ दे॒वस्य॑ ॥
क्रु॒द्धस्यै॒तदा॒गो य ए॒वं वि॒द्वांसं॑ ब्राह्म॒णं जि॒नाति॑ ।
उद् वे॑पय रोहि॒त प्र क्षि॑णीहि ब्रह्म॒ज्यस्य॒ प्रति॑ मुञ्च॒ पाशा॑न् ॥ २५ ॥
कृ॒ष्णायाः॑ पु॒त्रो अर्जु॑नो॒ रात्र्या॑ व॒त्सो॑ऽजायत ।
स ह॒ द्याम॑धि॑ रोह॒ति रुहो॑ रुरोह॒ रोहि॑तः ॥ २६ ॥

॥ इति तृतीयोऽनुवाकः ॥

अर्थ— [यः आत्मदा बलदा यस्य प्रशिषं विश्वे देवाः उपासते] जो आत्मिक बल देनेवाला और शक्ति देनेवाला है, जिसकी आज्ञाका पालन सब देव करते हैं, (यः अस्य द्विपदः चतुष्पदः ईशे) जो इस द्विपाद और चतुष्पादका स्वामी है ०॥२४॥

(एकपाद् द्विपदः भूयः विचक्रमे) एक पांववाला दो पांववालेसे अधिक दौडता है, (द्विपात् त्रिपादं पश्चात् अभ्येति] दो पांववाला तीन पांववालेके पीछेसे चलता है। (अथर्व० १३।२।२७) (चतुष्पाद् द्विपदं अभिस्वरे पंक्तिं संपश्यन् उपतिष्ठमानः चक्रे) चार पांववाला दो पांववालोंको एकस्वरमें रहनेवालोंकी पंक्तिको देखता हुआ और उनसे सेवा लेता है। (तस्य देवस्य०) इस देवके प्रति वह पाप होता है कि जो ज्ञानी ब्राह्मणके नाश करनेसे होता है। उस नाशकको वह कंपाता, क्षीण करता और बंधनमें डालता है ॥ २५ ॥ (ऋ. १०।११७।८)

(कृष्णायाः रात्र्याः पुत्रः वत्सः अर्जुनः अजायत) काले वर्णवाली रात्रिका पुत्र बच्चा प्रकाशमान सूर्य हुआ है। [सः रोहितः रुहः रुरोह] वह लाल रंगवाला सब बढानेवालोंके ऊपर चढा है, वही (ह द्यां रोहति) निश्चयसे द्युलोक पर चढता है ॥ २६ ॥ (१४)

इति तृतीयोऽनुवाकः ॥ ३ ॥

भावार्थ— आत्मिक और शारीरिक बल देनेवाला देव है, इसकी आज्ञा सब मानते हैं, सब द्विपाद चतुष्पाद उसीकी आज्ञामें रहते हैं ॥ २४ ॥

यह देव एकपादवाला होनेपर भी अनेक पांववालोंके आगे बढता है। यह सबकी पूजा स्वीकारता हुआ सबको पंक्तिमें रखकर उपासक बनाता है। इस देवताका अपराध वह करता है कि जो ज्ञानी ब्राह्मणको सताता है। वह इस अपराधीको कंपाता, क्षीण करता और बंधनमें डालता है ॥ २५ ॥

रात्री व्यतीत होकर दिन हुआ और सूर्य उदय हो चुका है। वह उदय होते ही सबसे ऊपर चढने लगा और अंतमें द्युलोकमें विराजमान होकर प्रकाशने लगा है ॥ २६ ॥

तृतीय अनुवाक समाप्त ॥ ३ ॥

(४)

[१] स एति सविता स्वर्दिवस्पृष्ठेऽवचाकशत् ॥ १ ॥
रश्मिभिर्नभ आभृतं महेन्द्र एत्यावृतः ॥ २ ॥
स धाता स विधर्ता स वायुर्नभ उच्छ्रितम् ।० ॥ ३ ॥
सोऽर्यमा स वरुणः स रुद्रः स महादेवः ।० ॥ ४ ॥
सो अग्निः स उ सूर्यः स उ एव महायमः ।० ॥ ५ ॥
तं वत्सा उप तिष्ठन्त्येकशीर्षाणो युता दश० । ॥ ६ ॥
पश्चात् प्राञ्च आ तन्वन्ति यदुदेति वि भासति ।० ॥ ७ ॥
तस्यैष मारुतो गणः स एति शिक्याकृतः ॥ ८ ॥
रश्मिभिर्नभ आभृतं महेन्द्र एत्यावृतः ॥ ९ ॥
तस्येमे नव कोशा विष्टम्भा नवधा हिताः ॥ १० ॥
स प्रजाभ्यो वि पश्यति यच्च प्राणति यच्च न ॥ ११ ॥
तमिदं निगतं सहः स एष एक एकवृदेक एव ॥ १२ ॥
एते अस्मिन् देवा एकवृतो भवन्ति ॥ १३ ॥

अर्थ- (१) (स्वः सविता दिवः पृष्ठे अवचाकशत् सः एति) वह सूर्य द्युलोकके पृष्ठभागपर प्रकाशता है और अपने तेजको प्राप्त करता है ॥ १ ॥ उसने अपने (रश्मिभिः नभः आभृतं) किरणोंसे आकाशको भरपूर कर दिया। वह (महेन्द्रः आवृतः एति) बडा इन्द्र तेजसे आवृत होकर चलता है ॥ २ ॥ (सः धाता०) वह धाता विधाता और वही (वायुः) वायु है जिसने (नभः उच्छ्रितं) आकाश ऊंचा बनाया है ॥ ३ ॥

वह अर्यमा, वरुण, रुद्र और महादेव है ॥ ४ ॥ वह अग्नि, सूर्य और महायम भी वही है ॥ ५ ॥ [तं एकशीर्षाणः दश वत्साः युताः उपतिष्ठन्ति) उसके साथ एक मस्तकवाले दस बछडे संयुक्त होकर रहते हैं ॥ ६ ॥

(पश्चात् प्राञ्च आ तन्वन्ति) पीछेसे पूर्व दिशामें तेज फैलाता है (यत् उदेति विभासति) जो उदय होता और प्रकाशता है ॥ ७ ॥

(तस्य स एष मारुतः गणः शिक्याकृतः एति) उसके साथ यह वायु गण छिक्केमें धरेके समान चलता है ॥ ८ ॥ उसने किरणोंसे आकाश व्याप दिया है, यह महा इन्द्र तेजसे आवृत होकर चलता है ॥ ९ ॥ [तस्य इमे नव कोशा विष्टंभाः नवधा हिताः] इसके ये नौ कोश विविध रूपसे नौ प्रकार रखे हैं ॥ १० ॥

(सः प्रजाभ्यः विपश्यति यत् च प्राणिति यत् च न) वह प्रजाओंको देखता है, जो प्राणधारण करते हैं और जो नहीं करते ॥ ११ ॥ (तं इदं निगतं सहः) वह यह इकट्ठा हुआ सामर्थ्य है। (सः एषः एकः एकवृत् एकः एव) वह यह एक है, एकमात्र व्यापक देव केवल एक ही है ॥ १२ ॥

(एते देवाः अस्मिन् एकवृतः भवन्ति) ये सब देव इसमें एकरूप होते हैं ॥१३॥ [१५]

(५)

(२) कीर्तिश्च यशश्चाम्भश्च नभश्च ब्राह्मणवर्चसं चान्नं चान्नाद्यं च ॥ १४ ॥
य एतं देवमेकवृतं वेद ॥ १५ ॥
न द्वितीयो न तृतीयश्चतुर्थो नाप्युच्यते ।० ॥ १६ ॥
न पञ्चमो न षष्ठः सप्तमो नाप्युच्यते ।० ॥ १७ ॥
नाष्टमो न नवमो दशमो नाप्युच्यते ।० ॥ १८ ॥
स सर्वस्मै वि पश्यति यच्च प्राणति यच्च न । ॥ १९ ॥
तमिदं निगतं सहः स एष एक एकवृदेक एव ।० ॥ २० ॥
सर्वे अस्मिन् देवा एकवृतो भवन्ति ।० ॥ २१ ॥ (१६)

(६)

(३) ब्रह्म च तपश्च कीर्तिश्च यशश्चाम्भश्च नभश्च ब्राह्मणवर्चसं चान्नं चान्नाद्यं च ॥ २२ ॥
भूतं च भव्यं च श्रद्धा च रुचिश्च स्वर्गश्च स्वधा च ॥ २३ ॥
य एतं देवमेकवृतं वेद ॥ २४ ॥
स एव मृत्युः सोऽमृतं सोऽभ्वं १ स रक्षः ॥ २५ ॥
स रुद्रो वसुवनिर्वसुदेये नमोवाके वषट्कारोऽनु संहितः ॥ २६ ॥
तस्येमे सर्वे यातव उप प्रशिषमासते ॥ २७ ॥
तस्यामू सर्वा नक्षत्रा वशे चन्द्रमसा सह ॥२८॥(१७)

अर्थ—[२][यः एतं देवं एकवृतं वेद] जो इस देवको एकमात्र एक जानता है उसे कीर्ति, यश, [अम्भः] जल, (नभः) अवकाश और (ब्राह्मणवर्चसं) ब्राह्मतेज, अन्न और (अन्नाद्यं) खानपानके सब भोग प्राप्त होते हैं ॥ १४–१५ ॥ यह द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, पंचम, षष्ठ, सप्तम, अष्टम, नवम, दशम है (न अपि उच्यते) ऐसा नहीं कहा जाता है ॥१५–१८॥

[स सर्वस्मै विपश्यति यत् च प्राणिति यत् च न] वह सबको देखता है, जो जीवित है और जो नहीं ॥ १९ ॥ [तं इदं०] वह यह इकट्ठा हुआ सामर्थ्य है, वह एक है, एकमात्र व्यापक देव केवल एकही है। ये सब देव इसमें एक रूप होते हैं ॥ २०–२१ ॥

(३) (ब्रह्म) ज्ञान, तप, कीर्ति, यश, (अंभः नभः) जल, अवकाश, ब्राह्मतेज, अन्न और खानपानके पदार्थ, भूत, भविष्य, श्रद्धा, (रुचिः) तेज, कान्ति, स्वर्ग और स्वधा उसे प्राप्त होती है, जो (यः एतं देवं एकवृतं वेद) इस देवको एक मात्र व्यापक देव जानता है ॥ २२—२४ ॥ (१६)

वही मृत्यु है, वही अमृत है, वह (अभ्वं) महान् है और वही (रक्षः) रक्षक अथवा राक्षस है ॥ २५ ॥ वह रुद्र (वसुदेये वसुवनिः, नमो वाके अनुसंहितः वषट्कारः) धनदानके समय धन प्राप्त करनेवाला है और वही नमस्कार यज्ञमें उत्तम रीतिसे बोला गया वषट्कार है ॥ २६ ॥ [तस्य प्रशिषं इमे सर्वे यातवः उप आसते] उसकी आज्ञामें ये सब राक्षसादि रहते हैं ॥ २७ ॥ (तस्य वशे अमू सर्वा नक्षत्रा चन्द्रमसा सह) उसके वशमें ये सब नक्षत्र चन्द्रमाके साथ रहते हैं ॥ २८ ॥ (१७)

(७)

(४) स वा अह्नोऽजायत तस्मादहरजायत	॥ २९ ॥
स वै रात्र्या अजायत तस्माद् रात्रिरजायत	॥ ३० ॥
स वा अन्तरिक्षादजायत तस्मादन्तरिक्षमजायत	॥ ३१ ॥
स वै वायोरजायत तस्माद् वायुरजायत	॥ ३२ ॥
स वै दिवोऽजायत तस्माद् द्यौरध्यजायत	॥ ३३ ॥
स वै दिग्भ्योऽजायत तस्माद् दिशोऽजायन्त	॥ ३४ ॥
स वै भूमेरजायत तस्माद् भूमिरजायत	॥ ३५ ॥
स वा अग्नेरजायत तस्मादग्निरजायत	॥ ३६ ॥
स वा अद्भ्योऽजायत तस्मादापोऽजायन्त	॥ ३७ ॥
स वा ऋग्भ्योऽजायत तस्मादृचोऽजायन्त	॥ ३८ ॥
स वै यज्ञादजायत तस्माद् यज्ञोऽजायत	॥ ३९ ॥
स यज्ञस्तस्य यज्ञः स यज्ञस्य शिरस्कृतम्	॥ ४० ॥
स स्तनयति स वि द्योतते स उ अश्मानमस्यति	॥ ४१ ॥
पापाय वा भद्राय वा पुरुषायासुराय वा	॥ ४२ ॥
यद्वा कृणोष्योषधीर्यद्वा वर्षसि भद्रया यद्वा जन्यमवीवृधः	॥ ४३ ॥
तावांस्ते मघवन् महिमोपो ते तन्वः शतम्	॥ ४४ ॥
उपो ते बध्वे बद्धानि यदि वासि न्यर्बुदम्	॥ ४५ ॥ (१८)

अर्थ— (४) (सः वै अह्नः, रात्र्याः, अन्तरिक्षात, वायोः, दिवः, दिग्भ्यः, भूमेः, अग्नेः, अद्भ्यः ऋग्भ्यः, यज्ञात अजायत) वह निश्चयसे दिन रात्रि अन्तरिक्ष वायु द्यु दिशा भूमि अग्नि जल ऋचा यज्ञसे हुआ, वैसाही (तस्मात् अहः, रात्रिः, अन्तरिक्षं, वायुः, द्यौः, दिशः, भूमिः, अग्निः, अपः,ऋचः, यज्ञः (अजायत) उससे दिन रात्री अन्तरिक्ष वायु द्यु दिशा भूमि अग्नि जल ऋचा और यज्ञ हुआ ॥ २९-३९ ॥

(सः यज्ञः तस्य यज्ञः) वह यज्ञ है, उसीका यज्ञ है । (सः यज्ञस्य शिरस्कृत) वह यज्ञका सिर करनेवाला है ॥ ४० ॥ (सः स्तनयति, स विद्योतते) वह गर्जता है, वह चमकता है, (सः उ अश्मानं अस्यति) वह पत्थर (ओले) फेंकता है ॥ ४१ ॥ (पापाय वा भद्राय वा पुरुषाय वा असुराय वा) पापीके लिए, उत्तम पुरुषके लिये, असुर वृत्तिके पुरुषके लिये ॥ ४२ ॥ (यत् वा ओषधीः कृणोषि, यत् वा वर्षसि) जो ओषधियां निर्माण करता है, जो वर्षा करता है, (भद्रया यत् वा जन्यं अवीवृधः) उत्तम कल्याण बुद्धिसे जो तू जन्मे हुए को बढाता है ॥ ४३ ॥ हे (मघवन्) इन्द्र ! (तावान् ते महिमा) वह तेरा महिमा है, (उपः ते शतं तन्वः) ये सब तेरे सैकडों शरीर हैं ॥ ४४ ॥ [उपः ते बध्वे बद्धानि] ये सब तेरे करोडों तेरे साथ बंधे हैं, [यदि वा न्यर्बुदं असि] और तू अरबोंकी संख्यामें है ॥ ४५ ॥ [१८]

(८)

(५) भूयानिन्द्रो नमुराद् भूयानिन्द्रासि मृत्युभ्यः ॥ ४६ ॥
भूयानरात्याः शच्याः पतिस्त्वमिन्द्रासि विभूः प्रभूरिति त्वोपास्महे वयम् ॥ ४७ ॥
नमस्ते अस्तु पश्यत पश्य मा पश्यत ॥ ४८ ॥
अन्नाद्येन यशसा तेजसा ब्राह्मणवर्चसेन ॥ ४९ ॥
अम्भो अमो महः सह इति त्वोपास्महे वयम् ।०।० ॥ ५० ॥
अम्भो अरुणं रजतं रजः सह इति त्वोपास्महे वयम् ।०।० ॥ ५१ ० (१९)

(९)

(६) उरुः पृथुः सुभूर्भुव इति त्वोपास्महे वयम् ।०।० ॥ ५२ ॥
प्रथो वरो व्यचो लोक इति त्वोपास्महे वयम् ।०।० ॥ ५३ ॥
भवद्वसुरिदद्वसुः संयद्वसुरायद्वसुरिति त्वोपास्महे वयम् ॥ ५४ ॥
नमस्ते अस्तु पश्यत पश्य मा पश्यत ॥ ५५ ॥
अन्नाद्येन यशसा तेजसा ब्राह्मणवर्चसेन ॥ ५६ ॥(२०)

॥ इति चतुर्थोऽनुवाकः ॥

॥ त्रयोदशं काण्डं समाप्तम् ॥

अर्थ- [५] [नमुरात् इन्द्रः भूयान्] अमरसे भी इन्द्र बडा है, [इन्द्र, मृत्युभ्यः भूयान् असि] हे इन्द्र, तू मृत्युओंसे भी बडा है ॥ ४६ ॥ [इन्द्रं अराव्याः भूयान्] हे प्रभो ! शत्रुओंसे भी तू बडा है, [त्वं शच्याः पतिः असि] तू शक्तिका स्वामी है । [विभूः प्रभूः इति त्वा वयं उपास्महे] तू व्यापक और स्वामी है, ऐसी हम तेरी उपासना करते हैं ॥ ४७ ॥

[पश्यत नमस्ते अस्तु] हे दर्शनीय, तेरे लिये नमस्कार है । [पश्यत, मा पश्य] हे शोभन ! तू मुझे देख ॥४८॥ [अन्नाद्येन यशसा तेजसा ब्राह्मणवर्चसेन] खानपान, यश, तेज और ब्राह्मवर्चसके साथ मुझे युक्त कर ॥ ४९ ॥ [अम्भः अमः महः सहः इति वयं त्वा उपास्महे] जल, पौरुष, महत्ता, और बल स्वरूप तेरी हम उपासना करते हैं ॥ ५० ॥ [अम्भः अरुणं रजः रजतं सहः इति त्वा वयं उपास्महे] जल, लाल बल और श्वेत सामर्थ्यरूप तेरी हम उपासना करते हैं ॥ ५१ ॥ [१९]

[६] [उरुः पृथुः सुभूः भुवः इति त्वा वयं उपास्महे] महान् विस्तृत उत्तम होनेवाला, ज्ञानयुक्त ऐसी तेरी हम उपासना करते हैं ॥ ० ॥ ५२ ॥

[प्रथः वरः व्यचः लोकः इति त्वा वयं उपास्महे] विस्तृत श्रेष्ठ, व्यापक और स्थानदाता ऐसी तेरी हम उपासना करते हैं ॥ ० ॥ ५३ ॥ [भवद्वसुः, इदद्वसुः आयद्वसुः इति त्वा वयं उपास्महे] धनयुक्त, इस धनसे युक्त, सब धनोंको इकट्ठा करनेवाला सब धनोंको पास करनेवाला, मानकर तेरी हम उपासना कर रहे हैं ॥ ५४ ॥ [पश्यत ते नमः अस्तु] हे दर्शनीय ! तेरे लिये नमस्कार हो [मा पश्य] मुझे देख ॥ ५५ ॥ [अन्नाद्येन०] खानपान, यश, तेज और ब्रह्मवर्चससे मुझे युक्त कर ॥ ५६ ॥ [२०]

भावार्थ-यही देव धाता विधाता, अग्नि वायु रुद्र महादेव आदि है। सब अन्य देवता इसके अंदर हैं। यह एक है, निःसन्देह केवल एक है। जो इसको एक जानता है वही तेजस्वी, वर्चस्वी और खानपानादि भोगसे युक्त होता है। उसीसे सब पदार्थ हुए हैं और सब पदार्थोंमें वही विद्यमान है। यज्ञ भी उसीसे हुआ और यज्ञमें वही रहता है। वह बुरे और भलेके पालनके लिए सब वनस्पतियां बनाता है। यही सब इसकी ही महिमा है, इसके सैकडों हजारों करोडों अरबों शरीर हैं। वह अमरोंसे और मृत्युसे भी महान् है। सब शक्तियां उसीकी हैं, अतः शक्तियोंकी उपस्थिति उसमें है, ऐसी उपासना उसी देवकी सबको करना उचित है ॥ १-५६ ॥

तेरहवां काण्ड समाप्त।

अथर्ववेदके तेरहवें काण्डका मनन।

रोहित देवता।

अथर्ववेदके तेरहवें काण्डका देवता 'रोहित' है, इस रोहित का स्वरूप क्या है, इसका सबसे प्रथम मनन करना अत्यंत आवश्यक है। इस देवताके विषयके अथर्ववेदकी सर्वानुक्रमणी में ये निर्देश हैं—

उदेहि वाजिन्निति काण्डं ब्रह्माध्यात्मं रोहितादित्यदैवत्यं त्रैष्टुभम् ॥ अथर्व० बृ० स० १३।१

"इस तेरहवें काण्डका देवता 'ब्रह्म अध्यात्म, रोहित आदित्य' है।" यहां आदित्य शब्द है कि जो देवताका निश्चय करनेमें सहायक हो सकता है। आदित्यका अर्थ सूर्य है। इस संपूर्ण काण्डका विचार करनेसे पता लगता है कि यहां सूर्य ही देवता प्रामुख्यसे वर्णित हुई है। इस विषयके सूचक मंत्रभाग ये हैं—

रोहित सूर्य।

अनुव्रता रोहिणी रोहितस्य। १।२२

इदं सदो रोहिणी रोहितस्य। १।२३

"रोहिणी नक्षत्र यह रोहितका घर है और यह रोहिणी रोहित को अनुसरती है।" यहां आकाशस्थ रोहितका वर्णन है, अतः यह सूर्यपरक है। द्वितीय सूक्तके २४ मंत्र साक्षात् सूर्यपरक हैं और २५ वें मंत्रमें 'यह तपस्वी रोहित द्युलोकपर चढता है' ऐसा कहा है, अतः यहां रोहित शब्द पूर्वानुवृत्त सूर्यके लिये ही है।

रोहितः कालो अभवत्। २।३९

यहां 'रोहित काल अर्थात् समय है' ऐसा कहा है। सूर्यसे काल होता है यह प्रत्यक्ष अनुभव है, क्योंकि दिनरात उसीसे होते हैं और अन्यत्र सूर्यका 'नाम' काल आया है। आगे-

रोहितो यज्ञानां मुखम्। २।३९

'रोहित यज्ञोंका मुख है।' ऐसा कहा है, वह सूर्य ही है, क्योंकि सूर्योदय होनेसे यज्ञका प्रारंभ होता है। आगे—

रोहितोऽत्यतपद्दिवम्। २।४०

"रोहित द्युलोकपर तपता है।" यह वर्णन सूर्यका स्पष्ट ही है। और इसमें तपनेका उल्लेख सूर्यका ही है, क्योंकि सूर्यके अतिरिक्त तपनेवाला दूसरा कोई तेजस्वी पदार्थ इस जगत् में नहीं है। आगे तृतीय सूक्तके अन्तिम मंत्रमें-

कृष्णायाः पुत्रो अर्जुनो रात्र्या वत्सोऽजायत।

स ह द्यामधि रोहति रुहो रुरोह रोहितः ॥ (३।२६)

" कृष्ण वर्णवाली रात्रिका पुत्र श्वेत रंगवाला हुआ। वह रोहित बढता हुआ द्युलोकपर चढा।" इस वर्णन में तो स्पष्टही रोहित नाम सूर्यके लिये आया है। रात्रीका पुत्र सूर्य निःसन्देह है क्योंकि रात्रिके उदरमें वह जन्मता है, ऐसा आलंकारिक वर्णन अन्यत्र वेदमें भी है।

इस तरह इस सूक्तमें रोहित शब्दसे सूर्यका वर्णन मुख्यतया है, ऐसा स्पष्ट दिखाई देता है। तथापि अग्निका भी निर्देश इस रोहित सूक्तमें है-

रोहित-अग्नि।

रोहितो यज्ञस्य जनिता। (१।१३)

' रोहित यज्ञका उत्पादक है।' अग्नि ही यज्ञका उत्पादक है यह बात सिद्ध करनेके लिए अन्य प्रमाण देनेकी आवश्यकता नहीं है। यद्यपि सूर्योदयके पश्चात् यज्ञ होते हैं, इसलिए सूर्य भी यज्ञका उत्पादक माना जा सकता है और वैसा वह है भी; परंतु साक्षात् अग्निमें आहुतियां होमी जाती हैं, इस कारण अग्नि भी यज्ञका उत्पादक है। यही बात अन्य शब्दोंसे कही है

रोहितो यज्ञं व्यदधात्। (१।१४)

' रोहित यज्ञको बनाता है ' यह अग्नि है इसलिए यज्ञको बना सकता है। अस्तु। इस तरह रोहित नाम अग्निका भी है। अर्थात् ' रोहित ' शब्द द्वारा जैसी अग्निकी वैसी सूर्यकी भी कल्पना इन सूक्तोंमें स्पष्ट है। कोई इसका इन्कार कर नहीं सकता। इन सूक्तों के मंत्र देखनेसे कई मंत्र स्पष्ट सूर्यपरक हैं ऐसा दीखता है, कई अग्निपरक हैं यह बात भी स्पष्ट है, कई दोनोंके वर्णनपरक हो सकते हैं। यह क्या बात है ? सूक्त पढते पढते बीच बीचमें अग्निके और सूर्यके मंत्र मिलजुलकर आते हैं यह बात पढनेवालेके ध्यानमें आ सकती है। ऐसा क्यों है, इसका विचार करना आवश्यक है।

वेदमें आग्नेय पदार्थोंका मुख्य केन्द्र सूर्य माना है। अपनी पृथ्वीपर जो अग्नि है वह सूर्यका पोता है। विद्युत सूर्यका पुत्र है और विद्युतका पुत्र अग्नि है,अतः आलंकारिक भाषामें सूर्यका पोता अग्नि हुआ। अग्नि कैसा उत्पन्न होता है,यह प्रश्न यहां हो सकता है। इसके उत्तरमें निवेदन है कि सूर्यकी उष्णतासे मेघमंडलमें विद्युत बनती है, यह विद्युत सूखे घास आदिपर गिरकर अथवा वृक्षपर गिरकर अग्नि उत्पन्न होता है। अतः यह अग्नि वास्तविक सूर्यका ही अंश है। वस्तुतः विचार किया जाय तो यह बात स्पष्ट विदित होगी, कि इस पृथ्विपर अथवा इस सूर्यमालिका में जो भी कुछ अग्नितत्त्व अथवा उष्ण पदार्थ किंवा उष्णता उत्पन्न करनेवाला पदार्थ है, वह सब सूर्यके संबंधके कारण ही उष्णता देनेमें समर्थ है। अग्नि सूर्यसे उत्पन्न हुआ यह बात इससे पूर्व दर्शायी ही है। अब पाठक लकडीका विचार करें। लकडी जलानेसे उष्णता उत्पन्न होती है, यह उष्णता कहांसे आगयी ? जो उष्णता वृक्ष सूर्यकिरणोंसे प्राप्त करके अपनेमें संग्रहित करते हैं, वही लकडीमें होती है और जलनेसे वही प्रकट होती है वस्तुतः यह सूर्यसे आयी उष्णता ही है। इसी तरह लकडीका कोयला या भूमिके अंदर मिलनेवाला कोयला, मिट्टीका तेल आदि जो जो पदार्थ उष्णता उत्पन्न करनेवाले करके प्रसिद्ध हैं, उनकी सबकी सब उष्णता सूर्यसे प्राप्त होती है। कोई सूर्यसे भिन्न अन्य पदार्थ नहीं है जो उष्णता दे सके। अतः सब आग्नेय पदार्थ सूर्यके ही विभिन्न रूप हैं।

तीन अग्नि।

पृथ्वीपर अग्नि, अन्तरिक्षमें विद्युत्, द्युलोकमें सूर्य ये तीन अग्नि हैं। वेदमें तीन अग्निका वर्णन अनेक वार आया है वे तीन अग्नि ये हैं। परंतु ये तीन अग्नि भिन्न भिन्न नहीं हैं। ये सब एक ही अग्निके रूप हैं और वह एक अग्नि सूर्य ही है। क्योंकि सूर्यके ही रूपान्तर होकर ये अग्नि बने हैं। अतः कहा है-

स एति सविता०। सो अग्निः। स इन्द्रः। [४।१—५]

" वह सूर्य ही अग्नि और इन्द्र अर्थात् विद्युत् है।" क्योंकि सूर्य ही रूपान्तरित होकर अग्नि और विद्युत् बना है। इस प्रकार तीन पृथक् अग्नि अनुभवमें आते हैं तथापि वे विभिन्न नहीं हैं, एकही सूर्य तीन रूपोंमें दिखाई देता है।

जब गुरुकुलमें आठ वर्षका बालक प्रविष्ट होता है, तब उसको संध्याके पश्चात् अग्निमें हवन करनेका उपदेश होता है। उस समय वह समझता है कि अपना उपास्य देव अग्नि है। वह श्रद्धाभक्ति से अग्निकी उपासना करता है और मनमें सोचता है कि क्या यह अग्निदेव स्वतंत्र है ? विचार करते करते उसके हृदयमें वृष्टिकालमें आकाशमंडलमें चमकनेवाली विद्युत् आती है, किसी समय वह विद्युत् किसी वृक्षपर गिरती है, उस समय वह वृक्ष जलता है। इस कालमें गुरु उस शिष्य को समझाता है कि अपना अग्नि विद्युत् से इसी प्रकार इस पृथ्वीपर उत्पन्न हुआ। पश्चात् वह विद्युत् को महादेव मानता है, परंतु पीछे अधिक विचार करनेपर उसे पता लगता है कि यह विद्युत् भी सूर्यसे ही उत्पन्न हुई है। अतः वह उस समय सूर्यको ही महादेव जानता है। उस समय वह कहता है—

स एति सविता स्वर्दिवस्पृष्ठे० ।
स धाता स विधर्ता स वायुः०।
स वरुणः स रुद्रः स महादेवः ।
सो अग्निः स उ सूर्यः स उ महायमः। (४।१—५)

'वही सविता धाता विधाता वायु वरुण रुद्र महादेव अग्नि सूर्य और महायम है।' इस तरह इस सूर्यमालिकाका कर्ता धर्ता अधिष्ठाता यही सूर्य है, इसका एक मात्र आधार यह सूर्य है, यह ज्ञान उस शिष्यको होता है। इस समय वह अपनी सूर्योपासना गायत्रीमंत्रसे ही करता है—

तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि ।
धियो यो नः प्रचोदयात् ॥

इस गुरुमंत्रका अर्थ इस समय वह ऐसा करता है कि 'हम उस सूर्यके बुद्धिको उत्साह देनेवाले तेजका ध्यान करते हैं।' ऐसा ध्यान करता हुआ वह सूर्यको अपने ब्रह्मवर्चसका आदर्श मानता है, अपनी तपस्याका वह नमूना मानता है, अपने ब्रह्मचर्यका प्रतिरूप सूर्यमें वह देखता है। आदित्य ब्रह्मचारी होनेकी उत्कट इच्छा वह धारण करता है। वह विचार करता है कि यदि सभी सूर्यमालिका इस सूर्यसे ही बने है,तो इस पृथ्वीपरके सभी जीवजन्तु और उनमेंसे मैं स्वयं भी सब मिलकर इसी सूर्यके अंश हैं। सूर्यसे भिन्न कोई पदार्थ नहीं, अतः वेद कहता है कि—

योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम् ॥ वा० य० ४०।१६

"जो सूर्यके अंदर पुरुष है, वह मैं हूं।" सूर्यके साथ मेरा इतना घनिष्ठ संबंध है। सूर्य मेरा पिता है और मैं उसका अमृतपुत्र हूं। जो इस आदित्यमें सत्व है, वही मुझमें है। मेरी परम गति आदित्य है और मेरा प्रारंभभी आदित्यमेंही हुआ है। इसी आदित्यसे जन्मा हूं, मैं इसी आदित्यकी शक्तिसे जीवित हूं और अन्तमें मैं आदित्यमेंही मिल जाऊंगा।

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति ।
यं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति, तद्विजिज्ञासस्व, तद्ब्रह्मेति ॥ तै. उ. ३।१

'जिससे ये सब भूत उत्पन्न होते हैं, होनेपर जिससे जीवित रहते हैं, फिर जाकर अन्तमें जिसमें मिलते हैं, वह ब्रह्म है। यह ब्रह्मका लक्षण वह शिष्य इस समय सूर्यमें सार्थ हुआ अनुभव करता है, क्योंकि सब भूतमात्र सूर्यसे उत्पन्न हुए, सूर्यसे पाले जाते हैं और अन्तमें सूर्यमेंही मिल जाते हैं। यह अनुभव स्पष्टतया दर्शाता है कि सूर्यही हमारे लिए साक्षात् ब्रह्म है। इस तरह विचार करता हुआ वह ब्रह्मचारी सूर्यकोही अपना उपास्य मानता है, इस समय उसके सन्मुख ये वाक्य आते हैं—

एतद्वै ब्रह्म दीप्यते यदादित्यो दृश्यते। कौ० उ० २। १२
आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः ॥ छां० उ० ३।१९।१
आदित्यं ब्रह्मेत्युपास्ते। छां० उ. ३।१९।१
स य एतमेवं विद्वानादित्यं ब्रह्मेत्युपास्ते ॥ छां. उ. ३।१९।४

यश्चायं पुरुषे यश्चासावादित्ये स एकः ॥ तै. उ. २।८।१;३।१०।४
यश्चायं हृदये यश्चासावादित्ये स एकः । मै. उ. ६।१७, ७।७
आदित्यो ब्रह्म ॥ मै. उ. ६।१६
ब्रह्म तमसः परमपश्यदमुष्मिन्नादित्ये... विभाति ॥ मै. उ. ६।२४
य एष आदित्ये पुरुषः स परमेष्ठी आत्मा ॥ महानि. उ. २३।१
आदित्ये पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपासे । बृ. उ. २।१।२, ३।१३
आदित्यात्मा ब्रह्म । मै. उ. ६।१६
आदित्यवर्णमूर्जस्वन्तं ब्रह्म । मै. उ ६।२४

" जो यह सूर्य दीखता है, वही ब्रह्म प्रकाशता है। आदित्य ब्रह्म है यह आदेश है। आदित्य ब्रह्म है ऐसी उपासना करता है। जो मनुष्यमें है और जो आदित्यमें है वह एकही है। जो हृदयमें है और जो आदित्यमें है वह एकही है। यह आदित्यही ब्रह्म है। अंधकारके परे रहनेवाला यह आदित्य है उसमें ब्रह्म प्रकाशता है। इस आदित्यमें जो पुरुष है, वही परमेष्ठी आत्मा है। इस आदित्यमें जो पुरुष है, वह ब्रह्म है ऐसी मैं उपासना करता हूं। आदित्यका आत्मा ब्रह्म है। ब्रह्म तेजस्वी है और सूर्यके रंगका है। "

इस प्रकार अनेक वाक्य हैं जो सूर्यको ब्रह्म बताते हैं। ये वाक्य इस समय इस ब्रह्मचारीके सन्मुख आते हैं और वह आदित्य को ब्रह्म मानकर उसकी उपासना करता है। जो ब्रह्मचारी अग्निकी उपासना करता था, वही उस अग्निके जनक विद्युत की उपासना करने लगा था, वही अब सूर्य को अपना आदर्श उपास्य मानता है। सूर्यको कर्ता धर्ता मानता है, वही सब तेजस्विताका केन्द्र है, वही सबका धारक और आकर्षक है, सबको आधीन रखनेवाला वही एक देव है। जो सब सूर्यमालाके ग्रहों और उपग्रहोंको धारण करता है, वह उस सूर्यमालाके अन्तर्गत पदार्थमात्रको धारण करता है, उसके देव होनेमें क्या संदेह हो सकता है? अत एव अथर्वश्रुति में कहा है कि—

स धाता स विधर्ता। अथर्व० १३। ४।४

" वही सविता धारण करनेवाला और विशेष रीतिसे आधार देनेवाला है। " पूर्वोक्त उपनिषद्वचनों में ' इस आदित्यमें ब्रह्म है ' ऐसे वचन आगये हैं। इससे आदित्यका देह और उसमें विराजमान ब्रह्म है, यह कल्पना व्यक्त होती है। मानो यहां सूर्यका दृश्यमान आकार ब्रह्मका देह है और उसमें व्यापनेवाला ब्रह्म है। जैसा मनुष्य में देह और आत्मा है, वैसाही सूर्यमें देह और परमात्मा है। अतः ' सूर्यमें जो पुरुष है, वह मैं हूँ ' इस कथन का तात्पर्य सूर्य में जो ब्रह्म और गोलक है, उनका अंश मेरा आत्मा और देह ये हैं, ऐसा स्पष्ट है। जो कुछ इस पृथ्वीपर बना है वह सूर्यके अंशका बना है, यह एकवार मान लिया जाय, तो सभी चराचर पार्थिव और अपार्थिव वस्तु जो भी इस भूमिपर है वह सूर्यसे बनी है, यह सिद्ध होता है।

पूर्वोक्त प्रकार वह ब्रह्मचारी अपने मनमें इन वाक्यों की संगति लगाता है। वह विचार करता है कि–

स एष एक एकवृदेक एव।
सर्वे अस्मिन्देवा एकवृतो भवन्ति ॥ अथर्व १३।५

" वह एक है, एकमात्र एक है, सब देव इसमें एकरूप होते हैं। " जो अग्नि विद्युत आदि विभिन्न देव हैं, वे सब इस सूर्यदेवमें एकरूप हो जाते हैं। पूर्व स्थानमें बताया है कि अग्नि विद्युत्में मिला रहता है और उसी नातेसे विद्युत भी सूर्यमें एक होकर रहती है। अर्थात् सूर्यमें विद्युत और अग्नि एकरूप होकर रहते हैं, इसी तरह यह पृथ्वी भी एक समय सूर्यरूपही थी। यदि यह पृथ्वी सूर्यका एक भाग थी, तो उस पृथ्वीपरके सभी पदार्थ सूर्यरूप में थे इसमें संदेह हो नहीं सकता।

इस रीतिसे संगति लगा लगाकर, मनन कर करके वह ब्रह्मचारी सोचता है और विचार करता है, अनुभव लेता है, अपने मनकी दौड लगाता है, कल्पना करता है और अपने मत निश्चित और निर्भ्रांत करनेका यत्न करता है, निरंतर ध्यान करता है कि–

० प्रभूरिति त्वोपास्महे वयम् ।
० मह इति त्वोपास्महे वयम् ।
० सुभूर्भुव इति त्वोपास्महे वयम् ।
० लोक इति त्वोपास्महे वयम् ॥ अ० १३।८, ९ मंत्र ४७-५३

" तू प्रभु है, तू महान् है, तू उत्तम सत्ता और ज्ञानसे युक्त है और तूही सबको स्थान देता है ऐसी हम सब मिलकर तेरी उपासना करते हैं। " (वयं त्वा उपास्महे) हम सब तेरी उपासना करते हैं, इस प्रयोगमें सब मिलकर उपासना है, संघद्वारा होनेवाली यह उपासना है, केवल व्यक्तिद्वारा होनेवाली यह उपासना नहीं है। यह संघ ब्रह्मचारी गणोंका गुरुकुलनिवासी हो, अथवा ग्राम या नगरवालोंका हो। इससे कोई विचारमें भिन्नता नहीं हो सकती। सूर्य ही सब सूर्यमालाके अन्तर्गत वस्तु मात्रका प्रभु और कर्ताधर्ता है, वही सबसे महान् है, वही सबको ज्ञान देनेवाला है और वही सबका उत्तम रीतिसे निवास करनेवाला है, यह निश्चित है। ये और मंत्र ४१से ५१ तक के ११ मंत्र इन मंत्रोंमें जो अनेकानेक गुण वर्णन किये हैं, वे उपासना के समय सूर्यमें कैसे घटते हैं, इसीका विचार उपासक करते हैं। और अपने उपास्य की शक्ति अपने में धारण करनेका यत्न करते हैं। ' जैसा मेरा उपास्य देव है, वैसा मैं तेजस्वी और कर्ताधर्ता बनूंगा, यही आकांक्षा उपासकोंकी सदा रहती है और सतत किए ध्यानसे सफल भी होती है।

स स्तनयति स वि द्योतते स उ अश्मानमस्यति ।
पापाय वा भद्राय वा पुरुषायासुराय वा ॥ १३।७।४१--४२

' वह हमारा उपास्य देव पुण्यात्मा मनुष्य और पापी राक्षसके लिए समानतया गर्जता, चमकता और ओले बर्साता और वृष्टि करता है। ' वह किसीका पक्षपात नहीं करता, उसका प्रकाश सबके लिए समान रीतिसे आता है, वह पुण्यात्माके लिये प्रकाशता है और पापीके लिए नहीं, ऐसी बात नहीं। वह सबको ही अपने प्रकाशसे मार्ग दर्शाता है। यहां यह मंत्रभाग देखकर उपासक भी कहने लगता है ' कि मैं भी सब मनुष्यमात्रकी ओर अथवा प्राणीमात्रकी ओर समान भावसे अपनी दृष्टि रखूंगा, किसीका पक्षपात नहीं करूंगा। ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र निषाद अन्त्यज चांडाल आदि सबकी सहायता समभावसे करूंगा। मेरा उपास्य सूर्य देव है, वह अपना प्रकाश सबको देता है, वही मेरा कर्तव्य बताता है, अतः मैं भी वैसाही करूंगा। समभाव रखनाही मेरा कर्तव्य है। ' सामाजिक आचरणमें विषमता नहीं रखनी चाहिए। यह उपासना सामाजिक उपासना है, सब आवें और संमिलित होकर उपासना करें। जिनपर उस उपास्य सूर्यदेवका प्रकाश पड सकता है, वे सब इस उपासनामें संमिलित हो सकते हैं।

सब लोगोंको तथा सब जगत्को अंधेरेसे हटाकर प्रकाशमें लानेके लिए रात्रि और दिनके युगमें इस सूर्यदेवका अवतार होता है। प्रत्येक युगमें इस तरह इस देवका अवतार हो रहा है। और यह यहां आकर हमें प्रकाशका मार्ग बताकर हमारा उद्धार करता है। यदि यह देव इस तरह युगयुगमें न आवे तो सब जगत् अंधेरेमें रहेगा और जीवमात्रकी स्थितिही नहीं होगी। हम सबका जीवन उसीके प्रकाशके साथ संबंधित है। अहा ! हमारे जीवनका आधार यह देव है। इसीकी जीवनशक्तिसे सबका जीवन हो रहा है, इस तरह इस जगत्का अणरेणु उसके साथ संबंधित है। इस समय उपासकके सामने ये मंत्र आते हैं-

० तस्मादहरजायत,.......रात्रिरजायत,.......अन्तरिक्षमजायत.......वायुरजायत.........द्यौरजायत.......दिशोऽजायन्त.........भूमिरजायत......
अग्निरजायत.........आपोऽजायन्त.........ऋचोऽजायन्त.........यज्ञोऽजायत.........

अ. १३।७।२९-३९

" इसी सूर्य देवसे दिवस, रात्रि, अन्तरिक्ष, वायु, द्यौ, दिशा, भूमि, अग्नि, जल, मंत्र और यज्ञ होगये हैं। " यदि वह न होता तो इनमेंसे कुच्छ भी न बनता, इनका कर्ताधर्ता यही हमारा उपास्य देव है।

तावांस्ते मघवन् महिमोपो ते तन्व: शतम् ।

................यदि वासि न्यर्बुदम् ॥ अ० १३।७४४-४५

" हे ऐश्वर्यवान् प्रभो ! यह अद्भुत तेरा महिमा है, ये सब सैंकडों (हजारों लाखों करोडों या) अरबोंकी संख्यामें जो अनंत शरीर हैं, वे सब तेरे ही हैं । " तात्पर्य तूही इस विश्वरूपमें अपने आपको ढालता है, क्योंकि भूमिभी तेरेसे ही बनी और भूमिसे सब पदार्थ बने हैं । अत: तुझसे भिन्न कोई पदार्थ नहीं है । यह देव एकमात्र अकेला एक है-

न द्वितीयो न तृतीयश्चतुर्थो नाप्युच्यते ।

न पञ्चमो न षष्ठः सप्तमो नाप्युच्यते ।

नाष्टमो न नवमो दशमो नाप्युच्यते ॥ अ० १३।५।१६—१८

' वह एक है, दूसरा तीसरा चौथा पांचवां छठां सातवां आठवां नववां दसवां वह नहीं है । ' क्योंकि वह एकमात्र अकेला एक है । सूर्यमालामें सूर्यका यही स्थान है, यही महत्त्व है और यही वैभव तथा ऐश्वर्य है । तथा—

स एव मृत्युः सोऽमृतं सोऽभ्वं स रक्षः ।

स रुद्रः वसुवनिर्वसुदेये नमोवाके०॥

तस्येमे सर्वे यातव उप प्रशिषमासते ।

तस्यामू सर्वा नक्षत्रा वशे चन्द्रमसा सह ॥ अ० १३।६।२५—२८

" वही मृत्यु है, वही अमृत है, वही बडा देव है और वही रक्षक अथवा राक्षस है । वही रुद्र है । सब ये चलनेवाले ग्रहनक्षत्रादिक, तथा सब नक्षत्र और चन्द्रमा भी उसीकी आज्ञामें रहते हैं । " क्योंकि सूर्यकी आकर्षणमें ये सब ग्रह हैं, जो सूर्यमालामें विद्यमान हैं। सूर्यके आकर्षणका प्रभाव इन सबपर हो रहा है । ऐसा यह महान् सूर्यदेव सबको अमरपन देनेवाला है और सबको मृत्यु देनेवाला भी वही है । वही रुद्र है वही राक्षस है और संरक्षक भी है । अर्थात् वही सब कुछ है ।

सूर्यके न होनेसे अथवा सूर्यके अतितापसे मृत्यु होता है, तथा सूर्यका प्रकाश जीवन देता है, इसलिए वही अमरत्व देनेवाला है । इसलिए इसी एक देवको ये सब नाम लगते हैं। इस समयतक इसके नाम अमृत, मृत्यु, रक्षः, रुद्र ये आगये हैं, इन नामोंके अतिरिक्त इस सूक्तमें आये नाम अब देखिये—

स एति सविता...महेन्द्रः स धाता...विधर्ता...

स वायुः...सोऽर्यमा स वरुणः स रुद्रः स महादेवः ।

सोऽग्निः...स उ सूर्यः स उ एव महायमः । अ. १३।४।१-५

" वह सविता, महेन्द्र, धाता, विधर्ता, वायु, अर्यमा, वरुण, रुद्र, महादेव, अग्नि, सूर्य, महायम है । " इस सूर्यके ये नाम हैं तथा—

इन्द्रः... शच्याः पतिः—विभूः...प्रभूः । अ. १३।८।४६-४७

" इन्द्र, शचीपति, विभु, प्रभु भी वही है । " ये सर्व नाम उसी देवके वाचक हैं । अर्थात् ये सब नाम उसीके गुणवर्णन कर रहे हैं । यदि यह सत्य है तो इन देवताओंके जो मंत्र हैं वे सब मंत्र इसी सूर्यदेवताका वर्णन करते हैं ऐसा मानना चाहिये। तभी तो ये इसके नाम सार्थ, अन्वर्थक और योग्य हो सकते हैं । इतनी कल्पना उपासक के मनमें आते ही वह इन सब मंत्रोंमें इसका वर्णन देखता है और अपने उपास्य देवका माहात्म्य जानता है और उसको मनमें धारण करता है ।

स एति सविता स्वर्दिवस्पृष्ठेऽवचाकशत् ।

रश्मिभिर्नभ आभृतं महेन्द्र एत्यावृतः ॥

स प्रजाभ्यो वि पश्यति यच्च प्राणिति यच्च न ।

अ० १३।४।१,२,११

' वह द्युलोक के पीठपर प्रकाशता है उसके किरणोंसे आकाश भर गया है, वह सब प्रजाओंको विशेष रीतिसे देखता है।' यह सब वर्णन उपासक को प्रत्यक्ष है। सूर्य आकाशमें प्रकाशता है, उसके किरणोंसे आकाश भर गया है, वह सबको देखता है, यह सब सूर्यके विषय में प्रतिदिन मनुष्यको प्रत्यक्ष हो रहा है। इस तरह अपने उपास्य देवकी महिमा उपासक जानता है और उसके विषयमें अपने मनका आदर बढ़ाता है।

इस काण्डके पहिले तीन सूक्त मुख्यतः सूर्यके वाचकही हैं। इनमें प्रमुखतः जो मंत्र सूर्यका वर्णन करते हैं और जो विशेषकर ब्रह्मचारीके सन्मुख सूर्यका ध्यान करते समय आते हैं, उनका अब मनन करते हैं।

उदेहि वाजिन्। १३।१।१

" हे बलवान् सूर्यदेव ! उदयको प्राप्त हो। " यह प्रार्थना सूर्य को लक्ष्य करके ही है। इसके साथ देखने योग्य मंत्र ये हैं-

सूर्यस्याश्वा हरयः केतुमन्तः सदा वहन्त्यमृताः सुखं रथम्।	
घृतपावा रोहितो भ्राजमानो दिवं देवः पृषतीमा विवेश	॥२४॥
उद्यंस्त्वं देव सूर्य सपत्नानव मे जहि	॥३२॥
ये देवा राष्ट्रभृतोऽभितो यान्ति सूर्यं	॥३५॥
इतः पश्यन्ति रोचनं दिवि सूर्यं विपश्चितम्	॥३९॥
सूर्यो द्यां सूर्यः पृथिवीं सूर्य आपोऽति पश्यति।	
सूर्यो भूतस्यैकं चक्षुरा रुरोह दिवं महीम्	॥४५॥
यो अद्य देव सूर्य त्वां च मां चान्तरायति	॥५८॥
	अ० १३।१

" सूर्यके घोडे सदा प्रकाशयुक्त हैं, इसके रथको सुखपूर्वक चलाते हैं। सर्वत्र पवित्रता करनेवाला सूर्यदेव विविध रंगवाली प्रभाके साथ द्युलोकमें प्रविष्ट होता है। हे सूर्यदेव ! तू उदयको प्राप्त होता हुआ मेरे शत्रुओंका नाश कर॥ प्रकाशके पोषक देव सूर्यके चारों ओर भ्रमण करते हैं॥ द्युलोकमें प्रकाशित होनेवाले सूर्यको सब देखते हैं॥ सूर्य द्युलोक भूमिलोक आदि सबको देखता है। सूर्यही सब जगत् का एकमात्र आंख है। वह द्युलोकपर आरूढ होकर विराजता है॥ हे सूर्य ! जो पुरुष तेरे और मेरे बीचमें विरोध करता है वह पापी है। " इत्यादि मंत्र सूर्यका वर्णन स्पष्ट रूपसे करते हैं, और उपास्य देवका महत्त्व उपासकके अन्तःकरणमें स्थिर करते हैं। इस प्रथम सूक्तके अन्य मंत्र भी इन मुख्य मंत्रोंके अनुसंधानसे विचारने चाहिए। अब द्वितीय सूक्तके मंत्रोंमें सूर्यका वर्णन कैसा गंभीर रीतिसे किया है, सो देखिए—

उदस्य केतवो दिवि शुक्रा भ्राजन्त ईरते।	
आदित्यस्य नृचक्षसो महिव्रतस्य मीढुषः	॥१॥
स्तवाम सूर्यं भुवनस्य गोपां यो रश्मिभिर्दिश आभाति सर्वाः	॥२॥
विपश्चितं तरणिं भ्राजमानं वहन्ति यं हरितः सप्त बह्वीः	॥४॥
दिवं च सूर्य पृथिवीं च देवीमहोरात्रे विमिमानो यदेषि	॥५॥
स्वस्ति ते सूर्य चरसे रथाय येनोभावन्तौ परियासि सद्यः	
यं ते वहन्ति हरितो वहिष्ठाः शतमश्वा यदि वा सप्त बह्वीः	॥६॥
सुखं सूर्य रथमंशुमन्तं स्योनं सुवह्निमधि तिष्ठ वाजिनम्	॥७॥
सप्त सूर्यो हरितो यातवे रथे हिरण्यत्वचसो बृहतीरयुक्त	॥८॥
उद्यन्रश्मिना तनुषे विश्वा रूपाणि पुष्यसि	॥१०॥
दिवि त्वात्रिरधारयत्सूर्या मासाय कर्तवे	॥१२॥

यत्समुद्रमनुश्रितं तत् सिषासति सूर्यः ॥ १४ ॥

अ० १३।२

"वृष्टि करनेवाले नियमोंसे चलनेवाले मानवोंका निरीक्षण करनेवाले सूर्यके तेजस्वी किरण उदयको प्राप्त होनेके पश्चात् बहुतही चमकते हैं ॥ जो अपने तेजस्वी किरणोंद्वारा सब दिशाओंको प्रकाशित करता है, उस सूर्यदेवकी प्रशंसा हम करते हैं, उसके गुण गाते हैं ॥ बडे प्रभावशाली सात किरण तेजस्वी ज्ञानी सूर्यदेवको उठाकर ले जाते हैं ॥ द्युलोक, भूलोक तथा अहोरात्रको निर्माण करके, हे सूर्य ! तू जाता है ॥ जिससे दोनों सीमाओं तक तू जाता है, उस चलनेवाले रथके लिये स्वस्ति हो ! बडी सात किरणें किंवा गतिमान् सौ किरणें तुझको चला रही हैं ॥ हे सूर्य ! तू ऐसे सुखदायी गतिमान् उत्तम रथपर चढ ॥ सूर्यने सुवर्णके समान चमकनेवाले तेजस्वी किरण वेगके लिये अपने रथको जोते हैं । उदय होनेपर तू किरणोंको फैलाता है और सब रूपोंको प्रकाशित करता है ॥ महिनेका विभाग करनेके लिये तुझे द्युलोकमें रखा है । जो समुद्रके आश्रयसे रहता है, वह सूर्य प्राप्त करना चाहता है ॥"

यहांतकके सब मंत्र प्रायः सूर्यपरक ही हैं। जो मंत्र यहां अधूरे दिये हैं, उनके शेष भाग पाठक पूर्वस्थलमें देखें और उनके अर्थका मनन करें। इससे यहांतकके सब मंत्र सूर्यके गुणगायन करनेवाले हैं, ऐसा स्पष्ट हो जायगा। इसके (१६ से २४ तक) आगेके ९ मंत्र ऋग्वेदमें मंडल १।५० में आगये हैं और वहां भी इनकी सूर्यदेवताही है। अतः ये सूर्यका गुणवर्णन कर रहे हैं, इसमें कोई संदेहही नहीं। इनमेंसे कुछ मंत्र यजुर्वेद और अथर्ववेदमें भी दूसरे स्थान पर आगये हैं और सर्वत्र सूर्यदेवताकेही ये मंत्र हैं। इस कारण इनके संबंधका अधिक विचार करनेकी यहां कोई आवश्यकता नहीं है। इसके आगेके मंत्रोंमें सूर्यविषयक मंत्र देखिये—

अतन्द्रो यास्यन्हरितो यदास्थाद् द्वे रूपे कृणुते रोचमानः।
केतुमानुद्यन्त्सहमानो रजांसि विश्वा आदित्य प्रवतो विभासि ॥ २८ ॥
बण्महाँ असि सूर्य बडादित्य महाँ असि।
महांस्ते महतो महिमा त्वमादित्य महाँ असि ॥ २९ ॥
रोचसे दिवि रोचसे अन्तरिक्षे पतंग पृथिव्यां रोचसे रोचसे अप्स्वन्तः ॥ ३० ॥
अहोरात्रे परि सूर्यं वसाने० ॥ ३२ ॥
चित्रं देवानां केतुरनीकं ज्योतिष्मान् प्रदिशः सूर्य उद्यन्।
दिवा करोति द्युम्नैस्तमांसि विश्वा तारीद् दुरितानि शुक्रः ॥ ३४ ॥
सूर्यं आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ॥ ३५ ॥
उच्चापतन्तमरुणं सुपर्णं मध्ये दिवस्तरणिं भ्राजमानम्।
पश्याम त्वा सवितारं यमाहुरजस्रं ज्योतिर्यदविन्ददत्रिः ॥ ३६ ॥
स नः सूर्य प्रतिर दीर्घमायुः ॥ ३७ ॥
रोहितः कालो अभवद्रोहितोऽग्रे प्रजापतिः ॥ ३९ ॥
रोहितो रश्मिभिर्भूमिं समुद्रमनु सं चरत् ॥ ४१ ॥
सूर्यं वयं रजसि क्षियन्तं गातुविदं हवामहे नाधमानाः ॥ ४३ ॥ अ. १३।२

"कभी आलस्य न करनेवाला यह सूर्यदेव अपने किरणरूप अश्वोंपर आरूढ होकर जाता है और इस जगत्‌में छाया और प्रकाशमय दो रूप बनाता है। किरणोंसे युक्त होनेवाला यह विजयी सूर्य उच्च स्थानसे चमकता है ॥ सूर्य सबसे बडा है, सूर्यका महिमा बहुत ही बडा है ॥ सूर्य द्युलोकमें, अन्तरिक्षलोकमें, पृथ्वीमें, समुद्रमें प्रकाशता है ॥ सूर्यके ऊपर दिन और रात्रि अवलंबित हैं ॥ देवोंका झंडा जैसा अत्यंत प्रकाशमान् यह सूर्य अंधकारको हटाता है और सर्वत्र प्रकाश फैलाता है ॥ यह सूर्यही स्थावर जंगम पदार्थोंका जीवन है ॥ आकाशमें उच्चसे उच्च स्थानसे गमन करनेवाले पक्षीके समान आकाशमें तैरनेवाले इस

*

तेजस्वी सूर्यका प्रकाश हम सर्वत्र देखते हैं ।। यह सूर्य हमें दीर्घ आयु देता है ॥ सूर्यही समग्र है और सूर्यही प्रजाका पति है । इस सूर्य देवने अपने किरणोंसे भूमि और समुद्रको प्रकाशित किया है ॥ सूर्य हमारा मार्गदर्शक है, हम उसीके गुणगान करते हैं ।।''

ये सब मंत्र स्पष्टतया सूर्यके वर्णनपरक हैं । यदि यह निश्चय हो जावे कि इनमें सूर्यका वर्णन है, तो इनके बीचके मंत्रोंमें सूर्यस्तुतिही है, इसमें कोई संदेहही नहीं हो सकता । अब तृतीय सूक्तमेंसे कुछ मंत्र देखिये-

> कृष्णं नियानं हरयः सुपर्णा अपो वसाना दिवमुत्पतन्ति ।
> त आववृत्रन्त्सदनादृतस्य० ।। ९ ।।
> यत्ते चन्द्रं कश्यप रोचनावद्यत्संहितं पुष्कलं चित्रभानु । यस्मिन्त्सूर्या आर्पिताः साकं ॥ १० ॥
> स सविता भूत्वान्तरिक्षेण याति स इन्द्रो भूत्वा तपति मध्यतो दिवम् ।। १३ ।।
> शुक्रं वहन्ति हरयो रघुष्यदो देवं दिवि वर्चसा भ्राजमानम् ।
> यस्योर्ध्वा दिवं तन्वस्तपन्त्यर्वाङ् सुवर्णैः पटरैर्वि भाति ॥ १६ ॥
> सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमेको अश्वो वहति सप्त नामा ॥ १८ ॥
> कृष्णायाः पुत्रो अर्जुनो रात्र्याः वत्सोऽजायत ।
> स ह द्यामधि रोहति ॥२६॥ अ० १३।३

''जलका धारण करनेवाले सूर्यकिरण नीलवर्णवाले आकाशकी दिशासे ऊपर जाते हैं, वे जलके अर्थात् मेघोंके स्थानको पहुंचते हैं ॥ हे सूर्य ! जो आनन्द देनेवाला चन्द्रप्रकाश है, उसमें सूर्यके सात किरण ही समर्पित हुए हैं (अर्थात् सूर्यके किरण चन्द्रमें जाकर वहांसे जो प्रकाश हमें प्राप्त होता है, वह चन्द्रमा कहकर प्रसिद्ध है ।।) वही सूर्य जब अन्तरिक्षमें होता है, तब उसको सविता कहते हैं और जब मध्याह्नमें तपता है, उस समय उसको इन्द्र कहा जाता है (अर्थात् ८ बजेसे १०॥ बजेतकके सूर्यका नाम 'सविता' है और ११ से १ बजेतकके सूर्यका नाम 'इन्द्र' है ।।) सूर्यरूपी पवित्र देवका प्रकाश आकाशमें फैला है, जिसके किरण एक ओर द्युलोकको प्रकाशित करते हैं और दूसरी ओर भूमंडलकी ओर वही विविध प्रकाश के साथ चमकता है । सूर्यके रथको सात अश्व जोते हैं (अर्थात् सात किरण हैं) ॥ कृष्णा नामक काले रंगवाली रात्रिका पुत्रही यह प्रकाशमान सूर्य है, वह द्युलोकपर चढता है॥''

इस तरह तीनों सूक्तोंमें जो मंत्र हैं वे सब सूर्यका वर्णन कर रहे हैं। इनमें कई मंत्र अत्यंत स्पष्ट हैं, कई अग्निके मिषसे सूर्यका वर्णन करते हैं, कई विद्युतके मिषसे सूर्यकाही वर्णन करते हैं।और कई स्पष्ट रूपसे सूर्यकाही वर्णन करते है।पाठक इन मंत्रोंका शब्दार्थ जो पूर्व स्थलमें दिया है, वारंवार देखें, मनन करें और मंत्रोंके आशयको जानें और देखें कि यहां सूर्यकी स्तुति किस तरह है।

इस काण्डकी देवता आदित्य, रोहित और अध्यात्म है । आदित्य और रोहित ये नाम सूर्यके हैं । रोहित नाम अग्निका भी है, परंतु अग्नि परंपरया सूर्यका पौत्र होनेसे सूर्यके साथ संबंधित है । अध्यात्म पक्षमें यही सूक्त आत्माके पक्षमें देखना चाहिये । इसका तात्पर्य व्यक्तिगत आत्माके विषयमें विचार करनेपर व्यक्ति भी सूर्यका ही अंश है इसलिये जो प्राकृतिक अंश सूर्यमें है और प्रज्ञाका सत्व सूर्यमें है वह अंशरूपसे प्रत्येक व्यक्तिमें आया है, क्योंकि इस सूर्यमालामें जो अणुरेणु है वह सूर्यसेही आया है इस तरह विचार जो इसके पूर्व बताया ही है, वह ध्यानमें लानेसे व्यक्तिगत सूर्यकी सत्ताका अनुभव प्राप्त होता है यही सूर्यका अध्यात्म-विज्ञान है :

परमात्मा सर्वव्यापक और पूर्ण निराकार है, उसकी उपासना निर्विषयध्यानादि द्वारा होती है। परंतु हरएक मनुष्य प्रारंभसे अन्ततक अमूर्त ब्रह्मकी उपासना यथायोग्य रीतिसे कर सकता है, ऐसी बात नहीं है । उदाहरणके लिये सद्य उपनीत बालक ब्रह्मचारी ६ या ८ वर्षकी आयुमें अमूर्त ब्रह्मका ध्यान कैसा करे ? इसके लिये यह असंभव है । ध्यानधारणाकी सिद्धिके पश्चात् यह उपासना होना संभव हो सकती है । यह निरालंबोपासना उन्नतिकी अवस्थामें संभवनीय है । तब तक सालंबोपासना करनेकी अवस्था रहती है, उसमें अग्निहोत्रकी अग्निसे बढता हुआ और सूर्योपस्थान करता हुआ उपासक अपनी प्रगति कर सकता है। यह सालंब उपासना इस काण्डके इन सब सूक्तोंमें बताई है और इस उपासनाके लिये 'सूर्य' का निर्देश यहां किया है ।

निरुक्तादि ग्रंथोंमें जहां देवताओंका निरूपण किया है, वहां भी सब वेदके देवताओंके नाम सूर्यपर घटानेका ही यत्न किया है। और देवशत्रु असुरोंके नाम मेघोंपर घटानेका यत्न किया है। यदि वह प्रकरण पाठक सूक्ष्म विचार के साथ वहां अनुसंधान करके देखेंगे, तो उनको वही बात यहां दीख सकती है।

इस सूक्तमें भी सूर्यके नाम जो गिनाये हैं, उनमें रुद्र,इन्द्र, चन्द्र, महेन्द्र, सविता, आदित्य, धाता, विधाता, विधर्ता, पतंग, अर्यमा, वरुण, यम, महायम, देव, महादेव, एक, एकवृत्, रोहित, सुपर्ण, अरुण इत्यादि नाम गिनाये हैं। अर्थात् इन नामोंके अनेक देवताओंके सूक्तोंसे एक ही सूर्यदेवका वर्णन होता है, यह बात इस रीतिसे स्पष्ट हो जाती है। सब अन्य देव एक ही सूर्यमें मिल जाते हैं इस तरहके वर्णनसे अनेक देवोंका भेदभाव सूर्यमें नष्ट होता है यह स्पष्ट है, अर्थात् अनेक देवताओंके मंत्रोंसे वेदमें सूर्यका ही वर्णन है और वह उपासना के लिये ही है।

पुराणोंमें भी सूर्यपर ही 'विष्णु' का रूपक करके अनेक अवतारोंका वर्णन और अनेक कथाओंके प्रसंग वर्णन किये हैं। श्रीमद्भागवतमें भी प्रातःकालके सूर्यका नाम ब्रह्मा, मध्याह्नके सूर्यका नाम विष्णु और रात्रिके समय के सूर्यका नाम शिव कहकर त्रिमूर्तिको सूर्यमें ही बताया है। इस तरह सूर्यके रूपकपरही ब्रह्मा विष्णु शिवकी अनंत कथाएं कल्पित हैं, यह बात वहां स्पष्ट हो गयी है। ब्रह्मा की पुत्री सावित्री, विष्णुकी पत्नी लक्ष्मी और शिवकी पत्नी काली यह सब इस तरह सूर्यपर ही रूपक है। इसका संपूर्ण विवेचन करनेसे सहस्रों पृष्ठोंका महाग्रंथ बनेगा, वैसा यहां बनाने का विचार नहीं है और वैसी यहां आवश्यकता भी नहीं है। यहां जितना दिग्दर्शन किया है उतना इस वैदिक विषयके ज्ञानके लिये पर्याप्त है। वेदके अन्यान्य वर्णन जैसे सूर्यपर घटते हैं वैसे हि ब्राह्मण ग्रंथकी कथाएं और इतिहास पुराणकी कथाएं भी सूर्यपर रूपकालंकार से रचित हैं यही बात यहां संक्षेपसे बताना है। इसका अर्थ कोई यह न समझे कि प्रत्येक पंक्ति सूर्यपरक है। परंतु इतनाही समझे कि मुख्य कथाप्रसंग सूर्यपर अलंकार मानकर रचा गया था। उपप्रसंगोंमें विविध संचार हुए ही होंगे। इस तरह सब ग्रंथोंके वर्णन मुख्यतया सूर्यपरक है। इतना कहनेसे सबकी उपास्य देवता सूर्य है यह बात सूचित होती है। इसका विस्तारपूर्वक वर्णन किसी स्वतंत्र ग्रंथ में करेंगे इतनाही यहां बताकर इस काण्डका विवेचन यहां समाप्त करते हैं॥

बोध वाक्य।

इस काण्डमें कई वाक्य अन्यान्य रीतिसे विशेष उपदेश देते हैं, उनका विचार अब संक्षेपसे करेंगे–

प्रथम सूक्त।

१ उदेहि वाजिन् (१) = हे बलवान्! अभ्युदयको प्राप्त हो! अपना अभ्युदय करो, कदापि अवनत न हो।

२ इदं राष्ट्रं प्रविश सूनृतावत् = इस सत्यनिष्ठ राष्ट्रमें आवेश उत्पन्न कर, इस प्रिय राष्ट्रमें प्रविष्ट होकर कार्य कर।

३ स त्वा राष्ट्राय सुभृतं बिभर्तु = वह तुझे अपने राष्ट्रकी उन्नतिके हेतु उत्तम भरणपोषणके साधनोंसे युक्त करे। तू अपने राष्ट्रमें राष्ट्रीय उन्नतिके लिये उत्तम भरणपोषणके साधनोंसे युक्त होकर विराजमान हो।

४ उद्वाज आगन् (२) = अपना बल उन्नतिके लिये प्रकट कर, उन्नतिके ही कार्यमें अपना सामर्थ्य लगा दो।

५ विश आरोह त्वद्योनयो याः = प्रजाजनोंमें उच्च हो, जिनमें तुम्हारी उत्पत्ति है। तू अपनी जातिमें उन्नत हो, उच्च स्थान प्राप्त कर।

६ अप ओषधीर्गाश्चतुष्पदो द्विपद आवेशयेह = जलस्थानों, औषधियोंके उद्यानों, गौवों, चतुष्पादों और द्विपादोंको यहां अपने देशमें उत्तम रीतिसे रहने दो। ये रहें और उन्नत होवें।

७ यूयमुग्राः पृश्निमातरः (३) = तुम बडे उग्रवीर भूमिको माता माननेवाले हो। शूरवीर सब अपने मातृभूमिका सत्कार करें।

८ प्रमृणीत शत्रून् = शत्रुओंका नाश करो।

९ रुहो रुरोह (४) = बढनेवाले बढें। जो उन्नति प्राप्त करना चाहते हैं, वे न रुकें उनके मार्गमें रुकावट न हो।

१० गातुं प्रपश्यन्निह राष्ट्रमाहाः = उन्नतिके मार्गको देखता हुआ तू यहां राष्ट्रको उन्नति के मार्गपर रख।

११ आ ते राष्ट्रमिह रोहितोऽऽहार्षीत् (५) = तेरे राष्ट्रको इस (परिस्थितिमें) उसी वीरने लाया है, उसीका सन्मान करना तुझे योग्य है।

१२ व्यास्थन्मृधो अभयं ते अभूत् = उसने शत्रु दूर भगा दिये और तेरे लिए निर्भयता की है।

१३ सं ते राष्ट्रमनक्तु पयसा घृतेन (८) = तेरे राष्ट्रमें दूध और घी भरपूर हो,वे पौष्टिक पदार्थ विपुलतामें प्राप्त हों।

१४ ब्रह्मणा पयसा वावृधानो विशि राष्ट्रे जागृहि (९) = ज्ञान और दूध से पुष्ट होता हुआ तू अपने प्रजाजनोंमें और राष्ट्रमें जागता रह, कभी न सो जा। राष्ट्रमें जाग्रत रहकर राष्ट्रको उन्नत करनेका यत्न कर।

१५ यास्ते विशस्तपसः संबभूवुः (१०) = जो प्रजाएं तपके लिये संघटित होती हैं (उनकी उन्नति होती है।)

१६ तास्त्वा विशन्तु मनसा शिवेन = वे प्रजाजन शुभ मनोभावनाके साथ तेरे साथ सत्कार्यमें प्रविष्ट हों, सब मिलकर शुभ कार्य करें।

१७ विश्वा रूपाणि जनयन्युवा कविः (११) = तरुण कवि अनेक काव्य के रूपक बनाता है, अनेक रूपक निर्माण करता है।

१८ तिग्मेनाग्निर्ज्योतिषा विभाति = अग्नि तीक्ष्ण प्रकाशके साथ प्रकाशता है।

१९ गोपोषं च मे वीरपोषं च धेहि (१२) = मेरे गौओंका और वीरोंका पोषण होता रहे।

२० वाचा श्रोत्रेण मनसा जुहोमि (१३) = वाणी, कान और मनके साथ हवन करता हूं, (वाणीसे मंत्रोच्चारण, कानसे मंत्रश्रवण और मनसे मनन करता हुआ हवन करता हूं।)

२१ स मा रोहैः सामित्यै रोहयतु = वह मुझे उन्नतियोंके साथ समितिके लिए उन्नत बनावे।

२२ तस्मात्तेजांस्युप मेमान्यागुः (१४) = उस (यज्ञ) से अनेक तेज मुझे प्राप्त हो गये हैं । यज्ञसे विविध तेज प्राप्त होते हैं।

२३ आ त्वा रुरोह रेतसा सह (१५) = वीर्यके साथ वह तुझे उन्नत करे, पराक्रम के साथ वह (यज्ञ) तुझे बढावे।

२४ वाचस्पते पृथिवी नः स्योना योनिस्तल्पा नः सुशेवा (१७) = हे वाणीके पति ! पृथ्वी हमारे लिए कल्याण करनेवाली होवे, घर हमारे लिए सुखदायक होवे, बिछोने हम सबके लिए कल्याणकारी होवें।

२५ इहैव प्राणः सख्ये नो अस्तु = यहां ही प्राण हमारी मित्रतामें रहे, हम दीर्घायु हों।

२६ तं त्वा परमेष्ठिन् पर्यग्निरायुषा वर्चसा दधातु = हे परमात्मन् ! अग्नि तुझे आयु और तेजके साथ युक्त करे।

२७ वाचस्पते सौमनसं मनश्च गोष्ठे नो गा जनय योनिषु प्रजाः (१९) = हे वाणीके अधिष्ठाता ! मेरा मन सुविचार युक्त हो, गोशालामें गौवें हों और हमारे घरमें संतान हों।

२८ सर्वा अरातीरवक्रामन्नेहि (२०) = सब शत्रुओंपर चढाई करता हुआ आगे बढ, सब शत्रुओंका नाश कर और उन्नत हो।

२९ इदं राष्ट्रमकरः सूनृतावत् = इस राष्ट्रको सत्यनिष्ठ तथा आनंदप्रसन्न बनाओ।

३० अनुव्रता रोहिणी सूरिः सुवर्णा बृहती सुवर्चाः (२२) = विदुषी उत्तम वर्णवाली तेजस्विनी बढनेवाली अनुकूल स्त्री वृद्धिका कारण होती है।

३१ तया वाजान् विश्वरूपान् जयेम = वैसी विदुषी अनुकूल स्त्रीके साथ सब प्रकारके अन्न तथा बल प्राप्त करेंगे।

३२ तया विश्वाः पृतना अभिष्याम = उससे सब शत्रुसेनाओंको परास्त करेंगे।

३३ तां रक्षन्ति कवयोऽप्रमादम् (२३) = कविलोग प्रमाद रहित होकर उसकी रक्षा करते हैं।

३४ अश्वा हरयः केतुमन्तः सदा वहन्त्यमृताः सुखं रथं(२४) = वेगवाले तेजस्वी घोडे सदा उत्तम सुखदायी रथको उत्तम रीतिसे ले चलाते हैं।

३५ वि मिमीष्व पयस्वतीं घृताचीं धेनुरनपस्फुरेणवा (२७) = दूध और घी देनेवाली गौको विशेष रीतिसे तैयार कर, यह दोहनेके समय हलचल न करनेवाली उत्तम गौ है।

३६ क्षेमो अस्तु, विमृधो नुदस्व = सबका कल्याण हो, शत्रु दूर हो जांय।

३७ अभीषाड् विश्वाषाड् सपत्नान् हन्तु ये मम (२८) = जो मेरे शत्रु हैं उन सबका नाश विजयी वीर करे।

३८ हन्त्वेनान्प्रदहत्वरियों नः पृतन्यति (२९) = जो शत्रु हमपर सेनाके साथ हमला करता है, उसको मारा जावे।

३९ वयं सपत्नान् प्रदहामसि = हम सब शत्रुओंको जलावेंगे।

४० अवाचीनानव जहि अधा सपत्नान्मामकान् (३०) = हमारे शत्रुओंको नीचे करके दबा दे।

४१ सपत्नानधरान्पादयस्वास्मत् (३१) = हमारे शत्रुओंको नीचे गिरा दो।

४२ अस्मद्व्यथया सजातमुत्पिपानं = हमारे सजातीय शत्रुको व्यथासे युक्त कर, दुःखी कर।

४३ अधरे पद्यन्तामप्रतिमन्यूयमानाः (३१) = हमारे शत्रु निष्फलक्रोधवाले होकर नीचे गिर जांय।

४४ सपत्नानव मे जहि, अवैनानश्मना जहि,ते यन्त्वधमं तमः (३२) = मेरे शत्रुओंका नाश कर, शत्रुओंका पत्थरोंसे नाश कर, मेरे शत्रु अंधेरेमें जावें।

४५ वत्सं ब्रह्म सन्तं ब्रह्मणा वर्धयन्ति (३३) = बच्चेको ज्ञानवान् होते हुए भी ज्ञानके साथ बढाते हैं।

४६ पृथिवीं च रोह, राष्ट्रं च रोह, द्रविणं च रोह, प्रजां च रोह, अमृतं च रोह (३४) पृथ्वी, राष्ट्र, धन, प्रजा और अमरपन की वृद्धि कर।

४७ ये राष्ट्रभृतः, तैष्टे राष्ट्रं दधातु सुमनस्यमानाः (३५) = जो राष्ट्रपोषक वीर हैं, उनके द्वारा तेरे राष्ट्रका उत्तम मनके साथ धारण होवे।

४८ भूमिमब्रवीत्, त्वदीयं सर्वं जायतां यद्भूतं यच्च भाव्यम् (५४) – उसने मातृभूमिसे कहा कि 'जो हुआ और जो होनेवाला है, वह सब तेरे लिये अर्पण हो जाय।'

४९ स यज्ञः प्रथमो भूतो भव्यो अजायत। तस्माद्ध जज्ञ इदं सर्वं यत्किंचेदं विरोचते। (५९) = वह पहिला बना हुआ और बननेवाला यज्ञ हुआ, उससे बना यह सब जो कुछ चमकता है।

द्वितीय सूक्त।

५० स्तवाम भुवनस्य गोपां (२) = भुवनके रक्षक की प्रशंसा करते हैं।

५१ मा त्वा दभन्परियान्तमाजिं (५) = युद्धमें जानेवाले तुझे शत्रु न दबावें।

५२ स्वस्ति दुर्गां अति याहि क्षीप्रं = कुशलतापूर्वक शीघ्र कठिन स्थानोंके परे जा।

५३ रथमंशुमन्तं स्योनं सुवह्निमधि तिष्ठ वाजिनं (७) = तेजस्वी, सुखदायी, बलवान्, उत्तम चलनेवाले सुंदर रथपर चढ।

५४ द्यावापृथिवी जनयन्देव एकः (२६) = एक ही ईश्वरने द्युलोक और भूलोक बनाये हैं।

५५ अतन्द्रो यास्यन् (२८) = आलस्य छोडनेपर ही प्रगति करता है।

इस तरह अनेक उपदेशपर वाक्य इस काण्डमें हैं, जो मुख्य देवताका वर्णन करते हुए अन्यान्य बोध पाठकोंको देते हैं। पाठक इस रीतिसे इस काण्डका अध्ययन करें।

अथर्ववेद ।

त्रयोदश काण्डकी विषयसूची ।

त्रयोदश काण्ड समाप्त ।

ॐ

अथर्ववेद

का

सुबोध भाष्य ।

चतुर्दशं काण्डम ।

अथर्ववेदका सुबोध भाष्य ।

चतुर्दश काण्ड ।

यह चतुर्दश काण्ड अथर्ववेदके तृतीय बृहद्विभागमें द्वितीय है । इस काण्डमें 'विवाह-संस्कार' यही एक महत्त्वपूर्ण विषय है । अतः जो पाठक इस काण्डका विशेष मननपूर्वक अध्ययन करेंगे, उनको "वैदिक विवाह-पद्धति" का यथायोग्य ज्ञान हो सकता है ।

इसमें दो अनुवाक हैं । प्रथमानुवाकमें ६४ मंत्रोंका एक सूक्त है और द्वितीयानुवाकमें ७५ मंत्रोंका एक सूक्त है । सब मिलकर १३९ मंत्र इस काण्डमें हैं । ये दोनों सूक्त दशतिविभागसे विभक्त हुए हैं, प्रथम सूक्तमें १० मंत्रोंकी ५ दशतियां हैं और छठी दशति १४ मंत्रोंकी है, इसी तरह द्वितीय सूक्तमें ७ दशतियां दस मंत्रोंकी है और आठवी दशति ५ मंत्रोंकी है। परंतु यह दशतिविभाग केवल मंत्रोंकी संख्याके अनुसार है, इसका अर्थके साथ विशेषता संबंध नहीं है । अब इस काण्डके ऋषि, देवता और छंद देखिये—

ऋषि, देवता और छन्द ।

सूक्त	ऋषि	मंत्रसंख्या	देवता	छन्द
प्रथमोऽनुवाकः ।				
१	सावित्रीसूर्या	६४	आत्मदैवत्यं (स्वयं) १-५ सोम; ६ स्वविवाहः, २३ सोमार्कौ, २४ चन्द्रमाः, २५ विवाहमंत्राशिषः; २५, २७ वधुवाससंस्पर्शमोचनं;	अनुष्टुभ् १४ विराट् प्रस्तारपंक्तिः; १५ आस्तार पंक्तिः १९, २०, २३, २४ ३१-३३, ३७, ३९, ४० ४५, ४७, ४९, ५०, ५३, ५६, ५७, (५८, ५९, ६१) त्रिष्टुभः (२३, ३१, ४५ बृहतीगर्भा त्रि०;) २१, ४६, ५४, ६४; जगत्यः (५४, ६४ भुरिक् त्रिष्टुभौ); २९, ५५ पुरस्ताद्बृहत्यौ; ३४ प्रस्तार पंक्तिः; ३८ पुरोबृहती त्रिपदा पुरोष्णिक्; (४८ पथ्यापंक्तिः) ६० परानुष्टुभ्

द्वितीयोऽनुवाकः ।

२ सावित्री सूर्या ७५	आत्मदैवत्यं (स्वयं) १० यक्ष्मनाशनं; ११ दंपत्योः परिपंथिनाशनं; ३६ देवाः	अनुष्टुभ्, ५, ६, १२, ३१, ३७, ३९, ४० जगत्यः; (३७, ३९ भुरिक् त्रिष्टुभौ;) ९ त्र्यवसाना षट्पदा विराडत्यष्टिः; १३, १४, १७-१९ (३४, ३६, ३८) ४१, ४२, ४९, ६१, ७०, ७४, ७५ त्रिष्टुभः; १५, ५१ भुरिजौ; २० पुरस्ताद्बृहती १३, २४, २५, ३२, ३३ पुरोबृहती; (२६ त्रिपदा विराण्नाम गायत्री;) ३३ विराडास्तार पंक्तिः; ३५ पुरोबृहती त्रिष्टुप्, ४३ त्रिष्टब्गर्भा-पंक्तिः; ४४ प्रस्तारपंक्तिः; (४७ पथ्याबृहती) ४८ सतः पंक्तिः; (५० उपरिष्टाद्बृहती) निचृद्;) ५२ विराट्पुरोष्णिक्; ५९, ६०, ६२ पथ्यापंक्तिः; (६८ पुरोष्णिक्;) ६९ त्र्यव० षट्प० अतिशाक्वरी; ७१ बृहती ।

इस सूक्तमें ' आत्मादेवता ' का अर्थ जो ऋषि है वही देवता है । अर्थात् सावित्रीसूर्याने अपनेही विवाहका वर्णन, जैसा विवाह हुआ, वैसा किया है । इस विवाहका स्पष्टीकरण इस काण्डके अन्तमें दिया जायगा । इस चतुर्दश काण्डके दोनों सूक्त विवाहप्रकरण का वर्णन करनेवाले होनेके कारण इन दोनों सूक्तोंका अर्थ करनेके पश्चात् हम इस वैदिक विवाहका स्पष्टीकरण करेंगे । प्रथम पाठक इन दोनों सूक्तोंका अर्थ देखें—

ॐ

अथर्ववेदका सुबोध भाष्य

चतुर्दशं काण्डम् ।

विवाह—प्रकरण ।

(१)

सत्येनोत्तभिता भूमिः सूर्येणोत्तभिता द्यौः । ऋतेनादित्यास्तिष्ठन्ति दिवि सोमो अधि श्रितः ॥१॥
सोमेनादित्या बलिनः सोमेन पृथिवी मही । अथो नक्षत्राणामेषामुपस्थे सोम आहितः ॥२॥

अर्थ—(सत्येन भूमिः उत्तभिता) सत्यने भूमिको उठाया है । और (सूर्येण द्यौः उत्तभिता) सूर्यने द्युलोक उठाया है। (ऋतेन आदित्याः तिष्ठन्ति) ऋतसे आदित्य रहते हैं । और (सोमः दिवि अधि श्रितः) सोम द्युलोकमें आश्रित हुआ है ॥ १ ॥

(सोमेन आदित्याः बलिनः) सोमसे आदित्य बलवान् हुए हैं । तथा (सोमेन पृथिवी मही) सोमसे पृथ्वी बडी हुई है । (अथो एषां नक्षत्राणां उपस्थे) और इन नक्षत्रोंके पास (सोमः आहितः) सोम रखा है ॥

भावार्थ- सत्यसे मातृभूमिका उद्धार किया जाता है, सूर्यके प्रकाशसे आकाश तेजस्वी होता है, सरलता से आदित्य अपने स्थानमें स्थिर रहते हैं और सोम द्युलोक के प्रकाशमें आश्रय लेकर रहा है । (इसी प्रकार ये वधूवर सूर्यप्रकाश, सरलता और द्युलोक अर्थात् स्वर्ग के आधारसे अपना जीवनक्रम चलावें ।) ॥ १ ॥

सोमसे आदित्यमें बल आया और पृथ्वीका विस्तार हुआ है, और नक्षत्रों में भी सोम ही तेज बढाता है। इसी तरह ये वधूवर सोम आदि वनस्पति भक्षण कर अपने बल, महत्त्व और तेज की वृद्धि करें ॥ २ ॥

सोमं॑ मन्यते पपि॒वान्यत्सं॑पि॒षन्त्योष॑धिम् । सोमं॒ यं ब्र॒ह्माणो॑ वि॒दुर्न तस्या॑श्नाति॒ पार्थि॑वः ॥३॥
यत्त्वा॑ सोम प्र॒पिब॑न्ति॒ तत॒ आ प्या॑यसे॒ पुन॑ः। वा॒युः सोम॑स्य रक्षि॒ता समा॑नां॒ मास॒ आकृ॑तिः॥४॥
आ॒च्छद्वि॑धानैर्गुपि॒तो बार्ह॑तैः सोम रक्षि॒तः। ग्राव्णा॒मिच्छृ॒ण्वन्ति॑ष्ठसि॒ न ते॑ अश्नाति॒ पार्थि॑वः॥५॥
चित्ति॑रा उप॒बर्ह॑णं॒ चक्षु॑रा अ॒भ्यञ्ज॑नम् । द्यौर्भूमि॒ः कोश॒ आसी॒द्यदया॑त्सू॒र्या पति॑म् ॥६॥
रैभ्या॑सीदनु॒देयी॑ नाराशं॒सी न्योच॑नी । सू॒र्याया॑ भ॒द्रमिद्वासो॒ गाथ॑येति॒ परि॑ष्कृता ॥७॥

अर्थ— (यत् ओषधिं संपिषन्ति) जब सोम नामक औषधिको पीसते हैं, तब (पपिवान् सोमं मन्यते) सोमपान करनेवाला सोमरस पिया ऐसा मानता है। (ब्रह्माणः यं सोमं विदुः) ज्ञानी लोग जिसको सोम करके समझते हैं, (तस्य पार्थिवः न अश्नाति) उसका भक्षण कोई पृथ्वीपर रहनेवाला मनुष्य नहीं करता ॥ ३ ॥

हे (सोम) सोम ! (यत् त्वा प्रपिबन्ति) जब तुझे पीते हैं, [ततः पुनः आप्यायसे] उसके पश्चात् पुनः तू वृद्धिको प्राप्त करता है। [वायुः सोमस्य रक्षिता] वायु सोमका रक्षक है, और [समानां आकृतिः मासः] वर्षोंकी आकृति महिना ही है ॥ ४ ॥

हे सोम ! [आच्छत् विधानैः गुपितः] आच्छादनोंसे सुरक्षित [बार्हतः रक्षितः] बडोंसे रक्षित हुआ तू [ग्राव्णां इत् शृण्वन् तिष्ठसि] इस रस निकालनेवाले पत्थरोंका शब्द सुनता हुआ रहता है। [पार्थिवः ते न अश्नाति] कोई मनुष्य तेरा रस भक्षण नहीं करता ॥ ५ ॥

[यत् सूर्या पतिं अयात्] जब सूर्या अपने पतिके पास गयी, तब [चित्तिः उपबर्हणं आः] संकल्प सिरोना हुआ, [चक्षुः अभि अञ्जनं आः] आंख अञ्जन बना तथा (द्यौः भूमिः कोशः आसीत्) द्यौ और पृथिवी खजाना था ॥ ६ ॥

[रैभी अनुदेयी आसीत्] रैभी ऋचा विदायीकी भाषा हो गई, [नाराशंसी न्योचनी] नाराशंसी मंत्र स्वागतका भाषण बने, [सूर्यायाः वासः भद्रं इत्] सूर्याका वस्त्र बहुत कल्याणकारी है। वह सूर्या [गाथया परिष्कृता एति] गाथाओंसे सुशोभित होकर जाती है ॥ ७ ॥

भावार्थ- जब यज्ञमें सोमका रस निकालने लगते हैं, तब सोमरस पीनेका निश्चय सबको होता है। परंतु जिसको ज्ञानी सोम जन समझते हैं, वह भिन्नही है, कोई साधारण मनुष्य उसका रस पी नहीं सकता। (ये वधूवर उसी सोमरसको पीनेका पुरुषार्थ करें) ॥ ३ ॥

वह सोम जब पिया जाता है, तब पुनः वृद्धिको प्राप्त होता है। यह नष्ट नहीं होता है। क्योंकि प्राण ही इसका रक्षक है। जैसे क्रमसे महिने आनेसे वर्ष होता है, (इसी तरह नये पत्ते आनेसे सोम वल्ली पूर्ववत् हरीभरी हो जाती है, ऐसे ही वधूवर सांसारिक आपत्ति आनेपर हताश न हों, परंतु द्विगुणित उत्साहसे अपना जीवन व्यतीत करें।) ॥ ४ ॥

सोम सब प्रकारसे सदा सुरक्षित है, आंतरिक और बाह्य रक्षण साधनोंसे वह सुरक्षित हुआ है। इस सुरक्षित हुए दिव्य सोमका भक्षण कोई साधारण मनुष्य नहीं कर सकता। [ये वधूवर इसी तरह अपने आपको सुरक्षित रखें और अपने आपको किसीका भक्ष्य होने न दें।] ॥ ५ ॥

जब वधू वरके घर जाती है, तब उसका मनही उसका सिरोना और आंख ही अञ्जन होता है, (अर्थात् बाह्य साधन उसके सुखके कारण नहीं होते, उसके मनके भावही उसको सुख देते हैं) मानो उसके लिये यह सब आकाश का अवकाश खजानेके समान प्रतीत होता है, क्योंकि पतिका घर ही उसका सब सुख होता है। ॥ ६ ॥

वेदमंत्रोंसे उस वधूकी पितृगृहसे बिदाई होती है और उसी प्रकार मंत्रोंसे ही उसका पतिगृहमें स्वागत होता है। मंत्रोंद्वारा पुनीत हुआ पतिके घरका वस्त्र उस वधूका कल्याण करनेवाला होता है ॥ ७ ॥

स्तोमा आसन्प्रतिधयः कुरीरं छन्द ओपशः । सूर्याया अश्विना वराग्निरासीत्पुरोगवः ॥८॥
सोमो वधूयुरभवदश्विनास्तामुभा वरा । सूर्यां यत्पत्ये शंसन्तीं मनसा सविताददात् ॥९॥
मनो अस्या अन आसीद् द्यौरासीदुत च्छदिः । शुक्रावनड्वाहावास्तां यदयात्सूर्या पतिम् ॥१०॥
ऋक्सामाभ्यामभिहितौ गावौ ते सामनावैताम्। श्रोत्रे ते चक्रे आस्तां दिवि पन्थाश्चराचरः॥११॥
शुची ते चक्रे यात्या व्यानो अक्ष आहतः । अनो मनस्मयं सूर्यारोहत्प्रयती पतिम् ॥१२॥

अर्थ—[स्तोमाः प्रतिधयः आसन्] स्तुतिके मंत्र अन्न बना था, [कुरीरं छन्दः ओपशः] कुरीर नामक छन्द उसके सिरके भूषण बने । [अश्विनौ सूर्यायाः वरौ] दोनों अश्विदेव सूर्याके साथी थे और [अग्निः पुरोगवः आसीत्] अग्निदेव अग्रेसर था ॥ ८ ॥

[सोमः वधूयुः अभवत्] सोम वधूकी इच्छा करनेवाला था, [उभौ अश्विनौ वरौ आस्तां] दोनों अश्विदेव साथी थे । [यत् सविता मनसा शंसन्तीं सूर्यां पत्ये अददात्] जब सविताने मनसे स्तुति करनेवाली सूर्याको पतिके हाथमें दान किया ॥ ९ ॥

[अस्या मनः अनः आसीत्] इसका मन रथ बना था, [उत द्यौः छदिः आसीत्] और द्युलोक छत हुआ । [शुक्रौ अनड्वाहौ आस्तां] दो बलवान् बैल जोते थे । [यत् सूर्या पतिं अयात्] जब सूर्या पतिके पास गयी ॥ १० ॥

(ऋक् — सामाभ्यां अभिहितौ ते गावौ) ऋग्वेद मंत्रों और सामवेदके मन्त्रोंद्वारा प्रेरित हुए तेरे दोनो बैल (सामनौ ऐतां) शान्तिसे चलते हैं । (श्रोत्रे ते चक्रे आस्तां) दोनों कान तेरे रथके दो चक्र थे । (दिवि पन्थाः चराऽचरः) द्युलोकमें तेरा मार्ग चर और अचर रूप समस्त संसार है ॥ ११ ॥

(ते यात्याः चक्रे शुची) तेरे जानेके रथके दोनों चक्र शुद्ध हैं । (अक्षे व्यानः आहतः) उसके अक्षके स्थानपर व्यान नामक प्राण रखा है । (पतिं प्रयती सूर्या) पतिके पास जानेवाली सूर्या इस ((मनः-मयं आ रोहत्) मनोमय रथ पर चढती है ॥ १२ ॥

भावार्थ-पतिके घरके यज्ञ ही वधूके लिये भोग और वेदमंत्रही उसके भूषण होते हैं । जो वधूकी मंगनी के लिये जाते हैं, वे मानो अश्विदेव होते हैं । और जो पहिले बातचीतके लिये जाता है, वह सबका प्रकाशक अग्निदेव ही है ॥ ८ ॥

जो वर है वह मानो सोम है, मंगनी करनेवाले अश्विनीदेव हैं और वधूका पिता सूर्य है, जो अपनी पुत्रीको वरके हाथमें दान करता है । वधू भी पतिके विषयमें मनमें प्रशंसाके भाव रखती है । [वधूवरकी परिस्थिति ऐसी होनी चाहिये ।] ॥ ९ ॥

जब वधू अपने पतिके घर जाये तब वह रथमें बैठकर जाये । उसको दो उत्तम बैल (या घोडे) जोते हुए हों । संभव हुआ तो ये उत्तम श्वेतवर्ण के हों। (वस्तुतः वधूका मनही यह रथ है, बाह्य रथकी अपेक्षा वधूका मनही ऐसा चाहिये कि जिस में ये रथ आदि बाह्य आडम्बर कल्पनासेही पूर्ण हों ।) ॥ १० ॥

इस वधूके रथके वाहक वेदमंत्रों द्वारा चलाये जांय, साथसाथ सामवेद मंत्रोंका गायन होता रहे । यह वधू इसलिये गृहस्थाश्रम स्वीकारने के लिये पतिके घर जाती है, कि इसका स्वर्गका मार्ग सुगम्य हो अर्थात् पतिपत्नी मिलकर ऐसा आचरण करें कि जिससे उनको सहज स्वर्ग प्राप्त हो जाय ॥ ११ ॥

यह वधू पतिके घर जाते समय जिस मनोमय रथपर बैठती है, उसके चक्र शुद्ध हों । (यहां चालचलनकी शुद्धता और मनोरथों की पवित्रता वधू धारण करे यह बात सूचित की है ।) ॥ १२ ॥

सूर्यायां वहतुः प्रागात्सविता यमवासृजत् । मघासु हन्यन्ते गावः फल्गुनीषु व्युह्यते ॥१३॥
यदश्विना पृच्छमानावयातं त्रिचक्रेण वहतुं सूर्यायाः ।
क्वैकं चक्रं वामासीत्क्व देष्ट्राय तस्थथुः ॥१४॥
यदयातं शुभस्पती वरेयं सूर्यामुप ।
विश्वे देवा अनु तद्वामजानन्पुत्रः पितरमवृणीत पूषा ॥१५॥
द्वे ते चक्रे सूर्ये ब्रह्माण ऋतुथा विदुः । अथैकं चक्रं यद्गुहा तदद्धातय इद्विदुः ॥१६॥
अर्यमणं यजामहे सुबन्धुं पतिवेदनम् । उर्वारुकमिव बन्धनात्प्रेतो मुञ्चामि नामुतः ॥१७॥

अर्थ- (यं सविता अवासृजत्) जिसको सविताने भेजा था वह (सूर्यायाः वहतुः प्रागात्) सूर्याका दहेज आगे गया है। (मघासु गावः हन्यन्ते) मघा नक्षत्रोंमें गौवें भेजीं जाती हैं । और (फल्गुनीषु व्युह्यते) फल्गुनी नक्षत्रोंमें विवाह होता है ॥ १३ ॥

हे (अश्विनी) अश्विदेवो ! (यत् सूर्यायाः वहतुं) जब सूर्याका दहेज लेकर (पृच्छमानौ त्रिचक्रेण अयातं) तुम दोनों पूछते हुए तीन चक्रोंवाले रथसे चले; तब [वां एकं चक्रं] तुम्हारा एक चक्र (क आसीत्) कहां था, और तुम दोनों देष्ट्राय क तस्थतुः) दर्शानेके लिये कहां ठहरे थे ? ॥ १४ ॥

हे [शुभस्पती] शुभ करनेवाले ! तुम दोनों (यत् वरेयं सूर्यां उप अयातं) जब वरके द्वारा पूछने योग्य सूर्याके समीप गये, [वां तत् विश्वे देवाः अन्वजानन् [तुम्हारा वह कर्म सब देवोंने पसंद किया था, (पूषा पुत्रः पितरं अवृणीत) पूषाने पुत्र पिताको स्वीकार करनेके समान तुम्हारा स्वीकार किया ॥ १५ ॥

हे (सूर्ये) सूर्या ! (ते द्वे चक्रे ब्रह्माणः ऋतुथा विदुः) तेरे दोनों चक्रों को ज्ञानी लोग ऋतुके अनुसार जानते हैं । (अथ यत् एकं चक्रं गुहा) और जो एक चक्र गुप्त है, (तत् अद्धातय इत् विदुः) उसको विशेष ज्ञानी ही जानते हैं ॥ १६ ॥

(सुबन्धुं पतिवेदनं) उत्तम बन्धुबांधवोंसे युक्त पतिका ज्ञान देनेवाले (अर्यमणं यजामहे) श्रेष्ठ मनवालेका हम सत्कार करते हैं । (उर्वारुकं बन्धनात् इव) खरबूजा जैसा बेलके बन्धनसे दूर होता है, उस प्रकार(इतः प्र मुञ्चामि) इस पितृकुलसे तुझे छुडाता हूं, (न अमुतः) परंतु पतिकुलसे नहीं अलग करता, अर्थात् पतिकुलसे जोडता हूं ॥१७॥

भावार्थ- वधूका पिता वरको समर्पण करनेके लिये गौरूपी दहेज पहिले वरके स्थानपर पहुंचावे। वह पहिले वहां पहुंचे और पश्चात् विवाह हो। जैसा मघा नक्षत्रमें गौवें भेजा जाय, तो फल्गुनी नक्षत्रमें विवाह होवे ॥ १३ ॥

वधुकी ओरसे जो दहेज वरके पास लेजाना हो वह कोई दो सज्जन (यहां दो अश्विनी देव) अपने रथमें बैठकर ले जावें। पूछ पूछ कर ठीक वरके स्थानपर पहुंच जाय । ये ही वधुके रथको वरके स्थानका मार्ग दर्शानेवाले होंवे, इसलिये ये किसी योग्य स्थानपर ठहरें ॥ १४ ॥

वरकी ओरसे मंगनी करनेवाले (दोनों अश्विनीकुमार) दो वैद्य वधुके पिताके पास कन्याकी मंगनी करनेके लिये आय, अन्य सब लोग उनको संमति देवें । जैसा पुत्र पिताका आदरके साथ स्वागत करता है, वैसा उन मंगनी करनेके लिये आये हुओंका स्वागत वधूका पिता करे ॥ १५ ॥

सूर्या नामक सविताकी पुत्री तीन चक्रोंवाले रथपर बैठकर अप. पतिके घर गई थी। इसी तरह वधू रथमें बैठकर पतिके घर जाये । रथके व्यक्त और गुप्त चक्रोंको ज्ञानी लोग जानें ॥ १६ ॥

श्रेष्ठ मनवाला बन्धुबांधवोंसे युक्त सज्जनही वरका पता देवें । वरका पता किसी हीन मनुष्यसे कभी न लिया जाय । जैसा फल अपने बधनसे मुक्त होता है, उस प्रकार वधू अपने पितृकुलसे अपना संबन्ध छोड देवे, परंतु पतिकुलसे वधूका संबंध कभी न छूटे ॥ १७ ॥

प्रेतो मुञ्चामि नामुतः सुबद्धाममुतस्करम्। यथेयमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रा सुभगासति ॥ १८ ॥
प्र त्वा मुञ्चामि वरुणस्य पाशाद् येन त्वाऽबध्नात् सविता सुशेवाः।
ऋतस्य योनौ सुकृतस्य लोके स्योनं ते अस्तु सहसंभलायै ॥ १९ ॥
भगस्त्वेतो नयतु हस्तगृह्याश्विना त्वा प्र वहतां रथेन।
गृहान् गच्छ गृहपत्नी यथाऽसो वशिनी त्वं विदथमा वदासि ॥ २० ॥ (२)
इह प्रियं प्रजायै ते समृध्यतामस्मिन् गृहे गार्हपत्याय जागृहि।
एना पत्या तन्वं१ सं स्पृशस्वाथ जिर्विर्विदथमा वदासि ॥ २१ ॥
इहैव स्तं मा वि यौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम्। क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वस्तकौ ॥२२॥

अर्थ- (इतः प्रमुञ्चामि न अमुतः) यहां [पितृकुल]से तुझे मुक्त करता हूं, परंतु वहां (पतिकुल)से नहीं। (अमुतः सुबद्धां करं) वहांसे तो मैं उत्तम प्रकार बंधी हुई करता हूं। हे (मीढ्वः इन्द्र) दाता इन्द्र! [यथा इयं] जिससे यह वधू (सुपुत्रा सुभगा असति) उत्तम पुत्रवाली और उत्तम भाग्यसे युक्त होवे ॥ १८ ॥

(त्वा वरुणस्य पाशात् प्र मुञ्चामि) तुझको मैं वरुणके पाशसे मुक्त करता हूं (येन त्वा सुशेवाः सविता अबध्नात्) जिससे तुझे सेवा करनेयोग्य सविताने बांधा था। (ऋतस्य योनौ सुकृतस्य लोके) सदाचारीके घरमें और सत्कर्म कर्ताके लोकमें (सह-संभलायै ते) पतिके सहवर्तमान तुझे (स्योनं अस्तु) सुख होवे ॥ १९ ॥

(भगः त्वा हस्तगृह्य इतः नयतु) भग तुझे हाथ पकडकर यहांसे चलावे, आगे (अश्विनौ त्वा रथेन प्र वहतां) अश्विदेव तुझे रथमें बिठलाकर पहुंचावें। अपने पतिके (गृहान् गच्छ) घरको जा। (यथा त्वं गृहपत्नी वशिनी असः) वहां तू घरकी स्वामिनी और सबको वशमें रखनेवाली हो। वहां (त्वं विदथं आवदासि) तू उत्तम विवेकका भाषण कर ॥२०॥

(इह ते प्रजायै प्रियं समृध्यतां) यहां तेरे संतानके लिये प्रिय की वृद्धि हो, (अस्मिन् गृहे गार्हपत्याय जागृहि) इस घरमें गृहस्थधर्मके लिये जागती रह। (एना पत्या तन्वं संस्पृशस्व) इस पतिके साथ अपने शरीरका स्पर्श कर (अथ जिर्विः) और तू वृद्ध होनेपर (विदथं आ वदासि) उत्तम उपदेश कर ॥ २१ ॥

(इह एव स्तं) यहांही रहो (मा वि यौष्टं) कभी वियुक्त न हो। [पुत्रैः नप्तृभिः क्रीडन्तौ] पुत्रों और नातियोंसे खेलते हुए [मोदमानौ स्वस्तकौ] आनंदित होकर अपने घरदारसे युक्त होते हुए [विश्वं आयुः व्यश्नुतं] पूर्ण आयुका भोग करो ॥ २२ ॥

भावार्थ- वधूका संबंध पितृकुलसे छूटे, परंतु पतिके कुलसे न छूटे। पतिकुलसे संबंध होवे। परमेश्वर इस वधूको पतिकुलमें उत्तम पुत्रोंसे युक्त और उत्तम भाग्यसे युक्त करे ॥ १८ ॥

विवाह होते ही कन्या वरुणके बन्धनोंसे मुक्त होती है। सविता देवनेही कन्याको वरुणके धर्मपाशोंसे बांधा होता है। कन्याका विवाह होते ही वह पतिके घर सदाचारी और सत्कर्म करनेवालोंके घरमें पहुंचती है। पतिका घर वधूको धर्मशिक्षा देनेवाला बने॥ १९॥

वधूका हाथ पकडकर भाग्यका देव उसको पहिले चलावे, अश्विनीदेव रथमें बिठलाकर विवाहके पश्चात् पतिके घर पहुंचावें इस तरह वधू पतिके घर पहुंचे। वहां पतिके घरकी स्वामिनी और सबको अपने वशमें रखनेवाली होकर रहे। ऐसी स्त्री ही योग्य प्रसंगमें उत्तम संमति दे सकती है ॥ २० ॥

इस धर्मपत्नीके संतान उत्तम सुखमें रहें। यह धर्मपत्नी अपना गृहस्थाश्रम उत्तम रीतिसे चलावे। यह धर्मपत्नी अपने पतिके साथ सुखसे रहे। जब इस तरह धर्ममार्गसे गृहस्थाश्रम चलाती हुई यह स्त्री वृद्ध होगी, तब यह योग्य संमति देने योग्य होगी॥ २१॥

स्त्री पुरुष अपनेही घरमें रहें, कभी विभक्त न हों। अपने बालबच्चोंके साथ खेलें, अपने घरमें आनंद मनावें और धर्मानुसार गृहस्थाश्रम चलाते हुए संपूर्ण आयुका उपभोग लें॥ २२॥

पूर्वापरं चरतो माययैतौ शिशू क्रीडन्तौ परि यातोऽर्णवम्।
विश्वान्यो भुवना विचष्ट ऋतूँरन्यो विदधज्जायसे नवः ॥ २३ ॥
नवोनवो भवसि जायमानोऽह्नां केतुरुषसामेष्यग्रम्।
भागं देवेभ्यो वि दधास्यायन् प्र चन्द्रमस्तिरसे दीर्घमायुः ॥ २४ ॥
परा देहि शामुल्यं ब्रह्मभ्यो वि भजा वसु। कृत्यैषा पद्वती भूत्वा जाया विशते पतिम् ॥२५॥
नीललोहितं भवति कृत्यासक्तिर्व्यज्यते। एधन्ते अस्या ज्ञातयः पतिर्बन्धेषु बध्यते ॥ २६ ॥
अश्लीला तनूर्भवति रुशती पापयामुया। पतिर्यद् वध्वो३ वाससः स्वमङ्गमभ्यूर्णुते ॥ २७ ॥

अर्थ-[एतौ शिशू क्रीडन्तौ] ये दोनों बालक खेलते हुए [मायया पूर्वापरं चरतः] शक्तिसे आगे पीछे चलते हैं और [अर्णवं परि यातः] समुद्रतक भ्रमण करते हुए पहुंचते हैं। [अन्यः विश्वा भुवना विचष्टे] उनमेंसे एक सब भुवनोंको प्रकाशित करता है और [अन्यः ऋतून् विदधत् नवः जायते] दूसरा ऋतुओंको बनाता हुआ नया नया बनता है ॥ २३ ॥

[जायमानः नवः नवः भवसि] प्रकट होता हुआ नया नया होता है। [अह्नां केतुः उषसां अग्रं एषि] दिनों को बतानेवाला और उषाओंके अग्र भागमें होता है। [आयन् देवेभ्यः भागं विदधासि] आता हुआ देवोंके लिये विभाग समर्पण करता है। तथा हे चन्द्रमा! [दीर्घं आयुः प्र तिरसे] तू दीर्घ आयु देता है ॥ २४ ॥

[शामुल्यं परा देहि] यह उत्तम वस्त्र दान कर। [ब्रह्मभ्यः वसु विभज] ब्राह्मणोंको धन दे। जब [एषा पद्वती कृत्या जाया भूत्वा] यह पांववाली कृत्या अर्थात् विनाशक स्वभाववाली स्त्री बनकर [पतिं विशते] पतिके पास आती है। ॥ २५ ॥

[नीललोहितं भवति] नीला और लाल बनता है, क्रोधयुक्त होता है तब [कृत्यासक्तिः व्यज्यते] विनाशकी इच्छा बढती है, [अस्या ज्ञातयः एधन्ते] इसके जातिके मनुष्य बढते हैं। और [पतिः बन्धेषु बध्यते] पति बन्धनमें बांधा जाता है ॥ २६ ॥

[यत् वध्वः वाससः] जब स्त्रीके वस्त्रसे [पति स्वं अंगं अभि ऊर्णुते] पति अपने शरीरको आच्छादित करता है, तब [अमुया पापया] इस पापी रीतिसे [रुशती तनूः] सुन्दर शरीर हुआ तो भी [अश्लीला भवति] शोभारहित होता है ॥ २७ ॥

भावार्थ-इन गृहस्थियोंके बालक छोटी बडी आयुवाले अपनी शक्तिसे खेलते कूदते हुए बडे होकर समुद्रतक पुरुषार्थ करते हुए चलें। एकने सब जगत को प्रकाशित किया, तो दूसरा ऋतुके अनुसार नवीन नवीन होकर उदयको प्राप्त हो। अर्थात् गृहस्थियोंके पुत्र अपने पुरुषार्थसे जगत् को प्रकाशित करें ॥ २३ ॥

गृहस्थी लोग नये नये उत्साहसे पुरुषार्थ करते हुए उषाओंको प्रकाशित करनेवाले सूर्यके समान सबके मार्गदर्शक बनें। यज्ञमें देवोंका भाग उनको समर्पण करें और [illegible] जीवन व्यतीत करते हुए संपूर्ण आयुका उपभोग लेवें ॥ २४ ॥

विवाहके समय उत्तम उत्तम वस्त्र [illegible] [illegible]णोंको दान दिये जाये, और उनको धन भी बांटा जाये। (वे ब्राह्मण वधूको सुशिक्षा देवें। यदि वधूको उत्तम शिक्षा न मिली) तो वह वधू पतिके घर प्रवेश करके सब कुलका विनाश कर सकती है। (वधूके अधर्माचरणसे कुलका नाश होता है) ॥ २५ ॥

[पति कुलमें वधूका अधर्माचरण होने लगा, तो] खून खराब होता है, उस दुराचारी वधूकी विनाशक बुद्धि बढ जाती है, उसके पिताके संबंधी लोग जमा हो जाते हैं, और इस प्रकार बिचारा पति बन्धनमें फंसता है। [इसलिये कन्याको सुशिक्षा देनी चाहिये।] ॥ २६ ॥

स्त्रीका वस्त्र पुरुष कभी न पहने। यदि किसीने पहना तो उससे पतिका तेजस्वी शरीर भी शोभारहितसा होजाता है॥२७॥

आशसनं विशसनमथो अधिविकर्तनम्। सूर्यायाः पश्य रूपाणि तानि ब्रह्मोत शुम्भति ॥२८॥
तृष्टमेतत् कटुकमपाष्ठवद्विषवन्नैतदत्तवे। सूर्यां यो ब्रह्मा वेद स इद् वाधूयमर्हति ॥ २९ ॥
स इत् तत् स्योनं हरति ब्रह्मा वासः सुमङ्गलम्। प्रायश्चित्तिं यो अध्येति येन जाया न रिष्यति
युवं भगं सं भरतं समृद्धमृतं वदन्तावृतोद्येषु ॥३०॥
ब्रह्मणस्पते पतिमस्यै रोचय चारु संभलो वदतु वाचमेताम् ॥ ३१ ॥
इहेदसाथ न परो गमाथेमं गावः प्रजया वर्धयाथ।
शुभं यतीरुस्रियाः सोमवर्चसो विश्वे देवाः क्रन्निह वो मनांसि ॥ ३२ ॥

अर्थ-[आशसनं विशसन] धारीवाला वस्त्र, सिरका वस्त्र तथा [अथो अधिविकर्तनं] और सर्वांगपर रहनेवाला वस्त्र इनमें [सूर्यायाः रूपाणि पश्य]सूर्याके रूप देख। [उत तानि ब्रह्मा शुम्भति] इनको ब्राह्मण तेजस्वी करता है ॥ २८ ॥

[एतत् तृष्टं] यह तृषा उत्पन्न करनेवाला है, [कटुकं] यह कडुवा है, [अपाष्टवत् विषवत्] यह घृणित और यह विषयुक्त अन्न है अतः [एतत् अत्तवे न] यह खानेके योग्य नहीं है। [यः ब्रह्मा सूर्यां वेद] जो ब्राह्मण सूर्याको इस तरह सिखाता है, [सः इत् वाधूयं अर्हति] वह निःसंदेह वधूकी ओरसे वस्त्र लेनेयोग्य है ॥ २९ ॥

[सः इत्] वही निश्चयसे (तत् सुमंगलं स्योनं वासः हरति) उस मंगल और सुखकर वस्त्रको लेता है। [यः प्रायश्चित्तिं अध्येति] जो प्रायश्चित्त प्रकरण अर्थात् चित्त शुद्ध करनेका अध्ययन कराता है' (येन जाया न रिष्यति) जिससे पत्नी नष्ट नहीं होती ॥ ३० ॥

(युवं ऋत-उद्येषु ऋतं वदन्तौ) तुम दोनों सत्य व्यवहारोंमें रह कर सत्य बोलते हुए (समृद्धं भगं संभरतं) समृद्धियुक्त भाग्य प्राप्त करो। हे ब्रह्मणस्पते! (पतिं अस्यै रोचय) पतिके विषयमें इस स्त्रीके मनमें रुचि उत्पन्न कर; (संभलः एतां वाचं चारु वदतु) पति इस वाणीको सुंदरतासे बोले ॥ ३१ ॥

हे (गावः) गौवो! (इह इत् असाथ) तुम यहां ही रहो। [न परः गमाथ] मत दूर जाओ। (इमं प्रजया वर्धयाथ) इसको उत्तम संततिके साथ बढाओ। हे [उस्रियाः] गौवो! आप [शुभं यतीः सोमवर्चसः] शुभको प्राप्त करानेवाली और चन्द्रके समान तेजस्वितासे युक्त होवो। [विश्वे देवाः वः मनांसि इह क्रन्] सब देव तुम्हारे मनोंको यहां स्थिर करें ॥ ३२ ॥

भावार्थ— एक वस्त्र धारीवाला होता है, दूसरा दुशाला जैसा चमकदार होता है, तीसरा ओढनेका वस्त्र होता है। इन वस्त्रोंसे वधूके रूपकी सुंदरता लायी जावे। इन वस्त्रोंके संबंधका योग्य ज्ञान ब्राह्मण गृहस्थियोंको देवे, जिससे वस्त्रोंके दोष दूर हो जांय ॥२८॥

एक अन्न तृष्णाको बढानेवाला, दूसरा कडुवा, तीसरा सडा हुआ और चौथा विषयुक्त होता है। इस प्रकारके अन्न गृहस्थियोंको खानेयोग्य नहीं हैं। इस तरह की शिक्षा देनेवाले ब्राह्मणको वधूकी ओरसे वस्त्र दिया जावे ॥ २९ ॥

जो ब्राह्मण चित्त शुद्ध करनेका ज्ञान जानता है, जिस ज्ञानके प्राप्त होनेसे स्त्री का विघात नहीं होता, इस प्रकारकी सुशिक्षा देनेवाले अध्यापक ब्राह्मणको ही मंगल और सुंदर वस्त्र देना योग्य है और ऐसा ब्राह्मण ही वस्त्रका दान लेवे ॥ ३० ॥

गृहस्थी स्त्रीपुरुष सीधे व्यवहार करें, सदा सत्य बोलें, और धनसंपत्ति कमावें। पत्नीके मनमें पतिके विषयमें बडा आदरभाव रहे और पति भी सुंदर और मधुर भाषण करे ॥ ३१ ॥

गृहस्थीके घरमें गौवें रहें, गौवें भाग न जावें। गौवें बछडे देती रहें। उनकी संख्या बढ जाय। गौवें शुभभाववाली और तेजयुक्त हों और गौवें भी घरवालोंपर प्रीति करें ॥ ३२ ॥

*

इमं गा॑वः प्र॒जया॒ सं वि॑शा॒थायं दे॒वानां॒ न मि॑नाति भा॒गम्।
अ॒स्मै वः॑ पू॒षा म॒रुत॑श्च॒ सर्वे॑ अ॒स्मै वो॑ धा॒ता स॑वि॒ता सु॑वाति ॥ ३३ ॥

अ॒नृ॒क्ष॒रा ऋ॒जवः॑ सन्तु॒ पन्था॑नो॒ येभिः॒ सखा॑यो॒ यन्ति॑ नो वरे॒यम्।
सं भगे॑न॒ सम॑र्य॒म्णा सं धा॒ता सृ॑जतु॒ वर्च॑सा ॥ ३४ ॥

यच्च॒ वर्चो॑ अ॒क्षेषु॒ सुरा॑यां च॒ यदाहि॑तम्। यद्गोष्व॑श्विना॒ वर्च॒स्तेने॒मां वर्च॑साऽवतम् ॥ ३५ ॥

येन॑ मह॒ानघ्न्या॑ ज॒घन॒मश्वि॑ना॒ येन॑ वा॒ सुरा॑। येना॒क्षा अ॒भ्यषि॑च्यन्त॒ तेने॒मां वर्च॑साऽवतम् ॥३६॥

यो अ॑नि॒ध्मो दी॒दय॑द॒प्स्व॑१न्तर्यं विप्रा॑स॒ ईड॑ते अध्व॒रेषु॑।
अपां॑ नपा॒न्मधु॑मतीर॒पो दा॒ याभि॒रिन्द्रो॑ वावृ॒धे वी॒र्या॑वान् ॥ ३७ ॥

अर्थ हे [गावः] गौवे ! [इमं प्रजया सं विशाथ] इसके घरमें अपनी संतानके साथ प्रवेश करो। [अयं देवानां भागं न मिनाति] यह देवोंके भागका लोप नहीं करता है। [पूषा सर्वे मरुतः] पूषा और सब मरुत [धाता सविता] विधाता और सविता [अस्मै अस्मै वः वः सुवाति] इसी मनुष्यके लिये तुमको उत्पन्न करता है ॥ ३३ ॥

[पन्थानः अनृक्षराः ऋजवः सन्तु] सब मार्ग कण्टकरहित और सरल हों, [येभिः नः सखायः वरेयं यन्ति] जिनसे हमारे सब मित्र कन्याके घरके प्रति पहुंचते हैं। [धाता भगेन अर्यम्णा वर्चसा सं सं सं सृजतु] विधाता, भग और अर्यमाके द्वारा तेजसे इसे संयुक्त करे ॥ ३४ ॥

हे [अश्विनौ] अश्विदेवो ! [यत् वर्चः अक्षेषु] जो तेज आंखोंमें होता है और [यत् सुरायां आहितं] जो संपत्तिमें रखा होता है, [यत् च वर्चः गोषु] जो तेज गौवोंमें है, [तेन वर्चसा इमां अवतं] उस तेजसे इसकी रक्षा करो ॥ ३५ ॥

हे [अश्विनौ] अश्विदेवो ! [येन महानघ्न्याः जघनं] जिससे बडी गौका जघन अर्थात् पिछला दुग्धाशयका भाग, [येन वा सुरा] जिससे संपत्ति, [येन अक्षाः अभ्यषिच्यन्त] जिससे आंखें भरपूर रहती हैं [तेन वर्चसा इमां अवतं] उस तेजसे इस वधूकी रक्षा करो ॥ ३६ ॥

[यः अप्सु अन्तः अनिध्मः दीदयत्] जो जलोंमें इन्धनोंके विना चमकता है, [यं विप्रासः अध्वरेषु ईडते] जिसकी ज्ञानी लोग यज्ञोंमें स्तुति करते हैं। हे [अपां नपात् ! मधुमतीः अपः दाः] जलोंको न गिरानेवाले देव ! वैसा मधुर जल हमें दो। [याभिः वीर्यावान् इन्द्रः वावृधे] जिनसे वीर्यवान् इन्द्र बढता है ॥ ३७ ॥

भावार्थ-गौवें अपने बछडोंके साथ घरमें प्रवेश करें। गृहस्थ देवयज्ञ प्रतिदिन करे, कभी यज्ञका लोप न हो। सब देव इस गृहस्थीके घरमें गौवोंकी संख्या बढावें ॥ ३३ ॥

वरके तथा वधूके घर जानेके मार्ग कंटकरहित और सरल हों। परमेश्वर इन गृहस्थियोंको तेजस्वी करके समृद्ध करे ।३४।

जो तेज आंखोंमें, ऐश्वर्यमें और गौवोंमें होता है, उस तेजसे यह वधू युक्त हो। यह स्त्री तेजस्विनी हो ॥ ३५ ॥

जिस तेजसे गौका दुग्धाशय तेजस्वी हुआ है, जो तेज ऐश्वर्यमें और आंखमें होता है, उस तेजसे यह स्त्री युक्त होवे और यह स्त्री धर्माचरणमें सुरक्षित रहे ॥ ३६ ॥

जलोंमें इन्धनोंके विना चमकनेवाला तेज है, यज्ञोंमें द्विजोंका ज्ञानरूप तेज है, और जलोंमें मधुरता है और वीर्य भी है। इन तेज, ज्ञान, माधुर्य और वीर्य से ये गृहस्थी युक्त हों। इन्द्र इन्हींके आधिक्यसे सबसे महान् हुआ है ॥ ३७ ॥

इदमहं रुशन्तं ग्राभं तनूदूषिमपोहामि । यो भद्रो रोचनस्तमुदचामि ॥ ३८ ॥
आस्यै ब्राह्मणाः स्नपनीर्हरन्त्ववीरघ्नीरुदजन्त्वापः ।
अर्यम्णो अग्निं पर्येतु पूषन् प्रतीक्षन्ते श्वशुरो देवरश्च ॥ ३९ ॥
शं ते हिरण्यं शमु सन्त्वापः शं मेथिर्भवतु शं युगस्य तर्द्म ।
शं त आपः शतपवित्रा भवन्तु शमु पत्या तन्वं १ सं स्पृशस्व ॥ ४० ॥ (४)
खे रथस्य खेऽनसः युगस्य शतक्रतो । अपालामिन्द्र त्रिष्पूत्वाऽकृणोः सूर्यत्वचम् ॥ ४१ ॥
आशासाना सौमनसं प्रजां सौभाग्यं रयिम् । पत्युरनुव्रता भूत्वा सं नह्यस्वामृताय कम् ॥४२ ॥

अर्थ- [इदं अहं तनूदूषिं रुशन्तं ग्राभं अपोहामि] यह मैं शरीरमें दोष उत्पन्न करनेवाले विनाशक रोगको दूर करता हूं। और [यः भद्रः रोचनः तं उदचामि] जो कल्याणमय तेजस्वी है, उसको पास करता हूं ॥ ३८ ॥

[ब्राह्मणाः अस्यै स्नपनीः आपः आहरन्तु] ब्राह्मण लोग इसके लिये स्नानका जल ले आवें। [अवीरघ्नीः आपः उदजन्तु] वीरका नाश न करनेवाला जल वे लावें। [अर्यम्णः अग्निं पर्येतु] वह अर्यमाकी अग्निकी प्रदक्षिणा करे। हे [पूषन्] पूषा! [श्वशुरः देवरः च प्रतीक्षन्ते] ससुर और देवर प्रतीक्षा करें ॥ ३९ ॥

[ते हिरण्यं शं] तेरे लिये सुवर्ण कल्याणकारी होवे. [उ आपः शं सन्तु] और जल सुखकर होवे, [मेथिः शं भवतु] गौ बांधनेका स्तंभ सुखदायी हो। तथा (युगस्य तर्द्म शं] युगका छिद्र सुखकर हो. [ते शतपवित्राः आपः शं भवन्तु] तेरे लिये सौ प्रकारसे पवित्रता करनेवाला जल सुखदायी होवे। [पत्या तन्वं शं संस्पृशस्व] पतिके साथ अपने शरीरका स्पर्श सुखकारक रीतिसे कर ॥ ४० ॥

हे [शतक्रतो इन्द्र] सैकडों कर्म करनेवाले इन्द्र! [रथस्य खे] रथके छिद्रमें, [अनसः खे] गाडेके छिद्रमें और [युगस्य खे] युगके छिद्रमें [अपालां त्रिः पूत्वा] अयोग्य रीतिसे पाली हुई युवतीको तीन वार पवित्र करके [सूर्यत्वचं अकृणोः] सूर्यके समान तेजस्वी त्वचावाली तूने किया ॥ ४१ ॥

[सौमनसं प्रजां सौभाग्यं रयिं आशासाना] उत्तम मन, संतान सौभाग्य और धन की आशा करनेवाली तू [पत्युः अनुव्रता भूत्वा] पतिके अनुकूल आचरण करनेवाली होकर [अमृताय कं सं नह्यस्व] अमरत्वके लिये सुखपूर्ण रीतिसे सिद्ध हो ॥ ४२ ॥

भावार्थ- शरीरमें दोष उत्पन्न करनेवाले रोगबीजोंको दूर करना चाहिये और जिससे शरीर नीरोगी और आनन्दप्रसन्न होता है, उनको पास करना चाहिये ॥ ३८ ॥

ब्राह्मण लोग बतावें कि यह जल स्नान करनेयोग्य है, यह जल भीरुता का नाश करके बल बढानेवाला है। वधूवर श्रेष्ठ मन धारण करके अग्निको प्रदक्षिणा करें। श्रेष्ठ गुणवाली वधूकी प्रतीक्षा पतिगृहमें ससुर और देवर करते रहते हैं ॥ ३९ ॥

सुवर्ण, जल, गौका बंधनस्तंभ, जुगके भाग आदि सब कुटुंबके कल्याण करनेवाले हों। जल तो सौ प्रकारसे पवित्रता करनेवाला है। गृहस्थके घरमें धर्मपत्नी पतिके साथ दिल जमाकर रहे ॥ ४० ॥

गृहस्थ तथा स्त्री अपनी तीन प्रकारकी शुद्धता प्रभुकी कृपासे करके सूर्यके समान तेजस्वी बनकर यहां विराजे ॥ ४१ ॥

गृहस्थके घरमें स्त्री उत्तम मन, संतान, सौभाग्य व धन की इच्छा करती हुई, पतिके अनुकूल कर्म करती हुई, अमरत्व प्राप्तिके श्रेष्ठ सुखदायी मार्गका आक्रमण करे ॥ ४२ ॥

यथा सिन्धुर्नदीनां साम्राज्यं सुषुवे वृषा । एवा त्वं सम्राज्ञ्येधि पत्युरस्तं परेत्य ॥४३॥
सम्राज्ञ्येधि श्वशुरेषु सम्राज्ञ्युत देवृषु । ननान्दुः सम्राज्ञ्येधि सम्राज्ञ्युत श्वश्र्वाः ॥४४॥
या अकृन्तन्नवयन् याश्च तत्निरे या देवीरन्ताँ अभितोऽददन्त ।
तास्त्वा जरसे सं व्ययन्त्वायुष्मतीदं परि धत्स्व वासः ॥४५॥
जीवं रुदन्ति वि नयन्त्यध्वरं दीर्घामनु प्रसितिं दीध्युर्नरः ।
वामं पितृभ्यो य इदं समीरिरे मयः पतिभ्यो जनये परिष्वजे ॥४६॥
स्योनं ध्रुवं प्रजायै धारयामि तेऽश्मानं देव्याः पृथिव्या उपस्थे ।
तमा तिष्ठानुमाद्या सुवर्चा दीर्घं त आयुः सविता कृणोतु ॥४७॥

अर्थ- [यथा वृषा सिन्धुः] जैसा बलशाली समुद्र [नदीनां साम्राज्यं सुषुवे] नदियोंपर साम्राज्य चलाता है, [एव त्वं पत्युः अस्तं परेत्य] वैसी तू पतिके घर पहुंचकर [साम्राज्ञी एधि] सम्राज्ञी होकर वहां रह ॥ ४३ ॥

[श्वशुरेषु सम्राज्ञी एधि] ससुरोंमें स्वामिनीके समान होकर रह । [उत देवृषु सम्राज्ञी] देवरोंमें भी महारानीके समान आदरसे रह । [ननान्दुः सम्राज्ञी एधि] ननदके साथ भी रानीके समान रह और [उत श्वश्र्वाः सम्राज्ञी] सासके साथ भी सम्राट्की स्त्रीके समान होकर रह ॥४४॥

[याः देवीः अकृन्तन्] जिन देवियोंने स्वयं सूत काता है, [याः च अवयन्] जिन्होंने बुना है, [याः च तत्निरे] जो ताना तानती है, [याः च अभितः अन्तान् ददन्त] और चारों ओर अन्तिम भागोंको ठीक रखती हैं, [ताः त्वा जरसे सं व्ययन्तु] वे तुझे वृद्धावस्थातक रहनेके लिये बुनें । तू [आयुष्मती इदं वासः परि धत्स्व] दीर्घ आयुवाली होकर इस वस्त्रको धारण कर ॥ ४५ ॥

[जीवं रुदन्ति] जीवित मनुष्यके विदाई पर लोग रोते है, [अध्वरं विनयन्ति] यज्ञको साथ ले जाते हैं, [नरः दीर्घां प्रसितिं अनु दीध्युः] मनुष्य दीर्घ मार्गका विचार करते हैं । [ये पितृभ्यः इदं वामं समीरिरे] जो लोग अपने मातापिताके लिये यह सुन्दर कार्य करते हैं, वह [पतिभ्यः मयः जनये परिष्वजे] पतिके लिये सुखदायी है, जो स्त्रीको आलिंगन करना है ॥ ४६ ॥

[देव्याः पृथिव्याः उपस्थे] पृथ्वी देवीके पास [ते प्रजायै स्योनं ध्रुवं अश्मानं धारयामि] तेरी संतानके लिये सुखदायी स्थिर पत्थर जैसा आधार करता हूं । [तं आतिष्ठ] उसपर खडा रह, [अनुमाद्याः] आनंदित हो, [सुवर्चाः] उत्तम तेजसे युक्त हो । और [सविता ते आयुः दीर्घं कृणोतु] सविता तेरी आयु लंबी बनावे ॥ ४७ ॥

भावार्थ— जैसा महासागर नदियोंका सम्राट् है, इस प्रकार पतिके घर पहुंचकर यह वधू गृहस्थको सम्राट् और अपनेको उसकी सम्राज्ञी बनाकर व्यवहार करे ॥ ४३ ॥

ससुर, देवर, ननद और सास आदि सबके साथ रानीके समान बर्ताव कर और सबको सुख देवे ॥ ४४ ॥

घरमें देवियां सूत कातें, कपडा बुनें, ताना तानें, कपडेके अन्तिम भाग ठीक करें । ऐसा उत्तम कपडा बुनें कि जो वृद्धावस्थातक काम देवे । स्त्री दीर्घायु बनकर इस कपडेको पहने ॥ ४५ ॥

विदाईपर मनुष्य रोया करते हैं । परंतु यह कन्या यद्यपि पितृकुलसे विदा होती है, तथापि पतिके घरमें गृहयज्ञ करनेके लिये जा रही है, अतः इस गृहस्थाश्रमके दीर्घ मार्गका लोग विचार करें और न रोयें । पितृघरके लोगोंको तो यह सुख का दिन है, क्योंकि यह वधूके यज्ञका प्रारंभ है । यह वधू पतिको सुख देती है और पति इसको आलिंगनसे सुख देता है । परस्पर सुख-वृद्धि करनाही गृहस्थका यज्ञ है ॥ ४६ ॥

इस भूमिपर तेरी संतान सुखपूर्वक दीर्घ काल रहे इसलिये यह पत्थरका आधार रखता हूं । इसपर चढ, आनंदित और तेजस्वी हो । इस तरह गृहस्थाश्रममें सुखसे रहनेसे तेरी आयु दीर्घ होगी ॥ ४७ ॥

येनाग्निरस्या भूम्या हस्तं जग्राह दक्षिणम् ।
तेन गृह्णामि ते हस्तं मा व्यथिष्ठा मया सह प्रजया च धनेन च ॥४८॥
देवस्ते सविता हस्तं गृह्णातु सोमो राजा सुप्रजसं कृणोतु ।
अग्निः सुभगां जातवेदाः पत्ये पत्नीं जरदष्टिं कृणोतु ॥४९॥
गृह्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथासः ।
भगो अर्यमा सविता पुरंधिर्मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः ॥५०॥(५)
भगस्ते हस्तमग्रहीत् सविता हस्तमग्रहीत्। पत्नी त्वमसि धर्मणाऽहं गृहपतिस्तव ॥५१॥
ममेयमस्तु पोष्या मह्यं त्वादाद्बृहस्पतिः। मया पत्या प्रजावति सं जीव शरदः शतम् ॥५२॥

अर्थ- [येन अग्निः] जिससे अग्निने [अस्याः भूम्याः दक्षिणं हस्तं जग्राह] इस भूमिका दायां हाथ ग्रहण किया, [तेन ते हस्तं गृह्णामि] उसी उद्देश्यसे तेरा हाथ मैं पकडता हूं, [मा व्यथिष्ठाः] दुःख मत कर, [मया सह प्रजया च धनेन च] मेरे साथ प्रजा और धनके साथ रह ॥ ४८ ॥

[सविता देवः ते हस्तं गृह्णातु] सविता देव तेरा पाणिग्रहण करे । [राजा सोमः सुप्रजसं कृणोतु] राजा सोम उत्तम सन्तानयुक्त करे । [जातवेदाः अग्निः पत्ये सुभगां पत्नीं जरदष्टिं कृणोतु] जातवेद अग्नि पतिके लिये सौभाग्य युक्त स्त्री वृद्धावस्थातक जीनेवाली करे ॥ ४९ ॥

[ते हस्तं सौभगत्वाय गृह्णामि] तेरा हाथ मैं सौभाग्यके लिये पकडता हूं । [यथा मया पत्या जरदष्टिः असः] जिससे तू मुझ पतिके साथ वृद्धावस्थातक जीनेवाली होकर रह । भग, अर्यमा, सविता, पुरंधि । और सब देवोंने [त्वा मह्यं गार्हपत्याय अदुः] तुझको मेरे हाथमें गृहस्थाश्रम चलानेके लिये दिया है ॥ ५० ॥

[भगः ते हस्तं अग्रहीत्] भगने तेरा हाथ पकडा है, [सविता हस्तं अग्रहीत] सविताने हाथ पकडा है, [त्वं धर्मणा पत्नी असि] तू धर्मसे मेरी पत्नी है, [अहं तव गृहपतिः] मैं तेरा गृहपति हूं ॥ ५१ ॥

[इयं मम पोष्या अस्तु] यह स्त्री मेरी पोषण करनेयोग्य हो । [बृहस्पतिः त्वा मह्यं अदात्] बृहस्पतिने मुझे तुझको दिया है । हे [प्रजावति] संतानवाली स्त्री ! [मया पत्या शरदः शतं संजीव] मुझ पतिके साथ तू सौ वर्ष-तक जीवित रह ॥ ५२ ॥

भावार्थ-जैसा अग्नि और भूमिका संबंध है, वैसे संबंधके लिये मैं इस वधूका पाणिग्रहण करता हूं । वधूको कष्ट न हों । यह वधू मेरे साथ प्रजा, धन और ऐश्वर्यसे युक्त हो ॥४८॥

सविता जैसा तेजस्वी बनकर पति स्त्रीका पाणिग्रहण करे, और सोम जैसा कलायुक्त होकर धर्मपत्नीमें संतान उत्पन्न करे । पतिपत्नी मिलकर दोनों इस गृहस्थाश्रममें वृद्धावस्थातक आनन्दसे रहें ॥ ४९ ॥

हे स्त्री ! मैं पति तेरा पाणिग्रहण सौभाग्यप्राप्तिके लिये करता हूं । मुझ पतिके साथ तू वृद्धावस्थातक रह । सब देवोंने तुझको गृहस्थाश्रम चलानेके लिये मेरे हाथमें सौंप दिया है ॥ ५० ॥

भग अर्थात् धनवान होकर और सविता जैसा समर्थ और तेजस्वी होकर तेरा पाणिग्रहण मैं करता हूं । अबसे तू धर्मके अनुसार मेरी धर्मपत्नी हो और मैं तेरा गृहपति हूं ॥ ५१ ॥

यह धर्मपत्नी मेरे (पतिके) द्वारा पोषण होने योग्य है । परमेश्वरने इसे मेरे हाथमें दी है । यहां यह सन्तानोंसे युक्त हो और मुझ पतिके साथ सौ वर्ष रहे ॥ ५२ ॥

प्र त्वा मुञ्चामि वरुणस्य पाशाद् येन त्वाऽबध्नात् सविता सुशेवाः ।
उरुं लोकं सुगमत्र पन्थां कृणोमि तुभ्यं सहपत्न्यै वधु ॥५८॥

उद्यच्छध्वमप रक्षो हनाथेमां नारीं सुकृते दधात ।
धाता विपश्चित् पतिमस्यै विवेद भगो राजा पुर एतु प्रजानन् ॥५९॥

भगस्ततक्ष चतुरः पादान् भगस्ततक्ष चत्वार्युष्पलानि ।
त्वष्टा पिपेश मध्यतोऽनु वर्ध्रान्त्सा नो अस्तु सुमङ्गली ॥६०॥

सुकिंशुकं वहतुं विश्वरूपं हिरण्यवर्णं सुवृतं सुचक्रम् ।
आ रोह सूर्ये अमृतस्य लोकं स्योनं पतिभ्यो वहतुं कृणु त्वम् ॥६१॥

अभ्रातृघ्नीं वरुणापशुघ्नीं बृहस्पते । इन्द्रापतिघ्नीं पुत्रिणीमास्मभ्यं सवितर्वह ॥६२॥

अर्थ- हे (वधु) स्त्री ! [त्वा वरुणस्य पाशात् प्रमुञ्चामि] तुझको वरुणके पाशसे मुक्त करता हूं । [येन सुशेवाः सविता त्वा अबध्नात्) जिससे सेवा करनेयोग्य सविताने तुझे बांध दिया था । [तुभ्यं सहपत्न्यै] तुझ सहधर्मचारिणीके लिये (अत्र उरुं लोकं सुगं पन्थां कृणोमि] यहां विस्तृत स्थान और उत्तम गमनयोग्य मार्ग करता हूं ॥ ५८ ॥

[उद् यच्छध्वं] अपने शस्त्रोंको ऊपर उठाओ । (रक्षः अप हनाथ) राक्षसोंको मारो । (इमां नारीं सुकृते दधात) इस स्त्रीको पुण्य कर्ममें रखो । (विपश्चित् धाता अस्मै पतिं विवेद) ज्ञानी विधाताने इसके लिये पति प्राप्त कराया है । (भग राजा प्रजानन् पुरः एतु) राजा भग जानता हुआ आगे बढे ॥ ५९ ॥

(भगः चतुरः पादान् ततक्ष] भगने चार पावोंको बनाया, उनपर (भगः चत्वारि उष्पलानि ततक्ष) भगने चार कमलोंको बनाया । [त्वष्टा मध्यतः वर्ध्रान् अनु पिपेश] त्वष्टाने मध्यमें कमरपट्टोंको बनाया । (सा नः सुमंगली अस्तु) वह हमारे लिये उत्तम मंगल करनेवाली होवे ॥ ६० ॥

हे (सूर्ये) सूर्ये ! (सुकिंशुकं विश्वरूपं हिरण्यवर्णं सुवृतं सुचक्रं वहतुं आरोह) उत्तम पुष्पोंसे युक्त, अनेक रूपवाला, सोनेके रंगके समान चमकनेवाला, उत्तम वेष्टनोंसे युक्त, उत्तम चक्रोंसे युक्त हुए रथपर चढ । (अमृतस्य लोकं आरोह) अमृतके लोकपर चढ । (त्वं वहतुं पतिभ्यः स्योनं कृणु) तू इस विवाह दहेज या रथको पतियोंके लिये सुखदायी कर॥६१॥

हे(वरुण बृहस्पते इन्द्र सवितः देवो! (अभ्रातृघ्नी) यह वधू भाईयोंका वध न करनेवाली,(अपशुघ्नीं,अपतिघ्नीं,पुत्रिणीं अस्मभ्यं वह)पशुका वध न करनेवाली पतिका नाश न करनेवाली और पुत्र उत्पन्न करनेवाली हमारे लिये प्राप्त करो॥६२॥

भावार्थ- सविताने तुझे इस समयतक जिन पाशोंसे बांध रखा था, उन वरुणके पाशोंको मैं खोलता हूं । तुझ जैसी सुयोग्य धर्मपत्नीके लिये यहां विस्तृत लोक प्राप्त हुआ है और उन्नतिका मार्ग सुगम हुआ है ॥ ५८ ॥

इस धर्मपत्नीको कष्ट देनेवाले राक्षसोंका नाश करनेके लिये तुम लोग हथियार सदा सुसज्जित रखो । सदा इस स्त्रीको पुण्यकर्ममें लगाओ, ज्ञानी विधाताकी संमतिसे इसको यह पति प्राप्त हुआ है, राजा भी यह जानता हुआ विवाहमें अग्रगामी हुआ था ॥ ५९ ॥

भगने पांवोंके चार आभूषण और शरीरपर धारण करनेके चार फूल बनाये और कमरमें धारण करनेयोग्य कमरपट्टा बनाया है । इनको धारण करके यह स्त्री उत्तम मंगलमयी बने ॥ ६० ॥

यह वधू उत्तम फूलोंसे युक्त, सुंदर, सोनेके नक्शी कामसे सुशोभित उत्तम चक्रवाले रथपर चढकर अमर पदके मार्गका आक्रमण करे । यह धर्मपत्नीका विवाहमंगल पतिके घरवालोंके लिये सुखकारक होवे ॥ ६१ ॥

यह स्त्री पतिके घरमें पतिके भाई, पशु आदिकोंको सुख देवे । पतिको सुख देवे । पुत्रोंको उत्पन्न करे । और सबका आनन्द बढानेवाली बने ॥ ६२ ॥

मा हिंसिष्टं कुमार्यं१ स्थूणे देवकृते पथि । शालाया देव्या द्वारं स्योनं कृण्मो वधूपथम् ॥६३॥
ब्रह्मापरं युज्यतां ब्रह्म पूर्वं ब्रह्मान्ततो मध्यतो ब्रह्म सर्वतः ।
अनाव्याधां देवपुरां प्रपद्य शिवा स्योना पतिलोके वि राज ॥६४॥

॥ इति प्रथमोऽनुवाकः ॥

[२]

तुभ्यमग्ने पर्यवहन्त्सूर्यां वहतुना सह । स नः पतिभ्यो जायां दा अग्ने प्रजया सह ॥१॥
पुनः पत्नीमग्निरदादायुषा सह वर्चसा । दीर्घायुरस्या यः पतिर्जीवाति शरदः शतम् ॥२॥
सोमस्य जाया प्रथमं गन्धर्वस्तेऽपरः पतिः । तृतीयो अग्निष्टे पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजाः ॥३॥

अर्थ- हे (स्थूणे) दोनों स्तंभो ! (देवकृते पथि) देवोंके बनाये मार्गपर (कुमार्यं मा हिंसिष्टं) इस कुमारी वधूकी हिंसा न कर। (देव्याः शालायाः द्वारं वधूपथं स्योनं कृण्मः) बरकर देवताके द्वारमें वधू जानेके मार्गको हम सुखकर करते हैं ॥ ६३ ॥

(अपरं पूर्वं अन्ततः मध्यतः सर्वतः ब्रह्म युज्यतां) आगे पीछे अन्तमें बीचमें अर्थात् सर्वत्र ब्रह्म अर्थात् ईशप्रार्थनाके मंत्रोंका प्रयोग किया करो। हे वधू ! तू (अनाव्याधां देवपुरां प्रपद्य) व्याधिरहित देवनगरीको प्राप्त होकर (पतिलोके शिवा स्योना वि राज) अपने पतिके स्थानमें कल्याणकारिणी और सुख देनेवाली होकर प्रकाशित हो ॥ ६४ ॥

इति प्रथमोऽनुवाकः।

अर्थ- हे अग्ने ! (अग्ने तुभ्यं) आरंभमें तेरे लिये (वहतुना सह सूर्यां पर्यवहन्) दहेजके साथ सूर्याको ले आते हैं। (सः) वह तू (नः पतिभ्यः) हम सब पतियोंको (प्रजया सह जायां दाः) संतानसहित पत्नीको प्रदान कर ॥ १॥

(आयुषा वर्चसा सह) दीर्घायुष्य और तेजके साथ (अग्निः पत्नीं पुनः अदात्) अग्निने पत्नीको पुनः प्रदान किया। (अस्याः यः पतिः) इसका जो पति है, वह (दीर्घायुः शरदः शतं जीवाति) दीर्घायु बनकर सौ वर्ष जीवित रहता है ॥ २ ॥

(प्रथमं सोमस्य जाया) सबसे प्रथम सोमकी स्त्री है, (ते अपरः पतिः गन्धर्वः) तेरा दूसरा पति गन्धर्व है। (ते तृतीयः पतिः अग्निः) तेरा तीसरा पति अग्नि है और [ते तुरीयः मनुष्यजाः] तेरा चतुर्थ पति मानव है ॥ ३ ॥

भावार्थ— यह वधू देवोंके मार्गसे जा रही है, अतः इसको किसी तरह कष्ट न हों। इसके पतिके घरका मार्ग और इसके पतिके घरका द्वार इसके लिये सुखदायी होवे ॥ ६३ ॥

इस वधूके चारों ओर ज्ञान और ईशप्रार्थनाका वायुमंडल हो। जहां व्याधि नहीं है ऐसी पतिके घररूप देवनगरीको यह वधू प्राप्त हो। पतिके घरमें सुखयुक्त और कल्याणयुक्त बनकर यह विराजे ॥ ६४ ॥

इति प्रथमोऽनुवाकः।

दहेज पतिके घर भेजनेके पूर्व कन्या अग्निकी उपासना प्रथम करती है, जिससे उस कन्याको पतिके घर सुख और उत्तम संतान प्राप्त होती है ॥ १ ॥

अग्नि उपासना अर्थात् यजन अथवा हवन करनेसे दीर्घ आयुष्य, और शारीरिक कान्ति प्राप्त होती है। कन्याका पति भी इस हवनसे दीर्घजीवी अर्थात् शतायु हो सकता है ॥ २ ॥

सोम, गन्धर्व, अग्नि ये बचपनमें कन्याके तीन पति हैं। और पश्चात् उस कन्याका विवाह मनुष्य पतिके साथ होता है॥३॥

सोमो॑ ददद् गन्धर्वाय॑ गन्धर्वो द॑दद्ग्नये॑। र॒यिं च॑ पु॒त्रांश्चा॑दाद॒ग्निर्मह्य॑मथो॑ इ॒माम् ॥४॥
आ वा॑मगन्त्सुम॒तिर्वा॑जिनीवसू॒ न्य॑श्विना हृ॒त्सु कामा॑ अरंसत।
अभू॑तं गो॒पा मि॑थु॒ना शु॑भस्पती प्रि॒या अ॑र्य॒म्णो दु॒र्याँ॑ अशीमहि ॥५॥
सा म॑न्दसा॒ना मन॑सा शि॒वेन॑ र॒यिं धे॑हि॒ सर्व॑वीरं वच॒स्य॑म्।
सु॒गं ती॒र्थं सु॑प्रपा॒णं शु॑भस्पती स्था॒णुं प॑थि॒ष्ठामप॑ दुर्म॒तिं ह॑तम् ॥६॥
या ओष॑धयो॒ या न॒द्यो॒३॒॑ यानि॒ क्षेत्रा॑णि॒ या वना॑। तास्त्वा॑ वधु प्र॒जाव॑तीं॒ पत्ये॑ रक्षन्तु र॒क्षसः॑ ॥७॥
एमं पन्था॑मरुक्षाम सु॒गं स्व॑स्ति॒वाह॑नम्। यस्मि॑न् वी॒रो न रिष्य॑त्य॒न्येषां॑ वि॒न्दते॑ वसु॑ ॥८॥

अर्थ-- जिसको [सोमः गन्धर्वाय ददत्] सोमने गन्धर्वको दी (गन्धर्वः अग्नये ददत्) गन्धर्वने अग्निको दी, [अथो इमां] और इसी कन्याको तथा [रयिं च पुत्रान् च अग्निः मह्यं अदात्] धन और पुत्रोंको अग्निने मुझे प्रदान किया ॥ ४ ॥

[वा सुमतिः आगन्] आपकी उत्तम मति प्राप्त हुई है। हे [वाजिनीवसू अश्विनौ] बल और धनयुक्त अश्विनी-देवो! [कामाः हृत्सु नि अरंसत] हमारी शुभ इच्छाएं हृदयोंमें स्थिर हो गई हैं। हे [शुभस्पती] शुभके पालको! [मिथुना गोपा अभूतं] तुम दोनों इन्द्रियोंके पालक बनो। [अर्यम्णः प्रियाः दुर्यान् अशीमहि] आर्य मनवाले श्रेष्ठ देवके प्रिय होकर हम उत्तम घरोंको प्राप्त हों ॥ ५ ॥

[सा मन्दसाना] वह आनन्दित रहनेवाली तू स्त्री [शिवेन मनसा] शुभ भावनायुक्त मनसे [सर्ववीरं वचस्यं रयिं धेहि] सर्व वीरोंसे युक्त प्रशंसनीय धनकी धारणा कर। हे (शुभस्पती) शुभके पालको! हमारे लिये (तीर्थं सुगं) तैरनेका स्थान सुगम हो, (सुप्रपाणं) उत्तम जल पीनेका स्थान हो, तथा (पथिष्ठां स्थाणुं) मार्गमें प्रतिबंध करनेवाले स्तंभ जैसी (दुर्मतिं) दुष्ट बुद्धिवाले शत्रुको (हतं) मार कर दूर करो ॥ ६ ॥

हे वधु! (याः ओषधयः) औषधियां, जो (या नद्यः) जो नदियाँ, (यानि क्षेत्राणि) जो क्षेत्र, और (या वना) जो वन हैं (ताः) वे सब पदार्थ (पत्ये प्रजावतीं त्वा) पतिके लिये संतानयुक्त तुझको (रक्षसः रक्षन्तु) राक्षसोंसे सुरक्षित रखें ॥ ७ ॥

(इमं पन्थां आरुक्षाम) इस मार्गसे चलें, यह [सुगं स्वस्तिवाहनं] सुगम और गाडीके लिये भी सुखकर है, (यस्मिन् वीरः न रिष्यति) जिसमें वीरका नाश नहीं होगा और (अन्येषां वसु विन्दते) दूसरोंकी अपेक्षा यहां धन अधिक मिलता है ॥ ८ ॥

भावार्थ— सोम गन्धर्वको देता है, गन्धर्व अग्निके हाथमें समर्पण करता है और अग्नि पुत्रोत्पादनशक्तिके साथ मनुष्यके स्वाधीन इस कन्याको करता है ॥ ४ ॥

उक्त देवोंके आधिपत्यमें कन्याको उत्तम बुद्धि प्राप्त होती है। पश्चात् उसके हृदयमें कामको स्थान मिलता है। उस समय अश्विनी देव इन वधूवरोंके रक्षक होते हैं। इस समय अपना मन श्रेष्ठ विचारोंसे युक्त करके अपने घरोंमें सबको वास करना उचित है ॥ ५ ॥

अपने पतिके घरमें आनन्दसे रहनेवाली धर्मपत्नी अपने मनमें शुभसंकल्प धारण करे और वीरभावयुक्त संतान और प्रशंसा योग्य धनकी स्वामिनी बने। इस दंपतीके मार्ग सुगम हों, इनको पर्याप्त खानपान प्राप्त हो, और इनके उन्नतिके मार्ग निष्कण्टक हों और दुष्ट बुद्धि इनसे दूर हो ॥ ६ ॥

औषधियां, नदियां, खेत, स्थान, बन आदि सब स्थानोंमें संतानोंवाली और पतिके घर आनेवाली इस स्त्रीकी रक्षा हो, अर्थात् कोई राक्षस इसको दुःख न पहुंचावे ॥ ७ ॥

जो मार्ग सुगम और निर्भय हो उससे आगे बढो। और इस मार्गसे जाओ कि जिसमें उत्तम निवासके साधन मिलते हों ॥ ८

*

इदं सु मे नरः शृणुत ययाऽऽशिषा दम्पती वाममश्नुतः ।
ये गन्धर्वा अप्सरसश्च देवीरेषु वानस्पत्येषु येऽधि तस्थुः ।
स्योनास्ते अस्यै वध्वै भवन्तु मा हिंसिषुर्वहतुमुह्यमानम् ॥९॥
ये वध्वश्चन्द्रं वहतुं यक्ष्मा यन्ति जनाँ अनु । पुनस्तान् यज्ञिया देवा नयन्तु यत आगताः॥१०॥
मा विदन् परिपन्थिनो य आसीदन्ति दम्पती । सुगेन दुर्गमतीतामप द्रान्त्वरातयः ॥११॥
सं काशयामि वहतुं ब्रह्मणा गृहैरघोरेण चक्षुषा मित्रियेण ।
पर्याणद्धं विश्वरूपं यदस्ति स्योनं पतिभ्यः सविता तत् कृणोतु ॥१२॥
शिवा नारीयमस्तमागन्निमं धाता लोकमस्यै दिदेश ।
तामर्यमा भगो अश्विनोभा प्रजापतिः प्रजया वर्धयन्तु ॥१३॥

अर्थ- हे (नरः) मनुष्यो! (मे इदं सुशृणुत) मेरा यह भाषण सुनो । (यथा आशिषा) जिस आशीर्वादसे (दम्पती वामं अश्नुतः) ये वर और वधू सुखको प्राप्त होते हैं । (एषु वानस्पत्येषु) इस वनमें (ये गन्धर्वाः देवीः अप्सरसः अधि तस्थुः) जो गन्धर्व और अप्सराएं ठहरी हैं, (ते अस्यै वध्वै स्योना भवन्तु) वे इस वधूके लिये सुखदायी हों और (उह्यमानं वहतुं मा हिंसिषुः) दहेज ले जानेवाले इस रथका नाश न करें ॥ ९ ॥

(ये यक्ष्माः जनान् अनु) जो रोग मनुष्योंके संबन्धसे (वध्वः चन्द्रं वहतुं यन्ति) वधूके तेजस्वी दहेज रथके पास पहुंचते हैं, (तान् आगताः यज्ञियाः देवाः) उन रोगोंको यहां आये यज्ञके देव (पुनः यतः आगताः नयन्तु) फिरसे जहांसे आये थे वहां ले जावें ॥ १० ॥

(ये परिपन्थिनः आसीदन्ति) जो लुटेरे समीप प्राप्त होंगे, वे (दम्पती मा विदन्) इस पतिपत्नीको न जानें । ये वधूवर (सुगेन दुर्गं अतीतां) सुगमतासे कठिन प्रसंगसे पार हो जांय । और इनके (अरातयः अप द्रान्तु) शत्रु दूर हों ॥ ११ ॥

(वहतुं) वधूके दहेजयुक्त रथको (गृहैः ब्रह्मणा अघोरेण मित्रियेण चक्षुषा) चारों ओरके घरवाले लोग ज्ञानपूर्वक शांत और मित्रताकी आंखसे देखें, ऐसा मैं (सं काशयामि) इनको प्रकाशित करता हूं । (यत् विश्वरूपं पर्याणद्धं अस्ति) जो विविध रूपवाला बन्धा हुआ है, उसको (सविता पतिभ्यः स्योनं कृणोतु) ईश्वर पतिके लिये सुखदायी बनावे ॥१२॥

(इयं शिवा नारी अस्तं आगन्) यह कल्याकारिणी स्त्री पतिके घर आगयी है । (धाता अस्यै इमं लोकं दिदेश) ईश्वरने इस पतिलोकका मार्ग दर्शाया है । (अर्यमा भगः उभा अश्विना प्रजापतिः) ये सब देव (तां प्रजया वर्धयन्तु) उसको प्रजाके साथ बढावें ॥ १३ ॥

भावार्थ - सब लोग इस घोषणाको सुनें, कि यह विवाहित स्त्रीपुरुष इस संसारमें सुखपूर्वक रहें । वनवासी तथा ग्रामवासी कोईभी इनको दुःख न देवे । ये ग्रामान्तरमें चलने लगें, तो भी किसी प्रकार इनको दुःख न हो ॥ ९ ॥

जनसमुदायमें जानेसे जो रोग संसर्गके कारण होते हैं, और वधूको मार्गमें भी जो रोग होना संभव है, वे सब रोग यज्ञसे दूर होंगे ॥ १० ॥

मार्गपर जो लुटेरे होंगे, उनसे इस दम्पतीको कष्ट न हो, ये पतिपत्नी सुगमतया कठिन प्रसंगोंके पार हो जावें । और इनके सब शत्रु दूर हों ॥ ११ ॥

जब दहेजका रथ या पत्नीका पतिके घर जानेका रथ मार्गमें चलता जावे, तब दोनों ओरके घरवाले उस कन्याको प्रेमकी मित्रदृष्टिसे देखें । जो भी कुछ विविध रंगरूपवाले पदार्थ हों, वे सब ईश्वरकी कृपासे इस पतिपत्नीके लिये सुखदायी बनें ॥ १२ ॥

यह सुस्वभाववाली स्त्री पतिके घर जाती है, क्यों कि विधाताने यही स्थान इसके लिये निर्दिष्ट किया था । सब देव इसको उत्तम संतान दें ॥ १३ ॥

आत्मन्वत्युर्वरा नारीयमागन् तस्यां नरो वपत बीजमस्याम् ।
सा वः प्रजां जनयद् वक्षणाभ्यो बिभ्रती दुग्धमृषभस्य रेतः ॥१४॥
प्रति तिष्ठ विराडसि विष्णुरिवेह सरस्वति । सिनीवालि प्र जायतां भगस्य सुमतावसत् ॥१५॥
उद् व ऊर्मिः शम्या हन्त्वापो योक्त्राणि मुञ्चत । मादुष्कृतौ व्येनसावघ्न्यावशुनमारताम् ॥१६॥
अघोरचक्षुरपतिघ्नी स्योना शग्मा सुशेवा सुयमा गृहेभ्यः ।
वीरसूर्देवृकामा सं त्वयैधिषीमहि सुमनस्यमाना ॥१७॥

अर्थ— (आत्मन्वती उर्वरा इयं नारी आगन्) आत्मिक बलसे युक्त तथा सुपुत्र उत्पन्न करनेवाली यह नारी पतिके घर आगई है। (नरः तस्यां अस्यां बीजं वपत) हे मनुष्यो ! इस स्त्रीमें बीजको बोओ, वीर्यका आधान करो। (सा वः) वह तुम्हारे लिये (ऋषभस्य दुग्धं रेतः बिभ्रती) वीर्यवान् पुरुषका वीर्य धारण करती हुई (वक्षणाभ्यः प्रजां जनयत्) अपने गर्भाशयसे संतान उत्पन्न करे। १४ ॥

हे स्त्री ! तू (प्रति तिष्ठ) यहां प्रतिष्ठित हो, तू (विराट् असि) विशेष तेजस्वी है। तुम्हारा पति (विष्णुः इव इह) विष्णुके समान यहां है। हे (सरस्वति, सिनीवालि) विद्या देवी और अमावास्या देवी ! इसे (प्रजायतां) संतान हो और यह (भगस्य सुमतौ असत्) भाग्यके देवकी सुमतिमें रहे ॥ १५ ॥

(वः ऊर्मिः शम्याः उत् हन्तु) आपकी लहर शान्तिका-स्थिरताका भंग करे । हे (आपः) जलों (योक्त्राणि मुञ्चत) जुओंको छोड दो। (अदुष्कृतौ व्येनसौ अघ्न्यौ) दुष्ट कर्म न करनेवाले, गाडासे छोडे हुए दोनों बैल [अशुनं मा आरतां] अशुभको न प्राप्त हों ॥ १६ ॥

[गृहेभ्यः] अपने घरोंके लिये [अघोर चक्षुः अपतिघ्नी स्योना] क्रूर दृष्टि न करनेवाली, पतिहत्या न करनेवाली, सुखकारिणी [शग्मा सुशेवा सुयमा] कल्याणकारिणी, सेवा करने योग्य, सुनियमोंसे चलनेवाली ! [वीरसूः देवकामा] वीर पुत्र उत्पन्न करनेवाली, देवरकी इच्छा पूर्ण करनेवाली, और [सुमनस्यमाना] उत्तम अन्तःकरणसे युक्त [त्वया एधिषीमहि] तुझसे हम संपन्न हों ॥ १७ ॥

भावार्थ—यह स्त्री आत्मिक बलसे युक्त है और पुत्र उत्पन्न होनेकी शक्तिसे युक्त है अर्थात् यह वं[illegible] है। पति इस स्त्रीमें अपने वीर्यका आधान करता है और पश्चात् वह स्त्री उस वीर्यको धारण करती हुई अपने गर्भा[illegible] संतानोत्पत्ति करता है ॥ [illegible] ॥

स्त्री अपने पतिगृहमें प्रतिष्ठाको प्राप्त हो, स्त्री घरकी सम्राज्ञी है, उसका पति देव है और यह उसकी देवी है। इस [illegible] सपत्नी-को उत्तम संतान प्राप्त हो और ये दोनों उत्तम बुद्धि धारण करें ॥ १५ ॥

प्रवासमें जब शान्तिका भंग होवे, अर्थात् मनको कष्ट प्रतीत हो, उस समय वाहनके बैल छोडे जांय और उनको उत्तम स्थानमें सुरक्षित र[illegible] ॥ १६ ॥

यह स्त्री पतिके घरमें आकर आनन्दसे रहे, आंखें क्रोधयुक्त न करे, पतिकी हितकारिणी बने [illegible] नियमोंका पालन करे, सबको सुख देवे, अपनी संतानोंको वीरताकी शिक्षा देवे, देवर आदिको संतुष्ट रखे, अन्तःकरणमें शुभ भाव रखे। ऐसी स्त्रीसे घर सुसंपन्न होता है ॥ १७ ॥

अदेवृघ्न्यपतिघ्नीहैधि शिवा पशुभ्यः सुयमा सुवर्चाः ।
प्रजावती वीरसूर्देवृकामा स्योनेममग्निं गार्हपत्यं सपर्य ॥१८॥
उत्तिष्ठेतः किमिच्छन्तीदमागा अहं त्वेडे अभिभूः स्वाद् गृहात् ।
शून्यैषी निर्ऋते याजगन्थोत्तिष्ठाराते प्र पत मेह रंस्थाः ॥१९॥
यदा गार्हपत्यमसपर्यैत् पूर्वमग्निं वधूरियम् । अधा सरस्वत्यै नारि पितृभ्यश्च नमस्कुरु ॥२०॥ (८)
शर्म वर्मैतदा हरास्यै नार्या उपस्तरे । सिनीवालि प्र जायतां भगस्य सुमतावसत् ॥२१॥
यं बल्बजं न्यस्यथ चर्म चोपस्तृणीथन । तदा रोहतु सुप्रजा या कन्या विन्दते पतिम् ॥२२॥

[अदेवृघ्नी अपतिघ्नी] देवरका नाश न करनेवाली, पतिका घात न करनेवाली, [पशुभ्यः शिवा] पशुओंका हित करनेवाली, [सुयमा सुवर्चाः] उत्तम नियमोंसे चलनेवाली और उत्तम तेजसे युक्त [प्रजावती वीरसूः] संतानयुक्त, वीर पुत्र उत्पन्न करनेवाली [देवृकामा स्योना] पतिके घरमें देवर रहें ऐसी कामना करनेवाली सुखदायिनी तू [इमं गार्हपत्यं अग्निं सपर्य] इस गार्हपत्य अग्निकी पूजा कर ॥ १८ ॥

हे [निर्ऋते] दरिद्रते ! [उत् तिष्ठ] उठ, कहो कि [किं इच्छसि] तू क्या चाहती हुई [इदं आगाः] यहां आगई है। [अहं अभिभूः] मैं तेरा पराभव करनेवाला [स्वात् गृहात् त्वा ईडे] अपने घरसे तुझे हटा देता हूं। [या शून्य-एषि] जो घरको शून्य करना चाहती हुई तू [आजगन्थ] यहां आगई है, हे [अ-राते] शत्रुभूत दरिद्रते ! [उत्तिष्ठ] यहांसे उठ और [प्र पत] दूर भाग जा। [इह मा रंस्थाः] यहां मत रममाण हो ॥ १९ ॥

(यदा इयं वधूः) जब यह स्त्री (गार्हपत्यं अग्निं पूर्वं असपर्यैत्) गार्हपत्यअग्निकी पहिले पूजा करे, (अधा) तत्पश्चात् हे (नारि) स्त्री ! तू (सरस्वत्यै पितृभ्यः च नमस्कुरु) सरस्वतीको और पितरोंको नमन कर ॥ २० ॥

(अस्यै नार्यै) इस स्त्रीके लिये (उपस्तरे एतत् शर्म वर्म) बिछानेके लिये यह सुख और संरक्षण (आहर) ले-आ। हे (सिनी-वालि) अन्न देनेवाली देवी ! (प्र जायतां) यह स्त्री उत्तम रीतिसे संतति उत्पन्न करे और (भगस्य सुमतौ असत्) भगवान्‌की उत्तम मतिमें रहे ॥ २१ ॥

(यं बल्बजं न्यस्यथ) जो चटाई नीचे बिछाते हैं (च चर्म उपस्तृणीथन) और चर्म उपर बिछाते हैं। (या कन्या पतिं विन्दते) जो कन्या पतिको प्राप्त करती है, वह (सुप्रजा तत् आरोहतु) उत्तम संतान उत्पन्न करनेवाली उस पर चढे ॥ २२

भावार्थ— स्त्री पतिगृहमें आकर देवर और पतिका हित करे, पशुओं का उत्तम पालन करे, धर्मनियमोंके अनुसार चले, तेजस्विनी बने, अपनी संतानोंको वीरताकी शिक्षा देवे और अग्निकी हवनद्वारा उपासना करे ॥ १८ ॥

गृहस्थोंके घरमें दरिद्रता न रहे। गृहस्थ अपने प्रयत्नसे दारिद्र्य दूर करे। जो घर पुरुषार्थसे शून्य होता है, उसमें दारिद्र्य रहता है। अतः प्रयत्नद्वारा दरिद्रताको दूर करना योग्य है ॥ १९ ॥

स्त्री पतिघरमें प्रतिदिन सबसे पहिले गार्हपत्याग्निकी हवनद्वारा उपासना करे, पश्चात् विद्यादेवीकी और पश्चात् पितरोंकी पूजा करे ॥ २० ॥

पति अपनी स्त्रीके लिये हरएक प्रकारसे सुख देवे, और उसकी उत्तम रक्षा करे। यह स्त्री उत्तम अन्न सेवन करके उत्तम संतान उत्पन्न करे और ऐसा आचरण करे कि ईश्वर का आशीर्वाद इसे प्राप्त हो ॥ २१ ॥

पहिले घासकी चटाई बिछाई जावे, उसपर कृष्णाजिन बिछाया जावे। जो स्त्री पतिको प्राप्त करती है, वह सुप्रजा उत्पन्न करनेवाली स्त्री इस बिछोनेपर चढे ॥ २२ ॥

उप॑ स्तृणीहि बल्ब॒जमधि॒ चर्म॑णि रोहि॑ते । तत्रो॑पवि॒श्य॑ सुप्र॒जा इ॒मम॒ग्निं स॑पर्यतु ॥२३॥

आरो॑ह॒ चर्मोप॑ सीदा॒ग्निमे॒ष दे॒वो ह॑न्ति॒ रक्षां॑सि॒ सर्वा॑ ।
इ॒ह प्र॒जां ज॑नय॒ पत्ये॑ अ॒स्मै सु॑ज्यै॒ष्ठ्यो भ॑वत् पु॒त्रस्त॑ ए॒षः ॥२४॥

वि ति॑ष्ठन्तां मा॒तुर॒स्या उ॒पस्था॒न्नाना॑रूपाः प॒शवो॒ जाय॑मानाः ।
सु॒म॒ङ्ग॒ल्युप॑ सीदे॒मम॒ग्निं संप॑त्नी॒ प्रति॑ भूषे॒ह दे॒वान् ॥२५॥

सु॒म॒ङ्ग॒ली प्र॒तर॑णी गृ॒हाणां॑ सु॒शेवा॒ पत्ये॒ श्वशु॑राय॒ शं॒भूः ।
स्यो॒ना श्व॒श्र्वै प्र गृ॒हान् वि॒शेमान् ॥२६॥

स्यो॒ना भ॑व॒ श्वशु॑रेभ्यः स्यो॒ना पत्ये॑ गृ॒हेभ्यः॑। स्यो॒नास्यै सर्व॑स्यै वि॒शे स्यो॒ना पु॒ष्टायै॑षां भव ॥२७॥

सु॒म॒ङ्ग॒लीरि॒यं व॒धूरि॒मां स॒मेत॒ पश्य॑त । सौभा॑ग्यमस्यै द॒त्त्वा दौर्भा॑ग्यैर्वि॒परे॑तन ॥२८॥

अर्थ—(बल्बज उपस्तृणीहि) पहिले चटाई फैला दो, पश्चात् (अधि चर्मणि रोहिते) मृगचर्मके ऊपर (तत्र सुप्रजा उपविश) वहां सुप्रजा उत्पन्न करनेवाली यह स्त्री (इमं अग्निं सपर्यतु) इस अग्निकी उपासना करे ॥ २३ ॥

(चर्म आरोह) इस चर्मपर चढ, (अग्निं उप आसीद) अग्निके समीप बैठ। (एषः देवः सर्वाः रक्षांसि हन्ति) यह देव सब राक्षसोंका नाश करता है। (इह अस्मै पत्ये प्रजां जनय) यहां इस पतिके लिये संतान उत्पन्न कर। (ते एषः पुत्रः सुज्यैष्ठ्यः भवत्) तेरा यह पुत्र उत्तम श्रेष्ठ बने॥ २४ ॥

(अस्याः मातुः उपस्थात्) इस माताके पास (जायमानाः नाना रूपाः पशवः वि तिष्ठन्तां) उत्पन्न होनेवाले अनेक प्रकारके पशु ठहरें। (सुमंगली संपत्नी इमं अग्निं उपसीद) उत्तम मंगल कामनावाली और उत्तम पतिके साथ यह स्त्री इस अग्निकी उपासना करे। और (इह देवान् प्रतिभूष) यहां देवोंकी सेवा करे, शोभा बढावे ॥ २५॥

(सुमंगली) उत्तम मंगल आभूषण धारण करनेवाली (गृहाणां प्रतरणी) घरोंको दुःखसे दूर करनेवाली (पत्ये सुशेवा) पतिकी उत्तम सेवा करनेवाली (श्वशुराय शंभूः) श्वशुरको सुख देनेवाली, (श्वश्र्वै स्योना) सासको आनंद देनेवाली तू (इमान् गृहान् प्रविश) इन घरोंमें प्रविष्ट हो ॥ २६ ॥

(श्वशुरेभ्यः स्योना भव) श्वशुरोंके लिये सुख देनेवाली हो, (पत्ये गृहेभ्यः स्योना) पति और घरके लिये हित-कारिणी हो, (अस्यै सर्वस्यै विशे स्योना) इस सब प्रजासमूहको सुखदायिनी, (स्योना एषां पुष्टाय भव) सुखदायक होकर इन सबकी पुष्टिके लिये हो ॥ २७ ॥

(इयं सुमंगली वधूः) यह मङ्गलयुक्त वधू है। (स एत, इमां पश्यत) इकठ्ठे होओ और इसको देखो। [अस्यै सौभाग्यं दत्वा]इसको सौभाग्यका आशीर्वाद देकर [दौर्भाग्यैः वि परेतन] दुष्ट भाग्यको दूर करते हुए वापस जाओ॥२८॥

भावार्थ—पहिले चटाई फैलाओ, उसपर चर्म बिछा दो, वहां उत्तम संतान उत्पन्न करनेवाली स्त्री बैठकर अग्नि की उपासना करे२३

उस चर्मपर चढ, अग्निकी पूजा कर। यह अग्निदेव सब दुष्ट राक्षसोंका नाश करता है। इस संसारमें अपने पतिके लिये संतान उत्पन्न कर। यह तेरा पहिला पुत्र उत्तम श्रेष्ठ बने ॥ २४ ॥

जब यह स्त्री माता होगी, तब उसके साथ विविध रंगरूपवाले गौ आदि पशु रहेंगें। यह स्त्री उत्तम मगल धारणा की कामना करके अग्निकी उपासना करे और देवोंको सुभूषित करे ॥ २५ ॥

उत्तम मंगल कामनावाली, गृहवालोंको दुःखसे छुडानेवाली, पतिकी सेवा करनेवाली, श्वशुरको सुख देनेवाली, सासका हित करनेवाली स्त्री अपने घरमें प्रविष्ट हो॥ २६ ॥

यह स्त्री श्वशुरोंका हित करे, पतिको सुख दे, सब घरवालोंका हित करे और सबको पुष्ट रखे ॥ २७ ॥

सब भाईबंधु इकठ्ठे होकर यहां आवें और इस वधूका दर्शन करें। यह वधू बहुत कल्याण करनेवाली है। अतः वे इस वधूको शुभाशीर्वाद देकर, इसके जो दुष्ट भाग्य है, उनको दूर करके वापस अपने घर जावें ॥ २८ ॥

या दुर्हार्दो युवतयो याश्चेह जरतीरपि । वर्चो न्वस्यै सं दत्ताथास्तं विपरेतन ॥२९॥
रुक्मप्रस्तरणं वह्यं विश्वा रूपाणि बिभ्रतम् । आरोहत् सूर्या सावित्री बृहते सौभगाय कम् ॥३०॥
आ रोह तल्पं सुमनस्यमानेह प्रजां जनय पत्ये अस्मै ।
इन्द्राणीव सुबुधा बुध्यमाना ज्योतिरग्रा उषसः प्रति जागरासि ॥३१॥
देवा अग्रे न्यपद्यन्त पत्नीः समस्पृशन्त तन्वस्तनूभिः ।
सूर्येव नारि विश्वरूपा महित्वा प्रजावती पत्या सं भवेह ॥३२॥
उत्तिष्ठेतो विश्वावसो नमसेडामहे त्वा ।
जामिमिच्छ पितृषदं न्यक्तां स ते भागो जनुषा तस्य विद्धि ॥३३॥

अर्थ-[या दुर्हार्दः युवतयः] जो दुष्ट हृदयवाली स्त्रियां हैं और [याः च इह जरतीः अपि] जो यहां वृद्ध स्त्रियां हैं, वे [अस्यै नु वर्चः सं दत्त] इसको निश्चयपूर्वक तेज दें, [अथ अस्तं विपरेतन] और अपने घरको वापस जावें ॥ २९ ॥

[रुक्मप्रस्तरणं] सोनेके बिछोनेसे युक्त (विश्वा रूपाणि बिभ्रतं) अनेक सुंदर सजावटोंको धारण करनेवाले, [कं वह्यं] सुखदायक रथपर [सूर्या सावित्री बृहते सौभगाय आरोहत्] सूर्या सावित्री बडे सौभाग्यकी प्राप्तिके लिये चढी है। ३०॥

[सुमनस्यमाना तल्पं आरोह] उत्तम मनके भाव धारण करती हुई स्त्री बिस्तरेपर चढे। [इह अस्मै पत्ये प्रजां जनय] यहां इस पतिके लिये संतान उत्पन्न कर। [इन्द्राणी इव सुबुधा] इन्द्राणीके समान उत्तम ज्ञानवाली होकर [ज्योतिः अग्राः उषसः बुध्यमाना] जिसके बाद सूर्यकी ज्योति आनेवाली है ऐसी उषाओंके पूर्व जागकर [प्रति जागरासि] निद्रा छोडकर उठ ॥ ३१ ॥

[अग्रे देवाः पत्नीः नि अपद्यन्त] पूर्व समयमें देव लोग अपनी स्त्रियोंके साथ सोते थे। [तन्वः तनूभिः सं अस्पृशन्त] अपने शरीरोंसे स्त्रियोंके शरीरको स्पर्श करते थे। उस प्रकार हे [नारि] स्त्री! तू [इह] इस संसारमें [सूर्या इव] सूर्यप्रभाके समान [महित्वा विश्वरूपा] महत्त्वसे अनेक रूपवाली होकर [प्रजावती पत्या संभव] प्रजायुक्त होकर पतिके साथ संतान उत्पन्न कर ॥ ३२ ॥

हे [विश्वावसो] सब धनसे युक्त नर! [इतः उत्तिष्ठ] यहांसे उठ, [त्वा नमसा ईडामहे] तेरी नमस्कारोंसे पूजा करते हैं। [पितृषदं न्यक्तां जामिं इच्छ] पिताके घरमें रहनेवाली सुशोभित वधूको तू प्राप्त करनेकी इच्छा कर। [सः ते भागः] वह तेरा भाग है। [तस्य जनुषा विद्धि] उसका जन्मसे ज्ञान प्राप्त कर ॥ ३३ ॥

भावार्थ— जो दुष्ट हृदयवाली और बूढी स्त्रियां हैं, वे भी सब स्त्रियां इस वधूको अपना तेज अर्पण करें और अपने घरको वापस चली जावें ॥ २९ ॥

जिसपर सोनेके कलाबत्तूका काम किया है ऐसे गद्दे जिसमें लगे हैं और विविध हुनरोंसे जिसकी शोभा बढाई है, ऐसे सुन्दर रथपर यह वधू चढे और पतिके घर प्राप्त होकर बडा सौभाग्य प्राप्त करे ॥ ३० ॥

यह स्त्री मनके उत्तम भाव धारण करती हुई बिस्तरेपर चढे, और पतिके लिये उत्तम संतान निर्माण करे। उत्तम ज्ञान संपादन करके उषःकालके पूर्व जागकर निद्रासे निवृत्त होकर उठे ॥ ३१ ॥

पूर्व समयमें देव भी अपनी धर्मपत्नीयोंके संग सोते रहे, अपने शरीरसे स्त्रीके शरीरको आलिंगन देते रहे। उसी प्रकार यह स्त्री भी अनेक प्रकार अपने रूपकी सजावट करती हुई, उत्तम प्रजा निर्माण करनेकी इच्छासे पतिके साथ मिलकर रहे ॥ ३२॥

हे धनवाले पुरुष! वहांसे उठकर यहां आ, हम आपका स्वागत करते हैं। यह वधू इस समयतक पिताके घर रहती थी, आप इस वधूको प्राप्त करनेकी इच्छा करते हैं, तो यह आपका भाग हो सकता है। इस आपके भाग के— इस स्त्रीके -जन्मसे सब वृत्तान्त आप चाहें तो जान सकते हैं ॥ ३३ ॥

अप्सरसः सधमादं मदन्ति हविर्धानमन्तरा सूर्यं च ।
तास्ते जनित्रमभि ताः परेहि नमस्ते गन्धर्वर्तुना कृणोमि ॥३४॥

नमो गन्धर्वस्य नमसे नमो भामाय चक्षुषे च कृण्मः ।
विश्वावसो ब्रह्मणा ते नमोऽभि जाया अप्सरसः परेहि ॥३५॥

राया वयं सुमनसः स्यामोदितो गन्धर्वमावीवृताम् ।
अगन्त्स देवः परमं सधस्थमगन्म यत्र प्रतिरन्त आयुः ॥३६॥

सं पितरावृत्विये सृजेथां माता पिता च रेतसो भवाथः ।
मर्य इव योषामधिरोहयैनां प्रजां कृण्वाथामिह पुष्यतं रयिम् ॥३७॥

अर्थ-[हविर्धानं अन्तरा सूर्यं च] हविर्धान और सूर्यके मध्यमें [अप्सरसः सधमादं मदन्ति] अप्सराएं साथ साथ मिलकर आनन्दित होनेवाले कर्ममें आनन्दित होती हैं। [ताः ते जनित्रं] वह तेरा जन्मस्थान है। [ताः अभि परेहि] उनके पास जा। [गन्धर्व-ऋतुना ते नमः कृणोमि] गन्धर्वके ऋतुओंके साथ तुझे मैं नमन करता हूं ॥ ३४ ॥

[गंधर्वस्य नमसे नमः] गंधर्वके नमस्कारको हम नमस्कार करते हैं। उसकी [भामाय चक्षुषे च नमः कृण्मः] तेजस्वी आंखके लिये हम नमन करते हैं। हे (विश्वावसो) सब धनसे युक्त! (ते ब्रह्मणा नमः) तुझे हम ज्ञानके साथ नमन करते हैं। [अप्सरसः जायाः अभि परेहि] अप्सरा जैसी स्त्रियोंके साथ परे जा॥ ३५ ॥

[वयं राया सुमनसः स्याम] हम धनके साथ उत्तम मनवाले हों। (इतः गंधर्वं उत् आवीवृताम्) यहांसे गंधर्वको घेरें, स्वीकार करें, प्राप्त करें। (सः देवः परमं सधस्थं अगन्) वह देव परम श्रेष्ठ स्थानको प्राप्त हुआ है। (यत्र आयुः प्रतिरन्तः अगन्म) जहां आयुको दीर्घ बनाते हुए हम पहुंचते हैं ॥ ३६ ॥

हे [पितरौ] मातापिताओ ! [ऋत्विये संसृजेथां] ऋतुकालमें संयुक्त होवो ! [रेतसः माता च पिता च भवाथः] वीर्यके योगसेही तुम माता और पिता बनोगे। [मर्यः इव एनां योषां अधिरोहय] मर्दके समान इस स्त्रीके साथ बिस्तरेपर चढ। [इह प्रजां कृण्वाथां] यहां संतान उत्पन्न करो और [रयिं पुष्यतं] धनको पुष्ट करो अर्थात् बढाओ ॥ ३७ ॥

भावार्थ— इस यज्ञस्थानभूमि और सूर्य इनके बीच अन्तरिक्षमें अप्सराएं [सुर्य प्रमादं] एक घरमें आनन्दसे रहकर बहुत आनन्द प्राप्त करती हैं। इस प्रकार गृहस्थ अपने घरमें आनन्दसे रहे। स्त्रियां ही सबकी उत्पत्तिका स्थान है,अतः उनके साथ पुरुष रहे। और ऋतुके अनुसार आदरपूर्वक ऋतुगामी होवे ॥ ३४ ॥

दूसरेके नमस्कार करनेपर उसको नमन करना उचित है, उसकी तेजस्वी आंखके साथ अपनी आंख मिलाकर नमन करना उचित है। इस तरह परस्परको जानकर नमस्कार किया जावे। और युवती स्त्रीके साथ पुरुष दूर जाकर एकान्त करे ॥ ३५ ॥

मनुष्यको जैसा जैसा धन मिले वैसा वैसा वह मनके शुभ संस्कारोंसे युक्त बने। और वे ईश्वरको माननेवाले हों। वह ईश्वर परम उच्च स्थानपर विराजमान है, जहां हम आयुको दीर्घ करते हुए पहुंच सकते हैं ॥ ३६ ॥

हे स्त्री पुरुषो! तुम अपने रजवीर्यके बलसेही मातापिता बन सकते हो, अर्थात् सन्तान उत्पन्न कर सकते हो। अतः ऋतुकालमें संयुक्त होवो। मर्दके समान स्त्रीसे युक्त होवो, सन्तान उत्पन्न करो और धन भी प्राप्त करो और बढाओ ॥ ३७ ॥

तां पूषञ्छिवतमामेरयस्व यस्यां बीजं मनुष्याः वपन्ति ।
या न ऊरू उशती विश्रयाति यस्यामुशन्तः प्रहरेम शेपः ॥३८॥
आ रोहोरुमुप धत्स्व हस्तं परि ष्वजस्व जायां सुमनस्यमानः ।
प्रजां कृण्वाथामिह मोदमानौ दीर्घं वामायुः सविता कृणोतु ॥३९॥
आ वां प्रजां जनयतु प्रजापतिरहोरात्राभ्यां समनक्त्वर्यमा ।
अदुर्मङ्गली पतिलोकमा विशेमं शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे ॥४०॥ (१०)
देवैर्दत्तं मनुना साकमेतद् वाधूयं वासो वध्वश्च वस्त्रम् ।
यो ब्रह्मणे चिकितुषे ददाति स इद् रक्षांसि तल्पानि हन्ति ॥४१॥
यं मे दत्तो ब्रह्मभागं वधूयोर्वाधूयं वासो वध्वश्च वस्त्रम् ।
युवं ब्रह्मणेऽनुमन्यमानौ बृहस्पते साकमिन्द्रश्च दत्तम् ॥४२॥

अर्थ- हे [पूषन्] पूषा ! [तां शिवतमां एरयस्व] उस कल्याणमयी स्त्रीको प्राप्त कर । [यस्यां मनुष्याः बीज वपन्ति] जिसमें मनुष्य बीज बोते हैं। [या उशती नः ऊरू विश्रयाति] जो इच्छा करती हुई हमारे लिये अपना शरीर देती है। [यस्यां उशन्तः शेपः प्रहरेम] जिसकी कामना करनेवाले हम विषय-सेवन करें॥ ३८ ॥

[ऊरुं आरोह] ऊपर की ओर चढ, [हस्तं उप धत्स्व] हाथ लगा दो । [सुमनस्यमानः जायां परि ष्वजस्व] उत्तम मनसे युक्त होकर स्त्रीको आलिङ्गन कर । [इह मोदमानौ प्रजां कृण्वाथां] यहां आनंद भोगते हुए प्रजाको उत्पन्न करो । [सविता वां दीर्घं आयुः कृणोतु] सविता आप दोनोंकी दीर्घ आयु करे ॥ ३९ ॥

[प्रजापतिः वां प्रजां जनयतु] प्रजापति ईश्वर तुम दोनोंकी संतान उत्पन्न करे । [अर्यमा अहोरात्राभ्यां समनक्तु] अर्यमा तुम दोनोंको दिनरात संयुक्त करे। [अ-दुर्मंगली इमं पतिलोकं आविश] अशुभभावको न धारण करनेवाली तू स्त्री इस पतिस्थानको प्राप्त कर। [नः द्विपदे चतुष्पदे शं भव]हमारे द्विपाद और चतुष्पादके लिये सुखदायी हो॥४०॥

[देवैः दत्तं] देवोंद्वारा दिया हुआ [मनुना साकं] मनुके साथ प्राप्त हुआ [एतत् वाधूयं वासः] यह विवाहके समयका वस्त्र [वध्वः च वस्त्रं] और जो वधूका वस्त्र है, यह [यः चिकितुषे ब्रह्मणे ददाति] जो ज्ञानी ब्राह्मणको दान करता है। [स इत् तल्पानि रक्षांसि हन्ति] वह निश्चयसे बिस्तरेपर रहनेवाले राक्षसोंका नाश करता है ॥४१॥

हे [बृहस्पते] बृहस्पति! और [साकं इन्द्रः च] साथ रहनेवाले इन्द्र! तुम दोनों [वधूयोः वाधूयं वासः] वधूका विवाहके समयका वस्त्र और [वध्वः च वस्त्रं] जो वधूका वस्त्र है। [यं ब्रह्मभागं मे दत्तः] उस ब्राह्मणके भागको तुम दोनों मुझको देते हो । [युवं ब्रह्मणे अनुमन्यमानौ ब्रह्मणे दत्तं] तुम दोनों ब्राह्मणको प्रदान करनेकी संमति देनेवाले ब्राह्मणको उक्त वस्त्र प्रदान करते हो ॥ ४२ ॥

भावार्थ- शुभ संस्कारोंसे युक्त वधूको पुरुष प्राप्त करे। मनुष्य उत्तम स्त्रीमें ही बीज बोते हैं। पुरुषप्राप्तिकी इच्छासे स्त्री अपना शरीर पुरुषको समर्पण करती है, जिसमें पुरुष वीर्याधान करे ॥ ३८ ॥

पुरुष स्त्रीके साथ प्रेमसे मिले, उसे आदरके साथ आलिंगन देवे, दोनों स्त्रीपुरुष आनन्दसे रममाण होवें और सन्तान उत्पन्न करें। इन स्त्रीपुरुषोंकी आयु सविता अति दीर्घ बनावे ॥ ३९ ॥

प्रजापालक ईश्वर इन स्त्रीपुरुषोंमें संतान उत्पन्न करे । वही दिन रात इनको प्रेमके साथ इकट्ठे रखे। वधूमें कोई दुष्ट दुर्गुण न हो और उत्तम शुभगुणवाली स्त्रीही पतिको प्राप्त करे । इस स्त्रीसे घरके सब द्विपाद चतुष्पादका कल्याण हो ॥ ४० ॥

वधूके पहननेके लिये लाया वस्त्र विद्वान् ब्राह्मणको दान देनेसे शयनस्थानमें उत्पन्न होनेवाले कुसंस्कार दूर हो सकते हैं॥४१॥

वधूके पहननेके लिये लाया वस्त्र ब्राह्मणका भाग है । वह अनुमतिपूर्वक ब्राह्मणको दिया जावे ॥ ४२ ॥

स्योनाद्योनेरधि बुध्यमानौ हसामुदौ महसा मोदमानौ ।
सुगू सुपुत्रौ सुगृहौ तराथो जीवावुषसो विभातीः ॥४३॥
नवं वसानः सुरभिः सुवासा उदागां जीव उषसो विभातीः ।
आण्डात् पतत्रीवामुक्षि विश्वस्मादेनसस्परि ॥४४॥
शुम्भनी द्यावापृथिवी अन्तिसुम्ने महिव्रते । आपः सप्त सुस्रुवुर्देवीस्ता नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥४५॥
सूर्यायै देवेभ्यो मित्राय वरुणाय च । ये भूतस्य प्रचेतसस्तेभ्य इदमकरं नमः ॥४६॥
य ऋते चिदभिश्रिषः पुरा जत्रुभ्य आतृदः ।
संधाता संधिं मघवा पुरूवसुर्निष्कर्ता विह्रुतं पुनः ॥४७॥

अर्थ-[हसामुदौ महसा मोदमानौ] हास्यविनोद करनेवाले, महत्त्वके विचारसे आनंदित होनेवाले [स्योनात् योनेः अधि बुध्यमानौ] सुखदायक शयनमंदिरसे जागकर उठनेवाले, [सुगू सुपुत्रौ सुगृहौ] उत्तम इंद्रियों और गौओंसे युक्त, उत्तम बाल बच्चोंवाले, उत्तम घरवाले [जीवौ] दो जीव अर्थात् स्त्री और पुरुष [विभातीः उषसः तराथः] प्रकाशमय उषःकाल-वाले दीर्घ आयुष्यके दिनोंको सुखके साथ तैर जाओ ॥४३॥

मैं [नवं वसानः सुरभिः सुवासाः जीवः] नवीन वस्त्र पहनता हुआ सुगंध धारण करके उत्तम वस्त्र पहननेवाला जीवधारी मनुष्य [विभातीः उषसः उदागां] तेजस्वी उषःकालोंमें उठता हूं । [आण्डात् पतत्री इव] अण्डसे निकलने-वाले पक्षीके समान मैं विश्वस्मात् एनसः परि अमुक्षि] सब पापसे मुक्त होऊं ॥ ४४ ॥

[द्यावापृथिवी अन्तिसुम्ने महिव्रते शुम्भनी] द्यौ और पृथिवी ये दोनों लोक समीपसे सुख देनेवाले, बडे नियम पालन करनेवाले, और शोभावाले हैं । [देवीः सप्त आपः सुस्रुवुः] दिव्य सातों जलप्रवाह चल पडे हैं । [ताः अंहसः नः मुञ्चन्तु] वे जलप्रवाह पापसे हम सबका बचाव करें ॥ ४५ ॥ [अथर्व] ७।११२।१

[सूर्यायै देवेभ्यः मित्राय वरुणाय च] उषा, अग्नि आदि देव, सूर्य वरुण तथा [ये भूतस्य प्रचेतसः] जो भूतोंके ज्ञानदाता देव हैं [तेभ्यः इदं नमः अकरं] उनके लिये यह नमस्कार मैं करता हूं ॥ ४६ ॥ [ऋ. १०।८५।१७]

[यः ऋते अभिश्रिषः] जो चिपकानेके बिना तथा [चित् जत्रुभ्यः आतृदः]गर्दनकी हड्डीमें सुराख करनेके विना [संधिं संधाता] जोडको जोडनेवाला और [विह्रुतं पुनः निष्कर्ता] फटे हुएका पुनः ठीक करनेवाला ऐसा [पुरुवसुः मघवा] उत्तम पर्याप्त धन देनेवाला धनवान् ईश्वर है ॥ ४७ ॥ [ऋ० ८।१।१२]

भावार्थ-स्त्रीपुरुष हास्यविनोद करते हुए, आनंद मनाते हुए, सुखदायक शयनमंदिरमें सोकर योग्य समयमें जागते हुए, उत्तम गौवोंसे युक्त, उत्तम पुत्रोंसे युक्त, उत्तम घरवाले होकर, दीर्घ आयुके सब दिन आनंदपूर्वक व्यतीत करें ॥ ४३ ॥

मैं उत्तम वस्त्र पहनकर, सुगंध धारण करता हुआ, शरीरको सुशोभित करके, ऐसा सदाचारसे रहूंगा कि जिससे सब प्रकारके पाप दूर हो जायंगे ॥ ४४ ॥

द्युलोक और पृथ्वी लोक ये सबको सुख देनेवाले हैं, वे अपने नियमसे चलते हैं । इनके मध्यमें सात प्रवाह बह रहे हैं । वे हम सबको पापसे बचावें ॥ ४५ ॥

सूर्य, अन्य देव, मित्र वरुण आदि सबको मैं नमस्कार करता हूं ॥ ४६ ॥

जो ईश्वर मानवी शरीरमें दो हड्डियोंको विना चिपकाये और विना सुराख किये जोडता है, वही सबको जोडनेवाला है । वह सब टूटे हुएकी मरम्मत करता है ॥ ४७ ॥

*

अपास्मत् तमं उच्छतु नीलं पिशङ्गमुत लोहितं यत् ।
निर्दहनी या पृषातक्य१स्मिन् तां स्थाणावध्या सजामि ॥४८॥

यावतीः कृत्याः उपवासने यावन्तो राज्ञो वरुणस्य पाशाः ।
व्यृद्धयो या असमृद्धयो या अस्मिन् ता स्थाणावधि सादयामि ॥४९॥

या मे प्रियतमा तनूः सा मे बिभाय वाससः ।
तस्याग्रे त्वं वनस्पते नीविं कृणुष्व मा वयं रिषाम ॥५०॥(११)

ये अन्ता यावतीः सिचो य ओतवो ये च तन्तवः ।
वासो यत् पत्नीभिरुतं तन्नः स्योनमुप स्पृशात् ॥५१॥

उशतीः कन्यला इमाः पितृलोकात् पतिं यतीः । अव दीक्षामसृक्षत स्वाहा ॥५२॥

अर्थ-[यत् नीलं पिशंगं उत लोहितं तमः]जो नीला, पीला अथवा लाल रंगका मैलापन है, वह [अस्मत् अप उच्छतु] हम सबसे दूर होवे । [या निर्दहनी पृषातकी अस्मिन्] जो जलानेवाली दोषस्थिति इसमें है, (तां स्थाणौ अधि आ सजामि) उसको इस स्तंभमें लगा देता हूं ॥ ४८ ॥

[यावतीः कृत्याः उपवासने]जो हिंसाकृत्य उपवस्त्रमें हैं, [यावन्तः राज्ञः वरुणस्य पाशाः] जितने राजा वरुणके पाश हैं, [याः व्यृद्धयः याः असमृद्धयः] जो दरिद्रताएं और दुरवस्थाएं हैं, [ताः अस्मिन् स्थाणौ अधि सादयामि] उन सबको मैं इस स्तम्भमें स्थापन करता हूं ॥ ४९ ॥

[या मे प्रियतमा तनूः] जो मेरा अत्यंत प्रिय शरीर है, [सा मे वाससः बिभाय] वह मेरे वस्त्रसे डरता है । इसलिये हे [वनस्पते] वृक्ष ! [अग्रे त्वं तस्य नीविं कृणुष्व] पहिले तू उसकी ग्रंथी बना, जिससे [वयं मा रिषाम] हम दुःखी न हों ॥ ५० ॥ [११]

[ये अन्ताः यावतीः सिचः] जो झालरें हैं और किनारियां हैं, [ये ओतवः ये च तन्तवः] जो बाने हैं और जो धागे हैं, [यत् वासः पत्नीभिः उतं] जो वस्त्र स्त्रियोंने बुना है, [तत् वः स्योनं उपस्पृशात्] वह हमारे शरीरको सुख-स्पर्श करनेवाला बने ॥ ५१ ॥

[उशतीः इमाः कन्यलाः] पतिकी इच्छा करनेवाली ये कन्याएं [पितृलोकात् पतिं यतीः] पिताके स्थानसे पतिके घर जाती हुई [दीक्षां अव सृक्षत, सु-आहा] दीक्षाव्रतको धारण करें, यह उत्तम उपदेश है ॥ ५२ ॥

भावार्थ-जो सब प्रकारका हमारा अज्ञान है वह हम सबसे पूर्णतासे दूर हो जावे । जो हृदयको जलानेवाली दोषस्थिति है, वह हम सबसे दूर हो ॥ ४८ ॥

जो कुछ हिंसा और घातपातके कृत्य हैं, जो दरिद्रताएं और दुष्ट स्थितियाँ हैं, वे सबकी सब हमसे दूर हों ॥ ४९ ॥

मेरा शरीर सुडौल और हृष्टपुष्ट है । वस्त्रधारणसे उसकी शोभा घटती है । तथापि जोडकर हम वस्त्र धारण करते हैं, जिससे हमें कोई कष्ट न हो ॥ ५० ॥

जो हमारे स्त्री वर्गने उत्तम वस्त्र बुना है, जिसको सुंदर किनारियां और झालरें लगी हैं, वह वस्त्र हमें सुख देनेवाला हो ॥ ५१ ॥

ये कन्यायें उपवर होनेके कारण पतिकी कामना करती हैं और पतिके पास पहुंचती हैं । अर्थात् गृहस्थधर्मकी दीक्षाएं स्वीकारती हैं ॥ ५२ ॥

बृहस्पतिनावसृष्टां विश्वे देवा अधारयन् । वर्चो गोषु प्रविष्टं यत् तेनेमां सं सृजामसि ॥५३॥
बृहस्पतिनावसृष्टां विश्वे देवा अधारयन् । तेजो गोषु प्रविष्टं यत् तेनेमां सं सृजामसि ॥५४॥
बृहस्पतिनावसृष्टां विश्वे देवा अधारयन् । भगो गोषु प्रविष्टो यस्तेनेमां सं सृजामसि ॥५५॥
बृहस्पतिनावसृष्टां विश्वे देवा अधारयन् । यशो गोषु प्रविष्टं यत् तेनेमां सं सृजामसि ॥५६॥
बृहस्पतिनावसृष्टां विश्वे देवा अधारयन् । पयो गोषु प्रविष्टं यत् तेनेमां सं सृजामसि ॥५७॥
बृहस्पतिनावसृष्टां विश्वे देवा अधारयन् । रसो गोषु प्रविष्टो यस्तेनेमां सं सृजामसि ॥५८॥
यदीमे केशिनो जना गृहे ते समनर्तिषू रोदेन कृण्वन्तोऽघम् ।
अग्निष्ट्वा तस्मादेनसः सविता च प्र मुञ्चताम् ॥५९॥
यदीयं दुहिता तव विकेश्यरुदद् गृहे रोदेन कृण्वत्यघम् ।
अग्निष्ट्वा तस्मादेनसः सविता च प्र मुञ्चताम् ॥६०॥(१२)
यज्जामयो यद्युवतयो गृहे ते समनर्तिषू रोदेन कृण्वतीरघम् ।
अग्निष्ट्वा तस्मादेनसः सविता च प्र मुञ्चताम् ॥६१॥
यत् ते प्रजायां पशुषु यद्वा गृहेषु निष्ठितमघकृद्भिरघं कृतम्।
अग्निष्ट्वा तस्मादेनसः सविता च प्र मुञ्चताम् ॥६२॥
यं नार्युप ब्रूते पूल्यान्यावपन्तिका । दीर्घायुरस्तु मे पतिर्जीवाति शरदः शतम् ॥६३॥

अर्थ- [बृहस्पतिना अवसृष्टां] बृहस्पतिने रची हुई इस दीक्षाको [विश्वे देवाः अधारयन्] सब देवोंने धारण किया है। [यत् वर्चः गोषु प्रविष्टं] जो बल गौवोंमें प्रविष्ट हुआ है, [तेन इमां सं सृजामसि] उससे इसको संयुक्त करते हैं ॥५३॥

बृहस्पतिने रची हुई इस दीक्षाको सब देवोंने धारण किया है । जो [तेज ... भगः ... यशः ... पयः ... रसः] तेज, भाग्य, यश, दूध और रस गौवोंमें प्रविष्ट हैं, उससे इसको संयुक्त करते हैं ॥ ५४-५८ ॥

[यदि इमे केशिनो जनाः] यदि ये लंबे बालवाले लोग [ते गृहे समनर्तिषुः] तेरे घरमें नाचते रहे और [रोदेन अघं कृण्वन्तः] रोनेसे पाप करते रहे० ॥ [यदि इयं दुहिता] यदि यह पुत्री [विकेशी तव गृहे अरुदत्] बालोंको खोलकर तेरे घरमें रोती रही और (रोदेन अघं कृण्वती) रो रोकर पाप करती रही० ॥ [यत् जामयः यत् युवतयः]जो बहिनें और स्त्रियां तेरे घरमें रोती रहीं और रोकर पाप करती रहीं० ॥ [यत् ते प्रजायां पशुषु यत् वा गृहेषु निष्ठितं] जो तेरी प्रजामें, पशुओंमें और जो तेरे घरमें (अघवाद्भिः अघं कृतं)पापियोंने पाप किया है, [अग्निः सविता च] अग्नि और सविता [तस्मात् एनसः त्वा प्रमुञ्चतां] उस पापसे तुझे बचावें ॥ ५९-६२ ॥

[इयं नारी पूल्यानि आवपन्तिका] यह स्त्री पूले हुए धान्यकी आहुति देती हुई [उप ब्रूते] कहती है कि [मे पतिः दीर्घायुः अस्तु] मेरा पति दीर्घायु होवे, वह [शरदः शतं जीवाति] सौ वर्ष जीवित रहे ॥ ६३ ॥

भावार्थ- यह गृहस्थाश्रमकी दीक्षा बृहस्पतिने शुरू की है । जो बल, तेज, भाग्य, यश, दूध और रस गौओंमें है, वह सब इस गृहस्थाश्रममें रहनेवालोंको प्राप्त हो ॥ ५३—५८ ॥

जो बालोंवाले लोग, जो कुमारिकाएं, जो स्त्रियां रोते पीटते पाप करतीं हैं, जो बाल खोलकर चिल्लाती हैं, इस प्रकारका जो पाप घरों, संतानों और पशुओंके संबंधमें हो रहा है, वह सब पाप दूर होवे ॥ ५९—६२ ॥

यह नारी धानका हवन करती हुई ईश्वरकी प्रार्थना करती है कि मेरा पति दीर्घायु बनकर सौ वर्ष जीवित रहे ॥ ६३ ॥

इहेमाविन्द्र सं नुद चक्रवाकेव दम्पती। प्रजयैनौ स्वस्तकौ विश्वमायुर्व्यश्नुताम् ॥ ६४॥
यदासन्द्यामुपधाने यद् वोपवासने कृतम्। विवाहे कृत्यां यां चक्रुरास्नाने तां नि दध्मसि ६५॥
यद् दुष्कृतं यच्छमलं विवाहे वहतौ च यत्। तत् संभलस्य कम्बले मृज्महे दुरितं वयम्॥ ६६॥
संभले मलं सादयित्वा कम्बले दुरितं वयम्। अभूम यज्ञियाः शुद्धाः प्र ण आयूंषि तारिषत् ६७॥
कृत्रिमः कण्टकः शतदन् य एषः। अपास्याः केश्यं मलमप शीर्षण्यं लिखात् ॥६८॥
अङ्गादङ्गाद् वयमस्या अप यक्ष्मं नि दध्मसि।
तन्मा प्रापत् पृथिवीं मोत देवान् दिवं मा प्रापदुर्व॑न्तरिक्षम्।
अपो मा प्रापन्मलमेतदग्ने यमं मा प्रापत् पितॄंश्च सर्वान् ॥६९॥

अर्थ- हे इन्द्र! [चक्रवाका इव] चकवाक पक्षीके जोडेके समान (इमौ दम्पती इह सं नुद) ये पतिपत्नी इस संसारमें प्रेरित कर। [एनौ सु-अस्तकौ प्रजया) ये दोनों उत्तम घरवाले होकर संतानके साथ [विश्वं आयुः व्यश्नुतां] सब आयु का उपभोग लें ॥ ६४ ॥

[यत् आसंद्यां] जो बैठकपर, कुर्सीपर, [यत् उपधाने] जो बिस्तरेपर, सिरहनेपर, (यत् वा उपवासने कृतं) जो वपवस्त्रपर किया था, तथा [विवाहे यां कृत्यां चक्रुः] विवाहमें जिस हिंसक प्रयोगको किया था, [तां आस्नाने नि दध्मसि] उसको हम स्नानमें धो डालते हैं ॥ ६५ ॥

[यत् विवाहे यत् च वहतौ] जो विवाहमें और जो वरातके रथमें [दुष्कृतं यत् शमलं] जो दुष्ट कृत्य और मलीन कर्म किया [तत् दुरितं संभलस्य कम्बले मृज्महे] वह पाप हम संभलके कंबलमें धो देते हैं ॥ ६६ ॥

[संभले मलं सादयित्वा] संभलमें मल डालकर, और [दुरितं कंबले] पापको कंबलमें रखकर, [वयं यज्ञियाः शुद्धाः अभूम] हम यज्ञ करनेयोग्य शुद्ध हों। वह [नः आयूंषि प्र तारिषत्) हमारी आयुओंको दीर्घ बनावे ॥ ६७ ॥

[यः एषः शतदन् कृत्रिमः कंटकः] जो यह सैकडों दांतवाला कृत्रिम कंगवा है वह [अस्याः शीर्षण्यं मलं अप अप लिखात्] इसके मस्तकके मलको दूर करे ॥ ६८ ॥

[वयं अस्याः अंगात् अंगात् यक्ष्मं] हम इसके प्रत्येक अंगसे रोगको [अप निदध्मसि] दूर करते हैं [तत् पृथिवीं मा प्रापत्] वह रोग पृथ्वीको न प्राप्त हो, [उत देवान् मा] और देवोंको न प्राप्त हो, [दिवं उरु अन्तरिक्षं मा प्रापत्] द्युलोक और अन्तरिक्ष लोकको भी न प्राप्त हो। हे अग्ने! [एतत् मलं अपः मा प्रापत्] यह मल जलको प्राप्त न हो, [यमं सर्वान् पितॄन् च मा प्रापत्] यमको और सब पितरोंको न प्राप्त हो ॥ ६९ ॥

भावार्थ- हे प्रभो! पतिपत्नी मिलकर सदा एक विचारसे रहें। चक्रवाकपक्षीके जोडेके समान आनंदसे रहें। उत्तम घरबार कर और उत्तम संतान निर्माण करके संपूर्ण आयु आनंदसे व्यतीत करें ॥ ६४ ॥

बैठक, सिरहना, बिस्तरा, वस्त्र तथा विवाहके विषयमें जो कुछ पाप या घातक दोष होते हों, वे सबके सब आत्मशुद्धिसे दूर किये जावें ॥ ६५ ॥

विवाहमें और वरातमें जो कुछ पाप या दोष होता हो, वह भी विचारके साथ दूर किया जावे ॥ ६६ ॥

अपने मल और दोष दूरकर हम सब पूज्य पवित्र और दोषरहित तथा दीर्घायु बनें ॥ ६७ ॥

कंगवा लेकर स्त्रीके मस्तकका मल दूर किया जावे और वहांकी स्वच्छता की जावे ॥ ६८ ॥

इसी प्रकार स्त्रीके शरीरका प्रत्येक भाग स्वच्छ किया जावे, परंतु यह मल पृथ्वी, अंतरिक्ष, आकाश, जल, वनस्पति आदिके पास न जावे कहां ऐसे स्थानपर मल गाड दिया जावे कि जो फिर किसीको कष्ट न दे सके ॥ ६९ ॥

सं त्वा नह्यामि पर्यसा पृथिव्याः सं त्वा नह्यामि पयसौषधीनाम् ।
सं त्वा नह्यामि प्रजया धनेन सा संनद्धा सनुहि वाजमेमम् ॥७०॥(१३)
अमोऽहमस्मि सा त्वं सामाहमस्म्यृक्त्वं द्यौरहं पृथिवी त्वम् ।
ताविह सं भवाव प्रजामा जनयावहै ॥७१॥
जनियन्ति नावग्रवः पुत्रियन्ति सुदानवः । अरिष्टासू सचेवहि बृहते वाजसातये ॥७२॥
ये पितरो वधूदर्शा इमं वहतुमागमन् । ते अस्यै वध्वै संपत्न्यै प्रजावच्छर्म यच्छन्तु ॥७३॥
येदं पूर्वागन् रशनायमाना प्रजामस्यै द्रविणं चेह दत्त्वा ।
तां वहन्त्वगतस्यानु पन्थां विराडियं सुप्रजा अत्यजैषीत् ॥७४॥

अर्थ- [त्वा पृथिव्याः पयसा संनह्यामि] तुझे पृथ्वीके पोषक पदार्थसे मैं युक्त करता हूं। (त्वा ओषधीनां पयसा संनह्यामि] तुझे औषधियोंके पौष्टिक सत्त्वसे युक्त करता हूं। [त्वा प्रजया धनेन संनह्यामि] तुझे प्रजा और धनसे युक्त करता हूं। [सा संनद्धा इमं वाजं सनुहि] वह तू भी उक्त गुणोंसे युक्त होकर इस बलको प्राप्त कर ॥ ७० ॥ [१३]

[अहं अमः अस्मि] मैं प्राण हूं और [सा त्वं] शक्ति तू है। [साम अहं ऋक् त्वं] साम मैं हूं और ऋचा तू है, [द्यौः अहं पृथिवी त्वं] द्युलोक मैं हूं और पृथ्वी तू है। [तौ इह संभवाव] वे हम दोनों इकठे हों और [प्रजां आ जनयावहै] संतान उत्पन्न करें ॥ ७१ ॥

[अग्रवः नौ जीवयन्ति] अविवाहित लोग हम जैसेही विवाहकी इच्छा करते हैं। [सुदानवः पुत्रियन्ति] दाता लोग पुत्रकी कामना करते हैं। [अरिष्टासू बृहते वाजसातये सचेवहि] प्राण रहनेतक हम दोनों बडे बलप्राप्तिके लिये साथ साथ मिलकर रहें ॥ ७२ ॥ [ऋ. ७।९६।१४]

[ये वधूदर्शाः पितरः] जो वधूको देखनेकी इच्छा करनेवाले बडे लोग [इमं वहतुं आगमन्] इस वरातको देखने आयगे हैं, (ते अस्यै वध्वै संपत्न्यै) वे इस वधू अर्थात् उत्तम पत्नीके लिये (प्रजावत् शर्म यच्छन्तु) प्रजायुक्त सुख प्रदान करें ॥ ७३ ॥

[या रशनायमाना पूर्वा इदं आ अगन्] जो रशनाके समान सुसंबंध युक्त पहिली स्त्री इस स्थानपर प्राप्त हुई, वह [अस्यै प्रजां द्रविणं च इह दत्त्वा) इसके लिये संतान और धन यहां देकर (तां अगतस्य पंथां अनु वहन्तु) उसको भविष्यकालके मार्गसे सुरक्षित ले जावें। (इयं विराट् सुप्रजा अति अजैषीत्) यह वधू तेजस्विनी और उत्तम प्रजावाली होकर विजयी होवे ॥ ७४ ॥

भावार्थ- स्त्रीको पृथ्वी और औषधियोंके पौष्टिक रससे पुष्ट किया जावे। उसको धन दिया जावे और उत्तम संतान उत्पन्न हो। स्त्री बलशालिनी होकर घरमें विराजे ॥ ७० ॥

पुरुष प्राण है और स्त्री रयी है, पुरुष सामगान है और स्त्री मंत्र है। पुरुष सूर्य है और स्त्री पृथ्वी है। ये दोनों मिलकर इस संसारमें रहें और उत्तम संतान उत्पन्न करें ॥ ७१ ॥

अविवाहित स्त्री पुरुष अपने सहधर्माचरणके लिये योग्य पुरुष और योग्य स्त्री की अपेक्षा करते हैं। जो उदार दाता होते हैं उनको ही उत्तम संतान होते हैं। ये मनुष्य बनकर उत्तम बलकी प्राप्तिका यत्न करें ॥ ७२ ॥

नव वधूको देखनेके लिये वरातके समय अनेक स्त्री पुरुष जमा होते हैं। वे सब नववधूको सुसंतान होनेका शुभ आशीर्वाद देवें ॥ ७३ ॥

जैसे डोरीमें अनेक धागे मिलकर रहते हैं, वैसेही गृहस्थाश्रम मिलकर रहनेका आश्रम है। गृहस्थाश्रममें इकट्ठे हुए सब लोग स्त्रीको धन और सुसंतान प्राप्त होनेका शुभाशीर्वाद देकर, उसको शुभ मार्गसे चलावें; इस तरह यह स्त्री तेजस्विनी, यशस्विनी तथा सुसंतान युक्त होकर विजयी होवे ॥ ७४ ॥

प्र बुध्यस्व सुबुधा बुध्यमाना दीर्घायुत्वाय शतशारदाय ।
गृहान् गच्छ गृहपत्नी यथाऽसौ दीर्घं त आयुः सविता कृणोतु ॥७५॥(१४)

॥ इति द्वितीयोऽनुवाकः ॥

॥ चतुर्दशं काण्डं समाप्तम् ॥

अर्थ-(सुबुधा बुध्यमाना) उत्तम ज्ञानयुक्त जागती रहकर (शतशारदाय दीर्घायुत्वाय प्र बुध्यस्व) सौ वर्षके दीर्घजीवनके लिये जागती रह । [गृहान् गच्छ] अपने पतिके घरको जा, (यथा गृहपत्नी असः) गृहस्वामिनी जैसी बनकर रह । (सविता ते आयुः दीर्घं कृणोतु) सविता तेरी आयु दीर्घ बनावे ॥ ७५ ॥

भावार्थ- स्त्री विदुषी होवे, सवेरे प्रातःकाल उठे, सौ वर्षकी दीर्घ आयुके लिये ज्ञानप्राप्तिपूर्वक प्रयत्न करे । अपने पतिके घरमें रहे । अपने घरकी स्वामिनी बनकर विराजे । परमात्मा इसको दीर्घायु करे ॥ ७५ ॥

द्वितीय अनुवाक समाप्त ।

चतुर्दश काण्ड समाप्त ।

वैदिक विवाहका स्वरूप।

प्रथम-सूक्त।

अथर्ववेदके इस चतुर्दश काण्डमें वैदिक विवाहका स्वरूप और वैदिक विवाह-पद्धति दर्शायी है। जो पाठक अपनी विवाह पद्धतिका विचार करना चाहते हैं वे इन दो सूक्तोंका विशेष मनन करें। प्रथम सूक्तके प्रारंभमें पांच मंत्र केवल सामान्य उपदेश देनेवाले हैं। इनमें सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, पृथ्वी और सोम आदिका वर्णन है, परंतु इन मंत्रोंमें इन देवताओंका वर्णन करते हुए विवाहका तथा पतिपत्नीका आदर्श बताया है, देखिये

द्यौः और भूमि।

प्रथममंत्रमें भूमि पत्नीके स्थानपर और सूर्य अथवा द्युलोक पतिके स्थानपर वर्णन किये गये हैं। मानो सबकी माता पृथ्वी है और सबका पिता सूर्य है। यह सब संसार मानो पृथ्वी और सूर्य इन मातापिताओंका संतानरूप है। एकही परिवारके हम सब हैं। जितने भी संसारके मनुष्य या पशुपक्षी हैं, ये सब एकही परिवारके हैं। संपूर्ण मनुष्योंमें तो भाईभाईका नाता है। पतिका आदर्श सूर्य है या द्युलोक है। द्युलोक वह है जो खगोल है, सदा प्रकाशित है। वह सबको प्रकाश देता है। इसी प्रकार पति अपने परिवारको उत्तम ज्ञानका प्रकाश देवे और सब संतानोंको ज्ञानवान करे। इसी तरह भूमि सबको आधार देती है, फल और अन्न देकर सबकी तृप्ति करती है। इसी तरह माता सब संतानोंको अपने प्रेमका आधार देवे और सब को खानपान द्वारा योग्य रीतिसे पुष्ट रखे। इस तरह विचार करनेपर तथा द्यावाभूमिके आदर्शका मनन करनेसे स्त्री पुरुषके अथवा पतिपत्नीके आदर्श उपदेश इस मंत्रमें स्पष्ट रीतिसे ज्ञात हो सकते हैं।

गृहस्थधर्मका आधार सत्य है, यह बात इस सूक्तका प्रारंभही 'सत्य' शब्द द्वारा करके बतायी है। स्त्रीपुरुषका व्यवहार सत्यकी मर्यादासेही होवे, उसमें असत्य, कपट, छल आदि कभी न आवें। इसीसे आदर्श गृहस्थधर्म हो सकता है। दूसरा बल 'ऋत' है। ऋतका अर्थ सरलता है। सत्य और ऋत ये दो ही उन्नतिके नियम हैं। सब धर्मनियमोंका यही सार है। ऋत और सत्यको छोडकर कोई धर्म स्थानपर रह नहीं सकता।

सोम

द्वितीय मंत्रमें 'सोम' का माहात्म्य वर्णन किया है। यह सोम स्वर्गमें है, पृथ्वीपर है और नक्षत्रोंमें भी है। पाठक जान सकते है कि नक्षत्रोंमें जो सोम है वह चन्द्र ही है। यह सब नक्षत्रोंकी शोभा बढाता है, रात्रीके समय इसकी अवर्णनीय शोभा है। यह शान्तिका आदर्श है। मनुष्य इस शान्तिके आदर्शको सदा मनमें धारण करें और शान्त रहें। क्रोध अशांति आदि दुर्गुणोंको दूर रखें। यह आदर्श सोम द्वारा पतिके लिये इस मंत्रमें दिया है।

पृथ्वीपर भी 'सोम' है, यहां सोमका अर्थ 'वनस्पति तथा अन्न' है। आकाशके सोमका यह पृथ्वीपर रहनेवाला प्रतिनिधि है। यह पृथ्वीपर रहनेवाले मनुष्यों और पशुपक्षियोंकी तृप्ति करता है। पाठक यहां पृथ्वीके सोमको और आकाशके सोमको यथावत् जानें। दोनोंका नाम सोम है, परंतु ये दोनों एक नहीं हैं। सोमके अनेक अर्थ हैं और सोम शब्द द्वारा अनेक पदार्थोंका बोध वेदमें होता है। अतः सर्वत्र सोम शब्दसे एकही पदार्थका बोध मानना अयोग्य है।

आगे तृतीय मंत्रके पूर्वार्धमें सोमरसका पान करनेका वर्णन है। यह सोमपान यज्ञमें होता है इसको सब जानतेही हैं। परंतु इसी मंत्रमें आगे उत्तरार्धमें विशेष अर्थसे सोमपानका उल्लेख है। वहां कहा है कि "जो सोमपान ब्रह्मज्ञानी पीते हैं, वह सोमपान कोई अन्य मनुष्य कर नहीं सकता।" यहां का सोमपान ब्रह्मानंदका पान है। जो ब्रह्मज्ञानीही कर सकता है। यह भी सोम है। यही परमात्माका अखंड आनंदका रस है। परमात्माको एकरस कहतेही हैं। यही अन्तिम और अतिश्रेष्ठ सोमपान है। धर्म मनुष्यको इसी सोमपानके लिये योग्य बनाता है। साधारण मनुष्य इस सोमपानको कर नहीं सकता, क्योंकि विशेष उच्च अवस्था प्राप्त होनेपरही यह सोमपान होना संभव है।

पाठक यहां देखें कि परमात्माके अखंडानन्दरसरूप सोमके विचारके साथ साथ वनस्पतिके सोमतककी अनेक सोमविषयक

कल्पनाएँ वेदने यहां बतायी हैं। इनके बीच सब प्रकारके सोम आ चुके हैं। इस प्रकार यह सोमपानका माहात्म्य है। इसका वर्णन यहां करनेका उद्देश यह है कि गृहस्थी लोग अपने घरमें सोमपान करें। सर्वसाधारणतया सोमपानका अर्थ है औषधिरस का सेवन करना। यह सब गृहस्थी करें। गृहस्थियोंका यह अन्न है। वनस्पति, धान्य फल, शाक आदिका सेवन गृहस्थियोंके परिवारोंमें होता रहे। मांस, रक्त, अण्डे आदिका सेवन निषिद्ध है। पृथ्वी माता जिस सोमरससे सबकी पुष्टि कर रही है, वह यही वानस्पत्य सोम है। यहां गृहस्थधर्ममें रहनेवालोंका सर्वसाधारण वानस्पत्यान्न होना चाहिये यह बात यहां कही है।

इसके पश्चात् ऋषि मुनि साधु संत आदि अपनी आध्यात्मिक उन्नति करते हुए परमात्माके आनंदका रसपान करते हैं। यह भी सोमपान ही है। इसकी योग्यता सर्वसाधारण गृहस्थियोंके पास नहीं होती। गृहस्थाश्रमका धर्म इस योग्यताको मनुष्यमें उत्पन्न करता है। अर्थात् गृहस्थाश्रमके धर्मका योग्य रीतिसे पालन करनेपर वानप्रस्थाश्रमधर्मके पालनपूर्वक संन्यासाश्रममें मनुष्यके अन्दर यह योग्यता प्राप्त हो सकती है। गृहस्थाश्रमसे आगे चलकर साध्य होनेवाली यह बात है। यह सूचित करनेके लिये और गृहस्थियोंपर की जिम्मेवारी बतानेके उद्देशसे ये सब प्रकारके सोमपान यहां इन मंत्रोंमें बताये हैं।

बरातका रथ

आगे मंत्र ६ से १२ तक बरातके रथका वर्णन है। यह सब आलंकारिक वर्णन है। यह तो मनकाही काल्पनिक ('अनो मनस्मयं। मं० १२' तथा 'मनो अस्या अन आसीत्। मं० १०') रथ है। तथापि यह काल्पनिक रथका वर्णन इसलिये दिया है कि मनुष्य विवाहके समय ऐसे उत्तम रथ बनावें और बरात निकालें और वधूको पतिके घर बडे थाटसे ले आवें। इस बरातका रथ कैसा हो इस विषयमें इन मंत्रोंका वर्णन देखनेयोग्य है।

बरातके रथका नमूना पाठक यहां देखें। जब (सूर्या पतिं अयात्) सूर्यकी पुत्री अपने पतिके घर चली, तब इस प्रकारके सुंदर रथपर वह बैठकर चली थी। यही नमूना सब पुत्रियोंके बरातके समय रखा जाये। इस समय (उपबर्हणं। मं० ६) उत्तम तकिया रथमें था, स्त्रियोंने अपनी आंखोंमें (आञ्जन) काजल लगाया था, पर्याप्त (कोशः) धन साथ लिया था। यह आभूषण हों या मुद्रारूपमें धन हो। परंतु यह इस रथमें चाहिये। जब रथ चलने लगा तब सब लोगोंने (अनुदेयी। मं० ७) अनुकूल आशीर्वाद दिये, सब लोगोंने वधूकी प्रशंसा (नाराशंसी) की। इस तरह सब वायुमंडल अनुकूल बन गया था। उस मंडलमें एक भी मनुष्य इनके प्रतिकूल न था। न कोई विरोध करनेवाला था। सब आनन्दप्रसन्न थे और सभी वधूवरका हित एकचित्तसे चाहते थे।

(भद्रं वासः) इस समय सूर्याका वस्त्र उत्तम था, बहुत ही सुंदर वस्त्र था। ऐसे सुंदर वस्त्रोंसे युक्त होकर सब स्त्रियां वधूके साथ रही थी।

इस बरातमें आगे उत्तम गायक थे, वे सुंदर छंदोंमें और मधुर स्वरमें मंगल पद्य गाते हुए आगे चल रहे थे। सबसे आगे दो वैद्य चल रहे थे, उनके साथ अग्नि मार्गदर्शक था। इसके प्रकाशमें वह बरात चल रही थी।

जिस रथमें यह वधू बैठी थी, उस रथपर सुंदर छत थी, मंदर जैसा उसका शिखर था, अंदरसे सुंदर आकाशके समान दिखाई देता (द्यौः छदिः। मं०१०) था। दो श्वेत बैल (शुक्रौ अनड्वाहौ) इस रथको जोते थे। यह बरात सोमके घर चल रही थी। क्योंकि सोमही इस सूर्याका पति था। सोमनेही इन सूर्याकी मंगनी की थी और सोमके साथ इस सूर्याका विवाह हुआ था।

जब सोमने मंगनी की थी, उस समय वहां दोनों अश्विनी कुमार देवोंके वैद्य थे। अर्थात् वैद्योंके सामने यह मंगनी हुई थी। इस मंगनीका स्वीकार सूर्यके पिताने किया था।

सूर्यां यत् पत्ये शंसन्तीं मनसा सविताददात्॥ मं० ९

"सविताने मनसे पतिके विषयमें पूज्यभाव रखनेवाली अपनी सूर्याका दान पतिके हाथमें किया था।" इसमें सविता अपनी पुत्रीको पतिके हाथमें दान करता है ऐसा वर्णन है। यह ब्राह्म-विवाहका आदर्श वेदने वैदिक धर्मियोंके सन्मुख रखा है। इसमें वधूका पिता अपनी कन्याका दान करता है और इस दानविधिसे कन्या वरको प्राप्त होती है। यहां गांधर्व विवाहका आदर्श वेदने वैदिक धर्मियोंके सामने रखा नहीं है। वर अपने लिये वधूकी मंगनी करता है, वधूका पिता उस मंगनीका स्वीकार करता है, और सुमुहूर्तपर अपनी पुत्रीका दान करता है। इससे स्पष्ट है कि कन्यापर अधिकार पहिले पिता का होता है और इस कन्यादान-विधिसे कन्यादानके पश्चात् पतिका अधिकार होता है। वैदिक धर्मकी दृष्टिसे स्त्री स्वतंत्र अर्थात् स्वेच्छाचारी न रहे। या तो वह पिताके अधिकारमें रहे अथवा पतिके आधीन रहे। इन दोनोंकी अनुपस्थितीमें वह ज्येष्ठ पुत्र, भाई या अन्य श्रेष्ठ पुरुषकी आज्ञामें

रहे परंतु स्वतंत्र न रहे। (अदात्) दान जो होता है वह स्वतंत्रका नहीं हुआ करता, जो स्वतंत्र नहीं होता उसीका दान होना संभव है। पुरुषका दान कभी नहीं होता, क्योंकि वह स्वतंत्र है। कन्याकाही दान यहां लिखा है।

सूर्यां सविता पत्ये अदात्। [अथर्व. १४।१।९]
मह्यं त्वाऽदुर्गार्हपत्याय देवाः। (ऋ० १०।८५।३६; अथर्व० १४।१।५०)

इन दोनों स्थानोंपर अर्थात् ऋग्वेदमें और अथर्ववेदमें (अदात्, अदुः) कन्यादान ही लिखा है। अतः जो लोग समझते हैं कि वैदिक कालमें स्त्रियां स्वतंत्र थीं, यह उनकी भूल है।

न स्त्री स्वातंत्र्यमर्हति।

यह स्मृतियोंका कथन वेदके संमत ही है, ऐसा यहां प्रतीत होता है। जो लोग इस स्मृतिवचनका उपहास करते हैं, वे इस वेदवचनका अधिक मनन करें। स्त्रियां स्वतंत्र न रहें, बालपनमें मातापिताकी शिक्षामें रहें, विवाहित होनेपर पतिसे शिक्षा प्राप्त करें। वर कन्याकी मंगनी वधूके पिताके पास करे और पिता (मनसा अदात्) अपने मनसे संमति दे। तब विवाह हो। कन्या स्वयं पिताकी अनुमतिके बिना अपना स्वयंवर न करे, स्वयंवर करना भी हो, तो उसके लिये भी पिताकी संमति हो। वेदमें स्वयंवरके मंत्र किसी स्थानपर अबतक देखनेमें नहीं आये हैं। इससे प्रतीत होता है कि स्वयंवर की प्रथा पीछेसे चल पडी है। अस्तु।

इस तरह कन्यादानपूर्वक विवाह होनेके पश्चात् वधू अपने पतिके घर चली जाती है। उस समय सुंदर रथ सिद्ध किया जावे। उसमें गादियां और तकिये हों, रथ सुंदर सजाया जावे। उत्तम बैल उसको जोते जांय। कोई घोडे जोते, उसके लिये प्रतिबंध नहीं है। रथके चक्र भी (शुची) सुंदर, स्वच्छ और सजावटसे युक्त हों। इस तरह सब प्रकारसे सुंदर और सजावटसे मनोरम बनाये सुखदायी रथपर आरूढ होकर वधू अपने पतिके घर चली जावे।

दहेज।

विवाह होनेके पूर्व वधूका पिता अपने दामादके लिये अपने सामर्थ्यके अनुसार (वहतुः) दहेज भेज देवे। मंत्र १३ में [गावः] गौवें दहेजके रूपमें भेजनेका उल्लेख है। गौवें ही बडा धन है। अन्य धन इससे कम योग्यतावाला है। गौवोंके दूधसे घरके सब आबालवृद्धोंकी पुष्टि होती है, इसीलिये वधूका पिता अपनी कन्याके पतिको उत्तम उत्तम गौवें देवे और ये गौवें विवाहके पूर्व पतिके घर पहुंचें। पश्चात् विवाह होवे और तत्पश्चात् वधू अपने पतिके घर चली जावे। चन्द्रमा मघा नक्षत्रमें होनेके समय दहेज भेज दिया, तो चन्द्रमा फल्गुनी नक्षत्रमें जानेके समय विवाह हो। प्रायः यह कमसे कम पंद्रह दिनका समय है, अधिकसे अधिक पंद्रहके बादमें जितना आ सकता है उतना मान सकते हैं। दामादके घर गौवें पहुंचनेके पश्चात् उन गौवोंको वहांका प्रेम लगनेके पश्चात् विवाह हो, यह तात्पर्य है। जब यह वधू अपने पतिके घर चली जायगी, तब उसको अपनीही परिचित गौवें मिलेंगी। और गौवोंको भी अपने परिचयकी स्वामिनी मिलनेसे, परस्परका प्रेम परस्पर होनेके लिये सुभीता होगा। इस तरह यह कन्यादानके पूर्व गौओंका दान वैदिक विवाहमें एक मुख्य बात है।

मंत्र १४ और १५ में कहा है कि वधूपक्षके दो मनुष्य (अश्विनौ) घोडोंपर सवार होकर वरपक्षके पास पहुंचते हैं। वरके पास उक्त दहेजको समर्पण करते हैं। इस तरह इस परस्पर-संमिलनको सब पारिवारिक लोग संमति और अनुमति देते हैं। ऐसे ढंगसे यह विवाह होता है और सब जातिकी संमति उसको रहती है। मंगनी के समय, विवाहके समय और बरातके समय सब पारिवारिक जन, सब जातिके सज्जन उपस्थित होते हैं। यह बात 'देवाः' पदसे सिद्ध होती है। सूर्यदेव और सोमदेवके परिवारिक जन तथा जातिके सज्जन [देवाः) देव हैं। इसी तरह मनुष्योंमें विवाह होनेके समय वधू और वर पक्षके पारिवारिक तथा जातिके लोग संमिलित होने चाहिये, यह बात उसी वर्णनसे स्वयंसिद्ध होती है। क्योंकि वैदिक विवाह सूर्यने जैसा अपनी पुत्री सूर्याका सोमके साथ किया, वैसाही मानवोंने अपनी पुत्रियोंका करना है। वस्तुतः सूर्यने जो अपनी पुत्री सूर्याका विवाह किया वह एक आलंकारिक बात है। वह वर्णन इसलिये वेदमें किया है कि इसको देखकर लोग अपने विवाह इस विधिके अनुसार करें। वेदका यह रूपक सूर्यका किरण चन्द्रमाको प्रकाशित करता है, इस मूल बातको लेकर रचा गया है। और विवाहके आवश्यक सिद्धांत इस आलंकारिक वर्णनमें उत्तम रीतिसे संग्रहीत किये गये हैं।

*

पुराना और नया संबंध।

मंत्र १७ और १८ में वधूका संबंध पितृकुलसे कैसा छूटता है और पतिकुलसे कैसा बनता है, इसका उत्तम वर्णन है —

इतः बंधनात् प्रमुञ्चामि, न अमुतः। (मं० १७)
इतः प्रमुंचामि न अमुतः, अमुतः सुबद्धां करम्।
[मं० १८]

इन मंत्रोंमें स्पष्ट कहा है कि " इस पुत्रीको हम पितृकुलसे छुडाते हैं, और पतिकुलके साथ ऐसा सुसंबद्ध करते हैं कि यह पतिकुलसे कभी न छूट सके। " कन्याका पितृकुलसे छूटना तो आवश्यक ही है, परंतु प्रश्न यहां यह उत्पन्न होता है कि यह कन्या पतिकुलसे किसी न किसी प्रकार छूट सकती है, या नहीं? इस प्रश्नके उत्तरमें वेदका यह कथन है कि कन्या पतिकुलसे अपना संबंध नहीं छोड सकती। किसी भी अवस्थामें उसका संबंध पतिकुलसे छूटना वैदिक धर्मकी दृष्टिसे असंभव है। उक्त मंत्रोंमें सुस्पष्ट रीतिसे कहा है कि [न अमुतः, अमुतः सुबद्धां करं] नहीं, पतिकुलसे तो उसको उत्तम प्रकार रीतिसे बांधता हूं। इस सुबद्ध करनेका तात्पर्य यह है कि वह पतिकुलसे कभी विमुक्त न होवे। नियोगकी रीतिमें नियुक्त पुरुषके साथ संबंध होनेसे भी पतिकुलका संबंध सुदृढ रहता है और संतान तो पूर्व पतिकीही होती है। परंतु पुनर्विवाह तो सर्वथा असंभव है, क्योंकि पुनर्विवाहसे तो पतिकुलका संबंध छूट जाता है। इस कारण वैदिक धर्ममें स्त्रीका पुनर्विवाह संभव नहीं है। वैदिकधर्मी द्विजातियोंमें तो सर्वथा पुनर्विवाह असंभव है।

आजकलका पतित्याग (डायव्होर्स) या पत्नीत्याग तो नितांत अवैदिक है। आजकल यूरोप, अमरीकाका अनुकरण करनेवाले कई थोडे भारतीय लोग विवाहित संबंध अदालतसे तोडनेके पक्षपाती दीखते हैं। परंतु यह रीति वैदिक धर्मके अनुकूल नहीं है। स्वयंवर की प्रथामें भी पतिपरित्याग या पत्नीपरित्याग संमत नहीं है, फिर ब्राह्मविवाहके अनुसार तो कैसे संभव हो सकता है? पूर्वोक्त मंत्रमें उपमा दी है कि जैसा कोई फल (उर्वारुकं बंधनात्) अपने वृक्षसे या बेलसे परिपक्व होनेपर बंधनसे छूटता है, वैसी यह कन्या पितृकुलके संबंधसे विवाहके समय मुक्त हो गयी है। इसका संबंध पतिकुलसे हुआ है और वह संबंध सुबद्ध अर्थात् दृढतर हो चुका है, वहांसे मुक्तता नहीं हो सकती। यहां पाठक वैदिक विवाह की कल्पना ठीक प्रकार मनमें धारण करें। यह स्थिर संबंध है, यूरोप अमेरीका के समान क्षणभंगुर नहीं है।

आगे १९ वें मंत्रमें कहा है कि यह कन्या वरुणके पाशसे पितृकुलसे सुसंबद्ध हुई थी। विवाहके समय वे पाश तोड दिये गये हैं। वरुणके पाश किसी अन्य कारणसे टूट नहीं सकते। पितृकुलसे संबंध तोडकर पतिके कुलसे नया संबंध जोड दिया है। यह संबंध जो पतिके कुलसे हो गया है वह (सह-संभलायै) साथ साथ संभाल होनेके लिये है। पतिके कुलके परिवारके साथ इस स्त्रीका संभाल होता रहे। अर्थात् यह कन्या बाल्यमें पितृकुलसे पाशोंके साथ बांधी थी, वरुणदेवके पाशोंसे बांधी थी, और वरुणके पाश ऐसे होते हैं कि वे तोडनेका सामर्थ्य किसीके अन्दर नहीं होता है। ये वरुणके पाश विवाहविधिसे टूट जाते हैं, परंतु वही वधू पतिकुलसे ऐसी बांधी जाती है कि वहांसे आमरण वह अपना संबंध छोड नहीं सकती। इस पतिकुलमें रहती हुई यह—

ऋतस्य योनौ सुकृतस्य लोके स्योनम्॥ [मं० १९]

"सत्यके घरमें और पुण्यवानोंके स्थानमें जो सुख प्राप्त हो सकता है, वह इसको पतिके घर प्राप्त हो।" अर्थात् यह पतिके घरमें रहती हुई सत्य मार्गसे चले और पुण्य कर्म करती हुई सुखको प्राप्त हो। यह स्त्रीका धर्म है। पति रहनेतक या पतिके मरनेके पश्चात् भी स्त्रीका यही धर्म है, इस धर्मसे वह पतित न हो, और इस धर्मका आचरण करती हुई सुखको प्राप्त करे। स्त्रीका स्वतंत्रआचार या स्वेच्छाचार सर्वदा गर्हित है। न स्त्री पितृघरमें स्वतंत्र है, न पतिके घरमें स्वतंत्र है और न पतिके मरनेके पश्चात् वह स्वतंत्र हो सकती है।

कन्याके बालकपनमें तो सविता देवने वरुणके पाशसे उसे पितृकुलसे बांध रखा था (मं० १९), विवाह होनेके समय वे पाश तो टूट गये, परंतु भगदेवताने उसका हाथ पकडकर वरातक रथतक चलाया, पश्चात् जब वह पतिके घर जानेके लिये रथमें बैठी तब अश्विनीदेव उसके रक्षक बने [मं० २०], जबतक यह वधू पतिके घर नहीं पहुंचती, वहांतक अश्विनी देवोंकी रक्षामें यह रहती है। पश्चात्—

गृहान् गच्छ, गृहपत्नी यथाऽसो वशिनी त्वम्॥(मं० २०)

पतिके घर यह नव वधू पहुंचती है और वहां वशिनी होकर रहती है। स्वयं अपनी इंद्रियां वशमें रखती है, घरके परिवारको वशमें रखती है और स्वयं बडे लोगोंकी आज्ञामें

रहती है। इस तरह यह पतिके घर पहुंचनेके पश्चात् बर्ताव करती है। तत्पश्चात् यह पितृगृहमें वरुणके पाशोंसे बंधी रहती है। स्वतंत्र नहीं होती। इसके ऊपर या तो पिता और माता निगरानी करते हैं, देवताओंकी निगरानी रहती है, और पश्चात् पतिकी निगरानी होती है। कुछ भी हुआ तो स्त्री को वैसी स्वतंत्रता नहीं रखी है, जैसी कि आजकल यूरोप, अमेरीका और विशेषतया रूसमें इस समय स्त्रियोंकी स्वतंत्रता मानी जाती है। नियमबद्ध परतंत्रतामें जितनी स्वतंत्रता हो सकती है, उतनी तो अवश्य है। विद्या, कला, संस्कृति आदिके विकास के लिये जितनी आवश्यक है, उतनी स्वतंत्रता है, परंतु आजकल की कुमारिकाएं कुमारोंके साथ मिलजुल-कर कालेजोंमें सीखती हैं वैसी शिक्षापद्धति भी वैदिक समयमें नहीं थी। उस समय प्रत्येक कुमारी अपने मातापितासे आव श्यक शिक्षा पाती थी और पश्चात् पतिसे। स्वतंत्र रीतिसे कालेजोंमें रहना और कुमारोंमें मिलकर शिक्षा पाना, यह उस वैदिक समयमें प्रायः असंभवसा प्रतीत होता है।

गृहस्थाश्रमका आदर्श।

आगे मंत्र २१-२३ तक गृहस्थाश्रमका सुंदर वर्णन है। प्रत्येक गृहस्थी इस सुखका अधिकारी है। जो धर्मानुकूल रहे और गृहस्थीका धर्म पालन करे। वह इस सुखको प्राप्त कर सकता है।

(१) अस्मिन् गृहे गार्हपत्याय जागृहि। (मं० २१)

इस पतिके घरमें अपने गृहस्थ-धर्मका जागते हुए पालन कर" अपने गृहस्थ धर्ममें अशुद्धि न कर, दक्षतासे अपने पतिके घरमें रह और अपना कर्तव्य कर।

(२) इह ते प्रजायै प्रियं समृद्ध्यताम्। [मं० २१]

"इस गृहस्थाश्रममें रहते हुए अपने संतानका प्रिय, शुभ और कल्याण करना तेरा मुख्य कर्तव्य है।" सुसंतान निर्माण करना गृहस्थका धर्म है। गृहस्थधर्मका यह पुष्प और फल है, यह सुयोग्य बननेके लिये जो यत्न किया जाय वह थोडा है। मातापिताके सब संस्कार अंशरूपसे संतानमें आते हैं, अतः मातापितापर यह जिम्मेवारी है कि वे अपनेपर कोई अशुभ संस्कार न होने दें। शरीरके रोग, बुरी आदतें और अन्य कुसंस्कार संतानोंमें अंशरूपसे उतरते हैं, अतः मातापिताओंको उचित है कि वे स्वयं परिशुद्ध रहें और शुभ संतान निर्माण करनेका यत्न करें। इस तरह प्रयत्न करते करते संतानोंके लिये शुभ संस्कारही मिलते जायंगे, और क्रमशः संतान सुधरती और सुसंस्कारसंपन्न होती जायेंगी।

[३] एना पत्या तन्वं सं स्पृशस्व। [मं० २१]

"इस पतिके साथ आनंदप्रसन्न होकर रह।" सब प्रकार के धर्मानुकूल उपभोग प्राप्त कर। सदा प्रसन्नतासे दिनचर्या व्यतीत कर। दुःखी कष्टी रहनेसे वैसा चिडचिडापन संतानमें आ जायगा, इसलिये प्राप्त ऐश्वर्यके उपभोगसे चित्तकी प्रसन्नता रख और इसी तरह अन्यान्य प्रसंगोंमें अन्तःकरण सदा शुभवृत्तिसेही रखना योग्य है। इस संसारमें रहनेका यही मुख्य नियम है।

[४] अथ जिर्विः विदथं आ वदासि। [मं० २१]

"इस ढंगसे गृहस्थाश्रममें रहते हुए जब तारुण्य चला जाय, और वृद्ध अवस्था प्राप्त हो, अर्थात् बहुत अनुभव आ जाय, तब तू अपने अनुभवके सिद्धान्त उपदेशद्वारा दूसरोंको कह।" इससे पूर्व नहीं। इसके पूर्वका समय ज्ञानग्रहण करनेका है, उपदेश देनेका नहीं। उपदेश देना अनुभवी वृद्धोंकाही कर्म होगा। इस संसारमें पर्याप्त अनुभव आनेपर ही मनुष्य उपदेश करे। इसके पूर्व जो उपदेश करते हैं, उससे लाभकी अपेक्षा हानि की अधिक संभावना हो सकती है। अनुभव जैसा जिसको अधिक होता है, वैसा उसका अधिकार उपदेश करनेमें अधिक होता है।

[५] इहैव स्तं, मा वियौष्टं, विश्वमायुर्व्यश्नुतम् (मं०२२)

"पतिपत्नी इस गृहस्थाश्रममें रहें, उनमें वियोग न हो, पूर्ण आयुकी समाप्तितक वे दोनों एक विचारसे रहें।" यह है विवाहित कुटुंबका आदर्श। नहीं तो विवाह होतेही वैवाहिक संबंधका परित्याग करनेकी कुप्रथा जो अनार्य देशोंमें चली है, वह तो वैदिक विवाहमें सर्वथा नहीं है। वेद चाहता है कि जो विवाह एक समय हुआ वह जीवनके अन्ततक स्थिर रहे, उनमें किसी तरह विरोध न खडा हो, झगडे होकर उनका वैवाहिक संबंध न टूटे।

[६] स्वस्तकौ मोदमानौ पुत्रैः नप्तृभिः क्रीडन्तौ। (मं० २२]

"पतिपत्नी उत्तम घरवाले हों, आनंदप्रसन्न हों और पुत्रोंके साथ तथा नातियोंके साथ खेलते हुए सुखसे गृहस्थाश्रमका कर्तव्य करते रहें।" गृहस्थाश्रममें रहनेवाले दुःखी

चिरंजीव न हों, मन आनन्दप्रसन्न रखकर सुखके साथ अपने कर्तव्य गृहस्थी लोग करते रहें।

(७) सूर्यचन्द्रके समान तेजस्वी पुत्र हों ।

(मं० २३)

" जैसे सूर्य और चन्द्र सब जगत्को प्रकाश देनेवाले हैं, वैसेही गृहस्थोंके घरमें उत्तम तेजस्वी संतान हों, वे विविध खेलोंमें (क्रीडन्तौ) प्रवीण हों, (मायया चरतः) कौशल्यके साथ जगत्में भ्रमण करें, अर्थात् कुशलताके कर्म करें, कलावान् हों और विश्वका भ्रमण करें । अपनी कलाका खूब विकास करें । उक्त उपमामें चंद्रमा कलायुक्त होता है, उसको कलानिधि कहते हैं, वैसा ही यह कलाओंका निधि बने । और कलाकुशलतासे अपनी तथा अपने राष्ट्रकी उन्नति सिद्ध करे । अपनी संतानोंको कला-कारीगरीकी शिक्षा देनी चाहिये, यह बात यहां स्पष्ट हो जाती है ।

ब्राह्मणोंको धन और वस्त्रदान ।

मंत्र २५ में (ब्राह्मणेभ्यो वसु विभज, शामुल्यं च देहि । मं. २५) ब्राह्मणोंको धन दान दो और वस्त्रका दान करो । यह ब्राह्मणोंको दान करनेकी आज्ञा यहां की है। विवाहके समय सुयोग्य विद्वान् ब्राह्मणोंको धन और वस्त्र देना चाहिये। गौ, भूमि आदिका भी दान दिया जावे । यह दान वधूके समक्ष दिया जावे, और इसका सात्त्विक परिणाम वधूके ऊपर होवे । यह दान देना चाहिये यह बात इस प्रकार नव वधूके मनपर प्रतिबिंबित हो । यदि दान देनेका गुण वधूमें न रहा, और केवल भोगमेंही उस वधूका मन अत्यधिक रमने लगा तो वह एक कुटुंबका नाश करनेवाली राक्षसी सिद्ध होगी । ऐसी भोगी स्त्री-

कृत्या पद्वती भूत्वा जाया पतिं विशते ॥ (मं. २५)

"यह एक दो पांववाली विनाशक राक्षसी भार्यारूपसे पतिके घर प्रवेश करती है ।" जिस स्त्रीके मनपर दान देनेका भाव प्रतिबिंबित नहीं हुआ, वह भोगी स्त्री ऐसीही घातक राक्षसी माननी चाहिये । गृहस्थीका भूषण उदार स्त्री है । उदारता की शिक्षा उस वधूको अपने पिताके घरमें मिलनी चाहिये और पतिके घरमें भी मिलनी चाहिये । इसलिये दान देनेका महत्त्व उस स्त्रीके मनपर स्थिर करना चाहिये। गृहशिक्षाका यह एक विशेष महत्त्वका भाग है।

जिसमें दानभाव स्थिर नहीं हुआ उसके मनमें (कृत्या सक्तिः) विनाश या घातपात करनेकी बुद्धि प्रकट होती है। किसी स्त्रीमें ऐसी क्रूर बुद्धि न हो इसलिये दानकी बुद्धि वधूमें बढानी चाहिये। यदि ऐसा न हुआ और स्त्री स्वैराचरण करनेवाली हुई तो अन्तमें पतिकुलकाही नाश होता है—

एधन्ते अस्या ज्ञातयः, पतिर्बन्धेषु बध्यते । (मं०२६)

"इसकी जातियोंमें कलह प्रबल होता है, और अन्तमें बिचारा पति कलहके बंधनमें बांधा जाता है । " इसलिये कन्या और वधूमें प्रारंभसे ही दान की बुद्धि, परोपकार करनेकी बुद्धि स्थिर होनी चाहिये । अपने सुखका त्याग करके भी सज्जनोंकी सेवा करनेकी सुबुद्धि स्थिर होनी चाहिये । धर्मसेवा, जनसेवा, आदि सेवाभाव सबमें बढे और इस सेवासे ही सब द्वेषभाव दूर होगा, यह बात सब लोग जानें ।

पुरुष स्त्रीका वस्त्र न पहने ।

मंत्र २७ में कहा है कि पुरुष कभी स्त्रीका वस्त्र न पहने । पुरुषका शरीर कितना भी सुंदर हो परंतु स्त्रीका वस्त्र पहननेसे वह अश्लील बनता है, शोभारहित होता है ।

यह निषेध स्त्रीका पहना वस्त्र पुरुषके पुनः पहननेके लिये है, या नाट्योंमें जो पुरुष स्त्रीवेष धारण करते हैं उस कार्यका यह निषेध है, यह एक विचारणीय प्रश्न है! पाठक इसका अधिक विचार करें परिवारमें पति कभी स्त्रीका वस्त्र न पहरे, यह बोध यहां निःसन्देह है । इस प्रकारका निषेध पुरुषका वस्त्र स्त्रीके पहननेके विषयमें नहीं है, यह बात विशेष मनन करनेयोग्य है । इससे स्पष्ट है कि स्त्रियोंके पहने वस्त्र आरोग्यकी दृष्टिसे पहननेके अयोग्य होते हैं। यहां स्त्रीका वस्त्र दूसरी स्त्री पहने या न पहने, इस विषयमें भी निषेध नहीं है । स्त्रीका वस्त्र पुरुष न पहने यह बात यहां स्पष्ट और अवंदिग्ध है । पाठक इस बातका अधिक विचार करें और निश्चय करें।

विविध वस्त्र पहननेसे स्त्रीके रूप विशेष शोभायुक्त होते हैं, यह बात मं० २८ में कही है। (आशसनं) धारीवाला वस्त्र, (विशसनं) सिरपर ओढने योग्य ओढनी, और (अधिविकर्तनं) यह सर्वांगपर ओढनेका वस्त्र है । स्त्रियोंके पहननेके ये तीन वस्त्र हैं । इनके विविध रंगरूपोंके कारण स्त्रियोंके स्वरूपकी सुंदरता बढती है ।

कन्याका गुरु ।

कन्या की शिक्षा कैसी होनी चाहिये, यह एक बडा विकट प्रश्न है । आजकल तो कन्या और पुत्र एकही पाठशालामें पढते हैं और उनकी पाठविधि समान होती है । वस्तुतः देखा जाय तो पुरुषों और स्त्रियोंके कार्य इस संसारमें विभिन्न होते हैं, अतः एकही पाठविधि दोनोंके लिये लाभदायिनी नहीं हो सकती । आजकल स्त्रियोंका पुरुषीकरण हो रहा है और पुरुषोंका स्त्री-करण किया जाता है । मिश्रपाठविधिका और सहशिक्षाका यह दोष है । वेदके उपदेशानुसार स्त्रीपुरुषोंकी पाठविधि भिन्न होनी चाहिये । स्त्रियोंको विशेषतः सूपशास्त्र अर्थात् अन्नका पाक कर-नेकी विधिका उत्तम ज्ञान होना चाहिये । [एतत् तृष्टं] यह पदार्थ तृषा उत्पन्न करनेवाला अर्थात् पित्तकारक है, [एतत् कटुकं] यह कटु है, [एतत् अपाष्ठवत् विषवत्] यह पदार्थ स्वास्थ्यका बिगाड करनेवाला है,ये पदार्थ विषके समान मृत्यु लानेवाले हैं, (एतत् अत्तवे न) ये पदार्थ खानेयोग्य नहीं हैं, इसी तरह निषिद्ध पदार्थोंका ज्ञान कन्याओंकी पाठ-विधिमें देना चाहिये । तथा खाने योग्य पौष्टिक और सात्त्विक पदार्थोंका भी योग्य ज्ञान स्त्रियोंको पढाया जावे । स्त्रियोंके ऊपर बालबच्चोंके लालन पालनका भार रहता है, इसलिये उनको भक्ष्य भोज्य लेह्य पेय आदि खाद्यपदा-र्थोंका उत्तम ज्ञान होना अत्यंत आवश्यक है । इस प्रकार की पाठविधि स्त्रियोंके लिये होनी चाहिये और उनपर जो कार्यका भार आनेवाला है, वह पूर्ण करनेकी योग्यता उनमें उत्पन्न करनी चाहिये ।

जो गुरु इस तरह की शिक्षा कन्याओंको देता है उसको उस कन्याके विवाहके समय उत्तम वस्त्र दान करना योग्य है । इसी तरह मंत्र ३० में कहा है कि, जो गुरु (प्रायश्चित्तिं अध्ये-ति) चित्तशुद्ध करनेका उपदेश देता है, चित्त बुरे मार्गसे जाने लगा तो उसको धर्ममार्गपर लानेका विवेक जिस सद्गुरु-की कृपासे मनमें उत्पन्न होता है, उस शिक्षक का सम्मान करना चाहिये । उस कन्याके विवाहके समय (सुमंगलं स्योनं वासः) उत्तम मंगल और शुभ वस्त्र उस ब्राह्मणको अवश्य दिया जावे, जिसने उस कन्याको पूर्वोक्त ज्ञान दिया है, पढाया है, उत्तम शिक्षा दी है । क्योंकि इसी ज्ञानसे (येन जाया न रिष्यति) उस स्त्रीकी गिरावट नहीं होती । वह सुशिक्षित स्त्री अपने धर्मपथमें रहती हुई सबको आनन्द देती है । यह शिक्षाका प्रभाव है, ऐसी शिक्षा स्त्रीको देनी चाहिये ।

स्त्रीको योग्य शिक्षा न दी, तो वह कैसे पतिकुलका नाश करती है, इसका वर्णन मं० २५—२६ में पूर्व स्थानपर किया है । इससे स्पष्ट है कि स्त्रियोंको सुशिक्षा देना अत्यंत आवश्यक है । शिक्षा न होनेसे बडे भयानक परिणाम होते हैं ।

सद्व्यवहारसे धन कमाओ ।

गृहस्थाश्रममें धनकी आवश्यकता सदा रहती है । कोई कर्म धनके बिना हो नहीं सकता । अतः गृहस्थीको धन कमाने की अत्यंत आवश्यकता है । यह धन कैसा कमाया जावे, यह एक बडी भारी समस्या गृहस्थियोंके सन्मुख सदा रहती है । इसका उत्तर ३० वें मंत्रने दिया है ।

(ऋत—उद्येषु ऋतं वदन्तौ) सरल व्यवहारोंमें सरल भाषण करो । उसमें छलकपट न हो । सबसे प्रथम टेढे व्यव-हारमें न जाओ । जो व्यवहार करना हो, वह सरल व्यवहार हो और उसके करनेके समय भी सरल भाषण करो । और इस प्रकारके धर्मानुकूल सरल व्यवहार करके–

(समृद्धं भगं संभरतं) बहुत धन प्राप्त करो । अपने लिये जितने धनकी आवश्यकता है उतना धन कमाओ । धर्मानुकूल व्यवहार करनेसे निःसंदेह यश प्राप्त होगा और समृद्धि भी होगी ।

पतिपत्नी अपने घरमें प्रेमके साथ रहें । पति (संभलः चारु वाचं वदतु) अपनी धर्मपत्नीके साथ मीठा भाषण बोले, मंगल भाषण करे, सुंदर वचन कहे तथा [अस्यै पतिं रोचय इस स्त्रीको पतिके विषयमें बडी रुचि हो, बडा प्रेम हो । इस तरह दोनों प्रेमके साथ रहें,व्यवहार करें और उन्नति करते रहें।

गौरक्षा ।

मंत्र३२ और ३३में गृहस्थी लोग गौरक्षा करें, इस विषयका बडा उपयोगी उपदेश है । गौवें घरकी शोभा हैं, बालकोंकी उन्नति इसीसे होती है । सब प्रकारका उत्कर्ष गौवोंसे होता है, इसलिये गौपालन गृहस्थीका धर्म है ।

सरल मार्ग ।

सबके चलनेके मार्ग सरल और निष्कंटक हों, इस विषयमें ३४ वें मंत्रका आदेश ध्यानमें धरने योग्य है–

पन्थानः अनृक्षराः ऋजवः सन्तु ॥ (मं० ३४)

" मार्ग कंटकरहित और सरल हों । " घरको पहुंचनेके मार्ग, घरके पास के मार्ग, राष्ट्रमें जाने आनेके सब मार्ग निष्कंटक और सीधे हों । उनमें जहांतक हो वहांतक टेढापन न हो । मनुष्यके सब व्यवहारके मार्ग भी सीधे ही हों । यहां जानेके और आनेके मार्ग सीधे हों, यह बात कहनेका हेतु नहीं है, क्योंकि ये मार्ग तो जैसी भूमि होगी वैसे हो सकेंगे । परंतु मनुष्योंके व्यवहारके मार्ग सीधे हों, यह बात विशेषतया यहां कही है । बीचमें कांटे न बिछाये जावें । आजकलके राष्ट्रके और समाजके व्यवहार देखनेसे ऐसा प्रतीत होता है कि, मनुष्य स्वयंही अपनी मतिहीनतासे अपने मार्गपर कांटे बिछाते हैं और सीधा व्यवहार होनेकी संभावना होनेपर भी टेढेपनसे व्यवहार करते हैं और इस कारण सुखप्राप्तिके प्रयत्नसे सदा दुःख ही प्राप्त करते हैं । इस तरह ये गृहस्थी अपनी उन्नतिके मार्गमें कांटे न डालें यह उपदेश वेद यहां गृहस्थाश्रमके प्रारंभमें दे रहा है । सब गृहस्थी इसको अवश्य स्मरण रखें । इस प्रकारके सीधे मार्गसे चलनेपर [धाता भगेन वर्चसा सं सृजतु] परमेश्वर धन और तेज देवे । वह परमात्मा तो सरल व्यवहार करनेवालोंको यह फल अवश्य ही देगा । इसमें किसीको संदेह करनेकी आवश्यकता नहीं है । परमेश्वरकी सहायता प्राप्त करनेका मार्ग भी सीधा और निष्कंटक है । यही धर्ममार्ग है । इससे चलकर सब मनुष्य सुखधाम को पहुंच सकते हैं । इस प्रकार इस मंत्रका उपदेश बडा मनन करने योग्य है और प्रत्येक गृहस्थीको सदा ध्यान रखनेयोग्य है, क्योंकि सबकी उन्नति सरल और निष्कंटक मार्गसेही होनी संभव है । उन्नतिका दूसरा कोई मार्ग नहीं है ।

तेजस्वी बनो

गृहस्थी तेजस्वी बनें, उत्साही बनें, कदापि निरुत्साही न हों । गृहस्थीका धर्म उत्साहका है, यह तेजस्वी मनुष्योंका धर्म है इसीलिये वेद उपदेश देता है कि गृहस्थी तेजस्वी बने । यहां प्रश्न उत्पन्न होता है कि गृहस्थी तेजस्वी कैसा बने ? उत्तरमें वेद कहता है कि—

यद् वर्चः अक्षेषु सुरायाम् ॥ (मं० ३५)

" जो तेज आंखोंमें अथवा द्यूतके फासोंमें होता है और जो मद्यमें होता है " वह तेज इन गृहस्थियोंमें आवे । यह पढकर पाठक कहेंगे कि यह क्या अनर्थ है ? वेद ऐसा उपदेश क्यों देता है ? क्या वेद इस उपदेशसे गृहस्थियोंको जुआरी और मद्यपी बनाना चाहता है ? कदापि नहीं । वेद तो इन दुर्व्यसनोंसे गृहस्थियोंको बचाना चाहता है, परंतु यहां तेजस्वी उत्साहका वर्णन है । किन लोगोंमें तेजस्वी उत्साह अत्यधिक होता है ? उत्तरमें जुआरी और मद्यपमें होता है, ऐसाही कहना पडेगा । देखिये, जुआ खेलनेके कार्यमें सरकारी प्रतिबंध है, जुआरी को राजपुरुष पकडते हैं और कारागृहमें डालते हैं, न्यायालयोंमें इनको दण्ड दिया जाता है, घरवाले इस जुआरीके विरोधी होते हैं । इष्ट मित्र तथा परिवार के लोग चाहते हैं कि यह जुआ न खेले, इस तरह सब लोग इसका विरोध करते रहते हैं, तथापि जूवेबाज मनुष्य रातके समय, अंधेरेमें, कष्ट सहन करते हुए, छिपते और छिपाते हुए जुवेके घरमें पहुंचता है, न उसको किसीका भय होता है और न भूख प्यास होती है एकमात्र निश्चय पर अटूट होता है कि मैं जुआ खेलूंगा । सब जगत् विरुद्ध होनेपर भी वह अपने निश्चय पर अटूट रीतिसे स्थिर रहता है; यह इसका निश्चय, प्रयत्न, उत्साह और एकाग्र मन देखने योग्य है । यदि वेही तेजस्वी गुण जो इसके पासोंके खेलमें लगे वेही यदि श्रेष्ठ पुरुषार्थके कर्ममें लग जांय, तो उसका बेडा पार होनेमें क्या संदेह है? अतः वेद कहता है कि जो तेज और उत्साह तथा निश्चय जुआरी लोग अपने खेलमें बताते हैं वही तेज और उत्साह गृहस्थी मनुष्य अपने गृहस्थधर्मपालनमें बतावें, उतना मनोनिग्रह उतना निश्चय, उतना उत्साह, उतना प्रयत्न गृहस्थी अपने धर्मपालनमें दर्शावें, यह उपदेश यहां है ।

मद्यपी भी इसी तरह मद्यपानका समय आया तो मद्यपानके स्थानपर जाता है और मद्य पीता ही है, समय टालता नहीं, अपने साथ इष्ट मित्रोंको भी पिलाता है, यह उदारता भी मद्यपीमें होती है । इस मद्यपीमें समयपर वह कार्य करनेकी जो आतुरता होती है और अपने साथियोंको पिलानेकी जो उदारता होती है, वह आतुरता और उदारता गृहस्थियोंमें अवश्य रहे । गृहस्थी अपने कर्तव्य कर्म बडी आतुरतासे करें और उदारतासे दान देते रहें । यह उपदेश गृहस्थी लोग ले सकते हैं।

यही सुरा और पासोंका दृष्टांत मंत्र ३६ में पुनः अन्य रीतिसे आगया है । उसका भी भाव यही है । इसमें जो उपदेश

लेना है वही लेना चाहिये जैसे महात्मा लोग कुत्तेसे और चींटियोंसे भी उपदेश लेते रहते हैं। जाग्रत निद्रा और स्वामिनिष्ठाका उपदेश कुत्तेसे और प्रयत्नशीलताका उपदेश चींटियोंसे लिया जाता है। इसके अन्य दुर्गुणोंकी ओर महात्मा लोग देखते नहीं हैं, केवल उनके गुणोंको अपनाते हैं। इसी तरह मद्यपी और जुआरी भी गृहस्थियोंको पूर्वोक्त उपदेश देते हैं। ये उपदेश इनसे गृहस्थी प्राप्त करें और अपने गृहस्थधर्मका पालन उत्तम रीतसे करके कृतकृत्य बनें।

पाठक पूछेंगे कि ये उपदेश यहां क्यों दिये हैं ? क्या उत्तम उदाहरण जगत् में नहीं मिलेंगे? उत्तर में निवेदन है कि मनुष्य की तन्मयता जो व्यसनोंमें होती है वैसी सदाचारमें नहीं होती। प्रायः यही नियम सवत्र है। संसारमें रहते हुए मनुष्य परमार्थसाधन कैसा करे ? इसके उत्तरमें व्यभिचारिणी स्त्रीके समान करे ऐसा उत्तर शास्त्रकार देते हैं। जैसी व्यभिचारिणी स्त्री अपने विवाहित पतिके सब कार्य करती हुई अपने मनमें परपुरुषका ध्यान सदा करती है और समय मिलते ही उसके पास उपस्थित होती है, उसी प्रकार संसारी जीव संसारके कार्य करते हुए अपना सब ध्यान परमात्मामें रखें और जो समय मिल जावे उस समय परपुरुष परमात्माकी उपासना करें, यही पर पुरुष किंवा परम पुरुष और उपास्य सबके लिये है। यह उपमा यद्यपि हीन है तथापि पूर्ण है। ऐसी ही द्यूति और मद्यपी की उपमा भी पूर्ण है। मनुष्योंको चाहिये कि वे उनकी कार्यतत्परता अपनेमें लावें और उससे सयोग्य कार्य करके कृतकृत्य बनें।

मंत्र १५ और १६ में गौओंके स्थानोंमें तेजस्विता दुग्धरूपसे रखी है, इस तेजस्वितासे सब गृहस्थ युक्त हों, ऐसा कहा है। "[गोषु वर्चः। महानग्न्या जघनं]" इन शब्दोंद्वारा गौका दुग्धस्थान दर्शाया है। सचमुच गौका दूध अत्यंत तेजस्वी है। भैंस का दूध सुस्ती लानेवाला है, गौका दूध सुस्ती हटानेवाला है। अतः सब गृहस्थी और उनके घरके बालबच्चे गौका ही दूध पीकर तेजस्वी, वर्चस्वी, ओजस्वी, आयुष्मान और पुरुषार्थी बनें।

मंत्र १७ में कहा है कि जलोंमें एक प्रकारका तेज है जिससे तेजस्विता, माधुर्य, वीर्य और सामर्थ्य बढता है। गृहस्थियोंको इस जलसे ये गुण प्राप्त हों। वेदमें अन्यत्र जलको जीवनका एक मात्र साधन बताया है, रोगनाशक कहा है, आरोग्यवर्धक माना है, वही सब आशय इस मंत्रमें सारांशरूपसे कहा है। गृहस्थी इस मंत्रका उत्तम मनन करें।

मंत्र १८ तो सब लोगोंको मनन करनेयोग्य मंत्र है। इसको सभी कंठमें रखें।

[१] रक्षन्तं तनूदूषिं पाप्मं अपोहामि ॥
[२] भद्रः रोचनः तं उद्चामि ॥ [मं० १८]

"[१] जो शरीरको क्षीण करनेवाला, शरीरमें विष उत्पन्न करनेवाला और शरीरमें आकर स्थिर रहनेवाला रोगबीज या दोष होगा, उसको मैं हटाता हूं, और (२) जो शरीरका तेज बढानेवाला और अपना सर्वथा कल्याण करनेवाला है, उसको मैं अपने पास करता हूं।" यह नियम तो सब मनुष्योंको सदा सर्वदा ध्यानमें धारण करना चाहिये और इसी प्रकार आचरण करना चाहिये। हरएक स्थानमें दोषोंको दूर करना और गुणोंको अपनेमें बढाना योग्य है। उन्नतिका यही एकमात्र उपाय है। वधूवर तो अपने घरमें यही नियम पालन करें।

मंत्र १९ में कहा है कि (श्वशुराः देवराः च प्रतीक्षन्ते) पतिके घरमें श्वशुर और देवर वधूके आनेकी मार्गप्रतीक्षा करते हैं। वधूका स्वागत करनेके लिये सब लोग उत्सुक हो गये हैं। यह मंगल वधू अपने पतिके घर प्रविष्ट हो, वहां पहुंचते ही अग्निको प्रदक्षिणा करे, अग्निको नमन करे और पश्चात् श्वशुर आदिका दर्शन करे, वहां ब्राह्मण मंत्रपूत जलसे इस वधूको अभिषेक करे। यह जल वधूके अंदर जो भीरुता (अघ्नी-घ्नीः आपः) होगी, उसको दूर करेगा। यह अत्यंत महत्त्वकी बात है। आर्योंमें भीरुता रहनी नहीं चाहिये। आर्य तो सदा निडर और धैर्यके मेह होने चाहिये। इसलिये वधू गृहस्थाश्रममें प्रविष्ट होकर पतिके घर जो प्रथम स्नान करती है, वह स्नान ब्राह्मणों द्वारा वेदमंत्रसे पवित्र और निर्दोष हुए जलसे करे। जिस मंत्रपवित्र जलके स्नानसे इस वधूके भीरुता आदि सब दोष दूर हों और वह पवित्र मंगल और धैर्यवाली बने । ऐसी सुयोग्य गृहस्वामिनी बने कि जो अपनी संतानोंको सुयोग्य उपदेश द्वारा उत्तम आर्य बनावे।

पतिके घरके सुवर्ण रत्न आदि आभूषण इस नववधूको कल्याणकारी हों, गिरानेवाले न हों। नहीं तो धन मनुष्यको गिराता है। धनसे उत्पन्न हुआ घमंड मनुष्यकी अधोगति करता है। इसलिये सावधानताकी सूचना देनेके लिये यहां कहा है कि

सुवर्ण आदि धन वधूको गिरावट न करे। दूसरे घरकी स्त्रियोंके उत्तमोत्तम आभूषण देखकर अपने लिये वैसे आभूषण चाहिये ऐसा हठ स्त्रियां करती हैं और पतिको बडे क्लेश देती हैं, ऐसा कोई स्त्री न करे और प्राप्त सुवर्णसे ही वह संतुष्ट रहे। सुवर्ण, आभूषण, गाडी, घोडे आदि सुखसाधन सबके सब भोगवर्गमें आते हैं। भोगेच्छाके कारण घरमें विविध झगडे होते हैं, अतः कहा है कि इन भोगसाधनोंसे कोई झगडे न हों, परंतु (शं भवतु) पतिके घरमें शान्ति रहे. झगडे होकर अशांति न बने। और पत्नी (पत्या तन्वं शं स्पृशस्व) अपने पतिके साथ सुखसे आनन्दप्रसन्न रहे। पतिपत्नी ऐसे एकविचारसे रहें कि वहां किसी भी कारण विवाद न हो, घरमें अशांति न बढे और दोनोंको कौटुंबिक सुख यथायोग्य प्राप्त हो।

स्त्रीकी इच्छा।

आशासाना सौमनसं प्रजां सौभाग्यं रयिम्॥ (मं० ४२)

पतिके घर आयी हुई नववधू अर्थात् गृहिणी किस बातकी आशा करती है, अर्थात् क्या चाहती है, यह प्रश्न कोई पूछे तो उसके उत्तरमें निवेदन है कि वह स्त्री [सौ-मनसं] अपने घरके सब लोग आनन्दप्रसन्न रहें, झगडाफिसाद न हो, परस्परका व्यवहार प्रेमपूर्वक हो, घरमें उत्तम शान्ति, आनंद और प्रसन्नताका राज्य रहे, यही इच्छा कुल स्त्री की हो। दूसरी इच्छा यह होनी चाहिये कि, (प्रजां) उत्तम संतान उत्पन्न होवे, अपनी संतान सुयोग्य बने, अपनी सुसंततिसे कुलका वृक्ष हरभरा रहे। तीसरी इच्छा यह होवे कि [सौभाग्यं] उत्तम भाग्य प्राप्त हो, अपने पतिके घरमें उत्तम भाग्य वृद्धिंगत होता रहे। सौभाग्यमें उस भाग्यका विशेष कर समावेश होता है कि जो पतिसे पत्नीको और पत्नीके कारण पतिको सुख होता है और जिस सुखके लिये विवाह होते रहते हैं। यह सौभाग्य अपने घरमें बढे यही इच्छा धर्मपत्नी की हो। इसके पश्चात् चतुर्थ इच्छा यह है कि [रयिं] धन प्राप्त हो, अपने पतिके घर किसी प्रकार दरिद्रता न रहे। ऐश्वर्य धन सुवर्ण आभूषण आदि सब विपुल रहे और इस अर्थसे सबको सुख प्राप्त होता रहे। धर्मपत्नी की पति के घरमें यही चार प्रकारकी इच्छा हो। यहां पाठक ध्यानमें रखें कि सबसे प्रथम उत्तम मनकी इच्छा की है, उसके अंतर पतिपत्नीके उत्तम सुखकी इच्छा है, और अन्तमें धनकी इच्छा है। क्योंकि धन सुखका साधन तो है, परन्तु वह धन सु-मन न होनेपर, घरमें सुसंतान न होनेकी अवस्थामें, पति-पत्नीसंबंधकी विपरीततामें कोई सुख नहीं देता, परंतु इन अवस्थाओंमें, दुःखदायी होता है। इसलिये कौनसी आशा प्रथम करनी चाहिये और कौनसी अन्तमें करनी चाहिये, इसका विचार गृहस्थी लोग इस मंत्रके मननसे जानें।

स्त्री कैसी हो!

(पत्युः अनुव्रता) पतिके अनुकूल रहकर नियमपालन करनेवाली स्त्री हो। स्त्री कभी पतिके प्रतिकूल आचरण न करे। इस नियमके अंदर यद्यपि स्त्रीके लिये पतिके अनुकूल होनेकी आज्ञा कही है तथापि इसीसे पति भी स्त्रीके अनुकूल रहे यह भी भाव निकलता है। पति जैसा चाहे वैसा आचरण करे और केवल पत्नी ही पतिके आधीन रहे, यह भाव इस मंत्रका नहीं है। धर्मोपदेश समान हुआ करता है और वह एकके निर्देशसे दूसरेका लेना योग्य है। तात्पर्य यह है कि जैसी धर्मपत्नी पतिके अनुकूल रहे उसी प्रकार पति भी पत्नीके अनुकूल रहे। दोनों परस्पर अनुकूल रहकर एक दूसरेका सुख बढावें और गृहको स्वर्गधाम बनावें। (अमृताय कं संनह्यस्व) अमृत की प्राप्ति होनेके लिये सुखपूर्वक सिद्ध हो। धर्मपत्नी और पति ये दोनों अपना साध्य अमृतत्व है अर्थात् मोक्ष है, ऐसा नित्य प्रति ध्यानमें रखें। उस अमृतमय मोक्षधामको पहुंचनेका जो मार्ग है वह मार्ग सुखसे चलनेके लिये इस गृहस्थाश्रमका योग है यह कोई गृहस्थी न भूले। इस बातके लिये सब गृहस्थी सिद्ध हों। सब व्यवहार वे इसी उद्देश्यकी सिद्धिके लिये करें। अर्थात् धर्मानुकूल व्यवहार करते हुए मोक्ष की सिद्धि प्राप्त करें। प्रत्येक गृहस्थीका यह कर्तव्य है। प्रत्येक गृहस्थी प्रत्येक व्यवहार करनेके समय स्मरण रखे कि मेरा यह कर्म मोक्षका साधक हो, और कभी बाधक न हो। प्रत्येक कर्म योग्य रीतिसे करनेपर मोक्षके लिये साधक हो सकता है। यदि प्रत्येक कर्म फलत्यागपूर्वक किया जाय, लोभका त्याग किया जाय, तो सभी कर्म उसी मोक्षधामको प्राप्त होनेके लिये सहायक हो सकते हैं। फलभोग की स्वार्थेच्छासे ही मनुष्यकी गिरावट होती है, अतः कहा है कि (मा गृधः। यजु. ४०।१) मत ललचाओ, सब प्रकारका लोभ छोड दो और कर्म करो। इस तरह

का निर्लोभतासे किया हुआ कर्म श्रेष्ठ मार्गमें सुख देनेवाला होता है। गृहस्थधर्मके सभी कर्म सुख देते हुए मोक्षमार्गके साधक होनेवाले हैं।

गृहस्थीका साम्राज्य।

गृहस्थीका घर एक बडा भारी साम्राज्य है। साधारण राज्य नहीं है, बडा साम्राज्य है। यजमान गृहस्थी स्वयं सम्राट् है। पत्नी उसकी सम्राज्ञी है। यह गृहस्थीकी सहधर्मचारिणी उसकी मंत्रणा देनेवाली है इसमें जो परिवार है वे सब प्रजाजन हैं। इन प्रजाजनोंमें घरके पारिवारिक जन हैं, इतना ही नहीं,परंतु गौ,घोडे,आदि जो घरके उपयोगी पशु पक्षी हैं,वे सब इस साम्राज्य की प्रजा है और इस प्रजाका योग्य पालन करना गृहस्थीका आवश्यक कर्तव्य है। (साम्राज्यं सुषुवे वृषा। मं०४३) जो बलवान होगा वही इस साम्राज्यका पालन और संवर्धन कर सकता है। अशक्तका कार्य यहां नहीं है। (वृषा) जो बलयुक्त होगा वही इस गृहस्थधर्ममें यशस्वी होगा। बलवानोंका ही साम्राज्य हो सकता है। अशक्तोंका साम्राज्य नष्ट होगा। यह नियम इस स्थानमें पाठक देख सकते हैं।

पति सम्राट् बने और उसकी धर्मपत्नी साम्राज्ञी बने। इसका अर्थ पूर्व अनुसंधानसे यह है कि पति भी बलवान् बने और पत्नी भी बलशालिनी बने और दोनों मिलकर इस गृहस्थाश्रमके साम्राज्यको योग्य रीतिसे चलावे। (मंत्र ४४ में) नववधूसे कहा है कि वह श्वशुर, देवर, ननद तथा सास आदि पारिवारिक जनों के साथ योग्य बर्ताव साम्राज्ञी बनकर करे, इसका अर्थ यह है कि पतिके घर इस स्त्रीका वही दर्जा रहे कि जो साम्राज्यमें साम्राज्ञी का रहता है। जो लोग वैदिक धर्ममें स्त्रीकी योग्यता कितनी होती है, इसका विचार करते हों, उनको उचित है कि वे इस साम्राज्ञी शब्द का ही विचार करें। वैदिकधर्मानुसार धर्मपत्नी 'साम्राज्ञी' है और पति सम्राट् है। अर्थात् स्त्रीका अधिकार असाधारण श्रेष्ठ है। पूर्व स्थानमें कहा है कि स्त्री स्वतंत्र नहीं है, या तो वह मातापिताके आधीन रहेगी अथवा पतिके आधीन रहेगी, इस कथन के साथ यह विधान विरोधक नहीं है। क्योंकि कोई सम्राट् या साम्राज्ञी पूर्णतया स्वतंत्र नहीं होती। साम्राज्यके नियमोंसे बंधी होती है। वह साधारण स्त्रीके समान इधर उधर जा नहीं सकती। उसके साथ सदा शरीररक्षक रहते हैं। इस प्रकार साम्राज्ञी परतंत्र होती हुई भी विशेष संमानित होती है। यही बात गृहस्थिनी की है। धर्मनियमोंसे बंधी हुई धर्मपत्नी परतंत्र होती हुई भी पूर्ण रीतिसे साम्राज्ञी है। धार्मिक उन्नति करने के लिये स्वतंत्र है,पाठक इस तरह विचार करनेपर जान सकते हैं कि वैदिक धर्मकी परतंत्रता भी अन्य स्थानकी स्वतंत्रता की अपेक्षा अधिक प्रशंसनीय है। मनुष्यको अपना मुक्तिधामका मार्ग आक्रमण करना है, यही उसका ध्येय है। इस ध्येयकी सिद्धिके लिये जितनी स्वतंत्रता चाहिये उतनी यहां है। इससे जो अधिक स्वातंत्र्य है वह गिरानेका हेतु है।

स्त्रियोंका सूत कातना।

वैदिक धर्मानुसार सर्वसाधारणतया स्त्रीपुरुषोंका और विशेषकर स्त्रियोंका घरेलू व्यवसाय सूत कातना और उसका कपडा बुनना है। प्रत्येक गृहस्थीके घरकी सब स्त्रियां इस सूत्रनिर्माणके कर्मको अवश्य करें। (देवीः अकृन्तन्। मं० ४५) घरकी देवियां सूत कातें, जो सूत्र कातती हैं वेही देवियाँ हैं उनकोही सत्य रीतीसे हम देवियां कह सकते हैं। येही देवियां (तत्निरे) ताना तानती हैं, सूत्रको ठीक करके योग्य रीतिसे ताना तानती है तथा (अभितः अन्तान् ददन्त) चारों भागोंके अन्तिम भागोंको ठीक करती हैं, दोनों ओरकी किनारियां और दूसरे ओरकी झालरें कपडा बुननेके पूर्व ठीक करनी चाहिये। इसमें यदि कुछ दोष हुआ तो कपडा खराब होगा। इस तरह सब उत्तम रीतिसे ठीक होनेपर (अवयन, संव्ययन्तु) उक्त देवियां कपडा बुनें, ठीक तरह बुनें, तारुण्यकी अवस्थामें कपडा विशेष श्रमके साथ बुनें, ताकि (जरसे) वृद्धावस्थामें, जब कि विशेष श्रम होना संभवनीय नहीं है, काममें आवे। (आयुष्मती इदं वासः परिधत्स्व) दीर्घ आयु प्राप्त करती हुई यह स्त्री अपने प्रयत्नसे निर्माण किया हुआ वस्त्र परिधान करें। यही वस्त्र स्त्रियोंको और पुरुषोंको भूषणावह है। प्रत्येक परिवार इस तरह वस्त्रस्वावलंबी बने। अपने वस्त्रके लिये दूसरोंपर निर्भर रहना सर्वथा अयोग्य है। यह उपदेश यहां वेद दे रहा है। वेदके उपदेशानुसार प्रत्येक परिवारके लोग यदि वस्त्र निर्माण करनेका व्यवसाय घरेलू व्यवसायके रूपमें करेंगे तो कितना कल्याण होगा, इसका विचार पाठक कर सकते हैं। जो लोग वैदिक धर्मी हैं, उनको उचित है कि वे

अपने घरमें चर्खा रखें, सूत कातें और कपडा बुनें।

मंत्र ४६ में कहा है कि स्त्री पुरुष अपने दीर्घ जीवनके मार्गको (दीर्घां प्रमिति अनुदीध्युः) ध्यानमें रखकर अपने (पितृभ्यः वामं) मातापिताके लिये सुख देवें और स्त्री पुरुष परस्परको सुख देते हुए आनन्दसे अपना कर्तव्य करें। गृहस्थाश्रमका मार्ग अति-दीर्घ है, कमसे कम सौ वर्ष इस मार्गका आक्रमण करना पडता है। सौ वर्ष चलनेपर भी यह धर्ममार्ग समाप्त नहीं होता। इतना लंबा मार्ग यह गृहस्थियोंके सामने है। इतने लंबे मार्गपर सुखके साथ प्रवास करना चाहिये। इस कारण अपने मातापिताको सुख देना चाहिये। मातापिताका सत्कार करना यह एक आवश्यक कर्तव्य है। यदि एक गृहस्थी अपने मातापिताकी संभाल न करेगा तो उसके बालबच्चे भी उसकी संभाल नहीं करेंगे। स्वयं अपने मातापिताकी संभाल करनेसे अपनी संतानोंको सुयोग्य शिक्षा मिलती है, जिससे वे भी अपने मातापिताका आ-दरसत्कार करनेमें प्रवृत्त होते हैं। सब गृहस्थाश्रम सुखमय कर-ना हो तो वृद्धों और बालकोंकी पालना उत्तम उत्तम रीतिसे होनी चाहिये। गृहस्थाश्रममें सुखवृद्धि करनेका यह महातत्त्व है।

गृहस्थियोंके ऊपर सुप्रजा निर्माणका बडा भारी भार है। प्रत्येक गृहस्थीको उचित है कि वह (प्रजायै स्योनं ध्रुवं) अप-नी संतानके लिये सुख और स्थैर्य प्राप्त करनेका प्रबंध करे। अपनी सब संतानें सुखी हों, और स्थिर हों, सुदृढ हों तथा दीर्घा-यु बनें। संतानकी दीर्घ आयु किस रीतिसे हो सकती है? इसके उत्तरमें वेदका कहना है कि (सविता आयुः दीर्घं कृणोति। मं० ४७) सूर्य ही मनुष्यकी आयु दीर्घ बनाता है। सूर्यप्रका-शसे मनुष्यकी दीर्घायु हो सकती है। मनुष्य सूर्यकिरणोंमें विचरे, सूर्यातपस्नान करे, सूर्यकी उपासना करे और अपनी आयु दीर्घ बनावे।

पाणिग्रहण।

पुरुष स्त्रीका पाणिग्रहण करता है। यह पाणिग्रहण होतेही स्त्री पुरुषमें पत्नी और पतिका नाता शुरु होता है। इस समय पति अपनी पत्नीसे प्रेमके साथ बातचीत करे और उससे कहे--

(१) ते हस्तं गृह्णामि, (मा व्यथिष्ठाः,
(२) मया प्रजया धनेन सह ॥ (मं० ४८)

" हे पत्नी! तेरा हाथ मैं पकडता हूं, दुःख मत कर और मेरे साथ तथा संतानों और धनोंके साथ सुखसे निवास कर।' इस तरह प्रेमपूर्वक पति अपनी धर्मपत्नीके साथ भाषण करे। नववधू दूसरेके कुलसे आती है, उसका कोई परिचित यहां नहीं होता है, इसलिये पतिके घरके लोग उस नववधूके साथ प्रेमका बर्ताव करें। पति नववधूसे कहे कि " हे पत्नी! मैंने तेरा हाथ पकडा है, इससे तू समझ कि तुझे मैंने सब अवस्था-ओंमें आधार दिया है। हाथ पकडनेका अर्थ आधार देना है, अतः जबतक मैं हूं तबतक तुझे डरनेका कोई कारण नहीं। तू यहां सब तरह सुरक्षित है। मेरा जो धन है, वह भी तेरा-ही धन है। उससे जैसा मुझे वैसा तुझे भी सुख प्राप्त हो सकता है। हम दोनोंको जो संतान उत्पन्न होंगे उनका यथा योग्य पालन करना हम दोनोंका कार्य है। यदि हम यह कार्य करें तो वे सब हमारी संतानें भी हमारे सुखके हेतु हो सकते हैं। इस तरह हे पत्नी! मेरे साथ रहकर तू इस संसारमें सुखसे रह और हम दोनों गृहस्थधर्मका पालन करते हुए मोक्षके मार्गका आक्रमण करें।" इस ढंगसे पति और पतिके घरके लोग नववधूके साथ मधुर, प्रिय और सुखकारक भाषण करें और उसके मनमें पतिके घरके विषयमें प्रेम उत्पन्न करें।

जहां जहां वेदमें पाणिग्रहणका विषय आगया है, वहां वह पति पत्नीका पाणिग्रहण करता है, ऐसे ही शब्दप्रयोग हैं।

(१) ते हस्तं गृह्णामि। [अथर्व. १४।१।४८; ५०]
(२) ते हस्तं गृह्णातु। [अथर्व. १४।१।४९]
(३) ते हस्तं गृभ्णामि। [ऋग्वेद १०।८५।३६]
(४) ते हस्तं अग्रहीत्। [अथर्व. १४।१।५१]

इन स्थानोंमें हाथ पकडनेवाला पुरुष है और जिसका हाथ पकडा जाता है, वह स्त्री है। इससे भी गृहस्थाश्रममें पुरुषकी विशिष्टता है, यह बात स्पष्ट होती है। वेदमें किसी भी स्थानपर स्त्री पुरुषका हाथ नहीं पकडती है, परंतु सर्वत्र पुरुष ही स्त्रीका हाथ पकडता है। पाणिग्रहण करनेका अधिकार पुरुषका है, यह इन मंत्रोंसे निश्चित होता है। इसीलिये मंत्र ४३ में [सिन्धुः नदीनां साम्राज्यं सुषुवे] कहा है। एक समुद्र अनेक नदियोंका सम्राट होता है, अर्थात् एक पति अनेक स्त्रियोंका पाणिग्रहण करता हुआ गृहस्थाश्रमरूपी बडे साम्राज्य-का सम्राट् होता है, इस उपमासे अनेक पत्नियोंका होना सूचि-

त किया है। उपमामें यह भाव निःसन्देह है कि जिस प्रकार एक समुद्रको अनेक नदियां आ मिलती हैं, उसीप्रकार एकपुरुषको अनेक स्त्रियां प्राप्त होती हैं, यदि पूर्वोक्त उपमामें यह भाव नहीं है तो उस उपमामें बहुवचनका और कौनसा रहस्य है? इसबातका विचार पाठक करें। पति ही स्त्रीका पाणि-ग्रहण करनेवाला है, इस कथनसे भी पतिका ही मुख्य होना सिद्ध है। स्त्रीका दान पतिको किया जाता है, इस विषयके मंत्र भी हमने पूर्वस्थानपर देखे हैं। इन सब बातोंसे निःसन्देह वैदिक धर्म के द्वारा गृहस्थाश्रममें पुरुषका मुख्य स्थान है, यह दर्शाया है।

आगेके तीनों मंत्रोंमें पाणिग्रहण का ही विषय है और उन मंत्रों में स्त्रीका हाथ पुरुष पकडता है ऐसाही भाव है। तथा आगे विशेष स्पष्ट करके कहा है कि—

त्वं धर्मणा पत्नी असि, अहं तव गृहपतिः॥ [मं०५१]
इयं मम पोष्या, मह्यं त्वा प्रजापतिः अदात्॥ मं५२

"पुरुषकी स्त्री धर्मसे पत्नी है, और पति स्त्रीका गृहपालक है। यह स्त्री पतिके द्वारा पोषण होने योग्य है, क्योंकि इस पतिके अधिकारमें प्रजापतिने इस स्त्रीको सौंप दिया है।

स्त्रीके पोषणका भार पतिके ऊपर है, यह बात इस मंत्रसे स्पष्ट है। पति पत्नीका पालन पोषण करे। पालन-पोषणका विचार पत्नी न करे। पोषण की सामग्री घरमें आनेके पश्चात पत्नी उस सामग्रीका योग्य विनियोग करके सबको यथायोग्य अन्न भाग पहुंचावे।

सुपुत्र निर्माण करने में देवताओंकी सहायता प्राप्त होनी चाहिये। वह सहायता इस स्त्रीको प्राप्त हो, इस प्रकारका आ-शीर्वाद मंत्र ५३ और ५४ में है। इन्द्र अग्नि आदि सब देवताएं इस स्त्रीको अपना तेज अर्पण करें और इस स्त्रीके अन्दर उत्तम संतान उत्पन्न करें और ऐसे सुसन्तानोंके साथ यह स्त्री उन्नत होती रहे।

केशोंकी सुंदरता।

सिरपर [शीर्षे केशान् अकल्पयत्] परमेश्वरने बडे बडे केश निर्माण किये हैं। विशेषतः स्त्रीके सिरकी शोभा केशोंकी सुव्यवस्थासे बढती है। (तेन इमां नारीं पत्ये संशोभयामसि) अतः पतिके लिये सुंदर दीखने योग्य स्त्रीके सिरकी सजावट की जाती है और स्त्रीके सिरकी शोभा बढाई जाती है। स्त्रीके सिर पर के बालोंकी सुव्यवस्था रखना और शोभाके लिये सजावट करना योग्य है।

(मनसा चरन्तीं जायां जिज्ञासे) मनसे चालचलन स्त्रीका कैसा है यह जानना चाहिये। केवल बाह्य चालचलन द्वारा किसीकी परीक्षा करना योग्य नहीं है। मन कैसा है, विचार कैसे हैं, मनसे किस बातका विचार करती है, मनमें किसका मनन करती है, यह देखना चाहिये। जो मनसे शुद्ध है, वही शुद्ध समझना चाहिये। अतः मन शुद्ध रहनेके लिये जो शिक्षा देनी योग्य है वही देनी चाहिये। स्त्री हो या पुरुष, उनके मन शुद्ध रखनेयोग्य पाठविधि बनानी चाहिये। प्रचलित पाठविधि इस दृष्टिसे कैसी है इस बातका विचार पाठक करें और आर्य संतानोंको सुसन्तान बनानेके लिये क्या करना योग्य है, वह किया जावे।

(योषा यत् अवस्त, तत् रूपं) स्त्री जो वस्त्रपरिधान करती है, उससे उसका रूप शोभावान होता है। अर्थात् स्त्री को इस प्रकारके वस्त्र परिधान करनेके लिये देने चाहिये कि जिससे उसका सुंदरता बढे। यहां सूर्यासावित्रीका उदाहरण पाठक देखें। संध्यासमयमें कितने विविध रंगके वस्त्र यह सूर्यपुत्री संध्या पहनती है और अपने रूपकी शोभा बढाती है। प्रतिदिन सूर्य-पुत्रीकी यह सजावट कैसी की जाती है यह पाठक देखें और अपनी शक्तिके अनुसार स्त्रियोंको उत्तम वस्त्र पहनावें यह कोई आवश्यक नहीं है कि स्त्री प्रतिदिन नये नये वस्त्र पहने, परंतु जो वस्त्र पहने हैं वे ऐसे सुव्यवस्थित हों कि उनसे उस स्त्री-की शोभा बढे। घरकी देवी स्त्री है और घरघरमें इस गृहस्वा-मिनीकी मंगल वस्त्र भूषणोंसे पूजा होती रहे और वह पूजा घरके स्वामीकी आर्थिक अनुकूलताके अनुसार होती रहे।

(नवग्वैः सखिभिः तां अन्वर्तिष्ये) जिनमें नौ गौवों अ-र्थात सब इंद्रियोंका समर्पण किया जाता है, उन यज्ञोंके साथ और जो हमारे मित्र जन उन यज्ञोंमें भाग लेते हैं उनके साथ यज्ञमय जीवन बनाकर उस स्त्रीके साथ मैं सब व्यवहार करता हूं। अर्थात् मैं स्वयं और अपनी धर्मपत्नी मिलकर हमारा सब जीवन हम यज्ञरूप बनाते हैं। जो जो कर्म हम करते हैं वह यज्ञरूप करते हैं। इससे हम दोनों यज्ञरूप बनेंगे और अन्तमें हमारे यज्ञसे यज्ञस्वरूप परमेश्वर प्रसन्न होगा और हम कृतकृत्य बनेंगे।

[विद्वान् पाशान् विचर्चेत] स्त्री पुरुष विद्वान् होकर अपने

पाशोंको काटें और बंधसे मुक्त हों। सब प्रयत्न बंधनसे मुक्त होनेके लिये होने चाहिये। मनुष्य अनेक प्रकारके प्रलोभनोंमें फंसता है, और स्वयं अपने लिये बंधन निर्माण करता है और उन बंधनोंसे बंधा जाता है। ये सब बंधन काटने चाहिये और मुक्त होना चाहिये। यह मुक्त होनेका ज्ञान जिसको होता है उसी को ज्ञानी अथवा विद्वान् कहते हैं। मनुष्य-स्त्री या पुरुष-इस मुक्तिकी विद्याको प्राप्त करें और उसकी सहायतासे मुक्त हो जांय।

प्रत्येक मनुष्य कहे कि (अहं विष्यामि) मैं ये सब बंधन तोडता हूं, मैं बंधनसे मुक्त होनेका यत्न करता हूं। क्योंकि मनुष्य-जन्मकी सार्थकता बंधमुक्त होने में है। मनुष्यका जन्म ही इस कार्य के लिये है। ये सब बंधन मनके कारण होते हैं अतः कहा है कि (मनसः कुलायं पश्यन् वेदत्) मनका यह घोसला है वह बात मनुष्य देखे और मनद्वारा उत्पन्न हुए ये सब बंधन हैं, ऐसा जाने यदि मनुष्यको इस बातका ज्ञान होगा कि (मन एव मनुष्याणां कारणं बंधमोक्षयोः) मनही मनुष्योंके बंधनके लिये अथवा मोक्ष के लिये कारण है, तो उस मनुष्यका बेडा पार होगा। साधारण मनुष्योंको ऐसा प्रतीत होता है कि अपने बंधन बाह्य कारणोंसे हुए हैं, परंतु वस्तुतः यह असत्य है। बाह्य कारण मनुष्यको बंधनमें फंसानेके लिये असमर्थ हैं। मनुष्यका मनही अपने बंधन तैयार करता है और उसमें स्वयं फंसता है और मनुष्यको फंसाता है। इसलिये बंधसे मुक्त होनेवाले मनुष्य को उचित है कि वह अपने मनको ज्ञानसे शुद्ध करे और उस शुद्ध मनसे वह अपने सब पाश काट देवे। निश्चय यह है कि [मनसा उत् अमुच्ये] अपने मनसे ही मनुष्य उन्नत होता हुआ मुक्त होता है। मनुष्य अपने मनसे बंधनों में बांधा जाता है और अपने मनसे ही बंधनोंसे मुक्त होता है। पाठक यहां देखें कि कितनी शक्ति मनुष्यके मनमें रखी है। इतनी शक्ति प्रत्येक मनुष्यके मनमें होती हुई भी मनुष्य अपने आपको असमर्थ मानता है और सहायताकी याचना करता रहता है। परंतु यदि वह स्वयं अपनी शक्तिसे बंधनमें पडा है तो वह अपनीही शक्तिसे बंधनोंको तोडकर मुक्त हो सकता है। अर्थात् मुक्त होनेकी शक्ति इसीके अन्दर है। अतः कहा है कि [स्वयं श्रथ्नानः] स्वयं मैं अपने पाशोंको शिथिल करता हूं। तुम्हारे पाशोंको दूसरा कोई शिथिलकर नहीं सकता। यदि तुम अपने बंधनोंको तोडना चाहते हो तो तुमही तोड सकते हो, यदि बंधनमें ही पडना चाहते हो तो वैसाभी हो सकता है। जो तुम्हारे मनमें होगा वही यहां हो सकता है। तुमही अपने उद्धारक और तुमही अपने घातक हो। दूसरा तुम्हें कष्ट देता है यही बडाभारी भ्रम है यह बात जैसी वैयक्तिक मुक्तिमें सत्य है वैसी ही सामाजिक और राष्ट्रीय मुक्तिमें भी सत्य है। अतः सब स्त्री पुरुषोंको उचित है कि वे अपने बंधन शिथिल करनेका स्वयं यत्न करें और प्रयत्न करके स्वयं मुक्त हों। यदि प्रयत्न किया जाय तो वह सिद्ध हो सकता है।

चोरीका अन्न न खाओ।

इस योग्यता को प्राप्त करनेकी इच्छा है तो यह नियम करना चाहिये कि (न स्तेयं अद्मि) मैं चोरीका अन्न नहीं खाता हूं। सब पाठकोंको विचार करना चाहिये कि हम जो अन्न खाते हैं वह अन्न चोरीका है या नहीं। यहां पाठक विचार करेंगे तो उनको पता चलेगा कि प्रायः लोग जो अन्न खाते हैं। वह स्वकष्टार्जित नहीं होता है। वह चोरीका होता है जिसपर दूसरे का अधिकार होता है। यदि हम उसको भक्षण करेंगे तो वह चोरी है। यह चोरी घरमें भी होगी और समाजमें भी होगी। यदि कोई पदार्थ घरमें लाता है और वह सब मनुष्योंको न बांटते हुए अकेला ही उसको खाता है तो वह चोरीका अन्न खाता है। अपने ग्राममें जो अन्न उत्पन्न होता है वह ग्रामके सब लोगोंके लिये होता है। यदि ग्रामके कई लोगोंने अपने पास अन्नसंग्रह अधिक किया और इस कारण ग्रामके कई लोग भूखे मरने लगे, तो निःसन्देह अधिक संग्रह करनेवाले चोरीका अन्न खाते हैं इस तरह विचार करनेपर स्तेयकी व्याप्ति कितनी है इसका विचार पाठकोंको हो सकता है। यह सब विचार करके कुटुंबियोंको निश्चय करना चाहिये कि हम चोरीका अन्न खाते हैं या यज्ञका अन्न खाते हैं। मनुष्यको उचित है कि वह यज्ञशेष अन्न खावे और पवित्र बने। जो मनुष्य यज्ञ न करके स्वयं अपने लियेही पकाता है वह चोर है। मनुष्य मात्र को जो शिक्षा मिलनी चाहिये, वह यह है।

येन त्वा अबध्नात्, पाशात् त्वा प्रमुञ्चामि॥ (मं० ५८)

" जिस बंधनसे तुझे बांध रखा था, उस बंधनसे तुझे मैं मुक्त करता हूं।" यह वचन पति अपनी धर्मपत्नीसे कहता है, और उसको विश्वास देता है कि मेरी सहायतासे तू अब (उरुं लोकं) विस्तृत लोक को प्राप्त हुई है तेरे लिये विस्तृत कर्मभूमि यहां प्राप्त हुई है और (अत्र तुभ्यं सुगं पंथां कृणोमि)

यहां तेरे लिये सुगममार्ग मैं बना देता हूँ। इस मार्गसे तू जायगी तो तेरा कल्याण होगा। यह गृहस्थाश्रम एक बडाभारी अतिविस्तृत कार्यक्षेत्र है, पुरुषार्थी मनुष्य यहां पुरुषार्थ करके अपना भाग बढा सकता है। यहां पुरुषार्थ करके अपना भाग बढा सकता है। यहां अनेक मार्ग हैं परंतु यहां सरल मार्ग ही मनुष्यको आक्रमण करना योग्य है। अस्तु। पतिको उचित है कि वह अपनी स्त्रीको सुशिक्षा देवे, उनको सीधे मार्गसे चलावे और उसके बंधन तोडनेके लिये जो जो पुरुषार्थ करने आवश्यक हैं वे सब स्त्रीसे करावे। पाठक यहां विचार करें कि पुरुषपर यह कितनी भारी जिम्मेवारी रखी है। पुरुषको अपनी मुक्ति सिद्ध करनी चाहिये और अपनी स्त्रीको भी मुक्तिके पथपर रखना चाहिये। स्त्रीके योग्य अथवा अयोग्य आचरण का उत्तरदातृत्व पुरुषपर है। स्त्रीशिक्षाका सब भार पुरुषपर है यदि स्त्री विद्याहीन है तो उसका दोष पुरुषपर है। पाठक विचार करें और अपना इस विषयका कर्तव्य जान करके उसको पूर्ण करें। यहां अगले ५९ मंत्रमें कहा है—

(इमां नारीं सुकृते दधात। मं.५९)इस स्त्रीको पुण्यमार्गमें रखो,इससे पुण्यकर्म होंगे ऐसी व्यवस्था करो यदि स्त्री बुरा व्यवहार करती है,तो पुरुषने उसको सुशिक्षा नहीं दी है यह बात सिद्ध होगी। पुरुषका यह कर्तव्य है कि वह स्त्रीको अपने कर्तव्यका आवश्यक ज्ञान करा देवे। और स्त्रीको धर्मशील बना देवे। (धाता अस्यै पतिं विवेद)परमेश्वरने इस स्त्रीके लिये पति प्राप्त करा दिया है इसके पश्चात् इस स्त्रीकी शिक्षाका उत्तरदातृत्व पतिपर है। वह पति (रक्षः अप हनाथ) राक्षसी भावोंका नाश करे। इस स्त्रीमें जो आसुरी वृत्तियां हैं उनका नाश करना पतिका कर्तव्य है। पति स्त्रीको ऐसी सुशिक्षा देवे कि जिससे स्त्रीके अन्दर की सब आसुरी वृत्तियां दूर हों और उसमें दैवी वृत्तियां स्थिर हो-जांय और वह सचमुच "देवी" बने। इस स्त्रीको (उत् यच्छध्वं) उच्च बनाने के लिये अपने आपको सज्य रखो, तैयार रखो, अपने शस्त्रास्त्र ऊपर उठाओ, उसका उत्तम रक्षण करो, उसको उत्तम धर्मनियम में रखो। जिन प्रयत्नोंसे स्त्रीकी सच्ची उन्नति हो सकती है वे सब प्रयत्न करो। स्त्रीकी उन्नतिका भार छोटेपनमें पितृकुलपर और विवाह होनेके पश्चात् पतिकुलपर है। इसकी उन्नति करनेके लियेही (धाता पतिं विवेद) ईश्वरने इसको पति प्रदान किया है, अतः पतिका कर्तव्य है कि वह अपनी धर्मपत्नीकी सर्वांगीण उन्नतिके लिये यत्न करे।

(सा सुमंगली अस्तु। मं० ६०) वह स्त्री उत्तम मंगल करनेवाली बने,मंगल की मूर्ति बने,उस स्त्रीके कारण घरका और कुलका मंगल हो, इस स्त्री की मंगलमूर्ति देखकर सब लोग आनंदित हों। इसकी उन्नतिके लिये सब देवताएं (भग, धाता, त्वष्टा आदि) सहायता दें।

बरातका रथ।

बरातके रथका वर्णन पुनः मंत्र ६१ में है। यह रथ उत्तम (सु किंशुकं) फूलोंसे सुशोभित किया जावे, तथा उत्तम सुंदर लाल पुष्पोंसे सजाया जावे। (विश्व-रूपं)

अनेक प्रकार की सजावट उसपर की जावे, (हिरण्य-वर्णं) सुवर्णके रंगका वह रथ हो, उत्तम चमकदमक उसपर हो, (सुवृतं सुचक्रं) उत्तम झालरें लगी हों और उसके चक्र उत्तम हों। इस तरह का सजासजाया रथ (वहतुं) बरातके काममें लाया जावे। यह बरात पतिके घर पहुंचे और वहांके स्थानको (अमृतस्य लोकं कृणु) अमर लोक, सुखपूर्ण स्थान बनावे। धर्मपत्नी अपने पतिके घर पहुंचकर वहांका सुख बढावे। पतिके घर धर्मपत्नी (अ-भ्रातृ-घ्नी) भाईयोंका पालन करनेवाली, भाईयोंका नाश न करनेवाली, (अ-पशु-घ्नी) पशुओंका पालन करनेवाली, गाय घोडे आदि पशुओंका योग्य प्रतिपाल करनेवाली, (अ-पति-घ्नी) पतिका पालनपोषण करनेवाली, पतिको कष्ट न देनेवाली, पतिका सुख बढानेवाली पतिका घातपात न करनेवाली, (पुत्रिणी) पुत्रोंसे युक्त, संतानसे युक्त, ऐसी स्त्री पतिके घर इस बरातसे प्राप्त हो। यह स्त्री (देवकृते पथि) देवोंके बनाये सन्मार्गसे जाना चाहती है, अतः इसका विवाह हुआ है, इस कारण इस (कुमार्यं मा हिंसिष्ट) इस समयतक कुमारी रही हुई यह नववधू है, इसको यहां पतिघरमें किसी प्रकारका कष्ट न हो। (वधूपथं स्योनं कृण्मः) इस वधूका मार्ग हम सुखदायक करते हैं। इसका चलनेका जो देवमार्ग है वह इस वधूके लिये सुखदायी हो, ऐसा प्रबंध हम करते हैं। (शालायाः द्वारं स्योनं कृण्मः) इस स्त्रीके लिये गृहप्रवेशके समय पतिके घरका द्वार हम सुखमय बनाते हैं। इस स्त्रीको पतिगृहमें उत्तम सुख प्राप्त हो और वह अपनी उन्नति यथायोग्य रीतिसे प्राप्त करे, निर्विघ्नतासे यह देवी उत्कर्षको प्राप्त हो।

इस स्त्रीको (अपर पूर्वं मध्यतः ब्रह्म युज्यतां। मं०६४) आगे, पीछे, बीचमें और सब ओरसे ज्ञान प्राप्त हो। ज्ञानवेदी

सबको उन्नति होती है। यहां 'ब्रह्म' शब्दके अर्थ- "ईश्वर, मंत्र, वेदज्ञान, यज्ञ, कीर्तन, तप, धर्म पवित्रता, ब्रह्मचर्य, धन, रुद्र" ऐसे होते है। स्त्री पतिघरमें जहांजावे वहां ये पदार्थ उपस्थित हों, इनसे विमुखता कभी न होने पावे। यह धर्मपत्नी (ब्रह्मण्याधां देवपुरां प्रपद्य) ब्रह्माधिरहित दिव्य नगरीको अर्थात् पतिके स्थानको प्राप्त होकर, पतिगृहमें रोगरहित रहकर, नीरोगताके साथ अपना सब व्यवहार करके (शिवा स्योना पतिलोके विराज) शुभमंगलमयी गृहदेवता होकर पतिके स्थानमें विराजती रहे। यह स्त्री पतिके घरकी शोभा बढावे, सुखकी वृद्धि करे और वहांके मंगलका हेतु बने॥

यहांतक प्रथम सूक्तके मंत्रोंका विचार किया। अब हम द्वितीय सूक्तका विचार करते है—

द्वितीय सूक्तका विचार।

द्वितीय सूक्तमें भी विवाहकाही विचार है। पहिले चार मंत्रोंमें कुमारिकाके चार पति होनेका उल्लेख है। इस विषयमें इस तरह स्पष्ट कहा है-

सोमस्य जाया प्रथमं गंधर्वस्तेऽपर पतिः।
तृतीयो अग्निष्टे पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजाः॥ मं० ३॥

"कुमारिकाका पहिला पति सोम, दूसरा पति गंधर्व, तीसरा अग्नि, और चौथा मनुष्य-योनिमें उत्पन्न (अर्थात् मनुष्य) है" यहां चार पति कौमार्यमें होनेका उल्लेख है। ऋग्वेदमें यह मंत्र इस प्रकार है-

सोमः प्रथमो विविदे गन्धर्वो विविद उत्तरः।
तृतीयो अग्निष्टे पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजाः॥ ४० ॥
(ऋग्वेद १० । ८५)

इस मंत्रका अर्थ वैसाही है जैसा ऊपर दिया है। इस कन्याको सोमने पहिले प्राप्त की, तीसरा पति अग्नि है और चतुर्थ मानव है। इस मंत्रमें चतुर्थ पतिको 'मनुष्यज' कहा है इस बातसेही पूर्वके पति मनुष्य योनिके नहीं है इस की सिद्धि होती है। अतः यद्यपि इस मंत्रमें चार पतियोंका उल्लेख है, तथापि यह मंत्र नियोग अथवा बहुपतित्वकी सिद्धता करता है ऐसा मानना असंभव है। क्योंकि इसकी सिद्धता होनेके लिये तीनों पतिभी 'मनुष्य-ज' होने चाहिये। यहां स्पष्ट मंत्रमें कहा है कि पहिले तीन पति मनुष्यज नहीं हैं, केवल चतुर्थ पतिही मनुष्यज है। इस कारण इससे नियोग अथवा पुनर्विवाह सिद्ध होना असंभव है।

चतुर्थ मंत्रमें स्पष्ट कहा है कि सोमने इस कन्याको गंधर्वके पास दी, गंधर्वने अग्निके सुपुर्द की और अग्निने मानवी पतिके हाथमें दे दी। इसलिये पहिले तीनों पति दैवी शक्तिके केन्द्र हैं यह सिद्ध है। मातापिताके घर रहती हुई कन्या बाल्य अवस्थामें इन दैवतोंके आधीन रहती है किंवा इनका प्रभाव उसपर रहता है। जब विवाह होम होता है, तब वह हवनाग्नि इस कन्याको मानवी पतिके हाथमें देता है।

कई उन्मत्त लेखक इस मंत्रपर ऐसी विचित्र कल्पना कर बैठे हैं और लेख भी लिख चुके हैं कि पूर्वकालमें कन्याका विवाह होनेके पूर्व उसको सोम, गंधर्व और अग्नि संज्ञक जातियोंके पुरुषोंके पास रखा जाता था और तपश्चात् वह कन्या उनकी अनुमतिसे मानव को प्राप्त होती थी!! सचमुच यह कल्पना विचित्र और हास्यास्पद है। इसमें तो व्यभिचार ही धर्म हुआ है! परंतु हमने जहां तक देखा है वहां तक हमें सोम और अग्नि नामकी कोई जाती थी, इस विषयमें प्रमाण उपलब्ध नहीं हुआ। गंधर्व थी। परंतु यहां एकसे काम न चलेगा। अतः हमें यह कल्पना तिरस्कारार्ह प्रतीत होती है।

इसके अतिरिक्त संपूर्ण वैदिक वाङ्मयमें स्त्रीको इतना स्वातंत्र्य दिया नहीं है जिससे वह पतिके आधीन रहेगी। इस प्रकार अन्य पुरुषोंके पास जाकर रहनेके लिये उसको समयही नहीं है। वेदमें किसी भी अन्य स्थानमें इस तरह विवाहके पूर्व तीन पति होनेका निर्देश भी नहीं है, अतः यह भयानक कल्पना असत्य है। जो इसको करते हैं उनके मस्तिष्कमें कुछ विकार हुआ है ऐसाही हमें प्रतीत होता है। क्यों कि मंत्रमें स्पष्ट है कि मनुष्य पतिके पूर्व ये तीन पति अमानुष है अर्थात दैवत हैं। देवताओंका स्वामित्व किसी भी प्रकार दोषमय नहीं हो सकता। जैसा कोई भक्त अपने उपास्य देवको अन्न समर्पण करके पश्चात वह अन्न स्वयं भक्षण करता है, उसमें उच्छिष्ट भक्षणका दोष नहीं होता, क्यों कि वह अन्न समर्पण एक भावनाकी बात है। इसी तरह मातापिता कन्याके बालकपनमें समझें कि अपनी कन्या इस समय सोमदेवताके प्रभावमें है, पश्चात् वह गंधर्व देवताके प्रभावमें है, तदनंतर वह अग्निदेवताके प्रभावमें है। तत्पश्चात् वह मानवी पतिके आधीन होगी कुमारीका जीवन इस प्रकार देवतामय होना चाहिये। देवता-

ओंके समीप होनेका अर्थ पवित्राचरण अवश्यमेव होनेका है। यदि कोई मनुष्य राजाके समीप किंचित् काल रहेगा, तो वह उस समय अधिक पवित्र रहेगा, इसी तरह जब यह कन्या इन देवोंके पास रहेगी तो उनकी पवित्रता अधिक होनेमें कोई संदेह ही नहीं है। देवताएं सर्वज्ञ होतीं हैं। अतः हमारा पाप उनसे छिप जाना असंभव है, इस सब कथन का तात्पर्य यह है कि ये तीन दैवी पति केवल मनोभावनाके बतानेवाले हैं। चतुर्थ मानवी पति ही सच्चा पति है। अर्थात् इस मंत्रपर जो अनेक पतियोंकी कल्पना की जाती है, वह निराधार है।

विवाहका समय।

अगले दो मंत्रोंसे विवाहके समय वधू और वर की आयु कितनी होनी चाहिये, अर्थात् कितनी आयुमें विवाह हो, इसका निर्णय हो सकता है। (सुमतिः अगन्। मं० ५) उत्तम मति आगई है। इससे विवाहके संबंधमें बुद्धिपर होनेकी बात सिद्ध होती है। उत्तम विद्या प्राप्त होनेपर विवाहका विचार करना चाहिये। बुद्धि सुसंस्कृत होनेपर विवाह हो। (हृत्सु कामाः अरंसत। मं० ५) हृदयमें कामने अपना स्थान जमाया है। इतनी प्रौढ अवस्था प्राप्त हुई है, तब विवाह करना चाहिये। हृदयमें काम का बीज उत्पन्न होना चाहिये। (वाजिनी वसु) अन्न और धनसे युक्त होना चाहिये। तत्पश्चात् विवाह हो। विद्या प्राप्त होनेके पश्चात् धन प्राप्त कर प्रौढ आयुमें विवाह का विचार करना चाहिये। (मिथुना शुभस्पती गोप अभूनं) साथ साथ रहनेकी इच्छा करनेवाले, उत्तम पालक संरक्षक जब होंगे, तब विवाहका विचार करें। (अर्यमणः = अर्य-मनः) आर्य अर्थात् श्रेष्ठ मनवाले वधूवर हों; तब विवाहका समय होगा। पाठक इन शब्दोंका अच्छी प्रकार मनन करें और विवाहका समय जानें।

विवाहके समय स्त्री भी (मन्दसाना। मं० ६) आनन्द, प्रसन्न, आनन्दित चित्तवाली, (शिवेन मनसा शुभ मनवाली, कल्याणपूर्ण विचारसे युक्त हो। (सर्ववीरं वचस्य रयिं) सब प्रकारके वीरताके भाव जिसमें है, उत्तम वक्तृत्व जिसमें है, इस तरहकी शोभा धारण करे और (दुर्मतिं हतं) दुष्ट बुद्धिका नाश करें। इस तरह स्त्री की योग्यताके विषयमें निर्देश यहां मिलते हैं।

अर्थात् विवाहके समय स्त्री और पुरुष विद्या, धन, बल, सुविचार आदि गुणोंसे युक्त होने चाहिये। कुटुंबका सब भार सिरपर लेनेकी शक्ति उनमें चाहिये। इस निर्देशका विचार करनेपर पता चलता है कि वधूवर प्रौढ आयुमें ही विवाह करें अर्थात् बालकपनमें विवाह न हो। वैवाहिक मंत्रोंका अर्थ और मंत्रोक्त प्रतिज्ञाका भाव समझने योग्य बुद्धिवाले वधूवर हों। वैदिक मंत्रोंमें मातापिताका अधिकार कुमार—कुमारिकाओंपर पूर्ण है, तथा कन्यादान भी वेदमें कहा है। इससे कुमार-कुमारियोंका स्वयंवर वेदको अभीष्ट नहीं है यह बात सिद्ध होती है। स्वयंवरका उल्लेख वेदमें किसी स्थानपर स्पष्टतया नहीं है और कन्यादान-पद्धतिमें स्वयंवरका स्थान मिलना असंभव है। जहां स्वयंवर हो वहां कन्याका दान कैसे हो सकता है? कन्यादान की प्रथा वैदिक होनेके कारण मातापिताका अधिकार कुमार कुमारियोंपर है और इस कारण मातापिताकी अनुमतिसे ही वैदिक विवाह हो सकता है। अतः जो सज्जन है कि वेदमें युरोपीयनोंके समान स्वयंवर की रीति है और जो स्वयंवरको वैदिक विवाह कहते हैं और जो "प्रथम दर्शनसे ही प्रेम" होनेकी संभावना वैदिक विवाहमें मानते हैं वे सब वैदिक धर्मके उच्छेदक हैं। अस्तु। इस तरह वैदिक विवाहमें कुमार कुमारिकाओंका प्रौढ और सुमनस्क होना सिद्ध है, तथापि मातापिताकी संमतिभी उतनी ही प्रबल है यह बात विशेषतया ध्यानमें धारण करनी चाहिये।

आगे मंत्र ७ से ९ तक नवविवाहित वधूवरोंको अभीष्ट चिंतनपूर्वक आशीर्वाद है। राक्षस, दुष्ट, दुराचारियोंसे वधूकी रक्षा होनेकी प्रार्थना सातवे मंत्रमें है। सब मार्ग वधूके लिये सुरक्षित होनेका आशीर्वाद अष्टम मंत्रमें है। और नवम मंत्रमें वधूवरोंको गंधर्व, अप्सरस्, देवी आदि सुखदायक हों और इन वधूवरोंकी कोई हिंसा न करें यह इच्छा है।

यज्ञसे यक्ष्मनाश।

दशम मंत्रमें यज्ञसे यक्ष्मरोगका नाश होनेका संदेश बडी काव्यमयी वाणीसे दिया है। उसका विचार किंचित् विशेष विचारके साथ करना उचित है।

ये वध्वश्चन्द्रं वहतुं यक्ष्मा यन्ति जनां अनु।
पुनस्तान् यज्ञिया देवा नयन्तु यत आगताः॥ [मं० १०]

"जो [यक्ष्माः] यक्ष्म रोग [जनान् अनु यन्ति] मनुष्योंके साथ साथ चलते हैं, वे (वध्वः चन्द्रं वहतुं) वधूके तेजस्वी

बरातके रथके साथ आगये हों तो (तान्) उन यक्ष्म रोगोंको [यज्ञियाः देवाः नयन्तु] यज्ञके देव दूर ले जावें, अर्थात् वधू या वरके साथ आने न दें।" यज्ञके देव अग्नि वनस्पति आदि हैं, जिनसे यज्ञ होता है और यज्ञमें जिनका नामनिर्देश हुआ करता है। वे सब देव मनुष्योंके साथ आये यक्ष्म रोगोंको दूर करें। इस मंत्रके मननसे यह बात सिद्ध होती है कि जहां मनुष्योंकी भीड होती है वहां रोगी मनुष्योंके साथ यक्ष्मादि रोगके बीज आना संभव है। बरातमें जहां सैकडों आदमी इकट्ठे होते हैं वहां किसको कौनसा रोग है इसका ज्ञान होना भी असंभव है। अतः ऐसे भीडके प्रसंग में स्पर्शजन्य रोगकी बाधा होनेकी संभावना होती है, इसलिये ऐसे प्रसंगमें बृहत् हवन करके ऐसे यक्ष्मोंका शमन करना योग्य है। जहां जहां बरात जैसे बहुत मनुष्योंके समाज जमा होते हैं वहां वहां यही नियम ध्यान में रखना योग्य है।

शत्रु दूर हों।

ग्यारहवें मंत्रमें शत्रुको दूर करनेका उपदेश है। पूर्व मंत्रमें व्याधिरूप शत्रुको दूर करनेका उपाय कहा और इस मंत्रमें मानवी शत्रुओंको दूर करनेकी सूचना दी है। (परिपन्थिनः मा विदन्) दुष्ट मार्गसे जानेवाले दुराचारी इस दंपतिको न प्राप्त हों। दुराचारी अनेक प्रलोभन बताकर मनुष्यको धक्का देते हैं, ठगते हैं, फंसाते हैं लूटते हैं और अपना मतलब साधते हैं। अतः ऐसे दुष्टोंके संबंधसे नवविवाहित वधूवर दूर रहें इतना ही नहीं परंतु अन्य लोगभी दूर रहें। यह सर्व सामान्य उपदेश है। (अरातयः अव द्रान्तु) शत्रु दूर भाग जावें, अनुदार मनुष्य और इन नवविवाहित स्त्रीपुरुषों को फंसानेके इच्छुक हों वे दूर हों। इनसे ये दंपति सुरक्षित रहें। तथा ये स्त्रीपुरुष (सुगेन दुर्गं अतीतां। मं० ११) सुखपूर्वक सब कठिन प्रसंगोंसे मुक्त हो जांय।

द्वादशवें मंत्रमें प्रार्थना है कि "सबका उत्पत्तिकर्ता सविता देव इस सब विश्वके रूपको इस पतिपत्नी के लिये सुखदायक बनावे।" अर्थात् यह सब विश्व इस दंपतीको सुख देवे, इनसे दुःख न होवे। यहां पाठक स्मरण रखें कि जगत् के सब पदार्थ सुखदायक भी हो सकते हैं और दुःखदायक भी हो सकते हैं। अपने व्यवहारपर सुख या दुःखकी प्राप्ति अवलंबित है। अतः वधूवर ऐसे धार्मिक सुनियमोंसे व्यवहार करें कि जिससे उनको सदा सुख होता रहे और दुःख कदापि न हो।

विवाहमें ईश्वर का हाथ।

तेरहवें मंत्रमें (धाता इमं लोकं अस्यै दिदेश। मं० १३) विधाताने यह पतिका स्थान इस वधूके लिये निर्दिष्ट किया है, ऐसा कहा है। इसका सरल आशय यह है कि जब स्त्री या पुरुष उत्पन्न होता है, तब उसके लिये विवाहकी योजना विधाताद्वारा निश्चित होती है। विधाताके संदेशको लेकर जो चलते हैं, उनके लिये यथायोग्य धर्मपत्नी मिलती है। जो स्वयं अपना हठ बीचमें लाते हैं, वे कष्ट भोगते हैं। जो ब्रह्मचर्य आजन्म पालते हैं उनका वह हेतु भी ईश्वरीय कृपासे ही सिद्ध होता है। जो विवाहेच्छुक होता है उनको उचित है कि वे अपना आचरण धर्मानुकूल रखें, उत्तम सुनियमोंका पालन करें और समयकी प्रतीक्षा करें। विधाताके नियमानुसार सुयोग्य वधूके साथ अवश्य संबंध होगा। पाठक यहां उपहास न करें। धर्मानुकूल संयमपूर्वक रहनेवाले मनुष्यका सब योगक्षेम ईश्वरीय नियमानुसार चलता है। जिसका परम पिता एकमात्र सहायक सखा हुआ उसको किसी बातकी न्यूनता नहीं होगी।

[इयं शिवा नारी अस्तं आगन्] यह शुभ आचारवाली स्त्री पतिके घर आगयी है। यह शुभ आचारवाली स्त्री ऐसे ही धर्मात्मा पुरुषको प्राप्त होती है और उसका गृहस्थाश्रम सुखपूर्वक चलनेमें सहायता होती है। धर्मपत्नी शुभ आचारवाली मिलना एक भाग्यका लक्षण है और वह धर्माचारसे ही सिद्ध होता है।

(देवाः प्रजया वर्धयन्तु। मं० १३) सब देव इस दंपतीको उत्तम संतानके साथ बढावें, सुसंतति देवें, अन्य सब प्रकारका आश्रय देवें और हरएक प्रकारका सुख इस दंपतिको मिले। यह सब ईश्वर भक्तिसे ही प्राप्त होता है। विधाताकी कृपासे ही यह होता है।

गर्भाधान।

विवाहके पश्चात् गर्भाधान प्रकरण आना स्वाभाविक और क्रमप्राप्त है। उस संबंधका निर्देश १४ वें मंत्रमें है। [आत्मन्वती उर्वरा नारी] आत्मिक बलवाली, सुपुत्र या सुसंतान उत्पन्न करनेवाली होनेसे कठिन प्रसंगमें जिसका धैर्य नष्ट नहीं होता, ऐसी स्त्री होवे। 'उर्वरा' शब्द उपजाऊ अर्थमें यहां है। जैसी भूमि उत्तम उपजाऊ होती है,

सूर्यचन्द्रादि तेजस्वी पदार्थ उत्पन्न होते हैं वैसी ही स्त्री भी उत्तम हृष्ट पुष्ट सुमतियुक्त संतान उत्पन्न करनेवाली हो। रोगी संतति उत्पन्न न हो। यह सब स्त्री के धर्मानुकूल आचरण करनेपर निर्भर है। जैसा यजुर्वेदमें कहा है वैसा आचरण स्त्रीपुरुष करेंगे, तो उत्तम संतति हो सकती है।

(गर्भ्यां नरो बीजं वपत) ऐसी सुगुणी कुलवती आत्मबल-शालिनी उत्तम संतान उत्पन्न करनेमें समर्थ स्त्रीमें ही पुरुष गर्भाधान करे। किसी अन्य स्थानमें वीर्यका निक्षेप न करे। धर्मपत्नीको छोडकर किसी अन्य स्थानमें वीर्यका नाश करना सर्वथा अयोग्य, अधार्मिक और आयु-निवारक है। पुरुष (वृषभः) बैलके समान वीर्यवान् हो। वृषभ, वृषण ये शब्द [illegible] है। वीर्यवान् सुगुणी पुरुष ही गर्भाधान करे। रोगी, दुर्गुणी, निर्वीर्य पुरुष गर्भाधान करेगा तो उसकी संतान वैसीही क्षीण और दीन होगी। अतः यह सावधानता आवश्यक है।

स्त्री अपने पतिके घर (वराट्) विशेष तेजस्विनी होकर अपने शुभ व्यवहार करे, (सरस्वती) विद्यादेवी की मूर्ति बनकर रहे अर्थात् विदुषी कहलवाने योग्य ज्ञानवाली बने। (सिनी-वाली) विविध अन्नरस पास रखनेवाली गृहस्वामिनी बने। अपना पति (विष्णुः इव) साक्षात् विष्णुभगवान् ही है और मैं उसकी धर्मपत्नी हूं ऐसा भाव मनमें रखे। जैसा विष्णु सब जगत् का पालनहारा है, वैसा मेरा पति अपने परिवारका उत्तम पालक है यह विचार मनमें रखकर पतिके विषयमें बडा आदरका भाव अपने अंतःकरणमें रखे। और (अगन्म सुमतिं अमत। मं० १५) अपने पतिकी उत्तम मतिमें अपने आपको रखे अर्थात् उसके विषयमें उत्तम विचार मनमें धारण करे और उसके मनमें अपने विषयमें उत्तम विचार रहे ऐसा अपना आचरण करे। पति भी अपनी स्त्रीके विषयमें बडा आदर रखे। इस तरह पतिपत्नी परस्परका सत्कार करती हुई गृहस्थधर्मका पालन करें।

पतिपत्नीकी व्यवहारशैली ऐसी हो कि उनमें आपसमें कभी झगडा फिसाद न हो, शान्तिका भंग न होवे। दोनों बडे प्रेमके साथ मिलजुलकर रहें। (अदुष्कृतौ) दोनों पति और पत्नी बुरा कामधंदा, दुराचार कभी न करें, सदा अच्छे शुभ कर्ममें दत्तचित्त रहें, (वि-एनसौ) वे दोनों सदा निष्पाप रहें, कभी प्रमादसे भी पापाचारमें न प्रवृत्त हों, (अशुभं मा आ गात। मं० १६) अशुभ व्यवहार कभी न करें। दोनों मिलजुलकर परस्परको धर्म करनेमें सहायता देते हुए अपने उन्नतिके मार्गका आक्रमण करें।

पतिके घरमें पत्नीका व्यवहार।

अब पतिके घरमें स्त्रीका निवास स्थिर हुआ। गर्भधारणा होनेपर वधूका दिल पतिघरमें जम जाता है। तबतक वह अपने पिताके घरका स्मरण करती है। जब गर्भधारण होता है तब पतिके घरका प्रेम बढता है। ऐसी अवस्थामें वह नारी पतिके घरमें किस तरह व्यवहार करे इस विषयमें उत्तम उपदेश मंत्र १७ से प्रारंभ होता है। हरएक स्त्रीको ये मंत्र कंठमें धारण करने चाहिये।

(अ-घोर-चक्षु) क्रूर दृष्टि करनेवाली स्त्री न बने, सदा सौम्य आनंद प्रसन्न दृष्टिसे अपने घरके कार्य करती रहे, किसीपर क्रोध न करे, वक्र (टेढी) दृष्टिसे किसीकी ओर न देखे, (अ-पति-घ्नी) पतिका घातपात, अपमान तथा विरोध कभी न करे, सदा पतिके हितमें दक्ष रहे; (स्योना शिवा) स्त्री सबको सुख देवे, सबका हित करे, सबका कल्याण करनेके कार्यमें दत्तचित्त रहे; [शग्मा] सदा शुभ कार्य करे, सर्वहितकारी कार्यमें अपने मनकी लगन रखे, [सु-यमा] स्त्री अपने पतिके घरमें उत्तम धर्मनियमोंके अनुकूल आचरण करे, कभी अनियमका आचरण न करे, [सु-सेवा] गुरुजनों-की सेवा उत्तम रीतिसे करे, सेवा करनेवालोंपर क्रोध न करे, प्रसन्नतासे सेवकोंके साथ बर्ते, (वीरसूः, प्रजावती) वीर संतान उत्पन्न करनेके लिये जो जो पथ्य व्यवहार करना आवश्यक हो, वह करती रहे, अपने मनके वीरभावोंसे ही अपनी संतान वीरप्रभावयुक्त हो सकती है ऐसा जानकर अपने मनमें वीरताके विचार धारण करे, और बालकपन में अपनी संतानोंको वीरताकी शिक्षा देती रहे। इस तरह अपनी संतान सुवीर होनेके लिये जो जो उपाय करना आवश्यक हो वह करती जाय। (देवृ-कामा, अ-देवृ-घ्नी) अपने पतिके भाइयोंका हित करे, उनका कभी द्वेष न करे, देवरका कभी घातपात न करे, (सुमनस्यमाना) जिनकी अन्तःकरणकी भावना उत्तम है, जिसकी मनोवृत्ति उत्तम है, ऐसी स्त्री हो, अर्थात् विद्या और सुनियमोंके द्वारा स्त्री अपना मन उत्तम शांत गंभीर और विनययुक्त बनावे और घरमें सबके मन अपनी ओर आकर्षित करे। (सुवर्चाः) स्त्री उत्तम तेजस्विनी बने, घरकी

शोभा बनकर पतिके घरमें रहे, (पशुभ्यः शिवा) पशु आदि-कोंका भी हित गृहिणी करे, पशुओंको घास दानापानी मिला है या नहीं, उनका आरोग्य कैसा है, इत्यादि विचार कर इस संबंधमें जो आवश्यक कर्तव्य हो वह करे। (गार्हपत्यं सपर्य) गार्हपत्याग्निमें प्रतिदिन हवन करे ईश्वर उपासना करे।

आगे मं० २६ और २७ में भी यही विषय पुनः आगया है। उसमें इसी तरह गृहपत्नीके कर्तव्य शब्दोंद्वारा इसी तरह कहे हैं, स्त्री (सुमंगली) उत्तम मंगल करनेवाली शुभमंगल कामनावाली, (प्र-तरणी) दुःखसे पार करनेवाली (सुसेवा) उत्तम सेवा करनेवाली, उत्तम सेवनीय, [पत्ये श्वशुराय शंभूः] पतिका और श्वशुरका हित करनेवाली, [श्वश्र्वै स्योना] सासका सुख बढानेवाली, (श्वशुरेभ्यः, गृहेभ्यः, पत्ये, अस्यै सर्वस्यै विशे स्योना) श्वशुर, घरवाले पति और सब पारिवारिक लोगोंके लिये सुख देनेवाली गृहिणी हो।

इस उपदेशको ध्यानमें धारण करके जो स्त्री अपने पतिके घर में व्यवहार करेगी वह सबके आदर केयोग्य निःसन्देह होगी इसमें संदेह है ? गृहिणीका उत्तम आदर्श इस तरह यहां दिया है। स्त्रीका आचरण पतिके घर कैसा होवे, इस विषयमें इसी काण्डके प्रथम सूक्तके ४२ से ४७ तकके मंत्र और उनका स्पष्टीकरण पाठक यहां अवश्य देखें। और प्रौढ उपवर कन्याओंको इन मंत्रोंका भाव अवश्य समझा देवें।

दरिद्रताको दूर करो।

पतिके घर धर्मपत्नीका प्रवेश होनेके पश्चात् वधू और वरका मिलकर प्रयत्न इसलिये होना चाहिये कि अपने घरका दारिद्र्य दूर हो जाय, अपने घरमें न रहे। इस विषयका संदेश देते हुए १९ वें मंत्रने कहा है कि--

हे निर्ऋते ! प्रपत, इह मा रंस्था। अभिभूः स्वात् गृहात्। त्वा ईडे। [मं० १९)

वधू और वर कहें कि " हे दरिद्रते ! हमसे दूर भाग जा यहां हमारे घरमें न रह, मैं तुम्हारा पराभव करूंगा। और अपने घरसे तुम्हें निकाल दूंगा, यह सच सच कहता हूं।" इस प्रकारके निश्चयपूर्ण वाक्य दरिद्रतासे कहे जांय। इसका तात्पर्य यह है कि पति और पत्नी अपने घरका दारिद्र्य दूर करनेका निश्चय करें और तदनुसार प्रयत्न करें।

बडोंको नमस्कार।

बीसवें मंत्रमें कहा है कि, जब वधू अग्निकी पूजा करे, और अपनी ईश्वरोपासना समाप्त करे, तब वह (पितृभ्यः नमस्कुरु मं० २०) अपने घरके बडे बूढे गुरुओंको नमस्कार करे और पश्चात् अपने कार्यमें लगे। यहां एक बडाभारी वैदिक आदर्श दर्शाया है। स्त्री प्रातःकाल उठे, शरीरशुद्धिके स्नानादि कर्म करे, ईश्वर उपासना हवन आदिसे निवृत्त होकर अपने घरके बडे लोग अर्थात् पति, पतिके मातापिता उसके बडे भाई तथा अन्यान्य गुरुजन जो भी घरमें होंगे उनको यथायोग्य रीतिसे नमस्कार करे, उनका आशीर्वाद लेवे और पश्चात् अपने कार्यमें लगे। यह नियम न केवल नव वधूके लिये ही उत्तम है, परंतु यह घरके सब कुमार कुमारिकाओंके लिये भी अत्यंत उत्तम है। हमें बहुत आशा है कि प्रत्येक आर्यके घरमें यह प्रणाली शुरू हो और इस तरह गुरुजनोंको नमस्कार करना एक प्रतिदिनका आवश्यक कर्म समझा जाय।

इस तरह गुरुजनोंको सबेरे नमस्कार करना यह एक (शर्म वर्म एतत्। मं० २१) सुखदायक और संरक्षक कवच है। यह रीति अनेक आपत्तियोंसे कुमारों और कुमारिकाओंकी रक्षा करती है। अतः इस पद्धतिका प्रचार आर्य-गृहोंमें होना युक्त है।

[सूचना—मंत्र १५ वें का दूसरा भाग यहां मंत्र २१ में पुनः आगया है।]

नववधू ईश्वर उपासना और अग्निमें हवन करनेके समय चर्मपर—प्रायः कृष्णाजिन पर—बैठे और अपना उपासनादि कार्य करे। (देखो मं० २२-२४)

रोहिते चर्मणि उपविशन्ती सुप्रजा अग्निं सपर्यतु। (मं० २३)

" कृष्णाजिनपर बैठकर उत्तम प्रजा निर्माण करनेवाली स्त्री अग्नि की उपासना करे " अग्निकी उपासना करनेका कारण वेदमंत्रने इस तरह दिया है-

एष देवः सर्वा रक्षांसि हन्ति। (मं० २४)

" यह अग्नि देव सब रोगबीजरूप राक्षसोंका नाश करता है" और कुटुंबियोंको नीरोग करता है। यह अग्नि उपासनाका महत्त्व है। अतः हवन प्रत्येक कुटुंबमें होना चाहिये। इस तरह जो स्त्री करती है उसका (सुवर्चाः सुपुत्रः। मं. २५)

उत्तम श्रेष्ठ पुत्र होता है। सुप्रजा निर्माण करनेके लिये ईश्वर उपासना की अत्यंत आवश्यकता है, इससे मातापिता और कुटुंबियोंके मन सुमंगलतासंपन्न होते हैं और उसका परिणाम सुप्रजा निर्माण होनेमें होता है। २५ वें मंत्रमें भी इसी कारण पुनः-

प्रतिभूत देवान्। (मं० २५)

“ देवोंको सुभूषित करो” ऐसी आज्ञा दी है। ईश्वरोपासना करनेके लिये यह आज्ञा प्रेरित करती है। देवताओंको आभूषणोंसे सुभूषित करो, यह आज्ञा यहां है। मातृदेव, पितृदेव, अतिथिदेव, पतिदेव आदि अनेक देव घरमें होते हैं, उनको सुभूषित करनेके विषयमें यह आज्ञा होना संभवनीय है। घरमें जो जो देवतायें होंगी उनकी शोभा बढाना गृहस्थियोंका परम कर्तव्य ही है।

[कई लोग “ देवताओंकी मूर्तियोंकी सजावट करो ” ऐसा इस मंत्रका अर्थ मानते हैं और इस मतके लोग कहते हैं कि वेदमें इंद्रादि देवताओंकी मूर्तियां वर्णन की हैं, इस विषयमें उनके प्रमाण ये होते हैं—

क इमं दशभिर्ममेन्द्रं क्रीणाति धेनुभिः ऋ० ४। २४।१०
महे चन त्वामद्रिवः परा शुल्काय देयाम्।
न सहस्राय नायुताय वज्रिवो न शताय शतामघ ॥
ऋ० ८।१।५

“ (इमं इन्द्रं) इस इन्द्रको (दशभिः धेनुभिः) दस गौवें देकर (क्रीणाति) खरीद लेता है। मैं सैकडों और सहस्रों गौवें मिलनेपर भी (शुल्काय न परा देयां) कितना भी मूल्य मिलनेपर इस इन्द्रको न बेचूंगा ॥ ” इन मंत्रोंमें ये लोग कहते हैं कि इन्द्रकी मूर्ति खरीदने और बिकनेका उल्लेख है। श्री० बाबू अविनाशचंद्र दास एम० ए० पीएच० डी० ने अपनी ‘ वैदिक कल्चर’ नामक पुस्तकमें पृ० १४५ -१४८ पर इन मंत्रोंका विचार किया है। अन्तमें उन्होंने इतने मंत्र देकर भी वेदमें निःसन्देह मूर्तिपूजा है ऐसा अपना मत नहीं दिया। इसलिये उनके मतसे भी वेदमें मूर्तिपूजाका होना सिद्ध नहीं हुआ। अतः जिस विषयमें इस पक्षके उपस्थापकको ही संदेह है उस विषयका खंडनमंडन हमें यहां करने की कोई आवश्यकता नहीं। हमने यह मत यहां इसलिये दिया है कि इन मंत्रोंपर पूर्वोक्त बाबू महाशय यह कल्पना करते हैं। जो पाठक खोजकी दृष्टिसे अध्ययन करते हों वे इन मंत्रोंका अधिक विचार करें। उक्त बाबू महाशयजीका और भी कथन यह है कि (ऋ० ८। ६९। १५—१६ जैसे) मंत्रोंमें जहां इन्द्रके रथमें बैठनेका उल्लेख है वहां इन्द्रमूर्तिका रथपर सवार होना ऐसा अर्थ समझना चाहिये। यदि इस तरह कल्पना करना हो तो प्रायः सभी देवताओंकी मूर्तियां वेदमें वर्णित हैं, ऐसा वे कह सकते हैं, क्योंकि वेदमें अनेक देवताओंके वर्णनोंमें रथमें बैठनेका वर्णन है। देवताके रथमें बैठनेका क्या आध्यात्मिक अर्थ है इसकी चर्चा हमने “ वैदिक अग्निविद्या ” नामक पुस्तकमें अग्निदेवताके विषयमें की है। इसी प्रकार इन्द्रदेवताका स्वतंत्र एक पुस्तक लिखकर उसमें इन्द्रदेवताके रथपर बैठनेका आशय क्या है इसका विचार करेंगे। वह विचार यहां संक्षेपसे कहनेसे कुछ भी प्रयोजन सिद्ध नहीं होगा, इसलिये वह विषय हम यहां नहीं लेते हैं। हमारे विचारसे यहांके ‘ देवान् प्रति भूष ” का अर्थ अपने परिवारमें जो गुरुजन हैं उनको सुभूषित करो, ऐसा है। आगे खोज होकर जो बात सिद्ध होगी वह प्रकाशित करेंगे अस्तु।

उक्त प्रकारकी सुमंगल वधूको सज्जन स्त्रीपुरुष देखें, और आशीर्वाद दें, उसका भला चाहें और उसकी सहायता करें, यह भाव २८ वें मंत्रका है। जो दुष्ट हृदयवाली (दुर्हार्दः युवतयः) स्त्रियां तरुण युवतियोंको धोखा देती रहती हैं और उनको कुमार्गमें प्रवृत्त करती हैं, ऐसी दुष्ट युवतियां इस नवविवाहित वधूवरके समीप न आवें। अर्थात् ऐसी दुष्ट स्त्रियोंसे और दुष्ट पुरुषोंके प्रभावसे ये नवविवाहित स्त्रीपुरुष बचे रहें

गुप्त बात।

इसके पश्चात् मंत्र ३० से मंत्र ४० तक स्त्रीपुरुषसंबंधका अर्थात् गर्भाधानसंस्कारका वर्णन है। इसमें उत्तम मनन करने योग्य अनेक निर्देश हैं, तथापि यह विषय केवल गृहस्थियोंके ही उपयोगी है, और ब्रह्मचारी इसको पढ नहीं सकते, अतः यह गुह्य विषय है। इस कारण इसका विवरण हम यहां नहीं करते। जो पाठक इसको जानना चाहें वे मंत्रोंके अर्थसे विचार करके जानें।

वधूका वस्त्र।

वधूके विवाहके समय ज्ञानी ब्राह्मणको वस्त्रका दान करनेका आदेश मंत्र ४१ और ४२ में है। यह वस्त्र देना अत्यंत आव-

श्यक है, क्योंकि यह (ब्रह्मभागः) ब्राह्मणका भाग है, यह दान (देवैः दत्तं) देवोंद्वारा दिया था (मनुना साकं) मनुके साथ यह प्रथा है, या मनुके साथ यह वस्त्र आया है, यह (ब्रह्मणे) ब्राह्मणको देने योग्य दान है । यह (चिकित्वान् ब्रह्मणे यः ददाति) जो ज्ञानी ब्राह्मणको इस वस्त्रका दान करता है उसका लाभ होता है । इस तरह वस्त्रदान की महिमा इन मंत्रोंमें वर्णन की है । ब्राह्मणोंको इस तरह वस्त्रदान किये जांय यह इसका तात्पर्य है । विद्वान् ब्राह्मणोंको ऐसे दान देकर उनका योगक्षेम चलाना चाहिये, यह उपदेश यहां इन मंत्रोंसे मिलता है । यह गृहस्थियोंपर एक प्रकारका धार्मिक भार है । इस प्रकारके दान गृहस्थी देते रहेंगे तो उस दानसे बडे बडे गुरुकुल चल सकते हैं और विद्याका प्रसार भी बडा हो सकता है।

गृहस्थियोंके घर ।

४३ वें मंत्रसे गृहस्थियोंके घर कैसे हों, इस विषयके आदेश मिल सकते हैं । (सुगृहौ) स्त्री पुरुष उत्तम घरमें रहें, घर अंदर बाहरसे उत्तम सुव्यवस्थित हो, जैसा वैसा न हो, प्रत्येक कमरा और घरके बाहरका भाग सब यथायोग्य स्वच्छ, सुंदर और सुडौल हो । (स्योनात् योनेः अधि बुध्यमानौ) स्त्रीपुरुषोंका शयन करनेका कमरा अत्यंत सुखदायक हो, गर्मीके दिनोंमें वह शान्त रहे और शीतके दिनोंमें वही सुखदायक बने, दृष्टिसे कोई कष्ट उसमें रहनेवालोंको न हो । ऐसे सुखदायी कमरेमें गृहस्थी स्त्री पुरुष सोया करें । इस कमरेका स्वास्थ्य उत्तम होनेसे जो स्त्री पुरुष उसमें सोयेंगे, उनको उत्तम निद्रा आवेगी, और वे ब्राह्ममुहूर्तमें (अधि बुध्यमानौ) अपने शयनमंदिरसे उठ सकते हैं और अपने धर्मकर्मको प्रारंभ कर सकते हैं । वे स्त्री पुरुष अपने सुंदर मंदिरमें रहें और (हसामुदौ) हास्यविनोद करते हुए अपना दैनिक व्यवहार करें । कभी किसीपर क्रोध द्वेष आदि विकारयुक्त आचरण न करें । आनंदके साथ रहें, (महसा मोदमानौ) महत्त्वके ज्ञानके साथ आनंदप्रसन्न रहें । उन स्त्रीपुरुषोंके पारस्परिक व्यवहारसे ऐसा प्रतीत हो जावे कि वे बडे आनंदसे अपना व्यवहार कर रहे हैं । उनके मुखारविंदसे उनका आनन्द व्यक्त हो ।

(सु-गू) उत्तम गौवोंका पालन करनेवाले ये गृहस्थी हों, घरमें दूध देनेवाली उत्तम उत्तम गौवें हों, उनका दूध दही, छाछ मक्खन, घी आदि कुटुंबियोंको प्रतिदिन प्राप्त होता रहे और वे उनका सेवन करके हृष्ट पुष्ट और आनंदित होते रहें । ' सु-गू ' शब्दका दूसरा अर्थ उत्तम इंद्रियोंसे युक्त ऐसा भी है । ये स्त्री पुरुष अपने उत्तम घरमें रहते हुए ब्रह्मचर्यादि सुनियमोंका पालन करके अपने इंद्रियोंको उत्तम अवस्थामें रखें । (सु-पुत्रौ) जिनको उत्तम बाल बच्चे हुए हैं और वे उत्तम सुशिक्षासे संपन्न हो रहे हैं, ऐसे ये माता पिता हों । सुसंतान उत्पन्न करना और उनको यथायोग्य रीतिसे सुसंस्कारयुक्त करना प्रत्येक गृहस्थीका कर्तव्य है । विशेष प्रबंधके साथ रहनेसे उत्तम संतान उत्पन्न हो सकती है । इस तरह सब गृहस्थी अपने घरमें आनंद प्रसन्न रहें और अपने दीर्घायुष्य प्राप्तिका साधन करें । यही उत्तम घरका आदर्श बताया है । पाठक इसको स्मरण रखें और अपना घर ऐसा करनेका प्रयत्न करें ।

(अण्डात् पतत्री इव) जैसा अण्डेसे पक्षी मुक्त होता है, और स्वेच्छासे आकाशमें संचार करनेका आनंद प्राप्त करता है, उस प्रकार प्रत्येक गृहस्थी प्रयत्न करके (विश्वस्मात् एनसः परि अमुक्षि । मं० ४३) सब पापसे मुक्त होकर निष्पाप होकर विचरे । यही प्रत्येक गृहस्थका आदर्श होवे । मैं निष्पाप बनूंगा ऐसा निश्चय प्रत्येक गृहस्थी करे और उस सिद्धिके लिये अपने प्रयत्नोंकी पराकाष्ठा करे । प्रतिदिन (नवं वसानः) नया अर्थात् धोया हुआ स्वच्छ वस्त्र परिधान करें और (सुवासाः) उत्तम शोभायमान वस्त्रोंसे अपने आपको सुशोभित करें । अपने शरीरकी सजावट करें । शरीरकी सुंदरता बढानेके यत्नमें दत्तचित्त रहें । इस विषयमें उदास न रहें । स्त्री पुरुष सुंदर वस्त्रों और सुंदर आभूषणोंसे अपने शरीर अधिकसे अधिक सुंदर और रमणीय तथा दर्शनीय बनावें । (सुरभि) सुगंध चंदन इत्र आदि धारण करके आनंद प्रसन्न रहें । शरीरपर दुर्गंधियुक्त कोई पदार्थ न हो । स्नानसे प्रतिदिन शरीर दुर्गंधरहित किया जावे । प्रतिदिन धोये वस्त्र परिधान किये जांय तथा चंदनादिलेपनादि द्वारा सुगंध का धारण किया जावे । इस प्रकार सुंदर बनकर स्त्री पुरुष अपने घरसे (विभातीः उषसः उद्गा) प्रकाशमान उषःकालमें ही अपने घरसे बाहर निकल पडें । प्रातःकाल स्नान उपासनादिसे निवृत्त होकर इस शुभ समयमें कुछ भ्रमण करें । उषःकालमें कोई स्त्री या पुरुष बिस्तरेपर न सोता रहे । इस प्रकारका आलसी गृहस्थी कोई न रहे । सदा उद्यमी, प्रयत्नशील और सुसंस्कारसंपन्न ऐसे गृहस्थी प्रशंसनीय रीतिसे अपने शुभ कर्ममें दत्तचित्त रहें ।

प्रत्येक गृहस्थी की इच्छा हो कि (न अंहसः मुंचन्तु । मं० ४५) हम सब पापसे मुक्त हों । गृहस्थियोंको सदा अपने आचारशुद्धताका ही विचार करना चाहिये, क्योंकि गृहस्थाश्रममें सदा धनकी आवश्यकता होती है और उस कारण मनुष्य बुरे व्यवहारमें फंस जानेकी संभावना अधिक होती है । अतः पापसे बचनेका विचार गृहस्थाश्रमवासियोंके मनमें सदा रहना उचित है । यदि यह विचार उनके मनमें रहा तो कठिन प्रसंगमें दक्षतासे रह कर पापसे अपना बचाव कर सकते हैं ।

द्यावापृथिवी ये दो लोक कैसे नियमसे अपना कर्म कर रहे हैं, यह सब गृहस्थी देखें । सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी, तारागण आदि सब अपनी कक्षामें भ्रमण कर रहे हैं कभी दूसरेके कार्यक्षेत्रमें नहीं जाते, कभी आलस्य नहीं करते और कभी अपना कर्म छोडते भी नहीं । सब ऋतु और सब काल यथा योग्य रीतिसे हो रहे हैं, कोई शिथिलता नहीं करते । यह सृष्टिचक्र देखकर गृहस्थी लोग अपने मनमें निश्चय करें कि हम भी वैसा ही आचरण करेंगे और इस सृष्टिमें रहने योग्य बनेंगे । [महद्भ्‍ते] महान् नियमोंका पालन करनेसे ही मनुष्य सुयोग्य बन सकता है । मनुष्यकी विशेष उच्च योग्यता होनेके लिये उचित है कि वह सुयोग्य धर्मनियमोंका पालन करे और सृष्टिके नियमोंके अनुकूल रहकर विशेष प्रभावशाली बने ।

[ये प्रचेतसः, तेभ्यः नमः । मं ४६] जो विशेष ज्ञानी है उनको नमन करना चाहिये । क्योंकि नमनपूर्वक उनके समीप जानेसे वे ज्ञानोपदेश देते हैं और उस ज्ञानसे मनुष्य कृतार्थ हो सकता है । इसलिये गृहस्थियोंको उचित है कि वे ज्ञानी गुरुजनोंको नमस्कार करनेसे पीछे न हटें ।

ईश्वरके अद्भुत कार्यका वर्णन मं ४७ में किया है । ईश्वर बिना चिपकाये और बिना सुराख किये संधियोंको जोड देता है । अपने शरीरमें सब हड्डियाँ कैसी एक साथ जोड रखी हैं, वहाँ कोई सुराख नहीं है, न किसी स्थानपर चिपकानेका कारण पडा है । यह अद्भुत रचनाकौशल्य परमेश्वरका है । पाठक अपने शरीरमें तथा जगत् में इसका अनुभव करें । और परमेश्वरकी अद्भुत शक्तिको पहचाने वही [वहुत पुनः निष्कर्ता] हमारे फटे हुएको पुनः ठीक करनेवाला है । अतः इसको नमन करके इसकी शक्तिको अपने अनुकूल करनेका यत्न करना चाहिये । उपासनासे ही यह सब साध्य हो सकता है ।

मंत्र ४८ में कहा है कि (तमः अस्मत् अप उच्छतु । मं० ४८) अंधकार हम सबसे दूर रहे ॥ अंधकार सात्विक राजस और तामस होनेसे अनेक प्रकारका है आत्मिक, बौद्धिक, मानसिक और इंद्रियविषयक अंधकार परस्पर भिन्न हैं । यह सब अंधकार हम सबसे दूर हो हममेंसे किसीके पास यह अंधकार या इस विषयका अज्ञान न रहे । क्योंकि सब प्रकारके दोष और सब प्रकारकी अधोगतियां अज्ञानके कारण होती हैं । और अज्ञान दूर होने तक उनके दोषोंसे बचना असंभव है । अतः सब प्रकारके अज्ञानको दूर करनेका प्रयत्न करना प्रत्येकका कर्तव्य है । इसी तरह जो (यावतीः कृत्याः) जो घातपातके विचार हैं, (याः पाशाः) जो अनेक प्रकारके बंधन हैं, (याः ऋद्धयः याः असमृद्धयः) जो दरिद्रताएं और असमृद्धियां हैं उन सबको दूर करना चाहिये । गृहस्थियोंके कर्तव्य इस ४९ में इस प्रकार कहे हैं । घातपातके विचार और दरिद्रताके आचार सबके सब दूर करने चाहिये और अहिंसाके भाव, स्वतंत्रताके विचार और संपन्नताके आचार अपनेमें लानेका यत्न करना चाहिये । मनुष्यके पास जो विचार होते हैं वैसे आचार वह करता है और वैसा बनता है । इसलिये इस दृष्टिसे यह मंत्र बडा बोधप्रद है ।

स्त्रियोंका बनाया वस्त्र ।

वस्त्र बुनना घरलू धंदा हो जावे । अन्य वस्त्र कोई न पहने । मंत्र ५० और ५१ में स्त्रियोंके द्वारा बनाया वस्त्र परिधान करनेको कहा है ।

यत् पत्नीभिः उतं वासः तत् नः स्योनं उपस्पृशात् ।
(मं० ५१)

"जो हमारी स्त्रियोंद्वारा बुना वस्त्र है वही हमें सुखस्पर्श देनेवाले प्रतीत हो ।" उसकी (अन्ताः सिचः) किनारियां और धारियां, उसके [ओतवः अन्तवः] ताने और बानेके धागे हमें सुख देनेवाले हों । अर्थात् अपने घरकी स्त्रियां अपने घरका वस्त्र बनावें, घरमें सूत काता जावे, उसका ताना बाना घरमें बने, किनारियां और धारियां सुंदरसे सुंदर घरमेंही बनायी जाय । और ऐसा घरमें बुना वस्त्र घरके स्त्रीपुरुष पहनें, उनको अपना घरेलू वस्त्र पहननेमें बडा अभिमान हो । अपने घरके लोगोंने बनाया वस्त्र पहननेमें कोई न डरे । परंतु वही वस्त्र पहननेमें हरेकको प्रेम और आनंद प्राप्त होवे । अपने घरमें बनाया वस्त्र न पहन कर और परकीयोंद्वारा बनाया वस्त्र पहन कर [वयं मा रिषाम । मं० ५०] हममेंसे कोईभी न शक्तिहीन न प्राप्त होवे । क्योंकि अपना बनाया वस्त्र न पहननेसे और परकीयोंद्वारा बनाया वस्त्र पहननेसे

निःसन्देह अच्छा होगा। इस नाशसे गृहस्थियोंका बचाव करनेका एक मुख्य उपाय यह है कि प्रत्येक घरमें सूत काता जाय और उस का वस्त्र बनाकर वहीं उस घर के लोग पहनें। आपत्तिसे बचने-का और सर्वसमान बननेका एक मात्र उपाय यह है। प्रत्येक घरमें इस वैदिक धर्मके आदर्शका पालन होता रहे। अपने बनाये वस्त्र कोई मनुष्य घृणा न करे और परकीयों द्वारा बनाये वस्त्रपर कोई मनुष्य प्रेम भी न करे। यही एक मात्र साधन उद्धारका है।

मंत्र ५२ में कहा है कि 'पतिकी इच्छा करके पतिके घरमें पहुंचनेवाली कन्या इस दीक्षाव्रतका पालन करे। यह दीक्षाव्रत स्वयं सूत कातना और उसका वस्त्र घरवालोंके लिये बनाना है। जो स्त्री इस व्रतका पालन करेगी वही दीक्षा को धारण करनेवाली होगी और कुलका उद्धार करेगी। परंतु जो स्त्री स्वयं सूत कातेगी नहीं और परकीयों द्वारा बनाये वस्त्र पहननेका आग्रह करेगी, वह अपने घरमें स्वयं दरिद्रताको बुलावेगी। इस लिये घरके पारिवारिक स्त्रीपुरुषोंका उचित है कि वे सबके सब इस दीक्षा व्रतको धारण करें और इस व्रतका पालन करके उन्नतिको प्राप्त हों। वेदका यह आदेश सब गृहस्थियोंको है। जो इसका पालन करेंगे वे अभ्युदय प्राप्त करेंगे और जो इससे विमुख होंगे वे अवनत जीवनमें गिर जायेंगे।

गौओंका यश।

मंत्र ५३ से ५८ तक गौओंके यशका वर्णन है। सब गृहस्थि-योंको उचित है कि वे अपने घरमें गौओंका पालन करें और उ-नका ही दूध दही मक्खन घी आदिका सेवन करें। गौओंका (वर्चः) तेज, (तेजः) फुर्ती, [भगः] ऐश्वर्य, (यशः] यश, [पयः] दूध, [रसः] अन्नरस है। गौओंके दूधसे इनकी प्राप्ति मनुष्यको होती है। इसके अतिरिक्त शुद्ध गौका मूत्र, गोमय आदि भी औषधि गुणोंसे युक्त है। इन सब पदार्थोंद्वारा गौ मनु-ष्योंको सुख देती है। ये सब लाभ गौ की पालना घरमें करनेके बिना नहीं हो सकते। अतः गृहस्थियोंको अपने घरमें गौओंकी पालना करके वर्चस्वी, तेजस्वी, भगवान् और यशस्वी होना चाहिये।

आगे मंत्र ५९ से ६२ तकके मंत्रमें पापसे बचनेका उपदेश किया है जो अपने (केशिनः) बाल बढाते हैं, (अघं कृण्वन्तः) पाप करते हैं, (रोदेन समकृण्वन्तः) रोते हैं। नाचते कूदते हैं। स्त्रियां [विकेशी] बालोंको खोलकर घरमें रोती पीटती हैं, आक्रोश करती हैं। कामी स्त्रियां घरमें जिस कारण आक्रोश करती हैं, नानाप्रकारके पातक करती हैं। वे सबके सब पाप-कारी लोग हैं और वे समाजसे दूर होने योग्य हैं। जो पापकारी भाव हैं वे मनसे दूर हों और जो पापकारी मानव हैं वे समाज से दूर हों। इस तरह पापी विचारोंसे मन शुद्ध हों और पापी जनोंसे समाज शुद्ध हो। और मनसे और समाजसे रोगोंके पापज-का मूल कारण दूर हो जावे और संपूर्ण समाजमें आनंद प्रस-न्नता निवास करे। यही गृहस्थधर्मका ध्येय है।

मंत्र ६३ और ६४ में कहा है कि [मे पतिः दीर्घायुः अस्तु] अपना पति दीर्घायु हो यह स्त्रीकी इच्छा हो और कभी अपने पति का अहित न चाहे। पतिका हित करनेमें सदा दक्ष रहकर उसके दीर्घायुका चिन्तन करती रहे। [चक्रवा-का इव दम्पती] जैसे चकवा पक्षी रहते हैं, आपसके प्रेमके साथ विहार करते हैं वैसे ही स्त्री पुरुष गृहस्थाश्रममें प्रेमके साथ रहें। पत्नीके लिये एक मात्र पति, और पतिके लिये एक मात्र पत्नी चक्रवाक पक्षीकी जातिमें होती है, वैसी ही रीति गृह-स्थाश्रमियोंमें होवे। धर्मपत्नीके लिये एक मात्र पति और पति-के लिये एकमात्र धर्मपत्नी प्रेमका स्थान होकर रहे। उनमें व्यभिचारादि दोष उत्पन्न न हों। एक दिलसे और एक विचार-से वे गृहस्थाश्रममें रहें। इस प्रकार [सुभगा भवतः] अपने कर्तव्यका पालन करके सुखमें रहें और [विश्वं आयुः व्यश्नुताम्] सब पूर्ण आयु व्यतीत करें। इस तरह गृहस्था-श्रममें पति और पत्नी सुखसे रहें और आनंद प्रसन्नताके साथ गृहस्थधर्मका कार्य चलावें।

आगे मंत्र ६५ से ६७ तक के तीन मंत्रोंमें विशेष रीतिसे कहा है कि जो विवाहादि समय (कृतां) घरवालोंके विचार किये हों, जो (दुष्कृतं, दुरितं) जो दुराचार अथवा पापवि-चार हुए हों, जो (मलं) मलीन आचार तथा (दुरितं) बुरे व्यवहार बन गये हों, वे सबके सब हमसे दूर हों, और हम (शुद्धाः यज्ञियाः अभूम) शुद्ध, पवित्र और पूज्य बन जांय और (नः आयूंषि प्रतारिषत्) हमें दीर्घ आयु प्राप्त हो साधारणतः यह नियम है कि बड़े उत्सवोंमें विवाह जैसे मंगल कार्योंमें जहां अनेकानेक बुरे भले मनुष्योंका संबंध आता है, वहां किसी न किसी रीतिसे कुछ न कुछ हीन आचार हुआ करते हैं, कुछ दोष होते रहते हैं। ऐसे दोष बड़ा समाज इकट्ठा होनेके कारण बनते हैं, ऐसा मान कर, उनसे अपने आपको

बचानेका उद्योग करना चाहिये और शुद्ध पवित्र और यज्ञके लिये योग्य बननेका यत्न प्रत्येक गृहस्थीको करना चाहिये। पूर्व समयमें दोष होगये तो भी उनकी विशेष चिंता करनेमें समय व्यतीत न करते हुए आगेके समयमें आत्मशुद्धि करनेके प्रयत्नमें दत्तचित्त होना चाहिये। इस तरह शुद्ध और पवित्र बनकर गृहस्थियोंको आदर्श जीवन व्यतीत करना चाहिये।

बालोंकी पवित्रता।

स्त्रियोंके केशोंकी स्वच्छता और पवित्रता करनेका उपदेश मंत्र ६८ और ६९ में किया है। (कंटकः अस्याः केश्यं मलं अपलिखात्। मं० ६८) कंगवा इस स्त्रीके केशोंके मलको दूर करे। यह प्रतिदिनका कार्य है। स्त्रीको उचित है कि वह अपने बाल खोलकर उत्तम स्वच्छ तेल लगावे और कंगवेसे सब बाल स्वच्छ करे और फिर केशोंका प्रसाधन यथेष्ट रीतिसे करे। चार या आठ दिनोंमें एक या दो बार अपने बाल किसी मलनिवारक साधनसे पानीके साथ धोकर, पवित्र वस्त्रसे पानी दूर करके बालोंको सुखावे और फिर कंगवा करके केशप्रसाधना अच्छी प्रकार करे। केशोंकी निर्मलता रखना स्त्रियोंके लिये एक आवश्यक कर्म है। जिस स्त्रीके केशोंमें दुर्गंधी आती है, वह स्त्री किसी धर्मकर्मके लिये अयोग्य समझी जाती है। इसलिये स्त्रीका केशप्रसाधन कर्म एक अत्यंत आवश्यक कर्म है।

स्त्रीके (अंगात् अंगात् यक्ष्मं अपनिदध्मसि। मं० ६९) प्रत्येक अंग और अवयवसे मल अथवा रोगबीजको दूर करना चाहिये। क्योंकि स्त्री राष्ट्रीय संतानोंकी जननी है। वह यदि मलिन, अपवित्र अथवा रोगयुक्त रहेगी, तो राष्ट्रकी भविष्य संतान भी वैसी ही होगी। इसलिये स्त्रियोंके शरीर पवित्र, नीरोग और सबल होने चाहिये, जिससे संतान उत्तमोत्तम निकलती रहें। सब मल जलसे दूर होता है यह सत्य है, इसी-लिये जलस्थान पवित्र रखनेका यत्न होना चाहिये। नहीं तो जलस्थानोंमें लोग स्नान करेंगे और पीनेके जलमें ही वह मल जायगा और जिस जलसे पवित्रता होनेवाली है, उसी जलसे अपवित्रता और रोगी अवस्था बढेगी, इसलिये कहा है कि (आपः मलं मा प्रापत्। मं० ६९) जलस्थानमें मल न प्राप्त हों, अर्थात् संपूर्ण जलस्थान स्वच्छ, पवित्र और निर्मल रहें। आजकल तालावोंमें, कूवोंमें, नदियोंमें तथा अन्यान्य जलाश-योंमें लोग स्नान करते हैं, कपडे धोते हैं और अन्य प्रकारसे अस्वच्छता करते हैं, और उसी स्थानसे पीनेका पानी भी लाते

हैं। इससे अनंत रोग उत्पन्न होते हैं। अतः वेदका यह आदेश गृहस्थियोंको अवश्य स्मरण रखना चाहिये। किसी भी जलाशयमें किसी प्रकारसे मनुष्य मलिनता न करें। जलाशयको पवित्र, स्वच्छ और नीरोगी अवस्थामें रखें। और ऐसे शुद्ध जलका, उपयोग करके अपने शरीरका आरोग्य साधन करें। जलकी स्वच्छतापर मनुष्योंका और पशुपक्षियोंका आरोग्य निर्भर है, यह जानकर सब लोग इस वैदिक आदेशका विशेष स्मरण रखें।

पुष्टिका साधन

इस द्वितीय सूक्तके ७० वे मंत्रमें गृहस्थियों की पुष्टिका साधन कहा गया है। इससे किस अन्नका सेवन करना चाहिये इसका उपदेश हमें मिलता है। (पृथिव्याः पयसा) पृथ्वीसे उत्पन्न होनेवाले दूधका सेवन करना चाहिये। तथा (ओष-धीनां पयसा) औषधियोंके दूधका सेवन करना चाहिये। यहां औषधियोंका रस और भूमिका रस ये दो ही रस गृहस्थियोंके भोजनके लिये कहे हैं। औषधियोंके रसको सब जानते ही हैं। औषधी, फल, फूल, पत्ते आदियोंका सेवन मनुष्य करते ही हैं। गृहस्थियोंको चाहिये कि वे पुष्टिकारक औषधियोंको बढावें और उनका सेवन करके पुष्ट और हृष्ट बनें। भूमिका दूध सेवन करनेको भी इस मंत्रमें कहा है। भूमिका रस एक तो शुद्ध और पवित्र स्रोतका जल है, दूसरा भूमिका रस धान्य आदि भी है। अस्तु इस तरह शुद्ध जल, शुद्ध अन्न और शुद्ध फलादि का सेवन करना चाहिये। यहां पाठक स्मरण रखें कि किसी भी स्थानमें पशुके मांसका भोजन मनुष्योंके लिये नहीं कहा है। अर्थात् मांसका भोजन मानवोंके लिये वैदिक मर्यादाके अनु-कूल नहीं है। हमने जहां जहां भोजनका विषय वेदमें देखा है, वहां वहां किसी भी स्थानपर हमने मांसका नामतक देखा नहीं है। परंतु वहां धान्य, औषधि, वनस्पति, फलमूल आदिका ही उल्लेख देखा है, अतः हम कह सकते हैं कि वैदिक भोजन शुद्ध निर्मांस भोजन अर्थात् शाक भोजन ही है। इस शाक भोजन से ही (वाजं सनुहि) बलको प्राप्त करो, यह वेदका आदेश है।

आगेके ७१ वे मंत्रमें स्त्री और पुरुष किस तरह व्यवहार करें, इस विषयका उत्तम उपदेश है, वह कोष्टक रूपमें अब देखिये—

पुरुष	स्त्री
अमः	सा
साम	ऋक् (ऋचा)
द्यौः	पृथिवी

यहां स्त्री और पुरुष आपसमें एकमतसे रहें यह उत्तम उपदेश है। ऋग्वेदके मंत्रको तान और आलापके साथ गायन करनेसे साम मंत्र होता है। वस्तुतः ऋक्‌मंत्र और साममंत्र एक ही है। इसी तरह स्त्री और पुरुष एक ही हैं, केवल एक स्थानपर सौम्य गुणोंका विकास और दूसरे स्थानपर उग्र गुणोंका विकास है। यही भाव स्त्रीको पृथ्वी और पुरुषको द्युलोक बताकर वर्णन किया है। स्त्री पुरुष इस प्रकारके ऐकमत्यके साथ रहें। आपसमें झगडा आदि कुछ भी न हो। आनन्द प्रसन्नताके साथ सब गृहस्थधर्मके आचारव्यवहार करें। ये दोनों [इह संभवाव प्रजां आजनयावहै। मं० ७१] यहां संतान उत्पन्न करें, सुप्रजा निर्माण करें। अपने बालबच्चोंको सुसंस्कारसे संपन्न करें और सब प्रकार की उन्नतिसे युक्त हों। दोनोंको प्रयत्न इस बातका करना चाहिये कि सब प्रकारका अभ्युदय और निःश्रेयस उत्तम रीतिसे सिद्ध हो।

(अग्रवः जनियन्ति) आगे बढनेवाले लोग ही स्त्रीको प्राप्त करनेकी इच्छा करें। पीछे रहनेवाले, प्रयत्न न करनेवाले लोग विवाहित होनेकी इच्छा न करें। क्योंकि ऐसे आलसी लोगोंको वैसे ही अप्रबुद्ध संतान होंगे और अंतमें जातिको उनके दोषोंके कारण कलंक लगेगा। (सुदानव इच्छन्ति) उत्तम दान देनेवाले, परोपकार करनेवाले, मानव समाजका भला करनेके लिये, आत्मसमर्पण करनेवाले ही पुत्रप्राप्तिके इच्छुक हों, क्योंकि ऐसे लोगोंके शुभसंस्कार पुत्रोंमें आ सकते हैं और शुभसंतान उत्पन्न होनेसे राष्ट्रका तथा मानव समाजका भला हो सकता है। इसलिये उत्तम दान करनेवाले विवाहित होकर संतान उत्पन्न करें और जो दान न करनेवाले स्वार्थी हों वे अविवाहित रहें। (अ-रिष्ट-असू वाजमातये सचेवहि। मं० ७२) अपने प्राणोंको सुरक्षित रखते हुए बडा बल प्राप्त करनेके लिये ये स्त्री पुरुष यत्न करें। हरएक स्त्री पुरुषको उचित है कि वे बडा बल प्राप्त करें, कोई कमजोर, निर्बल न रहे। बल प्राप्त करके जगतके व्यवहारक्षेत्रमें आगे बढकर विजय प्राप्त करें। अपुरुषार्थवृत्ति कोई धारण न करे। सब लोग पुरुषार्थी बनें और अपने अपने कर्तव्य करते रहें।

आशीर्वाद।

अन्तिम तीन मंत्रोंमें नवविवाहित वधूवरको शुभ आशीर्वाद दिया है। मंत्र ७३ में कहा है कि संबंधी और ज्ञातिबांधव बरातमें संमिलित हुए हों, वे अपने अपने घर वापस जानेके पूर्व (ते अस्यै संपत्न्यै प्रजावत् शर्म यच्छन्तु। मं० ७३) वे इस शुभपत्नीके लिये प्रजायुक्त सुख देवें, अर्थात् इसको सुप्रजा निर्माण हो और इसको उत्तम गृहसौख्य प्राप्त हो, ऐसा शुभाशीर्वाद देवें और पश्चात् वे अपने घर वापस चले जावें।

जो स्त्रियां इस बरातमें आगयीं हों, वे अपने घर जानेके पूर्व प्रजा और धन प्राप्त होनेका शुभाशीर्वाद देवें और (अगतस्य पंथां अनुवहन्तु) भविष्यके मार्गका आक्रमण इनसे सुयोग्य रीतिसे होने योग्य आचारके निर्देश इनको देवें तथा यह (विराट् सुप्रजा) विशेष सम्राज्ञी जैसी बनकर उत्तम प्रजायुक्त होवें, ऐसा सुंदर आशीर्वाद देवें और पश्चात् अपने घरको वापस जावें। बरातमें आये कोई स्त्रीपुरुष आशीर्वाद दिये बिना वापस न जावें।

विवाहित स्त्री अर्थात् धर्मपत्नी (दीर्घायुत्वाय शतशारदाय) दीर्घायु और शतायु बननेका प्रयत्न करे। ऐसा आहारविहार करे कि जिससे घरवाले दीर्घजीवी बनें। (सुबुधा बुध्यमाना प्रबुध्यस्व) उत्तम ज्ञान प्राप्त करनेका यत्न करे। हरएक प्रकारकी सुविधा प्राप्त करके उत्तम शुभमंगलमय संस्कारोंसे युक्त बने। अपने पतिके घरमें आकर (गृहपत्नी) अपने घरकी स्वामिनी बनकर वहां रहे। स्वामिनी-घरकी देवी बननेका इसका अधिकार है। इसकी (सविता दीर्घं आयुः करोतु। मं० ७५) सविता दीर्घ आयु बनावे। इस प्रकार दीर्घायु बनकर अपने पतिके घरमें वह विराजे।

अथर्ववेदके चौदहवें काण्डमें विवाहविषयक दो सूक्त हैं। इन सूक्तोंके सब मंत्रोंका आशय यह है, जो पाठक इन मंत्रोंका मनन करेंगे, वे इससे भी अधिक बोध प्राप्त कर सकते हैं। पाठकोंसे यहां हमारा निवेदन है कि वेदने जो उपदेश इन मंत्रोंमें दिये हैं उनका मननपूर्वक स्मरण करें और उनको प्रयत्नसे आचरणमें लानेका यत्न करें, क्योंकि वेदका धर्म केवल शब्दज्ञानसे ही सिद्ध नहीं होता, प्रत्युत आचार करनेसे ही सिद्ध हो सकता है।

सब लोगोंका गृहस्थाश्रम धर्मानुकूल हो और वह सबको सुख देकर जगत् का उपकार करनेवाला बने।

चतुर्दश काण्ड समाप्त।

—०—

चतुर्दश काण्डकी विषयसूची

चतुर्दश काण्ड समाप्त ॥ १४ ॥

—०—

ॐ

अथर्ववेद

का

सुबोध भाष्य ।

पञ्चदशं काण्डम् ।

अथर्ववेदका सुबोध भाष्य ।

पञ्चदश काण्ड ।

इस पञ्चदश काण्डका विषय 'व्रात्य' है। इस काण्डमें वस्तुतः व्रात्य विषयक एक ही सूक्त है, परंतु इसके १८ पर्याय हैं। अथर्ववेदका तृतीय विभाग काण्ड १३ से काण्ड १८ तक है और इस विभागका यह तीसरा सूक्त है। इस विभागके काण्डोंका लक्षण यह है कि, प्रत्येक काण्डमें एक ही विषयके सूक्त हुआ करते हैं। जैसा अन्य काण्डोंके सूक्तोंमें विविध देवताओंके अनेक विषय होते हैं, वैसा इस विभागके काण्डोंमें नहीं है। इस विभागके एक एक काण्डमें एक ही विषयके सब सूक्त रहते हैं।

इस काण्डका प्रारंभ 'व्रात्य' शब्दसे हुआ है। इस काण्डमें 'अध्यात्म'का विषय है; अतः इसकी देवता भी अध्यात्म ही है, और यहां का 'व्रात्य' शब्द 'आत्मा परमात्मा, ब्रह्म, परब्रह्म' का वाचक है, इसलिये यही मंगलसूचक व्रात्य शब्द इस काण्डके प्रारंभमें आगया है, मानो यही इस काण्डका मंगलाचरण है। अब हम इस सूक्तके पर्यायोंके देवता और छंदोंका विचार करते हैं।

पर्याय	मंत्रसंख्या	ऋषिः	देवता	छन्द
१	८	अथर्वा	अध्यात्मं व्रात्यः	१ साम्नीपंक्ति.; २द्विप० साम्नी बृहती; ३ एकप० यजुर्ब्राह्म्यनुष्टुप्; एकप०विराड् गायत्री ;५ साम्नी अनुष्टुप्;६ ४त्रिप०प्राजापत्या बृहती;७ आसुरीपंक्तिः८ त्रिप०अनुष्टुप्
२	२८ (४)	अथर्वा	अध्यात्मं व्रात्यः	प्र० १-४; ४ प, १ प, साम्नी अनुष्टुप्; द्वि० १,३,४ साम्नी त्रिष्टुप्; तृ.१ द्विपआर्षी पंक्तिः; च. १,२,४द्वि. ब्रा. गायत्री; पं० १-४ द्विप. आर्षी जगती; ष.२ साम्नीपंक्तिः ष० ६ आसुरी गायत्री; स० १—४ पदपंक्तिः अ. १-४ त्रिप० प्राजा० बृहती, द्वि. २ एकप० उष्णिक्, तृ. २ आर्षी भुरिक् त्रिष्टुप्, च. २ आर्षी परानुष्टुप् तृ. ३ विराडार्षी पंक्तिः, तृ. ४ निचृदार्षी पंक्तिः।
३	११	,,	,,	१ पिपीलिकमध्या गायत्री; २ साम्नी उष्णिक्; ३ याजुषी जगती; ४ द्विप० आर्षी उष्णिक् ५ आर्ची बृहती; ६ आसुरी अनुष्टुप्; ७ साम्नी गायत्री; ८ आसुरी पंक्तिः, ९ आसुरी जगती; १० प्राजापत्या त्रिष्टुप्; ११ विराड् गायत्री।
४	१८ (६)	,,	,,	प्र० १, ५, ६ दैवी जगती; प्र. २, ३, ४ प्राजापत्या गायत्री, द्वि. १ द्वि. ३ आर्ची अनुष्टुप्; तृ. १, ४ द्विप० प्राजापत्या जगती; द्वि. २ प्राजापत्या पंक्तिः, तृ. २, आर्ची गायत्री; तृ. ३ भौमार्ची त्रिष्टुप्, द्वि. ४ साम्नी त्रिष्टुप्, द्वि ५ प्राजापत्या बृहती; तृ. ५, ६ द्विप० आर्ची पंक्ति, द्वि. ६ आर्ची उष्णिग्।

५	१६ (७)	अथर्वा	रुद्रः	प्र. १ त्रिप. समविषमा गायत्री; द्वि. १ त्रिप० भुरिगार्ची त्रिष्टुप्; तृ. १–७ द्विप. प्राजापत्यानुष्टुप्; प्र. २ त्रिप. स्वराड् प्राजापत्या पंक्तिः; द्वि. २–४,६ त्रिप. ब्राह्मी गायत्री, प्र. ३,४,६ त्रिपदा ककुभ्; प्र. ५,७ भुरिग् विषमा गायत्री; द्वि. ५ निचृद्ब्राह्मी गायत्री; द्वि. ७ विराट् ।
६	२६ (९)	,,	अध्यात्मं व्रात्यः	प्र. १,२ आसुरी पंक्तिः; प्र.३–६,९ आसुरी बृहती; प्र.८ परोष्णिक्; द्वि. १,६ आर्ची पंक्तिः;प्र. ७ आर्ची उष्णिक्; द्वि. २, ४ साम्नी त्रिष्टुप्; द्वि. ३ साम्नी पंक्तिः; द्वि- ५, ८ आर्षी त्रिष्टुप्; द्वि. ७ साम्नी अनुष्टुप्; द्वि. ९ आर्ची अनुष्टुप्; तृ. १ आर्षी पंक्तिः; तृ.२, ४ निचृद् बृहती; तृ. ३ प्राजापत्या त्रिष्टुप्; तृ. ५,६ विराट् जगती तृ. ७ आर्ची बृहती; तृ. ९ विराड् बृहती ।
७	५	,,	,,	१ त्रिप. निचृद् गायत्री; २ एकप. विराड् बृहती; ३ विराडुष्णिक्; ४ एकप. गायत्री; ५ पंक्तिः ।
८	३	अथर्वा	अध्यात्मं व्रात्यः	१ साम्नी उष्णिक्, २ प्राजापत्यानुष्टुप्; ३ आर्ची पंक्तिः ।
९	३	,,	,,	१ आसुरी जगती; २ आर्ची गायत्री; ३ आर्ची पंक्तिः ।
१०	११	,,	,,	१ द्विप. साम्नी बृहती; २ त्रिप. आर्ची पंक्तिः, ३ द्विप० प्राजापत्या पंक्तिः; ४ त्रिप. वर्धमाना गायत्री; ५ त्रि० साम्नी बृहती; ६, ८, १० द्विप. आसुरी गायत्री. ७, ९ साम्नी उष्णिक्, ११ आसुरी बृहती ।
११	११	,,	,,	१ दैवी पंक्तिः; २ द्विप, पूर्वात्रिष्टुबतिशक्वरी, ३-६, ८, १० त्रिप. आर्ची बृहती (१० भुरिक्); ७, ९ द्विप. प्राजापत्या बृहती; ११ द्विप. आर्ची अनुष्टुप ।
१२	११	,,	,,	१ त्रिप. गायत्री; २ प्राजा० बृहती; ३, ४ भुरिक्प्राजा० अनुष्टुप् (४ साम्नी); ५, ६, ९, १० आसुरी गायत्री; ८ विराड् गायत्री; ७, ११ त्रिप. प्राजा. त्रिष्टुप् ।
१३	१४ (९)	,,	,,	प्र. १ साम्नी उष्णिक्; द्वि. १, ३ प्राजा० अनुष्टुप्; प्र. २–४ आसुरी गायत्री; द्वि २, ४ साम्नी बृहती; प्र. ५ त्रिपदा निचृद् गायत्री; द्वि० ५ द्विप. विराड् गायत्री; ६ प्राजा० पंक्तिः; ७ आसुरी जगती; ८ सतः पंक्तिः; ९ अक्षर पंक्तिः ।

१४	२४(१२)	अथर्वा	अध्यात्मं व्रात्यः	प्र. १ त्रिप. अनुष्टुप्; द्वि. १--१२ द्विप. आसुरी गायत्री (द्वि. ६--९ भुरिक्प्राजा० अनुष्टुप्); प्र. २, ५ पुरउष्णिक्; प्र. ३ अनुष्टुप्; प्र. ४ प्रस्तारपंक्तिः, प्र. ६ स्वराड गायत्री; प्र. ७, ८ आर्ची पंक्तिः; प्र. १० भुरिङ्नागी गायत्री; प्र. ११ प्राजा० त्रिष्टुप्,
१५	९	,,	,,	१ दैवी पंक्तिः; २ आसुरीबृहती; ३, ४, ७, ८ प्राजा० आनुष्टुप् (४, ७, ८ भुरिक्); ५, ६ द्विप. साम्नी बृहती, ९ विराड गायत्री ।
१६	७	,,	,,	१, ३ साम्नी उष्णिक्; २, ४, ५ प्राजा० उष्णिक् ६ याजुषी त्रिष्टुप्ः; ७ आसुरी गायत्री ।
१७	१०	,,	,,	१—५ प्राजा० उष्णिक्; २, ७ आसुरी अनुष्टुप्; ३ याजुषी पंक्तिः; ४ साम्नी उष्णिक्; ६ याजुषी त्रिष्टुप्; ८ त्रिप. प्रतिष्ठार्ची पंक्तिः; ९ द्विप. साम्नी त्रिष्टुप्; १० साम्नी अनुष्टुप् ।
१८	५	,,	,,	१ दैवी पंक्तिः; २, ३ आर्ची बृहती, ४ आर्ची अनुष्टुप्; ५ साम्नी उष्णिक् ।
	२२०			

इस काण्डकी कुल मंत्र संख्या २२० है । इस काण्डका ऋषि अथर्वा है क्योंकि जहां विशेष रीतिसे उल्लेख नहीं होता, वहां अथर्ववेदके सूक्तोंका अथर्वा ऋषि हुआ करता है ।

यद्यपि इस सब काण्डकी देवता ' व्रात्य ' (अध्यात्म) है, तथापि स्थानस्थानपर जहां मंत्रोंमें अन्यान्य देवतावाचक नाम आते हैं, वहां वेही मन्त्रोक्त देवता मानना उचित है । परंतु सब देवताओंका आशय अन्तमें व्रात्यमें किंवा अध्यात्ममें अर्थात् 'आत्मा देवता' में ही सार्थ होना है, यह बात भूलना नहीं चाहिये ।

यह सब काण्ड एक ही देवताका होनेसे, यद्यपि इस एक सूक्तमें १८ पर्याय हैं, तथापि सबका मिलकर एक ही सूक्त होनेसे, सब मंत्रोंका अर्थ देनेके पश्चात् ही अन्तमें सबका मिलकर एकत्र स्पष्टीकरण करेंगे । क्यों कि सबका संबंध अत्यंत घनिष्ठ है । आशा है कि यह विवरण पाठकोंके लिये बोधप्रद सिद्ध होगा ।

ॐ

अथर्ववेदका सुबोध भाष्य।

पञ्चदशं काण्डम्

अध्यात्म प्रकरण।

(१)

व्रात्य आसीदीयमान एव स प्रजापतिं समैरयत् ॥ १ ॥
स प्रजापतिः सुवर्णमात्मन्नपश्यत्तत्प्राजनयत् ॥ २ ॥
तदेकमभवत्तल्ललाममभवत्तन्महदभवत्तज्ज्येष्ठमभवत्तद्ब्रह्माभवत्तत्तपोऽभवत्तत्सत्यमभवत्तेन प्राजायत ॥ ३ ॥
सोऽवर्धत स महानभवत्स महादेवोऽभवत् ॥ ४ ॥

---

१ [१] (व्रात्यः ईयमानः आसीत्) व्रात्य अर्थात् समूहोंका हित करनेवाला समूहपति सबका प्रेरक था, (सः प्रजापतिं सं ऐरयत्) उसने प्रजापालकको उत्तम प्रेरणा की ॥ १ ॥ (सः प्रजापतिः) उस प्रजापतिने (आत्मन् सुवर्णं अपश्यत्) आत्मा को उत्तम तेजस्वी वर्णयुक्त देखा। और (तत् प्र अजनयत्) उसने सबको उत्पन्न किया॥ २ ॥

(तत् एकं अभवत्) वह एक होगया, (तत् ललामं अभवत्) वह विलक्षण हुआ, (तत् महत् अभवत्) वह बडा हुआ, (तत् ज्येष्ठं अभवत्) वह श्रेष्ठ हुआ, (तत् ब्रह्म अभवत्) वह ब्रह्म हुआ, (तत् तपः अभवत्) वह तपानेवाला हुआ, (तत् सत्य अभवत्) वह सत्य हुआ, (तेन प्र अजायत) उसके द्वारा प्रकट हुआ ॥ ३ ॥

(सः अवर्धत) वह बढ गया, (सः महान् अभवत्) वह बडा हुआ, (स महादेवः अभवत्) वह महादेव अर्थात् बडा देव हुआ ॥ ४ ॥ (सः ईशां देवानां परि-ऐत्) वह सब छोटे देवोंका अधिष्ठाता हुआ, (सः ईशानः अभवत्) वही

स देवानामीशां पर्यैत्स ईशानोऽभवत् ॥ ५ ॥ स एकव्रात्योऽभवत्स धनुरादत्त तदेवेन्द्रधनुः ॥ ६ ॥ नीलमस्योदरं लोहितं पृष्ठम् ॥ ७ ॥ नीलेनैवाप्रियं भ्रातृव्यं प्रोर्णोति लोहितेन द्विषन्तं विध्यतीति ब्रह्मवादिनो वदन्ति ॥ ८ ॥

[२]

स उदतिष्ठत्स प्राचीं दिशमनु व्यचलत् ॥ १ ॥
तं बृहच्च रथन्तरं चादित्याश्च विश्वे च देवा अनुव्यचलन् ॥ २ ॥
बृहते च वै स रथन्तराय चादित्येभ्यश्च विश्वेभ्यश्च देवेभ्य आ वृश्चते य एवं विद्वांसं व्रात्यमुपवदति ॥ ३ ॥ बृहतश्च वै स रथन्तरस्य चादित्यानां च विश्वेषां च देवानां प्रियं धाम भवति तस्य प्राच्यां दिशि ॥ ४ ॥ श्रद्धा पुंश्चली मित्रो मागधो विज्ञानं वासोऽहरुष्णीषं रात्री केशा हरितौ प्रवर्तौ कल्मलिर्मणिः ॥ ५ ॥
भूतं च भविष्यच्च परिष्कन्दौ मनो विपथम् ॥ ६ ॥
मातरिश्वा च पवमानश्च विपथवाहौ वातः सारथी रेष्मा प्रतोदः ॥ ७ ॥
कीर्तिश्च यशश्च पुरःसरावैनं कीर्तिर्गच्छत्या यशो गच्छति य एवं वेद ॥ ८ ॥ (१)
स उदतिष्ठत् स दक्षिणां दिशमनु व्यचलत् ॥ ९ ॥

ईश्वर हुआ ॥ ५ ॥ (सः एक व्रात्यः अभवत्) वह एकमात्र सब समूहोंका स्वामी हुआ, (सः धनुः आदत्त) उसने धनुष्यका ग्रहण किया, (तत एव इन्द्रधनुः) वही इन्द्रधनुष्य है ॥६॥ (अस्य उदरं नीलं) इसका पेट नीला है और (पृष्ठं लोहितं) पीठ लाल है ॥ ७ ॥

(नीलेन एव) नीले भागसे वह (अप्रियं भ्रातृव्यं प्र ऊर्णोति) अप्रिय शत्रुको घेरता है और (लोहितेन द्विषन्तं विध्यति) लाल भागसे द्वेष करनेवालेको वेधता है, (इति ब्रह्मवादिनः वदन्ति) ऐसा ब्रह्मवादी कहते हैं ॥ ८ ॥

[२] (सः उत् अतिष्ठत्) वह ऊपर उठा। (सः प्राचीं दिशं अनुव्यचलत्) वह पूर्व दिशा की ओर अनुकूल रीतिसे चला ॥ १ ॥ (तं बृहत् च रथंतरं च आदित्याः च विश्वे देवाः च अनुव्यचलन्) उसको बृहत्, रथंतर, आदित्य, विश्वे देव अनुकूल हुए ॥ २ ॥ (यः एवं विद्वांसं व्रात्यं उपवदति) जो ऐसे विद्वान् व्रतधारीको बुरे शब्द बोलता है वह बृहत्, रथन्तर, आदित्यों और विश्वेदेवोंका (आ वृश्चते) अपराधी होता है ॥ ३ ॥ (यः एवं वेद) जो यह जानता है वह बृहत्, रथन्तर, आदित्य और विश्वेदेवोंका प्रियधाम बनता है ॥ (तस्य प्राच्यां दिशि) उसकी प्राची दिशामें (श्रद्धा पुंश्चली) श्रद्धा स्त्री, (मित्रः मागधः) मित्र सूर्य स्तुति करनेवाला, (विज्ञानं वासः) विज्ञान वस्त्र, (अहः उष्णीषं) दिन पगडी, (रात्री केशाः) रात्री बाल, (हरितौ प्रवर्तौ) किरण कुंडल (कल्मलिः मणिः) तारे मणिके समान होते हैं ॥४-५॥ (भूतं च भविष्यत् च परिष्कंदौ) भूत काल और भविष्यकाल ये दोनों उसके रक्षक होते हैं और (मनः विपथं) मन इसका युद्धरथ होता है ॥ ६ ॥ (मातरिश्वा च पवमानः च विपथवाहौ) श्वास और उच्छ्वास उसके रथके घोडे हैं, (वातः सारथी) प्राण उसका सारथी और (रेष्मा प्रतोदः) वायु उसका चाबुक है ॥ ७ ॥ (कीर्तिः च यशः च) कीर्ति और यश उसके (पुरःसरौ) अग्रगामी हैं। (एनं कीर्तिः आगच्छति) इसके पास कीर्ति आ जाती है। इसके पास (यशः आगच्छति) यश आता है ॥ ८ ॥ [१]

[सः०] वह उठता है और दक्षिण दिशामें अनुकूल होकर संचार करता है ॥ ९ ॥

तं यज्ञायज्ञियं च वामदेव्यं च यज्ञश्च यजमानश्च पशवश्चानुव्यचलन् ॥ १० ॥

यज्ञायज्ञियाय च वै स वामदेव्याय च यज्ञाय च यजमानाय च पशुभ्यश्चा वृश्चते य एवं विद्वांसं व्रात्यमुपवदति ॥ ११ ॥ यज्ञायज्ञियस्य च वै स वामदेव्यस्य च यज्ञस्य च यजमानस्य च पशूनां च प्रियं धाम भवति तस्य दक्षिणायां दिशि ॥ १२ ॥

उषाः पुंश्चली मन्त्रो मागधो विज्ञानं वासोऽहरुष्णीषं रात्री केशा हरितौ प्रवर्तौ कल्मलिर्मणिः ॥ १३ ॥

अमावास्या च पौर्णमासी च परिष्कन्दौ मनो विपथम् ०।० ॥ १४ ॥ (२)

स उदतिष्ठत् स प्रतीचीं दिशमनु व्यचलत् ॥ १५ ॥

तं वैरूपं च वैराजं चापश्च वरुणश्च राजानुव्यचलन् ॥ १६ ॥

वैरूपाय च वै स वैराजाय चाद्भ्यश्च वरुणाय च राज्ञ आ वृश्चते य एवं विद्वांसं व्रात्यमुपवदति ॥ १७ ॥

वैरूपस्य च वै स वैराजस्य चापां च वरुणस्य च राज्ञः प्रियं धाम भवति तस्य प्रतीच्यां दिशि ॥ १८ ॥ इरा पुंश्चली हसो मागधो विज्ञानं वासोऽहरुष्णीषं रात्री केशा हरितौ प्रवर्तौ कल्मलिर्मणिः ॥ १९ ॥

अहश्च रात्री च परिष्कन्दौ मनो विपथम् ०।० ॥ २० ॥ (३)

स उदतिष्ठत् स उदीचीं दिशमनु व्यचलत् ॥ २१ ॥

तं श्यैतं च नौधसं च सप्तर्षयश्च सोमश्च राजानुव्यऽचलन् ॥ २२ ॥

[तं] उसको यज्ञायज्ञिय, वामदेव्य, यज्ञ, यजमान और [पशवः च अनुव्यचलन्] पशु भी अनुकूल होते हैं ॥१०॥ [यः एवं विद्वांसं व्रात्यं उपवदति] जो ऐसे विद्वान् व्रतचारी का उपहास करता है वह यज्ञायज्ञिय, वामदेव्य, यज्ञ, यजमान और पशुओंके विषयमें [आवृश्चते] अपराधी होता है ॥११॥ [यः एवं वेद] जो इस बातको जानता है, वह यज्ञायज्ञिय, वामदेव्य, यज्ञ, यजमान और पशुओंका प्रियस्थान बनता है । उसको दक्षिण दिशामें [उषाः पुंश्चली] उषा स्त्री, [मन्त्रः मागधः] मंत्र-प्रशंसा करनेवाला, विज्ञान वस्त्र, दिन पगडी, रात्री केश, किरण कुंडल, तारे मणिके समान होते हैं ॥ १२—१३ ॥ [अमावास्या च पौर्णमासी च परिष्कन्दौ] आमावास्या और पूर्णिमा उसके संरक्षक होते हैं, और मन उसका युद्धरथ है। श्वास और उच्छ्वास उसके रथके घोडे, प्राण सारथी और वायु उसका चाबुक है [आगे पूर्ववत्] ॥ १४ ॥ [२]

(सः०) वह उठा और (सः प्रतीचीं दिशं अनुव्यचलत्) वह पश्चिम दिशा की ओर अनुकूलताके साथ संचार करने लगा ॥ १५ ॥ तब उसको वैरूप, वैराज, आप् और राजा वरुण अनुकूल हुए ॥ १६ ॥ जो ऐसे विद्वान् व्रतचारीका अपमान करते है, वह वैरूप, वैराज, आप् और राजा वरुण के प्रति अपराधी होते हैं ॥ १७ ॥ जो यह बात जानता है वह वैरूप, वैराज, आप्–जल, और राजा वरुण का प्रिय धाम बनता है। उसके लिये पश्चिम दिशामें (इरा पुंश्चली) भूमि स्त्री, (हसः मागधः) हास्य प्रशंसक, विज्ञान वस्त्र० ॥ १९ ॥ (अहः च रात्री च परिष्कन्दौ) दिन और रात्री उसके रक्षक होते हैं [आगे पूर्ववत्]

(सः०) वह उठा और वह (उदीचीं दिशं) उत्तर दिशामें अनुकूल होकर चला ॥ २१ ॥ (तं श्यैतं च सप्तर्षयः च राजा सोमः च अनुव्यचलन्) उसके अनुकूल श्यैत, नौधस सप्तर्षि और राजा सोम चलने लगे ॥ २२ ॥

श्यैताय च वै स नौधसाय च सप्तर्षिभ्यश्च सोमाय च राज्ञ आ वृश्चते य एवं विद्वांसं व्रात्यमुपवदति ॥ २३ ॥ श्यैतस्य च वै स नौधसस्य च सप्तर्षीणां च सोमस्य च राज्ञः प्रियं धाम भवति तस्योदीच्यां दिशि ॥ २४ ॥ विद्युत् पुंश्चली स्तनयित्नुर्मागधो विज्ञानं वासोऽहरुष्णीषं रात्री केशा हरितौ प्रवर्तौ कल्मलिर्मणिः ॥ २५ ॥ श्रुतं च विश्रुतं च परिष्कन्दौ मनो विपथम् ॥ २६ ॥
मातरिश्वा च पवमानश्च विपथवाहौ वातः सारथी रेष्मा प्रतोदः ॥ २७ ॥
कीर्तिश्च यशश्च पुरःसरावैनं कीर्तिर्गच्छत्या यशो गच्छति य एवं वेद ॥ २८ ॥ (४)

(३)

स संवत्सरमूर्ध्वोऽतिष्ठत् तं देवा अब्रुवन् व्रात्य किं नु तिष्ठसीति ॥ १ ॥
सोऽब्रवीदासन्दीं मे सं भरन्त्विति ॥ २ ॥ तस्मै व्रात्यायासन्दीं समभरन् ॥ ३ ॥
तस्या ग्रीष्मश्च वसन्तश्च द्वौ पादावास्तां शरच्च वर्षाश्च द्वौ ॥ ४ ॥
बृहच्च रथंतरं चानूच्ये३ आस्तां यज्ञायज्ञियं च वामदेव्यं च तिरश्च्ये३ ॥ ५ ॥
ऋचः प्राञ्चस्तन्तवो यजूंषि तिर्यञ्चः ॥ ६ ॥ वेद आस्तरणं ब्रह्मोपबर्हणम् ॥ ७ ॥
सामासाद उद्गीथोऽपश्रयः ॥ ८ ॥ तामासन्दीं व्रात्य आरोहत् ॥ ९ ॥ तस्य देवजनाः परिष्कन्दा आसन्त्संकल्पाः प्रहाय्या३ विश्वानि भूतान्युपसदः ॥ १० ॥

जो इस प्रकारके विद्वान् व्रात्यका उपहास करता है वह श्येत, नौधस, सप्तर्षि और राजा सोमका अपराधी होता है ॥ २३ ॥ जो यह बात जान लेता है वह श्येत, नौधस, सप्तर्षि और राजा सोमका प्रिय धाम बनता है ॥ २४ ॥ उसके लिये उत्तर दिशामें (विद्युत् पुंश्चली) बिजली स्त्री, (स्तनयित्नुः मागधः) गर्जनेवाला मेघ प्रशंसाकर्ता, विज्ञान वस्त्र, दिन पगडी, रात्री केश किरण कुंडल, तारे मणि हैं ॥ २५ ॥ (श्रुतं विश्रुतं च परिष्कंदौ) ज्ञान विज्ञान ये उसके रक्षक, और मन उसका युद्धरथ है ॥ २६ ॥ श्वास और उच्छ्वास उसके रथके घोडे० (इत्यादि पूर्ववत्) ॥२७ २८ ॥ (४)

[३] [सः संवत्सरं ऊर्ध्वः अतिष्ठत्] वह वर्ष भरतक खडा रहा, [तं देवा अब्रुवन्] उसे देवोंने कहा, [व्रात्य, किं नु तिष्ठसि इति] हे व्रती, तू क्यों खडा है ? ॥ १ ॥ [सः अब्रवीत्] उसने कहा, [मे आसन्दीं सं भरन्तु इति] मेरे लिये बैठनेकी कुर्सी लाओ ॥ २ ॥ तब [तस्मै व्रात्याय आसन्दीं समभरन्] उस व्रतीके लिये बैठनेकी चौकी ले आये ॥ ३ ॥ [तस्याः ग्रीष्मः च वसन्तः च] उस चौकी के ग्रीष्म और वसन्त ये [द्वौ पादौ आस्तां] दो पांव थे और [शरत् च वर्षाः च द्वौ] शरत् और वर्षा ये दो पांव थे ॥ ४ ॥ [बृहत् च रथन्तरं च] बृहत् और रथन्तर ये दो [अनूच्ये आस्तां] बाजूके फलक थे और [यज्ञायज्ञियं च वामदेव्यं च तिरश्च्ये] यज्ञायज्ञिय और वामदेव्य ये दो तिरछे फलक थे ॥ ५ ॥ [ऋचः प्राञ्चः तन्तवः] ऋग्वेदके मन्त्र लंबाईके तन्तु थे और [यजूंषि तिर्यञ्चः] यजुर्वेदके मंत्र तिरछे तन्तु थे ॥ ६ ॥ [वेद आस्तरणं] वेद उसका बिछोना था और [ब्रह्म उपबर्हणं] ब्रह्म—ज्ञान उसका ओढनेका वस्त्र था ॥ ७ ॥ [साम आसादः] साम गदेला था और [उद्गीथः उपश्रयः] उद्गीथ तकिया था ॥ ८ ॥ [तां आसन्दीं व्रात्यः आरोहत्] इस प्रकारकी ज्ञानमयी चौकीपर व्रती चढा ॥ ९ ॥ [देवजनाः तस्य परिष्कन्दा आसन्] देवजन उसके रक्षक हुए, [संकल्पाः प्रहाय्याः] उसके संकल्प उसके दूत और [विश्वानि भूतानि उपसदः भवन्ति एव] सब भूत उसके साथ बैठनेवाले थे ॥ १० ॥

विश्वान्येवास्य भूतान्युपसदो भवन्ति य एवं वेद ॥ ११ ॥

(४)

तस्मै प्राच्या दिशः ॥ १ ॥ वासन्तौ मासौ गोप्तारावकुर्वन् बृहच्च रथंतरं चानुष्ठातारौ ॥ २ ॥
वासन्तावेनं मासौ प्राच्या दिशो गोपायतो बृहच्च रथंतरं चानु तिष्ठतो य एवं वेद ॥ ३ ॥ (१)
तस्मै दक्षिणाया दिशः ॥ ४ ॥ ग्रैष्मौ मासौ गोप्तारावकुर्वन् यज्ञायज्ञियं च वामदेव्यं चानुष्ठातारौ ॥ ५ ॥
ग्रैष्मावेनं मासौ दक्षिणाया दिशो गोपायतो यज्ञायज्ञियं च वामदेव्यं चानु तिष्ठतो य एवं वेद ॥ ६ (२) ॥
तस्मै प्रतीच्या दिशः ॥ ७ ॥ वार्षिकौ मासौ गोप्तारावकुर्वन् वैरूपं च वैराजं चानुष्ठातारौ ॥ ८ ॥ वार्षिकावेनं मासौ प्रतीच्या दिशो गोपायतो वैरूपं च वैराजं चानु तिष्ठतो य एवं वेद ॥ ९ (३) ॥
तस्मा उदीच्या दिशः ॥ १० ॥ शारदौ मासौ गोप्तारावकुर्वञ्छ्यैतं च नौधसं चानुष्ठातारौ ११
शारदावेनं मासावुदीच्या दिशो गोपायतः श्यैतं च नौधसं चानु तिष्ठतो य एवं वेद ॥ १२ (४) ॥
तस्मै ध्रुवाया दिशः ॥ १३ ॥ हैमनौ मासौ गोप्तारावकुर्वन् भूमिं चाग्निं चानुष्ठातारौ ॥ १४ ॥ हैमनावेनं मासौ ध्रुवाया दिशो गोपायतो भूमिश्चाग्निश्चानु तिष्ठतो य एवं वेद ॥ १५ (५)

[यः एवं वेद] जो यह तत्व जानता है [विश्वानि भूतानि अस्य उपसदः भवन्ति एव] सब भूत इसके साथ बैठनेवाले साथी—मित्र—होते हैं इसमें संदेह नहीं है ॥ ११ ॥

[४] (तस्मै प्राच्यः दिशः) उसके लिये पूर्व की दिशा ॥ १ ॥ [वासन्तौ मासौ गोप्तारौ अकुर्वन्] वसन्त ऋतूके दो मास रक्षक बनाये, [बृहत् च रथन्तरं च अनुष्ठातारौ] बृहत् और रथन्तर सेवक बनाये ॥ २ ॥ (यः एवं वेद) जो यह जानता है उसके प्राची दिशा, वसन्त ऋतुके दो महिने रक्षक होते हैं और बृहत् तथा रथन्तर सेवक होते हैं ॥ ३ ॥ [१]

उसके लिये दक्षिण की दिशा ॥ ४ ॥ ग्रीष्म ऋतुके दो मास रक्षक बनाये, और यज्ञायज्ञिय और वामदेव्य अनुचर हुए हैं ॥ ५ ॥ जो यह जानता है उसको दक्षिण दिशा, ग्रीष्म ऋतुके दो महिने रक्षक होते हैं और यज्ञायज्ञिय तथा वामदेव्य अनुचर होते हैं ॥ ६ ॥ [२]

उसके लिये पश्चिम की दिशा ॥ ७ ॥ वर्षा ऋतुके दो मास रक्षक बनाये और वैरूप तथा वैराज अनुचर हुए ॥ ८ ॥ जो यह जानता है, उसके लिये पश्चिम दिशा, वर्षाके दो महिने रक्षक होते हैं और वैरूप तथा वैराज अनुचर होते हैं ॥ ९ ॥ ३

उसके लिये उत्तर की दिशा ॥ १० ॥ शरदतुके दो मास रक्षक बनाये, और वैरूप तथा वैराज अनुचर ॥ ८ ॥ जो यह जानता है, उसके लिये पश्चिम दिशा, वर्षाके दो महिने रक्षक होते हैं और वैरूप तथा वैराज अनुचर होते हैं ॥ ९ ॥ [३]

उसके लिये उत्तर की दिशा ॥ १० ॥ शरदतुके दो मास रक्षक बनाये, और श्येत तथा नौधस अनुचर हुए ॥ ११ ॥ जो यह जानता है उसके लिये उत्तर दिशा, शरदतुके दो महिने रक्षक होते हैं और श्येत और नौधस अनुचर होते हैं ॥ १२ ॥

उसके लिये ध्रुव दिशा ॥ १३ ॥ हेमन्त ऋतुके दो मास रक्षक बनाये, और भूमि तथा अग्नि उसके अनुचर बने ॥ १४ ॥ जो यह जानता है उसको ध्रुवदिशा हेमन्तके दो महिने रक्षक हैं और भूमि तथा अग्नि अनुचर होते हैं ॥ १५ ॥ [५]

तस्मा ऊर्ध्वायां दिशः ॥ १६ ॥
शैशिरौ मासौ गोप्तारावकुर्वन् दिवं चादित्यं चानुष्ठातारौ ॥ १७ ॥ शैशिरावेनं मासावूर्ध्वायां दिशो गोपायतो द्यौश्चादित्यश्चानु तिष्ठतो य एवं वेद ॥ १८ ॥ (६)

[५]

तस्मै प्राच्या दिशो अन्तर्देशाद् भवमिष्वासमनुष्ठातारमकुर्वन् ॥ १ ॥
भव एनमिष्वासः प्राच्या दिशो अन्तर्देशादनुष्ठातानु तिष्ठति नैनं शर्वो न भवो नेशानः ॥ २ ॥
नास्य पशून् न समानान् हिनस्ति य एवं वेद ॥ ३ ॥ (१)
तस्मै दक्षिणाया दिशो अन्तर्देशाच्छर्वमिष्वासमनुष्ठातारमकुर्वन् ॥ ४ ॥
शर्व एनमिष्वासो दक्षिणाया दिशो अन्तर्देशादनुष्ठातानु तिष्ठति नैनं शर्वो न भवो नेशानः । ० ॥ ५ ॥ (२)
तस्मै प्रतीच्या दिशो अन्तर्देशात् पशुपतिमिष्वासमनुष्ठातारमकुर्वन् ॥ ६ ॥
पशुपतिरेनमिष्वासः प्रतीच्या दिशो अन्तर्देशादनुष्ठातारमकुर्वन् ०।० ॥ ७ ॥ (३)
तस्मा उदीच्या दिशो अन्तर्देशादुग्रं देवमिष्वासमनुष्ठातारमकुर्वन् ॥ ८ ॥
उग्र एनं देव इष्वास उदीच्या दिशो अन्तर्देशादनुष्ठातारमकुर्वन् ०।० ॥ ९ ॥ (४)

उसके लिये ऊर्ध्व दिशा ॥ १६ ॥ शिशिर ऋतुके दो मास रक्षक बनाये, और द्यु तथा आदित्य अनुचर बने ॥ १७ ॥ जो यह बात जानता है उसके लिये ऊर्ध्व दिशा, शिशिर ऋतुके दो महिने रक्षक होते हैं और द्युलोक तथा आदित्य अनुगामी होते हैं ॥ १८ ॥ [६]

[५] (तस्मै प्राच्याः दिशः अन्तर्देशात्) उसके लिये पूर्व दिशाके अन्तर्देशसे (इष्वासं भवं अनुष्ठातारं अकुर्वन्) धनुर्धारी भवको अनुष्ठाता बनाया ॥ १ ॥ (यः एवं वेद) जो इस बातको जानता है (एनं इष्वासः भवः) इसका धनुर्धारी भव (प्राच्याः दिशः अन्तर्देशात्) प्राची दिशा के अन्तर्देशसे (अनुष्ठाता अनुतिष्ठति) अनुष्ठाता होकर रहता है । और (न शर्वः न भवः ईशानः एनं) न शर्व, भव अथवा ईशान इसका घात करता है ॥ २ ॥ (न अस्य पशून् समानान् हिनस्ति) न इसके पशुओं और इसके समान बन्धुओंकी हिंसा करता है ॥ ३ ॥ [१]

उसके लिये दक्षिण दिशाके अन्तर्देशसे धनुर्धारी शर्वको अनुष्ठाता बनाया ॥ ४ ॥ जो यह बात जानता है उसका धनुर्धारी शर्व दक्षिण दिशाके अन्तर्देशसे अनुष्ठाता होकर रहता है और न शर्व, भव अथवा ईशान इसका घातपात करता है और न पशुओं और बन्धुओंकी हिंसा करता है ॥ ५ ॥ (२)

उसके लिये (प्रतीच्याः दिशः) पश्चिम दिशाके अन्तर्देशसे (पशुपतिं इष्वासं ०) पशुपतिको धनुर्धर अनुष्ठाता बनाया ॥ ६ ॥ जो यह जानता है उसका धनुर्धारी पशुपति पश्चिम दिशासे अनुष्ठाता होकर रहता है, और इसका न शर्व, भव अथवा ईशान घातपात करता है और न इसके पशुओं और बान्धवोंकी हिंसा करता है ॥ ७ ॥ [३]

उसके लिये (उदीच्याः दिशः) उत्तर दिशाके अन्तर्देशसे (उग्रं देवं इष्वासं ०) उग्र देवको धनुर्धारी अनुष्ठाता बनाया ॥ ८ ॥ जो इस बातको जानता है, उसका धनुर्धारी उग्रदेव उत्तर दिशा के अन्तर्देशसे अनुष्ठाता होकर रहता है और इसका न शर्व भव और ईशान घातपात करता है और न इसके पशुओं और बन्धुओंकी हिंसा करता है ॥ ९ ॥ (४)

तस्मै ध्रुवाया दिशो अन्तर्देशाद् रुद्रमिष्वासमनुष्ठातारमकुर्वन् ॥ १० ॥
रुद्र एनमिष्वासो ध्रुवाया दिशो अन्तर्देशादनुष्ठातारमकुर्वन् ०।० ॥ ११ ॥ (५)
तस्मा ऊर्ध्वाया दिशो अन्तर्देशान्महादेवमिष्वासमनुष्ठातारमकुर्वन् ॥ १२ ॥
महादेव एनमिष्वास ऊर्ध्वाया दिशो अन्तर्देशादनुष्ठातारमकुर्वन् ०।० ॥ १३ ॥ [६]
तस्मै सर्वेभ्यो अन्तर्देशेभ्य ईशानमिष्वासमनुष्ठातारमकुर्वन् ॥ १४ ॥
ईशान एनमिष्वासः सर्वेभ्यो अन्तर्देशेभ्योऽनुष्ठातानु तिष्ठति नैनं शर्वो न भवो नेशानः ॥१५॥
नास्य पशून् न समानान् हिनस्ति य एवं वेद ॥ १६ ॥ (७)

[६]

स ध्रुवां दिशमनु व्यचलत् ॥ १ ॥
तं भूमिश्चाग्निश्चौषधयश्च वनस्पतयश्च वानस्पत्याश्च वीरुधश्चानुव्यऽचलन् ॥ २ ॥
भूमेश्च वै सो ३ ग्नेश्चौषधीनां च वनस्पतीनां च वानस्पत्यानां च वीरुधां च प्रियं धाम भवति य एवं वेद ॥ ३ (१)
स ऊर्ध्वां दिशमनु व्यचलत् ॥ ४ ॥
तमृतं च सत्यं च सूर्यश्च चन्द्रश्च नक्षत्राणि चानुव्यचलन् ॥ ५ ॥

उसके लिये (ध्रुवायाः दिशः) ध्रुव दिशाके अन्तर्देशसे (रुद्रं इष्वासं ०) रुद्रको धनुर्धारी अनुष्ठाता बनाया ॥ १० ॥ जो इस बातको जानता है उसका धनुर्धारी रुद्रदेव ध्रुव दिशाके अन्तर्देशसे अनुष्ठाता होकर रहता है और न इसका शर्व भव और ईशान घातपात करता है और न इसके पशुओं और बान्धवों की हिंसा करता है ॥ ११ ॥ (५)

उसके लिये (ऊर्ध्वायाः दिशः) ऊर्ध्वदिशाके अन्तर्देशसे (महादेवं इष्वासं ०) महादेवको धनुर्धारी अनुष्ठाता बनाया ॥ १२ ॥ जो इस बात को जानता है उसका धनुर्धारी रुद्रदेव ऊर्ध्वदिशाके अन्तर्देशसे अनुष्ठाता होकर रहता है और न इसका शर्व, भव और ईशान घात करता है और न इसके पशुओं और बान्धवों की हिंसा करता है ॥ १३ ॥ (६)

उसके लिये (सर्वेभ्यः अन्तर्देशेभ्यः) सब अन्तर्देशोंसे (ईशानं इष्वासं ०) ईशान को धनुर्धारी अनुष्ठाता बनाया ॥ १४ ॥ जो इस बातको जानता है उसका धनुर्धारी ईशान सब दिशाओंके अन्तर्देशोंसे अनुष्ठाता होकर रहता है । न इसका शर्व, भव अथवा ईशान नाश करते हैं और न इसके पशुओं और बन्धुबान्धवों की हिंसा करते हैं ॥ १५--१६ ॥ (७)

[६] [सः ध्रुवां दिशमनु व्यचलत्] वह ध्रुव दिशाकी ओर अनुकूलतासे चला ॥ १ ॥ इसलिये [तं भूमिः च अग्निः च ओषधयः च वनस्पतयः च] उसके अनुकूल भूमि अग्नि औषधि वनस्पति [वानस्पत्याः च वीरुधः च अनुव्यचलन्] छोटे और बडे वृक्ष अनुकूल होकर रहे ॥ २ ॥ [यः एवं वेद] जो यह जानता है [सः भूमेः च वै अग्नेः च] वह भूमि और अग्निका [औषधीनां च वनस्पतीनां] औषधि और वनस्पातियों का [वानस्पत्यानां च वीरुधां] छोटे और बडे वृक्षोंका [प्रियं धाम भवति] प्रिय स्थान होता है ॥ ३ ॥ [१]

[सः ऊर्ध्वां दिशं ०] वह ऊर्ध्व दिशाकी ओर अनुकूल होकर चला ॥ ४ ॥ इसलिये (तं ऋतं च सत्यं च सूर्यः च चन्द्रः च नक्षत्राणि च ०) उसके अनुकूल ऋत सत्य सूर्य चन्द्र और नक्षत्र हुए ॥ ५ ॥ जो यह जानता है वह ऋत

ऋतस्य च वै स सत्यस्य च सूर्यस्य च चन्द्रस्य च नक्षत्राणां च प्रियं धाम भवति य एवं वेद ॥ ६ (२)

स उत्तमां दिशमनु व्यचलत् ॥ ७ ॥ तमृचश्च सामानि च यजूंषि च ब्रह्म चानुव्यचलन् ॥ ८ ॥ ऋचां च वै स साम्नां च यजुषां च ब्रह्मणश्च प्रियं धाम भवति य एवं वेद ॥ ९ (३)

स बृहतीं दिशमनु व्यचलत् ॥ १० ॥ तमितिहासश्च पुराणं च गाथाश्च नाराशंसीश्चानुव्यचलन् ॥ ११ ॥ इतिहासस्य च वै स पुराणस्य च गाथानां च नाराशंसीनां च प्रियं धाम भवति य एवं वेद ॥ १२ (४)

स परमां दिशमनु व्यचलत् ॥ १३ ॥ तमाहवनीयश्च गार्हपत्यश्च दक्षिणाग्निश्च यज्ञश्च यजमानश्च पशवश्चानुव्यचलन् ॥ १४ ॥
आहवनीयस्य च वै स गार्हपत्यस्य च दक्षिणाग्नेश्च यज्ञस्य च यजमानस्य च पशूनां च प्रियं धाम भवति य एवं वेद ॥ १५ (५)

सोऽनादिष्टां दिशमनु व्यचलत् ॥ १६ ॥ तमृतवश्चार्तवाश्च लोकाश्च लौक्याश्च मासाश्चार्धमासाश्चाहोरात्रे चानुव्यचलन् ॥ १७ ॥
ऋतूनां च वै स आर्तवानां च लोकानां च लौक्यानां च मासानां चार्धमासानां चाहोरात्रयोश्च प्रियं धाम भवति य एवं वेद ॥ १८ ॥ (६)

सत्य सूर्य चन्द्र और नक्षत्रोंका प्रिय धाम बनता है ॥ ६ ॥ [२]

(सः उत्तमां दिशं०) वह उत्तम दिशाकी ओर अनुकूल होकर चला ॥ ७ ॥ इसलिये (तं ऋचः च सामानि यजूंषि च ब्रह्म च०) इसके अनुकूल ऋचा, साम यजु और ब्रह्म अर्थात् अथर्ववेद हुए ॥ ८ ॥ जो यह जानता है वह ऋचा साम, यजु और ब्रह्ममंत्रोंका प्रिय धाम होता है ॥ ९ ॥ [३]

(सः बृहतीं दिशं०) वह बृहती दिशाकी ओर अनुकूल होकर चला ॥ १ ॥ इसलिये (तं इतिहासः च पुराणं च गाथाः च नाराशंसीः च०) इतिहास, पुराण, गाथा और नाराशंसी हुए ॥ ११ ॥ जो यह जानता है वह इतिहास, पुराण गाथा और नाराशंसीका प्रिय धाम होता है ॥ १२ ॥ [४]

(सः परमां दिशं०) वह परम दिशा की ओर अनुकूल होकर चला॥१३॥इसलिये (तं आहवनीयः च गार्हपत्यः च दक्षिणाग्निः च यज्ञः च यजमानः च पशवः च०) अनुकूल आहवनीय, गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि, यज्ञ, यजमान, और पशु हो गये ॥ १४ ॥ जो यह जानता है वह आहवनीय, गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि, यज्ञ, यजमान और पशुओंका प्रिय धाम बनता है ॥ १५ ॥ [५]

(सः अनादिष्टां दिशं०) वह अनादिष्ट दिशाकी ओर अनुकूल होकर चला ॥ १६ ॥ इसलिये (तं: ऋतवः च आर्तवाः च लोकाः च लौक्याः च मासाः च अर्धमासाः च अहोरात्रे च०) इसके अनुकूल ऋतु और ऋतुसंबंधी पदार्थ, लोक और लोकोंके संबंधी पदार्थ, महिने, पक्ष और दिनरात अनुकूल हुए ॥ १७ ॥ जो यह जानता है वह ऋतु, आर्तव, लोक, लौक्य, मास, पक्ष और अहोरात्र का प्रिय धाम होता है ॥ १८ ॥[६]

सोऽनावृत्तां दिशमनु व्यचलत् ततो नावत्स्र्यन्नमन्यत ॥१९॥
तं दितिश्चादितिश्चेडा चेन्द्राणी चानुव्यचलन् ॥२०॥
दितेश्च वै सोऽदितेश्चेडायाश्चेन्द्राण्याश्च प्रियं धाम भवति य एवं वेद ॥२१॥ (७)
स दिशोऽनु व्यचलत् ॥२२॥ तं विराडनु व्यचलत् सर्वे च देवाः सर्वाश्च देवताः ॥२३॥
विराजश्च वै स सर्वेषां च देवानां सर्वासां च देवतानां प्रियं धाम भवति य एवं वेद ॥२४॥
स सर्वानन्तर्देशानन्नु व्यचलत् ॥ २४ ॥
तं प्रजापतिश्च परमेष्ठी च पिता च पितामहश्चानुव्यचलन् ॥ २५ ॥
प्रजापतेश्च वै स परमेष्ठिनश्च पितुश्च पितामहस्य च प्रियं धाम भवति य –वं वेद । २६। (९)

[७]

स महिमा सद्रुर्भूत्वान्तं पृथिव्या अगच्छत् स समुद्रोऽभवत् ॥ १ ॥
तं प्रजापतिश्च परमेष्ठी च पिता च पितामहश्चापश्च श्रद्धा च वर्षं भूत्वानुव्य् वर्तयन्त ॥ २ ॥
ऐनमापो गच्छत्यैनं श्रद्धा गच्छत्यैनं वर्षं गच्छति य एवं वेद ॥ ३ ॥
तं श्रद्धा च यज्ञश्च लोकश्चान्नं चान्नाद्यं च भूत्वाभिपर्यावर्तन्त ॥ ४ ॥

(सः अनावृत्तां दिशं०) वह अनावृत्त दिशाके अनुकूल होकर चला और (ततः न अवत्स्र्यन् अमन्यत) वहांसे वापस न होनेका विचार उसने किया ॥ १९ ॥ अतः (तं दितिः च अदितिः इडा च इन्द्राणी च०) उसके अनुकूल दिति, अदिति, इडा और इन्द्राणी हो गये ॥ २० ॥ जो यह जानता है वह दिति, अदिति, इडा और इन्द्राणी का प्रिय धाम बनता है ॥ २१ ॥ [७]

(सः दिशः अनुव्यचलत्) वह सब दिशाओंमें अनुकूल होकर चला, इसलिये (तं विराट् सर्वेः देवाः च सर्वाःच देवताः अ०) उसको विराट और सब देव और देवता अनुकूल होगये ॥ २२ ॥ जो यह जानता है वह विराट सब देव और देवताओं का प्रिय धाम बनता है ॥ २३ ॥ [८]

(सः सर्वान् अन्तर्देशान् अनु ०) वह सब अन्तर्देशोंमें अनुकूल होकर चला ॥ २४ ॥ अतः (तं प्रजापतिः च परमेष्ठी च पिता च पितामहः च अनु ०) उसको प्रजापति, परमेष्ठी, पिता और पितामह अनुकूल होकर चले ॥ २५ ॥ जो यह जानता है वह प्रजापति परमेष्ठी पिता और पितामहका प्रिय धाम बनता है ॥ २६ ॥ (९)

[७] (सः महिमा स-द्रुः भूत्वा) वह बडा समर्थ गतियुक्त होकर (पृथिव्याः अन्तं अगच्छत्) पृथ्वीके अन्ततक गया। और (सः समुद्रः अभवत्) वह समुद्र हुआ ॥ १ ॥ (तं प्रजापतिः च परमेष्ठी च पिता च पितामहः च श्रद्धा च वर्षं च भूत्वा अनुव्यवर्तयन्त) उसके साथ प्रजापति, परमेष्ठी, पिता, पितामह, श्रद्धा, और वृष्टी होकर रहने लगे ॥ २ ॥ (यः एवं वेद) जो यह जानता है (एनं आपः आगच्छति) इसको जल प्राप्त होते हैं, (एनं श्रद्धा आगच्छाति) इसको श्रद्धा प्राप्त होती है, (एनं वर्षं आगच्छति) इसको वर्षा प्राप्त होती है ॥ ३ ॥ (तं श्रद्धा च यज्ञः च लोकः च अन्नं च अन्नाद्यं च भूत्वा अभिपर्यावर्तन्त) उसके चारों ओर श्रद्धा, यज्ञ, लोक, अन्न और खानपान रहने लगे ॥ ४ ॥

ऐनं श्रद्धा गच्छत्यैनं यज्ञो गच्छत्यैनं लोको गच्छत्यैनमन्नं गच्छत्यैनमन्नाद्यं गच्छति य एवं वेद ॥ ५ ॥

॥ इति प्रथमोऽनुवाकः ॥

जो यह जानता है (एनं श्रद्धा आगच्छति) इसको श्रद्धा प्राप्त होती है, (एनं यज्ञः आगच्छति) इसको यज्ञ प्राप्त होता है, (एनं लोकः आगच्छति) इसको लोक प्राप्त होता है, (एनं अन्नं आगच्छति) इसको अन्न प्राप्त होता है, और (एनं अन्नाद्यं आगच्छति) इसको खानपान प्राप्त होता है ॥ ५ ॥

इति प्रथमोऽनुवाकः।

[८]

सोऽरज्यत ततो राजन्योऽजायत ॥ १ ॥ स विशः सबन्धूनन्नमन्नाद्यमभ्युदतिष्ठत् ॥ २ ॥ विशां च वै स सबन्धूनां चान्नस्य चान्नाद्यस्य च प्रियं धाम भवति य एवं वेद ॥ ३ ॥

[९]

स विशोऽनु व्यचलत् ॥ १ ॥ तं सभा च समितिश्च सेना च सुरा चानुव्यचलन् ॥ २ ॥ सभायाश्च वै स समितेश्च सेनायाश्च सुरायाश्च प्रियं धाम भवति य एवं वेद ॥ ३ ॥

[१०]

तद् यस्यैवं विद्वान् व्रात्यो राज्ञोऽतिथिर्गृहानागच्छेत् ॥ १ ॥
श्रेयांसमेनमात्मनो मानयेत् तथा क्षत्राय ना वृश्चते तथा राष्ट्राय ना वृश्चते ॥ २ ॥
अतो वै ब्रह्म च क्षत्रं चोदतिष्ठतां ते अब्रूतां कं प्र विशावेति ॥ ३ ॥

[२] [८] (सः अरज्यत) वह सबका रंजन करने लगा, अतः वह (राजन्यः अजायत) राजा—क्षत्रिय—हो गया ॥ १ ॥ (सः सबन्धून् विशः अन्नं अन्नाद्यं अभ्युदतिष्ठत्) वह बन्धुगणों समेत सब प्रजाको और अन्न तथा सब खानपानको प्राप्त हुआ ॥ २ ॥ जो यह बात जानता है वह बन्धुबान्धवोंके समेत सब प्रजाजनोंका तथा अन्न और सब प्रकारके खानपानका प्रियधाम होता है ॥ ३ ॥

[९] (सः विशः अनुव्यचलत्) वह प्रजाओंके अनुकूल होकर चला ॥ १ ॥ अतः (तं सभा च समितिः च) उसको सभा और समिति (सेना च सुरा च अनुव्यचलन्) सैन्य और धनकोश अनुकूल हुए ॥ २ ॥ जो यह बात जानता है वह सभा, समिति, सैन्य और धनकोशका प्रियधाम बनता है ॥ ३ ॥

[१०] (तत् यस्य राज्ञः गृहान् एवं विद्वान् व्रात्यः अतिथिः) जिस राजाके घर ऐसा विद्वान् व्रतचारी अतिथि (आगच्छेत्) आवे ॥ १ ॥ (एनं आत्मनः श्रेयांसं मानयेत्) इसको अपना कल्याणकर्ता मानकर उसका सम्मान करे। (तथा) ऐसा करनेसे (क्षत्राय न आवृश्चते) क्षात्र वृत्तिसे नहीं हटता और (तथा राष्ट्राय न आवृश्चते) ऐसा करनेपर राष्ट्रका अहितकारी भी नहीं होता ॥ २ ॥ (अतः वै ब्रह्म च क्षत्रं च उदतिष्ठतां) उससे ज्ञान और वीर्य उत्पन्न होता है, (ते अब्रूताम्) वे दोनों कहते हैं कि (क प्रविशाव इति) हम कहां प्रविष्ट होकर रहें ॥ ३ ॥

अतो वै बृहस्पतिमेव ब्रह्म प्रा विशत्विन्द्रं क्षत्रं तथा वा इति ॥ ४ ॥
अतो वै बृहस्पतिमेव ब्रह्म प्राविशदिन्द्रं क्षत्रम् ॥ ५ ॥ इयं वा उ पृथिवी बृहस्पतिर्द्यौरेवेन्द्रः ॥ ६ ॥ अयं वा उ अग्निर्ब्रह्मासावादित्यः क्षत्रम् ॥ ७ ॥
ऐनं ब्रह्म गच्छति ब्रह्मवर्चसी भवति ॥ ८ ॥ यः पृथिवीं बृहस्पतिमग्निं ब्रह्म वेद ॥ ९ ॥
ऐनमिन्द्रियं गच्छतीन्द्रियवान् भवति ॥ १० ॥ य आदित्यं क्षत्रं दिवमिन्द्रं वेद ॥ ११ ॥

[११]

तद् यस्यैवं विद्वान् व्रात्योऽतिथिर्गृहानागच्छेत् ॥ १ ॥
स्वयमेनमभ्युदेत्य ब्रूयाद् व्रात्य क्वाऽवात्सीर्व्रात्योदकं व्रात्य तर्पयन्तु व्रात्य यथा ते प्रियं तथास्तु व्रात्य यथा ते वशस्तथास्तु व्रात्य यथा ते निकामस्तथास्त्विति ॥ २ ॥ यदेनमाह व्रात्य क्वाऽवात्सीरिति पथ एव तेन देवयानानव रुन्द्धे ॥ ३ ॥ यदेनमाह व्रात्योदकमित्यप एव तेनाव रुन्द्धे ॥ ४ ॥
यदेनमाह व्रात्य तर्पयन्त्विति प्राणमेव तेन वर्षीयांसं कुरुते ॥ ५ ॥
यदेनमाह व्रात्य यथा ते प्रियं तथास्त्विति प्रियमेव तेनाव रुन्द्धे ॥ ६ ॥

(अतः वै बृहस्पतिं एव ब्रह्म प्रविशतु) इससे निःसन्देह बृहस्पतिके अन्दर ही ब्रह्मज्ञान प्रविष्ट होवे और (तथा वै इन्द्रं क्षत्रं इति) वैसा ही इन्द्रमें क्षत्र प्रविष्ट होवे ॥ ४ ॥ (अतः वै बृहस्पतिं एव ब्रह्म प्राविशत् इन्द्रं क्षत्रं) इसीलिये बृहस्पतिमें ज्ञान और इन्द्रमें क्षत्र प्रविष्ट हुआ ॥ ५ ॥ (इयं वै उ पृथिवी बृहस्पतिः) निश्चयसे यह पृथ्वी बृहस्पति है और (द्यौः एव इन्द्रः) द्युलोक इन्द्र है ॥ ६ ॥ (अयं वै उ अग्निः ब्रह्म) यह अग्नि निःसन्देह ब्रह्म है और (असौ आदित्यः क्षत्रं) यह आदित्य क्षत्र है ॥ ७ ॥ (यः पृथिवीं बृहस्पतिं) जो पृथ्वीको बृहस्पति और (अग्निं ब्रह्म वेद) अग्निको ब्रह्म जानता है (एनं ब्रह्म आगच्छति) इसके पास ब्रह्मज्ञान आजाता है और यह (ब्रह्मवर्चसी भवति) ब्रह्मज्ञानसे तेजस्वी होता है ॥ ८—९ ॥ (यः आदित्यं क्षत्रं) जो आदित्यको क्षत्र और (दिवं इन्द्रं वेद) द्युलोकको इन्द्र जानता है (एनं इन्द्रियं आगच्छति) इसके पास इंद्रकी शक्ति आजाती है और यह (इन्द्रियवान् भवति) इन्द्रकी शक्तिसे युक्त होता है ॥ १०-११ ॥

[११] (तत् एवं विद्वान् व्रात्यः अतिथिः) इस प्रकारका विद्वान् व्रतपालक अतिथि (यस्य गृहान् आगच्छेत्) जिसके घर आवे ॥ १ ॥ (स्वयं एनं अभ्युदेत्य ब्रूयात्) स्वयं उसके समीप जाकर बोले कि " (व्रात्य, क्व अवात्सीः) हे व्रतधारीजी ! आप कहां रहते हैं ? (व्रात्य, उदकं) हे व्रतधारीजी ! यह जल आपके लिये है। (व्रात्य तर्पयन्तु) हे व्रती ! ये मेरे लोग आपकी तृप्ति करें। (व्रात्य, यथा ते प्रियं तथा अस्तु) हे व्रतचारीजी ! जो आपको प्रिय हो वही होवे। (व्रात्य, यथा ते वशः तथा अस्तु) हे व्रताचारी जी ! जो आपकी इच्छा हो वैसा ही बने। (हे व्रात्य, यथा ते निकामः तथा अस्तु इति) हे व्रती ! जो आपकी अभिलाषा हो वैसा ही होवे ॥ २ ॥

(यत् एनं आह व्रात्य क्व अवात्सीः इति) जो इसको कहा जाता है कि हे व्रतपते, आप कहां रहते हैं? तो (तेन देवयानान् पथः एव अवरुन्द्धे) उस प्रश्नसे वह देवयान मार्गोंको अपने आधीन करता है । ३ ॥ (यत् एनं आह) जो इसको कहता है कि (व्रात्य उदकं इति) हे व्रतधारी, यह जल आपके लिये है, (तेन अपः एव अवरुन्धे) उस वचनसे पर्याप्त जल उसको प्राप्त होता है ॥ ४ ॥ (यत् एनं आह, व्रात्य तर्पयन्तु इति) जो इसको कहता है कि हे व्रती! मेरे लोक आपकी तृप्ति करें, तो (तेन प्राणं वर्षीयांसं कुरुते) उस वचनसे वह अपने प्राणको अतिदीर्घ करता है ॥ ५ ॥ (यत् एनं आह व्रात्य यथा ते प्रियं तथा अस्तु इति) जो इसको कहता है कि हे व्रती ! जो तेरे लिये प्रिय हो वही होवे, (तेन प्रियं एव अवरुन्धे) इससे वह प्रिय पदार्थोंको अपने वशमें करता है ॥ ६ ॥

ऐनं प्रियं गच्छति प्रियः प्रियस्य भवति य एवं वेद ॥ ७ ॥
यदेनमाह व्रात्य यथा ते वशस्तथास्त्विति वशमेव तेनाव रुन्द्धे ॥ ८ ॥
ऐनं वशो गच्छति वशी वशिनां भवति य एवं वेद ॥ ९ ॥
यदेनमाह व्रात्य यथा ते निकामस्तथास्त्विति निकाममेव तेनाव रुन्द्धे ॥१० ॥
ऐनं निकामो गच्छति निकामे निकामस्य भवति य एवं वेद ॥११ ॥

[१२]

तद् यस्यैवं विद्वान् व्रात्य उद्धृतेष्वग्निष्वधिश्रितेऽग्निहोत्रेऽतिथिर्गृहानागच्छेत् ॥ १ ॥
स्वयमेनमभ्युदेत्य ब्रूयाद् व्रात्यातिं सृज होष्यामीति ॥ २ ॥ स चातिसृजेज्जुहुयान्न चाति-
सृजेन्न जुहुयात् ॥ ३ ॥ स य एवं विदुषा व्रात्येनातिसृष्टो जुहोति॥ ४ ॥ प्र पितृयाणं पन्थां
जानाति प्र देवयानम् ॥ ५ ॥ न देवेष्वा वृश्चते हुतमस्य भवति ॥ ६ ॥
पर्यस्यास्मिँल्लोक आयतनं शिष्यते य एवं विदुषा व्रात्येनातिसृष्टो जुहोति ॥ ७ ॥
अथ य एवं विदुषा व्रात्येनानतिसृष्टो जुहोति ॥ ८ ॥
न पितृयाणं पन्थां जानाति न देवयानम् ॥ ९ ॥

(यः एवं वेद) जो यह जानता है, (एनं प्रियं आगच्छति) इसको प्रिय प्राप्त होता है और (प्रियस्य प्रियः भवति) वह प्रियका प्रिय होता है॥ ७ ॥ (यत् एनं आह, व्रात्य, यथा ते वशः तथा अस्तु इति) जो इसको कहता है कि हे व्रती ! जो तेरी इच्छा हो वैसा ही होवे, (तेन वशं एव अवरुन्द्धे) उससे वह सबको अपने वशमें करता है ॥ ८ ॥ जो यह जानता है (वशः एनं आगच्छति) उसको सब वश होते हैं, और वह (वशीनां वशी भवति) वशी लोगोंको वश करनेवाला होता है ॥ ९ ॥ (यत् एनं आह व्रात्य यथा ते निकामः तथा अस्तु इति) जो इसको कहता है कि हे व्रती जो आपकी अभिलाषा है वह होवे, तो उससे (तेन निकामं एव अवरुन्धे) वह अपनी अभिलाषा प्राप्त करता है ॥ १० ॥ (एनं निकामः आगच्छति) इसकी अभिलाषा पूर्ण होती है, यह जो जानता है उसको (निकामस्य निकामे भवति) अभिलाषाकी पूर्णता होती है ॥ ११ ॥

[१२] (तत् यस्य गृहे) जिसके घरमें (एवं विद्वान् व्रात्यः अतिथिः) ऐसा विद्वान् व्रतधारी अतिथि (उद्धृतेषु अग्निषु अग्निहोत्रे अधिश्रिते आगच्छेत्) अग्नि प्रदीप्त होकर अग्निहोत्र होनेके समय आवे ॥ १ ॥ (स्वयं एनं अभ्युदेत्य ब्रूयात्) स्वयं इसके सन्मुख जाकर कहे कि (व्रात्य अतिसृज होष्यामि इति) हे व्रती ! मुझे आज्ञा दो, मैं हवन करूंगा ॥ २ ॥ (सः च अतिसृजेत्, जुहुयात्) वह आज्ञा देवे तो हवन करें,(न च अतिसृजेत् न जुहुयात्) यदि न आज्ञा देवे तो न हवन करे ॥३॥ (सः यः एवं विदुषा व्रात्येन अतिसृष्टो जुहोति) जो इस प्रकारके विद्वान् व्रतधारीकी आज्ञासे हवन करता है, (पितृयाणं देवयानं च पंथां प्रजानाति) वह पितृयाण और देवयान मार्गको जानता है ॥ ४-५ ॥

(यः एवं विदुषा व्रात्येन अतिसृष्टः जुहोति) जो इस प्रकारके विद्वान् व्रतधारीकी आज्ञासे हवन करता है (अस्य हुतं भवति) उसका अग्निहोत्र सफल होता है और (देवेषु न आवृश्चते) देवोंमें इसका कोई दोष नहीं होता । (अस्मिन् लोके) इस लोकमें (अस्य आयतनं परिशिष्यते) इसका आश्रय सुरक्षित रहता है ॥ ६-७ ॥

(अथ यः एवं विदुषा व्रात्येन अनतिसृष्टो जुहोति) और जो इस प्रकार के विद्वान् व्रतधारीकी आज्ञाके विना हवन करता है ॥ ८ ॥ वह (न पितृयाणं न देवयानं पंथां जानाति) न पितृयाण मार्गको और न देवयान मार्गको जानता है ॥ ९ ॥

आ देवेषु वृश्चते अहुतमस्य भवति ॥१०॥
नास्यास्मिंल्लोक आयतनं शिष्यते य एवं विदुषा व्रात्येनानतिसृष्टो जुहोति — ॥११॥

(१३)

तद् यस्यैवं विद्वान् व्रात्य एकां रात्रिमतिथिर्गृहे वसति ॥ १ ॥
ये पृथिव्यां पुण्या लोकास्तानेव तेनाव रुन्द्धे ॥ २ ॥
तद् यस्यैवं विद्वान् व्रात्यो द्वितीयां रात्रिमतिथिर्गृहे वसति ॥ ३ ॥
येऽन्तरिक्षे पुण्या लोकास्तानेव तेनाव रुन्द्धे ॥ ४ ॥
तद् यस्यैवं विद्वान् व्रात्यस्तृतीयां रात्रिमतिथिर्गृहे वसति ॥ ५ ॥
ये दिवि पुण्या लोकास्तानेव तेनाव रुन्द्धे ॥ ६ ॥
तद् यस्यैवं विद्वान् व्रात्यश्चतुर्थीं रात्रिमतिथिर्गृहे वसति ॥ ७ ॥
ये पुण्यानां पुण्या लोकास्तानेव तेनाव रुन्द्धे ॥ ८ ॥
तद् यस्यैवं विद्वान् व्रात्योऽपरिमिता रात्रीरतिथिर्गृहे वसति ॥ ९ ॥
य एवापरिमिताः पुण्या लोकास्तानेव तेनाव रुन्द्धे ॥१०॥
अथ यस्याव्रात्यो व्रात्यब्रुवो नामबिभ्रत्यतिथिर्गृहानागच्छेत ॥११॥

(अस्य अहुतं भवति) इसका हवन विफल होता है ॥ १० ॥ (देवेषु आवृश्चते) देवोंका अपराधी होता है, (अस्मिन् लोके अस्य आयतनं शिष्यते) इस लोकमें इसका आधार नहीं रहता (यः) जो ऐसे विद्वानकी आज्ञाके विना हवन करता है ॥११॥

[१३] (तत् यस्य गृहे एवं विद्वान् व्रात्यः अतिथिः एकां रात्रिं वसति) जिसके घरमें इस प्रकारका विद्वान् व्रतधारी अतिथि एक रात्री भर रहता है ॥ १ ॥ (ये पृथिव्यां पुण्या लोकाः) जो पृथ्वीपर पुण्य लोक हैं,(तान् तेन एव अवरुन्धे) उन सबको इससे प्राप्त करता है ॥ २ ॥ (तत् यस्य गृहे एवं विद्वान् व्रात्यः अतिथिः द्वितीयां रात्रिं वसति) जिसके घरमें इस प्रकारका व्रतचारी विद्वान् अतिथि दूसरी रात्री भर रहता है ॥ ३ ॥ (तेन) इससे (ये अन्तरिक्षे पुण्याः लोकाः) जो अन्तरिक्षमें पुण्य लोक हैं (तान् एव अवरुन्धे) उनको प्राप्त करता है ॥ ४ ॥ (तत् यस्य गृहे एवं विद्वान् व्रात्यः अतिथिः तृतीयां रात्रिं वसति) जिसके घरमें इस प्रकार विद्वान् व्रतधारी अतिथि तीसरी रात्रीभर रहता है ॥ ५ ॥ (ये दिवि पुण्याः लोकाः) जो द्युलोकमें पुण्य लोक हैं (तान् तेन एव अवरुन्धे) उनको उससे प्राप्त करता है ॥६॥ (तत् यस्य गृहे एवं विद्वान् व्रात्यः अतिथिः चतुर्थीं रात्रीं वसति) जिसके घरमें ऐसा विद्वान व्रतधारी अतिथि चतुर्थ रात्रीभर रहता है ॥७॥ (ये पुण्यानां पुण्य लोकाः) जो पुण्यकारोंके पुण्य लोक हैं (तान् तेन एव अवरुन्धे) उनको उससे प्राप्त करता है॥८॥(तत् यस्य गृहे एवं विद्वान् व्रात्यः अतिथिः अपरिमिताः रात्रीः वसति) जिसके घरमें ऐसा विद्वान् व्रतपालक अतिथि अपरिमित रात्रीतक रहता है ॥ ९ ॥ (ये एव अपरिमिताः पुण्याः लोकाः) जो अपरिमित पुण्य लोक हैं (तान् एव तेन अवरुन्धे) उनको उससे प्राप्त करता है ॥ १० ॥

(अथ यस्य गृहान् अव्रात्यः व्रात्यब्रुवः नामबिभ्रती अतिथिः आगच्छेत्) जिसके घर व्रताचरण न करनेवाला, कवलनामधारी अविद्वान् अतिथि आवे ॥ ११ ॥ (एनं कर्षेत ?) क्या गृहस्थ उसका तिरस्कार करे ? (एनं न च कर्षेत्) इसका

*

कर्षेदेनं न चैनं कर्षेत् ॥ १२ ॥
अस्यै देवताया उदकं याचामीमां देवतां वासय इमामिमां देवतां परि वेवेष्मीत्येनं परि वेविष्यात् ॥ १३ ॥
तस्यामेवास्य तद् देवतायां हुतं भवति य एवं वेद ॥ १४ ॥

[१४]

स यत् प्राचीं दिशमनु व्यचलन्मारुतं शर्धो भूत्वानुव्यचलन्मनोऽन्नादं कृत्वा ॥ १ ॥ मनसान्नादेनान्नमत्ति य एवं वेद ॥ २ ॥ स यद् दक्षिणां दिशमनु व्यचलदिन्द्रो भूत्वानुव्यचलद् बलमन्नादं कृत्वा ॥ ३ ॥ बलेनान्नादेनान्नमत्ति य एवं वेद ॥ ४ ॥ स यत् प्रतीचीं दिशमनु व्यचलद् वरुणो राजा भूत्वानुव्यचलदपोऽन्नादीः कृत्वा ॥ ५ ॥ अद्भिरन्नादीभिरन्नमत्ति य एवं वेद ॥ ६ ॥
स यदुदीचीं दिशमनु व्यचलत् सोमो राजा भूत्वानुव्यचलत् सप्तर्षिभिर्हुतआहुतिमन्नादीं कृत्वा ॥ ७ ॥ आहुत्यान्नाद्यान्नमत्ति य एवं वेद ॥ ८ ॥ स यद् ध्रुवां दिशमनु व्यचलद् विष्णुर्भूत्वानुव्यचलद् विराजमन्नादीं कृत्वा ॥ ९ ॥

तिरस्कार न करे ॥ १२ ॥ गृहस्थ कहे कि (अस्यै देवतायै उदकं याचामि) इस देवताके लिये उदककी प्रार्थना करता हूं, (इमां देवतां वासये) इस देवताका घरमें निवास करता हूं, (इमां इमां देवतां परिवेविष्यात्) इस देवताको परोसता हूं ॥ १३ ॥ (तस्यां एव देवतायां अस्य तत् हुतं भवति) उसी देवतामें उस गृहस्थीका वह हवन होता है, (यः एवं वेद) जो यह तत्त्व जानता है ॥ १४ ॥ [अर्थात् नामधारी अतिथि घरमें आनेपर वह अपनी उपास्य देवता है ऐसा मानकर सब भोग अपने उपास्यको समर्पण करनेकी बुद्धिसे उसको देवे । इस प्रकार करनेसे सब दान उसी देवताको पहुंचता है ।]

[१४] (सः यत् प्राचीं दिशं अनुव्यचलत्) वह जब पूर्व दिशाकी ओर चलता है तब (मारुतं शर्धः भूत्वा) वायु बल होकर और (मनः अन्नादं कृत्वा) मनको अन्न खानेवाला करके (अनुव्यचलत्) चले ॥ १ ॥ (यः एवं वेद) जो यह जानता है वह (अन्नादेन मनसा अन्नं अत्ति) अन्न भक्षण करनेकी मनोभावनासे अन्न खाता है ॥ २ ॥ (सः दक्षिणां०) वह जब दक्षिण दिशाकी ओर चलता है, तब वह (इन्द्रः भूत्वाः) इन्द्र अर्थात् प्रभु होकर और (बलं अन्नादं कृत्वा) बल अन्नभक्षक बनाकर (अनुव्यचलत्) चला ॥ ३ ॥ जो यह जानता है वह (अन्नादेन बलेन अन्नं अत्ति) अन्नभक्षक बलसे अन्न खाता है ॥ ४ ॥

(सः प्रतीचीं दिशं०) जब वह पश्चिम दिशाकी ओर चलता है तब वह (वरुणः राजा भूत्वा) वरुण राजा बनकर और (अपः अन्नादीः कृत्वा) जल को अन्नभक्षक बनाकर चलता है ॥ ५ ॥ जो यह जानता है वह (अन्नादीभिः अद्भिः अन्नं अत्ति) अन्नभक्षक जलके साथ अन्नभोग करता है ॥ ६ ॥ (सः उदीचीं दिशं०) वह जब उत्तर दिशाकी ओर चलता है, तब वह (सोमः राजा भूत्वा) सोम राजा बनकर (अन्नादीं आहुतिं कृत्वा) अन्नभक्षक आहुति करके (सप्तर्षिभिः हुतः) सात ऋषियों-सात इंद्रियों द्वारा-हुत होकर [अनुव्यचलत्] चलता है ॥ ७ ॥ जो यह जानता है वह [आहुत्या अन्नाद्या अत्ति] आहुतिसे अन्नादी का भोग करता है ॥ ८ ॥

(सः ध्रुवां०) वह जब ध्रुव दिशाकी ओर चलता है, तब (विष्णुः भूत्वा) विष्णुरूप बनकर (विराजं अन्नादीं कृत्वा) विराट् पृथ्वीको अन्नमयी बनाकर (अनुव्यचलत्) चलता है ॥ ९ ॥ जो यह जानता है वह (विराजा अन्नाद्या अन्नं अत्ति)

विराजान्नाद्यान्नमत्ति य एवं वेद ॥ १० ॥ स यत् पशूननु व्यचलद् रुद्रो
भूत्वानुव्य चलदोषधीरन्नादीः कृत्वा ॥ ११ ॥
ओषधीभिरन्नादीभिरन्नमत्ति य एवं वेद ॥ १२ ॥
स यत् पितॄननु व्यचलद् यमो राजा भूत्वानुव्यचलत् स्वधाकारमन्नादं कृत्वा ॥ १३ ॥
स्वधाकारेणान्नादेनान्नमत्ति य एवं वेद ॥ १४ ॥
स यन्मनुष्याइननु व्यचलदग्निर्भूत्वानुव्यचलत् स्वाहाकारमन्नादं कृत्वा ॥ १५ ॥
स्वाहाकारेणान्नादेनान्नमत्ति य एवं वेद ॥ १६ ॥ स यदूर्ध्वां दिशमनु व्यचलद्
बृहस्पतिर्भूत्वानुव्यचलद् वषट्कारमन्नादं कृत्वा ॥ १७ ॥
वषट्कारेणान्नादेनान्नमत्ति य एवं वेद ॥ १८ ॥
स यद् देवाननु व्यचलदीशानो भूत्वानुव्यचलन्मन्युमन्नादं कृत्वा ॥ १९ ॥
मन्युनान्नादेनान्नमत्ति य एवं वेद ॥ २० ॥
स यत् प्रजा अनु व्यचलत् प्रजापतिर्भूत्वानुव्यचलत् प्राणमन्नादं कृत्वा ॥ २१ ॥
प्राणेनान्नादेनान्नमत्ति य एवं वेद ॥ २२ ॥
स यत् सर्वानन्तर्देशाननु व्यचलत् परमेष्ठी भूत्वानुव्य चलद् ब्रह्मान्नादं कृत्वा ॥ २३ ॥
ब्रह्मणान्नादेनान्नमत्ति य एवं वेद ॥ २४ ॥

विराट् रूपी अन्नवाली गौ से अन्न भक्षण करता है ॥ १० ॥ (सः यत् पशून् अनुव्यचलत्) वह जब पशुओंके अनुकूल होकर चलता है, तब वह (रुद्रः भूत्वा) रुद्र बनकर और (अन्नादीः ओषधीः कृत्वा) अन्न भक्षण करने योग्य औषधियां बनाकर (अनुव्यचलत्) चलता है ॥ ११ ॥ जो यह जानता है वह (अन्नादीभिः ओषधीभिः अन्नं अत्ति) अन्न भक्षण करने योग्य औषधियोंके साथ अन्न खाता है ॥ १२ ॥ (सः यत् पितॄन् अनु०) वह जब पितरोंके साथ चलता है तब वह (यमः राजा भूत्वा) यम राजा बनकर (स्वधाकारं अन्नादं कृत्वा) स्वधाकारको अन्नभक्षक बनाकर चलता है ॥ १३ ॥

जो यह जानता है वह (अन्नादेन स्वधाकारेण अन्नं अत्ति) अन्नभक्षण स्वधाकारके साथ करता है ॥ १४ ॥ (सः यत् मनुष्यान् अनुव्यचलत्) वह जब मनुष्योंके प्रति चलता है तब वह (अग्निः भूत्वा) अग्नि होकर (स्वाहाकारं अन्नादं कृत्वा०) स्वाहाकारको अन्नभक्षक करके चलता है ॥ १५ ॥ यह जो जानता है वह (स्वाहाकारेण०) स्वाहाकारके साथ अन्नभोग करता है ॥ १६ ॥ (सः यत् ऊर्ध्वां दिशं०) वह जब ऊर्ध्व दिशाकी ओर चलता है, तब वह (बृहस्पतिः भूत्वा) बृहस्पति होकर (वषट्कारं अन्नादं कृत्वा) वषट्कारको अन्नभक्षक बनाकर चलता है ॥ १७ ॥ जो यह जानता है वह (वषट्कारेण अन्नादेन०) वषट्कारसे अन्नका भोग करता है ॥ १८ ॥ (सः यत् देवान् अनुव्यचलत्) जब वह देवोंके पास जाता है तब वह (ईशानः भूत्वा) ईशान बनकर (मन्युं अन्नादं कृत्वा) उत्साहको अन्नाद बनाकर चलता है ॥ १९ ॥ जो यह जानता है वह (मन्युना०) उत्साहके साथ अन्न भोग करता है ॥ २० ॥

(सः यत् प्रजाः अनु०) वह जब प्रजाओंके प्रति जाता है, तब वह (प्रजापतिः भूत्वा) प्रजापालक बनकर (प्राण अन्नादं कृत्वा) प्राणको अन्नाद बनाकर चलता है ॥ २१ ॥ जो यह जानता है वह (प्राणेन अन्नादेन०) प्राणकी शक्तिसे अन्न भोग करता है ॥ २२ ॥ (सः यत् सर्वान् अन्तर्देशान् अनु०) जब वह सब अन्तर्देशोंके प्रति जाता है, तब वह [परमेष्ठी भूत्वा] परमेष्ठी होकर [ब्रह्म अन्नादं कृत्वा] ब्रह्मज्ञानको अन्नाद बनाकर चलता है ॥ २३ ॥ जो यह जानता है वह [ब्रह्मणा अन्नादेन अन्नं अत्ति] वह ब्रह्मज्ञानके साथ अन्नादि भोग करता है ॥ २४ ॥

(१५)

तस्य व्रात्यस्य ॥ १ ॥

सप्त प्राणाः सप्तापानाः सप्त व्यानाः ॥ २ ॥

तस्य व्रात्यस्य । योऽस्य प्रथमः प्राण ऊर्ध्वो नामायं सो अग्निः ॥ ३ ॥

तस्य व्रात्यस्य । योऽस्य द्वितीयः प्राणः प्रौढो नामासौ स आदित्यः ॥ ४ ॥

तस्य व्रात्यस्य । योऽस्य तृतीयः प्राणो ऽभ्यूढो नामासौ स चन्द्रमाः ॥ ५ ॥

तस्य व्रात्यस्य । योऽस्य चतुर्थः प्राणो विभूर्नामायं स पवमानः ॥ ६ ॥

तस्य व्रात्यस्य । योऽस्य पञ्चमः प्राणो योनिर्नाम ता इमा आपः ॥ ७ ॥

तस्य व्रात्यस्य । योऽस्य षष्ठः प्राणः प्रियो नाम त इमे पशवः ॥ ८ ॥

तस्य व्रात्यस्य । योऽस्य सप्तमः प्राणोऽपरिमितो नाम ता इमाः प्रजाः ॥ ९ ॥

(१६)

तस्य व्रात्यस्य । योऽस्य प्रथमोऽपानः सा पौर्णमासी ॥ १ ॥
तस्य व्रात्यस्य । योऽस्य द्वितीयोऽपानः साष्टका॥२॥तस्य व्रात्यस्य । योऽस्य तृतीयोऽपानः सामावास्या॥३॥तस्य व्रात्यस्य । योऽस्य चतुर्थोऽपानः सा श्रद्धा॥४॥तस्य व्रात्यस्य । योऽस्य पञ्चमोऽपानः सा दीक्षा ॥५॥ तस्य व्रात्यस्य।योऽस्य षष्ठोऽपानः स यज्ञः॥६॥
तस्य व्रात्यस्य । योऽस्य सप्तमोऽपानस्ता इमा दक्षिणाः ॥ ७ ॥

---

[१५] [तस्य व्रात्यस्य] उस व्रात्यके [सप्त प्राणाः सप्त अपानाः सप्त व्यानाः] सात प्राण, सात अपान और सात व्यान हैं ॥ १-२ ॥

[तस्य व्रात्यस्य] उस व्रात्यका [यः अस्य प्रथमः प्राणः] जो इसका पहिला प्राण है वह [अयं ऊर्ध्वः नाम अग्निः] यह ऊर्ध्व नामक अग्नि है ॥ ३ ॥ उस व्रात्यका जो द्वितीय प्राण है [प्रौढः नाम असौ स आदित्यः] वह प्रौढ नामक यह आदित्य है ॥ ४ ॥ उस व्रात्यका जो तृतीय प्राण है, वह [अभ्यूढः नाम असौ स चन्द्रमाः] अभ्यूढ नामक यह चन्द्र है ॥ ५ ॥ उस व्रात्यका जो यह चतुर्थ प्राण है वह [विभूः नाम अयं स पवमानः] विभू नामक यह पवमान वायु है॥ ६ ॥ उस व्रात्यका जो पञ्चम प्राण है वह [योनिः नाम ताः इमाः आपः] योनि नामक आप् है ॥ ७ ॥ उस व्रात्यके जो छः प्राण हैं वे [प्रियः नाम ते इमे पशवः] प्रिय नामक पशु हैं ॥ ८ ॥ उस व्रात्यके जो सात प्राण हैं वे [अपरिमिताः नाम ताः इमाः प्रजाः] अपरिमितनामक प्रजा हैं ॥ ९ ॥

[१६] [तस्य व्रात्यस्य] उस व्रात्यका [यः प्रथमः अपानः] जो पहिला अपान है [सा पौर्णमासी] वह पौर्णमासी ॥ १ ॥ उस व्रात्यका जो द्वितीय अपान है वह अष्टका है ॥ २ ॥ उस व्रात्यका जो तृतीय अपान है वह अमावास्या है ॥ ३ ॥ उस व्रात्यका जो चतुर्थ अपान है वह श्रद्धा है ॥ ४ ॥ उस व्रात्यका जो पञ्चम अपान है वह दीक्षा है ॥ ५ ॥ उस व्रात्यका जो छठा अपान है वह यज्ञ है ॥ ६ ॥ उस व्रात्यका जो सातवां अपान है वह दक्षिणा है ॥ ७ ॥

(१७)

तस्य॒ व्रात्य॑स्य । योऽ॑स्य प्रथ॒मो व्या॒नः सेयं भूमिः ॥ १ ॥
तस्य॒ व्रात्य॑स्य । योऽ॑स्य द्वि॒तीयो॑ व्या॒नस्तद॒न्तरि॑क्षम् ॥२॥ तस्य॒ व्रात्य॑स्य । योऽ॑स्य तृ॒तीयो॑ व्या॒नः सा द्यौः ॥३॥ तस्य॒ व्रात्य॑स्य । योऽ॑स्य च॒तु॒र्थो व्या॒नस्तानि॒ नक्ष॑त्राणि ॥४॥ तस्य॒ व्रात्य॑स्य । योऽ॑स्य प॒ञ्चमो व्या॒नस्त ऋ॒तवः॑ ॥५॥ तस्य॒ व्रात्य॑स्य । योऽ॑स्य ष॒ष्ठो व्या॒नस्त आ॑र्त॒वाः ॥६॥ तस्य॒ व्रात्य॑स्य । योऽ॑स्य स॒प्त॒मो व्या॒नः स सं॑वत्स॒रः ॥७॥ तस्य॒ व्रात्य॑स्य । स॒मा॒नमर्थं॒ परि॑ यन्ति दे॒वाः सं॑वत्स॒रं वा ए॒तदृ॒तवो॑ऽनु॒परि॑यन्ति॒ व्रात्यं॑ च ॥८॥ तस्य॒ व्रात्य॑स्य । यदा॑दि॒त्यम॑भिसं॒विश॒न्त्य॑मावा॒स्यां॑ चैव तत्पौर्ण॑मा॒सीं च॑ ॥९॥ तस्य॒ व्रात्य॑स्य । एकं॒ तदे॑षाममृत॒त्वमित्याहु॑ति॒रेव ॥ १० ॥

(१८)

तस्य॒ व्रात्य॑स्य ॥१॥ यद॑स्य॒ दक्षि॑ण॒मक्ष्य॒सौ स आ॑दि॒त्यो यद॑स्य स॒व्यमक्ष्य॒सौ स च॒न्द्रमाः॑ ॥२॥ योऽ॑स्य॒ दक्षि॑णः॒ कर्णो॒ऽयं सो अ॒ग्निर्योऽ॑स्य स॒व्यः कर्णो॒ऽयं स पव॑मानः ॥३॥ अ॒हो॒रा॒त्रे नासि॑के॒ दिति॒श्चादि॑तिश्च॒ शीर्ष॑कपा॒ले सं॑वत्स॒रः शिरः॑ ॥४॥ अह्ना॑ प्र॒त्यङ् व्रात्यो॒ रात्र्या॒ प्राङ् नमो॒ व्रात्या॑य ॥ ५ ॥

इति द्वितीयोऽनुवाकः । इति पंचदशं काण्डं समाप्तम्

---

[१७] [तस्य व्रात्यस्य] उस व्रात्यका [यः अस्य] जो इसका [प्रथमः व्यानः] पहिला व्यान है वह [सा इयं भूमिः] यह पृथ्वी है ॥ १ ॥ उस व्रात्यका जो द्वितीय व्यान है वह अन्तरिक्ष है ॥ २ ॥ उस व्रात्यका जो तृतीय व्यान है वह द्यौः है ॥ ३ ॥ उस व्रात्यका जो चतुर्थ व्यान है [तानि नक्षत्राणि] वह नक्षत्र हैं ॥ ४ ॥ उस व्रात्यका जो पांचवा व्यान है [ते ऋतवः] वे ऋतुएं हैं ॥ ५ ॥ उस व्रात्यका जो षष्ठ व्यान है वे [ते आर्तवाः] ऋतुओंमें उत्पन्न होनेवाले पदार्थ हैं ॥ ६ ॥ उस व्रात्यका जो सातवां व्यान है वह संवत्सर है ॥ ७ ॥ उस व्रात्यके [समानं अर्थं] समान अर्थको [देवाः परियन्ति] सब देव घेरते हैं, अनुकूल होते हैं, [संवत्सरं वै एते ऋतवः अनुपरियन्ति] संवत्सरको निश्चयसे ये ऋतु अनुकूलतासे व्यापते हैं [व्रात्यं च] व्रात्यको भी घेरते हैं ॥ ८ ॥ उस व्रात्यके जो भाव [यत् आदित्यं अभिसंविशन्ति] प्रविष्ट होते हैं [अमावास्यां च एव तत् पौर्णमासीं च] अमावास्या और पौर्णमासीमें भी वे होते हैं ॥ ९ ॥ [तस्य व्रात्यस्य] उस व्रात्यका [तत् एषां एकं अमृतत्वं] वह इन सबका एक अमरपन है [इति एव आहुः] ऐसा कहते हैं ॥ १० ॥

[१८] [तस्य व्रात्यस्य] उस व्रात्यका [यत् अस्य दक्षिणं अक्षि असौ सः आदित्यः] जो दक्षिण नेत्र है वह सूर्य है [यत् अस्य सव्यं अक्षि असौ सः चन्द्रमाः] जो इसका सव्य नेत्र है वह चन्द्र है ॥ १—२ ॥ जो इसका [दक्षिणः कर्णः] दक्षिण कान है [सः अयं अग्निः] वह अग्नि है [यः अस्य सव्यः कर्णः] जो इसका बायां कान है [सः अयं पवमानः] वह यह पवमान है ॥ ३ ॥ [अहोरात्रे नासिके] इसके अहोरात्र ये नाक है, (दितिः अदितिः च) दिति और आदिति (शीर्ष कपाले) सिरके दोनों कपाल हैं । और (संवत्सरः शिरः) वर्ष इसका सिर है ॥ ४ ॥ (व्रात्यः अह्ना) यह व्रात्य दिनमें (प्रत्यङ्) पूर्व दिशाकी ओर मुख करके, और (रात्र्या प्राङ्) रात्रीके समय प्राचीदिशाके अनुकूल मुख करके रहता है । ऐसे [व्रात्याय नमः] व्रात्यके लिये मेरा नमस्कार हो ॥ ५ ॥

इति द्वितीयोऽनुवाकः । इति पञ्चदशं काण्डं समाप्तम्

पञ्चदश काण्डका विचार।

व्रात्यका अर्थ।

इस पंधरहवें काण्डमें "व्रात्य" का विचार किया है। अतः इस काण्डमें व्रात्यका अर्थ क्या है इसका निश्चय प्रथम करना चाहिये। इस व्रात्य शब्दके कई अर्थ हैं—

(१) 'व्रात' का अर्थ है 'समूह, समाज, संघ, मनुष्य, जनता' उसके लिये जो हितकारी (तेभ्यः हितः) है उसको 'व्रात्य' कहते हैं;

(२) (व्राते भवः व्रात्यः) समूहमें उत्पन्न, समाजमें जिसका जन्म हुआ है, संघमें रहनेवाला;

(३) समूहका पालक, पति किंवा स्वामी;

(४) व्रतोंके लिये समर्पित, व्रताचरणमें तत्पर, तपस्वी, नियमानुष्ठानमें तत्पर, व्रती ब्रह्मचर्यादि व्रतोंका पालन करनेवाला;

(५) (व्रजति इति व्रात्यः अस्य तः) भ्रमण करनेवाला परिव्राजक, संन्यासी, उपदेशक, देशदेशान्तरमें जाकर धर्मोपदेश करनेवाला;।

इस तरह इस व्रात्य शब्दके अनेक अर्थ वेदमें हैं। स्मृतियोंमें इस व्रात्य शब्दका अर्थ इसके विरुद्ध है। वेदमर्यादा और आश्रममर्यादाका उल्लंघन करनेवाला व्रात्य है ऐसा स्मृतिग्रंथोंका कथन है। स्मृतिके अनुसार व्रात्य वह होता है कि जो त्रैवर्णिकोंके कर्तव्य न करनेसे पतित हुआ है। व्रात्यस्तोमसे इसकी शुद्धि करनेसे फिर वह पुनीत होता है और द्विजत्व प्राप्त करता है।

वेदका व्रात्य शब्द और स्मृतिका व्रात्य शब्द इनमें अर्थोंका इतना महत् अन्तर है। वेदमें व्रात्य शब्दका अर्थ उत्तम है और स्मृतिमें उसीका अर्थ अधम है। वेदका व्रात्य जनताका कल्याणकर्ता है, परंतु स्मृतिका व्रात्य बहिष्कार करने योग्य है। इतनी शब्दकी भिन्नता, श्रुति और स्मृतिमें कालका महत् अन्तर व्यतीत हुआ है, इस बातकी साक्षी देती है।

जिस तरह ब्राह्मणब्रुव, क्षत्रियब्रुव ये शब्द अधम ब्राह्मण और अधम क्षत्रियोंके वाचक हैं, उसी प्रकार (अथर्व० १५। १३।११ में आये। "अव्रात्य, व्रात्यब्रुव, नामबिभ्रती" ये तीनों शब्द हीन अर्थके हैं। व्रात्य शब्द लगानेवाले, परंतु जो व्रात्य नहीं है। जैसे आजकल संन्यासनाम धारण करनेवाले अधमाचारी होते हैं, उसी प्रकार व्रात्यनामधारण करनेवाले परंतु व्रात्योंके श्रेष्ठ गुणोंसे हीन मनुष्य निन्दनीय होते हैं। यह वेदका मंत्र (अ० का० १५।१३।११) स्पष्ट बता रहा है कि यहां व्रात्यका अर्थ बहुत ही पूज्य है।

व्रात्य ईश्वर।

व्रात्य शब्दके जो उत्तम अर्थ ऊपरके स्थानमें दिये हैं, वे पूर्णतासे परमेश्वरमें सार्थ होते हैं। परमेश्वर व्रातों अर्थात् समूहों और गणोंका पति होनेसे व्रात्य है, संपूर्ण नियमों और व्रतोंका यथायोग्य पालन करनेवाला होनेसे भी वह व्रात्य है, सबका हितकारी होनेसे भी वह व्रात्य है। इस तरह व्रात्य शब्दके सब अर्थ ईश्वरमें पूर्णतया सार्थ होते हैं। इसलिये इस पंदरहवें काण्डके प्रथम पर्याय सूक्तमें इसी परमेश्वरका वर्णन व्रात्य शब्दसे किया है।

ईयमानः व्रात्यः प्रजापतिं समेरयत्। १।१

"प्रेरक व्रात्यने प्रजापालक देवको प्रेरित किया," अर्थात् जगत् निर्माण करनेके लिये प्रेरणा की।

सः प्रजापतिः सुवर्णं आत्मानं अपश्यत् तत् प्राजनयत्॥ १।२

"इस प्रजापति देवने उत्तम चमकदार रंगवाले मूल दैवी प्रकृतिरूप प्रकृत्यात्माको देखा, और उसने सब जगत् निर्माण किया।" यहां 'सुवर्ण आत्मा' शब्दसे उत्तम रंगरूपसे चमकनेवाली मूल प्रकृति अथवा दैवी प्रकृतिका वर्णन है। इसमें तेज है। चमक है, और यह त्रिगुणमयी प्रकृति ही सब जगत्का निर्माण करनेवाली है। इस प्रजनन क्रियासे "एक, ललाम, महत्, ज्येष्ठ, ब्रह्म, तप, और सत्य" ये सात पदार्थ उत्पन्न हुए। इन सात नामोंके सदृश "भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः सत्यं" ये सात नाम भी तुलनात्मक दृष्टिसे देखने योग्य हैं। दोनों स्थानों में "महत्, तप, सत्य" ये तीन शब्द समान हैं। संभव है कि ये दोनों सप्तक एक दूसरेके पर्याय हों, प्रकृतिसे सृष्टिकी उत्पत्ति होनेसे सात लोक, सात भुवन, सप्तधाम आदि जो उत्पन्न हुए हैं, उनके सूचक ये शब्द हैं, ऐसा यहां प्रतीत होता है। पाठक इसका अधिक विचार करें। इस प्रकार सब भुवन उत्पन्न होनेके पश्चात् उस प्रेरक देवका महत्त्व सबको व्यक्त हुआ, और इसी कारण (सः महादेवः अभवत्) उसको महादेव कहने लगे। अर्थात् यह 'महादेव' शब्द अन्य छोटे देवोंका भी अधिदेव है, यह बात यहां व्यक्त होती है। यही बात निम्नलिखित मंत्रमें कही है।

स देवानां ईशां पर्यैत्, सः ईशानः अभवत्। (११५)
"वह छोटे अनेक देवोंका अधिपति सिद्ध हुआ अतः उसको ईशान कहने लगे।" यहां देव-महादेव; ईश—ईशान, ईश-ईश्वर आदि शब्दोंके अर्थोंका भाव स्पष्ट हुआ। देव और ईश ये छोटे अधिपति हैं और महादेव तथा ईशान और ईश्वर ये शब्द सर्वतोपरि अधिकार चलानेवाले सार्वभौम परमेश्वरके वाचक हैं। इसी प्रकार ब्रह्म, आत्मा आदि शब्द एकरस परमात्माके वाचक हैं। इनमें भी ब्रह्म-परब्रह्म, आत्मा—परमात्मा ये शब्द भी पूर्वोक्त रीतिसे छोटे बडेके वाचक निःसन्देह हैं, परंतु ब्रह्म और आत्मा ये शब्द समयसमयपर दोनों अर्थोंसे प्रयुक्त होते हैं।

हमारे शरीरमें यह बात देखिये, यहां कान, आंख, नाक आदि अवयवोंमेंसे प्रत्येकमें हजारों कीटाणु अपनेमें ईश हैं। अपनी प्रकृतिका स्वामी है, परंतु उन अनेक कीटाणुओंपर आंख नाक कान आदिमें रहनेवाला एक इंद्रियका अधिष्ठाता देव है, यह उन सूक्ष्म कीटाणुओंकी अपेक्षा बडा ईश्वर है। इसके पश्चात् प्रत्येक इन्द्रियमें एक एक देवताका अंश है और इन अवयवोंमें रहनेवाले देवतांओंपर जीवात्माका प्रभुत्व है। इसलिये यहां इंद्रियोंके अधिपति देव हैं और जीवात्मा महादेव है। इसी तरह छोटा और बडा होनेके भेदसे एक देव होता है और दूसरा महादेव होता है, परंतु जो छोटोंकी अपेक्षा महादेव होता है वही उसके ऊपरके देवकी अपेक्षा छोटा देव होता है। इस तरह ऊपर जाते जाते अन्तिम स्थितिमें परमात्मा सबका महादेव है। इस प्रकार देव और महादेवोंका विचार तुलनात्मक दृष्टिसे जानना योग्य है। इस बातको अधिक स्पष्ट करते हैं-

देव		महादेव
ईश		ईशान
आत्मा		परमात्मा
ब्रह्म		परब्रह्म
इन्द्र		महेन्द्र
ईश		ईश्वर
कीटाणु	[देव] इंद्रियाधिपति	(महादेव)
इंद्रियाधिपति	,, जीवात्मा	,,
जीवात्मा	,, राजा	,,
राजा	,, सम्राट्	,,
ग्रामपति	,, प्रान्तपति	,,
प्रान्तपति	,, राष्ट्रपति	,,
राष्ट्रपति	,, जगत्पति	,,
चन्द्रादि ग्रह	,, सूर्य	,,
तारागण	,, विराट्	,,

इस रीतिसे पूर्वापर अपेक्षाके संबंधसे एक देव और दूसरा महादेव बनता है। अन्तमें सब चराचरका परमात्मा ही महादेव निश्चयसे है और यही इस प्रथम पर्याय सूक्तमें सबका प्रेरक करके प्रथम मंत्रमें वर्णित हुआ है। यह एक है अतः इसको "एक व्रात्य" अर्थात एकमात्र परमेश्वर किंवा सबका एक नियन्ता कहा है। यह सबका शासक है और इसका धनुष्य अप्रतिहत है, यही (इन्द्रधनुः=) प्रभुका धनुष्य ऐसा है कि (द्विषन्तं विध्यति) इस धनुष्यसे विद्वेषी लोगोंका पूर्ण नाश होता है। परमेश्वरका सर्वतोपरि शासन है और इस शासनसे हिंसकोंका नाश होता है और सज्जनोंकी रक्षा होती है; इसलिये इस एक देवकी उपासना सबको करनी चाहिये। यह उपदेश प्रथम पर्याय सूक्तमें कहा है।

इसके आगे ब्रह्मचारीका वर्णन है, उसका विचार अब हम करते हैं

ब्राह्मणविभाग।

व्रात्य ब्रह्मचारी।

"ब्रह्मचारी" वह है कि जो "ब्रह्मके समान आचरण करता है, अथवा ब्रह्म बननेके लिये व्रतका आचरण करता है।" ब्रह्मका आचरण कैसा होता है, इस विषयमें प्रारंभके पर्याय सूक्तमें अच्छा वर्णन आगया है। ब्रह्मचारी वैसा बनना चाहता है। और जो ब्रह्मचारी वैसा सद्गुणैश्वर्यसंपन्न होता है, उसकी योग्यता विशेष ही उच्च होती है।

जब ऐसा सुयोग्य ब्रह्मचारी पूर्व, पश्चिम, दक्षिण और उत्तर दिशाओंके देशदेशान्तरोंमें भ्रमण करता है, जनताको धर्म और सदाचारका सन्देश सुनाता है, लोगोंका भला करनेके लिये आत्मसमर्पण करता है, तब जगत्के संपूर्ण देव सूर्य, चन्द्र, विश्वेदेव, वरुण, सप्तर्षि आदि सब उसकी सहायता करते हैं, वेदके रथन्तरादि सब प्रभावशाली मंत्र उसके अन्दर उनके ज्ञानविज्ञानके साथ उपस्थित होते हैं। श्रद्धा उसकी धर्मपत्नी नित्य उसकी आज्ञामें उपस्थित होती है, उषाके समय उस धर्मपत्नी श्रद्धाके साथ उपासनाके कार्य वह करता है, इरा अर्थात् वाणी उसकी श्रद्धा की अनुसारिणी होती है, जैसी बिजली मेघमें शोभा देती है, इसी प्रकार उसकी

सुसंस्कृत वाणी उषाके समय उसकी श्रद्धासे युक्त होकर उसकी शोभा बढाती है।

उसका मित्र वेदमंत्ररूपी (मागध) स्तुतिपाठक है, अर्थात् वह यदि किसी की स्तुति करता है, तो केवल सबके मित्र रूप परमेश्वरकी स्तुति वेदमंत्रोंसे करता है। किसी भी लालचमें पडकर वह किसी मर्त्यकी प्रशंसा करनेका कार्य नहीं करता। वेदमंत्रके उपदेशोंकी सत्यता देखकर ही उसको आश्चर्यदर्शक (हसः) हास्य आता है, उसी दिव्य हास्यमें वह मस्त रहता है और जब वह उपदेश देता है, वेदमंत्रोंकी व्याख्या करता है, तब ऐसा प्रतीत होता है कि मेघगर्जना (स्तनयित्नुः) होकर अमृत जैसे वेदोपदेशकी वर्षा ही होरही है!!

वस्त्र (वासः) शरीरकी लज्जानिवारणके लिये होता है, उसके शरीर, इंद्रियां, मन और बुद्धिकी लज्जा निवारण करनेके लिये उसका वस्त्र (विज्ञान) ज्ञान और विज्ञान, बोध और प्रतिबोध ही होता है। इसी विज्ञानका वस्त्र पहिना हुआ वह ब्रह्मचारी वस्त्राभूषण की अपेक्षासे अधिक ही सुशोभित होता है। क्योंकि ज्ञान विज्ञान ही मनुष्य का उत्तम भूषण है।

दिन उसका शिरोवस्त्र, पगडी अथवा साफा है, रात्रीका कृष्ण वर्ण उसके केश हैं, सूर्यकिरण उसके कुण्डल हैं, आकाशके तारागण उसके मणि हैं। अर्थात् ये ही उसकी शोभा बढानेवाले उसके जेवर हैं। इस तरह वह ब्रह्मचारी निसर्गकोही अपना भूषण बनाता है, सोने चांदीके जेवर मनुष्यका भूषण नहीं बन सकते, जो विज्ञानात्मा पुरुष है उसके ये ही भूषण हैं। निसर्गनियमोंसे युक्त जीवन व्यतीत करनेवाला ब्रह्मचारी होता है, अतः निसर्गके पदार्थ ही उसका भूषण बढाते हैं।

भूतकालका इतिहास और भविष्यकालकी उन्नतिकी योजना (भूतं भविष्यत् च) ये दो उसके रक्षक हैं। इनके द्वारा यह सुरक्षित होता हुआ अपना प्रचारका कार्य करता है। इसी तरह अमावास्या और पौर्णमासी अर्थात् महिनेके शुक्ल और कृष्ण पक्ष, दिन और रात्री ये अहोरात्रके दो विभाग, तथा [श्रुतं विश्रुतं] ज्ञान और विज्ञान, सुना हुआ उपदेश और उसके मननसे प्राप्त हुआ विज्ञान ये भी उसके रक्षक अर्थात् उसकी रक्षा करनेवाले हैं। यह ब्रह्मचारी जो उपदेश करता है उसका आधार ' भूत ' कालके इतिहासमें होता है और इसका यह उपदेश श्रवण करनेसे श्रोताओंके मनमें भविष्यकालकी बडी भारी आशाएं, अपनी उन्नतिकी आकांक्षाएं, उत्पन्न होती हैं, और इनसे श्रोताओंकी क्रमसे उन्नति होती है और दिन रात्रि का कार्यक्रम, पूर्व और उत्तर पक्षके कार्यक्रम उसके उपदेशसे निश्चित होते हैं। इस तरह [श्रुत] ज्ञान और [विश्रुत] विज्ञानसे यह ब्रह्मचारी सबकी उन्नति करता है।

मनुष्य ' मनोरथ ' करता रहता है, ये केवल उसके 'मन' के ही " रथ " होते हैं। कई लोग हवामें किले बनाते हैं। वे भी मनोरथ ही होते हैं। इसी प्रकार यह ब्रह्मचारी भी (मनः— विपथं) मनके रथ उडाता है, मनसे ही रथोंको बनाकर मनसे ही उसमें बैठता है और मनसे ही सैर करता है। इसके मनोरथके (मातरिश्वा पवमानः च) श्वास और उच्छ्वास ये दो घोडे हैं। जो पाठक प्राणायाम करते हैं वे जानते हैं कि, प्राणकी स्थिरतापर मनकी स्थिरता अवलंबित है। क्योंकि मनके घोडे प्राण हैं, अर्थात् मनोरथ के घोडे प्राण हैं। ये घोडे स्थिर रहे तो ही रथ स्थिर रहता है और घोडे चलने लगे तो रथ चलता है। प्राण और मनका संबंध नित्य है यह गुप्त बात यहां इस अलंकारसे बतायी है। प्राणको चंचल रखते हुए कोई भी मनुष्य अपने मनको शान्त नहीं कर सकता।

इस प्रकारके सुयोग्य ब्रह्मचारीको कीर्ति और यश प्राप्त होता है। कीर्ति और यश की कुंजी इस सदाचार में है, इस की योग्यतामें इसका यश है। जो अपनी योग्यता इस ब्रह्मचारी जैसी बनाता है वह भी कीर्तिमान और यशस्वी हो जाता है। यह सब उपदेश पाठक द्वितीय पर्याय सूक्तमें देख सकते हैं।

ब्रह्मचारीका आसन।

ब्रह्मचारी संवत्सरभर तपस्या करता है, वह खडा रहकर तपस्या करता है। उसकी यह तपस्या देखकर अन्योंको कष्ट होते हैं। वे उसको बैठनेके लिये चौकी देते हैं। परंतु जिस चौकीपर यह ब्रह्मचारी बैठता है वह ज्ञानकी चौकी होती है। लकडीकी चौकी उसको पसंद नहीं है।

इस ब्रह्मचारीके चौकीके पांव वसंत, ग्रीष्म, वर्षा और शरत् ये चार ऋतु हैं; अर्थात् इन ऋतुओं पर यह रहता है। बृहत्, रथन्तर आदि साम इस चौकी के फलक होते हैं। इस चौकीपर गद्दी बिछायी होती है, उसके कपडेके लंबाई चौडाईके

तन्तु ऋग्वेद यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेदके मंत्र होते हैं। अर्थात् वेदके ज्ञानकी गद्दीपर यह आरूढ होता है। इस ज्ञानमय सिंहासनपर यह विराजमान होता है, इस समय सब देव इसके रक्षक बनते हैं और वे अपनी विविध शक्तियोंसे इसके चारों ओर आकर खडे होते हैं।

जो ज्ञानके अटल आधारपर खडा होता है, उसकी ऐसी ही विशेष योग्यता होती है। यह उपदेश तृतीय पर्यायसूक्तमें दिया है।

रक्षक ऋतु और देव।

आगे चतुर्थ पर्याय सूक्तमें कहा है कि, छहों ऋतु और उनके बारहों महिने उसके (गोप्तारौ) रक्षक होते हैं। अर्थात् इन सब महिनोंमें उसकी रक्षा होती है।

इसके अनंतर पञ्चम पर्याय सूक्तमें कहा है कि सब दिशा और अन्तर्दिशाओंमें भव, शर्व, पशुपति, उग्रदेव, रुद्र, महादेव और ईशान ये सात देव अपने धनुष्यबाण हाथमें धारण करके इसके साथी होते हैं और इसकी रक्षा करते हैं। पाठक यहां यह न समझें कि ये सात देव भिन्न हैं। ये 'ईशान' के ही नाम हैं। ईशान ही एक देव है जिसके गुणधर्म बोधक ये सात नाम हैं। वह एक देव सबका ईश अथवा स्वामी है इसलिये उसको 'ईशान' कहते हैं; इसके आधीन अनंत देव हैं उन सब देवोंपर यह मुख्य अधिष्ठाता होनेसे इसको 'महादेव' कहते हैं। यही ईश्वर सब दुष्ट और पापकर्मियोंको योग्य दण्ड देकर रुलाता है, इसलिये इसको 'रुद्र' कहते हैं। पापियोंको यही भयंकर 'उग्र' वीरभद्र प्रतीत होता है। इसके पास अतुल पाशवी शक्ति रहती है, अथवा यह सब जीवोंका पालक है इसलिये इसको 'पशुपति' कहते हैं। यह अत्यंत गतिमान् प्रचण्ड वेगवान् होनेसे इसको "शर्व" (शर्वति गच्छति) कहते हैं और सब जगत्को भूति और ऐश्वर्य प्रदान करता है, इसलिये इसको 'भव' कहते हैं। इस तरह ये सातों शब्द एक ही देवके वाचक हैं। यह एक देव ये सात कर्म करता है, इसलिये ये सात नाम इसको प्राप्त होते हैं। यह सबका देवाधिदेव इस ब्रह्मचारीका साथी, मित्र, रक्षक और अनुगामी होता है।

देवोंकी सहायता।

आगे षष्ठ पर्याय सूक्तमें इस ब्रह्मचारीको सब देवताओंकी सहायता होती है. ऐसा वर्णन है। भूमिके अन्दर उसको भूमि, अग्नि, औषधियां, वनस्पतियां, वृक्ष आदि सहायक होते हैं। ऊर्ध्वभागसे सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, मेघोदक और वायुकी सहायता होती है। उत्तम ज्ञानक्षेत्रमें ऋचा, यजु, साम और ब्रह्म अर्थात् अथर्ववेदके मन्त्र सहायक होते हैं। इतिहासकी बडी दिशामें इतिहास, पुराण, गाथा, नाराशंसी उसके अनुकूल होते हैं। यज्ञक्षेत्रमें आहवनीय, गार्हपत्य आदि यज्ञ उसकी सहायता करते हैं। कालक्षेत्रमें ऋतु, महिने, पक्ष, अहोरात्र ये उसके सहायक होते हैं। आध्यात्मिक क्षेत्रमें वह आगे बढता है वहां (अदिति) मूल प्रकृति, (दिति) प्रकृतिकी विकृति, (इन्द्राणी) इन्द्र अर्थात् आत्माकी शक्ति (इडा) वाणी आदिकी सहायता होती है। और इस क्षेत्रमें उसको ऐसा आनन्द प्राप्त होता है कि उसमें तृप्त होता हुआ यह (न अवरस्यन् इति अमन्यत) यहांसे वापस न होऊंगा ऐसा मानता है। इतनी तल्लीनता उसमें इसको प्राप्त होती है। आगे इसको सभी देव सहायता करते हैं और वह उन सब का प्रिय धाम बनता है।

सप्तम पर्याय सूक्तमें कहा है कि ऐसी पूर्ण अवस्था प्राप्त होने पर उसको उत्तम श्रद्धा स्वानुभवसे प्राप्त होती है। इसके पश्चात् वह इस अनुभवको कभी भूलता नहीं। यहां पूर्ण ब्रह्मावस्था इसको प्राप्त हुई होती है। यही सच्चा ब्राह्मण है।

क्षत्रियविभाग।

वैदिक स्वराज्य।

क्षत्रिय भी ब्रह्मचर्य पालन करता है और उत्तम क्षत्रिय-होता है। इसको 'राजन्य' इसलिये कहते हैं कि (सः अरज्यत) वह लोगोंका रंजन करता है। जनोंको प्रसन्न रखता है। वह जनताको सुरक्षित रखता है। सब प्रजाजनों की रक्षा करनेसे उसको सब प्रकार खानपान आदि भोग प्राप्त होते हैं और सब लोग उसके अनुयायी होते हैं। इतना विषय अष्टम पर्याय सूक्तमें कहा है और नवम पर्याय सूक्तमें आगे राजप्रकरणका ही उपदेश करते हैं–

(सः विशः अनुव्यचलत्) वह क्षत्रिय राजा ब्रह्मचर्य पालन के पश्चात् राजगद्दीपर आरूढ होकर प्रजाके मतानुसार राज्यशासन चलाने लगा। राजा प्रजामतानुसार होनेसे उस राजाको (सभा) ग्रामसभा, (समिति) राष्ट्रीय महापरिषद, (सेना) चतुरंग सैन्य और (सुरा) ऐश्वर्य, धनकोश उसके अनुकूल होते हैं। अर्थात् जो राजा प्रजामतानुसारी नहीं होता उसको इनकी अनुकूलता नहीं होती। इसका सीधा भाव यह

है कि प्रजाकी सभा, सेना और धनकोश इनपर राजाका अधिकार नहीं है । इसलिये प्रजाकी प्रसन्नतासे ही उनकी अनुकूलता राजाको होती है, अन्यथा नहीं ।

वैदिक स्वराज्यका यह आदर्श है। पूर्ण स्वराज्य इसीका नाम है। जिस राज्यव्यवस्थामें प्रजाका रंजन करनेवाला राजा ही राजगद्दीपर रह सकता है और प्रजाका भंजन करनेवाला राष्ट्रसे उतारा जाता है और जिस शासनसंस्थामें धनकोश, सेना और राष्ट्रसभा प्रजामतके आधीन होते हैं,उसीको "वैदिक स्वराज्यशासन" कह सकते हैं। इससे भिन्न अन्य शासन आसुरी शासन समझना उचित है ।

इस स्थानपर 'सुरा' शब्द धनकोश वाचक है। 'सुर ऐश्वर्य' धातुसे यह शब्द ऐश्वर्य और धन आदिका वाचक बनता है। 'सुरा' शब्दका आजकल प्रसिद्ध अर्थ 'मद्य' है, यह अर्थ यहां नहीं है।

इस तरह क्षात्रनीतिका वर्णन इस सूक्तमें है और यह आजकलके स्वराज्यवादियों के लिये भी एक उत्साह जनक वैदिक संदेश है ।

अतिथिसत्कार ।

आगे दसवें, ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें इन चार पर्याय सूक्तोंमें अतिथिसत्कारका महत्त्वपूर्ण विषय चला है । यहां कहा है कि जिसके घर अतिथि आवे, वह गृहस्थी समझे कि (एनं आत्मनः श्रेयांसं मानयेत्) यह अपनेसे बहुत श्रेष्ठ है और इसका सत्कार करनेसे अपना परम कल्याण निःसन्देह होगा। अर्थात् इस भावनासे अतिथिका बहुत सत्कार गृहस्थी करे । ब्राह्मण प्रत्यक्ष बृहस्पति है और क्षत्रिय (आदित्यः) सूर्य अथवा इन्द्रकी मूर्ति है । यदि इनमेंसे कोई किसी गृहस्थीके घर अतिथि रूपसे आवे, तो उस गृहस्थीका बडा भाग्य है ऐसा समझना चाहिये। अतिथि घरपर आनेपर उसका आदर सत्कार इस प्रकार किया जावे-

१ (व्रात्य क अवात्सीः) ब्रह्मचारीजी, आप कहांके रहनेवाले हैं ?

२ (व्रात्य उदकं) ब्रह्मचारीजी, आपके लिये यह जल लाता हूं ।

३ (तर्पयन्तु) हे अतिथिजी, मेरे लोग आपको तृप्त करें ।

४ (व्रात्य, यथा ते प्रियं तथा अस्तु) हे विद्वान्, जो आपके लिये प्रिय हो वही बने, वही किया जायगा ।

५ (यथा ते वशः तथा अस्तु) जो आपकी इच्छा हो वही होगी ।

६ (यथा ते निकामः, तथा अस्तु) जो आपकी कामना हो वही हो । उसीके अनुसार हम करेंगे ।

इस प्रकार प्रश्न करके और भाषण करके गृहस्थ और उसके घरके मनुष्य अतिथिसेवा करें। और उसकी सेवामें कोई न्यूनता न रखें ।

यदि गृहस्थीके अग्निहोत्र करनेके समय अतिथि आजाय, अथवा अतिथि आनेपर अग्निहोत्र करनेका समय होजावे, तो गृहस्थ अतिथिकी आज्ञासे अग्निहोत्र करे। यदि अतिथि आज्ञा देवे तो अग्निहोत्र करे, उसकी आज्ञा न हुई तो न करे । यदि किसी गृहस्थीने अतिथिकी आज्ञाके विरुद्ध हवन किया तो उसका वह हवन व्यर्थ होता है ॥ (देखो पर्याय सूक्त १२)

अतिथि अनेक दिन घरमें रहा, और उसकी सेवा अच्छी तरहसे की गयी तो बहुत पुण्यफल प्राप्त होता है ।

यदि अतिथिके रूपमें कोई अज्ञानी मनुष्य आजावे, तो भी उसमें अपने उपास्य देवताकी कल्पना करके सब भाग उस देवताको समर्पण करनेकी मनीषासे उस अतिथिको दिये जावें । इससे उपास्य देवकी पूजा होती है ।

यहां १३ वां पर्यायसूक्त समाप्त होता है ।

अतिथिका रूप ।

(सर्वः) बल स्वरूप, (इन्द्रः) शत्रुनिर्दलन करनेवाला (वरुणः) वरिष्ठ देव, (सोमः) शान्त रूप, (विष्णुः) सर्वत्र भ्रमण करनेवाला, (रुद्रः) शत्रुओंको रुलानेवाला, (यमः) नियामक, प्रजाको नियममें रखनेवाला, (अग्निः) तेजस्वी, (बृहस्पतिः) ज्ञानवान्, (ईशानः) स्वामी, (प्रजापतिः) प्रजाका पालक, (परमे-ष्ठी) परम उच्च पदपर विराजमान होने योग्य अतिथि होता है । सुयोग्य अतिथिमें ये सब गुण होनेके कारण उसी अतिथिको ये नाम प्राप्त होते हैं । मानो इन सब देवोंके अंश उस अतिथिमें एकत्रित होते हैं ।

यह वर्णन चतुर्दशवें पर्यायसूक्तमें है, इसके अनंतर पंद्रहवें पर्याय सूक्तमें उसके प्राणोंका वर्णन है । इस अतिथिमें सात प्राण हैं, अग्नि, आदित्य, चन्द्र, वायु, जल, पशु और प्रजा ये सात देवता उसके सात प्राणोंमें निवास करते हैं । सात प्राण ये सात इंद्रियों में रहनेवाली सात महाशक्तियां हैं।

आगे सोलहवें पर्यायसूक्तमें अतिथिके सात अपानोंका वर्णन है । पौर्णमासी, अष्टका, अमावास्या, श्रद्धा, दीक्षा, यज्ञ

और दक्षिणा ये सातों उसके अपानोंमें रहते हैं । मनुष्योंका सब दुःख दूर करनेवाली शक्तिका नाम (सर्वं दुःखं अपानयति इति अपानः) अपान है । ये सातों श्रद्धा दीक्षा आदि मनुष्यके दुःखोंको दूर करती हैं इसलिये इनका नाम यहां अपान रखा है ।

आगे सतरहवें पर्यायसूक्तमें अतिथिका व्यान, भूमि, अन्तरिक्ष, द्यौ, नक्षत्र, ऋतु, ऋतूद्भवपदार्थ, संवत्सर रूप हैं ऐसा वर्णन है और अठारहवें पर्यायसूक्तमें अतिथिकी आंखें सूर्य और चन्द्र, कान अग्नि और वायु, नाक अहोरात्र, शीर्षकपाल दिति और अदिति, और संवत्सर उसका सिर है ।

इस प्रकारका पूज्य व्रात्य सबको नमस्कार करनेयोग्य है ।

इस प्रकरणमें जो अतिथिका स्वरूप वर्णन किया है वह ठीक प्रकार ध्यानमें नहीं आता । तथापि इससे इतना ही प्रतीत होता है कि अतिथि सर्व देवतारूप होनेके समान परम पूज्य है ।

इस पंदरहवें काण्डमें अतिथि सत्कारका विषय है । और प्रत्येक गृहस्थीका यह धर्म होनेसे इस काण्डका विचार प्रत्येक गृहस्थीको करना अत्यंत आवश्यक है ।

पंदरहवाँ काण्ड समाप्त

ॐ

अथर्ववेद

का

सुबोध भाष्य ।

षोडशं काण्डम् ।

अथर्ववेदका सुबोध भाष्य

षोडश काण्ड ।

इस सोलहवें काण्डमें भी विभिन्न विषयोंके मंत्र नहीं हैं,प्रायःसब काण्डका मुख्य विषय "पापमोचनपूर्वक विजयप्राप्ति" है। सब मंत्रोंका साध्य यही एक है और इसलिये अथर्ववेदके तृतीय महाविभागमें इन मंत्रोंका परिगणन किया है।

इस काण्डके प्रारंभमें 'अतिसृष्टः' शब्द है। इसका भाव है "मुक्त हुआ"। काण्डके प्रारंभमें मुक्त होनेका उल्लेख मंगलवाचक है अर्थात् इस शब्दसे इस काण्डका मंगलाचरण हुआ है।

इस काण्डमें ९ पर्यायसूक्त हैं, पहिले चार पर्यायसूक्तोंका एक अनुवाक है और शेष पांच सूक्तोंका दूसरा अनुवाक है। इस काण्डमें कुल मंत्र १०३ हैं परंतु दूसरी प्रकारकी गिनतीसे ८७ हैं। अब इसके ऋषि देवता छंद देखिये-

सूक्त	मंत्रसंख्या	ऋषि	देवता	छंद
प्रथमोऽनुवाकः ।				
१	१३	अथर्वा	प्रजापतिः	१, ३ द्विप. साम्नी बृहती; २, १० याजुषी त्रिष्टुप् ४ आसुरी गायत्री; ५,८ साम्नी पंक्तिः (५ द्विप.); ६ साम्नी अनुष्टुप्; ७ निचृत् विराड् गायत्री; ९ आसुरी पंक्तिः; ११ साम्नी उष्णिक्; १२, १३ आर्ची अनुष्टुप् ।
२	६	,,	वाक्	१ आसुरी अनुष्टुप्; २ आसुरी उष्णिक्; ३ साम्नी उष्णिक् ४ त्रिप. साम्नी बृहती; ५ आर्ची अनुष्टुप्; ६ निचृद्विराड् गायत्री ।
३	६	ब्रह्मा	आदित्य	१ आसुरी गायत्री; २,३ आर्ची अनुष्टुप्; ४ प्राजा. त्रिष्टुप् ५ साम्नी उष्णिक्; ६ द्विप. साम्नी त्रिष्टुप् ।
	७	,,	,,	१,३ साम्नी अनुष्टुप्; २ साम्नी उष्णिक्; ४ त्रिप० अनुष्टुप्; ५ आसुरी गायत्री; ६ आर्ची उष्णिक्; ७ त्रिप. विराड् गर्भानुष्टुप्
द्वितीयोऽनुवाकः				
५	१०	यम.	दुःष्वप्ननाशनं	प्र. १-६ विराड् गायत्री (५ प्र. भुरिक्, ६ प्र. स्वराड्), १ द्वि, ६ द्वि. प्राजा० गायत्री; १ तृ; ६ तृ. द्विप. साम्नी बृहती ।

६	११	,,	,, उषा	१–४ प्राजा० नुष्टुप्; ५ साम्नी पंक्तिः; ६ निचृत् आर्ची बृहती; ७ द्विप. साम्नी बृहती. ८ आसुरी जगती; ९ आसुरी बृहती; १० आर्ची उष्णिक्; ११ त्रिप. यवम० गायत्री; आर्ची अनुष्टुप्
७	१३	,,	,,	१ पंक्तिः; २ साम्नी अनुष्टुप्; ३ आसुरी उष्णिक्, ४ प्राजा० गायत्री ; ५ आर्ची उष्णिक्, ६. ९, ११ साम्नी बृहती; ७ याजुषी गायत्री; ८ प्राजा० बृहती १० साम्नी गायत्री; १२ भुरिक् प्राजा० अनुष्टुप्, १३ आसुरी त्रिष्टुप् ।
८	२७ (१३)	,,	,,	प्र. १–२७ एकप. यजुर्बाह्मी अनुष्टुप्; द्वि. १–२७ त्रिप. निचृद्गायत्री; तृ. १ प्राजा० गायत्री; च. १–२७ त्रिप. प्राजा. त्रिष्टुप्; तृ. २–४, ९, १७, १९, २४ आसुरी जगती; तृ. ५, ७, ८, १०, ११, १३, १८ आसुरी त्रिष्टुप्; तृ. ६, १२, १४—१६, २०– २३, २७ आसुरी पंक्तिः; तृ. २५, २६ आसुरी बृहती ।
९	४ ९७ (१०३)		१ प्रजापति २ मंत्रोक्त० ३.४ सूर्यः	१ आर्ची अनुष्टुप्; २ आर्ची उष्णिक्; ३ साम्नी पंक्तिः; ४ परोष्णिक् ।

इस काण्डमें एक सूक्तके ही ९ पर्यायसूक्त होनेके कारण काण्डके अन्तमें ही सब मंत्रोंका इकट्ठा विचार करेंगे ।

ॐ

अथर्ववेदका सुबोध भाष्य ।

षोडशं काण्डम्

दुःस्वमोचन और विजयप्राप्ति।

(१)

अतिसृष्टो अपां वृषभोऽतिसृष्टा अग्नयो दिव्याः ॥ १ ॥
रुजन् परिरुजन् मृणन् प्रमृणन् ॥ २ ॥
म्रोको मनोहा खनो निर्दाह आत्मदूषिस्तनूदूषिः ॥ ३ ॥
इदं तमति सृजामि तं माभ्यवनिक्षि ॥ ४ ॥
तेन तमभ्यतिसृजामो यो३ऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ ५ ॥

१ [१] [अपां वृषभः अतिसृष्टः] जलोंकी वर्षा करनेवाला मुक्त हुआ, [दिव्याः अग्नयः अतिसृष्टाः] दिव्य अग्नि मुक्त किये गये ॥ १ ॥ [रुजन् परिरुजन्] तोडता हुआ, सब रीतिसे फोडता हुआ, [मृणन् प्रमृणन्] मारता हुआ और नाश करता हुआ ॥ २ ॥ [म्रोकः खनः] घातक और खोदनेवाले [निर्दाहः] दाह करनेवाले [मनो-हा] मनका नाश करनेवाले [आत्मदूषिः] आत्माको दूषण देनेवाले और [तनू-दूषिः] शरीरको दूषित करनेवाले ॥ ३ ॥ [इदं तं अतिसृजामि] इस और उस शत्रुको मैं दूर करता हूं [तं मा अभ्यवनक्षि] उसको मैं कदापि पुनः प्राप्त न होऊं ॥ ४ ॥ [यः अस्मान् द्वेष्टि] जो हमारा द्वेष करता है और [यं वयं द्विष्मः] जिसका हम द्वेष करते हैं, [तं तेन अभि अति सृजामः] उसको उसके द्वारा हम दूर करते हैं ॥५॥ [अपां अग्रं असि] तू जलोंका अग्रभाग है। [यः समुद्रं अभिअवसृजामि]

अपामग्रमसि समुद्रं वोऽभ्यवसृजामि ॥ ६ ॥
योऽप्स्व१ग्निरति तं सृजामि म्रोकं खनिं तनूदूषिम् ॥ ७ ॥
यो व आपोऽग्निराविवेश स एष यद् वो घोरं तदेतत् ॥ ८ ॥
इन्द्रस्य व इन्द्रियेणाभि षिञ्चेत् ॥ ९ ॥ अरिप्रा आपो अप रिप्रमस्मत् ॥१०॥
प्रास्मदेनो वहन्तु प्र दुष्वप्न्यं वहन्तु ॥११॥
शिवेन मा चक्षुषा पश्यतापः शिवया तन्वोप स्पृशत त्वचं मे ॥१२॥
शिवानग्नीनप्सुषदो हवामहे मयि क्षत्रं वर्च आ धत्त देवीः ॥१३॥

(२)

निर्दुरर्मण्य ऊर्जा मधुमती वाक् ॥ १ ॥ मधुमती स्थ मधुमतीं वाचमुदेयम् ॥ २ ॥
उपहूतो मे गोपा उपहूतो गोपीथः ॥ ३ ॥
सुश्रुतौ कर्णौ भद्रश्रुतौ कर्णौ भद्रं श्लोकं श्रूयासम् ॥ ४ ॥
सुश्रुतिश्च मोपश्रुतिश्च मा हासिष्टां सौपर्णं चक्षुरजस्रं ज्योतिः ॥ ५ ॥
ऋषीणां प्रस्तरोऽसि नमोऽस्तु दैवाय प्रस्तराय ॥ ६ ॥

तुम्हें समुद्रके प्रति मैं छोड देता हूं ॥ ६ ॥ [यः अप्सु अग्निः] जो जलोंमें अग्नि है [तं अति सृजामि] उसको मैं मुक्त करता हूं । [म्रोकं खनिं तनूदूषिं] घातक खादक और शरीरको दूषित करनेवालेको दूर करता हूं ॥७॥ [यः अग्निः आपः व आविवेश] जो अग्नि आप जलोंके प्रति प्रविष्ट हुआ है [सः एषः] वह यह है, [यत् वः घोरं तत् एतत्] जो आपके लिये भयंकर है वह यह है ॥ ८ ॥ [इन्द्रस्य इंद्रियेण वः अभिषिञ्चेत्] इन्द्रके इंद्रियसे आपका अभिषेक किया जावे ॥ ९ ॥ [अरिप्राः आपः] निर्दोष जल है वह [अस्मत् रिप्रं अप] हमसे मल दूर करे ॥ १० ॥ [अस्मत् एनः प्रवहन्तु] हमसे पाप दूर करे तथा [दुष्वप्न्यं प्र वहन्तु] दुष्ट स्वप्नके हेतुको भी दूर करे ॥११॥ हे [आपः] जलो! [मा शिवेन चक्षुषा पश्यत] मुझे कल्याणकारी दृष्टिसे देखो, [मे त्वचं शिवया तन्वा उपस्पृशत] मेरी त्वचाको अपनी शुभ तनुसे स्पर्श करो ॥ १२ ॥ [अप्सुषदः शिवान् अग्नीन् हवामहे] जलमें रहनेवाले शुभकारी अग्नियोंको हम बुलाते हैं, [देवीः] हे दिव्य जलो [मयि क्षत्रं वर्चः आधत्त] मुझमें क्षात्र बल और तेज धारण करो ॥ १३ ॥

[२] [दुः अर्मण्यः निः] दुर्गति दूर हो, [ऊर्जा मधुमती वाक्] बलवाली मीठी वाणी हो ॥ १ ॥ वाणि [मधुमती स्थ] मीठी हो, [मधुमतीं वाचं उदेयं] मीठा भाषण बोलूं ॥ २ ॥ [मे गोपा उपहूतः] मेरा गोपालक —इंद्रियपालक—बुलाया गया, [गोपीथः उपहूतः] वाणीका रक्षक, गोरक्षक अथवा इंद्रियरक्षक बुलाया है ॥ ३ ॥ [सु-श्रुतौ कर्णौ] मेरे दोनों कान उत्तम ज्ञान सुननेवाले हों, [भद्रश्रुतौ कर्णौ] कल्याण वचन सुननेवाले मेरे कान हों, [भद्रं श्लोकं श्रूयासं] कल्याणमयी प्रशंसा मैं सुना करूंगा ॥ ४ ॥ [सुश्रुतिः च उपश्रुतिः च] उत्तम श्रवणशक्ति और दूरसे सुननेकी शक्ति [मा मा हासिष्टां] मुझे कदापि न छोडें । [सौपर्णं ज्योतिः चक्षुः] गरुडके समान तेजस्वी दृष्टि मेरे पास [अजस्रं] सदा रहे ॥ ५ ॥ [ऋषीणां प्रस्तरः असि] तू ऋषियोंका प्रस्तर है, [दैवाय प्रस्तराय नमः अस्तु] देव रूप प्रस्तरको नमस्कार हो ॥ ६ ॥

(३)

मूर्धाहं र॒यी॒णां मू॒र्धा स॑मा॒नानां॑ भूयासम् ॥ १ ॥
रु॒जश्च॑ मा वे॒नश्च॒ मा हा॑सिष्टां मू॒र्धा च॑ मा वि॒धर्मा॑ च॒ मा हा॑सिष्टाम् ॥ २ ॥
उ॒र्वश्च॑ मा चम॒सश्च॒ मा हा॑सिष्टां ध॒र्ता च॑ मा ध॒रुण॑श्च मा हा॑सिष्टाम् ॥ ३ ॥
वि॒मो॒कश्च॑ मा॒र्द्रप॑विश्च मा हा॑सिष्टामा॒र्द्रदा॑नुश्च मा मा॒त॒रिश्वा॑ च॒ मा हा॑सिष्टाम् ॥ ४ ॥
बृह॒स्पति॑र्म आ॒त्मा नृ॒मणा॒ नाम॒ हृद्यः॑ ॥ ५ ॥
अ॒सं॒ता॒पं मे॒ हृद॑यमु॒र्वी गव्यू॑तिः समु॒द्रो अ॑स्मि॒ विध॑र्मणा ॥ ६ ॥

(४)

नाभि॑र॒हं र॑यी॒णां नाभिः॑ समा॒नानां॑ भूयासम् ॥ १ ॥
स्वा॒सद॑सि सू॒षा अ॒मृतो॒ मर्त्ये॒ष्वा ॥ २ ॥
मा मां प्रा॒णो हा॑सी॒न्मो अ॑पा॒नोऽव॒हाय॒ परा॑ गात् ॥ ३ ॥
सूर्यो॒ माह्नः॑ पात्व॒ग्निः पृ॑थि॒व्या वा॒युर॒न्तरि॑क्षाद् य॒मो म॑नु॒ष्ये॒भ्यः॒ सर॑स्वती॒ पार्थि॑वेभ्यः ॥ ४ ॥
प्रा॒णा॑पा॒नौ मा मा॑ हासिष्टं॒ मा जने॒ प्र मे॑षि ॥ ५ ॥

---

[३] [रयीणां अहं मूर्धा भूयासं] धनोंका मैं मस्तकके समान ऊंचा स्वामी बनूं । तथा [समानानां मूर्धा भूयासं] समानों में मैं मुखिया बनूं ॥ १ ॥ [रुजः च वेनः च मा मा हासिष्टां] तेज और कान्ति मुझे न छोडें, [मूर्धा च विधर्मा च मा मा हासिष्टां] सिर और विशेष धर्म मुझे न छोडें ॥ २ ॥ [उरुः च चमसः च मा मा हासिष्टां] पकानेके पात्र और चमस मुझे न छोडें । [धर्ता च धरुणः च मा मा हासिष्टां] धारक और आधार देनेवाला मुझे न छोडे ॥ ३ ॥ [विमोकः च आर्द्रपविः च मा मा हासिष्टां] मुक्त करनेवाला और गीला शस्त्र मुझे न छोडे । [आर्द्रदानुः च मातरिश्वा च मा मा हासिष्टां] जल देनेवाला और वायु मुझे न छोडें ॥ ४ ॥ [बृहस्पतिः मे आत्मा] मेरा आत्मा ज्ञानवाला और [नृमणाः नाम हृद्यः] मनुष्योंमें मनन करनेवाला हृदयमें रहनेवाला है ॥ ५ ॥ [मे हृदयं अ संतापं] मेरा हृदय संतापरहित हो । [गव्यूतिः उर्वी] मेरे गौवोंकी युती बडी हो । [विधर्मणाः समुद्रः अस्मि] विशेष धर्मोंसे मैं समुद्रके समान हूं ॥ ६ ॥

[४] [अहं रयीणां नाभिः] मैं धनोंका केन्द्र और [समानानां नाभिः भूयासं] समानोंका भी केन्द्र बनूं ॥ १ ॥ [मर्त्येषु अमृतः] मर्त्योंमें अमर [सु-आसत्] उत्तम रीतिसे बैठनेवाला और [सु-उषा] उत्तम तेजवाला तू आत्मा [असि] है ॥ २ ॥ [प्राणः मां मा हासीत्] मुझे न छोडे । [अपानः अवहाय मा परा गात्] अपान भी छोडकर दूर न चला जावे ॥ ३ ॥ [सूर्यः अह्नः मा पातु] सूर्य दिनमें मेरी रक्षा करे, [अग्निः पृथिव्याः] अग्नि पृथ्वीसे [वायुः अन्तरिक्षात्] वायु अन्तरिक्षसे [यमः मनुष्येभ्यः] यम मनुष्योंसे और [सरस्वती पार्थिवेभ्यः] सरस्वती पृथ्वीसे उत्पन्न पदार्थोंसे मेरी रक्षा करे ॥ ४ ॥ [प्राणापानौ मा मा हासिष्टां] प्राण और अपान मुझे छोडें, [जने मा प्रमेषि] मनुष्योंमें घातक न हो ॥ ५ ॥ हे [आपः] जलो ! [अद्य स्वस्ति] आज कल्याण हो, [उषसः दोषसः च] दिनों और

स्वुरत्यं॑ योपसौ दो॒षस॑श्च सर्वं॑ आपः सर्वंगणो अशीय ॥ ६ ॥
शक्व॑री स्थ प॒शवो॒ मोपं स्थेषुर्मि॒त्रावरु॑णौ मे प्राणापा॒नाव॒ग्निर्मे॒ दक्षं॑ दधातु ॥ ७ ॥

(५)

वि॒द्म ते॑ स्वप्न ज॒नित्रं॑ ग्राह्याः॑ पु॒त्रो॑ऽसि य॒मस्य॒ कर॑णः ॥ १ ॥
अन्त॑कोऽसि मृ॒त्युर॑सि ॥ २ ॥
तं त्वा॑ स्वप्न॒ तथा॒ सं वि॑द्म॒ स नः॑ स्वप्न दु॒ष्वप्न्या॑त् पाहि ॥ ३ ॥
वि॒द्म ते॑ स्वप्न ज॒नित्रं॒ निर्ऋ॑त्याः पु॒त्रो॑ऽसि य॒मस्य॒ कर॑णः । ० । ० ॥ ४ ॥
वि॒द्म ते॑ स्वप्न ज॒नित्र॒मभू॑त्याः पु॒त्रो॑ऽसि य॒मस्य॒ कर॑णः । ० । ० ॥ ५ ॥
वि॒द्म ते॑ स्वप्न ज॒नित्रं॒ निर्भू॑त्याः पु॒त्रो॑ऽसि य॒मस्य॒ कर॑णः ॥ ६ ॥
वि॒द्म ते॑ स्वप्न ज॒नित्रं॒ परा॑भूत्याः पु॒त्रो॑ऽसि य॒मस्य॒ कर॑णः । ० । ० ॥ ७ ॥
वि॒द्म ते॑ स्वप्न ज॒नित्रं॑ देवजामी॒नां पु॒त्रो॑ऽसि य॒मस्य॒ कर॑णः ॥ ८ ॥ अन्त॑कोऽसि मृ॒त्युर॑सि ॥ ९ ॥ तं त्वा॑ स्वप्न॒ तथा॒ सं वि॑द्म॒ स नः॑ स्वप्न दु॒ष्वप्न्या॑त् पाहि ॥ १० ॥

(६)

अजै॑ष्मा॒द्यास॑नामा॒द्याभू॒माना॑गसो व॒यम् ॥ १ ॥ उषो॒ यस्मा॑द् दु॒ष्वप्न्या॒दभै॑ष्मा॒प तदु॑च्छतु ॥ २ ॥

रात्रियोंसे [सर्वः सर्वगणः] सब और सब गणोंसे युक्त होकर [अशीय] सुख प्राप्त करूं ॥ ६ ॥ [शक्वरीः स्थ] आप सामर्थ्यवान हो, [पशवः मा उपस्थेषुः] पशु मेरे पास रहें, (मित्रावरुणौ मे प्राणापानौ) मित्र और वरुण मुझे प्राण और अपान तथा (अग्निः मे दक्षं दधातु) अग्नि मुझे बल धारण करे ॥ ७ ॥

[५] (स्वप्न ! ते जनित्रं विद्म) हे स्वप्न ! तेरी उत्पत्तिका हेतु हमें पता है । तू (ग्राह्याः पुत्रः असि) तू व्याधी-का पुत्र है और (यमस्य करणः) यमका साधन है ॥ १ ॥ तू (अन्तकः असि) अन्त करनेवाला है और तू (मृत्युः असि) मृत्यु है ॥ २ ॥ हे स्वप्न ! (तं त्वा तथा सं विद्म) उस तुझको वैसा हम जानते हैं । हे स्वप्नः ! (सः नः दुष्वप्न्यात् पाहि) वह तू हमें दुष्ट स्वप्नसे बचा ॥ ३ ॥ (स्वप्न ते जनित्रं विद्म) हे स्वप्न तेरी उत्पतिका हेतु हमें पता है तू (नि-र्ऋत्याः पुत्रः असि) दुर्गतिका पुत्र है और (यमस्य०) यमका साधन है० ॥ ४ ॥

स्वप्नका हेतु हम जानते हैं तू (अभूत्याः पुत्रः०) अभूतिका पुत्र है ० ॥ ५ ॥ तू (निर्भूत्याः पुत्रः०) निर्धन-ताका पुत्र है० ॥ ६ ॥ तू (पराभूत्याः पुत्रः०) पराभवका पुत्र है ० ॥ ७ ॥ तू (देवजामीनां पुत्रः) इंद्रियविकृतियोंका पुत्र है० ॥ ८ ॥ (अन्तकः असि मृत्युः असि) तु अन्तक और मृत्यु है ॥ ९ ॥ (स्वप्न, तं त्वा तथा सं विद्म) हे स्वप्न, उस तुझ को वैसा हम जानते हैं (सः नः दुष्वप्न्यात् पाहि) वह तू हमको दुष्ट स्वप्नसे बचा ॥ १० ॥

[६] (अद्य अजैष्म) आज हमने विजय प्राप्त किया है (अद्य असनाम) हमने प्राप्तव्यको प्राप्त किया है (वयं अना-गसः अभूम) हम निष्पाप हुए हैं ॥ १ ॥ हे (उषः) उषः काल ! हम (यस्मात् दुष्वप्न्यात् अभैष्म) जिस दुष्टस्वप्नसे हमे

द्विषते तत् परा वह शपते तत् परा वह ॥ ३ ॥
यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तस्मा एनद् गमयामः ॥ ४ ॥
उषा देवी वाचा संविदाना वाग् देव्यु१षसा संविदाना ॥ ५ ॥
उषस्पतिर्वाचस्पतिना संविदानो वाचस्पतिरुषस्पतिना संविदानः ॥ ६ ॥
तेऽ३मुष्मै परा वहन्त्वरायान् दुर्णाम्नः सदान्वाः ॥ ७ ॥
कुम्भीका दूषीकाः पीयकान् ॥ ८ ॥ जाग्रद्दुष्वप्न्यं स्वप्नेदुष्वप्न्यम् ॥ ९ ॥
अनागमिष्यतो वरानवित्तेः संकल्पानमुच्या द्रुहः पाशान् ॥ १० ॥
तदमुष्मा अग्ने देवाः परा वहन्तु वध्रिर्यथासद् विथुरो न साधुः ॥ ११ ॥

(७)

तेनैनं विध्याम्यभूत्यैनं विध्यामि निर्भूत्यैनं विध्यामि पराभूत्यैनं विध्यामि ग्राह्यैनं विध्यामि तमसैनं विध्यामि ॥ १ ॥ देवानामेनं घोरैः क्रूरैः प्रैषैरभिप्रेष्यामि ॥ २ ॥ वैश्वानरस्यैनं दंष्ट्रयोरपि दधामि ॥ ३ ॥ एवानेवाव सा गरत् ॥ ४ ॥ यो३ऽस्मान् द्वेष्टि तमात्मा द्वेष्टु

भय होता है, (तत् अप उच्छतु) वह हमसे दूर होवे ॥२॥ (तत् द्विषते परा वह) वह द्वेषीके लिये दूर ले जा (तत् शपते परा वह) वह शाप देनेवालेके लिये दूर ले जा ॥ ३ ॥ (यं द्विष्मः) जिसका हम सब द्वेष करते हैं और (यत् च नः द्वेष्टि) जो हम सबका द्वेष करता है, (तस्मै एनत् गमयामः) उसके पास हम इसको ले जाते हैं ॥ ४ ॥ (उषा देवी वाचा संविदाना) उषा देवी वाणीसे संमिलित हो और (वाक् देवी उषसा संविदाना) वाक् देवी उषा देवीसे संमिलित हो ॥ ५ ॥

(उषस्पतिः वाचस्पतिना संविदानः) उषाका पति वाणीके पतिके साथ संमिलित हो, और (वाचस्पतिः उषस्पतिना संविदानः) वाणीका पति उषाके साथ मिले ॥ ६ ॥ (ते अरायान् दुर्णाम्नः सदान्वाः) वे निर्धनता दुष्टनामवाले कष्ट और अन्य आपत्तियां (अमुष्मै परा वहन्तु) उस शत्रुके पास ले जावें ॥ ७ ॥ (कुम्भीकाः दूषीकाः पीयकान्) घटके समान बढनेवाले उदररोगों, शरीरमें दोष उत्पन्न करनेवाले रोगों और प्राणघातक रोगोंको ॥ ८ ॥ तथा (जाग्रत् दुष्वप्न्यं) जाग्रतिके समय आनेवाला दुष्ट स्वप्न, और (स्वप्ने दुष्वप्न्यं) स्वप्न के समय आनेवाला दुष्ट स्वप्न ॥ ९ ॥

(अनागमिष्यतः वरान्) न प्राप्त होनेवाले श्रेष्ठ पदार्थ, (अवित्तेः संकल्पान्) दरिद्रताके संकल्प, (अमुच्याः द्रुहः पाशान्) न छूटनेवाले द्रोहोंके पाशोंको ॥ १० ॥ हे अग्ने ! उन सब विपत्तियोंको (तत् अमुष्मै) शत्रुके पास (देवाः परा वहन्तु) सब देव ले चलें । (यथा) जिससे वह शत्रु (वध्रिः) निर्बल, (विथुरः) व्यथायुक्त और (साधुः न असत्) बुरा होवे ॥ ११ ॥

(७) (तेन एनं विध्यामि) उससे इसका वेध करता हूं, (अभूत्या, निर्भूत्या, ग्राह्या, एनं विध्यामि) दुर्गति दारिद्र्य और रोगसे इसको विद्ध करता हूं । (पराभूत्या०) पराभवसे इसको पीडित करता हूं (तमसा एनं विध्यामि) अज्ञानसे इसको विद्ध करता हूं ॥ १ ॥ (देवानां घोरैः क्रूरैः प्रैषैः) देवोंके घोर क्रूर दुःखोंसे (एनं अभिप्रेष्यामि) इसको दुःखी करता हूं ॥ २ ॥ (वैश्वानरस्य दंष्ट्रयोः एनं अपि दधामि) वैश्वानरकी दाढोंमें इसको धर देता हूं ॥ ३ ॥ (सा एव अनेव) वह आपत्ति इस रीतिसे वा अन्य रीतिसे इस शत्रुको (अव गरत्) निगल जाय ॥ ४ ॥ (यः अस्मान्-

यं वयं द्विष्मः स आत्मानं द्वेष्टु ॥ ५ ॥
निर्द्विषन्तं दिवो निः पृथिव्या निरन्तरिक्षाद् भजाम ॥ ६ ॥ सुयामंश्चाक्षुष ॥ ७ ॥
इदमहमामुष्यायणेऽमुष्याः पुत्रे दुष्वप्न्यं मृजे ॥ ८ ॥
यददोअदो अभ्यगच्छन् यद् दोषा यत् पूर्वां रात्रिम् ॥ ९ ॥
यज्जाग्रद् यत् सुप्तो यद् दिवा यन्नक्तम् ॥ १० ॥
यदहरहरभिगच्छामि तस्मादेनमव दये ॥ ११ ॥
तं जहि तेन मन्दस्व तस्य पृष्टीरपि शृणीहि ॥ १२ ॥
स मा जीवीत् तं प्राणो जहातु ॥ १३ ॥

(८)

जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकमृतमस्माकं तेजोऽस्माकं ब्रह्मास्माकं स्वरस्माकं यज्ञोऽस्माकं पशवोऽस्माकं प्रजा अस्माकं वीरा अस्माकम् ॥ १ ॥
तस्मादमुं निर्भजामोऽमुमामुष्यायणममुष्याः पुत्रमसौ यः ॥ २ ॥
स ग्राह्याः पाशान्मा मोचि ॥ ३ ॥
तस्येदं वर्चस्तेजः प्राणमायुर्नि वेष्टयामीदमेनमधराञ्चं पादयामि ॥ ४ ॥

द्विष्टि) जो हमारा द्वेष करता है (तं आत्मा द्वेष्टु) उसका आत्मा द्वेष करे । (यं वयं द्विष्मः) जिसका हम द्वेष करते हैं (सः आत्मानं द्वेष्टु) वह अपने आत्माका द्वेष करे ॥ ५ ॥

(द्विषन्तं) द्वेष करनेवालेका (दिवः अन्तरिक्षात् पृथिव्याः) द्युलोक, अन्तरिक्ष और पृथिवीके ऊपरसे (निः भजामः) सामना करते हैं ॥ ६ ॥ हे (सुयामन् चाक्षुष) उत्तम नियामक निरीक्षक ! ॥ ७ ॥ (इदं अहं) यह मैं (अमुष्यायणे अमुष्याः पुत्रे) इस गोत्रके इसके पुत्रमें (दुष्वप्न्यं मृजे) दुष्ट स्वप्न भेजता हूं ॥ ८ ॥ (यत् अदः अदः) जो यह दोष (अभिगच्छन्) मैं उसमें प्राप्त करता हूं (यत् दोषा यत् पूर्वां रात्रिं) जो रात्रीमें अथवा पूर्व रात्री में ॥९॥ (यत् जाग्रत्) जो जागते हुए, (यत् सुप्तः) जो सोये हुए (यत् दिवा यत् नक्तं) जो दिनमें और जो रात्रीमें ॥ १० ॥ (यत् अहः अहं अभिगच्छामि) जो प्रतिदिन मैं देखता हूं (तस्मात् एनं अव दये) उस दोषके कारण मैं उसको मारता हूं ॥ ११ ॥ (तं जहि) उसको मार दे, (तेन मन्दस्व) उसके साथ चल, (तस्य पृष्टीः अपि शृणीहि) उसकी पसलियां तोड दे ॥ १२ ॥ (स मा जीवीत्) वह न जीवे, (तं प्राणः जहातु) उसको प्राण छोड देवे ॥ १३ ॥

[८] (अस्माकं जितं) हमारा विजय हो, (अस्माकं उद्भिन्नं) हमारा उदय हो, (अस्माकं ऋतं) हमारा सत्य हो, (अस्माकं तेजः) हमारा तेज बढे, (अस्माकं ब्रह्म) हमारा ज्ञान बढे, (अस्माकं स्वः) हमारा आत्मप्रकाश बढे, (अस्माकं यज्ञः) हमारा यज्ञ सफल हो , (अस्माकं पशवः) हमारे पास पशु हों, (अस्माकं प्रजाः) हमारी प्रजा-संतान-बढे, (अस्माकं वीराः) हमारे अन्दर वीर हों ॥ १ ॥

(तस्मात् अमुं निर्भजामः) इस अपराधके कारण हम उस शत्रुपर हमला चढाते हैं (अमुं आमुष्यायणं अमुष्याः पुत्रं असौ यः) जो इस गोत्रका इसका पुत्र हमारा शत्रु है ॥ २ ॥ (सः ग्राह्याः पाशात् मा मोचि) वह रोगके पाशोंसे न छूटे ॥ ३ ॥ (तस्य इदं वर्चः तेजः प्राणं आयुः निवेष्टयामि) उसका यह तेज बल प्राण और आयुको मैं घेरता हूं और (इदं एनं अधराञ्चं पादयामि) यह मैं इसको नीचे गिराता हूं ॥ ४ ॥ ०॥० (सः निर्ऋत्याः पाशात् मा मोचि) वह दुर्गतिके पाशोंसे न

जितम्०।०। स निर्ऋत्याः पाशान्मा मौचि ।०　　॥ ५ ॥
जितम्०।०। सोऽभूत्याः पाशान्मा मौचि ।०　　॥ ६ ॥
जितम्०।०। स निर्भूत्याः पाशान्मा मौचि ।०　　॥ ७ ॥
जितम्०।०। स पराभूत्याः पाशान्मा मौचि ।०　　॥ ८ ॥
जितम्०।०। स देवजामीनां पाशान्मा मौचि ।०　　॥ ९ ॥
जितम्०।०। स बृहस्पतेः पाशान्मा मौचि ।०　　॥१०॥
जितम्०।०। स प्रजापतेः पाशान्मा मौचि ।०　　॥११॥
जितम्०।०। स ऋषीणां पाशान्मा मौचि ।०　　॥१२॥
जितम्०।०। स आर्षेयाणां पाशान्मा मौचि ।०　　॥१३॥
जितम्०।०। सोऽङ्गिरसां पाशान्मा मौचि ।०　　॥१४॥
जितम्०।०। स आङ्गिरसानां पाशान्मा मौचि ।०　　॥१५॥
जितम्०।०। सोऽथर्वणां पाशान्मा मौचि ।०　　॥१६॥
जितम्०।०। स आथर्वणानां पाशान्मा मौचि ।०　　॥१७॥
जितम्०।०। स वनस्पतीनां पाशान्मा मौचि ।०　　॥१८॥
जितम्०।०। स वानस्पत्यानां पाशान्मा मौचि ।०　　॥१९॥
जितम्०।०। स ऋतूनां पाशान्मा मौचि ।०　　॥२०॥
जितम्०।०। स आर्तवानां पाशान्मा मौचि ।०　　॥२१॥
जितम्०।०। स मासानां पाशान्मा मौचि ।०　　॥२२॥
जितम्०।०। सोऽर्धमासानां पाशान्मा मौचि ।०　　॥२३॥
जितम्०।०। सोऽहोरात्रयोः पाशान्मा मौचि ।०　　॥२४॥
जितम्०।०। सोऽह्नोः संयतोः पाशान्मा मौचि ।०　　॥२५॥
जितम्०।०। स द्यावापृथिव्योः पाशान्मा मौचि ।०　　॥२६॥
जितम्०।०। स इन्द्राग्न्योः पाशान्मा मौचि ।०　　॥२७॥
जितम्०।०। स मित्रावरुणयोः पाशान्मा मौचि ।०　　॥२८॥
जितम्०।०। स राज्ञो वरुणस्य पाशान्मा मौचि ।०　　॥२९॥

छूटने पावे ॥ ० ॥ ५ ॥ ० ॥ ० (सः अभूत्याः पाशात् मा मोचि) वह दारिद्र्यके पाशोंसे न छूटे । ० ॥ ६ ॥ ० ॥ ० (सः निर्भूत्याः पाशात् मा मोचि) वह दुरवस्थाके पाशसे न छूटे ॥ ० ॥ ७ ॥ ० ॥ ० (सः पराभूत्याः पाशात् मा मोचि) वह पराभवके पाशसे न छूटे ० ॥ ८ ॥ ० ॥ ० [सः देवजामीनां पाशात् मा मोचि] वह इंद्रियदोषोंके पाशोंसे न छूटे ० ॥ ९ ॥ ० । ० ॥ (सः बृहस्पतेः ···प्रजापतेः ···ऋषीणां ···आर्षेयाणां ···अंगिरसां ···आंगिरसानां

जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकमृतमस्माकं तेजोऽस्माकं ब्रह्मास्माकं स्वरस्माकं यज्ञोऽस्माकं पशवोऽस्माकं प्रजा अस्माकं वीरा अस्माकम् ॥३०॥

तस्मादमुं निर्भजामोऽमुमामुष्यायणममुष्याः पुत्रमसौ यः ॥३१॥

स मृत्योः पड्वीशात् पाशान्मा मोचि ॥३२॥

तस्येदं वर्चस्तेजः प्राणमायुर्नि वेष्टयामीदमेनमधराञ्चं पादयामि ॥३३॥

(९)

जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकमभ्यष्ठां विश्वाः पृतना अरातीः ॥ १ ॥

तदग्निराह तदु सोम आह पूषा मा धात् सुकृतस्य लोके ॥ २ ॥

अगन्म स्वः स्वरगन्म सं सूर्यस्य ज्योतिषागन्म ॥ ३ ॥

वस्योभूयाय वसुमान् यज्ञो वसु वंशिषीय वसुमान् भूयासं वसु मयि धेहि ॥ ४ ॥

इति द्वितीयोऽनुवाकः ।

इति षोडशं काण्डं समाप्तम् ॥

…अथर्वणां …आथर्वणानां …वनस्पतीनां …वानस्पत्यानां …ऋतूनां …आर्तवानां …मासानां …अर्धमासानां … अहोरात्रयोः …अह्नः संयतः …द्यावापृथिव्योः …इन्द्राग्न्योः …मित्रावरुणयोः …वरुणस्य राज्ञः …मृत्योः पड्वीशात् मा मोचि)॥ १०—३२ ॥ वह बृहस्पती, प्रजापति, ऋषि, ऋषियोंसे उत्पन्न, अंगिरस्, अंगिरसोंसे उत्पन्न, अथर्व, अथर्वोंसे उत्पन्न, वनस्पति, वनस्पतियोंसे उत्पन्न, ऋतु, ऋतुओंसे उत्पन्न, महीने, अर्धमास, अहोरात्र, दिन, द्यु, पृथिवी, इन्द्र, अग्नि, मित्र, वरुण, राजा वरुण और मृत्युके पाशोंसे न बचे ॥ १०—३२ ॥ [तस्य इदं वर्चः ०] उसका यह तेज, कान्ति, प्राण आयु आदिको मैं घेरता हूं और उसको नीचे गिराता हूं ॥ ३३ ॥

[९] (अस्माकं जितं) हमारा विजय हो (अस्माकं उद्भिन्नं) हमारा उदय हो, (विश्वाः पृतनाः अरातीः) सब शत्रुसेनाका निरोध किया है ॥ १ ॥ (अग्निः तत् आह) अग्निने यह कहा है, (सोमः उ तत् आह) सोमने यह कहा है। (पूषा सुकृतस्य लोके मा धात्) पूषा मुझे पुण्य लोकमें धारण करे ॥ २ ॥ हम (स्वः अगन्म) आत्माकी ज्योतिको प्राप्त होते हैं, (स्वः अगन्म) हम अपने तेजको प्राप्त होते हैं। (सूर्यस्य ज्योतिषा सं अगन्म) सूर्यकी ज्योतिसे हम संयुक्त होते हैं ॥ ३ ॥ (वस्यः भूयाय) ऐश्वर्यकी वृद्धिके लिये (वसुमान् भूयासं) धनयुक्त होऊं (वसुमान् यज्ञः) ऐश्वर्य यज्ञ ही है (वसु वंशिषीय) ऐश्वर्य प्राप्त करूं। (मयि वसु धेहि) मुझमें धनकी धारणा कर ॥ ४ ॥

षोडश काण्ड समाप्त।

विजय की प्राप्ति ।

प्रत्येक मनुष्यको अपने विजयके लिये यत्न करना चाहिये। छोटेसे छोटा बालक भी अपना पराभव सह नहीं सकता, पराभवकी आशंका होगयी तो बालक भी रोता है, पीटता है और पराभवसे दूर भागनेकी चेष्टा करता है। इसी तरह मनुष्यके अन्दर भी पराभवका स्वागत करने की इच्छा नहीं होती। सदा अपना विजय हो, अपना यश बढे, अपनी कीर्ति दिगन्तमें फैले, यही इच्छा मनुष्य करता रहता है। अतः मनुष्यको यह विजय कैसे प्राप्त हो इसका विचार करना चाहिये। इस विजय सूक्तके ९ पर्यायसूक्तोंमें विजयप्राप्तिके लिये आवश्यक तत्त्वोंका विचार किया है। अतः अपना विजय चाहनेवाले पाठक इसका मनन करें और लाभ उठावें।

विजयके प्रकार

विजयके बहुत प्रकार हैं। एक आध्यात्मिक क्षेत्रमें विजय है, दूसरा आधिभौतिक क्षेत्रका विजय है और तीसरा आधिदैविक क्षेत्रके संबंधका विजय है। ये मुख्यतः तीन प्रकारके विजय हैं। तथापि इस प्रत्येक क्षेत्रके विजयोंके भी अनेक प्रकार हैं, उन सबका विचार यहां नहीं किया जासकता, तथापि सुबोधताके लिये उनका थोडासा स्वरूप बताया जाता है।

आध्यात्मिक विजय ।

आध्यात्मिक क्षेत्रमें शरीर इंद्रियां, मन, प्राण, बुद्धि, अहंकार चित्त, काम, आत्मा, प्रकृति और सब प्रकारकी विकृति आदि का संबंध है। इनको निर्दोष रखना, इनको अपनी निज शक्तिसे परिपूर्ण करना और इन सबको आत्मोन्नतिमें निर्विघ्नतया लगानेसे आध्यात्मिक क्षेत्रका विजय होता है। यहां प्रत्येक इंद्रियकी प्रकृति, उसकी विकृति, उसमें होनेवाले दोष और रोग, उनके गुण आदि सबका विचार आता है। मानो सभी वैद्यशास्त्र, आरोग्यशास्त्र, मानसशास्त्र आदि शास्त्र, आध्यात्मिक विजयकी सिद्धता करनेके लिये ही मनुष्योंके पास आगये हैं। इसकी सूचना देनेके लिये प्रथम पर्याय सूक्तमें कहा है कि-

निर्दाहः तनूदूषिः मना-हा आत्म-दूषिः इदं तं अतिसृजामि ।

"शरीरकी जलन, शरीरके सब दोष, मनके नाशक भाव और आत्माका घात करनेवाले सब विचार, इन सबको मैं दूर करता हूं।" इन चारोंमें प्रायः आत्माका पराजय होनेके कारण आगये हैं; विविध रोगोंके कारण अपने शरीरमें दाह, पीडा, कष्ट अथवा दुःख होते हैं, शरीरमें जब दोषका संचय होता है तब ही कष्ट उत्पन्न होता है, तभी विविध रोग होते हैं। मनके बुरे भावोंसे मनकी निर्बलता होती है और इस सबसे आत्माका अधःपतन होता है। पाठक इन चार शब्दों का विचार करें और जानें कि इन चारोंसे आध्यात्मिक क्लेश कैसे होते हैं; यदि ठीक प्रकार मनन किया जाय और इन चारोंके क्षेत्रोंकी व्याप्तिका विचार किया जाय, तो यह बात पाठकोंके मनमें ठीक प्रकार जम जायगी, कि मनुष्यके सब वैयक्तिक क्लेशोंकी ये चार ही जडें हैं। यदि इनके विषयमें योग्य प्रतिबन्ध किया जाय, तो आध्यात्मिक क्षेत्रमें निश्चयपूर्वक विजय प्राप्त होगा। पूर्वोक्त चार शब्दोंके प्रति शब्द जाननेसे ही विजयके साधन ज्ञात हो सकते हैं-

शमः तनूशुद्धिः मनःशुद्धिः आत्मशुद्धिः ।

ये चार शब्द हैं जिनसे पूर्वोक्त चार दोष दूर हो सकते हैं। इंद्रियदमन, इंद्रियशमन आदिसे शरीरका दाह दूर होता है और शरीरमें सर्वत्र शान्ति होती है, तनूशुद्धिसे शरीरके सब दोष दूर होते हैं, मनकी पवित्रतासे मनका बल बढ जाता है और आत्मशुद्धिसे आत्मोन्नति होती है। इस तरह विचार करनेपर ज्ञात होगा कि अध्यात्मोन्नति के ये चार साधन हैं और इसी लिये पूर्वोक्त चार दोषोंको दूर करनेकी सूचना प्रथम पर्याय सूक्तमें की है। श्रीमद्भगवद्गीतामें इसी उद्देश्यसे कहा है-

ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते ।
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥ ६२ ॥
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥ ६३ ॥
रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥ ६४ ॥
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥ ६५ ॥

भ० गी० २

"विषयोंके चिन्तनसे आसक्ति, आसक्तिसे कामना, कामनासे क्रोध, क्रोधसे मूढता, मूढतासे बुद्धिनाश और बुद्धिनाश से मनुष्यका सर्वनाश होता है। परंतु जिसका मन वशमें है और जिसकी इंद्रियां रागद्वेषरहित हैं, वह इंद्रियोंसे कार्य कराते हुए भी प्रसन्न रहता है; चित प्रसन्न रहनेसे सब दुःख दूर होते है और उसकी बुद्धि भी स्थिर होती है।" इन श्लोकोंमें आध्यात्मिक दुःखोंके कारण कहे हैं और उनके दूर करनेके उपाय भी कहे हैं। अतः ये श्लोक आत्मविजयके विषयका विचार करनेके समय बडे बोधप्रद हो सकते हैं। अस्तु इस प्रकारके जो जो दोष शरीर, इंद्रियां, मन, बुद्धि और आत्मामें होते हैं वे क्या करते हैं देखिये-

रुजन्, प्रमृणन्, स्रोकः, खनः। (पर्यायसू. ११२-३)

जहां दोष होते है वहां वे "तोडते हैं, मरोडते हैं, कुचलते हैं, फोडते हैं, काटते हैं, खोदते हैं, गढा करते हैं" इस तरह अनेक रीतिसे नाश करते हैं। पाठक काम और क्रोधके समय अपने अन्दर देखेंगे, तो उनको स्पष्टतया पता लग जायगा, कि ये काम और क्रोध मनुष्यके शरीरमें किस प्रकार तोडने, मरोडने, खोदने और नाश करनेके कार्य करते हैं। काम तो शरीरका आधारभूत जो वीर्य वही नष्ट करता है, क्रोधसे तो खूनके जीवनबिंदु ही नष्ट होते हैं; इसी प्रकार सब विकार तोडने मरोडने और नाश करनेवाले होते हैं। इसलिये आध्यात्मिक भूमिकाके इन सब शत्रुओंको दूर करना चाहिये। अतः कहा है—

यं वयं द्विष्मः, तं अभि अतिसृजाम। (मं ११५)

स्रोकं खनिं तनूदूषिं अतिसृजामि (मं ११७)

"जिस रोगादिका और विविध दोषोंका हम द्वेष करते हैं, अर्थात् उनको अपने पास रखना नहीं चाहते, उनको हम दूर करते हैं। घातक खोदक और शरीरमें दोष बढानेवाले सब दोषोंको हम दूर करते हैं।" यह दोषोंको दूर करना इसीलिये है कि अध्यात्मक्षेत्रके सब दोष दूर हों और प्रसन्नता विराजे। इसी विषयमें और देखिये—

यत् वः घोरं तत् (अतिसृजामि)। (मं ११८)

अरिप्राः आपः अस्मत् एनः प्रवहन्तु। (मं० ११९-१०)

आपः शिवया तन्वा मा उपस्पृशत। (मं० ११२)

इन्द्रस्य इन्द्रियेण अभिषिञ्चेत् (मं० ११९)

"जो आपके अंदर भयंकर हानिकारक दोष हो उसको मैं सबसे प्रथम दूर करता हूं। दोष दूर करनेके लिये जलसे चिकित्सा करना योग्य है। शुद्ध जल हमारे शरीरोंसे सब दोष और सब पापोंको दूर करें। जल अपने शुभगुणसे मेरे शरीरको स्पर्श करे। इन्द्र अर्थात् आत्माकी शक्तिसे अभिषेक किया जावे यहां जलचिकित्सासे शरीरके सब दोष दूर करनेका उपदेश है; वह अत्यंत महत्वका है। शरीरमें जो कोई दोष होंगे उनको जलके विविध प्रयोगोंसे दूर करनेका नाम जलचिकित्सा है। शरीरको शीतजलका स्पर्श सुख देनेवाला जब लगता है तब समझना चाहिये कि शरीर स्वस्थ है। जब शुद्ध शीतजलका स्पर्श कष्ट देने लगता है, तब जानना चाहिये कि कुछ दोष शरीरमें घुसे हैं। ये सब दोष जलचिकित्सासे दूर करने चाहिये और इन्द्रकी शक्तिके जलसे स्नान करना चाहिये। जिस प्रकार जलके स्नानसे सब शरीर भीगता है, उसी प्रकार आत्माकी शक्तिसे सब शरीर संचारित होना चाहिये। सब शरीरभर आत्मशक्तिका सुखसे संचार होना चाहिये। इससे—

मयि क्षत्रं वर्चः आधत्त। (मं० ११३)

"मनुष्यमें क्षात्रबल और तेजस्विता बढेगी।" जल ही यह सब कार्य करेगा। जलचिकित्सासे ही वीर्य बढेगा, दोष दूर होंगे और शरीरकी कान्ति भी बढेगी। इस प्रकार शरीरका उत्तम स्वास्थ्य प्राप्त होगा। यह स्वास्थ्य मनुष्योंको प्राप्त हो इसीलिये—

अपां वृषभः अतिसृष्टः।

दिव्याः अग्नयः अतिसृष्टाः। (मं० ११९)

"जलोंकी वृष्टि करनेवाला मेघ अपने स्थानसे मुक्त हुआ अर्थात् उससे वृष्टि होगयी, दिव्य अग्नि जो बिजलियां हैं वे भी खुली रीतिसे प्रकाशित हो रही हैं।" अर्थात् विशेष वृष्टि होगयी है। परमेश्वरीय नियमसे जो वृष्टि हो रही है इसका हेतु यह है कि, मनुष्य उससे स्वास्थ्य प्राप्त करें और अपनी आध्यात्मिक उन्नति सिद्ध करें। यहां आत्मिक उन्नतिका उपदेश देते हुए मेघके दृष्टान्तसे सब लोगोंको कहा है कि जैसे मेघ जगत् की भलाईके लिये पूर्णतासे आत्मसमर्पण करता है, उसी प्रकार प्रत्येक मनुष्यको जगत्की भलाईके लिये आत्मयज्ञ करना चाहिये। इतने विचार इस काण्डके प्रथम पर्याय सूक्तमें मुख्यतः कहे हैं। अपनी उन्नति चाहनेवाले पाठक इसके मननसे पर्याप्त बोध प्राप्त कर सकते हैं।

इंद्रियशुद्धि।

आत्मोन्नतिके लिये इंद्रियकी पवित्रताकी अत्यत आवश्यकत

होती है । पवित्रताके बिना किसीकी उन्नति होना सर्वथा असंभव है । अतः द्वितीय पर्यायसूक्तमें अपनी पवित्रताका विषय संक्षेपसे कहा है । सबसे पहिले सब मनुष्योंको एक अत्यंत उत्तम उपदेश दिया है, वह पाठक देखें और स्मरण रखें—

दुः+शर्मण्यः निः । (मं. २ । १)

" दुष्ट रीतिकी गति अर्थात् बुरा चालचलन, दुष्ट व्यवहार दूर हो, हमसे निःशेषतया दुष्ट व्यवहार दूर हो । " हमारे अन्दर दुष्ट गति करनेवाले भाव न रहें और हमारे समाजमें दुराचारी मनुष्य न रहें । इस प्रकार एक व्यक्तिका सुधार हो और उसी नियमसे समाजका भी सुधार हो । व्यक्तिके सुधारका और समाजके सुधारका नियम एक ही है । व्यक्तिके सुधारके लिये दुष्ट गुणोंको दूर करना होता है । और समाजके सुधारके लिये दुष्ट गुणोंसे युक्त मनुष्यों को दूर करना होता है । दुष्ट मनुष्योंको दूर करनेका अर्थ ही समाजसे दुष्ट गुणोंके आश्रयस्थान दूर हों, एवं सर्वत्र उन्नतिका नियम दुष्टताको हटाना ही है । इस तरह सर्वसाधारण उन्नतिका उपदेश करके पश्चात् विशेष स्पष्टीकरण करनेके उद्देश्यसे कुछ इंद्रियोंका नामनिर्देश करके आत्मसुधारका मार्ग दर्शाया है-

ऊर्जा मधुमती वाक् । मधुमतीं वाचं उदेयम् (मं २।१-२)

" वाणी मीठी हो और बलशालिनी हो, मनुष्य मीठी और बलयुक्त वाणीसे आपसमें बातचीत करें । " मनुष्योंके अन्दर जो झगडे फिसाद होते हैं, उसका कारण कटु शब्दोंका प्रयोग है । मनुष्यके मनमें विष भरा रहता है, वह कटु शब्दों द्वारा बाहर आता है और सब स्थानमें विषैला वायुमंडल उत्पन्न करता है । इसलिये मनुष्य अपनी अन्तःशुद्धि करेगा, तो उससे कदापि कटु शब्दोंके प्रयोग नहीं किये जायंगे ।

मनुष्य ऐसे शब्दोंका प्रयोग करे कि वे मीठे हों, शत्रुओंमें मित्रता हो और उत्पन्न हुई मित्रता सुदृढ हो जाय । केवल शब्दोंकी मधुरता ही पर्याप्त नहीं है, प्रत्युत शब्दोंमें (ऊर्जः) बल चाहिये । उत्साहकी वृद्धि करनेवाले शब्द उच्चारने चाहियें । नहीं तो कई मनुष्य अपने ही पुत्रको ' गुलाम ' करके पुकारते हैं, दूसरेको ' तू मरेगा ' करके कहते हैं, ' तू बडा हराम है ' ऐसा कहते हैं । ऐसे शब्दोंसे अपनी वाणी तो मलीन होती ही है, परंतु ये शब्द जो जो सुनते हैं उनके मनमें भी निर्बलता का वायुमंडल उत्पन्न होता है । इसलिये मनुष्यको उचित है कि वह उत्साहपूर्ण बलशाली प्रभावपूर्ण शब्दोंका प्रयोग करें । अपने पुत्रको ' तू इन्द्र है ' ऐसा कहे, ' तू अमर होगा ' ऐसा बोलें, ' तू सत्यस्वरूप है ' ' तू स्वयं आनन्दमय है ' ऐसा कहें । ऐसा बोलनेसे सब सुननेवालोंके मनोंमें उत्साहका वायुमंडल उत्पन्न होता है । मनुष्योंके नाम भी ' कूडाराम ' रखनेके स्थानमें ' निर्भयराम ' ऐसे रखें । जिससे प्रत्येक समय वह शब्द उच्चारनेसे शुभविचार उत्पन्न हों । प्रत्येक पाठक निश्चयपूर्वक ऐसा यत्न करे कि, अपनी वाणीसे कदापि अशुभ विचार न प्रकट हों और सदा उत्साहमय विचार ही प्रकट हों । इसलिये मनुष्यको क्या करना चाहिये ? इस प्रश्नका उत्तर यहां केवल दो ही शब्दों द्वारा दिया है । " गो-पा, और गो-पीथः " ये दो शब्द अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं । मनुष्योंका संपूर्ण सत्यधर्म इन शब्दोंमें आचुका है । ' गोप ' का अर्थ है, इंद्रियोंकी रक्षा और ' गोपीथ ' का अर्थ है इंद्रियोंकी पालना । एकसे शक्तिवर्धन करनेका उपदेश मिलता है और दूसरेसे इंद्रियोंके संयमका बोध मिलता है । जैसे गोरक्षा करनेवाले गौको उत्तम घास आदि खानेके लिये देते हैं और पुष्ट करते हैं और उनको इतस्ततः घूमने नहीं देते हैं, इसी तरह मनुष्य अपनी इंद्रियोंकी शक्ति बढावें और उनको वश भी रखे । मनुष्यकी उन्नति के लिये इस प्रकार इंद्रियसंयम और मनोनिग्रहकी अत्यंत आवश्यकता है । पाठक यह बोध इन दो शब्दोंसे लें । जो ऐसा संयम करनेवाले होंगे वे ही (उपहूतः) पास बुलाने योग्य हैं । और जो लोग अपने इंद्रियोंको स्वेच्छाचारी करते हैं, वे समाजमें आदरसे बुलाने योग्य नहीं हैं । पाठक इसका विचार करें और इस वेदोपदेशसे अपना वैयक्तिक और सामाजिक आचरण सुधारें । आगे कानों के विषयमें बडा उत्तम उपदेश दिया है-

भद्रश्रुतौ कर्णौ । सुश्रुतौ कर्णौ । भद्रं श्लोकं श्रूयासम् ।
सुश्रुतिः उपश्रुतिः च मा मा हासिष्टाम् । (मं० १।४-५)

"मेरे कान अच्छे उपदेश सुनें, अच्छे उपदेशोंसे मेरे कान सुने हुए हों । कल्याण करनेवाली वाणी मैं सुना करूंगा । उत्तम उपदेश सुनने और दूरसे अच्छे शब्द सुननेकी शक्ति मेरी कभी क्षीण न हो ।" यहां कानों की सार्थकता का साधन दर्शाया है । ईश्वरने मनुष्यको कान इसीलिये दिये हैं कि, उनसे मनुष्य सदा उत्तम उपदेश सुने कभी बुरे शब्द न सुने । ऋग्वेद में भी कहा है-

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
(ऋ० १।८९।८)

"हम कानोंसे कल्याणकारक उपदेश सुनें और आंखोंसे कल्याणकारक वस्तु देखें।" ये सब उपदेश इसीलिये हैं कि इनसे मनुष्य का सुधार हो, मनुष्य पवित्र बने और उन्नत हो। इस प्रकार कानोंके विषयमें कहनेके पश्चात् नेत्रके विषयमें भी कहा है-

सौपर्णं चक्षुः अजस्रम् (मं० २।५)

"गरुडके समान मेरी तीक्ष्ण दृष्टि हो" और वह उत्तम कल्याण की वस्तुएं देखें। इस प्रकार इंद्रियशुद्धिके विषयमें इस पर्यायसूक्तमें कहा है। यहीं-

ऋषीणां प्रस्तरः असि। दैव्याय प्रस्तराय नमः।

(मं० २।६)

'तू ऋषियोंका प्रस्तर है। इस दिव्य प्रस्तरके लिये नमस्कार है।" ऋषियोंकी चट्टान आत्मा है। यही दिव्य चट्टान है। इसके विषयमें प्रत्येकने अपने अन्तः करणमें पूज्य भाव धारण करना चाहिये। इसी आत्माकी उपासनासे सब का हित होनेवाला है। यहां तक उपदेश इस द्वितीय पर्यायसूक्तमें कहा है।

आधिभौतिक विजय।

पूर्वोक्त प्रकार मनुष्यकी आध्यात्मिक और वैयक्तिक उन्नति होनेके पश्चात् उसको अपना आधिभौतिक विजय संपादन करनेका यत्न करना चाहिये। इसका विचार इस १६ वें काण्डके तृतीय पर्यायसूक्तमें किया है, वह बोधप्रद उपदेश पाठक अब देखें।

अहं रयीणां मूर्धा भूयासं। समानानां मूर्धा भूयासम्
(मं. ३।१२)

अहं रयीणां नाभिः भूयासं। समानानां नाभिः भूयासम्
(मं. ४।१-२)

"मैं धनोंका स्वामी और केन्द्र बनूं।मैं समान दर्जेके लोगोंमें मुखिया और उनका मध्य केन्द्र बनूं।" अपनी योग्यता नेता बनाने योग्य होनी चाहिये। प्रत्येक मनुष्य नेता नहीं होसकता तथापि यदि बहुगुणसंपन्न बननेका यत्न प्रत्येक मनुष्य करेगा तो उसका अवश्य सुधार होगा। इस दृष्टिसे इस प्रकारकी इच्छा मनुष्य अपने मनमें धारण करे और धर्मानुकूल उन्नतिका यत्न करे। ऐसा नेता बननेके लिये जो गुण मनुष्यको अपने अन्दर बढाने चाहियें, उनकी सूचना इसी सूक्तमें अगले मंत्रोंमें दी है, देखिये-

रुजः, वेनः, मूर्धा, विधर्मा, उरुः, चमसः, धर्ता, धरुणः, विमोकः, आर्द्रपविः, आर्द्रदानुः, मातरिश्वा च मा मा हासिषाम्॥ (मं० ३।२-४)

"तेजस्विता, महत्वाकांक्षा, मस्तिष्क की शक्ति, विशेष गुण धर्म, यज्ञसाधन, धारकशक्तियां, बन्धमुक्तिकी इच्छा; सिद्ध शस्त्र, दान करनेकी इच्छा और प्राण ये मेरा त्याग न करें।" ये गुण मनुष्यमें रहेंगे और बढेंगे तो ही वह मनुष्योंका केन्द्र और मुखिया बन सकता है। ये गुण विशेष महत्वके हैं; अतः इनका विचार अधिक करना चाहिये। (रुजः) तेजस्विता, इसमें शरीर, इंद्रिया, मन, बुद्धि और आत्माकी तेजस्विताओंका अन्तर्भाव होता है, मनुष्य सब प्रकारसे तेजस्वी बने। (वेनः) इच्छा अर्थात् अपने वैयक्तिक, सामाजिक और राष्ट्रीय महत्वकी इच्छा। इसी इच्छासे मनुष्य पुरुषार्थी होता है और विशेष श्रेष्ठ कर्म करता हुआ अपना और समाजका उद्धार करता है। (मूर्धा) सिर, अर्थात् मस्तिष्क। मनुष्यकी योग्यता उच्च या नीच होना उसके मस्तिष्ककी शक्तिपर निर्भर है। अतःमनुष्य को उचित है कि वह अपनी मस्तिष्क की शक्ति बढावे। (विधर्मा) विशेष धर्मोंसे युक्त बनना। साधारण गुणकर्मो और धर्मोंसे युक्त होनेसे मनुष्य साधारण ही हो सकता है, परंतु उसकी विशेष योग्यता होनी हो, यदि वह समाजका और राष्ट्रका केन्द्र बननेका इच्छुक हो, तो उसको उचित है कि वह अपने अन्दर विशेष धर्मोंकी वृद्धि करे। सामान्य मनुष्यमें जो धर्म नहीं होते ऐसे नए धर्म तपस्यादिसे अपने अन्दर बढाने चाहिये। (उरुः चमसः) ये यज्ञपात्र हैं, ये यज्ञके सब साधनोंके उपलक्षण हैं। सब प्रकारके यज्ञ करनेसे और यज्ञमय यज्ञरूप जीवन होनेसे ही मनुष्यकी योग्यता बढ जाती है। मनुष्य क्रतुरूप होना चाहिये। शतक्रतु बनना मनुष्यका ध्येय है। (धर्ता), धारण करनेवाला, समाजकी धारणा, राष्ट्रकी धारणा, धर्मकी धारणा करना मनुष्यका कर्तव्य है। दूसरे प्राणियोंको अपनी शक्तिका आधार देना धर्ता होना है। (धरुणः) इसका भी धारक ही अर्थ है, इसमें बल अधिक है। स्वयं स्थिर रहकर-दूसरोंको दुःख समुद्रसे पार करनेके लिये अपना आधार देनेका कार्य करना मनुष्यको योग्य है। मनुष्यको अपने अन्दर इतनी शक्ति प्राप्त करना चाहिये।

(वि—मोकः) विमोचन करनेवाला, मनुष्योंको मुक्त करनेवाला, मनुष्योंको बन्धनसे पार करनेवाला, मनुष्योंको स्वतंत्रता देनेवाला जो नेता होगा, वही सबसे श्रेष्ठ समझना योग्य है। यही लोगोंका परित्राण, सज्जनों की रक्षा, दुर्जनोंका निर्दालन और धर्म की स्थापना करनेका अर्थ है। (आर्द्र-पविः)

पविका अर्थ है तलवार, खड्ग किंवा शस्त्र। शत्रुके रक्तसे जिसका शस्त्र गीला होता है अथवा शत्रुका नाश करनेके लिये जिसका शस्त्र आर्द्र अर्थात् गीला होनेके लिये सिद्ध है, उसका यह नाम है। धर्मयुद्ध करनेके लिये जो तैयार होता है उसका यह नाम है। (आर्द्र-दानुः) आर्द्रता, स्नेहसे आर्द्रभावका जो दान करता है, जिसका मन स्नेहसे सदा आर्द्र रहता है, जो दयार्द्र रहता है उसका यह नाम है। (मातरि—श्वा) अपनी माताके अन्दर जिसका आश्रय होता है, जो मातृभक्त है, मातृभूमिके अन्दर इसीलिये रहता है कि अपने जीवन समर्पणसे मातृभूमि की सेवा होवे, इसलिये जो मातृभूमिमें संचार करता है ॥

ये बारह शब्द मनुष्यके विशेष कर्तव्य बता रहे हैं। मनुष्य ये कर्तव्य करें। ये कर्तव्य मनुष्यसे कदापि दूर न हों। इन कर्तव्योंके विषयमें मनुष्य कदापि विमुख न हों। इन धर्मोंसे और इनसे बोधित होनेवाले कर्तव्योंसे जो पुरुष युक्त होते हैं वेही श्रेष्ठ और उच्च होते हैं। यहां कई निर्बल मनुष्य कहेंगे कि हम निर्बल हैं हम इन गुणधर्मोंका धारण नहीं कर सकते, इनके लिये आत्माका स्वभाव कैसा है यह बात इसी सूक्तके मंत्र स्वयं कहते हैं—

आत्मा बृहस्पतिः नृमणः हृद्यः। (मं०३।५)
विधर्मणा समुद्रः अस्मि। (मं० ३।६)
मर्त्येषु अमृतः सुधा। (मं० ३।२)

" आत्मा ज्ञानयुक्त है, मनुष्योंके हृदयोंमें निवास करता है, मनुष्योंके अन्दर मनन करनेवाला है, अपने विशेष धर्मसे वह समुद्र जैसा फैला हुआ गंभीर है। मरण धर्मवाले शरीरमें वह अमर है और उत्तम तेजसे युक्त है।" ये अपने आत्माके गुणधर्म हैं यह जानकर, विचारसे और मननसे इन गुणोंका साक्षात्कार करे। इस ज्ञानसे मनुष्यकी निर्बलता दूर होगी और वह पूर्वोक्त गुणोंको अपने अंदर बढानेमें समर्थ होगा। इस तरह आत्मिक बल प्राप्त होनेसे—

असंतापं हृदयं। उर्वी गव्यूतिः। (मं०३।६)

हृदय संताप रहित अर्थात् शान्त होता है और गोनाम इंद्रियोंकी गति बडी विस्तृत होती है।" अपनी सब शक्ति बढती है। प्रभावशाली जीवन होजाता है। आत्माकी शांति उसके सब व्यवहारमें दीखती है और वह कैसे भी भयंकर प्रसंगमें शान्त और गंभीर हो कार्य करता है कभी अशान्त नहीं होता। शरीरके नाश होनेपर भी मैं अमर हूं यह उसका विश्वास उसका निडर करता है और महान् सत्कर्म उससे कराता है। ऐसी अवस्थामें सब देव उसके रक्षक होते हैं—

सूर्य... वायु... अग्निः... यमः... सरस्वती... पातु।
(मं. ४४)

"सूर्य, वायु, अग्नि, यम और सरस्वती उसकी रक्षा करते हैं।" सूर्य नेत्रस्थानमें, वायु प्राणके स्थानमें, अग्नि वाणीके स्थानमें, यम शिश्नस्थानमें, सरस्वती बुद्धिस्थानमें रहकर उसको हरएक प्रकारकी सहायता देते हैं और उसको अपनी दिव्य शक्तिसे पवित्र करते हैं। आत्मशक्तिसे युक्त पुरुषको इस तरह सब देव सहायक होते हैं। यह विषय इससे पूर्व भी आचुका है और बदमें यह वारंवार कहा गया है। इसलिये जो मनुष्य आत्मज्ञान प्राप्त करता है और अपना जीवन यज्ञरूप बनाता है उसको सब देवताओंकी सहायता होती है, यह विश्वास पाठक मनमें धारण करें। ऐसा मनुष्य निर्भय होकर व्यवहार करता है और इसीलिये यह मनुष्य सबका नेता बनने योग्य होता है। यह कहता है कि—

प्राणः मां मा हासीत्। अपानः अवहाय मा परागात्
(मं० ४।३)

"मेरा प्राण और अपान मुझे छोडकर न दूर जावे।" वह ऐसा इसलिये कहता है कि उसने अपना सब जीवन ईश्वरकी भक्ति और सेवाके लिये समर्पित किया होता है, वह अपने जीवनसे जनताकी सेवा करना चाहता है। अपना प्राण वह ईश्वरके लिये ही समर्पित करना चाहता है। अन्य कार्यका स्मरण भी नहीं है। वह जानता है कि—

मित्रावरुणौ मे प्राणापानौ। शक्वरीः आपः स्वरित।
(मं० ४।७)

"अपने प्राण और अपान ये अब प्रत्यक्ष मित्र और वरुण देवता हैं और जलके अन्दरका सब सामर्थ्य मेरा कल्याण करता है।" इस तरह वह देखता है और अनुभव करता है कि अपना सब देह और जीवन देवतामय हुआ है। इस समय वह दुष्ट कल्पनासे पूर्णतया दूर होता है, सब उसका देवतारूप स्वरूप बनता है, वह सहजही गतिसे प्रशस्त कार्य करता है, उसको वैसे, कार्य करनेके लिये कोई प्रयास नहीं होते, क्यों कि वह विधरूप बना होता है, इस समय वह अनुभव करता है कि—

अग्निः मे दक्षं। (मं० ४।७)

"अग्नि अपने में बल धारण करता है।" अन्य देव अन्यान्य सामर्थ्य धारण करते हैं। इसका आत्मा प्रत्यक्ष ईश्वरीय गुणोंसे प्रभावशाली हुआ होता है। ऐसे महात्माकी धन्य है, वही प्रभावशाली नेता होसकता है और वही लोकसंग्रह करनेमें समर्थ होता है और यही मनुष्य जगत्को सच्चा मार्ग बता सकता है। युगयुगमें ऐसे सत्पुरुष आते हैं और जनतामें प्रत्यक्ष कार्य करते हैं और बंधनमें पडकर सडनवालोंको बन्धननिवृत्तिका मार्ग बताते हैं।

स्वप्न।

आगे पंचम और षष्ठ इन दो पर्यायसूक्तोंमें स्वप्नका विषय कहा है। इस सूक्तमें दुष्ट स्वप्नके जो कारण दिये हैं वे ये हैं-

ग्राह्याः ··· निर्ऋत्याः ··· अभूत्याः ··· निर्भूत्याः ··· पराभूत्याः देवजामीनां पुत्रः स्वप्नः। (मं० ५।१-८)

"रोग, दुरवस्था, दारिद्र्य, दुर्गति, पराभव और इंद्रियदोष इनके कारण दुष्ट स्वप्न आते हैं। ये दुष्ट स्वप्न मानो मृत्युके संदेश होते हैं। इसलिये दुष्ट स्वप्न होते ही मनुष्यको उचित है कि अपने अन्दर जो रोगबीज घुसे हों, उनको दूर करनेका यत्न करें। दुष्ट स्वप्नके जो कारण यहां दिये हैं इनका भी थोडासा अधिक विचार यहां करना चाहिये। (ग्राही) भयानक रोग जो शरीरमें आनेपर सहसा शरीरको छोडते नहीं और दुःख देते देते अन्तमें प्राण हरण कर लेते हैं। ऐसे रोग शरीरमें होनेपर वारंवार दुष्ट स्वप्न होते हैं अतः यदि इन रोगोंसे दुष्ट स्वप्न होते हों तो उनको दूर करनेके लिये चिकित्साद्वारा रोगबीजोंको दूर करना चाहिये। शरीर निर्दोष और नीरोग करना चाहिये। इस कार्यके लिये इसी काण्डमें पूर्वस्थानमें जलचिकित्साका उपाय बताया है। (निर्ऋति) ऋतिका अर्थ है उन्नति, अभ्युदय, समर्थता और सामर्थ्य। इसके विरुद्ध अर्थ निर्ऋति का है। अवनति, अधःपात, क्षीणता और निर्बलतासे भी दुष्ट स्वप्न आते हैं। इनको दूर करनेके लिये जो आवश्यक उपाय हों उनको कार्यमें लाना चाहिये। (अभूति) ऐश्वर्यसे हीन होना और (निर्भूति) महासंकटमें पडना तथा (पराभूति) पराभव होना, परतंत्र, पराधीन और परवश होना, इन कारणोंसे भी दुष्ट स्वप्न आते हैं। इन कारणोंको दूर करनेके लिये बहुतसे उपाय हैं, प्रत्येकके लिये विभिन्न उपाय होते हैं। अतः उनका अवलंबन योग्य रीतिसे करना चाहिये। मुख्य उपाय स्वावलंबनसे स्वाधीनता प्राप्त करना है। (देवजामी) अपने शरीरमें देव नाम इंद्रियोंका है, उनकी शक्तियां विविध हैं। इनकी न्यूनाधिकतासे भी दुष्ट स्वप्न आते हैं। इस कारण संयमादिद्वारा अपने इंद्रियोंको निर्दोष, निरोग और स्वस्थ रखना अत्यंत आवश्यक है। अर्थात् इस तरह अपने अन्दर और अपने राष्ट्रमें जो जो दुष्ट स्वप्नके कारण उत्पन्न हों, उनको दूर करना मनुष्योंका कर्तव्य है।

मनुष्यकी परीक्षा स्वप्नसे होती है मनुष्यको कैसे स्वप्न होते हैं, इसपर वह स्वस्थ है वा रोगी है, सदाचारी है वा दुराचारी है, शुभ विचारवाला है वा अशुभ विचारवाला है इसका निश्चय होता है। मनुष्यको ऐसे स्वप्न आजांय तो अच्छा है – कि "मैं ईश्वर उपासना कर रहा हूं, ऋषिआश्रममें ऋषियोंके वार्तालाप सुन रहा हूं, सत्पुरुषोंका समागम होरहा है।" ऐसे शुभ स्वप्न आने लगे अथवा बिलकुल स्वप्न ही न हुए तो समझना चाहिये कि उसका शरीर स्वस्थ है। अन्यथा बुरे स्वप्न आने लगे तो स्वास्थ्यमें कुछ न कुछ बिगाड है, ऐसा मानकर उसके सुधारका यत्न करना चाहिये। अतः कहा है-

यस्मात् दुःष्वप्न्यात् अभैष्म तत् अपउच्छतु।

(मं० ६।२)

"जिस दुष्टस्वप्नसे हमें भय होता है वह दुष्टस्वप्नका कारण हमसे दूर होवे।" वह कारण किसी दूसरे स्थानपर जावे, हमारे पास न रहे। इस प्रकार अपने आपकी निर्दोषता सिद्ध करनेपर ही वह निर्दोष मनुष्य कह सकते हैं कि-

अद्य अजैष्म, अद्य असनाम, वयं अनागसः अभूम

(मं० ६।१)

"आज हमने विजय प्राप्त किया है, आज जो हमारा प्राप्तव्य था वह प्राप्त किया है क्योंकि हम निष्पाप हो चुके हैं।" निष्पाप होनेसे ही सब प्राप्तव्य प्राप्त हो सकता और विजय प्राप्त होता है। विजय प्राप्त करनेकी यह कुंजी है। पापसे जो उन्नति प्राप्त होनेका भास होता है वह केवल भासमात्र है। उसमें गहरी अवनतिके बीज रहते हैं, अतः पाठकोंको यह स्मरण रखना चाहिये कि वेदकी आज्ञाके अनुसार निष्पाप धर्माचरणसे जो उन्नति प्राप्त होती है वही प्राप्त करनी चाहिये और वही चिरस्थायी होगी।

आगे सप्तम सूक्तमें द्वेषीको दूर करना अथवा नाश करनेका विषय कहा है। वह सूक्त स्पष्ट होनेके कारण उसके अधिक स्पष्टीकरणकी कोई आवश्यकता नहीं है। वह शत्रु अध्यात्मभूमिकामें

कुविचार, रोग आदि हैं, आधिभौतिक भूमिकामें दुर्जन शत्रु हैं। दोनों स्थानोंमें जो जो शत्रु निवास करता हो, उसको हटाना चाहिये। तभी विजय प्राप्त हो सकता है।

विजय।

अष्टम सूक्तमें अपने विजयप्राप्तिका एक मंत्र है, वह प्रत्येक वैदिकधर्मीको कण्ठ करने योग्य है, वह मंत्र अब देखिये-

अस्माकं जितं, उद्भिन्नं, ऋतं, तेजः, ब्रह्म, स्वः, यज्ञः, पशवः, प्रजाः, वीराः॥ (मं० ८।१)

इस मंत्रका प्रत्येक शब्द अत्यंत महत्त्वपूर्ण भावसे युक्त होनेके कारण यहां प्रत्येक शब्दका विशेष विचार करते हैं-

(जितं) यह सब प्रकारके शत्रुओंपर विजय है। आध्यात्मिक, आधिभौतिक आधिदैविक शत्रुओंपर विजय प्राप्त करना यह अपनी शक्ति बढानेसे ही हो सकता है (उद्भिन्नं) वह अपने सब प्रकारके अभ्युदयसे साध्य होनेवाली बात है, अपनी संघटना अपना- शक्तिविकास, अपने अन्दर की शान्ति, अपनी तेजोवृद्धि आदिसे यह सिद्ध हो सकता है। पहिला विजय शत्रुपर संपादन किया जाता है, यश अपनी आंतरिक सुस्थितिपर निर्भर होता है। (ऋतं) ऋतका अर्थ है ठीक मार्ग, सरलता, योग्य व्यवहार, जिसमें तेढापन नहीं है। प्रत्येक व्यवहारमें इस प्रकारकी सरलता रहेगी, तोही पूर्वोक्त विजय साध्य होगा। (तेजः) तेजस्विता, प्रभाव, उग्रता आदि गुण भी विजयके सहचारी हैं। (ब्रह्म) सत्य ज्ञान, आत्मसामर्थ्य, विज्ञान, वेदज्ञान, यह तो निःसन्देह ऋतके साथ ही रहेगा। अनृतके साथ इसका होना सर्वथा असंभव है। (स्वः, स्वर्) आत्माका प्रकाश, अपना यश, अपने पुण्यकर्मसे प्राप्त होनेवाला पुण्य लोक। (यज्ञः) देवपूजा, संगतिकरण और दान रूप श्रेष्ठतम कर्म, यज्ञसे ही सबकी स्थिति और उन्नति होती है। (पशवः) गौ, बैल, घोडे आदि पशु मनुष्यका वैभव बढाते हैं। (प्रजाः) संतती, पुत्रपुत्री आदि, अथवा प्रजाजन। (वीराः) वीर पुत्र तथा वीर्यवान् लोग अथवा शूरवीर। पाठक विचार करेंगे तो उनको पता लग सकता है कि ये सब विजयके सहचारी गण हैं। पाठकोंसे सानुरोधप्रार्थना है कि वे इस मंत्रको कण्ठ करें और सायंप्रातः वे इस मंत्रसे ईश्वरकी प्रार्थना करें और अपना वैयक्तिक और सामुदायिक विजय इस प्रकार होने योग्य परिस्थिति शीघ्र प्राप्त हो, ऐसी उस प्रभुके पास प्रार्थना मनोभावसे करें।

इस अष्टम पर्यायसूक्तमें जो आगे कथन हैं वे तो शत्रुको कुचलनेका प्रोत्साहन देनेवाले अर्थवादके मंत्र हैं, अतः उनके विषयमें विशेष लिखनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। पाठक स्वयं पढकर उनका आशय समझ सकते हैं। इसके पश्चात् अन्तिम नवम पर्यायसूक्तमें चार ही वचन हैं, परंतु वे नित्य स्मरण रखने योग्य महत्त्वपूर्ण हैं-

जितं अस्माकं, उद्भिन्नं अस्माकं, विश्वा अरातीः पृतनाः। (मं० ९।२)

"हमारा विजय, हमारा उदय और हम शत्रुकी सब सेनाओंका पूर्ण पराभव करनेका सामर्थ्य अपने अन्दर बढाते हैं।" तथा—

पुण्या सुकृतस्य लोके मा धात्। (मं० ९।२)

"ईश्वर मुझे पुण्यलोकमें धारण करे" ऐसा मैं सदाचारी शुद्ध, पूत और पवित्र बनूंगा। तथा—

स्वः अगन्म, सूर्यस्य ज्योतिषा अगन्म॥ (मं० ९।३)

"आत्माका तेज प्राप्त करें, सूर्यकी ज्योतिसे मिलें।" तथा-

वस्योभूयाय वसुमान् भूयासम्। वसुमान् यज्ञः। वसु वंसिषीय (मं० ९।४)

"बहुत धन प्राप्त करना चाहिये, मैं धनयुक्त हो जाऊं। क्योंकि धनसे यज्ञ होता है, इसलिये यज्ञमें व्यय करनेके लिये मुझे धन चाहिये।"

ये सब चारोंके चारों मंत्र इतने उत्तम भावसे परिपूर्ण हैं, इतने सरल हैं और इतने सुबोध हैं कि मानो यही इस सब काण्डका सार है। पाठक इनका मनन करेंगे तो उनको भी अत्यंत आनन्द होगा और इनके मननसे उनका भी आत्मा उल्हसित ही होगा।

आशा है कि पाठक इस रीतिसे इस काण्डका मनन करके इस काण्डका जो उच्च भाव है वह अपने मनमें स्थिर करेंगे और इस विजयपथसे चलकर अपना, अपने समाजका, अपनी जातीका, और अपने राष्ट्रका विजय संपादनके कार्यमें कृतकृत्य होंगे।

ओ३म्

अथर्ववेद

का

सुबोध भाष्य ।

सप्तदशं काण्डम् ।

ॐ

अथर्ववेदका सुबोध भाष्य

सप्तदश काण्ड ।

इस सतरहवें काण्डकी ' आदित्य ' देवता है और इस एक ही देवताके सब मंत्र इसमें हैं । इस काण्डमें कुल ३० मंत्र हैं । अर्थात् ३० मंत्रोंके एक सूक्तका ही यह काण्ड है । इस काण्डके तीन विभाग हैं । १० + १० + १० मिलकर तीन विभागोंमें ३० मंत्र बांटे गये हैं । परंतु ये विभाग दशतिविभाग हैं, ये कोई अर्थदृष्टिसे अथवा किसी अन्य कारणसे नहीं बने हैं । जो दशति विभाग होते हैं वे दस मंत्रोंके होते हैं और उनके साथ अर्थका कोई संबंध नहीं होता है ।

इसके अतिरिक्त इस काण्डके ५ विभाग भी किये जाते हैं । १—५; ६-१९; २०-- २३; २४—२६; २७—३० इस प्रकार मंत्र इन पांच विभागोंमें बांटे जाते हैं । अन्तिम दो विभाग क्रमशः विशेषतः अनुष्टुभ् और त्रिष्टुभ् छन्द प्रधान हैं । अन्य विभाग विषयकी और मंत्रोंकी समानताके अनुसार माने गये हैं, यह बात पाठक मंत्रोंको देखकर समझ सकते हैं । इसलिये इस विषयमें अधिक लिखनेकी कोई आवश्यकता नहीं है । अब इस काण्डके ऋषिदेवता और छन्द देते हैं—

सूक्त	मंत्रसंख्या	ऋषि	देवता	छंद
१	३०	ब्रह्मा	आदित्यः	१ जगति; १-८ त्र्यवसाना; २-५ अतिजगति ६, ७, १९ अत्यष्टी; ८, ११, १६ अतिधृति; ९ पंचपदा शक्करी, १०- १३, १६, १८-१९, २४ त्र्यवसाना १० अष्टपदा धृतिः; १२ कृतिः; १३ प्रकृतिः; १४-१५ पंचपदाशक्करी; १७ पंचपदा विराडतिशक्करी; १८ भुरिगष्टिः २४ विराडत्यष्टिः; १-५ षट्पदा; ११-१३, १६, १८-१९, २४ सप्तपदा; २० ककुप्; २१ चतुष्पदा उपरिष्टाद्बृहती; २२ अनुष्टुप्; २३ निचृद्बृहती; २५, २६ अनुष्टुप्; २७, ३० जगती; २८—२९ त्रिष्टुभ् ।

यह काण्ड केवल तीस मंत्रोंके एक ही सूक्तका होनेसे और इसमें प्रायः एक ही विषय होनेसे सबका मिलकर अन्तमें स्पष्टीकरण करेंगे—

*

ॐ

अथर्ववेदका सुबोध भाष्य।

सप्तदशं काण्डम्

अपने अभ्युदयके लिये प्रार्थना।

(१)

विषासहिं सहमानं सासहानं सहीयांसम्। सहमानं सहोजितं स्वर्जितं गोजितं संधनाजितम्।
ईड्यं नाम ह्व इन्द्रमायुष्मान् भूयासम् ॥१॥
विषासहिं सहमानं सासहानं सहीयांसम्। सहमानं सहोजितं स्वर्जितं गोजितं संधनाजितम्।
ईड्यं नाम ह्व इन्द्रं प्रियो देवानां भूयासम् ॥२॥
विषासहिं सहमानं सासहानं सहीयांसम्। सहमानं सहोजितं स्वर्जितं गोजितं संधनाजितम्।
ईड्यं नाम ह्व इन्द्रं प्रियः प्रजानां भूयासम् ॥३॥

अर्थ—(विषासहिं) अत्यंत समर्थ, (सहमानं) अत्यंत बलवान, (सासहानं) नित्य विजयी, (सहियांसं) शत्रुको दबानेवाले, (सहमानं) महाबलिष्ठ, (संहोजितं) बलसे दिग्विजय करनेवाले, (स्वःजितं) अपने सामर्थ्यसे जीतनेवाले, (गो-जितं) भूमि, इंद्रियों और गौओंको जीतनेवाले (संधनाजितं) धनको जीतकर प्राप्त करनेवाले, (ईड्यं नाम इन्द्रं) प्रशंसनीय यशवाले प्रभुकी मैं (ह्वे) प्रशंसा करता हूं, जिससे मैं (आयुष्मान् भूयासं) दीर्घायु होऊं ॥ १ ॥ ०।०।० (देवानां प्रियः भूयासं) मैं देवोंका प्रिय बनूं ॥ २ ॥ ०।०।० (प्रजानां प्रियः ०) प्रजाओंका प्रिय होऊं ॥ ३ ॥ ०।०।०

विषासहिं सहमानं सासहानं सहीयांसम् । सहमानं सहोजितं स्वर्जितं गोजितं संधनाजितम् ।
ईड्यं नाम ह्व इन्द्रं प्रियः पशूनां भूयासम् ॥४॥
विषासहिं सहमानं सासहानं सहीयांसम् । सहमानं सहोजितं स्वर्जितं गोजितं संधनाजितम् ।
ईड्यं नाम ह्व इन्द्रं प्रियः समानानां भूयासम् ॥५॥
उदिह्युदिहि सूर्य वर्चसा माभ्युदिहि । द्विषंश्च मह्यं रध्यतु मा चाहं द्विषते रधं तवेद् विष्णो बहुधा वीर्याणि । त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमन् ॥६॥
उदिह्युदिहि सूर्य वर्चसा माभ्युदिहि । यांश्च पश्यामि यांश्च न तेषु मा सुमतिं कृधि तवेद् विष्णो बहुधा वीर्याणि । त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमन् ॥७॥
मा त्वा दभन्त्सलिले अप्स्व१न्तर्ये पाशिन उपतिष्ठन्त्यत्र । हित्वाशस्तिं दिवमारुक्ष एतां स नो मृड सुमतौ ते स्याम तवेद् विष्णो बहुधा वीर्याणि । त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमन् ॥८॥
त्वं न इन्द्र महते सौभगायादब्धेभिः परि पाह्यक्तुभिस्तवेद् विष्णो बहुधा वीर्याणि । त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमन् ॥९॥
त्वं न इन्द्रोतिभिः शिवाभिः शंतमो भव । आरोहंस्त्रिदिवं दिवो गृणानः सोमपीतये प्रियधामा स्वस्तये तवेद् विष्णो बहुधा वीर्याणि । त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमन् ॥ १० ॥

(पशूनां प्रियः०) पशुओंका प्रिय होऊं ॥ ४ ॥ ०।०।० (समानानां प्रियं भूयासं) समान योग्यतावाले पुरुषोंको भी प्रिय बनूं ॥ ५ ॥

हे (सूर्य) सूर्य ! (उदिहि उदिहि) उदय हो, उदयको प्राप्त हो । (वर्चसा मा अभ्युदिहि) अपने तेजसे उदित होकर मुझपर चारों ओरसे प्रकाशित हो । (द्विषन् च मह्यं रध्यतु) मेरा द्वेष करनेवाला मेरे वशमें हो जावे, परंतु (अहं च द्विषते मा रधम्) मैं द्वेष करनेवाले शत्रुके वश कभी न होऊं । हे (विष्णो) व्यापक ईश्वर ! (तव इत् बहुधा वीर्याणि) तेरे ही वीर्य अनेक प्रकारके हैं । (त्वं नः विश्वरूपैः पशुभिः पृणीहि) तू हमें अनेकरूपवाले पशुओंसे पूर्ण कर । और (परमे व्योमन्) परम आकाशमें (मा सुधायां धेहि) मुझे अमृतमें धारण कर ॥ ६ ॥ (उदिहि०) हे सूर्य ! उदयको प्राप्त हो, उदयको प्राप्त हो और (वर्चसा०) अपने तेजसे मुझे प्रकाशित करो (यान् च पश्यामि यान् च न) जिन प्राणियोंको मैं देखता हूं और जिनको नहीं भी देखता (तेषु मा सुमतिं कृधि) उनके विषयमें मुझे सुमतिवाला कर । (तव इत ०।० इत्यादि पूर्ववत्) ॥ ७ ॥ (सलिले अप्सु अन्तः ये पाशिनः) जलोंके अन्दर जो पाशवाले (अत्र उपतिष्ठन्ति) यहां आकर उपस्थित होते हैं वे (त्वा मा दभन्) तुझे न दबा देवें । (अशस्तिं हित्वा एतां दिवं आरुरुक्षः) निन्दाको त्यागकर द्युलोक पर आरूढ हो और (सः नः मृड) वह तू हमें सुखी कर, (ते सुमतौ स्याम) हम तेरी सुमतिमें रहेंगे । (तव इत् ०।०) ॥ ८ ॥ हे इन्द्र ! (त्वं नः महते सौभगाय) तू हम सबको बडे सौभाग्यके लिये (अदब्धेभिः अक्तुभिः परिपाहि) न दबनेवाले प्रकाशोंसे सब ओरसे सुरक्षित रख । (तव इत् ०।०)॥ ९ ॥ हे इन्द्र ! (त्वं नः शिवाभिः ऊतिभिः शंतमः भव) तू कल्याणपूर्ण रक्षणोंके साथ हमें उत्तम कल्याण देनेवाले हो । (त्रिदिवं आरोहन्) द्युलोकपर आरूढ होकर (दिवः गृणानः) प्रकाशको देता हुआ (सोमपीतये स्वस्तये प्रियधामा) सोमपान और कल्याणके लिये प्रिय स्थान हो । (तव इत् ०।०)॥ १० ॥

त्वमिन्द्रासि विश्वजित् सर्ववित् पुरुहूतस्त्वमिन्द्र । त्वमिन्द्रेमं सुहवं स्तोममेरयस्व स नो मृड सुमतौ ते स्याम तवेद् विष्णो बहुधा वीर्या᳚णि । त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्यो᳚मन् ॥११॥

अदब्धो दिवि पृथिव्यामुतासि न त आपुर्महिमानमन्तरिक्षे । अदब्धेन ब्रह्मणा वावृधानः स त्वं न इन्द्र दिवि षंछर्म यच्छ तवेद् विष्णो बहुधा वीर्या᳚णि । त्वं नः पृणीहि पशुभिर्वि-श्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्यो᳚मन् ॥१२॥

या त इन्द्र तनूरप्सु या पृथिव्यां यान्तरग्नौ या त इन्द्र पवमाने स्वर्विदि । ययेन्द्र तन्वा३-न्तरिक्षं व्यापिथ तया न इन्द्र तन्वा३ शर्म यच्छ तवेद् विष्णो बहुधा वीर्या᳚णि । त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्यो᳚मन् ॥१३॥

त्वामिन्द्र ब्रह्मणा वर्धयन्तः सत्रं नि षेदुरृषयो नाधमानास्तवेद् विष्णो बहुधा वीर्या᳚णि । त्वं नः पृणीहि-पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्यो᳚मन् ॥१४॥

त्वं तृतं त्वं पर्येष्युत्सं सहस्रधारं विदथं स्वर्विदं तवेद् विष्णो बहुधा वीर्या᳚णि । त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योऽमन् ॥१५॥

त्वं रक्षसे प्रदिशश्चतस्रस्त्वं शोचिषा नभसी वि भासि । त्वमिमा विश्वा भुवनानु तिष्ठस ऋतस्य पन्थामन्वेषि विद्वांस्तवेद् विष्णो बहुधा वीर्या᳚णि । त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्यो᳚मन् ॥१६॥

---

[१] हे इन्द्र ! तू (विश्वजित्, सर्ववित्) जगत् जेता और सर्वज्ञ है, और हे इन्द्र ! तू (पुरुहूतः) बहुत प्रशंसित है। हे इन्द्र ! (त्वं इमं सुहवं स्तोमं ऐरयस्व) तू इस उत्तम प्रार्थनावाले स्तोत्रको प्रेरित कर । (सः नः० तव इत् ०।०) ॥११॥ हे इन्द्र ! तू (दिवि उत पृथिव्यां अदब्धः असि) द्युलोकमें और इस पृथ्वीपर न दबा हुआ है । (अन्तरिक्षे ते महिमानं न आपुः) अन्तरिक्षमें तेरी महिमाको कोई नहीं प्राप्त हो सकते । (अदब्धेन ब्रह्मणा वावृधानः सन्) न दबनेवाले ज्ञानसे बढता हुआ (दिवि नः त्वं शर्म यच्छ) द्युलोकमें तू हमें सुख प्रदान कर । (तव इत् ०।०) ॥ १२ ॥ हे इन्द्र ! (या ते अप्सु तनूः) जो तेरा अंश जलोंमें है, (या पृथिव्यां या अग्नौ अन्तः) जो पृथ्वीपर और जो अग्निके अन्दर है, (हे इन्द्र ! या ते पव माने स्वः-विदि) और जो तेरा अंश पवित्र करनेवाले प्रकाशपूर्ण द्युलोकमें है, हे इन्द्र ! (यया तन्वा अन्तरिक्षं व्यापिथ) जिस तनूसे अन्तरिक्ष व्यापते हो, (तया तन्वा नः शर्म यच्छ) उस तनूसे हम सबको सुख प्रदान कर । (तव इत् ०।०) ॥ १३ ॥ हे इन्द्र ! (त्वां ब्रह्मणा वर्धयन्तः) तेरी मंत्रोंसे स्तुति करते हुए (नाधमानाः ऋषयः सत्रं निषेदुः) प्रार्थना करनेवाले ऋषिगण सत्र नामक यागमें बैठते हैं (तव इत् ०।०) ॥ १४ ॥ हे व्यापक देव ! (त्वं तृतं = त्रितं) तू तीनों स्थानोंमें प्राप्त (सहस्रधारं विदथं स्वर्विदं उत्सं) सहस्रधाराओंसे युक्त ज्ञानमय प्रकाशपूर्ण स्रोतको (पर्येषि) व्यापता है । (तव इत् ०।०) ॥ १५ ॥

हे देव ! [त्वं चतस्रः प्रदिशः रक्षसे] तू चारों दिशाओं की रक्षा करता है । अपने [शोचिषा नभसी विभासि] तेजसे आकाशको प्रकाशित करता है । [त्वं इमाः भुवना अनुतिष्ठसे] तू इन सब भुवनोंके अनुकूल होकर ठहरता है औ [विद्वान् ऋतस्य पन्थां अन्वेषि] जानता हुआ सत्यके मार्गका अनुसरण करता है । [तव इत् ०।०] ॥ १६ ॥

पञ्चभिः पराङ् तपस्येकयार्वाङशस्तिमेषि सुदिने बाधमानस्तवेद् विष्णो बहुधा वीर्याणि ।
त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमन् ॥१७॥

त्वमिन्द्रस्त्वं महेन्द्रस्त्वं लोकस्त्वं प्रजापतिः । तुभ्यं यज्ञो वि तायते तुभ्यं जुह्वति जुह्वतस्तवेद् विष्णो बहुधा वीर्याणि । त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमन् ॥१८॥

असति सत् प्रतिष्ठितं सति भूतं प्रतिष्ठितम् । भूतं ह भव्य आहितं भव्यं भूते प्रतिष्ठितं तवेद् विष्णो बहुधा वीर्याणि । त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमन् ॥१९॥

शुक्रोऽसि भ्राजोऽसि । स यथा त्वं भ्राजता भ्राजोऽस्येवाहं भ्राजता भ्राज्यासम् ॥ २० ॥

(२)

रुचिरसि रोचोऽसि । स यथा त्वं रुच्या रोचोऽस्येवाहं पशुभिश्च ब्राह्मणवर्चसेन च रुचिषीय ॥२१॥

उद्यते नम उदायते नम उदिताय नमः । विराजे नमः स्वराजे नमः सम्राजे नमः ॥२२॥

अस्तंयते नमोऽस्तमेष्यते नमोऽस्तमिताय नमः। विराजे नमः स्वराजे नमः सम्राजे नमः॥२३॥

(पञ्चभिः पराङ् तपसि) तू अपनी पांचों शक्तियोंसे परे तपता है और (एकया अर्वाङ) एकसे उरे तपता है। और (सुदिने अशस्तिं बाधमानः एषि) उत्तम दिनमें अप्रशस्तताको दूर हटाता हुआ चलता है। (तव इत् ०।०) ॥ १७ ॥ हे देव !(त्वं इन्द्रः) तू इन्द्र है, (त्वं महेन्द्रः) तू बडा इन्द्र है, (त्वं लोकः) तू लोक—प्रकाशपूर्ण है, (त्वं प्रजापतिः) तू प्रजापालक है (यज्ञः तुभ्यं वितायते) यज्ञ तेरे लिये फैलाया जाता है और (जुह्वतः तुभ्यं जुह्वति) हवन करनेवाले तेरे लिये आहुतियां देते हैं । (तव इत् ०।०) ॥ १८ ॥ (असति सत् प्रतिष्ठितं) असत् में अर्थात् प्राकृतिक विश्वमें सत् अर्थात् आत्मा रहा है, (सति भूतं प्रतिष्ठितं) सत् में अर्थात् आत्मामें उत्पन्न हुआ जगत् रहा है, (भूतं ह भव्ये आहितं) भूत होनेवालेमें आश्रित है, (भव्यं भूते प्रतिष्ठितं) होनेवाला भूतमें प्रतिष्ठित हुआ है (तव इत् ०।० ॥ १९ ॥ (शुक्रः असि) तू तेजस्वी है, (भ्राजः असि) तू प्रकाशमय है, (स त्वं) वह तू (यथा भ्राजता भ्राजः असि) जैसा तेजस्वी है (एव अहं भ्राजता भ्राज्यासं) वैसे ही मैं तेजसे प्रकाशित होऊं ॥२०॥

(रुचिः असि) तू प्रकाशमान है, (रोचः असि) तू देदिप्यमान है (सः त्वं यथा रुच्या रोचः असि) वह तू जैसा तेजसे तेजस्वी है (एव अहं पशुभिः च ब्रह्मवर्चसेन च रुचिषीय) वैसेही मैं पशुओं और ज्ञानके तेजसे प्रकाशित होऊं ॥ २१ ॥ (उद्यते नमः) उदित होनेवालेको नमस्कार, [उदायते नमः] ऊपर आनेवालेके लिये नमस्कार, [उदिताय नमः] उदयको प्राप्त हुएको नमस्कार, [विराजे नमः] विशेष प्रकाशमानको नमस्कार, [स्वराजे नमः] अपने तेजसे चमकनेवालेको नमस्कार, [सम्राजे नमः] उत्तम प्रकाशयुक्तको नमस्कार ॥ २२ ॥ [अस्तंयते नमः] अस्त होनेवालेको नमस्कार, [अस्तं एष्यते नमः] अस्तको जानेवालेको नमस्कार, [अस्तमिताय नमः] अस्त हुएको नमस्कार, [विराजे, सम्राजे, स्वराजे नमः] विशेष तेजस्वी, उत्तम प्रकाशमान और अपने तेजसे प्रकाशनेवालेको नमस्कार हो ॥ २३ ॥

उदगादयमादित्यो विश्वेन तपसा सह। सपत्नान् मह्यं रन्धयन् मा चाहं द्विषते रधं तवेद् विष्णो बहुधा वीर्याणि। त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमन् ॥ २४ ॥

आदित्य नावमारुक्षः शतारित्रां स्वस्तये। अहर्मात्यपीपरो रात्रिं सत्राति पारय ॥२५॥

सूर्य नावमारुक्षः शतारित्रां स्वस्तये। रात्रिं मात्यपीपरोऽहः सत्राति पारय ॥२६॥

प्रजापतेरावृतो ब्रह्मणा वर्मणाहं कश्यपस्य ज्योतिषा वर्चसा च। जरदष्टिः कृतवीर्यो विहायाः सहस्रायुः सुकृतश्चरेयम् ॥२७॥

परीवृतो ब्रह्मणा वर्मणाहं कश्यपस्य ज्योतिषा वर्चसा च। मा मा प्रापन्निषवो दैव्या या मा मानुषीरवसृष्टा वधाय ॥२८॥

ऋतेन गुप्त ऋतुभिश्च सर्वैर्भूतेन गुप्तो भव्येन चाहम्। मा मा प्रापत् पाप्मा मोत मृत्युरन्तर्दधेऽहं सलिलेन वाचः ॥२९॥

अग्निर्मा गोप्ता परि पातु विश्वत उद्यन्त्सूर्यो नुदतां मृत्युपाशान्। व्युच्छन्तीरुषसः पर्वता ध्रुवाः सहस्रं प्राणा मय्या यतन्ताम् ॥३०॥

इति सप्तदशं काण्डं समाप्तम्

(अयं आदित्यः विश्वेन तपसा सह उदगात्) यह सूर्य संपूर्ण तेजके साथ उदित है। (मह्यं सपत्नान् रन्धयन्) मेरे लिये मेरे शत्रुओंको वश करता है, (अहं च द्विषते मा रधं) परंतु मैं कभी वशमें न होऊं। (तव इत् विष्णो बहुधा वीर्याणि) हे व्यापक देव! तेरे ही ये सब पराक्रम हैं। (त्वं नः विश्वरूपैः पशुभिः पृणीहि) तू हम सबको अनन्त रूपोंवाले पशुओंसे परिपूर्ण कर। और (परमे व्योमन् सुधायां मा धेहि) परम आकाशमें विद्यमान अमृत में मुझे धारण कर ॥ २४ ॥ हे आदित्य! (स्वस्तये शतारित्रां नावं आरुक्षः) हमारे कल्याण के लिये सेकडों आरोंवाली नौकापर आरूढ हो। (मा अहः अति अपीपरः) मुझे दिनके समय पार कर और (रात्रिं सत्रा अतिपारय) रात्रीके समय भी साथ रहकर पार पहुंचा ॥ २५ ॥ हे सूर्य! तू हमारे (स्वस्तये) कल्याणके लिये नौकापर चढ और हमें दिन और रात्रीके समय पार कर ॥ २६ ॥ (अहं प्रजापतेः ब्रह्मणा वर्मणा आवृतः) मैं प्रजापतिके ज्ञानरूप कवचसे आवृत होकर (कश्यपस्य ज्योतिषा वर्चसा च) और सर्वदर्शक देवके तेज और बलसे युक्त होकर (जरदष्टिः कृतवीर्यः) वृद्धावस्था तक वीर्यवान् हुआ (विहायाः सहस्रायुः) विविध कर्मोंसे युक्त सहस्रायु- पूर्णायु- होकर (कश्यपस्य ज्योतिषा वर्चसा च) सर्वदर्शक देवके तेजसे और बलसे युक्त होकर (याः दैवीः मानुषीः इषवः वधाय अवसृष्टाः) जो दिव्य और मानवी बाण वधकेलिये भेजे गये हों वे (मा मा प्रापन्) मुझे न प्राप्त हों, उनसे मेरा वध न होवे ॥ २८ ॥ (ऋतेन गुप्तः) सत्यके द्वारा रक्षित, (सर्वैः ऋतुभिः च) सब ऋतुओं द्वारा रक्षित, (भूतेन च भव्येन गुप्तः अहं) भूत और भविष्यद्वारा सुरक्षित हुआ मैं यहां विचरूं। (पाप्मा मा, उत मृत्युः मा मा प्रापत्) पाप अथवा मृत्यु मुझे न प्राप्त हो। (अहं वाचः सलिलेन अन्तर्दधे) मैं अपनी वाणीको— अपने शब्दको पवित्र जीवनके अंदर धारण करता हूं। वाणीकी पवित्रता पवित्र जीवनसे करता हूं ॥ २९ ॥ [गोप्ता अग्निः विश्वतः मा परिपातु] रक्षक अग्नि सब ओरसे मेरी रक्षा करे। [उद्यन् सूर्यः मृत्युपाशान् नुदतां] उदय होनेवाला सूर्य मृत्युपाशोंको दूर करे। [व्युच्छन्तीः उषसः] प्रकाशयुक्त उषाएं और [ध्रुवाः पर्वताः] स्थिरपर्वता [सहस्रं प्राणाः मयि आ यतन्तां] सहस्रों बलवाले प्राण मेरे अन्दर फैलाये रखें ॥ ३० ॥

इति प्रथमोऽनुवाकः ॥ इति सप्तदशं काण्डं समाप्तम् ॥

सप्तदश काण्डका मनन ।

अपने अभ्युदयका विचार करनेवाले पाठक इस काण्डका मनन अधिक करें। विशेषतः पहिले पांच मंत्रोंका जो एक मंत्रगण है, उसका अत्यंत मनन करें। ये पांच मन्त्र बताते हैं कि विजयेच्छु पुरुषको अपने अन्दर कौनसे गुण प्राप्त करने चाहिये और बढाने चाहिये। उन्नति चाहनेवाले मनुष्य अपनी इच्छा इस प्रकार रखें—

लोकप्रिय बनना।

[अहं] देवानां, प्रजानां, समानानां, पशूनां प्रियः भूयासं; आयुष्मान् भूयासम् ॥ [मं० १-५]

" मैं देवोंका, प्रजाजनोंका, समान योग्यतावाले लोगोंका, और पशुओंका प्रिय होऊं, और दीर्घायु बनूं। " सबसे मुख्य बात दीर्घायु बननेकी है, क्योंकि आयु, आरोग्य और बल रहा तोही सब कुछ धर्म कर्म होना संभव है। अतः उन्नतिशील मनुष्योंको उचित है कि, वे धर्मानुसार आचरण करके अपनी आयु दीर्घ करें, नीरोग रहनेका यत्न करें और अपने अन्दर बल स्थिर रखें।

इतना होनेके पश्चात् देव, प्रजा, समानलोग और पशु इनको प्रिय होनेकी महत्त्वाकांक्षा धारण करना चाहिये और इसकी सिद्धिके लिये मनुष्योंको प्रयत्न करना चाहिये। ' देव 'का अर्थ जैसा ' देवता ' है वैसा ही 'भूदेव, क्षत्रदेव, धनदेव और कर्मदेव ' ये चार प्रकारके चातुर्वर्ण्यके श्रेष्ठ पुरुष भी देव कहलाते हैं। इनके मनमें इस मनुष्यके विषयमें प्रेम रहे, ये श्रेष्ठ लोग इस पुरुषके विषयमें कहें कि यह फलाना मनुष्य उत्तम है, उसका प्रिय होना चाहिये। प्रजाजन इस मनुष्यपर प्रेम करें, प्रजाजनोंका यह प्रेमपात्र बने, सब जनता इसके ऊपर प्रीति करे, अर्थात् यह लोकप्रिय बने, लोकमान्य बने। समान लोगोंमें यह प्रिय हो, अर्थात् ज्ञानियोंका प्रेम विशेष ज्ञानीपर होता है, वीरोंका प्रेम समर्थ वीर पर होता है, समानोंका प्रेमभाजन होनेके लिये उनसे विशेष उत्कट गुण होने चाहिये। इन गुणोंका संपादन यह मनुष्य करे और समानोंका प्रेमभाजन बने। पशुओंका भी प्रेम संपादन करे। जब यह मनुष्य पशुओंकी पालना करेगा और उनपर प्रेम करेगा, ~~तब पशु स्वयं इस~~पर प्रेम करने लगेंगे। यहां इसकी भूतदयामें विशेषता होना चाहिये। इस विवेचन से पाठक जान सकते हैं कि, देव, प्रजा, समानलोग और पशुओंका प्रिय बननेका आशय क्या है, इस विषयमें नियम यह है कि मनुष्य जिनका प्रेम संपादन करना चाहता है, उनपर स्वयं प्रेम करे। इसका प्रेम उनपर होने लगा; तो निःसन्देह वे भी इसपर प्रेम करने लग जायेंगे।

वीरके गुण

इस सूक्तके प्रथम मंत्रमें दस शब्दोंद्वारा वीरोंके गुण दिये हैं। उन्नतिशील मनुष्योंको ये गुण अपने अन्दर लाने चाहियें और बढाने चाहिये। यदि पाठक इन दस शब्दोंका मनन करेंगे तो उनको वीरताके दस शुभ गुणोंका पता लग सकता है—

(१) गो—जित् = ' गो ' शब्दका अर्थ ' इंद्रिय और भूमि ' है। ये अर्थ लेकर यहां विचार करना चाहिये, पहिला अर्थ है (गो—जित्) इंद्रियोंको जीतनेवाला है, अपनी इन्द्रियोंका संयम करनेवाला, मनोनिग्रह करनेवाला, अपना आत्मसंयम करनेवाला। सब उन्नतिका प्रारंभ ' आत्म—विजय ' से होता है। आत्मविजय सब अन्य विजयोंसे कठीन है, तथापि जो मनुष्य आत्मविजयका साधन करता है और सिद्ध बनता है, वह अन्य विजय सहज ही से प्राप्त कर सकता है। भूमिका विजय इस शब्दका दूसरा अर्थ है। वीरतासे अपनी मातृभूमिको विजयी करना यह इसका भाव है। मुख्यतया यहां आत्मविजय मुख्य है, क्योंकि सभी विजय आत्मविजय से प्रारंभ होते हैं।

(२) स्वः—जितं = (स्व- र्—जितं) आत्मप्रकाशको प्राप्त करना, अपने तेजका विजय करना, आत्मसंमानका विजय करना, अपने आध्यात्मिक तेजका विजय होने योग्य कार्य करना। यहभी एक बडी भारी वीरता है।

(३) धनना-- जित् = उत्तम धनोंको जीतकर प्राप्त करना, यह भी एक बडी भारी वीरता है। जिसके साथ होनेसे मनुष्य अपने आपको धन्य कह सकता है उसको धन कहा जाता है। अतः धन शब्दसे केवल रुपये आने पाई समझना शुद्ध भ्रम है। गौवें भी धन है, राज्य किंवा स्वराज्य भी धन है, बल भी धन है, विद्या भी धन है, प्रतिष्ठा धन है, सदाचार धन है। इस रीतिसे अनेक धन हैं। इनकी प्राप्ति करना मनुष्यका आवश्यक कर्तव्य है।

(४) सहमान = आत्मिक बल, तेज और जीवनसे युक्त और

(५) सहमान = शारीरिक बल और शक्तिसे युक्त होना।

ये दोनों शब्द एक ही मंत्रमें प्रयुक्त हैं, इसलिये ये भिन्नार्थक शब्द हैं। " सहस् " शब्दका अर्थ ' बल ' है और इसके अर्थ " शक्ति, विजय, तेज और जीवन " हैं। इनमें से कुछ अर्थ एकके और अन्य दूसरेके मानना यहां योग्य है। इस प्रकार अर्थ करनेसे दोनों शब्द पुनरुक्ति दोषसे रहित और अन्वर्थक प्रतीत होते हैं। अर्थात् ये दोनों बल मनुष्यको प्राप्त करना चाहिये। इस बलमें सैन्यका बल भी अन्तर्भूत होता है।

[६] सहो—जित् = अपने बलसे शत्रुको जीतनेवाला। मनुष्य अपने अन्दर तथा राष्ट्र अपने अन्दर ऐसा बल प्राप्त करे कि जिससे शत्रुका विजय सहजहीमें हो सके।

[७] सहीयान = शत्रुका हमला कितने भी वेगसे आजावे उससे न डरता हुआ, उसको सहन करनेवाला। शत्रुका आक्रमण हुआ तो भी अपने स्थानसे पीछे न हटता हुआ विजयके साथ अपने स्थानमें स्थिर रहनेवाला। शत्रुके आक्रमणका प्रतिकार करके शत्रुको परास्त करनेवाला।

[८] सासहान = शत्रुके आक्रमण एकके पीछे दूसरे, अथवा वारंवार होनेपर भी जो अपना स्थान छोडता नहीं और विजय के साथ अपने स्थानमें स्थिर रहता है और अपने स्थानसे ही शत्रुको परास्त करता है और उसको वापस लौटा देता है।

[९] विषासहि = जिसका आक्रमण शत्रुपर हुआ, तो शत्रुको परास्त होकर भागना पडता है, जिसका आक्रमण शत्रुको असह्य होता है।

[१०] ईडयः नाम इन्द्रः = प्रशंसनीय यशस्वी (इन्+द्रः) शत्रुओंका पूर्ण नाश करनेवाला वीर।

उपास्यके गुण उपासकमें।

ये दस शब्द यहां इन्द्र देवताके वाचक हैं। यह देवता मनुष्योंकी उपास्य है। उपास्य देवताके गुण उपासकोंको अपने अन्दर धारण करने चाहिये, यह उपासनाका नियम है। इस नियमके अनुसार उपासना करनेवाले पाठक अपने अन्दर ये वीरताके गुण बढावें और अपनी उन्नतिके मार्गका आक्रमण करें और सब प्रकारका अभ्युदय प्राप्त करें। पूर्वोक्त गुण अपने अन्दर बढने लगे तो मनुष्यकी अथवा राष्ट्रकी उन्नति निःसंदेह होगी, उपासनाके मंत्र केवल रटनेमात्रसेही मनुष्यकी उन्नति नहीं होगी, परंतु उनमें वर्णित उपास्यके गुणोंकी धारणासे ही मनुष्यकी उन्नति होना संभव है। जो मनुष्य अथवा मनुष्योंका संघ इस प्रकारकी वैयक्तिक और सामूहिक उपासना करते हैं वेही अपना सब प्रकारका अभ्युदय सिद्ध करते हैं। इन्हींके विषयमें कहा है कि-

अभ्युदय।

उदिहि, उदिहि, वर्चसा अभ्युदिहि। (मं २)

"उदयको प्राप्त हो, अभ्युदय प्राप्त करो, तेजके साथ सब प्रकार अभ्युदय प्राप्त करो।" ये मंत्र यद्यपि उपास्य देव सूर्यके संबंधमें कहे हैं तथापि उपास्यके गुण उपासकको धारण करने होते हैं, इस नियमके अनुसार प्रायः बहुतसे मंत्र उपासकको आदेश देनेवाले होते हैं। इसी तरह ये मंत्र भी उपासकको अभ्युदयका संदेश दे रहे हैं, यह बात यहां पाठक न भूलें। अभ्युदय किस मार्गसे करना चाहिये, इसके सारांशसे दो सूत्र हैं--

द्विषन् मह्यं रध्यतु। अहं द्विषते मा रधम्। (मं० ६)

"मेरा शत्रु मेरे वशमें आजावे और मैं कभी शत्रुके वशमें न होऊं।" शत्रु अनेक प्रकारके हैं, और रणक्षेत्रभी विविध हैं। उन सब रणक्षेत्रोंमें यही एक नियम है कि स्वयं शत्रुका पराभव करना और शत्रुसे कभी पराभूत न होना। विजय, उदय और अभ्युदयकी यह कुंजी है। जो लोग और जो राष्ट्र इस प्रकार अपनी तैयारी करेगा वही विजयको प्राप्त होगा।

पराक्रम।

तव बहुधा वीर्याणि। (मं० ६)

"तेरे बहुत पराक्रम होने चाहियें।" तब विजयकी संभावना है। विष्णु देव-व्यापक ईश्वर-का सर्वत्र विजय इसलिये है कि

उसके अनन्त पराक्रम होते हैं। अनेक पराक्रम न हुए तो विजय प्राप्त होना असंभव है। विजयके लिये अनेक रण क्षेत्रोंमें उतरना चाहिये और वहां बडे पराक्रम करने चाहियें। इसलिये--

सुमतौ कृधि । सुधायां धेहि । (मं० ६-७)

"अपने अन्दर सुमति धारण कर, उत्तम धारणामें अपने आपको और सबको धारण कर।" सुमतिके बिना अध्यात्म-क्षेत्रका विजय नहीं होगा और (सु-धा) उत्तम धारणके बिना समाजका या संघका विजय नहीं होगा। यह नियम सदा ध्यानमें धारण करना चाहिये। इस दिशासे अनेक दिन प्रयत्न होना चाहिये, यह सूचित करनेके लिये कहा है कि-

बडा सौभाग्य ।

स्व महते सौभगाय अदब्धेभिः अक्तुभिः परिपाहि ।
(मं० ९)

" तू अपना सौभाग्य बहुत बढानेके लिये न थकता हुआ और किसीके दबावसे न दबता हुआ दिनप्रतिदिन सुरक्षितता-पूर्वक प्रयत्न करो " यह आदेश बडा उत्साहवर्धक है। कितना ही प्रचण्ड शक्तिवाला दबानेका यत्न करे, परंतु स्वयं उसके दबावसे न दबनेका यत्न करना चाहिये। पापाकी शक्तिके अन्दर न दब जानेका निश्चय करना ही अत्यंत महत्त्व की बात है। आत्माकी शक्ति इतनी प्रचण्ड है कि सब जगत् की शक्ति भी उसका विरोध करने लगी, तो भी वह दबेगा नहीं, परंतु मनका निश्चय होना चाहिये। ' महासौभाग्य ' जो ऊपरले मंत्रमें कहा है वह तभी इसको प्राप्त होता है। अधिक उत्साह बढानेके लिये और कहा है कि-

न दब जाना ।

पृथिव्यां अदब्धः असि । ते महिमानं न आपुः (मं० १२)

" पृथ्वीपर तू आत्मा न दब जानेवाला महाशक्तिमान है, तेरी महिमा अन्य भौतिक जड पदार्थोंको प्राप्त नहीं हो सकती " जड पदार्थ कितनेभी सामर्थ्यवान हों, परंतु उनकी शक्ति आत्माके सामर्थ्यकी बराबरी कर नहीं सकती। अपने आत्माकी यह प्रचण्ड शक्ति जाननेके लिये ही सब धर्मानुष्ठान हैं। अपने परम पिताकी प्रचण्ड शक्तिका वर्णन इसी कारण उपासनाके लिये उपासकोंके सन्मुख वेदमंत्रों द्वारा रखा जाता है कि वे किसी न किसी दिन अपने अन्दर परमपिताका वीर्य है, इस बातका अनुभव करें और उनके गुणोंका धारण अपने अन्दर करनेका यत्न करें। यह ईशगुणोंकी धारणा किस प्रकार हो सकती है यह भी आगे कहा है-

अदब्धेन ब्रह्मणा वावृधानः । (मं० १२)

" न दब जानेवाले ज्ञानसे बढता हुआ " अपने (बहुधा वीर्याणि) बहुत पराक्रम कर। यहां जो कहा है वह प्रत्येक वैदिक धर्मीको ध्यानमें धारण करना चाहिये। मनुष्यकी उन्नति ज्ञानसे होनी है, यह बात यहां स्पष्ट कही है, इसलिये उन्नतिशील पाठक ज्ञानप्राप्तिके यत्नमें कटिबद्ध हों। यहां ज्ञान का महत्त्व वर्णन किया है। ज्ञान प्राप्त करनेके पश्चात्-

सत्य का मार्ग

विद्वान् ऋतस्य पन्थां अनु एषि । (मं० १६)

विद्वान् होकर सत्यके मार्गके अनुकूल होकर जाता है। " सत्यका आग्रहके साथ पालन करना चाहिये। सत्य ही मनुष्यका मार्गदर्शक और सब बन्धनोंको दूर करनेवाला है। सत्यके पालनसे ही सब प्रकारकी उन्नति होती है। इसी तरह—

अशस्तिं बाधमानः सुदिने एषि । (मं० १७)

" अप्रशस्त निंदनीय बातको दूर करनेसे तू उत्तम दिन के प्रकाशपूर्ण जीवनमें वर्ताव करनेवाला होगा। " जिस प्रकार मनुष्यको सत्यका पालन करना अभीष्ट है, उसी प्रकार अप्रशस्त निन्दनीय दुष्ट व्यवहारको सर्वथा दूर करना भी अत्यंत इष्ट है। अन्यथा उच्च अवस्था मनुष्यको कदापि प्राप्त नहीं हो सकती। उत्तम गुणोंको अपने अन्दर बढाना और हीन दुर्गुणोंको अपनेमें से दूर करना यही अभ्युदयका अनुष्ठान है। मनुष्य अपने अभ्युदयका मार्ग आक्रमण कर रहा है या नहीं इसकी परीक्षा भी उसके भूत भविष्यका व्यवहार देखकर हो सकती है इसलिये कहा है कि—

आत्मा और संसार ।

असति सत् प्रतिष्ठितम् । सति भूतं प्रतिष्ठितम् ।
भूतं भव्ये आहितं भव्यं भूते प्रतिष्ठितम् । (मं० १९)

"असत् में सत् और सत् में भूत ठहरा है " यह पहिला कथन है। यह संसार नाशवान् होनेसे असत् है, और आत्मा

निश्चय करें और यदि अवनतिका मार्ग होगा, तो उसे तत्काल छोड देवें और उन्नतिके मार्गपर ही सदा रहें। तथा मनमें यह महत्वाकांक्षा धारण करें कि-

आत्मतेज।

अहं आजसा आज्यासम्। (मं० २०)

"मैं अपने तेजसे तेजस्वी बनूंगा।" दूसरेके तेजसे तेजस्वी बननेमें पराधीनता है। प्रत्येकको अपने तेजसे तेजस्वी बनना चाहिये। प्रत्येककी अपने सामर्थ्यसे रक्षा होनी चाहिये, अपने ज्ञानसे प्रत्येकको विवेक करना चाहिये, प्रत्येकको अपने धनका भोग लेना योग्य है, इसी प्रकार अन्यान्य विषयोंके संबंधमें जानना चाहिये। जिसकी रक्षा दूसरेके बलसे होती है, जो स्वयं अपने ज्ञानसे विचार नहीं कर सकता, जिसके पास अपने पोषण करनेके आवश्यक पदार्थ नहीं हैं; उसकी शोचनीय अवस्था होती है, इसके विषयमें पाठक स्वयं विचार करके जान सकते हैं। अतः अपने प्रकाशसे प्रकाशनेका उपदेश यहां इस मंत्रद्वारा दिया है, पाठक इसका विचार करें और अपने सामर्थ्यसे समर्थ बनकर यहां यशस्वी, कीर्तिमान और स्वतंत्र अर्थात् शुद्धबुद्ध और मुक्त बननेका यत्न करें। इसी प्रकार और भी कहा है-

अहं ब्रह्मवर्चसेन रुच्या रोचः(भूत्वा)रुचिषीय। (मं०२१)

"मैं अपने ज्ञानके प्रभावसे प्रभावित और अपने तेजसे तेजस्वी होकर प्रकाशित होऊंगा"। इस मंत्रमें भी वही भाव दुहराया है और ज्ञानकी आवश्यकता उन्नतिके लिये अत्यंत है, यह बात यहां पुनः स्पष्ट की है।

आगे उदयको प्राप्त होनेवाले, प्रकाशित होनेवालोंको नमस्कार करनेको कहा है और जो इस प्रकार प्रकाशित होकर अपना जीवनक्रम समाप्त करके अस्तको जाते हैं, उनको भी नमस्कार करनेको कहा है। यहां सूर्यको सन्मुख रखनेको कहा है। मनुष्य का आदर्श सूर्य है, सूर्यके समान मनुष्य अपना अभ्युदय प्राप्त करे, सूर्यके समान इस जगत्में प्रकाशित होवे और प्रदीप्त रहता हुआ तथा सबको प्रकाशका मार्ग बतलाता हुआ अन्तमें कृतकृत्य होकर अस्तको प्राप्त होवे। इस प्रकार अस्त होना भी आदर्शरूप होता है। इस तरह सब मनुष्य सूर्यको अपना आदर्श मानें। और उससे यह बोध प्राप्त करें। पाठक इस दृष्टिसे विचार कर और सूर्यको अपना आदर्श मानकर २६ वे मंत्रतकका उपदेश मननके द्वारा मनमें स्थिर करें। इसके नंतर एक महत्त्वपूर्ण मंत्रभाग है वह प्रत्येक मनुष्यको नित्य स्मरणमें धारण करना योग्य है, वह अब देखिये-

अपना यश।

अहं ब्रह्मणा वर्मणा ज्योतिषा वर्चसा च आवृतः
कृतवीर्यः विहायाः जरदष्टिः सहस्रायुः सुकृतः चरेयम् ॥
(मं० २७)

अहं ब्रह्मणा वर्मणा ज्योतिषा वर्चसा च परिवृतः
...ऋतेन गुप्तः ... भूतेन भव्येन च गुप्तः (चरेयम्) ॥
(मं० २८--२९)

पाप्मा मा मा प्रापत्, मृत्युः मा मा प्रापत्।
अहं वाचः सलिलेन अन्तर्दधे। (मं० २९)

" मैं ज्ञान, आत्मरक्षाका सामर्थ्य, तेज और बलसे युक्त होकर, पराक्रम करता हुआ, विविध पुरुषार्थका साधन करता हुआ, दीर्घ आयु प्राप्त करके, सदाचारसे व्यवहार करूंगा। मैं ज्ञान, आत्मरक्षाका सामर्थ्य, तेज और बलसे युक्त होकर, सत्यसे सदा सुरक्षित होता हुआ, भूतभविष्य वर्तमान काल में होनेवाले कर्मोंसे सुरक्षित होता हुआ, सदाचारसे व्यवहार करूंगा। पाप मेरे पास न आवे, पापी मेरे संनिध न आवे, मृत्युका भय मुझे न प्राप्त हो, मैं अपनी वाणीको शुद्ध जीवनसे युक्त करता हूं।"

इनमेंसे प्रत्येक वाक्य इतना स्पष्ट, इतना तेजस्वी, इतना बोधप्रद और इतना मार्गदर्शक है कि उसका अधिक स्पष्टीकरण करनेकी यहां आवश्यकता प्रतीत ही नहीं होती। पाठक इसीका पाठ वारंवार करें, वारंवार मनन करें और अपने आत्माके अन्दर वेदके ये ओजस्वी विचार स्थिर करें। इन्हीं विचारोंकी स्थिरतासे मनुष्य विजयी होगा और अभ्युदय प्राप्त करेगा और अन्तमें धन्य भी होगा। जो पाठक इस तरह इस काण्डका मनन करेंगे, वे अपनी उन्नतिका पर्याप्त ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। इस काण्डके प्रत्येक मंत्रमें गुप्त ज्ञान भरपूर भरा है। केवल बाह्य अर्थके प्राप्त करनेसे ही पाठकोंको यह नहीं समझना चाहिये कि हमने मंत्रका आशय समझ लिया है, मंत्रका आशय तो आगे पीछेके शब्दोंके साथ और विधानों के साथ संगति देखकर मनन करनेसे ही ध्यानमें आ सकता है। आशा है कि इस महत्त्वपूर्ण उपदेशके काण्डसे पाठक अधिकसे अधिक बोध प्राप्त करके कृतकृत्य और धन्य बनेंगे।

विषयसूची

ॐ

अथर्ववेदका सुबोध भाष्य ।

अष्टादशं काण्डम्

इस अष्टादश काण्डके प्रथम सूक्तमें प्रारंभमें (सखायं सख्या ववृत्यां) " मित्रको मित्रताके साथ प्राप्त करनेका विषय " है। यह शुभ और मित्रता बढानेका विषय होनेसे यही इसका मंगलाचरण है ।

अथर्ववेदके तृतीय महाविभागका यह अन्तिम काण्ड है । क्योंकि काण्ड १३ से काण्ड १८ तक यह महाविभाग है । इस काण्डमें अन्त्येष्टीका विषय है । अर्थात् "यम, पितर, मृतकी मरणोत्तर स्थिति, पितृलोक" यही इस काण्डका प्रारंभसे अन्ततक विषय है। इस काण्डके मंत्रोंकी संगति आगे बताई जायगी और वहां मरणोत्तरकी स्थितिका सब विषय स्पष्ट किया जायगा। इस काण्डके बहुतसे मंत्र ऋग्वेदमें हैं और तैत्तिरीय संहिता (अ० ५) में भी हैं । इन मंत्रोंमें स्थानस्थानपर बहुतसे पाठभेद भी हैं । अथर्ववेदकी पिप्पलाद संहितामें ये मंत्र संपूर्णरूपसे नहीं हैं, अर्थात् कई हैं और बहुतसे नहीं हैं ।

अब इस काण्डके मंत्रोंके "ऋषि-देवता-छंद" देखिये-

ऋषि, देवता और छन्द ।

सूक्त	मंत्रसंख्या	ऋषिः	देवता	छन्द
प्रथमोऽनुवाकः ।				
१	६१	अथर्वा	यमः, मन्त्रोक्ताः, ४१ ४२सरस्वती, ४० रुद्रः ४०-४६, ५१, ५२ पितरः ।	त्रिष्टुप्; ८, १५ आर्षीपंक्तिः; १४, ४९, ५० भुरिजः १८-२०, २१-२३ जगत्यः; ३७, ३८ परोष्णिक्; ५६, ५७, ६१ अनुष्टुभः, ५९ पुरोबृहती ।
द्वितीयोऽनुवाकः ।				
२	६०	,,	यमः मन्त्रोक्ताः । ४, ३४; अग्निः, ५जातवेदाः, २९पितरः	त्रिष्टुप्; १-३, ६, १४—१८, २०, २२, २३, २५, ३०, ३६, ४६, ४८, ५०-५२, ५६ अनुष्टुभः; ४, ७, ९, १३ जगत्यः; ५, २६, ४९, ५७ भुरिजः; १९ त्रिपदा गायत्री; २४ त्रिपदा समविषमार्षी गायत्री; ३७ विराड् जगती; ३८-४४ आर्षीगायत्र्यः (४०, ४२-४४ भुरिजः) ४५ ककुम्मती अनुष्टुप् ।

*

तृतीयोऽनुवाकः ।

३	७३	अथर्वा	यमः; मंत्रोक्ताः, ५, ६ अग्निः; ५० भूमिः ५४ इन्दुः; ५६ आपः	त्रिष्टुप्; ४, ८, ११, २३ सतः पंक्तयः; ५ त्रिपदा निचृद्गायत्री; ६, ५६, ६८, ७०, ७२ अनुष्टुभः; १८, २५ २९, ४४, ४६ जगत्यः; (१८ भुरिक्, २९ विराट्) ३० पञ्चपदा अतिजगती; ३१ विराट् शक्वरी; ३२-३५ ४७, ४९, ५२ भुरिजः; ३६ एकावसाना आसुरी अनुष्टुप् ३७ एकावसाना आसुरी गायत्री; ३९ परात्रिष्टुप् पंक्तिः, ५० प्रस्तारपंक्तिः; ५४ पुरोऽनुष्टुप्; ५८ विराट्; ६० त्र्यवसाना षट्पदा जगती; ६४ भुरिक् पथ्या पङ्क्त्यार्षी ६७ पथ्या बृहती, ६९, ७१ उपरिष्टाद् बृहती ।

चतुर्थोऽनुवाकः ।

४	८९	,,	यमः, मन्त्रोक्ताः, ८१ पितरः; ८८ अग्निः, ८९ चन्द्रमाः	त्रिष्टुप्, १, ४, ७, १४, ३६, ६०, भुरिजः; २, ५, ११, २९, ५०, ५१, ५८ जगत्यः; ३ पञ्चपदा भुरिगतिजगती; ६, ९, १३ पञ्चपदा शक्वरी. (९ भुरिग्, १३ त्र्यवसाना) ८ पञ्चपदा बृहती; (२६ विराट्) २७ याजुषी गायत्री, (२५) ३१, ३२, ३८, ४१, ४२, ५५-५७, ५९, ६१ अनुष्टुप् (५६ ककुम्मती); ३९, ६२, ६३ आस्तारपंक्तिः; (३९ पुरोविराट् ६२ भुरिक् ६३ स्वराट्) ६७ द्विपदार्ची अनुष्टुप्; ६८, ७१ आसुरी अनुष्टुप् ७२-७४, ७९ आसुरीपंक्तिः ७५ आसुरी गायत्री; ७६ आसुरी उष्णिक्, ७७ दैवी जगती; ७८ आसुरी त्रिष्टुप् ८० आसुरी जगती; ८१ प्राजापत्यानुष्टुप् ८२ साम्नी बृहती; ८३, ८४ साम्नी त्रिष्टुभौ; ८५ आसुरी बृहती (६७-६८ ७१, एकावसाना) ८६, ८७ चतुष्पदा उष्णिक्, (८६ ककुम्मती, ८७ शंकुमती) ८८ त्र्यवसाना पथ्यापंक्तिः; ८९ पञ्चपदा पथ्यापंक्तिः ।

इस सूक्तका विषय एक ही होनेसे चारों सूक्तोंका अर्थ करनेके पश्चात् ही सबका मिलकर विवरण करेंगे, जिससे पाठकोंको यम और पितृसंबंधी सब बातोंका पता लग जायगा।

ॐ

अथर्ववेदका सुबोध भाष्य

अष्टादशं काण्डम् ।

यम, पितर और अन्त्येष्टि ।

[१]

(ऋषिः- अथर्वा । देवता-यमः, मंत्रोक्ताः)

ओ चित् सखायं सख्या ववृत्यां तिरः पुरू चिदर्णवं जगन्वान् ।
पितुर्नपातमा दधीत वेधा अधि क्षमि प्रतरं दीध्यानः ॥ १ ॥

न ते सखा सख्यं वष्ट्येतत् सलक्ष्मा यद् विषुरूपा भवाति ।
महस्पुत्रासो असुरस्य वीरा दिवो धर्तार उर्विया परि ख्यन् ॥ २ ॥

अर्थ— [पुरू अर्णवं तिरः जगन्वान्] विस्तृत संसाररूपी समुद्रके पार जाना चाहता हुआ जो तू यम है, उस तुझ पतिरूपसे [सखायं] मित्रको मैं यमी [सख्या] पत्नीरूपसे प्राप्त मित्रता द्वारा [ववृत्याम्] वरण करूं अर्थात् तुझ यमको मैं यमी अपना पति बनाऊं । और इस प्रकार पति बनकर, यम [अधिक्षमि] पृथिवीपर [प्रतरं दीध्यानः] विशेष रूपसे प्रकाशमान होता हुआ अथवा मुझ यमीमें गर्भधारण करनेके उपायका विशेष चिंतन करता हुआ, [वेधाः] संतानका उत्पादक यम [पितुः नपातं] पिताके कुलको न गिरानेवाली अर्थात् कुलप्रवर्तक संतानको [आदधीत] धारण करे । [ऋ० १० । १० । १] ॥ १ ॥

[ते] तुझ यमीका [सखा] मित्र यह यम [एतत् सख्यं] इस प्रकारकी पतिपत्नी भाववाली मैत्री [न वष्टि] नहीं चाहता । [यत्] क्योंकि इस प्रकार करनेसे [सलक्ष्मा] एक ही उदरसे उत्पन्न होनेके कारण समान लक्षणोंवाली [विषुरूपा] भिन्न स्वरूपवाली अर्थात् बहिनसे पत्नीके स्वरूपमें परिणत [भवाति] हो जाती है । अथवा इस मंत्रार्ध का अर्थ यूं करना चाहिये [यत्] क्योंकि [सलक्ष्मा] तू यमी सहजा होनेसे समान लक्षणोंवाली है अतः [ते सखा] तेरे मित्र यम [एतत् सख्यं] इस पत्नी रूपसे मित्रताको [न वष्टि] नहीं चाहता । पत्नी तो वह बन सकती है । जो कि [विषुरूपा] भिन्न स्वभाववाली भिन्न लक्षणोंवाली [भवाति] होती है । इसके अतिरिक्त [महः असुरस्य] महान् प्राणप्रदाता परमात्माके [दिवः धर्तारः] व्यवहारको धारण करनेवाले अर्थात् सांसारिक व्यवहार कुशल [वीराः पुत्रासः] पराक्रमी मनुष्य पुत्र भी [उर्विया] पृथिवीपर ऐसे संबन्धका [परिख्यन्] परिवाद-निराकरण-निषेध करते हैं । [ऋ० १० । १० । २] ॥ २ ॥

भावार्थ- यमी यम से कहती है कि संसाररूपी सागरसे तरनेके लिये हम दोनों पतिपत्नीके रूपमें मित्रता करें, ताकि यम मेरेमें अपने पितृकुलकी प्रवर्तक सन्तान उत्पन्न करें, जिससे कि यमका वंश नष्ट न होने पावे ॥ १ ॥

यम यमीको उत्तर देता हुआ कहता है कि, हे यमी! तूने जिस प्रकारकी मैत्रीकी कामना मुझसे की है उस प्रकारकी मुझे स्वीकृत नहीं है, क्योंकि तू तो समान लक्षणोंवाली है और पत्नी तो भिन्न लक्षणोंवाली होनी चाहिये । इसके सिवाय सिर्फ मैं ही इस बातका प्रतिवाद नहीं कर रहा अपितु अन्य व्यवहारकुशल लोक भी पृथ्वीपर इस प्रकारके संबन्धका विरोध करते हैं ॥ २ ॥

उशन्ति घा ते अमृतास एतदेकस्य चित् त्यजसं मर्त्यस्य ।
नि ते मनो मनसि धाय्यस्मे जन्युः पतिस्तन्वमा विविश्याः ॥ ३ ॥
न यत् पुरा चकृमा कद्ध नूनमृतं वदन्तो अनृतं रपेम ।
गन्धर्वो अप्स्वप्या च योषा सा नौ नाभिः परमं जामि तन्नौ ॥ ४ ॥
गर्भे नु नौ जनिता दम्पती कर्देवस्त्वष्टा सविता विश्वरूपः ।
नकिरस्य प्र मिनन्ति व्रतानि वेद नावस्य पृथिवी उत द्यौः ॥ ५ ॥

अर्थ—[ते अमृतासः] ये अमृत स्वरूप व्यवहार कुशल मनुष्य भी [एकस्य मर्त्यस्य] एक अर्थात् अद्वितीय मनुष्यकी [त्यजसं] सन्तान [उशन्ति] चाहते हैं [एतत् घा] यह बात प्रसिद्ध ही है इसलिए संतानोत्पत्तिके लिए [ते मनः] तेरा मन [अस्मे मनसि] हमारे मनमें स्थित होवे और इस प्रकार [जन्युः पतिः] संतानका उत्पन्न करनेवाला पति हुआ हुआ [तन्वं आ विविश्याः] मुझ यमीके शरीरमें प्रवेश कर [ऋ० १० । १० । ३] ॥ ३ ॥

[यत्] जो कार्य [पुरा] पहिले [न चकृम] हमने नहीं किया है वह कार्य [कद्ध नूनं] निश्चयसे अब क्यों करें ? [ऋतं वदन्तः] सत्य बोलते हुए [अनृतं रपेम] असत्य क्यों बोलें ? अथवा [यत्] क्योंकि [पुरा न चकृम] पहिले हमने ऐसा काम नहीं किया है, इस प्रकारसे [नूनं] निश्चयसे [ऋतं वदन्तः] सत्य बोलते हुए [कद्ध] किस लिए [अनृतं रपेम] झूठ बोलें कि हमने ऐसा काम पहिले किया है । उत्तरार्धमें यम अपने तथा यमीको मा बाप व दोनोंके पारस्परिक संबन्धको दर्शाता हुआ कहता है कि) [अप्सु गंधर्वः] अन्तरिक्षमें विद्यमान आदित्य [च] और [योषा सा अप्या] आदित्यकी स्त्री वह अप्या [नौ] हम दोनों के [नाभिः] उत्पत्तिस्थान हैं । [तत्] इस कारणसे [नौ] हम दोनों का [जामि] जो संबन्ध है वह [परमं] बडा उत्कृष्ट व पवित्र है । [ऋ० १० । १० । ४] ॥ ४ ॥

[सविता] प्रेरक, [विश्वरूपः] विश्वस्रष्टा [त्वष्टा] बनानेवाले [देवः] प्रकाशमान [जनिता] उत्पादक परमात्माने [नु] निश्चयसे [नौ] हम दोनों को [गर्भे] माताके गर्भमें [दम्पती] पति पत्नी [कः] बनाया है । [अस्य] सर्व उत्पादक परमात्माके [व्रतानि] बनाए हुए नियमोंको [न किः प्र मिनन्ति] कोई भी नहीं तोडते । [नौ] हम दोनों को दम्पती बनानेका [अस्य] इस त्वष्टाका जो कर्म है, उसे [पृथिवी उत द्यौः] पृथ्वी व द्यु दोनों ही [वेद] जानते हैं । [ऋ० । १० । १० । ५] । ५ ॥

भावार्थ— यमी यमसे कहती है कि क्योंकि संसारमें रहते हुए पुरुषको एक न एक संतान अवश्यमेव उत्पन्न करनी चाहिये, अतः तू और मैं एक मनवाले होवें व तू मेरेमें संतान उत्पन्न कर ॥ ३ ॥

यम यमीसे कहता है कि जो काम हमने पहिले कभी नहीं किया वह अब हम झूठ बोलकर क्यों करें ? और इसके सिवाय हम दोनों के एक ही माबाप होनेसे हमारा पारस्परिक संबन्ध बडा उत्कृष्ट है अतः ऐसा संबन्ध हम दोनोंमें नहीं हो सकता ॥ ४ ॥

यमी यमसे कहती है कि हे यम ! परमात्माने स्वयं ही हम दोनों को- गर्भमें से ही पतिपत्नी बनाया है । क्योंकि उसने हम दोनोंको एक साथ ही गर्भमें रखा था । गर्भसे ही हम दोनोंकी जोडी बनाई है । इस परमात्माके नियमोंका तो कोई भी अतिक्रमण नहीं कर सकता तो फिर हम कैसे करें, अतः तू मेरे साथ यह संबन्ध जोड । यह द्यु और पृथिवी भी जानते हैं कि त्वष्टाने हमारा इस प्रकारका संबन्ध बनाया है । तू यह न समझ कि मैं अपनी ओर से बनाकर कह रही हूं ॥ ५ ॥

को अद्य युङ्क्ते धुरि गा ऋतस्य शिमीवतो भामिनो दुर्हृणायून् ।
आसन्निषून् हृत्स्वसो मयोभून् य एषां भृत्यामृणधत् स जीवात् ॥ ६ ॥
को अस्य वेद प्रथमस्याह्नः क ईं ददर्श क इह प्र वोचत् ।
बृहन्मित्रस्य वरुणस्य धाम कदु ब्रव आहनो वीच्या नॄन् ॥ ७ ॥
यमस्य मा यम्यं१ काम आगन्त्समाने योनौ सहशेय्याय ।
जायेव पत्ये तन्वं रिरिच्यां वि चिद् वृहेव रथ्येव चक्रा ॥ ८ ॥

अर्थ— हे यमी ! [अद्य] आजकलके जमाने में [ऋतस्य गाः] सत्य की स्तुति करनेवाले, [शिमीवतः] श्रेष्ठ कर्मोंके करनेवाले [भामिनः] तेजस्वी,[दुर्हृणायून्] दुष्टों पर क्रोध करनेवाले, [आसन् इषून्] मुखपर बाण मारनेवाले, [हृत्स्वसः] हृदयोंमें शस्त्र मारनेवाले तथा [मयोभून्] सुख पहुंचानेवालों को भला [कः] कौन [धुरि युंक्ते] कार्य धुरा में जोडता है ? कोई भी नहीं । [यः] जो [एषां भृत्यां] इनके भरण पोषण को [ऋणधत्] बढाता है [सः] वह [जीवात्] वस्तुतः जीता है । ॥ ६ ॥

हे यमी ! [अस्य प्रथमस्य अह्नः] इस प्रथम दिन के संबंधमें [कः वेद] कौन जानता है ? [क ईं ददर्श] और किसने इसको देखा है ? [क इह प्रवोचत्] और उसके विषयमें भला कौन कह सकता है ? [मित्रस्य वरुणस्य धाम] मित्रभूत श्रेष्ठ परमात्माका धाम [बृहत्] महान् है । अतः [आहनः] हे क्लेश देनेवाली ! [वीच्या] छल कपट द्वारा [कत् उ] कैसे [नॄन् ब्रवः] हम मनुष्योंके साथ बोलती है ? ॥ ७ ॥

(समाने योनौ) एक घरमें [सह शेय्याय] एक शय्यापर साथ सोनेके लिए [यमस्य कामः] यम की कामना (मा यम्यं) मुझ यमी को [आ अगन्] आकर प्राप्त हुई है। मैं यमी [पत्ये जाया इव] पतिके लिए जिस प्रकार स्त्री उस प्रकार यमके लिए [तन्वं] अपना शरीर [रिरिच्यां] फैलाऊं और [रथ्या चक्रा इव] रथके दो पहियों के समान हम दोनों यम यमी [वि वृहेव] परस्पर मिलें-व्यवहार करें ॥ ८ ॥

भावार्थ– यम यमी से कहता है कि हे यमी! आजकलके जमानेमें सत्यवादी वीर जनोंको कौन पूछता है। उनके मार्गका कौन अनुसरण करता है ? कोई भी नहीं । वस्तुतः भाई बहिनका विवाहसंबन्ध नहीं होना चाहिये तो भी तू झूठमूठ युक्तियां देकर कि गर्भसे ही हम दोनोंको परमात्माने दंपती बनाया है, असत्य बोल रही है ॥ ६ ॥

यम यमी से कहता है कि तू जो यह युक्ति दे रही है कि गर्भसे ही परमात्माने हमको पति पत्नी बनाया है इत्यादि वो ठीक नहीं है । क्योंकि जिस दिन गर्भ धारण हुआ था उस दिन त्वष्टा का क्या विचार था इस बातको कौन जानता है ? किसने देखा ? और किसने आकर कहा ? न कोई जान ही सकता है, न देख ही सकता है और नहीं कह ही सकता है । क्योंकि परमात्माकी शक्ति अगाध है, उसको कोई जान नहीं सकता । ऐसी हालतमें तू हम मनुष्योंसे ऐसी ऐसी बातें क्यों बनाती है कि परमात्माने ही हमें गर्भ से दंपती बनाया है तथा भाई बहिनका विवाह होना चाहिये । (ऋ० १०।१०।६) ॥ ७ ॥

यमी यमसे कहती है कि मेरे मनमें तुझ भाई यमके विषयमें कामवासना उत्पन्न हुई है । तेरी पत्नी बनकर एकत्र विहार करनेकी इच्छा है । अतः हे भाई ! आओ हम दोनों मिलकर पति पत्नीकी तरह रहें व रथके दोनों पहियों की तरह मिलकर संसार की यात्रा करें (ऋ० १०।१०।७) ॥ ८ ॥

न तिष्ठन्ति न नि मिषन्त्येते देवानां स्पश इह ये चरन्ति ।
अन्येन मदाहनो याहि तूयं तेन वि वृह रथ्येव चक्रा ॥ ९ ॥
रात्रीभिरस्मा अहभिर्दशस्येत् सूर्यस्य चक्षुर्मुहुरुन्मिमीयात् ।
दिवा पृथिव्या मिथुना सबन्धू यमीर्यमस्य विवृहादजामि ॥ १० ॥
आ घा ता गच्छानुत्तरा युगानि यत्र जामयः कृणवन्नजामि ।
उप बर्बृहि वृषभाय बाहुमन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत् ॥ ११ ॥

अर्थ-[एते देवानां स्पशः] ये देवोंके दूत अर्थात् परमात्माके नियामक [ये] जो कि [इह] इस संसारमें संचार करते हैं, वे [न तिष्ठति] न तो एक स्थानपर ठहरते हैं और [न] नहीं [निमिषन्ति] आंख बंद करते हैं अर्थात् सोते हैं। इसलिए तू [मत् अन्येन] मेरेसे भिन्न दूसरेके पास [तूयं] शीघ्र [याहि] जा और हे [आहनः] कष्ट देनेवाली ! [रथ्या चक्रा इव] रथके चक्रोंके समान उसके साथ [विवृह] आलिङ्गन कर ॥ ९ ॥

[रात्रीभि अहभिः] रात और दिन [अस्मै] इस यमको सुमति [दशस्येत्] देवें। और [सूर्यस्य चक्षुः] सूर्यका प्रकाश [मुहुः] वारंवार [उत् मिमीयात्] इसके लिए फैले। [दिवा पृथिव्या] द्युके साथ पृथिवी व पृथिवीके साथ द्यु इस प्रकार [सबन्धू] भाई बहिन के रूपमें स्थित होते हुए भी द्यु व पृथिवी [मिथुना] परस्पर मिलकर रहते हैं, अतः [यमीः] यमी भी (यमस्य अजामि विवृहात) यमका बन्धुत्वरहित संबन्ध करके [विवृहात्] व्यवहार करें ॥ १० ॥

हे यमी ! [ता उत्तरा युगानि] वे भविष्यमें ऐसे युग [घा] निश्चयसे [आ गच्छन्] आवेंगे [यत्र] जिन युगोंमें कि [जामयः] बहिने [अजामि] बन्धुत्वरहित कर्म [कृणवन्] करेंगी अर्थात् बहिनें भाईयोंसे शादी करेंगी। परन्तु तू तो [वृषभाय] किसी वीर्यवान् पुरुष के लिए [बाहुं] अपना हाथ [उप बर्बृहि] फैला, आगे बढा। अर्थात् उसके साथ पाणिग्रहण कर। इस प्रकार [सुभगे] हे भाग्यशालिनी ! [मत् अन्यं पतिं] मेरेसे भिन्न पति की [इच्छस्व] इच्छा कर ॥ ११ ॥

भावार्थ— यमी की कामवासनाकी इच्छा सुनकर यम उसे कहता है कि परमात्माके दूत प्रतिक्षण हमारे आचरणोंको देख रहे हैं। अतः तू मुझे छोडकर अन्य किसीके साथ जाकर विवाहित हुई हुई अपनी अभिलाषा पूर्ण कर। (ऋ० १०।१०।८) ॥ ९ ॥

यमी यमसे कहती है कि देख, दिन व रात्री, द्यु और पृथिवी ये परस्पर भाई बहिन होते हुए भी परस्पर मिलकर संगत हुए हुए हैं। जरा आंख खोलकर देख। फिर ऐसी अवस्थामें हम दोनों भाई बहिन होते हुए भी क्यों न मैं बहिनका संबन्ध छोडकर तेरे साथ पत्नीका व्यवहार करूं ? (ऋ० १०।१०।९) ॥ १० ॥

यम यमी की युक्तियुक्त दशम मंत्रोक्त उक्ति सुनकर निरुत्तर हुआ हुआ कहता है कि हे यमी ! इस प्रकारका समय आगे आवेगा जब कि भाई बहिनें भी पतिपत्नीके अनुसार बर्ताव करेंगी, परन्तु मैं ऐसा नहीं करना चाहता, चाहे तेरी युक्तिका प्रत्युत्तर मेरे पास न भी हो। अतः तू मेरेसे भिन्न अन्य किसी वीर्यवान् पुरुषका पाणिग्रहण करके उसे अपना पति बना। (ऋ० १०।१०।१०) ॥ ११ ॥

किं भ्रातासद् यदनाथं भवाति किमु स्वसा यन्निर्ऋतिर्निगच्छात् ।
काममूता बह्वे३तद् रपामि तन्वा मे तन्वं१ सं पिपृग्धि ॥ १२ ॥
न ते नाथं यम्यत्राहमस्मि न ते तनूं तन्वा३ सं पपृच्याम् ।
अन्येन मत् प्रमुदः कल्पयस्व न ते भ्राता सुभगे वष्ट्येतत् ॥ १३ ॥
न वा उ ते तनूं तन्वा३ सं पपृच्यां पापमाहुर्यः स्वसारं निगच्छात् ।
असंयदेतन्मनसो हृदो मे भ्राता स्वसुः शयने यच्छयीय ॥ १४ ॥
बतो बतासि यम नैव ते मनो हृदयं चाविदाम ।
अन्या किल त्वां कक्ष्ये३व युक्तं परि ष्वजातै लिबुजेव वृक्षम् ॥ १५ ॥

अर्थ-[किं भ्राता असत्] वह क्या भाई है [यत्] क्योंकि जिसके रहते हुए भी बहिन [अनाथं भवाति] अनाथ बनी रहती है। [उ] और [किं स्वसा] वह क्या बहिन है कि जिसके रहते हुए भी [यत्] यदि भाई [निर्ऋतिः निगच्छाद्] कष्टको प्राप्त होता है। अतः हे भाई ! [काममूता] कामसे युक्त हुई हुई मैं [एतत् बहु रपामि] यह बहुत कुछ कहती हूं। इसलिए तू [तन्वा] अपने शरीरसे [मे] मेरे [तन्वं] शरीरको [सं पिपृग्धि] संयुक्त कर ॥ १२ ॥

हे यमी ! [अत्र] यहांपर [अहं] मैं [ते नाथं] तेरा स्वामी [न अस्मि] नहीं हूं। और इसलिए [ते तनूं] तेरे शरीरको [तन्वा] अपने शरीरके साथ [न सं पपृच्याम्] संयुक्त नहीं करूंगा । अतः हे यमी ! [मत् अन्येन प्रमुदः कल्पयस्व] मेरेसे भिन्न दूसरेके साथ आनंद कर। [सुभगे] हे सौभाग्यवती ! [एतत्] इस प्रकारका संबन्ध [ते भ्राता] तेरा भाई यम [न वष्टि] नहीं चाहता ॥ १३ ॥

हे यमी . [ते तनूं] तेरे शरीर को [तन्वा] अपने शरीरके साथ [वै उ] कदापि [न सं पपृच्याम्] जो बहिन के साथ संभोग करता है उसे [पापं आहुः] पापी कहते हैं। [एतत्] यह बात [मे मनसः हृदः] मेरे मन व हृदय के [असंयत्] विरुद्ध है-असंगत है कि [भ्राता] भाई मैं [स्वसुः शयने] बहिन की शय्यापर [शयीय] सोऊं ॥१४॥

हे यम ! [बत] बडे दुःखकी बात है कि तू [बतः असि] बडा निर्बल है। [ते] तेरे [मनः हृदयं च] मन तथा हृदयको [न अविदाम] हम नहीं जान पाये। खैर, [किल] निश्चयसे [अन्या] दूसरी स्त्री [त्वां] तुझे [परिष्वजातै] आलिंगन देगी, [कक्ष्या युक्तं इव] जिस प्रकारसे कि घोडेकी कमर पेटी, गाडीको जोते हुए घोडेको लिपटती है और जिस प्रकारसे कि [लिबुजा वृक्षं इव] बेल वृक्षको लिपटती है ॥ १५ ॥

भावार्थ- यमी यमसे कहती है कि हे यम ! देख, जो भाईके रहते हुए भी यदि बहिन अनाथ बनी रहे तो वह भाई किस कामका ? और इसीप्रकार बहिनके रहते हुए यदि भाईको कष्ट उठाना पडे तो वह बहिन किस कामकी ? इसलिये हे भाई तू मेरे साथ अपने शरीरका संयोग कर ? (ऋ० १०।१०।११) ॥ १२ ॥

यम यमीसे कहता है कि हे बहिन ? मैं तेरा स्वामी नहीं हूं। अतः अपने शरीरसे तेरे शरीरको संयुक्त नहीं करूंगा। तू अन्य किसीके साथ आनन्दका उपभोग कर। तेरा भाई इस प्रकारका कार्य तेरे साथ करना नहीं चाहता। (उत्तरार्ध ऋ० १०।१०।१२) ॥ १३ ॥

यमी यमसे अपने पूर्वोक्त कथनको दृढ करता हुआ कहता है कि मैं अपने शरीरके साथ तेरा शरीर कदापि संपृक्त नहीं करूंगा क्योंकि बहिनके साथ संभोग करनेवालेको पापी कहा गया है इसके सिवाय भाई बहिनकी शय्यापर लेटे, यह बात मेरे मन व हृदयके भी प्रतिकूल है अतः मैं तेरी बात नहीं मान सकता। (पूर्वार्ध ऋ० १०।१०।१२) ॥ १४ ॥

यमी यमसे कहती है कि हे यम ! तू बडा ही निर्बल है। सचमुच मैं तेरे मन व हृदयको जान नहीं पाई हूं। अस्तु अन्य स्त्री तो अवश्यमेव तुझे आलिंगन देगी जैसे कि कमरकी पेटी घोडेको देती है व बेल वृक्षको। (ऋ० १०।१०।१३)॥१५॥

अन्यमू षु यम्यन्य उ त्वां परि ष्वजातै लिबुंजेव वृक्षम् ।
तस्यं वा त्वं मनं इच्छा स वा तवाधां कृणुष्व संविदं सुभद्राम् ॥ १६ ॥
त्रीणि च्छन्दांसि कवयो वि यैतिरे पुरुरूपं दर्शतं विश्वचक्षणम् ।
आपो वाता ओषधयस्तान्येकस्मिन् भुवन आर्पितानि ॥ १७ ॥
वृषा वृष्णे दुदुहे दोहसा दिवः पयांसि यह्वो अदितेरदाभ्यः ।
विश्वं स वेद वरुणो यथा धिया स यज्ञियो यजति यज्ञियाँ ऋतून् ॥ १८ ॥

अर्थ— [यमि] हे यमी ! तू [अन्यं उ सु] अन्य पुरुषको ही आलिंगन कर और [अन्यः] दूसरा पुरुष ही (त्वां) तुझे [परिष्वजातै] आलिंगन देवे । [लिबुजा इव वृक्षम्,] जिस प्रकारसे कि बेल वृक्षको आलिंगन करती है । [तस्य] उस पुरुषके [मनः त्वं इच्छ] मनकी तू इच्छा कर [स वा तव] और वह तेरे मनको जाननेकी इच्छा करे । [अध] और तब उसके साथ तू [सुभद्रां संविदं कृणुष्व] कल्याणकारिणी संगति कर ॥ १६ ॥

[कवयः] क्रान्तदर्शी ज्ञानी जनोंने [त्रीणि छन्दांसि] तीन छन्द अर्थात्-जो संसारका आच्छादन करें-अपने से जो संसारको व्याप्त करें यानि जो संसारमें सर्वत्र उपलब्ध हो सकें ऐसे-तीन सर्वत्र उपलब्ध होनेवाले पदार्थों को संसारके निर्वाहके लिए [वि येतिरे] विविध प्रकारके यत्नोंमें लगा रखा है । उन तीनों छंदोंमेंसे प्रत्येक [पुरुरूपं] बहुत रूपोंवाला है, [दर्शतम्] अद्भुत है तथा [विश्वचक्षणम्] सब के देखने योग्य हैं । वे तीनों छन्द कौनसे हैं ? [आपः वाताः ओषधयः] जल, वायु तथा औषधियां हैं । [तानि] ये तीनों छंद [एकस्मिन् भुवने] इस एक ही संसारमें अर्पित हैं, स्थापित हैं ॥ १७ ॥

[अदाभ्यः] किसीसे भी न दबने वाला [यह्वः] महान् [वृषा] कामनाओं की वर्षा करनेवाला अग्नि (वृष्णे) पराक्रमी जनके लिए [अदितेः दिवः] अखण्डनीय द्यु लोकसे [दोहसा] दोहने के साधन वृष्टिद्वारा [पयांसि] जलों -रसों- को [दुदुहे] दोहता है । [सः] वह पराक्रमी अग्नि [यथा वरुणः] वरुण की तरह [धिया] अपनी बुद्धि द्वारा [विश्वं वेद] सब कुछ जान लेता है । अथवा इस तृतीय पादका अर्थ यूं भी किया जा सकता है, [सः वरुणः] वह श्रेष्ठ जन [यथा धिया] अपनी बुद्धिके अनुसार [विश्वं वेद] सब कुछ जान लेता है और फिर तदनुसार [सः यज्ञियः] वह पूजनीय बनकर [यज्ञियान् ऋतून] पूजनीय ऋतुओंकी [यजति] पूजा करता है ॥ १८ ॥

भावार्थ— यम यमीसे कहता है कि हे यमी ! तू भी दूसरे पुरुषको प्राप्त हो । वह तुझे आलिंगन देवे । उसके मनके अनुकूल चलनेकी तू इच्छा कर तथा वह भी तेरी इच्छानुसार चले और इस प्रकारसे तुम दोनोंका मीलन कल्याण करनेवाला होवे (ऋ० १० । १० । १४) ॥ १६ ॥

ज्ञानी लोकोंने जल वायु तथा औषधियोंको संसार निर्वाहके लिये नाना कार्योंमें लगा रखा है । वे इस संसार सर्वत्र उपलब्ध हो सकते हैं । वर्तमान समयके ज्ञानी लोकोंने जल वायु तथा औषधियोंको नाना कार्योंमें लगा रखा है तथा उनसे संसारका किस प्रकारसे निर्वाह हो रहा है, यह प्रत्यक्ष ही है । ये तीनों पदार्थ संसारमें सर्वत्र पाये जाते हैं, अतएव इन्हें छन्दके नामसे पुकारा गया है (छादनात् छन्दांसि) इन्होंने संसारको ढक रखा है । जल, वायु तथा औषधियोंसे संसार आच्छादित है । अतएव ये छन्द हैं ॥ १७ ॥

भावार्थ— अग्निरूप परमात्मा द्युलोकसे जलोंकी वृष्टि करता है । और मनुष्य अपनी बुद्धिके अनुसार उस जलद्वारा ऋतुओंका उचित उपयोग लेता है । ऋतुयाग करता है । और इस प्रकार अन्योंका पूजनीय बनता है ॥ १८ ॥

रपद् गन्धर्वीरप्या च योषणा नदस्य नादे परि पातु नो मनः ।
इष्टस्य मध्ये अदितिर्नि धातु नो भ्राता नो ज्येष्ठः प्रथमो वि वोचति　　॥ १९ ॥
सो चिन्नु भद्रा क्षुमती यशस्वत्युषा उवास मनवे स्वर्वती ।
यदीमुशन्तमुशतामनु क्रतुमग्निं होतारं विदथाय जीजनन्　　॥ २० ॥
अध त्यं द्रप्सं विभ्वं विचक्षणं विराभरदिषिरः श्येनो अध्वरे ।
यदी विशो वृणते दस्ममार्या अग्निं होतारमध धीरजायत　　॥ २१ ॥
सदासि रण्वो यवसेव पुष्यते होत्राभिरग्ने मनुषः स्वध्वरः ।
विप्रस्य वा यच्छशमान उक्थ्यो३ वाजं ससवाँ उपयासि भूरिभिः　　॥ २२ ॥

अर्थ- (गन्धर्वीः) स्तुति करनेवालों का धारण करनेवाली, (अप्या) सत्कर्मोंमें रहनेवाली, (योषणा) भजनीय वेदवाणी (रपत्) अग्निके गुणगान करती है । वह अग्नि (नः मनः) हमारे मनको (नदस्य नादे) स्तुति करनेवाले की अर्चना करने में (परिपातु] चारों ओर से रक्षा करे । (इष्टस्य मध्ये) इष्ट अर्थात् अभिलषित पदार्थके बीचमें वह (अदितिः) अखण्डनीय अग्नि हमें (निधातु) स्थापित करे । वह अग्नि (नः ज्येष्ठः भ्राता) हमारा बडा भाई होकर (प्रथमः) प्रसिद्ध हुआ (नः विवोचति) हमें उपदेश देता है ॥ १९ ॥

(सो) वही (चित्) निश्चयसे (नु) अब (भद्रा) कल्याण करनेवाली (क्षुमती) अन्नवाली, (यशस्वती) कीर्तिवाली, (स्वर्वती) आदित्यवाली अर्थात् जिसमें आदित्य विद्यमान है ऐसी (उषाः) उषा (मनवे) मनुष्यके लिए (उवास) प्रकाशित हुई है । कब उत्पन्न हुई है ? (यत्) जब कि (ईम्) इस (उशन्तं) कामना करते हुए (होतारं) दानी, (अग्निं,) अग्निको (विदथाय) यज्ञके लिए (उशतां क्रतुं अनु) कामना करते हुओंके यज्ञके साथ साथ (जीजनन्) उत्पन्न किया ॥ २० ॥

(अध) तब (त्यं) उस (द्रप्सं) हर्षप्रद (विभ्वं) महान् (विचक्षणं) विशेषतया देखनेवाले सोमको (अध्वरे) यज्ञमें (श्येनः विः) श्येन नामक पक्षी (आभरत्) लाया । (यदि) जब (आर्याः विशः) श्रेष्ठ जन (दस्मं) दर्शनीय, (होतारं) दानी (अग्निं) अग्निको (वृणते) वरण करते हैं (अध) तब (धीः अजायत) यज्ञादि कर्म होता है ॥ २१ ॥

(मनुषः होत्राभिः) मनुष्यके यज्ञोंसे (स्वध्वरः) शोभन यज्ञवाले (अग्ने) हे अग्नि ! (पुष्यते) पोषण करनेवालेके लिये (यवसा इव) जिस प्रकार पशुओंके लिए घास होती है उसी प्रकार तूं (सदा रण्वः असि) सर्वदा रमणीय आनन्दप्रद है । (यत्) क्योंकि (विप्रस्य वाजं ससवान्) मेधावी जनके अन्नका सेवन करता हुआ (उक्थ्यः) प्रशंसनीय व (शशमानः) फुरतीला तू (भूरिभिः) बहुतसी कामनाओंके साथ (उपयासि) आता है । अर्थात् बहुतसी कामनाओं को पूर्ण करता है ॥ २२ ॥

भावार्थ- वेदवाणी उस अग्निरूप परमात्माकी स्तुति करती है । वह परमात्मा श्रेष्ठ जनोंके सत्कारमें हमारी रक्षा करता है । इच्छित पदार्थका प्रदान करता है वह बडे भाईके समान होकर हमें समय समय पर उपदेश देता है ॥१९॥

जब कि यज्ञकी कामना करते हुए जनोंने यज्ञमें अग्निको प्रज्वलित किया तब कल्याणप्रद उषा उत्पन्न हुई ॥ २० ॥

जब ज्ञानीलोग अग्नि प्रदीप्त कर यज्ञ करते हैं तब सोमरस निकालकर हवनपूर्वक उसका सेवन करते हैं ॥ २१ ॥

अग्नि यज्ञादि कर्म करनेवालोंके लिये ऐसा आनन्दप्रद है जैसा कि घास पशुओंके लिए । क्योंकि अग्नि यजमानकी अनेक कामनाओंको पूर्ण करता है ॥ २२ ॥

*

उदीरय पितरा जार आ भगमियक्षति हर्यतो हृत्त इष्यति ।
विवक्ति वह्निः स्वपस्यते मखस्तविष्यते असुरो वेपते मती ॥ २३ ॥
यस्ते अग्ने सुमतिं मर्तो अख्यत् सहसः सूनो अति स प्र शृण्वे ।
इषं दधानो वहमानो अश्वैरा स द्युमाँ अमवान् भूषति द्यून् ॥ २४ ॥
श्रुधी नो अग्ने सदने सधस्थे युक्ष्वा रथममृतस्य द्रवित्नुम् ।
आ नो वह रोदसी देवपुत्रे माकिर्देवानामप भूरिह स्याः ॥ २५ ॥

अर्थ- हे अग्नि ! (पितरौ) माता पिताके प्रति (भर्ग) अपना तेज- ऐश्वर्य (जारः आ) सूर्यकी तरह अर्थात् जिस प्रकार सूर्य अपना तेज सर्वत्र प्रसारित करता है उस प्रकार (उदीरय) प्रेरित कर—उनके पास पहुंचा । (हर्यतः) कमनीय स्पृहणीय अग्नि (हृत्तः) हृदयसे (इयक्षति) यजन करना चाहता है, इसलिये (इष्यति) जाता है । (वह्निः) हवि आदिका वहन करनेवाला अग्नि (विवक्ति) कहता है और (मखः स्वपस्यते) कर्मशील अग्नि सुन्दर कर्म करना चाहता है । (तविष्यते) महान् होनेकी इच्छा करनेवाले के लिये (असुरः) प्राणदाता अग्नि (मती वेपते) कर्मद्वारा जाता है ॥ २३ ॥

(अग्ने) हे अग्नि ! (यः मर्तः) जो मनुष्य (ते सुमतिं) तेरी सुमतिके विषयमें (अख्यत्) स्थान स्थानपर कहता फिरता है अर्थात् तेरी प्रशंसा करता रहता है, हे (सहसः सूनो) बलके पुत्र ! (सः) वह मनुष्य (अति प्रशृण्वे) बहुत अधिकतासे सुना जाता है अर्थात् वह सर्वत्र प्रसिद्ध हो जाता है । सर्वत्र उसीका नाम सुनाई देता है । इसके अतिरिक्त (स) वह मनुष्य (इषं दधानः) अन्नका धारण करता हुआ अर्थात् अन्नसे परिपूर्ण हुआ हुआ, (अश्वैः वहमानः) घोडोंसे वहन किया जाता हुआ अर्थात् अश्वादि वाहनसे संपन्न हुआ हुआ, (द्युमान्) तेजस्वी होता हुआ (अमवान्) बलवान् हुआ हुआ (द्यून्) दिनोंको (भूषति) शोभित करता है । अर्थात् ऐसे मनुष्यके जीनेसे वस्तुतः दिनोंकी शोभा बढती है ॥ २४ ॥

(अग्ने) हे अग्नि ! (सधस्थे सदने) जहांपर सब एकत्रित होकर बैठते हैं ऐसे घरमें (नः श्रुधि) हमारी प्रार्थना को सुन । वह प्रार्थना क्या है यह अगले तीन पादोंसे बतलाते हैं— (अमृतस्य द्रवित्नुं रथं युंक्ष्व) अमृतके बहानेवाले रथको जोड और फिर उस रथद्वारा (देवपुत्रे रोदसी) देव हैं पुत्र जिनके ऐसे द्यावा पृथिवीको (नः आवह) हमारी तरफ ले आ । और हे अग्नि तू (देवानां माकिः अपभूः) देवोंके बीचमेंसे कभी भी दूर मत हो । देवोंमें बना रह । (इह स्याः) यहां पर हमारे बीचमें भी स्थित हो ॥ २५ ॥

भावार्थ— जिस प्रकार सूर्य सबको प्रकाशित करता है उस प्रकार अग्नि सब पितर आदिकोंको प्रकाशित करे । और उन्नतिके लिये सबसे उत्तम कर्म करावे ॥ २३ ॥

जो मनुष्य अग्निकी सुमतिका सर्वत्र वर्णन करता है वह सर्वत्र प्रसिद्ध होकर धनधान्य पशु वाहनादिसे संपन्न हुआ हुआ बल व पराक्रमसे युक्त होकर बहुत समयतक जीवित रहता है ॥ २४ ॥

हे अग्नि ! हम सब द्वारा मिलकर की गई प्रार्थनाको सुन । वह प्रार्थना यह है कि तू अमृतके बरसानेवाले रथमें द्यावा पृथिवीको बिठला कर हमारे पास ले आ । अर्थात् वर्षादिके देने द्वारा उन्हें हमारे अनुकूल कर । तू हमारे बीचमें तथा देवोंके बीचमें बना रह ॥ २५ ॥

यदग्न एषा समितिर्भवाति देवी देवेषु यजता यजत्र ।
रत्ना च यद् विभजासि स्वधावो भागं नो अत्र वसुमन्तं वीतात् ॥ २६ ॥
अन्वग्निरुषसामग्रमख्यदन्वहानि प्रथमो जातवेदाः ।
अनु सूर्य उषसो अनु रश्मीननु द्यावापृथिवी आ विवेश ॥ २७ ॥
प्रत्यग्निरुषसामग्रमख्यत् प्रत्यहानि प्रथमो जातवेदाः ।
प्रति सूर्यस्य पुरुधा च रश्मीन् प्रति द्यावापृथिवी आ ततान ॥ २८ ॥
द्यावा ह क्षामा प्रथमे ऋतेनाभिश्रावे भवतः सत्यवाचा ।
देवो यन्मर्तान् यजथाय कृण्वन्त्सीदुद्धोता प्रत्यङ् स्वमसुं यन् । ॥ २९ ॥

अर्थ-(यजत्र) हे यजन करने योग्य (अग्ने) अग्नि! (यत्) जब (एषा समितिः) यह जन समाज (देवेषु) देवजनोंमें (देवी) दिव्य गुणोंवाला व (यजता) यजनीय(भवाति) होवे,(च) और (यत्) जब हे (स्वधावः) अन्न देनेवाले अग्ने! तू (रत्नानि विभजासि) रत्नोंको बांटे, तब (अत्र) यहांपर (नः) हमारे लिए (वसुमन्तं भागं) प्रभूतधनयुक्त भाग (वीतात्) दे ॥ २६ ॥

(प्रथमः) मुख्य-प्रसिद्ध (जातवेदाः) उत्पन्न पदार्थोंके ज्ञान करानेवाले (अग्निः) अग्निने (उषसां अग्रं) उषाकी उत्पत्ति व (अहानि) दिनोंको (अनु, अख्यत्) प्रसिद्ध किया है । वह अग्नि (सूर्यः) सूर्यरूप हुआ (उषसः अनु, रश्मीन् अनु, द्यावापृथिवी अनु) उषाओंमें, रश्मियोंमें तथा द्यावापृथिवीमें अनुकूल रूपसे (आविवेश) प्रविष्ट हुआ है । अर्थात् उषामें भी सूर्य रहता है, किरणोंमें भी रहता है और द्यावापृथिवीमें भी रहता है ॥ २७ ॥

[मंत्रका पूर्वार्ध पूर्व मंत्रके पूर्वार्धके समान है । अतः उसका अर्थ वही समझना चाहिए । पूर्व मंत्रके 'अनु' पदके स्थानपर यहां पर 'प्रति' यह पद आया है। अतः यहांपर (प्रति अख्यत्) का अर्थ करना चाहिए प्रत्यक्ष रूपसे प्रसिद्ध किया है । शेष अर्थ समान है । उत्तरार्धका अर्थ इस प्रकार है] उस अग्निने (सूर्यस्य रश्मीन्) सूर्यकी किरणोंको (पुरुधा) बहुत रूपोंसे (द्यावापृथिवी प्रति प्रति आततान) द्युलोक व पृथिवी लोकके प्रति अर्थात् द्यु व पृथिवीमें प्रत्यक्षतया फैला रखा है ॥ २८ ॥

(प्रथमे) मुख्य वा प्रसिद्ध, (सत्यवाचा) सत्यवाणी वाले (द्यावा क्षामा) द्यु और पृथिवि (ऋतेन) सत्यद्वारा अथवा यज्ञद्वारा(ह) निश्चयसे (अभिश्रावे भवतः) सुनने लायक अर्थात् प्रसिद्धिवाले (भवतः) बनते हैं (यत्) जब कि (होता) दानी (देवः) प्रकाशमान अग्नि (मर्त्यान्) मनुष्योंको (यजथाय) यज्ञके लिये (कृण्वन्) प्रवृत्त करता हुआ (स्वं असुं) अपनी प्रज्ञा (बुद्धि)को (यन्) प्राप्त होता हुआ (प्रत्यङ्) सामने (सीदत) बैठता है ॥ २९॥

भावार्थ-हे अग्नि! जब हमारा जनसमुदाय दिव्य गुणोंवाला व पूजनीय बने तब उसे, तू नाना रत्नोंको बांट और उस समय हमें प्रभूत धनधान्यसे युक्त कर । (ऋ० १० । १० । सूक्त समाप्त) ॥ २६ ॥

अग्नि पहिले उषा व तदनन्तर दिनको प्रकट करता है। वही सूर्य रूपसे उषा, किरण तथा द्युलोक व पृथिवी लोकमें प्रविष्ट हुआ हुआ है । अग्नि ही इन सबमें भिन्न भिन्न रूपसे प्रविष्ट हुआ हुआ है । वस्तुतः सूर्यादि अग्निके ही स्वरूप हैं । ये अग्निसे भिन्न नहीं ॥ २७ ॥

अग्निने उषा व दिन बनाकर सूर्यकी किरणोंको द्यु व पृथिवी लोकमें फैला रखा है। सर्वत्र प्रकाश कर रखा है ॥ २८ ॥

जब अग्नि मनुष्योंको यज्ञके लिये तैयार करके स्वयं उनके सन्मुख बैठता है तब यज्ञ द्वारा द्यु व पृथिवी प्रसिद्धि पाते हैं। (ऋ० १० । १२)॥ २९ ॥

देवो देवान् परिभूर्ऋतेन वहा नो हव्यं प्रथमश्चिकित्वान् ।
धूमकेतुः समिधा भाऋजीको मन्द्रो होता नित्यो वाचा यजीयान् ॥ ३० ॥
अर्चामि वां वर्धायापो घृतस्नू द्यावाभूमी शृणुतं रोदसी मे ।
अहा यद् देवा असुनीतिमायन् मध्वा नो अत्र पितरा शिशीताम् ॥ ३१ ॥
स्वावृग् देवस्यामृतं यदी गोरतो जातासो धारयन्त उर्वी ।
विश्वे देवा अनु तत् ते यजुर्गुर्दुहे यदेनी दिव्यं घृतं वाः ॥ ३२ ॥
किं स्विन्नो राजा जगृहे कदस्याति व्रतं चकृमा को वि वेद ।
मित्रश्चिद्धि ष्मा जुहुराणो देवाञ्छ्लोको न यातामपि वाजो अस्ति ॥ ३३ ॥

अर्थ--(प्रथमः) प्रसिद्ध वा मुख्य, (चिकित्वान) ज्ञानवान (देवः) प्रकाशमान हे अग्नि ! तू (देवान् परिभूः) देवोंको चारों ओरसे व्याप्त करता हुआ (ऋतेन) यज्ञ द्वारा (नः हव्यं वह) हमारे हव्यका वहन कर । उत्तरार्धसे उस अग्निके गुण वर्णन करते हैं (धूमकेतुः) धुंआ है झंडा--ध्वजा--जिसकी ऐसा अथवा जो धुंएसे जाना जाता--है [यत्र यत्र धूमः तत्र तत्र वह्निः अर्थात् जहां जहां धूंआ है वहां वहां वह्नि है, यह व्याप्ति लोकप्रसिद्ध ही है] और जो (समिधा) काष्ठ आदि अग्नि प्रज्वलित करनेके साधनोंसे (भा ऋजीकः) अत्यन्त प्रकाशवाला, (मन्द्रः) आनन्द देनेवाला, (होता) दान आदान करनेवाला (नित्यः) नित्य तथा जो (वाचा) वाणीद्वारा (यजीयान्) पूजनीय अर्थात् स्तुति करने लायक है ऐसा अग्नि हव्यका वहन करे ॥ ३० ॥

(घृतस्नू) जल बरसानेवाले (द्यावाभूमि) द्यावापृथिवी ! (अपः वर्धाय) जल की वृद्धिके लिये [वां] तुम दोनो की (अर्चामि) पूजा करता हूं । (रोदसी) हे द्यावा पृथिवी! (मे शृणुतं) मेरी इस प्रार्थनाको सुनो । (यत्) जब कि (अहा) दिन तथा (देवाः) देव (असुनीतिं आयन्) प्राणोंके नेतृत्वको प्राप्त करते हैं तब (अत्र) यहां (मध्वा) मधुरअन्न वा जलसे (पितर) हे माता पिता द्यु व पृथिवी ! (नः) हमें (शिशीताम्) युक्त करो—दो, बढाओ ॥३१॥

(देवस्य) प्रकाशमान अग्निका (स्वावृक्) सुखपूर्वक पाने योग्य (अमृतं) अमृत (यदि) जब कि (गोः) पृथिवीसे उत्पन्न होता है तब (अतः) इस अमृतसे (उर्वी) पृथिवीपर (जातासः) उत्पन्न प्राणी (धारयन्त) अपनेको धारण करते हैं अर्थात् इस अमृतसे जीते हैं । हे अग्नि ? (विश्वे देवाः) सब देव (ते) तेरे (तत्) उस (यजुः अनु गुः) अमृत दान रूपी पूजनीय कर्मका अनुसारण करते हैं अथवा तेरे उस उदक दानका सब गान करते हैं । (यत्) जब कि [एनी] नदी [दिव्यं] दिव्य वा द्यु लोकमें होनेवाले [घृतं] सारयुक्त (वाः) जलको (दुहे) दोहति अर्थात् जब कि जलसे परिपूर्ण हुई हुई नदी बहती है ॥ ३२ ॥

[राजा] दीप्यमान अग्निने (नः) हमें (किं स्वित्) किस कारणसे (जगृहे) पकडा है ! हमने (कत) कब (अस्य) इस अग्निके (व्रतं अति चकृम) नियमका अतिक्रमण किया है ! इन बातोंको (कः विवेद) कौन जानता है? कोई भी नहीं । अथवा ' कः विवेद ' इस प्रश्नका उत्तर भी यही है कि (कः विवेद) वही सुखस्वरूप अग्नि जानता है । (हि) निश्चयसे वह अग्नि (देवान जुहुराणः) देव अर्थात् मदोन्मत्त जनोंके प्रति कुटिलता दर्शाता हुआ हमारा (मित्रः चित्) मित्र भी है और (यातां श्लोकाः न वाजः अपि अस्ति) उद्योगी ज्ञानियोंका स्तुति की तरह बल है । जैसे भक्तकी स्तुति बल है उसी प्रकार वह ज्ञानी जनताका बल है ॥ ३३ ॥

भावार्थ---- हे नाना महिमावाले अग्नि ! तू हमारे लिये ग्राह्य पदार्थोंका नित्य प्रति वहन करता रह ॥ ३० ॥

द्यु व पृथिवी जल व अन्न देवे ॥ ३१ ॥

अग्नि जब अमृत रूप जलको उत्पन्न करती है तब पृथिवीस्थ उत्पन्न पदार्थ अपने जीवनको धारण करते हैं । नदियां जलसे भरी हुई बहती हैं । और तब सब देवजन अग्निके इस जल दान का गान करते हैं ॥ ३२ ॥

हम अग्निके किस नियमका उल्लंघन करनेसे सुखी वा दुःखी हैं इस बातको नहीं जान सकते, वही जानता है । वह अग्नि कुटिलोंकी कुटिलताको दूर करता हुआ हमारा मित्र है वह ज्ञानी जनोंका एक मात्र बल है ॥ ३३ ॥

दुर्मन्त्वत्रामृतस्य नाम सलक्ष्मा यद् विषुरूपा भवाति ।
यमस्य यो मनवते सुमन्त्वग्ने तमृष्व पाह्यप्रयुच्छन् ॥ ३५ ॥ ॥ ३४ ॥
यस्मिन् देवा विदथे मादयन्ते विवस्वतः सदने धारयन्ते ।
सूर्ये ज्योतिरदधुर्मास्य१क्तून् परि द्योतनिं चरतो अजस्रा ॥ ३५ ॥
यस्मिन् देवा मन्मनि संचरन्त्यपीच्ये३ न वयमस्य विद्म ।
मित्रो नो अत्रादितिरनागान्त्सविता देवो वरुणाय वोचत् ॥ ३६ ॥
सखाय आ शिषामहे ब्रह्मेन्द्राय वज्रिणे । स्तुष ऊ षु नृतमाय धृष्णवे ॥ ३७ ॥

अर्थ– इस मंत्रसे पूर्वके मंत्रमें जो आक्षेप किए गए हैं कि कोई सुखी है वह कोई दुःखी है तो संभव है कि सुख दुःख की व्यवस्थामें किसी प्रकारका दोष हो उससे किसीके साथ न्याय होता हो व किसीके साथ अन्याय । इस मंत्रमें इन आक्षेपोंको दृष्टिमें रखते हुए उनका परिहार किया गया है कि— (यत्) यदि (सलक्ष्मा) सबके लिए जो व्यवस्था एकसी है वह (विषुरूपा) भिन्न भिन्न रूपवाली (भवाति) हो जावे । यानि किसी पर वह लगे और किसीपर न लगे तो (अत्र) इस संसार में [अमृतस्य] इस अमृत अग्निका (नाम)नाम (दुर्मन्तु) अपूजनीय हो जावे । (ऋष्व) हे दर्शनीय (अग्ने)अग्नि (यः)जो कोई (यमस्य) न्यायकारी तेरा नाम (सुमन्तु मनवते) बडा पूजनीय मानता है (तं) उसका तू (अप्रयुच्छन्)प्रमादरहित होकर (पाहि) रक्षण कर ॥ ३४ ॥

(यस्मिन्) जिस अग्निमें स्थित हुए हुए [देवाः] देवगण [विदथे मादयन्ते] यज्ञमें आनन्दित होते हैं । और [विवस्वतः सदने धारयन्ते] प्रकाशमान् अग्निके घरमें अपने आपको धारण करते हैं उन देवोंने [सूर्ये ज्योतिः अदधुः] सूर्य में ज्योति [प्रकाश] स्थापित किया है और [मासि] चन्द्रमामें अक्तून अंधकार निवारक रश्मियोंको स्थापित किया है अथवा चन्द्रमामें रात्रियां स्थापित की हैं अर्थात् चन्द्र रात्रिके लिए निर्माण किया है। जो कि दोनों सूर्य व चन्द्र [अजस्रा]निरन्तर [द्योतनिम्] प्रकाशमान अग्निकी [परिचरतः] परिचर्या करते रहते हैं ॥ ३५ ॥

[यस्मिन् अपीच्ये मन्मनि] जिस छिपे हुए ज्ञानमें [देवाः संचरन्ति] देव संचरण कर रहे हैं,[अस्य]इस अग्निके उस अन्तर्हित ज्ञानको[वयं न विद्म] हम नहीं जानते । अतः [अत्र] यहां पर [मित्रः] मित्र,[अदितिः] अखण्ड शक्तिवाला,[सविता] प्रेरक [देवः] प्रकाशमान अग्नि [नः अनागान्] हम निरपराधियोंको तथा [वरुणाय] पाप निवारकको [वोचत] कहे ॥ ३६ ॥

[सखायः] परस्पर प्रेम भावसे मित्र बनेहुए हम [नृतमाय] उत्तम नेता, [धृष्णवे] शत्रुओंके धर्षक—नाशक, [वज्रिणे] वज्रधारक [इन्द्राय] इन्द्रके लिए अर्थात् इन्द्रकी [स्तुषे] स्तुति करनेके लिए[ब्रह्म आ शिषामहे] ब्रह्मज्ञानकी इच्छा करें ॥ ३७ ॥

भावार्थ–यदि अग्निकी व्यवस्था एक सी न हो तो संसारसे उसका नाम ही मिट जावे । जो इस अग्निके नामको पूजनीय समझता है उसीकी अग्नि विना प्रमाद किए हुए रक्षा करता है ।-अग्निकी व्यवस्थापर किसीको शंका न लानी चाहिये ॥ ३४ ॥

अग्निमें स्थित देवगणोंने सूर्य चन्द्रका निर्माण किया है । अतः सूर्य चन्द्र निरंतर रातदिन अग्निकी परिचर्या करते रहते हैं ॥ ३५ ॥

अग्निका छिपा हुआ ज्ञान हम नहीं जानते अतः उस ज्ञान का बोध अग्नि स्वयमेव हमें करावे । उसके विना कहे हमारा जानना दुष्कर है । (ऋ० १० । १२) ॥ ३६ ॥

हम परस्पर मित्र बने हुए नानागुण विशिष्ट इन्द्रकी स्तुति के लिए ब्रह्मज्ञानको प्राप्त करनेकी इच्छा करें । अर्थात् इस प्रकारके इन्द्रकी स्तुति कैसे करनी चाहिए इस विषयक ज्ञान उपलब्ध करें (ऋ० ८ । २४ । १) ॥ ३७ ॥

शर्वसा ह्यसि श्रुतो वृत्रहत्येन वृत्रहा । मघैर्मघोनो अति शूर दाशसि ॥ ३८ ॥
स्तेगो न क्षामत्येषि पृथिवीं मही नो वाता इह वान्तु भूमौ ।
मित्रो नो अत्र वरुणो युज्यमानो अग्निर्वने न व्यसृष्ट शोकम् ॥ ३९ ॥
स्तुहि श्रुतं गर्तसदं जनानां राजानं भीममुपहत्नुमुग्रम् ।
मृडा जरित्रे रुद्र स्तवानो अन्यमस्मत् ते नि वपन्तु सेन्यम् ॥ ४० ॥
सरस्वतीं देवयन्तो हवन्ते सरस्वतीमध्वरे तायमाने ।
सरस्वतीं सुकृतो हवन्ते सरस्वती दाशुषे वार्यं दात् ॥ ४१ ॥

अर्थ—हे इन्द्र ? जिस प्रकार तू (वृत्रहत्येन) वृत्रको मारनेसे वृत्रहा(वृत्रहनके) नामसे (श्रुतः) विख्यात है उसी प्रकार (हि) निश्चयसे (शवसा) बलसे भी प्रसिद्ध है । अर्थात् तू अत्यन्त बलवान् होने से भी प्रसिद्ध है । हे अतिशूर ! तू (मघैः मघोनः) धनोंसे धनवान् हुए हुए उनसे भी (अति) बढकर (दाससि) स्तुति करनेवालोंको देता है । अर्थात् अत्यन्त धनी भी दानमें तेरा मुकाबला नही कर सकता ॥ ३८ ॥

(स्तेग: क्षाम् न) जिस प्रकारें स्तेग अर्थात् नानाविध द्रव्यसंग्रह कर्ता पुरुष पृथिवीपर भ्रमण करता है उसी प्रकार तू (महीं पृथिवीं) इस बडी भारी पृथिवी पर (अति एषि) बहुतायतसे विचरण करता है । “ अति ” यहां पर ‘ अभि ’ के अर्थमें मानना चाहिये । (नः) हमारे लिये (इह भूमौ) इस भूमिपर (वाताः वान्तु) सुखदाई हवायें वहें । और (वरुणः) दुःखनिवारक (मित्रः) मित्र भूत (युज्यमानः) हमारे कष्ट निवारण करनेमें लगा हुआ (नः शोकं) हमारें शोक को (व्यसृष्ट) दूर करें, (वने अग्निः न) जिस प्रकार से कि वनमें दावानाम अग्नि घास फूंस आदि को जलाकर दूर करती है ॥ ३९ ॥

[देवता रुद्र है ।] हे स्तुति करनेवाले (श्रुतं) विख्यात (गर्तसदं)रथपर सवार होनेवाले, (जनानां राजानं) जनोंके राजा (भीमं) भयङ्कर, (उपहत्नुम्) समीप जा आकर मारनेवाले (उग्रम्)कठोर स्वभाववाले रुद्रकी (स्तुहि) स्तुति कर । और(रुद्र) हे रुद्र ! तू (स्तवानः) स्तुति किया गया (जरित्रे) तेरी स्तुति करनेवाले लिए(मृड) सुख देनेवाला हो ।(ते सेन्यं) तेरी सेनायें (अस्मत् अन्यं)हम स्तुति करने वालोंसे भिन्न दूसरेको (निवपन्तु) काट डालें, मार डालें ॥ ४० ॥

(देवयन्तः) देव बननेकी कामना करते हुए लोक (सरस्वतीं हवन्ते) सरस्वतीको बुलाते है । और (तायमाने अध्वरे) विस्तृत हिंसारहित कार्यमें यज्ञमें (सरस्वतीं) सरस्वतीको बुलाते हैं और (सुकृतः) श्रेष्ठ कर्म करनेवाले सज्जन (सरस्वतीं हवन्ते) सरस्वतीको बुलाते हैं । (सरस्वती दाशुषे)सरस्वती दानी मनुष्यके लिए (वार्यं) वरणीय अभिलषित वस्तुको (दात्) देती है ॥ ४१ ॥

भावार्थ— इन्द्र वृत्रको मारनेसे जिस प्रकार वृत्रहन्के नामसे प्रसिद्ध हैं उसी प्रकार बलवान् होनेसे भी प्रसिद्ध है। उसके समान कोई भी दानशूर नहीं है । वह स्तोताको खूब दान करता है। (ऋ० ८।२४।२)॥ ३८ ॥

जिस प्रकारसे द्रव्य संग्रह करनेवाला पुरुष पृथिवीपर भ्रमण करता है उसी प्रकार यह मित्रभूत राजा सारी पृथिवीपर भ्रमण करें ताकि जनताकी दशाका ज्ञान होवे । भूमि पर सुखदाई वायु चले व राजा मित्र होकर प्रजाके कष्टोंको इस प्रकारसे दूर करे कि जिस प्रकारसे अग्नि वनमेंसे तमाम घास फूंस झाडी झुंडोंको दूर करती है ॥ ३९ ॥

हे जनो ! उस प्रसिद्ध, भयंकर शत्रुनाशक आदि गुण विशिष्ट रुद्रकी स्तुति करो । वह रुद्र स्तुति किया हुआ तुम्हारे लिए सुखदायी होवे । उसकी सेनायें शत्रुओंका ही विनाश करे। तुम्हारा न करें। ॥ ४० ॥

जिनको देव बनना हो उन्हें सरस्वतीका आह्वान करना चाहिये । सुकृत जन सरस्वतीका आह्वान करते हैं । सरस्वती का जो दान करता है उसे अभिलषित पदार्थोंकी उपलब्धि होती है। (ऋ० १०।१७।७)॥ ४१॥

सरस्वतीं पितरो हवन्ते दक्षिणा यज्ञमभिनक्षमाणाः ।
आसद्यास्मिन् बर्हिषि मादयध्वमनमीवा इष आ धेह्यस्मे　　॥ ४२ ॥
सरस्वति या सरथं ययाथोक्थैः स्वधाभिर्देवि पितृभिर्मदन्ती ।
सहस्रार्घमिडो अत्र भागं रायस्पोषं यजमानाय धेहि　　॥ ४३ ॥
उदीरतामवर उत्परास उन्मध्यमाः पितरः सोम्यासः ।
असुं य ईयुरवृका ऋतज्ञास्ते नोऽवन्तु पितरो हवेषु　　॥ ४४ ॥
आहं पितॄन्त्सुविदत्राँ अवित्सि नपातं च विक्रमणं च विष्णोः ।
बर्हिषदो ये स्वधया सुतस्य भजन्त पित्वस्त इहागमिष्ठाः　　॥ ४५ ॥
इदं पितृभ्यो नमो अस्त्वद्य ये पूर्वासो ये अपरास ईयुः ।
ये पार्थिवे रजस्या निषत्ता ये वा नूनं सुवृजनासु दिक्षु　　॥ ४६ ॥

अर्थ-[दक्षिणा] दक्षिण दिशासे आकर [यज्ञं अभिनक्षमाणाः पितरः] यज्ञको सब ओरसे प्राप्त करते हुए पितर [यां सरस्वतीं हवन्ते] जिस सरस्वतीको बुलाते हैं,ऐसी हे सरस्वती! तू तथा पितर [अस्मिन्] इस[बर्हिषि] यज्ञमें [आसद्य] बैठकर [मादयध्वं] प्रसन्न होवो । [अस्मे] हमें [अनमीवाः इषः] रोगरहित अन्नोंको अर्थात् जिनके खानेसे किसी भी प्रकारका रोग न होवे ऐसे अन्नोंको [आधेहि] दे ॥ ४२ ॥

[सरस्वति देवि] हे सरस्वती देवी [या] जो तू [पितृभिः स्वधाभिः मदन्ती] पितरोंके साथ मिलकर स्वधाओंसे आनन्दित होती हुई[सरथं] पितरोंके साथ समान रथपर आरोहण करती हुई[ययाथ] आई है.हे सरस्वती! तू[अत्र]इस यज्ञमें [यजमानाय] यजमानके लिए [सहस्रार्घं इडः भागं] हजारोंसे पूजनीय अन्नके भागको और [रायस्पोषं] धनकी पुष्टिको [धेहि] दे ॥४३॥

हे [सोम्यासः] सोम संपादन करनेवाले [अवरे] निकृष्ट, [उत् परासः] और उत्कृष्ट [उत्] तथा [मध्यमाः] मध्यम [पितरः] पितरो ! [उदीरतां] उन्नतिको प्राप्त होओ । [ये अवृकाः] जिन हिंसा न करनेवाले पितरोंने [असुं ईयुः] प्राणको प्राप्त किया है अर्थात् जो प्राणधारी पितर हैं (ते) वे [ऋतज्ञाः] सत्य व यज्ञको जाननेवाले [पितरः] पितर [हवेषु] बुलाए जानेपर [नः] हमारी [रक्षन्तु] रक्षा करें ॥ ४४ ॥

[सुविदत्रान् पितॄन्] उत्तम धनसंपन्न पितरोंको [आ अवित्सि] अच्छी प्रकार प्राप्त करता हूं । [विष्णोः नपातं विक्रमणं च] और सर्वव्यापक परमात्माके न गिरानेवाले अर्थात् उन्नति करनेवाले शौर्यको प्राप्त करता हूं । [बर्हिषदः पितरः] कुशासनपर बैठनेवाले पितर जो कि (स्वधया) स्वधाके साथ (सुतस्य पित्वः) उत्पादित अर्थात् तैयार किए हुए अन्नका (भजन्त) सेवन करते हैं, यानि खाते हैं [ते] वे पितर [इह] इस यज्ञमें [आगमिष्ठाः] आवें ॥ ४५ ॥

[अद्य] आज [पितृभ्यः] पितरोंके लिये इदं नमः अस्तु। यह नमस्कार हो। किन पितरोंके लिए ? [ये] जो कि[पूर्वासः] पूर्वकालीन पितर [ईयुः] स्वर्गको गए हुए हैं और [ये] जो कि [अपरासः] अर्वाचीन कालके पितर स्वर्गको गए हुए हैं। और (ये) जो कि पितर [पार्थिव रजसि]पार्थिव रजस् पर अर्थात् पृथिवीपर [आ निषत्ताः] स्थित हैं, [वा] अथवा [ये] जो कि [नूनं] निश्चयसे [सुवृजनासु दिक्षु] उत्तम बल वा धन युक्त प्रजाओंमें स्थित हैं ॥ ४६ ॥

भावार्थ- पितर सरस्वतीको यज्ञमें बुलाते हैं। (ऋ० १०। १७। ८)॥ ४२ ॥

सरस्वतीका पितरोंके साथ समान रथपर चढना, स्वधा खाना व यज्ञमें आना होता है । ऋ० १०।१७।९ ॥ ४३ ॥

सब प्रकारके उत्तम, मध्यम तथा निकृष्ट पितर अपनी उन्नति करें । हमारे सहायतार्थ बुलानेपर आकर हमारा रक्षण करें । ऋ० १०। १५।१; यजु० १९।४९ ॥४४॥ धनधान्य संपन्न पितरोंको व व्यापक परमात्माके शौर्यको मैं प्राप्त करता हूं । स्वधाके साथ पक्व अन्नको खानेवाले पितरो! इस यज्ञमें आओ । ऋ० १०।१५।२; यजु० १९। ५६ ॥ ४५ ॥

मातली कव्यैर्यमो अङ्गिरोभिर्बृहस्पतिर्ऋक्वभिर्वावृधानः ।
यांश्च देवा वावृधुर्ये च देवांस्ते नोऽवन्तु पितरो हवेषु ॥ ४७ ॥
स्वादुष्किलायं मधुमाँ उतायं तीव्रः किलायं रसवाँ उतायम् ।
उतो न्व१ स्य प१पिवांसमिन्द्रं न कश्चन सहत आहवेषु ॥ ४८ ॥
परेयिवांसं प्रवतो महीरिति बहुभ्यः पन्थामनुपस्पशानम् ।
वैवस्वतं संगमनं जनानां यमं राजानं हविषा सपर्यत ॥ ४९ ॥
यमो नो गातुं प्रथमो विवेद नैषा गव्यूतिरपभर्तवा उ ।
यत्रा नः पूर्वे पितरः परेता एना जज्ञानाः पथ्या ३ अनु स्वाः ॥ ५० ॥ (५)

अर्थ—[मातली] इन्द्र [कव्यैः] कव्योंसे, [यमः अङ्गिरोभिः] यम अङ्गिरसोंसे और [बृहस्पतिः ऋक्वभिः] बृहस्पति ऋचाओंसे अर्थात् ऋचा संबन्धी ज्ञान रखनेवालोंसे (वावृधानः) वृद्धिको प्राप्त होता है। [यान् देवाः वावृधुः] जिनको देवोंने बढाया है तथा [ये देवान्] जो देवोंको बढाते हैं, [ते] वे अर्थात् मंत्रोक्त कव्य, अङ्गिरस् आदि जो पितर हैं वे हमारी आह्वान करनेपर रक्षा करें ॥ ४७ ॥

[अयं] यह सोम रस [किल] निश्चयसे [स्वादुः] स्वादिष्ट है। यह सामरस [मधुमान्] माधुर्य गुणोंसे युक्त है। [उत] और (अयं) यह सोम (किल) निश्चयसे (तीव्रः) पीनेसे स्वादमें तेज लगनेवाला है। (उत) और (अयं) यह सोम [रसवान्] उत्तम रसवाला है। (उतः) और (नु) निश्चयसे (अस्य पपिवांसम्) इसके पान करनेकी इच्छा रखनेवाले (इन्द्रं) इन्द्रको (आहवेषु) संग्रामोंमें (कः च न) कोई भी (न सहते) नहीं सहता अर्थात् उसके सामने संग्राममें कोई भी टिक नहीं सकता ॥ ४८ ॥

(प्रवतः) प्रकृष्ट कर्म करनेवालोंको उत्तम कर्म करनेवालोंको तथा निकृष्ट कर्म करनेवालोंको (महीः इति) भूमि प्रदेशोंको (परेयिवांसं) प्राप्त कराते हुए तथा (बहुभ्यः पन्थां अनुपस्पशानं) बहुतों के लिये मार्गको दिखलाते हुए और (जनानां सङ्गमनं) जिसमें मनुष्य जाते हैं ऐसे (वैवस्वतं) विवस्वान्के पुत्र (यमं राजानं) यम राजाकी [हविषा सपर्यत] हविदान पूर्वक पूजा करे ॥ ४९ ॥

(यमः नः गातुं प्रथमः विवेद) यमने हमारा मार्ग सबसे पहिले जाना। (एषा गव्यूतिः न अपभर्तवै) यह मार्ग अपहरणके लिये नहीं है अर्थात् इस मार्गसे छुटकारा पाया नहीं जा सकता। वह मार्ग कौनसा है यह मंत्रके उत्तरार्धसे दर्शाते —(यत्र नः पूर्वे पितरः परेताः) जहांपर हमारे पूर्वज पितर गए हुए हैं। (और एना) इस मार्गसे (जज्ञानाः) जात प्राणी यत्र (स्वाः पथ्याः अनु) अपने अपने पथ्योंके अनुसार जाते हैं ॥ ५० ॥

भावार्थ- पुरातन कालके, अर्वाचीन कालके जो पितर हैं और जो इस समय पृथिवी लोकपर विद्यमान हैं अथवा उत्तम जघान्य संपन्न प्रजाओंमें विद्यमान हैं उन सब पितरोंके लिए नमस्कार है। ऋ० १०।१५।२; यजु० १९।६४। ४६ ॥

देव अपनी अपनी शक्तियोंसे बढते हैं उसी प्रकार सब लोग अपनी शक्तिसे बढें ॥ ४७ ॥

मंत्रोक्त नाना माधुर्य आदि गुणोंवाले सोमको पीनेवालेका कोई भी पराभव नहीं कर सकता ॥ ४८ ॥

अन्तमें नाना योनिस्थ जीवोंको यमने यमलोकमें ले जाना है अतः वह पृथिवीपर आया हुआ है और उसका यह कार्य यहां चल रहा है। हवनसे उसकी हम पूजा करें ॥ ४९ ॥

[यमलोकमें सब प्राणियोंके जानेके लिए जो मार्ग है उसका यहां निर्देश है।] यम हमारा यमलोकमें जानेका मार्ग सबसे पहिले जानता है क्योंकि वह उस मार्गका अधिष्ठाता है। इस मार्गसे छुटकारा पाना कठिन है क्योंकि जो उत्पन्न हुआ वह अवश्य मरेगा ही ॥ ५० ॥

बर्हिषदः पितर ऊत्य १ र्वागिमा वो हव्या चकृमा जुषध्वम्।
त आ गतावसा शंतमेनाथा नः शं योररपो दधात ॥ ५१ ॥
आच्या जानु दक्षिणतो निषद्येदं नो हविरभि गृणन्तु विश्वे।
मा हिंसिष्ट पितरः केन चिन्नो यद्व आगः पुरुषता कराम ॥ ५२ ॥
त्वष्टा दुहित्रे वहतुं कृणोति तेनेदं विश्वं भुवनं समेति।
यमस्य माता पर्युह्यमाना महो जाया विवस्वतो ननाश ॥ ५३ ॥
प्रेहि प्रेहि पथिभिः पूर्याणैर्येना ते पूर्वे पितरः परेताः।
उभा राजानौ स्वधया मदन्तौ यमं पश्यासि वरुणं च देवम् ॥ ५४ ॥
अपेत वीत वि च सर्पतातोऽस्मा एतं पितरो लोकमक्रन्।
अहोभिरद्भिरक्तुभिर्व्यक्तं यमो ददात्यवसानमस्मै ॥ ५५ ॥

अर्थ-(बर्हिषदः पितरः) हे बर्हिषत् पितरो ? (अर्वाक्) हमारे प्रति (ऊति) रक्षणार्थ आओ। (वः) तुम्हारे लिए (हव्या) हव्योंको [चकृम] करते हैं उनका [जुषध्वम्] प्रीतिपूर्वक सेवन करो। [ते] वे तुम (शंतमेन अवसा) कल्याणकारी रक्षणके साथ [आगत] आओ। [अथ] और तब [नः] हमें [अरपः] पापरहित आचरण, (शं) कल्याण और [योः] दुःखवियोग [दधात] दो ॥५१॥

[विश्वे] तुम सब पितरो ! [जानु आच्य] दांयां घुटना टेककर [दक्षिणतः निषद्य] दांई ओर बैठकर [इमं यज्ञं] इस यज्ञका [अभि गृणीत] स्वीकार करो। [पितरः] हे पितरो ! [यत् वः आगः] जो तुम्हारा अपराध (पुरुषता कराम) पुरुषत्वके कारण अर्थात् मनुष्यत्वके कारण हम करते हैं ऐसे (केन चित्) किसी भी अपराधके कारण (मा हिंसिष्ट) हमारी हिंसा मत करो ॥ ५२ ॥

(त्वष्टा दुहित्रे वहतुं कृणोति) त्वष्टा अपनी पुत्रीका विवाह रचता है [इति] इस कारण (इदं विश्वं भुवनं) यह सारा भुवन [समेति] इकट्ठा होता है। (परि उह्यमाना) ब्याही जाती हुई (यमस्य माता) यमकी जननी व (महः विवस्वतः जाया) महान् विवस्वान् की पत्नी (ननाश) नष्ट हो जाती है ॥ ५३ ॥

हे मृत पुरुष ! (यत्र) जिस लोकमें (नः पूर्वे पितरः) हमारे पूर्वज पितर (परेयुः) गए हुए हैं, उस लोकमें (पूर्व्येभिः पथिभिः) पहिलेके मार्गों द्वारा (प्रेहि प्रेहि) अवश्य जा। उस लोकमें जाकर [स्वधया मदन्तौ] स्वधासे आनन्दित होते हुए अथवा तृप्त होते हुए [उभा राजानौ] दोनों राजा [यमं वरुणं देवं च] यम तथा वरुण देवको [पश्यासि] देख ॥ ५४ ॥

हे विघ्नकारी जनो ! [अप इत] यहांसे चले जाओ। [वीत] भाग जाओ। [वि सर्पतातः] सर्वथा यह स्थान छोडकर हट जाओ। [अस्मै] इस प्रेतके लिए [पितरः] पितरोंने [एतं लोकं अक्रन] यह स्थान किया है। [अस्मै] इस मृतके लिये [यमः] यम [अहोभिः] दिनोंसे व [अद्भिः] पेय जलोंसे तथा [अक्तुभिः] रात्रियोंसे [व्यक्तं अवसानं] स्पष्ट समाप्ति [ददातु] दी है ॥ ५५ ॥

भावार्थ-बर्हिषत् पितर हमारा रक्षण करें और उसके बदल में हम उनका हव्यादि प्रदान द्वारा सत्कार करें। वे हमारे रोगों तथा भयोंको दूर करते हुए हमारा संरक्षण करें ॥ ५१ ॥

हे पितरो दाईं ओर दांयां घुटना टेककर इस यज्ञमें बैठो। यदि हम मनुष्यों से किसी प्रकारका अपराध अनजाने हो जाय तो उसके कारण हमारा विनाश मत करो। (य० १९।६२) ॥ ५२ ॥

यमकी माताका नाम सरण्यू है व पिता का नाम विवस्वान् अर्थात् सूर्य है अर्थात यम विवस्वान् [सूर्य] का पुत्र है अतएव उसे वेदमंत्रोंमें 'वैवस्वत' के नाम से पुकारा गया है ॥ ५३ ॥

जहां हमारे पूर्व पितर गये हैं वहां यह मृत मनुष्य जावे व वहां स्वधासे आनन्द करे ॥ ५४ ॥

*

उशन्तस्त्वेधीमह्युशन्तः समिधीमहि ।
उशन्नुशत आ वह पितॄन् हविषे अत्तवे ॥ ५६ ॥
द्युमन्तस्त्वेधीमहि द्युमन्तः समिधीमहि ।
द्युमान् द्युमत आ वह पितॄन् हविषे अत्तवे ॥ ५७ ॥
अङ्गिरसो नः पितरो नवग्वा अथर्वाणो भृगवः सोम्यासः ।
तेषां वयं सुमतौ यज्ञियानामपि भद्रे सौमनसे स्याम ॥ ५८ ॥
अङ्गिरोभिर्यज्ञियैरा गहीह यम वैरूपैरिह मादयस्व ।
विवस्वन्तं हुवे यः पिता तेऽस्मिन् बर्हिष्या निषद्य ॥ ५९ ॥

अर्थ- हे अग्नि ! [उशन्तः] तेरी कामना करते हुए हम [त्वा] तेरी [धीमहि] स्थापना करते हैं। और [उशन्तः] तेरी कामना करते हुए हम [समिधीमहि] तुझे प्रदीप्त करते हैं। [उशन्] हमारी कामना करती हुई हे अग्नि ! तू (हविषे अत्तवे) हविके खानेके लिये [उशतः पितॄन्] कामना करते हुए पितरों को [आवह] प्राप्त करा-ले आ ॥ ५६ ॥

हे अग्नि ! (द्युमन्तः) दीप्तिमान होते हुए हम (त्वा इधीमहि) तुझे प्रकाशित करें। (द्युमन्तः) और दीप्तिमान हम [समिधीमहि] तुझे भली प्रकार प्रदीप्त करें। (द्युमान) दीप्त हुआ हुआ तू (द्युमतः पितॄन्) प्रकाशमान पितरोंको (हविषे अत्तवे) हवि भक्षणार्थ (आवह) ले आ ॥ ५७ ॥

(नः नवग्वाः अथर्वाणः भृगवः सोम्यासः अङ्गिरसः पितरः) हमारे नवग्व, अथर्वा, भृगु, सोमसंपादन करनेवाले अङ्गिरस् पितर हैं। (तेषां यज्ञियानां) उन यज्ञार्ह अङ्गिरस् पितरोंकी (सुमतौ) उत्तम सलाहोंमें तथा (भद्रे सौमनसे) शुभ संकल्पोंमें (स्याम) होवें ॥ ५८ ॥

हे यम ! [वैरूपैः] विविध स्वरूपवाले, [यज्ञियेभिः] यज्ञके योग्य पूजनीय [अङ्गिरोभिः] अङ्गिरस् पितरोंके साथ [इह आ गहि] इस हमारे यज्ञमें आ। यज्ञमें आकर दी गई हविको खाकर [मादयस्व] आनन्दित हो। [विवस्वन्तं हुवे] विवस्वान् [सूर्य] को मैं बुलाता हूं [यः] जो कि विवस्वान् [ते पिता] तेरा पिता है। वह विवस्वान् [अस्मिन् यज्ञे बर्हिषि आ निषद्य] इस यज्ञमें आकर आसनपर बैठकर दी हुई हविको खाकर आनन्दित होवे। (ऋ० १०।१४।५) ॥ ५९ ॥

भावार्थ- शव की अंत्येष्टि क्रिया के लिए स्थान को पितर निर्धारित करते हैं। यहां शरीरसे प्राणों के निकल जानेके बादका वर्णन है दिन रात आदि की समाप्ति हो चुकी है अर्थात् वह मर गया है। अब पूर्वार्धानुसार मरनेपर पितर इसके लिए स्थान बनाते हैं इसके दो ही अभिप्राय हो सकते हैं (१) या तो जो पितर स्थान बनाते हैं वह श्मशान भूमिका हो सकता है अथवा (२) वह यम लोकका हो सकता है। ॥ ५५ ॥

हे अग्नि! हम यज्ञादिमें तेरी कामना करते हुए तेरी स्थापना करें व तुझे प्रकाशित करें। तू हमारे यज्ञोंमें पितरोंको हवि खानेके लिए ले आया कर। (यजु० १९।७०) ॥ ५६ ॥

अन्न सेवनके लिए पितरोंको बुलाना चाहिए ॥ ५७ ॥

हमारे विषयमें पितरोंकी बुद्धि उत्तम हो ऐसा आचरण करना हमें उचित है ॥ ५८ ॥

यज्ञमें यम व अङ्गिरस् पितरोंको बुलाकर उन्हें हवि दी जाती है, यमका पिता विवस्वान् (सूर्य) है, उसे भी साथमें यज्ञमें बुलाया जाता है व हवि खानेके लिए दी जाती है। अंगिरस् पितर नाना रूपवाले हैं अर्थात् उनके स्वरूप भिन्न भिन्न हैं ॥ ५९ ॥

इमं यम प्रस्तरमा हि रोहाङ्गिरोभिः पितृभिः संविदानः ।
आ त्वा मंत्राः कविशस्ता वहन्त्वेना राजन्हविषो मादयस्व ॥ ६० ॥
इत एत उदारुहन् दिवस्पृष्ठान्यारुहन् ।
प्र भूर्जयो यथा पथा द्यामङ्गिरसो ययुः ॥ ६१ ॥ (६)

[२]

यमाय सोमः पवते यमाय क्रियते हविः ।
यमं ह यज्ञो गच्छत्यग्निदूतो अरंकृतः ॥ १ ॥
यमाय मधुमत्तमं जुहोता प्र च तिष्ठत ।
इदं नम ऋषिभ्यः पूर्वजेभ्यः पूर्वेभ्यः पथिकृद्भ्यः ॥ २ ॥
यमाय घृतवत् पयो राज्ञे हविर्जुहोतन ।
स नो जीवेष्वा यमेद्दीर्घमायुः प्र जीवसे ॥ ३ ॥

अर्थ- [आङ्गिरोभिः पितृभिः संविदानः] अंगिरस् पितरोंके साथ एकमत हुआ हुआ हे यम ! तू [इमं प्रस्तरं] इस विस्तृत फैले हुए आसनपर [आसीद] बैठ । [त्वा] तुझे [कविशस्ताः मंत्राः] क्रान्तदर्शियों द्वारा स्तुति किए गए मंत्र [आ वहन्तु] बुलावें । [एना] इस [हविषा] हविद्वारा [मादयस्व] प्रसन्न हो । (ऋ० १०।१४।४) ॥ ६० ॥

[एते] ये पितर [इतः] यहांसे [उत् आ अरुहन्] ऊपरको चढते हैं । [दिवः पृष्ठानि आरुहन्] और द्युके पृष्ठोंपर महत्त्व स्थानोंपर-चढते हैं । [यथा पथा] जिस प्रकारके मार्गसे कि [भूर्जयः] भूमि जीतनेवाले [अंगिरसः] अंगिरस पितर [द्यां] द्युलोकको [प्रययुः] गए हुए हैं ॥ ६१ ॥ [२]

(यमाय सोमः पवते ।) यमके लिए यज्ञमें सोमको पवित्र किया जाता है । (यमाय हविः क्रियते) यमके लिए हवि प्रदान की जाती है (अरङ्कृतः) नाना प्रकारके द्रव्योंके डालनेसे जो अलंकृत किया हुआ, (अग्निदूतः) अग्निको अपना दूत बना करके (ह) निश्चयसे (यज्ञः) यज्ञ (यमं गच्छति) यमको प्राप्त होता है ॥ १ ॥

(यमाय) यमके लिए (मधुमत्तमं) अत्यन्त मधुर द्रव्यका (जुहोत) प्रदान करो । और हवि देकर (प्र-तिष्ठत) प्रतिष्ठाको प्राप्त करो अथवा दीर्घ जीवनका लाभ करो । (पथिकृद्भ्यः) रस्ता बनानेवाले मार्गप्रदर्शक (पूर्वजेभ्यः) जोहमसे पूर्व उत्पन्न हुए हैं [पूर्वेभ्य] हमसे पूर्वके हैं ऐसे (ऋषिभ्यः) ज्ञानियोंके लिए (इदं नमः) यह नमस्कार है ॥ २ ॥

(यमाय राज्ञे) यम राजाके लिए (घृतवत् पयः) घीसे मिश्रित दूध तथा (हविः) हविका (जुहोतन) प्रदान करो । (सः) वह यम (प्रजीवसे) प्रकृष्टतया जीनेके लिए (जीवेषु) जीवोंमें अर्थात् संसारमें (नः) हमें (दीर्घ आयुः) दीर्घ जीवन (आ यमेत्) देवे ॥ ३ ॥

भावार्थ-यम अंगिरस् पितरोंके साथ यज्ञमें विस्तृत आसनपर बैठता है । उसको मंत्रों द्वारा स्तुति करके उसे यज्ञमें हवि दी जाती है ॥ ६० ॥

अंगिरस् पितर यहांसे ऊपर जाकर द्युलोकमें स्थित होते हैं । उनके जानेका मार्ग वही है जो कि वीर गणोंका द्युलोकमें जानेका है ॥ ६१ ॥

यमके लिए सोम, हवि आदि यज्ञमें देने चाहिए । यज्ञ यमको निश्चयसे प्राप्त होता है ॥ १ ॥

यम राजाके लिए मधुरतम हवि दो और प्राचीन ऋषियोंके लिए नमस्कार करो ॥ २ ॥

यम राजाको हवि आदि देनेसे वह हमें संसारमें दीर्घ जीवन प्रदान करता है ॥ ३ ॥

मैनमग्ने वि दहो माभि शूशुचो मास्य त्वचं चिक्षिपो मा शरीरम्।
शृतं यदा करसि जातवेदोऽथेमेनं प्र हिणुतात् पितृँरुप ॥ ४ ॥

यदा शृतं कृणवो जातवेदोऽथेममेनं परि दत्तात् पितृभ्यः।
यदो गच्छात्यसुनीतिमेतामथ देवानां वशनीर्भवाति ॥ ५ ॥

त्रिकद्रुकेभिः पवते षडुर्वीरेकमिद् बृहत्।
त्रिष्टुब्गायत्री छन्दांसि सर्वा ता यम आर्पिता ॥ ६ ॥

सूर्यं चक्षुषा गच्छ वातमात्मना दिवं च गच्छ पृथिवीं च धर्मभिः।
अपो वा गच्छ यदि तत्र ते हितमोषधीषु प्रति तिष्ठा शरीरैः ॥ ७ ॥

अर्थ– [अग्ने]हे अग्नि![एनं मा विदहः]इस प्रेतको इस प्रकारसे मत जला कि जिससे इसे विशेष कष्ट प्रतीत हो। [मा अभि शूशुचः] इसे शोकाकुल मत कर। [अस्य त्वचं मा चिक्षिपः] इसकी त्वचा अर्थात् चमडीको मत फैंक। इसके शरीरमें विद्यमान त्वचा मांस आदिको इस प्रकारसे जला दे कि कोईभी भाग अवशिष्ट न रहने पावे। [जातवेदः]हे जातवेदस् अग्नि! [यदा शृतं करसि]जब तू इस प्रेतको परिपक्व बना दे अर्थात् पूर्णतया जला दे[अथ] तब [एनं] इस प्रेतकी आत्माको [पितॄन् उप प्रहिणुतात्] पितरों के पास भेज दे अर्थात् पितृलोकमें इस प्रेतकी आत्मा चली जावे। ऋ० १०।१६।१ ॥ ४ ॥

(जातवेदः) हे जातवेदस् अग्नि ! (यदा शृतं कृणवः) जब तू इस प्रेतको पूर्णतया पक्व अर्थात् दग्ध कर दे, (अथ) तब (एनं पितृभ्यः परि दत्तात्) इसको पितरोंके लिये सौंप दे। (यदा) जब यह प्रेत (एतां असुनीतिं गच्छाति) इस प्राणोंके नयन को प्राप्त होता है अर्थात् जब इसके प्राण निकल जाते हैं। (अथ) तब प्राणोंके निकल जानेपर प्रेत [मृत शरीर], [देवानां वशनीः भवाति] देवोंके वश हो जाता है। [ऋ. १०।१६।२] ॥ ५ ॥

[एकं इत् बृहत्] अकेला ही वह सर्वनियन्ता महान् यम [त्रिकद्रुकेभिः] तीन कद्रुकों से [षट् उर्वीः] छहों उर्वियों को[पवते] प्राप्त होता है अर्थात् व्याप्त करके स्थित है। [त्रिष्टुप् गायत्री] त्रिष्टुप्, गायत्री आदि [ता सर्वा छन्दांसि] वे सब छन्द [यमे] उस नियन्ता परमात्मामें [आर्पिताः] स्थित हैं। [ऋ० १०।१४।१६] ॥ ६ ॥

हे प्रेत ! तू [चक्षुषा सूर्यं गच्छ] आंख से सूर्य को जा। (आत्मना वातं) आत्मासे [प्राणसे] वायुको जा। और हे प्रेत ! (धर्मभिः) धर्मसे अर्थात् कर्मफलजन्य धर्म से अथवा पार्थिवादि तत्त्वों के कर्मसे अर्थात् जो पार्थिव तत्त्व हैं वे पृथिवीमें जा मिलें, जो जलीय हैं वे जल में आ मिलें, इत्यादि प्रकार से [द्यां च पृथिवीं च] द्युव पृथिवी लोक को जा अर्थात् पार्थिव तत्त्व पृथिवीमें जा मिलें और जो द्युलोकका अंश हो वह द्युलोक में जा मिले। जहां जहां से जो जो अंश तेरे शरीर में आया हो, वहां वहां वह वह अंश चला जावे। [वा] अथवा [अपो गच्छ] जलोंमें जलीय अंश जावें (यदि तत्र ते हितं) यदि वहां का कोई अंश तेरे में विद्यमान हो और इसी प्रकार औषधियोंमें शरीरांशोंसे स्थित हो अर्थात् ओषधिका अंश ओषधि में चला जावे। [ऋ० १०।१६।३] ॥ ७ ॥

भावार्थ– जब तक देह संपूर्णतया जल नहीं जाती तबतक आत्मा उस देहको छोडकर स्थानान्तरमें नहीं जाती। उस देहके आसपास ही मण्डलाती रहती है। उस देहका मोह उसे खींचे रखता है। मृतात्मा शरीरसे पृथक् होकर पितृलोकमें जाती है। अग्नि आत्माको पितृलोकमें भेजती है ॥ ४ ॥

अग्नि शरीरको पूर्णतया दग्ध करके आत्माको पितृलोकमें भेज देती है। अग्निद्वारा पृथक् पृथक् हुए हुए शरीरके तत्त्व अपने अपने स्थानमें चले जाते हैं। जब प्राण निकल जाते हैं तब यह मृत देह देवोंके वश हो जाती है ॥ ५ ॥

छहों उर्वियोंमें वह यम व्याप्त है इतना अवश्य पता चलता है। त्रिष्टुप् गायत्री आदि सब उस यम (नियामक परमात्मा) में स्थित हैं ॥ ६ ॥

अजो भागस्तपसस्तं तपस्व तं ते शोचिस्तपतु तं ते अर्चिः ।
यास्ते शिवास्तन्वो जातवेदस्ताभिर्वहैनं सुकृतामु लोकम् ॥ ८ ॥
यास्ते शोचयो रंहयो जातवेदो याभिरापृणासि दिवमन्तरिक्षम् ।
अजं यन्तमनु ताः समृण्वतामथेतराभिः शिवतमाभिः शृतं कृधि ॥ ९ ॥
अव सृज पुनरग्ने पितृभ्यो यस्त आहुतश्चरति स्वधावान् ।
आयुर्वसान उप यातु शेषः सं गच्छतां तन्वा सुवर्चाः ॥ १० ॥ (७)
अति द्रव श्वानौ सारमेयौ चतुरक्षौ शबलौ साधुना पथा ।
अधा पितॄन्त्सुविदत्राँ अपीहि यमेन ये सधमादं मदन्ति ॥ ११ ॥

अर्थ– हे अग्नि ! इस प्रेतका जो [अजः भागः] अज अर्थात् न जन्म लेनेवाला भाग [आत्मा] है [तं] उसको तू [तपसा तपस्व) अपने तप से तपा । [तं] उस अज भाग को [ते शोचिः] तेरी दीप्यमान ज्वाला (तपतु) तपावे । [तं] उस अज भागको [ते अर्चिः] भासमान तेरी ज्वाला [तपतु] तपावे । और फिर [जातवेदः] हे जातवेदस् अग्नि [याः ते शिवाः तन्वः] जो तेरे कल्याणकारी ज्वालायें रूपी तनू अर्थात् शरीर हैं [ताभिः] उन शरीरों द्वारा इस अज भाग को [सुकृतां लोकं] सुकर्म करनेवालोंके लोक में [वह] प्राप्त करो । [ऋ० १०।१६।१४] ॥ ८ ॥

[जातवेदः] हे जातवेदस् अग्नि ! [याः ते] जो तेरे [शोचयः] पवित्र करनेवाले, [रंहयः] वेगवाले ज्वालारूपी शरीर हैं, [याभिः] जिनसे कि तू [दिवं] द्युलोकको व [अंतरिक्षं] अन्तरिक्ष लोकको [आपृणासि] परिपूर्ण करता है [ताः] वे तेरे ज्वालारूपी तनू अर्थात् शरीर [यन्तं] द्युलोक को जाते हुए [अजं अनु] शरीरके अज भाग [आत्मा] के पीछे [समृण्वताम्] जावें । [अथ] और [इतराभिः शिवतमाभिः] दूसरे कल्याणकारी शरीरोंसे इस पीछे रह गए मृत देह को [शृतं कृधि] परिपक्व कर अर्थात् पूर्णतया जला दे ॥ ९ ॥

[अग्ने] हे अग्नि ! [यः] जो [ते आहुतः) तेरे में अंत्येष्टिके समय आहुत किया हुआ [स्वधावान् चरति] स्वधाओंसे युक्त विचरण करता है उसको [पुनः] फिर [पितृभ्यः] पितरोंके लिये लाकर [अवसृज] छोड अर्थात् वह पुनर्जन्म ले । अथवा 'पितृभ्यः' को पंचमी मानकर भी अर्थ कर सकते हैं, और वह इस प्रकार कि फिर पितृलोकमें विद्यमान पितरोंसे लाकर इस संसारमें छोड । दोनो प्रकारके अर्थोंका भाव एक ही है । दोनों प्रकारके अर्थोंमें विरोध नहीं है । इस प्रकार यह पुनर्जन्म लिया हुआ । [शेषः] अपत्य संतान [उपयातु] कुटुंबियों को प्राप्त करे, तथा [सुवर्चाः] तेजस्वी होकर हे अग्नि ! [तन्वा संगच्छतां] यह अपत्य शरीरसे भलीभांति संगत होवे अर्थात् उत्तम शरीरसंपत्तिसे संपन्न बने [ऋ० १०।१६।५] ॥ १० ॥

हे पितृ लोकमें जाते हुए जीव ! [सारमेयौ चतुरक्षौ] सारमेय, चार आंखोंवाले [शबलौ] चितकबरे [श्वानौ] दो कुत्तोंसे [अति] बचकरके [साधुना पथा] कल्याणकारी उत्तम मार्गसे [द्रव] जा । [अथ] तब [सुविदत्रान् पितॄन्] उत्तम धन वा ज्ञानसे युक्त पितरोंको [अपि इहि] भी प्राप्त हो । [ये] जो कि पितर [यमेन सधमादं मदन्ति] यमके साथ आनन्दित होते हुए तृप्त होते हैं । [ऋ० १०।१४।१०] ॥ ११ ॥

भावार्थ– मरनेपर शरीरमें विद्यमान तत्व अपने अपने स्थानपर जहांसे आये हुए होते हैं वहां चले जाते हैं। सूर्यादि देवोंके अंश उन उनमें वापिस चले जाते हैं हरेक देव अपना अंश शरीरसे खींच लेता है ॥ ७ ॥

हे अग्नि ! तू इस शरीरके अज भाग आत्माको अपनी नाना गुण विशिष्ट ज्वालाओंसे शुद्ध करके पुण्यलोकमें ले जा॥८॥

शरीरके अज भाग आत्माका अनुसरण करती हुई अग्निकी कुछ ज्वालाएं उसे उचित स्थानपर ले जाती हैं व पीछे रहे मृत देहको अन्य ज्वालाएं भस्म कर डालती हैं ॥ ९ ॥

हे अग्नि ! जो मृत पुरुष तेरेमें अंत्येष्टिके समय आहुत किया हुआ स्वधाओंवाला होकर विचरण कर रहा है। उसे पितरोंके लिए दे अर्थात् उसे पितृलोकमें विद्यमान पितरोंके पास लेजाकर छोड ॥ १० ॥

यौ ते श्वानौ यम रक्षितारौ चतुरक्षौ पथिषदी नृचक्षसा ।
ताभ्यां राजन् परि धेह्येनं स्वस्त्य॑स्मा अनमीवं च धेहि ॥ १२ ॥
उरुणसावसुतृपावुदुम्बलौ यमस्य दूतौ चरतो जनाँ अनु ।
तावस्मभ्यं दृशये सूर्याय पुनर्दातामसुमद्येह भद्रम् ॥ १३ ॥
सोम एकेभ्यः पवते घृतमेक उपासते। येभ्यो मधु प्रधावति तांश्चिदेवापि गच्छतात् ॥ १४ ॥
ये चित्पूर्व ऋतसाता ऋतजाता ऋतावृधः। ऋषीन्तपस्वतो यम तपोजाँ अपि गच्छतात्॥१५॥
तपसा ये अनाधृष्यास्तपसा ये स्व॑र्ययुः। तपो ये चक्रिरे महस्तांश्चिदेवापि गच्छतात्॥१६॥

अर्थ- हे यम ! [ते] तेरे [यौ] जो (रक्षितारौ) रक्षा करनेवाले (चतुरक्षौ) चार आंखोंवाले (पथिषदी) यमलोकमें जानेके मार्ग में बैठनेवाले तथा [नृचक्षसौ] मनुष्योंके देखनेवाले [श्वानौ] दो कुत्ते हैं, हे राजन् ! (ताभ्यां) उन दोनों कुत्तों द्वारा (एनं) इस जीवको (स्वस्ति) कल्याण (धेहि) प्रदान कर । (च) और (अस्मै) इस जीवके लिये [अनमीवं] रोगरहितता अर्थात् आरोग्य (धेहि) धारण कर । इसे निरोगी बना । (ऋ० १०।१४।११) ॥ १२ ॥

[उरू—णसौ] लम्बी नाकवाले , [असुतृपौ] प्राणोंके खानेसे तृप्त होनेवाले, (उदुम्बलौ) विस्तृत बलवाले अर्थात् अत्यन्त बलवान् (यमस्य दूतौ) यमके दूत उपरोक्त दोनों कुत्ते, (जनाँ अनुचरतः) मनुष्योंके पीछे पीछे विचरण करते हैं । (तौ) इस प्रकारके वे यमदूत कुत्ते (अस्मभ्यं) हमारे लिये (सूर्याय दृशये) सूर्यके दर्शनार्थ अर्थात् इस लोकमें जीवन धारण करनेके लिये (अद्य) आज [इह] इस संसारमें [भद्रं असुं] कल्याणके देनेवाले प्राणको [पुनः] फिर [दाता] देवें । [ऋ० १०।१४।१२] ॥ १३ ॥

[एकेभ्यः]कईयों के—लिये (सोमः पवते) सोमरस बहता है । और [एके] कई (घृतं उपासते) आज्य का उपभोग करते हैं । इनको व [येभ्यः मधु प्रधावति] जिनके लिये मधु धारा रूपसे बहता है [तान् चित् अपि] हे प्रेत ! उनको भी तू [गच्छतात्] प्राप्त हो ॥ १४ ॥

(ये चित्) और जो (पूर्वे) पूर्व पुरुष (ऋतसाताः) सत्यका पालन करनेवाले अथवा यज्ञोंके नित्य नियमपूर्वक करनेवाले (ऋतावानः) सत्य वा यज्ञसे युक्त और इसीलिए (ऋतावृधः) सत्य व यज्ञके वर्धक थे, तथा (तपस्वतः) तपसे युक्त (पितॄन्) पूर्व पितरोंको (तान् चित् अपि) इन सबको भी हे (यम) नियमवान् प्रेतात्मा तू प्राप्त हो ॥ १५ ॥

(ये) जो लोक (तपसा) कृच्छ्रचांद्रायणादि नानाविध तप करने कारणसे (अनाधृष्याः) किसी भी प्रकारसे कष्टों को नहीं पहुंचाए जा सकते, जिनको पाप नहीं सता सकते, व (ये) जो लोक (तपसा) तपके कारणसे (स्वः ययुः) स्वर्गको गए हुए हैं, और (ये) जिन्होंने (महः तपः चक्रिरे) महान् तप किया है, हे प्रेत! इन (तान् चित् अपि गच्छतात्) उन तपस्वियोंको भी तू जाकर प्राप्त हो अर्थात् इनमें तेरी स्थिति होवे ॥ १६ ॥

भावार्थ—यमके कुत्तोंका वर्णन यहां किया गया है । उनकी चार आंखें हैं तथा वे चितकबरे रंगके हैं। ॥ ११ ॥

जीवित पुरुषके लिए यमके कुत्तोंसे कल्याण व आरोग्य मांगा गया है ॥ १२ ॥

यमके कुत्ते लंबी नाकवाले, प्राणोंको खाकर तृप्त होनेवाले, अत्यंत बलशाली हैं । वे सर्वदा मनुष्योंके पीछे लगे रहते हैं ॥ १३ ॥

जिनके लिए सोमरस बहता रहता है व जो आज्य का उपभोग करते रहते हैं तथा जिनके लिए मधु की कुल्यायें बहती रहती हैं ऐसे यज्ञकर्ताओंको हे प्रेत तू प्राप्त हो ॥ १४ ॥

जो पितर सत्यके रक्षक हैं, यज्ञादि का अनुष्ठान नित्यनियमसे करनेवाले हैं तथा तपस्वी हैं ऐसे पितरों को हे मृतात्मा तू परलोक में जाकर प्राप्त हो ॥ १५ ॥

ये युध्यन्ते प्रधनेषु शूरासो ये तनूत्यजः ।
ये वा सहस्रदक्षिणास्तांश्चिदेवापि गच्छतात् ॥ १७ ॥
सहस्रणीथाः कवयो ये गोपायन्ति सूर्यम् । ऋषीन्तपस्वतो यम तपोजाँ अपि गच्छतात् १८
स्योनास्मै भव पृथिव्यनृक्षरा निवेशनी । यच्छास्मै शर्म सप्रथाः ॥ १९ ॥
असंबाधे पृथिव्या उरौ लोके नि धीयस्व ।
स्वधा याश्चकृषे जीवन् तास्ते सन्तु मधुश्चुतः ॥ २० ॥
ह्वयामि ते मनसा मन इहेमान् गृहाँ उप जुजुषाण एहि ।
सं गच्छस्व पितृभिः सं यमेन स्योनास्त्वा वाता उप वान्तु शग्माः ॥ २१ ॥

अर्थ- हे प्रेत ! [ये शूरासः] जो शूरवीर गण [प्रधनेषु] संग्रामों में [युध्यन्ते] युद्ध करते हैं और [ये] जो इन संग्रामों में [तनूत्यजः] शरीरोंका त्याग करते हैं अर्थात् अपने प्राण दे देते हैं, [वा] अथवा [ये] जो लोग [सहस्रदक्षिणाः] हजारों दान करते हैं [तान् चित् अपि] उनको भी तू [गच्छतात्] प्राप्त हो ॥ १७ ॥

[ये] जो [कवयः] क्रांतदर्शी ज्ञानी लोग [सहस्रणीथः] हजारों प्रकारों की नीतियोंवाले हैं और जो [सूर्यं गोपायन्ति] इस सूर्यका रक्षण करते हैं ऐसे [तपस्वतः ऋषीन्] तपसे युक्त ऋषियोंको जो कि [तपोजान्] तपसे ही उत्पन्न हुए हुए हैं—ऐसोंको भी हे नियममें स्थित प्रेतात्मा ! तू यहांसे जाकर प्राप्त हो ॥ १८ ॥

हे पृथिवी ! [अस्मै] इसके लिए [स्योना] सुखकारिणी [अनृक्षरा] कांटोंसे रहित अर्थात् न पीडा देनेवाली, [निवेशनी] प्रवेश करने योग्य [भव] हो। [सप्रथाः] विस्तृत हुई हुई [अस्मै] इसके लिए [शर्म] सुखको [यच्छ] दे। ॥ १९ ॥

[असंबाधे] ऊंचा नीचा जो नहीं है अर्थात् जो एक सरीखा है ऐसे [पृथिव्याः उरौ लोके] पृथिवीके विस्तृत स्थानमें [निधीयस्व] स्थित हो। [जीवन्] जीते हुए अर्थात् जीवित अवस्था में तूने [याः स्वधाः] जो स्वधायें [चकृषे] की थीं [ताः] वे स्वधायें [ते] तेरे लिए अब [मधुश्चुतः] मधुके बरसाने वाली [सन्तु] होवें ॥ २० ॥

[ते मनः] तेरे मनको [मनसा] मन द्वारा बुलाता हूं। [इह] यहां [इमान् गृहान्] इन घरोंसे [जुजुषाणः उप एहि] प्रीति करता हुआ समीप आ। तू [पितृभिः] पितरों के [संगच्छस्व] साथ विचरण कर। [यमेन सं] यमके साथ विचरण कर। (स्योनाः) सुखदायक (शग्माः) शक्तिशाली (वाताः) वायुयें [त्वा उपवान्तु) तेरे लिए बहें ॥ २१ ॥

भावार्थ— हे प्रेत जो तप के कारण किसी भी प्रकार पराभूत नहीं हो सकते, व जो तप ही के कारण स्वर्ग को प्राप्त हुए हुए हैं तथा जिन्होंने महान् तप किया है उनको तू यहांसे जाकर प्राप्त हो ॥ १६ ॥

जो शूरवीर गण युद्धोंमें अपने प्राण देकर वीर गति को प्राप्त हुए हुए हैं वा जो लोग नानातरह के दानों को देकर अपने को संसारमें अमर कर गए हैं, ऐसे लोकोंको हे मृतात्मा तू प्राप्त हो, तेरी सद्गति होवे ॥ १७ ॥

जो क्रान्तदर्शी ऋषिगण नाना प्रकारके विज्ञानोंसे परिपूर्ण हैं व जो तपस्वी तथा तपसे उत्पन्न हुए हुए हैं ऐसों को हे प्रेतात्मा तू इस लोक से जाकर प्राप्त हो। उनमें जाकर तू स्थित हो। निकृष्ट लोकमें मत जा ॥ १८ ॥

पृथिवी, इसके लिए सुखकारी व पीडारहित होवे ! इसको किसी प्रकारका कष्ट न हो ! पृथिवी इसको सदा सुख प्रदान करती रहे ॥ १९ ॥

उसने जो जीते हुए स्वधाओंका संग्रह किया था वे इसके लिए मधुर हों ॥ २० ॥

उत् त्वा वहन्तु मरुत उदवाहा उदप्रुतः । अजेन कृण्वन्तः शीतं वर्षेणोक्षन्तु बालिति ॥ २२ ॥
उदह्वमायुरायुषे क्रत्वे दक्षाय जीवसे । स्वान् गच्छतु ते मनो अधा पितृँरुप द्रव ॥ २३ ॥
मा ते मनो मासोर्माङ्गानां मा रसस्य ते । मा ते हास्त तन्वः किं चनेह ॥ २४ ॥
मा त्वा वृक्षः सं बाधिष्ट मा देवी पृथिवी मही । लोकं पितृषु वित्त्वैधस्व यमराजसु ॥ २५ ॥
यत्ते अङ्गमतिहितं पराचैरपानः प्राणो य उ वा ते परेतः ।
तत्ते संगत्य पितरः सनीडा घासाद् घासं पुनरा वेशयन्तु ॥ २६ ॥

अर्थ- [उदवाहाः] जलका वहन करनेवालीं [उदप्रुतः] जलमें संचार करनेवालीं (मरुतः) वायुयें [त्वा] तुझे (उत् वहन्तु) ऊपर पहुंचावें और वे वायुयें [अजेन शीतं कृण्वन्तः] अजसे शीतलता देतीं हुईं [वर्षेण उक्षन्तु] वृष्टि द्वारा सींचें । (बाल् इति) यह तेरा जीना है, अर्थात् इसीसे तू जीवित रह सकता है ॥ २२ ॥

[आयुषे] दीर्घायु धारण करने के लिए, [क्रत्वे] कर्म करने के लिए [दक्षाय] बलके लिए तथा (जीवसे) उत्तम जीवन धारण करने के लिए हे मृतात्मा ! मैं तुझे [उदह्वम्] बुलाता हूं । [ते मनः] तेरा मन [स्वान्] तेरे सम्बन्धियों में [गच्छतु] जावे [अध] और तू [पितॄन् उपद्रव] पितरोंको प्राप्त हो ॥ २३ ॥

[इह] इस संसारमें रहते हुए [ते] तेरा [मनः] मन [मा हास्त] तुझे छोडकर मत चला जावे । [असोः] प्राणोंका [किंचन] कुछभी अंश [मा] मत चला जावे अर्थात तेरे प्राण ठीक ठीक बने रहें । [ते रसस्य मा] तेर शरीरस्थ रुधिर आदि रसका कुछ भी अंश मत चला जावे । और [ते तन्वः किंचन मा हास्त] तेरे शरीर का कुछभी अंश मत चला जावे । २४ ॥

(त्वा वृक्षः मा संबाधिष्ट) तुझे वृक्ष बाधा मत पहुंचाए । वृक्ष यहां वनस्पतिका उपलक्षण है । (देवी मही पृथिवी) दिव्य गुणोंवाली विस्तृत पृथिवी भी तुझे (मा) मत बाधा पहुंचाए । (यमराजसु पितृषु लोकं वित्त्वा) यम जिनका राजा है ऐसे पितरोंमें स्थान प्राप्त करके (एधस्व) वृद्धिको प्राप्त कर ॥ २५ ॥

(ते यत् अङ्गं पराचैः अतिहितम्) तेरा जो अङ्ग उलटा होकर हट गया है, और (यः ते प्राणः अपानः परेतः) जो तेरा प्राण वा अपान दूर चला गया है-शरीरसे निकल गया है (तत् ते) उस उपरोक्त तेरे अङ्ग वा प्राण या अपानको (सनीडाः पितरः) साथ रहनेवाले पितर (संगत्य) मिलकर (घासात् घास इव) यहां लुप्तोपमा प्रतीत होती है जैसे घाससे घास बांधी जाती है उसी प्रकार (पुनः आवेशयन्तु) फिर प्रविष्ट करावें अर्थात् फिरसे प्राण अपान आदि तुझे देंकर मानि पुनरुज्जीवित करें ॥ २६ ॥

भावार्थ- पितरोंके साथ विचरण कर और यमसे विचरण कर । तेरे लिये वायु सुखदायी हो ॥ २१ ॥

वायु और जल तेरे लिये सुखदायी हों ॥ २२ ॥

हे मृतात्मा ! तू दीर्घायु, बल, जीवन आदि धारण करने के लिए पुनः इस संसारमें आ तथा अपने संबन्धियों में ही आकर जन्म ले ॥ २३ ॥

हे पुरुष ! तू संसारमें सर्वाङ्गपूर्ण बना रह । तेरे शरीर आदि का कोई भी अंश नष्ट न होवे ॥ २४ ॥

द्युलोकमें जाते हुए तुझ को वृक्षादि वनस्पतियां तथा अन्य पार्थिव पदार्थ बाधा न पहुंचावें । तू यमराजवाले पितरोंमें जाकर वृद्धिको प्राप्त कर ॥ २५ ॥

प्राणों के निकल जानेपर शरीर चेष्टारहित हो जाता है । वह उस हालतमें शव वा मृत देह कहलाता है । इस मन्त्रमें निकले हुए प्राणोंका पुनः समावेश करनेका वर्णन है । इससे मृतको पुनरुज्जीवित करनेका निर्देश इस मंत्रमें मिलता है । इसके सिवाय कोई शरीरका अवयव उलटा हो गया हो वा टूट गया हो तो उसे भी पितर ठीक ठीक यथास्थान बैठाते हैं ऐसा ज्ञात होता है ॥ २६ ॥

अपे॒मं जी॒वा अ॑रुधन् गृ॒हेभ्य॒स्तं निर्व॑हत॒ परि॒ ग्रामा॑दि॒तः ।
मृ॒त्युर्य॒मस्या॑सीद् दू॒तः प्रचे॑ता॒ असू॑न् पि॒तृभ्यो॑ गमयां च॑कार ॥ २७ ॥
ये दस्य॑वः पि॒तृषु॒ प्रवि॑ष्टा ज्ञा॒तिमु॑खा अहु॒ताद॒श्चर॑न्ति ।
प॒रा॒पुरो॑ नि॒पुरो॒ ये भर॑न्त्य॒ग्निष्टान॒स्मात् प्र ध॑माति य॒ज्ञात् ॥ २८ ॥
सं वि॑शन्त्वि॒ह पि॒तरः॒ स्वा नः॑ स्यो॒नं कृ॒ण्वन्तः॑ प्रति॒रन्त॒ आयुः॑ ।
तेभ्यः॑ शकेम ह॒विषा॒ नक्ष॑माणा॒ ज्योग् जीव॑न्तः श॒रदः॑ पुरू॒चीः ॥ २९ ॥
यां ते॑ धे॒नुं नि॑पृ॒णामि॒ यमु॑ ते क्षी॒र ओ॑द॒नम् ।
तेना॒ जन॑स्यासो भ॒र्ता योऽत्रास॒दजी॑वनः ॥ ३० ॥

अर्थ- (जीवाः)प्राणधारी लोगोंने(इमं) इस प्रेतको(गृहेभ्यः) घरोंसे(अप अरुधन्)बाहिर कर दिया है [तं]उसको तुम लोग (इतः ग्रामात्) इस ग्रामसे (परि निर्वहत) बाहिरकी ओर स्मशानभूमिमें ले जाओ। क्योंकि (यमस्य मृत्युः दूत आसीत्) यमका जो मृत्यु दूत है उस (प्रचेताः) प्रकृष्ट ज्ञानी मृत्युने इसके (असून्) प्राणोंको (पितृभ्यः गमयां चकार) पितरोंके लिये अर्थात् पितरोंके पास पितृलोकमें (गमयां चकार) भेज दिए हैं। अतः क्योंकि यह विगतप्राण हो चुका है इसलिये इसके शवको ग्रामसे बाहिर दहनादि क्रियाके लिये ले जाओ ॥ २७ ॥

(ज्ञातिमुखाः) ज्ञातियोंके सदृश मुखवाले अर्थात् जो सजातीय हैं और जो कि (अहुतादः) अहुत अर्थात् न दिये हुए को खानेवाले हैं यानि जबरदस्ती जो छीनकर खा जानेवाले हैं ऐसे (ये दस्यवः) जो उपक्षय करनेवाले (पितृषु प्रविष्टाः) पितरोंमें प्रविष्ट हुए हुए (चरन्ति) विचरण करते हैं, और (ये) जो (पुरापुरः) पुत्रों को तथा (निपुरः)पौत्रों को (भरन्ति) हरण करते हैं (तान्) उन दस्युओं को (अग्निः) अग्नि (अस्मात् यज्ञात्) इस यज्ञसे (प्र धमाति) दूर भगा देता है, यज्ञमें आने नहीं देता ॥ २८ ॥

(इह) इस यज्ञमें (नः)हमारे (स्वाः पितरः) ज्ञातिके पितृगण (स्योनं कृण्वन्तः) सुख उत्पन्न करते हुए (सं विशन्तु) प्रविष्ट होवें। और (आयुः प्रतिरन्त) आयुष्यकी वृद्धि करें। और उसके बदलेमें (नक्षमाणाः) गतिशील अर्थात् सर्वदा कार्यतत्पर हम (ज्योक् पुरूचीः शरदः) निरन्तर बहुतसे वर्षोंतक (जीवन्तः) जीवन धारण करते हुए (तेभ्यः) उन दीर्घ आयु देनेवाले पितरोंकी हविषा हविद्वारा (शकेम)परिचर्या करनेमें समर्थ बने रहें ॥ २९ ॥

(ते) तेरे लिये (यां धेनुं) जिस गायको (निपृणामि) देता हूं और (क्षीरे) दूधमें (यं ओदनं) जिस भातको देता हूं अर्थात् दूध मिश्रित जो भात देता हूं (तेन) उस द्वारा तू (जनस्य भर्ता असः) मनुष्यका पोषक हो। (यः) जो कि मनुष्य (अत्र) इस संसारमें (अ—जीवनः) निर्जिव—मृत (असत्) है ॥ ३० ॥

भावार्थ-- इस मंत्रमें यह दर्शाया है कि शरीरसे प्राण छूटने पर उसे घरसे बाहर कर देना चाहिये व तदनन्तर ग्रामसे बाहर लेजाना चाहिये। स्मशान भूमि ग्रामसे बाहिर होनी चाहिए ॥ २७ ॥

जो हमारा व हमारी संततिका चुपके चुपके नाश करते रहते हैं, और जो हमारे न जानते हुए हवियोंको जो कि, पितरोंके उद्देशसे दी गई हैं खाते रहते हैं। पर जब यज्ञमें वे आकर ऐसा करते हैं तो अग्नि उन्हें यज्ञसे दूर भगा देती है, उन्हें पितरोंमें बैठकर हवि खाने नहीं देती ॥ २८ ॥

पितर आ जायं और दीर्घ कालतक जीते हुए उनकी हविदान द्वारा सेवा की जावे ॥ २९ ॥

दूध मिश्रित भात जीवनहीन मनुष्यके भरण के लिए दिया जावे ॥ ३० ॥

*

अश्वावतीं प्र तर या सुशेवाक्षाकं वा प्रतरं नवीयः ।
यस्त्वा जघान वध्यः सो अस्तु मा सो अन्यद् विदत भागधेयम् ॥ ३१ ॥
यमः परोऽवरो विवस्वान् ततः परं नाति पश्यामि किं चन ।
यमे अध्वरो अधि मे निविष्टो भुवो विवस्वानन्वाततान ॥ ३२ ॥
अपागूहन्नमृतां मर्त्येभ्यः कृत्वा सवर्णामदधुर्विवस्वते ।
उताश्विनावभरद् यत् तदासीदजहादु द्वा मिथुना सरण्यूः ॥ ३३ ॥
ये निखाता ये परोप्ता ये दग्धा ये चोद्धिताः ।
सर्वांस्तानग्न आ वह पितॄन् हविषे अत्तवे ॥ ३४ ॥

अर्थ- (अश्वावतीं) जिसमें घोडे हैं ऐसी सेनाको (प्रतर) भली भांति बढा अर्थात् घुड सवार सेना बढा, (या) जो कि (सुशेवा) उत्तम सुख देनेवाली है और फिर इस सेनाद्वारा (प्रतरं नवीयः ऋक्षाकं प्रतर) बडे हुए, अद्भुत, रीछ आदि जङ्गली जानवरोंवाले स्थानको पार कर । (यः त्वा जघान) जो तुझे मारे (सः) वह (वध्यः अस्तु) मारडालने लायक होवे अर्थात् उसे मारडाला जावे । (सः) वह तेरा हिंसक (अन्यत् भागधेयं मा विदत्) उसे अन्य भाग मत मिले अर्थात् उसे मार ही डाला जावे । अन्य भोग्य वस्तुएं उसे न मिलें ॥३१॥

(यमः परः) यम परे है अर्थात् दूर है और (विवस्वान्) सूर्य उससे (अवरः) समीप है । (ततः परं) उस यमसे परे मैं [किंचन न अति पश्यामि] कुछ भी दूर स्थित हुआ हुआ नहीं देखता हूं । अथवा नहीं समझता हूं (यमे मे अध्वरः अधिनिविष्टः) यमके अन्दर मेरा अध्वर अर्थात् हिंसारहित यज्ञ स्थित है (विवस्वान् भुवः अनु आततान) सूर्यने द्युलोकको अपने प्रकाशसे फैला रखा है ॥ ३२ ॥

(मर्त्येभ्यः) मरणधर्मा मनुष्योंसे (अमृतां अपागूहन्) अमरताको छिपाया । और (विवस्वते) विवस्वान्के लिये (सवर्णां) सवर्णा (कृत्वा) बना करके (अदधुः) धारण किया--दिया । (उत) और (यत् तत्) उस समय जो वह स्वरूप था उसने (अश्विनौ अभरत्) अश्विनौ को धारण किया । और (सरण्यूः) सरण्यूने (द्वौ मिथुनौ) दो जोडी यम व यमी (अजहात्) उत्पन्न किए ॥ ३३ ॥

[अग्ने] हे अग्नि ! [ये निखाताः] जो पितर जमीनमें गाडे गए हैं और [ये परोप्ताः] जो पितर दूर बहा दिए गए हैं तथा (ये दग्धाः) जो जला दिए गए हैं (च) और (ये उद्धिताः) जो पितर जमीनके ऊपर हवामें रखे गए हैं, (तान् सर्वान्) उन सब पितरों को तू (हविषे अत्तवे) हवि भक्षणार्थ (आ वह) ले आ ॥ ३४ ॥

भावार्थ- घुडसवार सेना बढाकर हिंसक प्राणियोंवाले स्थानोंको दूर करना चाहिये । और ऐसे कार्य करनेवालेका जो कोई वध करे तो उसे मार डालना चाहिये ॥ ३१ ॥

यमका स्थान सूर्यसे परे है और उससे परे कोई नहीं है ॥ ३२ ॥

सरण्यूसे यम व यमीकी उत्पत्ति हुई है, [बृहद्देवताकार द्वारा दी गई गाथासे यह भी पता चलता है कि] सरण्यूने जब घोडीका रूप धारण किया, तब उससे जो संतान हुई उनका नाम अश्विनौ पडा ॥ ३३ ॥

यहांपर चार प्रकारके श्मशानकर्म दर्शाए गए हैं । [१] गाडना [२] बहाना, [३] जलाना और [४] हवामें जमीन पर खुला छोडना ॥ ३४ ॥

ये अ॒ग्निद॒ग्धा ये अन॑ग्निदग्धा॒ मध्ये॑ दि॒वः स्व॒धया॑ मा॒दय॑न्ते ।
त्वं तान् वे॑त्थ॒ यदि॑ ते जा॑तवेदः स्व॒धया॑ य॒ज्ञं स्वधि॑तिं जुषन्ताम् ॥ ३५ ॥
शं तप॒ माति॑ तपो॒ अग्ने॒ मा त॒न्वं१॒ तपः॑ ।
वने॑षु शु॒ष्मो॑ अस्तु ते पृथि॒व्याम॑स्तु॒ यद्धरः॑ ॥ ३६ ॥
ददा॒म्यस्मा अव॒सान॑मे॒तद्य ए॒ष आग॒न् मम॒ चेदभू॑दि॒ह ।
य॒मश्चि॑कि॒त्वान् प्रत्ये॒तदा॑ह॒ ममै॒ष रा॒य उप॑ तिष्ठताम॒िह ॥ ३७ ॥
इ॒मां मात्रां॑ मिमीमहे॒ यथाप॑रं॒ न मासा॑तै । श॒ते श॒रत्सु॒ नो पु॒रा ॥ ३८ ॥
प्रेमां मात्रां॑ मिमीमहे॒ यथाप॑रं॒ न मासा॑तै । श॒ते श॒रत्सु॒ नो पु॒रा ॥ ३९ ॥
अपे॒मां मात्रां॑ मिमीमहे॒ यथाप॑रं॒ न मासा॑तै । श॒ते श॒रत्सु॒ नो पु॒रा ॥ ४० ॥ (१०)

अर्थ- (ये) जो (अग्निदग्धाः) अग्निद्वारा जलाए गए और जो (अनग्निदग्धाः) अग्नि द्वारा न जलाए गए पितर (दिवः मध्ये) द्यु लोकके बीचमें (स्वधया) स्वधा द्वारा (मादयन्ते) तृप्त हो रहे हैं, (तान्) उन्हें (जातवेदः) हे जातवेदस् अग्नि (त्वं यदि वेत्थ) तू निश्चयसे जानती है । वे (स्वधया) स्वधाके साथ (स्वधितिं यज्ञं) स्वधावाले यज्ञका (जुषन्ताम्) सेवन करें ॥ ३५ ॥

हे अग्नि! (तन्वं) इस मृत शरीरको (शं तप) सुखसे तपा अर्थात् इसे कष्ट हो इस प्रकारसे मत तपा । (मा अति तपः) बुरी तरहसे इसे मत तपा । तेरा जो तपानेका--जलानेका--(शुष्मः) बल है वह (वनेषु अस्तु) वनोंमें होवे । और (यत्) जो (ते हरः) तेरा हरण करनेवाला तेज है वह (पृथिव्यां अस्तु) पृथिवी पर होवे ॥ ३६ ॥

(अस्मै) इस मृत पुरुषके लिये (एतत् अवसानं) इस स्थानको (ददामि) मैं देता हूं । क्योंकि (एषः यः) यह जो है वह (आगन्) यम लोकमें आया है और (इह) यहांपर आकर (मम चेत्) मेरा ही (अभूत्) हो गया है, अर्थात् क्योंकि यह यहां आकर मेरी ही प्रजा बन गया है, अतः मैं इसे स्थान देता हूं । अपने राज्यसे नहीं निकालता । इस उपरोक्त प्रकारसे (चिकित्वान् यमः) ज्ञानवान् यम (एतत्) यह उपरोक्त ' ददाम्यस्मै ' इत्यादि वाक्य (प्रति आह) यमलोकमें आए हुएके प्रति कहता है । और यह भी कहता है कि (एषः) यह आगन्तुक (मम रायें) मेरे धनके लिये (इह) यहां यमराज्यमें (उपतिष्ठताम्) उपस्थित होवे अर्थात् उसे भी इस मेरे धनका भाग मिले अथवा यह भी अन्य प्रजा जनकी तरह मेरे लिये दिया जानेवाला उचित कर प्रदान करे ॥ ३७ ॥

(इमां मात्रां) इस मर्यादा-परिमाण-को इस प्रकारसे (मिमीमहे) हम मापते हैं । (यथा) जिस प्रकारसे कि (अपरं) अन्य कोई (पुरा) आगामी (शते शरत्सु) सौ वर्षोंमें भी (न मासातै) नहीं माप सकता ॥ ३८ ॥

(प्र मिमीमहे) अच्छी प्रकारसे मापते हैं । शेष पूर्ववत् ॥ ३९ ॥

(अप) जिसमें से दोष निकल गए हैं इस प्रकारसे अर्थात् पूर्ण शुद्ध रूपसे (मिमीमहे) मापते हैं । शेष पूर्ववत् ॥ ४० ॥

भावार्थ— पितरोंके लिए यज्ञभाग प्राप्त हो ॥ ३५ ॥
प्रेत दहनके समय मृतात्माको कष्ट न हो ॥ ३६ ॥
यमराज्यमें पितर गये तो यम उनकी योग्य व्यवस्था करता है ॥ ३७ ॥
यम उसकी कर्ममर्यादाको नापता है ॥ ३८ ॥
मृतात्माके कर्मकी मात्रा अर्थात् प्रमाण यम मापता है और तदनुसार उसको फल देता है ॥ ३९-४५ ॥

वीऽ३मां मात्रां मिमीमहे यथापरं न मासातै । शते शरत्सु नो पुरा ॥ ४१ ॥
निरिमां मात्रां मिमीमहे यथापरं न मासातै । शते शरत्सु नो पुरा ॥ ४२ ॥
उदिमां मात्रां मिमीमहे यथापरं न मासातै । शते शरत्सु नो पुरा ॥ ४३ ॥
समिमां मात्रां मिमीमहे यथापरं न मासातै । शते शरत्सु नो पुरा ॥ ४४ ॥
अमासि मात्रां स्व१रगामायुष्मान् भूयासम् ।
यथापरं न मासातै शते शरत्सु नो पुरा ॥ ४५ ॥
प्राणो अपानो व्यान आयुश्चक्षुर्दृशये सूर्याय ।
अपरिपरेण पथा यमराज्ञः पितॄन् गच्छ ॥ ४६ ॥
ये अग्रवः शशमानाः परेयुर्हित्वा द्वेषांस्यनपत्यवन्तः ।
ते द्यामुदित्याविदन्त लोकं नाकस्य पृष्ठे अधि दीध्यानाः ॥ ४७ ॥
उदन्वती द्यौरवमा पीलुमतीति मध्यमा । तृतीया ह प्रद्यौरिति यस्यां पितर आसते ॥४८॥

(वि मिमीमहे) विशेष ढंगसे नापते हैं । शेष पूर्ववत् ॥ ४१ ॥

(निः मिमीमहे) निश्चित रूपसे वा निःशेष रूपसे मापते हैं । शेष पूर्ववत् ॥ ४२ ॥

(उत् मिमीमहे) उत्तम रूपसे मापते हैं । शेष पूर्ववत् ॥ ४३ ॥

(सं मिमीमहे) अच्छी तरह से—भली भांति मापते हैं । शेष पूर्ववत् ॥ ४४ ॥

(मात्रां अमासि) मैं मात्राको मापूं और इससे (स्वः अगाम्) सुखको प्राप्त होऊं । (आयुष्मान्) दीर्घायु—वाला (भूयासम्) होऊं । शेष पूर्ववत् ॥ ४५ ॥

(प्राणः) प्राण, (अपानः) अपान, (व्यानः) व्यान, [आयुः] आयु और (चक्षुः) आंख (सूर्याय दृशये) सूर्य के दर्शनके लिये अर्थात् इस संसारमें जीवन धारण करनेके लिए होवें । और आयुके पूर्ण होनेपर देहका त्याग करने-पर हे मनुष्य ! तू (अपरिपरेण पथा) अकुटिल मार्ग द्वारा (यमराज्ञः पितॄन्) यम जिनका राजा है ऐसे पितरोंको [गच्छ] जा- प्राप्त हो । (' अपरिपरः-परि परितः सर्वतः परः पराभवः कुटिलभावः अथवा शत्रुः न विद्यते यस्मिन् सः अपरिपरः। अर्थात् जिसमें सर्वथा कुटिलता वा शत्रु नहीं है वह अपरिपर है) ॥ ४६ ॥

(ये) जो (अग्रवः) अग्रगामी, (शशमानाः) प्रशंसा प्राप्त किए हुए अथवा उद्यमशील, (अनपत्यवन्तः) अपत्य संतान रहित अथवा ऐश्वर्यवाले पुरुष (द्वेषांसि हित्वा) द्वेष भावका त्याग करके (परेयुः) मरे हैं (ते) उन पुरु-षोंने (द्यां उदित्य) द्युलोकको प्राप्त करके (अधिदीध्यानाः) अत्यन्त दीप्यमान होकर (नाकस्य पृष्ठे लोकं अविदन्त) स्वर्गमें स्थान पाया है ॥ ४७ ॥

[अवमा द्यौः उदन्वती] सबसे नीचे की द्यौ ' द्युलोक ' वह है जिसमें कि जल रहता है । जिस द्युलोकमें बादल रहते हैं वह सबसे नीचेका द्युलोक है । [पीलुमती इति मध्यमा] और जिसमें ग्रह नक्षत्रादि स्थित हैं वह बीचका द्युलोक है । (ह) निश्चय से (तृतीया) तीसरा [प्रद्यौः इति] प्रद्यु नामक द्युलोक है [यस्यां] जिसमें कि [पितरः आसते] पितर स्थित होते हैं ॥४८॥

भावार्थ- हे मनुष्य तेरे प्राण अपानादि आजीवन उत्तम बने रहें तथा मरने पर तू उत्तम मार्गसे यमलोकस्थ पितरोंको प्राप्त हो । यम पितरोंका राजा है यह इससे पता चलता है ।। ४६ ॥

जो लोग अग्रगामी, प्रसिद्ध तथा द्वेषोंका त्याग करते हैं वे मरने पर द्युलोकस्थ स्वर्गमें जाते हैं ॥ ४७ ॥

ये नः पितुः पितरो ये पितामहा य आविविशुरुर्व१न्तरिक्षम् ।
य आक्षियन्ति पृथिवीमुत द्यां तेभ्यः पितृभ्यो नमसा विधेम ॥ ४९ ॥
इदमिद् वा उ नापरं दिवि पश्यसि सूर्यम् ।
माता पुत्रं यथा सिचाभ्ये॑नं भूम ऊर्णुहि ॥ ५० ॥
इदमिद् वा उ नापरं जरस्यन्यादितोऽपरम् ।
जाया पतिमिव वाससाभ्ये॑नं भूम ऊर्णुहि ॥ ५१ ॥
अभि त्वोर्णोमि पृथिव्या मातुर्वस्त्रेण भद्रया ।
जीवेषु भद्रं तन्मयि स्वधा पितृषु सा त्वयि ॥ ५२ ॥

अर्थ- (ये) जो (नः पितुः पितरः) हमारे पिताके पितर हैं, (ये) और जो (पितामहाः) उनके भी पितामह हैं,(ये) जो कि (उरु अंतरिक्षं आविविशुः) विशाल अंतरिक्ष में प्रविष्ट हुए हैं, और (ये) जो (पृथिवी उत द्यां) पृथिवी तथा द्युलोकमें (आक्षियन्ति) निवास करते हैं (तेभ्यः पितृभ्यः) उन पितरोंके लिए (नमसा विधेम) नमस्कारपूर्वक पूजा करते हैं ॥ ४९ ॥

हे मृत पुरुष (इदं इत् वा उ) यही है (न अपरं) दूसरा नहीं है । (दिवि सूर्यं पश्यसि) जो द्युलोकमें तू सूर्य देखता है । (यथा पुत्रं माता सिचा) जिस प्रकार पुत्रको माता अपने आंचलसे ढांपती है उस प्रकार हे (भूमे) पृथिवी तू (एनं) इस मृत पुरुषको (अभि ऊर्णुहि) चारों ओरसे ढांप ॥ ५० ॥

(जरसि) वृद्धावस्थाके बादमें (इदं इत् वा उ अपरं) यही दूसरा स्मशानोचित कार्य है (अन्यत् इतः अपरं न) दूसरा इससे भिन्न कोई कार्य नहीं । अतः हे (भूमे) भूमि ! (जाया पतिं वाससा इव) जिस प्रकार पत्नी पतिको वस्त्रसे ढांपती है उस प्रकार तू (एनं) इस प्रेतको (अभि ऊर्णु हि) रूपसे ढांप ॥ ५१ ॥

हे प्रेत! (त्वा) तुझे (मातुः पृथिव्याः) माता पृथिवीके (भद्रया वस्त्रेण) कल्याणकारी वस्त्रसे (अभि ऊर्णोमि) आच्छादित करता हूं अर्थात् जमीनमें तुझे गाडता हूं । (जीवेषु भद्रं तत् मयि) जीवितोंमें जो कल्याण है वह मेरेमें हो अर्थात् मुझे प्राप्त हो और (पितृषु स्वधा) जो पितरोंमें स्वधा है (सा त्वयि) वह तेरेमें हो अर्थात् तुझे प्राप्त हो । यहां पर स्पष्ट शब्दोंमें प्रेतके गाडनेका निर्देश है ॥ ५२ ॥

भावार्थ- द्युलोक तीन प्रकारका है । एक तो वह जो कि तीनों प्रकारके द्युलोकोंमें से सबसे नीचा है और उसमें मेघमण्डल स्थित है । दूसरा इससे ऊपर है और उसमें पीलु अर्थात् ग्रहनक्षत्रादि स्थित हैं । यह बीचका द्युलोक है । तीसरा इससे ऊपर है जो कि प्रद्यौके नामसे प्रख्यात है और यही द्युलोक है जिसमें कि पितर निवास करते हैं ॥ ४८ ॥

जो हमारे पितरादि पूर्वज अंतरिक्ष, द्यु तथा पृथिवीमें रहते हैं उनकी हम ' नमः ' द्वारा पूजा करते हैं ॥ ४९ ॥

हे प्रेत ! यही सब कुछ है जो कि द्युलोकमें सूर्य दिख रहा है । हे भूमि ? तू इस प्रेतको इस प्रकारसे ढक ले जिस प्रकारसे कि माता पुत्रको अपने आंचलसे ढांपती है । (इस मंत्रके पूर्वार्धका भाव कुछ विशेष रूपसे स्पष्ट नहीं होता। और अतएव उत्तरार्धसे उसकी संगति लगानी जरा विचारणीय है । उत्तरार्ध स्पष्ट ही है) ॥ ५० ॥

वृद्धावस्थाके अनन्तर देहके लिए सिर्फ स्मशानकार्य ही बाकी रह जाता है दूसरा कोई नहीं । अतः हे भूमि ! उस कार्यार्थ लाए गए इस शवको ऐसे ढांपले जैसे कि पत्नी अपने वस्त्रसे पतिको ढांप लेती है ॥ ५१ ॥

हे प्रेत ! तुझे पृथिवी माताके कल्याणकारी वस्त्रसे ढकता हूं । संसारमें जो कल्याण है उसका मैं भागी बनूं और जो पितरोंमें स्वधा है वह तुझे प्राप्त हो अर्थात् पितृलोकमें जाकर तुझे स्वधा मिले । इस प्रकार हम दोनों सुखी हों ! तू परलोकमें सुखी हो; मैं इस लोकमें सुखी होऊं ॥ ५२ ॥

अग्नीषोमा पथिकृता स्योनं देवेभ्यो रत्नं दधथुर्वि लोकम् ।
उप प्रेष्यन्तं पूषणं यो वहात्यञ्जोयानैः पथिभिस्तत्र गच्छतम् ॥ ५३ ॥
पूषा त्वेतश्च्यावयतु प्र विद्वाननष्टपशुर्भुवनस्य गोपाः ।
स त्वैतेभ्यः परि ददत् पितृभ्योऽग्निर्देवेभ्यः सुविदत्रियेभ्यः ॥ ५४ ॥
आयुर्विश्वायुः परि पातु त्वा पूषा त्वा पातु प्रपथे पुरस्तात् ।
यत्रासते सुकृतो यत्र त ईयुस्तत्र त्वा देवः सविता दधातु ॥ ५५ ॥
इमौ युनज्मि ते वह्नी असुनीताय वोढवे ।
ताभ्यां यमस्य सादनं समितीश्चाव गच्छतात् ॥ ५६ ॥

अर्थ—(पथिकृता) मार्ग-बनानेवाले (अग्निषोमा) अग्नि व सोम (देवेभ्यः) देवोंके लिए (स्योनं) सुखकर (रत्नं) रमणीय-सुन्दर वा रत्नोंवाला (लोकं) स्थान (विदधथुः) देवें । (यः) जो कि स्थान (उप प्रेष्यन्त पूषणं) समीप में आते हुये पूषा—सूर्य-का (वहाति) वहन करता है । (तत्र) ऐसे उस स्थानमें (अंजोयानैः) सीधा चलनेवालेसरल (पथिभिः) मार्गोंसे (गच्छतम्) विचरण करो । अथवा (गच्छतं--गमयतं) विचरण कराओ ॥ ५३ ॥

(अनष्टपशुः भुवनस्य गोपाः पूषा) हे मृत मनुष्य ! निरन्तर प्रकाशमान प्राणिमात्रका रक्षक पूषा, (विद्वान् त्वा इतः प्रच्यावयतु) जानता हुआ अपनी रश्मियों द्वारा तेरी आत्माको इस पृथिवी लोकसे प्रकृष्ट मार्गकी ओर ले जावे । (सः अग्निः) वह अग्नि [त्वा] तुझे [एतेभ्यः पितृभ्यः] इन पितरोंके लिए या [सु विदत्रियेभ्यः देवेभ्यः] उत्तम धनवाले देवोंके लिए [परि ददत्] देवे । [ऋ० १०।१७।३-४] ॥ ५४ ॥

[आयुः विश्वायुः] आयु और विश्वायु (त्वा परिपातु) तेरी रक्षा करें । और (पूषा) पोषक आदित्य [त्वा] तेरी (प्रपथे] प्रकृष्ट मार्गमें [पुरस्तात्] सामनेसे (पातु) रक्षा करे [यत्र] जहांपर--जिस स्थानमें [सुकृतः आसते] उत्तम कर्म करनेवाले स्थित हैं, [यत्र] जिस स्थानमें [ते] वे सुकृत् लोक [ईयुः] गए हुए हैं [तत्र] उस स्थान में [त्वा] तुझे [देवः सविता] प्रकाशमान आदित्य [दधातु] स्थापित करे ॥ ५५ ॥

हे मृतपुरुष ! [वह्नी] वहन करनेवाले इन दो बैलोंको [ते वोढवे] तेरे वहन करनेके लिए [युनज्मि] बैलगाडीमें जोडता हूं । किस लिए ? [असुनीताय] जिसमेंसे प्राण निकाल लिए गए हैं उस असु-नीत अर्थात् गत प्राण देहके वहन करनेके लिए । अथवा अ-सु-नी का अर्थ है जो कि सुखपूर्वक न ले जाया जावे । जिसके उठाने में तकलीफ होती हो । [ताभ्यां] उन बैलोंसे [यमस्य सदनं इति] यह यमका घर है इस प्रकार [सं अवगच्छतात्] भली भांति जान ॥ ५६ ॥

भावार्थ- हे मार्ग बनानेवाले अग्नि सोम ! तुम देवोंके लिए उत्तम स्थान दो । जिस स्थानमें कि सूर्य विचरण करता रहता है । ऐसे स्थानमें तुम दोनों सरल मार्गोंसे आए हुए को चलाओ । (अगले मंत्र ५४ से ऐसा पता चलता है कि अग्नि मृतात्माको पितरोंके पास पहुंचाती है) ॥ ५३ ॥

संसारका पोषक आदित्य तुझ प्रेतकी आत्माको यह संसार छुडाकर उत्कृष्ट मार्गकी ओर ले जावे व अग्नि तुझे पितरों व देवोंके पास पहुंचावे ॥ ५४ ॥

हे प्रेतात्मा ! तेरी आयु व विश्वायु रक्षा करे । सूर्य तेरी रक्षा करे, व सुकृतोंके लोकमें ले जाकर स्थापित करे ॥५५॥

शरीरसे प्राणोंके छूट जानेपर दो बैलोंकी गाडीमें रखकर श्मशान भूमिमें ले जाना योग्य है ॥ ५६ ॥

एतत् त्वा वासः प्रथमं न्वागन्नपैतदूह यदिहाबिभः पुरा ।
इष्टापूर्तमनुसंक्राम विद्वान् यत्र ते दत्तं बहुधा विबन्धुषु　　　॥ ५७ ॥
अग्नेर्वर्म परि गोभिर्व्ययस्व सं प्रोर्णुष्व मेदसा पीवसा च ।
नेत्त्वा धृष्णुर्हरसा जर्हृषाणो दधृग् विधक्षन् परीङ्खयातै　　　॥ ५८ ॥
दण्डं हस्तादाददानो गतासोः सह श्रोत्रेण वर्चसा बलेन ।
अत्रैव त्वमिह वयं सुवीरा विश्वा मृधो अभिमातीर्जयेम　　　॥ ५९ ॥
धनुर्हस्तादाददानो मृतस्य सह क्षत्रेण वर्चसा बलेन ।
समागृभाय वसु भूरि पुष्टमर्वाङ् त्वमेह्युप जीवलोकम्　　　॥ ६० ॥ (१२)

अर्थ– हे मृत पुरुष! [एतत् प्रथमं वासः] यह स्मशानोचित मुख्य वस्त्र [त्वा नु आ अगन्] तुझे प्राप्त हुआ है। (यत् इह पुरा अबिभः] जिस वस्त्रको पहिले यहांपर तू पहिना करता था [तत्] उस वस्त्रको [अप ऊह] छोड दे। [यत्र] जहां [ते बहुधा विबन्धुषु दत्तं] तेरा प्रायः विबन्धुओंमें जो दान है उसको [विद्वान्] जानता हुआ [इष्टापूर्तं] इष्टापूर्तको अर्थात् तज्जन्य फलको [अनुसंक्राम] प्राप्त हो। निबन्धु = जिसका बन्धु नहीं रहा है अर्थात् अनाथ, गरीब आदि ॥ ५७ ॥

हे प्रेत ! [गोभिः] घृतसे उत्पन्न हुई हुई [अग्नेः वर्म] अग्निकी ज्वाला रूपी कवचसे [परि व्ययस्व] अपनेको चारों ओरसे ढक ले अर्थात् अग्निकी ज्वालाओं के बीचमें तू हो जा, जिससे कि तेरा पूर्ण रूपसे दहन हो सके । [सः] वह तू [पीवसा मेदसा] अपने अन्दर विद्यमान स्थूल चर्बीसे [प्रोर्णुष्व] अपने आपको आच्छादित कर। इस प्रकार करनेसे, [हरसा धृष्णुः] अपने तेजसे धर्षण करनेवाला, (दधृक्) प्रगल्भ, [जर्हृषाणः] अत्यन्त प्रसन्न हुआ हुआ अत-एव (विधक्षन्) तुझ प्रेतको विविधरूपसे जलाता हुआ अग्नि [त्वां] तुझे [नेत्] नहीं [परीङ्खयातै]इधर उधर बखेरेगा, अर्थात् पूर्णरूपसे जलाकर भस्मावशेष कर डालेगा ॥ ५८ ॥

[गतासोः]जिसके प्राण चले गए हैं अर्थात् जो मर गया है ऐसेके [हस्तात्] हाथसे [दण्डं आददानः] दण्ड को लेता हुआ [श्रोत्रेण] श्रवण सामर्थ्यसे [वर्चसा] तेजसे तथा [बलेन सह] बलके साथ । त्वं] तू [अत्रैव] इसी संसारमें स्थित हो। [इह] इस संसारमें [वयं] हम [सुवीराः] उत्तम वीर बने हुए [विश्वाः मृधः] संपूर्ण संग्रामों को तथा (अभिमातीः) अभिमानी शत्रुओंको (जयेम) जीतें ॥ ५९ ॥

(मृतस्य) मृत राजाके (हस्तात्) हाथसे प्रजारक्षणार्थं (धनुः आददानः) धनुष लेता हुआ (क्षत्रेण वर्चसा बलेन सह) क्षात्र तेज व बलके साथ (पुष्टं) पुष्टिकारक (भूरि वसु) बहुत धन (सं आ गृभाय) संग्रह कर। और फिर [त्वं] तू [जीवलोकं उप] जीवलोक अर्थात् हम प्रजाजनको लक्ष्य करके [अर्वाङ् एहि] हमारे सामने आ ॥ ६० ॥

भावार्थ— मरनेपर पुराने वस्त्रोंको त्यागकर शवको नवीन स्मशानोचित वस्त्र पहिनाना चाहिये ॥ ५७ ॥

मुरदेको जलाते हुए घी पर्याप्त मात्रामें डालना चाहिए ताकि अग्नि खूब जोरसे प्रज्वलित होकर उसे जला डाले। शवका कोई भी भाग जले बिना रहने न पावे ॥ ५८ ॥

मृतके हाथसे दण्ड लेकर तू अपने इन्द्रियादि सामर्थ्यों व साहस, तेज, बल आदिसे युक्त हो। हम सुवीर होकर शत्रुओंपर विजय लाभ करें ॥ ५९ ॥

मृत राजाके हाथसे रक्षार्थ अस्त्र शस्त्र लेकर अपने क्षात्रतेज व बल द्वारा बहुतसा धन प्राप्त कर व उस धनसे प्रजाको पुष्ट बना । प्रजामें धन बांट। प्रजाके लिए इस धनका व्यय कर ॥ ६० ॥

[३]

इयं नारी पतिलोकं वृणाना नि पद्यत उप त्वा मर्त्य प्रेतम् ।
धर्मं पुराणमनुपालयन्ती तस्यै प्रजां द्रविणं चेह धेहि ॥ १ ॥
उदीर्ष्व नार्यभि जीवलोकं गतासुमेतमुप शेष एहि ।
हस्तग्राभस्य दधिषोस्तवेदं पत्युर्जनित्वमभि सं बभूथ ॥ २ ॥
अपश्यं युवतिं नीयमानां जीवां मृतेभ्यः परिणीयमानाम् ।
अन्धेन यत् तमसा प्रावृतासीत् प्राक्तो अपाचीमनयं तदेनाम् ॥ ३ ॥
प्रजानत्यघ्न्ये जीवलोकं देवानां पन्थामनुसंचरन्ती ।
अयं ते गोपतिस्तं जुषस्व स्वर्गं लोकमधि रोहयैनम् ॥ ४ ॥

अर्थ- [इयं नारी] यह स्त्री [पतिलोकं वृणाना] पति कुलकी कामना करती हुई [मर्त्य] हे मनुष्य ! [प्रेतं] मृत पतिको (छोडकर) [पुराणं धर्मं अनुपालयन्ती] पुरातन धर्मका अनुपालन करती हुई अर्थात् धर्ममें स्थित हुई हुई (त्वा उप निपद्यते) तेरे पास आई है । तस्यै उस धर्ममें स्थित नारीके लिए (इह) इस संसारमें (प्रजां) संततिको (द्रविणं च) और धनको [धेहि] दे ॥ १ ॥

(नारि) हे स्त्री ! (गतासुं एतं उपशेषे) जो तू गतासु अर्थात् इस मृत पतिके पास सो रही है वह तू (आ इह) इस मृत पतिके पाससे चली आ, और [जीवलोकं अभि] इस जीवलोक अर्थात् संसारके प्रति (उत् ईर्ष्व) उठकर गमन कर अर्थात् संसारमें चली आ । संसारमें आकर (हस्तग्राभस्य) विवाहमें तेरा पाणिग्रहण करनेवाले (दधिषोः) व तेरा रक्षण पालनादि रूपसे धारण करनेवाले (तव पत्युः) तेरे पतिकी (जनित्वं) संतानको (अभिसंबभूथ) प्राप्त हो ॥ २ ॥

(जीवां) जीवित (नीयमानां) श्मशानकी ओर ले जाई गई, व (मृतेभ्यः) मरेहुए मनुष्योंसे (परिणीयमानाम्) पुनः वापिस घरको लेजाई गई (युवतिं) जवान स्त्रीको (अपश्यं) मैंने देखा है । (यत्) क्योंकि वह स्त्री (अन्धेन तमसा) शोकजन्य गहरे अंधकार से (प्रावृता आसीत्) ढकी हुई थी अर्थात् अत्यन्त शोकपूर्ण थी । (तत्) इसलिये (एनां) इस (अपाचीं) पीछे की तरफ अर्थात् घरकी ओर जानेवाली को (प्राक्तः) यहां सामने (अनयम्) लाया हूं ॥ ३ ॥

(अघ्न्ये) हे मारनेके अयोग्य स्त्री ! (जीवलोकं प्रजानती) संसारको भली भांति जानती हुई और (देवानां पन्थां अनुसंचरन्ती) देवोंके मार्गका अनुसरण करती हुई अर्थात् देवोंके मार्गपर चलती हुई (अयं) यह जो (ते) तेरा (गोपतिः) गोपति है (तं जुषस्व) उससे प्रीति कर । और इस प्रकार (एनं) इस गोपतिको (स्वर्गं लोकं अधि रोहय) स्वर्गलोकमें पहुंचा ॥ ४ ॥

भावार्थ— पतिके मर जानेपर सन्तानकी कामना करनेवाली स्त्री धर्मानुकूल दूसरे पुरुषको पति बनाकर धन व सन्तान की प्राप्ति करे । वह पुरुष भी उसे पत्नी बनाकर संतान व धनसे उसका पालन पोषण करे ॥ १ ॥

हे नारि ! तू इस मृत पतिके लिये शोक करना छोड दे और संसारमें आकर यथावत् रह । तेरे पाणिग्रहण करनेवाले पतिकी संतानको प्राप्त कर ॥ २ ॥

मृत पुरुषके पीछे पीछे श्मशान भूमिमें जाती हुई स्त्रीको वापिस लौटा लाया हूं । यह शोकसे व्याकुल थी अतः इसे यहां पर (घर पर) ले आया हूं ॥ ३ ॥

हे स्त्री ! तू संसारको भली प्रकारसे जानती हुई तथा देवजनोंके मार्गोंका अनुसरण करती हुई इस तेरे पतिसे प्रीति कर उसकी संतान यागादि कर्मोंमें सहायक होकर उसे स्वर्गलोक प्राप्त करा ॥ ४ ॥

उप॒ द्यामुप॑ वेत॒समव॑त्तरो न॒दीना॑म् । अग्ने॑ पि॒त्तम॒पाम॑सि ॥ ५ ॥
यं त्वम॑ग्ने स॒मद॑ह॒स्तमु॒ निर्वा॑पया॒ पुन॑: ।
क्या॒म्बूरत्र॑ रोहतु शाण्डदू॒र्वा व्य॑ल्कशा ॥ ६ ॥
इ॒दं त॒ एकं॑ पु॒र ऊ॑ त॒ एकं॑ तृ॒तीये॑न॒ ज्योति॑षा॒ सं वि॑शस्व ।
सं॒वेश॑ने त॒न्वा॒३ चारु॑रेधि प्रि॒यो दे॒वानां॑ पर॒मे स॒धस्थे॑ ॥ ७ ॥
उत्ति॑ष्ठ॒ प्रेहि॒ प्र द्र॒वौक॑: कृणुष्व सलि॒ले स॒धस्थे॑ ।
तत्र॒ त्वं पि॒तृभि॑: संविदा॒नः सं सोमे॑न॒ मद॑स्व॒ सं स्व॒धाभि॑: ॥ ८ ॥

अर्थ-- (नदीनां) शब्द करते हुए-गर्जना करते हुए (अपां) जलोंकी संबन्धिनी (द्यां उप) द्युके समीप, यहां द्यु शब्द अवका का वाची है। जलके ऊपर उगी हुई जमीनके स्पर्श से सहित (काई) का नाम अवका है। तथा (वेतसं उप) वृक्षों के समीप (नदीके किनारे उगनेवाले बडोंका नाम वेतस है) समीप, अथवा उप शब्द सप्तम्यर्थ प्रतिपादक है। अवकामें तथा वेतस में [अवत्तरः] अत्यन्त रक्षक सारभूतांश है। वेतस व अवका का जलीय सार होना तैत्तिरीय में कहा गया है।' अपां वा एतत् पुष्पं यद् वेतसः। अपां शरोऽवका। वेतसशाखया चावकाभिश्च विकर्षति ' इति (तै० सं. ५।४।४।२) (अग्ने) हे अग्नि ! तू भी (अपां पित्तम् , जल सबन्धी पित्त धातु है ॥ ५ ॥

[अग्ने] हे अग्नि ! [यं] जिस प्रेत को तूने [समदहः] जलाया है। [तं उ] उसे [पुनः] फिर सम्पूर्णतया दहन हो चुकने पर [निर्वापय] बुझा डाल। [अत्र] इस मुर्देके जलनेके स्थान पर [कय म्बूः] कितना जल छिडकना चाहिए कि जिससे [व्यल्कशा] विविध शाखाओंवाली [शाण्डदूर्वा] दुःखनाशक दूर्वा घास [रोहतु] उगे ॥ ६ ॥

[ते] तेरे लिए [इदं एकं] यह एक ज्योति है (उ) और [परः] आगे [ते एकं] तेरे लिए एक ज्योति है तू [तृतीयेन ज्योतिषा] तीसरी ज्योति से [सं विशस्व] अच्छी प्रकार प्रविष्ट हो। अर्थात् इस तीसरी ज्योतिमें प्रविष्ट हो। और इस तीसरी ज्योतिमें [संवेशने] अच्छी प्रकार प्रविष्ट होनेपर [परमे सधस्थे] उस उत्तम सबके रहनेके स्थानमें [देवानां प्रियः] देवोंका प्यारा हुआ हुआ [तन्वा चारु] शरीरसे उत्तम हुआ हुआ [एधि] बढ ॥ ७ ॥

[उत् तिष्ठ] उठ, [प्रेहि] जा, (प्रद्रव) दौड, (सधस्थे) जहां सब इकट्ठे रहते हैं ऐसे (सलिले) अंतरिक्षमें (ओकः) घर[कृणुष्व] बना। (तत्र) यहां अंतरिक्षमें [त्वं] तू [पितृभिः संविदानः] अन्य पितरोंके साथ मिला हुआ ऐकमत्यको प्राप्त हुआ हुआ [सोमेन] सोमसे (संमदस्व) अच्छी तरह आनंदित हो और [स्वधाभिः] स्वधाओंसे [सं] अच्छी प्रकार तृप्त हुआ हुआ आनंदित हो ॥ ८ ॥

भावार्थ— हे अग्नि ! क्योंकि तू जलोंका संबन्धी है अतः तुझे जलसे संबन्ध रखनेवाली अवका वेतस आदि औषधियोंसे शांत करता हूं ॥ ५ ॥

शवके सम्पूर्णतया दहन हो चुकने पर आगको बुझा डालना चाहिए व वहांपर इतना पानी छिडकना चाहिए कि जिससे फिरसे वहांपर दूर्वा घास निकल आवे ॥ ६ ॥

मनुष्य अपने अन्दर तेजस्विता कमावे और आत्मज्योति की प्राप्ति करनेका साधन करे ॥ ७ ॥

पितर अंतरिक्षमें भी रहते हैं अर्थात् अंतरिक्ष भी पितरोंके लोकोंमें से एक लोक है जहां पितर निवास करते हैं ॥ ८ ॥

❀

प्र च्यवस्व तन्वं१ सं भरस्व मा ते गात्रा वि हायि मो शरीरम् ।
मनो निविष्टमनुसंविशस्व यत्र भूमेर्जुषसे तत्र गच्छ ॥ ९ ॥
वर्चसा मां पितरः सोम्यासो अञ्जन्तु देवा मधुना घृतेन ।
चक्षुषे मा प्रतरं तारयन्तो जरसे मा जरदष्टिं वर्धन्तु ॥ १० ॥ (१३)
वर्चसा मां समनक्त्वग्निर्मेधां मे विष्णुर्न्यनक्त्वासन् ।
रयिं मे विश्वे नि यच्छन्तु देवाः स्योना मापः पवनैः पुनन्तु ॥ ११ ॥
मित्रावरुणा परि मामधातामादित्या मा स्वरवो वर्धयन्तु ।
वर्चो म इन्द्रो न्यनक्तु हस्तयोर्जरदष्टिं मा सविता कृणोतु ॥ १२ ॥

अर्थ- (प्रच्यवस्व) आगे बढ उन्नति कर। (तन्वं) शरीरका (सं भरस्व) उत्तमतया पालन पोषण कर। (ते गात्रा) तेरे हाथ पैर आदि गात्र (मा विहाय) मत छूटें तुझे छोडकर मत चले जावें। [मो शरीरं] और तेरा शरीर भी मत छूटे। [मनः निविष्टं] जहां तेरा मन निविष्ट हो अर्थात् जहां तेरा मन चाहे वहां (अनु सं विशस्व) मन की इच्छानुसार प्रवेश कर- जा। और (यत्र) जहां (भूमेः जुषसे) भूमि से प्रीति करता है अर्थात् जिस देशसे तेरा मन प्यार करता है (तत्र) उस देशमें (गच्छ) जा ॥ ९ ॥

(सोम्यासः पितरः मां वर्चसा अञ्जन्तु) सोम संपादन करनेवाले पितर मुझे तेजसे व्यक्त करें। (देवाः मधुना घृतेन) देव मुझे माधुर्योपेत घृतसे व्यक्त करें। (चक्षुसे मां प्रतरं तारयन्तः) देखनेके लिए मुझे अच्छी तरह तराते हुए अर्थात् समर्थ बनाते हुए, (जरदष्टिं मां) जिसका खानपान शिथिल हो गया है ऐसे मुझको (जरसे) बुढावस्था तक (वर्धन्तु) बढावें अर्थात् जिस बुढापेमें खाने पीने की शक्ति जीर्ण हो जाती है उस बुढापेतक मुझे पहुंचाए । यथा संभव दीर्घायुवाला मुझे बनाएं, उससे पूर्व मैं क्षीण न होऊं ॥ १० ॥

(अग्निः) अग्नि (मां) मुझे (वर्चसा) तेजसे (समनक्तु) अच्छी प्रकार से युक्त करे। (विष्णुः) व्यापक परमात्मा (मे आसन्) मेरे मुखमें (मेधां नि अनक्तु) बुद्धिको उत्तमतया स्थापित करे। (विश्वे देवाः) सब देव (मे रयिं) मेरे लिये धन (नियच्छन्तु) प्रदान करें। (स्योनाः आपः) सुखकारी जल (मा) मुझे (पवनैः) पवित्र पवनोंके साथ (पुनन्तु) पवित्र करें ॥ ११ ॥

[मित्रावरुणौ] रात व दिन (मा) मुझे (परि अधाताम्) चारों ओरसे धारण करें अर्थात् मेरी सब ओरसे रक्षा करें। (स्वरवः) शत्रुओंको उपताप पहुंचानेवाले अथवा जयशब्द करते हुए (आदित्याः) अदिति के पुत्र देव— गण (मा वर्धयन्तु) मुझे बढावें। (इन्द्रः) ऐश्वर्यशाली (मे हस्तयोः) मेरे दोनों हाथोंमें [वर्चः न्यनक्तु] तेज स्थापित करे। और [सविता] सर्व प्रेरक वा सबका उत्पादक देव (जरदष्टिं कृणोतु) मुझे दीर्घायु बनावे ॥१२॥

भावार्थ- हे मनुष्य तू उन्नति कर। अपने शरीरका ठीक ठीक पालन कर जिससे तेरी आकस्मिक मृत्यु व शीघ्र मृत्यु न हो। संसारके जिस भूमिभागमें तेरा मन जानेको करे वहां तू आनंदसे जा। जो देश तुझे अच्छा मालूम दे वहां तू जा ॥ ९ ॥

दीर्घायु देना व प्रत्येक को उसकी पूर्णावस्थातक पहुंचाना पितरों का कार्य है ॥ १० ॥

अग्नि से मुझे तेज प्राप्त हो। विष्णु परमात्मा मुझे अत्यन्त बुद्धिमान् बनावे। देवगण मुझे धनधान्य सम्पन्न करें तथा जलमिश्रित पवन मुझे सदा पवित्र करता रहे जिससे कि मैं सुखपूर्वक जीवन बिताऊं ॥ ११ ॥

रात व दिन मेरी सब ओरसे रक्षा करें। अन्य अखण्ड शक्तिमान् देवगण मेरी वृद्धि करें। इन्द्र मेरे हाथोंमें बल देवे व सविता देव मुझे दीर्घायु प्रदान करे। इस प्रकार सर्व देव मेरेपर अनुग्रह करें जिससे कि मैं सुखसे जीवन व्यतीत कर सकूं ॥ १२ ॥

यो ममार प्रथमो मर्त्यानां यः प्रेयाय प्रथमो लोकमेतम् ।
वैवस्वतं संगमनं जनानां यमं राजानं हविषा सपर्यत । ॥ १३ ॥
परा यात पितर आ च यातायं वो यज्ञो मधुना समक्तः ।
दत्तो अस्मभ्यं द्रविणेह भद्रं रयिं च नः सर्ववीरं दधात ॥ १४
कण्वः कक्षीवान् पुरुमीढो अगस्त्यः श्यावाश्वः सोभर्यर्चनानाः ।
विश्वामित्रोऽयं जमदग्निरत्रिरवन्तु नः कश्यपो वामदेवः ॥ १५ ॥
विश्वामित्र जमदग्ने वसिष्ठ भरद्वाज गोतम वामदेव ।
शर्दिर्नो अत्रिरग्रभीन्नमोभिः सुसंशासः पितरो मृडता नः ॥ १६ ॥

अर्थ- (यः) जो (मर्त्यानां प्रथमः ममार) मनुष्योंमें सबसे प्रथम मरा और (यः) जो (एतं लोकं प्रथमः प्र इयाय) इस लोक यमलोक को सबसे पहिले गया उस [जनानां संगमनं] जनों के संगमन [वैवस्वतं यमं राजानं] विवस्वान् के पुत्र यम राजाकी [हविषा सपर्यत] हवि द्वारा पूजा करो ॥ १३ ॥

(पितरः) हे पितरो ! [परायात] यज्ञ समाप्ति पर वापस लौट जाओ । (च) और फिर [आयात] आओ क्योंकि [अयं यज्ञः वः] यह यज्ञ तुम्हारे लिये [मधुना समक्तः] मधुर आज्यसे तैयार किया हुआ है । [इह] इस यज्ञमें [द्रविणा] धनों को [दत्तो] दो । [भद्रं सर्ववीरं रयिं च] और कल्याणकारी तथा सर्व वीरतासे युक्त रयि अर्थात् सम्पत्ति- समृद्धि से [नः] हमें [दधात] पुष्ट करो । [मधु का अर्थ है मधुरसंपूर्ण आज्य । देखो. ऐ. ब्रा. २। २- एतद् वै. मधु दैव्यं यद् आज्यम्] ॥ १४ ॥

[काण्वः] बुद्धिमान्, [कक्षीवान्] शासन करनेवाला, (पुरुमीढः) बहुधनवाला (अगस्त्यः) पापका नाश करनेवाला, (श्यावाश्वः) काले घोडोंवाला वा ज्ञानी, (सोभरी) ऐश्वर्यवाला, (अर्चनानाः) पूजनीय श्वासवाला वा उत्तम जीवनवाला, (विश्वामित्रः) सबका मित्र तथा (अयं जमदग्निः)यह यज्ञ, है जिसकी सदा अग्नि प्रज्वलित रहती ऐसा, (कश्यपः) सूक्ष्मदर्शी तथा (वामदेवः) उत्तम व्यवहारवाला, ये सब [नः] हमारी [अवन्तु] रक्षा करें ॥ १५ ॥

हे [विश्वामित्र] सबके मित्र (जमदग्ने) हे अग्निके प्रकाशक (वसिष्ठ) हे अतिशय श्रेष्ठ, [भरद्वाज] हे अन्नधारक, [गोतम] हे उत्तम स्तोता, [वामदेव] हे प्रशंसनीय व्यहारवाले, [सुसंशासः] उत्तम तथा स्तुति करने योग्य (पितरः) पितरो ! तुम [नः मृडत] हमें सुखी करो, क्योंकि [शर्दिः अत्रिः] बलविशिष्ट अत्रिने [नमोभिः] अन्नोंसे हमें [अग्रभीत्] ग्रहण किया है अर्थात् वह हमें अन्न देता है ॥ १६ ॥

भावार्थ मनुष्योंमे से सबसे प्रथम मनुष्य विवस्वान् का पुत्र, सबसे पहिले इस लोकमें आकर मरा और फिर सबसे पहिले यमलोकमें गया, अतः उस लोकका नाम उसके नामसे यमलोक ऐसा पडा ॥ १३ ॥

पितरों को यज्ञमें मधुर आज्य देना चाहिए जिससे कि वे आज्यदाताओं को धनधान्य देवें व उत्तम वीर सतान से युक्त करें ॥ १४ ॥

मंत्रोक्त नाना गुण विशिष्ट पितर हमारी सर्वदा रक्षा करें ॥ १५ ॥

हे उपरोक्त विशेषण विशिष्ट पितरो, हमें सुखी करो ॥ १६ ॥

कस्ये मृजाना अति यन्ति रिप्रमायुर्दधानाः प्रतरं नवीयः।
आप्यायमानाः प्रजया धनेनाध स्याम सुरभयो गृहेषु ॥ १७ ॥
अञ्जते व्यञ्जते समञ्जते क्रतुं रिहन्ति मधुनाभ्यञ्जते।
सिन्धोरुच्छ्वासे पतयन्तमुक्षणं हिरण्यपावाः पशुमासु गृह्णते ॥ १८ ॥
यद् वो मुद्रं पितरः सोम्यं च तेनो सचध्वं स्वयशसो हि भूत।
ते अर्वाणः कवय आ शृणोत सुविदत्रा विदथे हूयमानाः ॥ १९ ॥
ये अत्रयो आङ्गिरसो नवग्वा इष्टावन्तो रातिषाचो दधानाः।
दक्षिणावन्तः सुकृतो य उ स्थासद्यास्मिन् बर्हिषि मादयध्वम् ॥ २० ॥ (१४)

अर्थ—[कस्ये] ज्ञानमें [मृजानाः] पवित्र होते हुए [प्रतरं] दीर्घ [नवीयः] नवीन [आयुः] आयुको (दधानाः) धारण करते हुए (रिप्रं) पापका (अतियन्ति) अतिक्रमण करते हैं, पापसे बचते हैं। और इस प्रकार पापसे बचकर (प्रजया) प्रजा-द्वारा व (धनेन) धनद्वारा (आप्यायमानाः) बढते हुए (गृहेषु) घरोंमें (सुरभयः) सुन्दर गन्धवाले अर्थात् प्रशंसनीय गुणोंवाले (स्याम) होवें ॥ १७ ॥

(क्रतुं) यज्ञको (मधुना) मधुर आज्यसे [अञ्जते] संयुक्त किया जाता है। [वि अञ्जते] विशुद्ध किया जाता है, [सं अञ्जते] मिलकर प्राप्त किया जाता है [अभि अंजते] चारों ओर विस्तार किया जाता है तथा सब मिलकर उसकी [रिहन्ति] अर्चना करते हैं। अथवा यज्ञभाग [रिहन्ति = लिहन्ति] खाते हैं। [हिरण्यपावाः] सुवर्णादि धनके रक्षक वा हिरण्यसे पवित्र करनेवाले, [सिन्धोः उच्छ्वासे] समुद्रकी वृद्धिके समय (पतयन्तं) आते हुए [उक्षणं] वृद्धि करनेवाले वा सिंचन करनेवाले [पशुं] सबको देखनेवाले को [आसु] इनमें [गृह्णते] लेते हैं ॥ १८ ॥

[पितरः] हे पितरो! [वः यद् मुद्रं सोम्यं च] तुम्हारा जो हर्षप्रद व सौम्य कार्य है [तेनो] उस द्वारा (सचध्वं] हमें सेवित करो अर्थात् युक्त करो। (हि) निश्चयसे तुम (स्वयशसः) अपने यशसे ही यशस्वी [भूत] होते हो। [अर्वाणः] गतिवाले अर्थात् निरालसी, [कवयः] क्रान्तदर्शी तथा [सुविदत्राः] उत्तम धनवाले, (हूयमानाः) बुलाये गए [ते] वे तुम (विदथे) यज्ञमें हमारी उपरोक्त प्रार्थनायें [आशृणोत] आकर सुनो ॥ १९ ॥

[ये] जो तुम [अत्रयः] सदा प्राप्तिके योग्य, [आङ्गिरसः] ज्ञानी, [नवग्वाः]नवग्व, [इष्टावन्तः] दर्शपौर्णमास आदि करनेवाले, [राति षाचः] दान देनेवाले, [दधानाः] पालन पोषण करनेवाले [दक्षिणावन्तः] दान युक्त, [सुकृतः] उत्तम कर्म करनेवाले [स्थ] हो वे तुम (अस्मिन् बर्हिषि) इस यज्ञमें [आसद्य] बैठकर [मादयध्वम्] आनन्दित होओ। हवि खाकर तृप्त होओ। नवग्व—नव मासका सत्रयाग करनेवाले ॥ २० ॥

भावार्थ- हम ज्ञान द्वारा अपनेको शुद्ध करते हुए पापसे बचें व दीर्घ जीवन प्राप्त करें। हम प्रजा संपत्ति आदि से संपन्न हुए हुए सुन्दर गुणों से पूर्ण होवें ॥ १७ ॥

किया हुआ कर्म मीठा फल देनेवाला बने ॥ १८ ॥

पितरोंके कामपूर्ति करानेके लिए यज्ञ साधन भूत है ॥ १९ ॥

जिनके तीनों ताप नष्ट हो चुके हैं ऐसे ज्ञानी, सत्रयाग करनेवाले, इष्टापूर्त करनेवाले, दानी, उत्तम कर्म करनेवाले पितर हमारे यज्ञमें आवें व हवि खाकर तृप्त होवें-- आनन्द मनावें ॥ २० ॥

अधा यथा नः पितरः परासः प्रत्नासो अग्न ऋतमाशुशानाः ।
शुचीदयन् दीध्यत उक्थशासः क्षामा भिन्दन्तो अरुणीरप व्रन् ॥ २१ ॥
सुकर्माणः सुरुचो देवयन्तो अयो न देवा जनिमा धमन्तः ।
शुचन्तो अग्निं वावृधन्त इन्द्रमुर्वीं गव्यां परिषदं नो अक्रन् ॥ २२ ॥
आ यूथेव क्षुमति पश्वो अख्यद् देवानां जनिमान्त्युग्रः ।
मर्तांसश्चिदुर्वशीरकृप्रन् वृधे चिदर्य उपरस्यायोः ॥ २३ ॥
अकर्म ते स्वपसो अभूम ऋतमवस्रन्नुषसो विभातीः ।
विश्वं तद् भद्रं यदवन्ति देवा बृहद् वदेम विदथे सुवीराः ॥ २४ ॥

अर्थ—[यथा नः परासः प्रत्नासः पितरः] जैसे हमारे श्रेष्ठ पुराने पितरोंने (ऋतं आशशानाः) सत्य वा यज्ञको व्याप्त करते हुए [शुचि इत् अयन्] प्रकाशमान–दीप्तस्थान कोही प्राप्त किया व [दीध्यतः] दीप्यमान होते हुए, [उक्थशासः] उक्थोंसे प्रशंसा–स्तुति करते हुए [क्षामा = क्षाम] क्षयकारी अंधकारको [भिन्दंतः] नष्ट करते हुए (अरुणीः) उषाओं-की किरणोंको [अपव्रन्] प्रकाशित किया था उसी प्रकार हे अग्नि ! तू भी उषाको प्रकाशित कर ॥ २१ ॥

[सुकर्माणः] उत्तम कर्म करनेवाले [सुरुचः] उत्तम कान्तिवाले [देवयन्तः] देवत्वकी कामना करते हुए [अयः न] जिस प्रकार कि सुवर्णकार तपाकर सोनेको शुद्ध करते हैं उसी प्रकार [जनिमा धमंतः] अपने जन्मोंको तपरूपी ताप से तपाकर शुद्ध करते हुए [देवाः] देवगण [अग्निं] अग्निको [शुचन्तः] दीप्त करते हुए, [इन्द्रं वावृधन्त] इन्द्रको अर्थात् नाना ऐश्वर्यों की वृद्धि करते हुए [नः] हमारे लिये [उर्वीं] बडी भारी विस्तृत [गव्यां] गौओंके समूह-वाली [परिषदम्] परिषत् [अक्रन्] बनाते हैं ॥ २२ ॥

[उग्रः] तेजस्वी [अग्नि] [देवानां जनिमा] देवोंके जन्मोंको उत्पत्तिको [अन्ति] समीपसे [आ अख्यत्] देखता है । अर्थात् देवोंकी उत्पत्तिके विषयमें अग्निको अच्छी तरहसे मालूम है । इसमें दृष्टान्त देते हैं कि [क्षुमति पश्वः यूथा इव] अर्थात् जिस प्रकार घासादि अन्नयुक्त स्थानमें चरते हुए पशुओंके समूहों को उनका चरानेवाले ग्वाला जानते हैं । [मर्तासः चित्] मनुष्य भी [उर्वशीः अकृप्रन्] विस्तृत क्रियाओंको करते हैं और [अर्यः] स्वामी [उपरस्य आयोः] समीपस्थ मनुष्यकी वृद्धिके लिए क्रिया करता है ॥ २३ ॥

[ते] तेरे लिए [अग्निके लिए] हमने [अकर्म] पूजा, स्तुति आदि उत्तम कर्म किए हैं इसलिए (स्वपसः) श्रेष्ठ कर्मोंवाले [अभूम] हुए हैं । इस वास्ते हमारे लिए [विभातीः) विविध प्रकारसे प्रकाशित होती हुई [उषसः] उषायें (ऋतं अवसन्) सत्यमें निवास करती हैं अर्थात् सत्य नियमोंमें आश्रित हुई हुई नित्यप्रति बाकायदा उदित होती रहती है । [यत् देवाः अवन्ति] जिस जिसकी देवगण रक्षा करते हैं (तत् विश्वं) वह सब हमारे लिए [भद्रं] कल्याणकारी हो । हम [सुवीराः] उत्तम बलशाली हुए हुए (विदथे) यज्ञमें [बृहत् वदेम] सुनने लायक बहुत बोलें ॥ २४ ॥

भावार्थ– जिस प्रकार यज्ञादिसे तेज प्राप्त करके प्रकाशित होते हुए हमारे पुरातन पितरोंने अंधकारका विनाश करके उषाको प्रकट किया था, उसी प्रकार अग्नि तूभी हमारे लिये उषा प्रकट कर ॥ २१ ॥

उत्तम कर्म करनेवाले देवगण प्रथम अपने जन्मको तपादिसे शुद्ध करके अनन्तर अग्निको प्रदीप्त करते हैं । अग्निका अभिप्राय तीनों प्रकार की अग्निसे है । इस तीनों प्रकार की अग्निको प्रदीप्त करके ऐश्वर्यको बढाते हैं व हम सांसारिक लोगोंके लिए गौओंके समूहवाली परिषत् बनाते हैं । गौओंके समूहवाली परिषत् का मतलब यह है कि हमारे लिए अनेक प्रकार की गौवें प्रदान करते हैं ताकि सांसारिक सुख बढ सके अथवा गौका अर्थ है वाणी तदनुसार इसका अभिप्राय यह है कि

इन्द्रो मा मरुत्वान् प्राच्या दिशः पातु बाहुच्युता पृथिवी द्यामिवोपरि ।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ २५ ॥
धाता मा निर्ऋत्या दक्षिणाया दिशः पातु बाहुच्युता पृथिवी द्यामिवोपरि ।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ २६ ॥
अदितिर्मादित्यैः प्रतीच्या दिशः पातु बाहुच्युता पृथिवी द्यामिवोपरि ।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ २७ ॥
सोमो मा विश्वैर्देवैरुदीच्या दिशः पातु बाहुच्युता पृथिवी द्यामिवोपरि ।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ २८ ॥
धर्ता ह त्वा धरुणो धारयाता ऊर्ध्वं भानुं सविता द्यामिवोपरि ।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ २९ ॥
प्राच्यां त्वा दिशि पुरा संवृतः स्वधायामा दधामि बाहुच्युता पृथिवी द्यामिवोपरि ।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ ३० ॥ (१५)

अर्थ-- [मरुत्वान् इन्द्रः] मरुतोंवाला इन्द्र [मा] मेरी (प्राच्याः दिशः) पूर्व दिशासे अर्थात् पूर्व दिशासे आनेवाली आपत्तियोंसे (पातु) रक्षा करे। (बाहुच्युता पृथिवी) बाहुओंसे दी गई अथवा बाहुओंमें प्राप्त हुई अर्थात् हाथोंसे दी गई या हाथोंसे ली गई पृथिवी (इव) जिस प्रकार से कि (उपरि) ऊपर (द्यां) द्युकी रक्षा करती है। (लोककृतः) लोकोंके बनानेवालों तथा (पथिकृतः) मार्गोंको बनानेवालों की हम (यजामहे) पूजा करते हैं (ये) जो कि तुम [इह] यहांपर [देवानां] देवों के बीचमें (हुतभागाः) जिनके लिए कि भाग दिया गया है ऐसे (स्थ) हो ॥ २५ ॥

(धाता) सबका धारण करनेवाला (दक्षिणायाः दिशः) दक्षिण दिशाकी (निर्ऋत्याः) निर्ऋति से अर्थात् कष्ट आपत्तियोंसे (मा पातु) मेरी रक्षा करे। शेष पूर्ववत् ॥ २६ ॥

(अदितिः) अखण्डनीय शक्ति, अदीन शक्ति (आदित्यैः) आदित्यों द्वारा (प्रतीच्याः दिशः) पश्चिम दिशासे आनेवाली विपत्तियोंसे (मा पातु) मेरी रक्षा करें। शेष पूर्ववत् ॥ २७ ॥

(सोमः) सोम (विश्वैः देवैः) सब देवोंके साथ (उदीच्याः दिशः) उत्तर दिशासे आनेवाली अपत्तियोंसे (मा पातु) मेरी रक्षा करें। शेष पूर्ववत् ॥ २८ ॥

भावार्थ- सभाएं भर भरके हमें नाना प्रकार के उपदेश देते हैं। देवगण हमारे लिए क्या करते हैं उसका यहां पर दिग्दर्शन कराया गया है ॥ २२ ॥

देवोंके उत्पन्न होनेका कर्म रहस्य जानकर उसके अनुसार शुभ कर्म करना चाहिये ॥ २३ ॥

अग्नि के लिए कर्म करने से ही हम श्रेष्ठ कर्मवाले हो सकते हैं व तभी हमारे लिए उषा आदि प्रकाशमान पदार्थ सत्य नियम में स्थित होकर प्रकाशित होते रहते हैं। देवोंसे रक्षित पदार्थ भी सभी हालतमें हमारे लिए कल्याणकारी होते हैं। हमें चाहिये कि हम नित्यप्रति स्तुति उपासना आदि प्रभूत मात्रामें करते रहें ॥ २४ ॥

मरुतों से युक्त इन्द्र मेरी पूर्व दिशासे आनेवाली आपत्तियोंका निवारण करके रक्षा करें जिस प्रकारसे कि पृथिवी द्यु की। हमारे लिये लोकों व मार्गोंके बनानेवाले देवजनों की हम पूजा करते हैं व हविदान करते हैं जो कि देवजन इस संसारमें विद्यमान हैं ॥ २५ ॥

सब स्थानोंमें हमारी रक्षा होवे और हमें श्रेष्ठ मार्ग प्राप्त होवे ॥ २६--३५ ॥

दक्षिणायां त्वा दिशि पुरा संवृतः स्वधायामा दधामि बाहुच्युतां पृथिवी द्यामिवोपरि ।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ ३१ ॥
प्रतीच्यां त्वा दिशि पुरा संवृतः स्वधायामा दधामि बाहुच्युतां पृथिवी द्यामिवोपरि ।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ ३२ ॥
उदीच्यां त्वा दिशि पुरा संवृतः स्वधायामा दधामि बाहुच्युतां पृथिवी द्यामिवोपरि ।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ ३३ ॥
ध्रुवायां त्वा दिशि पुरा संवृतः स्वधायामा दधामि बाहुच्युतां पृथिवी द्यामिवोपरि ।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ ३४ ॥
ऊर्ध्वायां त्वा दिशि पुरा संवृतः स्वधायामा दधामि बाहुच्युतां पृथिवी द्यामिवोपरि ।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ ३५ ॥
धर्तासि धरुणोऽसि वंसगोऽसि ॥ ३६ ॥
उदपूरसि मधुपूरसि वातपूरसि ॥ ३७ ॥

अर्थ- (ह) निश्चयसे (धरुणः धर्ता) सबसे धारण किया जानेवाला धारक (त्वा) तुझे (ऊर्ध्वं धारयातै) ऊंचा धारण करे। [सविता] सूर्य (भानुं द्याम् इव उपरि) प्रकाशमान द्युको जिस प्रकारसे कि ऊपर धारण किये हुए है। शेष पूर्ववत् ॥ २९ ॥

[पुरा संवृतः] शरीरसे ढका हुआ अर्थात् सशरीर मैं अथवा सर्व प्रकारकी पूर्तिसे परिपूर्ण मैं [प्राच्यां दिशि] पूर्व दिशामें [स्वधायां] स्वधामें [त्वा] तुझे (आदधामि) रखता हूं—स्थापित करता हूं। किस प्रकारसे ! जिस प्रकार से कि बाहुच्युत पृथिवी ऊपर द्यु लोकको स्थापित करती है। शेष पूर्ववत् ॥ ३० ॥

[दक्षिणायां दिशि] दक्षिण दिशामें······इत्यादि पूर्ववत् ॥ ३१ ॥
[प्रतीच्यां दिशि] पश्चिम दिशामें···इत्यादि पूर्ववत् ॥ ३२ ॥
[उदिच्यां दिशि] उत्तर दिशामें······इत्यादि पूर्ववत् ॥ ३३ ॥
[ध्रुवायां दिशि] स्थिरनीचेकी दिशामें······इत्यादि पूर्ववत् ॥ ३४ ॥
[ऊर्ध्वायां दिशि] ऊपर की दिशामें···इत्यादि पूर्ववत् ॥ ३५ ॥

हे परमात्मन् ! तू [धर्ता असि] सबका धारण करनेवाला है। तू [धरुणः] सबसे धारण किया जानेवाला है। तू [वंसगः] संभजनीय पदार्थोंका प्राप्त करानेवाला है ॥ ३६ ॥

तू [उदपूः असि] सर्व संसारको जल पहुंचानेवाला है। तू [मधुपूः असि] माधुर्यगुणोपेत रसोंका पहुंचाने वाला है व तू [वातपूः असि] सबको प्राणवायु पहुंचाने वाला है ॥ ३७ ॥

भावार्थ- परमेश्वर सबका आधार है ॥ ३६ ॥
हे परमात्मा तू ही सबको जल, मधुर रस तथा प्राणवायु, जिसके बिना संसार की स्थिति कठिन है, देता है ॥ ३७ ॥

इतश्च मामुतश्चावतां यमे इव यतमाने यदैतम् ।
प्र वां भरन् मानुषा देवयन्तो आ सीदतां स्वमु लोकं विदाने ॥ ३८ ॥

स्वासस्थे भवतमिन्दवे नो युजे वां ब्रह्म पूर्व्यं नमोभिः ।
वि श्लोक एति पथ्येव सूरिः शृण्वन्तु विश्वे अमृतास एतत् ॥ ३९ ॥

त्रीणि पदानि रुपो अन्वरोहच्चतुष्पदीमन्वैतद् व्रतेन ।
अक्षरेण प्रति मिमीते अर्कमृतस्य नाभावभि सं पुनाति ॥ ४० ॥(१६)

अर्थ— [यत्] क्योंकि हे हविर्धाने ! तुम दोनों [यमे इव] युगलोत्पन्न संतान की तरह [यतमाने] संसारका पोषण करनेके लिए साथ साथ प्रयत्न करनेवाले होकर [ऐतम्] विचरण करते हो, इसलिए (मां) मेरी [इतश्च अमुतश्च] इस लोकसे व परलोकसे अर्थात् इन दोनों लोकोंमें आनेवाली विपत्तियोंसे [अवतां] रक्षा करो । [मानुषाः] मनुष्यगण (देवयन्तः) दैव बनने की कामना करते हुए (वां) तुम दोनोंका प्रभरन्, अच्छी प्रकारसे भरण पोषण करें । तुम दोनों [स्वं लोकं विदाने] अपने स्थान को जानते हुए [आसीदतां] उस स्थानपर बैठो ॥ ३८ ॥

हे हविर्धाने ! (नः इन्दवे) हमारी ऐश्वर्यवृद्धि के लिए तुम दोनों (स्वासस्थे) सुखासन—उत्तमासन पर बैठने—वाले [भवतम्] होओ । मैं [नमोभिः] नमस्कारोंके साथ (वां) तुम दोनोंके [पूर्व्यं ब्रह्म युजे] पुरातन स्तोत्रको करता हूं । अर्थात् नमस्कारपूर्वक मैं वेदमंत्रोंसे तुम्हारी स्तुति करता हूं । [श्लोकः] यह किया हुआ स्तुतिसमूह (वि एति) तुम दोनोंको विशेष रूपसे प्राप्त होता है । इसको दृष्टान्तद्वारा समझाते हैं कि [पथ्या सूरिः इव] जिस प्रकारसे कि उत्तम धर्ममार्गसे विद्वान् इच्छित पदार्थको प्राप्त होता है उसी प्रकारसे यह हमसे की गई स्तुति तुमको प्राप्त होती है । [एतत्] इस हमारे द्वारा किए गए उपरोक्त स्तोत्रको (विश्वे अमृतासः) सर्व अमृत लोक (शृण्वन्तु) सुनें ॥ ३९ ॥

[रुपः] रुप [त्रीणि पदानि अन्वरोहत्] तीन स्थानोंपर चढता है क्योंकि [व्रतेन] अपने यज्ञादि कर्मद्वारा [चतुष्पदीं अनु ऐतत्] चतुष्पदीका अनुसरण करता है । और [अक्षरेण] अपने अक्षय कर्मद्वारा (अर्कं प्रति मिमीते] सूर्यके सदृश प्रकाशमान अपने को बनाता है । अथवा अपने अविनश्वर कर्मद्वारा पूजनीय बनता है । उसकी कीर्ति प्रलय तक बनी रहती है । वह अपने आपको [ऋतस्य नाभौ] यज्ञके मध्यमें अथवा सत्य नियमों के बीचमें [अभि संपुनाति] चारों ओरसे अच्छीप्रकार शुद्ध करता है ॥ ४० ॥

भावार्थ-मेरी दोनों लोकोंमें आनेवाले विघ्नोंसे रक्षा हो । क्योंकि दोनों हवि इसी कार्यके लिए इधर उधर विचरण करते रहते हैं । तुम्हारा भरणपोषण हम करेंगे अतः तुम दोनों अपने कर्तव्यको ध्यानमें रखते हुए कार्य करते रहो ॥ ऋ० (१०।१३।२) ॥३८॥

हे हविर्धाने ! तुम दोनों हमें ऐश्वर्य दिलानेवाले होओ । मैं उसके बदलेमें तुम्हारी वेदमंत्रोंसे स्तुति करूं । मेरी स्तुति तुमको ऐसे पहुंचे जैसे कि विद्वान् सन्मार्गसे अपने अभिलषित स्थानको पहुंचता है । अर्थात् जिस प्रकार विद्वान् सन्मार्गसे अवश्य ही वांछित फल लाभ करता है उसी प्रकार यह स्तुति भी तुम्हें अवश्यमेव प्राप्त होती है । मेरी इस स्तुतिको सर्व अमृतगण सुनें अर्थात् वे मेरी स्तुति के लिए साक्षीभूत होवें ॥ ३९ ॥

यज्ञ करके वा सत्यनियमोंके अनुसार आचरण करके वह मनुष्य अपने आपको शुद्ध करता है । ऋ० १०।१३।३) ॥४०॥

देवेभ्यः कर्मवृणीत मृत्युं प्रजायै किममृतं नावृणीत ।
बृहस्पतिर्यज्ञमतनुत ऋषिः प्रियां यमस्तन्वं१मा रिरेच ॥ ४१ ॥
त्वमग्न ईडितो जातवेदोऽवाड्ढव्यानि सुरभीणि कृत्वा ।
प्रादाः पितृभ्यः स्वधया ते अक्षन्नद्धि त्वं देव प्रयता हवींषि ॥ ४२ ॥
आसीनासो अरुणीनामुपस्थे रयिं धत्त दाशुषे मर्त्याय ।
पुत्रेभ्यः पितरस्तस्य वस्वः प्रयच्छत त इहोर्जं दधात ॥ ४३ ॥
अग्निष्वात्ताः पितर एह गच्छत सदःसदः सदत सुप्रणीतयः ।
अत्तो हवींषि प्रयतानि बर्हिषि रयिं च नः सर्ववीरं दधात ॥ ४४ ॥

अर्थ- (देवेभ्यः कं मृत्युं न अवृणीत) देवोंमेंसे कौन मरता न था ! अर्थात् देव भी सब मरते थे। तब (बृहस्पतिः ऋषिः यज्ञं अतनुत) देवोंमेंसे बृहस्पति ऋषिने अमरताकी प्राप्तिके लिए यज्ञ किया और देवोंके लिए [अमृतं अवृणीत] अमरता को प्राप्त किया, पर [प्रजायै] प्रजाके लिए [किं अपि अमृतं] कोई भी अमरता न प्राप्त की, अतएव [यमः] प्राणोंके अपहरण करनेवाला यम प्रजाओंसे [प्रियां तन्वं] उनकी प्यारी देह [आरिरेच] छीन लेता है अर्थात् प्रजाकी मृत्यु होती है ॥ ४१ ॥

हे (जातवेदः अग्ने) जातवेदस् अग्नि ! (ईडितः त्वं) स्तुति किया गया तू [हव्यानि] हव्योंको (सुरभीणि कृत्वा) सुगंधित बनाकर (अवाट्) वहन कर [पितृभ्यः] उन हव्योंको पितरोंके लिये (प्रादाः) दे। (ते) वे पितर [स्वधया अक्षन्] उन हव्योंको स्वधाके साथ खावें । (देव) हे प्रकाशमान अग्नि! [त्वं] तू भी [प्रयता हवींषि दी गई हवियोंको [अद्धि] खा ॥ ४२ ॥

[अरुणीनां उपस्थे आसीनासः] यज्ञमें प्रदीप्त की गई अग्निकी लाल ज्वालाओंके समीपमें बैठे हुए अर्थात् यज्ञमें उपस्थित हुए हुए पितरो ! (दाशुषे मर्त्याय) दानी मनुष्यके लिए (रयिं धत्त) धनको दो। [तस्य] उस दानीके [पुत्रेभ्यः वस्वः प्रयच्छत] पुत्रोंके लिए धनका दान करो। (ते) वे तुम (इह) यहांपर उस दानी व दानीके पुत्रोंके लिए (ऊर्जं) अन्नसे (दधात) पुष्ट करो ॥ ४३ ॥

हे [सुप्रणीतयः] उत्तम प्रकारसे ले जानेवाले (अग्निष्वात्ताः पितरः) अग्निष्वात्त पितरो ! [इह] यज्ञमें [आगच्छत] आओ [सदः सदः सदत] घरघरमें स्थित होओ । [अथ] और [बर्हिषि प्रयतानि हवींषि अत्त] यज्ञमें दी गई हवियोंको खाओ। और हमें (सर्ववीरं रयिं दधातन) सर्व प्रकार की वीरतासे परिपूर्ण पुत्ररूपी धन देकर पुष्ट करो ॥ ४४ ॥

भावार्थ- देव अमर हैं और मनुष्य नश्वर हैं ॥ ४१ ॥

अग्निकी स्तुति करनेपर वह पितरोंके लिये हविको सुगंधित बनाकर ले जाती है। और पितरोंको ले जाकर देती है ताकि वे खावें ॥ ४२ ॥

हे पितरो ! यज्ञमें बैठकर जो दान करनेवाला है उसके लिए तथा उसके पुत्रोंके लिए धन व अन्नका दान करके उन्हें पुष्ट करो। यजुर्वेद (१९। ६३) ॥ ४३ ॥

हे अग्निष्वात्त पितरो ! घर घरमें आओ। यज्ञोंमें तुम्हारे उद्देश्यसे दी गई हवियोंको खाओ तथा उसके बदलेमें वीर संतति का प्रदान करो ॥ ४४ ॥

उपहूता नः पितरः सोम्यासो बर्हिष्येषु निधिषु प्रियेषु ।
त आ गमन्तु त इह श्रुवन्त्वधि ब्रुवन्तु तेऽवन्त्वस्मान् ॥ ४५ ॥
ये नः पितुः पितरो ये पितामहा अनूजहिरे सोमपीथं वसिष्ठाः ।
तेभिर्यमः संरराणो हवींष्युशन्नुशद्भिः प्रतिकाममत्तु ॥ ४६ ॥
ये तातृषुर्देवत्रा जेहमाना होत्राविदः स्तोमतष्टासो अर्कैः ।
आग्ने याहि सहस्रं देववन्दैः सत्यैः कविभिर्ऋषिभिर्घर्मसद्भिः ॥ ४७ ॥
ये सत्यासो हविरदो हविष्पा इन्द्रेण देवैः सरथं तुरेण ।
आग्ने याहि सुविदत्रेभिरर्वाङ् परैः पूर्वैर्ऋषिभिर्घर्मसद्भिः ॥ ४८ ॥

अर्थ- [ते] वे [सोम्यासः] सोम संपादन करनेवाले [पितरः] पितर (प्रियेषु बर्हिष्येषु) प्रीतिकारक यज्ञसंबन्धी निधियों में [उपहूताः] बुलाए गए हैं । [ते] वे पितर [इह] इस यज्ञमें [आगमन्तु] आवें । (ते अधिश्रुवन्तु) वे पितर हमारी प्रार्थनायें ध्यान देकर सुनें, [अधिब्रुवन्तु] हमें उपदेश करें तथा (अस्मान् ते अवन्तु) हमारी वे रक्षा करें ॥ ४५ ॥

(ये) जिन [नः] हमारे [पूर्वे सोम्यासः वसिष्ठाः पितरः] पुरातन सोमसंपादन करनेवाले वसिष्ठ अर्थात् उत्तम धनवाले पितरोंने (सोमपीथं) सोमपानको यज्ञमें [अनु जहिरे] प्राप्त किया था, [तेभिः] उन [उशद्भिः] यमके साथ सोमपान करने वा हवि खानेकी कामना करते हुए वसिष्ठ पितरोंके साथ [उशन्] पितरोंके साथ सोमपान करने वा हवि खानेकी कामना करता हुआ, [संरराणः] पितरोंके साथ रमण करता हुआ अर्थात् आनन्दित होता हुआ [यमः] यम (हवींषि) हवियोंको [प्रतिकामं] इच्छानुसार [अत्तु] खावे ॥ ४६ ॥

[देवत्रा जेहमानाः] देवोंको प्राप्त होते हुए अर्थात् देव बनते हुए [होत्राविदः] यज्ञोंके जाननेवाले [स्तोमतष्टासः] स्तोमोंके बनानेवाले [ये] जो पितर [अर्कैः] अर्चनीय स्तोत्रोंसे (तातृषुः) इस संसारसागरसे सर्वथा तर गए हैं ऐसे [सहस्रं देववन्दैः] हजारों वार देवोंसे स्तुति किए गए [सत्यैः कविभिः ऋषिभिः] सत्यवचनी, क्रांतदर्शी तथा ज्ञानी व [घर्मसद्भिः] यज्ञमें बैठनेवाले पितरोंके साथ [अग्ने] हे अग्नि ! तू [आयाहि] यज्ञमें आ ॥ ४७ ॥

[ये] जो पितर [सत्यासः] सत्यवचनी, [हविरदः] हविके खानेवाले, [हविष्पाः] हविकी रक्षा करनेवाले तथा [तुरेण इन्द्रेण देवैः सरथं दधानाः] वेगवान् इन्द्र व देवोंके साथ समान रथपर आरूढ होते हैं ऐसे [सुविदत्रेभिः] उत्तम धनवाले अथवा कल्याणकारी विद्यावाले [पूर्वैः परैः] पुरातन व अर्वाचीन [ऋषिभिः] ज्ञानी [घर्मसद्भिः] यज्ञ में बैठनेवाले पितरोंके साथ [अर्वाङ्] हमारे प्रति [अग्ने] अग्नि ! तू [आयाहि] आ ॥ ४८ ॥

भावार्थ- याज्ञिक कार्योंमें पितर हमारे बुलाए जानेपर आवें । आकर हमें उपदेश दें, हमारी प्रार्थनायें सुनें तथा हमारी रक्षा करें ॥ ४५ ॥

हमारे जिन पुरातन पितरोंने यज्ञमें बैठकर सोमपान किया था, उन पितरोंके साथ मिलकर यम हमारे द्वारा दी गई हवियों को खावे । हमें यम व पितरोंके लिए यज्ञमें पर्याप्त मात्रामें हवि देनी चाहिए ॥ ४६ ॥

देवत्वको प्राप्त हुए हुए पितरोंको अग्निके साथ यज्ञमें बुलाया जाता है व अग्नि उन पितरोंके साथ यज्ञमें आती है अर्थात् पितर अग्निके साथ हमारे यज्ञमें आते हैं ॥ ४७ ॥

देवोंके साथ समान रथारूढ अर्थात् देवोंके साथ एक ही रथपर विचरण करनेवाले पितरोंको यज्ञमें हे अग्नि ! तू ले आ । अग्नि पितरोंको यज्ञमें ले आती है ऐसा इस मंत्रसे जान पडता है ॥ ४८ ॥

उप॑ सर्प मा॒तरं॒ भूमि॑मे॒तामु॑रु॒व्यच॑सं पृथि॒वीं सु॒शेवा॑म् ।
ऊर्ण॑म्रदाः पृथि॒वी दक्षि॑णावत ए॒षा त्वा॑ पातु प्रप॑थे पु॒रस्ता॑त् ॥ ४९ ॥
उच्छ्व॑ञ्चस्व पृथिवि मा नि बा॑धथाः सूपाय॒नास्मै॑ भव सूपसर्प॒णा ।
मा॒ता पु॒त्रं यथा॑ सि॒चाभ्ये॑नं भूम ऊर्णुहि ॥ ५० ॥ (१७)
उ॒च्छ्वञ्च॑माना पृथि॒वी सु ति॑ष्ठतु स॒हस्रं॒ मित॒ उप॒ हि श्रय॑न्ताम् ।
ते गृ॒हासो॑ घृत॒श्चुतः॑ स्यो॒ना वि॒श्वाहा॑स्मै शर॒णाः स॑न्त्वत्र ॥ ५१ ॥

अर्थ- हे मनुष्य ! [एतां] इस [उरुव्यचसं] बडे विस्तारवाली अतएव [पृथिवीं] फैली हुई, (सुशेवां) अति सुख देने वाली (मातरं भूमिं) माताभूत भूमिके [उप सर्प] समीप जा । (समीप जा का अर्थ यहां पर यह है कि भूमिका बारिकीसे अवलोकन कर, क्योंकि भूमिपर रहनेवाला मनुष्य भूमिके तो समीप है ही, फिर भी समीप जा कहने का यही अभिप्राय हो सकता है। भूमिके जो सुशेवा आदि विशेषण हैं वे भी इसी अभिप्रायको पुष्ट करते हैं । भूमिका बारिकी से अवलो- कन करके उससे लाभ उठाने से बडा सुख होता है ।) [दक्षिणावते] दान देनेवालेके लिए [ऊर्णम्रदः] ऊनके समान नरम--कोमल [एषा पृथिवी] यह पृथिवी (त्वा) तेरी [प्रपथे] इस संसारसागरके विस्तृत मार्गमें [पुरस्तात्] आगेसे रक्षा करे। [ऋ० १०।१८।१०] ॥ ४९ ॥

[पृथिवी] हे पृथ्वी ! तू [उच्छ्वञ्चस्व] पुलकित हो । इस तेरे समीप आए हुए मनुष्यको [मा निबाधथाः] किसी भी प्रकार की पीडा वा कष्ट मत पहुंचा । (अस्मै) इसके लिए [सूपायना] अच्छी तरह प्राप्त करने योग्य अर्थात् बिना किसी भय वा कष्टके समीप आने योग्य तथा [सूपसर्पणा] सुखपूर्वक विचरण करने योग्य (भव) हो । [एनं] इस पुरुषको [भूमे] हे भूमि [अभि ऊर्णुहि] चारों तरफसे इस प्रकारसे ढांप ले [यथा] जिस प्रकारसे कि [माता] माता [सिचा पुत्रं] अपने आंचलसे पुत्रको ढांप लेती है । (ऋ० १०।१८।११) ॥ ५० ॥

(उच्छ्वञ्चमाना पृथिवी) पुलकित होती हुई पृथिवी [सु तिष्ठतु] अच्छी प्रकार स्थित होवे। और (सहस्रं) हजारों (मितः) मित उस पृथिवी को प्राप्त होकर (उपश्रयन्ताम्) आश्रित होवें। (ते घृतश्चुतः) वे घीसे परिपूर्ण अतएव (स्योनाः) सुखकारी [गृहासः] घर तथा [विश्वाहा] सब दिन (अस्मै) इस मनुष्यके लिए (अत्र) यहां पर (शरणाः सन्तु) शरण देनेवाले आश्रय देनेवाले होवें। (ऋ० १०।१८।१२) ॥ ५१ ॥

भावार्थ- इस अत्यन्त विस्तृत भूमिका बारिकीसे अवलोकन करो क्योंकि यह बडा सुख देनेवाली है। जो पृथिवीपर रहकर नानाविध दान करता रहता है उसके लिए यह पृथिवी ऊनके सदृश कोमल होती हुई सुख देती है व प्रत्येक कार्यमें उसकी रक्षा करती रहती है ॥ ४९ ॥

हे पृथ्वी ! तू सदा प्रसन्न बनी रह । तेरे पर वास करनेवालेको किसी प्रकारका भी कष्ट न पहुंचे । वह आनन्दसे सर्वत्र विचरण कर सके । तू मनुष्यको नानाविध पदार्थोंसे ढांपे रख जैसे कि माता अपने आंचलसे पुत्रको ढांपे रखती है । अर्थात् जैसे माता अपने वस्त्रसे बडे स्नेहके साथ पुत्रको ढांप कर ठण्डी गरमी आदि कष्टसे बचाती है उसी प्रकार हे पृथिवी! तू भी उतने ही स्नेहके साथ तेरे पर निवास करनेवाले मनुष्यको नानाविध द्रव्य दानसे ढांपकर दुःखद्वन्द्वोंसे बचा ॥ ५० ॥

पृथिवी स्थिर बनी रहे । भूचाल आदिसे विचलित न होवे । नानाविध पदार्थ इसका आश्रय लेकर स्थित होवें । उस पृथिवीपर वास करते हुए मनुष्यके लिए घृतादिसे पूर्ण सुखकारी घर तथा सब दिन आश्रयदाता होवें । किसी भी दिन किसी भी घरमें इसे कष्ट न होवे ॥ ५१ ॥

उत्ते स्तभ्नामि पृथिवीं त्वत् परीमं लोगं निदधन्मो अहं रिषम् ।
एतां स्थूणां पितरो धारयन्ति ते तत्र यमः सादना ते कृणोतु ॥ ५२ ॥
इममग्ने चमसं मा वि जिह्वरः प्रियो देवानामुत सोम्यानाम् ।
अयं यश्चमसो देवपानस्तस्मिन् देवा अमृता मादयन्ताम् ॥ ५३ ॥
अथर्वा पूर्णं चमसं यमिन्द्रायाबिभर्वाजिनीवते ।
तस्मिन् कृणोति सुकृतस्य भक्षं तस्मिन्निन्दुः पवते विश्वदानीम् ॥ ५४ ॥
यत्ते कृष्णः शकुन आतुतोद पिपीलः सर्प उत वा श्वापदः ।
अग्निष्टद्विश्वादगदं कृणोतु सोमश्च यो ब्राह्मणाँ आविवेश ॥ ५५ ॥

अर्थ- [ते] तेरे लिए [पृथिवीं] पृथ्वीको [उत् स्तभ्नामि] थामता हूं। [त्वत् परि] तेरे चारों ओर [इमं लोगं] इस निवासस्थानको [निदधत्] रखता हुआ अर्थात् तेरे लिए निवासस्थान बनाता हुआ [अहं] मैं [मो रिषम्] मत नष्ट होऊं। [तत्र] वहां अर्थात् इस निवास स्थान में [ते] तेरे लिये [एतां स्थूणां] इस नीव को [पितरः] पितृगण [धारयन्ति] धारण करें अर्थात् तेरे आवासस्थानकी नींव पितर रखें और [तत्र] इस नींवपर [ते] तेरे लिये [यमः] यम [सादना] घरोंको [कृणोतु] बनावे [ऋ० १०।१८।१३] ॥ ५२ ॥

(अग्ने) हे अग्नि ! (इमं चमसं) इस शरीररूपी चमसको (मा वि जिह्वरः) मत विचलित कर। क्योंकि यह चमस (देवानां उत सोम्यानां) देवों और सोम संपादन करनेवालोंका (प्रियः) प्यारा है। (एषः) यह (यः) जो (चमसः) चमस है वह (देवपानः) देवपान है अर्थात् इसमें देवगान करने योग्य द्रव्यको पीते हैं। (तस्मिन्) उस चमसमें (अमृताः देवाः) अमरणशील देव (मादयन्तां) पान करके प्रसन्न होवें ॥ ५३ ॥

(अथर्वा) निश्चल मतिवालेने (यं पूर्णं चमसं) जिस भरे हुए पूर्ण चमसको (वाजिनीवते) अन्नबलादिसे पूर्ण (इन्द्राय) ऐश्वर्यशालीके लिए (अबिभः) धारण किया था (तस्मिन्) उस चमसमें (सुकृतस्य भक्षं) अच्छे कर्मों का भोग (कृणोति) करता है। और (तस्मिन्) उस चमसमें (विश्वदानीं) सर्वदा (इन्दुः) ऐश्वर्य (पवति) बहता रहता है ॥ ५४ ॥

हे प्रेत ? (ते) तेरे (यत्) जिस अंगको (कृष्णः शकुनः) काले अनिष्टकारी पक्षीने (आतुतोद) पीडा पहुंचाई है, (उत वा) अथवा (पिपीलः, सर्पः श्वापदः) कीडी की जातिके जन्तुओंने वा, सर्पने या जंगली हिंसक पशुने तुझे पीडा पहुंचाई है, तो [अग्निः] अग्नि (विश्वात्) इन उपरोक्त सबसे (तत्) उस तेरे अंगको (अगदं कृणोतु) रोग रहित करें। (सोमः च) और सोम भी तेरे उस अंगको नीरोग करे । (यः) जो कि सोम (ब्राह्मणान् आविवेश) ब्राह्मणोंमें प्रविष्ट हुआ हुआ है ॥ ५५ ॥

भावार्थ- यम सबको निवासस्थान देवे ॥ ५२ ॥

इह शरीर देवोंके पान करनेका चमस है। यह देवोंका प्रिय है। इसमें देव पान करते हैं अतः हे अग्नि ? इस शरीर की दुर्दशा मत कर ॥ ५३ ॥

निश्चल परमात्मा यह सर्वांशमें पूर्ण शरीररूपी चमसको बलवान आत्माके लिए प्रदान करता है। वह आत्मा अपने सुकृत कर्मोंका फल इस शरीररूपी चमसमें खाती है। कर्म फल शरीरके बिना नहीं भोगे जा सकते। इसी चमस रूपी शरीरमें तमाम ऐश्वर्य बहता रहता है ॥ ५४ ॥

काले अनिष्टकारी पक्षी वा कीडी मकोडे आदि जन्तु, सर्पादि विषयुक्त प्राणियों व जंगली जानवरोंसे पहुंचाए गए कष्टको अग्नि व सोम दूर करें ॥ ५५ ॥

पर्यस्वतीरोषधयः पर्यस्वन्मामकं पयः ।
अपां पयसो यत् पयस्तेन मा सह शुम्भतु ॥ ५६ ॥
इमा नारीरविधवाः सुपत्नीराञ्जनेन सर्पिषा सं स्पृशन्ताम् ।
अनश्रवो अनमीवाः सुरत्ना आ रोहन्तु जनयो योनिमग्रे ॥ ५७ ॥
सं गच्छस्व पितृभिः सं यमेनेष्टापूर्तेन परमे व्योमन् ।
हित्वावद्यं पुनरस्तमेहि सं गच्छतां तन्वा सुवर्चाः ॥ ५८ ॥
ये नः पितुः पितरो ये पितामहा य आविविशुरुर्व १ न्तरिक्षम् ।
तेभ्यः स्वराडसुनीतिर्नो अद्य यथावशं तन्वः कल्पयाति ॥ ५९ ॥

अर्थ- (ओषधयः) औषधियां सेवन की जानेपर हमारे लिये (पयस्वतीः) सारवाली होवें । (मामकं पयः) मेरेमें जो सार है वह भी (पयस्वान्) सारवाला होवे । (अपां) जलादि रसोंके (पयसः) सारभूतांश का (यत् पयः जो) उत्कृष्ट सार है (तेन) उस सारभूतांश के (सह) साथ (मा) मुझे (शुंभतु) शोभायमान करे ॥ ५६ ॥

(इमाः) ये (अविधवाः) जीवित पतियों वाली, (सुपत्नीः) श्रेष्ठ पतियों वाली (नारीः) नारियां (आञ्जनेन सर्पिषा) अंजनसंबंधी घृतसे (संस्पृशन्ताम्) अच्छी तरह संयुक्त होवें अर्थात् घृतवाले अंजन का उपयोग करें। (अंजन का प्रयोग सधवाका चिन्ह है ऐसा यहां से जान पडता है।) (अनश्रवः) वे नारियां आंसुओंसे रहित हुई हुई अर्थात् शोक रहित हुई हुई (अनमीवाः) रोगरहित हुई हुई (सुरत्नाः) उत्तम रत्नादि आभूषणों को धारण की हुई (जनयः) संतानोत्पत्ति करनेवाली होती हुई (अग्रे) सबसे पहिले (योनिं आरोहन्तु) घरमें प्रवेश करें ॥ ५७ ॥

हे मृत पुरुष ! (परमे व्योमन्) उत्कृष्ट व्योममें अर्थात् स्वर्गमें (पितृभिः सं गच्छस्व) पितरोंके साथ जा। (यमेन सं) यमके साथ जा। (इष्टापूर्तेन) इष्टापूर्तके साथ अर्थात् अपने उपार्जित कर्मोंके साथ जा। (अवद्यं हित्वाय) निन्दित कर्मोंका त्याग करके अर्थात् सुकर्मोंके साथ (पुनः) फिर (अस्तं एहि) अपने घरको वापस आ अर्थात् पुनर्जन्म लेकर आ और तब (सुवर्चाः) उत्तम तेज—कान्ति से युक्त हुआ हुआ तू (तन्वा सं गच्छस्व) शरीरको धारण करके संसारमें विचरण कर ॥ ५८ ॥

(ये) जो (नः) हमारे (पितुः पितरः) पिताके पितर और (ये) जो (पितामहाः) पितामह (दादा) (ये) जो कि (उरु अंतरिक्षं) विस्तृत अंतरिक्षमें (आविविशुः) प्रविष्ट हुए हुए हैं (तेभ्यः) उनके लिये (स्वराट्) स्वयं प्रकाशमान (असुनीतिः) प्राणदाता परमात्मा (नः) हमारे (तन्वः) शरीरोंको (यथावशं) कामनाके अनुकूल (कल्पयाति) समर्थ करता है ॥ ५९ ॥

भावार्थ- ओषधि, जल आदि सर्व पदार्थोंका जो सारभूत अंश है वह मुझे प्राप्त होवे जिससे कि मैं संसारमें शोभायमान होऊं। ओषधी आदि सारवान् पदार्थोंका सेवन करके मनुष्यको सुन्दर बनना चाहिए ॥ ५६ ॥

स्मशान से लौटकर सबसे पहिले स्त्रियां घरमें प्रवेश करें। (ऋ० १० । १८ । ७) ॥ ५७ ॥

स्वर्गमें जानेके लिए पितर तथा यम मृत पुरुष की आत्माको पृथिवी पर लेने आते हैं। यम लोक उत्कृष्ट लोक है। उसमें अच्छे कर्म करनेवाले जाते हैं। अथवा यम लोकमें कई विभाग हैं और उनमें कर्मानुसार जीव जाता है ॥ ५८ ॥

पिता, पितामह तथा प्रपितामहोंका अन्तरिक्षमें प्रवेश स्पष्टरूपसे होता है ॥ ५९ ॥

शं ते नीहारो भवतु शं ते प्रुष्वाव शीयताम् । शीतिके शीतिकावति ह्लादिके ह्लादिकावति ।
मण्डूक्य१प्सु शं भुव इमं स्व१ग्निं शमय ॥ ६० ॥ (१८)

विवस्वान् नो अभयं कृणोतु यः सुत्रामा जीरदानुः सुदानुः ।
इहेमे वीरा बहवो भवन्तु गोमदश्ववन्मय्यस्तु पुष्टम् ॥ ६१ ॥

विवस्वान् नो अमृतत्वे दधातु परैतु मृत्युरमृतं न ऐतु ।
इमान् रक्षतु पुरुषाना जरिम्णो मो ष्वेषामसवो यमं गुः ॥ ६२ ॥

यो दध्रे अंतरिक्षे न मह्ना पितृणां कविः प्रमतिर्मतीनाम् ।
तमर्चत विश्वामित्रा हविर्भिः स नो यमः प्रतरं जीवसे धात् ॥ ६३ ॥

अर्थ—(ते) तेरे लिए [नीहारः] कुहरा [शं भवतु] सुखकारी होवे। [ते] तेरे लिए [प्रुष्वा] वृष्टि [शं] ... रूप हुई हुई [अवशीयताम्] नीचे गिरे। [शीतिके] हे शैत्ययुक्त ! [शीतिकावति] हे शैत्यगुणसंपन्न ओषधि ! [ह्लादिके] हे हर्षित करनेवाली तथा [ह्लादिकावति] आनन्दित करनेवाले गुणोंवाली औषधि ! अप्सु जलमें जिस प्रकार [मण्डूकी] मेंडकी शान्त होती है अर्थात् जैसे जल मेंडकीको शांति पहुंचानेवाला होता है उसी प्रकार तू (शं भुव) सुखकारी हो और (इमं अग्निं) इस आगको (अर्थात् जलनेसे जो शरीरमें दाह (जलन) पैदा होता है उसको (सुशमय) अच्छी प्रकारसे शान्त कर दे। (ऋ० १०।१६।१४) ॥ ६० ॥

(विवस्वान्) सूर्य (नः अभयं कृणोतु) हमें अभय बनावे। (यः) जो कि विवस्वान् (सुत्रामा) अच्छी तरह सबसे रक्षा करनेवाला, (जीरदानुः) जीवनदाता व [सुदानुः] उत्तम दाता है। (इह) इस संसारमें (इमे) ये (वीराः) पुत्रपौत्रादि [बहवः भवन्तु] बहुत हो जावें। अर्थात् हमारे पुत्रपौत्रादि खूब होवें। और (गोमत्) गौओंवाला तथा (अश्ववत्) घोडोंवाला (पुष्टं) पोषण (मयि अस्तु) मेरेमें होवे। अर्थात् मैं गौघोडोंसे संपन्न होऊं ॥ ६१ ॥

(विवस्वान्) सूर्य (नः) हमें (अमृतत्वे) अमरतामें (दधातु) स्थापित करे अर्थात् सूर्य हमें अमर बनावे। (मृत्युः परा एतु) मृत्यु परे भाग जावे। (नः अमृतं एतु) और हमें अमरता प्राप्त होवे। वह विवस्वान् (इमान् पुरुषान्) इन पुरुषोंकी (आ जरिम्णः) वृद्धावस्थापर्यन्त (रक्षतु) रक्षा करे। (एषां असवः) इन पुरुषोंके प्राण (मा यमं गुः) यमको मत जावें अर्थात् ये मत मरें ॥ ६२ ॥

(यः) जो (प्रमतिः) प्रकृष्ट बुद्धिवाला (कविः) क्रान्तदर्शी (मतीनां पितॄणां) उत्तम मतिमान पितरोंको (मह्ना न) मानो अपनी महिमासे ही (अंतरिक्षे) अंतरिक्षमें (दध्रे) धारण करता है, (विश्वमित्राः) हे सबके मित्र मनुष्यो ! (तं) उस यमकी (हविभिः अर्चत) हवियोंसे पूजा करो। (सः यमः) वह यम (नः) हमें जीवसे दीर्घायुके लिए (प्रतरं धात्) अच्छी तरहसे धारण करे ॥ ६३ ॥

भावार्थ- तेरे लिये सब जगत् के पदार्थ सुखदायी हों ॥ ६० ॥

सब प्रकारसे रक्षा करनेवाला व जीवनदाता सूर्य हमें अभय बनावे। हमारी संतति खूब बढे व हम गौ घोडों आदियोंसे परिपूर्ण होवें ॥ ६१ ॥

सूर्य हमें अमर बनावे। मृत्यु दूर भाग जावे व हमें अमरता प्राप्त होवे; हमारे सब पुरुषोंकी सूर्य वृद्धावस्थातक रक्षा करता रहे; हमारे में से कोईभी वृद्धावस्थासे पूर्व न मरे ॥ ६२ ॥

वह क्रान्तदर्शी यम विचारशील पितरोंको अपनी महिमासे अंतरिक्षमें धारण किए हुए है। हे मनुष्यो ! तुम सबके मित्र हुए हुए उसकी हवियोंसे पूजा करो, जिससे कि वह तुम्हारे लिए दीर्घायु प्रदान करे ॥ ६३ ॥

आ रोहत दिवमुत्तमामृषयो मा बिभीतन ।
सोमपाः सोमपायिन इदं वः क्रियते हविरगन्म ज्योतिरुत्तमम् ॥ ६४ ॥

प्र केतुना बृहता भात्यग्निरा रोदसी वृषभो रोरवीति ।
दिवश्चिदन्तादुपमामुदानडपामुपस्थे महिषो ववर्ध ॥ ६५ ॥

नाके सुपर्णमुप यत्पतन्तं हृदा वेनन्तो अभ्यचक्षत त्वा ।
हिरण्यपक्षं वरुणस्य दूतं यमस्य योनौ शकुनं भुरण्युम् ॥ ६६ ॥

इन्द्र क्रतुं न आ भर पिता पुत्रेभ्यो यथा ।
शिक्षा णो अस्मिन् पुरुहूत यामनि जीवा ज्योतिरशीमहि ॥ ६७ ॥

अर्थ-(ऋषयः) हे मंत्रद्रष्टा जनो ! (उत्तमां दिवं आरोहत) उत्तम द्यु अर्थात् स्वर्गको चढो । अर्थात् स्वर्गमें जाओ। [मा बिभीतन] मत डरो । हे [सोमपाः] सोमपान करनेवाले तथा [सोमपायिनः] अन्यों को सोमपान करानेवाले जनो! [वः] तुम्हारे लिए (इदं हविः क्रियते) यह हवि हम करते हैं । [उत्तमं ज्योतिः] जिससे कि हम उत्तम ज्योतिको [अगन्म] प्राप्त होवें ॥ ६४ ॥

(अग्निः) अग्नि [बृहता केतुना] अपने बडे भारी केतुसे अर्थात् ज्वालारूपी झंडोंसे (प्रभाति) अच्छी तरह चमकता है । और वही अग्नि [रोदसी] द्यावा पृथिवीमें [वृषभः] वर्षादि द्वारा कामनाओंकी पूर्ति करता हु (रोरवीति) मेघ बिजली आदिके रूपमें गरजता है । वह (दिवः अन्तात्) द्युके अन्तसे [माम् उप] मेरे तक अर्थात् द्यु तथा पृथिवीमें सर्वत्र (उत् आनट्) अच्छी तरहसे व्याप्त हुआ हुआ है । [महिषः] महान् अग्नि (अपां उपस्थे) जलोंकी गोदमें [ववर्ध] बढता है । अर्थात् बादलके रूपमें विद्यमान जलोंमें बिजली रूपमें यह अग्नि बढता रहता है ॥ ६५ ॥

(नाके उप पतन्तं सुपर्णं इव) आकाशमें उडते हुए उत्तम पंखवाले पक्षीको जैसे सज्जन देखते हैं उसी प्रकार हे सूर्य ! आकाशमें गति करते हुए [त्वा] तुझे [हिरण्यपक्षं] सोने जैसे चमकीले पंखोंवालेको, [सूर्यका प्रकाश सुवर्णीय पीला होता है] और (वरुणस्य दूतं) वरुण जल की देवता है, उसको प्राप्त करानेवाले अर्थात् वृष्टि देनेवाले तुझको, (सूर्यका वृष्टि देना वेदमें कई स्थानोंपर आया है) और (यमस्य योनौ) यमके घरमें अर्थात् अंतरिक्षमें (यमका, अंतरिक्षमें स्थान है यह पहिले आ चुका है) (शकुनं) शक्तिशाली होकर विद्यमान व (भुरण्युम्) वर्षा प्रकाश आदिके देनेद्वारा सबके पालक तुझको विद्वान् गण (हृदा वेनन्तः) हृदयसे ध्यान करते हुए (अभ्यचक्षत) भली प्रकार देखते हैं ॥ ६६ ॥

(इन्द्र) हे ऐश्वर्यवाले ! (नः क्रतुं आभर) तू हमें कर्म व कर्मज्ञान इस प्रकार से दे [यथा] जिस प्रकार से कि (पिता पुत्रेभ्यः) पिता अपनी संतानों को देता है । [पुरुहूत] हे बहुत प्रकारसे बुलाए गए इन्द्र ! (अस्मिन् यामनि) इस संसारसागर पार करनेके मार्गमें (नः शिक्ष) हमें शिक्षा दे । अर्थात् संसारसागर तरनेका उपाय सिखा । जिससे कि [जीवाः] हम जीवलोग [ज्योतिः अशीमहि] ज्ञानप्रकाश को प्राप्त करें ॥ ६७ ॥

भावार्थ- ऋषिगण निर्भय होकर स्वर्गको जाते हैं । सोमपान करनेवालों व दूसरोंको करानेवालोंके लिए हवि देने से उत्तम ज्योतिका लाभ होता है ॥ ६४ ॥

यह अग्नि पृथिवीपर ज्वालाओंसे चमकता रहता है । द्यावापृथिवीमें वर्षा करनेवाला हुआ हुआ सूर्य विद्युत् आदिके रूपमें गर्जता रहता है । द्यु तथा पृथिवी दोनोंमें यह व्याप्त है । अंतरिक्षमें विद्यमान जलोंमें विद्युत् रूपमें यह बढता रहता है । कहने-का अभिप्राय यह है कि यह अग्नि भिन्न भिन्न स्वरूपोंमें द्यावापृथिवी को व्याप्त किए हुए है ॥ ६५ ॥

अपूपापिहितान् कुम्भान् यांस्ते देवा अधारयन् ।
ते ते सन्तु स्वधावन्तो मधुमन्तो घृतश्चुतः ॥ ६८ ॥
यास्ते धाना अनुकिरामि तिलमिश्राः स्वधावतीः ।
तास्ते सन्तु विभ्वीः प्रभ्वीस्तास्ते यमो राजानु मन्यताम् ॥ ६९ ॥
पुनर्देहि वनस्पते य एष निहितस्त्वयि । यथा यमस्य सादन आसातै विदथा वदन् ॥ ७० ॥
आ रभस्व जातवेदस्तेजस्वद्धरो अस्तु ते ।
शरीरमस्य सं दहाथैनं धेहि सुकृतामु लोके ॥ ७१ ॥
ये ते पूर्वे परागता अपरे पितरश्च ये । तेभ्यो घृतस्य कुल्यैतु शतधारा व्युन्दती ॥ ७२ ॥

अर्थ- [यान्] जिन [अपूपापिहितान्] मालपूओंसे ढके हुए [कुम्भान्] घडोंको [देवाः] देवोंने [ते] तेरे लिए [अधारयन्] धारण किया है अर्थात् तुझे दिया है [ते] वे घडे [ते] तेरे लिये [स्वधावन्तः] स्वधावाले, [मधुमन्तः] मधुरतायुक्त तथा [घृतश्चुतः] घीसे परिपूर्ण (सन्तु) होवें ॥ ६८ ॥

[ते] तेरे लिए [याः तिलमिश्राः स्वधावतीः धानाः] जिन तिलोंसे मिश्रित अर्थात् तिल मिले हुए स्वधावाले धानोंको (अनुकिरामि) अनुकूलता से फेंकता हूं, [ताः] वे धान [ते] तेरे लिए [विभ्वीः] नानाप्रकारवाले व [प्रभ्वीः] प्रभूत मात्रामें यानि बहुत मात्रामें [सन्तु] होवें । [ताः] उन्हें [ते] तुझे देनेके लिए [यमः राजा] यम राजा [अनुमन्यतां] अनुमति देवे । [यमके राज्यमें बिना यमकी अनुमतिके किसीको कुछ नहीं दिया जा सकता अतः उसकी अनुमति मांगी है] ॥ ६९ ॥

(वनस्पते) हे वनस्पति ! [यः एषः] जो यह [त्वयि निहितः] तेरेमें रखा है उसे [पुनः] फिर वापिस [देहि] दे [यथा] जिससे [यमस्य सादने] यमके घरमें यह [विदथा वदन्] विज्ञानोंको बोलता हुआ [आसातै] स्थित होवे ॥ ७० ॥

अर्थ- [जातवेदः] हे जातवेदस् अग्नि ! [आरभस्व] जलाना प्रारंभ कर । [ते] तेरा [हरः] हरनेका सामर्थ्य [तेजस्वत् अस्तु] तेजवाला होवे अर्थात् जिसको जलाना शुरू करे उसे शीघ्र जलाकर भस्मीभूत करनेवाला तेरा सामर्थ्य होवे, जलानेमें देर न लगे । [अस्य] इस मृतका [शरीरं संदह] शरीर अच्छी तरह जला डाल । (अथ) जलानेके बाद [एनं] इसकी आत्माको [सुकृतां लोके] श्रेष्ठजनोंके लोकमें (धेहि) धारण कर अर्थात् वहांपर पहुंचा ॥ ७१ ॥

[ते] वे [ये पूर्वे परागताः] जो पूर्वकालीन पितर परे चले गए हैं अर्थात् परलोकवासी हुए हैं और [ये अपरे पितरः] जो अर्वाचीन पितर परलोकवासी हुए हैं (तेभ्यः) उन प्राचीन व अर्वाचीन पितरों के लिए [शतधारा व्युन्दती] सैकडों धाराओं वाली उमडती हुई [घृतस्य कुल्या] जलकी कुल्या- क्षुद्र नदी [एतु] प्राप्त होवे ॥ ७२ ॥

भावार्थ— यमलोक में मृतात्माको सुख हो ऐसे कर्म वह यहां करें ॥ ६६ ॥

हे इन्द्र ! जिस प्रकार पिता पुत्रोंको उपदेश करता है उस प्रकार तू हमें कर्ममार्ग व तत्संबन्धी ज्ञानका उपदेश कर ताकि हम सुखपूर्वक जीवन व्यतीत कर सकें ॥ ६७ ॥

परलोकवासी जीवके लिए सुख प्राप्त होवे ॥ ६८ ॥

यमलोक में गए हुए के लिए अर्थात् मृतके लिए तिलमिश्रित धान आ जावे ॥ ६९ ॥

जीव यमलोकमें सुखसे पहुंचे ॥ ७० ॥

मृतका शरीर अच्छी प्रकार जलाया जावे ॥ ७१ ॥

पितरोंको जलसे तर्पण करनेके लिए नहर का पानी प्रयुक्त किया जावे ॥ ७२ ॥

एतदा रोह वयं उन्मृजानः स्वा इह बृहदु दीदयन्ते ।
अभि प्रेहि मध्यतो माप हास्थाः पितॄणां लोकं प्रथमो यो अत्र ॥ ७३ ॥

[४]

आ रोहत जनित्रीं जातवेदसः पितृयाणैः सं व आ रोहयामि ।
अवाड्ढव्येषितो हव्यवाह ईजानं युक्ताः सुकृतां धत्त लोके ॥ १ ॥
देवा यज्ञमृतवः कल्पयन्ति हविः पुरोडाशं स्रुचो यज्ञायुधानि ।
तेभिर्याहि पथिभिर्देवयानैर्यैरीजानाः स्वर्गं यन्ति लोकम् ॥ २ ॥

अर्थ-[उन्मृजानः] अपने को शुद्ध करता हुआ (एतद् वयः आरोह) इस अंतरिक्षमें चढ । [इह] यहां (स्वाः) तेरे बन्धुबांधव [बृहत् उदीदयन्ते] बहुत प्रकाशमान हो रहे हैं- अर्थात् वे बहुत उन्नत हुए हुए हैं, उनकी तू चिन्ता मत कर । [मध्यतः अभिप्रेहि] उन बन्धुबांधवों के मध्यसे जा । [पितॄणां लोकं] पितरोंके लोकका [मा अपहास्थाः] त्याग मत कर अर्थात् तेरेसे पितृलोक छूटने न पावे । [यः] जोकि पितृलोक (अत्र) यहां [प्रथमः] मुख्य प्रसिद्ध है ॥ ७३ ॥

[४]

(जातवेदसः) हे अग्नियो ! तुम [जनित्रीं आरोहत] अपनी उत्पन्न करनेवाली के पास पहुंचो । (वः) तुम्हें (पितृयाणैः) पितृयाणमार्गोंसे [सं आरोहयामि] अच्छी प्रकार पहुंचाता हूं । (इषितः हव्यवाहः) प्रि हव्यों का वाहक अग्नि (हव्या = हव्यानि) हव्योंको [अवाट्] वहन करता है । हे अग्नियो ! (युक्ताः) तुम मिलकर (ईजानं) यज्ञ करनेवाले को (सुकृतां लोके) श्रेष्ठ कर्म करनेवालों के लोकमें [धत्त] धारण करो अर्थात् वह उसे ले जाओ ॥ १ ॥

(देवाः) देवगण तथा (ऋतवः) वसन्त आदि षट् ऋतुएं [यज्ञं] यज्ञ अर्थात् दैनिक, पाक्षिक, मासिक आदि नाना प्रकारके होम (कल्पयन्ति) रचते हैं-करते हैं । और इस यज्ञके करनेके लिये (हविः) यज्ञमें डालनेलायक पदार्थ घृत आदि, (पुरोडाशं) घृत आदिसे बनाए हुए पदार्थ, (स्रुचः) इन घृत आदि पदार्थोंको डालनेके लिए साधनभूत यज्ञके लिए उपयुक्त चमचेकी आकृति जैसे स्रुवे तथा अन्य (यज्ञायुधानि) यज्ञसंबन्धी हथियार बनाते हैं (तेभिः देवयानैः पथिभिः) उन ऊपर दर्शाए गए यज्ञ करनेके देवयानमार्गोंसे हे मनुष्य ! तू (याहि) विचरण क अर्थात् तूभी उनकी तरह नित्यप्रति यज्ञको यथाविधि कर । (यैः) जिन देवयानमार्गोंसे कि (ईजानाः) यज्ञ करनेवाले लोग (स्वर्गं लोकं यन्ति) स्वर्गलोक को जाते हैं ॥ २ ॥

भावार्थ— मृतात्मा यमलोकको पहुंचे और वहां वह आनन्दसे रहे ॥ ७३ ॥

[४]

यज्ञ करनेवालोंको अग्नि उत्तम कर्म करनेवालोंके लोकमें पहुंचाती है । अतः सुकृतोंके लोककी प्राप्तिके लिए यज्ञ कर जरूरी है ॥ १ ॥

देवगण ऋतुके अनुसार नानाविध यज्ञसामग्री तैयार करके यज्ञ करते हैं । उनका अनुकरण करनेवाले लोक स्वर्गको प्र होते हैं अतः यथाविधि हररोज यज्ञ करना चाहिये जिससे कि स्वर्गलोक उपलब्ध हो सके ॥ २ ॥

*

ऋतस्य पन्थामनु पश्य साध्वङ्गिरसः सुकृतो येन यन्ति ।
तेभिर्याहि पथिभिः स्वर्गं यत्रादित्या मधु भक्षयन्ति तृतीये नाके अधि वि श्रयस्व ॥ ३ ॥
त्रयः सुपर्णा उपरस्य मायू नाकस्य पृष्ठे अधि विष्टपि श्रिताः ।
स्वर्गा लोका अमृतेन विष्ठा इषमूर्जं यजमानाय दुह्राम् ॥ ४ ॥
जुहूर्दाधार द्यामुपभृदन्तरिक्षं ध्रुवा दाधार पृथिवीं प्रतिष्ठाम् ।
प्रतीमां लोका घृतपृष्ठाः स्वर्गाः कामंकामं यजमानाय दुह्राम् ॥ ५ ॥
ध्रुव आ रोह पृथिवीं विश्वभोजसमन्तरिक्षमुपभृदा क्रमस्व ।
जुहु द्यां गच्छ यजमानेन साकं स्रुवेण वत्सेन दिशः
प्रपीनाः सर्वा धुक्ष्वाहृणीयमानः ॥ ६ ॥

अर्थ- (ऋतस्य पन्थां) यज्ञके मार्गको (साधु अनुपश्य) अच्छी तरहसे जान। और (येन) जिस यज्ञ सबन्धी मार्गसे (सुकृतः अङ्गिरसः) उत्तम कर्म करनेवाले अङ्गिरस् जन (यन्ति) जाते हैं, (तेभिः पथिभिः) उन मार्गों से (स्वर्गं याहि) स्वर्ग को जा, (यत्र) जहां कि अर्थात् जिस स्वर्गमें कि (आदित्याः) अखण्डनीय सामर्थ्य-वाले श्रेष्ठ कर्म करनेवाले जन (मधु भक्षयन्ति) अमृत को खाते हैं अर्थात् आनन्द भोगते हैं। (तृतीये नाके) तीसरा जो स्वर्गलोक है उसमें जाकर (विश्रयस्व) विश्रान्ति ले-आराम कर ॥ ३ ॥

(सुपर्णाः त्रयः) तीन उत्तम गति करनेवाले अथवा उत्तमतया पालन करनेवाले तथा (उपरस्य मायू) मेघके संबन्धसे शब्द करनेवाले दो, ये सब (विष्टपि) अंतरिक्षमें (नाकस्य पृष्ठे) स्वर्गके ऊपर (अधि श्रिताः) स्थित हैं। (स्वर्गाः लोकाः) स्वर्ग लोक (अमृतेन विष्ठाः) अमरतासे व्याप्त हैं अर्थात् वे मरणरहित हैं। ये सब (यजमानाय) यज्ञ करनेवालेके लिए (इषं) अन्न तथा (ऊर्जं) बलको (दुह्राम्) देवें ॥ ४ ॥

(जुहूः) जुहूने (द्यां दाधार) द्युलोकको धारण किया हुआ है। और (उपभृत्) उपभृतने (अन्तरिक्षं) अन्तरिक्षको धारण कर रखा है। (ध्रुवा प्रतिष्ठां पृथिवीं) ध्रुवाने आश्रयस्थान पृथिवीको (दाधार) धारण कर रखा है। (इमां प्रति) इस पृथिवीकी ओर लक्ष्य करते हुए (घृतपृष्ठाः) चमकीली पीठोंवाले अर्थात् प्रकाशमान (स्वर्गाः लोकाः) स्वर्गलोक [यजमानाय] यज्ञकर्ताके लिए [कामं कामं] प्रत्येक कामनाको [दुह्राम्] पूर्ण करें ॥ ५ ॥

[ध्रुवे] हे ध्रुवा! [विश्वभोजसं पृथिवीं] सबको खिलानेवाली अर्थात् पालक पृथिवी पर [यजमानेन साकं] यजमान के साथ [आरोह] चढ, स्थित हो। (उपभृत्) हे उपभृत्! तू यजमानके साथ (अंतरिक्षं आक्रमस्व) अंतरिक्षमें संचार कर। (जुहु) हे जुहु! तू (यजमानेन साकं) यजमानके साथ [द्यां गच्छ] द्युलोकको जा। हे यजमान! इस प्रकार तू (अहृणीयमानः) निःसंकोच हुआ हुआ (वत्सेन स्रुवेण) बछडेरूपी स्रुवासे (सर्वाः) सब [प्रपीनाः] अच्छी तरह वृद्धिको प्राप्त हुई हुई [दिशः] दिशाओंको [धुक्ष्व] दो। अर्थात् यज्ञद्वारा अभिलषित पदार्थोंको प्राप्त कर ॥ ६ ॥

भावार्थ-- शुभकर्म करनेसे उन्नति और आनन्द प्राप्त होता है ॥ ३ ॥
तीनों दैवी शक्तियां यज्ञकर्ताको अन्न, बल और आनन्द देती हैं ॥ ४ ॥
स्वर्गलोक यज्ञकर्ता की सर्व कामनायें पूर्ण करते हैं ॥ ५ ॥
यज्ञद्वारा यजमान सब जगह अव्याहत गतिसे जाता है। यज्ञद्वारा सर्व दिशाओंसे वांछित फल प्राप्त करता है ॥ ६ ॥

तीर्थैस्तरन्ति प्रवतो महीरिति यज्ञकृतः सुकृतो येन यन्ति ।
अत्रादधुर्यजमानाय लोकं दिशो भूतानि यदकल्पयन्त　　　॥ ७ ॥
अङ्गिरसामयनं पूर्वो अग्निरादित्यानामयनं गार्हपत्यो दक्षिणानामयनं दक्षिणाग्निः ।
महिमानमग्नेर्विहितस्य ब्रह्मणा समङ्गः सर्व उप याहि शग्मः　　　॥ ८ ॥
पूर्वो अग्निष्ट्वा तपतु शं पुरस्ताच्छं पश्चात् तपतु गार्हपत्यः ।
दक्षिणाग्निष्टे तपतु शर्म वर्मोत्तरतो मध्यतो अन्तरिक्षाद् दिशोदिशो अग्ने
परि पाहि घोरात्　　　॥ ९ ॥
यूयमग्ने शंतमाभिस्तनूभिरीजानमभि लोकं स्वर्गम् ।
अश्वा भूत्वा पृष्टिवाहो वहाथ यत्र देवैः सधमादं मदन्ति　　　॥ १० ॥ (२०)

अर्थ– [यज्ञकृतः] यज्ञों के करनेवाले [सुकृतः] श्रेष्ठ कर्म करनेवाले जन [येन यन्ति] जिस मार्गसे विचरण करते हैं उस मार्गपर चलनेसे [तीर्थैः] तरनेके साधन यज्ञादिद्वारा [प्रवतः महीः] बडी बडी आपत्तियां भी [तरन्ति] तर जाते हैं । [यत्] यदा [दिशः] दिशायें तथा [भूतानि भूतोंको अर्थात् प्राणियों को [अकल्पयन्त] निर्माण करते हैं उस समय [यजमानाय] यजमान के लिए [लोकं अदधुः] स्थान देते हैं ॥ ७ ॥

[अङ्गिरसां] अङ्गिरसोंका [अयनं] मार्ग [पूर्वः अग्निः] पूर्वका अग्नि है । [आदित्यानां] आदित्योंका [अयनं] मार्ग [गार्हपत्यः] गार्हपत्य अग्नि है । [दक्षिणानां] कार्यमें दक्षोंका [अयनं] मार्ग [दक्षिणाग्निः] दक्षिणाग्नि है । [ब्रह्मणा] वेदमंत्रों द्वारा [विहितस्य] यज्ञमें स्थापित की गई अग्निकी [महिमानं] महिमाको, [समङ्गः] दृढ अंगोंवाला होकर, [सर्वः] सर्व अवयवों से युक्त हुआ हुआ अर्थात् पूर्ण शरीरवाला होकर, और इसीलिए [शग्मः] सुखी हुआ हुआ तू [उपयाहि] प्राप्त कर ॥ ८ ॥

[पूर्वः अग्निः] पूर्व की अग्नि [त्वा] तुझे [पुरस्तात्] आगेसे [शं तपतु] सुखपूर्वक तपावे । [गार्हपत्यः] गार्हपत्य अग्नि [पश्चात्] पीछेसे [शं तपतु] तुझे सुखपूर्वक तपावे । [दक्षिणाग्निः] दक्षिणाग्नि [ते] तेरे लिए [शर्म] सुखरूप हुई हुई व [वर्म] कवचरूप हुई हुई तुझे [तपतु] तपावे । [अग्ने] हे अग्नि ! तू हमें [उत्तरतः] उत्तर दिशासे [मध्यतः] दिशाओंके बीचसे [अन्तरिक्षात्] अंतरिक्षसे [दिशः दिशः] प्रत्येक दिशासे आनेवाले [घोरात्] क्रूर— हिंसकसे [परिपाहि] चारों ओरसे संरक्षण कर ॥ ९ ॥

(अग्ने = अग्नयः) हे गार्हपत्यादि अग्नियो ! (यूयं) तुम (पृष्टिवाहः अश्वाः भूत्वा) पीठसे ले जानेवाले घोडों की तरह बनकर (शंतमाभिः तनूभिः) अपने सुखकारी शरीरोंसे (ईजानं) जिसने यज्ञ किया है ऐसे को (स्वर्गं लोकं अभि) स्वर्गलोक की ओर (वहाथ) ले जाओ । (यत्र) जहां स्वर्गमें यज्ञकर्ता जन (देवैः सधमादं) देवोंके साथ आनन्द को (मदन्ति) भोगते हुए तृप्त होते हैं ॥ १० ॥

भावार्थ— यज्ञ करनेवाले सुकृत् लोकमें जिस उत्तम मार्गसे जाते हैं उस मार्गपर चलते हुए यज्ञादिद्वारा बडी बडी विपत्तियां भी तरी जा सकती हैं । यज्ञ करनेवाले को सृष्टिनिर्माण के समय भी उत्तम लोक की प्राप्ति होती है । सारांश यह है कि यज्ञ करनेवाले को कभी भी कष्ट नहीं होता ॥ ७ ॥

देवोंके अयन अर्थात् मार्ग के अनुसार अपना आचरण करनेसे सुख प्राप्त होता है ॥ ८ ॥

अग्निसे प्रार्थना की गई कि तू हमारी सब ओरसे रक्षा कर । सब घोर कर्मोंसे हमारा संरक्षण कर ॥ ९ ॥

यज्ञकर्ता को अग्नियाँ घोडों की तरह अपनी पीठपर बैठाकर स्वर्गमें ले जाती हैं जहां कि स्वर्गमें वे देवोंके साथ मिलकर आनन्द भोगते हैं । अतः स्वर्ग प्राप्त्यर्थ यज्ञ करना परमावश्यक है ॥ १० ॥

शमग्ने पश्चात् तप शं पुरस्ताच्छमुत्तराच्छमधरात् तपैनम् ।
एकस्त्रेधा विहितो जातवेदः सम्यगेनं धेहि सुकृतामु लोके ॥ ११ ॥
शमग्नयः समिद्धा आ रभन्तां प्राजापत्यं मेध्यं जातवेदसः ।
शृतं कृण्वन्त इह माव चिक्षिपन् ॥ १२ ॥
यज्ञ एति विततः कल्पमान ईजानमभि लोकं स्वर्गम् ।
तमग्नयः सर्वहुतं जुषन्तां प्राजापत्यं मेध्यं जातवेदसः ।
शृतं कृण्वन्त इह माव चिक्षिपन् ॥ १३ ॥
ईजानश्चितमारुक्षदग्निं नाकस्य पृष्ठाद् दिवमुत्पतिष्यन् ।
तस्मै प्र भाति नभसो ज्योतिषीमान्त्स्वर्गः पन्थाः सुकृते देवयानः ॥ १४ ॥

अर्थ—(अग्ने) हे अग्नि ! तू (एनं) इस यज्ञकर्ताको (शं) सुखपूर्वक (पश्चात्) पीछेसे, (शं) सुखपूर्वक (पुरस्तात्) आगेसे (तप) तपा। (उत्तरात्) उत्तरसे (शं) सुखपूर्वक तपा और (अधरात्) नीचे की दिशासे (शं) सुखपूर्वक तपा। (जातवेदः) हे उत्पन्न पदार्थों में रहनेवाले अग्नि! तू (एकः) एक होता हुवा भी (त्रेधा) तीन प्रकारसे अर्थात् पूर्वाग्नि, गार्हपत्याग्नि और दक्षिणाग्नि के रूपसे (विहितः) स्थापित किया जाता है। तू (एनं) इस यजमान को (सुकृतां लोके) श्रेष्ठ जनों के लोकमें (सम्यक्) अच्छी तरहसे (धेहि) स्थापित कर अर्थात् वहांपर इसे पहुंचा दे॥ ११॥

(समिद्धाः) यथाविधि प्रकाशित की हुई (जातवेदसः) उत्पन्न पदार्थोंमें वर्तमान (अग्नयः) अग्नियां (प्राजापत्यं) प्रजापति देवतावाले [मेध्यं] पवित्र इस यजमानको [शं] सुखपूर्वक यज्ञके कार्यमें [आरभन्तां] उत्सुक बनावें। (इह) यहां पर यज्ञ कार्यमें वे अग्नियाँ यजमान को [शृतं कृण्वन्तः] पक्व अर्थात् पूर्ण बनावें। उसे इस कार्यसे [मा] मत [अव चिक्षिपन्] गिरने देवें॥ १२॥

(विततः यज्ञः) विस्तृत यज्ञ [कल्पमानः] समर्थ हुआ हुआ [ईजानं] यज्ञ किए हुए को [स्वर्गं लोकं] स्वर्ग लोक को [अभिएति] पहुंचाता है। [तं] उस [सर्वहुतं] जिसने अपना सर्वस्व होम कर दिया है ऐसे यज्ञकर्ताको [अग्नयः] अग्नियां [जुषन्तां] संतुष्ट करें। शेष अर्थ ऊपरके मंत्र के समान है॥ १३॥

[नाकस्य पृष्ठात्] स्वर्ग के ऊपरसे [दिवं उत्पतिष्यन्] द्युको जानेकी इच्छा करता हुआ [ईजानः] यज्ञ किया हुआ पुरुष [चितं अग्निं] चयन की हुई अग्नि को [अरुक्षत्] प्रकट करता है, प्रज्वलित करता है। [तस्मै सुकृते] उस उत्तम कर्म करनेवाले के लिए [नभसः] आकाशका [ज्योतिषीमान्] प्रकाशवाला [देवयानः] देव जिससे जाते हैं ऐसा [स्वर्गः] सुखदायी [पन्थाः] मार्ग [प्रभाति] प्रकाशित होता है॥ १४॥

भावार्थ-अग्नि सब ओरसे सुखपूर्वक हमारा रक्षण करती है। वस्तुतः वह एक ही है पर व्यवहार में उसकी तीन रूपों से स्थापना की जाती है। यज्ञकर्ताको वह स्वर्गमें पहुंचाती है॥ ११॥

यज्ञादि कार्यों में प्रज्वलित अग्नियां यजमानको उत्साहित करके पूर्ण मनोरथवाली बनाती हैं। वह अपने कार्य में सफल बनाता है क्योंकि अग्नियां उसे कर्तव्यपथसे गिरने से बचा लेती है॥ १२॥

विस्तृत रूपमें किया गया यज्ञ यजमानको स्वर्गलोकमें पहुंचाता है। अग्नियां उसे अभिमत फलप्रदानद्वारा संतुष्ट करती हैं व कर्तव्यपथसे गिरने नहीं देती।।१३॥

स्वर्गसे द्युको जानेके लिए चयन की हुई अग्निको प्रदीप्त करना चाहिए। और जो चयन कीहुई वह्नि को प्रदीप्त करता है उसके लिए आकाशका सुखदायी देवयान मार्ग खुल जाता है॥ १४॥

अग्निर्होताध्वर्युष्टे बृहस्पतिरिन्द्रो ब्रह्मा दक्षिणतस्ते अस्तु ।
हुतोऽयं संस्थितो यज्ञ एति यत्र पूर्वमयनं हुतानाम् ॥ १५ ॥
अपूपवान् क्षीरवांश्चरुरेह सीदतु ।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ १६ ॥
अपूपवान् दधिवांश्चरुरेह सीदतु ।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ १७ ॥
अपूपवान् द्रप्सवांश्चरुरेह सीदतु ।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ १८ ॥
अपूपवान् घृतवांश्चरुरेह सीदतु ।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ १९ ॥

अर्थ— [ते] तेरा [अग्निः होता] अग्नि होता अर्थात् स्वाहापूर्वक आहुति देनेवाला [अस्तु] होवे। [बृहस्पतिः] बडों बडों का पालक तेरा [अध्वर्युः] यज्ञ करानेवाला होवे। और [इन्द्रः] इन्द्र [ब्रह्मा] ब्रह्मा बनकर [ते दक्षिणतः अस्तु] तेरी दाहिनी ओरमें होवे। [अयं] यह [हुतः] आहुति दिया गया और [सं स्थितः] अच्छी तरह किया गया [यज्ञः] यज्ञ [एति] वहां जाता है [यत्र] जहां कि [पूर्वं] पहिले [हुतानां] आहुति दिए गए यज्ञोंका [अयनं] जाना होता है ॥ १५ ॥

[अपूपवान्] मालपूए आदि गेहूंके आटेसे व घीकी सहायतासे बनाए हुए पदार्थोंवाला तथा [क्षीरवान्] दूधवाला [चरुः] यज्ञके लिए तैयार किया गया पाक [इह] यहां यज्ञमें [आसीदतु] स्थित होवे। (लोककृतः) लोक बनानेवालों तथा (पथिकृतः) मार्गोंके बनानेवालोंकी हम (यजामहे) उस उपरोक्त चरुद्वारा पूजा करते हैं- सत्कार करते हैं। (ये) जो कि लोककृत् व पथिकृत् तुम (इह) यहांपर यज्ञमें (देवानां) देवोंके बीचमें (हुतभागाः जिनके लिए कि भाग दिया गयाहै ऐसे (स्थ) स्थित हो ॥ १६ ॥

(अपूपवान्) मालपूए आदिसे युक्त तथा (दधिवान् दहीमिश्रित (चरुः) चरु (इह) यहां यज्ञमें (आसीदतु) स्थित होवे। (लोककृतः) लोकोंको बनानेवाले इत्यादि शेष पूर्ववत् ॥ १७ ॥

(अपूपवान्) मालपूवे आदिसे युक्त तथा (द्रप्सवान्) अन्य सुगंध करनेवाले द्रव्योंसे युक्त (चरुः) चरु (इह) यहां यज्ञमें (आसीदतु) स्थित होवे। (लोककृतः) लोकोंको बनानेवाले इत्यादि शेष पूर्ववत् ॥ १८ ॥

(अपूपवान् मालपूवे आदिसे युक्त तथा (घृतवान्) घीमिश्रित (चरुः) चरु (इह) यहां यज्ञमें (आसीदतु) स्थित होवे। (लोककृतः) लोकोंके बनानेवाले इत्यादि शेष पूर्ववत् ॥ १९ ॥

भावार्थ- जिस यज्ञका अग्नि होता है, बृहस्पति अध्वर्यु है और इन्द्र ब्रह्मा है वह यज्ञ अवश्य ही सफल होकर यथास्थान पहुंचता है व यजमान को उचित फल प्रदान करवाता है ॥ १५ ॥

जो संसारके उद्धारक व मार्गदर्शक लोग हैं उनका यज्ञमें नाना प्रकारसे निर्माण किए हुए चरुसे सत्कार करना चाहिए ॥१६ ॥

यज्ञमें उत्तम अन्नादिपदार्थोंसे सब का सत्कार करना योग्य है ॥ १७-२४ ॥ २५-२६ ॥

अपूपवान् मांसवांश्चरुरेह सीदतु ।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ २० ॥ (२१)
अपूपवानन्नवांश्चरुरेह सीदतु ।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ २१ ॥
अपूपवान् मधुमांश्चरुरेह सीदतु ।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ २२ ॥
अपूपवान् रसवांश्चरुरेह सीदतु ।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ २३ ॥
अपूपवानपवांश्चरुरेह सीदतु ।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ २४ ॥
अपूपापिहितान् कुम्भान् यांस्ते देवा अधारयन् ।
ते ते सन्तु स्वधावन्तो मधुमन्तो घृतश्चुतः ॥ २५ ॥
यास्ते धाना अनुकिरामि तिलमिश्राः स्वधावतीः ।
तास्ते सन्तूद्भ्वीः प्रभ्वीस्तास्ते यमो राजानु मन्यताम् ॥ २६ ॥
अक्षितिं भूयसीम् ॥ २७ ॥

अर्थ—(अपूपवान्) मालपूये आदिसे युक्त तथा (मांसवान्) मांसवाला (चरुः) चरु (इह) यहां यज्ञमें (आसीदतु) स्थित होवे। (लोककृतः) लोकोंको बनानेवाले इत्यादि शेष पूर्ववत् ॥ २० ॥

(अपूपवान्) मालपूये आदिसे युक्त तथा (अन्नवान्) अन्न अर्थात् नाना तरहके धान्योंवाला (चरुः) चरु (इह) यहां यज्ञमें (आसीदतु) स्थित होवे। (लोककृतः) लोक बनानेवाले इत्यादि शेष पूर्ववत् ॥ २१ ॥

(अपूपवान्) मालपूये आदिसे युक्त (मधुमान्) मधु अर्थात् शहद अथवा मीठे पदार्थोंसे युक्त (चरुः) चरु (इह) यहां (आसीदतु) स्थित होवे। (लोककृतः) लोक बनानेवाले इत्यादि शेष पूर्ववत् ॥ २२ ॥

(अपूपवान्) मालपूये आदिसे युक्त (रसवान्) अनेक मीठे मीठे विविध रसों से मिश्रित (चरुः) चरु (इह) यहां यज्ञमें (आसीदतु) स्थित होवे। (लोककृतः) लोक बनानेवाले इत्यादि शेष पूर्ववत् ॥ २३ ॥

(अपूपवान्) मालपूये आदि से युक्त (अप-वान्) जलवाला अर्थात् शुद्ध जलसे बनाया हुआ (चरुः) चरु (इह) यहां यज्ञमें (आसीदतु) स्थित होवे। (लोककृतः) लोक बनानेवाले इत्यादि शेष पूर्ववत् ॥ २४ ॥

(देखो मंत्रार्थ १८।३।६८-६९ ये दो मंत्र पीछे आगये हैं) ॥ २५—२६ ॥

(भूयसीम्) बहुत और (अक्षितिं) क्षयरहित अर्थात् बहुत कालपर्यन्त यम राजा अनुमति देवे ॥ २७ ॥

भावार्थ— हमें अक्षय अन्नादिक साधन प्राप्त हों ॥ २७ ॥

द्रप्सश्चस्कन्द पृथिवीमनु द्यामिमं च योनिमनु यश्च पूर्वः ।
समानं योनिमनु संचरन्तं द्रप्सं जुहोम्यनु सप्त होत्राः ॥ २८ ॥
शतधारं वायुमर्कं स्वर्विदं नृचक्षसस्ते अभि चक्षते रयिम् ।
ये पृणन्ति प्र च यच्छन्ति सर्वदा ते दुह्रते दक्षिणां सप्तमातरम् ॥ २९ ॥
कोशं दुहन्ति कलशं चतुर्बिलमिडां धेनुं मधुमतीं स्वस्तये ।
ऊर्जं मदन्तीमदितिं जनेष्वग्ने मा हिंसीः परमे व्योमन् ॥ ३० ॥ (२२)
एतत् ते देवः सविता वासो ददाति भर्तवे ।
तत्त्वं यमस्य राज्ये वसानस्तार्प्यं चर ॥ ३१ ॥

अर्थ- (द्रप्सः) सबको हर्षित करनेवाला आदित्य (यः पूर्वः) जो कि सबसे पूर्वका है ऐसा (योनिं पृथिवीं अनु) चराचर जगत् की कारणभूत पृथिवीमें (च) और (इमं द्यां अनु) द्युलोकमें (चस्कन्द) विचरण करता रहता है, अथवा उसने इनको व्याप्त कर रखा है (समानं योनिं अनु संचरन्तं) सबकी समान कारणभूत इस पृथिवीमें संचार करते हुए (द्रप्सं) हर्षप्रद आदित्यको (सप्त होत्राः अनु) सात होतागणों द्वारा सब दिशाओंमें (जुहोमि) हवि प्रदान करता हूं ॥ २८ ॥

(ते) वे (नृचक्षसः) मनुष्यों के देखनेवाले अर्थात् मनुष्यों को जाननेवाले- मनुष्योंके स्वभाव आदिको ताडनेवाले बुद्धिमान मनुष्य (शतधारं) सैकडों धाराओंवाले अर्थात् जो अनेक प्रकारके दानों में पानी की तरह बहाया जाता है ऐसे अतएव (वायुं) गतिमान्, आज एकके पास दानमें आया है तो कल दूसरेके पास, इस प्रकारसे विचरण करते हुए, (अर्कं) पूजनीय (स्वर्विदं) सुखको प्राप्त करानेवाले (रयिं) धनको (अभिचक्षते) देखते हैं अर्थात् जानते हैं प्राप्त करते हैं। (ये) जो मनुष्य (सर्वदा) सदा उस धनसे (पृणन्ति) अपनेको पूर्ण करते रहते हैं (च) और (प्रयच्छन्ति) सर्वदा सुपात्रके लिए उस धनका दान करते रहते हैं (ते) वे मनुष्य [सप्तमातरं दक्षिणां] सप्तमातावाली दक्षिणा [दान] को [दुह्रते] दोहते हैं- प्राप्त करते हैं ॥ २९ ॥

[स्वस्तये] कल्याणके लि [चतुर्बिलं] चारस्तनरूपी छिद्र (स्तन) वाले [कोशं] मानो जो दूधका खजाना है ऐसे [कलशं] घडेसे बडे भारी ऊधवाली, (मधुमतीं) मीठे दूधवाली [इडां धेनुं] इडा नामवाली गायको [दुहन्ति] दोहते हैं। [अग्ने] हे अग्नि ! [जनेषु ऊर्जं मदन्ती] जन समाज में अपने दूधरूपी अन्नसे तृप्त करती हुई [अदितिं] मारनेके अयोग्य गायको (परमे व्योमन्) विश्वमें [मा हिंसीः] मत मार। अथवा यह मंत्र भूमिके पक्षमें भी लग सकता है—कल्याणके लिए धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष रूपी चार स्तनोंवाली नानाविध द्रव्योंके खजानोंसे भरपूर मधुर अन्नादि देनेवाली [इडां धेनुं] भूमिरूपी गायको दोहते हैं ॥ ३० ॥

हे पुरुष ! (सविता देवः) प्रेरक देव (ते) तेरे लिए (भर्तवे) पहिननेके लिए [एतत् वासः] यह वस्त्र (ददाति) देता है। (तत् तार्प्यं) उस तृप्ति करनेवाले वस्त्रको (वसानः) पहिनकर(यमस्य राज्ये)यमके राज्यमें (चर) विचरण कर॥३१॥

भावार्थ— आदित्य, द्यु तथा पृथिवी दोनोंमें संचार करता हुआ दोनोंमें व्याप्त हो रहा है। ऐसे हर्षप्रद आदित्यके लिए सर्व दिशाओंमें होम करता हूं ॥ २८ ॥

जो धन कमाकर उसका सदुपयोगमें अर्थात् दानादिमें खर्च करते हैं वे दुनियामें प्रतिष्ठा लाभ कर इहलोक व परलोक दोनोंमें सुखी होते हैं ॥ २९ ॥

अन्नादिसे जन-समाजकी तृप्ति करती हुई अखण्डनीय भूमि को हे अग्नि ! परम व्योममें मत नष्ट कर ॥३०॥

मृत पुरुषको जो कि यमलोकमें पहुंच गया है उसको वस्त्र देना चाहिये ॥ ३१ ॥

धाना धेनुरभवद् वत्सो अस्यास्तिलोऽभवत् ।
तां वै यमस्य राज्ये अक्षितामुप जीवति ॥ ३२ ॥
एतास्ते असौ धेनवः कामदुघा भवन्तु ।
एनीः श्येनीः सरूपा विरूपास्तिलवत्सा उप तिष्ठन्तु त्वात्र ॥ ३३ ॥
एनीर्धाना हरिणीः श्येनीरस्य कृष्णा धाना रोहिणीर्धेनवस्ते ।
तिलवत्सा ऊर्जमस्मै दुहाना विश्वाहा सन्त्वनपस्फुरन्तीः ॥ ३४ ॥
वैश्वानरे हविरिदं जुहोमि साहस्रं शतधारमुत्सम् ।
स बिभर्ति पितरं पितामहान् प्रपितामहान् बिभर्ति पिन्वमानः ॥ ३५ ॥

अर्थ- यमलोकमें जाकर उपरोक्त मन्त्रानुसार दिए गए (धाना) धान [धेनुः] तृप्त करनेवाली गौ (अभवत्) बनते हैं। (अस्याः) और इस धानरूपी गौका (वत्सः) बछडा [तिलः] तिल [अभवत्] बनता है। (वै) निश्चयसे (यमस्य राज्ये) यमके राज्यमें वह [तां] उस धानों की बनी हुई गाय पर ही (उप जीवति) आश्रित हुआ हुआ जीता है ॥ ३२ ॥

[असौ] हे अमुक नामवाले पुरुष ! [एताः] ये गायें [ते] तेरे लिए [कामदुघाः] कामनाओंको पूर्ण करनेवाली [भवन्तु] होवें। (एनीः) संध्या जैसे रंगवाली अर्थात् लाल रंगवाली, [श्येनीः] सफेद, [सरूपाः] एकसे रूपवाली व [विरूपाः] विविध रूपवाली तथा [तिलवत्साः] तिल है बछडा जिनका ऐसी गायें [अत्र] यहां जहां तेरा वास है वहां [त्वा उप तिष्ठन्तु] तेरे समीप स्थित रहें वा तेरी सेवा करती रहें ॥ ३३ ॥

[अस्य ते] इस तेरे [हरिणीः धानाः] हरे रंगवाले धान [एनीः श्येनीः धेनवः] अरुण व सफेद गायें होवें। [कृष्णाः धानाः] काले धान [रोहिणीः धेनवः) लाल रंगकी गायें होवें। (तिलवत्साः) तिल जिनका बछडा है ऐसी ये गायें (अनपस्फुरन्तीः) कभी भी नष्ट न होती हुईं (अस्मै) इसके लिए (विश्वाहा) सर्वदा [ऊर्जं दुहानाः सन्तु] बलदायक रस दूधको दोहती रहें ॥ ३४ ॥

[वैश्वानरे इदं हविः जुहोमि] वैश्वानर अग्निमें यह हवि डालता हूं जो कि हवि [शतधारं साहस्रं उत्सं इव] सैकडों व हजारों धाराओंवाले स्रोतके समान सैकडों व हजारों धाराओंवाली है। [सः] वह वैश्वानर अग्नि [पिन्वमानः] उस हविसे तृप्त हुई हुई [पितरं पितामहान् प्रपितामहान् बिभर्ति] पिताका, दादाओंका तथा परदादाओंका धारण पोषण करती है ॥ ३५ ॥

भावार्थ- धान तथा तिल यम राज्यमें जाकर धेनु स्वरूपमें परिणत हो जाते हैं ॥ ३२ ॥

हे अमुक नामवाले पुरुष ! ये नाना रंगों व रूपोंवाली गायें सर्वदा तेरे समीप बनी रहें व तेरी कामनाओंको पूर्ण करती रहें ॥ ३३ ॥

हरे रंगके कच्चे धान अरुण व श्वेत रंगकी गायें बनती हैं। और काले धान तिल आदि अथवा भूननेसे जो कुछ काले रंगके हो गए हैं ऐसे धान लाल गायें बनते हैं। ये सब गायें सदा अविनश्वर हुई हुई अपने सारभूत रस दूधको देती रहें॥३४॥

अंत्येष्टिमें सब मनुष्योंको अग्निमें जलाया जाता है और फिर अग्नि सबको पितृलोकमें ले जाती है। इस प्रकार अग्नि वैश्वानर है। पितरोंके लिए जो कुछ देना हो वह अग्निको देना चाहिये वह उन्हें पहुंचाती है और इस प्रकार उनका धारण पोषण करती है ॥ ३५ ॥

सहस्रधारं शतधारमुत्समक्षितं व्यच्यमानं सलिलस्य पृष्ठे ।
ऊर्जं दुहानमनपस्फुरन्तमुपासते पितरः स्वधाभिः　　॥ ३६ ॥
इदं कसाम्बु चयनेन चितं तत् संजाता अव पश्यतेत ।
मर्त्योऽयममृतत्वमेति तस्मै गृहान् कृणुत यावत्सबन्धु　　॥ ३७ ॥
इहैवैधि धनसनिरिहचित्त इहक्रतुः । इहैधि वीर्यवत्तरो वयोधा अपराहतः　　॥ ३८ ॥
पुत्रं पौत्रमभितर्पयन्तीरापो मधुमतीरिमाः ।
स्वधां पितृभ्यो अमृतं दुहाना आपो देवीरुभयांस्तर्पयन्तु　　॥ ३९ ॥
आपो अग्निं प्र हिणुत पितृँरुपेमं यज्ञं पितरो मे जुषन्ताम् ।
आसीनामूर्जमुप ये सचन्ते ते नो रयिं सर्ववीरं नि यच्छान्　　॥ ४० ॥ (२३)

अर्थ— [शतधारं सहस्रधारं उत्सं] सैंकडों व हजारों धाराओंवाले स्रोतकी तरह जो हजारों व सैंकडों धाराओंसे युक्त है ऐसे, और जो [सलिलस्य पृष्ठे व्यच्यमानं] अंतरिक्षके ऊपर व्याप्त है ऐसे, [ऊर्जं दुहानं] अन्न व बलको देनेवाले [अनपस्फुरन्तं कभी भी चलायमान न होनेवाले अर्थात् स्थिर हविको [पितरः] पितर [स्वधाभिः] स्वधाओंके साथ [उपासते] सेवन करते हैं ॥ ३६ ॥

[इदं कसाम्बु] इस कसाम्बु को (चयनेन) चुनकरके [चितं] ढेर लगाया है- इकट्ठा किया है । [तत्] उसको [सजाताः] हे सजातीय बन्धुगण ! [एत] आओ और [अवपश्यत] ध्यानसे देखो । [अयं मर्त्यः] यह मनुष्य जिसका कि कसाम्बु चयन किया गया है वह [अमृतत्वं] अमरताको [एति] प्राप्त होता है । [तस्मै] उसके लिए [यावत् सबन्धु] जितने भी तुम सजातीय बन्धु हो, वे सब [गृहान् कुरुत] घरों को बनाओ अर्थात् उसे घ आदि द्वारा आश्रयप्रदान करो ॥ ३७ ॥

हे मनुष्य ! तू [इह एव एधि] यहीं पर ही वृद्धि प्राप्त कर । [इह] यहांपर [चित्तः] ज्ञानवान हुआ हुआ [इह] यहांपर [क्रतुः] कर्मशील हुआ हुआ व [धनसनिः] हमें धन देनेवाला हो । [इह] यहां पर ही [वीर्यवत्तरः अति बलवान् हुआ हुआ और अतएव [अपराहतः] शत्रुओंसे अपराजित हुआ हुआ [वयोधाः] अन्नका धारण करनेवाला व अन्नसे दूसरोंका पोषण करता हुआ अथवा दीर्घायुवाला होकर [एधि] बढ ॥ ३८ ॥

[पुत्रं पौत्रं अभि तर्पयन्तीः] पुत्रपौत्रादियोंको पूर्णतया तृप्त करते हुए [इमाः मधुमतीः आपः] ये मधुर जल हैं । [पितृभ्यः स्वधां अमृतं दुहानाः] पितरोंके लिए स्वधा व अमृतका दोहन करते हुए [देवीःआपः] ये दिव्य जल [उभयान्] दोनों पुत्रपौत्रोंको [तर्पयन्तु] तृप्त करें ॥ ३९ ॥

(आपः) हे आप ! तुम (अग्निं पितॄन् उपप्रहिणुत) अग्निको पितरोंके पास भेजो । (मे पितरः) मेरे पितृगण (इमं यज्ञं जुषन्ताम्) इस यज्ञका सेवन करें । (ये) जो पितर (आसीनां ऊर्जं उपसचन्ते) उपस्थित अर्थात् हमारे से दिए गए अन्नका सेवन करते हैं (ते) वे पितर (नः) हमें (सर्ववीरं रयिं) सब प्रकारकी वीरतासे युक्त धन-संपत्ति को (नियच्छान्) निरन्तर देते रहें ॥ ४० ॥

भावार्थ— पितृगण स्वधाके साथ हवि खाते हैं ॥ ३६ ॥

यह कसाम्बु का संचय किया गया है उसे हे बन्धुगणो ! आकर देखो । यह मनुष्य जिसका कि कसाम्बु- संचय किया गया है वह अमृत को प्राप्त होवे । उसे तुम सब आश्रय देकर सुखी करो ॥ ३७ ॥

हे मनुष्य ! तू ज्ञानी व कर्मकुशल होकर हमें धन-- प्रदान करता हुआ संसार-- वृद्धिको प्राप्त कर । बलवान् हुआ हुआ किसीसे पराजित न होकर जनसमाज की अन्नादिसे पुष्टि करके दीर्घायु होकर वृद्धिका लाभ कर ॥ ३८ ॥

समिन्धते अमर्त्यं हव्यवाहं घृतप्रियम् ।
स वेद निहितान् निधीन् पितॄन् परावतो गतान् ॥ ४१ ॥
यं ते मन्थं यमोदनं यन्मांसं निपृणामि ते ।
ते ते सन्तु स्वधावन्तो मधुमन्तो घृतश्चुतः ॥ ४२ ॥
यास्ते धाना अनुकिरामि तिलमिश्राः स्वधावतीः ।
तास्ते सन्तूद्भ्वीः प्रभ्वीस्तास्ते यमो राजानु मन्यताम् ॥ ४३ ॥
इदं पूर्वमपरं नियानं येना ते पूर्वे पितरः परेताः ।
पुरोगवा ये अभिशाचो अस्य ते त्वा वहन्ति सुकृतामु लोकम् ॥ ४४ ॥
सरस्वतीं देवयन्तो हवन्ते सरस्वतीमध्वरे तायमाने ।
सरस्वतीं सुकृतो हवन्ते सरस्वती दाशुषे वार्यं दात् ॥ ४५ ॥

अर्थ- (अमर्त्यं) मरणधर्मसे रहित (घृतप्रियं) जिसको घी बहुत प्रिय है ऐसी (हव्यवाहं) हव्योंका वहन करनेवाली अग्निको पितृगण (समिन्धते) अच्छी प्रकार प्रदीप्त करते हैं। और (सः) वह अग्नि (निहितान् निधीन्) छिपे हुए खजानों की तरह [यहां लुप्तोपमा है] (परावतो गतान् पितॄन्) दूरगत पितरों को (वेद) जानती है ॥ ४१ ॥

(ते) तेरे लिए (यं मन्थं) जिस मंथ अर्थात् मथनेसे- विलोडनेसे प्राप्त पदार्थ मक्खन आदि को और (यं ओदनं) जिस भातको (यत् मांसं) जिस मांसको (ते) तेरे लिए (निपृणामि) देता हूं। (ते) वे सब (स्वधावन्तः मधुमन्तः घृतश्चुतः) स्वधावाले, मधुरतासे युक्त तथा घीसे परिपूर्ण (ते सन्तु) तेरे लिए होवे ॥ ४२ ॥

(देखो मंत्र १८ । ३ । ६९ और १८ । ४ । २६) ॥ ४३ ॥

(इदं) यह सामने स्थित (पूर्वं) पुरातन तथा (अपरं) आज की (नियानं) बैलगाडी है । (येन) जिस पुरानी बैलगाडी से (ते पूर्वे पितरः परेताः) तेरे पुरातन पितर यहां से गए हैं। (अस्य) इस आज की बैलगाडी के (अभिशाचः) दोनों ओर जुतकर जाते हुए, [जैसा कि बैलगाडीमें बैल दोनों ओर पार्श्वोंमें जुते हुए, होते हैं] (पुरोगवाः) अगले भागमें अर्थात् धुरा में जुते हुए जो बैल हैं (ते) वे बैल (त्वा) तुझे (सुकृतां लोकं) सुकृतों के लोकमें [वहन्ति] प्राप्त करावें ॥ ४४ ॥

[देवयन्तः] देव होने की कामना करते हुए मनुष्य [सरस्वतीं] सरस्वतीको [हवन्ते] बुलाते हैं। [तायमाने] विस्तृत [अध्वरे] हिंसारहित यज्ञादि कार्य में बुलाते हैं। [सुकृतः] श्रेष्ठ कर्म करनेवाले जन [सरस्वतीं हवन्ते] सरस्वतीको बुलाते हैं। [सरस्वती] सरस्वती [दाशुषे] दानी पुरुषके लिए [वार्यं] वरणीय अभिलषित पदार्थ [दात्] देती है ॥४५॥

भावार्थ- ये मधुर जल पुत्रपौत्रोंको तृप्त करते हुए पितरोंके लिए स्वधा व अमृतको दोहते हुए दोनों पुत्रपौत्र व पितरोंको तृप्त करें ॥ ३९ ॥ जल अग्निको पितरोंके पास ले जाएं जिससे कि अग्निमें होम हुआ हवि पितरोंको पहुंच सके ॥४०॥

छिपे हुए खजानों की तरह जो पितर सर्वथा आंखोंसे ओझल हैं अर्थात् सर्वथा अदृश्य हैं [चाहे वे दूर देशमें जानेसे अदृश्य हों या परलोकवासी होनेसे अदृश्य हों] उन्हें अग्नि जानती है। अतः वह पितरों को हवि पहुंचाए और इसीलिए वही पहुंचा सकती है ॥ ४१ ॥

चावल और मीठा दान करना योग्य है ॥ ४२ ॥ ४३ ॥

प्रेतको श्मशान में बैलगाडीसे ले जाना योग्य है ॥ ४४ ॥

देवत्वकी कामना करनेवाले सरस्वती को बुलाते हैं। यज्ञादि हिंसारहित कार्योंमें सरस्वतीको बुलाया जाता है श्रेष्ठ जन सरस्वती को बुलाते हैं क्योंकि सरस्वती दानीको वांछित फल प्रदान करती है ॥ ४५ ॥

सरस्वतीं पितरो हवन्ते दक्षिणा यज्ञमभिनक्षमाणाः ।
आसद्यास्मिन् बर्हिषि मादयध्वमनमीवा इष आ धेह्यस्मे ॥ ४६ ॥
सरस्वति या सरथं ययाथोक्थैः स्वधाभिर्देवि पितृभिर्मदन्ती ।
सहस्रार्घमिडो अत्र भागं रायस्पोषं यजमानाय धेहि ॥ ४७ ॥
पृथिवीं त्वा पृथिव्यामा वेशयामि देवो नो धाता प्र तिरात्यायुः ।
परापरैता वसुविद् वो अस्त्वधा मृताः पितृषु सं भवन्तु ॥ ४८ ॥
आ प्र च्यवेथामप तन्मृजेथां यद् वामभिभा अत्रोचुः ।
अस्मादेतमघ्न्यौ तद् वशीयो दातुः पितृष्विहभोजनौ मम ॥ ४९ ॥

अर्थ- [दक्षिणा] दक्षिणा दिशासे आकर [यज्ञं अभि नक्षमाणाः पितरः] यज्ञको सब ओर से प्राप्त करते हुए जो पितर [सरस्वतीं हवन्ते] सरस्वतीको बुलाते हैं । वे तुम [अस्मिन् बर्हिषि] इस यज्ञमें [आसद्य] बैठकर [मादयध्वं] आनन्दित होओ। [अस्मे] हमें [अनमीवाः इषः] रोगरहित अन्नोंको अर्थात् जिनके खानेसे किसी भी प्रकारका रोग न होवे ऐसे अन्नोंको हे सरस्वती ! तू [आधेहि] दे ॥ ४६ ॥

[सरस्वती देवि] हे सरस्वती देवी ! [या] जो तू [पितृभिः स्वधाभिः] मदन्ती पितरोंके साथ मिलकर स्वधाओंसे आनन्दित होती हुई [सरथं] पितरोंके साथ समान रथपर आरोहण करती हुई [ययाथ] आई है । वह हे सरस्वती ! तू [अत्र] इस यज्ञमें [यजमानाय] यजमानके लिए [सहस्रार्घं इडः भागं] हजारोंसे पूजनीय अन्नके भागको और [रायस्पोषं] धनकी पुष्टि को [धेहि] दे ॥ ४७ ॥

[पृथिवीं त्वां पृथिव्यां आवेशयामि] मिट्टी से बने हुए हे मृत पुरुष ! तुझको मिट्टीमें मिला देता हूं अर्थात् तुझे पृथिवीमें गाडता हूं । (धाता देवः नः आयुः प्रतिराति) धारक देव हमारी आयुको बढावे । हे (परापरैताः) प्रकृष्टतया हमसे दूर चले गए पितरो ! (वः) तुम्हारे लिए धाता देव (वसुविद् अस्तु) वास करनेवाला हो, तुम्हारा आश्रयदाता हो । (अध) और (मृताः) मृत (पितृषु संभवन्तु) पितरोंमें अच्छीतरह होवें अर्थात् पितरोंमें जा मिलें ॥ ४८ ॥

हे प्रेतवाहक बैलो ! (युवां) तुम दोनों (आ प्रच्यवेथाम्) बैलगाडीसे वियुक्त होओ । (तत्) उस वक्ष्यमाण (जो आगे कहा जायगा) निन्दारूप वाक्य से (अप मृजेथां) शुद्ध होओ । उस निन्दारूप वाक्यको जिससे कि ऊपर शुद्ध होने को कहा गया है, कहते हैं- [अभिभाः] दोष देनेवाले पुरुषोंने [वां] तुम दोनोंको ' पुंगवौ किल अस्पृश्यं अनिरीक्ष्यं प्रेतं ऊढवन्तौ ' इत्यादि निन्दारूप, [यत् ऊचुः] जो वाक्य कहा है उससे शुद्ध होओ । [अघ्न्यौ] हे हिंसा करनेके अयोग्य बैलो ! [अस्मात्] इस निन्दा की कारणभूत गाडीसे [एतं] जो छूट आता है [तत्] वह [वशीयः] श्रेष्ठ होवे । और तब [इह] इस पितृमेध में [पितृषु दातुः मम] पितरोंका उद्देश्य करके अग्निको देते हुए वा हविको देते हुए मेरे [भोजनौ] पालना करनेवाले होओ ॥ ४९ ॥

भावार्थ- पितर सरस्वती को यज्ञमें बुलाते हैं ॥ ४६ ॥

सरस्वती पितरोंके साथ समान रथपर चढती, स्वधा खाती व यज्ञमें आती है ॥ ४७ ॥

[पूर्वार्ध में मृत देहके गाडने का निर्देश है ।] यह मानव देह पार्थिव तत्त्वोंके आधिक्यसे बना हुआ है, अतएव यहांपर मृतदेहको पृथिवी [मिट्टी] के नामसे पुकारा गया है ॥ ४८ ॥

श्मशानमें जाकर बैलगाडी छोडकर बैलोंका स्वास्थ्यविचार करना उचित है ॥ ४९ ॥

एयमंगन् दक्षिणा भद्रतो नो अनेन दत्ता सुदुघा वयोधाः।
यौवने जीवानुपपृञ्चती जरा पितृभ्य उप संपराणयादिमान् ॥ ५० ॥ (२४)

इदं पितृभ्यः प्र भरामि बर्हिर्जीवं देवेभ्य उत्तरं स्तृणामि।
तदा रोह पुरुष मेध्यो भवन् प्रति त्वा जानन्तु पितरः परेतम् ॥ ५१ ॥

एदं बर्हिरसदो मेध्योऽभूः प्रति त्वा जानन्तु पितरः परेतम्।
यथापरु तन्वं सं भरस्व गात्राणि ते ब्रह्मणा कल्पयामि ॥ ५२ ॥

पर्णो राजापिधानं चरूणामूर्जो बलं सह ओजो न आगन्।
आयुर्जीवेभ्यो विदधद् दीर्घायुत्वाय शतशारदाय ॥ ५३ ॥

अर्थ-[सुदुघा] उत्तमतया कामनाओं को पूर्ण करनेवाली [वयोधाः] अन्नको देनेवाली [अनेन दत्ता] इससे दी हुई [इयं दक्षिणा] यह दक्षिणा [भद्रतः नः आ आगन्] कल्याणकारी स्थानसे अथवा कल्याणकारी स्वरूपसे हमें प्राप्त हुई है। इससे हमारा अकल्याण नहीं होगा। [यौवने जीवान् उपपृञ्चती जरा इव] जिस प्रकार युवावस्थाके चले जाने पर जीवों को वृद्धावस्था अवश्य आती है उस प्रकार यह दक्षिणा [इमान्] इन जीवों को [पितृभ्यः] पितरोंके लिए अच्छी प्रकार [उप संपराणयात] प्राप्त करावे अर्थात् पितरोंके पास उत्तम रीति से पहुँचावे ॥ ५० ॥

[इदं बर्हिः पितृभ्यः प्रभरामि] यह कुशासन पितरों के लिए रखता हूं बिछाता हूं, [देवेभ्यः जीवं उत्तरं स्तृणामि] देवोंके लिए जीवको उससे ऊंचा बिछाता हूं। [पुरुष] हे पुरुष! [मेध्यः भवन्] पवित्र होता हुआ तू [तत् आरोह] उस पर बैठ। [परेतं त्वा पितरः प्रति जानन्तु] परेत अर्थात् परे गए हुए या उच्चासन को प्राप्त हुए हुए तुझे पितर जानें ॥ ५१ ॥

हे पुरुष! [इदं बर्हिः असदः] इस कुशासन पर तू बैठा है। [मेध्यःभूः] पवित्र हुआ है। [पितरः परेतं त्वा जानन्तु] पितर परेत हुए हुए तुझको जानें। [यथा परु तन्वं संभरस्व] जोडोंके अनुसार शरीरको भर; अर्थात जहां जोड चाहिए वहां जोड बनाता हुआ शरीरको पूर्ण कर। मैं [ते गात्राणि] तेरे अंगोंको [ब्रह्मणा] ब्रह्मद्वारा [कल्पयामि] समर्थ बनाता हूं यानि तेरे शरीरमें ब्रह्मद्वारा शक्ति देता हूं ॥ ५२ ॥

[पर्णः राजा] पालक राजा [चरूणां] चरुओंका ढक्कन है। [ऊर्जः] अन्न, [बलं] बल, [सहः] शत्रुका नाश करनेका सामर्थ्य, [ओजः] तेज ये सब [नः] हमें उस पर्ण राजासे [आ अगन्] प्राप्त होवें। [शतशारदाय दीर्घायुत्वाय] सौ वर्ष जितनी दीर्घायु के [जीवेभ्यः] लिए जीवितों के लिए [आयुः विदधत] आयु करे अर्थात् १०० वर्ष की दीर्घायु देवे ॥ ५३ ॥

भावार्थ- दक्षिणा देनेसे पितरोंकी प्राप्ति होती है। जिसप्रकार युवावस्थाके चले जानेपर वृद्धावस्था अवश्यंभाविनी है, उसी प्रकार दक्षिणा देनेवालेको पितरोंकी प्राप्ति भी अवश्यंभाविनी है ॥ ५० ॥

मनुष्य पवित्र बने और उन्नति प्राप्त करे ॥ ५१ ॥

शरीरके प्रत्येक अवयवकी शुद्धि कराके उसको सुदृढ बनाना चाहिये ॥ ५२ ॥

पर्णराजा चरुओं का ढक्कन है। वह हमें अन्न, बल, तेज आदि देता है। वह इन जीवोंको १०० वर्ष की दीर्घायु देवे ॥ ५३ ॥

ऊर्जो भागो य इमं जजानाश्मान्नानामाधिपत्यं जगाम ।
तमर्चत विश्वामित्रा हविर्भिः स नो यमः प्रतरं जीवसे धात् ॥ ५४ ॥
यथा यमाय हर्म्यमवपन् पञ्च मानवाः । एवा वपामि हर्म्यं यथा मे भूरयोऽसत ॥ ५५ ॥
इदं हिरण्यं बिभृहि यत्ते पिताबिभः पुरा । स्वर्गं यतः पितुर्हस्तं निर्मृड्ढि दक्षिणम् ॥५६॥
ये च जीवा ये च मृता ये जाता ये च यज्ञियाः ।
तेभ्यो घृतस्य कुल्यैतु मधुधारा व्युन्दती ॥ ५७ ॥
वृषा मतीनां पवते विचक्षणः सूरो अह्नां प्रतरीतोषसां दिवः ।
प्राणः सिन्धूनां कलशाँ अचिक्रददिन्द्रस्य हार्दिमाविशन्मनीषया ॥ ५८ ॥

अर्थ- [यः] जिस [ऊर्जः भागः] अन्नके विभाग करनेवालेने [इमं] इस अन्नको [जजान] पैदा किया है और जो [अश्मा] अश्मा होनेसे [अन्नानां आधिपत्यं] अन्नोंकि स्वामित्वको [जगाम] प्राप्त हुआ है ऐसे [तं] उसकी हे सबके मित्रो ! [हविर्भिः] हवियोंद्वारा [अर्चत] पूजा करो । (सः) वह (यमः) यम (नः) हमें (प्रतरं जीवसे धात्) बहुत जीनेके लिए धारण करे अर्थात् दीर्घायु देवे ॥ ५४ ॥

(यथा) जिस प्रकार (पंचमानवाः) पांच मानवोंने (यमाय) यमके लिए (हर्म्यं) घरको (अवपन्) बनाया है (एव) उसी प्रकार मैं भी (हर्म्यं वपामि) घर बनाता हूं (यथा) जिससे कि (मे) मेरे (भूरयः) बहुतसे घर (असत) हो जावें ॥ ५५ ॥

हे मरणासन्न पुरुष ! [इदं हिरण्यं बिभृहि] इस सोने को धारण कर, [यत्] जिस सोनेको कि [पुरा] पहिले [ते पिता अबिभः] तेरे पिताने धारण किया था । इस प्रकार हे मनुष्य ! [स्वर्गं यतः पितुः दक्षिणं हस्तं निर्मृड्ढि] स्वर्गको जाते हुए पिताके दांये हाथको सुशोभित कर ॥ ५६ ॥

(ये च जीवाः) जो जीवित हैं और (ये च मृताः) जो मर गए हैं, ये (जाताः) और जो उत्पन्न हुए हैं, (ये च यज्ञियाः) और जोकि पूजनीय, संगति करने योग्य हैं (तेभ्यः) उन उपर्युक्तों के लिए (मधुधारा) मधुरधारावाली (व्युन्दती) उमडती हुई (घृतस्य) घी वा जलकी (कुल्या) छोटी नदी (एतु) प्राप्त होवे ॥ ५७ ॥

(विचक्षणः) विशेषतया देखनेवाला (वृषा) अभिमत कामनाओंका वर्धक (मतीनां पवते) मतियोंका पवित्र करनेवाला है । (सूरः) सूर्य (अह्नां) दिवसोंका, (उषसां) उषाओंका तथा (दिवः) द्युलोक का (प्रतरीता) बढानेवाला है । (सिन्धूनां प्राणः) नदियोंका प्राण (कलशान्) घडोंको जलधाराओंसे (अचिक्रदत्) गुंजाता है । (मनीषया) मनकी इच्छानुसार (इन्द्रस्य) इन्द्रके (हार्दि) हृदयमें (आविशत्) प्रवेश करता है ॥ ५८ ॥

भावार्थ- यम दीर्घायु देवे ॥ ५४ ॥

जिसको अपने घरोंके बढानेकी इच्छा हो वह यमके लिए घर बंधवावे । पंच मानव यमके लिए घर बनाते हैं ॥ ५५ ॥

मरनेसे पूर्व मरणासन्न के दांये हाथमें सोनेकी अंगूठी पहनाना चाहिये ॥ ५६ ॥

जीवित, मृत, उत्पन्न तथा अन्य पूजनीयों को मधुरधारावाली बहती हुई छोटीसी जलवाली नदी प्राप्त होवे ॥ ५७ ॥

इन्द्रमें अर्थात् आत्मामें ज्ञान, बल, तेज, मनन शक्ति, प्राण ये सब शक्तियां बढें ॥ ५८ ॥

त्वेषस्ते धूम ऊर्णोतु दिवि षंच्छुक्र आतंतः
सूरो न हि द्युता त्वं कृपा पावक रोचंसे ॥ ५९ ॥
प्र वा एतीन्दुरिन्द्रस्य निष्कृतिं सखा सख्युर्न प्र मिनाति संगिरः ।
मर्यं इव योषाः समर्षसे सोमः कलशे शतयामना पथा ॥ ६० ॥ (२५)
अक्षन्नमीमदन्त ह्यव प्रियाँ अधूषत । अस्तोषत स्वभानवो विप्रा यविष्ठा ईमहे ॥ ६१ ॥
आ यात पितरः सोम्यासो गम्भीरैः पथिभिः पितृयाणैः ।
आयुरस्मभ्यं दधतः प्रजां च रायश्च पोषैरभि नः सचध्वम् ॥ ६२ ॥
परा यात पितरः सोम्यासो गम्भीरैः पथिभिः पूर्याणैः ।
अधा मासि पुनरा यात नो गृहान् हविरत्तुं सुप्रजसः सुवीराः ॥ ६३ ॥

अर्थ- [पावक] हे पवित्र करनेवाली अग्नि ! [ते]तेरा [शुक्रः] शुद्ध [आततः] सब तरफ फैला हुआ [त्वेषः] प्रकाश [दिवि] द्युलोकमें [धूमः] धुएंकी तरह [ऊर्णोतु] सबको ढँकले । [द्युता] अपने प्रकाशसे [सूरः न] सूर्यकी तरह [त्वं] तू [कृपा] कृपा करके [रोचसे] दीप्त होता है ॥ ५९ ॥

[इन्दुः] ऐश्वर्य देनेवाला सोम [इन्द्रस्य निष्कृतिं] इन्द्र अर्थात् यज्ञ करनेवाला ऐश्वर्यशाली पुरुष निष्कृतिको [प्र एति] अच्छी तरहसे प्राप्त होता है अर्थात् इन्द्र सोमको अच्छी तरहसे निचोडता है। जैसे कि [सखा] मित्र [सख्युः] मित्रकी [संगिरः] उत्तम वाणियोंको [न प्रमिनाति] नहीं तोडता अर्थात् अवश्य ही उसके वचनानुसार काम करता है उसी प्रकार इन्द्र भी अवश्य ही सोमका रस निचोडता है और इस प्रकार सोम रस निचोडने पर [मर्यः योषाः इव] जिस प्रकार पुरुष स्त्रीसे संगत होता है उसी प्रकार [सोमः] सोम तू [कलशे] सोम निचोडनेके पात्र-घडेमें [शतयामना पथा]सैंकडों प्रकारकी गतिवाले मार्गसे अर्थात् निचोडने पर कई धाराओंसे[सं अर्षसे]अच्छी प्रकारसे आता है।६०।

[स्वभानवः] स्वयं प्रकाशमान, [विप्राः] मेधावी पितर [अक्षन्] यज्ञमें दी गई हवियोंको खाते हैं। [अमीमदन्त] खाकर अत्यन्त आनन्दित होते हैं और [हि] निश्चयसे प्रियान् अपने प्रियजनोंको (अव अधूषत) कान्तिमान् बनाते हैं। उनकी [अस्तोषत] प्रशंसा करते हैं। [यविष्ठाः] अत्यन्त युवा अर्थात् सामर्थ्यशाली हम [ईमहे] उन पितरोंसे यज्ञादिमें आनेके लिए प्रार्थना करते हैं ॥ ६१ ॥

[सोम्यासः पितरः] हे सोमपान करनेवाले पितरो ! [गंभीरैः] गंभीर [पितृयाणैः पथिभिः] पितृयाण मार्गों से [आ यात] आओ । [अस्मभ्यं आयुः, प्रजां च रायः च दधतः) हमारे लिए आयुष्य, प्रजा तथा धनसंपत्ति दो । [पोषैः] अन्य पुष्टियोंसे [नः] हमें [अभिसचध्वं] चारों ओर से युक्त करो ॥ ६२ ॥

[सोम्यासः पितरः] हे सोम संपादक पितरो ! [गंभीरैः पूर्याणैः पथिभिः [गंभीर पूर्याण मार्गोंद्वारा [परायात] वापस चले जाओ । जहांसे आए थे वहां पर लौट जाओ । [अथ पुनः] और फिर [सुप्रजसः सुवीराः] हे उत्तम प्रजावाले तथा सुवीर पितरो ! [मासि] मासके अन्तमें यानि महीनेके बाद [नः गृहान्] हमारे घरोंमें [हविः अत्तुं] हविके खाने के लिए [आयात] आओ ॥ ६३ ॥

भावार्थ— हे अग्नि ! तेरा तेज सर्वत्र इस प्रकारसे फैलकर सबको ढँक ले जिस प्रकार कि धूंआ सबको ढक लेता है। जिस प्रकार सूर्य स्वप्रकाशसे चमकता है उसी प्रकारसे तू भी हमारे पर कृपा करती हुई चमकती रह। (ऋ. ६।२।६ ॥ ५९ ॥

इन्द्र सोमको निचोडनेके कार्य को नहीं टालता जैसे कि मित्र मित्रकी वाणीको नहीं टालता । सोम निचोडा जानेपर कई धाराओंमें घडेमें इस प्रकारसे आकर प्राप्त होता है, जिस प्रकारसे कि पुरुष स्त्री को प्राप्त करता है ॥ ६० ॥

पितरोंको यज्ञमें बुलाना चाहिए व हवि देकर तृप्त करना चाहिए। ऐसा करनेसे यजमान की कीर्ति बढती है ॥ ६१ ॥

पितरो ! गंभीर जो पितृयाण मार्ग हैं उनसे बुलानेपर हमारे यज्ञमें आओ व हमें संतति, सम्पत्ति आदि देकर पुष्ट करो।६२।

यद् वो अग्निरजहादेकमङ्गं पितृलोकं गमयं जातवेदाः ।
तद् व एतत् पुनरा प्यायायामि साङ्गाः स्वर्गे पितरो मादयध्वम् ॥ ६४ ॥
अभूद् दूतः प्रहितो जातवेदाः सायं न्यह्न उपवन्द्यो नृभिः ।
प्रादाः पितृभ्यः स्वधया ते अक्षन्नद्धि त्वं देव प्रयता हवींषि ॥ ६५ ॥
असौ हा इह ते मनः ककुत्सलमिव जामयः । अभ्येनं भूम ऊर्णुहि ॥ ६६ ॥
शुम्भन्तां लोकाः पितृषदनाः पितृषदने त्वा लोक आ सादयामि ॥ ६७ ॥
येऽस्माकं पितरस्तेषां बर्हिरसि ॥ ६८ ॥

अर्थ- हे पितरो ! [वः यत् एकं अङ्गं] तुम्हारे जिस एक अङ्गको (पितृलोकं गमयन् जातवेदाः अग्निः) पितृलोकमें ले जाती हुई जातवेदस् अग्निने (अजहात्) छोड दिया है (वः तत् एतत्) तुम्हारे उस इस अङ्गको मैं (पुनः) फिर (आप्याययामि) पूर्ण करता हूं । (साङ्गाः पितरः) अपने सब अङ्गोंसे युक्त हुए हुए पितरो ! (स्वर्गे मादयध्वम्) स्वर्गमें आनन्दित होओ ॥ ६४ ॥

(सायं न्यह्ने) सायंकाल और प्रातःकाल (नृभिः उपवन्द्यः) नरोंसे वन्दना की जाती हुई (जातवेदाः) जातवेदस् अग्नि (प्रहितः दूतः अभूत्) भेजा हुआ दूत है । क्योंकि तू भेजा हुआ दूत है अतः हे (देव) प्रकाशमान अग्नि ! (प्रयता हवींषि) हमारे से दी गई हवियों को (पितृभ्यः प्रादाः) पितरों के लिए दे जिससे कि (ते) वे पितर जिन्होंने कि तुझे दूत बनाकर भेजा है, (स्वधया अक्षन्) स्वधा के साथ हमारे द्वारा दी गई हवियों को खावें : (त्वं अद्धि) तू भी उन हवियोंको खा ॥ ६५ ॥

(असौ) हे फलाने नामवाले प्रेत ! (इह ते मनः) यहां तेरा मन है । हे (भूमे) पृथिवी ! (जामयः ककुत्सलं इव) जिस प्रकार स्त्रियां अपने बच्चेको वस्त्रसे ढांपती हैं या कुलस्त्रियां अपने सिरको ढांपती हैं उस प्रकार (एनं) इस प्रेत को (अभि ऊर्णुहि) भली प्रकार ढांप ॥ ६६ ॥

(पितृषदनाः लोकाः शुम्भन्ताम्) जिनमें पितर बैठते हैं ऐसे लोक (शुम्भन्तां) शोभायमान हों । (त्वा) तुझे (पितृषदने लोके) जिसमें पितर बैठते हैं उस लोकमें (आसादयामि) बिठलाता हूं ॥ ६७ ॥

(ये) जो (अस्माकं पितरः) हमारे पितर हैं (तेषां) उनका (बर्हिः) आसन (असि) है ॥ ६८ ॥

भावार्थ- प्रत्येक मासमें पितृयज्ञ करना चाहिए तथा उसमें पितरोंको आमन्त्रित करना चाहिए ॥ ६३ ॥

अग्नि मरने के अनन्तर पितरोंको पितृलोकमें ले जाती हुई उनके शरीरके किसी अवयवको यहांपर छोड जाती है ॥ ६४ ॥

जिस अग्निकी सायं व प्रातः वंदना की जाती है उस अग्निको पितर अपना दूत बनाकर हमारे पास भेजते हैं और वह अग्नि हमारे पाससे हवियों को ले जाकर पितरों को पहुंचाती है । हमारे से दी गई हवियों को पितरों तक पहुंचाने के लिये अग्नि माध्यम है ॥ ६५ ॥

प्रेतके जमीनमें गाडने का भी एक विधि है । भूमि प्रेतको ढांपे ॥ ६६ ॥

कोई ऐसे लोक हैं जिनमें कि पितर बैठते हैं तथा उनमें एक नवीन व्यक्तिको भी किसी अवस्थाविशेषमें बिठलाया जाता है ॥ ६७ ॥

यज्ञमें पितरोंके बैठनेके लिए कुशाघासनिर्मित आसन होना चाहिए ॥ ६८ ॥

उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधमं वि मध्यमं श्रथाय ।
अधा वयमादित्य व्रते तवानागसो अदितये स्याम ॥ ६९ ॥

प्रास्मत् पाशान् वरुण मुञ्च सर्वान् यैः समामे बध्यते यैर्व्यामे ।
अधा जीवेम शरदं शतानि त्वया राजन् गुपिता रक्षमाणाः ॥ ७० ॥ (२६)

अग्नये कव्यवाहनाय स्वधा नमः ॥ ७१ ॥
सोमाय पितृमते स्वधा नमः ॥ ७२ ॥
पितृभ्यः सोमवद्भ्यः स्वधा नमः ॥ ७३ ॥
यमाय पितृमते स्वधा नमः ॥ ७४ ॥
एतत् ते प्रततामह स्वधा ये च त्वामनु ॥ ७५ ॥

अर्थ- (वरुण) हे वरणीय श्रेष्ठ ! तेरे (उत्तमं) उत्तम (पाशं) पाशको (अस्मत्) हमसे (उत् श्रथाय) ऊपर से खोल दे । (अधमं) और जो तेरा अधम पाश है उसको (अव श्रथाय) नीचेकी ओरसे खोल दे । (मध्यमं) और जो तेरा मध्यम पाश है उसको (विश्रथाय) विविध रीतिसे खोल दे । (अध) इस प्रकार तेरे तीनों प्रकारके पाशोंसे विमुक्त होनेके बाद (अनागसः) पापरहित हुए हुए (वयं) हम (आदित्य) हे अखण्डनीय शक्तिवाले ! (ते) तेरे (व्रते) व्रत अर्थात् नियममें (अदितये) अदीनताके लिए अर्थात् समृद्ध हुए हुए (स्याम) होवें ॥ ६९ ॥

(वरुण) वरुण राजन् ! (अस्मत्) हमसे (सर्वान् पाशान्) तेरे सर्व पाशों-फन्दों-को (प्रमुञ्च) अच्छी तरह से खोल दे । (यैः) जिन फन्दोंसे कि (सं-आमे) समाम में और (यैः) जिनसे कि (वि-आमे) व्याममें (बध्यते) प्राणी बांधा जाता है । (अध) तेरे उपरोक्त पाशोंसे छूटकर हम (राजन्) हे वरुण राजन् ! (त्वया गुपिताः) तेरेसे रक्षा किए गए अतएव (रक्षमाणाः) दूसरों की रक्षा करते हुए हम (शतानि शरदं) सैकडों बरस (जीवेम) जीवें ॥ ७० ॥

(कव्यवाहनाय अग्नये) कव्यका वहन करनेवाली अग्निके लिए (स्वधा नमः) स्वधा और नमस्कार होवे ॥७१॥

श्रेष्ठ पितावाले सोमके लिए स्वधा और नमस्कार हो ॥ ७२ ॥

सोमवान् पितरोंके लिए स्वधा व नमस्कार हो ॥ ७३ ॥

(पितृमते) उत्तमपितावाले (यमाय) यमके लिए (स्वधा नमः) स्वधा और नमस्कार होवे ॥ ७४ ॥

हे (प्रततामह !) प्रपितामह ! (ते एतत्) तेरे लिए यह दिया हुआ पदार्थ (स्वधा) स्वधा होवे । (ये च त्वां अनु) और जो तेरे अनुगामी हैं उनके लिए भी यह स्वधा हो ॥ ७५ ॥

भावार्थ— हे वरुण ! तू तेरे दुष्टोंको बांधनेवाले तीनों प्रकारके उत्तम, मध्यम व अधम पाशोंसे हमें मुक्त कर । हम पापरहित हुए तेरे नियमोंमें रहते हुए शक्तिशाली होकर नाना प्रकारकी समृद्धि का लाभ करें ॥ ६९ ॥

हे वरुण राजन् ! तू अपने उन फन्दोंसे हमें मुक्त कर जिनसे कि विविध रोग मनुष्य पर आक्रमण करते हैं । तेरी रक्षासे रक्षित हुए हुए सैकडों बरस जीवें ॥ ७० ॥

यम और पितरोंके लिए स्वधा व नमस्कार हो ॥ ७१-७४ ॥

पितरोंके लिए अन्न देना योग्य है ॥ ७५-८० ॥

एतत् ते ततामह स्वधा ये च त्वामनु ॥ ७६ ॥
एतत् ते तत स्वधा ॥ ७७ ॥
स्वधा पितृभ्यः पृथिविषद्भ्यः ॥ ७८ ॥
स्वधा पितृभ्यो अन्तरिक्षसद्भ्यः ॥ ७९ ॥
स्वधा पितृभ्यो दिविषद्भ्यः ॥ ८० ॥
नमो वः पितर ऊर्जे नमो वः पितरो रसाय ॥ ८१ ॥
नमो वः पितरो भामाय नमो वः पितरो मन्यवे ॥ ८२ ॥
नमो वः पितरो यद् घोरं तस्मै नमो वः पितरो यत् क्रूरं तस्मै ॥ ८३ ॥
नमो वः पितरो यच्छिवं तस्मै नमो वः पितरो यत् स्योनं तस्मै ॥ ८४ ॥
नमो वः पितरः स्वधा वः पितरः ॥ ८५ ॥
येऽत्र पितरः पितरो येऽत्र यूयं स्थ युष्मांस्तेऽनु यूयं तेषां श्रेष्ठा भूयास्थ ॥ ८६ ॥

अर्थ-[ततामह] हे पितामह ! [ते एतत् स्वधा] तेरे लिए यह दिया हुआ पदार्थ [हवि] स्वधा होवे । [ये च त्वां अनु] और जो तेरे अनुगामी हैं उनके लिए भी यह स्वधा होवे ॥ ७६ ॥

हे [तत] पिता ? [ते एतत् स्वधा] तेरे लिए यह हवि स्वधा होवे ॥ ७७ ॥

[पृथिवीषद्भ्यः] पृथिवीपर बैठनेवाले [पितृभ्यः] पितरोंके लिए [स्वधा] स्वधा हो ॥ ७८ ॥

[अन्तरिक्षसद्भ्यः पितृभ्यः] अन्तरिक्षमें बैठनेवाले पितरोंके लिए [स्वधा] स्वधा हो ॥ ७९ ॥

[दिविषद्भ्यः पितृभ्यः] द्युलोकमें बैठनेवाले पितरोंकि लिए [स्वधा] स्वधा हो ॥ ८० ॥

[पितरः] हे पितरो ! [वः ऊर्जे नमः] तुम्हारे अन्न वा बलके लिए नमस्कार है । [पितरः] हे पितरो ! [वः रसाय नमः] तुमारे रस अन्नरस [दुग्ध आदि] के लिए नमस्कार है ॥ ८१ ॥

[पितरः] हे पितरो ! [वः] तुम्हारे [भामाय] क्रोधके लिए [नमः] नमस्कार हो । (पितरः) हे पितरो ! (वः) तुम्हारे (मन्यवे) मन्युके लिए (नमः) नमस्कार हो ॥ ८२ ॥

(पितरः) हे पितरो ! (वः) तुम्हारा (यत् घोरं) जो घोर कर्म हैं (तस्मै) उनके लिए (नमः) नमस्कार है । (पितरः) हे पितरो ! (वः) तुम्हारा (यत् क्रूरं) जो क्रूर कर्म है, (तस्मै) उसके लिए (नमः) नमस्कार है ॥८३॥

(पितरः) हे पितरो ! (वः) तुम्हारा (यत्) जो [शिवं] कल्याणमय कर्म है (तस्मै) उसके लिए (नमः) नमस्कार है। (पितरः) हे पितरो ! (वः) तुम्हारा (यत् स्योनं) जो सुखमय कर्म है (तस्मै) उसके लिए (नमः) नमस्कार है ॥ ८४ ॥

हे (पितरः) पितरो ! (वः) तुम्हारे लिए (नमः) नमस्कार होवे। (पितरः) हे पितरो ! (वः) तुम्हारे लिए (स्वधा) स्वधा होवे ॥ ८५ ॥

(ये पितरः अत्र) ये अन्य पितर यहां हैं और (ये) जो (यूयं पितरः) तुम पितृगण (अत्र स्थ) यहां पर हो, (ते) वे अन्य पितर (युष्मान् अनु) तुम्हारे अनुकूल होवें और (यूयं) तुम (तेषां श्रेष्ठाः भूयास्थ) उनमें श्रेष्ठ होवो ॥ ८६ ॥

भावार्थ— पितरोंसे शक्ति प्राप्त करके मनुष्य श्रेष्ठ बने ॥ ८१-८७ ॥

य इह पितरो जीवा इह वयं स्मः। अस्माँस्तेऽनु वयं तेषां श्रेष्ठा भूयास्म ॥ ८७ ॥

आ त्वाग्न इधीमहि द्युमन्तं देवाजरम्।
यद् घ सा ते पनीयसी समिद् दीदयति द्यवि। इषं स्तोतृभ्य आ भर ॥ ८८ ॥

चन्द्रमा अप्स्व१न्तरा सुपर्णो धावते दिवि।
न वो हिरण्यनेमयः पदं विन्दन्ति विद्युतो वित्तं मे अस्य रोदसी ॥ ८९ ॥

इति चतुर्थोऽनुवाकः।

-इत्यष्टादशं काण्डं समाप्तम् ॥ १८ ॥

अर्थ- (ये) जो [पितरः] पितृगण (इह) यहां हैं, उनके अनुग्रहसे (वयं) हम (इह) यहां (जीवाः स्मः) जीवित हैं। (ते पितरः अस्मात् अनु) वे पितर हमारे अनुकूल बने रहें। (वयं) हम (तेषां श्रेष्ठाः भूयास्म) उनमें श्रेष्ठ होवे। अथवा वे हमारे अनुकूल हों और हम उनके। दोनों मिलकर परस्पर श्रेष्ठ होवें ॥ ८७ ॥

(देव) हे प्रकाशमान (अग्ने) अग्नि ! हम (द्युमन्तं) चमकती हुई (अजरं) जरारहित (त्वा) तुझे (इधीमहि) प्रकाशित करते हैं। (यत् ते) जिस तेरी (सा) वह (पनीयसी) अत्यन्त प्रशंसनीय (समित्) दीप्ति-चमक प्रकाश (द्यवी) अंतरिक्षमें अथवा सूर्यमें (दीदयति) प्रकाशित हो रही है। अर्थात् तू ही सूर्य रूपसे प्रकाशित हो रही है। ऐसी हे अग्नि ! तू (स्तोतृभ्यः) तेरी स्तुति करनेवालोंके लिए (इषं) अन्न या इष्ट फलको (आ भर) दे। (ऋ०५।६।४) ॥ ८८ ॥

[सुपर्णः] सुन्दर चालवाला अथवा सुन्दर रश्मियोंवाला [चन्द्रमाः] चन्द्र [अप्सु अन्तः] जलोंके अन्दर रहता हुआ [दिवि] अंतरिक्षमें [धावते] दौडता रहता है। [रोदसी] हे द्यावापृथिवी! [वः] तुम्हारी [पदं] स्थितिको [हिरण्यनेमयः] सोने जैसी चमकीके प्रान्तभाग-सीमावाली [विद्युतः] बिजलियां अथवा प्रकाशमान पदार्थ [न विन्दन्ति] नहीं प्राप्त करते। अर्थात् तुम इतनी ऊंची चौडी हो कि कोई भी प्रकाशमान पदार्थ घूम घूम करके भी तुम्हारे अंतका पता नहीं कर सकता। [मे] मेरी [अस्य] इस उपरोक्त स्तुतिको [वित्तं] तुम दोनों जानो ॥ ८९ ॥

भावार्थ- हम सदा प्रकाशमान, अजर अग्निको प्रकाशित करते रहें। उसीकी ज्योति द्युलोकको व सूर्यादिको प्रकाशित कर रही है। वह स्तुति करनेवालोंको अन्नादि इष्ट पदार्थोंका प्रदान करती है ॥ ८८ ॥

सुन्दर गतिवाला चन्द्रमा जो कि जलोंके आवरणके बीचमें रहता हुआ द्युलोकमें बराबर दौड रहा है वह तथा अन्य अत्यन्त चमकनेवाले पदार्थ जो इस द्यावापृथिवी के बीचमें रातदिन बराबर समान गतिसे दौड रहे हैं, वे इस द्यावापृथिवीकी स्थितिको अर्थात् आदि व अन्तको नहीं पाते। (ऋ० १।१०५।१) ॥ ८९ ॥

चतुर्थ अनुवाक समाप्त।

इति अष्टादश काण्ड समाप्त।

अष्टादश काण्डका मनन।

(१) पितर।

वर्तमान समयमें यम और पितर यह एक बडाभारी विवादास्पद विषय है और इसीलिए बडे महत्त्वका होता हुआ विशेष विचारणीय है। वेद ही के हमारे पास अन्तिम साधन होनेसे तथा उसीकी प्रामाणिकतामें सबको विश्वास होनेसे इस संबन्धमें वेदके क्या विचार हैं यह जानना नितान्त जरूरी है। हमें पुनर्जन्ममें पूर्ण विश्वास है पर हम यह निश्चित रूपसे कदापि नहीं कह सकते कि मरनेके बाद जीव पहिले कहां जाता है और कब फिर जन्म लेता है। वर्तमान समयके लोक जो यम व पितर संबन्धी कल्पना मानते हैं व तदनुसार आचरण करते हैं उसका मूल क्या है? क्या पुराणोंकी ही यह कपोलकल्पना है वा वेदोंमें भी इसका कुछ मूल पाया जाता है? मरनेके बाद जीव कहां जाता है, किस रूपमें रहता है, कबतक विना पुनर्जन्म लिए रहता है, मरनेके बाद मृतककी जीवात्मा का उसके सांसारिक संबंधियोंसे कोई संबन्ध रहता है वा नहीं, यदि रहता है तो किस रूपमें, उस मृतके लिए जीवितोंको कुछ करना चाहिए वा नहीं, यदि करना चाहिए तो किस रूपमें, यम क्या है, कहां रहता है, मृत पितरोंसे उसका क्या संबन्ध है, यमके दूत क्या हैं, यम कहांका राजा है इत्यादि इत्यादि अनेक महत्त्वके प्रश्न हमारे सामने उपस्थित हो सकते हैं। क्योंकि मरनेके बादका वृत्तान्त जानना मनुष्यकी शक्तिसे बाहिर है और वेदके सिवाय और कोई उपाय हमारे पास नहीं है, अतः हम इन उपरोक्त महत्त्वपूर्ण प्रश्नोंके संबन्धमें वैदिक विचार जाननेकी कोशिश करेंगे।

पितृलोक।

इस लेखमें हम पितृलोक पर विचार करेंगे। जिन जिन वेदमंत्रोंमें पितृलोकके संबन्धमें निर्देश या वर्णन होगा उन सब मंत्रोंका उल्लेख किया जायगा, जिससे कि पितृलोक संबन्धी कोई भी वैदिक विचार छूटने न पावे। निम्न मंत्रमें सिर्फ पितृलोकका निर्देश मिलता है।

> शुम्भन्तां लोकाः पितृषदनाः।
> पितृषदने त्वा लोक आ सादयामि॥
>
> अथर्व. १८।४।६७॥
>
> शुन्धन्तां लोकाः पितृषदनाः पितृषदनमसि॥
>
> यजुः ५।२६॥ तथा ॥ ६।१॥

अर्थ- (पितृषदनाः लोकाः) जिनमें पितर बैठते हैं ऐसे लोक (शुम्भन्तां) शोभायमान हों। (त्वा) तुझे (पितृषदने लोके) जिसमें पितर बैठते हैं उस लोकमें (आसादयामि) बिठलाता हूं।

इस मंत्रसे पता चलता है कि कई ऐसे लोक हैं जिनमें कि पितर बैठते हैं तथा उनमें एक नवीन व्यक्तिको भी किसी अवस्थाविशेषमें बिठलाया जाता है।

> एतदारोह वय उन्मृजानः स्वा इह बृहदुदीदयन्ते।
> अभिप्रेहि मध्यतो मापहास्थाः पितॄणां लोकं प्रथमो यो अत्र॥ अथर्व. १८।३।७३॥

अर्थ-(उन्मृजानः) अपनेको शुद्ध करता हुआ (एतद् वयः आरोह) इस अंतरिक्षमें चढ। (इह) यहां (स्वाः) तेरे बन्धुबांधव (बृहत् उदीदयन्ते) बहुत प्रकाशमान हो रहे हैं-अर्थात् वे बहुत उन्नत हुए हुए हैं, उनकी तू चिन्ता मत कर। (मध्यतः अभिप्रेहि) उन बन्धुबांधवों के मध्यसे जा। (पितॄणां लोकं) पितरोंके लोकका (मा अपहास्थाः) त्याग मत कर अर्थात् तेरेसे पितृलोक छूटने न पावे। (यः) जोकि पितृलोक (अत्र) यहां (प्रथमः) मुख्य-प्रसिद्ध है।

इस प्रकार हमने देखा कि पितृलोक का निर्देश हमें वेदमें मिलता है। अब हमें देखना है कि वे पितृलोक कौनसे हैं-

१ पितृलोक-'पृथिवी'।

> स्वधा पितृभ्यः पृथिवीषद्भ्यः॥
>
> अथर्व० १८।४।७८॥

अर्थ- (पृथिवीषद्भ्यः) पृथिवीपर बैठनेवाले (पितृभ्यः) पितरोंके लिए (स्वधा) स्वधा हो।

पृथिवीस्थ पितरोंके लिए स्वधाका वर्णन यहांपर है। पूर्वोक्त बहुतसे पितृलोकोंमेंसे एक पृथिवी लोक है जहां कि पितर बैठते हैं ऐसा इस मंत्रसे प्रतीत होता है।

२ पितृलोक—'अंतरिक्ष'।

स्वधा पितृभ्यो अन्तरिक्षसद्भ्यः ॥

अथर्व १८।४।७९ ॥

अर्थ-(अन्तरिक्षसद्भ्यः पितृभ्यः) अन्तरिक्षमें बैठनेवाले पितरोंके लिए (स्वधा) स्वधा हो।

इस मंत्रमें अंतरिक्षमें बैठनेवाले पितरोंका वर्णन है।

ये नः पितुः पितरो ये पितामहाः य आविविशुरुर्वन्तरिक्षम्। तेभ्यः स्वराडसुनीतिर्नो अद्य यथावशं तन्वः कल्पयाति ॥ अथर्व. १८।३।५९ ॥

अर्थ-(ये) जो (नः) हमारे (पितुः पितरः) पिताके पितर और (ये) जो (पितामहाः) पितामह-दादा (ये) जो कि (उरु अंतरिक्षं) विस्तृत अंतरिक्षमें (आविविशुः) प्रविष्ट हुए हुए हैं (तेभ्यः) उनके लिए (स्वराट्) स्वयं-प्रकाशमान (असुनीतिः) प्राणदाता परमात्मा (नः) हमारे (तन्वः) शरीरोंको [यथावशं] कामनाके अनुकूल [कल्पयाति] समर्थ करता है।

इस मंत्रमें पिता, पितामह तथा प्रपितामहोंका अन्तरिक्षमें प्रवेश स्पष्ट रूपसे दर्शाया गया है। यद्यपि इस मंत्रके उत्तरार्धमें भी एक विशेष महत्त्वपूर्ण बात कही गई है पर उसका यहां पर विशेष मतलब नहीं है। उसपर अन्यत्र विचार करेंगे।

उत्तिष्ठ प्रेहि प्र द्रवौकः कृणुष्व सलिले सधस्थे।
तत्र त्वं पितृभिः संविदानः सं सोमेन मदस्व सं स्वधाभिः ॥ अथर्व. १८।३।८

अर्थ-[उद् तिष्ठ] उठ, [प्रेहि] जा, [प्रद्रव] दौड। [सधस्थे] जहां सब इकट्ठे रहते हैं ऐसे [सलिले] अंतरिक्षमें (ओकः) घर (कृणुष्व) बना। (तत्र) वहां अंतरिक्षमें (त्वं) तू (पितृभिः संविदानः) अन्य पितरोंके साथ मिला हुआ ऐकमत्य को प्राप्त हुआ हुआ (सोमेन) सोमसे (संमदस्व) अच्छी तरह आनन्दित हो और (स्वधाभिः) स्वधाओंसे (सं) अच्छी प्रकार तृप्त हुआ हुआ आनंदित हो।

इस मंत्रमें स्पष्ट रूपसे अंतरिक्ष लोकमें किसीके भेजे जाने का और वहां स्थित पितरोंके साथ स्वधा आदिसे आनन्दित होनेका निर्देश है। अतः यह मंत्र भी पितरोंका स्थान अंतरिक्ष बता रहा है।

उपरोक्त सब मंत्रोंमें हम यह स्पष्ट रूपसे पाते हैं कि पितर अन्तरिक्ष में भी रहते हैं अर्थात् अन्तरिक्ष भी पितरों के लोकों में से एक लोक है जहां पितर निवास करते हैं।

३ पितृलोक—'द्यु'।

स्वधा पितृभ्यो दिविषद्भ्यः ॥ अथर्व ० १८।४।८० ॥

अर्थ-(दिविषद्भ्यः पितृभ्यः) द्युलोकमें बैठनेवाले पितरोंके लिए (स्वधा) स्वधा हो।

इस मंत्रमें ऐसे पितरोंका वर्णन है जो कि द्युलोकमें बैठते हैं, और वहां बैठकर स्वधा लेते हैं।

आ नः पवस्व वसुमद्धिरण्यवदश्वावद्गोमद् यवमत् सुवीर्यम्। यूयं हि सोम पितरो मम स्थन दिवो मूर्धानः प्रस्थिता वयस्कृतः ॥

ऋ० ९।६९।८॥

अर्थ- हे सोम! तू (नः) हमें (वसुमत्) वसुयुक्त (हिरण्यवत्) सोनाचांदीवाले (अश्वावत्) घोडोंवाले, (गोमत्) गौओंवाले, (यवमत्) यवादि धान्यवाले, (सुवीर्यम्) उत्तम पराक्रम को (आपवस्व) प्राप्त कर। अर्थात् हममें ऐसा सामर्थ्य दे कि हम ये सब उपरोक्त वस्तुओंको अपने पराक्रम से प्राप्त करें। हमको ऐसा पराक्रम दे। हे सोम! (यूयं वयस्कृतः मम पितरः) तुम जीवन देनेवाले मेरे पितर (दिवः मूर्धानः प्रस्थिताः) द्युलोक के समान ऊंचे उठे हुए (स्थन) हो॥

इस प्रकार उपरोक्त मंत्रोंने हमें दर्शाया कि द्युलोक में भी पितर रहते हैं। द्युलोक में पितर कहां रहते हैं, यह निम्न मंत्र दर्शा रहा है—

उदन्वती द्यौरवमा पीलुमतीति मध्यमा।
तृतीया ह प्रद्यौरिति यस्यां पितर आसते ॥

अथर्व०१८।२।४८ ॥

अर्थ- (अवमा द्यौः उदन्वती) सबसे नीचे की द्यौ 'द्युलोक' यह है जिसमें कि जल रहता है। जिस द्युलोकमें बादल रहते हैं वह सबसे नीचेका द्युलोक है। (पीलुमती इति मध्यमा) और जिसमें ग्रह नक्षत्रादि स्थित हैं वह बीच का द्युलोक है।

(इ) निश्चयसे (तृतीया) तीसरा (प्रद्यौः इति) प्रद्यु नाम का द्युलोक है [यस्यां] जिसमें कि [पितरः आसते] पितर स्थित होते हैं ।

इस मंत्रमें यह बतलाया गया है कि द्युलोक तीन प्रकारका है । एक तो वह जो कि तीनों प्रकार के द्युलोकोंमें से सबसे नीचे है और उसमें मेघमण्डल स्थित है । दूसरा इससे ऊपर है और उसमें पिलु अर्थात् ग्रह नक्षत्रादि स्थित हैं । यह बीचका द्युलोक है । तीसरा इससे ऊपर है जो कि प्रद्यौ के नामसे प्रख्यात है और यही द्युलोक है जिसमें कि पितर निवास करते हैं । अबतक के सब मंत्रोंके देखने से ऐसा पता चलता है कि पितर पृथिवी लोक से चलकर अंतरिक्ष लोकमें आते हैं और वहांसे चलकर सबसे अंतमें इस द्युलोक में निवास करते हैं । यह द्युलोक ग्रह नक्षत्रादि के निवासक द्युसे भी परे है ऐसा इस मंत्रसे पता चलता है; अतः इसके आधारपर यह अनुमान निकाला जा सकता है कि यह पितरों का निवासक द्युलोक सूर्यलोकसे परे है । इसी मंत्रके भावको निम्न ऋग्वेदकी ऋचा पुष्ट करती है ।

> तिस्रो द्यावः सवितुर्द्वा उपस्थां एका यमस्य भुवने विराषाट् । आणिं न रथ्यममृताधि तस्थुरिह ब्रवीतु य उ तच्चिकेतत् ॥ ऋ० १।३५।६॥

अर्थ— (तिस्रो द्यावः) तीन द्युलोक हैं । (द्वौ) उनमें से दो (सवितुः) सूर्य के (उपस्थां) समीप हैं (एका) और एक (यमस्य भुवने) यमके लोकमें स्थित है जो कि (विराषाट्) विराषाट् है, अर्थात् जिसमें वीर लोक आकर स्थित होते हैं । (रथ्यं आणिं न) जैसे रथ आणिपर आश्रित होकर स्थित होता है उसी प्रकार (अमृता = अमृतानि) ये सब अमृत ग्रह नक्षत्रादि (अधितस्थुः) जिसके आश्रयमें स्थित हुए हुए हैं । (यः) जो कोई (तत्) इन उपरोक्त तत्वोंको (चिकेतत्) भली प्रकार जानता है, वह (इह) यहांपर हमें (ब्रवीतु) उन तत्वोंका विवेचन करे । 'आणि' नाम उस कीलका है, जो कि अक्षके किनारेपर छेद करके पहिए को बाहिर निकल आनेसे रोकनेके लिए लगाई जाती है ।

इस मंत्रसे हमें इतना और पता चलता है कि पूर्व मंत्रमें निर्दिष्ट तीसरा द्युलोक कि जिसमें पितरों की स्थिति है वह सूर्य लोकसे परे होता हुआ यम लोकमें स्थित है अर्थात् यमका राज्य उस द्युलोक में है । पितर यमकी प्रजा हैं तथा यम उन का राजा है यह बात आगे चलकर हमें पता चलेगी । यहांपर उस बातका निर्देश मात्र है ।

इस मंत्रमें यम लोकमें स्थित द्युका विशेषण 'विरा-षाट्' दिया है । अर्थात् उस द्युमें वीरगण आकर निवास करते हैं । इसी बातको निम्न लिखित अथर्ववेदका मंत्र पुष्ट करता हुआ साथमें पितरोंका द्युलोकमें जाना दर्शा रहा है ।

> इत एत उदारुहन् दिवस्पृष्ठान्यारुहन् ।
> प्र भूर्जयो यथा पथा द्यामंगिरसो ययुः ॥
> अथर्व० १८।१।६१ ९

अर्थ-(एते) ये पितर (इतः) यहांसे (उत् आ अरुहन्) ऊपर को चढते हैं । (दिवः पृष्ठानि आरुहन्) और द्युके पृष्ठोंपर प्रकृष्ट स्थानोंपर-चढते हैं । (यथा पथा) जिस प्रकारके मार्गसे कि (भूर्जयः) भूमि जीतनेवाले वीर (अंगिरसः) अंगिरस पितर (द्यां) द्युलोकको (प्रययुः) गए हुए हैं ।

अबतक के विवेचनसे हमें इतना पता चुका है कि पितर पृथिवी, अंतरिक्ष तथा द्यु, इन तीनों लोकोंमें निवास करते हैं। इसी परिणाम को निम्न मंत्र प्रमाणित कर रहा है । इस मंत्रमें तीनों लोकोंका वर्णन है ।

> ये नः पितुः पितरो ये पितामहाः य आविविशु-
> रुर्वन्तरिक्षम् । य आक्षियन्ति पृथिवीमुत द्यां
> तेभ्यः पितृभ्यो नमसा विधेम ॥ अथर्व. १८।२।४९॥

(ये) जो (नः पितुः पितरः) हमारे पिताके पितर हैं, (ये) और जो (पितामहाः) उनके भी पितामह, हैं (ये) जो कि (उरु अंतरिक्षं आविविशुः) विशाल अंतरिक्ष में प्रविष्ट हुए हैं, और (ये) जो (पृथिवीं उत द्यां) पृथिवी तथा द्युलोकमें (आक्षियन्ति) निवास करते हैं (तेभ्यः पितृभ्यः) उन पितरोंके लिए हम (नमसा विधेम) नमस्कार पूर्वक पूजा करते हैं । यह मंत्र स्वयमेव अधिक स्पष्ट है । यह पितरों का तीनों लोकोंमें निवास होना स्पष्टतया प्रतिपादन कर रहा है ।

४ 'पितृलोक—पिताका कुल वा घर।'

इन उपरोक्त पितृलोकों के सिवाय हमें वेदमें एक ऐसा भी मंत्र मिलता है जिसमें कि पितृलोकका अर्थ पिताका घर वा पिताका कुल प्रतीत होता है । मंत्र इस प्रकार है-

> उशतीः कन्यला इमाः पितृलोकात् पतिं यतीः अव-
> दीक्षामसृक्षत स्वाहा । अथर्व. १४।२।५२ ॥

(इमाः) ये (उशतीः कन्यलाः) पति लोक की कामना करती हुई शोभायमान कन्यायें (पितृलोकात्) पितृकुलसे [पतिं यतीः] पतिके पास आती हुई (स्व—आहा) उत्तम वाणी द्वारा [दीक्षां] दीक्षाको (अवसृक्षत) दें।

नियम व्रत आदि की शिक्षा का नाम दीक्षा है। यहांपर पितृकुल को पितृलोक के नामसे कहा गया है।

५ पितृलोक–पितरोंका देश।

निम्न मंत्रमें पितृलोकका अर्थ पैत्रिक भूमि है। जिस भूमिमें वंशपरंपरासे रहते चले आए हैं, उस भूमिका नाम पितृलोक से यहां कहा गया है।

> पंचापूपं शितिपादमविं लोकेन संमितम्।
> प्र दातोप जीवति पितॄणां लोकेऽक्षितम् ॥
> अथर्व० ३।२९।४॥

[पंच-अ-पूपं] पांचों जनों (ब्राह्मणादि चार वर्ण तथा पांचवां निषाद) को न सडानेवाले अतएव (लोकेन संमितं) जनता द्वारा संमत [शितिपादं अविं] हिंसकोंको [दबाने-वाले संरक्षक कर भागको [प्रदाता] देनेवाला [पितृणां लोके अक्षितं उपजीवति] पितरोंके देशमें अक्षय होकर जीता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इस मंत्रमें पितृलोक का अभिप्राय पितरोंका देश है।

पितृलोकके संबन्धमें यहांपर इतना ही विवेचन पर्याप्त है। अब हम 'पितृयाण' पर इसी प्रकार संक्षेपसे प्रकाश डालनेका प्रयत्न करेंगे।

पितृयाण।

पितृलोककी स्थापना के अनन्तर हमारे सामने यह सवाल उपस्थित होता है कि इन लोकोंमें कब और कैसे अर्थात् किस मार्ग द्वारा पितर जाते हैं? इस पृथिवी लोकसे अन्य लोकोंमें जानेके दो मार्ग हैं। जिस मार्गसे पितर जाते हैं वह पितृयाण मार्ग कहलाता है। तथा जिससे देवलोक जाते हैं वह देवयान कहलाता है। इसी भावको निम्न मंत्र दर्शा रहा है। मंत्र इस प्रकार है।–

> द्वे सृती अशृणवं पितॄणामहं देवानामुत मर्त्यानाम्।
> ताभ्यामिदं विश्वमेजत् समेति यदन्तरा पितरं मातरं च ॥
> ऋ० १०। ८८।१५॥
> यजु० अ० १९।४७॥

(मर्त्यानां पितॄणां उत देवानां) मनुष्यों, पितरों व देवोंके (द्वे स्तुती) दो मार्ग (देवयान और पितृयाणनामक) (अशृणवं) मैंने सुने सुने हैं। (ताभ्यां) उन दोनों मार्गों द्वारा (इदं एजत विश्वं) यह गतिमान् विश्व (यत्) जो कि (पितरं मातरं च अन्तरा) इस द्यु पिता और पृथिवी माताके बीचमें स्थित है, (सं एति) अच्छी प्रकार गति करता रहता है। अर्थात् इन मार्गोंसे आवागमन होता रहता है।

एवं इस मंत्रसे इतना पता चलता है कि देवयान और पितृयाणनामक दो मार्ग हैं जिनसे आवागमन होता है। इसके अतिरिक्त इसमें कुछ मंत्र ऐसे मिलते हैं जिनमें कि पितृयाण मार्ग से जानेका निर्देश पाया जाता है। वे सब मंत्र नीचे दिए जाते हैं।

> आ रोहत जनित्रीं जातवेदसः पितृयाणैः सं व आ रोहयामि। अव्याड् ढव्येषितो हव्यवाह ईजानं युक्ताः सुकृतां धत्त लोके॥
> अथर्व० १८।४।१॥

(जातवेदसः) हे अग्नियो! तुम (जनित्रीं आरोहत) अपनी उत्पन्न करनेवालीके पास पहुंचो। मैं [वः] तुम्हें (पितृयाणैः) पितृयाणमार्गोंसे (सं आरोहयामि) अच्छी प्रकार पहुंचाता हूं। (इषितः हव्यवाहः) प्रिय हव्योंका वाहक अग्नि (हव्या = हव्यानि) हव्योंको [अव्याट्] वहन करता है। हे अग्नियो! (युक्ताः) तुम मिलकर [ईजानं] यज्ञ करनेवाले को (सुकृतां लोके) श्रेष्ठ कर्म करनेवालोंके लोकमें (धत्त) धारण करो अर्थात् वहां उसे लेजाओ।

अग्नि और पितरोंका एक विशेष संबन्ध प्रतीत होता है। यह संबन्ध कैसा व क्या है इसपर विस्तारसे विचार आगे 'अग्नि व पितर' इस शीर्षक के नीचे करेंगे। यहां पर तो सिर्फ पितृयाण मार्गसे ही मतलब है इसी शीर्षक में आगे हम दिखाएंगे कि अग्नि पितृयाण मार्ग को भी जानता है।

> प्रेहि प्रेहि पथिभिः पूर्व्येभिः यत्रा नः पूर्वे पितरः परेयुः। उभा राजाना स्वधया मदन्ता यमं पश्यासि वरुणं च देवम्
> ॥ ऋ० १०।१४।७॥

यही मंत्र थोडेसे पाठभेद से अथर्ववेदमें निम्न प्रकारसे आया है—

प्रेहि प्रेहि पथिभिः पूर्व्याणैः येना ते पूर्वे पितरः परेताः।
उभा राजाना स्वधया मदन्तौ यमं पश्यासि वरुणं च
देवम् ॥ अथर्व० १८।१।५४

(यत्र)जहां (नः पूर्वे पितरः) हमारे पूर्व पितर (परेयुः) गए हुए हैं, वहां (पूर्व्येभिः पथिभिः) पहिलेके मार्गों द्वारा (प्रेहि प्रेहि) तू जा। वहां (स्वधया) स्वधासे (मदन्तौ) तृप्त होते हुए (उभौ राजानौ) दोनों राजा (यमं वरुणं देवं च) यम और वरुण देव को (पश्यासि) देख।

इन उपरोक्त मंत्रोंसे पता चलता है कि पितरोंके जाने के मार्ग पितृयाण के नाम से प्रख्यात हैं। इसके सिवाय एक मंत्र ऐसा भी है जिसमें कि पितृयाण मार्गसे आनेका भी उल्लेख पाया जाता है।

आ यात पितरः सोम्यासो गंभीरैः पथिभिः पितृयाणैः।
आयुरस्मभ्यं दधतः प्रजां च रायश्च पोषैरभि नः सच-
ध्वम् ॥ अथर्व० १८।४।६२

(सोम्यासः पितरः) हे सोमपान करनेवाले पितरो! (गंभीरैः) गंभीर (पितृयाणैः पथिभिः) पितृयाण मार्गोंसे (आयात) आओ। (अस्मभ्यं आयुः प्रजां च रायः च दधतः) हमारे लिए आयुष्य, प्रजा तथा धनसंपत्ति दो। (पोषैः) अन्य पुष्टियों से (नः) हमें (अभिसचध्वं) चारों ओर से युक्त करो।

इस मंत्र में पितरों के पितृयाण से आकर आयु, प्रजा आदि देनेका उल्लेख है। इसके अतिरिक्त निम्न मंत्र में भी पितृयाण का उल्लेख मिलता है।

अनृणा अस्मिन्ननृणाः परस्मिन् तृतीये लोके अनृणाः
स्याम। ये देवयानाः पितृयाणाश्च लोकाः सर्वान्
पथो अनृणा आ क्षियेम ॥ अथर्व० ६।११७।३ ॥

(अस्मिन्) इस लोक में हम (अनृणाः) ऋण रहित होवें (परस्मिन्) पर लोक में (अनृणाः) हम अनृण होवें। तथा (तृतीये लोके) तीसरे लोकमें (अनृणाः) ऋणरहित (स्याम) होवें। (ये देवयानाः पितृयाणाः च लोकाः) जो देवयान व पितृयान मार्ग हैं, (सर्वान् पथः) उन सब मार्गों में (अनृणाः) ऋण रहित हुए हुए (आ क्षियेम) विचरण करें।

इस लोकमें दो प्रकारका ऋण है। (१) भौतिक धन, सोना चांदि आदि उधार लेना। (२) वैदिक "जायमानो ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणवान् जायते। ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्यः इति" (तै. सं. ६।३।१०।५॥) अर्थात् तीन प्रकारका वैदिक ऋण पैदा होते ही मनुष्य पर चढता है वह तीन प्रकारका ऋण ऋषिऋण, देवऋण तथा पितृऋण है। ब्रह्मचर्यके पालनसे ऋषिऋण उतरता है, यज्ञ करनेसे देवऋण उतरता है तथा संतानोत्पत्तिसे पितृऋण से मनुष्य मुक्त होता है। निम्न मंत्र पितृयाण मार्गका उल्लेख करते हुए यह भी दर्शाते हैं, कि कौन पितृयाण मार्गको जानता है और कौन नहीं।

यं त्वा द्यावापृथिवी यं त्वापस्त्वष्टा यं त्वा सुजनिमा
जजान। पन्थामनु प्र विद्वान् पितृयाणं द्युमदग्ने समिधा
नो विभाहि ॥ ऋ० १०।२।७॥

हे अग्ने! (यं त्वा) जिस तुझको (द्यावापृथिवि) द्युलोक और पृथिवीलोक क्रमशः अग्नि और आदित्य रूपसे पैदा करते हैं और (यं त्वा) जिस तुझे (आपः) जल विद्युत् रूपसे पैदा करते हैं, और (यं त्वा) जिस तुझको (सुजनिमा) उत्तम उत्पादक (त्वष्टा) प्रजापति (जजान) उत्पन्न करता है, वह तू (पितृयाणं पंथां) पितृयाण मार्गको (अनु प्र विद्वान्) अच्छी प्रकारसे जानता हुआ (समिधानः) सुप्रज्वलित किया हुआ (द्युमत्) दीप्तिवाला होता हुआ (विभाहि) प्रकाशमान हो।

इस मंत्रमें अग्निको पितृयाण मार्गका जाननेवाला बताया गया है। हम पूर्वही निर्देश कर आए हैं कि अग्नि व पितरोंका विशेष संबन्ध है। उस संबंध पर विशेष विचार आगे किया जायगा। अग्नीको छोडकर और कौन पितृयाण मार्ग जानता है यह निम्न मंत्र दिखाता है।—

स य एवं विदुषा व्रात्येनातिसृष्टो जुहोति।
प्र पितृयाणं पन्थां जानाति प्र देवयानम् ॥
अथर्व० १५।१२।४-५

(सः यः) वह जो (एवं) उपरोक्त प्रकारसे (विदुषा व्रात्येन) विद्वान् सत्यव्रती अतिथिसे (अतिसृष्टः) आज्ञा दिया हुआ (जुहोति) होम करता है वह (पितृयाणं पन्थां) पितृयाण मार्ग को (देवयानं) देवयान मार्ग को भी अच्छी प्रकार जानता है। इसके प्रतिकूल—

अथ य एवं विदुषा व्रात्येनानतिसृष्टो जुहोति ॥
न पितृयाणं पन्थां जानाति न देवयानं ॥
अथर्व० १५।१२।८-९ ॥

जो उपरोक्त प्रकारसे (विदुषा व्रात्येन) विद्वान् व्रात्यसे (अनतिसृष्टः) न आज्ञा दिया हुआ (जुहोति) होम करता

है । वह (न पितृयाणं पन्थां प्रजानाति) न तो पितृयाण मार्गको ही भली भांति जानता है और नहीं (देवयान) देवयान मार्गको जानता है अब पितृयाण मार्ग किसे प्राप्त नहीं होता यह नीचे दिया हुआ मंत्र बताता है। मंत्र इसप्रकार है-

> देवपीयुश्चरति मर्त्येषु गरगीर्णो भवत्यस्थिभूयान् ।
> यो ब्राह्मणं देवबन्धुं हिनस्ति न स पितृयाणमप्येति लोकम् ॥ अथर्व० ५।१८।१३॥

(देवपीयुः गरगीर्णः मर्त्येषु चरति) देवोंकी हिंसा करनेवाला जहर खाया हुआसा मनुष्योंमें विचरण करता है। वह (अस्थि-भूयान् भवति) हड्डियोंकी बहुतायतवाला होता है, अर्थात् शरीर में मांसादिके न रहनेसे ऐसा प्रतीत होता है कि मानो इसके शरीरमें हड्डियां ही हड्डियां हैं और अतएव देखनेमें सिवाय हड्डियोंके और कुछ नहीं दीखता । (यः) जो (देवबन्धुं ब्राह्मणं हिनस्ति) देवोंके बन्धु ब्राह्मणकी हिंसा करता है (सः) वह (पितृयाणं लोकं) पितृयाण मार्गको (अपि) भी (न एति) नहीं प्राप्त होता ।

इस प्रकार हमें इतने मंत्रोंसे पता चलता है कि पितृयाण एक खास मार्ग है जिससे कि पितृगण एक लोकसे दूसरे लोकमें आते जाते हैं । अब वह मार्ग कौनसा है यह प्रश्न हमारे सामने उपस्थित होता है। इस प्रश्नपर थोडासा प्रकाश निम्न मंत्र डाल रहा है । इस पर थोडासा प्रकाश अग्नि व पितरके प्रकरण में भी डालेगा । मंत्र इस प्रकार है-

> आ भरतं शिक्षतं वज्रबाहू अस्माँ इन्द्राग्नी अवतं शचीभिः । इमे नु ते रश्मयः सूर्यस्य येभिः सपित्वं पितरो न आसन् ॥ ऋ. १।१०९।७॥

(वज्रबाहू इन्द्राग्नी) बलवान् भुजाओंवाले इन्द्र और अग्नि (अस्मान् आभरतं) हमारा अच्छी प्रकार भरण करें, (शिक्षतं) शिक्षा दें, और (शचीभिः अवतं) अपनी शक्तियोंसे हमारी रक्षा करें । (नु) निश्चयसे (सूर्यस्य इमे ते रश्मयः) सूर्यकी ये वे किरणें हैं (येभिः) जिनसे कि (नः) हमारे (पितरः) पितर (सपित्वं आसन्) सपित्व हैं ।

यहांपर आया हुआ सपित्व शब्द बडे महत्व का है । इसी पर थोडासा विशेष विचार करेंगे क्योंकि जो कुछ परिणाम निकाला जा सकता है वह इसीपर आश्रित है। सपित्वं पि=गतौ धातुसे औणादिक त्वन् प्रत्यय करनेसे पित्व बनता है. 'समानं र तत् पित्वं च इति सपित्वं ' अथवा 'सह पित्वं सपित्वं ।' गतिके तीन अर्थ हो सकते हैं ज्ञान, गमन और प्राप्ति । इस प्रकार इस शब्दके तीन अर्थ हो सकते हैं । (१) सह गमन, (२) सहप्राप्ति (३) सहज्ञान । सहगमन और सहप्राप्तिमें विशेष भेद नहीं है क्योंकि सहगमन से सहप्राप्ति होती है । अब हमारे सामने दो पक्ष शेष रहते हैं (१) सह-गमन वा सहप्राप्ति और (२) सहज्ञान । इन दो पक्षोंमें से कौनसा अर्थ लेना चाहिए यह विचारना है ।

निरुक्तकार यास्काचार्यने निरुक्त अ० ३, पाद ३, खण्ड १४ में 'कुहस्विद्दोषा कुहवस्तो रश्विना' इत्यादि ऋ. १०।१४।२॥ की व्याख्या करते हुए 'कुहाभि पित्वं करतः' इस पद समुदाय में आए हुए अभिपूर्वक पित्व शब्दका अर्थ 'प्राप्ति' ऐसा किया है। वे 'कुहाभि पित्वं करतः ' का अर्थ करते हैं ' क्वाभि प्राप्ति कुरुथः ' ।

सायणाचार्य ने सपित्वं का अर्थ 'सह प्राप्तव्यं स्थानं' ऐसा किया है। सह शब्द उपपद रखके 'आप्लृ व्याप्तौ' धातुसे 'कृत्यार्थे तवैन्केन्केन्यत्वनः, इस सूत्रसे 'त्वन्' प्रत्यय करके 'पृषोदरादीनि यथोपदिष्टं' से पिभाव करके सपित्व सपित्व शब्द व्याकरणानुसार सिद्ध किया है । सायणाचार्य सपित्व की सिद्धि अन्य रीतिसेभी करते हैं । 'षप समवाये, इस धातुसे 'इन् सर्वधातुभ्यः' से इन् करने से सपि शब्द बनाकर, 'सपेर्भावः सपित्वं ।' अर्थ वही उपरोक्त ।

इन दो उपरोक्त आचार्यों के मतानुसार सपित्व का अर्थ सह-गमन वा सह-प्राप्ति है । हम ऊपर पितृलोक के मंत्रों में देख आए हैं कि पितर द्युलोकमें पितृयाण मार्ग से जाते हैं। और यहां इस मंत्र में हम पाते हैं कि पितर सूर्यकिरणों के साथ जाते हैं और उनके साथ वहां पहुंचते हैं । अतः इससे हम इस परिणाम पर पहुंच सकते हैं कि पितर पितृयाण द्वारा पितृलोक में जाते हैं और यह पितृयाण मार्ग संभव है 'सूर्य-किरणें' हों। इस पितृयाण मार्ग पर विशेष प्रकाश 'अग्नि व पितर इस प्रकरण में डाल सकेंगे ऐसी हमें आशा है। यहां पर यह संकेत रूपमें लिखा है । पितृयाण मार्ग विशेष विचारणीय है अतः इसके विषयमें एकदम निश्चयपूर्वक कहना कठिन है । पाठक गण इसपर विचार कर कुछ सहायता करेंगे तो अच्छा होगा !

२ पितरोंके कार्य।

इस लेखमें पितरों के जो कार्य दर्शाए जायंगे उससे यह परिणाम कदापि नहीं निकालना चाहिए कि पितरोंके कार्यप्रदर्शक मंत्र इतने ही हैं और येही पितरोंके कार्य हैं। पितरोंके अन्य विशेष कार्य दर्शानेवाले और भी बहुतसे मंत्र हैं परंतु वे अन्य प्रकरणोंके लिए अधिक उपयुक्त होनेसे उनको वहीं दिया जायगा।

१ रक्षा करना।

उदीरतामवर उत्परास उन्मध्यमाः पितरः सोम्यासः।
असुं य ईयुरवृका ऋतज्ञास्ते नोऽवन्तु पितरो हवेषु॥
ऋ० १०।१।५१॥ यजु० अ० १९।४९॥

अथर्व० १८।१।४४

(सोम्यासः) सोम संपादन करनेवाले (अवरे उत मध्यमाः उत परासः पितरः) कनिष्ठ, मध्यम तथा उत्कृष्ट पितर (उत् ईरताम्) उन्नति करें। (ये अवृकाः ऋतज्ञाः) जिन हिंसारहित सत्य वा यज्ञके जाननेवाले पितरोंने (असुं ईयुः) प्राण, बल वा जीवनको प्राप्त कर लिया है (ते पितरः) वे पितर (हवेषु) संग्रामोंमें-युद्धोंमें वा बुलाए जानेपर (नः अवन्तु) हमारी रक्षा करें।

गन्धर्वाप्सरसः सर्पान् देवान् पुण्यजनान् पितॄन्।
दृष्टानदृष्टानिष्णामि यथा सेनाममूं हनन्॥

अथर्व० ८।८।१५॥

(गंधर्वाप्सरसः) गन्धर्व तथा अप्सराओंको, (सर्पान्) सर्पोंको, (देवान्) देवोंको (पुण्यजनान्) पुण्यजनोंको, (पितॄन्) पितरोंको (दृष्टान् अदृष्टान्) चाहे ये देखे हुए हों या न हों इन सबको (इष्णामि) प्राप्त करता हूं। (यथा) जिससे कि ये सब (अमूं सेनां) उस शत्रु सेनाको (हनन्) मार डालें-नष्ट कर दें।

वनस्पतीन् वानस्पत्यानोषधीरुत वीरुधः।
गंधर्वाप्सरसः सर्पान् देवान् पुण्यजनान् पितॄन्।
सर्वांस्तां अर्बुदे त्वममित्रेभ्यो दृशे कुरूदारांश्च
प्रदर्शय॥ अथर्व० ११।९।२४

[वनस्पतीन्] वनस्पतियोंको, [वानस्पत्यान्] वनस्पतियों से उत्पन्न पदार्थोंको [ओषधीः] औषधियोंको [उत] और [वीरुधः] लताओंको [गंधर्वाप्सरसः] गंधर्व तथा अप्सराओंको [सर्पान्] सर्पोंको [देवान्] देवोंको [पुण्यजनान्] पुण्यजनोंको (पितॄन्) पितरोंको (तान् सर्वान्) इन सबको तथा [उदारान्] उदारोंको [अर्बुदे] हे अर्बुदि! [त्वं] तू [अमित्रेभ्यः दृशे कुरु] शत्रुओंको देखने लिए कर। अर्थात् इन्हें शत्रुओंको दिखा, ताकि ये शत्रुओंका विनाश करें। इनकी घातक शक्तिका उपयोग शत्रुओंके लिये हो।

अर्बुदिका अर्थ एतेरेय ब्राह्मणने इस प्रकार किया है- 'अर्बुदः काद्रवेयः सर्पऋषिः मंत्रकृत्' [ऐ. ब्रा, ६।१] अर्बुद नामका कोई सर्पऋषि था उसका पुत्र अर्बुदि। 'अतइञ्' इस सूत्रसे इञ्। 'संज्ञापूर्वको विधिरनित्यः' इस नियमानुसार आदि वृद्धि न होकर अर्बुदि बनता है।

सायणाचार्यने इसका अर्थ 'अंतरिक्षचर राक्षस व पिशाच अथवा सूर्यरश्मिसे होनेवाले उल्कादि पात यानि आंतरिक्ष्य उत्पात' ऐसा किया है। इस अर्थ की पुष्टि में उन्होंने तै० ब्रा० का प्रमाण दिया है कि 'तस्मात् ते पानाद् उदारा अजायन्त' तै० ब्रा० २।२।९।२ उत् आरयन्ति आर्ति उद्भावयन्ति इति उदाराः।' अस्तु, उदार शब्द का कुछ भी अर्थ माना जाए तो भी हमारे उद्देश में उससे किसी भी प्रकार की क्षति नहीं पहुंचती।

इन उपरोक्त मंत्रों से स्पष्ट पता चलता है कि पितर युद्धमें हमारी रक्षा करते हैं। हमारे शत्रुओंसे लडकर उनका विनाश कर हमें बचाते हैं। इन उपरोक्त मंत्रोंमें पितरोंकी युद्धविषयक रक्षाका विधान है। अब हम ऐसे मंत्र उधृत् करते हैं कि जिनमें सामान्य रक्षा का विधान है।

अवन्तु नः पितरः सुप्रवाचना उत देवी देवपुत्रे ऋतावृधा। रथं न दुर्गाद्वसवः सुदानवो विश्वस्मान्नो अंहसो निष्पिपर्तन॥ ऋ० १।१०६।३॥

[सुप्रवाचनाः पितरः नः अवन्तु] उत्तम प्रवचन करनेवाले पितर हमारी रक्षा करें। (उत) और [देवपुत्रे ऋतावृधा देवी] देव अर्थात् सूर्य व चन्द्रमा जिनके पुत्र—रक्षक हैं तथा जो सत्य से बढनेवाली हैं ऐसी द्यावापृथिवी भी हमारी रक्षा करें। हे [सुदानवः] उत्तम दानवाले [वसवः] वसुओ (दुर्गात् रथं न) दुर्गमनीय स्थानसे रथकी तरह (विश्वस्मात् अंहसः) सब पापों से [नः निष्पिपर्तन] हमें निकालकर पालो।

अवन्तु मामुषसो जायमाना अवन्तु मा
सिन्धवः पिन्वमानाः। अवन्तु मा पर्वतासो
ध्रुवासोऽवन्तु मा पितरो देवहूतौ।

॥ ऋ० ६।५२।४॥

*

[जायमानाः उषसः मां अवन्तु] उत्पन्न होती हुई उषायें मेरी रक्षा करें । [पिन्वमानाः सिन्धवः मा अवन्तु] जलका सिंचन करती हुई नदियां मेरी रक्षा करें । [ध्रुवासः पर्वतासः मा अवन्तु] निश्चल पर्वत मेरी रक्षा करें, और [देवहूतौ] देवोंके आह्वान करनेमें (पितरः) पितृगण (मा अवन्तु) मेरी रक्षा करें इस प्रकार इस मंत्रमें पितरोंको देवोंके आह्वान के कार्यमें रक्षा करनेके लिए कहा गया है ।

> इन्द्रघोषस्त्वा वसुभिः पुरस्तात्पातु प्रचेतास्त्वा
> रुद्रैः पश्चात्पातु मनोजवास्त्वा पितृभिर्दक्षिणतः
> पातु विश्वकर्मा त्वादित्यैरुत्तरतः पात्विदमहन्तप्तं
> वार्बहिर्धा यज्ञान्निःसृजामि ॥
>
> यजु० अ० ५।११ ॥

(इन्द्रघोषः त्वा वसुभिः पुरस्तात् पातु) इन्द्रकी वाणी तेरी आगेसे वसुओं द्वारा रक्षा करे । (प्रचेताः रुद्रैः त्वा पश्चात् पातु) प्रचेता रुद्रोंद्वारा तेरी पीछेसे रक्षा करे । (मनो. जवाः पितृभिः त्वा दक्षिणतः पातु) मनोजव पितरों द्वारा तेरी दक्षिण से रक्षा करे । [विश्वकर्मा आदित्यैः त्वा उत्तरतः पातु] विश्वकर्मा आदित्यों द्वारा तेरी उत्तरसे रक्षा करे । [अहं] मैं [इदं तप्तं वाः] यह गरम जल [यज्ञात्] यज्ञसे [बहिर्धा] बाहिरकी ओर [निःसृजामि] फैंकता हूं । पितर हमारी दक्षिण दिशासे रक्षा करते हैं, अर्थात् दक्षिण दिशासे आनेवाले विघ्नों को पितर दूर करते हैं; ऐसा इस मंत्रसे सूचित होता है ।

निम्न मंत्रमें यह दर्शाया गया है कि पितर किन किन कार्योंमें हमारी रक्षा करते हैं । मंत्र इस प्रकार है--

> पितरः परे ते मावन्तु । अस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन्
> कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां
> चित्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां
> स्वाहा ॥
>
> अथर्व० ५।२४।१५ ॥

[ते] वे [परे पितरः मा अवन्तु] पूर्वकालीन या उत्कृष्ट पितर मेरी निम्न कर्मोंमें रक्षा करें । [अस्मिन् ब्रह्मणि] इस ब्रह्मयज्ञमें [अस्मिन् कर्मणि] इस कर्मयज्ञमें । [अस्यां पुरोधायां] इस पुरोहितके कार्य में [अस्यां प्रतिष्ठायाम्] इस प्रतिष्ठामें । [अस्यां चित्याम्] इस चेतनायुक्त कार्यमें । [अस्यां आकूत्याम्] इस संकल्प में । [अस्यां आशिषि] इस आशीर्वाद कार्यमें । [अस्यां देवहूत्यां] इस देवोंके आह्वानमें [स्वाहा] ।

इस प्रकार हमने इन मंत्रोंसे देखा कि कहां कैसे पितर हमारी रक्षा का कार्य करते हैं । अब हम पितरों के अन्य कार्योंपर दृष्टि डालते हैं ।

२ सूर्य प्रकाश देना ।

> अस्माकमत्र पितरो मनुष्या अभिप्रसेदुर्ऋत-
> माशुषाणाः । अश्मव्रजाः सुदुघा वव्रे अन्तरु-
> दुस्रा आजन्नुषसो हुवानाः ॥
>
> ऋ० ४।१।१३ ॥

[अत्र] यहां [ऋतं आशुषाणाः] यज्ञ या सत्यको प्राप्त करतेहुए [मनुष्याः पितरः] मननशील पितर [अभिप्रसेदुः] प्रसन्न होते हैं, और अश्मव्रजाः (सुदुघाः) मेघोंमें गमन करनेवाली, सुखसे कामनाओं को पूर्ण करनेवाली (उषसः) उषाओं को (हुवानाः) बुलाते हुए (वव्रे अन्तः) अन्धकारमें (उस्राः) सूर्यकिरणोंको (उत् आजन्) प्राप्त करते हैं । अथवा अंधकारमें सूर्य की किरणें फैंकते हैं यानि सूर्यकिरणों द्वारा सर्वत्र प्रकाश करते हैं । एवं इस मंत्रमें पितरोंका सूर्य प्रकाश देना बताया गया है ।

> अधा यथा नः पितरः परासः प्रत्नासो अग्न ऋतमा-
> शुषाणाः । शुचीदयन् दीधितिमुक्थशासः क्षामा
> भिन्दन्तो अरुणीरपव्रन् ।
>
> ऋ० ४।२।१६ ॥ तथा यजु० अ० १९।६९।

यह मंत्र अथर्व में थोडेसे पाठभेदके साथ निम्न प्रकारसे आया है ।

> अधा यथा नः पितरः परासः प्रत्नासो अग्न ऋतमानाः ।
> शुचीदयन् दीध्यत उक्थशासः क्षामा भिन्दन्तो
> अरुणीरपव्रन् ॥
>
> अथर्व० १८।३।२१

(यथा नः परासः प्रत्नासः पितरः) जैसे हमारे श्रेष्ठ पुराने पितरों ने (ऋतमाशुषाणाः) सत्य या यज्ञ को प्राप्त करते हुए (शुचिदीधितिं) शुद्ध सूर्य किरणको (इत्) ही (अयन्) प्राप्त किया था और (उक्थशासः) उक्थों से प्रशंसा स्तुति करते हुए (क्षामा = क्षाम) क्षयकारी अंधकारको (भिन्दन्तः) नष्ट करते हुए (अरुणीः) उषाओं की किरणोंको (अपव्रन्) प्रकाशित किया था, उसी प्रकार हे अग्ने ! तूभी कर ।

उक्थ वेदों के खास सूक्तों का नाम है । ब्राह्मणों व उपनिषदोंमें उक्थ शब्द प्राणके लिए भी आता है । कहीं अन्न प्रजा आदिके लिए भी प्रयुक्त हुआ हुआ है । क्षामा = क्षाम । ' संहितायां ' से दीर्घ हुआ हुआ है यद्यपि क्षाम शब्दका पाठ निघण्टुमें पृथिवी वाचक नामों में किया है तथापि यहां क्षाम शब्द का अर्थ प्रसंगसे ' अंधकार ' ही करना उचित है और यही ठीक जंचता है । इसके अतिरिक्त इस विभागमें दिए गए सब मंत्रभी इसी अर्थको पुष्ट कर रहे हैं । पृथिवी को भेदन करने का यहां कोई संबंध प्रतीत नहीं होता । अरुणीका अर्थ उषःकालकी किरणें ऐसा है । ' अरुण्यः गावः उषसाम् ' अर्थात् उषाओंकी किरणोंका नाम अरुणी है । निघण्टुः १।१५॥

इसी प्रकार निम्न मंत्र भी उपरोक्त मंत्र के कथन को ही पुष्ट कर रहा है–

> त इद्देवानां सधमाद आसन्नृतावानःकवयः पूर्व्यासः ।
> गूळ्हं ज्योतिः पितरो अन्वविन्दन्त्सत्यमंत्रा अजनयन्नुषासम् ॥ ऋ. ७।७६।४॥

(ते इत् ऋतावानः, कवय, पूर्व्यासः सत्यमंत्राः, पितरः) वे ही सत्ययुक्त, क्रान्तदर्शी पूर्वकालीन, सत्य मंत्रणावाले पितर (देवानां सधमादः आसन्) देवोंके साथ मिलकर आनन्दित होनेवाले थे कि जिन पितरोंने (गूळ्हं ज्योतिः) छिपे हुए प्रकाशको (अनु अविन्दन्) प्राप्त किया और (उषासं) उषाको (अजनयन्) उत्पन्न किया ।

इस प्रकार इस मंत्रमें भी पितरों के उषा पैदा करके सूर्य प्रकाश देनेकी बातको कहा गया है ।

> वीळु चिद्दृळ्हा पितरो न उक्थैरद्रिं रुजन्नङ्गिरसो रवेण । चक्रुर्दिवो बृहतो गातुमस्मे अहः स्वः विविदुः केतुमुस्राः ॥ ऋ. १।७१।२॥

(नः अङ्गिरसः पितरः) हमारे अङ्गिरस पितरोंने (उक्थैः) शब्दोंसे, (रवेण) और उक्थ अथात् वेदके स्तोत्रोंसे उत्पन्न घोषसे (वीळु चित्) बलवान् तथा (दृळ्हा) दृढ (अद्रिं) मेघको (रुजन्) तोड गिराया । अर्थात् वेद मंत्रोंके पाठसे इतना बडा शब्द हुआ कि उससे बादल टूट कर नीचे आगिरे और । तब (बृहतः दिवः गातुं चक्रुः) बडे भारी द्युलोकमें से मार्ग बनाया । और इस प्रकार (अस्मे) हमारे लिए (स्वः अहःकेतुं) सुख से प्रापणीय सूर्यको तथा (उस्राः) सूर्यकिरणों का (विविदुः) प्राप्त किया ।

इस मंत्रमें उक्थों की महिमा का वर्णन किया गया है और साथ ही में उन उक्थों की सहायतासे पितरोंने हमारे लिए दिन व सूर्य को प्राप्त किया जिससे कि हमें प्रकाश प्राप्त हो सके, यह दर्शाया गया है । पितर बादलोंको हटाकर उन्हें छिन्न भिन्न कर हमारे लिए सूर्यप्रकाश पहुंचातेहैं यह इससे स्पष्ट होता है। उपरोक्त मंत्रके इसी भावको निम्न मंत्र भी प्रकट कर रहा है ।

> स वर्धिता वर्धनः पूयमानः सोमो मीढ्वाँ अभि नो ज्योतिषावीत् । येना नः पूर्वे पितरः पदज्ञाः स्वर्विदो अभि गा अद्रिमुष्णन् ॥ ऋ. ९।९७।३९ ॥

(सः) वह (वर्धनः) बढता हुआ (वर्धिता) बढानेवाला (पूयमानः) पवित्र करता हुआ (मिढ्वान्) सुख वा कामनाओंका वर्षक (सोमः) सोम (नः ज्योतिषा अभि आवीत) हमारी प्रकाशसे चारों ओर से रक्षा करे । (येन) जिस सोमसे कि (नः पदज्ञाः, स्वर्विदः, पूर्वे पितरः) हमारे परम पदको जाननेवाले पूर्व पितरोंने (गाः) किरणोंको (अभि= अभिलक्ष्य उद्देश्य करके अर्थात् किरणों की प्राप्तिका उद्देश्य करके अर्थात् किरणोंकी प्राप्तिका उद्देश्य करके (अद्रिं उष्णन्) मेघका अपहरण किया अर्थात् उसे दूर हटाया जिससे कि सूर्य किरणोंके आनेमें रुकावट न हो ।

पूर्व मंत्रोक्त भावको इस मंत्रमें भिन्न रूपसे दर्शाया गया है । उसी बातकी यह मंत्र पुष्टि करता है । ' स्वर्विदः ' का अर्थ है सूर्य को जाननेवाले । द्युलोक कोभी स्वः कहते हैं अतः द्युलोक को जाननेवाले भी अर्थ है । यास्काचार्य भी यह अर्थ स्वीकार करते हैं । उन्होंने स्वः शब्दका निर्वचन निरु० अ० २। पा० ४। खण्ड १४ में निम्न प्रकारसे किया है–

"स्वः आदित्यो भवति । सु अरणः, सु ईरणः, स्वृतो रसान्, स्वृतो भासं ज्योतिषां, स्वृतो भासेति वा । एतेन द्यौर्व्याख्याता । " अर्थात् स्व आदित्यका नाम है क्योंकि यह सूर्य (सु--अरणः सु ईरणः) पूर्णतया अंधकार को दूर भगानेवाला है ।

सु अर्=स्वः । अथवा ' स्वृतो रसान् ' यह रसोंके प्रति ग्रहणके लिए जाता है । सूर्यका रस लेना प्रसिद्ध ही है । सूर्यके रस लेनेकी बातको कालिदासने रघुवंश में इस प्रकार कहा है–

> 'सहस्रगुणमुत्स्रष्टुं आदत्ते हि रसं रविः'

अर्थात् सूर्य हजार गुणा वापिस करनेके लिए रसोंको पृथिवी

परसे लेता है। सु पूर्वक ऋ गतौ। सु×अर् = स्वः। अथवा 'स्वृतो भासं ज्योतिषां' अर्थात् चन्द्रादि प्रकाशमानोंको प्रकाशित करनेवाला। अथवा 'स्वृतो भासा' दीप्तीसे युक्त होनेसे सूर्यका नाम स्वः है। इसीसे द्युलोक की भी व्याख्या होगई ऐसा समझना चाहिए।

इस मंत्रमें पितरोंको सूर्यका जाननेवाला कहा गया है, अतः इससे यह अनुमान निकाला जा सकता है कि संभव है पितर सूर्यलोकमें भी विचरण करते हों। पितरोंकी सूर्यसे घनिष्ठता प्रतीत होती है। इसके अतिरिक्त हमें पितृयाण के प्रकरण में एक ऐसा मंत्रभी मिला है जिसमें कि पितरों की सूर्यकिरणोंके साथ सहप्राप्ति व सहगमन बताया गया है। यहांपर पितरोंको सूर्यको जाननेवाले बतलाया गया है। अतः इन दोनों बातों को लक्ष्यमें रखकर विचारने से ऐसा प्रतीत होता है कि पितर पृथिवी लोक से सूर्य किरणों के साथ सूर्य लोकमें जाते हैं और वहांसे फिर द्युलोकमें स्थित पितर लोकमें जाते हैं। अतः संभव है यही पितृयाण मार्ग हो। उपरोक्त दोनों मंत्रोंके भावको निम्न मंत्र और भी स्पष्ट रूपमें पुष्ट कर रहा है–

> अभिश्यावं न कृशनेभिरश्वं नक्षत्रेभिः पितरो द्याम-
> पिंशन्। रात्र्यां तमो अदधुर्ज्योतिरहन् बृहस्पति-
> र्भिनदद्रिं विदद्गाः॥ ऋ० १०।६८।११॥ तथा
> अथर्व० २०।१६।११

(बृहस्पतिः अद्रिं भिनत्) जब बृहस्पतिने मेघको तोड गिराया और (गाः विदत्) सूर्य किरणोंको प्राप्त किया तब (कृशनेभिः श्यावं अश्वं न) जैसे सुवर्णके अलंकारोंसे काले घोडेको शोभायमान किया जाता है वैसे (पितरः) पितरोंने (नक्षत्रेभिः द्यां अपिंशन्) पितरोंने नक्षत्रों द्वारा द्युलोकको दीप्त किया व शोभायमान किया। और फिर (रात्र्यां तमः अदधुः) रात्रिमें अंधकारको रखा तथा (अहन् ज्योतिः अदधुः) दिनमें प्रकाशको स्थापित किया। अतएव दिनमें प्रकाश होता है और रातमें अंधेरा। इस प्रकार इस मंत्रमें ' प्रकाश व अंधेरा पितर करते हैं' यह दर्शाया गया है।

> आविरभून्महि माघोनमेषां विश्वं जीवं तमसो
> निरमोचि। महि ज्योतिः पितृभिर्दत्तमागादुरुः
> पन्था दक्षिणाया अदर्शि॥ ऋ० १०।१०७।१॥

[एषां माघोनं महि आविरभूत्] इन पितरोंका मघवा संबन्धी महान् प्रकाश प्रकट हुआ, और प्रकट होकर उसने [विश्वं जीवं] सारे संसारको तमसः निरमोचि] अंधकारसे छुडाया। [पितृभिः दत्तं महि ज्योतिः आगात्] वह पितरोंसे दिया हुआ प्रकाश आया और आकर उसने [दक्षिणायाः उरुः पन्थाः अदर्शि] दक्षिणा का विस्तृत मार्ग दर्शाया।

' माघोनं ' का अर्थ है मघवा अर्थात् इन्द्र संबंधी प्रकाश सूर्यकी चैत्र मासमें इन्द्र संज्ञा होती है अर्थात् सूर्य चैत्रमासमें इन्द्र कहलाता है। अतएव माघोनं का यहां अर्थ सूर्यका प्रकाश ऐसा किया है। इसके अतिरिक्त प्रकृत प्रकरण भी इसी अर्थकी पुष्टि करता है।

इस मंत्रमें पितरोंके प्रकाश देनेके महत्त्वको दर्शाया गया है इन उपरोक्त मंत्रोंके देखनेसे हमें स्पष्ट पता चलता है कि पितरोंका काम उषाओंका उत्पन्न करना, अन्धकारको दूर करके सूर्यप्रकाश प्राप्त करना, तथा बादलोंको तोड फोडकर उनसे छिपे हुए प्रकाश को प्राप्त करना है। द्युलोकको नक्षत्रोंसे सुशोभित करके दिनरात बनानाभी पितरोंका कार्य है। इस प्रकार पितर सूर्यप्रकाश प्रदाता है यह हमने देखा।

३ पापसे छुडाना

> अरायान् ब्रूमो रक्षांसि सर्पान् पुण्यजनान् पितॄन्
> मृत्यूनेकशतं ब्रूमस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः॥
> अथर्व. ११।६।१६

[अरायान्] न दान देनेवालोंको, [रक्षांसि] राक्षसोंको, [सर्पान्] सर्पोंको, [पुण्यजनान्] पुण्यजनोंको और [पितॄन् पितरोंको [ब्रूमः] कहते हैं तथा [एकशतं] मृत्यून् एक सौ मृत्युओंको [ब्रूमः] कहते हैं कि [ते] वे सब [नः अंहसः] हमें पापसे [मुञ्चन्तु] छुडावें। यहांपर अन्योंके साथ पितर भी पापसे छुडाते हैं यह दर्शाया गया है।

४ सुख व कल्याण करना।

> विश्वामित्र जमदग्ने वसिष्ठ भरद्वाज गोतम वामदेव
> शर्दिर्नो अत्रिरग्रभीन्नमोभिः सुसंशासः पितरो मृडता नः॥
> अथर्व. १८।३।१६

हे (विश्वामित्र) सबके मित्र, (जमदग्ने) हे अग्निके प्रकाशक, (वसिष्ठ) हे अतिशय श्रेष्ठ, (भरद्वाज) हे अन्न-बल धारक, (गोतम) हे उत्तम स्तोता, (वामदेव) हे प्रशंसनीय व्यवहारवाले, (सुसंशासः) उत्तम तथा स्तुति करने योग्य (पितरः) पितरो! तुम (नः मृडत) हमें सुखी करो क्योंकि (शर्दिः अत्रिः) बलविशिष्ट अत्रिने (नमोभिः)

अन्नोंसे हमें (अग्रभीत्) ग्रहण किया है अर्थात् वह हम अन्न देता है।

अथवा शर्दिः = छर्दिः = घर। शर्दिका अर्थ घर करने पर छर्दिका विभक्ति व्यत्यय करना पडेगा। शर्दिः = शर्दिम्। इस अवस्था में तृतीय पादका अर्थ होगा कि " क्यों कि अग्निने हमारे घरोंको अन्नोंसे भर दिया है, अतः हे उपरोक्त विशेषण विशिष्ट पितरो हमें सुखी करो। " अत्रिका अर्थ है जिसके तीनों ताप नहीं रहे। (निरु० ३। १७) इस मंत्रमें विश्वामित्र, जमदग्नि आदि शब्द पितरों की विशेषता दर्शाते हैं।

> शं नः सत्यस्य पतयो भवन्तु शं नो अर्वन्तः शमु सन्तु गावः। शं नः ऋभवः सुकृतः सुहस्ताः शं नो भवन्तु पितरो हवेषु ॥ ऋ० ७।३५।१२
>
> तथा अथर्व० १९।११।११

(सत्यस्य पतयः) सत्य की रक्षा करनेवाले (नः शं भवन्तु) हमारा कल्याण करें। और (अर्वन्तः नः शं) घोडे हमारे लिए कल्याणकारी हों। (उ) और (गावः शं सन्तु) गौएं हमारे लिए कल्याणकारी हों। (सुकृतः सुहस्ताः ऋभवः नः शं) श्रेष्ठ कर्मवाले कार्यकुशल कारीगर लोग हमारे लिए कल्याणकारी हों। (हवेषु) बुलाए जानेपर (पितरः नः शं भवन्तु) पितर हमारा कल्याण करें।

ऋभु का अर्थ निघण्टुमें मेधावी जन व कारीगर ऐसा है। (निघण्टु ३। १५।)

५ गर्भ धारण करना

> अरुरुचदुषसः पृश्निरग्रिय उक्षा बिभर्ति भुवनानि वाजयुः। मायाविनो ममिरे अस्य मायया नृचक्षसः पितरो गर्भमादधुः ॥ ऋ० ९।८३।३

(अग्रियः) अग्रणी - मुख्य - प्रसिद्ध [उषसः पृश्निः] उषासे संबन्ध रखनेवाला सूर्य [अरुरुचत्] सबको प्रकाशित करता है। [वाजयुः] भूतजातके लिए अन्नकी कामना करता हुआ अतएव [उक्षा] जलोंका सिंचन करनेवाला सूर्य [भुवनानि बिभर्ति] भुवनों का धारण पोषण करता है। [अस्य मायया] इसकी मायासे [मायाविनः) मायावीगण [ममिरे] पदार्थोंका निर्माण करते हैं और [नृचक्षसः पितरः गर्भं आदधुः] मनुष्योंके देखनेवाले पितर गर्भ का धारण करते हैं।

यहां सूर्यकिरणों को पितर कहा गया है ऐसा प्रतीत होता है। सूर्यकिरणें जलको अपने गर्भ-में धारण करती हैं। सूर्यका किरणोंद्वारा जल ऊपर ले जाकर पुनः वृष्टिके समय बरसाना प्रसिद्ध ही है।

> आधत्त पितरो गर्भं कुमारं पुष्करस्रजम्। यथेह पुरुषोऽसत् ॥ यजुः अ० २।३३ ॥

[पितरः] हे पितरो ! [पुष्करस्रजं कुमारं गर्भं आधत्त] पुष्करस्रक् कुमारको गर्भमें धारण करो। [यथा] जिससे कि [इह पुरुषः असत्] यहां यह पुरुष बन जावे।

इस मंत्रपर भाष्य करते हुए उवटाचार्य तथा महीधराचार्यने पुष्करस्रक् कुमारका अर्थ अश्विनौ कुमार जोकि देवोंके वैद्य हैं उनकासा सुन्दर कुमार ऐसा किया है। पितरोंसे प्रार्थना की गई है कि देवोंके वैद्यकासा सुन्दर पुत्र उत्पन्न करो। स्वामी दयानंदजी ने इस मंत्रपर भाष्य करते हुए पुष्करस्रक् कुमार का अर्थ ' विद्याग्रहणार्थ फूलकी माला धारणा किया हुआ कुमार' ऐसा किया है। इस अर्थानुसार यह मंत्र विद्याभ्यासके प्रारंभके समयका वर्णन करता है, ऐसा प्रतीत होता है, तथा इससे निम्न परिणाम निकाले जा सकते हैं-

१ यहां आचार्यों के लिए पितृ शब्द का प्रयोग किया गया है।

(२) विद्याभ्यासके प्रारंभ करनेके लिए गुरुके पास जाते हुए विद्यार्थी को फूलोंकी माला अपने गलेमें डालकर जाना चाहिए।

(३) बहुवचनान्त पितृशब्द एकही समयमें एक शिष्य के अनेक आचार्यों का होना दर्शाता है।

पाठकों के सामने हमने दोनों भाष्योंका दिग्दर्शन करा दिया है। इस पर विशेष विचार पाठक स्वयं करें।

६ पितरोंका संतति बढाना आदि

> द्विधा सूनवोऽसुरं स्वर्विदमास्थापयन्त तृतीयेन कर्मणा। स्वां प्रजां पितरः पित्र्यं सह आवरे-ष्वदधुस्तन्तुं आततम् ॥ ऋ० १०।५६।६

[सूनवः] आदित्यके पुत्र देवोंने [असुरं स्वर्विदं] बलवान् द्यु लोकको जाननेवाले आदित्यको (तृतीयेन कर्मणा) प्रजोत्पत्ति नामक तीसरे कर्मसे (द्विधा) दो प्रकारका अन्त व उदयवाला (अस्थापयन्त) स्थापित किया। (पितरः) पितरोंने (स्वां प्रजां) अपनी प्रजाको उत्पन्न करके (अवरेषु पित्र्यं सहः आदधुः) आनेवाली संततिमें पैतृक तेजबल स्थापित किया और इस प्रकार (तन्तुं आततं) संततिको विस्तृत बनाया।

पितर संतति बढाकर उसमें पैत्रिक तेज स्थापन करते हैं, ऐसा इस मंत्रमें बतलाया गया है ।

७ मनके प्रत्यावर्तन अर्थात् पुनर्जन्ममें पितरोंकी सहायता !

पुनर्नः पितरो मनो ददातु दैव्यो जनः
जीवं व्रातं सचेमहि ॥
ऋ० १०।५७.५ तथा यजु० ३।५५

[नः पितरः] हमारे पितर तथा [दैव्यः जनः] देवोंका संघ [पुनः नः मनः ददातु] फिरसे हमें मनको देवे । हम (जीवं व्रातं सचेमहि) प्राणादि इन्द्रियसमूहको प्राप्त करें।

जन शब्द यह संघके लिए प्रयुक्त हुआ हुआ है । यह मंत्र पुनर्जन्मपर प्रकाश डालताहुआ पितरोंका मनादि इन्द्रियोंके देनेमें सहायक होना दर्शा रहा है ।

मनोन्वा हुवामहे नाराशंसेन सोमेन
पितृणां च मन्मभिः ॥ ऋ० १०।५७।३

यह मंत्र थोडेसे पाठभेदसे यजुर्वेदमें निम्नप्रकार से आया हुआ है—

मनोन्वा ह्वामहे नाराशंसेन स्तोमेन
पितृणां च मन्मभिः ॥
यजु० अ० ३।५३

हम [नाराशंसेन सोमेन] नर जिसकी प्रशंसा करते हैं ऐसे सोम [चंद्रमा] से [च] और [पितृणां मन्मभिः] पितरोंके मनन करने योग्य स्तोत्रोंसे [नु] निश्चयसे [मनः] मनको [आ हुवामहे] बुलाते हैं ।

यजुर्वेदमें ' सोमेन ' के स्थानमें । ' स्तोमेन ' ऐसा पाठ है । वहांपर ' स्तुतियोंसे ' ऐसा अर्थ होगा । मनकी उत्पत्ति सोम अर्थात् चन्द्रमासे है यह हमें पुरुषसूक्त [यजु० अ० ३१] से पता चलता है । यहांपर मनके प्रत्यावर्तनमें सोम व पितरोंकी स्तुतियोंको साधन बताया गयाहै । उपरोक्त दोनों मंत्रोंमें मनकी पुनः प्राप्ति पितरों द्वारा होती है यह स्पष्टतया दिखाया गया है ।

८ पितरोंके स्तोत्र ।

तमू षु समना गिरा पितृणां च मन्मभिः
नाभाकस्य प्रशस्तिभिर्यः सिन्धूनामुपो-
दये सप्तस्वसा स मध्यमो नभन्तामन्यके समे ॥
ऋ० ८।४१।२॥

[तं उ समानया गिरा] उस वरुणकी समान स्तुतिसे [च] और [पितृणां मन्मभिः पितरोंके मननीय स्तोम अर्थात् स्तुतियोंसे तथा [नाभाकस्य प्रशस्तिभिः] नाभाकके प्रशंसापरक स्तोत्रोंसे [सुअभिष्टौमि] अच्छी प्रकार स्तुति करता हूं । [यः] जो [मध्यमः] मध्यम वरुण [सिन्धूनां उप उदये सप्त स्वसा] नदियोंके उद्गम स्थानमें सात बहिनोंवाला है । [समे] सब [अन्यके] जो हमसे द्वेष करते हैं, ऐसा दुष्टबुद्धिवाले-पापबुद्धिवाले पापसंकल्प [नभन्तां] न रहें ।

इस मंत्रसे हमें पता चलता है कि पितरोंके कोई खास स्तोत्र हैं। वे स्तोत्र अपना विशेष परिणाम रखते हैं ऐसा नीचे दिए जानेवाले मंत्रसे प्रतीत होता है–

यह मंत्र विशेष विचारणीय है। उपरोक्त मंत्रकी व्याख्या निरुक्तकार यास्काचार्यने अपने निरुक्तमें इस प्रकारकी है

'तं स्वभिष्टौमि समानया गिरा गीत्या स्तुत्या पितॄणां च मननीयैः स्तोमैः, नाभाकस्य प्रशस्तिभिः । ऋषिर्नाभाको बभूव । यः स्यन्दमानानामुपोदये सप्त स्वसारमेनमाहवाग्भिः । स मध्यमः इति निरुच्यते । अथैष एव भवती । नभन्तामन्यके समे, भुवन्त्वन्यके सर्वे येनो द्विषन्ति दुर्धियः पापधियः पापसंकल्पाः ॥
निरुक्त १०।५

हमने जो ऊपर अर्थ किया है वह निरुक्तानुसार ही किया है ।

नाभाक ऋषिके प्रशंसापरक स्तोत्रोंसे तथा पितरोंके मननीय स्तोत्रोंसे वरुणकी स्तुति करनेसे पाप संकल्प नष्ट होते हैं अर्थात् पितरोंके स्तोत्र पाप संकल्पोंको दूर करनेमें सहायक हैं, यह इस मंत्रके कथनका अभिप्राय प्रतीत होता है । इसके सिवाय पितरोंकी स्तुतियोंसे और क्या विशेष लाभ हैं यह निम्न मंत्र दर्शाता है-

त्वेह यत् पितरश्चिन्न इन्द्र विश्वा वाम जरितारो असन्वन् । त्वे गावः सुदुघास्त्वे ह्यश्वास्त्वं वसु देवयते वनिष्ठः ॥
ऋ० ७।१८।१॥

हे इन्द्र ! (त्वे) तेरेमें (जरितारः नः पितरः विश्वा=विश्वानि वामा=वामानि) स्तुति करते हुए हमारे पितरों ने सारे प्रशंसनीय पदार्थों वा धनों को (असन्वत) प्राप्त किया। (यत्) क्यों कि (त्वे सुदुघाः गावः) तेरे पास सुखसे दोही जानेवाली गौएं हैं । (त्वे अश्वाः) तेरे पास घोडे हैं और साथ ही तू (हि) निश्चयसे (देवयते वसु वनिष्ठः) कामन

करनेवाले के लिए या स्तुति करनेवालेके लिए धनका संभाजक अर्थात् विभाग कर के देनेवाला है ।

इस मंत्रमें यह बताया गया है कि पितरोंने स्तुति करके सब कुछ प्राप्त किया और जो कोई अन्य चाहे तो वह भी स्तुति करके प्राप्त कर सकता है। पितरोंकी स्तुतिका फल यहांपर दिखाया गया है; अब कुछ ऐसे मंत्र नीचे दिए जाते हैं जिन में से कि प्रत्येक में पितरों के भिन्न भिन्न कार्योंका उल्लेख है ।

पितरोंसे दीर्घायु ।

वर्चसा मां पितरः सोम्यासो अञ्जन्तु देवा मधुना घृतेन । चक्षुषे मा प्रतरं तारयन्तो जरसे मा जरदष्टिं वर्धन्तु ॥ अथर्व० १८।६।१०

[सोम्यासः पितरः मां वर्चसा अञ्जन्तु] सोम संपादन करनेवाले पितर मुझे तेजसे व्यक्त करें । [देवाः मधुना घृतेन] देव मुझे माधुर्योपेत घृत से व्यक्त करें । [चक्षुषे मां प्रतरं तारयन्तः] देखने के लिए मुझे अच्छी तरह तराते हुए अर्थात् समर्थ बनाते हुए, [जरदष्टिं मां] जिसका खान पान शिथिल हो गया है ऐसे मुझको [जरसे] वृद्धावस्था तक [वर्धन्तु] बढावें अर्थात् जिस बुढापेमें खाने पीनेकी शक्ति जीर्ण हो जाती है उस बुढापेतक मुझे पहुंचाएं । यथासंभव दीर्घायुवाला मुझे बनाएं, उससे पूर्व में क्षीण न होऊं ।

इस मंत्रमें पितरों से दीर्घायुष्यके लिए कहा गया है। दीर्घायु देना व प्रत्येक को उसकी पूर्णावस्थातक पहुंचाना पितरों का कार्य है ।

पुनन्तु मा पितरः सोम्यासः पुनन्तु मा पितामहाः । पुनन्तु प्रपितामहाः । पवित्रेण शतायुषा । पुनन्तु मा पितामहाः पुनन्तु प्रपितामहाः । पवित्रेण शतायुषा विश्वमायुर्व्यश्नवै ॥ यजुः अ० १९।३७

[सोम्यासः पितरः मा पुनन्तु] सोम संपादन करनेवाले पितर मुझे पवित्र करें । [पितामहाः मा पुनन्तु] पितामह मुझे पवित्र करें । [प्रपितामहाः] प्रपितामह मुझे पवित्र करें। [पवित्रेण शतायुषा] पवित्र सौ वर्ष की आयुसे । अर्थात् ये उपरोक्त पितृगण मुझे पवित्र सौ वर्ष की आयु दें ! मेरा सौ वर्षका जीवन पवित्रतापूर्वक व्यतीत हो, और इस प्रकार पवित्रतासे आयु व्यतीत करता हुआ [विश्वं आयुः व्यश्नवै] सम्पूर्ण आयु को जितनी कि मनुष्य की हो सकती है, प्राप्त करूं । पवित्रतापूर्वक जीवन व्यतीत करनेसे ही पूर्णायु भोगी जा सकती है, अन्यथा नहीं ।

निम्न मंत्रसे ऐसा प्रतीत होता है कि पितर मृतको पुनरुज्जीवित करते हैं । मंत्र इस प्रकार है ।

यत्ते अङ्गं प्रतिहितं पराचैरपानः प्राणो य उ वा ते परेतः तत्ते संगत्य पितरः सनीडा घासाद् घासं पुनरावेशयन्तु ॥ अथर्व० १८।२।२६

[ते यत् अङ्गं पराचैः प्रतिहितम्] तेरा जो अंग उलटा होकर हट गया है, और [यः ते प्राणः, अपानः परेतः] जो तेरा प्राण वा अपान दूर चला गया है, शरीर से निकल गया है, [तत् ते] उस उपरोक्त तेरे अङ्ग वा प्राण या अपान को [सनीडाः पितरः] साथ रहनेवाले पितर [संगत्य] मिलकर [घासाद् घासं इव] [यहां लुप्तोपमा प्रतीत होती है] जैसे घाससे घास बांधी जाती है,उसी प्रकार[पुनः आवेशयन्तु] फिर प्रविष्ट करावें अर्थात् फिरसे प्राण अपान आदि तुझे दें, यानि पुनरुज्जीवित करें ।

प्राणों के निकल जानेपर शरीर चेष्टारहित हो जाता है । वह उस हालतमें शव वा मृत देह कहलाता है। इस मंत्रमें निकले हुए प्राणों का पुनः समावेश करनेका वर्णन है । इससे मृत को पुनरुज्जीवित करनेका निर्देश इस मंत्रमें मिलता है । इस के सिवाय कोई शरीर का अवयव उलटा हो गया हो वा टूट गया हो,तो उसे भी पितर ठीक ठीक यथास्थान बैठाते हैं ऐसा ज्ञात होता है ।

सायणाचार्य ने 'घासाद् घासं' का अर्थ इस प्रकार किया है- 'अद्यते भुज्यते अस्मिन्निति घासः । भोगायतनं शरीरम् । घासात् भोजनाधिकरणशरीरात् घासं अन्यत् शरीरं पुनः आवेशयन्तु ।' अर्थात् जिसमें खाया जावे उसका नाम है घास। भोगायतन शरीरका नाम घास है, क्यों कि इसमें भोग भोगे जाते हैं। अतः घासात् अर्थात् भोजनाधिकरण शरीरसे घासं यानि दूसरे शरीरको फिर देते हैं । मरने के बाद एक शरीर छुडाकर दूसरा शरीर देते हैं यह अभिप्राय है ।

इस प्रकरण में संक्षेपसे इतना ही पितरों के कार्यों के विषय में लिखना पर्याप्त है । इसके अतिरिक्त अन्य पितरों के कार्य दर्शानेवाले मंत्र अन्य प्रकरणों में यथास्थान दिये जाएंगे । उनकी वहां उपयुक्तता अधिक होनेसे यहां पर वे नहीं दिये हैं।

पितरोंके प्रति हमारे कर्तव्य ।

इस प्रकरण के हम दो विभाग करेंगे । प्रथम विभागमें उन मंत्रोंका उल्लेख होगा जिनमें कि पितरों के लिए दान, नमस्कार, स्वधा आदि देनेका वर्णन है । द्वितीय विभाग में पितरों के

लिए यज्ञ अथवा पितरोंसे यज्ञ का सबन्ध दर्शानेवाले मंत्रोंका उल्लेख करेंगे। इस दूसरे विभाग का शीर्षक 'पितर और यज्ञ' होगा। प्रथम विभागमें छोटे छोटे कई शीर्षक होंगे। इस विभाग का सामुहिकरूपसे शीर्षक देना कठिन है।

१ पितरों के लिए नमस्कार।

'नमः' का अर्थ अन्नभी होता है, परन्तु पितरोंके लिए आये हुए 'नमः' का अर्थ नमस्कार ही है, क्यों कि पितरोंके अन्नका खास नाम 'स्वधा' है और अतएव जहां पितरोंके लिए अन्न अभिप्रेत होता है वहां स्वधा का प्रयोग होता है।

इदं पितृभ्यो नमो अस्त्वद्य ये पूर्वासो य अपरास ईयुः। ये पार्थिवे रजस्यानिषत्ता ये वा नूनं सुवृजनासु विक्षु॥ ऋ० १०।१५।२॥ तथा यजु अ० १९।६८

यही मंत्र अथर्व में थोडेसे पाठभेदसे निम्न प्रकारसे है-

इदं पितृभ्यो नमो अस्त्वद्य ये पूर्वासो य अपरास ईयुः।
ये पार्थिवे रजस्यानिषत्ता ये वा नूनं सुवृजनासु दिक्षु॥
अथर्व० १८।१।४६

(ये) जो कि (पूर्वासः) पूर्वकालीन पितर [ईयुः] स्वर्गको गए हुए हैं और [ये] जो कि [अपरासः] अर्वाचीन कालके पितर [ईयुः] स्वर्ग को गए हैं; [पितृभ्यः अद्य इदं नमः अस्तु] उन पितरोंके लिए आज यह नमस्कार हो। [ये पार्थिवे रजसि आनिषत्ताः] और जो कि पितर पृथिवी लोकपर स्थित हैं (वा) अथवा (ये) जो कि [नूनं] निश्चयसे [सुवृजनासु विक्षु] उत्तम बल वा धन युक्त प्रजाओंमे स्थित हैं, उन पितरोंके लिए भी नमस्कार हो। अथर्ववेदमें विक्षु के स्थान पर दिक्षु पाठभेद है। वहांपर ' ये वा नूनं सुवृजनासु दिक्षु ' का अर्थ ऐसा होगा—'अथवा जो कि पितर निश्चय से उत्तम बलवाली दिशाओंमें स्थित हैं।'

नमो यमाय नमो अस्तु मृत्यवे नमः पितृभ्यः
उत ये नयन्ति। उत्पारणस्य यो वेद तमग्निं
पुरो दधे स्मा अरिष्टतातये॥
अथर्व० ५।३०।१२

[यमाय नमः अस्तु] यमके लिये नमस्कार हो।[मृत्यवे नमः] मृत्युके लिए नमस्कार हो। [पितृभ्यः नमः] पितरों के लिए नमस्कार हो। [उत ये नयन्ति] और जो कि ले चलते हैं अर्थात् जो नायक (Leaders)हैं उनके लिये भी नमस्कार हो। [य उत्पारणस्य वेद] जो उत्पारण अर्थात् पार लगानेके उपाय वा मार्ग को जानता है (तं अग्निं) उस अग्नि को (अस्मै अरिष्टतातये) इस जीवके कल्याण के विस्तार के लिए (पुरो दधे) आगे रखता हूं अर्थात् उस ऐसी अग्निको सदा मैं अपने सामेन धारण करता हूं।

यदा गार्हपत्यमसपर्यैत् पूर्वमग्निं वधूरियम्।
अधा सरस्वत्यै नारि पितृभ्यश्च नमस्कुरु॥
अथर्व० १४।२।२०

(यदा पूर्वं इयं वधूः गार्हपत्यं अग्निं असपर्यैत्) जब पहिले यह वधू गार्हपत्य अग्नि की पूजा करे [अध] तब उसके बाद (नारि) हे नारी ! तू [सरस्वत्यै पितृभ्यः च] सरस्वती व पितरोंके लिए [नमः कुरु] नमस्कार कर।

इस प्रकार हमनें देखा कि इन उपरोक्त मंत्रोंमें पितरोंके लिए नमस्कारका विधान है।

२ पितरोंके लिए स्वधा।

अग्ने वाजजिद् वाजन्त्वा सरिष्यन्तं वाजजितं
सम्मार्ज्मि नमो देवेभ्यः स्वधा पितृभ्यः
सुयमे मे भूयास्तम्॥ यजु० अ० २।७॥

[वाजजिद् अग्ने] हे अन्नको जीतनेवाली अग्नि ! [वाजं सरिष्यन्तं त्वा] अन्नके प्रति जाती हुई तुझको (सं मार्ज्मि) शुद्ध करता हूं। [देवेभ्यः नमः] देवोंके लिये नमस्कार हो। तथा (पितृभ्यः स्वधा) पितरोंके लिये स्वधा हो। [मे] मेरे लिए [सुयमे भूयास्तम्] नमः और स्वधा बल व पराक्रम देनेवाले हों। अथवा नमः और स्वधा, मुझे नियममें रखनेवाले हों।

यहांपर देवोंके लिए नमः और पितरोंके लिए स्वधाका निर्देश है। 'वाजं सरिष्यन्तं त्वां संमार्ज्मि' से पता चलता है कि अन्न पकानेके लिए शुद्ध अग्निका ही प्रयोग करना चाहिये। अशुद्ध वह्नि अन्न पकानेके लिए अनुपयुक्त है।

पितृभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः। पिता-
महेभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः। प्रपिता-
महेभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः। अक्षन्
पितरोऽमीमदन्त पितरोऽतीतृपन्त पितरः॥
पितरः शुन्धध्वम्॥ यजु० अ० १९।३६॥५

[स्वधायिभ्यः पितृभ्यः] स्वधा प्राप्त करना जिनका शील [स्वभाव] है ऐसे पितरोंके लिए [स्वधा] स्वधा और नमस्कार हो। [स्वधायिभ्यः पितामहेभ्यः स्वधा नमः] स्वधा लेनेवाले पितामहोंके लिये स्वधा और नमस्कार हो।

[स्वधायिभ्यः प्रपितामहेभ्यः स्वधा नमः] स्वधा लेनेवाले प्रपितामहोंके लिए स्वधा व नमस्कार हो । [पितरः] हे पितृ गणो ! [अक्षन्] उस स्वधाको खाओ [पितरः] हे पितरो! [अममदन्त] उस स्वधाको खाकर आनन्दित होओ । [पितरः] हे पितरो उस स्वधाको खाकर [अतितृपन्त] अत्यन्त तृप्त होओ । [पितरः शुन्धध्वम्] हे पितरों शुद्ध होओ। इससे स्पष्ट है कि पितरोंका स्वभाव ही स्वधा खानेका है ।

ये समानाः समनसः पितरो यमराज्ये ।
तेषां लोकः स्वधा नमो यज्ञो देवेषु कल्पताम् ॥
यजु० अ. १९।४५

[यमराज्ये] यमके राज्यमें [ये पितरः समानाः समनसः] जो पितर समान तथा समनस अर्थात् एक विचार वा संकल्पवाले हैं, [तेषां लोकः स्वधा नमः यज्ञः] उन पितरोंका लोक, स्वधा, नमस्कार व यज्ञ [देवेषु कल्पतां] देवोंमें समर्थ होवे ।

व्याकरोमि हविषाहमेतौ तौ ब्रह्मणा व्यहं कल्पयामि ।
स्वधां पितृभ्यो अजरां कृणोमि दीर्घेणायुषा
समिमान्त्सृजामि ॥ अथर्व० १२।२।३२

मैं [एतौ] इन दोनोंको [हविषा] हविद्वारा [व्याकरोमि] प्रसिद्ध करता हूं । [तौ अहं] उन दोनोंको मैं [ब्रह्मणा विकल्पयामि] ब्रह्मद्वारा विशेष सामर्थ्यवान् बनाता हूं । [पितृभ्यः स्वधां अजरां कृणोमि] पितरोंके लिये स्वधाको अक्षय करता हूं। [इमान् दीर्घेण आयुषा] इन्हें दीर्घायु द्वारा [संसृजामि] संयुक्त करता हूं अर्थात् इन्हें दीर्घायु देता हूं। इस मंत्रमें पितरों के लिये अक्षय्य स्वधा का वर्णन है ।

स्वधाकारेण पितृभ्यो यज्ञेन देवताभ्यः।
दानेन राजन्यो वशाया मातुर्हेडं न गच्छति ॥
अथर्व० १२।४।३२

[पितृभ्यः स्वधाकारेण] पितरोंके लिए स्वधाकारसे अर्थात् स्वधा देनेसे और [देवताभ्यः यज्ञेन] देवताओंके लिये यज्ञ करनेसे तथा [दानेन] दान करनेसे [राजन्यः वशायाः मातुः हेडं न गच्छति] क्षत्रिय वशामाताके तिरस्कारको प्राप्त नहीं होता । यहांपर स्वधाका महत्त्व दर्शाया गया है । पितरोंके लिये स्वधा न देनेसे वशामाता गुस्से होती है। स्वधा न देने वालेका वह तिरस्कार करती है ।

एतत् ते प्रततामह स्वधा ये च त्वामनु ॥
अथर्व० १८।४।७५॥

हे [प्रततामह] प्रततामह ? [ते एतत्] तेरे लिए यह दिया हुआ पदार्थ [स्वधा] स्वधा होवे । [ये च त्वां अनु] और जो तेरे अनुगामी हैं उनके लिए भी यह स्वधा हो ।

तत शब्द पितृवाचक है। इसमें निम्न ऐतरेय आ० का प्रमाण है-'एतां वाव प्रजापतिः प्रथमां वाचं व्याहरद् एकाक्षर द्व्यक्षरां ततेति तातेति । तथैवैतत् ततवत्या वाचा प्रतिपद्यते । ' इति ऐ० आ० १।३।३ ॥ आश्वलायनने भी 'अपने पितरोंका नाम न जानता हुआ पुत्र तत शब्दका प्रयोग करे' इस आशयवाला सूत्र बनाया है—'नामान्यविद्वाँस्तत पितामहप्रपितामहेति' आश्व० २।६ ॥ इस मंत्रमें प्रपितामह के लिए स्वधाका विधान है ।

एतत् ते ततामह स्वधा ये च त्वामनु ॥
अथर्व० १८।४।७६

[ततामह] हे पितामह ! [ते एतत् स्वधा] तेरे लिए यह दिया हुआ पदार्थ [हवि] स्वधा होवे । [ये च त्वां अनु] और जो तेरे अनुगामी हैं उनके लिए भी यह स्वधा होवे ।

एतत् ते तत स्वधा ॥ अथर्व० १८।४।६७ ॥

हे [तत] पिता ! [ते एतत् स्वधा] तेरे लिए यह हवि स्वधा होवे । इन उपरोक्त अथर्ववेदके ३ मंत्रोंसे पता चलता है कि प्रपितामह, पितामह तथा पिता, इन तीनोंमेंसे प्रत्येकके नामपर अलग अलग स्वधा दी जाती है ।

नमो वः पितरः स्वधा वः पितरः ॥
अथर्व० १८।४।८५॥

हे [पितरः] पितरो [वः] तुम्हारे लिए [नमः] नमस्कार होवे । [पितरः] हे पितरो ! [वः] तुम्हारे लिए [स्वधा] स्वधा होवे ।

इस मंत्रमें पितरोंके लिए स्वधा व नमस्कार दोनोंके देनेका उल्लेख है ।

श्येनो नृचक्षा दिव्यः सुपर्णः सहस्रपाच्छतयोनिर्वयोधाः
स नो नि यच्छाद् वसु यत् पराभृतमस्माकमस्तु
पितृषु स्वधावत् ॥ अथर्व० ७।४१।२

(नृचक्षाः) मनुष्योंका देखनेवाला, (दिव्यः) दिव्य अर्थात् देवगुणोंसे युक्त,(सुपर्णः) उत्तम गतिवाला, (सहस्रपाद) हजारों पैरोंवाला अर्थात् शीघ्रगामी (शतयोनिः) सैंकडोंका कारण यानि सैकडोंका उत्पन्न करनेवाला (वयोधाः) अन्न,बल, आयुको

देनेवाला जो [श्येनः] श्येन है [सः] वह [नः] हमें [यत् पराभृतं वसु] जो शत्रुओंसे हरण किया हुआ धन है उसे [नियच्छात्] वापस दे और वह धन [अस्माकं पितृषु स्वधावत्] हमारे पितरोंमें स्वधाकी तरह होवे अर्थात् पितरोंमें जो स्थान स्वधाको प्राप्त है वही स्थान उसे प्राप्त होवे, या वह धन पितरोंमें स्वधावत् अर्थात् आत्मधारण शक्ति करनेवाला होवे। उस धनसे पितर स्वावलंबी बनें, स्वाश्रयी होवें। यहांपर स्वधाका अर्थ आत्मधारण ऐसा प्रतीत होता है। स्वधा क्या चीज है यह एक विचारणीय विषय है, तथापि आगे चलकर हम थोडासा स्वधापर प्रकाश डालने की कोशीश करेंगे।

३ पितरोंको स्वधा देनेसे लाभ।

सोदक्रामत् सा पितॄनगच्छत् तां पितर उपाह्वयन्त स्वध एहीति ॥ अथर्व० ८।१३।५॥
तां स्वधां पितर उपजीवन्ति उपजीवनीयो भवति य एवं वेद ॥ अथर्व० ८।१३।८

[सा] वह विराट् [उत् अक्रामत्] ऊपरको उछली। [सा] वह [पितॄन् अगच्छत्] पितरोंके पास गई। [तां उसे पितरः उप आह्वयन्त] पितरोंने अपने पास बुलाया कि [स्वधे] हे स्वधा ! [एहि इति] तू हमारे पास आ। [पितरः तां स्वधां उपजीवन्ति] पितर उस स्वधाका उपभोग करते हैं, यानि उस स्वधाको खाकर जीते हैं। [यः एवं वेद] जो इस प्रकार जानता है कि पितर उस स्वधाको खाकर जीते हैं, वह भी [उपजीवनीयः भवति] उस स्वधाका उपभोग करने योग्य बनता है अर्थात् उस स्वधाके आश्रयसे जीता रहता हैं।

इन मंत्रोंसे यह बात स्पष्ट है कि पितर स्वधाके आश्रयसे जीते हैं, अतः पितरोंको स्वधा देनी चाहिए और जो पुरुष इस रहस्यको जानता है, उसे भी स्वधा मिलती रहेगी और इस प्रकार वह भी स्वधा खाकर सुखपूर्वक जीवन निर्वाह कर सकेगा।

४ जलद्वारा पितृतर्पण।

हिंदू लोग मृत पितरोंका जो जलद्वारा तर्पण करते हैं उसका आधार संभवतः निम्न तीन मंत्र हैं। इन मंत्रोंमें जलद्वारा पितृतर्पणका विधान पाया जाता है। मंत्र इस प्रकार हैं—

ऊर्जं वहन्तीरमृतं घृतं पयः कीलालं परिस्रुतम्।
स्वधा स्थ तर्पयत मे पितॄन् ॥ यजु० अ० २।मं. ३४

इस मंत्रका देवता ' आपः ' अर्थात् जल है। [ऊर्जं] बलको, [अमृतं] अमृतको, [घृतं] घीको, [पयः] दूधको, [कीलालं] अन्नको तथा [परिस्रुतं] फूलों फलोंसे निकले हुए सारभागको [वहन्ती] वहन करते हुए [आपः] हे जलो ! तुम [स्वधा स्थ] स्वधा होवो। अर्थात् पितरोंका अन्न बनो और [मे पितॄन् तर्पयत] मेरे पितरोंको अपने उपरोक्त रसभागोंसे तृप्त करो।

मंत्र स्पष्ट है इसपर विशेष लिखनेकी आवश्यकता नहीं है। स्पष्ट शब्दोंमें जलद्वारा पितृतर्पणका निर्देश है। दूसरा मंत्र इस प्रकार है–

ये ते पूर्वे परागता अपरे पितरश्च ये।
तेभ्यो घृतस्य कुल्यैतु शतधारा व्युन्दती ॥
अथर्व० १८।३।७२

[ते] वे [ये पूर्वे परागताः] जो पूर्वकालीन पितर परे चले गए हैं अर्थात् परलोकवासी हुए हैं और [ये अपरे पितरः] जो अर्वाचीन पितर परलोकवासी हुए हैं [तेभ्यः] उन प्राचीन व अर्वाचीन पितरोंके लिए [शतधारा व्युन्दती] सैंकडों धाराओंवाली उमडती हुई [घृतस्य कुल्या] जलकी कुल्या क्षुद्र नदी [एतु] प्राप्त होवे। यह मंत्र भी उपरोक्त प्रथम मंत्रके भावकोही पुष्ट कर रहा है। पहिले मंत्रकी तरह यह मंत्रभी स्पष्ट है। कुल्याका अर्थ निघण्टुमें ' कृत्रिमा सरित् ' अर्थात् बनावटी नदी यानि नहर ऐसा दिया है। पितरोंको जलसे तर्पण करनेके लिए नहर बहानी चाहिए ऐसा भाव इस मंत्रका मालूम पडता है। उपरोक्त दोनों मंत्रों के भावको ही पुष्ट करता हुआ तीसरा मंत्र इस प्रकार है–

पुत्रं पौत्रमभि तर्पयन्तीरापो मधुमतीरिमाः। स्वधां
पितृभ्यः अमृतं दुहाना आपो देवीरुभया स्तर्पयन्तु ॥
अथर्व० १८।४।३९

[पुत्रं पौत्रं अभि तर्पयन्तीः] पुत्रपौत्रादियोंको पूर्णतया तृप्त करते हुए [इमाः मधुमतीः आपः] ये मधुर जल हैं। [पितृभ्यः स्वधां अमृतं दुहानाः] पितरोंके लिए स्वधा व अमृतका दोहन करते हुए [देवीः आपः] ये दिव्यजल [उभयान्] दोनों पुत्र पौत्रोंको [तर्पयन्तु] तृप्त करें।

उपरोक्त तीनों मंत्रोंमें जलद्वारा पितृतर्पण का उल्लेख है।

हिंदुओं का जलद्वारा पितृतर्पण करना इन मंत्रोंके आधार पर है ।

किन पितरोंका जलद्वारा तर्पण करना चाहिए यह अभीसे नहीं कहा जा सकता, तथापि इतना जरूर पता चलता है, कि जलद्वारा पितृतर्पण करना चाहिए ।

> यत् ते पितृभ्यो ददतो यज्ञे वा नाम जगृहुः ।
> संदेश्यात् सर्वस्मात् पापादिमा मुञ्चन्तु त्वौषधीः ॥
> अथर्व० ११२१७॥

[यत् यज्ञे पितृभ्यः ददतः ते नाम जगृहुः] यदि यज्ञमें पितरों के लिए दान करते हुए तेरा नाम उन्होंने लिया हो अर्थात् तेरे पर दोषारोपण किया हो तो [सर्वस्मात् संदेश्यात् पापात्] उस सर्व संदेश्य अर्थात् किसीके आदेशसे-कहनेसे किए गये पापसे [इमाः औषधीः त्वा मुञ्चन्तु] ये औषधियां तुझे छुडाएं । इस मंत्रमें पितरों के लिये यज्ञमें दान देने का उल्लेख है ।

५ पितरोंका भाग ।

> पितृणां भागःस्थ । अपां शुक्रमापो देवीर्वर्चो अस्मासु धत्त । प्रजापतेर्वो धाम्नास्मै लोकाय सादये ॥
> अथर्व० १०।५।१३

इस मंत्रका ' आपः ' देवता है । हे जलो ! तुम [पितृणां भागः स्थ] पितरोंका भाग-अंश हो । [देवीः आपः] हे दिव्य जलो ! [अपां शुक्रं वर्चः अस्मासु धत्त] जलोंका वीर्य व तेज हमारेमें धारण करो अर्थात् हमें दो । [अस्मै लोकाय] इस लोकके लिए, [प्रजापतेः धाम्ना वः सादये] प्रजापतिके तेजसे तुम्हें बिठलाता हूं स्थित करता हूं । इस मंत्रमें जलोंको पितरोंका भाग-अंश बतलाया है ।

> त्रेधा भागो निहितो यः पुरा वो देवानां पितृणां मर्त्यानाम् । अंशान् जानीध्वं विभजामि तान् वो यो देवानां स इमां पारयाति ॥ अथर्व० ११।१।५॥

[वः देवानां पितृणां मर्त्यानां] तुम देवों, पितरों व मनुष्योंका [यः त्रेधा भागः] जो तीन प्रकारका भाग [पुरा निहितः] पहिलेसे रखा है, उसमेंसे अपने अपने [अंशान] अंशोंको भागोंका [जानीध्वं] जानो अर्थात् मनुष्य, पितर व देवोंका जो तीन प्रकारका भाग हमने कर रखा है, उसमेंसे अपने अपने भागको जानते हुए लो ? [तान् विभजामि] उन भागोंको मैं बांटता हूं । [वः देवानां यः सः इमां] तुम देवोंका जो अंश है वह इस ब्रह्मौदन पाचक पत्नीको [पारयाति] पार लगावे अर्थात् जिस कार्यका इसने प्रारंभ किया है उसमें यह पार हो जावे । इस मंत्रमें देव, मनुष्य व पितरोंके लिये अलग अलग भाग देनेका उल्लेख है ।

६ पितरोंके शर्मका विस्तार करना।

> यत्र शूरासस्तन्वो वितन्वते प्रिया शर्म पितृणाम् ।
> अध स्मा यच्छ तन्वे तने च छर्दिरचित्तं यावय द्वेषः ॥
> ऋ० ६।४६।१२

[यत्र शूरासः तन्वः] जहांपर शूरवीर अर्थात् शूरवीर गण शरीर [पितृणां प्रिया शर्म वितन्वते] पितरोंके प्यारे घरोंका विस्तार करते हैं वहांपर [तन्वे तने च] अपने शरीरके लिये व हमारी संततीके लिये [अचित्तं छर्दिः यच्छ स्म] शत्रुओंसे अज्ञात घरको दे जिससे कि शत्रु हमारा व हमारी संतानका विनाश न कर सकें।[द्वेषः]द्वेष करनेवालोंको भाव रखनेवालोंको [यावय] दूर कर । हम सब मिलतापूर्वक शत्रुरहित हुए हुए रहें । शर्मका अर्थ निघण्टुमें सुख व घर इन दोनों अर्थोंमें आया है ।

> शर्म = गृहं । निघण्टु ३।४॥
> शर्म = सुखं । निघण्टु ३।६॥

'पितृणां प्रिया शर्म' इस पदसमुदायका अभिप्राय पितरोंके देशसे है अर्थात् जहां पर वंशपरंपरासे पितृगण निवास करते चले आ रहे हैं इस मातृभूमिके नामसे स्वदेशको पुकारते हैं, इस प्रकार इस मंत्रमें स्वदेशके विस्तार करनेका निर्देश है । 'छर्दिः गृह ।' निघण्टु ३।४॥ ' अचित्तं छर्दिः ' से यह दर्शाया है कि गुप्त रूपसे भी शत्रु हमारे घरोंमें न रहने चाहिए, अन्यथा हमारा भेद उन्हें मिलता रहेगा ।

पितर और यज्ञ ।

इस विभागमें प्रायः वे मंत्र दिए जायंगे, जिनमें कि पितरोंके यज्ञमें आने जाने व हवि खाने आदि का वर्णन होगा । इस विभागसे हमें यह बात सुगमतया पता लग सकेगी कि पितरोंके लिए यज्ञादि करने चाहिए, उन्हें हवि देना चाहिए, और इस प्रकार करनेसे पितर हमारी आयु संपत्ति आदिकी वृद्धि करते हैं तथा अन्य कष्टोंके दूर करनेमें सहायक होते हैं ।

> उपहूताः पितरः सोम्यासो बर्हिष्येषु निधिषु प्रियेषु ।
> त आगमन्तु त इह श्रुवन्त्वधिब्रुवन्तु तेऽवन्त्वस्मान् ॥
> ऋ. १०।१५।५ ॥ तथा यजुः अ० १९।५७॥

यह मंत्र अथर्ववेदमें भी है। वहां प्रारंभमें थोडासा पाठभेद है। 'उपहूताः पितरः'के स्थानपर'उपहूता नः पितरः'है। केवल'नः' और अधिक है शेष समान है। देखो अथर्व० १८।३।४५॥

[प्रियेषु बर्हिष्येषु निधिषु] प्रीतिकारक यज्ञ संबन्धी निधियोंमें [सोम्यासः] सोम संपादन करनेवाले [पितरः] जो पितर [उपहूताः] बुलाए गए हैं [ते आगमन्तु] वे पितर आवें। [ते] वे पितर [इह] इस यज्ञमें [अभिश्रुवन्तु] हमारी प्रार्थनायें ध्यानपूर्वक सुनें और [अधि ब्रुवन्तु] हमें उपदेश करें, तथा ते अस्मान् अवन्तु हमारी रक्षा करें।

'बर्हिष्य' —बर्हिष् नाम है यज्ञका; उसमें होनेवाला बर्हिष्य, अर्थात् यज्ञ संबन्धी। इसके अतिरिक्त ' सोम्यासः ' पद भी इसी अर्थकी पुष्टि करता है। यास्काचार्यने निरुक्तमें सोम्यासः का अर्थ सोमका संपादन करनेवाले ऐसा किया है। और सोम यज्ञमें संपादन किया जाता है। प्रकरणसे भी यही अर्थ होता है, क्योंकि इससे पूर्वके मंत्रोंमें यज्ञ प्रकरणका वर्णन है।

निधिका अर्थ निरुक्ताचार्य यास्कने अपने निरुक्त की भूमिकामें निम्न प्रकार किया है—

निधिः शेवधिरिति। शेवधिका अर्थ है सुखका भण्डार। निरु० अ० २। पा० १। खं. ४॥

इस प्रकार इस मंत्रमें पितरोंके यज्ञमें आने, प्रार्थना सुनने, उपदेश करने व रक्षा करनेका उल्लेख हमें मिलता है।

> आच्या जानु दक्षिणतो निषद्येमं यज्ञमभि गृणीत विश्वे। मा हिंसिष्ट पितरः केन चिन्नो यद्व आगः पुरुषता कराम॥ ऋ. १०।१५।६ तथा यजुः अ० १९।६२

यह मंत्र अथर्व वेदमें थोडेसे पाठभेदके साथ आया है—

> आच्या जानु दक्षिणतो निषद्येदं नो हविरभि गृणन्तु विश्वे। मा हिंसिष्ट पितरः केन चिन्नो यद्व आगः पुरुषता कराम॥ अथर्व. १८।१।५२॥

(विश्वे) सब तुम पितरो! (जानु आच्य) दायां घुटनां टेककर (दक्षिणतः निषद्य) दाईं और बैठ कर (इमं यज्ञं) इस यज्ञका (अभिगृणीत) स्वीकार करो। (पितरः) हे पितरो! (यत् वः आगः पुरुषता कराम) जो तुम्हारा अपराध पुरुषत्व अर्थात् मनुष्यत्वके कारण हम करते हैं। (केन चित्) ऐसे किसी भि अपराधके कारण (मा हिंसिष्ट) हमें मत मारो अर्थात् क्योंकि हम मनुष्य हैं और मनुष्य मात्र भूलका पात्र होता है, अतः यदि अपराध हो भी जाए, तो भी क्षमा करो, हमारी हिंसा मत करो।

'जानु आच्य' का अर्थ हमने दायां घुटना टेककर ऐसा किया है, जो कि शतपथ ब्राह्मणके निम्न वाक्यके आधारपर है। अथैनं पितरः। प्राचीनावीतिनः सव्यं जान्वाच्योपासीदं स्तानब्रवीत्'... इत्यादि॥ शतपथ २।४।२।२॥ शतपथके इस वाक्यसे प्रतीत होता है कि दांया घुटना टेककर पितर यज्ञमें बैठते हैं। निम्न मंत्रमें पितरोंके लिए मासिक यज्ञका विधान है।

> परा यात पितरः सोम्यासो गंभीरैः पथिभिः पूर्याणैः। अधा मासि पुनरायात नो गृहान् हविरत्तुं सुप्रजसः सुवीराः॥ अथर्व० १८।४।६३

(सोम्यासः पितरः) हे सोम संपादक पितरो! (गंभीरैः पूर्याणैः पथिभिः) गंभीर पूर्याण—मार्गोंद्वारा (परायात) वापस चले जाओ। जहांसे आए थे वहां पर लौट जाओ। (अथ पुनः) और फिर (सुप्रजसः सुवीराः) हे उत्तम प्रजावाले तथा सुवीर पितरो! (मासि) मासके अन्तमें यानि महीने महीनेके बाद (नः गृहान्) हमारे घरोंमें (हविः अत्तुं) हवि के खानेके लिए (आयात) आओ।

' पूर्याण-पुरं यातीति पूर्याणः।' नगरको जानेवाले रस्तेका नाम पूर्याण है। प्रत्येक मासमें पितृयज्ञ करना चाहिए तथा उसमें देश देशान्तरमें स्थित पितरोंको आमन्त्रित करना चाहिए ऐसा इस मंत्रका भाव है।

> अग्निष्वात्ताः पितर एह गच्छत सदः सदः सदत सुप्रणीतयः। अत्ता हवींषि प्रयतानि बर्हिष्यथा रयिं सर्ववीरं दधातन॥ ऋ १०।१५।११

यह मंत्र यजुर्वेद व अथर्व वेदमें भी थोडेसे पाठभेदसे आया है। देखो—यजु. १९।५९। तथा अथर्व १८।३।४४ अर्थ इस प्रकार है—

(अग्निष्वात्ताः सुप्रणीतयः पितरः) हे अग्निष्वात्त व उत्तम नेता पितरो! (इह) इस यज्ञमें (आगच्छत) आओ। (सदः सदः सदत) घर घरमें स्थित होओ। (अथ) और (बर्हिषि प्रयतानि हवींषि अत्त) यज्ञमें दिए गए हवियोंको खाओ। और हमें (सर्ववीरं रयिं दधातन) सर्व प्रकारकी वीरतासे पूर्ण धनको दो।

इस मंत्रमें पितरोंको यज्ञमें हवि खिलानेका व उनसे वीरता पूर्ण धन मांगनेका वर्णन है।

सहस्रधारं शतधारमुत्समक्षितं व्यच्यमानं सलिलस्य पृष्ठे।
ऊर्जं दुहानमनपस्फुरन्तमुपासते पितरः स्वधाभिः ॥
अथर्व. १८।४।३६

[शतधारं सहस्रधारं उत्सं] सैंकडों व हजारों धाराओंवाले स्रोतकी तरह जो हजारों व सैंकडों धाराओंसे युक्त है ऐसे, और जो [सलिलस्य पृष्ठे व्यच्यमानं] अंतरिक्षके ऊपर व्याप्त है ऐसे, [ऊर्जं दुहानं] अन्न व बलको देनेवाले, [अनपस्फुरन्तं] कभी भी चलायमान न होनेवाले अर्थात् स्थिर हविको [पितरः] पितर [स्वधाभिः] स्वधाओंके साथ [उपासते] सेवन करते हैं।

यहांपर हवि शब्दका अध्याहार पूर्व मंत्रसे करना पडता है क्योंकि संपूर्ण मंत्रमें आए हुए विशेषणोंका कोई भी विशेष्य नहीं है।

पितृगण स्वधाके साथ हवि खाते हैं। इस कथनसे यह स्पष्ट होता है कि स्वधा कोई भिन्न वस्तु ही है। यहां पर भी पूर्व मंत्रकी तरह पितरोंके हवि सेवनका उल्लेख है।

पितरोंका यज्ञमें धनदान।

आसीनासो अरुणीनामुपस्थे रयिं धत्त दाशुषे मर्त्याय।
पुत्रेभ्यः पितरस्तस्य वस्वः प्रयच्छत त इहोर्जं दधात ॥
ऋ. १०।१५।७ ॥
यजु. अ. १९।६३ ॥ तथा अथर्व० १८।३।४३ ॥

[अरुणीनां उपस्थे] यज्ञमें प्रदीप्त की गई अग्निकी लाल लाल चमकती हुई ज्वालाओंके समीपमें [आसीनासः] बैठे हुए पितरो ! [दाशुषे मर्त्याय] दानी मनुष्यके लिए [रयिं धत्त] धनको दो। [तस्य] और उस दानी मनुष्यके लिए [रयिं धत्त] धनको दो। [तस्य] और उस मनुष्यके [पुत्रेभ्यः वस्वः प्रयच्छत] पुत्रोंके लिए भी धनको दो [ते] उपरोक्तानुसार धन दान करनेवाले तुम [इह] इस यज्ञमें [ऊर्जं] अन्नको धारण करो।

परायात पितर आ च यातायं वो यज्ञो मधुना समक्तः।
दत्तो अस्मभ्यं द्रविणेह भद्रं रयिं च नः सर्ववीरं दधात ॥
अथर्व० १८।३।१४ ॥

[पितरः] हे पितरो ! [परायात] यज्ञ समाप्ति पर वापस लौट जाओ। [च] और फिर [आयात] आओ क्योंकि [अयं यज्ञः वः मधुना समक्तः] यह यज्ञ तुम्हारे लिए [मधुना समक्तः] मधुर आज्यसे सिंचित हुआ है। [इह] इस यज्ञमें [द्रविणा] धनोंको [दत्तो] दो। [भद्रं सर्ववीरं रयिं च] और कल्याणकारी तथा सर्व वीरतासे युक्त रयि अर्थात् सम्पत्ति समृद्धिसे [नः] हमें [दधात] पुष्ट करो। मधुका अर्थ है मधुरसपूर्ण आज्य। देखो. ऐ. ब्रा. २।२। 'एतद् वै मधु दैव्यं यद् आज्यम्।'

आपो अग्निं प्र हिणुत पितॄँरुपेमं यज्ञं पितरो मे जुषन्ताम्। आसीनामूर्जमुप ये सचन्ते ते नो रयिं सर्ववीरं नियच्छात ॥
अथर्व० १८।४।४०

[आपः] हे आप ! तुम [अग्निं पितॄन् उपप्रहिणुत] अग्नि को पितरों के पास भेजो। [मे पितरः] मेरे पितृगण [इमं यज्ञं जुषन्ताम्] इस यज्ञका सेवन करें। [ये] जो पितर [आसीनां ऊर्जं उपसचन्ते] उपस्थित अर्थात् हमारे से दिये गए अन्नका सेवन करते हैं [ते] वे पितर [नः] हमें सर्ववीरं रयिं] सब प्रकारकी वीरतासे युक्त धन-संपत्ति को [नियच्छात्] निरन्तर देते रहें।

इस मंत्रमें आप अर्थात् जलोंसे कहा गया है कि वे अग्निको पितरों के पास ले जाएं, जिससे कि अग्नि में होम हुआ हवि पितरों को पहुंच सके।

इन उपरोक्त मंत्रोंके देखनेसे हम इस परिणाम पर पहुंच सकते हैं कि पितृगण यज्ञमें आकर हवि का ग्रहण करते हैं तथा प्रार्थीको धन देते हैं। इससे पितरोंका यज्ञसे संबन्ध प्रतीत होता है। पितरोंको यज्ञमें बुलाया जाता है, वहांपर उन्हें हवि दी जाती है, जो कि हवि वे अग्नि द्वारा स्वीकृत करते हैं। यह बात अथर्व.१८।४।४० से स्पष्ट होती है। इसका अभिप्राय यह है कि जिस रूपमें हवि होमी जाती है उस रूपमें पितर नहीं लेते, परन्तु अग्नि द्वारा सूक्ष्म अदृश्य रूपमें परिणत हुई हुई हवि लेते हैं अर्थात् यज्ञमें अग्निमें होमी हुई हवि पितरोंको पहुंचती है। इसलिये जिसको सर्ववीरोपेत धन सम्प्राप्ति चाहिये उसे यज्ञ करना चाहिये व पितरोंको हवि देनी चाहिये। इन उपरोक्त बातोंका हम इन मंत्रोंसे सहज अनुमान कर सकते हैं।

सं विशन्त्विह पितरः स्वा नः स्योनं कृण्वन्तः प्रतिरन्त आयुः। तेभ्यः शकेम हविषा नक्षमाणा ज्योग् जीवन्तः शरदः पुरूचीः ॥
अथर्व. १८।२।२९

[इह] इस यज्ञमें [नः] हमारे [स्वाः पितरः] ज्ञातिके पितृगण [स्योनं कृण्वन्तः] सुख उत्पन्न करते हुए [सं विशन्तु] प्रविष्ट होवें । और [आयुः प्रतिरन्त] आयुष्यकी वृद्धि करें । और उसके बदलेमें [नक्षमाणाः] गतिशील अर्थात् सर्वदा कार्य तत्पर हम [ज्योक् पुरूचीः शरदः] निरन्तर बहुत से वर्षोंतक [जीवन्तः] जीवन धारण करते हुए [तेभ्यः] इन दीर्घ आयु देनेवाले पितरोंकी [हविषा] हविद्वारा [शकेम] परिचर्याके लिये समर्थ बने रहें।

यह मंत्रभी उपरोक्त परिणामको पुष्ट कर रहा है । निम्न मंत्र विशेष विचारणीय है क्योंकि इनमें पितरोंके लिये मांस व वपाके हवनका विधान मिलता है ।

> वह वपां जातवेदः पितृभ्यो यत्रैनान्वेत्थ निहितान् पराके । मेदसः कुल्या उपतान्स्रवन्तु सत्या एषामाशिषः सं नमन्तां स्वाहा ॥ यजुः अ० ३५।२०

(जातवेदः) हे अग्नि ! (पितृभ्यः वपां वह) पितरोंके लिये वपाका वहन कर, (यत्र) जहां (पराके) दूरपर (निहितान्) स्थित (एतान् वेत्थ) इन पितरोंको तू जानता है । (मेदसः कुल्याः तान् उपस्रवन्तु) चरबीकी छोटी छोटी नदियां उनको प्राप्त होवें और (एषां सत्याः आशिषः) उनके सत्य आशीर्वाद (सं नमन्ताम्) हमें प्राप्त होवें। (स्वाहा) उपरोक्त कथन सत्य है ।

यहांपर अग्निको पितरोंके लिये चरबीकी नहरें पहुंचानेके लिये कहा गया है । निम्न मंत्रमें पितरोंके लिये मांसवाले चरुके देनेका विधान है-

> अपूपवान् मांसवाँश्चरुरेह सीदतु । लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥
> अथर्व. १८।४।२०॥

अपूपों व मांसवाला चरु यहां वेदी पर आवे । (लोककृतः पथिकृतः) स्थानोंके बनानेवाले व मार्गोंके बनानेवालोंको (यजामहे) हम पूजते हैं । (ये) जो कि तुम (इह) यहां (देवानां हुतभागाः) देवोंमें दिये हुए भागको लेनेवाले हो।

वेदमें मांस शब्द मांसके लिये आता है । यास्काचार्यने इसके जो निर्वचन किये हैं, वे इसी बातका सिद्ध कर रहे हैं। साथही जो उन्होंने मंत्र पेश किया है उसमें भी स्पष्ट शब्दोंमें बकरीके मांस खानेका निषेध है । यास्काचार्यने मांसके निर्वचनमें निम्न किये हैं- देखो निरुक्त- ४।१।३।२

(१) मांसं-माननं- (मा+ननं) अर्थात् मांसभक्षणसे दीर्घायु प्राप्त नहीं होती ।

(२) मानसं-मांस खानेसे मानसिक पाप पैदा होते हैं ।

(३) मनोऽस्मिन्सीदति-मांस खानेमें मन जाता है । मांसभक्षणको मन बहुत चाहता है ।

इसके अतिरिक्त मनुने मनुस्मृतिमें मांसका जो निर्वचन किया है वह भी देखने लायक है । वह इस प्रकार है—

> मां स भक्षयिताऽमुत्र यस्य मांसमिहाद्म्यहम् ।
> एतन्मांसस्य मांसत्वं प्रवदन्ति मनीषिणः ॥ ५।५५॥

अर्थात् जिस प्राणीका मांस मैं इस जन्ममें खाता हूं, पर० जन्ममें वह मुझे खाएगा । यह मांसका मांसत्व है ऐसा विद्वान् लोकोंका कथन है।

इसी सूक्तके ४२ वें मंत्रमेंभी ऐसाही वर्णन है । वह मंत्र इस प्रकार है—

> यं ते मन्थं यमोदनं यन्मांसं निपृणामि ते । ते ते सन्तु स्वधावन्तो मधुमन्तो घृतश्चुतः॥ अथर्व० १८।४।४२॥

(ते) तेरे लिये (यं मन्थं) जिस मंथ अर्थात् मथनेसे विलोडनेसे प्राप्त पदार्थ मक्खन आदिको और (यं ओदनं) जिस भातको (यत् मांसं) जिस मांसको (ते) तेरे लिये (निपृणामि) देता हूं । (ते) वे सब (स्वधावन्तः मधुमन्तः घृतश्चुतः) स्वधावाले, मधुरतासे युक्त तथा घीसे परिपूर्ण (ते सन्तु) तेरे लिये होवें ।

इस मंत्रमें मांसका विधान है । प्राचीन सूत्रकारों के सूत्रोंमें भी कई स्थानोंपर मांसविधान पाया जाता है ।

> अत्र पितरो मादयध्व यथाभागमावृषायध्वम् ।
> अमीमदन्त पितरो यथाभागमावृषायिषत
> यजु अ० २।३१

(पितरः) हे पितरो ! (अत्र) इस यज्ञमें [मादयध्वम्] प्रसन्न होओ और (यथाभाग) अपने अपने भागके अनुसार हवि लेते हुए [आवृषायध्वम्] वृष की तरह आचरण करो अर्थात् मस्त होकर खाओ । जिस प्रकार कि [अमी पितरः] वे पितर [यथाभागं] अपने अपने भागके अनुसार हवि लेकर [मदन्त] प्रसन्न हुए और [आवृषायित] उन्होंने उसे खाया ।

शतपथ ब्राह्मणमें ' यथाभागमावृषायध्वं ' का अर्थ किया है 'यथाभागं अश्नीतेति' श०२।४।२।२० ॥ पितरों के लिए

यज्ञ में खास हवि का भाग करके रखा जाता है जिसे खा कर वे प्रसन्न होते हैं। यह इससे सूचित होता है। अतः यज्ञमें पितरोंके लिए भाग रखना चाहिए।

> यद् वो मुद्रं पितरः सोम्यं च तेनो सचध्वं स्वयशसो हि भूत॥ ते अर्वाणः कवय आ शृणोत सुविदत्रा विदथे हूयमानाः ॥ अथर्व० १८।३।१९

[पितरः] हे पितरो ! [वः यत् मुद्रं सोम्यं च] तुम्हारा जो हर्षप्रद व सौम्य कार्य है [तेनो] उस द्वारा [सचध्वं] हमें सेवित करो अर्थात् युक्त करो। [हि] निश्चयसे तुम [स्वयशसः] अपने यशसे ही यशस्वी [भूत] होते हो। [अर्वाणः] गतिवाले अर्थात् निरालसी, [कवयः] क्रान्तदर्शी तथा [सुविदत्राः] उत्तम धनवाले, [हूयमानाः] बुलाए गये [ते] वे तुम [विदथे] यज्ञमें हमारी उपरोक्त प्रार्थनायें [आश्रृणोत] आकर सुनो।

अबतकके मंत्रोंसे हमने देखा कि पितरोंको यज्ञमें बुलाया जाता है और वहांपर उन्हें हवि देकर प्रसन्न किया जाता है। प्रसन्न हुए हुए वे आयु,धनादि की इच्छा पूर्ति करते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि पितरोंसे कामपूर्ति करानेके लिए यज्ञ साधनभूत है।

पितरोंके लिए प्रत्येक मासमें दान।

> सोदक्रामत् सा पितृनागच्छत् तां पितरोऽघ्नत। सा मासि समभवत् ॥ अथर्व० ८।१२।३ ॥
>
> तस्मात् पितृभ्यो मास्युपमास्यं ददाति प्र पितृयाणं पन्थां जानाति य एवं वेद ॥ अथर्व० ८।१२।४

(सा) वह विराट् (उत् अक्रामत्) ऊपरको उछली और (सा) वह (पितृन् अगच्छत्) पितरोंके पास गई। (तां) उसको (पितरः अघ्नत) पितरोंने प्राप्त किया। फिर (सा) वह विराट् (मासि) मासमें (संभवत्) संयुक्त हुई ॥ अथर्व० ८।१२।३ ॥ (तस्मात्) इस लिए (पितृभ्यः मासि) पितरोंके लिए महीनेमें (ददाति) देते हैं। (यः एवं वेद) जो इस प्रकार अर्थात् पितरोंको महीने में दिया जाता है ऐसा जानता है, वह (पितृयाणं पन्थां) पितृयाण मार्गको [प्रजानाति] अच्छी प्रकार जानता है :

यहांपर जो कहा गया है उससे इतना परिणाम अवश्य निकलता है कि पितरोंके लिए प्रत्येक मासमें दान करना चाहिए, उनके लिए कुछ देना चाहिए।

पितरोंका आसन।

> येऽस्माकं पितरस्तेषां बर्हिरसि ॥ अथर्व० १८।४।६८ ॥

[ये] जो [अस्माकं पितरः] हमारे पितर हैं, [तेषां] उनका (बर्हिः) आसन [असि] है।

कुशाघासका नाम बर्हि है। बर्हिको संबोधन करके कहा गया है। यज्ञमें पितरोंके बैठनेके लिए कुशाघासनिर्मित आसन होना चाहिए, ऐसा इससे पता चलता है।

अग्नि और पितर।

(१)

इस प्रकरणमें हम अग्नि व पितरोंका संबन्ध तथा पितरोंके प्रति अग्निके कार्योंको दर्शायेंगे। पाठक इस प्रकरणान्तर्गत मंत्रोंको ध्यानपूर्वक पढ़ें व उनसे निकलते हुए परिणामों पर गौर करें।

यज्ञमें अग्निका पितरोंको लाना।

> ये तातृषुर्देवत्रा जेहमाना होत्राविदः स्तोमतष्टासो अर्कैः। आग्ने याहि सुविदत्रेभिः अर्वाङ् सत्यैः कव्यैः पितृभिः घर्मसद्भिः ॥ ऋ० १०।१५।९

(देवत्रा जेहमाना) देवोंको प्राप्त होते हुए अर्थात् देव बनते हुए (होत्राविदः) यज्ञोंके जाननेवाले (स्तोम तष्टासः) स्तोमोंके बनानेवाले [ये] जो पितर [अर्कैः] पूजनीय स्तुतियोंसे [तातृषुः] अत्यन्त प्रसन्न होते हैं, ऐसे [सुविदत्रेभिः, सत्यैः, कव्यैः, घर्मसद्भिः पितृभिः] उत्तम धनवाले अर्थात् समृद्ध, सत्यवचनी, कवि अथवा कव्य नामवालेपितरोंके लिए दिए गये हव्य का। अतः कव्योंके लेनेवाले, यज्ञोंमें बैठनेवाले पितरोंके साथ [अग्ने] हे अग्नि तू [आयाहि] आ।

> ये सत्यासो हविरदो हविष्पा इन्द्रेण देवैः सरथं दधानाः। आग्ने याहि सहस्रं देववृन्दैः परैः पूर्वैः पितृभिर्घर्मसद्भिः॥ ऋ१०।१५।१०

[ये] जो पितर [सत्यासः] सत्यवचनी [हविरदः] हविके खानेवाले, [हविष्पाः] हविकी रक्षा करनेवाले तथा [इन्द्रेण देवैः सरथं दधानाः सन्ति] इन्द्र व देवोंके साथ एक ही रथपर चढते हैं ऐसे [सहस्रं देववृन्दैः] हजारों बार देवोंसे स्तुति किए गए (पूर्वैः परैः) प्राचीन व अर्वाचीन [घर्मसद्भिः पितृभिः] यज्ञमें बैठनेवाले पितरोंके साथ (आ याहि) आ। ऊपर निर्दिष्ट दोनों मंत्र एकही बात कर रहे हैं। इन दोनोंमें अग्निको, पितरोंको अपने साथ लानेके लिए

कहा गया है। पितरोंको यज्ञादिमें साथ लाना अग्निका कार्य है, यह इन मंत्रोंसे स्पष्ट होता है। यह अग्नि कौन है इसका निर्णय मंत्रोंसे स्वयं पाठक कर सकेंगे। इस अग्निका यज्ञ व हविसे विशेष संबन्ध है, यह आगे आनेवाले मंत्रोंसे स्वयं स्पष्ट हो जायगा। उन सब मंत्रोंको लक्ष्यमें रखते हुए ही अग्निके विषयमें निर्णय करना चाहिए। यह अग्निविषयक निर्णय पितरोंपर प्रकाश डाल सकेगा। ऐसा हमारा कहना है।

अग्निका पितरोंको हवि खानेके लिए ले आना।

उशन्तस्त्वा निधीमहयुशन्तः समिधीमहि।
उशन्नुशत आ वह पितॄन् हविषे अत्तवे॥
ऋ० १०।१६।१२　तथा यजुः अ० १९।७०॥
तथा अथर्व० १८।१।५६॥

हे अग्ने! (उशन्तः) कामना करते हुए हम (त्वा निधीमहि) तेरी स्थापना करते हैं। और (उशन्तः समिधीमहि) कामना करते हम तुझे प्रदीप्त करते हैं। (उशन्) कामना करती हुई हे अग्नि तू (हविषे अत्तवे) हविके खानेके लिए (उशतः पितॄन्) कामना करते हुए पितरोंको (आ वह) ले आ। यहांपर अग्निसे हवि खानेके लिए पितरोंके ले आनेके लिए कहा गया है।

द्युमन्तस्त्वेधीमहि द्युमन्तः समिधीमहि।
द्युमान् द्युमत आ वह पितॄन् हविषे अत्तवे॥
अथर्व० १८।१।५७॥

हे अग्नि! (द्युमन्तः) दीप्तिमान होते हुए हम (त्वा इधीमहि) तुझे प्रकाशित करें। (द्युमन्तः) और दीप्तिमान हम (समिधीमहि) तुझे भली प्रकार प्रदीप्त करें। (द्युमान्) दीप्त हुआ हुआ तू (द्युमतः पितॄन्) प्रकाशमान पितरोंको (हविषे अत्तवे) हवि भक्षणार्थ (आवह) ले आ। उपरोक्त मंत्रके भाव का ही यह मंत्र भी समर्थन कर रहा है।

ये निखाता ये परोप्ता ये दग्धा ये चोद्धिताः।
सर्वांस्तानग्न आवह पितॄन् हविषे अत्तवे॥
अथर्व० १८।२।३४॥

(अग्ने) हे अग्नि! (ये निखाताः) जो पितर जमीनमें गाडे गए हैं और (ये परोप्ताः) जो पितर दूर बहा दिए गए हैं तथा (ये दग्धाः) जो पितर अग्निसे जलाए गए हैं (ये च) और जो पितर (उद्धिताः) जमीनके ऊपर रखें गए हैं, (तान् सर्वान्) उन सब पितरोंको तू (हविषे अत्तवे) हवि भक्षणार्थ (आवह) ले आ।

इस मंत्रमें यह बताया है कि चार प्रकारका अंत्येष्टि संस्कार होता है। (१) गाडना, (२) बहाना, (३) जलाना, (४) हवामें खुला छोडना। यहां पर इन चारों संस्कारोंसे संस्कृत पितरोंको हवि खानेके लिए अग्निको बुलानेके लिए कहा गया है। इस मंत्र पर विशेष प्रकाश 'प्रेत व अंत्येष्टि नामक' शीर्षकके नीचे डालेंगे।

अग्निका पितरोंको हवि पहुंचाना।

ऊपर हमने देखा कि अग्नि पितरोंको हवि खानेके लिए अपने साथ ले आती है। अब हम देखेंगे कि वह पितरोंके पास हवि ले भी जाती है और वहां उन्हें देती है।

त्वमग्न ईळितो जातवेदोऽवाड्ढव्यानि सुरभीणि कृत्वी। प्रादाः पितृभ्यः स्वधया ते अक्षन्नद्धि त्वं देव प्रयता हवींषि॥ ऋ० १०।१५।१२ तथा
अथर्व० १८।३।४२॥

यह मंत्र यजुर्वेदमें पाठभेद से निम्न प्रकार आया है—

त्वमग्न ईळितः कव्यवाहनावाड्ढव्यानि सुरभीणि कृत्वी। प्रादाः पितृभ्यः स्वधया ते अक्षन्नद्धि त्वं देव प्रयता हवींषि॥ यजुः अ० १९।६६

(जातवेदः अग्ने!) हे जातवेदस् अग्नि! (ईळितः त्वं) स्तुति किया गया तू (हव्यानि) हव्योंको (सुरभीणि कृत्वी) सुगन्धित बनाकर (अवाट्) वहन कर। और फिर (पितृभ्यः प्रादाः) पितरों को दे। (ते) वे पितर (प्रयता हवींषि) दी गई हवियोंको (स्वधया अक्षन्) स्वधाके साथ खावें। [देव] हे प्रकाशमान अग्नि! [त्वं] तू भी [अद्धि] उन हवियोंको खा।

इस मंत्रमें अग्निसे कहा गया है कि वह हवियोंको ले जाकर पितरोंको दे, ताकि वे उन्हें खावे। यजुर्वेद में स्थित उपरोक्त मंत्रमें अग्निका विशेषण 'कव्यवाहन' आया हुआ है। पितरोंके लिए दी गई हवि का नाम कव्य है। और क्यों कि अग्नि इस कव्यको पितरोंको पहुंचाती है अतः उसे कव्य वाहनके नामसे पुकारा गया है। हम आगे भी देखेंगे कि पितरोंके प्रति हविको ले जानेवाली अग्निको कव्यवाहनके नामसे कहा गया है।

अभूद् दूतः प्रहितो जातवेदाः सायं न्यह्न उपवन्द्यो

नृभिः। प्रादाः पितृभ्यः स्वधया ते अक्षन्नद्धि त्वं देव प्रयता हवींषि॥ अथर्व० १८।४।६५

(सायं न्यह्न) सायंकाल और प्रातःकाल (नृभिः उपवन्द्यः) नरों से वन्दना की जाती हुई (जातवेदाः) जातवेदस् अग्नि (प्रहितः दूतः अभूत्) भेजा हुआ दूत है। क्यों कि तू भेजा हुआ दूत है अतः हे (देव) प्रकाशमान अग्नि ! (प्रयता हवींषि) हमारे से दी गई हवियोंको [पितृभ्यः प्रादाः] पितरोंके लिए दे जिससे कि (ते) वे पितर जिन्होंने कि तुझे दूत बनाकर भेजा है, [स्वधया अक्षन्] स्वधाके साथ हमारे द्वारा दी गई हवियोंको खावें। [त्वं अद्धि] तू भी उन हवियोंको खा। इस मंत्र से हमें पता चलता है कि जिस अग्निकी सायं व प्रातः वंदना की जाती है उस अग्निको पितर अपना दूत बनाकर हमारे पास भेजते हैं और वह अग्नि हमारे पास से हवियों को ले जाकर पितरोंको पहुंचाती है। हमारे से दी गई हवियोंको पितरों तक पहुंचानेके लिए अग्नि माध्यम है, यह यहां पर स्पष्ट होता है।

उपरोक्त दोनों मंत्र इस बातको स्पष्ट कर रहे हैं कि अग्नि पितरोंके पास हवि पहुंचाती है और पितर उसे अपना दूत बनाकर हवि लानेके लिए भेजते हैं।

यो अग्निः कव्यवाहनः पितॄन् यक्षदृतावृधः
प्रेदु हव्यानि वोचति देवेभ्यश्च पितृभ्य आ।
ऋ० १०।१६।११॥ तथा यजुः अ० १९।६५

[यः अग्निः] जो अग्नि [कव्यवाहनः] कव्य का अर्थात् पितरोंकी हविका वहन करनेवाली है और जो [ऋतावृधः पितॄन् यक्षत्] यज्ञ वा सत्य से बढनेवाले पितरोंका यजन करती है वह अग्नि [देवेभ्यः पितृभ्यः च हव्यानि प्रवोचति] देवों और पितरों के लिये हव्यों को कहे अर्थात् देवों व पितरोंसे कहे कि मैं तुम्हारे लिए हव्य ले आई हूं।

पूर्व मंत्रमें हम अभी देख आए हैं कि अग्नि पितरोंका दूत बनकर उनके लिए हवियोंको ले जाती है। हवि ले जानेपर पितरोंको वह सूचित करती है कि तुम्हारे लिए मैं हवि ले आई हूं इसी भावको इस मंत्रमें कहा गया है। यहांपर अग्निको कव्यवाहन कहा गया है। देवों व पितरों दोनों को ही अग्नि हवि पहुंचाती है यह भी इससे पता चलता है। निम्न मंत्रमें भी अग्निको कव्यवाहनके नामसे कहा गया है।

अग्नये कव्यवाहनाय स्वधा नमः॥ अथर्व. १८।४।७१

(कव्यवाहनाय अग्नये) कव्यका वहन करनेवाली अग्नि के लिए (स्वधा नमः) स्वधा और नमस्कार होवे।

पितरोंके लिए दी जाती हविका नाम कव्य है और देवोंके लिए दी जाती हविका नाम हव्य है।

अग्निका दूरगत पितरोंको जानना।

समिन्धते अमर्त्यं हव्यवाहं घृतप्रियम्। स वेद निहितान् निधीन् पितॄन् परावतो गतान्॥
अथर्व० १८।४।४१

(अमर्त्यं) मरणधर्मसे रहित (घृतप्रियं) जिसको घी बहुत प्रिय है ऐसी (हव्यवाहं) हव्योंका वहन करनेवाली अग्निको पितृगण (समिन्धते) अच्छी प्रकार प्रदीप्त करते हैं। और (सः) वह अग्नि (निहितान् निधीन्) छिपे हुए खजानोंकी तरह (यहां लुप्तोपमा है) (परावतो गतान् पितॄन्) दूरगत पितरोंको (वेद) जानती है।

यहांपर यह बताया गया है कि छिपे हुए खजानों की तरह जो पितर सर्वथा आंखोंसे ओझल हैं अर्थात् सर्वथा अदृश्य हैं (चाहे वे दूर देशमें जानेसे अदृश्य हों या परलोकवासी होनेसे अदृश्य हों) उन्हें अग्नि जानती है। इसी लिए अग्निसे कहा गया है कि वह पितरोंको हवि पहुंचाए और इसी लिए वही पहुंचा सकती है।

ये चेह पितरो ये च नेह यांश्च विद्म यां उ च न प्रविद्म। त्वं वेत्थ यति ते जातवेदः स्वधाभिर्यज्ञं सुकृतं जुषस्व॥ ऋ० १०।१५।१३

(ये च इह पितरः)जो पितर यहांपर हैं,(ये च न इह) और जो यहांपर नहीं हैं, (यान् च विद्म) तथा जिन पितरोंको हम जानते हैं, (यां च न प्र विद्म) तथा जिन पितरोंको हम नहीं जानते, इस प्रकारके (यति ते) जितने भी वे पितर हैं उन सबको (जातवेदः) हे जातवेदस् अग्नि ! (त्वं वेत्थ) तू जानती है। (स्वधाभिः) स्वधाओंके साथ (सुकृतं यज्ञं) उत्तम प्रकारसे किए हुए यज्ञको (जुषस्व) प्रीतिपूर्वक ग्रहण कर।

इस मंत्रमें स्पष्ट रूपसे अग्निको विद्यमान अविद्यमान, ज्ञात अज्ञात, आदि सब प्रकारके पितरोंको जाननेवाला बताया गया है। निम्न मंत्रमें अग्निका पितरोंको पितृलोकमें पहुंचानेका निर्देश है।

यद् वो अग्निरजहादेकमङ्गं पितृलोकं गमयं जातवेदाः। तद् व एतत् पुनराप्याययामि साङ्गाः स्वर्गे पितरो मादयध्वम्। अथर्व० १८।४।६४

हे पितरो ! (वः यत् एकं अङ्गं) तुम्हारे जिस अङ्गको (पितृलोकं गमयन् जातवेदाः अग्निः) पितृलोकमें ले जाती हुई जातवेदस् अग्निने (अजहात्) छोड दिया है (वः तत् एतत्) तुम्हारे उस इस अङ्गको मैं (पुनः) फिर (आप्याययामि) पूर्ण करता हूं । (साङ्गाः पितरः) अपने सब अङ्गोंसे युक्त हुए हुए पितरो ! (स्वर्गे मादयध्वम्) स्वर्गमें आनन्दित होओ ।

इस मंत्रसे ऐसा पता चलता है कि अग्नि मरनेके अनन्तर पितरोंको पितृलोकमें ले जाती हुई उनके शरीरके किसी अवयवको यहांपर छोड जाती है ।

इसके शिवाय पितृयाण में हम निर्देश कर आए थे कि अग्नि पितृयाण मार्गको जानती है । यहां हमें पता चलता है कि अग्नि पितरोंको जानती है, पितृलोक को जानती है । इतना ही नहीं अपितु पितृलोकमें जाकर पितरोंको हवि पहुंचाती है और वहांसे उनको हमारे यज्ञोंमें भी अपने साथ ले आती है । हमने पितृयाण में यह भी देखा है कि पितर सूर्यकिरणोंके साथ जाते हैं । इन बातोंसे ऐसा पता चलता है कि पृथिवी लोक की हदतक पार्थिव अग्नि पितरोंको ले जाती है । तथा द्युलोकमें वही अग्नि सूर्यरूपमें परिणत होकर ले जाती है । इस प्रकार द्युलोकमें जानेके पितृयाण मार्गका कुछ पता किया जा सकता है। अबतकके विवेचनसे इतना हमें जरूर बतलाना है कि पितरोंको अग्नि अपने साथ पितृलोकमें ले जाती है और वहांसे अपने साथ पुनः यज्ञादिमें हवि आदि खानेके लिए ले भी आती है ।

अग्निका मृत पुरुषको पितरोंके पास पहुंचाना ।

> पूषा त्वेतश्च्यावयतु प्र विद्वाननष्टपशुर्भुवनस्य गोपाः। स त्वैतेभ्यः परिददत् पितृभ्योऽग्निर्देवेभ्यः सुविदत्रियेभ्यः ॥ ऋ० १०।१७।३
>
> तथा अथर्व० १८।२।५४

(अनष्टपशुः भुवनस्य गोपाः पूषा) हे मृत मनुष्य! निरन्तर प्रकाशमान प्राणिमात्राका रक्षक पूषा, (विद्वान् त्वा इतः प्रच्यावयतु) जानता हुआ अपनी रश्मियों द्वारा तेरी आत्माको इस पृथिवी लोकसे प्रकृष्ट मार्ग की ओर ले जावे । (सः अग्निः) वह अग्नि (त्वा) तुझे (एतेभ्यः पितृभ्य) इन पितरोंके लिए या (सुविदत्रियेभ्यः देवेभ्यः) उत्तम धनवाले देवोंके लिए (परिददत्) देवे ।

यह मंत्र भी उपरोक्त परिणामको स्पष्ट रूपसे पुष्ट कर रहा है । यास्काचार्यने पूषाका अर्थ आदित्य किया है । (निरु० ७।३।९) तदनुसार सूर्य मृत पुरुषकी आत्माको अपनी रश्मियोंसे ले जाता है ऐसा प्रतीत होता है । पितृयाणमें जो मंत्र(ऋ०१।१०९।७)हमने दिया है उसीकी यह मंत्र पुष्टि करता हुआ प्रतीत होता है ।

> मैनमग्ने विदहो माभि शोचो मास्य त्वचं चिक्षिपो मा शरीरम् । यदा शृतं कृणवो जातवेदोऽथेमेनं प्र हिणुतात् पितृभ्यः ॥ ऋ० १०।१६।१

यह मंत्र अथर्ववेदमें थोडेसे पाठभेदके साथ निम्न प्रकार आया है ।

> मैनमग्ने विदहो माभि शूशुचो मास्य त्वचं चिक्षिपो मा शरीरम् । शृतं यदा करसि जातवेदोऽथेमेनं प्र हिणुतात् पितृभ्यः ॥
>
> अथर्व० १८।२।४

(अग्ने) हे अग्नि ! (एनं मा विदहः) इस प्रेतको इस प्रकारसे मत जला कि जिससे इसे विशेष कष्ट हो । (मा अभि शोचः) इसे शोकाकुल मत कर । (अस्य त्वचं मा चिक्षिपः) इसकी चमडीको मत फेंक । (मा शरीरं) और इस प्रेतके शरीर कोभी मत फेंक अर्थात् इसकी त्वचा व शरीर पूर्णतया जला दे, कोई भी भाग दहनक्रियासे अवशिष्ट न रहे और (जातवेदः) हे जातवेदस् अग्नि ! (यदा शृतं कृणवः) जब तू इस प्रेतको परिपक्व बना दे अर्थात् पूर्णतया जला दे (अथ) तब (एनं) इसको (पितृभ्यः प्रहिणुतात्) पितरोंके लिए भेज दे अर्थात् पितृलोकमें पितरोंके पास पहुंचा दे ।

यह मंत्र यद्यपि अंत्येष्टि-संस्कार-विषयक है तथापि अग्निका पितरोंके लिए प्रेत जला देनेका कार्य दर्शानेके लिए यहां दिया गया है । इस मंत्रके उत्तरार्धसे ऐसा पता चलता है कि जबतक देह संपूर्ण तया जल नहीं जाती, तबतक आत्मा देहके आसपास ही मंडलाती रहती है । इस परिणामानुसार तो आत्माको शीघ्र मुक्त करनेके लिए व उसके लिए निर्धारित स्थानपर भेजनेके लिए शरीरका दहन करना अधिक उत्तम प्रतीत होता है ।

> शृतं यदा करसि जातवेदोऽथेमेनं परिदत्तात् पितृभ्यः।
> यदागच्छात्यसुनीतिमेतामथा देवानां वशनीर्भवाति ॥
> ऋ. १०।१६।२ ॥

(जातवेदः) हे जातवेदस् अग्नि ! (यदा शृतं करसि) जब इस प्रेतको पूर्णतया पक्व अर्थात् दग्ध कर दे, (अथ एनं पितृभ्यः परिदत्तात्) तब इसको पितरोंके लिए सौंपदे। (यदा) जब वह प्रेत (एतां असुनीतिं गच्छाति) इस प्राणोंके नयन को प्राप्त होता है अर्थात् जब इसके प्राण निकल जाते हैं (अथ) तब प्राणोंके निकल जानेके बाद प्रेत (मृत शरीर) (देवानां वशनीः भवाति) देवोंके वश हो जाता है।

प्रेत देवोंके वश किस प्रकार होता है वह इसी मंत्रके बाद के मंत्र अर्थात् ऋ. १०।१६।३ ॥ में दर्शाया है।

> सूर्यं चक्षुर्गच्छतु वातमात्मा द्यां च गच्छ पृथिवीं च धर्मणा। अपो वा गच्छ यदि तत्र ते हितमोषधीषु प्रतितिष्ठा शरीरैः ॥ ऋ. १०।१६।३

हे प्रेत! तेरी (चक्षुः सूर्यं गच्छतु) आंख सूर्यको जावे। (आत्मा वातं) तेरी आत्मा (प्राण) वायुको जावे। और हे प्रेत! (धर्मणा) धर्मसे अर्थात् कर्म फलजन्य धर्मसे अथवा पार्थिवादि तत्वोंके धर्मसे अर्थात् जो पार्थिव तत्त्व है वह पृथिवी में जावे इत्यादि रीतिसे (द्यां च पृथिवीं च गच्छ) द्यौ व पृथिवीको जा, अर्थात् जो द्युका अंश तेरे में है वह द्युमें जावे व पृथिवीका है वह पृथिवीमें जावे। (वा) अथवा (अपो गच्छ) जलोंमें जलांश जावे (यदि तत्र ते हितं) यदि वहां का कोई अंश तेरेमें विद्यमान हो ; और इसी प्रकार (ओषधीषु शरीरैः प्रतितिष्ठा) ओषधियोंमें शरीरांशोंसे स्थित हो अर्थात् ओषधिका अंश ओषधिमें चला जावे।

यह ऋग्वेदके १० वें मण्डलका सम्पूर्ण १६ वां सूक्त अंत्येष्टिसंस्कार विषयक है, अतः हम इस संपूर्ण सूक्त पर आगे चलकर स्वतंत्र विचार करेंगे। यहां पर हमें इतना ही देखना था, कि अग्नि प्रेतको क्या करती है, और तदनुसार हमने देखा कि प्रेतको अग्नि पितृलोकमें पितरोंके पास पहुंचाती है।

मरनेपर पितृलोकमें जाना।

> जीवानामायुः प्रतिर त्वमग्ने पितृणां लोकमपि गच्छन्तु ये मृताः। सु गार्हपत्यो वितपन्नराति मुषामुषां श्रेयसीं धेह्यस्मै ॥ अथर्व० १२।२।४५॥

(अग्ने) हे अग्नि ! (त्वं जीवानां आयुः प्रतिर) तू जीवितोंकी आयुको बढा और जब (ये मृताः) वे मर जावें तब (पितृणां लोकं अपि गच्छन्तु) पितृलोकमें जावें, अर्थात् जबतक वे जीवित हैं तबतक उनकी आयु वृद्धि करता रह और जब मरें तब पितृलोकमें पहुंचा दे (अरातिं वितपन्) न दान देनेवालेको विशेष रूपसे तपाता हुआ (सुगार्हपत्यः) उत्तम गार्हपत्य तू (अस्मै) इस जीवके लिए (श्रेयसीं उषां उषां) कल्याणकारिणी प्रत्येक उषाको (धेहि) धारण कर, अर्थात् इसके लिए प्रत्येक उषा कल्याण करनेवाली हो। इस मंत्रमें अग्निसे उषा देनेकी प्रार्थना की गई है, परन्तु उषा तो सूर्य देता है अतः यहां अग्नि सूर्यके लिए आया है ऐसा प्रतीत होता है। इसके सिवाय सूर्यसे भी दीर्घायुकी प्रार्थना करनेवाले मंत्र हैं तथा पहिले हम यह भी देख आए हैं कि सूर्य किरणोंसे पितर पितृलोकमें जाते हैं, अतः अग्निसे वह सूर्यका ग्रहण है और सूर्यसे कहा गया है कि वह मृतको पितृलोकमें ले जावे। पितृलोककी अवधि पूर्ण होने पर अग्नि फिर वापिस मर्त्यलोकमें जीवात्माको लौटा लाती है, यह निम्न मंत्र हमें दर्शा रहा है—

> अवसृज पुनरग्ने पितृभ्यो यस्त आहुतश्चरति स्वधाभिः। आयुर्वसान उपवेतु शेषः संगच्छतां तन्वा जातवेदः ॥ ऋ. १०। १६। ५॥

यही मंत्र अथर्ववेदमें थोडेसे पाठ भेदके साथ निम्न प्रकार आया है—

> अवसृज पुनरग्ने पितृभ्यो यस्त आहुतश्चरति स्वधावान् आयुर्वसान उपयातु शेषः संगच्छतां तन्वा सुवर्चा ॥ अथर्व. १८। २। १०॥

(अग्ने) हे अग्नि ! (यः) जो (ते आहुतः) तेरेमें अंत्येष्टिके समय आहुत किया हुआ (स्वधाभिः चरति) स्वधाओंद्वारा अर्थात् स्वधाओंको खाता हुआ विचरण करता है उसको (पितृभ्यः) पितरोंसे (पुनः) फिर लाकर (अवसृज) यहां छोड, जिससे कि (शेषः) यह पुनर्जन्म लिया हुआ अपत्य (उपयातु) कुटुंबियों को प्राप्त करे तथा (जातवेदः) हे जातवेदस् अग्नि ! (तन्वा संगच्छतां) यह शरीरसे युक्त होवे। शेष नाम संतान का है। 'शेष इत्यपत्यनाम शिष्यते इति '। निरु० ३। २॥ अथवा इस मंत्रका अर्थ निम्न प्रकार भी किया जा सकता है।

हे अग्ने ! जो पुरुष तेरेमें अंत्येष्टिके समय आहुत किया हुआ स्वधाओंसे विचरण कर रहा है, उसे पितरों के लिए दे अर्थात् उसे पितृलोक में पहुंचा। यहां शेष अर्थात् मृत पुरुष की संतान दीर्घ जीवन धारण करती हुई अपने घर जाए। वह तेजयुक्त शरीरको प्राप्त होवे।

इस अर्थके अनुसार इस मंत्रका भी विनियोग अंत्येष्टि-संस्कार में किया जा सकता है। मंत्रके पूर्वार्धसे मृत पुरुषके लिए प्रार्थना की गई है तथा उत्तरार्ध से दाह संस्कार में आई हुई मृत पुरुषकी संतान के लिए दीर्घायु की प्रार्थना है।

क्रव्यात् अग्नि।

जिस अग्निका अंत्येष्टि संस्कार में विनियोग किया जाता है उस अग्निका नाम क्रव्यात् अग्नि है। क्रव्यात् अग्निका अर्थ है मांसाहारी अग्नि अर्थात् जिसमें मांस होमा जाता है वह अग्नि। अंत्येष्टि संस्कारमें मृत देहको होमा जाता है अतः इसका नाम क्रव्यात् अग्नि है। इसके सिवाय कईयोंका ऐसा भी मत है कि अन्यत्र पितृयज्ञादिमें भी मांस होमा जाता है और अतः उस अग्निका नाम क्रव्यात् अग्नि है। हम पीछे 'पितरोंके प्रति हमारे कर्तव्य' इस शीर्षकके नीचे देख आए हैं कि दो एक मंत्र हमें ऐसे भी मिले हैं जिनमें कि पितरोंके लिए वपा मांस आदि देनेका निर्देश मिलता है। श्राद्ध करनेवाले लोक पितरोंके लिए मांसका विधान मानते हैं परंतु मांस देनेके समय उसके स्थानपर माश (उडद) देते हैं। परंतु हमें ऐसा प्रतीत होता है कि मृत शरीर होमा जानेके कारण ही वपा और मांसके होमने की कल्पना वेदमें की गई हैं, क्यों कि मृत शरीरमें वपा और मांस तथा मेद होते हैं। अस्तु, अब हम देखतें हैं कि, क्रव्यात् अग्निके क्या कार्य हैं व पितरोंसे उसका क्या विशेष संबन्ध है।

> क्रव्यादमग्निं प्रहिणोमि दूरं यमराज्ञोगच्छतु रिप्रवाहः।
> इहैवायमितरो जातवेदा देवेभ्यो हव्यं वहतु प्रजानन्॥
> ऋ० १०। १६। ९।॥ यजुः अ० ३५। १९॥
> अथर्व० १२। २। ८॥

(क्रव्यादं अग्निं दूरं प्रहिणोमि) मांस भक्षक अग्निको दूर भिजवाता हूं। (रिप्रवाहः) पापका वहन करनेवाली वह अग्नि (यमराज्ञः गच्छतु) जहांका यम राजा है उन प्रदेशोंको चली जावे। (इह) यहां पर (अयं इतरः जातवेदाः प्रजानन्) यह दूसरी क्रव्यात् अग्निसे भिन्न जातवेदस् अग्नि जानती हुई (देवेभ्यः हव्यं वहतु) देवोंके लिए हव्यों का हनव करें अर्थात् उन्हें पहुंचावे।

इस मंत्रमें क्रव्यात् अग्नि को यमराज के देशमें भेजनेका निर्देश है और साथ ही क्रव्यात् अग्नि देवोंके हव्यके वहन करनेके लिए अनुपयुक्त है यह भी बताया गया है। इसका अभिप्राय यह है कि क्रव्यात् अग्निका संबन्ध यमलोकसे है जहां कि पितर रहते हैं।

> यो अग्निः क्रव्यात् प्रविवेश वो गृहमिमं पश्यन्नितरं जातवेदसम्। तं हरामि पितृयज्ञाय देवं स घर्ममिन्वात् परमे सधस्थे॥
> ऋ० १०।१६।१०॥

यह मंत्र थोडेसे पाठान्तरसे अथर्ववेदमें निम्न प्रकार आया है।

> यो अग्निः क्रव्यात् प्रविवेश गृहमिमं पश्यन्नितरं जातवेदसम्। तं हरामि पितृयज्ञाय दूरं स घर्ममिन्धां परमे सधस्थे। अ०१२।२।७॥

(यः क्रव्यात् अग्निः) जो मांसाहारी अग्नि (इमं इतरं जातवेदसं पश्यन्) इस दूसरी जातवेदस् नामक अग्निको देख कर (वः गृहं प्रविवेश) तुम्हारे घर में घुस गई है। (तं देवं) उस दीप्यमान क्रव्यात् अग्निको (पितृयज्ञाय हरामि) पितृयज्ञके लिए हरता हूं। (सः) वह (परमे सधस्थे) परम सधस्थमें(घर्म) यज्ञको (इन्वात्) प्राप्त होवे। यहांपर इस बातको स्पष्ट किया गया है कि क्रव्यात् अग्नि पितृयज्ञके लिए काम आती है। इसका यह मतलब प्रतीत होता है कि पितृयज्ञ में मांसकी आहुतियां हैं जिसके लिए दूसरी अग्नि अनुपयुक्त है। इसी अग्नि में पितरोंके लिए मांस व वपाका होम (जैसा कि पूर्व देख आए हैं) होता होगा। इसके साथ हम यह भी देखते हैं कि क्रव्यात् अग्नि से भिन्न दूसरीको जातवेदस् के नामसे कहा गया है। क्रव्यात् अग्निको जातवेदस् से नहीं कहा गया। इसका मतलब यह है कि पितृयज्ञको छोडकर अन्यत्र सर्वत्र जातवेदस् अग्निका विनियोग होता है। साथ पितृयज्ञ या पितरोंके अन्य कार्योंके लिए जैसे शवदहनादिके लिए क्रव्यात् अग्निका प्रयोग होता है।

> क्रव्यादमग्निमिषितो हरामि जनान् दृहन्तं वज्रेण मृत्युम्। नि तं शास्मि गार्हपत्येन विद्वान् पितॄणां लोकेऽपि भागो अस्तु॥ अथर्व० १२।२।९

(इषितः) प्रेरणा किया गया मैं (जनान् मृत्युं दृहन्तं) मनुष्योंको मृत्युसे दृढ करती हुई अर्थात् मनुष्योंमें मृत्युसंख्याको बढाती हुई (क्रव्यादं अग्निं) क्रव्यात् अग्निको (वज्रेण) वज्रद्वारा [हरामि] दूर भगाता हूं। [विद्वान्] ज्ञानी मैं [तं गार्हपत्येन निशास्मि] उस क्रव्यात् अग्निको गार्हपत्य द्वारा पूर्णतया शासित करता हूं ताकी मृत्यु मनुष्योंमें दृढ न होने पावे। इस प्रकार क्रव्यात् अग्नि पर शासन करनेके कारण (पितृणां लोकेऽपि) पितरोंके लोकमें भी (भागः अस्तु) मेरा भाग हो।

क्रव्यात् अग्नि पर शासन करनेसे अर्थात् उसे वशमें करनेसे पितृलोकमें भाग मिलता है, ऐसा इस मंत्रसे प्रतीत होता है अर्थात् पितृलोकमें यदि भाग चाहिए तो क्रव्यात् अग्निको वशमें करना चाहिए। क्रव्यात् अग्निके रहनेका स्थान मुख्यतया पितृलोक ही है ऐसा इस नीचेके मंत्रसे ज्ञात होता है।

> **क्रव्यादमग्निं शशमानमुक्थ्यं प्रहिणोमि पथिभिः पितृयाणैः। मा देवयानैः पुनरागा अत्रैवैधि पितृषु जागृहि त्वम् ॥**
>
> **अथर्व० १२।२।१०**

(शशमानं उक्थ्यं क्रव्यादं अग्निं) शशमान, प्रशंसाके योग्य, मांसभक्षक अग्निको (पितृयाणैः पथिभिः) पितृयाणमार्गों द्वारा (प्रहिणोमि) पितृलोकमें भेजता हूं। (देवयानैः पुनः मा अत्र आगाः) देवयान मार्गों द्वारा फिर यहां वापिस लौटकर मत आ। (एधि) वहीं पर वृद्धिको प्राप्त हो। (पितृषु एव त्वं जागृहि) पितरोंमें ही तू जागती रह, अर्थात उन्हींमें तू सावधानता पूर्वक रह।

क्रव्यात् अग्निका पितरोंसे कोई विशेष संबन्ध है, अतएव उसे पितरों में ही रहनेके लिए तथा वापिस न आनेके लिए आदेश इस मंत्रमें दिया गया है।

शशमान-शशप्लुतगतौ से यह शब्द बना है। प्लुत गतिका अर्थ उछल उछलकर जाना है। यहां पर क्रव्यात् अग्निको शशमान विशेषण दिया है। इसका मतलब यह प्रतीत होता है कि क्रव्यात् अग्नि मांसको चटक चटक कर जलाती है। उस चटकनेको देखनेसे ऐसा प्रतीत होता है कि मानो उछल उछल कर जल रही है, इसी कारण संभव है इसे शशमानसे पुकारा गया है।

> **अपावृत्य गार्हपत्यात् क्रव्यादा प्रेत दक्षिणा। प्रियं पितृभ्यः आत्मने ब्रह्मभ्यः कृणुता प्रियम् ॥**
>
> **अथर्व० १२।२।३४**

(गार्हपत्यात्) गार्हपत्य अग्निसे (अपावृत्य) हटकर अर्थात् गार्हपत्य अग्निको छोडकर (क्रव्यादा) क्रव्यात् अग्निके साथ (दक्षिणा प्रेत) दक्षिण दिशाको जाओ। (आत्मने पितृभ्यः प्रियं कृणुत) अपने लिए तथा पितरों के लिए प्रिय करो। (ब्रह्मभ्यः प्रियं) ब्रह्मज्ञानियोंके लिए प्रिय करो।

हमें वेदमंत्रों के देखनेसे पता चलता है कि पितरों की दक्षिण दिशा है। और उपरोक्त मंत्रोंसे यह भी भली प्रकार ज्ञात हो चुका है कि क्रव्यात् अग्नि पितरोंमें रहती है। इन दो बातों को लक्ष्यमें रखते हुए इस मंत्रको देखनेसे इसका भाव समझमें आ सकता है। यहांपर क्रव्यात् अग्निके साथ दक्षिण दिशामें जानेका आदेश है। इसके सिवाय यह भी हमें पता चलता है कि क्योंकि पितरोंकी दक्षिण दिशा है, अतः पितृलोक दक्षिणमें है। क्रव्यात् अग्निके इतने विवेचनसे क्रव्यात् अग्निके कार्य क्या हैं व उसका पितरोंसे क्या संबन्ध है इत्यादि बातें पाठकोंके ध्यानमें आगई होंगी। अब अग्नि के अन्य कार्योंको दर्शानेवाले मंत्रोंको दिया जाता है। निम्न मंत्रमें अग्नि का पितरोंमें प्रविष्ट हुए हुए दस्युओंका यज्ञसे हटाना बतलाया गया है। मंत्र इस प्रकार है।

> **ये दस्यवः पितृषु प्रविष्टा ज्ञातिमुखा अहुतादश्चरन्ति। परापुरो निपुरो ये भरन्त्यग्निष्टानस्मात् प्र धमाति यज्ञात् ॥ अथर्व० १८।२।२८ ॥**

(ज्ञातिमुखाः) ज्ञातियोंके सदृश मुखवाले अर्थात् जो सजातीय हैं और जो कि (अहुतादः) अहुत अर्थात् न दिए हुएको खानेवाले हैं यानि जबरदस्ती जो छीनकर खा जानेवाले हैं ऐसे (ये दस्यवः) जो उपक्षय करनेवाले (पितृषु प्रविष्टाः) पितरोंमें प्रविष्ट हुए हुए (चरन्ति) विचरण करते हैं, और (ये) जो (परापुरः) पुत्रोंको तथा (निपुरः) पौत्रोंको (भरन्ति) हरण करते हैं (तान्) उन दस्युओंको [अग्निः] अग्नि [अस्मात् यज्ञात्] इस यज्ञसे [प्र धमाति] दूर भगा देता है, यज्ञमें आने नहीं देता।

भरन्ति = हरन्ति (' हृग्रहोर्भश्छन्दसि ' से ह को भ हो गया है।

इसमंत्रसे यह प्रतीत होता है कि अन्य ज्ञातिगण जिनकी कि पितरोंमें गिनती नहीं है और जो हमारा व हमारी संततिका चुपके चुपके नाश करते रहते हैं, और जो हमारे न जानते हुए हवियों को जो कि पितरोंके उद्देश्यसे दी गई हैं खाते रहते हैं। पर जब यज्ञमें वे आकर ऐसा करते हैं तो अग्नि उन्हें यज्ञसे दूर भगा देती है, उन्हें पितरों में बैठकर हवि खाने नहीं देती। इससे यह भी परिणाम निकाला जा सकता है कि पितरोंके लिए जो भी कुछ देना हो वह अग्नि द्वारा अर्थात् यज्ञ करके ही देना चाहिए ताकि वह पितरोंको ही मिले। अग्नि ज्ञाति मुख लोकोंको न लेने देगी।

अग्निके शरीरका पितरोंमें प्रवेश।

> यस्ते देवेषु महिमा स्वर्गो या ते तनूः पितृष्वाविवेश।
> पुष्टिर्या ते मनुष्येषु पप्रथेऽग्ने तया रयिमस्मासु धेहि॥
> अथर्व० १९।३।३॥

(अग्ने) हे अग्नि ! (यः ते महिमा) जो तेरी महिमा (देवेषु स्वर्गः) देवोंमें सुख पहुंचानेवाली है और (या ते तनूः) जो तेरा शरीर (पितृषु आविवेश) पितरोंमें प्रविष्ट हुआ हुआ है तथा (या ते पुष्टिः) जो तेरी पोषकता (मनुष्येषु प्रमथे) मनुष्यों में फैली हुई है (तया) उससे (अस्मासु रायं धेहि) हमारे अन्दर रयि को धनसम्पत्ति को स्थापित कर अर्थात् हमें धनसम्पति दे।

यहा पर अग्नि अपने शरीरसे पितरोंमें प्रविष्ट हुई हुई है यह बात दिखाई गई है। अग्नि सदा पितरों में विद्यमान रहती है ऐसा इसका अभिप्राय मालूम पडता है। निम्न मंत्रमें पितरोंसे यह प्रार्थना की गई है कि न तो अग्नि हमसे द्वेष करे और नहीं हम अग्नि से द्वेष करें। मंत्र निम्न है—

> यो नो अग्निः पितरो हृत्स्वन्तरा विवेशामृतो मर्त्येषु।
> मय्यहं तं परि गृह्णामि देवं मा सो अस्मान् द्विक्षत मा वयं तम्॥ अथर्व० १२।२।३३॥

(पितरः) हे पितरो ! (यः अमृतः अग्निः) जो अमरणशील अग्नि (यः मर्त्येषु हृत्सु) हम मरणशीलोंके हृदयों में (आविवेश) प्रविष्ट हुई हुई है (तं देवं) उस प्रकाशमान अग्निको (अहं मयि परि गृह्णामि) मैं अपने अन्दर सब ओरसे ग्रहण करता हूं– स्थापित करता हूं। (सः) वह अग्नि (अस्मान् मा द्विक्षत) हम मर्त्योंसे द्वेष मत करे और (वयं मा तं) हम उससे द्वेष मत करें। दोनों परस्पर द्वेष न करते हुए मिलकर रहें।

उपरोक्त मंत्रमें पितरोंसे प्रार्थना की गई है कि अग्नि हमसे द्वेष न करे व हम अग्निसे द्वेष न करें। नीचे लिखे मंत्रमें अग्निसे प्रार्थना की गई है कि देव तथा पितर हमारे साथ जबरदस्ती न करें। मंत्र इस प्रकार है–

> मो षू णो अत्र जुहुरन्त देवा मा पूर्वे अग्ने पितरः पदज्ञाः। पुराण्योः सद्मनोः केतुरन्तर्महद्देवानामसुरत्वमेकम्॥ ऋ० ३।५५।२॥

(अग्ने) हे अग्नि ! (अत्र) यहांपर (देवाः मो नः सुजुहुरन्त) देवगण हमारे साथ जबरदस्ती मत करें। और (पूर्वे पदज्ञाः पितरः मा) पुरातन अर्थात् पूर्वकालीन पदज्ञ पितृगण जबरदस्ती मत करें। क्योंकि हे अग्नि ! [केतुः] प्रकाशक तू [पुराण्योः सद्मनोः] पुरातन द्यावापृथिवीके [अन्तः] अन्दर सूर्यरूपसे प्रकाशित होती है [अध्याहार] और क्योंकि तू [देवानां एकं महत् असुरत्वं] देवोंका एक महान् प्राणदाता है।

यहांपर अग्निसे कहा गया है कि देव तथा पितर हमारे साथ जबरदस्तीका व्यवहार न करें। हमारी इच्छाके विरुद्ध हठ करके वे हमें किसी भी कार्यमें प्रवृत्त न करें। सूर्यके लिए यहां पर अग्नि शब्दको प्रयुक्त किया गया है ऐसा ज्ञात होता है क्योंकि द्यु तथा पृथिवी दोनोंपर सूर्य प्रकाशित होता है, अग्नि नहीं। इसके अतिरिक्त 'महद्देवानां असुरत्वमेकं' से भी यही पता चलता है। सूर्यमें सब देवोंको प्राणशक्ति देनेका सामर्थ्य है, जैसा कि असुरत्व बता रहा है।

> असुरत्व–असु नाम है प्राणका। 'प्राणो वा असुः' श० ६।६।२।६॥ असुं प्राणं राति ददातीति असुरः प्राणदाता आत्मा। असुरस्य भावः असुरत्वम्– आत्माकी प्राण देनेकी शक्ति। सूर्यको देवोंकी आत्मा कहा गया है। 'सूर्यो वै सर्वेषां देवानामात्मा'। श० १४।३।२।९॥

जुहुरन्त– हृ प्रसह्यकरणे धातुके लङ् लकार का रूप है। 'प्रसह्यकरणे' का अर्थ होता है हठ पूर्वक जबरदस्तीसे कोई काम करना।

पितरोंकी रक्षार्थ अग्निकी उत्पत्ति।

> होताजनिष्ट चेतनः पिता पितृभ्य ऊतये।
> प्रयक्षञ्जेन्यं वसु शकेम वाजिनो यमम्॥ ऋ० २।५।१

(चेतनः) चेतनवाला व चेतना देनेवाला (पतः) पालक व रक्षक (होता) लेने व देनेवाला (अग्निः) अग्नि (पितृभ्यः ऊतये) पितरों की रक्षा के लिए (अजनिष्ट) उत्पन्न हुआ है। उस अग्निकी सहायता से (वाजिनः) बलवान् वा अन्न से युक्त हुए हुए हम (प्रयक्षं) अत्यन्त पूजनीय (जेष्यं) जयशील जीतने लायक (वसु) धनका (यमं शकेम) नियमन करनेमें समर्थ हों। अर्थात् इस प्रकारके धनको हम अपने पास स्थिर रखने में समर्थ हो सकें।

इस मंत्रमें अग्निकी उत्पत्तिका प्रयोजन पितरोंकी रक्षा बतया गया है। हम ऊपर देख आए हैं कि अग्नि पितरोंकी पर्याप्त सहायक है। उसके बिना पितरोंकी रक्षा संभव नहीं। इसीको यह मंत्र प्रतिपादित कर रहा है।

वैश्वानर अग्निका पितरोंको धारण करना।

> वैश्वानरे हविरिदं जुहोमि साहस्रं शतधारमुत्सम्।
> स बिभर्ति पितरं पितामहान् प्रपितामहान् बिभर्ति पिन्वमानः॥ अथर्व० १८।४।३५॥

(वैश्वानरे इदं हविः जुहोमि) वैश्वानर अग्निमें यह हवि डालता हूं जो कि हवि (शतधारं साहस्रं उत्सं इव) सैंकडों व हजारों धाराओंवाले स्रोतके समान सैंकडों व हजारों धाराओंवाली है। (सः) वह वैश्वानर अग्नि (पिन्वमानः) उस हविसे तृप्त हुई हुई (पितरं पितामहान् प्रपितामहान् बिभर्ति) पिताका, दादाओंका तथा परदादाओं का धारण पोषण करती है।

यहां पर अग्निको वैश्वानरके नामसे कहा गया है। वैश्वानर का अर्थ है सब नरोंको लेजानेवाला। अग्नि सब मनुष्योंको ले जाती है। अंत्येष्टिमें सब मनुष्योंको अग्निमें जलाया जाता है और फिर अग्नि सबको पितृलोकमें ले जाती है, जैसा कि हम ऊपर देख आए हैं। इस प्रकार अग्नि वैश्वानर है। इस मंत्रमेंभी उपरोक्त कथनोंकी ही पुनरावृत्ति की गई है। पितरोंके लिए जो कुछ देना हो, वहअग्नि को देना चाहिए, वह उन्हें पहुंचाती है और इस प्रकार उनका धारण पोषण करती है।

(२)

अग्निष्वात्त पितर।

अग्निष्वात्त का क्या अर्थ है यह एक विचारणीय विषय है। क्योंकि भिन्न भिन्न भाष्यकर्ताओंने इसका भिन्न भिन्न अर्थ किया है। तथापि वेदमंत्रोंसे इसका क्या अर्थ निकलता है यह हमें देखना है। अग्निष्वात्तका शब्दार्थ इस प्रकार है 'अग्निना स्वात्ताः स्वादिताः त अग्निष्वात्ताः' अर्थात् जिनका अग्निने स्वाद लिया है यानि जो अग्निमें जलाए गए हैं। इसी विग्रहको तथा इस अर्थ की पुष्टि शतपथ ब्राह्मण कर रहा है— 'यान् वै अग्निरेव दहन्त्स्वदयति ते पितरो अग्निष्वात्ताः' श० २।६।१।७ अर्थात् जिनको अग्नि ही जलाती हुई स्वाद लेती है वे पितर अग्निष्वात्त कहलाते हैं। इस विवेचनसे अग्निष्वात्त पितरोंके विषयमें हमारे सामने यह परिणाम निकला कि जिनका अंत्येष्टि संस्कार अग्निद्वारा होता है उन पितरोंका नाम अग्निष्वात्त पितर है। अब हम वेद मंत्रोंपर दृष्टि डालेंगे और देखेंगे कि उनसे क्या पता चलता है।

> ये अग्निष्वात्ता ये अनग्निष्वात्ता मध्ये दिवः स्वधया मादयन्ते। तेभ्यः स्वराडसुनीतिमेतां यथावशं तन्वं कल्पयाति॥ यजुः १९।६०॥

[ये] जो [अग्निष्वात्ताः] अग्निष्वात्त पितर और [ये] जो [अनग्निष्वात्ताः] अनग्निष्वात्त पितर [दिव मध्ये स्वधया मादयन्ते] द्युलोकके बीचमें स्वधासे आनन्दित हो रहे हैं, [तेभ्यः] उन पितरों के लिए [स्वराट्] स्वयं प्रकाशमान अग्नि वा यम [यथावशं] कामनाके अनुसार अर्थात् कर्मानुसार [एतां असुनीतिं तन्वं कल्पयाति] इस प्राणों द्वारा ले जाए जानेवाले शरीरको बनाता है।

असुनीतिका अर्थ है जो प्राणोंद्वारा लेजाया जावे यानि जिसका प्राणों द्वारा संचालन होवे। वह शरीर असुनीति है क्योंकि प्राण निकल जानेपर इसका संचालन बन्द हो जाता है। इस मंत्र से यह बात स्पष्ट है कि पितृलोकस्थ पितरों का पुनर्जन्म होता है उपरोक्त मंत्र ठीक ऐसा का ऐसा ही ऋग्वेदमें मिलता है। वहांपर जो थोडासा परिवर्तन है वही अग्निष्वात्तके अर्थका स्वयं निर्णय कर रहा है।

> ये अग्निदग्धा ये अनग्निदग्धा मध्ये दिवः स्वधया मादयन्ते। तेभ्यः स्वराडसुनीतिमेतां यथावशं तन्वं कल्पयाति॥ ऋ १०।१५।१४

अर्थ उपरोक्त मंत्रानुसार ही है। इन दोनों मंत्रों का तुलना करके देखनेसे पाठकों को स्वयमेव अग्निष्वात्त का अर्थ ज्ञात हो जाएगा। यजुर्वेदस्थ इस मंत्र में जहां 'अग्निष्वात्ताः' और 'अनग्निष्वात्ताः' पद हैं वहां पर ऋग्वेदमें 'अग्निदग्धाः' व 'अनग्निदग्धाः' पद हैं। शेष मंत्र सर्वथा समान है। इसका अभिप्राय यह है कि जो अर्थ अग्निष्वात्त का है वही अर्थ अग्निदग्ध का है। अग्निदग्ध का अर्थ स्पष्ट है कि जो अग्नि

द्वारा जलाया गया हो। अतः अग्निष्वात्त का भी अर्थ हुआ कि जो अग्नि द्वारा जलाया गया हो। हम प्रारंभ में देख आए हैं कि शतपथ ब्राह्मणने भी वही अर्थ किया है जो कि वेदमंत्रों से पता चल रहा हैं। इस प्रकार वेद व ब्राह्मण अग्निष्वात्त के इसी अर्थ पर सहमत हैं कि 'जो अग्नि द्वारा जलाया गया हो।' पाठक इसपर विचार करें क्यों कि इससे पितरों पर विशेष प्रकाश पडता है। अग्निष्वात्त का उपरोक्त अर्थ होने पर निश्चय से अग्निष्वात्त पितर मृत पितरही हैं यह सिद्ध होता है और उनसे जैसा कि आगे देखेंगे यज्ञमें बुलाकार रक्षा करने, धनादि देने, वह हवि खिलानेका उल्लेख है। इसका अभिप्राय स्पष्ट रूपसे यह है कि मृत पितरों के लिए कुछ न कुछ अवश्य करना चाहिए। इतना अग्निष्वात्त शब्दपर प्रकाश डालने के बाद अब हम अग्निष्वात्त पितरों के यज्ञादि में आने, हमारी रक्षा करने आदि दर्शानेवाले मंत्रोंको उद्धृत करते हैं।

> **अग्निष्वात्ताः पितर एह गच्छत सदः सदः सदत सुप्रणीतयः। अत्ता हवींषि प्रयतानि बर्हिष्यथा रयिं सर्ववीरं दधातन ॥ ऋ १०।१५।११**

यह मंत्र थोडेसे पाठभेदके साथ यजुर्वेद तथा अथर्ववेदमें भी आया है। देखो यजुः १९।५९ तथा अथर्व० १८।३।४४॥ अर्थ इस प्रकार है--

हे उत्तम नेता अग्निष्वात्त पितरो! इस यज्ञमें आओ। घर घरमें स्थित होओ, और यज्ञमें दिए गए हवियोंको खाओ। हमें सब प्रकारकी वीरतासे पूर्ण धनको दो।

इस मंत्रमें अग्निष्वात्त पितरोंको यज्ञमें बुलाने, हवि खिलाने तथा मांगनेका स्पष्ट रूपसे उल्लेख है।

> **आयान्तु नः पितरः सोम्यासोऽग्निष्वात्ताः पथिभिर्देवयानैः। अस्मिन् यज्ञे स्वधया मदन्तोऽधि ब्रुवन्तु तेऽवन्त्वस्मान् ॥ यजु. अ० १९।५८॥**

(सोम्यासः) सोम संपादन करनेवाले [नः अग्निष्वात्ता पितरः] हमारे अग्निष्वात्त पितर [देवयानैः पथिभिः] देवयान मार्गों द्वारा [अस्मिन् यज्ञे आयान्तु] इस यज्ञमें आवें। [स्वधया मदन्तः] स्वधासे तृप्त होकर आनन्दित होते हुए [अधिब्रुवन्तु] हमें उपदेश करें और [ते अस्मान् अवन्तु] वे हमारी रक्षा करें।

इस मंत्रमें भी पूर्व मंत्रानुसार यज्ञमें पितरोंके आने स्वधासे तृप्त होने, उपदेश करने व हमारी रक्षा करनेकी प्रार्थना है।

> **अग्निष्वात्तानृतुमतो हवामहे नाराशंसे सोमपीथं य आशुः। ते नो विप्रासः सुहवा भवन्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥ यजुः अ० १९।६१॥**

(ऋतुमतः) ऋतुओंवाले (अग्निष्वात्तान्) अग्निष्वात्त पितरोंको (हवामहे) हम बुलाते हैं, (ये) जो कि (नाराशंसे सोमपीथं आशुः) जिस में मनुष्य प्रशंसाको पाते हैं ऐसे यज्ञमें सोमपानको करते हैं, (ते विप्रासः) वे मेधावी पितर (नः सुहवाः भवन्तु) हमारे लिए सुखपूर्वक बुलाने लायक होवें अर्थात् हमें उन्हें बुलानेमें कष्ट न हो, बुलाते ही वे हमारी प्रार्थना का स्वीकार कर आ जावें। (वयं) हम (रयीणां पतयः स्याम) धनोंके स्वामी होवें।

'ऋतुमतः' का अभिप्राय कुछ स्पष्ट नहीं होता। आशुः 'अश-भोजने' से बना है।

इस मंत्रमें अग्निष्वात्त पितरोंको सोमपान करनेके लिए आमन्त्रित किया गया है। तथा प्रार्थना की गई है कि वे सुगमतासे हमारे आमंत्रण को स्वीकार करें। निम्न मंत्र में भिन्न भिन्न प्रकारके पितरोंके लिए भिन्न भिन्न प्रकारके पदार्थोंका उल्लेख है।

> **धूम्रा बभ्रुनीकाशाः पितॄणां सोमवतां, बभ्रवो धूम्रनीकाशाः पितॄणां बर्हिषदां, कृष्णा बभ्रुनीकाशाः पितॄणामग्निष्वात्तानां कृष्णाः पृषन्तस्त्रैयम्बकाः यजुः २४।१८॥**

(धूम्राः) धूएंके रंग जैसे तथा (बभ्रुनीकाशाः) भूरे रंग जैसे पशु वा पदार्थ (सोमवतां पितॄणां) सोम रसपान करनेवाले पितरोंके हों। (बभ्रवः) भूरे तथा (धूम्रनीकाशाः) धूएं जैसे, पशु वा पदार्थ (बर्हिषदां पितॄणां) कुशा घास पर बैठनेवाले पितरों के हों। (कृष्णाः) काले तथा (बभ्रुनीकाशाः) भूरे रंग जैसे पशु वा पदार्थ (अग्निष्वात्तानां पितॄणां) अग्निष्वात्त पितरोंके हों। शेष 'कृष्णाः पृषन्तस्त्रैयम्बकाः' इस मंत्र भागका कोई संबन्ध प्रतीत नहीं होता और नहीं अर्थ स्पष्ट होता है। इस प्रकार अग्निष्वात्त पितरोंका प्रकरण यहां पर प्रायः समाप्त होता है। यह प्रकरण विशेष विचारणीय एवं महत्वपूर्ण है।

(३)
बर्हिषद् पितर।

> **आहं पितॄन्त्सुविदत्राँ अवित्सि नपातं च विक्रमणं च विष्णोः। बर्हिषदो ये स्वधया सुतस्य भजन्त पित्वस्त इहागमिष्ठाः ॥ ऋ० १०।१५।३॥ यजुः १९।५६॥ अथर्व० १८।१।४५॥**

(सुविदत्रान् पितॄन् अहं विष्णोः आ अविवित्सि) उत्तम धनवाले पितरोंको मैंने व्यापक परमात्मासे प्राप्त किया है। (न पातं विक्रमणं च) और न गिरानेवाले अर्थात् अजेय विक्रम यानि पराक्रमको मैंने व्यापक परमात्मासे प्राप्त किया है। अतः (ये बर्हिषदः स्वधया सुतस्य पित्वः भजन्त) जो बर्हि अर्थात् कुशा (दर्भ) पर बैठनेवाले पितर स्वधाके साथ निचोड कर उत्पादित सोमरूपी अन्नका सेवन करते हैं (ते) तुम पितरो! (इह) इस यज्ञमें (आगमिष्ठाः) बार बार आओ।

यहां पर बर्हिषत् पितरों को यज्ञमें बुलानेका निर्देश है।

बर्हिषदः पितरः ऊत्यर्वागिमा वो हव्या चकृमा जुषध्वम्। त आ गता वसा शन्तमेनाथा नः शंयोररपो दधात ॥ ऋ० १०।१५।४॥ यजु. अ० १९।५५॥

अथर्व० १८।१।५१॥

(बर्हिषदः पितरः) हे कुशासन पर बैठनेवाले पितरो! (ऊती) रक्षा द्वारा (अर्वाक्) हमारी ओर होओ अर्थात् हमारी रक्षा करो। [वः] तुम्हारे लिए (इमा हव्या चकृम) इन हव्यों को करते हैं, (जुषध्वम्) इनको सेवन करो। (ते) वे तुम (शंतमेन अवसा) कल्याणकारी रक्षण के साथ (आ गत) आओ। (अथ) और (नः) हमें (शं) रोगों का शमन तथा (योः) भयोंका दूर भगाना और [अरपः] पाप रहित आचरण दो।

यहां पर बर्हिषद् पितरों से रक्षण, रोगों का शमन, भयों का दूरीकरण आदि करने की प्रार्थना है।

इस प्रकार ये अग्नि व पितरों संबंधी विचार वेद में हमें मिलते हैं। इस प्रकरण में कई मननीय विचार हमें मिलते हैं जिनपर विशेष विचार करना नितान्त जरूरी है। जिन जिन मंत्रोंसे वे विचार मिलते हैं उन मन्त्रोंको उनके मंत्रार्थसहित हमने पाठकों के सामने रख दिये हैं।

प्रेत व अंत्येष्टि।

इस प्रकरण में हम शरीर से प्राण निकलने के बादसे अर्थात् प्रेत बननेके प्रारंभ से उसके अंतिम संस्कार दहन तक की सब क्रियाओं पर प्रकाश डालेंगे और अन्तमें उस प्रेतसंबंधी जो प्रार्थना यें हैं उनका उल्लेख करेंगे।

(१)

प्राण निकलने के कुछ समय पूर्व।

मनुष्य देहसे प्राण के निकल जानेपर उसकी प्रेत संज्ञा होती है। जब प्राण निकल जानेको हों उस समय क्या करना चाहिए यह निम्न मंत्र दर्शा रहा है।

इदं हिरण्यं बिभृहि यत्ते पिताबिभः पुरा।
स्वर्गं यतः पितुर्हस्तं निर्मृड्ढि दक्षिणम्॥

अथर्व० १८।४।५६

हे मरणासन्न पुरुष! [इदं हिरण्यं बिभृहि] इस सोने को धारण कर, [यत्] जिस सोनेको कि [पुरा] पहिले [ते पिता अबिभः] तेरे पिताने धारण किया था। इस प्रकार हे मनुष्य! [स्वर्गं यतः पितुः दक्षिणं हस्तं निर्मृड्ढि] स्वर्ग को जाते हुए पिताके दांये हाथको सुशोभित कर।

निर्मृड्ढि– मृज् 'शौचालङ्कारयोः' से बना है। मृज् धातुका अर्थ शुद्ध करना व सुशोभित करना है।

इस मंत्रमें दर्शाई गई क्रिया हम अभीतक कई हिंदु×जातियों में पाते हैं। मरनेसे पूर्व मरणासन्न के दांये हाथमें सोनेकी अंगूठी पहनाई जाती है। सायणाचार्यने 'हिरण्यं' का अर्थ सोनेकी अंगूठी किया है, अतः संभव है उनके समय में यह रिवाज हिन्दुजाति में सर्वसाधारण होगा।

इस मंत्र पर उनका भाष्य भी इसी बातका समर्थन कर रहा है।

२ प्राण निकलनेपर प्रेतका जलस्नान।

प्राण निकल जानेपर मृत देहको जलसे स्नान कराया जाता है। इस बातका निर्देश निम्न मंत्रमें मिलता है।

येन मृतं स्नपयन्ति श्मश्रूणि येनोन्दते।
तं वै ब्रह्मज्य ते देवा अपां भागमधारयन्॥

अथर्व० ५।१९।१४

×जैसा कि हमें ज्ञात हुआ है यह मृत को सुवर्णसे अलंकृत करनेका रिवाज गुजरात प्रांत, युक्तप्रांत व महाराष्ट्रमें किसी न किसी रूपमें अभीतक विद्यमान है। संभव है संपूर्ण भारत में भी यह रिवाज प्रचलित होगा। कच्छ प्रांतकी 'लुहाणा' जाति में कोई कोई प्रेत के शरीर पर एकाध सुवर्ण अलंकार रहने देते हैं और मरनेके बाद भी गोबर से लीपी हुई जमीन पर प्रेतको सुलाकर तुलसी सुवर्णादि उसे देते हैं। युक्तप्रांत में भी प्रेत को सुवर्ण देनेका रिवाज है। कोई कोई तो प्रेत के दांतोंमें सोने की छोटी छोटी कीलें भी लगवाते हैं, ताकि प्राण जाते हुए मुख सुवर्णहीन न रहे।

अर्थात् धुरामें जुते हुए जो बैल हैं (ते) वे बैल (त्वा) तुझे (सुकृतां लोकं) सुकृतोंके लोकमें (वहान्ति) प्राप्त करावें। नियानं = नीचीनं पराङ्मुखं यान्ति अनेन प्रेता इति नियानं शकटम्। स्मशानमें पहुंचनेपर बैलोंका गाडीसे खोलना-

> आ प्रत्यवेथामपतन्मृजेथां यद् वामभिभा अत्रोचुः। अस्मादेतमघ्न्यौ तद् वशीयो दातुः पितृष्विह भोजनौ मम ॥
>
> अथर्व० १८।४।४९

हे प्रेतवाहक बैलो! (युवां) तुम दोनों (आ प्रत्यवेथाम्) बैलगाडीसे वियुक्त होओ। (तत्) उस (वक्ष्यमाण) जो आगे कहा जायगा निन्दारूप वाक्य से (अप मृजेथां) शुद्ध होओ। उस निन्दारूप वाक्य को जिससे कि ऊपर शुद्ध होनेको कहा गया है, कहते हैं-- (अभिभाः) दोष देनेवाले पुरुषोंने (वां) तुम दोनोंको 'पुंगवौ किल अस्पृश्यं अनिरीक्ष्यं प्रेतं ऊढवन्तौ' इत्यादि निन्दारू, (यत् ऊचुः) जो वाक्य कहा है, उससे शुद्ध होओ। (अघ्न्यौ) हे हिंसा करने के अयोग्य बैलो! (अस्मात्) इस निन्दा की कारणभूत गाडी से [एतं] जो छूट आना है (तत्) वह [वशीयः] श्रेष्ठ होवे। और तब [इह] इस पितृमेध में [पितृषु दातुः मम] पितरोंका उद्देश्य करके अग्नि को देते हुए वा हविको देते हुए मेरे [भोजनौ] पालना करनेवाले होओ।

इन मंत्रोंके अनुसार बैलगाडी द्वारा प्रेतका स्मशानमें ले जाना वैदिक प्रथा प्रतीत होती है।

९ स्मशानभूमिसे विघ्नकारियोंका भगाना।

अब स्मशान में प्रेतके पहुंच जानेपर जिस स्थान पर प्रेतको जलाना वा गाडना है, वहां से दुष्टोंके दूर करनेकी प्रार्थना का निम्न मंत्रोंमें उल्लेख है। तदनुसार प्रार्थना करके अगली विधि करनी चाहिए।

> अपेतो यन्तु पणयोऽसुम्ना देवपीयवः अस्य लोकः सुतावतः। द्युभिरहोभिरक्तुभिर्व्यक्तं यमो ददात्ववसानमस्मै ॥ यजुः अ० ३५।१॥

[देवपीयवः] देवोंकी हिंसा करनेवाले [असुम्नाः] दुःख देनेवाले [पणयः] दुष्ट व्यवहार करनेवाले लोक [इतः] इस स्थानसे जहां कि प्रेत की अंत्येष्टि करनी है, [अपयन्तु] दूर हट जावें। क्योंकि [लोकः] यह स्थान [अस्य सुतावतः] इस सोमाभिषव करनेवाले याज्ञिक का है। [अस्मै] इसके लिये [यमः] यम [द्युभिः अहोभिः] प्रकाशमान दिनों व (अक्तुभिः) रात्रियोंसे [व्यक्तं अवसानं] स्पष्ट समाप्ति [ददातु] देता है। अर्थात् इस जीवनमें अब उसके लिए दिन व रात्रिकी समाप्ति हो चुकी है। भावार्थ यह है कि यम ने उसका यह जीवन समाप्त कर दिया है, अब उसके लिए दिन व रात्रि नहीं होनी है। इस मंत्रमें यह दर्शाया गया है कि हे दुष्टलोगो! इस स्थान से भाग जाओ जहां कि हमने इस प्रेतका अंत्येष्टि संस्कार करना है, जिससे कि संस्कारमें तुम विघ्न न डाल सको। इसी प्रकार निम्न मंत्रमें भी ऐसी ही प्रार्थना है। मंत्र इस प्रकार है--

> अपेत वीत वि च सर्पतातोऽस्मा एतं पितरो लोक-मक्रन्। अहोभिरद्भिरक्तुभिर्व्यक्तं यमो ददात्ववसान-मस्मै ॥ ऋ० १०।१४।९॥
>
> अथर्व० १८।१।५५ ॥

हे दुष्टो! [अपेत] यहांसे चले जाओ। [वीत] भाग जाओ। [विसर्पतातः] सर्वथा हट जाओ। क्योंकि [अस्मै] इस मृत पुरुषके लिये [पितरः एतं लोकं अक्रन्] पितरोंने यह स्थान [स्मशानभूमिका] किया है- चुना है- निर्धारित किया है। शेष उत्तरार्धका अर्थ उपरोक्त मंत्रानुसार ही है। केवल 'अद्भिः' पद विशेष है, जिसका शब्दार्थ है जलोंसे। परन्तु यह पेय पदार्थोंके लिए यहां आया है। मरनेपर सांसारिक पेय पदार्थोंकी भी समाप्ति हो जाती है। इस प्रकार यह मंत्रभी उपरोक्त प्रयोजनके लिए ही है।

> अपेत वीत वि च सर्पतातो येऽत्र स्थ पुराणा ये च नूतनाः। अदाद् यमोऽवसानं पृथिव्या अक्रन्निमं पितरो लोकमस्मै ॥ यजुः १२।४५

[ये] जो तुम [पुराणाः] पुरातन विघ्नकर्ता और [ये नूतनाः] जो तुम नवीन विघ्नकारी लोग [अत्र] यहां स्मशान-भूमिमें [स्थ] हो वे तुम [अपेत] यहांसे चले जाओ। [वीत] भाग जाओ। [विसर्पतातः] सर्वथा हट जाओ। क्योंकि (यमः) यमने (अस्मै) इस मृतके लिए (पृथिव्याः अवसानं अदात्) पृथिवीकी समाप्ति दी है यानि इसका पृथिवीपरका जीवन समाप्त कर दिया है इसलिए [पितरः] पितरोंने इसके लिए [इमं लोकं] यह स्मशानभूमिका स्थान [अक्रन्] किया है अर्थात् चुना है क्योंकि इसका यहां अंत्येष्टि संस्कार होना है। इस प्रकार इन मंत्रोंमें स्मशानमें विघ्नकारी"

योंके भगानेका उल्लेख है तदनुसार उन्हे भगाकर अगली विधि करनी चाहिये ऐसा इन मंत्रोंका आशय है।

(६) प्रेतको जलाना, गाडना आदि।

प्रेतके स्मशानभूमिपर पहुंच जानेके अनन्तर उसे गाडने, बहाने, जलाने वा हवामें खुला छोडनेकी क्रिया की जाती है। नीचे लिखे मंत्रमें इन इन चारों क्रियाओंका उल्लेख पाया जाता है।

> ये निखाता ये परोप्ता ये दग्धा ये चोद्धिताः ॥
> सर्वांस्तानग्न आ वह पितॄन् हविषे अत्तवे ॥
>
> अथर्व० १८।२।३४

(अग्ने) हे अग्नि! (ये निखाताः) जो पितर जमीनमें गाडे गए हैं और (ये परोप्ताः) जो पितर दूर बहा दिए गए हैं तथा (ये दग्धाः) जो जला दिए गए हैं (च) और (ये उद्धिताः) जो पितर जमीनके ऊपर हवामे रखे गए हैं, [तान् सर्वान्] उन सब पितरोंको तू [हविषे अत्तवे] हवि भक्षणार्थ (आ वह) ले आ।

यहांपर चार प्रकारके स्मशान-कर्म दर्शाए गए हैं। [१] गाडना, [२] बहाना, [३] जलाना और [४] हवामें जमीनपर खुला छोडना।

[१] गाडना—कुछ प्रेत जमीनमें गाडे जाते हैं जिनका कि अंत्येष्टि संस्कार अग्नि द्वारा नहीं किया जाता। ये कौन हैं इसपर हमने थोडासा विचार करना है। जो मनुष्य संन्यासी होकर अपना देहत्याग करते हैं उनके देहको न जलानेके लिए स्मृतियोंमें कहा गया है, क्योंकि संन्यासाश्रममें प्रवेश करते हुए पुरुषका सर्वमेध याग करना पडता है। इस यागमें वह अग्नि संबन्धी सर्व कार्योंसे मुक्त हो जाता है। अतएव उसे मरनेपर अग्नि द्वारा नहीं जलाया जाता। संन्यासीके शरीरको जलाना चाहिए वा नहीं इस विषयमें अभीतक हमें श्रुतिका निश्चय ज्ञात नहीं है, पर स्मृति निषेध करती है। अतः 'निखात' से संन्यासीका भी ग्रहण किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त वर्तमान समयमें विशेषतः मुसलमान व ईसाई लोग मुर्दोंको न जलाते हुए गाडते हैं। अतः उनके प्रेतोंका भी निखातसे ग्रहण किया जा सकता है, जैसा कि हम ऊपर कह आए हैं। मुर्देकी चार अवस्थायें हो सकती हैं उनमेंसे एक निखात है।

[२] जलाना वा
[३] जलमें बहाना] ये दो अवस्थायें विशेषतः
हिन्दुओंमें पाई जाती हैं।

[४] जमीनपर वायुमें रखना यह चौथी अवस्था पारसियोंमें पाई जाती है।

इस प्रकार ये चारों अवस्थायें वर्तमान समयमें हमें मिलती हैं। वेदमें मृतोंके दो विभाग मिलते हैं [१] अग्निदग्ध अर्थात् जो अग्निमें जलाए जाते हैं तथा [२] अनग्निदग्ध अर्थात् जो अग्निमें नहीं जलाए जाते। अनग्निदग्धमें जलानेकी अवस्था को छोडकर शेष तीनों अवस्थायें अन्तर्हित हो सकती हैं।

यदि हम सूक्ष्म रीतिसे हिन्दुओंके अंत्येष्टिसंस्कारका अवलोकन करें तो हम देखेंगे कि उपरोक्त चारों अवस्थाओंमें चिन्ह रूपमें उनके अंत्येष्टि संस्कारमें विद्यमान हैं। इससे यह अनुमान भी किया जा सकता है कि किसी न किसी समय ये चारों प्रथायें हिन्दुओंमे प्रचलित होंगी। यद्यपि इस समय ये संकेत रूपमें ही अवशिष्ट रह गई हैं। इस समयका हिन्दुओंका प्रेतसंस्कार इन संकेतों सहित इस प्रकारसे होता है। इसे देखनेसे ऊपरका परिणाम स्पष्ट प्रतीत होगा।

[१] प्रायः आजकल हिन्दुलोग मुर्दा अग्निमें जलाते हैं और जलानेके बाद तीसरे दिन [२] एक अश्मा [पत्थर] लेकर उसको जमीनमें रख देते हैं। इसी प्रकार मृतकी हड्डियां चुनकर एक मिट्टीके बरतनमें रखते हैं अथवा वृक्षपर लटका देते हैं अथवा [३] बहुतसे लोग समीपस्थ नदी या समुद्रमें बहा देते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ लोग सीधा मुर्देको ही नदीमें बहा देते हैं। यदि इतनाभी न हो सका तो चावलों वा आटेका पिण्ड बनाकर उसके ऊपर मृत पितरोंकी पूजा कर उस पिण्डको बहा देते हैं। [४] मरनेके बादके दसवे दिन उपरोक्त कथनानुसार पिण्ड बनाकर घरके बाहर खुला रख देते हैं, ताकि उसे कौवा स्पर्श करें। जबतक कौवा स्पर्श नहीं करता, तबतक अंत्येष्टि क्रिया पूर्ण नहीं हुई ऐसा समझा जाता है। यह संकेत हवामें मुर्देको पारसियोंकी तरह खुला छोडने की क्रिया का है।

इस प्रकार ये चारों विधियां केवल हिन्दुओंमें भी किसी रूपमें पाई जाती हैं यह हम देख सकते हैं। उपरोक्त मंत्रमें जो चार विधियां दर्शाई गई हैं ये वे ही हैं ऐसा हम कह सकते हैं। अतएव 'ये उद्धिताः' अर्थात् जो ऊपर रख दिए हैं यानि जो हवामें जमीन के ऊपर रख दिए हैं, यही प्रतीत होता है। इसी प्रकार 'ये परोप्ताः'का अभिप्राय जो जलद्वारा दूर बहा दिए हैं यही प्रतीत होता है। अस्तु; इसमें कही गई अवस्थाओं पर हमने

ने यथाशक्ति प्रकाश डालनेकी कोशिश की है। पाठक इसपर विशेष विचार कर उचित निष्कर्ष निकालें।

नीचे लिखे तीन मंत्रोंमें प्रेतके भूमिमें गाडनेका उल्लेख है। मंत्र इस प्रकार हैं—

अभित्वोर्णोमि पृथिव्या मातुर्वस्त्रेण भद्रया।
जीवेषु भद्रं तन्मयि स्वधा पितृषु सा त्वयि॥
अ० १८।२।५२॥

हे प्रेत! [त्वा] तुझे [मातुः पृथिव्याः] माता पृथिवीके [भद्रया वस्त्रेण] कल्याणकारी वस्त्रसे [अभि ऊर्णोमि] आच्छादित करता हूं अर्थात् जमीनमें तुझे गाडता हूं। [जीवेषु भद्रं तत् मयि] जीवितोंमें जो कल्याण है वह मेरेमें हो अर्थात् मुझे प्राप्त हो और [पितृषु स्वधा] जो पितरोंमें स्वधा है [सा त्वयि] वह तेरेमें हो अर्थात् तुझे प्राप्त हो। यहांपर स्पष्ट शब्दोंमें प्रेतके गाडनेका निर्देश है।

इदमिद् वा उ नापरं दिवि पश्यसि सूर्यम्
माता पुत्रं यथा सिचाभ्येनं भूम ऊर्णु हि॥
अ० १८।२।५०॥

हे मृत पुरुष (इदं इत् वा उ) यही है (न अपरं) दूसरा नहीं है। (दिवि सूर्यं पश्यसि) जो द्युलोकमें तू सूर्य देखता है। (यथा पुत्रं माता सिचा) जिस प्रकार पुत्रको माता अपने आंचलसे ढांपती है उस प्रकार हे (भूमे) पृथिवी तू (एनं) इस मृत पुरुषको (अभि ऊर्णु हि) चारों ओर से ढांप। इस मंत्रके पूर्वार्धकी उत्तरार्धसे कैसे संगति है यह अभी तक कुछ स्पष्ट नहीं हुआ। उत्तरार्ध का भाव स्पष्ट है।

असौ हा इह ते मनः ककुत्सलमिव जामयः। अभ्येनं भूम ऊर्णु हि॥ अथर्व० १८।४।६६॥

(असौ) हे फलाने नामवाले प्रेत! (इह ते मनः) यहां तेरा मन है। हे (भूमे) पृथिवी! (जामयः ककुत्सलं इव) जिस प्रकार स्त्रियां अपने बच्चेको वस्त्रसे ढांपती हैं या कुल स्त्रियां अपने सिरको ढांपती हैं उस प्रकार [एनं] इस प्रेतको [अभि ऊर्णु हि] भली प्रकार ढांप।

इन उपरोक्त मंत्रोंमें प्रेतके जमीनमें गाडने का उल्लेख है। इससे गाडनेकी प्रथा भी वैदिक ही है यह पता चलता है। अब तक अंत्येष्टिके मंत्रोंको देखनेसे हम कह सकते हैं कि हिन्दु, मुसलमान, ईसाई, पारसी आदियोंमें जो मुर्देके जलाने गाडने आदिकी प्रथायें प्रचलित हैं, वे सब वैदिक हैं। या यूं कह सकते हैं कि वे सब वेदोंसे उनके पास गई हुई हैं। उनका आदि स्रोत वेद ही है।

(७) अंत्येष्टि–संस्कार।

काष्ठ संचय करके उसपर प्रेत रखकर अग्नि प्रज्वलित की जाती है। अग्नि के प्रज्वलित हो जानेपर निम्न मंत्रोंसे अग्निसे प्रार्थना की जाती है। आवश्यक दो एक मंत्र हम यहां देते हैं।

मैनमग्ने विदहो माभिशोचो मास्य त्वचं चिक्षिपो मा शरीरम्। यदा शृतं कृणवो जातवेदोऽथेमेनं प्रहिणुतात् पितृभ्यः॥ ऋ० १०।१६।१॥

[अग्ने] हे अग्नि! [एनं मा विदहः] इस प्रेत को इस प्रकार से मत जला कि जिससे इसे विशेष कष्ट हो। [मा अभिशोचः] इसे शोकाकुल मत कर। [अस्य त्वचं मा चिक्षिपः] इसकी त्वचा को मत बखेर। (मा शरीरं) इसके शरीर को भी मत बखेर। अर्थात् इसकी त्वचा व शरीर को पूर्णतया जला दे। कोई भी भाग जलने से अवशिष्ट न रह जावे। और [जातवेदः] हे जातवेदस् अग्नि! [यदा शृतं कृणवः] जब इसे पूर्णतया पक्व बना दे अर्थात् जलादे, [अथ] तब [एनं] इसको [पितृभ्यः प्रहिणुतात्] पितरोंके लिए भेज दे यानी पितृलोकमें पितरों के पास पहुंचा दे।

यह मंत्र अथर्व वेद [१८। २। ४] में भी आया है। इस मंत्र को हम पहिले 'अग्नि व पितर' में दे आए हैं। वहां पर जो कुछ विशेष वक्तव्य इस मंत्रपर था वह दे आए हैं। अतः यहां पुनः लिखना व्यर्थ है।

शृतं यदा करसि जातवेदोऽथेमेनं परिदत्तात् पितृभ्यः। यदा गच्छात्यसुनीतिमेतामथा देवानां वशनीर्भवाति
ऋ० १०।१६।२॥

हे जातवेदस् अग्नि! जब इस प्रेत को पूर्णतया दग्ध कर दे तब इसे पितरों के लिए सौंप दे। जब इस प्रेत के प्राण निकल जाते हैं तब यह देवों के वशमें होता है।

यह मंत्र भी पूर्ण व्याख्यासहित उपरोक्त मंत्रके साथ 'अग्नि व पितर' में दे आए हैं। वहांपर देखने से यह मंत्र स्पष्ट हो जायगा।

अजो भागस्तपसा तं तपस्व तं ते शोचिस्तपतु तं ते अर्चिः॥ यास्ते शिवास्तन्वो जातवेदस्ताभिर्वहैनं सुकृतामु लोकम्॥ ऋ० १०।१६।४॥
अथर्व० १८।२।८॥

[अजः भागः] हे अग्नि इस प्रेत का जो अजभाग [आत्मा] है [तं] उसे तू [तपसा तपस्व] अपने तपसे तपा । [तं] उस अजभाग को [ते शोचिः] तेरी दीप्यमान ज्वाला [तपतु] तपावे । [तं] उस अज भागको [ते अर्चिः] भासमान ज्वाला [तपतु] तपावे । और फिर [जातवेदः] हे जातवेदस् अग्नि ! [याः ते शिवाः तन्वः] तेरे जो कल्याणकारी ज्वालारूपी तनू हैं [ताभिः] उन द्वारा इस अज भाग को [सुकृतां लोकं] सुकर्म करनेवालों के लोकमें [वह] प्राप्त करा ।

इस मंत्र से भी वही परिणाम निकलता है, जैसा कि हम पहिले दर्शा आए हैं । अर्थात् शरीर के जल जाने तक आत्मा शरीर के पास ही रहती है और शरीर दहन के अनन्तर अग्नि द्वारा अन्यत्र ले जाई जाती है । यह सम्पूर्ण सूक्त इसी भावके मंत्रोंवाला है जिसका कि अंत्येष्टि में विनियोग होता है । इस प्रकार प्रेतदहन के समय अग्नि से प्रार्थनायें करनी चाहिए, ऐसा इन मंत्रों का अभिप्राय है ।

उपरोक्तानुसार अग्निसे प्रार्थनायें करके अंत्येष्टिपरक मंत्रों से अग्निमें आहुतियां देनी चाहिए । यजुर्वेद का ३९ वां अध्याय अंत्येष्टिपरक है । हम यहां वेही मंत्र देंगे जिनका कि हमारे प्रकरण से संबन्ध है अर्थात् जिन मंत्रों में यम वा पितर विषयक किसी प्रकार का निर्देश है ।

> **यमाय स्वाहान्तकाय स्वाहा मृत्यवे स्वाहा । ब्रह्मणे स्वाहा ब्रह्महत्यायै स्वाहा विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा द्यावापृथिवीभ्यां स्वाहा ॥ यजुः ३९।१३ ॥**

[यमाय स्वाहा] यम के लिए स्वाहा । [अन्तकाय स्वाहा अन्तक के लिए स्वाहा । [मृत्यवे स्वाहा] मृत्युके लिए स्वाहा] [ब्रह्मणे स्वाहा] ब्रह्मके लिए स्वाहा । [ब्रह्महत्याय स्वाहा] ब्रह्महत्या के लिए स्वाहा । [विश्वेभ्यः देवेभ्यः स्वाहा] सब देवों के लिए स्वाहा । [द्यावा पृथिवीभ्यां स्वाहा] द्यु तथा पृथिवी के लिए स्वाहा ।

इस मंत्रमें यम के लिए भी एक आहुतिका निर्देश है । इसी प्रकार के अन्य मंत्रों से आहुतियां देकर प्रेत से कहा जाता है कि हे प्रेत ! —

> **सूर्यं चक्षुर्गच्छतु वातमात्मा द्यां च गच्छ पृथिवीं च धर्मणा । अपो वा गच्छ यदि तत्र ते हितमोषधीषु प्रतितिष्ठा शरीरैः ॥ ऋ० १०।१६।३ अथर्व० १८।२।७॥**

तेरी आंख सूर्यको जावे । तेरे प्राण वायु को जावें । और हे प्रेत ! तू कर्मफलजन्य धर्म से वा पार्थिवादि तत्वोंके धर्म से [पृथिवीका अंश पृथिवीमें जावे इस प्रकारसे] द्यु व पृथिवी को जा, उन उनके अंश उनमें मिल जावें । इसी प्रकार जलोंमें जलांश जावे यदि जलों का कोई अंश तेरे में स्थिर हो । इसी प्रकार ओषधियोंमें शरीरांशोंसे स्थित हो । इस मंत्रपर जो विशेष वक्तव्य था वह हम पहिले दे आए हैं । इस प्रकार प्रेत का अग्नि संस्कार हो जानेपर उसकी आत्मा से कहा जाता है कि—

> **सहस्रणीथाः कवयो ये गोपायन्ति सूर्यम् ।**
> **ऋषीन् तपस्वतो यम तपोजाँ अपि गच्छतात् ॥**
> **ऋ० १०।१५४।५॥ अथर्व० १८।२।१८ ॥**

[सहस्रणीथाः कवयः] हजारों को ले आनेवाले अर्थात् हजारों के नायक, कान्तदर्शी, [ये] जो कि [सूर्यं गोपायन्ति] सूर्यकी रक्षा करते हैं, ऐसे [तपस्वतः] तपोयुक्त, [तपोजान्] तपसे उत्पन्न [ऋषीन्] ऋषियों को [यम] हे नियमवान् ! तू [गच्छतात्] प्राप्त हो, अर्थात् इनमें जाकर तू जन्म ले ।

८ प्रार्थनायें ।

इस प्रकार प्रेतदहन की क्रिया समाप्त हो जानेपर उसके लिए पीछेसे की जानेवाली प्रार्थनाओंका उल्लेख निम्न मंत्रों में है ।

> **सप्त प्राणानष्टौ मन्यस्तांस्ते वृश्चामि ब्रह्मणा ।**
> **अया यमस्य सादनमग्निदूतो अरंकृतः ॥**
> **अथर्व० २।१२।७**

[ते] तेरे [तान् सप्त प्राणान्] सात प्राणोंको, [अष्टौ मन्यः] आठों नाडियों को [ब्रह्मणा] ब्रह्म से [वृश्चामि] काटता हूं । तू [अग्निदूतः] अग्नि को दूत बनाकर [अरंकृतः] शीघ्रता करता हुआ [यमस्य] यमके [सादनं] घरको [अयाः] जा ।

> **सं गच्छस्व पितृभिः सं यमेनेष्टापूर्तेन परमे व्योमन् ।**
> **हित्वायावद्यं पुनरस्तमेहि संगच्छस्व तन्वा सुवर्चाः ॥**
> **ऋ० १०।१४।८॥ अथर्व १८।३।५८**

(परमे व्योमन्) उत्कृष्ट व्योममें अर्थात् स्वर्ग में (पितृभिः) पितरोंके साथ (संगच्छस्व) तू जा । (यमेन सं) और यमके साथ स्वर्ग में जा । (इष्टापूर्तेन) इष्टापूर्तके साथ स्वर्गमें जा । (अवद्यं हित्वाय) निन्द्य कर्मोंका त्याग करके (पुनः) फिर (अस्तं एहि) घरको आ, अर्थात् पुनर्जन्म ले । और

(सुवर्चाः) उत्तम तेजसे युक्त हुआ हुआ (तन्वा संगच्छस्व) शरीर धारण करके दुनियामें विचरण कर।

भिन्न भिन्न अर्थमें बहुवचनान्त पितृशब्दका प्रयोग

पितृ शब्दवाले मंत्रोंको देखनेसे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि बहुवचनमें प्रयुक्त पितृशब्द खास अभिप्रायसे प्रयुक्त किया गया है। एकवचन व द्विवचनमें आया हुआ पितृ शब्द खास महत्त्वका नहीं है यह बात आगे दिये जानेवाले मंत्रोंके समन्वयसे पाठक सुगमतासे जान सकेंगे। अबतक आए हुए मंत्रोंके देखनेसे पाठकोंके लक्ष्यमें यह बात अवश्यमेव आगई होगी, कि उन मंत्रोंमें सर्वत्र बहुवचनान्त पितृशब्द ही प्रयुक्त है। इस प्रकरणमें हम उन थोडेसे मंत्रोंको देंगे कि जिनमें बहुवचनान्त पितृशब्दका प्रयोग उस अभिप्रायसे नहीं किया गया, जिस अभिप्रायसे कि अबतकके मंत्रोंमें किया गया है। पाठक वर्ग हमारे इस कथनका अनुभव स्वयमेव मंत्रोंके देखनेसे कर सकेंगे। यह प्रकरण, अबतकके मंत्रोंमें विद्यमान पितृशब्दके प्रयोगका अभिप्राय आगे आनेवाले मंत्रोंमें विद्यमान पितृ शब्दके अभिप्रायसे भिन्न है। यह दर्शाता हुआ हमें पूर्वोक्त मंत्रोंमें विद्यमान पितृ शब्दके अभिप्राय- निर्णयमें पूर्ण सहायक होगा ऐसी आशा है। इस प्रकार यह प्रकरण बहुवचनान्त पितृ शब्दके अभिप्राय-निर्णयमें महत्त्वशाली होगा, यह पाठकोंको यहांपर ध्यानमें रखना चाहिये।

१ हिंसा अर्थमें।

प्र नु वोचा सुतेषु वां वीर्या यानि चक्रथुः।
हतासो वां पितरो देवशत्रव इन्द्राग्नी
जीवथो युवम् ॥ ऋ० ६।५९।१॥

हे इन्द्राग्नी! (वां) तुम दोनों (सुतेषु यानि वीर्या चक्रथुः) उत्पन्न पदार्थोंमें जो पराक्रम करते हो, उनका (नु) निश्चय से (प्रवोचा) मैं प्रवचन करता हूं। अब प्रवचन का प्रकार बताते हैं–हे इन्द्राग्नी! (वां) तुम्हारे (पितरः) हिंसा करनेवाले (देवशत्रवः) देवोंसे शत्रुता करनेवाले (हतासः) नष्ट हो गए हैं। (युवं) तुम दोनों (जीवथ) जीवित हो।

पितरः—पियति हिंसाकर्मा धातुसे पितर शब्द बनाया गया है, क्योंकि देवशत्रुका यह विशेषण है। अतः यहां पितरका अर्थ हिंसा करनेवाले ही है। मंत्र भी इस अर्थका पोषक है।

२ ज्ञानी लोक पितर

कत्यग्नयः कति सूर्यासः कत्युषासः कत्युस्विदापः।
नोपस्पिजं वः पितरो वदामि पृच्छामि वः कवयो
विद्मने कम् ॥ ऋ० १०।८८।१८

(अग्नयः कति) अग्नियां कितनी हैं? (सूर्यासः कति) सूर्य कितने हैं? (उषासः कति) उषायें कितनी हैं? (आपः कतिस्वित्) भला आप कितने हैं? (कवयः पितरः) हे क्रान्तदर्शी ज्ञानी पितरो! (वः उपस्पिजं न वदामि) तुम्हारी स्पर्धा करता हुआ यानि परीक्षा लेनेके अभिप्रायसे उपरोक्त प्रश्न नहीं पूछता हूं अपितु मैं नहीं जानता अतः (विद्मने) जाननेके लिए (वः पृच्छामि) तुमसे पूछता हूं। मंत्र स्पष्ट है। ज्ञानी लोकोंको पितरसे संबोधन किया गया है।

३ राज-सभाके सभासद पितर।

सभा च मा समितिश्चावतां प्रजापतेर्दुहितरौ
संविदाने। येना संगच्छा उप मा स शिक्षाच्चारु
वदानि पितरः संगतेषु ॥ अ० ७।१२।११

(संविदाने) परस्पर मेल रखनेवाली एक मतको प्राप्त हुई हुई (प्रजापतेः) प्रजापति राजाकी (दुहितरौ) दो दुहितायें (सभा च समितिः च) सभा और समिति (मा) मेरी (आवतां) रक्षा करें। (येन संगच्छै) जिस जिस सभासदसे मैं संगत होऊं यानि उसकी संगति करूं (सः) वह वह सभासद (मा उपशिक्षात्) मुझे शिक्षा दें। (पितरः) हे सभासदो! (संगतेषु) संमेलनोंमें मैं (चारु वदानि) प्रिय बोलूं।

इस मंत्रमें राजाकी राजसभासदोंके प्रति उक्ति है। उनको पितरके नामसे कहा गया है।

४ सैनिक पितर।

स्वादुषंसदः पितरो वयोधाः कृच्छ्रेश्रितः शक्तीवन्तो
गभीराः। चित्रसेना इषुबला अमृध्राः सतोवीरा
उरवो व्रातसाहाः। ऋ० ६।७५।९ ॥
यजुः २९।४६ ॥

इस मंत्रकी देवता 'रथगोपाः' अर्थात् लडाई में रथरक्षक सैनिक हैं। अर्थ इस प्रकार है–

(स्वादुषंसदः) शत्रुओंके अन्न में बैठनेवाले वा शत्रुओंक अन्नका नाश करनेवाले, (वयोधाः) अन्न देनेवाले (कृच्छ्रे श्रितः) कठिनाइयोंमें भी स्थिर रहनेवाले (शक्तीवन्तः) शक्तिवाले या शक्ति नामक अस्त्रसे युक्त (गभीराः) गंभीर, (चित्रसेनाः) दर्शनीय सेनावाले(इषुबलाः)बाण है बल जिनका अर्थात् बाणसे लडनेवाले (अमृध्राः)जिनकी शत्रुओंसे हिंसा नहीं हो सकती ऐसे,(सतोवीराः) वीर्यशाली, (उरवः) विशालकाय, (व्रातसाहाः) शत्रुसमुदाय का पराजय करनेवाले (पितरः) रक्षा करनेवाले रथरक्षक होते हैं।

> ब्राह्मणासः पितरः सोम्यासः शिवे नो द्यावापृथिवी अनेहसा। पूषा नः पातु दुरितादृतावृधो रक्षा मा किर्नो अघशंस ईशत ऋ० ६।७५।१०॥
>
> यजुः २९।४७॥

यह मंत्र ऊपरोक्त मंत्रसे अगला मंत्र है। यह संपूर्ण सूक्त युद्ध विषयक है। इस मंत्रका अर्थ इस प्रकार है-

[ब्राह्मणासः] हे ब्रह्मज्ञानी, [सोम्यासः] सोम संपादन करनेवाले अर्थात् यज्ञादि कर्मोंके करनेवाले [ऋतावृधः] सत्यसे बढनेवाले वा सत्यको बढानेवाले [पितरः] रक्षको ! [अनेहसा द्यावापृथिवी] अहिंसक द्यु तथा पृथिवी [नः शिवे] हमारे लिए कल्याण के करनेवाले हों। [पूषा] पोषक सेनापति [नः] हमारी [दुरितात्] पापसे [पातु] रक्षा करे और [मा किः अघशंसः नः ईशत] कोई भी पापी हमारे ऊपर शासन मत करे। [रक्षा] उससे पूषा हमारी रक्षा करें।

इन मंत्रोंमें सैनिकोंको पितर कहा गया है क्योंकि वे हमारी रक्षा करते हैं।

५ प्राण—पितर

यो यज्ञो विश्वतस्तन्तुभिस्तत एकशतं देवकर्मेभिरायतः। इमे वयन्ति पितरो य आययुः प्रवयाप वयेत्यासते तते॥

ऋ० १०।१३०।१॥

(यः यज्ञः) जो यह जीवनरूपी यज्ञ (विश्वतः तन्तुभिः) चारों ओरसे क्षण, दिन, मास वा वर्षरूपी तन्तुओंसे (ततः) लम्बाईमें विस्तृत है और (एकशतं देवकर्मेभिः) एकसौ देवकर्मोंसे अर्थात् सौ वर्षकी आयुसे (आयतः) चौडाईमें फैला हुआ है उस यज्ञको (इमे पितरः) ये जीवनाधार प्राण पितर (वयन्ति) बुनते हैं। (ये आययुः) जो कि प्राण इस यज्ञ में आए हुए हैं, वे (तते आसते) इस विस्तृत जीवन-यज्ञमें बैठते हैं व कहते हैं कि (प्रवय अपवय) आगे बुनते जाओ और पीछेका ठीक करते जाओ।

इस मंत्रमें कपडे बुननेके अलङ्कारसे जीवनरूपी यज्ञका वर्णन है। प्राण इस जीवनके रक्षक होनेसे पितर हैं।

> स्वाहा पूष्णे शरसे स्वाहा ग्रावभ्यः स्वाहा प्रतिरवेभ्यः। स्वाहा पितृभ्यः ऊर्ध्वबर्हिभ्यो घर्मपावभ्यः स्वाहा द्यावापृथिवीभ्यां स्वाहा विश्वेभ्यो देवेभ्यः॥
>
> यजुः अ० ३८।१५॥

इस संपूर्ण मंत्रका अर्थ हम यहां नहीं देंगे क्योंकि हमारा प्रयोजन सिर्फ 'स्वाहा पितृभ्यः उद्धर्वबर्हिभ्यः' इतने से ही है। अतः इतने ही मंत्र खंडका अर्थ हम देंगे।

(उद्धर्वबर्हिभ्यः पितृभ्यः स्वाहा) शरीरमें जिनकी उत्कृष्ट स्थिति है ऐसे प्राणोंके लिए स्वाहा। संपूर्ण मंत्रमें 'पूष्णे, शरसे' आदि प्राण के लिए हैं। अतः 'ऊद्धर्वबर्हि' विशेषण प्राणों का है। यह मंत्र शतपथ में इसी प्रकार व्याख्यात है। देखो श० १४।२।२।३२॥

६ पालक-रक्षक आदि अर्थ में।

शतमिन्नु शरदो अन्ति देवा यत्रा नश्चका जरसं तनूनाम्। पुत्रासो यत्र पितरो भवन्ति मा नो मध्या रीरिषतायुर्गन्तोः॥ ऋ० १।८९।९ यजुः २५।२२

(देवाः) हे देवो ! (नु) निश्चयसे (शतं इत्) सौ ही (शरदः) वर्ष (अन्ति) मनुष्यके पास हैं। (यत्र) जिन सौ वर्षोंमें आप देवगण (नः तनूनां जरसं चक्र) हमारे शरीरों में बुढापा लाते हो। (यत्र) और जिन सौ वर्षोंमें (पुत्रासः) पुत्रगण (पितरः) संतानोत्पत्ति के लायक होकर व अन्योंका पालन करनेके लायक होकर पितर बनते हैं। इस सौ वर्ष की (आयुः) आयुको (गन्तोः मध्ये) पूर्ण रूपसे प्राप्त करने से पहिले ही बीचमें (नः) हमें (मा रीरिषत) मत नष्ट करो।

> त्राता नो बोधि ददृशानः आपिरभिख्याता मर्डिता सोम्यानाम्। सखा पिता पितृतमः पितृणां कर्तेमु लोकमुशते वयोधाः॥ ऋ० ४।१७।१७॥

वह इन्द्र (नः) हमारा (त्राता) रक्षक, (ददृशानः) हमारा देखनेवाला, (अभिख्याता) उपदेश करनेवाला, (मर्डिता) सुख देनेवाला, (सखा) मित्र,(पिता) पालक, (सोम्यानां पितृणां पितृतमः) सोम्य पितरों में श्रेष्ठ पिता, (कर्ता) बनानेवाला, तथा (लोकं उशते) लोकों की कामना करनेवाले के लिए (वयोधाः) अन्न-बल-आयु का देनेवाला है,

इस प्रकार हे उपासक ! (बोधि) तू जान।

ते हि द्यावापृथिवी मातरा मही देवी देवाञ्जन्मना यज्ञिये इतः। उभे बिभृत उभयं भरीमभिः पुरु रेतांसि पितृभिश्च सिञ्चतः॥ ऋ० १०।६४।१४॥

(मातरा) सब जगत् की निर्माण करनेवालीं, (मही) बड़ी (देवी) दिव्य गुणोंवालीं (यज्ञिये) पूजनीय (ते द्यावापृथिवीं) वे द्यावापृथिवी (देवान्) देवोंको (जन्मना इतः) जन्मसे प्राप्त करती हैं अर्थात् उनको उत्पन्न करती हैं। (उभे) दोनों द्यु और पृथिवी (भरीमभिः) भरणपोषणसे (उभयं बिभृतः) दोनों मनुष्य व देवोंका धारण पोषण करती हैं। और (पितृभिः) पालक इन्द्रादि देवोंके साथ मिलकर (पुरु रेतांसि) बहुत जलोंसे [सिञ्चतः] सिंचन करती हैं अर्थात् प्रखर वृष्टि करती हैं।

७ इषु पितर।

दक्षिणा दिगिन्द्रोऽधिपतिस्तिरश्चिराजी रक्षिता पितर इषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु। योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः॥ अथर्व० ३।२७।२॥

दक्षिण दिशाका इन्द्र अधिपति है। वह तिर्यक् गतिवाले सर्पादिसे रक्षा करनेवाला है। उसके बाण पितर हैं अर्थात् रक्षक हैं। इत्यादि।

इस मंत्रमें बाणोंको पितर कहा गया है, क्योंकि वे हमारी रक्षा करते हैं।

जनकपितर।

वातासो न ये धुनयो जिगत्नवोऽग्नीनां न जिह्वा विरोकिणः। वर्मण्वन्तो न योधाः शिमीवन्तः पितॄणां न शंसाः सुरातयः॥ ऋ० १०।७८।३॥

[ये] जो मनुष्य [वातासः न] वायुओंकी तरह [धुनयः] शत्रुओंको कंपानेवाले हैं, तथा जो [जिगत्नवः] क्रियाशील [अग्नीनां जिह्वाः न] अग्नियों की ज्वालाओं की तरह [विरोकिणः] दीप्यमान हैं; और जो [वर्मण्वन्तः योधाः न] कवचधारी योद्धाओंकी तरह [शिमीवन्तः] शूरता के कार्योंके करनेवाले हैं, व [पितॄणां शंसाः न] जनक पितरोंकी वाणियों की तरह [सुरातयः] उत्कृष्ट दान देनेवाले हैं, ऐसे मनुष्य हमारी सर्वदा रक्षा किया करें।

ध्रुवा एव वः पितरो युगे युगे क्षेमकामासः सदसो न युञ्जते। अजुर्यासो हरिषाचो हरिद्रव आ द्यां रवेण पृथिवीमशुश्रवुः॥ ऋ० १०।९४।१२॥

(वः) तुम्हारे (पितरः) उत्पन्न करनेवाले (ध्रुवा एव) निश्चयसे स्थिर हैं। तुम (युगे युगे) युग युगमें (क्षेमकामासः) कल्याण करनेकी इच्छावाले हो इत्यादि। इस संपूर्ण सूक्तमें 'यज्ञमें सोमलता से सोम निकालने के लिए लाए हुए पत्थरोंका वर्णन है।'

८ पूर्वज पितर।

चाक्लृप्रे तेन ऋषयो मनुष्या यज्ञे जाते पितरो नः पुराणे। पश्यन्मन्ये मनसा चक्षसा तान्य इमं यज्ञमयजन्त पूर्वे॥ ऋ० १०।१३०।६॥

(पुराणे यज्ञे जाते) पुरातन यज्ञके हो जानेपर (तेन) उस यज्ञ द्वारा (ऋषयः) ऋषिगण, [मनुष्याः] अन्य मनुष्य समुदाय व [नः पितरः] हमारे पूर्वज [चाक्लृप्रे] उत्पन्न हुए। [ये पूर्वे इमं यज्ञं अयजन्त] जिन पूर्वके देवोंने इस सृष्ट्युत्पत्तिरूपी यज्ञको किया था [तान्] उन देवोंको [मनसा चक्षसा] मनरूपी आंखसे अथवा [चक्षसा मनसा] सूक्ष्म पदार्थोंके देखनेके साधनभूत मनसे [पश्यन्] देखता हुआ मैं [मन्ये] उन देवोंका मनन करता हूं।

यह सूक्त सृष्ट्युत्पत्तिपर कुछ कुछ प्रकाश डालता हुआ प्रतीत होता है। इस मंत्रमें आए हुए ऋषि, पितर व मनुष्य संभवतः क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय व वैश्यके द्योतक प्रतीत होते हैं, जैसा कि पुरुषसूक्तमें सृष्ट्युत्पत्तिमें ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्यकी उत्पत्ति दर्शाई गई है। क्षत्रियोंके लिए पितरका प्रयोग वेदमें हुआ है, जैसा कि अभी हम ऊपर दर्शा आए हैं।

ऋतुपितर।

नमो वः पितरो रसाय, नमो वः पितरः शोषाय, नमो वः पितरो जीवाय, नमो वः पितरः स्वधायै, नमो वः पितरो घोराय, नमो वः पितरो मन्यवे, नमो वः पितरः पितरो नमो वः गृहान्नः पितरो दत्त सतो वः पितरो देष्मै तद्वः पितरो वासः॥ यजुः अ० २।३२॥

इस मंत्रपर शतपथ ब्राह्मणने इतनी ही टिप्पणी चढाई है। कि 'इस मंत्रमें ६ वार नमस्कार है वह इसलिए है क्यों कि ६ ऋतुएं होती हैं। शतपथका वचन इस प्रकार है--

' षट्कृत्वो नमस्करोति षड्वा ऋतवः ऋतवः पितरः तस्मात् षट्कृत्वो नमस्करोति- श० २।४।२।२४॥

इस प्रकार इस मंत्रमें ऋतुओंको पितर कहा गया है ऐसा प्रतीत होता है। ब्राह्मणोंमें स्थान स्थानपर ऋतुओंको पितर कहा गया है। उदाहरणार्थ-

श० २।६।१।४॥ कौ० ५। ७॥ गो उ० १। २४॥
तथा ६। १५॥ श० २। ६। १। ३२॥
तै० १।४।१०।८॥ तथा १।३।१०। ५॥

इत्यादि। इस स्थापनानुसार मंत्रार्थ इस प्रकार है-

[पितरः] हे पितरो ! [वः रसाय] तुम्हारी रसभूत वसंतके लिए [नमः] नमस्कार है। वसन्तऋतु में मधु आदि रसका बाहुल्य होता है अतः रससे यहां वसन्त ऋतुका उपलक्षण है। [पितरः वः शोषाय नमः] हे पितरो ! तुम्हारी शोषक ग्रीष्मके लिए नमस्कार है। ग्रीष्ममें गरमी पडनेसे सब रस सूख जाते हैं अतः शोषकसे ग्रीष्मका यहां ग्रहण किया गया है। [पितरः वः जीवाय नमः] हे पितरो ! तुम्हारी जीवनदात्री वर्षाके लिए नमस्कार है। जीवन नाम जलका है क्योंकि वह जीवन देता है। वर्षाऋतु जीवनदात्री है। [पितरः वः स्वधायै नमः] हे पितरो ! तुम्हारी अन्न देनेवाली शरद् ऋतुके लिए नमस्कार है। स्वधा नाम अन्नका है। और शरद् ऋतुमें अन्न बहुत होता है। स्वधा शरद् ऋतुकी उपलक्षण है। [पितरः वः घोराय नमः] पितरो ! तुम्हारी शीतयुक्त हेमन्तके लिए नमस्कार है। हेमन्तमें बडा घोर शीत पडता है अतः घोरसे हेमन्तका ग्रहण है। (पितरः वः मन्यवे नमः] हे पितरो ! तुम्हारी मन्युभूत शिशिरके लिए नमस्कार है। शिशिरऋतुमें औषधियां जल जाती हैं, अतः तत् सादृश्यसे मन्यु शिशिरका उपलक्षण है। [पितरः] हे पितरो ! [नः गृहान् दत्त] हमें घर दो अर्थात् हमारे घरोंको समृद्ध करो। [पितरः] हे पितरो ! [वः] तुम्हारे लिए [सतः देष्मै] जो कुछ हमारे घरमें है हम देंगे। हे पितरो ! [वः एतत् वासः] तुम्हारा यह वस्त्र है अर्थात् यह ओढने पहिरनेका साधन है उसे लो। शतपथ ब्राह्मणने इस मंत्रकी व्याख्यामें नमः का अर्थ यज्ञ किया है इसका अभिप्राय यह प्रतीत होता है कि इन प्रत्येक ऋतुमें यज्ञ करना चाहिये व उस उस ऋतुमें उत्पन्न पदार्थकी यज्ञमें हवि डालनी चाहिए।

गो-संग्रामक पितर।

न किरेषां निन्दिता मर्त्येषु येऽस्माकं पितरो गोषुयोधाः।
इन्द्र एषां दृंहिता माहिनावानुद्गोत्राणि ससृजे दंसनावान् ॥ ऋ० ३।३९।४॥

(ये अस्माकं पितरः) ये जो हमारे पितर (गोषु योधाः) इन्द्रियोंसे लडनेवाले हैं (एषां) इनका (मर्त्येषु) मनुष्योंमें (न किः निन्दिता) कोई भी निन्दक नहीं है। (माहिनावान्) अत्यन्त पूजनीय वा महिमावाला तथा (दंसनावान्) कर्मशील (इन्द्रः) आत्मा (एषां गोत्राणि) इनके इन्द्रियसमूहोंको (दृंहिता उत्ससृजे) दृढ बनाता है।

इस मंत्रमें गोशब्द इन्द्रियवाची है। इन्द्रियोंको वश करनेके लिए मनुष्यको उनके साथ युद्ध करना पडता है। जो योद्धा इन्द्रियोंपर विजय पा लेता है अर्थात् उन्हें अपने काबुमें कर लेता है, उसका फिर दुनियामें कोई भी निन्दक नहीं रहता, क्योंकि इन्द्रियां ही निन्दाकी जड हैं। इन्द्रिय-संयम करना वस्तुतः एक बडी भारी लडाई फतेह करना है। अतएव यहां इन्द्रियसंयम करनेवाले पितरोंको योद्धाके नामसे पुकारा गया है। इन्द्रियसंयम होनेपर आत्मा उन्हें दृढ बनाती है। संयमित इन्द्रियोंवाले पुरुषको सुख दुःख आदि द्वन्द्व कदापि सता नहीं सकते। उसका इंद्रियसमूह इतना दृढ बन जाता है कि उसे सांसारिक कोई भी आपत्ति सता नहीं सकती। इस प्रकार इस मंत्रमें इन्द्रियसंयमका महत्त्व दर्शाया है।

सोम और पितर।

त्वं सोम प्रचिकितो मनीषा त्वं रजिष्ठमनु नेषि पन्थाम्। तव प्रणीती पितरो न इन्दो देवेषु रत्नमभजन्त धीराः॥ ऋ० १।९१।१॥
यजुः १९।५२॥

हे सोम ! (त्वं मनीषा प्रचिकितः) तू अपने मन की गतिसे यानि अपनी बुद्धिसे सब उचित अनुचितको जानता है, इसलिए (त्वं) तू (रजिष्ठं पन्थां अनुनेषि) सरल व सुगम मार्गपर अपने पीछे पीछे लेजाता है। (इन्दो) हे इन्दु ! (तव प्रणीती) तेरे नेतृत्व से (नः धीराः पितरः) हमारे धीर पितर (देवेषु रत्नं अभजन्त) देवोंमें रत्नको प्राप्त करते हैं अर्थात् देवोंमें शिरोमणि बन जाते हैं, या देवोंसे रत्न यानि संपत्ति प्राप्त करते हैं।

इन्दु- उन्दी क्लेदनेसे इन्दु शब्द बनता है। क्लेदनका अर्थ है गीला होना। अमृतसे गीला करनेवाला यानि अमृत देनेवाला। सौम्य गुणोंसे युक्त।

इस मंत्रमें सोमके नेतृत्व की महिमा दर्शाई है। पितर सोमके नेतृत्वसे देवोंमें उच्च पदको प्राप्त करते हैं, ऐसा यहांसे पता चलता है।

> यो न इन्दुः पितरो हृत्सु पीतोऽमर्त्यो मर्त्यां आविवेश। तस्मै सोमाय हविषा विधेम मृळीके अस्य सुमतौ स्याम॥ ऋ० ८।४८।१२॥

हे (पितरः) पितरो! (यः हृत्सु पीतः) जो हृदयोंमें पिया गया (अमर्त्यः इन्दुः) मरणरहित इन्दु (नः मर्त्यान्) हम मरणधर्मा मनुष्योंमें (आविवेश) प्रविष्ट हुआ हुआ है, (तस्मै सोमाय) उस सोमके लिए (हविषा) हविद्वारा (विधेम) हम पूजा करते हैं। (अस्य) इस सोमके (मृळीके) सुखमें और (सुमतौ) सुमतिमें (स्याम) हम रहें।

इस मंत्रमें सोमको हवि देनेका व सुखेच्छुको सोमकी सलाहमें रहनेका निर्देश है। यह सोम हमारेमें प्रविष्ट हुआ हुआ है, यह बात भी यहांसे पता चल रही है।

> त्वं सोम पितृभिः संविदानोऽनु द्यावापृथिवी आ ततन्थ। तस्मै त इन्दो हविषा विधेम वयं स्याम पतयो रयीणाम्॥ ऋ० ८।४८।१३ यजु०१९।५४॥

हे सोम! (त्वं) तू (पितृभिः संविदानः) पितरोंके साथ मिला हुआ (द्यावापृथिवी) द्युलोक व पृथिवी लोकका (अनु आ ततन्थ) अनुकूलतासे विस्तार करता है। (इन्दो) हे इन्दु! (तस्मै ते) उस तेरे लिए हम (हविषा विधेम) हवियोंसे पूजा करते हैं, जिससे कि (वयं) हम (रयीणां पतयः स्याम) धनोंके स्वामी होवें। इस मंत्रमें यह दर्शाया गया है कि सोम पितरोंके साथ मिलकर द्यु व पृथिवीका विस्तार करता है। उसको हवि देनेसे धनसंपत्ति मिलती है।

> त्वया हि नः पितरः सोम पूर्वे कर्माणि चक्रुः पवमान धीराः। वन्वन्नवातः परिधीँरपोर्णु वीरेभिरश्वैर्मघवा भवा नः॥ ऋ०९।९६।११॥ यजु० १९।५३॥

(पवमान सोम) हे पवित्र सोम! [त्वया हि] तेरेसे ही अर्थात् तेरी सहायता द्वारा ही (नः पूर्वे धीराः पितरः) हमारे धीर पूर्वज पितरोंने (कर्माणि चक्रुः) श्रेष्ठ कर्मोंको किया।

इस मंत्रमें यह दर्शाया गया है कि सोमकी सहायता द्वारा हमारे पूर्वज पितर श्रेष्ठ कर्म करनेमें समर्थ हुए। सोम राक्षसोंका विनाश करता है। वीर अश्वोंवाला होकर सोमको शासक बननेके लिए कहा गया है।

पितृमान् सोम।

> अग्नये कव्यवाहनाय स्वाहा सोमाय पितृमते स्वाहा। अपहता असुरा रक्षांसि वेदिषदः॥ यजु० २।२९॥

कव्यका वहन करनेवाली अग्निके लिए स्वाहा हो। उत्तम पितावाले सोमके लिए स्वाहा हो। (वेदिषदः असुराः रक्षांसि) पृथिवीपर स्थित असुर व राक्षस (अपहताः) नष्ट हो जावें। यहां सोमको उत्तम पितावाला कहा गया है। अग्नि व सोम पृथिवीस्थ असुर व राक्षस नष्ट करते हैं, ऐसा मंत्रकी संगति लगानेसे पता चलता है।

> सोमाय पितृमते स्वधा नमः॥ अ० १८।४।७२॥

श्रेष्ठ पितावाले सोमके लिए स्वधा और नमस्कार हो। यहां सोमके लिए स्वधा व नमः देनेका उल्लेख है।

> पितृभ्यः सोमवद्भ्यः स्वधा नमः। अथर्व० १८।४।७३॥

सोमवान् पितरोंके लिए स्वधा व नमस्कार हो। इन मंत्रोंके देखनेसे इतना स्पष्ट होता है कि सोम व पितरोंका परस्पर विशेष संबन्ध है। यह सोम कौन है यह कहना कठिन है जबतक कि संपूर्ण सोमविषयक मंत्रोंका समन्वय न किया जासके।

अङ्गिरस् पितर

> प्र वो महे महि नमो भरध्वमाङ्गूष्यं शवसानाय साम। येना नः पूर्वे पितरः पदज्ञा अर्चन्तो अङ्गिरसो गा अविन्दन्॥ ऋ० १।६२।२॥ यजु: ३४।१७

हे मनुष्यो! (वः) तुम (महे शवसानाय) बड़े भारी बलवान् इन्द्रके लिए (महि नमः) महान् नमस्कार तथा (आङ्गूष्यं साम) आङ्गूष्य नामके सामसे (प्रभरध्वं) गायन

करके स्तुति करो (येन) जिस आङ्गूष्य सामद्वारा (अर्चन्तः) अर्चना करते हुए (नः) हमारे (पूर्वे पदज्ञाः अङ्गिरसः पितरः) पुरातन पदज्ञ अङ्गिरस् पितरोंने (गाः अविन्दन्) सूर्यकिरणोंको प्राप्त किया था ।

हम पहिले भी देख आए हैं कि पितरोंके सूर्यकिरणोंके प्राप्त करनेका उल्लेख हमें मिलता है । यहांपर पुनः अङ्गिरस् पितरों द्वारा सूर्यकिरणकी उपलब्धिका जिक्र है । आङ्गूष्य सामकी महिमा यहां व्यक्त हो रही है । अङ्गिरस् पितर किन पितरोंक नाम है इसका विचार हम फिर करेंगे ।

आङ्गूष्यं साम–आङ्गूषका अर्थ है स्तुतिसमूह अथवा आघोष । आघोषका अर्थ है जोर का शब्द-आवाज ॥ देखो-निरुक्त आङ्गूषः स्तोमः आघोषः । नि० अ. ११ पा० १। खं. १२ श. ४५। अतः आङ्गूष्यका अर्थ हुआ स्तुतिसमूहवाला या आघोषवाला यानि जो जोर जोरसे बोला गया है ऐसा । अतएव आङ्गूष्य सामका अर्थ हुआ कि जो सामस्तुति पूर्ण मंत्रोंसे युक्त है अथवा जो साम जोर जोरसे गाया गया है। क्योंकि सामसे दुख दूर होते हैं अतः इसका नाम साम है । स्यन्ति खण्डयन्ति दुःखानि येन तत् साम । पदज्ञ–परम पद (परमात्मा) को जाननेवाला । आत्मज्ञ । आत्मा वै पदं । कौ० २।३६।

नः- प्रथमार्थमें द्वितीयाका प्रयोग हुआ हुआ है। अथवा इसे षष्ठ्यन्त भी माना जा सकता है । गाः- सूर्यकिरणें ।

ऊपरोक्त मंत्रके भावका ही निम्न लिखित मंत्र भी समर्थन कर रहा है ।

> य उदाजन् पितरो गोमयं वस्वृतेनाभिन्दन् परिवत्सरे बलम् । दीर्घायुत्वमङ्गिरसो वो अस्तु प्रति गृभ्णीत मानवं सुमेधसः ॥ ऋ०१०।६२।२॥

(ये पितरः) जिन अङ्गिरस् पितरोंने (परिवत्सरे) परिवत्सरमें (बलं) मेघको (ऋतेन) यज्ञ वा सत्यद्वारा (अभिन्दन्) विदारण किया और (गोमयं वसु) सूर्यकिरणरूपी धनको (उत् आजन्) प्राप्त किया ऐसे हे (सुमेधसः) उत्तम मेधावाले (अङ्गिरसः) अङ्गिरस् पितरो ! (वः) तुम्हारी (दीर्घायुत्वं अस्तु) दीर्घायु होवे । (मानवं प्रति गृभ्णीत) तुम मनुष्य जातिपर अनुग्रह करो ।

इस मंत्रमें भी पूर्वोक्त मंत्रानुसार अङ्गिरस् पितरों द्वारा मेघभेदन करके सूर्यकिरणोंकी प्राप्तिका उल्लेख है। साथ ही ऐसे पितरोंकी दीर्घायुकी प्रार्थना की गई है व उनसे मनुष्यजातिपर कृपादृष्टि रखनेको कहा गया है ।

> द्यावापृथिवी अनु मा दीधीथां विश्वे देवासो अनु मा रभध्वम् । अङ्गिरसः सोम्यासः पापमार्छत्वपकामस्य कर्ता ॥ अथर्व० २।१२।५ ॥

(द्यावापृथिवी) द्यु और पृथिवी (मा अनु दीधीथां) मेरे अनुकूल प्रकाशित होवें । (विश्वे देवासः) हे सब देवो ! (मा अनु रभध्वम्) मेरे अनुकूल कार्यका प्रारंभ करो । (अङ्गिरसः सोम्यासः पितरः) हे अङ्गिरस् तथा सोम संपादन करनेवाले पितरो ! (अपकामस्य कर्ता) बुरी कामनाओंका करनेवाला (पापं आ ऋच्छतु) पापको प्राप्त होवें ।

इस मंत्रमें अङ्गिरस् पितरोंसे प्रार्थना की गई है कि वे पापकामनाओंके करनेवाले को पापके कुण्डमें डाल दें ताकि आगेसे वह पापकामनायें करना भूल जावे ।

> अङ्गिरसो नः पितरो नवग्वा अथर्वाणो भृगवः सोम्यासः । तेषां वयं सुमतौ यज्ञियानामपि भद्रे सौमनसे स्याम ॥ ऋ० १०।१४।६॥
>
> अ० १८।१।५८ ॥ यजु० १९।५०॥

(नः नवग्वाः अथर्वाणः भृगवः सोम्यासः अङ्गिरसः पितरः) हमारे नवग्व, अथर्वा, भृगु, सोम संपादन करनेवाले अङ्गिरस् पितर हैं। (वयं) हम (तेषां) उन उपरोक्त विशेषणविशिष्ट पितरोंकी (सुमतौ) उत्तम सलाहमें और (भद्रे) कल्याणकारी (सौमनसे) उत्तम संकल्पमें (स्याम) स्थित होवें ।

इस मंत्रमें पितरोंकी शुभ सलाहमें तथा शुभ संकल्पमें रहनेका निर्देश किया गया है ।

'नवग्व' शब्दपर थोडासा निर्देश हम कर आए हैं । इसपर विशेष विचार अपेक्षित है ।

अथर्वाणः—'अथर्वाणोऽथर्वन्तः' थर्वतिश्चरति कर्मा तत्प्रतिषेधः ॥'

निरु० ११।२।१८ ॥

अर्थात् अथर्वन् अथर्वणवाले यानि स्थिर निश्चलप्रकृतिवाले होते हैं । चलनार्थक थर्व धातुसे थर्वन् शब्द बनता है । जो निश्चल हो वह अथर्व ।

भृगवः—अर्चिषि भृगुः संबभूव । भृगुः भृज्यमानः, न देहे । नि० ३।३ ॥

अर्थात् भृगु ऋषि ज्वालाओंमें पैदा हुआ था । भृगुका अ. है जो आगमें भुना हुआ हो, अतएव इसकी शरीरमें आस्था नहीं होती ।

यज्ञियः— यज्ञके योग्य-पूजा, दान सत्कारादिके योग्य अथवा यज्ञमें बैठने लायक ।

पितरोंकी उत्पत्ति ।

अब आगे उन मंत्रोंका उल्लेख किया जायगा जो कि अबतक-के विभागोंमें नहीं आ सके हैं । यद्यपि इन मंत्रोंमें पितृ शब्द बहुवचनान्त ही प्रयुक्त हुआ हुआ है तथा ये मंत्र पहिले दिए गए मंत्रोंका सा ही महत्त्व भी रखते हैं परन्तु हमने जो मंत्रों-के विभाग बनाए हैं उनमेंसे किसीमें भी ये नहीं आसके हैं और अतएव ऐसे बचे हुए मंत्रोंको इकठ्ठा कर उपरोक्त शीर्षकके नामसे यहांपर दिया गया है ।

निम्न लिखित मंत्रोंमें पितरोंकी उत्पत्तिसंबन्धी निर्देश मिलता है ।

नवभिरस्तुवत पितरोऽसृज्यन्तादितिरधिपत्न्यासीत् ।
यजु० १४।२९ ॥

(नवभिः अस्तुवत) नव प्राणोंसे प्रजापतिने स्तुति की जिससे (पितरः असृज्यन्त) पितर उत्पन्न हुए । [अदितिः अधिपत्नी आसीत्] प्रजापतिकी अखण्ड शक्ति पालन करने— वाली थी ।

इस मंत्रकी व्याख्या श० ८।४।३।७ में है । शतपथ के अनुसार यह अध्याय सृष्टि-उत्पत्तिपर प्रकाश डाल रहा है ऐसा ज्ञात होता है । इस अध्यायकी व्याख्या प्रारंभ करते हुए शतपथ ब्राह्मणने लिखा है कि ' अथ सृष्टीरुपदधाति । एतद्वै प्रजापतिः सर्वाणि भूतानि पाप्मनो मृत्योर्मुक्त्वा कामयत प्रजाः सृजेय प्रजायेयेति ' इत्यादि ।

' नवभिरस्तुवत ' की शतपथने निम्नलिखित व्याख्या की है— नवभिरस्तुवतेति । नव वै प्राणाः सप्त शीर्षन्नवाञ्चौ द्वौ तैरेव तदस्तुवत । '

इस मंत्रसे ऐसा प्रतीत होता है कि ऋतु, सूर्य, चन्द्र आदि अन्योंकी तरह पितरोंकी भी खास ढंग से उत्पत्ति होती होगी, क्योंकि सामान्य मनुष्यकी उत्पत्ति में पितरोंकी उत्पत्ति का समावेश हो सकता था, फिर भी इस मंत्रमें विशिष्ट रूपसे पितरोंकी उत्पत्तिका उल्लेख किया गया है ।

वशामेवामृतमाहुर्वशां मृत्युमुपासते ।
वशेदं सर्वमभवद् देवा मनुष्या असुराः
पितर ऋषयः ॥ अथर्व० १०।१०।२६ ॥

[वशां एव अमृतं आहुः] वशाको ही अमृत कहते हैं और [वशां मृत्युं उपासते] वशाको ही मृत्यु मानते हुए उसकी उपासना करते हैं । [देवाः मनुष्याः असुराः पितरः ऋषयः] देव, मनुष्य, असुर, पितर तथा ऋषिगण [इदं सर्वं] यह सब [वशा अभवत्] वशा ही हुई हुई है ।

इस मंत्रसे हमारा इतना ही अभिप्राय है कि पितर भी वशा से उत्पन्न होते हैं ।

देवाः पितरो मनुष्या गन्धर्वाप्सरसश्च ये ।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिवि श्रिताः ॥
अ० ११।७।२७ ॥

[देवाः पितरः मनुष्याः] देव, पितर, मनुष्य [ये च] और जो (गंधर्वाप्सरसः) गन्धर्व तथा अप्सरसं हैं वे तथ [दिवि श्रिताः] द्युलोक के आश्रयमें स्थित [देवाः] सूर्य चन्द्र आदि देवगण हैं [सर्वे] ये सब [उच्छिष्टात्] उच्छिष्ट से [जज्ञिरे] उत्पन्न हुए हैं ।

उच्छिष्ट यह परमात्मा का नाम है क्योंकि परमात्मा उत् अर्थात् सबको उत्क्रमण करके भी शिष्ट अर्थात् शेष बच रहा है ।

यहांपर उच्छिष्टसे पितरों की उत्पत्ति दर्शाई गई है ।

इस प्रकार इन मंत्रोंमें पितरोंकी उत्पत्तिविषयक वर्णन मिलता है ।

दक्षिणा व पितर ।

एयमगन् दक्षिणा भद्रतो नो अनेन दत्ता सु-
दुघा वयोधाः । यौवने जीवानुप पृञ्चती जरा
पितृभ्यः उप संपराणयादिमान् ॥
अथर्व० १८।४।५० ॥

[सुदुघा] उत्तम तथा कामनाओं को पूर्ण करने-वाली [वयोधाः] अन्नको देनेवाली [अनेन दत्ता] इससे दी हुई [इयं दक्षिणा] यह दक्षिणा [भद्रतः

नः आ आगन्] कल्याणकारी स्थानसे अथवा कल्याणकारी स्वरूपसे हमें प्राप्त हुई है। इससे हमारा अकल्याण नहीं होगा। [यौवने जीवान् उपपृञ्चती जरा इव] जिस प्रकार युवावस्था के चले जानेपर जीवोंको वृद्धावस्था अवश्य आती है, उस प्रकार यह दक्षिणा [इमान्] इन जीवोंको [पितृभ्यः] पितरों के लिए भली प्रकार [उप संपराणयात्] प्राप्त करावे अर्थात् पितरों के पास उत्तम रीतिसे पहुंचावे।

इस मंत्रमें स्पष्ट शब्दोंमें दक्षिणाका माहात्म्य दर्शाया गया है। दक्षिणा देनेसे पितरों की प्राप्ति होती है। जिस प्रकार युवावस्थाके चले जानेपर वृद्धावस्था अवश्यंभाविनी है, उसी प्रकार दक्षिणा देनेवाले की पितरों की प्राप्ति भी अवश्यंभाविनी है ऐसा इस मंत्रमें उपमाद्वारा स्पष्ट सूचित किया गया है। पाठक दक्षिणाके इस महत्त्वपर अवश्यमेव विचार करें।

मरने पर पितरों में गणना।

पृथिवीं त्वा पृथिव्यामावेशयामि देवो नो धाता प्रतिरात्यायुः। परापरैता वसुविद् वो अस्त्वधा मृताः पितृषु संभवन्तु ॥ अथर्व० १८।४।४८॥

(पृथिवीं त्वां पृथिव्यां आवेशयामि) मिट्टी से बने हुए हे मृतपुरुष ! तुझको मिट्टी में मिला देता हूं अर्थात् तुझे पृथिवी में गाडता हूं। (धाता देवः नः आयुः प्रतिराति) धारक देव हमारी आयु को बढावे। हे (परापरैताः) प्रकृष्टतया हम से दूर चले गए पितरो ! (वः) तुम्हारे लिए धाता देव (वसुविद् अस्तु) वास करनेवाला हो, तुम्हारा आश्रयदाता हो। (अध) और (मृताः) मृत (पितृषु संभवन्तु) पितरों में अच्छी तरह होवें अर्थात् पितरों में जा मिलें।

इस मंत्र के पूर्वार्ध में मृत देहके गाडने का निर्देश मिलता है। यह मानव देह पार्थिव तत्वों के आधिक्य से बना हुआ है, अतएव यहांपर मृत देहको पृथिवी (मिट्टी) के नाम से पुकारा गया है। इसी भावको निम्न लिखित दोहे में कहा गया है—

खाकका पुतला बना खाक की तसवीर है।
खाक में मिल जायगा खाक दामन गीर है ॥

मंत्र के उत्तरार्धमें मृतों के पितरों में होनेका निर्देश है। इसका अभिप्राय यह है कि मरनेपर पितरों में मनुष्य जा मिलता है यानि मरने के बाद से उसकी पितृसंज्ञा हो जाती है

अश्विनौ तथा पितर।

युवं भुज्युं भुरमाणं विभिर्गतं स्वयुक्तिभिर्निवहन्ता पितृभ्य आ। यासिष्टं वर्तिर्वृषणा विजेन्यं दिवोदासाय महि चेति वामवः ॥ ऋ० १।११९।४॥

(वृषणा) हे कामनाओं की वर्षा करनेवाले अश्विनौ ! (युवं) तुम दोनों (भुरमाणं) पुष्टिकारक (भुज्युं) भोगलायक और जो कि (विभिः गतं) घोडों द्वारा लादकर लाया जाता है, ऐसे पदार्थ को (स्वयुक्तिभिः) अपनी युक्तियों अर्थात् योजनाओं द्वारा (पितृभ्यः) पितरों के लिए (आ निः वहन्तौ) चारों ओर से लाकर पहुंचाते हो। इसलिए (विजेन्यं वर्तिः) दूरस्थ विद्यमान पदार्थों के लाने के लिए (यासिष्ट) जाओ। (दिवोदासाय) दिवोदासके लिए (वां अवः) तुम्हारा संरक्षण (महि) महान् है यह सब को (चेति) मालूम है।

दिवोदासः-- प्रकाशका देनेवाला, चाहे वह ज्ञान प्रकाश हो वा अन्य कोई हो।

इस मंत्रमें पितरों के लिए भोग्य पदार्थ अश्विनौ पहुंचाते है ऐसा उल्लेख है।

सरस्वती और पितर।

सरस्वती या सरथं ययाथ स्वधाभिर्देवि पितृभिर्मदन्ती। आसद्यास्मिन् बर्हिषि मादयस्वानमीवा इष आ धेह्यस्मे ॥ ऋ० १०।१७।८॥

यह मंत्र थोडेसे पाठभेदके साथ अथर्ववेदमें इस प्रकार आया है—

सरस्वति या सरथं ययाथोक्थैः स्वधाभिर्देवि पितृभिर्मदन्ती। सहस्रार्घमिळो अत्र भागं रायस्पोषं यजमानाय धेहि ॥ अथर्व० १८।१।४३॥

(सरस्वति देवि) हे सरस्वती देवी ! (या) जो तू (पितृभिः स्वधाभिः मदन्ती) पितरोंके साथ मिलकर स्वधाओंसे आनन्दित होती हुई (सरथं) पितरोंके साथ समान रथपर आरोहण करती हुई (ययाथ) आई है। वह (अस्मिन् बर्हिषि) इस यज्ञमें (आसद्य) बैठकर प्रसन्न हो। (अस्मे) हमें (अनमीवः इषः) रोगरहित अन्नोंको अर्थात् जिनके खाने से किसी भी प्रकारका रोग न होवे ऐसे अन्नोंको (आ धेहि) दे।

अथर्ववेदमें जो पाठभेद है वह विशेष करके उत्तरार्धमें ही है। इस उत्तरार्धका अर्थ इस प्रकार है- हे सरस्वती ! तू [अत्र]

इस यज्ञमें [यजमानाय] यजमानके लिए [सहस्रार्घं इडः भागं] हजारोंसे पूजनीय अन्नके भागको और [रायस्पोषं] धनकी पुष्टिको [धेहि] दे। इस मंत्रमें सरस्वतीका पितरोंके साथ समान रथपर चढना, स्वधा खाना व यज्ञमें आना दर्शाया गया है।

सरस्वतीं यां पितरो हवन्ते दक्षिणा यज्ञमभिनक्षमाणाः।
सहस्रार्घमिळो अत्रभागं रायस्पोषं यजमानेषु धेहि ॥
ऋ० १०।१७।९॥

अथर्ववेदमें यह मंत्र थोडेसे पाठभेदके साथ है–

सरस्वतीं पितरो हवन्ते दक्षिणा यज्ञमभिनक्षमाणाः।
आसद्यास्मिन् बर्हिषि मादयध्वमनमीवा इष आधेह्यस्मे॥
अथर्व० १८।१।४२॥

[दक्षिणा] दक्षिण दिशासे आकर [यज्ञं अभिनक्षमाणाः पितरः] यज्ञको सब ओरसे प्राप्त करते हुए पितर [यां सरस्वतीं हवन्ते] जिस सरस्वतीको बुलाते हैं, ऐसी हे सरस्वती! तू [अत्र] यहां इस यज्ञमें [यजमानेषु] यजमानोंमें [सहस्रार्घं इडः भागं] हजारोंसे पूजनीय अन्नके भागको तथा [रायस्पोषं] धनकी पुष्टिको [धेहि] दे।

पितरोंकी दक्षिण दिशा है यह हमें अन्य वेदमंत्र दर्शाते हैं, अतः हमने ऊपर दक्षिणाके साथ [आगत्य] आकर इतना अध्याहार करके अर्थ किया है। इस मंत्रमें पितर सरस्वतीको यज्ञमें बुलाते हैं यह दर्शाया गया है।

इदं ते हव्यं घृतवत् सरस्वतीदं पितॄणां हविरास्यं यत्।
इमानि त उदिता शंतमानि तेभिर्वयं मधुमन्तः स्याम॥
अथर्व० ७।६८।२॥

[सरस्वति] हे सरस्वती! [इदं ते घृतवत् हव्यं] यह तेरे लिए घृतवाला यानि घीसे मिश्रित हव्य है। [यत् इदं हविः पितॄणां आस्यं] जो यह हवि पितरोंके लिए दिया जानेवाला है। [इमानि ते शंतमानि उदितानि] ये तेरे लिए कल्याणकारी वचन हैं। [तेभिः] इनसे [वयं] हम [मधुमन्तः स्याम] मधुयुक्त बनें।

आस्य–असु क्षेपणे से बना है। शब्दार्थ फैंका जानेवाला है, भावार्थ दिया जानेवाला ॥

इस मंत्रमें पितरोंके लिए जो हव्य दिया जाता है, वह सरस्वतीको भी दिया जाता है यह दर्शाया गया है और साथ ही में सरस्वतीको द्रव्यादि देनेका लाभ दर्शाया है।

इस प्रकार इन उपरोक्त मंत्रोंसे सरस्वती व पितरोंका संबन्ध विशेष है यह हमें यहां स्पष्ट पता चलता है।

गौ व पितर।

देवाः पितरो मनुष्याः गन्धर्वाप्सरसश्च ये।
ते त्वा सर्वे गोप्स्यन्ति सातिरात्रमतिद्रव ॥
अथर्व० १०।९।९॥

(देवाः पितरः मनुष्याः) देव, पितर, मनुष्य (ये च) और जो (गंधर्वाप्सरसः) गन्धर्व, तथा अप्सरस् हैं, (ते सर्वे) वे सब (त्वा गोप्स्यन्ति) तुझ गौकी रक्षा करेंगे, (सा) वह तू (अतिरात्रं) अतिरात्र नामक यज्ञको (अतिद्रव) शीघ्रतासे प्राप्त कर।

यहांपर अतिरात्रमें आनेवाली गौ की पितर भी रक्षा करते हैं ऐसा दर्शाया है।

प्रजापतिर्मह्यमेता रराणो विश्वैर्देवैः पितृभिः संविदानः।
शिवाः सतीरुप नो गोष्ठमाकस्तासां वयं प्रजया सं सदेम॥
ऋ० १०।१६९।४॥

[प्रजापतिः] प्रजापति [विश्वेः देवैः पितृभिः संविदानः] सब देवों व पितरोंके साथ मिला हुआ एक मतसे [मह्यं] मेरे लिए [एताः] ये गायें [रराणः] देता है। वह प्रजापति [शिवाः सतीः] कल्याणकारिणी होती हुई उन गौओंको [नः] हमारे [उपगोष्ठं आ अकः] गोष्ठके समीप करे अर्थात् हमारे गोष्ठमें वे गौयें स्थित होवें। और इस प्रकार उन गौओंके प्राप्त करनेपर [वयं] हम [तासां प्रजया सं सदेम] उन गौओंकी संतानसे संगत होवें अर्थात् उन गौओंकी संतान हमें प्राप्त होती रहे ताकि ऐसी गौओंका वंशोच्छेद न हो जावे।

गोष्ठ— जहांपर गौयें बांधी जाती हैं, उस स्थानको गोष्ठ कहा जाता है।

इस मंत्रमें उत्तम गौवें पितरोंकी सहमतिसे हमें मिलती हैं, यह दर्शाया गया है।

इन्द्र व पितर।

स नु श्रुधीन्द्र नूतनस्य ब्रह्मण्यतो वीर कारुधायः। त्वं ह्यापिः प्रदिवि पितॄणां शश्वद् बभूथ सुहव एष्टौ ॥ ऋ.६।२१।८॥

हे वीर इन्द्र! [सः] वह [कारुधायः] स्तोताओं वा शिल्पियों का धारक तू [नूतनस्य ब्रह्मण्यतः] नवीन धनको प्राप्त करनेकी इच्छा करनेवालेकी अथवा

नवीन स्तोत्र करनेकी इच्छावाले की (श्रुधि) प्रार्थनाको सुन (हि) क्योंकि (आ इष्टौ) आयजन करनेपर अथवा कामनाके होनेपर (सुः हवः)सुखसे बुलाने योग्य (त्वं) तू (पितॄणां प्रदिवि) पितरोंके प्रकृष्ट व्यवहारमें (शश्वत्) सदा (आपिः) बन्धु व्याप्त रहनेवाला (बभूथ) होता है।

इस मंत्रमें इन्द्रको पितरोंका बन्धु कहा गया है। क्योंकि वह पितरोंको उनके कार्योंमें बन्धुवत् सहायता करता है।

> जुष्टी नरो ब्रह्मणा वः पितॄणामक्षमव्ययं न
> किलारिषाथ । यच्छक्वरीषु बृहता रवेणेन्द्रे
> शुष्ममदधाता वसिष्ठाः ॥ ऋ० ८।३३।४ ॥

(वसिष्ठाः) हे उत्तम वास करानेवालो ! (यत्) क्योंकि तुम (शक्वरीषु) ऋचाओंके अर्थात् ऋचाओंमें गानमें (बृहता रवेण) बडे भारी शब्दसे यानि ऋचाओंके ऊंचे स्वरमें गानेसे(इन्द्रे शुष्मं) इन्द्रमें बलको (अदधात) स्थापित करते हो, अतः हे (नरः) नेतागणो ! (जुष्टी) प्रसन्नता वा सेवासे और [ब्रह्मणा] ज्ञानसे तुम [वः पितॄणां] तुम्हारे पितरोंका [अव्ययं अक्षं] न नष्ट होनेवाले अक्षको [किल] निश्चयसे [न रिषाथ] नष्ट होने नहीं देते। इस मंत्रमें सैनिकोंके लिए पितर आया है ऐसा प्रतीत होता है। यह मंत्र पूर्ण रूपसे स्पष्ट नहीं हुआ है।

नवग्व पितर ।

> तमु नः पूर्वे पितरो नवग्वाः सप्त विप्रासो
> अभिवाजयन्तः । नक्षद्दाभं ततुरिं पर्वतेष्ठाम-
> द्रोघवाचं मतिभिः शविष्ठम् ॥ ऋ० ३।२२।२॥
> अथर्व० २०।३६।२॥

[सप्त विप्रासः] सात संख्यावाले मेधावी तथा [नवग्वाः नः पूर्वे पितरः]नवग्व हमारे पुरातन पितर [तं] उस इन्द्रको [उ] निश्चयसे [अभिवाजयन्तः] चारों ओरसे बलवान् बनाते हुए, [नक्षद्दाभं] आगत शत्रु वा पापका नाश करनेवाले [ततुरिं] तारक [पर्वतेष्ठां] पर्वतस्थ [अद्रोघवाचं] द्रोहरहित वा अनतिक्रमणीय वाणीवाले [शविष्ठं] बलवत्तम इन्द्रकी [मतिभिः] मननीय स्तोत्रोंसे स्तुति करते हैं।

निरुक्तकार यास्काचार्यने ऋ० १०।१४।६ की व्याख्या करते हुए नवग्व शब्द की व्याख्या इस प्रकार की है— 'नवगतयो नवनीतगतयो वा '। अर्थात् नवप्रकारकी गतिवाले अथवा नवनीत यानि मक्खन जैसी गतिवाले शुद्धाचरणवाले।

महर्षि स्वामी दयानन्दजीने ' नवीन गतिवाले ' ऐसा अर्थ किया है।

सायणाचार्य निम्नलिखित अर्थ करते हैं–नवग्वाः नवभिर्मासैः सत्रमनुतिष्ठवन्तः ' । अर्थात् जो नवमासवाले सत्र [यज्ञविशेष] को करनेवाले हैं।

इस मंत्रमें आत्माका वर्णन व ' सप्त विप्रासः ' से ५ प्राण, मन व बुद्धिका अभिप्राय है। और इस प्रकार मंत्रमें प्राणोंको पितरसे कहा गया जान पडता है।

काम और पितर ।

> कामो जज्ञे प्रथमो नैनं देवा आपुः पितरो न
> मर्त्याः । ततस्त्वमसि ज्यायान् विश्वहा महाँस्तस्मै
> ते काम नम इत् कृणोमि ॥ अ० ९।२।१९॥

[कामः प्रथमः जज्ञे] काम प्रथम पैदा हुआ। [एनं]इसको [न देवाः आपुः न पितरः न मर्त्याः] न तो देवोंने ही पाया, न पितरोंने और नहीं मनुष्योंने। (ततः) इस कारणसे हे काम ! तू (विश्वहा) सब प्रकारसे (ज्यायान्) बडा है। हे महान् काम ! (तस्मै ते) उस तेरे लिए (नमः इत् कृणोमि) मैं नमस्कार करता हूं।

यहांपर कामको जाननेमें पितरों की भी असमर्थता दर्शाई गई है।

मणि और पितर।

> यं देवाः पितरो मनुष्या उपजीवन्ति सर्वदा ।
> स मायमधि रोहतु मणिः श्रेष्ठ्याय मूर्धतः ॥
> अथर्व० १०।६।३२ ॥

(देवाः पितरः मनुष्याः यं सर्वदा उपजीवन्ति) देव, पितर व मनुष्य सदा जिस मणिके आश्रय से जीते हैं [सः अयं मणिः]वह यह मणि [श्रेष्ठ्याय] श्रेष्ठ पदकी प्राप्ति करानेके लिए [मां मूर्धतः अधिरोहतु] मेरे सिरपर स्थित होवे अर्थात् ऐसे मणि को मैं सिरपर धारण करता हूं।

इस मंत्र में यह बतलाया गया है कि देव, पितर व मनुष्य मणिके आश्रयसे जीते हैं। यहां यह भी पता चलता है कि पितर व देव मनुष्यसे भिन्न हैं।

ब्रह्मौदन पाचक पितर।

उरुः प्रथस्व महता महिम्ना सहस्रपृष्ठः सुकृतस्य लोके। पितामहाः पितरः प्रजोपजाहं पक्ता पञ्चदशस्ते अस्मि ॥ अथर्व० ११।१।१९॥

हे ब्रह्मौदन ! [सहस्रपृष्ठः] हजारों पीठोंवाला अर्थात् अत्यंत फैला हुआ तू [सुकृतस्य लोके] सुकृतके लोकमें [महता महिम्ना] अपनी बडी भारी महिमासे [उरुः] विस्तीर्ण होता हुआ [प्रथस्व] फैल। [पितामहाः पितरः प्रजा उपजा] पितामहोंका समूह, पितर, संतति तथा संततिकी संतति और [पंचदशः अहं] पंचदश मैं [ते पक्ता अस्मि] तेरा पकाने वाला हूं।

पञ्चदश—पंद्रहवां अथवा ५ प्राण, ५ इन्द्रियां व ५ भूतोंसे बना हुआ।

इस मंत्रमें पितामह, पितर आदियोंको ब्रह्मौदन पाचक कहा गया है। अर्थात् ये सब ब्रह्मौदन पकाते हैं।

ब्रह्मचारी व पितर।

ब्रह्मचारिणं पितरो देवजनाः पृथग् देवा अनुसंयन्ति सर्वे। गन्धर्वा एनमन्वायन् त्रयस्त्रिंशत् त्रिशताः षट् सहस्राः सर्वान्त्स देवांस्तपसा पिपर्ति ॥ अ० ११।५।२॥

[पितरः देवजनः देवाः]पितर, देवजन तथा देव [सर्वे] वे सब [पृथक्] अलग अर्थात् स्वतंत्र रूपसे [ब्रह्मचारिणं अनुसंयन्ति] ब्रह्मचारीकी रक्षार्थ अनुगमन करते हैं। [गन्धर्वाः एनं अनुआयन्] गन्धर्वगण इस ब्रह्मचारीके पीछे पीछे चलते हैं। (षट् सहस्राः त्रिशतः त्रयः त्रिंशत्)छे हजार तीन सौ तेंतीस (६३३३) (सर्वान् देवान्) इन सब देवोंको (सः) वह ब्रह्मचारी (तपसा पिपर्ति) अपने तप द्वारा पूर्ण करता है-पालन करता है।

इस मंत्रमें दर्शाया गया है कि पितर भी ब्रह्मचारीकी रक्षाके लिए उसके पीछे पीछे सदा फिरते रहते हैं ताकि ब्रह्मचारीको किसी भी प्रकार का कष्ट न पहुंच सके।

पितरों की शक्ति का नियंत्रण।

मा छेद्म रश्मीँ* रिति नाधमानाः पितॄणां शक्तीरनुयच्छमानाः। इन्द्राग्निभ्यां कं वृषणो मदन्ति ता ह्यद्री धिषणाया उपस्थे ॥ ऋ० १।१०९।३॥

*

(रश्मीन् मा छेद्म इति नाधमानाः) संततिरूपी रश्मियोंको हम मत काटें, इस प्रकार याचना करते हुए, तथा (पितॄणां शक्तीः अनुयच्छमानाः) पितरोंकी शक्तियोंको नियंत्रित करते हुए और अतएव (वृषणः) वीर्ययुक्त हुए हुए (धिषणायाः उपस्थे) बुद्धिके समीपमें अर्थात् बौद्धिक कार्योंमें (इन्द्राग्निभ्यां) इन्द्र व अग्नि से (कं मदन्ति) सुख प्राप्त करके प्रसन्न होते हैं। (हि) निश्चय से [तौ] वे इन्द्राग्नी [अद्री] न नष्ट होनेवाले हैं।

इस मंत्रमें यह दर्शाया गया है कि न तो सर्वथा संततिका उच्छेद ही करना चाहिए और नहीं सर्वथा संतति की वृद्धि ही करनी चाहिए। पितरोंकी शक्ति अर्थात् उत्पादक शक्तिका नियंत्रण करना चाहिए, जिससे बुद्धि की व बलकी वृद्धि होती है। यहां पितरों की शक्तिसे उत्पादक शक्ति का अभिप्राय है।

देवों के पितर।

ये वो देवाः पितरो ये च पुत्राः सचेतसो मे शृणुतेदमुक्तम्। सर्वेभ्यो वः परि ददाम्येतं स्वस्त्येनं जरसे वहाथ ॥ अथर्व० १।३०।२॥

[देवाः] हे देवो ! [ये वः पितरः ये च पुत्राः] जो तुम्हारे पितर हैं और जो पुत्र हैं वे सब तुम [सचेतसः] सावधान हुए हुए (मे इदं उक्तं) मेरे इस कथनको (शृणुत) सुनो। (वः सर्वेभ्यः) तुम सबके लिए मैं (एतं) इस मनुष्यको (परिददामि) सौंपता हूं, (एनं) इसे (स्वस्ति) कल्याण पूर्वक (जरसे वहाथ) वृद्धावस्थाके लिए पहुंचाओ अर्थात् यह वृद्धावस्था आनेके पूर्व ही अल्पायुमें मरने न पावे।

परिददामि रक्षाके लिए सौंपता हूं। परिउपसर्गपूर्वक दा धातुका अर्थ रक्षणार्थ देना है। इस मंत्रमें देवोंके पितर व पुत्रोंका उल्लेख है।

देवाः पितरः पितरो देवाः। यो अस्मि सो अस्मि। अथर्व० ६।१२३।३॥

(देवाः पितरः) देवगण पितर हैं और (पितरः देवाः) पितर देव हैं। (यः अस्मि) जो मैं हूं (सः अस्मि) वह मैं हूं।

सायणाचार्यने इस मंत्रका स्पष्टीकरण इस प्रकार किया है-जो देव वसुरुद्रादि रूप हैं वे हमारे पितर हैं और जो

हमारे पितर हैं वे वसुरुद्रादि रूप हैं। इस प्रकार परस्परके व्यतिहारसे पितरोंका देवात्मक होना दृढ किया है। [यः अस्मि] जिसका मैं हूं उसका ही मैं हूं। अर्थात् एक ही पिताका हूं। क्योंकि स्त्रियां संभावित व्यतिक्रम होती हैं अतः मैं निश्चयसे कहता हूं कि मैं अपने पिताका ही पुत्र हूं। अपने इस अभिप्राय की पुष्टिके लिए सायणाचार्यने मीमांसा सूत्रका प्रमाण दिया है- 'स्त्र्यपराधात् कर्तुश्च पुत्रदर्शनात्'।

अस्तु,इस मंत्रका अभिप्राय हमें इतना दर्शाता है कि पितर देवत्वको प्राप्त होते हैं। इस मंत्रके अभिप्रायवाले और मंत्र पहिले आचुके हैं।

पितरोंके ऊर्ज, रस आदिके लिए नमस्कार।

नमो वः पितरः ऊर्जे नमो वः पितरो रसाय ॥ अथर्व० १८।४।८१॥

[पितरः] हे पितरो! [वः ऊर्जे नमः] तुम्हारे अन्न वा बलके लिए नमस्कार है। [पितरः] हे पितरो! [वः रसाय नमः] तुम्हारे रस-अन्नरस [दुग्ध आदि] के लिए नमस्कार है।

नमो वः पितरो भामाय नमो वः पितरो मन्यवे ॥ अथर्व० १८।४।८२॥

[पितरः] हे पितरो! [वः] तुम्हारे [भामाय] क्रोधके लिए [नमः] नमस्कार हो। [पितरः] हे पितरो! [वः] तुम्हारे [मन्यवे] मन्युके लिए [नमः] नमस्कार हो। भाम तथा मन्यु दोनों क्रोधके विशेष भेद हैं। भाम साधारण क्रोधका नाम है। मन्युको हम सात्त्विक क्रोध कह सकते हैं।

नमो वः पितरो यद् घोरं तस्मै नमो वः पितरो यत् क्रूरं तस्मै ॥ अथर्व० १८।४।८३॥

[पितरः] हे पितरो! [वः] तुम्हारा [यत् घोरं] जो कर्म है [तस्मै] उसके लिए [नमः] नमस्कार है। [पितरः] हे पितरो! [वः] तुम्हारा [यत् क्रूरं] जो क्रूर कर्म है, [तस्मै] उसके लिए [नमः] नमस्कार है।

नमो वः पितरो यच्छिवं तस्मै नमो वः पितरो यत् स्योनं तस्मै ॥ अथर्व० १८।४।८४॥

(पितरः) हे पितरो! (वः) तुम्हारा (यत्) जो (शिवं) कल्याणमय कर्म है, [तस्मै] उसके लिए [नमः] नमस्कार है। [पितरः]। हे पितरो! [वः] तुम्हारा [यत् स्योनं] जो सुखमय कर्म है [तस्मै नमः] उसके लिए नमस्कार है।

इस प्रकार इन मंत्रोंमें पितरोंके विविध कर्मोंके लिए नमस्कार किया गया है।

पितरोंका इष्टापूर्त।

अशीतिभिः तिसृभिः सामगेभिरादित्येभिर्वसुभिरङ्गिरोभिः। इष्टापूर्तं अवतु नः पितृणामामुं ददे हरसा दैव्येन ॥ अथर्व० २।१२।४॥

[तिसृभिः अशीतिभिः] तीन अशीतियोंके साथ, [सामगेभिः] साम गायकोंके साथ, [आदित्येभिः] आदित्योंके साथ, [वसुभिः] वसुओंके साथ तथा [अङ्गिरोभिः] अङ्गिरसोंके साथ मिलकर [पितृणां] पितरोंका [इष्टापूर्तं] इष्टापूर्त [नः अवतु] हमारी रक्षा करे। [दैव्येन हरसा] दिव्य तेजद्वारा [अमुं] इस दुष्ट पुरुषको (आददे) ग्रहण करता हूं अर्थात् उसका नाश करता हूं।

इष्टपूर्तका लक्षण निम्न लिखित है-

अग्निहोत्रं तपः सत्यं वेदानां चानुपालनम्।
आतिथ्यं वैश्वदेवं च इष्टमित्यभिधीयते ॥ १ ॥
वापीकूपतडागादि देवतायतनानि च।
अन्नप्रदानमारामाः पूर्तमित्यभिधीयते ॥ २ ॥

इस मंत्रमें पितरोंका इष्टापूर्त हमारा रक्षण करता है यह दर्शाया है। पुत्रोंके रक्षणार्थ पितरोंको इष्टापूर्त करना चाहिए ऐसी प्रतिध्वनि यहांसे निकलती है।

यदीदं मातुर्यदि वा पितुर्नः परिभ्रातुः पुत्राच्चेतस एन आगन्। यावन्तो अस्मान् पितरः सचन्ते तेषां सर्वेषां शिवो अस्तु मन्युः ॥ अथर्व० ६।११६।३॥

[यदि यत् इदं एनः] यदि यह जो पाप [नः मातुः, पितुः, भ्रातु, पुत्रात् चेतसः वा] हमारी माताके पाससे, पिताके पाससे, भाईके पाससे, पुत्रके पाससे अथवा मनके पाससे [परि आगत्] प्राप्त हुआ है अर्थात् इनके कारण यह पाप आया है, तो [यावन्तः पितरः अस्मान् सचन्ते] जितने भी पितर हमारे साथ संगत हुए हुए हैं [तेषां सर्वेषां] उन सबका (मन्युः) क्रोध (शिवः अस्तु) कल्याणकारी होवे। उससे हमारा नुकसान न होने पावे।

इस मंत्रमें पापके कारणसे उत्पन्न पितरोंके क्रोधको शांत करके उन्हें कल्याणकारी बनानेकी प्रार्थना है।

पितरोंसे मिलकर श्रेष्ठ होना।

ये॓ऽत्र पितरः पितरो येऽत्र यूयं स्थ युष्माँस्ते न यूयं तेषां श्रेष्ठा भूयास्थ॥ अ० १८।४।८६॥

(ये पितरः अत्र) ये जो अन्य पितर यहां हैं और (ये) जो (यूयं पितरः) तुम पितृगण [अत्रस्थ] यहांपर हो, [ते] वे अन्य पितर [युष्मान् अनु] तुम्हारे अनुकूल होवें और [यूयं] तुम [तेषां श्रेष्ठाः भूयास्थ] उनमें श्रेष्ठ होवो।

य इह पितरो जीवा इह वयं स्मः। अस्माँस्तेऽनु वयं तेषां श्रेष्ठा भूयास्म॥ अ० १८।४।८७॥

[ये] जो [पितरः] पितृगण [इह] यहां हैं उनके अनुग्रहसे [वयं] हम [इह] यहां [जीवाःस्मः] जीवित हैं, (ते पितरः अस्मात् अनु) वे पितर हमारे अनुकूल बने रहें। (वयं) हम (तेषां श्रेष्ठाः भूयास्म) उनमें श्रेष्ठ होवें। अथवा वे हमारे अनुकूल हों और हम उनके। दोनों मिलकर परस्पर श्रेष्ठ होवें।

इन मंत्रोंमें पितरोंके साथ पारस्परिक अनुकूल व्यवहारोंसे श्रेष्ठ बननेका उल्लेख है।

पितरोंके लिए धन, बल व आयु।

दमूनाः देवः सविता वरेण्यो दधद् रत्नं दक्षं पितृभ्यः आयूंषि। पिबात् सोमं ममदेनमिष्टे परि ज्मा चित् क्रमते अस्य धर्मणि॥

अथर्व० ७।१४।४॥

(दमूनाः) दानशील (वरेण्यः) श्रेष्ठ स्वीकार करने योग्य (सविता देवः) सूर्य देव (पितृभ्यः) पितरोंके लिए (रत्नं) रत्नको, (दक्षं) बलको और (आयूंषि) आयुको (दधत्) धारण करता हुआ (सोमं) सोमका (पिबात्) पीए। (एनं) इस सविता देवको (इष्टे) यज्ञमें सोमपान कराके (ममत्) प्रसन्न करे। (अस्य धर्मणि) इस सविता सूर्यके धर्ममें स्थित हुई हुई (ज्मा) पृथिवी (चित्) भी (परि क्रमते) परिक्रमा करती है। इस मंत्रमें यह दर्शाया गया है कि सूर्य पितरोंके लिए धन बल आयुको देता है। यहांपर हमें 'परि ज्मा चित् क्रमते अस्य धर्मणि' से यह भी स्पष्ट पता चलता है कि पृथिवी सूर्यके चारों ओर परिक्रमा करती है। पृथिवीके सूर्यके चारों ओर घूमनेके भौगोलिक सिद्धान्तको यह मंत्र पुष्ट कर रहा है। ज्मा शब्द निघण्टुमें पृथिवीवाची नामोंमें पठित है।

पितर व तृतीय ज्योति।

एतद् वा ज्योतिः पितरस्तृतीयं पञ्चौदनं ब्रह्मणेऽजं ददाति। अजस्तमांस्यप हन्ति दूरमस्मिंल्लोके श्रद्दधानेन दत्तः॥ अथर्व० ९।५।११॥

(पितरः) हे पितरो! (वः) तुम्हारे लिए (एतद् तृतीयं ज्योतिः) यह तीसरी ज्योति परमात्मा (ब्रह्मणे) ब्रह्मज्ञानार्थ (पञ्चौदनंअजं) पंचौदनवाले अर्थात् ५ भूत से बने शरीर से युक्त जन्मरहित जीवात्माको (ददाति) देता है। (श्रद्दधानेन दत्तः) श्रद्धा रखने के कारण दिया हुआ (अजः) यह अज जीवात्मा (अस्मिन् लोके) इस लोक में (तमांसि) अज्ञानान्धकारोंको (अप हन्ति) नष्ट करता है, दूर करता है।

इस मंत्रमें यह दर्शाया कि श्रद्धा रखने के कारण परमात्मा पितरोंको ऐसी आत्मा देता है कि जो सारे अज्ञानान्धकारोंको दूर करके प्रकाशका मार्ग दर्शाती है। यहां श्रद्धाका माहात्म्य प्रकट हो रहा है।

पितरोंमें सुखद रस्ता बनाना।

इदं मे ज्योतिरमृतं हिरण्यं पक्वं क्षेत्रात् कामदुघा म एषा। इदं धनं निदधे ब्राह्मणेषु कृण्वे पन्थां पितृषु यः स्वर्गः॥ अथर्व, ११।१।२८॥

(इदं हिरण्यं) यह सोना (मे अमृतं ज्योतिः) मेरा अनश्वर प्रकाश है। (क्षेत्रात्) खेतसे उत्पन्न यह (पक्वं) पका हुआ अन्न (मे एषा कामदुघा) मेरी यह कामनाओंकी पूर्ति करनेवाली गौ है। (इदं धनं ब्राह्मणेषु निदधे) यह धन मैं ब्राह्मणोंमें स्थापित करता हूं अर्थात् उन्हें देता हूं। और इस प्रकार (पितृषु पन्थां कृण्वे) पितरोंमें रस्ता बनाता हूं (यः) जो कि रस्ता (स्वर्गः) स्वर्ग है–सुखप्रापक है।

इस मंत्रमें यह दर्शाया गया है कि ब्राह्मणोंको धन दान करनेसे पितरोंके बीचमें सुखप्रद मार्ग बनाया जा सकता है। पितरोंके बीचमें यदि सुखपूर्वक विचरण करना हो तो ब्राह्मणोंको धन दान करना चाहिए ऐसा इस मंत्रका आशय प्रतीत होता है।

बभ्रेरध्वर्यो मुखमेतद् विमृड्ढ्याज्याय लोकं कृणुहि प्रविद्वान्। घृतेन गात्रानु सर्वा विमृड्ढि कृण्वे पन्थां पितृषु यः स्वर्गः ॥ अथर्व० ११।१।३१॥

(अध्वर्यो) हे अध्वर्यु ! (बभ्रेः) पोषण करनेवाले ब्रह्मौदन के (एतत् मुखं) इस मुखको अर्थात् उसके ऊपर के छिलकेको (विमृड्ढि) विशेष रूपसे साफ कर। (प्रविद्वान्) हे प्रकृष्ट ज्ञानवान्! (आज्याय लोकं कृणुहि) उन चावलों में घी डालनेके लिए स्थान बना। (घृतेन सर्वाणि गात्राणि विमृड्ढि) घी द्वारा उस ब्रह्मौदनके सर्व अवयवोंको परिमार्जित कर। इस औदन द्वारा मैं (पितृषु पन्थां कृण्वे) पितरों में मार्ग बनाता हूं (यः) जो कि मार्ग (स्वर्गः) सुखप्रापक है।

इस मंत्र में यह दर्शाया गया है कि यदि पितरोंमें सुख-पूर्वक विचरण करना हो तो खूब घीमिश्रित चावलों (ब्रह्मौदन) का होम करना चाहिये ।।

मृत पितरोंका अनुगमन निषेध ।

आवतस्त आवतः परावतस्त आवतः।
इहैव भव मानुगा मा पूर्वाननुगाः।
पितॄनसुं बध्नामि ते दृढम् ॥ अथर्व० ५।३०।१॥

(ते आवतः आवतः) तेरे समीपसे समीप और (ते परावतः)तेरे दूरसे भी (आवतः) दूर देशसे (ते असुं) तेरे प्राणको (दृढं बध्नामि) दृढता से बांधता हूं। (इह एव भव) तू यहां ही रह। (मा पूर्वान् अनुगाः) पूर्व मृत पुरुषोंके पीछे मत जा अर्थात् विनष्ट मत हो। और (मा पितॄन् अनुगाः) इसी प्रकार पूर्व मृत पितरोंके पीछे भी मत जा।

मा ते मनस्तत्र गान्मा तिरो भून्मा जीवेभ्यः प्रमदो मानु गाः पितॄन्। विश्वे देवा अभिरक्षन्तु त्वेह ॥
अथर्व० ८।१।७॥

हे आयुकी कामना करनेवाले मनुष्य ! (ते मनः) तेरा मन (तत्र मा गात्) वहां मृत्यु लोकमें मत जाए। (मा तिरः भूत) और तेरा मन अन्तर्हित भी मत होवे। (मा जीवेभ्यः प्रमदः)तू जीवोंके लिए अर्थात् जीवित रहनेके लिए असावधान मत रह। (पितॄन् मा अनुगाः) मृत पितरोंके पीछे मत जा। (विश्वे देवाः) सब देवगण (त्वा इह अभिरक्षन्तु) तेरी यहां ही रक्षा करें अर्थात् सब देव तुझे यहींपर बनाए रखें, मरने न दें।

इन उपरोक्त मंत्रोंमें मृत पितरोंके अनुगमन करनेका अर्थात् मरनेके विषय में अनुगमन का निषेध किया गया है। और दीर्घायु प्राप्त करनेके लिए कहा गया है।

पितरोंमेंसे यक्ष्मा के दूर करने की प्रार्थना ।

अङ्गादङ्गाद् वयमस्या अपयक्ष्मं निदध्मसि।
तन्मा प्रापत् पृथिवीं मोत देवान् दिवं मा प्रापदुर्वन्तरिक्षम्। अपो मा प्रापन् मलमेतदग्ने यमं मा प्रापत् पितॄंश्च सर्वान् ॥ अथर्व० १४।२।६९॥

(अस्या अङ्गात् अङ्गात्) इसके प्रत्येक अंगसे (वयं यक्ष्मं नि अप दध्मसि) हम यक्ष्मको बिलकुल बाहिर निकाल देते हैं। (तत् पृथिवीं मा प्रापत्) वह यक्ष्म पृथिवी को मत प्राप्त होवे। (उत देवान् मा) और देवोंको भी मत प्राप्त होवे। (दिवं मा) द्युलोक को भी मत प्राप्त होवे। (उरु अंतरिक्षं-मा) विशाल अंतरिक्षको भी मत प्राप्त होवे (एतत् मलं) यह यक्ष्मरूपी मैल (अपः मा प्रापत्) जलों को भी मत प्राप्त होवे। (अग्ने) हे अग्नि ! (यमं मा प्रापत्) यमको भी मत प्राप्त होवे। (च) और (सर्वान् पितॄन्) सब पितरों को भी मत प्राप्त होवे।

इस मंत्रमें यक्ष्म रोगके दूर करनेकी तो प्रार्थना है ही, पर यहां एक बात विशेष लक्ष्यमें रखने जैसी है और वह यह कि यम व पितरोंको यक्ष्मके न प्राप्त होनेकी प्रार्थना अग्नि से की गई है। इसका कारण स्पष्ट ही है। हम पहिले देख आए हैं कि अग्नि यमलोकमें पितरोंके पास जाती है। अतः अग्नि द्वारा ही यक्ष्मरोगके वहां पहुंचने की संभावना है। अतएव अग्नि से कहा गया है कि यम व पितरोंको यक्ष्म प्राप्त मत होवे।

वधूदर्श पितर ।

ये पितरो वधूदर्शा इमं वहतुमागमन्।
ते अस्यै वध्वै संपत्न्यै प्रजावच्छर्म यच्छन्तु ॥
अथर्व० १४।२।७३॥

[ये] जो [वधूदर्शाः] वधू को देखने की इच्छावाले [पितरः] पितृगण [इमं वहतुं] इस रथको [आगमन्] प्राप्त हुए हैं, [ते] वे पितर [संपत्न्यै अस्यै वध्वै] उत्तम पत्नी इस वधू के लिए [प्रजावत् शर्म] संततिवाले सुखको [यच्छन्तु] देवें। अर्थात् इसे संततिजन्य सुख देवें।

जब कन्या विवाहके नन्तर पतिगृहको जाने लगती है तब रथमें या अन्य वाहन में सवार होनेपर उसे जो पितर देखने

आए हैं उनसे प्रार्थना की गई है कि इस वधू को उत्तम संतान देकर सुखी करो ।

कन्याका सदा पितरों (श्वशुरकुल) में रहना ।

भगमस्या वर्च आदिष्यधि वृक्षादिव स्रजम् ।
महाबुध्न इव पर्वतो ज्योक् पितृष्वास्ताम् ॥
अथर्व० १।१४।१॥

(वृक्षात् स्रजं इव) जिस प्रकार वृक्षसे फूलोंकी माला ग्रहण करते हैं, उसी प्रकार मैं वर (अस्याः) इस कन्या का (भगं वर्चः) ऐश्वर्यशाली तेजको मैं (आदिषि) ग्रहण करता हूं अर्थात् इस कन्या को पत्नी रूपसे मैं स्वीकृत करता हूं । यह वधू (महाबुध्नः पर्वतः इव) बडे मूलवाले पर्वत की तरह (ज्योक्) सदा (पितृषु आस्ताम्) पितरोंमें अर्थात् अपने (कन्याके) श्वशुर कुलमें स्थिर रहे, जिस प्रकार बडी मूलवाला पर्वत जडोंके खूब जमीन के अन्दर गहरा जाने से निश्चल होता है, उसी प्रकार यह निश्चल श्वशुरकुलमें रहे ।

एषा ते कुलपा राजन् तामु ते परि दद्मसि
ज्योक् पितृष्वासाता आशीर्ष्णः शमोप्यात् ॥
अथर्व० १।१४।२॥

इस मंत्रमें वरके श्वशुरकुल की वरके प्रति उक्ति है । कन्याका पिता कन्यादान करता हुआ वरसे कहता है कि- (राजन्) हे राजमान वर ! (एषा) यह वधू [ते कुलपा] तेरे कुलका रक्षण करनेवाली है [तां] इस प्रकारकी इस वधू को [ते परिदद्मसि] तुझे हम सौंपते हैं । यह कन्या [ज्योक्] सर्वदा [पितृषु आसातै] तेरे [वरके] पितरों में अर्थात् श्वशुरकुल में स्थित रहे । [आशीर्ष्णः सं ओप्यात्] सिरसे लेकर सब अङ्गोंमें इसकी वृद्धि होती रहे अर्थात् श्वशुरकुलमें यह क्षीण न होवे सर्वदा वृद्धिको प्राप्त होती रहे ।

इस प्रकार इन मंत्रोंमें पितरोंका अभिप्राय श्वशुरकुल प्रतीत होता है ।

पूषाकी पितरोंको प्रेरणा ।

आ तत्ते दस्रमन्तुमः पूषन्नवो वृणीमहे ।
येन पितॄनचोदयः ॥ ऋ० १।४२।५॥

(दस्र) हे दर्शनीय वा दुष्टोंके नाश करनेवाले (मंतुमः) ज्ञानवान् (पूषन्) पूषा ! (ते अवः वृणीमहे) हम तेरी उस रक्षाको चाहते हैं (येन) जिससे कि तू (पितॄन् अचोदयः) पितरों को प्रेरित करता है ।

पूषा पितरों को अपनी रक्षा द्वारा प्रेरित करता रहता है ऐसा यहांपर ज्ञात होता है ।

ब्रह्मगौके दूध पीने से पितरों में पाप ।

क्रूरमस्या आशसनं तृष्टं पिशितमस्यते
क्षीरं यदस्याः पीयते तद् वै पितृषु किल्बिषम् ॥
अथर्व० ५।१९।५॥

[अस्याः] इस ब्रह्मगौका [आशसनं] मारना [क्रूरं] क्रूरता का काम है । यदि [पिशितं अस्यते] उसका मांस खाया जावे तो वह [तृष्टं] प्यास लगानेवाला होता है । [अस्याः यत् क्षीरं पीयते] इसका जो दूध पिया जाता है [तद्] वह दूध पीना (वै) निश्चय से (पितृषु किल्बिषं) पितरों में पाप पैदा करनेवाला होता है।

संपूर्ण सूक्त देखने से ब्रह्म-गौका अर्थ ब्राह्मण की जमीन, वाणी किंवा गाय प्रतीत होता है। यदि राजा ब्राह्मण की जमीन को छीन ले वा उसपर कर लगावे अथवा अन्य किसी प्रकार का अत्याचार करे, तो उसे इससे क्या नुकसान होता है, इसका यहांपर वर्णन है । इसके अनुसार पितर शब्द से राजकर्मचारियोंका ग्रहण है ।

पालक अर्थमें पितर ।

खण्वखाई खैमखाइ मध्ये तदुरि ।
वर्षं वनुध्वं पितरो मरुतां मन इच्छत ॥
अथर्व० ४।१५।१५

(खण्वखे, खैमखे तदुरि) हे खण्वखा, खैमखा तथा तदुरी नामक जातिवाले मण्डूको ! (वर्षं मध्ये वनुध्वं) वर्षाके बीचमें आनन्दित होओ । (पितरः) हे पालक जनो ! तुम (मरुतां मन इच्छत) वायुओंका (मनः) मनन करने योग्य ज्ञान प्राप्त करो। अर्थात् किस वायुसे कब व कैसी वृष्टि होती है इत्यादि वायुसंबन्धी ज्ञानके मनन करनेका प्रयत्न करो ।

इस मंत्रके आध्यात्मिक अर्थमें पितर इंद्रियोंके लिए आया प्रतीत होता है । आध्यात्मिक अर्थ इस प्रकार है-

(खण्वखे) हे इडानाडि ! (खैमखे) हे पिंगला नाडि ! (तदुरि) हे ब्रह्म तक पहुंचानेवाली नाडि ! तथा (मध्ये) हे मध्यमें रहनेवाली सुषुम्ना नाडि ! तुम (वर्षं वनुध्वं) ब्रह्म-

ज्ञानसे उत्पन्न आनन्दतृप्तिसे आनन्दित होओ । (पितरः) हे इन्द्रियगणो ! तुम (मनः इच्छत) मनके साथ संगत होनेकी इच्छा करो अर्थात् मनके साथ एकाग्र होओ, ताकि ब्रह्मज्ञान का लाभ होसके । ' खण्वखाः--कण्वं आत्मानं खनतीति खण्वखाः । खकारः छांदसः । खैमखाः-खै स्थैर्ये से मन् प्रत्यय । जो स्थिरता उत्पन्न करे । तदुरी—तत् ब्रह्म इयर्तीति तदुरी ।'

मेधाके उपासक पितर ।

यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते ।
तया मामद्य मेधयाऽग्ने मेधाविनं कुरु स्वाहा ।
यजु० ३२।१४ ॥

(यां मेधां) जिस बुद्धिकी (देवगणाः पितरः च) देवगण तथा पितृगण [उपासते] उपासना करते हैं, हे अग्ने ! [तया मेधया] उस मेधासे [अद्य] आज [मां] मुझे [मेधाविनं] मेधावी [कुरु] कर। [स्वाहा]।

इस मंत्रमें उस मेधाको मांगा गया है, जिसकी कि पितर उपासना करते रहते हैं।

पितरोंका देवत्व लाभ ।

महिम्न एषां पितरश्च नेशिरे देवा देवेष्वदधुरपि क्रतुम् । सम विव्यचुरुत यान्यत्विषु रैषां तनूषु नि विविशुः पुनः ॥ ऋ० १०।५६।४ ॥

[एषां महिम्नः पितरः च न ईशिरे] इन देवोंकी महिमाके पितर भी स्वामी बने अर्थात् पितरोंने देवोंकी महिमाको प्राप्त किया यानि देव बन गए। और इस प्रकार [देवाः] देव हुए हुए [देवेषु अपि क्रतुं अदधुः] देवोंमें भी कर्म करने लगे ताकि देवत्वसे भी ऊंचे पदका लाभ हो [उत] और (यानि अत्विषु) जो तेज प्रकाशित हो रहे हैं वे (सम विव्यचुः) एकत्रित हुए। तथा (पुनः) फिर [एषां] इन पितरोंके [तनूषु] शरीरोंसे (निविविशुः) पूर्णतया प्रविष्ट होगये । पितरोंके देवत्व लाभको इस मंत्रसे पता चलता है ।

यज्ञका पितरोंमें जाना ।

देवान् दिवमगन् यज्ञस्ततो मा द्रविणमष्टु मनुष्यानन्तरिक्षमगन् यज्ञस्ततो मा द्रविणमष्टु पितॄन् पृथिवीमगन् यज्ञस्ततो मा द्रविणमष्टु यं कं च लोकमगन् यज्ञस्ता मे भद्रमभूत् ॥ यजुः ८।६०॥

(यज्ञः) यज्ञ (देवान् दिवं अगन्) देवोंको व द्युको गया है । (ततः) इस कारणसे (मा द्रविणं अष्टु) मुझे धनसे व्याप्त करे अर्थात् धन मिले।

इसी प्रकार यज्ञ मनुष्य व अंतरिक्ष, पितर व पृथिवी, तथा जिस किसी लोकको गया हुआ है वहांसे मुझे धनप्राप्ति करावे ।

पितरोंके लिए यज्ञ करनेसे धन लाभ होता है ऐसा यहां हमें मंत्रसे पता चल रहा है । इस मंत्रमें यज्ञके महत्त्वका वर्णन है ।

जनक अर्थमें पितर ।

ऐन्द्रः प्राणो अङ्गेऽअङ्गे निदीध्यदैन्द्र उदानो अङ्गे अङ्गे निधीतः । देवत्वष्टर्भूरि ते संसमेतु सलक्ष्मा यद्विषुरूपं भवाति । देवत्रा यन्तमवसे सखायोऽनु त्वा माता पितरो मदन्तु ॥ यजुः ६।२०॥

(ऐन्द्रः प्राणः) आत्मासंबंधी प्राण (अङ्गे अङ्गे) प्रत्येक अङ्गोंमें (निदीध्यत्) प्रकाशित होवें । (उदानः अङ्गे अङ्गे निधीत) उदान वायु प्रत्येक अङ्गमें स्थित होवें । (देवाः त्वष्टः) त्वष्टा देव (यत् सलक्ष्मा विषुरूपं भवाति) जो एकसा होते हुए भी विविध रूपवाला होगया है उसे (सं समेतु) भली प्रकार एकत्रित करें वा एकसा बनावे । (अवसे) रक्षाके लिए (देवत्रा यंतं त्वा देवोंके प्रति जाते हुए तेरे (माता पितरः) माता पिता (अनु मदन्तु) प्रसन्न होवें ।

विषाणका ओषधि व पितर ।

रुद्रस्य मूत्रमस्यमृतस्य नाभिः । विषाणका नाम वा असि पितॄणां मूलादुत्थिता वातीकृतनाशिनी ॥
अथर्व० ६।४४।३॥

इस मंत्रमें विषाणका नामक ओषधिका वर्णन है। हे ओषधि ! तू (रुद्रस्य मूत्रं असि) भयंकर रुलानेवाले रोगसे छुडानेवाली है। अर्थात् तेरे सेवनसे भयंकर रोगका भी शमन होजाता है । तू (अमृतस्य नाभिः) अमरताकी जननी है । तेरे सेवनसे अमरत्व प्राप्त हो सकता है । (विषाणका नाम असि) तू विषाणका नामवाली है । तू (पितॄणां मूलात् उत्थिता) पितरोंके मूलसे प्रकट हुई हुई है तथा तू (वातीकृत-नाशिनी) वायुसे उत्पन्न होनेवाले रोगोंका नाश करनेवाली है ।

इस मंत्रमें विषाणका ओषधिको पितरोंके मूलसे उत्पन्न हुई हुई बताया गया है । पितरों के मूल से उत्पन्न होनेका क्या अभिप्राय है, तथा ये पितर कौन हैं, जिनके कि मूलसे इस ओषधिकी उत्पत्ति होती है, इत्यादि वैद्योंके खोज करनेका

विषय है। संभव है वैद्यगण इसपर विशेष प्रकाश डाल सकें। वैद्यगण इस विषयमें सहायता करेंगे तो उत्तम होगा।

स्वर्गवर्णन ।

यत्रा सुहार्दः सुकृतो मदन्ति विहाय रोगं तन्वः स्वायाः। अश्लोणा अङ्गैरह्रुताः स्वर्गे तत्र पश्येम पितरौ च पुत्रान् ॥ अथर्व० ६।१२०।३॥

[यत्र] जहांपर [सुहार्दः सुकृतः] साधु हृदयवाले श्रेष्ठ कर्मोंके करनेवाले [स्वायाः तन्वः रोगं विहाय] अपने शरीरके रोगका त्याग करके अर्थात् रोगरहित शरीरसे युक्त हुए हुए [मदन्ति] आनन्द भोगते हैं, [तत्र स्वर्गे] वहांपर स्वर्गमें [अश्लोणाः] अपङ्ग न होते हुए [अङ्गैः अह्रुताः] शरीरावयवोंसे कुटिल गतिवाले न होते हुए अर्थात् अङ्गादिके टेढे न होनेसे सुन्दर गति करते हुए [पितरौ] माता, पिता तथा (पुत्रान्) पुत्रोंको देखें।

इस मंत्रमें स्वर्गका वर्णन है। जहांपर नीरोगी होते हुए मनुष्य सुखी रहते हैं, वह स्वर्ग है, ऐसा मंत्रका आशय प्रतीत होता है।

पितरोंका धन आदि देना ।

यस्मादुतमहुतमाजगाम दत्तं पितृभिरनुमतं मनुष्यैः। यस्मान्मे मन उदिव रारजीत्यग्निष्टद्धोता सुहुतं कृणोतु ॥ अथर्व० ६।७१।२॥

(यत्) जो प्रथम मंत्रोक्त गाय, घोडा, सोना आदि धन [हुतं] दिया हुआ अथवा [अहुतं] किसीसे न दिया हुआ, स्वयं कमाया हुआ और जो [पितृभिः दत्तं] पितरोंसे दिया हुआ जिसकी कि [मनुष्यैः अनुमतं] मनुष्योंने अनुमति दी है अर्थात् जो साधिकार न्यायसे [मा] मुझे [आजगाम] प्राप्त हुआ है, और [यस्मात्] जिस धनसे [मे मनः उत् इव रारजीति] मेरा मन उदयको प्राप्त हुआ हुआ अत्यंत शोभायमान हो रहा है, [तत्] उस धनको [होता अग्निः] दाता अग्नि [सुहुतं] उत्तमतासे दिया हुआ बनावे। अर्थात् उसको मैं सन्मार्गमें लगाऊं ऐसी मुझे सन्मति प्रदान करे।

व्रात्य व पिता, पितामह आदि ।

स सर्वानन्तर्देशाननुव्यचलत् ॥ अथर्व० १५।६।२४॥

तं प्रजापतिश्च परमेष्ठी च पिता च पितामहश्चानुव्यचलन् ॥ अथर्व० १५।६।२५।

प्रजापतेश्च वै स परमेष्ठिनश्च पितुश्च पितामहस्य च प्रियं धाम भवति य एवं वेद ॥ अथर्व० १५।६।२६॥

(सः) उस व्रात्यने (सर्वान् अन्तर्देशान्) सब भीतरी देशोंमें (अनुव्यचलत्) विचरण किया॥ १५।६।२४॥ (तं) उस व्रात्यके (अनु) पीछे (प्रजापतिः च परमेष्ठी च पिता च पितामहः च) प्रजापति अर्थात् राजा, परमेष्ठी यानि ऊंचेपदवाले विद्वान् वा संन्यासी पिता तथा पितामह विचरने लगे॥ १५।६।२५॥ (यः) जो व्यक्ति (एवं) इस प्रकार अर्थात् द्वितीय मंत्र (१५।६।२५) में कहे अनुसार (वेद) जानता है, वह प्रजापति, परमेष्ठी, पिता तथा पितामहका (प्रियं धाम) प्रिय घर बनता है अर्थात् उसीके घरमें यह पूजनीय-वर्ग आता है दूसरेके घरमें नहीं।

व्रात्य अर्थात् अतिथिका महत्त्व यहां दिखाया गया है। अतिथिके पीछे ये सब घूमते रहते हैं ताकि अतिथि इनके घरको अपने आगमनसे पवित्र करे।

स महिमा सद्रुर्भूत्वान्तं पृथिव्या अगच्छत् स समुद्रोऽभवत् अथर्व० १५।७।१॥

तं प्रजापतिश्च परमेष्ठी च पिता च पितामहश्चापश्च श्रद्धा च वर्षं भूत्वानुव्यवर्तयन्त ॥ अथर्व० १५।७।२॥

(सः) उस व्रात्यने (महिमा) अपनी महिमासे (सद्रुः भूत्वा) वेगवान् होकर (पृथिव्याः अन्तं अगच्छत्) पृथिवीके अन्तको प्राप्त किया। और (सः) वह व्रात्य (समुद्रः अभवत्) समुद्र हुआ॥ १५।७।१॥ (तं) उस व्रात्यके (अनु) पीछे पीछे प्रजापति, परमेष्ठी, पिता, पितामह, (आपः) श्रेष्ठ कर्म, (श्रद्धा च) और श्रद्धा (वर्षं भूत्वा) वर्ष बनकर (व्यवर्तयन्त) वर्तमान हुए वा वर्ताव करने लगे। यहां परभी व्रात्यकी महिमा गाई गई है।

पितरोंका जल्पिके विषयमें अज्ञान ।

नैतां विदुः पितरो नोत देवाः येषां जल्पिश्चरत्यन्तरेदम्। त्रिते स्वप्नमदधुराप्त्ये नर आदित्यासो वरुणेनानुशिष्टाः अथर्व. १९।५६।४।

(येषां) जिन ३३ देवोंकी (जल्पिः) दुःस्वप्नकी कारण-भूत जो यह वाणी (इदं अन्तर) इस जगतके बीचमें (चरति) विचरण कर रही है, (एतां) इस वाणीको (न पितरः विदुः न उत देवाः) न तो पितर ही जानते हैं और नहीं देव। (वरुणेन अनुशिष्टाः) वरुण द्वारा भली प्रकार उपदेश किए गए (आदित्यासः नरः) आदित्य नरोंने (स्वप्नं) स्वप्नका (आप्त्ये त्रिते) आप्त्य त्रितमें (अदधुः) स्थापित किया।

इस मंत्रसे प्रकृत विषयमें इतना ज्ञात होता है कि पितर जल्पिको नहीं जानते।

नाराशंस पितर।

···पितरो नाराशंसाः ॥ यजुः। ८। ५ ॥

(नाराशंसाः) नर जिनकी प्रशंसा करते हैं वे (पितरः) पितर नाराशंस पितर कहलाते हैं।

पिता–पितामह आदि पितर।

जीवं रुदन्ति विमयन्ते अध्वरे दीर्घामनु प्रसितिं दीधियुर्नरः। वामं पितृभ्यो य इदं समेरिरे मयः पतिभ्यो जनयः परिष्वजे। ऋ० १०।४०।१० ॥

यह मंत्र थोडेसे पाठभेदके साथ अथर्ववेदमें है—

जीवं रुदन्ति विनयन्त्यध्वरं दीर्घामनु प्रसितिं दीध्युर्नरः। वामं पितृभ्यो य इदं समीरिरे मयः पतिभ्यो जनयः परिष्वजे॥ अथर्व. १४।१।४६ ॥

(नरः) जो नर (जीवं रुदन्ति) पत्नियोंके जीवनके उद्देश्य से रोते हैं अर्थात् जो स्त्रियोंकी बहुत परवाह करते हैं, उनकी दुर्दशापर रोते हैं तथा जो (अध्वरे विमयन्ते) यज्ञमें उन स्त्रियों को प्रविष्ट कराते हैं अर्थात् उनके साथ यज्ञ में बैठते है, अथवा जो स्त्रियों की हिंसा नहीं करते, और जो (दीर्घां प्रसितिं) भुजाओंका लंबा लंबा आलिंगन स्त्रियोंको (अनुदीधियुः) देते हैं अर्थात् उनसे खूब प्रेम करते हैं, और (ये) जो (पितृभ्यः) पितरोंके लिए (वामं) सुन्दर संतानको (समीरिरे) पैदा करते हैं, ऐसे [पतिभ्यः] पतियोंके लिए [जनयः) पत्नियाँ [परिष्वजे] आलिंगन के लिए [मयः] सुख देती हैं अर्थात् ऐसे पतियोंको ही वास्तव में पत्नीसुख मिलता है।

इस मंत्रमें पत्नीसुख अर्थात् गार्हस्थ्यसुख किनको मिलता है, यह उत्तमतया दर्शाया गया है। पितरोंके लिए संतानोत्पत्ति करने व यज्ञमें पत्नीके बैठानेका भी यहां निर्देश है।

—:०:—

(२) यम।

अबतक के प्रकरणों में पितरों का विषय था वह प्रायः समाप्त हुआ है। अब हम आगे के प्रकरणोंमें यम पर विचार करेंगे। यमविषयक मंत्रोंके हम दो विभाग करेंगे। प्रथम विभागमें उन मंत्रों का उल्लेख होगा जिनमें यमको कोई खास विशेषण प्रयुक्त हुए हुए न होंगे द्वितीय विभागमें विशेषणविशिष्ट यम होगा। विशेषणविशिष्ट यमवाले मंत्र यमकी उत्पत्ति, स्थिति आदि विषयोंमें कुछ प्रकाश डालने में सहायक हो सकेंगे। द्वितीय विभागके-शीर्षक का नाम 'वैवस्वत यम' रखेंगे क्योंकि वैवस्वत विशेषण ही प्रायः यमके लिए प्रयुक्त हुआ हुआ मिलता है।

प्राणापहारी यम।

यम मृत्युकी अधिष्ठात्री देवता है। प्राणियों के जीवन के अपहरण का कार्य यम करता है। मृत्यु यमका ही दूत है, यह हमें आगे पता चलेगा। प्राणियोंके मारनेका काम यम करता है, यह निम्न मंत्रों से स्पष्ट हो रहा है।

> यदुलूको वदति मोघमेतद् यत्कपोतः पदमग्नौ कृणोति। यस्य दूतः प्रहितः एष एतत्तस्मै यमाय नमो अस्तु मृत्यवे ॥ ऋ० १०।१६५।४ ॥

[उलूकः यत् वदति] उल्लू जो अशुभ बोलता है [एतत्] वह उसका बोला हुआ [मोघं] निष्फल हो, अर्थात् इस उल्लूने जिस आनेवाली आपत्तिकी सूचना दी है वह निष्फल होवे। [कपोतः] और कबूतर [अग्नौ यत् पदं कृणोति] अग्निमें जो पैर करता है अर्थात् पैरसे अग्नि सेकता है, वह भी निष्फल हो। इस अपशकुन से सूचित आपत्ति का भी निराकरण हो। [एषः] यह उल्लू या कबूतर [यस्य प्रहितः दूतः] जिसका भेजा हुआ दूत है उस [मृत्यवे यमाय] मारनेवाले यम के लिए [नमः] नमस्कार [अस्तु] होवे।

इस मंत्र में उल्लू के बोलने या कबूतर के पैर से अग्नि सेकने आदि अपशकुन से उत्पन्न आपत्तिनिवारण की प्रार्थना है। अथर्ववेद सू० ६ मंत्र २७, २८ तथा २९ में भी ऐसा ही वर्णन मिलता है। पाठक वहां देख सकते हैं। ऐसे अपशकुन मृत्यु की संभावना को सूचित करते हैं, ऐसा जान पड़ता है।

❀

अतएव इन अपशकुनोंके करनेवालोंको यमका दूत कह कर पुकारा गया है। शकुन व अपशकुन संबन्धी वेदमंत्र हैं यह पाठकोंको लक्ष्यमें रखना चाहिए। अस्तु, यहां यम उसी अर्थ में है जिस अर्थ में कि वह प्रसिद्ध है।

> यः प्रथमः प्रवतमाससाद बहुभ्यः पन्थामनुपस्पशानः।
> योऽस्येशे द्विपदो यश्चतुष्पदस्तस्मै यमाय नमो अस्तु मृत्यवे ॥ अथर्व० ६।२८।३॥

[यः] जिस यमने [अनुपस्पशानः] खोज करते हुए [बहुभ्यः प्रथमः] बहुतोंसे पहिले होकर [प्रवतं पन्थां आससाद] प्रकृष्ट मार्गको प्राप्त किया तथा [यः] जो [अस्य द्विपदः] इस दो पैरोंवाले मनुष्यजगत्‌का व [अस्य चतुष्पदः) इस चारपैरोंवाले पशुजगत्‌का (ईशे) स्वामी है, (तस्मै) उस [मृत्यवे यमाय] मृत्यु करनेवाले यमके लिए (नमः अस्तु) नमस्कार होवे।

यहां पर भी यम उसी अर्थ में है जिस अर्थमें कि पूर्व मंत्रमें प्रयुक्त हुआ हुआ है।

> नमोऽस्तु ते निर्ऋते तिग्मतेजोऽयस्मयान् विचृता बन्धपाशान्। यमो मह्यं पुनरित् त्वां ददाति तस्मै यमाय नमो अस्तु मृत्यवे ॥ अथर्व० ६।६३।२॥

हे (तिग्मतेजः निर्ऋते) हे तेज नष्ट करनेवाली निर्ऋति! (ते नमः अस्तु) तेरे लिए नमस्कार है। [अयस्मयान् बन्धपाशान्] लोहेकी बनी हुई बेडियोंको (विचृत) खोलदे, काटदे। (यमः) यमने (त्वां) तुझे (मह्यं) मेरे लिए (पुनः इत्) फिर भी (ददाति) दिया है अर्थात् पुनः यमने मुझको तुझे सौंपा है। (तस्मै) उस (मृत्यवे यमाय) प्राणापहरण करनेवाले यमके लिए (नमः अस्तु) नमस्कार होवे।

तिग्मतेज– 'तिग गतौ हिंसायां च' से हिंसा अर्थ में तिग शब्द बनानेपर इसका अर्थ होगा कि जो तेजका नाश करे वह तिग्मतेज।

निर्ऋतिका अर्थ है कष्ट, दुःख, अनिष्ट।

यम यहां पर भी उपरोक्त अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ हुआ है।

> एवोष्वस्मान् निर्ऋते नेहा त्वमयस्मयान् विचृता बन्धपाशान्। यमो मह्यं पुनरित् त्वां ददाति तस्मै यमाय नमो अस्तु मृत्यवे॥ अथर्व० ६।८४।३॥

(निर्ऋते) हे निर्ऋति ! (त्वं) तू (अनेहा) न मारनेवाली होती हुई (अस्मान्) हमारे (एवो) उसी पूर्वोक्त प्रकारसे (अयस्मयान्) लोहमय-लोहके बने हुए (बन्धपाशान्) बेडियोंको (विचृत) खोलदे काट दे। (यमः त्वा पुनः इत) यमने तुझको फिर भी (मह्यं ददाति) मुझे सौंपा है। (तस्मै मृत्यवे यमाय) उस प्राणापहरण करनेवाले यमके लिए (नमः अस्तु) नमस्कार होवे।

> मा वो मृगो न यवसे जरिता भूदजोष्यः। पथा यमस्य गादुप॥ ऋ० १।३८।५॥

हे मरुतो ! [यवसे मृगः न] जिस प्रकार पशु घास आदि भक्ष्य पदार्थोंसे पृथक् नहीं होता अर्थात् सृष्टिमें उसे जैसे सदा घास आदि भक्ष्य पदार्थ स्वतंत्रतासे मिलते रहते हैं, उसी प्रकार (वः जरिता) तुम्हारी स्तुति करनेवाला (अजोष्यः) अप्रीतिकर अथवा असेवनीय अर्थात् उपभोगसामग्री की प्राप्ति से रहित (मा) मत होवे। उपासकको भी मृगकी तरह स्वतंत्रतासे उपभोगसामग्री प्राप्त होती रहे। और वह उपासक (यमस्य पथा) यमके मार्ग से (मा उपगात्) मत जावे यानि शीघ्र मृत्युको प्राप्त मत होवे।

इस मंत्र में भी स्पष्ट रूपसे प्राणापहरण करनेवाले यमका ही उल्लेख है।

> देवेभ्यः कमवृणीत मृत्युं प्रजायै किममृतं नावृणीत। बृहस्पतिं यज्ञमकृण्वत ऋषिं प्रियां यमस्तन्वं प्रारिरेचीत् ॥ ऋ० १०।१३।४॥

इस मंत्रका उत्तरार्ध थोडेसे पाठभेदके साथ अथर्ववेद में इस प्रकार से आया है—

> बृहस्पतिर्यज्ञमतनुत ऋषिः प्रियां यमस्तन्वं मा रिरेच॥ अथर्व० १८।३।४१॥

[देवेभ्यः] देवोंके लिए [कं मृत्युं] किस मृत्युको (अवृणीत) स्वीकृत किया है अर्थात् देवोंके लिए मृत्यु कौनसी है ? [प्रजायै] उत्पन्न होनेवाली मनुष्यादि संततिके लिए [किं अमृतं न अवृणीत] क्यों अमरता स्वीकृत नहीं की ? अर्थात् प्रजाको अमर क्यों नहीं बनाया ? मनुष्योंने [बृहस्पतिं ऋषिं] बृहस्पति ऋषिको अमरताप्राप्तिके लिए [यज्ञं अकृण्वत] यज्ञ बनाया, तोभी [यमः] यमने उनके [प्रियां तनुं] प्रिय शरीरको छीन लिया अर्थात् तोभी उन्हें अमरताका लाभ न हुआ। अथवा अथर्ववेदके पाठभेदानुसार इस मंत्रका अर्थ इस प्रकारभी हो सकता है-

(देवेभ्यः कं मृत्युं न अवृणीत) देवोंमेंसे कौन मरता न था ? अर्थात् देवभी सब मरते थे। तब (बृहस्पतिः ऋषिः यज्ञं अतनुत) देवोंमेंसे बृहस्पति ऋषिने अमरताकी प्राप्तिके लिए यज्ञ किया और देवोंके लिए (अमृतं अवृणीत) अमरताको प्राप्त किया पर (प्रजायै) प्रजाके लिए (किं अपि अमृतं न) कोईभी अमरता न प्राप्त की अतएव (यमः) प्राणोंके अपहरण करनेवाला यम प्रजाओंसे (प्रियां तन्वं) उनकी प्यारी देह (प्रारिरेचीत्) छीन लेता है अर्थात् प्रजाकी मृत्यु होती है।

यहांपर आलंकारिक रूपसे देवोंकी अमरता व मनुष्योंकी नश्वरताका वर्णन किया गया है।

> ये दक्षिणतो जुह्वति जातवेदो दक्षिणाया दिशोऽभिदासन्त्यस्मान्। यममृत्वा ते पराञ्चो व्यथन्तां प्रत्यगेनान् प्रतिसरेण हन्मि॥ अथर्व० ४।४०। २॥

[जातवेदः] हे जातवेद ! ये जो शत्रु [दक्षिणतः] दाहिनी ओरसे [जुह्वति] यज्ञ करके हम पर आक्रमण करते हैं और जो [दक्षिणायाः दिशः] दक्षिण दिशासे [अस्मान् अभिदासन्ति] हमें दास बनानेके लिए आक्रमण करते हैं [ते] वे शत्रु [यमं ऋत्वा] यमको प्राप्त करके [पराञ्चः] पीठ मोड कर भागते हुए [व्यथन्तां] व्यथित होवें अर्थात् उनका दुर्दशापूर्वक नाश होवे। [एनान्] इन शत्रुओंको मैं [प्रतिसरेण] प्रति सरसे हन्मि] मारता हूं।

प्रतिसर सायणाचार्यने इसका अर्थ किया है किजिससे आभिचारिक कर्मका निवारण हो।

> रुद्रो वो ग्रीवा अशरैत् पिशाचाः पृष्टीर्वोऽपि यमेन समजीगमत्॥ अथर्व० ६।३२।२॥

[पिशाचाः] हे पिशाचो ! [वः ग्रीवाः] तुम्हारी गर्दनोंको [रुद्रः] रुद्रने [अशरैत्] काट डाला है। [यातुधानाः] हे

पीड़ा देनेवाली ! [वः पृष्टीः अपि] तुम्हारी पसलियां भी वह वृक्ण (शृणातु) काट डाले । [विश्वतः वीर्या वीरुद् ।] सम्पूर्ण तथा वीर्यसे युक्त औषधि ! [वः] तुम्हें [यमेन सं अजीगमत्] यमके साथ भली भांति संयुक्त करे अर्थात् मार डाले।

इस मंत्रमें शत्रुविनाशार्थ जहरीली औषधियोंके प्रयोग करनेका निर्देश है । यमका अर्थ यहां अत्यन्त स्पष्ट है।

> यमो मृत्युरघमारो निर्ऋथो बभ्रुः शर्वोस्ता नीलशिखण्डः । देवजनाः सेनयोत्तस्थिवांसस्ते अस्माकं परिवृञ्जन्तु वीरान् ॥ अथर्व० ६।९३।१ ॥

(यमः) यम, (मृत्युः) मृत्यु, (अघमारः) पापसे या पापके कारण मारनेवाला, (निर्ऋथः) निरन्तर पीडा देनेवाला (बभ्रुः) पालक, (शर्वः) हिंसक (अस्ता) उठाकर फैंक देनेवाला, (नीलशिखण्डः) नील शिखण्ड (ते) उपरोक्त (देवजनाः) तथा देवजन मिलकरके (सेनया उत्तस्थिवांसः) सेना द्वारा आक्रमण के लिए तैयार हुए हुए (अस्माकं वीरान्) हमारे वीर सैनिकों को (परिवृञ्जन्तु) छोड देवें अर्थात् लडाई में हमारे सैनिकोंका विनाश न हो, अपितु उपरोक्त सब शत्रु-सैनिकोंका विनाश करें । यहांपर भी यमकी गिनती मारनेवालोंमें की गई है।

> ज्येष्ठघ्न्यां जातो विचृतोर्यमस्य मूलबर्हणात् परि पाह्येनम् । अत्येनं नेषद् दुरितानि विश्वा दीर्घायुत्वाय शतशारदाय ॥ अथर्व० ६।११०।२॥

(ज्येष्ठघ्न्यां जातः) ज्येष्ठघ्नीमें पैदा हुए हुए तथा (विचृतोः) विचृत् में पैदा हुए हुए इस कुमारको (यमस्य मूलबर्हणात्) यमके मूलोच्छेदनसे हे अग्नि! (परि पाहि) रक्षा कर । इसे मरनेसे बचा । (एनं) इस पुत्रको (विश्वानि दुरितानि) सर्व पापों विघ्नोंसे (अति) बचाकर (शतशारदाय दीर्घायुत्वाय) सौ वर्षकी दीर्घायुके लिए (नेषत्) ले चल । इसे सौ वर्षकी पूर्ण दीर्घायु प्राप्त होवे ।

ज्येष्ठघ्नी–ज्येष्ठा नामक नक्षत्रमें उत्पन्न संतान ज्येष्ठका नाश करती है । इस विषयमें तैत्तिरीय ब्राह्मणका निम्न वचन है– ' ज्येष्ठ एषां अवधिष्मेति तज्जेष्ठघ्नी ' ।

तै० ब्रा० १।५।२।८ ॥

विचृत्–हिंसक स्वभाववाले, मूल नक्षत्रका नाम है । इसमें पैदा हुई हुई संतान नष्ट हो जाती है । इसमें निम्न तै० ब्रा० का वचन है– ' मूलं एषां अवृक्षामेति तन्मूलबर्हिणी ' ॥

तै० ब्रा० १।५।२।८ ॥

यहांपर यमका जो संततिका मूलोच्छेदन अर्थात् जडसे नाश करना है, उससे बचानेकी प्रार्थना है । एवं यम यहांपर विनाश करनेके अर्थमें ही प्रयुक्त है ।

> विवस्वान् नो अमृतत्वे दधातु परैतु मृत्युरमृतं न एतु । इमान् रक्षतु पुरुषाना जरिम्णो मोष्वेषाम-सवो यमं गुः ॥ अथर्व० १८।३।६२ ॥

(नः) हमें (विवस्वान् अमृतत्वे) विवस्वान् सूर्य अमरतामें (दधातु) स्थापित करे । (मृत्युः परा एतु) मृत्यु दूर भाग जाय । (अमृतं नः एतु) हमें अमरत्व प्राप्त होवे । (इमान् पुरुषान्) इन पुरुषोंकी (विवस्वान्) सूर्य (जरिम्णः आरक्षतु) बुढापे तक रक्षा करे । (एषां असवः मो यमं गुः) इनके प्राण [illegible] जावें ।

इस प्रकार इन मंत्रोंके अवलोकनसे यम एक नाशक शक्ति है, यह प्राणियोंके प्राण हरण करनेवाला है । यह हमें स्पष्ट रूपसे पता चलता है। यम अन्य अर्थोंमें भी वेदोंमें प्रयुक्त है जैसा कि हम आगे चलकर दिखायंगे, पर इसके साथ साथ यम नाश करनेके अर्थमें भी प्रयुक्त है। इसीको हम यूं भी कह सकते हैं कि प्राणियोंके प्राण हरण करनेके महकमेके आधिकारीका नाम यम है। हम आगे चलकर देखेंगे कि यम इस महकमेका राजा है। इसकी बाकायदा प्रजा है,इसका लोक है,इसके दूत हैं,इत्यादि ।

अश्विनौ व यम ।

> वीळुपत्मभिराशुहेमभिर्वा देवानां वा जूतिभिः शाशदाना। तद्रासभो नासत्या सहस्रमाजा यमस्य प्रधने जिगाय ॥ ऋ० १।११६।२॥

हे (शाशदाना) चीराफाडी करनेवाले (नासत्या) अश्विनौ (विळुपत्मभिः) बलसे गिरनेवाले अर्थात् शक्तिशाली, (आशुहेमभिः) शीघ्रगामी घोडोंसे (वा) अथवा (देवानां जूतिभिः) देवोंकी प्रेरणाओंसे (तत् रासभः) उस रासभ अर्थात् गर्दभने जो कि तुम्हारी अश्विनौकी (सवारी है) (यमस्य) यमको (प्रधने आजौ)जिसमें बहुत धनकी प्राप्ति होती है ऐसे संग्राम में (सहस्रं) हजारोंको जीत लिया।

इस मंत्रमें अश्विनौ व यमकी लडाईका आलंकारिक वर्णन है । यम मारनेवाला है, और अश्विनौ देवोंके वैद्य होनेसे जिलाने वाले हैं। यहांपर यमका पराजय व अश्विनौके रासभकी जीतका वर्णन है ।

शाशदाना–शदलृ शातने से यह शब्द बना है। इसका अर्थ चीराफाडी करनेवाला है ।

रासभ-गर्दभ, गधा। यह अश्विनोकी सवारी है देखो निघण्टु १।१५॥

अमुत्र भूयादध यद् यमस्य बृहस्पते अभिशस्तेरमुञ्चः। प्रत्यौहतामश्विना मृत्युमस्मद्देवानामग्ने भिषजा शचीभिः यजुः २७।९; अथर्व० ७।५३।१॥

[बृहस्पते] हे बृहस्पति ! [यमस्य अमुत्र भूयात् अभिशस्तेः] इस परलोकमें यमके कष्टसे [अमुंचः] हमें छुडा अर्थात् यम हमें मारने न पावे। [अग्ने] हे अग्नि! [देवानां भिषजा अश्विना] देवके वैद्य अश्विनौ [शचीभिः] अपनी शक्तियों से सामर्थ्योंसे [अस्मत् मृत्युं] हमारी मृत्युको [प्रत्यौहतां] दूर करें।

अश्विनौ मृत्यु दूर करनेमें समर्थ हैं, ऐसा यहां पर व्यक्त होता है। यमकी हिंसासे बचानेके लिए प्रार्थना की गई है।

इस प्रकार अश्विनौका जिस यमसे मुकाबला पडता है वह भी यम वही है, जो हम ऊपर दर्शा आए हैं। उपरोक्त यमकी ही पुष्टि इन मंत्रोंसे हो रही है।

विष्टारी ओदन व यम।

विष्टारिणं ओदनं ये पचन्ति नैनानवर्तिः सचते कदाचन। आस्ते यम उपयाति देवान्सं गन्धर्वैर्मदते सोम्येभिः॥ अथर्व० ४।३४।३

[ये] जो [विष्टारिणं ओदनं] विस्तारवाले अर्थात् फैले हुए ओदनको [पचन्ति]पकाते हैं [एनान्] उनको [अवर्तिः] दरिद्रता [कदाचन] कभी भी [न सचते] प्राप्त नहीं होती अर्थात् वे कभी भी गरीब नहीं होते। वह ओदन पाचक [यमे आस्ते] यममें स्थित होता है, [देवान् उपयाति] देवों को प्राप्त होता है और [सोम्येभिः गन्धर्वैः] सोम्य गंधर्वों के साथ [संमदते] आनन्दित होता है।

विष्टारी ओदन पाचक की यममें स्थिति होती है, ऐसा यहां दर्शाया गया है।

एवं इस मंत्रमें विष्टारी ओदनकी महिमाका वर्णन किया गया है। यहां यमका अर्थ योगशास्त्रोक्त अहिंसादि पञ्चयम प्रतीत होता है। परन्तु इससे अगले मंत्र अर्थात् ४।३४।४ में यम उपरोक्त अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ हुआ प्रतीत होता है। वह मंत्र इस प्रकार है-

विष्टारिणमोदनं ये पचन्ति नैनान् यमः परिमुष्णाति रेतः। रथीह भूत्वा रथयान ईयते पक्षी ह भूत्वाति दिवः समेति॥ अथर्व० ४।३४।४॥

(ये) जो (विष्टारिणं ओदनं पचन्ति) विस्तृत ओदन को पकाते हैं (एनान् रेतः यमः न परिमुष्णाति) उनका वीर्य-सामर्थ्य यम अपहरण नहीं करता। (ह) निश्चयसे वह ओदन पाचक (रथी भूत्वा) रथ पर सवार होकर (रथयाने) रथ से जाने योग्य अर्थात् उत्तम मार्ग में (ईयते) विचरण करता है। अर्थात् वह रथादि यानों से संपन्न हुआ हुआ सर्वत्र विचरण करता है। (पक्षी भूत्वा) पक्ष-पंखोंवाला होकर अर्थात् विमानादि वायुयानोंमें सवार होकर (दिवः समेति) द्युलोक में विचरण करता है। वह आकाश, भूमि आदि सर्व स्थानों में अव्याहत गति से विचरण कर सकता है। उसके जानेके लिए कहीं भी रोक टोक नहीं।

यम जो सबका सामर्थ्य हरण कर लेता है, वह भी इसका वीर्य नहीं हरता। इस प्रकार इन दोनों मंत्रों में विष्टारी ओदनकी महिमा गाई गई है। यमको भी इसके पाचकके साम ने हार माननी पडती है ऐसा इस सारे का अभिप्राय व्यक्त होता है।

विष्टारी ओदन- विष्टारीका अर्थ है विस्तारवाला अर्थात् जिसका परिमाण बडा विस्तृत है। ओदन शब्द यहांपर अन्न का उपलक्षण है। विष्टारी यज्ञ ओदन से किया जाता है। इस अन्नदानयज्ञकी महिमा इस सूक्त में दर्शाई गई है।

यमका कर्ता अग्नि।

अयं यो होता किरु स यमस्य कमप्यूहे यत्समञ्जन्ति देवाः। अहरहर्जायते मासि मास्यथा देवा दधिरे हव्यवाहम्॥ ऋ० १०।५२।३॥

(अयं यः होता) यह जो दान-आदान करनेवाली अग्नि है (स) वह (यमस्य किः) यमकी कर्ता है। वह (कं अपि ऊहे) अन्नका भी वहन करती है (यत्) जिस अन्न को (देवाः समञ्जन्ति) देव लोक खाते हैं। यह अग्नि (अहः अहः जायते), प्रतिदिन हवनके समय उत्पन्न होती है अर्थात् इसे प्रज्वलित किया जाता है। और यह (मासि मासि) प्रत्येक मासमें या प्रत्येक पक्षमें मासिक व पाक्षिक यज्ञमें प्रकट होती है। (अथ) और (देवाः) देवगण

(हव्यवाहं) हव्यका वहन करनेवाली इस अग्निको (दधिरे) स्थापित करते हैं ।

इस मंत्रमें अग्नि को यम की करनेवाली बताया गया है । यहांपर यम का अर्थ वायु भी हो सकता है क्योंकि अग्नि वायु को शुद्ध करती है । प्रचण्ड अग्नि के उद्दीप्त होनेपर हवा खूब जोर से चलने लगती है । इसके अतिरिक्त इस मंत्रसे यह भी पता चलता है कि दैनिक, पाक्षिक तथा मासिक यज्ञ करने चाहिये ।

क = अन्न । मास = मास तथा पक्ष ।

यमकी बेडी ।

मुञ्चन्तु मा शपथ्यादथो वरुण्यादुत ।
अथो यमस्य पड्वीशात् सर्वस्माद्देवकिल्बिषात् ।
॥ ऋ० १०।९७।१६॥ यजुः१२।९०॥
अथर्व. ६।९६।२॥ तथा ७।११२।२॥

(मा)मुझे औषधियां (शपथ्यात्) शाप देनेसे होनेवालेपापसे (मुञ्चन्तु) छुडावें । (अथ उत) और (वरुण्यात्) वरुण संबन्धी किए गए पापसे छुडावें । [अथ] और [यमस्य] यमकी [पड्वीशात्] पैरोंकी बेडियोंसे छुडावें । [सर्वस्मात् देवकिल्बिषात्] सभी देवोंके संबन्धी पापोंसे औषधियां मुझे छुडावें । पड्वीश- पादबंधन, शृंखला = पैरों की बेडी ।

उत् त्वाहार्षं पञ्च शलादथो दशशलादुत ।
अथो यमस्य पड्वीशाद् विश्वस्माद् देवकिल्बिषात् ॥
अथर्व० ८।७।२८ ॥

[त्वा] तुझे [पंचशलात्] पंचभूतमें होनेवाले पापसे [अथ उत] और [दशशलात्] दशों दिशाओंमें होनेवाले पापसे [अथ] और [यमस्य पड्वीशात्] यमकी पैरोंकी बेडियोंसे तथा [विश्वस्मात्] सारे [देवकिल्बिषात्] देवोंके प्रति किए गए पापोंसे [उत् आहार्षं] बचाकर ऊपर ले गया हूं ।

इन मंत्रोंमें यमकी बेडियोंसे छूटनेकी प्रार्थना है । यहांपर भी यम मारनेवाला ही है, यह स्पष्ट पता चल रहा है । आगे चलकर यमविषयक वर्णन जब हम देखेंगे तो यमकी पड्वीश आदिका खुलासा स्वयमेव हो जाएगा ।

वैवस्वत यम ।

यत्ते यमं वैवस्वतं मनो जगाम दूरकम् ।
तत्त आवर्तयामसीह क्षयाय जीवसे ॥ ऋ० १०।५८।१॥

[ते] तेरा [यत् मनः] जो मन [दूरकं] बहुत दूर [वैवस्वतं यमं] विवस्वान् के पुत्र यमके पास [जगाम] चला गया है, [ते तत्] तेरा वह मन पुनः [इह] इस लोकमें [क्षयाय] निवास करनेके लिए व [जीवसे] जीवन धारण करनेके लिए हम [आवर्तयामसि] लौटाते हैं ।

यहांपर वैवस्वत यम के पास चले गए मनके प्रत्यावर्तनका उल्लेख है । यमको वैवस्वत विशेषण दिया गया है । वैवस्वत का अर्थ है विवस्वान् की संतान । इससे यह पता चलता है कि मारनेवाला यम विवस्वान् का लडका है । इसपर हम थोडासा प्रकाश आगे चलकर डालेंगे ।

क्षयाय=निवास करनेके लिए,रहनेके लिये। 'क्षि निवासगत्योः

यमादहं वैवस्वतात् सुबन्धोर्मन आभरम् ।
जीवातवे न मृत्यवेऽथो अरिष्टतातये ॥
ऋ० १०।६०।१०

[अहं] मैं [वैवस्वतात् यमात्] विवस्वान् के पुत्र यमसे [सुबन्धोः मनः आभरम्] सुबन्धु अर्थात् उत्तम बन्धुका मन छीन करके ले आता हूं । किस लिए ? [जीवातवे] इस लोकमें जीनेके लिए [मृत्यवे न] मरनेके लिए नहीं । [अथ] और [अरिष्टतातये] सुखके विस्तारके लिए

इस मंत्रका भाव भी पूर्वके मंत्रसे मिलता है । यहांपरभी यमको विवस्वान् के पुत्रके नामसे कहा गया है । निम्न लिखित मंत्र हमारी ऊपरकी स्थापनाको स्पष्ट रूपसे पुष्ट कर रहा है। इसमें यमकी माता व विवस्वान् दोनोंका उल्लेख है । विवस्वान् कौन है यह भी पाठकोंको इससे स्पष्ट रूपमें पताचल जायगा । मंत्र इस प्रकार है—

त्वष्टा दुहित्रे वहतुं कृणोतीतीदं विश्वं भुवनं समेति ।
यमस्य माता पर्युह्यमाना महोजाया विवस्वतो ननाश॥
ऋ० १० । १७ । १; अथर्व० १८।१।५३॥

(त्वष्टा दुहित्रे वहतुं कृणोति) त्वष्टा अपनी पुत्री का विवाह रचता है (इति) इस कारण (इदं विश्वं भुवनं) यह सारा भुवन (समेति इकठ्ठा होता है । (परि उह्यमाना) ब्याही जाती हुई (यमस्य माता) यम की जननी व (महः विवस्वतः जाया) महान् विवस्वान् की पत्नी (ननाश) नष्ट हो जाती है ।

इसी सूक्त के प्रथम मंत्रसे पता चलता है कि त्वष्टा की पुत्री का नाम सरण्यू है और उस का त्वष्टा विवस्वान् के साथ

विवाह करता है । इस मंत्र से हमें यह पता चलता है कि त्वष्टा-की पुत्री सरण्यू यमकी माता है व विवस्वान्की पत्नी है अर्थात् विवस्वान् यमका पिता है । अब हमें यह देखना है कि यम-का पिता यह विवस्वान् कौन है ।

यास्काचार्य इस मंत्रके उत्तरार्धकी व्याख्या करते हुए लिखते हैं, कि 'यमस्यमाता पर्युह्यमाना महतो जाया विवस्वतो ननाश, रात्रिरादित्यस्यादित्योदयेऽन्तर्धीयते । ' अर्थात् यमकी माता ब्याही जाती हुई जो कि महान् विवस्वान्की जाया है नष्ट हो गई । 'आगे जाया विवस्वतो ननाश' का स्पष्टीकरण करते हैं कि ' रात्रि सूर्यकी जाया, सूर्यके उदय होनेपर छिप जाती है । '

इस प्रकार विवस्वान्का अर्थ हुआ आदित्य अर्थात् सूर्य । इस उपरोक्त विवेचनसे हम निम्न परिणाम पर पहुंचते हैं– यमकी माताका नाम सरण्यू है व पिताका नाम विवस्वान् अर्थात् सूर्य है। अर्थात् यम विवस्वान् (सूर्य) का पुत्र है, अतएव उसे वेदमंत्रोंमें वैवस्वत'के नामसे पुकारा गया है । वैवस्वत यमका ही सर्वत्र विशेषण है अन्यका नहीं, अत एव वैवस्वतके साथ यम न भी प्रयुक्त हुआ हुआ हो, तो भी उसीका ग्रहण होता है ।

निम्न लिखित मंत्रोंमें अकेले ' वैवस्वत ' शब्दकाही प्रयोग है ।

> भद्रं वै वरं वृणते भद्रं युञ्जन्ति दक्षिणम् । भद्रं वैवस्वते चक्षुर्बहुत्रा जीवतो मनः ॥
> ऋ० १०।१६४।२ ॥

इस मंत्रमें दुष्ट स्वप्नके नाश करनेकी प्रार्थना है । अर्थ इस प्रकार है–

सब लोक [वै] निश्चयसे [भद्रं वरं वृणते] कल्याणकारी वरको ही चाहते हैं । [दक्षिणं भद्रं] बढे हुए कल्याणसे ही अपना [युञ्जन्ति] योग रखना चाहते हैं [वैवस्वते भद्रं चक्षुः] विवस्वान् के पुत्रकी मैं कल्याणकारी चक्षुको अर्थात् उसकी कृपादृष्टि को चाहता हूं, ताकि दुःस्वप्न हमें बाधा न पहुंचावें । क्योंकि [बहुत्रा] बहुतसे विषयोंमें [जीवतः] जीते हुए अर्थात् लगे हुए मेरा [मनः] मन उनमें विचरण करता रहता है, अतः दुःस्वप्न आनेकी संभावना है ।

इस मंत्रमें यह दर्शाया गया है कि कल्याणकारी विचार व वातावरण रहनेसे दुःस्वप्न नहीं आसकता । दुःस्वप्न न आनेके लिए वैवस्वतसे प्रार्थना की गई है । यह वैवस्वत यम ही है, यह उपरोक्त विवेचनासे तो पुष्ट हो ही रहा है, पर आगे चलकर ' यम व स्वप्न ' इस प्रकरणमें हमें स्पष्ट रूपसे ज्ञात होगा कि स्वप्नका यमसे कितना संबन्ध है । दुःस्वप्न यमका साधन है अर्थात् दुःस्वप्नसे मृत्यु भी हो सकती है । अस्तु। यहांपर यह सब स्पष्ट रूपसे हम दर्शानेका प्रयत्न करेंगे।

> वैवस्वतः कृणवद् भागधेयं मधुभागो मधुना सं सृजाति । मातुर्यदेन इषितं न आगन् यद् वा पितापराद्धो जिहीडे ॥ अथर्व० ६।११६।२॥

(वैवस्वतः) विवस्वान्का पुत्र (भागधेयं कृणवत्) भागको करे अर्थात् बँटवारा करे । [मधुभागः] उत्तम भाग करनेवाला वह हमें (मधुना संसृजाति) हमें मधुसे युक्त करे। अर्थात् हम भी उत्तम बंटवारा करनेवाले हों व सर्वप्रिय बनें । (यत् एनः) जो पाप (मातुः नः आगन्) मातासे हमें प्राप्त हुआ है अर्थात् माताका अपराध करनेसे यदि हमने कोई पाप किया है तो वह (यद् वा) अथवा जिस पापसे (पिता अपराद्धः) हमने पिताका अपराध किया है जिससे कि पिता (जिहीडे) क्रोधित हुआ है, वह सब उपरोक्त शांत होवे ।

इस प्रकार इस प्रकरणमें हमें यमके संबन्धमें निम्न लिखित मुख्य बातोंका पता चलता है–

(१) यम नामक कोई प्राणियोंके जीवनोंका अपहरण करनेवाला है ।

(२) उसके पिताका नाम विवस्वान् (सूर्य) है, अतएव उसका दूसरा नाम वैवस्वत भी है ।

(३) उसकी माताका नाम सरण्यू है जो कि त्वष्टाकी पुत्री है ।

इतने यमसंबन्धी विवेचनके बाद हम यह देखेंगे कि यमका रहनेका कोई स्थान है वा नहीं, वह प्राणियोंको मारकर कहां-पर लेजाता है, इत्यादि ।

यमलोक व यमराज्य ।

इस प्रकरणमें हम यमके लोक व उसके राज्यके संबन्धमें विचार करेंगे अर्थात् यमलोक यदि है, तो कहांपर है, इसपर प्रकाश डालनेका प्रयत्न करेंगे । निम्न लिखित मंत्र यह प्रतिपादन कर रहे हैं कि यमका एक खास लोक है–

> उग्रंपश्ये राष्ट्रभृत् किल्बिषाणि यदक्षवृत्तमनुदत्तं न एतत् । ऋणान्नो नर्णमेर्त्समानो यमस्य लोके अधिरज्जुरायात् ॥ अथर्व० ६।११८।२॥

हे [उग्रंपश्ये] तीव्रदृष्टिवाली तथा हे [राष्ट्रभृत्] राष्ट्र का भरण पोषण करनेवाली अप्सराओ ! [किल्बिषाणि] सर्व पाप व (यत् अक्षवृत्तं) जो पाप इन्द्रियों द्वारा किया है (तत्) वह पाप (नः) हमें (अनुदत्तं) अनुकूलतासे दिया हुआ हो अर्थात् उस पापसे हमें हानि न पहुंचे इस प्रकारसे दो, उस पापको दूर करो । और (ऋणात् ऋणं एत्सैमानः) ऋणसे व्याज आदि द्वारा ऋणको बढाता हुआ उत्तमर्ण अर्थात् ऋण देनेवाला (यमस्य लोके) यमके लोकमें (अधिरज्जुः) हाथमें रस्सी लिए हुए (नः न आयात्) हमें प्राप्त न होवे अर्थात् हमें ऋणसे भी मुक्त कर दो ताकि यमलोकमें हम सुखपूर्वक रह सकें ।

इस मंत्रसे ऐसा पता चलता है कि जबतक ऋण न चुकाया जावे तबतक मनुष्य उससे मुक्त नहीं हो सकता । मरनेवाला यदि ऋण विना चुकाए मरेगा तो यमलोकमें भी उसे वह ऋण चुकाना पडेगा । उत्तमर्ण वहांपर भी अपना ऋण लेनेके लिए पीछा करता हुआ आ पहुंचेगा । ऋण लेना कितना कष्टप्रद है यह इससे पता चलता है ।

> यथायाद् यमसादनात् पापलोकान् परावतः ॥
>
> अथर्व० १२।११।३॥

इस मंत्रके अर्थके स्पष्टीकरणके लिए पूर्व मंत्रको भी साथमें लेना चाहिए । पूर्व मंत्र इस प्रकार है–

> ब्रह्मज्यं देव्यघ्न्य आ मूलादनु संदह ॥
>
> अथर्व० १२।११।२॥

हे [अघ्न्ये] अहिंसा करनेके अयोग्य ! हे देवी ब्रह्मगौ ! [ब्रह्मज्यं] ब्रह्मकी हिंसा करनेवाले घातकको [आमूलात्] जडसे लेकर ऊपरतक [अनुसंदह] संपूर्ण जला दे ॥ १२।११।२ ॥ [यथा] जिससे कि वह ब्रह्मघातक [यमस्य सादनात्] यमके सदनसे भी [परावतः] दूर स्थित (पापलोकान्) पापियोंके लोकको [अयात्] जावे ।

इस मंत्रसे ऐसा पता चलता है कि घोर कर्म करनेवाले पापियोंको यमलोकमें स्थान नहीं मिलता, वे उस यमलोकसे भी परे स्थित पापलोक में जाते हैं । इसके उलट यह भी ज्ञात होता है कि यमलोकमें जानेवाले पापियोंके अतिरिक्त जन हैं । अतः यमलोक निकृष्ट स्थान नहीं है ।

> इदं यमस्य सादनं देवमानं यदुच्यते ।
> इयमस्य धमते नाळीरयं गीर्भिः परिष्कृतः ॥
>
> ऋ० १०।१३५।७ ॥

(इदं यमस्य सादनं) यह यमका घर है । (यत् देवमानं उच्यते) जो कि देवों द्वारा बनाया गया है, इस प्रकार कहा जाता है । (अस्य इयं नाळीः) इस यमकी प्रीतिके लिए यह स्तुतिरूपी वाणी (धमते) उच्चारण की जाती है । (अयं) यह यम (गीर्भिः) स्तुतियुक्त वाणियोंसे (परिष्कृतः) शोभित होवे ।

इन मंत्रोंसे हमें साधारणतया इतना पता चलता है कि यमलोक करके कोई स्थान अवश्य है । निम्न लिखित मंत्रोंके देखनेसे ऐसा पता चलता है कि यमका उस लोकमें राज्य है अर्थात् यम वहांका राजा है । उस लोकका यम राजा होनेसे उसका नाम यमलोक पडा है । अतएव वह लोक उसके नामसे अर्थात् यमलोकके नामसे प्रसिद्ध है ।

> पुमान् पुंसोऽधितिष्ठ चर्मेहि तत्र ह्वयस्व यतमा प्रिया ते । यावन्तावग्रे प्रथमं समेयथुस्तद् वां वयो यमराज्ये समानम् ॥ अथर्व० १२।३।१ ॥

(पुमान् पुंसः अधितिष्ठ) हे पुरुष ! पुरुषोंका अधिष्ठाता बन अर्थात् उच्चाधिकार को प्राप्त कर । (चर्म) सुखको (इहि) प्राप्त कर । (तत्र) उस सुखमें (यतमा ते प्रिया) जो तेरी प्यारी है उसे (ह्वयस्व) बुला । (अग्रे) पहिले (यावन्तौ) जितने समर्थ हुए हुए तुम पतिपत्नी दोनों (प्रथमं) मरनेसे पूर्व की आयु में (समेयथुः) प्राप्त किया है (तत् वां वयः) वह तुम्हारा अन्न वा आयु (यमराज्ये) यमके राज्य में समान हो ।

इस मंत्रमें बडे महत्त्वका उपदेश है । सबसे पूर्व मनुष्य को उन्नति करनेके लिए कहा गया है । तदनंतर सुख प्राप्त करके अपने अनुसार परानोके चुननेके लिए कहा गया है । इसीको स्वयंवर कह सकते हैं । इस प्रकारके विवाहके बाद दम्पती मिलजुलकर अपने भविष्यको उज्ज्वल बनानेका प्रयत्न करें । जितना वे इस लोकमें कमावेंगे उतना यमलोकमें मिलेगा यह ‘ वां वयः यमराज्ये समानं ’ से दर्शाया है । इसका अभिप्राय यह हुआ कि स्त्रियां भी पतिके साथ यमलोकमें जाती हैं । अर्थात् जितना मृत पितरोंके प्रति हमारा कर्तव्य है, उतना ही मृत मामी, दादी आदि स्त्रीवर्गके लिए भी है ।

> समस्मिँल्लोके समु देवयाने सं स्मा समेतं यमराज्येषु । पूतौ पवित्रैरुप तद्ध्वयेथां यद् यद् रेतो अधि वां संबभूव ॥ अथर्व० १२।३।३ ॥

(अस्मिन् लोके) इस लोकमें (सं) अच्छी तरह वा साथ साथ तुम पतिपत्नी (एतं) विचरण करो। (उ) और (देवयाने) देवोंके मार्गमें (सं) मिलकर विचरण करो। (यमराज्येषु) यमराज्योंमें (सं एतम्) साथ मिलकर विचरण करो। (यत् यत् रेतः) जो वीर्य (स्वां अधि संबभूव) तुम दोनोंमें उत्पन्न हुआ है, (तत्) उस वीर्यको (पवित्रैः) पवित्राचरणों द्वारा (पूतौ) पवित्र हुए हुए तुम दोनों (उपह्वयेथां) अपने पास बुलाओ, अर्थात् पवित्र कार्योंमें ही वीर्यका उपयोग करो, व्यर्थ नष्ट मत करो।

इस मंत्रमें वीर्यके सदुपयोगके लिए गृहस्थ दंपतीको उपदेश दिया गया है। इसके सिवाय एक महत्त्वपूर्ण बात यह दर्शाई गई है कि पतिपत्नी में इतना अधिक प्रेम होना चाहिये कि वे सर्वत्र साथ ही रहें। चाहे वे इस लोकमें हों, चाहे यमलोकमें वा अन्य किसी लोकमें। उन्हें ऐसा प्रयत्न करना चाहिए कि वे किसी भी हालतमें जुदा न हो सके। यह वैदिक आदर्श यहां स्पष्ट रूपसे दर्शाया गया है। इस प्रकार यह मंत्र विशेष महत्त्वका है। इसका मनन करना चाहिए।

> सर्वान् कामान् यमराज्ये वशा प्रददुषे दुहे ।
> अथाहुर्नारकं लोकं निरुन्धानस्य याचिताम् ॥
> अथर्व० १२।४।३६ ॥

(वशा) वशा गौ (यमराज्ये) यमके राज्य में (प्रददुषे) प्रकृष्टके दानीके लिए (सर्वान् कामान्) सर्व प्रकार की कामनाओंको (दुहे) पूर्ण करती है। (अथ) और (याचितां) मांगी हुई के (निरुन्धानस्य) रोकनेवालेका अर्थात् यदि कोई सुपात्र वशाको मांगे और उसकोयदि न दी जावे तो न देनेवालेका (लोकं) लोकको (नारकं) महाकष्टप्रद (आहुः) कहते हैं अर्थात् न देनेवाले को नरक मिलता है।

इस मंत्रमें वशा गौकी महिमाका वर्णन है। वशा गौको दान करनेवाले को यमराज्यमें किसी भी प्रकारका कष्ट नहीं होता। उसकी सर्व कामनायें पूर्ण होती हैं और इसके प्रतिकूल वशाको न देनेवालेको नरक मिलता है।

> एतत् ते देवः सविता वासो ददाति भर्तवे ।
> तत्त्वं यमस्य राज्ये वसानस्तार्प्यं चर ॥
> अथर्व० १८।४।३१ ॥

हे पुरुष! (सविता देवः) प्रेरक देव (ते) तेरे लिए (भर्तवे) पहिननेके लिए (एतत् वासः) यह वस्त्र (ददाति) देता है। (तत् तार्प्यं) उस तृप्ति करनेवाले वस्त्रको (वसानः) पहिनकर (यमस्य राज्ये) यम के राज्यमें (चर) विचरण कर।

इस मंत्रमें मृत पुरुषको जो कि यमलोकमें पहुंच गया है, उसको वस्त्र देनेका विधान है।

निम्न लिखित मंत्रमें उस मृत पुरुषको तिलमिश्रित धान देनेका उल्लेख है, तथा यमराजासे इनको उस पुरुषके देनेके लिए अनुमति मांगी गई है-

> यास्ते धानाः अनुकिरामि तिलमिश्राः स्वधावतीः ।
> तास्ते सन्तूद्भ्वीः प्रभ्वीः तास्ते यमो राजानुमन्यताम् ॥
> अथर्व० १८।४।४३ ॥

(ते) तेरे लिए (याः तिलमिश्राः स्वधावतीः धानाः) जिन तिलोंसे मिश्रित अर्थात् तिलमिले हुए स्वधावाले धानों को (अनुकिरामि) अनुकूलता से फैंकता हूं, (ताः) वे धान (ते) तेरे लिए (उद्भ्वीः) उदय करनेवाले व (प्रभ्वीः) प्रभूत मात्रा में यानि बहुत मात्रामें (सन्तु) होवें। (ताः) उन्हें (ते) तुझे देनेके लिए (यमः राजा) यम राजा (अनुमन्यतां) अनुमति देवे। यमके राज्यमें विना यमकी अनुमितिके किसीको कुछ नहीं दिया जा सकता, अतः उसकी अनुमति मांगी है।

इस मंत्रमें यमलोक में गए हुए के लिए अर्थात् मृतके लिए तिलमिश्रित धान देनेका उल्लेख है। ये तिलमिश्रित धान यमराज्यमें जाकर किस रूपमें परिणत हो जाते हैं, यह निम्न लिखित मंत्र बतला रहा है-

> धाना धेनुरभवद् वत्सो अस्यास्तिलोऽभवत् ।
> तां वै यमस्य राज्ये अक्षितामुपजीवति ॥
> अथर्व० १८।४।३२॥

यमलोकमें जाकर उपरोक्त मंत्रानुसार दिए गए (धाना) धान (धेनुः) तृप्त करनेवाली गौ (अभवत्) बनता है। (अस्याः) और इस धानरूपी गौका (वत्सः) बछडा (तिलः) तिल (अभवत्) बनता है। (वै) निश्चयसे (यमस्य राज्ये) यमके राज्यमें वह (तां) उस धानों की बनी हुई गायपर ही (उप जीवति) आश्रित हुआ हुआ जीता है।

यहां पर धान तथा तिल यमराज्यमें जाकर किस स्वरूप में परिणत हो जाते हैं, यह दर्शाया गया है। इन दोनों मंत्रानुसार धान व तिल यमलोकमें रहते हुए के लिए देने चाहिए

क्योंकि उसके जीनेके ये एकमात्र आधार हैं ।

इन मंत्रों में हमने देखा कि यमलोकमें यमका राज्य है । यमराज्यसे भी यमलोकका ही ग्रहण है । वहीं पर यम मृतोंको ले जाकर रखता है ।

निम्न लिखित मंत्रमें यमका आए हुए मृत पुरुषको अपने राज्यमें स्थान देनेका उल्लेख है-

> ददाम्यस्मा अवसानमेतद् य एष आगन् मम चेदभूदिह । यमश्चिकित्वान् प्रत्येतदाह ममैष राय उप-तिष्ठतामिह ॥ अथर्व० १८।२।३७॥

(अस्मै) इस मृत पुरुषके लिए (एतत् अवसानं) इस स्थानको (ददामि) मैं देता हूं । क्योंकि (एषः यः) यह जो है वह (आगन्) यमलोकमें आया है और (इह) यहांपर आकर (मम चेत्) मेरा ही (अभूत्) हो गया है अर्थात् क्योंकि यह यहां आकर मेरी ही प्रजा बन गया है, अतः मैं इसे स्थान देता हूं, अपने राज्यसे नहीं निकालता । इस उपरोक्त प्रकारसे (चिकित्वान् यमः) ज्ञानवान् यम (एतत्) यह उपरोक्त ' ददाम्यस्मै ' इत्यादि वाक्य (प्रति आह) यमलोकमें आए हुए के प्रति कहता है । और यह भी कहता है कि (एषः) यह आगन्तुक (मम राये) मेरे धनके लिए (इह) यहां यमराज्यमें (उप तिष्ठताम्) उपस्थित होवे अर्थात् उसे भी इस मेरे धनका भाग ले अथवा यह भी अन्य प्रजा जनकी तरह मेरे धनका भाग मिले अथवा यह भी अन्य प्रजाजनकी तरह मेरे लिए दिया जानेवाला उचित कर प्रदान करे ।

इस प्रकार इस मंत्रमें यमकी यमराज्यमें आए हुए के प्रति उक्ति है । अबतक के मंत्रोंसे यह पता चला कि यमका यमलोकमें राज्य है अर्थात् वह वहां का राजा है । अब हम यह देखेंगे कि यमलोक कहांपर है अर्थात् इसकी स्थिति कहां है ।

यमकी दक्षिण दिशा ।

> इन्द्रः प्राक् तिष्ठन् दक्षिणा तिष्ठन् यमः ॥
> अथर्व० ९।७।२०॥

(इन्द्रः प्राङ् तिष्ठन्) इन्द्र पूर्व दिशामें स्थित हुआ हुआ है । और (यमः) यम (दक्षिणा तिष्ठन्) दक्षिण दिशामें ठहरा हुआ है ।

इस मंत्रसे हमें इतना पता चलता है कि यम दक्षिण दिशा में रहता है, यानि यमलोक दक्षिण दिशामें है ।

*

द्युलोकमें यमलोक ।

> नरा वा शंसं पूषणमगोह्यमग्निं देवेद्धमभ्यर्चसे गिरा । सूर्यामासाचन्द्रमसा यमं दिवि त्रितं वातमुषसमक्तु-मश्विना ॥ ऋ० १०।६४।३॥

(नरा शंसं, पूषणं, अगोह्यं, देवेद्धं अग्निं) नरोंसे प्रशंसा करने योग्य, पुष्टि करनेवाले, सर्वसाधारणसे जाननेके अयोग्य तथा जिसको देवोंने प्रज्वलित किया है ऐसी अग्निकी (गिरा अभ्यर्चसे) स्तुतियुक्त वाणियोंसे तू अभ्यर्चना करता है । (सूर्यामासा चन्द्रमसा) सूर्य तथा पक्षोंके निर्माण करनेवाले चन्द्रमाकी, (दिवि यमं) द्युलोकमें विद्यमान यमकी, (त्रितं वातं) तीनों लोकोंमें विस्तृत वायुकी, (उषसं) उषाकी, (अक्तुं) रात्रिकी व (अश्विनौ) देवोंके वैद्य अश्विनौ की भी स्तुति कर।

यहां पर इतना बताया गया है कि यमकी द्युलोकमें स्थिति है । पूर्व मंत्रसे यह पता चला था कि यमकी दिशा दक्षिण है । इसका मतलब यह हुआ की द्युमें दक्षिणकी ओर कहीं पर यमलोक है ।

हमें पितृलोकके प्रकरणमें ' उदन्वती द्यौरवमा ' इत्यादि मंत्रसे पता चला था कि तीन द्यु हैं । उनमेंसे प्रथम में जल रहता है, द्वितीयमें सूर्यादि नक्षत्रगण रहते हैं तथा तृतीयमें पितर रहते हैं ।

अब हमने यह देखना है कि इन तीनोंमेंसे यमकी द्यु कौनसी है । इसके निर्णयके लिए हमें पितृलोकमें आया हुआ ' तिस्रो द्यावः सवितुर्द्वा उपस्थां ' इत्यादि मंत्र सहायता देता है । इस मंत्रमें यह कहा गया है कि, तीन द्युलोक हैं, जिनमेंसे दो सूर्य के समीप हैं । ये दो सूर्यके समीपकी द्यु जलवाली व नक्षत्रोंवाली हैं । बीचमें सूर्य है और उसके ऊपर नीचे ये दोनों द्यु हैं । आगे चलकर इसी मंत्रमें कहा है कि तीसरी जो द्यु है, वह यमलोकमें है, जिसमें वीरगण निवास करते हैं । इसी द्युको लक्ष्यमें रखते हुए संभवतः गीतामें कहा है, कि ' हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं ' । वीर लडाईमें मरनेपर स्वर्गमें जाता है और वह स्वर्ग यही यमलोकमें विद्यमान द्यु है । जैसा कि 'विराषाट्' विशेषणसे प्रतीत हो रहा है । इस प्रकार इन दोनों मंत्रों का अभिप्राय यह हुआ कि यमलोकमें जो द्यु है, वह उदन्वती अर्थात् जिसमें जल रहता है वह भी नहीं है और जिसमें नक्षत्र रहते हैं वह भी नहीं है । परिशेष न्यायसे जो तीसरी

बच गई वह यमलोकमें है, यह मानना पड़ेगा। तीसरी द्युमें पितर रहते हैं अतः पितर यमलोकमें रहते हैं यह भी इसका अभिप्राय हुआ। यमलोकका यम राजा है, अतः पितर उसकी प्रजा हुए। पितर यमराज्यमें रहते हैं इस परिणामको निम्न मंत्र पुष्टि कर रहा है—

> ये समानाः समनसः पितरो यमराज्ये ।
> तेषां लोकः स्वधा नमो यज्ञो देवेषु कल्पताम् ॥
> यजुः १९।४५ ॥

(यम-राज्ये) यमके राज्यमें (ये पितरः समानाः समनसः) जो पितर समान तथा समनस् अर्थात् एक संकल्पवाले हैं, (तेषां) उन पितरोंके अर्थ दिए गए (लोकः, स्वधा, नमः, यज्ञः) लोक, स्वधा, नमस्कार व यज्ञ (देवेषु कल्पतां) देवोंमें समर्थ होवे अर्थात् विफल न हों।

इस मंत्रमें पितर यमराज्यमें हैं यह दर्शाया है। पितरोंका स्थान तीसरी द्यु है। अतः वह द्यु यमके राज्यमें ही है, यह इस मंत्रसे स्पष्ट हो रहा है।

यमका राज्य तीसरी द्युमें है और उसके आगे द्युलोक समाप्त हो जाता है यह निम्नलिखित मंत्र बता रहा है—

> यत्र राजा वैवस्वतो यत्रावरोधनं दिवः ।
> यत्रामूर्यह्वतीरापस्तत्र मामृतं कृधीन्द्रायेन्दो परिस्रव॥
> ऋ० ९।११३।८॥

(यत्र) जहांका (वैवस्वतः राजा) विवस्वान् का पुत्र यम राजा है, जहां कि (दिवः अवरोधनं) द्युलोककी समाप्ति है, वहां तथा जहां (अमूः) ये (यह्वतीः आपः) बडे बडे जल हैं, (तत्र) वहां (मां अमृतं कृधि) मुझे अमृत बना। (इन्दो) हे इन्दु ! (इन्द्राय) ऐश्वर्यके लिए (परिस्रव) चारों ओरसे बह अर्थात् मुझे ऐश्वर्य दे।

इस उपरोक्त विवेचनसे हम निम्न लिखित परिणाम पर पहुंच सकते हैं— यमलोक जहां कि यमका राज्य है, दक्षिण दिशाकी ओर स्थित तृतीय द्युमें है। वहां पितर रहते हैं। यम उनका राजा है व वे उसकी प्रजा हैं। यह बात 'पितर व यमके सहकार्य' नामक शीर्षकमें और भी अधिक स्पष्ट हो जाएगी। निम्न मंत्रमें अलंकार रूपमें उस विराट्का वर्णन प्रतीत होता है। उस विराट्को बैलकी कल्पना करके उसका वर्णन किया गया है-

> प्रजापतिश्च परमेष्ठी च शृङ्गे इन्द्रः शिरो ।
> अग्निर्ललाटं यमः कृकाटम् ॥ अथर्व० ९।७।१॥

उस विराट् बैलको (प्रजापतिः च परमेष्ठी च) प्रजापति व परमेष्ठी ये दोनों (शृङ्गे) दो सींग हैं यानि शृङ्गस्थानीय हैं। (इन्द्रः शिरो) इन्द्र उसका सिर है अर्थात् इन्द्र सिरः स्थानीय है। (अग्निः ललाटं) अग्नि उसका ललाट (माथा) है और (यमः) यम उसकी (कृकाटं) गर्दनका भाग है।

यमको विराट्की रचनामें गर्दनमें स्थान मिलता है अर्थात् यमकी स्थिति उसके शरीरमें गर्दनस्थानीय है।

इस प्रकरणसे हमें यमलोक, यमराज्य तथा उसकी स्थिति का पता लगा है। अब अगले प्रकरणमें हम यमराजाके दूतोंपर विचार करेंगे।

यमके दूत ।

इस प्रकरणमें यमके दूतोंका अस्तित्व, स्वरूप तथा कार्य दर्शाया जायगा। निम्न लिखित मंत्रोंमें यमके दूत होनेके विषयमें उल्लेख है--

> कृणोमि ते प्राणापानौ जरां मृत्युं दीर्घमायुः स्वस्ति ।
> वैवस्वतेन प्रहितान् यमदूतांश्चरतोऽपसेधामि सर्वान्॥
> अथर्व० ८।२।११॥

(ते) तेरे (प्राणापानौ) प्राण और अपानको (कृणोमि) स्थिर करता हूं। और (दीर्घं आयुः) दीर्घ आयुको तथा (स्वस्ति) कल्याणको भी तेरे लिए स्थिर करता हूं। (जरां मृत्युं) बुढापे व मृत्युको दूर भगाता हूं। (वैवस्वतेन प्रहितान् चरतः सर्वान् यमदूतान्) विवस्वान्के पुत्र यमद्वारा भेजे हुए संसारमें विचरण करते हुए सब यमके दूतोंको (अपसेधामि) दूर भगा देता हूं।

इस मंत्रमें यमदूतोंका उल्लेख है। यम उन्हें प्राणियोंको ले आनेके लिए संसारमें भेजता है। उन दूतोंको दूर भगानेका निर्देश यहां है।

> नयतामून् मृत्युदूता यमदूता अपोम्भत । परः
> सहस्रा हन्यन्तां तृणेढ्वेनान् मत्यं भवस्य ॥
> अथर्व० ८।८।११॥

(मृत्युदूताः) हे मृत्युके दूतो ! (अमून्) इन शत्रुओंको (नयत) ले जाओ। हे (यमदूताः) यमके दूतो! (अप उम्भत) इन्हें कसकर बांध लो ताकि छूट कर भाग न जावें। (परः सहस्राः) हजारोंकी संख्याओंसे भी अधिक (हन्यन्ताम्) मार डालो। (एनान्) इन शत्रुओंको (भवस्य

मर्त्य) भवकी मुष्टी अर्थात् घूंसा (तृणेढु) चूर चूर कर डाले।

इस मंत्रमें शत्रुओंके विनाशके लिए यमदूतोंसे कहा गया है। मारना यमदूतोंका कार्य है, यह यहां पर स्पष्ट हो रहा है। इस प्रकार इन मंत्रोंमें यमदूतोंका उल्लेख व कार्य दर्शाया गया है। अब हम देखेंगे कि ये यमदूत कौन हैं व इनका स्वरूप क्या है।

यमदूत--श्वान (कुत्ते)

> अतिद्रव सारमेयौ श्वानौ चतुरक्षौ शबलौ साधुना पथा। अथा पितॄन्त्सुविदत्रां उपेहि यमेन ये सधमादं मदन्ति ॥ ऋ० १०।१४।१०॥

यही मंत्र अथर्ववेदमें थोडेसे पाठभेदके साथ इस प्रकार है–

> अति द्रव श्वानौ सारमेयौ चतुरक्षौ शबलौ साधुना पथा। अथा पितॄन्त्सुविदत्रां अपीहि यमेन ये सधमादं मदन्ति ।। अथर्व० १८।२।११॥

(सारमेयौ) सारमेय, (चतुरक्षौ) चार आंखोंवाले, (शबलौ) चित्रविचित्र रंगबिरंगी (श्वानौ) दो कुत्तों से (अति) बचकर (साधुना पथा) उत्तम मार्गसे (द्रव) जा। (अथ) और (सुविदत्रान् पितॄन्) उत्तम ज्ञान वा धन से उपेत–युक्त पितरोंके (उप इहि) समीप जा। (ये) जो कि पितर (यमेन सधमादं मदन्ति) यमके साथ अत्यन्त आनन्दित हो रहे हैं।

सारमेयौ--सायणाचार्यने इसका अर्थ किया है कि सरमा नामकी देवोंकी कुत्ती है, उसके बच्चे। सरमा शब्द सृ गतौ धातुसे बाहुलकसे अम करने पर बनता है। जिसका अर्थ है 'बहुत दौडनेवाली'। उसका पुत्र सारमेय। लौकिक साहित्यमें सारमेयका अर्थ कुत्ता प्रचलित है। अस्तु। तथापि हम सारमेय का अर्थ बहुत दौडनेवाला ऐसा कर सकते हैं।

इस मंत्र में प्रेतको कहा गया है कि यमके दोनों कुत्तोंसे जो कि रंगबिरंगे हैं, उनसे बचाकर उत्तम मार्गसे पितरोंके पास जा' जो कि पितर यमके साथ आनन्दित हो रहे हैं। यद्यपि इस मंत्रमें यमके कुत्तोंको यमदूतके नामसे नहीं कहा गया है तथापि आगे आनेवाले मंत्रोंमें उन्हें यमदूतके नामसे कहा गया है व उनमेंसे प्रत्येकके रंग आदिका वर्णन है। यहां पर उन्हें शबल कहा है जिसका कि स्पष्टीकरण वहां है।

> यौ ते श्वानौ यम रक्षितारौ चतुरक्षौ पथिरक्षी नृचक्षसौ। ताभ्यामेनं परिदेहि राजन् स्वस्ति चास्मा अनमीवञ्च धेहि ॥ ऋ० १०।१४।११॥ अथर्व० १८।२।१२

(यम) हे यम! (ते यौ) तेरे जो (रक्षितारौ) रक्षा करनेवाले (चतुरक्षौ) चार आखोंवाले (पथिरक्षी) यमलोक में जानेके रस्ते की रक्षा करनेवाले तथा (नृचक्षसौ) मनुष्यों के देखनेवाले (श्वानौ) दो कुत्ते हैं, हे राजन्! (ताभ्यां) उन दोनों कुत्तों द्वारा (एनं) इसको (स्वस्ति) कल्याण (देहि) दे अर्थात् वे कुत्ते इसे हानि न पहुंचावें ऐसा कर। (च) और (अस्मै अनमीवं धेहि) इसके लिए नीरोगिता–रोगरहितता दे। इसे कभी रोग न सतावें।

इस मंत्रमें यमसे कहा गया है कि वह अपने कुत्तोंसे किसी भी प्रकारका अकल्याण न होने देवे, सर्वदा कल्याण व आरोग्य देता रहे।

> उरूणसावसुतृपा उदुम्बलौ यमस्य दूतौ चरतो जनाँ अनु। तावस्मभ्यं दृशये सूर्याय पुनर्दातामसुमद्येह भद्रम् ॥ ऋ० १०।१४।१२॥ अथर्व० १८।२।१३॥

(उरूणसौ) लम्बी नाकवाले, (असुतृपौ) प्राणों के भक्षणसे तृप्त होनेवाले, (उदुम्बलौ) विस्तृत बलवाले अर्थात् अत्यन्त बलवान् (यमस्य दूतौ) यमके दूत-उपरोक्त दोनों कुत्ते (जनाँ अनुचरतः) मनुष्यों के पीछे पीछे विचरण करते रहते हैं। ताकि अवसर मिलते ही उनके प्राणोंसे अपनी तृप्ति करें। (तौ) ऐसे वे यमदूत कुत्ते (अस्मभ्यं) हमारे लिए (सूर्याय दृशये) सूर्य के दर्शनार्थ अर्थात् इस लोकमें जीनेके लिए (अद्य) आज (इह) यहां (भद्रं असुं) कल्याणकारी प्राणको (पुनः) फिर (दातां) देवें। वे हमारे प्राणोंको छीनकर हमें मार न डालें, अपितु उलटा प्राणों को देवें ताकि हम यहां जीवित रह सकें।

इस मंत्रमें पूर्व मंत्रोक्त यमदूत कुत्तोंके स्वरूप का वर्णन है। वे लम्बी लम्बी नाकवाले, अत्यन्त बलवान् व प्राणोंके भक्षण से तृप्त होनेवाले हैं। उनसे प्राणोंकी भिक्षा उत्तरार्ध में मांगी गई है।

> श्यामश्च त्वा मा शबलश्च प्रेषितौ यमस्य यौ पथिरक्षी श्वानौ। अर्वाङेहि मा वि दीध्यो मात्र तिष्ठः पराङ्-मनाः ॥ अथर्व० ८।१।९॥

(श्यामः) काला (च) और (शबलः) चितकबरा ऐसे रंगबिरंगी (यौ) जो दो (यमस्य) यमके (पथिरक्षी) यमलोकके मार्गकी रक्षा करनेवाले (श्वानौ) कुत्ते हैं वे (त्वा) तुझे (मा प्रविती) मत बाधा पहुंचावें। (अर्वाङ् एहि) हमारे सन्मुख आ। (मा विदीध्यः) विरुद्ध मत हो अर्थात् हमें छोडकर चले जानेकी कोशिश मत कर। (अत्र) यहां इस संसारमें (पराङ्मनाः) विक्षिप्तचित्त हुआ हुआ (मा तिष्ठः) मत स्थित हो। संसारसे उदासीन वृत्ति धारण मत कर।

इस मंत्रसे ऐसा पता चलता है कि यमके जो दो कुत्ते हैं, उनमेंसे एक तो काले रंगका है तथा दूसरा काले सफेद आदि रंगोंसे मिश्रित चितकबरा है। इस मंत्रमें जो काला व चितकबरा करके यमके दूत कुत्तोंका वर्णन है, वह आलंकारिक रूपसे रात व दिनका वर्णन प्रतीत होता है। काला कुत्ता रात है और शबल कुत्ता दिन है। वे दिनरात मनुष्योंके पीछे प्राण हरण करनेके लिये लगे हुए हैं। ज्यों ज्यों दिन व रात गुजरते जाते हैं त्यों त्यों मनुष्यकी आयु क्षीण होती जाती है। अतः संभव है ये दिन व रात वास्तवमें यमके दूत हों और उनका यमके श्वान (कुत्ते) करके वर्णन किया हो। यहां पर एक और भी शंका उठ सकती है और वह यह कि श्वान शब्दसे ही क्यों यमके इन कुत्तोंका उल्लेख किया गया? कुत्तेके लिए दूसरे अनेक शब्द विद्यमान हैं ही। परन्तु पाठकोंको ध्यानमें रखना चाहिए कि श्वान शब्द हमारी ऊपर की कल्पनाको और भी दृढ करता है। श्वान शब्दके अर्थपर विचार करनेसे उपरोक्त शंका स्वयमेव शांत हो जाती है और इस श्वान द्वारा किए गए आलंकारिक वर्णनका महत्त्व प्रतीत होने लगता है। श्वानका अर्थ है (श्वा = श्वः = कल, न = नहीं) जो आनेवाली कलमें न रहे अर्थात् जो आज तो है पर वह कल न रहेगा। जो दिन व रात एक बार निकल गए, वे फिर दुबारा लौटकर नहीं आते। अब पाठक श्वान शब्द के महत्त्वको समझ गए होंगे कि क्यों यमके दूतोंको श्वानके नामसे कहा गया है और उससे किससे किस प्रकार दिन व रातका वर्णन किया गया है। परन्तु जबतक इस विषयमें पूर्ण खोज न की जावे तबतक निश्चयसे कुछ भी नहीं कहा जा सकता। पाठक इस पर विचार करेंगे ऐसी आशा है। उपरोक्त मंत्रके उत्तरार्धके भावको नीचे लिखे मंत्रमें अधिक स्पष्ट किया गया है

इहैधि पुरुष सर्वेण मनसा सह।
दूतौ यमस्य मानुगा अधि जीवपुरा इहि ॥
अथर्व० ५।३०।६॥

हे पुरुष ! (सर्वेण मनसा सह) संपूर्ण मनके साथ अर्थात् मन लगाकर (इह) यहां इस संसारमें रहता हुआ (एधि) वृद्धिको प्राप्त कर। (यमस्य दूतौ) उपरोक्त यमके दोनों दूतोंके [मा अनुगाः] पीछे मत जा अर्थात् यमलोकमें मत जा। [जीवपुराः] जीवोंके पुरोंको अर्थात् शरीरोंको [अधि इहि] प्राप्त कर शरीर को छोडकर यमलोकमें मत जा।

उपरोक्त मंत्रके उत्तरार्धका इस मंत्रमें स्पष्ट रूपसे पक्षपोषण किया गया है। यमके दूतों का अनुकरण करने अर्थात् मरनेका निषेध करते हुए देह धारण कर मन लगाकर संसारमें रहनेका उपदेश है।

इन उपरोक्त मंत्रोंसे निम्न सारांश निकलता है-

(१) यमके दूत दो कुत्ते हैं।

(२) वे दोनों कुत्ते लम्बी नाकवाले व चार आंखोंवाले हैं।

(३) उनमेंसे एक कुत्ता काला व एक चितकबरा है।

(४) उनकी तृप्ति प्राणोंके भक्षण से होती है। वे मनुष्यों के पीछे सर्वदा प्राणापहरण के लिए लगे रहते हैं। यमलोकमें जानेके मार्गकी वे सर्वदा रक्षा करते रहते हैं।

यमका दूत ' मृत्यु '।

अपेमं जीवा अरुधन् गृहेभ्यस्तं निर्वहत परिग्रामादितः
मृत्युर्यमस्यासीद्दूतः प्रचेता असून् पितृभ्यो गमयांचकार ॥ अथर्व० १८।२।२७ ॥

प्राणधारी लोगोंने इस शवको घरोंसे बाहर कर दिया है। उसको तुम लोग इस ग्रामसे बाहर अंत्येष्टि संस्कारके लिए श्मशानभूमिमें ले जाओ; यमका दूत जो मृत्यु है उसने इसके प्राणोंको पितरोंके पास यमलोकमें भेज दिया है। अतः क्योंकि यह विगतप्राण हो चुका है, इस वास्ते इसके शवको ग्राम से बाहर दहनादि क्रियाके लिए ले जाओ।

इस मंत्रमें यह दर्शाया गया है कि मृत्यु यमका दूत है, वह मृतके प्राणोंको पितरोंके पास पहुंचाता है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि मरनेपर जीव पितृलोकमें जाता है।

यह मंत्र भी पूर्वोक्त निम्न लिखित परिणामों को पुष्ट करता है।

(१) यम प्राणोंका अपहरण करनेवाला है, क्योंकि मृत्यु उसका ही दूत है।

(२) पितृलोक यमके राज्यमें है; क्योंकि मृत के प्राणोंको पितरों के पास पितृलोकमें यमका दूत मृत्यु पहुंचाता है।

पाठकगण यमके दूतों संबन्धी इस उपरोक्त विवेचनसे यह कदापि न समझें कि यमके ये तीन (दो कुत्ते व तीसरा मृत्यु) ही दूत हैं। और भी अनेक दूत हैं। पर ये उनमें से प्रधान-मुख्य हैं, अतः इनका विशद रूपसे वर्णन किया गया है। हम इस प्रकरणके प्रारंभमें ही एक ऐसा मंत्र देख आए हैं जिससे सहज पता चलता है कि यमके अनेक दूत हैं। उनका निर्देश मात्र है। विशेषों का मात्र विगतवार वर्णन है। उस यमके अनेक दूत बतानेवाले मंत्रको मूल रूपसे हम पुनः यहां दिग्दर्शन कराते हैं-

> ममतामून् मृत्युदूता यमदूता अपोम्भत। परः सहस्राः हन्यन्तां तृणेढ्वेनान् मत्यं भवस्य ॥
>
> अथर्व० ८।८।११॥

इसके अतिरिक्त अन्य भी ऐसे मंत्र हैं, जिनमें यमके अनेक दूत होनेका उल्लेख है।

यमका पितृयाणमार्ग जानना।

> यमो नो गातुं प्रथमो विवेद नैषा गव्यूतिरपभर्तवा उ। यत्रा नः पूर्वे पितरः परेयुरेना जज्ञानाः पथ्या अनु स्वाः ॥ ऋ० १०।१४।२॥
>
> अथर्व० १८।१।५०॥

(प्रथमः यमः) वह प्रसिद्ध यम (नः गातुं विवेद) हमारे मार्ग को जानता है। (एषा गव्यूतिः) यह मार्ग किसीसे भी (अपभर्तवै न) अपहरण नहीं किया जा सकता। (यत्र) जिस मार्ग में (नः पूर्वे पितरः) हमारे पुरातन पितर (परेयुः) गए हुए हैं। (एना) इस मार्गसे (जज्ञानाः) उत्पन्न प्राणीमात्र (स्वाः पथ्याः) अपने अपने पथ्यों के अनुसार (अनु) जाते हैं।

यहांपर यम उस मार्गको (पितृयाणको) जानता है, जिससे कि पितर जाते हैं व अन्य उनका अनुगमन करते हैं यह दर्शाया है।

यमकी स्वर्गमें पहुंचानेके लिए सहमति।

> नमःसु ते निर्ऋते तिग्मतेजोऽयस्मयं विचृता बन्धमेतम्। यमेन त्वं यम्या संविदानोत्तमे नाके अधि रोहयैनम्॥
>
> यजुः १२।६३॥

हे [निर्ऋते] निर्ऋति! [ते नमः] तेरे लिए नमस्कार है। [तिग्मतेजः] उत्कट तेजवाली तू [अयस्मयं एतं बन्धं] लोहेके इस बन्धनको [विचृत] काट डाल। [त्वं] तू [यमेन यम्या संविदाना] यम व यमके साथ मिलकर [एनं] इसको [उत्तमे नाके] उत्तम स्वर्गमें [अधिरोहय] पहुंचा।

इस मंत्रमें निर्ऋतिका यमके साथ एकमत होकर स्वर्गमें पहुंचानेका उल्लेख है। अर्थात् स्वर्गमें जानेके लिए यमकी भी सहमति चाहिए।

यमका दीर्घायु देना।

> ऊर्जो भागो य इमं जजानाश्मान्नानामाधिपत्यं जगाम। तमर्चत विश्वमित्रा हविर्भिः स नो यमः प्रतरं जीवसे धात् ॥ अथर्व. १८।४।५४॥

[यः] जिस [ऊर्जः भागः] अन्नके विभाग करनेवालेने [इमं] इस अन्नको [जजान] पैदा किया है और जो [अश्मा] अश्मा होनेसे [अन्नानां आधिपत्यं] अन्नोंके स्वामित्वको प्राप्त हुआ है ऐसे [तं] उसकी हे [विश्वमित्राः] सबके मित्रो! [हविर्भिः] हवियोंद्वारा [अर्चत] पूजा करो। [सः] वह [यमः] यम [नः] हमें [प्रतरं जीवसे धात्] बहुत जीनेके लिए धारण करे अर्थात् दीर्घायु देवे।

यमकी मनुष्योंसे रक्षा।

> सूर्यो माह्नः पात्वग्निः पृथिव्या वायुरन्तरिक्षाद् यमो मनुष्येभ्यः सरस्वती पार्थिवेभ्यः ॥
>
> अथर्व० १६।४।४॥

[सूर्यः] सूर्य [अह्नः] दिनसे अर्थात् दिन में होनेवाले कष्टोंसे [मा पातु] मेरी रक्षा करे। [अग्निः] अग्नि [पृथिव्याः] पृथिवीसे, [वायुः अन्तरिक्षात्] वायु अंतरिक्षसे, [यमः मनुष्येभ्यः] यम मनुष्यों से तथा [सरस्वती पार्थिवेभ्यः] सरस्वती पार्थिव पदार्थोंसे मेरी रक्षा करे।

यमकी मृत्युसे रक्षा।

> अपन्यधुः पौरुषेयं वधं यमिन्द्राग्नी धाता सविता बृहस्पतिः। सोमो राजा वरुणो अश्विना यमः पूषास्मान् परिपातु मृत्योः ॥ अथर्व० १९।२०।१॥

[यं पौरुषेयं वधं] जिस पुरुषसंबन्धी वधको अर्थात् पुरुष के खूनको शत्रुओंने [अपन्यधुः] छिपकर किया है, उस वध के कारण होनेवाली [मृत्योः] मृत्युसे [इन्द्राग्नी]

इन्द्र और अग्नि, [धाता] धारण करनेवाला, [सविता] प्रेरणा करनेवाला,[बृहस्पतिः]वाणियोंका अधिपति,[सोमः राजा] सौम्य स्वभाववाला राजा, [वरुणः] वरुण, [अश्विना] देवों के वैद्य अश्विनी, [यमः] यम तथा [पूषा] पोषक देव [अस्मान्] हमारी [परि पातु] रक्षा करें।

मंत्रोक्त प्रत्येक देवतासे पुरुष की हिंसा से रक्षा करने की प्रार्थना की गई है। सबके साथ यम से भी मृत्युसे रक्षा करनेके लिये कहा गया है। यम के अनेक कार्य हैं जैसा कि पाठकोंको यमके प्रकरणसे पता चलेगा। यहां पर सिर्फ थोडेसे मंत्रों का जिनका कि अन्यत्र समावेश नहीं हो सका है, दर्शाए गए हैं।

यमके प्रति हमारे कार्य।

यमके लिए हवि।

परेयिवांसं प्रवतो महीरनु बहुभ्यः पन्थामनुपस्पशानम्। वैवस्वतं सङ्गमनं जनानां यमं राजानं हविषा दुवस्य ॥ ऋ० १०।१४।१॥

[प्रवतः] प्रकृष्ट, उत्तम तथा निकृष्ट योनिगत प्राणियोंका [अनु] लक्ष्य करे [महीः परेयिवांसं] पृथिवीपर आए हुए तथा [बहुभ्यः] बहुतोंके लिए [पन्थां] यमलोकके मार्ग को [अनुपस्पशानं] दर्शाते हुए [जनानां सङ्गमनं] जिसमें मनुष्य जमा होते हैं ऐसे [वैवस्वतं] विवस्वान् के पुत्र [यमं राजानं] यम राजा की [हविषा दुवस्य] हवि देकर पूजा कर।

हमने पहिले देखा है कि यम के दूत मनुष्योंके पीछे सर्वदा लगे हुए हैं। यहांपर उसी भाव को भिन्न रूपसे दर्शाया है। यम सबके पीछे लगा हुआ है। जिस जिसकी अवधि पूर्ण हुई कि उसे यमलोक का मार्ग वह दर्शाता है।

यमाय सोमं सुनुत यमाय जुहुता हविः।
यमं ह यज्ञो गच्छत्यग्निदूतो अरङ्कृतः ॥
ऋ० १०।१४।१३॥

यह मंत्र थोडेसे पाठभेदके साथ अथर्ववेदमें है—

यमाय सोमः पवते यमाय क्रियते हविः।
यमं यज्ञो गच्छत्यग्निदूतो अरङ्कृतः ॥
अथर्व० १८।२।१॥

[यमाय सोमं सुनुत] यमके लिये यज्ञमें सोम को निचोडो। [यमाय हविः जुहुत] यमके लिये यज्ञ में हवि दो। [ह] निश्चयसे [अरङ्कृतः अग्निदूतः यज्ञः यमं गच्छति] शोभित करता हुआ, अग्नि जिसका दूत है ऐसा यज्ञ यमको जाता है।

इस मंत्रमें यमके लिए सोम व हवि देनेका उल्लेख है। यमके लिए किया गया यज्ञ उसे प्राप्त होता है यह भी साथ दर्शाया गया है।

यमाय घृतवद्धविर्जुहोत प्र च तिष्ठत।
स नो देवेष्वा यमद्दीर्घमायुः प्रजीवसे ॥
ऋ० १०।१४।१४॥

अथर्ववेदमें थोडेसे पाठभेदके साथ यह मंत्र इस प्रकार है-

यमाय घृतवत् पयो राज्ञे हविर्जुहोतन।
स नो जीवेष्वा यमद्दीर्घमायुः प्रजीवसे ॥
अथर्व० १८।२।३॥

(यमाय) यमके लिये (घृतवत् हविः) घीसे परिपूर्ण हविको (जुहोत) दो। और इस प्रकार (प्रतिष्ठत) प्रतिष्ठित होओ।- (सः) वह यम (नः) हमें (प्रजीवसे) उत्तम प्रकारसे जीनेके लिए (देवेषु) देवोंमें (नः) हमें (दीर्घायुः आयमत्) दीर्घायुष्यको देवे।

इस मंत्रमें यमके लिये घीसे परिपूर्ण हविके देनेकी व दीर्घायु देनेकी प्रार्थनाका उल्लेख है।

यमके लिये अन्नकी हवि

यद् यामं चक्रुर्निखनन्तो अग्रे कार्षीवणा अन्नविदो न विद्यया। वैवस्वते राजनि तज्जुहोम्यथ यज्ञियं मधुमदस्तु नोऽन्नम् अथर्व० ६।११६।१॥

(अग्रे) पहिले (निखनन्तः) भूमि खोदते हुए अर्थात् कृषि करते हुए (अन्नविदः) अन्नको जाननेवाले अर्थात् अन्नकी प्राप्ति किस प्रकारसे होती है इस बातके जाननेवाले अथवा अन्नकी प्राप्ति करनेवाले (कार्षीवणाः) किसानोंने (न विद्यया) अज्ञानके कारण (यत् यामं चक्रुः) जो यमसंबंधी अपराध किया अथवा[अन्नविदः न] अन्नोंको प्राप्त करनेवालोंकी तरह [यत् यामं चक्रुः] जो कृषिसंबन्धी नियमसमूह बनाया [तत्] उस उत्पन्न अन्नको [वैवस्वते राजनि] वैवस्वत राजा यममें [जुहोमि] देता हूं [अथ] और तब [नः] हमारा [यज्ञियं अन्नं मधुमत् अस्तु] यज्ञके योग्य जो अन्न है, वह मधुरतावाला होवे।

इस मंत्रमें नवीन उत्पन्न अन्नका अंश यमके लिये देनेका निर्देश है।

यमकी पूजा।

ते हि द्यावापृथिवी भूरिरेतसा नराशंसश्चतुरङ्गो यमोऽदितिः। देवस्त्वष्टा द्रविणोदा ऋभुक्षणः प्ररोदसी मरुतो विष्णुरर्हिरे ॥ ऋ० १०।९२।११॥

(ते भूरिरेतसा द्यावापृथिवी) वे बहुत जलवाली द्यु और पृथिवी, (यमः) यम, (अदितिः) अदिति, (त्वष्टा देवः) त्वष्टा देव, (द्रविणोदाः) अग्नि, (ऋभुक्षणः) ज्ञानी वा कारीगर गण, (रोदसी) रुद्रकी पत्नी, (मरुतः) देवगण तथा (विष्णुः) विष्णु ये सब (नराशंसः चतुरङ्गः) नराशंस चतुरंग यज्ञमें (अर्हिरे) पूजे जाते हैं। यहां अन्योंके साथ यमकी भी पूजाका उल्लेख है।

यमके लिये घर बनाना।

यथा यमाय हर्म्यमवपन् पंचमानवाः।
एवा वपामि हर्म्यं यथा मे भूरयोऽसत ॥
अथर्व० १८।४।५५॥

(यथा) जिस प्रकार (पंचमानवाः) पांचमानवोंने (यमाय) यमके लिए (हर्म्यं) घरको (अवपन्) बनाया है, (एव) उसी प्रकार मैं भी (हर्म्यं वपामि) घर बनाता हूं (यथा) जिससे कि (मे) मेरे (भूरयः) बहुतसे घर (असत) हो जावें।

पंचमानवाः-ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र ये चार वर्ण व पांचवा निषाद। अथवा देवमनुष्यादि पूजन, जैसा कि ऐतरेय ब्राह्मणमें कहा है- ' सर्वेषां वा एतत् पंचजनानां उक्थ्यं देवमनुष्याणां गन्धर्वाप्सरसां सर्पाणां पितॄणां च। एतेषां वा एतत् पंचजनानां उक्थ्यम् ' इति। ऐ. ब्रा. ३।३१॥

इस मंत्रमें यह दर्शाया गया है कि जिसको अपने घरोंके बढानेकी इच्छा हो वह यमके लिए घर बंधवावे। पंच मानव यमके लिए घर बनाते हैं।

यमके लिये स्वधा-नमः।

यमाय पितृमते स्वधा नमः ॥ अथर्व० १८।४।७४ ॥

(पितृमते यमाय) उत्कृष्ट पिताके पुत्र यमके लिए स्वधा और नमस्कार है। यहां यमके लिए स्वधाका निर्देश है।

इस प्रकार इस विभागमें संक्षेपसे यमके लिए हमें क्या करना चाहिए, यह दर्शाया गया है।

यम और स्वप्न।

इस प्रकरणमें यमके साथ स्वप्नका क्या संबन्ध है, उसकी उत्पत्ति कैसे होती है, इत्यादि बातोंकी चर्चा होगी।

स्वप्नका पिता यम।

यो न जीवोऽसि न मृतो देवानाममृतगर्भोऽसि
स्वप्न। वरुणानी ते माता यमः पितारुरुर्नामासि ॥
अथर्व० ६।४६।१॥

हे स्वप्न! (यः) जो तू (न जीवः असि न मृतः) न तो जीवित ही है और नहीं मरा हुआ ही है वह तू (देवानां अमृतगर्भः असि) देवोंका अमृत गर्भ है अर्थात् देवोंमें सर्वदा रहनेवाला है। (ते) तेरी (वरुणानी माता) वरुणानी माता है और (यमः पिता) यम पिता है। (अररुः नाम असि) तू अररु नामवाला है।

देवानां-यहां देवानां का अर्थ इन्द्रियोंका है। स्वप्न इन्द्रियोंमें अमृत रूपसे बसा हुआ है। क्योंकि जागृत अवस्थामें इन्द्रियोंके अनुभवोंसे उत्पन्न वासनाओंसे वह उत्पन्न होता है। हमारे अन्दर वासनायें स्थायी हैं, अतः स्वप्न उन वासनाओंसे उत्पन्न होनेसे अमृत है, अतएव उसे यहां अमृतगर्भसे कहा गया है।

अररुः- पीडा देनेवाला, हिंसक। ' ऋगतिहिंसनयोः ' से बना है। तै. ब्रा. ३।२।९।४ के अनुसार अररु नामवाला असुर।

वरुणानी-वरुण अर्थात् अंधकार की पत्नी।

इस प्रकार इस मंत्रमें यमको स्वप्नका पिता कहा गया है। अर्थात् स्वप्न यमका पुत्र है। अतएव कई वार स्वप्नसे मृत्यु-भी हो जाता है।

यमस्य लोकादध्या बभूविथ प्रमदा मर्त्यान्
प्रयुनक्षि धीरः। एकाकिना सरथं यासि विद्वान्स्वप्नं मिमानो असुरस्य योनौ ॥
अथर्व० १९।५६।१॥

हे स्वप्न! तू (यमस्य लोकात्) यमके लोकसे (अधि आ बभूविथ) प्रकट हुआ हुआ है। (धीरः) धीठ तू (प्रमदा) बडे अभिमानसे (मर्त्यान्) मरणधर्मा मनुष्योंको (प्रयुनक्षि) अपने साथ संयुक्त करता है- अर्थात् अपने

प्रभावसे उनमें प्रविष्ट हो जाता है, अतएव मनुष्योंको स्वप्न आता है। (विद्वान्) जानता हुआ अर्थात् जानबूझकर तू (असुरस्य योनौ) आत्माके उपलब्धि के स्थान हृदय में (स्वप्नं मिमानः) स्वप्नको उत्पन्न करता हुआ (एकाकिना) अकेले स्वप्नदर्शी पुरुष वा मृत्युके साथ [सरथं] समान वाहनपर सवार हुआ हुआ [यासि] विचरण करता है।

पूर्व मंत्र में यमको स्वप्नका पिता दर्शाया गया है। इस मंत्र में उसीकी पुष्टिके रूपमें बताया गया है कि स्वप्न यमलोकमें उत्पन्न होकर यहांपर संसार में आकर मनुष्योंमें प्रविष्ट हुआ हुआ है।

स्वप्न, यम का करण।

विद्म ते स्वप्न जनित्रं देवजामीनां पुत्रोऽसि
यमस्य करणः। अन्तकोऽसि मृत्युरसि। तं
त्वा स्वप्न तथा सं विद्म स नः स्वप्न दुष्व-
प्न्यात् पाहि॥ अथर्व० ६।४६।२॥

हे स्वप्न! [ते जनित्रं विद्म] तेरी उत्पत्तिको हम जानते हैं। तू [देवजामीनां पुत्रोऽसि] देवोंकी पत्नियोंका पुत्र है और [यमस्य करणः] यमके कार्योंका साधक है। तू [अंतकः असि] अंत करनेवाला है। [मृत्युः असि] तू मारनेवाला है। हे स्वप्न! (तं त्वा) उस तुझको [तथा] वैसा उपरोक्त जैसा [सं विद्म] हम जानते हैं। [सः] वह तू स्वप्न! [नः दुष्वप्न्यात्] बुरे स्वप्न से हमारी [पाहि] रक्षा कर।

इस मंत्र में स्वप्नको देवपत्नियोंका पुत्र कहा गया है। पूर्व मंत्रकी टिप्पणीमें हमने स्वप्नकी उत्पत्ति दर्शाते हुए यह बताया था कि देव अर्थात् इन्द्रियोंके विषयोंसे उत्पन्न वासनाओंसे स्वप्नकी उत्पत्ति होती है। उसी कथनकी पुष्टि इस मंत्र में 'देवजामीनां पुत्रः असि' से की गई है। देवों अर्थात् इन्द्रियोंकी पत्नियां इन्द्रियविषयजन्य वासनायें हैं। स्वप्न उनका पुत्र है। यहां पर विशेष बात कही गई वह यह कि स्वप्नको यमका करण बताया गया है। पाणिनि मुनिने करणका लक्षण अष्टाध्यायी में किया है कि— 'साधकतमं' (अष्टा.१।४।४२) अर्थात् जो कार्यसाधनमें समीपतम साधन है, वह करण है। कार्यसाधक सब साधनों में जो साधन अधिक आवश्यक है वह करण कहलाता है। इस लक्षणानुसार यमका स्वप्न करण है, इसका अभिप्राय यह हुआ कि यमके मारने के कार्यमें स्वप्न सब से अधिक आवश्यक साधन है पाठक स्वप्नके इस विशेषण से उसकी भयंकरताका अनुमान सहज कर सकते हैं।

इसी मंत्र के भावको ही नीचे लिखे मंत्रमें शब्दभेदसे कहा गया है—

देवानां पत्नीनां गर्भ यमस्य कर यो भद्रः स्वप्न।
स मम यः पापस्तद्द्विषते प्रहिण्मः।
मा तृष्टानामसि कृष्णशकुनेर्मुखम्॥ अथर्व० १९।५७।३॥

हे (देवानां पत्नीनां गर्भ) देवोंकी पत्नियों के गर्भरूप तथा (यमस्य कर) यमके हाथ स्वप्न! (यो भद्रः) जो कल्याणकारी तेरा अंश है (सः) वह अंश (मम) मेरा होवे। (यः पापः) और जो तेरा पापी-अनिष्टकारी अंश है [तत्] उस अंशको [द्विषते] द्वेष करनेवालेके प्रति [प्रहिण्मः हम भेजते हैं। [तृष्टानां] तृषितों-लोभियों-क्रूरोंके बीचमें [कृष्णशकुनेः] काले पक्षीके [कौएके] [मुखं] मुखकी तरह तू [मा असि] हमारे लिए बाधक मत हो, अर्थात् जिस प्रकार लोभियोंको वा क्रूरों के लिए कौए का मुख अनिष्टकारी होता है, उस प्रकार तू हमारे लिए अनिष्टकारी मत हो।

विद्म ते स्वप्न जनित्रं ग्राह्याः पुत्रोऽसि यमस्य
करणः॥ अथर्व० १६।५।१॥

हे स्वप्न! [ते जनित्रं विद्म] तेरी उत्पत्तिको हम जानते हैं। तू [ग्राह्याः पुत्रः असि] ग्राही का पुत्र है और [यमस्य करणः] यम के कार्योंका साधक है।

इस मंत्र में स्वप्नको ग्राही का बेटा कहा गया है। गठिया आदि शरीरके अकडनेवाले रोग 'ग्राही' कहलाते हैं। उन रोगोंके कारण शरीर में पीडा बनी रहती है, जिससे निद्रा नहीं आती और यदि आई भी तो स्वप्नकीसी अवस्था बनी रहती है। अतएव स्वप्नको ग्राहीका पुत्र कहा गया है। यमका करण की व्याख्या ऊपर कर आए हैं।

अन्तकोऽसि मृत्युरसि॥ अथर्व० १६।५।२; १६।५।९॥

हे स्वप्न! तू (अन्तकः असि) प्राणान्त करनेवाला है। तू (मृत्युः असि) मारनेवाला है।

निद्रा बराबर न आनेसे व रोज स्वप्न आनेसे स्वास्थ्य बिगडकर अंतमें मृत्यु हो जाती है, अतएव स्वप्नको यहां अन्तक व मृत्युके नामसे कहा गया है।

विद्म ते स्वप्न जनित्रं निर्ऋत्याः पुत्रोऽसि यमस्य करणः । अन्तकोऽसि मृत्युरसि । तं त्वा स्वप्न तथा सं विद्म स नः स्वप्न दुष्वप्न्यात् पाहि ॥
अथर्व० १६।५।४॥

मंत्रका अर्थ हम ऊपर दे आए हैं । वहां पर ऐसा ही मंत्र आया है । इस मंत्र में स्वप्न को निर्ऋतिका पुत्र कहा गया है । निर्ऋति से स्वप्न की उत्पत्तिका अभिप्राय यह है कि निर्ऋति अर्थात् कष्ट, दुःख आदि से मनुष्य को निद्रा नहीं आती । स्वप्न वह अवस्था है जिस अवस्था में कि गाढ निद्राका अभाव होता है। और कष्टादि की दशामें मनुष्य को गाढ निद्रा नहीं आती । इसी अभिप्राय से स्वप्नको निर्ऋतिका पुत्र कहा है । शेष मंत्रकी व्याख्या पूर्ववत् ही है ।

विद्म ते स्वप्न जनित्रमभूत्या: पुत्रोऽसि यमस्य करणः । अन्तकोऽसि० इत्यादि अथर्व. १६।५।४ वत्॥
अथर्व० १६।५।५॥

अर्थ पूर्ववत् । इस मंत्रमें स्वप्नको अभूति अर्थात् अनैश्वर्य दारिद्र्य का पुत्र कहा है । दरिद्रता के परितापसे भी मनुष्यको निद्रा नहीं आती । इस प्रकार गरीबी से भी स्वप्न (वास्तविक निद्राके न आने) की उत्पत्ति है । शेष व्याख्या पूर्ववत् ही समझनी चाहिए ।

विद्म ते स्वप्न जनित्रं निर्भूत्याः पुत्रोऽसि यमस्य करणः । अन्तकोऽसि० । इत्यादि पूर्ववत् ॥
अथर्व०. १६।५।६ ॥

अर्थ पूर्ववत् । इस मंत्रमें स्वप्न को निर्भूति का पुत्र कहा गया है । निर्भूतिका अर्थ है ऐश्वर्य-संपत्ति का निकल जाना, नष्ट हो जाना । संपत्तिशाली की संपत्ति नष्ट हो जानेसे उसे भी निद्रा नहीं आती । वह सुखकी निद्रा से नहीं सो सकता । इस प्रकार संपत्तिविनाश का भी स्वप्न पुत्र है ।

विद्म ते स्वप्न जनित्रं पराभूत्याः पुत्रोऽसि यमस्य करणः । अन्तकोऽसि० । इत्यादि ॥
अथर्व० १६।५।७॥

अर्थ पूर्ववत् । इस मंत्र में स्वप्न को पराभूतिका पुत्र कहा गया है । पराभूतिका अर्थ है पराभव अर्थात् हार जाना, तिरस्कार को प्राप्त होना । पराभवसे या तिरस्कारसे मनुष्य को इतना मानसिक कष्ट होता है कि, उसके लिये निद्रा हराम हो जाती है । और इस प्रकार पराभूति से स्वप्न की उत्पत्ति होती है ।

विद्म ते स्वप्न जनित्रं देवजामीनां पुत्रोऽसि यमस्य करणः ॥
अथर्व० १६।५।८॥

हे स्वप्न ! तेरी उत्पत्तिको हम जानते हैं, तू देवोंकी पत्नियों का पुत्र है और यमके कार्योंका साधक है । इस मंत्रका भाव हम पूर्व दर्शा आए हैं । देवपत्नियों का पुत्र स्वप्न किस प्रकार है, यह वहां विशदरूपसे दर्शा आए हैं ।

इस प्रकार यह अथर्ववेदके १६ वें काण्डका ५ वां सूक्त संपूर्ण यम व स्वप्नविषयक है जो कि हमने ऊपर दिया है इस सूक्तसे व इससे व दिए गए पहिले के मंत्रोंसे यम व स्वप्नका संबन्ध स्पष्ट होता है । स्वप्न यमलोकमें रहता है, वहांसे मनुष्योंमें प्रविष्ट हुआ है, उसका पिता यम है, वरुणानी उसकी माता है । वह अपने पिता यमके कार्योंका निकटतम साधक है । इसके अतिरिक्त स्वप्न अर्थात् वास्तविक निद्राका अभाव किन किन कारणोंसे होता है तथा उससे क्या दुष्परिणाम होते हैं, स्वप्न यमका करण किस प्रकार है, इत्यादि बातोंका उल्लेख इस सूक्तमें स्पष्ट रूपसे हमें देखने को मिला है । इस प्रकार यह सूक्त तथा स्वप्नविषयक अन्य मंत्र भी यमके स्वरूप दर्शानेमें पर्याप्त सहायक हैं । यमविषयक पूर्व स्थापना को ये मंत्र भी पुष्ट कर रहे हैं, यह पाठक विवेचनसे समझ सके होंगे ।

अब यहां यम विषयक वे मंत्र दिए जायंगे जो कि निर्धारित प्रकरणोंमें से किसी में भी शामील नहीं किए जा सके हैं । इस प्रकरण में दिए गए मंत्र भी अबतक आए हुए यमसे ही संबन्ध रखते हैं, यह बात पाठकों को भूलनी नहीं चाहिए । और यह न समझना चाहिए कि इस प्रकरणान्तर्गत मंत्रोंमें शायद यम अन्य अर्थोंवाला हो । अन्य अर्थोंमें प्रयुक्त यम हम सबसे अंतमें ' भिन्न भिन्न अर्थोंमें प्रयुक्त यम' नामक शीर्षकमें देंगे ।

यम कौन है ?

यो ममार प्रथमो मर्त्यानां यः प्रेयाय प्रथमो लोकमेतम् । वैवस्वतं सङ्गमनं जनानां यमं राजानं हविषा सपर्यत ॥
अथर्व० १८।३।१३

(यः) जो (मर्त्यानां प्रथमः ममार) मनुष्योंमें सबसे प्रथम मरा और (यः) जो (एतं लोकं प्रथमः प्र इयाय) इस लोक-यमलोक को सबसे पहिले गया उस (जनानां संगमनं) जनों के संगमन (वैवस्वतं यमं राजानं) विवस्वान्के पुत्र यमराजाकी (हविषा सपर्यत) हवि द्वारा पूजा करो ।

इस मंत्रसे ऐसा प्रतीत होता है कि मनुष्योंमेंसे सबसे प्रथम मनुष्य विवस्वान् का पुत्र, सबसे पहिले इस लोकमें आकर मरा और फिर सबसे पहिले उस लोकमें गया, अतः उस लोक का नाम उसके नामसे यमलोक ऐसा पडा । इसका अभिप्राय यह हुआ कि जो मनुष्य सबसे प्रथम मरता, है वह इस कल्पमें यम बनता है ।

संगमनका अर्थ है जिसमें प्राणी जाकर जमा होते हैं। यमराजाको हवि द्वारा पूजा करनेका भी यहां निर्देश है। अर्थात् यम को भी हवि देनी चाहिये ।

यम व विवस्वान् ।

यमः परोवरो विवस्वान् ततः परं नातिपश्यामि किंचन ।
यमे अध्वरो अधि मे निविष्टो भुवो विवस्वानन्वाततान ॥
अथर्व० १८।२।३२॥

(यमः परः) यम परे है अर्थात् दूर है और (विवस्वान्) सूर्य उससे (अवरः) समीप है । (ततः परं) उस यम से परे मैं (किंचन न अति पश्यामि) कुछ भी दूर स्थित हुआ हुआ नहीं देखता हूं या नहीं समझता हूं । (यमे मे अध्वरः अधिनिविष्टः) यमके अन्दर मेरा अध्वर अर्थात् हिंसारहित यज्ञ स्थित है । (विवस्वान् भुवः अनु आततान) सूर्यने द्युलोक को अपने प्रकाशसे फैला रखा है।

इस मंत्र में पिता पुत्र, यम व विवस्वान् की स्थान की दृष्टिसे तुलना की गई है । यम का स्थान सूर्यसे परे है और उससे परे कोई नहीं है । हमने यमलोक नामक प्रकरणमें देखा था कि तीन प्रकारकी द्युमेंसे दो सूर्यके समीप हैं तथा तीसरी यमके राज्यमें है । उसको दृष्टिमें रखते हुए इस मंत्रके यम विवस्वान्से परे हैं, इस कथनका अभिप्राय यह हुआ कि यम जिस द्युमें है वह सबसे परे है अर्थात् वह द्युलोककी समाप्तिपर है। उसके आगे द्युलोक समाप्त हो जाता है । हमारी समझमें यहां पर स्थान की दृष्टिसे ही तुलना है । परका अर्थ उत्कृष्ट भी हो सकता है और अवर का अर्थ अधम भी हो सकता है, परन्तु ऐसा अर्थ करनेसे उसका भाव ध्यानमें आना कठिन है। उपरोक्त अर्थकी पुष्टि करनेवाले मंत्र हम पूर्व देख आए हैं और अतः उस दृष्टिसे इस मंत्रका अर्थ विशेष संगत प्रतीत होता है। भुवः - इसका अर्थ द्युलोक है जैसा कि ' भू-र्भुवः-स्वः ' इसमें भुवः का अर्थ है ।

इषुमान् यम ।

दक्षिणायै त्वा दिश इन्द्रायाधिपतये तिरश्चिराजये रक्षित्रे यमायेषुमते । एतं परिदद्मस्तं नो गोपायतास्माकमैतोः । दिष्टं नो अत्र जरसे नि नेषज्जरा मृत्यवे परि णो ददात्वथ पक्वेन सह संभवेम ॥ अथर्व० १२।३।५६॥

[दक्षिणायै दिशे अधिपतये] दक्षिण दिशाके स्वामी के लिए [तिरश्चिराजये रक्षित्रे] कीट पतङ्गादि तिर्यक् गमन करनेवालोंसे रक्षा करनेवाले [इषुमते इन्द्राय यमाय] बाण-धारक ऐश्वर्यशाली यमके लिए [एतं त्वा] इस तुझको [परिदद्मः] सौंपते हैं । [अस्माकं ऐतोः] हमारी गतिसे [तं] उसकी तथा [नः] हमारी [गोपयत] रक्षा कर । (दिष्टं नः अत्र जरसे नि नेषत्) हमारे पूर्वजन्मके कर्म अर्थात् नसीब हमें यहां बुढापे तक पहुंचावें । (नः) हमें (जरा) बुढापा (मृत्यवे परि ददातु) मृत्युको सौंपे अर्थात् वृद्धावस्थासे पूर्व हमारी मृत्यु न हो । (अथ) मरनेके बाद (पक्वेन सह संभवेम) पक्व परिपूर्ण परमात्मासे जा मिलें ।

यम और ऋण ।

अपमित्यमप्रतीत्तं यदस्मि यमस्य येन बलिना चरामि । इदं तदग्ने अनृणो भवामि त्वं पाशान् विचृतं वेत्था सर्वान् ॥ अथर्व० ६।११७।१॥

(यत) क्योंकि मैं (अपमित्यं) जो देना है पर वह (अप्रतीत्तं) नहीं दिया है ऐसा ऋण हूं अर्थात् मेरे पर वह ऋण है । (यमस्य येन बलिना) यमके जिस बलवान् ऋणसे मैं ऋणी हुआ हुआ (चरामि) विचरण कर रहा हूं, [अग्ने] हे अग्नि ! [तत्] वह उपरोक्त जो ऋण है उससे मैं तेरे द्वारा (अनृणः) ऋणरहित होऊं । क्योंकि (त्वं) तू [सर्वान् पाशान्] सब पाशोंको [विचृतं वेत्थ] काटना या खोलना जानती है ।

इस मंत्रमें यह दर्शाया गया है कि अग्निकी सहायतासे यमके ऋणसे मुक्त हुआ जा सकता है अग्नि सर्व प्रकारके बंधनोंको काटना जानती है ।

यमका अग्निको स्थिर करना।

इषीकां जरतीमिष्ट्वा तिल्पिञ्जं दण्डनं नडम्।
तमिन्द्र इध्मं कृत्वा यमस्याग्निं निरादधौ ॥

अथर्व० १२।२।५४॥

[इन्द्रः] इन्द्रने [जरतीं इषीकां] जरती इषीकासे [इष्ट्वा] याग करके और [तिल्पिञ्जं] तिल्पिञ्जं, [दण्डनं] दण्डन व [नडं] नडको [इध्मं] समिधा बना करके [यमस्य] यमकी [तं अग्निं] उस अग्निको [निः आदधौ] निश्चयसे स्थापित किया।

जरती इषीका = बूढे अर्थात् सूखे हुए कानें।

तिल्पिञ्ज– तिलोंके गुच्छे । दण्डन- यह भी एक प्रकारकी कानिकी जातकी वनस्पति है। नडनडे जिसकी कलमें बनती हैं।

इस मंत्र में यह दर्शाया गया है कि यमकी अग्निमें इन चीजोंसे याग करना चाहिए जिससे कि यमकी अग्नि स्थिर बनी रहे।

यमके भाग जल।

यमस्य भाग स्थ। अपां शुक्रमापो देवी वर्चो अस्मासु धत्त। प्रजापतेर्वो धाम्नाऽस्मै लोकाय सादये ॥ अथर्व० १०।५।१२ ॥

हे जलो! तुम [यमस्य भाग स्थ] यमके भाग हो। [देवीः आपः] हे दिव्य जलो! [अपां शुक्रं वर्चः अस्मासु धत्त] जलोंका शुद्ध तेज हमारेमें स्थापित करो। [वः] तुम्हें [प्रजापतेः धाम्ना] प्रजापतिके तेजसे [अस्मै लोकाय सादये] इस लोकके लिए स्थित करता हूं।

इस मंत्रमें जलोंको यमका अंश बताया गया है। उनसे तेज मांगनेकी प्रार्थना की गई है।

...यमनेत्रेभ्यो देवेभ्यो दक्षिणासद्भ्यः स्वाहा... ॥ यजुः अ० ९।३५ ॥

(यमनेत्रेभ्यः) यम जिनका नेता है, ऐसे (दक्षिणासद्भ्यः) दक्षिण दिशा में बैठनेवाले (देवेभ्यः स्वाहा) देवोंके लिए यह आहुति है।

... ...ये देवा यमनेत्रा दक्षिणासदस्तेभ्यः स्वाहा... ॥ यजुः अ० ९।३५ ॥

(ये देवाः यमनेत्राः) जो देव यमनेत्र अर्थात् यम जिनका नेता है ऐसे तथा (दक्षिणासदः) दक्षिण दिशामें बैठने-वाले हैं (तेभ्यः) उनके लिए (स्वाहा) स्वाहापूर्वक यह आहुति हो।

इन मंत्रोंसे दक्षिण दिशावालोंका यम नेता है, ऐसा पता चलता है।

...यमस्य त्रयोदशी... ॥ यजु० २५।४ ॥

यमकी त्रयोदशी है।

...यमाय कृष्णः यजुः २४।३० ॥

यमके लिए काला पशु होवे। यजुर्वेदके इस मंत्रमें भिन्न भिन्नके लिए भिन्न भिन्न पशुओंका विधान है। परन्तु इस विधानका क्या रहस्य है; यह एक विचारणीय समस्या है।

तस्या यमो राजा वत्स आसीद्
रजतपात्रं पात्रम् ॥

[तस्याः] उस विराड्रूपी गौका [यमः राजा] यम-राजा [वत्सः आसीत्] बछडा था व दूध दोहने के लिए [पात्रं] बरतन [रजतपात्रं] चान्दीका बरतन था।

यहांपर आलंकारिक वर्णन प्रतीत होता है, पर यह अलंकार किसका किस प्रकार है यह एक विचारणीय बात है। यहां दिए हुए कई मंत्र, खास करके पिछले विशेष विचारणीय है क्योंकि इनका अभिप्राय बराबर व्यक्त नहीं हो रहा है।

यम व पितरोंका संबंध।

यम व पितर विषयक के अबतक के विवेचनसे पाठकगण पितर व यमके पारस्परिक संबन्धसे कुछ न कुछ अवश्य परिचित हो गए होंगे। यमके तथा पितरों के अलग अलग दिए गए विवरणोंसे यम क्या है व पितर क्या हैं, यह भी पाठकोंके ध्यानमें सहज आगया होगा। यम व पितरों के संबन्ध का खास खास स्थानोंपर हमने निर्देश भी किया है। उन निर्देशोंसे जो बातें हमें पता चली हैं उनसे यह स्पष्ट है कि यम पितरों का राजा है व पितर उसकी प्रजा हैं। पितर यमलोक में रहते हैं। उसीका नाम पितृलोक भी है।

इन्हीं उपरोक्त परिणामों की पुष्टि निम्न मंत्र स्पष्ट रूपमें करते हुए दिखाई दे रहे हैं।

यम पितरोंका अधिपति।

यमः पितॄणामधिपतिः स मावतु। अस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठा-

यामस्यां चित्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां
देवहूत्यां स्वाहा ॥ अथर्व० ५।२४।१४॥

[सः पितृणां अधिपतिः) वह पितरोंका स्वामी [राजा] [यमः] यम [मा अवतु] निम्न लिखित कर्मोंमें मेरी रक्षा करे । (अस्मिन् ब्रह्मणि) इस ब्रह्मज्ञान की प्राप्तिमें । (अस्मिन् कर्मणि] इस श्रेष्ठ कर्ममें । [अस्यां पुरोधायां] इस पुरोहिताईके काम में । (अस्यां प्रतिष्ठायां) इस प्रतिष्ठाके कार्य में । [अस्यां चित्यां] इस चेतनायुक्त कार्योंमें । [अस्यां आकूत्यां] इस संकल्पमें । [अस्यां आशिषि] इस आशीर्वादके कार्यमें । [अस्यां देवहूत्यां] इस देवोंके आवाहनके कार्योमें ।

इस मंत्रमें यमको पितरोंका स्वामी कहा गया है । पितरोंके ऊपर यमके अधिकारको यहां पर स्पष्ट किया गया है । यह अधिकार किस रूपमें है अर्थात् यम पितरोंका किस तरह स्वामी है, यह नीचेके मंत्रसे स्पष्ट हो रहा है-

स यत् पितॄननुव्यचलद् यमो राजा भूत्वाऽ-
नुव्यचलत् स्वधाकारं अन्नादं कृत्वा ॥
अथर्व० १५।१४।१३॥

(सः) वह व्रात्य (यत्) जब [पितॄन् अनुव्यचलत्] पितरोंका लक्ष्य करके चला अर्थात् पितरोंमें आया तब [यमः राजा भूत्वा] यम पितरों का राजा बनकरके तथा पितरों के लिए [स्वधाकारं अन्नादं कृत्वा] स्वधा करके दिए हुए को जीवनयात्रा का साधनभूत अन्न बनता हुआ [अनुव्यचलत्] उस व्रात्यके पीछे पीछे पितरों में आया ।

व्रात्य नाम अतिथि का है । यहांपर यम पितरोंका राजा बनकर उनमें रहता है, यह दर्शाया गया है ।

पितरोंका यम राजा है, इस बातकी निम्न मंत्रसी पुष्टि कर रहे हैं ।

मा त्वा वृक्षः संबाधिष्ट मा देवी पृथिवी मही ।
लोकं पितृषु वित्त्वैधस्व यमराजसु ॥
अथर्व० १८।२।२५ ॥

[त्वा वृक्षः] मा संबाधिष्ट] तुझे वृक्ष अर्थात् वनस्पतियां बाधा मत पहुंचावें । वृक्ष यहां वनस्पतियोंका उपलक्षण है । [देवी मही पृथिवी मा] और दिव्य गुणोंवाली विस्तृत पृथिवी भी तुझे बाधा मत पहुंचाए । [यमराजसु पितृषु लोकं वित्त्वा] यम जिनका राजा है ऐसे पितरोंमें स्थान प्राप्त करके [एधस्व] वृद्धिको प्राप्त हो ।

इस मंत्रमें स्पष्ट रूपसे यमका पितरोंके राजा होनेको दर्शाया गया है । पितर यमकी प्रजा हैं । यमराज्यमें भी पितर रहते हैं, इसका यहांपर स्पष्ट रूपसे उल्लेख है । यह मंत्र प्रेतको लक्ष्य करके कहा गया है । इसी प्रकार निम्न मंत्रमें भी उपरोक्त मंत्रके भावको पुष्ट किया गया है ।

प्राणो अपानो व्यान आयुश्चक्षुर्दृशये सूर्याय ।
अपरिपरेण पथा यमराज्ञः पितॄन् गच्छ ॥
अथर्व० १८।२।४६ ॥

(प्राणः) प्राण, (अपानः) अपान, (व्यानः) व्यान, (आयुः) आयु और (चक्षुः) आंख (सूर्याय दृशये) सूर्यके दर्शनके लिए अर्थात् इस संसारमें जीवन धारण करनेके लिए होवें । और आयुके पूर्ण होनेपर देहका त्याग करनेपर हे प्रेत ! तू [अपरिपरेण पथा] अकुटिल मार्ग द्वारा [यमराज्ञः पितॄन्] यम जिनका राजा है, ऐसे पितरोंको (गच्छ) जा, प्राप्त हो ।

अपरिपरः- परि परितः सर्वतः परः परभावः कुटिलभावः अथवा शत्रुः न विद्यते यस्मिन् सः अपरिपरः=अर्थात् जिसमें सर्वथा कुटिलता या शत्रु आदि नहीं है वह अपरिपर ।

इस मंत्र में भी पितरों का जो विशेषण दिया गया है, वह यम का पितरोंके राजा होनेको ही सिद्ध कर रहा है ।

यम--श्रेष्ठ पितर ।

सप्तर्षीन् वा इदं ब्रूमोऽपो देवीः प्रजापतिम् ।
पितॄन् यमश्रेष्ठान् ब्रूमस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥
अथर्व० ११।६।११ ॥

[सप्त ऋषीन्] सात ऋषियोंको [इदं ब्रूमः] यह कहते है । (देवीः अपः) दिव्य जलोंको हम कहते है । [प्रजापतिं] प्रजापतिको हम कहते हैं और [यमश्रेष्ठान् पितॄन्] यमके कारणसे जो श्रेष्ठ हैं ऐसे पितरोंको हम [ब्रूमः] कहते हैं कि [ते] उपरोक्त सब [नः] हमें [अंहसः मुञ्चन्तु] पापसे छुडावें ।

यहांपर पितरोंको यमश्रेष्ठ कहा गया है । यहांपर यमका अर्थ योगमें कहे गए अहिंसा, अस्तेय आदि भी हो सकता है । जो इन षड् यमोंके पालनेसे श्रेष्ठ हुए हैं । वे यमश्रेष्ठ ऐसा भी इसका अर्थ हो सकता है । अथवा यम जिनमें श्रेष्ठ है ऐसा भी होगा ।

अस्तु। उपरोक्त विवरणसे यह पता चला कि यम पितरोंका राजा है व पितर उसकी प्रजा हैं।

यम व पितरोंके सहकार्य।

इसमें यह दिखाया जायगा कि कौन कौनसे कार्य यम तथा पितर मिलकर करते हैं।

यमके साथ हवि खाना।

ये नः पूर्वे पितरः सोम्यासोऽनूहिरे सोमपीथं वसिष्ठाः। तेभिर्यमः संरराणो हवींष्युशन्नुशद्भिः प्रतिकाममत्तु॥ ऋ० १०।१५।८॥ यजु० १९। ५१॥

(ये पूर्वे सोम्यासः वसिष्ठाः पितरः) हमारे जिन पुरातन सोम संपादन करनेवाले तथा उत्तमधनवाले पितरोंने यज्ञमें (सोमपीथं) सोमपानको (अनु ऊहिरे) किया था, (तेभिः) उन (उशद्भिः) यमके साथ सोमपानकी कामना करते हुए पितरोंके साथ, (उशन् यमः) पितरोंके साथ सोमपानकी इच्छा करता हुआ यम (संरराणः) पितरोंके साथ रमण करता हुआ (हवींषि) हवियोंको (प्रतिकामं) यथेच्छ (अत्तु) खावे।

इस मंत्रमें पितरोंके साथ हवि खानेकी इच्छा करता हुआ यम उनके साथ हवि खाता है यह दर्शाया गया है।

ये नः पितुः पितरो ये पितामहा अनूजहिरे सोमपीथं वसिष्ठाः। तेभिर्यमः संरराणो हवींष्युशन्नुशद्भिः प्रतिकाममत्तु ॥ अथर्व० १८।३।४६ ॥

इस मंत्रका उत्तरार्ध उपरोक्त ऋ० १०।१५।८ के साथ सर्वथा मिलता है।

(नः ये पितुः पितरो ये पितामहाः) हमारे जिन पिताके पितरोंने और उनके भी जिन पितामहोंने जो कि उत्तम धन-संपन्न थे, (सोमपीथं) यज्ञमें सोमपान (अनुजहिरे) स्वीकृत किया था अर्थात् सोमपान किया था, उन पितरोंके साथ० इत्यादि पूर्ववत् ॥

इस मंत्रमें भी प्रथम मंत्रोक्त बातको ही पुनः कहा गया है। इस प्रकार यमका पितरोंके साथ हवि लेनेका कार्य ये मंत्र बता रहे हैं।

यम व पितरोंके साथ जाना।

ह्वयामि ते मनसा मन इहेमान् गृहाँ उपजुजुषाण हि। सं गच्छस्व पितृभिः सं यमेन स्योनास्त्वा वाता उपवान्तु शग्माः ॥

अथर्व० १८।२।२१ ॥

(ते मनः मनसा ह्वयामि) तेरे मनको मन द्वारा बुलाता हूं। (इह) यहां (इमान् गृहान्) इन घरोंमें (जुजुषाणः उप एहि) प्रीति करता हुआ अन्दर आ। तू (पितृभिः)पितरोंके साथ [सं गच्छस्व] विचरण कर। (यमेन सं) यमके साथ विचरण कर। [स्योनाः] सुखदायक, [शग्माः] शक्तिशाली [वाताः] वायु [त्वा उपवान्तु] तेरे लिए बहें।

यहांपर यम व पितरोंके साथ जानेको कहा गया है, उसका अभिप्राय यह हुआ कि यम व पितर साथ साथ विचरण करते हैं।

पितर व यमका मिलकर सुख देना।

दक्षिणां दिशमभि नक्षमाणौ पर्यावर्तेथामभि पात्रमेतत्। तस्मिन् वां यमः पितृभिः संविदानः पक्वाय शर्म बहुलं नियच्छात्

अथर्व० १२।३।८ ॥

[दक्षिणां दिशं] दक्षिण दिशाकी [अभिनक्षमाणौ] ओर जाते हुए तुम दोनों [एतत् पात्रं अभि] इस पात्रकी ओर [परि आवर्तेथाम्] लौट आओ। [तस्मिन्] उस पात्रमें [पितृभिः संविदानः यमः) पितरोंके साथ मिला हुआ यम (पक्वाय) पक्व होनेके लिए अर्थात् पूर्ण आयु देनेके लिए (वां) तुम दोनों को (बहुलं शर्म) बहुत सुख (नियच्छात्) देवे।

इस मंत्रमें यह दर्शाया गया है कि यम पितरों के साथ मिलजुलकर सुख देता है। यहां पात्र शब्दसे किसका अभिप्राय है, यह व्यक्त नहीं होता।

यम व पितरोंकी सहमतिसे स्वर्गप्राप्ति।

अयस्मये द्रुपदे बेधिषे इहाभिहितो मृत्युभिर्ये सहस्रम्। यमेन त्वं पितृभिः संविदान उत्तमं नाकमधिरोहयेमम् ॥ अथर्व० ३।६३।३ ॥ ६।८४।४॥

(इह) यहां [अभिहितः] सर्वत्र स्थित हुई हुई हे निऋति ! तू (ये सहस्रं) जो हजारों हैं ऐसे (मृत्युभिः) मृत्युके पाशोंसे (अयस्मये द्रुपदे) लोहमयी लकडी की बनी हुई बेडीमें (बेधिषे) बांधती है। (त्वं) तू [यमेन पितृभिः सं विदानः] यम और पितरोंके साथ मिलकर उनकी सहमतिसे

[इमं] इसको [उत्तमं नाकं अधिरोहय] उत्तम स्वर्गमें पहुंचा।

निर्ऋतिसे यहां प्रार्थना की गई है कि वह यम व पितरोंसे मिलकर स्वर्गमें पहुंचावे। परन्तु इसका क्या अभिप्राय है अर्थात् निर्ऋति किस प्रकार स्वर्गको पहुंचाती है, इसका स्वर्गसे क्या ताल्लुक है यह विचारणीय है।

पितरोंका स्थूणा धारण करना व यमका स्थान देना।

> उत्ते स्तभ्नामि पृथिवीं त्वत्परीमं लोगं निदधन्मो अहं रिषम्। एतां स्थूणां पितरो धारयन्तु तेऽत्रा यमः सादना ते मिनोतु ॥ ऋ० १०।१८।१३॥

यह मंत्र थोडेसे पाठभेदके साथ अथर्ववेदमें भी आया है।

> उत्ते स्तभ्नामि पृथिवीं त्वत्परीमं लोगं निदधन्मो अहं रिषम्। एतां स्थूणां पितरो धारयन्तु ते तत्र यमः सादना ते कृणोतु ॥ अथर्व० १८।३।५२॥

(ते) तेरे लिये (पृथिवीं) पृथिवीको (उत् स्तभ्नामि) ऊपरको उठाकर रखता हूं। फिर (त्वत् परि) तेरे पर उस (लोगं) मिट्टीके ढेलोंको जो कि उठा रखा है (निदधत्) रखता हुआ (मो अहं रिषम्) मैं मत नष्ट होऊं। (एतां स्थूणां) इस खंभेको तेरे लिये (पितरः धारयन्तु) पितर धारण करें। (अत्र) और उस आधारस्तंभपर (ते) तेरे लिये (यमः) यम (सादना घरोंको (मिनोतु) बनावे।

अङ्गिरस् पितर व यम।

> मातली कव्यैर्यमो अङ्गिरोभिर्बृहस्पतिर्ऋक्वभिर्वावृधानः। याँश्च देवा वावृधुर्ये च देवान्त्स्वाहान्ये स्वधयान्ये मदन्ति ॥ ऋ० १०।१४।३॥

यह मंत्र पाठान्तरसे अथर्ववेदमें है—

> मातली कव्यैर्यमो अङ्गिरोभिर्बृहस्पतिर्ऋक्वभिर्वावृधानः। याँश्च देवा वावृधुर्ये च देवाँस्ते नोऽवन्तु पितरो हवेषु ॥ अथर्व० १८।१।४७॥

(मातली) इन्द्र (कव्यैः) कव्य खानेवाले पितरोंसे, (यमः) यम (अङ्गिरोभिः) आङ्गिरस् पितरोंसे तथा (बृहस्पतिः) बृहस्पति (ऋक्वभिः) ऋचाओंसे (वावृधानः) वृद्धिको प्राप्त होता है। (यान् देवाः वावृधुः) जिनको देव बढाते हैं (ये च) और जो (देवान्) देवोंको बढाते हैं, (अन्ये) उनमेंसे अन्य मातली, यम और बृहस्पति तो (स्वाहा मदन्ति) वषट्कारसे दी हुई हविसे प्रसन्न होते हैं और (अन्ये) इनसे भिन्न दूसरे कव्य आङ्गिरस् आदि (स्वधया) स्वधाकारसे प्रसन्न होते हैं।

अथर्ववेदमें जो थोडासा पाठभेद है वह इस मंत्रके अर्थको अधिक स्पष्ट करता है। उसके अनुसार मंत्रार्थ इस प्रकार है–

इन्द्र कव्य पितरोंसे, यम आङ्गिरस् पितरोंसे तथा बृहस्पति ऋचाओंसे स्तुति करनेवाले पितरों से बढता है। जिन पितरोंको ये उपरोक्त देव बढाते हैं तथा जिन देवोंको वे उपरोक्त पितर बढाते हैं ऐसे वे पितर बुलाए जानेपर हमारी रक्षा करें।

इस प्रकार इस मंत्रमें यह दर्शाया गया है कि यम अङ्गिरस् पितरोंसे बढता है यानि यशस्वी होता है।

> इमं यम प्रस्तर मा हि सीदाङ्गिरोभिः पितृभिः संविदानः। आ त्वा मंत्राः कविशस्ताः वहन्त्वेना राजन् हविषा मादयस्व ॥ ऋ० १०।१४।४
> अथर्व० १८।१।६०॥

हे यम! (अङ्गिरोभिः पितृभिः संविदानः) आङ्गिरस् पितरोंसे मिला हुआ तू (इमं प्रस्तरं) इस फैलाए हुए आसन पर (आसीद) बैठ। (त्वा कविशस्ताः मंत्राः) तुझे कविशस्त मंत्र (आ वहंतु) बुलावें। (एना) इस (हविषा) हविद्वारा (मादयस्व) प्रसन्न हो।

कविशस्त मंत्र– कवि अर्थात् क्रान्तदर्शी ज्ञानी लोकोंसे जिनकी प्रशंसा की गई है ऐसे मंत्र, प्रशंसनीय मंत्र। इस मंत्रमें प्रशंसापरक मंत्रोंद्वारा यमके आङ्गिरस् पितरोंके साथ बुलाकर यज्ञमें विस्तृत आसन पर बैठानेका उल्लेख है।

यमका अंगिरस् पितरोंके साथ आना।

> अङ्गिरोभिरागहि यज्ञियेभिर्यम वैरूपैरिह मादयस्व। विवस्वन्तं हुवे यः पिता तेऽस्मिन् यज्ञे बर्हिष्या निषद्य ॥ ऋ० १०।१४।५॥

यह मंत्र थोडेसे पाठभेदके साथ अथर्ववेदमें भी है–

> अङ्गिरोभिर्यज्ञियैरागहीह यम वैरूपैरिह मादयस्व। विवस्वन्तं हुवे यः पिता तेऽस्मिन् बर्हिष्या निषद्य ॥ अथर्व० १८।१।५९॥

हे यम! (वैरूपैः) विविधरूपवाले (यज्ञियेभिः) पूजनीय यज्ञके योग्य(अंगिरोभिः)अंगिरस् पितरोंके साथ(इह आगहि इस यज्ञमें आ। और (मादयस्व प्रसन्न) हो। (विवस्वन्तं हुवे)

में विवस्वान् को भी बुलाता हूं (यः) जो कि विवस्वान् (ते पिता) तेरा पिता है। वह तेरा पिता (अस्मिन् यज्ञे) इस यज्ञमें (बर्हिषि आ निषद्य) आसनपर बैठकर यजमान को आनन्दित करें।

इस मंत्रमें यमको अंगिरस पितरोंके साथ यज्ञमें बुलाया गया है। इसके अतिरिक्त यह मंत्र यमका पिता विवस्वान् है इस पूर्वोक्त परिणाम का समर्थन कर रहा है। विवस्वान् को भी यज्ञमें बुलानेका यहां निर्देश है।

अबतक के इन मंत्रोंसे अंगिरस् पितर व यमके संबन्धका व परस्परके व्यवहारोंका हमें पता चलता है। ये सब मंत्र यमका पितरोंसे विशेष संबन्ध है यह स्पष्ट रूपसे प्रतिपादन कर रहे हैं। यम बहुतसे काम पितरोंसे मिलकर ही करता है। इससे यमराज्यमें पितरोंकी स्थितिपर भी थोडासा प्रकाश अवश्य पडता है।

इस प्रकार विशिष्ट अर्थमें प्रयुक्त यम संबन्धी मंत्र समाप्त होते हैं। पाठक इन पर गंभीरतापूर्वक विचार करें तथा जो उचित हो वह ग्रहण करें। अब हम अगले प्रकरणमें उन मंत्रों पर विचार करेंगे जिनमें कि यम इस अर्थके अतिरिक्त अर्थोंमें प्रयुक्त हुआ हुआ है।

१ नियमन अर्थ में यम।

इस विभागमें उन मंत्रोंका उल्लेख होगा जिनमें कि यम नियमन, नियामक आदि इन्हीं के सदृश अर्थोंमें प्रयुक्त हुआ हुआ है।

> एता ते अग्न उचथानि वेधो जुष्टानि सन्तु
> मनसे हृदे च। शकेम रायः सुधुरो यमं तेऽधि
> श्रवो देवभक्तं दधानाः॥ ऋ० १।७३।१०॥

(वेधः अग्ने) हे मेधावी अग्नि ? (एता उचथानि) ये वैदिक स्तोत्र (ते मनसे हृदे च) तेरे मन व हृदय के लिए (जुष्टानि सन्तु) प्रीति उत्पन्न करनेवाले हों। (देवभक्तं श्रवः दधानाः) देवोंसे सेवित अन्न वा धन को धारण करते हुए हम (ते सुधुरः रायः यमं शकेम) तेरे उत्तम तथा धारण करने योग्य अथवा जो उत्तम प्रकारसे दारिद्रका नाश करनेवाले धनका नियमन कर सकें। श्रवः अन्न। निघण्टुः-२। ७॥ श्रवः धन। निघ० २।१०

> यज्ञैरथर्वा प्रथमः पथस्तते ततः सूर्यो व्रतपा
> वेन आजनि। आ गा आजदुशना काव्यः सचा
> यमस्य जातममृतं यजामहे ऋ० १।८३।५॥

(अथर्वा) स्थिरप्रकृति विद्वान् ने (प्रथमः) सबसे पहिले (यज्ञैः) यज्ञोंद्वारा (पथः तते) मार्ग का विस्तार किया। (ततः) तब (व्रतपाः वेनः सूर्यः) व्रतरक्षक चमकीला सूर्य (आजनि) उत्पन्न हुआ। और फिर (उशनाः काव्यः सचा) कामना करते हुए कविके पुत्रके साथ मिलकर सूर्यने (गाः आ आजत्) किरणोंको फेंका अर्थात् सर्वत्र प्रकाश किया। (यमस्य जातं अमृतं) नियमन के लिए उत्पन्न अमृत का हम (यजामहे) यजन करते हैं—उसकी पूजा करते हैं। यहां सूर्योदयका वर्णन है। सचा—सह। निघ० ४।२॥

> यमेन दत्तं त्रित एनमायुनगिन्द्र एनं प्रथमो
> अध्यतिष्ठत्। गन्धर्वो अस्य रशनामगृभ्णात्
> सूरादश्वं वसवो निरतष्ट॥ ऋ० १।१६३।२॥
> यजु० २९। १३॥

इस मन्त्रका देवता अश्व है। (वसवः सूरात् अश्वं निरतष्ट) वसुओंने सूर्य से घोडे को बनाया यानि उत्पन्न किया। फिर (यमेन दत्तं) नियामक अग्निसे दिए हुए उस घोडेको (त्रितः) तीनों लोकोंमें विस्तृत वायुने (आयुनक्) रथादिमें जोडा (इन्द्रः एनं प्रथमः अध्यतिष्ठत्) इन्द्र उसपर सबसे पहिले सवार हुआ। (गन्धर्वः अस्य रशनां अगृभ्णात) गन्धर्वने उस घोडेको लगाम पकडी। रशना = घोडे बांधनेके रस्सी।

२ जीवात्मा अर्थ में यम।

> यस्मिन् वृक्षे सुपलाशे देवैः संपिबते यमः।
> अत्रा नो विश्पतिः पिता पुराणाँ अनुवेनति॥
> ऋ० १०।१३५।१॥

(यस्मिन् सुपलाशे वृक्षे) जिस उत्तम पत्तोंवाले अर्थात् हरेभरे, भोगसामग्री से परिपूर्ण संसाररूपी वृक्षपर (यमः) इन्द्रियोंका संयमन करनेवाला जीवात्मा (देवैः) दिव्य गुणोंपेत इन्द्रियोंके साथ (संपिबते) संसारिक सुखदुःखों का उपभोग करता है, (अत्र) उस संसाररूपी वृक्षपर [विश्पतिः] मनुष्य प्रजाका रक्षक [पिता] उत्पादक परमात्मा (पुराणान् नः) पुरातन समयसे भक्ति करते आए हुए हमारी (अनुवेनति) अनुकूलतासे कामना करता है।

३ ज्ञानेन्द्रियां—यम।

> इदं सवितर्विजानीहि षड्यमा एक एकजः।
> तस्मिन् हापित्वमिच्छन्ते य एषामेक एकजः॥
> अथर्व० १०। ८। ५॥

हे (सवितः) सविता ! (इदं विजानीहि) इस बातको तू भली प्रकार समझ कि (षट् यमाः) पांच ज्ञानेन्द्रियां तथा एक मन ये मिलकर छः यम हैं। तथा (एकः एकजः) एक जीवात्मा अकेला ही जन्म लेनेवाला है । और .(एषां यः एकः एकजः) इनमें जो एक अकेला उत्पन्न होनेवाला है (तस्मिन्) उस जीवात्मामें ये छः मनसहित ज्ञानेन्द्रियां (हु) निश्चयसे (आपित्वं) बन्धुत्व को (इच्छन्ते.) चाहती हैं।

४ आचार्य यम।

> मृत्योरहं ब्रह्मचारी यदस्मि निर्याचन् भूतात् पुरुषं यमाय । तमहं ब्रह्मणा तपसा श्रमेणानयैनं मेखलया सिनामि ॥ अथर्व० ६।१३३।३ ॥

(यत्) क्योंकि (अहं) मैं (मृत्योः ब्रह्मचारी) मृत्युका ब्रह्मचारी (अस्मि) हूं, अतः (भूतात् पुरुष) प्राणीमात्रमें से पुरुषको (यमाय) यम के लिए अर्थात् आचार्यके लिये (निर्याचन्) मांगता हुआ आया हूं। (तं एनं) उस इस पुरुषको (अहं) मैं (ब्रह्मणा) ब्रह्मज्ञानसे, (तपसा) तपद्वारा, श्रमेण श्रमद्वारा तथा(अनया मेखलया) इस मेखलाद्वारा (सिनामि) बांधता हूं।

५ वायु-यम।

> यमाय त्वाङ्गिरस्वते पितृमते स्वाहा ।
> स्वाहा घर्माय । स्वाहा घर्मः पित्रे ॥ यजुः ३८।९॥

इस मंत्रकी शतपथ १४।२।२।११ में व्याख्या है । वहां पर यमका अर्थ निम्नलिखित किया गया है-'यमाय त्वांगिरस्वते पितृमते स्वाहेति । अयं वै यमो योऽयं पवते तस्मा एवैनं जुहोति तस्मादाह यमायत्वेत्यङ्गिरस्वते पितृमत इति...॥' तदनुसार इस मंत्रका अर्थ इस प्रकार हुआ-(पितृमते अङ्गिरस्वते यमाय त्वा स्वाहा) पितृमान् अंगिरस्वत् वायुके लिए तुझे स्वाहा करके दी गई आहुति हो । (घर्माय स्वाहा) यज्ञके लिए स्वाहा । (घर्मः पित्रे) यज्ञ रक्षकके लिए स्वाहा ।

६ सूर्य-यम।

> यमाय त्वा मखाय त्वा सूर्यस्य त्वा तपसे ।
> देवस्त्वा सविता मध्वानक्तु पृथिव्याः सँ स्पृशस्पाहि
> अर्चिरसि शोचिरसि तपोऽसि यजुः ३७।११॥

इस मंत्रकी व्याख्या करते हुए शतपथ ब्राह्मणने इस मंत्रमें आए हुए यमका अर्थ सूर्य किया है। शतपथ ब्राह्मणका वचन इस प्रकार है-'स प्रोक्षति यमाय त्वेत्येष वै यमो य एष तपत्येष हीदं सर्वं यमयत्येतेनेदं सर्वं यतमेष उ प्रवर्ग्यस्तदेतमेवैतत् प्रीणाति तस्मादाह यमाय त्वेति॥ श० १४।१।३।४॥ शतपथके इस वचनानुसार इस मंत्रका अर्थ इस प्रकार किया जा सकता है-(यमाय त्वा) सूर्यके लिए तुझे, (मखाय त्वा) यज्ञके लिए तुझे, (सूर्यस्य तपसे त्वा) सूर्यके तपके लिए तुझे, (सविता देवः त्वा) सविता देव तुझे (मध्वा अनक्तु) मधुसे युक्त करे । तू (पृथिव्याः संस्पृशः पाहि) पृथिवीके संस्पृश् अर्थात् उपद्रव्यजन्य संस्पर्शोंसे रक्षा कर। तू (अर्चिः) दीप्यमान(असि)है। (शोचिः असि) दुष्टोंको शोक करानेवाला है । (तपः असि) दुष्टोंको तपानेवाला है।

इस प्रकार यहांपर यमवाले मंत्र तथा बहुवचनान्त पितृ शब्दवाले मंत्र समाप्त होते हैं। यम व पितर विषयक जो जो भी सिद्धान्त स्थापित किए जा सकते हैं वे सब इनमें आ चुके हैं। यम व पितरविषयक नवीन सिद्धान्त अब आगे संभवतः देखनेको नहीं मिलेंगे इससे आगे हम जैसा कि अन्यत्र निर्देश भी कर आए हैं, यम व पितर संबन्धी संपूर्ण सूक्तोंपर विचार करेंगे,जिससे कि यदि कोई महत्वपूर्ण मंत्र जिसमें कि यम वा पितृ शब्द न होनेसे छूट गया होगा तो वह भी पाठकोंके सामने आ सकेगा । सम्पूर्ण सूक्तोंपर विचार करने से प्रकृत विषयपर विचार करनेके लिए व विशेष निर्णयपर पहुंचनेके लिए पर्याप्त सहायता मिलनेकी संभावना है।

यम और पितरोंके ऋग्वेद सूक्त।

अब हम यम और पितरोंसे संबन्ध रखनेवाले सूक्तों पर अर्थात् जिन सूक्तोंका देवता यम अथवा पितर है, उनपर सूक्तके क्रमसे विचार करेंगे। यद्यपि इन सूक्तोंमें आए हुए बहुतसे मंत्रों पर पहिले विचार किया जा चुका है, तथापि यहांपर पूर्वापर प्रकरणके साथ उनपर विचार करनेसे उनका भाव अधिक खुल सकेगा। साथ ही पाठकोंके लक्ष्यमें यह बात भी आ सकेगी कि उनके जो पहिले अर्थ दे आए हैं वे कहांतक संगत हैं और उनसे निकाला हुआ परिणाम कहांतक ठीक है। संपूर्ण सूक्तके भावके साथ यदि तो उन मन्त्रोंकी संगति लग सकती है तो उन मंत्रोंका अर्थ ठीक है अन्यथा अवश्यमेव अर्थमें खींचातानी की गई है यह स्पष्ट हो जायगा। और इसीलिए पाठकोंसे भी निवेदन है कि वे भी यदि किसी मंत्रके अर्थ वा भावसे असहमत हों तो वे प्रथम उस मंत्रके सूक्तके भावके साथ उस मंत्रकी संगति देखें और फिर अर्थपर विचार करें। संपूर्ण सूक्तके साथ संगतीकरण करते हुए मंत्रका अर्थ करना अधिक पूर्ण व ठीक होगा। यद्यपि सबके सब मंत्रोंके अर्थोंकी कसौटीके लिए हम यहां साधन उपस्थित नहीं कर सकते, तथापि जिन सूक्तोंपर यहां विचार करना है, उनमें वे प्रायः सभी मंत्र आ जायंगे जो कि प्रकृत विषयमें एक बडा भारी महत्त्वपूर्ण भाग ले रहे हैं अर्थात् जिनके आधारपर यम व पितर विषयक परिणाम निकाले गए हैं। पहिले ऋग्वेदके सूक्तोंपर क्रमशः विचार करेंगे। ऋग्वेदमें ५ सूक्त ऐसे हैं जो कि प्रकृत विषय से संबन्ध रखते हैं। पाहिले तीन सूक्त अर्थात् १४, १५ और १६ लगातार इसी विषयसे संबन्ध रखनेवाले हैं।

१ ऋग्वेद मं० १० । सू० १४

१-१६ यम ऋषिः। देवताः-१-५, १३-१६ यमः। ६ लिङ्गोक्ताः। ७-९ लिङ्गोक्ताः पितरो वा। १०-१२ श्वानौ।

परेयिवांसं प्रवतो महीरनु बहुभ्यः पन्थामनुपस्पशानम्। वैवस्वतं सङ्गमनं जनानां यमं राजानं हविषा दुवस्य॥

ऋ० १०।१४।१

(प्रवतः) प्रकृष्ट कर्म करनेवालोंको, उत्तम कर्म करनेवालोंको तथा निकृष्ट कर्म करनेवालोंको (महीः) भूमिप्रदेशोंको (अनुपरेयिवांसं) प्राप्त कराते हुए तथा (बहुभ्यः पन्थां अनुपस्पशानं) बहुतोंके लिये मार्गको दिखलाते हुए और (जनानां सङ्गमनं) जिसमें मनुष्य जाते हैं ऐसे (वैवस्वतं) विवस्वानके पुत्र (यमं राजानं) यम राजाकी (हविषा दुवस्य) हविदानपूर्वक पूजा कर। "प्रवतः महीः अनुपरेयिवांसं" इसका अभिप्राय यह है कि सबको उनके कर्मानुसार उचित स्थानपर जन्म देता है। जैसे कोई भारतवर्षमें जन्म लेता है तो कोई अन्यत्र। भारतवर्षमें भी जीव स्वाकर्मानुसार भिन्न भिन्न प्रान्तमें जन्म लेता है। इस जन्मस्थानकी व्यवस्था यम करता है ऐसा इसका भाव प्रतीत होता है। अथवा इस मंत्रभागका अर्थ यूं भी किया जा सकता है- (प्रवतः अनु महीः परेयिवांसं) प्रकृष्ट, उत्कृष्ट तथा निकृष्ट योनिस्थ जीवोंके उद्देश्यसे पृथिवी पर आए हुए यमको... इत्यादि। इसका अभिप्राय यह है कि अन्तमें नाना योनिस्थ जीवोंको यमने यमलोकमें ले जाना है अतः वह पृथिवीपर आया हुआ है और उसका यह कार्य है इसकी पुष्टि आगे 'जनानां संगमन' यह कर रहा है।

"बहुभ्यः पन्थां अनुपस्पशानम्" इसका अभिप्राय यह है कि नाना योनिस्थ जीवोंमेंसे जिस जिसकी आयु संपूर्ण होती है, उस उसको वह यमलोकका रस्ता दिखाता जाता है। इस प्रकार इन कर्मोंके करनेवाले यम राजाको हवि देकर उसकी पूजा करनी चाहिए यह मंत्रका आशय है।

> **यमो नो गातुं प्रथमो विवेद नैषा गव्यूतिरपभर्तवा उ। यत्रा नः पूर्वे पितरः परेयुरेना जज्ञानाः पथ्या अनु स्वाः॥ ऋ० १०।१४।२॥**

(यमः नः गातुं प्रथमः विवेद) यमने हमारा मार्ग सबसे पहिले जाना। (एषा गव्यूतिः न अपभर्तवै) यह मार्ग अपहरणके लिए नहीं है अर्थात् इस मार्गसे छुटकारा पाया नहीं जा सकता। वह मार्ग कौनसा है यह मंत्रके उत्तरार्धसे दर्शाते हैं-- (यत्र नः पूर्वे पितरः परेयुः) जहांपर हमारे पूर्वज पितर गए हुए हैं और (एना) इस मार्गसे (जज्ञानाः) जात प्राणीमात्र (स्वाः पथ्याः अनु) अपने अपने पथ्योंके अनुसार जाते हैं।

इस मंत्रको प्रथम मंत्रोक्त 'जनानां सङ्गमनं यमं राजानं'का स्पष्टीकरण कहा जा सकता है। अन्त में यमलोकमें सब प्राणियोंके जानेके लिये जो मार्ग है उसका यहां निर्देश है। यम हमारा यमलोकमें जानेका मार्ग सबसे पहिले जानता है क्योंकि

वह उस मार्गका अधिष्ठाता है। इस मार्गसे छुटकारा पाना कठिन है क्योंकि जो उत्पन्न हुआ है वह अवश्य मरेगा ही। इसी भावको और भी अधिक स्पष्ट मंत्रके उत्तरार्धसे करते हुए कहा गया है कि उस मार्गमेंसे हमारे पूर्वज गए और जात प्राणीमात्र भी अपने कर्मानुसार जायगा।

इस प्रकार इस मंत्रमें यमलोकके जानेके मार्गका वर्णन है। उस मार्गसे सबको जाना होगा। कोई भी इससे बच नहीं सकता। अतएव यमको पूर्व मंत्रमें ' जनानां संगमनं ' कहा है। यह मंत्र अथर्ववेदमें (१८।१।५०) भी है।

अगले तृतीय मंत्रसे छठे मंत्र तक नया प्रकरण शुरु होता हुआ प्रतीत होता है। इन चार मंत्रोंमें यम व आङ्गिरस् पितरोंकी चर्चा है।

> मातली कव्यैर्यमो अङ्गिरोभिर्बृहस्पतिर्ऋक्वभिर्वावृधानः। यांश्च देवा वावृधुर्ये च देवान्स्वाहान्ये स्वधयान्ये मदन्ति॥ ऋ० १०।१४।३॥

(मातली) इन्द्र (कव्यैः) कव्योंसे, (यमः अङ्गिरोभिः) यम अङ्गिरसोंसे और (बृहस्पतिः ऋक्वभिः) बृहस्पति ऋचाओंसे अर्थात् ऋचासंबन्धी ज्ञान रखनेवालोंसे (वावृधानः) वृद्धिको प्राप्त होता है। (यान् देवाः वावृधुः) जिनका देवोंने बढाया है तथा (ये देवान्) जो देवोंको बढाते हैं, उनमें से (अन्ये) अन्य अर्थात् मातली, यम तथा बृहस्पति (स्वाहा) वषट्कार से दी गई हविद्वारा (मदन्ति) प्रसन्न होते हैं और अन्ये दूसरे कव्य, अङ्गिरस् तथा ऋक्व (स्वधया) स्वधाकार से दी गई हविद्वारा प्रसन्न होते हैं। यह मंत्र अथर्ववेद (१८।१।४७) में है। वहां पर जो चतुर्थ पाद है वह इस मंत्रके चतुर्थ पादसे भिन्न है। अथर्ववेदके पाठानुसार कव्य, अङ्गिरस् कौन है यह स्पष्ट हो जाता है। अथर्ववेद में आए हुए इस मंत्रका चौथा पाद इस प्रकार है- 'ते नोऽवन्तु पितरो हवेषु। ' अर्थात् मंत्रोक्त कव्य, अङ्गिरस् आदि जो पितर हैं वे हमारी आह्वान करनेपर रक्षा करें।

कव्य— पितरोंको प्रायः बहुतसे मंत्रोंमें कविके नामसे कहा गया है। और अतएव उन्हें जो हवि दी जाती है उसका नाम ' कव्य ' है। देवोंके लिये दी जाती हवि ' हव्य ' के नामसे कही जाती है। दोनों हवियोंका भेद करनेके लिए पितरोंकी हविको कव्यके नामसे कहा गया है तथापि कई स्थानोंपर पितरोंके लिये हवि शब्दसे भी हव्यका विधान है ही। यहां पर कव्य शब्दसे कव्य खानेवाले पितरोंका ग्रहण है।

> इमं यम प्रस्तर मा हि सीदाङ्गिरोभिः संविदानः। आ त्वा मंत्राः कविशस्ता वहन्त्वेना राजन्हविषा मादयस्व॥ ऋ० १०।१४।४॥

(अङ्गिरोभिः पितृभिः संविदानः) अंगिरस् पितरोंके साथ एकमत हुआ हुआ हे यम ! तू (इमं प्रस्तरं) इस विस्तृत फैले हुए आसनपर (आसीद) बैठ। (त्वा) तुझे (कविशस्ताः मंत्राः) क्रान्तदर्शीयों द्वारा स्तुति किए गए मंत्र (आ वहन्तु) बुलावें। (एना) इस (हविषा) हविद्वारा (मादयस्व) प्रसन्न हो।

इस मंत्रमें यमका अंगिरस् पितरोंके साथ यज्ञ में विस्तृत आसनपर बैठजानेका वर्णन है। उसकी मंत्रों द्वारा स्तुति करके उसे यज्ञमें हवि दी जाती है। ये अङ्गिरस् पितर कौन हैं इस पर स्वतंत्र विचार करेंगे। इन तीन चार मंत्रोंसे उनका व यमका संबन्ध दिखाया गया है। उपरोक्त मंत्रके भावको अगले मंत्रमें और भी अधिक स्पष्ट किया गया है-

> अङ्गिरोभिरागहि यज्ञियेभिः यम वैरूपैरिह मादयस्व। विवस्वन्तं हुवे यः पिता तेऽस्मिन् यज्ञे बर्हिष्या निषद्य॥ ऋ० १०।१४।५॥

हे यम ! [वैरूपैः] विविध स्वरूपवाले, [यज्ञियेभिः] यज्ञके योग्य पूजनीय [अङ्गिरोभिः] आङ्गिरस् पितरोंके साथ [इह आ गहि] इस हमारे यज्ञमें आ। यज्ञमें आकर दी गई हविको खाकर [मादयस्व] आनन्दित हो। [विवस्वन्तं हुवे विवस्वान्(सूर्य)को मैं बुलाता हूं [यः] जो कि विवस्वान् [ते पिता] तेरा पिता है। वह विवस्वान् [अस्मिन् यज्ञे बर्हिषि आ निषद्य] इस यज्ञमें आकर आसनपर बैठकर दी हुई हविको खाकर आनन्दित होवे।

यज्ञमें यम व अंगिरस् पितरोंको बुलाकर उन्हें हवि दी जाती है, यमका पिता विवस्वान् [सूर्य] है, उसे भी साथ में यज्ञमें बुलाया जाता है व हवि खानेके लिये दी जाती है। अंगिरस् पितर नाना रूपवाले हैं अर्थात् उनके स्वरूप भिन्न भिन्न हैं। इस भिन्न भिन्न स्वरूपका अगले मंत्रमें स्पष्टीकरण किया गया है। यह मंत्र थोडेसे पाठान्तरके साथ अथर्ववेद [१८।१।५९] में भी आया है।

> अंगिरसो नः पितरो नवग्वा अथर्वाणो भृगवः सोम्यासः। तेषां वयं सुमतौ यज्ञियानामपि भद्रे सौमनसे स्याम ॥ ऋ० १०।१४।६॥

(नः नवग्वाः अथर्वाणः भृगवः सोम्यासः अंगिरसः पितरः) हमारे नवग्व, अथर्वा, भृगु, सोमसंपादन करनेवाले अंगिरस् पितर हैं। (तेषां यज्ञियानां) उन यज्ञार्ह आंगिरस् पितरों की (सुमतौ) उत्तम सलाहोंमें तथा (भद्रे सौमनसे) शुभसंकल्पो में (स्याम) होवें

वेदमें नवग्व तथा दशग्व शब्द कई स्थानोंपर आते हैं। निरुक्तकार यास्काचार्यने इस मंत्रमें आए हुए नवग्व शब्दोंके निर्वचन निम्न लिखित किए हैं-

> नवग्व—नवगतयो नवनीतगतयो वा। नि० ११।१८॥

अर्थात् नव प्रकार की गतिवाले अथवा नवनीत अर्थात् मक्खन की तरह गतिवाले। सायणाचार्य अपने भाष्यमें इस शब्दका अर्थ इस प्रकार करते हैं- 'नवग्वाः नवभिर्मासैः सत्रम नुतिष्ठवन्तः।' अर्थात् नव मासका सत्र याग करने से इनका नाम नवग्व है।

> अथर्वा- अथर्वाणोऽथर्वणवन्तः, थर्वतिश्चरति कर्मात्तत्प्रतिषेधः। निरु० ११।२।१८॥

अथर्वा स्थिर अर्थात् निश्चल प्रकृतिवाला होता है। चलनार्थक थर्व धातुसे थर्वन् शब्द बनता है। जिसका अर्थ है। अस्थिर - चलायमान। इससे उलटा अथर्वा-निश्चल।

भृगुः- आर्चिषि भृगुः संबभूव। भृगुः भृज्यमानः, न देहे। निरु० ३।३॥ भृगु आगकी ज्वालाओंमें पैदा हुआ था भृगुका अर्थ है जो आगमें भुना हुआ हो, जिसकी शरीरमें आस्था न हो। सोम्यासः--सोमसंपादिनः। निरु० ॥ जो यज्ञमें सोमरस तैयार करते हैं वे सोम्द कहलाते हैं।

इस प्रकार इन विशेषणोंसे पूर्व मंत्रोक्त 'वैरूपैरिह मादयस्व' में अङ्गिरस् पितरोंको जो वैरूप कहा था उसका इस मंत्रमें स्पष्टीकरण करके दिखाया है कि अङ्गिरस् पितर वैरूप किस प्रकारसे हैं। मंत्रके उत्तरार्धमें उनकी नेक सलाहमें रहने को कहा गया है। यह मंत्र अथर्व (१८।१।५८) में तथा यजुर्वेद (१९।५०) में भी आया हुआ है। यहांपर तीसरे मंत्र से अङ्गिरस् पितरका जो प्रकरण प्रारंभ हुआ था वह समाप्त होता है।

अब अगले दो मंत्रोंमें अर्थात् ७ वें व आठवें में पुनः उसी प्रकरणका निर्देश करते हुए मृत पुरुषकी आत्माको यमलोकमें जहां कि पूर्व पितर गए हुए हैं वहां यम व वरुणके दर्शन करनेके लिए कहा गया है।

> प्रेहि प्रेहि पथिभिः पूर्व्येभिः यत्रा नः पूर्वे पितरः परेयुः। उभा राजाना स्वधया मदन्ता यमं पश्यासि वरुणं च देवम्॥ ऋ० १०।१४।७॥

हे मृत पुरुष! (यत्र) जिस लोकमें (नः पूर्वे पितरः) हमारे पूर्वज पितर (परेयुः) गए हुए हैं, उस लोकमें (पूर्व्येभिः पथिभिः) पहिलेके मार्गोंद्वारा (प्रेहि प्रेहि) अवश्य जा। उस लोकमें जाकर (स्वधया मदन्तौ) स्वधासे आनन्दित होते हुए अथवा तृप्त होते हुए (उभा राजाना) दोनों राजा (यमं वरुणं देवं च) यम तथा वरुण देव को (पश्यासि) देख।

इस मंत्रमें प्रथम दो मंत्रोंके भावको बिलकुल व्यक्त कर दिया है। सबसे प्रथम यहां यह बात पूर्ण रूप से स्पष्ट हो जाती है कि जिस लोकमें हमारे पितर गए हुए हैं वह लोक यमलोक है अथवा उस लोक में यमका राज्य है, क्योंकि यम उस लोक का राजा है ऐसा उत्तरार्ध में कहा है। दूसरी बात यम भी स्वधासे तृप्त होता है, यह यहांपर स्पष्ट होती है। तीसरी बात यमके साथ ही वरुण भी रहता है। चौथी बात यमलोकमें जानेके मार्ग पितृयाण कहलाते हैं। इस प्रकार प्रथम दो मंत्रोंके भावको जिस प्रकार अधिक स्पष्ट किया गया है, यह पाठक स्वयं देख सकते हैं। यह मंत्र थोडेसे पाठान्तरके साथ अथर्ववेद (१८।१।५४) में भी है।

> सं गच्छस्व पितृभिः संयमेनेष्टापूर्तेन परमे व्योमन्। हित्वायावद्यं पुनरस्तमेहि सं गच्छस्व तन्वा सुवर्चाः ऋ० १०।१४।८॥

हे मृत पुरुष! (परमे व्योमन्) उत्कृष्ट व्योममें अर्थात् स्वर्गमें (पितृभिः सं गच्छस्व) पितरोंके साथ जा। (यमेन सं) यमके साथ जा। (इष्टापूर्तेन) इष्टापूर्तके साथ अर्थात् अपने उपार्जित कर्मोंके साथ जा। (अवद्यं हित्वाय) निन्दित कर्मोंका त्यागकर के अर्थात् सुकर्मोंके साथ (पुनः) फिर (अस्तं एहि) अपने घरको वापस आ, अर्थात् पुनर्जन्म लेकर आ और तब (सुवर्चाः) उत्तम तेज—कान्तिसे युक्त हुआ हुआ तू (तन्वा सं गच्छस्व) शरीरको धारण करके

संसारमें विचरण कर।

इस मंत्रसे हमें कई बातें पता चलती हैं। सबसे प्रथम ये दोनों मंत्र अर्थात् सातवां व आठवां मृत पुरुषको संबोधन करके कहे गए हैं। मंत्रका उत्तरार्ध इस बातकी पूर्णरूपसे पुष्टि कर रहा है। दूसरी बात स्वर्गमें जानेके लिए पितर तथा यम मृत पुरुष की आत्मा को पृथिवीपर लेने आते हैं। तीसरी बात 'परमे व्योमन्' से यमलोक उत्कृष्ट लोक है। उसमें अच्छे कर्म करनेवाले जाते हैं। अथवा यमलोकमें कई विभाग हैं और उनमें कर्मानुसार जीव जाता है। इष्टापूर्तके साथ जानेका कथन इसी बात की पुष्टि कर रहा है। इष्टापूर्तका लक्षण निम्न लिखित है—

> अग्निहोत्रं तपः सत्यं वेदानां चानुपालनम्।
> आतिथ्यं वैश्वदेवं च इष्टमित्यभिधीयते ॥ १ ॥
> वापीकूपतडागादिदेवतायतनानि च।
> अन्नप्रदानमारामाः पूर्तमित्यभिधीयते ॥ २ ॥

अथर्ववेद (१८।३।५८) में भी यह मंत्र आया हुआ है।

> अपेत वीत वि च सर्पतातोऽस्मा एतं पितरो लोकमक्रन्। अहोभिरद्भिरक्तुभिर्व्यक्तं यमो ददात्यवसानमस्मै ॥ ऋ० १०।१४।९॥

(अप इत) हे विघ्नकारी जनो! यहांसे चले जाओ। (वीत) भाग जाओ। (वि सर्पतातः) सर्वथा यह स्थान छोडकर हट जाओ। (अस्मै) इस प्रेतके लिए (पितरः) पितरोंने (एतं लोकं अक्रन्) यह स्थान किया है। (अस्मै) इस मृतके लिए (यमः) यमने (अहोभिः) दिनोंसे व (अद्भिः) पेय जलोंसे तथा (अक्तुभिः) रात्रियोंसे [व्यक्तं अवसानं] स्पष्ट समाप्ति [ददातु] दी है।

इस मंत्रमें शवकी अंत्येष्टि क्रिया के लिए स्थान को पितर निर्धारित करते हैं ऐसा उल्लेख है। यहां शरीरसे प्राणोंके निकल जानेके बादका वर्णन है। उत्तरार्धमें यह स्पष्ट कहा है कि इसके लिए अब दिन रात आदि की समाप्ति हो चुकी है अर्थात् यह मर गया है। अब पूर्वार्धानुसार मरने पर पितर इसके लिए स्थान बनाते हैं इसके दो ही अभिप्राय हो सकते हैं— [१] या तो जो पितर स्थान बनाते हैं वह स्मशान भूमिका हो सकता है अथवा [२] वह यमलोकका हो सकता है। यदि दूसरा विकल्प माना जाए तो इससे यमलोकपर थोडासा प्रकाश अवश्य पड सकता है और वह यह कि जैसा उत्तरार्धमें दर्शाया है यमलोकमें दिन व रात नहीं होते और वहां जल भी नहीं है।

अवसान = समाप्ति। यह मंत्र अथर्ववेद [१८।१।५५] में भी है।

अब यमके दूत दो श्वानोंका वर्णन अगले तीन मंत्रोंमें अर्थात् मंत्र १० से लेकर १२ तक में है।

> अति द्रव सारमेयौ श्वानौ चतुरक्षौ शबलौ साधुना पथा। अथा पितॄन्त्सुविदत्राँ उपेहि यमेन ये सधमादं मदन्ति ॥ ऋ० १०।१४।१०॥

हे पितृलोकमें जाते हुए जीव! [सारमेयौ चतुरक्षौ] सारमेय, चार आंखोंवाले [शबलौ] चितकबरे [श्वानौ] दो कुत्तोंसे [अति] बचकरके [साधुना पथा] कल्याणकारी उत्तम मार्गसे [द्रव] जा। [अथ] तब [सुविदत्रान् पितॄन्] उत्तम धन वा ज्ञानसे युक्त पितरोंको [उप इहि] प्राप्त हो। [ये] जो कि पितर [यमेन सधमादं मदन्ति] यमके साथ आनन्दित होते हुए तृप्त होते हैं।

सारमेय— सायणाचार्यने सारमेयका अर्थ किया है कि सरमा नामकी देवोंकी कुत्ती है। उसका बच्चा सारमेय। सरमा शब्द सृगतौ धातुसे अम करनेपर बनता है, जिसका अर्थ है बहुत दौडनेवाली। उसका पुत्र सारमेय। सारमेयका अर्थ हुआ बहुत दौडनेवाली का पुत्र। लौकिक साहित्यमें सारमेय का अर्थ कुत्ता प्रचलित है। यमके कुत्तोंका वर्णन इस मंत्रमें किया गया है। उनकी चार आंखें हैं, तथा चितकबरे रंगके हैं। इस मंत्रमें यम व पितरोंका संबन्ध भी व्यक्त हो रहा है। अगले मंत्रमें यमसे कहा गया है कि वे इस जीवको उन कुत्तोंसे कल्याण तथा आरोग्य प्रदान करे।

> यौ ते श्वानौ यम रक्षितारौ चतुरक्षौ पथिरक्षी नृचक्षसौ। ताभ्यामेनं परि देहि राजन् स्वस्ति चास्मा अनमीवं च धेहि ॥ ऋ० १०।१४।११॥

हे यम! [ते] तेरे [यौ] जो [रक्षितारौ] रक्षा करनेवाले [चतुरक्षौ] चार आंखोंवाले [पथिरक्षी] यमलोक में जानेके मार्गकी रक्षा करनेवाले तथा [नृचक्षसौ] मनुष्योंको देखनेवाले [श्वानौ] दो कुत्ते हैं, हे राजन्! [ताभ्यां] उन दोनों कुत्तों द्वारा [एनं] इस जीवको [स्वस्ति] कल्याण [देहि] प्रदान कर। [च] और [अस्मै] इस जीवके लिए [अनमीवं] रोगरहितता अर्थात् आरोग्य [धेहि] धारण कर। इसे नीरोगी बना।

इस मंत्रमें जीवित पुरुषके लिए यमके कुत्तोंसे कल्याण व आरोग्य मांगा गया है। यह मंत्र अथर्ववेद (१८।२।१२) में है।

उरूणसावसुतृपा उदुम्बलौ यमस्य दूतौ चरतो जनाँ अनु।
तावस्मभ्यं दृशये सूर्याय पुनर्दातामसुमद्येह भद्रम्॥
ऋ० १०।१४।१२

(उरुणसौ) लम्बी नाकवाले, (असुतृपौ) प्राणोंके खानेसे तृप्त होनेवाले, (उदुम्बलौ) विस्तृत बलवाले अर्थात् अत्यन्त बलवान् (यमस्य दूतौ) यमके दूत उपरोक्त दोनों कुत्ते (जनाँ अनु चरतः) मनुष्योंके पीछे पीछे विचरण करते हैं। (तौ) इस प्रकारके वे यमदूत कुत्ते (अस्मभ्यं) हमारे लिये (सूर्याय दृशये) सूर्यके दर्शनार्थ अर्थात् इस लोकमें जीवन धारण करनेके लिए (अद्य) आज (इह) इस संसारमें (भद्रं असुं) कल्याणके देनेवाले प्राणको (पुनः) फिर (दातौं) देवें।

इस मंत्रमें यमके कुत्तोंका थोडासा और अधिक वर्णन हमें मिलता है। वे लम्बी नाकवाले, प्राणोंको खाकर तृप्त होनेवाले, अत्यंत बलशाली हैं। वे सर्वदा मनुष्योंके पीछे लगे रहते हैं। इसी सूक्तके आठवें मंत्रमें हम देख आए हैं कि वहां पुनर्जन्मका वर्णन मिलता है। इस मंत्रका उत्तरार्ध भी पुनर्जन्म विषयक निर्देश कर रहा है। 'सूर्याय दृशये' से ऐसा पता चलता है कि संभवतः इस लोकमें रहकर ही सूर्यदर्शन हो सकता है अन्यत्र नहीं। यह मंत्र भी अथर्ववेद (१८।२।१३) में है। यमके कुत्तों पर अधिक प्रकाश डालनेके लिए हम प्रसंगवश अथर्व० ८।१।९ को उद्धृत करते हैं, जिससे कि यमके श्वानविषयक कल्पनाको जो कि हम आगे देनेवाले हैं, समझनेमें पाठकोंको सहायता मिलेगी।

श्यामश्च त्वा मा शबलश्च प्रेषितौ यमस्य यौ पथिरक्षी श्वानौ। अर्वाङेहि मा वि दीध्यो मात्र तिष्ठः पराङ्मनाः॥
अथर्व८।१।९॥

(श्यामः) काला (च) और (शबलः) चितकबरा ऐसे (यौ) जो दो (यमस्य) यमके (पथिरक्षी) यमलोकके मार्गकी रक्षा करनेवाले (श्वानौ) कुत्ते हैं, वे (त्वा) तुझे (मा) मत बाधा पहुंचावें। (अर्वाङ् एहि) तू हमारे सन्मुख आ। (मा विदीध्यः) विरुद्ध मत हो अर्थात् हमें छोडकर चले जानकी कोशिश मत कर। (अत्र) यहां इस संसारमें (पराङ्मनाः) विक्षिप्त चित्तवाला होकर (मा तिष्ठः) मत स्थिर हो। अर्थात् संसारसे उदासीन वृत्ति धारण मत कर।

इस मंत्रके पूर्वार्धमें यमके कुत्तोंका स्वरूप दर्शाया है। उनमेंसे एक काला है व दूसरा चितकबरा है। इस प्रकार १० वें मंत्रसे १२वें मंत्रतकमें तथा इस अथर्ववेदके मंत्रमें जो यमके श्वानोंके लिए विशेषण प्रयुक्त किए गए हैं उनसे ऐसा पता चलता है कि आलंकारिक रूपसे दिन व रात का वर्णन इन मंत्रोंमें हैं। यमके दोनों कुत्ते दिन व रात हैं। काला कुत्ता रात है व चितकबरा कुत्ता दिन है।

इस कल्पनाका आधार इन मंत्रोंमें कुत्तोंके लिए प्रयुक्त हुए हुए विशेषण हैं। हम खास खास विशेषणोंके आधार पर पाठकोंको उपर्युक्त कल्पनाका दिग्दर्शन करायेंगे। यमके श्वानोंके लिए कहा है कि (जनान् अनुचरतः) अर्थात् वे मनुष्योंके पीछे पीछे प्राणापहरणके लिए लगे हुए विचरण कर रहे हैं। ज्यों ज्यों रात व दिन गुजरते जाते हैं त्यों त्यों मनुष्यकी आयु क्षीण होती जाती है। और एक दिन व रात आती है जब मनुष्यका प्राणान्त हो जाता है। दिन वह रात सारमेय भी हैं, क्योंकि जल्दी जल्दी आकर चले जाते हैं। ये शबल अर्थात् चितकबरे भी हैं। दिन सफेद है, व रात काली है इस प्रकार दोनों मिलकर शबल हैं। वे नृचक्षस अर्थात् मनुष्योंको देखनेवाले भी हैं। ये असुतृप अर्थात् प्राणोंको खाकर तृप्त होनेवाले हैं। जबतक शरीरसे प्राण नहीं छूटता तबतक मनुष्यके साथ दिन रात लगे ही हुए हैं। प्राण छूटे कि दिन रात उसके लिए समाप्त हुए। उसके प्राणोंके लिए ही मानो दिन रात पीछे पीछे लगे हुए थे वे प्राण मिले कि उस मनुष्यको दीन रातसे पीछा छूटा। यहां पर एक और भी शंका उठ सकती है कि और वह यह कि श्वान शब्दसे ही क्यों यमके दूत कुत्तोंका उल्लेख किया गया? क्या कुत्तेके वाचक अन्य शब्द नहीं है? परंतु पाठकोंको यहां पर ध्यानमें रखना चाहिए कि यह श्वान शब्द हमारी उपरोक्त कल्पनाको विशेष दृढ करता है। श्वान शब्दके अर्थ पर विचार करनेसे उपरोक्त शंकाका तो उत्तर मिलही जाता है पर दिन रातका यमके श्वान होनेका रहस्यभी पूर्ण रूपसे खुल जाता है। श्वानका अर्थ है- (श्वा = श्वः = कल न-नहीं) जो आनेवाली कलमें नहीं रहेगा अर्थात् जो आज तो है पर कल न रहेगा। पाठक देख सकते हैं कि यह अर्थ पूर्ण रूपसे दिन व रात पर घट रहा है। जो दिन व रात आज हैं वे ही फिर दुबारा लौटकर कल नहीं आयंगे। इस प्रकार आलंकारिक वर्णनसे यमके दूत श्वान दिन और रात हैं।

यहांपर यमके श्वानविषयक प्रकरण समाप्त होता है। अब आगेके तीन मंत्रोंमें अर्थात् १३ से १५ तकमें यमके लिए हवि देने, यज्ञ करने आदिका निर्देश है।

यमाय सोमं सुनुत यमाय जुहुता हविः ।
यमं ह यज्ञो गच्छत्यग्निदूतो अरङ्कृतः ॥

ऋ० १०।१४।१३॥

(यमाय सोमं सुनुत) यमके लिए यज्ञमें सोमको निचोडो। (यमाय हविः जुहुत) यमके लिए हवि प्रदान करो। (अरङ्कृतः) नाना प्रकारके द्रव्योंके डालनेसे जो अलङ्कृत किया हुआ, (अग्निदूतः अग्निको अपना दूत बना करके (ह) निश्चयसे (यज्ञः) यज्ञ (यमं गच्छति) यमको प्राप्त होता है।

यमके लिए सोम, हवि आदि यज्ञमें देने चाहिए। यज्ञ यमको निश्चयसे प्राप्त होता है।

यह मंत्र थोडेसे पाठान्तरके साथ अथर्ववेद [१८।२।१] में है।

यमाय घृतवद्धविर्जुहोत प्र च तिष्ठत ।
स नो देवेष्वा यमद् दीर्घायुः प्रजीवसे ॥

ऋ० १०।१४।१४॥

[यमाय] यमके लिए [घृतवत् हविः] घीवाली हवि [जुहोत] प्रदान करो। और हवि देकर [प्रतिष्ठत] प्रतिष्ठाको प्राप्त करो अथवा दीर्घ जीवनका लाभ करो। [सः] वह यम [प्रजीवसे] अच्छी प्रकारसे जीनेके लिए [देवेषु] देवोंमें [नः] हमें [दीर्घायुः] लम्बी आयुष्य [आ यमत्] देवे।

यमके लिए घीसे मिश्रित हवि देकर प्रतिष्ठा वा दीर्घ जीवन प्राप्त करो। यमको हवि देनेसे वह देवोंमें दीर्घायु देता है। यह मंत्र भी अथर्व० [१८।२।३] में कुछ पाठभेदके साथ आया है।

[टिप्पणी—' प्रतिष्ठत ' — ऐसा प्रतीत होता है कि यमके लिए घीवाली हवि देनेसे मनुष्यकी सांसारिक व पारलौकिक स्थिति उत्कृष्ट हो सकती है।]

यमाय मधुमत्तमं राज्ञे हव्यं जुहोतन ।
इदं नम ऋषिभ्यः पूर्वजेभ्यः पूर्वेभ्यः पथिकृद्भ्यः ॥

ऋ० १०।१४।१५॥

[यमाय राज्ञे] यम राजाके लिए [मधुमत्तमं हव्यं] अत्यन्त मधुर हव्यका [जुहोतन] प्रदान करो। [पथिकृद्भ्यः] रस्ता बनानेवाले मार्ग प्रदर्शक [पूर्वजेभ्यः] जो सब से पूर्व उत्पन्न हुए हैं व [पूर्वेभ्यः] हमसे पूर्वके हैं ऐसे [ऋषिभ्यः] ज्ञानियोंके लिए [इदं नमः] यह नमस्कार है।

इस मंत्रमें यम राजाके लिए मधुरतम हवि देनेका व प्राचीन ऋषियोंके लिये नमस्कार का विधान है। इस प्रकार इस प्राणापहारी यमका वर्णन करनेके बाद अन्तिम मंत्रमें उपसंहार करते हैं। इस उपसंहारके मंत्रमें उस यम [सर्वनियन्ता परमात्मा] का वर्णन है।

त्रिकद्रुकेभिः पतति षडुर्वीरेकमिद् बृहत् ।
त्रिष्टुब्गायत्री छन्दांसि सर्वा ता यम आहिता ॥

ऋ० १०।१४।१६॥

[एक इत् बृहत्] अकेला ही वह सर्वनियन्ता महान् यम [त्रिकद्रुकेभिः] तीन कद्रुकोंसे [षट् उर्वीः] छहों उर्वियों को [पतति] प्राप्त होता है अर्थात् व्याप्त करके स्थित है। [त्रिष्टुप् गायत्री] त्रिष्टुप् गायत्री आदि [ता सर्वा छंदांसि] वे सब छन्द [यमे] उस नियन्तापरमात्मामें [आहिता] स्थित हैं।

षट् उर्वी– द्यु, पृथिवी, आप, ओषधी, दिन व रात ये छः उर्वियां हैं। सायणाचार्यने त्रिकद्रुका अर्थ यागविशेष करके लिखा है। छहों उर्वियोंमें वह यम व्याप्त है, इतना अवश्य पता चलता है। त्रिष्टुप् गायत्री आदि सर्व उस यम [नियामक परमात्मा] में स्थित हैं।

संसारमें हम देख रहे हैं कि परमात्माकी भिन्न भिन्न शक्तियां अपनी स्वतंत्र सत्ता रखती हुईं कार्य कर रही हैं। सूर्य, चन्द्र, अग्नि, विद्युत् आदि शक्तियां यद्यपि अन्तमें परमात्मामें ही समाविष्ट होती हैं, तथापि इनकी अपनी स्वतंत्र सत्तासे इनकार नहीं किया जा सकता। अर्थात् ये परमात्माकी शक्तियां होतीं हुईं भी अपनी स्वतंत्र सत्ता रखती हुईं संसार में कार्य कर रही हैं। ये सब परमात्माकी ही भिन्न शक्तियां हैं अर्थात् इनके नामसे परमात्माकी ही सत्ता व महत्ताका बोध होता है, जैसा कि हमें ऋ० १।१६४ मंत्र ४६ दर्शा रहा है

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् । एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥

ऋ० १।१६४।४६॥

परन्तु इसका अभिप्राय यह कदापि नहीं कि इन्द्र मित्रादि की सत्ता ही नहीं। इनकी स्वतंत्र सत्ता से इनकार करना परमात्माकी भिन्न भिन्न सत्ताओंसे इनकार करना है। उपरोक्त मंत्रमें गिनाई गई परमात्माकी भिन्न भिन्न सत्ताओंमें यम भी एक है। यमका सर्वत्र अर्थ वायु करनेका यह मंत्र विरोध करता है। इस प्रकार इस सूक्तमें जो यमका वर्णन है वह

परमात्मा की विनाशक शक्ति व मरनेके बाद जीवों की व्यवस्था करनेवाली शक्ति का वर्णन है । यह शक्ति अग्नि वायु आदिकी तरह अपनी स्वतंत्र सत्ता रखती है । जिस प्रकार वायु आदि की स्वतंत्र सत्तासे इनकार नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार यमकी भी स्वतंत्र सत्तासे इनकार नहीं किया जा सकता । परमात्मा की भिन्न शक्तियों में से एक यम नामक शक्ति है जिसका कि यम व पितरमें उल्लेख किया गया है । कोई यह न समझ ले कि यम परमात्मा की शक्तियोंसे भिन्न कोई अलग ही शक्ति है, अतः इस सूक्तके अंतमें इस शंका के निवारणार्थ इस मंत्रसे उपसंहार कहते हुए ऋ० १। १६४।४६ मंत्र के आशय को दर्शाया गया है। इस अंतिम मंत्रका यह प्रयोजन है कि अन्तिम यम तो वही एक परमात्मा है, पर जो सूक्तमें यमका वर्णन है वह उसकी एकदेशीय शक्ति का वर्णन है। हमारे ख्यालमें इसी प्रकार इस मंत्रकी सूक्तके साथ संगति है। यम यह एक स्वतंत्र सत्तावाली परमात्माकी शक्ति है, जो वायु अग्नि आदिसे भिन्न है, सूज्ञ पाठक इस विवेचन पर और भी अधिक विचार कर निष्कर्ष निकाल सकते हैं।

सम्पूर्ण सूक्तका मंत्रवार सारांश ।

प्रथम मंत्र ।

१ कर्मानुसार जन्मस्थानका निर्णय यम करता है ।
२ यम विवस्वान् (सूर्य) का पुत्र है ।
३ यम को सब जन प्राप्त होते हैं ।

द्वितीय मंत्र ।

४ यम ने यमलोक में जाने के मार्ग को सबसे प्रथम जाना ।
५ यमलोक के मार्गसे कोई भी बच नहीं सकत । अर्थात् प्रत्येक को यम लोक में अवश्य जाना पडता है ।
६ यमलोकमें हमारे पूर्व पितर गए हुए हैं ।

तृतीय मंत्र ।

७ यम अङ्गिरस् पितरों से बढता है ।

चतुर्थ व पंचम मंत्र ।

८ यम को अङ्गिरस् पितरोंके साथ यज्ञमें बुलाया जाता है ।
९ अङ्गिरस् पितर नाना स्वरूपवाले हैं ।

१० यमके पिता विवस्वान् को भी यज्ञमें बुलाया जाता है ।

षष्ठ मंत्र ।

११ अङ्गिरस् पितरोंके नाना रूप नवग्व, अथर्वन, भृगु आदि हैं ।

सप्तम मंत्र ।

१२ प्रेत पितृलोक (यमलोक) में भेजा जाता है ।
१३ यमलोकमें यम व वरुण राजा है ।
१४ यम व वरुण स्वधासे आनन्दित होते हैं ।

अष्टम मंत्र ।

१५ प्रेत को यम व पितर लेने आते हैं । वह अपने इष्टापूर्त को साथ लेकर उनके साथ यमलोक में जाता है ।
१६ प्रेत यमलोकसे पुनः वापिस लौटता है ।

नवम मंत्र ।

१७ श्मशानभूमिसे विघ्नकारियों को भगाया जाता है ।
१८ यमलोकमें दिन रात नहीं होते ।

दशम मंत्र ।

१९ यमके दो कुत्ते हैं जिनकी चार आंखें हैं तथा वे स्वयं चितकबरे हैं ।
२० मृत आत्मा पितरोंको प्राप्त होती है ।
२१ पितर यमके साथ आनन्दित होते हैं ।

एकादश मंत्र ।

२२ यमके श्वान यमलोकके मार्गकी रक्षा करते हैं ।
२३ वे मनुष्योंको सर्वदा देखते रहते हैं ।

द्वादश मंत्र ।

२४ यमके श्वान लम्बी नाकवाले हैं ।
२५ प्राणोंको खाकर तृप्त होनेवाले हैं ।
२६ ये श्वान यमके दूत हैं ।
२७ वे मनुष्योंके सर्वदा पीछे पीछे फिरते रहते हैं ।
२८ यमके दोनों श्वानोंमेंसे एक काला व दूसरा चितकबरा है ।
२९ संभवतः ये यमके दोनों श्वान दिन व रात हैं ।

त्रयोदश मंत्र ।

३० यमके लिए यज्ञमें सोम निचोडा जाता है व हवि दी जाता है ।

११ अग्निको अपना दूत बनाकर रक्षा यमके पास पहुंचता है।

चतुर्दश मंत्र।

१२ यमके लिए घीमिश्रित हवि दी जाती है जिस से कि उत्कृष्ट स्थिति उपलब्ध होती है।

१३ यम देवोंमें जीनेके लिए हविर्दाता को दीर्घायु देता है।

पंचदश मंत्र।

१४ यमराजाके लिए अतीव मधुरतम हव्य देना चाहिये।

१५ पूर्वज सब ऋषियोंका सत्कार करना चाहिए।

षोडश मंत्र।

१६ छहों उर्वियोंको अकेले ही उस महान् ब्रह्मने व्याप्त कर रखा है।

१७ त्रिष्टुप् आदि सब छंद भी उसी यम (सर्व नियामक-परमात्मा) में स्थित हैं- यमके अन्तर्गत हैं।

२ ऋग्वेद मं० १० सू०१५

इस सूक्तमें जीवित तथा मृत दोनों पितरोंको यज्ञमें बुलाने आदिका वर्णन है। किस मंत्रमें जीवित पितरोंके प्रति कथन है व किसमें मृत पितरोंके प्रति यह निर्णय प्रत्येक मंत्र स्वयं करता है।

उदीरतामवर उत्परास उन्मध्यमाः पितरः सोम्यासः।
असुं य ईयुरवृका ऋतज्ञा स्ते नोऽवन्तु पितरो हवेषु॥
ऋ० १०।१५।१॥

हे (सोम्यासः) सोम संपादन करनेवाले (अवरे) निकृष्ट, (उत् परासः) और उत्कृष्ट (उत्) तथा (मध्यमाः) मध्यम (पितरः) पितरो ! [उदीरतां] उन्नतिको प्राप्त होओ। [ये अवृकाः] जिन हिंसा न करनेवाले पितरोंने [असुं ईयुः] प्राण को प्राप्त किया है अर्थात् जो प्राणधारी पितर हैं [ते] वे [ऋतज्ञाः] सत्य व यज्ञको जाननेवाले [पितरः] पितर [हवेषु] बुलाए जानेपर [नः] हमारी [रक्षन्तु] रक्षा करें।

निरुक्त०

सोम्यासः—सोम संपादन करनेवाले।

अवृकाः—अनमित्राः-शत्रुरहित।

उदीरतां= उत् ईरताम्। उत् उपसर्गपूर्वक ईर गतौ धातु। ऊपर गति करना अर्थात् उन्नति करना।

सब प्रकारके उत्तम, मध्यम तथा निकृष्ट पितर अपनी उन्नति करें। हमारे सहायतार्थ बुलानेपर आकर हमारा रक्षण करें।

'असुं य ईयुः' पदसे यह ज्ञात होता है कि इस में जीवित पितरों से प्रार्थना की गई है। यह मंत्र अथर्ववेद(१८।१।४४) में तथा यजुर्वेद (१९।४९) में भी आया है।

इदं पितृभ्यो नमो अस्त्वद्य ये पूर्वासो य उपरास ईयुः। ये पार्थिवे रजस्या निषत्ता ये वा नूनं सुवृजनासु विक्षु॥ ऋ० १०।१५।२।

[अद्य] आज [पितृभ्यः] पितरोंके लिए [इदं नमः अस्तु] यह नमस्कार हो। किन पितरों के लिए? [ये] जो कि [पूर्वासः] पूर्वकालीन पितर [ईयुः] स्वर्गको गए हुए हैं और [ये] जो कि [अपरासः] अर्वाचीन कालके पितर स्वर्गको गए हुए हैं और [ये] जो कि पितर [पार्थिवे रजसि] पार्थिव रजस् पर अर्थात् पृथिवीपर [आ निषत्ताः] स्थित हैं [वा] अथवा [ये] जो कि [नूनं] निश्चय से [सुवृजनासु विक्षु] उत्तम बल वा धनयुक्त प्रजाओंमें स्थित हैं।

पुरातन कालके, अर्वाचीन कालके जो पितर हैं और जो इस समय पृथिवीलोकपर विद्यमान हैं अथवा उत्तम धनधान्य संपन्न प्रजाओंमें विद्यमान हैं, उन सब पितरोंके लिए नमस्कार है।

विश् शब्द निघण्टुमें मनुष्यवाची नामोंमें पठित है। देखो निघण्टु २।३ वृजनका अर्थ निघण्टुमें बल ऐसा किया गया है। निघण्टु २।९॥ इस मंत्रमें सर्व प्रकारके पितरोंका अर्थात् प्राचीन, अर्वाचीन, जीवित,मृत सबके लिए नमस्कार का निर्देश है। पूर्वासः अर्थात् प्राचीन कालके पितर इस वखत मृत ही हैं। जो पार्थिव लोकपर विद्यमान हैं, वे ही जीवितोंमें गिने जा सकते हैं। अतः इसके सिवाय शेष दोनों अर्वाचीन व प्राचीन पितर निःसंदेह मृत पितर ही हैं। इससे यह स्पष्ट हुआ कि मृत पितरोंको भी नमस्कार करना चाहिए।

यह मंत्र अथर्ववेद (१८।१।४६) तथा यजुर्वेद (१९।६८) में भी आया हुआ है।

> आहं पितॄन्त्सुविदत्राँ अविस्सि नपातं च विक्रमणं च विष्णोः। बर्हिषदो ये स्वधया सुतस्य भजन्त पित्वस्त इहागमिष्ठाः ॥ ऋ० १०।१५।३॥

(सुविदत्रान् पितॄन्) उत्तम धनसंपन्न पितरोंको (आ अविस्सि) अच्छी प्रकार प्राप्त करता हूं। (विष्णोः नपातं विक्रमणं च) और सर्वव्यापक परमात्माके न गिरानेवाले अर्थात् उन्नति करानेवाले शौर्यको प्राप्त करता हूं। (बर्हिषदः पितरः) कुशासन पर बैठनेवाले पितर जो कि (स्वधया) स्वधाके साथ (सुतस्य पित्वः) उत्पादित अर्थात् तैयार किए हुए अन्नका (भजन्त) सेवन करते हैं यानि खाते हैं (ते) वे पितर (इह) इस यज्ञमें (आगमिष्ठाः) आवें।

धनधान्यसंपन्न पितरोंको व व्यापक परमात्माके शौर्यको मैं प्राप्त करता हूं। स्वधाके साथ पक्व अन्न को खानेवाले पितरो! इस यज्ञमें आओ।

सुविदत्रः—सुविदत्रः कल्याणविद्यः। निरु० अ० ६। पा० ३। खं० १४। सुविदत्रका अर्थ निघण्टुमें धन भी है। निघ० २।१०॥ पित्वः = पितु+अस् = पित्वः = अन्नका। नपात = न पातयति = जो न गिरावे।

'आहं सुविदत्रान् पितॄन् आविस्सि' से जीवित पितर प्रतीत होते हैं। क्योंकि सुविदत्र पितरोंको तभी प्राप्त किया जा सकता है, जब कि उनके यहां उनसे जन्म लिया जावे। और जन्म जीवित पितरों से ही मिलता है। यह मंत्र अथर्ववेद [१८।१।४५] में तथा यजुर्वेद [१९। ५६] में आया है।

> बर्हिषदः पितर ऊत्यर्वागिमा वो हव्या चकृमा जुषध्वम्। त आ गतावसा शन्तमेनाऽथा नः शं योररपो दधात ॥ ऋ० १०।१५।४॥

(बर्हिषदः पितरः) हे बर्हिषत् पितरो! (अर्वाक्) हमारे प्रति (ऊति) रक्षणार्थ आओ। (वः) तुम्हारे लिए (हव्या) हव्यों को (चकृम) करते हैं, उनका (जुषध्वम्) प्रीतिपूर्वक सेवन करो। (ते) वे तुम (शंतमेन अवसा) कल्याणकारी रक्षण के साथ (आगत) आओ। (अथ) और तब (नः) हमें (अरपः) पापरहित आचरण, (शं) कल्याण और (योः) दुःखवियोग (दधात) दो।

बर्हिषत् पितर हमारा रक्षण करें और उसके बदलेमें हम उनका हव्यादि प्रदान द्वारा सत्कार करें। व हमारे रोग तथा भयोंको दूर करते हुए हमारा संरक्षण करें।

बर्हिषदः– बर्हिष् में अथवा बर्हिष् पर बैठनेवाले। निघण्टु में बर्हिष् शब्द अन्तरिक्ष एवं जलवाची है। अंतरिक्षमें जल रहता है अतः जलका भी नाम बर्हिष् पड गया ऐसा प्रतीत होता है। बर्हिष् = अंतरिक्ष। निघण्टु १।३॥ बर्हिष् = जल। निघण्टु– १।१२॥ अंतरिक्ष में पितर रहते ऐसा हमें वेदमंत्रोंसे (जैसा कि हम पूर्व दर्शा आए हैं) पता चलता है। तदनुसार 'बर्हिषदः' का अर्थ हुआ अन्तरिक्षस्थ पितर। निघण्टु–३।३। में बर्हिषत्, महत् वाची नामों में भी पठित है। तदनुसार महान् पितर ऐसा भी अर्थ किया जा सकता है। बर्हिष् कुशाघास का भी नाम है। तदनुसार इसका अर्थ कुशाघास के आसनपर बैठनेवाले ऐसा भी हो सकता है। वेदमें बर्हिष् यज्ञ के लिए भी प्रयुक्त हुआ हुआ है, अतः यज्ञ में बैठनेवाले ऐसा अर्थ भी हम कर सकते हैं। प्रसङ्गानुसार उचित अर्थ लेना चाहिए। बर्हिषत् पितरोंके विषयमें विशद विवरण हम अन्यत्र प्रकाशित करेंगे।

शंयोः– शमनं च रोगाणां यावनं च भयानाम्॥ निरुक्त० ४।३।२४॥ अरपः – रपो रिप्रमिति पापनामनी भवतः॥ निरुक्त० ४।३।२४॥ न रपः = अरपः— पापरहित। यह मंत्र यजुर्वेद (१९।५५) में तथा अथर्ववेद (१८।१।५१) में भी है।

> उपहूताः पितरः सोम्यासो बर्हिष्येषु निधिषु प्रियेषु। त आ गमन्तु त इह श्रुवन्त्वधि ब्रुवन्तु तेऽवन्त्वस्मान्॥ ऋ० १०।१५।५॥

(ते) वे (सोम्यासः) सोम संपादन करनेवाले (पितरः) पितर (प्रियेषु बर्हिष्येषु) प्रीतिकारक यज्ञसंबन्धी निधियोंमें (उपहूता) बुलाए गए हैं (ते) वे पितर (इह) इस यज्ञमें (आगमन्तु) आवें। (ते अधिश्रुवन्तु) वे पितर हमारी प्रार्थनायें ध्यान देकर सुनें, (अधिब्रुवन्तु) हमें उपदेश करें तथा (अस्मान् ते अवन्तु) हमारी वे रक्षा करें।

याज्ञिक कार्योंमें पितर हमारे बुलाए जानेपर आवें। आकर हमें उपदेश दें, हमारी प्रार्थनायें सुनें तथा हमारी रक्षा करें।

बर्हिष्य– बर्हिष् नाम यज्ञका है। उसमें होनेवाला बर्हिष्य अर्थात् यज्ञसंबन्धी। सोम्यासः– यास्काचार्यने निरुक्तमें 'सोम्यासः' का अर्थ 'सोम का संपादन करनेवाले' ऐसा किया

है। निधिः – निधिः शेवधिरिति। निरु० अ० २। पा० ३। खं० ४। अर्थात् सुख का भण्डार।

यह मंत्र यजुर्वेद (१९।५७) में तथा अथर्ववेद (१८।३।४५) में है।

> आच्या जानु दक्षिणतो निषद्येमं यज्ञमभि गृणीत विश्वे। मा हिंसिष्ट पितरः केन चिन्नो यद् व आगः पुरुषता कराम ॥ ऋ० १०।१५।६॥

(विश्वे) तुम सब पितरो ! (जानु आच्य) दांयां घुटना टेककर (दक्षिणतः निषद्य) दाईं ओर बैठकर (इमं यज्ञं) इस यज्ञ का (अभि गृणीत) स्वीकार करो। (पितरः) हे पितरो ! (यत् वः आगः) जो तुम्हारा अपराध (पुरुषता कराम) पुरुषत्व के कारण अर्थात् मनुष्यत्व के कारण हम करते हैं ऐसे (केन चित्) किसी भी अपराध के कारण (नः हिंसिष्ट) हमारी हिंसा मत करो।

हे पितरों! दाईं ओर दांयां घुटना टेककर इस यज्ञमें बैठो। यदि हम मनुष्यों से किसी प्रकारका अपराध अनजाने हो जाए तो उसके कारण हमारा विनाश मत करो।

जानु आच्य– इसका अर्थ हमने ' दांयां घुटना टेककर ' ऐसा किया है, जिसका आधारभूत शतपथ ब्राह्मण का निम्न वचन है— ' अथैनं पितरः प्राचीनावीतिनः सव्यं जान्वाच्यो-पासीदंस्तानब्रवीत्... ' इत्यादि। शतपथ २।४।२।२॥

इस मंत्रमें जिन पितरों का उल्लेख है वे जीवित पितर हैं ऐसा ' आच्याजानु ' से प्रतीत होता है। मृत पितर देहरहित होनेसे यज्ञमें घुटना टेककर नहीं बैठ सकते। देहधारी पितरोंके लिए ही यह करना संभव है और देहधारी पितर जीवित पितर ही हो सकते हैं, मृत पितर नहीं। यह मंत्र यजुर्वेद (१९।६२) में तथा अथर्ववेद (१८।१।५२) में है।

> आसीनासो अरुणीनामुपस्थे रयिं धत्त दाशुषे मर्त्याय। पुत्रेभ्यः पितरस्तस्य वस्वः प्र यच्छत त इहोर्जं दधात ॥ ऋ० १०।१५।७॥

(अरुणीनां उपस्थे आसीनासः) यज्ञ में प्रदीप्त की गई अग्निकी लाल लाल ज्वालाओंके समीपमें बैठे हुए अर्थात् यज्ञमें उपस्थित हुए हुए पितरो ! (दाशुषे मर्त्याय) दानी मनुष्यके लिए (रयिं धत्त) धनको दो। (तस्य उस दानीके (पुत्रेभ्यः वस्वः प्रयच्छत) पुत्रोंके लिए धनका दान करो। (ते) वे तुम (इह) यहांपर उस दानी व दानीके पुत्रोंके लिए (ऊर्जं) अन्नसे (दधात) पुष्ट करो।

हे पितरो ! यज्ञमें बैठकर जो दान करनेवाला है उसके लिए तथा उसके पुत्रोंके लिए धन व अन्नका दान करके उन्हें पुष्ट करो।

अरुणी– यद्यपि निघण्टु १।१५ में उषाकी किरण ऐसा अर्थ है, तथापि यहांपर प्रकृत प्रकरणमें यज्ञका वर्णन होनेसे यज्ञकी रक्तवर्ण ज्वालाओंसे ही अभिप्राय है। ऊर्जः— अन्न। निघण्टु २।७॥

यह मंत्र अथर्ववेद (१८। ३। ४३) में तथा यजुर्वेद (१९।६३) में आया है।

> ये नः पूर्वे पितरः सोम्यासोऽनूहिरे सोमपीथं वसिष्ठाः। तेभिर्यमः संरराणो हवींष्युशन्नुशद्भिः प्रतिकाममत्तु ॥ ऋ० १०।१५।८॥

(ये) जिन (नः) हमारे (पूर्वे सोम्यासः वसिष्ठाः पितरः) पुरातन सोम संपादन करनेवाले वसिष्ठ अर्थात् उत्तम धनवाले पितरों ने (सोमपीथं) सोमपान को यज्ञमें (अनु ऊहिरे) प्राप्त किया था, (तेभिः) उन (उशद्भिः) यमके साथ सोमपान करने या हवि खाने की कामना करते हुए वसिष्ठ पितरोंके साथ (उशन्) सोमपान करने या हवि खानेकी कामना करता हुआ, (संरराणः) पितरोंके साथ रमण करता हुआ अर्थात् आनन्दित होता हुआ (यमः) यम (हवींषि) हवियोंको (प्रतिकामं) इच्छानुसार (अत्तु) खावे।

हमारे जिन पुरातन पितरोंने यज्ञमें बैठकर सोमपान किया था, उन पितरोंके साथ मिलकर यम हमारे द्वारा दी गई हवियोंको खावे। हमें यम व पितरोंके लिए यज्ञमें पर्याप्त मात्रामें हवि देनी चाहिए।

वसिष्ठके विषयमें निम्न लिखित ब्राह्मणोंके वचन हैं—

(१) यद्वै नु श्रेष्ठः तेन वसिष्ठो अथो यद्वस्तृतमो वसति तेनो एव वसिष्ठः॥ श०८।१।१।६ (२) येन वै श्रेष्ठः तेन वसिष्ठः॥ गो. उ. ३।९ (३) एष (प्रजापतिः) वै वसिष्ठः ॥ श० २। ४।४।२ (४) प्राणो वै वसिष्ठ ऋषिः॥ श० ८।१।१।६ (५) सा ह वागुवाच (हे प्राण !) यद्वा अहं वसिष्ठास्मि त्वं तद्वसिष्ठोऽसीति ॥ श० १४।९।२।१४ (६) अग्निर्वै देवानां वसिष्ठः॥ ऐ० १।२८ यह वचन ऋ० ३।९।१ पर है। (७) वाग्वै वसिष्ठा॥ श० १४।९।२।२॥

इस वचनानुसार वसिष्ठ का अर्थ उत्तम वास करानेवाला अर्थात् उत्तम आश्रयदाता ऐसा अर्थभी किया जा सकता है। वसु नाम धनका भी है। तदनुसार उत्तम धनवाले ऐसा अर्थ भी हो सकता है।

इस मंत्रके वर्णन से यहां मृत पितरोंका उल्लेख है। यम के साथ हवि खानेवाले पितर जीवित नहीं हो सकते।

इस मंत्रसे लेकर इस सूक्तकी समाप्तिपर्यन्त मृत पितरोंके संबंधमें निर्देश है। यह मंत्र यजुर्वेद (१९।५१) में आया है।

निम्न दो मंत्रों (११।१२) में अग्निको पितरोंके साथ यज्ञ में बुलाया गया है—

> ये तातृपुर्देवत्रा जेहमाना होत्राविदः स्तोमतष्टासो अर्कैः। आग्ने याहि सुविदत्रेभिरर्वाङ् सत्यैः कव्यैः पितृभिर्घर्मसद्भिः॥ ऋ० १०।१५।९॥

(देवत्रा जेहमानाः) देवोंको प्राप्त होते हुए अर्थात् देव बनते हुए (होत्राविदः) यज्ञोंके जाननेवाले (स्तोमतष्टासः) स्तोमोंके बनानेवाले (ये) जो पितर (अर्कैः) अर्चनीय स्तोत्रोंसे (तातृपुः) इस संसारसागरसे सर्वथा तर गए हैं ऐसे (सुविदत्रेभिः सत्यैः, कव्यैः घर्मसद्भिः पितृभिः) उत्तम धनवाले अथवा कल्याणकारी विद्यावाले अर्थात् उत्तम ज्ञानी, (सत्यैः) सत्यवचनी [कव्यैः] कव्यनाम है पितरोंके उद्देश्यसे दी गई हविका, उसको खानेवाले तथा यज्ञमें आकर बैठनेवाले पितरोंके साथ (अर्वाङ्) हमारे प्रति (अग्ने) हे अग्नि ! तू (आयाहि) यज्ञमें आ।

देवत्वको प्राप्त हुए हुए पितरोंको अग्निके साथ यज्ञमें बुलाया जाता है व अग्नि उन पितरोंके साथ यज्ञमें आती है अर्थात् पितर अग्निके साथ हमारे यज्ञमें आते हैं।

घर्म—यज्ञ। निघण्टु ३।१८॥

अर्क— मंत्र, स्तोत्र। अर्कके अनेक अर्थ हैं— 'अर्को देवो भवति, यदेनमर्चति। अर्को मंत्रो भवति यदनेनार्चन्ति। अर्कमन्नं भवति, अर्चति भूतानि। अर्को वृक्षो भवति, संवृत्तः कटुकिम्ना। निरुक्त ५।१।५॥ सुविदत्रः— सुविदत्रः कल्याणविद्यः। निरुक्त ६।३।१४॥ इसका अर्थ धन भी है। निरुक्त ७।४।९॥

इस मंत्रके 'देवत्रा जेहमानाः' के भावको अगला मंत्र विशेष रूपसे स्पष्ट करता है। उसमें भी अग्नि द्वारा देवयोनिमें गए हुए पितरोंका ही आवाहन किया गया है।

> ये सत्यासो हविरदो हविष्पा इन्द्रेण देवैः सरथं दधानाः। आग्ने याहि सहस्रं देववन्दैः परैः पूर्वैः पितृभिर्घर्मसद्भिः॥ ऋ० १०।१५।१०॥

(ये) जो पितर (सत्यासः) सत्यवचनी, (हविरदः) हविके खानेवाले, (हविष्पाः) हविकी रक्षा करनेवाले तथा (इन्द्रेण देवैः सरथं दधानाः) जो इन्द्र व देवोंके साथ समान रथपर आरूढ होते हैं, ऐसे (सहस्रं देववन्दैः) हजारों बार देवोंसे स्तुति किए गए (पूर्वैः परैः) पुरातन तथा अर्वाचीन (घर्मसद्भिः पितृभिः) यज्ञमें बैठनेवाले पितरोंके साथ (अग्ने) हे अग्नि ! तू (आयाहि) आ।

देवोंके साथ एकरथारूढ अर्थात् देवोंके साथ विचरण करनेवाले पितरोंको यज्ञमें अग्नि लाती है।

यह मंत्र पूर्व मंत्रकेही आशय को स्पष्ट कर रहा है। प्राचीन पितर तथा देवोंमें विचरण करनेवाले पितर जीवित पितर नहीं हो सकते। इसके सिवाय यहां एक और भी महत्त्वपूर्ण बातका पता चलता है और वह यह कि मरनेके बाद जीव एकदम पुनर्जन्म नहीं लेता, कमसे कम सबके सब जीव तो एकदम नहीं ही लेते। दूसरे शब्दोंमें इसे यूं भी कह सकते हैं कि परलोकवासी जीवोंका इस लोकवासी जीवोंसे संबन्ध बना रहता है। वे इस लोकमें आकर यहांके जीवोंके कार्योंमें हिस्सा बटोरते हैं व समय समयपर रक्षा आदिके कार्य भी करते हैं। उनको हमारे समाचार पहुंचानेवाली अग्नि है। अतः जीवित पितरोंकी तरह उनका भी समय समयपर सत्कार करना चाहिए, ऐसा इसका अभिप्राय हुआ। इस विषयमें विशेष प्रकाश डालनेवाले मंत्रको मूल लेखमें उद्धृत किया जा चुका है। उन मंत्रोंपर विशेष विचार करना जरूरी है।

> अग्निष्वात्ताः पितर एह गच्छत सदःसदः सदत सुप्रणीतयः। अत्ता हवींषि प्रयतानि बर्हिष्यथा रयिं सर्ववीरं दधातन॥ ऋ० १०।१५।११॥

हे [सुप्रणीतयः] उत्तम प्रकारसे ले जानेवाले [अग्निष्वात्ताः पितरः] अग्निष्वात्त पितरो ! [इह] इस यज्ञमें [आगच्छत] आओ। [सदः सदः सदत] घर घरमें स्थित हओ। [अथ] और [बर्हिषि प्रयतानि हवींषि अत्त] यज्ञमें दी गई हवियोंको खाओ और हमें [सर्ववीरं रयिं दधातन] सर्व प्रकार की वीरतासे परिपूर्ण पुत्ररूपी धन देकर पुष्ट करो।

हे अग्निष्वात्त पितरो ! घर घरमें आओ। यज्ञोंमें तुम्हारे

उद्देश्यसे दी गई हवियोंको खाओ, तथा उसके बदलेमें वीर संतति का प्रदान करो।

सुप्रणीति- जिसकी नीति उत्तम है अर्थात् जो उत्तम पथप्रदर्शक है। यह मंत्र यजुर्वेद [१९। ५९] में तथा अथर्ववेद [१८।३।४४] में भी आया हुआ है।

> त्वमग्न ईळितो जातवेदोऽवाड् ढव्यानि सुरभीणि कृत्वी। प्रादाः पितृभ्यः स्वधया ते अक्षन्नद्धि त्वं देव प्रयता हवींषि ॥ ऋ० १०।१५।१२॥

हे [जातवेदः अग्ने] जातवेदस् अग्नि! [ईळितः त्वं] स्तुति किया गया तू [हव्यानि] हव्योंको [सुरभीणि कृत्वी] सुगंधित बनाकर [अवाट्] वहन कर [पितृभ्यः] उन हव्योंको पितरोंके लिए [प्रादाः] दे। [ते] वे पितर [स्वधया अक्षन्] उन हव्योंको स्वधाके साथ खावें। [देव] हे प्रकाशमान अग्नि! [त्वं] तू भी [प्रयता हवींषि] दी गई हवियोंको [अद्धि] खा।

अग्निकी स्तुति करनेपर वह पितरोंके लिए हविको सुगंधित बनाकर ले जाती है। और ले जाकर पितरोंको देती है ताकि वे खावें।

इस मंत्रसे ऐसा पता चलता है कि दूरस्थ पितरोंके पास हवि पहुंचानेका साधन अग्नि है। अतः अग्निद्वारा दूरस्थ पितरोंको हवि पहुंचाना चाहिए।

जीवित पितरोंको अग्निद्वारा हवि देनेसे तृप्ति नहीं हो सकती, अतः अग्निद्वारा हवि मृत पितरोंको ही दी जा सकती है और उसीके द्वारा वे तृप्त हो सकते हैं। स्थूल रूपमें विद्यमान हवि जीवितोंके लिए उपयोगी है और अग्निद्वारा सूक्ष्म रूपमें की गई हवि मृतोंके लिए उपयोगी है। इसमें हेतु यह है कि जीवित पितरोंका भौतिक देह उस अग्निद्वारा की गई सूक्ष्मरूप हविसे तृप्त नहीं हो सकता, यह बात निर्विवाद ही है। इसके प्रतिकूल मृत पितरोंका भौतिक देह नहीं है अर्थात् उनके पास स्थूल हविके ग्रहण करनेका एक मात्र साधन स्थूल शरीर नहीं है, अतः उनके लिए स्थूल हवि निरुपयोगी है, पर सूक्ष्म शरीरके अवशिष्ट होनेसे उसके संरक्षणके लिए उन्हें सूक्ष्म रूपमें हवि चाहिए, जो कि अग्नि द्वारा उन्हें मिल सकती है और उससे वे तृप्त हो सकते हैं। जीवित दशामें स्थूल शरीर होते हुए भी सूक्ष्म शरीर विद्यमान रहता है व स्थूल शरीरके साथ साथ तृप्त होता रहता है। स्थूल शरीरकी खौराकमेंसे सूक्ष्म शरीरको थोडा बहुत अंश मिलता रहता है, पर स्थूल देहके अलग हो जानेपर सूक्ष्म देहको स्थूल शरीरके द्वारा जो खौराक उपलब्ध होती थी, वह बंद हो जाती है। अन्नके विना देहकी स्थिति नहीं रह सकती, अतएव अग्निद्वारा सूक्ष्म देहको खौराक पहुंचाई जाती है। और यही कारण प्रतीत होता है कि अग्निको सर्वत्र कहा गया है कि वह मृत पितरोंके पास हवि ले जाए, उनको हवि खानेके लिये ले आए, इत्यादि। हमारी समझमें अग्नि द्वारा मृत पितरोंको हवि पहुंचानेका कारण यही है कि उनके सूक्ष्म शरीरको अन्न मिलता रहे। मृत पितरोंकी स्वसूक्ष्म देह संरक्षणार्थ हविकी आवश्यकता रहती है और अतएव वेदमें ऐसे मंत्र हमें उपलब्ध होते हैं। इसके अनुसार इस मंत्रमें मृत पितरोंके उद्देश्यसे हवि देनेका उल्लेख है ऐसा हम मान सकते हैं। यह मंत्र अथर्ववेद (१८।३।४२)में तथा यजुर्वेद(१९।६६)में भी आया हुआ है।

> ये चेह पितरो ये च नेह याँश्च विद्म याँ उ च न प्रविद्म। त्वं वेत्थ यति ते जातवेदः स्वधाभिर्यज्ञं सुकृतं जुषस्व ॥ ऋ० १०।१५।१३ ॥

(ये च इह पितरः) जो पितर यहांपर विद्यमान हैं, (ये च न इह) और जो पितर यहांपर विद्यमान नहीं हैं, (यान् च विद्म) और जिन पितरोंको हम जानते हैं, (यान च न प्रविद्म) और जिन पितरोंको हम नहीं जानते, इस प्रकारके (यति ते) जितने भी वे पितर हैं उन सबको (त्वं) तू (वेत्थ) जानती है। (स्वधाभिः) स्वधाओंके साथ (सुकृतं यज्ञं) उत्तम प्रकारसे किए हुए यज्ञको तू (जुषस्व) प्रीतिपूर्वक सेवन कर।

जो पितर इस संसारमें विद्यमान हैं और जो नहीं हैं, तथा जिनको हम जानते हैं और जिनको हम नहीं जानते अर्थात् जो हमारे जन्मसे भी पहिले इस लोकसे चले गए हैं, उन सब पितरोंको अग्नि जानती है।

पूर्व मंत्रमें मृत पितरोंको हविकी आवश्यकता क्यों है यह दर्शाते हुए हमने यह भी दर्शाया था कि अग्नि द्वारा उन्हें हवि पहुंचाने में हेतु क्या है। इस मंत्रमें अग्नि द्वारा हवि पहुंचानेका दूसरा हेतु दर्शाया गया है और वह यह कि अग्नि सब प्रकार के पितरोंके विषयमें परिचय रखती है। अतएव वही एक ऐसी है कि जो पितरोंके पास चाहे वे कहीं पर भी हों हवि पहुंचा सकती है। यह दूसरा हेतु है जिसके कि

कारण अग्नि द्वारा हवि पहुंचानेका वेदमंत्रोंमें निर्देश है। अग्निसंबन्धी विशेष विवेचन हम पहिले अग्नि व पितरमें कर आए हैं, वहांसे पाठक देख सकते हैं। यह मंत्र यजुर्वेद (१९।६७) में है।

> ये अग्निदग्धा ये अनग्निदग्धा मध्ये दिवः
> स्वधया मादयन्ते । तेभिः स्वराळसुनीतिमेतां
> यथावशं तन्वं कल्पयस्व ॥ ऋ० १०।१५।१४॥

(ये) जो पितर (अग्निदग्धाः) अग्नि द्वारा जलाए गए हैं, (ये) और जो (अनग्निदग्धाः) अग्नि द्वारा नहीं जलाए गए हैं, ऐसे जो दोनों प्रकार के पितर (दिवः मध्ये स्वधया मादयन्ते) द्युलोकके बीचमें स्वधासे आनन्दित हो रहे हैं, (तेभ्यः) उन दोनों प्रकारके पितरोंके लिए (स्वराट्) स्वयं प्रकाशमान अग्नि वा यम (यथावशं) कामनाके अनुसार (एतां असुनीतिं तन्वं कल्पयस्व) इस प्राणों द्वारा ले जानेवाले शरीरको बना।

जिनका अंत्येष्टिसंस्कार अग्निद्वारा किया गया है व जिनका अग्निद्वारा नहीं किया गया, ऐसे द्युलोकमें रहनेवाले पितरों का पुनर्जन्म होता है।

असुनीति-- जो प्राणोंद्वारा ले जाया जावे। अर्थात् जिसका संचालन प्राणों द्वारा होता है। यह शरीर असु-नीति है; क्यों कि प्राण निकल जानेपर इसका संचालन बन्द हो जाता है।

अग्निदग्ध और अनग्निदग्ध।

['ये निखाता ये परोप्ताः' इत्यादि अथर्व. १८।२।३४ में जो प्रेतके अंत्येष्टिसंस्कारके चार प्रकार दर्शाए हैं उनमेंसे दग्ध को छोडकर शेष तीन संस्कार अर्थात् गाडना, बहाना और हवामें खुला छोडना इन विधियोंसे जिन प्रेतोंका अंत्येष्टिसंस्कार हुआ है, वे अनग्निदग्ध हैं, तथा जिनकी अंत्येष्टि अग्निसे हुई है, वे अग्निदग्ध हैं।

अग्निष्वात्त व अनग्निष्वात्त।

प्रसंगवश थोडासा यहांपर अग्निष्वात्त व अनग्निष्वात्तके विषयमें लिखना जरूरी है। उपरोक्त मंत्र (ऋ० १०।१५।१४) और यजुर्वेद (१९।६०) में आया हुआ है। वहांपर जो थोडासा पाठभेद है वह अग्निष्वात्त व अनग्निष्वात्तके अर्थ-निर्णय को स्वयमेव कर देता है। ऋग्वेदका पाठ ऊपर हम दे आए हैं। यजुर्वेदका पाठ इस प्रकार है=

> ये अग्निष्वात्ता ये अनग्निष्वात्ता मध्ये दिवः
> स्वधया मादयन्ते । तेभ्यः स्वराडसुनीतिमेतां
> यथावशं तन्वं कल्पयाति ॥ यजुः १९।६० ॥

इन दोनों मंत्रोंकी तुलना करनेसे पाठकोंको दोनों मंत्रोंमें कितना व कहां पाठभेद है यह बात सुगमतासे पता चल सकती है। ऋग्वेदस्थ मंत्रमें जहां 'अग्निदग्धाः' पद है वहां पर यजुर्वेदस्थ मंत्र में 'अग्निष्वात्ताः' ऐसा पद है। और इसी प्रकार ऋग्वेदके मंत्र में जहां 'अनग्निदग्धाः' है, वहां-पर यजुर्वेदके मंत्रमें 'अनग्निष्वात्ताः' ऐसा आया है। शेष भाग दोनों वेदोंके मंत्रमें सर्वथा समान है। थोडासा लकार व पुरुषभेद अंतिम पदमें है और वह यह कि यजुर्वेदस्थ मंत्रमें 'कल्पयाति' है और उसके स्थानमें ऋग्वेदमें 'कल्पयस्व' है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि—

अग्निदग्धाः = अग्निष्वात्ताः और अनग्निदग्धाः = अनग्निष्वात्ताः अर्थात् जो अग्निदग्धका अर्थ है वही अग्नि-ष्वात्तका अर्थ है और जो अनग्निदग्धका अर्थ है वही अनग्नि-ष्वात्तका। अग्निदग्धका अर्थ स्पष्ट ही है कि जो अग्निसे जला हुआ हो। अतः अग्निष्वात्तका भी अर्थ हुआ कि जो अग्निसे जला हुआ हो। इसी प्रकार अनग्निदग्धका अर्थ है कि जो अग्निसे न जला हुआ हो। अतः अनग्निष्वात्तका भी अर्थ हुआ कि जो अग्निसे न जला हुआ हो।

'अग्निष्वात्ताः' का विग्रह इस प्रकार है— 'अग्निना स्वात्ताः स्वादिताः ते अग्निष्वात्ताः।' अर्थात् जिनका अग्निने स्वाद लिया है, जिनको अग्निने चखा है अर्थात् जिनको अग्निने जलाया है। इस प्रकार व्याकरणशास्त्र भी उपरोक्त कथन का ही पोषक है। अग्निष्वात्तके अर्थके विषयमें शतपथ का निम्न लिखित वचन है—

> यानग्निरेव दहन्त्स्वदयति ते पितरो अग्निष्वात्ताः।
> श० २।६।१७ ॥

अर्थात् जिनको अग्नि ही जलाती हुई स्वाद लेती है वे पितर अग्निष्वात्त कहलाते हैं। इसका यह अभिप्राय हुआ कि जिनका अंत्येष्टि-संस्कार अग्निद्वारा होता है वे अग्निष्वात्त पितर हैं। अंत्येष्टि संस्कार के विना अग्नि को पितरों के जलाने का अन्य कोई अवसर ही नहीं। इस प्रकार शतपथ ब्राह्मणानुसार भी उपरोक्त विवेचन की पुष्टि होती है। अतः अग्निष्वात्तका अर्थ हुआ कि जिसका अंत्येष्टिसंस्कार अग्नि से हुआ है और

अनग्निष्वात्तका अर्थ हुआ जिसका अंत्येष्टिसंस्कार अग्निसे नहीं हुआ है। अग्निष्वात्त व अग्निदग्ध के इस विवेचनानुसार उपरोक्त मंत्रमें मृत पितरों का ही उल्लेख है, यह साबित होता है।

संपूर्ण सूक्तका मंत्रवार सारांश।

मंत्र १

१ जीवित पितर संग्रामोंमें अथवा रक्षार्थ बुलाए जानेपर हमारी रक्षा करते हैं।

मंत्र २

२ प्राचीन, अर्वाचीन, पृथिवीस्थ आदि पितरों के लिए नमस्कार करना चाहिए।

मंत्र ३

३ बर्हिषत् पितरों को यज्ञ में बुलाना चाहिए।

मंत्र ४

४ बर्हिषत् पितरों को हवि देनी चाहिए।

५ बर्हिषत् पितर हमारे रोग, भयादि को दूर करते हैं।

मंत्र ५

६ पितर यज्ञमें आकर हमारी प्रार्थनाओंको सुनते हैं, हमें उपदेश देते हैं, तथा हमारी रक्षा करते हैं।

मंत्र ६

७ पितर यज्ञ मे दांया घुटना टेककर बैठते हैं व यज्ञ का स्वीकार करते हैं।

मंत्र ७

८ पितर यज्ञ में बैठकर दानी मनुष्य को व उसके पुत्रोंको धन देते हैं। उसे अन्नादि देकर पुष्ट करते हैं।

मंत्र ८

९ सोमपान करनेवाले पुरातन मृत पितरोंके साथ यम हविको खाता है।

मंत्र ९

१० अग्नि देवत्वको प्राप्त किए हुए यज्ञादि में बैठनेवाले पितरोंके साथ यज्ञमें आती है।

मंत्र १०

११ पितर इन्द्र तथा देवोंके साथ समान रथपर आरूढ होकर विचरण करते हैं।

मंत्र ११

१२ अग्निष्वात्त पितर बुलानेपर घरघरमें आते हैं, हवियां खाते हैं व सर्ववीरगुणोपेत संतति देते हैं।

मंत्र १२

१३ अग्नि हव्योंको सुगंधित बनाकर ले जाती है व ले जाकर पितरोंको खानेके लिए देती है।

मंत्र १३

१४ जो पितर यहां है व जो यहां नहीं हैं, जिन पितरोंको हम जानते हैं व जिनको हम नहीं जानते इत्यादि सर्व प्रकारके पितरोंको अग्नि जानती है।

मंत्र १४

१५ द्युलोकके मध्यमें स्वधासे तृप्त होनेवाले पितर चाहे अग्निदग्ध हों चाहे अनग्निदग्ध हों, उनका पुनर्जन्म होता है।

३ ऋग्वेद मं० १० सू० १६

इस सूक्तमें विशेषतः अंत्येष्टि संस्कार संबन्धी मंत्रोंका उल्लेख है। इस सूक्तकी देवता अग्नि है।

> मैनमग्ने वि दहो माभि शोचो मास्य त्वचं
> चिक्षिपो मा शरीरम्। यदा शृतं कृणवो
> जातवेदोऽथेमेनं प्र हिणुतात् पितृभ्यः॥
>
> ऋ० १०।१६।१॥

(अग्ने) हे अग्नि! (एनं मा विदहः) इस प्रेतको इस प्रकारसे मत जला कि जिससे इसे विशेष कष्ट प्रतीत हो। (मा अभि शोचः) इसे शोकाकुल मत कर। (अस्य त्वचं मा चिक्षिपः) इसकी त्वचा अर्थात् चमडीको मत फेंक। इसके शरीरमें विद्यमान त्वचा मांस आदि को इस प्रकारसे जला दे कि कोई भी भाग अवशिष्ट न रहने पावे। (जातवेदः) हे जातवेदस् अग्नि! (यदा शृतं कृणवः) जब तू इस प्रेतको परिपक्व बना दे अर्थात् पूर्णतया जला दे (अथ) तब (एनं) इस प्रेतकी आत्माको (पितृभ्यः प्रहिणुतात्) पितरोंके पास भेज दे अर्थात् पितृलोकमें इस प्रेतकी आत्मा चली जावे।

प्रेतदहनके समय अग्निसे किस प्रकारकी प्रार्थना करनी

चाहिए इस बातका इस मंत्रमें उल्लेख है। इस मंत्रके उत्तरार्धसे एक महत्त्वपूर्ण बातका निर्देश मिलता है और वह यह है कि जबतक देह संपूर्णतया जल नहीं जाती, अथवा संपूर्णतया नष्ट नहीं हो जाती, तबतक आत्मा उस देहको छोडकर स्थानान्तर में नहीं जाती। उस देहके आसपासही मंडलाती रहती है। उस देहका मोह उसे खींचे रखता है। इस निर्देशानुसार आत्माको देहसे शीघ्र मुक्त करानेके लिए व उसके लिए निर्धारित भावी स्थानपर शीघ्रतासे पहुंचानेके लिए शरीरका शीघ्र दहन करना ही अधिक उत्तम है, क्योंकि अग्निदहनके सिवाय शरीरको संपूर्णतया शीघ्र नष्ट करनेका अन्य कोई सुगम उपाय नहीं है।

मंत्रके चतुर्थ पादसे यह भी पता चल रहा है कि मृतात्मा शरीरसे पृथक् होकर पितृलोकमें जाती है। अग्नि आत्माको पितृलोकमें भेजती है। इस मंत्रसे जो महत्त्वपूर्ण निर्देश मिलते हैं, वे विशेष विचारणीय हैं। यह मंत्र अथर्ववेदमें थोडेसे पाठभेदके साथ है। (अथर्व० १८।२।४)

> शृतं यदा करसि जातवेदोऽथेमेनं परि दत्तात् पितृभ्यः।
> यदा गच्छात्यसुनीतिमेतामथा देवानां वशनीर्भवाति ॥
> ऋ० १०।१६।२ ॥

(जातवेदः) हे जातवेदस् अग्नि ! (यदा शृतं करसि) जब तू इस प्रेतको पूर्णतया पक्व अर्थात् दग्ध कर दे, (अथ) तब (एनं पितृभ्यः परि दत्तात्) इसको पितरोंके लिए सौंप दे। (यदा) जब यह प्रेत (एतां असुनीतिं गच्छाति) इस प्राणोंके नयनको प्राप्त होता है अर्थात् जब इसके प्राण निकल जाते हैं (अथ) तब प्राणोंके निकल जानेपर प्रेत (मृत-शरीर), (देवानां वशनीः भवाति) देवोंके वश हो जाता है।

अग्नि शरीरको पूर्णतया दग्ध करके आत्माको पितृलोकमें भेज देती है। अग्निद्वारा पृथक् पृथक् हुए हुए शरीरके तत्त्व अपने अपने स्थानमें चले जाते हैं।

यह मंत्र अथर्ववेद (१८।२।५) में भी आया है। इस मंत्रका पूर्वार्ध प्रथम मंत्रके उत्तरार्धके समान है। आत्मासे युक्त शरीरके, जिस समय आत्मा शरीरसे पृथक् होती है जिसे कि हम लौकिक भाषामें मरना कहते हैं, शरीर व आत्मा इस प्रकार दो विभाग हो जाते हैं। उन दो विभागोंका आगे चलकर क्या होता है अर्थात् वे कहां कहां जाते हैं वह बात इस मंत्रमें दर्शाई गई है। मंत्रके पूर्वार्धमें आत्माका क्या होता है, यह दर्शाया गया है तथा उत्तरार्धमें शरीरका क्या होता है यह दर्शाया गया है। पूर्वार्ध स्पष्ट है। उत्तरार्धमें कही गई बातका स्पष्टीकरण अगला तीसरा मंत्र स्वयं स्पष्ट कर रहा है। यहांपर सिर्फ इतना ही कहा गया है कि जब प्राण निकल जाते हैं तब यह मृत देह देवोंके वश हो जाता है। यह मृत देह देवोंके वश किस प्रकार हो जाता है इसका स्पष्टीकरण इस प्रकारसे है-

> सूर्यं चक्षुर्गच्छतु वातमात्मा द्यां च गच्छ पृथिवीं
> च धर्मणा। अपो वा गच्छ यदि तत्र ते हितमो-
> षधीषु प्रति तिष्ठा शरीरैः ॥ ऋ० १०।१६।३ ॥

हे प्रेत ! तेरी (चक्षुः सूर्यं गच्छतु) आंख सूर्य को जावे। (आत्मा वातं) तेरी आत्मा (प्राण) वायु को जावे। और हे प्रेत ! (धर्मणा) धर्मसे अर्थात् कर्मफलजन्य धर्मसे अथवा पार्थिवादि तत्त्वोंके धर्मसे अर्थात् जो पार्थिव तत्त्व हैं वे पृथिवीमें जा मिलें, जो जलीय हैं वे जलमें जा मिलें इत्यादि प्रकारसे (द्यां च पृथिवीं च) द्यु व पृथिवी लोकको जा अर्थात् पार्थिव तत्त्व पृथिवीमें जा मिले और जो द्युलोकका अंश हो वह द्युलोकमें जा मिले। जहां जहांसे जो जो अंश तेरे शरीरमें आया हो, वहां वहां वह वह अंश चला जावे। (वा) अथवा (अपो गच्छ) जलोंमें जलीय अंश जावे। (यदि तत्र ते हितं) यदि वहांका कोई अंश तेरेमें विद्यमान हो। और इसी प्रकार ओषधियोंमें शरीरांशोंसे स्थित हो अर्थात् ओषधिका अंश ओषधिमें चला जावे।

मरनेपर शरीरमें विद्यमान तत्त्व अपने अपने स्थानपर जहांसे आए हुए होते हैं वहां चले जाते हैं। सूर्यादि देवोंके अंश उन उनमें वापिस चले जाते हैं। हरेक देव अपना अपना अंश शरीरसे खींच लेता है। इस प्रकार इस मंत्रमें तृतीय मंत्रके चतुर्थ पाद 'अथ देवानां वशनीर्भवाति' का स्पष्टीकरण किया गया है। यह मंत्र अथर्ववेद (१८।२।७) में भी आया हुआ है।

> अजो भागस्तपसा तं तपस्व तं ते शोचिस्तपतु तं
> ते अर्चिः। यास्ते शिवास्तन्वो जातवेदस्ताभिर्वहैनं
> सुकृतामु लोकम् ॥
> ऋ० १०।१६।४ ॥

हे अग्नि ! इस प्रेतका जो (अजः भागः) अज अर्थात्

न जन्म लेनेवाला भाग (आत्मा) है (तं) उसको तू (तपसा तपस्व) अपने तपसे तपा। (तं) उस अज भागको (ते शोचिः) तेरी दीप्यमान ज्वाला (तपतु) तपावे। (तं) उस अज भागको (ते अर्चिः) भासमान तेरी ज्वाला (तपतु) तपावे। और फिर (जातवेदः) हे जातवेदस् अग्नि ! (याः ते शिवाः तन्वः) जो तेरे कल्याणकारी ज्वालायें रूपी तनू अर्थात् शरीर हैं (ताभिः) उन शरीरों द्वारा इस अज भागको (सुकृतां लोकं) सुकर्म करनेवालोंके लोकमें (वह) प्राप्त कर।

हे अग्नि ! तू इस शरीरके अज भाग आत्माको अपनी नानागुणविशिष्ट ज्वालाओंसे शुद्ध करके पुण्यलोकमें ले जा।

जैसा कि हम ऊपर दर्शा आए हैं कि मरनेपर शरीर दो विभागोंमें विभक्त हो जाता है, जिसमेंसे एक भाग तो मृत शरीर तथा दूसरा भाग अज आत्मा है। मृत शरीरको क्या करना चाहिए तथा अग्निदाहके अनन्तर वह किस किस रूपमें कहां कहां जाता है, यह तृ... मंत्रमें स्पष्ट रूपसे दर्शाया जा चुका है। द्वितीय मंत्रमें संकेतरूपसे अज भाग आत्माके लिए भी ...प्रश ...किया जा चुका है। इस मंत्रमें उसीका विशदरूपसे वर्णन वा स्पष्टीकरण है। वस्तुतस्तु तृतीय व चतुर्थ मंत्र द्वितीय मंत्रके ही स्पष्टीकरण हैं। इस मंत्रसे भी यही पता चलता है कि अग्नि ही मृतात्माको सुकृतोंके लोकमें ले जाती है। यह मंत्र भी अथर्ववेदमें (१८।२।२८) में पाया जाता है।

अव सृज पुनरग्ने पितृभ्यो यस्त आहुतश्चरति स्वधाभिः।
आयुर्वसान उप वेतु शेषः सं गच्छतां तन्वा जातवेदः ॥
ऋ० १०।१६।५ ॥

(अग्ने) हे अग्नि ! (यः) जो (ते आहुतः) तेरेमें अंत्येष्टिके समय आहुत किया हुआ (स्वधाभिः चरति) स्वधाओंसे विचरण करता है उसको (पुनः) फिर (पितृभ्यः) पितरोंके लिए लाकर छोड अर्थात् वह पुनर्जन्म ले। अथवा 'पितृभ्यः' को पंचमी मानकर भी अर्थ कर सकते हैं, और वह इस प्रकार कि फिर पितृलोकमें विद्यमान पितरोंसे लाकर इस संसारमें छोड। दोनों प्रकारके अर्थोंका भाव एक ही है। दोनों प्रकारके अर्थोंमें विरोध नहीं है। इस प्रकार यह पुनर्जन्म लिया हुआ (शेषः) अपत्य संतान (उपयातु) कुटुंबियोंको प्राप्त करे, तथा (जातवेदः) हे जातवेदस् अग्नि ! (तन्वा संगच्छतां) यह अपत्य शरीरसे भली भांति संगत होवे अर्थात् उत्तम शरीरसंपत्तिसे संपन्न बने।

अथवा इस मंत्रका अर्थ निम्न लिखित प्रकारसे भी किया जा सकता है।

हे अग्नि ! जो मृत पुरुष तेरेमें अंत्येष्टिके समय आहुत किया हुआ स्वधाओंसे विचरण कर रहा है उसे पितरोंके लिए दे अर्थात् उसे पितृलोकमें विद्यमान पितरोंके पास लेजाकर छोड। क्योंकि इस भावके अन्य मंत्र मिलते हैं जिनमें कि अग्निका मृत को पितृलोकमें पहुंचानेका उल्लेख है, अतः यह अर्थ भी हो सकता है। यहां शेष अर्थात् पीछे शेष रह गई मृतकी संतान दीर्घायुको प्राप्त हुई हुई घरोंको वापिस जाए। वह संतान सुंदर शरीरको प्राप्त करे। इस अर्थानुसार मंत्रके पूर्वार्धमें मृत पुरुषके लिए प्रार्थना की गई है व उत्तरार्धमें उस पुरुषकी जीवित संततिके लिए दीर्घायु आदिकी प्रार्थनाका उल्लेख है। शेष नाम संतानका है। 'शेष इत्यपत्यनाम शिष्यते इति'। निरुक्त ३।२॥ इस मंत्रसे अग्निके एक और विशेष कार्यका पता चलता है और वह यह कि पुनर्जन्मके लिए जीवात्माको पितरोंके पास पहुंचानेका कार्य भी अग्निका ही है। यह मंत्र थोडेसे पाठभेदके साथ अथर्ववेद (१८।२।१०) में भी आया हुआ है।

यत्ते कृष्णः शकुन आतुतोद पिपीलः सर्प उत वा श्वापदः। अग्निष्टद्विश्वादगदं कृणोतु सोमश्च यो ब्राह्मणाँ आविवेश ॥
ऋ० १०।१६।६॥

हे प्रेत ! (ते) तेरे (यत्) जिस अंगको (कृष्णः शकुनः) काले अनिष्टकारी पक्षीने (आतुतोद) पीडा पहुंचाई है, (उत वा) अथवा (पिपीलः, सर्पः श्वापदः) कीडी की जातिके जन्तुओंने वा, सर्पने या जंगली हिंसक पशुने तुझे पीडा पहुंचाई है तो (अग्निः) अग्नि (विश्वात्) इन उपरोक्त सबसे (तत्) उस तेरे अंगको (अगदं कृणोतु) रोगरहित करे। (सोमः च) और सोम भी तेरे उस अंगको नीरोग करे। (यः) जो कि सोम (ब्राह्मणान् आविवेश) ब्राह्मणों में प्रविष्ट हुआ हुआ है।

काले अनिष्टकारी पक्षी वा कीडी मकोडे आदि जन्तु, सर्पादि विषयुक्त प्राणियों व जंगली जानवरोंसे पहुंचाए गए कष्टको अग्नि व सोम दूर करें। जिनकी मृत्यु सर्पादि मंत्रोक्त प्राणियोंसे होती है उनकी अंत्येष्टिमें इस मंत्रका विनियोग होता है ऐसा इस मंत्रका अभिप्राय प्रतीत होता है।

मंत्रके शब्दार्थ स्पष्ट हैं। इन प्राणियोंसे काटे गए अंगोंको अग्नि नीरोग करती है, इसका अभिप्राय यही प्रतीत होता है कि वह उन प्राणियोंके विषसहित उस अंगको ऐसा जला देती है कि फिरसे वह रोग औरोंमें नहीं जा सकता। उस शवकी भस्ममें इन प्राणियोंके विषके जन्तु किसीभी अवस्थामें बचने नहीं पाते। इस मंत्रमें सर्पादि विषैले प्राणी व जंगली हिंसक जानवरोंसे आक्रांत देह सोमसे भी नीरोग की जा सकती है ऐसा कहा गया है।

> अग्नेर्वर्म परि गोभिर्व्ययस्व सं प्रोर्णुष्व पीवसा मेदसा च। नेत्त्वा धृष्णुर्हरसा जर्हृषाणो दधृग् विधक्ष्यन् पर्यङ्खयाते ॥ ऋ० १०।१६।७ ॥

हे प्रेत! (गोभिः) घृतसे उत्पन्न हुई हुई (अग्नेः वर्म) अग्निकी ज्वालारूपी कवचसे (परि व्ययस्व) अपनेको चारों ओरसे ढक ले। अर्थात् अग्निकी ज्वालाओंके बीचमें तू हो जा जिससे कि तेरा पूर्ण रूपसे दहन हो सके। (सः) वह तू (पीवसा मेदसा) अपने अन्दर विद्यमान स्थूल चर्बीसे (प्रोर्णुष्व) अपने आपको आच्छादित कर। इस प्रकार करनेसे (हरसा धृष्णुः) अपने तेजसे धर्षण करनेवाला, (दधृक्) प्रगल्भ, (जर्हृषाणः) अत्यन्त प्रसन्न हुआ हुआ अतएव (विधक्ष्यन्) तुझ प्रेतको विविधरूपसे जलाता हुआ अग्नि (त्वा) तुझे (नेत्) नहीं (पर्यङ्खयाते) इधर उधर बखेरेगा अर्थात् पूर्णरूपसे जलाकर भस्मावशेष कर डालेगा।

मुरदेको जलाते हुए घी पर्याप्त मात्रामें डालना चाहिए ताकि अग्नि खूब जोरसे प्रज्वलित होकर उसे जला डाले। उसका कोई भी भाग जले बिना रहने न पावें।

इस सूक्तके प्रथम मंत्रमें अग्निसे कहा गया है कि हे अग्नि! तू 'मास्य त्वचं चिक्षिपो मा शरीरम्' अर्थात् इस प्रेतकी चमडी तथा शरीरको बिना जलाए हुए इधर उधर मत बखेर, संपूर्णतया इसे जला दे। यहां पर उसी संपूर्ण दहनको लक्ष्यमें रखते हुए मुरदेसे कहा गया है कि तू अग्निकी ज्वालारूपी कवचको पहिन ले व अपने अंदर विद्यमान चर्बीसे अपने आपको लपेट ले, जिससे कि अग्नि तुझे पूर्णतया जला दे। मंत्रका अभिप्राय यह है कि प्रेतका पूर्ण रूपसे दहन होना चाहिए व उसके लिए पर्याप्त घृतका उपयोग करना चाहिए। गो = घी। वेदमें गौसे उत्पन्न पदार्थोंके नामभी गो शब्दसे कहे गये हैं। देखो, निरुक्तमें गो शब्दकी व्याख्या। नि० अ० २। पा. २॥

> इममग्ने चमसं मा वि जिह्वरः प्रियो देवानामुत सोम्यानाम्। एष यश्चमसो देवपानस्तस्मिन् देवा अमृता मादयन्ते ॥ ऋ० १०।१६।८ ॥

(अग्ने) हे अग्नि! (इमं चमसं) इस शरीररूपी चमसको (मा वि जिह्वरः) मत विचलित कर। क्योंकि यह चमस (देवानां उत सोम्यानां) देवों और सोम संपादन करनेवालोंका (प्रियः) प्यारा है। (एषः) यह (यः) जो (चमसः) चमस है वह (देवपानः) देवपान है अर्थात् इसमें देवपान करने योग्य द्रव्यको पीते हैं। (तस्मिन्) उस चमसमें (अमृताः देवाः) अमरणशील देव (मादयन्ते) पान करके प्रसन्न होते हैं।

यह शरीर देवोंके पान करनेका चमस है। यह देवोंका प्रिय है। इसमें देव पान करते हैं अतः हे अग्नि! इस शरीरकी दुर्दशा मत कर।

चमस– चमचा। यज्ञमें जिस पात्रमें सोमरस डालकर पान किया जाता है उसका नाम चमस है।

हम इसी सूक्तके दूसरे व तीसरे मंत्रमें देख आए हैं कि इस शरीरका किस प्रकार देवोंसे संबन्ध है। इसके अतिरिक्त स्थान स्थानपर वेदोंमें ऐसा वर्णन है। अथर्ववेद १० काण्ड सू० २ में भी ऐसा ही वर्णन है।

अबतकके मंत्रोंमें अंत्येष्टिसंबंधी वर्णन किया गया है। अगले तीन मंत्रोंमें क्रव्याद् अग्निको उपलक्ष्य करके कहा गया है। इस अंत्येष्टि-संस्कारमें प्रयुक्त अग्निका नाम क्रव्याद् अग्नि है। क्रव्याद् अग्निका अर्थ है मांसभक्षक अग्नि। और यह मांसभक्षण अंत्येष्टिमें शवदहनद्वारा अग्निको करना पडता है। जैसा कि अबतकके मंत्रों द्वारा स्पष्ट है। इस प्रकार शवके खानेसे मांसभक्षक (क्रव्याद् अग्नि) इस अग्निका क्या करना चाहिए इस विषयमें अगले तीन मंत्र प्रकाश डाल रहे हैं।

> क्रव्यादमग्निं प्र हिणोमि दूरं यमराज्ञो गच्छतु रिप्रवाहः।
> इहैवायमितरो जातवेदा देवेभ्यो हव्यं वहतु प्रजानन्। ऋ० १०।१६।९॥

(क्रव्यादं अग्निं दूरं प्रहिणोमि) मांसभक्षक अग्निको दूर भिजवाता हूं। (रिप्रवाहः) पाप का वहन करनेवाली यह अग्नि (यमराज्ञः गच्छतु) जहांका यम राजा है, उन प्रदे-

कों को चली जावे। (इह) यहांपर (अयं इतरः जातवेदाः प्रजानन्) यह दूसरी कव्यात् अग्निसे भिन्न जातवेदस् अग्नि सर्व कर्मोंको यथावत् जानती हुई (देवेभ्यः हव्यं वहतु) देवोंके लिए हव्योंका वहन करे अर्थात् उन्हें पहुंचावे।

यह शव दहन करनेवाली अतएव मांसभक्षक (कव्यात्) अग्नि फिर लौटकर हमारे घरोंमें वापिस न आजावे, अतः मैं इसे दूर भेज देता हूं, वह यमलोकमें चली जावे। यहांके कार्य संपादन करनेके लिए जातवेदस् अग्नि है। वही देवोंके लिए हव्योंका वहन करती रहे।

इस मंत्रमें कव्यात् अग्निको यमराजके देशोंमें भेजनेका उल्लेख है। इससे ऐसा पता चलता है कि शवदहनान्तर वह कव्यात् नाम पाई हुई अग्नि पृथिवीलोकसे यमलोकमें जाती है। प्रथम, द्वितीय व चतुर्थ मंत्रोंके साथ इस मंत्रपर विचार करनेसे यह परिणाम निकलता है कि, शवदाहके अनन्तर यह कव्यात् अग्नि आत्माको यमलोकस्थ पितृलोकमें ले जाती है। एकबार जिस अग्निसे शवदहन किया जा चुका वह अग्नि फिर देवोंके लिए हव्यादिके वहनके लिए अर्थात् यज्ञादि कर्म के लिए उपयुक्त नहीं रहती यह बात भी इस मंत्रसे स्पष्ट होती है। कव्यात्-कव्य=मांस, उसका भक्षक कव्यात्। निरुक्त अ. ६। पा. ३। खं. १२॥ रिप्रवाहः- रिप्रं पापं तस्य वोढा। निरुक्त अ० ४। पा. ३। खं. २१॥ यह मंत्र यजुर्वेद (३५।१९) में तथा अथर्ववेद (१२।२।८) में भी आया हुआ है।

यो अग्निः क्रव्यात् प्रविवेश वो गृहमिमं पश्यन्नितरं जातवेदसम्। तं हरामि पितृयज्ञाय देवं स घर्ममिन्वात् परमे सधस्थे॥ ऋ० १०।१६।१०॥

(यः क्रव्यात् अग्निः) जो मांसाहारी अग्नि (इमं इतरं जातवेदसम् पश्यन्) इस दूसरी जातवेदस् नामक अग्निको देखकर (वः गृहं प्रविवेश) तुम्हारे घरमें घुस गई है, (तं) उस (देवं) देदीप्यमान-अत्यन्त प्रकाशमान कव्यात् अग्निको (पितृयज्ञाय हरामि) पितृयज्ञके लिए हरता हूं, हटाता हूं। (सः) वह कव्यात् अग्नि (परमे सधस्थे) परम सधस्थमें (घर्मं) यज्ञको (इन्वात्) प्राप्त करे।

तुम्हारे घरोंमें जातवेदस् अग्निके रहते हुए भी जो कव्यात् अग्नि घुस गई है, उसे मैं दूर करता हूं ताकि तुम पितृयज्ञ कर सको। यह अग्नि परम लोकमें यज्ञको प्राप्त करती रहे।

इस मंत्रसे पूर्वके मंत्रमें कव्यात् अग्निको दूर भगाकर यमलोकमें भेजनेका निर्देश है। उस मंत्रके साथ इस मंत्रकी संगति लगानेके लिए व विरोध हटानेके लिए इस मंत्रके 'तं हरामि पितृयज्ञाय देवं' इस तृतीय पादका अर्थ ऐसा करना चाहिए कि 'पितृयज्ञ करनेके लिए उस कव्यात् अग्निको हटाता हूं'। अर्थात् यह कव्यात् अग्नि पितृयज्ञके लिए अनुपयुक्त है। यह तो परम सधस्थ जो यमलोक है उसमें चली जावे और वहीं पर अपने भागको प्राप्त करती रहे। इस प्रकार इस मंत्रका अर्थ पूर्व मंत्रके भावको लक्ष्यमें रखते हुए करनेसे दोनों मंत्रोंकी संगति की जा सकती है। कव्यात् अग्निका घरोंमेंसे निकालनेका व उसे यमलोकमें भेजनेका अभिप्राय जनतामेंसे मृत्यु दूर करनेका अभिप्राय प्रतीत होता है। 'परम सधस्थ' - वह बडा स्थान जिसमें सब इकट्ठे रहते हैं। यहांपर पूर्व मंत्रके साहचर्यसे यमलोक ऐसा अर्थ है। वैसे तो यमलोक भी परम सधस्थ है ही। यह मंत्र कुछ पाठभेदके साथ अथर्ववेद (१२।२।७) में आया है।

इस प्रकार यहांपर कव्यात् अग्निका विषय समाप्त हो जाता है। अब आगेके मंत्रोंमें अग्निके प्रति सामान्य कथनका उल्लेख है।

यो अग्निः कव्यवाहनः पितॄन् यक्षदृतावृधः।
प्रेदु हव्यानि वोचति देवेभ्यश्च पितृभ्य आ॥
ऋ० १०।१६।११॥

(यः अग्निः) जो अग्नि (कव्यवाहनः) कव्यका अर्थात् पितरोंकी हविका वहन करनेवाली है और जो (ऋतावृधः) यज्ञ वा सत्यसे बढनेवाले (पितॄन्) पितरोंका यजन करती है, वह अग्नि, (देवेभ्यः पितृभ्यः च हव्यानि प्रवोचति) देवों और पितरोंके लिए हव्योंका प्रवचन करे अर्थात् वह देवों व पितरोंको कहे कि 'मैं तुम्हारे लिए यह हवि ले आई हूं'।

अग्नि पितरोंका कव्यसे सत्कार करती है व उनके लिए तथा देवोंके लिए मनुष्यों द्वारा दी गई हवियोंका वहन करती है।

कव्य—उस हव्यका नाम है जो कि पितरोंके उद्देश्यसे दिया जाता है। ऋतावृधः-ऋत नाम है यज्ञ व सत्यका। जो यज्ञ व सत्यके बढानेवाले अथवा जो सत्य व यज्ञसे बढनेवाले हों। यह मंत्र यजुर्वेद (१९।६५) में भी है।

उशन्तस्त्वा नि धीमह्युशन्तः समिधीमहि।
उशन्नुशत आ वह पितॄन् हविषे अत्तवे॥
ऋ० १०।१६।१२॥

हे अग्नि! (उशन्तः) तेरी कामना करते हुए हम (त्वा) तेरी (निधीमहि) स्थापना करते हैं। और (उशन्तः) तेरी कामना करते हुए हम (समिधीमहि) तुझे प्रदीप्त करते हैं। [उशन्] हमारी कामना करती हुई हे अग्नि ! तू [हविषे अत्तवे] हविके खानेके लिए [उशतः पितॄन्] कामना करते हुए पितरोंको [आवह] प्राप्त करा-ले आ।

हे अग्नि! हम यज्ञादिमें तेरी कामना करते हुए तेरी स्थापना करें व तुझे प्रकाशित करें। तू हमारे यज्ञोंमें पितरोंको हवि खानेके लिए ले आया कर।

इस मंत्रमें अग्नि पितरोंको यज्ञादिमें हवि भक्षणार्थ ले आती है ऐसा हमें निर्देश मिलता है। यह मंत्र यजुर्वेद (१९।७०) में व अथर्ववेद [१८।१।५६] में भी आया हुआ है। अगले दो मंत्रोंमें स्मशानभूमिके उस स्थानका वर्णन प्रतीत होता है जहां कि मुरदा जलाया गया हो।

यं त्वमग्ने समदहस्तमु निर्वापया पुनः।
कियाम्ब्वत्र रोहतु पाकदूर्वा व्यल्कशा ॥

ऋ० १०।१६।१३ ॥

(अग्ने) हे अग्नि! (यं) जिस प्रेतको तूने (समदहः) जलाया है (तं उ) उसे (पुनः) फिर सम्पूर्णतया दहन हो चुकने पर (निर्वापय) बुझा डाल। (अत्र) इस मुर्देके जलनेके स्थानपर (कियाम्बु) कितना जल छिडकना चाहिए कि जिससे (व्यल्कशा) विविध शाखाओंवाली (पाकदूर्वा) परिपक्व दूर्वा घास [रोहतु] उगे।

शवके सम्पूर्णतया दहन हो चुकनेपर आगको बुझा डालना चाहिए व वहांपर इतना पानी छिडकना चाहिए कि जिससे फिरसे वहांपर दूर्वा घास निकल आवे।

शवाग्निको इतना पानी डालकर बुझाना चाहिए कि उस आगसे जो जमीनपर परिणाम हुआ है वह दूर हो जावे और उसपर पुनः नाना शाखाओंवाली दूर्वाघास उग सके और जमीन वैसी की वैसी ही फिरसे हरीभरी हो जावे। इसके लिए यह भी आवश्यक है कि, जिस स्थानपर एक शवको जलाया गया हो वहांपर पुनः दूसरा शव नहीं जलाना चाहिए। इस मंत्रसे स्मशानभूमिसंबन्धी वैदिक कल्पना की जा सकती है और कल्पनाके अनुसार वर्तमान समयकी स्मशान-भूमियोंके विषयमें पाठक स्वयं विचार कर सकते हैं व स्मशानभूमिके वास्तविक स्वरूपको समझ सकते हैं। इस प्रकार यह मंत्र अंत्येष्टि-क्रियाकी समाप्ति किस प्रकारसे होनी चाहिए, इस बातपर विशेष प्रकाश डाल रहा है।

शीतिके शीतिकावति ह्लादिके ह्लादिकावति।
मण्डूक्या ३ सु संगम इमं स्व १ ग्निं हर्षय ॥

ऋ० १०।१६।१४॥

(शीतिके) हे शैत्ययुक्त ! [शीतिकावति] हे शैत्यगुण-संपन्न ओषधियोंवाली ! (ह्लादिके) हे हर्षित करनेवाली (ह्लादिकावति) तथा हे आनन्दित करनेवाले फलफूलयुक्त वृक्षोंवाली पृथिवी ! [मण्डूक्या] मेंडकीके साथ [सु सङ्गम] अच्छी तरह संगत हो अर्थात् तेरे में इतना अधिक पानी हो कि मेण्डक आनन्दसे तेरे अन्दर रह सकें। मेंडक पानीवाली जमीनमें रहता है। अतः मेण्डकीके साथ संगत होनेका अभिप्राय यह है कि जमीन अत्यंत जलवाली हो। [इमं अग्निं सुहर्षय] इस अग्निको आनन्दित कर अर्थात् यह पूर्ण रूपसे तेरेपर प्रज्वलित हो सके।

पूर्व मंत्रके कथनानुसार जल छिडकनेसे पृथिवी का कैसा स्वरूप हो जायगा यह इस मंत्रमें दर्शाया गया है। इस प्रकार यह सूक्त यहांपर समाप्त होता है। सामान्यतया इस सूक्तमें अंत्ये-ष्टिपर विचार किया गया है, यह पाठक स्वयं जान सके होंगे

सम्पूर्ण सूक्तका मंत्रवार सारांश।

मंत्र १

१ अग्नि मृत देहको सम्पूर्णतया जला देनेपर आत्माको पितृलोक में भेजती है।

२ इसका अभिप्राय यह हुआ कि जबतक मृत देह रहती है तबतक उसकी आत्मा भी वहीं रहती है।

मंत्र २ व ३

३ शरीरके पूर्ण रूपसे जल जानेपर देहके घटक अपने अपने स्थानपर चले जाते हैं अर्थात् हरेक देव अपना अपना अंश वापिस लौटा लेता है। आंख सूर्यमें चली जाती है, प्राण वायुमें जा मिलते हैं इत्यादि।

मंत्र ४

४ शरीरका जो अज भाग आत्मा है उसे अग्नि अपनी नानाविध अर्चियोंसे शुद्ध करके सुकृतों के लोकमें ले जाती है।

मंत्र ५

५ अग्नि फिर जीवात्माको पितृलोकसे वापिस लौटा लाती है व इहस्थ पितरोंको सौंपती है अर्थात् पुनर्जन्म देती है।

मंत्र ६

६ काले पक्षीसे, कीडीमकोडे आदि छोटे छोटे जन्तुओंसे, सर्पादिसे तथा जंगली हिंसक जानवरों से पहुंचाए गए कष्टोंका अग्नि निवारण करती है।

७ सोम भी यही कार्य करता है।

मंत्र ७

८ शवके पूर्ण दहनके लिए घृतकी पर्याप्त मात्रा डालनी चाहिए जिससे कि अग्निकी बडी ज्वालाएं निकले व शवको शीघ्र ही भस्मावशेष कर डालें।

मंत्र ८

९ यह शरीर सूर्यादि देवोंका रसपान करनेका चमस है। इसीमें ये देव अपने अपने अंशसे आकर बसते हैं।

मंत्र ९

१० क्रव्यात् अग्नि पापका वहन करनेवाली है। उसका वासस्थान यमलोक है।

११ वह यज्ञादि कार्योंके लिए अनुपयुक्त है।

मंत्र १०

१२ क्रव्यात् अग्निको घरमें प्रविष्ट नहीं होने देना चाहिये। उसे घरोंमेंसे निकाल डालना चाहिये।

मंत्र ११

१३ अग्नि पितरोंके निमित्तसे दी गई हविका वहन करती है। वह देवों व पितरोंकी हविद्वारा पूजा करती है।

मंत्र १२

१४ अग्नि पितरोंको हवि खानेके निमित्त ले जाती है।

मंत्र १३

१५ शवके पूर्ण दहनके अनन्तर अग्निको बुझा डालना चाहिये।

१६ वहांपर इतना अधिक पानी डालना चाहिए कि नाना-शाखाओंवाली दूर्वाघास उग आवे।

१७ और इसके लिए जहांपर एक शवका दहन किया गया हो वहांपर दूसरेका नहीं करना चाहिए, अन्यथा पानी डालनेसे अग्निका प्रभाव दूर न हो सकेगा व उस स्थान पर घास न उग सकेगी।

मंत्र १४

१८ जमीन पानीसे इतनी तरबतर होनी चाहिए कि उसके गर्भके अंदर मण्डूक निवास कर सकें।

---

४ ऋग्वेद मं० १० सू० १३५

इस सम्पूर्ण सूक्तकी देवता यम है। यमका अर्थ इस सूक्तमें क्या है यह एक विचारणीय विषय है। यास्काचार्यने निरुक्तमें इस मंत्रमें आए हुए यमका अर्थ आदित्य किया है। निरुक्त १२।२९॥ परन्तु इस स्थापनाके अनुसार सम्पूर्ण सूक्त लगाना पर्याप्त कठिन है। यहां सायणाचार्यके मतानुसार अर्थ दिया है।

> यस्मिन् वृक्षे सुपलाशे देवैः संपिबते यमः।
> अत्रा नो विश्पतिः पिता पुराणाँ अनु वेनति॥
>
> ऋ० १०।१३५।१॥

(वृक्षे) यह लुप्तोपमा है। वृक्षकी तरह (सुपलाशे) शोभन उद्यानसे युक्त, अथवा सुन्दर पत्तोंवाले वृक्षमें। इस प्रकारके वृक्षका मूल जिस प्रकार गरमी आदिके दूर करनेसे सुखकर होता है उस प्रकार सुखकर जिस स्थानमें (देवैः) परिजनभूत देवोंके साथ (यमः) नियंता वैवस्वत (विवस्वान् का पुत्र) (सं पिबते) पान करता है। (विश्पतिः) प्रजाओंका अधिपति (नः पिता) मुझे नचिकेताका जनक वाजश्रवस् (अत्र) इस यमके स्थानमें (पुराणान्) यहांपर चिरकालसे निवास करते हुए पितरोंके (अनु) समीप यह नचिकेता रहे इस प्रकारकी मेरे लिए कामना करता है। 'नः' यहांपर व्यत्ययसे बहुवचन हुआ हुआ है। नचिकेता नामके कुमारको वाजश्रवस् पिताने यमलोक भेज दिया था। वहांपर वह यमको प्रसन्न करके फिर इस लोकमें वापिस लौट आया था। यह बात इन मंत्रोंसे प्रतिपादन की जा रही है। अथवा कुमार नामवाला नचिकेतासे भिन्न दूसरा कोई ऋषि था। उसने यम (यच्छतीति यमः आदित्यः) अर्थात् आदित्य की इस सूक्त-द्वारा स्तुति की—उत्तम पत्तोंवाले वृक्षकी तरह सुंदर स्थानमें

(यमः) आदित्य (देवैः संपिबते) रश्मियोंके साथ गमन करता है। उपसर्गके साथ आनेसे 'पिबति' यहांपर गत्यर्थक है। व्यत्ययसे आत्मने पद हुआ हुआ है। (अत्र) इस स्थानमें स्थित [विश्पतिः] प्रजाओंका प्रकाश वर्षा आदि देनेसे पालक और प्राणरूपसे सबका जनक वह आदित्य (पुराणान्) पुरातन स्तुति करनेवाले हम लोकोंकी (अनुवेनति) अनुग्रहपूर्वक कामना करता है। अथवा इस स्थानमें स्थित हमारे पूर्व पुरुषोंकी [अनुवेनति] अनुक्रमसे कामना करता है।

वृक्षः = जहांपर कि श्रेष्ठ मृत आत्मायें कर्मोंकी थकानको दूर करनेके लिए विश्रान्ति लेती हैं।

पिता = यम।

पुराणाँ अनुवेनन्तं चरन्तं पापयामुया।
असूयन्नभ्यचाकशं तस्मा अस्पृहयं पुनः॥

ऋ० १०।१३५।२॥

(पुराणान् अनुवेनन्तं) पुरातन पितरोंके प्रति मेरे अनुगमन करनेकी कामना करते हुए अर्थात् मैं पुरातन मृत पितरोंका अनुगमन करूं यानि यमलोकमें जाऊं इस प्रकारकी इच्छा करते हुए (अमुया पापया चरन्तं) इस पापपूर्ण निकृष्ट बुद्धिके साथ वर्तमान पिता वाजश्रवसको (सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करते हुए मुझको पिताने 'मृत्युके पास जा' इस प्रकार कहा अतः) (असूयन्) मानसिक दुःखसे दुःखित हुए हुए मैंने (नचिकेताने) सबसे पहिले देखा। अर्थात् जब मैं सुखपूर्वक जीवन व्यतीत कर रहा था, ऐसी हालत में जब पिताने मुझे यह कहा कि 'मृत्युके पास जा' तो मैंने बडी दुःखभरी निगाहसे उसकी ओर देखा और फिर (तस्मै अस्पृहयम्) पिताकी आज्ञानुसार उस मृत्युको प्राप्त करनेकी इच्छा की। [आदित्यके पक्षमें] अथवा [पुराणान्] पुरातन स्तुति करनेवाले पितरों की अनुक्रमसे कामना करते हुए [चरंतं] उदय और अस्त के रूपमें द्युलोकमें परिभ्रमण करते हुए आदित्य की ओर [अमुया पापया] इस निकृष्ट बुद्धिद्वारा [असूयन्] निन्दा करता हुआ कि यह आदित्य सामान्यसी वस्तु है इस प्रकारसे [अभ्यपश्यं] मैंने दृष्टिपात किया। असूयागुणोंमें दोषारोपण करना। [पुनः] अब फिर उस आदित्यकी महिमा को जानता हुआ [तस्मै अस्पृहयं] उस आदित्य को, स्तुतियोंद्वारा व परिचर्यादि कर्मों द्वारा प्राप्त करने की इच्छा करता हूं।

यं कुमार नवं रथमचक्रं मनसाकृणोः।
एकेषं विश्वतः प्रांचमपश्यन्नधि तिष्ठसि॥

ऋ० १०।१३५।३॥

नचिकेता नामवाले कुमार को यम इस ऋचासे व अगली ऋचासे ललचानेका प्रयत्न करता है— हे कुमार! [नवं] बिलकुल नया जिसको कि इससे पहिले तूने कभी नहीं देखा और जो [अचक्रं] पहियों से रहित व [एकेषं] एकेष है तो भी [विश्वतः प्रांचं] सर्वत्र प्रकर्ष रूपसे गति करता है ऐसे [यं रथं] मेरे पास आनेके लिए अध्यवसाय रूपी जिस रथको तूने [मनसा अकृणोः] मन से बनाया और बनाकर [अपश्यन्] कर्तव्य अकर्तव्य विभाग को न जानता हुआ उस रथपर तू [अधितिष्ठसि] सवार हुआ हुआ है। आदित्यके पक्षमें-अथवा स्तुति करनेवाले कुमार नामक ऋषिको आदित्य प्रत्यक्ष हुआ हुआ देह व आत्मा के विवेकको बतला रहा है-हे कुमार ऋषि! चक्रसे रहित (एकेषं) एक प्राण ईषास्थानीय है जिसका ऐसे इस अभिनव, सर्व ओर गति करनेवाले शरीररूपी जिस रथको अन्तःकरण द्वारा तूने किया है, उस शरीररूपी रथको मेरा स्वरूप न जानने के कारण न जानता हुआ, भोगायतन के स्वरूपमें स्वीकार करता है अर्थात् शरीर से भोग भोगता है।

मनद्वारा शरीर का निर्माण इस प्रकार से होता है संकल्पात्मक मनसे काम अर्थात् इच्छा उत्पन्न होती है। कामना उत्पन्न होनेपर पुण्यात्मक वा अपुण्यात्मक कर्म किया जाता है। और उस कर्मद्वारा भोग देनेके लिए इस शरीरका आरंभ होता है। इस प्रकार परंपरारूपसे मन का शरीरनिष्पादकत्व है।

एकेष--एक है ईषा जिसकी। ईषा---धुरा।

इस मंत्रमें कुमारके प्रति यमकी उक्ति है ऐसा म० ग्रिफित का कथन है।

यं कुमार प्रावर्तयो रथं विप्रेभ्यस्परि।
तं सामानु प्रावर्तत समितो नाव्याहितं॥

ऋ० १०।१३५।४॥

हे कुमार नचिकेता! [यं रथं] जिस पूर्वोक्त अधिष्ठित रथको जिसमें कि तू सवार होकर आया है, (विप्रेभ्यः परि) मेधावी-ज्ञानी लोकों के ऊपर से अर्थात् अंतरिक्ष में से मेरे पास (प्रावर्तयः) ले आया है, (तं) उस रथका जो कि रथ [नावि सं आ हितं] नौका की तरह तारनेवाली बुद्धिमें स्थित है, उसका [साम] पिताद्वारा की गई सान्त्वनाने (अनु

प्रावर्तत) अनुगमन किया है । अर्थात् जब तू भूलोकसे संकल्प रूपी रथमें चढकर आया तब तेरी रक्षार्थ तेरा अनुकरण पिता की सान्त्वनाने किया ।

आदित्य के पक्षमें--अथवा हे कुमार ऋषि ! तूने जिस शरीररूपी रथ को उसपर सवार होकर संसार में प्रवृत्त किया है, उस रथके पीछे पीछे मेधावियों के बीचमें साम अर्थात् ऋक् सामादि साध्य स्तोत्र व [नावि] नौका की तरह तारक वेदरूपी वाणीमें स्थित कर्म इस लोकसे प्रवृत्त होते हैं, उसका अनुकरण करते हैं ।

> कः कुमारमजनयद्रथं को निरवर्तयत् ।
> कः स्वित्तदद्य नो ब्रूयादनुदेयी यथाभवत् ॥
> ऋ० १०।१३५।५ ॥

[कः कुमारं अजनयत्] किस पुरुषने इस कुमार को उत्पन्न किया ? निन्दा अर्थमें किं शब्द है । इस प्रकारके बालक को यमके पास भेजनेवाला पिता कैसे अच्छा हो सकता है ? अच्छा, यह बात जाने दो । [कः] किस पुरुषने इस बालक-को यमके पास जानेके लिए (रथं) रथको [निरवर्तयत्] प्रवृत्त किया ? वह भी मूर्ख था, यह प्रश्नका अभिप्राय है । [यथा] जिस प्रकारसे यह कुमार [अनुदेयी अभवत्] अनुदेयी होता है [तत्] इस बातके कथनको [अद्य] इस कालमें [नः] हमें [कः स्वित् ब्रूयात्] भला कौन कहेगा ? पहिले यमके पास जाकर फिर वहांसे उससे छूटनेका उपाय बताता हुआ भी बुद्धिमान् नहीं कहा जा सकता, यह इसका अर्थ है । [आदित्यके पक्षमें] अथवा कुमार नामक ऋषि अपने सर्वात्म्यभावको जानता हुआ अपने अतिरिक्त दूसरेकी सत्ताको असंभवता को निन्दावाची किं शब्दसे दिखलाता है-- मुझ कुमारको किस पिताने पैदा किया ? किसीने भी नहीं । ' अजो नित्यः शाश्वतः' इति श्रुत्युक्तरूप मैं हूं । और किसने शरीरात्मक रथका संचालन किया ? मेरे सिवाय दूसरा संचा-लक नहीं है और वैसेही अन्यनिर्वर्त्य (संचालन करने योग्य) का होना भी असंभव है । इस समय सर्वात्म्यानुभव दशामें उस प्रकारको कौन भला हमें कह सकता है, जिस प्रकार से कि अनुदान करने योग्य मेरेसे भिन्न अन्य पदार्थ की सत्ता होवे ? वह प्रकार भी दुर्वचनीय है ऐसा इसका अर्थ है ।

> यथा भवदनुदेयी ततो अग्रमजायत । पुरस्ताद्बुध्न आततः पश्चान्निरयणं कृतम् ॥ ऋ० १०।१३५।६॥

(अनुदेयी) पिताको पीछेसे पुनः वापिस देने योग्य (यथा) जिस प्रकारसे यह कुमार होवे ऐसा (ततः) उस वाजश्रवस् पितासे [अग्रं] यमके पास जा इस प्रकारके वचनके आगे वर्तमान वचन कि नचिकेताको यमके साथ जानना चाहिए ' तं वै प्रवर्तं गन्तासीति होवाच ' इत्यादि [तै० ब्रा० ३।११।८] ब्राह्मणमें कहा गया वचन उत्पन्न हुआ । (पुरस्तात्) उससे पहिले (बुध्नः) उक्त अग्रका मूलभूत ' यमके घरको जा ' यह वचन अति विस्तृत हुआ हुआ था । अतः उसका परिहार नहीं हो सकता था, इस वास्ते पीछेसे क्रोधको छोडकर (निर-यणं कृतं) उस यमसे बचकर निकल आनेके उपायको पिताने किया । (आदित्यपक्षमें) अथवा [अनुदेयी] अपनेको अनुदातव्य आत्मस्वरूपसे भिन्न अन्य पदार्थकी सत्ता जिस प्रकारसे है, उसके गुणानुसार (ततः) उस मायाविशिष्ट आत्माका [अग्रं] स्रष्टव्यविकारका आद्य मनस्तत्त्व उत्पन्न करनेकी इच्छाका कारण उत्पन्न हुआ । [पुरस्तात्] सृष्टिसे पहिली अवस्थामें [बुध्नः] मूल अव्याकृत मायात्मक कारण ही विस्तृत था । [पश्चात्] तमस् की उत्पत्तिके बाद [निरयणं] तद्भूत कार्योंका उस कारणसे निर्गमन अर्थात् घटपटादिभेदसे स्वरूपका आलंभन ब्रह्माने किया । अर्थात् कारण-जगत्को कार्य जगत् के स्वरूपमें लाया । तथा मिट्टीका विकार घटादि मिट्टीसे भिन्न नहीं होता, उसी प्रकार आदित्य के अनुग्रहसे ब्रह्मभावको प्राप्त मेरा विकार यह प्रपंच मेरेसे भिन्न नहीं है । इस प्रकारसे व्यतिरिक्त पितादिका पूर्वोक्त आक्षेप का समर्थन किया है ।

> इदं यमस्य सादनं देवमानं यदुच्यते ।
> इयमस्य धम्यते नाळीरयं गीर्भिः परिष्कृतः ॥
> ऋ० १०।१३५।७ ॥

यह [यमस्य] नियन्ता आदित्यका वा विवस्वान् के पुत्रका [सदनं] स्थान है । जो कि सदन [देवमानं उच्यते] देवों द्वारा बनाया गया है, ऐसा कहा जाता है । अथवा देव अर्थात् रश्मियों का निर्माण-साधन कहा जाता है । इस यमकी प्रीत्यर्थ [इयं नाळीः] यह वाद्यविशेष वंश-बजाया जाता है । अथवा नाळी यह वाणीका नाम है । यह स्तुतिरूप वाणी इसकी प्रीत्यर्थ उच्चारण की जाती है । इस प्रकार होनेपर यह यम स्तुतियोंसे परिष्कृत अर्थात् शोभायमान होता है । 'परिष्कृतः संपर्युपेभ्यः' इत्या-दिसे सुडागम होता है । 'परिनिविभ्यः' इत्यादिसे षत्व हुआ है । 'गतिरनंतर' इत्यादिसे गतिका प्रकृतिस्वरत्व ।

---

५ ऋग्वेद मं० १० सू० १५४

यह सूक्त अंत्येष्टि-संस्कार-विषयक है। इसमें प्रेत से कहा गया है कि तू किन किनको प्राप्त हो, जैसा कि मंत्रोंको देखनेसे पाठकोंको स्वयं स्पष्ट हो जायगा। इस सूक्तका ऋषि विवस्वान् की दुहिता यमी है। म्रियमाण यजमानादियोंका वर्णन इसमें प्रतिपादित किया जायगा, अतः वे इस सूक्तके देवता हैं।

सोम एकेभ्यः पवते घृतमेक उपासते।
येभ्यो मधु प्रधावति ताँश्चिदेवापि गच्छतात्॥

ऋ० १०।१५४।१॥

[एकेभ्यः] कईयोंके लिए [सोमः पवते] सोम रस बहता है। और [एके] कई [घृतं उपासते] आज्यका उपभोग करते हैं। इनको व [येभ्यः मधु प्रधावति] जिनके लिए मधु धारारूपसे बहता है, [तान् चित् अपि] हे प्रेत! उनको भी तू [गच्छतात्] प्राप्त हो।

जिनके लिए सोमरस बहता रहता है व जो आज्यका उपभोग करते रहते हैं, तथा जिनके लिए मधुकी कुल्यायें बहती रहती है, ऐसे यज्ञकर्ताओंको हे प्रेत! तू प्राप्त हो।

शवदहनादि अंत्येष्टिक्रिया प्रेतकी आत्माके प्रति इस सूक्तकी ऋचाओंके अनुसार उसके संबंधी आदियोंका कथन है।

तपसा ये अनाधृष्यास्तपसा ये स्वर्ययुः।
तपो ये चक्रिरे महस्ताँश्चिदेवापि गच्छतात्॥

ऋ० १०।१५४।२॥

(ये) जो लोक (तपसा) कृच्छ्रचांद्रायणादि नानाविध तप करने कारणसे (अनाधृष्याः) किसी भी प्रकारसे कष्टोंको नहीं पहुंचाए जा सकते, जिनको पाप नहीं सता सकते, व (ये) जो लोक (तपसा) तपके कारणसे (स्वः ययु) स्वर्गको गए हुए हैं, और (ये) जिन्होंने (महः तपः चक्रिरे) महान् तप किया है, हे प्रेत! इन (तान् चित् अपि गच्छतात्) तपस्वियोंको भी तू जाकर प्राप्त हो अर्थात् इनमें तेरी स्थिति होवे।

हे प्रेत! जो तपके कारण किसीभी प्रकार पराभूत नहीं हो सकते, व जो तप ही के कारण स्वर्गको प्राप्त हुए हुए हैं, तथा जिन्होंने महान् तप किया है, उनको तू वहांसे जाकर प्राप्त हो।

प्रथम मंत्रमें यज्ञादि कर्मकाण्डका माहात्म्य दर्शा कर प्रेतको तत्कर्म करनेवालोंमें जानेको कहा है व इस मंत्रमें तपःप्रभाव दिखलाकर तपस्वियोंमें जानेका निर्देश किया गया है।

ये युध्यन्ते प्रधनेषु शूरासो ये तनूत्यजः।
ये वा सहस्रदक्षिणास्ताँश्चिदेवापि गच्छतात्॥

ऋ० १०।१५४।३॥

हे प्रेत! (ये शूरासः) जो शूरवीर गण (प्रधनेषु) संग्रामोंमें (युध्यंते) युद्ध करते हैं, और (ये) जो उन संग्रामों में (तनूत्यजः) शरीरोंका त्याग करते हैं अर्थात् अपने प्राण दे देते हैं, (वा) अथवा (ये) जो लोक (सहस्रदक्षिणाः) हजारों दान करते हैं (तान् चित् अपि) उनको भी तू (गच्छतात्) प्राप्त हो।

जो शूर वीर गण युद्धोंमें अपने प्राण देकर वीरगतिको प्राप्त हुए हुए हैं, वा जो लोक नाना तरह के दानोंको देकर अपने को संसारमें अमर कर गए हैं, ऐसे लोकों को हे मृतात्मा! तू प्राप्त हो- तेरे लिये सद्गति होवे।

इस मंत्रसे यह स्पष्ट होता है कि दानी व शूरवीर गण भी मृत्युके पश्चात् सद्गति को प्राप्त करते हैं। गीतामें ' हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं ' आदि युद्ध में मरनेसे सद्गति होती है, ऐसे द्योतक वाक्योंकी यह वेदमंत्र पुष्टि करता है। शूरवीरतासे युद्धमें शरीर त्याग करनेवाले को परलोक में सुख मिलता है यह आर्य लोकोंका बडा पुराना दृढ विश्वास चल आता है, उस विश्वास के मूलभूत ऐसे ऐसे वेदमंत्र ही हैं।

ये चित्पूर्व ऋतसाप ऋतावान ऋतावृधः।
पितॄन्तपस्वतो यम ताँश्चिदेवापि गच्छतात्॥

ऋ० १०।१५४।४॥

[ये चित्] और जो [पूर्वे] पूर्व पुरुष [ऋतसापः] सत्यका पालन करनेवाले अथवा यज्ञोंके नित्य नियमपूर्वक करनेवाले, [ऋतावानः] सत्य वा यज्ञसे युक्त और इसीलिये [ऋतावृधः] सत्य व यज्ञ के वर्धक थे, तथा [तपस्वः] तपसे युक्त [पितॄन्] पूर्व पितरोंको [तान् चित् अपि] इन सबको भी हे [यम] नियमवान् प्रेतात्मा! तू प्राप्त हो।

जो पितर सत्यके रक्षक हैं, यज्ञादि नित्यनियमसे करनेवाले हैं, तथा तपस्वी हैं, ऐसे पितरोंको हे मृतात्मा! तू परलोकमें जाकर प्राप्त हो।

सहस्रणीथाः कवयो ये गोपायन्ति सूर्यम्।
ऋषीन्तपस्वतो यम तपोजाँ अपि गच्छतात् ॥
ऋ० १०।१५४।५ ॥

(ये) जो (कवयः) क्रांतदर्शी ज्ञानी लोक (सहस्रणीथाः) हजारों प्रकारोंकी नीतियोंवाले हैं और जो (सूर्यं गोपायन्ति) इस सूर्यका रक्षण करते हैं, ऐसे (तपस्वतः ऋषीन्) तपसे युक्त ऋषीयोंको जो कि (तपोजान्) तपसे ही उत्पन्न हुए हुए हैं ऐसों को भी हे नियममें स्थित प्रेतात्मा ! तू यहांसे जाकर प्राप्त हो।

जो क्रान्तदर्शी ऋषिगण नाना प्रकारके विज्ञानोंसे परिपूर्ण हैं व जो तपस्वी तथा तपसे उत्पन्न हुए हुए हैं ऐसोंको हे प्रेतात्मा ! तू इस लोकसे जाकर प्राप्त हो, उनमें जाकर तू स्थित हो। निकृष्ट लोकोंमें मत जा।

इस सूक्तके मंत्रोंपर दृष्टिपात करनेसे साधारणतया हमें पता चलता है कि इस संसारमें रहकर कैसे अर्थात् किस प्रकारके कर्मोंको करनेसे मृत्युके अनन्तर उत्तम गति, उत्तम लोक वा उत्तम स्थान स्वर्ग प्राप्त होता है। इस सूक्तमें ५ मंत्र हैं। पांचों मंत्रोंमें भिन्न भिन्न कर्म करनेवाले लोकोंको गिनाया गया है और प्रेतात्मासे कहा गया है कि इन इनको तू इस लोकसे जाकर प्राप्त कर। अर्थात् इन ५ प्रकारके जनोंमेंसे ही किसीको तू जाकर प्राप्त हो। इनसे हीन इतरोंको प्राप्त मत हो। ये पांच प्रकारके जन इस लोकके नहीं, अपितु परलोकके हैं, ऐसा मंत्रों से पता चलता है। अतः ' तान् चित् अपि गच्छतात् 'का अर्थ यह नहीं किया जा सकता कि इन ५ प्रकारके इस लोकमें स्थित जनोंमें जाकरके तू पुनर्जन्म ले। सद्गतिकी प्राप्तिके लिए इस सूक्तमें यज्ञादि करना, तप करना, लडाईमें पराक्रमके साथ शरीर-त्याग करना, नानाविध दान करना, सत्याचरण इत्यादि साधन बताए गए हैं। यह संपूर्ण सूक्त अथर्ववेद (काण्ड १८ सूक्त २ मंत्र १४ से १८) में ऐसा का ऐसा है।

सम्पूर्ण सूक्तका मंत्रवार सारांश।

मंत्र १

१-यज्ञ करनेसे सद्गति, उत्तम लोक प्राप्त होता है।

मंत्र २

२-तप करनेसे पराभव नहीं होता व तपस्वीको स्वर्ग मिलता है।

मंत्र ३

३-जो संग्रामोंमें युद्धकर शरीर छोडते हैं, उन्हें भी स्वर्ग उपलब्ध होता है।

४-जो अत्यन्त दानी हैं वे भी स्वर्गको प्राप्त करते हैं।

मंत्र ४

५-तपस्वी सत्यरक्षक उत्तम गतिका लाभ करते हैं।

मंत्र ५

६-हजारों प्रकारकी नीतियोंवाले व सूर्यरक्षक ऋषिगण स्वर्ग-को प्राप्त करते हैं।

उपसंहार।

पितृलोक।

इस प्रकरण का आदिसे अन्ततक निरीक्षण करनेसे पता चलता है कि ५ पितृलोक हैं जिनमें कि पितर रहते हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं- [१] पृथिवी [२] अंतरिक्ष [३] द्युलोक [४] पिताका कुल वा घर [५] पितरोंका देश अर्थात् जिस देशमें प्राचीन कालसे हमारे पूर्व पितर रहते चल आए हैं वह देश। इन सब लोकोंमें हमारे पितर निवास करते हैं ऐसा हमें इस प्रकरण से स्पष्ट रूपसे ज्ञात होता है।

पितृयाण।

पितर जिस मार्गसे जाते हैं उस मार्गका नाम पितृयाण है। इस मार्गको एक तो अग्नि जानता है [देखो ऋ० १०।२।७] और दूसरा वह मनुष्य, जो कि अतिथि आदियोंके सत्कारमें सर्वदा तत्पर रहता है ; जो मनुष्य देवहिंसक है वह कभी भी पितृयाणमार्गको प्राप्त नहीं करता। यह पितृयाणमार्ग ' सूर्य-किरणें ' भी हैं ऐसा ऋ० १।१०९।७ से पता चलता है। अर्थात् अन्तरिक्ष व द्युलोकमें रहनेवाले पितर इस मार्गसे जाते हैं, ऐसा इससे जान पडता है। ऊपर जो ५ पितृलोक दर्शा आए हैं उनमेंसे इन दो अंतरिक्ष व द्युमें जानेका मार्ग सूर्यकिरणें होनी चाहिए। हमने ऊपर देखा है कि अग्नि भी पितृयाणमार्गको जानती है। हम आगे चलकर यह भी देखेंगे कि अग्नि सर्व प्रकारके पितरोंको चाहे वे हमारे सामने हों वा अदृश्य हों, किसीभी रूपमें कहीं पर भी हों, जानती है; उनके लिए हवि पहुंचाती है। इसका अभिप्राय यह प्रतीत होता है कि पृथिवीसे अन्तरिक्ष व द्युलोकस्थ पितरोंके पास जानेका जो पितृयाणमार्ग है, वह

पृथिवीकी हद तक तो जो अग्नि जानेका मार्ग है वह है और आगे जो सूर्यकिरणों के जाने का है वह है ।

पितरों के कार्य ।

पितरों के अनेक कार्य हैं जिनमें से मुख्य मुख्य कार्य ये हैं-[१] शत्रुओंसे, सर्पादि कुटिल जंतुओं से तथा अन्य आकस्मिक आपत्तियोंसे रक्षा करना, [२] सूर्यप्रकाश देना, [३] पापसे छुडाना, [४] सुख देना व कल्याण करना, [५]गर्भ धारण करना, [६]मनके प्रत्यावर्तन व पुनर्जन्ममें सहायता करना, [७] नाना प्रकारके स्तोत्र बनाना, [८] दीर्घायु देना, [९] मृतका पुनरुज्जीवित करना, [देखो अथर्व० १८।२।२६] इत्यादि ।

पितरोंके प्रति हमारे कर्तव्य ।

हमें पितरोंके लिए क्या करना चाहिए अर्थात् हमारे पितरों-के प्रति जो कर्तव्य हैं वे इस प्रकार हैं- [१] नित्य प्रति पितरोंको अन्नदानपूर्वक नमस्कार करना चाहिए। [२]उनको स्वधा देनी चाहिए। [३] पितरोंका जलद्वारा तर्पण करना चाहिए । किन पितरोंका जलद्वारा तर्पण करना चाहिए, इस विषयमें अथर्ववेद काण्ड १८ सू. ४ मंत्र ५७ स्वयं निर्णय करता है । मंत्र इस प्रकार है-

ये च जीवा ये च मृता ये जाता ये च यज्ञियाः ।
तेभ्यो घृतस्य कुल्यैतु मधुधारा व्युन्दती ॥

अर्थ स्पष्ट है। यहांपर सर्व प्रकारके पितरोंका जलद्वारा तर्पण करनेका उल्लेख है। [४]पितरोंके शर्म का विस्तार करना। हमें चाहिए कि हम हमारी जन्मभूमि के नित्यप्रति विस्तार करने के कार्यमें लगे रहें। पराधीन होकर न रहें। इत्यादि और भी अनेक कार्य हैं ।

पितर और यज्ञ ।

बुलानेपर पितर यज्ञमें आते हैं और दांया घुटना टेककर बैठते हैं । वे हमारी प्रार्थनायें सुनते हैं, हमारी कामनायें पूर्ण करते हैं व सर्वदा हमारी रक्षा करते हैं। पितरोंके लिए मासिक यज्ञ करना चाहिए । यज्ञमें 'अग्निष्वात्त' पितर भी आते हैं। स्वधाके साथ हविका भक्षण करके हमें वीरतायुक्त धनादि देते हैं । यजु० अ०३५।२० तथा अथर्व० १८।४।२० तथा अ० १८।४।४२ ये तीनों मंत्र विचारणीय हैं, क्योंकि इनमें पितरोंके लिए वपा व मांसवाले चरु देनेका विधान पाया जाता है। अस्तु। तथापि इस प्रकरणसे इतना पता अवश्यमेव लगता है कि सर्व प्रकारके पितरोंके लिए यज्ञ करना चाहिए व उनको हविसे तृप्त करना चाहिए । इसके सिवाय प्रत्येक मासमें पितरोंके लिए दान करना चाहिए जैसा कि अथर्व० ८।१२।३ व ४ से पता चलता है ।

अग्नि और पितर।

इस प्रकरणको देखनेसे हमें निम्न बातोंका स्पष्ट पता चलता है-[१] अग्नि यज्ञमें पितरोंको हविभक्षणार्थ ले आती है । [२] अग्नि पितरोंको हवि पहुंचाती है और अत एव अग्निका नाम कव्यवाहन भी है । पितरोंके निमित्तसे दी गई हवि कव्य कहलाती है । [३] अग्नि दूरगत छिपे हुए पितरोंको जानती हैं इतनाही नहीं अपितु जो यहां हैं व जो यहां नहीं हैं और जिनको हम जानते हैं वा नहीं जानते उन सबको अग्नि जानती है । [४] अग्नि पितरोंको पितृलोकमें भिजवाती है । [५] अग्नि प्रेतात्माको पितरोंके पास पहुंचाती है।[देखो ऋ०१०।१७।३ और १०।१६।१) [६]अग्नि उषा देती है, जीवितोंकी आयु बढती है और मरे हुए पितरोंके लोकमें जाते हैं । [अथर्व० १२।२।४५][७] अग्नि पितरोंमें प्रविष्ट ज्ञातिमुख दस्युओंको यज्ञसे भगाती है । [८] अग्नि अपने शरीरसे पितरोंमें प्रवेश करती है ।

क्रव्यात् अग्नि ।

संभवतः जिस अग्निका अंत्येष्टिमें विनियोग होता है उस अग्निका नाम क्रव्यात् अग्नि है । इस प्रकरण से निम्नलिखित बातोंका पता चलता है—

क्रव्यात् अग्निको यमके राज्यमें भेज दिया जाता है, क्योंकि वह देवोंकी हविके वहन करनेके लिए अनुपयुक्त है । क्रव्यात् अग्निका संबंध यम-लोकसे है । उसका शवदहन जैसे कार्योंमें प्रयोग होता है । क्रव्यात् अग्निपर शासन करनेसे पितृलोकमें भाग मिलता है । पितर क्रव्यात् अग्निके साथ दक्षिण दिशामें जाते हैं । पितरोंके रहनेकी दक्षिण दिशा है ।

अग्निष्वात्त पितर।

अग्निष्वात्त पितर व पितर हैं जिनका कि अंत्येष्टि संस्कार अग्निद्वारा होता है, जैसा कि हमें शतपथ ब्राह्मण २।६।१।७से पता चलता है । इसी बातको यजु. अ० १९।६० व ऋ० १०।१५।४ भी पुष्ट करते हैं । अग्निष्वात्त पितरोंको यज्ञमें बुला-या जाता है, हवि खिलाई जाती है व उनसे धन मांगा जाता है। अग्निष्वात्त पितर यज्ञमें आकर स्वधासे तृप्त होते हैं व उप-

देश करते हैं। उनको यज्ञमें सोमपान करनेके लिए बुलाया जाता है।

प्रेत व अंत्येष्टि ।

इस प्रकरणमें हमें निम्न बातें मिलती हैं-- (१) मरनेसे पूर्व मरणासन्नके दांये हाथमें सुवर्णका आभूषण अंगूठी आदि कुछ पहिनाया जाता है। (२) प्राण निकलनेपर शवको जल-स्नान कराया जाता है। (३) स्नानके बाद स्मशानोचित वस्त्र पहिनाया जाता है। (४) स्मशान ग्रामसे बाहिर होना चाहिए। (५) शवको बैलगाडीसे लेजाया जाता है। (६) स्मशान—भूमिसे विघ्न--कारियोंको दूर भगाना चाहिए। (७) प्रेतको जलाया जाता है। (८) प्रेतको जलमें बहाया जाता है। (९) प्रेतको जमीनमें गाडा जाता है। (१०) हवामें खुला छोड दिया जाता है। (११) अंत्येष्टि की समाप्तिपर प्रार्थनायें की जाती हैं।

भिन्न भिन्न अर्थमें पितर ।

उत्पन्न करनेके अर्थके अतिरिक्त अन्य निम्न लिखित अर्थोंमें भी बहुवचनान्त पितृ शब्दका प्रयोग वेदमें पाया जाता है- (१) हिंसा अर्थमें, (२) ज्ञानी अर्थमें, (३) राजसभाके सभासद के अर्थमें, (४) सैनिक अर्थमें, (५) प्राण अर्थमें, (६) पालक रक्षक आदि अर्थोंमें, (७) इषु अर्थमें, (८) ऋतु अर्थमें।

यम ।

इन प्रकरणोंको देखने से हमें यमके सम्बन्धमें निम्नलिखित बातोंका पता चलता है। (१) यम मृत्यु की अधिष्ठात्री देवता है अर्थात् प्राणियोंके प्राणापहरण का कार्य यम करता है। (२) विष्टारी ओदन पाचक का यम कुछ भी बिगाड नहीं सकता। (३) अग्नि यमका वर्ता है। पर इस मंत्रमें यम संभवतः वायुके लिए आया है। (देखो ऋ० १०।५२।३)। (४) यम विवस्वान् का पुत्र है। (५) यमकी माता का नाम सरण्यू है जो कि त्वष्टा की पुत्री है। (देखो ऋ० १०। १७।१)

यमलोक व यमराज्य ।

इस प्रकरण में यमलोक के विषयमें जहां कि यमका राज्य है निम्नलिखित बातोंका पता चलाता है- (१) यमलोकमें यमका राज्य है अर्थात् वह वहां का राजा है। (२) मृत पितर कहने से मृत नानी, दादी, माता आदिका भी ग्रहण होता है। (३) वशा गौके दान से यमके राज्यमें किसी भी प्रकार का कष्ट नहीं होता। (४) यमलोकस्थके लिए वस्त्र, तिलमिश्रित धान आदि देना चाहिए ऐसा अथर्व० १८।४।३१ व १८।४।४३ से पता चलता है। (५) यम अपने राज्यमें आए हुए को स्थान देता है। (६) पितरोंकी तरह यमकी भी दक्षिण दिशा है।

द्युलोकमें यमलोक ।

यमलोक कहांपर है इस बातपर यह प्रकरण प्रकाश डालता है। (१) अथर्व० ९।७।२० में जो यह कहा है कि यमकी दक्षिण दिशा है उससे इतना पता चलता है कि यमलोक दक्षिण दिशामें है। (२) यमलोक द्युलोकमें दक्षिणकी ओर है। [३] पितर यमराज्यमें रहते हैं अर्थात् यम पितरोंका राजा है। (४) पितृलोक यमके राज्यमें है। [५] यमलोक दक्षिणकी ओर द्युलोककी समाप्तिपर है।

यमदूत ।

यमके अनेक दूत हैं, जिनमेंसे दो कुत्ते जैसे हैं। ये दोनों कुत्ते लम्बी लम्बी नाकवाले व चार आंखोंवाले तथा लोकके मार्गरक्षक हैं। इनमेंसे एक कुत्ता काला है व दूसरा चितकबरा। ये दोनों निरन्तर मनुष्योंके पीछे लगे हुए हैं। ये प्राणोंसे तृप्त होनेवाले हैं। संभवतः इस प्रकारके ये दोनों कुत्ते दिन व रात हैं। आलंकारिक वर्णनसे दिन व रातका यह वर्णन है। यमके कुत्तोंके प्रायः बहुतसे विशेषण दिन व रातमें पाए जाते हैं। (देखो अथर्व० ८।१।६) मृत्यु भी यमका दूत है ऐसा इस प्रकरणमें आए हुए अथर्व० १८। २। २७ ॥ से पता चलता है।

यमके कार्य ।

यमका मुख्य कार्य तो प्राणियोंके प्राणापहरणका ही है, पर इसके अतिरिक्त और भी छोटे मोटे कार्योंका उल्लेख पाया जाता है। यम पितरोंका राजा है व पितृलोक यमलोकमें है यह हम ऊपर देख आए हैं। यहांपर हमें एक नई बात ज्ञात होती है कि यम पितृयाणमार्गको जानता है, जिससे कि पितर जाते हैं। स्वर्गमें जानेके लिए यमकी अनुमति लेनी पडती है। यम हमें दीर्घायु देता है और मनुष्योंसे हमारा रक्षण करता है। यम मृत्युसे भी हमारी रक्षा करता है।

यमके प्रति हमारे कार्य ।

यमके लिए हवि देनी चाहिए। यमको सोमपान करना चाहिए। यमके लिए यज्ञ करना चाहिए। यमके लिए किया हुआ यज्ञ अग्निको दूत बनाकर यमके पास पहुंच जाता है।

(ऋ० १०।१४।१३) यमके लिए घृतवाली हवि देनेसे वह हमें देवोंमें जानेके लिए दीर्घायु प्रदान करता है। पंच मानव यमके लिए घर बनाते हैं और जो अपने घर बढानेकी इच्छा रखता हो उसे यमके लिए घर बंधवाने चाहिए। (अथर्व० १८।४।५५) इसके सिवाय यमके लिए स्वधा और नमः देने चाहिए।

यम और स्वप्न।

इस प्रकरणको पढनेसे हमें यह पता चलता है कि यमका स्वप्नके साथ क्या संबन्ध है, स्वप्नकी उत्पत्ति कैसी होती है इत्यादि। इस प्रकरणकी निम्न लिखित बातें उल्लेखनीय हैं—

(१) स्वप्नका पिता यम है अर्थात् यमसे स्वप्नकी उत्पत्ति होनेसे वह यमका पुत्र है। अतएव बुरे भयानक स्वप्नोंसे मृत्यु हो जानेकी संभावना बनी रहती है।

(२) स्वप्न यमलोकमें उत्पन्न होकर वहांसे इस लोकमें आकर मनुष्योंमें प्रविष्ट हो गया है।

(३) स्वप्न यमका करण अर्थात् मारनेके कार्यका साधक है। (अथर्व० ६।४६।२)

(४) स्वप्न प्राणान्त कर देनेवाला है, मार डालनेवाला है।

(५) बुरी भावनायें व भयंकर रोग जो कि निद्राको नहीं आने देते, ये सब स्वप्न की जननी रूप है।

यम कौन है ?

मनुष्योंमेंसे सबसे प्रथम मनुष्य यम नामवाला जो कि विवस्वान् का पुत्र था, वह इस लोकमें जन्म लेकर सबसे प्रथम मरा और फिर यहांसे मृत्युलोकमें गया और वहांका राजा बन गया। (देखो अथर्व० १८।३।१३)

यम व पितरोंका संबन्ध

हम पहिले भी इस विषय पर थोडीसी नजर डाल आए हैं। वहांपर हमें जो कुछ मालूम हुआ है उसीकी इस प्रकरणमें विशेष रूपसे पुष्टि की गई है-

(१) यम पितरोंका अधिपति है। (२) पितरोंपर यमका आधिपत्य राजाके रूपमें है। पितर यमकी प्रजा हैं व वह उनका राजा है।

यमके राज्यमें पितरोंका उच्च स्थान है ऐसा हमें यम व पितरोंके सहकार्यद्योतक मंत्र दर्शाते हैं। उनसे हमें पता चलता है कि पितर यमके साथ हवि खाते हैं, उसके साथही यत्र तत्र विचरण करते हैं। यम पितरोंकी सहमतिसे स्वर्ग मिलता है इत्यादि।

भिन्न भिन्न अर्थमें प्रयुक्त यम।

उपरोक्त यमके अर्थको छोडकर निम्न--लिखित अन्य अर्थोंमें भी यम शब्द वेदोंमें प्रयुक्त हुआ हुआ है- [१] युगल अर्थमें। [२] नियम अर्थमें। [३] जीवात्मा अर्थमें। [४] ज्ञानेन्द्रियोंके अर्थमें। [५] आचार्य अर्थमें। [६] वायु अर्थमें और [७] सूर्य अर्थमें।

॥ समाप्त ॥

अथर्ववेदका सुबोध भाष्य।

अष्टादश काण्डकी विषयसूची।

अथर्ववेदका सुबोध भाष्य।

उन्नीसवां काण्ड

अथर्ववेदके १८ वें काण्डमें पितृयज्ञ या अन्त्येष्टि कर्म होनेके पश्चात् यहां अठारहवें काण्डकी समाप्तिके साथ ही वास्तविक अथर्ववेद समाप्त होता है। पिप्पलाद संहिता अथर्ववेदकी अठारहवें काण्डसे ही समाप्ति होती है। बीसवां काण्ड तो ऋग्वेदके इन्द्र सूक्तोंका ही संग्रह है और उन्नीसवां काण्ड कुछ फुटकर रहे अथर्ववेदके सूक्तोंका संग्रह दीखता है। वास्तवमें अथर्ववेद अठारहवें काण्डसे ही समाप्त होना चाहिये था।

यजुर्वेद वाजसनेयी संहितामें ३९ वें अध्यायमें अन्त्येष्टि कर्म होते ही यजुर्वेदका कर्म काण्ड समाप्त हुआ है। ४० वां अध्याय ब्रह्मविद्या प्रकरणका अध्याय है और वह पराविद्याका है। ३९ वें अध्यायतक अपराविद्या समाप्त होनेपर ४० वें अध्यायमें पराविद्या आ गयी वह ठीक ही है। परन्तु अथर्ववेदमें वैसा नहीं है।

अथर्ववेदके उन्नीसवे काण्डमें सूक्तक्रम ऐसा है—

१ यज्ञः, २ आपः, ३ जातवेदाः, ४ आकूतिः, ५ जगतो राजा, ६ जगद्बीजः पुरुषः, ७-८ नक्षत्राणि, ९-११ शान्तिः, १२ उषा, १३ एकवीरः, १४-१६ अभयं, १७-१८ सुरक्षा, १९ शर्म, २० सुरक्षा, २१ छंदांसि, २२ ब्रह्म, २३ अथर्वाणः, २४ राष्ट्रं, २५ अश्वः, २६ हिरण्यधारणं, २७ सुरक्षा, २८-३० दर्भमणिः, ३१ औदुम्बरमणिः, ३२-३३ दर्भः, ३४-३५ अङ्गिडमणिः, ३६ शतवारोमणिः, ३७ बलप्राप्तिः, ३८ यक्ष्मनाशनं, ३९ कुष्ठनाशनम्, ४० मेधा, ४१ राष्ट्रं बलं ओजश्च, ४२ ब्रह्मयज्ञः, ४३ ब्रह्म, ४४ भैषज्यम्, ४५ आञ्जनम्, ४६ अस्तृतमणिः, ४७-५० रात्रिः, ५१ आत्मा, ५२ कामः, ५३-५४ कालः, ५५ रायस्पोषप्राप्तिः, ५६-५७ दुष्वप्ननाशनम्, ५८-५९ यज्ञः, ६० अंगानि, ६१ पूर्णायुः, ६२ सर्वप्रियत्वम्, ६३ आयुर्वर्धनं, ६४ दीर्घायुत्वम्, ६५ अवनं, ६६ असुरक्षयणम्, ६७ दीर्घायुत्वम्, ६८ वेदोक्तं कर्म, ६९ आपः, ७० पूर्णायुः, ७१ वेदमाता, ७२ परमात्मा।

यह अथर्ववेदके उन्नीसवें काण्डमें सूक्तक्रम है। यह विषयवार नहीं है। इसका विषयवार संग्रह किया जाय तो ऐसा बनेगा—

यज्ञ—

१ यज्ञः, ५८-५९ यज्ञः, ४२ ब्रह्मयज्ञः,

आपः—

२, ६९ आपः,

सुरक्षा—

१४-१६ अभयं, १७-१८, १९, २०, २७ सुरक्षा, ६५ अवनम्,

शान्तिः—

९-११ शान्तिः,

दीर्घायुः—

६१ पूर्णायुः, ६३ आयुर्वर्धनं, ६४ दीर्घायुत्वं, ६७ दीर्घायुत्वं, ७० पूर्णायुः,

मणिधारणं—

२६ हिरण्यधारणं, २८-३० दर्भमणिः, ३२-३३ दर्भः, ३१ औदुम्बरमणिः, ३४-३५ अंगिडः, ३६ शतवारः मणिः, ४६ अस्तृतमणिः, ४५ आञ्जनम्,

रोगनाशनं—

३८ यक्ष्मनाशनं, ३९ कुष्ठनाशनं, ५६-५७ दुष्वप्ननाशनं, ४४ भैषज्यम्,

राष्ट्रम्—

२४ राष्ट्रं, ४१ राष्ट्रं बलमोजश्च, ६६ असुरक्षयणं, २५ अश्वः, १३ एकवीरः, ३७ बलप्राप्तिः, ५५ रायस्पोषप्राप्तिः,

ईश्वरः—
३ जातवेदाः, ५ जगतो राजा, ६ जगद्वीजः पुरुषः, ३२,४३ ब्रह्म, ५१ आत्मा, ७२ परमात्मा,

मेधा—
४० मेधा, ५२ कामः, १९ शर्म,

कालः—
१२ उषा, ४७-५० रात्रिः, ५३-५४ कालः, ७-८ नक्षत्राणि,

वेद—
२१ छंदांसि, २३ अथर्वाणः, ६८ वेदोक्त कर्म, ७१ वेदमाता,

सर्वप्रियत्वं—
६२ सर्वप्रियत्वं,

अंगानि—
६० अंगानि, ४ आकूति ।

इस तरह वर्गीकरण किया जाय तो एक तत्त्व विचारके सूक्त एक स्थानपर मिल सकते हैं और एक स्थानपर एक विषयके सूक्त मिलनेसे अर्थ भी ठीक तरह हो सकता है । अध्ययन भी शीघ्र हो सकता है ।

यह केवल उन्नीसवें काण्डके विषयमें ही है ऐसी बात नहीं, पर अथर्ववेदके १३ से १८ तथा २० वां काण्ड ये सब काण्ड छोड दिये जांय तो बाकीके कांडोंके सूक्तोंको विषयवार ही बांटना चाहिये । यह अत्यंत आवश्यक बात है । पाठक इसका अधिक विचार करें ॥

१९ वें काण्डके सुभाषित

अभय

इदमुच्छ्रेयोऽवसानमागां (१९।१४।१)— इस कल्याणके ध्येयतक मैं पहुंचा हूं ।

शिवे मे द्यावापृथिवी अभूतां— मेरे लिये द्यावा-पृथिवी कल्याण करनेवाले हों ।

असपत्नाः प्रदिशः मे भवन्तु— दिशा उपदिशाएं मेरे लिये शत्रुरहित हों ।

न वै त्वा द्विष्मः— हम तेरा द्वेष नहीं करते ।

अभयं नो अस्तु— हमारे लिये अभय हो ।

यत इन्द्र भयामहे ततो नो अभयं कृधि (१९।१५।१)— हे इन्द्र ! जहांसे हमें भय लगता है, वहांसे हमारे लिये निर्भयता कर ।

त्वं न ऊतिभिः नि द्विषो विमृधो जहि— तू अपनी रक्षाके सामर्थ्योंसे हमारे द्वेषियों और शत्रुओंका नाश कर ।

वयं अनुराधं इन्द्रं हवामहे (१९।१५।२)— हम अनुकूल सिद्धि देनेवाले इन्द्रकी स्तुति करते हैं ।

अनुराध्यास्म द्विपदा चतुष्पदा— हम द्विपादों और चतुष्पादोंसे अनुकूलता प्राप्त करें ।

मा नः सेना अररुषीरुपगुः— अनुदार सेनाएं हमारे पास न आ जांय ।

विषूचीरिन्द्र द्रुहो विनाशय— हे इन्द्र ! शत्रुसेनाको चारों ओरसे विनष्ट कर ।

इन्द्रस्त्रातोत वृत्रहा परस्फानो वरेण्यः (१९।१५।३)— इन्द्ररक्षक, शत्रुनाशक, शत्रुभेदक और श्रेष्ठ है ।

स रक्षिता चरमतः, स मध्यतः, स पश्चात्, स पुरस्तान्नो अस्तु— वह हमारा दूरसे, मध्यसे, पीछेसे, आगेसे रक्षक हो ।

उरुं लोकमनुनेषि विद्वान् (१९।१५।४)— तू जानता हुआ हमें विशाल कार्यस्थानमें ले जाता है ।

स्वर्यज्ज्योतिरभयं स्वस्ति— जहां आत्मज्योति और निर्भयता है ।

उग्रा त इन्द्र स्थविरस्य बाहू— तुझ समर्थके बाहू बडे उग्र हैं ।

उप क्षयेम शरणा बृहन्ता— हम तेरे बडे आश्रयमें रहेंगे ।

अभयं नः करत्यन्तरिक्षं (१९।१५।५)— अन्तरिक्ष हमें निर्भय करे ।

अभयं द्यावापृथिवी उभे इमे— ये दोनों द्यावापृथिवी हमें निर्भय करें ।

अभयं पश्चादभयं पुरस्तादुत्तरादधरादभयं नो अस्तु· पीछेसे, आगेसे, ऊपरसे, नीचेसे हमें अभय हो ।

अभयं मित्रादभयममित्रात् (१९।१५।६)— मित्रसे और अमित्रसे हमें अभय हो ।

अभयं ज्ञातादभयं पुरोयः— जाने हुएसे और जो सामने है उससे अभय हो ।

अभयं नक्तमभयं दिवा नः (१९।१५।६)— रात्रीमें तथा दिनमें अभय हो ।

सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु— सब दिशाएं मेरे मित्र हों ।

असपत्नं पुरस्तात्पश्चान्नो अभयं कृतम् (१९।१६।१)- आगेसे और पीछेसे हमें शत्रुरहित अभय हो ।

दिवो मादित्या रक्षन्तु (१९।१६।२)— द्युलोकसे आदित्य मेरी रक्षा करें ।

भूतकृतो मे सर्वतः सन्तु वर्म— भूतोंको बनानेवाले सब ओरसे मेरा कवच बनें ।

स मा रक्षतु, स मा गोपायतु, तस्मा आत्मानं परि ददे (१९।१७।१-१०)— वह मेरा रक्षण करे, वह मेरा पालन करे, उसके पास मैं अपने आपको देता हूं ।

अग्निं ते वसुवन्तमृच्छन्तु ये माघायवः प्राच्या दिशोऽभिदासात् (१९।१८।१-१०)— वसुवान् अग्निको वे प्राप्त हों जो पापी पूर्व दिशासे हमें दास बनाते हैं । इस तरह सब दिशाओंके विषयमें है ।

सा वः शर्म च वर्म च यच्छतु (१९।१९।१-११)— वह आपको सुख और सुरक्षा देवे ।

अप न्यधुः पौरुषेयं वधं (१९।२०।१)— पुरुषसे प्राप्त होनेवाला वध दूर हो ।

पूषास्मान् परिपातु मृत्योः— पूषा हमें मृत्युसे रक्षा करें।

तानि मे वर्माणि बहुलानि सन्तु (१९।२०।२)— वे कवच मेरे लिये बहुत हों ।

इन्द्रो यच्चक्रे वर्म तदस्मान्पातु विश्वतः (१९।२०।३)- इन्द्रने जो कवच किया है वह हमें चारों ओरसे सुरक्षित रखे ।

वर्म मे द्यावापृथिवी (१९।२०।४)— द्यावा पृथिवी मेरा कवच बनें ।

मा मा प्रापत्प्रतीचिका— मुझे विरोधी प्राप्त न हो ।

वृषा त्वा पातु वाजिभिः (१९।२७।१)— बलवान् बलवानोंके साथ तेरी रक्षा करें ।

गोप्तॄन् कल्पयामि ते (१९।२७।४)— तेरे लिये मैं रक्षण करता हूं ।

मा प्राणं मायिनो दभन् (१९।२७।५)— कपटी शत्रु मेरे प्राणको न दबावें ।

आयुषायुः कृतां जीव (१९।२७।८)- आयु बढानेवालोंकी आयुसे जीवित रह ।

आयुष्मान् जीव, मा मृथाः— दीर्घायु होकर जीवित रह, मत मर जा ।

प्राणेनात्मन्वतां जीव, मामृत्योरुदगाद्वशम्— आत्मावालोंके प्राणसे जीवित रह, मृत्युके वशमें न जा ।

यद्धिरण्यं तेनायं कृणवद्वीर्याणि— जो सुवर्ण है, उससे यह बल बनाता है ।

असपत्नं पुरस्तात्पश्चान्नो अभयं कृतम् (१९।२७।१४)- आगेसे और पीछेसे हमारे लिये निःशत्रुता तथा अभय हो।

अव तां जहि हरसा (१९।६५।१)— उनको अपने तेजसे सुरक्षित रख ।

अविभ्यद्भूमोऽर्चिषा—न डरता हुआ अपने तेजसे शूर बन ।

उषा

अया देवहितं वाजं सनेम (१९।१२।१)— इस उषासे देवोंका हित करनेवाला बल प्राप्त करेंगे ।

मदेम शतहिमाः सुवीराः— उत्तम वीर बनकर सौ हिमकाल आनन्दसे रहेंगे ।

अपनी शक्ति

श्रोत्रं चक्षुः प्राणोऽच्छिन्नो नो अस्तु (१९।५८।१)— कान, आंख और प्राण हमारा छिन्नविच्छिन्न न हो ।

अच्छिन्ना वयमायुषो वर्चसः— हम आयुष्य और तेजसे अविच्छिन्न रहें ।

प्राणः अस्मान् उपह्वयताम् (१९।५८।२)— प्राण हमारा आदर करे ।

उप वयं प्राणं हवामहे— हम प्राणोंका आदर करें ।

वर्चो गृहीत्वा पृथिवीं अनु सं चरेम (१९।५८।३)— तेज प्राप्त करके पृथिवीपर संचार करेंगे ।

ईश्वर

रयिमस्मासु धेहि (१९।३।३)— धन हमें दे ।

यतो भयमभयं तन्नो अस्तु (१९।३।४)— जहांसे भय है वहांसे हमें निर्भयता हो ।

इन्द्रो राजा जगतश्चर्षणीनां अधि क्षमि विषुरूपं यदस्ति (१९।५।१)— जो कुछ विविध रूपवाला इस पृथिवीपर है उसका तथा स्थावर जंगम सबका इन्द्र ही राजा है ।

सहस्रबाहुः पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् । स भूमिं विश्वतो वृत्वा अत्यतिष्ठद्दशांगुलम् (१९।६।१)-

हजारों बाहुओं, आंखों और पांवोंवाला एक पुरुष है, वह पृथिवीके चारों ओर व्यापकर दशांगुल विश्वसे बाहर भी है।

पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यं, उत अमृतत्वस्येश्वरः (१९।६।४) — जो भूतकालमें हुआ, जो वर्तमान कालमें है, और जो भविष्यमें होगा वह सब पुरुष ही है, वही अमृतत्वका अधिपति है।

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्योऽभवत्। मध्यं तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत (१९।६।६)- ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र उसके सिर, बाहु, पेट और पांव हैं।

अयुतोऽहं, अयुतो म आत्मा (१९।५१।१)— मैं पूर्ण हूं, मेरा आत्मा पूर्ण है।

अयुतं मे चक्षुः अयुतं मे श्रोत्रं— मेरा आंख और कान पूर्ण है।

अयुतो मे प्राणो, अयुतो मेऽपानः— मेरा प्राण और अपान पूर्ण है।

अयुतो मे व्यानो, अयुतोऽहं सर्वः— मेरा व्यान पूर्ण है, मैं सब पूर्ण हूं।

वेद

यस्मात्कोशादुदभराम वेदं, तस्मिन्नन्तरव दध्म एनम् (१९।७२।१)— जिस पेटीसे हमने वेद बाहर निकाले उस पेटीमें हम फिर उनको रखते हैं।

कृतमिष्टं ब्रह्मणो वीर्येण— मंत्रोंकी वीर्यसे इष्ट कर्म किया।

तेन मा देवास्तपसावतेह— उस तपसे सब देव मेरी रक्षा करें।

ब्रह्म

ब्रह्मज्येष्ठा संभृता वीर्याणि (१९।२३।३०)— ज्ञानके श्रेष्ठत्वसे पराक्रम करनेकी शक्ति बढती है।

उद्धृत्य वेदमथ कर्माणि कृण्महे (१९।६८।१)—वेदको उठाकर हम कर्म करते हैं।

आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्तिं द्रविणं ब्रह्मवर्चसं मह्यं दत्वा व्रजत ब्रह्मलोकम् (१९।७१।१)— आयु, प्राण, प्रजा, पशु, कीर्ति, धन, ज्ञानका वर्चस मुझे दें और ब्रह्मलोकको जा।

सर्वप्रियत्व

प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु। प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये (१९।६२।१)— मुझे देवोंमें प्रिय कर, राजाओंमें मुझे प्रिय कर, सबको मैं प्रिय बनूं, शूद्र और आर्योंमें मैं प्रिय बनूं।

अंगानि

अरिष्टानि मे सर्वा, आत्मानिभृष्टः (१९।६०।२)— मेरे सब अंग अटूट हों, मेरा आत्मा उत्साहयुक्त हो।

काम

कामस्तदग्रे समवर्तत मनसो रेतः प्रथमं यदासीत् (१९।५२।१)— प्रारंभमें काम उत्पन्न हुआ, वह मनका पहिला वीर्य था।

त्वं काम सहसासि प्रतिष्ठितो विभुर्विभावा सखा आ सखीयते (१९।५२।२)— हे काम! तू सामर्थ्यके साथ मनमें रहता है, तू व्यापक पराक्रमी और मित्रवत् आचरण करनेवालेके साथ मित्र बन कर रहता है।

त्वमुग्रः पृतनासु सासहिः सह ओजो यजमानाय धेहि (१९।५२।२)-- तू उग्रवीर, युद्धोंमें साहस बतानेवाला यजमानके लिये सामर्थ्य और शक्ति दे।

शर्म्य (सुख)

प्रजापतिः प्रजाभिरुदक्रामत्तां पुरं प्रणयामि वः, तामाविशत तां प्रविशत सा वः शर्म च वर्म च यच्छतु (१९।१९।११)— प्रजापालक प्रजाओंके साथ उन्नत हुआ, उस कीलेमें मैं तुझे ले जाता हूं, उसमें जाओ, उसमें प्रवेश करो, वह आपको सुख और संरक्षण देवे।

काल

कालो भूतिमसृजत (१९।५३।६)— कालने सृष्टि बनायी है।

कालेन सर्वा नन्दन्त्यागतेन प्रजा इमाः (१९।५३।७)- योग्य काल आनेपर सब प्रजा आनन्दित होती है।

कालो ह सर्वस्येश्वरः (१९।५३।८)— काल सबका स्वामी है।

कालः प्रजा असृजत (१९।५३।१०)— काल प्रजाको उत्पन्न करता है।

नक्षत्राणि

ममैतानि शिवानि सन्तु (१९।८।१)— मेरे लिये ये नक्षत्र कल्याण करनेवाले हों।

अष्टाविंशानि शिवानि शग्मानि सहयोगं भजन्तु मे (१९।८।२)— अठाइस नक्षत्र मेरे लिये कल्याणकारी और शुभ हों और मेरे साथ उत्तम सहयोग करें।

स्वस्ति नो अस्तु, अभयं नो अस्तु (१९।८।७)— हमारा कल्याण हो, हमारा अभय हो।

कवच

वर्म सीव्यध्वं बहुला पृथूनि (१९।५८।४)— कवच बहुत और बडे सीओ।

अया वाजं देवहितं सनेम (१९।१२।१)— इससे देवोंका हित करनेवाला बल हम प्राप्त करें।

कील

पुरः कृणुध्वं आयसीरधृष्टाः (१९।५८।४)— नगर लोहेके कीलके शत्रुके अधीन न होनेवाले बनाओ।

मा वः सुस्रोश्चमसो दृंहता तं (१९।५८।४)— तुम्हारे बर्तन न चूहें, उनको सुदृढ बनाओ।

गोशाला

व्रजं कृणुध्वं, स हि वो नृपाणः (१९।५८।४)— गोशाला बनाओ और वह तुम्हारे मानवोंका दूध पीनेका स्थान हो।

जल

ता अपः शिवाः (१९।२।५)— वह जल कल्याण करनेवाला है।

अपोऽयक्ष्मं करणीः— जल रोग दूर करनेवाला है।

यथैव तृप्यते मयः, तास्त आ दत्से भेषजीः— जिससे सुख बढेगा, वैसा यह जल तुम्हें औषधी रूप बनेगा।

भिषग्भ्यो भिषक्तरा आपः (१९।२।३)— वैद्योंके लिये यह जल अधिक रोग नाश करनेवाला होता है।

जीवाः स्थ (१९।६९।१)— जल जीवन देनेवाला है।

उपजीवाः स्थ— करीब करीब जीवन देनेवाला जल है।

संजीवाः स्थ— सम्यक्तया जीवन देनेवाला जल है।

जीवलाः स्थ— जीवन शक्तिसे युक्त जल है।

जीव्यासं सर्वमायुर्जीव्यासम् – हम जीवेंगे, पूर्ण आयु-तक जीवित रहेंगे।

पुष्टि

औदुम्बरो वृषा मणिः सं मा सृजतु पुष्ट्या (१९।३१।२)- औदुम्बर मणि बलवान् है वह मुझे पुष्टि देवे।

औदुम्बरस्य तेजसा धाता पुष्टिं दधातु मे (१९।३१।३)- औदुम्बर मणिके तेजसे धाता मुझे पुष्टि देवे।

पयः पशूनां रसमोषधीनां बृहस्पतिः सविता मे नि यच्छात् (१९।३१।५)— पशुओंसे दूध और औषधियोंका रस ज्ञानपति सविताने मुझे दिया है।

तेजोऽसि तेजो मयि धारय (१९।३१।१२) — तू तेज है, मुझमें तेज धारण कर।

रयिरसि रयिं मे धेहि— तू धन है, मुझे धन दे।

पुष्टिरसि पुष्ट्या मा समङ्‌ग्धि (१९।३१।१३)— तू पुष्टि है, मुझे पुष्ट कर।

रयिं च नः सर्ववीरं नि यच्छात् (१९।३१।१४)— सब वीर पुत्रोंके साथ धन हमें दे।

मेधा

यन्मे छिद्रं मनसो यच्च वाच सरस्वती मन्युमन्तं जगाम (१९।४०।१)— जो मेरे मनमें और वाणीमें दोष है, किया क्रोधी पुरुषके पास गयी है (उससे यह दोष हुआ है)।

विश्वैस्तद्देवैः सह संविदानः सं दधातु बृहस्पतिः— सब देवोंकी सहायतासे बृहस्पति उस दोषको दूर करे।

मा न आपो मेधां मा ब्रह्म प्रमथिष्टन (१९।४०।२)— हमारी मेधाको, तथा ज्ञानको जल विनष्ट न करे।

अहं सुमेधा वर्चस्वी– मैं उत्तम बुद्धिवान् और तेजस्वी बनूं।

मा नो मेधां मा नो दीक्षां मा नो हिंसिष्टं यत्तपः (१९।४०।३)— मेरी मेधा, दीक्षा और जो तप है उसका नाश न हो।

शिवा नः सन्त्वायुषे शिवा भवन्तु मातरः— यह जल हमारी आयुके लिये कल्याणकारी हो, जो माताएं हमें सुख दें।

दीर्घ आयु

सर्वमायुरशीय (१९।६१।१)— मैं पूर्ण आयुको प्राप्त करूं।

आयुः प्राणं प्रजां...वर्धय (१९।६३।१)— मेरी आयु प्राण और प्रजाको बढा।

आयुरस्मासु धेहि (१९।६४।४)— हमें आयुष्य दे।

जीवेम शरदः शतं (१९।६७।२)— हम सौ वर्ष जीवें।

भूयसीः शरदः शतात् (१९।६७।८)— सौ वर्षोंसे भी अधिक जीवें।

जीव्यासमहं— (१९।७०।१)— मैं जीवित रहूं।

सर्वमायुर्जीव्यासं— संपूर्ण आयु तक जीवित रहूं।

जरामृत्युर्भवति यो बिभर्ति (१९।२६।१)— जो [शरीर पर सुवर्णको] धारण करता है उसको वृद्धावस्थाके पश्चात् मृत्यु होता है।

आयुष्मान् भवति यो बिभर्ति (१९।२६।२)— जो सुवर्ण धारण करता है वह दीर्घायु होता है।

आयुषे त्वा वर्चसे त्वा ओजसे च बलाय च (१९।२६।३)— दीर्घायु, तेज, सामर्थ्य और बलके लिये (सुवर्णको) धारण करता हूं।

तत्त आयुष्यं भुवत्, तत्ते वर्चस्यं भुवत् (१९।२६।४)- वह सुवर्ण तुझे आयु बढानेवाला हो, तेज बढानेवाला हो।

इदं बध्नामि ते मणिं दीर्घायुत्वाय तेजसे (१९।२८।१)— इस मणिको तेरे शरीर पर दीर्घायु और तेजके लिये बांधता हूं।

तमस्मै विश्वे त्वां देवा जरसे भर्तवा अदुः (१९।३०।२)- सब देव उस तुझे वृद्धावस्था तक भरण-पोषणके लिये देते हैं।

त्वया सहस्रकाण्डेन आयुः प्रवर्धयामहे (१९।३२।३)- तुझ सहस्र काण्डवालेके द्वारा हम अपनी आयु बढाते हैं।

देवो मणिरायुषा सं सृजाति नः (१९।३३।१)— दिव्य मणि हमें दीर्घ आयु देवे।

यज्ञः

इमं यज्ञं गिरः वर्धयन्तु (१९।१।१) — इस यज्ञका वर्णन हमारी वाणियां करें।

इमं यज्ञं अवत (१९।१।२)— इस यज्ञकी रक्षा करो।

रूपं रूपं वयो वयः संरभ्य एनं परिष्वजे (१९।१।३)— रूप और वयके अनुसार इस यज्ञको हम सुरक्षित रखते हैं।

यज्ञमिमं चतस्रः प्रदिशः वर्धयन्तु (१९।१।३)— इस यज्ञको चारों दिशाएं बढावें।

समना सदेवाः (१९।५८।१)— एक विचारवाले दिव्य भाववाले यहां बढें।

यज्ञस्य चक्षुः प्रभृतिर्मुखं च (१९।५८।५)— यज्ञका यह आंख तथा मुख्य मुख है।

वाचा श्रोत्रेण मनसा जुहोमि— वाणी, कान और मनसे हवन करता हूं।

इमं यज्ञं विततं विश्वकर्मणा (१९।५८।५)— इस यज्ञका विश्वकर्माने विस्तार किया।

देवा यन्तु सुमनस्यमानाः— उत्तम प्रसन्न मनवाले देव इस यज्ञके पास जाय।

इमं यज्ञं सहपत्नीभिरेत्य (१९।५८।६)— इस यज्ञके प्रति पत्नीके साथ जाओ।

त्वं··· व्रतपा असि (१९।५९।१)— तू व्रतका पालक है।

यद्वो वयं प्रमिनाम व्रतानि विदुषां (१९।५९।२)— यदि हमने आप विद्वानोंके व्रत तोडे हैं।

अग्निष्टत् विश्वादा पृणातु— अग्नि वह दोष दूर करे।

आ देवानामपि पंथामगन्म (१९।५९।३)— हम देवोंके मार्गपर आ गये हैं।

यच्छक्नवाम तदनु प्रवोढुम्— यदि समर्थ हुए तो उस यज्ञ मार्गको आगे बढायेंगे।

सोऽध्वरान् स क्रतून् कल्पयाति— वह अहिंसक कर्मोंको और कर्मोंको वह बढाता है।

ब्रह्म यज्ञस्य तत्वं (१९।४२।२)— ज्ञान ही यज्ञमें मुख्य तत्त्व है।

अंहोमुचे प्र भरे मनीषां (१९।४२।३)— पापसे छुडानेवालेकी प्रशंसा गाते हैं।

सुत्राव्णे सुमतिं वावृणानः— उत्तम रक्षा करनेवालेके विषयमें उत्तम बुद्धि धारण करते हैं।

सत्याः सन्तु यजमानस्य कामाः (१९।४२।३)— यजमानकी कामनाएं सत्य हों।

रात्री

अरिष्टासस्त उर्वि तमस्वति रात्रि पारमशीमहि (१९।४७।२)— न विनष्ट होते हुए हम, हे बडी अन्धेरी रात्रि! हम पार होंगे।

तभिर्नो अद्य पायुभिः नु पाहि (१९।४७।५)— उन रक्षकोंसे हमारा रक्षण हो।

रक्षा माकिः (१९।४७।६)— हमारी रक्षा कर।

मा नो अघशंस ईशत– पापी हमारे ऊपर स्वामित्व न करे।

मा नो दुःशंस ईशत— दुष्ट कीर्तिवाला हमपर स्वामित्व न करे।

परमेभिः पथिभिः स्तेनो धावतु तस्करः (१९।४७।७)- बडे मार्गसे चोर और डाकू दौड जाय।

परेणाघायुरर्षतु— पापी दूरसे भाग जाय।

त्वयि रात्रि वसामसि स्वपिष्यामसि जागृहि (१९।४७।९)— हे रात्री! तेरे अन्दर हम रहेंगे, सोयेंगे, तू जागती रह।

त्वं रात्रि पाहि नः (१९।४८।३)— हे रात्रि! तू हमारी रक्षा कर।

गोपाय नो विभावरि (१९।४८।४)— हे तेजस्विनी रात्रि! हमारी रक्षा कर।

सा नो वित्तेऽधि जागृहि— वह तू हमारे धनके लिये जागती रह।

अस्माँ त्रायस्व नर्याणि जाता (१९।४९।३)— हमारी रक्षा कर, मानवोंका हित करनेके लिये तू उत्पन्न हुई है।

असाम सर्ववीरा भवाम सर्ववेदसः (१९।४९।६)— सर्व वीरोंसे और सर्व धनोंसे युक्त हम हों।

यो अद्य स्तेन आयात्यघायुर्मर्त्यो रिपुः। रात्री तस्य प्रतीत्य प्र ग्रीवाः प्र शिरो हनत् (१९।४९।९)— जो चोर पापी शत्रु आज आ रहा है रात्री उसका गला और सिर काटे।

प्र पादौ न यथायति प्र हस्तौ न यथाशिषत्। यो मलिम्लुरुपायति संपिष्टो अपायति (१९।४९।१०)— पांवोंको काटो, हाथोंको तोड दे, जो पापी हमारे समीप आ जाय वह पीसा जाकर वापस हो।

रात्रिं रात्रिं अरिष्यन्त तरेम तन्वा वयं (१९।५०।३)- प्रत्येक रात्रीमें विनष्ट न होते हुए हम अपने शरीरसे सुरक्षित रहेंगे।

गम्भीरमप्लवा इव न तरेयुररातयः— गंभीर जलाशयसे पापी न पार हो जैसे बिना नौकाके [लोग पार नहीं होते।]

एवा रात्रि प्र पातय यो अस्माँ अभ्यघायति (१९।५०।४) हे रात्रि! जो हमपर धावा करता है उसको गिरा दे।

राष्ट्र

तेनेमं ब्रह्मणस्पते परि राष्ट्राय धत्तन (१९।२४।१)- हे ब्रह्मणस्पते। उस शक्तिसे उसको राष्ट्रके लिये धारण कर।

आयुषे महे क्षत्राय धत्तन (१९।२४।२)— दीर्घायु तथा बडे क्षात्रबलके लिये धारण करो।

एनं जरसे नयात्— इसको वृद्धावस्थातक ले चलो।

वर्चसेमं जरामृत्युं कृणुत दीर्घमायुः (१९।२४।४)— तेजसे इसको जराके पश्चात् मृत्यु आजाय, इसको दीर्घायु करो।

जरां गच्छ (१९।२४।५)— वृद्धावस्थाको प्राप्त हो।

भवा गृष्टीनामभिशस्तिपा उ— प्रजाओंको विनाशसे बचानेवाला हो।

शतं च जीव शरदः पुरूचीः, वसूनि चारुर्वि भजासि जीवन् (१९।२४।६)— अति दीर्घ ऐसे सौ वर्ष जीवित रह और जीवित रहनेपर धनोंको बांट।

हिरण्यवर्णो अजरः सुवीरो जरामृत्युः प्रजया सं विशस्व (१९।२४।८)— सुवर्ण जैसा रंगवाला, जरारहित, उत्तम वीर, जराके पश्चात् मृत्युवाला होकर अपनी प्रजाके साथ रहकर आराम कर।

भद्रमिच्छन्त ऋषयः स्वर्विदः तपो दीक्षामुपसेदुरग्रे। ततो राष्ट्रं बलमोजश्च जातं तदस्मै देवा उप सं नमन्तु ॥ (१९।४१।१)— जनताका कल्याण करनेकी इच्छा करनेवाले ऋषियोंने पहिले तप किया और दीक्षा ली। उससे राष्ट्र बल और ओज हुआ इसलिये सब ज्ञानी इस राष्ट्रके सामने झुक जांय।

अयोजाला असुरा मायिनोऽयस्मयैः पाशैरंकिनो ये चरन्ति। तांस्ते रन्धयामि हरसा। (१९।६६।१) जो असुर लोहेके जाल और लोहेके पाश लेकर संचार करते हैं, उनको मैं विनष्ट करता हूं।

सहस्रऋष्टिः सपत्नान् प्रमृणन्पाहि वज्रः— हजार नोकवाला वज्र शत्रुओंको मारे और हमारा रक्षण करे।

आशुः शिशानो वृषभो न भीमो घनाघनः क्षोभण श्चर्षणीनाम् (१९।१३।२)— त्वराशील, तीक्ष्ण, बैलके समान भयंकर, शत्रुको मारनेवाला, मनुष्योंको हिलानेवाला वीर है।

संक्रन्दनोऽनिमिष एकवीरः शतं सेना अजयत्— ललकारनेवाला, पलकें भी न झपकनेवाला अद्वितीय वीर सौ सेनाओंको जीतता है।

बलविज्ञायः स्थविरः प्रवीरः सहस्वान् वाजी सहमान उग्रः (१९।१३।५)— अपने और शत्रुके बलको जाननेवाला, युद्धमें स्थिर रहनेवाला, बडा वीर, साहसी, बलिष्ठ, उग्र शूर और शत्रुका पराजय करनेवाला है।

अभिवीरो अभिषत्वा सहोजित्— विशेष वीर, सत्ववान् और बलसे शत्रुको जीतनेवाला शूर होता है।

इमं वीरमनु हर्षध्वमुग्रं (१९।१३।६)— इस उग्रवीरका हर्ष बढाओ।

ग्रामजितं गोजितं वज्रबाहुं जयन्तमज्म प्रमृणन्त मोजसा (१९।१३।६)— ग्रामका विजेता, गौओंको जीतनेवाला वज्रबाहु विजयी और अपनी शक्तिसे शत्रुको मारनेवाला वीर है।

दुश्च्यवनः पृतनाषाडयोध्योऽस्माकं सेना अवतु प्रयुत्सु (१९।१३।७)— जो हिलानेके लिये अशक्य, शत्रुसेनाका पराभव करनेवाला, जिसके साथ युद्ध करना अशक्य है, वह युद्धोंमें हमारी सेनाकी रक्षा करे।

रक्षोहामित्राँ अपबाधमानः (१९।१३।८)—राक्षसोंको मारनेवाला शत्रुको बाधा पहुंचाता है।

प्रभञ्जन् छत्रून्, प्रमृणन्नमित्रान् अस्माकमेध्यविता तनूनाम् (१९।१३।८)— शत्रुका नाश करता हुआ, अमित्रोंका वध करके, हमारे शरीरोंका रक्षक हो।

अस्माकं वीरा उत्तरे भवन्तु (१९।१३।११)— हमारे वीर ऊंचे हो जांय।

अस्मान् देवासोऽवता हवेषु- देव युद्धोंमें हमारी रक्षा करें।

वर्च आ धेहि मे तन्वां सह ओजो वयो बलम् (१९।३७।२)— मेरे शरीरमें तेज, सामर्थ्य, पराक्रम, शक्ति और बल स्थापन कर।

ऊर्जे त्वा बलाय त्वौजसे सहसे त्वा। अभिभूयाय त्वा राष्ट्रभृत्याय पर्यूहामि शतशारदाय (१९।३७।३)— सत्व, बल, सामर्थ्य, साहस, शत्रुका पराजय, राष्ट्रसेवा और सौ वर्षकी आयुके लिये तुझे मैं पहनता हूं।

सभ्य! सभां मे पाहि ये च सभ्याः सभासदः (१९।५५।५)— हे सभ्य! मेरी सभाका रक्षण कर, और सभ्य सभासद हैं वे भी सभाकी रक्षा करें।

रोगनाशन

न तं यक्ष्मा अरुन्धते (१९।३८।१)— रोग उसको रोकता नहीं।

विष्वञ्चस्तस्माद्यक्ष्मा मृगा अश्वा इवेरते (१९।३८।२) जैसे मृग और घोडे भाग जाते हैं वैसे रोग उससे भाग जाते हैं।

तक्मानं सर्वं नाशय, सर्वाश्च यातुधान्यः (१९।३९।१) सब रोगोंका नाश कर, यातना देनेवालोंका नाश कर।

स-कुष्ठो विश्वभेषजः (१९।३९।५)— वह कुष्ट सब औषधि युक्त है।

एवा दुष्वप्न्यं सर्वमप्रिये सं नयामसि (१९।५७।१)- इस तरह सब दुष्ट स्वप्न अप्रियके पास ले जाते हैं।

स मम यः पापस्तद् द्विषते प्र हिण्मः (१९।५७।३)- जो मेरेमें पाप है वह द्वेष करनेवालेके पास भेजते हैं।

आयुषोऽसि प्रतरणं (१९।४४।१)— तू आयुष्यका बढानेवाला है।

प्राण प्राणं त्रायस्व (१९।४४।४)— हे प्राण! प्राणकी रक्षा कर।

निर्ऋते निर्ऋत्या नः पाशेभ्यो मुञ्च— हे दुर्गति! दुर्गतिके पाशोंसे हमें छोड।

मुञ्च न पर्यंहसः (१९।४४।८)— पापसे हमें बचाओ।

शत्रुनाश

दर्भ सपत्नदंभनं द्विषतस्तपनं हृदः (१९।२८।१)— यह दर्भमणि शत्रुको दबानेवाला और द्वेष करनेवालोंके हृदयको तपानेवाला है।

द्विषतस्तापयन्हृदः, शत्रूणां तापयन्मनः (१९।२८।२)- द्वेष करनेवालोंके हृदयोंको ताप देता है, और शत्रुओंके मनको तपाता है।

दुर्हार्दः सर्वांस्त्वं दर्भ घर्म इवाभि संतापयन्— दुष्ट हृदयवाले सब शत्रुओंको, हे दर्भ! गर्मीके समान ताप दे।

घर्म इवाभितपन् दर्भ द्विषतः (१९।२८।३)— गर्मीके समान, हे दर्भ ! द्वेष करनेवालोंको तपा ।

हृदः सपत्नानां भिन्धि— शत्रुओंके हृदयोंको तोड ।

भिन्धि दर्भ सपत्नानां हृदयं द्विषतां मणे (१९।२८।४) हे दर्भमणे ! शत्रुओं और द्वेष करनेवालोंके हृदय तोड दे ।

शिर एषां विपातय— इन दुष्टोंका सिर गिरा दे ।

भिन्धि दर्भ सपत्नान् (१९।२८।५)— हे दर्भ ! शत्रुओंको तोड दे ।

भिन्धि मे पृतनायतः— मुझपर सैन्य भेजनेवालेको तोड दे ।

भिन्धि मे सर्वान् दुर्हार्दः— सब दुष्ट हृदयवालोंको तोड दे ।

भिन्धि मे द्विषतो मणे— हे मणे ! द्वेष करनेवालोंको तोड दे । ऐसे ही ६-१० मंत्रमें वाक्य हैं । ऐसे ही १९।२९ में वाक्य हैं ।

तेनेमं वर्मिणं कृत्वा सपत्नान् जहि वीर्यैः (१९।३०।१) उस शक्तिसे इसको कवचवाला करके अपने वीर्योंसे शत्रुको पराभूत कर ।

त्वं राष्ट्राणि रक्षसि (१९।३०।३)— तू राष्ट्रोंका रक्षण करता है ।

मणिं क्षत्रस्य वर्धनं (१९।३०।४)— यह मणि क्षात्रतेजको बढाता है ।

तनूपानं कृणोमि ते— मैं तेरे शरीरका रक्षक (इस मणिको) बनाता हूं ।

त्वमसि सहमानः अहमस्मि सहस्वान् (१९।३२।५)- तू साहस युक्त हो, मैं साहस करनेवाला हूं ।

उभौ सहस्वन्तौ भूत्वा सपत्नान् सहिषीवहि-- हम दोनों बलवान् होकर शत्रुओंका पराभव करेंगे ।

सहस्व नो अभिमातिं, सहस्व नो पृतनायतः (१९।३२।६)— हमारे शत्रुका और हमपर सैन्य लानेवालेका पराभव कर ।

सहस्व सर्वान् दुर्हार्दः-सब दुष्ट हृदयवालोंका पराभव कर ।

सुहार्दो मे बहून् कृधि-उत्तम हृदयवाले मेरे बहुत मित्र कर।

स नोऽयं दर्भः परिपातु विश्वतः (१९।३२।१०)— वह दर्भमणि हमारी सब ओरसे रक्षा करे ।

तेन साक्षीय पृतनाः पृतन्यतः-- उससे हमपर भेजनेवालोंके सैन्यका पराभव करूंगा ।

स नोऽयं मणिः परिपातु विश्वतः (१९।३३।१)— वह यह मणि हमारी चारों ओरसे रक्षा करे ।

नुदन्त्सपत्नानधरांश्च कृण्वन् (१९।३३।२)— शत्रुओंको दूर कर और उनको नीचे कर ।

त्वं पुनीहि दुरितान्यस्मत् । (१९।३३।३)— तू हमसे पापोंको दूर करके हमें पवित्र करो ।

तीक्ष्णो राजा विषासही रक्षोहा विश्वचर्षणिः (१९।३३।४)— यह मणि वीर राजा राक्षसोंका वध करनेवाला, शत्रुका पराभव करनेवाला और सर्व जनोंका हित कर्ता है ।

ओजो देवानां बलमुग्रमेतत् तं ते बध्नामि जरसे स्वस्तये- यह देवोंका उग्र बल है, उसको तेरे शरीरपर बांधता हूं । इससे तू वृद्धावस्थातक कल्याण प्राप्त करके जीवोगे ।

दर्भेण त्वं कृणवद्वीर्याणि (१९।३३।५)— दर्भमणिसे तू अनेक पराक्रम करेगा ।

दर्भं बिभ्रदात्मना मा व्यथिष्ठाः— दर्भमणिका धारण करनेसे तू अपनी शक्ति बढनेके कारण दुःखी न होंगे ।

सूर्य इवा भाहि प्रदिशश्चतस्रः— सूर्यके समान चारों दिशाओंमें प्रकाशित होता रहे ।

सर्वं रक्षतु जंगिडः (१९।३४।१)— जंगिडमणि सबकी रक्षा करे ।

अथो अराति दूषणः (१९।३४।४)— जंगिडमणि शत्रुका विनाश करता है ।

जंगिडः प्र ण आयूंषि तारिषत्— जंगिडमणि हमारे दीर्घ आयुष्य करे ।

स जंगिडस्य महिमा परि णः पातु विश्वतः (१९।३४।५)— वह जंगिडमणिका महिमा सब ओरसे हमारी रक्षा करे ।

जंगिडः परिपाणः सुमंगलः (१९।३४।७)— जंगिडमणि चारों ओरसे रक्षा करनेवाला और कल्याण करनेवाला है ।

अमीवाः सर्वाश्चातयन् जहि रक्षांसि ओषधे (१९।३४।९)— सब रोग दूर कर, तथा सब राक्षसोंको भगा दे, हे ओषधे !

स नो रक्षतु जंगिडः (१९।३५।२)— जंगिडमणि हमारी रक्षा करे ।

परिपाणमरातिहम्— यह जंगिडमणि सब प्रकारसे रक्षा करनेवाला तथा शत्रुको दूर करनेवाला है ।

परिपाणोऽसि जंगिडः (१९।३५।३)— तू जंगिडमणि रक्षक हो ।

शतवारो अनीनशद्यक्ष्मान् रक्षांसि तेजसा (१९।३६।१)— शतवारमणि यक्ष्मरोग और राक्षसोंका स्वतेजसे नाश करता है ।

वर्चसा सह मणिर्दुर्णाम चातनः— तेजके साथ यह मणि दुष्ट नामवाले रोगोंको दूर करता है ।

शतं वीरानजनयत्— सौ वीरोंको जन्म देता है ।

शतं यक्ष्मानपावतम्— सैकडों रोगोंको दूर करता है ।

दुर्णाम्नः सर्वांस्तृढ्वाव रक्षांसि धूनुते— दुष्ट नामवाले सब रोगोंको नष्ट करके सब राक्षसोंको कंपाता है ।

तत्ते बध्नामि आयुषे वर्चसे ओजसे च बलाय चास्तृतस्त्वाभि रक्षतु (१९।४६।१)— अस्तृतमणि तेरे शरीरपर दीर्घायु, तेज, ओज, बलके लिये बांधता हूं, वह तेरी रक्षा करे ।

अस्मिन्मणावेकशतं वीर्याणि सहस्रं प्राणा अस्मिन्नस्तृते (१९।४६।५)— इस अस्तृतमणिमें सौ वीर्य हैं और हजार प्राण शक्तियां हैं ।

दुर्हार्दः पृष्टीरपि शृणाञ्जन (१९।४५।१)— हे अञ्जन ! दुष्ट हृदयवालोंकी पसलियां तोड ।

आञ्जनं दिशः प्रदिशः करच्छिवास्ते (१९।४५।३)— यह अञ्जन दिशा-उपदिशाएं तेरे लिये कल्याण करनेवाली करे ।

सर्वा दिशो अभयास्ते भवन्तु (१९।४५।४)— इस अञ्जनसे तेरे लिये सब दिशाएं निर्भय हों ।

शान्ति

शान्ता नः सन्त्वोषधीः (१९।९।१)— सब औषधियां हमें शान्ति देनेवाली हों ।

शान्तं नो अस्तु कृताकृतं (१९।९।२)— किया और न किया कर्म हमें शान्ति देनेवाला हो ।

यदेव ससृजे घोरं तदेव शान्तिरस्तु नः (१९।९।३)— जिससे भयंकर परिणाम होता है वह हमें शान्ति देवे ।

इन्द्रो मे शर्म यच्छतु (१९।९।१२)- इन्द्र मुझे सुख देवे ।

ब्रह्मा मे शर्म यच्छन्तु — ब्रह्मा मुझे सुख देवे ।

सर्वे मे देवाः शर्म यच्छन्तु (१९।९।१२)— सब देव मुझे सुख देवें ।

शं मे अस्तु, अभयं मे अस्तु (१९।९।१३)— मुझे सुख हो, निर्भयता मुझे प्राप्त हो ।

सर्वमेव शमस्तु नः (१९।९।१४)— सब मुझे सुख देनेवाला हो ।

शं नः पर्जन्यो भवतु प्रजाभ्यः (१९।१०।१०)— हमारी प्रजाके लिये पर्जन्य सुख देवे ।

शं नः सत्यस्य पतयो भवन्तु (१९।११ १)— सत्यके पालक हमें सुख देनेवाले हों ।

यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः (१९।११।५)— तुम सदा हमें कल्याण साधनोंसे सुरक्षित रखो ।

सर्वप्रिय

प्रियं मा दर्भ कृणु ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च (१९।३२।८)— हे दर्भ ! ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रोंको मैं प्रिय बनूं ऐसा कर ।

इस तरह इस काण्डमें सुभाषित है । कई सूक्तोंमें सुभाषित अधिक है । समान सुभाषितके वाक्य होनेसे उनमेंसे एक ही वाक्य लिया है । पाठक वहांके अन्य सुभाषित स्वयं देखें ।

पाठक इस काण्डका अच्छी तरह अध्ययन करके लाभ उठावें ।

अनुवादकर्ता
श्री. दा. सातवलेकर
अध्यक्ष- ' स्वाध्याय-मण्डल '

अथर्ववेदका सुबोध भाष्य।

उन्नीसवां काण्ड।

विषयानुक्रमणिका

॥ उन्नीसवां काण्ड समाप्त ॥

अथर्ववेदका सुबोध भाष्य।

एकोनविंशं काण्डम्।

(१) यज्ञः।

(ऋषिः — ब्रह्मा। देवता — यज्ञः, चन्द्रमाश्च।)

सं सं स्रवन्तु नद्य१ः सं वाताः सं पतत्रिणः।
यज्ञमिमं वर्धयता गिरः संस्राव्येण हविषा जुहोमि ॥ १ ॥
इमं होमा यज्ञमवतेमं संस्रावणा उत।
यज्ञमिमं वर्धयता गिरः संस्राव्येण हविषा जुहोमि ॥ २ ॥
रूपंरूपं वयोवयः संरभ्यैनं परि ष्वजे।
यज्ञमिमं चतस्रः प्रदिशो वर्धयन्तु संस्राव्येण हविषा जुहोमि ॥ ३ ॥ (३)

(१) यज्ञ।

अर्थ— (**नद्यः सं सं स्रवन्तु**) नदियां बहती रहें, (**वाताः सं**) वायु बहते रहें, (**पतत्रिणः सं**) पक्षी उडते रहें। (**इमं यज्ञं गिरः वर्धयत**) इस यज्ञको हमारी वाणियां बढावें। (**संस्राव्येण हविषा जुहोमि**) सुखको प्रवाहित करनेवाले हविसे मैं हवन करता हूं ॥ १ ॥

मनुष्यकी वाणियां यज्ञका भाव समाजमें या राष्ट्रमें बढावें। इससे सबका कल्याण होगा। जैसा नदियोंका प्रवाह चलता रहा, वायु चलता रहा तो मनुष्योंका सुख बढता है, उसी तरह यज्ञ होते रहे, तो मनुष्योंका कल्याण होता रहता है। यज्ञमें (१) विद्वानोंका सत्कार (देवपूजा), (२) **संगतिकरण** अर्थात एकता और (३) **दान** अर्थात् दीनोंकी सहायता ये तीन कर्तव्यके भाग मुख्य हैं। इनसे राष्ट्रका कल्याण होता है।

हे (**होमाः**) यज्ञो! (**इमं यज्ञं अवत**) इस यज्ञकी रक्षा करो। हे (**संस्रावणाः**) प्रवाहो! (**उत इमं**) और इस यज्ञकी सुरक्षा करो। हमारी वाणियां इस यज्ञका संवर्धन करें। मैं सुखको प्रवाहित करनेवाले हविसे हवन करता हूं ॥ २ ॥

सब यज्ञकी सुरक्षा करें क्यों कि यज्ञसे सबका कल्याण होता है।

(**रूपं रूपं वयोवयः**) प्रत्येक रूप और प्रत्येक आयुके अनुसार (**संरभ्य**) देखकर (**एनं परिष्वजे**) इस यज्ञकर्ताको चारों ओरसे सुरक्षित रखता हूं।। (**इमं यज्ञं चतस्रः प्रदिशः वर्धयन्तु**) इस यज्ञको चारों दिशाएं संवर्धित करें। मैं सुखको बढानेवाले हविसे हवन करता हूं ॥ ३ ॥

रूप और आयुके अनुसार यजमानको सुरक्षित रखता हूं। चारों दिशाओंमें रहनेवाले लोग यज्ञ करनेकी इच्छा जनतामें बढावें।

(२) आपः।

(ऋषिः — सिन्धुद्वीपः। देवता — आपः।)

शं त आपो हैमवतीः शमु ते सन्तूत्स्याः। शं ते सनिष्यदा आपः शमु ते सन्तु वर्ष्याः ॥ १ ॥
शं त आपो धन्वन्याः३ः शं ते सन्त्वनूप्याः। शं ते खनित्रिमा आपः शं याः कुम्भेभिराभृताः ॥ २ ॥
अनभ्रयः खनमाना विप्रा गम्भीरे अपसः। भिषग्भ्यो भिषक्तरा आपो अच्छा वदामसि ॥ ३ ॥
अपामह दिव्यानामपां स्रोतस्यानाम्। अपामह प्रणेजनेऽश्वा भवथ वाजिनः ॥ ४ ॥
ता अपः शिवा अपोऽयक्ष्मंकरणीरपः। यथैव तृप्यते मयस्तास्त आ दत्त भेषजीः ॥ ५ ॥(८)

(३) जातवेदाः।

(ऋषिः — अथर्वाङ्गिराः। देवता — अग्निः।)

दिवस्पृथिव्याः पर्यन्तरिक्षाद्वनस्पतिभ्यो अध्योषधीभ्यः।
यत्रयत्र विभृतो जातवेदास्ततं स्तुतो जुषमाणो न एहि ॥ १ ॥

---

(२) आपः।

अर्थ— (**हैमवतीः आपः ते शं**) हिमवान पर्वतसे आनेवाले जलप्रवाह तेरे लिये सुखदायी हों। (**उत्स्याः ते शं उ सन्तु**) स्रोतोंसे बहनेवाले जलप्रवाह तेरे लिये सुखदायी हों, (**सनिष्यदा आपः ते शं**) वेगसे जानेवाले प्रवाह तुझे सुखदायक हों, (**वर्ष्याः ते शं उ सन्तु**) वर्षासे आये जलप्रवाह तेरे लिये सुखदायक हों ॥ १ ॥

(**धन्वन्या आपः ते शं**) मरुदेशमें होनेवाले जलप्रवाह तुझे आनंद देनेवाले हों। (**अनूप्याः ते शं सन्तु**) देशमें बहनेवाले जलप्रवाह तेरे लिये सुखदायी हों, (**खनित्रिमाः आपः ते शं**) खोदकर प्राप्त किये जल तेरे लिये सुखकारक हों। (**याः कुम्भेभिः आभृताः शं**) जो जल घडोंमें भरकर रखा है वह तुझे सुखकारक हो ॥ २ ॥

(**अनभ्रयः खनमानाः**) कुद्दालके विना खोदे हुए (**गंभीरे अपसः**) गंभीर जलके ज्ञाता (**विप्राः**) ज्ञानीयोंके समीप (**आपः**) जल (**भिषग्भ्यो भिषक्तराः**) वैद्योंके लिये अधिक रोगनाशक होते हैं। इन जलोंके विषयमें (**अच्छा वदामसि**) हम उत्तम बोलते हैं ॥ ३ ॥

जलचिकित्सा जो जानते हैं वे जलका उपयोग करके रोग दूर करते हैं। इसलिये जलके विषयमें हम उत्तम ही बोलते हैं।

(**दिव्यानां अपां अह**) आकाशसे बरसनेवाले जल, (**स्रोतस्यानां अपां**) स्रोतोंसे मिलनेवाले जलोंके विषयमें (**अपां प्रणेजने**) इन जलोंके प्रयोगके विषयमें (**अश्वाः वाजिनः भवथ**) घोडे अधिक बलवान् होते हैं ॥ ४ ॥

जलका योग्य उपयोग और प्रयोग करनेसे घोडे अधिक बलवान् होते हैं। मनुष्य भी जलप्रयोगसे नीरोग और बलिष्ठ होते हैं।

(**ताः आपः शिवाः**) वह जल कल्याण करनेवाला है। (**आप अयक्ष्मं-करणीः अपः**) वह जल रोगोंको दूर करनेवाला है। (**यथा एव मयः तृप्यते**) जिस तरह सुख बढ सकता है. (**ताः ते भेषजीः आ दत्त**) वे जल तेरे लिये रोग दूर करनेवाले हैं, उनका स्वीकार करो ॥ ५ ॥

जलचिकित्सासे रोग दूर होते हैं। इसी ये मनुष्य जलोंसे योग्य प्रयोग द्वारा आरोग्य प्राप्त करे।

(३) जातवेदाः।

(**दिवः**) द्युलोकसे, (**पृथिव्याः**) पृथिवीसे, (**अन्तरिक्षात् परि**) अन्तरिक्षसे (**वनस्पतिभ्यः ओषधिभ्यः**) वनस्पतियों और ओषधियोंसे (**यत्र यत्र जातवेदाः विभृतः**) जहां जहां अग्नि भरा रहता है, (**ततः स्तुतः**) वहांसे प्रशंसित होकर (**जुषाणः**) सेवन करने योग्य होकर (**नः एहि**) हमारे समीप आवे ॥ १ ॥

इन सब स्थानोंमें अग्नि है, द्युलोकमें सूर्य, अन्तरिक्षमें विद्युत, पृथ्वीपर आगके रूपमें, ओषधिवनस्पतियोंमें अनेक रूपसे अग्नि रहता है। वह हमारा सहायक बने।

यस्ते॑ अ॒प्सु म॑हि॒मा यो वने॑षु॒ य ओष॑धीषु प॒शुष्व॒प्स्व१॒॑न्तः ।
अग्ने॒ सर्वा॑स्त॒न्व१॒ः सं र॑भस्व॒ ताभि॑र्न॒ एहि॑ द्रविणो॒दा अज॑स्रः ॥ २ ॥
यस्ते॑ दे॒वेषु॑ महि॒मा स्व॒र्गो या ते॑ त॒नूः पि॒तृष्वा॑वि॒वेश॑ ।
पु॒ष्टिर्या ते॑ मनु॒ष्ये॑षु पप्र॒थेऽग्ने॒ तया॑ र॒यिम॒स्मासु॑ धेहि ॥ ३ ॥
श्रुत्क॑र्णाय क॒वये॒ वेद्या॑य॒ वचो॑भिर्वा॒कैरुप॑ यामि रा॒तिम् ।
यतो॑ भ॒यमभ॑यं॒ तन्नो॑ अ॒स्त्वव॑ दे॒वानां॑ यज॒ हेडो॑ अग्ने ॥ ४ ॥ (१२)

(४) आकूतिः ।

(ऋषिः — अथर्वाङ्गिराः । देवता — अग्निः ।)

यामाहु॑तिं प्र॒थमामथ॑र्वा॒ या जा॒ता या ह॒व्यमकृ॑णोज्जा॒तवे॑दाः ।
तां त॑ ए॒तां प्र॑थ॒मो जो॑हवीमि॒ ताभि॑ष्टु॒प्तो व॑हतु ह॒व्यम॒ग्निर॒ग्नये॒ स्वाहा॑ ॥ १ ॥

अर्थ— हे अग्ने ! (**यः ते अप्सु महिमा**) जो तेरा जलोंमें महिमा है, (**यः वनेषु**) जो वनोंमें, (**यः ओषधीषु पशुषु अप्सु अन्तः**) जो औषधियों, पशुओं और जलोंमें है, (**सर्वाः तन्वः संरभस्व**) तुम्हारे ये सब शरीर उत्तम रीतिसे एकत्रित करके (**ताभिः नः एहि**) उनके साथ हमारे पास आओ और हमारे लिये (**द्रविणोदाः अजस्रः**) धन देनेवाला अविनाशी हो ॥ २ ॥

(**यः ते देवेषु स्वर्गः महिमा**) जो तेरा देवोंमें सुखदायी महिमा है, (**या ते तनूः पितृषु आविवेश**) जो तेरा शरीर पितरोंमें, पालकोंमें रहा है, (**या ते पुष्टिः मनुष्येषु पप्रथे**) जो तेरी पोषक शक्ति मानवोंमें फैली है, हे अग्ने ! (**तया अस्मासु रयिं धेहि**) उससे हमारे अन्दर धन स्थापन कर ॥ ३ ॥

(**श्रुत्कर्णाय कवये वेद्याय**) सुननेवाले कान जिसके हैं, जो कवि और जानने योग्य है उसके पास (**वचोभिः वाकैः**) वचनों और वाक्योंसे (**रातिं उप यामि**) दान मांगता हूं। (**यतः भयं**) जहांसे भय होना संभव हो (**तत् नः अभयं अस्तु**) वहांसे हमें अभय हो । हे अग्ने । (**देवानां हेडः यज**) देवोंके क्रोधको शान्त कर ॥ ४ ॥

श्रुत्कर्णः— प्रार्थना करनेवालोंका कहना सुनना योग्य है । **कविः**-ज्ञानी । **वेद्यः**- जानने योग्य । उपासक अपने भाषणसे दान मांगता है । जहांसे भयकी संभावना हो, वहांसे निर्भयता प्राप्त हो । वहांसे भय दूर हो । देवोंका क्रोध अपने ऊपर न हो ऐसा अपना आचरण रहना चाहिये ।

(४) आकूतिः ।

(**अथर्वा**) अथर्वाने (**यां प्रथमां आहुतिं**) जिस प्रथम आहुतिका (**अकृणोत्**) हवन किया, (**या जाता**) जो आहुती बनी और (**जातवेदाः या हव्यं अकृणोत्**) जातवेद अग्निने जिसका हवन किया, (**तां एतां प्रथमः ते जोहवीमि**) उसको मैं पहिले तेरे लिये हवन करता हूं, (**ताभिः स्तुतः अग्निः हव्यं वहतु**) उनसे प्रशंसित हुआ अग्नि हवन किये हुएको ले जाय, ऐसे (**अग्नये स्वाहा**) अग्निके लिये समर्पण करता हूं ॥ १ ॥

अथर्वाने प्रथम अग्नि उत्पन्न करके उसमें प्रथम आहुति दी । अग्निने उसको पहिला हव्य करके स्वीकार किया । यहांसे यज्ञ शुरू हुआ ।

अग्निर्जातो अथर्वणः । ऋ. १०।२१।५; **अथर्वा त्वा प्रथमो निरमन्थदग्ने** । वा. य. ११।३२, **यज्ञैरथर्वा प्रथमः पथस्तते** । ऋ. १।८३।५, अथर्वाने अग्नि प्रथम उत्पन्न किया जिससे यज्ञ शुरू हुआ ।

*

आकूतिं देवीं सुभगां पुरो दधे चित्तस्य माता सुहवा नो अस्तु ।
यामाशामेमि केवली सा मे अस्तु विदेयमेनां मनसि प्रविष्टाम् ॥ २ ॥
आकूत्या नो बृहस्पत आकूत्या न उपा गहि ।
अथो भगस्य नो धेह्यथो नः सुहवो भव ॥ ३ ॥
बृहस्पतिर्म आकूतिमाङ्गिरसः प्रति जानातु वाचमेताम् ।
यस्य देवा देवताः संबभूवुः स सुप्रणीताः कामो अन्वेत्वस्मान् ॥ ४ ॥ (१६)

(५) जगतो राजा ।

(ऋषिः — अथर्वाङ्गिराः । देवता — इन्द्रः ।)

इन्द्रो राजा जगतश्चर्षणीनामधि क्षमि विषुरूपं यदस्ति ।
ततो ददाति दाशुषे वसूनि चोदद्राध उपस्तुतश्चिदर्वाक् ॥ १ ॥ (१७)

अर्थ— (**सुभगां आकूतिं देवीं**) सौभाग्यवाली इच्छा देवीको (**पुरः दधे**) आगे धर देता हूं । वह (**चित्तस्य माता**) चित्तकी माता (**नः सुहवा अस्तु**) हमारे लिये सुगमतासे बुलाने योग्य हो । (**यां आशां केवली एमि**) जिस दिशामें मैं उस कामनाकी ओर जाता हूं, (**सा मे अस्तु**) वह मेरी हो, (**एनां मनसि प्रविष्टां विदेयं**) इसको मनमें प्रविष्ट हुई प्राप्त करूं ॥ २ ॥

मनकी इच्छा यह मुख्य है । उससे सब कर्म शुरू होते हैं । इसलिये यह मनकी इच्छा मुख्य है, उससे चित्त कार्य करने लगता है । जिस उत्तम कार्य करनेकी इच्छा मैं करता हूं वह सिद्ध हो जाय ।

हे बृहस्पते ! (**आकूत्या आकूत्या नः नः उपागहि**) प्रबल इच्छा शक्तिके साथ तू हमारे पास आ । (**अथो भगस्य नः धेहि**) और भाग्य हमें दे । (**अथो नः सुहवः भव**) और सुगम रीतिसे बुलाने योग्य हो ॥ ३ ॥

ज्ञानीके पास प्रबल इच्छा हो, जिससे भाग्य प्राप्त होगा ।

(**आंगिरसः बृहस्पतिः**) आंगिरस कुलका बृहस्पति (**मे आकूतिं एतां वाचं**) मेरी इस प्रबल इच्छावाली वाणीको (**प्रति जानातु**) जाने ! (**यस्य देवा देवताः सं बभूवुः**) जिसके साथ देव और देवता रहते हैं, (**स सुप्रणीताः कामः**) वह उत्तमरीतिसे प्रयोगमें लाया काम (**अस्मान् अन्वेतु**) हमारे समीप आ जावे ॥ ४ ॥

प्रबल इच्छासे प्रेरित हुई वाणी शक्तिवाली होती है । उसके साथ दिव्य शक्तियां रहती हैं, ऐसी इच्छा हमारी सफल होती रहे ।

(५) जगतो राजा ।

(**इन्द्रः**) इन्द्र, प्रभु (**जगतः चर्षणीनां**) पशु, पक्षि आदि जंगमोंका, मनुष्योंका, (**अधि क्षमि विषुरूपं यद् अस्ति**) पृथिवी पर जो भी अनेक रंगरूपवाले पदार्थ हैं उन सबका (**राजा**) एक अद्वितीय राजा है । (**ततः दाशुषे वसूनि ददाति**) वहांसे वह दाताको अनेक प्रकारके धन देता है । (**उपस्तुतः चित्**) उसकी स्तुति करनेपर (**अर्वाक् राधः चोदत्**) वह इधर धन भेजता है ॥ १ ॥

स्थावर जंगमका एक अद्वितीय राजा परमेश्वर ही है । जो भी यहां वस्तुमात्र है उसपर उसीका अधिकार है । वह दाताको धन देता है । स्तुति करनेवालेके पास वह धन भेजता है । उसके गुणोंको जाननेसे मनुष्य उच्च होता है ।

(६) जगद्बीजः पुरुषः ।

(ऋषिः — नारायणः । देवता — पुरुषः ।)

सहस्रबाहुः पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् । स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥ १ ॥
त्रिभिः पद्भिर्द्यामरोहत्पादस्येहाभवत्पुनः । तथा व्यक्रामद्विष्वङ्ङशनानशने अनु ॥ २ ॥
तावन्तो अस्य महिमानस्ततो ज्यायांश्च पूरुषः । पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥ ३ ॥
पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम् । उतामृतत्वस्येश्वरो यदन्येनाभवत्सह ॥ ४ ॥
यत्पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन् । मुखं किमस्य किं बाहू किमूरू पादा उच्येते ॥ ५ ॥
ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्योऽभवत् । मध्यं तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥ ६ ॥

(६) जगद्बीजः पुरुषः ।

अर्थ— (सहस्र-बाहुः) हजारों बाहुवाला, **(सहस्र-अक्षः)** हजारों आंखोंवाला, **(सहस्रपाद्)** हजारों पावोंवाला एक **(पुरुषः)** पुरुष है, **(सः भूमिं विश्वतः वृत्वा)** वह भूमिको चारों ओरसे घेर कर **(दशांगुलं अत्यतिष्ठत्)** दश अंगुल विश्वको व्याप कर रहा है ॥ १ ॥

सहस्रों मनुष्योंके बाहु, आंख, पांव आदि अवयव जिसके अवयव हैं ऐसा मानवसमाजरूपी विराट् पुरुष पृथिवीके चारों ओर है । सब मानवोंके सब अवयव इसके अवयव हैं । दश अंगुल रूप विश्वको घेर कर वह रहा है । पृथ्वीके चारों ओर जो मानवसमाज है वह मिलकर एक पुरुष है ।

(त्रिभिः पद्भिः द्यां अरोहत्) तीन अंशोंसे द्युलोक पर चढा है और **(अस्य पात् इह पुनः अभवत्)** इसका एक अंश यहां पुनः पुनः होता है । **(तथा विष्वङ् अशन-अनशने अनु व्यक्रामत्)** तथा चारों ओर खानेवाले और न खानेवाले- चेतन और जड रूपसे व्याप रहा है ॥ २ ॥

इसके तीन अंश द्युलोकको व्याप रहे हैं और एक अंश यहां जड और चेतन रूपमें दीख रहा है । यहां यह बारंबार बनता है ।

(तावन्तः अस्य महिमानः) इसके उतने महिमा हैं । वह **(ततो ज्यायान् च पूरुषः)** पुरुष तो उनसे बडा है । **(अस्य पादः विश्वा भूतानि)** इसका एक अंश ये सब भूत हैं और **(अस्य त्रिपाद् दिवि अमृतं)** इसके तीन अंश द्युलोकमें अमर है ॥ ३ ॥

(यद् भूतं यत् च भाव्यं) जो बना है, और जो बनेगा **(इदं सर्वं पुरुष एव)** वह सब पुरुष ही है । **(उत अमृतत्वस्य ईश्वरः)** और वह अमरपनका स्वामी है **(यत् अन्येन सह अभवत्)** जो दूसरे- जडके- साथ होता है । ॥ ४ ॥

जो भूतकालमें हुआ और जो भविष्यमें होगा वह सब यह पुरुष ही है । यह अमरत्वका स्वामी है जो जडके साथ रहता है ।

(यत् पुरुषं व्यदधुः) जो विद्वान् इस पुरुषका वर्णन करते हैं उन्होंने इसकी **(कतिधा व्यकल्पयन्)** कितने प्रकारसे कल्पना की है ? **(अस्य मुखं किं)** इसका मुख कौन है, **(किं बाहू)** इसके बाहु कौन हैं, **(किं ऊरू)** जांघें कौन हैं और **(पादा उच्येते)** पांव कौन कहे जाते हैं ॥ ५ ॥

पुरुष करके जिसका वर्णन किया जाता है उसके मुख, बाहु, उदर और पांव कौन हैं ?

(अस्य मुखं ब्राह्मणः) इस पुरुषका मुख ब्राह्मण-ज्ञानी- है, **(राजन्यः बाहू अभवत्)** क्षत्रिय इसके बाहु हुए हैं, **(मध्यं तत् अस्य यत् वैश्यः)** इसका मध्यभाग वैश्य है, **(पद्भ्यां शूद्रः अजायत)** पांवके लिये शूद्र हुआ है ॥ ६ ॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये इस पुरुषके मुख, बाहु, मध्यभाग और पांव हैं, अर्थात् चार वर्ण ये इस पुरुषके चार अंग हैं ।

चन्द्रमा मन॑सो जा॒तश्चक्षोः सूर्यो॑ अजायत। मुखा॒दिन्द्र॑श्चा॒ग्निश्च॑ प्रा॒णाद्वा॒युर॑जायत ॥ ७ ॥

नाभ्या॑ आसीद॒न्तरि॑क्षं शी॒र्ष्णो द्यौः सम॑वर्तत। प॒द्भ्यां भूमि॒र्दिश॒ः श्रोत्रा॒त्तथा॑ लो॒कॉं अ॑कल्पयन्॥ ८ ॥

वि॒राड॑ग्रे॒ सम॑भवद्वि॒राजो॒ अधि॒ पूरु॑षः। स जा॒तो अत्य॑रिच्यत प॒श्चाद्भूमि॒मथो॑ पु॒रः ॥ ९ ॥

यत्पुरु॑षेण ह॒विषा॑ दे॒वा य॒ज्ञमत॑न्वत। व॒सन्तो॑ अस्यासी॒दाज्यं॑ ग्री॒ष्म इ॒ध्मः श॒रद्ध॒विः ॥१०॥

तं य॒ज्ञं प्रा॒वृषा॒ प्रौक्ष॒न्पुरु॑षं जा॒तम॑ग्र॒शः। तेन॑ दे॒वा अ॑यजन्त सा॒ध्या वस॑वश्च॒ ये ॥११॥

तस्मा॒दश्वा॑ अजायन्त॒ ये च॒ के चो॑भ॒याद॑तः। गावो॑ ह जज्ञिरे॒ तस्मा॒त्तस्मा॑ज्जा॒ता अ॑जा॒वयः॑ ॥१२॥

तस्मा॑द्य॒ज्ञात्स॑र्व॒हुत॒ ऋचः॒ सामा॑नि जज्ञिरे। छन्दो॑ ह जज्ञिरे॒ तस्मा॒द्यजु॒स्तस्मा॑दजायत ॥१३॥

तस्मा॑द्य॒ज्ञात्स॑र्व॒हुतः॒ संभृ॑तं पृषदा॒ज्य॒म्। प॒शूँस्तांश्च॑क्रे वाय॒व्या॒निर॒ण्या ग्रा॒म्याश्च॒ ये ॥१४॥

अर्थ— (मनसः चन्द्रमाः जातः) उसके मनसे चन्द्रमा हुआ है, (चक्षोः सूर्यः अजायत) आंखसे सूर्य हुआ। (मुखात् इन्द्रः च अग्निः च) उनके मुखसे इन्द्र और अग्नि हुए हैं। (प्राणात् वायुः अजायत) उस पुरुषके प्राणसे वायु हुआ है ॥ ७ ॥

उस पुरुषके (नाभ्याः अन्तरिक्षं आसीत्) नाभीसे अन्तरिक्ष हुआ, (शीर्ष्णः द्यौः सं अवर्तत) सिरसे द्युलोक हुआ। (पद्भ्यां भूमिः) पांवोंसे भूमि हुई, (दिशः श्रोत्रात्) कानसे दिशाएं (तथा लोकान् अकल्पयन्) और उस प्रकार अन्य लोकोंकी कल्पना– प्रजापतिके शरीरके अंगोंपर– की गई है ॥ ८ ॥

(अग्रे विराट् समभवत्) प्रथम विराट् उत्पन्न हुआ, (विराजः अधि पूरुषः) विराट्के ऊपर अधिष्ठाता पुरुष हुआ। (सः जातः अति अरिच्यत) वह उत्पन्न होते ही फैल गया, (भूमिं अथो पश्चात् पुरः) प्रथम भूमिपर और पश्चात् नाना शरीरोंमें फैल गया ॥ ९ ॥

(यत् पुरुषेण हविषा) जब पुरुषरूप हविसे (देवाः यज्ञं अतन्वत) देवोंने यज्ञ किया, (वसन्तः अस्य आज्यं आसीत्) वसन्त ऋतु इसका घी था, (ग्रीष्मः इध्मः) ग्रीष्म ऋतु काष्ठ था और (शरत् हविः) शरत् ऋतु था ॥ १० ॥

देवोंके यज्ञमें इन ऋतुओंमें होनेवाले पदार्थ ही यज्ञकी सामग्री थी।

(तं अग्रशः जातं) उस प्रथम उत्पन्न हुए (यज्ञं पुरुषं) यज्ञीय पुरुषको (प्रावृषा प्रोक्षन्) वृष्टीके जलसे सिंचन किया, (तेन) उससे (साध्याः वसवः च ये देवाः) साध्य और वसु करके जो देव हैं वे (अयजन्त) यज्ञ करते रहे ॥ ११ ॥

(तस्मात् अश्वा अजायन्त) उससे घोडे उत्पन्न हुए (ये च के च उभयादतः) जिनके दोनों ओर दांत होते हैं। (गावः जज्ञिरे तस्मात्) उससे गौवें उत्पन्न हुईं, (तस्मात् अजावयः जाताः) उससे बकरियां और भेडियां उत्पन्न हुईं ॥ १२ ॥

(तस्मात् सर्वहुतः यज्ञात्) उस सर्वस्वकी आहुति देनेके यज्ञसे (ऋचः सामानि जज्ञिरे) ऋचाएं और साम गान उत्पन्न हुए। (तस्मात् छन्दः ह जज्ञिरे) उस यज्ञसे छन्द अर्थात् अथर्ववेद उत्पन्न हुआ (तस्मात् यजुः अजायत) उस यज्ञसे यजुर्वेद उत्पन्न हुआ ॥ १३ ॥

(तस्मात् सर्वहुतः यज्ञात्) उस सर्व हवन करनेके यज्ञसे (पृषद्–आज्यं संभृतं) दही और घी उत्पन्न हुआ। (तान् वायव्यान् पशून्) उन वायव्य पशुओंसे (आरण्याः ग्राम्याः च ये) आरण्य पशु और ग्राम्य पशु ऐसे पशु उत्पन्न हुए ॥ १४ ॥

सप्तास्यासन्परिधयस्त्रिः सप्त समिधः कृताः । देवा यद्यज्ञं तन्वाना अबध्नन्पुरुषं पशुम् ॥१५॥
मूर्ध्नो देवस्य बृहतो अंशवः सप्त सप्ततीः । राज्ञः सोमस्याजायन्त जातस्य पुरुषादधि ॥१६॥ (३३)

(७) नक्षत्राणि ।

(ऋषिः — गार्ग्यः । देवता — नक्षत्राणि ।)

चित्राणि साकं दिवि रोचनानि सरीसृपाणि भुवने जवानि ।
तुर्मिशं सुमतिमिच्छमानो अहानि गीर्भिः सपर्यामि नाकम् ॥ १ ॥
सुहवमग्ने कृत्तिका रोहिणी चास्तु भद्रं मृगशिरः शमार्द्रा ।
पुनर्वसू सूनृता चारु पुष्यो भानुराश्लेषा अयनं मघा मे ॥ २ ॥
पुण्यं पूर्वा फल्गुन्यौ चात्र हस्तश्चित्रा शिवा स्वाति सुखो मे अस्तु ।
राधे विशाखे सुहवानुराधा ज्येष्ठा सुनक्षत्रमरिष्ट मूलम् ॥ ३ ॥

अर्थ— (**देवाः यत् यज्ञं तन्वानाः**) देव जो यज्ञ कर रहे थे (**अस्य सप्त परिधयः आसन्**) उस यज्ञके सात परिधि थे (**त्रिः सप्त समिधः कृताः**) तीन गुणा सात समिधाएं की थी और (**पुरुषं पशुं अबध्नन्**) परमेश्वररूपी पुरुषको ध्यानके लिये चित्तमें बांधा था। उस पर ध्यान वे लगाते थे ॥ १५ ॥

(**बृहतः देवस्य**) बडे देवके अर्थात् (**सोमस्य राज्ञः**) सोम राजाके (**मूर्ध्नः**) सिरसे (**सप्ततीः सप्त**) सत्तर बार सात (**अंशवः**) किरणें (**अजायन्त**) उत्पन्न हुई (**जातस्य पुरुषात् अधि**) जब वह पुरुषसे उत्पन्न हुआ ॥ १६ ॥
ये किरण सूक्ष्म प्रकाशमय तत्त्व हैं जिनसे यह सृष्टी बनी है। बडा देव सोम राजा-सर्वाधार शान्त प्रभु है। जिससे ये तत्त्व प्रगट होकर सब सृष्टि बनी है।

सब मानव समाज जो इस पृथिवी पर चारों ओर है वह सब मानव समाज इस पुरुषका शरीर है। हजारों मुख, हजारों बाहु, हजारों उदर और हजारों पांव इस पुरुषके हैं यह वर्णन इस तरह देखना और समझना चाहिये।

(७) नक्षत्राणि ।

(**चित्राणि**) चित्रविचित्र (**साकं दिवि रोचनानि**) साथ साथ द्युलोकमें प्रकाशित होनेवाले (**सरीसृपाणि**) सदा गतिशील (**भुवने जवानि**). भुवनमें वेगवान्, (**अ-हानि**) विनष्ट न होनेवाले नक्षत्रोंकी (**तुर्मिशं सुमतिं इच्छमानः**) तथा अनिष्टनाशक उत्तम बुद्धिकी इच्छा करता हुआ मैं (**गीर्भिः नाकं सपर्यामि**) अपनी वाणियोंसे सुखपूर्ण स्वर्गलोककी प्रशंसा गाता हूं ॥ १ ॥

हे अग्ने ! (**कृत्तिका रोहिणी सुहवं च अस्तु**) कृत्तिका और रोहिणी ये नक्षत्र मेरे लिये सुखसे प्रार्थना करने योग्य हों। (**मृगशिरः भद्रं**) मृगशिर नक्षत्र कल्याण करनेवाला हो, (**आर्द्रा शं**) आर्द्रा नक्षत्र शान्ति देनेवाला हो। (**पुनर्वसू सूनृता**) पुनर्वसु नक्षत्र उत्तम वाक्शक्ति देनेवाला हो, (**पुष्यः चारु**) पुष्य नक्षत्र मेरे लिये उत्तम हो। (**आश्लेषा भानुः**) आश्लेषा नक्षत्र प्रकाश देवे, (**मघा मे अयनं**) मघा नक्षत्र मेरे लिये प्रगति देनेवाला हो ॥ २ ॥

(**पूर्वा फल्गुन्यौ पुण्यं**) पूर्वा फाल्गुनीके दो नक्षत्र पुण्यकारक हों, (**अत्र हस्तः चित्रा शिवा**) यहां हस्त और चित्रा कल्याणकारी हों। (**स्वाति मे सुखः अस्तु**) स्वाती नक्षत्र मेरे लिये सुखदायी हो, (**राधे विशाखे**) हे राधे और विशाखे ! तुम दोनों (**सुहवा**) उत्तम प्रार्थना करने योग्य हो। (**अनुराधा ज्येष्ठा मूलं अ-रिष्ट**) अनुराधा ज्येष्ठा और मूल ये नक्षत्र विनाशक न हों ॥ ३ ॥

अन्नं पूर्वा रासतां मे अषाढा ऊर्जं देव्युत्तरा आ वहन्तु ।
अभिजिन्मे रासतां पुण्यमेव श्रवणः श्रविष्ठाः कुर्वतां सुपुष्टिम् ॥ ४ ॥
आ मे महच्छतभिषग्वरीय आ मे द्वया प्रोष्ठपदा सुशर्म ।
आ रेवती चाश्वयुजौ भगं म आ मे रयिं भरण्य आ वहन्तु ॥ ५ ॥ (१८)

(८) नक्षत्राणि।

(ऋषिः— गार्ग्यः । देवता— नक्षत्राणि, ब्रह्मणस्पतिः ।

यानि नक्षत्राणि दिव्य१न्तरिक्षे अप्सु भूमौ यानि नगेषु दिक्षु ।
प्रकल्पयंश्चन्द्रमा यान्येति सर्वाणि ममैतानि शिवानि सन्तु ॥ १ ॥
अष्टाविंशानि शिवानि शग्मानि सह योगं भजन्तु मे ।
योगं प्र पद्ये क्षेमं च क्षेमं प्र पद्ये योगं च नमोऽहोरात्राभ्यामस्तु ॥ २ ॥
स्वस्तितं मे सुप्रातः सुसायं सुदिवं सुमृगं सुशकुनं मे अस्तु ।
सुहवमग्ने स्वस्त्य१मर्त्यं गत्वा पुनरायाभिनन्दन् ॥ ३ ॥
अनुहवं परिहवं परिवादं परिक्षवम् । सर्वैर्मे रिक्तकुम्भान्परा तान्सवितः सुव ॥ ४ ॥

अर्थ —(**पूर्वा अषाढा मे अन्नं रासतां**) पूर्वा अषाढा नक्षत्र मुझे अन्न देवे। (**उत्तरा देवी ऊर्जं आ वहन्तु**) उत्तरा अषाढा नक्षत्र उत्तम बल देवें। (**अभिजित् मे पुण्यं रासतां एव**) अभिजित नक्षत्र मुझे पुण्य देवे। (**श्रवणः श्रविष्ठाः सुपुष्टिं कुर्वतां**) श्रवण और श्रविष्ठा मुझे उत्तम पुष्टि देवें ॥ ४ ॥

(**महत् शतभिषक्**) बडा शतभिषक् नक्षत्र (**मे वरीयः आ**) मेरे लिये धन देवे। (**द्वया प्रोष्ठपदा मे सुशर्म आ**) दोनों प्रोष्ठपदा नक्षत्र मुझे उत्तम सुख देवे। (**रेवती अश्वयुजौ च**) रेवती और अश्वयुग नक्षत्र (**मे भगं आ**) मेरे लिये धन देवें और (**भरण्यः मे रयिं आ वहन्तु**) भरणी नक्षत्र मेरे लिये ऐश्वर्य ले आवें ॥ ५ ॥

(८) नक्षत्राणि।

(**यानि नक्षत्राणि**) जो नक्षत्र (**दिवि अन्तरिक्षे**) द्युलोकमें अन्तरिक्षमें (**अप्सु भूमौ**) जलोंमें भूमीपर (**यानि नगेषु दिक्षु**) जो पर्वतोंपर तथा दिशाओंमें है। (**चन्द्रमा यानि प्रकल्पयन् एति**) चन्द्रमा जिनका भोग करता हुआ जाता है। (**सर्वाणि एतानि मम शिवानि सन्तु**) सब ये नक्षत्र मेरे लिये कल्याणकारी हों ॥ १ ॥

(**अष्टाविंशानि**) अठाईस नक्षत्र (**शिवानि शग्मानि**) कल्याण और सुखदायी हों। (**मे सह योगं भजन्तु**) मेरे साथ योग प्राप्त करे। (**योगं प्र पद्ये**) योग प्राप्त हो, (**क्षेमं प्र पद्ये**) क्षेम प्राप्त हो। (**क्षेमं च प्र पद्ये योगं च**) क्षेम और योग प्राप्त हो। (**अहोरात्राभ्यां नमः अस्तु**) दिन और रात्रीके लिये मैं नमन करता हूं ॥ २ ॥

(**मे सु-अस्तितं**) मेरे लिये अस्तकाल कल्याण करनेवाला हो, (**सुप्रातः**) सुखदायी प्रातःकाल हो, (**सुसायं**) सायंकाल सुखदायी हो। (**सुदिवं**) दिन सुखदायी हो, (**सुमृगं**) पशु सुखकारक हों, (**सुशकुनं मे अस्तु**) पक्षी सुखदायी हों। हे अग्ने! (**सुहवं स्वस्ति**) प्रार्थना सुखदायक हो। (**अमर्त्यं गत्वा**) अमरत्वको प्राप्त होकर तू (**पुनः अभिनन्दन्**) पुनः सबको प्रसन्न करता हुआ (**आ अय**) आओ ॥ ३ ॥

हे (**सवितः**) सविता- सर्व प्रेरक प्रभो! (**अनुहवं**) स्पर्धा, (**परिहवं**) संघर्ष, (**परिवादं**) निंदा, (**परिक्षवं**) घृणा या छींक आदि, (**सर्वैः मे रिक्त कुंभान्**) सबके साथ मेरे खाली घडे (**तान् परा सुव**) इन सबको दूर कर ॥ ४ ॥

अपपापं परिक्षवं पुण्यं भक्षीमहि क्षवम् ।
शिवा ते पाप नासिकां पुण्यगश्चाभि मेहताम् ॥५॥
इमा या ब्रह्मणस्पते विषूचीर्वात ईरते। सध्रीचीरिन्द्र ताः कृत्वा मह्यं शिवतमास्कृधि ॥६॥
स्वस्ति नो अस्त्वभयं नो अस्तु नमोऽहोरात्राभ्यामस्तु ॥ ७ ॥ (६५)

(९) शान्तिः।

(ऋषिः — ब्रह्मा (शन्तातिः ?) । देवता — शान्तिः, बहुदैवत्यम् ।)

शान्ता द्यौः शान्ता पृथिवी शान्तमिदमुर्व१न्तरिक्षम् ।
शान्ता उदन्वतीरापः शान्ता नः सन्त्वोषधीः ॥ १ ॥
शान्तानि पूर्वरूपाणि शान्तं नो अस्तु कृताकृतम् ।
शान्तं भूतं च भव्यं च सर्वमेव शमस्तु नः ॥ २ ॥
इयं या परमेष्ठिनी वाग्देवी ब्रह्मसंशिता । ययैव ससृजे घोरं तयैव शान्तिरस्तु नः ॥ ३ ॥
इदं यत्परमेष्ठिनं मनो वां ब्रह्मसंशितम् । येनैव ससृजे घोरं तेनैव शान्तिरस्तु नः ॥ ४ ॥

अर्थ — (**अपपापं परिक्षवं**) पाप और छींक दूर हों । (**पुण्यं क्षवं भक्षीमहि**) पुण्यकारक अन्न हम भक्षण करेंगे। हे पाप ! (**शिवा पुण्यगः च**) कल्याण करनेवाली और पुण्य मार्गसे जानेवाली (**ते नासिकां अभि मेहतां**) तेरी नाक पर मूत्र करें। तेरा अपमान करें ॥ ५ ॥

शिवा — कल्याण करनेवाली, भालु ।

हे (**ब्रह्मणस्पते**) हे ज्ञानपते ! (**इमाः याः विषूचीः**) इन नाना दिशाओंमें (**वातः ईरते**) वायु चलता है, हे इन्द्र ! (**ताः सध्रीचीः कृत्वा**) उनको योग्य मार्गसे चलनेवाले करके (**मह्यं शिवतमाः कृधि**) मेरे लिये सुखदायी कर ॥ ६ ॥

(**नः स्वस्ति अस्तु**) हमारा कल्याण हो, (**नः अभयं अस्तु**) हमें निर्भयता प्राप्त हो। (**अहोरात्राभ्यां नमः अस्तु**) दिन रात्रीके लिये नमस्कार हो ॥ ७ ॥

(९) शान्तिः।

(**द्यौः शान्ता**) द्युलोक शान्ति देवे। (**पृथिवी शान्ता**) पृथिवी शान्ति देवे। (**इदं उरु अन्तरिक्षं शान्तं**) यह बडा अन्तरिक्ष शान्तिकारक हो। (**उदन्वतीः आपः शान्ताः**) उछलनेवाले जल शान्ति देवे। (**ओषधीः नः शान्ता सन्तु**) औषधियां हमारे लिये शान्ति देनेवाली हों ॥ १ ॥

(**पूर्वरूपाणि शान्तानि**) पूर्व समयके रूप शान्ति देवें। (**नः कृत-अकृतं शान्तं अस्तु**) हमने किये या न किये कार्य हमारे लिये शान्ति देनेवाले हों। (**भूतं भव्यं च शान्तं**) भूत और भविष्य शान्तिकारक हों (**सर्वं एव नः शं अस्तु**) सब हमारे लिये शान्ति देनेवाली हो ॥ २ ॥

(**इयं या परमेष्ठिनी**) यह जो परमस्थानमें स्थित (**ब्रह्मसंशिता वाक् देवी**) ज्ञानसे तेजस्वी बनी वाचा देवी है (**यया घोरं एव ससृजे**) जिससे भयंकर कार्य होते हैं (**तया एव नः शान्तिः अस्तु**) उससे हमें शान्ति प्राप्त हो ॥ ३ ॥

(**इदं यत् परमेष्ठिनं**) यह जो परमस्थानमें स्थित (**वां ब्रह्मसंशितं मनः**) आप दोनोंका ज्ञानसे तेजस्वी बना मन है, जिससे घोर परिणाम होता है, वह हमारे लिये शान्ति देवे ॥ ४ ॥

इमानि यानि पञ्चेन्द्रियाणि मनःषष्ठानि मे हृदि ब्रह्मणा संशितानि ।
यैरेव ससृजे घोरं तैरेव शान्तिरस्तु नः ॥ ५ ॥
शं नो मित्रः शं वरुणः शं विष्णुः शं प्रजापतिः ।
शं न इन्द्रो बृहस्पतिः शं नो भवत्वर्यमा ॥ ६ ॥
शं नो मित्रः शं वरुणः शं विवस्वांछमन्तकः ।
उत्पाताः पार्थिवान्तरिक्षाः शं नो दिविचरा ग्रहाः ॥ ७ ॥
शं नो भूमिर्वेप्यमाना शमुल्का निर्हतं च यत् ।
शं गावो लोहितक्षीराः शं भूमिरव तीर्यतीः ॥ ८ ॥
नक्षत्रमुल्काभिहतं शमस्तु नः शं नोऽभिचाराः शमु सन्तु कृत्याः ।
शं नो निखाता वल्गाः शमुल्का देशोपसर्गाः शमु नो भवन्तु ॥ ९ ॥
शं नो ग्रहाश्चान्द्रमसाः शमादित्यश्च राहुणा ।
शं नो मृत्युर्धूमकेतुः शं रुद्रास्तिग्मतेजसः ॥१०॥
शं रुद्राः शं वसवः शमादित्याः शमग्नयः ।
शं नो महर्षयो देवाः शं देवाः शं बृहस्पतिः ॥११॥

अर्थ— (इमानि यानि पञ्च इंद्रियाणि) जो ये हमारे पांच इन्द्रिय हैं, (मनःषष्ठानि) मन जिनमें छठा है (ब्रह्मणा संशितानि मे हृदि) ज्ञानसे तेजस्वी बने मेरे हृदयमें रहते हैं। जिनसे भयंकर कर्म होते हैं, उनसे हमें शान्ति प्राप्त हो ॥ ५ ॥

मित्र हमारे लिये सुखदायी हो, वरुण हमें सुखदायक हो, विष्णु और प्रजापति हमें सुखदायी हों, इन्द्र, बृहस्पति और अर्यमा हमें शान्ति देनेवाला हो ॥ ६ ॥

मित्र हमारे लिये शान्ति दे। वरुण हमें शान्ति दे, (विवस्वान् अन्तकः शं) विवस्वान् हमें शान्ति दें, और अन्त करनेवाला देव हमें शान्ति दें। (पार्थिवा अन्तरिक्षाः उत्पाताः) पृथिवी और अन्तरिक्षमें होनेवाले उत्पात और (दिविचराः ग्रहाः नः शं) द्युलोकमें संचार करनेवाले ग्रह हमें शान्ति देवें ॥ ७ ॥

(वेप्यमाना भूमिः नः शं) भूचाल होनेवाली भूमि हमें शान्ति दे, (उल्का शं) उल्का शान्ति देवें (यत् निर्हतं) जो पृथिवीपर गिरा है वह भी शान्तिकारक हो। (लोहित-क्षीराः गावः शं) रक्तके समान दूध देनेवाली गौवें भी हमें शान्ति देवें। (अवतीर्यतीः भूमिः शं) फट जानेवाली भूमि भी शान्ति देनेवाली हो ॥ ८ ॥

(उल्काभिहतं नक्षत्रं नः शं अस्तु) उल्कासे फेंका गया नक्षत्र हमें शान्ति देवे। (अभिचाराः नः शं) शत्रुका आक्रमण भी हमें शान्ति देनेवाला हो, (कृत्याः शं उ सन्तु) घातक क्रियाएं भी शान्ति देनेवाली हों। (निखाताः नः शं) गढे हमारे लिये शान्ति दें। (वल्गाः शं) हिंसाके कार्य हमें शान्ति दें। (देशोपसर्गाः उल्का नः उ शं भवन्तु) देशमें उपसर्ग पहुंचानेवाले उल्का आदि हमें शान्ति दें ॥ ९ ॥

(चान्द्रमसाः ग्रहाः नः शं) चंद्रमा संबंधी ग्रह हमें शान्ति देवें। (राहुणा आदित्यः शं) राहुके साथ सूर्य हमें शान्ति देवे ! (धूमकेतुः मृत्युः नः शं) धूमकेतु मृत्यु हमें शान्ति देनेवाला हो, (तिग्मतेजसः रुद्राः शं) तीक्ष्ण तेजवाले रुद्र हमें शान्ति देवें ॥ १० ॥

(रुद्राः शं) रुद्र हमें शान्ति दें। (वसवः शं) वसु हमें शान्ति दें। (आदित्याः शं) आदित्य हमें शान्ति दें। (अग्नयः शं) अग्नि हमें शान्ति दें। (देवाः महर्षयः नः शं) देव और महर्षि हमें शान्ति दें। (देवाः शं) देव हमें शान्ति दें। (बृहस्पतिः शं) बृहस्पति हमें शान्ति दे ॥ ११ ॥

ब्रह्म प्रजापतिर्धाता लोका वेदाः सप्तऋषयोऽग्नयः ।
तैर्मे कृतं स्वस्त्ययनमिन्द्रो मे शर्म यच्छतु ब्रह्मा मे शर्म यच्छतु ।
विश्वे मे देवाः शर्म यच्छन्तु सर्वे मे देवाः शर्म यच्छन्तु ॥१२॥
यानि कानि चिच्छान्तानि लोके सप्तऋषयो विदुः ।
सर्वाणि शं भवन्तु मे शं मे अस्त्वभयं मे अस्तु ॥१३॥
पृथिवी शान्तिरन्तरिक्षं शान्तिर्द्यौः शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिर्वनस्पतयः
शान्तिर्विश्वे मे देवाः शान्तिः सर्वे मे देवाः शान्तिः शान्तिः शान्तिः शान्तिभिः ।
ताभिः शान्तिभिः सर्वशान्तिभिः शमयामोऽहं यदिह घोरं यदिह क्रूरं
यदिह पापं तच्छान्तं तच्छिवं सर्वमेव शमस्तु नः ॥ १४॥ (५९)

॥ इति प्रथमोऽनुवाकः ॥ १ ॥

अर्थ— ब्रह्म, प्रजापति, धाता, (**लोकाः**) सब लोक, (**वेदाः**) ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद ये चार वेद, सप्त ऋषि, अग्नि (**तैः मे स्वस्त्ययनं कृतं**) इन सबने मेरा स्वस्त्ययन अर्थात् सुखदायक मार्ग किया है। (**इन्द्रः मे शर्म यच्छतु**) इन्द्र मुझे सुख देवे । (**ब्रह्मा मे शर्म यच्छतु**) ब्रह्मा मुझे सुख देवे । (**विश्वे देवाः मे शर्म यच्छन्तु**) सब देव मुझे सुख देवें । (**सर्वे देवाः मे शर्म यच्छन्तु**) सब देव मुझे सुख देवें ॥ १२ ॥

(**यानि कानि चित् शान्तानि**) जो कुछ शान्तिदायक हैं, ऐसा (**लोके सप्तऋषयः विदुः**) लोकमें सप्त ऋषि जानते हैं, (**सर्वाणि मे शं भवन्तु**) वे सब मेरे लिये सुखशान्तिदायक हों, (**मे शं अस्तु**) मेरे लिये शान्ति हो, (**मे अभयं अस्तु**) मेरे लिये निर्भयता हो ॥ १३ ॥

पृथिवी शान्ति देवे, अन्तरिक्ष शान्ति देवे, द्युलोक शान्ति देवे, (**आपः**) जल शान्ति देवे, (**ओषधयः वनस्पतयः**) औषधि-वनस्पतियां शान्ति देवे, सब देव शान्ति दें (**सर्वे देवाः मे शान्ति**) सब देव मेरे लिये शान्ति देवें । (**शान्तिः शान्तिः शान्तिभिः**) शान्तियोंके साथ शान्ति सभी शान्ति हो । (**ताभिः शान्तिभिः सर्व शान्तिभिः अहं शं अयामः**) उन शान्ति पूर्ण सब शान्तियोंसे हम शान्तिको प्राप्त हों । (**यत् इह घोरं**) जो यहां घोर है, (**यत् इह क्रूरं**) जो यहां क्रूर है, (**यत् इह पापं**) जो यहां पापमय है, (**तत् शान्तं**) वह शान्त हो, (**तत् शिवं**) वह कल्याणकारी हो, (**नः सर्वं एव शं अस्तु**) हमें सब शान्तिदायक हो ॥ १४ ॥

॥ यहां प्रथम अनुवाक समाप्त ॥

शं न इन्द्रो वसुभिर्देवो अस्तु शमादित्येभिर्वरुणः सुशंसः ।
शं नो रुद्रो रुद्रेभिर्जलाषः शं नस्त्वष्टा ग्नाभिरिह शृणोतु ॥ ६ ॥
शं नः सोमो भवतु ब्रह्म शं नः शं नो ग्रावाणः शमु सन्तु यज्ञाः ।
शं नः स्वरूणां मितयो भवन्तु शं नः प्रस्वः शम्वस्तु वेदिः ॥ ७ ॥
शं नः सूर्य उरुचक्षा उदेतु शं नो भवन्तु प्रदिशश्चतस्रः ।
शं नः पर्वता ध्रुवयो भवन्तु शं नः सिन्धवः शमु सन्त्वापः ॥ ८ ॥
शं नो अदितिर्भवतु व्रतेभिः शं नो भवन्तु मरुतः स्वर्काः ।
शं नो विष्णुः शमु पूषा नो अस्तु शं नो भवित्रं शम्वस्तु वायुः ॥ ९ ॥
शं नो देवः सविता त्रायमाणः शं नो भवन्तूषसो विभातीः ।
शं नः पर्जन्यो भवतु प्रजाभ्यः शं नः क्षेत्रस्य पतिरस्तु शंभुः ॥१०॥ (६९)

अर्थ— (**वसुभिः देवः इन्द्रः नः शं अस्तु**) वसुओंके साथ इन्द्र देव हमारे लिये शान्तिदाता हो। (**आदित्येभिः सुशंसः वरुणः शं**) आदित्योंके साथ प्रशंसनीय वरुण हमें शान्ति देवे। (**रुद्रेभिः जलाषः रुद्रः नः शं**) रुद्रोंके साथ जलरूपी रुद्र हमें शान्ति देवे। (**ग्नाभिः त्वष्टा इह नः शं शृणोतु**) शक्तियोंके साथ त्वष्टा यहां हमें शान्तिसे सुने ॥ ६ ॥

(**सोमः नः शं भवतु**) सोम हमारे लिये शान्तिदायक हो। (**ब्रह्म नः शं**) ब्रह्म हमारे लिये शान्ति देवे (**ग्रावाणः नः शं**) पत्थर हमारे लिये शान्ति दें। (**यज्ञाः नः शं सन्तु**) यज्ञ हमारे लिये शान्ति दें। (**स्वरूणां मितयः नः शं**) यूपोंकी स्थितियां हमारे लिये शान्ति दें। (**प्रस्वः नः शं**) उत्पन्न होनेवाले पदार्थ हमें शान्ति दें। (**वेदिः शं अस्तु**) वेदि हमें शान्ति देवे ॥ ७ ॥

(**उरुचक्षाः सूर्यः नः शं उदेतु**) विशेष प्रकाशवाला सूर्य हमारे लिये शान्ति देता हुआ उदित हो। (**चतस्रः प्रदिशः नः शं भवन्तु**) चारों दिशाएं हमारे लिये सुखदायिनी हों। (**ध्रुवयः पर्वताः नः शं भवन्तु**) स्थिर पर्वत हमें शान्ति दें। (**सिन्धवः नः शं**) नदियां हमें सुखदायी हों (**आपः उ शं सन्तु**) जल हमारे लिये शान्ति देवे ॥ ८ ॥

(**अदितिः व्रतेभिः नः शं भवन्तु**) पृथिवी अपने अनेक व्रतोंसे हमें शान्ति देनेवाली हो। (**स्वर्काः मरुतः नः शं भवन्तु**) उत्तम गतिवाले वायु हमारे लिये शान्ति दें। (**विष्णुः नः शं**) विष्णु हमें शान्ति देवे, (**पूषा नः शं अस्तु**) पूषा हमें शान्ति देवे। (**भवित्रं नः शं अस्तु**) उत्पत्ति स्थान हमें शान्ति देनेवाला हो। (**वायुः शं उ अस्तु**) वायु शान्ति देनेवाला हो ॥ ९ ॥

(**त्रायमाणः सविता देवः नः शं**) रक्षण करनेवाला सविता देव हमें शान्ति देवे। (**विभातीः उषसः नः शं भवन्तु**) तेजस्वी उषाएं हमें शान्तिदायक हों। (**पर्जन्यः नः प्रजाभ्यः शं भवतु**) पर्जन्य हमारी प्रजाओंके लिये शान्ति देनेवाला हो, (**शंभुः क्षेत्रस्य पतिः नः शं अस्तु**) सुखदायक क्षेत्रका पति हमें शान्ति देनेवाला हो ॥ १० ॥

(११) शान्तिः।

(ऋषिः — वसिष्ठः। देवता — बहुदैवत्यम्।)

शं नः सत्यस्य पतयो भवन्तु शं नो अर्वन्तः शमु सन्तु गावः।
शं न ऋभवः सुकृतः सुहस्ताः शं नो भवन्तु पितरो हवेषु ॥ १ ॥
शं नो देवा विश्वदेवा भवन्तु शं सरस्वती सह धीभिरस्तु।
शमभिषाचः शमु रातिषाचः शं नो दिव्याः पार्थिवाः शं नो अप्याः ॥ २ ॥
शं नो अज एकपाद्देवो अस्तु शमहिर्बुध्न्यः१ः शं समुद्रः।
शं नो अपां नपात्पेरुरस्तु शं नः पृश्निर्भवतु देवगोपा ॥ ३ ॥
आदित्या रुद्रा वसवो जुषन्तामिदं ब्रह्म क्रियमाणं नवीयः।
शृण्वन्तु नो दिव्याः पार्थिवासो गोजाता उत ये यज्ञियासः ॥ ४ ॥
ये देवानामृत्विजो यज्ञियासो मनोर्यजत्रा अमृता ऋतज्ञाः।
ते नो रासन्तामुरुगायमद्य यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ ५ ॥
तदस्तु मित्रावरुणा तदग्ने शं योरस्मभ्यमिदमस्तु शस्तम्।
अशीमहि गाधमुत प्रतिष्ठां नमो दिवे बृहते सादनाय ॥ ६ ॥ (७५)

---

(११) शान्तिः।

अर्थ—(सत्यस्य पतयः नः शं भवन्तु) सत्यके पालक हमें शान्ति देनेवाला हों। **(अर्वन्तः नः शं)** घोडे हमें शान्ति दें, **(गावः शं उ सन्तु)** गौवें शान्तिदायक हों। **(सुकृतः सुहस्ताः ऋभवः नः शं)** उत्तम काम करनेवाले कुशल कारीगर हमें शान्तिदायक हों। **(पितरः हवेषु नः शं भवन्तु)** पितर प्रार्थनाके समय हमें शान्ति देनेवाले हों ॥ १ ॥

(विश्वदेवाः देवाः नः शं भवन्तु) सर्व देव हमें शान्ति देनेवाले हों। **(धीभिः सह सरस्वती शं अस्तु)** बुद्धियोंके साथ सरस्वती हमें शान्ति देनेवाली हो। **(अभिषाचः शं)** चारों ओरसे आनेवाले सुखदायक हों, **(रातिषाचः शं उ)** दान देनेके लिये आनेवाले शान्तिदायक हों। **(दिव्याः नः शं)** द्युलोकमें रहनेवाले हमें शान्ति दें, **(पार्थिवाः अप्याः नः शं)** पृथिवीपर होनेवाले, जलमें होनेवाले हमें शान्ति देनेवाले हों ॥ २ ॥

(अज एकपाद् देवः नः शं अस्तु) अजन्मा एकपाद् देव हमें शान्ति देवे। **(बुध्न्यः अहिः शं)** जलमें रहनेवाला अहि शान्ति देवे। **(समुद्रः शं)** समुद्र शान्ति देवे। **(पेरुः अपां नपात् नः शं अस्तु)** दुःखोंसे पार करनेवाला, जलोंको न गिरानेवाला देव हमें शान्ति देवे। **(देवगोपा पृश्निः नः शं भवतु)** देवोंके द्वारा सुरक्षित पृथिवी हमें शान्ति देनेवाली हो ॥ ३ ॥

(इदं नवीयः क्रियमाणं ब्रह्म) यह नवीन किया स्तोत्र आदित्य, रुद्र और वसु सेवन करें। **(दिव्याः पार्थिवासः)** जो द्युलोकमें, जो पृथ्वीपर **(गोजाताः)** जो गौमें उत्पन्न और **(उत ये यज्ञियाः)** जो यज्ञके लिये योग्य हैं वे सब **(नः शृण्वन्तु)** हमारी प्रार्थना सुनें ॥ ४ ॥

(ये देवानां यज्ञियासः ऋत्विजः) जो देवोंके यज्ञके योग्य ऋत्विज हैं, **(मनोः अमृताः ऋतज्ञाः यजत्राः)** मननशीलके अमर सत्यज्ञानी याजक हैं **(ते अद्य नः उरुगायं रासन्तां)** वे आज हमें विशेष उपदेश दें। **(यूयं स्वस्तिभिः सदा नः पात)** तुम कल्याणोंके साथ सदा हमारी रक्षा करो ॥ ५ ॥

हे मित्र और वरुण! हे अग्ने! **(तत् अस्तु)** वह सब हमें शान्तिदायक हों। **(शं योः अस्मभ्यं इदं शस्तं अस्तु)** सुख प्राप्ति और दुःख दूर होना यह सब हमारे लिये प्रशस्त रीतिसे प्राप्त हो। **(गाधं उत प्रतिष्ठां अशीमहि)** ऐश्वर्य और प्रतिष्ठा हमें प्राप्त हो। **(बृहते सादनाय दिवे नमः)** बडे आश्रय स्थानरूप द्युलोकके लिये नमस्कार करते हैं ॥ ६ ॥

(१२) शान्तिः ।

(ऋषिः — वसिष्ठः । देवता — उषा ।)

उषा अप स्वसुस्तमः सं वर्तयति वर्तनिं सुजातता ।
अया वाजं देवहितं सनेम मदेम शतहिमाः सुवीराः ॥ १ ॥ (७६)

(१३) एकवीरः ।

(ऋषिः — अप्रतिरथः । देवता — इन्द्रः ।)

इन्द्रस्य बाहू स्थविरौ वृषाणौ चित्रा इमा वृषभौ पारयिष्णू ।
तौ योक्षे प्रथमो योग आगते याभ्यां जितमसुराणां स्वर्यत् ॥ १ ॥

आशुः शिशानो वृषभो न भीमो घनाघनः क्षोभणश्चर्षणीनाम् ।
संक्रन्दनोऽनिमिष एकवीरः शतं सेना अजयत्साकमिन्द्रः ॥ २ ॥

संक्रन्दनेनानिमिषेण जिष्णुनाऽयोध्येन दुश्च्यवनेन धृष्णुना ।
तदिन्द्रेण जयत तत्सहध्वं युधो नर इषुहस्तेन वृष्णा ॥ ३ ॥

---

(१२) उषा ।

अर्थ— (**उषा**) उषा (**सुजातता**) उत्तम रीतिसे उत्पन्न होनेके कारण (**वर्तनिं सं वर्तयति**) मार्गको सम्यक् रीतिसे दर्शाती है और (**स्वसुः तमः अप**) अपनी बहिन रात्रीके अन्धकारको दूर करती है। (**अया देवहितं वाजं सनेम**) इस उषासे हम देवोंके लिये हितकारक बल प्राप्त करेंगे। (**सुवीराः शतहिमाः मदेम**) उत्तम वीर संतानोंसे युक्त होकर सौ हिमकालतक आनन्द प्रसन्न रहेंगे।

(१३) एकवीरः ।

(**इन्द्रस्य बाहू**) इन्द्रके बाहु (**स्थविरौ वृषाणौ**) स्थिर और बलवान्, (**चित्रा इमा वृषभौ**) विलक्षण तथा दुःखोंसे पार करनेवाले (**योगे आगते**) समय आनेपर (**प्रथमः तौ योक्षे**) पहिले मैं उनको जोडता हूं। (**याभ्यां जितं यत् असु-राणां स्वः**) जिनकी सहायतासे जीत लिया जो प्राण अर्पण करनेवालोंका जो स्वर्ग है ॥ १ ॥

इन्द्र (**आशुः**) शीघ्र कार्य करनेवाला, (**शिशानः**) तीक्ष्ण, (**वृषभः न भीमः**) बैलके समान भयंकर (**घना-घनः**) शत्रुको मारनेवाला, (**चर्षणीनां क्षोभणः**) मनुष्योंकी हलचल करनेवाला, (**संक्रन्दनः अनिमिषः**) ललकारनेवाला और आंखोंकी पलकें भी न झपकनेवाला अर्थात सतत कार्यकर्ता (**एकवीरः इन्द्रः**) अद्वितीय वीर इन्द्रने (**साकं शतं सेनाः अजयत्**) साथ सैंकडों शत्रुसेनाको जीत लिया ॥ २ ॥

(**संक्रन्दनेन**) ललकारनेवाले (**अनिमिषेण जिष्णुना**) निमेषरहित आलस्यरहित, जयशील, (**अयोध्येन**) युद्ध करनेके लिये जिसके साथ अशक्य है, (**दुश्च्यवनेन धृष्णुना**) स्थानभ्रष्ट करनेके लिये अशक्य और शत्रुओंका धर्षण करने-वाले (**इषुहस्तेन वृष्णा**) बाण हाथमें धरनेवाले बलवान् (**इन्द्रेण**) इन्द्रकी सहायतासे, हे (**युधः नरः**) युद्ध करनेवाले वीर नेताओ ! (**तत् जयत**) उस अभिलषितको जीतो। (**तत् सहध्वं**) उस शत्रुको परास्त करो ॥ ३ ॥

स इषुहस्तैः न निषङ्गिभिर्वशी संस्रष्टा स युध इन्द्रो गणेन ।
संसृष्टजित्सोमपा बाहुशर्ध्यु१ग्रधन्वा प्रतिहिताभिरस्ता ॥ ४ ॥
बलविज्ञायः स्थविरः प्रवीरः सहस्वान्वाजी सहमान उग्रः ।
अभिवीरो अभिषत्वा सहोजिज्जैत्रमिन्द्र रथमा तिष्ठ गोविदन् ॥ ५ ॥
इमं वीरमनु हर्षध्वमुग्रमिन्द्रं सखायो अनु सं रभध्वम् ।
ग्रामजितं गोजितं वज्रबाहुं जयन्तमज्म प्रमृणन्तमोजसा ॥ ६ ॥
अभि गोत्राणि सहसा गाहमानोऽदाय उग्रः शतमन्युरिन्द्रः ।
दुश्च्यवनः पृतनाषाडयोध्योऽस्माकं सेना अवतु प्र युत्सु ॥ ७ ॥
बृहस्पते परि दीया रथेन रक्षोहामित्राँ अपबाधमानः ।
प्रभञ्जञ्छत्रून्प्रमृणन्नमित्रानस्माकमेध्यविता तनूनाम् ॥ ८ ॥
इन्द्र एषां नेता बृहस्पतिर्दक्षिणा यज्ञः पुर एतु सोमः ।
देवसेनानामभिभञ्जतीनां जयन्तीनां मरुतो यन्तु मध्ये ॥ ९ ॥

अर्थ— **(स इषु हस्तैः)** वह बाण हाथमें धरनेवाले वीरोंके साथ, **(सः निषङ्गिभिः)** वह तर्कशवाले वीरोंके साथ रहनेवाला **(वशी)** वशमें रखनेवाला, **(युधः संस्रष्टा सः)** युद्धोंको करनेवाला, **(गणेन इन्द्रः)** समूहोंके साथ वह इन्द्र **(संसृष्टजित्)** सेनाको जीतनेवाला, **(सोमपाः)** सोमरस पीनेवाला, **(बाहुशर्धी)** बाहुबलसे युक्त **(उग्रधन्वा)** भयंकर धनुष्य धरनेवाला **(प्रतिहिताभिः अस्ता)** शत्रुसेनाके भेजे शस्त्रोंको तितर बितर करनेवाला वीर है ॥ ४ ॥

(बलविज्ञायः) अपने और शत्रुके बलको जाननेवाला, **(स्थविरः)** युद्धमें स्थिर रहनेवाला, **(प्रवीरः)** उत्तम वीर, **(सहस्वान्)** बलवान्, **(वाजी)** शक्तिमान् **(सहमानः उग्रः)** शत्रुको दबानेवाला उग्र वीर **(अभिवीरः)** जिसके चारों ओर वीर रहते हैं **(अभि-सत्वा)** चारों ओर बलवान् वीरोंसे युक्त **(सहोजित्)** बलोंसे शत्रुको जीतनेवाला तू है। हे इन्द्र ! हे **(गो-विदन्)** भूमिको अपने वशमें रखनेवाले वीर ! **(जैत्रं रथं आ तिष्ठ)** विजयी रथपर बैठ ॥ ५ ॥

हे **(सखायः)** मित्रो ! **(इमं उग्रं वीरं इन्द्रं)** इस उग्रवीर इन्द्रको **(अनु हर्षध्वं)** आनंदित करो और **(अनु सं रभध्वं)** उनके अनुकूल प्रयत्न करो। वह **(ग्रामजितं)** शत्रुके ग्रामोंको जीतनेवाला, **(गोजितं)** गौओंको जीतनेवाला, **(वज्रबाहुं)** वज्रके समान बाहुवाला, **(अज्म जयन्तं)** युद्ध जीतनेवाला **(ओजसा प्रमृणन्तं)** और वेगसे शत्रुको कुचलनेवाला है ॥ ६ ॥

(गोत्राणि सहसा अभि गाहमानः) गोरक्षक वाडोंको अपने बलसे घेरनेवाला, **(अ-दायः)** शत्रुपर दया न करनेवाला; **(उग्रः शतमन्युः)** उग्रवीर सैंकडों उत्साहोंसे युक्त **(दुश्च्यवनः)** स्थानभ्रष्ट करनेके लिये अशक्य **(पृतनाषाट्)** शत्रुसेनाका पराभव करनेवाला **(अयोध्यः इन्द्रः)** जिसके साथ युद्ध करना अशक्य है ऐसा यह इन्द्र **(युत्सु अस्माकं सेनाः प्र अवतु)** युद्धोंमें हमारी सेनाओंका रक्षण करे ॥ ७ ॥

हे बृहस्पते ! **(अमित्रान् अपबाधमानः)** शत्रुओंको बाधा पहुंचानेवाला **(रक्षो-हा)** राक्षसोंका नाश करता हुआ **(रथेन परि दीयाः)** रथसे शत्रुको घेर। **(शत्रून् प्रभञ्जन्)** शत्रुओंको कुचलता हुआ और **(अमित्रान् प्रमृणन्)** अमित्रोंका नाश करता हुआ और **(अस्माकं तनूनां अविता)** हमारे शरीरोंका रक्षण करता हुआ **(एधि)** आगे बढ ॥ ८ ॥

(इन्द्रः एषां नेता) इन्द्र इनका नेता है, **(बृहस्पतिः दक्षिणा)** बृहस्पति दक्षिण हाथकी ओर रहे, **(यज्ञः सोमः पुरः एतु)** यजनीय सोम आगे चले। **(अभि भञ्जतीनां)** शत्रुको तोडनेवाली, **(जयन्तीनां)** जीतनेवाली **(देवसेनानां)** देवसैन्योंके **(मध्ये)** मध्यमें **(मरुतः अभि यन्तु)** मरुत् आगे बढें ॥ ९ ॥

इन्द्रस्य वृष्णो वरुणस्य राज्ञ आदित्यानां मरुतां शर्ध उग्रम् ।
महामनसां भुवनच्यवानां घोषो देवानां जयतामुदस्थात् ॥१०॥
अस्माकमिन्द्रः समृतेषु ध्वजेष्वस्माकं या इषवस्ता जयन्तु ।
अस्माकं वीरा उत्तरे भवन्त्वस्मान्देवासोऽवता हवेषु ॥११॥ (८७)

अर्थ— (**वृष्णः इन्द्रस्य**) बलवान् इन्द्रका (**वरुणस्य राज्ञः**) वरुण राजाका (**आदित्यानां मरुतां**) आदित्यों और मरुतोंका (**उग्रं शर्धः**) प्रबल सामर्थ्य प्रकट हो रहा है । (**महा-मनसां**) बडे मनवाले (**भुवनच्यवानां देवानां**) भुवनोंको हिलानेवाले देवोंका (**जयतां**) जीतनेके समय (**घोषः उदस्थात्**) घोषका शब्द ऊपर उठ रहा है ॥ १० ॥

(**समृतेषु ध्वजेषु**) ध्वज इकट्ठे होनेपर (**अस्माकं इन्द्रः**) हमारा इन्द्र विजय करे । (**अस्माकं या इषवः ता जयन्तु**) हमारे जो बाण हैं वे जीतें । (**अस्माकं वीरा उत्तरे भवन्तु**) हमारे वीर ऊंचे रहें । (**हवेषु अस्मान् देवासः अवत**) युद्धोंमें हमें देव सुरक्षित रखें ॥ ११ ॥

इस सूक्तमें विजय पानेके लिये क्या करना चाहिये यह उपदेश है । इन्द्रके समान जो बनेंगे वे विजय प्राप्त करेंगे । इस दृष्टिसे इस सूक्तमें इन्द्रके गुणोंका जो वर्णन आया है वह मननपूर्वक देखने योग्य है—

१ **बाहू स्थविरौ वृषाणौ**— बाहू सुदृढ और बलवान् हों।
२ **वृषभौ पारयिष्णू**— सांडके समान बलिष्ठ और दुःखसे छुडानेमें समर्थ ।
३ **असुराणां स्वः जितं**— असुरोंका सर्वस्व जीता । प्राण दान करनेवालोंको प्राप्त होनेवाला स्वर्ग प्राप्त किया ।
४ **आशुः शिशानः**— त्वरासे कार्य करनेवाला और तीक्ष्ण स्वभाव होना,
५ **भीमः घनाघनः**— भयंकर आघात करके शत्रुका नाश करनेवाला,
६ **चर्षणीनां क्षोभणः**— मानवोंकी क्षोभकारक हलचल करनेवाला,
७ **संक्रन्दनः अनिमिषः एकवीरः**— गर्जना करनेवाला, आंखकी पलकें न झपकनेवाला अद्वितीय वीर,
८ **साकं शतं सेना अजयत्**— एक साथ सौ सेनाको जीतनेवाला,
९ **जिष्णुः अयोध्यः दुश्च्यवनः धृष्णुः**— विजयी, जिसके साथ युद्ध करना अशक्य है, जिसको स्थानसे भ्रष्ट करना कठिन है और जो शत्रुको धर्षण करता है ।
१० **इषुहस्तः वृष्णः**— बाण हाथमें धरनेवाला बलवान् वीर,
११ **जयत, सहध्वं**— विजय करो, शत्रुको पराभूत करो ।
१२ **निषङ्गी वशी**— कवचधारी, तर्कशधारी, सबको वशमें रखनेवाला,
१३ **युधः संस्रष्टा**— युद्धोंको सम्यक् रीतिसे करनेवाला,
१४ **संसृष्टजित् बाहुशर्धी**— युद्ध जीतनेवाला, बाहुबल जिसमें विशेष है,
१५ **उग्रधन्वा अस्ता**— उग्र धनुष्य धरनेवाला, शत्रुपर बाण फेंकनेवाला,
१६ **बलविज्ञायः स्थविरः प्रवीरः**— अपने और शत्रुके बलको यथावत् जाननेवाला, युद्धमें स्थिर रहनेवाला, विशेष वीर ।
१७ **सहस्वान् वाजी सहमानः उग्रः**— शत्रुको पराभूत करनेवाला, बलवान्, सामर्थ्यवान्, उग्रवीर,
१८ **अभिवीरः अभि-सत्वा, सहोजित्**— वीरोंके साथ रहनेवाला, बलशाली, अपने बलसे शत्रुको जीतनेवाला,
१९ **जैत्रं रथं आ तिष्ठ**— विजयी रथपर चढ ।
२० **वीरं अनु हर्षध्वं**— वीरका उत्साह बढाओ ।
२१ **उग्रं अनु सं रभध्वं**— उग्र वीरको प्रोत्साहन दो ।
२२ **ग्रामजितं गोजितं**— ग्रामको जीतनेवाला, गौओंको जीतनेवाला,
२३ **वज्रबाहुं जयन्तं**— वज्रके समान बाहुवाला, विजयी वीर,
२४ **ओजसा प्रमृणन्तं**— बलसे शत्रुको नष्ट करनेवाले,
२५ **गोत्राणि सहसा गाहमानः**— गोरक्षणके स्थान बलसे प्राप्त करनेवाला,
२६ **शतमन्युः**— सैकडों प्रकारसे शत्रुपर क्रोध करनेवाला,
२७ **दुश्च्यवनः पृतनाषाड् अयोध्यः**— स्थानभ्रष्ट करनेके लिये अशक्य, शत्रुसेनाको जीतनेवाला, जिसके साथ युद्ध करना असंभव है ।

(१४) अभयम्।

(ऋषिः— अथर्वा। देवता— द्यावापृथिवी।)

इदमुच्छ्रेयोऽवसानमागां शिवे मे द्यावापृथिवी अभूताम्।
असपत्नाः प्रदिशो मे भवन्तु न वै त्वा द्विष्मो अभयं नो अस्तु ॥ १ ॥ (८८)

(१५) अभयम्।

(ऋषिः— अथर्वा। देवता— इन्द्रः, मन्त्रोक्ताः।)

यत इन्द्र भयामहे ततो नो अभयं कृधि।
मघवं छग्धि तव त्वं न ऊतिभिर्वि द्विषो वि मृधो जहि ॥ १ ॥
इन्द्रं वयमनूराधं हवामहेऽनु राध्यास्म द्विपदा चतुष्पदा।
मा नः सेना अररुषीरुप गुर्विषूचीरिन्द्र द्रुहो वि नाशय ॥ २ ॥

---

२८ युत्सु अस्माकं सेनाः अवतु— युद्धोंमें हमारी सेनाओंका रक्षण करे।
२९ रक्षोहा, अमित्रान् अपबाधमानः— राक्षसोंका नाशक, शत्रुओंको बाधा पहुंचानेवाला।
३० शत्रून् प्रभञ्जन्, अमित्रान् प्रमृणन्— शत्रुओंका नाश करके दुष्टोंको कुचलनेवाला,
३१ अस्माकं तनूनां अविता— हमारे शरीरोंका रक्षक
३२ अभिभञ्जतीनां जयतीनां देवसेनानां— शत्रुका विनाश करके जय पानेवाली देवसेना।
३३ महामनसां भुवनच्यवानां जयतां देवानां घोषः उदस्थात्— बडे मनवाले, भुवनोंको हिलानेवाले, जय करनेवाले देवोंका जयघोष हो रहा है।
३४ अस्माकं इषवः जयन्तु— हमारे बाण जय प्राप्त करें।
३५ अस्माकं वीरा उत्तरे भवन्तु— हमारे वीर ऊंचे हों,
३६ अस्मान् देवासः हवेषु अवत— हमें देव युद्धोंमें सुरक्षित रखे।

ये वचन विचारमें लेनेसे पता लग सकता है कि किन गुणोंसे जय होता है। इनके विरुद्ध दुर्गुणोंसे पराभव होता है।

---

(१४) अभयम्।

अर्थ— (इदं श्रेयः अवसानं उत् अगाम्) इस श्रेयके लक्ष्यतक मैं पहुंच गया हूं। **(द्यावा-पृथिवी मे शिवे अभूतां)** द्युलोक और भूलोक मेरे लिये सुख देनेवाले हों। **(प्रदिशः मे असपत्नाः भवन्तु)** दिशायें मेरे लिये शत्रुरहित हों। **(त्वा न द्विष्मः वै)** तेरा हम द्वेष नहीं करते। **(नः अभयं अस्तु)** हमारे लिये अभय हो ॥ १ ॥

' न वै त्वा द्विष्मः '— हम तेरा द्वेष नहीं करते। यह वचन मुख्य है। हम स्वयं किसीका द्वेष नहीं करेंगे। पर दूसरे द्वेष करने लगे, तो हम उनको रहने नहीं देंगे। क्योंकि चारों दिशाओंमें निर्भयता और शान्ति स्थापन करना है।

(१५) अभयम्।

(हे इन्द्र) हे इन्द्र! **(यतः भयामहे)** जहांसे हमें भय होता है **(ततः)** वहांसे **(नः अभयं कृधि)** हमें निर्भय कर। हे **(मघवन्)** इन्द्र! **(त्वं शग्धि)** ऐसा करनेमें तू समर्थ है। **(त्वं तव ऊतिभिः)** तू अपने रक्षण सामर्थ्योंसे **(द्विषः वि जहि)** द्वेष करनेवालोंको जीत और **(मृधः वि जहि)** हिंसकोंका नाश कर ॥ १ ॥

(वयं अनुराधं इन्द्रं हवामहे) हम अनुकूल सिद्धि करनेवाले इन्द्रकी स्तुति करते हैं। **(द्विपदा चतुष्पदा अनु राध्यास्मः)** दो पांववालों और चार पांववालोंसे हम अनुकूल सिद्धि प्राप्त करें। हे इन्द्र! **(अररुषी सेनाः नः मा अप गुः)** अनुदार सेनाएं हमारे पास न आ जांय। **(विषूचीः द्रुहः वि नाशय)** सब द्रोहियोंकी सेनाओंका नाश कर ॥ २ ॥

इन्द्रस्त्रातोत वृत्रहा परस्फानो वरेण्यः ।
स रक्षिता चरमतः स मध्यतः स पश्चात्स पुरस्तान्नो अस्तु ॥ ३ ॥
उरुं नो लोकमनु नेषि विद्वान्त्स्वर्यज्ज्योतिरभयं स्वस्ति ।
उग्रा त इन्द्र स्थविरस्य बाहू उप क्षयेम शरणा बृहन्ता ॥ ४ ॥
अभयं नः करत्यन्तरिक्षमभयं द्यावापृथिवी उभे इमे ।
अभयं पश्चादभयं पुरस्तादुत्तरादधरादभयं नो अस्तु ॥ ५ ॥
अभयं मित्रादभयममित्रादभयं ज्ञातादभयं पुरो यः ।
अभयं नक्तमभयं दिवा नः सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु ॥ ६ ॥ (९४)

(१६) अभयम् ।

(ऋषिः — अथर्वा । देवता — मन्त्रोक्ताः ।)

असपत्नं पुरस्तात्पश्चान्नो अभयं कृतम् । सविता मा दक्षिणत उत्तरान्मा शचीपतिः ॥ १ ॥
दिवो मादित्या रक्षन्तु भूम्या रक्षन्त्वग्नयः ।
इन्द्राग्नी रक्षतां मा पुरस्तादश्विनावभितः शर्म यच्छताम् ।
तिरश्चीनघ्न्या रक्षतु जातवेदा भूतकृतो मे सर्वतः सन्तु वर्म ॥ २ ॥ (९६)

अर्थ— **(इन्द्रः त्राता)** इन्द्र रक्षक है **(उत वृत्रहा)** और वह शत्रुनाशक है । वह **(परस्फानः वरेण्यः)** शत्रुनाशक और सर्व श्रेष्ठ है । **(सः)** वह **(चरमतः स मध्यतः)** अन्तसे, मध्यसे, **(स पश्चात् स पुरस्तात्)** पीछेसे और आगेसे **(नः रक्षिता अस्तु)** हमारा रक्षक हो ॥ ३ ॥

तू विद्वान् हो इसलिये तू **(उरुं लोकं नः अनु नेषि)** हमें विशाल लोकमें ले जा । **(यत् स्वः ज्योतिः)** जहां सुखमय ज्योति है और **(अभयं स्वस्ति)** हमारे लिये निर्भयता और सुख है । हे इन्द्र ! **(ते स्थविरस्य बाहू उग्रा)** तेरे युद्धमें स्थिर रहनेवालेकी दोनों भुजाएं बडी उग्र हैं । **(बृहन्ता शरणा उप क्षयेम)** हम तेरे बडे आश्रयस्थानमें रहेंगे ॥ ४ ॥

(अन्तरिक्षं नः अभयं करति) अन्तरिक्ष हमें निर्भय करे । **(उभे इमे द्यावापृथिवी अभयं)** दोनों ये द्यु और पृथिवी हमें निर्भय करें । **(पश्चात् अभयं, पुरस्तात् अभयं)** पीछेसे और आगेसे अभय हो, **(उत्तरात्, अधरात् नः अभयं अस्तु)** ऊपरसे और नीचेसे हमें अभय हो ॥ ५ ॥

(मित्रात् अभयं अमित्रात् अभयं) मित्रसे और शत्रुसे हमें अभय हो, **(ज्ञातात् अभयं, यः पुरः अभयं)** जाने हुएसे अभय हो, जो आगे है, उससे अभय हो, **(नः अभयं नक्तं अभयं दिवा)** रात्रीमें और दिनमें हमारे लिये अभय हो, **(सर्वाः आशाः मम मित्रं भवन्तु)** सब दिशाएं हमारी मित्र बनें ॥ ६ ॥

(१६) अभयम् ।

(पुरस्तात् असपत्नं) आगेसे शत्रु न रहें, **(नः पश्चात् अभयं कृतं)** हमें पीछेसे अभय हो । **(सविता मा दक्षिणतः)** सविता मुझे दक्षिणसे और **(शचीपतिः मा उत्तरात्)** शक्तिका स्वामी उत्तर दिशासे निर्भय करे ॥ १ ॥

(आदित्याः दिवा मा रक्षन्तु) आदित्य द्युलोकसे मेरी रक्षा करें, **(भूम्याः अग्नयः रक्षन्तु)** भूमिमें अग्नि रक्षण करें । **(इन्द्राग्नी पुरस्तात् मा रक्षतां)** इन्द्र और अग्नि आगेसे रक्षण करें, **(अश्विनौ अभितः शर्म यच्छतां)** अश्विनौ अन्दरसे सुख दें । **(अघ्न्या तिरश्चीन् रक्षतु)** गौ तिरछेकी रक्षा करें । **(भूतकृतः जातवेदाः)** भूतोंको बनानेवाला जातवेद अग्नि **(मे सर्वतः वर्म सन्तु)** मेरा सब ओरसे रक्षक कवच हो ॥ २ ॥

❀

(१७) सुरक्षा।

(ऋषिः — अथर्वा। देवता — मन्त्रोक्ताः।)

अग्निर्मा पातु वसुभिः पुरस्तात्तस्मिन्क्रमे तस्मिंछ्र्ये तां पुरं प्रैमि।
स मा रक्षतु स मा गोपायतु तस्मा आत्मानं परि ददे स्वाहा ॥ १ ॥
वायुर्मान्तरिक्षेणैतस्या दिशः पातु तस्मिन्क्रमे तस्मिंछ्र्ये तां पुरं प्रैमि।
स मा रक्षतु स मा गोपायतु तस्मा आत्मानं परि ददे स्वाहा ॥ २ ॥
सोमो मा रुद्रैर्दक्षिणाया दिशः पातु तस्मिन्क्रमे तस्मिंछ्र्ये तां पुरं प्रैमि।
स मा रक्षतु स मा गोपायतु तस्मा आत्मानं परि ददे स्वाहा ॥ ३ ॥
वरुणो मादित्यैरेतस्या दिशः पातु तस्मिन्क्रमे तस्मिंछ्र्ये तां पुरं प्रैमि।
स मा रक्षतु स मा गोपायतु तस्मा आत्मानं परि ददे स्वाहा ॥ ४ ॥
सूर्यो मा द्यावापृथिवीभ्यां प्रतीच्या दिशः पातु तस्मिन्क्रमे तस्मिंछ्र्ये तां पुरं प्रैमि।
स मा रक्षतु स मा गोपायतु तस्मा आत्मानं परि ददे स्वाहा ॥ ५ ॥
आपो मौषधीमतीरेतस्या दिशः पान्तु तासु क्रमे तासु श्रये तां पुरं प्रैमि।
ता मा रक्षन्तु ता मा गोपायन्तु ताभ्य आत्मानं परि ददे स्वाहा ॥ ६ ॥
विश्वकर्मा मा सप्तऋषिभिरुदीच्या दिशः पातु तस्मिन्क्रमे तस्मिंछ्र्ये तां पुरं प्रैमि।
स मा रक्षतु स मा गोपायतु तस्मा आत्मानं परि ददे स्वाहा ॥ ७ ॥

---

(१७) सुरक्षा।

अर्थ— (वसुभिः पुरस्तात्) वसुओंके साथ आगेसे (अग्निः मा पातु) अग्नि मेरी रक्षा करे। (तस्मिन् क्रमे) उसमें मैं चलता हूं। (तस्मिन् श्रये) उसमें आश्रय लेता हूं। (तां पुरं प्रैमि) उस नगरीमें मैं जाता हूं। (स मा रक्षतु) वह मेरी रक्षा करे। (स मा गोपायतु) वह मुझे बचावे। (तस्मै आत्मानं परि ददे) उसके लिये मैं अपने आपको देता हूं। (स्वाहा) मैं समर्पण करता हूं ॥ १ ॥

(वायुः मा अन्तरिक्षेण) वायु मुझे अन्तरिक्षसे (एतस्या दिशः पातु) उस दिशासे सुरक्षित रखे। (आगे पूर्ववत्) ॥ २ ॥

(सोमः मा रुद्रैः दक्षिणाया दिशः पातु) सोम मुझे रुद्रोंके साथ दक्षिण दिशासे सुरक्षित रखे ॥ ० ॥ ३ ॥

(वरुणः मा आदित्यैः एतस्याः दिशः पातु) वरुण मुझे आदित्योंके साथ इस दिशासे सुरक्षित रखे ॥ ० ॥ ४ ॥

(सूर्यो मा द्यावापृथिवीभ्यां प्रतीच्या दिशः पातु) सूर्य मुझे द्युलोक और पृथिवी लोकसे पश्चिम दिशासे सुरक्षित रखे ॥ ० ॥ ५ ॥

(आपो ओषधिमतीः एतस्या दिशः मा पान्तु) जल औषधि युक्त मुझे इस दिशासे सुरक्षित रखे ॥ ० ॥ ६ ॥

(विश्वकर्मा सप्तऋषिभिः मा उदीच्या दिशः पातु) विश्वकर्मा सप्तऋषियोंके साथ मुझे उत्तर दिशामें सुरक्षित रखे ॥ ० ॥ ७ ॥

इन्द्रो मा मरुत्वानेतस्या दिशः पातु तस्मिन्क्रमे तस्मिञ्छ्रये तां पुरं प्रैमि ।
स मा रक्षतु स मा गोपायतु तस्मा आत्मानं परि ददे स्वाहा ॥ ८ ॥
प्रजापतिर्मा प्रजननवान्त्सह प्रतिष्ठाया ध्रुवाया दिशः पातु तस्मिन्क्रमे तस्मिञ्छ्रये तां पुरं प्रैमि ।
स मा रक्षतु स मा गोपायतु तस्मा आत्मानं परि ददे स्वाहा ॥ ९ ॥
बृहस्पतिर्मा विश्वैर्देवैरूर्ध्वाया दिशः पातु तस्मिन्क्रमे तस्मिञ्छ्रये तां पुरं प्रैमि ।
स मा रक्षतु स मा गोपायतु तस्मा आत्मानं परि ददे स्वाहा ॥१०॥ (१०६)

(१८) सुरक्षा।

(ऋषिः — अथर्वा । देवता — मन्त्रोक्ताः ।)

अग्निं ते वसुवन्तमृच्छन्तु । ये माघायवः प्राच्या दिशोऽभिदासात् ॥ १ ॥
वायुं तेऽन्तरिक्षवन्तमृच्छन्तु । ये माघायव एतस्या दिशोऽभिदासात् ॥ २ ॥
सोमं ते रुद्रवन्तमृच्छन्तु । ये माघायवो दक्षिणाया दिशोऽभिदासात् ॥ ३ ॥
वरुणं त आदित्यवन्तमृच्छन्तु । ये माघायव एतस्या दिशोऽभिदासात् ॥ ४ ॥
सूर्यं ते द्यावापृथिवीवन्तमृच्छन्तु । ये माघायव प्रतीच्या दिशोऽभिदासात् ॥ ५ ॥
अपस्त ओषधीमतीर्ऋच्छन्तु । ये माघायव एतस्या दिशोऽभिदासात् ॥ ६ ॥
विश्वकर्माणं ते सप्तऋषिवन्तमृच्छन्तु। ये माघायव उदीच्या दिशोऽभिदासात् ॥ ७ ॥

अर्थ— (**इन्द्रः मरुत्वान् मा एतस्या दिशः पातु**) इन्द्र मरुतोंके साथ मुझे इस दिशामें सुरक्षित रखे ॥ ० ॥ ८ ॥

(**प्रजापतिः प्रजननवान् प्रतिष्ठाया सह ध्रुवायाः दिशः मा पातु**) प्रजापति प्रजननशक्तिसे और प्रतिष्ठासे युक्त ध्रुव दिशामें मुझे सुरक्षित रखे ॥ ० ॥ ९ ॥

(**बृहस्पतिः विश्वैः देवैः मा ऊर्ध्वाया दिशः पातु**) बृहस्पति सब देवोंके साथ मुझे ऊर्ध्व दिशामें सुरक्षित रखे ॥ ० ॥ १० ॥

(१८) सुरक्षा।

(**ये अघायवः**) जो पापी (**मा**) मुझे (**प्राच्या दिशः अभिदासात्**) पूर्व दिशासे आकर दास बनाना चाहते हैं, (**ते वसुवन्तं अग्निं ऋच्छन्तु**) वे वसुओंके साथ अग्निको प्राप्त हों ॥ १ ॥

जो पापी (**एतस्या दिशः**) इस दिशासे आकर दास बनाना चाहते हैं, वे (**अन्तरिक्षवन्तं वायुं**) अन्तरिक्षमें रहनेवाले वायुके (**ऋच्छन्तु**) आधीन हों ॥ ० ॥ २ ॥

जो पापी दक्षिण दिशासे आकर मुझे दास बनाना चाहते हैं, वे (**रुद्रवन्तं सोमं ऋच्छन्तु**) रुद्रसे युक्त सोमके आधीन हों ॥ ० ॥ ३ ॥

जो पापी इस दिशासे आकर मुझे दास बनाना चाहते हैं, वे (**आदित्यवन्तं वरुणं ऋच्छन्तु**) आदित्य युक्त वरुणके आधीन हों ॥ ० ॥ ४ ॥

जो पापी पश्चिम दिशासे आकर मुझे दास बनना चाहते हैं, वे (**द्यावापृथिवीवन्तं सूर्यं**) द्यावापृथिवीसे युक्त सूर्यके वशमें होकर रहें ॥ ० ॥ ५ ॥

जो पापी इस दिशासे आकर मुझे दास बनाना चाहते हैं, वे (**ओषधीमती आपः**) औषधि युक्त जलोंके वशमें होकर रहें ॥ ० ॥ ६ ॥

जो पापी उत्तर दिशासे आकर मुझे दास बनाना चाहते हैं, वे (**सप्तऋषिवन्तं विश्वकर्माणं**) सप्त ऋषि युक्त विश्वकर्माके वशमें होकर रहें ॥ ० ॥ ७ ॥

इन्द्रं ते मुरुत्वन्तमृच्छन्तु । ये माघायव एतस्या दिशोऽभिदासात् ॥ ८ ॥
प्रजापतिं ते प्रजननवन्तमृच्छन्तु । ये माघायवो ध्रुवाया दिशोऽभिदासात् ॥ ९ ॥
बृहस्पतिं ते विश्वदेववन्तमृच्छन्तु । ये माघायव ऊर्ध्वाया दिशोऽभिदासात् ॥१०॥ (११६)

(१९) शर्म ।

(ऋषिः — अथर्वा । देवता — चन्द्रमा, मन्त्रोक्ताश्च ।)

मित्रः पृथिव्योदक्रामत्तां पुरं प्र णयामि वः ।
तामा विशत तां प्र विशत सा वः शर्म च वर्म च यच्छतु ॥ १ ॥
वायुरन्तरिक्षेणोदक्रामत्तां पुरं प्र णयामि वः ।
तामा विशत तां प्र विशत सा वः शर्म च वर्म च यच्छतु ॥ २ ॥
सूर्यो दिवोदक्रामत्तां पुरं प्र णयामि वः ।
तामा विशत तां प्र विशत सा वः शर्म च वर्म च यच्छतु ॥ ३ ॥
चन्द्रमा नक्षत्रैरुदक्रामत्तां पुरं प्र णयामि वः ।
तामा विशत तां प्र विशत सा वः शर्म च वर्म च यच्छतु ॥ ४ ॥
सोम ओषधीभिरुदक्रामत्तां पुरं प्र णयामि वः ।
तामा विशत तां प्र विशत सा वः शर्म च वर्म च यच्छतु ॥ ५ ॥
यज्ञो दक्षिणाभिरुदक्रामत्तां पुरं प्र णयामि वः ।
तामा विशत तां प्र विशत सा वः शर्म च वर्म च यच्छतु ॥ ६ ॥
समुद्रो नदीभिरुदक्रामत्तां पुरं प्र णयामि वः ।
तामा विशत तां प्र विशत सा वः शर्म च वर्म च यच्छतु ॥ ७ ॥

अर्थ — जो पापी इस दिशासे आकर मुझे दास बनाना चाहते हैं, वे (**मरुत्वन्तं इन्द्रं**) मरुत्वान् इन्द्रके वशमें होकर रहें ॥ ० ॥ ८ ॥

जो पापी ध्रुव दिशासे आकर मुझे दास बनाना चाहते हैं, वे (**प्रजननवन्तं प्रजापतिं**) प्रजनन सामर्थ्यसे युक्त प्रजापतिके वशमें होकर रहें ॥ ० ॥ ९ ॥

जो पापी ऊर्ध्व दिशासे आकर मुझे दास बनाना चाहते हैं, वे (**विश्वदेववन्तं बृहस्पतिं**) विश्वे देवोंके साथ बृहस्पतिके वशमें होकर रहें ॥ ० ॥ १० ॥

(१९) शर्म ।

(**मित्रः पृथिव्या उदक्रामत्**) मित्र पृथिवीसे ऊपर चढा । (**वः तां पुरं प्र णयामि**) आपको उस किलेमें मैं ले जाता हूं, (**तां आ विशत**) उसमें आओ, (**तां प्र विशत**) उसमें प्रविष्ट होओ, (**सा वः शर्म च वर्म च यच्छतु**) वह तुम्हें सुख और रक्षक कवच देवे ॥ १ ॥

(**वायुः अंतरिक्षेण उदक्रामत्**) वायु अन्तरिक्षसे ऊपर चढा ॥ ० ॥ २ ॥

(**सूर्यः दिवा उदक्रामत्**) सूर्य द्युलोकसे ऊपर चढा ॥ ० ॥ ३ ॥

(**चन्द्रमा नक्षत्रैः उदक्रामत्**) चन्द्रमा नक्षत्रोंके साथ ऊपर चढा ॥ ० ॥ ४ ॥

(**सोमः ओषधीभिः उदक्रामत्**) सोम ओषधियोंके साथ ऊपर चढा ॥ ० ॥ ५ ॥

(**यज्ञः दक्षिणाभिः उदक्रामत्**) यज्ञ दक्षिणाओंसे ऊपर चढा ॥ ० ॥ ६ ॥

(**समुद्रो नदीभिः उदक्रामत्**) समुद्र नदियोंसे ऊपर चढा ॥ ० ॥ ७ ॥

ब्रह्म ब्रह्मचारिभिरुदक्रामत्तां पुरं प्र णयामि वः ।
तामा विंशत तां प्र विंशत सा वः शर्म च वर्म च यच्छतु ॥ ८ ॥
इन्द्रो वीर्येणोदक्रामत्तां पुरं प्र णयामि वः ।
तामा विंशत तां प्र विंशत सा वः शर्म च वर्म च यच्छतु ॥ ९ ॥
देवा अमृतेनोदक्रामंस्तां पुरं प्र णयामि वः ।
तामा विंशत तां प्र विंशत सा वः शर्म च वर्म च यच्छतु ॥१०॥
प्रजापतिः प्रजाभिरुदक्रामत्तां पुरं प्र णयामि वः ।
तामा विंशत तां प्र विंशत सा वः शर्म च वर्म च यच्छतु ॥११॥ (१२७)

(२०) सुरक्षा ।

(ऋषिः — अथर्वा । देवता — नाना देवताः ।)

अप न्यधुः पौरुषेयं वधं यमिन्द्राग्नी धाता संविता बृहस्पतिः ।
सोमो राजा वरुणो अश्विना यमः पूषास्मान्परि पातु मृत्योः ॥ १ ॥
यानि चकार भुवनस्य यस्पतिः प्रजापतिर्मातरिश्वा प्रजाभ्यः ।
प्रदिशो यानि वसते दिशश्च तानि मे वर्माणि बहुलानि सन्तु ॥ २ ॥
यत्ते तनूष्वनह्यन्त देवा द्युराजयो देहिनः । इन्द्रो यच्चक्रे वर्म तदस्मान्पातु विश्वतः ॥ ३ ॥
वर्म मे द्यावापृथिवी वर्माहर्वर्म सूर्यः । वर्म मे विश्वे देवाः क्रन्मा मा प्रापत्प्रतीचिका ॥४॥ (१३१)

॥ इति द्वितीयोऽनुवाकः ॥ २ ॥

अर्थ— (ब्रह्म ब्रह्मचारिभिः उदक्रामत्) ज्ञान ब्रह्मचारियोंके साथ उत्क्रांत हुआ ॥ ० ॥ ८ ॥
(इन्द्रः वीर्येण उदक्रामत्) इन्द्र वीर्यसे ऊपर चढा ॥ ० ॥ ९ ॥
(देवा अमृतेन उदक्रामत्) देव अमृतके साथ ऊपर चढे ॥ ० ॥ १० ॥
(प्रजापतिः प्रजाभिः उदक्रामत्) प्रजापति प्रजाओंके साथ ऊपर चढा ॥ ० ॥ ११ ॥

(२०) सुरक्षा ।

(यं पौरुषेयं वधं अप नि अधुः) जिस पुरुषने फेंके शस्त्रको दूर रखते हैं । इन्द्र, अग्नि, धाता, सविता, बृहस्पति, सोम राजा, वरुण, अश्विनौ, यम, पूषा, ये सब (अस्मान् मृत्योः परि पातु) हमें मृत्युसे सुरक्षित रखें ॥ १ ॥

(भुवनस्यः यः पतिः) भुवनके पति प्रजापति वायुने (प्रजाभ्यः यानि चकार) प्रजाओंके लिये जो कवच किये (प्रदिशः दिशः च यानि वसते) दिशा उपदिशाओंमें जो कवच वसते हैं (तानि वर्माणि मे बहुलानि सन्तु) वे कवच मेरे लिये बहुत हों ॥ २ ॥

(ते तनूषु) तेरे शरीरोंमें (देहिनः द्युराजयः देवाः) देहधारी तेजस्वी देव (यत् अनह्यन्त) जो शक्ति धारण करते हैं, (इन्द्रः यत् वर्म चक्रे) इन्द्रने जो कवच बनाया (तत् विश्वतः अस्मान् पातु) वह सब ओरसे हमारी रक्षा करे ॥ ३ ॥

(द्यावा पृथिवी मे वर्म) द्युलोक और पृथिवी मेरा कवच हों, (अहः वर्म) दिन मेरा कवच हो, (सूर्यः वर्म) सूर्य मेरा कवच हो, (विश्वे देवाः मे वर्म क्रन्) विश्वे देव मेरा कवच करें, (प्रतीचिका मा मा प्रापत्) विरोधी मुझे प्राप्त न हों ॥ ४ ॥

॥ यहां द्वितीय अनुवाक समाप्त ॥

(२१) छन्दांसि ।

(ऋषिः — ब्रह्मा । देवता — छन्दांसि ।)

गायत्र्यु१ष्णिगनुष्टुब्बृहती पङ्क्तिस्त्रिष्टुब्जगत्यै ॥ १ ॥ (१३१)

(२२) ब्रह्मा ।

(ऋषिः — अङ्गिराः । देवता — मन्त्रोक्तदेवताः ।)

आङ्गिरसानामाद्यैः पञ्चानुवाकैः स्वाहा ॥ १ ॥ षष्ठाय स्वाहा ॥ २ ॥
सप्तमाष्टमाभ्यां स्वाहा ॥ ३ ॥ नीलनखेभ्यः स्वाहा ॥ ४ ॥
हरितेभ्यः स्वाहा ॥ ५ ॥ क्षुद्रेभ्यः स्वाहा ॥ ६ ॥
पर्यायिकेभ्यः स्वाहा ॥ ७ ॥ प्रथमेभ्यः शङ्खेभ्यः स्वाहा ॥ ८ ॥
द्वितीयेभ्यः शङ्खेभ्यः स्वाहा ॥ ९ ॥ तृतीयेभ्यः शङ्खेभ्यः स्वाहा ॥ १० ॥
उपोत्तमेभ्यः स्वाहा ॥ ११ ॥ उत्तमेभ्यः स्वाहा ॥ १२ ॥
उत्तरेभ्यः स्वाहा ॥ १३ ॥ ऋषिभ्यः स्वाहा ॥ १४ ॥
शिखिभ्यः स्वाहा ॥ १५ ॥ गणेभ्यः स्वाहा ॥ १६ ॥
महागणेभ्यः स्वाहा ॥ १७ ॥ सर्वेभ्योऽङ्गिरोभ्यो विदगणेभ्यः स्वाहा ॥ १८ ॥
पृथक्सहस्राभ्यां स्वाहा ॥ १९ ॥ ब्रह्मणे स्वाहा ॥ २० ॥

ब्रह्मज्येष्ठा संभृता वीर्याणि ब्रह्माग्रे ज्येष्ठं दिवमा ततान ।
भूतानां ब्रह्मा प्रथमोत जज्ञे तेनार्हति ब्रह्मणा स्पर्धितुं कः ॥ २१ ॥ (१५३)

---

(२१) छन्दांसि ।

अर्थ— गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप्, जगती ये वेदके छन्द हैं ॥ १ ॥

(२२) ब्रह्मा ।

आंगिरसोंके पहिले पञ्चानुवाकोंके साथ, २ छठेके लिये, ३ सप्तम अष्टमके लिये, ४ नीले नखोंवालोंके लिये, ५ हरोंके लिये, ६ क्षुद्रोंके लिये, ७ पर्यायवालोंके लिये, ८ पहिले शंखोंके लिये, ९ दूसरे शंखोंके लिये, १० तीसरे शंखोंके लिये, ११ अन्तरोंसे जो उत्तम हैं उनके लिये, १२ उत्तमोंके लिये, १३ उत्तरोंके लिये, १४ ऋषियोंके लिये, १५ शिखावालोंके लिये, १६ गणोंके लिये, १७ बडे गणोंके लिये, १८ गणोंको जाननेवाले सब अंगिरोंके लिये, १९ अलग अलग सहस्रवाले दोनोंके लिये, २० ब्रह्माके लिये हम अर्पण करते हैं ।

अथर्ववेदमें २० काण्ड हैं, उन प्रत्येक काण्डके अनुवाक, सूक्त और गण आदिकी ये संज्ञायें हैं, उनमें द्रष्टा ऋषियोंका भी संकेत है । बीस काण्डोंके लिये ये बीस सूत्र हैं ।

(ब्रह्म-ज्येष्ठा वीर्याणि संभृता) ब्रह्मज्ञान जिनमें श्रेष्ठ हैं ऐसे सब प्रकारके बलके उपदेश यहां इकट्ठे किये हैं । **(अग्रे ज्येष्ठं ब्रह्म)** प्रारंभमें ज्येष्ठ ब्रह्मने **(दिवं आततान)** द्युलोकको विस्तृत किया । **(ब्रह्मा उत भूतानां प्रथमः जज्ञे)** ब्रह्मा भूतोंके पहिले उत्पन्न हुआ । **(तेन ब्रह्मणा कः स्पर्धितुं अर्हति)** उस ब्रह्माके साथ स्पर्धा करनेके लिये कौन समर्थ होता है ॥ २१ ॥

इस वेदमें ब्रह्मज्ञान तथा अन्य सामर्थ्य इकट्ठे संग्रहित हुए हैं । सबसे प्रारंभमें ब्रह्म प्रकट हुआ । उसने आकाश उत्पन्न किया । पश्चात् ब्रह्मा उत्पन्न हुआ जिसने सृष्टीकी रचना की । वह सबसे अधिक सामर्थ्यवान् था, अतः उससे स्पर्धा करनेमें कोई समर्थ नहीं था ।

(२३) अथर्वाणः ।

(ऋषिः — अथर्वा । देवता — मन्त्रोक्ताः चन्द्रमाश्च ।)

आथर्वणानां चतुर्ऋचेभ्यः स्वाहा ॥१॥ पञ्चर्चेभ्यः स्वाहा ॥ २ ॥
षळृचेभ्यः स्वाहा ॥ ३ ॥ सप्तर्चेभ्यः स्वाहा ॥ ४ ॥
अष्टर्चेभ्यः स्वाहा ॥ ५ ॥ नवर्चेभ्यः स्वाहा ॥ ६ ॥
दशर्चेभ्यः स्वाहा ॥ ७ ॥ एकादशर्चेभ्यः स्वाहा ॥ ८ ॥
द्वादशर्चेभ्यः स्वाहा ॥ ९ ॥ त्रयोदशर्चेभ्यः स्वाहा ॥१०॥
चतुर्दशर्चेभ्यः स्वाहा ॥११॥ पञ्चदशर्चेभ्यः स्वाहा ॥१२॥
षोडशर्चेभ्यः स्वाहा ॥१३॥ सप्तदशर्चेभ्यः स्वाहा ॥१४॥
अष्टादशर्चेभ्यः स्वाहा ॥१५॥ एकोनविंशतिः स्वाहा ॥१६॥
विंशतिः स्वाहा ॥१७॥ महत्काण्डाय स्वाहा ॥१८॥
तृचेभ्यः स्वाहा ॥१९॥ एकर्चेभ्यः स्वाहा ॥२०॥
क्षुद्रेभ्यः स्वाहा ॥२१॥ एकानृचेभ्यः स्वाहा ॥२२॥
रोहितेभ्यः स्वाहा ॥२३॥ सूर्याभ्यां स्वाहा ॥२४॥
व्रात्याभ्यां स्वाहा ॥२५॥ प्राजापत्याभ्यां स्वाहा ॥२६॥
विषासह्यै स्वाहा ॥२७॥ मङ्गलिकेभ्यः स्वाहा ॥२८॥
ब्रह्मणे स्वाहा ॥२९॥
ब्रह्मज्येष्ठा संभृता वीर्याणि ब्रह्माग्रे ज्येष्ठं दिवमा ततान ।
भूतानां ब्रह्मा प्रथमोत जज्ञे तेनार्हति ब्रह्मणा स्पर्धितुं कः ॥३०॥ (१८३)

(२३) अथर्वाणः ।

अर्थ— १ अथर्ववेदके चार ऋचावालोंके लिये, २ पांच ऋचावालोंके लिये, ३ छः ऋचावालोंके लिये, ४ सात ऋचावालोंके लिये, ५ आठ ऋचावालोंके लिये, ६ नौ ऋचावालोंके लिये, ७ दस ऋचावालोंके लिये, ८ ग्यारह ऋचावालोंके लिये, ९ बारह ऋचावालोंके लिये, १० तेरह ऋचावालोंके लिये, ११ चौदह ऋचावालोंके लिये, १२ पंद्रह ऋचावालोंके लिये, १३ सोलह ऋचावालोंके लिये, १४ सतारह ऋचावालोंके लिये, १५ अठारह ऋचावालोंके लिये, १६ उन्नीस ऋचावालोंके लिये, १७ बीसके लिये, १८ बडे काण्डोंके लिये, १९ तीन ऋचावालोंके लिये, २० एक ऋचावालोंके लिये, २१ क्षुद्रोंके लिये, २२ एक चरणकी, जिसको ऋचा नहीं कहा जाता, उनके लिये, २३ हरोंके लिये, २४ दो सूर्योंके लिये, २५ व्रात्योंके लिये, २६ प्राजापत्योंके लिये, २७ विषासहीके लिये, २८ मंगलिकोंके लिये, २९ ब्रह्मके लिये हम समर्पण करते हैं ।

३० वें मंत्रका अर्थ पूर्व स्थानमें २२।२१ में दिया है ।

' महाकाण्ड ' का संकेत २० वे काण्डसे है, चार, पांच आदि संख्यासे उन ऋषियोंका संकेत है कि जिनके सूक्त इतनी संख्याके मंत्रोंके हैं । गोपथ ब्रा. १।१।५ में इस विषयमें देखने योग्य है । क्षुद्रसे यजुर्वेद, पर्यायिकसे जो पर्याय हैं, एकानृचका अर्थ आधा मंत्र, रोहित प्रतिपादक काण्ड रोहित पदसे, विषासहिसे १७ वां काण्ड इस तरह बोध होता है ।

(२४) राष्ट्रम् ।

(ऋषिः — अथर्वा । देवता — ब्रह्मणस्पतिः, नाना देवताः ।)

येन॑ दे॒वं स॑वि॒तारं॒ परि॑ दे॒वा अधा॑रयन् । तेने॒मं ब्र॑ह्मणस्पते॒ परि॑ रा॒ष्ट्राय॑ धत्तन ॥ १ ॥

परी॒ममिन्द्र॒मायु॑षे म॒हे क्ष॒त्राय॑ धत्तन । यथै॑नं ज॒रसे॒ नया॒ज्ज्योक्क्ष॒त्रेऽधि॑ जागरत् ॥ २ ॥

परी॒मं सोम॒मायु॑षे म॒हे श्रोत्रा॑य धत्तन । यथै॑नं ज॒रसे॒ नया॒ज्ज्योक्श्रोत्रेऽधि॑ जागरत् ॥ ३ ॥

परि॑ धत्त ध॒त्त नो॒ वर्च॑से॒मं ज॒राम॑त्युं कृणुत दी॒र्घमायुः॑ ।
बृ॒हस्पतिः॒ प्राय॑च्छ॒द्वास॑ ए॒तत्सोमा॑य॒ राज्ञे॒ परि॑धात॒वा उ॑ ॥ ४ ॥

ज॒रां सु ग॑च्छ॒ परि॑ धत्स्व॒ वासो॒ भवा॑ गृ॒ष्टीना॑मभिशस्ति॒पा उ॑ ।
श॒तं च॒ जीव॑ श॒रदः॑ पुरू॒ची रा॒यश्च॒ पोष॑मुप॒संव्य॑यस्व ॥ ५ ॥

परी॒दं वासो॑ अधिथाः स्व॒स्तयेऽभू॑र्वा॒पीना॑मभिशस्ति॒पा उ॑ ।
श॒तं च॒ जीव॑ श॒रदः॑ पुरू॒चीर्वसू॑नि॒ चारु॒र्वि भ॑जासि॒ जीव॑न् ॥ ६ ॥

योगे॑योगे त॒वस्त॑रं॒ वाजे॑वाजे हवामहे । सखा॑य॒ इन्द्र॑मू॒तये॑ ॥ ७ ॥

हिर॑ण्यवर्णो अ॒जरः॑ सु॒वीरो॑ ज॒राम॑त्युः प्र॒जया॒ सं वि॑शस्व ।
तद॒ग्निरा॑ह॒ तदु॒ सोम॑ आह॒ बृह॒स्पतिः॑ सवि॒ता तदिन्द्रः॑ ॥ ८ ॥ (१९१)

---

(२४) राष्ट्रम् ।

अर्थ— (**येन**) जो पोषाख (**सवितारं देवं**) सविता देवको (**देवाः परि अधारयन्**) देवोंने पहनाया था, हे ब्रह्मणस्पते ! (**तेन इमं**) उससे इस पुरुषको (**राष्ट्राय परि धत्तन**) राष्ट्रके लिये परिधान कराओ ॥ १ ॥

(**इमं इन्द्रं**) इस इन्द्रको (**आयुषे**) दीर्घायुके लिये और (**महे क्षत्राय**) बडे क्षात्रतेजके लिये (**परि धत्तन**) यह वस्त्र पहनाओ । (**यथा एनं जरसे नयात्**) जिससे यह वस्त्र इसको बुढापेके लिये ले जाय, (**क्षत्रे ज्योक् अधि जागरत्**) और यह क्षात्रकर्ममें देरतक जागता रहे ॥ २ ॥

(**इमं सोमं**) इस सोमको (**आयुषे, महे श्रोत्राय**) दीर्घायु और महान् ज्ञानतेजके लिये यह वस्त्र (**परि धत्तन**) पहनाओ । (**यथा एनं जरसे नयात्**) जिससे इसको बुढापेके लिये ले जाय और (**श्रोत्रे ज्योक् अधि जागरत्**) ज्ञान प्राप्तिके लिये यह सतत जागता रहे ॥ ३ ॥

(**परि धत्त**) वस्त्र पहनाओ, (**नः इमं वर्चसा धत्त**) हमारे इसको तेजके साथ रखो, (**जरा मृत्युं दीर्घं आयुः कृणुत**) वृद्ध अवस्थाके पश्चात् इसको मृत्यु आवे और दीर्घ आयु प्राप्त हो । बृहस्पतिने (**राज्ञे सोमाय परिधातवै उ**) राजा सोमको परिधान करनेके लिये (**एतत् वासः प्रायच्छत्**) यह वस्त्र दिया है ॥ ४ ॥

(**जरां सु गच्छ**) बुढापेको भली प्रकार प्राप्त हो, (**वासः परि धत्स्व**) वस्त्र पहनो । (**गृष्टीनां अभिशस्ति-पा उ भव**) प्रजाओंका विनाशसे बचानेवाला हो । (**शतं च जीव शरदः पुरूचीः**) दीर्घ सौ वर्ष जीवित रह, (**रायः च पोषं उपसंव्ययस्व**) धन और पुष्टीको प्राप्त हो ॥ ५ ॥

(**स्वस्तये इदं वासः परि अधिथाः**) अपने कल्याणके लिये यह वस्त्र तूने पहना है । (**वापीनां अभिशस्ति-पा उ अभूः**) कुवोंका या गौवोंका विनाशसे बचाव करनेवाला तू हो गया है । (**पुरूचीः शरदः शतं च जीव**) दीर्घ सौ वर्षतक तू जीवित रह । (**जीवन् चारु वसूनि वि भजासि**) जीवित रहकर सुंदर धनोंको अपने मित्रोंको बांट ॥ ६ ॥

(**योगेयोगे**) प्रत्येक उद्योगमें (**वाजेवाजे**) और प्रत्येक युद्धमें (**सखायः**) हम सब मित्र इकट्ठे होकर (**तवस्तरं इन्द्रं ऊतये हवामहे**) बलवान् इन्द्रको अपनी सुरक्षाके लिये बुलाते हैं ॥ ७ ॥

(**हिरण्यवर्णः**) सुवर्ण जैसे रंगवाला, (**अ-जरः**) बुढापेसे रहित (**सुवीरः**) उत्तम वीरोंसे युक्त (**जरा-मृत्युः**) जरावस्थाके पश्चात् मृत्यु प्राप्त करनेवाला (**प्रजया सं विशस्व**) अपनी प्रजाके साथ रहकर आराम कर । (**तत् अग्निः आह**) वह अग्निने कहा, (**तत् उ सोम आह**) वह सोमने कहा, (**तत् बृहस्पतिः सविता इन्द्रः**) वही बृहस्पति, सविता और इन्द्रने कहा है ॥ ८ ॥

(२५) अश्वः।

(ऋषिः — गोपथः। देवता — वाजी।)

अश्रान्तस्य त्वा मनसा युनज्मि प्रथमस्य च। उत्कूलमुद्वहो भवोदुह्य प्रति धावतात् ॥१॥ (१९१)

(२६) हिरण्यधारणम्।

(ऋषिः — अथर्वा। देवता — अग्निः, हिरण्यं च)

अग्नेः प्रजातं परि यद्धिरण्यममृतं दध्रे अधि मर्त्येषु।
य एनद्वेद स इदेनमर्हति जरामृत्युर्भवति यो बिभर्ति ॥ १ ॥
यद्धिरण्यं सूर्येण सुवर्णं प्रजावन्तो मनवः पूर्व ईषिरे।
तत्त्वा चन्द्रं वर्चसा सं सृजत्यायुष्मान्भवति यो बिभर्ति ॥ २ ॥
आयुषे त्वा वर्चसे त्वौजसे च बलाय च।
यथा हिरण्यतेजसा विभासासि जनाँ अनु ॥ ३ ॥
यद्वेद राजा वरुणो वेद देवो बृहस्पतिः।
इन्द्रो यद्वृत्रहा वेद तत्त आयुष्यं भुवत्तत्ते वर्चस्यं भुवत् ॥ ४ ॥ (१९६)

॥ इति तृतीयोऽनुवाकः ॥ ३ ॥

---

(२५) अश्वः।

अर्थ— (**अश्रान्तस्य प्रथमस्य च**) न थकनेवाले और प्रथम आनेवालोंके (**मनसा त्वा युनज्मि**) मनके साथ तुझे संयुक्त करता हूँ। (**उत्कूलं उद्वहो भव**) किनारेपरसे जलदी ले जानेवाला हो, (**उदुह्य**) ऊपर ले जाकर (**प्रति धावतात्**) फिर वापिस दौड जा ॥ १ ॥

(२६) हिरण्यधारणम्।

(**अग्नेः प्रजातं**) अग्निसे उत्पन्न हुआ, (**यत् हिरण्यं**) जो सोना है वह (**मर्त्येषु अमृतं परि दध्रे**) मानवोंपर अमृत रखता है। (**य एनत् वेद**) जो यह जानता है (**स इत् एनं अर्हति**) वही निश्चयसे इस सुवर्ण धारणके लिये योग्य होता है। (**यः बिभर्ति जरामृत्युः भवति**) जो इसको धारण करता है उसको वृद्धावस्थाके पश्चात् मृत्यु होता है ॥ १ ॥

(**यत् हिरण्यं सुवर्णं**) जिस उत्तम रंगवाले सोनेको (**प्रजावन्तः पूर्वे मनवः सूर्येण ईषिरे**) प्रजाओंके समेत पहिले मनुओंने सूर्यसे पाया (**तत् त्वा**) वह तुझे (**चन्द्रं वर्चसा सं सृजति**) चमकता हुआ तेजसे युक्त करता है, (**यः बिभर्ति**) जो इसे धारण करता है वह (**आयुष्मान् भवति**) आयुष्मान् होता है ॥ २ ॥

(**आयुषे त्वा**) आयुष्यके लिये तुझे (**वर्चसे त्वा**) तेजके लिये तुझे, (**ओजसे च बलाय च**) शक्ति और बलके लिये तुझे मैं पहनता हू। (**यथा**) इसको धारण करके (**जनां अनु**) लोगोंमें (**हिरण्यतेजसा विभासासि**) सोनेके तेजसे तू चमकता रह ॥ ३ ॥

(**राजा वरुणः यत् वेद**) राजा वरुण जिसको जानता है, (**देवो बृहस्पतिः वेद**) देव बृहस्पति जिसको जानता है, (**वृत्रहाः इन्द्रः यत् वेद**) वृत्रका वध करनेवाला इन्द्र जो जानता है, (**तत् ते आयुष्यं भुवत्**) वह सुवर्ण तेरी आयुकी वृद्धि करनेवाला होवे, (**तत् ते वर्चस्यं भुवत्**) वह तेरा तेज बढानेवाला होवे ॥ ४ ॥

॥ यहां तृतीय अनुवाक समाप्त ॥

(२७) सुरक्षा।

(ऋषिः — भृग्वङ्गिराः। देवता — त्रिवृत्, चन्द्रमाश्च।)

गोभिष्ट्वा पात्वृषभो वृषा त्वा पातु वाजिभिः । वायुष्ट्वा ब्रह्मणा पात्विन्द्रस्त्वा पात्विन्द्रियैः ॥ १ ॥
सोमस्त्वा पात्वोषधीभिर्नक्षत्रैः पातु सूर्यः । माद्भ्यस्त्वा चन्द्रो वृत्रहा वातः प्राणेन रक्षतु ॥ २ ॥
तिस्रो दिवस्तिस्रः पृथिवीस्त्रीण्यन्तरिक्षाणि चतुरः समुद्रान् ।
त्रिवृतं स्तोमं त्रिवृत आप आहुस्तास्त्वा रक्षन्तु त्रिवृता त्रिवृद्भिः ॥ ३ ॥
त्रीन्नाकांस्त्रीन्त्समुद्रांस्त्रीन्ब्रध्नांस्त्रीन्वैष्टपान् । त्रीन्मातरिश्वनस्त्रीन्त्सूर्यान्गोप्तॄन्कल्पयामि ते ॥ ४ ॥
घृतेन त्वा समुक्षाम्यग्न आज्येन वर्धयन् । अग्नेश्चन्द्रस्य सूर्यस्य मा प्राणं मायिनो दभन् ॥ ५ ॥
मा वः प्राणं मा वोऽपानं मा हरो मायिनो दभन् । भ्राजन्तो विश्ववेदसो देवा दैव्येन धावत ॥ ६ ॥
प्राणेनाग्निं सं सृजति वातः प्राणेन संहितः । प्राणेन विश्वतोमुखं सूर्यं देवा अजनयन् ॥ ७ ॥
आयुषायुःकृतां जीवायुष्मान्जीव मा मृथाः । प्राणेनात्मन्वतां जीव मा मृत्योरुदगा वशम् ॥ ८ ॥

(२७) सुरक्षा।

अर्थ— (**वृषभः त्वा गोभिः पातु**) बैल तेरा रक्षण गौवोंके साथ करे। (**वृषा वाजिभिः त्वा पातु**) घोडा घोडोंके साथ तेरा रक्षण करे। (**वायुः ब्रह्मणा त्वा पातु**) वायु ज्ञानसे तेरा रक्षण करे, (**इन्द्रः इन्द्रियैः त्वा पातु**) इन्द्र इन्द्रियोंके साथ तेरा रक्षण करे ॥ १ ॥

(**सोमः ओषधीभिः त्वा पातु**) सोम ओषधियोंके साथ तेरी रक्षा करे। (**सूर्यः नक्षत्रैः पातु**) सूर्य नक्षत्रोंके साथ रहकर तेरी रक्षा करे। (**चन्द्रः वृत्रहा माद्भ्यः त्वा**) वृत्रको मारनेवाला चन्द्र महिनोंके साथ तेरा रक्षण करे। (**वातः प्राणेन रक्षतु**) वायु प्राणके साथ तेरी रक्षा करे ॥ २ ॥

(**तिस्रः दिवः**) तीन द्युलोक (**तिस्रः पृथिवीः**) तीन भूमियां, (**त्रीणि अन्तरिक्षाणि**) तीन अन्तरिक्ष, (**चतुरः समुद्रान्**) चार समुद्र, (**त्रिवृतं स्तोम**) तीन गुणा स्तोम, (**त्रिवृतः आपः आहुः**) तीन गुणा जल हैं ऐसा कहते हैं, (**त्रिवृद्भिः त्रिवृताः ताः त्वा रक्षन्तु**) तीन गुणा तीन गुणित होकर वे तेरी रक्षा करें ॥ ३ ॥

(**त्रीन् नाकान्**) तीन स्वर्गोंको (**त्रीन् समुद्रान्**) तीन समुद्रोंको, (**त्रीन् ब्रध्नान्**) तीन तेजोंको, (**त्रीन् वैष्टपान्**) तीन विशेष तपनेवाले लोकोंको, (**त्रीन् मातरिश्वनः**) तीन वायुओंको, (**त्रीन् सूर्यान्**) तीन सूर्योंको, (**ते गोप्तॄन् कल्पयामि**) तेरी सुरक्षा करनेवाले बनाता हूं ॥ ४ ॥

(**घृतेन त्वा समुक्षामि**) घीसे तुझे छिडकता हूं, हे अग्ने ! (**आज्येन वर्धयन्**) घीसे तुझे बढाता हूं। (**अग्नेः चंद्रस्य सूर्यस्य**) अग्निके, चन्द्रके और सूर्यके (**प्राणं**) प्राणको (**मायिनः मा दभन्**) कपटी लोग न दबावें ॥ ५ ॥

(**मायिनः**) कपटी लोग (**वः प्राणं मा**) तुम्हारे प्राणको, (**वः अपानं मा**) तुम्हारे अपानको तथा (**हरः**) बलको (**मा दभन्**) न दबावे। (**विश्ववेदसः देवाः**) सब धनवाले देव (**भ्राजन्तः**) चमकते हुवे (**दैव्येन धावत**) अपनी दिव्य शक्तिके साथ तुम्हारे सहाय्यार्थ दौडें ॥ ६ ॥

(**प्राणेन अग्निं सं सृजति**) प्राणसे अग्निको संयुक्त करता हूं। (**वातः प्राणेन संहितः**) वायु प्राणके साथ जुडा हुआ है। (**देवाः**) सब देवोंने (**विश्वतोमुखं सूर्यं**) चारों ओर मुखवाले सूर्यको (**प्राणेन अजनयन्**) प्राणके साथ उत्पन्न किया है ॥ ७ ॥

(**आयुः कृतां आयुषा जीव**) आयु बनानेवालोंके आयुसे तू जीवित रह। तू (**आयुष्मान् जीव**) दीर्घायु होकर जीवित रह (**मा मृथाः**) मत मर जा। (**आत्मन्वतां प्राणेन जीव**) आत्मावालोंके प्राणसे जीवित रह। (**मृत्योः वशं मा उदगाः**) मृत्युके वशमें न जा ॥ ८ ॥

देवानां निहितं निधिं यमिन्द्रोऽन्वविन्दत्पथिभिर्देवयानैः ।
आपो हिरण्यं जुगुपुस्त्रिवृद्भिस्तास्त्वा रक्षन्तु त्रिवृता त्रिवृद्भिः ॥ ९ ॥
त्रयस्त्रिंशद्देवतास्त्रीणि च वीर्याणि प्रियायमाणा जुगुपुरप्स्व१न्तः ।
अस्मिंश्चन्द्रे अधि यद्धिरण्यं तेनायं कृणवद्वीर्याणि ॥१०॥
ये देवा दिव्येकादश स्थ ते देवासो हविरिदं जुषध्वम् ॥११॥
ये देवा अन्तरिक्ष एकादश स्थ ते देवासो हविरिदं जुषध्वम् ॥१२॥
ये देवा पृथिव्यामेकादश स्थ ते देवासो हविरिदं जुषध्वम् ॥१३॥
असपत्नं पुरस्तात्पश्चान्नो अभयं कृतम् । सविता मा दक्षिणत उत्तरान्मा शचीपतिः ॥१४॥
दिवो मादित्या रक्षन्तु भूम्या रक्षन्त्वग्नयः । इन्द्राग्नी रक्षतां मा पुरस्तादश्विनावभितः शर्म यच्छताम् ।
तिरश्चीनघ्न्या रक्षतु जातवेदा भूतकृतो मे सर्वतः सन्तु वर्म ॥१५॥ (२११)

(२८) दर्भमणिः ।

(ऋषिः — ब्रह्मा (सपत्नक्षयकामः) । देवता — दर्भमणिः, मंत्रोक्ताश्च ।)

इमं बध्नामि ते मणिं दीर्घायुत्वाय तेजसे । दर्भं सपत्नदम्भनं द्विषतस्तपनं हृदः ॥ १ ॥

अर्थ— (**देवानां निहितं निधिं**) देवोंके गुप्त खजानेको (**यं इन्द्रः**) जिसको इन्द्रने (**देवयानैः पथिभिः**) देवयान मार्गोंसे (**अन्वविन्दत्**) ढूंढ निकाला, वहां (**आपः त्रिवृद्भिः हिरण्यं जुगुपुः**) जलोंने तीन गुणोंके साथ सुवर्णकी रक्षा की, (**ताः**) वे जल (**त्रिवृता त्रिवृद्भिः**) तीन गुणा तीन गुणोंके साथ (**त्वा रक्षन्तु**) तेरी रक्षा करें ॥ ९ ॥

(**त्रयः त्रिंशत् देवताः**) तैतीस देवताओंने तथा (**त्रीणि वीर्याणि**) तीन वीर्योंने (**अप्सु अन्तः प्रियायमाणाः**) जलोंके अन्दर प्यारसे (**जुगुपुः**) इसकी रक्षा की । (**अस्मिन् चन्द्रे अधि यत् हिरण्यं**) इस चमकवाले मणिपर जो सुवर्ण है, (**तेन अयं वीर्याणि कृणवत्**) उसके प्रभावसे यह पुरुष वीरताके कर्म करे ॥ १० ॥

(**दिवि ये एकादश देवाः स्थ**) द्युलोकमें जो ग्यारह देव हैं, (**अन्तरिक्षे ये एकादश देवाः स्थ**) अन्तरिक्षमें जो ग्यारह देव हैं और (**पृथिव्यां ये एकादश देवाः स्थ**) पृथिवीपर जो ग्यारह देव हैं, (**ते देवासः**) वे देव (**इदं हविः जुषध्वं**) इस हविका भोग करें ॥ ११-१३ ॥

(**पुरस्तात् नः असपत्नं**) आगेसे हमारे लिये शत्रुका भय न रहे, (**पश्चात् नः अभयं कृतं**) पीछेसे हमारे लिये अभय किया है । (**सविता दक्षिणतः मा**) सविता दक्षिण दिशासे मेरी रक्षा करे और (**शचीपतिः उत्तरात् मा**) इन्द्र उत्तर दिशासे मेरी रक्षा करे ॥ १४ ॥

(**आदित्याः मा दिवः रक्षन्तु**) आदित्य मेरी द्युलोकसे रक्षा करें, (**अग्नयः भूम्याः रक्षन्तु**) अग्नि भूमीपर मेरी रक्षा करें । (**इन्द्राग्नी पुरस्तात् मा रक्षतां**) इन्द्र और अग्नि आगेसे मेरी रक्षा करें । (**अश्विनौ अभितः शर्म यच्छतां**) अश्विनौ मेरी चारों ओरसे आश्रय दें । (**तिरश्चीन् अघ्न्या रक्षतु**) पशुओंकी रक्षा गौ करे । (**भूतकृतः जातवेदाः मे सर्वतः वर्म सन्तु**) भूतोंको बनानेवाले अग्नि सब ओरसे मेरा कवच बनें ॥ १५ ॥

(२८) दर्भमणिः ।

(**दीर्घायुत्वाय तेजसे**) दीर्घायुकी प्राप्ति और तेजस्विताके लिये (**इमं मणिं ते बध्नामि**) इस मणिको तेरे शरीरपर बांधता हूं । (**दर्भं सपत्नदम्भनं**) यह दर्भमणि शत्रुका नाश करता है और (**द्विषतः हृदः तपनं**) द्वेषीके हृदयको संताप उत्पन्न करनेवाला है ॥ १ ॥

द्विषतस्तापयन्हृदः शत्रूणां तापयन्मनः । दुर्हार्दः सर्वांस्त्वं दर्भ घर्म इवाभिसंतापयन् ॥ २ ॥
घर्म इवाभितपन्दर्भ द्विषतो नितपन्मणे । हृदः सपत्नानां भिन्द्धीन्द्र इव विरुजं बलम् ॥ ३ ॥
भिन्द्धि दर्भ सपत्नानां हृदयं द्विषतां मणे । उद्यन्त्वचमिव भूम्याः शिर एषां वि पातय ॥ ४ ॥
भिन्द्धि दर्भ सपत्नान्मे भिन्द्धि मे पृतनायतः । भिन्द्धि मे सर्वान्दुर्हार्दो भिन्द्धि मे द्विषतो मणे ॥ ५ ॥
छिन्द्धि दर्भ सपत्नान्मे छिन्द्धि मे पृतनायतः । छिन्द्धि मे सर्वान्दुर्हार्दान् छिन्द्धि मे द्विषतो मणे ॥६॥
वृश्च दर्भ सपत्नान्मे वृश्च मे पृतनायतः । वृश्च मे सर्वान्दुर्हार्दो वृश्च मे द्विषतो मणे ॥७॥
कृन्त दर्भ सपत्नान्मे कृन्त मे पृतनायतः । कृन्त मे सर्वान्दुर्हार्दो कृन्त मे द्विषतो मणे ॥८॥
पिंश दर्भ सपत्नान्मे पिंश मे पृतनायतः । पिंश मे सर्वान्दुर्हार्दः पिंश मे द्विषतो मणे ॥९॥
विध्य दर्भ सपत्नान्मे विध्य मे पृतनायतः ।
विध्य मे सर्वान्दुर्हार्दो विध्य मे द्विषतो मणे ॥१०॥ (२११)

(२९) दर्भमणिः ।

(ऋषिः— ब्रह्मा । देवता — दर्भमणिः ।)

निक्ष दर्भ सपत्नान्मे निक्ष मे पृतनायतः । निक्ष मे सर्वान्दुर्हार्दो निक्ष मे द्विषतो मणे ॥१॥
तृन्द्धि दर्भ सपत्नान्मे तृन्द्धि मे पृतनायतः । तृन्द्धि मे सर्वान्दुर्हार्दस्तृन्द्धि मे द्विषतो मणे ॥२॥
रुन्द्धि दर्भ सपत्नान्मे रुन्द्धि मे पृतनायतः । रुन्द्धि मे सर्वान्दुर्हार्दो रुन्द्धि मे द्विषतो मणे ॥३॥

अर्थ— (**द्विषतः हृदः तापयन्**) द्वेषियोंके हृदयोंको यह संताप उत्पन्न करता है तथा (**शत्रूणां मनः तापयन्**) शत्रुओंके मनोंको ताप देता है । हे दर्भ ! (**सर्वान् दुर्हार्दः**) सब दुष्ट हृदयवालोंको (**त्वं घर्म इव अभि संतापयन्**) तू गर्मीके समान सब प्रकारसे ताप दे ॥ २ ॥

हे (**दर्भ**) दर्भमणि ! (**घर्म इव अभितपन्**) गर्मीके समान शत्रुको ताप देता हुआ, हे मणे ! (**द्विषतः नितपन्**) द्वेषियोंको संताप देकर, (**सपत्नानां हृदः भिन्द्धि**) शत्रुओंके हृदयोंको फोड दे, (**इन्द्रः बलं विरुजं इव**) इन्द्रके समान बल राक्षसको तोड ॥ ३ ॥

हे दर्भमणे ! (**द्विषतां सपत्नानां हृदयं भिन्द्धि**) द्वेष करनेवाले शत्रुओंका हृदय तोड दे । (**उद्यन् भूम्याः त्वचं इव**) उठनेवाले लोग जैसे [गृहनिर्माणके लिये] भूमिके पृष्ठभागको खोद देते हैं, उस तरह (**एषां शिरः वि पातय**) इनके शिरोंको तोडकर गिरा दे ॥ ४ ॥

हे दर्भ ! (**मे सपत्नान् भिन्द्धि**) मेरे शत्रुओंको तोड दे, (**मे पृतना यतः भिन्द्धि**) मेरे ऊपर सेना भेजनेवालोंको तोड दे । (**सर्वान् मे दुर्हार्दः भिन्द्धि**) सब दुष्ट हृदयवालोंको तोड दे । हे मणे ! (**मे द्विषतः भिन्द्धि**) मेरे द्वेष करनेवालोंको फोड दे ॥ ५ ॥

(**छिन्द्धि**) छेद दे, (**वृश्च**) काट दे, (**कृन्त**) करत दे, (**पिंश**) पीस डाल, (**विध्य**) वींध डाल, हे दर्भमणे ! (**मे सपत्नान्**) मेरे शत्रुओंको, (**मे पृतनायतः**) जो मेरे ऊपर सेना भेजते हैं, (**सर्वान् दुर्हार्दः**) सब दुष्ट हृदय वालोंको और (**मे द्विषतः**) मेरा द्वेष करनेवालोंको ॥ ६-१० ॥

(२९) दर्भमणिः ।

हे दर्भमणे ! (**निक्ष**) भोंक दे, (**तृन्द्धि**) छेद दे, (**रुन्द्धि**) रोक दे, (**मृण**). मार दे, (**मन्थ**) मथ दे, (**पिपिन्द्धि**) पीस दे, (**ओष**) पका दे, (**दह**) जला दे, (**जहि**) मारकर गिरा दे, (**मे सपत्नान्**) मेरे शत्रुओंको,

मृण दर्भ सपत्नान्मे मृण मे पृतनायतः । मृण मे सर्वान्दुर्हार्दो मृण मे द्विषतो मणे ॥४॥
मन्थ दर्भ सपत्नान्मे मन्थ मे पृतनायतः । मन्थ मे सर्वान्दुर्हार्दो मन्थ मे द्विषतो मणे ॥५॥
पिण्ढि दर्भ सपत्नान्मे पिण्ढि मे पृतनायतः । पिण्ढि मे सर्वान्दुर्हार्दः पिण्ढि मे द्विषतो मणे ॥६॥
ओष दर्भ सपत्नान्मे ओष मे पृतनायतः । ओष मे सर्वान्दुर्हार्द ओष मे द्विषतो मणे ॥७॥
दह दर्भ सपत्नान्मे दह मे पृतनायतः । दह मे सर्वान्दुर्हार्दो दह मे द्विषतो मणे ॥८॥
जहि दर्भ सपत्नान्मे जहि मे पृतनायतः । जहि मे सर्वा दुर्हार्दो जहि मे द्विषतो मणे ॥९॥ (२३०)

(३०) दर्भमणिः ।

(ऋषिः— ब्रह्मा । देवता — दर्भमणिः)

यत्ते दर्भ जरामृत्युः शतं वर्मसु वर्म ते । तेनेमं वर्मिणं कृत्वा सपत्नाञ्जहि वीर्यैः ॥ १ ॥
शतं ते दर्भ वर्माणि सहस्रं वीर्याणि ते । तमस्मै विश्वे त्वां देवा जरसे भर्तवा अदुः ॥ २ ॥
त्वामाहुर्देववर्म त्वां दर्भ ब्रह्मणस्पतिम् । त्वामिन्द्रस्याहुर्वर्म त्वं राष्ट्राणि रक्षसि ॥ ३ ॥
सपत्नक्षयणं दर्भ द्विषतस्तपनं हृदः । मणिं क्षत्रस्य वर्धनं तनूपानं कृणोमि ते ॥ ४ ॥
यत्समुद्रो अभ्यक्रन्दत्पर्जन्यो विद्युता सह । ततो हिरण्ययो बिन्दुस्ततो दर्भो अजायत ॥ ५ ॥ (२३५)

(मे पृतनायतः) मुझपर सैन्य भेजनेवालोंको, (मे सर्वान् दुर्हार्दः) सब दुष्ट हृदयवालोंको, (मे द्विषतः) मेरा द्वेष करनेवालोंको ॥ १-१० ॥

सब मंत्र समान पदवाले हैं इसलिये सब मंत्रोंका भाव इकठ्ठा दिया है ।

(३०) दर्भमणिः ।

अर्थ— हे दर्भ ! (**यत् ते जरामृत्युः**) जो बुढापेके पश्चात् मृत्यु लानेकी शक्ति है, तथा (**ते शतं वर्मसु वर्म**) जो तेरा सैंकडों कवचोंमें उत्तम कवच है, (**तेन इमं वर्मिणं कृत्वा**) उससे इसको कवचधारी बनाकर (**वीर्यैः सपत्नान् जहि**) अपने पराक्रमोंसे शत्रुओंको मार ॥ १ ॥

हे दर्भ ! (**ते शतं वर्माणि**) तेरे सौ कवच हैं, (**ते सहस्रं वीर्याणि**) तेरे हजारों वीर्य हैं, (**विश्वे देवाः**) सब देवोंने (**त्वां अस्मै जरसे भर्तवै**) तुझे इसको वृद्धावस्थाकी प्राप्ति होनेके लिये और भरणपोषणके लिये (**अदुः**) दिया है ॥ २ ॥

(**त्वां देववर्म आहुः**) तुझे देवोंका कवच कहते हैं, हे दर्भ ! (**त्वां बृहस्पतिं**) तुझे बृहस्पति कहते हैं । (**त्वां इन्द्रस्य वर्म आहुः**) तुझे इन्द्रका कवच कहते हैं । (**त्वं राष्ट्राणि रक्षसि**) तू राष्ट्रोंका रक्षण करता है ॥ ३ ॥

हे दर्भ ! (**सपत्न-क्षयणं**) शत्रुनाशक, (**द्विषतः हृदः तपनं**) द्वेष करनेवालोंके हृदयोंको संताप देनेवाला, (**क्षत्रस्य वर्धनं**) क्षात्रतेजका संवर्धन करनेवाला, (**ते तनूपानं मणिं कृणोमि**) तेरे शरीरका रक्षक इस मणिको मैं करता हूं ॥ ४ ॥

(**यत् समुद्रः अभ्यक्रन्दत्**) जो समुद्र गर्जना करता रहा, (**विद्युता सह पर्जन्यः**) बिजलीके साथ मेघ गर्जना करता रहा (**ततः हिरण्यः बिन्दुः**) वहांसे सुवर्णका बिन्दु उत्पन्न हुआ, (**ततः दर्भः अजायत**) उससे दर्भमणि उत्पन्न हुआ है ॥ ५ ॥

(३१) औदुम्बरमणिः ।

(ऋषि – सविता (पुष्टिकामः) । देवता — औदुम्बरमणिः ।)

औदुम्बरेण मणिना पुष्टिकामाय वेधसा । पशूनां सर्वेषां स्फातिं गोष्ठे मे सविता करत् ॥ १ ॥
यो नो अग्निर्गार्हपत्यः पशूनामधिपा असत् । औदुम्बरो वृषा मणिः सं मा सृजतु पुष्ट्या ॥ २ ॥
करीषिणीं फलवतीं स्वधामिरां च नो गृहे । औदुम्बरस्य तेजसा धाता पुष्टिं दधातु मे ॥ ३ ॥
यद् द्विपाच्च चतुष्पाच्च यान्यन्नानि ये रसाः । गृह्णे३हं त्वेषां भूमानं बिभ्रदौदुम्बरं मणिम् ॥ ४ ॥

पुष्टिं पशूनां परि जग्रभाहं चतुष्पदां द्विपदां यच्च धान्यम् ।
पयः पशूनां रसमोषधीनां बृहस्पतिः सविता मे नि यच्छात् ॥ ५ ॥

अहं पशूनामधिपा असानि मयि पुष्टं पुष्टपतिर्दधातु ।
मह्यमौदुम्बरो मणिर्द्रविणानि नि यच्छतु ॥ ६ ॥

उप मौदुम्बरो मणिः प्रजया च धनेन च ।
इन्द्रेण जिन्वितो मणिरा मागन्त्सह वर्चसा ॥ ७ ॥

---

(३१) औदुम्बरमणिः ।

अर्थ— (**वेधसा**) ज्ञानीने (**औदुम्बरेण मणिना**) औदुम्बर मणिसे (**पुष्टिकामाय**) पुष्टि चाहनेवालेके लिये प्रयोग किया । जिससे (**सविता**) सविता (**मे गोष्ठे**) मेरी गोशालामें (**सर्वेषां पशूनां स्फातिं**) सब पशुओंकी वृद्धि (**करत्**) करे ॥ १ ॥

(**यः नः गार्हपत्यः अग्निः**) जो हमारा गार्हपत्य अग्नि (**पशूनां अधिपा असत्**) पशुओंका अधिपति है, (**औदुम्बरः वृषा मणिः**) बलवान् औदुम्बरमणि (**मा पुष्ट्या सं सृजतु**) मुझे पुष्टिके साथ युक्त करे ॥ २ ॥

(**करीषिणीं**) गोबरके खादसे भरपूर करनेवाली गौ, (**फलवतीं**) संतानसे युक्त होकर (**नः गृहे स्वधां इरां च**) हमारे घरमें अन्न और पेय भरपूर देवे । (**औदुम्बरस्य तेजसा**) औदुम्बर मणिके तेजसे (**धाता मे पुष्टिं दधातु**) धाता मुझे पुष्टि देवे ॥ ३ ॥

(**औदुम्बरं मणिं बिभ्रत्**) औदुम्बर मणिका धारण करके (**अहं**) मैं (**यत् द्विपात् च चतुष्पाद् च**) जो द्विपाद और चतुष्पाद और (**यानि अन्नानि ये रसाः**) जो अन्न और रस हैं (**एषां भूमानं गृह्णे**) इनकी बहुतायतसे प्राप्त करता हूं ॥ ४ ॥

(**पशूनां पुष्टिं अहं परि जग्रभ**) सब पशुओंकी पुष्टि मैंने ली है, (**चतुष्पदां द्विपदां यत् च धान्यं**) चार पांववाले, द्विपाद और जो धान्य है । (**पशूनां पयः**) पशुओंके दूधको और (**ओषधीनां रसं**) ओषधियोंके रसको (**बृहस्पतिः सविता मे नि यच्छात्**) बृहस्पति सविता मुझे देवे ॥ ५ ॥

(**अहं पशूनां अधिपा असानि**) मैं पशुओंका अधिपति होऊं । (**पुष्टपतिः मयि पुष्टं दधातु**) पुष्टका पति मुझे पुष्टि देवे । (**औदुम्बरः मणिः मह्यं द्रविणानि नि यच्छतु**) औदुम्बर मणि मेरे लिये धन देवे ॥ ६ ॥

(**औदुम्बरो मणिः**) औदुम्बर मणि (**प्रजया च धनेन च**) प्रजा और धनके साथ (**इन्द्रेण जिन्वितो मणिः**) इन्द्रने प्रेरा हुआ वह मणि (**वर्चसा सह मा उप आ गन्**) तेजके साथ मेरे समीप आया है ॥ ७ ॥

देवो मणिः सपत्नहा धनसा धनसातये । पशोरन्नस्य भूमानं गवां स्फातिं नि यच्छतु ॥ ८ ॥
यथाग्रे त्वं वनस्पते पुष्ट्या सह जज्ञिषे । एवा धनस्य मे स्फातिमा दधातु सरस्वती ॥ ९ ॥
आ मे धनं सरस्वती पयस्फातिं च धान्यम् । सिनीवाल्युपा वहादयं चौदुम्बरो मणिः ॥ १० ॥
त्वं मणीनामधिपा वृषासि त्वयि पुष्टं पुष्टपतिर्जजान ।
त्वयीमे वाजा द्रविणानि सर्वौदुम्बरः स त्वमस्मत्सहस्वारादरातिममतिं क्षुधं च ॥ ११ ॥
ग्रामणीरसि ग्रामणीरुत्थायाभिषिक्तोऽभि मा सिञ्च वर्चसा ।
तेजोऽसि तेजो मयि धारयाधि रयिरसि रयिं मे धेहि ॥ १२ ॥
पुष्टिरसि पुष्ट्या मा समङ्ग्धि गृहमेधी गृहपतिं मा कृणु ।
औदुम्बरः स त्वमस्मासु धेहि रयिं च नः सर्ववीरं नि यच्छ
रायस्पोषाय प्रति मुञ्चे अहं त्वाम् ॥ १३ ॥
अयमौदुम्बरो मणिर्वीरो वीराय बध्यते ।
स नः सनिं मधुमतीं कृणोतु रयिं च नः सर्ववीरं नि यच्छात् ॥ १४ ॥ (१४९)

अर्थ— (**सपत्नहा देवः मणिः**) शत्रुओंको दूर करनेवाला यह दिव्य मणि (**धनसा**) धनोंको जीतनेवाला होकर (**धनसातये**) धनकी प्राप्तिके लिये [धारण किया है ।] यह (**पशोः अन्नस्य भूमानं**) पशु और अन्नकी समृद्धि तथा (**गवां स्फातिं नि यच्छतु**) गौवोंकी हमें वृद्धि देवे ॥ ८ ॥

हे वनस्पते ! (**यथा अग्रे त्वं**) जैसे पहिले तू (**पुष्ट्या सह जज्ञिषे**) पुष्टिके साथ उत्पन्न हुई, (**एवा सरस्वती**) वैसी ही सरस्वती (**मे धनस्य स्फातिं आ दधातु**) मेरे लिये धनकी वृद्धि देवे ॥ ९ ॥

सरस्वती, सिनीवाली और (**अयं औदुम्बरो मणिः**) यह औदुम्बर मणि (**मे**) मेरे पास (**धनं पयस्फातिं च धान्यं**) धन, धान्य और दूधकी समृद्धि (**आ वहात्**) लावे ॥ १० ॥

(**त्वं वृषा असि**) तू बलवान् है, (**मणीनां अधिपाः**) मणियोंका अधिपति है। (**पुष्टपतिः त्वयि पुष्टं जजान**) पुष्टपतिने तुझमें पुष्टि उत्पन्न की है। (**त्वयि इमे वाजाः**) तुझमें ये बल हैं, (**सर्वा द्रविणानि**) सब धन तुझमें हैं। (**सः त्वं औदुम्बरः**) वह तू औदुम्बर मणि, (**अस्मत् अरातिं अमतिं क्षुधं च**) हमसे कंजूसी, निर्बुद्धता तथा क्षुधाको (**सहस्व**) दूर हटा दे ॥ ११ ॥

(**ग्रामणीः असि**) तू ग्रामका नेता है, (**ग्रामणीः उत्थाय**) ग्रामका नेता होकर उठकर (**अभिषिक्तः**) तू अभिषिक्त हो, (**वर्चसा मा अभिषिञ्च**) तेजसे मुझे अभिषिक्त कर। (**तेजः असि**) तू तेज है, (**मयि तेजः धारय**) मुझमें तेज धारण कर, (**रयिः असि**) तू धन है, (**मे रयिं अधि धारय**) मुझमें धनका धारण कर ॥ १२ ॥

(**पुष्टिः असि मा पुष्ट्या समङ्ग्धि**) तू पुष्टि है मुझे पुष्टिसे युक्त कर, (**गृहमेधी**) तू गृहमेधी होकर (**मा गृहपतिं कृणु**) मुझे गृहपति कर। (**सः औदुम्बरः**) वह तू औदुम्बर मणि है (**त्वं अस्मासु रयिं धेहि**) तू हममें धन स्थापन कर। (**नः सर्ववीरं च नि यच्छ**) हमारे लिये वीर पुत्र पौत्रवाला धन दे। (**अहं त्वां**) मैं तुझे (**रायः पोषाय प्रति मुञ्चे**) धनकी पुष्टिके लिये पहनता हूं ॥ १३ ॥

(**अयं औदुम्बरः मणिः**) यह औदुम्बरमणि (**वीरः वीराय बध्यते**) वीर है, वह वीरको बांधा जाता है। (**सः नः मधुमतिं सनिं कृणोतु**) वह हमें मधुरताके साथ लाभसे संयुक्त करे। (**सर्ववीरं रयिं च नः नि यच्छात्**) और वीरोंसे युक्त धन हमें दे ॥ १४ ॥

(३२) दर्भः।

(ऋषिः — भृगुः (आयुष्कामः) । देवता — दर्भः ।)

शतकाण्डो दुश्च्यवनः सहस्रपर्ण उत्तिरः । दुर्भो य उग्र ओषधिस्तं ते बध्नाम्यायुषे ॥ १ ॥
नास्य केशान्प्र वपन्ति नोरसि ताडमा घ्नते । यस्मा अच्छिन्नपर्णेन दुर्भेण शर्म यच्छति ॥ २ ॥
दिवि ते तूलमोषधे पृथिव्यामसि निष्ठितः । त्वया सहस्रकाण्डेनायुः प्र वर्धयामहे ॥ ३ ॥
तिस्रो दिवो अत्यतृणत्तिस्र इमाः पृथिवीरुत । त्वयाहं दुर्हार्दो जिह्वां नि तृणद्मि वचांसि ॥ ४ ॥
त्वमसि सहमानोऽहमस्मि सहस्वान् । उभौ सहस्वन्तौ भूत्वा सपत्नान्त्सहिषीवहि ॥ ५ ॥
सहस्व नो अभिमातिं सहस्व पृतनायतः । सहस्व सर्वान्दुर्हार्दः सुहार्दो मे बहून्कृधि ॥ ६ ॥
दुर्भेण देवजातेन दिवि ष्टम्भेन शश्वदित् । तेनाहं शश्वतो जनाँ असनं सनवानि च ॥ ७ ॥
प्रियं मा दर्भ कृणु ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च ।
यस्मै च कामयामहे सर्वस्मै च विपश्यते ॥ ८ ॥

---

(३२) दर्भः।

अर्थ— (**शतकाण्डः दुश्च्यवनः**) सौ काण्डोंवाला, हटाना जिसका कठिन है (**सहस्रपर्णः**) हजारों पत्तोंवाला (**उत्तिरः**) ऊपर आनेवाला (**दर्भः यः उग्रः ओषधिः**) दर्भ यह एक उग्र औषधि है, (**तं ते आयुषे बध्नामि**) उसको तुझे आयु बढानेके लिये बांधता हूं ॥ १ ॥

(**अस्य केशान् न प्रवपन्ति**) इसके बालोंको काटते नहीं, (**न उरसि ताडं आ घ्नते**) न छातीको पीटते हुए मारते हैं, (**यस्मै**) जिसको (**अच्छिन्न पर्णेन दर्भेण**) न कटे पत्तोंवाले दर्भसे यह (**शर्म यच्छति**) सुख देता है ॥ २ ॥

हे ओषधे ! (**ते तूलं दिवि**) तेरी चोटी आकाशमें है, (**पृथिव्यां असि निष्ठितः**) पृथिवीमें तू स्थिर है।(**त्वया सहस्रकाण्डेन**) तुझ सहस्र काण्डवालोंके द्वारा (**आयुः प्र वर्धयामहे**) हम अपनी आयुको बढाते हैं ॥ ३ ॥

(**तिस्रो दिवः अत्यतृणत्**) तू तीन आकाशोंको और, (**तिस्रः इमाः पृथिवीः उत**) तीन इन पृथिवीयोंको भी चीर गया है । (**त्वया अहं**) तेरे द्वारा मैं (**दुर्हादः जिह्वां**) दुष्ट हृदयवालेकी जिह्वाको तथा (**वचांसि नि तृणद्मि**) वचनोंको चीर डालता हूं ॥ ४ ॥

(**त्वं सहमानः असि**) तू विजयी है, (**अहं सहस्वान् असि**) मैं बलवान् हूं । (**उभौ सहस्वन्तौ भूत्वा**) हम दोनों बलवान होकर (**सपत्नान् सहिषीमहि**) शत्रुओंको दबा देंगे ॥ ५ ॥

(**नः अभिमातिं सहस्व**) हमारे शत्रुको दबाओ, (**पृतनायतः सहस्व**) सेनासे हमला करनेवालेको पराभूत कर। (**सर्वान् दुर्हार्दः सहस्व**) सब दुष्ट हृदयवालोंको पराभूत कर, (**मे सुहार्दः बहून् कृधि**) मेरे लिये उत्तम हृदयवाले मित्र बहुत कर ॥ ६ ॥

(**देवजातेन दर्भेण**) देवोंसे उत्पन्न हुए दर्भसे (**शश्वत् इत् दिवि ष्टम्भेन**) सदा द्युलोकमें थामनेवाले (**तेन अहं**) उस दर्भमणिसे मैं (**शश्वतः जनान् असनं**) सदा लोगोंको जीता है और (**सनवानि च**) जीतूंगा भी ॥ ७ ॥

हे दर्भ ! (**ब्रह्मराजन्याभ्यां**) ब्राह्मण, क्षत्रियों और (**शूद्राय चार्याय च**) शूद्रों और आर्योंके लिये, (**यस्मै च कामयामहे**) जिसको हम चाहते हैं और (**सर्वस्मै पश्यते च**) सब देखनेवालेके लिये (**मा प्रियं कृणु**) मुझे प्रिय बना ॥ ८ ॥

यो जायमानः पृथिवीमदृंहद्यो अस्तभ्नादन्तरिक्षं दिवं च ।
यं बिभ्रतं ननु पाप्मा विवेद स नोऽयं दर्भो वरुणो दिवा कः ॥ ९ ॥

सपत्नहा शतकाण्डः सहस्वानोषधीनां प्रथमः सं बभूव ।
सोऽयं दर्भः परि पातु विश्वतस्तेन साक्षीय पृतनाः पृतन्यतः ॥ १० ॥ (२५९)

(३३) दर्भः ।

(ऋषिः — भृगुः । देवता — दर्भः ।)

सहस्रार्घः शतकाण्डः पयस्वानपामग्निर्वीरुधां राजसूयम् ।
स नोऽयं दर्भः परि पातु विश्वतो देवो मणिरायुषा सं सृजाति नः ॥ १ ॥

घृतादुल्लुप्तो मधुमान्पयस्वान्भूमिदृंहोऽच्युतश्च्यावयिष्णुः ।
नुदन्त्सपत्नानधरांश्च कृण्वन्दर्भा रोह महतामिन्द्रियेण ॥ २ ॥

त्वं भूमिमत्येष्योजसा त्वं वेद्यां सीदसि चारुरध्वरे ।
त्वां पवित्रमृषयोऽभरन्त त्वं पुनीहि दुरितान्यस्मत् ॥ ३ ॥

अर्थ— (**यः जायमानः**) जिसने जन्मते ही (**पृथिवीं अदृंहत्**) पृथिवीको दृढ किया, (**यः अन्तरिक्षं दिवं च अस्तभ्नात्**) जिसने अन्तरिक्ष और द्युलोकको स्थिर किया, (**यं बिभ्रतं**) जिसके धरनेवालेको (**पाप्मा न नु विवेद**) पापी नहीं प्राप्त कर सकता, (**सः अयं दर्भः**) वह यह दर्भमणि (**वरुणः**) वरुण-श्रेष्ठ बनकर (**दिवा कः**) प्रकाश करे ॥ ९ ॥

(**सपत्नहा**) शत्रुको मारनेवाला, (**शतकाण्डः**) सौ काण्डोंवाला, (**सहस्वान्**) शक्तिमान् (**ओषधीनां प्रथमः सं बभूव**) औषधियोंमें पहिला हुआ है । (**सः अयं दर्भः**) वह यह दर्भमणि (**विश्वतः नः परि पातु**) सब ओरसे हमारा रक्षण करे । (**तेन**) उससे मैं (**पृतन्यतः पृतनाः**) सेनावालेकी सेनाको (**साक्षीय**) जीतूंगा ॥ १० ॥

(३३) दर्भः ।

(**सहस्र-अर्घः**) सहस्रों प्रकारसे मूल्यवान् (**शतकाण्डः**) सौ काण्डोंवाला, (**पयस्वान्**) दूधसे परिपूर्ण, (**अपां अग्निः**) जलोंमें रहनेवाला अग्नि (**वीरुधां राजसूयं**) औषधियोंका राजसूय यज्ञ जैसा, (**सः अयं दर्भः**) वह यह दर्भमणि (**नः विश्वतः परि पातु**) हमें चारों ओरसे सुरक्षित रखे । (**देवः मणिः नः आयुषा सं सृजाति**) यह दिव्य मणि हमें आयुके साथ संयुक्त करे ॥ १ ॥

(**घृतात् उल्लुप्तः**) घीसे सींचा हुआ, (**मधुमान् पयस्वान्**) मधु और दूधसे भरा, (**भूमि-दृंहः**) भूमिको दृढ करनेवाला, (**अच्युतः**) न गिरनेवाला, (**च्यावयिष्णुः**) शत्रुओंको गिरानेवाला, (**सपत्नान् नुदन्**) शत्रुओंको दूर करनेवाला, (**अधरान् च कृण्वन्**) शत्रुको नीचे करनेवाला, तू हे दर्भ ! (**महतां इंद्रियेण आ रोह**) बडोंके वीर्यसे शरीरपर आरूढ हो ॥ २ ॥

(**त्वं भूमिं ओजसा अत्येषि**) तू भूमिको अपने बलसे उल्लंघन करके जाता है, (**त्वं अध्वरे वेद्यां चारुः सीदसि**) तू यज्ञकी वेदीमें सुन्दर रीतिसे बैठता है । (**ऋषयः त्वां पवित्रं अभरन्त**) ऋषियोंने तुझे पवित्र जान कर धारण किया, (**त्वं अस्मत् दुरितानि पुनीहि**) तू हमसे पापोंको दूर करके हमें पवित्र बना ॥ ३ ॥

❀

तीक्ष्णो राजा विषासही रक्षोहा विश्वचर्षणिः ।
ओजो देवानां बलमुग्रमेतत्तं ते बध्नामि जरसे स्वस्तये ॥ ४ ॥
दर्भेण त्वं कृणवद्वीर्याणि दर्भं बिभ्रदात्मना मा व्यथिष्ठाः ।
अतिष्ठाया वर्चसाधान्यान्त्सूर्य इवा भाहि प्रदिशश्चतस्रः ॥ ५ ॥ (२६४)

॥ इति चतुर्थोऽनुवाकः ॥ ४ ॥

(३४) जङ्गिडमणिः ।

(ऋषिः — अङ्गिराः । देवता— वनस्पतिः, लिंगोक्ताः ।)

जङ्गिडोऽसि जङ्गिडो रक्षितासि जङ्गिडः । द्विपाच्चतुष्पादस्माकं सर्वं रक्षतु जङ्गिडः ॥ १ ॥
या गृत्स्यस्त्रिपञ्चाशीः शतं कृत्याकृतश्च ये । सर्वान्विनक्तु तेजसोऽरसां जङ्गिडस्करत् ॥ २ ॥
अरसं कृत्रिमं नादमरसाः सप्त विस्रसः । अपेतो जङ्गिडामतिमिषुमस्तेव शातय ॥ ३ ॥
कृत्यादूषण एवायमथो अरातिदूषणः । अथो सहस्वाञ्जङ्गिडः प्र ण आयूंषि तारिषत् ॥ ४ ॥

अर्थ— (**तीक्ष्णः राजा**) वीर राजा, (**विषासहिः**) शत्रुको पराभूत करनेवाला, (**रक्षोहा**) राक्षसोंको मारनेवाला (**विश्वचर्षणिः**) सब मानवोंका स्वामी, (**देवानां ओजः**) देवोंका यह सामर्थ्य है, (**एतत् उग्रं बलं**) यह उग्र बल है, (**तं ते**) उसको तेरे शरीर पर (**जरसे स्वस्तये बध्नामि**) वृद्धावस्थाकी प्राप्तिके लिये और कल्याणके लिये बांधता हूं ॥ ४ ॥

(**त्वं दर्भेण वीर्याणि कृणवत्**) तू दर्भमणिसे पराक्रम कर (**दर्भं बिभ्रत्**) दर्भमणिको धारण करके (**आत्मना मा व्यथिष्ठाः**) स्वयं दुःखित न हो। (**अथ अन्यान् वर्चसा अतिष्ठाय**) अब दूसरोंसे तेजके कारण ऊपर होकर (**सूर्यः इव**) सूर्यके समान (**चतस्रः प्रदिशः आ भाहि**) चारों दिशाओंमें प्रकाशित हो ॥ ५ ॥

॥ यहां चतुर्थ अनुवाक समाप्त ॥

---

(३४) जङ्गिडमणिः ।

अर्थ— (**जङ्गिडः असि**) तू जङ्गिड है, (**जङ्गिडः रक्षिता असि**) तू जङ्गिड अर्थात् रक्षक है। (**अस्माकं द्विपात् चतुष्पाद् सर्वं जङ्गिडः रक्षतु**) हमारा दो पांववाला और चार पांववाला जो है उस सबका यह जङ्गिडमणि रक्षण करे ॥ १ ॥

(**या गृत्स्यः त्रि पञ्चाशीः**) जो हिंसक कृत्य तीन गुणा पचास हैं और (**शतं कृत्याकृतः च ये**) जो सौ हिंसक कर्म करनेवाले हैं, (**सर्वान् तेजसः विनक्तु**) उन सबको यह तेजसे दूर करे, यह (**जङ्गिडः अरसान् करत्**) जङ्गिडमणि सत्त्वहीन करे ॥ २ ॥

(**अरसं कृत्रिमं नादं**) बनावटी शब्दको निःसत्व बनावे, (**सप्त विस्रसः अरसाः**) सात प्रवाहोंको नीरस बनावे, हे जङ्गिड ! (**इतः अमतिं अप**) यहांसे बुद्धिहीनताको दूर कर, (**अस्ता इषुं इव शातय**) बाण फेंकनेवाला जैसा बाणको फेंकता है उस तरह दूर कर ॥ ३ ॥

(**अयं कृत्यादूषणः एव**) यह हिंसक कृत्योंका नाशक है, (**अथ उ अरातिदूषणः**) यह शत्रुका विनाशक है। (**अथो जङ्गिडः सहस्वान्**) और यह जङ्गिडमणि सामर्थ्यवान् है, यह (**नः आयूंषि प्रतारिषत्**) हमारे आयुको बढावे ॥ ४ ॥

स जङ्गिडस्य महिमा परि णः पातु विश्वतः । विष्कन्धं येन सासह संस्कन्धमोज ओजसा ॥ ५ ॥
त्रिष्ट्वा देवा अजनयन्निष्ठितं भूम्यामधि । तमु त्वाङ्गिरा इति ब्राह्मणाः पूर्व्या विदुः ॥ ६ ॥
न त्वा पूर्वा ओषधयो न त्वा तरन्ति या नवाः । विबाध उग्रो जङ्गिडः परिपाणः सुमङ्गलः ॥ ७ ॥
अथोपदान भगवो जङ्गिडामितवीर्य । पुरा त उग्रा ग्रसत उपेन्द्रो वीर्यं ददौ ॥ ८ ॥
उग्र इत् ते वनस्पत इन्द्र ओज्मानमा दधौ । अमीवाः सर्वाश्चातयं जहि रक्षांस्योषधे ॥ ९ ॥
आशरीकं विशरीकं बलासं पृष्ट्यामयम् । तक्मानं विश्वशारदमरसां जङ्गिडस्करत् ॥ १० ॥ (१७४)

(३५) जङ्गिडः ।

(ऋषिः — अंगिराः । देवता — वनस्पतिः ।

इन्द्रस्य नाम गृह्णन्त ऋषयो जङ्गिडं ददुः । देवा यं चक्रुर्भेषजमग्रे विष्कन्धदूषणम् ॥ १ ॥
स नो रक्षतु जङ्गिडो धनपालो धनेव । देवा यं चक्रुर्ब्राह्मणाः परिपाणमरातिहम् ॥ २ ॥

अर्थ— (जङ्गिडस्य सः महिमा) जङ्गिडमणिका वह महिमा है **(नः विश्वतः परि पातु)** कि वह हमारी सब ओरसे रक्षा करे । **(येन विष्कन्धं सासहे)** जिससे हम रोगको दूर करते हैं **(ओजसा संस्कंधं ओजः)** अपने बलसे संस्कन्ध रोगको भी दूर करते हैं ॥ ५ ॥

(देवाः त्वा त्रिः अजनयन्) देवोंने तुझे तीन वार उत्पन्न किया, **(भूम्यां अधि निष्ठितं)** भूमिपर तू स्थिर है । **(पूर्व्याः ब्राह्मणाः)** पूर्व कालके ब्राह्मण **(तं उ त्वा अङ्गिरा इति विदुः)** उस तुझे अङ्गिरा करके जानते हैं ॥ ६ ॥

(पूर्वा ओषधयः न त्वा) पुरानी औषधियां तुझे लांघतीं नहीं, **(या नवाः त्वा न तरन्ति)** जो नवीन औषधियां हैं वे भी लांघती नहीं । **(विबाधः उग्रः जङ्गिडः)** रोगोंको विशेष बाधा पहुंचानेवाला उग्र यह जङ्गिडमणि है, यह **(परिपाणः सुमंगलः)** संरक्षक और उत्तम मंगल करनेवाला है ॥ ७ ॥

(अथ उपदान भगवः जङ्गिड) हे दान देनेवाले भगवान् जङ्गिड ! हे **(अमितवीर्य)** अपरिमित शक्तिवाले ! **(पुरा ते उग्रा ग्रसत)** उग्र शत्रु तुझे ग्रास करनेके पूर्व **(इन्द्रः वीर्य उप ददौ)** इन्द्रने तुझमें वीर्य रखा है ॥ ८ ॥

हे वनस्पते ! **(ते इत् उग्रः इन्द्रः)** तेरे अन्दर उग्र इन्द्रने **(ओज्मानं आ दधौ)** बडी शक्ति रखी है, **(सर्वाः अमीवाः चातयन्)** तू सब रोगोंको दूर करके, हे ओषधे ! **(रक्षांसि जहि)** राक्षसोंको मार ॥ ९ ॥

(आशरीकं विशरीकं) तोडनेवाला, टुकडे करनेवाला **(बलासं)** खासी, **(पृष्ठ्यामयं)** पीठकी बीमारी **(तक्मान विश्व शारदं)** शरद ऋतुमें होनेवाला ज्वर आदिको **(जङ्गिडः अरसान् करत्)** जङ्गिडमणि निःसत्त्व करता है ॥ १० ॥

(३५) जङ्गिडः ।

(इन्द्रस्य नाम गृह्णन्तः) प्रभुका नाम लेते हुए **(ऋषयः)** ऋषियोंने **(जङ्गिडं ददुः)** जङ्गिडमणि दिया है । **(अग्रे देवाः)** प्रारंभमें देवोंने **(यं विष्कंधदूषणं भेषजं चक्रुः)** जो रोग दूर करनेवाला औषध करके किया था ॥ १ ॥

(धनपालः धना इव) धनका स्वामी जैसा धनोंका रक्षण करता है उस तरह **(सः जङ्गिडः नः रक्षतु)** वह जङ्गिड हमारी रक्षा करे । **(यं देवाः ब्राह्मणाः)** जिसको देवों और ब्राह्मणोंने **(परिपाणं अरातिहं चक्रुः)** रक्षक और शत्रुनाशक किया है ॥ २ ॥

दुर्हार्दः संघोरं चक्षुः पापकृत्वानमागमम् ।
तांस्त्वं सहस्रचक्षो प्रतीबोधेन नाशय परिपाणोऽसि जङ्गिडः ॥ ३ ॥
परि मा दिवः परि मा पृथिव्याः पर्यन्तरिक्षात्परि मा वीरुद्भ्यः ।
परि मा भूतात्परि मोत भव्याद्दिशोदिशो जङ्गिडः पात्वस्मान् ॥ ४ ॥
य ऋष्णवो देवकृता य उतो ववृतेऽन्यः । सर्वांस्तान्विश्वभेषजोऽरसां जङ्गिडस्करत् ॥ ५ ॥ (२७९)

(३६) शतवारो मणिः ।

(ऋषिः — ब्रह्मा । देवता — शतवारः ।)

शतवारो अनीनशद्यक्ष्मान्रक्षांसि तेजसा । आरोहन्वर्चसा सह मणिर्दुर्णामचातनः ॥ १ ॥
शृङ्गाभ्यां रक्षो नुदते मूलेन यातुधान्यः । मध्येन यक्ष्मं बाधते नैनं पाप्माति तत्रति ॥ २ ॥
ये यक्ष्मासो अर्भका महान्तो ये च शब्दिनः । सर्वान् दुर्णामहा मणिः शतवारो अनीनशत् ॥ ३ ॥
शतं वीरानजनयच्छतं यक्ष्मानपावपत् । दुर्णाम्नः सर्वान्हत्वाव रक्षांसि धूनुते ॥ ४ ॥

अर्थ— (**दुर्हार्दः**) दुष्ट हृदयवालेके (**संघोरं चक्षुः**) क्रूर नेत्रको और (**पापकृत्वानं आगमं**) पाप कर्म करनेके लिये आये हुएको (**तान् त्वं सहस्रचक्षः**) उनको तू हे सहस्र आंखवाले ! (**प्रतिबोधेन नाशय**) सावधानतासे विनष्ट कर । (**परिपाणः असि जङ्गिडः**) तू संरक्षण करनेवाला जङ्गिडमणि है ॥ ३ ॥

(**दिवः मा परि पातु**) द्युलोकसे मेरा रक्षण करे, (**पृथिव्याः मा परि**) पृथिवीके ऊपर, (**अन्तरिक्षात् परि**) अन्तरिक्षसे, (**वीरुद्भ्यः मा परि**) औषधियोंसे, (**मा भूतात् परि**) भूतोंसे (**भव्यात् मा परि**) होनेवालेसे (**दिशः दिशः जङ्गिडः अस्मान् पातु**) दिशा दिशाओंसे यह जङ्गिडमणि हम सब सबका रक्षण करे ॥ ४ ॥

(**ये देवकृताः ऋष्णवः**) जो देवोंसे बने हिंसक कृत्य हैं, (**ये उत उ ववृतेऽन्यः**) जो कोई दूसरे हिंसक हैं (**सर्वान् तान्**) उन सबको (**विश्वभेषजः जङ्गिडः**) सब औषधिगुणवाला जङ्गिडमणि (**अरसान् करत्**) निःसत्व बनावे ॥ ५ ॥

(३६) शतवारो मणिः ।

(**शतवारः मणि**) शतवार मणि (**वर्चसा सह आरोहन्**) तेजके साथ शरीर पर बांधा हुआ (**दुर्णामचातनः**) दुष्ट नामवाले रोगोंको दूर करता हुआ (**तेजसा यक्ष्मान् रक्षांसि अनीनशत्**) अपने तेजसे अनेक रोगोंको और रोगजन्तुओं [राक्षसों] का नाश करता है ॥ १ ॥

(**शृंगाभ्यां रक्षः नुदते**) सींगोंसे राक्षसोंको दूर करता है, (**मूलेन यातुधान्यः**) मूलसे यातना देनेवालोंको दूर करता है, (**मध्येन यक्ष्मं बाधते**) मध्यसे रोगको दूर करता है, (**पाप्मा एनं न अति तत्रति**) पापी रोग इसको लांघ नहीं सकता ॥ २ ॥

(**ये यक्ष्मासः अर्भकाः**) जो रोगबीज सूक्ष्म हैं, (**ये च महान्तः शब्दिनः**) जो बडे शब्द करनेवाले रोग हैं, (**सर्वान् दुर्णाम-हा शतवारः मणि अनीनशत्**) इन सबको दुष्ट नामवाले रोगोंका नाश करनेवाला शतवार मणि नाश करता है ॥ ३ ॥

(**शतं वीरान् अजनयत्**) सौ वीरोंको जन्म देता है, (**शतं यक्ष्मान् अपावपत्**) सैकडों रोगोंको दूर करता है, (**सर्वान् दुर्णाम्नः हत्वा**) दुष्ट नामवाले सब रोगोंको मार कर, (**रक्षांसि अवधूनुते**) सब राक्षसों रोगबीजों-को कंपा देता है ॥ ४ ॥

हिर॑ण्यशृङ्ग ऋष॒भः शा॑तवा॒रो अ॒यं म॒णिः । दु॒र्णाम्नः॒ सर्वाँ॑स्तृ॒ड्ढ्वाव॒ रक्षां॑स्यक्रमीत् ॥ ५ ॥
श॒तम॒हं दु॒र्णाम्नी॑नां गन्धर्वाप्स॒रसां॑ श॒तम् । श॒तं श॑श्व॒न्वती॑नां श॒तवा॑रेण वारये ॥ ६ ॥ (२८५)

(३७) बलप्राप्तिः ।

(ऋषिः — अथर्वा । देवता — अग्निः ।)

इ॒दं वर्चो॑ अ॒ग्निना॑ द॒त्तमाग॒न्भर्गो॒ यशः॒ सह॒ ओजो॒ वयो॒ बल॑म् ।
त्रय॑स्त्रिंश॒द्यानि॑ च वी॒र्या॑णि॒ तान्य॒ग्निः प्र द॑दातु मे ॥ १ ॥
वर्च॒ आ धे॑हि मे त॒न्वां॒३॒॑ सह॒ ओजो॒ वयो॒ बल॑म् ।
इ॒न्द्रि॒याय॑ त्वा॒ कर्म॑णे वी॒र्या॒य॒ प्रति॑ गृह्णामि श॒तशा॑रदाय ॥ २ ॥
ऊ॒र्जे त्वा॒ बला॑य॒ त्वौज॑से॒ सह॑से त्वा । अ॒भि॒भूया॑य त्वा रा॒ष्ट्रभृ॑त्या॒य॒ पर्यू॑हामि श॒तशा॑रदाय ॥ ३ ॥
ऋ॒तुभ्य॑ष्ट्वार्त॒वेभ्यो॑ मा॒द्भ्यः सं॑वत्स॒रेभ्यः॑ । धा॒त्रे वि॑धा॒त्रे स॒मृधे॑ भू॒तस्य॒ पत॑ये यजे ॥ ४ ॥ (२८९)

(३८) यक्ष्मनाशनम् ।

(ऋषिः — अथर्वा । देवता — गुल्गुलुः ।)

न तं यक्ष्मा॒ अरु॑न्धते॒ नैनं॑ श॒पथो॑ अश्नुते । यं भे॑ष॒जस्य॑ गुल्गु॒लोः सु॑र॒भिर्ग॒न्धो अ॑श्नु॒ते ॥ १ ॥

अर्थ— (**हिरण्यशृंगः ऋषभः**) सोनेके सींगवाला बलवान् (**अयं शतवारः मणिः**) यह शतवार मणि है। (**दुर्णाम्नः सर्वान् तृड्वा**) सब दुष्ट नामवाले रोगोंको मारकर, (**रक्षांसि अवक्रमीत्**) राक्षसोंको हटा देता है ॥ ५ ॥

(**अहं दुर्णाम्नीनां शतं**) मैं दुष्ट नामवाले सैकडों रोगोंको, (**गन्धर्वाप्सरसां शतं**) गंधर्वों और अप्सरस् नामक सैकडों रोगोंको (**शश्वतीनां शतं**) कुत्तोंके साथ रहनेवाले सैकडों रोगोंको (**शतवारेण वारये**) इस शतवार मणिसे दूर करता हूं ॥ ६ ॥

'**शतवार**' यह '**शतावर**' है या क्या इसका विचार वैद्य करें।

(३७) बलप्राप्तिः ।

(**इदं वर्चः**) यह तेज (**अग्निना दत्तं आगन्**) अग्निने दिया आया है, यह (**भर्गः यशः**) तेज, यश, (**सहः ओजः**) साहस और सामर्थ्य, (**वयः बलं**) शक्ति और बल देता है। (**यानि त्रयस्त्रिंशत् वीर्याणि**) जो तैंतीस वीर्य हैं (**तानि अग्निः मे प्र ददातु**) उनको अग्नि मुझे देवे ॥ १ ॥

(**मे तन्वां**) मेरे शरीरमें (**वर्चः सहः**) तेज, साहस, (**ओजः वयः बलं**) ओज, शक्ति और बल (**आ धेहि**) स्थापन कर। (**इन्द्रियाय**) इन्द्रिय सामर्थ्यके लिये, (**कर्मणे वीर्याय**) कर्मशक्ति और वीर्यके लिये (**शतशारदाय**) सौ वर्षकी आयुके लिये (**त्वा प्रति गृह्णामि**) तुझे मैं धारण करता हूं ॥ २ ॥

(**ऊर्जे त्वा बलाय त्वा**) सत्वके लिये, बलके लिये, (**ओजसे सहसे त्वा**) सामर्थ्य और साहसके लिये, (**अभिभूयाय त्वा राष्ट्रभृत्याय**) शत्रु पराभवके लिये और राष्ट्रसेवाके लिये तथा (**शतशारदाय पर्यूहामि**) सौ वर्षकी आयुके लिये तुझे मैं पहनता हूं ॥ ३ ॥

(**ऋतुभ्यः त्वा आर्तवेभ्यः**) ऋतुओंके लिये, ऋतुओंसे बने हुओंके लिये (**माद्भ्यः संवत्सरेभ्यः**) महिनों और संवत्सरोंके लिये (**धात्रे विधात्रे**) धाता और विधाताके लिये (**समृधे भूतस्य पतये यजे**) समृद्धिके लिये तथा भूतोंके पतिके लिये यजन करता हूं ॥ ४ ॥

(३८) यक्ष्मनाशनम् ।

(**यक्ष्मा तं न अरुन्धते**) रोग उसको रोकता नहीं, (**शपथः एनं न अश्नुते**) शाप इनके समीप पहुंचता नहीं, (**यं**) जिसके पास (**भेषजस्य गुल्गुलः सुरभिः गन्धः**) औषध रूप गुग्गुलका उत्तम सुगंध (**अश्नुते**) प्राप्त होता है ॥ १ ॥

विष्वंञ्चस्तस्माद्यक्ष्मा मृगा अश्वां इवेरते। यद् गुल्गुलु सैन्धवं यद्वाप्यासि समुद्रियम् ॥ २ ॥
उभयोरग्रभं नामास्मा अरिष्टतातये ॥ ३ ॥ (१९१)

(३९) कुष्ठनाशनम्।

(ऋषिः — भृग्वंगिराः। देवता — कुष्ठः)

ऐतु देवस्त्रायमाणः कुष्ठो हिमवतस्परि। तक्मानं सर्वं नाशय सर्वाश्च यातुधान्यः ॥ १ ॥
त्रीणि ते कुष्ठ नामानि नद्यमारो नद्यारिषः। नद्यायं पुरुषो रिषत्।
यस्मै परिब्रवीमि त्वा सायंप्रातरथो दिवा ॥ २ ॥
जीवला नाम ते माता जीवन्तो नाम ते पिता। नद्यायं पुरुषो रिषत्।
यस्मै परिब्रवीमि त्वा सायंप्रातरथो दिवा ॥ ३ ॥
उत्तमो अस्योषधीनामनड्वान् जगतामिव व्याघ्रः श्वपदामिव। नद्यायं पुरुषो रिषत्।
यस्मै परिब्रवीमि त्वा सायंप्रातरथो दिवा ॥ ४ ॥
त्रिः शाम्बुभ्यो अङ्गिरेभ्यस्त्रिरादित्येभ्यस्परि। त्रिर्जातो विश्वदेवेभ्यः।
स कुष्ठो विश्वभेषजः। साकं सोमेन तिष्ठति।
तक्मानं सर्वं नाशय सर्वाश्च यातुधान्यः ॥ ५ ॥

अर्थ— (तस्मात् यक्ष्माः विष्वंचः) उससे सब रोग दूर भागते हैं (मृगाः अश्वाः इव ईरते) जैसे मृग और अश्व दौड जाते हैं। (यत् गुल्गुलु सैंधवं) जो तू गुग्गुल नदीसे प्राप्त हुआ हो, (यत् वा अपि समुद्रियं असि) अथवा तू समुद्रसे प्राप्त हुआ हो ॥ २ ॥

(उभयोः नाम अग्रभं) मैंने दोनोंका नाम लिया है (अस्मै अरिष्टतातये) इसकी नीरोगताके लिये ॥ ३ ॥

(३९) कुष्ठनाशनम्।

(त्रायमाणः देवः कुष्ठः) रक्षण करनेवाला दिव्य गुणयुक्त कुष्ठ वनस्पति (हिमवतस्परि ऐतु) हिमवान पर्वतपरसे आवे। (सर्वं तक्मानं नाशय) तू हरएक ज्वरको दूर कर, (सर्वाः यातुधान्यः) और सब यातना देनेवाले रोगोंको दूर कर ॥ १ ॥

हे कुष्ठ! (ते त्रीणि नामानि) तेरे तीन नाम हैं, (नद्यमारः) न मारनेवाला, (नद्यारिषः) न हानि पहुंचानेवाला, (नद्यायं पुरुषः रिषत्) हानि न पहुंचावे यह पुरुष। (यस्मै त्वा सायं प्रातः अथो दिवा परिब्रवीमि) जिसके लिये तेरी मैं शामको, प्रातःकालको और दिनभर प्रशंसा करता हूं ॥ २ ॥

(ते माता जीवला नाम) तेरी माता जीवन लानेवाली है (जीवन्तः नाम ते पिता) जीता रहनेवाला तेरा पिता है ॥ ० ॥ ३ ॥

(ओषधीनां उत्तमः असि) ओषधियोंमें तू उत्तम है, (अनड्वान् जगतां इव) जैसा बैल चलनेवालोंमें और (श्वपदां व्याघ्रः) श्वापदोंमें व्याघ्र होता है ॥ ० ॥ ४ ॥

(शांबुभ्यो अङ्गिरेभ्यः त्रिः) अङ्गिर कुलोत्पन्न शाम्बुओंसे तीन वार, (आदित्येभ्यः परि त्रिः) आदित्योंसे तीन वार, (विश्वदेवेभ्यः त्रिः जातः) विश्वे देवोंसे तीन वार उत्पन्न हुआ। (सः कुष्ठः विश्वभेषजः) वह कुष्ठ सब रोगोंकी औषधि है। वह (सोमेन साकं तिष्ठति) सोमके साथ रहता है। तू सब ज्वरोंका नाश कर और यातना देनेवाले सब रोगोंका नाश कर ॥ ५ ॥

अश्वत्थो देवसदनस्तृतीयस्यामितो दिवि । तत्रामृतस्य चक्षणं ततः कुष्ठो अजायत ।
स कुष्ठो विश्वभेषजः साकं सोमेन तिष्ठति ।
तक्मानं सर्वं नाशय सर्वाश्च यातुधान्यः ॥ ६ ॥
हिरण्ययी नौरचरद्धिरण्यबन्धना दिवि । तत्रामृतस्य चक्षणं ततः कुष्ठो अजायत ।
स कुष्ठो विश्वभेषजः साकं सोमेन तिष्ठति ।
तक्मानं सर्वं नाशय सर्वाश्च यातुधान्यः ॥ ७ ॥
यत्र नावप्रभ्रंशनं यत्र हिमवतः शिरः । तत्रामृतस्य चक्षणं ततः कुष्ठो अजायत ।
स कुष्ठो विश्वभेषजः साकं सोमेन तिष्ठति ।
तक्मानं सर्वं नाशय सर्वाश्च यातुधान्यः ॥ ८ ॥
यं त्वा वेद पूर्व इक्ष्वाको यं वा त्वा कुष्ठ काम्यः । यं वा वसो यमात्स्यस्तेनासि विश्वभेषजः ॥९॥
शीर्षलोकं तृतीयकं सदन्दिर्यश्च हायनः । तक्मानं विश्वधावीर्याधराञ्चं परा सुव ॥ १० ॥ (३०२)

(४०) मेधा।

(ऋषिः — ब्रह्मा । देवता — बृहस्पतिः, विश्वे देवाश्च ।)

यन्मे छिद्रं मनसो यच्च वाचः सरस्वती मन्युमन्तं जगाम ।
विश्वैस्तद्देवैः सह संविदानः सं दधातु बृहस्पतिः ॥ १ ॥

अर्थ— (अश्वत्थः देवसदनः) अश्वत्थ देवोंका रहनेका स्थान है, (इतः तृतीयस्यां दिवि) यहांसे तीसरे द्युलोकमें वह रहता है। (तत्र अमृतस्य चक्षणं) वहां अमृतका स्रोत है, (ततः कुष्ठो अजायत) वहांसे कुष्ठ उत्पन्न हुआ ॥ ० ॥ ० ॥ ६ ॥

(हिरण्ययी नौः) सोनेकी नौका (दिवि हिरण्यबन्धना) द्युलोकमें सोनेसे बांधी है। वहां अमृतका स्रोत है, वहांसे कुष्ठ उत्पन्न हुआ है ॥ ० ॥ ० ॥ ७ ॥

(यत्र न अवप्रभ्रंशनं) जहां नीचे गिरना नहीं है (यत्र हिमवतः शिरः) जहां हिमवानका सिर है ॥०॥०॥८॥

(पूर्वः इक्ष्वाकः यं त्वा वेद) प्राचीन इक्ष्वाकूने तुझे जाना था, तथा हे कुष्ठ ! (काम्यः वा यं त्वा वेद) कामके पुत्रने तुझे जाना था। (यं वा वसो) जिसको वसुने जाना था, (यं आत्स्यः) जिसको आत्स्यने जाना था, (तेन विश्वभेषजः असि) उस कारण तू सबका औषध है ॥ ९ ॥

यहां (यं वायसः) जिसको कौवोंने और (यं मात्स्यः) जिसको मात्स्यने जाना था। ऐसा पाठभेद है।

(तृतीयकं शीर्षलोकं) तीसरे दिन आनेवाला ज्वर, सिरमें होनेवाला रोग, (सदन्दिः) सदा दर्द करनेवाला जो रोग है वह, (यः च हायनः) जो खण्डशः पीडा देता है, हे (विश्वधावीर्य) अनेक प्रकारके सामर्थ्यवाले ! (तक्मानं अधराञ्चं परा सुव) रोगको नीचेकी ओरसे दूर कर ॥ १० ॥

(४०) मेधा।

(यत् मे मनसः छिद्रं) जो मेरे मनका छिद्र है, (यत् च वाचः) जो वाणीका छिद्र-दोष है, (तथा सरस्वती मन्युमन्तं जगाम) तथा विद्या क्रोधी पुरुषको प्राप्त हुई है, उससे जो दोष होता है (विश्वैः देवैः सह संविदानः) सब देवोंके साथ मिलकर (बृहस्पतिः तत् सं दधातु) बृहस्पति उस छिद्रको भर दे ॥ १ ॥

मा न आपो मेधां मा ब्रह्म प्र मथिष्टन ।
सुष्यदा यूयं स्यन्दध्वमुपहूतोऽहं सुमेधा वर्चस्वी ॥ २ ॥
मा नो मेधां मा नो दीक्षां मा नो हिंसिष्टं यत्तपः ।
शिवा नः शं सन्त्वायुषे शिवा भवन्तु मातरः ॥ ३ ॥
या नः पीपरदश्विना ज्योतिष्मती तमस्तिरः । तामस्मे रासतामिषम् ॥ ४ ॥ (२०६)

(४१) राष्ट्रं बलमोजश्च ।

(ऋषिः — ब्रह्मा । देवता — तपः ।)

भद्रमिच्छन्त ऋषयः स्वर्विदस्तपो दीक्षामुपनिषेदुरग्रे ।
ततो राष्ट्रं बलमोजश्च जातं तदस्मै देवा उपसंनमन्तु ॥ १ ॥ (२०७)

(४२) ब्रह्मयज्ञः ।

(ऋषिः — ब्रह्मा । देवता — ब्रह्म ।)

ब्रह्म होता ब्रह्म यज्ञा ब्रह्मणा स्वरवो मिताः । अध्वर्युर्ब्रह्मणो जातो ब्रह्मणोऽन्तर्हितं हविः ॥ १ ॥
ब्रह्म स्रुचो घृतवतीर्ब्रह्मणा वेदिरुद्धिता ।
ब्रह्म यज्ञस्य तत्त्वं च ऋत्विजो ये हविष्कृतः । शमिताय स्वाहा ॥ २ ॥

अर्थ— हे (**आपः**) जलो ! (**नः मेधां मा प्र मथिष्टन**) हमारी बुद्धिका मंथन न करो, (**मा ब्रह्म**) हमारे ज्ञानको न क्षीण करो, (**सु-स्यदा यूयं स्यं दध्वं**) सुगम प्रवाहसे तुम बहते रहो । (**उपहूतः अहं**) प्रार्थित हुआ मैं (**सुमेधा वर्चस्वी**) उत्तम बुद्धिवान् और तेजस्वी बनूं ॥ २ ॥

(**नः मेधा मा हिंसिष्टं**) हमारी मेधाको हानि न पहुंचाओ । (**नः दीक्षां मा**) हमारी दीक्षाको हानि न पहुंचाओ, (**यत् नः तपः**) जो हमारा तप है (**मा हिंसिष्टं**) उसका नाश न करो, (**नः आयुषे शिवा सन्तु**) हमारी आयुके लिये कल्याणकारी हों, (**मातरः शिवाः भवन्तु**) माताएं-जलधाराएं हमारे लिये कल्याण करनेवाली हों ॥ ३ ॥

हे अश्विनौ ! (**या ज्योतिष्मती नः पीपरत्**) जो प्रकाशवाली हमें पूर्ण करती है और (**तमः तिरः**) अन्धकारसे पार करती है, (**तां इषं अस्मे रासतां**) उस अन्नको हमें दे दो ॥ ४ ॥

(४१) राष्ट्रं बलमोजश्च ।

(**भद्रं इच्छन्तः स्वर्विदः ऋषयः**) कल्याणकी इच्छा करनेवाले आत्मज्ञानी ऋषि (**अग्रे तपः दीक्षां उपसेदुः**) प्रारंभमें तप और दीक्षाका आचरण करने लगे, (**ततः राष्ट्रं बलं ओजः च जातं**) उससे राष्ट्र हुआ, और बल और सामर्थ्य भी उत्पन्न हुआ । (**तत् अस्मै**) इसलिये इसके सामने (**देवाः उप सं नमन्तु**) ज्ञानी पुरुष विनम्र हों ॥ १ ॥

ऋषियोंके प्रयत्नसे राष्ट्र बना है इसलिये ज्ञानी लोग राष्ट्रके सामने विनम्र होकर राष्ट्र सेवा करें ॥

(४२) ब्रह्मयज्ञः ।

(**ब्रह्म होता**) ब्रह्म होता हुआ है । (**ब्रह्म यज्ञाः**) ब्रह्म ही यज्ञ हुए हैं । (**स्वरवः ब्रह्मणा मिताः**) स्वरू ब्रह्मसे मापे हैं । (**ब्रह्मणः अध्वर्युः जातः**) ब्रह्मसे अध्वर्यु हुआ है, (**ब्रह्मणः हविः अन्तर्हितं**) ब्रह्मके अन्दर हवि रखा है ॥ १ ॥

(**घृतवतीः स्रुचः ब्रह्म**) घीसे भरी स्रुचाएं ब्रह्म है, (**ब्रह्मणा वेदिः उद्धिता**) ब्रह्मसे वेदी तैयार की गयी है । (**यज्ञस्य तत्त्वं ब्रह्म**) यज्ञका तत्त्व ब्रह्म है । (**ये हविष्कृतः ऋत्विजः**) जो हवि तैयार करनेवाले ऋत्विज हैं । (**शमिताय स्वाहा**) शान्त जो है उसके लिये समर्पण हो ॥ २ ॥

अं॒हो॒मुचे॒ प्र भ॑रे मनी॒षामा सु॑त्रा॒व्णे॑ सुम॒तिमा॑वृणा॒नः ।
इ॒दमि॑न्द्र॒ प्रति॑ ह॒व्यं गृ॑भाय स॒त्याः स॑न्तु॒ यज॑मानस्य॒ कामाः॑ ॥ ३ ॥
अं॒हो॒मुचं॑ वृष॒भं य॒ज्ञिया॑नां वि॒राज॑न्तं प्रथ॒मम॑ध्व॒राणा॑म् ।
अ॒पां नपा॑तम॒श्विना॑ हुवे॒ धिय॑ इन्द्रि॒येण॑ त इन्द्रि॒यं द॑त्त॒मोजः॑ ॥ ४ ॥ (३११)

(४३) ब्रह्मा ।

(ऋषिः — ब्रह्मा । देवता — ब्रह्म, बहवो देवताः ।)

यत्र॑ ब्रह्म॒विदो॒ यान्ति॑ दी॒क्षया॒ तप॑सा स॒ह ।
अ॒ग्निर्मा॒ तत्र॑ नयत्व॒ग्निर्मे॒धां द॑धातु मे । अ॒ग्नये॒ स्वाहा॑ ॥ १ ॥
यत्र॑ ब्रह्म॒विदो॒ यान्ति॑ दी॒क्षया॒ तप॑सा स॒ह ।
वा॒युर्मा॒ तत्र॑ नयतु वा॒युः प्रा॒णान्द॑धातु मे । वा॒यवे॒ स्वाहा॑ ॥ २ ॥
यत्र॑ ब्रह्म॒विदो॒ यान्ति॑ दी॒क्षया॒ तप॑सा स॒ह ।
सूर्यो॑ मा॒ तत्र॑ नयतु॒ चक्षुः॒ सूर्यो॑ दधातु मे । सूर्या॑य॒ स्वाहा॑ ॥ ३ ॥
यत्र॑ ब्रह्म॒विदो॒ यान्ति॑ दी॒क्षया॒ तप॑सा स॒ह ।
च॒न्द्रो मा॒ तत्र॑ नयतु॒ मन॑श्च॒न्द्रो द॑धातु मे । च॒न्द्राय॒ स्वाहा॑ ॥ ४ ॥
यत्र॑ ब्रह्म॒विदो॒ यान्ति॑ दी॒क्षया॒ तप॑सा स॒ह ।
सोमो॑ मा॒ तत्र॑ नयतु॒ पयः॒ सोमो॑ दधातु मे । सोमा॑य॒ स्वाहा॑ ॥ ५ ॥

अर्थ— (**अंहोमुचे मनीषां प्र भरे**) पापसे छुडानेवालेके लिये प्रशंसा गाता हूं। (**सुत्राव्णे सुमतिं आवृणानः**) उत्तम रक्षण करनेवालेके लिये उत्तम मति देता हूं। हे इन्द्र! (**इदं हव्यं प्रति गृभाय**) यह हवि स्वीकार कर। (**यजमानस्य कामाः सत्याः सन्तु**) यजमानकी इच्छाएं सत्य हों ॥ ३ ॥

(**अंहो-मुचं**) पापसे छुडानेवाले, (**यज्ञियानां वृषभं**) पूजनीयोंके अन्दर सामर्थ्यवान्, (**अध्वराणां प्रथमं विराजन्तं**) यज्ञोंमें प्रथम विराजमान (**अपां न-पातं**) जलोंको न गिरानेवालेकी और (**अश्विना हुवे**) अश्विनौ देवोंकी प्रार्थना करता हूं, मुझे (**धियः**) बुद्धियां, (**ओजः**) सामर्थ्य और (**इन्द्रियेण इन्द्रियं**) इन्द्रिय शक्तिसे इंद्रिय दे ॥ ४ ॥

(४३) ब्रह्मा।

(**दीक्षया तपसा सह**) दीक्षा और तपके साथ (**यत्र ब्रह्मविदः यान्ति**) जहां ब्रह्मज्ञानी जाते हैं। (**अग्निः मा तत्र नयतु**) अग्नि मुझे वहां ले जाय और (**अग्निः मे मेधां दधातु**) अग्नि मुझे मेधा बुद्धि देवे। अग्निके लिये अर्पण हो ॥१॥

॥ ० ॥ (**वायुः मा तत्र नयतु**) वायु मुझे वहां ले जाय (**वायुः प्राणान् मे दधातु**) वायु मेरे अन्दर प्राणोंको धारण करे ॥ ० ॥ २ ॥

॥ ० ॥ (**सूर्यः मा तत्र नयतु**) सूर्य मुझे वहां ले जाय (**सूर्यः मे चक्षुः दधातु**) सूर्य मुझमें आंख रखे ॥ ० ॥ ३ ॥

॥ ० ॥ (**चन्द्रो मा तत्र नयतु**) चन्द्र मुझे वहां ले जाय और (**चन्द्रः मे मनः दधातु**) चन्द्र मुझमें मन स्थापन करे ॥ ० ॥ ४ ॥

॥ ० ॥ (**सोमः मा तत्र नयतु**) सोम मुझे वहां ले जाय और (**सोमः मे पयः दधातु**) सोम मुझे दूध देवे ॥ ० ॥ ५ ॥

❀

यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह ।
इन्द्रो मा तत्र नयतु बलमिन्द्रो दधातु मे । इन्द्राय स्वाहा ॥ ६ ॥
यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह ।
आपो मा तत्र नयन्त्वमृतं मोप तिष्ठतु । अद्भ्यः स्वाहा ॥ ७ ॥
यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह ।
ब्रह्मा मा तत्र नयतु ब्रह्मा ब्रह्म दधातु मे । ब्रह्मणे स्वाहा ॥ ८ ॥ (३१९)

(४४) भैषज्यम् ।

(ऋषिः — भृगुः । देवता — आञ्जनम्, वरुणः ।)

आयुषोऽसि प्रतरणं विप्रं भेषजमुच्यसे । तदाञ्जन त्वं शंताते शमापो अभयं कृतम् ॥ १ ॥
यो हरिमा जायान्योऽङ्गभेदो विसल्पकः । सर्वं ते यक्ष्ममङ्गेभ्यो बहिर्निर्हन्त्वाञ्जनम् ॥ २ ॥
आञ्जनं पृथिव्यां जातं भद्रं पुरुषजीवनम् । कृणोत्वप्रमायुकं रथजूतिमनागसम् ॥ ३ ॥
प्राण प्राणं त्रायस्वासो असवे मृड । निर्ऋते निर्ऋत्या नः पाशेभ्यो मुञ्च ॥ ४ ॥
सिन्धोर्गर्भोऽसि विद्युतां पुष्पम् । वातः प्राणः सूर्यश्चक्षुर्दिवस्पयः ॥ ५ ॥

अर्थ— ॥ ० ॥ (**इन्द्रः मा तत्र नयतु**) इन्द्र मुझे वहां ले जाय, और (**इन्द्रः मे बलं दधातु**) इन्द्र मुझे बल देवे ॥ ० ॥ ६ ॥

॥ ० ॥ (**आपः मा तत्र नयन्तु**) जलप्रवाह मुझे वहां ले जांय और (**अमृतं मा उप तिष्ठतु**) अमृत मुझे प्राप्त हो जाय ॥ ० ॥ ७ ॥

॥ ० ॥ (**ब्रह्मा मा तत्र नयतु**) ब्रह्मा मुझे वहां ले जाय और (**ब्रह्मा मे ब्रह्म दधातु**) ब्रह्मा मुझे ज्ञान देवे ॥ ० ॥ ८ ॥

(४४) भैषज्यम् ।

(**आयुषः प्रतरणं असि**) तू आयुको बढानेवाला है, (**विप्रं भेषज उच्यसे**) तू विशेष स्फूर्तिवाला औषध कहलाता है। (**तत् आञ्जन ! त्वं शंताते**) तो हे अञ्जन ! तू शान्ति बढानेवाला, हे (**आपः**) जलो ! (**अभयं शं कृतं**) मेरे लिये निर्भयता और सुख करो ॥ १ ॥

(**यः हरिमा**) जो पाण्डुरोग है, (**जायान्यः**) जो स्त्रीसे होनेवाला रोग है, (**अंगभेदः**) अंगोंको तोडनेवाला दर्द है, (**विसल्पकः**) विसर्पक फुन्सीका रोग है, ये (**सर्वं यक्ष्मं ते अंगेभ्यः**) सब रोग तेरे अंगोंसे (**आंजनं बहिः निर्हन्तु**) यह अञ्जन बाहर निकाले ॥ २ ॥

(**आञ्जनं पृथिव्यां जातं**) यह अञ्जन पृथिवीपर उत्पन्न हुआ है। यह (**भद्रं पुरुषजीवनं**) कल्याणकारी और मनुष्योंको जीवन देनेवाला है, यह मुझे (**अप्रमायुकं कृणोति**) मरणरहित करता है, (**रथजूतिं**) और रथके समान वेगवाला और (**अनागसं**) पापरहित बनाता है ॥ ३ ॥

हे (**प्राण**) प्राण ! (**प्राणं त्रायस्व**) मेरे प्रत्येक प्राणकी रक्षा कर, हे (**असो**) प्राण ! (**असवे मृड**) प्राणको सुखी कर। हे (**निर्ऋते**) दुर्गति ! (**निर्ऋत्याः पाशेभ्यः नः मुञ्च**) दुर्गतिके पाशोंसे हमें छुडा ॥ ४ ॥

(**सिन्धोः गर्भः असि**) तू सिन्धुका गर्भ है, (**विद्युतां पुष्पं**) बिजलियोंका तू फूल है, (**वातः प्राणः**) वायु तेरा प्राण है, (**सूर्यः चक्षुः**) सूर्य चक्षु है, (**दिवः पयः**) द्युलोक पौष्टिक रस है ॥ ५ ॥

नदीयोंकी गतिशक्ति और विद्युतका तेज तुम्हारे अन्दर है ।

देवाञ्जन त्रैककुदं परि मा पाहि विश्वतः । न त्वा तरन्त्योषधयो बाह्याः पर्वतीया उत ॥ ६ ॥
वीदं मध्यमवासृपद्रक्षोहामीवचातनः । अमीवाः सर्वाश्चातयन्नाशयदभिभा इतः ॥ ७ ॥
बह्विदं राजन्वरुणानृतमाह पूरुषः । तस्मात्सहस्रवीर्य मुञ्च नः पर्यंहसः ॥ ८ ॥
यदापो अघ्न्या इति वरुणेति यदूचिम । तस्मात्सहस्रवीर्य मुञ्च नः पर्यंहसः ॥ ९ ॥
मित्रश्च त्वा वरुणश्चानुप्रेयतुराञ्जन । तौ त्वानुगत्य दूरं भोगाय पुनरोहतुः ॥ १० ॥ (३१९)

(४५) आञ्जनम्।

(ऋषिः — भृगुः। देवता — आञ्जनम्, मन्त्रोक्तदेवताः।)

ऋणादृणमिव संनयन्कृत्यां कृत्याकृतो गृहम् । चक्षुर्मन्त्रस्य दुर्हार्दः पृष्टीरपि शृणाञ्जन ॥ १ ॥
यदस्मासु दुष्वप्न्यं यद्गोषु यच्च नो गृहे । अनामगस्तं च दुर्हार्दः प्रियः प्रति मुञ्चताम् ॥ २ ॥
अपामूर्ज ओजसो वावृधानमग्नेर्जातमधि जातवेदसः ।
चतुर्वीरं पर्वतीयं यदाञ्जनं दिशः प्रदिशः करदिच्छिवास्ते ॥ ३ ॥

अर्थ— हे (**देवाञ्जन**) दिव्य अञ्जन ! तू (**त्रै-ककुदं**) तीन लोकोंमें श्रेष्ठ है। (**मा विश्वतः परि पाहि**) मेरी सब ओरसे रक्षा कर। (**बाह्याः उत पर्वतीयाः**) बाह्य और पर्वतपर होनेवाली (**ओषधयः त्वा न तरन्ति**) औषधियां तुझसे बढकर नहीं होतीं ॥ ६ ॥

(**रक्षोहा अमीवचातनः**) राक्षसोंका मारनेवाला और रोगोंको हटानेवाला यह (**इदं मध्यं वि अवासृपत्**) इस मध्यस्थानमें आया है [हमारे पास उतरकर आया है] यह (**सर्वाः अमीवाः चातयन्**) सब रोगोंको दूर करता है, और (**इतः अभि भा नाशयत्**) यहांसे आक्रमक रोगोंका नाश करता है ॥ ७ ॥

(**हे वरुण राजन्**) वरुण राजा ! (**पुरुषः बहु इदं अनृतं आह**) पुरुष यहां बहुत असत्य बोलता है, हे (**सहस्रवीर्य**) हजारों शक्तियोंसे युक्त ! (**तस्मात् अंहसः नः परि मुञ्च**) उस पापसे हमें छुडाओ ॥ ८ ॥

हे (**आपः**) जलो ! हे (**अघ्न्याः**) न मारने योग्य ! हे वरुण ! (**इति यद् ऊचिम**) ऐसा जो हमने कहा, हे हजारों शक्तिवाले ! तू उस पापसे हमें छुडाओ ॥ ९ ॥

हे आञ्जन ! मित्र और वरुण (**त्वा अनु प्रेयतुः**) तेरे पीछे आते हैं, (**तौ त्वा दूरं अनुगत्य**) वे दोनों तेरे पीछे दूरतक जाकर (**भोगाय पुनः ओहतुः**) भोगके लिये फिर तुझे लावें ॥ १० ॥

(४५) आञ्जनम्।

हे अञ्जन ! (**ऋणात् ऋणं संनयन् इव**) ऋणसे ऋण वापस करनेके समान (**कृत्याकृतः गृहं कृत्यां**) हिंसक कर्म करनेवालेके घर उसीके हिंसक कर्मको लौटा देते हैं। (**चक्षुः मंत्रस्य दुर्हार्दः**) आंखके इशारेसे हानि करनेवाले दुष्ट हृदयवालेकी (**पृष्टीः अपि शृण**) पसलियां तोड ॥ १ ॥

(**यत् अस्मासु दुष्वप्न्यं**) जो हमारे अन्दर दुष्ट स्वप्न है, (**यत् गोषु**) जो गौओंमें और (**यत् च नः गृहे**) जो हमारे घरमें है, (**प्रियः दुर्हार्दः अ-नाम-गः**) प्रिय दुष्ट हृदयवाला अयशस्वी (**तं प्रति मुञ्चतां**) उसको धारण करे— [दुष्टके पास वह स्वप्न जावे।] ॥ २ ॥

(**अपां ऊर्जः**) जलोंकी शक्ति और (**ओजसः वावृधानः**) सामर्थ्यसे बढनेवाला (**जातवेदसः अग्ने अधिजातं**) जातवेद अग्निसे उत्पन्न हुआ, (**चतुर्वीरं पर्वतीयं यत् आञ्जनं**) चार वीरोंकी शक्तिवाला जो पर्वतपर हुआ अञ्जन है वह (**दिशः प्रदिशः ते शिवाः करत् इत**) दिशा और उपदिशा तेरे लिये कल्याण करनेवाली करे ॥ ३ ॥

चतुर्वीरं बध्यत आञ्जनं ते सर्वा दिशो अभयास्ते भवन्तु ।
ध्रुवस्तिष्ठासि सवितेव चार्य इमा विशो अभि हरन्तु ते बलिम् ॥ ४ ॥
आक्ष्वैकं मणिमेकं कृणुष्व स्नाह्येकेना पिबैकमेषाम् ।
चतुर्वीरं नैर्ऋतेभ्यश्चतुर्भ्यो ग्राह्या बन्धेभ्यः परि पात्वस्मान् ॥ ५ ॥
अग्निर्माग्निनावतु प्राणायापानायायुषे वर्चस ओजसे तेजसे स्वस्तये सुभूतये स्वाहा ॥ ६ ॥
इन्द्रो मेन्द्रियेणावतु प्राणायापानायायुषे वर्चस ओजसे तेजसे स्वस्तये सुभूतये स्वाहा ॥ ७ ॥
सोमो मा सौम्येनावतु प्राणायापानायायुषे वर्चस ओजसे तेजसे स्वस्तये सुभूतये स्वाहा ॥ ८ ॥
भगो मा भगेनावतु प्राणायापानायायुषे वर्चस ओजसे तेजसे स्वस्तये सुभूतये स्वाहा ॥ ९ ॥
मरुतो मा गणैरवन्तु प्राणायापानायायुषे वर्चस ओजसे तेजसे स्वस्तये सुभूतये स्वाहा ॥१०॥(३३९)

॥ इति पञ्चमोऽनुवाकः ॥ ५ ॥

अर्थ—(चतुर्वीरं आञ्जनं ते बध्यते) चार वीरोंकी शक्तिवाला अञ्जन तेरे शरीरपर बांधा जाता है, इससे **(ते सर्वाः दिशः अभयाः भवन्तु)** तेरे लिये सब दिशाएं निर्भय हों। **(सविता इव आर्यः च ध्रुवः तिष्ठासि)** सविताके समान सच्चा आर्य बनकर अपने स्थानपर स्थिर हो। **(इमाः विशः ते बलिं अभि हरन्तु)** ये सब प्रजाएं तेरे लिये बलि लाकर अर्पण करें ॥ ४ ॥

(एकं अक्ष्व) एकको आंखमें, **(एकं मणिं आ कृणुष्व)** एकको मणि बना, **(एकेन स्नाहि)** एकके साथ स्नान कर, **(एषां एकं पिब)** इनमेंसे एकको पी ले, यह **(चतुर्वीरं)** चार वीरोंके बलवाला अञ्जन **(चतुर्भ्यः नैर्ऋतेभ्यः बन्धेभ्यः)** चार राक्षसी बन्धनोंसे तथा **(ग्राह्या)** पकडनेवाले रोगसे **(अस्मान् परि पातु)** हमारा रक्षण करे ॥ ५ ॥

इस मंत्रमें जो गुप्त ज्ञान कहा है उसका अन्वेषण करना चाहिये।

(अग्निना अग्निः मा अवतु) अग्निके साथ अग्नि मेरी रक्षा करे। **(प्राणाय अपानाय)** प्राणके लिये, अपानके लिये, **(आयुषे वर्चसे)** आयुके लिये, तेजके लिये, **(ओजसे तेजसे)** सामर्थ्यके लिये, कान्तिके लिये, **(स्वस्तये सुभूतये स्वाहा)** कल्याणके लिये, उत्तम ऐश्वर्यके लिये समर्पण करते हैं ॥ ६ ॥

(इन्द्रः इन्द्रियेण मे अवतु) इन्द्र इन्द्रशक्तिसे मेरी रक्षा करे ॥ ० ॥ ७ ॥

(सोमः मा सौम्येन अवतु) सोम सोमकी शक्तिसे मेरी रक्षा करे ॥ ० ॥ ८ ॥

(भगः मा भगेन अवतु) भग मेरी ऐश्वर्यसे रक्षा करे ॥ ० ॥ ९ ॥

(मरुतो मा गणैः अवतु) मरुत मेरी गणोंसे रक्षा करें ॥ ० ॥ १० ॥

॥ यहां पञ्चम अनुवाक समाप्त ॥

(४६) अस्तृतमणिः।

(ऋषिः — प्रजापतिः । देवता— अस्तृतमणिः।)

प्रजापतिष्ट्वा बध्नात्प्रथममस्तृतं वीर्याय कम् ।
तत्ते बध्नाम्यायुषे वर्चस ओजसे च बलाय चास्तृतस्त्वाभि रक्षतु ॥ १ ॥
ऊर्ध्वस्तिष्ठतु रक्षन्नप्रमादमस्तृतेमं मा त्वा दभन्पणयो यातुधानाः ।
इन्द्र इव दस्यूनव धूनुष्व पृतन्यतः सर्वाञ्छत्रून्वि षहस्वास्तृतस्त्वाभि रक्षतु ॥ २ ॥
शतं च न प्रहरन्तो निघ्नन्तो न तस्तिरे ।
तस्मिन्निन्द्रः पर्यदत्त चक्षुः प्राणमथो बलमस्तृतस्त्वाभि रक्षतु ॥ ३ ॥
इन्द्रस्य त्वा वर्मणा परि धापयामो यो देवानामधिराजो बभूव ।
पुनस्त्वा देवाः प्र णयन्तु सर्वेऽस्तृतस्त्वाभि रक्षतु ॥ ४ ॥
अस्मिन्मणावेकशतं वीर्याणि सहस्रं प्राणा अस्मिन्नस्तृते ।
व्याघ्रः शत्रूनभि तिष्ठ सर्वान्यस्त्वा पृतन्यादधरः सो अस्त्वस्तृतस्त्वाभि रक्षतु ॥ ५ ॥
घृतादुल्लुप्तो मधुमान्पयस्वान्त्सहस्रप्राणः शतयोनिर्वयोधाः ।
शंभूश्च मयोभूश्चोर्जस्वांश्च पयस्वांश्चास्तृतस्त्वाभि रक्षतु ॥ ६ ॥

---

(४६) अस्तृतमणिः।

अर्थ— (**प्रजापतिः त्वा**) प्रजापतिने तुझे (**प्रथमं कं अस्तृतं वीर्याय अबध्नात्**) पहिले सुखदायी अस्तृत मणिको वीर्यके लिये बांधा था। (**तत् ते आयुषे**) वह तेरे शरीरपर आयुके लिये, (**वर्चसे ओजसे**) तेजके लिये, सामर्थ्यके लिये (**बलाय च**) बलके लिये बांधता हूं। (**अस्तृतः त्वा अभि रक्षतु**) अस्तृत मणि तेरी रक्षा करे ॥ १ ॥

(**अस्तृत अप्रमादं इमं रक्षन्**) अस्तृत मणि प्रमाद न करता हुआ, इसका रक्षण करनेके लिये (**ऊर्ध्वः तिष्ठतु**) ऊपर स्थित रहे। (**यातुधानाः पणयः त्वा मा दभन्**) यातना देनेवाले पणि तुझे हानि न पहुंचावें। (**इन्द्र इव दस्यून् अव धूनुष्व**) इन्द्रके समान शत्रुओंको हिला दे। (**पृतन्यतः सर्वान् शत्रून् वि सहस्व**) सेनासे हमला करनेवाले सब शत्रुओंको पराभूत कर। (**अस्तृतः त्वा अभि रक्षतु**) अस्तृत मणि तेरा रक्षण करे ॥ २ ॥

(**शतं च प्रहरन्तः न**) प्रहार करनेवाले सौ और (**निघ्नन्तः न तस्थिरे**) मारनेवाले भी इसके सामने ठहर नहीं सकते। (**तस्मिन् इन्द्रः**) उसमें इन्द्रने (**चक्षुः प्राणं अथो बलं पर्यदत्त**) दृष्टि, प्राण और बल दिया। अस्तृत मणि तेरा रक्षण करे ॥ ३ ॥

(**इन्द्रस्य त्वा वर्मणा परिधापयामः**) इन्द्रके कवचसे तुझे हम ढांपते हैं। (**यः देवानां अधिराजः बभूव**) जो देवोंका अधिराज हुआ है। (**पुनः त्वा सर्वे देवाः प्र णयन्तु**) फिर तुझे सारे देव प्रेरित करें, अस्तृत मणि तेरा रक्षण करें ॥ ४ ॥

(**अस्मिन् मणौ**) इस मणिमें (**एक शतं वीर्याणि**) एक सौ वीर्य हैं (**अस्मिन् अस्तृते सहस्रं प्राणाः**) इस अस्तृत मणिमें हजार प्राणकी शक्तियां हैं। (**व्याघ्रः सर्वान् शत्रून् अभि तिष्ठ**) व्याघ्र बनकर सब शत्रुओंको पराभूत कर। (**यः त्वा पृतन्यात्**) जो तेरे ऊपर सैन्यसे आक्रमण करे (**सः अधरः अस्तु**) वह नीचे गिरे। अस्तृतमणि तेरा रक्षण करे ॥ ५ ॥

(**घृतात् उल्लुप्तः**) घीसे लिपटा हुआ, (**मधुमान् पयस्वान्**) मधुसे भरा, दूधसे पूर्ण, (**सहस्रप्राणः शतयोनिः**) सहस्र प्राणशक्तियां इसके पास हैं, सौ उत्पत्ति स्थान हैं, (**वयोधाः शंभूः**) आयुका धारण करनेवाला, कल्याण करनेवाला, (**मयोभूः च ऊर्जस्वान् च**) सुख देनेवाला शक्तिमान (**पयस्वान् च**) रससे पूर्ण यह मणि है। यह अस्तृत मणि तेरा रक्षण करे ॥ ६ ॥

यथा त्वमुत्तरोऽसो असपत्नः सपत्नहा ।
सजातानामसद्वशी तथा त्वा सविता करदस्तृतस्त्वाभि रक्षतु ॥ ७ ॥ (३४६)

(४७) रात्रिः ।

(ऋषिः — गोपथः । देवता — रात्रिः ।)

आ रात्रि पार्थिवं रजः पितुरप्रायि धामभिः ।
दिवः सदांसि बृहती वि तिष्ठस आ त्वेषं वर्तते तमः ॥ १ ॥
न यस्याः पारं ददृशे न योयुवद्विश्वमस्यां नि विशते यदेजति ।
अरिष्टासस्त उर्वि तमस्वति रात्रि पारमशीमहि भद्रे पारमशीमहि ॥ २ ॥
ये ते रात्रि नृचक्षसो द्रष्टारो नवतिर्नव । अशीतिः सन्त्यष्टा उतो ते सप्त सप्ततिः ॥ ३ ॥
षष्टिश्च षट् च रेवति पञ्चाशत्पञ्च सुम्नयि । चत्वारश्चत्वारिंशच्च त्रयस्त्रिंशच्च वाजिनि ॥ ४ ॥
द्वौ च ते विंशतिश्च ते रात्र्येकादशावमाः । तेभिर्नो अद्य पायुभिर्नु पाहि दुहितर्दिवः ॥ ५ ॥
रक्षा माकिर्नो अघशंस ईशत मा नो दुःशंस ईशत । मा नो अद्य गवां स्तेनो मावीनां वृक ईशत ॥ ६ ॥

अर्थ— (यथा त्वं उत्तरः असः) जैसा तू उच्चतर है और **(असपत्नः सपत्नहा)** शत्रुरहित और शत्रुओंको मारनेवाला है, तथा **(सजातानां वशी असत्)** सजातीयोंको वशमें करनेवाला है, **(तथा त्वा सविता करत्)** वैसा तुझे सविताने किया है। अस्तृत मणि तेरी रक्षा करे ॥ ७ ॥

(४७) रात्रिः ।

हे रात्रि ! तूने **(पितुः धामभिः)** द्यु रूपी पिताके स्थानों समेत **(पार्थिवं रजः)** पृथिवीके प्रदेशोंको **(आ अप्रायि)** भर दिया है। तू **(बृहती)** बडी **(दिवः सदांसि)** द्युलोकके स्थानोंको **(वि तिष्ठसे)** भरकर रहती है। **(त्वेषं तमः आ वर्तते)** तेजस्वी अंधेरा पुनः आ रहा है ॥ १ ॥

(यस्याः पारं न ददृशे) जिसका पार दिखाई नहीं देता, **(न योयुवत्)** जिसमें न कुछ अलग अलग प्रतीत होता है, **(विश्वं अस्यां नि विशते)** सब इसमें आराम करते हैं, **(यत् एजति)** जो चलता है [वह इसमें विश्राम करता है] हे **(उर्वि तमस्वति रात्रि)** बडी अन्धकारवाली रात्रि ! **(अ-रिष्टासः)** न विनष्ट होते हुए हम **(ते पारं अशीमहि)** तेरे पार पहुंचेंगे, **(भद्रे ! पारं अशीमहि)** हे कल्याण करनेवाली ! तेरे पार हम जायंगे ॥ २ ॥

हे रात्रि ! **(ये ते नृचक्षसः)** जो तेरे मनुष्योंका निरीक्षण करनेवाले और **(द्रष्टारः)** देखनेवाले रक्षक हैं **(नवतीः नव)** नब्बे और नौ, **(अशीतिः अष्टाः सन्ति)** अस्सी और आठ **(उत उ ते सप्त सप्ततिः)** और सात और सत्तर हैं ॥ ३ ॥

(षष्टिः च षट्) साठ और छः, हे **(रेवति)** धनवाली रात्रि ! **(पंचाशत् पञ्च)** पचास और पांच, हे **(सुम्नयि)** सुख देनेवाली रात्रि ! **(चत्वारः चत्वारिंशत् च)** चार और चालीस, हे **(वाजिनि)** शक्तिवाली रात्रि ! **(त्रयः त्रिंशत् च)** और तैंतीस हैं ॥ ४ ॥

(द्वौ च ते विंशतिः च ते) दो और बीस, हे रात्रि ! **(अवमाः एकादश)** कमसेकम ग्यारह रक्षक हैं। हे **(दिवः दुहितः)** द्युलोककी पुत्री ! **(तेभिः पायुभिः)** उन रक्षकोंसे **(अद्य नः नु पाहि)** आज हमारी रक्षा कर ॥ ५ ॥

(रक्ष माकिः) हमारी रक्षा कर **(अघशंसः मा नः ईशत)** पापी हमपर स्वामी न हो, **(मा नः दुःशंस ईशत)** न हमपर दुष्ट कीर्तिवाला स्वामित्व करे, **(अद्य गवां स्तेन नः मा)** आज गौओंका चोर न हमपर अधिकार चलावे, **(अवीनां वृक मा नः ईशत)** भेडीयोंके भेडिये हमें वशमें करें ॥ ६ ॥

माश्वानां भद्रे तस्करो मा नृणां यातुधान्यः ।

परमेभिः पथिभिः स्तेनो धावतु तस्करः । परेण दत्वती रज्जुः परेणाघायुरर्षतु ॥ ७ ॥

अधं रात्रि तृष्टधूममशीर्षाणमहिं कृणु । हनू वृकस्य जम्भयास्तेन तं द्रुपदे जहि ॥ ८ ॥

त्वयि रात्रि वसामसि स्वपिष्यामसि जागृहि । गोभ्यो नः शर्म यच्छाश्वेभ्यः पुरुषेभ्यः ॥९॥ (३५५)

(४८) रात्रिः ।

(ऋषिः — गोपथः । देवता — रात्रिः ।)

अथो यानि च यस्मा ह यानि चान्तः परीणहि । तानि ते परि दद्मसि ॥ १ ॥

रात्रि मातरुषसे नः परि देहि । उषा नो अह्ने परि ददात्वहस्तुभ्यं विभावरि ॥ २ ॥

यत्किं चेदं पतयति यत्किं चेदं सरीसृपम् । यत्किं च पर्वतायासत्वं तस्मात्त्वं रात्रि पाहि नः ॥ ३ ॥

सा पश्चात्पाहि सा पुरः सोत्तरादधरादुत । गोपाय नो विभावरि स्तोतारस्त इह स्मसि ॥ ४ ॥

ये रात्रिमनुतिष्ठन्ति ये च भूतेषु जाग्रति ।

पशून्ये सर्वान्रक्षन्ति ते न आत्मसु जाग्रति ते नः पशुषु जाग्रति ॥ ५ ॥

अर्थ— हे (भद्रे) कल्याण करनेवाली रात्री ! (अश्वानां तस्करः मा) घोडोंका चोर, और (नृणां यातुधान्यः मा) मनुष्योंको कष्ट देनेवाले हमें कष्ट न देवें । (स्तेनः तस्करः) चोर और डाकू (परमेभिः पथिभिः धावतु) दूरके मार्गसे भाग जांय । (दत्वती रज्जुः परेण) दांतवाली रस्सी [सांप], (परेण आघायुः अर्षतु) दूरके मार्गसे पापी भाग जाए ॥ ७ ॥

हे रात्रि ! (अघ) और (तृष्टधूमं) तृषा लगानेवाले (अहिं) सांपको (अशीर्षाणं) सिरसे हीन कर । (वृकस्य हनू जम्भय) भेडियेके जबडेको पीस (तेन तं द्रुपदे जहि) उससे उसको तू कीचडमें मार ॥ ८ ॥

हे रात्रि ! (त्वयि वसामसि) तेरे अन्दर हम रहते हैं, तेरे आश्रयसे (स्वपिष्यामसि) हम सोयेंगे, (जागृहि) तू जाग । (नः गोभ्यः शर्म यच्छ) हमारे गौओंके लिये सुख दे और (अश्वेभ्यः पुरुषेभ्यः) घोडोंके लिये और पुरुषोंके लिये सुख दे ॥ ९ ॥

(४८) रात्रिः ।

(अथो यानि च यस्मा ह) और जो हम जानते हैं, (यानि च परीणहि अन्तः) जो संदूकमें हैं (तानि ते परि दध्मसि) वे सब तेरे लिये अर्पण करते हैं ॥ १ ॥

(रात्रि मातः) हे रात्रि माते ! (नः उषसे परि देहि) तू हमें उषाके अधीन कर । (उषा नः अह्ने परि ददातु) उषा हमें दिनके सुपुर्द करे । हे (विभावरि) तेजस्विनी रात्रि ! (अहः तुभ्यं) दिन तुम्हारे सुपुर्द हमें करे ॥ २ ॥

(यत् किं च इदं पतयति) जो कुछ यहां उडता है, (यत् किं च इदं सरीसृपं) जो कुछ यहां रींगता है, (यत् किं च पर्वते अयासत्वं) जो कुछ पर्वतपर जीव है, हे रात्रि ! (तस्मात् त्वं नः पाहि) उससे तू हमारी रक्षा कर ॥ ३ ॥

(सा पश्चात् पाहि) वह तू पीछेसे हमारी रक्षा कर, (सा पुरः) आगेसे, (सा उत्तरात् अधरात् उत) वह तू ऊपरसे और नीचेसे हमारी रक्षा कर । हे (विभावरि) तेजस्विनी रात्री ! (नः गोपाय) हमें सुरक्षित रख । (ते इह स्तोतारः स्मसि) तेरे हम यहां स्तोतागण हैं ॥ ४ ॥

(ये रात्रिं अनुतिष्ठन्ति) जो रात्रीमें अनुष्ठान करते हैं, (ये च भूतेषु जाग्रति) जो प्राणियोंमें जागते हैं, (ये सर्वान् पशून् रक्षन्ति) जो सब पशुओंकी रक्षा करते हैं, (ते न आत्मसु जाग्रति) वे हमारे लोगोंमें जागते हैं, (ते नः पशुषु जाग्रति) वे हमारे पशुओंमें जागते रहते हैं ॥ ५ ॥

वेद् वै रात्रि ते नाम घृताची नाम् वा असि ।
तां त्वां भरद्वाजो वेद् सा नो वित्तेऽधि जाग्रति ॥ ६ ॥ (३६१)

(४९) रात्रिः।

(ऋषिः — गोपथः, भरद्वाजश्च। देवता — रात्रिः।)

इषिरा योषा युवतिर्दमूना रात्री देवस्य सवितुर्भगस्य ।
अश्वक्षभा सुहवा संभृतश्रीरा पप्रौ द्यावापृथिवी महित्वा ॥ १ ॥
अति विश्वान्यरुहद्गम्भीरो वर्षिष्ठमरुहन्त श्रविष्ठाः ।
उशती रात्र्यनु सा भद्राभि तिष्ठते मित्र इव स्वधाभिः ॥ २ ॥
वर्ये वन्दे सुभगे सुजात आजगन्रात्रि सुमना इह स्याम् ।
अस्मांस्त्रायस्व नर्याणि जाता अथो यानि गव्यानि पुष्ट्या ॥ ३ ॥
सिंहस्य रात्र्युशती पींषस्य व्याघ्रस्य द्वीपिनो वर्च आ ददे ।
अश्वस्य ब्रध्नं पुरुषस्य मायुं पुरु रूपाणि कृणुषे विभाती ॥ ४ ॥
शिवां रात्रिमनुसूर्यं च हिमस्य माता सुहवा नो अस्तु ।
अस्य स्तोमस्य सुभगे नि बोध येन त्वा वन्दे विश्वासु दिक्षु ॥ ५ ॥

अर्थ— हे रात्रि! (**ते नाम वेद वै**) तेरा नाम हम जानते हैं। (**घृताची नाम वै असि**) तू घी देनेवाली है। (**तां त्वा भरद्वाजः वेद**) उस तुझको भरद्वाज जानता है, (**सा नः वित्ते अधि जाग्रति**) वह तू हमारे धनपर जागती रह ॥ ६ ॥

(४९) रात्रिः।

(**इषिरा**) इच्छा करने योग्य, (**योषा युवति**) तरुण स्त्री जैसी (**दमूना**) अपने अधीन अपना मन रखनेवाली, **सवितुः भगस्य देवस्य**) सविता भग देवकी (**रात्री**) यह रात्री (**अशु-अक्ष-भा**) शीघ्र देखरेख करनेवालेसे प्रकाशित, (**सु-हवा**) सुखसे प्रार्थना करने योग्य, (**संभृत श्रीरा**) इकट्ठी शोभावाली, यह रात्री (**महित्वा द्यावा-पृथिवी आ पप्रौ**) अपने महत्त्वसे द्युलोक और भूलोकको भर देती है ॥ १ ॥

(**गम्भीरः विश्वानि अति अरुहत्**) गहरा अन्धेरा सब जगतपर छा गया है। (**श्रविष्ठाः वर्षिष्ठं अरुहन्त**) बडी शक्तिवाली बडे ऊंचे आकाशपर चढी हैं। (**उशती रात्री**) इच्छा करनेवाली रात्री और (**सा भद्रा अभि तिष्ठते**) वह कल्याण करनेवाली रात्री संमुख आती है, (**मित्रः स्वधाभिः इव**) मित्र जैसा अपनी शक्तियोंके साथ आता है ॥ २ ॥

(**वर्ये**) वरण करने योग्य, (**वन्द्ये**) वन्दन करने योग्य, (**सुभगे**) उत्तम भाग्यवाली, (**सु-जाते**) उत्तम जन्मवाली, हे रात्रि! तू (**आ जगन्**) आ गयी है, (**सुमना इह स्याम्**) यहां उत्तम मनवाली हो। (**अस्मान् त्रायस्व**) हमारी रक्षा कर। (**नर्याणि जाता**) मनुष्योंके हितके लिये जो उत्पन्न हुई हैं, (**अथो**) और (**यानि गव्यानि पुष्ट्या**) जो गौओंकी पुष्टि करनेवाली हैं उन सबकी रक्षा कर ॥ ३ ॥

(**उशती रात्री**) इच्छा करनेवाली रात्री (**सिंहस्य**) सिंहके, (**पिंषस्य**) हरिनके, (**व्याघ्रस्य**) बाघके, (**द्वीपिनः**) गेंडेके (**वर्चः आ ददे**) तेजको लेती है। (**अश्वस्य ब्रध्नं**) घोडेके वेगको (**पुरुषस्य मायुं**) पुरुषके शब्दको लेती है और (**विभाती**) चमकती हुई रात्री (**पुरु रूपाणि कृणुषे**) बहुत रूपोंको दिखा करती है ॥ ४ ॥

(**शिवां रात्री**) कल्याण करनेवाली रात्री (**अनुसूर्यं**) सूर्यके पीछे (**हिमस्य माता**) सर्दीकी यह माता (**न सुहवा अस्तु**) हमारे लिये सुखसे स्तुति करने योग्य हो। हे (**सुभगे**) उत्तम भाग्यवाली! (**अस्य स्तोमस्य**) इस स्तोत्रको (**नि बोध**) जाने, (**येन विश्वासु दिक्षु त्वा वन्दे**) जिससे मैं सब दिशाओंमें तेरी वन्दना करता हूं ॥ ५ ॥

स्तोमस्य नो विभावरि रात्रि राजेव जोषसे ।
असाम सर्ववीरा भवाम सर्ववेदसो व्युच्छन्तीरनूषसः ॥ ६ ॥
शम्या ह नाम दधिषे मम दिप्सन्ति ये धना ।
रात्रीहि तानसुतपा य स्तेनो न विद्यते यत्पुनर्न विद्यते ॥ ७ ॥
भद्रासि रात्रि चमसो न विष्टो विष्वङ् गोरूपं युवतिर्बिभर्षि ।
चक्षुष्मती मे उशती वपूंषि प्रति त्वं दिव्या न क्षामंमुक्थाः ॥ ८ ॥
यो अद्य स्तेन आयत्यघायुर्मर्त्यो रिपुः । रात्री तस्य प्रतीत्य प्र ग्रीवाः प्र शिरो हनत् ॥ ९ ॥
प्र पादौ न यथायति प्र हस्तौ न यथाशिषत् । यो मलिम्लुरुपायति स संपिष्टो अपायति ।
अपायति स्वपायति शुष्के स्थाणावपायति ॥ १० ॥ (३७१)

(५०) रात्रिः ।

(ऋषिः — गोपथः । देवता — रात्रिः ।)

अध रात्रि तृष्टधूममशीर्षाणमहिं कृणु । अक्षौ वृकस्य निर्जह्यास्तेन तं द्रुपदे जहि ॥ १ ॥

अर्थ— हे (**विभावरि**) प्रकाशवाली रात्रि ! (**नः स्तोमस्य**) हमारे स्तोत्रको तू (**राजा इव जोषसे**) राजाके समान प्यार करती है । (**व्युच्छन्तीः उषसः**) चमकनेवाली उषाओंमें (**सर्ववीराः असाम**) सारे वीर पुत्रोंके साथ हम हों और (**सर्व-वेदसः भवाम**) सब धनोंके साथ हों ॥ ६ ॥

(**शम्या ह नाम दधिषे**) आराम देनेवाली इस अर्थका नाम तू धारण करती है । (**ये मम धना दिप्सन्ति**) जो मेरे धनोंको हानि पहुंचाते हैं, (**तान् असुतपा रात्री इहि**) उनके प्राणोंको ताप पहुंचानेवाली तू रात्री हो । (**यः स्तेनः न विद्यते**) जो चोर है वह न रहे (**यत् पुनः न विद्यते**) वह फिर भी न हो ॥ ७ ॥

हे रात्रि ! तू (**भद्रा असि**) कल्याण करनेवाली है । (**चमसः न विष्टः**) जैसा परोसा हुआ पात्र होता है, (**युवतिः विष्वङ् गोरूपं बिभर्षि**) तू युवती होकर चारों ओर गौका रूप धारण करती है । (**मे उशती चक्षुष्मती वपूंषि**) मुझे इच्छती हुई तू नेत्रोंसे युक्त अपने आश्चर्यकारक शरीर दिखला । (**त्वं दिव्या न**) तू आकाशके नक्षत्रोंके समान (**क्षां प्रति अमुक्थाः**) पृथिवीको भी सुभूषित कर ॥ ८ ॥

(**यः अद्य स्तेन आयति**) जो आज चोर आता है जो (**अघायुः मर्त्यः रिपुः**) पापी मर्त्य शत्रु है, (**रात्री तस्य प्रतीत्य**) रात्री उसके उलट आकर उसका (**ग्रीवा प्र शिरः प्र हनत्**) गला और सिर काट डाले ॥ ९ ॥

हे रात्री ! (**पादौ प्र**) उसके पावोंको काट डाल, (**न यथा आयति**) जिससे वह फिर न आ सके । (**हस्तौ प्र**) हाथ तोड दे (**यथा न अशिषत्**) जिससे वह हानि न पहुंचा सके । (**यः मलिम्लुः उप आयति**) जो पापी आता है वह (**संपिष्टः अपायति**) पीसा हुआ चला जाय । (**अपायति सु अपायति**) वह चला जाय, अच्छी तरह चला जाय, (**शुष्के स्थाणौ अपायति**) सूखे खंबे पर चला जाय ॥ १० ॥

(५०) रात्रिः ।

हे रात्रि ! (**तृष्टधूमं अहिं**) तृषा उत्पन्न करनेवाले विषवाले सांपको (**अध अशीर्षाणं कृणु**) सिरसे हीन कर । (**वृकस्य अक्षौ निर्जह्याः**) भेडियेके आंखोंको निकाल दे । (**तेन त्वं द्रुपदे जहि**) उससे तू उसको वृक्षके साथ मार ॥ १ ॥

ये ते॑ रात्र्यनड्वाह॑स्ती॒क्ष्णशृ॑ङ्गाः स्वा॒शवः॑ । तेभि॑र्नो अ॒द्य पा॑रया॒ति दु॒र्गाणि॑ वि॒श्वहा॑ ॥ २ ॥
रात्रि॑रात्रि॒मरि॑ष्यन्त॒स्तरे॑म त॒न्वा॑ व॒यम् । ग॒म्भी॒रमप्ल॑वा इ॒व न त॑रेयु॒ररा॑तयः ॥ ३ ॥
यथा॑ शा॒म्याकः॑ प्र॒पत॑न्नप॒वान्नानु॑वि॒द्यते॑ । ए॒वा रा॑त्रि॒ प्र पा॑तय॒ यो अ॒स्माँ अ॑भ्यघा॒यति॑ ॥ ४ ॥
अप॑ स्ते॒नं वासो॑ गोअ॒जमु॒त तस्क॑रम् । अथो॒ यो अर्व॑तः॒ शिरो॑ऽभि॒धाय॒ निनी॑षति ॥ ५ ॥
यद॒द्या रा॑त्रि सुभगे वि॒भज॒न्त्ययो॒ वसु॑ । यदे॒तद॒स्मान्भो॑जय॒ यथेद॒न्याना॒नु॒पाय॑सि ॥ ६ ॥
उ॒षसे॑नः॒ परि॑ देहि॒ सर्वा॑न्रात्र्यनागसः॑ । उ॒षा नो॒ अह्ने॒ आ भ॑जा॒दह॒स्तुभ्यं॑ विभावरि ॥ ७ ॥ (३७८)

अर्थ— हे रात्रि ! (**ये ते तीक्ष्णशृंगाः**) जो तेरे तीखे सींगवाले (**स्वाशवः**) बडे तेज (**अनड्वाहः**) बैल हैं, (**तेभिः नः अद्य**) उनके साथ हमें आज (**विश्वहा दुर्गाणि अति पारय**) सदा संकटोंके पार पहुंचा दे ॥ २ ॥

(**वयं तन्वा अरिष्यन्तः**) हम शरीरसे हानि न उठाते हुए (**रात्रिं रात्रिं तरेम**) प्रत्येक रात्रीमें पार हो जांय । (**अरातयः अप्लवाः इव**) शत्रु नौका रहितोंके समान (**न तरेयुः**) पार न हों ॥ ३ ॥

(**यथा शाम्याकः**) जैसा सावांका दाना (**प्र पतन्**) उडता हुआ (**अपवान् न अनुविद्यते**) ढूंढनेपर मिलता नहीं, हे रात्रि ! (**एवा**) इस तरह (**प्र पातय**) उसको उडा दे (**यः अस्मान् अभ्यघायति**) जो हमसे पापाचरण करता है ॥ ४ ॥

(**वासः स्तेनं अप**) वस्त्रोंके चोरको दूर कर (**गो अजं उत तस्करं**) गौओंको ले जानेवालेको तथा लुटेरेको दूर कर । (**अथो यो अर्वतः शिरः**) और जो घोडेके सिरको (**अभिधाय निनीषति**) बांधकर ले जाता है, उसको भी दूर कर ॥ ५ ॥

हे (**सुभगे रात्रि**) भाग्यवाली रात्रि ! (**यत् अद्य वसु विभजन्ती**) जो आज तू धन बांटती हुई (**आ अयः**) आयी है । (**तत् एतत् अस्मान् भोजय**) वह हमें उपभोगके लिये दे, (**यथा इत् अन्यान् न उपायसि**) जिससे वह दूसरोंके पास न जाय ॥ ६ ॥

हे रात्रि ! (**अनागसः सर्वान् नः**) निष्पाप हम सबको (**उषसे परि देहि**) उषाके लिये दे दो । (**उषा नः अह्ने आ भजात्**) उषा हमें दिनके लिये दे, हे (**वि-भावरि**) प्रकाशवाली ! (**अहः तुभ्यं**) दिन तुम्हारे पास हमें सौंप दे ॥ ७ ॥

चार रात्री सूक्त

यहां गोपथ ऋषिके चार सूक्त रात्रीके वर्णनके हैं । इनमें एक तीसरा सूक्त भरद्वाजका भी अर्थात् गोपथ और भरद्वाज इन दोनोंका है । इनमें जो रात्रीका वर्णन है वह विशेष विचार पूर्वक देखने योग्य है ।

१ **वि-भा-वरि—** विशेष तेजस्वी ४८।२; ४; ४९।६; ५०।७;

२ **संभृत-श्रीः—** इकट्ठी हुई शोभावाली ४९।१;

३ **विभाती—** विशेष तेजस्वी ४९।४;

४ **व्युच्छन्ती—** विशेष प्रकाशनेवाली ४९।६ ।

विशेष चमकनेवाली, विशेष प्रकारके प्रकाशोंसे युक्त यह रात्री है । हमारी इस देशमें जो रात्री होती है, उसमें विशेष प्रकाशोंका दर्शन नहीं होता इसलिये यह वर्णन हमारे देशमें होनेवाले रात्रीका नहीं होगा ऐसा प्रतीत होता है । तथा—

१ **तेभिर्नो अद्य पारयाति दुर्गाणि विश्वहा** ॥५०।२

१ **रात्रिं अरिष्यन्तस्तरेम तन्वा वयम्** ॥ ५०।३

३ **अरिष्टासस्त उर्वि तमस्वति रात्री पारम-शीमहि । भद्रे पारमशीमहि** ॥४७।२

१ हमें सब संकटोंसे पार ले जाती है । २ इस रात्रीको हम अपने शरीरके साथ विनष्ट न होते हुए पार जायंगे । ३ विनष्ट न होकर बडी अंधकारमय रात्रीके पार जायंगे, हे कल्याण करनेवाली रात्री ! हम पार हो जायंगे !

रात्रीमें सुरक्षित पार होंगे यह कथन आजकी १२ घण्टोंकी रात्रीके विषयमें नहीं है, क्योंकि इस रात्रीके पार हम जायंगे

(५१) आत्मा ।

(ऋषिः — ब्रह्मा । देवता — आत्मा, सविता च ।)

अयुतोऽहमयुतो म आत्मायुतं मे चक्षुरयुतं मे श्रोत्रमयुतो मे प्राणोऽयुतो
मेऽपानोऽयुतो मे व्यानोऽयुतोऽहं सर्वः ॥ १ ॥
देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां प्रसूत आ रभे ॥ २ ॥ (३८०)

(५२) कामः ।

(ऋषिः — ब्रह्मा । देवता — कामः ।)

कामस्तदग्रे समवर्तत मनसो रेतः प्रथमं यदासीत् ।
स काम कामेन बृहता सयोनी रायस्पोषं यजमानाय धेहि ॥ १ ॥

यह हरएक अनाडी मनुष्य भी जानता है। प्रतिदिन मनुष्य सोता है और दूसरे दिन उठकर पार होता ही है। इसलिये यह प्रार्थना (**ऊर्वी तमस्वती रात्री**) बडे अन्धकारवाली विशाल रात्रीकी ही होगी। जो रात्री २।३ मास रहती है अथवा ६ मास उत्तरीय ध्रुवके पास रहती है। उस रात्रीकी यह प्रार्थना होगी। क्योंकि दीर्घकाल तक वहां रात्री रहती है इसलिये प्रार्थनाकी सार्थकता वहीं हो सकती है। इस रात्रीके विशेषण देखिये—

१ **बृहती** (४७।१)— बडी।

२ **यस्याः पारं न दहशे** । (४७।२)— जिसका पार दीखता नहीं इतनी यह रात्री दीर्घकाल टिकनेवाली है।

३ **ये ते रात्रि नृचक्षसो द्रष्टारो नवतिर्नव** । (४७।३)— हे रात्री! तेरे अन्दर पहारेदार मनुष्योंका निरीक्षण करनेवाले ९९ हैं।

४ **ये भूतेषु जाग्रति** । (४८।५)— जो मनुष्योंके रक्षणार्थ जागते हैं।

ये जो जागता पहारा करना है वह अति दीर्घ रात्रीके लिये ही हो सकता है। इसलिये यह रात्री अनेक महिने रहनेवाली उत्तरीय ध्रुवके पास होनेवाली रात्री होगी।

जिस समय दीर्घ रात्री होती है, उस समय हिंस्रपशुओंका भय होता है जिसका वर्णन इन मंत्रोंमें है, चोर, डाकू, लुटेरोंका भय होता है, वह इन मंत्रोंमें है। पशुओंकी चोरी भी है। हमारी छोटी रात्रीमें भी ये भय होते हैं, पर जितना वर्णन इन मंत्रोंमें है उतना नहीं होता। इन मंत्रोंमें वर्णन किया भय दीर्घ रात्रीमें ही हो सकता है। '**बृहती उर्वी**' आदि पद उस रात्रीके दर्शक हैं। इसलिये निश्चय यह है कि यह भयकारक रात्रीका वर्णन दीर्घ रात्रीका है।

---

(५१) आत्मा ।

अर्थ— (**अहं अयुतः**) मैं पूर्ण हूं, (**मे आत्मा अयुतः**) मेरा आत्मा पूर्ण है, (**मे चक्षुः अयुतं**) मेरा नेत्र पूर्ण है, (**मे श्रोत्रं अयुतं**) मेरे कान पूर्ण हैं, (**मे प्राणः अयुतः**) मेरा प्राण पूर्ण है (**मे अपानः अयुतः**) मेरा अपान पूर्ण है, (**मे व्यानः अयुतः**) मेरा व्यान पूर्ण है, (**अहं सर्वः अयुतः**) मैं सब पूर्ण हूं ॥ १ ॥

(**सवितुः देवस्य प्रसवे**) सविता देवकी प्रेरणासे (**अश्विनोः बाहुभ्यां**) अश्विनोंके बाहुओंसे और (**पूष्णः हस्ताभ्यां**) पूषाके हाथोंसे (**प्रसूतः**) प्रेरा हुआ मैं (**आ रभे**) इस कार्यका प्रारंभ करता हूं ॥ २ ॥

(५२) कामः ।

(**अग्रे कामः समवर्तत**) प्रारंभमें काम उत्पन्न हुआ। (**तत् मनसः रेतः प्रथमं यत् आसीत्**) वह मनका पहिला वीर्य या बीज था। हे काम! (**बृहता कामेन सयोनी सः**) बडे कामके साथ उत्पन्न होनेवाला वह काम (**यजमानाय रायस्पोषं धेहि**) यजमानके लिये धनकी पुष्टि दे ॥ १ ॥

त्वं काम सहसासि प्रतिष्ठितो विभुर्विभावा सख आ सखीयते ।
त्वमुग्रः पृतनासु सासहिः सह ओजो यजमानाय धेहि ॥ २ ॥
दूराच्चकमानाय प्रतिपाणायाक्षये । आस्मा अशृण्वन्नाशाः कामेनाजनयन्त्स्वः ॥ ३ ॥
कामेन मा काम आगन्हृदयाद्धृदयं परि । यदमीषामदो मनस्तदैतूप मामिह ॥ ४ ॥
यत्काम कामयमाना इदं कृण्मसि ते हविः ।
तन्नः सर्वं समृध्यतामथैतस्य हविषो वीहि स्वाहा ॥ ५ ॥ (३८५)

(५३) कालः ।

(ऋषिः— भृगुः । देवता— कालः ।)

कालो अश्वो वहति सप्तरश्मिः सहस्राक्षो अजरो भूरिरेताः ।
तमा रोहन्ति कवयो विपश्चितस्तस्य चक्रा भुवनानि विश्वा ॥ १ ॥
सप्त चक्रान्वहति काल एष सप्तास्य नाभीरमृतं न्वक्षः ।
स इमा विश्वा भुवनान्यञ्जत्कालः स ईयते प्रथमो नु देवः ॥ २ ॥

अर्थ— हे काम ! (**त्वं**) तू (**सहसा प्रतिष्ठितः असि**) सामर्थ्यके साथ रहता है। तू (**विभुः विभावा**) व्यापक तथा तेजस्वी और (**सखीयते सखः**) मित्रके समान बर्तनेवालेके साथ तू मित्र बनकर रहता है। (**त्वं उग्रः**) तू उग्र वीर है, (**पृतनासु सासहिः**) संग्रामोंमें विजय करनेवाला, (**यजमानाय सहः ओजः आ धेहि**) यजमानके लिये साहस और बल दे ॥ २ ॥

(**दूरात् चकमानाय**) दूरसे कामना करनेवाले (**प्रतिपाणाय अक्षये**) प्रति रक्षणके क्षयरहित कार्यके लिये (**अस्मै आशाः अशृण्वन्**) इस कामकी घोषणा सब दिशाएं सुनती हैं कि (**कामेन स्वः अजनयन्**) इस कामसे दिव्य सुख निर्माण किया है ॥ ३ ॥

(**कामेन मा कामः आगन्**) कामसे मेरी ओर काम आ गया है। (**हृदयात् हृदयं परि**) हृदयसे हृदयकी ओर भी काम आ गया है। (**यत् अमीषां अदः मनः**) जो उनका यह मन है (**तत् मां इह उप एतु**) वह मेरे पास यहां आवे ॥ ४ ॥

हे काम ! (**यत् कामयमानाः**) जिसकी इच्छा करते हुए (**ते इदं हविः कृण्मसि**) तेरे लिये यह हवि करते हैं, (**तत् नः सर्वं समृध्यतां**) वह सब हमारे लिये सिद्ध हो जाय। (**अथ एतस्य हविषः वीहि**) और इस हविका तू स्वीकार कर, (**स्वाहा**) तुम्हारे लिये समर्पण हो ॥ ५ ॥

'**काम**' का अर्थ 'इच्छा आकांक्षा' है। यही सब सृष्टिमें बडे बडे कार्य कर रहा है। सृष्टि उत्पन्न करनेकी कामना परमेश्वरने की और सृष्टि बनायी। मनुष्य भी नाना प्रकारकी कामनाएं करता है और अनेक छोटे बडे कार्य करता है। इस दृष्टिसे देखा जाय तो इस कामका राज्य ही सब स्थानोंपर है। यह देखना चाहिये।

(५३) कालः ।

(**कालः अश्वः**) कालरूपी घोडा (**वहति**) विश्वरूपी रथको खींचता है। (**सप्त-रश्मिः**) इसके सात किरण हैं, (**सहस्र-अक्षः**) हजार आंख हैं, वह (**अ-जरः**) जरारहित और (**भूरि-रेताः**) बहुत वीर्यवान् है (**तं विपश्चितः कवयः आ रोहन्ति**) उसपर ज्ञानी कवि चढते हैं, (**तस्य चक्रा विश्वा भुवनानि**) उसके चक्र सब भुवन हैं ॥ १ ॥

(**एषः कालः सप्त चक्रान् वहति**) यह काल सात चक्रोंको खींचता है। (**अस्य सप्त नाभीः**) इसकी सात नाभियां हैं, (**अक्षः नु अमृतं**) इसका अक्ष अमृत है। (**सः इमा विश्वा भुवनानि अञ्जत्**) वह इन सब भुवनोंको प्रकट करता है। (**सः प्रथमः देवः कालः ईयते**) वह काल पहिला देव है और वह चलता रहता है ॥ २ ॥

पूर्णः कुम्भोऽधि काल आहितस्तं वै पश्यामो बहुधा नु सन्तः ।
स इमा विश्वा भुवनानि प्रत्यङ्कालं तमाहुः परमे व्योमन् ॥ ३ ॥
स एव सं भुवनान्याभरत्स एव सं भुवनानि पर्यैत् ।
पिता सन्नभवत्पुत्र एषां तस्माद्वै नान्यत्परमस्ति तेजः ॥ ४ ॥
कालोऽमूं दिवमजनयत्काल इमाः पृथिवीरुत । काले ह भूतं भव्यं चेषितं ह वि तिष्ठते ॥ ५ ॥
कालो भूतिमसृजत काले तपति सूर्यः । काले ह विश्वा भूतानि काले चक्षुर्वि पश्यति ॥६॥
काले मनः काले प्राणः काले नाम समाहितम् । कालेन सर्वा नन्दन्त्यागतेन प्रजा इमाः ॥ ७ ॥
काले तपः काले ज्येष्ठं काले ब्रह्म समाहितम् । कालो ह सर्वस्येश्वरो यः पितासीत्प्रजापतेः ॥ ८ ॥
तेनेषितं तेन जातं तदु तस्मिन्प्रतिष्ठितम् । कालो ह ब्रह्म भूत्वा बिभर्ति परमेष्ठिनम् ॥ ९ ॥
कालः प्रजा असृजत कालो अग्रे प्रजापतिम् । स्वयंभूः कश्यपः कालात्तपः कालादजायत ॥१०॥ (३९५)

अर्थ— (**पूर्णः कुम्भः काल अधि आहितः**) भरा हुआ घडा [यह विश्व] कालके ऊपर रखा है। (**तं वै पश्यामः बहुधा नु सन्तः**) उसको हम देखते हैं जो अनेक प्रकारसे होता है। (**सः इमा विश्वा भुवनानि प्रत्यङ्**) वह काल इन सब भुवनोंके सामने है, (**परमे व्योमन् तं कालं आहुः**) परम आकाशमें उसको काल कहते हैं ॥ ३ ॥

(**सः एव भुवनानि सं आभरत्**) वह ही सब भुवनोंका भरणपोषण करता है, (**सः एव भुवनानि सं पर्यैत्**) वही सब भुवनोंको व्यापता है। (**पिता सन्**) वह पिता होता हुआ (**एषां पुत्र अभवत्**) इनका पुत्र हुआ है। (**तस्मात् वै परं तेजः नान्यत् अस्ति**) उससे अधिक तेज कोई नहीं है ॥ ४ ॥

(**कालः अमूं दिवं अजनयत्**) कालने ही इस द्युलोकको बनाया है। (**उत कालः इमाः पृथिवीः**) और कालने ही ये भूमियां बनायी हैं, (**काले ह भूत भव्यं च**) कालमें जो भूतकालमें हुआ और भविष्यमें होगा वह सब रहता है तथा कालमें (**इषितं ह वितिष्ठते**) जो प्रेरित होता है वह सब रहता है ॥ ५ ॥

(**कालः भूतिं असृजत**) कालने सृष्टि बनायी है। (**सूर्यः काले तपति**) सूर्य कालमें ही तपता है। (**काले ह विश्वा भूतानि**) कालमें ही सब भूत रहे हैं (**काले चक्षुः विपश्यति**) कालमें आंख विशेष रीतिसे देखता है ॥ ६ ॥

(**काले मनः**) कालमें मन, (**काले प्राणः**) कालमें प्राण, और (**काले नाम समाहितं**) कालमें नाम रहा है। (**कालेन आगतेन**) काल आनेपर (**इमाः सर्वाः प्रजाः**) ये सब प्रजाएं (**नन्दन्ति**) आनंदित होती हैं ॥ ७ ॥

(**काले तपः**) कालमें तप होता है, (**काले ज्येष्ठं**) कालमें ज्येष्ठ रहता है, (**काले ब्रह्म समाहितं**) कालमें ज्ञान इकठ्ठा हुआ है, (**कालः ह सर्वस्य ईश्वरः**) काल ही सबका ईश्वर है, (**यः प्रजापतेः पिता आसीत्**) जो प्रजापतिका पिता था ॥ ८ ॥

(**तेन इषितं**) उसने प्रेरित किया है, (**तेन जातं**) उससे उत्पन्न हुआ है, (**तत् उ तस्मिन् प्रतिष्ठितं**) वह निःसंदेह उसमें रहा है। (**कालः ह ब्रह्म भूत्वा**) काल निःसंदेह ब्रह्म बनकर (**परमेष्ठिनं बिभर्ति**) परमेष्ठीको धारण करता है ॥ ९ ॥

(**कालः प्रजा असृजत**) कालने प्रजाएं निर्माण की हैं, (**कालः अग्रे प्रजापतिं**) कालने पहिले प्रजापतिको बनाया है, (**स्वयंभूः कश्यपः कालात्**) स्वयंभू कश्यप कालसे बना है, (**कालात् तपः अजायत**) कालसे तप बना है ॥ १० ॥

कालसे सब कुछ बना है। काल ही सबका कारण है। यह विचार करके जानना योग्य है ॥

(५४) कालः ।

(ऋषिः — भृगुः । देवता — कालः ।)

कालादापः समभवन्कालाद्ब्रह्म तपो दिशः । कालेनोदेति सूर्यः काले नि विशते पुनः ॥ १ ॥
कालेन वातः पवते कालेन पृथिवी मही । द्यौर्मही काल आहिता ॥ २ ॥
कालो ह भूतं भव्यं च पुत्रो अजनयत्पुरा । कालादृचः समभवन्यजुः कालादजायत ॥ ३ ॥
कालो यज्ञं समैरयद्देवेभ्यो भागमक्षितम् । काले गन्धर्वाप्सरसः काले लोकाः प्रतिष्ठिताः ॥ ४ ॥
कालेऽयमङ्गिरा देवोऽथर्वा चाधि तिष्ठतः ।
इमं च लोकं परमं च लोकं पुण्यांश्च लोकान्विधृतीश्च पुण्याः ।
सर्वांल्लोकानभिजित्य ब्रह्मणा कालः स ईयते परमो नु देवः ॥ ५ ॥ (४००)

॥ इति षष्ठोऽनुवाकः ॥ ६ ॥

---

(५४) कालः ।

अर्थ— **(कालात् आपः समभवन्)** कालसे जल उत्पन्न हुए हैं, **(कालात् ब्रह्म तपः दिशः)** कालसे ज्ञान, तप और दिशाएं उत्पन्न हुई हैं । **(कालेन सूर्यः उदेति)** कालसे सूर्य उदयको प्राप्त होता है, **(पुनः काले नि विशते)** पुनः वह सूर्य कालमें ही प्रविष्ट होता है ॥ १ ॥

(कालेन वातः पवते) कालसे वायु बहता है, **(कालेन पृथिवी मही)** कालसे ही पृथिवी बडी हुई है । **(काले द्यौः मही आहिता)** कालमें ही बडी द्यौ रही है ॥ २ ॥

(पुत्रः कालः ह भूतं भव्यं च) पुत्र कालने ही भूत और भविष्य **(पुरा जनयत्)** पहिले बनाये हैं, **(कालात् ऋचः समभवन्)** कालसे ऋचाएं उत्पन्न हुई और **(कालात् यजुः अजायत)** कालसे यजु उत्पन्न हुआ है ॥ ३ ॥

(कालः) कालने ही **(अक्षितं यज्ञं भागं)** अक्षय यज्ञभागको **(देवेभ्यः समैरयत्)** देवोंके लिये प्रेरित किया है। **(काले गन्धर्व-अप्सरसः)** कालमें ही गन्धर्व और अप्सराएं हुई हैं । **(काले लोकाः प्रतिष्ठिताः)** कालमें सब लोक रहे हैं ॥ ४ ॥

(काले अयं अङ्गिरा देवः) कालमें यह अङ्गिरा देव और **(अथर्वा च अधि तिष्ठतः)** और अथर्वा अधिष्ठाता होकर रहा है । **(इमं च लोकं परमं च लोकं)** इस लोकको और परम लोकको तथा **(पुण्यान् लोकान् च)** सब पुण्य-लोकोंको और **(पुण्याः विधृतीः च)** पुण्य मर्यादाओंको तथा **(सर्वान् लोकान् अभिजित्य)** सारे लोगोंको जीतकर **(परमः देवः कालः)** परमदेव काल **(ब्रह्मणा सः ईयते)** ब्रह्म-ज्ञान-के साथ सर्वत्र जाता है ॥ ५ ॥

॥ यहां षष्ठ अनुवाक समाप्त ॥

(५५) रायस्पोषप्राप्तिः ।

(ऋषिः — भृगुः । देवता — अग्निः ।)

रात्रिंरात्रिमप्रयातं भरन्तोऽश्वायेव तिष्ठते घासमस्मै ।
रायस्पोषेण समिषा मदन्तो मा ते अग्ने प्रतिवेशा रिषाम ॥ १ ॥
या ते वसोर्वात इषुः सा त एषा तया नो मृड ।
रायस्पोषेण समिषा मदन्तो मा ते अग्ने प्रतिवेशा रिषाम ॥ २ ॥
सायंसायं गृहपतिर्नो अग्निः प्रातःप्रातः सौमनसस्य दाता ।
वसोर्वसोर्वसुदान एधि वयं त्वेन्धानास्तन्वं पुषेम ॥ ३ ॥
प्रातःप्रातर्गृहपतिर्नो अग्निः सायंसायं सौमनसस्य दाता ।
वसोर्वसोर्वसुदान एधीन्धानास्त्वा शतंहिमा ऋधेम ॥ ४ ॥
अपश्चा दग्धान्नस्य भूयासम् । अन्नादायान्नपतये रुद्राय नमो अग्नये ।
सभ्यः सभां मे पाहि ये च सभ्याः सभासदः ॥ ५ ॥
त्वामिन्द्रा पुरुहूत विश्वमायुर्व्यश्नवत् । अहरहर्बलिमित्ते हरन्तोऽश्वायेव तिष्ठते घासमग्ने॥६॥(४०३)

---

(५५) रायस्पोषप्राप्तिः ।

अर्थ— (**रात्रिं रात्रिं अप्रयातं**) रात रातमें खडे हुए कहीं भी न जानेवाले (**अस्मै तिष्ठते अश्वाय**) इस ठहरे हुए घोडेको (**घासं इव भरन्तः**) घास देते हैं, उस तरह अग्निके लिये शुद्ध हवि लानेवाले हम सब (**रायस्पोषेण इषा सं मदन्तः**) धन और पुष्टिके तथा अन्नके साथ आनन्द करते हुए (**ते प्रतिवेशाः**) तेरे पडोशी हम, हे अग्ने! (**मा रिषाम**) कष्ट न भोगें ॥ १ ॥

(**या ते वसोः वातः इषुः**) जो तुझ वसानेवालेका वायुरूप बाण है (**सा ते एषा**) वह तेरा ही यह बाण है, (**तया नः मृड**) उससे हमें सुख दे ॥ ० ॥ २ ॥

(**सायं सायं**) प्रति सायंकाल (**अग्निः नः गृहपतिः**) अग्नि हमारा गृहपति होकर रहता है । वह (**प्रातः प्रातः सौमनसस्य दाता**) प्रत्येक प्रातःकालमें उत्तम मनका दाता होता है। वह (**वसोः वसोः वसुदानः एधि**) हमें प्रत्येक उत्तम वस्तुका दान देनेवाला हो, (**त्वा इन्धानाः वयं**) तुझे प्रदीप्त करनेवाले हम (**तन्वं पुषेम**) अपने शरीरको पुष्ट करेंगे ॥ ३ ॥

(**प्रातः प्रातः**) प्रत्येक प्रातःकालमें (**अग्निः नः गृहपतिः**) अग्नि हमारा गृहपति हुआ है, वह (**सायं सायं सौमनसस्य दाता**) प्रत्येक सायंकालमें उत्तम मनका दाता है । वह (**वसोः वसोः वसुदान एधि**) हमें प्रत्येक उत्तम वस्तुका दान देनेवाला हो, (**त्वा इन्धानाः शतं हिमाः ऋधेम**) तुझे प्रदीप्त करनेवाले हम सौ वर्ष समृद्ध होते रहेंगे ॥ ४ ॥

(**दग्धान्नस्य अ-पश्चा भूयासं**) जले अन्नवालेके पीछे मैं न होऊं । (**अन्नादाय अन्नपतये**) अन्नका स्वीकार करनेवाले अन्नके पति (**रुद्राय अग्नये नमः**) रुद्ररूपी अग्निके लिये मैं नमस्कार करता हूं । (**सभ्यः मे सभां पाहि**) सभाके योग्य तू है, मेरी सभाकी रक्षा कर । (**ये च सभ्याः सभासदः**) जो सभामें बैठनेवाले सभासद हैं वे भी सभाकी रक्षा करें ॥ ५ ॥

हे इन्द्र ! (**त्वं पुरुहूत**) तू बहुतों द्वारा प्रार्थना करने योग्य हो । (**विश्वं आयुः व्यश्नुवत्**) तेरा उपासक सारी आयु भोगे । (**अहः अहः बलिं इत् ते हरन्तः**) प्रतिदिन तुझे बलि लाते हुए हम, हे अग्ने ! (**तिष्ठते अश्वाय घासं इव**) ठहरे घोडेको घास देते हैं उस तरह तुझे हम हवि देते हैं ॥ ६ ॥

(५६) दुष्वप्ननाशनम् ।

(ऋषिः — यमः । देवता — दुष्वप्ननाशनम् ।)

यमस्य लोकादध्या बभूविथ प्रमदा मर्त्यान्प्र युनक्षि धीरः ।
एकाकिना सरथं यासि विद्वान्त्स्वप्नं मिमानो असुरस्य योनौ ॥ १ ॥
बन्धस्त्वाग्रे विश्वचया अपश्यत्पुरा रात्र्या जनितोरेके अह्नि ।
ततः स्वप्नेदमध्या बभूविथ भिषग्भ्यो रूपमपगूहमानः ॥ २ ॥
बृहद्गावासुरेभ्योऽधि देवानुपावर्तत महिमानमिच्छन् ।
तस्मै स्वप्नाय दधुराधिपत्यं त्रयस्त्रिंशासः स्वरानशानाः ॥ ३ ॥
नैतां विदुः पितरो नोत देवा येषां जल्पिश्चरत्यन्तरेदम् ।
त्रिते स्वप्नमदधुराप्त्ये नर आदित्यासो वरुणेनानुशिष्टाः ॥ ४ ॥
यस्य क्रूरमभजन्त दुष्कृतोऽस्वप्नेन सुकृतः पुण्यमायुः ।
स्वर्मदसि परमेण बन्धुना तप्यमानस्य मनसोऽधि जज्ञिषे ॥ ५ ॥

---

(५६) दुष्वप्ननाशनम् ।

अर्थ— (**यमस्य लोकात्**) यमके लोकसे (**अध्या बभूविथ**) तू इधर आया है। (**धीरः प्रमदा मर्त्यान् प्र युनक्षि**) तू बुद्धिवान् हर्षसे मनुष्योंको स्वप्नमें प्रयुक्त करता है। (**असुरस्य योनौ**) प्राणमें रमनेवालेके स्थानमें (**स्वप्नं मिमानः**) स्वप्नको रचता हुआ (**विद्वान्**) जानता हुआ (**एकाकिना सरथं यासि**) तू अकेलेके साथ समान रथपर बैठकर जाता है ॥ १ ॥

(**विश्वचया बन्धः**) पूर्ण शक्तिवाले बन्धनने (**रात्र्याः जनितोः पुरा**) रात्रीके उत्पन्न होनेके पूर्व (**एके अह्नि**) एक दिन (**त्वा अग्रे अपश्यत्**) तुझे प्रथम देखा था। हे (**स्वप्न**) स्वप्न ! (**ततः इदं अध्या बभूविथ**) वहांसे तू इधर आया है, (**भिषग्भ्यः रूपं अपगूहमानः**) और वैद्योंसे अपने रूपको तू छिपाता है ॥ २ ॥

(**बृहद्गावा महिमानं इच्छन्**) बडी गौवोंवाला, अपना महत्व चाहता हुआ, स्वप्न (**असुरेभ्यः देवान् अधि उपावर्तत**) असुरोंसे देवोंके पास आया है। (**स्वः आनशानाः त्रयस्त्रिंशासः**) स्वर्गमें रहनेवाले तैंतीस देवोंने (**तस्मै स्वप्नाय आधिपत्यं दधुः**) उस स्वप्नके लिये आधिपत्य दिया है ॥ ३ ॥

(**पितरः एतां न विदुः**) पितर इस स्वप्नको जानते नहीं, (**उत न देवाः**) और देव भी इस स्वप्नको जानते नहीं, (**येषां जल्पिः इदं अन्तरा चरति**) जिनका वार्तालाप इस स्वप्नके अन्दर चलता है। (**वरुणेन अनुशिष्टाः आदित्यासः नरः**) वरुणने शिक्षित किये आदित्य और मनुष्य (**स्वप्नं आप्त्ये त्रिते अदधुः**) स्वप्नको जलके पुत्र त्रितमें रखते हैं। [जल पुत्र प्राणके कारण स्वप्न होता है ऐसा मानते हैं।] ॥ ४ ॥

(**यस्य क्रूरं दुष्कृतः अभजन्त**) जिस स्वप्नके क्रूर फलको दुष्कर्म करनेवाले आपसमें बांटते हैं और (**सुकृतः अस्वप्नेन पुण्यं आयुः**) पुण्य कर्म करनेवाले स्वप्न न आनेसे पुण्यमय आयुको भोगते हैं। (**परमेण बन्धुना स्वः मदसि**) परम बन्धु परमात्माके साथ रहनेसे स्वर्गसुखका आनन्द मिलता है। तू स्वप्न (**तप्यमानस्य मनसः अधि जज्ञिषे**) तपनेवालेके मनमें उत्पन्न होता है ॥ ५ ॥

विद्म ते सर्वाः परिजाः पुरस्ताद्विद्म स्वप्न यो अधिपा इहा ते ।
यशस्विनो नो यशसेह पाह्याराद् द्विषेभिरप याहि दूरम् ॥ ६ ॥ (४१२)

(५७) दुःष्वप्ननाशनम् ।

(ऋषिः — यमः । देवता— दुःष्वप्ननाशनम् ।

यथा कलां यथा शफं यथर्णं संनयन्ति । एवा दुःष्वप्न्यं सर्वमप्रिये सं नयामसि ॥ १ ॥
सं राजानो अगुः समृणान्यगुः सं कुष्ठा अगुः सं कला अगुः ।
समस्मासु यद्दुःष्वप्न्यं निर्द्विषते दुःष्वप्न्यं सुवाम ॥ २ ॥
देवानां पत्नीनां गर्भ यमस्य कर यो भद्रः स्वप्न ।
स मम यः पापस्तद् द्विषते प्र हिण्मः । मा तृष्टानामसि कृष्णशकुनेर्मुखम् ॥ ३ ॥
तं त्वा स्वप्न तथा सं विद्म स त्वं स्वप्नाश्व इव कायमश्व इव नीनाहम् ।
अनास्माकं देवपीयुं पियारुं वप यदस्मासु दुःष्वप्न्यं यद्गोषु यच्च नो गृहे ॥ ४ ॥

अर्थ— हे स्वप्न ! (**ते सर्वाः पुरस्तात् परिजाः विद्म**) तेरे सब साथी परिजनोंको हम जानते हैं । (**यः इह ते अधिपाः विद्म**) जो यहां तेरा अधिपति है, हम जानते हैं । (**नः यशस्विनः**) हम यशस्वियोंकी (**इह आरात् यशसा पाहि**) यहां समीपमें यशके साथ रक्षा कर । (**द्वेषेभिः दूरं अप याहि**) शत्रुओंके साथ दूर चला जा ॥ ६ ॥

स्वप्न पुण्यकर्म करनेवालोंको कष्ट नहीं देते । पापियोंको इनके कष्ट भोगने पडते हैं । अतः मनुष्य पुण्यकर्म करें और आनन्द प्रसन्न रहें ।

(५७) दुःष्वप्ननाशनम् ।

(**यथा कलां**) जैसे कलाको, (**यथा शफं**) जैसे खुरको तथा (**यथा ऋणं संनयन्ति**) जैसे ऋणको दे देते हैं [जैसे १६ वें भाग कलाको देते हैं, जैसे एक एक पांव चलकर मार्गको समाप्त करते हैं, जैसा ऋण थोडा थोडा देकर उऋण हो जाते हैं] वैसे ही (**सर्वं दुःष्वप्न्यं**) सब दुष्ट स्वप्नको (**अप्रिये सं नयामसि**) अप्रिय शत्रुपर ले जाते हैं ॥ १ ॥

(**राजानः सं अगुः**) राजे इकट्ठे होकर शत्रुपर जाते हैं, जैसे (**ऋणानि सं अगुः**) ऋण भी इकट्ठे होकर दूर होते हैं, (**कुष्ठाः सं अगुः**) कुष्ठ रोग जैसे दूर होते हैं, (**कलाः सं अगुः**) चन्द्रकी कला इकट्ठी होकर जैसी जाती हैं, वैसा (**अस्मासु यद् दुःष्वप्न्यं**) हमें जो दुष्ट स्वप्न आता है वह (**दुःष्वप्न्यं**) दुष्ट स्वप्न (**द्विषते सं निः सुवाम**) द्वेष करनेवालेके ऊपर धकेल देते हैं ॥ २ ॥

(**देवानां पत्नीनां गर्भ**) हे दैवीशक्तियोंके गर्भ ! हे (**यमस्य कर**) यमके हाथ ! हे स्वप्न ! (**यः भद्रः**) जो तेरा कल्याणका फल है (**सः मम**) वह मुझे प्राप्त हो । (**यः पापः तत् द्विषते प्रहिण्मः**) जो पापका भाग है उसको शत्रुपर भेजते हैं । (**तृष्टानां कृष्णशकुनेः मुखं मा असि**) तू तृषितोंका, काले पक्षीका मुख जैसा अकल्याण सूचक न बन ॥ ३ ॥

हे स्वप्न ! (**तं त्वा तथा सं विद्म**) उस तुझको हम पूर्णतया जानते हैं, (**त्वं अश्वः इव कायं**) तू घोडा जैसा शरीरको हिलाकर धूलीको झटक देता है, (**अश्वः इव नीनाहं**) घोडा जैसा अपने ऊपर रखे वस्तुको फेंक देता है, (**यत् अस्माकं दुःष्वप्न्यं**) जो हमारे अन्दर दुष्ट स्वप्न होता है, (**यत् गोषु**) जो गौके विषयमें (**यत् च नः गृहे**) जो हमारे घरके संबंधमें होता है, उस स्वप्नको (**अनास्माकं देवपीयुं पियारुं वप**) हमसे भिन्न देवोंके निंदक दुष्टपर फेंक देते हैं ॥ ४ ॥

☸

अनास्माकस्तद्देवपीयुः पियारुर्निष्कमिव प्रति मुञ्चताम् ।
नवारत्नीनपमया अस्माकं ततः परि । दुष्वप्न्यं सर्वं द्विषते निर्दयामसि ॥ ५ ॥ (४१७)

(५८) यज्ञः ।

(ऋषिः — ब्रह्मा । देवता — यज्ञः, बहवो देवताश्च ।)

घृतस्य जूतिः समना सदेवा संवत्सरं हविषा वर्धयन्ती ।
श्रोत्रं चक्षुः प्राणोऽच्छिन्नो नो अस्त्वच्छिन्ना वयमायुषो वर्चसः ॥ १ ॥
उपास्मान्प्राणो ह्वयतामुप वयं प्राणं हवामहे ।
वर्चो जग्राह पृथिव्यन्तरिक्षं वर्चः सोमो बृहस्पतिर्विधत्ता ॥ २ ॥
वर्चसो द्यावापृथिवी संग्रहणी बभूवथुर्वर्चो गृहीत्वा पृथिवीमनु सं चरेम ।
यशसं गावो गोपतिमुप तिष्ठन्त्यायतीर्यशो गृहीत्वा पृथिवीमनु सं चरेम ॥ ३ ॥
व्रजं कृणुध्वं स हि वो नृपाणो वर्मा सीव्यध्वं बहुला पृथूनि ।
पुरः कृणुध्वमायसीरधृष्टा मा वः सुस्रोच्चमसो दृंहता तम् ॥ ४ ॥
यज्ञस्य चक्षुः प्रभृतिर्मुखं च वाचा श्रोत्रेण मनसा जुहोमि ।
इमं यज्ञं विततं विश्वकर्मणा देवा यन्तु सुमनस्यमानाः ॥ ५ ॥

अर्थ— (अनास्माकः देवपीयुः पियारुः) जो हमारा नहीं, जो देवोंका निंदक है, दोष युक्त है वह (तत् निष्कं इव प्रति मुञ्चतां) उस स्वप्नफलको हारके समान पहने । (नव-अरत्नीन् अपमयाः) नौ हाथ परे हट जा । (अस्माकं ततः परि) हमारे दुष्ट स्वप्न उससे परे जांय । (सर्वं दुष्वप्न्यं द्विषते निर्दयामसि) सब दुष्ट स्वप्न हम उसपर डालते हैं जो हमारा द्वेष करता है ॥ ५ ॥

(५८) यज्ञः ।

(समना सदेवा) मन लगाकर दैवी शक्तियोंके साथ (घृतस्य जूतिः) घीकी अविच्छिन्न गति (हविषा संवत्सरं वर्धयन्ती) हविसे संवत्सरको बढाती है । (नः श्रोत्रं चक्षुः प्राणः अच्छिन्नः अस्तु) हमारी कान, आंख और प्राण ये शक्तियां अविच्छिन्न रहें, (आयुषः वर्चसः वयं अच्छिन्नाः) आयु और तेजसे हम अविच्छिन्न हों ॥ १ ॥

(प्राणः अस्मान् उपह्वयतां) प्राण हमें बुलावे, (वयं प्राणं उपहवामहे) हम प्राणको बुलावें । (पृथिवी वर्चः जग्राह) पृथिवीने तेज ग्रहण किया है । (अन्तरिक्षं वर्चः) अन्तरिक्षने तेज ग्रहण किया है, (सोमः बृहस्पतिः विधत्ता) सोम और बृहस्पति तेज धारण करते हैं ॥ २ ॥

(द्यावापृथिवी) द्यु और पृथिवी (वर्चसः संग्रहणी बभूवथुः) तेजका संग्रह करनेवाले हुए हैं । (वर्चः गृहीत्वा पृथिवीं अनु संचरेम) तेजको लेकर हम पृथिवीपर संचार करेंगे । (यशसं गोपतिं गावः उपतिष्ठन्ति) यशस्वी गौके स्वामीके पास गौवें आती हैं । (यशः गृहीत्वा आयतीः) यश लेकर आनेवाली गौओंको (गृहीत्वा) लेकर हम (पृथिवीं अनु संचरेम) पृथिवीपर घूमेंगे ॥ ३ ॥

(व्रजं कृणुध्वं) गौशाला बनाओ, (सः हि वः नृपाणः) वही तुम्हारे मानवोंका दूध पीनेका स्थान हो । (वर्मा सीव्यध्वं) कवच सीकर तैयार करो, वे (बहुला पृथूनि) बहुत हों और बडे भी हों । (अधृष्टा पुरः आयसीः कृणुध्वं) शत्रुके आधीन न होनेवाले किलोंके नगर लोहेके बनावो । (वः चमसः मा सुस्रोत्) तुम्हारे पात्र न चूहें, (तं दृंहत) उसको सुदृढ बनाओ ॥ ४ ॥

(यज्ञस्य चक्षुः मुखं प्र भृतिः च) यज्ञकी दृष्टि और मुख विशेष भरण पोषण करनेवाले हैं । (वाचा श्रोत्रेण मनसा जुहोमि) वाणीसे, कानोंसे और मनसे मैं आहुति यज्ञमें डालता हूं । (विश्व-कर्मणा इमं विततं यज्ञं) विश्वकर्माने फैलाये हुए इस यज्ञके पास (सुमनस्यमानाः देवाः यन्तु) उत्तम मनवाले देव आवें ॥ ५ ॥

ये देवानामृत्विजो ये च यज्ञिया येभ्यो हव्यं क्रियते भागधेयम् ।
इमं यज्ञं सह पत्नीभिरेत्य यावन्तो देवास्तविषा मादयन्ताम् ॥ ६ ॥ (४२३)

(५९) यज्ञः ।

(ऋषिः — ब्रह्मा । देवता — अग्निः ।)

त्वमग्ने व्रतपा असि देव आ मर्त्येष्वा । त्वं यज्ञेष्वीड्यः ॥ १ ॥
यद्वो वयं प्रमिनाम व्रतानि विदुषां देवा अविदुष्टरासः ।
अग्निष्टद्विश्वादा पृणातु विद्वान्त्सोमस्य यो ब्राह्मणाँ आविवेश ॥ २ ॥
आ देवानामपि पन्थामगन्म यच्छक्नवाम तदनुप्रवोढुम् ।
अग्निर्विद्वान्त्स यजात्स इद्धोता सोऽध्वरान्त्स ऋतून्कल्पयाति ॥ ३ ॥ (४२६)

(६०) अङ्गानि ।

(ऋषिः — ब्रह्मा । देवता — वाक्, अङ्गानि च ।)

वाङ्म आसन्नसोः प्राणश्चक्षुरक्ष्णोः श्रोत्रं कर्णयोः ।
अपलिताः केशा अशोणा दन्ता बहु बाह्वोर्बलम् ॥ १ ॥
ऊर्वोरोजो जङ्घयोर्जवः पादयोः । प्रतिष्ठा अरिष्टानि मे सर्वात्मानिभृष्टः ॥ २ ॥ (४२८)

अर्थ— (ये देवानां ऋत्विजः) जो देवोंके ऋत्विज हैं, (ये च यज्ञियाः) जो पूजनीय हैं, (येभ्यः भागधेयं हव्यं क्रियते) जिनके लिये स्वीकार करने योग्य हव्य किया जाता है, (इमं यज्ञं पत्नीभिः सह एत्य) इस यज्ञको पत्नियोंके साथ आकर (यावन्तः देवाः) जितने देव हैं वे सब (तविषा मादयन्तां) हविसे तृप्त हों ॥ ६ ॥

(५९) यज्ञः ।

हे अग्ने ! हे देव ! (त्वं मर्त्येषु व्रतपा असि) तू मर्त्योंमें हमारे व्रतोंका रक्षक है । (यज्ञेषु त्वं ईड्यः) तू यज्ञोंमें स्तुतिके योग्य है ॥ १ ॥

हे (देवाः) हे देवो ! (यत् वयं विदुषां व व्रतानि प्रमिनाम) यदि हमने आप विद्वानोंके कोई व्रत तोडे होंगे, (अविदुष्टरासः) न जानते हुए तोडे होंगे, (तत् विश्वादा अग्निः) तो उसको सब खानेवाला अग्नि (पृणातु) पूर्ण करे, (सोमस्य यः विद्वान् ब्राह्मणान् आविवेश) सोमको जाननेवाला जो ब्राह्मणोंमें जाकर बैठता है, वह उस दोषको पूर्ण करे ॥ २ ॥

(देवानां पन्थां अपि आ अगन्म) हम देवोंके मार्गपर आ गये हैं । (यत् शक्नवाम) यदि हम समर्थ हुए तो (तत् अनु प्रवोढुं) उसको आगे ले जानेके लिये यत्न करेंगे । (स विद्वान् अग्निः) वह ज्ञानी अग्नि, (स यजात्) वह पूजा करे, (सः इत् होता) वह निःसंदेह हवन करता है, (सः अध्वरान्) वह यज्ञोंको और (सः ऋतून् कल्पयाति) वह ऋतुओंको सामर्थ्यवान् बनाता है ॥ ३ ॥

(६०) अङ्गानि ।

(मे आसन् वाक्) मेरे मुखमें उत्तम वाक् शक्ति रहे, (नसोः प्राणः) मेरे नाकमें प्राण रहे, (अक्ष्णोः चक्षुः) मेरे आंखोंमें उत्तम दृष्टि रहे, (कर्णयोः श्रोत्रं) मेरे कानोंमें उत्तम श्रवण शक्ति रहे, (केशाः अपलिताः) मेरे बाल श्वेत न हों, (दन्ताः अशोणाः) मेरे दांत मलिन न रहें, न गिर जाय, (बाह्वोः बहु बलं) मेरे बाहुओंमें बडा बल रहे, (ऊर्वोः ओजः) मेरे जांघोंमें सामर्थ्य रहे, (जंघयोः जवः) मेरी पिंडरियोंमें वेग रहे, (पादयोः प्रतिष्ठा) मेरे पांवोंमें स्थिर रहनेकी शक्ति हो, (मे सर्वा अरिष्टानि) मेरे सब अवयव नीरोग हों, (आत्मा अनिभृष्टः) मेरा आत्मा उत्साह युक्त- न गिरा हुआ हो ॥ १-२ ॥

(६१) पूर्णायुः ।

(ऋषिः — ब्रह्मा । देवता — ब्रह्मणस्पतिः ।)

तनूस्तन्वा मे सहे दतः सर्वमायुरशीय । स्योनं मे सीद पुरुः पृणस्व पवमानः स्वर्गे ॥१॥ (४२९)

(६२) सर्वप्रियत्वम् ।

(ऋषिः — ब्रह्मा । देवता — ब्रह्मणस्पतिः ।)

प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु । प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये ॥ १ ॥ (४३०)

(६३) आयुर्वर्धनम् ।

(ऋषिः — ब्रह्मा । देवता — ब्रह्मणस्पतिः ।)

उत्तिष्ठ ब्रह्मणस्पते देवान्यज्ञेन बोधय । आयुः प्राणं प्रजां पशून्कीर्तिं यजमानं च वर्धय ॥१॥ (४३१)

(६४) दीर्घायुत्वम् ।

(ऋषिः — ब्रह्मा । देवता — अग्निः ।)

अग्ने समिधमाहार्षं बृहते जातवेदसे । स मे श्रद्धां च मेधां च जातवेदाः प्र यच्छतु ॥ १ ॥
इध्मेन त्वा जातवेदः समिधा वर्धयामसि । तथा त्वमस्मान्वर्धय प्रजया च धनेन च ॥ २ ॥
यदग्ने यानि कानि चिदा ते दारूणि दध्मसि । सर्वं तदस्तु मे शिवं तज्जुषस्व यविष्ठ्य ॥ ३ ॥
एतास्ते अग्ने समिधस्त्वमिद्धः समिद्भव । आयुरस्मासु धेह्यमृतत्वमाचार्याय ॥ ४ ॥ (४३५)

---

(६१) पूर्णायुः ।

अर्थ— (**मे तनूः तन्वा**) मेरा शरीर मोटा ताजा हो, (**दतः सहे**) शत्रुओंका मैं पराभव करूंगा, मुझे दबानेवालेको मैं अपने सामर्थ्यसे दूर करता हूं । (**सर्वं आयुः अशीय**) मैं पूर्ण आयुको प्राप्त करूंगा (**मे स्योनं सीद**) मेरे सुखदायी स्थानपर बैठ, (**पुरुः पृणस्व**) अपने आपको परिपूर्ण कर, (**पवमानः स्वर्गे**) पवित्र होता हुआ सुखपूर्ण स्थानमें रहूंगा ॥१॥

(६२) सर्वप्रियत्वम् ।

(**देवेषु मा प्रियं कृणु**) देवोंमें मुझे प्रिय बना, (**राजसु मा प्रियं कृणु**) राजाओंमें मुझे प्रिय कर, (**सर्वस्य पश्यतः प्रियं**) सब देखनेके लिये मैं प्रिय बनूं (**उत शूद्रे उत आर्ये**) चाहे वह शूद्र हो चाहे आर्य हो ॥ १ ॥

(६३) आयुर्वर्धनम् ।

हे (**ब्रह्मणस्पते**) ज्ञानके स्वामिन् (**उत्तिष्ठ**) उठ, (**यज्ञेन देवान् बोधय**) यज्ञसे देवोंको समझा दो । आयु, प्राण, प्रजा, पशु, कीर्तिको तथा यजमानको (**वर्धय**) बढाओ ॥ १ ॥

(६४) दीर्घायुत्वम् ।

हे अग्ने ! (**बृहते जातवेदसे**) बडे जातवेदके लिये (**समिधं आहार्षं**) समिधा लाया हूं, (**सः जातवेदाः**) वह जातवेदा (**मे श्रद्धां च मेधां च प्र यच्छतु**) मुझे श्रद्धा और मेधा देवे ॥ १ ॥

जातवेदाः— जिससे वेद हुए । परमात्मा, अग्नि ।

हे जातवेद ! (**इध्मेन समिधा त्वा वर्धयामि**) जलनेवाली समिधासे मैं तुझे बढाता हूं । (**तथा त्वं अस्मान्**) वैसा तू हमें (**प्रजया च धनेन च वर्धय**) प्रजा और धनसे बढा ॥ २ ॥

हे अग्ने (**यानि कानि चित्**) जो कोई (**दारूणि**) लकडियां (**ते आ दध्मसि**) तेरे लिये हम लाकर डालते हैं, (**यविष्ठ्य ! तत् जुषस्व**) हे तरुण अग्ने ! उसका तू सेवन कर । (**तत् सर्वं मे शिवं अस्तु**) वह सब मेरे लिये कल्याणकारी हो ॥ ३ ॥

हे अग्ने ! (**एताः ते समिधः**) ये तेरे लिये समिधाएं हैं, (**त्वं इद्धः**) तू प्रदीप्त होकर (**समित् भव**) तेजस्वी हो । (**अस्मासु आयुः धेहि**) हमें आयुष्य दे और (**आचार्याय अमृतत्वं**) आचार्यके लिये अमरपन दे ॥ ४ ॥

(६५) अयनम् ।

(ऋषिः — ब्रह्मा । देवता — जातवेदा सूर्यश्च ।)

हरिः सुपर्णो दिवमारुहोऽर्चिषा ये त्वा दिप्सन्ति दिवमुत्पतन्तम् ।
अव तां जहि हरसा जातवेदोऽबिभ्यदुग्रोऽर्चिषा दिवमा रोह सूर्य ॥ १ ॥ (४३६)

(६६) असुरक्षयणम् ।

(ऋषिः — ब्रह्मा । देवता — जातवेदाः सूर्यो वज्रश्च ।)

अयोजाला असुरा मायिनोऽयस्मयैः पाशैरङ्किनो ये चरन्ति ।
तांस्ते रन्धयामि हरसा जातवेदः सहस्रऋष्टिः सपत्नान्प्रमृणन्याहि वज्रः ॥ १ ॥ (४३७)

(६७) दीर्घायुत्वम् ।

(ऋषिः — ब्रह्मा । देवता — सूर्यः ।)

पश्येम शरदः शतम् ॥ १ ॥ जीवेम शरदः शतम् ॥ २ ॥
बुध्येम शरदः शतम् ॥ ३ ॥ रोहेम शरदः शतम् ॥ ४ ॥
पूषेम शरदः शतम् ॥ ५ ॥ भवेम शरदः शतम् ॥ ६ ॥
भूयेम शरदः शतम् ॥ ७ ॥ भूयसीः शरदः शतात् ॥ ८ ॥ (४४५)

(६८) वेदोक्तं कर्म ।

(ऋषिः — ब्रह्मा । देवता — कर्म ।)

अव्यसश्च व्यचसश्च बिलं वि ष्यामि मायया । ताभ्यामुद्धृत्य वेदमथ कर्माणि कृण्महे ॥ १ ॥ (४४६)

---

(६५) अयनम् ।

अर्थ— (**हरिः सुपर्णः**) दुःखोंका हरण करनेवाला उत्तम किरणवाला सूर्य (**दिवं आरुह**) द्युलोक पर आरूढ हुआ है । (**दिवं उत्पतन्तं त्वा**) द्युलोक पर चढते समय तुझे (**ये दिप्सन्ति**) जो हानि पहुंचाते हैं, हे (**जातवेदः**) अग्ने ! (**तान् हरसा अव जहि**) उनको अपने ज्वालासे मार गिरा दे ! हे सूर्य ! (**अबिभ्यत्**) न डरता हुआ (**उग्रः**) उग्र होकर (**अर्चिषा दिवं आ रोह**) तेजसे द्युलोक पर चढ ॥ १ ॥

(६६) असुरक्षयणम् ।

(**अयोजालाः**) लोहेका जाल लेकर जो आते हैं, (**मायिनः असुराः**) जो कपटी असुर (**अयस्मयैः पाशैः अङ्किनः ये चरन्ति**) लोहेके पाश हाथमें लेकर चलते हैं । हे (**जातवेदः**) अग्ने ! (**तान् ते हरसा रन्धयामि**) उनको मैं तेरे तेजसे विनष्ट करता हूं । तू (**सहस्र-ऋष्टिः वज्रः**) सहस्र नोकवाला वज्र बन कर (**सपत्नान् प्रमृणन् याहि**) शत्रुओंका नाश करता हुआ हमारी रक्षा कर ॥ १ ॥

(६७) दीर्घायुत्वम् ।

हम सौ वर्ष देखें ॥ १ ॥ हम सौ वर्ष जीवें ॥ २ ॥ हम सौ वर्ष ज्ञान लेते रहें ॥ ३ ॥ हम सौ वर्ष बढते रहें ॥ ४ ॥ हम सौ वर्ष पुष्ट होते रहें ॥ ५ ॥ हम सौ वर्ष अच्छी तरह रहें ॥ ६ ॥ हम सौ वर्ष सजते रहें ॥ ७ ॥ सौ वर्षोंसे भी अधिक जीवें ॥ ८ ॥

(६८) वेदोक्तं कर्म ।

(**अव्यसः च**) अव्यापक और (**व्यचसः च**) व्यापक (**बिलं मायया विष्यामि**) बिलमें कुशलतासे मैं जाता हूं । (**ताभ्यां वेदं उद्धृत्य**) उन दोनोंसे वेदको उठाकर (**अथ कर्माणि कृण्महे**) कर्मोंको हम करते हैं ॥ १ ॥

बडे और छोटे संदूकोंको मैं चाबीसे खोलता हूं । दोनों हाथोंसे वेदको बाहर निकालता हूं । उस वेदको देखकर हम कर्मोंको करते हैं ।

(६९) आपः।

(ऋषिः — ब्रह्मा। देवता — आपः।)

जीवा स्थ जीव्यासं सर्वमायुर्जीव्यासम् ॥१॥ उपजीवा स्थोप जीव्यासं सर्वमायुर्जीव्यासम् ॥२॥
संजीवा स्थ सं जीव्यासं सर्वमायुर्जीव्यासम् ॥३॥ जीवला स्थ जीव्यासं सर्वमायुर्जीव्यासम् ॥४॥ (४५०)

(७०) पूर्णायुः।

(ऋषिः — ब्रह्मा। देवता — इन्द्रसूर्यादयः।)

इन्द्र जीव सूर्य जीव देवा जीवा जीव्यासमहम्। सर्वमायुर्जीव्यासम् ॥ १ ॥ (४५१)

(७१) वेदमाता।

(ऋषिः — ब्रह्मा। देवता — गायत्री।)

स्तुता मया वरदा वेदमाता प्र चोदयन्तां पावमानी द्विजानाम्।
आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्तिं द्रविणं ब्रह्मवर्चसम्। मह्यं दत्वा व्रजत ब्रह्मलोकम् ॥ १ ॥ (४५२)

(७२) परमात्मा।

(ऋषिः — भृग्वङ्गिरा ब्रह्मा। देवता — परमात्मा देवाश्च।)

यस्मात्कोशादुदभराम वेदं तस्मिन्नन्तरव दध्म एनम्।
कृतमिष्टं ब्रह्मणो वीर्येण तेन मा देवास्तपसावतेह ॥ १ ॥ (४५३)

॥ इति सप्तमोऽनुवाकः ॥ ७ ॥

॥ इत्येकोनविंशं काण्डं समाप्तम् ॥

---

(६९) आपः।

अर्थ— (**जीवाः स्थ**) तुम जीवनवाले हैं, (**जीव्यासं, सर्वं आयुः जीव्यासं**) मैं जीऊं, मैं सब आयुतक जीऊं ॥ १ ॥ (**उपजीवाः स्थ**) तुम जीवनवाले हो, (**उप जीव्यासं**) मैं जीऊं, सब आयुतक जीऊं ॥ २ ॥ (**संजीवाः स्थ**) तुम उत्तम जीवनवाले हो, मैं उत्तम जीवनवाला बनूं, सब आयुतक जीऊं ॥ ३ ॥ (**जीवलाः स्थ**) तुम जीवन युक्त हो, मैं जीऊं, सब आयुतक मैं जीऊं ॥ ४ ॥

(७०) पूर्णायुः।

हे इन्द्र! (**जीव**) जीवो! हे सूर्य (**जीव**) जीवो, (**देवाः जीवाः**) हे देवो! जीते रहो। (**अहं जीव्यासं**) मैं जीऊं। (**सर्वं आयुः जीव्यासं**) सब आयुतक जीवित रहूं ॥ १ ॥

(७१) वेदमाता।

(**मया वरदा वेदमाता स्तुता**) मैंने वेदमाताकी स्तुति की, वह वेदमाता (**द्विजानां प्र चोदयन्ती**) द्विजोंको प्रेरणा देनेवाली और (**पावमानी**) पवित्र करनेवाली है, आयु, प्राण, प्रजा, पशु, कीर्ति, धन, ज्ञान, तेज (**मह्यं दत्वा**) मुझे देकर (**ब्रह्मलोकं व्रजत**) ब्रह्मलोकको जाओ ॥ १ ॥

(७२) परमात्मा।

(**यस्मात् कोशात्**) जिस संदूकसे (**वेदं उदभराम**) वेदको हमने निकाला (**तस्मिन् अन्तः**) उसीमें (**एनं अवदध्म**) इस वेदको हम पुनः रखते हैं। (**ब्रह्मणः वीर्येण इष्टं कृतं**) ज्ञानके वीर्यसे जो कर्म करना था वह किया। (**तेन तपसा**) उस तपसे (**देवाः इह अवत**) देव यहां हमारी रक्षा करें ॥ १ ॥

॥ यहां सप्तम अनुवाक समाप्त ॥

॥ यहां १९ वां काण्ड समाप्त हुआ ॥

ॐ

अथर्ववेद

का

सुबोध भाष्य

विंशं काण्डम् ।

ॐ

अथर्ववेदका स्वाध्याय।

विंशं काण्डम्।

अथर्ववेदमें इन्द्र देवताका वर्णन

अथर्ववेदमें इन्द्र देवताके मंत्र इस तरह हैं—

प्रथम काण्ड

सूक्त	ऋषि	मंत्रसंख्या	
२	अथर्वा	१	
७	चातनः	१	
९	अथर्वा	१	
१६	चातनः	१	
१९	ब्रह्मा	१	
२०	अथर्वा	१	
२१	अथर्वा	४	
२६	ब्रह्मा	१	
३५	अथर्वा	१	१२

द्वितीय काण्ड

सूक्त	ऋषि	मंत्रसंख्या	
५	भृगुराथर्वणः	७	
१२	भरद्वाजः	१	
२७	कपिञ्जलः	१	
२९	अथर्वा	१	
३६	पतिवेदनः	१	११

तृतीय काण्ड

सूक्त	ऋषि	मंत्रसंख्या	
१	अथर्वा	४	
२	अथर्वा	२	
३	अथर्वा	४	
४	अथर्वा	१	
८	अथर्वा	१	
१०	अथर्वा	१	
११	ब्रह्मा भृग्वंगिराश्च	३	
१४	ब्रह्मा भृग्वंगिराश्च	१	
१५	अथर्वा	३	
१६	अथर्वा	२	
१९	वसिष्ठः	३	
२७	अथर्वा	१	
३१	ब्रह्मा	२	२८

चतुर्थ काण्ड

सूक्त	ऋषि	मंत्रसंख्या	
४	अथर्वा	१	
११	भृग्वंगिराः	१२	
२२	वसिष्ठः अथर्वा वा	७	
२४	मृगारः	७	२७

पञ्चम काण्ड

सूक्त	ऋषि	मंत्रसंख्या	
२	बृहद्दिवोऽथर्वा	२	
८	अथर्वा	६	
२३	कण्वः	१३	
२४	अथर्वा	१	
२६	ब्रह्मा	२	२४

षष्ठ काण्ड

सूक्त	ऋषि	मंत्रसंख्या	
५	अथर्वा	१	
३३	जाटिकायनः	३	
४०	अथर्वा	२	
५८	अथर्वा	२	

६५	अथर्वा	१	
६६	अथर्वा	३	
६७	अथर्वा	३	
७५	कंबन्धः	३	
८२	भगः	३	
९२	अथर्वा	३	
९८	अथर्वा	३	
९९	अथर्वा	३	
१०३	उच्छोचनः	३	
१०४	प्रशोचनः	३	३६

सप्तम काण्ड

१२	शौनकः	१	
२४	ब्रह्मा	१	
३१	भृग्वंगिराः	१	
४४	प्रस्कण्वः	१	
५०	अंगिराः	९	
५१	अंगिराः	१	
५४	भृगुः	१	
५५	भृगुः	१	
५८	कौरुपथिः	२	
७२	अथर्वा	३	
७६	अथर्वा	१	
८४	भृगुः	२	
८६	अथर्वा	१	
९१	अथर्वा	१	
९२	अथर्वा	१	
९३	भृग्वंगिराः	१	
९७	अथर्वा	८	
९८	अथर्वा	१	
११०	भृगुः	३	
११७	अथर्वांगिराः	१	४१

अष्टम काण्ड

४	चातनः	२५	
८	भृग्वंगिराः	२४	४९

नवम काण्डसे अष्टादशवें काण्डतक इन्द्रके मंत्र नहीं हैं।

एकोनविंश काण्ड

५	अथर्वांगिराः	१	
१०	वसिष्ठः	३	
१३	अप्रतिरथः	११	
१५	अथर्वा	४	
७०	ब्रह्मा	१	२०

विंश काण्ड

१	विश्वामित्रः	१
२	गृत्समदः	१
३-५	इरिम्बिठिः	१३
६	विश्वामित्रः	९
७	सुकक्षः ३, विश्वामित्रः १	४
८	भरद्वाजः १, कुत्सः १, विश्वामित्रः १	३
९	नोधाः २, मेध्यातिथिः २	४
१०	मेध्यातिथिः	२
११	विश्वामित्रः	११
१२	वसिष्ठः ६, अत्रिः १	७
१३	वामदेवः १, गोतमः १, कुत्सः १, विश्वामित्रः १	४
१४	सौभरिः	४
१५	गोतमः	६
१७	कृष्णः ११, वसिष्ठः १	१२
१८	मेधातिथिः प्रियमेधश्च ३, वसिष्ठः ३	६
१९	विश्वामित्रः	७
२०	विश्वामित्रः ४, गृत्समदः ३	७
२१	सव्यः	११
२२	त्रिशोकः ३, प्रियमेधः ३	६
२३-२४	विश्वामित्रः	१८
२५	गोतमः ६, अष्टकः १	७
२६	शुनःशेपः ३, मधुच्छन्दाः ३	६
२७-२९	गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ	१५
३०-३२	बरुः सर्वहरिर्वा	१३
३३	अष्टकः	३
३४	गृत्समदः	१८
३५	नोधा (भरद्वाजः)	१६
३६	भरद्वाजः	११
३७	वसिष्ठः	११

३८	इरिम्बिठि ३, मधुच्छन्दाः ३	६
३९	मधुच्छन्दाः १, गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ ४	५
४०	मधुच्छन्दाः	३
४१	गोतमः	३
४२	कुरुस्तुतिः	३
४३	त्रिशोकः	३
४४	इरिम्बिठिः	३
४५	शुनःशेपो देवरातः	३
४६	इरिम्बिठिः	३
४७	सुकक्षः ३, इरिम्बिठिः ३, मधुच्छन्दाः ६	१२
५०	मेध्यातिथिः	२
५१	प्रस्कण्वः २, पुष्टिगुः २	४
५२-५३	मेध्यातिथिः	६
५४-५५	रेभः	६
५६	गोतमः	६
५७	मधुच्छन्दाः ३, विश्वामित्रः ४, गृत्समदः ३, मेध्यातिथिः ६	१६
५८	नृमेधः २, जमदग्निः २	४
५९	मेध्यातिथिः २, वसिष्ठः २	४
६०	सुकक्षः सुतकक्षो वा ३, मधुच्छन्दाः ३	६
६१	गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ	६
६२	सोभरि ४, नृमेधः ३, गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ ३	१०
६३	भुवनः साधनो वा, ३ भरद्वाजः गोतमः ३, पर्वतः ३	९
६४	नृमेधः ३, विश्वमनाः ३	६
६५-६६	विश्वमनाः	६
६७	परुच्छेपः ३, गृत्समदः ४	७
६८-७१	मधुच्छन्दाः	६०
७२	परुच्छेपः	३
७३	वसिष्ठः ३, वसुक्रः ३	६
७४	शुनःशेपः	७
७५	परुच्छेपः	३
७६	वसुक्रः	८
७७	वामदेवः	८
७८	शंयुः	३
७९	वसिष्ठः शक्तिर्वा	२
८०	शंयुः	२
८१	पुरुहन्मा	२
८२	वसिष्ठः	२
८३	शंयुः	२
८४	मधुच्छंदाः	३
८५	प्रगाथः २, मेध्यातिथिः २	४
८६	विश्वामित्रः	१
८७	वसिष्ठः	७
८९	कृष्णः	११
९२	प्रियमेधः १२, पुरुहन्मा ९	२१
९३	प्रगाथ ३, देवजामयः ५	८
९४	कृष्णः	११
९५	गृत्समदः १, सुदाः पैजवनः ३	४
९६	पूरणः	५
९७	कलिः	३
९८	शंयुः	२
९९	मेध्यातिथिः	२
१००	नृमेधः	३
१०१	मेध्यातिथिः	३
१०४	मेध्यातिथिः २, नृमेधः २	४
१०५	नृमेधः ३, पुरुहन्मा २	५
१०६	गोषुक्त्यश्वसूक्तिनौ	३
१०७	वत्सः ३, बृहद्दिवः १०, कुत्सः २	१५
१०८	नृमेधः	३
१०९	गोतमः	३
११०	श्रुतकक्षः सुकक्षो वा	३
१११	पर्वतः	३
११२	सुकक्षः	३
११३	भर्गः	२
११४	सोभरिः	२
११५	वत्सः	३
११६	मेध्यातिथिः	२
११७	वसिष्ठः	३

११८	भर्गः २, मेध्यातिथिः २	४
११९	आयुः १, श्रुष्टिगुः १	२
१२०	देवातिथिः	२
१२१	वसिष्ठः	२
१२२	शुनःशेपः	३
१२४	वामदेवः ३, भुवनः ३	६
१२५	सुकीर्तिः	५
१२६	वृषाकपिरिन्द्राणी च	२३
१२७	बुधः १, तिरश्चिरांगिरसो ५	
	सुतानो वा सुकक्षः ३	९
१२८	वत्सः	३
		६७७

काण्डोंमें इन्द्रके वर्णनके ये मंत्र हैं—

प्रथम काण्डमें	१२ मंत्र
द्वितीय काण्डमें	११ मंत्र
तृतीय काण्डमें	२८ मंत्र
चतुर्थ काण्डमें	२७ मंत्र
पंचम काण्डमें	२४ मंत्र
षष्ठ काण्डमें	३६ मंत्र
सप्तम काण्डमें	४१ मंत्र
अष्टम काण्डमें	४९ मंत्र
	२२८

इतने मंत्र आठ काण्डोंमें हैं। नवम काण्डसे अठारहवें काण्डतक इन्द्रके मंत्र नहीं है।

उन्नीसवें	काण्डमें	२०	मंत्र है।
बीसवें	काण्डमें	६७७	मंत्र है।
अष्टम	काण्डतक	२२८	मंत्र है।
		९२५	

अथर्ववेदमें कुल मंत्रसंख्या ५९७७ है इसमें ९२५ मंत्रोंमें इन्द्रका वर्णन है। कुल मंत्रोंका यह छठवां भाग है। इन्द्र देवता शत्रुसे युद्ध करके उसका पराभव करनेवाली देवता है। इस देवताके मंत्रोंमें युद्धके वर्णन ही हैं। इन्द्रके साथ युद्ध करनेवाले सैनिक 'मरुत् देवता' हैं। इस देवताके मंत्र भी इस इन्द्रका विचार करनेके समय विचारमें लेने चाहिये। क्योंकि इन्द्रके साथ युद्धक्षेत्रमें रहनेवाले मरुत् ही हैं। ये तो युद्ध करनेवाले सैनिक हुए। जखमी सैनिकोंको ठीक आरोग्यसंपन्न करनेका कार्य अश्विनौ देवताका है, अतः अश्विनौ देवताके मंत्रोंका भी विचार इस इन्द्रके मंत्रोंके विचारके साथ करना चाहिये। इसी तरह रुद्र देव भी युद्ध देव ही है। त्वष्टा वज्र करके इन्द्रको देता है। इस तरह रुद्र, त्वष्टा आदि देवताओंका भी विचार युद्धक्षेत्रमें कार्य करनेवाले इन्द्र देवताके मंत्रोंके साथ होना चाहिये। इस तरह विचार करनेपर वेदका युद्धक्षेत्रका विचार सम्यक्तया हो सकता है।

हम यहां केवल इन्द्रके मंत्रोंका ही विचार करना चाहते हैं और उस विचारसे जानना चाहते हैं कि इन्द्र देवता देवोंके युद्ध मंत्री कैसे हैं।

अब हम देखते हैं कि इस इन्द्रका वर्णन कितने ऋषियोंने किया है—

	ऋषिका नाम	मंत्रसंख्या
१	अथर्वा	९८
२	मधुच्छन्दाः	९५
३	विश्वमनाः	६१
४	वसिष्ठः	५३
५	गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ	५१
६	विश्वमित्रः	४५
७	सुवंगिराः	३८
८	गृत्समदः	३५
९	गोतमः	३४
१०	मेध्यातिथिः	३३
११	कृष्णः	३३
१२	प्लातनः	२७
१३	वृषाकपिरिन्द्राणी च	२३
१४	इरिम्बिठिः	२२
१५	नृमेधः	१९
१६	नोधाः	१८
१७	प्रियमेधः	१८
१८	भृगुः आथर्वणः	१६
१९	शुनःशेपः	१६
२०	पुरुहन्मा	१३
२१	कण्वः	१३
२२	वरुः सर्वहरिर्वा	१३
२३	भरद्वाजः	१३
२४	सुकक्षः	१२
२५	ब्रह्मा	१२
२६	बृहद्दिवः	१२

२७	वामदेवः	१२
२८	अप्रतिरथः	११
२९	अंगिराः	११
३०	वसुक्रः	११
३१	सव्यः	११
३२	सौभरिः	१०
३३	वत्सः	९
३४	शंयुः	९
३५	पुरुच्छेपः	९
३६	भृगुः	८
३७	प्रगाथः	८
३८	नृगारः	७
३९	त्रिशोकः	६
४०	पर्वतः	६
४१	भुवनः	६
४२	सुतकक्षः	६
४३	रेभः	६
४४	पूरणः	५
४५	सुकीर्तिः	५
४६	देवजामयः	५
४७	तिरश्चिरांगिरसः	५
४८	भर्गः	४
४९	कुत्सः	४
५०	अष्टकः	४
५१	मेधातिथिः	३
५२	सुदाः पैजवनः	३
५३	भगः	३
५४	प्रस्कण्वः	३
५५	प्रद्योचनः	३
५६	आटिकायनः	३
५७	कुत्सस्तुतिः	३
५८	कबंधः	३
५९	कलिः	३
६०	युतानः	३
६१	उच्छोचनः	३
६२	कौरुपथिः	२
६३	जमदग्निः	२
६४	देवातिथिः	२
६५	पुष्टिगुः	२
६६	श्रुष्टिगुः	१
६७	बुधः	१
६८	शौनकः	१
६९	पतिवेदनः	१
७०	आयुः	१
७१	अत्रिः	१
७२	कपिंजलः	१

इतने ऋषियोंके मंत्र इन्द्रका वर्णन कर रहे हैं। अब यह वर्णन कैसा है यह देखिये—

इन्द्रकी मूछियां

इन्द्र वीर है इसलिये उसकी मूछियां अच्छी रहेगी यह स्वाभाविक हा है देखिये—

हरि-श्मशारुः हरि-केशः । अ. २०।३१।३ (१८९)

'पीली मूछियोंवाला और पीले केशोंवाला इन्द्र है।' और देखिये—

इन्द्रः स्वश्मश्रूणि हरितानि सचा अभि प्रुष्णुते।

अ. २०।७२।५ (४८५)

'इन्द्र अपने पीले रंगके मूछियोंके बालोंपर पानी लगाता है।' इस वर्णनसे पता लगता है कि इन्द्रके बाल, मूछियोंके, दाढीके तथा सिरके (**हरि, हरित्**) पीले रंगके थे।

इन्द्रका गला

इन्द्रका गला '**तुवि-ग्रीवः**' (१५) बडा था। मुखकी जितनी चौडाई होती है उससे गला बडा होना चाहिये। कमसे कम वीरका गला तो अच्छा मजबूत होना चाहिये। वैसा मजबूत गला इन्द्रका था। देखिये—

तुविग्रीवो वपोदरः सुबाहुः अन्धसो मदे।
इन्द्रो वृत्राणि जिघ्नते॥   अथ. २०।५।२ (१५)

इन्द्र (**तुविः-ग्रीवः**) बडी गर्दनवाला, (**वपा-उदरः**) बडे पेटवाला, (**सुबाहुः**) उत्तम बाहुवाला (**अन्धसः मदे**) सोमरसके उत्साहसे (**वृत्राणि जिघ्नते**) वृत्रोंको मारता है।

इन्द्रका पेट (**वपा-उदरः**) पुष्ट था, पेटपर चर्बी थी। ऐसा इस मंत्रसे दीखता है। यह उसकी अदम्य शक्तिका लक्षण है।

इन्द्रकी दो शिखाएं थी

इन्द्रकी दो शिखाएं थीं ऐसा कहा है। देखिये—

यस्य द्विबर्हसो बृहत्सहः दाधार रोदसी।

अ. २०।६०।५ (३७८)

' जिस (**द्वि-बर्हसः**) दो शिखावाले इन्द्रका (**बृहत् सहः**) बडा बल (**रोदसी दाधार**) आकाश तथा पृथिवीको धारण करता है।

' बर्हस् ' पदका अर्थ मोरके सिरपरका तुर्रा तथा पक्षीकी दुम है। वीरके अर्थमें शिखा अर्थ है। इन्द्रकी दो शिखाएं थीं अथवा सिरमें दो तुर्रे थे ऐसा यहांके मंत्रके कथनसे स्पष्ट दीखता है।

इन्द्रका सोम पीना

इन्द्र सोम पीता था और अपना पेट भर देता था। देखिये इसका वर्णन ऐसा किया है—

यः सोमपातमः कुक्षिः समुद्र इव पिन्वते।

अ. २०।७१।३

' जो पेट सोम अधिक पीनेसे समुद्रके समान फूलता है।'

इन्द्र (**सोम-पा-तमः**) अत्यधिक सोम पीनेवाला है, इसलिये सोम पीनेपर उसका पेट समुद्र जैसा फूलता है। **' सोमपा, सोमपा-तरः, सोमपातमः '** ये पद उसके अत्यधिक सोम पीनेका वर्णन कर रहे हैं।

इन्द्रका साफा

इन्द्रके साफेका वर्णन इस तरह वेद कर रहा है—

हरिशिप्रं त्वा रथे आ वहन्तु । अ. २०।३२।२(१९२)
तुदद् अहिं हरिशिप्रो य आयसः । अ. २०।३०।४ (१८५)

(**हरिशिप्रं**) सुनहरी साफावाले इन्द्रको रथमें बिठला कर ले जावें। (**हरि-शिप्रः**) सुनहरी साफावाले इन्द्रने अहिको मारा। इस तरह उस इन्द्रके साफेका वर्णन है। यह साफा सुनहरी था। (**आयसः**) फौलादके शिरस्त्राणके ऊपर सुनहरी साफा वह बांधता था।

' सु-शिप्री ' (मं. ११)— उत्तम साफा बांधनेवाला, **' शिप्र '** का दूसरा अर्थ **' हनु '** है। **' सुशिप्री '** का अर्थ उत्तम हनुवाला भी होता है। पर **' आयसः सुशिप्रः '** (१८५) का अर्थ फौलादके शिरस्त्राणपर उत्तम साफा बांधनेवाला ऐसा होता है। अर्थात् वीर इन्द्र मस्तकपर लोहेका शिरस्त्राण रखता है और उसपर जरीका साफा बांधता है।

इन्द्रका पोषाख

इन्द्रका सब पोषाख जरतारीका होता है इसलिये इन्द्रको (**इन्द्रः हिरण्ययः**) (२५८)— सुवर्णमय इन्द्र है ऐसा कहते हैं। इन्द्रके तरफ देखनेसे वह सुवर्णका बना है ऐसा दीखता है।

पांवसे लेकर साफेतक सब पोषाख उत्तम कीमतवाले जरतारीके कपडोंका होता है। जैसा किसी राजा महाराजाका होता है। **' हरिश्रियः '** (३७४)— सुवर्णकी शोभा सब शरीरपर होती है। सब शरीरका पोषाख उत्तम जरतारीका होनेसे उसकी शोभा वैसी दीखती है।

इन्द्र शरीरसे बडा है

' तन्वा वावृधानः ' (४३)— शरीरसे बडा इन्द्र होता है। इन्द्रका प्रत्येक शरीरका अवयव हृष्टपुष्ट तथा बलशाली होता है। किसी अवयवमें किसी प्रकारकी दुर्बलता नहीं होती। वीरका शरीर ऐसा ही बलवान् होना चाहिये।

इन्द्र बैल जैसा बलवान् है

इन्द्र अत्यंत बलवान् है, बैल जैसा वह शक्तिशाली है इस कारण उस इन्द्रको **' वृषभः '** (१)— बैल जैसा बलवान् कहा जाता है, बलिष्ठोंमें बलिष्ठ इन्द्र है।

' शृंगवृषः ' (२०)— सींगवाले बैलके समान इन्द्र बलवान् है। सींगवाला बैल जैसा शत्रुपर एकदम चढाई करता है और सींगोंसे शत्रुको मारता है, वैसा इन्द्र अपने वज्रसे शत्रुको मारता है।

' वृषणः ' (५९)— बलवान्, शक्तिवान् इन्द्र है।

' शुष्मी ' (५८)— सामर्थ्यवान्,

' तविषः ' (४४)—शक्तिमान्, बडा सामर्थ्यवान्, धैर्यवान्, व्यवसायमें कुशल, शूर, बलवान् वीर,

' ते वृष्णि शवः ' (४०)— हे इन्द्र! तेरा बल सामर्थ्ययुक्त है। तेरा सामर्थ्य अप्रतिम है।

' वाजः ' (३८)— सामर्थ्यवान् इन्द्र है।

' तविषीभिः आवृतः ' (३८)— इन्द्र अनेक शक्तियोंसे युक्त है। अनेक बलशाली योजनाएं वह करता है।

इस तरह इन्द्रके अतुल सामर्थ्यका वर्णन वेदमंत्रोंमें किया है, अब उसके सौंदर्यका वर्णन देखिये—

इन्द्रका सौंदर्य

इन्द्र जैसा सामर्थ्यवान् है वैसा सुन्दर भी है। जो हृष्टपुष्ट और बलवान् होता है वह शरीरसे सुन्दर ही दीखता है। देखिये—

' दस्म ' (३८)— दर्शनीय, सुन्दर,

' द्युक्षः ' (३८)— तेजस्वी, कान्तिमान्।

इन्द्र तेजस्वी है, देखने योग्य सुन्दर भी है। एक तो उसका शरीर सप्रमाण है, सुडौल है, तेजस्वी है, इस कारण एक

प्रकारका स्वास्थ्यका प्रभाव उसपर रहता है, अतः वह देखनेमें सुन्दर दीखता है। अच्छे तेजस्वी पुरुष प्रभावशाली होते ही हैं वैसा इन्द्र वीर भी प्रभावी है।

इन्द्र विद्वान् है

इन्द्रके वर्णनमें उसके विद्वान् होनेका भी वर्णन है। वह जैसा बलवान् शूर है वैसा वह विद्वान् भी है देखिये—

'विश्वस्य विद्वान्' (६१८)— इन्द्र सब विद्याओंका ज्ञाता है, विश्वमें जो जानने योग्य है उसको वह यथायोग्य रीतिसे जानता है। विश्वमें जानने योग्य कोई विद्या उसको नहीं आती ऐसा नहीं है। सब विद्याओंका उत्तम प्रकारसे वह ...।

बृहते विप्राय धर्मकृते विपश्चिते पनस्यवे साम गायत। अ. २०।६२।५ (३८४)

'(**बृहते**) बडे (**विप्राय**) ज्ञानी, प्राज्ञ, (**धर्मकृते**) धर्मके अनुकूल कार्य करनेवाले (**विपश्चिते**) विद्वान् (**पनस्यवे**) स्तुत्य इन्द्रके लिये सामगायन गाओ।' उसका स्तोत्र गाओ।

इस मंत्रमें दिये सब विशेषण विद्वान् इन्द्रके शुभगुणोंका वर्णन करते हैं। वे सब विशेषण उसकी विशेष विद्वत्ता दर्शाते हैं।

जरारहित तरुण इन्द्र

इन्द्र इतना सामर्थ्यवान्, बलवान्, प्रभावी, विद्वान् है वैसा वह जरारहित तरुण भी है। उसकी आयु कितनी भी हुई होगी, तो भी वह **'अ-जुर्यः'** (२४०)- जरारहित है अतएव वह **'युवा'** (६६)- तरुण है। आयु कितनी भी हुई हो जिसके विचार तरुण हैं वह वृद्ध होनेपर तरुण ही है। ऐसा तरुण विचारोंसे युक्त सबको रहना चाहिये। तरुण विचार जिसके हैं वह शरीरसे भी क्षीण नहीं होता। अतः सदा विचारोंका तारुण्य अपने मनमें सबको रखना योग्य है।

तेजस्वी इन्द्र

इन्द्रके वर्णनमें **'द्युमत्तमः'** (१२१)— अत्यंत तेजस्वी इन्द्र है। **'त्वेष-सं-दृक्'** (२४०)— कान्तिमान्, देदीप्यमान् दीखनेवाला इन्द्र है। ऐसे पद उनका तेजस्वी होना बताते हैं। इन्द्र कदापि निस्तेज, निरुत्साही, बलहीन, सामर्थ्यहीन नहीं होता, वह सदा सतेज, उत्साही, बलवान्, सामर्थ्यवान् रहता है। ऐसा ही वीरोंको होना चाहिये। शूर पुरुष ऐसे ही होने चाहिये।

आनंदी स्वभाववाला इन्द्र

इन्द्र उत्साही तथा बलवान् रहता है अतः उसमें आनन्द स्वभावसे ही रहता है। देखिये- **'मन्दसानः'** (४९५)- आनन्दी स्वभाववाला इन्द्र है। **'मदाय आयातु'** (६०२)- आनंदका अनुभव करनेके लिये इन्द्र यहां आवे। ये वर्णन उसके आनंदी स्वभावके दर्शक हैं। **'मद'** पदका अर्थ प्रेम, सदिच्छा, गर्व, अपने सामर्थ्यका अभिमान, आनंद, अतिसंतोष, वीर्य, सौंदर्य, शहद, पेय जिससे उत्साह बढता है।

इन्द्रके बाहू

इन्द्रके वर्णनमें उनके बाहुओंका वर्णन इस तरह हुआ है-

'सुबाहुः' (१५)— इन्द्रके बाहु उत्तम हैं, अर्थात् सुडौल और बलिष्ठ हैं।

'वज्रबाहुः' (५९)— जैसा वज्र सामर्थ्यवान् होता है उस प्रकार इन्द्रके बाहु सामर्थ्यवान् हैं।

'बाह्वोजाः' (**बाहु-ओजाः**) (३१)— बाहुओंके विशेष बलसे इन्द्र बलवान् हुआ है।

इन्द्रके बाहु ऐसे बलवान् हैं, इस कारण वह युद्धमें शत्रुओंका पूर्ण पराभव कर सकता है। वीरोंको व्यायाम आदिसे अपने बाहु ऐसे बलवान् करने चाहिये।

मुष्टियुद्ध करनेवाला इन्द्र

'मुष्टिहत्यया वृत्रा निरुणधामहे' (४५९)— मुष्टियुद्धसे वृत्रोंको दूर रखता है मुष्टियुद्ध करके वृत्रोंका पराजय करता है। ऐसे वर्णनोंसे पता चलता है कि इन्द्र मुष्टियुद्ध करनेमें भी प्रवीण था और मुष्टियुद्ध करके वृत्रादि शत्रुओंको परास्त करता था।

बहुत अन्नसे युक्त इन्द्र

इन्द्र सामर्थ्यवान् है, उसके शरीरका प्रत्येक अवयव हृष्टपुष्ट है, ऐसे वर्णन देखनेसे पता चलता है, कि वह पौष्टिक अन्न भी पर्याप्त प्रमाणमें अपने पास रखता होगा और उसका उपभोग भी यथेच्छ करता होगा। नहीं तो शरीर हृष्टपुष्ट होनेकी संभावना ही नहीं होगी। इस विषयके प्रमाण अब देखिये—

पुरु-भोजाः (३८)— बहुत भोजन करनेवाला, बहुत अन्नसामग्री अपने पास रखनेवाला, पौष्टिक अन्न पर्याप्त प्रमाणमें अपने पास रखनेवाला।

पुरु-क्षुः (२३४)— बहुत अन्नसे युक्त, अनेक प्रकारके पौष्टिक अन्न अपने पास रखनेवाला।

धु-मत्तः (३८)— अन्न पर्याप्त प्रमाणमें अपने पास रखनेवाला, अनेक प्रकारके पुष्टिकारक, बलवर्धक तथा उत्साहवर्धन खाद्य पेय अपने पास इन्द्र पर्याप्त प्रमाणमें रखता था। इस कारण वह सदा सामर्थ्यवान् रहता था।

इन्द्र महान् है

उक्त सब वर्णन देखनेसे स्पष्ट हो जाता है कि इन्द्र एक अत्यंत महान् वीर पुरुष है। देखिये इस इन्द्रकी महत्ता बतानेवाले वर्णन—

बृहत् (६९)— इन्द्रका बल बडा शक्तिवाला है, महान् है,

मंहिष्ठः (६९)— इन्द्र विशाल है।

इन्द्रः महान् परः च (४६२)— इन्द्र बडा और श्रेष्ठ है, इसमें इन्द्रकी जैसी महत्ता वर्णन हुई है, उसी तरह उसकी श्रेष्ठता, उच्चता तथा महत्ता भी दिखाई देती है।

द्यौः न प्रथिना शवः (४६२)— द्युलोकके समान उसका यश फैला है। द्युलोक जैसा विस्तीर्ण है वैसा उसका सामर्थ्य भी अत्यंत बडा विस्तृत है। उसके सामर्थ्यकी बराबरी दुसरा कोई कर नहीं सकता, ऐसा वह अप्रतिम सामर्थ्यवान है।

वज्रिणे महित्वं अस्तु (४६२)— वज्रधारी इन्द्रके लिये महत्त्व है। वज्रके द्वारा वह सब शत्रुओंको दूर करता है इसलिये उसका महत्त्व बडा है।

ओजसा महान् अभिष्टिः (४६८)— इन्द्र सामर्थ्यसे बडा है और सब शत्रुओंको दबा देनेवाला यशस्वी वीर है। उसके बराबर दूसरा कोई सामर्थ्यशाली नहीं है जो इस इन्द्रकी बराबरी कर सके।

नृभिः वृत्रहा इन्द्रः शवसे मदाय वावृधे (३३८)- वीरोंके साथ रहकर वृत्रोंको मारनेवाला इन्द्र सामर्थ्य और उत्साहके लिये प्रशंसित होता है। इन्द्र वृत्रोंको मारता है, वृत्र प्रजाको कष्ट देता है इसलिये उसका वध करनेसे प्रजा सुखी होती है, सामर्थ्य और उत्साह इन्द्रमें होते हैं। इन क्षात्रगुणोंके लिये सब वीर पुरुष इन्द्रका वर्णन करते हैं और उसके बडेपनका गुणगान करते हैं।

न गिरनेवाला इन्द्र

इन्द्र न गिरनेवाला है, अपने ध्येयसे वह कभी पतित नहीं होता है, इसलिये उसका महत्व चारों ओर फैला है, देखिये—

'न-पात्' (२०)— न गिरनेवाला, या न गिरानेवाला इन्द्र है।

'प्र-न-पात्' (२०)— विशेष रीतिसे न गिरनेवाला या न गिरानेवाला इन्द्र है। वह अपने कर्तव्यसे कभी विमुख नहीं होता।

'उरु-गाय' (५००)— विशेष प्रगति करनेवाला इन्द्र है।

ये पद उसके कर्तव्यनिष्ठाके दर्शक हैं। वीरको ऐसा ही होना चाहिये।

कल्याण करनेवाला मित्र इन्द्र है

'शिवः सखा इन्द्रः' (३२)— इन्द्र सबका कल्याण करनेवाला मित्र है। इन्द्र सदा दूसरोंका हित करता है, शुभ करता है, कल्याण करता है। सबका वह सखा है, मित्र है, सुहृत् है। कभी किसीका बुरा करनेका विचार भी उसके मनमें नहीं आता है। शत्रुका बुरा करता है। पर वह अपरिहार्य है। शत्रुका नाश किये विना जनताका हित हो नहीं सकता, इस कारण वह सब शत्रुओंका नाश करता है, यह आवश्यक ही है।

इन्द्रका मन

इन्द्रका मन मनुष्योंकी सहायता करनेके कार्यमें तत्पर रहता है, इसलिये वह **'नृ-मणाः'** (२४६)— मनुष्योंकी सुख-वृद्धि करनेमें जिसका मन सदा लगा है, मानवोंके हितके कार्य करनेमें जो अपना मन प्रेरित करता है। तथा—

'एभिः द्युभिः सुमनाः' (१२२)— इन तेजस्विताओंसे तेजस्वी बना मन है जिसका ऐसा तेजस्वी मनवाला इन्द्र है।

'मनस्वान् प्रथमः देवः' (१९८)— शुद्ध तथा उत्तम मनसे युक्त यह पहिला देव है।

ऐसे इन्द्रके मनके वर्णन वेदमंत्रोंके अन्दर दीखते हैं।

'स्वर्षा' (४६)— अपने प्रकाशसे प्रकाशित इन्द्र है। इस कारण—

'शुनः' (५२)— उत्तम गुणोंसे वह युक्त है और

'शग्धि-पूजनः' (१९)— शक्तिमान् लोग भी जिसका पूजन करते हैं ऐसा इन्द्र उत्तम मनसे तथा प्रभावी शक्तियोंसे युक्त है।

आर्योंका रक्षण

इन्द्र आर्योंका रक्षण करता है, इस कारण उसको दासोंका नाश करना आवश्यक होता है। देखिये—

'आर्यं वर्णं प्रावत्' (५१)— इन्द्र आर्योंकी विशेष सुरक्षा करता है। आर्योंका रक्षण करना और अनार्योंका नाश करना ये इन्द्रके अत्यंत आवश्यक कर्तव्य ही है। **'आर्यः'**

(१०३)- श्रेष्ठ पुरुष होता है। सदाचारी श्रेष्ठ पुरुषोंका संरक्षण करना और दुराचारी नचि पुरुषोंका सुधार हो सकता है तो उनका सुधार करना, नहीं तो उन दुराचारियोंको दूर करना वीर पुरुषोंका राष्ट्रमें कर्तव्य ही होता है।

'दासानि आर्याणि करः' (२४१)— इन्द्र दासोंको आर्य करता है। दास उनका नाम है जो दुराचारी दुष्ट होते हैं। उनको इन्द्र सदाचारका पालन करनेके लिये बाधित करता है और उनकी उन्नति करके उनको आर्य बनाता है। अनार्योंकी सदा कतल करके उनका नाश करता है ऐसा नहीं, परंतु उनको सुधरनेका अवसर देता है। वे सुधरे तो वे आर्योंमें शामील होते हैं, उनको आर्योंके अधिकार सबके सब होते हैं। न सुधरे तो उनको दूर किया जाता है। अनार्योंको आर्य बनानेका यह विधि इन्द्रका था।

'यः दासं वर्णं अधरं गुहा कः' (२०१)— यह इन्द्र दास वर्णको-अर्थात् दास लोगोंको-नीच स्थानमें-गुहामें-रखता है। आर्योंके स्थानसे पृथक् स्थानमें दास रहें। ऊंचे स्थानपर आर्य रहें और नीचले स्थानपर दास रहें ऐसा इन्द्रकी व्यवस्थाका आशय है। ग्राममें जो ऊंचा स्थान हो वहां आर्य रहें और जो नीचला स्थान हो वहां दास, अनार्य अथवा हीनाचार करनेवाले लोग रहें ऐसी व्यवस्था इन्द्र करता था।

'आर्यं स्वं ज्योतिः मनवे विदत्' (९०)— आत्मज्ञानसे परिपूर्ण आर्य तेज मनुष्यको प्राप्त हो। इस तरह आर्यत्वके प्रसारके लिये इन्द्र प्रयत्न करता था।

पुरुषार्थके कर्म करनेवाला इन्द्र

इन्द्र बलवान् है, विद्वान् है, आर्योंकी रक्षा करता है आदि इस इन्द्रके अनेक गुण यहांतक देखे। ये सब उत्तम पुरुषार्थके गुण हैं। पुरुषार्थ प्रयत्न करनेवाला इन्द्र है इस विषयमें उसके वर्णनोंमें कैसा भाव प्रकट होता है देखिये—

'शतक्रतुः' (१०६)— सैकडों प्रकारके पुरुषार्थके प्रयत्न करनेवाला इन्द्र है। अनेक कार्य वह जनताके हित करनेके लिये करता रहता है।

'पुरुकृत्' (१२१)— बहुत कर्म करनेवाला इन्द्र है।

'तुवि कूर्मिः' (२३६)— अनंत कर्मोंका करनेवाला इन्द्र है।

'अभिमाति षाहः' (१०७)— शत्रुका पराभव करनेके लिये जो जो करना योग्य तथा आवश्यक है वह सब इन्द्र करता है।

'चित्रं युगे युगे नव्यम्' (४१२)- इन्द्रका कर्म प्रत्येक युगमें नया नया होता है। युगके अनुसार परिस्थिति बदलनेसे जो कर्म जैसे करने चाहिये वे कर्म वैसे करता है, इस कारण इन्द्रके कर्मोंसे जनताका हित होता है।

'पौंस्यैः कृत्वा नर्यः' (५०३)- पौरुषके अनेक कर्म करनेके कारण इन्द्र (नर्यः) जनताका हित करनेवाला हुआ है।

'कत् नु अस्य इन्द्रस्य पौंस्यं अकृतं अस्ति' (६४३)- कौनसा पौरुषका जनताके हित करनेवाला कर्म इन्द्रने नहीं किया है? अर्थात् सबका हित करनेके लिये जो कर्म आवश्यक हैं वे सब कर्म इन्द्र सदा करता रहता है। जनताका हित हो, प्रजाजनोंकी उन्नति हो एतदर्थ वह सदा प्रयत्नशील रहता है।

'तानि पौंस्या सना मा भुवन्' (४१२)- आपके वे पौरुषके कर्म पुराने नहीं हुए हैं। वे सदा ताजे जैसे हैं। अर्थात् इन्द्र सदा उत्तमोत्तम कर्म जनताके हितके लिये करता रहता है।

'उत द्युम्नानि मा जारिषुः' (४१२)- इन्द्रके तेज क्षीण नहीं हुए हैं। उनके तेज सदा चमकते रहते हैं। वह इन्द्र कभी भी थकता नहीं, श्रान्त नहीं होता, सदा उत्साही रहता है और आलस्य छोडकर जनताके कल्याणके लिये अवश्य कर्म जितने करने पडें करता ही रहता है।

'अस्य कामं विधतः न रोषति' (३६१)- इस इन्द्रके अनुकूल जो कार्य करते हैं उनपर वह कदापि रुष्ट नहीं होता। इसकी इच्छा जनताका हित करनेकी होती है, अतः जो लोग जनताका हित करनेके लिये प्रयत्नशील होते हैं उनपर इन्द्र संतुष्ट रहता है और उनका भला वह करता है।

इस तरह इन्द्र जनताके हित करनेके कार्य स्वयं करता है। और जो दूसरे वैसे कर्म करते हैं उनको भी सहायक होता है।

लोगोंके लिये प्रयत्न करनेवाला

इन्द्र लोगोंकी उन्नतिके लिये सदा प्रयत्न करता है, इसलिये उसे 'लोक-कृत्नु' (३७४)- लोगोंके लिये कुशलतापूर्वक प्रयत्न करके स्थान बनानेवाला, कुशल कार्यकर्ता कहते हैं।

स्थिर नीतिवाला

'स्थिरः' (११६)- इन्द्र स्थिर है। इसका अर्थ यह है कि उसकी नीति जनताका हित करनेके विषयमें स्थिर रहती है। उसमें कभी न्यूनता नहीं होती। मुख्य उद्देश्यके विषयमें उसके कार्यक्रम अच्छी तरह सुस्थिर रहते हैं। आज एक, कल दूसरा, परसु तीसरा ऐसा नहीं होता। जनताका हित निश्चयसे

होगा ऐसे ही कार्य वह करेगा, इस उद्देश्यमें उसकी स्थिर नीति रहती है।

लोगोंकी साक्षी

लोग भी कहते हैं कि '**इन्द्रः नः मृळयाति**' (११७) इन्द्र हम सबको सुख देता है। यह सब जनताका अनुभव है।

इन्द्र अपूर्व है

'**अ-पूर्व्यः**' (६५)- इन्द्र अपूर्व है। इसके पहिले ऐसा जनताका हित करनेवाला कोई नहीं हुआ था और इसीसे हम कहते हैं कि आगे भी ऐसा कोई नहीं होगा। इस कारण इसको सब लोग '**अङ्ग**' (११६)- प्रिय करके कहते हैं। सबको यह अत्यंत प्रिय हुआ है।

आगे बढनेवाला

इन्द्र सदा सत्कर्म करनेके लिये आगे बढनेवाला है। वह कभी अच्छा प्रयत्न करनेके समय पीछे नहीं रहता। इस कारण उसको '**अग्नि-गुः**' (२१६)- आगे बढनेवाला कहते हैं। '**पुरः प्रेहि**' (१६)- आगे बढ, शत्रुपर आक्रमण कर, हमला कर, '**धृष्णुया प्र जिगाति**' (३२३)- धैर्यसे शत्रुपर हमला करता है।

यह इन्द्रका आगे बढना शत्रुपर करनेकी चढाईके समयका है। शूर वीर अपनी सेनासे शत्रुपर चढाई करते हैं, वैसी चढाई करनेमें इन्द्र विशेष उत्साह बताता है।

न गिरनेवालेको गिरानेवाला

इन्द्र सुस्थिर शत्रुको उखाडकर दूर फेंकनेवाला है। अतः उसको '**यः अ-च्युत-च्युतः**' (२०६)— न गिरनेवाले शत्रुको गिरानेवाला कहते हैं। यह इन्द्र स्वयं अपने स्थानपर स्थिर रहेगा और शत्रुको स्थानभ्रष्ट करनेवाला है। सुस्थिर प्रबल शत्रुको भी अपने स्थानसे हिलाकर दूर करनेवाला है। न हिलनेवालेको समूल उखाडकर फेंकनेवाला इन्द्र है।

गुप्त न रहनेवाला

इन्द्र इस तरहके कार्य करता रहता है इसलिये वह हमेशा '**अ-गोह्यः**' (३९९)— यह इन्द्र छिपकर न रहनेवाला है। अपने प्रचण्ड कार्योंसे वह सबके लिये स्तुत्य हुआ है। '**सत्रा-जितः**' (३९९)— सेनाके साथ रहकर शत्रुको जीतनेवाला है। यह नित्य विजयी होनेके कारण यह इन्द्र कहीं भी छिपकर नहीं रह सकता।

सार्वजनिक हितके कार्य करता है

इन्द्र सदा सार्वजनिक हितके कार्य करता है, इस कारण उसको '**नर्यः**'— नरोंका हित करनेमें तत्पर रहनेवाला कहा है।

'**नर्यापसं (नर्य-अपस्)**' (३०)— सार्वजनिक हितके कार्य सदा करता है।

'**पुरूणि नर्या दधानः**' (४७)— सार्वजनिक हितके बहुत कार्य करनेवाला।

'**अस्य महः इन्द्रस्य पुरूणि सुकृता महानि कर्म**' (४८)— इस बडे इन्द्रके अनंत परमोच्च बडे महत्कर्म सार्वजनिक हितके लिये होते हैं। यह जो कार्य करता है वे सब सबजनोंके हितके ही कार्य होते हैं।

इस कारण इसकी सर्वत्र प्रशंसा होती है।

त्वरासे कार्य करनेवाला

इन्द्र जो कार्य करना चाहता है वह सत्वर करता है और उत्तमसे उत्तम रीतिसे सफल और सुफल करता है। कभी बीचमें अधूरी अवस्थामें छोडता नहीं। इसलिये उसको—

'**तुरः**' (२१६) — त्वरासे कार्य करनेमें कुशल,

'**तुर्वणिः**' (२२६) — सत्वर परन्तु उत्तम कार्य करनेमें चतुर,

'**तूतुजानः**' (२२७)— प्रत्येक कार्य अतिशीघ्र तथा उत्तम करनेमें कुशल,

'**यः धर्मणा तूतुजानः तुविष्मान्**' (६०२)— जो स्वभाव धर्मसे ही शीघ्रतासे कार्य समाप्त करनेमें कुशल और बलवान् है।

'**तुराषाट्**' (६०)— त्वरासे लडाईमें शत्रुको पराजित करता है।

यह सामर्थ्य इन्द्रका है। इस कारण इन्द्रके सामर्थ्यकी सर्वत्र प्रशंसा होती है।

इन्द्रका सामर्थ्य

'**शक्रः**' (११५)— सामर्थ्यवान्, इन्द्र,

'**शची-वः**' (१२१)— शक्तिमान् इन्द्र है, शचीका अर्थ शक्ति है।

'**सत्य-शुष्मः**' (६९)— सच्चा सामर्थ्य जिसके पास है।

'**उरुः शवसस्पति**' (१४०)— बलका बडा स्वामी इन्द्र है।

'**स्व-धावः**' (१४३)- अपनी धारण शक्तिसे युक्त इन्द्र है।

'**महान् ओजसा चरसि**' (३३०)- बडे सामर्थ्यके साथ इन्द्र चलता है।

'**कद् वयः दधे**' (३२९)— किस प्रकारकी अद्‌भुत शक्ति इन्द्रमें है।

'**दिवि ओपशं चक्राणः**' (१७१)— द्युलोकमें सामर्थ्य प्रकट करता है।

'**न पुराणः न नूतनः अस्य ते वीर्यं न अनुशकन्**' (९१)— कोई प्राचीन अथवा कोई अर्वाचीन वीर तेरे पराक्रमकी बराबरी नहीं कर सकता है। ऐसा इन्द्रका सामर्थ्य अद्‌भुत है।

'**त्वा न किः आ नियमत्**' (३३०)— तुझे कोई रोक नहीं सकता। तेरी गति अप्रतिहत है।

'**अनिवृतः स्थिरः रणाय संस्कृतः**' (३३१)— इन्द्र कभी पीछे नहीं हटता, युद्धस्थानमें स्थिर रहता है और युद्धके लिये सदा तैयार रहता है।

'**उग्रः सत्रा शवांसि दधानः**' (३३५)— उग्र-वीर इन्द्र है, साथ साथ अनेक सामर्थ्योंको धारण करनेवाला भी है।

'**वज्री नः विश्वा सुपथा कृणोतु**' (३३५)— वज्रधारी इन्द्र अपने सामर्थ्यसे हमारे लिये सब मार्ग उत्तम सुगम करता है।

इस तरह इन्द्र सामर्थ्यवान् है इस कारण सर्वत्र उसकी प्रशंसा गायी जाती है।

प्रशंसित इन्द्र

इन्द्रकी प्रशंसा सब करते हैं, इस विषयमें देखिये—

'**पुरु-ष्टुतः**' (२२)— बहुतों द्वारा प्रशंसित इन्द्र है।

'**मखः**' (४४)— सुपूज्य, महनीय।

'**पनीयस्**' (७१)-- जिसकी सब स्तुति करते हैं।

'**अर्कः**' (२२०)-- अर्चनीय, पूजनीय।

'**गूर्त-श्रवाः**' (२२०)-- जिसका यश चारों ओर फैला है।

'**स्तोतॄणां भद्रकृत्**' (१७७)— स्तुति करनेवालोंका कल्याण करता है।

'**सुविद्वांसं चरणीनां चर्कृत्यं उपस्तुति**' (४०९)- मानवों द्वारा प्रशंसित, उत्तम विद्वान् इन्द्रकी स्तुति कर।

'**दानौकसः**' (२२०)— इन्द्र दानका घर ही है, उदार दाता है।

इस तरह इन्द्रकी सब लोग सदा प्रशंसा करते हैं। इस स्तुतिसे स्तुति करनेवालोंका हित होता है। वह इन्द्र बलवान् है, शूर है, युद्धमें कुशल है इत्यादि उसके गुण स्तुतिमें वर्णन किये जाते हैं। स्तुति सुननेवालेके मनमें ये गुण उत्तम हैं यह भाव जम जाता है और इन गुणोंको अपनेमें धारण करनेकी प्रबल इच्छा स्तुतिको सुननेवालोंमें उत्पन्न होती है। यदि वे गुण किसीने अपनेमें धारण किये तो वह बलवान्, शूर, युद्धमें कुशल होता है और इस तरह उसकी उन्नति होती है। स्तुतिसे यह लाभ है।

इन्द्रकी गौवें

इन्द्रके पास उत्तम गौवें होती हैं। वह स्वयं दूध पीता है, अपने सैनिकोंको दूध पीनेके लिये देता है, तथा योग्य मनुष्योंको गौवें देता है। इन्द्र गौका उत्तम रीतिसे पालन करता है, अतः उसके पासकी गौवें उत्तमोत्तम होती हैं।

'**गोमान्**' (१६)— गौओंको अपने पास रखनेवाला,

'**गोपतिः**' (१३३)— गौओंकी पालना करनेवाला,

'**शचि-गुः**' (१९)— शक्तिशाली गौओंका निर्माण करनेवाला, हृष्टपुष्ट गौओंको अपने पास रखनेवाला,

'**अ-गो-रुधः**' (४०६)— गौओंको न रोकनेवाला, उनकी उन्नतिमें बाधा न डालनेवाला, गौओंकी उन्नति करनेवाला।

'**गवां पुरस्कृत्**' (७१५)— गौओंका उद्धारक,

'**गविष्**' (४०६)— गौओंकी इच्छाके अनुसार उन्नति करनेवाला,

'**पुरुभोजसं गां ससान**' (५१)— बहुत अन्न देनेवाली गायको इन्द्र प्राप्त करता है। गाय बहुत दूध देती है ऐसी गौओंको इन्द्र अपने पास रखता है।

'**यः वलस्य अपधा गा उदाजत्**' (२००)— जिससे वलने छिपकर रखी गौओंको ऊपर निकाला।

'**राम्याणां धेनाः आविः अकृणोत्**' (४५)— रात्रीमें शत्रुने छिपायी गौवें इन्द्रने प्रकाशमें लायी। शत्रुको परास्त करके उसके पासकी गौवें अपने आधीन करके रखी।

अंगिरोभ्यो गुहासतीः गाः आविष्कृण्वन् उत आ अजत् (१७४)— अंगिरा ऋषियोंके लिये गौवें, जो किसीने छिपकर रखी थी, उसको बाहर निकाला और उनका दान उन ऋषियोंके लिये किया।

'**गव्यं अश्व्यं शतं ददाति**' (६८)— सैकडों गौवें और घोडे इन्द्र दानमें देता है।

'रेवतः मदः गोदाः' (३४५)— धनवान् इन्द्रका हर्ष गौओंको देनेवाला है ।

इस तरहके वर्णन बता रहे हैं कि इन्द्र गौओंकी उत्तम पालना करता है । अधिक दूधरूपी अन्न देनेवाली गौवें तैयार करता है और उनका दान ऋषियोंके लिये करता है ।

इन्द्र घोडोंकी पालना करता है

इन्द्र जैसी उत्तम गौओंकी पालना करता है, उसी तरह वह उत्तम घोडोंकी पालना करनेवाला भी है । देखिये—

'हर्यश्वः' (हरि-अश्वः) (६८)— लाल या पीले घोडोंको रखनेवाला इन्द्र है ।

'हरि-प्रियः' (१४३)— घोडे जिसको अत्यंत प्रिय है ऐसा इन्द्र है ।

'हरि-वः' (१९४)— लाल घोडे अपने पास रखनेवाला इन्द्र है ।

'हरीणां स्थाता इन्द्रः' (४०३)— घोडोंको आश्रय देनेवाला इन्द्र है ।

'अश्वस्य पोरः' (७१५)— घोडोंकी पालना करनेवाला इन्द्र है ।

'केशिनौ' (९)— लंबे बालवाले इन्द्रके घोडे हैं ।

'ब्रह्मयुजौ' (९)— इशारेके साथ रथको जुडनेवाले इन्द्रके घोडे हैं । इशारा होते ही अपने स्थानपर रथके साथ खडे होनेवाले जिसके घोडे हैं ।

'केशिना ब्रह्मयुजा हरी त्वां आवहताम्' (९)— लंबे बालोंवाले, इशारेसे जुड जानेवाले दो घोडे तुझे-इन्द्रको-यहां ले आवें ।

'इन्द्र अत्यान् ससान' (५१)— इन्द्र घुडदौडके घोडोंको तैयार करता है । घुडदौडमें जीतनेवाले घोडे इन्द्र तैयार करता है । घोडोंको ऐसी शिक्षा वह देता है जिससे घुडदौडमें उनके घोडे जीतते हैं ।

वचोयुजा आ संमिश्लः हर्योः सचा (२५८)— शब्दके इशारेके साथ रथके साथ जुडनेवाले घोडोंका साथी इन्द्र है अर्थात् ऐसे उत्तम घोडे जिसके पास रहते हैं, ऐसा इन्द्र है ।

ते हरी सुयमा (६०३)— तेरे दोनों घोडे उत्तम रीतिसे स्वाधीन रहनेवाले हैं ।

त्वां सत्पतिं नरः वृत्रेषु अर्वतः काष्ठासु हवामहे (६४४)— सब हम [illegible] जैसे उत्तम पालक इन्द्रको, शत्रुओंके घिर जानेपर– तथा घुडदौडके मैदानोंमें– बुलाते हैं । [illegible]हाय्यार्थ बुलाते हैं ।

रघुष्यदः सप्तयः आ वहन्तु (६२)— जलदी दौडनेवाले घोडे तुम्हें यहां ले आवें ।

अरुषीः हरयः आ ससृजिरे (१३४)— लाल घोडे इन्द्रको यहां लाते हैं ।

मद्र्यक् हरिभ्यां आयाहि (१३६)— मेरे पास घोडोंसे आओ ।

अस्मत् आरे मा मुमुचः (१४३)— हमसे दूर तू अपने घोडोंको न छोड ।

गवेषणं रथं हरिभ्यां युजे (५६)— गौओंको ढूंढनेवाले रथको मैं दो घोडोंको जोतता हूं ।

केशिना घृतस्नू हरी रथे त्वा अर्वाञ्चं वहतां (१४४)— लंबे बालोंवाले, घी जिनके शरीरसे चूता है सा दीखता है ऐसे तेजस्वी, दो घोडे रथमेंसे तुझे हमारे पास ले आवें । इसमें ' घृत-स्नू ' पद है । घी जैसा पदार्थ जिनके शरीरसे टपकता है । यह वर्णन इन्द्रके घोडोंकी तेजस्विताका है ।

हरिभ्यां उप याहि (१४५)— घोडोंसे यहां आओ । दो घोडे अपने रथको जोडकर, उस रथमें बैठकर यहां आओ । इन्द्रके रथको दो घोडे जोते जाते हैं, यह इस वर्णनका अर्थ है ।

केशिना हरी इन्द्रं वक्षतः (१७८)— लंबे बालोंवाले दो घोडे इन्द्रको ले आते हैं ।

स्थिराय हरी तुरा हिन्वन् (१८८)— युद्धमें स्थिर रहकर युद्ध करनेवाले इन्द्रको दो घोडे त्वरासे चलाते हैं ।

हर्यता हरी वज्रिणं मंदिनं इन्द्रं रथे वहतः (१८७)— प्रिय दो घोडे वज्रधारी आनंदित इन्द्रको रथमेंसे ले आते हैं ।

अस्य रथे विपक्षसा शोणा धृष्णू नृवाहसा काम्या हरी युञ्जन्ति (१६५)— इस रथको दोनों ओर लाल रंगके दो प्रिय घोडे शूरवीर इन्द्रको ले चलनेके लिये जोते जाते हैं ।

तव ऊतिभिः सुप्रावीः मर्त्यः अश्वावती गोषु प्रथमः गच्छति (१५४)— तेरी सुरक्षासे सुरक्षित हुआ मानव गौओं और घोडोंवालोंमें पहिला होकर जाता है ।

सर्वरथा हरी इह विमुञ्च (६१७)— सब रथोंके दो दो घोडे यहां छोड ।

मदच्युता हरी युक्ष्व (३४०)— मद गिरानेवाले दो घोडे रथको जोत ।

यमस्य रथं हरी वहतः (४८४)— नियामक इन्द्रके रथको दो लाल घोडे चलाते हैं ।

त्वा अर्वता ऊतासः नि रुणधामहै (४५९)— तेरी प्रेरणासे घोडोंसे सुरक्षित हुए हम शत्रुको रोक सकते हैं।

अर्वाद्भिः हरिभिः यः जोषं इयते (१८८)— वेग-वाले घोडोंसे यह इन्द्र जोषसे शीघ्र जाता है। इस मंत्रमें '**हरिभिः**' अनेक घोडोंके साथ इस अर्थका प्रयोग है। अन्यत्र '**हरी**' दो घोडे ऐसा ही प्रयोग है।

उग्रासः तविषासः इन्द्रवाहः सधमादः एनं नृपतिं उग्रं वज्रबाहुं प्रत्वक्षसं सत्यशुष्मं ईं अस्मत्रा आ वहन्तु (६०४)— उग्र बलवाले इन्द्रके घोडे उस उग्र-वीर मनुष्योंके पालक वज्रके समान बाहुवाले, बलवान्, सत्य सामर्थ्यवाले इस इन्द्रको हमारे पास ले आवे।

इन्द्रका रथ

घोडोंके वर्णनके मंत्रमें इन्द्रके रथका भी वर्णन आया है। इन्द्र घोडेपर बैठता नहीं, वह सदा रथमें ही बैठता है। अतः कहा है—

रथे-ष्ठाः (२३६)— इन्द्र रथमें बैठता है।

ते रथः सुस्थाम (६०३)— तेरा रथ उत्तम रीतिसे स्थिर है, रथ मजबूत है।

उरुयुगे रथे वचोयुजा. इन्द्रवाहा हरी युञ्जन्ति (६५०)— चौडे जूओंवाले उत्तम रथमें इशारेसे ही जुड जानेवाले इन्द्रके दो लाल रंगके घोडे जोडे जाते हैं।

अमितमानः सुवह्मा— (२३८)— अपार महिमावाला और सुन्दर रथवाला इन्द्र है। वह इन्द्रका रथ (सुवह्मा) उत्तम चलनेवाला है। वेगसे वह जाता है और अन्दर बैठनेवालेको कुछ भी कष्ट नहीं होता। ऐसा उसका उत्तम रथ है।

अर्भकः कुमारकः नवं रथं अधितिष्ठन् (५८४)— छोटा बालक इन्द्र नये रथपर चढकर बैठा। इस तरह वह शूर और धैर्यवान् कुशल वीर है। कुमारपनसे उस इन्द्रकी यह कुशलता स्पष्टतासे प्रकट हो रही है।

इस प्रकार घोडों और रथका वर्णन इन्द्रके विषयमें वेदमें आया हुआ है। इन्द्र रथमें बैठकर ही इधर उधर जाता है। उसके घोडे अनेक हैं, वे सैनिकोंके बैठनेके लिये काममें आते होंगे। क्योंकि इन्द्रके रथको दो ही घोडे जोते जाते हैं।

इन्द्रका अतुल सामर्थ्य

इन्द्रके अतुल सामर्थ्यके विषयमें वेदमंत्रोंमें बहुत ही वर्णन है, उसका अब थोडासा दिग्दर्शन करना है—

भीमः (७१)— इन्द्र महाभयंकर है, इन्द्र शत्रुको कैसा दीखता है वह भाव इस शब्द द्वारा प्रकट हुआ है।

तवस् (६९)— इन्द्रका सामर्थ्य विशेष है।

पुरुशाकः (२४८)— बहुत शक्तिशाली है।

ओजिष्ठः (२८७)— इन्द्र बहुत ओजस्वी है, महा-बलाढ्य है।

सहसावान् (२४९)— साहसकी शक्तिसे वह युक्त है। शत्रुका पराजय करनेका उसका सामर्थ्य विशेष अधिक है।

शवसस्पतिः (४९५)— वह बलका स्वामी है।

अप्रतिमानं ओजः (९२२)— उसका अप्रतिम सामर्थ्य है। उसके समान दूसरे किसीका भी बल नहीं है।

ते वीर्यं भूरि (७१)— इन्द्रका पराक्रम बहुत बडा है।

विश्वायु शवसे अपावृतं (६९)— संपूर्ण आयुपर्यंत वह बलके लिये प्रसिद्ध है। सब आयुपर्यंत वह बलसे होनेवाले कार्य करता रहता है।

विश्वं केवलं सहः सत्रा दधिषे (७४)— सब प्रकारका शुद्ध सामर्थ्य तू- इन्द्र- धारण करता है। जगत्में जो सामर्थ्य करके है वह सब इन्द्रमें है।

वृषभः वृषण्यावान् सत्यः सत्वा पुरुमायः सह-स्वान् पत्यते (२३२)— बलवान् सामर्थ्ययुक्त सच्चा सत्व-वान्, अनेक कर्मोंको कुशलतासे करनेवाला, शत्रुका पराभव करनेवाला जो इन्द्र है उसकी स्तुति होती है। वह इन्द्र '**पुरु-मायः**' है। इस पदका अर्थ अनेक कर्म करनेवाला, कुशलतासे कर्म करनेवाला, अनेक कपट प्रयोगोंसे भी शत्रुको जीतनेमें प्रवीण ऐसा होता है। '**माया**' का अर्थ 'कुशलता तथा कपट प्रयोग' ऐसा दोनों प्रकारका है। यह इन्द्र युद्धकौशल्यसे शत्रुको परास्त करता है, तथा आवश्यकता होनेपर कपट प्रयोग करके भी शत्रुका नाश करता है। ये दोनों अर्थ यहां लेने उचित हैं।

यः शवसा विश्वानि आततान (५४)— जो इन्द्र अपने बलसे सब शत्रुओंको फैलाकर मारता है। शत्रु एकत्रित होने नहीं देता, उनको फैलाता है और नष्ट भ्रष्ट करता है।

नक्षद्दामं ततुरिं पर्वतेष्ठां अद्रोघवाचं शविष्ठं तं मतिभिः अभि— (२३३)— शत्रुको दबानेवाला, स्वकी-योंका तारण करनेवाला, पर्वतपरके किलेमें रहनेवाला, द्रोहरहित भाषण करनेवाला बलवान् है उसकी बुद्धियोंसे स्तुति करते हैं। '**ततुरि**' का अर्थ त्वरासे यश प्राप्त करनेवाला, शीघ्रतासे शत्रुका नाश करनेवाला है। पर्वतपरके किलेमें इन्द्र रहता है, द्रोहरहित भाषण करता है, भाषणमें उसकी उत्तम सभ्यता प्रकट होती है, भाषण सबको प्रिय लगे ऐसा उत्तम होता है।

सब प्रकारका सामर्थ्य इन्द्रमें रहता है, इसलिये उसका भाषण द्रोहरहित होता है।

सबलः अनपच्युतः (२८८)— वह बलवान् है और कभी न गिरनेवाला है। अपने बलसे वह उच्चतर होता रहता है।

शूषस्य धुरि धीमहि (४७८) बलके कारण तुझे अग्रस्थानमें हम रखते हैं।

यः तिग्मशृंगो वृषभो न भीमः एकः कृष्टीः प्रच्यावयति (२४३)— यह इन्द्र तीखे सींगवाले बैलके समान महाभयंकर है, वह अकेला ही सब शत्रुसेनाको स्थान भ्रष्ट करता है, विनष्ट करता है। अकेला ही अपने बलके कारण सब शत्रुओंको पराजित करता है।

न महिमानं, न वीर्यं, न रायः उद् अश्नुवन्ति (४८२)— कोई वीर तेरी महिमा, तेरा वीर्य, तेरे धनकी बराबरी नहीं कर सकता।

रभोदाः (२३६)— इन्द्र बल देनेवाला है।

अनूर्मी वाजी यमः (४०८)— पीडा रहित, बलवान् नियामक होता है।

ते वीर्यस्य उशिजः चर्किरन् (४९६)— तेरे पराक्रमोंकी कीर्ति उन्नतिकी इच्छा करनेवालोंने गाई है।

पूरवः ते अस्य वीर्यस्य विदुः (४९५)— लोग तेरे इस पराक्रमको अच्छी तरह जानते हैं।

चिकितुषे असुर्याय मन्म (५०६)— जो ज्ञानी वा बलवान् होता है उसका स्तोत्र गाया जाता है।

शवसे राधे सचा (३४२)— बलके और धनके लिये संघटित होनेकी आवश्यकता अत्यंत है।

विश्वा शवसा वृष्ण्या महिना आ पप्राथ (५२१)- सारे बल और सामर्थ्यकी महिमाने भर दिया है अर्थात् जहां शक्ति और सामर्थ्य है वहां महिमा बड जाती है।

त्वं बलात् सहसः अभिजातः (५९८)— तू बल और साहसके कारण प्रसिद्ध हुआ है।

ते वृष्ण्यानि वर्धाम (६०३)— तेरे बलोंका वर्णन करके हम उसको बढाते हैं।

तुविशुष्मः महिषः (६१२)— इन्द्र महा सामर्थ्यवान् और भैंसेके समान बलवान् है।

महान् ऊरुः सत्यः देवः इन्द्रः (६१३)— बडी महिमावाला सत्य देव इन्द्र है।

इन्द्रः शुष्मं दधे (७०७)— इन्द्र प्रचण्ड बल धारण करता है।

वृष्ण्यं शवः (७१९)— इसका प्रभावी बल फैला है।

अप्रतिमानं ओजः (९२२)— इस इन्द्रका अप्रतिम सामर्थ्य है।

अपारेण महता वृष्ण्येन विश्वा महांसि अति प्रचक्षाणः (६०२)— अपरंपार महा सामर्थ्यसे अपने सब सामर्थ्योंको वह अति तीक्ष्ण बनाता है।

नृभिः प्राक् अपाक् उदङ् न्यक् हूयसे (७२०)- मानवों द्वारा पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर दिशाओंमें सहायतार्थ तू बुलाया जाता है।

इस तरह इन्द्रके प्रचण्ड सामर्थ्यका वर्णन वेद कर रहा है। इस वर्णनको पढनेसे अपनमें सामर्थ्य बढाना चाहिये यह स्फूर्ति स्तुति करनेवालोंमें उत्पन्न होती है जो मानवोंकी उन्नतिके लिये अत्यंत आवश्यक है।

किलेमें रहनेवाला इन्द्र

'अद्रि-वः' (११५)— पहाडी किलेमें इन्द्र रहता है। यह इस वीरकी सुरक्षितताके लिये पहाडी किलोंमें रहता है। किलेमें रहनेसे अपनी सुरक्षितता निश्चित होती है। पर यह शत्रुओंके किले तोडता है देखिये—

शत्रुके किले इन्द्र तोडता है

इन्द्र स्वयं पर्वतपरके किलेमें रहता है। शत्रुके द्वारा उस किलेको [illegible] बनाता है। पर स्वयं इन्द्र शत्रुके किले तोडता है, उनम [illegible] करता है, तथा उनको अपने संरक्षणमें लेता है। शत्रुको वहांसे हटाता है और उसमें अपने लोगोंको बसाता है। इन्द्रके वर्णनोंमें ये वर्णन बहुत हैं, उनमेंसे थोडे देखिये—

पूर्भित् (पूः-भित्) (४३)— शत्रुके नगरोंके किलोंको तोडनेवाला इन्द्र है।

पुरां दर्मा (२२०)— शत्रुकी पुरियोंको तोडनेवाला,

अयं [illegible] **रा पुरः विभिनत्ति** (३२९)— यह इन्द्र अपने बलसे शत्रुकी नगरीयोंके किलोंको तोडता है।

शश्वतीनां पुरां दर्ता असि (४०१)— तू शत्रुके सारे किलोंको तोडता है।

शारदीः पुरः सासहानः अवातिरः (४९५)— शरद् ऋतुमें रहनेके लिये बनाये शत्रुके किले साहससे इन्द्रने तोडे।

इदं पुरं ओजसा संहसि (१२५)— इस किलेको तू अपने बलसे तोडता है।

बाह्वोजसा नव नवतिं पुरः बिभेद (३१)— अपने बाहुके बलसे शत्रुके निन्यानव किले तोड दिये।

नवनवतिं पुरः सद्यः (२४७)— निन्यानवें किलोंको तोड दिया।

ऋजिश्वना परिपूता अनानुदः वृंगदस्य शताः पुरः अभिनत् (१२६)— ऋजिश्वाके द्वारा घेरी हुई कंजूस वृंगदकी सौ नगरियोंको तूने तोड दिया।

अबन्धुना सुश्रवसा उपजग्मुषः एतान् द्विदश जनराज्ञः षष्टिं सहस्रा नवतिं नव दुष्पदा रथ्या चक्रेण नि अवृणक् (१२७)— बिना सहाय लेते हुए अकेले सुश्रवाने हमला किये हुए इन बीस जनराजाओंको तथा उनके साठ हजार निन्यानवें सैनिकोंको असह्य रथचक्रसे मार डाला। साठ हजार सैनिकोंका पराभव करनेके लिये जितना बल चाहिये उतना इन्द्रके पास बल था यह इसका भाव है।

त्वं अस्मै महे यूने राज्ञे कुत्सं अतिथिग्वं आयुं अरन्धयः (१२८)— तूने इस तरुण राजाका हित करनेके लिये कुत्स, अतिथिग्व और आयुको मारा।

निवेशने शततमा अविवेषीः वृत्रं अहन् (२४७)- रहनेके लिये तूने सौवें किलेमें प्रवेश किया, उस समय तूने वृत्रको मार दिया।

उत नमुचिं अहन् (२४७)— और नमुचिको भी मारा।

इस तरह शत्रुके किले तोडनेका वर्णन वेदमें है। साठ साठ हजार शत्रु सैनिकोंका वध किया, इस कार्यके लिये इन्द्रका सैन्य कितना होगा, इसकी कल्पना पाठक करें। किलोंमें रहकर लडनेवालेके पास थोडा सैन्य हुआ तो चल सकता है। पर शत्रुके किले तोडना, उनमें रहे शत्रुओंका नाश करना, साठ सत्तर हजार शत्रुके सैनिकोंका नाश करना आदि कार्य करनेके लिये शत्रुके सैन्यकी अपेक्षा तीन गुणा तो सैन्य अवश्य ही चाहिये। उतना इन्द्रके पास था यह इस वर्णनसे सिद्ध होता है।

इन्द्रका संरक्षण सामर्थ्य

इन्द्र एक समय निन्यानवें किले शत्रुके लेता है और सौवें किलेमें जाकर रहता है, इससे इन्द्रका युद्ध करनेका सामर्थ्य कितना बडा है यह स्पष्ट होता है। युद्ध करनेका सैनिकीय सामर्थ्य होता है। इस सामर्थ्यसे बाहिरके शत्रुओंसे संरक्षण किया जाता है और आन्तरिक उपद्रवकारियोंसे भी संरक्षण होता है। इसलिये इन्द्र सचमुच संरक्षण करनेवाला है अतः कहा है—

अविता (६६) — इन्द्र रक्षण करनेवाला है।

सत्पतिः (६८) — उत्तम पालन करनेवाला है।

कुण्डपाय्यः (२०)— यज्ञके कुण्डका संरक्षक। आर्य यज्ञ करते थे और अनार्य यज्ञका नाश करते थे। इसलिये यज्ञके कुण्डका रक्षण करनेका अर्थ आर्य जातिका रक्षण करना है।

त्वं सप्रथः वर्म असि (१०४)— तू मेरा बडा कवच है। जैसे कवच रक्षण करता है वैसे तू मेरा रक्षण करता है।

इन्द्रः सर्वाभ्यः आशाभ्यः परि अभयं करत् (११८)— इन्द्र सब दिशाओंमेंसे आनेवाले शत्रुओंसे निर्भयताका निर्माण करता है।

सखायः! योगे योगे वाजे वाजे तवस्तरं इन्द्रं ऊतये हवामहे (१६१)— हे मित्रो! हम सब मिलकर शत्रुके साथ संबंध होनेपर प्रत्येक युद्धमें बलशाली इन्द्रको अपनी सुरक्षा करनेके लिये बुलाते हैं।

सखा इन्द्रः पुरस्तात् उत मध्यतः सखिभ्यः वरिवः कृणोतु (९७)— हमारा मित्र इन्द्र आगेसे और मध्यसे हमारे मित्रोंके लिये श्रेष्ठ संरक्षण देवे, अथवा धन देवे।

धने हिते येन आविथ (३९)— युद्ध शुरू होनेपर अपनी शक्तिसे तू हमारा संरक्षण करता है। यहां '**धन**' नाम युद्धका है, क्योंकि युद्धमें विजय प्राप्त होनेपर शत्रुका धन अपने अधीन होता है।

सहस्रिणीभिः ऊतिभिः वाजेभिः नः इदं उपागमत् (१६२)— हजारों संरक्षक योजनाओं और सामर्थ्योंसे हमारे पास वह इन्द्र आता है और हमारा संरक्षण करता है।

हे इन्द्र! वावृधानस्य विश्वा धनानि जिग्युषः ते ऊतिं आवृणीमहे (१७२)— हे इन्द्र! तुझ जैसे बढनेवाले और धनोंको जीतनेवाले वीरके संरक्षणको हम चाहते हैं। तेरी शक्तिसे हमारा संरक्षण होता रहे।

नः अवृकेभिः वरूथैः त्रायस्व (२४९)— हमारा संरक्षण सरल साधनोंसे कर। उनमें कपट प्रयोग करनेकी आवश्यकता न रहे।

तन्वा ऊती वावृधस्व (२५३)— अपने शरीरसे अपनी संरक्षक शक्तिको बढाओ।

स वाजेषु नः प्राविषत् (३३८)— वह इन्द्र युद्धोंमें हमारा संरक्षण करता है।

नः अविता भव— (३४२)— तू हमारा संरक्षक हो।

सुरूपकृत्नुं ऊतये जुहूमसि (३४४)— उत्तम सुंदर रूप बनानेवाले इन्द्रको हम अपनी सुरक्षाके लिये बुलाते हैं।

मावते दाशुषे ते विभूतयः ऊतयः (३७२)— मेरे जैसे दाताके लिये तेरी विभूतियां संरक्षक होती हैं।

अस्माकं तनूनां अविता भूतु (३११)— तू हमारे शरीरोंका संरक्षक है।

चर्षणिप्राः विशः प्रचर (४८३)— प्रजाका संरक्षक तू है इस लिये प्रजामें उनके रक्षणार्थ संचार कर।

सखीयतः आविथ (४९६)— मित्रताके साथ रहनेवालोंका संरक्षण कर।

पृतनासु प्रतन्तवे कारं चकार (४९६)— शत्रुके सैन्यको जीतनेके लिये तुमने पुरुषार्थ किया।

चित्राभिः ऊतिभिः अस्मान् अव (५२१)— विलक्षण संरक्षक साधनोंसे हमारा संरक्षण कर।

चित्रः ऊती सदावृधः सखा कया नः आभुवत् (७२९)— विलक्षण संरक्षक सदा महान् मित्र इन्द्र किस महान् सामर्थ्यसे युक्त है जिससे वह हमारा संरक्षण करता है।

वः ऊती अजरं प्रहेतारं अप्रतिहतं आशुं जेतारं होतारं रथीतमं अतूर्तं तुग्र्यावृधं (६६६)— आपके संरक्षणके लिये जरारहित, विजयी, अपराजित, शीघ्र विजय प्राप्त करनेवाले, प्रेरणा देनेवाले, बडे रथी इन्द्रको प्राप्त करो। वह आपका उत्तम संरक्षण करेगा।

इस प्रकार इन्द्र संरक्षणका कार्य करता है। इसको हम संरक्षक मंत्री भी कह सकते हैं। इनके मुख्य कार्योंमें जनताका संरक्षण आन्तरिक उपद्रवियोंसे तथा बाह्य शत्रुओंसे करनेका कार्य अन्तर्भूत हुआ है और यह कार्य वेदमंत्र स्पष्ट रीतिसे बता रहे हैं। इस कारण यह संरक्षक मंत्री ही है।

युद्ध करनेवाला इन्द्र

इन्द्र युद्धका देवता है। युद्धमें शत्रुको पराभ्त करना यह इसका मुख्य कार्य है। देखिये इसके वर्णन—

पुरो योधः (१०४)— आगे रहकर युद्ध करनेवाला, अग्रभागमें रहकर युद्ध करनेवाला।

भर क्रतुः (२७९)— युद्धमें कर्तृत्व दर्शानेवाला।

पृत्सु सासहिः (३७४)— युद्धोंमें साहस करनेवाला विजयी वीर।

परि-ज्मा (४४६)— युद्धमें चारों ओर घूमकर युद्ध करनेवाला।

समत्सु वृत्रहा (६१४)— युद्धोंमें घेरनेवाले शत्रुओंका वधकर्ता।

यः समत्सु संवृक् (२००)— जो संग्रामोंसे शत्रुको घेरता है।

हे इन्द्र ! वाजेषु सासहिः भव (११०)— हे इन्द्र! तू युद्धोंमें शत्रुको जीतनेवाला हो।

त्वां वाजे हवामहे (६५)— तुझे हम युद्धमें सहाय्यार्थ बुलाते हैं।

युधा युधं धृष्णुया उप एषि (१२५)— युद्धकी तैयारीसे युद्धके प्रति तू अपनी धर्षक शक्तिके साथ जाता है।

वाजेषु दाधृषं विद्म (१५०)— युद्धोंमें शत्रुका पराभव करनेवाला तू है ऐसा हम जानते हैं।

संयती क्रन्दसी यं विह्वयेते (२०५)— युद्धमें युद्ध करनेवाला सैन्य जिसको अपनी सहायताके लिये बुलाता है।

द्युम्नेषु पृतनाज्ये पृत्सु तूर्षु अवःसु अभिमातिषु साह्व (१११)— धनप्राप्तिके कार्योंमें, युद्धोंमें, शत्रुसेनाका पराभव करनेके समयोंमें, यश प्राप्त करनेके कार्योंमें, शत्रुका सामना करनेके समयोंमें तू हमारा साथी हो।

युध्यमाना अवसे यं हवन्ते (२०६)— युद्ध करनेवाले वीर अपने सुरक्षाके लिये जिस इन्द्रको बुलाते हैं।

स्वराट् इन्द्रः स्वरिः अमत्रः रणाय आववक्षे (२२४)— स्वराज्य चलानेवाला इन्द्र अपने घरमें शक्तिमान् और सामर्थ्यवान् होकर युद्धके लिये तैयार है।

युधे इष्णानः आयुधानि ऋघायमान शत्रून् नि रिणाति (२२८)— युद्धकी इच्छा करनेवाला जब शस्त्रास्त्रोंको शत्रुपर प्रेरित करता है तब शत्रुओंको नीचे गिराता है।

अस्मिन् वाजे नः ऊतये ऊर्ध्वः तिष्ठ (२८२)— इस युद्धमें हमारे संरक्षणके लिये खडा रह।

समत्सु ज्योतिः कर्ता (२८३)— युद्धोंमें तेजस्विता प्रकट करनेवाला इन्द्र है।

युधा अमित्रान् सासहानः (२८३)— युद्धसे शत्रुओंको पराजित करनेवाला इन्द्र है।

तं महत्सु आजिषु उत अर्भे हवामहे (३३८)— उस इन्द्रको हम जैसे बडे युद्धोंमें सहाय्यार्थ बुलाते हैं वैसे छोटे संघर्षोंमें भी बुलाते हैं।

कं हनः, कं वसौ दधः (३४०)— किसको मारा और किसको धनमें रखा ? इन्द्रने क्या क्या किया ?

वृत्राणां घनः अभवः (४२५)— इन्द्र वृत्रोंको मारनेवाला हुआ है।

वाजेषु वाजिनं प्रावः (४२५)— युद्धोंमें योद्धाकी रक्षा कर।

समत्सु यस्य संस्थे हरी न वृण्वते (४३१)— युद्धोंमें जिसके जाते हुए घोडोंको कोई रोक नहीं सकता वह इन्द्र है।

उग्राभिः ऊतिभिः सहस्रप्रधनेषु नः अव (४५१)- उग्र वीरताके संरक्षणके साधनोंसे सहस्रों प्रकारके धन जिसमें मिलते हैं ऐसे युद्धोंमें हमारी रक्षा कर। '**सहस्र-प्र-धन**' यह युद्धका नाम है। शत्रुका पराभव करनेसे शत्रुके सहस्रों प्रकारके धन विजयी वीरको प्राप्त होते हैं।

इन्द्रं वयं महा धने इन्द्रं अर्भे हवामहे (४५२)- इन्द्रको हम जैसे बडे युद्धोंमें सहायार्थ बुलाते हैं, वैसे छोटे युद्धोंमें भी बुलाते हैं।

अस्मिन् यामनि नः शिक्ष (५१६)— इस चढाईमें हमें योग्य आदेश दे (कि हम अपनी तैयारी कैसी करें?)

अज्ञाता वृजना दुराध्यः अशिवासः नः मा अव-क्रमुः (५१७)— अज्ञात, कपटी, दुष्ट, अशुभ शत्रु हमपर आक्रमण न करें।

युधा देवेभ्यः वरिवः चकर्थ (५३९)- युद्धसे देवोंके लिये धन प्राप्त किया है।

नृभिः युतः अभियुध्याः तं आजिं त्वया सौश्र-वसं जयेम (५३७)— वीरोंसे घिरा हुआ तू युद्ध करता है, उस युद्धको हम तेरे साथ रहकर यशस्वी रीतिसे जीतेंगे।

अदेवीः मायाः असहिष्ठ (५३८)— असुरोंके कपट जालोंको पराभूत किया।

जना ममसत्येषु संतस्थानाः समीके त्वां विह्वयन्ते (५५०)— वीर लोग युद्धमें खडे रहनेपर युद्धकी सहायतार्थ तुझे बुलाते हैं।

सुतुकान् स्वप्नान् शत्रून् नि युवति, वृत्रं हन्ति (५५१)— उत्तम संतानोंवाले, उत्तम शस्त्रास्त्रवाले शत्रुओंको वह इन्द्र दूर करता है और वृत्रको मारता है।

अस्य शत्रुः आरात् चित् भयतां (५५२)— इस इन्द्रके शत्रु दूरसे भी उससे डरते रहते हैं।

अस्मै जग्या द्युम्ना नि नमन्तां (५५२)— इसके सामने सब मानवी तेजस्वी वीर विनम्र होकर रहते हैं।

शत्रुं आरात् दूरं यः उग्रः शम्बः तेन अपबाधस्व (५८३)— शत्रुको पाससे और दूरसे भी, जो उग्र वज्र है उससे बाधा पहुंचाओ।

शत्रुः इन्द्रः विश्वा द्विषः अति ओहते (५८३)- सामर्थ्यवान् इन्द्र सब शत्रुओंको दूर करता है।

अभीके संगे लोककृत् (६१४)— समीपके युद्धमें वीरोंके लिये योग्य स्थान देनेवाला इन्द्र है।

*

अहिं अधराचः अहन् (६१५)— अहि नामक शत्रुको मारकर नीचे गिराया।

समीके इन्द्रं हवामहे (७१६)— युद्धमें सहाय्यार्थ हम इन्द्रको बुलाते हैं।

इन्द्रके युद्धविषयक सामर्थ्यका यह वर्णन है। इससे पता चल सकता है कि इन्द्रकी युद्धमें प्रवीणता कितनी है। इसीलिये हम इन्द्रको युद्धमंत्री कहते हैं। पाठक भी इन वर्णनोंमें युद्ध-मंत्रीके गुण देख सकते हैं।

शत्रुका पराभव करनेवाला इन्द्र

शत्रुका पराभव हमेशा इन्द्र करता है। इस विषयमें इन्द्रके वर्णन देखने योग्य हैं. उनमेंसे कुछ देखिये—

शत्रून् जहि (३४)— शत्रुओंको पराभूत कर,
दस्यून् हन्त्वो (५१)— दस्युओंका हनन करनेवाला,
उग्रः (५३)— इन्द्र अत्यंत उग्र वीर है।
शत्रून् जेता (११८)— शत्रुओंको जीतनेवाला,
दस्योः हन्ता (४०१)— दस्युओंका वध करनेवाला,
शत्रून् विदयमान इन्द्रः (४३)— शत्रुओंको मारनेवाला इन्द्र है।

अर्कैः दासं अतिरत्— (४३) अपने तेजसे इन्द्र अपने शत्रुको मार डालता है।

वलं बिभेद (५२)— वल नामक शत्रुको इन्द्रने मारा।
विवाचः नुनुदे (५२)— विरुद्ध भाषण करनेवालोंको दूर किया।

अभिक्रतूनां दमिता अभवत् (५३)- यज्ञविरोधियोंको दबानेवाला इन्द्र है।

भरे वाजसातौ नृतमः (५३)- युद्धमें तथा अन्नदान करनेके समय इन्द्र सब नेताओंमें अतिश्रेष्ठ है।

शृण्वन् (५३)- सबका कहना सुनता है।

समत्सु ऊतये (५३)- युद्धोंमें रक्षण करनेके लिये इन्द्र सहायक होता है।

चर्षणी-सहः (६८)- शत्रुसेनाका पराभव इन्द्र करता है।

यः दस्योः हन्ता (२०७)- दस्युओंका वध करनेवाला इन्द्र है।

यः पर्वतेषु क्षियन्तं शंबरं, यः आजायमानं अहिं, शयानं दानुं जघान (२०८)- जिस इन्द्रने पर्वतपर रहनेवाले शंबरको, बलवान् अहिको और विश्राम करनेवाले दानुको मारा।

यः कलीभिः शंबरं पर्यतरत् (२०९)- जिसने शस्त्रोंसे शंबरको मारा ।

द्यां आरोहन्तं रौहिणं अस्फुरत् (२१०)- आकाशमें ऊपर चढनेवाले रौहिणको इन्द्रने काटा ।

बाधे सुवृक्तिं प्र भरामि (२१७)- शत्रुको बाधा पहुंचानेके लिये यह उत्तम स्तोत्र मैं बोलता हूं ।

वरे क्रत्वा वरिष्ठं आमुरिं उग्रं ओजिष्ठं तवसं तरस्विनं (३३२)- श्रेष्ठ कर्म करनेके समय वरिष्ठ, शत्रुको मारनेवाले, उग्र, बलवान्, सामर्थ्यवान्, साहसी इन्द्रको हम बुलाते हैं ।

धृतव्रतः ओजसा ऊतिभिः संवृधे (३३३)- नियमोंके अनुसार चलनेवाला इन्द्र अपने बलसे तथा संरक्षणके साधनोंसे उत्तम रीतिसे आगे बढता है ।

अभिभूतिः (१२१)- शत्रुका पराभव करनेवाला इन्द्र है ।

त्वोतासः वयं घना वज्रं आददीमहि युधि स्पृधः संजयेम (४६१)- हे इन्द्र ! तेरे द्वारा संरक्षित हुए हम मारक वज्र हाथमें धरते हैं और उससे युद्धमें स्पर्धा करनेवाले सब शत्रुओंको उत्तम रीतिसे जीतते हैं ।

वयं अस्तृभिः शूरेभिः त्वया युजा पृतन्यतः सासह्याम (४६१)— हम अस्त्र फेंकनेवाले शूरोंके साथ तथा तेरे साथ रहकर सैन्यसे हमला करनेवाले शत्रुको पराजित करेंगे ।

स्वोजाः इन्द्रः पृतनाः व्यानट् (५०४)- अपनी निज शक्तिसे समर्थ हुआ इन्द्र शत्रुसेनाको जीतता है ।

पृतनासु रथं आतिष्ठ (५०४)— युद्धोंमें रथपर बैठ और युद्ध कर ।

विश्वा भुवना अभिभूव (५०९)— संपूर्ण शत्रुसेनाका पराभव कर ।

क्रती-षाहः (३७)— शत्रुको जीतनेवाला इन्द्र है ।

अभिष्टिभिः उशिग्भिः पृतना जिगाय (४६)— इष्ट साथी वीरोंके साथ रहकर शत्रुसेनाको इन्द्रने जीत लिया ।

इन्द्रः तुजः बर्हणा आ विवेश (४७)— इन्द्र त्वरासे शत्रुसेनामें घुसता है ।

सत्रासाहः (५०)— इन्द्र वीरोंके साथ रहकर शत्रुको पराभूत करता है ।

वरेण्यः (५०)— वह श्रेष्ठ विजयी है ।

सहो-दाः (५०) वह साहस बढानेवाला है ।

यः पृथिवीं उत द्यां ससान (५०)— जिस इन्द्रने पृथिवी और द्युलोकको जीता । अर्थात् पृथिवीपरके शत्रुओंको पराभूत किया और आकाशसे आनेवाले शत्रुओंको भी जीत लिया ।

त्वया युजा प्रति ब्रुवे (१०४)— तेरे साथ रहनेसे- इन्द्रके साथ रहनेसे मैं शत्रुको योग्य उत्तर दे दूंगा ।

विश्वा द्विषः अपभिन्धि (२७४)— सब शत्रुओंका नाश कर, उनमें फूट डाल, उनका मतैक्य न हो ऐसा कर ।

मायाभिः उत्सिसृप्सत दस्यून् अवधूनुथाः (१८०)- कपटोंसे व्यवहार करनेवाले शत्रुओंको इन्द्रने नीचे गिराया ।

बाधः मृधः परिजहि (२७४)— बाधा करनेवाले शत्रुओंको पराभूत कर ।

धृष्णो ! धृषन् (३२७)— हे शत्रुका धर्षण करनेवाले इन्द्र ! तू शत्रुका धर्षण करनेवाला है ।

भूरि परा ददिः (३३९)— तू बहुत शत्रुओंको दूर करता है ।

धृषत् (६६)— शत्रुका धर्षण करनेवाला इन्द्र है ।

तुवि-ग्राभः (२३६)— इन्द्र बहुत शत्रुओंको पकड कर रखता है ।

तं रिषः न दभन्ति (३६६)— उस इन्द्रको शत्रु नहीं दबा सकते ।

मिथूदृशा नि स्वापय, अबुध्यमाने सस्तां (४८९)- मिथ्या, कारणके बिना जो वैरभाव करते हैं उनको सुलाओ । वे न जागते हुए सोते ही रहें । शत्रुओंको निद्राके वश करना यह एक युद्धनीति ही है ।

अया देवहितं वाजं सनेम (३९२)— इससे देवोंका हित करनेवाला बल प्राप्त करेंगे ।

द्विषः अवयजति (४११)— इन्द्र शत्रुओंको दूर करता है ।

अवृतः वाजी सहस्रा सिषासति (४११)— शत्रुसे घेरा न जानेवाला इन्द्र हजारों धनोंको प्राप्त करता है ।

कुण्डपाय्या दूरं पताति (४९२)— कुटिल शत्रु दूर भाग जाते हैं ।

सर्वं परिक्रोशं जहि (४९३)— सब आक्रोश करनेवाले दुष्ट शत्रुओंको पराजित कर ।

कृकदाश्वं जंभय (४९३)— छिपकर हमला करनेवाले शत्रुको पीस डाल ।

उग्रं चर्षणीसहं त्वां हूमहे (५१९)— उग्रवीर तथा शत्रुकी सेनाको जीतनेवाले तुझ इन्द्रको हम सहायार्थ बुलाते हैं ।

अमित्रान् सुसहान् कृधि (५१९) शत्रुओंको सुसह्य

कर। अर्थात् ऐसा कर कि शत्रुके हमले बडे कष्टदायी न हों। उनको हम सहजहीसे दूर कर सकें ऐसा बल हममें बढाओ।

अवकक्षी अजुरः (५३०)— शत्रुको दूर करनेवाला इन्द्र जरारहित है, वह तरुण ही है।

संवनन-उभयंकरः उभयावी (५३०)— श्रेष्ठोंकी सहायता करनेवाला इन्द्र दोनों पक्षोंको मिलाता है। दो पक्ष मिलनेसे शक्ति बढती है।

विश्वासां पृतनानां तरुता (५८८)— सब शत्रुकी सेनाको इन्द्र जीत लेता है।

वृत्रहा ज्येष्ठः गृणे (५८८)— वृत्रको मारनेवाला इन्द्र सचमुच श्रेष्ठ है ऐसी उसकी स्तुति होती है।

ब्रह्मद्विषः अव जहि (५९४)— ज्ञानका द्वेष करनेवाले सब शत्रुओंको पराजित कर।

अराधसः पणीन् पदा नि बाधस्व (५९५)— दान न देनेवाले पणियोंको पांवसे बाधा पहुंचाओ।

शत्रवे वधं अस्ता असि (६१६)— शत्रुपर तू वधकारक शस्त्र फेंकता है।

यः नः जिघांसति (६१६)— जो हमारा वध करता है वह हमारा शत्रु है।

अनानुदिष्टः ब्रह्मद्विषः हन्ति (६२०)— किसीके न कहनेपर भी इन्द्र ज्ञानके द्वेष करनेवालोंको मारता है

त्वं तरुष्यतः तूर्य (६६४)— तू सब शत्रुओंको जीत।

ते मन्यवे विश्वा स्पृधः श्नथयन्त (६६५)— तेरे क्रोधके सामने सब शत्रु ढीले पडते हैं।

अस्य मन्यवे विश्वा विशः कृष्टयः सं नमन्ते (६७२)— इस इन्द्रके क्रोधके सामने शत्रुके सब सैनिक या सब प्रजाजन नम्र होते हैं।

प्राचः अपाचः उदीचः अधराचः अ-मित्रान् अप नुदस्व (७३५)— पूर्व पश्चिम, उत्तर दक्षिण दिशासे सब शत्रुओंको दूर हटाओ।

सर्वे इन्द्रस्य शत्रवो हताः (९१२)— इन्द्रके सब शत्रु मारे गये।

सप्तभ्यः शत्रुभ्यः शत्रुः अभवः (९२१)— सातों प्रकारके शत्रुओंका तू शत्रु है। पदाती, अश्वारोही, हस्त्यारोही, रथी, जलचर, अन्तरिक्षचर, पहाडी ऐसे सात प्रकारके शत्रु होते हैं। इन सब शत्रुओंका पराभव इन्द्र करता है, इस कारण इन्द्र सदा विजयी है।

त्वं शुष्णस्य वधत्रैः अवातिरः (९२२)— तूने शुष्णको शस्त्रोंसे मारा है।

इन्द्र! अशत्रुः जज्ञिषे (६१५)— हे इन्द्र! तू शत्रुरहित उत्पन्न हुआ है।

अभ्रातृव्यः, अ-नाः, अन्-आपिः (७०४)— तेरे लिये कोई शत्रु नहीं, कोई दूसरा नेता नहीं, कोई मित्र नहीं। तू ही अपना भाई नेता और मित्र है। तू ही सर्वतंत्र स्वतंत्र वीर है।

युधा इत् आपित्वं इच्छसे (७०४)— युद्धसे ही तू मित्रता करनेकी इच्छा करता है। युद्ध करके शत्रुको दूर करता है, जो बचते हैं वे तुम्हारे मित्र होकर रह सकते हैं।

इस तरह इन्द्र शत्रुओंके साथ युद्ध करता है, शत्रुओंको दूर करता है, प्रजाका संरक्षण करता है। युद्ध करना और मानवोंका संरक्षण करना ये इसके मुख्य कार्य हैं। इस कारण हम इस इन्द्रको युद्धमंत्री अथवा संरक्षण मंत्री कह सकते हैं।

इन्द्रने अनेक राक्षसोंको मारा है। उनमेंसे कई आजके देशोंसे संबंध रखनेवाले हैं ऐसा दीखता है। '**असुर**' ये असीरियन दीखते हैं, '**रक्षस्** या **राक्षस**' ये रशियन प्रतीत होते हैं, '**अहि**' ये अफगाणिस्थान-अहिगणस्थानके होंगे, '**वल**' ये बलुची होंगे, '**वृत्र**' ये रूसमें उरर्तु प्रांत है वहांके होंगे। इस तरह ये इन्द्रके शत्रु थे। ये उपद्रवी थे। इनके नगर किले थे। उनको इन्द्रने तोडा और अपने अनुयायियोंके रहनेके लिये वे नगर दिये।

यहांतक जो वेदवचन दिये हैं उनपर हमने टीका टिप्पणी बिलकुल की नहीं। वे वचन इतने स्पष्ट हैं कि उनके पढनेसे इन्द्र युद्ध करनेवाला, शत्रुका पराजय करनेवाला, अपनी प्रजाका रक्षण करनेवाला है ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है।

आखंडलः (१९)— शत्रुके टुकडे करनेवाला इन्द्र है।

पृतनाषाट् (१०५)— शत्रुसेनाका पराभव करनेवाला।

वनेषु उशघग् व्यंसं अहन् (४५)— वनोंको जलानेवालेने उन बडी छातीवाले शत्रुको मारा।

नम्या सख्या परावति मायिनं नमुचिं नि बर्हयः (१२५)— शत्रुको नमानेवाले मित्रके साथ रहकर दूर रहनेवाले कपटी नमुचिको इन्द्रने मारा।

अतिथिग्वस्य वर्तनी करञ्जं उत पर्णयं त्वं तेजिष्ठया वर्धीः (१२६)— अतिथिग्वके मार्गमें आकर विरोध करनेवाले करंज और पर्णयको तूने तेज शस्त्रसे मारा।

शत्रुतुर्याय बृहतीं अमृध्रां संयतं स्वस्ति नः आ भर (२४१)— शत्रुको मारनेके लिये बडी संयममें रहनेवाली, कल्याण करनेवाली धनसंपत्ति हमें भर दो।

इस प्रकार इन्द्रके शौर्यके वर्णन देखने योग्य हैं । अब इसके शत्रुके विषयमें थोडासा देखिये—

वृत्र वध

वृत्र-हा (१६)— वृत्रको मारनेवाला इन्द्र है।

वृत्राणि जिघ्नते (१५)— वृत्रोंको इन्द्र मारता है।

वृत्राणि जहि (१६)— वृत्रोंको जीत।

वृत्राणि घ्नन् (५३)— वृत्रोंको मारनेवाला इन्द्र है।

वृत्रहा अहिं अवधीत् (३१)— वृत्रवध करनेवाले इन्द्रने अहिको मारा।

इन्द्रः वृत्राणि अप्रति जघन्वान् (५६)— इन्द्रने वृत्रोंको अप्रतर्क्य रीतिसे मार दिया।

वार्त्रहत्य (१०५)— वृत्रवध करनेका कार्य।

दशसहस्राणि वृत्राणि अप्रति नि बर्हयः (१२४)- दस हजार वृत्रोंको अप्रतिम रीतिसे इन्द्रने मारा।

बलं अर्वाञ्चं तुतुदे (१७४)— बल असुरको नीचे गिराया।

नमुचेः शिरः अपां फेनेन उदवर्तयः (१७८)— नमुचि राक्षसका सिर जलोंके फेनसे उडा दिया।

विश्वाः स्पृधः अजयः (१७८)— सब शत्रुओंको जीत।

आयसः हरिशिप्रः अहिं तुदत् (१८५)— फौलादके वज्रसे सुनहरि साफेको बांधनेवाले इन्द्रने अहि नामक शत्रुको मारा।

अहिं हत्वा सप्त सिंधून् अरिणात् (२००)— अहिको मारकर सात नदियोंको बहाया।

कियेधाः ईशानः येन तुजता तुजन् वृत्रस्य मर्म विदत् (२२६)— अनेक भूमियोंमें रहनेवाले इस इन्द्रने वज्र फेंकनेके समय वृत्रका मर्मस्थान कहां है यह जाना। शत्रुके मर्मस्थानको जानकर उसी स्थानपर आघात करना योग्य है।

अद्रिं अस्ता वराहं तिरो विध्यत् (२२२)— वज्रको शत्रुपर फेंकनेवाले इन्द्रने वराहको बीचमें बींधा।

अस्य शवसा वज्रेण शुषन्तं वृत्रं इन्द्रः विवृश्चत् (२२५)— अपने बलसे वज्रसे डरते हुए वृत्रके इन्द्रने टुकडे कर डाले।

देववीतौ त्वं नृभिः भूरीणि वृत्राणि हंसि (२४६)- युद्धमें तू वीरोंके साथ रहकर बहुत वृत्रोंको मारता है।

वृत्रहत्ये शिवः भूः (२५२)— वृत्रका वध करनेके समय तू सबका कल्याण करनेवाला हो।

दस्युहा अभवः (२७२)— दस्युओंको मारनेवाला तू हुआ है।

दाशुषे वृत्राणि हन्ति (३२३)— दाताके हितके लिये शत्रुओंको तू मारता है।

एकः वृत्राणि जिघ्नसे (३७९)— तू अकेला ही वृत्रोंको मारता है।

वृत्रहा जनुषः परि (६४३)— जन्मसे ही इन्द्र वृत्रोंको मारता है।

अपः वव्रिवांसं वृत्रं परा हन् (५११)— जलप्रवाहोंको रोकनेवाले वृत्रको इन्द्रने मारा।

अप्रतिष्कुतः इन्द्रः दधीचो अस्थिभिः नवतीः नव वृत्राणि जघान (२६०)— अपराजित इन्द्रने दधिचीकी अस्थियोंसे बनाये वज्रसे निन्यानवें वृत्रोंको मारा।

वेपतः वृत्रस्य शिरः घृष्णिना शतपर्वणा वज्रेण वि बिभेद (६७४)— कांपनेवाले वृत्रका सिर बलवान् सैकडों धारावाले वज्रसे तोड दिया।

इन्द्रके शस्त्रास्त्र

इन्द्रके शस्त्रास्त्रोंमें वज्र मुख्य है। यह फौलादका बना है, अनेक तीक्ष्ण धाराएं इसको होती हैं और त्वष्टाने यह बनाया होता है। वज्रके आघातसे इन्द्रके सब शत्रु मर जाते हैं और इन्द्र विजयी होता है ऐसा यह वज्र है। यह हाथमें पकडा जाता है और शत्रुपर फेंका जाता है। इस वज्रके विषयमें कुछ वर्णन अब देखिये—

इन्द्रस्य हिरण्ययः हर्यतः वज्रः (७०)— इन्द्रका सोनेका तेजस्वी वज्र है। यह वास्तवमें फौलादका होता है पर उसपर सुनहरी नकशी होती है।

त्वं महां उरुं पर्वतं पर्वशः चकर्तिथ (७४)— तूने- इन्द्रने महान् पर्वतके वज्रसे टुकडे किये।

वज्रः हरितः रंह्या न विध्यवत् (१८५)— वह सुवर्णका वज्र वेगसे शत्रुका वेध करता है।

हरिं भरः सहस्रशोकाः अभवत् (१८५) सुवर्णसे भरा वह वज्र सहस्रों दीप्तियोंवाला हो गया है।

वज्रहस्तः (२११)— इन्द्र हाथमें वज्र लेता है।

सः अस्य वज्रः हरितः, य आयसः, हरिः निकामः, हरिः आ गभस्त्योः, द्युम्नी सुशिप्रः हरिमन्युसायकः, इन्द्रे हरिता रूपा निमिमिक्षिरे (१८४)— वह इस इन्द्रका वज्र नीले फौलादका है, यह प्राण हरण करनेवाला वज्र इस इन्द्रको प्रिय है, वह इन्द्र शत्रुके प्राण हरण करनेवाले

वज्रको हाथोंमें पकडता है, वह तेजस्वी उत्तम साफा बांधनेवाला इन्द्र शत्रुके प्राण हरण करनेवाले क्रोधसे फेंके जानेवाले बाणको धारण करता है, उस इन्द्रमें सारे सुन्दर रूप मिले हैं।

इस वचनमें कहा है कि यह इन्द्रका वज्र फौलादका है अतः नीला है, उसपर सुनहरी नकशी है। इन्द्र इसको दोनों हाथोंसे किसी समय बायें हाथसे और किसी समय सीधे हाथसे पकडता है, वह इन्द्र शत्रुपर मारनेके लिये (सायकः) बाण भी बर्तता है।

अस्मै रणाय त्वष्टा स्वर्यं स्वपस्तमं वज्रं तक्षत् (२२१)— इस इन्द्रके लिये युद्ध करनेके हेतुसे दिव्य तथा उत्तम कार्य करनेवाला वज्र त्वष्टाने निर्माण करके दिया। त्वष्टा वह कारीगर है जो वज्र, बाण, रथ आदि बनाता है।

अपां चरध्यै तिरश्चा वज्रं प्र भर (२२७)— जलप्रवाहोंके प्रवाहित होनेके लिये वृत्रपर वज्रको तिरछा मार।

दक्षिणे हस्ते वज्रं धीष्व (२४०)— दाहिने हाथमें वज्रको धारण कर।

दर्शतः वज्रः हस्ताय प्रति धायि (५८९)— दर्शनीय वज्र हाथमें लिया है।

ओजसा वज्रं शिशान (६००)— तू अपने बलसे वज्रको तीक्ष्ण बना।

सजोषसं अर्कं बाह्वोः बिभर्षि (६००)— तू अपने शक्तिमान् तेजस्वी वज्रको बाहुओंसे धारण करता है।

गभस्तौ वज्रः मिम्यक्ष (६०३)- हाथोंमें वज्र चमकता है।

चित्र वज्रहस्त अद्रिवः (६४५)- आश्चर्यकारक वज्र हाथमें धारण करनेवाला, पहाडी किलेमें रहनेवाला इन्द्र।

अस्ता (३०)— शत्रुपर शस्त्र फेंकनेमें कुशल इन्द्र है।

ते अंकुशः दीर्घः अस्तु (१७)— तेरा अंकुश लंबा हो।

इन्द्रस्य मही दुष्टरा समिषः शतानीका हेतयः (३२५)— इस इन्द्रकी बडी दुस्तर उत्तम इच्छाएं हैं और सैकडों नोकोंवाले उसके पास शस्त्र हैं।

इस तरह इन्द्रके शस्त्रोंका वर्णन है। सीसेकी गोली भी वह मारता था ऐसा अगले मंत्रोंसे प्रतीत होता है—

सीसं म इन्द्रः प्रायच्छत् तदंग यातुचातनम्।
अथ. १।१६।२

' इन्द्रने मुझे सीस (सीसेकी गोली) दी है, हे प्रिय ! वह सीसा यातना देनेवाले दुष्ट शत्रुओंको दूर करनेवाला है।

इदं विष्कंधं सहते, इदं बाधते अत्रिणः।
अनेन विश्वासहे या जातानि पिशाच्याः॥
अथ. १।१६।३

यह सीसा शत्रुको पराभूत करता है, खाऊ शत्रुओंको यह दूर करता है। जो (पिशाच्याः) रक्त पीनेवालोंकी जातियां हैं वे सब जातियां इस सीससे पराभूत होती हैं।

यदि नो गां हंसि यद्यश्वं यदि पूरुषम्।
तं त्वा सीसेन विध्यामो यथा नो असो अवीरहा॥
अथ. १।१६।४

' यदि तू हमारी गौको मारेगा, यदि घोडेको मारेगा, यदि मनुष्यको मारेगा, तो उस तुझको मैं सीसेसे बींधूंगा जिससे हमारेमें कोई वीरोंको मारनेवाला नहीं रहेगा।

यहां ' सीसेन विध्यामः ' सीसेसे बींधते हैं, ऐसा कहा है, यह सीसेकी गोलीसे बींधना ही होगा, पर बंदूकका नाम वेदमें नहीं मिला। तो यह सीसेसे बींधना किस तरह होता है इसकी खोज पाठक करें। परन्तु यहां ' विध्यामः ' बींधनेका अर्थ स्पष्ट है। वज्र भी दूरसे फेंका जाता था, बाण भी दूरसे फेंके जाते थे, सीसेसे बींधना भी दूरसे ही होता था।

सैन्य बल

इन्द्रके पास मरुतोंका सैन्य सदा तैयार रहता था।

एषां अनीकं शवसा प्र दविद्युतत् (९०)- इनका सैन्य बलसे चमकता रहता है।

वाजिनीवसुः (१४९)— सैन्यके साथ रहनेवाला इन्द्र है। इन्द्रके साथ वीरोंकी सेना तैयार रहती है।

शतानीकः (३२३)— सैकडों सैनिक इन्द्रके साथ रहते हैं।

हे वीर ! सैन्यः असि (३३९)— हे वीर इन्द्र ! तू सेनाके साथ रहता है, तू सेनाके साथ कार्य करता है, सेनाका संचालन तू करता है।

इन्द्र वीर है

इन्द्र वीर है, इसीलिये वह युद्ध करता है और विजय प्राप्त करता है। अतः कहा है—

नृतमः (२३४)— नेताओंमें श्रेष्ठ वीर इन्द्र है।

सदावृधः वीरः (४०२) सदा बढनेवाला वीर इन्द्र है।

शूरः उत स्थिरः एव (३६८)— इन्द्र शूर है और युद्धमें अपने स्थानमें स्थिर रहता है, भाग नहीं जाता अथवा चंचल भी नहीं होता।

पुरुवीरः (२३४)— इन्द्र बहुत वीरोंके साथ रहनेवाला बडा वीर नेता है।

उग्रः (६६)— यह उग्रवीर है।

वीरयुः असि (३६८)— वीरोंको योग्य स्थानमें योजनापूर्वक रखनेवाला इन्द्र है।

मानुषीणां क्षितीनां उत दैवीनां विशां पूर्वयावा असि (४४)— मानवी प्रजाओंमें तथा दैवी प्रजाओंमें यह इन्द्र पहिले शत्रुपर हमला करनेके लिये जानेवाला है।

प्रत्नाय पत्ये इन्द्राय हृदा मनसा मनीषा धियः मर्जयन्तः (२१७)— प्राचीन कालसे स्वामित्व करनेवाले इन्द्रकी हृदयसे, मनसे तथा बुद्धिसे स्तुति करके अपनी बुद्धियोंको पवित्र करते हैं।

नृपतिः (६०३)— मनुष्योंका पालनकर्ता इन्द्र है।

नृणां नर्यः नृतमः क्षपावान् (४९७)— नेताओंमें मुख्य नेता, मानवोंका उत्तम श्रेष्ठ संचालक पृथिवीका राजा यह है।

त्रिशोकः रथः शतं नॄन् अनु आवहत् (४९८)- तीन ज्योतिओंवाला उस इन्द्रका रथ सैकडों नेताओंको साथ ले आता है।

स्वपतिः इन्द्रः (६०२)— अपना स्वामी इन्द्र है।

त्वं ईशिषे (६०६)— तू सबपर स्वामित्व करता है।

इन्द्रः विश्वा भूतानि येमिरे (७१७)— इन्द्र सब भूतोंको स्वाधीन रखता है।

जगतः तस्थुषः स्वर्दशं ईशानं अभिनोनुमः (७२२)— जंगम तथा स्थावर विश्वके तेजस्वी स्वामी इन्द्रको हम नमन करते हैं।

त्वावान् अन्यः न, न दिव्यः, न पार्थिवः, न जातः, न जनिष्यते (७२३)— तेरे जैसा दूसरा कोई, न दिव्य, न पार्थिव, न हुआ और न होगा। ऐसा तू अद्वितीय है।

जैत्रा श्रवस्या च यन्तवे (३७९)— विजय, यश और सबका नियमन करनेके लिये तू है।

त्वं अभिभूः असि (३८५)— तू सब शत्रुओंका पराभव करनेवाला है।

ससवान् (४९८)— तू विजयी है।

अभिभूतिः (७३५)— तू सब शत्रुओंका पराभव करनेवाला है।

प्रजाका पालक इन्द्र

इन्द्र प्रजाका उत्तम पालन करता है, प्रजाका पालन करनेके लिये ही वह युद्ध आदि करता है इसलिये उसके वर्णनमें कहा है—

विश्पतिः (२३)— इन्द्र प्रजाका पालनकर्ता है।

सत्पतिः (२४)— वह उत्तम पालक है।

राजा (६०)— वह सबी प्रजाका रंजन करनेवाला है।

चर्षणी धृतः (१०८)— वह प्रजाजनोंका धारण करनेवाला है।

चर्षणिप्रा इन्द्रः महा युधा देवेभ्यः वरिवः चकार (४९) — प्रजापालक इन्द्रने बडे युद्धसे देवोंके लिये श्रेष्ठ यश या धन प्राप्त करके दिया।

सखिभ्यः सखा (१२०)— मित्रोंके लिये वह उत्तम मित्र है।

वाजानां पतिः (३७०)— वह बलोंका स्वामी है, वह धनोंका स्वामी है।

ज्येष्ठराजं (२७९)— वह इन्द्र श्रेष्ठ राजा है।

जनानां अर्यः (३४३)— तू जनोंका स्वामी है।

स त्वं राजसि (३७९)— वह तू अकेला शासन करता है।

यः एक इत् विश्वाः कृष्टीः अभ्यस्यति (४०५)- जो अकेला ही सब प्रजाजनोंपर अधिकार रखता है।

वार्याणां ईशानः (४२९)— वरणीय धनोंका वह स्वामी है।

दिव्यस्य जनस्य पार्थिवस्य जगतः राजा भुवः (२४०)— दिव्य जनोंका और पार्थिव जगतका इन्द्र राजा हुआ है।

चर्षणीनां सम्राजं तुराषाहं मंहिष्ठं नरं इन्द्रं गीर्भिः स्तोत (२७७)— मानवोंके राजा, शत्रुके वीरोंको जीतनेवाले बडे नेता वीर इन्द्रकी स्तुति कर।

विश्वा पृतना अभिभूतरं नरं इन्द्रं सजूः ततक्षुः राजसे जजनुः च (३३९)— सब शत्रुसेनाका पराभव करनेवाले नेता इन्द्रको सबने मिलकर निश्चित किये राज्यका शासन करनेके कार्यमें लगाया।

पञ्चक्षितीनां चर्षणीनां वसूनां इरज्यति (४५६)- पाँचों मानवोंके धनोंका इन्द्र राजा हुआ है।

वाजस्य दीर्घश्रवसः पतिः (४८४)— बलका और श्रेष्ठ यशका स्वामी इन्द्र है।

शक्रः विश्वानि नर्याणि विद्वान् (५०९)— समर्थ इन्द्र मानवोंके हितके सब कार्य जानता है।

शवसा पतिः भवन् (५११)— सामर्थ्यसे वह राजा हुआ है।

क्षितीनां वृषभः (५३४)- सब मनुष्योंमें वह बलिष्ठ है।

त्वं जनानां राजा (५९६)— तू जनोंका राजा है।

विश्वा भुवः आभुवः (६०१)— तू अपना प्रभाव सब स्थानोंपर डालता है।

विश्वा जातानि ओजसा अभिभूः असि (६०१)- तू सब शत्रुओंका अपने सामर्थ्यसे पराभव करनेवाला है।

यहां तथा अन्य अनेक स्थानोंमें '**जनानां राजा। क्षितीनं' वृषभः। पञ्चक्षितीनां इरज्यति**' आदि वचनोंमें इन्द्रको मानवोंका राजा कहा है। यह संरक्षण भी मानवोंका हुं करता है, याजक ऋत्विज उसको अपनी रक्षाके लिये बुलाते हैं, उनके सहाय्यार्थ वह उनके पास जाता है, उनका रक्षण करता है, उन मानवोंकी पालना करता है। इस तरह इन्द्र सदा मानवोंका हित करता रहता है।

स्वस्तिदा विशां पतिः वृत्रहा वि मृधो वशी।
वृषा इन्द्रः पुर एतु नः सोमपा अभयं-करः ॥ १ ॥
वि न इन्द्र मृधो जहि नीचा यच्छ पृतन्यतः।
अधमं गमया तमो यो अस्माँ अभिदासति ॥ २ ॥
वि रक्षो वि मृधो जहि वि वृत्रस्य हनू रुज।
वि मन्युमिन्द्र वृत्रहन् अमित्रस्य अभिदासतः॥३॥
अपेन्द्र द्विषतो मनोऽप जिज्यासतो वधम्।
वि महच्छर्म यच्छ वरीयो यावया वधम् ॥ ४ ॥

अथर्व. १।२१

(**विशांपतिः स्वस्तिदा**) प्रजाओंका पालक राजा कल्याण करनेवाला हो, (**वृत्रहा**) शत्रुको मारनेवाला (**वि मृधः वशी**) विशेष हिंसकोंको वशमें करनेवाला, (**सोमपा**) सोमपान करने वाला (**अभयं-करः**) और प्रजाको अभय करनेवाला है ॥ १ ॥

हे इन्द्र! (**नः मृधः वि जहि**) हमारे शत्रुओंको मार डाल, (**पृतन्यतः नीचा यच्छ**) सेना द्वारा हमपर हमला करनेवालोंको नीचे रखो। (**यः अस्मान् अभिदासति**) जो हमें दास बनानेकी इच्छा करता है उसको (**अधमं तमः गमय**) हीन अंधकारमें पहुंचाओ ॥ २ ॥

(**रक्षः मृधः वि जहि**) राक्षसोंको तथा हिंसकोंको मार डाल, (**वृत्रस्य हनू रुज**) वृत्रके जबडोंको तोड दे। हे (**वृत्रहन् इन्द्र**) वृत्रनाशक इन्द्र (**अभिदासतः अमित्रस्य मन्युं वि रुज**) हमारा नाश करनेवाले शत्रुके क्रोधको तोड दे ॥ ३ ॥

हे इन्द्र! (**द्विषतः मनः अप**) द्वेषीका मन बदल दे, (**जिज्यासतः वधं अप**) आयुका नाश करनेवालेको दूर कर, (**महत् शर्म वि यच्छ**) हमें बडा सुख दे (**वधं वरीयः यावय**) शस्त्र हमसे दूर रहे ॥ ४ ॥

इन्द्रका वर्णन इन मंत्रोंमें देखने योग्य है।

इन्द्रस्तुराषाण्मित्रो वृत्रं यो जघान यतीर्न।
बिभेद वलं भृगुर्न ससहे शत्रून् ॥ ३ ॥
मत्स्वेह महे रणाय ॥ ४ ॥
अहन्नहिं पर्वते शिश्रियाणं त्वष्टास्मै वज्रं स्वर्यं ततक्ष ॥ ६ ॥

अथर्व. २।५

(**यतीः न**) यत्न करनेवाले पुरुषके समान (**यः तुराषाट् मित्रः इन्द्रः**) जिस त्वरासे शत्रुपर हमला करनेवाले मित्र इन्द्रने (**वृत्रं जघान**) वृत्रको मारा (**वलं विभेद**) बलका नाश किया और (**शत्रून् ससहे**) शत्रुओंका पराभव किया ॥ ३ ॥

(**इह**) यहां (**महे रणाय मत्स्व**) बडे युद्धके लिये आनंदित हो ॥ ४ ॥

(**पर्वते शिश्रियाणं**) पर्वतके आश्रयमें रहनेवाले (**अहिं अहन्**) अहिको मारा। (**अस्मै त्वष्टा स्वर्यं वज्रं ततक्ष**) इस इन्द्रके लिये त्वष्टाने दिव्य वज्र तैयार करके दिया था॥६॥

जयं क्षेत्राणि सहसायमिन्द्र।
कृण्वानो अन्यान् अधरान् सपत्नान् ॥

अथर्व. २।२९।३

(**सहसा**) अपने बलसे (**क्षेत्राणि जयन्**) क्षेत्रोंको जीतता है और (**अन्यान् सपत्नान् अधरान् कृण्वन्**) दूसरे शत्रुओंको नीचे दबा देता है।

अमित्रसेनां मघवन् अस्मान् शत्रूयतीमभि।
युवं तानिन्द्र वृत्रहन् अग्निश्च दहतं प्रति ॥

अथर्व. ३।१।३

हे (**मघवन्**) इन्द्र! हमारे साथ शत्रुता करनेवाली जो शत्रुकी सेना हमपर आक्रमण करनेके लिये आ रही है (**तान्**) उस शत्रुकी सेनाको हे वृत्रको मारनेवाले इन्द्र और अग्नि! तुम दोनों मिलकर उस सैन्यको जला दो।

प्र ते वज्रः प्रमृणन् एतु शत्रून्।
जहि प्रतीचो अनूचः पराचः ॥ अथ. ३।१।४

'तेरा वज्र शत्रुओंको मारता हुआ आगे बढे। पीछे रहनेवाले, साथ आनेवाले और आगे होनेवाले शत्रुको मार डाल।'

इन्द्र सेनां मोहय अमित्राणाम्।
तान् विषूचो विनाशय ॥ अथ. ३।१।५

'हे इन्द्र! शत्रुकी सेनाको मोहित कर और उनको चारों ओरसे विनष्ट कर।'

इन्द्रः सेनां मोहयतु मरुतो घ्नन्तु ओजसा।
चक्षूंषि अग्निः आदत्तां पुनरेतु पराजिता ॥

अथ. ३।१।६

'इन्द्र शत्रुकी सेनाको मोहित करे, सैनिक उनको वेगसे मारें, अग्नि उनकी आंखें बंद करें और फिर वह पराजित हो जावे।'

यो विश्वजित् विश्वभृत् विश्वकर्मा । (अथ. ४।११।५)
जो सबको जीतनेवाला, सबका भरण-पोषण करनेवाला और सब कर्म करनेवाला है ।

यो दानवानां बलं आरुरोज । (अथ. ४।२४।२)—
जो दानवोंके बलको तोडता है ।

यः संग्रामान्नयति सं युधे वशी । (अथ. ४।२४।७)-
जो स्वाधीन रहनेवाला युद्धोंके प्रति ले जाता है ।

अनमित्रं नो अधरादनमित्रं न उत्तरात् ।
इन्द्रानमित्रं नः पश्चात् अनमित्रं पुरस्कृधि ॥
अथ. ६।४०।३

' हे इन्द्र ! नीचेसे, ऊपरसे, पीछेसे और आगेसे हमें शत्रु-रहित कर । '

इन्द्रश्चकार प्रथमं नैर्हस्तं असुरेभ्यः । (अथ. ६।६५।३)
इन्द्रने प्रथम असुरोंके लिये निहस्थापन अर्थात् निर्बलपन किया । इससे असुर पराभूत हुए ।

निर्हस्तः शत्रुः अभिदासन्नस्तु ये सेनाभिर्युधमायन्त्यस्मान् । समर्पयेन्द्र महता वधेन द्रात्वेषामघहारो विविद्धः ॥ १ ॥
आतन्वाना आयच्छन्तोऽस्यन्तो ये च धावथ ।
निर्हस्ताः शत्रवः स्थन इन्द्रोऽद्य पराशरीत् ॥ २ ॥
निर्हस्ता सन्तु शत्रवोऽङ्गैषां ग्लापयामसि ।
अथैषां इन्द्र वेदांसि शतशो वि भजामहे ॥ ३ ॥
अथ. ६।६६

(**नः अभिदासन् शत्रुः निर्हस्तः अस्तु**) हमारेपर हमला करनेवाला शत्रु हस्तरहित हो । (**ये सेनाभिः अस्मान् युधं आयन्ति**) जो सैन्य लेकर हमारे साथ युद्ध करनेके लिये आते हैं, हे इन्द्र ! (**महता वधेन समर्पय**) उनको बडे वधके साथ मार डाल । (**एषां अघहारो विविधः द्रातु**) इनका पापी वीर विद्ध होकर भाग जावे ॥ १ ॥

हे (**शत्रवः**) शत्रुओं ! (**ये आतन्वानाः**) जो तुम धनुष्य तानकर (**आयच्छन्तः अस्यन्तः च धावथ**) खींचते हुए और बाण छोडते हुए चले आते हो तुम (**निर्हस्ताः स्थन**) हस्तरहित हो जाओ, (**इन्द्रः अद्य वः पराशरीत्**) इन्द्र आज ही तुम्हें मार डाले ॥ २ ॥

(**शत्रवः निर्हस्ताः सन्तु**) सब शत्रु हस्तरहित हो जांय, (**एषां अंगा ग्लापयामसि**) इनके अंगोंको हम निर्बल बना देते हैं । हे इन्द्र ! (**एषां वेदांसि**) इन शत्रुओंके धनोंको (**शतशः वि भजामहे**) सैकडों प्रकारसे आपसमें बांट देते हैं ॥ ३ ॥

इस सूक्तसे पता लगता है कि शत्रुको पराजित करके शत्रुसे प्राप्त धन आपसमें बांट लेते थे ।

परि वर्त्मानि सर्वतः इन्द्रः पूषा च सस्रतुः ।
मुह्यन्त्वद्यामूः सेना अमित्राणां परस्तराम् ॥ १ ॥
अथ. ६।६७

इन्द्र और पूषा (**सर्वतः वर्त्मानि परि सस्रतुः**) सब मार्गोंमें भ्रमण करें, जिससे (**अमित्राणां सेनाः**) शत्रुओंकी सेना (**परस्तरां मुह्यन्तु**) दूरतक मोहित हो जाय ।

इससे पता चलता है कि इन्द्रके साथ पूषा भी युद्धमें आता था ।

निरमुं नुद ओकसः सपत्नो यः पृतन्यति ।
नैर्बाध्येन हविषेन्द्र एनं पराशरीत् ॥ १ ॥
परमां तं परावतं इन्द्रो नुदतु वृत्रहा ।
यतो न पुनरायति शश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥ २ ॥
अथ ६।७५

(**यः सपत्नः पृतन्यति**) जो शत्रु सेनाद्वारा आक्रमण करता है (**अमुं ओकसः निः नुद**) उसको घरसे निकाल डाल (**एनं निर्बाध्येन हविषा**) इस शत्रुको बाधारहित समर्पणसे (**इन्द्रः पराशरीत्**) इन्द्र मार डाले ॥ १ ॥

(**वृत्रहा इन्द्रः**) वृत्रनाशक इन्द्र (**तं परमां परावतं नुदतु**) उस शत्रुको दूरसे दूरके स्थानको भगा देवे (**यतः शश्वतीभ्यः समाभ्यः**) जिससे शाश्वत कालतक (**पुनः न आयति**) फिर नहीं आ सके ॥ २ ॥

इस तरह शत्रु कायम दूर हो इसलिये उपाय किये जाते थे ।

इन्द्रो जयाति न पराजयाता अधिराजो राजसु राजयातै । चर्कृत्य ईड्यो वंद्यश्चोपसद्यो नमस्यो भवेह ॥ १ ॥
त्वमिन्द्राधिराजः श्रवस्युस्त्वं भूः अभिभूतिर्जनानाम् । त्वं दैवीर्विश इमा वि राजायुष्मत्क्षत्रं अजरं ते अस्तु ॥ २ ॥
प्राच्या दिशस्त्वमिन्द्रासि राजोतोदीच्या दिशो वृत्रहञ्छत्रुहासि । यत्र यन्ति स्रोत्यास्तज्जितं ते दक्षिणतो वृषभ एषि हव्यः ॥ ३ ॥
अथ. ६।९८

(**इन्द्रः जयाति**) इन्द्रकी जय होती है (**न पराजयातै**) कभी पराजय नहीं होती । (**राजसु अधिराजः राजयातै**) राजाओंमें जो सबसे श्रेष्ठ अधिराजा होता है उसकी शोभा बढती है । हे इन्द्र, हे राजा (**इह चर्कृत्य ईड्यः**) यहां शत्रुका नाश करनेके कारण स्तुतिके योग्य हुआ है (**वन्द्यः उपसद्यः नमस्यः भव**) वन्दनीय, पास आने योग्य और नमस्कार करने योग्य हो ॥ १ ॥

हे इन्द्र ! (**त्वं अधिराजः**) तू राजाधिराज है, (**श्रवस्युः**) कीर्तिमान् है, (**त्वं जनानां अभिभूतिः भूः**) तू प्रजाजनोंका सम्राट्कर्ता है, (**त्वं इमाः दैवी विशः विराज**)

तू इन दिव्य प्रजाजनोंपर विराजमान हो, **(ते आयुष्मत् क्षत्रं अजरं अस्तु)** तेरा दीर्घायु युक्त क्षात्रतेज जरारहित हो ॥ २ ॥

(हे इन्द्र ! त्वं प्राच्याः दिशः राजा असि) हे इन्द्र ! तू पूर्व दिशाका राजा है, हे **(वृत्रहन्)** वृत्रको मारनेवाले ! **(उत उदीच्या दिशः शत्रु-हा असि)** और तू उत्तर दिशाके शत्रुओंका नाश करनेवाला है, **(यत्र स्रोत्या यन्ति)** जहांतक नदियां जाती हैं वहांतकके प्रदेशको **(तत् ते जितं)** तूने जीत लिया है तथा **(वृषभः हव्यः दक्षिणतः एषि)** बलवान् और आदरसे पुकारने योग्य होकर दक्षिण दिशामें तू जाता है ॥ ३ ॥

इस तरह इन्द्रके पराक्रमोंका वर्णन अथर्ववेदमें है।

इन्द्रोतिभिर्बहुलाभिर्नो अद्य यावच्छ्रेष्ठाभिर्मघवन् शूर जिन्व। यो नो द्वेष्ट्यधरः सस्पदीष्ट यमु द्विष्मस्तमु प्राणो जहातु ॥ १ ॥ अथ. ७।३१

'हे इन्द्र ! **(यावत् श्रेष्ठाभिः बहुलाभिः ऊतिभिः)** अति श्रेष्ठ विविध प्रकारके संरक्षणोंसे **(अद्य नः जिन्व)** आज हमें जीवित रख। हे **(मघवन् शूर)** धनवान् शूर वीर ! **(यः नः द्वेष्टि)** जो हमारा द्वेष करता है **(सः अधरः पदीष्ट)** वह नीचे गिर जाय। **(यं उ द्विष्मः)** जिसका हम सब द्वेष करते हैं **(तं उ प्राणः जहातु)** उसको प्राण छोड देवे ॥ १ ॥

इन्द्रके संरक्षणके कार्य बहुत हैं इस विषयमें ऐसे मंत्रोंमें जो वर्णन है वह ऐसे मंत्रोंमें देखा जा सकता है।

इन्द्रो मन्थतु मन्थिता शक्रः शूरः पुरंदरः।
यथा हनाम सेना अमित्राणां सहस्रशः ॥ १ ॥
अथ. ८।८

(पुरंदरः) शत्रुके किलोंको तोडनेवाला शूर बलवान् **(मंथिता इन्द्रः)** मन्थन करनेवाला इन्द्र **(मन्थतु)** शत्रुकी सेनाका मन्थन करे, **(यथा अमित्राणां सहस्रशः सेनाः)** जिस शक्तिसे शत्रुओंके हजारों सैनिकोंको **(हनाम)** हम मारें।

बृहत्ते जालं बृहत इन्द्र शूर सहस्रार्घस्य शतवीर्यस्य। तेन शतं सहस्रं अयुतं न्यर्बुदं जघान शक्रो दस्यूनां अभिधाय सेनया ॥ ७ ॥

हे शूर इन्द्र ! **(सहस्रार्घस्य शतवीर्यस्य बृहतः ते)** सहस्रोंद्वारा पूजित सैकडों सामर्थ्योंवाले बडे तुझ इन्द्रका **(बृहत् जालं)** बडा जाल है। **(तेन अभिधाय)** उस जालसे घेरकर तथा **(सेनया)** अपनी सेनाके द्वारा **(शक्रः)** सामर्थ्यवान् इन्द्र **(दस्यूनां शतं जघान)** शत्रुओंके सैकडों, हजारों, लाखों और करोडों सैनिकोंको मारता है। ॥ ७ ॥

*

यहां हजारों, लाखों शत्रुओंको मारनेका उल्लेख है। अर्थात् ऐसी बडी लडाइयां इन्द्र जीतता है, इतना बल इन्द्रका है।

इन्द्रकी कपटनीति

इन्द्र दुष्ट शत्रुओंसे कपटनीति भी बर्तता था, इस विषयमें कहा है—

अभिभूति-ओजाः मायाभिः दस्यून् (४८)— शत्रुका पराभव करनेके सामर्थ्यसे युक्त इन्द्रने कपट प्रयोगोंसे भी शत्रुओंको मारा है। अर्थात् कपटी शत्रुओंसे यह इन्द्र कपटका प्रयोग भी करता था।

वृजनेन वृजनान् सं पिपेश (४८)— कपटसे कपटियोंको उस इन्द्रने पीस डाला।

जो शत्रु कपट करते थे उनको कपटसे वह मारता था।

वर्पनीतिः मायिनां प्र अमिनात् (४५)— कपटनीतिमें कुशल इन्द्र कपटी शत्रुओंको मारता है। वर्प (वर्पन्)— कपट, कुटिलता, माया। इनका उपयोग करके इन्द्र दुष्टोंको दबाता था। **'वर्प-नीतिः'** (४५)— कपटनीतिमें कुशल वीर।

शर्धनीतिः (४५)— सेनाके दलोंको चलानेकी नीति जिसकी उत्तम है। सैन्यके संघोंका उत्तम उपयोग बडे चातुर्यसे करनेका नाम **'शर्ध-नीति'** है।

मानवोंपर दया

इन्द्र मानवोंपर दया करता है, इस विषयमें—

एकः देवत्रा मर्तान् दयसे (५८) देवोंमें इन्द्र अकेला ही मनुष्योंपर दया करता है।

मनोः वृधः (४०१)— मनुष्योंको बढानेवाला इन्द्र है। मानवोंका कल्याण करनेके लिये इन्द्र सदा दक्ष रहता है।

मघवा विशं विशं पर्यशायत् (९२)— धनवान् इन्द्र प्रत्येक प्रजाजनकी देखभाल करता है।

वृषा जनानां धेनाः अवचाकशत् (९२)— बलवान् इन्द्र लोगोंकी प्रार्थना सुनता है, जनताका कहना सुनता है और उनके हितके कार्य सदा करता है।

इन्द्रका दातृत्व

इन्द्र धन आदि देता है इस विषयमें ये वर्णन हैं—

अश्वस्य, गोः यवस्य वसु नः दुरः असि (१२०)— घोडे, गौवें, जौ और धन देनेवाला इन्द्र है।

विश्वाभिः धातृभिः पव रातिः धायि (३६९)— सब धारण करनेवालोंने तेरेसे दान प्राप्त किया है।

दाशुषे अर्यः मह्मानं गयं वि (४०८)— दाताको इस श्रेष्ठ इन्द्रने बडा घर दिया है।

सनश्रुतः मघवा इन्द्रः सूरिभिः आ वितिष्ठति (४८४)— विख्यात दानी धनवान् इन्द्र ज्ञानियोंके साथ बैठता है।

अरातयः सस्तां, रातयः बोधन्तु (४९०)— कंजूस सो जांय, दानी जागते रहें।

वसु प्रयच्छसि (१७)— तू धन देता है।

अश्वावत् गोमत् यवमत् उरुधारा इव दोहसे (३२)— घोडे, गौवें, जौसे युक्त धन बडी धारासे देता है।

सुदानुः (३८)— उत्तम दाता इन्द्र है।

विदद्वसुः (४३)— धनका दान करनेवाला इन्द्र है।

भूरिदात्रः (४३)— बडा दानी।

यस्य दुर्धरं राधः (६९)— जिसका अप्रतिम दान है।

प्रभूवसुः (७२)— बहुत धनका दाता;

धनंजयः (१५०)— युद्धको जीतनेवाला, धनको जीतनेवाला।

संगृभ्य आ भर (१२१)-धनका संग्रह करके दान दे।

भरेषु वाजसातये इन्द्रं उपब्रुवे (१०९)— युद्धोंमें अन्न या धनका दान करनेके लिये हम इन्द्रको बुलाते हैं।

तव इदं वसुः अभितः चेकिते (१२१)— तेरा यह धन चारों ओर दानसे फैलता है।

तं भवीयसा वसुना पृणक्षि (१५४)— तू उसको पर्याप्त धनसे भर देता है।

तुविराधः (५८)— बहुत धन देनेवाला इन्द्र है।

मघवा (६८)— धनवान् इन्द्र

बृहद्रयिः (६८)— बहुत धनी इन्द्र है।

पुरुवसुः (३२२)— बहुत धनवान्

मघवा वस्वः राय ईशते (८९)— इन्द्र धनवान् है वह निवासक धनका स्वामी है।

वसुनः इनस्पतिः (१२०)— इन्द्र धनका स्वामी है।

अ-काम-कर्शनः (१२०)— कामना पूर्ण करनेवाला इन्द्र है।

यथा त्वं, अहं वस्वः एकः ईशीय (१६७)— जैसा तू धनका स्वामी है, वैसा मैं धनका अकेला स्वामी बनूं।

मनीषिणे दित्सेयं (१६८)— ज्ञानीको धनका दान करूं।

न देवः, न मर्तः, ते राधसे वर्ता अस्ति (१७०)— न देव या न मानव कोई भी तेरे दान देनेमें विरोध करनेवाला नहीं है। तू दान करता है, उसमें किसीसे विरोध नहीं हो सकता।

श्रुता-मघ (३०)— जिसकी धनवान् होनेके लिये प्रसिद्धि है।

शती सहस्री (३८)— इन्द्र सैंकडों और हजारों प्रकारके धनोंसे युक्त है।

हिरण्यं भोगं ससान (५१)— सुवर्ण तथा भोग्य पदार्थ वह प्राप्त करता है।

धनानां संजितः (५३)- धनोंको जीतनेवाला इन्द्र है।

स्पार्हं वसु आ भर (२७४)— स्पृहणीय धन लाकर भर दे।

काम्यं वसु सहस्रेण मंहते (३२४)— वह इष्ट धन सहस्रगुणा देता है।

पिशंगरूपं गोमन्तं मक्षु ईमहे (३२८)— पीले रंगवाला अर्थात् सुवर्णमय गौओंसे युक्त धन हमें शीघ्र प्राप्त हो ऐसा चाहते हैं।

त्वा पुरुवसुं विद्म (३४२)— तू बहुत धनवाला है यह हम जानते हैं।

अनर्शरातिं वसुदां उपस्तुहि (३६१)— हानि न करनेवाला जिसका दान है ऐसे धनदाता इन्द्रकी स्तुति कर।

इन्द्रस्य रातयः भद्राः (३६१)— इन्द्रके दान कल्याण करनेवाले हैं।

मनः दानाय चोदयन् (३६१)— अपने मनको दान देनेमें प्रवृत्त कर।

अस्य अंशुः उद्रिच्यते (३६६)— इस इन्द्रका धन बढता ही रहता है।

जिग्युषः धनं (३६६)— विजयी वीरका धन होता है।

तुवीमघः (३६९)— बडे धनवाला इन्द्र है।

अस्य राधः न पर्येतवे (४०७)— इसके धनके दानकी कोई मर्यादा नहीं है।

सुन्वानाय आभुवं रयिं ददाति (४११)— यज्ञ करनेवालेको इन्द्र बहुत धन देता है।

सानसिं सजित्वानं सदासहं वर्षिष्ठं रयिं ऊतये आ भर (४५८)— लाभकारी विजयी शत्रुको जीतनेवाले श्रेष्ठ धनको हमें अपनी सुरक्षा करनेके लिये लाकर भर दो।

चित्रं वरेण्यं राधः अर्वाक् संचोदय ते विभु प्रभु असत् (४७२)— विलक्षण श्रेष्ठ धन हमारे पास भेज दे, वैसा धन तेरे पास बहुत है।

तुविद्युम्न इन्द्र! रभस्वतः यशस्वतः अस्मान् राये सुचोदय (४७३)— हे तेजस्वी इन्द्र! प्रयत्न करनेवाले और यशस्वी बने हमको धन प्राप्त करनेके लिय उत्तम रीतिसे प्रेरित कर।

रदावसु (५२२)— धनका दाता इन्द्र है।

विश्वं वार्यं पुष्यसि (६१५)— सब प्रकारके धनको बढाता है।

अस्मे बृहत् पृथु श्रवः गोमत् वाजवत् विश्वायुः अक्षितं धेहि (४७४)— हमें बडा विस्तृत यशस्वी गौओं और अन्नोंसे युक्त पूर्ण आयुतक टिकनेवाला धन दे।

सहस्रसातमं द्युम्नं बृहत् श्रवः रथिनीः इषः अस्मे धेहि (४७५)— सहस्रों प्रकारका आनंद देनेवाला तेजस्वी बडे यशवाला धन और रथके साथ रहनेवाला अन्न हमें भरपूर दो।

गोषु अश्वेषु सहस्रेषु शुभ्रिषु नः आशंसय (४८७)— गौओं, घोडों तथा सहस्रों तेजस्वी धनोंमें तू हमें रख।

इस तरह इन्द्रके धनी होने और धनका दान करनेके विषयमें वेदमंत्रोंमें वर्णन है।

सत्यकी प्रेरणा करनेवाला इन्द्र

यः रध्रस्य कृशस्य ब्रह्मणः नाधमानस्य कीरेः चोदिता (२०३)— जो इन्द्र उपासकको, कृशको, ज्ञानी याचक कविको उत्साह बढानेके लिये उत्तम प्रेरणा देता है।

यस्य प्रदिशि अश्वासः गावः ग्रामाः रथासः (२०४)— इस इन्द्रकी आज्ञामें घोडे, गौवें, गांव और रथ रहते हैं। इसलिये वह हरएक प्रकारकी प्रेरणा देता है और सहायता करता है।

यस्य अमितानि वीर्या (४०७)— इस इन्द्रके अपरिमित पराक्रम हैं इसलिये वह उत्तम प्रेरणा सब भक्तोंको करता है और उनकी उन्नति करनेमें समर्थ होता है।

विचर्षणिः (१४)— विशेष रीतिसे देखनेवाला, विचार पूर्वक देखभाल करनेवाला, हलचल करनेवाला, चपल, कार्य शीघ्रतासे करनेमें चतुर इन्द्र है।

सदावृधः विश्वगूर्तः ऋभ्वपाः धृष्णु-ओजाः अधृष्णु इन्द्रः (५९०)— सदा बढनेवाला, सभीसे प्रशंसित, सब बडे कार्य करनेवाला, शत्रुका धर्षण करनेवाला बलसे युक्त, निडर इन्द्र है। इसलिये वह सबको उत्तम प्रेरणा देता है।

अषाळ्हः उग्रः पृतनासु सासहिः (५९१)— विजयी, उग्रवीर, युद्धोंमें साहस दर्शानेवाला इन्द्र है।

अयाजकोंका दमन करता है

अयज्युं मर्त्यं शासः (४९५)— यज्ञ न करनेवाले मानवोंको दण्ड देनेवाला इन्द्र है।

असुन्वां संसदं विषूचीं व्यनाशयः, सोमपाः उत्तरः भवन् (१८१)— यज्ञ न करनेवालोंकी सभाको छिन्नभिन्न करके उनको नष्ट करता है और यज्ञ करनेवालोंको उच्च बनाता है।

ये यज्ञियां नावं आरुहं न शेकुः, ते केपयः ईर्मा एव न्यविशन्त (६०७)— जो यज्ञकी नौकापर चढ नहीं सकते वे पापी ऋणमें ही पडे रहते हैं।

आपत्ति दूर करनेवाला इन्द्र

निर्ऋतीनां परिवृजं वेत्थ (४१०)— आपत्तियोंको दूर करनेका उपाय इन्द्र अच्छी तरह जानता है। इस कारण आपत्तियां उसको नहीं सताती।

देवाः सुन्वन्तं इच्छन्ति, स्वप्नाय न स्पृहयन्ति (१०१)— देव यज्ञ करनेवालोंको चाहते हैं, सुस्त मानवोंको नहीं चाहते।

अतन्द्राः प्र मादं यन्ति (१०१)— आलस्य छोडनेवाले ही विशेष उत्साहको प्राप्त होते हैं।

अ-दाशुषां वेदः अन्तः स्थः हि, तेषां वेदः नः आ भर (३४३)— कंजूस मानवोंका धन अन्दरसे ढूंढ निकाल और उनका धन हमें लाकर दे।

निदे वक्तवे अराव्णे नः मा रन्धि (१०३)— निंदक, व्यर्थ बडबडानेवाले कंजूसके आधीन हमें न कर। उनका शासन हमपर न हो।

द्रविणोदेषु दुष्टुतिः न शस्यते (११९)— धनका दान करनेवालोंके लिये निंदा योग्य नहीं है। उन दाताओंकी प्रशंसा ही होनी योग्य है।

पाप

अघं नः पश्चात् न नशत् (११७)— पाप हमारे पीछे नहीं लगे।

न पापत्वाय रासीय (५२२)— पाप करनेके लिये छूट नहीं है।

घमंडियोंका नाशक इन्द्र

यः शर्वा शश्वतः महि एनः दधानान् अमन्यमानान् जघान (२०७)— जो शूर इन्द्र है, वह सदा पाप करनेवाले और वारंवार कहनेपर भी न सुननेवाले हैं उनको मारता है।

यः शर्धते शृध्यां न अनुददाति (२०७)— जो इन्द्र घमंडीका घमंड नहीं सहन करता।

महतः मन्यमानान् योधय (५३७)— अपने आपको बहुत बडा माननेवाले जो घमंडी हैं उनसे युद्ध कर।

शासदानान् बाहुभिः साक्षाम (५३७)— उन घमंडी शत्रुओंका हम बाहु युद्धमें पराभव करेंगे।

भयको दूर करनेवाला इन्द्र

इन्द्रः महत् भयं अभीषाद् अपचुच्यवत् (११९)- इन्द्र बडे भयके कारणको पराजित करके दूर भगाता है।

अबिभ्युषा इन्द्रेण संजग्मानः (२६५) - निर्भय इन्द्रके साथ तू मिलकर जाता है। इस कारण तू निर्भय हुआ है।

संगठन करनेवाला इन्द्र

यदा नद्तुं कृणोषि आत् इत् समूहसि (७०५)- जब हे इन्द्र! तू भाषण करता है, उससे तू समूह बनाता है। इन्द्रके भाषणमें संगठन करनेकी शक्ति होती है।

लोगोंको बसानेवाला इन्द्र

वसुः (३२७)— लोगोंको बसानेवाला इन्द्र है। यह इन्द्र लोगोंको बसती करानेकी सुव्यवस्था करता है।

इन्द्र घर रहनेके लिये देता है

त्रिधातु त्रिवरूथं स्वस्तिमत् शरणं छर्दिः मह्यं मघवद्भ्यः च यच्छ, एभ्यः दिद्युं यावय (५२४)— तीन धातुओंसे बना, तीन छप्परोंवाला, कल्याणकारी, आश्रय करने योग्य घर मुझे दे दो, तथा ऐसे घर धनवानोंको भी मिलें ऐसा कर और इनसे सब शत्रुओंको दूर कर। जिससे यहां सुखसे सब मानवोंका रहना हो सके।

उत्तम मार्ग

सुपथा शीभं अर्वाङ् याहि (६०३)— उत्तम मार्गसे शीघ्र हमारे पास आओ। ये मार्ग रथके मार्ग हैं। ऐसे रथके मार्ग उत्तम होने चाहिये। इन्द्र उत्तम मार्ग निर्माण करता है।

दुःख देनेवालोंको दण्ड

शफारुजः आरुजासि (६१०)— दुःख देनेवाले दुष्ट शत्रुओंको तू योग्य दण्ड देता है। इससे प्रजाजन आनंदमें रह सकते हैं।

देवकी सहायता

देवयुं देवासः प्राचैः प्रणयन्ति (१५५)— देवत्व प्राप्त करनेवालेको देव आगे बढाते हैं। देवोंके गुणोंको देखकर उन गुणोंको अपने अन्दर धारण करनेसे देवत्व प्राप्त होता है। ऐसे देवत्व प्राप्त करनेवालोंको देव हरप्रकारसे सहायता करते हैं।

ब्रह्मप्रियं वरा इव जोषयन्ते (१५५)— ज्ञान जिसको प्रिय है, जो ज्ञान प्राप्त करता है, उसका देव श्रेष्ठ पुरुषको सहाय्य करनेके समान सहाय्य करते हैं।

इन्द्रका महात्म्य

इन्द्रस्य शतेन धामभिः महयामसि (१०८)— इन्द्रका महत्व उसके सैकडों स्थानोंसे वर्णित होता है। इन्द्रका महत्व इतना बडा है।

महिनः (२१६)— इन्द्र सचमुच महात्म्यसे युक्त है।

यश हमें प्राप्त हो

ज्येष्ठं ओजिष्ठं पपुरिश्रवः आ भर (५१८)— श्रेष्ठ सामर्थ्यवान् परिपूर्ण यश हमें भरपूर दे।

इन्द्र सच्चा है

इन्द्रमें सचाई है वह कभी सत्यमार्गसे दूर नहीं जाता। इस कारण कहा है—

सत्यः (५०५)— इन्द्र सत्य है, सच्चा है, कभी असत्य मार्गपर जाता नहीं।

सत्यस्य सूनुः (१३३)— इन्द्र सत्यका प्रसारक है। उस सत्य मार्गसे जानेसे लाभ होता है, यह अपने आचरणसे सबको बताता है।

युद्धसे लूट

असुरेभ्यः भुजः आ भर (३३६)— असुरोंसे लूट भर दे। असुरोंका पराभव करके उनसे धन आदि पदार्थ भरपूर प्रमाणमें प्राप्त कर। शत्रुके नगर तोडे, उनपर अपना कबजा किया तो वहांसे यथेच्छ लूट करके विजयी वीरोंको धन यथेच्छ प्रमाणमें प्राप्त होता है। ऐसा धन इन्द्रके पास आता रहता है। विजय प्राप्त करनेवाले वीरको ऐसा धन मिलता ही है।

इन्द्रके वर्णन

इस समयतक हमने इन्द्रके वर्णन देखे। वेदवचनोंको देकर उनके यहां सरल अर्थ किये हैं। उन वचनोंपर विशेष विचारणा करके अधिक टीका-टिप्पणी नहीं की है। क्योंकि इन वचनोंपर अधिक टीका-टिप्पणी करनेकी कोई जरूरत ही नहीं है। इतने ये वचन स्पष्ट हैं।

इन वचनोंके मननसे इन्द्रके स्वरूपका पता पाठकोंको लग सकता है। इन्द्र लोगोंका संरक्षण करता है, शत्रुओंसे युद्ध करके, उनका पराभव करके बाहरके शत्रुओंको दूर करता है। अन्दरसे और बाहरसे संरक्षण करके प्रजाको शान्तिका आनंद देना ये इस इन्द्रके मुख्य कार्य हैं। इसीलिये इस इन्द्रको हम **'युद्धमंत्री'** अथवा **'संरक्षकमंत्री'** कह सकते हैं। इनके कर्तव्य यहां इस निबंधमें दिये हैं। उनका विचार पाठक करें और युद्धमंत्रीके कर्तव्य क्या हैं, इस विषयमें वेदका कथन क्या है, यह पाठक देखें और उसका मनन करके निश्चय करें कि राज्यके युद्धमंत्री ऐसे होने चाहिये।

अथर्ववेदके अनेक नामोंमें **'क्षत्रवेद'** भी एक नाम है। यह नाम अथर्ववेदको इसलिये मिला है कि, इसमें इन्द्रके मंत्र पांचवें भागसे भी अधिक संख्यामें हैं। इन इन्द्रके मंत्रोंके कारण ही इस वेदको क्षत्रवेद कहा है।

पाठक इस प्रकरणका अधिक विचार करके क्षात्रभावका योग्य बोध प्राप्त करें और इस बोधको राष्ट्रीय उन्नतिके कार्योंमें लगा देवें।

अथर्ववेदका सुबोध भाष्य

बीसवां काण्ड ।

विषयानुक्रमणिका

॥ यहां बीसवां काण्ड समाप्त ॥

ॐ

अथर्ववेदका सुबोध भाष्य।

विंशं काण्डम्।

[सूक्त १]

(ऋषिः — १ विश्वामित्रः, २ गोतमः, ३ विरूपः। देवता — १ इन्द्रः, २ मरुतः, ३ अग्निः।)

इन्द्रं त्वा वृषभं वयं सुते सोमे हवामहे । स पाहि मध्वो अन्धसः ॥ १ ॥
मरुतो यस्य हि क्षये पाथा दिवो विमहसः । स सुगोपातमो जनः ॥ २ ॥
उक्षान्नाय वशान्नाय सोमपृष्ठाय वेधसे । स्तोमैर्विधेमाग्नये ॥ ३ ॥ (३)

[सूक्त २]

(ऋषिः — [गृत्समदो मेधातिथिर्वा] । देवता — १ मरुतः, २ अग्निः, ३ इन्द्रः, ४ द्रविणोदाः।)

मरुतः पोत्रात्सुष्टुभः स्वर्कादृतुना सोमं पिबतु ॥ १ ॥
अग्निराग्नीध्रात्सुष्टुभः स्वर्कादृतुना सोमं पिबतु ॥ २ ॥

(सूक्त १)

(**हे इन्द्र**) हे इन्द्र! (**वयं सोमे सुते**) हम सोमरस निचोडनेपर (**वृषभं त्वा**) तुझ बलवानको (**हवामहे**) बुलाते हैं, तेरी प्रार्थना करते हैं, (**मध्वोः अन्धसः पाहि**) इस मधुररसका पान कर ॥ १ ॥ (ऋ. ३।४०।१)

(**दिवः विमहसः मरुतः**) हे द्युलोकके समान तेजस्वी मरुत् वीर! (**यस्य क्षये**) जिसके घर, जिसके यज्ञगृहमें (**पाथ**) तुम रक्षा करते हैं (**सः जनः सुगोपातमः**) वह मनुष्य अत्यंत उत्तम रक्षक होता है ॥ २ ॥ (ऋ. १।८६।१)

(**उक्षान्नाय वशान्नाय** , बैलसे लाये धान्य जिसका अन्न है, गौसे उत्पन्न दूध, घी जिसका अन्न है, (**सोमपृष्ठाय वेधसे**) सोमका हवन जिसपर होता है, उस ज्ञानी (**अग्नये**) अग्निके लिये (**स्तोमैः विधेम**) स्तोत्रोंसे हम सत्कार करते हैं ॥ ३ ॥ (ऋ. ८।४३।११)

वृषभं हवामहे— बलवान्की हम स्तुति करते हैं।

मध्वो अन्धसः पाहि— मधुररसका पान कर।

दिवः विमहसः मरुतः यस्य क्षये पाथ, स जनः सुगोपातमः— द्युलोकके समान विशेष तेजस्वी वीर सैनिक जिसके घर अन्न लेते या रसपान करते हैं, वह मनुष्य उत्तम रक्षक होता है।

वेधसे स्तोमैः विधेम— ज्ञानीका सत्कार हम स्तोत्र गाकर करते हैं।

उक्षान्नः— बैलकी खेतीसे उत्पन्न अन्न खायें, सोम अन्न।

वशान्नः— गौसे उत्पन्न दूध, दही, घी, छाछ आदि पीये। दूध और अन्न।

सोमपृष्ठः— सोमका रस पीये।

वेधाः— ज्ञानी कर्तृत्ववान्।

सु-गोपा-तमः— अत्यंत उत्तम रक्षण करनेवाला वीर बने।

(सूक्त २)

(**मरुतः पोत्रात्**) मरुत् वीर पोताके पाससे (**सुष्टुभः स्वर्कात्**) शोभन स्तोत्र युक्त, उत्तम मंत्र युक्त (**ऋतुना सोमं पिबतु**) ऋतुके अनुसार सोमरस पीवे ॥ १ ॥

(**अग्निः आग्नीध्रात्**) अग्नि अग्निको प्रदीप्त करनेवालेके पाससे उत्तम स्तोत्र युक्त और उत्तम मंत्र युक्त ऋतुके अनुसार सोमरस पीवे ॥ २ ॥

इन्द्रो॑ ब्र॒ह्मा ब्राह्म॑णात्सुष्टु॒भः॑ स्व॒र्कादृ॒तुना॒ सोमं॑ पिबतु ॥ ३ ॥
दे॒वो द्र॑विणो॒दाः पो॒त्रात्सु॑ष्टु॒भः॑ स्व॒र्कादृ॒तुना॒ सोमं॑ पिबतु ॥ ४ ॥ (७)

[सूक्त ३]

(ऋषिः — इरिम्बिठिः। देवता — इन्द्रः।)

आ या॑हि सु॒षुमा॒ हि त॒ इन्द्र॒ सोमं॒ पिबा॑ इ॒मम् । एदं ब॒र्हिः स॑दो॒ मम॑ ॥ १ ॥
आ त्वा॑ ब्रह्म॒युजा॒ हरी॒ वह॑तामिन्द्र के॒शिना॑ । उप॒ ब्रह्मा॑णि नः शृणु ॥ २ ॥
ब्र॒ह्माण॑स्त्वा व॒यं यु॒जा सो॑म॒पामि॑न्द्र सो॒मिनः॑ । सु॒ताव॑न्तो हवामहे ॥ ३ ॥ (१०)

(**इन्द्रः ब्रह्मा**) इन्द्र ब्रह्मा (**ब्राह्मणात्**) ब्रह्माके पाससे उत्तम स्तोत्र युक्त और उत्तम मंत्र युक्त ऋतुके अनुसार सोमरस पीवे ॥ ३ ॥

(**द्रविणोदाः देवः**) धनदाता देव (**पोत्रात्**) सोम रसको पवित्र करनेवालेके पाससे उत्तम स्तुति युक्त और उत्तम मंत्र युक्त ऋतुके अनुसार सोमरस पीवे ॥ ४ ॥

ऋतुना सोमं पिबतु— ऋतुके अनुकूल रसपान करे। जिस ऋतुमें जितना सोम पीना शरीर स्वास्थ्यके लिये योग्य है, उतना ही उस ऋतुमें पीवे। अधिक न पीवे। सब खान-पान ऋतुके अनुसार ही होना चाहिये।

पोता— रसको पवित्र, शुद्ध, निर्दोष जो बनाता है।

आग्नीध्र— अग्निको प्रदीप्त करनेवाला।

ब्रह्मा— यज्ञका मुख्य अध्यक्ष। यह अथर्ववेदी ही होना चाहिये।

द्रविणोदाः— धन देनेवाला, (**द्रविण-**) धनका (**दा**) दाता।

सु-स्तुभः— उत्तम स्तोत्रोंसे जिसकी प्रशंसा होती है।

सु-अर्कः— उत्तम मंत्र जिसके साथ बोले जाते हैं।

इस सूक्तमें ऋ. २।३६,३७ के मंत्रांश हैं।

(सूक्त ३)

हे इन्द्र! (**आ याहि**) आओ, (**ते सुषुम हि**) तुम्हारे लिये हमने यह रस तैयार किया है, (**इमं सोमं पिब**) इस सोमरसका पान करो, (**मम इदं बर्हिः आ सदः**) और मेरे दिये इस आसनपर बैठो ॥ १ ॥ (ऋ. ८।१७।१)

हे इन्द्र! (**केशिना ब्रह्मयुजा हरी**) लंबे बालोंवाले, ज्ञानके साथ जुड जानेवाले घोडे (**त्वा आ वहतां**) तुझे यहां ले आवें। (**नः ब्रह्माणि नः उप शृणु**) हमारे मंत्रोंको समीपसे सुनो ॥ २ ॥ (ऋ. ८।१७।२)

हे इन्द्र! (**वयं सोमिनः**) हम सोमयाग करनेवाले (**ब्रह्माणः**) ज्ञानी लोग (**सुतावन्तः**) सोमरस तैयार करके (**सोमपां त्वा**) सोम पीनेवाले तुझको (**युजा**) तेरे साथ रहनेवाले वज्रके साथ (**हवामहे**) बुलाते हैं ॥ ३ ॥ (ऋ. ८।१७।३)

आतिथ्य सत्कार— 'मम इदं बर्हिः आ सदः।' मेरे दिये इस आसनपर बैठ। जो अतिथि घर आजाय उसको इस रीतिसे सन्मानपूर्वक बैठनेके लिये आसन देना चाहिये।

सोमं पिब— सोम रस पीओ, ऐसा कहकर उस अतिथिको आदरसे पेय रस देना चाहिये।

केशिनौ ब्रह्मयुजौ हरी त्वा आवहतां— लंबे केश जिनके गलेमें हैं, जो घोडे इशारेसे, ज्ञानसे, संकेतमात्रसे रथके साथ जुड जाते हैं, ऐसे घोडे शिक्षित होने चाहिये। इन्द्रको ऐसे घोडे यज्ञ स्थानपर ले आवें।

नः ब्रह्माणि उ शृणु— हमारे मंत्र समीप बैठकर श्रवण कर।

वयं ब्रह्माणः त्वा हवामहे— हम ब्राह्मण तुझे बुलाते हैं।

युजा— साथ रहनेवाले वज्रके साथ यहां आओ। यज्ञका विध्वंस करनेके लिये राक्षस आ जांय तो उस शस्त्रसे उनका नाश कर ऐसा यहां संकेतमात्रसे सूचित किया गया है।

[सूक्त ४]

(ऋषिः — हरिम्बिठिः । देवता — इन्द्रः ।)

आ नो याहि सुतावतोऽस्माकं सुष्टुतीरुप । पिबा सु शिप्रिन्नन्धसः ॥ १ ॥
आ ते सिञ्चामि कुक्ष्योरनु गात्रा वि धावतु । गृभाय जिह्वया मधु ॥ २ ॥
स्वादुष्टे अस्तु संसुदे मधुमान्तन्वे३ तव । सोमः शमस्तु ते हृदे ॥ ३ ॥ (१३)

[सूक्त ५]

(ऋषिः — हरिम्बिठिः । देवता — इन्द्रः ।)

अयमु त्वा विचर्षणे जनीरिवाभि संवृतः । प्र सोम इन्द्र सर्पतु ॥ १ ॥
तुविग्रीवो वपोदरः सुबाहुरन्धसो मदे । इन्द्रो वृत्राणि जिघ्नते ॥ २ ॥
इन्द्र प्रेहि पुरस्त्वं विश्वस्येशान ओजसा । वृत्राणि वृत्रहं जहि ॥ ३ ॥

(सूक्त ४)

हे (**सु शिप्रिन्**) उत्तम साफा धारण करनेवाले इन्द्र ! (**सुतावतः नः आ याहि**) सोमरस तैयार करनेवाले हमारे पास आओ । (**अस्माकं सुष्टुतीः उप**) हमारी उत्तम स्तुतियोंको पाससे श्रवण कर । और (**अन्धसः सु पिब**) इस रसका पीओ ॥ १ ॥ (ऋ. ८।१७।४)

(**ते कुक्ष्योः**) तेरी कोखोंमें (**आ सिञ्चामि**) मैं इस रसका सिंचन करता हूं । यह रस तेरे (**गात्रा अनु वि धावतु**) गात्रोंमें अनुकूलतासे दौड जाय । (**जिह्वया मधु गृभाय**) जिह्वासे इस मधुररसका आस्वाद ग्रहण कर ॥ २ ॥

(ऋ ८।१७।५)

(**संसुदे ते**) उत्तम दाता ऐसे तेरे लिये यह (**स्वादुः अस्तु**) मीठा लगे, (**तव तन्वे मधुमान्**) तेरे शरीरके लिये मधुर लगे । यह (**सोमः ते हृदे शं अस्तु**) सोमरस तेरे हृदयके लिये शान्ति देनेवाला हो ॥ ३ ॥ (ऋ. ८।१७।६)

सु-शिप्रिन्— उत्तम साफा सिरपर बांधनेवाला, उत्तम हनुवाला ।

अन्धसः सु पिब— रसका उत्तम रीतिसे पान कर । **अन्-धः**— जिससे प्राणका बल शरीरमें बढता है वह पौष्टिक रस, सोमका रस ।

गात्रा अनुवि धावतु— अंग प्रत्यंगमें सुपरिणाम हो, प्रत्येक अंगमें स्फूर्ति उत्पन्न हो । सोमरस पीनेसे प्रत्येक अंगमें उत्साह आता है ।

❀

जिह्वया मधु गृभाय— जिह्वासे मधुरताका आस्वाद लेते हुए रसपान करना चाहिये । सोमरसमें गौका दूध और मधु मिलाया जाता है । इससे वह मीठा लगता है ।

सोमः ते हृदे शं अस्तु— सोम हृदयके लिये शान्ति देता है ।

मधु, मधुमान्, स्वादुः, शं— ये पद सोमरसका मीठापन बता रहे हैं । शहद उसमें डालते हैं यह बात ' मधु, मधुमान् ' इन पदोंसे स्पष्ट हो रही है ।

(सूक्त ५)

हे (**विचर्षणे इन्द्र**) विशेष कार्यमें कुशल इन्द्र ! (**अयं अभि संवृतः सोमः**) यह गोदुग्धसे मिलाया हुआ सोमरस (**त्वा प्र सर्पतु**) तेरे पास चलता आवे (**जनीः इव**) जैसी स्त्रियां पतिके पास जाती है ॥ १ ॥ (ऋ. ८।१७।७)

(**तुविग्रीवः वपोदरः**) बडी गर्दनवाला, चर्बीवाले पेटवाला (**सु-बाहुः**) उत्तम बलवान् बाहुवाला (**इन्द्रः**) इन्द्र (**अन्धसः मदे**) सोमरसके उत्साहमें (**वृत्राणि जिघ्नते**) वृत्रोंको मारता है ॥ २ ॥ (ऋ. ८।१७।८)

(**इन्द्र**) हे इन्द्र ! (**पुरः प्रेहि**) आगे चल (**त्वं ओजसा विश्वस्य ईशानः**) तू अपनी शक्तिसे विश्वका स्वामी है । हे (**वृत्रहन्**) वृत्रको मारनेवाले इन्द्र ! (**वृत्राणि जहि**) वृत्रोंको मार ॥ ३ ॥ (ऋ. ८।१७।९)

दीर्घस्ते अस्त्वङ्कुशो येना वसु प्रयच्छसि । यजमानाय सुन्वते ॥ ४ ॥
अयं त इन्द्र सोमो निपूतो अधि बर्हिषि । एहीमस्य द्रवा पिब ॥ ५ ॥
शाचिगो शाचिपूजनायं रणाय ते सुतः । आखण्डल प्र हूयसे ॥ ६ ॥
यस्ते शृङ्गवृषो नपात्प्रणपात्कुण्डपाय्यः । न्यस्मिन्दध्र आ मनः ॥ ७ ॥ (१०)

(ते अंकुशः दीर्घः अस्तु) तेरा अंकुश लंबा हो (येन) जिससे (सुन्वते यजमानाय) सोमयाग करनेवाले यजमानके लिये तू (वसु प्र-यच्छसि) धन देता है ॥ ४ ॥ (ऋ. ८।१७।१०)

हे इन्द्र ! (अयं सोमः ते) यह सोमरस तेरे लिये (निपूतः बर्हिषि अधि) छानकर आसनपर रखा है, (एहि) आओ, (ईं द्रव) इसके पास दौडकर आओ और (पिब) पीओ ॥ ५ ॥ (ऋ. ८।१७।११)

हे (शाचिगो) शक्तियुक्त गौओंवाले, हे (शाचि-पूजन) शक्तिमानोंसे पूजित ! हे (आखण्डल) शत्रुका खंडन करनेवाले इन्द्र ! (ते रणाय सुतः) तेरे आनंदके लिये यह रस तैयार किया है और (प्र हूयसे) तू बुलाया जाता है ॥ ६ ॥ (ऋ. ८।१७।१२)

(यः ते शृंगवृषः) यह जो तेरा सींगवाले बैल जैसा बल है, (न-पात्) न पतित होनेवाला सामर्थ्य है, तथा जो (प्र-न-पात्) विशेषतः न गिरनेवाला बल है और (कुण्ड-पाय्यः) रक्षा करनेवाला संरक्षणका सामर्थ्य है (तस्मिन् मनः आ दध्रे) उस सामर्थ्यमें मैं अपने मनको स्थिर करता हूं ॥ ७ ॥ (ऋ. ८।१७।१३)

इन्द्रके विशेषण देखिये—

१ विचर्षणिः— विशेष कर्ममें कुशल, जनोंका विशेष हित करनेवाला, जिसके अनुकूल लोग रहते हैं।

२ तुवि-ग्रीवः— बडी गर्दन जिसकी है, मजबूत गलेवाला, प्रायः गला या गर्दन बारीक रहती है, इन्द्रने व्यायाम करके अपनी गर्दन बलवान् की थी।

३ वपोदरः— (वपा) चरबी (उदरः) उदरपर जिसके है। पुष्ट पेटवाला।

४ सुबाहुः— बडे बलवान् बाहुवाला, जिसके बाहु हृष्ट-पुष्ट बलवान् हैं।

५ ओजसा विश्वस्य ईशानः— अपनी शक्तिसे विश्वका स्वामी बना है।

६ शाचिगु— हृष्टपुष्ट गौवें जिसकी हैं, जो पुष्ट गौओंका दूध पीता है।

७ शाचि-पूजन— जिसकी पूजा शक्तिवान पुरुष करते हैं। अर्थात् शक्तिवानोंके लिये भी जो पूजनीय है।

८ आखंडलः— शत्रुके खण्ड खण्ड करनेवाला। शत्रुका विनाश करनेवाला।

९ शृंग-वृषः— सींगवाले बैलके समान जो बलवान् है।

१० न-पात्— जो गिराता नहीं और नाही स्वयं अधःपतित होता है।

११ प्र-न-पात्— विशेष रीतिसे जो गिरता गिराता नहीं।

१२ कुण्ड-पाय्यः— (कुण्ड-कुडि दाहे रक्षणे च) रक्षक और पालक, शत्रुका दाह करके जो अपना संरक्षण करता है।

ये इन्द्रके-वीरके गुण हैं। वीर इन गुणोंसे युक्त होना चाहिये यह बोध यहां मिलता है।

जनीः इव— स्त्रियां जिस तरह पतिके पास जाती हैं, स्त्रियां अपने पतिके साथ रहें यह उनका कर्तव्य है।

इन्द्रः वृत्राणि जिघ्नते— इन्द्र वृत्रोंको मारता है। यहां इन्द्र पद पुल्लिंगमें है और वृत्र पद नपुंसक लिंगमें है। नपुंसक लिंगसे उसकी शक्तिकी हीनता बताई है। वीर इन्द्र शक्तिहीन शत्रुको मारता है।

वृत्रहन् ! वृत्राणि जहि— हे वृत्रको मारनेवाले वीर ! तू वृत्रोंको मार। अपने पौरुषसे उनका वध कर।

वृत्रः— घेरनेवाला शत्रु, शत्रु जो अपनेको चारों ओरसे घेरता है, मेघ, वृत्र, असुर।

वसु प्रयच्छसि— तू धन देता है।

सुतः निपूतः (मं. ५), अभि संवृतः (मं. १)— सोमरस निकाला, छाना गया, और दूधके साथ मिलाया है। इसके पश्चात् (पिब) पीया जाता है। यह मनका उत्साह बढानेवाला पेय है।

[सूक्त ६]

(ऋषिः — विश्वामित्रः । देवता — इन्द्रः ।)

इन्द्रं त्वा वृषभं वयं सुते सोमे हवामहे । स पाहि मध्वो अन्धसः ॥ १ ॥
इन्द्र क्रतुविदं सुतं सोमं हर्य पुरुष्टुत । पिबा वृषस्व तातृपिम् ॥ २ ॥
इन्द्र प्र णो धितावानं यज्ञं विश्वेभिर्देवेभिः । तिर स्तवान विश्पते ॥ ३ ॥
इन्द्र सोमाः सुता इमे तव प्र यन्ति सत्पते । क्षयं चन्द्रास इन्दवः ॥ ४ ॥
दधिष्वा जठरे सुतं सोममिन्द्र वरेण्यम् । तव द्युक्षास इन्दवः ॥ ५ ॥
गिर्वणः पाहि नः सुतं मधोर्धाराभिरज्यसे । इन्द्र त्वादातमिद्यशः ॥ ६ ॥
अभि द्युम्नानि वनिन इन्द्रं सचन्ते अक्षिता । पीत्वी सोमस्य वावृधे ॥ ७ ॥
अर्वावतो न आ गहि परावतश्च वृत्रहन् । इमा जुषस्व नो गिरः ॥ ८ ॥
यदन्तरा परावतमर्वावतं च हूयसे । इन्द्रेह तत आ गहि ॥ ९ ॥ (२९)

(सूक्त ६)

हे इन्द्र ! (**सुते सोमे**) सोमरस तैयार करनेपर (**वयं वृषभं त्वा**) हम तुझ शक्तिमानको (**हवामहे**) बुलाते हैं, (**सः मध्वः अन्धसः पाहि**) वह तू स्वादु रसको पी ॥ १ ॥ (अथर्व. २०।१।१; ऋ. ३।४०।१)

हे (**पुरुष्टुत इन्द्र**) बहुतोंकेद्वारा प्रशंसित इन्द्र ! (**क्रतुविदं**) कर्मका उत्साह बढानेवाले (**सुतं सोमं हर्य**) सोमरसको तू चाह और (**तातृपिं पिब**) अत्यंत तृप्ति करनेवाले इस रसको पी और (**वृषस्व**) बलवान् बन ॥ २ ॥

(ऋ. ३।४०।२)

हे (**स्तवान**) स्तुति किये गये (**विश्पते इन्द्र**) प्रजापालक इन्द्र ! (**नः धितावानं यज्ञं**) हमारे धनसे समृद्ध इस यज्ञको (**विश्वेभिः देवेभिः प्र तिर**) संपूर्ण दिव्य पुरुषों या देवोंके साथ आकर बढा दो ॥ ३ ॥ (ऋ. ३।४०।३)

हे (**सत्पते इन्द्र**) सज्जनोंके पालक इन्द्र ! (**इमे सुताः चन्द्रासः इन्दवः सोमाः**) ये निचोडे हुए चमकीले आनंद बढानेवाले सोमरस (**तव क्षयं प्र यन्ति**) तेरे आश्रयमें आते हैं ॥ ४ ॥ (ऋ ३।४०।४)

हे इन्द्र ! (**वरेण्यं सुतं सोमं**) स्वीकार करने योग्य इस सोमरसको अपने (**जठरे दधीष्व**) पेटमें धारण कर, (**द्युक्षासः इन्दवः तव**) द्युलोकमें रहनेवाले ये सोमरस तेरे लिये ही हैं ॥ ५ ॥ (ऋ. ३।४०।५)

हे (**गिर्वणः इन्द्र**) स्तुतिके योग्य इन्द्र ! (**नः सुतं पाहि**) हमारे द्वारा तैयार किये इस रसको पी । (**मधोः धाराभिः अज्यसे**) इस मधुररसकी धाराओंसे तू संचार करता है । (**यशः त्वादातं इत्**) हमारा यश निःसंदेह तेरी ही देन है ॥ ६ ॥ (ऋ. ३।४०।६)

(**वनिनः अक्षिता द्युम्नानि**) तुम्हारे भक्तके अक्षय धन (**इन्द्रं अभि सचन्ते** , इन्द्रकी ओर आते हैं । (**सोमस्य पीत्वी वावृधे**) सोमरसको पीनेवाला बडा होता है ॥ ७ ॥ (ऋ. ३।४०।७)

हे (**वृत्रहन्**) वृत्रको मारनेवाले इन्द्र ! (**अर्वावतः परावतः च**) पाससे या दूरसे (**नः आ गहि**) हमारे पास आ जाओ, और (**इमाः नः गिरः जुषस्व**) इन हमारी स्तुतियोंका स्वीकार करो ॥ ८ ॥ (ऋ. ३।४०।८)

हे इन्द्र ! (**अर्वावतं**) समीपसे (**परावतं**) दूरसे (**यत् अन्तरा**) मध्यसे भी (**हूयसे**) तुझे हम पुकारते हैं । (**ततः इह आ गहि**) वहांसे यहां आओ ॥ ९ ॥ (ऋ. ३।४०।९)

इस सूक्तमें इन्द्रके विशेषण देखिये । ये वीरके गुण बता रहे हैं—

१ **वृषभः**— बैलके समान बलवान्, सहायताकी वृष्टि करनेवाला ।

२ **पुरु-स्तुतः**— बहुतों द्वारा प्रशंसित, जो रक्षण करता है उस शूरवीरकी स्तुति सब करते ही रहते हैं ।

[सूक्त ७]

(ऋषिः — १-३ सुकक्षः, ४ विश्वामित्रः । देवता — इन्द्रः ।)

उद्घेदुभि श्रुतामघं वृषभं नर्यापसम् । अस्तारमेषि सूर्य ॥ १ ॥
नव यो नवतिं पुरो बिभेद बाह्वोजसा । अहिं च वृत्रहावधीत् ॥ २ ॥
स न इन्द्रः शिवः सखाश्वावद्गोमद्यवमत् । उरुधारेव दोहते ॥ ३ ॥
इन्द्र क्रतुविदं सुतं सोमं हर्य पुरुष्टुत । पिबा वृषस्व तातृपिम् ॥ ४ ॥ (३३)

३ स्तवानः— स्तुतिके योग्य,

४ विश्-पतिः— प्रजाओंका यथायोग्य रीतिसे पालन करनेवाला,

५ सत्पतिः— सज्जनोंका पालन करनेवाला,

६ गिर्-वनः— जिसकी प्रशंसा होती है ऐसा वीर,

७ वृत्र-हन्— वृत्रको मारनेवाला, शत्रुको मारनेवाला, घेरनेवाले शत्रुका नाश करनेवाला। ये वीरके गुण इस सूक्तमें कहे हैं।

सोमरसके विषयमें इस सूक्तमें जो कहा है वह अब देखिये-

१ मधु अन्धः— मधुर पेय रस,

२ क्रतुविद्— कर्तव्यकर्मका स्मरण देनेवाला, जिसके पीनेसे कर्तव्यकर्मका ज्ञान होता है,

३ तातृपिः— तृप्ति करनेवाला,

४ सोमाः सुतः चन्द्रासः इन्दवः— ये सोमरस चमकते हैं, चमकीले ये रस हैं। अन्धेरेमें चमकते हैं।

५ द्युक्षासः इन्दवः— द्युलोकमें रहनेवाले ये सोम हैं। हिमालयके मौजवान पर्वत पर १२००० फुटपर यह सोम वनस्पति उगती है, इसलिये इसको 'द्यु-क्ष' कहा है। स्वर्गमें द्युलोकमें इसका निवास है।

तातृपिं पिब वृषस्व— तृप्ति करनेवाले इस रसको पी और बलवान् बन। यह रस पीनेसे सामर्थ्य बढता है।

विश्वेभिः देवेभिः यज्ञं प्र तिर— सब देवोंकी शक्तियोंसे इस यज्ञको पूर्ण कर। सब देवोंकी शक्ति यज्ञसे प्राप्त होती है।

सोमरस चमकता है, इसलिये इसको 'चन्द्र, इन्दु' ये नाम हैं। अर्थात् इस सोममें फॉस्फरस रहता है जिसके कारण इस रसमें चमक रहती है। इसी कारण यह उत्साह बढाता है, बल बढाता है।

(सूक्त ७)

हे सूर्य! (श्रुतामघं वृषभं) प्रसिद्ध ऐश्वर्यवान्, बैल जैसा बलवान् (नर्य-अपसं) मानवोंके हितके लिये कर्म करनेवाले (अस्तारं) वज्र फेंकनेमें कुशल, इन्द्रको मिलनेके लिये ही (अभि उत् एषि घ इत्) तू उदय होता है ॥१॥ (ऋ. ८।९३।१)

(यः बाहु-ओजसा) जो अपने बाहुबलसे शत्रुके (नव नवतिं पुरः) न्यानवे पुरियोंको (बिभेद) छिन्नभिन्न करता है (च वृत्रहा अहिं अवधीत्) और वृत्रके मारनेवालेने अहिको भी मारा ॥ २ ॥ (ऋ. ८।९३।२)

(सः नः इन्द्रः शिवः सखा) यह हमारा इन्द्र कल्याण करनेवाला मित्र है। वह हमें (अश्वावत् गोमत् यवमत्) घोडों, गौवों और जौसे परिपूर्ण धन (उरुधारा इव दोहते) बडी धारासे दूध देनेवाली गौके समान प्रदान करे ॥ ३ ॥ (ऋ. ८।९३।३)

'इन्द्र क्रतुविदं' इस मंत्रका अर्थ अथर्व. २०।६।२ में (पृष्ठ ५ पर) देखिये। (ऋ. ३।४०।२)

इन्द्रके विशेषण इस सूक्तमें देखिये—

१ श्रुता-मघः— प्रसिद्ध ऐश्वर्यवान्, जिसके ऐश्वर्यकी चारों ओर प्रशंसा होती है।

२ वृषभः— बैलके समान बलवान्, इष्ट फलकी वृष्टि करनेवाला, सामर्थ्यवान्,

३ नर्यापसं— (नर्य-अपस्)— मानवोंके हितके कार्य करनेवाला,

४ अस्ता— शत्रुपर शस्त्र फेंकनेमें कुशल,

५ शिवः सखा— हितकर मित्र,

६ बाह्वोजसा यः नव नवतिं पुरः बिभेद— जो अपने बाहुओंके सामर्थ्यसे शत्रुके न्यानवे नगरोंको छिन्न भिन्न

[सूक्त ८]

(ऋषिः — १ भरद्वाजः, २ कुत्सः, ३ विश्वामित्रः । देवता — इन्द्रः ।)

एवा पाहि प्रत्नथा मन्दतु त्वा श्रुधि ब्रह्म वावृधस्वोत गीर्भिः ।
आविः सूर्यं कृणुहि पीपिहीषो जहि शत्रूँरभि गा इन्द्र तृन्धि ॥ १ ॥
अर्वाङेहि सोमकामं त्वाहुरयं सुतस्तस्य पिबा मदाय ।
उरुव्यचा जठर आ वृषस्व पितेव नः शृणुहि हूयमानः ॥ २ ॥
आपूर्णो अस्य कलशः स्वाहा सेक्तेव कोशं सिसिचे पिबध्यै ।
समु प्रिया आववृत्रन्मदाय प्रदक्षिणिदभि सोमास इन्द्रम् ॥ ३ ॥ (३६)

करता है। 'पुरः' ये बडी पुरियां, किलेवाली होती हैं। ये तोडना बडा पौरुषका कार्य है। वह इन्द्र करता है।

७ **वृत्रहा अहिं अवधीत्**— वृत्रको मारनेवालेने अहिको मारा। '**अ-ही**' कम न होनेवाला शत्रु। जिसकी शक्ति बढती रहती है ऐसा शत्रु। '**अहि-गण-स्थान**' यह नाम 'अफगाणिस्थान' का था। 'सर्प-गण-स्थान' का 'हप्प-गण-स्थान' हुआ, जिसका 'अफ-गाणि-स्थान' हुआ ऐसा कई मानते हैं। अहि तथा सर्प जातिके मनुष्य आर्योंके शत्रु थे।

८ धन '**अश्वावत्, गोमत् यवमत्**' अश्व, गौवें और जौके रूपमें था।

९ **सोमं पिब, वृषस्व**— सोम पी और बलवान् बन। इससे स्पष्ट विदित होता है कि सोमरस पीनेसे पीनेवालेका बल बहुत बढ जाता है।

(सूक्त ८)

(**एवा प्रत्नथा पाहि**) इस प्रकार पूर्वके समान सोमरसको पी। (**त्वा मदतु**) तुझे यह रस आनन्द देवे, (**ब्रह्म श्रुधि**) हमारे मंत्र पाठको सुन, (**उत गीर्भिः वावृधस्व**) और हमारे स्तुतियोंसे बढ जा। (**सूर्यं आविः कृणुहि**) सूर्यको प्रकट कर, (**इषः पिपिहि**) अन्नोंको पुष्टिसे युक्त कर, (**शत्रून् जहि**) शत्रुओंको मार, हे इन्द्र! (**गाः अभि तृन्धि**) किरणोंको छेदकर बाहर निकाल ॥ १ ॥

(ऋ. ६।१७।३)

(**अर्वाङ् एहि**) इधर आ, (**त्वा सोमकामं आहुः**) तुझे सोमरस चाहनेवाला कहते हैं। (**अयं सुतः**) यह रस तैयार है, (**तस्य मदाय पिब**) उसको आनन्दित होनेके लिये पी। (**उरु-व्यचाः जठरे आ वृषस्व**) बडा बलवान् तू अपने पेटमें डाल, (**हूयमानः**) बुलाया हुआ (**पिता इव नः शृणुहि**) पिताके समान हमारी प्रार्थना सुन ॥ २ ॥

(ऋ. १।१०४।९)

(**अस्य कलशः आपूर्णः**) इसका कलश भर दिया है। (**स्वाहा**) यह उत्तम रीतिसे तुझे समर्पित हो। (**सेक्ता इव कोशं**) भरनेवाला जैसा पात्रको भरता है वैसा (**पिबध्ये सिसिचे**) पीनेके लिये यह पात्र भर रखा है। ये (**प्रियाः सोमासः**) प्रिय सोम (**मदाय**) आनंदके लिये (**अभि प्रदक्षिणित्**) चारों ओरसे (**इन्द्रं स आववृत्रन् उ**) इन्द्रको घेरकर लौटा लाये हैं ॥ ३ ॥

इन्द्रका वर्णन इस सूक्तमें देखिये—

१ **ब्रह्म श्रुधि**— वेदके मंत्रोंका श्रवण कर।

२ **गीर्भिः वावृधस्व**— स्तुतियोंसे तेरी कीर्ति बढती जाय।

३ **शत्रून् जहि**— शत्रुओंको मार।

४ **गाः अभि तृन्धि**— [शत्रुके अधीन रही] गौओंके किले तोडकर बाहर ला। शत्रु गौओंको चुराकर अपने ताबेमें रखता है, इन्द्र उस प्राकारको तोडकर गौओंको बाहर लाता है। इस तरह सूर्य किरणोंको बाहर लाता और प्रकाशको फैलाता है।

अभि प्रदक्षिणित्— अतिथिको अपने सीधे हाथको, दक्षिणकी ओर रखना, यह संमानकी वैदिक रीति है। स्वयं उत्तरकी ओरसे जाना और अतिथिको दक्षिणकी ओर रखना।

[सूक्त ९]

(ऋषिः — १-२ नोधाः, ३-४ मेध्यातिथिः । देवता — इन्द्रः ।)

तं वो॑ दुस्ममृ॑ती॒षहं॒ वसो॑र्मन्दा॒नमन्ध॑सः ।
अ॒भि व॒त्सं न स्वस॑रेषु धे॒नव॒ इन्द्रं॑ गी॒र्भिर्न॑वामहे ॥ १ ॥
द्यु॒क्षं सु॒दानुं॒ तवि॑षीभि॒रावृ॑तं गि॒रिं न पु॑रु॒भोज॑सम् ।
क्षु॒मन्तं॒ वाजं॑ श॒तिनं॑ सह॒स्रिणं॑ म॒क्षू गोम॑न्तमीमहे ॥ २ ॥
तत्त्वा॑ यामि सु॒वीर्यं॒ तद्ब्रह्म॑ पू॒र्वचि॑त्तये ।
येना॒ यति॑भ्यो॒ भृग॑वे॒ धने॑ हि॒ते येन॒ प्रस्क॑ण्व॒मावि॑थ ॥ ३ ॥
येना॑ समु॒द्रमसृ॑जो म॒हीर॒पस्तदि॑न्द्र॒ वृष्णि॑ ते॒ शवः॑ ।
स॒द्यः सो अ॑स्य महि॒मा न सं॒नशे॒ यं क्षो॒णीर॑नुचक्र॒दे ॥ ४ ॥ (४०)

(सूक्त ९)

(तं वः दस्मं) आपके उस दर्शनीय (ऋतीषहं) शत्रुओंका पराभव करनेवाले (वसोः अन्धसः मन्दानं) सबके निवासक अन्नसे आनन्दित होनेवाले (इन्द्रं) इन्द्रकी हम (गीर्भिः नवामहे) गीतोंसे प्रशंसा गाते हैं । जैसी (धेनवः स्वसरेषु वत्सं अभि न) गौवें बाडोंमें रहे अपने वत्सके [लिये हंबारती हैं ।] ॥ १ ॥ (ऋ. ८।८८।१)

(द्यु-क्षं) द्युलोकमें रहनेवाले अति तेजस्वी (सु-दानुं) उत्तम दान देनेवाले, (तविषीभिः आवृतं) अनेक शक्तियोंसे युक्त (पुरुभोजसं गिरिं न) बहुत भोजन देनेवाले पर्वतके समान, (क्षुमन्तं) अन्नसे पूर्ण (वाजं) शक्तिमान् (गोमन्तं) गौवोंवालेसे (मक्षू) सत्वर हम (शतिनं सहस्रिणं ईमहे) सैकडों और हजारों धन मांगते हैं ॥ २ ॥ (ऋ. ८।८८.२)

(तत् सुवीर्यं ब्रह्म) उस वीर्यको उत्तम रीतिसे बढानेवाले ज्ञानको (पूर्व-चित्तये) प्रथम विचार करनेके लिये (त्वा यामि) तेरे पास मैं मांगता हूं । जब (धने हिते) युद्ध शुरू हुआ तब (येन) जिस शक्तिसे (यतिभ्यः भृगवे) यतियोंके लिये, भृगुके लिये रक्षण किया और (येन प्रस्कण्वं आविथ) जिस शक्तिसे प्रस्कण्वकी रक्षा की ॥ ३ ॥ (ऋ. ८।३।९)

(येन समुद्रं असृजः) जिस सामर्थ्यसे समुद्रको तूने उत्पन्न किया और (महीः अपः) बडे जलप्रवाह पैदा किये, हे इन्द्र ! (ते वृष्णि शवः) वह सुखकी वृद्धि करनेवाला तेरा ही बल है । (सः अस्य महिमा सद्यः न संनशे) वह इसका महिमा कभी नष्ट नहीं होता, (यं क्षोणीः अनुचक्रदे) जिसका वर्णन सब मनुष्य कर रहे हैं ॥ ४ ॥ (ऋ. ८।३।१०)

इस सूक्तमें इन्द्र वीरके गुण ये कहे हैं—

१ दस्म— दर्शनीय, सुन्दर, सुरूप,

२ ऋती-सहं— शत्रुओंका नाश करनेवाला, हानि पहुंचानेवालोंको दूर करनेवाला,

३ वसोः अन्धसः मन्दानं— जिससे प्राणियोंका निवास होता है, जिससे प्राणोंका धारण होता है उस प्रकारके अन्नसे आनन्दित होनेवाला,

४ द्युक्षः— द्युलोकमें रहनेवाला,

५ सु दानुः— दान देनेवाला,

६ तविषीभिः आवृतः — नाना शक्तियोंसे युक्त,

७ पुरुभोजसः— अनेक प्रकारके अन्न अपने पास रखनेवाला,

८ क्षुमान— अन्न पास रखनेवाला,

९ गोमान्— गौवें पास रखनेवाला,

१० धने हिते आविथ— युद्ध शुरू होनेपर रक्षण करता है ।

११ वृष्णि शवः— बल बढानेवाला सामर्थ्य जिसका है ।

१२ यं क्षोणीः अनुचक्रदे— जिसका सब लोग वर्णन करते हैं ।

१३ येन समुद्रं असृजः, महीः अपः— जिसने समुद्र और बडे नदी प्रवाह उत्पन्न किये ।

१४ अस्य महिमा न संनशे— इसका महिमा कम नहीं होता ।

ये गुण इन्द्रके, वीरके हैं । वीरमें ऐसे गुण रहने चाहिये ।

[सूक्त १०]

(ऋषिः — १-२ मेध्यातिथिः । देवता — इन्द्रः ।)

उदु त्ये मधुमत्तमा गिर स्तोमास ईरते ।
सत्राजितो धनसा अक्षितोतयो वाजयन्तो रथा इव ॥ १ ॥
कण्वा इव भृगवः सूर्या इव विश्वमिद्धीतमानशुः ।
इन्द्रं स्तोमेभिर्महयन्त आयवः प्रियमेधासो अस्वरन् ॥ २ ॥ (४१)

[सूक्त ११]

(ऋषिः — १-११ विश्वामित्रः । देवता — इन्द्रः ।)
(ऋ. ३।३४।१-११)

इन्द्रः पूर्भिदातिरद्दासमर्कैर्विदद्वसुर्दयमानो वि शत्रून् ।
ब्रह्मजूतस्तन्वा वावृधानो भूरिदात्र आपृणद्रोदसी उभे ॥ १ ॥
मखस्य ते तविषस्य प्र जूतिमियर्मि वाचममृताय भूषन् ।
इन्द्र क्षितीनामसि मानुषीणां विशां दैवीनामुत पूर्वयावा ॥ २ ॥

(सूक्त १०)

(**वाजयन्तः रथाः इव**) बलशाली रथों-रथी वीरोंकी तरह (**सत्राजितः**) एक साथ जीतनेवाले (**धनसाः**) धन देनेवाले (**अक्षित ऊतयः**) जिनका संरक्षण अक्षय है, ऐसे (**त्ये मधुमत्तमाः गिरः**) मीठे स्तुति वचन और (**स्तोमासः**) स्तोत्र (**उत् ईरते उ**) उठते हैं ॥ १ ॥ (ऋ. ८।३।१५)

(**भृगवः कण्वा इव**) भृगुओंने कण्वोंकी तरह (**सूर्या इव**) सूर्यके समान (**विश्वं धीतं इत् आनशुः**) संपूर्ण अभिप्रेत प्राप्त किया है। (**प्रियमेधासः आयवः**) प्रियमेध नामक पुरुष (**स्तोमेभिः इन्द्रं महयन्त अस्वरन्**) स्तोत्रोंसे इन्द्रकी बडी स्तुति करते रहे ॥ २ ॥ (ऋ. ८।३।१६)

इस सूक्तमें वीरोंके ये गुण कहे हैं—

१ **सत्राजितः**— साथ साथ रहकर युद्धमें जीतनेवाले,

२ **धन-साः**— धनका दान करनेवाले,

३ **अक्षित-ऊतयः**— जिनका संरक्षण कभी कम नहीं होता।

४ **वाजयन्तः**— बलयुक्त, शक्तिशाली,

५ **रथाः**— रथ अर्थात् रथीवीर।

ये रथी वीर हैं ऐसे वीर होने चाहिये।

१ **मधुमत्तमा गिरः स्तोमासः उत् ईरते**— मीठे स्तोत्र गाये जाते हैं। सबको मिलकर ईश्वरकी मीठी स्तुतियोंका ऊंचे स्वरसे गान करना योग्य है।

२ **प्रियमेधासः आयवः अस्वरन्**— जिनकी बुद्धिमें प्रेम है ऐसे लोग एक स्वरसे ईश्वरकी स्तुति करते हैं।

३ **इन्द्रं स्तोमेभिः महयन्तः**- इन्द्रकी - प्रभुकी स्तोत्रोंसे महती गाते हैं। प्रभुके यशका गान करना चाहिये।

(सूक्त ११)

(**पूर्भिद्**) शत्रुके किलोंको तोडनेवाले (**विदद्-वसुः**) धन देनेवाले (**शत्रून् वि दयमानः इन्द्रः**) शत्रुओंको मारनेवाले इन्द्रने (**अर्कैः दासं आतिरत्**) अपनी तेजः शक्तियोंसे दास रूप शत्रुको मार डाला। (**ब्रह्म-जूतः, तन्वा वावृधानः**) ज्ञानसे प्रेरित हुए, अपने शरीरसे बढनेवाले (**भूरि-दात्रः**) बडे दानी इन्द्रने (**उभे रोदसी आपृणात्**) दोनों द्यु और पृथिवीको अपने तेजसे भर दिया ॥ १ ॥

(**तविषस्य मखस्य ते**) सर्व शक्तिमान् पूजनीय ऐसे तेरे समीप (**जूतिं वाचं प्र इयर्मि**) वेगवती वाणीको मैं प्रेरित करता हूं। और (**अमृताय भूषन्**) अमृतत्वकी प्राप्तिके लिये सुभूषित करता हूं। हे इन्द्र! तू (**मानुषीणां क्षितीनां**) मानवी प्रजाओंका (**उत दैवीनां विशां**) और दैवी प्रजाओंका (**पूर्वयावा असि**) पहिला नेता है ॥ २ ॥

इन्द्रो वृत्रमवृणोच्छर्धनीतिः प्र मायिनाममिनाद्वर्पणीतिः ।
अहन्व्यंसमुशधग्वनेष्वाविर्धेना अकृणोद्राम्याणाम् ॥ ३ ॥

इन्द्रः स्वर्षा जनयन्नहानि जिगायोशिग्भिः पृतना अभिष्टिः ।
प्रारोचयन्मनवे केतुमह्नामविन्दज्ज्योतिर्बृहते रणाय ॥ ४ ॥

इन्द्रस्तुजो बर्हणा आ विवेश नृवद्दधानो नर्या पुरूणि ।
अचेतयद्धिय इमा जरित्रे प्रेमं वर्णमतिरच्छुक्रमासाम् ॥ ५ ॥

महो महानि पनयन्त्यस्येन्द्रस्य कर्म सुकृता पुरूणि ।
वृजनेन वृजिनान्त्सं पिपेष मायाभिर्दस्यूँरभिभूत्योजाः ॥ ६ ॥

युधेन्द्रो मह्ना वरिवश्चकार देवेभ्यः सत्पतिश्चर्षणिप्राः ।
विवस्वतः सदने अस्य तानि विप्रा उक्थेभिः कवयो गृणन्ति ॥ ७ ॥

सत्रासाहं वरेण्यं सहोदां ससवांसं स्वरपश्च देवीः ।
ससान यः पृथिवीं द्यामुतेमामिन्द्रं मदन्त्यनु धीरणासः ॥ ८ ॥

(**शर्धनीतिः इन्द्रः**) दलोंको चलानेवाले इन्द्रने (**वृत्रं अवृणोत्**) वृत्रको घेर लिया । (**वर्प-नीतिः मायिनां प्र अमिनात्**) नाना रूपोंको लेनेवाले इन्द्रने कपटी शत्रुओंको विशेष रीतिसे नष्ट किया । (**वनेषु उशधग् व्यंसं अहन्**) वनोंको प्रचण्ड रूपसे जलानेवालेने व्यंस-दुःख देनेवाले शत्रु-को मार दिया और (**राम्याणां धेनाः आविः अकृणोत्**) रात्रीमें छिपायी गौवोंको-किरणोंको-प्रकट किया। शत्रुने छिपायी गौवोंको बाहर निकाला ॥ ३ ॥

(**स्वर्षा इन्द्रः**) स्वयं प्रकाशी इन्द्रने (**अहानि जनयन्**) दिनोंको उत्पन्न किया, (**अभिष्टिः**) अपना अभीष्ट प्राप्त करनेवाले इन्द्रने (**उशिग्भिः**) अपने साथियोंके साथ रहकर (**पृतना जिगाय**) शत्रुसेनाको जीत लिया। (**मनवे**) मनुष्यमात्रके हितके लिये (**अह्नां केतुं प्रारोचयत्**) दिनोंके झंडेको-सूर्यको-प्रकाशित किया और (**बृहते रणाय**) बडी रमणीयताके लिये (**ज्योतिः अविन्दत्**) प्रकाशको प्राप्त किया ॥ ४ ॥

(**इन्द्रः**) इन्द्र (**तुजः**) त्वरासे (**बर्हणा आ विवेश**) शत्रुसेनामें घुस गया । वह (**नृवत्**) नेताके समान (**पुरूणि नर्या दधानः**) बहुत वीरके कर्म करता है। (**जरित्रे इमाः धियः अचेतयत्**) उसने अपनी स्तुति करनेवालेके लिये ये बुद्धियां सचेत की और (**आसां इमं शुक्रं वर्णं**) इन उषाओंके इस स्वच्छ प्रकाशको (**प्र अतिरत्**) अधिक प्रकट किया ॥ ५ ॥

(**अस्य महः इन्द्रस्य**) इस महान् इन्द्रके (**पुरूणि सुकृता महानि कर्म**) बहुत सुकृतके बडे कर्म हैं जिनकी लोग (**पनयन्ति**) स्तुति करते हैं । (**वृजनेन वृजिनान् सं पिपेष**) कपटसे कपटियोंको उसने पीस डाला । (**अभिभूति-ओजाः**) शत्रुका पराभव करनेके सामर्थ्यवाले इन्द्रने (**मायाभिः दस्यून्**) अपनी शक्तियोंसे दुष्टोंको दूर किया ॥ ६ ॥

(**सत्पतिः चर्षणिप्राः इन्द्रः**) सज्जनोंके पालक और मानवोंके मनोरथ परिपूर्ण करनेवाले इन्द्रने (**मह्ना युधा**) अपनी महिमासे और युद्ध करके (**देवेभ्यः वरिवः चकार**) देवोंके लिये श्रेष्ठता निर्माण की । (**विवस्वतः सदने**) विवस्वानके घरमें (**विप्राः कवयः**) ज्ञानी कवि (**अस्य तानि उक्थेभिः गृणन्ति**) इस इन्द्रके उन कर्मोंका स्तोत्रोंसे गान करते हैं ॥ ७ ॥

(**सत्रासाहं**) साथ रहकर जीतनेवाले (**वरेण्यं**) श्रेष्ठ विजयी, (**सहोदां**) साहसमय बल देनेवाले (**स्वः देवीः अपः च ससवांसं**) स्वप्रकाश और दिव्य जलको जीतने-

ससानात्याँ उत सूर्यं ससानेन्द्रः ससान पुरुभोजसं गाम् ।
हिरण्ययमुत भोगं ससान हत्वी दस्यून्प्रार्यं वर्णमावत् ॥ ९ ॥
इन्द्र ओषधीरसनोदहानि वनस्पतीँरसनोदन्तरिक्षम् ।
बिभेद वलं नुनुदे विवाचोऽथाभवद्दमिताभिक्रतूनाम् ॥ १० ॥
शुनं हुवेम मघवानमिन्द्रमस्मिन्भरे नृतमं वाजसातौ ।
शृण्वन्तमुग्रमूतये समत्सु घ्नन्तं वृत्राणि संजितं धनानाम् ॥ ११ ॥ (५३)

वाले (**इन्द्रं**) इन्द्रके साथ (**धीरणासः अनुमदन्ति**) बुद्धिमान ज्ञानी लोग आनन्द मनाते हैं, (**यः पृथिवीं उत इमां द्यां ससान**) जिसने पृथिवी और इस द्युलोकको जीता है ॥ ८ ॥

(**इन्द्रः अत्यान् ससान**) इन्द्रने घोडे जीते हैं। (**उत सूर्यं ससान**) और सूर्यको जीता है, (**पुरुभोजसं गां ससान**) बहुत अन्न देनेवाली गायको जीता है, (**हिरण्यं उत भोगं ससान**) सुवर्णको और भोगको जीता है, (**दस्यून् हत्वी**) उसने दस्युओंको मारकर (**आर्यं वर्णं प्रावत्**) आर्य वर्णकी रक्षा की है ॥ ९ ॥

(**इन्द्रः ओषधीः अहानि असनोत्**) इन्द्रने औषधियों और दिनोंको जीता, (**वनस्पतीन् अन्तरिक्षं असनोत्**) वनस्पतिओं और अन्तरिक्षको जीता, (**वलं बिभेद**) वल नामक शत्रुको तोड दिया, (**विवाचः नुनुदे**) विरुद्ध बोलनेवालोंको दूर किया और (**अथ अभिक्रतूनां दमिता अभवत्**) और यज्ञके विरोधियोंका दमन करनेवाला हो गया है ॥ १० ॥

(**शुनं मघवानं**) उत्तम गुणवाले धनवान् (**अस्मिन् भरे वाजसातौ**) इस युद्धमें धनोंको जीतनेके लिये (**नृतमं**) श्रेष्ठ नेता बने (**शृण्वन्तं उग्रं**) सबका सुननेवाले उग्रवीर (**समत्सु ऊतये**) युद्धोंमें रक्षणार्थ (**वृत्राणि घ्नन्तं**) वृत्रोंको मारनेवाले (**धनानां संजितं**) धनोंको जीतनेवाले (**इन्द्रं हुवेम**) इन्द्रको हम बुलावें ॥ ११ ॥

इस सूक्तमें इन्द्रवीरके गुण देखिये—

१ **पूर्भिद्**— शत्रुके किले तोडनेवाला, शत्रुके पुरियोंपर अपना अधिकार जमानेवाला,

२ **दासं अर्कैः आतिरत्**— दास नामक शत्रुको शस्त्रोंसे मारा,

३ **विदद्वसुः**— धनका दान करनेवाला,

४ **शत्रून् विदयमानः**— शत्रुओंका नाश करनेवाला,

५ **ब्रह्म-जूतः**— ज्ञानसे प्रेरित होनेवाला,

६ **तन्वा वावृधानः**— शरीरसे बडा, बलवान् शरीरवाला,

७ **भूरिदात्रः**— बहुत दान देनेवाला,

८ **उभे रोदसी आपृणात्**— दोनों लोकोंको तेजसे भरनेवाला,

९ **तविषः**— बलवान्,

१० **मखः**— पूजनीय,

११ **अमृताय भूषन्**— अमरत्वके लिये वेशभूषा करनेवाला,

१२ **मानुषीणां क्षितीनां दैवीनां विशां पूर्वयावा**— मानवी और दैवी प्रजाओंका अपूर्व नेता,

१३ **शर्धनीतिः**— जिसकी नीति बलके आश्रयसे चलती है,

१४ **वृत्रं अवृणोत्**— जिसने वृत्रको घेरा था,

१५ **वर्पनीतिः मायिनां प्र अमिनात्**— अनेक रूप धारण करनेवाले इन्द्रने कपटियोंका पराभव किया।

१६ **वर्प-नीतिः**— अनेक रूप धारण करनेवाला इन्द्र है।

१७ **व्यंसं अहनत्**— व्यंसको मारा,

१८ **उशधक्**— प्रज्वलित होनेवाला, तेजस्वी;

१९ **स्वर्षा**— प्रकाशयुक्त,

२० **अभिष्टिः उशिग्भिः पृतनाः जिगाय**— इष्ट कार्य करनेवालेने अपनी शक्तियोंसे शत्रुसेनाओंको जीत लिया।

२१ **बृहते रणाय ज्योतिः अविन्दत्**— बडे आनन्दके लिये प्रकाश प्राप्त किया।

२२ **इन्द्रः तुजः बर्हणा आविवेश**— इन्द्र त्वरासे कार्य करनेवाला वेगसे शत्रुसेनामें घुस गया।

२३ **नृवत्**— नेता हुआ।

२४ **पुरूणि नर्या दधानः**— बडे वीर कर्म करता है।

२५ **इमा धियः अचेतयत्**— ये बुद्धियां सचेत करता है।

२६ **अस्य महः इन्द्रस्य महानि पुरूणि सुकृता**

[सूक्त १२]

(ऋषिः — १-६ वसिष्ठः, ७ अत्रिः । देवता — इन्द्रः ।)

(ऋ. ७।२३।१-६)

उदु ब्रह्माण्यैरत श्रवस्येन्द्रं समर्ये महया वसिष्ठ ।
आ यो विश्वानि शवसा ततानोपश्रोता म ईवतो वचांसि ॥ १ ॥
अयामि घोष इन्द्र देवजामिरिरज्यन्त यच्छुरुधो विवाचि ।
नहि स्वमायुश्चिकिते जनेषु तानीदंहांस्यति पर्ष्यस्मान् ॥ २ ॥
युजे रथं गवेषणं हरिभ्यामुप ब्रह्माणि जुजुषाणमस्थुः ।
वि बाधिष्ट स्य रोदसी महित्वेन्द्रो वृत्राण्यप्रती जघन्वान् ॥ ३ ॥

पनयन्ति— इस बडे इन्द्रके अनेक सत्कर्मोंकी सब लोग स्तुति करते हैं ।

२७ **वृजनेन वृजिनान् सं पिपेष—** कपटसे कपटियोंको पीस डाला ।

२८ **अभिभूत्योजाः मायाभिः दस्यून्—** आक्रमक बलवाले इन्द्रने कपटोंसे शत्रुओंको पीसा ।

२९ **सत्पतिः चर्षणिप्राः इन्द्रः महा युधा देवेभ्यः वरिवः चकार—** सज्जनोंके पालक मानवोंके रक्षक इन्द्रने बडे युद्धसे देवोंके लिये श्रेष्ठ स्थान बनाया ।

३० **विप्राः कवयः अस्य तानि उक्थेभिः गृणन्ति-** ज्ञानी लोग इसके उन कर्मोंका वर्णन गाते हैं ।

३१ **सत्रासाहः—** साथ रहकर विजय करनेवाला,

३२ **वरेण्यः—** श्रेष्ठ,

३३ **सहोदाः—** बल देनेवाला,

३४ **ससवान्—** विजयी,

३५ **यः पृथिवीं उत द्यां ससान—** जिसने पृथिवीपर और द्युलोकमें विजय किया है ।

३६ **धीरणास इन्द्रं अनुमदन्ति—** बुद्धिमान लोग इन्द्रके वर्णनसे आनंद मनाते हैं ।

३७ **अत्यान् पुरुभोजसं गां, हिरण्यं, भोगं ससान-** घोडे, दुधारु गाय, सोना और भोग इसने जीते ।

३८ **दस्यून् हत्वी आर्यं वर्णं प्रावत्—** शत्रुको मार कर आर्य वर्णकी रक्षा की ।

३९ **वलं बिभेद—** बलका पराभव किया,

४० **विवाचः नुनुदे—** विरोध करनेवालोंको दूर किया ।

४१ **अभिक्रतूनां दमिता अभवत्—** यज्ञ विरोधकोंको दबानेवाला हुआ है ।

४२ **शुनं मघवानं इन्द्रं हुवेम-** उदार धनवान् इन्द्रको हम बुलाते हैं ।

४३ **अस्मिन् भरे वाजसातौ नृतमं—** इस युद्धमें धनप्राप्तिके समय यह श्रेष्ठ वीर है ।

४४ **समत्सु ऊतये उग्रं शृण्वन्तं—** युद्धोंमें रक्षणार्थ उग्रवीर इन्द्रको जो सबका सुनता है उसको बुलाते हैं ।

४५ **वृत्राणि घ्नन्तं—** वृत्रोंको मारनेवाला,

४६ **धनानां संजितं—** धनोंको जीतनेवाला वह वीर है।

ये इन्द्रके वीरताके गुण इस सूक्तमें वर्णन किये हैं ।

(सूक्त १२)

(**श्रवस्या**) यशकी इच्छासे (**ब्रह्माणि उत् ऐरत उ**) स्तोत्र बोले गये । हे वसिष्ठ ! (**समर्ये इन्द्रं महय**) युद्धमें इन्द्रकी महिमाका गान कर, (**यः शवसा विश्वानि आततान**) जिसने अपने बलसे सब विश्वको फैलाया है । (**ईवतः मे वचांसि उपश्रोता**) भक्ति करनेवाले मेरे वचनोंको वह सुनेगा ॥ १ ॥

हे इन्द्र ! (**देव-जामिः घोषः अयामि**) देवोंके साथ बन्धुत्व रखनेवाली घोषणा हो चुकी हैं, (**विवाचि यत् शुरुधः इरज्यन्त**) विरोधी घोषणामें शोकको रोकनेवाले शब्द प्रबल होते हैं । (**जनेषु स्वं आयुः न हि चिकिते**) मनुष्योंमें अपनी आयुको कोई नहीं जानता । (**तानि अंहांसि इत्**) वे पाप (**अस्मान् अति पर्षि**) हमसे दूर कर ॥ २ ॥

(**गवेषणं रथं हरिभ्यां युजे**) गौवोंको ढूंढनेवाले तेरे रथको दो घोडे मैं जोतता हूं । (**ब्रह्माणि जुजुषाणं उप अस्थुः**) हमारे स्तोत्र श्रवण करनेवाले इन्द्रके पास पहुंचे हैं । (**स्यः महित्वा**) वह इन्द्र अपने महत्वसे (**रोदसी वि बाधिष्ट**) द्युलोक और भूलोकको व्यापता है । (**इन्द्रः**

आपश्चित्पिप्यु स्तर्यो न गावो नक्षन्नृतं जरितारस्त इन्द्र ।
याहि वायुर्न नियुतो नो अच्छा त्वं हि धीभिर्दयसे वि वाजान् ॥ ४ ॥
ते त्वा मदा इन्द्र मादयन्तु शुष्मिणं तुविराधसं जरित्रे ।
एको देवत्रा दयसे हि मर्तानस्मिञ्छूर सवने मादयस्व ॥ ५ ॥
एवेदिन्द्रं वृषणं वज्रबाहुं वसिष्ठासो अभ्यर्चन्त्यर्कैः ।
स नः स्तुतो वीरवद्धातु गोमद्यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ ६ ॥
ऋजीषी वज्री वृषभस्तुराषाट्छुष्मी राजा वृत्रहा सोमपावा ।
युक्त्वा हरिभ्यामुप यासदर्वाङ्माध्यंदिने सवने मत्सदिन्द्रः ॥ ७ ॥ (६०)

वृत्राणि अप्रती जघन्वान्) इन्द्रने वृत्रोंको अप्रतिम रीतिसे मारा है ॥ ३ ॥

(**स्तर्यः गावः न**) वंध्या गौओंके समान (**आपः पिप्युः चित्**) जलप्रवाह पुष्ट हुए हैं। हे इन्द्र ! (**ते जरितारः ऋतं नक्षन्**) तेरी स्तुति करनेवाले सत्य यज्ञको प्राप्त होते हैं। (**नः अच्छ नियुतः आ याहि**) तू हमारे पास सीधा घोडोंसे आ जाओ (**वायुः न**) जैसा वायु आता है। (**त्वं हि धीभिः वाजान् विदयसे**) तू अपने बुद्धियुक्त कर्मोंसे अन्नों और बलोंको बांटता है ॥ ४ ॥

हे इन्द्र ! (**ते मदाः**) ये आनंददायक सोमरस (**जरित्रे तुविराधसं शुष्मिणं त्वा**) स्तोताके लिये पर्याप्त धन देनेवाले विशेष शक्तिवाले तुझको (**मादयन्तु**) आनन्दित करें। तू (**एकः**) अकेला ही (**देवत्रा**) देवोंमेंसे (**मर्तान् दयसे हि**) मानवोंपर दया करता है। हे शूर ! (**अस्मिन् सवने मादयस्व**) इस सोमयागमें आनंदित हो ॥ ५ ॥

(**वज्रबाहुं वृषणं इन्द्रं**) वज्र बाहुपर धारण करनेवाले बलवान् इन्द्रकी (**वसिष्ठासः एव इत् अर्कैः**) वसिष्ठ इस तरह स्तोत्रोंसे (**अभ्यर्चन्ति**) पूजा करते हैं। (**नः स्तुतः सः**) हमसे स्तुति किया गया वह इन्द्र (**वीरवत् गोमत् धातु**) वीर पुत्रों और गौओंके साथ रहनेवाला धन हमें देवे। (**यूयं सदा नः स्वस्तिभिः पात**) तुम सदा हमारी कल्याणोंके साथ रक्षा करो ॥ ६ ॥

(**ऋजीषी**) सोमपान करनेवाला (**वज्री**) वज्र धारण करनेवाला (**वृषभः**) सांडके समान बलवान् (**तुराषाट्**) त्वरासे शत्रुओंको दबानेवाला, (**शुष्मी**) बलवान्, (**राजा**) शासक, (**वृत्रहा**) वृत्रको मारनेवाला, (**सोमपावा**) सोम पीनेवाला, (**हरिभ्यां युक्त्वा**) दो घोडोंको जोडकर (**अर्वाङ् उप यासत्**) हमारे पास आवे, (**इन्द्रः माध्यंदिने सवने मत्सत्**) इन्द्र मध्यंदिनके रसपानके समय आनन्दित हो जाय ॥ ७ ॥

इस सूक्तमें वीरके लक्षण ये कहे हैं—

१ **इन्द्रं समर्थे महय**— संग्राममें इन्द्रकी महिमा गाओ।

२ **यः शवसा विश्वानि आततान**- वह अपने बलसे विश्वको फैलाता है।

३ **ईवतः मे वचांसि उपश्रोता**— प्रार्थना करनेवाले मेरा भाषण वह सुनता है।

४ **हे इन्द्र ! देवजामिः घोषः अयामि**- हे इन्द्र ! तू देवोंका बन्धु है ऐसा घोष सुनते हैं।

५ **विवाचि शुरुधः यत् इरज्यन्त**— विरुद्ध बोलनेवालोंकी वाणीमें शोकको विरोध करनेवाले शब्द होते हैं।

६ **गवेषणं रथं हरिभ्यां युजे**— गौओंको ढूंढनेवाले रथको मैं दो घोडे जोतता हूं।

७ **ब्रह्माणि जुजुषाणं उप अस्थुः**— स्तोत्र सेवन करनेवालेके पास पहुंचे हैं।

८ **स्व महित्वा रोदसी वि बाधिष्ट**— वह अपने महत्वसे दोनों लोकोंको भरता है।

९ **इन्द्रः वृत्राणि अप्रती जघन्वान्**— इन्द्र अप्रतिम रीतिसे वृत्रोंको मारता है।

१० **नः अच्छ नियुतः आयाहि**— हमारे पास घोडोंसे आजा।

११ **त्वं हि धीभिः वाजान् विदयसे**— तू अपने बुद्धियुक्त कर्मोंसे हमें बल देता है।

१२ **शुष्मी**— बलवान्,

१३ **तुविराधाः**— बहुत धनवाला,

[सूक्त १३]

(ऋषिः — १ वामदेवः, २ गोतमः, ३ कुत्सः, ४ विश्वामित्रः।
देवता — १ इन्द्राबृहस्पती, २ मरुतः, ३-४ अग्निः।)

इन्द्र॑श्च॒ सोमं॑ पिबतं बृहस्पते॒ऽस्मिन्य॒ज्ञे म॑न्दसा॒ना वृ॑षण्वसू।
आ वां॑ विशन्त्विन्द॑वः स्वा॒भुवो॒ऽस्मे र॒यिं सर्व॑वीरं॒ नि य॑च्छतम् ॥ १ ॥
आ वो॑ वहन्तु॒ सप्त॑यो रघु॒ष्यदो॑ रघु॒पत्वा॑नः॒ प्र जि॑गात बा॒हुभिः॑।
सीद॒ता ब॒र्हिरु॒रु वः॒ सद॑स्कृ॒तं मा॒दय॑ध्वं मरुतो॒ मध्वो॒ अन्ध॑सः ॥ २ ॥
इ॒मं स्तोम॒मर्ह॑ते जा॒तवे॑दसे॒ रथ॑मिव॒ सं म॑हेमा मनी॒षया॑।
भ॒द्रा हि नः॒ प्रम॑तिरस्य सं॒सद्यग्ने॑ स॒ख्ये मा रि॑षामा व॒यं तव॑ ॥ ३ ॥
ऐभि॑रग्ने स॒रथं॑ याह्य॒र्वाङ् ना॑नार॒थं वा॑ वि॒भवो॒ ह्यश्वाः॑।
पत्नी॑वतस्त्रिं॒शतं॒ त्रींश्च॑ दे॒वान॑नुष्व॒धमा व॑ह मा॒दय॑स्व ॥ ४ ॥ (६४)

॥ इति प्रथमोऽनुवाकः ॥ १ ॥

---

१४ देवत्रा एकः मर्तान् दयसे— देवोंमें अकेला तू मानवोंपर दया करता है।

१५ मदा त्वा मादयन्तु— ये सोमरस तुझे आनन्द देवें।

१६ शूर! अस्मिन् सवने मादयस्व— हे शूर! इस सवनमें आनन्द मना।

१७ वज्रबाहुः वृषणः— वज्रके समान कठिन बाहुवाला और बलवान्।

१८ सः नः वीरवत् गोमत् धातु— वह हमें वीर पुत्रों और गौवोंके साथ रहनेवाला धन देवे।

१९ ऋजीषी— सोमरस पीनेवाला,

२० वज्री— वज्र वर्तनेवाला,

२१ तुराषाड्— त्वरासे शत्रुका पराभव करनेवाला,

२२ राजा— शासक,

२३ वृत्रहा— वृत्रको मारनेवाला,

२४ सोमपावा— सोमरस पीनेवाला,

२५ हरिभ्यां युक्त्वा— दो घोडोंको जोडकर।

(सूक्त १३)

हे बृहस्पते! तू और इन्द्र (**मन्दसाना वृषण्वसू**) आनन्द मनाते हुए, बलवानोंको निवास देनेवाले तुम दोनों (**अस्मिन् यज्ञे**) इस यज्ञमें (**सोमं पिबत**) सोमरस पीओ। (**सु-आभुवः इन्दवः**) उत्तम रीतिसे सिद्ध हुए ये सोमरस (**वां आ विशन्तु**) तुम्हारे अन्दर जांय। (**अस्मे सर्ववीरं रयिं नि यच्छतं**) हमको सब पुत्रपौत्रोंसे युक्त धन दे दो ॥ १ ॥ (ऋ. ४।५०।१०)

(**रघु-स्यदः सप्तयः वः आ वहन्तु**) शीघ्र चलनेवाले घोडे आपको इधर ले आवें। (**रघु-पत्वानः बाहुभिः प्र जिगात**) भुजाओंसे शीघ्र उडते हुए आगे बढो। (**बर्हिः सीदत**) आसनपर बैठो, (**वः उरु सदः कृतं**) तुम्हारे लिये विस्तृत स्थान किया है। हे मरुतो! (**मध्वः अन्धसः मादयध्वं**) मधुर रससे आनन्दित हो जाओ ॥ २ ॥ (ऋ. १।८५।६)

(**रथं इव**) रथको सजाते हैं उस तरह (**इमं स्तोमं**) इस स्तोत्रको (**अर्हते जातवेदसे**) योग्य जातवेद-अग्निके लिये (**मनीषया सं महेम**) बुद्धिसे सजाते हैं। (**अस्य संसद्**) इसके साथ बैठनेमें (**नः भद्रा प्रमतिः**) हमारी कल्याणकारिणी बुद्धि विकसित होती है। हे अग्ने! (**तव सख्ये वयं मा रिषाम**) तेरी मित्रतामें हम हानि न उठावें ॥ ३ ॥ (ऋ. १।९४।१)

हे अग्ने! (**एभिः सरथं अर्वाङ् आ याहि**) इन देवोंके साथ एक रथपर बैठकर इधर आ। अथवा (**नाना रथं वा**) अनेक रथोंपर बिठलाकर ले आ। (**हि अश्वाः विभवः**) क्योंकि आपके घोडे वैभवसंपन्न हैं। (**पत्नीवतः**) पत्नीयोंके साथ (**त्रिंशतं त्रीन् च देवान्**) तीस और तीन देवोंको (**अनु-स्वधं आ वह**) उनकी अपनी धारणाशक्तिके

[सूक्त १४]

(ऋषिः — १-४ सौभरिः । देवता — इन्द्रः ।)

वयमु त्वामपूर्व्य स्थूरं न कच्चिद्भरन्तोऽवस्यवः । वाजे चित्रं हवामहे ॥ १ ॥
उप त्वा कर्मन्नूतये स नो युवोग्रश्चक्राम यो धृषत् ।
त्वामिद्ध्यवितारं ववृमहे सखाय इन्द्र सानसिम् ॥ २ ॥
यो न इदमिदं पुरा प्र वस्य आनिनाय तमु व स्तुषे । सखाय इन्द्रमूतये ॥ ३ ॥
हर्यश्वं सत्पतिं चर्षणीसहं स हि ष्मा यो अमन्दत ।
आ तु नः स वयति गव्यमश्व्यं स्तोतृभ्यो मघवा शतम् ॥ ४ ॥ (६८)

अनुकूल रखकर यहां ले आ और (**मादयस्व**) उनको प्रसन्न कर ॥ ४ ॥ (ऋ. ३।६।९)

इसमें इन्द्र, बृहस्पति, मरुत् और अग्निका वर्णन है । इनके गुण ये हैं—

१ मन्दसानौ— आनन्दित रहनेवाले,

२ वृषण्वसू— बल बढानेवाला धन अपने पास रखनेवाले।

३ सर्ववीरं रयिं नि यच्छतं- वीर पुत्रोंके साथ रहनेवाला धन दो । पुत्रपौत्र जिससे बढते हैं ऐसा धन चाहिये । पुत्रहीन धन नहीं चाहिये ।

४ रघुष्यदः रघुपत्वानः सप्तयः— घोडे जलदी दौडनेवाले चाहिये ।

५ जात-वेदाः— वेद जिससे हुए, ज्ञानप्रसारक,

६ अस्य संसद् नः भद्रा प्रमतिः— इसके साथ रहनेसे कल्याण करनेवाली बुद्धि होती है ।

७ तव सख्ये मा रिषाम— तेरी मित्रतामें हमें हानि न पहुंचे ।

८ एभिः सरथं वा नानारथं आ याहि— इन देवोंके साथ एक रथमें या नाना रथोंमें बैठकर आओ । रथमें बैठकर देव आते हैं । अग्निके साथ देव आते हैं ।

९ अश्वाः विभवः— घोडे सामर्थ्यवान् हैं, वैभववान् हैं, कीमती हैं ।

१० पत्नीवतः त्रिंशतं त्रीन् च देवान् अनुष्वधं आ वह— पत्नीयों समेत ३३ देवोंको ले आओ, उनको जो अन्न चाहिये वह दो ।

११ मादयस्व— उनको आनन्दित रख । सब आनन्द प्रसन्न रहें ।

॥ **यहां प्रथम अनुवाक समाप्त** ॥

(सूक्त १४)

हे (**अ-पूर्व्य**) अपूर्व इन्द्र! (**कश्चित् स्थूरं न भरन्तः**) कोई विशेष धन अपने पास न रखनेवाले परंतु (**अवस्यवः**) अपनी सुरक्षा चाहनेवाले (**वयं**) हम (**चित्रं त्वां**) आश्चर्यमय तुझको (**वाजे उ हवामहे**) युद्धमें सहायार्थ बुलाते हैं ॥ १ ॥ (ऋ. ८।२१।१)

(**कर्मन् ऊतये त्वा**) युद्धके कर्ममें रक्षाके लिये तुझे बुलाते हैं । (**सः यः**) वह तू (**युवा**) तरुण (**उग्रः**) उग्र वीर (**धृषत्**) शत्रुका पराभव करनेका सामर्थ्य धारण करनेवाला (**नः उप चक्राम**) हमारे समीप आ । (**त्वां इत् हि अवितारं ववृमहे**) तुझे ही रक्षक करके हम स्वीकार करते हैं । हे इन्द्र ! (**सखायः सानसिं**) सब साथी तुझ बडे दानीको हम अपना रक्षक करते हैं ॥ २ ॥ (ऋ. ८।२१।२)

(**यः नः इदं इदं वस्यः**) जिसने हमारे पास यह इस तरहका धन (**पुरा प्र आनिनाय**) पहिले लाया, हे (**सखायः**) मित्रो ! (**तं इन्द्रं उ**) उसी इन्द्रकी (**वः ऊतये स्तुषे**) तुम्हारी रक्षाके लिये स्तुति करता हूं ॥ ३ ॥ (ऋ. ८।२१।९)

(**हर्यश्वं**) लाल अश्वोंवाले (**सत्पतिं**) सज्जनोंका पालन करनेवाले (**चर्षणी-सहं**) शत्रु सैन्यको जीतनेवाले इन्द्रकी मैं स्तुति करता हूं । (**सः हि यः अमन्दत स्म**) वही है जो आनन्द मनाता है । (**सः मघवा तु**) वही धनवान् इन्द्र (**नः स्तोतृभ्यः**) हम स्तोताओंको (**गव्यं अश्व्यं शतं वयति**) सौ गौवों और घोडोंके समूह लाकर देता है ॥ ४ ॥ (ऋ. ८।२१।१०)

इस सूक्तमें वीर इन्द्रके जो गुण बताये हैं वे ये हैं—

[सूक्त १५]

(ऋषिः — १-६ गोतमः । देवता — इन्द्रः ।)

(ऋ. १।५७।१-६)

प्र मंहिष्ठाय बृहते बृहद्रये सत्यशुष्माय तवसे मतिं भरे ।
अपामिव प्रवणे यस्य दुर्धरं राधो विश्वायु शवसे अपावृतम् ॥ १ ॥
अध ते विश्वमनु हासदिष्टय आपो निम्नेव सवना हविष्मतः ।
यत्पर्वते न समशीत हर्यत इन्द्रस्य वज्रः श्नथिता हिरण्ययः ॥ २ ॥
अस्मै भीमाय नमसा समध्वर उषो न शुभ्र आ भरा पनीयसे ।
यस्य धाम श्रवसे नामेन्द्रियं ज्योतिरकारि हरितो नायसे ॥ ३ ॥
इमे त इन्द्र ते वयं पुरुष्टुत ये त्वारभ्य चरामसि प्रभूवसो ।
नहि त्वदन्यो गिर्वणो गिरः सघत्क्षोणीरिव प्रति नो हर्य तद्वचः ॥ ४ ॥

---

१ **अपूर्व्यः**— इसके समान दूसरा वीर नहीं हुआ ।

२ **वाजे चित्रं**- युद्धमें आश्चर्यकारक वीरता जो दिखाता है।

३ **युवा**— सदा तरुण, आयु बडी होनेपर भी तरुण जैसा कार्य करनेवाला ।

४ **उग्रः**— उग्र शूरवीर,

५ **धृषत्**— शत्रुका पराभव करनेवाला धैर्यवान् ।

६ **कर्मन् ऊतये**— प्रत्येक युद्धके कर्ममें रक्षा करनेवाला,

७ **अविता**— संरक्षण करनेवाला,

८ **सानसिः**-- विशेष दान देनेवाला,

९ **यः नः इदं वस्य आमिनाय**— जो हमारे पास इस तरहका धन लाता है । '**वस्य**' धन वह है कि जो मानवोंको बसानेवाला है ।

१० **हर्यश्वः**— लाल घोडोंवाला,

११ **सत्पतिः**— सज्जनोंका रक्षक,

१२ **चर्षणी सहः**— शत्रुके वीर मानवोंका पराभव करनेवाला,

१३ **मघवा गव्यं अश्व्यं शतं वयति**— इन्द्र सैकडों गौओं और घोडोंके समूह देता है ।

(सूक्त १५)

(**मंहिष्ठाय**) बडे महान, (**बृहते**) सबसे श्रेष्ठ, (**बृहद्रये**) बडे धनवाले, (**सत्यशुष्माय**) सच्चे बलवाले, (**तवसे**) सामर्थ्यशाली इन्द्रके लिये (**मतिं प्र भरे**) स्तोत्र गाता हूं । (**यस्य दुर्धरं राधः**) जिसका अतुलनीय धनदान (**प्रवणे अपां इव**) गहराईमें जलके पूरके समान (**विश्व-आयु**) सब मानवोंके लिये और (**शवसे**) बलके लिये (**अपावृतं**) प्रसिद्ध है ॥ १ ॥

(**अध विश्वं ते इष्टये ह अनु असत्**) अब सब विश्व तेरी इष्टी-तेरे यज्ञ-के लिये अनुकूल रहता है । (**आपः निम्ना इव**) जलप्रवाह नीचाईकी ओर जाते हैं, उस तरह (**हविष्मतः सवना**) हविवालोंके हवन तेरे पास जाय । (**इन्द्रस्य हिरण्ययः हर्यतः वज्रः**) इन्द्रका सुवर्णमय तेजस्वी वज्र (**पर्वते यत् न समशीत**) पर्वतपर रहे मेघमें ही नहीं प्रभावित होता परंतु वह (**श्नथिता**) सबको चूर्ण करनेमें समर्थ रहता है ॥ २ ॥

(**अस्मै भीमाय पनीयसे**) इस भयंकर तथा स्तुतिके योग्य इन्द्रके लिये (**उषः न**) उषाके समान प्रकाशित (**नमसा शुभ्रे अध्वरे सं आ भर**) नमस्कारपूर्वक शुद्ध यागमें हवि लाकर भर दे । (**यस्य धाम नाम श्रवसे**) जिसका स्थान और नाम यशके लिये तथा (**इंद्रियं ज्योतिः अकारि**) इंद्रियकी ज्योति प्रकाशके लिये बनाई गयी है (**हरितः न अयसे**) जैसे घोडे गतिके लिये हैं ॥ ३ ॥

हे (**पुरुष्टुत इन्द्र**) बहुतों द्वारा प्रशंसित इन्द्र ! हे (**प्रभूवसो**) प्रभूत धनवाले ! (**इमे ते ते वयं**) ये वे हम तेरे ही हैं । (**ये त्वा आरभ्य चरामसि**) जो तेरा सहारा लेकर फिरते हैं । हे (**गिर्वणः**) स्तुतिके स्वामिन् ! (**त्वत् अन्यः**) तेरे सिवाय कोई दूसरा (**गिरः नहि सघत्**) हमारी स्तुतियोंको स्वीकार कर नहीं सकता । (**क्षोणीः इव**) प्रजाओंका जैसा राजा (**नः तत् वचः प्रति हर्य**) वैसा हमारे इस वचनका स्वीकार कर ॥ ४ ॥

[सूक्त १६]

(ऋषिः — १-१२ अयास्यः। देवता — बृहस्पतिः।)

(ऋ. १०।६८।१-१२)

उदप्रुतो न वयो रक्षमाणा वावदतो अभ्रियस्येव घोषाः ।
गिरिभ्रजो नोर्मयो मदन्तो बृहस्पतिमभ्यर्का अनावन् ॥ १ ॥
सं गोभिराङ्गिरसो नक्षमाणो भग इवेदर्यमणं निनाय ।
जने मित्रो न दम्पती अनक्ति बृहस्पते वाजयाशूँरिवाजौ ॥ २ ॥
साध्वर्या अतिथिनीरिषिरा स्पार्हाः सुवर्णा अनवद्यरूपाः ।
बृहस्पतिः पर्वतेभ्यो वितूर्या निर्गा ऊपे यवमिव स्थिविभ्यः ॥ ३ ॥
आप्रुषायन्मधुन ऋतस्य योनिमवक्षिपन्नर्क उल्कामिव द्योः ।
बृहस्पतिरुद्धरन्नश्मनो गा भूम्या उद्नेव वि त्वचं बिभेद ॥ ४ ॥
अप ज्योतिषा तमो अन्तरिक्षादुद्नः शीपालमिव वात आजत् ।
बृहस्पतिरनुमृश्या वलस्याभ्रमिव वात आ चक्र आ गाः ॥ ५ ॥
यदा वलस्य पीयतो जसुं भेद्बृहस्पतिरग्नितपोभिरर्कैः ।
दद्भिर्न जिह्वा परिविष्टमाददाविर्निधीँरकृणोदुस्रियाणाम् ॥ ६ ॥

(सूक्त १६)

(उदप्रुतः वयः न) जलमें तैरनेवाले पक्षियोंकी तरह (रक्षमाणाः) अपनी रक्षा करते हुए (वावदतः अभ्रियस्य घोषाः इव) गर्जनेवाले मेघोंकी गर्जनाके समान और (गिरि-भ्रजः मदन्तः ऊर्मयः न) पर्वतोंसे गिरनेवाले आनन्दपूर्ण जलप्रवाहोंके समान (अर्काः बृहस्पतिं अभि अनावन्) हमारे स्तोत्र बृहस्पतिकी स्तुति करते हैं ॥ १ ॥

(आंगिरसः गोभिः सं नक्षमाणः) अंगरस विद्याको जाननेवाला गौओंके साथ रहता है। (भगः इव अर्यमणं इत् निनाय) भगके- ऐश्वर्यवान्‌के समान अर्यमाको- श्रेष्ठ मनवालेको हमारे पास लाता है। (जने मित्रः न) जनसमूहमें मित्रकी तरह (दंपती अनक्ति) पति पत्नी सजाकर प्रकाशते हैं। (आजौ आशून् इव) युद्धमें घोडोंके समान, हे बृहस्पते ! (वाजय) हमें बलवान् बना ॥ २ ॥

(साधु-आर्याः) सज्जनोंके पास रहनेवाली, (अतिथिनीः) अतिथिके पास ले जाने योग्य, (इषिराः) दूधरूपी अन्न देनेवाली (स्पार्हाः) इच्छा करने योग्य, (सुवर्णाः) उत्तम रंगवाली, (अनवद्यरूपाः) अनिंदनीय सुंदर रूपवाली (गाः पर्वतेभ्यः वितूर्य) गौओंको पर्वतोंसे लाकर (निः ऊपे) फैलाते हैं (स्थिविभ्यः यवं इव) कोठियोंसे लाकर जौ को जैसा फैलाते हैं ॥ ३ ॥

(अर्कः ऋतस्य योनिं मधुना अवक्षिपन्) सूर्य जैसा यज्ञके स्थानको मधुसे भरता है, (द्योः उल्कां इव) द्युलोकसे उल्काको नीचे फेंकता है वैसा बृहस्पति (आप्रुषायन्) सींचता है, (बृहस्पतिः अश्मनः गाः उद्धरन्) बृहस्पति चट्टानसे गौओंका उद्धार करता है, (भूम्याः त्वचं उद्ना इव बिभेद) भूमिकी त्वचाको जलके समान तोडता है [जिससे पर्याप्त घास उत्पन्न होता है।] ॥ ४ ॥

(ज्योतिषा तमः अन्तरिक्षात् अप आजत्) प्रकाशसे अन्धकारको अन्तरिक्षसे हटाता है, (वातः उद्नः शीपालं इव) वायु जैसा पानीसे शैवालको हटाता है; (बृहस्पतिः अनुमृश्य, वलस्य गाः आ चक्रे) वैसा बृहस्पति विचार करके वलकी गौओंको लाकर फैलाता है (वातः अभ्रं इव) वायु जैसा मेघको फैलाता है ॥ ५ ॥

(यदा) जब (अग्नितपोभिः अर्कैः) अग्निके समान ताप करनेवाले अर्कोंसे- मंत्रोंसे (पीयतः वलस्य जसुं

बृहस्पतिरमत हि त्यदासां नाम स्वरीणां सदने गुहा यत् ।
आण्डेव भित्त्वा शकुनस्य गर्भमुदुस्रियाः पर्वतस्य त्मनाजत् ॥ ७ ॥
अश्नापिनद्धं मधु पर्यपश्यन्मत्स्यं न दीन उदनि क्षियन्तम् ।
निष्टज्जभार चमसं न वृक्षाद्बृहस्पतिर्विरवेणा विकृत्य ॥ ८ ॥
सोषामविन्दत्स स्वः सो अग्निं सो अर्केण वि बबाधे तमांसि ।
बृहस्पतिर्गोवपुषो वलस्य निर्मज्जानं न पर्वणो जभार ॥ ९ ॥
हिमेव पर्णा मुषिता वनानि बृहस्पतिनाकृपयद्वलो गाः ।
अनानुकृत्यमपुनश्चकार यात्सूर्यामासा मिथ उच्चरातः ॥ १० ॥
अभि श्यावं न कृशनेभिरश्वं नक्षत्रेभिः पितरो द्यामपिंशन् ।
रात्र्यां तमो अदधुर्ज्योतिरहन्बृहस्पतिर्भिनदद्रिं विदद्गाः ॥ ११ ॥
इदमकर्म नमो अभ्रियाय यः पूर्वीरन्वानोनवीति ।
बृहस्पतिः स हि गोभिः सो अश्वैः स वीरेभिः स नृभिर्नो वयो धात् ॥ १२ ॥ (८१)

भेद) लडनेवाले वलके शस्त्रको तोड दिया, तब (**दद्भिः परिविष्टं जिह्वा आदद्**) दांतोंसे चबाये हुए अन्नको जिह्वा खाती है, उस तरह (**उस्रियाणां निधीः आविः अकृणोत्**) गौओंके निधियोंको [जो वलके आधीन थे उनको सब लोगोंके हितार्थ] प्रकट किया ॥ ६ ॥

(**बृहस्पतिः आसां स्वरीणां**) बृहस्पतिने जब इन हंबारव करनेवाली गौओंका (**नाम अमत**) नाम-पता-जान लिया (**यत् सदने गुहा**) जो गुप्त सदनमें था, (**पर्वतस्य त्मना उस्रिया उत् आजत्**) पर्वतकी गुहामेंसे स्वयं गौवोंको बाहर निकाला, जैसा (**शकुनस्य आण्डा भित्त्वा गर्भं**) पक्षीके अण्डेको तोडकर बच्चा स्वयं बाहर आता है ॥ ७ ॥

(**अश्ना पिनद्धं मधु**) पत्थरसे ढके हुए मधुको-किलेमें बंद गौको- (**पर्यपश्यत्**) बृहस्पतिने वैसा देखा, (**दीने उदनि क्षियन्तं मत्स्यं न**) थोडे जलमें रहनेवाले मत्स्यको जैसे देखते है। (**बृहस्पतिः विरवेण विकृत्य**) बृहस्पतिने विशेष शब्द करनेवाले वज्रसे- उस किलेको- तोडकर (**वृक्षात् चमसं न**) वृक्षसे चमस बनाते हैं उस तरह उस किलेसे (**तत् निः जभार**) उस मधुको-गौओंको-बाहर निकाल लाया ॥ ८ ॥

(**स उषां अविन्दत्**) उस बृहस्पतिने उषाको प्राप्त किया, (**सः स्वः**) उसने प्रकाशको और (**सः अग्निं**) उसने अग्निको प्राप्त किया, पश्चात् (**सः अर्केण तमांसि वि बबाधे**) उसने सूर्यसे अन्धेरेको विनष्ट किया। (**बृहस्पतिः**) बृहस्पतिने (**वलस्य गोवपुषः**) वलके गोरूप धारण करनेवालेके शरीरसे (**पर्वणः न**) जोडोंसे चर्बी निकालते हैं वैसे (**मज्जानं निर्जभार**) चर्बीको निकाल लिया [अर्थात् वलको मारा ।] ॥ ९ ॥

(**हिमा इव**) हिमकालमें (**पर्णा मुषिता वनानि**) पान गिर गये इस कारण वन [दुःखी दीखते है उस तरह] (**बृहस्पतिना**) बृहस्पतिने छीनी गई (**गाः वलः कृपयत्**) गौओंके लिये वल दुःखी हुआ। (**अनानुकृत्यं अपुनः चकार**) जिसका कोई अनुकरण न कर सके, जो फिर होनेवाला नहीं, ऐसा यह कर्म हुआ। (**यात् सूर्यामासा मिथः उच्चरातः**) सूर्य और चन्द्र जिसका स्वयं वारंवार उच्चारण करते है [ऐसा यह कर्म हुआ है ।] ॥ १० ॥

(**कृशनेभिः श्यावं अश्वं न**) आभूषणोंसे श्याम घोडेको सजाते हैं वैसे (**पितरः नक्षत्रेभिः द्यां अभि अपिंशन्**) पितरोंने नक्षत्रोंसे द्युलोकको सजाया। (**रात्र्यां तमः अदधुः**) रात्रीमें अन्धकार और (**अहन् ज्योतिः**) दिनमें प्रकाशको रखा। (**बृहस्पतिः अद्रिं भिनद्**) बृहस्पतिने पर्वतको तोडा और (**गाः विदद्**) गौवें प्राप्त की ॥ ११ ॥

(**इदं अभ्रियाय नमः अकर्म**) यह हमने मेघको तोडने-

वाले [बृहस्पति] के लिये नमस्कार किया ! (यः पूर्वीः अन्वानोनवीति) जो पूर्वके अनुक्रमसे उपदेश करता है (सः बृहस्पतिः) वह बृहस्पति (गोभिः सः अश्वैः) गौओं और घोडों तथा (सः वीरेभिः सः नृभिः) वह वीरपुत्रों और नेताओंके साथ (नः वयः धात्) हमें दीर्घ-आयु देवे ॥ १२ ॥

इस सूक्तमें जो वीरताके कर्मोंका उल्लेख आया है वे वीरत्वके कर्म बृहस्पतिने किये हैं । यह बृहस्पति इन्द्रके समान ही वज्रका प्रयोग करता है । इन्द्रके समान ही बलको मारता है और किलेमें बंद रही गौवोंको मुक्त करता है ।

१ हे बृहस्पते ! वाजां आशून् इव वाजय— हे बृहस्पते ! युद्धमें घोडोंकी तरह हमें बलवान् कर ।

२ पर्वतेभ्य गाः बृहस्पतिः निः उपे— पर्वतकी गुफासे बृहस्पतिने गौवें छुडाईं ।

३ साध्वर्याः अतिथिनीः इषिराः स्पार्हाः सुवर्णाः अनवद्यरूपाः— सज्जनोंके पास रहने योग्य, अतिथिके योग्य, दुधारू, स्पृहणीय, उत्तम रंगवाली, सुंदर रूपवाली ये गौवें थीं । वे बलने चुराई थीं उनको पर्वतकी गुफामें रखा था, वहांसे बृहस्पतिने छुडाईं ।

४ बृहस्पतिः अश्मनः गाः उद्धरन्— बृहस्पतिने पत्थरोंकी गुहामेंसे गौवें छुडायीं ।

५ बृहस्पतिः अनुमृश्य वलस्य गाः आ चक्रे— बृहस्पतिने विचार करके बलकी अधीनतासे गौओंको छुडाया ।

६ बृहस्पतिः अग्नितपोभिः अर्कैः वलस्य पीयतः जत्रुं भेत्— बृहस्पतिने अग्निके समान अस्त्रोंसे बलके शत्रुका भेद किया ।

७ उस्रियाणां निधीः आविः अकृणोत्— गौवोंके निधिको प्रकट किया । गौवोंको बाहर निकाला ।

८ बृहस्पतिः स्वरीणां आसां सदने गुहा यत् नाम त्यद् अमत— बृहस्पतिने हंबारव करनेवाली गौवोंका स्थान पर्वतकी गुहामें है यह जान लिया ।

९ उस्रियाः पर्वतस्य त्मना अजत्— गौवें पर्वतकी गुहासे स्वयं बाहर आ गयीं ।

१० अश्ना पिनद्धं मधु पर्यपश्यत् बृहस्पतिः विरवेण विकृत्य तत् निः जभार— पत्थरसे मधु ढका है, गुहामें गौवें बंद है, यह बृहस्पतिने देखा, विशेष शब्द करनेवाले वज्रसे उस गुहाको तोडा और गौवोंको बाहर निकाला ।

११ बृहस्पतिः गोवपुषः वलस्य मज्जानं पर्वणः नि जभार— बृहस्पतिने गोरूपधारी बलकी मज्जा बाहर निकाली और पर्व तोड दिये ।

१२ बृहस्पतिना गाः वलः अकृपयत्— बृहस्पतिने गौवोंको खुला किया इससे बलको बडा दुःख हुआ ।

१३ अनानुकृत्यं अपुनः चकार, यात् सूर्यामासा मिथ उच्चरातः— यह कृत्य जो बृहस्पतिने किया, उसका कोई अनुकरण कर नहीं सकता, न कोई फिर ऐसा कर सकता है, इसका वर्णन सूर्य और चन्द्र वारंवार करते हैं ।

१४ बृहस्पतिः अद्रिं भिनत् , गाः विदत्— बृहस्पतिने पर्वतको तोडा और गौवें प्राप्त कीं ।

१५ इदं अभ्रियाय नमः अकर्म— यह हम अभ्रमें स्थित बृहस्पतिको नमस्कार करते हैं ।

१६ बृहस्पतिः गोभिः अश्वैः वीरेभिः नृभिः नः वयो धात्— बृहस्पति गौवों, घोडों, वीर पुत्रों और नेताओंके साथ हमें पूर्ण आयु देवे ।

इस सूक्तमें बृहस्पतिका यह प्रशंसनीय कर्म है ऐसा वर्णन है । यह बृहस्पति वज्र बर्तता है, किला तोडता है, बलको मारता है और गौवोंको खुला करता है । ऐसे ही इन्द्रके कर्म अन्यत्र वेदमंत्रोंमें कहे हैं । बृहस्पतिको 'अभ्रिय' १२ वें मंत्रमें कहा है । अभ्रमें रहनेवाला सूर्य होता है । विद्युत् भी मेघोंमें रहती है ।

यह तथा ऐसे वर्णनके सूक्त आलंकारिक वर्णनके माने जाते है । 'वल' मेघ है, विद्युत् वज्र है, सूर्य किरणें गौवें हैं । उषाके पूर्व ये सूर्यकिरण रूपी गौवें बलने अपने किलेमें बंद की थीं । यह ज्ञानपतिने खोली और बाहर निकालीं ।

स उषा अविदत्, स स्वः, सः अग्निं, सः अर्केण तमांसि वि बबाधे (मंत्र ९)— उस बृहस्पतिने प्रथम उषा, पश्चात् प्रकाश, अग्नि और पश्चात् सूर्य लाया और अन्धकारको दूर किया । इस मंत्रसे स्पष्ट है कि रात्रीके अन्धेरेने, मेघोंने किरणोंको छिपाया था । सूर्य आनेसे वह बल राक्षस मर गया और गोरूपी किरणें स्वेच्छा विहार करने लगीं ।

यह सूक्त तथा ऐसे वर्णन करनेवाले अन्य सूक्त इस अलंकारके वर्णन समझने योग्य हैं ।

[सूक्त १७]

(ऋषिः — १-१८ कृष्णः, १९ वसिष्ठः । देवता — इन्द्रः ।)

(ऋ. १०।४३।१-११)

अच्छा म इन्द्रं मतयः स्वर्विदः सध्रीचीर्विश्वा उशतीरनूषत ।
परि ष्वजन्ते जनयो यथा पतिं मर्यं न शुन्ध्युं मघवानमूतये ॥ १ ॥

न घा त्वद्रिगप वेति मे मनस्त्वे इत्कामं पुरुहूत शिश्रय ।
राजेव दस्म नि षदोऽधि बर्हिष्यस्मिन्त्सु सोमेऽवपानमस्तु ते ॥ २ ॥

विषूवृदिन्द्रो अमतेरुत क्षुधः स इद्रायो मघवा वस्व ईशते ।
तस्येदिमे प्रवणे सप्त सिन्धवो वयो वर्धन्ति वृषभस्य शुष्मिणः ॥ ३ ॥

वयो न वृक्षं सुपलाशमासदन्त्सोमास इन्द्रं मन्दिनश्चमूषदः ।
प्रैषामनीकं शवसा दविद्युतद्विदत्स्वर्मनवे ज्योतिरार्यम् ॥ ४ ॥

कृतं न श्वघ्नी वि चिनोति देवने संवर्गं यन्मघवा सूर्यं जयत् ।
न तत्ते अन्यो अनु वीर्यं शकन्न पुराणो मघवन्नोत नूतनः ॥ ५ ॥

(सूक्त १७)

(**मे मतयः**) मेरी बुद्धिपूर्वक की हुई स्तुतियां (**स्वर्विदः सध्रीचीः**) आत्मज्ञानसे युक्त सीधी (**विश्वाः उशतीः**) सब कामना युक्त (**अच्छा इन्द्रं आ अनूषत**) अच्छी तरह इन्द्रको प्राप्त होती हैं। ये स्तुतियां (**मघवानं ऊतये**) इन्द्रको अपनी रक्षाके लिये इन्द्रके पास वैसी जाती हैं (**शुन्ध्युं न मर्यं पतिं**) स्वच्छ पवित्र मानव पतिको (**यथा जनयः परि ष्वजन्ते**) जैसी स्त्रियां आलिंगन देती हैं ॥ १ ॥

हे (**पुरुहूत**) सबके द्वारा जिसकी स्तुति होती है ऐसे इन्द्र! (**मे मनः त्वद्रिक्**) मेरा मन तेरे पास जाकर (**न घ अपवेति**) वापस नहीं फिरता, (**त्वे इत् कामं शिश्रय**) तेरे ऊपर ही मैंने अपनी कामना रखी है। हे (**दस्म**) दर्शनीय! (**राजा इव बर्हिषि अधि निषदः**) राजाके समान इस आसनपर बैठ। (**अस्मिन् सोमे ते सु अवपानं अस्तु**) इस सोमरसमें तेरा उत्तम पान हो ॥ २ ॥

(**अमतेः उत क्षुधः**) दुर्बुद्धि और भूखको (**इन्द्रः विषुवृत्**) इन्द्र सब प्रकारसे शत्रुको दूर करनेवाला है। (**सः इत् मघवा वस्वः रायः ईशते**) वह इन्द्र निश्चयसे निवासक धनका स्वामी है। (**इमे सप्त सिन्धवः**) ये सात नदियां (**प्रवणे**) नीचले भागमें बहती हुईं (**तस्य वृषभस्य शुष्मिणः इत्**) उस बलवान् और उत्साही वीरके (**वयः वर्धन्ति**) शक्तिको बढाती हैं ॥ ३ ॥

(**सुपलाशं वृक्षं वयः आसदन् न**) उत्तम पत्तोंवाले वृक्षपर पक्षी बैठते हैं उस तरह (**मन्दिनः चमूषदः सोमासः इन्द्रं**) आनंद बढानेवाले पात्रमें रखे सोमरस इन्द्रका आश्रय करते हैं। (**एषां अनीकं शवसा प्रदविद्युतत्**) इनका सैन्य बलसे चमकता रहा और (**आर्यं स्वः ज्योतिः मनवे विदत्**) आत्मज्ञान पूर्ण आर्य तेज मनुष्यके लिये प्राप्त हुआ ॥ ४ ॥

(**देवने श्वघ्नी कृतं न विचिनोति**) खेलमें जुवा खेलनेवाला जीतनेवाले पासेको जैसा इकट्ठा करता है उस प्रकार (**यत् संवर्गं सूर्यं मघवा जयत्**) सबको समेटनेवाले सूर्यको इन्द्रने जीता। (**मघवन्**) हे इन्द्र! (**न पुराणः न उत नूतनः**) पुराणा वा नया (**अन्यः ते तत् वीर्यं न अनुशकन्**) दूसरा कोई तेरे वीरताकी बराबरी नहीं कर सकता है ॥ ५ ॥

विशंविशं मघवा पर्यशायत जनानां धेना अवचाकशद्वृषा ।
यस्याह शक्रः सवनेषु रण्यति स तीव्रैः सोमैः सहते पृतन्यतः ॥ ६ ॥

आपो न सिन्धुमभि यत्समक्षरन्त्सोमास इन्द्रं कुल्या इव ह्रदम् ।
वर्धन्ति विप्रा महो अस्य सादने यवं न वृष्टिर्दिव्येन दानुना ॥ ७ ॥

वृषा न क्रुद्धः पतयद्रजःस्वा यो अर्यपत्नीरकृणोदिमा अपः ।
स सुन्वते मघवा जीरदानवेऽविन्दज्ज्योतिर्मनवे हविष्मते ॥ ८ ॥

उज्जायतां परशुर्ज्योतिषा सह भूया ऋतस्य सुदुघा पुराणवत् ।
वि रोचतामरुषो भानुना शुचिः स्वर्ण शुक्रं शुशुचीत सत्पतिः ॥ ९ ॥

गोभिष्टरेमामतिं दुरेवां यवेन क्षुधं पुरुहूत विश्वाम् ।
वयं राजभिः प्रथमा धनान्यस्माकेन वृजनेना जयेम ॥ १० ॥

बृहस्पतिर्नः परि पातु पश्चादुतोत्तरस्मादधरादघायोः ।
इन्द्रः पुरस्तादुत मध्यतो नः सखा सखिभ्यो वरिवः कृणोतु ॥ ११ ॥

(**मघवा विशं विशं पर्यशायत**) इन्द्र प्रत्येक प्रजाजनको प्राप्त होता है (**वृषा जनानां धेना अवचाकशत्**) वह शक्तिमान इन्द्र लोगोंकी वाणीको सुनता है। (**यस्य अह सवनेषु शक्रः रण्यति**) जिसके सोमयागमें समर्थ इन्द्र आनन्द मनाता है, (**सः तीव्रैः सोमैः पृतन्यतः सहते**) वह तीखे सोमरसोंसे शत्रुसेनाको जीत लेता है ॥ ६ ॥

(**आपः न सिन्धुं अभि**) जैसे जलप्रवाह नदीकी ओर जाते हैं, और (**कुल्या ह्रदं इव**) जैसे नाले तालावके पास जाते हैं, वैसे (**सोमासः इन्द्रं समक्षरन्**) सोमरस इन्द्रके पास बहते हैं। (**सादने विप्राः अस्य महः वर्धयन्ति**) यज्ञशालामें ब्राह्मण इस इन्द्रके महत्वको बढाते हैं, जैसी (**दिव्येन दानुना वृष्टिः यवं न**) आकाशसे दानरूप आयी वृष्टि जौको बढाती है ॥ ७ ॥

(**क्रुद्धः वृषा न**) क्रुद्ध हुए सांडके समान (**रजःसु आ पतयत्**) सारे स्थानोंमें जो पहुंचता है, (**यः इमाः आपः अर्यपत्नीः अकृणोत्**) जिसने इन जलप्रवाहोंको आर्योंकी पत्नी रूप बनाया- आर्योंका सहायक बनाया, (**सः मघवा**) उस इन्द्रने (**सुन्वते जीरदानवे हविष्मते मनवे**) सोमयाग करनेवाले, दान देनेवाले, हवि अर्पण करनेवाले मनुष्यके लिये (**ज्योतिः अविन्दत्**) प्रकाश प्रकट किया ॥ ८ ॥

(**ज्योतिषा सह परशुः उज्जायतां**) ज्योतिके साथ वज्र ऊपर चढे, विजय प्राप्त करे; (**ऋतस्य सुदुघाः पुराणवत् भूयाः**) यज्ञकी दुधारू गौवें पुरानी जैसी- परिचित जैसी होवें। (**अरुषः शुचिः भानुना विरोचतां**) पवित्र अग्नि अपने लाल तेजसे प्रकाशे; उसी तरह (**सत्पतिः स्वः न शुक्रं शुशुचीत**) सज्जनोंका पालक इन्द्र सूर्यके समान शुद्ध रीतिसे चमके ॥ ९ ॥

हे (**पुरुहूत**) बहुतों द्वारा प्रशंसित इन्द्र! (**वयं गोभिः दुरेवां अमतिं तरेम**) हम गौओंसे दुर्गति और निर्बुद्धताको दूर करेंगे, (**विश्वां क्षुधं यवेन**) सब भूखको जौसे दूर करेंगे, (**वयं राजभिः**) हम क्षत्रियोंके साथ (**प्रथमाः**) मुखिया होकर (**अस्माकेन वृजनेन धनानि जयेम**) अपने निज बलसे धनोंको जीतेंगे ॥ १० ॥

(**बृहस्पतिः नः अघायोः**) बृहस्पति हमें पापीसे (**पश्चात् उत्तरस्मात् अधरात्**) पीछेसे ऊपरसे और नीचेसे (**परि पातु**) बचावे। (**नः सखा इन्द्रः**) हमारा मित्र इन्द्र (**पुरस्तात् उत मध्यतः**) हमें सामनेसे और

बृहस्पते युवमिन्द्रश्च वस्वो दिव्यस्येशाथे उत पार्थिवस्य।
धत्तं रयिं स्तुवते कीरये चिद्यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ १२ ॥ (ऋ. ७.९७।१०) (२८)

॥ इति द्वितीयोऽनुवाकः ॥ २ ॥

मध्यसे बचावे और (सखिभ्यः वरिवः कृणोतु) हमारे मित्रोंके लिये धन देवे ॥ ११ ॥

हे बृहस्पते ! (युवं इन्द्रः च) तू और इन्द्र दोनों (दिव्यस्य उत पार्थिवस्य वस्वः) दिव्य और पार्थिव धनके (ईशाथे) स्वामी हैं। इसलिये (स्तुवते कीरये चित् रयिं धत्तं) स्तुति करनेवाले ज्ञानीके लिये धन दो। और (सदा नः यूयं स्वस्तिभिः पात) सदा हमारी तुम कल्याणोंके साथ रक्षा करो ॥ १२ ॥ (ऋ. ७।९७।१०)

इस सूक्तमें बृहस्पति और इन्द्रको लक्ष्य करके जो वीरके गुण कहे हैं वे ये हैं—

१ मे स्वर्विदः सध्रीचीः विश्वा उशतीः मतयः इन्द्रं अच्छ अनूषत— आत्मज्ञानसे युक्त, सरलता युक्त, सब सत्प्रवृत्तीवाली मेरी स्तुतियां इन्द्रकी ही होती हैं।

२ यथा जनयः शुन्ध्युं मर्यं पतिं परि ष्वजन्ते— जैसी स्त्रियां शुद्ध मानव पतिको ही आलिंगन देती हैं, उस तरह मेरी स्तुतियां इन्द्रकी ही स्तुति करती है।

३ मघवानं ऊतये— इन्द्रकी स्तुति हम अपनी रक्षाके लिये करते हैं।

४ हे पुरुहूत ! त्वे इत् मे मनः कामं शिश्रय, न घा त्वद्रिग् अपवेत्ति— हे बहुतों द्वारा प्रशंसित इन्द्र ! तेरे ऊपर मेरा मन यथेच्छ आश्रय करता है, और वह तेरेसे कभी पीछे हटता नहीं।

५ हे दस्म ! राजा इव बर्हिषि अधि निषद— हे दर्शनीय ! राजाके समान तू इस आसन पर बैठ।

६ इन्द्रः अमतेः उत क्षुधः विभूवत्— इन्द्र दरिद्रता और भूखको दूर करता है।

७ सः मघवा वस्वः रायः ईशते— वह धनवान् इन्द्र निवास करनेवाले धनोंका स्वामी है।

८ इमे सप्त सिन्धवः प्रवणे वृषभस्य शुष्मिणः तस्य वयः वर्धन्ति— ये सात नदियां जैसी नीचेके स्थानमें बढती हैं, उस तरह उस बलवान् समर्थ इन्द्रका बल बढाती हैं।

९ एषां अनीकं शवसा दविद्युतत्— इनका सैन्य बलसे चमका।

१० मनवे आर्य स्वः ज्योतिः विदत्— मानवके लिये आर्य तेज प्राप्त किया।

११ मघवा सूर्यं जयत्— इन्द्रने सूर्यको प्राप्त किया।

१२ न पुराणः व उत नूतनः अन्यः ते तत् वीर्यं न अनुशाकत्— पुराणा या नया कोई दूसरा तेरे वीर्यका अनुकरण नहीं कर सकता।

१३ विशंविशं मघवा पर्यशायत— प्रत्येक मनुष्यको इन्द्र देखता है।

१४ जनानां धेना वृषा अवचाकशत्— मानवोंका कहना बलवान् इन्द्र सुनता है।

१५ स पृतन्यतः सहते— वह सेना समेत आनेवाले शत्रुका पराभव करता है।

१६ सादने विप्राः महः वर्धन्ति— यज्ञमें ज्ञानी इसका महत्व बढाते हैं।

१७ क्रुद्धः वृषा न रजःसु आ पत्यत्— क्रोधित बैलकी तरह यह सब स्थानोंमें जाता है।

१८ स मघवा जीरदानवे मनवे ज्योतिः अविन्दत्— वह धनवान् इन्द्र दानी मानवके लिये प्रकाश देता है।

१९ परशुः ज्योतिषा सह उज्जायताम्— शस्त्र तेजसे विजयी हो।

२० ऋतस्य सुदुघा भूयाः— यज्ञकी गौवें बहुत हों।

२१ शुचिः भानुना अरुषः विरोचताम्— शुद्ध अपने तेजसे चमके।

२२ सत्पतिः स्वः न शुक्रं शुशुचीत— सज्जनोंका पालक आत्मज्योतिके समान विशुद्ध रीतिसे प्रकाशता रहे।

२३ गोभिः दुरेवां अमतिं तरेम— गौओंसे दरिद्रताको और बुद्धिहीनताको दूर करेंगे।

२४ यवेन विश्वां क्षुधं तरेम— जौसे सब प्रकारकी भूखको दूर करेंगे।

२५ वयं राजभिः प्रथमा असाकेन वृजनेन धनानि जयेम— हम क्षत्रियोंके साथ रहकर पहिले होकर हमारे प्रबल प्रयत्नसे धनोंको जीतेंगे।

२६ बृहस्पतिः अघायोः नः परि पातु— ज्ञानपति पापीसे हमारी रक्षा करे।

[सूक्त १८]

(ऋषिः — १-३ मेधातिथिः प्रियमेधश्च; ४-६ वसिष्ठः। देवता — इन्द्रः।)

वयमु त्वा तदिदर्था इन्द्र त्वायन्तः सखायः । कण्वा उक्थेभिर्जरन्ते ॥ १ ॥
न घेमन्यदा पपन वज्रिन्नपसो नविष्टौ । तवेदु स्तोमं चिकेत ॥ २ ॥
इच्छन्ति देवाः सुन्वन्तं न स्वप्नाय स्पृहयन्ति । यन्ति प्रमादमतन्द्राः ॥ ३ ॥
वयमिन्द्र त्वायवोऽभि प्र णोनुमो वृषन् । विद्धी त्व१स्य नो वसो ॥ ४ ॥
मा नो निदे च वक्तवेऽर्यो रन्धीरराव्णे । त्वे अपि क्रतुर्मम ॥ ५ ॥
त्वं वर्मासि सप्रथः पुरोयोधश्च वृत्रहन् । त्वया प्रति ब्रुवे युजा ॥ ६ ॥ (१०४)

---

२७ इन्द्रः नः सखा सखिभ्यः वरिवः कृणोतु— इन्द्र हमारा मित्र हम मित्रोंके लिये धन देवे।

२८ बृहस्पते युवं इन्द्रः च दिव्यस्य उत पार्थिवस्य वस्वः ईशाथे — हे बृहस्पते! तू और इन्द्र मिलकर तुम दोनों दिव्य और पार्थिव धनके स्वामी हो। वसु- जिससे मनुष्य यहां सुखसे वस सकता है वह धन।

२९ स्तुवते कीरये रयिं धत्तं— स्तुति करनेवाले ज्ञानीको धन दो।

३० यूयं सदा नः स्वस्तिभिः पातं— तुम सदा हमारा रक्षण कल्याणोंके साथ करो।

॥ यहां द्वितीय अनुवाक समाप्त ॥

(सूक्त १८)

हे इन्द्र! (**वयं उ तत्-इत्-अर्थाः**) हम उस-तुम्हारी मित्रताके प्रयोजन सिद्ध करनेके इच्छुक (**त्वायन्तः सखायः**) तेरे पास आनेकी इच्छावाले तेरे मित्र (**कण्वाः**) कण्व गोत्रके लोग-ज्ञानीजन- (**उक्थेभिः त्वा जरन्ते**) स्तोत्रोंसे तेरी स्तुति करते हैं ॥ १ ॥ (ऋ. ८।२।१६)

हे (**वज्रिन्**) वज्रधारी इन्द्र! (**अपसः नविष्टौ**) इस यज्ञकर्ममें (**न घ ईं अन्यत् आपपन**) किसी अन्यकी मैंने स्तुति नहीं की। (**तव इत् उ स्तोमं चिकेत**) तेरी स्तुति करना ही मैं जानता हूं ॥ २ ॥ (ऋ. ८।२।१७)

(**देवाः सुन्वन्तं इच्छन्ति**) देव यज्ञकर्ताको चाहते हैं, (**स्वप्नाय न स्पृहयन्ति**) आलसी मनुष्यको चाहते नहीं। (**अतन्द्राः प्र-मादं यन्ति**) आलस्य छोडनेवाले ही विशेष आनन्द देनेवाले सोमको प्राप्त करते हैं ॥ ३ ॥ (ऋ. ८।२।१८)

हे इन्द्र! हे (**वृषन्**) शक्तिमान्! (**वयं त्वायवः**) हम तेरे पास आनेवाले तेरी (**अभि प्र णोनुमः**) ही स्तुति करते हैं। हे (**वसो**) वसानेवाले! (**नः अस्य तु विद्धि**) हमारे इस कर्मको जान ॥ ४ ॥ (ऋ. ७।३१।४)

(**अर्यः**) तू श्रेष्ठ हो, इसलिये (**निदे वक्तवे**) निन्दक, बुरा भाषण करनेवाले और (**अ-राव्णे**) कंजूसके (**नः मा रन्धीः**) अधीन हमें मत रख, (**मम क्रतुः त्वे अपि**) मेरा संकल्प-मेरा कर्म तेरे लिये ही है ॥ ५ ॥ (ऋ. ७।३१।५)

(**त्वं सप्रथः वर्म असि**) तू मेरा बडा कवच है, हे (**वृत्रहन्**) वृत्रको मारनेवाले इन्द्र! तू (**पुरो-योधः च**) आगे बढकर युद्ध करनेवाला है। (**त्वया युजा प्रति ब्रुवे**) तेरे साथ रहकर मैं शत्रुओंको उत्तर देता हूं ॥ ६ ॥ (ऋ. ७।३१।६)

इस सूक्तमें वीरताके वर्णन ये हैं—

१ हे **वज्रिन्—** वज्रधारी इन्द्र!

२ **वृषन्—** बलवान,

३ **वसु—** बसानेवाला, सबका आधार,

४ **त्वं सप्रथः वर्म असि—** तू हमारा विशाल कवच है,

५ **वृत्रहन्—** वृत्रको मारनेवाला,

६ **पुरोयोधः—** आगे होकर शत्रुसे युद्ध करनेवाला, शत्रु पर आक्रमण करके उसके साथ युद्ध करनेवाला।

भक्तिका वर्णन इस सूक्तमें यह है—

१ **वयं तदिदर्थाः त्वायन्तः सखायः—** हम तेरे पास आनेवाले, तेरे प्राप्तिका उद्देश मनमें रखनेवाले तेरे मित्र हैं।

२ **त्वा जरन्ते—** तेरी स्तुति करते हैं।

३ **न अन्यत् आपपन—** मैं दूसरेकी स्तुति नहीं करता।

[सूक्त १९]

(ऋषिः — १-७ विश्वामित्रः। देवता — इन्द्रः।)
(ऋ. ३।३७।१-७)

वार्त्रहत्याय शवसे पृतनाषाह्याय च । इन्द्र त्वा वर्तयामसि ॥ १ ॥
अर्वाचीनं सु ते मन उत चक्षुः शतक्रतो । इन्द्र कृण्वन्तु वाघतः ॥ २ ॥
नामानि ते शतक्रतो विश्वाभिर्गीर्भिरीमहे । इन्द्राभिमातिषाह्ये ॥ ३ ॥
पुरुष्टुतस्य धामभिः शतेन महयामसि । इन्द्रस्य चर्षणीधृतः ॥ ४ ॥
इन्द्रं वृत्राय हन्तवे पुरुहूतमुप ब्रुवे । भरेषु वाजसातये ॥ ५ ॥
वाजेषु सासहिर्भव त्वामीमहे शतक्रतो । इन्द्र वृत्राय हन्तवे ॥ ६ ॥
द्युम्नेषु पृतनाज्ये पृत्सुतूर्षु श्रवःसु च । इन्द्र साक्ष्वाभिमातिषु ॥ ७ ॥ (१११)

---

४ तव स्तोमं चिकेत— तेरा स्तोत्र ही हम जानते हैं।

५ वयं त्वायवः अभि प्र णोनुमः— हम तेरे पास आते और तुझे ही प्रणाम करते हैं।

६ नः अस्य विद्धि— हमारे इस स्तोत्रको तू जान।

७ मम क्रतुः त्वं अपि— मेरा यज्ञ तेरे लिये ही है।

८ इच्छन्ति देवाः सुन्वन्तं— देव यज्ञकर्ताको चाहते हैं।

९ स्वप्नाय न स्पृहयन्ति— देव सुस्तको चाहते नहीं।

१० अतन्द्राः प्र-मादं यन्ति— उद्योगी विशेष आनन्दको प्राप्त करते हैं।

११ निदे वक्तवे अराव्णे नः मा रन्धीः— निन्दक, दुष्ट भाषी तथा कंजूसके अधीन हमें देकर हमारा नाश न कर।

(सूक्त १९)

(**वार्त्र-हत्याय**) शत्रुओंको मारनेके लिये, (**शवसे**) बल प्राप्तिके लिये, (**पृतनाषाह्याय**) शत्रुसेनाओंको जीतनेके लिये, हे इन्द्र! (**त्वा आ वर्तयामसि**) तुझे हम अपनी ओर मोड लाते हैं ॥ १ ॥

हे (**शतक्रतो इन्द्र**) सैकडों शक्तियोंवाले इन्द्र! (**वाघतः**) तेरे उपासक (**ते मनः उत चक्षुः**) तेरे मनको और चक्षुको (**अर्वाचीनं सु कृण्वन्तु**) इधरकी ओर उत्तम रीतिसे करें ॥ २ ॥

हे (**शतक्रतो इन्द्र**) सैकडों शक्तियोंवाले इन्द्र! (**अभिमाति-षाह्ये**) शत्रुओंपर विजय पानेके लिये (**विश्वाभिः गीर्भिः**) सब वाणियोंसे (**ते नामानि ईमहे**) तेरे नामोंको हम लेते हैं ॥ ३ ॥

(**पुरुष्टुतस्य**) अनेकों द्वारा प्रशंसित (**चर्षणी-धृतः**) मनुष्योंको सहारा देनेवाले (**इन्द्रस्य**) इन्द्रके (**शतेन धामभिः**) सौ स्थानों या सामर्थ्योंसे (**महयामसि**) उसकी महिमा गाते हैं ॥ ४ ॥

(**पुरुहूतं इन्द्रं**) बहुतों द्वारा प्रशंसित इन्द्रको (**वृत्राय हन्तवे**) शत्रुको मारनेके लिये और (**भरेषु वाजसातये**) युद्धोंमे धन प्राप्त करनेके लिये (**उप ब्रुवे**) बुलाते हैं ॥ ५ ॥

हे (**शतक्रतो इन्द्र**) सैकडों कर्म करनेवाले इन्द्र! (**वाजेषु सासहिः भव**) तू युद्धोंमें शत्रुको जीतनेवाला हो। (**वृत्राय हन्तवे**) वृत्रको मारनेके लिये (**त्वां ईमहे**) तुझे बुलाते हैं ॥ ६ ॥

(**द्युम्नेषु**) धन प्राप्त करनेमें, (**पृतनाज्ये**) सेनाके साथ युद्ध करनेके समय, (**पृत्सु तूर्षु**) सेनाओंका शीघ्र पराभव करनेके समय, (**श्रवःसु च**) यश प्राप्तिके समय, (**अभि-मातिषु**) शत्रुओंका सामना करनेके समय, हे इन्द्र! (**साक्ष्व**) हमारे साथ रह ॥ ७ ॥

इसमें वीरताके निर्देश ये हैं—

१ **वार्त्र-हत्य—** शत्रुको मारना,
२ **शवः—** बल,
३ **पृतना-साह्य—** शत्रुसेनाका पराभव करना,
४ **शतक्रतुः—** सैकडों शक्तिवाला,
५ **अभिमाति-साह्य—** शत्रुका पराभव करना,
६ **चर्षणी-धृत्—** मनुष्योंका आधार,
७ **वृत्राय हन्तवे—** वृत्र, शत्रुको मारना,

[सूक्त २०]

(ऋषिः — १-४ विश्वामित्रः; ५-७ गृत्समदः । देवता — इन्द्रः ।)

शुष्मिन्तमं न ऊतये द्युम्निनं पाहि जागृविम् । इन्द्र सोमं शतक्रतो ॥ १ ॥
इन्द्रियाणि शतक्रतो या ते जनेषु पञ्चसु । इन्द्र तानि त आ वृणे ॥ २ ॥
अगन्निन्द्र श्रवो बृहद् द्युम्नं दधिष्व दुष्टरम् । उत्ते शुष्मं तिरामसि ॥ ३ ॥
अर्वावतो न आ गह्यथो शक्र परावतः । उ लोको यस्ते अद्रिव इन्द्रेह तत आ गहि ॥ ४ ॥
इन्द्रो अङ्ग महद्भयमभी षदप चुच्यवत् । स हि स्थिरो विचर्षणिः ॥ ५ ॥
इन्द्रश्च मृलयाति नो न नः पश्चादघं नशत् । भद्रं भवाति नः पुरः ॥ ६ ॥
इन्द्र आशाभ्यस्परि सर्वाभ्यो अभयं करत् । जेता शत्रून्विचर्षणिः ॥ ७ ॥ (११८)

---

८ **भरेषु वाजसातये**— युद्धोंमें धन प्राप्त करना,
९ **वाजेषु सासहिः**— युद्धोंमें विजयी,
१० **पृतनाज्यं**— शत्रुसेनाका पराभव,
११ **पूरसु तूर्षु**— शीघ्र पराभव करनेके लिये,
१२ **अभिमाति**— शत्रुको जीतना।

भक्ति— १ ते मनः चक्षुः अर्वाचीनं कृण्वन्तु— तेरा मन और आंख हमारी ओर आकर्षित हो,
२ **ते नामानि ईमहे**— तेरे नाम लेते हैं।
३ **शतेन धामभिः महयामसि**— सैकडों स्थानोंसे तेरी महिमा गाते हैं।
४ **त्वां ईमहे**— तेरी प्रार्थना करते हैं।
५ **साक्व**— हमारे साथ रह।

(सूक्त २०)

हे (**शतक्रतो इन्द्र**) हे सैकडों सामर्थ्यवान् इन्द्र! (**नः ऊतये**) हमारी रक्षा करनेके लिये (**शुष्मिन्तमं**) बल बढानेवाले (**द्युम्निनं**) चमकीले तेजस्वी, (**जागृविं सोमं**) सावधान रखनेवाले सोमरसको (**पाहि**) पी॥ १॥
(ऋ. ३।३७।८)

हे शतक्रतो इन्द्र! (**पञ्चसु जनेषु**) पांच प्रकारके जनोंमें (**या ते इंद्रियाणि**) जो तेरी शक्तियां हैं, (**तानि ते आ वृणे**) उनको तुझसे मैं प्राप्त करता हूं॥ २॥
(ऋ. ३।३७।९)

हे इन्द्र! (**बृहत् श्रवः अगन्**) तूने बडा यश प्राप्त किया है। (**दुष्टरं द्युम्नं दधिष्व**) दुस्तर तेजको धारण कर। (**ते शुष्मं उत् तिरामसि**) तेरे उत्साहको हम बहुत बढाते हैं॥ ३॥
(ऋ. ३।३७।१०)

हे (**शक्र**) सामर्थ्यवान्! (**अर्वावतः नः आ गहि**) पाससे हमारे पास आ (**अथ उ परावतः**) और दूरसे भी आ। हे (**अद्रिवः इन्द्र**) पहाडी किलेमें रहनेवाले इन्द्र! (**यः ते उ लोकः**) जो तेरा स्थान हो (**ततः इह आ गहि**) वहांसे यहां आ॥ ४॥
(ऋ. ३।३७।११)

हे (**अंग**) प्रिय! (**इन्द्रः महत् भयं**) इन्द्र बडे भयके (**अभी-षद्**) साथ मुकाबला करता है और उसको (**अप चुच्यवत्**) दूर भगाता है, (**हि सः स्थिरः विचर्षणिः**) क्योंकि वह स्थिर है और सबका देखनेवाला है॥ ५॥
(ऋ. २।४१।१०)

(**इन्द्रः च नः मृलयाति**) इंद्र हमें सुखी करता है इसलिये (**अघं नः पश्चात् न नशत्**) पाप हमारे पीछे नहीं लगता और (**भद्रं नः पुरः भवाति**) कल्याण हमारे सन्मुख रहेगा॥ ६॥
(ऋ. २।४१।११)

(**इन्द्रः सर्वाभ्यः आशाभ्यः परि**) इन्द्र सब दिशाओंसे (**अभयं करत्**) निर्भयता करता है क्योंकि वह (**शत्रून् जेता विचर्षणिः**) शत्रुओंको जीतनेवाला और सबका विशेष रीतिसे देखभाल करनेवाला है॥ ७॥
(ऋ. २।४१।१२)

इस सूक्तमें वीर इन्द्रके गुण ये वर्णन किये हैं—

१ **शतक्रतुः**— सैकडों शक्तिवाला, सैकडों कर्मोका कर्ता,
२ **इन्द्रः**— (**इन्-द्रः**) शत्रुका विदारण करनेवाला,
३ **शक्रः**— सामर्थ्यवान्,
४ **अंगः**— प्रिय,
५ **नः ऊतये**— हमारी रक्षा करनेके लिये यत्न कर,

[सूक्त २१]

(ऋषिः — १-११ सव्यः। देवता — इन्द्रः।)

(ऋ. १।५३।१-११)

न्यू३षु वाचं प्र महे भरामहे गिर इन्द्राय सदने विवस्वतः।
नू चिद्धि रत्नं ससतामिवाविदन्न दुष्टुतिर्द्रविणोदेषु शस्यते ॥ १ ॥
दुरो अश्वस्य दुर इन्द्र गोरसि दुरो यवस्य वसुन इनस्पतिः।
शिक्षानरः प्रदिवो अकामकर्शनः सखा सखिभ्यस्तमिदं गृणीमसि ॥ २ ॥
शचीव इन्द्र पुरुकृद्द्युमत्तम तवेदिदमभितश्चेकिते वसु।
अतः संगृभ्याभिभूत आ भर मा त्वायतो जरितुः काममूनयीः ॥ ३ ॥

६ **पञ्चसु जनेषु ते इंद्रियाणि आ वृणे—** पञ्च जनोंमें जो तेरी शक्तियां हैं उनको मैं प्राप्त करता हूं।

७ **बृहत् श्रवः असन्—** तुम्हारा यश बडा है।

८ **दुष्टरं द्युम्नं दधीष्व—** तू दुस्तर तेज धारण करता है।

९ **ते शुष्मं उत् तिरामसि—** तेरे बलका हम बहुत वर्णन करके बढाते हैं।

१० **अद्रिवः—** वज्रधारी, किलेमें रहनेवाला,

११ **महत् भयं अभीषत् अप चुच्यवत्—** बडे भयका मुकाबला करके उसको दूर करता है।

१२ **सः हि स्थिरः विचर्षणिः—** वह स्थिर रहता है और सब प्रजाका विशेष निरीक्षण करता है।

१३ **इन्द्रः नः मृळयाति—** इन्द्र हमें सुखी करता है।

१४ **अघं नः पश्चात् न नशत्—** इस कारण पाप हमारा पीछा नहीं करता।

१५ **भद्रं भवाति नः पुरः—** कल्याण हमारे सामने रहता है।

१६ **इन्द्रः सर्वाभ्यः आशाभ्यः अभयं करत्—** इन्द्र सब दिशाओंसे निर्भयता करता है।

१७ **शत्रून् जेता विचर्षणिः—** वह इन्द्र शत्रुओंको जीतनेवाला और सब प्रजाजनोंकी देखभाल करता है।

सोमका वर्णन—

१ **शुष्मिन्तमः—** बल बढानेवाला,

२ **द्युम्नी—** चमकीला, तेजस्वी, अंधेरेमें चमकनेवाला,

३ **जागृविः—** सावध रखनेवाला, सुस्ती आने न देनेवाला। सोमरसके पीनेसे ये लाभ होते हैं।

(सूक्त २१)

(महे वाचं नि सु प्र भरामहे) महान् इन्द्रके लिये हम उत्तम स्तुति करेंगे। **(विवस्वतः सदने इन्द्राय गिरः)** विवस्वान्के स्थानमें इन्द्रके लिये स्तुतियें होती रहती हैं। **(ससतां इव)** सोनेवालोंके रत्न जैसे चोर चुराता है, उस तरह **(नू चित् हि रत्नं अविदन्)** शीघ्र ही उस भक्तने रत्न इन्द्रसे प्राप्त किया। **(दुष्टुतिः द्रविणोदेषु न शस्यते)** निन्दा धनका दान करनेवालोंके लिये योग्य नहीं होती ॥ १ ॥

हे इन्द्र ! **(अश्वस्य दुरः)** तू घोडोंका दान करता है, **(गोः दुरः असि)** तू गौओंका दाता है, **(यवस्य दुरः)** तू जौका दाता है, **(वसुनः इनः पतिः)** तू धनका स्वामी और रक्षक है, **(शिक्षानरः प्रदिवः)** तू पुराने कालसे मानवोंका सहायक है, **(अ-काम-कर्शनः)** भक्तोंकी कामनाओंको पूर्ण करनेवाला तू **(सखिभ्यः सखा)** मित्रोंके लिये मित्र है अतः **(तं इदं गृणीमसि)** उसकी यह स्तुति हम गाते हैं ॥ २ ॥

हे **(शचीव पुरुकृत् द्युमत्तम इन्द्र)** शक्तिमन्, बहुत कर्मोंको करनेवाले तेजस्वी इन्द्र ! **(तव इत् इदं वसु अभितः चेकिते)** तेरा ही यह सब धन है जो चारों ओर प्रतीत होता है। हे **(अभिभूते)** सबको पराभूत करनेवाले ! **(अतः संगृभ्य आ भर)** इसलिये इस धनको इकट्ठा करके भर दे। **(त्वायतः जरितुः कामं मा ऊनयीः)** तेरी भक्ति करनेवाले स्तोताकी कामनामें न्यूनता न कर ॥ ३ ॥

एभिर्द्युभिः सुमना एभिरिन्दुभिर्निरुन्धानो अमतिं गोभिरश्विना ।
इन्द्रेण दस्युं दरयन्त इन्दुभिर्युतद्वेषसः समिषा रभेमहि ॥ ४ ॥
समिन्द्र राया समिषा रभेमहि सं वाजेभिः पुरुश्चन्द्रैरभिद्युभिः ।
सं देव्या प्रमत्या वीरशुष्मया गोअग्रयाश्वावत्या रभेमहि ॥ ५ ॥
ते त्वा मदा अमदन्तानि वृष्ण्या ते सोमासो वृत्रहत्येषु सत्पते ।
यत्कारवे दश वृत्राण्यप्रति बर्हिष्मते नि सहस्राणि बर्हयः ॥ ६ ॥
युधा युधमुप घेदेषि धृष्णुया पुरा पुरं समिदं हंस्योजसा ।
नम्या यदिन्द्र सख्या परावति निबर्हयो नमुचिं नाम मायिनम् ॥ ७ ॥
त्वं करञ्जमुत पर्णयं वधीस्तेजिष्ठयातिथिग्वस्य वर्तनी ।
त्वं शता वङ्गृदस्याभिनत्पुरोऽनानुदः परिषूता ऋजिश्वना ॥ ८ ॥
त्वमेताञ्जनराज्ञो द्विर्दशाबन्धुना सुश्रवसोपजग्मुषः ।
षष्टिं सहस्रा नवतिं नव श्रुतो नि चक्रेण रथ्या दुष्पदावृणक् ॥ ९ ॥

(**एभिः द्युभिः सुमनाः**) इन तेजोंसे उत्तम मननशील हो, (**एभिः इन्दुभिः**) इन सोमरसोंसे प्रसन्नचित्त हो, (**गोभिः अश्विना अमतिं निरुन्धानः**) गौओं और घोडोंके साथ हमारी निर्बुद्धतामय दरिद्रताको प्रतिबंध कर। (**इन्दुभिः दस्युं**) सोमरसोंके बलसे शत्रुको (**इन्द्रेण**) इन्द्रकी सहायतासे (**दरयन्तः**) फाडते हैं, (**युत-द्वेषसः इषा सं रभेमहि**) और शत्रुओंको दूर करके अन्नके साथ हम संयुक्त होंगे ॥ ४ ॥

हे इन्द्र! (**राया सं**) हम धनसे युक्त हों, (**इषा सं रभेमहि**) अन्नसे युक्त हों, (**अभिद्युभिः पुरुश्चन्द्रैः वाजेभिः सं**) तेजस्वी आल्हाददायक शक्तियोंके साथ हम युक्त हों तथा (**गो-अग्रया अश्वावत्या वीरशुष्मया**) गौओंकी प्रधानता और घोडोंसे युक्त तथा वीरोंके बलसे प्रभावी (**देव्या प्रमत्या सं रभेमहि**) सौभाग्यमयी दिव्यशक्तिसे हम संयुक्त हों ॥ ५ ॥

हे (**सत्पते**) सज्जनोंके स्वामी! (**वृत्रहत्येषु**) वृत्रोंके मारनेके कर्मोंमें (**ते मदाः ते सोमासः त्वा अमदन्**) उन आनन्ददायक सोमरसोंने तुझे आनन्द दिया और (**तानि वृष्ण्या**) उन वीरोचित कर्मोंने तुझे प्रसन्न किया। (**यत् कारवे बर्हिष्मते**) जो तूने यज्ञकर्ता स्तोताके लिये (**दश सहस्राणि वृत्राणि**) दस हजार वृत्र सैन्योंको (**अप्रति नि बर्हयः**) अप्रतिम रीतिसे मार डाला ॥ ६ ॥

तू (**युधा युधं धृष्णुया**) युद्ध करनेके उत्साहसे युद्धके प्रति शत्रुको धर्षण करनेकी तैयारीसे (**घ इत् उप एषि**) आता है। (**पुरा इदं पुरं ओजसा सं हंसि**) अपने किलेसे शत्रुके इस किलेको अपने बलसे तोडता है। हे इन्द्र! (**यत् नम्या सख्या**) शत्रुको नमानेवाले मित्रके साथ (**परावति**) दूर रहनेवाले (**नमुचिं नाम मायिनं**) मायावी नमुचिको (**नि बर्हयः**) मार डाला ॥ ७ ॥

(**अतिथिग्वस्य वर्तनी**) अतिथिको गौ देनेवालेके मार्गमें आनेवाले (**करञ्जं उत पर्णयं**) करञ्जको और पर्णयको (**त्वं तेजिष्ठया वधीः**) तूने तेज शस्त्रसे मार डाला। (**ऋजिश्वना परिषूता**) ऋजिश्वाने घेरी हुई (**अनानुदः वङ्गृदस्य**) अदानशील वंगृदके (**शता पुरः**) सौ किले (**त्वं अभिनत्**) तूने तोड दिये ॥ ८ ॥

(**अबन्धुना सुश्रवसा उपजग्मुषः**) बिना सहाय अकेले सुश्रवाने हमला किये हुए (**एतान् द्विः दश जनराज्ञः**) इन बीस जनराजोंको तथा उनके (**षष्टिं सहस्रा नवतिं नव**) साठ हजार निनानवें सैनिकोंको (**दुष्पदा रथ्या चक्रेण**) असह्य रथचक्रसे तुमने (**नि अवृणक्**) मार डाला, इसलिये (**श्रुतः**) तुम्हारी प्रख्याति हुई ॥ ९ ॥

त्वमाविथ सुश्रवसं तवोतिभिस्तव त्रामभिरिन्द्र तूर्वयाणम् ।
त्वमस्मै कुत्समतिथिग्वमायुं महे राज्ञे यूने अरन्धनायः ॥ १० ॥
य उदृचीन्द्र देवगोपाः सखायस्ते शिवतमा असाम ।
त्वां स्तोषाम त्वया सुवीरा द्राघीय आयुः प्रतरं दधानाः ॥ ११ ॥ (१२९)

(**त्वं तव ऊतिभिः**) तू अपनी रक्षासाधनोंसे (**सुश्रवसं आविथ**) सुश्रवाकी रक्षा की, और हे इन्द्र ! (**तव त्रामभिः तूर्वयाणं**) तूने अपनी रक्षाओंसे तूर्वयाणकी रक्षा की। (**त्वं अस्मै महे यूने राज्ञे**) तूने इस महान् तरुण राजाका हित करनेके लिये (**कुत्सं अतिथिग्वं आयुं**) कुत्स, अतिथिग्व, आयुको (**अरन्धनायः**) वशमें किया ॥ १० ॥

हे इन्द्र ! (**उदृचि**) वेदमंत्रके पाठमें (**ये देवगोपाः**) तुम देवके द्वारा सुरक्षित हुवे जो (**ते सखायाः**) तेरे मित्र हम हैं वे (**शिवतमाः असाम**) उत्तम कल्याणसे युक्त हों। (**त्वां स्तोषामः**) हम तेरी स्तुति करते हैं। (**त्वया सुवीराः**) तेरे साथ रहनेसे उत्तम वीर पुत्रपौत्रोंसे युक्त होकर हम (**द्राघीयः आयुः प्रतरं दधानाः**) दीर्घ आयुको अधिक लंबी बनाकर धारण करनेवाले हों ॥ ११ ॥

इस सूक्तमें वीरताका वर्णन करनेवाले ये मंत्रभाग हैं—

१ **अश्वस्य दुरः, गोः दुरः असि, यवस्य दुरः**— घोडे, गौवें और जौका तू देनेवाला है।

२ **वसुनः इनस्पतिः**— धनका तू स्वामी है।

३ **शिक्षानरः प्रदिवः अकामकर्शनः**— सतत मानवोंका सहायक और उनके कामनाओंकी पूर्ति करनेवाला है।

४ **सखिभ्यः सखा**— मित्रोंका तू मित्र है।

५ **शचीव इन्द्र ! पुरुकृत् द्युमत्तम**— हे शक्तिमान् तेजस्वी इन्द्र ! अनेक कर्मोंके कर्ता तू हो।

६ **तव इत् इदं अभितः वसु चेकिते**— यह जो चारों ओर धन है वह तेरा ही है ऐसा सब जानते हैं।

७ **अतः संगृभ्य, हे अभिभूत ! आ भर**— इसलिये जमा करके, हे वीर ! हमें धन लाकर भर दे।

८ **त्वायतः जरितुः कामं मा ऊनयीः**— तेरे आश्रयमें आये स्तोताकी इच्छामें न्यून न हो।

९ **एभिः द्युभिः सुमनाः**— इन तेजस्वी विचारोंसे उत्तम मनवाला हो।

१० **अमतिं गोभिः निरुन्धानः**— दरिद्रताको गौओंसे प्रतिबंधित कर।

११ **दस्युं दरयन्त**— शत्रुको हम फाडते हैं।

१२ **युतद्वेषसः इषा संरभेमहि**— द्वेषियोंको दूर करके अन्नको प्राप्त करेंगे।

१३ **राया सं, इषा सं रभेमहि**— धन और अन्नसे हम युक्त हों।

१४ **अभिद्युभिः पुरुश्चन्द्रैः वाजेभिः सं रभेमहि**— दिव्य तेजस्वी बलोंके साथ हम युक्त हों।

१५ **गो अग्रय अश्वावत्या वीरशुष्मया देव्या प्रमत्या सं रभेमहि**— गौएं जिसमें अग्रस्थान रखती हैं, घोडोंसे जो युक्त है, वीरोंके बलसे युक्त दिव्य बुद्धिसे हम संगत हों।

१६ **हे सत्पते ! वृत्रहत्येषु तानि ते वृष्ण्या ते अमदन्**— हे सज्जनोंके पालक ! वृत्रोंको मारनेके समय तेरे पौरुष कर्म तुझे आनन्दित करते हैं।

१७ **यत्कारवे बर्हिष्मते दश सहस्राणि वृत्राणि अप्रति नि बर्हयः**— जो तूने यज्ञकर्ता कविके हित करनेके लिये दस हजार वृत्र सैन्योंको अप्रतिम रीतिसे मारा।

१८ **युधा युधं धृष्णुया उप एषि**— एक युद्धसे दूसरे युद्धके प्रति तू धैर्यसे जाता है।

१९ **पुरा इदं पुरं ओजसा सं हंसि**— एक किलेसे दूसरे किलेको बलसे तोडता है।

२० **हे इन्द्र ! सख्या नम्या परावति मायिनं नमुचिं नि बर्हयः**— मित्रके साथ दूर रहे मायावी-कपटी नमुचिको तूने मारा।

२१ **त्वं करंजं उत पर्णयं तेजिष्ठया वधीः**— तूने करंज और पर्णयको तेजस्वी शस्त्रसे मारा।

२२ **त्वं वंगृदस्य ऋजिश्वना परिषूता शता पुरः अभिनत्**— तू वंगृदकी ऋजिश्वाने घेरी हुई सौ नगरें तोड दीं।

२३ **त्वं एतान् जनराज्ञः द्विः दश अबन्धुना सुश्रवसा उपजग्मुषः षष्टिं सहस्रा नवतिं नव रथ्या चक्रेण दुष्पदा नि आवृणक्**— तूने इन बीस जन राजाओंको, जो अकेले सुश्रवाके साथ लड रहे थे, उनको तथा उनके

[सूक्त २२]

(ऋषिः — १-३ त्रिशोकः, ४-६ प्रियमेधः। देवता — इन्द्रः।)

अभि त्वा वृषभा सुते सुतं सृजामि पीतये । तृम्पा व्यश्नुही मदम् ॥ १ ॥
मा त्वा मूरा अविष्यवो मोपहस्वान आ दभन्। माकीं ब्रह्मद्विषो वनः ॥ २ ॥
इह त्वा गोपरीणसा महे मन्दन्तु राधसे । सरो गौरो यथा पिब ॥ ३ ॥
अभि प्र गोपतिं गिरेन्द्रमर्च यथा विदे । सूनुं सत्यस्य सत्पतिम् ॥ ४ ॥
आ हरयः ससृज्रिरेऽरुषीरधि बर्हिषि । यत्राभि संनवामहे ॥ ५ ॥
इन्द्राय गाव आशिरं दुदुह्रे वज्रिणे मधु । यत्सीमुपह्वरे विदत् ॥ ६ ॥ (१३५)

साठ हजार निन्यानवे सैनिकोंको असह्य रथचक्रके मारसे मार डाला।

२४ त्वं सुश्रवसं तवोतिभिः आविथ— तूने अपनी रक्षा साधनोंसे सुश्रवाकी रक्षा की।

२५ तव त्रामभिः तूर्वयाणं— तेरे रक्षा साधनोंसे तूर्वयाणकी रक्षा की।

२६ त्वं कुत्सं अतिथिग्वं आयुं अस्मै महे यूने राज्ञे अरन्धयः— तूने कुत्स, अतिथिग्व और आयुको इस बडे तरुण राजाके लिये मारा।

२७ हे इन्द्र! देवगोपाः ते सखायः शिवतमा असाम— हे इन्द्र! देवोंसे सुरक्षित हुए हम उत्तम कल्याणसे युक्त हों।

२८ त्वया सुवीराः द्राघीय आयुः प्रतरं दधानाः— तुम्हारी सहाय्यतासे हम उत्तम वीर पुत्रपौत्रोंसे युक्त होकर अपनी दीर्घ आयुको अधिक दीर्घ बनाकर धारण करेंगे।

इनमें वीरत्वके निर्देश पाठक देखें।

(सूक्त २२)

हे (**वृषभ**) शक्तिमन्! (**अभि सुते**) सोमरस निकालने पर (**पीतये**) पीनेके लिये (**त्वा सुतं सृजामि**) तेरे पास इस रसको भेजता हूं। (**तृम्प**) इससे तृप्त हो, (**मदं व्यश्नुहि**) आनंददायक इस रसको पी ॥ १ ॥

(ऋ. ८।४५।२२)

(**अविष्यवः मूराः**) अपना संरक्षण चाहनेवाले मूढ (**त्वा मा दभन्**) तुझे मत दबावें। (**उपहस्वानः मा आ दभन्**) उपहास करनेवाले तुझे न दबावें। (**ब्रह्मद्विषः माकीं वनः**) ज्ञानका द्वेष करनेवाले तुझे न प्राप्त कर सकें ॥ २ ॥

(ऋ. ८।४५।२३)

हे इन्द्र! (**इह**) यहां (**गोपरीणसा त्वा**) गोदुग्धसे मिश्रित सोमरससे तुझे (**महे राधसे मदन्तु**) बडे धन प्राप्तिके लिये प्रसन्न रखें। (**गौरो यथा सरः**) मृग जैसा तालावपर पीता है वैसा तू इस रसको (**पिब**) पी ॥ ३ ॥

(ऋ. ८।४५।२४)

(**गोपतिं**) गौओंके पालक, (**सत्यस्य सूनुं**) सत्यके प्रचारक, (**सत्पतिं**) सज्जनोंके पालक (**इन्द्रं**) इन्द्रकी (**गिरा अभि प्र अर्च**) अपनी वाणीसे स्तुति कर (**यथा विदे**) जैसी जानते हैं ॥ ४ ॥

(ऋ. ८।६९।४)

(**अरुषीः हरयः आ ससृज्रिरे**) लाल घोडे उसको ला रहे हैं। (**बर्हिषि अधि**) वह आकर आसनपर बैठा है। (**यत्र अभि संनवामहे**) जहां हम मिलकर उसकी स्तुति गाते हैं ॥ ५ ॥

(ऋ. ८।६९।५)

(**वज्रिणे इन्द्राय**) वज्रधारी इन्द्रके लिये (**गावः मधु आशिरं दुदुह्रे**) गौवें मधुर दूध दुहती हैं। (**यत् सीं उपह्वरे विदत्**) जो उसको समीपमें पाया ॥ ६ ॥

(ऋ. ८।६९।६)

इस सूक्तमें वीरताका वर्णन यह है—

१ वृषभः— बैल जैसा शक्तिमान् इन्द्र।
२ गोपतिः— गौओंका पालक।
३ सत्यस्य सूनुः— सत्यका प्रचारक,
४ सत्पति— सत्यका, सज्जनोंका पालक,
५ वज्री इन्द्रः— वज्रधारी इन्द्र,
६ वज्रिणे इन्द्राय गावः मधु आशिरं दुदुहे— वज्रधारी इन्द्रके लिये गौवें मीठा दूध देती हैं।

[सूक्त २३]

(ऋषिः — १-९ विश्वामित्रः। देवता — इन्द्रः।)

(ऋ. ३।४१।१-९)

आ तू न॑ इन्द्र म॒द्र्य॑ग्घुवा॒नः सोम॑पीतये । हरि॑भ्या याह्यद्रिवः ॥ १ ॥
स॒त्तो होता॑ न ऋ॒त्विय॑स्तिस्ति॒रे ब॒र्हिरा॑नु॒षक्। अयु॑ज्रन्प्रा॒तरद्र॑यः ॥ २ ॥
इ॒मा ब्रह्म॑ ब्रह्मवाहः क्रि॒यन्त॒ आ ब॒र्हिः सी॑द। वी॒हि शू॑र पुरो॒ला॑श॑म् ॥ ३ ॥
रा॒र॒न्धि सव॑नेषु ण ए॒षु स्तोमे॑षु वृत्रहन् । उ॒क्थेष्वि॑न्द्र गिर्वणः ॥ ४ ॥
म॒तयः॑ सोम॒पामु॒रुं रि॒हन्ति॒ शव॑स॒स्पति॑म् । इन्द्रं॑ व॒त्सं न मा॒तरः॑ ॥ ५ ॥
स म॑न्दस्वा॒ ह्यन्ध॑सो॒ राध॑से त॒न्वा॑ म॒हे । न स्तो॒तारं॑ नि॒दे क॑रः ॥ ६ ॥
व॒यमि॑न्द्र त्वा॒यवो॑ ह॒विष्म॑न्तो जरामहे । उ॒त त्वम॑स्म॒युर्व॑सो ॥ ७ ॥
मारे अ॒स्मद्वि मु॑मुचो॒ हरि॑प्रिया॒र्वाङ् या॑हि । इन्द्र॑ स्वधा॒वो मत्स्वे॒ह ॥ ८ ॥
अ॒र्वाञ्चं॑ त्वा सु॒खे रथे॒ वह॑तामिन्द्र के॒शिना॑ । घृ॒तस्नू॑ ब॒र्हिरा॒सदे॑ ॥ ९ ॥ (१४४)

(सूक्त २३)

हे (अद्रिवः इन्द्र) वज्रधारी इन्द्र ! (नः सोमपीतये हुवानः) हमारे सोमपानके लिये बुलाया हुआ तू (मद्र्यक्) मेरे पास (हरिभ्यां आ याहि) घोडोंसे आ जावो ॥ १ ॥

(नः ऋत्वियः होता) हमारा ऋत्विक होता (सत्तः) बैठ गया है, (बर्हिः आनुषक् तिस्तिरे) आसन योग्य रीतिसे फैलाया है, (प्रातः अद्रयः अयुञ्जन्) प्रातःकालसे ही पत्थर [सोमरस निकालनेके लिये] जोडे गये हैं ॥ २ ॥

हे (ब्रह्मवाहः) मन्त्रोंके धारक ! (इमा ब्रह्म क्रियन्ते) ये मंत्र पाठ किये जाते हैं (बर्हिः आ सीद) आसनपर बैठ। हे शूर ! (पुरोलाशं वीहि) इस अन्नको खा ॥ ३ ॥

हे (वृत्रहन्) वृत्रको मारनेवाले (गिर्वणः इन्द्र) स्तुतिके योग्य इन्द्र ! (नः एषु) हमारे इन (सवनेषु स्तोमेषु उक्थेषु) सवनों, स्तोत्रों और गीतोंमें (रारन्धि) आनन्द प्राप्त कर ॥ ४ ॥

(मातरः वत्सं न) माताएं बछडेको प्यार करती हैं, उस तरह (सोमपां , सोमरस पीनेवाले (उरुं शवसस्पतिं) विशाल बलके स्वामी इन्द्रको (मतयः रिहन्ति) स्तुतियें वर्णन करती हैं। प्यार करती हैं ॥ ५ ॥

(सः अन्धसः मन्दस्व हि) वह तू इस सोमरससे आनन्दित हो, (तन्वा महे राधसे) शरीरसे बडे धनके लिये यत्नवान् बन। (स्तोतारं निदे न करः) स्तुति करनेवालेकी निन्दा हो ऐसा न कर ॥ ६ ॥

हे इन्द्र ! (वयं त्वायवः हविष्मन्तः जरामहे) हम तेरा आश्रय करके हवि लेकर तेरी स्तुति करते हैं। हे (वसो) बसानेवाले ! (उत त्वं अस्मयुः) तू हमारा सहायक हो ॥७॥

हे (हरि-प्रिय) घोडोंको प्यार करनेवाले ! (मा आरे अस्मत् मुमुचः) उनको हमसे दूर न छोड। (अर्वाङ् याहि) पास आ। हे (स्वधावः इन्द्र) अपनी धारक शक्तिके रक्षक इन्द्र ! (इह मत्स्व) यहां आनन्दित हो ॥ ८ ॥

हे इन्द्र ! (केशिना घृतस्नू) बडे बलोंवाले, घी जैसा जिनके शरीरसे रस स्रवता है ऐसे घोडे (बर्हिः आसदे) आसन पर बैठनेके लिये (सुखे रथे) सुखकारक रथमें (त्वा अर्वाञ्चं वहतां) तुझे इधर लावें ॥ ९ ॥

१ अद्रिवः— वज्रधारी, अथवा पहाडी किलेमें रहनेवाला,
२ शूरः— शूरवीर,
३ वृत्रहन्— वृत्रको मारनेवाला,
४ शवसः पतिः— बलका स्वामी,
५ वसुः— बसानेवाला,
६ हरिप्रियः— घोडोंपर प्रेम करनेवाला,
७ स्व-धा-वः— निज शक्तिसे युक्त।

[सूक्त २४]

(ऋषिः — १-९ विश्वामित्रः। देवता — इन्द्रः।)

(ऋ. ३।४२।१-९)

उप॑ नः सु॒तमा ग॑हि॒ सोम॑मिन्द्र॒ गवा॑शिरम् । हरि॑भ्यां॒ यस्ते॑ अस्म॒युः ॥ १ ॥
तमि॑न्द्र॒ मद॒मा ग॑हि बर्हि॒ष्ठां ग्राव॑भिः सु॒तम् । कु॒विन्न्व॑स्य तृ॒ष्णवः॑ ॥ २ ॥
इन्द्र॑मि॒त्था गिरो॒ ममाच्छा॑गुरिषि॒ता इ॒तः । आ॒वृते॒ सोम॑पीतये ॥ ३ ॥
इन्द्रं॒ सोम॑स्य पी॒तये॒ स्तोमै॑रि॒ह ह॑वामहे । उ॒क्थेभिः॑ कु॒विदा॒गम॑त् ॥ ४ ॥
इन्द्र॒ सोमाः॑ सु॒ता इ॒मे तान्द॑धिष्व शतक्रतो । ज॒ठरे॑ वाजिनीवसो ॥ ५ ॥
वि॒द्मा हि त्वा॑ धनंज॒यं वाजे॑षु दधृ॒षं क॑वे । अधा॑ ते सु॒म्नमी॑महे ॥ ६ ॥
इ॒मम॑िन्द्र॒ गवा॑शिरं॒ यवा॑शिरं च नः पिब । आ॒गत्या॒ वृष॑भिः सु॒तम् ॥ ७ ॥
तुभ्येदि॑न्द्र॒ स्व ओ॒क्ये॒३॒॑ सोमं॑ चोदामि पी॒तये॑ । ए॒ष रा॑रन्तु ते हृ॒दि ॥ ८ ॥
त्वां सु॒तस्य॑ पी॒तये॑ प्र॒त्नमि॑न्द्र॒ हवामहे । कु॒शि॒कासो॑ अव॒स्यवः॑ ॥ ९ ॥ (१५३)

(सूक्त २४)

हे इन्द्र ! (**नः सुतं गवाशिरं सोमं**) हमारे निचोडे दूध मिलाये सोमरसके समीप (**हरिभ्यां**) तुम्हारे दो घोडोंके साथ (**उप आ गहि**) आओ, (**यः ते अस्मयुः**) जो तेरा हमारे पास आनेका स्वभाव है ॥ १ ॥

हे इन्द्र ! (**बर्हिष्ठां ग्रावभिः सुतं**) आसनपर रखे, पत्थरोंसे कूटे (**तं मदं आ गहि**) उस आनन्ददायक सोमरसके समीप आओ। (**कुवित् नु अस्य तृष्णवः**) इससे तृप्त होनेवाले बहुत हैं ॥ २ ॥

(**इतः इषिताः मम गिरः**) यहांसे भेजी मेरी स्तुतियां (**इत्था इन्द्रं अच्छ अगुः**) इस तरह इन्द्रके पास सीधी पहुंची हैं, (**आवृते सोमपीतये**) उसको इधर लाने और सोम पीनेके लिये ॥ ३ ॥

(**इन्द्रं सोमस्य पीतये**) इन्द्रको सोमके पीनेके लिये (**स्तोमैः इह हवामहे**) स्तोत्रोंसे यहां हम बुलाते हैं। (**उक्थेभिः कुवित् आगमत्**) स्तोत्रोंसे बुलानेपर वह बहुत वार आया है ॥ ४ ॥

हे (**शतक्रतो वाजिनीवसो इन्द्र**) सैकडों कर्म करनेवाले, सेनाको बसानेवाले इन्द्र ! (**इमे सोमाः सुताः**) ये सोमके रस तैयार हैं। (**तान् जठरे दधिष्व**) उनको पेटमें धारण कर ॥ ५ ॥

हे (**कवे**) ज्ञानी ! (**त्वा धनंजयं**) तुझे हम धनको जीतनेवाला और (**वाजेषु दधृषं**) युद्धोंमें शत्रुको परास्त करनेवाला (**विद्म**) जानते हैं (**अधा ते सुम्नं ईमहे**) इसलिये तुमसे सुख मांगते हैं ॥ ६ ॥

हे इन्द्र ! (**इमं नः गवाशिरं यवाशिरं च**) इस हमारे गोदुग्ध मिलाये, सत्तु मिलाये (**वृषभिः सुतं**) बलवानोंने निचोडे सोम रसको (**आगत्य पिब**) आकर पी ॥ ७ ॥

हे इन्द्र ! (**स्वे ओक्ये**) अपने स्थानमें (**पीतये**) पीनेके लिये (**तुभ्य इत् सोमं चोदामि**) तेरे लिये सोमको प्रेरता हूं। (**ते हृदि एष रारन्तु**) यह तेरे हृदयमें आनन्द देवे ॥ ८ ॥

(**अवस्यवः कुशिकासः**) अपनी सुरक्षा चाहनेवाले कुशिक गोत्री हम (**सुतस्य पीतये**) निचोडे सोमरसको पीनेके लिये हे इन्द्र ! (**प्रत्नं त्वां ईमहे**) तुझ पुरातन वीरको हम बुलाते हैं ॥ ९ ॥

इस सूक्तमें नीचे लिखे वर्णन वीरके हैं—

१ **शतक्रतुः**— सैकडों कर्म करनेवाला वीर,

२ **वाजिनीवसुः**— सेनाको बसानेवाला, सैन्यकी उत्तम व्यवस्था करनेवाला, सेनाका संचालन करनेवाला।

३ **धनंजयः**— शत्रुको जीतकर धन लानेवाला,

[सूक्त २५]

(ऋषिः — १-५ गोतमः, ७ अष्टकः । देवता — इन्द्रः ।)

(ऋ. १।८३।१-६)

अश्वा॑वति प्रथ॒मो गोषु॑ गच्छति सुप्रा॒वीरि॑न्द्र॒ मर्त्य॒स्तवो॒तिभि॑ः ।
तमित्पृ॑णक्षि॒ वसु॑ना॒ भवी॑यसा॒ सिन्धु॒मापो॒ यथा॒भितो॒ विचे॑तसः ॥ १ ॥

आपो॒ न दे॒वीरुप॑ यन्ति हो॒त्रिय॑म॒वः प॑श्यन्ति॒ वित॑तं॒ यथा॒ रजः॑ ।
प्रा॒चैर्दे॒वास॒ः प्र ण॑यन्ति देव॒युं ब्र॑ह्म॒प्रियं॑ जोषयन्ते व॒रा इ॑व ॥ २ ॥

अधि॒ द्वयो॑रदधा उ॒क्थ्यं॑[1] वचो॑ य॒तस्रु॑चा मिथु॒ना या स॑प॒र्यत॑ः ।
असं॑यत्तो व्र॒ते ते॑ क्षेति॒ पुष्य॑ति भ॒द्रा श॒क्तिर्यज॑मानाय सु॒न्वते ॥ ३ ॥

आदङ्गि॑राः प्रथ॒मं द॑धिरे॒ वय॑ इ॒द्धाग्न॑य॒ः शम्या॒ ये सु॑कृ॒त्यया॑ ।
सर्वं॑ प॒णेः सम॑विन्दन्त॒ भोज॑न॒मश्वा॑वन्तं॒ गोम॑न्त॒मा प॒शुं नरः॑ ॥ ४ ॥

---

४ वाजेषु दधृषं— युद्धोंमें धैर्यवान्,

५ कविः— दूरदर्शी, क्रान्तदर्शी, ज्ञानी, शत्रु भविष्यमें क्या करेगा यह पहिलेसे जाननेवाला,

६ प्रत्नः— पुरातन कालसे प्रसिद्ध, अनुभवी ।

सोम रस तैयार करनेकी रीति—

१ गवाशिरः— गौका दूध सोमरसमें मिलाया जाता था ।

२ मदः— आनन्ददायी, उत्साह बढानेवाला,

३ ग्रावभिः सुतः— पत्थरोंसे कूटकर रस निकालते हैं ।

४ जठरे दधिष्व— पेटमें धारण कर, पी।

५ यवाशिरः— जौका आटा मिलाते है ।

६ वृषभिः सुतः— बलवान् पुरुषोंने रस निकाला।

(सूक्त २५)

हे इन्द्र ! (**तव ऊतिभिः**) तेरी सुरक्षाओंसे (**सुप्रावीः मर्त्यः**) उत्तम सुरक्षित हुआ मनुष्य (**अश्वावति गोषु प्रथमः गच्छति**) घोडों और गौओंवालोंमें पहिला होकर जाता है । (**तं इत् भवीयसा वसुना पृणक्षि**) उसको तू पर्याप्त धनसे भर देता है (**यथा सिन्धुं अभितः विचेतसः आपः**) जैसे समुद्रको चारों ओरसे विचार न करनेवाले जलप्रवाह प्राप्त होते हैं ॥ १ ॥

(**देवीः आपः न**) दिव्य जलप्रवाहोंकी तरह हमारी स्तुतियां (**होत्रियं उपयन्ति**) तुझ होमके योग्यके समीप जाती हैं । (**यथा रजः विततं**) जैसा अन्तरिक्ष लोक फैला हुआ है उस तरह तेरी (**अवः पश्यन्ति**) रक्षण शक्तिको चारों ओर फैली हम देखते हैं । (**देवयुं देवासः प्राचैः प्र णयन्ति**) देवत्व प्राप्त करनेवालेको देव आगे बढाते हैं । (**ब्रह्मप्रियं वरा इव जोषयन्ते**) ब्रह्म जिसको प्रिय है उसको वरोंके समान सब देव प्रसन्न रखते हैं ॥ २ ॥

(**द्वयोः अधि उक्थ्यां वचः अदधाः**) दोनोंके बीचमें स्तुतिके वचन रखे रहते हैं, (**या मिथुना यत स्रुचा सपर्यतः**) जो मिथुन-पति और पत्नी-स्रुचा उठाकर तेरी पूजा करते हैं । (**अ-संयत्तः ते व्रते क्षेति पुष्यति**) उपद्रव रहित होकर तेरे व्रतमें जो रहता है वह पुष्ट होता है, (**सुन्वते यजमानाय भद्रा शक्तिः**) यज्ञ करनेवाले यजमानको कल्याणकारक शक्ति प्राप्त होती है ॥ ३ ॥

(**अङ्गिराः आत् प्रथमं वयः दधिरे**) अंगिरसोंने प्रथम अन्न और बलको धारण किया, (**ये इन्द्धाग्नयः**) जिन्होंने अग्निको प्रदीप्त करके (**सुकृत्यया शम्या**) उत्तम यज्ञ कर्मोंसे शान्ति स्थापन की, (**नरः**) उन वीरोंने (**गोमन्तं अश्वावन्तं पशुं सर्वं भोजनं**) गौवें, घोडे और अन्य पशुवाले सब भोग्य पदार्थोंको (**पणेः समाविन्दन्त**) पणिसे प्राप्त किया ॥ ४ ॥

यज्ञैरथर्वा प्रथमः पथस्तते ततः सूर्यो व्रतपा वेन आजनि ।
आ गा आजदुशना काव्यः सचा यमस्य जातममृतं यजामहे ॥ ५ ॥
बर्हिर्वा यत्स्वपत्याय वृज्यतेऽर्को वा श्लोकमाघोषते दिवि ।
ग्रावा यत्र वदति कारुरुक्थ्यस्तस्येदिन्द्रो अभिपित्वेषु रण्यति ॥ ६ ॥
प्रोग्रां पीतिं वृष्णं इयर्मि सत्यां प्रयै सुतस्य हर्यश्व तुभ्यम् ।
इन्द्र धेनाभिरिह मादयस्व धीभिर्विश्वाभिः शच्या गृणानः ॥ ७ ॥ (ऋ. १०।१०४।३) (१६०)

(**अथर्वा यज्ञैः प्रथमः पथः तते**) अथर्वाने पहिले यज्ञोंसे मार्ग फैलाया। (**ततः व्रतपाः वेनः सूर्यः आजनि**) पश्चात् व्रतपालक तेजस्वी सूर्य प्रकट हुआ। (**काव्यः उशनाः सचा गाः आ आजत्**) कविपुत्र उशनाने उस यज्ञके साथ गौवोंको चलाया। इस तरह (**यमस्य जातं अमृतं यजामहे**) नियमोंसे कार्य करनेसे उत्पन्न हुए अमृतरूपी यज्ञ कर्म हम करते हैं ॥ ५ ॥

(**यत् बर्हिः स्वपत्याय वृज्यते**) जब कुशा उत्तम कर्म करनेके लिये काटते हैं, (**अर्कः वा श्लोकं दिवि आघोषते**) जब सूक्त बोलनेवाले अपने मंत्रको द्युलोकमें घोषित करते हैं, (**यत्र कारुः उक्थ्यः ग्रावा वदति**) जहां निपुण स्तोता जैसा पत्थर [सोम कूटनेका] शब्द करता है, (**इन्द्रः तस्य अभिपित्वेषु**) इन्द्र उसके समीप रहनेमें (**रण्यति**) आनन्द [illegible]ाता है ॥ ६ ॥

हे (**हर्यश्व**) लाल घोडोंवाले इन्द्र ! (**वृष्णे तुभ्यं**) बलवान् तुझे (**सत्यां उग्रां पीतिं**) सच्चे उत्साह वर्धक सोम पानके पास (**प्रयै प्र इयर्मि**) आनेके लिये मैं प्रेरित करता हूं। हे इन्द्र ! (**धेनाभिः इह मादयस्व**) स्तुतियोंसे यहां आनन्दित हो, (**विश्वाभिः धीभिः**) सारी बुद्धियोंसे यहां (**शच्या गृणानः**) शक्तिके साथ तुम्हारी [illegible] होती है ॥ ७ ॥

इस सूक्तमें इन्द्रके वीरताके ये वर्णन हैं—

१ **हे इन्द्र ! तव ऊतिभिः सुप्रावीः मर्त्यः अश्ववाति गोषु प्रथमः गच्छति—** हे इन्द्र ! तेरी सुरक्षाओंसे सुरक्षित हुआ मनुष्य घोडों और गौवोंवालोंमें पहिला होकर जाता है।

२ **तं इत् भवीयसा वसुना पृणाक्षि—** उस मनुष्यको तू पर्याप्त धनसे भर देता है।

३ **विततं अवः पश्यन्ति—** तेरा रक्षण सामर्थ्य चारों ओर फैल रहा है यह सब देखते हैं। चारों ओरसे तू सबका रक्षण करता है, यह सब जानते हैं।

४ **देवासः देवयुः प्राचैः प्र णयन्ति—** देव देवत्व प्राप्त करनेकी इच्छावालेको सीधे मार्गोंसे आगे ले जाते हैं।

५ **ब्रह्मप्रियं जोषयन्ते—** ज्ञान पर प्रेम रखनेवालेको प्रसन्न रखते हैं।

६ **असंयतः ते व्रते क्षेति पुष्यति—** जो बंधनरहित है वह तेरे नियममें रहता है और पुष्ट होता है।

७ **भद्रा शक्तिः यजमानाय—** यज्ञकर्ताको कल्याण करनेवाली शक्ति प्राप्त होती है।

८ **अंगिरसः प्रथमं वयः दधिरे—** अंगिरसोंने प्रथम शक्ति प्राप्त की।

९ **ये इद्धाग्नयः सुकृत्यया शम्याः—** जो अग्नि प्रदीप्त करके यज्ञ करते हैं वे अपने शुभ कर्मसे शान्ति स्थापन करते हैं।

१० **नरः पणेः अश्वावन्तं गोमन्तं पशुं सर्वं भोजनं समविन्दन्त—** वीर नेता लोग पणिके घोडों, गौवों और पशु आदि सब भोग-भोजन आदि अपने कबजेमें करते रहे। पणियोंसे ये भोग अंगिरसोंने वीरतासे प्राप्त किये।

११ **अथर्वा यज्ञैः प्रथमः पथः तते—** अथर्वाने यज्ञोंसे प्रथमतः मार्ग फैलाया। लोगोंको यज्ञका मार्ग बताया।

१२ **काव्यः उशना सचा गाः आ आजत्—** कविपुत्र उशनाने साथ गौवें भी चलाई।

१३ **अमृतं यजामहे—** अमर देवका हम यज्ञ कर रहे हैं।

१४ **हे हर्यश्व इन्द्र ! सत्यां सुतस्य उग्रां पीतिं वृष्णे तुभ्यं इयर्मि—** हे घोडोंवाले इन्द्र ! सच्चा सोमरसका उग्र पान तेरे पास मैं भेजता हूं।

१५ **शच्या गृणानः—** इन्द्र सामर्थ्यवान् है ऐसी स्तुति होती है।

[सूक्त २६]

(ऋषिः — १-३ शुनःशेपः; ४-६ मधुच्छन्दाः । देवता — इन्द्रः ।)
(ऋ. १।३०।७-९)

योगेयोगे तवस्तरं वाजेवाजे हवामहे । सखाय इन्द्रमूतये ॥ १ ॥
आ घा गमद्यदि श्रवत्सहस्रिणीभिरूतिभिः । वाजेभिरुप नो हवम् ॥ २ ॥
अनु प्रत्नस्यौकसो हुवे तुविप्रतिं नरम् । यं ते पूर्वं पिता हुवे ॥ ३ ॥
युञ्जन्ति ब्रध्नमरुषं चरन्तं परि तस्थुषः । रोचन्ते रोचना दिवि ॥ ४ ॥ (ऋ. १।६।१-३)
युञ्जन्त्यस्य काम्या हरी विपक्षसा रथे । शोणा धृष्णू नृवाहसा ॥ ५ ॥
केतुं कृण्वन्नकेतवे पेशो मर्या अपेशसे । समुषद्भिरजायथाः ॥ ६ ॥ (१९९)

[सूक्त २७]

(ऋषिः — १-६ गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ । देवता — इन्द्रः ।)
(ऋ. ८।१४।१-६)

यदिन्द्राहं यथा त्वमीशीय वस्व एक इत् । स्तोता मे गोषखा स्यात् ॥ १ ॥

(सूक्त २६)

(**सखायः**) हम सब मित्र मिलकर (**योगे योगे**) प्रत्येक संयोगमें (**वाजे वाजे**) प्रत्येक संग्राममें (**तवस्तरं**) अधिक शक्तिवाले (**इन्द्रं**) इन्द्रको (**ऊतये हवामहे**) हमारी रक्षा करनेके लिये बुलाते हैं ॥ १ ॥

(**यदि श्रवत्**) यदि वह हमारी प्रार्थना सुनेगा, तो वह (**सहस्रिणीभिः ऊतिभिः**) हजारों संरक्षण सामर्थ्योंके और (**वाजेभिः**) बलोंके साथ (**नः हवं उप आ गमत् घ**) हमारी प्रार्थनाके स्थान पर वह निःसंदेह आ जायगा ॥ २ ॥

(**प्रत्नस्य ओकसः**) पुराने परिचित ऐसे मेरे घरके पास (**तुवि-प्रतिं नरं अनु हुवे**) बहुतोंका सामना करनेवाले नेता इन्द्रको मैं बुलाता हूं, (**यं ते**) जिस तुझको (**पिता**) मेरे पिताने (**पूर्वं हुवे**) पहिले बुलाया था ॥ ३ ॥

(**तस्थुषः परिचरन्तं**) स्थावरके चारों ओर घूमनेवाले किरण (**अरुषं ब्रध्नं युञ्जन्ति**) तेजस्वी सूर्यको जोडे जाते हैं। (**रोचना दिवि रोचन्त**) ये किरण द्युलोकमें प्रकाशते हैं ॥ ४ ॥

(**अस्य रथे विपक्षसा**) इसके रथमें दोनों ओर (**शोणा धृष्णू नृवाहसा काम्या हरी युञ्जन्ति**) लाल रंगके, शूर, वीरको ले जानेवाले प्यारे घोडे जोडते हैं ॥ ५ ॥

(**अकेतवे केतुं कृण्वन्**) अज्ञानीको ज्ञान और (**अपेशसे पेशः**) रूपहीनको रूप बनाते हुए, हे (**मर्याः**) मानवो ! (**उषाद्भिः सं अजायथाः**) उषाओंके साथ सूर्य उत्पन्न होता है ॥ ६ ॥

इस सूक्तमें वीरताके मंत्रभाग ये हैं—

१ **सखायः योगे योगे वाजे वाजे ऊतये तवस्तरं इन्द्रं हवामहे**— हम सब एक विचारके लोग एक स्थानपर मिलकर, प्रत्येक संग्राममें तथा प्रत्येक योग्य प्रसंगमें हमारी सुरक्षाके लिये शक्तिमान् इन्द्रको सहायतार्थ बुलाते हैं।

२ **यदि श्रवत्, सहस्रिणीभिः ऊतिभिः वाजेभिः नः हवं घ उप आ गमत्**— यदि वह हमारी प्रार्थना सुनेगा, तो हजारों सुरक्षा साधनोंके साथ और बलोंके साथ वह हमारे समीप निःसंदेह आ जायगा।

३ **यं ते पूर्वं पिता हुवे, प्रत्नस्य ओकसः तुविप्रतिं नरं अनु हुवे**— जिस तुझे मेरे पिताने बुलाया था, उस तेरे परिचित मेरे प्राचीन घरके पास अनेक शत्रुओंका सामना करनेवाले तुझ इन्द्र वीरको मैं बुलाता हूँ।

४ **अस्य रथे विपक्षसा शोणा धृष्णू नृवाहसा काम्या हरी युञ्जन्ति**— इसके रथको दोनों ओर लाल, शूर, नेताको ले जानेवाले प्रिय घोडे जोते जाते हैं।

५ **अकेतवे केतुं कृण्वन्**— अज्ञानीको ज्ञान देना, जो अन्धेरेमें है उसको प्रकाश देना।

६ **अपेशसे पेशः कृण्वन्**— रूपहीनको सुरूप करना।

(सूक्त २७)

हे इन्द्र ! (**यथा त्वं**) जैसा तू वैसा (**यत् अहं वस्वः एकः ईशीय इत्**) यदि मैं धनका अकेला एक ही स्वामी

शिक्षेयमस्मै दित्सेयं शचीपते मनीषिणे । यदहं गोपतिः स्याम् ॥ २ ॥
धेनुष्ट इन्द्र सूनृता यजमानाय सुन्वते । गामश्वं पिप्युषी दुहे ॥ ३ ॥
न ते वर्तास्ति राधस इन्द्र देवो न मर्त्यः । यद्दित्ससि स्तुतो मघम् ॥ ४ ॥
यज्ञ इन्द्रमवर्धयद्यद्भूमिं व्यवर्तयत् । चक्राण ओपशं दिवि ॥ ५ ॥
वावृधानस्य ते वयं विश्वा धनानि जिग्युषः । ऊतिमिन्द्रा वृणीमहे ॥ ६ ॥ (१७२)

[सूक्त २८]

(ऋषिः — १-४ गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ । देवता — इन्द्रः ।)
(ऋ. ७।१४।७-१०)

व्य१न्तरिक्षमतिरन्मदे सोमस्य रोचना । इन्द्रो यदभिनद्वलम् ॥ १ ॥
उद्गा आजदङ्गिरोभ्य आविष्कृण्वन्गुहा सतीः । अर्वाञ्चं नुनुदे वलम् ॥ २ ॥

होऊं, तो (**मे स्तोता गोषखा स्यात्**) मेरा स्तोता गौवोंका साथी होगा ॥ १ ॥

(**यत् अहं गोपतिः स्याम्**) यदि मैं गौओंका स्वामी होऊं, हे (**शचीपते**) शक्तिके स्वामी इन्द्र ! (**अस्मै शिक्षेयं**) इसको धन दूं और (**मनीषिणे दित्सेयं**) मननशीलको भी दे दूं ॥ २ ॥

हे इन्द्र ! (**सुन्वते यजमानाय**) सोमयाजी यजमानके लिये (**ते सूनृता धेनुः**) तेरी सत्यप्रिय गौही है । (**पिप्युषी गां अश्वं दुहे**) वह पुष्ट होकर गौ और घोडा देती है ॥ ३ ॥

हे इन्द्र ! (**न देवः न मर्त्यः**) न देव और ना ही मर्त्य (**ते राधसः वर्ता अस्ति**) तेरे दातृत्वका रोकनेवाला कोई है, (**स्तुतः यत् मघं दित्ससि**) जब स्तुति करनेपर तू धन देना चाहता है ॥ ४ ॥

(**यज्ञः इन्द्रं अवर्धयत्**) यज्ञने इन्द्रका महात्म्य बढाया, (**यत् भूमिं व्यवर्तयत्**) जो इन्द्र भूमिको उपजाऊ बनाता है । (**दिवि ओपशं चक्राणः**) और द्युलोकमें अपना सामर्थ्य प्रकट करता है ॥ ५ ॥

हे इन्द्र ! (**वावृधानस्य**) बढनेवाले और (**विश्वा धनानि जिग्युषः**) सब धनोंको जीतनेवाले ऐसे तेरी (**ते ऊतिं**) सुरक्षा हमें मिले ऐसा (**आ वृणीमहे**) हम मांगते हैं ॥ ६ ॥

इन्द्रका महत्व नीचेके मंत्रभागोंसे प्रकट होता है —

१ हे इन्द्र ! न देवः न मर्तः ते राधसे वर्ता अस्ति, स्तुतः यत् मघं दित्सति— न देव और नाही मर्त्य तेरे दातृत्वका विरोध कर सकता है, स्तुति करनेपर जिसको तू धन देना चाहता है ।

२ यज्ञः इन्द्रं अवर्धयत्— यज्ञ इन्द्रकी महिमा बढाता है,

३ भूमिं व्यवर्तयत्— इन्द्रने भूमिको अधिक उपजाऊ बनाया है,

४ दिवि ओपशं चक्राणा— इन्द्रने द्युलोकमें अपना सामर्थ्य प्रकट किया है ।

५ हे इन्द्र ! विश्वा धनानि जिग्युषः वावृधानस्य ते ऊतिं आ वृणीमहे— हे इन्द्र ! सब धनोंको विजयसे प्राप्त करनेवाले और अपनी महिमासे बढनेवाले तेरा रक्षण हमें प्राप्त हो यह हमारी मांग है ।

प्रथम और द्वितीय मंत्रमें ' तेरे जैसा मैं यदि धनोंका स्वामी बनूं तो मैं धनका दान करूंगा ' ऐसा कहकर इन्द्रसे भक्त स्पर्धा कर रहा है । यह भक्तिरसका एक उत्तम उदाहरण है । ' मेरा स्तोता गौओंका स्वामी होगा । ' यह वाक्य भी इन्द्रकी बराबरी करनेवाला भक्तका वाक्य है । तृतीय मंत्रमें ' पुष्ट गाय, गौ और घोडा देती है ' इसमें गायके बदले घोडा मिलता है ऐसा समझना योग्य है ।

(सूक्त १८)

(**इन्द्रः**) इन्द्रने (**सोमस्य मदे**) सोमरस पीनेसे उत्पन्न हुए उत्साहमें (**अन्तरिक्षं**) अन्तरिक्षको तथा (**रोचना**) प्रकाशित स्थानोंको (**व्यतिरत्**) व्याप लिया (**यत् वलं अभिनत्**) और तब वलको तोड दिया ॥ १ ॥

(**अंगिरोभ्यः**) अंगिरसोंके लिये (**गुहा सतीः गाः आविष्कृण्वन्**) गुहामें रहनेवाली गौओंको बाहर निकालकर (**उत् आ आजत्**) प्रदान किया और (**वलं अर्वाञ्चं नुनुदे**) वलको नीचे गिरा दिया ॥ २ ॥

इन्द्रेण रोचना दिवो दृळ्हानि दृंहितानि च । स्थिराणि न पराणुदे ॥ ३ ॥
अपामूर्मिर्मदन्निव स्तोम इन्द्राजिरायते । वि ते मदा अराजिषुः ॥ ४ ॥ (१७६)

[सूक्त २९]

(ऋषिः — १-५ गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ । देवता — इन्द्रः ।)
(ऋ. ८।१४।११-१५)

त्वं हि स्तोमवर्धन इन्द्रास्युक्थवर्धनः । स्तोतॄणामुत भद्रकृत् ॥ १ ॥
इन्द्रमित्केशिना हरी सोमपेयाय वक्षतः । उप यज्ञं सुराधसम् ॥ २ ॥
अपां फेनेन नमुचेः शिर इन्द्रोदवर्तयः । विश्वा यदजय स्पृधः ॥ ३ ॥
मायाभिरुत्सिसृप्सत इन्द्र द्यामारुरुक्षतः । अव दस्यूँरधूनुथाः ॥ ४ ॥
असुन्वामिन्द्र संसदं विषूचीं व्यनाशयः । सोमपा उत्तरो भवन् ॥ ५ ॥ (१८१)

(**इन्द्रेण दिवः**) इन्द्रने द्युके स्थानमें (**रोचना दळ्हानि दृंहितानि च**) चमकनेवाले नक्षत्र सुदृढ कर स्थापित किये वे (**स्थिराणि न पराणुदे**) स्थिर किये और वे हटाये नहीं जा सकते ॥ ३ ॥

हे इन्द्र ! (**अपां ऊर्मिः इव**) जलोंकी लहरके समान (**स्तोमः मदन् इव**) यह स्तोत्र आनन्द बढाता हुआ (**अजिरायते**) शीघ्रतासे बाहर आ रहा है, और उससे (**ते मदाः वि अराजिषुः**) तेरे आनन्द विराजते हैं ॥ ४ ॥

वीरताका वर्णन यह है—

१ **वलं अभिनत्**— इन्द्रने वलको तोड दिया।

२ **वलं अर्वाञ्चं नुनुदे**— इन्द्रने वलको नीचे गिराया।

३ **अंगिरोभ्यः गुहा सतीः गाः आविष्कृण्वन् आ अजन्**— [वलने गौवें पकड कर अपनी गुहामें बंद करके रखी थीं,] उन गौओंको अंगिरा ऋषिको देनेके लिये इन्द्रने गुहासे उनको बाहर निकाला और अंगिराके पास ले जानेके लिये हंकाला।

४ **इन्द्रेण दिवः रोचना दळ्हानि दृंहितानि स्थिराणि न पराणुदे**— इन्द्रने द्युलोकमें चमकदार नक्षत्र दृढतासे स्थापित किये, उनको दूसरा कोई हटा नहीं सकता। [यहां यह इन्द्र परमात्मा ही है।]

(सूक्त २९)

हे इन्द्र ! (**त्वं हि स्तोमवर्धनः**) स्तोत्रों द्वारा जिसका महत्व बढता है ऐसा तू है और (**उक्थवर्धनः**) स्तुतियोंसे जिसका यश बढता है ऐसा है। और तू (**स्तोतॄणां उत भद्रकृत्**) स्तोताओंका कल्याण करनेवाला है ॥ १ ॥

(**केशिना हरी**) बालवाले दो घोडे (**इन्द्रं सोमपेयाय वक्षतः**) इन्द्रको सोमपानके लिये ले जाते हैं। (**सुराधसं यज्ञं उप**) उत्तम दाता इन्द्रको यज्ञके पास ले जायेंगे ॥ २ ॥

हे इन्द्र ! (**नमुचेः शिरः**) तुमने नमुचिका सिर (**अपां फेनेन**) जलोंके झागसे (**उदवर्तयः**) उखाड दिया। (**यत् विश्वाः स्पृधः अजयः**) तब सब शत्रुओंको जीता ॥ ३ ॥

हे इन्द्र ! (**द्यां आरुरुक्षतः**) द्युलोकपर चढनेकी इच्छा करनेवाले और (**मायाभिः**) कपटोंसे (**उत्सिसृप्सत**) खिसकनेकी इच्छावाले (**दस्यून्**) शत्रुओंको तूने (**अव अधूनुथाः**) नीचे गिरा दिया ॥ ४ ॥

हे इन्द्र ! (**असुन्वां संसदं**) सोमयाग न करनेवालोंकी सभाको (**विषूचीं व्यनाशयः**) तूने छिन्न भिन्न करके विनष्ट किया और (**सोमपाः उत्तरः भवन्**) सोमरस पीकर तू विजयी हो गया ॥ ५ ॥

इस सूक्तमें इन्द्रके विजयके मंत्रभाग ये हैं—

१ **हे इन्द्र ! स्तोतॄणां भद्रकृत्**— हे इन्द्र ! तू स्तोताओंका कल्याण करता है।

२ **स्तोमवर्धनः, उक्थवर्धनः**— स्तोत्रोंसे इन्द्रका यश बढता है।

३ **सुराधाः**— उत्तम धन देनेवाला,

४ **नमुचेः शिरः अपां फेनेन, इन्द्र ! उदवर्तयः**— नमुचिका सिर जलोंके झागके इन्द्रने उखाडकर फेंक दिया।

[सूक्त ३०]

(ऋषिः — १-५ बरुः सर्वहरिर्वा । देवता — हरिः [इन्द्रः] ।)

(ऋ. १०।९६।१-५)

प्र ते॑ म॒हे वि॒दथे॑ शंसिषं॒ हरी॒ प्र ते॑ वन्वे व॒नुषो॑ हर्य॒तं मद॑म् ।
घृ॒तं न यो हरि॑भि॒श्चारु॒ सेच॑त॒ आ त्वा॑ विशन्तु॒ हरि॑वर्पसं॒ गिरः॑ ॥ १ ॥

हरिं॒ हि योनि॑म॒भि ये स॒मस्व॑रन्हि॒न्वन्तो॒ हरी॑ दि॒व्यं यथा॒ सदः॑ ।
आ यं पृ॒णन्ति॒ हरि॑भि॒र्न धे॒नव॒ इन्द्रा॑य शू॒षं हरि॑वन्तमर्चत ॥ २ ॥

सो अ॑स्य॒ वज्रो॒ हरि॑तो॒ य आ॑य॒सो हरि॒र्निका॑मो॒ हरि॒रा गभ॑स्त्योः ।
द्यु॒म्नी सु॑शि॒प्रो हरि॑मन्युसायक॒ इन्द्रे॒ नि रू॒पा हरि॑ता मिमिक्षिरे ॥ ३ ॥

दि॒वि न के॒तुरधि॑ धायि हर्य॒तो वि॒व्यच॒द्वज्रो॒ हरि॑तो॒ न रंह्या॑ ।
तु॒दद॒हिं॒ हरि॑शि॒प्रो॒ य आ॑य॒सः स॒हस्र॑शोका अभवद्धरिं॒भ॒रः ॥ ४ ॥

'न-मुचि '– यह रोग या रोगकृमि जो जलदी अपनी पकड छोडता नहीं । 'अपां फेनः '– समुद्र झाग, जलोंकी झाग, यह औषध है जिससे पूर्वोक्त रोग दूर होता है ।

५ विश्वाः स्पृधः अजयः— सब शत्रुओंको जीत लिया।

६ दस्यून् अव धूनुथाः— शत्रुओंको नीचे गिरा दिया, दूर किया ।

७ असुन्वां संसदं विषूचीं व्यनाशयः— अयाजकोंकी सभाको विनष्ट कर दिया ।

८ सोमपा उत्तरः भवन्— सोमयाजक उच्च स्थानपर चढे ।

'अपां फेनः' समुद्र झाग यह औषध है, उससे 'नमुचि' नामक रोग दूर होता है। यह औषध प्रकरण है । वैद्योंको इसका विचार करना चाहिये ।

(सूक्त ३०)

(ते हरी) तेरे दोनों घोडोंका (महे विदथे प्र शंसिषं) बडे यज्ञमें मैं प्रशंसा करता हूं। (ते वनुषः हर्यतं मदं प्र वन्वे) तुझे इष्ट आनन्दकारी रसको मैं तैयार करता हूं। (घृतं न) घी के समान (यः हरिभिः चारु सेचते) जो घोडोंसे आकर प्रेमसे जलको सींचता है, (हरिवर्पसं त्वा गिरः आ विशन्तु) ऐसे सुन्दर रूपवाले तुझमें हमारी स्तुतियां प्रविष्ट हों ॥ १ ॥

(हरिं योनिं ये हि अभि समस्वरन्) जो ऋषि इन्द्रके आगमनके मूल कारण रूप घोडेकी स्तुति करते रहे (यथा दिव्यं सदः हिन्वन्तः हरी) क्योंकि दिव्य यज्ञस्थानके पास इन्द्रको ये ही घोडे लाते हैं। (यं हरिभिः न धेनवः आ प्रीणन्ति) जिसको घोडोंके समान गौवें तृप्त करती हैं उस (इन्द्राय हरिवन्तं शूषं अर्चत) इन्द्रके संतोषके लिये घोडोंवाले बलकी पूजा करो ॥ २ ॥

(सः अस्य वज्रः) वह इस इन्द्रका वज्र (हरितः यः आयसः) नीला और फौलादका है (हरिः निकामः) यह प्राण हरण करनेवाला वज्र उसको बडा प्यारा है, (हरिः आ गभस्त्योः) भुजाओंमें यह इन्द्र इस वज्रको पकडता है। (द्युम्नी सुशिप्रः) तेजस्वी उत्तम हनु या साफेवाला इन्द्र है, (हरि-मन्यु-सायकः) शत्रुके प्राण हरण करनेवाले, क्रोध युक्त बाणको धारण करनेवाले (इन्द्रे हरिता रूपा निमिमिक्षिरे) इन्द्रमें सारे तेजस्वी रूप मिले हैं ॥ ३ ॥

(दिवि हर्यतः केतुः अधि धायि न) द्युलोकमें सुन्दर ध्वज जैसा लगाते हैं, वैसा वह (वज्रः हरितः रंह्या न वि व्यचत्) सुवर्णका वज्र मानो वेगसे चलता है, (यः आयसः हरिशिप्रः अहिं तुदत्) जिस फौलादके वज्रसे सुवर्णके साफेको धारण करनेवाले इन्द्रने अहि नामक शत्रुको मारा। तब (हरिंभरः सहस्रशोकाः अभवत्) सुवर्णसे भरा वह वज्र सहस्र दीप्तिवाला हो गया ॥ ४ ॥

त्वंत्वमहर्यथा उपस्तुतः पूर्वेभिरिन्द्र हरिकेश यज्वभिः।
त्वं हर्यसि तव विश्वमुक्थ्य१मसामि राधो हरिजात हर्यतम् ॥ ५ ॥ (१८९)

[सूक्त ३१]

(ऋषिः — १-५ बरुः सर्वहरिर्वा। देवता — हरिः [इन्द्रः]।)
(ऋ. १०।९६।६-१०)

ता वज्रिणं मन्दिनं स्तोम्यं मद इन्द्रं रथे वहतो हर्यता हरी।
पुरूण्यस्मै सवनानि हर्यत इन्द्राय सोमा हरयो दधन्विरे ॥ १ ॥
अरं कामाय हरयो दधन्विरे स्थिराय हिन्वन्हरयो हरी तुरा।
अर्वद्भिर्यो हरिभिर्जोषमीयते सो अस्य कामं हरिवन्तमानशे ॥ २ ॥

हे (**हरिकेश इन्द्र**) सुनहरी बालोंवाले इन्द्र! (**पूर्वेभिः यज्वभिः उपस्तुतः**) पूर्व समयके याजकोंने स्तुति किया हुआ (**त्वं त्वं अहर्यथाः**) तू ही स्तुतिके लिये योग्य है। (**तव विश्वं उक्थ्यं**) तेरी सब स्तुतिके लिये (**त्वं हर्यसि**) तू योग्य है। हे (**हरिजात**) हे दुःख हरण करनेवालोंमें प्रसिद्ध! (**हर्यतं राधः असामि**) तेजस्वी धन तेरा ही है ॥ ५ ॥

इस सूक्तमें इन्द्रकी वीरताका वर्णन अब देखिये—

१ **इन्द्राय हरिवन्तं शूषं अर्चत—** इन्द्रके शत्रुवधकारी बलकी पूजा करो।

२ **अस्य वज्रः हरितः आयसः हरिः निकामः—** इस इन्द्रका वज्र सुवर्णसे सुशोभित फौलादका है, वह शत्रुको दूर करनेवाला है इस कारण प्रिय है।

३ **हरिः आ गभस्त्योः—** वह शत्रुका हरण करनेवाला वज्र दोनों हाथोंसे वह पकडता है।

४ **द्युम्नी सुशिप्रः हरि-मन्यु-सायकः—** वह इन्द्र तेजस्वी, उत्तम साफा धारण करनेवाला, शत्रुके प्राण हरण करनेवाला क्रोधी बाण जिसके पास रहता है।

५ **इन्द्रे हरिता रूपा मिमिक्षिरे—** इन्द्रमें सब चमकीले रूप रहे हैं।

६ **दिवि हर्यतः केतुः न अधि धायि—** आकाशमें सुवर्णका ध्वज जैसा फडके [वैसा इन्द्रका वज्र चमक रहा है।]

७ **हरितः वज्रः रंह्या न विव्यचत्—** सुवर्णका वज्र वेगसे चला।

८ **हरिशिप्रः यः आयसः अहिं तुदत्—** सुवर्णका साफा बांधनेवाले इन्द्रने अपने फौलादके वज्रसे अहिनामक अपने शत्रुको मारा।

९ **हरिंभरः सहस्रशोकः अभवत्—** सुवर्णसे भरा हुआ वह वज्र सहस्र तेजोंसे चमकनेवाला हुआ।

१० **त्वं त्वं अहर्यथाः—** तू ही स्तुतिके लिये योग्य है।

११ **त्वं हर्यसि, तव विश्वं उक्थ्यं—** तू स्तुतिके लिये योग्य है, सब स्तुति तुम्हारी है।

१२ **हे हरिजात! हर्यतं असामि राधः—** हे शत्रुके प्राण हरण करनेवालोंमें प्रसिद्ध इन्द्र! तेरा धन अवर्णनीय है।

इस सूक्तमें '**इन्द्र**' के लिये '**हरि-केश**' कहा है। सुवर्णके रंगके केशवाला इन्द्र है। सुवर्णके बालोंवाले लोग जहां होते हैं वहांका यह वीर है। तैत्तिरीय संहितावालोंको '**हिरण्य केशी**' कहते हैं। वही भाव '**हरि-केश**' में दीखता है।

(**सूक्त ३१**)

(**ता हर्यता हरी**) वे दोनों प्रिय घोडे (**वज्रिणं मन्दिनं स्तोम्यं इन्द्रं**) वज्रधारी, आनन्द युक्त, स्तुतिके योग्य इन्द्रको (**मदे**) आनन्द प्राप्त करनेके लिये (**रथे वहतः**) रथमें ले आते हैं। (**अस्मै हर्यते इन्द्राय**) इस इच्छा करनेवाले इन्द्रके लिये (**पुरूणि सवनानि**) बहुतसे सवन और (**हरयः सोमाः**) तेजस्वी सोमरस (**दधन्विरे**) बहते हैं ॥ १ ॥

(**कामाय हरयः अरं दधन्विरे**) इन्द्रकी कामनानुसार सोमरस पूर्णतया बहें। (**स्थिराय हरयः हरी तुरा हिन्वन्**) स्थिर इन्द्रके लिये वेगवाले सोमरसोंने दोनों घोडोंको त्वरासे चलाया। (**अर्वद्भिः हरिभिः यः जोषं ईयते**) वेगवाले घोडोंसे जो चुपचाप जाता है, (**सः अस्य हरिवन्तं कामं आनशे**) उस रथने इस इन्द्रकी सोमवाली कामनाको जाना ॥ २ ॥

हरिश्मशारुर्हरिकेश आयसस्तुरस्पेये यो हरिपा अवर्धत ।
अर्वद्भिर्यो हरिभिर्वाजिनीवसुरति विश्वा दुरिता पारिषद्धरी ॥ ३ ॥
स्रुवेव यस्य हरिणी विपेततुः शिप्रे वाजाय हरिणी दविध्वतः ।
प्र यत्कृते चमसे मर्मृजद्धरी पीत्वा मदस्य हर्यतस्यान्धसः ॥ ४ ॥
उत स्म सद्म हर्यतस्य पस्त्योऽरत्यो न वाजं हरिवाँ अचिक्रदत् ।
मही चिद्धि धिषणाहर्यदोजसा बृहद्वयो दधिषे हर्यतश्चिदा ॥ ५ ॥ (१९१)

[सूक्त ३२]

(ऋषिः — १-३ बरुः सर्वहरिर्वा । देवता — हरिः [इन्द्रः] ।)

आ रोदसी हर्यमाणो महित्वा नव्यंनव्यं हर्यसि मन्म नु प्रियम् ।
प्र पस्त्यमसुर हर्यतं गोराविष्कृधि हरये सूर्याय ॥ १ ॥

(हरि-श्मशारुः) पीली मूछोंवाला (हरि-केशः) पीले बालोंवाला, (आयसः) फौलादका जैसा बना (तुरस्पेये यः हरिपा अवर्धत) त्वरासे पीनेमें जो घोडोंका पालनकर्ता उत्साहसे बढता है, (अर्वद्भिः हरिभिः यः) वेगवान् घोडोंसे जो (वाजिनी-वसुः) सेनाको बसाता है वह (हरी) दोनों घोडोंको (विश्वा दुरिता अति पारिषत्) सारी कठिनाइयोंके पार ले गया ॥ ३ ॥

(स्रुवेव यस्य हरिणी विपेततुः) दो स्रुवोंके समान जिसके दोनों जबडे अलग अलग चलते हैं । (शिप्रे हरिणी वाजाय दविध्वतः) दोनों जबडे वेगके लिये वह अब कंपाता है, (यत्कृते चमसे) जिसके लिये चमस तैयार हुए उस (मदस्य हर्यतस्य अन्धसः पीत्वा) आनंदकारक प्रिय अन्नरसको पीकर वह अपने (हरी मर्मृजत्) दोनों घोडोंको पोंछता है ॥ ४ ॥

(उत हर्यतस्य पस्त्योः सद्म स्म) यदि इच्छा करनेवाले इन्द्रका घर द्यौ, और पृथिवीमें है, तो वहांसे (अत्यः वाजं न) घोडा जैसा युद्धमें जाता है वैसा वह (हरिवान् अचिक्रदत्) घोडोंवाला इन्द्र आया है । (मही धिषणा चित्) बडी स्तुतिने (ओजसा अहर्यत्) बलसे उसको इधर लाया है । और (हर्यतः चित् बृहत् वयः आ दधिषे) उस इच्छा करनेवालेने बडी आयु धारण की ॥ ५ ॥

इस सूक्तमें इन्द्रके वीर कर्म ये हैं—

१ हरी वज्रिणं इन्द्रं रथे वहतः— दो घोडे वज्रधारी इन्द्रको रथमें बिठलाकर ले जाते हैं ।

२ स्थिराय हरी तुरा हिन्वन्— युद्धमें स्थिर रहनेवाले इन्द्रको दो घोडे त्वरासे ले चलते हैं ।

३ अर्वद्भिः हरिभिः यः जोषं ईयते— वेगवान् घोडोंसे वह सत्वर जाता है ।

४ अर्वद्भिः हरिभिः यः वाजिनी-वसु— शीघ्रगामी घोडोंसे जो सेनाको बसाता है ।

५ हरी विश्वा दुरिता अति पारिषत्— दो घोडे सब संकटोंको पार करते हैं ।

६ अत्यः वाजं न हरिवान् अचिक्रदत्— घोडा युद्धमें जाता है उस तरह इन्द्र आता है ।

इन्द्रका वर्णन—

१ हरिश्मशारुः— सोनेके रंगके मूछियोंवाला,
२ हरिकेशः— सोनेके रंगके बालवाला,
३ आयसः— फौलादका वज्र धारण करता है,
४ हरिपा— घोडोंका पालन करनेमें कुशल,
५ वाजिनी-वसुः— सैन्योंको अच्छी तरह बसानेवाला,
६ बृहत् वयः दधिषे— बडी आयु धारण करता है ।

(सूक्त ३२)

तू (महित्वा) अपनी महिमासे (रोदसी आ हर्यमाणः) द्युलोक और पृथिवीको भर देता है । तथा (नव्यं नव्यं प्रियं मन्म) नवीन नवीन प्रिय स्तोत्रको तू (हर्यसि) चाहता है । हे (असु-र) जीवन शक्ति देनेवाले इन्द्र ! (हरये सूर्याय) दुःखोंका हरण करनेवाले सूर्यके लिये (गोः हर्यतं पस्त्यं) गौओंके स्पृहणीय बाडेको (प्र आविष्कृधि) प्रकट कर ॥ १ ॥

आ त्वा हुर्यन्तं प्रयुजो जनानां रथे वहन्तु हरिशिप्रमिन्द्र ।
पिबा यथा प्रतिभृतस्य मध्वो हर्यन्यज्ञं सधमादे दशोणिम् ॥ २ ॥
अपाः पूर्वेषां हरिवः सुतानामथो इदं सर्वनं केवलं ते ।
ममद्धि सोमं मधुमन्तमिन्द्र सत्रा वृषं जठर आ वृषस्व ॥ ३ ॥ (१९४)

[सूक्त ३२]

(ऋषिः — १-३ अष्टकः । देवता — इन्द्रः ।)

अप्सु धूतस्यं हरिवः पिबेह नृभिः सुतस्य जठरं पृणस्व ।
मिमिक्षुर्यमद्रय इन्द्र तुभ्यं तेभिर्वर्धस्व मदमुक्थवाहः ॥ १ ॥
प्रोग्रां पीतिं वृष्ण इयर्मि सत्यां प्रयै सुतस्य हर्यश्व तुभ्यम् ।
इन्द्र धेनाभिरिह मादयस्व धीभिर्विश्वाभिः शच्या गृणानः ॥ २ ॥
ऊती शचीवस्तव वीर्येण वयो दधाना उशिज ऋतज्ञाः ।
प्रजावदिन्द्र मनुषो दुरोणे तस्थुर्गृणन्तः सधमाद्यासः ॥ ३ ॥ ऋ. १०।९६।११-१३ (१९७)

॥ इति तृतीयोऽनुवाकः ॥ ३ ॥

महित्वा रोदसी आ हर्यमाणः— वीर अपनी महिमासे विश्वको भर दे ।

नव्यं प्रियं मन्म हर्यसि— नवीन प्रिय स्तुतिके स्तोत्र गाये जाते हैं ।

हरये सूर्याय गोः हर्यतं पस्त्यं प्र आविष्कृधि— गौवोंके बाडेको सूर्य प्रकाशमें खुला कर । सूर्य प्रकाशमें गौवें विचरें ऐसा कर ।

हे इन्द्र ! (**जनानां प्रयुजः**) लोगोंके यज्ञके प्रयोग (**हरिशिप्रं त्वा**) सुनहरि साफेवाले तुझे (**रथे आ वहन्तु**) रथमें बिठलाकर ले आवें । (**सधमादे**) साथ साथ बैठकर आनंदित होनेके यज्ञ स्थानमें (**दशोणिं यज्ञं हर्यन्**) दस अंगुलियोंसे निचोडे पूजनीय सोमको चाहनेवाला तू बैठ और (**प्रतिभृतस्य मध्वः**) साथ रखे हुए मधुर रसका (**यथा पिब**) यथेच्छासे पान कर ॥ २ ॥

हे इन्द्र ! हे (**हरि-वः**) घोडोंवाले वीर ! (**पूर्वेषां सुतानां अपाः**) पूर्व समयके सोमरसोंको तूने पिया है । (**अथो इदं सवनं ते केवलं**) और यह सोमरस तो तेरे लिये ही केवल तैयार किया है । हे इन्द्र ! (**मधुमन्तं सोमं ममद्धि**) मीठे सोमरसके पानसे आनंदित हो। और हे इन्द्र ! (**जठरे**) अपने पेटमें (**वृषं सत्रा आ वृषस्व**) बलवर्धक इस सोमरसको साथ साथ डाल दे ॥ ३ ॥

जनानां प्रयुजः हरिशिप्रं त्वा रथे आ वहन्तु— लोगोंके कर्मवीरको रथमें बिठलाकर उस स्थान पर ले आवें ।

सधमादे— लोग साथ साथ बैठें और आनंद प्राप्त करनेकी बातें करें ।

हरिवः— घोडोंवाले वीर हों ।

(सूक्त ३२)

हे (**हरि-वः**) घोडोंवाले वीर ! (**अप्सु धूतस्य**) जलोंमें मिलाये सोमरसका (**इह पिब**) यहां पान कर। (**नृभिः सुतस्य**) मानवोंने निचोडे सोमसे (**जठरं पृणस्व**) पेटको भर दे ॥ १ ॥

हे (**हरि-अश्व**) काळे घोडोंवाले इन्द्र ! (**वृष्णे तुभ्यं सुतस्य**) बलवान् ऐसे तेरे लिये निचोडे (**सत्यां उग्रां पीतिं**) सच्चे उत्साहवर्धक सोमपानके पास (**प्रयै प्र इयर्मि**) जानेके लिये मैं तुझे प्रेरित करता हूं । हे इन्द्र ! (**धेनाभिः इह मादयस्व**) हमारी स्तुतियोंसे आनन्द मना । जब तू (**विश्वाभिः धीभिः**) सब बुद्धियोंसे और (**शच्या गृणानः**) शक्तिके साथ प्रशंसित होता है ॥ २ ॥

(अथर्व. २०।२५।७ देखो)

हे (**शचीवः**) शक्तिमान् इन्द्र ! (**तव ऊती**) तेरे रक्षणके सामर्थ्यसे (**तव वीर्येण**) तेरे वीर्यसे (**वयः दधानाः**) शक्तिको प्राप्त करते हुए (**उशिजः ऋतज्ञाः**) प्रेमसे यज्ञके

[सूक्त ३४]

(ऋषिः — १-१८ गृत्समदः । देवता — इन्द्रः ।)

यो जात एव प्रथमो मनस्वान्देवो देवान्क्रतुना पर्यभूषत् ।
यस्य शुष्माद्रोदसी अभ्यसेतां नृम्णस्य मह्ना स जनास इन्द्रः ॥ १ ॥
यः पृथिवीं व्यथमानामदृंहद्यः पर्वतान्प्रकुपिताँ अरम्णात् ।
यो अन्तरिक्षं विममे वरीयो यो द्यामस्तभ्नात्स जनास इन्द्रः ॥ २ ॥
यो हत्वाहिमरिणात्सप्त सिन्धून्यो गा उदाजदपधा वलस्य ।
यो अश्मनोरन्तरग्निं जजान संवृक्समत्सु स जनास इन्द्रः ॥ ३ ॥
येनेमा विश्वा च्यवना कृतानि यो दासं वर्णमधरं गुहाकः ।
श्वघ्नीव यो जिगीवाँ लक्षमाददर्यः पुष्टानि स जनास इन्द्रः ॥ ४ ॥

ज्ञानी लोग मिले। हे इन्द्र! (प्रजावत्) प्रजासे युक्त होकर (सधमाद्यासः गृणन्तः) एकत्र आनन्दसे रहनेवाले, तेरी स्तुति करते हुए (मनुषः दुरोणे तस्थुः) मानवोंके रहने योग्य घरमें रहें ॥ ३ ॥

हरिवः— घोडोंके साथ रहनेवाला वीर,

शचीवः— सामर्थ्यवान् वीर,

तव ऊती, तव वीर्येण वयः दधानाः— तेरे रक्षणसे सुरक्षित और तेरे पराक्रमसे शक्तिमान होनेवाले वीर हों।

उशिजः ऋतज्ञाः— प्रेमसे साथ बैठकर श्रेष्ठ कर्म करनेवाले हों, और ये यज्ञका तत्व जाननेवाले हों।

प्रजावत्— संतानोंसे युक्त हों, कोई संतानहीन न हो।

सधमाद्यासः गृणन्तः मनुषः दुरोणे तस्थुः— एकत्र रहकर आनंद बढानेवाले, ईश्वरकी स्तुति करनेवाले लोग मानवोंके रहने योग्य घरमें रहें। उत्तम योग्य घरमें आनन्दसे रहें।

॥ यहां तृतीय अनुवाक समाप्त ॥

(सूक्त ३४)

(**यः मनस्वान् प्रथमः देवः**) जो बुद्धिमान् पहिला देव (**जातः एव**) प्रकट होते ही (**क्रतुना देवान् पर्यभूषत्**) अपने कर्मसे सब देवोंको सुभूषित करता है, (**यस्य शुष्मात्**) जिसके बलसे और (**नृम्णस्य मह्ना**) शौर्यकी महिमासे (**रोदसी अभ्यसेतां**) दोनों लोक कांपते हैं, हे (**जनासः**) लोगो! (**स इन्द्रः**) वह इन्द्र है ॥ १ ॥
(ऋ. २।१२।१)

(**यः व्यथमानां पृथिवीं अदृंहत्**) जिसने दुःखित पृथिवीको सुदृढ बनाया, (**यः प्रकुपितान् पर्वतान् अरम्णात्**) जिसने प्रकुपित पर्वतोंको रमणीय बनाया, (**यः अन्तरिक्षं वरीयः विममे**) जिसने अन्तरिक्षको ऊपर बनाया, (**यः द्यां अस्तभ्नात्**) जिसने द्युलोकको स्थिर बनाया, हे लोगो! वह इन्द्र है ॥ २ ॥ (ऋ. २।१२।२)

(**यः अहिं हत्वा सप्त सिन्धून् अरिणात्**) जिसने मेघको मार कर सात नदियोंको बहाया, (**यः वलस्य अपधा गाः उदाजत्**) जिसने वलकी गुहासे गौओंको ऊपर निकाला, (**यः अश्मनः अन्तः अग्निं जजान**) जिसने पत्थरोंके अन्दर अग्निको उत्पन्न किया, जो (**समत्सु संवृक्**) जो संग्रामोंमें शत्रुको घेरता है, हे लोगो! वह इन्द्र है ॥ ३ ॥
(ऋ. २।१२।३)

(**येन इमा विश्वा च्यवना कृतानि**) जिसने ये सब भुवन हिलनेवाले बनाये हैं, (**यो दासं वर्णं अधरं गुहा कः**) जिसने दास वर्णको नीच और गुहामें रहनेवाला किया है, (**यः अर्यः जिगीवान्**) जो श्रेष्ठ विजयी होकर (**श्वघ्नी इव लक्षं पुष्टानि आदद्**) व्याधके समान लक्ष्यको और पोषक धनोंको प्राप्त करता है, हे लोगो! वह इन्द्र है ॥ ४ ॥
(ऋ. २।१२।४)

यं स्मा पृच्छन्ति कुह सेति घोरमुतेमाहुर्नैषो अस्तीत्येनम् ।
सो अर्यः पुष्टीर्विज इवा मिनाति श्रदस्मै धत्त स जनास इन्द्रः ॥ ५ ॥
यो रध्रस्य चोदिता यः कृशस्य यो ब्रह्मणो नाधमानस्य कीरेः ।
युक्तग्राव्णो योऽविता सुशिप्रः सुतसोमस्य स जनास इन्द्रः ॥ ६ ॥
यस्याश्वासः प्रदिशि यस्य गावो यस्य ग्रामा यस्य विश्वे रथासः ।
यः सूर्यं य उषसं जजान यो अपां नेता स जनास इन्द्रः ॥ ७ ॥
यं क्रन्दसी संयती विह्वयेते परेऽवर उभया अमित्राः ।
समानं चिद्रथमातस्थिवांसा नाना हवेते स जनास इन्द्रः ॥ ८ ॥
यस्मान्न ऋते विजयन्ते जनासो यं युध्यमाना अवसे हवन्ते ।
यो विश्वस्य प्रतिमानं बभूव यो अच्युतच्युत्स जनास इन्द्रः ॥ ९ ॥
यः शश्वतो मह्येनो दधानानमन्यमानाञ्छर्वा जघान ।
यः शर्धते नानुददाति शृध्यां यो दस्योर्हन्ता स जनास इन्द्रः ॥ १० ॥

(**यं घोरं**) जिस भयानकके विषयमें (**पृच्छन्ति**) पूछते हैं कि (**सः कुह इति**) वह कहां रहता है, (**उत एनं आहुः**) और इसके विषयमें कई कहते हैं कि (**न एषः अस्ति इति**) वह है ही नहीं। (**सः अर्यः**) वह श्रेष्ठ (**विज इव पुष्टीः आमिनाति**) पक्षीके समान शत्रुकी पुष्टियोंको विनष्ट भी करता है (**अस्मै श्रत् धत्त**) इसपर श्रद्धा धारण करो, हे लोगो ! वही इन्द्र है ॥ ५ ॥ (ऋ. २।१२।५)

(**यः रध्रस्य**) जो उपासकका (**यः कृशस्य**) जो कृशका, (**यः ब्रह्मणः**) जो ज्ञानीका और (**नाधमानस्य कीरेः**) याचना करनेवाले कविका (**चोदिता**) प्रेरक होता है, (**युक्तग्राव्णः सुतसोमस्य यः अविता**) जो पत्थरोंसे सोमरस निकालनेवालेका रक्षक है, जो (**सुशिप्रः**) उत्तम साफा बांधता है, हे लोगो ! वह इन्द्र है ॥ ६ ॥

(ऋ. २।१२।६)

(**यस्य प्रदिशि**) जिसके आदेशमें (**अश्वासः**) घोडे आते हैं (**यस्य गावः**) जिसकी गौवें, (**यस्य ग्रामाः**) जिसके गांव हैं, (**यस्य विश्वे रथासः**) जिसके सब रथ हैं (**यः सूर्यं उषसं जजान**) जिसने सूर्यको उषाको उत्पन्न किया है, (**यः अपां नेता**) जो जलोंका नेता है, हे लोगो ! वह इन्द्र है ॥ ७ ॥ (ऋ. २।१२।७)

(**संयती क्रन्दसी यं विह्वयेते**) आपसमें युद्धके लिये तैयार हुई सेनाएँ जिसको बुलाती हैं। (**परे अवरे उभयाः अमित्राः**) श्रेष्ठ और कनिष्ठ दोनों प्रकारके शत्रु जिसको बुलाते हैं, (**समानं रथं चित् आतस्थिवांसा**) समान रथपर बैठनेवाले वीर (**नाना हवेते**) जिसको नाना प्रकारसे बुलाते हैं, हे लोगो ! वह इन्द्र है ॥ ८ ॥ (ऋ. २।१२।८)

(**यस्मात् ऋते जनासः न विजयन्ते**) जिसकी सहायताके बिना लोग विजय नहीं प्राप्त कर सकते, (**युध्यमानाः अवसे यं हवन्ते**) युद्ध करनेवाले अपने रक्षणके लिये जिसको बुलाते हैं, (**यः विश्वस्य प्रतिमानं बभूव**) जो विश्वका आदर्श मान दण्ड हुआ है (**यः अच्युत-च्युत्**) जो न हिलनेवालोंको हिलानेवाला है, हे लोगो ! वह इन्द्र है ॥ ९ ॥

(ऋ. २।१२।९)

(**यः शर्वा**) जिस बाण धारण करनेवालेने (**शश्वतः महि एनः**) सदासे बड़ा पाप (**दधानान्**) धारण करनेवाले (**अमन्यमानान्**) अविश्वासियोंको (**जघान**) मारा। (**यः शर्धते**) जो घमंडीकी (**शृध्यां न अनुददाति**) घमंडको नहीं सहता, (**यः दस्योः हन्ता**) जो दस्युका मारनेवाला है, हे लोगो ! वह इन्द्र है ॥ १० ॥

(ऋ. २।१२।१०)

यः शम्बरं पर्वतेषु क्षियन्तं चत्वारिंश्यां शरद्यन्वविन्दत् ।
ओजायमानं यो अहिं जघान दानुं शयानं स जनास इन्द्रः ॥ ११ ॥
यः शम्बरं पर्यतरत्कसीभिर्योऽचारुकास्नापिबत्सुतस्य ।
अन्तर्गिरौ यजमानं बहुं जनं यस्मिन्नामूर्छत्स जनास इन्द्रः ॥ १२ ॥
यः सप्तरश्मिर्वृषभस्तुविष्मानवासृजत्सर्तवे सप्त सिन्धून् ।
यो रौहिणमस्फुरद्वज्रबाहुर्द्यामारोहन्तं स जनास इन्द्रः ॥ १३ ॥
द्यावा चिदस्मै पृथिवी नमेते शुष्मांचिदस्य पर्वता भयन्ते ।
यः सोमपा निचितो वज्रबाहुर्यो वज्रहस्तः स जनास इन्द्रः ॥ १४ ॥
यः सुन्वन्तमवति यः पचन्तं यः शंसन्तं यः शशमानमूती ।
यस्य ब्रह्म वर्धनं यस्य सोमो यस्येदं राधः स जनास इन्द्रः ॥ १५ ॥
जातो व्यख्यत्पित्रोरुपस्थे भुवो न वेद जनितुः परस्य ।
स्तविष्यमाणो नो यो अस्मद्व्रता देवानां स जनास इन्द्रः ॥ १६ ॥

(**यः पर्वतेषु क्षियन्तं शंबरं**) जिसने पर्वतोंमें रहनेवाले मेघको (**चत्वारिंश्यां शरदि**) चालीसवें वर्ष (**अन्वविन्दत्**) ढूंढ निकाला, (**यः ओजायमानं अहिं**) जिसने बल बढानेवाले अहिको-मेघको जो (**दानुं शयानं**) दानी और विश्राम करनेवाला था उसको (**जघान**) मारा, हे लोगो ! वह इन्द्र है ॥ ११ ॥ (ऋ. २।१२।११)

(**यः कसीभिः शंबरं पर्यतरत्**) जिसने वज्रोंसे शंबरको-मेघको जीत लिया, (**यः अचारुक-अस्ना**) जो सुन्दर मुखसे (**सुतस्य अपिबत्**) सोमरसको पीता है, (**बहुं जनं यजमानं**) यज्ञ करनेवाले बहुत जनोंको (**अन्तः गिरौ यस्मिन् आ मूर्छत्**) जिस पर्वतमें इसने बढाया, हे लोगो ! वह इन्द्र है ॥ १२ ॥

(**यः सप्तरश्मिः वृषभः**) जो सात किरणोंवाला बलवान् (**तुविष्मान्**) सामर्थ्यवान् देव (**सप्त सिन्धून्**) सात नदियोंको (**सर्तवे अवासृजत्**) बहनेके लिये छोड देता है। (**यः वज्रबाहुः**) जिस वज्रधारीने (**द्यां आरोहन्तं रौहिणं अस्फुरत्**) द्युलोकपर चढनेवाले रौहिणको काटा है, हे लोगो ! वह इन्द्र है ॥ १३ ॥ (ऋ. २।१२।१२)

(**द्यावा पृथिवी अस्मै चित् नमेते**) द्युलोक और पृथिवी इसके सामने नम्र होते हैं (**अस्य शुष्मात् चित् पर्वता भयन्ते**) इसके बलसे पर्वत भयभीत होते हैं। (**यः सोमपाः**) जो सोमपान करनेवाला, (**यः वज्रबाहुः वज्रहस्तः निचितः**) जो वज्रके समान बाहुवाला और हाथमें वज्र धारण करनेवाला प्रसिद्ध है, हे लोगो ! वह इन्द्र है ॥ १४ ॥ (ऋ. २।१२।१३)

(**यः सुन्वन्तं अवति**) जो सोमरस निकालनेवालेकी रक्षा करता है, (**यः पचन्तं**) जो अन्न पकानेवालेकी रक्षा करता है, (**यः शंसन्तं**) जो मंत्र बोलनेवालेकी, (**यः ऊती शशमानं**) जो अपने रक्षणके साथ दान देता है उसकी रक्षा करता है, (**ब्रह्म यस्य वर्धनं**) ज्ञान जिसके यशका वर्धन करता है, (**सोमः यस्य**) सोम जिसका बलवर्धन करता, (**इदं राधः यस्य**) यह हवि जिसका वर्धन करता है, हे लोगो ! वह इन्द्र है ॥ १५ ॥ (ऋ. २।१२।१४)

(**जातः**) प्रकट होते ही (**पित्रोः उपस्थे व्यख्यत्**) मातापिताकी गोदमें रहकर जो प्रसिद्ध होता है, (**यः भुवः**) जो भूमिको और (**परस्य जनितुः न वेद**) श्रेष्ठ उत्पादकको भी नहीं जानता ? (**यः नः स्तविष्यमाणः**) जो हमसे स्तुति होनेपर (**अस्मत् देवानां व्रता**) हमारे देवोंके व्रतोंको पूर्ण करता है, हे लोगो ! वह इन्द्र है ॥ १६ ॥

यः सोमकामो हर्यश्वः सूरिर्यस्माद्रेजन्ते भुवनानि विश्वा ।
यो जघान शम्बरं यश्च शुष्णं य एकवीरः स जनास इन्द्रः ॥ १७ ॥
यः सुन्वते दुध्र आ चिद्वाजं दर्दर्षि स किलासि सत्यः ।
वयं त इन्द्र विश्वह प्रियासः सुवीरासो विदथमा वदेम ॥ १८ ॥ (२१५)

(**यः सोमकामः**) जो सोम चाहता है। जो (**हर्यश्वः**) भूरे रंगके घोडोंवाला, (**सूरिः**) ज्ञानी है, (**यस्मात् विश्वा भुवनानि रेजन्ते**) जिससे सब भुवन कांपते हैं, (**यः शंबरं जघान**) जिसने शंबरको मारा (**यः च शुष्णं**) जिसने शुष्णको मारा, (**यः एकवीरः**) जो एक मात्र वीर है, हे लोगो ! वह इन्द्र है ॥ १७ ॥

(**यः दुध्रः चित्**) जो दुर्धष होनेपर भी (**सुन्वते पचते वाजं आ दर्दर्षि**) सोमरस निकालनेवाले और अन्न पकानेवालेके लिये बल तथा अन्न देता है (**सः सत्यः किल असि**) वह निःसंदेह सत्य है। हे इन्द्र ! (**वयं ते विश्वहः प्रियासः**) हम तेरे सर्वदा प्रिय होकर (**सुवीरासः**) अपने वीर पुत्रोंके समेत (**विदथं आ वदेम**) तेरे गीत गाते रहेंगे ॥ १८ ॥ (ऋ. २।१२।१५)

इस सूक्तमें इन्द्रके गुणों और कार्योंका वर्णन किया है जो गुण देखकर इन्द्रको भक्त पहचान सकते हैं। वे गुण ये हैं—

१ यः मनस्वान् प्रथमः देवः— जो बुद्धिमान पहिला देव है। यह पहिला देव है। इससे पूर्व कोई देव नहीं है। सबमें जो आदिम देव है वह यह है। यह 'मनस्वान्' मनन-पूर्वक पूर्ण आयोजनापूर्वक सब कार्य करता है।

२ यः जात एव क्रतुना देवान् पर्यभूषत्— जो प्रकट होते ही [सब देवोंको उत्पन्न करके] अपने सामर्थ्यसे उन सब देवोंको सुन्दर सुभूषित करता है। यह (**प्रथमः देवः**) पहिला देव है, इसके पूर्व कोई देव बने ही नहीं, इसलिये इसको 'पहिला देव' कहा है। इसने सब देव उत्पन्न किये और उनको सुन्दर भी बनाया। सुभूषित भी किया। अर्थात् सब देवोंमें इस पहिले देवकी शक्ति ही कार्य करती रही जिससे सब अन्य देव शक्तिमान दीखने लगे।

३ यस्य शुष्मात्, नृम्णस्य मह्ना रोदसी अभ्यसेताम्— इस देवकी शक्तिसे, इसके पौरुषकी महिमासे द्युलोक और भूलोक अपने अपने कार्यके करनेमें दत्तचित्त रहते हैं। '**अभ्यस्**'– का अर्थ वारंवार वही कार्य करना। भूमिपर तथा आकाशमें वारंवार वे वे कार्य होते रहते हैं। नियमपूर्वक कार्य होते रहते हैं, सूर्यका उदयास्त, वायुका बहना, वृष्टिका होना आदि जो कार्य वारंवार हो रहे हैं वे इस आदिदेवकी आयोजनासे ही हो रहे हैं। और होते रहेंगे ॥ १ ॥

४ यः व्यथमानां पृथिवीं अदृंहत्— जो दुःखी हुई पृथिवीको दृढ बनाता है। इससे स्पष्ट होता है कि पृथिवी प्रारंभमें कष्ट देनेवाली थी। उस पृथिवीको उस देवने (**अदृंहत्**) सुदृढ बनाया। यह पृथिवी आजके समान दृढ नहीं थी। पीछेसे दृढ हुई है।

५ यः प्रकुपितान् पर्वतान् अरम्णात्— जो प्रकुपित पर्वतोंको रमणीय बनाता है। ज्वालामुखी पर्वत थे, उनको शान्त तथा रमणीय उसी देवने बनाया।

इस वर्णनसे भूमि प्रथम गरमागरम थी, पर्वत ज्वाला फेंकने-वाले थे, पीछेसे भूमि और पर्वत रमणीय हुए। हरियावल पीछेसे हुई ऐसा दीखता है ॥ २ ॥

६ यः अहिं हत्वा सप्त सिन्धून् अरिणात्— जिसने अहिको मारा और सात नदियोंको चलाया। '**अहि**' मेघका नाम है, '**अहि**' नामक एक जाती भी थी। '**अहि**'– कम न होनेवाला '**अ-हि**' पर्वतपर पडे बर्फका भी नाम है। इस पर्वतपर पडे बर्फको पिघलाकर नदियोंको महापुर लाना इन्द्रका या सूर्यका कार्य है।

७ यः वलस्य अपधा गा उदाजत्— जिसने वलने छिपाकर रखी गौवें बाहर निकाली। 'वल' कौन है इसकी खोज करनी चाहिये। गौवें यहां सूर्यकी प्रकाश किरणें हैं ऐसा प्रतीत होता है। उषःकालमें प्रकाश किरणें नीचे रहती हैं, वे ऊपर आती हैं। वल अन्धकार होगा। उसने प्रकाश किरणें नीचे रखी थी उनको उदय होनेपर सूर्यदेवने ऊपर लायी, यह रूपक अलंकार यहां होगा।

८ यः अश्मनः अन्तः अग्निं जजान— जिसने पत्थरोंमें अग्नि उत्पन्न किया है। दो पत्थर एक दूसरेपर आघात करनेपर उससे अग्नि उत्पन्न होता है। दो मेघ पास आये तो उनमें विद्युत् अग्निका प्रवाह शुरू होता है। यह उस पहिले देवका सामर्थ्य है।

९ **समत्सु संवृक्**— यह पहिला देव संग्रामोंमें शत्रुओंको घेर कर उनका नाश करता है। संग्रामोंमें वीरोंमें बल उत्पन्न करता है जिस बलसे वीर शत्रुको घेरते और उनका नाश कर सकते हैं ॥ ३ ॥

१० **येन इमा विश्वा च्यवना कृतानि**— जिसने ये सब सूर्य, चन्द्र, भूमि आदि घूमनेवाले बनाये हैं। इस देवकी आयोजनासे यह सब विश्व नियत गतिसे घूम रहा है।

११ **यः दासं वर्णं अधरं गुहा कः**— जिसने दासको नीच और गुहा निवासी बनाया है। दास ज्ञानहीन है इस कारण नीच है। संस्कारहीन होनेके कारण गुहामें रहता है।

१२ **जिगीवान्**— आर्यको विजयी बनाया है। यहां 'आर्य और दास' का वर्णन है। '**आर्य**' विजयी है और '**दास**' नीच होते हैं। आगे बढनेवाले और पीछे रहनेवाले यहां संस्कारोंके कारण आनेवाले गुण हैं।

१३ **श्वघ्नी इव लक्षं पुष्टानि आदत्**— व्याधके समान अपने लक्ष्यपर मन रखता है और पोषक पदार्थ प्राप्त करता है। यही श्रेष्ठ बननेका उपाय है, अपने लक्ष्यपर ध्यान रखना और पोषक धन प्राप्त करना। इससे प्रयत्न करनेवाला श्रेष्ठ बनता है, विजयी बनता है।

१४ **यं घोरं पृच्छन्ति स कुह इति**— इस महा भयंकर सामर्थ्यवानके विषयमें पूछते हैं कि वह कहां रहता है। मननशील ज्ञानी वह प्रथम प्रकट हुआ देव कहां रहता है इसीका विचार करते रहते हैं।

१५ **उत एनं आहुः एषः न अस्ति इति**— कई अविचारी लोग कहते हैं कि यह प्रथम प्रकट हुआ ऐसा कोई देव है ही नहीं।

१६ **अस्मै श्रत् धत्त**— इस आदिदेवपर श्रद्धा धारण करो, इससे श्रेष्ठता प्राप्त होती है।

१७ **स अर्यः**— वह श्रेष्ठ होता है, जो इस प्रथम देवपर श्रद्धा रखता है वह श्रेष्ठ होता है और—

१८ **विज इव पुष्टीः आमिनाति**— पक्षीके समान वह पोषक धन प्राप्त करता। '**विज्**'- पक्षी। पक्षी प्रयत्नसे अपने लिये पुष्टिकारक अन्न प्राप्त करता है, वैसा प्रयत्नशील मानव अपने लिये पोषणके साधन प्राप्त करेगा ॥ ५ ॥

१९ **यः रध्रस्य, कृशस्य, नाधमानस्य, ब्रह्मणः कीरेः चोदिता**— जो उपासक, कृश, प्रार्थना करनेवाले, ज्ञानी कविको प्रेरणा करनेवाला है। '**रध्र**'- धनी, उदार, निर्धन, उपासक। **नाधमान**- उपासक, प्रार्थना करनेवाला। **कीरिः**- स्तोता, कवि। प्रार्थना, प्रार्थना करनेवाला।

२० **सुशिप्रः**— उत्तम हनुवाला, उत्तम साफा बांधनेवाला।

२१ **युक्तग्राव्णः सुतसोमस्य यः अविता**— यज्ञकर्ताका संरक्षक। पत्थरोंसे सोमरस निकाल कर उसका जो यज्ञ करता है उसका रक्षक। सोमयज्ञ करनेवालेका रक्षक ॥ ६ ॥

सोमयागमें धर्मसभा होती है और उसमें जनकल्याणके साधनोंका विचार होता है। इस कारण सोमयागकी प्रेरणा प्रभु करता है। अर्थात् इससे जनसमुदायका कल्याण होता है।

२२ **यस्य प्रदिशि ग्रामाः विश्वे रथासः अश्वासः गावः**— जिसकी आज्ञामें सब गांव, रथ, घोडे और गौवें रहती हैं। जिसकी आज्ञा सबको माननी पडती है। इतना जिसका सामर्थ्य है।

२३ **यः सूर्यं उषसं जजान**— जिसने उषा और सूर्यको बनाया,

२४ **यः अपां नेता**— जो जलोंको चलानेवाला है, जिसकी आज्ञासे नदियां बह रही हैं और वृष्टि होती है, वह आदिदेव है ॥ ७ ॥

२५ **यं क्रन्दसी संयती विह्वयेते**— परस्पर युद्ध करनेवाली सेनाएं जिसको अपनी सहायताके लिये बुलाती हैं।

२६ **परे अवरे उभया अमित्रा (यं विह्वयेते)**— श्रेष्ठ और कनिष्ठ दोनों प्रकारके शत्रु जिसको अपनी सहायताके लिये बुलाते हैं।

२७ **समानं रथं आतस्थिवांसा नाना हवेते**— समान रथपर बैठनेवाले वीर जिसको अपनी सहायताके लिये बुलाते हैं ॥ ८ ॥

२८ **यस्मात् ऋते जनासः न विजयन्ते**— जिसकी सहायता न हुई तो वीर लोगोंको जय प्राप्त नहीं होता।

२९ **युध्यमानाः अवसे यं हवन्ते**— युद्ध करनेवाले वीर जिसको सहायताके लिये बुलाते हैं।

३० **यः विश्वस्य प्रतिमानं बभूव**— जो विश्वका आदर्श नमूना हुआ है।

३१ **यः अच्युत-च्युत्**— जो कभी न हिलनेवालोंको भी उखाडकर फेंक देता है ॥ ९ ॥

३२ **यः शर्वा शश्वतः महि एनः दधानान्, अमन्यमानान् जघान**— जो बलवान् सदासे बडा पाप करनेवाले अविश्वासी नास्तिकोंको नष्ट भ्रष्ट करता है।

३३ **यः शर्धते शृध्यां न अनुददाति**— जो घमंडीकी घमंडको नहीं सहता, उसकी घमंड उतार देता है,

३४ यः दस्योः हन्ता— जो दुष्टोंका विनाश करता है ॥ १० ॥

३५ पर्वतेषु क्षियन्तं शंबरं चत्वारिंश्यां शरदि अन्वविन्दत्— पर्वतोंमें रहनेवाले मेघको-बर्फको-चालीसवें वर्षमें जिसने प्राप्त किया।

यहां 'चालीसवें वर्ष मेघको प्राप्त किया' इसका तात्पर्य ध्यानमें नहीं आता। विज्ञानकी दृष्टिसे इसकी खोज वैज्ञानिक करें। 'शंबर' का अर्थ 'मेघ, हिम, बर्फ' आदि प्रसिद्ध है, परन्तु इससे यहां कुछ भी बोध नहीं प्राप्त होता है। संशोधक विज्ञानकी दृष्टिसे इस विषयकी खोज करें।

३६ यः ओजायमानं दानुं शयानं अहिं जघान— जिसने बलवान् होनेवाले दानी सोनेवाले अहिको मारा। 'अहि' का अर्थ- सर्प, मेघ, बर्फ, शत्रु है। जो शत्रु अपना बल बढाता रहा था उसको इन्द्रने मारा। 'अहि' एक मानव जातीका भी नाम है। अहिके विषयमें भी खोज होनी चाहिये ॥ ११ ॥

३७ यः कसीभिः शंबरं पर्यतरात्— जिसने वज्रोंसे शंबरको मारा। यदि 'शंबर' मेघ है तो अनेक वज्र उसके मारनेके लिये किस कारण लगते हैं। (३५ वीं टिप्पणी देखिये।)

३८ यः अचारुकारता सुतस्य अपिबत्— जो सुन्दर मुखसे सोमरस पीता है।

३९ यस्मिन् गिरौ अन्तः यजमानं बहुजनं अमूर्छत्— जिस पर्वतके अन्दर बैठकर यज्ञ करनेवाले बहुत जनोंको जिसने बढाया। मूर्छ्- शक्ति प्राप्त करना, बढना ॥१२॥

४० यः सप्तरश्मिः वृषभः तुविष्मान् सप्त सिन्धून् सर्तवे अवासृजत्— जो सात किरणोंवाले बलवान्, सामर्थ्यवान्ने सात नदियोंको बहनेके लिये छोड दिया। 'सप्तरश्मिः'- सूर्य, सात किरण जिसमें हैं। (टिप्पणी ६ देखो) सूर्य प्रकाशता है और उसकी गर्मीसे बर्फ पिघलकर नदियां बहती हैं।

४१ यः वज्रबाहुः द्यां आरोहन्तं रौहिणं अस्फुरत्— जिस वज्रधारीने द्युलोकपर चढनेवाले सूर्यको स्फुरण चढाया। 'रौहिणः' सूर्य, ग्रह, शनि आदि ॥ १३ ॥

४२ द्यावापृथिवी अस्मै चित् नमेते— द्यावा पृथिवी इसके सामने नमते हैं। इसके सामने शक्तिहीन दीखते हैं।

४३ अस्य शुष्मात् पर्वता भयन्ते— इसके बलसे पर्वत भयभीत होते हैं।

४४ यः सोमपाः वज्रबाहुः वज्रहस्तः निचितः- जो सोमरस पीनेवाला वज्रसमान बाहुवाला, वज्र हाथमें लेनेवाला प्रसिद्ध है ॥ १४ ॥

४५ यः सुन्वन्तं पचन्तं शंसन्तं शशमानं अवति- जो याजक, पाचक, स्तुति करनेवाले और दाताका रक्षण करता है।

४६ यस्य ब्रह्म, सोमः, राधः वर्धन— जिसका यशगान ज्ञान, यज्ञ और हवि वर्धन करते हैं ॥ १५ ॥

४७ जातः पित्रोः उपस्थे व्यचयत्— जो प्रकट होते ही मातापिताकी गोदमें दीप्तिमान होता है।

४८ यः भुवः परस्य जनितुः न वेद ?— जो भूमिको और श्रेष्ठ उत्पादकको भी नहीं जानता? अवश्य जानता है।

४९ नः स्तविष्यमाणः यः असत् देवानां व्रता— जिसकी हमारे द्वारा स्तुति होनेपर सब देवोंके व्रतोंको वह परिपूर्ण करता है ॥ १६ ॥

५० सोमकामः हर्यश्वः सूरिः— जो सोमपर प्यार करता है, जिसके भूरे रंगके घोडे हैं जो ज्ञानी है। यहां घोडोंके अर्थ किरण लेना उचित है।

५१ यः शंबरं जघान, यः शुष्णं— जो शंबरको और शुष्णको मारता है। (टिप्पणी ३५-३७ देखो)

५२ यः एकवीरः— जो एक वीर है ॥ १७ ॥

५३ यः दुध्रः चित् सुन्वते पचते वाजं आ दर्दर्षि- जो दुर्धर्ष प्रबल वीर है और यज्ञकर्ता और अन्नदान करनेवालोंके लिये बलवर्धक अन्न देता है।

५४ सः सत्यः किल असि— वही एक सत्यका रक्षक है। उसे असत्य कभी पसंद नहीं होता।

५५ वयं ते विश्वह प्रियासः सुवीरासः विदथं आ वदेम— हम तेरे-प्रभुके-सदा प्रिय हों, उत्तम वीर पुत्रोंसे युक्त हों और तेरे गीत गाते रहें ॥ १८ ॥

इस सूक्तका विशेष मनन

यह सूक्त 'हे जनासः ! स इन्द्रः' हे लोगो! वह इन्द्र यह है। इस तरह इन्द्रका स्वरूप बतानेवाला है। इसमें इन्द्रके गुण बताये हैं और इन्द्रका वर्णन भी किया है। इन्द्रका स्वरूप निश्चित करनेमें यह सूक्त बडी सहायता देनेवाला है।

१ पहिला देव इन्द्र है।

'मनस्वान् प्रथमः देवः' (मं. १) बुद्धिमान् प्रथम देव इन्द्र है। सब देवोंमें जो प्रथम प्रकट हुआ वह यह इन्द्र है। इससे पूर्व और कोई देव प्रकट नहीं हुआ। सबसे आदिमें

यह देव प्रकट हुआ है, इसलिये हम इसको आदिदेव भी कह सकते हैं।

'जात एव क्रतुना देवान् पर्यभूषत्' (मं. १)- प्रकट होते ही अपने पुरुषार्थसे अन्य देवोंको उत्पन्न करके, उन देवोंको सुभूषित भी इसीने किया, अग्निका तेज, जलमें शान्ति, वायुमें जीवनशक्ति, सूर्यमें तेज, चन्द्रमें आल्हाददायक शान्त और रमणीय प्रकाश रखकर इन देवोंको सुभूषित इस आदि-देवने किया है। ये देव इन गुणोंके कारण उपयोगी तथा सुभूषित हुए हैं।

'यस्य शुष्मात्, नृम्णस्य मह्ना रोदसी अभ्यसेताम्' (मं. १)— इसके बलसे और पौरुषकी महिमासे द्यु और भूमि अपने अपने कार्य वारंवार उसीके नियममें रहकर करते रहते हैं। जैसा कोई किसी विषयका अभ्यास करता है वैसा ये देव अपने अपने कार्यका अभ्यास करते हैं। वारंवार वही कार्य करते जाते हैं।

'व्यथमानां पृथिवीं अदृंहत्, प्रकुपितान् पर्वतान् अरम्णात्' (मं. २)— प्रथम पृथिवी व्यथा देनेवाली थी, आज जैसी शीत है वैसी नहीं थी और पर्वत भी ज्वालामुखी जैसे थे। इस आदि देवने पृथिवीको सुदृढ और शांत बना दी और पर्वतोंको झाडी उत्पन्न करके रमणीय बनाया। ऐसा होनेके लिये कितने वर्ष गये होंगे इसका अनुमान विज्ञानवेत्ता ही कर सकते हैं। पर्वत प्रकुपित थे वे रमणीय हुए हैं। यह सब आदि देवने ही बनाया है। ऐसा कोई दूसरा नहीं कर सकता।

'अहिं हत्वा सप्त सिन्धून् अरिणात्' (मं. ३)— अहिको मारकर सप्त सिन्धुको महापूर लाया। नदियां भरकर बहने लगी। मेघसे वृष्टि करके या बर्फको पिघलाकर नदियोंको बहाया।

'वलस्य अपधा गा उदजात्' (मं. ३)— वलने छिपाई गौवें उसके बाडेको तोडकर ऊपर लाया। सूर्यकी किरणें ये गायें हैं। उषःकालमें सूर्य किरणे ऊपर आने लगती हैं। तत्पूर्व वे नीचे रहती हैं। उत्तर ध्रुव प्रदेशमें यह दृश्य अधिक सुंदर दीखता है। उषःकाल ३० दिनतक रहता है। इस समय प्रकाश किरण और अन्धकारका युद्ध हो रहा है और अन्धेरेको नष्ट करके प्रकाशके किरण बाहर आ रहे हैं। यह एक युद्धसा ही होता है। गौवें यहां किरणें हैं।

'अश्मनः अन्तः अग्निं जजान' (मं. ३)— पत्थरोंमें अग्नि रखा है। दो पत्थर एक दूसरेपर मारनेसे अग्नि उत्पन्न होता है। दो मेघोंमें विद्युदग्नि चमकता है। यह सब आदि देवका सामर्थ्य है।

'समत्सु संवृक्' (मं. ३)— संग्रामोंमें शत्रुसेनाको घेरता है। वीरोंके अन्दरका सामर्थ्य इन्द्रसे प्राप्त हुआ सामर्थ्य है। इन्द्र ऐसा करता है।

'इमा विश्वा च्यवना कृतानि' (मं. ४)— ये सब विश्व घूमनेवाले बनाये ये इस आदि देवने ही बनाये हैं। यह सब विश्व अपने नियत गतिसे घूम रहा है वह आदि देवकी योजनाके अनुसार ही है।

'दासं वर्णं गुहा अधरं कः' (मं. ४)— दासको नीच स्थानमें रहनेवाला बनाया। दास वह है कि जो अपने अज्ञानके कारण नाशको प्राप्त होता है। इस कारण जो अज्ञानी होता है वह गुहामें रहता है। बडे घर बना कर रहना यह ज्ञानके बिना नहीं हो सकता। इसलिये दासको उसने नीचे रखा है। जो अज्ञानी होंगे वे नीचे ही रहेंगे।

'यः सूर्यं उषसं जजान, यः अपां नेता' (मं. ७)- जिसने सूर्य और उषाको बनाया, जो जलोंको चलाता है, बादलोंको लाता है।

'यः विश्वस्य प्रतिमानं बभूव' (मं. ९)— जो विश्वके लिये आदर्श नमूना हुआ है। जो **'अच्युतच्युत्'**- स्थिरोंको भी उखाडकर फेंक देता है, ऐसा जो सामर्थ्यवान् है।

'यः सप्तरश्मिः वृषभः तुविष्मान् सप्त सिन्धून् सर्तवे अवासृजत्' (मं. १२)— जो सात किरणोंवाला बलवान् और सामर्थ्यवान् है उसने सात नदियोंको बहनेके लिये छोड दिया। जिसके सामर्थ्यसे ये सात नदियां प्रवाहित हो रही हैं। मानव देहमें दो आंख, दो कान, दो नाक और एक त्वचा ये सात इंद्रियां भी सात आत्मशक्तिके प्रवाह हैं। आत्मा बलवान् और सामर्थ्यवान् है, उसमें सात किरण हैं और उससे ये सात प्रवाह चल रहे हैं। **'सप्त आपः स्वपतो लोकं ईयुः तत्र जाग्रतो अस्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ॥'** (यजु. ३४।५५)— सात नदियां सोनेके पश्चात् सोनेवाले आत्माके लोकमें जाती है उस समय दो देव- प्राण और अपान- जो इस यज्ञभूमिमें- इस शरीरमें- यज्ञके रक्षणके लिये दिनरात जागते हैं। ऐसा अन्यत्र सात प्रवाहोंका वर्णन आया है वह भी यहां देखने योग्य है। अध्यात्म क्षेत्रमें ये सात ज्ञानसरिताओंके प्रवाह आत्मिक बलसे चलते हैं।

'यः वज्रबाहुः द्यां आरोहन्तं रौहिणं अस्फुरत्' (मं. १३)— जिस वज्रधारी इन्द्रने द्युलोकपर चढनेवाले सूर्यको स्फुरण दिया है। उत्तेजित किया है।

'द्यावा पृथिवी अस्मै नमेते' (मं. १४)— द्युलोक और पृथिवी इस आदि देवके सामने नम्र होकर रहते हैं। तथा **'अस्य शुष्मात् पर्वता भयन्ते'** (मं. १४)— इस आदि देवके भयसे पर्वत भी भयभीत होते हैं, इसे डरकर रहते हैं।

उसपर श्रद्धा रखो

इस तरह इस आदि देवका वर्णन इस सूक्तमें है। इस आदि देवके विषयमें लोग पूछते हैं कि **'यं घोरं पृच्छन्ति स कुह इति'** (मं. ५) इस भयंकर शक्तिमान आदि देवके विषयमें पूछते हैं कि वह कहां रहता है ? ऐसा प्रश्न करना योग्य है, पर इस विषयमें श्रद्धा रहनी चाहिये। **'अस्मै श्रद्धत्त'** (मं. ५)— इस आदि देवपर श्रद्धा रखिये। श्रद्धा रखनेसे आपका वह भला करेगा। कई नास्तिक कहते हैं कि **'उत एनं आहुः एष न अस्ति इति'** (मं. ५)— इस आदि देवके विषयमें कई नास्तिक कहते हैं कि वह है हि नहीं। ऐसी अश्रद्धा रखना योग्य नहीं है क्योंकि वह—

'स रध्रस्य, कृशस्य, नाधमानस्य, ब्रह्मणः कीरेः चोदिता' (मं. ६)— वह निर्धन, कृश, प्रार्थना करनेवाले, ज्ञानी कविके लिये उत्तम प्रेरणा देनेवाला है। उसकी प्रेरणाएं चल रही हैं, उनको श्रद्धासे सुनना चाहिये।

'स अर्यः' (मं. ५); **जिगीवान्** (मं. ४)— वह श्रेष्ठ है और सदा विजयी है। **'विज इव पुष्टीः आ मिनाति'** (मं. ५)— पक्षी जैसा अपने लिये पुष्टिकारक अन्न प्राप्त करता है, उस तरह उसका भक्त उसकी शुभ प्रेरणासे अपनी उन्नतिके साधन प्राप्त करता है। **'श्वघ्नी इव लक्षं पुष्टानि आदत्'** (मं. ४)— व्याधके समान अपने लक्ष्यका वेध करे इससे वह अपने पोषक अन्न भरपूर प्राप्त करता है। अपना लक्ष्य ठीक तरह अपने सामने रखना चाहिये और तदर्थ प्रयत्न करना चाहिये।

वह **'अविता'** (मं. ६)— सच्चा संरक्षक है, यज्ञकर्ताका वह अवश्य संरक्षण करता है। इसलिये **'यस्य प्रदिशि ग्रामाः विश्वे रथासः अश्वासः गावः'** (मं. ७)— उसके आदेशमें सब गांव, रथ, घोडे और गौवें अर्थात् संपूर्ण विश्व रहता है। इसीलिये **'यं क्रन्दसी संयती विह्वयेते'** (मं. ८)- दोनों युद्धमान् सेनाएं अपनी सहायतार्थ इसको बुलाती हैं, तथा **'परे अवरे अमित्राः (यं विह्वयन्ते)'** (मं. ८)— दूरके और पासके शत्रु जिसको अपनी सहायतार्थ बुलाते हैं। **'समानं रथं आतस्थिवांसा नाना हवन्ते'** (मं. ८)— समान रथपर बैठनेवाले नाना प्रकारके वीर युद्धमें सहायार्थ जिसको बुलाते हैं। **'युध्यमानाः यं अवसे हवन्ते'** (मं. ८)— युद्ध करनेवाले वीर अपनी सुरक्षाके लिये जिसकी प्रार्थना करते हैं। **'यस्मात् ऋते जनासः न विजयन्ते'** (मं. ९)- जिसकी सहायता न मिली, तो युद्धमें वीर विजयी नहीं होते। ऐसा उस आदिम देवका सामर्थ्य है। इस कारण उसपर विश्वास रखना योग्य है।

पापीयोंको वह मारता है

'यः शर्वा शश्वतः महि एनः दधानान् अमन्यमानान् **जघान'** (मं. १०)— जो बलवान हमेंशा पापी आचरण करनेवालोंको और अविश्वासियोंको मारता है। **'शर्धते शृध्यां न अनु ददाति'** (मं. १०)- घमंडीको घमंड नहीं सहता, घमंड उतार देता है। वह **'दस्योः हन्ता'** (मं. १०)— दुष्टोंका विनाशक है।

'शंबरं अन्वविन्दत्, अहिं जघान' (मं. ११); **'शंबरं पर्यतरत्'** (मं. १२)— शंबर और अहिको इसने मारा। इस तरह दुष्टोंको जो मारता है।

'अस्य ब्रह्म, सोमः राधः वर्धनं' (मं. १५)— इसका ज्ञान यज्ञ और हवि संवर्धन करते हैं, उपासक भक्तको बढाते हैं। **'स्तविष्यमाणः यः असत् देवानां व्रता'** (मं. १६)— हमारे द्वारा स्तुति हुई तो हमारे अन्दरके सब देवोंके व्रतोंका पालन वह करता है। हमारे देहमें जो देव हैं उनसे हमारी उन्नतिमें आवश्यक सहायता प्राप्त होती है और उससे हमारी निःसंदेह उन्नति होती है। वह आदि देव **'स सत्यः किल असि'** (मं. १८)— वह सच्चा निःसंदेह है। इस कारण **'वयं ते विश्वह प्रियासः सुवीरासः विदथं आ वदेम'** (मं. १८)— हम सब सर्वदा तेरे लिये प्रिय होकर रहेंगे और उत्तम वीर पुत्रपौत्रोंके साथ तुम्हारे ही गीत गाते रहेंगे।

उस आदि देवकी भक्ति करेंगे। इस तरह इस सूक्तमें उस आदि देवका वर्णन मनन करने योग्य है।

[सूक्त ३५]

(ऋषिः — १-१६ नोधाः (भरद्वाजः ?) । देवता — इन्द्रः ।)

अस्मा इदु प्र तवसे तुराय प्रयो न हर्मि स्तोमं माहिनाय ।
ऋचीषमायाध्रिगव ओहमिन्द्राय ब्रह्माणि राततमा ॥ १ ॥
अस्मा इदु प्रय इव प्र यंसि भराम्याङ्गूषं बाधे सुवृक्ति ।
इन्द्राय हृदा मनसा मनीषा प्रत्नाय पत्ये धियो मर्जयन्त ॥ २ ॥
अस्मा इदु त्यमुपमं स्वर्षां भराम्याङ्गूषमास्येन ।
मंहिष्ठमच्छोक्तिभिर्मतीनां सुवृक्तिभिः सूरिं वावृधध्यै ॥ ३ ॥
अस्मा इदु स्तोमं सं हिनोमि रथं न तष्टेव तत्सिनाय ।
गिरश्च गिर्वाहसे सुवृक्तीन्द्राय विश्वमिन्वं मेधिराय ॥ ४ ॥
अस्मा इदु सप्तिमिव श्रवस्येन्द्रायार्कं जुह्वा३ समञ्जे ।
वीरं दानौकसं वन्दध्यै पुरां गूर्तश्रवसं दर्माणम् ॥ ५ ॥
अस्मा इदु त्वष्टा तक्षद्वज्रं स्वपस्तमं स्वर्यं१ रणाय ।
वृत्रस्य चिद्विदद्येन मर्म तुजन्नीशानस्तुजता कियेधाः ॥ ६ ॥

(सूक्त ३५)

(अस्मै इत् उ तवसे तुराय) इस बलवाले और स्फूर्ति देनेवाले और (महिनाय) महिमावाले इन्द्रके लिये (प्रयः न) हविष्यान्नके समान ये (स्तोमं प्र हर्मि) स्तोत्र मैं लाता हूं। (ऋचीषमाय) ऋचाओंमें जिसकी इच्छा की है (अध्रिगवे) जो आगे बढनेवाला है (इन्द्राय) उस इन्द्रके लिये यह (ओहं) स्तोत्र तथा (राततमा ब्रह्माणि) अर्पण करने योग्य ज्ञानवचन हैं ॥ १ ॥ (ऋ. १।६१।१)

(अस्मै इन्द्राय) इस इन्द्रके लिये (इत् उ) ही (प्रय इव) हविष्यान्नके समान (आंगूषं प्र यंसि) यह स्तोत्र अर्पण करता हूं। (बाधे सुवृक्ति) शत्रुको हटानेके लिये यह सुवचन रूपी स्तोत्र (प्र भरामि) भर देता हूं। (प्रत्नाय पत्ये इन्द्राय) पुरातन सनातन स्वामी इन्द्रके लिये ज्ञानी लोग (हृदा मनसा मनीषा) हृदय, मन और बुद्धिसे (धियः मर्जयन्त) अपनी बुद्धियोंको शुद्ध करते हैं ॥ २ ॥ (ऋ. १।६१।२)

(अस्मै इत् उ) इस इन्द्रके लिये (त्यं उपमं स्वर्षां आंगूषं) उस उत्तम दिव्य स्तोत्रको (आस्येन भरामि) अपने मुखसे भर देता हूं। (मतीनां मंहिष्ठं सूरिं) बुद्धिवानोंमें श्रेष्ठ विद्वानकी (वावृधध्यै) प्रतिष्ठा बढानेके लिये (सुवृक्तिभिः अच्छोक्तिभिः) उत्तम दुःख निवारक उत्तम वचनोंसे यह सूक्त करता हूं ॥ ३ ॥ (ऋ. १।६१।३)

(तष्टा इव रथं न) सुतार जैसा रथ (तत्सिनाय) अपने स्वामीके लिये तैयार करता है (तद् उ) उस प्रकार (गिर्वाहसे मेधिराय इन्द्राय) स्तुतिके योग्य बुद्धिवान् इन्द्रके लिये (सुवृक्ति विश्वं इन्वं स्तोमं) दुःखोंको दूर करनेवाला सब सुखोंको प्राप्त करनेवाला स्तोत्र (गिरः सं हिनोमि) वाणीके द्वारा भेजता हूं ॥ ४ ॥ (ऋ. १।६१।४)

(अस्मै इन्द्राय इत् इव) इस इन्द्रके लिये (श्रवस्या) यशकी इच्छासे (सप्तिं इव) घोडेको रथमें जोतते हैं उस तरह (अर्कं जुह्वा समञ्जे) स्तोत्रको अपनी जिह्वासे प्रकट करता हूं। (वीरं) शूर (दानौकसं) दानके घर जैसे (गूर्त-श्रवसं) जिसका यश फैला है ऐसे (पुरां दर्माणं) शत्रुकी नगरियोंको तोडनेवाले इन्द्रको (वन्दध्यै) वन्दन करनेके लिये यह स्तोत्र करता हूं ॥ ५ ॥ (ऋ. १।६१।५)

(अस्मा इत् उ) इस इन्द्रके लिये ही (रणाय) युद्ध करनेके हेतुसे (त्वष्टा) त्वष्टा कारीगरने (स्वर्यं स्वपस्तमं वज्रं तक्षत्) दिव्य और बडा कार्य करनेवाले वज्रको बनाया।

अस्येदु मातुः सवनेषु सद्यो महः पितुं पपिवाञ्चार्वन्ना ।
मुषायद्विष्णुः पचतं सहीयान्विध्यद्वराहं तिरो अद्रिमस्ता ॥ ७ ॥
अस्मा इदु ग्नाश्चिद्देवपत्नीरिन्द्रायार्कमहिहत्य ऊवुः ।
परि द्यावापृथिवी जभ्र उर्वी नास्य ते महिमानं परि ष्टः ॥ ८ ॥
अस्येदेव प्र रिरिचे महित्वं दिवस्पृथिव्याः पर्यन्तरिक्षात् ।
स्वराळिन्द्रो दम आ विश्वगूर्तः स्वरिरमत्रो ववक्षे रणाय ॥ ९ ॥
अस्येदेव शवसा शुषन्तं वि वृश्चद्वज्रेण वृत्रमिन्द्रः ।
गा न व्राणा अवनीरमुञ्चदभि श्रवो दावने सचेताः ॥ १० ॥
अस्येदु त्वेषसा रन्त सिन्धवः परि यद्वज्रेण सीमयच्छत् ।
ईशानकृद्दाशुषे दशस्यन्तुर्वीतये गाधं तुर्वणिः कः ॥ ११ ॥
अस्मा इदु प्र भरा तूतुजानो वृत्राय वज्रमीशानः कियेधाः ।
गोर्न पर्व वि रदा तिरश्चेष्यन्नर्णांस्यपां चरध्यै ॥ १२ ॥

(**कियेधाः ईशानः**) अनेक भूमिकाओंमें रहनेवाले ईश्वर इन्द्रने (**येन तुजता तुजन्**) जिस वज्रको फेंकनेके समय (**वृत्रस्य मर्म विदद्**) वृत्रका मर्मस्थान पहचाना था॥६॥ (ऋ. १।६१।६)

(**अस्य इद् उ मातुः सवनेषु**) इसके माताके यज्ञोंमें (**सद्यः**) तत्काल ही (**महः पितुं पपिवान्**) बडे सोमरसको इसने पीया और (**चारु अन्ना**) उत्तम अन्न खाये। (**सहीयान् विष्णुः**) शक्तिमान् विष्णुने (**पचतं मुषायत्**) पकानेवालेको उठा लिया (**अद्रिं अस्ता**) वज्रको फेंकनेवालेने (**वराहं तिरो विध्यत्**) वराहको-मेघको बीचमें बींधा ॥ ७ ॥ (ऋ. १।६१।७)

(**अस्मै इत् उ इन्द्राय**) इसी इन्द्रके लिये (**देवपत्नीः ग्नाः चित्**) देवपत्नी स्त्रियोंने भी (**अहिहत्ये अर्कं ऊवुः**) अहिका वध करनेके समयमें मंत्र बोले। (**द्यावा पृथिवी**) द्युलोक और भूलोकपर (**उर्वी परि जभ्रे**) इसने बडा प्रहार किया, (**ते अस्य महिमानं न परि स्तः**) वे दोनों लोक इसकी महिमाको घेर सकते नहीं ॥ ८ ॥ (ऋ. १।६१।८)

(**अस्य इत् एव महित्वं**) इसकी महिमा (**दिवः पृथिव्याः अन्तरिक्षात्**) द्यु, पृथिवी और अन्तरिक्षसे भी (**परि प्र रिरिचे**) बढ गई है। (**विश्वगूर्तः स्वराड् इन्द्रः**) सबके द्वारा स्तुति किया हुआ यह स्वराट् इन्द्र (**दमे**) अपने घरमें (**स्वरिः अमत्रः**) शक्तिमान और सामर्थ्यवान् होकर (**रणाय आ ववक्षे**) युद्धके लिये तैयार रहता है ॥ ९ ॥ (ऋ. १।६१।९)

(**अस्य इत् एव शवसा**) इसके अपने बलसे (**वज्रेण**) वज्रसे (**शुषन्तं वृत्रं**) डराते हुए वृत्रके (**इन्द्रः वि वृश्चत्**) इन्द्रने टुकडे कर डाले। (**व्राणाः गाः न**) रोकी हुई गौओंको जैसे खुली करते हैं उस तरह (**सचेताः दावने**) देनेमें चतुर उस इन्द्रने (**श्रवः**) यशके लिये (**अवनीः अभि अमुञ्चत्**) नदियोंको बहाया ॥ १० ॥ (ऋ. १।६१।१०)

(**अस्य इत् उ त्वेषसा**) इसीके बलसे (**सिन्धवः रन्त**) नदियां रमणीय बनी, (**यत् वज्रेण सीं परि अयच्छत्**) जब वज्रसे उनकी उसने मर्यादा बनायी। (**ईशानकृत्**) राजाओंको बनानेवाले, (**दाशुषे दशस्यन्**) दाताको धन देनेवाले, (**तुर्वणिः**) त्वरासे कार्य करनेवाले इन्द्रने (**तुर्वीतये गाधं कः**) तुर्वीतिके लिये जलको गाध बनाया ॥ ११ ॥ (ऋ. १।६१।११)

(**ईशानः कियेधाः**) स्वामी और शक्तिमान् (**तूतुजानः**) तथा त्वरासे कार्य करनेवाला तू, इन्द्र (**अस्मा इत् उ वृत्राय**) इसी वृत्रके ऊपर (**वज्रं प्र भर**) वज्रका प्रहार कर। (**गोः न पर्व**) गायके पर्वोंकी तरह (**अपां चरध्यै**)

अस्येदु प्र ब्रूहि पूर्व्याणि तुरस्य कर्माणि नव्य उक्थैः ।
युधे यदिष्णान आयुधान्यृघायमाणो निरिणाति शत्रून् ॥ १३ ॥
अस्येदु भिया गिरयश्च दृळ्हा द्यावा च भूमा जनुषस्तुजेते ।
उपो वेनस्य जोगुवान ओणिं सद्यो भुवद्वीर्याय नोधाः ॥ १४ ॥
अस्मा इदु त्यदनु दाय्येषामेको यद्वव्ने भूरेरीशानः ।
प्रैतशं सूर्ये पस्पृधानं सौवश्व्ये सुष्विमावदिन्द्रः ॥ १५ ॥
एवा ते हारियोजना सुवृक्तीन्द्र ब्रह्माणि गोतमासो अक्रन् ।
ऐषु विश्वपेशसं धियं धाः प्रातर्मक्षू धियावसुर्जगम्यात् ॥ १६ ॥ (२३१)

जलोंके प्रवाहित होनेके लिये (**अर्णांसि इष्यन्**) जलोंकी इच्छा करता हुआ तू (**तिरश्चा वि रद**) वज्रको तिरछा वृत्रपर मार ॥ १२ ॥ (ऋ. १।६१।१२)

(**अस्य तुरस्य इत् उ**) इस त्वरासे कार्य करनेवाले इन्द्रके (**पूर्व्या कर्माणि**) पूर्व समयके वीरताके कर्मोंको (**प्र ब्रूहि**) स्तुति कर जो (**उक्थैः नव्यः**) स्तोत्रोंसे स्तुति करने योग्य है । (**युधे यत् इष्णानः**) युद्धमें जब इच्छा करता है तब (**आयुधानि ऋघायमाणः**) शस्त्रोंको प्रेरित करता है, तब वह (**शत्रून् नि रिणाति**) शत्रुओंको नीचे गिराता है ॥ १३ ॥ (ऋ. १।६१।१३)

(**अस्य इत् उ भिया**) इसके भयसे (**गिरयः च दृळ्हाः**) पर्वत सुदृढ हुए और (**द्यावा च भूमा**) द्युलोक और भूलोक ये (**जनुषः तुजेते**) जन्मसे ही कांपते रहे हैं । (**वेनस्य ओणिं**) इस स्तुतियोग्यकी, रक्षाशक्तिकी (**उप उ जोगुवानः**) स्तुति करनेवाला (**नोधाः सद्यः वीर्याय भुवत्**) स्तोता तत्काल वीरताके कर्म करनेके लिये योग्य हुआ ॥ १४ ॥ (ऋ. १।६१।१४)

(**अस्मै इत् उ**) इसके लिये ही (**एषां त्यत् अनुदायी**) इनमेंसे वह एक स्तोत्र दिया गया, गाया गया । (**भूरेः एकः ईशानः यत् वव्ने**) बहुत धनके एक स्वामी इन्द्रने उसको सुना, स्वीकारा । (**इन्द्रः**) इन्द्रने (**सुष्विं एतशं**) उत्तम सोमरस निकालनेवाले एतश की (**प्र आवत्**) रक्षा की, (**सौवश्व्ये सूर्ये पस्पृधानं**) जब स्वश्वकी संतान सूर्यसे स्पर्धा कर रही थी ॥ १५ ॥ (ऋ. १।६१।१५)

हे (**हारियोजन इन्द्र**) घोडोंके जोडनेवाले इन्द्र ! (**गोतमासः ते एव सुवृक्ति ब्रह्माणि अक्रन्**) गोतमोंने तेरे लिये ही उत्तम भाववाली प्रार्थनाएं की हैं । (**एषु विश्वपेशसं धियं आधाः**) इनमें सब प्रकारकी अपनी बुद्धि डाल । (**धियावसुः प्रातः मक्षु आजगम्यात्**) बुद्धियोंसे बसनेवाला इन्द्र प्रातःकाल शीघ्र ही आ जाय ॥ १६ ॥ (ऋ. १।६१।१६)

इस सूक्तमें इन्द्रका वर्णन इन शब्दोंसे हुआ है—

१ तवसे तुराय महिनाय ऋचीषमाय अध्रिगवे इन्द्राय शततमा ब्रह्माणि प्र हर्मि (मं. १)— बलवान्, त्वरा करनेवाले, महिमायुक्त, मंत्रोंको चाहनेवाले, आगे बढनेवाले इन्द्रके लिये हम स्तोत्र करते हैं ।

२ प्रत्नाय पत्ये असै इन्द्राय बाधे सुवृक्ति आंगूषं प्र भरामि (मं. २)— प्राचीन स्वामी ऐसे इन्द्रके लिये दुष्ट विचार दूर करनेके लिये स्तोत्र करता हूं । इस स्तोत्रके पाठसे पाठकके मनमें रहनेवाले सब दुष्ट विचार दूर हो सकते हैं और अच्छे विचार उसके मनमें आ सकते हैं । वेदके मंत्रोंमें इस तरह विचारोंको परिमार्जित करनेकी शक्ति है ।

३ हृदा मनसा मनीषा धियः मर्जयन्त (मं. २)- हृदय, मन, मनकी इच्छा और बुद्धियोंको वेदमंत्र परिशुद्ध करते हैं ।

४ मतीनां मंहिष्ठं सूरिं सुवृक्तिभिः अच्छोक्तिभिः वावृधध्यै (मं. ३)— बुद्धिवानोंमें श्रेष्ठ विद्वान् प्रभुकी दुःखनाशक उत्तम वचनोंसे हम प्रतिष्ठा बढाते हैं । वह स्तोत्र हमारे दुःखोंको दूर करता है और हमारे अन्दर अच्छे भाव उत्पन्न कर सकता है ।

५ तष्टा रथं तत्सिनाय न (मं. ४)— सुतार जैसा अपने स्वामीके लिये रथ बनाता है उस तरह हम (**गिर्वा-**

इसे मेधिराय इन्द्राय सुवृक्तिं विश्वं इन्द्रं स्तोमं गिरः सं हिनोमि)— स्तुतियोग्य बुद्धिमान् इन्द्रके लिये उत्तम वचनोंवाला, सुख देनेवाला स्तोत्र हम अपनी भाषामें गाते हैं। ईशस्तुतिका स्तोत्र मनुष्यमें विचारोंकी शुद्धता करता है, इसलिये उसके पाठसे मनुष्यका लाभ होता है।

६ वीरं दानौकसं गूर्तश्रवसं पुरां दर्माणं वन्दध्यै अर्कं जुह्वा समञ्जे (मं. ५)— वीर, दानी, यशस्वी, शत्रुके नगरोंको तोडनेवाले इन्द्रकी वन्दना करनेके लिये स्तोत्र हम अपनी जिह्वासे बोलते हैं। ऐसे सूक्त बोलनेसे हमारेमें शूरता, वीरता आती है।

७ कियेधाः ईशानः तुजता तुजन् वृत्रस्य मर्म विदत् (मं. ६)— अनेक स्थानोंमें रहनेवाला इन्द्र वज्रको शत्रुपर फेंकनेके समय उसका मर्मस्थान जानता है और उस मर्मस्थानपर अपना वज्र फेंकता है। इसी तरह शत्रुके मर्म-स्थानपर ही वीर अपना शस्त्र फेंके। शत्रुको मारनेकी यह विद्या है।

८ अद्रि अस्ता वराहं तिरो विध्यत् (मं. ७)— वज्र फेंकनेवाला इन्द्र वराहरूपी शत्रुपर तिरछा अस्त्र फेंकता है। 'वराह' (वह+आहर)— उदक ले चलनेवाला मेघ। शत्रु। शत्रुपर अपने शस्त्रअस्त्र योग्य रीतिसे फेंकने चाहिये।

९ ते द्यावा पृथिवी अस्य महिमानं न परि स्तः (मं. ८)— द्युलोक तथा भूलोक इस प्रभुकी महिमाको घेर नहीं सकते। इसका महिमा द्यावा पृथिवीसे बहुत बडा है।

१० अस्य महित्वं दिवः अन्तरिक्षात् पृथिव्याः परि प्र रिरिचे—(मं.९) इस प्रभुकी महिमा द्यु, अन्तरिक्ष और पृथिवीसे बडा है।

११ शवसा इन्द्रः वज्रेण वृत्रं विवृश्चत् अवः अवनीः अभि मुञ्चत् (मं. १०)— बलसे इन्द्रने वज्रसे वृत्रको काटा और अपना यश जलप्रवाहोंके रूपसे पृथ्वी पर छोडा।

मेघोंको विनष्ट किया और वृष्टिके द्वारा नदियां बहने लगीं। यही प्रभुका यश है। मेघके युद्धसे युद्ध करनेकी रीति यहां बताई है।

१२ अर[illegible] सिन्धवः रन्त (मं. ११)— इसके बलसे ना[illegible] र्गीं।

१३ ईशानकृत् दाशुषे दशस्यन्, तुर्वीतये गाधं तुर्वणिः कः (मं. १२)— शासकोंको बनानेवाला प्रभु दाताको धन देता है, त्वरासे कार्य करनेवालेके लिये पार जाने-वाला जलप्रवाह बनाता है। अर्थात् पुरुषार्थ करनेवालेके लिये सर्वत्र सुगम मार्ग होता रहता है।

१४ अस्य तुरस्य पूर्व्याणि कर्माणि प्र ब्रूहि (मं. १३)- इस त्वरासे कार्य करनेवाले इन्द्रके पूर्व कर्मोंका वर्णन कर।

१५ युधे इष्णानः आयुधानि ऋघायमाणः शत्रून् नि रिणाति (मं. १३)— युद्धकी इच्छा करनेवाला वीर आयुधोंको शत्रुपर फेंकता हुआ शत्रुओंको गिराता है। युद्ध ऐसे करने चाहिये।

१६ वेनस्य ओणिं उप जोगुवानः नोधा सद्यः वीर्याय भुवत् (मं. १४)— प्रशंसनीय वीरकी संरक्षण शक्तिका वर्णन करनेवाला वीर उसके स्तोत्र गानेसे तत्काल वीरताके कर्म करनेके लिये योग्य होता है। वीर इन्द्रके काव्यका यह प्रभाव है, जो वह काव्य पढेगा वह स्वयं वीर बनकर वीरो-चित कार्य करने लगेगा।

१७ इन्द्रः सुष्विं एतशं प्र आवत् (मं. १५)— इन्द्र यज्ञकर्ताकी सुरक्षा करता है। वह यज्ञकर्ता '**सौवश्व्ये सूर्ये पस्पृधानः**' (मं. १५)— सूर्यके साथ स्पर्धा करता है। सूर्य जैसा नियमानुसार सब कार्य करता है वैसा जो कार्य करेगा उसकी सुरक्षा प्रभु अवश्य करेगा। सूर्य हमारा आदर्श है।

१८ गोतमासः ते सुवृक्ति ब्रह्माणि अक्रन् (मं. १६)— गौतमोंने तेरी उत्तम भाववाली स्तोत्रें की हैं। उनके गानेसे गानेवालेके मनमें उत्तम भाव स्थिर होते हैं और वह गायक श्रेष्ठ बनता है। इस तरह मंत्रपाठ मनुष्यको श्रेष्ठ बनानेवाला है।

१९ एषु विश्वपेशसं धियं धाः (मं. १६)— इन मंत्रोंमें अपनी सब कार्य करनेवाली बुद्धिको स्थिर रख। इससे मानव उन्नतिको प्राप्त होगा।

२० धियावसुः प्रातः मक्षु आजगम्यात् (मं. १६)- बुद्धियोंके साथ वसनेवाला प्रातः जलदी उठे और कार्य करनेके लिये आवे। कार्य शुरू करे। प्रातःकाल जलदी उठकर अपने कार्योंमें लगना चाहिये।

इस सूक्तमें अनेक बोध दिये हैं। पाठक उनको अपने जीवनमें धारण करें

[सूक्त ३६]

(ऋषिः — भरद्वाजः । देवता — इन्द्रः ।)

(ऋ. ६।२२।१-९)

य एक इद्धव्यश्चर्षणीनामिन्द्रं तं गीर्भिरभ्यर्चे आभिः ।
यः पत्यते वृषभो वृष्ण्यावान्त्सत्यः सत्वा पुरुमायः सहस्वान् ॥ १ ॥
तमु नः पूर्वे पितरो नवग्वाः सप्त विप्रासो अभि वाजयन्तः ।
नक्षद्दाभं ततुरिं पर्वतेष्ठामद्रोघवाचं मतिभिः शविष्ठम् ॥ २ ॥
तमीमह इन्द्रमस्य रायः पुरुवीरस्य नृवतः पुरुक्षोः ।
यो अस्कृधोयुरजरः स्वर्वान्तमा भर हरिवो मादयध्यै ॥ ३ ॥

(सूक्त ३६)

(यः इन्द्रः) जो इन्द्र (एक इत् आभिः गीर्भिः हव्यः) एक ही निश्चयसे इन स्तुतियोंसे प्रार्थना करने योग्य है। (तं इन्द्रं अभ्यर्चे) उस इन्द्रकी अर्चना करता हूं। (यः वृषभः वृष्ण्यावान् सत्यः) जो बल देनेवाला, स्वयं बलवान् और सत्यनिष्ठ है और (सत्वा पुरुमायः सहस्वान् पत्यते) अपने बलसे अनेक कौशल्यसे कर्म करनेवाला और शत्रुओंका पराजय करनेवाला है उस इन्द्रकी स्तुति की जाती है ॥ १ ॥

१ एकः इन्द्रः इत् आभिः गीर्भिः हव्यः— एक ही प्रभु इन स्तुतियोंसे प्रार्थना करने योग्य है।

२ तं इन्द्रं अभ्यर्चे— उस इन्द्रकी मैं अर्चना करता हूँ।

३ यः वृषभः वृष्ण्यावान् सत्यः— वही अद्वितीय बलवान् तथा सामर्थ्यशाली है और वही सत्य है।

४ सत्वा पुरु-मायः सहस्वान् पत्यते— वह सत्ववान् अनेक कौशल्योंसे युक्त, शत्रुका पराभव करनेवाला होनेके कारण वही सबका स्वामी हुआ है। वही स्तुति करने योग्य है।

मनुष्य बलवान्, सामर्थ्यवान्, सत्यनिष्ठ, सत्ववान् तथा अनेक कौशल्यके कार्य करनेवाला बने।

(पूर्वे नव-ग्वाः) पुरातन नव महिनेका यज्ञ करनेवाले (सप्त विप्रासः) सात बुद्धिमान् ज्ञानी (वाजयन्तः) हविष्यान्न सिद्ध करनेवाले (नः पितरः) हमारे पितरोंने (नक्षत्-दाभं ततुरिं पर्वतेष्ठां) शत्रुनाशक, तारक और पर्वतोंपर रहनेवाले, (अद्रोघ-वाचं शविष्ठं तं उ) द्रोहरहित भाषण करनेवाले, अतिशय बलवान् ऐसे उस इन्द्रकी (मतिभिः अभि) बुद्धिपूर्वक स्तुति की थी ॥ २ ॥

'नक्षत्-दाभः' आक्रमणकारी शत्रुको दबानेवाला। 'ततुरिः' – तारक, तारणकर्ता। 'अ-द्रोह-वाक्'– द्रोहरहित भाषण करनेवाला। 'नव-ग्वः'– नौ गौएं जिसके पास हैं, नौ मास तक यज्ञ करनेवाला, नौ मासका हिसाब ऐसा है– ६ मास सूर्य प्रकाशके और प्रारंभिक उषा और अन्तिम सायंकालके प्रकाशके ३ मास मिलकर प्रकाशके ९ महिने उत्तर ध्रुवके पास होते हैं। ६ मास सूर्य किरणके हैं और ३ महिने उषःप्रकाश तथा सायं प्रकाशके बिना सूर्यके मिलकर ९महिने यज्ञ करनेके समझनेवाले 'नव-ग्व' कहलाते थे। इसी तरह 'दश-ग्व' भी थे जो दस मास यज्ञ करते थे। अर्थात् इस पक्षके ऋषि और एक मास किंचित् प्रकाशका स्वीकार करते थे। और दस मास यज्ञ करते थे। 'नव-ग्व' और 'दश-ग्व' ये दो पक्ष थे यज्ञ विधिके संबंधमें। प्रकाशकी संभावना दस महिनेतक ही थी। इसके पश्चात् पूरे दो मास दीर्घतम-गाढ अन्धकार रहता था। इस कालमें पानीका प्रवाह बंद होना, बर्फसे भूमि आच्छादित होना आदि कष्ट होता था। यह असुर समय था। यह अयज्ञीय समय था। इस समय गौएं बाडेमें बंद रहती थीं। उषःकालके उदयके साथ गौएं खुली की जाती थीं। गौएं इसी समय चुरायी जाती थीं, जिनको राजकर्मचारी चोरोंसे वापस लाते थे। ये सब बातें मन्त्रोंमें पाठक देख सकते हैं। 'नव-ग्वः'– नौ गौवें जिनके पास हैं 'दश-ग्व'– दस गौवें जिनके पास हैं।

'नक्षत्-दाभं ततुरिं पर्वते-स्थां अद्रोघवाचं शविष्ठं तं मतिभिः अभि अर्च— शत्रुको दबानेवाले, तारक, पर्वतपर रहनेवाले, द्रोहरहित भाषण करनेवाले, बलिष्ठ उस वीरकी बुद्धिपूर्वक उपासना कर। ऐसे वीरका सत्कार करना चाहिये।

(पुरु-वीरस्य नृ-वतः पुरु-क्षोः अस्य) बहुत वीरोंसे युक्त, बहुत सहायकोंसे युक्त, बहुत अन्नसे युक्त इस (रायः) धनको (तं इन्द्रं ईमहे) उस इन्द्रके पास हम

तन्नो वि वोचो यदि ते पुरा चिज्जरितार आनशुः सुम्नमिन्द्र ।
कस्ते भागः किं वयो दुध्र खिद्वः पुरुहूत पुरूवसोऽसुरघ्नः ॥ ४ ॥
तं पृच्छन्ती वज्रहस्तं रथेष्ठामिन्द्रं वेपी वक्वरी यस्य नू गीः ।
तुविग्राभं तुविकूर्मिं रभोदां गातुमिषे नक्षते तुम्रमच्छ ॥ ५ ॥
अया ह त्यं मायया वावृधानं मनोजुवा स्वतवः पर्वतेन ।
अच्युता चिद्वीलिता स्वोजो रुजो वि दृळ्हा धृषता विरप्शिन् ॥ ६ ॥

मांगते हैं । हे (हरिवः) अश्वयुक्त इन्द्र ! (यः अस्कृधोयुः अजरः स्वर्वान्) जो धन अविनाशी, क्षीण न होनेवाला और सुख देनेवाला है । (तं मादयध्यै आ भर) वह धन हमें उपभोगके लिये भरपूर भर दे ॥ ३ ॥

१ तं इन्द्रं पुरुवीरस्य नृवतः पुरुक्षोः अस्य रायः ईमहे — उस प्रभुके पास हम ऐसा मांगते हैं कि जिसके साथ बहुत वीर रक्षणके लिये रहते हों, जो अनेक सहायकोंको अपने पास रखता है और जिसके साथ पर्याप्त अन्न होता है, अर्थात् हमें धन चाहिये, अन्न चाहिये, सहायक चाहिये और इनके संरक्षणके लिये संरक्षक वीर भी चाहिये ।

२ वह धन (अ-स्कृधोयुः) विनष्ट न होनेवाला, (अ-जरः) क्षीण न होनेवाला और (स्वः-वान्) सुख बढानेवाला हो । इस धनसे (मादयध्यै) हमारा आनन्द बढता जाय । हमें किसी तरह दुःख न हो । ऐसा धन हमें चाहिये ।

हे (इन्द्र) इन्द्र ! (यदि ते जरितारः पुरा चित्) जो तेरे स्तोताओंने पहिले समयमें (सुम्नं आनशुः) सुख प्राप्त किया था (तत् नः वि वोचः) तो वह सुखका मार्ग हमें बताओ । हे (दुध्र) दुर्धर (खिद्वः) शत्रुओंका नाश करनेवाले (पुरु-हूत) बहुतोंसे बुलाये जानेवाले (पुरु-वसो) बहुत ऐश्वर्यवाले इन्द्र ! (असुर-घ्नः ते) असुरोंका नाश करनेवाला तेरा (कः भागः, वयः किं) कर्तव्यका कौनसा भाग है तथा सामर्थ्यका भाग भी कौनसा है । वह भी कहो ॥ ४ ॥

१ ते जरितारः सु-म्नं आनशुः — तेरे स्तोतागण उत्तम मन प्राप्त करते हैं । प्रभुकी स्तुति गानेसे शोभन विचारवाला मन होता है ।

२ दु-ध्र खित्-वः पुरु-हूत पुरु-वसो ! असुर-घ्नः ते कः भागः ? — शत्रुके लिये असह्य, शत्रुनाशक, बहुतोंसे प्रशंसित, बहुत धनवाले वीर ! तेरे पास जो असुरोंका नाश करनेवाला शौर्यका भाग है वह कौनसा है ? तुम जिस सामर्थ्यसे असुरोंका नाश करते हैं वह तुम्हारा सामर्थ्य कौनसा है ?

३ ते वयः किं ? — तेरी आयु क्या थी, तेरा सामर्थ्य कौन-सा था, जिससे तुम शत्रुका नाश करते हो ?

मनुष्य अपना मन शुभ विचारवाला करे, शत्रुका नाश करनेका सामर्थ्य प्राप्त करे, बहुत धन कमावे, असुरोंका नाश करें ।

(वज्रहस्तं रथेष्ठां तुविग्राभं तुविकूर्मिं रभोदां तं इन्द्रं) हाथमें वज्र धारण करनेवाले, रथारूढ बहुत शत्रुओंको पकडनेवाले, बहुत कर्म करनेवाले, बल देनेवाले उस इन्द्रकी (पृच्छन्ती वेपी) अर्चना करनेवाली यागादि कर्म करनेवाली (वक्वरी गीः) गुणोंका वर्णन करनेवाली इस प्रकार स्तुति (यस्य) जिस यजमानकी होती है । वह (गातुं इषे) सुखको प्राप्त होता है और (तुम्रं अच्छ नक्षते) शत्रुका सामना करता है ॥ ५ ॥

१ वज्रहस्तं रथेष्ठां तुविग्राभं तुविकूर्मिं रभोदां तं इन्द्रं पृच्छन्ती वेपी वक्वरी गीः यस्य, सः गातुं इषे, तुम्रं अच्छ नक्षते — वज्र हाथमें धारण करनेवाला, रथपर आरूढ होकर लडनेवाला, अनेक शत्रुओंको एक ही समयमें पकडनेवाला, अनेक प्रकारके कर्म करनेवाला, बल लडानेवाला वह इन्द्र है, इस तरह उस इन्द्रकी अर्चना जो करती है, तथा साथ साथ यज्ञ कर्मोंको करती है, ऐसी स्तुति जिसकी वाणी करती है, वह सुख प्राप्तिके मार्गसे आता है, और सुख प्राप्त करता है, और शत्रुका पराभव करनेका मार्ग भी ठीक तरह जानता है । तथा शत्रुका पराभव भी करता है ।

उक्त प्रकारके गुणोंका ध्यान करनेसे वे गुण भक्तके अन्दर आते हैं, वह उक्त गुणोंसे युक्त होता है और उससे वह सुखी होता है और शत्रुको दूर करके निर्भय होता है । ईश्वरके गुणोंसे मनुष्यकी उन्नति इस तरह होती है ।

हे (स्व-तवः) अपने निज बलसे युक्त इन्द्र ! (मनो-जुवा पर्वतेन) मनोवेगी अपने आयुध वज्रसे (अया मायया वावृधानं त्यं) अपने कपट जालसे बढनेवाले उस शत्रुका तुमने (वि रुजः) विशेष प्रकारसे वध किया । हे

तं वो धिया नव्यस्या शविष्ठं प्रत्नं प्रत्नवत्परितंसयध्यै ।
स नो वक्षदनिमानः सुवह्मेन्द्रो विश्वान्यति दुर्गहाणि ॥ ७ ॥
आ जनाय द्रुह्वणे पार्थिवानि दिव्यानि दीपयोऽन्तरिक्षा ।
तपा वृषन्विश्वतः शोचिषा तान्ब्रह्मद्विषे शोचय क्षामपश्च ॥ ८ ॥
भुवो जनस्य दिव्यस्य राजा पार्थिवस्य जगतस्त्वेषसंदृक् ।
धिष्व वज्रं दक्षिण इन्द्र हस्ते विश्वा अजुर्य दयसे वि मायाः ॥ ९ ॥

(**स्वोजः**) अपनी शक्तिसे बलवान् (**विरप्शिन्**) महान् सामर्थ्यवान् इन्द्र! तूने (**अच्युता चित् वीळिता दळ्हा**) न हिलनेवाली, बलवाली और दृढ शत्रुकी पुरियोंको (**धृषता**) धर्षक शक्तिसे भग्न किया, तोड डाला ॥ ६ ॥

१ हे स्व-तवः! मनोजुवा पर्वतेन अया ववृधानं त्यं वि रुजः— हे निज सामर्थ्यवान् इन्द्र! मनके समान अत्यन्त वेगसे शत्रुपर प्रहार करनेवाले पर्ववान् वज्रसे, अपने कपटके कारण बढनेवाले उस शत्रुका तुमने नाश किया।

'**स्व-तवः**' अपने निज सामर्थ्यसे युक्त। '**पर्वत**'— (**पर्ववान्**)- जिसमें पर्व हैं ऐसा वज्र, जिसमें गाठें, नोकें तथा धाराएँ अनेक होती हैं वह वज्र। धारावाला शस्त्र।

२ हे स्वोजः विरप्शिन्! अच्युता वीळिता दळ्हा धृषता विरुजः— हे अपने बलसे बलवान् और महाप्रतापी इन्द्र! न हिलनेवाले सुस्थिर बलवान् और सुदृढ शत्रुके नागरिक कीलोंको अपने धर्षक सामर्थ्यसे तुमने तोड दिये।

इस मन्त्रमें युद्धनीति कही है। शत्रुको अतितीक्ष्ण अस्त्रसे मारना योग्य है। तथा शत्रुकी नगरियोंको भी तोडना तथा अपने आधीन करना उचित है। इस मंत्रके पद वीरकी शक्तिका वर्णन करनेवाले हैं।

(**नव्यस्या धिया**) इस अपूर्व बुद्धिपूर्वक की गई स्तुति द्वारा (**शविष्ठं प्रत्नं वः तं**) अत्यन्त बलवान् पुरातन उस इन्द्रका (**प्रत्नवत् परितंसयध्यै**) प्राचीन रीतिके अनुसार और यशका विस्तार करनेके लिये मैं प्रयत्न करता हूँ, इसको सुनकर (**अनिमानः सुवह्मा**) अपार महिमावाला, सुन्दर वाहनवाला (**सः इन्द्रः**) वह इन्द्र (**विश्वानि दुर्गहाणि**) समस्त संकटोंसे (**नः अति वक्षत्**) हमें पार ले जावे ॥ ७ ॥

१ नव्यसा धिया तं शविष्ठं प्रत्नं वः प्रत्नवत् परितंसयध्यै— अपूर्व और बुद्धिपूर्वक किये इस स्तोत्रसे उस बलवान् पुराणपुरुष इन्द्रका प्राचीनों जैसा यश फैलानेके लिये मैं काव्यगान करता हूँ।

२ इस स्तोत्रको सुनकर '**अनिमानः सुवह्मा सः इन्द्रः विश्वानि दुर्गहाणि नः अति वक्षत्**'— अपार महिमावाला और सुन्दर रथवाला वह इन्द्र सब प्रकारके संकटोंसे हमें बचाकर पार ले जावे।

हे इन्द्र! (**द्रुह्वणे जनाय**) सज्जनोंका द्रोह करनेवाले दुष्टोंको हटानेके लिये (**पार्थिवानि दिव्यानि**) पृथिवी और द्युलोक (**अन्तरिक्षा**) और अन्तरिक्षके स्थानोंको (**आ दीपयः**) अत्यन्त तप्त करे। हे (**वृषन्**) बलवान् देव! (**विश्वतः तान्**) चारों ओरसे उन दुष्टोंको (**शोचिषा तप**) अपने तेजसे तपाओ। (**ब्रह्मद्विषे क्षां च अपः**) ज्ञानके द्वेषियोंको दग्ध करनेके लिये पृथिवी और जलोंको भी तपाओ ॥ ८ ॥

दुष्ट जहाँ होंगे वहांसे उनको हटानेका प्रयत्न करना चाहिये। और उनको संतप्त करना चाहिये जिससे वे वहां न रहें।

(**त्वेषसंदृक् अ-जुर्य इन्द्र**) दीप्तिमान्, जरारहित इन्द्र! (**दिव्यस्य जनस्य**) दिव्य लोगोंका और (**पार्थिवस्य जगतः**) पृथ्वीपरके लोगोंका भी (**राजा भुवः**) तू राजा है। (**दक्षिणे हस्ते वज्रं धीष्व**) दाहिने हाथमें वज्रको धारण कर। और (**विश्वाः मायाः वि दयसे**) सब दुष्टोंके कपटजालोंका नाश कर ॥ ९ ॥

१ त्वेषसंदृक् अजुर्य इन्द्र— तेजःपुञ्ज दीखनेवाला जरा-क्षय आदि रहित इन्द्र है।

२ दिव्यस्य जनस्य पार्थिवस्य जगतः राजा भुवः— द्युलोकमें तथा भूलोकमें रहनेवाले लोगोंका तू ही राजा हुआ है।

३ दक्षिणे हस्ते वज्रं धीष्व— अपने दाहिने हाथमें वज्र धारण कर और उससे—

आ संयतमिन्द्र णः स्वस्तिं शत्रुतूर्याय बृहतीममृध्राम् ।
यया दासान्यार्याणि वृत्रा करो वज्रिन्त्सुतुका नाहुषाणि ॥ १० ॥
स नो नियुद्भिः पुरुहूत वेधो विश्ववाराभिरा गहि प्रयज्यो ।
न या अदेवो वरते न देव आभिर्याहि तूयमा मद्र्यद्रिक् ॥ ११ ॥ (९४१)

[सूक्त ३७]

(ऋषिः — १-११ वसिष्ठः । देवता — इन्द्रः ।)

यस्तिग्मशृङ्गो वृषभो न भीम एकः कृष्टीश्च्यावयति प्र विश्वाः ।
यः शश्वतो अदाशुषो गयस्य प्रयन्तासि सुष्वितराय वेदः ॥ १ ॥

४ विश्वाः मायाः वि दयसे— शत्रुके सब कपट-जालोंका नाश कर।

यह मंत्र राज्यशासनका उपदेश कर रहा है। अपने पास शस्त्रास्त्रोंका सुयोग्य संग्रह करना और शत्रुके कपट प्रयोगोंको दूर करना चाहिये।

हे (**इन्द्र**) इन्द्र! (**शत्रु-तुर्याय**) शत्रुओंके नाश करनेके लिये (**बृहतीं अ-मृध्रां**) बडी, अविनाशी, (**संयतं स्वस्तिं**) संयममें रहनेवाली और कल्याण करनेवाली संपत्ति (**नः आ भर**) हमें दे। हे (**वज्रिन्**) वज्रधारी इन्द्र! (**यया दासानि आर्याणि करः**) जिससे दासोंको आर्य बनाया जाता है और (**नाहुषाणि**) मनुष्योंके (**वृत्रा**) घेरनेवाले शत्रुओंको (**सुतुका**) सहजहीसे नष्ट-भ्रष्ट किया जाता है ॥ १० ॥

१ शत्रुतुर्याय बृहतीं अमृध्रां संयतं स्वस्तिं नः आ भर— शत्रुओंका नाश करनेके लिये विशाल, अविनाशी, स्वाधीन रहनेवाली और कल्याण करनेवाली संपत्ति हमें दे दो।

२ यया दासानि आर्याणि करः— जिससे दासोंके आर्य किये जाते हैं। '**दास**' — दास, सेवक, दस्यु, दुष्ट। इनको श्रेष्ठ आर्य नागरिक बनाया जाता है। राज्यशासन व्यवस्था और समाज व्यवस्था ऐसी चाहिये कि जिससे दुष्ट मनुष्य श्रेष्ठ आर्य नागरिक बन जांय।

३ नाहुषा वृत्रा सुतुका— मानवोंको घेरनेवाले शत्रु दूर किये जांय। वे फिरसे मनुष्योंको कष्ट न दे सकें ऐसी अवस्थामें वे पहुंचाये जांय।

दुष्टोंको सज्जन बनानेका भाव यहां है वह मनन करने योग्य है। प्रथम यह प्रयत्न किया जाय। उसमें यश न मिला तो दुष्टोंको दण्ड देना योग्य है।

हे (**पुरुहूत**) बहुत लोगोंसे बुलाने योग्य (**वेधः**) विधाता (**प्रयज्यो**) विशेष पूजनीय इन्द्र! (**सः**) तू (**विश्ववाराभिः नियुद्भिः**) सब लोगोंसे प्रशंसित अश्वोंसे (**नः आ गहि**) हमारे पास आओ। (**अदेवः**) असुर (**याः न वरते**) जिन घोडोंको रोक नहीं सकता, (**देवः न**) और देव भी नहीं रोक सकता, (**आभिः तूयं आ**) उन घोडोंसे शीघ्र ही (**मद्र्यद्रिक आ याहि**) मेरे पास आओ ॥ ११ ॥

रथके घोडे अच्छे हों। उत्तम शिक्षित हों जिससे उनकी उत्तम प्रशंसा होती रहे।

(सूक्त ३७)

(**यः तिग्मशृंगो वृषभो न भीमः**) जो तीखे सींगवाले बैलके समान भयंकर (**एकः विश्वाः कृष्टीः प्र च्यावयति**) अकेला ही सभी शत्रुओंको स्थानसे भ्रष्ट कर देता है। (**यः अदाशुषः शश्वतः गयस्य**) जो दान न देनेवालेके अनेक घरोंको भी स्थानभ्रष्ट कर देता है, वह (**सुष्वितराय वेदः प्रयंता असि**) तू यज्ञ करनेवालोंके लिये धन देता है ॥ १ ॥ (ऋ. ७।१९।१)

मानवधर्म— वीर तीक्ष्ण सींगवाले बैलके समान बलवान् और भयंकर हो। वह सब शत्रुओंको स्थानभ्रष्ट करे। कोई शत्रु अपने स्थानपर स्थिर न रह सके। कंजूस तथा अनुदार लोगोंके स्थान भी स्थिर न हों। ऐसे लोग राष्ट्रमें बलवान् न होने पावें। जो यज्ञ करता है और दान देता है उसको पर्याप्त धन प्राप्त हो।

१ एकः भीमः विश्वाः कृष्टीः प्र च्यावयति— अकेला शूर वीर सब शत्रुओंको अपने स्थानसे उखाड देता है।

त्वं ह त्यदिन्द्र कुत्समावः शुश्रूषमाणस्तन्वा समर्ये ।
दासं यच्छुष्णं कुयवं न्यस्मा अरन्धय आर्जुनेयाय शिक्षन् ॥ २ ॥
त्वं धृष्णो धृषता वीतहव्यं प्रावो विश्वाभिरूतिभिः सुदासम् ।
प्र पौरुकुत्सिं त्रसदस्युमावः क्षेत्रसाता वृत्रहत्येषु पूरुम् ॥ ३ ॥
त्वं नृभिर्नृमणो देववीतौ भूरीणि वृत्रा हर्यश्व हंसि ।
त्वं नि दस्युं चुमुरिं धुनिं चास्वापयो दभीतये सुहन्तु ॥ ४ ॥

---

१ अदाशुषः शश्वतः गयस्य व्यावयिता— कंजुसके घरोंको उखाडनेवाला वीर हो। कंजूस राष्ट्रमें न रहें।

३ सुष्वितराय वेदः प्रयंता— यज्ञकर्ताको धन दो। सब लोग यज्ञकर्ताको धनका दान करते रहें। धनके अभावके कारण यज्ञ बंद करना न पडे। राष्ट्रके दाता लोग राष्ट्रमें यज्ञ होते रहें इतना दान यज्ञकर्ताओंको देवे।

हे इन्द्र! (त्वं ह त्यत् तन्वा शुश्रूषमाणः) तूने तब अपने शरीरसे शुश्रूषा करके (समर्ये कुत्सं आवः) युद्धमें कुत्सकी सुरक्षा की। (यत् आर्जुनेयाय अस्मै शिक्षन्) उस अर्जुनीके पुत्र कुत्सको धन दिया और (दासं शुष्णं कुयवं नि अरंधयः) दास, शुष्ण और कुयवका नाश किया॥ २॥ (ऋ. ७।१९।२)

'दास' उनको कहते हैं कि जो (दस उपक्षये) नाश करता है, घातपात करता है, लोगोंको नष्टभ्रष्ट करता है। समाजमें उपद्रव मचाता है। 'शुष्ण' वह है कि जो लोगोंके धनों, भोगों और सुखोंका शोषण करता है। अपने सुखके लिये दूसरोंका नाश करता है। 'कु-यव' वह है कि जो अपने बुरे सडे जौ को अच्छे बताकर लोगोंको देता है। इससे खानेवालोंके स्वास्थ्यका बिगाड होता है। इनका समाजके हितके लिये नाश करना चाहिये।

१ तन्वा शुश्रूषमाणः समर्ये कुत्सं आवः— स्वयं अपने प्रयत्नसे युद्धमें अपने अनुयायी कुत्सकी रक्षा की। अपने जो अनुयायी होंगे उनकी सुरक्षा करनी चाहिये।

२ दासं शुष्णं कुयवं निरंधयः— घातपाती, शोषणकर्ता तथा बुरे रोगोत्पादक धान्यका व्यवहार करनेवालोंका नाश कर। समाजसे इनको दूर कर।

३ शिक्षन्— इनको उत्तम शिक्षा दो। उनपर शुभ संस्कार कर, जिससे ये वैसे घातपातके कर्म न कर सकें ऐसा कर।

हे (धृष्णो) शत्रुधर्षक इन्द्र! तूने (धृषता वीतहव्यं सुदासं) अपने बलसे अन्नका दान करनेवाले सुदासका (विश्वाभिः ऊतिभिः प्र आवः) अनेक संरक्षणके साधनोंसे संरक्षण किया। (वृत्रहत्येषु क्षेत्रसाता) वृत्र वध करनेके युद्धमें तथा क्षेत्रका बंटवारा करनेके समय (पौरुकुत्सिं त्रसदस्युं पुरुं च प्र आवः) पुरुकुत्सके पुत्र त्रसदस्यु तथा पुरुका संरक्षण किया॥ ३॥ (ऋ. ७।१९।३)

१ धृषता विश्वाभिः ऊतिभिः प्रावः— शत्रुको उखाडनेके बलसे सब सुरक्षाके साधनों द्वारा प्रजाका संरक्षण करो। अर्थात् शत्रुको उखाड दो और संरक्षणके साधनोंसे प्रजाका संरक्षण करो।

हे (नृ-मनः) मनुष्योंके मनोंको आकर्षित करनेवाले इन्द्र! अथवा जिसका मन मनुष्योंका हित करनेमें लगा है ऐसे इन्द्र! (देववीतौ त्वं नृभिः भूरीणि वृत्रा हंसि) युद्धमें तू अपने वीरोंके द्वारा बहुत शत्रुओंको मारता है। हे (हर्यश्व) हरिद्वर्णके घोडोंवाले इन्द्र! तूने (दभीतये सुहन्तु) दभितिके लिये वज्रके द्वारा दस्यु, चुमुरि और धुनिको (नि अस्वापयः) सुलाया, मारा॥ ४॥ (ऋ. ७।१९।४)

'नृ-मनः'— मनुष्योंका, प्रजाजनोंका हित करनेमें जिसका मन तत्पर रहता है, इसलिये प्रजाओंका मन जिसपर लगा है, जिसने प्रजाओंका मन आकर्षित किया है। 'देव-वीती'— जहां देवोंका सत्कार होता है, व्यवहार करनेवाले जहां एकत्रित होते हैं, वीर जहां एकत्रित होते हैं। यज्ञ, सभा अथवा युद्ध। 'हर्यश्व' लाल रंगके घोडे जिसके रथको जोते हैं। 'सु-हन्तु'— जिससे शत्रु अच्छी तरह काटे जाते हैं वह शस्त्र, तीक्ष्ण धारावाला शस्त्र। 'दस्युः'— घातपात करनेवाला। 'चु-मुरिः'— चुभ चुभ कर, कष्ट दे देकर नाश करनेवाला, 'धुनिः'— हिलानेवाला, भगानेवाला, जो अपने निवास स्थानमें सुखसे रहने नहीं देता, ये सब समाजके शत्रु हैं। इनको दूर

तव च्यौत्नानि वज्रहस्त तानि नव यत्पुरो नवतिं च सद्यः ।
निवेशने शततमाविवेषीरहं च वृत्रं नमुचिमुताहन् ॥ ५ ॥
सना ता त इन्द्र भोजनानि रातहव्याय दाशुषे सुदासे ।
वृष्णे ते हरी वृषणा युनज्मि व्यन्तु ब्रह्माणि पुरुशाक वाजम् ॥ ६ ॥
मा ते अस्यां सहसावन्परिष्टावघाय भूम हरिवः परादै ।
त्रायस्व नोऽवृकेभिर्वरूथैस्तव प्रियासः सूरिषु स्याम ॥ ७ ॥

करना चाहिये। **'द-भीतिः'**- दमनके कारण जो भयभीत हुआ है।

१ नृ-मनः— मनुष्योंका हित करनेके लिये अपना मन लगा। प्रजाका हित करनेमें तत्पर हो। प्रजाके मनोंको आकर्षित कर।

२ देववीती नृभिः भूरीणि हंसि— युद्धोंमें अपने वीरों द्वारा बहुत शत्रुओंका नाश कर।

३ दस्युं चुमुरिं धुनिं नि अस्वापय— घातपाती, कष्टदायी और घबराहट करनेवाले शत्रुओंका वध कर। वे फिरसे न उठें ऐसा कर।

४ दभीतये भूरीणि हंसि— दमनके कारण जो भयभीत हुआ है, उसकी सुरक्षा करनेके लिये बहुत दुष्टोंका वध कर। प्रजापर कोई दमन न करे ऐसा कर।

हे (**वज्रहस्त**) वज्रधारी इन्द्र ! (**तव तानि च्यौत्नानि**) तेरे वे प्रसिद्ध बल हैं कि जो (**यत् नव नवतिं च पुरः सद्यः**) तूने शत्रुके नौ और नव्वे नगरोंका भेदन तत्काल ही किया था और (**निवेशने शततमा अविवेषीः**) अपने ठहरनेके लिये जब सौवी नगरीमें तूने प्रवेश किया, उसी समय (**वृत्रं च अहन्**) वृत्रको तूने मारा और (**उत नमुचिं अहन्**) नमुचिको भी मारा ॥ ५ ॥
(ऋ. ७।१९।५)

मानवधर्म— शत्रुके किलों, प्राकारों तथा नगरोंका नाश करना चाहिये और उनपर अपना स्वामित्व स्थापन करना चाहिये। तथा उनमें जो नाना रूपोंमें कष्ट देनेवाले शत्रु रहते हों उनका नाश करना चाहिये।

'वज्र-हस्त'- हाथमें वज्र, तीक्ष्ण धाराका शस्त्र धारण करनेवाला वीर। यह वीर **'नव च नवतिं पुरः'** शत्रुके न्यानवें नगरियोंका भेदन करता है, नगरीके बाहरके किलोंका तथा उनके प्राकारोंका नाश करके विजयी होकर, उन नगरियोंमें प्रवेश करता है और स्वयं सौवी नगरीमें प्रवेश करके वहां रहता है। **'वृत्र'** (**आवृणोति**) जो घेरकर हमला करता है और **'न-मुचि'** (**न मुञ्चति**) जो प्रयत्न करनेपर भी छोडता नहीं, किसी न किसी रूपमें वहां रहता है और कष्ट देता ही रहता है वह **'नमुचि'** है। ये सब शत्रु हैं। इनका नाश इन्द्र करता है।

हे इन्द्र ! (**ते रातहव्याय दाशुषे सुदासे**) तूने हव्य देनेवाले दानी सुदासके लिये (**ता भोजनानि सना**) जो तूने भोगके योग्य धन दिये, वे सदा टिकनेवाले थे। हे (**पुरुशाक**) बहुत शक्तिमान् वीर ! (**वृष्णे ते**) बलशाली ऐसे तुझे लानेके लिये रथको (**वृषणा हरी युनज्मि**) बलशाली घोडे जोतता हूं। (**ब्रह्माणि वाजं व्यन्तु**) स्तोत्र बलशाली ऐसे तेरे पास पहुंचें ॥ ६ ॥ (ऋ. ७।१९।६)

१ दाशुषे सना भोजनानि— दाताके लिये उपभोग लेने योग्य शाश्वत टिकनेवाले भोग दो।

२ पुरु-शाकः— बहुत शक्तिवान् बन। अपनेमें बहुत सामर्थ्य बढाओ। **'वृषा'**- बलवान्, बैल जैसा शक्तिवान्।

३ वाजं ब्रह्माणि व्यन्तु— बलवान् वीरके पास प्रशंसाके वर्णन पहुंचे। बलवान्की ही प्रशंसा होती रहे।

४ वृषणा हरी रथे युनज्मि— बलवान् घोडे मैं रथको जोतता हूं। रथमें बलवान् घोडे जोतने चाहिये।

हे (**सहसावन् हरिवः**) बलशाली और घोडोंवाले इन्द्र ! (**तव अस्यां परिष्टौ**) तेरी इस प्रशंसामें (**परादै अघाय मा भूम**) दूसरोंसे सहाय्य लेनेका पाप हमसे न हो। (**नः अवृकेभिः वरूथैः त्रायस्व**) हमें बाधा न करनेवाले संरक्षक साधनोंसे बचाओ। (**सूरिषु तव प्रियासः स्याम**) ज्ञानियोंमें हम तेरे अधिक प्रिय बनें ॥ ७ ॥
(ऋ. ७।१९।७)

प्रियास इत्ते मघवन्नभिष्टौ नरो मदेम शरणे सखायः ।
नि तुर्वशं नि याद्वं शिशीह्यतिथिग्वाय शंस्यं करिष्यन् ॥ ८ ॥
सद्यश्चिन्नु ते मघवन्नभिष्टौ नरः शंसन्त्युक्थशास उक्था ।
ये ते हवेभिर्वि पणीँरदाशन्नस्मान्वृणीष्व युज्याय तस्मै ॥ ९ ॥
एते स्तोमा नरां नृतम तुभ्यमस्मद्र्यञ्चो ददतो मघानि ।
तेषामिन्द्र वृत्रहत्ये शिवो भूः सखा च शूरोऽविता च नृणाम् ॥ १० ॥

मानवधर्म— मनुष्य शक्तिशाली बनें। दूसरेकी सहायतासे ही सब कार्य करनेका पाप कोई न करें। अपनी शक्तिसे अपने कार्य करें। स्वावलंबनशील बनें। क्रूरता रहित संरक्षक साधनोंसे प्रजाजनोंका बचाव होता रहे और ज्ञानियोंमें भी अधिक विद्वान् बनकर प्रभुके प्यारे भक्त बनें।

१ सहसावान्— परिश्रम करनेकी शक्ति, शत्रुका पराभव करनेकी शक्ति ऐसी अनेक शक्तियोंसे युक्त। '**हरिवः**'– घोडे पास रखनेवाला वीर।

२ परादै अघाय मा भूम— दूसरोंसे सहायता लेकर ही अपने कार्य करनेकी स्थिति (**पर–आ–दा**) यह अत्यन्त निकृष्ट स्थिति है। अतः यह पापकी अवस्था है। ऐसी स्थितिमें हमें रहना न पडे। अर्थात् हम अपनी शक्तिसे ही अपने सब कार्य करें इतनी हमारी शक्ति बढ चुकी हो।

३ अवृकेभिः वरुथैः त्रायस्व— 'वृक' क्रूरताका रूप है। अवृकसे क्रूरता रहित वीरताका बोध होता है। 'वरुथ' संरक्षणके साधनोंका नाम है। क्रूरता रहित रक्षाके साधनोंसे हमारा तारण हो।

४ सूरिषु तव प्रियासः स्याम— हम ज्ञानियोंमें अधिक ज्ञानी बनें और इस हमारे ज्ञानकी अधिकताके कारण हम प्रभुके प्यारे बनें।

हे (**मघवन्**) धनवान् इन्द्र! (**ते अभिष्टौ**) तेरी स्तुति करते हुए (**नरः सखायः प्रियासः शरणे इत् मदेम**) हम सब नेता समान कार्य करनेवाले तुम्हें प्रिय होकर अपने घरमें आनन्दसे रहें। (**अतिथिग्वाय शंस्यं करिष्यन्**) अतिथिसत्कार करनेवालेके लिये प्रशंसनीय सुखकी अवस्था निर्माण करके (**तुर्वशं याद्वं नि नि शिशीहि**) तुर्वश और याद्व इन शत्रुओंको अपने वशमें कर ॥ ८ ॥

(ऋ. ७।१९।८)

मानवधर्म— धनवान् बनो, क्योंकि धनसे सब कार्य होते हैं। अपने देशमें सुखसे रहो, अपने ही देशमें दुःख भोगनेका अवसर न आवे। अतिथिसत्कार करो। शत्रुओंको वशमें रखो। उनको बढने न दो।

१ मघवन्— धनवान् बनना चाहिये, क्योंकि धनसे ही सब कार्य होते हैं। '**मघवन्**' इन्द्र ही '**शतक्रतु**' सैकडों कार्य करनेवाला होता है।

२ सखायः प्रियासः नरः शरणे मदेम— हम सब एक कार्य करनेवाले, परस्पर प्रीति करनेवाले नेता, अग्रगामी होकर कार्यको संपन्न करनेवाले होकर अपने स्थानमें आनंदसे रहें। दुःखमें न रहें। हमें अपने देशमें दुःख भोगना न पडे।

३ अतिथिग्वाय शंस्यं करिष्यन्— अतिथिसत्कार करनेवालेका हित करो।

४ तुर्वशं याद्वं नि शिशीहि— त्वरासे वशमें होनेवाले तथा क्रूरकर्मा शत्रुओंको दूर करो। '**याद्वः**' (**यादोवान्**) जलोंमें जिसका स्थान है, द्वीपमें रहनेवाला शत्रु।

हे (**मघवन्**) धनवान् इन्द्र! (**ते नु अभिष्टौ**) तेरी स्तुति करनेके कार्यमें (**उक्थशासः ये नरः**) स्तोत्र बोलनेवाले जो नेता (**सद्यः चित् उक्था शंसति**) तत्काल ही स्तोत्रोंको बोलते हैं। (**ते हवेभिः पणीन् वि अदाशन्**) उन्होंने अपने दानोंसे पण्य करनेवालोंको भी दान करनेवाले बना दिया है। (**तस्मै युज्याय अस्मान् वृणीष्व**) उस मित्रताके लिये हमारा स्वीकार कर ॥ ९ ॥ (ऋ. ७।१९।९)

'पणी' वे होते हैं कि जो पण्य करते हैं। वस्तुका क्रयविक्रय करते हैं। व्यापार-व्यवहार करनेवाले ये होते हैं। ये अपना धन बढाना चाहते हैं। ऐसे लोगोंको भी (**पणीन् वि अदाशन्**) पण्य व्यवहार करनेवालोंको भी दाता बना दिया। यह परिणाम स्तुतिके काव्य पढनेसे हुआ। इसलिये इन्द्रकी स्तुति करनी तथा पढनी चाहिये।

हे (**नृतम इन्द्र**) नेताओंमें अत्यंत श्रेष्ठ इन्द्र! (**तुभ्यं एते स्तोमाः मघानि ददतः**) तुम्हें ये सब धन देते हुए (**अस्मद्र्यञ्चः**) हमारी ओर आ रहे हैं। (**तेषां वृत्रहत्ये**

नू इन्द्र शूर स्तवमान ऊती ब्रह्मजूतस्तन्वा वावृधस्व ।
उप नो वाजान्मिमीह्युप स्तीन्यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ ११ ॥ (२५३)

॥ इति चतुर्थोऽनुवाकः ॥ ४ ॥

[सूक्त ३८]

(ऋषिः — १-३ हरिम्बिठिः ४-६ मधुच्छन्दाः । देवता — इन्द्रः ।)

आ याहि सुषुमा हि त इन्द्र सोमं पिबा इमम् । एदं बर्हिः सदो मम ॥ १ ॥
आ त्वा ब्रह्मयुजा हरी वहतामिन्द्र केशिना । उप ब्रह्माणि नः शृणु ॥ २ ॥

शिवः भूः) उनके लिये शत्रुका नाश करनेके युद्धमें तुम कल्याण करनेवाला हो, तथा उन (**नृणां सखा च शूरः अविता च**) मानवोंका मित्र और शूर संरक्षक हो ॥ १० ॥
(ऋ. ६।१९।१०)

मानवधर्म— मनुष्योंमें श्रेष्ठ बन। धनका दान कर। युद्धके समय मनुष्योंकी सहायता करके उनका कल्याण कर। मनुष्योंका संरक्षण कर और इसके लिये शूर बन तथा मनुष्योंके साथ मित्रवत् व्यवहार कर।

१ नृतमः— नेताओंमें श्रेष्ठ नेता बन।

२ मघानि ददतः अस्मभ्यं चः— धन देते हुए ये नेता हमारी ओर आ रहे हैं। हमें भी ये धन देंगे और उस धनसे हम यज्ञ करेंगे।

३ वृत्रहत्ये तेषां शिवः भूः— युद्धमें उन दाताओंका कल्याण हो ऐसा करो। युद्धमें उनका नाश न हो।

४ नृणां सखा शूरः अविता च भूः— मानवोंका मित्र तथा शूर संरक्षक हो।

हे शूर इन्द्र! (**स्तवमानः ब्रह्मजूतः**) स्तुतिसे और ज्ञानसे प्रेरित होकर (**तन्वा ऊती वावृधस्व**) अपने शरीरसे और संरक्षण शक्तिसे बढता जा। (**नः वाजान् उप मिमीहि**) हमें अन्न और बल दो। (**यूयं नः सदा स्वस्तिभिः पात**) आप हमें सदा कल्याणोंसे सुरक्षित करो ॥ ११ ॥
(ऋ. ७।१९।११)

मानवधर्म— मनुष्य शूर हों। देवताकी स्तुतिसे और ज्ञान विज्ञानसे उनको प्रशस्ततम कर्म करनेकी प्रेरणा मिलती रहे। शरीर स्वस्थ, नीरोग और बलवान् बने और उनमें संरक्षण करनेका सामर्थ्य बढे। अन्न ऐसे प्राप्त हों कि जिससे बल बढे। रहनेके लिये उत्तम घर हों। मानवोंका कल्याण हो और उनका संरक्षण भी हो।

१ शूरः— नेता शूर हो, भीरु न हो।

२ स्तवमानः ब्रह्मजूतः— स्तुति और ज्ञानसे उनको प्रेरणा मिले। प्रशस्त कार्य करनेकी प्रेरणा उसको (**स्तव**) ईश स्तुतिसे मिले। ईश्वर स्तुतिसे मैं ईश्वर जैसा बनूंगा इस भावसे सत्कर्मकी प्रेरणा मिलती है। वैसी प्रेरणा मिले।

३ तन्वा ऊती वावृधस्व— अपना शरीर और अपने अन्दरकी संरक्षण करनेकी शक्ति बढायी जाय। देवताकी स्तुति और ज्ञानसे अपने शरीरके संवर्धनके उपाय तथा संरक्षणकी शक्ति बढानेके उपाय विदित होते हैं।

४ वाजान् नः उप मिमीहि— अन्न और बल हमें प्राप्त हों। उत्तम बल बढानेवाले अन्न हमें मिलें और अन्न मिलनेपर उससे हमारे बल बढें। अन्नका उपयोग ऐसा किया जावे कि शरीरका बल बढे पर कभी न घटे।

५ स्तीन् उप मिमीहि— रहनेके लिये घर हों। बिना घरके जीवित रहना पडे ऐसा कभी न हो।

६ स्वस्तिभिः न पात— कल्याण करनेवाले साधनोंसे हमारी सुरक्षा हो। ऐसा न हो कि हम सुरक्षित तो हों पर हमारी हानि ही हानि होती जाय। तात्पर्य हमारा कल्याण भी हो और हमारा उत्तम संरक्षण भी हो।

॥ यहां चतुर्थ अनुवाक समाप्त ॥

(सूक्त ३८)

हे इन्द्र! (**आ याहि**) आ, (**ते हि सुषुमा**) हमने तेरे लिये सोमरस निचोडा है। (**इमं सोमं पिब**) इस सोमको पी। (**मम इदं बर्हिः**) मेरा यह आसन है, (**आ सदः**) इस पर बैठ ॥ १ ॥
(ऋ. ८।१७।१)

हे इन्द्र! (**केशिना**) बालोंवाले (**ब्रह्मयुजा हरी**) इशारेसे जुडनेवाले दो घोडे (**त्वा आ वहतां**) तुझे यहां ले आवें। (**नः ब्रह्माणि उप शृणु**) हमारी प्रार्थनाओंको सुन ॥ २ ॥
(ऋ. ८।१७।२)

ब्रह्माणस्त्वा वयं युजा सोमपामिन्द्र सोमिनः । सुतावन्तो हवामहे ॥ ३ ॥
इन्द्रमिद्गाथिनो बृहदिन्द्रमर्केभिरर्किणः । इन्द्रं वाणीरनूषत ॥ ४ ॥
इन्द्र इद्धर्योः सचा संमिश्ल आ वचोयुजा । इन्द्रो वज्री हिरण्ययः ॥ ५ ॥
इन्द्रो दीर्घाय चक्षस आ सूर्यं रोहयद्दिवि । वि गोभिरद्रिमैरयत् ॥ ६ ॥ (२५९)

[सूक्त ३९]

(ऋषिः — १ मधुच्छन्दाः, २-५ गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ । देवता — इन्द्रः ।)

इन्द्रं वो विश्वतस्परि हवामहे जनेभ्यः । अस्माकमस्तु केवलः ॥ १ ॥
व्य१न्तरिक्षमतिरन्मदे सोमस्य रोचना । इन्द्रो यदभिनद्वलम् ॥ २ ॥
उद्गा आजदङ्गिरोभ्य आविष्कृण्वन्गुहा सतीः । अर्वाञ्चं नुनुदे वलम् ॥ ३ ॥
इन्द्रेण रोचना दिवो दृळ्हानि दृंहितानि च । स्थिराणि न पराणुदे ॥ ४ ॥
अपामूर्मिर्मदन्निव स्तोम इन्द्राजिरायते । वि ते मदा अराजिषुः ॥ ५ ॥ (२६४)

हे इन्द्र ! (**वयं सोमिनः ब्रह्माणः**) हम सोम लानेवाले ब्राह्मण (**सुतावन्तः**) सोमरस निकालनेपर (**त्वा सोमपां युजा हवामहे**) तुझ सोम पीनेवालेको अपने वज्रके साथ बुलाते हैं ॥ ३ ॥ (ऋ. ८।१७।३)

कोई अतिथि आया तो (**इदं बर्हिः** । मं. १) यह आसन आपके लिये है ऐसा बोलकर उसको बैठनेके लिये आसन देना चाहिये ।

' **केशिना ब्रह्मयुजा हरी** ' (मं. २)— लंबे बालवाले इशारेसे रथके साथ जुडनेवाले घोडे हों । घोडे ऐसे सिखाये जांय ।

(**गाथिनः इन्द्रं इत्**) गाथा पढनेवाले इन्द्रका ही (**बृहत्**) ऊंचे स्वरसे गान करते हैं । (**अर्किणः अर्केभिः इन्द्रं**) मंत्रपाठ करनेवाले सूक्तोंसे इन्द्रकी ही स्तुति गाते हैं । (**वाणीः इन्द्रं अनूषत**) हमारी वाणियां इन्द्रकी ही स्तुति गाती हैं ॥ ४ ॥ (ऋ. १।७।१)

(**इन्द्रो वज्री हिरण्ययः**) इन्द्र वज्र धारण करता है और सुनहरी पोषाख करता है, वह इन्द्र (**वचोयुजा आ संमिश्लः**) वाणीके साथ जुडनेवाले (**हर्योः सचा इत्**) दो घोडोंका साथी ही है ॥ ५ ॥ (ऋ. १।७।२)

इन्द्रने (**दीर्घाय चक्षसे**) दूरका देखनेके लिये (**सूर्यं दिवि आ रोहयत्**) सूर्यको द्युलोकमें चढाया है और (**गोभिः**) गौवोंसे, किरणोंसे (**अद्रिं वि ऐरयत्**) पर्वतको-मेघको दूर किया ॥ ६ ॥ (ऋ. १।७।३)

१ **इन्द्रः वज्री हिरण्ययः**— इन्द्र वज्र धारण करता है और सुवर्णके भूषण धारण करता है, या सुवर्ण जैसा चमकनेवाला पोषाख करता है ।

२ **इन्द्रः हर्योः सचा**— इन्द्र घोडोंका मित्र है, घोडोंके साथ रहनेवाला है । ' **वचोयुजा आ संमिश्लः** '- इशारेसे जुडनेवाले घोडोंके साथ वह रहता है ।

घोडे पालनेवाले घोडोंको अपने साथी समझें । घोडोंको इतने शिक्षित करें कि जिससे वे इशारेसे रथके साथ जुड जांय ।

३ **इन्द्रः दीर्घाय चक्षसे सूर्यं दिवि आ रोहयत्**- इन्द्रने दूरका दृश्य देखनेके लिये सूर्यको द्युलोकमें ऊपर चढाया है । इससे सूर्यसे इन्द्र पृथक् है यह सिद्ध होता है । इन्द्रने सूर्यको द्युलोकमें स्थापित किया है । सूर्यसे इन्द्र अधिक शक्तिवान् है ।

४ **गोभिः अद्रिं ऐरयत्**— किरणोंसे मेघको दूर किया । **गौ**- किरण, जल, भूमि । **अद्रि**- पर्वत, वज्र, मेघ । इस मंत्रभागका अर्थ समझना विचाराधीन है । सहज समझने योग्य यह मंत्र नहीं है ।

(सूक्त ३९)

(**विश्वतः परि जनेभ्यः**) सब ओरसे लोगोंसे पृथक् करके (**वः इन्द्रं हवामहे**) तुम्हारे लिये हम बुलाते हैं । (**केवलः अस्माकं अस्तु**) वह केवल हमारा होकर रहे ॥ १ ॥ (ऋ. १।७।१०)

२-५ (२६१-२६४) मंत्र अथर्व. २०।२८।१-४ देखो ।

[सूक्त ४०]

(ऋषिः — १-३ मधुच्छन्दाः । देवता — इन्द्रः मरुतश्च, २-३ मरुतः ।)

इन्द्रेण सं हि दृक्षसे संजग्मानो अबिभ्युषा । मन्दू समानवर्चसा ॥ १ ॥
अनवद्यैरभिद्युभिर्मखः सहस्वदर्चति । गणैरिन्द्रस्य काम्यैः ॥ २ ॥
आदह स्वधामनु पुनर्गर्भत्वमेरिरे । दधाना नाम यज्ञियम् ॥ ३ ॥ (२६७)

[सूक्त ४१]

(ऋषिः — १-३ गोतमः । देवता — इन्द्रः ।)

इन्द्रो दधीचो अस्थभिर्वृत्राण्यप्रतिष्कुतः । जघान नवतीर्नव ॥ १ ॥
इच्छन्नश्वस्य यच्छिरः पर्वतेष्वपश्रितम् । तद्विदच्छर्यणावति ॥ २ ॥
अत्राह गोरमन्वत नाम त्वष्टुरपीच्यम् । इत्था चन्द्रमसो गृहे ॥ ३ ॥ (२७०)

(सूक्त ४०)

(अबिभ्युषा इन्द्रेण संजग्मानः) निडर इन्द्रके साथ जानेवाला **(सं दृक्षसे हि)** तू दीखता है। **(मन्दू समानवर्चसा)** आनन्ददायक और समान कान्तिवाले तुम सब हो ॥ १ ॥ (ऋ. १।६।७)

(अनवद्यैः) दोष रहित **(अभिद्युभिः)** द्युलोककी ओर देखनेवाले **(इन्द्रस्य काम्यैः गणैः)** इन्द्रके प्रिय गणोंके साथ **(मखः सहस्वत् अर्चति)** यह बल बढानेवाले गीत गाता है। यज्ञमें बल बढानेवाले स्तोत्र गाये जाते हैं ॥ २ ॥ (ऋ. १।६।८)

(आत् अह पुनः) इसके नंतर पुनः **(स्वधां अनु)** अपनी धारण शक्तिके अनुसार वे **(यज्ञियं नाम दधानाः)** पूज्य नाम धारण करते हुए **(गर्भत्वं एरिरे)** गर्भ भावको प्राप्त हुए ॥ ३ ॥ (ऋ. १।६।४)

१ अबिभ्युषा इन्द्रेण— निडर इन्द्र है। वैसा निडर वीर हो।

२ अबिभ्युषा संजग्मानः— निडर वीरके साथ जाना योग्य है।

३ मन्दू समानवर्चसा— हर्षित और तेजस्वी वीर हों।

४ अवद्यैः अभिद्युभिः गणैः— निर्दोष और तेजस्वी मित्रगणोंके साथ रहना योग्य है।

५ मखः सहस्वत् अर्चति— यज्ञमें बलयुक्त गीत गाये जाते हैं।

६ यज्ञियं नाम दधानाः— पवित्र नाम धारण करके रहना उत्तम है।

यह मरुतोंका वर्णन है। मरुत् इन्द्रके साथ रहते हैं और वे युद्धादि करते हैं।

(सूक्त ४१)

(इन्द्रः अप्रतिष्कुतः) जिसका कोई सामना नहीं कर सकता ऐसे इन्द्रने **(दधीचो अस्थिभिः)** दधीचकी हड्डीयोंसे **(नवतीः नव वृत्राणि जघान)** निनानवे वृत्रोंको मारा ॥ १ ॥ (ऋ. १।८४।१३)

(पर्वतेषु अपश्रितं) पर्वतोंमें पडा हुआ **(यत् अश्वस्य शिरः इच्छन्)** जो घोडेका सिर था उसको प्राप्त करना चाहा **(तत् शर्यणावति विदत्)** उसको शयणावतिमें पाया ॥ २ ॥ (ऋ. १।८४।१४)

(इत्था चन्द्रमसो गृहे) इस तरह चन्द्रमाके घरमें **(अत्र अह)** यहीं **(त्वष्टुः अपीच्यं गोः नाम)** त्वष्टाकी-सूर्यकी गौ **(किरण)** को **(अमन्वत)** वह है ऐसा माना ॥ ३ ॥ (ऋ. १।८४।१५)

१ दधीचके हड्डीयोंका वज्र बनाकर निनानवे वृत्रोंको मारा। **'दधीच'** (दधि-अन्) दही जिससे होता है वह दूध है। दूध पीनेवालेकी हड्डी सैकडा निनानवे रोगोंको दूर करती है। दूध पीनेवालेकी हड्डीका चूर्ण औषधके रूपमें काम आता है। निनानवे वृत्र ये निःसंदेह मेघ नहीं हैं। हड्डीसे भी वज्र बन नहीं

[सूक्त ४२]

(ऋषिः — १-३ कुरुस्तुतिः। देवता — इन्द्रः।)

वाचमष्टापदीमहं नवस्रक्तिमृतस्पृशम् । इन्द्रात्परि तन्वं ममे ॥ १ ॥
अनु त्वा रोदसी उभे क्रक्षमाणमकृपेताम् । इन्द्र यद्दस्युहाभवः ॥ २ ॥
उत्तिष्ठन्नोजसा सह पीत्वी शिप्रे अवेपयः । सोममिन्द्र चमू सुतम् ॥ ३ ॥ (१७३)

[सूक्त ४३]

(ऋषिः — १-३ त्रिशोकः। देवता — इन्द्रः।)

भिन्धि विश्वा अप द्विषः परि बाधो जही मृधः । वसु स्पार्हं तदा भर ॥ १ ॥
यद्वीलाविन्द्र यत्स्थिरे यत्पर्शाने पराभृतम् । वसु स्पार्हं तदा भर ॥ २ ॥
यस्य ते विश्वमानुषो भूरेर्दत्तस्य वेदति । वसु स्पार्हं तदा भर ॥ ३ ॥ (१७६)

सकता। यह औषध चिकित्सा विषयक मंत्र है। वैद्योंको इसका विचार करना चाहिये।

२ पर्वतोंमें पड़ा घोडेका सिर शर्यणावतिमें मिला। यह भी वैसी ही गूढ विद्या है। इसकी खोज होनी चाहिये।

३ **चन्द्रमसः गृहे त्वष्टुः अपीच्यं गोः नाम अमन्वत—** चन्द्रमाके घर त्वष्टाका दूर गया किरण मिल गया। सूर्यका किरण चन्द्रमामें पहुंचता है और वह किरण चन्द्रमाके घर मिलता है।

यह सूक्त गूढ अर्थ बतानेवाला है अतः इसके विधानकी खोज विशेष होनी अत्यंत आवश्यक है।

(सूक्त ४२)

(**अष्टापदीं**) आठ पदवाली, (**नव-स्रक्तिं**) नौ कोनोंवाली (**ऋत-स्पृशं**) सत्यको स्पर्श करनेवाली (**तन्वं वाचं**) सूक्ष्म वाणीको (**इन्द्रात् परि ममे**) इन्द्रसे सब ओरसे मापा है ॥ १ ॥ (ऋ. ८।७६।१२)

हे इन्द्र ! (**यत् दस्युहा अभवः**) जब तू दस्युओंका मारनेवाला हुआ तब (**उभे रोदसी**) दोनों द्यु और भूलोक (**त्वा**) तुझ (**क्रक्षमाणं अनु अकृपेतां**) कडक वीरके पीछे कांप गये ॥ २ ॥ (ऋ. ८।७६।११)

हे इन्द्र ! (**सुतं सोमं चमू पीत्वी**) सोमरसको चमसोंमें डाले हुएको पीकर (**ओजसा सह उत्तिष्ठन्**) बलके साथ उठते हुए तुमने (**शिप्रे अवेपयः**) दोनों हनुओंको कंपाया ॥ ३ ॥ (ऋ. ८।७६।१०)

१ **अष्टापदीं नव-स्रक्तिं ऋतस्पृशं वाचं परि ममे—** आठ पादवाली, नौ प्रकारकी रचनावाली, सत्य वर्णन करनेवाली कवितारूपी वाणी—काव्य रचनाको मापकर बनाता हूं। कविता इस तरह योग्य मापसे बनानी चाहिये। चरणोंमें अक्षर, ह्रस्व-दीर्घ मात्रा, चरणोंकी संख्या इनका विचार पद्यरचनामें करना आवश्यक होता है।

२ **यत् दस्युहा अभवः उभे रोदसी त्वा क्रक्षमाणं अनु कृपेतां—** जब इन्द्र दस्युओंको मारने लगा, उस समय उसके पराक्रमको देखकर द्यावा पृथिवी कांपने लगी। शूर वीरको पराक्रम इस तरह करने चाहिये।

३ **सुतं सोमं चमू पीत्वी ओजसा सह उत्तिष्ठन् शिप्रे अवेपयः—** सोमरस चमसोंसे पीकर जब इन्द्र बलसे उठने लगा तब उसके दोनों ऊपर और नीचेके हनु कांपने लगे।

'**शिप्र**' का अर्थ 'हनु और साफा' ये दो हैं। यहां '**उभे शिप्रे**' दोनों शिप्र हैं, इस कारण यहां '**शिप्र**' का अर्थ हनु, जबडा हैं। वेगसे उठनेसे जबडा या हनु कांपते हैं।

(सूक्त ४३)

(**विश्वा द्विषः अप भिन्धि**) सब शत्रुओंको चारों ओरसे भेद डाल। (**बाधः मृधः परि जहि**) बाधा करनेवाले शत्रुओंको मारकर हटा, (**तत् स्पार्हं वसु आ भर**) इच्छा करने योग्य धन लाकर भर दो ॥ १ ॥ (ऋ. ८।४५।४०)

हे इन्द्र ! (**यत् वीलौ**) जो बलशाली खजानेमें, (**यत् स्थिरे**) जो स्थिर स्थानमें, (**यत् पर्शाने**) जो भूमिमें रखा (**पराभृतं**) हुआ है वह इच्छा करने योग्य धन लाकर भर दो ॥ २ ॥ (ऋ. ८।४५।४१)

(**यस्य ते भूरेः दत्तस्य**) जो तेरे दिये गये बडे धनको (**विश्वमानुषः वेदति**) सब मनुष्य अपनाता है। वह इच्छा करने योग्य धन लाकर भर दो ॥ ३ ॥ (ऋ. ८।४५।४२)

[सूक्त ४४]

(ऋषिः — १-३ इरिम्बिठिः । देवता — इन्द्रः ।)

प्र सम्राजं चर्षणीनामिन्द्रं स्तोता नव्यं गीर्भिः । नरं नृषाहं मंहिष्ठम् ॥ १ ॥
यस्मिन्नुक्थानि रण्यन्ति विश्वानि च श्रवस्या । अपामवो न समुद्रे ॥ २ ॥
तं सुष्टुत्या विवासे ज्येष्ठराजं भरे कृत्नुम् । महो वाजिनं सनिभ्यः ॥ ३ ॥ (६५०)

[सूक्त ४५]

(ऋषिः — १-३ शुनःशेपो देवरातापरनामा । देवता — इन्द्रः ।)

अयमु ते समतसि कपोत इव गर्भधिम् । वचस्तच्चिन्न ओहसे ॥ १ ॥
स्तोत्रं राधानां पते गिर्वाहो वीर यस्य ते । विभूतिरस्तु सूनृता ॥ २ ॥

१ **विश्वाः द्विषः अप भिन्धिः**— सब शत्रुओंको काट डालो ।

२ **विश्वाः बाधः मृधः परि जहि**— सब बाधा करनेवाले दुष्ट शत्रुओंको पराजित करके दूर भगा दो ।

३ **यत् वीळौ स्थिरे, पर्शाने पराभृतं**— जो धन बलशाली स्थानमें, सुस्थिर स्थानमें और भूमिमें रखा है ।

४ **तत् स्पार्ह वसु आ भर**— वह स्पृहणीय धन लाकर भर दो ।

५ **यस्य ते भूरेः दत्तस्य विश्वमानुषः वेदति**— जिस तेरे दिये बडे धनको सब मनुष्य जानते हैं कि यह धन मिला है । वैसा धन हमें लाकर भर दो । धन इच्छा करने योग्य उन्नति करनेवाला हो । विनाशकारी न हो ।

(सूक्त ४४)

(**चर्षणीनां सम्राजं**) प्रजाजनोंके सम्राट् (**नृषाहं मंहिष्ठं नरं**) शत्रुके वीरोंको जीतनेवाले बडे सामर्थ्यवान् वीर (**नव्यं इन्द्रं**) दाता इन्द्रकी (**गीर्भिः स्तोता**) वाणीसे स्तुति करो ॥ १ ॥　　(ऋ. ८।१६।१)

(**यस्मिन्**) जिस इन्द्रमें (**श्रवस्या विश्वानि उक्थानि**) यश देनेवाले सारे स्तोत्र (**रण्यानि**) रमणीय होते हैं (**अपां अवो समुद्रे न**) जैसे जलोंके प्रवाह समुद्रमें आनन्दसे मिलते हैं ॥ २ ॥　　(ऋ. ८।१६।२)

(**तं ज्येष्ठराजं**) उस बडे राजा (**भरे कृत्नुं**) युद्धमें कुशल, (**सनिभ्यः महो वाजिनं**) दानोंके लिये बडे शक्तिमान् (**तं सुष्टुत्या विवासे**) उस इन्द्रको उत्तम स्तुतिसे प्रशंसित करते हैं ॥ ३ ॥　　(ऋ. ८।१६।३)

इस सूक्तमें इन्द्रके ये गुण कहे हैं—

१ **चर्षणीनां सम्राजं**— लोगोंका सम्राट्,

२ **नृ-षाहं**— शत्रुके वीरोंका पराभव करनेवाला,

३ **मंहिष्ठं नरं**— बडा नेता वीर,

४ **ज्येष्ठ राजं**— श्रेष्ठ राजा

५ **भरे कृत्नुं**— युद्ध करनेमें अत्यंत कुशल,

६ **महो वाजिनं**— बडा बलवान्,

७ **यस्मिन् विश्वा उक्थानि श्रवस्या रण्यानि**- इस इन्द्रमें जो भी स्तुति की जाय वह वहां उसके यशका वर्णन करनेवाली होनेके कारण वह स्तोत्र रमणीय ही होते हैं । वे सब उसमें सार्थ होते हैं जैसे (**अपां अवो समुद्रे न**) जलोंके प्रवाह समुद्रमें अधिक नहीं होते । वे प्रवाह समुद्रमें मिल जाते हैं, वैसी ही वीर इन्द्रकी स्तुतियां इन्द्रमें सबकी सब सार्थ होती हैं ।

(सूक्त ४५)

(**अयं उ ते**) यह सोम तेरा है, (**सं अतसि**) इसकी ओर आ । (**कपोतः गर्भधिं इव**) जैसे कबूतर अपनी स्त्रीके पास जाता है, (**नः तत् वचः**) हमारे इस वचनको (**ओहसे**) तू प्यार करता है ॥ १ ॥　　(ऋ. १।३०।४)

हे (**राधानां पते**) धनोंके स्वामी (**गिर्वाहः**) स्तुतिके स्वीकारनेवाले (**वीर**) वीर इन्द्र ! (**यस्य ते स्तोत्रं**) जिस तेरा स्तोत्र (**सूनृता विभूतिः अस्तु**) हमारे लिये सच्ची सत्यकी विभूति हो ॥ २ ॥　　(ऋ. १।३०।५)

ऊर्ध्वस्तिष्ठा न ऊतयेऽस्मिन्वाजे शतक्रतो । समन्येषु ब्रवावहै ॥ ३ ॥ (९८२)

[सूक्त ४६]

(ऋषिः — १-३ इरिम्बिठिः। देवता — इन्द्रः।)

प्रणेतारं वस्यो अच्छा कर्तारं ज्योतिः समत्सु । सासह्वांसं युधामित्रान् ॥ १ ॥

स नः पप्रिः पारयाति स्वस्ति नावा पुरुहूतः । इन्द्रो विश्वा अति द्विषः ॥ २ ॥

स त्वं न इन्द्र वाजेभिर्दशस्या च गातुया च । अच्छा च नः सुम्नं नेषि ॥ ३ ॥ (९८५)

[सूक्त ४७]

ऋषिः — १-३ सुकक्षः, ७-९ इरिम्बिठिः, ४-६, १०-१२ मधुच्छन्दाः, १३-२१ प्रस्कण्वः। देवता — इन्द्रः, १३-२१ सूर्यः।)

तमिन्द्रं वाजयामसि महे वृत्राय हन्तवे । स वृषा वृषभो भुवत् ॥ १ ॥

हे (शतक्रतो) सैंकडों कर्म करनेवाले इन्द्र ! (अस्मिन् वाजे) इस युद्धमें (नः ऊतये) हमारी रक्षाके लिये (ऊर्ध्वः तिष्ठ) खडा रह, (अन्येषु सं ब्रवावहै) अन्योंकी उपस्थितिमें भी हम तेरी ही प्रशंसा करेंगे ॥ ३ ॥ (ऋ. १।३०।६)

१ राधानां पतिः— धनोंका स्वामी इन्द्र है।

२ वीर ! यस्य ते स्तोत्रं सूनृता विभूतिः अस्तु— हे वीर इन्द्र ! तेरा स्तोत्र हमारे लिये सच्ची विभूतिके रूपमें हमारे सामने रहे।

३ शतक्रतो— सैंकडो कर्म करनेवाले इन्द्र।

४ अस्मिन् वाजे नः ऊतये ऊर्ध्वः तिष्ठ— इस युद्धमें हमारी रक्षा करनेके लिये खडा रह और हमारी रक्षा करनेके लिये जो करना योग्य है वह सब कर।

५ अन्येषु सं ब्रवावहै— अन्य लोग उपस्थित हों तो भी हम ऐसा ही तेरे विषयमें आदर भावके वचन ही बोलेंगे।

(सूक्त ४६)

(वस्यो अच्छ प्रणेतारं) जो उत्तम वस्तुकी ओर ले चलता है, (समत्सु ज्योतिः कर्तारं) संग्रामोंमें ज्योति करता है, और (युधा अमित्रान् सासह्वांसं) युद्धसे शत्रुओंको पराभूत करता है ॥ १ ॥ (ऋ. ८।१६।१०)

(सः पुरुहूतः) वह अनेकों द्वारा प्रार्थित हुआ (पप्रिः इन्द्रः) प्रतिपालक इन्द्र (नावा) नौकासे (नः स्वस्ति पारयाति) हमें कल्याणके लिये पार ले जाता है, (विश्वा द्विषः अति) सब शत्रुओंको दूर करता है ॥ २ ॥ (ऋ. ८।१६।११)

हे इन्द्र ! (सः त्वं) वह तू (नः) हमें (वाजेभिः च गातुया च) अन्नोंसे और यज्ञसे (दशस्य) परिपूर्ण कर (नः अच्छ सुम्नं नेषि) और हमें आनन्दकी ओर ले जा ॥ ३ ॥ (ऋ. ८।१६।१२)

१ वस्यो अच्छ प्रणेतारं— इन्द्र उत्तमताकी ओर पहुंचाता है,

२ समत्सु ज्योतिः कर्तारं— युद्धोंमें ज्योति बताकर विजयका मार्ग दर्शाता है।

३ युधा अमि[illegible] सासह्वांसं— युद्धसे शत्रुओंको पराभूत करता है।

४ स पुरुहूतः— वह इन्द्र अनेकोंके द्वारा प्रार्थित होता है।

५ पप्रिः इन्द्रः— वह सच्चा पालक है।

६ नावा नः स्वस्ति पारयाति— नौकासे हमें कल्याणके लिये पार ले जा।

७ विश्वा द्विषः अति— सब शत्रुओंको दूर कर।

८ सः [illegible] वाजेभिः गातुया च दशस्य— वह तू अन्नोंसे तथा यज्ञसे हमें परिपूर्ण कर।

९ नः अद्य सुम्नं नेषि — हमें आज आनंदकी ओर ले जा।

(सूक्त ४७)

(महे वृत्राय हन्तवे) बडे वृत्रके मारनेके लिये इन्द्रं वाज[illegible]) उस इन्द्रको हम बढाते हैं, (स वृषा वृषभः भुवत् [illegible]) शक्तिशाली वीर होवे ॥ १ ॥ (ऋ. ८।९३।७)

इन्द्रः स दामने कृत ओजिष्ठः स मदे हितः । द्युम्नी श्लोकी स सोम्यः ॥ २ ॥
गिरा वज्रो न संभृतः सबलो अनपच्युतः । ववक्ष ऋष्वो अस्तृतः ॥ ३ ॥
इन्द्रमिद्गाथिनो बृहदिन्द्रमर्केभिरर्किणः । इन्द्रं वाणीरनूषत ॥ ४ ॥
इन्द्र इद्धर्योः सचा संमिश्ल आ वचोयुजा । इन्द्रो वज्री हिरण्ययः ॥ ५ ॥
इन्द्रो दीर्घाय चक्षस आ सूर्यं रोहयद्दिवि । वि गोभिरद्रिमैरयत् ॥ ६ ॥
आ याहि सुषुमा हि त इन्द्र सोमं पिबा इमम् । एदं बर्हिः सदो मम ॥ ७ ॥
आ त्वा ब्रह्मयुजा हरी वहतामिन्द्र केशिना । उप ब्रह्माणि नः शृणु ॥ ८ ॥
ब्रह्माणस्त्वा वयं युजा सोमपामिन्द्र सोमिनः । सुतावन्तो हवामहे ॥ ९ ॥
युञ्जन्ति ब्रध्नमरुषं चरन्तं परि तस्थुषः । रोचन्ते रोचना दिवि ॥ १० ॥
युञ्जन्त्यस्य काम्या हरी विपक्षसा रथे । शोणा धृष्णू नृवाहसा ॥ ११ ॥
केतुं कृण्वन्नकेतवे पेशो मर्या अपेशसे । समुषद्भिरजायथाः ॥ १२ ॥
उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः । दृशे विश्वाय सूर्यम् ॥ १३ ॥
अप त्ये तायवो यथा नक्षत्रा यन्त्यक्तुभिः । सूराय विश्वचक्षसे ॥ १४ ॥
अदृश्रन्नस्य केतवो वि रश्मयो जनाँ अनु । भ्राजन्तो अग्नयो यथा ॥ १५ ॥
तरणिर्विश्वदर्शतो ज्योतिष्कृदसि सूर्य । विश्वमा भासि रोचन ॥ १६ ॥
प्रत्यङ् देवानां विशः प्रत्यङ्ङुदेषि मानुषीः । प्रत्यङ् विश्वं स्वर्दृशे ॥ १७ ॥

(**इन्द्रः स दामने कृतः**) वह इन्द्र दानके लिये ही प्रसिद्ध है (**ओजिष्ठः स मदे हितः**) वह बलवान् और आनन्दमें रहता है। (**द्युम्नी श्लोकी स सोम्यः**) वह तेजस्वी, यशस्वी और सोमके योग्य है ॥ २ ॥ (ऋ. ८।९३।८)

(**गिरा वज्रः संभृतः न**) स्तुतिसे वज्र जैसा वह तैयार हुआ है, (**स-बलः अनपच्युतः**) वह बडे बलवान् और न गिरनेवाला है, (**ऋष्वः अस्तृतः ववक्षे**) वह बडा, न जीता हुआ और ऊंचा है ॥ ३ ॥ (ऋ. ८।९३।९)

४–६ देखो २०।३८।४–६। ७–९ देखो २०।३८।१–३। १०–१२ देखो २०।२६।४–६।

(**केतवः त्यं जातवेदसं देवं सूर्यं**) किरण उस बने हुए जगत्को जाननेवाले सूर्य देवको (**विश्वाय दृशे**) समस्त संसारके देखनेके लिये (**उत् उ वहन्ति**) उच्च स्थानमें प्रकाशित करते हैं ॥ १३ ॥

(ऋ. १।५०।१; यजु. ७।४१; अथर्व. १३।२।१६)

(**यथा त्ये तायवः**) जैसे वे चोर (**नक्षत्रा अक्तुभिः अप यन्ति**) ये नक्षत्र रात्रीके साथ भाग जाते हैं और (**विश्वचक्षसे सूराय**) विश्वको प्रकाशित करनेवाले सूर्यके लिये स्थान करते हैं ॥ १४ ॥

(ऋ. १।५०।२; अथर्व. १३।२।१७)

(**यथा भ्राजन्तः अग्नयः**) जैसे चमकनेवाले अग्नि होते हैं (**अस्य केतवः रश्मयः**) इसके ध्वज रूपी किरण (**जनान् अनु वि अदृश्रन्**) लोगोंके प्रति जाते हैं ऐसा दीखता है ॥ १५ ॥

(ऋ १।५०।३; यजु. ८।४०; अथर्व. १३।२।१८)

हे (**रोचन सूर्य**) हे प्रकाशक सूर्य! तू (**तरणिः विश्वदर्शतः**) तारक और विश्वको दर्शानेवाला है तथा (**ज्योतिष्कृत् असि**) प्रकाश करनेवाला है। (**विश्वं आभासि**) जगत्को प्रकाशित करता है ॥ १६ ॥

(ऋ. १।५०।४)

(**देवानां विशः प्रत्यङ्**) देवोंकी प्रजाओंके प्रति और (**मानुषीः प्रत्यङ् उदेषि**) मानवी प्रजाओंके प्रति उदित

येना पावक चक्षसा भुरण्यन्तं जनाँ अनु । त्वं वरुण पश्यसि ॥ १८ ॥
वि द्यामेषि रजस्पृथ्वहामिमानो अक्तुभिः । पश्यं जन्मानि सूर्य ॥ १९ ॥
सप्त त्वा हरितो रथे वहन्ति देव सूर्य । शोचिष्केशं विचक्षणम् ॥ २० ॥
अयुक्त सप्त शुन्ध्युवः सूरो रथस्य नप्त्यः । ताभिर्याति स्वयुक्तिभिः ॥ २१ ॥ (२०६)

[सूक्त ४८]

(ऋषिः — (१-६) खिलम्, ४-६ सर्पराज्ञी। देवता — सूर्यः गोः।)

अभि त्वा वर्चसा गिरः सिञ्चन्तीराचरण्यवः । अभि वत्सं न धेनवः ॥ १ ॥
ता अर्षन्ति शुभ्रियः पृञ्चन्तीर्वर्चसा प्रियः । जातं जात्रीर्यथा हृदा ॥ २ ॥
वज्रापवसाध्यः कीर्तिम्रियमाणमावहन् । मह्यमायुर्घृतं पयः ॥ ३ ॥
आयं गौः पृश्निरक्रमीदसदन्मातरं पुरः । पितरं च प्रयन्त्स्वः ॥ ४ ॥
अन्तश्चरति रोचना अस्य प्राणादपानतः । व्यख्यन्महिषः स्वः ॥ ५ ॥

होता है तथा (स्वः विश्वे विश्वं प्रत्यङ्) प्रकाशके दर्शनके लिये सब विश्वके प्रति तू जाता है ॥ १७ ॥ (ऋ. १।५०।५)

हे (पावक वरुण) पवित्र करनेवाले श्रेष्ठ देव ! (येन चक्षसा) जिस आंखसे (त्वं जनान् भुरण्यन्तं अनु पश्यसि) तू मनुष्योंमें भरण-पोषण करनेवाले मनुष्यको देखता है उससे मुझे देख ॥ १८ ॥ (ऋ. १।५०।६)

सूर्य ! (अक्तुभिः अहः मिमानः) रात्रियोंसे दिनको मापता हुआ (पृथु रजः द्यां एषि) विस्तृत अन्तरिक्ष लोकको और द्युलोकको प्राप्त होता है और (जन्मानि पश्यन्) सब जन्म लेनेवालोंको देखता है ॥ १९ ॥ (ऋ. १।५०।७)

हे सूर्य देव ! (सप्त हरितः) सात किरण (शोचिष्केशं विचक्षणं त्वा) शुद्ध करनेवाले किरण तथा दर्शक ऐसे तुझको (रथे वहन्ति) रथमें चलाते हैं ॥ २० ॥ (ऋ. १।५०।८)

(सूरः रथस्य) ज्ञानमय रथको (नप्त्यः सप्त शुन्ध्युवः अयुक्त) सात शुद्ध करनेवाले किरण जोडे हैं। (ताभिः स्वयुक्तिभिः याति) उनसे अपनी योजनाओंसे वह जाता है ॥ २१ ॥ (ऋ. १।५०।९)

इस सूक्तमें १-१२ मंत्र इन्द्र देवताके हैं और १३-२१ तकके मंत्र सूर्य देवताके हैं।

(सूक्त ४८)

(आचरण्यवः) वारंवार प्रवृत्त होनेवाली (गिरः) हमारी स्तुतियां (वर्चसा त्वा सिंचन्तीः) तेजका तेरे पास सिंचन करती हैं (वत्सं धेनवः अभि न) बछडेके पास जैसी गौवें वारंवार आती हैं ॥ १ ॥

(जातं जात्रीः यथा हृदा) उत्पन्न हुए बच्चेको जैसी माताएं हृदयके साथ मिलाती हैं, उस तरह हमारी स्तुतियां (वर्चसा पृञ्चन्तीः) तेजसे संयुक्त होती हैं (प्रियः शुभ्रियः ताः अर्षन्ति) और प्रिय शुभ्र स्वच्छ भावको प्रकट करती हैं ॥ २ ॥

(वज्रापवसाध्यः) शस्त्र, अस्त्रास्त्र रोग आदि (कीर्तिः) तथा कीर्ति (म्रियमाणं आवहन्) मरनेवालेके पास जाते हैं। (मह्यं आयुः घृतं पयः) मुझे दीर्घ आयु, घी और दूध मिले ॥ ३ ॥

(आयं गौः) यह गतिशील चन्द्रमा (मातरं पुरः असदत्) अपनी माता भूमिको आगे करता है (पितरं च प्रयन्) और अपने पिता रूपी स्वयं प्रकाशी सूर्यकी चारों और घूमता हुआ (पृश्निः आक्रमीत्) आकाशमें भ्रमण करता है ॥ ४ ॥ (ऋ. १०।१८९।१)

(अस्य रोचना) इसकी ज्योती (प्राणात् अपानतः) प्राण और अपान करनेवालोंके (अन्तः चरति) अन्दर

त्रिंशद्धामा वि राजति वाक्पतङ्गो अशिश्रियत्। प्रति वस्तोरहर्द्युभिः ॥ ६ ॥ (३१२)

[सूक्त ४९]

(ऋषिः — १-७ खिलम्। ४-५ नोधाः; ६-७ मेध्यातिथिः।)

यच्छक्रा वाचमारुहन्नन्तरिक्षं सिषासथः । सं देवा अमदन्वृषा ॥ १ ॥
शक्रो वाचमधृष्टायोरुवाचो अधृष्णुहि । मंहिष्ठ आ मदर्दिवि ॥ २ ॥
शक्रो वाचमधृष्णुहि धामधर्मन्विराजति । विमदन्बर्हिरासरन् ॥ ३ ॥
तं वो दस्ममृतीषहं वसोर्मन्दानमन्धसः।
अभि वत्सं न स्वसरेषु धेनव इन्द्रं गीर्भिर्नवामहे ॥ ४ ॥
द्युक्षं सुदानुं तविषीभिरावृतं गिरिं न पुरुभोजसम्।
क्षुमन्तं वाजं शतिनं सहस्रिणं मक्षू गोमन्तमीमहे ॥ ५ ॥
तत्त्वा यामि सुवीर्यं तद्ब्रह्म पूर्वचित्तये
येना यतिभ्यो भृगवे धने हिते येन प्रस्कण्वमाविथ ॥ ६ ॥
येना समुद्रमसृजो महीरपस्तदिन्द्र वृष्णि ते शवः।
सद्यः सो अस्य महिमा न संनशे यं क्षोणीरनुचक्रदे ॥ ७ ॥ (३१९)

संचार करती है और वह (महिषः स्वः वि अख्यत्) बडे स्वयं प्रकाशी सूर्यको ही प्रकाशित करती है ॥ ५ ॥

(ऋ. १०।१८९।२)

(वस्तोः त्रिंशत् धाम) अहोरात्रके तीस धाम अर्थात् मुहूर्त (अह्नः द्युभिः प्रति वि राजति) निश्चयसे इसके प्रकाशसे प्रकाशित होते हैं। उसकी प्रशंसाके लिये (वाक् पतङ्गः अशिश्रियत्) हमारी वाणी सूर्यका आश्रय करती है ॥ ६ ॥ (ऋ. १०।१८९।३)

चन्द्र भूमिके चारों ओर भ्रमण करता है और भूमि सहित चन्द्र सूर्यकी चारों ओर घूमता है। इस प्रकार भूमि सहित चन्द्र सूर्यकी प्रदक्षिणा करता है और अपने मार्गसे आकाशमें संचार करता है।

इसके किरण सब स्थावर जंगमके ऊपर प्रकाशित होते हैं और वे सूर्य प्रकाशके महत्त्वको व्यक्त करते हैं।

अहोरात्रके तीस मुहूर्तोंमें इसीका प्रकाश सबको तेजस्वी बनाता है। इसलिये इस सूर्यकी प्रशंसा हमारी वाणीको करनी योग्य है।

(सूक्त ४९)

(यत् शक्रा वाचं आरुहन्) जब शक्तियोंने वाणीपर आरोहण किया (अन्तरिक्षं सिषासथः) अन्तरिक्षको जीतना चाहा, तब (वृषा देवाः सं अमदन्) बलवान् देवोंने आनंद मनाया ॥ १ ॥

(शक्रः वाचं अधृष्टाय) शक्तिवालेने वाणीको धैर्य-वाली बनाया, (उरुवाचः अधृष्णुहि) बडी वाणीको प्रबल बनाया। (मंहिष्ठः दिवि आ मदः) बडेने द्युलोकमें हर्ष बनाया ॥ २ ॥

(शक्रो वाचं अधृष्णुहि) शक्तिवालेने वाणीको प्रबल बनाया (धामधर्मन् विराजति) प्रति स्थानपर वह शासन करता है। (विमदन् बर्हिः आसदन्) आनन्द मनाता हुआ वह आसनपर बैठा है ॥ ३ ॥

४-७ देखो (२०।९।१-४)

१ शक्रा वाचं आरुहन्— शक्तियां वाणीपर चढीं। वाणीमें शक्ति रहनी चाहिये। मानसिक शक्ति वाणीपर चढ गयी तो वाणीमें बडा सामर्थ्य उत्पन्न होता है।

[सूक्त ५०]

(ऋषिः — १-२ मेध्यातिथिः । देवता — इन्द्रः ।)

कन्नव्यो अतसीनां तुरो गृणीत मर्त्यः ।
नही न्वस्य महिमानमिन्द्रियं स्वर्गृणन्त आनशुः ॥ १ ॥
कदु स्तुवन्त ऋतयन्त देवत ऋषिः को विप्र ओहते ।
कदा हवं मघवन्निन्द्र सुन्वतः कदु स्तुवत आ गमः ॥ २ ॥ (३२१)

[सूक्त ५१]

(ऋषिः — १-२ प्रस्कण्वः ३-४ पुष्टिगुः । देवता — इन्द्रः ।)

अभि प्र वः सुराधसमिन्द्रमर्च यथा विदे ।
यो जरितृभ्यो मघवा पुरूवसुः सहस्रेणेव शिक्षति ॥ १ ॥

---

२ **अन्तरिक्षं सिषासथः**— अन्तरिक्षको जीतनेकी शक्ति वाणीमें रहती है ।

३ **वृषा देवा सं अमदन्**— बलवान् देव इससे हर्ष करते हैं । किसीकी वाणीमें शक्ति उत्पन्न हुई तो देवता उससे हर्षित होते हैं और वे उसको सहायता करती हैं । उसकी वाणीमें दैवी शक्ति उत्पन्न होती है ।

४ **शक्रः वाचं अधृष्टाय**— सामर्थ्यवान अपनी वाणीको शक्तिशाली बनाता है ।

५ **उरुवाचः अधृष्णुहि**— वाणीकी अपनी शक्ति है उसको जो बढाता है वह शक्तिशाली होता है ।

६ **मंहिष्ठः दिवि आमदः**— शक्तिशाली द्युलोकमें हर्षको बढाता है । अपनी सामर्थ्यशाली वाणीसे द्युलोकमें भी हर्ष बढाता है ।

७ **शक्रः वाचं अधृष्णुहि**— सामर्थ्यवान्ने अपनी वाणीको बलवती बनाया ।

८ **धामधर्मन् विराजती**— उससे स्थान स्थानपर वह अपना शासन चलाता है ।

९ **विमदन् बर्हिः आसदन्**— आनंदित होकर वह आसनपर बैठता है, श्रेष्ठ स्थानपर विराजता है ।

(सूक्त ५०)

(**तुरः मर्त्यः**) त्वरासे कार्य करनेवाला मनुष्य (**नव्यः**) नवीन गीत (**कं अतसीनां गृणीत**) किस वेगसे प्रेरित होते हुए गायेगा ? (**अस्य महिमानं इन्द्रियं गृणन्तः**) इसकी महिमा और शक्तिका गान करते हुए कौन (**स्वः नही आनशुः**) स्वर्गधाम नहीं पाता ? ॥ १ ॥ (ऋ. ८।३।१३)

त्वरासे कार्य करनेवाला भक्त अपनी बुद्धियोंसे नवीन गीत गाता है और उस प्रभुकी महिमाका गान करके वह भक्त स्वर्गधामको प्राप्त करता है । सुख प्राप्त करता है । मंत्रोंका गान करनेसे मनुष्य सुखी होता है ।

(**कद् उ स्तुवन्तः**) कब स्तुति करनेवाले (**ऋतयन्तः**) ऋतकी उपासना करनेवाले (**देवता ऋषिः**) देवता और ऋषि (**कः विप्रः ओहते**) कौन विशेष ज्ञानी करके तुम्हें बुलाते हैं ? हे इन्द्र ! हे (**मघवन्**) धनवान् ! (**कदा सुन्वतः हवं**) कब सोमरस निचोडनेवालेकी प्रार्थना सुनकर (**कद् उ स्तुवतः आगमः**) कब तुम स्तुति करनेवालेके पास आते हैं ? (ऋ. ८।३।१४)

(सूक्त ५१)

(**वः**) तुम्हारे हितके लिये (**सुराधसं इन्द्रं**) बडे दानी इन्द्रका (**यथा विदे**) जैसा मालूम है उस तरह (**अभि प्र अर्च**) स्तोत्र गाओ । (**यः पुरुवसुः मघवा**) जो बहुत धनवाला इन्द्र (**जरितृभ्यः सहस्रेण इव शिक्षति**) स्तोताओंको सहस्र गुणा देता है ॥ १ ॥

(ऋ. ८।४९।१)

शतानीकेव प्र जिंगाति धृष्णुया हन्ति वृत्राणि दाशुषे ।
गिरेरिव प्र रसा अस्य पिन्विरे दत्राणि पुरुभोजसः ॥ २ ॥
प्र सु श्रुतं सुराधसमर्चा शक्रमभिष्टये ।
यः सुन्वते स्तुवते काम्यं वसु सहस्रेणेव मंहते ॥ ३ ॥
शतानीका हेतयो अस्य दुष्टरा इन्द्रस्य समिषो महीः ।
गिरिर्न भुज्मा मघवत्सु पिन्वते यदीं सुता अमन्दिषुः ॥ ४ ॥ (३२५)

[सूक्त ५२]

(ऋषिः — १-३ मेध्यातिथिः । देवता — इन्द्रः ।)

वयं घ त्वा सुतावन्त आपो न वृक्तबर्हिषः ।
पवित्रस्य प्रस्रवणेषु वृत्रहन्परि स्तोतार आसते ॥ १ ॥

(**शतानीक इव**) सैंकडों सैनिक जिसके साथ हैं ऐसे वीरके समान (**धृष्णुया प्र जिगाति**) धैर्यसे वह आगे बढता है और (**दाशुषे वृत्राणि हन्ति**) दाताके लिये शत्रुओंको मारता है । (**गिरेः रसा इव**) पर्वतसे जल आता है उस तरह (**अस्य पुरुभोजसः दत्राणि प्र पिन्विरे**) इस बहुत भोग देनेवाले इन्द्रके दान फैलते हैं ॥ २ ॥

(ऋ. ८।४९।२)

(**श्रुतं सुराधसं शक्रं**) प्रसिद्ध दानी इन्द्रकी (**अभिष्टये**) विजयके लिये (**प्र सु अर्च**) अर्चना उत्तम प्रकार कर । (**यः**) जो (**सुन्वते स्तुवते**) सोमरस निकालनेवाले और स्तुति करनेवालेको (**काम्यं वसु**) इष्ट धन (**सहस्रेण इव मंहते**) सहस्र गुना देता है ॥ ३ ॥ (ऋ. ८।५०।१)

(**अस्य इन्द्रस्य**) इस इन्द्रकी (**महीः दुष्टराः**) बडी तथा दुस्तर (**समिषः**) इच्छाएं तथा (**शतानीका हेतयः**) सैंकडों नोकोंवाले इसके शस्त्र हैं । (**यत् ईं सुताः अमन्दिषुः**) जब इस इन्द्रको सोमरस आनन्द देते हैं तब (**गिरिः न**) पर्वतके समान वह (**मघवत्सु भुज्मा पिन्वते**) दानीयोंको भोग देता है ॥ ४ ॥ (ऋ. ८।५०।२)

१ **सुराधसं इन्द्र यथा विदे अभि प्र अर्च**— उत्तम दान देनेवाले इन्द्रकी जैसी आती है वैसी स्तुति गाओ। उसका गुणवर्णन करो ।

२ **पुरुवसुः मघवा जरितृभ्यः सहस्रेण इषः शिक्षति**— बहुत धनवाला इन्द्र है वह स्तोताओंको सहस्र प्रकारके अन्न देता है। अतः उसकी स्तुति करना लाभदायक है।

३ **शतानीक इव धृष्णुया प्र जिगाति**— सैंकडों सैनिकोंको अपने साथ रखनेवाला वीर जैसा धैर्यसे शत्रुसैन्यमें घुसता है वैसा वह इन्द्र युद्धमें घुसता है ।

४ **दाशुषे वृत्राणि हन्ति**— दाताकी रक्षा करनेके लिये शत्रुको मारता है, और दाताकी रक्षा करता है ।

५ **गिरेः रसा इव अस्य पुरुभोजसः दत्राणि प्र पिन्विरे**— पर्वतसे जैसा जल मिलता है, उस तरह इस बहुत भोग देनेवाले इन्द्रसे प्राप्त होनेवाले दान चारों ओर फैल रहे हैं।

६ **श्रुतं सुराधसं शक्रं अभिष्टये प्र सु अर्च**— सुप्रसिद्ध उत्तम दान देनेवाले इन्द्रकी अपने कल्याणके लिये उत्तम अर्चना कर ।

७ **यः सुन्वते स्तुवते काम्यं वसु सहस्रेण इव मंहते**— जो इन्द्र सोमरस निकालनेवाले स्तोताके लिये इष्ट धन सहस्र प्रकारसे देकर उसको बडा महान् बनाता है ।

८ **अस्य इन्द्रस्य मही दुष्टरा समिषः शतानीका हेतयः**— इस इन्द्रके बडे दुस्तर मनोभाव है और सैंकडों सैनिकोंके साथ रहनेवाले शस्त्र भी इसके साथ हैं।

९ **यत् ईं सुता अमन्दिषुः गिरिः न मघवत्सु भुज्मा पिन्वते**— जब इस इन्द्रको सोमरस आनन्दित करते हैं, तब वह पहाडके समान याजकोंको अनेक भोग देता है । पर्वत जैसे फल, मूल, फूल देता है वैसा यह इन्द्र भी नाना भोग देता है ।

(सूक्त ५२)

(**वयं सुतावन्तः वृक्तबर्हिषः**) हम सोमरस लिये, आसन बिछाए (**स्तोतारः**) तेरे स्तोतागण (**पवित्रस्य**

स्वरन्ति त्वा सुते नरो वसो निरेक उक्थिनः ।
कदा सुतं तृषाण ओक आ गम इन्द्र स्वब्दीव वंसगः ॥ २ ॥
कण्वेभिर्धृष्णवा धृषद्वाजं दर्षि सहस्रिणम् ।
पिशङ्गरूपं मघवन्विचर्षणे मक्षू गोमन्तमीमहे ॥ ३ ॥ (३२८)

[सूक्त ५२]

(ऋषिः — १-३ मेध्यातिथिः । देवता — इन्द्रः ।)

क ईं वेद सुते सचा पिबन्तं कद्वयो दधे ।
अयं यः पुरो विभिनत्त्योजसा मन्दानः शिप्र्यन्धसः ॥ १ ॥
दाना मृगो न वारणः पुरुत्रा चरथं दधे ।
नकिष्ट्वा नि यमदा सुते गमो महांश्चरस्योजसा ॥ २ ॥
य उग्रः सन्ननिष्टृत स्थिरो रणाय संस्कृतः ।
यदि स्तोतुर्मघवा शृणवद्धवं नेन्द्रो योषत्या गमत् ॥ ३ ॥ (३३१)

प्रस्रवणेषु) पवित्र जलधाराएं जहां चलतीं हैं वहां, हे (वृत्रहन्) वृत्रको मारनेवाले ! (आपः न) जलोंके समान (त्वा घ परि आसते) तेरे चारों ओर बैठते हैं ॥ १ ॥ (ऋ. ८।३३।१)

हे (वसो) निवासक ! (उक्थिनः एके नरः) स्तोत्र पाठ करनेवाले कई मनुष्य (सुते) सोमरस निकालने पर (त्वा निः स्वरन्ति) तुझे प्रेमसे बुलाते हैं। हे इन्द्र ! (कदा सुतं तृषाणः) कब सोमरसकी ओर प्यासा होकर (स्वब्दी वंसगः इव) सुन्दर शब्द करनेवाले बैलकी तरह (ओकः आगमः) घरमें तू आ जागया ॥ २ ॥ (ऋ. ८।३३।२)

हे (धृष्णो धृषत्) वीरोंके साथ वीर ! (कण्वेभिः सहस्रिणं वाजं आ दर्षि) कण्वोंके द्वारा प्रार्थित होनेपर तू सहस्र गुणा अन्न ला देता है। हे (विचर्षणे मघवन्) ज्ञानी शक्तिमान् इन्द्र ! हम (पिशङ्गरूपं गोमन्तं) पीले रंगवाले सोनेके समेत गौओंसे युक्त धन (मक्षू ईमहे) शीघ्र मिले ऐसा चाहते हैं ॥ ३ ॥

१ धृष्णो धृषत्— वीरके साथ वीर इन्द्र ।

२ विचर्षणे मघवन्— बुद्धिमान् धनवान् इन्द्र ।

३ पिशङ्गरूपं गोमन्तं मक्षू ईमहे— सोना और गौवें हमें शीघ्र मिलें ऐसा चाहते हैं। 'पिशङ्गरूपं'- पीले रंगवाला सुवर्ण हमें चाहिये। गौवें भी चाहिये।

(सूक्त ५२)

(सुते सचा पिबन्तं ईं क वेद) सोमरस साथ बैठकर पीनेवालेको कौन ठीक तरह जानता है ? (कद् वयः दधे) उसने किस शक्तिको धारण किया है ? (अयं यः ओजसा पुरः विभिनत्ति) यह जो बलसे शत्रुके नगरोंके किलोंको तोडता है, वह (शिप्री अन्धसः मन्दानः) हनुवाला सोमरससे आनन्दित होनेवाला है ॥ १ ॥ (ऋ. ८।३३।७)

(वारणः मृगः न) मस्त हाथीकी तरह (दाना) मदमत्त होनेके कारण (पुरुत्रा चरथं दधे) इधर उधर भ्रमण करता है। (सुते आ गमः) सोमरसके स्थानपर तू आ गया तो (त्वा न किः आ नि यमत्) तुझे कोई रोक नहीं सकता। (महान् ओजसा चरसि) बडा होकर बलसे तू घूमता है ॥ २ ॥ (ऋ. ८।३३।८)

(यः उग्रः सन्) जो उग्रवीर है, (अनिष्टृतः) और स्थानसे पीछे हटाया नहीं जा सकता, (स्थिरः रणाय संस्कृतः) स्थिर रहकर संग्रामके लिये तैयार है। (मघवा) धनवान् इन्द्र (यदि स्तोतुः हवं शृणवत्) यदि वह स्तोताकी प्रार्थना सुनता है (इन्द्रः न योषति) तो इन्द्र दूर नहीं रहेगा (आ गमत्) पास आयेगा ही ॥ ३ ॥ (ऋ. ८।३३।९)

[सूक्त ५४]

(ऋषिः — १-३ रेभः । देवता — इन्द्रः ।)

विश्वाः पृतना अभिभूतरं नरं सजूस्ततक्षुरिन्द्रं जजनुश्च राजसे ।
क्रत्वा वरिष्ठं वर आमुरिमुतोग्रमोजिष्ठं तवसं तरस्विनम् ॥ १ ॥
समीं रेभासो अस्वरन्निन्द्रं सोमस्य पीतये ।
स्वर्पतिं यदीं वृधे धृतव्रतो ह्योजसा समूतिभिः ॥ २ ॥
नेमिं नमन्ति चक्षसा मेषं विप्रा अभिस्वरा ।
सुदीतयो वो अद्रुहोऽपि कर्णे तरस्विनः समृक्वभिः ॥ ३ ॥ (३३४)

---

१ **कद् वयः दधे**— यह इन्द्र किस तरहका सामर्थ्य धारण करता है, यह (कः वेद) कौन जानता है । उसके सामर्थ्यको कोई नहीं जानता ।

२ **अयं ओजसा पुरः विभिनत्ति**— यह इन्द्र अपने सामर्थ्यसे शत्रुकी नगरियोंको तोडता है, उनपर अपना प्रभुत्व स्थापन करता है। पहिले शत्रुकी नगरियां थीं, शत्रुका पराभव करके उनके किले इसने तोडे ।

३ **वारणः न पुरुत्रा चरथं दधे**— हाथीके समान यह इन्द्र चारों ओर घूमता है।

४ **त्वा न किः आ नि यमत्**— तुझे कोई रोक नहीं सकता ।

५ **महान् ओजसा चरसि**— तू बडी शक्तिसे विचरता है । वीरकी ऐसी शक्ति चाहिये । जिसे कोई उसे रोक न सके।

६ **यः उग्रः सन् अनिष्टृतः**— जो वीर है और उसे कोई रोक नहीं सकता ।

७ **स्थिरः रणाय संस्कृतः**— वह वीर युद्धमें स्थिर रहकर युद्ध करनेमें संस्कार संपन्न है। कुशलतासे युद्ध करता है।

८ **मघवा इन्द्रः स्तोतुः हवं शृणवत् न योषति, आ गमत्**— इन्द्र धनवान् है, जब वह किसीकी पुकार सुनता है वह ठहरता नहीं, तत्काल उसके पास पहुंचता है । वीर ऐसे होने चाहिये ।

(सूक्त ५४)

(**विश्वाः पृतनाः अभिभूतरं नरं**) सब शत्रुकी सेनाओंका पराभव करनेवाले नेता (**इन्द्रं सजूः ततक्षुः**) इन्द्रको देवोंने मिलकर उत्पन्न किया और (**राजसे जजनुः च**) राज्यशासन करनेके लिये लगाया । (**वरे क्रत्वा वरिष्ठं**) श्रेष्ठ कार्योंमें कर्तृत्वसे श्रेष्ठ, (**आमुरिं**) युद्धमें शत्रुको मारनेवाले (**उत उग्रं**) उग्रवीर (**ओजिष्ठं तवसं तरस्विनं**) बलवान, सामर्थ्यवान् और साहससे युक्त ऐसा यह इन्द्र है ॥ १ ॥ (ऋ. ८।९७।१०)

(**ईं स्वर्पतिं इन्द्रं**) इस स्वर्गके पति इन्द्रकी (**सोमस्य पीतये**) सोमरस पीनेके लिये (**रेभासः सं अस्वरन्**) स्तोताओंने मिलकर स्तुति की । (**यत् धृतव्रतः ओजसा ऊतिभिः सं वृधे**) तब नियमोंके अनुसार चलनेवाला बलसे और संरक्षक साधनोंसे आगे बढा ॥ २ ॥ (ऋ. ८।९७।११)

(**अभिस्वरा विप्राः**) एक स्वरसे ब्राह्मण लोग (**चक्षसा**) अपनी दृष्टिसे (**मेषं नेमिं नमन्ति**) शूर वीरको अपना संरक्षक बनाते हैं । (**सुदीतयः अद्रुहः**) दीप्तिवाले द्रोहरहित (**तरस्विनः समृक्वभिः**) बलवान् स्तोताओंके साथ (**वः कर्णे**) आपके कानमें सुनाते हैं ॥ ३ ॥ (ऋ. ८।९७।१२)

वीर इन्द्र इन गुणोंसे युक्त है—

१ **विश्वाः पृतनाः अभिभूतरं नरं इन्द्रं सजूः ततक्षुः**— सब शत्रुसेनाओंका पराभव करनेवाले नेता इन्द्रको सब देवोंने मिलकर एकमतसे अपना अग्रगामी बना दिया ।

२ **राजसे जजनु**— राज्यशासन करनेके लिये निर्माण किया । चुनाव करके सबने एकमतसे पसंद किया ।

३ **क्रत्वा वरे वरिष्ठं आमुरिं उग्रं ओजिष्ठं तवसं तरस्विनं ततक्षुः**— पुरुषार्थसे श्रेष्ठ कार्य करनेवालोंमें वरिष्ठ, शत्रुका वध करनेवाले, उग्रवीर, सामर्थ्यवान्, बलवान्, शीघ्रतासे कार्य करनेवाले ऐसे वीर इन्द्रको सब देवोंने अपना राज्यशासन करनेके लिये चुनकर रखा ।

४ **धृतव्रतः ओजसा समूतिभिः ईं स्वर्पतिं वृधे**— नियमोंके अनुसार चलनेवाले, ओजस्वी, संरक्षणके साधनोंसे

[सूक्त ५५]

(ऋषिः — १-३ रेभः। देवता — इन्द्रः।)

तमिन्द्रं जोहवीमि मघवानमुग्रं सत्रा दधानमप्रतिष्कुतं शवांसि ।
मंहिष्ठो गीर्भिरा च यज्ञियो ववर्तद्राये नो विश्वा सुपथा कृणोतु वज्री ॥ १ ॥
या इन्द्र भुज आभरः स्वर्वाँ असुरेभ्यः ।
स्तोतारमिन्मघवन्नस्य वर्धय ये च त्वे वृक्तबर्हिषः ॥ २ ॥
यमिन्द्र दधिषे त्वमश्वं गां भागमव्ययम् ।
यजमाने सुन्वति दक्षिणावति तस्मिन्तं धेहि मा पणौ ॥ ३ ॥ (२३७)

युक्त ऐसे स्वर्गके राज्यके शासनपर अपनी वृद्धि हो इस इच्छासे देवोंने एकमतसे इन्द्रको नियुक्त किया।

५ अभिस्वरा विप्राः चक्षसा मेषं नेमिं नमन्ति– एक स्वरसे ज्ञानी लोग अपनी दृष्टिसे योग्य नेताको रक्षक नियुक्त करते हैं।

४ सुदीतयः अद्रुहः तरस्विनः समृक्वभिः वः कर्णे— उत्तम तेजस्वी, आपसमें द्रोह न करनेवाले वेगवान् देव ऋचाओंसे आपके कानमें कहते हैं कि यह इन्द्र श्रेष्ठ है।

(सूक्त ५५)

(**तं मघवानं**) उस धनवान् (**उग्रं सत्रा शवांसि दधानं**) उग्रवीर सदा बलोंको धारण करनेवाले (**अप्रतिष्कुतं**) पीछे न हटनेवाले (**इन्द्रं जोहवीमि**) इन्द्रको मैं बार बार बुलाता हूं। (**मंहिष्ठः**) वह महान् (**यज्ञियः**) पूजनीय इन्द्र (**नः राये**) हमें संपत्ति देनेके लिये (**गीर्भिः आ ववर्तद्**) स्तुतियोंसे हमारी ओर आ जाय। वह (**वज्री**) वज्रधारी (**नः विश्वा सुपथा कृणोतु**) हमारे सब मार्ग उत्तम बनावे ॥ १ ॥ (ऋ. ८।९७।१३)

हे (**स्वर्वान् इन्द्र**) तेजस्वी इन्द्र! (**या भुजः असुरेभ्यः आभरः**) जो भोग तूने असुरोंसे लाये हैं, हे (**मघवन्**) धनवान् इन्द्र! (**स्तोतारं अस्य वर्धय**) स्तोत्रपाठ करनेवालेके लिये इन भोगोंका वर्धन करो तथा (**ये च त्वे वृक्तबर्हिषः**) जो तेरे लिये आसन देते हैं ॥ २ ॥ (ऋ. ८।९७।१)

हे इन्द्र! (**यं त्वं**) जिसके लिये तू (**अश्वं गां अव्ययं भागं दधिषे**) घोडा, गौ तथा अव्यय भाग धारण करता है (**तस्मिन् दक्षिणावति सुन्वति यजमाने**) दक्षिणा देनेवाले, सोमरस निकालनेवाले यजमानमें (**तं धेहि**) उसको तू दे। (**मा पणौ**) पण्य व्यवहार करनेवालेको न दे ॥ ३ ॥ (ऋ. ८।९७।२)

१ तं उग्रं शवांसि सत्रा दधानं अप्रतिष्कुतं इन्द्रं जोहवीमि-- उस उग्रवीर, सब बलोंको साथ साथ धारण करनेवाले, पीछे न हटनेवाले इन्द्रको वारंवार मैं बुलाता हूं। उसकी मैं वारंवार स्तुति करता हूं।

२ मंहिष्ठः यज्ञियः नः राये गीर्भिः आ ववर्तत्— महान् पूजनीय वह इन्द्र हमें धन देनेके लिये हमारी स्तुतियोंसे हमारी ओर आ जाय।

३ वज्री नः विश्वा सुपथा कृणोतु— वह वज्रधारी इन्द्र हमारे उन्नतिके सब मार्ग उत्तम निष्कंटक हमारे लिये सुखकर बनावें।

४ स्वर्वान् इन्द्र! या भुजः असुरेभ्यः आभरः— हे तेजस्वी इन्द्र! जो भोग तूने असुरोंसे लाये हैं। **स्तोतारं अस्य वर्धय**— स्तुति करनेवालोंको ये भोग अधिक प्रमाणमें मिलें ऐसा कर।

५ ये च त्वे वृक्तबर्हिषः— जो तेरे लिये आसन देते हैं उनको भी वे भोग अधिक प्रमाणमें मिलें।

राक्षसोंका पराभव करके उनको इन्द्र लूटे और जो भोग मिले वे भोग अपने अनुयायियोंको देवे।

६ यं त्वं अव्ययं भागं गां अश्वं दधिषे तं यजमाने धेहि, मा पणौ-- जिस भागको, गौ, अश्व आदिको तू धारण करता है वह भाग यज्ञकर्ताको ही दे दो। कंजूसको न दो। दान देनेवालेको दो, दान न देनेवालेको, केवल व्यापार करनेवालेको ही न दे।

[सूक्त ५६]

(ऋषिः — १-६ गोतमः । देवता — इन्द्रः ।)

इन्द्रो मदा॑य वावृधे॒ शव॑से वृत्र॒हा नृभि॑ः ।
तमिन्म॒हत्स्वा॒जिषू॒तेमर्भे॑ हवामहे॒ स वाजे॑षु॒ प्र नो॑ऽविषत् ॥ १ ॥
असि॒ हि वी॑र॒ सेन्यो॒ऽसि॒ भूरि॑ पराद॒दिः ।
असि॑ द॒भ्रस्य॑ चिद्वृ॒धो यज॑मानाय शिक्षसि सुन्व॒ते भूरि॑ ते॒ वसु॑ ॥ २ ॥
यदु॒दीर॑त आ॒जयो॑ धृ॒ष्णवे॑ धीयते॒ धना॑ ।
यु॒क्ष्वा म॑द॒च्युता॒ हरी॒ कं हनः॒ कं वसौ॑ दधो॒ऽस्माँ इ॑न्द्र॒ वसौ॑ दधः ॥ ३ ॥
मदे॑मदे॒ हि नो॑ द॒दिर्यू॒था गवा॑मृजु॒क्रतुः॑ ।
सं गृ॑भाय पु॒रू श॒तोभ॑याह॒स्त्या वसु॑ शिशी॒हि रा॒य आ भ॑र ॥ ४ ॥
मा॒दय॑स्व सु॒ते सचा॒ शव॑से शूर॒ राध॑से ।
वि॒द्मा हि त्वा॑ पुरू॒वसु॒मुप॒ कामा॑न्त्ससृ॒ज्महेऽथा॑ नोऽवि॒ता भ॑व ॥ ५ ॥
ए॒ते त॑ इन्द्र ज॒न्तवो॒ विश्वं॑ पुष्यन्ति॒ वार्य॑म् ।
अ॒न्तर्हि ख्यो जना॑नाम॒र्यो वेदो॒ अदा॑शुषां॒ तेषां॑ नो॒ वेद॒ आ भ॑र ॥ ६ ॥ (३४३)

(सूक्त ५६)

(**नृभिः**) मनुष्योंने (**वृत्रहा इन्द्रः**) वृत्रको मारनेवाले इन्द्रको (**शवसे मदाय वावृधे**) बल और आनन्दके लिये बढाया है। (**तं इत् महत्सु आजिषु**) उसको हम बडे युद्धोंमें (**उत ईं अर्भे**) और उसे छोटे युद्धोंमें (**हवामहे**) बुलाते हैं, (**सः वाजेषु नः प्र अविषत्**) वह युद्धोंमें हमारी रक्षा करता है ॥ १ ॥ (ऋ. १।८१।१)

हे वीर ! तू (**सेन्यः असि हि**) अकेला सेनाके बराबर है। (**भूरि परादादिः**) तू बहुत शत्रुओंको दूर करनेवाला है। तू (**दभ्रस्य वृधः चित् असि**) छोटेको बढानेवाला है। (**यजमानाय शिक्षसि**) यजमानके लिये तू धन देता है। (**सुन्वते ते भूरि वसु**) सोमरस निकालनेवालेके लिये तेरे पास बडा धन है ॥ २ ॥ (ऋ. १।८[illegible])

(**यत् आजयः उदीरत**) जब संग्राम शुरू होते हैं, (**धना धृष्णवे धीयते**) तब धन वीरके लिये रखे जाते हैं। (**मदच्युता हरी युक्ष्वा**) मद गिरानेवाले दो घोडोंको जोत, (**कं हनः**) किसको तूने मारा ? (**कं वसौ दधः**) किसको धनमें रखा ? हे इन्द्र ! (**अस्मान् वसौ दधः**) हमें धनमें रखा है ॥ ३ ॥ (ऋ. १।८१।३)

हे (**ऋजुक्रतुः**) सरल हृदय ! (**मदेमदे**) प्रसन्न होनेपर तू (**गवां यूथा नः ददि हि**) गौवोंके झुंडोंको देता है। (**उभया हस्त्या**) दोनों हाथोंसे (**पुरू शता**) सैकडों प्रकारका (**वसु**) धन (**सं गृभाय**) इकट्ठा कर, (**शिशीहि**) हमें तीक्ष्ण बुद्धिमान् कर और हमें (**रायः आ भर**) धन लाकर दे ॥ ४ ॥ (ऋ. १।८१।७)

(**सुते मादयस्व**) सोमरस निकालनेपर अपनेको हर्षित कर दे। हे शूर ! (**शवसे राधसे सचा**) बल और धन देनेके लिये साथ साथ तैयार रह। (**त्वा पुरूवसुं विद्म हि**) हम तुझे धनवाला करके जानते हैं। (**कामान् उप ससृज्महे**) अपनी कामनाएं तेरे पास रखी हैं। (**अथ नः [illegible] भव**) अब हमारा रक्षक हो ॥ ५ ॥ (ऋ. १।८१।८)

हे इन्द्र ! (**ते एते जन्तवः**) ये तेरे उपासक लोग (**विश्वं वार्यं पुष्यन्ति**) सब स्वीकार करने योग्य धनको बढाते हैं। (**जनानां अर्यः**) तू जनोंका स्वामी है। (**अदाशुषं जनानां वेदः**) कंजूस मानवोंके पासका धन (**अन्तः ख्यः हि**) ढूंढ निकाल, (**तेषां वेदः न आ भर**) उनका धन हमारे लिये भर दे ॥ ६ ॥ (ऋ. १।८१।९)

[सूक्त ५७]

(ऋषिः — १-३ मधुच्छन्दाः, ४-७ विश्वामित्रः, ८-१० गृत्समदः, ११-१६ मेध्यातिथिः।
देवता — इन्द्रः।)

सुरूपकृत्नुमूतये सुदुघामिव गोदुहे । जुहूमसि द्यविद्यवि ॥ १ ॥
उप नः सवना गहि सोमस्य सोमपाः पिब । गोदा इद्रेवतो मदः ॥ २ ॥
अथा ते अन्तमानां विद्याम सुमतीनाम् । मा नो अति ख्य आ गहि ॥ ३ ॥

---

१ नृभिः वृत्रहा इन्द्रः शवसे मदाय वावृधे— मनुष्य शत्रुनाशक इन्द्रकी बल और आनंद बढानेके लिये महिमा गाते हैं। जो इस इन्द्रकी स्तुति गाते हैं उनका बल बढता है और बल बढनेसे हर्ष भी बढता है।

२ तं महत्सु आजिषु उत अर्भे हवामहे— उस इन्द्रको जैसे हम बडे युद्धोंमें बुलाते हैं उसी तरह छोटी स्पर्धामें भी सहायताके लिये बुलाते हैं।

३ सः वाजेषु नः प्र अविषत्— वह युद्धोंमें हमारी रक्षा करता है।

४ हे वीर ! सैन्यः असि— हे वीर ! तू अकेला होता हुआ सैन्य जैसा प्रभावी है। सब सैन्यकी शक्ति तुम्हारी अकेलेकी शक्तिके बराबर है।

५ भूरि परादादिः— बहुत शत्रुओंको दूर तू करता है।

६ दभ्रस्य वृधः असि— छोटे सामर्थ्यवालेका सामर्थ्य बढानेवाला तू है।

७ सुन्वते यजमानाय भूरि वसु शिक्षसि— यज्ञ करनेवालेको तू बहुत धन देता है।

८ यत् आजयः उदीरत धना धृष्णवे धायते— जब युद्ध छिड जाते हैं तब धन शूर वीरके लिये ही रखा जाता है। शूरका विजय होता है इसलिये उसको ही धन मिलता है।

९ कं हनः ?— किस शत्रुको तूने मारा ?

१० कं वसौ दधः ?— किसको धनमें रखा है ?

११ हे इन्द्र ! अस्मान् वसौ दधः— हे इन्द्र ! तूने हमें धनमें रखा है।

१२ हे ऋजुक्रतुः ! मदेमदे गवां यूथा नः ददिः— हे सरल हृदयवाले इन्द्र ! प्रसन्न होनेपर गौओंके झुण्ड तूने हमें दिये।

१३ उभया हस्त्या पुरुशता वसु सं गृभाय— दोनों हाथोंसे सैकडों प्रकारके धन इकट्ठा करके हमें दे।

१४ शिशीहि, रायः आ भर— हमें तीक्ष्ण बुद्धिमान् कर और हमें धन लाकर भर दे।

१५ शवसे राधसे सचा— बल और धनके लिये तू तैयार है।

१६ त्वा पुरुवसुं विद्म— तुझे बडा धनवाला हम जानते हैं।

१७ कामान् उप संसृज्महे— हमारी इच्छाएं तुम्हारे सामने रखते हैं।

१८ नः अविता भव— हमारा रक्षक हो।

१९ हे इन्द्र ! ते एते जन्तवः विश्वं वार्यं पुष्यन्ति- हे इन्द्र ! तेरे ये उपासक सब प्रकारके धनको बढाते हैं।

२० जनानां अर्यः अदाशुषां वेदः अन्तः क्षयः, तेषां वेदः नः भर— तू जनोंका स्वामी है। कंजूसोंका धन ढूंढ निकाल और वह धन हमें दे दो। हम इस धनमें बडे बडे यज्ञ करेंगे जिनसे जगत्का कल्याण होगा।

(सूक्त ५७)

(गोदुहे सुदुघां इव) दोहन करनेके समय जिस तरह उत्तम दूध देने [illegible] बुलाते हैं, उस तरह **(द्यवि द्यवि)** प्र[illegible] **सुरूपकृत्नुं ऊतये जुहूमसि)** उत्तम रूप कर[illegible] इन्द्रको हम अपनी सुरक्षा करनेके लिये बुलाते हैं ॥ १ ॥ (ऋ. १।४।१)

(नः सवना उप आ गहि) हमारे यज्ञोंमें आओ। तू **(सोमपाः)** सोम पीनेवाला है अतः **(सोमस्य पिब)** सोमरस पी। **(रेवतः मदः गोदा इत्)** तुझ जैसे धनवालेका हर्ष गौओंको देनेवाला है ॥ २ ॥ (ऋ. १।४।२)

(अथ ते अन्तमानां सुमतीनां विद्याम) अब हम तेरी अन्दरकी सुमतियोंको हम प्राप्त करें। **(नः मा अति ख्यः)** हमें परे न हटा, **(आ गहि)** हमारे पास आ ॥ ३ ॥
(ऋ. १।४।३)

शुष्मिन्तमं न ऊतये द्युम्निनं पाहि जागृविम् । इन्द्र सोमं शतक्रतो ॥ ४ ॥
इन्द्रियाणि शतक्रतो या ते जनेषु पञ्चसु । इन्द्र तानि त आ वृणे ॥ ५ ॥
अगन्निन्द्र श्रवो बृहद्द्युम्नं दधिष्व दुष्टरम् । उत्ते शुष्मं तिरामसि ॥ ६ ॥
अर्वावतो न आ गह्यथो शक्र परावतः । उ लोको यस्ते अद्रिव इन्द्रेह तत आ गहि ॥ ७ ॥
इन्द्रो अङ्ग महद्भयमभी षदप चुच्यवत् । स हि स्थिरो विचर्षणिः ॥ ८ ॥
इन्द्रश्च मृलयाति नो न नः पश्चादघं नशत् । भद्रं भवाति नः पुरः ॥ ९ ॥
इन्द्र आशाभ्यस्परि सर्वाभ्यो अभयं करत् । जेता शत्रून्विचर्षणिः ॥ १० ॥

क ईं वेद सुते सचा पिबन्तं कद्वयो दधे ।
अयं यः पुरो विभिनत्त्योजसा मन्दानः शिप्र्यन्धसः ॥ ११ ॥
दाना मृगो न वारणः पुरुत्रा चरथं दधे
नकिष्ट्वा नि यमदा सुते गमो महांश्चरस्योजसा ॥ १२ ॥
य उग्रः सन्ननिष्टृत स्थिरो रणाय संस्कृतः ।
यदि स्तोतुर्मघवा शृणवद्धवं नेन्द्रो योषत्या गमत् ॥ १३ ॥
वयं घ त्वा सुतावन्त आपो न वृक्तबर्हिषः ।
पवित्रस्य प्रस्रवणेषु वृत्रहन्परि स्तोतार आसते ॥ १४ ॥
स्वरन्ति त्वा सुते नरो वसो निरेक उक्थिनः ।
कदा सुतं तृषाण ओक आ गम इन्द्र स्वब्दीव वंसगः ॥ १५ ॥
कण्वेभिर्धृष्णवा धृषद्वाजं दर्षि सहस्रिणम् ।
पिशङ्गरूपं मघवन्विचर्षणे मक्षू गोमन्तमीमहे ॥ १६ ॥ (३५९)

[सूक्त ५८]

(ऋषिः — १-२ नृमेधः, ३-४ जमदग्निः । देवता — १-२ इन्द्रः, ३-४ सूर्यः ।)

श्रायन्त इव सूर्यं विश्वेदिन्द्रस्य भक्षत ।
वसूनि जाते जनमान ओजसा प्रति भागं न दीधिम ॥ १ ॥

४-१० देखो अथर्व. २०।२०।१-७ ।
११-१३ देखो अथर्व. २०।५३।१-३ ।
१४-१६ देखो अथर्व. २०।५२।१-३ ।

१ इन्द्र 'सुरूपकृत्नु'— उत्तम रूपोंवाले पदार्थोंको बनानेवाला है। जगत् भरमें जो सुन्दरता है वह उसकी बनाई है।

२ ऊतये द्यविद्यवि जुहूमसि— हम सुरक्षाके लिये प्रतिदिन उसको बुलाते हैं।

३ रेवतः मदः गोदाः— धनवान्का हर्ष धन देनेवाला होता है।

(सूक्त ५८)

(सूर्यं श्रायन्त इव) सूर्यका आश्रय लेनेके समान **(इन्द्रस्य विश्वा वसूनि इत् भक्षत)** इन्द्रके सब धनोंके हम भागी बनें। **(जाते जनमाने)** इस विश्वमें उत्पन्न हुए और उत्पन्न होनेवाले **(प्रति भागं न)** प्रत्येक भागको **(ओजसा दीधिम)** बलसे हम ध्यान करते रहते हैं ॥१॥
(ऋ. ८।९९।३)

अनर्शरातिं वसुदामुप स्तुहि भद्रा इन्द्रस्य रातयः ।
सो अस्य कामं विधतो न रोषति मनो दानाय चोदयन् ॥ २ ॥
बण्महाँ असि सूर्य बळादित्य महाँ असि ।
महस्ते सतो महिमा पनस्यतेऽद्धा देव महाँ असि ॥ ३ ॥
बट् सूर्य श्रवसा महाँ असि सत्रा देव महाँ असि ।
मह्ना देवानामसुर्यः पुरोहितो विभु ज्योतिरदाभ्यम् ॥ ४ ॥ (३.५)

[सूक्त ५९]

(ऋषिः — १-२ मेध्यातिथिः, ३-४ वसिष्ठः । देवता — इन्द्रः ।)

उदु त्ये मधुमत्तमा गिर स्तोमास ईरते ।
सत्राजितो धनसा अक्षितोतयो वाजयन्तो रथा इव ॥ १ ॥
कण्वा इव भृगवः सूर्या इव विश्वमिद्धीतमानशुः ।
इन्द्रं स्तोमेभिर्महयन्त आयवः प्रियमेधासो अस्वरन् ॥ २ ॥
उदिन्न्वस्य रिच्यतेंऽशो धनं न जिग्युषः ।
य इन्द्रो हरिवान्न दभन्ति तं रिपो दक्षं दधाति सोमिनि ॥ ३ ॥

(**अनर्शरातिं वसुदां उप स्तुहि**) जिसके दानको कभी हानि नहीं पहुंचती, उस धनदाती स्तुति कर। (**इन्द्रस्य रातयः भद्राः**) इन्द्रकी दानें उत्तम हैं। (**मनः दानाय चोदयन्**) अपने मनको वह दानके लिये प्रेरित करता है इस कारण (**अस्य कामं विधतः**) इसकी इच्छाके अनुसार कार्य करनेवाले पर वह (**न रोषति**) क्रोध नहीं करता ॥२॥

(ऋ. ८।९९।४)

हे सूर्य ! (**बट् महां असि**) तू निश्चयसे बडा है। हे आदित्य ! (**बट् महां असि**) तू निश्चयसे बडा है। (**ते सतः महः महिमा**) तुझ बडेका महिमा महान् (**पनस्यते**) गाया जाता है। हे देव ! (**अद्धा महां असि**) तू निश्चयसे बडा है ॥ ३ ॥ (ऋ. ८।१०१।११; अथर्व. १३।२।२९)

हे सूर्य ! (**श्रवसा बट् महां असि**) यशसे तू बडा है। हे देव (**सत्रा महां असि**) तू सदा महान् है। (**मह्ना**) महत्वसे (**देवानां असुर्यः पुरोहितः**) तू देवोंका शक्तिसे आगे हुआ अग्रेसर है, तेरी (**ज्योतिः**) तेजस्विता (**अदाभ्यं विभु**) न दबनेवाली और व्यापक है ॥ ४ ॥

(ऋ. ८।१०१।१२)

१ जाते जनिमाने प्रतिभागं न ओजसा दधिम— उत्पन्न हुए तथा उत्पन्न होनेवाले प्रत्येक भागको बलसे जैसा धारण करते हैं वैसा हम बलसे सबको धारण करेंगे। बलसे ही सबकी धारणा हो सकती है।

२ अनर्शरातिं वसुदां उप स्तुहि— जिसके दानमें कभी भी कमी नहीं होती वैसा धनदाता इन्द्रकी स्तुति कर।

३ इन्द्रस्य भद्राः रातयः— इन्द्रके दान कल्याण करनेवाले हैं।

४ मनः दानाय चोदयन्— मन दानके लिये प्रेरित कर।

५ अस्य कामं विधतः न रोषति— इस इन्द्रके अनुकूल कार्य करनेवाले पर वह कदापि रोष नहीं करता।

६ महान् असि— तू बडा है।

७ देवानां असुर्यः पुरोहितः, अदाभ्यं विभु ज्योतिः— देवोंका वह बलवान् अग्रेसर है, उसका तेज न दबनेवाला और चारों ओर फैला है।

(सूक्त ५९)

१-२ देखो (अथर्व. २०।१०।१-२) (ऋ. ८।३।१५-१६)

(**अस्य अंशः उत् रिच्यते इत् नु**) इसका धनका भाग बढता ही जाता है ना ! (**जिग्युषः धनं न**) विजयी वीरके धनके समान। (**यः इन्द्रः हरिवान्**) जो इन्द्र घोडोंवाला है, (**तं रिपः न दभन्ति**) शत्रु उसको नहीं

मन्त्रमखर्वं सुधितं सुपेशसं दधात यज्ञियेष्वा ।
पूर्वीश्चन प्रसितयस्तरन्ति तं य इन्द्रे कर्मणा भुवत् ॥ ४ ॥ (३६७)

[सूक्त ६०]

(ऋषिः — १-३ सुकक्षः, सुतकक्षो वा; ४-६ मधुच्छन्दाः । देवता — इन्द्रः ।)

एवा ह्यसि वीरयुरेवा शूरं उत स्थिरः । एवा ते राध्यं मनः ॥ १ ॥
एवा रातिस्तुवीमघ विश्वेभिर्धायि धातृभिः । अधा चिदिन्द्र मे सचा ॥ २ ॥
मो षु ब्रह्मेव तन्द्रयुर्भुवो वाजानां पते । मत्स्वा सुतस्य गोमतः ॥ ३ ॥
एवा ह्यस्य सूनृता विरप्शी गोमती मही । पक्वा शाखा न दाशुषे ॥ ४ ॥
एवा हि ते विभूतय ऊतय इन्द्र मावते । सद्यश्चित्सन्ति दाशुषे ॥ ५ ॥
एवा ह्यस्य काम्या स्तोम उक्थं च शंस्या । इन्द्राय सोमपीतये ॥ ६ ॥ (३७३)

दबा सकते। वह (**सोमिनी दक्षं दधाति**) सोमयाग करनेवालेमें शक्ति रखता है ॥ ३ ॥ (ऋ. ७।३२।१२)

(**अखर्वं सुधितं सुपेशसं मन्त्रं**) उत्तम ऊंचा और सुन्दर रूपवाला मंत्र (**यज्ञियेषु आ दधात**) यज्ञकर्मोंमें प्रयुक्त करो। (**ये इन्द्रे कर्मणा भुवत्**) जो इन्द्रमें कर्मसे आश्रित होते हैं वे (**पूर्वीः प्रसितयः चन तरन्ति**) बहुतसे बन्धनोंको पार करते हैं ॥ ४ ॥ (ऋ. ७।३२।१३)

१ जिग्युषः धनं न अस्य अंशः उद् रिच्यते— विजयी वीरका धन बढता है उस तरह इस इन्द्रका धन बढता ही जाता है। क्योंकि वह इन्द्र सदा विजयी रहता है।

२ तं रिपः न दभन्ति— उसको शत्रु नहीं दबाते क्योंकि वह विशेष शूर है।

३ ये इन्द्रे कर्मणा भुवत् पूर्वीः प्रसितयः तरन्ति— जो इन्द्रमें शुभ कर्मसे आश्रय करते हैं, उनके सब पूर्वके बंधन दूर होते हैं। यह इन्द्रका प्रभाव है।

(सूक्त ६०)

(**एव वीरयुः हि असि**) ऐसा तू वीरके साथ रहनेवाला है। (**शूरः उत स्थिरः एव**) तू शूर और सुदृढ है। (**एवा ते मनः राध्यं**) ऐसा तेरा मन आराधनीय है ॥ १ ॥ (ऋ. ८।९२।२८)

हे (**तुवीमघ**) बडे धनवाले! (**विश्वेभिः धातृभिः**) सब धारण करनेवालोंने (**एवा रातिः धायि**) तेरी देन धारण की है हे इन्द्र! (**अधा मे सचा चित्**) तू अब मेरे साथ रह ॥ २ ॥ (ऋ. ८।९२।२९)

हे (**वाजानां पते**) धनोंके स्वामिन्! (**ब्रह्मा इव**) ब्रह्माके समान (**तन्द्रयुः मा सु भुवः**) आलसी न हो; (**गोमतः सुतस्य मत्स्व**) दूधसे मिले सोमरससे आनन्दित हो ॥ ३ ॥ (ऋ. ८।९२।३०)

(**पक्वा शाखा न**) पक्व फलोंवाली शाखाकी तरह (**दाशुषे**) दानीके लिये (**अस्य सूनृता विरप्शी मही गोमती एव**) इस इन्द्रकी बुद्धि दयालु, महिमाशाली और बडी गौओंवाली होती है ॥ ४ ॥ (ऋ. १।८।८)

हे इन्द्र! (**मावते**) मेरे जैसे (**दाशुषे**) दानीके लिये (**ते विभूतयः ऊतयः**) तेरी विभूतियां और रक्षाएं (**एवा ते सद्यः चित् सन्ति**) निःसंदेह तत्काल प्राप्त होनेवाली हैं ॥ ५ ॥ (ऋ. १।८।९)

(**सोमपीतये इन्द्राय**) सोमपान करनेवाले इन्द्रके लिये (**अस्य काम्या स्तोम उक्थं च शंस्या एव**) इसके प्रिय स्तोत्र और गीत गाने योग्य हैं ॥ ६ ॥ (ऋ. १।८।१०)

१ वीरयुः शूरः उत स्थिर असि- हे इन्द्र! तू वीरोंके साथ रहनेवाला शूर और युद्धमें स्थिर रहकर युद्ध करनेवाला है।

२ एवा ते मनः राध्यं— ऐसा तेरा मन आराधनीय है।

३ हे तुवीमघ! विश्वेभिः धातृभिः एवा रातिः धायि— हे धनवाले इन्द्र! सब उपासकोंने तेरी दानकी धारणा की है। उपासकोंका तेरी दान शक्तिपर विश्वास है।

४ अधा मे सचा चित्— अब मेरा मित्र होकर तू रह।

[सूक्त ६१]

(ऋषिः — १-६ गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ । देवता — इन्द्रः ।)

तं ते मदं गृणीमसि वृषणं पृत्सु सासहिम् । उ लोककृत्नुमद्रिवो हरिश्रियम् ॥ १ ॥
येन ज्योतींष्यायवे मनवे च विवेदिथ । मन्दानो अस्य बर्हिषो वि राजसि ॥ २ ॥
तदद्या चित्त उक्थिनोऽनु ष्टुवन्ति पूर्वथा । वृषपत्नीरपो जया दिवेदिवे ॥ ३ ॥
तम्वभि प्र गायत पुरुहूतं पुरुष्टुतम् । इन्द्रं गीर्भिस्तविषमा विवासत ॥ ४ ॥
यस्य द्विबर्हसो बृहत्सहो दाधार रोदसी । गिरीँरज्राँ अपः स्ववृषत्वना ॥ ५ ॥
स राजसि पुरुष्टुतँ एको वृत्राणि जिघ्नसे । इन्द्र जैत्रा श्रवस्या च यन्तवे ॥ ६ ॥ (३७९)

५ तन्द्रयुः मा भुवः— आलसी न बन । उद्यमी होकर रह ।

६ पक्वा शाखा न, दाशुषे अस्य सूनृता विरप्शी मही गोमती एव— पके फलोंसे युक्त शाखाके समान दाताके लिये इसकी सुबुद्धि बडी लाभदायक और गौवें देनेवाली होती है ।

७ हे इन्द्र ! मावते दाशुषे ते विभूतयः ऊतयः सद्यः चित् सन्ति— हे इन्द्र ! मेरे जैसे दाताके लिये तेरी विभूतियां और तेरे संरक्षण तत्काल प्राप्त होते हैं ।

(सूक्त ६१)

हे (**अद्रिवः**) वज्रधारी ! (**ते तं मदं गृणीमसि**) हम तेरे उस आनन्दकी प्रशंसा करते हैं कि जो (**वृषणं**) बलवान्, (**पृत्सु सासहिं**) युद्धोंमें विजयी, (**लोककृत्नुं**) रहनेके लिये आश्रय देनेवाला और (**हरिश्रियं**) जो सुवर्णकी शोभावाला है ॥ १ ॥ (ऋ. ८।१५।४)

(**येन ज्योतींषि**) जिसने तेज (**आयवे मनवे च विवेदिथ**) आयु और मनुके लिये दिया, वह (**मन्दानो**) तू आनंदित होकर (**अस्य बर्हिषो विराजसि**) इस आसन पर विराजमान हो ॥ २ ॥ (ऋ. ८।१५।५)

(**तद् अद्य**) सो आज (**उक्थिनः पूर्वथा अनु स्तुवन्ति**) हम स्तोत्रपाठक पूर्वकी तरह स्तुति गाते हैं, तू (**दिवे दिवे वृषपत्नीः अपः जय**) प्रतिदिन किसानोंके पालक जलोंको जीत कर प्राप्त कर ॥ ३ ॥ (ऋ. ८।१५।६)

(**तं उ पुरुहूतं पुरुष्टुतं**) उस अनेकों द्वारा बुलाये और अनेकों द्वारा प्रशंसित (**इन्द्रं**) इन्द्रकी (**गीर्भिः तविषं**) स्तोत्रोंसे स्तुति किये हुए की (**आ विवासत**) पूजा करो ॥ ४ ॥ (ऋ. ८।१५।१)

(**यस्य द्विबर्हसः बृहत् सहः**) जिस द्विगुणित बलवाले इन्द्रके बडे सामर्थ्यने (**रोदसी दाधार**) द्युलोक और भूलोकका धारण किया है और (**वृषत्वना**) जिसकी शक्तिने (**गिरीन् अज्रान्**) पर्वतों और मैदानोंको (**अपः स्वः**) जलों और तेजको धारण किया है ॥ ५ ॥ (ऋ. ८।१५।२)

(**स राजसि**) वह तू अकेला शासन करता है । हे (**पुरुष्टुत**) बहुतों द्वारा स्तुति किये गये (**एकः वृत्राणि जिघ्नसे**) तू अकेला वृत्रोंको मारता है । हे इन्द्र ! (**जैत्रा श्रवस्या च यन्तवे**) विजय और यशके लिये ही यह तू करता है ॥ ६ ॥ (ऋ. ८।१५।३)

इस सूक्तमें इन्द्रके ये गुण कहे हैं—

१ अद्रिवः, वृषणं, पृत्सु सासहिं, लोककृत्नुं हरिश्रियं— वज्रधारी, बलवान्, युद्धोंमें विजयी, लोकोंको आश्रयस्थान देनेवाला और सुवर्णकी कान्तिवाला इन्द्र है ।

२ यस्य बृहत् सहः रोदसी दाधार— जिसके बलने द्युलोक और भूलोकका धारण किया है ।

३ वृषत्वना गिरीन् अज्रान् अपः स्वः— जिसके सामर्थ्यने पर्वत, मैदान, जलप्रवाह और ज्योतिका धारण किया है ।

४ स राजसि— वह इन्द्र तू शासन करता है ।

५ पुरुष्टुत ! एकः वृत्राणि जिघ्नसे— हे अनेकों द्वारा प्रशंसित इन्द्र ! तू अकेला ही अनेक वृत्रोंको– अनेक शत्रुओंको मारता है ।

६ जैत्रा श्रवस्या च यन्तवे— विजय और यश प्राप्त करता है ।

[सूक्त ६२]

(ऋषिः — १-४ सोभरिः; ५-७ नृमेधः; ८-१० गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ। देवता — इन्द्रः।)

वयमु त्वामपूर्व्य स्थूरं न कच्चिद्भरन्तोऽवस्यवः। वाजे चित्रं हवामहे ॥ १ ॥
उप त्वा कर्मन्नूतये स नो युवोग्रश्चक्राम यो धृषत्।
त्वामिद्ध्यवितारं ववृमहे सखाय इन्द्र सानसिम् ॥ २ ॥
यो न इदमिदं पुरा प्र वस्य आनिनाय तमु व स्तुषे। सखाय इन्द्रमूतये ॥ ३ ॥
हर्यश्वं सत्पतिं चर्षणीसहं स हि ष्मा यो अमन्दत।
आ तु नः स वयति गव्यमश्व्यं स्तोतृभ्यो मघवा शतम् ॥ ४ ॥
इन्द्राय साम गायत विप्राय बृहते बृहत्। धर्मकृते विपश्चिते पनस्यवे ॥ ५ ॥
त्वमिन्द्राभिभूरसि त्वं सूर्यमरोचयः। विश्वकर्मा विश्वदेवो महाँ असि॥ ६ ॥
विभ्राजं ज्योतिषा स्व१रगच्छो रोचनं दिवः। देवास्त इन्द्र सख्याय येमिरे ॥ ७ ॥
तम्वभि प्र गायत पुरुहूतं पुरुष्टुतम्। इन्द्रं गीर्भिस्तविषमा विवासत ॥ ८ ॥
यस्य द्विबर्हसो बृहत्सहो दाधार रोदसी। गिरीँरज्राँ अपः स्वर्वृषत्वना ॥ ९ ॥
स राजसि पुरुष्टुतँ एको वृत्राणि जिघ्नसे। इन्द्र जैत्रा श्रवस्या च यन्तवे ॥ १० ॥ (३८९)

[सूक्त ६३]

(ऋषिः — १-३ भुवनः साधनो वा, ३ (द्वि०) भरद्वाजः; ४-६ गोतमः; ७-९ पर्वतः। देवता — इन्द्रः।)

इमा नु कं भुवना सीषधामेन्द्रश्च विश्वे च देवाः।
यज्ञं च नस्तन्वं च प्रजां चादित्यैरिन्द्रः सह चीक्लृपाति ॥ १ ॥

(सूक्त ६२)

१-४ देखो अथर्व २०।१४।१-४।

(इन्द्राय साम गायत) इन्द्रके लिये सामगान करो। **(बृहते विप्राय)** बडे ज्ञानी **(धर्मकृते विपश्चिते पनस्यवे)** धर्मका आचरण करनेवाले, ज्ञानी तथा स्तुतिके योग्यके लिये **(बृहत्)** बृहत् नामक साम गाओ ॥ ५ ॥ (ऋ. ८।९८।१)

हे इन्द्र ! **(त्वं अभिभूः असि)** तू विजयी है, **(त्वं सूर्यं अरोचयः)** तूने सूर्यको प्रकाशित किया है, तू **(विश्वकर्मा)** तू सबका बनानेवाला, **(विश्वदेवः महान् असि)** तू इस विश्वका देव और बडा है ॥ ६ ॥ (ऋ. ८।९८।२)

(ज्योतिषा विभ्राजन्) ज्योतिसे चमकते हुए **(दिवः रोचनं स्वः अगच्छः)** द्यौके चमकनेवाले तेजस्वी स्थानको तू पहुंचा है। हे इन्द्र ! **(देवाः ते सख्याय येमिरे)** देव तेरी मित्रताके लिये यत्न करते हैं ॥ ७ ॥ (ऋ. ८।९८।३)

८-१० देखो अथर्व २०.९२।४-६।

इन्द्रके ये गुण हैं—

१ धर्मकृते, विपश्चिते पनस्यवे विप्राय— धर्मका आचरण करनेवाला, ज्ञानी, स्तुत्य, विद्वान्।

२ अभिभूः विश्वकर्मा, विश्वदेवः महान् असि— तू विजयी विश्वका निर्माण करनेवाला, विश्वका उपास्य देव और बडा इन्द्र है।

३ देवाः ते सख्याय येमिरे— सब तेरी मित्रता करना चाहते हैं।

(सूक्त ६३)

(इन्द्रः विश्वे च देवाः) इन्द्र और सब देव तथा हम **(इमा भुवना कं सीषधाम)** इन भुवनोंको आनंदयुक्त बनाकर वशमें करें। **(इन्द्रः आदित्यैः सह)** इन्द्र आदित्योंके साथ **(यज्ञं)** यज्ञको **(नः तन्वं)** हमारे शरीरको

आदित्यैरिन्द्रः सगणो मरुद्भिरस्माकं भूत्वविता तनूनाम् ।
हत्वाय देवा असुरान्यदायन्देवा देवत्वमभिरक्षमाणाः ॥ २ ॥
प्रत्यञ्चमर्कमनयं छचीभिरादित्स्वधामिषिरां पर्यपश्यन् ।
अया वाजं देवहितं सनेम मदेम शतहिमाः सुवीराः ॥ ३ ॥
य एक इद्विदयते वसु मर्ताय दाशुषे । ईशानो अप्रतिष्कुत इन्द्रो अङ्ग ॥ ४ ॥
कदा मर्तमराधसं पदा क्षुम्पमिव स्फुरत् । कदा नः शुश्रवद्गिर इन्द्रो अङ्ग ॥ ५ ॥
यश्चिद्धि त्वा बहुभ्य आ सुतावाँ आविवासति । उग्रं तत्पत्यते शव इन्द्रो अङ्ग ॥ ६ ॥
य इन्द्र सोमपातमो मदः शविष्ठ चेतति । येना हंसि न्यत्रिणं तमीमहे ॥ ७ ॥
येना दशग्वमध्रिगुं वेपयन्तं स्वर्णरम् । येना समुद्रमाविथा तमीमहे ॥ ८ ॥
येन सिन्धुं महीरपो रथाँ इव प्रचोदयः । पन्थामृतस्य यातवे तमीमहे ॥ ९ ॥ (३३१)

(**प्रजां च**) और प्रजाको (**चीक्लृपाति**) समर्थ बनावे ॥ १ ॥ (ऋ. १०।१५७।१)

(**आदित्यैः**) आदित्योंके साथ (**मरुद्भिः सगणः इन्द्रः**) मरुतोंके गणोंके साथ इन्द्र (**अस्माकं तनूनां अविता भूतु**) हमारे शरीरोंका रक्षक होवे। (**देवा असुरान् हत्वाय**) देवोंने असुरोंको मारकर (**यदा आयन्**) जब आये, तब (**देवत्वं अभिरक्षमाणाः देवाः**) देवोंने अपने देवत्वकी रक्षा की ॥ २ ॥ (ऋ. १०।१५७।२)

(**शचीभिः प्रत्यञ्चं अर्कं अनयन्**) अपनी शक्तियोंके साथ वे सूर्यको इधर लाये, (**आत् इत् इषिरां स्वधां पर्यपश्यन्**) इसके पश्चात् प्रिय स्वधाको उन्होंने देखा। (**अया देवहितं वाजं सनेम**) इससे देवोंसे रखे हुए बलको उन्होंने प्राप्त किया (**सुवीराः शतहिमाः मदेम**) अच्छे पुत्रपौत्रोंके साथ सौ वर्ष आनंदसे रहें ॥ ३ ॥

(ऋ. १०।१५७।३)

(**दाशुषे मर्ताय**) दानी मनुष्यके लिये (**यः एकः इत्**) जो अकेला ही (**वसु विदयते**) धन देता है (**अप्रतिष्कुतः ईशानः इन्द्रः अंग**) हे प्रिय ! वही किसीसे पराजित न होनेवाला ईश्वर इन्द्र ही है ॥ ४ ॥

(ऋ. १।८४।७)

हे (**अंग**) प्रिय ! (**कदा अराधसं मर्तं**) कब दान न देनेवाले मनुष्यको (**पदा क्षुम्पं इव स्फुरत्**) पांवसे खुंबकी तरह वह दबा देगा ? (**इन्द्रः कदा नः गिरः शुश्रवत्**) इन्द्र कब हमारी स्तुतियां सुनेगा ? ॥ ५ ॥

(ऋ. १।८४।८)

(**यः चित् हि**) जो कोई (**बहुभ्यः**) बहुतोंमेंसे (**सुतावान् त्वा आ आविवासति**) एक सोमयागसे तेरी सेवा करता है, (**तत् उग्रं शवः इन्द्रः पत्यते**) तब उग्र बलका स्वामी यह इन्द्र होता है हे (**अंग**) प्रिय ! ॥ ६ ॥

(ऋ. १।८४।९)

हे इन्द्र ! (**यः सोमपातमः शविष्ठः मदः चेतति**) जो तेरा सोमपान करनेसे बलशाली आनन्द प्रकट होता है, (**येन अत्रिणं नि हंसि**) जिससे तू खानेवाले शत्रुको मारता है, (**तं ईमहे**) उस सामर्थ्यकी हम मांग करते हैं ॥ ७ ॥

(ऋ. ८।१२।१)

(**येन दशग्वं अध्रिगुं**) जिससे दशग्व, अध्रिगुको (**वेपयन्तं स्वः नरं**) शत्रुको कंपाने प्रकाशके नेता वीरकी तथा (**येन समुद्रं आविथ**) जिससे समुद्रकी सुरक्षा की (**तं ईमहे**) वह सामर्थ्य हम मांगते हैं ॥ ८ ॥

(ऋ. ८।१२।२)

(**येन सिन्धुं महीः अपः**) जिससे सिन्धु तथा जलप्रवाहोंको (**रथान् इव**) रथोंके समान (**ऋतस्य पन्थां यातवे**) सत्यके मार्गपर जानेके लिये (**प्रचोदयः**) प्रेरित किया (**तं ईमहे**) उस शक्तिकी मांग हम करते हैं ॥ ९ ॥

(ऋ. ८।१२।३)

१ **इन्द्रः नः यज्ञं तन्वं प्रजां च चीक्लृपाति**— इन्द्र हमारे यज्ञको, हमारे शरीरोंको और प्रजाको समर्थ बनाता है।

२ **इन्द्रः अस्माकं तनूनां अविता भूतु**— इन्द्र हमारे शरीरोंका संरक्षक बने ।

३ **असुरान् हत्वाय देवत्वं अभिरक्षमाणा देवा**

[सूक्त ६४]

(ऋषिः — १-३ नृमेधः; ४-६ विश्वमनाः। देवता — इन्द्रः।)

एन्द्रं नो गधि प्रियः सत्राजिदगोह्यः । गिरिर्न विश्वतस्पृथुः पतिर्दिवः ॥ १ ॥
अभि हि सत्य सोमपा उभे बभूथ रोदसी । इन्द्रासि सुन्वतो वृधः पतिर्दिवः ॥ २ ॥
त्वं हि शश्वतीनामिन्द्र दर्ता पुरामसि । हन्ता दस्योर्मनोर्वृधः पतिर्दिवः ॥ ३ ॥
एदु मध्वो मदिन्तरं सिञ्च वाध्वर्यो अन्धसः । एवा हि वीर स्तवते सदावृधः ॥ ४ ॥
इन्द्र स्थातर्हरीणां नकिष्टे पूर्व्यस्तुतिम् । उदानंश शवसा न भन्दना ॥ ५ ॥
तं वो वाजानां पतिमहूमहि श्रवस्यवः । अप्रायुभिर्यज्ञेभिर्वावृधेन्यम् ॥ ६ ॥ (४०४)

यदा आयन्— असुरोंको मार कर देवत्वकी रक्षा करनेवाले देव जब आ गये।

४ अया देवहितं वाजं सनेम— इससे देवत्वरक्षक बल प्राप्त करेंगे।

५ सुवीराः शतहिमा मदेम— उत्तम बालबच्चोंके साथ सौ वर्ष आनंदसे हम रहेंगे।

६ दाशुषे मर्ताय य एकः वसु विदयते— दाता मानवके लिये वह अकेला ही इन्द्र धन देता है।

७ अप्रतिष्कुतः ईशानः इन्द्रः— वह किसीसे पराजित न होनेवाला इन्द्र है।

८ कदा अराधसं मर्तं पदा स्फुरत्— कब दान न देनेवाले मानवको पांवसे वह दबाता है?

९ इन्द्रः कदा नः गिरः शुश्रुवत्— इन्द्र कब हमारी प्रार्थना सुनेगा?

१० इन्द्रः उग्रं शवः पत्यते— इन्द्र उग्र बल प्राप्त करता है।

११ यः शविष्ठः मदः चेतति, येन अत्रिणं निहंसि, तं ईमहे— जो सामर्थ्यवान् आनंद प्रकट करता है, जिससे खानेवाले शत्रुको वह मारता है वह बल हम मांग रहे हैं।

१२ येन आविथ तं ईमहे— जिससे सुरक्षा करता है वह बल हम प्राप्त करना चाहते हैं।

१३ येन ऋतस्य पन्थां यातवे प्रचोदयः तं ईमहे— जिससे सत्य मार्ग पर जानेकी प्रेरणा वह लोगोंको देता है वह बल हम मांगते हैं।

(सूक्त ६४)

हे इन्द्र! (**आ गहि**) हमारे पास आ। तू (**प्रियः**) हमें प्रिय है (**सत्रा जित्**) तू सदा जीतनेवाला, (**अगोह्यः**) छिपकर न रहनेवाला, (**गिरिः न विश्वतः पृथुः**) पर्वतके समान चारों ओरसे पुष्ट (**दिवः पतिः**) द्युलोकका पति है ॥ १ ॥ (ऋ. ८।९८।४)

हे (**सत्य सोमपा**) सच्चे सोमके पीनेवाले इन्द्र! (**उभे रोदसी अभि बभूथ हि**) तुम दोनों द्यु और भू लोकोंको पराजित करता है। हे इन्द्र! तू (**दिवः पतिः**) द्युलोकका पति और (**सुन्वतः वृधः**) सोमयाग करनेवालेको बढानेवाला है ॥ २ ॥ (ऋ. ८।९८।५)

हे इन्द्र! (**त्वं शश्वतीनां पुरां दर्ता असि हि**) तू शत्रुके सारे किलोंको तोडनेवाला है, (**दस्योः हन्ता**) शत्रुओंको मारनेवाला, (**मनोः वृधः**) मनुष्यको बढानेवाला और (**दिवः पतिः**) द्युलोकका पालक है ॥३॥ (ऋ. ८।९८।६)

हे (**अध्वर्यो**) अध्वर्यु! (**अन्धसः मध्व मदिन्तरं आ सिञ्च इत् उ**) मधुर सोमरसके अधिक मीठे भागको इसमें डाल। (**सदावृधः वीरः एवा हि स्तवते**) सदा सहायक होनेवाला वीर इन्द्र इसी तरह प्रशंसित होता है ॥ ४ ॥ (ऋ. ८।२४।१६)

हे (**हरीणां स्थातः इन्द्र**) हे घोडोंके स्वामी इन्द्र! (**ते पूर्व्यस्तुतिं**) तेरी पुरानी स्तुतिको (**न किः शवसा उदानश**) बलसे कोई नहीं पा सकता, (**न भन्दना**) न भलाईसे पा सकता है ॥ ५ ॥ (ऋ. ८।२४।१७)

(**श्रवस्यवः**) यश चाहनेवाले हम (**अप्रायुभिः यज्ञेभिः वावृधेन्यं**) सतत चलनेवाले यज्ञोंसे बढनेवाले (**न वाजानां पतिं**) उस बलोंके स्वामी इन्द्रको (**अहूमहि**) बुलाते हैं ॥ ६ ॥ (ऋ. ८।२४।१८)

[सूक्त ६५]

(ऋषिः — १-३ विश्वमनाः। देवता — इन्द्रः।)

एतो न्विन्द्रं स्तवाम सखायः स्तोम्यं नरम्। कृष्टीर्यो विश्वा अभ्यस्त्येक इत् ॥ १ ॥
अगोरुधाय गविषे द्युक्षाय दस्म्यं वचः। घृतात्स्वादीयो मधुनश्च वोचत ॥ २ ॥
यस्यामितानि वीर्या न राधः पर्येतवे। ज्योतिर्न विश्वमभ्यस्ति दक्षिणा ॥ ३ ॥ (४०७)

[सूक्त ६६]

(ऋषिः — १-३ विश्वमनाः। देवता — इन्द्रः।)

स्तुहीन्द्रं व्यश्ववदनूर्मिं वाजिनं यमम्। अर्यो गयं मंहमानं वि दाशुषे ॥ १ ॥

इन्द्रके ये गुण इस सूक्तमें कहे हैं —

१ प्रियः सत्राजित् अगोह्यः विश्वतः पृथुः दिवः पतिः— इन्द्र सबको प्रिय, सर्वदा विजयी, छिपकर न रहनेवाला, चारों ओरसे पुष्ट द्युलोकका स्वामी है। 'अ-गोह्यः' किसी तरह छिपकर न रहनेवाला, सदा प्रकट होनेवाला इन्द्र है।

२ शश्वतीनां पुरां दर्ता त्वं असि— शाश्वत नगरियोंको शत्रुके किलोंको तोडनेवाला है।

३ दस्योः हन्ता— शत्रुको मारनेवाला,

४ मनोवृधः— मननशील मानवोंका संवर्धन करनेवाला है।

५ सदावृधः वीरः एव स्तवते— जो सदा बढनेवाला वीर है उसकी ही प्रशंसा होती है।

६ हरीणां स्थाता इन्द्रः— घोडोंका रक्षक इन्द्र है। घोडोंकी पालना करनेकी विद्या वह जानता है।

७ ते पूर्व्यस्तुतिं न किः शवसा उदानश, न भन्दना— तेरे जैसी स्तुतिकी कोई बलसे नहीं प्राप्त कर सकता न सुखसे प्राप्त कर सकता है। तेरी जैसी प्रशंसा प्राप्त करना किसीको भी अशक्य है।

८ श्रवस्यवः वाजानां पतिं तं अहूमहि— यश चाहनेवाले हम सब बलोंके स्वामी इन्द्रको ही अपनी सुरक्षाके लिये बुलाते हैं।

(सूक्त ६५)

हे (सखायः) हे मित्रो! (आ इत नु) आओ। (स्तोम्यं नरं स्तवाम) स्तुतिके योग्य वीर इन्द्रकी स्तुति करें। (यः एकः इत्) जो अकेला ही (विश्वाः कृष्टीः अभ्यस्ति) सब मनुष्योंपर विराजता है ॥ १ ॥
(ऋ. ८।२४।१९)

(अ-गो-रुधाय) जो कभी गौओंको रोकता नहीं, और (गविषे) गौओंको ढूंढ निकालनेवाला है (द्युक्षाय) उस द्युलोकमें रहनेवालेके लिये (घृतात् मधुनः च स्वादीयः) घी और शहदसे अधिक स्वादु (दस्म्यं वचः वोचत) सुन्दर स्तुतिके वचन कहो ॥ २ ॥ (ऋ. ८।२४।२०)

(अस्य अमितानि वीर्या) जिसके अपरिमित पराक्रम हैं, (यस्य राधः न पर्येतवे) जिसके धन दान घेरे नहीं जाते, जिसकी (दक्षिणा ज्योतिः न) दाक्षिण ज्योतिके समान (विश्वं अभ्यस्ति) सबके ऊपर ज्योति है ॥ ३ ॥
(ऋ. ८।२४।२१)

१ हे सखायः! स्तोम्य नरं स्तवामः— हे मित्रो! आओ, प्रशंसनीय वीरकी ही प्रशंसा हम गाते हैं, तुम सब इसमें शामिल हो जाओ।

२ यः एक इत् विश्वाः कृष्टीः अभ्यस्ति— जो अकेला ही सब मानवोंके ऊपर रहता है।

३ अ-गो-रुधाय गविषे द्युक्षाय— जो गौओंको रोकता नहीं, परंतु गौवोंको खोजकर शत्रुओंसे लाता है। जो द्युलोकमें रहता है।

४ दस्म्यं वचः वोचत— उसकी स्तुति सुंदर वाणीसे करो।

५ अस्य अमितानि वीर्या— इस इन्द्रके पराक्रम अपरिमित हैं।

६ यस्य राधः न पर्येतवे — जिसके धन घेरे नहीं जाते, इतने वे अपरिमित हैं।

७ दक्षिणा ज्योतिः न विश्वं अभ्यस्यति-- दक्षिण ज्योतिके समान उसका तेज सर्वत्र फैलता है।

(सूक्त ६६)

(व्यश्ववत्) व्यश्वकी तरह (अनूर्मिं वाजिनं यमं) पीडा रहित, बलवान् और नियन्ता (इन्द्रं स्तुहि) इन्द्रकी स्तुति कर, जो (दाशुषे) दाताको (अर्यः) शत्रुका (मंहमानं गयं) बडा घर (वि) देता है ॥ १ ॥
(ऋ. ८।२४।२२)

एवा नूनमुप स्तुहि वैयश्व दशमं नवम् । सुविद्वांसं चर्कृत्यं चरणीनाम् ॥ २ ॥
वेत्था हि निर्ऋतीनां वज्रहस्त परिवृजम् । अहरहः शुन्ध्युः परिपदामिव ॥ ३ ॥ (४१०)

॥ इति पञ्चमोऽनुवाकः ॥५॥

[सूक्त ६७]

(ऋषिः — १-३ परुच्छेपः, ४-७ गृत्समदः । देवता — १ इन्द्रः, २ मरुत्, ३ अग्निः ।)

वनोति हि सुन्वन्क्षयं परीणसः सुन्वानो हि ष्मा यजत्यव द्विषो देवानामव द्विषः ।
सुन्वान इत्सिषासति सहस्रा वाज्यवृतः ।
सुन्वानायेन्द्रो ददात्याभुवं रयिं ददात्याभुवम् ॥ १ ॥
मो षु वो अस्मदभि तानि पौंस्या सना भूवन्द्युम्नानि मोत जारिषुरस्मत्पुरोत जारिषुः ।
यद्वश्चित्रं युगेयुगे नव्यं घोषादमर्त्यम् ।
अस्मासु तन्मरुतो यच्च दुष्टरं दिधृता यच्च दुष्टरम् ॥ २ ॥

हे (**वैयश्व**) व्यश्वके पुत्र ! (**नवं दशमं**) जो नववां या दसवां है तथा जो (**सुविद्वांसं चरणीनां चर्कृत्यं**) उत्तम विद्वान् है और प्रयत्नशील मानवोंके स्तुतिके योग्य है (**एवा नूनं उप स्तुहि**) इसकी निश्चयसे स्तुति कर ॥ २ ॥ (ऋ. ८।२४।२३)

हे (**वज्रहस्त**) वज्र हाथमें लेनेवाले इन्द्र ! तू (**निर्ऋतीनां परिवृजं वेत्थ हि**) आपत्तियोंका परिमार्जन करनेके उपायको जानता ही है, (**परिपदां अहः अहः शुन्ध्युः इव**) पांवको लगे मलको जिस तरह प्रतिदिन शुद्ध करते हैं ॥ ३ ॥ (८।२४।२४)

१ अनूर्मिं वाजिनं यमं इन्द्रं स्तुहि— जिसमें लहरियोंके समान क्षोभ नहीं, जो बलवान् और नियामक है, उस इन्द्रकी स्तुति कर। '**अन्-ऊर्मिः**'- जिसमें लहरियां नहीं, जो क्षुब्ध नहीं होता, जो शान्त रहता है।

२ दाशुषे मंहमानं अर्यः गयं वि— जो दाताके लिये शत्रुका बडा घर देता है। '**अर्यः**'- अरि = शत्रु। **अर्यः**- शत्रुका।

३ नवं दशमं सुविद्वांसं चरणीनां चर्कृत्यं उप स्तुहि— नवम या दशम दशक (९० वें या १०० वें वर्ष) में विद्यमान उत्तम विद्वान् और कार्यकर्ताओंमें उत्तम प्रयत्नशील जो है उसकी स्तुति कर।

४ हे वज्रहस्त ! निर्ऋतीनां परिवृजं वेत्थ— हे वज्रधारी ! तू आपत्तियोंको दूर करनेका उपाय जानते हो।

५ परिपदां अहः अहः शुन्ध्युः— पांवपर मल लगा तो जैसा प्रतिदिन शुद्ध करते हैं वैसे प्रतिदिन प्रयत्न करनेवाले विपत्को दूर कर सकते हैं।

॥ यहां पञ्चम अनुवाक समाप्त ॥

(सूक्त ६७)

(**सुन्वन् हि परीणसः क्षयं वनोति**) सोमयाग करनेवाला धन युक्त घरको प्राप्त करता है। (**सुन्वानः हि**) सोमयाग करनेवाला ही (**द्विषः अव यजति स्म**) शत्रुओंको दूर करता है, (**देवानां द्विषः अव**) देवोंके शत्रुओंको दूर करता है। (**सुन्वानः अवृतः वाजी**) सोमयाग करनेवाला शत्रुसे घेरा न जाता हुआ बलवान् बनकर (**सहस्रा सिषासति इत्**) सहस्रों प्रकारके धनोंको जीतना चाहता है। (**इन्द्रः सुन्वानाय आभुवं रयिं ददाति**) इन्द्र सोमयाग करनेवालेको बहुत धन देता है, (**आभुवं ददाति**) पर्याप्त धन देता है ॥ १ ॥ (ऋ. १।१३३।७)

(**अस्मत् अभि**) हमारे सामने (**वः तानि पौंस्या**) आपके ये पौरुष कर्म (**सना मा उ सु भुवन्**) पुराने न हों, (**उत द्युम्नानि मा जारिषुः**) और तुम्हारे तेज जीर्ण न हों। (**अस्मत् पुरः उत जारिषुः**) हमारे सामने जीर्ण न हों। (**यत् वः चित्रं युगे युगे नव्यं**) जो आपका आश्चर्यकारक कर्म युगयुगमें नया होता रहता है, (**अमर्त्यं घोषात्**) वह तुम्हारे देवत्वकी घोषणा करे। हे मरुतो ! (**यत्**

अग्निं होतारं मन्ये दास्वन्तं वसुं सूनुं सहसो जातवेदसं विप्रं न जातवेदसम् ।
य ऊर्ध्वया स्वध्वरो देवो देवाच्या कृपा ।
घृतस्य विभ्राष्टिमनु वष्टि शोचिषाजुह्वानस्य सर्पिषः ॥ ३ ॥
यज्ञैः संमिश्लाः पृषतीभिर्ऋष्टिभिर्यामं छुभ्रासो अञ्जिषु प्रिया उत ।
आसद्या बर्हिर्भरतस्य सूनवः पोत्रादा सोमं पिबता दिवो नरः ॥ ४ ॥
आ वक्षि देवाँ इह विप्र यक्षि चोशन्होतर्नि षदा योनिषु त्रिषु ।
प्रति वीहि प्रस्थितं सोम्यं मधु पिबाग्नीध्रात्तव भागस्य तृष्णुहि ॥ ५ ॥
एष स्य ते तन्वो नृम्णवर्धनः सह ओजः प्रदिवि बाह्वोर्हितः ।
तुभ्यं सुतो मघवन्तुभ्यमाभृतस्त्वमस्य ब्राह्मणादा तृपत्पिब ॥ ६ ॥
यमु पूर्वमहुवे तमिदं हुवे सेदु हव्यो ददिर्यो नाम पत्यते ।
अध्वर्युभिः प्रस्थितं सोम्यं मधु पोत्रात्सोमं द्रविणोदः पिब ऋतुभिः ॥ ७ ॥ (४१७)

च दुष्टरं अस्मासु दिधृत) जो दुस्तर कर्म है वह हममें स्थापित करो, (यत् च दुष्टरं) जो दुष्प्राप्य है वह हममें रखो ॥ २ ॥ (ऋ. ११३६११८)

(अग्निं होतारं मन्ये) अग्निको मैं होता मानता हूं। (दास्वन्तं वसुं सहसः सूनुं) वह दान देनेवाला, धनवान्, बलका पुत्र (जातवेदसं) उत्पन्न हुएको जाननेवाला, (जातवेदसं विप्रं न) ज्ञानी विशेष प्राज्ञ जैसा वह है। (यः ऊर्ध्वया देवाच्या कृपा स्वध्वरः देवः) जो ऊंचे दैवी सामर्थ्यसे युक्त उत्तम यज्ञ करनेवाला देव है। (आ जुह्वानस्य सर्पिषः शोचिषा) हवन किये गये घीके तेजसे (घृतस्य विभ्राष्टिं अनु वष्टि) घीकी तेजस्विताको प्राप्त करता है ॥ ३ ॥ (ऋ. ११२७११)

(यज्ञैः संमिश्लाः) यज्ञोंमें लगे हुए (पृषतीभिः ऋष्टिभिः यामन्) चित्तकबरी घोडियोंपर बर्छियोंके साथ बैठकर आनेवाले (अञ्जिषु शुभ्रासः) आभूषणोंमें शोभनेवाले (उत प्रियाः) और प्यारे मित्र (भरतस्य सूनवः) भरतके पुत्रो ! हे (दिवः नरः) दिव्य नेताओ ! (बर्हिः आसद्य) आसनपर बैठकर (पोत्रात् सोमं आ पिबत) पोताके पात्रसे सोमरसको पीओ ॥ ४ ॥ (ऋ. २।३६।२)

(देवान् इह आ वक्षि) देवोंको यहां ले आओ। हे (विप्र) ज्ञानी ! (यक्षि च) उनका यजन कर। हे (होतः) होता ! (त्रिषु योनिषु आ निषद) तीनों स्थानोंमें बैठ। (प्रस्थितं सोम्यं मधु प्रति वीहि) तैयार किये गये मीठे सोमका स्वीकार कर। (आग्नीध्रात् पिब) अग्नीध्रके पात्रसे सोम पी और (तव भागस्य तृष्णुहि) अपने भागसे तृप्त हो ॥ ५ ॥ (ऋ. २।३६।४)

(एषः स्यः) यह वह (ते तन्वः नृम्णवर्धनः) तेरे शरीरका पौरुष बढानेवाला है, (सहः ओजः प्रदिवि बाह्वोः हितः) बल और सामर्थ्य सदा तेरी बाहुओंमें रखा है। हे (मघवन्) धनवान् इन्द्र ! (तुभ्यं सुतः) यह सोमरस तेरे लिये निकाला है, (तुभ्यं आभृतः) तुम्हारे लिये भरकर रखा है। (अस्य ब्राह्मणात्) इस ब्रह्माके पात्रसे (त्वं आ तृपत् पिब) तू तृप्ती होनेतक पी ॥ ६ ॥ (ऋ. २।३६।५)

(यं उ पूर्वं हुवे) जिसको मैंने पहिले बुलाया था, (तं इदं हुवे) उसको इस समय मैं बुलाता हूं। (स इत् उ हव्यः) वही बुलाने योग्य है, (ददिः) वह दाता है, (यः नाम पत्यते) वह प्रसिद्ध रीतिसे शासन करता है। (अध्वर्युभिः सोम्यं मधु प्रस्थितं) अध्वर्युओंसे यह मधुर सोम रस तैयार किया गया है। हे (द्रविणोदः) धनके दाता ! (ऋतुभिः पोत्रात् सोमं पिब) ऋतुओंके साथ पोताके पात्रसे सोम पी ॥ ७ ॥ (ऋ. २।३७।२)

[सूक्त ६८]

(ऋषिः — १-१२ मधुच्छन्दाः । देवता — इन्द्रः ।)

सुरूपकृत्नुमूतये सुदुघामिव गोदुहे । जुहूमसि द्यविद्यवि ॥ १ ॥
उप नः सवना गहि सोमस्य सोमपाः पिब । गोदा इद्रेवतो मदः ॥ २ ॥
अथा ते अन्तमानां विद्याम सुमतीनाम् । मा नो अति ख्य आ गहि ॥ ३ ॥
परेहि विग्रमस्तृतमिन्द्रं पृच्छा विपश्चितम् । यस्ते सखिभ्य आ वरम् ॥ ४ ॥
उत ब्रुवन्तु नो निदो निरन्यतश्चिदारत । दधाना इन्द्र इद्दुवः ॥ ५ ॥
उत नः सुभगाँ अरिर्वोचेयुर्दस्म कृष्टयः । स्यामेदिन्द्रस्य शर्मणि ॥ ६ ॥
एमाशुमाशवे भर यज्ञश्रियं नृमादनम् । पतयन्मन्दयत्सखम् ॥ ७ ॥
अस्य पीत्वा शतक्रतो घनो वृत्राणामभवः । प्रावो वाजेषु वाजिनम् ॥ ८ ॥
तं त्वा वाजेषु वाजिनं वाजयामः शतक्रतो । धनानामिन्द्र सातये ॥ ९ ॥
यो रायो३वनिर्महान्त्सुपारः सुन्वतः सखा । तस्मा इन्द्राय गायत ॥ १० ॥
आ त्वेता नि षीदतेन्द्रमभि प्र गायत । सखाय स्तोमवाहसः ॥ ११ ॥
पुरूतमं पुरूणामीशानं वार्याणाम् । इन्द्रं सोमे सचा सुते ॥ १२ ॥ (४१९)

(सूक्त ६८)

१-३ देखो अथर्व. २०।५७।१-३ ।

(**विप्रं अस्तृतं परा इहि**) ज्ञानी अपराजितके पास जा । (**विपश्चितं इन्द्रं पृच्छ**) ज्ञानी इन्द्रसे पूछ । (**ते सखिभ्यः वरं आ**) जो तेरे मित्रोंमें श्रेष्ठ है ॥ ४ ॥ (ऋ. १।४।४)

(**नः निदः उत ब्रुवन्तु**) हमारे निंदक बोलें कि (**अन्यतः चित् निः आरत**) वहांसे निकल जाओ (**इन्द्रे इत् दुवः दधानाः**) क्योंकि तुम इन्द्रमें भक्ति रखते हो ॥ ५ ॥ (ऋ. १।४।५)

हे (**दस्म**) दर्शनीय ! (**कृष्टयः**) मनुष्य तथा (**अरिः**) शत्रु भी (**उत नः सुभगां वोचेयुः**) हमें सौभाग्यवाले कहें, तथापि (**इन्द्रस्य शर्मणि इत् स्याम**) हम इन्द्रके ही आश्रयमें रहेंगे ॥ ६ ॥ (ऋ. १।४।६)

(**यज्ञश्रियं**) यज्ञकी शोभा बढानेवाले, (**नृमादनं**) वीरोंको आनंदित करनेवाले, (**पतयत् मन्दयत्सखं**) गति करानेवाले और मित्रोंका आनंद बढानेवाले (**ईं आशुं**) इस तेजस्वी सोमको (**आशवे भर**) तेजस्वी इन्द्रके लिये भर दे ॥ ७ ॥ (ऋ. १।४।७)

हे (**शतक्रतो**) सैंकडों कर्म करनेवाले इन्द्र ! (**अस्य पीत्वा**) इस सोमको पीकर (**वृत्राणां घनः अभवः**) वृत्रोंको तू मारनेवाला हुआ है अब (**वाजेषु वाजिनं प्रावः**) संग्रामोंमें योद्धाकी रक्षा कर ॥ ८ ॥ (ऋ. १।४।८)

हे (**शतक्रतो**) सैंकडों कर्म करनेवाले इन्द्र ! (**तं त्वा वाजेषु वाजिनं वाजयामः**) उस तुझको संग्रामोंमें बलवान बनाते हैं । हे इन्द्र ! (**धनानां सातये**) धनोंके दानके लिये यह हम करते हैं ॥ ९ ॥ (ऋ. १।४।९)

(**यः रायः महान् अवनिः**) जो धनोंका बडा रक्षक है, (**सुन्वतः सुपारः सखा**) सोमयाजीका दुःखसे पार करनेवाला मित्र है (**तस्मै इन्द्राय गायत**) उस इन्द्रके लिये मंत्रोंका गान करो ॥ १० ॥ (ऋ. १।४।१०)

हे (**स्तोमवाहसः सखायः**) स्तोत्रोंके गानेवाले मित्रो ! (**आ तु एत**) आओ, (**नि षीदत**) बैठो, (**इन्द्रं अभि प्र गायत**) इन्द्रका गायन करो ॥ ११ ॥ (ऋ. १।५।१)

(**पुरूणां पुरूतमं**) धनीयोंमें धनी, (**वार्याणां ईशानं**) स्वीकार करने योग्य वस्तुओंके स्वामी (**इन्द्रं**) इन्द्रके स्तोत्र (**सोमे सचा सुते**) सोमरस तैयार होनेपर गाते रहो ॥ १२ ॥

[सूक्त ६९]

(ऋषिः — १-१२ मधुच्छन्दाः । देवता — इन्द्रः ।)

स घा नो योग आ भुवत्स राये स पुरंध्याम् । गमद्वाजेभिरा स नः ॥ १ ॥
यस्य संस्थे न वृण्वते हरी समत्सु शत्रवः । तस्मा इन्द्राय गायत ॥ २ ॥
सुतपाव्ने सुता इमे शुचयो यन्ति वीतये । सोमासो दध्याशिरः ॥ ३ ॥
त्वं सुतस्य पीतये सद्यो वृद्धो अजायथाः । इन्द्र ज्यैष्ठ्याय सुक्रतो ॥ ४ ॥
आ त्वा विशन्त्वाशवः सोमास इन्द्र गिर्वणः । शं ते सन्तु प्रचेतसे ॥ ५ ॥
त्वां स्तोमा अवीवृधन्त्वामुक्था शतक्रतो । त्वां वर्धन्तु नो गिरः ॥ ६ ॥
अक्षितोतिः सनेदिमं वाजमिन्द्रः सहस्रिणम् । यस्मिन्विश्वानि पौंस्या ॥ ७ ॥
मा नो मर्ता अभि द्रुहन्तनूनामिन्द्र गिर्वणः । ईशानो यवया वधम् ॥ ८ ॥
युञ्जन्ति ब्रध्नमरुषं चरन्तं परि तस्थुषः । रोचन्ते रोचना दिवि ॥ ९ ॥
युञ्जन्त्यस्य काम्या हरी विपक्षसा रथे । शोणा धृष्णू नृवाहसा ॥ १० ॥
केतुं कृण्वन्नकेतवे पेशो मर्या अपेशसे । समुषद्भिरजायथाः ॥ ११ ॥
आदह स्वधामनु पुनर्गर्भत्वमेरिरे । दधाना नाम यज्ञियम् ॥ १२ ॥ (४४१)

(सूक्त ६९)

(**सः घ नः योगे आ भुवत्**) वह हमारे उद्योगमें साथ रहे (**सः राये**) वह धनमें, तथा (**स पुरन्ध्यां**) वह बडी महत्वाकांक्षाओंमें हमारे साथ रहे (**सः वाजेभिः नः आ गमत्**) वह शक्तियोंके साथ हमारे पास आ जावे ॥ १ ॥ (ऋ. १।५।३)

(**शत्रवः**) शत्रु (**समत्सु**) युद्धोंमें (**यस्य संस्थे हरी न वृण्वते**) जिसके जोते घोडोंको नहीं रोक सकते, (**तस्मै इन्द्राय गायत**) उस इन्द्रके गीत गाओ ॥ २ ॥ (ऋ. १।५।४)

(**इमे दध्याशिरः शुचयः सोमासः सुताः**) ये दही मिलाये शुद्ध चमकते हुए सोमरस (**सुतपाव्ने वीतये यन्ति**) सोम पीनेवाले इन्द्रके भोगके लिये जाते हैं ॥ ३ ॥ (ऋ. १।५।५)

हे (**सुक्रतो इन्द्र**) उत्तम कर्म करनेवाले इन्द्र ! (**ज्यैष्ठ्याय**) श्रेष्ठ होनेके लिये और (**सुतस्य पीतये**) सोमरस पीनेके लिये (**सद्यः वृद्धः अजायथाः**) तत्काल बडा हो गया है ॥ ४ ॥ (ऋ. १।५।६)

हे (**गिर्वणः इन्द्र**) स्तुतिके योग्य इन्द्र ! (**आशवः सोमासः त्वा विशन्तु**) तीखे सोम तेरे अन्दर प्रवेश करें । (**ते प्रचेतसे शं सन्तु**) तुझ प्रज्ञावानके लिये ये कल्याण करनेवाले हों ॥ ५ ॥ (ऋ. १।५।७)

(**स्तोमाः त्वां अवीवृधन्**) स्तोत्रोंने तुझे बढाया है, हे (**शतक्रतो**) सैंकडों कर्म करनेवाले इन्द्र (**उक्था त्वां**) उक्थाने तेरा वर्णन किया है । (**नः गिरः त्वां वर्धन्तु**) हमारी स्तुतियां तुझे बढावें ॥ ६ ॥ (ऋ. १।५।८)

(**यस्मिन् विश्वानि पौंस्या**) जिसमें सारे पौरुष हैं (**इमं सहस्रिणं वाजं**) वह यह सहस्रों बलोंको बढानेवाला सोमरस (**अक्षितोतिः इन्द्रः सनेत्**) जिसका रक्षण कभी कम नहीं होता वह इन्द्र स्वीकार करे ॥ ७ ॥ (ऋ. १।५।९)

हे (**गिर्वणः**) प्रशंसायोग्य इन्द्र ! (**मर्ताः नः तनूनां मा अभिद्रुहन्**) मानव हमारे शरीरोंका द्रोह न करें । तू (**ईशानः**) ईश्वर है (**वधं यावय**) शस्त्र हमसे दूर हटा दे ॥ ८ ॥ (ऋ. १।५।१०)

९-११ देखो अथर्व. २०।२६।४-६ ।
१२ देखो अथर्व. २०।४०।३ ।

[सूक्त ७०]

(ऋषिः — १-१० मधुच्छन्दाः। देवता — इन्द्रः।)

वीळु चिदारुजत्नुभिर्गुहा चिदिन्द्र वह्निभिः । अविन्द उस्रिया अनु ॥ १ ॥
देवयन्तो यथा मतिमच्छा विदद्वसुं गिरः । महामनूषत श्रुतम् ॥ २ ॥
इन्द्रेण सं हि दृक्षसे संजग्मानो अबिभ्युषा । मन्दू समानवर्चसा ॥ ३ ॥
अनवद्यैरभिद्युभिर्मखः सहस्वदर्चति । गणैरिन्द्रस्य काम्यैः ॥ ४ ॥
अतः परिज्मन्ना गहि दिवो वा रोचनादधि । समस्मिन्नृञ्जते गिरः ॥ ५ ॥
इतो वा सातिमीमहे दिवो वा पार्थिवादधि । इन्द्रं महो वा रजसः ॥ ६ ॥
इन्द्रमिद्गाथिनो बृहदिन्द्रमर्केभिरर्किणः । इन्द्रं वाणीरनूषत ॥ ७ ॥
इन्द्र इद्धर्योः सचा संमिश्ल आ वचोयुजा । इन्द्रो वज्री हिरण्ययः ॥ ८ ॥
इन्द्रो दीर्घाय चक्षस आ सूर्यं रोहयद्दिवि । वि गोभिरद्रिमैरयत् ॥ ९ ॥
इन्द्र वाजेषु नोऽव सहस्रप्रधनेषु च । उग्र उग्राभिरूतिभिः ॥ १० ॥
इन्द्रं वयं महाधन इन्द्रमर्भे हवामहे । युजं वृत्रेषु वज्रिणम् ॥ ११ ॥
स नो वृषन्नमुं चरुं सत्रादावन्नपा वृधि । अस्मभ्यमप्रतिष्कुतः ॥ १२ ॥
तुञ्जेतुञ्जे य उत्तरे स्तोमा इन्द्रस्य वज्रिणः । न विन्धे अस्य सुष्टुतिम् ॥ १३ ॥

(सूक्त ७०)

(**वीळु चित् आरुजत्नुभिः वह्निभिः**) सुदृढोंको भी तोडनेवाले और उठा ले चलनेवाले मरुतोंके साथ रहनेवाले इन्द्र ! (**उस्रिया गुहा अनु अविन्द**) गौओंको गुहामें तूने प्राप्त किया ॥ १ ॥ (ऋ. १।६।५)

(**देवयन्तः गिरः**) देवताकी भक्ति करनेवालोंकी वाणियोंने (**विदद्वसुं महां श्रुतं**) धन प्राप्त करनेवाले बडे यशस्वी इन्द्रकी (**यथा मतिं अच्छ अनूषत**) यथामति स्तुति की है ॥ २॥ (ऋ. १।६।६)

३-४ देखो अथर्व. २०।४०।१-२ । (ऋ. १।६।७-८)

हे (**परिज्मन्**) घूमनेवाले ! (**अतः आ गहि**) यहांसे आ। (**रोचनात् दिवः वा अधि**) अथवा तेजस्वी द्युलोकसे आ, (**अस्मिन् गिरः संऋञ्जते**) यहां हमारी स्तुतियां उत्तम रीतिसे चल रही हैं ॥ ५ ॥ (ऋ. १।६।९)

(**इतः पार्थिवात् अधि**) यहां पृथिवीसे अथवा (**दिवः वा**) द्युलोकसे अथवा (**महः रजसः वा**) बडे अन्तरिक्षसे (**इन्द्रं सातिं ईमहे**) इन्द्रसे धन मांगते हैं ॥ ६ ॥ (ऋ. १।६।१०)

७-९ देखो अथर्व २०।३८।४-६ । (ऋ. १।७।१-३)

(**हे उग्र इन्द्र**) उग्रवीर इन्द्र ! (**उग्राभिः ऊतिभिः**) वीरताके संरक्षणोंसे (**सहस्रप्रधनेषु वाजेषु नः अव**) सहस्रों प्रकारके धन जिसमें मिलते हैं उन युद्धोंमें हमारी रक्षा कर ॥ १० ॥ (ऋ. १।७।४)

(**इन्द्रं वयं महाधने**) इन्द्रको हम बडे संग्राममें (**इन्द्रं अर्भे हवामहे**) इन्द्रको छोटे युद्धमें भी सहायतार्थ बुलाते हैं (**वृत्रेषु युजं वज्रिणं**) वृत्रोंको वज्रसे मारनेवाले हमारे मित्र इन्द्रको हम बुलाते हैं ॥ ११ ॥ (ऋ. १।७।५)

हे (**नः सत्रादावन् वृषन्**) हमारे लिये सदा देनेवाले बलवान् वीर ! (**सः**) वह तू (**अस्मभ्यं**) हमारे लिये (**अमुं चरुं अपा वृधि**) इस भोगको खोल दे (**अप्रतिष्कुतः**) तेरा प्रतिकार करनेवाला कोई नहीं है ॥ १२ ॥ (ऋ. १।७।६)

(**वज्रिणः इन्द्रस्य**) वज्रधारी इन्द्रकी (**तुञ्जे तुञ्जे ये उत्तरे स्तोमाः**) प्रत्येक युद्धमें जो ऊंचे स्तोत्र हैं उनमें (**अस्य सुष्टुतिं न विन्धे**) इसके योग्य स्तुतिको मैं प्राप्त नहीं करता ॥ १३ ॥ (ऋ. १।७।७)

वृषा यूथेव वंसगः कृष्टीरियर्त्योजसा । ईशानो अप्रतिष्कुतः ॥ १४ ॥
य एकश्चर्षणीनां वसूनामिरज्यति । इन्द्रः पञ्च क्षितीनाम् ॥ १५ ॥
इन्द्रं वो विश्वतस्परि हवामहे जनेभ्यः । अस्माकमस्तु केवलः ॥ १६ ॥
एन्द्र सानसिं रयिं सजित्वानं सदासहम् । वर्षिष्ठमूतये भर ॥ १७ ॥
नि येन मुष्टिहत्यया नि वृत्रा रुणधामहै । त्वोतासो न्यर्वता ॥ १८ ॥
इन्द्र त्वोतास आ वयं वज्रं घना ददीमहि । जयेम सं युधि स्पृधः ॥ १९ ॥
वयं शूरेभिरस्तृभिरिन्द्र त्वया युजा वयम् । सासह्याम पृतन्यतः ॥ २० ॥ (४६१)

(**वृषा वंसगः यूथा इव**) जैसा शक्तिमान् बैल गौओंके झुंडमें होता है वैसा जो (**ओजसा कृष्टीः इयर्ति**) सामर्थ्यसे सब मनुष्योंपर रहता है वह (**अप्रतिष्कुतः ईशानः**) प्रतिकार जिसका नहीं होता वैसा यह ईश्वर इन्द्र है ॥ १४ ॥ (ऋ. १।७।८)

(**यः एकः**) जो अकेला इन्द्र (**पञ्च क्षितीनां**) पांचों प्रकारके मानवोंका (**चर्षणीनां वसूनां इरज्यति**) सब मानवोंके धनोंका स्वामित्व करता है ॥ १५ ॥ (ऋ. १।७।९)

१६ देखो अथर्व. २०।३९।१। (ऋ. १।७।१०)

हे इन्द्र! (**सानसिं**) लाभ देनेवाले (**सजित्वानं सदासहं रयिं**) विजयी, शत्रुको पराभूत करनेवाले (**वर्षिष्ठं**) श्रेष्ठ धनको (**ऊतये आ भर**) हमारी सुरक्षाके लिये लाकर भर दे ॥ १७ ॥ (ऋ. १।८।१)

(**येन मुष्टिहत्यया**) जिसके मुष्टिप्रहारसे (**वृत्रा नि रुणधामहै**) शत्रुओंको रोक देते हैं (**त्वा ऊतासः अर्वता नि**) तुझसे सहायता दिये घोडेसे हम शत्रुको रोक दें ॥ १८ ॥ (ऋ. १।८।२)

हे इन्द्र! (**त्वोतासः वयं**) तेरे द्वारा सुरक्षित हुए हम (**घना वज्रं आ ददीमहि**) मारक वज्र पकडते हैं और उससे (**युधि स्पृधः सं जयेम**) युद्धमें शत्रुओंको जीतेंगे ॥ १९ ॥ (ऋ. १।८।३)

हे इन्द्र! (**वयं अस्तृभिः शूरेभिः**) हम अस्त्र फेंकनेवाले वीरोंके साथ तथा (**त्वया युजा वयं**) तेरे साथ हम रहकर (**पृतन्यतः सासह्याम**) सेनाके साथ चढाई करनेवाले शत्रुओंको परास्त करेंगे ॥ २० ॥ (ऋ. १।८।४)

इस सूक्तमें इन्द्रके ये गुण वर्णन किये हैं—

१ **देवयन्तः गिरः विद्वसुं महां श्रुतं यथामति अच्छ अनुषत**— देवत्वकी प्राप्तिकी इच्छा करनेवाली हमारी वाणियां धनी और बडे प्रसिद्ध वीर इन्द्रकी प्रशंसा करते हैं।

२ **हे उग्र इन्द्र! उग्राभिः ऊतिभिः सहस्रप्रधनेषु वाजेषु नः अव**— हे वीर इन्द्र! वीरताके संरक्षण साधनोंसे सहस्रों प्रकारके धन जहां मिलते हैं उन युद्धोंमें हमारी रक्षा कर। '**सहस्रप्रधनं वाजं**'— युद्धमें हजारों प्रकारके धन मिलते हैं, ये धन शत्रुसे लूटनेसे मिलते हैं। इस लिये युद्धका नाम '**धन**' भी है और '**महाधन**' भी है।

३ **वयं वृत्रेषु युजं वज्रिणं इन्द्रं महाधने अर्भे च हवामहे**— हम शत्रुके ऊपर वज्र फेंकनेवाले इन्द्रको बडे और छोटे युद्धमें सहायताके लिये बुलाते हैं।

४ **सत्रादावन् वृषन्! अप्रतिष्कुतः अस्मभ्यं अमुं चरुं अपा वृधि**— हे सदा दान देनेवाले बलवान् वीर! तू प्रतिबंध रहित होकर हमारे लिये यह भोग खुला कर दो। जिससे हम उसको प्राप्त करके उसका उपभोग लेंगे।

५ **वृषा वंसगः यूथा इव अप्रतिष्कुतः ईशानः ओजसा कृष्टीः इयर्ति**— बलवान् बैल जैसा गौओंके झुंडमें जाता है, उस तरह जिसका प्रतिकार नहीं किया जा सकता, ऐसा ईश्वर वह इन्द्र अपनी शक्तिसे शत्रुके सैनिकोंको पराभूत करता है।

६ **यः एकः पञ्च क्षितीनां चर्षणीनां वसूनां इरज्यति**— जो अकेला वीर इन्द्र पांचों मानवोंके धनोंका स्वामित्व करता है। सबके धनोंपर इसी अकेलेका अधिकार है।

७ **हे इन्द्र! सानसिं सजित्वानं सदासहं वर्षिष्ठं रयिं ऊतये आ भर**— हे इन्द्र! लाभदायक विजयी शत्रुका पराभव करनेवाले शक्तिशाली धनको हमारी सुरक्षाके लिये लाकर भर दो। धन ऐसा हो कि जो विजय देनेवाला, शत्रुका पराभव करनेवाला और श्रेष्ठ हो और वह हमारी रक्षा करनेवाला हो।

८ **येन मुष्टिहत्यया वृत्राणि रुणधामहै त्वा-ऊतासः अर्वता नि**— जिससे हम मुष्टियुद्धसे शत्रुको मारते

[सूक्त ७१]

(ऋषिः — १-१६ मधुच्छन्दाः । देवता — इन्द्रः ।)

महाँ इन्द्रः परश्च नु महित्वमस्तु वज्रिणे	। द्यौर्न प्रथिना शवः	॥ १ ॥
समोहे वा य आशत नरस्तोकस्य सनितौ	। विप्रासो वा धियायवः	॥ २ ॥
यः कुक्षिः सोमपातमः समुद्र इव पिन्वते	। उर्वीरापो न काकुदः	॥ ३ ॥
एवा ह्यस्य सूनृता विरप्शी गोमती मही	। पक्वा शाखा न दाशुषे	॥ ४ ॥
एवा हि ते विभूतय ऊतय इन्द्र मावते	। सद्यश्चित्सन्ति दाशुषे	॥ ५ ॥
एवा ह्यस्य काम्या स्तोम उक्थं च शंस्या	। इन्द्राय सोमपीतये	॥ ६ ॥
इन्द्रेहि मत्स्यन्धसो विश्वेभिः सोमपर्वभिः	। महाँ अभिष्टिरोजसा	॥ ७ ॥
एमेनं सृजता सुते मन्दिमिन्द्राय मन्दिने	। चक्रिं विश्वानि चक्रये	॥ ८ ॥
मत्स्वा सुशिप्र मन्दिभि स्तोमेभिर्विश्वचर्षणे	। सचैषु सवनेष्वा	॥ ९ ॥
असृग्रमिन्द्र ते गिरः प्रतित्वामुदहासत	। अजोषा वृषभं पतिम्	॥ १० ॥

हैं और तुमसे सहायता दिये घोडोंसे हम शत्रुको दूर करते हैं । ऐसी शक्ति हमारे पास हो ।

९ हे इन्द्र ! त्वोतासः वयं घना वज्रं आ ददीमहि, युधि स्पृधः सं जयेम — हे इन्द्र ! तेरे द्वारा सुरक्षित हुए हम मारक वज्र पकडते हैं और उससे युद्धमें शत्रुओंको जीतते हैं ।

१० हे इन्द्र ! अस्माभिः शूरेभिः वयं त्वया युजा पृतन्यतः सासह्याम — हे इन्द्र ! अस्त्र फेंकनेवाले वीरोंके साथ रहकर हम तेरी सहायतासे शत्रुओंको पराभूत करेंगे ।

(सूक्त ७१)

(इन्द्रः महान् परः च नु) इन्द्र महान है और श्रेष्ठ भी है । (वज्रिणे महित्वं अस्तु) वज्रधारी इन्द्रके लिये महत्त्व प्राप्त हो (द्यौः न शवः प्रथिना) द्युलोकके समान उसका यश फैला है ॥ १ ॥ (ऋ. १।८।५)

(ये समोहे आशत) जो युद्धमें लगे रहते हैं, (तोकस्य सनितौ वा ये नरः) अथवा पुत्रोंकी जीतमें जो व्यग्र रहते हैं, (धियायवः विप्रासः वा) जो बुद्धिके कार्य ज्ञानी करते हैं (वे इन्द्रकी स्तुति करते हैं) ॥ २ ॥ (ऋ. १।८।५)

(यः सोमपातमः कुक्षिः) जो अधिक सोम पीनेवाला पेट है, (समुद्र इव पिन्वते) समुद्रके समान जो फूलता है (काकुदः उर्वीः आपः न) दिशाओंमेंसे बडे जलप्रवाह जैसे आते हैं ॥ ३ ॥ (ऋ. १।८।६)

४-६ देखो अथर्व. २०।६०।४-६ ।

हे इन्द्र (आ इहि) आओ (अन्धसः विश्वेभिः सोमपर्वभिः) सारे सोमके भागोंसे (मत्सि) आनंदित हो । तू (ओजसा महान् अभिष्टिः) अपनी शक्तिसे बडे शत्रुको दबानेवाला है ॥ ७ ॥ (ऋ. १।९।१)

(सुते) रस निकालने पर (मन्दिने इन्द्राय) आनन्दित होनेवाले (विश्वानि चक्रये) सब कार्योंको करनेवाले इन्द्रके लिये (एनं मन्दिं चक्रिं ईं आ सृजत) इस आनंददायक तथा उत्साहवर्धक रसको दे दो ॥ ८ ॥

(ऋ. १।९।२)

हे (सुशिप्र विश्वचर्षणे) उत्तम हनुवाले और सब मनुष्योंके स्वामिन् इन्द्र ! (एषु सवनेषु आ सच) इन यज्ञोंमें आकर संमिलित हो । और (मन्दिभिः स्तोमेभिः मत्स्व) हर्ष देनेवाले स्तोत्रोंसे आनन्दित हो ॥ ९ ॥

(ऋ. १।९।३)

हे इन्द्र ! (ते गिरः असृग्रं) तेरे लिये स्तोत्र रचे हैं । (त्वा प्रति उदहासत) तेरे पास वे जाते हैं (अजोषाः वृषभं पतिं) जैसी अतृप्त स्त्रियां बलवान् पतिके समीप जाती हैं ॥ १० ॥ (ऋ. १।९।४)

सं चौदय चित्रमर्वाग्राध इन्द्र वरेण्यम् । असदित्ते विभु प्रभु ॥ ११ ॥
अस्मान्त्सु तत्र चोदयेन्द्र राये रभस्वतः । तुविद्युम्न यशस्वतः ॥ १२ ॥
सं गोमदिन्द्र वाजवदस्मे पृथु श्रवो बृहत् । विश्वायुर्धेह्यक्षितम् ॥ १३ ॥
अस्मे धेहि श्रवो बृहद्द्युम्नं सहस्रसातमम् । इन्द्र ता रथिनीरिषः ॥ १४ ॥
वसोरिन्द्रं वसुपतिं गीर्भिर्गृणन्त ऋग्मियम् । होम गन्तारमूतये ॥ १५ ॥
सुतेसुते न्योकसे बृहद्बृहत एदरिः । इन्द्राय शूषमर्चति ॥ १६ ॥ (४७७)

॥ इति षष्ठोऽनुवाकः ॥ ६ ॥

हे इन्द्र ! (**चित्रं वरेण्यं राधः**) विलक्षण श्रेष्ठ धन हमारे (**अर्वाक् सं चोदय**) पास भेज दो। (**ते विभु प्रभु असद् इत्**) तेरे पास वह पर्याप्त और सामर्थ्यवाला है ॥ ११ ॥ (ऋ. १।९।५)

हे (**तुविद्युम्न इन्द्र**) बडे तेजस्वी इन्द्र ! (**रभस्वतः यशस्वतः अस्मान्**) प्रयत्नशील और यशस्वी हमको (**तत्र राये सु चोदय**) वहां धन प्राप्त करनेके लिये प्रेरित कर ॥ १२ ॥ (ऋ. १।९।६)

हे इन्द्र ! (**अस्मे बृहत् पृथु श्रवः**) हमें बडा विस्तृत यश दे जो (**गोमत् वाजवत्**) गौ आदि पशुओंसे तथा बलसे पूर्ण है। (**विश्वायुः अक्षितं धेहि**) जो संपूर्ण आयुतक रहनेवाला और समाप्त न होनेवाला हो ॥ १३ ॥ (ऋ. १।९।७)

हे इन्द्र ! (**सहस्रसातमं द्युम्नं बृहत् श्रवः**) सहस्रों आनंद देनेवाला तेजस्वी बडा यश तथा (**रथिनीः ताः इषः**) रथियोंके साथ रहनेवाले वे अन्न (**अस्मे धेहि**) हमें दे ॥ १४ ॥ (ऋ. १।९।८)

(**वसोः वसुपतिं**) धनके स्वामी (**ऋग्मियं**) स्तुति योग्य (**ऊतये गन्तारं इन्द्रं**) रक्षण करनेके लिये जानेवाले इन्द्रको (**गीर्भिः गृणन्तः होम**) स्तुति करते हुए हम बुलाते हैं ॥ १५ ॥ (ऋ. १।९।९)

(**सुते सुते**) प्रत्येक सोमयागमें (**बृहते ओकसे इन्द्राय**) बडे घरवाले इन्द्रके लिये (**बृहत् शूषं**) बडा स्तोत्र (**अरिः आ अर्चति इत्**) भक्त गाता है ॥ १६ ॥ (ऋ. १।९।१०)

इस सूक्तमें इन्द्रके ये गुण वर्णन किये हैं—

१ **इन्द्रः महान् परः च**— इन्द्र बडा श्रेष्ठ है।

२ **वज्रिणे महित्वं अस्तु**— वज्रधारी इन्द्रका महत्त्व प्रकट हो।

३ **द्यौः न शवः प्रथिना**— द्युलोकके समान उसका यश फैला है।

४ **ओजसा महान् अभिष्टिः**— तू अपने बलसे शत्रुको दबाता है।

५ **विश्वानि चक्रये चर्कि आ असृजत**— सब पुरुषार्थ करनेवालेके लिये स्तुतिका चक्र चलाओ।

६ **सुशिप्र विश्वचर्षणे**— उत्तम हनुवाला, या उत्तम साफा बांधनेवाला और मानवोंका हित करनेवाला स्वामी इन्द्र है।

७ **वृषभः पतिः**— बलवान् स्वामी।

८ **ते विभु प्रभु चित्रं वरेण्यं राधः अस्मान् अर्वाक् सं चोदय**— तेरे पास व्यापक प्रभूत विलक्षण श्रेष्ठ धन है वह हमारे पास भेजो।

९ **अस्मे गोमत् वाजवत् बृहत् प्रभु श्रवं विश्वायुः अक्षितं धेहि**— हमें गौवोंवाला, बलवाला बडा श्रेष्ठ और संपूर्ण आयुतक रहनेवाला अक्षय धन, अन्न या यश दे दो।

१० **सहस्रसातमं द्युम्नं बृहत् श्रवः रथिनी इषः अस्मे धेहि**— सहस्रों आनंद देनेवाला बडा यशस्वी तथा रथके साथ रहनेवाला अन्न हमें दे दो।

॥ यहां षष्ठ अनुवाक समाप्त ॥

[सूक्त ७२]

(ऋषिः — १-३ परुच्छेपः । देवता — इन्द्रः ।)

विश्वेषु हि त्वा सवनेषु तुञ्जते समानमेकं वृषमण्यवः पृथक्स्वः सनिष्यवः पृथक् ।
तं त्वा नावं न पर्षणिं शूषस्य धुरि धीमहि ।
इन्द्रं न यज्ञैश्चितयन्त आयवः स्तोमेभिरिन्द्रमायवः ॥ १ ॥
वि त्वा ततस्रे मिथुना अवस्यवो व्रजस्य साता गव्यस्य निःसृजः सक्षन्त इन्द्र निःसृजः ।
यद्गव्यन्ता द्वा जना स्वर्यन्ता समूहसि ।
आविष्करिक्रद्वृषणं सचाभुवं वज्रमिन्द्र सचाभुवम् ॥ २ ॥
उतो नो अस्या उषसो जुषेत ह्यर्कस्य बोधि हविषो हवीमभिः स्वर्षाता हवीमभिः ।
यदिन्द्र हन्तवे मृधो वृषा वज्रिं चिकेतसि ।
आ मे अस्य वेधसो नवीयसो मन्म श्रुधि नवीयसः ॥ ३ ॥ (४८०)

[सूक्त ७३]

(ऋषिः — १-३ वसिष्ठः, ४-६ वसुक्रः । देवता — इन्द्रः ।)

तुभ्येदिमा सवना शूर विश्वा तुभ्यं ब्रह्माणि वर्धना कृणोमि । त्वं नृभिर्हव्यो विश्वधासि ॥ १ ॥

(सूक्त ७२)

(**विश्वेषु सवनेषु**) सब सोम यज्ञोंमें (**त्वा समानं एकं**) तुझ एकको ही (**पृथक् पृथक्**) अलग अलग (**वृष-मन्यवः**) बलयुक्त उत्साहवाले (**स्वः सनिष्यवः**) आनंद प्राप्त करनेकी इच्छा करनेवाले लोग (**तुञ्जते**) प्रशंसित करते हैं। (**तं त्वा**) उस तुझको ही (**पर्षणिं नावं इव**) पार ले आनेवाली नौकाके समान मानकर (**शूषस्य धुरि धीमहि**) बलके केन्द्र करके तुझे ही आगे ध्यानके लिये धरते हैं। (**आयवः यज्ञैः चितयन्तः**) मनुष्य यज्ञोंसे चेतना देते हुए (**इन्द्रं न**) इन्द्रकी ही जैसी स्तुति करते हैं, वैसी (**आयवः स्तोमेभिः इन्द्रं चितयन्तः**) मनुष्य स्तोत्रोंसे इन्द्रकी ही प्रशंसा करते हैं ॥ १ ॥ (ऋ. १।१३१।२)

(**अवस्यवः मिथुना**) संरक्षणकी इच्छा करनेवाले पति-पत्नीके जोडे जब (**त्वा वि ततस्रे**) तुझे स्तुतिसे उत्तेजित करते हैं। (**गव्यस्य व्रजस्य साता**) गौओंके बाडेको चाहनेवाले, हे इन्द्र ! जब (निः सृजः सक्षन्ते) भेंट देते हैं जब (**निः सृजः**) तुझे भेट देते हैं। (यत् गव्यन्ता **स्वर्यन्ता द्वा जना**) जब गौको चाहनेवाले, स्वर्ग प्राप्त करनेवाले दो जनोंको (**समूहसि**) तू इकट्ठा करता है तब (**वृषणं सचाभुवं वज्रं**) बलशाली साथ रहनेवाले वज्रको, (**सचाभुवं**) साथ रहनेवाले वज्रको तू (**आविः करिष्यत्**) प्रकट करता है ॥ २ ॥ (ऋ. १।१३१।३)

(**अस्याः उषसः**) इस उषाका, (**उत उ नः जुषेत**) वह हमें प्रेम करे, (**हवीमभिः हविषः अर्कस्य बोधि**) हमारे बुलावोंके साथ हवि और स्तोत्रको वह स्वीकारे। (**हवीमभिः स्वर्षाता**) बुलावोंके साथ स्वर्गकी प्राप्तिके लिये वह स्तोत्रको स्वीकारे। हे (**वज्रिन् इन्द्र**) वज्रधारी इन्द्र ! (**यत् वृषा मृधः हन्तवे चिकेतसि**) जब बलसे शत्रुओंको मारनेके लिये तू इच्छिता है वहां (**मे अस्य नवीयसः वेधसः मन्म श्रुधि**) मेरे इस नवीन ऋषिके स्तोत्रको तू सुन (**नवीयस्यः**) नयेको तू सुन ॥ ३ ॥

(ऋ. १।१३१।६)

(सूक्त ७३)

हे शूर इन्द्र ! (**इमा सवना**) ये यज्ञ (**तुभ्य इत्**) तेरे लिये ही हैं। (**विश्वा ब्रह्माणि**) सब स्तोत्र (**तुभ्यं वर्धना कृणोमि**) तुम्हारी महिमा बढानेके लिये करता हूं, (**त्वं विश्वधा नृभिः हव्यः असि**) तू सब प्रकारसे मानवोंके द्वारा बुलाने योग्य है ॥ १ ॥ (ऋ. ८।२२।७)

नू चिन्नु ते मन्यमानस्य दस्मोदश्नुवन्ति महिमानमुग्र । न वीर्यमिन्द्र ते न राधः ॥ २ ॥
प्र वो महे महिवृधे भरध्वं प्रचेतसे प्र सुमतिं कृणुध्वम् । विशः पूर्वीः प्र चरा चर्षणिप्राः ॥ ३ ॥
यदा वज्रं हिरण्यमिदथा रथं हरी यमस्य वहतो वि सूरिभिः ।
आ तिष्ठति मघवा सनश्रुत इन्द्रो वाजस्य दीर्घश्रवसस्पतिः ॥ ४ ॥
सो चिन्नु वृष्टिर्यूथ्या३ स्वा सचाँ इन्द्रः श्मश्रूणि हरिताभि प्रुष्णुते ।
अव वेति सुक्षयं सुते मधूदिद्धूनोति वातो यथा वनम् ॥ ५ ॥
यो वाचा विवाचो मृध्रवाचः पुरू सहस्राशिवा जघान ।
तत्तदिदस्य पौंस्यं गृणीमसि पितेव यस्तविषीं वावृधे शवः ॥ ६ ॥ (४८१)

हे (दस्म उग्र इन्द्र) दर्शनीय उग्र इन्द्र ! (ते मन्यमानस्य) तेरी स्तुति होनेपर (नु चित् नु) निश्चयसे (महिमानं उद् अश्नुवन्ति) तेरी महिमाको कोई प्राप्त नहीं होते, (न वीर्यं) तेरे पराक्रमको और (न ते रायः) न तेरे धनदानको कोई दूसरे पहुंचते हैं ॥ २ ॥ (ऋ. ८।२२।८)

(वः महे महिवृधे प्र भरध्वं) आपके बडे बडे महत्वके स्तोत्र करनेवालेके लिये आप दान दे दो, (प्रचेतसे सुमतिं प्र कृणुध्वम्) विशेष बुद्धिमान् इन्द्रके लिये स्तोत्र उचारो। (चर्षणिप्राः) प्रजाओंका पालनेवाला इन्द्र (पूर्वीः विशः प्र चर) पहिली प्रजाओंके पास उनकी रक्षाके लिये जाता है ॥ ३ ॥ (ऋ. ८।३१।१०)

(यदा हिरण्यं वज्रं इत्) जब सोनेके वज्रको इन्द्र धारण करता है, (अथा यमस्य रथं हरी वहतः) तब उस नियामकके रथको दो घोडे ले जाते हैं। (वाजस्य दीर्घश्रवसः पतिः) बलका और बडे यशका स्वामी (सनश्रुतः मघवा इन्द्रः) विख्यात दानी धनवान् इन्द्र (सूरिभिः आ वि तिष्ठति) नेताओंके साथ उस रथपर चढकर बैठता है ॥ ४ ॥ (ऋ. १०।२३।३)

(वृष्टिः चित् नु) वृष्टि (युथ्या) यूथके समान आती है तब (इन्द्रः स्वा हरिता श्मश्रूणि सचां) इन्द्र अपने हरे श्मश्रुओंपर- सोमवल्लीपर- साथ साथ (अभि प्रुष्णुते) वृष्टिको गिराता है। (सुते सुक्षयं अववेति) सोमका रस निकालनेपर वह उत्तम यज्ञघरको- यज्ञस्थानको- जानता है (मधु उत् धुनोति) उस मधुर रसको वह हिलाता है (यथा वातः वनं) जैसा वायु वनको हिलाता है ॥ ५ ॥ (ऋ. १०।२४।४)

(वाचा विवाचा) विरुद्ध बोलनेवाले (मृध्रवाचा) असत्य भाषण करनेवाले (पुरू सहस्रा अशिवाः) बहुतसे सहस्रों अशुभ बोलनेवालोंको (यः जघान) जिसने मारा है (तत् तत् इत् पौंस्यं) वह इसका पौरुष (गृणीमसि) हम प्रशंसित करते हैं, (यः) जो (पिता इव) पिताके समान (तविषीं शवः वावृधे) शक्तिको तथा सुखको बढाता है ॥ ६ ॥ (ऋ. १०।२३।५)

इस सूक्तमें इन्द्रके ये गुण वर्णन किये हैं—

१ हे दस्म उग्र इन्द्र ! ते महिमानं, वीर्यं, रायः न उत् अश्नुवन्ति— हे दर्शनीय उग्र इन्द्र ! तेरे महिमा, पराक्रम तथा धनदानकी कोई बराबरी नहीं कर सकता ।

२ चर्षणिप्राः ! पूर्वीः विशः प्र चर— हे प्रजारक्षक ! तू पूर्व प्रजाजनोंके पास जाकर, उनका निरीक्षण करता रह ।

३ यदा हिरण्यं वज्रं, यमस्य रथं हरी वहतः, सनश्रुतः वाजस्य दीर्घश्रवसः पतिः,. मघवा इन्द्रः, सूरिभिः आ वि तिष्ठति— जब सुवर्णमय वज्र धारण करता है, तब उस नियामकके रथको दो घोडे जोते जाते हैं, तब प्रसिद्ध बल और यशका स्वामी धनवान् इन्द्र, ज्ञानियोंके साथ उस रथपर चढकर बैठता है ।

४ वाचा विवाचा मृध्रवाचा पुरू सहस्रा अशिवा यः जघान तत् इत् अस्य पौंस्यं गृणीमसि, यः पिता इव तविषीं शवः वावृधे— असत्यभाषी सहस्रों अशुभ दुष्टोंको जिसने मारा वह इसका पौरुष हम वर्णन करते हैं । वह पिताके समान शक्ति और सामर्थ्य बढाता है ।

[सूक्त ७४]

(ऋषिः — १-७ शुनःशेपः। देवता — इन्द्रः।)

यच्चिद्धि सत्य सोमपा अनाशस्ता इव स्मसि ।
आ तू न इन्द्र शंसय गोष्वश्वेषु शुभ्रिषु सहस्रेषु तुवीमघ ॥ १ ॥
शिप्रिन्वाजानां पते शचीवस्तव दंसना ।
आ तू न इन्द्र शंसय गोष्वश्वेषु शुभ्रिषु सहस्रेषु तुवीमघ ॥ २ ॥
नि ष्वापया मिथूदृशा सस्तामबुध्यमाने ।
आ तू न इन्द्र शंसय गोष्वश्वेषु शुभ्रिषु सहस्रेषु तुवीमघ ॥ ३ ॥
ससन्तु त्या अरातयो बोधन्तु शूर रातयः ।
आ तू न इन्द्र शंसय गोष्वश्वेषु शुभ्रिषु सहस्रेषु तुवीमघ ॥ ४ ॥
समिन्द्र गर्दभं मृण नुवन्तं पापयामुया ।
आ तू न इन्द्र शंसय गोष्वश्वेषु शुभ्रिषु सहस्रेषु तुवीमघ ॥ ५ ॥
पताति कुण्डृणाच्या दूरं वातो वनादधि ।
आ तू न इन्द्र शंसय गोष्वश्वेषु शुभ्रिषु सहस्रेषु तुवीमघ ॥ ६ ॥
सर्वं परिक्रोशं जहि जम्भया कृकदाश्वम् ।
आ तू न इन्द्र शंसय गोष्वश्वेषु शुभ्रिषु सहस्रेषु तुवीमघ ॥ ७ ॥ (४९३)

(सूक्त ७४)

हे (**सत्य सोमपाः**) सच्चे सोम पीनेवाले इन्द्र। (**यत् चित् हि**) जो भी (**अनाशस्ता इव स्मसि**) हम निराश जैसे हुए हैं। हे (**तुवीमघ इन्द्र**) बहुत धनवाले इन्द्र! (**गोषु अश्वेषु सहस्रेषु शुभ्रिषु**) गौवों और घोडोंमें तथा सहस्रों तेजस्वी धनोंमें (**नः तू आ शंसय**) हमें तू उत्साह युक्त बनाओ ॥ १ ॥ (ऋ. १।२९।१)

हे (**शिप्रिन् वाजानां पते शचीवः**) उत्तम हनुवाले, शक्तिशाली, सामर्थ्यवान् इन्द्र! (**तव दंसना**) तेरे अद्भुत कर्म है ॥ ० ॥ २ ॥ (ऋ. १।२९।२)

(**मिथूदृशा नि ष्वापय**) परस्पर वैरभावसे देखनेवालोंको सुलाओ, (**अबुध्यमाने सस्तां**) वे न जागते हुई सो जाये ॥ ० ॥ ३ ॥ (ऋ. १।२९।३)

(**त्या अरातयः सस्तु**) वे शत्रु सोयें। हे शूर! (**रातयः बोधन्तु**) दान देनेवाले जागें ॥ ० ॥ ४ ॥ (ऋ. १।२९।४)

(**अमुया पापया नुवन्तं**) इस पापभावसे स्तुति करनेवाले, हे इन्द्र! (**गर्दभं सं मृण**) गधेको पीस डालो ॥ ० ॥ ५ ॥ (ऋ. १।२९।५)

(**कुण्डृणाच्या दूरं पताति**) कुटिल शत्रु दूर जावे (**वातः वनात् अधि**) वायु जैसा वनसे दूर जाय ॥ ० ॥ ६ ॥ (ऋ. १।२९।६)

(**सर्वं परिक्रोशं जहि**) सब आक्रोश करनेवाले दुष्ट नष्ट कर (**कृकदाश्वं जंभय**) छिपकर मारनेवालेको पीस डाल ॥ ० ॥ ७ ॥ (ऋ. १।२९।७)

हे इन्द्र! तू हमें उत्साहित कर, निराशाको हमसे दूर कर।

[सूक्त ७५]

(ऋषिः — १-३ परुच्छेपः। देवता — इन्द्रः।)

वि त्वा॑ ततस्रे मिथु॒ना अ॑व॒स्यवो॑ व्र॒जस्य॑ सा॒ता गव्य॑स्य निः॒सृजः॒ सक्ष॑न्त इन्द्र निः॒सृजः॑ ।
य॒द्ग॒व्यन्ता॒ द्वा जना॒ स्वर्यन्ता॑ स॒मूह॑सि ।
आ॒विष्करि॑क्र॒द्वृष॑णं सचा॒भुवं॒ वज्र॑मिन्द्र सचा॒भुव॑म् ॥ १ ॥
वि॒दुष्टे॑ अ॒स्य वी॒र्य॑स्य पू॒रवः॒ पुरो॒ यदि॑न्द्र॒ शार॑दीर॒वाति॑रः सासहा॒नो अ॒वाति॑रः ।
शास॒स्तमि॑न्द्र॒ मर्त्य॒मय॑ज्युं शवसस्पते ।
म॒हीम॑मुष्णाः पृथि॒वीमि॒मा अ॒पो म॑न्दसा॒न इ॒मा अ॒पः ॥ २ ॥
आदि॑त्ते अ॒स्य वी॒र्य॑स्य चर्कि॒र॒न्मदे॑षु वृषन्नु॒शिजो॒ यदावि॑थ सखीय॒तो यदावि॑थ ।
च॒कर्थ॑ का॒रमे॑भ्यः॒ पृत॑नासु॒ प्रव॑न्तवे ।
ते अ॒न्याम॑न्यां न॒द्यं॑ सनिष्णत श्रव॒स्यन्तः॑ सनिष्णत ॥ ३ ॥ (४९६)

[सूक्त ७६]

(ऋषिः — १-८ वसुक्रः। देवता — इन्द्रः।)

वने॒ न वा॒ यो न्य॑धायि चा॒कं छुचि॑र्वां॒ स्तोमो॑ भुरणावजीगः ।
यस्येदिन्द्रः॑ पुरु॒दिने॑षु॒ होता॑ नृ॒णां नर्यो॒ नृत॑मः क्ष॒पावा॑न् ॥ १ ॥

(सूक्त ७५)

१ देखो अथर्व २०।७२।२ (ऋ. १।१३१।३)

हे इन्द्र ! (**पूरवः ते अस्य वीर्यस्य विदुः**) लोग तेरे इस वीरताके कर्मको जानते हैं। हे इन्द्र ! (**शारदीः पुरः अवातिरः**) जो शरदके किलोंका तूने नाश किया, (**सासहानः अवातिरः**) विजय करते हुए शत्रुका नाश किया। हे (**शवसस्पते इन्द्र**) बलवान् इन्द्र ! (**तं अयज्युं मर्त्यं शासः**) उस यज्ञ न करनेवाले मनुष्यको तूने दण्ड दिया। (**मही पृथिवीं**) बडी पृथिवीको और (**इमाः आपः अमुष्णाः**) इन जलप्रवाहोंको (**अमुष्णाः**) अपने आधीन कर लिया। हे (**मन्दसान**) आनंदमें रहनेवाले इन्द्र ॥ २ ॥ (ऋ. १।१३१।४)

हे (**वृषन्**) बलवान् इन्द्र ! (**ते अस्य वीर्यस्य उशिजः आत् इत् चर्किरन्**) तेरे इस वीर्यके कार्यकी कीर्ति ऋत्विजोंने गायी है। (**यत् आविथ**) जब तूने उनकी सुरक्षा की, (**सखीयतः यत् आविथ**) मित्रता चाहनेवालोंकी जब तुमने सुरक्षा की थी। (**पृतनासु प्रवन्तवे**) सैन्योंमें जीतनेके लिये (**एभ्यः कारं चकर्थ**) इनके हितके लिये पुरुषार्थ किया। (**ते अन्यां अन्यां नद्यं सनिष्णत**) उन्होंने अन्य नदीप्रवाहको प्राप्त किया (**श्रवस्यन्तः सनिष्णत**) यश चाहनेवालोंने प्राप्त किया ॥ ३ ॥ (ऋ. १।१३१।५)

(सूक्त ७६)

(**यस्य इत्**) जिसके विषयमें (**नृणां नर्यः**) नेताओंमें मुख्य नेता, (**नृतमः**) वीरोंमें मुख्य (**क्षपावान्**) पृथिवीका अधिपति (**पुरुदिनेषु होता इन्द्रः**) बहुत दिनतक इच्छा करनेवाला इन्द्र चाह रखता है. वह (**शुचिवः स्तोमः**) वह शुद्ध स्तोत्र है (**भुरणौ**) पुष्टि देनेवाले अश्विदेवों (**वां अजीगः**) तुम्हारे पास गया है तुमने वह किया है। (**यः वने न चाकं न्यधायि**) जिसने वनमें इष्ट रखा होता है उसकी ओर जैसा ध्यान रखा होता है ॥ १ ॥

(ऋ. १०।२९।१)

प्र ते अस्या उषसः प्रापरस्या नृतौ स्याम नृतमस्य नृणाम् ।
अनु त्रिशोकः शतमावहन्नृन्कुत्सेन रथो यो असत्ससवान् ॥ २ ॥
कस्ते मद इन्द्र रन्त्यो भूद्दुरो गिरो अभ्युग्रो वि धाव ।
कद्वाहो अर्वागुप मा मनीषा आ त्वा शक्यामुपमं राधो अन्नैः ॥ ३ ॥
कदु द्युम्नमिन्द्र त्वावतो नॄन्कया धिया करसे कन्न आगन् ।
मित्रो न सत्य उरुगाय भृत्या अन्ने समस्य यदसन्मनीषाः ॥ ४ ॥
प्रेरय सूरो अर्थं न पारं ये अस्य कामं जनिधा इव ग्मन् ।
गिरश्च ये ते तुविजात पूर्वीर्नर इन्द्र प्रतिशिक्षन्त्यन्नैः ॥ ५ ॥
मात्रे नु ते सुमिते इन्द्र पूर्वी द्यौर्मज्मना पृथिवी काव्येन ।
वराय ते घृतवन्तः सुतासः स्वाद्मन्भवन्तु पीतये मधूनि ॥ ६ ॥
आ मध्वो अस्मा असिचन्नमत्रमिन्द्राय पूर्णं स हि सत्यराधाः ।
स वावृधे वरिमन्ना पृथिव्या अभि क्रत्वा नर्यः पौंस्यैश्च ॥ ७ ॥

(**अस्याः उषसः प्र**) इस उषाके (**अपरस्याः प्र**) और दूसरी उषाके (**नृतौ**) नाचनेमें (**नृणां नृतमस्य स्याम**) वीरोंके वीर इन्द्रके हम हों। (**यः ससवान् असत्**) जो विजयी था वह (**त्रिशोकः रथः**) तीन ज्योतीवाला रथ (**कुत्सेन**) कुत्सके साथ (**शतं नॄन् अनु आवहत्**) सौ वीरोंको साथ ले आवे ॥ २ ॥
(ऋ. १०।२९।२)

हे इन्द्र ! (**कः मदः ते रन्त्यो भूत्**) कौनसा आनंद तेरे लिये हर्षका कारण हुआ है ? तू (**उग्रः**) उग्रवीर है। (**दुरः गिरः अभि वि धाव**) हमारे द्वारों और स्तुतियोंके पास दौडता आ। (**मा मनीषा कद् अर्वाग् उप वाहः**) कब मेरा स्तोत्र तुझे मेरी ओर लायेगा ? (**अन्नैः उपमं राधः त्वा आ शक्यां**) मैं हविष्यान्नोंके साथ तेरे उत्तम धनदानको प्राप्त कर सकूं ॥ ३ ॥ (ऋ. १०।२९।३)

हे इन्द्र ! (**कद् उ द्युम्नं त्वावतः नॄन्**) कब उत्तम यश तेरे जैसे शूरोंको मिलेगा ? (**कया धिया करसे**) किस बुद्धिसे तू कार्य करेगा ? (**कद् नः आगन्**) कब तू हमारे पास आवेगा ? (**सत्यः मित्रः न**) सच्चे मित्रके समान, हे (**उरुगाय**) बडी गतिवाले इन्द्र ! (**यत् मनीषाः असन्**) जो बुद्धियां हैं (**भृत्या अन्ने समस्य**) उनको भरणपोषणके हेतु अन्नमें रख ॥ ४ ॥ (ऋ. १०।२९।४)

(**प्रेरय**) उनको प्रेरणा दे, (**सूरः पारं अर्थं न**) जैसा सूर्य परे स्थित लक्ष्यको पहुंचता है। (**ये अस्य कामं जनिधा इव ग्मन्**) जो इसकी इच्छाके साथ पति-पत्नीकी तरह मिले हैं। हे (**तुविजात इन्द्र**) अनेक प्रकारके कार्य करनेवाले इन्द्र ! (**ये ते**) और जो वे (**पूर्वीः नरः गिरः च अन्नैः प्रतिशिक्षन्ति**) पूर्व वीर अपनी स्तुतियोंको अन्नोंके साथ गाते हैं ॥ ५ ॥ (ऋ. १०।२९।५)

हे इन्द्र ! (**ते मात्रे नु सुमिते**) तेरे बडे दो माप अच्छे गिने हुए हैं। (**द्यौः पूर्वी मज्मना**) द्यौ पहिली तेरे बलसे और (**काव्येन पृथिवी**) तेरी प्रज्ञासे पृथिवी। (**घृतवन्तः सुतासः ते वराय**) घीसे मिले हुए सोमरस तेरे स्वीकारके लिये हों और (**मधूनि पीतये स्वाद्मन् भवन्तु**) मधुर रस तेरे पीनेके लिये मीठे हों ॥ ६ ॥ (ऋ. १०।२९।६)

(**मध्वः पूर्णं अमत्रं**) मधुका पूर्ण पात्र (**अस्मा इन्द्राय**) इस इन्द्रके लिये (**आ असिञ्चन्**) भर कर रखा है। (**सः हि सत्यराधाः**) वही सच्चा दानी है। (**स पृथिव्या वरिमन्ना अभि वावृधे**) वह पृथिवीकी श्रेष्ठतासे चारों ओरसे बढा, (**पौंस्यैः च क्रत्वा नर्यः**) वीरताके कर्मोंसे और प्रज्ञासे वह मानवोंका हितकारी है ॥ ७ ॥
(ऋ. १०।२९।७)

व्यानळिन्द्रः पृतनाः स्वोजा आस्मै यतन्ते सख्याय पूर्वीः ।
आ स्मा रथं न पृतनासु तिष्ठ यं भद्रया सुमत्या चोदयासे ॥ ८ ॥ (५०४)

[सूक्त ७७]

(ऋषिः — १-८ वामदेवः । देवता — इन्द्रः ।)

आ सत्यो यातु मघवाँ ऋजीषी द्रवन्त्वस्य हरय उप नः ।
तस्मा इदन्धः सुषुमा सुदक्षमिहाभिपित्वं करते गृणानः ॥ १ ॥
अव स्य शूराध्वनो नान्तेऽस्मिन्नो अद्य सवने मन्दध्यै ।
शंसात्युक्थमुशनेव वेधाश्चिकितुषे असुर्याय मन्म ॥ २ ॥
कविर्न निण्यं विदथानि साधन्वृषा यत्सेकं विपिपानो अर्चात् ।
दिव इत्था जीजनत्सप्त कारूनह्ना चिच्चक्रुर्वयुना गृणन्तः ॥ ३ ॥
स्वर्यद्वेदि सुदृशीकमर्कैर्महि ज्योती रुरुचुर्यद्ध वस्तोः ।
अन्धा तमांसि दुधिता विचक्षे नृभ्यश्चकार नृतमो अभिष्टौ ॥ ४ ॥

(स्वोजाः इन्द्रः) शक्तिशाली इन्द्र (पृतनाः व्यानट्) शत्रुकी सेनाओंको जीतता है (पूर्वीः अस्मै सख्याय आ यतन्ते) बहुतसी प्रजाएं इसकी मित्रताके लिये यत्न करती हैं। (यं भद्रया सुमत्या चोदयासे) जिसको तू अपनी सुमतिसे प्रेरित करता है (अस्मा पृतनासु रथं न आ तिष्ठ) इस पर युद्धोंमें रथपर बैठते हैं उस तरह बैठ ॥ ८ ॥ (ऋ. १०।२९।८)

इस सूक्तमें इन्द्रके ये गुण वर्णन किये हैं—

१ **नृणां नर्यः नृतमः क्षपावान्**— मनुष्योंमें श्रेष्ठ, मनुष्योंका हित करनेवाला पृथिवीपती इन्द्र है।

२ **यः ससवान् असत्। त्रिशोकः रथः शतं नृन् अनु आवहत्**— वह विजयी था। तीन ज्योतीवाले उस रथने सैकडों वीरोंको लाया।

३ **हे उरुगाय ! यत् मनीषा असन्, भुत्या अन्ने समस्य**— हे शीघ्रगामी वीर, जो तेरी बुद्धियां हैं उनको हमारे भरणपोषणके लिये अन्नमें प्रेरित कर।

४ **पौंस्यैः क्रत्वा च नर्यः**— पुरुषार्थो और बुद्धिसे वह मानवोंका हित करनेवाला है।

५ **स्वोजाः इन्द्रः पृतनाः व्यानट्**— शक्तिशाली इन्द्र शत्रुके सैनिकोंको परास्त करता है।

(सूक्त ७७)

(**सत्यः ऋजीषी मघवान् आ यातु**) सत्य सोमप्रिय धनवान् इन्द्र यहां आवे। (**अस्य हरयः नः उप द्रवन्तु**) इसके घोडे हमारे पास दौडते आ जांय। (**तस्मै इत् सुदक्षं अन्धः सुषुम**) इसके लिये ही उत्तम बलवर्धक सोम रस निकाला है। (**गृणानः इह अभिपित्वं करते**) स्तुति करनेपर वह यहां पहुंचेगा ॥ १ ॥ (ऋ. ४।१६।१)

हे शूर ! (**अव स्य**) खोल दे [अपने घोडोंको]। (**अध्वनः अन्ते न**) मानो मार्गका अन्त हुआ है (**नः अद्य अस्मिन् सवने मन्दध्यै**) हमारे आज इस यज्ञमें आनन्द मनानेके लिये। (**उशना इव वेधाः**) उशनाकी तरह ऋत्विज (**उक्थं शंसाति**) गीत गाता है। वह (**चिकितुषे असुर्याय मन्म**) ज्ञानी बलवान् इन्द्रका वह स्तोत्र है ॥ २ ॥ (ऋ. ४।१६।२)

(**वृषा यत् सेकं विपिपानो अर्चात्**) बलवान् जब डाले सोमको पीता हुआ गाता है, (**कविः न निण्यं विदथानि साधन्**) कवि जैसा एकान्तमें यज्ञोंको करता हुआ [गाता है]। (**दिवः इत्था सप्त कारून् जीजनत्**) द्युसे इस तरह उसने सात स्तोताओंको उत्पन्न किया, (**अह्ना चित् गृणन्तः वयुना चक्रुः**) दिनभर स्तुति करते हुए उन्होंने दिनभर कर्म किये ॥ ३ ॥ (ऋ. ४।१६।३)

(**अर्कैः सुदृशीकं स्वः यत् वेदि**) स्तोत्रपाठोंके साथ जब दर्शनीय तेज दीख पडा, (**यत् ह वस्तोः महि ज्योतिः रुरुचुः**) जब दिनमें बडी ज्योतिको प्रकाशित

ववक्ष इन्द्रो अमितमृजीष्युभे आ पप्रौ रोदसी महित्वा ।
अतश्चिदस्य महिमा वि रेच्यभि यो विश्वा भुवना बभूव ॥ ५ ॥
विश्वानि शक्रो नर्याणि विद्वानपो रिरेच सखिभिर्निकामैः ।
अश्मानं चिद्ये बिभिदुर्वचोभिर्व्रजं गोमन्तमुशिजो वि वव्रुः ॥ ६ ॥
अपो वृत्रं वव्रिवांसं पराहन्प्रावत्ते वज्रं पृथिवी सचेताः ।
प्रार्णांसि समुद्रियाण्यैनोः पतिर्भवञ्छवसा शूर धृष्णो ॥ ७ ॥
अपो यदद्रिं पुरुहूत दर्दराविर्भुवत्सरमा पूर्व्यं ते ।
स नो नेता वाजमा दर्षि भूरिं गोत्रा रुजन्नङ्गिरोभिर्गृणानः ॥ ८ ॥ (५२४)

किया, (**नृभ्यः विचक्षे**) मानवोंके देखनेके लिये (**अभिष्टौ नृतमः**) विजयी नेताओंके श्रेष्ठने (**अन्धा तमांसि दुधिता चकार**) घने अन्धकारको दूर किया ॥ ४ ॥ (ऋ. ४।१६।४)

(**ऋजीषी इन्द्रः अमितं ववक्ष**) सोमप्रिय इन्द्र अपरिमित बढ गया। (**महित्वा उभे रोदसी आ पप्रौ**) अपने महत्वसे उसने दोनों लोकोंको भर दिया। (**अतः चित् अस्य महिमा वि रेचि**) इससे इसकी महिमा बढ गयी, (**यः विश्वा भुवना अभि बभूव**) जिसने सारे भुवनोंको पराभूत किया ॥ ५ ॥ (ऋ. ४।१६।५)

(**शक्रः विश्वानि नर्याणि विद्वान्**) सामर्थ्यवान् इन्द्र सब मानवोंके हितके कार्य जानता है। (**निकामैः सखिभिः अपः रिरेच**) अपने निष्काम मित्रों- मरुतोंके साथ जल-प्रवाहोंको उसने खोल दिया। (**ये वचोभिः अश्मानं चित् बिभिदुः**) जिन्होंने शब्दोंसे पत्थरोंको छिन्नभिन्न किया और (**उशिजः गोमन्तं व्रजं वि वव्रुः**) उन इच्छा करनेवाले [**मरुतोंने**] गौओंवाले बाडेको खोल दिया ॥ ६ ॥ (ऋ. ४।१६।६)

(**अपः वव्रिवांसं वृत्रं पराहन्**) उसने जलोंको रोकनेवाले वृत्रको मारा। (**सचेताः पृथिवी ते वज्रं प्रावत्**) चेतना युक्त प्रजावाली पृथिवीने तेरे वज्रकी रक्षा की। हे (**धृष्णो शूर**) शत्रुका पराभव करनेवाले इन्द्र! (**शवसा पतिः भवन्**) सामर्थ्यसे पति होकर (**समुद्रियाणि अर्णांसि प्र ऐनोः**) समुद्रीय जलोंको प्रवाहित किया, आगे बढाया ॥ ७ ॥ (ऋ. ४।१६।७)

❀

हे (**पुरुहूत**) बहुतों द्वारा प्रार्थित इन्द्र! (**यत् अपः अद्रिं दर्दर**) जब जलोंके पहाडको तुमने तोडा, तब (**सरमा ते पूर्व्यं आविः भुवत्**) सरमा तेरे सामने प्रकट हुई। (**अंगिरोभिः गृणानः**) अंगिरोंसे स्तुति किया हुआ (**गोत्रा रुजन्**) पहाडोंको तोडता हुआ (**सः नः नेता**) वह हमारा नेता इन्द्र (**भूरि वाजं आ दर्षि**) बहुत बल दिखाता है ॥ ८ ॥ (ऋ. ४।१६।८)

इस सूक्तमें इन्द्रके ये गुण कहे हैं—

१ **चिकितुषे असुर्याय मन्म**— ज्ञानी शक्तिमानके लिये यह सूक्त है।

२ **महित्वा उभे रोदसी आ पप्रौ**— अपने महत्वसे द्यावापृथिवीको भर दिया।

३ **अस्य महिमा वि रेचि**— इसका महिमा बढ गया।

४ **यः विश्वा भुवना अभि बभूव**— जिसने सब भुवनोंको पराभूत किया।

५ **शक्रः विश्वानि नर्याणि विद्वान्**— समर्थ इन्द्र मानवोंके हितके सब कार्य जानता है।

६ **धृष्णो शूर! शवसा पतिः भवन्**— शत्रुका पराभव करनेवाले शूर! बलसे तू स्वामी होता है।

७ **गोत्रा रुजन्**— पहाडोंको तोडा।

८ **सः नः नेता भूरि वाजं आ दर्षि**— वह हमारा नेता बहुत सामर्थ्य बताता है।

[सूक्त ७८]

(ऋषिः — १-३ शंयुः । देवता — इन्द्रः ।)

तद्वो गाय सुते सचा पुरुहूताय सत्वने । शं यद्गवे न शाकिने ॥ १ ॥
न घा वसुर्नि यमते दानं वाजस्य गोमतः । यत्सीमुप श्रवद्गिरः ॥ २ ॥
कुवित्सस्य प्र हि व्रजं गोमन्तं दस्युहा गमत् । शचीभिरप नो वरत् ॥ ३ ॥ (५१५)

[सूक्त ७९]

(ऋषिः — १-२ वसिष्ठः शक्तिर्वा । । देवता — इन्द्रः ।)

इन्द्र क्रतुं न आ भर पिता पुत्रेभ्यो यथा ।
शिक्षा णो अस्मिन्पुरुहूत यामनि जीवा ज्योतिरशीमहि ॥ १ ॥
मा नो अज्ञाता वृजना दुराध्यो३ माशिवासो अव क्रमुः ।
त्वया वयं प्रवतः शश्वतीरपोऽति शूर तरामसि ॥ २ ॥ (५१७)

(सूक्त ७८)

(सुते) सोमरस निकालनेपर **(पुरुहूताय वः सत्वने)** बहुतों द्वारा बुलाये गये आपके बलवान् वीरके लिये **(सचा शं तत् गाय)** साथ साथ वह शान्तिप्रद या सुखदायी स्तोत्र गाओ, **(यद् शाकिने गवे न)** जैसा शक्तिशाली बैलके लिये गाया जाता है ॥ १ ॥ (ऋ. ६।४५।२२)

(यत् सीं गिरः उप श्रवत्) जब वह हमारी स्तुतियोंको सुनता है तब वह **(गोमतः वाजस्य दानं)** गौओंवाले धनके दानको तथा **(वसुः घ न नियमते)** धनको नहीं रोकता ॥ २ ॥ (ऋ. ६।४५।२३)

(दस्युहा) शत्रुओंको मारनेवाला इन्द्र **(कुवित्सस्य गोमन्तं व्रजं)** कुवित्सके गौओंवाले बाडेके पास **(हि प्र गमत्)** जायगा और **(शचीभिः नः अप वरत्)** अपनी शक्तियोंसे हमारे लिये उसे खोलेगा ॥ ३ ॥ (ऋ- ४५।२४)

१ **यत् सीं गिरः उपश्रवत् गोमतः वाजस्य दानं वसुः न नि यमते—** जब वह इन्द्र हमारी स्तुतियोंको सुनता है तब गौओंवाले बलके दानको अथवा धनको देना वह बंद नहीं करेगा ।

२ **दस्युहा गोमन्तं व्रजं प्र गमत् शचीभिः नः अप वरत्—** शत्रुनाशक इन्द्र गौओंके बाडेके पास जाता है और अपनी शक्तियोंसे उनको हमारे लिये खोलता है ।

(सूक्त ७९)

हे इन्द्र ! **(नः क्रतुं आभर)** हमारे लिये कर्तृत्वबुद्धि भर दे **(यथा पिता पुत्रेभ्यः)** जैसा पिता पुत्रोंको देता **यामनि नः शिक्ष)** इस चढाईमें हमें शिक्षा दें **(जीवा ज्योतिः अशीमहि)** जीवित रहनेपर हम ज्योतिको प्राप्त करेंगे ॥ १ ॥ (ऋ. ७।३२।२६)

(अज्ञाता वृजना दुराध्यः) अज्ञात बुरा चाहनेवाले हमारे शत्रु **(मा नः)** हमें मत दबावें, **(अशिवासः मा अव क्रमुः)** अशुभ शत्रु हमपर आक्रमण न करें। हे शूर ! **(त्वया वयं)** तेरे साथ रहकर हम **(शश्वतीः प्रवतः अपः)** शाश्वत बहनेवाले जलप्रवाहोंको **(अति तरामसि)** तैर कर परे हो जाय ॥ २ ॥ (ऋ. ७।३२।२७)

१ **हे इन्द्र ! नः क्रतुं आ भर—** हे इन्द्र ! हमें कर्तृत्व करनेकी बुद्धि भरपूर दे । जिससे हम पुरुषार्थ प्रयत्न कर सकें ।

२ **तथा पुत्रेभ्यः पिता क्रतुं—** जैसा पिता पुत्रोंको कर्तृत्वशक्तिसे युक्त करता है । पिताका यह कर्तव्य है कि वह अपने पुत्रोंको कर्तृत्वशक्तिसे युक्त करे ।

३ **अस्मिन् यामनि नः शिक्ष—** शत्रुपर करनेके आक्रमणके विषयमें हमें योग्य और आवश्यक ज्ञान दे जिससे हम आक्रमण करके शत्रुको परास्त कर सकें ।

४ **जीवा ज्योतिः अशीमहि—** जीवित रहेंगे तो तेजस्विता प्राप्त करेंगे ।

५ **अज्ञाता वृजना दुराध्यः अशिवासः मा अवक्रमुः—** कोई अज्ञात दुष्ट दुर्जन शत्रु हमपर आक्रमण न करें ।

६ **त्वया वयं शश्वती प्रवतः अपः अति तरामसि—** तुम्हारे साथ रहकर हम शाश्वत नीचे बहनेवाले जल-

[सूक्त ८०]

(ऋषिः — १-२ शंयुः। देवता — इन्द्रः।)

इन्द्र ज्येष्ठं न आ भरँ ओजिष्ठं पपुरि श्रवः ।
येनेमे चित्र वज्रहस्त रोदसी ओभे सुशिप्र प्राः ॥ १ ॥
त्वामुग्रमवसे चर्षणीसहं राजन्देवेषु हूमहे ।
विश्वा सु नो विथुरा पिब्दना वसोऽमित्रान्त्सुषहान्कृधि ॥ २ ॥ (५१५)

[सूक्त ८१]

(ऋषिः — १-२ पुरुहन्मा। देवता — इन्द्रः।)

यद् द्याव इन्द्र ते शतं शतं भूमीरुत स्युः ।
न त्वा वज्रिन्त्सहस्रं सूर्या अनु न जातमष्ट रोदसी ॥ १ ॥
आ पप्राथ महिना वृष्ण्या वृषन्विश्वा शविष्ठ शवसा ।
अस्माँ अव मघवन् गोमति व्रजे वज्रिं चित्राभिरूतिभिः ॥ २ ॥ (५२१)

(सूक्त ८०)

हे इन्द्र ! (नः) हमारे लिये (**ज्येष्ठं ओजिष्ठं पपुरि श्रवः**) श्रेष्ठ शक्तिशाली परिपूर्ण यश (**आ भर**) भर दे, हे (**चित्र सुशिप्र वज्रहस्त**) आश्चर्यकारक, उत्तम साफेवाले तथा हाथमें वज्र धारण करनेवाले इन्द्र ! (**येन इमे उभे रोदसी**) जिससे ये दोनों द्यु और पृथिवीको तू (**आ प्राः**) भर देता है ॥ १ ॥ (ऋ. ६।४६।५)

हे राजन् ! (**उग्रं चर्षणीसहं देवेषु त्वां**) उग्रवीर शत्रुसेनाको जीतनेवाले देवोंमें तुझको (**हूमहे**) हम बुलाते हैं। हे (**वसो**) निवासक ! (**नः विश्वा विथुरा पिब्दना**) हमारे सब दुर्बलोंको सुदृढ बना दें, (**अमित्रान् सुसहान् सु कृधि**) हमारे सब शत्रुओंको सुखसे हम जीतें, ऐसा कर ॥ २ ॥ (ऋ. ६।४६।६)

१ **ज्येष्ठं ओजिष्ठं पपुरि श्रवः आ भर—** श्रेष्ठ सामर्थ्यवान् परिपूर्ण यश हमें पूर्ण रीतिसे दे दो।

२ **चित्र सुशिप्र वज्रहस्त ! येन उभे रोदसी आ प्राः तत् आ भर—** हे विलक्षण उत्तम हनु या साफावाले वज्रधारी इन्द्र ! जिससे तू दोनों लोकोंको यशसे भर देता है वह यश हमें भरपूर भर दे।

३ **उग्रं चर्षणीसहं देवेषु त्वां हूमहे—** उग्र शत्रुसेनाका पराभव करनेवाले ऐसे तुझ देवोंमें अकेले देवको मैं अपनी सहायताके लिये बुलाता हूं।

४ **हे वसो ! नः विश्वा विथुरा पिब्दना, अमित्रान् सुसहान् सुकृधि—** हे सबके निवासक ! हमारे सब निर्बल मनुष्योंको बलवान् बना दो, जिससे हमारे शत्रुओंको जीतना हमारे लिये सुखकर होगा।

(सूक्त ८१)

हे इन्द्र ! (**यत् शतं द्यावः**) यदि सौ द्युलोक हों, (**उत शतं भूमीः स्युः**) और सौ भूमियां हों, (**सहस्रं सूर्या**) हजार सूर्य हों या (**रोदसी**) दो हों द्यु और पृथिवी लोक हों हे (**वज्रिन्**) वज्रधारी इन्द्र ! (**त्वा जातं न न अनु अष्ट**) तुझ प्रकट होनेपर कोई तेरी बराबरी नहीं कर सकता ॥ १ ॥ (ऋ. ८।७०।५)

हे (**वृषन् शविष्ठ**) बलवान् और सामर्थ्यवान् ! (**विश्वा शवसा वृष्ण्या महिना**) सारे बलसे सामर्थ्ययुक्त महिमासे (**आ पप्राथ**) तूने सबको भर दिया है। हे (**मघवन्**) धनवान् (**वज्रिन्**) वज्रधारी इन्द्र ! (**गोमति व्रजे**) गौओंवाले बाडेमें (**चित्राभिः ऊतिभिः**) अद्भुत रक्षा साधनोंसे (**अस्मान् अव**) हमारी सुरक्षा कर ॥ २ ॥ (ऋ. ८।७०।६)

[सूक्त ८२]

(ऋषिः — १-२ वसिष्ठः । देवता — इन्द्रः ।)

यदिन्द्र यावतस्त्वमेतावदहमीशीय ।
स्तोतारमिद्दिधिषेय रदावसो न पापत्वाय रासीय ॥ १ ॥
शिक्षेयमिन्महयते दिवेदिवे राय आ कुहचिद्विदे ।
नहि त्वदन्यन्मघवन् न आप्यं वस्यो अस्ति पिता चन ॥ २ ॥ (५९३)

[सूक्त ८३]

(ऋषिः — १-२ शंयुः । देवता — इन्द्रः ।)

इन्द्र त्रिधातु शरणं त्रिवरूथं स्वस्तिमत् ।
छर्दिर्यच्छ मघवद्भ्यश्च मह्यं च यावया दिद्युमेभ्यः ॥ १ ॥
ये गव्यता मनसा शत्रुमादभुरभिप्रघ्नन्ति धृष्णुया ।
अध स्मा नो मघवन्निन्द्र गिर्वणस्तनूपा अन्तमो भव ॥ २ ॥ (५९५)

---

१ हे इन्द्र ! शतं द्यावः शतं भूमीः सहस्रं सूर्या त्वा जातं न अनु अष्ट— हे इन्द्र ! सौ द्यौ हों या सौ भूमियां हों, या सहस्र सूर्य हों तेरे प्रकट होनेपर तेरी बराबरी कोई कर नहीं सकता। ऐसा तेरा सामर्थ्य बडा विशाल है।

२ हे वृषन् शविष्ठ मघवन् वज्रिन् ! विश्वा शवसा वृष्ण्या महिना आ पप्राथ— हे बलवान् सामर्थ्यशाली धनवान् वज्रधारी इन्द्र ! तू अपनी सामर्थ्ययुक्त महिमासे सबको भरपूर भर दिया है।

३ गोमति व्रजे चित्राभिः ऊतिभिः अस्मान् अव— गौओंवाले बाडेमें हम रहें और वहां हमारी सुरक्षा तू अपने विलक्षण सुरक्षाके साधनोंसे कर। हमें गौ मिलें, और हमारा संरक्षण भी हो।

(सूक्त ८२)

हे इन्द्र ! (**यत् यावतः त्वं**) जितनेका तू (**एतावत् अहं ईशीय**) उतनेका मैं स्वामी होऊंगा, तो (**स्तोतारं इत् दिधिषेय**) स्तुति करनेवालेको मैं आश्रय देऊं, हे (**रदावसो**) धनके दाता इन्द्र ! (**पापत्वाय न रासीय**) पाप करनेके लिये नहीं छोडूंगा ॥ १ ॥ (ऋ. ७।३२।१८)

(**दिवे दिवे महयते**) प्रतिदिन स्तुति करनेवालेको मैं (**रायः आ शिक्षेयं इत्**) धन देऊंगा ही (**कुह चिद् विदे**) कहीं भी वह हो। हे (**मघवन्**) धनवान् इन्द्र ! (**त्वत् अन्यत् आप्यं नहि**) तेरे सिवाय दूसरा कोई बन्धु नहीं है, (**वस्यो**) धनवान् (**पिता चन न अस्ति**) पिता भी तुमसे बढकर नहीं है ॥ २ ॥ (ऋ. ७।३२।१९)

(सूक्त ८३)

हे इन्द्र ! (**त्रिधातु त्रिवरूथं**) तीन धातुवाला, तीन कक्षोंवाला (**स्वस्तिमत् शरणं**) स्वास्थ्य रखनेवाला आश्रय स्थान (**छर्दिः**) घर (**मघवद्भ्यः च मह्यं च**) धनी लोगोंके लिये और मुझे (**यच्छ**) दे दो। (**एभ्यः दिद्युं यावय**) इनसे शस्त्र दूर कर दे ॥ १ ॥ (ऋ. ६।४६।९)

(**ये गव्यता मनसा**) जो गौओंको चाहते हुए मनसे (**शत्रुं आ दभुः**) शत्रुको मारते हैं, और (**धृष्णुया अभि प्रघ्नन्ति**) धैर्यसे प्रहार करते हैं, हे (**मघवन् गिर्वणः इन्द्र**) धनवान् स्तुतिको सुननेवाले इन्द्र ! (**अध नः अन्तमः तनूपाः भव स्म**) हमारे शरीरोंका तू समीप स्थित रक्षक हो ॥ २ ॥ (ऋ. ६।४६।१०)

१ त्रिधातु त्रिवरूथं स्वस्तिमत् शरणं छर्दिः मह्यं मघवद्भ्यः यच्छ— तीन धातुओंका उपयोग जिसमें किया है, तीन बडे आश्रयस्थान जिनमें हैं, आरोग्यवर्धक ऐसा जो स्थान है वह रहनेका घर मुझे और धनिकोंको दे दो।

२ गव्यता मनसा शत्रुं आ दभुः— गौवें प्राप्त करनेवाली बुद्धिसे जो शत्रुको दबाते हैं, '**धृष्णुया अभि प्रघ्नन्ति**'- धैर्यसे शत्रुपर जो प्रहार करते हैं उस समय '**नः अन्तमः तनूपाः भव**'- हमारे समीप रहकर संरक्षण करनेवाला तू हो।

[सूक्त ८४]

(ऋषिः — १-३ मधुच्छन्दाः। देवता — इन्द्रः।)

इन्द्रा याहि चित्रभानो सुता इमे त्वायवः । अण्वीभिस्तना पूतासः ॥ १ ॥
इन्द्रा याहि धियेषितो विप्रजूतः सुतावतः । उप ब्रह्माणि वाघतः ॥ २ ॥
इन्द्रा याहि तूतुजान उप ब्रह्माणि हरिवः । सुते दधिष्व नश्चनः ॥ ३ ॥ (५१८)

[सूक्त ८५]

(ऋषिः — १-२ प्रगाथः, ३-४ मेध्यातिथिः। देवता — इन्द्रः।)

मा चिदन्यद्वि शंसत सखायो मा रिषण्यत ।
इन्द्रमित्स्तोता वृषणं सचा सुते मुहुरुक्था च शंसत ॥ १ ॥
अवक्रक्षिणं वृषभं यथाजुरं गां न चर्षणीसहम् ।
विद्वेषणं संवननोभयंकरं मंहिष्ठमुभयाविनम् ॥ २ ॥
यच्चिद्धि त्वा जना इमे नाना हवन्त ऊतये ।
अस्माकं ब्रह्मेदमिन्द्र भूतु तेहा विश्वा च वर्धनम् ॥ ३ ॥
वि तर्तूर्यन्ते मघवन्विपश्चितोऽर्यो विपो जनानाम् ।
उप क्रमस्व पुरुरूपमा भर वाजं नेदिष्ठमूतये ॥ ४ ॥ (५२२)

(सूक्त ८४)

(**चित्रभानो इन्द्र**) हे आश्चर्यकारक तेजस्वी इन्द्र! (**आ याहि**) आ, (**इमे सुता त्वायवः**) ये सोमरस तेरे लिये निकाले (**अण्वीभिः तना पूतासः**) और अंगुलियोंसे छान कर पवित्र किये हैं ॥ १ ॥ (ऋ. १।३।४)

हे इन्द्र! (**धिया इषितः**) बुद्धिसे प्रेरित हुआ (**विप्रजूतः**) ब्राह्मणोंसे उत्तेजित हुआ (**सुतावतः वाघतः ब्रह्माणि**) सोमरस निकालनेवाले स्तोताके स्तोत्रोंके (**उप आ याहि**) पास आ ॥ २ ॥ (ऋ. १।३।५)

हे (**हरिवः इन्द्र**) घोडोंवाले इन्द्र! (**तूतुजानः**) त्वरा करता हुआ (**ब्रह्माणि उप आ याहि**) स्तोत्रोंके पाठके पास आ। (**नः सुते चनः दधिष्व**) हमारे सोमरसमें आनंद मान ॥ ३ ॥ (ऋ. १।३।६)

(सूक्त ८५)

हे (**सखायः**) मित्रो! (**अन्यत् चित् मा वि शंसत**) किसी अन्यकी प्रशंसा न करो, (**मा रिषण्यत**) मत घबराओ। (**सुते**) सोमरस निकालने पर (**सचा**) साथ बैठकर (**वृषणं इन्द्रं इत् स्तोत**) सामर्थ्यवान् इन्द्रकी ही स्तुति करो। (**मुहुः उक्था च शंसत**) वारंवार उसके ही स्तोत्र गाओ ॥ १ ॥ (ऋ. ८।१।१)

(**अवक्रक्षिणं**) शत्रुको नीचे फेंकनेवाले, (**वृषभं**) बलवान्, (**अजुरं**) वृद्ध न होनेवाले, (**गां न यथा**) गौ जैसे उत्तम अन्न देनेवाले (**चर्षणीसहं**) शत्रुओंका पराभव करनेवाले, (**विद्वेषणं**) दुष्टोंका द्वेष करनेवाले (**संवनन- उभयंकरं**) श्रेष्ठोंकी सहायता करनेवाले, ये दोनों कार्य करनेवाले, (**मंहिष्ठं**) बडे श्रेष्ठ (**उभयाविनं**) दोनोंको मिलानेवाले इन्द्रके स्तोत्र गाओ ॥ २ ॥ (ऋ. ८।१।२)

(**इमे नाना जनाः**) ये नाना प्रकारके लोग (**ऊतये**) सुरक्षाके लिये (**यत् चित् हि त्वा हवन्ते**) जो कुछ तेरी ही प्रार्थना करते हैं। हे इन्द्र! (**अस्माकं इदं ब्रह्म**) हमारा यह स्तोत्र (**इह ते विश्वा च वर्धनं भूतु**) यहां तेरा महत्त्व बढानेवाला हो ॥ ३ ॥ (ऋ. ८।१।३)

हे (**मघवन्**) धनवान इन्द्र! (**जनानां विपश्चितः विपः अर्यः**) लोगोंके बीचमें जो ज्ञानी श्रेष्ठ लोग (**वि**

[सूक्त ८६]

(ऋषिः — १ विश्वामित्रः । देवता — इन्द्रः ।)

ब्रह्मणा ते ब्रह्मयुजा युनज्मि हरी सखाया सधमाद आशू ।
स्थिरं रथं सुखमिन्द्राधितिष्ठन्प्रजानन्विद्वाँ उप याहि सोमम् ॥ १ ॥ (२२३)

[सूक्त ८७]

(ऋषिः — १-७ वसिष्ठः । देवता — इन्द्रः ।)

अध्वर्यवोऽरुणं दुग्धमंशुं जुहोतन वृषभाय क्षितीनाम् ।
गौराद्वेदीयाँ अवपानमिन्द्रो विश्वाहेद्याति सुतसोममिच्छन् ॥ १ ॥
यद्दधिषे प्रदिवि चार्वन्नं दिवेदिवे पीतिमिदस्य वक्षि ।
उत हृदोत मनसा जुषाण उशन्निन्द्र प्रस्थितान्पाहि सोमान् ॥ २ ॥
जज्ञानः सोमं सहसे पपाथ प्र ते माता महिमानमुवाच ।
एन्द्र पप्राथोर्वन्तरिक्षं युधा देवेभ्यो वरिवश्चकर्थ ॥ ३ ॥
यद्योधया महतो मन्यमानान्साक्षाम तान्बाहुभिः शाशदानान् ।
यद्वा नृभिर्वृत इन्द्राभियुध्यास्तं त्वयाजिं सौश्रवसं जयेम ॥ ४ ॥

सपर्यन्ते) विशेष स्तुति गाते हैं। उनके (उप क्रमस्व) पास आ। (ऊतये) उनके संरक्षणके लिये (नेदिष्ठं पुरु-रूपं वाजं) पासवाला अनेक रूपोंमें मिलनेवाला शक्तिवर्धक अन्न (आ भर) भरपूर भर दे ॥ ४ ॥ (ऋ. ८।१।१४)

इस सूक्तमें द्वितीय मंत्र इन्द्रके गुणोंका वर्णन करता है।

(सूक्त ८६)

(ब्रह्मणा) ज्ञानसे (ब्रह्मयुजा सखाया ते हरी) इशारेसे जुडनेवाले मित्र रूप दोनों घोडे (आशू) शीघ्र जानेवाले (सधमादे युनज्मि) आनंद देनेवाले रथमें जोडता हूं। हे इन्द्र ! (स्थिरं सुखं रथं) सुदृढ सुखदायी रथपर (अधितिष्ठन्) चढकर (प्रजानन् विद्वान्) जानता हुआ ज्ञानी तू (सोमं उप याहि) सोमके समीप आ ॥ १ ॥ (ऋ. ३।३५।४)

(सूक्त ८७)

हे (अध्वर्यवः) अध्वर्युगण ! (क्षितीनां वृषभाय) सर्व मनुष्योंके मुख्य इन्द्रके लिये (दुग्धं अरुणं अंशुं) दोहे हुए लाल रसका (जुहोतन) हवन करो। (गौरात् अवपानं वेदीयान्) गौर मृगसे अधिक अच्छी तरह अपने पानेके स्थानको जाननेवाला इन्द्र (सुतसोमं इच्छन्) सोम रस निकालनेवालेकी इच्छा करता हुआ (विश्वाहा इत् याति) प्रतिदिन उसके पास जाता है ॥ १ ॥ (ऋ. ७।९८।१)

(प्रदिवि यत् चारु अन्नं दधिषे) प्रतिदिन जिस सुन्दर अन्नकी इच्छा तू रखता है और (दिवे दिवे अस्य पीतिं इत् वक्षि) प्रतिदिन इसके पान करनेकी प्रशंसा करता है। हे इन्द्र ! (उत हृदा उत मनसा जुषाणः) हृदयसे और मनसे प्रीति करता हुआ और (उशन्) इच्छा करता हुआ तू (प्रस्थितान् सोमान् पाहि) फैलाये सोमरसोंको पी ॥ २ ॥ (ऋ. ७।९८।२)

(जज्ञानः सोमं सहसे प्र पपाथ) जन्मते ही सोमको बलके लिये पीया था। (माता ते महिमानं उवाच) तेरी माता– अदितिने तेरी महिमाका वर्णन किया था। हे इन्द्र ! (उरु अन्तरिक्षं आ पप्राथ) विस्तीर्ण अन्तरिक्षको तूने भर दिया और (युधा देवेभ्यः वरिवः चकर्थ) युद्धसे देवोंके लिये श्रेष्ठपन प्राप्त कर दिया ॥ ३ ॥ (ऋ. ७।९८।३)

(यत् महतो मन्यमानान् योधय) जब तूने अपने आपको बडे माननेवालोंको युद्धमें प्रवृत्त किया, (तान् शाश-दानान् बाहुभिः साक्षाम) उन घमंड माननेवालोंको हम अपने बाहुओंसे पराभूत करेंगे। (यत् वा) किंवा हे इन्द्र ! (नृभिः वृतः अभियुध्याः) वीरोंसे घिरा हुआ तू युद्ध करता है, (तं आजिं त्वया सौश्रवसं जयेम) उस युद्धको हम तेरे साथ रहकर यशस्वी रीतिसे जीतेंगे ॥ ४ ॥ (ऋ. ७।९८।४)

प्रेन्द्रस्य वोचं प्रथमा कृतानि प्र नूतना मघवा या चकार।
यदेददेवीरसहिष्ट माया अथाभवत्केवलः सोमो अस्य ॥ ५ ॥
तवेदं विश्वमभितः पशव्यं१ यत्पश्यसि चक्षसा सूर्यस्य।
गवामसि गोपतिरेक इन्द्र भक्षीमहि ते प्रयतस्य वस्वः ॥ ६ ॥
बृहस्पते युवमिन्द्रश्च वस्वो दिव्यस्येशाथे उत पार्थिवस्य।
धत्तं रयिं स्तुवते कीरये चिद्यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ ७ ॥ (५४०)

[सूक्त ८८]

(ऋषिः — १-६ वामदेवः। देवता — बृहस्पतिः।)

यस्तस्तम्भ सहसा वि ज्मो अन्तान्बृहस्पतिस्त्रिषधस्थो रवेण।
तं प्रत्नास ऋषयो दीध्यानाः पुरो विप्रा दधिरे मन्द्रजिह्वम् ॥ १ ॥
धुनेतयः सुप्रकेतं मदन्तो बृहस्पते अभि ये नस्ततस्रे।
पृषन्तं सृप्रमदब्धमूर्वं बृहस्पते रक्षतादस्य योनिम् ॥ २ ॥

(**इन्द्रस्य प्रथमा कृतानि**) इन्द्रके पहिले किये हुए कर्मोंका (**प्र वोचं**) मैं वर्णन करता हूं (**मघवा नूतना या प्र चकार**) और इन्द्रने जो नवीन कर्तव्य किये हैं। (**यदा अदेवीः मायाः इत् असहिष्ट**) जब असुरोंके कपटोंको पराभूत किया (**अथ अस्य केवलः सोमः अभवत्**) तब केवल इसीका सोम हुआ ॥ ५ ॥ (ऋ. ७।९८।५)

(**इदं विश्वं पशव्यं अभितः तव**) तेरा यह सब पशुजगत् चारों ओर है। (**यत् सूर्यस्य चक्षसा पश्यसि**) जो तू सूर्यकी आंखसे देखता है (**इन्द्र! गवां एकः गोपतिः असि**) हे इन्द्र! तू गौओंका अकेला गोपालक है, (**ते प्रयतस्य वस्वः भक्षीमहि**) तेरे दिये धनका हम भोग करेंगे ॥ ६ ॥ (ऋ. ७।९८।६)

७ देखो अथर्व. २०।१७।१२। (ऋ. ७।९८।७)

इस सूक्तमें इन्द्रका विशेष वर्णन यह है—

१ यत् महतो मन्यमानान् योधय, तान् शासदानान् बाहुभिः साक्षाम— जब बडे घमंडी वीरोंसे युद्ध हुआ, तब उनको बाहुओंसे हमने पराभूत किया।

२ नृभिः वृतः अभियुध्याः तं आजिं त्वया सौश्रवसं जयेम— जब तू वीरोंके साथ युद्ध करने लगा तब उस युद्धमें तेरे साथ रहकर हम यशस्वी रीतिसे विजयी होंगे।

३ इन्द्रस्य प्रथमा कृतानि प्र वोचं— इन्द्रके पहिले पराक्रमोंका वर्णन मैंने किया।

४ मघवा नूतना या प्र चकार— इन्द्रने नये पराक्रम किये उनका भी वर्णन किया।

५ यदा अदेवीः माया असहिष्ट— असुरोंकी कपटनीतिका जब उसने पराभव किया।

६ इन्द्र! गवां एकः गोपतिः असि, ते प्रयतस्य वस्वः भक्षीमहि— हे इन्द्र! तू गौओंका एक स्वामी है, तेरे दिये धनका हम भोग करेंगे।

(सूक्त ८८)

(**त्रिषधस्थः बृहस्पतिः**) तीन स्थानोंमें रहनेवाले बृहस्पतिने (**ज्मः अन्तान्**) पृथिवीके अन्तोंको (**रवेण सहसा वि तस्तम्भ**) गर्जनाके साथ स्थिर किया। (**तं मन्द्रजिह्वं**) उस आनंदित भाषण करनेवाले बृहस्पतिको (**प्रत्नासः दीध्यानाः विप्राः ऋषयः**) प्राचीन ध्यान करनेवाले विशेष ज्ञानी ऋषियोंने (**पुरः दधिरे**) सामने स्थापन किया ॥ १ ॥ (ऋ. ४।५०।१)

हे बृहस्पते! (**धुनेतयः सुप्रकेतं मदन्तः**) गतिमान् शुभ चिन्होंसे आनंदित होनेवाले (**ये नः अभि ततस्रे**) जिन्होंने हमपर दबाव डाला है, उनके (**पृषन्तं**) सिंचन करनेवाले (**सृप्रं अदब्धं ऊर्वं**) गतिमान् अहिंसित और विस्तीर्ण (**अस्य योनिं**) ऐसे इसके उत्पत्तिस्थानकी, हे बृहस्पते! (**रक्षतात्**) सुरक्षा कर ॥ २ ॥ (ऋ. ४।५०।२)

बृह॑स्पते॒ या प॑र॒मा प॑रा॒वदत॒ आ त॑ ऋत॒स्पृशो॒ नि षे॑दुः ।
तुभ्यं॑ खा॒ता अ॑व॒ता अद्रि॑दुग्धा॒ मध्व॑ श्चोतन्त्य॒भितो॑ विर॒प्शम् ॥ ३ ॥
बृह॒स्पति॑ः प्रथ॒मं जाय॑मानो म॒हो ज्योति॑षः पर॒मे व्यो॑मन् ।
स॒प्तास्य॑स्तुविजा॒तो रवे॑ण॒ वि स॒प्तर॑श्मिरधम॒त्तमां॑सि ॥ ४ ॥
स सु॒ष्टुभा॒ स ऋक्व॑ता ग॒णेन॑ व॒लं रु॑रोज फलि॒गं रवे॑ण ।
बृह॒स्पति॑रु॒स्रिया॑ हव्य॒सूद॑ः कनि॑क्रद॒द्वाव॑शती॒रुदा॑जत् ॥ ५ ॥
ए॒वा पि॒त्रे वि॒श्वदे॑वाय॒ वृष्णे॑ य॒ज्ञैर्वि॑धेम॒ नम॑सा ह॒विर्भि॑ः ।
बृह॑स्पते सु॒प्रजा वी॒रव॑न्तो व॒यं स्या॑म॒ पत॑यो र॒यीणा॑म् ॥ ६ ॥ (५४६)

[सूक्त ८९]

(ऋषिः — १-११ कृष्णः । देवता — इन्द्रः ।)

अस्ते॑व॒ सु प्र॑त॒रं लाय॒मस्य॒न्भूष॑न्निव॒ प्र भ॑रा॒ स्तोम॑मस्मै ।
वा॒चा वि॑प्रास्तरत॒ वाच॑म॒र्यो नि रा॑मय जरि॒तः सोम॒ इन्द्र॑म् ॥ १ ॥
दोहे॑न॒ गामुप॑ शिक्षा॒ सखा॑यं॒ प्र बो॑धय जरितर्जा॒रमिन्द्र॑म् ।
कोशं॒ न पू॒र्णं वसु॑ना॒ न्यृ॑ष्टमा च्या॑वय मघ॒देया॑य॒ शूर॑म् ॥ २ ॥

हे बृहस्पते ! (**या परमा**) जो दूर स्थान हैं, (**ते ऋतस्पृशः**) वे सत्यको स्पर्श करनेवाले (**परावत् अतः आ निषेदुः**) उस दूर स्थानसे आकर यहां बैठे हैं। (**तुभ्यं खाताः अवताः**) तेरे लिये खोदे कूवेके समान (**अद्रिदुग्धाः**) पत्थरोंसे कूटकर निकाली (**मध्वः विरप्शं अभितः श्चोतन्ति**) मधुर रसकी नहरें चारों ओर बह रहीं हैं ॥ ३ ॥ (ऋ. ४।५०।३)

बृहस्पति (**प्रथमं**) पहिले (**महो ज्योतिषः परमे व्योमन्**) बडी ज्योतीसे परम आकाशमें (**जायमानः**) उत्पन्न हुआ। (**सप्त-आस्यः**) सात मुखोंवाला (**तुविजातः**) बहुतोंमें प्रकट हुआ इस (**सप्तरश्मिः**) सात किरणोंवालेने (**रवेण तमांसि अधमत्**) बडे शब्दसे अन्धकारको दूर किया ॥ ४ ॥ (ऋ. ४।५०।४)

(**स सुष्टुभा**) उसने उत्तम स्तुतिसे (**स ऋकता गणेन**) उसने स्तोत्रोंके गणोंके (**रवेण फलिगं वलं रुरोज**) शब्दसे दुष्ट बलको तोड दिया। (**बृहस्पतिः**) बृहस्पतिने (**हव्यसूदः उस्रियाः**) हव्यको स्वादु बनानेवाली (**वावशतीः कनिक्रदत् उदाजत्**) शब्द करनेवाली गौओंको गर्जना करते हुए हांक दिया ॥ ५ ॥ (ऋ. ४।५०।५)

(**एवा वृष्णे पित्रे विश्वदेवाय**) इस तरह शक्तिमान् पिता विश्वदेवका (**यज्ञैः नमसा हविर्भिः विधेम**) यज्ञ नमस्कार और हविसे सत्कार करें। हे बृहस्पते ! (**सुप्रजा वीरवन्तः वयं स्याम**) उत्तम प्रजा और पुत्रपौत्रोंसे युक्त हम हों तथा हम (**रयीणां पतयः**) धनोंके स्वामी बनेंगे ॥ ६ ॥ (ऋ. ४।५०।६)

(सूक्त ८९)

(**अस्ता इव लायं प्रतरं सु अस्यन्**) जैसा बाण फेंकनेवाला बाणको दूर फेंकता है, कोई किसीको जैसा (**भूषन् इव**) सुभूषित करता है उस तरह (**अस्मै स्तोमं प्र भरं**) इस इन्द्रके लिये स्तोत्र अर्पण करो। हे (**विप्राः**) ज्ञानियो ! (**वाचा अर्यः वाचं तरत**) अपनी शुभवाणीसे शत्रुकी दुष्ट वाणीको तेर कर परे जाओ। हे (**जरितः**) स्तुति करनेवाले ! (**इन्द्रं सोमे नि रामय**) इन्द्रको सोममें रममाण करो ॥ १ ॥ (ऋ. १०।४२।१)

(**दोहे न गां**) दोहन कालमें जैसे गौको बुलाते हैं, उस तरह (**सखायं उप शिक्ष**) मित्र इन्द्रको अपने पास बुलाओ। हे (**जरितः**) स्तोता ! (**जारं इन्द्रं प्र बोधय**) प्यार करनेवाले इन्द्रको जगाओ। (**पूर्णं कोशं न**) धनसे

किमङ्ग त्वा मघवन्भोजमाहुः शिशीहि मा शिशयं त्वा शृणोमि ।
अप्नस्वती मम धीरस्तु शक्र वसुविदं भगमिन्द्रा भरा नः ॥ ३ ॥
त्वां जना ममसत्येष्विन्द्र संतस्थाना वि ह्वयन्ते समीके ।
अत्रा युजं कृणुते यो हविष्मान्नासुन्वता सख्यं वष्टि शूरः ॥ ४ ॥
धनं न स्पन्द्रं बहुलं यो अस्मै तीव्रान्त्सोमाँ आसुनोति प्रयस्वान् ।
तस्मै शत्रून्त्सुतुकान्प्रातरह्नो नि स्वष्ट्रान्युवति हन्ति वृत्रम् ॥ ५ ॥
यस्मिन्वयं दधिमा शंसमिन्द्रे यः शिश्राय मघवा काममस्मे ।
आराच्चित्सन्भयतामस्य शत्रुर्न्यस्मै द्युम्ना जन्या नमन्ताम् ॥ ६ ॥
आराच्छत्रुमप बाधस्व दूरमुग्रो यः शम्बः पुरुहूत तेन ।
अस्मे धेहि यवमद्गोमदिन्द्र कृधी धियं जरित्रे वाजरत्नाम् ॥ ७ ॥
प्र यमन्तर्वृषसवासो अग्मन्तीव्राः सोमा बहुलान्तास इन्द्रम् ।
नाह दामानं मघवा नि यंसन्नि सुन्वते वहति भूरि वामम् ॥ ८ ॥

पूर्ण भरे थैलेके समान (वसुना स्पृष्टं शूरं) धनके बोझसे नीचे झुके शूर इन्द्रको (मघदेयाय आ च्यावय) धन देनेके लिये हिला दो ॥ २ ॥ (ऋ. १०।४२।२)

हे (अंग मघवन्) प्रिय धनवान् इन्द्र। (किं त्वा भोजं आहुः) क्या तुझे उदार दाता कहते हैं ? (मा शिशीहि) मुझे तीक्ष्ण कर। (त्वा शिशयं शृणोमि) तुझे तीक्ष्ण बनानेवाला करके सुनता हूं। हे (शक्र) समर्थ इन्द्र ! (मम धीः अप्नस्वती अस्तु) मेरी बुद्धि कर्म करनेमें प्रेम रखनेवाली हो। हे इन्द्र ! (वसुविदं भगं नः आ भर) धन देनेवाला भाग्य हमारे लिये ला दे ॥ ३ ॥

(ऋ. १०।४२।३)

हे इन्द्र ! (जनाः ममसत्येषु संतस्थानाः) लोग युद्धोंमें खडे रहे (समीके त्वां विह्वयन्ते) युद्धमें तुझे बुलाते हैं। (अत्र यः हविष्मान्) यहां जो हविष्यान्नका हवन करता है (युजं कृणुते) वह इन्द्र उसको मित्र बनाता है (असुन्वता सख्यं शूरः न वष्टि) सोम रस न निकालनेवालेके साथ शूर इन्द्र मित्रता नहीं करना चाहता ॥ ४ ॥ (ऋ. १०।४२।४)

(यः प्रयस्वान्) जो प्रयत्न करनेवाला (बहुलं स्पन्द्रं धनं न) बडे रसयुक्त धनकी तरह (तीव्रान् सोमान् आ सुनोति) तीव्र सोमरस निकालता है (तस्मै अह्नः प्रातः) उसके लिये दिनके सवेरेके समय (सुतुकान् स्वष्ट्रान् शत्रून् नि युवति) उत्तम संतानवाले और उत्तम अस्त्रवाले शत्रुओंको भी वह इन्द्र दूर करता है और (वृत्रं हन्ति) वृत्रको-घेरनेवाले शत्रुको-मारता है ॥ ५ ॥

(ऋ. १०।४२।५)

(यस्मिन् इन्द्रे वयं शंसं दधिम) जिस इन्द्रमें हम अपना स्तोत्र धरते या गाते हैं (यः मघवा अस्मे कामं शिश्राय) जो इन्द्र हमारे विषयमें प्रेम रखता है, (अस्य शत्रुः आरात् चित् सन् भयतां) इसका शत्रु दूरसे भी इसे डरता है, (अस्मै द्युम्ना जन्या नि नमन्तां) इसके सामने मानवोंके संबंधके सारे तेज विनम्र होकर रहेंगे ॥ ६ ॥

(ऋ. १०।४२।६)

(शत्रुं आरात् दूरं) शत्रुको दूरसे दूर, हे (पुरुहूत) बहुतों द्वारा बुलाये जानेवाले इन्द्र ! (यः उग्रः शम्बः तेन) जो तुम्हारा उग्र वज्र है उससे (अप बाधस्व) मार कर हटा दे। हे इन्द्र ! (अस्मे यवमत् गोमत् धेहि) हमें जौ और गौओंके साथ रहनेवाला धन दे। (जरित्रे धियं वाजरत्नां कृधि) स्तोताके लिये उसकी बुद्धिको अन्न और रत्नोंसे युक्त कर ॥ ७ ॥ (ऋ. १०।४२।७)

(वृषसवासः यं अग्मन्) बलवान् इन्द्रके अन्दर (तीव्राः सोमाः बहुलान्तासः) तीव्र सोम बहुत प्रकारसे

उत प्रहामतिदीवा जयति कृतमिव श्वघ्नी वि चिनोति काले ।
यो देवकामो न धनं रुणद्धि समित्तं रायः सृजति स्वधाभिः ॥ ९ ॥
गोभिष्टरेमामतिं दुरेवां यवेन वा क्षुधं पुरुहूत विश्वे ।
वयं राजसु प्रथमा धनान्यरिष्टासो वृजनीभिर्जयेम ॥ १० ॥
बृहस्पतिर्नः परि पातु पश्चादुतोत्तरस्मादधरादघायोः ।
इन्द्रः पुरस्तादुत मध्यतो नः सखा सखिभ्यो वरीयः कृणोतु ॥ ११ ॥ (५५७)

[सूक्त ९०]

(ऋषिः — १-३ भरद्वाजः । देवता — बृहस्पतिः ।)

यो अद्रिभित्प्रथमजा ऋतावा बृहस्पतिराङ्गिरसो हविष्मान् ।
द्विबर्हज्मा प्राघर्मसत्पिता न आ रोदसी वृषभो रोरवीति ॥ १ ॥

(प्र अग्मन्) गये। (मघवा दामानं न अह नि यंसत्) धनवान् इन्द्र अपने दानको नहीं रोकता, (सुन्वते भूरि वामं नि वहति) सोमरस निकालनेवालेके लिये बहुत धन देता है ॥ ८ ॥ (ऋ. १०।४२।८)

९—१० देखो अथर्व ७।५० (५२) । ६-७;
११ देखो अथर्व ७।५१ (५३) १ ।

इस सूक्तमें इन्द्रके ये गुण दिखाये हैं—

१ **वसुना नृष्टं शूरं मघदेयाय आच्यावय**— धनवान् शूर इन्द्रको धन देनेके लिये प्रेरित कर ।

२ **त्वा शिक्षयं शृणोमि**— तू तीक्ष्ण करनेवाला है ऐसा मैं सुनता हूं ।

३ **वसुविदं भगं नः आ भर**— धनसे परिपूर्ण भाग्य हमें ला दे ।

४ **ममसत्येषु संस्थाना जना समीके त्वा विह्वयन्ते**— युद्धोंमें खडे रहे लोग युद्धके समय तुझे सहायतार्थ बुलाते हैं ।

५ **युजं कृणुते**— वह मित्र करता है ।

६ **सुतुकान् स्वश्वान् (सु-अश्वान्) शत्रून् नि युवति**— उत्तम वीर संतानवाले और उत्तम अश्ववाले शत्रुओंको भी वह दूर करता है ।

७ **वृत्रं हन्ति**— वृत्रको मारता है, घेरनेवाले शत्रुको मारता है ।

८ **अस्य शत्रुः आरात् चित् सन् भयते**— इस इन्द्रके शत्रु दूरसे भी इसको डरते हैं ।

९ **अस्मै द्युम्ना जन्या नि नमन्त**— इसके सामने मानवोंके सारे तेजस्वी प्रधान नम्र होते हैं ।

१० **हे पुरुहूत ! यः उग्रः शम्बः तेन आरात् शत्रुं दूरं अप बाधय**— हे बहुतों द्वारा बुलाये जानेवाले इन्द्र ! जो तुम्हारा उग्र वज्र है उससे दूरसे ही शत्रुको पराभूत कर ।

११ **अस्मे यवमत् गोमत् धेहि**— हमें जौ और युक्त धन दे ।

१२ **जरित्रे धियं वाजरत्नां कृधि**— स्तोताकी बुद्धिको अन्न और रत्नोंसे युक्त कर ।

१३ **मघवा दामानं न नि यंसत्**— इन्द्र दानको रोकता नहीं ।

१४ **सुन्वते भूरि वामं नि वहति**— यज्ञकर्ताको बहुत उत्तम धन देता है ।

(सूक्त ९०)

(यः अद्रिभित्) जो पहाडी किलोंको तोडनेवाला, (प्रथमजाः) प्रथम उत्पन्न, (ऋतावा) सरलतासे युक्त, (हविष्मान्) हविसे युक्त (आंगिरसः बृहस्पतिः) अंगिरसका पुत्र बृहस्पति (द्विबर्हज्मा) दो मार्गोवाला, (घर्मसद्) यज्ञस्थानमें रहनेवाला (नः पिता) हमारा पिता (वृषभः) बलवान् (रोदसी आ रोरवीति) द्यौ और पृथिवीके मध्यमें बडा शब्द करता है ॥ १ ॥
(ऋ. ६।७३।१)

जनाय चिद्य ईवत उ लोकं बृहस्पतिर्देवहूतौ चकार ।
घ्नन्वृत्राणि वि पुरो दर्दरीति जयं छत्रूँरमित्रान्पृत्सु साहन् ॥ २ ॥
बृहस्पतिः समजयद्वसूनि महो व्रजान्गोमतो देव एषः ।
अपः सिषासन्त्स्व१रप्रतीतो बृहस्पतिर्हन्त्यमित्रमर्कैः ॥ ३ ॥ (५६०)

॥ इति सप्तमोऽनुवाकः ॥७॥

[सूक्त ९१]

(ऋषिः — १-१९ अयास्यः । देवता — बृहस्पतिः ।)

इमां धियं सप्तशीर्ष्णीं पिता न ऋतप्रजातां बृहतीमविन्दत् ।
तुरीयं स्विज्जनयद्विश्वजन्योऽयास्य उक्थमिन्द्राय शंसन् ॥ १ ॥
ऋतं शंसन्त ऋजु दीध्याना दिवस्पुत्रासो असुरस्य वीराः ।
विप्रं पदमङ्गिरसो दधाना यज्ञस्य धाम प्रथमं मनन्त ॥ २ ॥

(**यः बृहस्पतिः ईवते जनाय चित् लोकं उ**) वह बृहस्पति उत्तम लोगोंके लिये खुला स्थान (**देवहूतौ चकार**) देवोंके आह्वान करनेके यज्ञमें करता है । (**वृत्राणि घ्नन्**) वृत्रोंको मारता है, (**पुरः वि दर्दरीति**) शत्रुके किलोंको तोडता है, (**शत्रून् जयन्**) शत्रुओंको जीतता है और (**अमित्रान् पृत्सु साहन्**) संग्रामोंमें अमित्रोंको पराभूत करता है ॥ २ ॥ (ऋ. ६।७३।२)

(**बृहस्पतिः वसूनि समजयत्**) बृहस्पतिने धनोंको जीत लिया । (**एष देवः महो गोमतः व्रजान्**) इस देवने बडे गौओंवाले बाडोंको जीता । (**अपः सिषासन्**) जलोंको प्राप्त करना चाहा और (**स्वः**) प्रकाशको प्राप्त करना चाहा (**अप्रतीतः बृहस्पतिः**) पीछे न हटनेवाले बृहस्पतिने (**अर्कैः अमित्रं हन्ति**) स्तोत्रोंसे-तेजोंसे-शत्रुको मारा ॥ ३ ॥ (ऋ. ६।७३।३)

बृहस्पतिके ये गुण इस सूक्तमें कहे हैं—

१ अद्रिभित् ऋतावा यर्मसत् हविष्मान् वृषभः द्विबर्हज्मा प्रथमजाः— शत्रुके किलोंको तोडता है, सत्य-मार्गसे जानेवाला, यज्ञमें बैठनेवाला, हविसे युक्त बलवान्, दोनों मार्गोंसे जानेवाला प्रथम उत्पन्न बृहस्पति है । **द्विबर्हज्मा—** दो शिखावाला, दो मार्गोंसे जानेवाला ।

२ वृत्राणि घ्नन्— वृत्रोंको मारता है ।

३ पुरः दर्दरीति— शत्रुके किलोंको तोडता है ।

४ शत्रून् जयन्— शत्रुओंको जीतता है ।

५ अमित्रान् पृत्सु साहन्— शत्रुको युद्धोंमें पराभूत करता है ।

६ बृहस्पतिः वसूनि समजयत्— बृहस्पति धनोंको जीतता है ।

७ एष देवः महो गोमतः व्रजान् समजयत्— इस देवने बडे गौओंवाले बाडोंको जीता ।

८ अप्रतीतः बृहस्पतिः अर्कैः अमित्रं हन्ति— पीछे न हटनेवाला, बृहस्पति अपने तेजस्वी साधनोंसे शत्रुको मारता है । **अर्क—** किरण, तेजस्वी शस्त्र ।

॥ **यहां सप्तम अनुवाक समाप्त** ॥

(सूक्त ९१)

(**नः पिता**) हमारे पिताने (**इमां सप्तशीर्ष्णी ऋत-प्रजातां बृहतीं धियं**) इस सात सिरोंवाली ऋतसे उत्पन्न हुई बडी स्तुतिको (**अविन्दत्**) प्राप्त किया । (**अयास्यः इन्द्राय उक्थं शंसन्**) अयास्यने इन्द्रके लिये स्तुति कहनेके समय, (**विश्वजन्यः**) सब मानवोंका हित करनेकी इच्छासे (**तुरीयं स्वित् जनयत्**) चतुर्थको निर्माण किया ॥ १ ॥ (ऋ. १०।६७।१)

(**ऋतं शंसन्तः**) ऋतको कहनेवाले, (**ऋजु दीध्यानाः**) सरल रीतिसे सोचनेवाले, (**असुरस्य वीराः**) बलवान्के वीर (**दिवस्पुत्रासः**) द्युके पुत्र (**विप्रं पदं दधानाः**

हंसैरिव सखिभिर्वावदद्भिरश्मन्मयानि नहना व्यस्यन् ।
बृहस्पतिरभिकनिक्रदुद्गा उत प्रास्तौदुच्च विद्वाँ अगायत् ॥ ३ ॥
अवो द्वाभ्यां पर एकया गा गुहा तिष्ठन्तीरनृतस्य सेतौ ।
बृहस्पतिस्तमसि ज्योतिरिच्छन्नुद्रुस्रा आकर्वि हि तिस्र आवः ॥ ४ ॥
विभिद्या पुरं शयथेमपाचीं निस्त्रीणि साकमुदधेरकृन्तत् ।
बृहस्पतिरुषसं सूर्यं गामर्कं विवेद स्तनयन्निव द्यौः ॥ ५ ॥
इन्द्रो वलं रक्षितारं दुघानां करेणेव वि चकर्ता रवेण ।
स्वेदाञ्जिभिराशिरमिच्छमानोऽरोदयत्पणिमा गा अमुष्णात् ॥ ६ ॥
स ईं सत्येभिः सखिभिः शुचद्भिर्गोधायसं वि धनसैरदर्दः ।
ब्रह्मणस्पतिर्वृषभिर्वराहैर्घर्मस्वेदेभिर्द्रविणं व्यानट् ॥ ७ ॥
ते सत्येन मनसा गोपतिं गा इयानास इषणयन्त धीभिः ।
बृहस्पतिर्मिथोअवद्यपेभिरुदुस्रिया असृजत स्वयुग्भिः ॥ ८ ॥

अंगिरसः) विप्रका पद धारण करनेवाले अंगिरसोंने **(यज्ञस्य धाम प्रथमं मनन्त)** यज्ञके नियम प्रथम मनन किये अथवा माने ॥ २ ॥ (ऋ. १०।६७।२)

(हंसैः इव) हंसोंके समान **(वावदद्भिः सखिभिः)** बोलनेवाले मित्रोंके साथ [मरुतोंके साथ] **(अश्मन्मयानि नहना व्यस्यन्)** पत्थरोंके बन्धनोंको खोलकर **(बृहस्पतिः गाः अभिकनिक्रदत्)** बृहस्पतिने गौओंकी ओर गर्जना की **(उत् प्रास्तौत्)** और स्तुति की, **(विद्वान् उच्च अगायत्)** जानते हुए उसीने उच्च स्वरसे गायन किया ॥ ३ ॥ (ऋ. १०।६७।३)

(अवः द्वाभ्यां) नीचे दोनोंके साथ **(पर एक या)** और परे एकके साथ **(गुहा तिष्ठन्तीः अनृतस्य सेतौ)** गुहामें अनृतके सेतुमें रहनेवाली **(तिस्रः गाः)** तीन गौओंको **(बृहस्पतिः तमसि ज्योतिः इच्छन्)** बृहस्पतिने अन्धकारमें तेजकी इच्छा करके **(आवः वि आकः)** प्रकट किया ॥ ४ ॥ (ऋ. १०।६७।४)

(अपाचीं पुरं विभिद्य) पश्चिमी किलेको तोडकर **(ईं शयथ)** पास रहकर **(साकं त्रीणि उदधेः अकृन्तत्)** साथ साथ तीनोंको समुद्रसे निकाला । **(द्यौः इव स्तनयन्)** द्युके समान गर्जते हुए **(बृहस्पतिः)** बृहस्पतिने **(उषसं सूर्यं गां)** उषा, सूर्य, गौ और **(अर्कं विवेद)** विद्युत्को प्राप्त किया ॥ ५ ॥ (ऋ. १०।६७।५)

(इन्द्रः दुघानां रक्षितारं वलं) इन्द्रने गौओंके रक्षण करनेवाले बलको **(करेण इव रवेण वि चकर्त)** हाथसे तथा गर्जनासे काटा । **(स्वेदाञ्जिभिः आशिरं इच्छमानः)** आभूषणोंवाले मरुतोंके साथ दुग्धपानकी इच्छा करनेवाले इन्द्रने **(गाः अमुष्णात्)** गौओंको छीन लिया और **(पणिं आ अरोदयत्)** पणिको रुलाया ॥ ६ ॥ (ऋ. १०।६७।६)

(सः ईं) उसने **(सत्येभिः शुचद्भिः धनसैः सखिभिः)** सत्य शुचि धनके दान करनेवाले मित्रों [मरुतों] के साथ रहकर **(गो-धायसं वि अदर्दः)** गौओंको पकड कर रखनेवाले [वल] को फाड दिया । **(ब्रह्मणस्पतिः घर्मस्वेदेभिः वराहैः वृषभिः)** ब्रह्मणस्पतिने घर्मसे खेद जिनपर आया है, ऐसे बलवान् जलवाहक [मरुतों] के द्वारा **(द्रविणं व्यानट्)** धनको प्राप्त किया ॥ ७ ॥ (ऋ. १०।६७।७)

(ते गाः इयानासः) वे गौओंसे प्यार करते हुए **(सत्येन मनसा)** सच्चे मनसे **(धीभिः गोपतिं इषणयन्तः)** और बुद्धिसे गौओंके पतिकी इच्छा करते हुए **(बृहस्पतिः अवद्यपेभिः स्वयुभिः)** बृहस्पतिने निर्दोष पान करनेवाले मित्रोंके साथ **(उस्रियाः असृजत)** गौओंको खोल दिया ॥ ८ ॥ (ऋ. १०.६७।८)

तं वर्धयन्तो मतिभिः शिवाभिः सिंहमिव नानदतं सधस्थे ।
बृहस्पतिं वृषणं शूरसातौ भरेभरे अनु मदेम जिष्णुम् ॥ ९ ॥
यदा वाजमसनद्विश्वरूपमा द्यामरुक्षदुत्तराणि सद्म ।
बृहस्पतिं वृषणं वर्धयन्तो नाना सन्तो बिभ्रतो ज्योतिरासा ॥ १० ॥
सत्यामाशिषं कृणुता वयोधै कीरिं चिद्ध्यवथ स्वेभिरेवैः ।
पश्चा मृधो अप भवन्तु विश्वास्तद्रोदसी शृणुतं विश्वमिन्वे ॥ ११ ॥
इन्द्रो मह्ना महतो अर्णवस्य वि मूर्धानमभिनदर्बुदस्य ।
अहन्नहिमरिणात्सप्त सिन्धून्देवैर्द्यावापृथिवी प्रावतं नः ॥ १२ ॥ (५७०)

(**सधस्थे सिंहं नानदतं इव**) सभामें शेरके समान गरजते हुएके समान (**शिवाभिः मतिभिः तं वर्धयन्तः**) शुभ स्तोत्रोंसे उसको बढाते हुए (**वृषणं जिष्णुं बृहस्पतिं**) बलवान् जयशील बृहस्पतिको (**भरे भरे शूरसातौ अनु मदेम**) प्रत्येक युद्धमें शूरोंको विजय देनेवाले संग्राममें आनन्द हो ऐसा करें ॥ ९ ॥ (ऋ. १०।६७।९)

(**यदा विश्वरूपं वाजं असनत्**) जब उसने सब प्रकारके बलको जीता और (**उत्तराणि सद्म द्यां अरुक्षत्**) जब वह द्यौमें ऊँचे घरोंपर वह चढा तब (**वृषणं बृहस्पतिं वर्धयन्तः**) बलशाली बृहस्पतिको बढाते हुए (**आसा ज्योतिः बिभ्रतः सन्तः नाना**) मुखसे ज्योतिको धारण करनेवाले नाना प्रकारके स्तोत्र बोलने लगे ॥ १० ॥

(ऋ. १०।६७।१०)

(**आशिषं सत्यां कृणुत**) आशीर्वादको सचा करो। (**स्वेभिः एवैः वयोधै कीरिं चित् हि अवथ**) आयुष्यका धारण करनेवाली अपनी गतियोंसे कविकी रक्षा करो। (**विश्वा मृधः पश्चा अप भवन्तु**) सब शत्रु पीछे भाग जांय। (**विश्वं इन्वे रोदसी**) सबके बनानेवाले द्यु और पृथिवी (**शृणुतं**) मेरी प्रार्थना सुनें ॥ ११ ॥

(ऋ. १०।६७।११)

(**इन्द्रः मह्ना**) इन्द्रने अपनी महिमासे (**महतः अर्णवस्य अर्बुदस्य**) बडे सागर-अन्तरिक्ष-के अर्बुदका (**मूर्धानं वि अभिनत्**) सिरको तोडा, (**अहिं अहन्**) अहिको मारा, (**सप्त सिन्धून् अरिणात्**) सात नदियोंको बहाया (**द्यावापृथिवी देवैः**) द्यौ और पृथिवी सब देवोंके साथ (**नः प्रावतं**) हमारी रक्षा करें ॥ १२ ॥

(ऋ. १०।६७।१२)

इस सूक्तमें बृहस्पति और इन्द्रके ये गुण वर्णन किये हैं—

१ **नः पिता इमां सप्तशीर्ष्णीं ऋतप्रजातां बृहतीं धियं अविन्दत्—** हमारा पिता-बृहस्पति-ने सात सिरोंवाली सरलताके लिये प्रसिद्ध बडी बुद्धि प्राप्त की। **सप्तशीर्ष्णी धी—** सात सिरोंवाली बुद्धि, कर्मशक्ति, दो आंख, दो कान, दो नाक, एक मुख मिलकर मननशक्तिके सात सिर हैं। इस संकेतकी अधिक खोज होनी चाहिये। यह पद यहां स्पष्ट अर्थ बतानेवाला नहीं है। इसमें जो गूढता है वह समझमें नहीं आयी है। विचारी पाठक अधिक खोज करें।

इस सूक्तका ऋषि अयास्य है। '**अयास्य आंगिरसः**' अर्थात् यह अयास्यका गोत्र आंगिरस है। इस प्रथम मंत्रमें '**नः पिता**' हमारा पिता ऐसा बृहस्पतिको उद्देशित करके कहता है ऐसा प्रतीत हो रहा है।

२ **अयास्यः इन्द्राय उक्थं शंसन्—** अयास्य इन्द्रकी स्तुति करता है '**विश्वजन्यः तुरीयं जनयत्**'- सब लोगोंका हित करनेकी इच्छासे चतुर्थ निर्माण किया। यह चतुर्थ क्या है इसका विचार निश्चित करना चाहिये। वह विद्वानोंका कार्य है।

३ **ऋतं शंसन्तः ऋजु दीध्यानाः असुरस्य वीराः दिवस्पुत्रासः विप्रं पदं दधानाः अंगिरसः यज्ञस्य धाम प्रथमं मनन्ते—** ऋतकी प्रशंसा करनेवाले, सीधी रीतिसे विचार करनेवाले बलवानके वीर द्युके पुत्र विप्र पद धारण करनेवाले अंगिरसोंने यज्ञका प्रथम स्थान मनन करके निश्चित किया। अंगिरसोंने यज्ञकी विधि प्रथम प्रकट की।

४ **वावदद्भिः सखिभिः अश्मन्मयानि नहना व्यस्यन्—** बोलनेवाले मित्रोंने-मरुतोंने-पत्थरोंसे बने किले तोड दिये और '**बृहस्पतिः गाः अभिकनिक्रदत्**'-

[सूक्त ९२]

(ऋषिः — १-१२ प्रियमेधा; १६-२१ पुरुहन्मा । देवता — इन्द्रः ।)

अभि प्र गोपतिं गिरेन्द्रमर्च यथा विदे । सूनुं सत्यस्य सत्पतिम् ॥ १ ॥
आ हरयः ससृज्रिरेऽरुषीरधि बर्हिषि । यत्राभि संनवामहे ॥ २ ॥
इन्द्राय गाव आशिरं दुदुह्रे वज्रिणे मधु । यत्सीमुपह्वरे विदत् ॥ ३ ॥
उद्यद्ब्रध्नस्य विष्टपं गृहमिन्द्रश्च गन्वहि । मध्वः पीत्वा सचेवहि त्रिः सप्त सख्युः पदे ॥ ४ ॥
अर्चत प्रार्चत प्रियमेधासो अर्चत । अर्चन्तु पुत्रका उत पुरं न धृष्ण्वर्चत ॥ ५ ॥

बृहस्पतिने गर्जना करके गौओंको बुलाया । अर्थात् असुरोंने गौवोंको चुराकर पत्थरोंसे बने किलेंमें रखी थी । बृहस्पतिने मरुतोंके द्वारा वे किले तोडे और गौओंको बुलाया ।

५ अवः द्वाभ्यां पर एकया गुहा तिष्ठन्ती अनृतस्य सेतौ तिस्रः गाः बृहस्पतिः ज्योतिः इच्छन् आवः वि आकः— दो ओरे एक परे ऐसी अवस्थामें गुहामें रहनेवाली असत्यवादी दुष्टके अधिकारमें तीन गौवें थीं, बृहस्पतिने ज्योतीकी इच्छा की और उन गौओंको बाहर निकाला ।

यहां प्रकाश किरणें गौवें प्रतीत हो रहीं हैं । उषाके पूर्व अन्धकार रहता है और प्रकाश किरण रूपी गौवें अन्धकारके कारण छिपी रहती है । उषःकाल होते ही अन्धकारका किला टूट जाता है और प्रकाशकी किरणें बाहर आती है । यह आलंकारिक वर्णन यहां है ऐसा प्रतीत हो रहा है ।

६ बृहस्पतिः उषसं सूर्यं गां अर्कं विवेद— बृहस्पतिने उषा, सूर्य, गौ (किरण) और विद्युत्को प्राप्त किया । इससे प्रकाश किरणें गौवें है ऐसा प्रतीत होता है ।

७ इन्द्रः वलं वि चकर्त, गाः असुष्णात्, पणिं आरोदयत्— इन्द्रने वलको मारा, गौओंको छुडाया, पणिको रुलाया ।

बल और पणि ये गौओंको चुरानेवाले हैं, इन्द्रने बलको मारा, गौवें प्राप्त की और पणिको रुलाया । गौवें इन्द्रने प्राप्त की इसलिये पणि रोने लगे ।

८ सः सखिभिः गो धायसं वि अदर्दः— उस इन्द्रने अपने मित्रों-मरुतोंके द्वारा गौओंको पकडकर रखनेवालेको मार दिया ।

९ वृषभिः द्रविणं व्यानट्— बलवान् मरुतोंके द्वारा शत्रुसे द्रव्य प्राप्त किया । बल और पणि ये शत्रु हैं, इनको पराभूत करके उनका धन इन्द्रने या बृहस्पतिने अपने अधीन किया । शत्रुका धन लूटना यह युद्धनीतिका नियम ही है ।

१० वृषणं जिष्णुं बृहस्पतिं भरे भरे शूरसातौ अनु मदेम— बलवान् जीतनेवाले बृहस्पतिका प्रत्येक युद्धमें जहां शूर पुरुषोंका ही काम होता है उस युद्धमें हम अनुमोदन करें ।

११ वृषणं बृहस्पतिं वर्धयन्तः— बलवान् बृहस्पतिकी हम स्तुति करके उसकी महिमाको बढाते हैं ।

१२ इन्द्र मह्ना अर्बुदस्य मूर्धानं वि अभिनत्— इन्द्रने अपनी महा शक्तिसे अर्बुदके सिरको काटा ।

१३ अहिः अहन्— अहिको मारा ।

१४ सप्त सिन्धून् अरिणात्— सात नदियोंको बहाया ।

शत्रुको मारा और नदियोंको बहाया । इन वर्णनोंसे ये शत्रु मेघ या पहाडपर पडनेवाला बर्फ है ऐसा प्रतीत होता है ।

(सूक्त ९२)

१-३ देखो अथर्व २०।२२।४-६ (ऋ. ८।६९।४-६)

(यद् ब्रध्नस्य विष्टपं गृहं) जब चमकनेवाले सूर्यके ऊंचे स्थानपर **(इन्द्रः च)** इन्द्र और मैं **(उद् गन्वहि)** चढे **(मध्वः पीत्वा)** मधुर सोमरस पीकर **(सख्युः त्रिः सप्त पदे सचेवहि)** हम दोनों सखाके स्थानपर तीन बार सात- २१ बार इकट्ठे हुए ॥ ४ ॥ (ऋ. ८।६९।७)

(अर्चत प्रार्चत) उपासना करो, खूब उपासना करो । **(प्रियमेधासः अर्चत)** हे प्रिय मेधो, उपासना करो **(उत पुत्रकाः अर्चन्तु)** छोटे बच्चे भी उपासना करें । **(धृष्णु पुरं न अर्चत)** वह अभेद्य किला है, ऐसा मानकर उपासना करो ॥ ५ ॥ (ऋ. ८।६९।८)

अव॑ स्वराति॒ गर्ग॑रो गो॒धा परि॑ सनिष्वणत् । पिङ्गा॒ परि॑ चनिष्कदु॒दिन्द्रा॑य॒ ब्रह्मोद्य॑तम् ॥ ६ ॥
आ यत्पत॑न्त्ये॒न्यः॑ सु॒दुघा॒ अन॑पस्फुरः । अ॒प॒स्फुरं॑ गृभायत॒ सोम॒मिन्द्रा॑य॒ पात॑वे ॥ ७ ॥
अपा॒दिन्द्रो॒ अपा॑द॒ग्निर्विश्वे॑ दे॒वा अ॑मत्सत ।
वरु॑ण॒ इदि॒ह क्ष॑य॒त्तमापो॒ अ॒भ्य॑नूषत॒ व॒त्सं सं॒शिश्व॑रीरिव ॥ ८ ॥
सु॒दे॒वो अ॑सि वरुण॒ यस्य॑ ते स॒प्त सिन्ध॑वः । अ॒नु॒क्षर॑न्ति का॒कुदं॑ सू॒र्म्यं॑ सुषि॒रामि॑व ॥ ९ ॥
यो व्यतीँ॒रफा॑णय॒त्सुयु॑क्ताँ॒ उप॑ दा॒शुषे॑ । त॒क्वो ने॒ता तदिद्वपु॑रु॒प॒मा यो अमु॑च्यत ॥ १० ॥
अती॑दु श॒क्र ओ॑हत॒ इन्द्रो॒ विश्वा॒ अति॒ द्विषः॑ । भि॒नत्क॒नीन॑ ओद॒नं प॒च्यमा॑नं प॒रो गि॒रा ॥ ११ ॥
अ॒र्भ॒को न कु॑मार॒कोऽधि॑ तिष्ठ॒न्नवं॒ रथ॑म् । स प॑क्षन्महि॒षं मृ॒गं पि॒त्रे मा॒त्रे वि॑भुक्र॒तुम् ॥ १२ ॥
आ तू सु॑शिप्र दंपते॒ रथं॑ तिष्ठा हिर॒ण्यय॑म् ।
अध॑ द्यु॒क्षं स॑चेवहि स॒हस्र॑पादमरु॒षं स्व॑स्ति॒गाम॑ने॒हस॑म् ॥ १३ ॥
तं घे॑मि॒त्था न॑म॒स्विन॒ उप॑ स्व॒राज॑मासते । अर्थं॑ चिदस्य॒ सुधि॑तं॒ यदेत॑व आव॒र्तय॑न्ति दा॒वने॑ ॥१४॥

(**गर्गरः अव स्वराति**) वीणा बज रही है, (**गोधा परि सनिष्वणत्**) तंबुरेने स्वर मिलाया है, (**पिंगा परि चनिष्कदत्**) मधुर स्वरवालेने आलाप निकाले हैं (**इन्द्राय ब्रह्म उद्यतम्**) इन्द्रके लिये स्तोत्र गाये जा रहे हैं ॥ ६ ॥ (ऋ. ८।६९।९)

(**यत् एन्यः सुदुघाः अनपस्फुरः**) जब रंगोंवाली, उत्तम दूध देनेवाली, न हिलनेवाली, (**अनपस्फुरं आ पतन्ति**) चञ्चल न होनेवाली गौवें आकर दूध मिलाती हैं (**इन्द्राय पातवे सोमं गृभायत**) इन्द्रके पीनेके लिये सोमका ग्रहण करो ॥ ७ ॥ (ऋ. ८।६९।१०)

(**इन्द्रः अपात्**) इन्द्रने पीया है, (**अग्नि अपात्**) अग्निने पीया है, (**विश्वे देवाः अमत्सत**) सब देवोंको आनन्द हुआ है। (**वरुणः इत् इह क्षयत्**) वरुण तो यहीं रहा है। (**आपः तं अभ्यनूषत**) जल शब्द करते हुए उनके समीप पहुंचा है (**संशिश्वरीः वत्सं इव**) गौवें जैसी बछडेके पास जाती हैं ॥ ८ ॥ (ऋ. ८।६९।११)

हे (**वरुण ! सुदेवः असि**) वरुण ! तू उत्तम देव है। (**सप्त सिन्धवः यस्य ते काकुदं अनुक्षरन्ति**) सात नदियां जिसकी तालुकी ओर चलती हैं (**सूर्म्यं सुषिरां इव**) जैसी वह खुले मुंहवाली द्रोणी है ॥ ९ ॥ (ऋ. ८।६९।१२)

(**यः दाशुषे उप**) जो दाताके पास (**सुयुक्तान् व्यतीन् अफाणयत्**) उत्तम जुडे तेज दौडनेवाले घोडोंको चलाता है, (**तक्वः नेता**) वह तेज नेता है, (**तत् इत् वपुः उपमा**) वह एक उपमा देने योग्य वीरका शरीर है, (**यः अमुच्यत**) जो दुष्टोंके द्वारा छोडा जाता है। दुष्ट उसको पकड नहीं सकते ॥ १० ॥ (ऋ. ८।६९।१३)

(**शक्रः इन्द्रः**) सामर्थ्यवान् इन्द्र (**विश्वाः द्विषः**) सब शत्रुओंको (**अति इत् अति ओहते**) दूर करता है। (**कनीनः**) छोटे होते हुए उस इन्द्रने (**गिरा पच्यमानं ओदनं परो भिनत्**) शब्दसे पकडनेवाला ओदन-मेघ-को तोड दिया ॥ ११ ॥ (ऋ. ८।६९।१४)

(**अर्भकः कुमारकः न नवं रथं अधि तिष्ठन्**) बहुत छोटा बालक होनेपर भी वह नये रथपर चढा। (**सः**) उसने (**पित्रे मात्रे**) अपने पिता और माताके लिये (**विभुक्रतुं महिषं मृगं**) बडी शक्तिवाले भैंस जैसे मृगको (**पक्षत्**) पकाया [काले मेघको तैयार किया] ॥ १२ ॥ (ऋ. ८।६९।१५)

हे (**सुशिप्र**) उत्तम हनुवाले इन्द्र ! हे (**दम्पते**) दमनशक्तिके स्वामिन् ! (**हिरण्ययं रथं आ तिष्ठ**) सुवर्णमय रथपर चढ, (**अध**) और पश्चात् हम (**द्यु-क्षं सहस्रपादं अरुषं**) द्युलोकमें रहनेवाले सहस्रों किरणोंवाले लाल (**स्वस्तिगां अनेहसं सचेवहि**) कल्याणमय गतिवाले निष्पाप [सूर्य] से मिलेंगे ॥ १३ ॥ (ऋ. ८।६९।१६)

(**तं स्वराजं घ ईं इत्था उप आसते**) उस स्वराट्की ऐसी उपासना करते हैं (**नमस्विने**) और उसको नमस्कार

अनु प्रत्नस्यौकसः प्रियमेधास एषाम् । पूर्वामनु प्रयतिं वृक्तबर्हिषो हितप्रयस आशत ॥१५॥
यो राजा चर्षणीनां याता रथेभिरध्रिगुः । विश्वासां तरुता पृतनानां ज्येष्ठो यो वृत्रहा गृणे ॥१६॥
इन्द्रं तं शुम्भ पुरुहन्मन्नवसे यस्य द्विता विधर्तरि ।
हस्ताय वज्रः प्रति धायि दर्शतो महो दिवे न सूर्यः ॥ १७ ॥
नकिष्टं कर्मणा नशद्यश्चकार सदावृधम् ।
इन्द्रं न यज्ञैर्विश्वगूर्तमृभ्वसमधृष्टं धृष्ण्वोजसम् ॥ १८ ॥
अषाल्हमुग्रं पृतनासु सासहिं यस्मिन्महीरुरुज्रयः ।
सं धेनवो जायमाने अनोनवुर्द्यावः क्षामो अनोनवुः ॥ १९ ॥
यद् द्याव इन्द्र ते शतं शतं भूमीरुत स्युः ।
न त्वा वज्रिन्त्सहस्रं सूर्या अनु न जातमष्ट रोदसी ॥ २० ॥
आ पप्राथ महिना वृष्ण्या वृषन्विश्वा शविष्ठ शवसा ।
अस्माँ अव मघवन्गोमति व्रजे वज्रिं चित्राभिरूतिभिः ॥ २१ ॥ (५.३)

करते हैं जिससे (अस्य सुधितं अर्थं चित् पतये) इसके शुभ अर्थको प्राप्त करनेके लिये और (दावने आवर्तयन्ति) दान देनेके लिये उसको इधर प्रेरित करते हैं ॥ १४ ॥

(ऋ. ८।६९।१७)

(वृक्त बर्हिषः) जिन्होंनें आसन फैलाये हैं, (हित-प्रयसः) हविको जिन्होंने स्थापन किया है अथवा हितकर प्रयत्न जिनके हैं, ऐसे (प्रियमेधासः) प्रियमेधोंने (एषां प्रत्नस्य ओकसः अनु) इनके पुराने घरके अनुकूल (पूर्वां प्रयतिं अनु आशत) पूर्व पद्धतिको प्राप्त किया ॥ १५ ॥

(ऋ. ८।६९।१८)

(यः चर्षणीनां राजा) जो मनुष्योंका राजा है, (अध्रिगुः) जो आगे बढता है, (रथेभिः याता) रथोंसे जो जाता है, (विश्वासां पृतनानां तरुता) सारी शत्रु-सेनाको जीतनेवाला (यः वृत्रहा ज्येष्ठः गृणे) जो वृत्रको मारनेवाला श्रेष्ठ है, उसकी स्तुति की जाती है ॥ १६ ॥

(ऋ. ८।७०।१)

हे पुरुहन्मन्! (अवसे तं इन्द्रं शुम्भ) अपनी सुरक्षाके लिये इन्द्रकी स्तुति कर। (यस्य विधर्तरि द्विता) जिसकी धारण शक्तिमें दोनों प्रकारकी व्यवस्था है, (दिवे महः सूर्यः न) जैसा द्युलोकमें सूर्य है उस तरह (दर्शतः वज्रः) दर्शनीय वज्र (हस्ताय प्रति धायि) जिसने हाथमें लिया है ॥ १७ ॥

(ऋ. ८।७०।२)

(यः चकार) जिसने यह किया है, उस (सदावृधं) सदा वृद्धि करनेवाले (विश्वगूर्तं) सबसे प्रशंसित, (ऋभ्वसं) बडा कार्य करनेवाले, (धृष्णु-ओजसं) विजयी पराक्रम करनेवाले, (अ-धृष्टं) निडर, (तं इन्द्रं) उस इन्द्रका (यज्ञैः कर्मणा) यज्ञोंसे अथवा कर्मसे (न किः नशत्) कोई भी नाश नहीं कर सकता ॥ १८ ॥

(ऋ. ८।७०।३)

(अ-षाळ्हं उग्रं) अजेय उग्र (पृतनासु सासहिं) युद्धोंमें जीतनेवाला (यस्मिन् महीः उरुज्रयः) जिसमें बडी बडी स्तुतियां की जाती हैं (जायमाने) जिसके जन्मके समय (धेनवः सं अनोनवुः) अनेकोंकी वाणियोंने स्तुतियां की है, (द्यावः क्षामः अनोनवुः) द्यौ और पृथिवीने जिसकी स्तुति की ॥ १९ ॥

(ऋ.८।७०।४)

२०-२१देखो अथर्व २०।८१।१-२ (ऋ. ८।७०।५-६)

इस सूक्तमें नीचे लिखे वर्णन विशेष मननीय हैं—

१ अर्चत, प्रार्चत, धृष्णु पुरं न अर्चत— उपासना करो, स्तुति करो, विजयी अभेद्य किलेके समान उस विजयी इन्द्रकी स्तुति करो ।

२ पुत्रकाः अर्चन्तु— छोटे बालक भी अर्चना करें ।

गायनमें स्वरके साथ

३ गर्गरः अवस्वरीति— वीणा स्वर दे रही है, गानेवालेके स्वरके साथ वीणाका स्वर मिलता रहे।

४ गोधा परि सनिष्वणत्— तंबूरा चारों ओरसे स्वर देता रहे। चर्मवाद्य स्वरसे स्वर मिलावे।

५ पिंगा परि चनिष्कदत्— मधुर स्वरवाला आलाप निकाले और स्वरमें स्वर मिलावे।

६ इन्द्राय ब्रह्म उद्यतं— इन्द्रके लिये स्तोत्र गाये जांय। इस समय वीणा, तंबूरा, मृदंग (चर्मवाद्य) आलाप देनेवाला इनके साथ हो। स्तोत्र ऐसे गाये जांय।

७ गौओंका दूध सोमरसके साथ मिलाया जाय और पश्चात् वह पिया जाय। '**इन्द्राय पातवे सोमं सुदुघाः आपतन्ति**'– इन्द्रके पीनेके लिये सोमरसमें गौवें आती हैं, और दूध देती हैं। सोमरसमें गौओंका दूध मिलाया जाता है।

८ इन्द्र, अग्नि, सब देव, वरुण इन सबने सोमरस पिया है। (मं. ८)

९ वरुणः सुदेवः— वरुण उत्तम देव है। '**सप्त-सिन्धवः अस्य काकुदं अनुक्षरन्ति**'– सात नदियां जिसके तालुतक पहुंचती हैं। सात नदियोंका जल सोमरसमें मिलाया जाता है। वह रस पिया जाता है, उसके साथ नदीजल भी तालुको स्पर्श करता है।

१० सुयुक्तान् व्यतीन् अफाणयत्, तक्वः नेता, वपुः उपमा, असुच्यत— उत्तम शिक्षित घोडोंको दौडाता हुआ इन्द्र आता है, वह बलवान् नेता है, उसका शरीर सुंदर है, सब दुष्ट शत्रु उसको छोड देते हैं, कोई शत्रु उसके सामने नहीं ठहरता।

११ शक्रः इन्द्रः विश्वाः द्विषः अति ओहते– सामर्थ्यवान् इन्द्र सब शत्रुओंको दूर करता है।

१२ कनीनः गिरा पच्यमानं ओदनं परा भिनत्— इन्द्र छोटा होता हुआ भी शत्रुके पकाये जानेवाले अन्नको पूर्ण रीतिसे विनष्ट करता है। पकाया अन्न लूटता है। या मेघको विनष्ट करता है। **पच्यमानं ओदनं**- पकनेवाला अन्न। मेघ जिससे वृष्टि होनेवाली हो।

१३ अर्भकः नवं रथं अधि तिष्ठन्— बालक होते हुए भी वह रथपर उत्तम रीतिसे चढकर बैठता है। बचपनसे ही वह शूर है।

१४ सुशिप्र— उत्तम हनुवाला, उत्तम साफेवाला इन्द्र।

१५ हिरण्ययं रथं आ तिष्ठ— सुवर्णके रथपर बैठ।

१६ द्युक्षं सहस्रपादं अरुषं स्वस्तिगां अनेहसं सचेवहि— द्युलोकमें रहनेवाले, हजारों किरणोंवाले, लाल, कल्याण देनेवाली जिसकी गति है, निष्पाप सूर्यको प्राप्त करेंगे।

१७ स्वराजं उप आसते— स्वयं तेजस्वीकी उपासना करते हैं। स्वराट्की उपासना करते हैं।

१८ अस्य सुचितं अर्थं दावने आवर्तयन्ति— इसके उत्तम रीतिसे प्राप्त किये धनका दान करनेके लिये उसको प्रेरित करते हैं। धन उत्तम रीतिसे प्राप्त किया जाय और उसका विनियोग उत्तम दानमें हो।

१९ वृक्तबर्हिषः हितप्रयसः प्रियमेधासः प्रत्नस्य ओकस अनु पूर्वां प्रसितिं अनु आशत— आसन फैलाकर यज्ञकी तैयारी करनेवाले प्रियमेधोंने- जिनको यज्ञ करना प्रिय है उन्होंने पुराने घरकी पुरानी रीतिके अनुसार कार्य करना प्रारंभ किया। पूर्व पद्धतिके अनुसार यज्ञ करना शुरू किया।

२० यः चर्षणीनां राजा, अध्रिगुः, रथेभिः याता, विश्वासां पृतनानां तरुता ज्येष्ठः वृत्रहा गृणे— लोगोंका राजा, प्रगति करनेवाला, रथमें बैठकर आनेवाला, सब शत्रुओंका पराभव करनेवाला, सबसे श्रेष्ठ और वृत्रको मारनेवाला इन्द्र है। उसकी स्तुति हो रही है।

२१ अवसे तं इन्द्रं शुम्भ— अपनी सुरक्षाके लिये उस इन्द्रकी स्तुति कर।

२२ यस्य विधर्तरि द्विता— जिसके धारण शक्तिमें दो गुण हैं। शत्रुको दूर करना और अपना संरक्षण करना।

२३ दर्शतः वज्रः हस्ताय प्रति धायि— सुन्दर वज्र वह हाथमें लेता है।

२४ सदावृधं, विश्वगूर्तं, ऋभ्वपसं, धृष्णु-ओजसं अधृष्टं तं इन्द्रं कर्मणा न किः नशत्— सदा बढनेवाले, सर्वदा स्तुत्य, बडे कार्य करनेवाले, शत्रुका पराभव करनेका सामर्थ्य जिसमें है, नित्य विजयी उस इन्द्रका नाश कोई भी अपने प्रयत्नसे कर नहीं सकता।

२५ अषाळ्हं उग्रं पृतनासु सासहिं मही उरुज्रयः— अजेय उग्रवीर, युद्धोंमें शत्रुका पराभव करनेवाले इन्द्रकी बडी स्तुतियां हो रहीं हैं।

❀

[सूक्त ९३]

(ऋषिः — १-३ प्रगाथः, ४-८ देवजामयः । देवता — इन्द्रः ।)

उत्त्वा मन्दन्तु स्तोमाः कृणुष्व राधो अद्रिवः । अव ब्रह्मद्विषो जहि ॥ १ ॥
पदा पणीँरराधसो नि बाधस्व महाँ असि । नहि त्वा कश्चन प्रति ॥ २ ॥
त्वमीशिषे सुतानामिन्द्र त्वमसुतानाम् । त्वं राजा जनानाम् ॥ ३ ॥
ईङ्खयन्तीरपस्युव इन्द्रं जातमुपासते । भेजानासः सुवीर्यम् ॥ ४ ॥
त्वमिन्द्र बलादधि सहसो जात ओजसः । त्वं वृषन्वृषेदसि ॥ ५ ॥
त्वमिन्द्रासि वृत्रहा व्यन्तरिक्षमतिरः । उद् द्यामस्तभ्ना ओजसा ॥ ६ ॥
त्वमिन्द्र सजोषसमर्कं बिभर्षि बाह्वोः । वज्रं शिशान ओजसा ॥ ७ ॥
त्वमिन्द्राभिभूरसि विश्वा जातान्योजसा । स विश्वा भुव आभवः ॥ ८ ॥ (६०१)

(सूक्त ९३)

(स्तोमाः त्वा उत् मदन्तु) हमारे स्तोत्र तुम्हें आनंदित करें। हे (अद्रि-वः) वज्रधारी इन्द्र ! (राधः कृणुष्व) दान देनेका विचार कर। (ब्रह्मद्विषः अव जहि) ज्ञानका द्वेष करनेवालोंको मार हटा ॥ १ ॥ (८।५३।१)

(अराधसः पणीन् पदा नि बाधस्व) दान न देनेवाले पणियोंको पांवसे कुचल, (महान् असि) तू बडा है। (कः चन त्वा प्रति नहि) कोई तेरे बराबर नहीं है ॥ २ ॥ (ऋ. ८।५३।२)

हे इन्द्र ! (त्वं सुतानां ईशिषे) तू सोमरसोंका स्वामी है और (त्वं असुतानां) तू रस न निकाले सोमका भी स्वामी है, (त्वं जनानां राजा) तू प्रजाजनोंका राजा है ॥ ३ ॥ (ऋ. ८।५३।३)

(ईंखयन्ती अपस्युवः) जानेवाली तथा प्रयत्नशील [जलधाराएं] (इन्द्रं उपासते) इन्द्रकी उपासना करती हैं। (सुवीर्यं भेजानासः) उसके उत्तम पराक्रममें भाग लेतीं हैं ॥ ४ ॥ (ऋ. १०।१५३।१)

हे इन्द्र ! (त्वं बलात् सहसः ओजसः अधि जातः) तू बल, साहस और सामर्थ्यके लिये उत्पन्न हुआ है। हे (वृषन्) शक्तिमान् इन्द्र ! (त्वं वृषा इद् असि) तू निःसंदेह बलवान् है ॥ ५ ॥ (ऋ. १०।१५३।२)

हे इन्द्र ! (त्वं वृत्रहा असि) तू वृत्रको मारनेवाला है। (अन्तरिक्षं वि अतिरः) तूने अन्तरिक्षको फैलाया है। (ओजसा द्यां उत् अस्तभ्नाः) सामर्थ्यसे द्युलोकको स्थिर किया है ॥ ६ ॥ (ऋ. १०।१५३।३)

हे इन्द्र ! (त्वं) तू (ओजसा वज्रं शिशान) बलसे वज्रको तीक्ष्ण करता है (सजोषसं अर्कं बाह्वोः बिभर्षि) और अपने प्रिय तेजस्वी वज्रको बाहुओंसे धारण करता है ॥ ७ ॥ (ऋ. १०।१५३।४)

हे इन्द्र ! (त्वं विश्वा जातानि ओजसा अभिभूः असि) तू सब जन्मधारि प्राणियोंका अपनी शक्तिसे पराभव करनेवाला है, (सः विश्वा भुवः आभवः) वह तू सब स्थानोंको घेर कर रहा है ॥ ८ ॥ (ऋ. १०।१५३।५)

इस सूक्तमें नीचे दिये वर्णन मनन करने योग्य हैं—

१ हे अद्रिवः ! राधः कृणुष्व— हे वज्रधारी ! दान देनेका विचार कर।

२ ब्रह्मद्विषः अव जहि— ज्ञानसे द्वेष करनेवालोंको मार।

३ अराधसः पणीन् पदा नि बाधस्व— दान न देनेवाले कंजूस पणियोंको पांवसे कुचल डाल।

४ महान् असि। कः चन त्वा प्रति नहि— तू बडा है। कोई भी तेरे समान नहीं है।

५ त्वं जनानां राजा— तू लोगोंका स्वामी है।

६ ईंखयन्तीः अपस्युवः इन्द्रं उपासते, सुवीर्यं भेजानासः— गतिमान प्रयत्नशील लोग इन्द्रकी उपासना करते हैं और इससे वे उत्तम वीर्य प्राप्त करते हैं।

गमन्नस्मे वसून्या हि शंसिषं स्वाशिषं भरमा याहि सोमिनः ।
त्वमीशिषे सास्मिन्ना सत्सि बर्हिष्यनाधृष्या तव पात्राणि धर्मणा ॥ ५ ॥
पृथक्प्रायन्प्रथमा देवहूतयोऽकृण्वत श्रवस्यानि दुष्टरा ।
न ये शेकुर्यज्ञियां नावमारुहमीर्मैव ते न्यविशन्त केपयः ॥ ६ ॥
एवैवापागपरे सन्तु दूढ्योऽश्वा येषां दुर्युज आयुयुज्रे ।
इत्था ये प्रागुपरे सन्ति दावने पुरूणि यत्र वयुनानि भोजना ॥ ७ ॥
गिरींरज्रान्रेजमानाँ अधारयद् द्यौः क्रन्ददन्तरिक्षाणि कोपयत् ।
समीचीने धिषणे वि ष्कभायति वृष्णः पीत्वा मद उक्थानि शंसति ॥ ८ ॥
इमं बिभर्मि सुकृतं ते अङ्कुशं येनारुजासि मघवञ्छफारुजः ।
अस्मिन्त्सु ते सवने अस्त्वोक्यं सुत इष्टौ मघवन्बोध्याभगः ॥ ९ ॥
गोभिष्टरेमामतिं दुरेवां यवेन क्षुधं पुरुहूत विश्वाम् ।
वयं राजभिः प्रथमा धनान्यस्माकेन वृजनेना जयेम ॥ १० ॥
बृहस्पतिर्नः परि पातु पश्चादुतोत्तरस्मादधरादघायोः ।
इन्द्रः पुरस्तादुत मध्यतो नः सखा सखिभ्यो वरिवः कृणोतु ॥ ११ ॥ (६१२)

(**वसूनि अस्मे आ गमन् हि**) धन हमारे पास आ जाय। (**आशिषं सु शंसिषं**) यह आशीर्वाद मैं उत्तम रीतिसे मांगता हूं। (**सोमिनः भरं आ याहि**) सोमयाग करनेवालेके यज्ञमें आओ। (**त्वं ईशिषे**) तू स्वामी है। (**सः अस्मिन् बर्हिषि आ सत्सि**) वह तू इस आसनपर बैठ। (**धर्मणा तव पात्राणि अनाधृष्या**) नियमसे तेरे पात्र दूसरा कोई ले नहीं सकता ॥ ५ ॥ (ऋ. १०।४४।५)

(**प्रथमा देवहूतयः पृथक् प्रायन्**) हमारी पहिली प्रार्थनाएं देवोंके पास पृथक् पृथक् गयी हैं। (**श्रवस्यानि दुष्टरा अकृण्वत**) उन्होंने यश प्राप्त करनेके लिये दुस्तर कठिन कर्म किये थे। (**ये यज्ञियां नावं आरुहं न शेकुः**) जो यज्ञकी नौका पर चढनेमें समर्थ नहीं हुए (**ते केपयः ईर्मा एव न्यविशन्त**) वे पापी ऋणमें ही पडे हैं ॥ ६ ॥ (ऋ. १०।४४।६)

(**एव एव अपरे दूढ्यः अपाग् सन्तु**) इसी प्रकार दूसरे दुर्बुद्धिवाले नीचे ही रहेंगे, (**येषां दुर्युजः अश्वाः आयुयुज्रे**) जिनके कठिनतासे जोडे जानेवाले घोडे जोते जाते हैं। (**इत्था ये प्राग् उपरे दावने सन्ति**) इस प्रकार जो दूसरे हैं जो दानके लिये आगे होते हैं (**यत्र पुरूणि भोजना वयुनानि सन्ति**) जहां बहुत भोग प्राप्त करनेके कर्म होते हैं ॥ ७ ॥ (ऋ. १०।४४।७)

(**अज्रान् रेजमानान् गिरीन् अधारयत्**) जिसने कांपते मैदानों और पर्वतोंको स्थिर किया, (**द्यौः क्रन्दत्**) द्युलोकको रोनेवाली बनाया और (**अन्तरिक्षाणि कोपयत्**) अन्तरिक्षोंको प्रकुपित किया। (**समीचीने धिषणे वि स्कभायति**) मिले हुए द्यौ और पृथिवीको पृथक् स्थिर किया। (**वृष्णः पीत्वा मदे उक्थानि शंसति**) बलवर्धक सोम पीकर वह आनंदमें स्तोत्र कहता है ॥ ८ ॥ (ऋ. १०।४४।८)

(**इमं ते सुकृतं अंकुशं**) इस तेरे अच्छे बनाये अंकुश-स्तोत्रको (**बिभर्मि**) मैं धारण करता हूं। हे (**मघवन्**) धनवान् इन्द्र! (**येन शफारुजः आरुजासि**) जिससे दुःख देनेवाले दुष्टोंको तू दुःख देता है। (**अस्मिन् सवने ते ओक्यं अस्तु**) इस स्तोत्रमें तेरा निवास हो। हे (**मघवन्**) इन्द्र! (**सुते इष्टौ**) सोमसवनमें और इष्टीमें (**आभगः बोधि**) सेवनीय भाग जो है उसे समझ ले ॥ ९ ॥ (ऋ. १०।४४।९)

१०-११ देखो अथर्ववेद २०।१७।१०-११

इस सूक्तमें नीचे लिखे इन्द्रके वर्णन मननीय हैं—

[सूक्त ९५]

(ऋषिः — १ गृत्समदः; २-४ सुदाः पैजवनः। । देवता — इन्द्रः।)

त्रिकंद्रुकेषु महिषो यवांशिरं तुविशुष्मंस्तृपत्सोमंमपिबद्विष्णुंना सुतं यथावंशत् ।
साईं ममाद महि कर्म कर्तवे महामुरुं सैनं सश्चद्देवो देवं सत्यमिन्द्रं सत्य इन्दुः ॥ १ ॥
प्रो ष्वंस्मै पुरोरथमिन्द्राय शूषमंर्चत ।
अभीके चिदु लोककृत्संगे समत्सुं वृत्रहास्माकं बोधि चोदिता
　नभंन्तामन्यकेषां ज्याका अधि धन्वंसु　　　　॥ २ ॥

---

१ यः स्वपतिः इन्द्रः धर्मणा तूतुजानः तुविष्मान्— जो स्वयं पालक अपने स्वभावसे त्वरासे कार्य करनेवाला और बलवान् है।

२ अपारेण महता वृष्ण्येन विश्वा सहांसि अति प्रत्वक्षाणः— अपार बडे सामर्थ्यसे सब बलोंको अधिक प्रबल करता है।

३ हे नृपते ! ते रथः सुस्थामा, ते हरी सुयमा— हे मानवोंके पालक ! तेरा रथ सुदृढ और तेरे घोडे इशारे मात्रसे जुड जानेवाले हैं।

४ गभस्तौ वज्रः मिम्यक्ष— तेरे हाथमें वज्र है।

५ उग्रासः तविषासः सधमादः इन्द्रवाहः उग्रं वज्रबाहुं नृपतिं प्रत्वक्षसं वृषभं सत्यशुष्मं अस्मत्रा आ वहन्तु— उग्र बलवान् साथ आनंदमें रहनेवाले इन्द्रके घोडे उग्रवीर वज्रबाहु मनुष्य पालक तीक्ष्ण बलवान् सच्चे साहसवाले इन्द्रको हमारे पास ले आवें।

६ वसूनि अस्मे आ गमन्— धन हमारे पास आ गये।

७ त्वं ईशिषे— तू स्वामी है।

८ आशिषं सु शंसिषं— आशीर्वाद उत्तम आशीर्वाद हों।

९ अवस्यानि दुष्टरा अकृण्वत— यश देनेवाले दुस्तर कर्म उन्होंने किये थे।

१० ये यज्ञियां नावं आरुहं न शेकुः, ते कुपयः ईर्मा न्यविशन्त— जो यज्ञकी नौकापर चढ नहीं सकते- जो यज्ञ नहीं कर सकते- वे पापी ऋणमें ही रहते हैं।

११ ये दावने सन्ति, ते पुरूणि भोजना वयुनानि सन्ति— जो दान देते हैं उनको बहुत उपभोग मिलनेके कर्म प्राप्त होते हैं। दान देनेवाले उपभोग प्राप्त करते हैं।

१२ अज्ञान् रेजमान् गिरीन् अधारयत्— जिसने हिलनेवाले पर्वत और मैदान स्थिर किये। पहिले भूचाल होते थे। पीछेसे भूमि शान्त हुई और पर्वत भी स्थिर हुए।

१३ द्यौ कन्दत्। अन्तरिक्षाणि कोपयत्। समीचीने धिषणे विस्कभायति— द्युलोक गर्जना करता था, अन्तरिक्ष कुपित हुए थे। मिले द्यावा पृथिवीको स्तब्ध किया गया। पहिले यह सब अस्थिर थे पश्चात् स्थिर हुए।

१४ शफारुजः आरुजासि— दुःख देनेवालोंको तू दुःख देता है।

(सूक्त ९५)

(तुविशुष्मः महिषः) बडे सामर्थ्यवाले महाबली इन्द्र ने (यवाशिरं सोमं) जौके आटेसे मिलाया सोम (त्रिकद्रुकेषु अपिबत् तृपत्) तीन पात्रोंमेंसे पिया और वह तृप्त हुआ (विष्णुना यथा अवशत्) जो विष्णुने अपनी इच्छानुसार (सुतं) निकाला था। (महि कर्म कर्तवे) बडा काम करनेके लिये (सः ईं ममाद) वह इन्द्र आनंदित हुआ। (महां उरुं एनं सत्यं देवं इन्द्रं) बडे महिमावाले इस सच्चे इन्द्र देवको (सत्यः इन्दुः देवः सश्चत्) सच्चा सोम देव प्राप्त हुआ ॥ १ ॥　　(ऋ. २।२२।१)

(अस्मै इन्द्रायः) इस इन्द्रके लिये (पुरोरथं शूषं प्र सु अर्चत उ) उसके रथको आगे बढानेवाला बलवर्धक स्तोत्र गाओ। (अभीके संगे लोककृत् चित् उ) समीपके युद्धमें स्थान बनानेवाला, (समत्सु वृत्रहा) युद्धोंमें शत्रुको मारनेवाला (अस्माकं चोदिता बोधि) इन्द्र हमारा प्रेरक हो। (अन्यकेषां धन्वसु अधि ज्याका नभन्तां) अन्य शत्रुओंकी धनुष्यपरकी डोरियां टूट जांय ॥ २ ॥

(ऋ. १०।१३३।१)

त्वं सिन्धूँरवासृजोऽधराचो अहन्नहिम् ।
अशत्रुरिन्द्र जज्ञिषे विश्वं पुष्यसि वार्यं तं त्वा परि ष्वजामहे
नभन्तामन्यकेषां ज्याका अधि धन्वसु ॥ ३ ॥
वि षु विश्वा अरातयोऽर्यो नशन्त नो धियः ।
अस्तासि शत्रवे वधं यो न इन्द्र जिघांसति या ते रातिर्ददिर्वसु
नभन्तामन्यकेषां ज्याका अधि धन्वसु ॥ ४ ॥ (६१६)

[सूक्त ९६]

(ऋषिः — १-५ पूरणः; ६-१० यक्ष्मनाशनः, ११-१६ रक्षोहा; १७-२३ विवृहाः; २४ प्रचेताः। देवता - १-५ इन्द्रः; ६-१० यक्ष्मनाशनम्; ११-१६ गर्भसंस्रावः; १७-२३ यक्ष्मनाशनम्; २४ दुःष्वप्नघ्नम्।)

तीव्रस्याभिवयसो अस्य पाहि सर्वरथा वि हरी इह मुञ्च ।
इन्द्र मा त्वा यजमानासो अन्ये नि रीरमन्तुभ्यमिमे सुतासः ॥ १ ॥

(**त्वं सिन्धून् अवासृजः**) तूने नदियोंको बहाया। (**अहिं अधराचः अहन्**) अहिको मार कर नीचे गिराया। (**इन्द्र ! अशत्रुः जज्ञिषे**) हे इन्द्र ! तू शत्रुरहित उत्पन्न हुआ है। तू (**विश्वं वार्यं पुष्यसि**) सब स्वीकार करने योग्य धनको परिपुष्ट करता है। (**तं त्वा परि ष्वजामहे**) उस तुझको हम आलिंगन देते हैं। शत्रुओंकी धनुष्योंकी डोरियां टूट जांय ॥ ३ ॥ (ऋ. १०।१३३।२)

(**नः विश्वा अरातयः**) हमारे सब शत्रुओं (**अर्यः धियः वि षु नशन्त**) और शत्रुकी बुद्धियोंका नाश कर। (**शत्रवे वधं अस्ता असि**) शत्रुपर शस्त्र फेंकनेवाला तू है, हे इन्द्र ! (**यः नः जिघांसति**) जो हमें मारना चाहता है, (**या ते रातिः वसु ददिः**) जो तेरा दान है वह धन देता है। शत्रुओंकी धनुष्योंकी डोरियां टूट जांय ॥ ४ ॥ (ऋ. १०।१३३।३)

इस सूक्तमें इन्द्रके ये वर्णन मननीय हैं—

१ **महि कर्म कर्तवे स ईं ममाद**— बडे कर्म करनेके लिये वह आनंदित होता है।

२ **अस्मै इन्द्राय पुरोरथं शूषं प्र अर्चत**— इस इन्द्रके लिये रथ आगे बढे ऐसा स्तोत्र गाओ।

३ **अभीके संगे लोककृत्**— समीपके युद्धमें वह हमारे लिये स्थान बना देता है।

४ **समत्सु वृत्रहा**— युद्धोंमें शत्रुको वह मारता है।

५ **अस्माकं चोदिता**— हमारा वह प्रेरक है, अच्छे कर्मकी प्रेरणा वह देता है।

६ **अन्यकेषां धन्वसु अधि ज्याका नभन्तां**— शत्रुओंके धनुष्योंपरकी डोरियां टूट जांय।

७ **अहिं अधराचः अहन्**— शत्रुको नीचे गिराकर मारा।

८ **इन्द्रः अशत्रुः जज्ञिषे**— इन्द्र शत्रुरहित हुआ है।

९ **विश्वं वार्यं पुष्यसि**— सब स्वीकारने योग्य धनको बढाता है।

१० **नः विश्वा अरातयः अर्यः धियः वि षु नशन्त**— हमारे सब शत्रु तथा शत्रुता करनेवाली सब बुद्धियां विनष्ट हो जाय।

११ **शत्रवे वधं अस्ता असि**— शत्रुपर शस्त्र फेंकनेवाले हो।

१२ **यः नः जिघांसति**— जो हमें मारता है, उसका नाश कर।

१३ **ते रातिः वसु ददिः**— तेरा दान धन देता है।

(सूक्त ९६)

(**तीव्रस्य अभिवयसः अस्य पाहि**) इस तीव्र रसको पी। (**सर्वरथा हरी इह वि मुञ्च**) सारे रथोंके घोडे यहां छोड। हे इन्द्र ! (**अन्ये यजमानासः त्वा मा नि रीरमन्**) दूसरे यजमान तुझे न रममाण करें (**इमे सुतासः तुभ्यं**) ये रस तेरे लिये हैं ॥१॥ (ऋ. १०।१६०।१)

तुभ्यं सुतास्तुभ्यमु सोत्वासस्त्वां गिरः श्वात्र्या आ ह्वयन्ति ।
इन्द्रेदमद्य सवनं जुषाणो विश्वस्य विद्वाँ इह पाहि सोमम् ॥ २ ॥
य उशता मनसा सोममस्मै सर्वहृदा देवकामः सुनोति ।
न गा इन्द्रस्तस्य परा ददाति प्रशस्तमिच्चारुमस्मै कृणोति ॥ ३ ॥
अनुस्पष्टो भवत्येषो अस्य यो अस्मै रेवान्न सुनोति सोमम् ।
निररत्नौ मघवा तं दधाति ब्रह्मद्विषो हन्त्यनानुदिष्टः ॥ ४ ॥
अश्वायन्तो गव्यन्तो वाजयन्तो हवामहे त्वोपगन्तवा उ ।
आभूषन्तस्ते सुमतौ नवायां वयमिन्द्र त्वा शुनं हुवेम ॥ ५ ॥
मुञ्चामि त्वा हविषा जीवनाय कमज्ञातयक्ष्मादुत राजयक्ष्मात् ।
ग्राहिर्जग्राह यद्येतदेनं तस्या इन्द्राग्नी प्र मुमुक्तमेनम् ॥ ६ ॥
यदि क्षितायुर्यदि वा परेतो यदि मृत्योरन्तिकं नीत एव ।
तमा हरामि निर्ऋतेरुपस्थादस्पार्शमेनं शतशारदाय ॥ ७ ॥
सहस्राक्षेण शतवीर्येण शतायुषा हविषाहार्षमेनम् ।
इन्द्रो यथैनं शरदो नयात्यति विश्वस्य दुरितस्य पारम् ॥ ८ ॥
शतं जीव शरदो वर्धमानः शतं हेमन्तान्छतमु वसन्तान् ।
शतं त इन्द्रो अग्निः सविता बृहस्पतिः शतायुषा हविषाहार्षमेनम् ॥ ९ ॥
आहार्षमविदं त्वा पुनरागाः पुनर्णवः । सर्वाङ्ग सर्वं ते चक्षुः सर्वमायुश्च तेऽविदम् ॥ १० ॥

(तुभ्यं सुताः) तेरे लिये ये सोमरस तैयार किये हैं (तुभ्यं उ सोत्वासः) तेरे लिये ही आगे रस निकालने हैं। (श्वात्र्याः गिरः त्वां आ ह्वयन्ति) शीघ्रता करनेवाली हमारी स्तुतियां तुझे बुलाती हैं। हे इन्द्र ! (इदं अद्य सवनं जुषाणः) इस सवनको स्वीकार करता हुआ (विश्वस्य विद्वान्) सबका ज्ञानी तू (इह सोमं पाहि) यहां सोम पी ॥ २ ॥ (ऋ. १०।१६०।२)

(यः देवकामः) जो देवभक्त (उशता मनसा सर्वहृदा) अभिलाषावाले मनसे और सब हृदयके भावसे (अस्मै सोमं सुनोति) इस इन्द्रके लिये सोमरस निकालता है, (इन्द्रः तस्य गाः न परा ददाति) इन्द्र उसकी गौओंको दूर नहीं करता और (अस्मै प्रशस्तं चारुं इत् करोति) इसके लिये सब कुछ उत्तम प्रशंसनीय और सुन्दर बनाता है ॥ ३ ॥ (ऋ. १०।१६०।३)

(एषः अस्य अनुस्पष्टः भवति) वह इस इन्द्रके लिये अनुकूल हो जाता है (यः अस्मै, रेवान् न, सोमं सुनोति) जो इसके लिये, धनवानके समान, सोमरस निकालता है। (मघवा अरत्नौ तं निः दधाति) इन्द्र अपने हाथोंमें उसको धारण करता है। वह (अनानुदिष्टः ब्रह्मद्विषः हन्ति) आज्ञाके बिना ही ब्रह्मद्वेषियोंको मारता है ॥ ४ ॥ (ऋ. १०।१६०।४)

(अश्वायन्तः गव्यन्तः) घोडोंको और गौओंको चाहनेवाले और (वाजयन्तः) बल चाहनेवाले हम (त्वा उप गन्तवै उ हवामहे) तेरे पास जानेके लिये तुझे बुलाते हैं। (ते नवायां सुमतौ आभूषन्तः) तुझे नयी उत्तम मतिमें सुभूषित करते हुए, हे इन्द्र ! (त्वा शुनं हुवेम) तुझे सुखसे बुलाते हैं ॥ ५ ॥ (ऋ. १०।१६०।५)

६–९ देखो अथर्व. ३।११।१–४ (ऋ. १०।१६१।१–४)
१० देखो अथर्व. ८।१।२० (ऋ. १०।१६१।५)

ब्रह्मणाग्निः संविदानो रक्षोहा बाधतामितः । अमीवा यस्ते गर्भं दुर्णामा योनिमाशये ॥ ११ ॥
यस्ते गर्भममीवा दुर्णामा योनिमाशये । अग्निष्टं ब्रह्मणा सह निष्क्रव्यादमनीनशत् ॥ १२ ॥
यस्ते हन्ति पतयन्तं निषत्स्नुं यः सरीसृपम् । जातं यस्ते जिघांसति तमितो नाशयामसि ॥ १३ ॥
यस्त ऊरू विहरत्यन्तरा दम्पती शये । योनिं यो अन्तरारेळिह तमितो नाशयामसि ॥ १४ ॥
यस्त्वा भ्राता पतिर्भूत्वा जारो भूत्वा निपद्यते । प्रजां यस्ते जिघांसति तमितो नाशयामसि ॥ १५ ॥
यस्त्वा स्वप्नेन तमसा मोहयित्वा निपद्यते । प्रजां यस्ते जिघांसति तमितो नाशयामसि ॥ १६ ॥

अक्षीभ्यां ते नासिकाभ्यां कर्णाभ्यां छुबुकादधि ।
यक्ष्मं शीर्षण्यं मस्तिष्काज्जिह्वाया वि वृहामि ते ॥ १७ ॥
ग्रीवाभ्यस्त उष्णिहाभ्यः कीकसाभ्यो अनूक्यात् ।
यक्ष्मं दोषण्यमंसाभ्यां बाहुभ्यां वि वृहामि ते ॥ १८ ॥
हृदयात्ते परि क्लोम्नो हलीक्ष्णात्पार्श्वाभ्याम् ।
यक्ष्मं मतस्नाभ्यां प्लीह्नो यक्नस्ते वि वृहामसि ॥ १९ ॥
आन्त्रेभ्यस्ते गुदाभ्यो वनिष्ठोरुदरादधि ।
यक्ष्मं कुक्षिभ्यां प्लाशेर्नाभ्या वि वृहामि ते ॥ २० ॥
ऊरुभ्यां ते अष्ठीवद्भ्यां पार्ष्णिभ्यां प्रपदाभ्याम् ।
यक्ष्मं भसद्यं श्रोणिभ्यां भासदं भंससो वि वृहामि ते ॥ २१ ॥
अस्थिभ्यस्ते मज्जभ्यः स्नावभ्यो धमनिभ्यः ।
यक्ष्मं पाणिभ्यामङ्गुलिभ्यो नखेभ्यो वि वृहामि ते ॥ २२ ॥

(**रक्षोहा अग्निः**) राक्षसोंको मारनेवाला अग्नि (**ब्रह्मणा संविदानः**) हमारे स्तोत्रसे मिलकर (**यः अमीवा दुर्णामा ते गर्भं योनिं आशये**) जो दुर्णामा रोग तेरे गर्भ और योनिमें है (**इतः बाधतां**) यहांसे उसको निकाल दे ॥ ११ ॥ (ऋ. १०।१६२।१)

(**यः दुर्णामा अमीवा**) जो दुष्ट नामवाला रोग (**गर्भं योनिं आशये**) गर्भमें तथा योनिमें रहता है (**अग्निः ब्रह्मणा सह**) अग्नि स्तोत्रके साथ मिलकर (**क्रव्यादं निः अनीनशत्**) उस मांसभक्षक रोगको दूर करे ॥ १२ ॥ (ऋ. १०।१६२।२)

(**यः ते पतयन्तं हन्ति**) जो तेरे प्रवेश करते हुए गर्भको मारता है, (**यः निषत्स्नुं सरीसृपं**) जो स्थिर रहेको, जो हिलते हुएको (**जातं यः ते जिघांसति**) जो तेरे उत्पन्न हुएको मारता है (**तं इतः नाशयामसि**) उसको यहांसे नष्ट करते हैं ॥ १३ ॥ (ऋ. १०।१६२।३)

(**यः ते ऊरू विहरति**) जो तेरे ऊरुओंको अलग अलग करता है, (**दम्पती अन्तरा शये**) दम्पतीके मध्यमें लेटता है, (**योनिं यः अन्तरा आरेळिह**) योनिको अन्दरसे कष्ट देता है। (**तं इतो नाशयामसि**) उसको यहांसे नाश करते हैं ॥ १४ ॥ (ऋ. १०।१६२।४)

(**यः त्वा भ्राता पतिः भूत्वा**) जो तुझे भाई या पति होकर (**जारः भूत्वा निपद्यते**) जो जार बनकर प्राप्त होता है (**यः ते प्रजां जिघांसति**) जो तेरी संतानको मारना चाहता है (**तं इतो नाशयामसि**) उसको यहांसे विनष्ट करते हैं ॥ १५ ॥ (ऋ. १०।१६२।५)

अङ्गाद्अङ्गा॒ल्लोम्नो॑लोम्नो॒ यस्ते॑ पर्वणिपर्वणि ।
यक्ष्मं॑ त्वच॒स्यं॑ ते व॒यं क॒श्यप॑स्य वीब॒र्हेण॒ विष्व॑ञ्चं॒ वि वृ॑हामसि　　॥ २३ ॥
अपे॑हि मनसस्पते॒ऽप॑ क्राम प॒रश्च॑र । प॒रो निर्ऋ॑त्या॒ आ च॑क्ष्व बहु॒धा जीव॑तो॒ मनः॑ ॥ २४ ॥ (६४०)

॥ इति अष्टमोऽनुवाकः ॥८॥

[सूक्त ९७]

(ऋषिः — १-३ कलिः । देवता — इन्द्रः ।)

व॒यमे॑नमि॒दा ह्योऽपी॑पेमे॒ह व॒ज्रिण॑म् ।
तस्मा॑ उ अ॒द्य स॒मना॑ सु॒तं भ॒रा नू॒नं भू॑षत श्रु॒ते　　॥ १ ॥
वृक॑श्चिदस्य वार॒ण उ॑रा॒मथि॒रा व॒युने॑षु भूषति ।
सेमं न॒ः स्तोमं॑ जुजुषा॒ण आ ग॑ही॒न्द्र प्र चि॒त्रया॑ धि॒या　　॥ २ ॥
कदू॒ न्व१॒॑स्याकृ॑त॒मिन्द्र॑स्यास्ति॒ पौंस्य॑म् ।
केनो॒ नु कं॒ श्रोम॑तेन॒ न शु॑श्रुवे ज॒नुषः॒ परि॑ वृत्र॒हा　　॥ ३ ॥ (६४३)

[सूक्त ९८]

(ऋषिः — १-२ शंयुः । देवता — इन्द्रः ।)

त्वामिद्धि हवा॑महे सा॒ता वाज॑स्य का॒रवः॑ ।
त्वां वृ॒त्रेष्वि॑न्द्र॒ सत्प॑तिं॒ नर॒स्त्वां काष्ठा॒स्वर्व॑तः　　॥ १ ॥

(यः त्वा तमसा स्वप्नेन मोहयित्वा) जो तुझे अज्ञान रूप स्वप्नसे मोहित करके (निपद्यते) प्राप्त होता है, (यः ते प्रजां जिघांसति) जो तेरी प्रजाको मारना चाहता है (तं इतो नाशयामसि) उसको यहांसे विनष्ट करते हैं ॥ १६ ॥　(ऋ. १०।१६२।६)

१७-२३ देखो अथर्व. २।३३।१-७ (ऋ. १०।१६३।१-३)

हे (मनसः पते अपेहि) हे मनके स्वामी परे हट जा, (अपक्राम, परः चर) वापस जा, दूर चला जा, (परः निर्ऋत्या आचक्ष्व) दूर जाकर निर्ऋतिसे कह कि (जीवतः मनः बहुधा) जीते हुएका मन बहुत प्रकारका है ॥ २४ ॥　(ऋ. १०।१६४।१)

॥ यहां अष्टम अनुवाक समाप्त ॥

(सूक्त ९७)

(वयं एनं वज्रिणं) हमने इस वज्रधारी इन्द्रको (इह ह्यः) यहां कल रस (इदू अपीपेम) पिलाया और (तस्मै उ अद्य) उसके लिये आज (समना सुतं भर) मनसे रस निचोड कर लाया हूं । (नूनं श्रुते भूषत) निश्चयसे स्तोत्रसे उसको भूषित करो ॥ १ ॥ (ऋ. ८।६६।७)

(उरा-माथिः वृकः चित्) भेडोंको मारनेवाले भेडियेके समान (अस्य वारणः) इसका निवारक भी (वयुनेषु आ भूषति) अपने मार्गोमें अपने आपको सजाता है । हे इन्द्र ! (सः नः इमं स्तोमं जुषाणः) वह तू हमारे इस यज्ञका सेवन करनेकी इच्छासे (प्र आ गहि) आ ॥ २ ॥　(ऋ. ८।६६।८)

(कत् उ नु अस्य इन्द्रस्य) कौनसा भला इस इन्द्रका (पौंस्यं अकृतं अस्ति) वीर कर्म किया हुआ नहीं है (केन श्रोतमेन) जिस सुश्राव्य स्तोत्रसे (उ नु कं च शुश्रुवे) वह विख्यात नहीं हुआ है, (वृत्रहा जनुषः परि) वृत्रको मारनेवाला इन्द्र जन्मसे ही विख्यात है ॥ ३ ॥　(ऋ. ८।६६।९)

(सूक्त ९८)

(वाजस्य साता कारवः) धनके लाभके इच्छुक स्तोता-हम- (त्वां इत् हि हवामहे) तुझे बुलाते हैं । हे इन्द्र ! (त्वां सत्पतिं) उस उत्तम स्वामीको (वृत्रेषु) घेरनेवाले

स त्वं नश्चित्र वज्रहस्त धृष्णुया मह स्तवानो अद्रिवः ।
गामश्वं रथ्यमिन्द्र सं किर सत्रा वाजं न जिग्युषे ॥ २ ॥ (६४५)

[सूक्त ९९]

(ऋषिः — १-२ मेध्यातिथिः । देवता — इन्द्रः ।)

अभि त्वा पूर्वपीतय इन्द्र स्तोमेभिरायवः ।
समीचीनास ऋभवः समस्वरन्रुद्रा गृणन्त पूर्व्यम् ॥ १ ॥
अस्येदिन्द्रो वावृधे वृष्ण्यं शवो मदे सुतस्य विष्णवि ।
अद्या तमस्य महिमानमायवोऽनु ष्टुवन्ति पूर्वथा ॥ २ ॥ (६४७)

[सूक्त १००]

(ऋषिः — १-३ नृमेधः । देवता — इन्द्रः ।)

अधा हीन्द्र गिर्वण उप त्वा कामान्महः ससृज्महे । उदेव यन्त उदभिः ॥ १ ॥

शत्रुओंके होनेपर, (**नरः त्वां**) वीर पुरुष तुझको (**अर्वतः काष्ठासु**) घुडदौडकी सीमाओंमें बुलाते हैं ॥ १ ॥
(ऋ. ६।४६।१)

हे (**चित्र वज्रहस्त**) आश्चर्यमय वज्र हाथमें लेनेवाले इन्द्र ! हे (**अद्रिवः**) वज्र धारण करनेवाले ! (**धृष्णुया महः स्तवानः**) अपनी धर्षण शक्तिसे बडा स्तुति किया हुआ (**सः त्वं नः**) वह तू हमारे लिये (**गां अश्वं रथ्यं सत्रा सं किर**) गौ, घोडा रथमें जोतने योग्य सदा दे (**जिग्युषे वाजं न**) विजयी वीरके लिये जैसा धन मिलता है ॥ २ ॥ (६।४६।२)

१ **कारवः वाजस्य सातः**— स्तोता धनकी इच्छा करनेवाले होते हैं। वाज— बल, अन्न, धन, ऐश्वर्य ।

२ **वृत्रेषु त्वां सत्पतिं हवामहे**— घेरनेवाले शत्रुओंका घेरा पडनेपर सहाय्यार्थ तुझे बुलाते हैं। क्योंकि तू उत्तम पालन करनेवाला है ।

३ **नरः त्वां सत्पतिं अर्वतः काष्ठासु**— वीर पुरुष तुझ उत्तम पालकको घुडदौडकी सीमामें बुलाते हैं। क्योंकि तुम्हारे घोडे अच्छे होते हैं, घुडदौडमें वे प्रथम स्थानमें आयेंगे।

४ **चित्र वज्रहस्त अद्रिवः**— हे विलक्षण शस्त्रधारी वज्र हाथमें लेनेवाले इन्द्र ।

५ **गां अश्वं रथ्यं सत्रा सः त्वं नः सं किर**— गौ, घोडा रथमें जोतने योग्य हमें दे दो ।

६ **जिग्युषे वाजं न**— विजयी वीरको धन मिलता है। विजय होने पर शत्रुका धन लूटा जाता है, वह विजयी वीरको प्राप्त होता है। वीर विजय मिलनेपर शत्रुका धन लूटा करते हैं।

(सूक्त ९९)

(**आयवः पूर्वपीतये**) मनुष्योंने प्रथम सोम पीनेके लिये हे इन्द्र ! (**त्वा स्तोमेभिः अभि समस्वरन्**) तेरी स्तुति स्तोत्रोंसे की है। (**समीचीनासः ऋभवः समस्वरन्**) परस्पर प्रेम रखनेवाले ऋभुओंने उच्च स्वरसे गायन किया। (**रुद्राः पूर्व्यं गृणन्त**) रुद्रोंने तुझ पुराण पुरुषकी स्तुति की है ॥ १ ॥ (ऋ. ८।३।७)

(**इन्द्रः**) इन्द्रने (**विष्णवि अस्य सुतस्य मदे**) यज्ञमें इस सोमरसके हर्षमें (**वृष्ण्यं शवः वावृधे इत्**) अपना वीरता युक्त बल बढाया। (**अद्य अस्य तं महिमानं**) आज इसके उस महिमाकी (**पूर्वथा**) पूर्वजोंकी तरह (**आयवः अनु स्तुवन्ति**) मनुष्य स्तुति करते हैं ॥ २ ॥ (ऋ. ८।३।८)

(सूक्त १००)

हे (**गिर्वण इन्द्र**) स्तुतिके योग्य इन्द्र ! (**अध त्वा महः कामान्**) अब तेरे पास हम अपनी बडी कामनाएं (**उप ससृज्महे हि**) भेजते हैं। (**उदभिः उदा इव यन्त**) जैसे जलप्रवाहोंसे जलप्रवाह चलते हैं ॥ १ ॥ (ऋ. ८।९८।७)

वार्ण त्वा यव्याभिर्वर्धन्ति शूर ब्रह्माणि । वावृध्वांसं चिदद्रिवो दिवेदिवे ॥ २ ॥
युञ्जन्ति हरी इषिरस्य गाथयोरौ रथ उरुयुगे । इन्द्रवाहा वचोयुजा ॥ ३ ॥ (६५०)

[सूक्त १०१]

(ऋषिः — १-३ मेध्यातिथिः । देवता — अग्निः ।)

अग्निं दूतं वृणीमहे होतारं विश्ववेदसम् । अस्य यज्ञस्य सुक्रतुम् ॥ १ ॥
अग्निमग्निं हवीमभिः सदा हवन्त विश्पतिम् । हव्यवाहं पुरुप्रियम् ॥ २ ॥
अग्ने देवाँ इहा वह जज्ञानो वृक्तबर्हिषे । असि होता न ईड्यः ॥ ३ ॥ (६५३)

[सूक्त १०२]

(ऋषिः — १-३ विश्वामित्रः । देवता — अग्निः ।)

ईळेन्यो नमस्यस्तिरस्तमांसि दर्शतः । समग्निरिध्यते वृषा ॥ १ ॥
वृषो अग्निः समिध्यतेऽश्वो न देववाहनः । तं हविष्मन्त ईळते ॥ २ ॥
वृषणं त्वा वयं वृषन्वृषणः समिधीमहि । अग्ने दीद्यतं बृहत् ॥ ३ ॥ (६५६)

(**यव्याभिः वाः न**) जैसा नदियोंसे जलप्रवाह चलता है, उस तरह हे (**शूर अद्रिवः**) वीर वज्रधारी इन्द्र ! (**वावृध्वांसं त्वा दिवेदिवे**) बढनेवाले तुझे प्रतिदिन (**ब्रह्माणि अभि वर्धयन्ति**) हमारे स्तोत्र बढाते हैं ॥ २ ॥ (ऋ. ८।९८।८)

(**इषिरस्य**) प्रिय इन्द्र देवके (**गाथया**) मंत्रसमूहके साथ (**उरुयुगे रथे**) चौडे जुओंवाले रथमें (**वचोयुजा इन्द्रवाहा हरी**) वचनसे जुडनेवाले इन्द्रके रथको खींचनेवाले दो घोडे (**युञ्जन्ति**) जोते जाते हैं ॥ ३ ॥ (ऋ. ८।९८।९)

(सूक्त १०१)

(**अस्य यज्ञस्य सुक्रतुं**) इस यज्ञको उत्तम रीतिसे करनेवाले (**विश्व-वेदसं**) सब धनोंके-ज्ञानोंके स्वामी (**होतारं दूतं**) देवोंको बुलानेवाले दूत (**अग्निं वृणीमहे**) अग्निको हम चुनते हैं ॥ १ ॥ (ऋ. १।१२।१)

(**विश्पतिं**) प्रजाओंके स्वामी (**हव्यवाहं पुरुप्रियं**) हव्यको ले जानेवाले, बहुतोंको प्रिय (**अग्निं अग्निं**) अग्रणी अग्निको हम (**हवीमभिः सदा हवन्त**) स्तोत्रपाठोंसे सदा बुलाते हैं ॥ २ ॥ (ऋ. १।१२।२)

हे अग्ने ! (**जज्ञानः**) प्रकट होते ही तू (**वृक्तबर्हिषे**) आसन फैलानेवाले यजमानके लिये (**देवान् इह आ वह**) देवोंको यहां ले आ । (**नः ईड्यः होता असि**) हमारा स्तुति योग्य देवोंको बुलानेवाला तू ही है ॥ ३ ॥ (ऋ. १।१२।३)

१ **यज्ञस्य सुक्रतुः**— यज्ञको उत्तम रीतिसे करनेवाला।
२ **विश्व-वेदाः**— सब धनोंसे, ज्ञानोंसे, युक्त । धनी, ज्ञानी ।
३ **विश्पतिः**— प्रजाओंका पालक ।
४ **पुरुप्रियः**— बहुतोंको प्रिय । बहुतोंको प्रिय बनना ।
५ **देवान् इह आ वह**— देवोंको यहां ले आ । विद्वानोंको यहां ले आ । **देव**- खेलमें कुशल, विजगीषु, व्यवहारकुशल सज्जन ।

(सूक्त १०२)

(**ईळेन्यः**) स्तुतिके योग्य (**नमस्यः**) नमस्कार करने योग्य, (**तमांसि तिरः दर्शतः**) अन्धकारको दूर करके स्वयं सुन्दर दीखनेवाला (**वृषा**) बलवान् अग्नि (**इध्यते**) प्रदीप्त होता है ॥ १ ॥ (ऋ. ३।२७।१३)

(**वृषः अग्निः समिध्यते**) शक्तिमान् अग्नि प्रदीप्त होता है (**देववाहनः अश्वः न**) देवोंको ले जानेवाले घोडेकी तरह (**हविष्मन्तः तं ईळते**) हविवाले ऋत्विग्गण उसकी स्तुति करते हैं ॥ २ ॥ (ऋ. ३।२७।१४)

हे (**वृषन् अग्ने**) शक्तिमान् अग्ने ! (**वृषणः वयं**) शक्तिमान् बननेवाले हम (**त्वा वृषणं**) तुझ बलवान्को (**बृहत् दीद्यतं**) और अधिक प्रकाशमानको (**समिधीमहि**) प्रदीप्त करते हैं ॥ ३ ॥ (ऋ. ३।२७।१५)

[सूक्त १०३]

(ऋषिः — १ सुदीतिपुरुमीळ्हौ, १-३ भर्गः । देवता — अग्निः ।)

अग्निमीळिष्वावसे गाथाभिः शीरशोचिषम् ।
अग्निं राये पुरुमीळ्ह श्रुतं नरोऽग्निं सुदीतये छर्दिः ॥ १ ॥
अग्न आ याह्यग्निभिर्होतारं त्वा वृणीमहे ।
आ त्वामनक्तु प्रयता हविष्मती यजिष्ठं बर्हिरासदे ॥ २ ॥
अच्छा हि त्वा सहसः सूनो अङ्गिरः स्रुचश्चरन्त्यध्वरे ।
ऊर्जो नपातं घृतकेशमीमहेऽग्निं यज्ञेषु पूर्व्यम् ॥ ३ ॥ (६५९)

[सूक्त १०४]

(ऋषिः — १-२ मेध्यातिथिः; ३-४ नृमेधः । देवता — इन्द्रः ।)

इमा उ त्वा पुरूवसो गिरो वर्धन्तु या मम ।
पावकवर्णाः शुचयो विपश्चितोऽभि स्तोमैरनूषत ॥ १ ॥
अयं सहस्रमृषिभिः सहस्कृतः समुद्र इव पप्रथे ।
सत्यः सो अस्य महिमा गृणे शवो यज्ञेषु विप्रराज्ये ॥ २ ॥

---

१ **ईळेन्यः नमस्यः दर्शतः वृषा तमांसि तिरः**— स्तुत्य, नमस्कार योग्य, दर्शनीय, बलवान्, अज्ञानान्धकारको दूर करनेवाला अग्नि है । इन गुणोंसे युक्त मनुष्य बने ।

२ **वृषणः वयं वृषणं त्वा बृहत् दीद्यतं समिधीमहि**— बलवान बननेकी इच्छावाले हम, तुझ बलवान् और बडे तेजस्वीको चमकाते हैं । बलवान् बननेकी इच्छावाले बलवान् तेजस्वीको ही अपने साथ रखें ।

(सूक्त १०३)

(**अवसे**) अपनी सुरक्षाके लिये (**शीर-शोचिषं**) तीव्र प्रकाशवाले (**अग्निं**) अग्निकी (**गाथाभिः ईळिष्व**) गाथाओंसे स्तुति कर । हे (**पुरुमीळ्ह**) बहुतों द्वारा स्तुति योग्य ! (**अग्निं राये**) धनके लिये अग्निकी स्तुति कर, हे (**नरः**) मनुष्यो ! (**सुदीतये श्रुतं अग्निं**) उत्तम प्रकाशके लिये विख्यात अग्निकी स्तुति करो, वह हमारा (**छर्दिः**) घर ही है ॥ १ ॥ (ऋ. ८। ७१।१४)

हे अग्ने ! (**अग्निभिः आ याहि**) अग्नियोंके साथ आ । (**त्वा होतारं वृणीमहे**) तुझे हम होता करके चुनते हैं । (**त्वां यजिष्ठं**) तुझ यजनकर्ताको (**बर्हिः आसदे**) आसनपर बैठनेके लिये (**प्रयता हविष्मती**) शुद्ध हविवाली स्रुचा (**त्वां आ अनक्तु**) तुझे घीसे चुपड देवे ॥ २ ॥ (ऋ. ८।६०।१)

हे (**सहसः सूनो अंगिराः**) बलके पुत्र अंगिरा ! (**अध्वरे स्रुचः**) यज्ञमें स्रुचाएं (**त्वा अच्छा हि चरन्ति**) तेरे लिये समीपसे विचरती हैं । हम (**ऊर्जः नपातं**) बलको न गिरानेवाले (**घृतकेशं**) तेजस्वी किरणवाले (**यज्ञेषु पूर्व्यं**) यज्ञोंमें पहिले (**ईं अग्निं ईमहे**) इस अग्निकी प्रार्थना करते हैं ॥ ३ ॥ (ऋ. ८।६०।२)

(सूक्त १०४)

हे (**पुरूवसो**) बहुत धनवान् इन्द्र ! (**याः मम इमाः गिरः**) जो मेरी ये स्तुतियां हैं वे (**त्वा उ वर्धन्तु**) तुझे बढावें । (**पावकवर्णाः शुचयः विपश्चितः**) अग्निके समान तेजस्वी शुद्ध ज्ञानियोंने (**स्तोमैः अभि अनूषत**) स्तोत्रोंसे तेरी स्तुति की है ॥ १ ॥ (ऋ. ८।३।३)

(**अयं**) यह इन्द्र (**ऋषिभिः सहस्रं सहस्कृतः**) ऋषियोंके द्वारा सहस्रगुणा अपने बलसे बढाया गया (**समुद्र इव पप्रथे**) समुद्रके समान फैला है (**सः अस्य महिमा सत्यः**) वह इसकी महिमा सत्य है । (**यज्ञेषु विप्रराज्ये शवः गृणे**) यज्ञोंमें विप्रोंके राज्यमें उसकी शक्तिकी स्तुति की जाती है ॥ २ ॥ (ऋ. ८।३।४)

आ नो विश्वासु हव्य इन्द्रः समत्सु भूषतु । उप ब्रह्माणि सवनानि वृत्रहा परमज्या ऋचीषमः ॥३॥
त्वं दाता प्रथमो राधसामस्यसि सत्य ईशानकृत् । तुविद्युम्नस्य युज्या वृणीमहे पुत्रस्य शवसो महः ॥ ४ ॥ (६६३)

[सूक्त १०५]

(ऋषिः — १-३ नृमेधः, ४-५ पुरुहन्मा । देवता — इन्द्रः ।)

त्वमिन्द्र प्रतूर्तिष्वभि विश्वा असि स्पृधः ।
अशस्तिहा जनिता विश्वतूरसि त्वं तूर्य तरुष्यतः ॥ १ ॥
अनु ते शुष्मं तुरयन्तमीयतुः क्षोणी शिशुं न मातरा ।
विश्वास्ते स्पृधः श्नथयन्त मन्यवे वृत्रं यदिन्द्र तूर्वसि ॥ २ ॥
इत ऊती वो अजरं प्रहेतारमप्रहितम् ।
आशुं जेतारं हेतारं रथीतममतूर्तं तुग्र्यावृधम् ॥ ३ ॥
यो राजा चर्षणीनां याता रथेभिरध्रिगुः ।
विश्वासां तरुता पृतनानां ज्येष्ठो यो वृत्रहा गृणे ॥ ४ ॥
इन्द्रं तं शुम्भ पुरुहन्मन्नवसे यस्य द्विता विधर्तरि ।
हस्ताय वज्रः प्रति धायि दर्शतो महो दिवे न सूर्यः ॥ ५ ॥ (६६८)

(विश्वासु समत्सु हव्यः इन्द्रः) सब संग्रामोंमें बुलाने योग्य इन्द्र (नः आ भूषतु) हमारे पास आवे । (वृत्रहा) शत्रुको मारनेवाला (परमज्या ऋची-समः) परम शक्तिवाला स्तुतियोंके योग्य हमारे (ब्रह्माणि सवनानि उप) स्तोत्रों और सवनोंके पास आवे ॥ ३ ॥ (ऋ. ८।९०।१)

(त्वं राधसां परमः दाता असि) तू धनोंका श्रेष्ठ दाता है, तू (सत्यः ईशान कृत् असि) सच्चा ईशन करनेवाला है, (तुविद्युम्नस्य) बडे यशवाले (महः शवसः पुत्रस्य) बडे बलके पुत्रसे (युज्याः वृणीमहे) हम सहायताएं मांगते हैं ॥ ४ ॥ (ऋ. ८।९०।२)

१ सः अस्य सत्यः महिमा— वह इस इन्द्रकी महिमा सत्य है ।

२ यज्ञेषु विप्रराज्ये शवः गृणे— यज्ञोंमें, विप्रराज्यमें उस इन्द्रके बलकी प्रशंसा होती है ।

३ विश्वासु समत्सु हव्यः— सब युद्धोंमें सहायतार्थ बुलाने योग्य इन्द्र है ।

४ सत्यः ईशानकृत् असि— वह सच्चा ईशन करनेवाला है ।

(सूक्त १०५)

हे इन्द्र ! (त्वं प्रतूर्तिषु) तू संग्रामोंमें (विश्वाः स्पृधः) सब शत्रुओंको (अभि असि) पराभूत करता है, (अशस्तिहा) बुराईको हटानेवाला (विश्व-तूः) सबको जीतनेवाला और (जनिता असि) सबका उत्पत्ति करनेवाला है, (त्वं तरुष्यतः तूर्य) तू विनाशक शत्रुओंको जीतनेवाला है ॥ १ ॥ (ऋ. ८।८८।५)

(क्षोणी ते तुरयन्तं शुष्मं) द्यौ और पृथिवी तेरे विजयी बलके (अनु ईयतुः) अनुकूल चलते हैं । (मातरा शिशु न) मातापिता जैसे बच्चेके अनुकूल रहते हैं । (ते मन्यवे) तेरे क्रोधके सामने (विश्वाः स्पृधः श्नथयन्त) सब शत्रु ढीले पडते हैं । हे इन्द्र ! (यत् वृत्रं तूर्वसि) जब तू वृत्रको जीतता है ॥ २ ॥ (ऋ. ८।८८।६)

(इतः वः ऊती) यहांसे तुम्हारा संरक्षण करनेके लिये (अ-जरं) जरा रहित (प्रहेतारं) विजयी, (अप्रहितं) अपराजित (आशुं जेतारं) शीघ्र जय प्राप्त करनेवाले (हेतारं रथीतमं) आगे प्रेरित करनेवाले, बडे रथी (अ-तूर्तं तुग्र्यावृधं) न जीते हुए और तुग्र्यको बढानेवाले इन्द्रको प्राप्त करो ॥ ३ ॥ (ऋ. ८।८८।७)

४-५ देखो अथर्व. २०।९२।१६-१७

[सूक्त १०६]

(ऋषिः — १-३ गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ। देवता — इन्द्रः।)

तव त्यदिन्द्रियं बृहत्तव शुष्ममुत क्रतुम् । वज्रं शिशाति धिषणा वरेण्यम् ॥ १ ॥
तव द्यौरिन्द्र पौंस्यं पृथिवी वर्धति श्रवः । त्वामापः पर्वतासश्च हिन्विरे ॥ २ ॥
त्वां विष्णुर्बृहन्क्षयो मित्रो गृणाति वरुणः । त्वां शर्धो मदत्यनु मारुतम् ॥ ३ ॥ (६७१)

[सूक्त १०७]

(ऋषिः — १-३ वत्सः, ४-१३ बृहद्दिवः, १४-१५ कुत्सः। देवता — इन्द्रः।)

समस्य मन्यवे विशो विश्वा नमन्त कृष्टयः । समुद्रायेव सिन्धवः ॥ १ ॥
ओजस्तदस्य तित्विष उभे यत्समवर्तयत् । इन्द्रश्चर्मेव रोदसी ॥ २ ॥
वि चिद्वृत्रस्य दोधतो वज्रेण शतपर्वणा । शिरो बिभेद वृष्णिना ॥ ३ ॥

इस सूक्तमें इन्द्रके ये गुण वर्णन किये हैं—

१ **त्वं प्रतूर्तिषु विश्वाः स्पृधः अभि असि—** तू युद्धोंमें सब शत्रुओंका सामना करके उनको हराता है।

२ **अशस्ति-हा विश्व-तुः—** बुराईको दूर करनेवाला और सब शत्रुओंको जीतनेवाला है।

३ **त्वं तरुष्यतः तूर्यः—** विनाशक शत्रुओंको जीतने वाला है।

४ **क्षोणी ते तुरयन्तं शुष्मं अनु ईयतुः—** द्यावा पृथिवी अर्थात् सब विश्व तेरे विजयी बलके अनुकूल होकर चलते हैं।

५ **ते मन्यवे विश्वाः स्पृधः श्रथयन्त—** तेरे क्रोधके सामने सब शत्रु निर्बल बनते हैं।

६ **वृत्रं तूर्वसि—** घेरनेवाले शत्रुको तू मारता है।

७ **यः ऊती अजरं, प्रहेतारं, अप्रहितं, आशुं जेतारं, हेतारं, रथीतमं अतूर्तं तुग्र्यावृधं—** अपने संरक्षणके लिये और जरारहित, विजयी, पीछे न हटनेवाले, सत्वर शत्रुपर विजय करनेवाले, आगे बढनेकी प्रेरणा करनेवाले, उत्तम श्रेष्ठ रथी कभी पराजित न होनेवाले, भक्तोंको बढानेवाले इन्द्रको अपने सहायार्थ प्राप्त करो।

वीरोंमें ये गुण रहने चाहिये।

(सूक्त १०६)

(तव त्यत् बृहत् इंद्रियं) तेरे उस इंद्रिय बलका **(तव शुष्मं उत क्रतुं)** तेरे सामर्थ्यका और कर्मशक्तिका **(वरेण्यं वज्रं)** तेरे श्रेष्ठ वज्रका **(धिषणा शिशाति)** हमारी बुद्धि वर्णन करती है ॥ १ ॥ (ऋ. ८।१५।७)

हे इन्द्र! **(द्यौः तव पौंस्यं)** द्यु तेरे बलको **(पृथिवी श्रवः वर्धति)** पृथिवी यशको बढा रही है। **(आपः पर्वतासः च)** जलप्रवाह और पर्वत **(त्वां हिन्विरे)** तुझे उत्साहित कर रहे हैं ॥ २ ॥ (ऋ. ८।१५।८)

(बृहन् क्षयः विष्णुः) बडा आश्रय दाता विष्णु, मित्र और वरुण **(त्वां गृणाति)** तेरी स्तुति गाते हैं। **(मारुतं शर्धः)** मरुतोंका समुदाय **(त्वां अनुमदति)** तेरे साथ आनन्दसे रहता है ॥ ३ ॥ (ऋ. ८।१५।९)

(सूक्त १०७)

(अस्य मन्यवे) इसके क्रोधके सामने **(विश्वाः विशः कृष्टयः)** सब प्रजाजन, सब कृषक **(सं नमन्ते)** अच्छी तरह नम्र होकर रहते हैं। **(सिन्धवः समुद्राय इव)** नदियां समुद्रके सामने जैसी झुकती हैं ॥ १ ॥ (ऋ. ८।६।४)

(तत् अस्य ओजः तित्विषः) वह इसका सामर्थ्य तब प्रकट हुआ **(यत् उभे रोदसी चर्म इव इन्द्रः समवर्तयत्)** जब दोनों द्यावा पृथिवीको चर्मके समान इन्द्रने लपेट लिया ॥ २ ॥ (ऋ. ८।६।५)

(दोधतः वृत्रस्य शिरः) कांपनेवाले वृत्रका सिर **(वृष्णिना शतपर्वणा वज्रेण)** बलवाले सौ-नोकोंवाले वज्रसे **(चित् वि बिभेद)** टुकडे टुकडे कर डाला ॥ ३ ॥ (ऋ. ८।६।६)

तदिदास भुवनेषु ज्येष्ठं यतो जज्ञ उग्रस्त्वेषनृम्णः ।
सद्यो जज्ञानो नि रिणाति शत्रूननु यदेनं मदन्ति विश्व ऊमाः ॥ ४ ॥
वावृधानः शवसा भूर्योजाः शत्रुर्दासाय भियसं दधाति ।
अव्यनच्च व्यनच्च सस्नि सं ते नवन्त प्रभृता मदेषु ॥ ५ ॥
त्वे क्रतुमपि पृञ्चन्ति भूरि द्विर्यदेते त्रिर्भवन्त्यूमाः ।
स्वादोः स्वादीयः स्वादुना सृजा समदः सु मधु मधुनाभि योधीः ॥ ६ ॥
यदि चिन्नु त्वा धना जयन्तं रणेरणे अनुमदन्ति विप्राः ।
ओजीयः शुष्मिन्त्स्थिरमा तनुष्व मा त्वा दभन्दुरेवासः कशोकाः ॥ ७ ॥
त्वया वयं शाशद्महे रणेषु प्रपश्यन्तो युधेन्यानि भूरि ।
चोदयामि त आयुधा वचोभिः सं ते शिशामि ब्रह्मणा वयांसि ॥ ८ ॥
नि तद्दधिषेऽवरे परे च यस्मिन्नाविथावसा दुरोणे ।
आ स्थापयत मातरं जिगत्नुमत इन्वत कर्वराणि भूरि ॥ ९ ॥
स्तुष्व वर्ष्मन्पुरुवर्त्मानं समृभ्वाणमिनतममाप्तमाप्त्यानाम् ।
आ दर्शति शवसा भूर्योजाः प्र सक्षति प्रतिमानं पृथिव्याः ॥ १० ॥
इमा ब्रह्म बृहद्दिवः कृणवदिन्द्राय शूषमग्रियः स्वर्षाः ।
महो गोत्रस्य क्षयति स्वराजा तुरश्चिद्विश्वमर्णवत्तपस्वान् ॥ ११ ॥
एवा महान्बृहद्दिवो अथर्वावोचत्स्वां तन्वमिन्द्रमेव ।
स्वसारौ मातरिभ्वरी अरिप्रे हिन्वन्ति चैने शवसा वर्धयन्ति च ॥ १२ ॥
चित्रं देवानां केतुरनीकं ज्योतिष्मान्प्रदिशः सूर्य उद्यन् ।
दिवाकरोऽति द्युम्नैस्तमांसि विश्वातारीद्दुरितानि शुक्रः ॥ १३ ॥
चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः ।
आप्राद् द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ॥ १४ ॥
सूर्यो देवीमुषसं रोचमानां मर्यो न योषामभ्येति पश्चात् ।
यत्रा नरो देवयन्तो युगानि वितन्वते प्रति भद्राय भद्रम् ॥ १५ ॥ (३८६)

४-१४ देखो अथर्व. ५।२।१-१२; १३।२।३४-३५

(ऋ. १०।१२०।१-९, ऋ. १।११५।१-२)

(सूर्यः) सूर्य (रोचमानां उषसं देवीं) चमकती उषा देवीके (पश्चात् अभ्येति) पीछे आता है (मर्यः योषां न) जैसा मनुष्य स्त्रीके पीछे आता है। (यत्र देवयन्तः नरः) जिस समय देवत्व प्राप्त करनेकी इच्छा करनेवाले सज्जन (भद्राय भद्रं) कल्याण करनेके लिये कल्याण करनेवाले कर्म (युगानि वितन्वते) यज्ञकर्मोंको करते हैं ॥ १५ ॥

(ऋ. १।११५।२)

[सूक्त १०८]

(ऋषिः — १-३ नृमेधः । देवता — इन्द्रः ।)

त्वं न॑ इन्द्रा भ॑रँ ओजो॑ नृम्णं श॑तक्रतो विचर्षणे । आ वी॒रं पृ॑तना॒षह॑म् ॥ १ ॥
त्वं हि न॑ः पि॒ता व॑सो त्वं मा॒ता श॑तक्रतो ब॒भूवि॑थ । अधा॑ ते सु॒म्नमी॑महे ॥ २ ॥
त्वां शु॑ष्मिन्पुरुहूत वाजय॒न्तमुप॑ ब्रुवे शतक्रतो । स नो॑ रास्व सु॒वीर्य॑म् ॥ ३ ॥ (६८९)

[सूक्त १०९]

(ऋषिः — १-३ गोतमः । देवता — इन्द्रः ।)

स्वा॒दोरि॒त्था वि॑षू॒वतो॒ मध्व॑ः पिबन्ति गौ॒र्य॑ः ।
या इन्द्रे॑ण स॒याव॑री॒र्वृष्णा॒ मद॑न्ति शो॒भसे॒ वस्वी॒रनु॑ स्व॒राज्य॑म् ॥ १ ॥
ता अ॑स्य पृशना॒युव॒ः सोमं॑ श्रीणन्ति॒ पृश्न॑यः ।
प्रि॒या इन्द्र॑स्य धे॒नवो॒ वज्रं॑ हिन्वन्ति॒ साय॑कं॒ वस्वी॒रनु॑ स्व॒राज्य॑म् ॥ २ ॥
ता अ॑स्य॒ नम॑सा॒ सह॑ः सप॒र्यन्ति॒ प्रचे॑तसः ।
व्र॒तान्य॑स्य सश्चिरे पु॒रूणि॑ पू॒र्वचि॑त्तये॒ वस्वी॒रनु॑ स्व॒राज्य॑म् ॥ ३ ॥ (६९१)

(सूक्त १०८)

हे इन्द्र ! (**त्वं नः ओजः आ भर**) तू हमारे लिये सामर्थ्य भर दे । हे (**विचर्षणे शतक्रतो**) कुशल सैकडों कार्य करनेवाले इन्द्र ! (**नृम्णं**) पौरुष भी हमारे पास भर दे । (**पृतना-सहं वीरं आ भर**) शत्रुओंको जीतनेवाला वीर पुत्र भी हमें दे ॥ १ ॥ (ऋ. ८।९९।१०)

हे (**वसो**) निवासक इन्द्र ! (**त्वं हि नः पिता**) तू हमारा पिता है । हे शतक्रतो ! (**त्वं माता बभूविथ**) तू हमारी माता हुई है । (**अधा ते सुम्नं ईमहे**) अब हम तुझसे सुख मांगते हैं ॥ २ ॥ (ऋ. ८।९९।११)

हे (**शुष्मिन् पुरुहूत शतक्रतो**) बलवान्, बहुतों द्वारा बुलाये गये सैकडों कर्म करनेवाले इन्द्र ! (**त्वां वाजयन्तं उपब्रुवे**) तुझ बलवानके पास मेरी प्रार्थना है कि (**सः नः सुवीर्यं रास्व**) वह तू हमें उत्तम पराक्रम करनेकी शक्ति दे ॥ ३ ॥ (ऋ. ८।९९।१२)

(सूक्त १०९)

(**गौर्यः**) गौवें (**विषूवतः स्वादोः मध्वः**) फैले स्वादु मधुर सोम रसको (**इत्था पिबन्ति**) इस तरह पीती हैं । (**या वृष्णा इन्द्रेण सयावरीः**) जो बलवान् इन्द्रके साथ गमन करनेवाली (**शोभसे मदन्ति**) तेजस्विताके लिये आनन्दित होती हैं, जो (**स्वराज्यं अनु वस्वीः**) स्वराज्यके लिये बसती हैं ॥ १ ॥ (ऋ. १।८४।१०)

(**ताः पृश्नयः**) वे चितकबरी गौवें (**स्पृशना युवः**) स्पर्श करनेकी इच्छा करती हुई (**सोमं श्रीणन्ति**) सोमके साथ मिलती हैं । (**इन्द्रस्य प्रिया धेनवः**) इन्द्रकी प्रिय गौवें (**सायकं वज्रं हिन्वन्ति**) शत्रुको मारनेवाले वज्रको प्रेरित करती हैं जो अपने स्वराज्यके लिये बसती हैं ॥ २ ॥ (ऋ. १।८४।११)

(**ताः प्रचेतसः**) वे ज्ञानी (**नमसा सह**) नमस्कारके साथ (**अस्य सपर्यन्ति**) इसकी शक्तिका सत्कार करती हैं । (**अस्य पुरूणि व्रतानि**) इसके बहुतसे व्रतोंको (**पूर्व-चित्तये सश्चिरे**) मुख्य ऐश्वर्यके लिये अनुसरती हैं, जो अपने स्वराज्यके लिये बसती हैं ॥ ३ ॥ (ऋ. १।८४।१२)

इन मंत्रोंमें आलंकारिक वर्णन है—

१ **गौर्यः स्वादोः मध्वः पिबन्ति—** गौवें मधुर सोमरस पीती हैं । सोमरसमें गौओंका दूध मिलाया जाता है ।

२ **वृष्णाः इन्द्रेणः सयावरीः—** बलवान् इन्द्रके साथ जाती हैं । सोमरसमें गोदुग्ध मिलने पर वह रस इन्द्र पीता

[सूक्त ११०]

(ऋषिः — १-३ श्रुतकक्षः सुकक्षो वा। देवता — इन्द्रः)

इन्द्रा॑य॒ मद्व॑ने सु॒तं परि॑ ष्टोभन्तु नो॒ गिर॑: । अ॒र्कम॑र्चन्तु का॒रव॑: ॥ १ ॥
यस्मि॒न्विश्वा॒ अधि॒ श्रियो॒ रण॑न्ति स॒प्त सं॒सद॑: । इन्द्रं॑ सु॒ते ह॑वामहे ॥ २ ॥
त्रिक॑द्रुकेषु॒ चेत॑नं दे॒वासो॑ य॒ज्ञम॑त्नत । तमिद्व॑र्धन्तु नो॒ गिर॑: ॥ ३ ॥ (६९५)

[सूक्त १११]

(ऋषिः — १३ पर्वतः। देवता — इन्द्रः।)

यत्सोम॑मिन्द्र॒ विष्ण॑वि॒ यद्वा॑ घ त्रि॒त आ॒प्त्ये । यद्वा॑ म॒रुत्सु॒ मन्द॑से॒ समिन्दु॑भिः ॥ १ ॥
यद्वा॑ शक्र परा॒वति॑ समु॒द्रे अधि॒ मन्द॑से । अ॒स्माक॒मित्सु॒ते र॑णा॒ समिन्दु॑भिः ॥ २ ॥
यद्वासि॑ सुन्व॒तो वृ॒धो यज॑मानस्य सत्पते । उ॒क्थे वा॒ यस्य॒ रण्य॑सि॒ समिन्दु॑भिः ॥ ३ ॥ (६९८)

है, गोदुग्ध इन्द्रके साथ रहता है। अर्थात् गौवें इन्द्रके साथ जाती हैं।

३ **सायकं वज्रं हिन्वन्ति—** मारनेवाले वज्रको गौवें प्रेरित करती हैं। गोदुग्ध सोमरसके साथ पीनेसे जो बल बढता है उससे वज्र शत्रुपर फेंका जाता है। गोदुग्ध ही यह करता है अर्थात् गौ ही करती है।

गौ= गौ, दूध, दही, मक्खन, घी। इनके खाने-पीनेसे जो शक्ति आती है उससे अनेक पुरुषार्थ प्रयत्न इन्द्र आदि वीर करते हैं। वे सब प्रयत्न गौके दूधसे होते हैं, इसलिये गौवें ही वे प्रयत्न करती हैं। यह एक आलंकारिक वर्णन है। गौकी प्रशंसा ही है।

वेदकी यह एक वर्णन करनेकी पद्धति है।

(सूक्त ११०)

(**मद्वने इन्द्राय सुतं**) हर्ष प्राप्त करनेकी इच्छावाले इन्द्रके लिये सोमरस तैयार किया है। (**नः गिरः परि ष्टोभन्तु**) हमारी वाणियाँ उसकी स्तुति करें। (**कारवः अर्कं अर्चन्तु**) कर्तृत्ववान् पुरुष उस अर्चनीय इन्द्रकी स्तुति करें ॥ १ ॥ (ऋ. ८।९२।१९)

(**विश्वा श्रियः यस्मिन् अधि**) सब शोभाएं जिसमें रहती हैं, (**सप्त संसदः अधि रणन्ति**) सात यज्ञसंस्थाएं जिसमें आनंद प्राप्त करती हैं, (**इन्द्रं सुते हवामहे**) उस इन्द्रको सोमयागमें हम बुलाते हैं ॥ २ ॥ (ऋ. ८।९२।२०)

(**देवासः**) देवोंने (**चेतनं यज्ञं**) उत्तेजना देनेवाला सोमयज्ञ इन्द्रके लिये (**त्रिकद्रुकेषु अत्नत**) तीन सोमपात्रोंमें फैलाया है (**नः गिरः तं इत् वर्धन्तु**) हमारी स्तुतियां उस इन्द्रको बढावें ॥ ३ ॥ (ऋ. ८।९२।२१)

(सूक्त १११)

हे इन्द्र! (**विष्णवि यत् सोमं**) विष्णुके पास जो सोम था, (**वा यत् आप्त्ये त्रिते**) जो आप्त्य त्रितके पास था, (**यत् वा मरुत्सु**) जो मरुतोंके पास था (**इन्दुभिः सं मन्दसे**) उन सोमरसोंसे तू उत्तम आनन्द प्राप्त करता है ॥१॥ (ऋ. ८।१२।१६)

हे (**शक्र**) सामर्थ्यवान् इन्द्र! (**यद् वा परावति समुद्रे**) अथवा दूरके समुद्रमें (**अधि मन्दसे**) तू आनन्द मानता है वैसा (**अस्माकं सुते इत्**) हमारे सोमयज्ञमें (**इन्दुभिः सं रण**) सोमरसोंसे आनन्द उत्तम रीतिसे मान ॥ २ ॥ (ऋ. ८।१२।१७)

हे (**सत्पते**) सज्जनोंके पालक इन्द्र! (**यत् वा**) अथवा (**सुन्वतः यजमानस्य वृधः असि**) सोमयाग करनेवाले यजमानका तू संवर्धन करनेवाला है, (**यस्य उक्थे वा**) जिसके स्तोत्रमें- उक्थमें- (**इन्दुभिः सं रण्यसि**) सोमरसोंसे उत्तम आनंद प्राप्त करता है ॥ ३ ॥ (ऋ. ८।१२।१८)

[सूक्त १११]

(ऋषिः — १-३ सुकक्षः । देवता — इन्द्रः ।)

यदुद्य कच्चं वृत्रहन्नुदगां अभि सूर्य । सर्वं तदिन्द्र ते वशे ॥ १ ॥
यद्वा प्रवृद्ध सत्पते न मरा इति मन्यसे । उतो तत्सत्यमित्तव ॥ २ ॥
ये सोमासः परावति ये अर्वावति सुन्विरे । सर्वांस्ताँ इन्द्र गच्छसि ॥ ३ ॥ (७०१)

[सूक्त ११३]

(ऋषिः — १-२ भर्गः । देवता — इन्द्रः ।)

उभयं शृणवच्च न इन्द्रो अर्वागिदं वचः ।
सत्राच्या मघवा सोमपीतये धिया शविष्ठ आ गमत् ॥ १ ॥
तं हि स्वराजं वृषभं तमोजसे धिषणे निष्टतक्षतुः ।
उतोपमानां प्रथमो नि षीदसि सोमकामं हि ते मनः ॥ २ ॥ (७०३)

[सूक्त ११४]

(ऋषिः — १-२ सौभरिः । देवता — इन्द्रः ।)

अभ्रातृव्यो अना त्वमनापिरिन्द्र जनुषा सनादसि । युधेदापित्वमिच्छसे ॥ १ ॥
नकीं रेवन्तं सख्याय विन्दसे पीयन्ति ते सुराश्वः ।
यदा कृणोषि नदनुं समूहस्यादित्पितेव हूयसे ॥ २ ॥ (७०५)

(सूक्त १११)

(**वृत्रहन्**) हे वृत्रके मारनेवाले ! हे सूर्य ! (**यत् अद्य कत् च अभि उद् अगाः**) जो आज तू किसी तरह उदय हुआ है, हे इन्द्र ! (**तत् सर्वं ते वशे**) वह सब तेरे वशमें है ॥ १ ॥ (ऋ. ८।९३।४)

(**यद् वा**) किंवा (**प्रवृद्ध सत्पते**) हे बडे सत्यके पालक ! (**न मरै इति मन्यसे**) मैं नहीं मरूंगा ऐसा मानता है, (**उत् उ तत् तव सत्यं इत्**) निःसंदेह वह तेरा सत्य मानना है ॥ २ ॥ (ऋ. ८।९३।५)

(**ये सोमासः परावति**) जो सोमरस दूर है (**ये अर्वावति सुन्विरे**) जो निकट निकाले हैं । हे इन्द्र ! (**तान् सर्वान् गच्छसि**) उन सबके पास तू जाता है ॥ ३ ॥ (ऋ. ८।९३।६)

(सूक्त ११३)

(**उभयं**) दोनों बातें हैं, (**इन्द्रः अर्वाक् इदं नः वचः शृणवत् च**) एक तो इन्द्र पास आकर इस हमारे वचनको सुनेगा और दूसरा (**सत्राच्या धिया**) विवेक पूर्ण बुद्धिसे (**शविष्ठः मघवा**) बलवान् इन्द्र (**सोमपीतये आ गमत्**) सोमरस पीनेके लिये आयेगा ॥ १ ॥ (ऋ. ८।६१।१)

(**धिषणे**) द्यौ और पृथिवीने (**तं वृषभं स्वराजं**) उस बलवान् स्वतंत्र शासकको (**तं ओजसे**) बलके कार्य करनेके लिये उस इन्द्रको (**निष्टतक्षुः**) बनाया । (**उत उपमानां प्रथमः**) तू उपमा देने योग्योंमें पहिला होकर (**नि षीदसि**) बैठता है, (**ते मनः सोमकामं हि**) तेरा मन सोमकी इच्छा करनेवाला है ॥ २ ॥ (ऋ. ८।६१।२)

(सूक्त ११४)

(**अ-भ्रातृव्यः**) न तेरा कोई शत्रु है, (**अ-नाः**) न कोई नेता है, हे इन्द्र ! (**त्वं अनापिः**) तेरा कोई मित्र भी नहीं (**जनुषा सनाद् असि**) जन्मसे तू सदा ऐसा ही है (**युधा इत् आपित्वं इच्छसे**) युद्धसे तू मित्रत्व चाहता है । जो तुझे बुलाते हैं उनका तू मित्र होता है ॥ १ ॥ (ऋ. ८।२१।१३)

(**रेवन्तं सख्याय नकिः विन्दसे**) धनवानको मित्रताके लिये तू नहीं प्राप्त करता, (**ते सुराश्वः**) तेरे सुरा पीनेवाले लोग (**पीयन्ति**) विनष्ट होते हैं, (**यदा नदनुं**

[सूक्त ११५]

(ऋषिः — १-३ वत्सः । देवता — इन्द्रः ।)

अहमिद्धि पितुष्परि मेधामृतस्य जग्रभ । अहं सूर्य इवाजनि ॥ १ ॥
अहं प्रत्नेन मन्मना गिरः शुम्भामि कण्ववत् । येनेन्द्रः शुष्ममिद्दधे ॥ २ ॥
ये त्वामिन्द्र न तुष्टुवुरृषयो ये च तुष्टुवुः । ममेद्वर्धस्व सुष्टुतः ॥ ३ ॥ (७०८)

[सूक्त ११६]

(ऋषिः — १-२ मेध्यातिथिः । देवता — इन्द्रः ।)

मा भूम निष्ट्या इवेन्द्र त्वदरणा इव । वनानि न प्रजहितान्यद्रिवो दुरोषासो अमन्महि ॥ १ ॥
अमन्महीदनाशवोऽनुग्रासश्च वृत्रहन् । सकृत्सु ते महता शूर राधसानु स्तोमं मुदीमहि ॥२॥ (७१०)

[सूक्त ११७]

(ऋषिः — १-३ वसिष्ठः । देवता — इन्द्रः ।)

पिबा सोममिन्द्र मन्दतु त्वा यं ते सुषाव हर्यश्वाद्रिः । सोतुर्बाहुभ्यां सुयतो नार्वा ॥ १ ॥
यस्ते मदो युज्यश्चारुरस्ति येन वृत्राणि हर्यश्व हंसि । स त्वामिन्द्र प्रभूवसो ममत्तु ॥ २ ॥

कृणोषि) जब तू शब्द करता है तब (आत् इत् समूहसि) सबको इकट्ठा करता है तब (पिता इव हूयसे) पिताके समान बुलाया जाता है ॥ २ ॥ (ऋ. ८।२१।१४)

(सूक्त ११५)

(अहं इत् हि) मैंने निश्चयसे (पितुः परि) पितासे (ऋतस्य मेधां जग्रभ) सत्यनिष्ठ बुद्धिका ग्रहण किया है। (अहं सूर्य इव अजनि) और मैं सूर्यके समान प्रकट हुआ हूं ॥ १ ॥ (ऋ. ८।६।१०)

(अहं प्रत्नेन मन्मना) मैं पुराने विचारके अनुसार (कण्ववत् गिरः शुंभामि) कण्वके समान अपनी वाणीयोंको सुशोभित करता हूं । (येन इन्द्रः शुष्मं इत् दधे) जिससे इन्द्र बलको धारण करता है ॥ २ ॥ (ऋ. ८।६।११)

हे इन्द्र ! (ये त्वां न तुष्टुवुः) जिन्होंने तेरी स्तुति नहीं की (ये च ऋषयः तुष्टुवुः) और जिन ऋषियोंने स्तुति की है, (मम सुष्टुतः इत् वर्धस्व) मुझसे स्तुति किया हुआ तू वृद्धिको प्राप्त हो ॥ ३ ॥ (ऋ. ८।६।१२)

(सूक्त ११६)

(निष्ट्या इव) नीचोंकी तरह (त्वद् अरणा इव) तुझसे दूर किये हुओंकी तरह, हे इन्द्र ! (मा भूम) हम मत हों । हे (अद्रिवः) वज्रधारी इन्द्र ! (प्रजहितानि वनानि न) छोडे हुए वनोंकी तरह (दुरोषासः अमन्महि) दुःखसे जलवाले वृक्षोंकी तरह हम न हो गये हों, ऐसा हम अपनेको समझते हैं ॥ १ ॥ (८।१।१३)

हे (वृत्रहन्) वृत्रको मारनेवाले ! (अनाशवः अनुग्रासः च) स्फूर्तिसे कार्य न करनेवाले, न उग्रवीर (अमन्महि इत्) हम अपने आपको समझते हैं । हे (शूर) वीर इन्द्र ! (ते महता राधसा) तेरे बडे दानसे (सकृत्) एक वीर हो (ते स्तोमं) तेरे स्तोत्रके (सु अनु मुदीमहि) अनुकूल रहनेमें हम आनंद मान रहे हैं ॥२॥ (ऋ. ८।१।१४)

(सूक्त ११७)

हे इन्द्र ! (सोमं पिब) सोम पी । (त्वा मन्दतु) तुझे वह आनंदित करे । हे (हर्यश्व) भूरे रंगके घोडोंवाले इन्द्र ! (यं ते अद्रिः सुषाव) जिस रसको तेरे लिये पत्थरने कूट कर निकाला है । (सुयतः अर्वा न) बांधे हुए घोडेकी तरह (सोतुः बाहुभ्यां) रस निकालनेवालेके बलवान् बाहुओंसे रस निकाला है ॥ १ ॥ (ऋ. ७।२२।१)

(यः ते मदः युज्यः चारुः अस्ति) जो तेरा सोम सुन्दर मित्र है । हे (हर्यश्व) भूरे रंगके घोडोंवाले इन्द्र ! (येन वृत्राणि हंसि) [illegible]से तू वृत्रोंको मारता है । हे (प्रभूवसो इन्द्र) हे बहु[illegible]धनवाले इन्द्र ! (स त्वां ममत्तु) वह तुझे आनंदित [illegible] २ ॥ (ऋ. ७।२२।२)

बोधा सु मे मघव-वाचमेमां यां ते वसिष्ठो अर्चति प्रशस्तिम् । इमा ब्रह्म सधमादे जुषस्व ॥ ३ ॥ (७१३)

[सूक्त ११८]

(ऋषिः — १-२ भर्गः, ३-४ मेध्यातिथिः । देवता — इन्द्रः ।)

शग्ध्यू३षु शचीपत इन्द्र विश्वाभिरूतिभिः ।
भगं न हि त्वा यशसं वसुविदमनु शूर चरामसि ॥ १ ॥
पौरो अश्वस्य पुरुकृद्गवामस्युत्सो देव हिरण्ययः ।
नकिर्हि दानं परिमर्धिषत्त्वे यद्यद्यामि तदा भर ॥ २ ॥
इन्द्रमिद्देवतातय इन्द्रं प्रयत्यध्वरे ।
इन्द्रं समीके वनिनो हवामह इन्द्रं धनस्य सातये ॥ ३ ॥
इन्द्रो मह्ना रोदसी पप्रथच्छव इन्द्रः सूर्यमरोचयत् ।
इन्द्रे ह विश्वा भुवनानि येमिर इन्द्रे सुवानास इन्दवः ॥ ४ ॥ (७१७)

[सूक्त ११९]

(ऋषिः — १ आयुः, २ श्रुष्टिगुः । देवता — इन्द्रः ।)

अस्तावि मन्म पूर्व्यं ब्रह्मेन्द्राय वोचत । पूर्वीर्ऋतस्य बृहतीरनूषत स्तोतुर्मेधा असृक्षत ॥ १ ॥

हे (**मघवन्**) धनवान् इन्द्र ! (**इमां मे वाचं**) मेरी इस स्तुतिको (**सु बोध**) उत्तम रीतिसे जान। (**यां प्रशस्तिं ते वसिष्ठः अर्चति**) जिस तेरी प्रशंसाको वसिष्ठ उच्चारता है, (**इमा ब्रह्म सधमादे जुषस्व**) इन स्तोत्रोंको साथ बैठकर आनंद करनेके समय सेवन कर ॥ ३ ॥ (ऋ. ७।२२।३)

(सूक्त ११८)

हे (**शचीपते इन्द्र**) शक्तिके स्वामी इन्द्र ! (**विश्वाभिः ऊतिभिः**) सब संरक्षक शक्तियोंसे (**उ सु शग्धि**) हमें समर्थ बनाओ। (**भगं न**) भाग्यके पीछे लगनेके समान, हे (**शूर**) वीर इन्द्र ! (**त्वा यशसं वसुविदं**) तुझ यशस्वी और धनवालेके (**हि अनु चरामसि**) अनुसार ही हम चलते हैं ॥ १ ॥ (ऋ. ८।६१।५)

(**अश्वस्य पौरः**) तू घोडोंको बहुत संख्यामें रखनेवाला, (**गवां पुरस्कृत्**) गौवोंको बहुत संख्यामें रखनेवाला है, हे देव ! तू (**हिरण्ययः उत्सः असि**) सोनेका स्रोत है। (**न किः त्वे दानं परिमर्धिषत्**) तेरे दानको कोई हानि नहीं पहुंचा सकता। (**यत् यत् यामि**) जो जो मैं मांगता हूं (**तत् आ भर**) वह मुझे भर दे ॥ २ ॥ (ऋ. ८।६१।६)

(**देवतातये इन्द्रं इत्**) यज्ञके लिये इन्द्रको, (**अध्वरे प्रयति इन्द्रं**) यज्ञ चालू होनेपर इन्द्रको, (**समीके**) युद्धमें (**इन्द्रं हवामहे**) इन्द्रको हम बुलाते हैं। (**धनस्य सातये इन्द्रं**) धनके दानके लिये इन्द्रको हम (**वनिनः हवामहे**) स्तोतागण बुलाते हैं ॥ ३ ॥ (ऋ. ८।३।५)

(**इन्द्रः मह्ना शवः रोदसी पप्रथत्**) इन्द्रने अपनी महिमासे और शक्तिसे द्यौ और पृथिवीको फैलाया है। (**इन्द्रः सूर्यं अरोचयत्**) इन्द्रने सूर्यको प्रकाशित किया। (**इन्द्रः ह विश्वा भूतानि येमिरे**) इन्द्रने सब भूतोंको नियममें रखा है, (**इन्द्रे सुवानास इन्दवः**) इन्द्रमें सोमरस पहुंचते हैं ॥ ४ ॥ (ऋ. ८।३।६)

(सूक्त ११९)

(**पूर्व्यं मन्म अस्तावि**) पुराना स्तोत्र पढा गया, (**इन्द्राय ब्रह्म वोचत**) इन्द्रके लिये स्तोत्र पढो। (**ऋतस्य पूर्वीः बृहतीः अनूषत**) यज्ञकी प्राचीन स्तुतियां गायीं गयीं हैं। (**स्तोतुः मेधाः असृक्षत**) स्तोताकी बुद्धियोंसे स्तोत्र उत्पन्न हुए हैं ॥ १ ॥ (ऋ. ८।५२।९)

तुरण्यवो मधुमन्तं घृतश्चुतं विप्रासो अर्कमानृचुः ।
अस्मे रयिः पप्रथे वृष्ण्यं शवोऽस्मे सुवानास इन्दवः ॥ २ ॥ (७१९)

[सूक्त १२०]

(ऋषिः — १-२ देवातिथिः । देवता — इन्द्रः ।)

यदिन्द्र प्रागपागुदङ्न्यग्वा हूयसे नृभिः ।
सिमा पुरू नृषूतो अस्यानवेऽसि प्रशर्ध तुर्वशे ॥ १ ॥
यद्वा रुमे रुशमे श्यावके कृप इन्द्र मादयसे सचा ।
कण्वासस्त्वा ब्रह्मभिः स्तोमवाहस इन्द्रा यच्छन्त्या गहि ॥ २ ॥ (७२१)

[सूक्त १२१]

(ऋषिः — १-२ वसिष्ठः । देवता — इन्द्रः ।)

अभि त्वा शूर नोनुमोऽदुग्धा इव धेनवः ।
ईशानमस्य जगतः स्वर्दृशमीशानमिन्द्र तस्थुषः ॥ १ ॥
न त्वावाँ अन्यो दिव्यो न पार्थिवो न जातो न जनिष्यते ।
अश्वायन्तो मघवन्निन्द्र वाजिनो गव्यन्तस्त्वा हवामहे ॥ २ ॥ (७२३)

(तुरण्यवः विप्रासः) त्वरासे कार्य करनेवाले विप्रोंने **(घृतश्चुतं अर्क आनृचुः)** घी चूनेवाला स्तोत्र पढा है। **(अस्मे रयिः पप्रथ)** हमारे लिये धन फैला, **(अस्मे वृष्ण्यं शवः)** हमारे लिये वीरता युक्त बल फैला है, **(अस्मे सुवानासः इन्दवः)** हममें निकाले हुए सोमरस हैं ॥ २ ॥
(ऋ. ८।५१।१०)

१ **घृतश्चुतं अर्कं आनृचुः—** घी चूनेवाला स्तोत्र पढा गया। घीका हवन होनेके समय स्तोत्र पढा गया है।

(सूक्त १२०)

हे इन्द्र! **(यत् नृभिः)** जब मनुष्योंके द्वारा **(प्राक्, अपाक्, उदक् न्यग् वा हूयते)** पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिणमें तू बुलाया जाता है, तो भी हे **(सीम प्रशर्ध)** श्रेष्ठ बलवाले इन्द्र! **(नृषूतः)** बहुत वीरों द्वारा प्रेरित होकर भी तू **(अनवे पुरू असि)** अनुके लिये विशेष सहायक रहता है और वैसे ही **(तुर्वशे असि)** तुर्वशके लिये भी विशेष सहायक होता है ॥ १ ॥ (ऋ. ८।४।११)

(यत् वा) अथवा रुम, रुशम, श्यावक, कृपके हे इन्द्र! **(सचा मादयसे)** साथ रहनेसे आनंद मानता है तथापि हे इन्द्र! **(स्तोमवाहसः कण्वासः)** स्तोत्र बोलनेवाले कण्व **(ब्रह्मभिः आ यच्छन्ति)** बहुत स्तोत्रोंसे तुझे खींचते हैं, अतः **(आ गहि)** उनके पास आ ॥ २ ॥
(ऋ. ८।४।२)

(सूक्त १२१)

हे शूर इन्द्र! **(अदुग्धा धेनवः इव)** न दुही गौओंकी तरह **(अस्य जगतः तस्थुषः)** इस जंगम और स्थावर जगत्के **(स्वर्दृशं ईशानं)** तेजस्वी ईश्वर रूपी **(त्वा अभि नोनुमः)** तेरी हम स्तुति करते हैं ॥ १ ॥ (ऋ. ७।३२।२२)

(त्वावान् अन्यः न) तेरे जैसा कोई दूसरा नहीं है, **(न दिव्यः न पार्थिवः)** न दिव्य है और न पार्थिव है, **(न जातः न जनिष्यते)** न हुआ और न होगा। हे इन्द्र! हे **(मघवन्)** धनवान्! **(अश्वायन्तः गव्यन्तः)** घोडों और गौओंकी प्राप्तिकी इच्छा करनेवाले हम **(वाजिनः)** हविष्यान्न लेकर **(हवामहे)** तुझे बुलाते हैं ॥ २ ॥
(ऋ. ७।३२।२३)

[सूक्त १२२]

(ऋषिः — १-३ शुनःशेपः । देवता — इन्द्रः ।)

रेवतीर्नः सधमाद इन्द्रे सन्तु तुविवाजाः । क्षुमन्तो याभिर्मदेम ॥ १ ॥
आ घ त्वावान्त्मनाप्तः स्तोतृभ्यो धृष्णवियानः । ऋणोरक्षं न चक्र्योः ॥ २ ॥
आ यद्दुवः शतक्रतवा कामं जरितॄणाम् । ऋणोरक्षं न शचीभिः ॥ ३ ॥ (७१७)

[सूक्त १२३]

(ऋषिः — १-२ कुत्सः । देवता — सूर्यः ।)

तत्सूर्यस्य देवत्वं तन्महित्वं मध्या कर्तोर्विततं सं जभार ।
यदेदयुक्त हरितः सधस्थादाद्रात्री वासस्तनुते सिमस्मै ॥ १ ॥
तन्मित्रस्य वरुणस्याभिचक्षे सूर्यो रूपं कृणुते द्योरुपस्थे ।
अनन्तमन्यद्रुशदस्य पाजः कृष्णमन्यद्धरितः सं भरन्ति ॥ २ ॥ (७१८)

[सूक्त १२४]

(ऋषिः — १-३ वामदेवः, ४-६ भुवनः । देवता — इन्द्रः ।)

कया नश्चित्र आ भुवदूती सदावृधः सखा । कया शचिष्ठया वृता ॥ १ ॥

(सूक्त १२२)

(**सधमादः**) साथ रहनेवाली (**तुवि-वाजाः**) बहुत बलवाली (**नः रेवतीः इन्द्रे**) हमारी धनयुक्त स्तुतियां इन्द्रके विषयमें हों (**क्षुमन्तः**) वे हमें अन्न देनेवाली हों और (**याभिः मदेम**) जिनसे हमें आनन्द हो ॥ १ ॥
(ऋ. १।३०।१३)

हे (**धृष्णो**) शत्रुका धर्षण करनेवाले इन्द्र! (**त्वा वान्**) तेरे जैसा (**त्मना आप्तः**) स्वयं मित्र बनकर (**स्तोतृभ्यः इयानः**) स्तोताओंके पास जानेवाला (**चक्रयोः अक्षं न**) चक्रोंके अक्षके समान कौन (**आ ऋणोः**) रहता है ॥ २ ॥
(ऋ. १।३०।१४)

हे (**शतक्रतो**) सैकडों कार्य करनेवाले इन्द्र! (**जरितॄणां कामं दुवः**) स्तोताओंकी कामनाओं और सेवाओंको (**यत् आ ऋणोः**) तू पूर्ण करता है, (**शचीभिः अक्षं न**) शक्तियोंके साथ चक्रका अक्ष जैसा स्थिर रहता है ॥ ३ ॥
(ऋ. १।३०।१५)

(सूक्त १२३)

(**सूर्यस्य तत् देवत्वं**) सूर्यका वह देवत्व है, (**तत् महित्वं**) और वह उसका महत्व है, कि जो (**कर्तोः मध्या**) कार्यके मध्यमें (**विततं सं जभार**) फैले हुए किरणजालको समेट लेता है। (**यदा इत् सधस्थात् हरितः युक्त**) जब वह अपने स्थानसे घोडोंको जोडता है, (**रात्री वासः सिं अस्मै आ तनुते**) तब रात्री सबके लिये एक वस्त्र फैला देती है ॥ १ ॥
(ऋ. १।११५।४)

(**मित्रस्य वरुणस्य अभिचक्षे**) मित्र और वरुणके देखनेके लिये (**सूर्यः द्योः उपस्थे तत् रूपं कृणुते**) सूर्य द्युके समीप रूप बनाता है। (**अस्य रुशत् पाजः अनन्तं अन्यत्**) इसका प्रकाशमय अनन्त रूप एक है और (**अन्यत् कृष्णं**) दूसरा रूप अन्धकार है जो (**हरितः सं भरन्ति**) किरणें अर्थात् इसके घोडे भर देते हैं ॥ २ ॥
(ऋ. १।११५।५)

(सूक्त १२४)

(**चित्रः ऊती सदावृधः सखा**) वह विलक्षण रक्षण करनेवाला सदा बढनेवाला मित्र इन्द्र (**कया नः आ भुवत्**) किस शक्तिके साथ हमारे समीप आ जायगा? (**कया शचिष्ठया वृता**) किस सामर्थ्यसे युक्त होकर हमारे समीप आ जायगा ॥ १ ॥
(ऋ. ४।३१।१)

कस्त्वा॑ स॒त्यो मदा॑नां॒ मंहि॑ष्ठो मत्स॒दन्ध॑सः । दृ॒ळ्हा चि॑दा॒रुजे॒ वसु॑ ॥ २ ॥
अ॒भी षु णः॒ सखी॑नामवि॒ता ज॑रितॄ॒णाम् । श॒तं भ॑वास्यू॒तिभि॑ः ॥ ३ ॥
इ॒मा नु कं॒ भुव॑ना सीषधा॒मेन्द्र॑श्च॒ विश्वे॑ च दे॒वाः ।
य॒ज्ञं च॑ नस्त॒न्वं॑ च प्र॒जां चा॑दि॒त्यैरिन्द्रः॑ स॒ह ची॑क्लृपाति ॥ ४ ॥
आ॒दि॒त्यैरिन्द्रः॒ सग॑णो म॒रुद्भि॑र॒स्माकं॑ भूत्ववि॒ता त॒नूना॑म् ।
ह॒त्वाय॑ दे॒वा असु॑रा॒न्यदाय॑न्दे॒वा दे॑व॒त्वम॑भि॒रक्ष॑माणाः ॥ ५ ॥
प्र॒त्यञ्च॑म॒र्कम॑नय॒ञ्छची॑भि॒रादि॑त्स्व॒धामि॑षि॒रां पर्य॑पश्यन् ।
अ॒या वाजं॑ दे॒वहि॑तं सनेम॒ मदे॑म श॒तहि॑माः सु॒वीराः॑ ॥ ६ ॥ (७३४)

[सूक्त १२५]

(ऋषिः — १-७ सुकीर्तिः । ४-५ अश्विनौ । देवता — इन्द्रः ।)

अपे॑न्द्र॒ प्राचो॑ मघवन्न॒मित्रा॒नपापा॑चो अभिभूते नुदस्व ।
अपोदी॑चो॒ अप॑ शूराध॒राच॑ उ॒रौ यथा॒ तव॒ शर्म॒न्मदे॑म ॥ १ ॥
कु॒विद॒ङ्ग यव॑मन्तो॒ यवं॑ चि॒द्यथा॒ दान्त्य॑नुपू॒र्वं वि॒यूय॑ ।
इ॒हेहै॑षां कृणुहि॒ भोज॑नानि॒ ये ब॒र्हिषो॒ नमो॑वृक्तिं॒ न ज॒ग्मुः ॥ २ ॥
न॒हि स्थूर्यृ॑तु॒था या॒तमस्ति॒ नोत श्रवो॑ विवि॒दे सं॑ग॒मेषु॑ ।
ग॒व्यन्त॒ इन्द्रं॑ स॒ख्याय॒ विप्रा॑ अश्वा॒यन्तो॒ वृष॑णं वा॒जय॑न्तः ॥ ३ ॥

(अन्धसः मदानां मंहिष्ठः) सोमरसके आनंदोंमेंसे श्रेष्ठ (कः सत्यः त्वा) कौनसा सच्चा आनंद तुझे (दृळ्हा वसु चित् आरुजे) शत्रुके सुदृढ संपत्तिको तोडनेके लिये (मत्सद्) उत्साह देता है ॥ २ ॥ (ऋ. ४।३१।२)

(नः जरितॄणां सखीनां अविता) हमारे स्तुति करनेवाले मित्रोंका संरक्षक तू (ऊतिभिः शतं अभि सु भवासि) संरक्षणोंसे सौ गुना होता है ॥ ३ ॥ (ऋ. ४।३१।३)

४–६ देखो अथर्व. २०।६३।१–३

(सूक्त १२५)

हे (मघवन् इन्द्र) धनवान इन्द्र ! हे (अभिभूते) विजयी वीर ! (प्राचः अमित्रान् अप नुदस्व) पूर्व दिशासे हमारे शत्रुओंको दूर कर (अपाचः) पश्चिम दिशासे शत्रुओंको दूर कर । हे शूर ! (उदीचः अप) उत्तरसे दूर कर और (अधराचः अप) दक्षिणसे भी दूर कर, (यथा तव उरौ शर्मन् मदेम) जैसे तेरे बडे आश्रयमें रह सकें ऐसा कर ॥ १ ॥ (ऋ. १०।१३१।१)

हे (अंग) प्रिय इन्द्र ! (यथा यवमन्तः) जैसे जौको बोनेवाले किसान (यवं चित् अनुपूर्वं वियूय) जौको पृथक् करके (कुवित् दान्ति) बहुत करके काटते हैं; (इह इह एषां भोजनानि कृणुहि) वैसे यहां वहां इनके भोगका इनके लिये निर्माण करो (ये बर्हिषः नमो वृक्तिं न जग्मुः) जो यज्ञका त्याग नहीं करते ॥ २ ॥ (ऋ. १०।१३१।२)

(स्थूरिः ऋतुथा यातं नहि अस्ति) एक घोडेका रथ यज्ञमें जाता नहीं, (उत संगमेषु श्रवः न विविदे) और संसदोंमें उसको यश भी नहीं मिलता, इसलिये (गव्यन्तः अश्वायन्तः वाजयन्तः) गौवें चाहनेवाले, घोडे चाहनेवाले और बल चाहनेवाले (विप्राः) हम ज्ञानी (वृषणं इन्द्रं सख्याय) बलवान इन्द्रकी मित्रताके लिये उसको बुलाते हैं ॥ ३ ॥ (ऋ. १०।१३१।३)

युवं सुराममश्विना नमुचावासुरे सचा । विपिपाना शुभस्पती इन्द्रं कर्मस्वावतम् ॥ ४ ॥
पुत्रमिव पितरावश्विनोभेन्द्रावथुः काव्यैर्दंसनाभिः ।
यत्सुरामं व्यपिबः शचीभिः सरस्वती त्वा मघवन्नभिष्णक् ॥ ५ ॥
इन्द्रः सुत्रामा स्ववाँ अवोभिः सुमृडीको भवतु विश्ववेदाः ।
बाधतां द्वेषो अभयं नः कृणोतु सुवीर्यस्य पतयः स्याम ॥ ६ ॥
स सुत्रामा स्ववाँ इन्द्रो अस्मदाराच्चिद् द्वेषः सनुतर्युयोतु ।
तस्य वयं सुमतौ यज्ञियस्यापि भद्रे सौमनसे स्याम ॥ ७ ॥ (७४१)

[सूक्त १२६]

(ऋषिः — १-२३ वृषाकपिरिन्द्राणी च । देवता — इन्द्रः ।)

वि हि सोतोरसृक्षत नेन्द्रं देवममंसत ।
यत्रामदद्वृषाकपिरर्यः पुष्टेषु मत्सखा विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ १ ॥
परा हीन्द्र धावसि वृषाकपेरति व्यथिः ।
नो अह प्र विन्दस्यन्यत्र सोमपीतये विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ २ ॥
किमयं त्वां वृषाकपिश्चकार हरितो मृगः ।
यस्मा इरस्यसीदु न्व१र्यो वा पुष्टिमद्वसु विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ ३ ॥

हे (**शुभस्पति अश्विनौ**) शुभ कर्म करनेवाले अश्वि-देवो ! (**युवं सुरामं सचा विपिपाना**) तुम दोनोंने उत्तम आनंद देनेवाले सोमरसको पीकर (**आसुरे नमुचौ कर्मसु इन्द्रं आवतं**) असुर पुत्र नमुचिके मारनेके कर्ममें इन्द्रकी सहायता की ॥ ४ ॥ (ऋ. १०।१३१।४)

(**पितरौ पुत्रं इव**) मातापिता जैसे पुत्रकी उस तरह (**उभा अश्विना**) दोनों अश्विदेव (**काव्यैः दंसनाभि इन्द्र आवथुः**) बुद्धियों और कर्मोंसे इन्द्रकी रक्षा करते हैं। (**यत् सुरामं शचीभिः व्यपिबः**) जब उत्तम आनंद देनेवाला रस अपनी शक्तियोंसे पिया। तब हे (**मघवन्**) इन्द्र ! (**सरस्वती त्वा अभिष्णक्**) सरस्वतीने तेरी सेवा की ॥ ५ ॥ (ऋ. १०।१३१।५)

६-७ देखो अथर्व. ७।९१।१; ७।९२।१

(सूक्त १२६)

इन्द्राणीने (**सोतोः वि असृक्षत हि**) सोमका रस निकालना छोड दिया। (**इन्द्रं देवं न अमंसत**) इन्द्रको देव भी नहीं माना। (**यत्र वृषाकपिः अमदत्**) जहां वृषाकपिने आनंद प्राप्त किया। (**यः पुष्टेषु मत्सखा**) जो पुष्टोंमें मेरा स्वामी बना है वह (**इन्द्रः विश्वस्मात् उत्तरः**) इन्द्र सबसे अधिक श्रेष्ठ है ॥ १ ॥ (ऋ. १०।८६।१)

हे इन्द्र ! (**परा हि धावसि**) तू दूर भागता है। (**अति व्यथिः वृषाकपेः**) अति कष्ट लेकर वृषाकपिके पास तू जाता है। (**अन्यत्र सोमपीतये**) दूसरे स्थानपर सोम पीनेके लिये (**नो अह प्र विन्दसि**) नहीं मिलता। (**विश्वस्मात् उत्तरः इन्द्रः**) सबसे इन्द्र अधिक श्रेष्ठ है ॥ २ ॥ (ऋ. १०।८६।२)

(**अयं हरितः मृगः वृषाकपिः**) इस काले पशु जैसे वृषाकपिने (**किं त्वां चकार**) तुझे क्या किया है (**यस्मै अर्यः वा**) जिसके लिये श्रेष्ठके समान (**पुष्टिमत् वसु इरस्यसि इत् उ**) पुष्ट करनेवाला धन तू देता है। (**वि०**) सबसे इन्द्र श्रेष्ठ है ॥ ३ ॥ (ऋ. १०।८६।३)

इन्द्राणीमासु नारिषु सुभगामहमश्रवम् ।
नह्यस्या अपरं चन जरसा मरते पतिर्विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ ११ ॥
नाहमिन्द्राणि रारण सख्युर्वृषाकपेर्ऋते ।
यस्येदमप्यं हविः प्रियं देवेषु गच्छति विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ १२ ॥
वृषाकपायि रेवति सुपुत्र आदु सुस्नुषे ।
घसत्त इन्द्र उक्षणः प्रियं काचित्करं हविर्विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ १३ ॥
उक्ष्णो हि मे पञ्चदश साकं पचन्ति विंशतिम् ।
उताहमद्मि पीव इदुभा कुक्षी पृणन्ति मे विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ १४ ॥
वृषभो न तिग्मशृङ्गोऽन्तर्यूथेषु रोरुवत् ।
मन्थस्त इन्द्र शं हृदे यं ते सुनोति भावयुर्विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ १५ ॥
न सेशे यस्य रम्बतेऽन्तरा सक्थ्या३ कपृत् ।
सेदीशे यस्य रोमशं निषेदुषो विजृम्भते विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ १६ ॥
न सेशे यस्य रोमशं निषेदुषो विजृम्भते ।
सेदीशे यस्य रम्बतेऽन्तरा सक्थ्या३ कपृद्विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ १७ ॥

वाली इन्द्रपत्नीकी प्रशंसा की जाती है। (वि०) सबसे इन्द्र अधिक श्रेष्ठ है ॥ १० ॥ (ऋ. १०।८६।१०)

(**इन्द्राणीं आसु नारिषु**) इन्द्राणीको इन स्त्रियोंमें (**अहं सुभगां अश्रवं**) मैंने सौभाग्यवाली करके सुना है। (**अस्याः अपरं चन**) इसका विशेष यह है कि (**अस्याः पतिः जरसा न मरते**) इसका पति जरासे मरता नहीं। (**वि०**) सबसे इन्द्र अधिक श्रेष्ठ है ॥ ११ ॥

(ऋ. १०।८६।११)

हे (**इन्द्राणि**) इन्द्राणि ! (**अहं वृषाकपेः सख्युः ऋते**) मैं मित्र वृषाकपिके बिना (**न रराण**) रमता नहीं। (**यस्य इदं प्रियं अप्यं हविः देवेषु गच्छति**) जिसकी यह प्रिय और पवित्र हवि देवोंमें जाती है। (**वि०**) सबसे अधिक श्रेष्ठ इन्द्र है ॥ १२ ॥ (ऋ. १०।८६।१२)

(**रेवति सुपुत्रे आत् उ सुस्नुषे**) हे धनवाली, उत्तम पुत्रोंवाली, उत्तम स्नुषावाली (**वृषाकपायि**) वृषाकपिकी पत्नी ! (**इन्द्रः काचित्करं उक्षणः प्रियं ते हवि घसत**) इन्द्र सुखकारी बैलोंको प्रिय ऐसे तेरे हविको खावे। (**वि०**) सबसे अधिक श्रेष्ठ इन्द्र है ॥ १३ ॥

(ऋ. १०।८६।१३)

(**पंचदश**) पंद्रह पकानेवाले (**उक्षणः विंशतिं साकं मे पचन्ति**) बीस सोमके कंदोंको एक साथ मेरे लिये पकाते हैं। (**उत अहं अद्मि**) और मैं उनको खाता हूं, (**पीव इत्**) इससे पुष्ट बनता हूं, (**मे उभा कुक्षी पृणन्ति**) मेरी दोनों कोखें भरती हैं। (**वि०**) सबसे अधिक श्रेष्ठ इन्द्र है ॥ १४ ॥

(ऋ. १०।८६।१४)

(**तीक्ष्णः शृंगः वृषभः न**) तीखे सींगोंवाला बैल जैसे (**यूथेषु अन्तः रोरुवत्**) यूथोंमें गर्जना करता है वैसे हे इन्द्र ! (**मन्थः ते हृदे शं**) सोमरस तेरे हृदयको आनन्द देवे (**यं ते भावयु सुनोति**) जिसको तेरे लिये उपासक भक्तिभावसे रस निकालता है। (**वि०**) सबसे इन्द्र अधिक श्रेष्ठ है ॥ १५ ॥ (ऋ. ८।८६।१५)

(**यस्य सक्थ्या अन्तरा**) जिसका सक्थियोंके मध्यमें (**कपृत् रम्बते**) शिस्न लटकता रहता है (**स न ईशे**) वह सामर्थ्यवान् नहीं होता, (**स इत् ईशे**) वही समर्थ होता है (**यस्य निषेदुषः रोमशं विजृम्भते**) जिसके सोनेपर रोमोंवाला शिस्न खडा होता है। (**वि०**) सबसे इन्द्र अधिक श्रेष्ठ है ॥ १६ ॥ (ऋ. ८।८६।१६)

(**न स ईशे**) वह समर्थ नहीं होता (**यस्य निषेदुषः रोमशं विजृम्भते**) जिसके सोनेपर रोमवाला खडा है (**सः**

अयमिन्द्र वृषाकपिः परस्वन्तं हतं विदत् ।
असिं सूनां नवं चरुमादेधस्यान आचितं विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ १८ ॥
अयमेमि विचाकशद्विचिन्वन्दासमार्यम् ।
पिबामि पाकसुत्वनोऽभि धीरमचाकशं विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ १९ ॥
धन्व च यत्कृन्तत्रं च कति स्वित्ता वि योजना ।
नेदीयसो वृषाकपेस्तमेहि गृहाँ उप विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ २० ॥
पुनरेहि वृषाकपे सुविता कल्पयावहै ।
य एष स्वप्नंनशनोस्तमेषि पथा पुनर्विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ २१ ॥
यदुदञ्चो वृषाकपे गृहमिन्द्राजगन्तन ।
क्व१स्य पुल्वघो मृगः कमगं जनयोपनो विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ २२ ॥
पर्शुर्ह नाम मानवी साकं ससूव विंशतिम् ।
भद्रं भल त्यस्या अभूद्यस्या उदरमामयद्विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ २३ ॥ (७६४)

इत् ईशे) वहां समर्थ होता है (**यस्य सक्थ्या अन्तरा कपृत् रम्बते**) जिसके सक्थोंके बीचमें शिश्न लटकता रहता है। (**वि०**) सबसे अधिक श्रेष्ठ इन्द्र है ॥ १७ ॥

(ऋ. ८।८६।१७)

हे इन्द्र ! (**अयं वृषाकपि**) इस वृषाकपिने (**परस्वन्तं हतं विदत्**) एक मरा हुआ प्राणी प्राप्त किया और (**असिं सूनां नवं चरुं आत् ईधस्य आचितं अनः**) तलवार, सूल, नया ताजा पका चावल, और इन्धनका भरा हुआ गाडा प्राप्त किया। (**वि०**) सबसे अधिक श्रेष्ठ इन्द्र है ॥ १८ ॥ (ऋ. ८।८६।१८)

(**दासं आर्यं विचिन्वन्**) दास और आर्यकी परीक्षा करता हुआ (**विचाकशत् अयं एमि**) और उनको देखता हुआ यह मैं जाता हूं। (**पाकसुत्वनः अभि पिबामि**) शुद्धतासे निकाला हुआ सोमरस पीता हूं। (**धीरं अचाकशं**) बुद्धिमानको देखता हूं। (**वि०**) सबसे अधिक श्रेष्ठ इन्द्र है ॥ १९ ॥ (ऋ. ८।८६।१९)

(**धन्व च यत् कृन्तत्रं च**) मरु और उजाड देश (**कति स्वित् ता वि योजना**) कितने योजन विस्तीर्ण हैं ? (**नेदीयसः गृहान्**) पासवाले घरोंमें, हे वृषाकपे ! (**अस्तं उप एहि**) अपने घरको आ। (**वि०**) सबसे अधिक श्रेष्ठ इन्द्र है ॥ २० ॥ (ऋ. ८।८६।२०)

हे (**वृषाकपे**) वृषाकपे ! (**पुनः एहि**) पुनः आ। (**सुविता कल्पयावहै**) हम दोनों तेरे लिये सुविधा बनायेंगे। (**यः एषः स्वप्नंनशनः**) जो यह स्वप्ननाशक मार्ग है (**पथा पुनः अस्तं एषि**) उस मार्गसे पुनः घरको तू जाता है। (**वि०**) सबसे अधिक श्रेष्ठ इन्द्र है ॥ २१ ॥

(ऋ. ८।८६।२१)

हे वृषाकपे ! हे इन्द्र ! (**यत् उदञ्चः**) जब ऊपर तुम दोनों (**गृहं आजगन्तन**) अपने घरको आगये, (**स्यः पुल्वघः मृगः क्व**) वह पापी मृग कहां गया और (**जनयोपनः कं अगं**) लोगोंको दुःख देनेवाला कहां गया ? (**वि०**) सबसे अधिक श्रेष्ठ इन्द्र है ॥ २२ ॥

(ऋ. ८।८६।२२)

(**पर्शुः ह नाम मानवी**) पर्शु नामक मनुकी कन्याने (**साकं विंशतिं ससूव**) एक साथ बीस पुत्रोंको जन्म दिया, (**भद्रं भल त्यस्या अभूत्**) निःसंदेह उसका भला हुआ (**यस्याः उदरं आमयत्**) यद्यपि उसके उदरको पीडित किया। (**वि०**) सबसे अधिक श्रेष्ठ इन्द्र है ॥ २३ ॥

(८।८६।२३)

यह इन्द्राणी और इन्द्रका संवाद है। पर यह समझनेमें अत्यंत कठिन है। इसमें अनेक गुप्त संकेत हैं जो नहीं समझमें आते। इस कारण आवश्यक होने पर भी इसका विशेष स्पष्टीकरण नहीं लिख सकते।

॥ अथ कुन्तापसूक्तानि ॥

[सूक्त १२७]

(खिलानि)

इदं जना उप श्रुत नराशंस स्तविष्यते । षष्टिं सहस्रा नवतिं च कौरम आ रुशमेषु दद्महे ॥ १ ॥
उष्ट्रा यस्य प्रवाहणो वधूमन्तो द्विर्दश । वर्ष्मा रथस्य नि जिहीडते दिव ईषमाणा उपस्पृशः ॥ २ ॥
एष ऋषये मामहे शतं निष्कान्दश स्रजः । त्रीणि शतान्यर्वतां सहस्रा दश गोनाम् ॥ ३ ॥
वच्यस्व रेभ वच्यस्व वृक्षे न पक्वे शकुनः । ओष्ठे जिह्वा चर्चरीति क्षुरो न भुरिजोरिव ॥ ४ ॥
प्र रेभासो मनीषा वृषा गाव इवेरते । अमोतपुत्रका एषाममोत गा इवासते ॥ ५ ॥
प्र रेभ धीं भरस्व गोविदं वसुविदम् । देवत्रेमां वाचं श्रीणीहीषुर्नावीरस्तारम् ॥ ६ ॥
राज्ञो विश्वजनीनस्य यो देवोऽमर्त्यां अति । वैश्वानरस्य सुष्टुतिमा सुनोता परिक्षितः ॥ ७ ॥
परिच्छिन्नः क्षेममकरोत्तम आसनमाचरन् । कुलायन्कृण्वन्कौरव्यः पतिर्वदति जायया ॥ ८ ॥
कतरत्त आ हराणि दधि मन्थां परि श्रुतम् । जायाः पतिं वि पृच्छति राष्ट्रे राज्ञः परिक्षितः ॥ ९ ॥

(सूक्त १२७)

हे (**जनाः**) लोगो ! (**इदं उप श्रुत**) यह सुनो ! (**नराशंस स्तविष्यते**) मनुष्यका स्तोत्र गाया जायगा। हे कौरम ! (**रुशमेषु**) रुशमोंमें (**षष्टिं सहस्रा नवतिं च**) साठ हजार और नव्वे (**आ दद्महे**) हमने लिये हैं ॥ १ ॥

(**यस्य द्विर्दश प्रवाहण वधूमन्तः**) जिसके बीस ऊंट बहुओंवाले रथके चलानेवाले हैं, (**रथस्य वर्ष्माः**) रथकी चोटियां (**दिवः उपस्पृशः ईषमाणाः**) द्युको स्पर्श करनेकी इच्छा करती हुई (**नि जिहीडते**) चलती हैं ॥ २ ॥

(**एषः**) इसने (**मामहे ऋषये**) मामह ऋषिको (**शतं निष्कान्**) सौ निष्क (**दश स्रजः**) दस मालाएं (**त्रीणि शतानि अर्वतां**) तीनसौ घोडे, (**गोनां दश सहस्रा**) दस हजार गौवें दीं ॥ ३ ॥

हे (**रेभ**) स्तुति करनेवाले ! (**वच्यस्व वच्यस्व**) बोल बोल। (**पक्वे वृक्षे शकुनः न**) जैसा पके हुए वृक्षपर पक्षी बोलता है। (**ओष्ठे जिह्वा चर्चरीति**) होठोंमें जिह्वा जलदी जलदी चलती है (**भुरिजोः इव क्षुरः न**) जैसे कैंचियोंके तेज फाले ॥ ४ ॥

(**वृषा गाव इव**) बैल और गौओंकी तरह (**रेभासः मनीषा प्र ईरते**) स्तोतागण स्तुतिको प्रेरित करते हैं। (**पुत्रका अमा उत एषां**) इनके पुत्र घरमें (**गाः अमा उत इव आसते**) गौवें घरमें रहनेके समान रहते हैं ॥ ५ ॥

हे (**रेभ**) स्तोता ! (**वसुविदं गोविदं**) धन देनेवाले और गौवें देनेवाले (**धियं प्र भरस्व**) स्तोत्रको तैयार कर (**इमां वाचं देवत्रा कृधि**) इस स्तोत्रको देवताओंके पास गायन कर। (**अस्ता वीरः इषुं न**) बाण फेंकनेवाला वीर जैसा बाण फेंकता है ॥ ६ ॥

(**विश्वजनीनस्य वैश्वानरस्य**) सब लोगोंका हित करनेवाले, सब जनोंके शासक (**परिक्षितः राज्ञः**) सुपरीक्षित राजाकी (**सुष्टुतिं आ शृणोत**) उत्तम स्तुतिको सुनो (**यः देवः मर्त्यान् अति**) जो देवकी तरह मानवोंमें श्रेष्ठ है ॥ ७ ॥

(**परिक्षित् उत्तमं आसनं आचरन्**) परिक्षितने उत्तम राजसिंहासन पर बैठकर (**नः क्षेमं अकः**) हमारा कल्याण किया। (**कौरव्यः कुलायं कृण्वन्**) कौरव पुत्र अपना घर बनाता हुआ (**पतिः जायया वदति**) ऐसा पति अपनी स्त्रीसे कहता है ॥ ८ ॥

(**कतरत् ते आ हराणि**) क्या वस्तु तेरे लिये लाऊं (**दधि मन्थं परि स्रुतं**) दही, मठ्ठा या रस (**परिक्षितः राज्ञः राष्ट्रे**) परिक्षित राजाके राष्ट्रमें (**जाया पतिं वि पृच्छति**) स्त्री पतिसे पूछती है ॥ ९ ॥

अभीवस्वः प्र जिहीते यवः पक्वः पथो बिलम् । जनः स भद्रमेधति राष्ट्रे राज्ञः परिक्षितः ॥ १० ॥
इन्द्रः कारुमबूबुधदुत्तिष्ठ वि चरा जनम् । ममेदुग्रस्य चर्कृधि सर्व इत्ते पृणादरिः ॥ ११ ॥
इह गावः प्रजायध्वमिहाश्वा इह पूरुषाः । इहो सहस्रदक्षिणोऽपि पूषा नि षीदति ॥ १२ ॥
नेमा इन्द्र गावो रिषन्मो आसां गोप रीरिषत् । मासाममित्रयुर्जन इन्द्र मा स्तेन ईशत ॥ १३ ॥
उप नरं नोनुमसि सूक्तेन वचसा वयं भद्रेण वचसा वयम् ।
वनादधिध्वनो गिरो न रिष्येम कदा चन ॥ १४ ॥ (७१८)

[सूक्त १२८]

यः सभेयो विदथ्यः सुत्वा यज्वाथ पूरुषः । सूर्यं चामू रिशादसं तद्देवाः प्रागकल्पयन् ॥ १ ॥
यो जाम्या अमेथयस्तद्यत्सखायं दुधूर्षति । ज्येष्ठो यदप्रचेतास्तदाहुरधरागिति ॥ २ ॥
यद्भद्रस्य पुरुषस्य पुत्रो भवति दाधृषिः । तद्विप्रो अब्रवीदुदग्गन्धर्वः काम्यं वचः ॥ ३ ॥
यश्च पणि रभुजिष्ठ्यो यश्च देवाँ अदाशुरिः । धीराणां शश्वतामहं तदपागिति शुश्रुम ॥ ४ ॥

(**यवः पक्वः बिलं परः**) पका हुआ जौ जो बिलसे परे हुआ है (**स्वः इव अभि प्र जिहीते**) अर्थात् वह प्रकाशकी ओर जाता है। (**परिक्षितः राज्ञः राष्ट्रे**) परिक्षित राजाके राष्ट्रमें (**सः जनः भद्रं एधते**) वह मनुष्य कल्याण प्राप्त करता है ॥ १० ॥

(**इन्द्रः कारुं अबूबुधत्**) इन्द्रने स्तोताको जगाया, कि (**उत्तिष्ठ, जनं वि चर**) उठ और लोगोंमें जा। (**मम उग्रस्य इत् चर्कृधि**) मुझ उग्रवीर– इन्द्र– की स्तुति कर (**सर्वः अरिः ते इत् पृणात्**) सब भक्तजन तुझे धनसे पूर्ण करेंगे ॥ ११ ॥

(**इह गावः प्रजायध्वं**) यहां गौवें बढें (**इह अश्वाः**) यहां घोडे, और (**इह पूरुषाः**) यहां पुरुष बढें। (**इह सहस्रदक्षिणः पूषा अपि नि षीदति**) यहां हजार दक्षिणा देनेवाला पूषा भी बैठा है ॥ १२ ॥

हे इन्द्र! (**इमाः गावः मा रिषन्**) ये गौवें हानि न उठावें। (**आसां गोपतिः मा उ रिषत्**) इनका गोपालक हानि न उठावे। हे इन्द्र! (**आसां अमित्रयुः जनः**) शत्रु लोग इनपर स्वामित्व न करे, (**स्तेनः मा ईशत**) चोर इनका मालिक न बने ॥ १३ ॥

(**सूक्तेन वयं नरं उप नोनुमसि**) सूक्तसे हम एक वीरकी स्तुति करते हैं (**वयं भद्रेण वचसा**) हम कल्याणकारी वचनसे स्तुति करते हैं। (**नः गिरः वनः दधिष्व**) हमारी स्तुतिको सुननेकी तू इच्छा कर (**कदाचन न रिष्येम**) हमारा नाश कभी न हो ॥ १४ ॥

(सूक्त १२८)

(**यः सभेयो विदथ्यः**) जो सभाके योग्य, जो समाजके योग्य, (**अथ सुत्वा यज्वा पूरुषः**) जो सोमरस निकालनेवाला, यज्ञ करनेवाला पुरुष है उनको (**अमुं रिशादसं सूर्यं**) और इस रोगविनाशक सूर्यको (**तत् देवाः प्राक् अकल्पयन्**) देवोंने आगे बढनेवाला बनाया है ॥ १ ॥

(**यः जाम्या अमेथयत्**) जो बहनको अपवित्र बनाता है, (**तत् यत् सखायं दुधूर्षति**) जो मित्रको हानि पहुंचाता है, (**यत् ज्येष्ठः अप्रचेताः**) जो ज्येष्ठ होनेपर भी दुष्ट चित्तवाला है, (**तत् अधराक् इति आहुः**) उसको पतित कहते हैं ॥ २ ॥

(**यत् भद्रस्य पुरुषस्य दाधृषिः पुत्रः भवति**) जिस श्रेष्ठ पुरुषका पुत्र विजयी होता है, (**तत् उदग् विप्रः अब्रवीत**) उसको उन्नत होनेवाला करके विप्रने कहा है, (**तत् काम्यं वचः गन्धर्वः**) वह प्रिय वचन गंधर्वने कहा है ॥ ३ ॥

(**यः च पणिः अभुजिष्ठ्यः**) जो बनिया न भोगनेवाला कंजूस है, (**यः च देवान् अदाशुरिः**) जो देवोंको भी नहीं देता, (**शश्वतां धीराणां तत् अपाक् इति शुश्रुम**) सारे ज्ञानियोंसे वह नीच है ऐसा हमने सुना है ॥ ४ ॥

ये च देवा अयजन्ताथो ये च पराददिः । सूर्यो दिवमिव गत्वाय मघवानो वि रप्शते ॥ ५ ॥
योनाक्ताक्षो अनभ्यक्तो अमणिवो अहिरण्यवः । अब्रह्मा ब्रह्मणः पुत्रस्तोता कल्पेषु संमिता ॥ ६ ॥
य आक्ताक्षः सुभ्यक्तः सुमणिः सुहिरण्यवः । सुब्रह्मा ब्रह्मणः पुत्रस्तोता कल्पेषु संमिता ॥ ७ ॥
अप्रपाणा च वेशन्ता रेवाँ अप्रतिदिश्ययः । अयभ्या कन्याऽकल्याणी तोता कल्पेषु संमिता ॥ ८ ॥
सुप्रपाणा च वेशन्ता रेवान्त्सुप्रतिदिश्ययः । सुयभ्या कन्याऽ कल्याणी तोता कल्पेषु संमिता ॥ ९ ॥
परिवृक्ता च महिषी स्वस्त्याऽ च युधिंगमः । अनाशुरश्वायामी तोता कल्पेषु संमिता ॥ १० ॥
वावाता च महिषी स्वस्त्याऽ च युधिंगमः । श्वाशुरश्वायामी तोता कल्पेषु संमिता ॥ ११ ॥
यदिन्द्रादो दाशराज्ञे मानुषं वि गाहथाः । विरूपः सर्वस्मा आसीत्सह यक्षाय कल्पते ॥ १२ ॥
त्वं वृषाक्षुं मघवन्नम्रं मर्याकरो रविम् । त्वं रौहिणं व्यास्यो वि वृत्रस्याभिनच्छिरः ॥ १३ ॥

(**ये च देवाः अयजन्त**) जो देवोंका यजन करते हैं। और (**ये च पराददिः**) जो दान देते हैं। (**सूर्यः दिवं इव गत्वाय**) वे सूर्य द्युलोकमें जाकर (**मघवानः वि रप्शते**) धनवान् होकर बडे होते हैं ॥ ५ ॥

(**यः अनाक्ताक्षः**) जिसके आंखमें अंजन लगाया नहीं है, (**अनभ्यक्तः**) अंगपर जिसने उबटना लगाया नहीं, (**अमणिः अहिरण्यवान्**) जिसके शरीरपर रत्न नहीं है, शरीरपर सोना भी नहीं, (**अब्रह्मा ब्रह्मणः पुत्रः**) जो ब्राह्मणका पुत्र होनेपर भी ब्रह्मा नहीं है (**ताः उताः**) ये सब (**कल्पेषु संमिताः**) कल्पोंमें समान रीतिसे- दूषणीय- माने गये हैं ॥ ६ ॥

(**यः आक्ताक्षः**) जिसके आंखमें अंजन है, (**स्वभ्यक्तः**) जिसके शरीरपर उत्तम उबटना लगा है, (**सुमणिः**) जिसके शरीरपर रत्न है, (**सुहिरण्यवान्**) जिसके शरीरपर सोना है (**ब्रह्मणः पुत्रः सुब्रह्मा**) ब्राह्मणका पुत्र होनेपर जो उत्तम ब्रह्मा हुआ है (**ताः उ ताः कल्पेषु संमिताः**) ये बातें कल्पोंमें तुल्य- अच्छी- मानी गयी हैं ॥ ७ ॥

(**वेशन्ताः अप्रपाणाः**) तालाव जिनमें पीनेका पानी नहीं है, (**रेवान् अप्रददिः च यः**) धनवान होनेपर भी जो दाता नहीं है, (**कल्याणी कन्या अयभ्या**) सुन्दर जो कन्या अगम्य है (**ताः उ ताः कल्पेषु संमिता**) ये बातें कल्पोंमें समान मानी गयी हैं ॥ ८ ॥

(**वेशन्ताः सुप्रपाणाः**) तालाव पीने योग्य पानीसे भरे हैं, (**रेवान् सुप्रददिः च यः**) धनवान् होनेपर जो उत्तम दान देता है, (**कल्याणी कन्या सुयभ्या**) सुन्दर कन्या होनेपर जो सुगम्य है (**ताः उ ताः कल्पेषु संमिता**) ये सब कल्पोंमें समान मानी हैं ॥ ९ ॥

(**महिषी परिवृक्ता**) जो पटरानी त्यागी हुई है, (**स्वस्त्या च अयुधिंगमः**) स्वस्थ होनेपर भी जो युद्धमें आता नहीं, (**अनाशुः अश्वः अयामी**) जो तेज घोडा नहीं या चलने वाला नहीं (**ताः उ ताः कल्पेषु संमिता**) ये कल्पोंमें समान माने हैं ॥ १० ॥

(**वावाता च महिषी**) प्रिय पटरानी, (**स्वस्त्या च युधिंगमः**) स्वस्थ होनेपर जो युद्धमें जाता है (**स्वाशुः अश्वः सुयामी**) उत्तम चलनेवाला घोडा (**ताः उ ताः कल्पेषु संमिता**) ये सब कल्पोंमें समान हैं ॥ ११ ॥

हे इन्द्र ! (**यत् अदः दाशराज्ञे वि गाहथाः**) जो तू दाशराज्ञ युद्धमें घुस गया था वह (**अमानुषं**) वह अमानुष कर्म तूने किया था। (**सर्वस्मै वरूथं आसीत**) सबके लिये वह आदरणीय था। (**सः ह यक्ष्माय कल्पते**) वह रोग दूर करनेके लिये समर्थ होता है ॥ १२ ॥

(**त्वं वृषाषाट्**) तू सहज विजय कमाता है, हे (**मघवन्**) इन्द्र ! (**मर्य**) मानवोंका हित करनेवाले ! (**रविं नम्रं अकरः**) तूने रविको नम्र बनाया, (**त्वं रौहिणं व्यास्यः**) तूने रौहिणके टुकडे किये, (**वृत्रस्य शिरः वि अभिनत्**) तूने वृत्रका सिर काटा ॥ १३ ॥

यः पर्वतान्व्यदधाद्यो अपो व्यगाहथाः। इन्द्रो यो वृत्रहा महान् तस्मादिन्द्र नमोऽस्तु ते ॥१४॥
प्रष्टिं धावन्तं हर्योरौच्चैःश्रवसमब्रुवन्। स्वस्त्यश्व जैत्रायेन्द्रमा वह सुस्रजम् ॥ १५ ॥
युक्त्वा श्वेता औच्चैःश्रवसं हर्यो युञ्जन्ति दक्षिणम्।
पूर्वतमं स देवानां बिभ्रदिन्द्रं महीयते ॥ १६ ॥ (७३४)

[सूक्त १२९]

एता अश्वा आ प्लवन्ते	॥ १ ॥	प्रतीपं प्रातिसुत्वनम्	॥ २ ॥
तासामेका हरिक्निका	॥ ३ ॥	हरिक्निके किमिच्छसि	॥ ४ ॥
साधुं पुत्रं हिरण्ययम्	॥ ५ ॥	क्वाहतं परास्यः	॥ ६ ॥
यत्रामूस्तिस्रः शिंशपाः	॥ ७ ॥	परि त्रयः	॥ ८ ॥
पृदाकवः	॥ ९ ॥	शृङ्गं धमन्त आसते	॥ १० ॥
अयमिहागतो अर्वा	॥ ११ ॥	स इच्छका संज्ञायते	॥ १२ ॥
गोमयाद् गोगतिरिव	॥ १३ ॥	पुंसां कुले किमिच्छसि	॥ १४ ॥
पक्वौ व्रीहियवा इति	॥ १५ ॥	व्रीहियवा अद्या इति	॥ १६ ॥
अजगर इवाविकाः	॥ १७ ॥	अश्वस्य वारो गोशफश्च ते	॥ १८ ॥
श्येनपर्णी सा	॥ १९ ॥	अनामयोपजिह्विका	॥ २० ॥ (८१४)

(यः पर्वतान् व्यदधात्) जिसने पर्वतोंको बनाया, (यः अपः व्यगाहथाः) जो जलप्रवाहोंमें घुस गया। (इन्द्रः यः महान् वृत्रहा) इन्द्र जो बडा वृत्रको मारनेवाला है, हे इन्द्र! (तस्मात् ते नमः अस्तु) इसलिये तुझे नमस्कार है ॥ १४ ॥

(हर्योः प्रष्टिं धावन्तं) उसने दोनों घोडोंके आगे दौडनेवाले (औच्चैःश्रवसं अब्रुवन्) उच्चैश्रवासे कहा, हे (स्वस्ति अश्व), कल्याणकारी अश्व! (जैत्राय सुस्रजं इन्द्रं आ वह) विजयके लिये माला पहने इन्द्रको ले आ ॥ १५ ॥

(श्वेता युक्त्वा) श्वेत घोडियोंको जोतकर (हर्योः दक्षिणं) दो घोडोंके दक्षिण भागमें (औच्चैःश्रवसं युञ्जन्ति) उच्चैःश्रवाको जोतते हैं। (देवानां पूर्वतमं इन्द्रं बिभ्रत् सः) देवोंमें श्रेष्ठ इन्द्रको धारण करके वह (महीयते) बडा कहा जाता है ॥ १६ ॥

(सूक्त १२९)

(एताः अश्वाः) ये घोडियां (प्रतीपं प्राति-सुत्वनं) प्रतीप प्रातिसुत्वनकी ओर (आ प्लवन्ते) दौडती हैं ॥ १-२ ॥

(तासां एका हरिक्निका) उनमेंसे एक कम भूरी है, हे हरिक्निके! (किं इच्छसि) तू क्या चाहती है? ॥ ३-४ ॥

(साधुं हिरण्ययं पुत्रं) उत्तम सुनहरी पुत्रको। (क्व आहतं परास्यः) कहां उसको तूने छोड दिया? ॥ ५-६ ॥

(यत्र अमूः तिस्रः शिंशपाः) जहां वे तीन शीशमके वृक्ष हैं (परि त्रयः) तीनोंके पास? ॥ ७-८ ॥

(पृदाकवः) सांप (शृंगं धमन्तः आसते) सींग फूंकते रहते हैं ॥ ९-१० ॥

(अयं अर्वा इह आगतः) यह घोडा यहां आया है, (स इत् शका संज्ञायते) वह गोबरसे जाना जाता है ॥ ११-१२ ॥

(गोमयात् गोगतिः इव) गोबरसे गौका मार्ग जैसा जाना जाता है, (पुंसां कुले किं इच्छसि) मनुष्योंके कुलमें रहकर तू क्या करना चाहता है? ॥ १३-१४ ॥

(पक्वौ व्रीहियवौ इति) पके हैं चावल और जौ। (व्रीहियवा अद्या इति) चावल और जौ खा ॥ १५-१६ ॥

(अजगरः अविका इव) अजगर जैसा भेडोंको। (अश्वस्य वारः ते गोशफः च) घोडेका बाल और गौका खुर तेरा है ॥ १७-१८ ॥

(श्येनपर्णी सा) वह बाज पक्षीके पंखोंवाली है,

[सूक्त १३०]

को अर्यावहद्दिमा दुग्धानि ॥ १ ॥ को असिक्न्याः पर्यः ॥ २ ॥
को अर्जुन्याः पर्यः ॥ ३ ॥ कः कार्ष्ण्याः पर्यः ॥ ४ ॥
एतं पृच्छ कुहं पृच्छ ॥ ५ ॥ कुहाकं पक्वकं पृच्छ ॥ ६ ॥
यवानो यतिस्वभिः कुभिः ॥ ७ ॥ अकुप्यन्तः कुपायवः ॥ ८ ॥
आमणको मणत्सकः ॥ ९ ॥ देव त्वप्रतिसूर्य ॥ १० ॥
एनश्चिपङ्क्तिका हविः ॥ ११ ॥ प्रदुद्रुदो मघाप्रति ॥ १२ ॥
शृङ्ग उत्पन्न ॥ १३ ॥ मा त्वाभि सखा नो विदन् ॥ १४ ॥
वशायाः पुत्रमा यन्ति ॥ १५ ॥ इरावेदुमयं दत ॥ १६ ॥
अथो इयन्नियन्निति ॥ १७ ॥ अथो इयन्निति ॥ १८ ॥
अथो श्वा अस्थिरो भवन् ॥ १९ ॥ उयं यकांशलोकका ॥ २० ॥ (८३७)

[सूक्त १३१]

आमिनोनिति भद्यते ॥ १ ॥ तस्य अनु भञ्जनम् ॥ २ ॥
वरुणो याति वस्वभिः ॥ ३ ॥ शतं वा भारती शवः ॥ ४ ॥

(अनामयोपजिह्विका) वह नीरोगिताको लानेवाली है ॥ १९-२० ॥

(सूक्त १३०)

(इमा दुग्धानि कः अपावहत्) कौन इन दूधके भेरोंको ले गया ? (कः अर्यः बहुलिमा इषूनि) किस अर्यने बहुत इषु धारण किये ? (कः असिक्न्याः पयः) कौन काली गायके दूधको ले गया ॥ १-२ ॥

(कः अर्जुन्याः पयः) कौन सफेद गायके दूधको और (कः कार्ष्ण्याः पयः) कौन काली गायके दूधको ले गया ? ॥ ३-४ ॥

(एतं पृच्छ) इसको पूछ । (कुह पृच्छे) कहां पूछूं । (कुहाकं पक्वकं पृच्छे) कहां किस चतुरको पूछूं ? ॥ ५-६ ॥

(यवा कुक्षिं न उपतिष्ठन्ति) जौ पेटमें नहीं आते । (कुपायवः अकुप्यन्त) बुरे रक्षक क्रुद्ध होते हैं ॥ ७-८ ॥

(अमणिकाः मणिछदः) मणिसे रहित और मणिसे सहित, (देव त्वा प्रति सूर्य) सूर्यके सामने देवत्व ॥ ९-१० ॥

(एनी हरिक्निका हरिः) चितकबरी, हरिक्निका और भूरे रंगवाली । (प्रदुद्रुदुः मघा प्रति) धनमें हविके पास दौडे ॥ ११-१२ ॥

(शृंगे उत्पन्ने) सींग उत्पन्न होने पर (मा त्वा अपि नः सखा विदत्) तुझे मत हमारा मित्र जाने ॥१३-१४॥

(वशायाः पुत्रं आ यन्ति) गौके पुत्रके प्रति आते हैं, (इरा देवं अददत्) अन्नने देवको दिया ॥ १५-१६ ॥

(अथो इयं इयं इति) यह यह है ऐसा कहा, (अथो इयं) और यह यह ॥ १७-१८ ॥

(अथो अश्वा अस्थूरि नः भवन्) तब हमारे घोडे सुख नहीं हुए, (शालाकका इयत्तिका) सलाई इतनी ही है ॥ १९-२० ॥

(सूक्त १३१)

(आमिनोति वि मियते) उसे तोडता है, उसके टुकडे होते हैं, (तस्य कर्त निर्भञ्जनम्) उसका नाश करो ॥ १-२ ॥

(वरुणः याति वसुभिः) वरुण वसुओंके साथ जाता है । (वायोः शतं अभीशवः) वायुकी सौ लगामें हैं ॥३-४॥

शतमश्वा हिरण्ययाः	॥ ५ ॥	शतं रथा हिरण्ययाः	॥ ६ ॥
शतं कुथा हिरण्ययाः	॥ ७ ॥	शतं निष्का हिरण्ययाः	॥ ८ ॥
अहल कुशवर्त्तक	॥ ९ ॥	शफे न पीवं ओहते	॥ १० ॥
आयवनेन तेदनी	॥ ११ ॥	वनिष्ठौ नाव गृह्यते	॥ १२ ॥
इदं मह्यं मण्डूरिके	॥ १३ ॥	ते वृक्षाः सह तिष्ठन्ति	॥ १४ ॥
पाकबलिः	॥ १५ ॥	शकबलिः	॥ १६ ॥
अश्वत्थः खदिरो धवः	॥ १७ ॥	अरदुपर्णः	॥ १८ ॥
शये हत इव	॥ १९ ॥	व्याप्तः पूरुषः	॥ २० ॥
अदूहमित् पीयूषम्	॥ २१ ॥	अत्यर्धर्च परस्वतः	॥ २२ ॥
द्वौ च हस्तिनो दृती	॥ २३ ॥		(८५४)

[सूक्त १३२]

आदलाबुकमेककम्	॥ १ ॥	अलाबुकं निखातकम्	॥ २ ॥
कर्करिको निखातकः	॥ ३ ॥	तद् वात उन्मथायति	॥ ४ ॥
कुलायं कृणवादिति	॥ ५ ॥	उग्रं वनिषदाततम्	॥ ६ ॥
न वनिषदनाततम्	॥ ७ ॥	क एषां कर्करिं लिखत्	॥ ८ ॥
क एषां दुन्दुभिं हनत्	॥ ९ ॥	यदि हनत् कथं हनत्	॥ १० ॥

(**शतं अश्वाः हिरण्ययाः**) सौ सुनहरे घोडे हैं, (**शतं रथा हिरण्ययाः**) सौ रथ सुनहरे हैं। (**शतं कुथाः हिरण्ययाः**) सौ गदेले सुनहरी हैं, (**शतं निष्काः हिरण्याः**) सौ हार सोनेके हैं। (**अहल कुशवर्तक**) हलके बिना कुशपर जीविका करनेवाले ॥ ५-९ ॥

(**शफे पीवः न ओहते**) खुरमें चर्बी नहीं होती। (**आयवनेन तेदनी**) मिलानेसे भी नहीं पकडता ॥ १०-११ ॥

(**वनिष्ठौ न अव गृह्यते**) पेटमें ठहरता नहीं। (**इदं मह्यं मण्डूरिके**) यह मेरे लिये है मण्डूरिके ॥ १२-१३ ॥

(**ते वृक्षाः सह तिष्ठन्ति**) वे वृक्ष साथ खडे हैं, (**पाक बलिः**) पकाया बलि है ॥ १४-१५ ॥

(**शक बलिः**) शक बलि है, (**अश्वत्थः खदिरो धवः**) पीपल, खैर और धवा है ॥ १६-१७ ॥

(**अरदु पर्णः**) अरदुका पत्ता। (**शये हत इव**) मरे हुएकी तरह लेटता है ॥ १८-१९ ॥

(**पुरुषः व्याप्तः**) पुरुष घेरा हुआ है (**अदुहन् इत् पीयूषं**) अमृत दुहा ॥ २०-२१ ॥

(**अत्यर्धर्चः च परस्वतः**) बेढ जंगली गधा। (**द्वौ च हस्तिनः दृती**) हाथीके दो चमडे ॥ २२-२३ ॥

(**सूक्त १३२**)

(**आत् अलाबुकं एककं**) एक तुंबी केवल, (**अलाबुकं निखातकं**) तुंबी गाडी गई है ॥ १-२ ॥

(**कर्करिकः निखातकः**) कर्करिक गाडा गया। (**तत् वातः उन्मथायति**) वायु चलता है ॥ ३-४ ॥

(**कुलायं कृणवात् इति**) घर करे ऐसा कहता है। (**उग्रं आततं वनिषत्**) वह उग्र फैला है ऐसा दीखेगा ॥ ५-६ ॥

(**न वनिषद् अनाततं**) वह न फैला हुआ नहीं पायेगा, (**कः एषां कर्करिं लिखत्**) कौन इनमेंसे वीणाको बजायेगा ? ॥ ७-८ ॥

(**क एषां दुन्दुभिं हनत्**) कौन इनमें दुन्दुभिको बजायेगा, (**यदि हनत् कथं हनत्**) यदि बजायेगा तो कैसा बजायेगा ? ॥ ९-१० ॥

देवी हनत् कुह हनत् ॥ ११ ॥ पर्यागारं पुनः पुनः ॥ १२ ॥
त्रीण्युष्ट्रस्य नामानि ॥ १३ ॥ हिरण्यमित्येकमब्रवीत् ॥ १४ ॥
द्वे वा यशः शवः ॥ १५ ॥ नीलशिखण्डो वा हनत् ॥ १६ ॥ ८७०

[सूक्त १३३]

विततौ किरणौ द्वौ तावा पिनष्टि पूरुषः। दुन्दुभिमा हननाभ्यम्।
न वै कुमारि तत्तथा यथा कुमारि मन्यसे ॥ १ ॥
मातुष्टे किरणौ द्वौ निवृत्तः पुरुषाद् दृतिः। कोशबिले। न वै० ॥ २ ॥
निगृह्य कर्णकौ द्वौ निरायच्छसि मध्यमे। रज्जुनि ग्रन्थेर्दानम्। न वै० ॥ ३ ॥
उत्तानायां शयानायां तिष्ठन्तमवं गूहति। उपानहि पादम्। न वै० ॥ ४ ॥
श्लक्ष्णायां श्लक्ष्णिकायां श्लक्ष्णमेवावं गूहति। उत्तराञ्जनीमांजन्याम्। न वै० ॥ ५ ॥
अवश्लक्ष्णमिव भ्रंशदन्तर्लोममति ह्रदे। उत्तराञ्जनीं वर्त्मभ्याम्। न वै० ॥ ६ ॥ (८७६)

[सूक्त १३४]

इहेत्था प्रागपागुदगधरागासन्ना उदभिर्यथा। अलाबूनि ॥ १ ॥
इहेत्था प्रागपागुदगधरागासन्ना उदभिर्यथा। वत्साः प्रुषन्त आसते। पृषातकानि ॥ २ ॥

(देवी हनत् कुह हनत्) देवीने बजाया, कहां बजाया, (परि-आगारं पुनः पुनः) पुनः पुनः घरके चारों ओर ॥ ११-१२ ॥

(त्रीणि उष्ट्रस्य नामानि) ऊंटके तीन नाम हैं, (हिरण्यं इति एकं अब्रवीत्) सोना एक है ऐसा उसने कहा ॥ १३-१४ ॥

(द्वे वा यशः शवः) दो यश और बल ये हैं, (नीलशिखण्डः वा हनत्) नीले चूडेवाला बजायेगा ॥१५-१६॥

(सूक्त १३३)

(तौ द्वौ किरणौ विततौ) वे दो किरण फैले हैं, (पुरुषः तौ आ पिनष्टि) पुरुष उनको पीसता है, (दुन्दुभिं आ हननाभ्यं) ढोलको बजानेसे हे कुमारि! (न वै तत् तथा) वह वैसा नहीं, हे कुमारि! (यथा मन्यसे) जैसा तू मानती है ॥ १ ॥

(ते मातुः द्वौ किरणौ) तेरी मातासे दो किरण चलते हैं, (पुरुषात् दृतिः निवृत्तः) पुरुषसे पात्र चला गया है ॥ (कोशबिले) खजाना और बिल ॥ ० ॥ २ ॥

(निगृह्य द्वौ कर्णकौ) दोनों कानोंको पकड कर (मध्यमे निरायच्छसि) मध्यमें निःशेष देता है ॥ (रज्जुनि ग्रन्थेः दानं) रस्सीमें ग्रंथी देना ॥ ० ॥ ३ ॥

(उत्तानायां शयानायां) उठे या सोयेके लिये (तिष्ठन्तीं अव गूहति) ठहरती है या गुप्त रहती है ॥ (उपानहि पादं) जूतेमें पांव ॥ ० ॥ ४ ॥

(श्लक्ष्णायां श्लक्ष्णिकायां) प्रेमवाली, स्नेह करनेवालीमें (श्लक्ष्णं एव अव गूहति) प्रेम ही गुप्त रखती है ॥ (उत्तरांजनीं आंजन्यां) ॥ ० ॥ ५ ॥

(अवश्लक्ष्णं इव भ्रंशत्) गुप्त प्रेमके समान भ्रष्ट होता है (ह्रदे अन्तः लोमं अति) हृदयमें अन्दर लोम होनेके समान ॥ (उत्तराञ्जनीं वर्त्मभ्यां) ॥ ० ॥ ६ ॥

(सूक्त १३४)

(इह इत्था) यहां इस तरह (प्राक्, अपाक्, उदग्, अधराक्) पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिणमें (आसन्ना) बैठे हैं (यथा उदभिः) जैसे पानीके साथ (अलाबू) तूंबिये ॥ १ ॥

(वत्साः प्रुषन्त आसते) बच्चे दहीं और घीको (पृषातकानि) छिडकते हुए बैठते हैं ॥ २ ॥

इहेत्था प्रागपागुदगधराग्रारासंबा उदभिर्यथा । स्थालीपाको विलीयते । अश्वत्थपलाशम् ॥ ३ ॥
इहेत्था प्रागपागुदगधराग्रारासंबा उदभिर्यथा । सा वै स्पृष्टा विलीयते । विप्रुट् ॥ ४ ॥
इहेत्था प्रागपागुदगधराग्रारासंबा उदभिर्यथा । उष्णे लोहे न लीप्सेथाः । चमसः ॥ ५ ॥
इहेत्था प्रागपागुदगधराग शिश्लिक्षुं शिश्लिक्षते । पिपीलिकावटः ॥ ६ ॥ (८८२)

[सूक्त १३५]

भुगित्यभिगतः । श्वा ॥ १ ॥ शलित्यपक्रान्तः । पर्णशदः ॥२॥ फलित्यभिष्ठितः । गोशफः ॥३॥
वीइमे देवा अक्रंसताध्वर्यो क्षिप्रं प्रचर । सुसत्यमिद् गवामस्त्यसि प्र खुद ॥ ४ ॥
पत्नी यदृश्यते पत्नी यक्ष्यमाणा जरितरोथामो दैव । होता विष्टीमेन जरितरोथामो दैव ॥ ५ ॥

आदित्या ह जरितराङ्गिरोभ्यो दक्षिणामनयन् ।
तां ह जरितर्न प्रत्यायंस्तामु ह जरितर्न प्रत्यगृभ्णन् ॥ ६ ॥
तां ह जरितर्न प्रत्यायन् तामुह जरितः प्रत्यगृभ्णन् ।
अहा नेत सन्नविचेतनानि जज्ञा नेत सन्नपुरोगवासः ॥ ७ ॥
उत श्वेत आशुपत्वा उतो पद्याभिर्जविष्ठः । उतेमाशु मानं पिपर्ति ॥ ८ ॥
आदित्या रुद्रा वसवस्त्वेलत इदं राधः प्रति गृभ्णीह्यङ्गिरः ।
इदं राधो विभु प्रभु इदं राधो बृहत् पृथु ॥ ९ ॥

देवा ददत्वासुरं तद् वो अस्तु सुचेतनम् । युष्माँ अस्तु दिवेदिवे प्रत्येव गृभायत ॥ १० ॥
त्वमिन्द्र शर्म रिणा हव्यं पारावतेभ्यः । विप्राय स्तुवते वसुवनिं दुरश्रवसे वह ॥
त्वमिन्द्र कपोताय च्छिन्नपक्षाय वञ्चते । श्यामाकं पक्वं पीलु च वारस्मा अकृणोर्बहु ॥ १२ ॥
अरङ्गरो वावदीति त्रेधा बद्धो वरत्रया । इरामह प्रशंसत्यनिरामप सेधति ॥ १३ ॥ (८९५)

[सूक्त १३६]

यदस्या अंहुभेद्याः कृधु स्थूलमुपातसत् । मुष्काविदस्या एजतो गोशफे शकुलाविव ॥ १ ॥
यदा स्थूलेन पससाणौ मुष्का उपावधीत् । विष्वञ्चावस्या वर्धतः सिकतास्विव गर्दभौ ॥ २ ॥
यदल्पिका स्वल्पिका कर्कन्धूकेव पद्यते । वासन्तिकमिव तेजनं यन्त्यवाताय वित्पति ॥ ३ ॥
यद् देवासो ललामगुं प्रविष्टीमिनमाविषुः । सक्थ्ना देदिश्यते नारी सत्यस्याक्षिभुवो यथा ॥ ४ ॥

(स्थालीपाको विलीयते) स्थालीमें पाक विलीन होता है (अश्वत्थ-पलाशं) जैसा पीपलका पत्ता ॥ ३ ॥

(सा वै स्पृष्टा लीयते) वह स्पर्श की हुई लीन होती है (विप्रुट्) जैसी पानीकी बूंद ॥ ४ ॥

(उष्णे लोहे न लीप्सेथाः) गर्म लोहेपर तू इच्छा न कर (चमसः) चमसकी ॥ ५ ॥

(अशिश्लिक्षुं शिश्लिक्षते पिपीलिकावटः) न गले लगाना चाहतेको गले लगाना चाहता है जैसा कीडियोंका बिल ॥ ६ ॥

महानग्न्यदप्व्द् विमुक्तः कदुदश्वो नासरन् । शक्तिं कनीना खुद मध्यमं सक्थुयंतम् ॥ ५ ॥
महानग्न्युलूखलमतिक्रामन्त्यब्रवीत् । यथा तवं वनस्पते निघ्नन्ति तथैवेति ॥ ६ ॥
महानग्न्युप ब्रूते भ्रष्टोऽथाप्यभूभुवः । यथैव ते वनस्पते पिपिन्ति तथैवेति ॥ ७ ॥
महानग्न्युप ब्रूते भ्रष्टोऽथाप्यभूभुवः । यथा वयो विदह्यस्यङ्गानि मर्म दह्यन्ते ॥ ८ ॥
महानग्न्युप ब्रूते स्वस्त्यावेशितं पसः । इत्थं फलस्य वृक्षस्य शूर्पे शूर्पं भजेमहि ॥ ९ ॥
महानग्नी कृकवाकं शम्यया परि धावति । अयं न विद्म यो मृगः शीर्ष्णा हरति धाणिकाम् ॥१०॥
महानग्नी महानग्नं धावन्तमनु धावति । इमास्तदस्य गा रक्ष यभ मामद्ध्यौदनम् ॥ ११ ॥
सुदेवस्त्वा महानग्नी वि बाधते महतः साधु खोदनम् ।
कुशितं पीवरी नशद् यभ मामद्ध्यौदनम् ॥ १२ ॥
वशा दुग्धा विनाङ्गुरिं प्रसृजते वनंकरम् । महान् वै भद्रो बिल्वो यभ मामद्ध्यौदनम् ॥ १३ ॥
विदेवस्त्वा महानग्नि वि बाधते महतः साधु खोदनम् ।
कुमारिका पिङ्गलिका कार्यं कृत्वा प्र धावति ॥ १४ ॥
महान् वै भद्रो बिल्वो महान् भद्र उदुम्बरः । महाँ अभितो बाधते महतः साधु खोदनम् ॥ १५ ॥
यं कुमारी पिङ्गलिका कुशितं पीवरी लभेत् । तैलकुण्डा दिवाङ्गुष्ठं रदन्तं शुद्धमुद्धरेत् ॥१६॥ (९११)

॥ इति कुन्तापसूक्तानि ॥

[सूक्त १३७]

(ऋषिः — १ शिरिम्बिठिः, २ बुधः; ३ वामदेवः; ४-६ ययातिः; ७-११ तिरश्चीराङ्गिरसः द्युतानो वा, १२-१४ सुकक्षः । देवता — १ अलक्ष्मीनाशनम्; २ इन्द्रः; ३ दधिक्राः, ४-६ सोमः पवमान; ७-१४ इन्द्रश्च ।)

यद्ध प्राचीरजगन्तोरो मण्डूरधाणिकीः । हता इन्द्रस्य शत्रवः सर्वे बुद्बुदयाशवः ॥ १ ॥
कपृन्नरः कपृथमुद्दधातन चोदयत खुदत वाजसातये ।
निष्टिग्र्यः पुत्रमा च्यावयोतय इन्द्रं सबाध इह सोमपीतये ॥ २ ॥

(सूक्त ११७-१३६)

[सूचना — ये सूक्त अत्यंत संदिग्ध और क्लिष्ट हैं। अतः इनका अर्थ यहां देना अशक्य है। जो विद्वान् इनको अच्छी तरह समझ सकते हैं। वे इनका अर्थ स्पष्टीकरणके साथ लिखकर भेजेंगे, तो बडी कृपा होगी।]

॥ यहां कुन्तापसूक्तानि समाप्त ॥

(सूक्त १३७)

(मण्डूकधाणिकीः) गोले धारण करनेवाली (यत् ह उरः प्राचीः अजगन्त) जब निश्चयसे सीधे आगे गयी (बुद्बुदयाशवः सर्वे इन्द्रस्य शत्रवः हताः) बुद्बुदों समान इन्द्रके सब शत्रु मारे गये ॥ १ ॥

(ऋ. १०।१५५।४)

हे (नरः) मनुष्यो ! (क-पृत्) इन्द्र सुखसे पूर्ण है। (वाजसातये) धनके दानके लिये (क-पृथं उद्धातन) सुखदाता इन्द्रको उठाओ, (चोदयत) प्रेरित करो, (खुदत) आनंदित करो, (निष्टिग्र्यः पुत्रं) अदितिके पुत्रको (ऊतये) सुरक्षाके लिये (आच्यावय) नीचे लाओ

दधिक्राव्णो अकारिषं जिष्णोरश्वस्य वाजिनः । सुरभि नो मुखा करत्प्र ण आयूंषि तारिषत् ॥ ३ ॥
सुतासो मधुमत्तमाः सोमा इन्द्राय मन्दिनः । पवित्रवन्तो अक्षरन्देवान्गच्छन्तु वो मदाः ॥ ४ ॥
इन्दुरिन्द्राय पवत इति देवासो अब्रुवन् । वाचस्पतिर्मखस्यते विश्वस्येशान ओजसा ॥ ५ ॥
सहस्रधारः पवते समुद्रो वाचमीङ्खयः । सोमः पती रयीणां सखेन्द्रस्य दिवेदिवे ॥ ६ ॥

अव द्रप्सो अंशुमतीमतिष्ठदियानः कृष्णो दशभिः सहस्रैः ।
आवत्तमिन्द्रः शच्या धमन्तमप स्नेहितीर्नृमणा अधत्त ॥ ७ ॥
द्रप्समपश्यं विषुणे चरन्तमुपह्वरे नद्यो अंशुमत्याः ।
नभो न कृष्णमवतस्थिवांसमिष्यामि वो वृषणो युध्यताजौ ॥ ८ ॥
अध द्रप्सो अंशुमत्या उपस्थेऽधारयत्तन्वं तित्विषाणः ।
विशो अदेवीरभ्याचरन्तीर्बृहस्पतिना युजेन्द्रः ससाहे ॥ ९ ॥
त्वं ह त्यत्सप्तभ्यो जायमानोऽशत्रुभ्यो अभवः शत्रुरिन्द्र ।
गूळ्हे द्यावापृथिवी अन्वविन्दो विभुमद्भ्यो भुवनेभ्यो रणं धाः ॥ १० ॥

(सबाधः) बाधा करनेवालोंसे सुरक्षाके लिये (इह इन्द्रं सोमपीतये) यहां इन्द्रको सोम पीनेके लिये ले आओ ॥ २ ॥ (ऋ. १०।१०१।१२)

(जिष्णोः वाजिनः दधिक्राव्णः अश्वस्य) विजयी बलवान् दही जैसे सफेद घोडेकी स्तुति (अकारिषं) की, (नः मुखा सुरभि करत्) हमारे मुखोंको सुगंधित करे (नः आयूंषि प्रतारिषत्) हमारी आयुओंको बढावे ॥ ३ ॥ (ऋ. ४।३९।६)

(मधुमत्तमाः सोमाः) मीठे सोमरस (मन्दिनः इन्द्राय सुतासः) ये आनन्द देनेवाले रस इन्द्रके लिये निकाले हैं । ये (पवित्रवन्तः अक्षरन्) छाननीसे छाने गये (वः मदाः देवान् गच्छन्तु) तुम्हारे ये आनंद देनेवाले रस देवोंको पहुंचें ॥ ४ ॥ (ऋ. ९।१०१।४)

(इन्दुः इन्द्राय पवते) सोम इन्द्रके लिये छाना जाता है (इति देवासः अब्रुवन्) ऐसा देवोंने कहा है । (वाचस्पतिः सर्वस्य ईशानः) वाणीका पति सबका स्वामी (ओजसा) अपनी शक्तिसे (मखस्यते) यज्ञको पूर्ण करता है ॥ ५ ॥ (ऋ. ९।१०१।५)

(सहस्रधारः समुद्रः) सहस्र धाराओंवाला समुद्र (वाचं ईङ्खयः) वाणीका प्रेरक (रयीणां पतिः) धनोंका स्वामी (सोमः) सोमरस (इन्द्रस्य सखा) इन्द्रका मित्र (दिवे दिवे पवते) प्रतिदिन पवित्र किया जाता है ॥ ६ ॥ (ऋ. ९।१०१।६)

(दशभिः सहस्रैः) दस हजारों बूंदोंके साथ (इयानः कृष्णः) आनेवाला काला (द्रप्सः) सोमरस (अंशुमतीं अवातिष्ठत्) तेजस्वितामें जा ठहरा । (शच्या धमन्तं तं) शक्तिके साथ धोंकनेवाले उसकी (आवत्) रक्षा की । (नृमणा) वीर मनवाले इन्द्रने (स्नेहितीः अप अधत्त) शत्रुओंको परे फेंका ॥ ७ ॥ (ऋ. ८।९६।१३)

(अंशुमत्याः नद्यः) अंशुमती नदीके (उपह्वरे विषुणे चरन्तं) तटपर विषम भागमें चलनेवाले (द्रप्सं अपश्यं) सोमको मैंने देखा । (नभः न कृष्णं) काले मेघकी तरह (अवतस्थिवांसं) नीचे रहनेवालेको हे (वृषणः) बलवान् वीरो ! (आजौ युध्यत) आप युद्धमें युद्ध करो (वः इष्यामि) ऐसा आपके विषयमें मैं चाहता हूं ॥ ८ ॥ (ऋ. ८।९६।१४)

(अध) अनंतर (द्रप्सः) सोमरसने (तित्विषाणः) तेजस्वी होकर (अंशुमत्या उपस्थे) अंशुमतिके समीप (तन्वं अधारयत्) अपने रूपको धारण किया । (इन्द्रः) इन्द्रने (बृहस्पतिना युजा) बृहस्पतिके साथ रहकर (अभ्या चरन्तीः अदेवी विशः) युद्ध करनेवाली आसुरी सेनाका (ससाहे) पराभव किया ॥ ९ ॥ (ऋ. ८।९६।१५)

हे इन्द्र ! (त्वं जायमानः) तू प्रकट होते ही (त्यत् सप्तभ्यः अशत्रुभ्यः) उन सात जिनके शत्रु नहीं ऐसे शत्रुओंके लिये (शत्रुः अभवः) शत्रु हुआ । (गूळ्हे

त्वं ह त्यदप्रतिमानमोजो वज्रेण वज्रिन्धृषितो जघन्थ ।
त्वं शुष्णस्यावातिरो वधत्रैस्त्वं गा इन्द्र शच्येदविन्दः ॥ ११ ॥
तमिन्द्रं वाजयामसि महे वृत्राय हन्तवे । स वृषा वृषभो भुवत् ॥ १२ ॥
इन्द्रः स दामने कृत ओजिष्ठः स मदे हितः । द्युम्नी श्लोकी स सोम्यः ॥ १३ ॥
गिरा वज्रो न संभृतः सबलो अनपच्युतः । ववक्ष ऋष्वो अस्तृतः ॥ १४ ॥ (९१५)

[सूक्त १३८]

(ऋषिः — १-३ वत्सः । देवता — इन्द्रः ।)

महाँ इन्द्रो य ओजसा पर्जन्यो वृष्टिमाँ इव । स्तोमैर्वत्सस्य वावृधे ॥ १ ॥
प्रजामृतस्य पिप्रतः प्र यद्भरन्त वह्नयः । विप्रा ऋतस्य वाहसा ॥ २ ॥
कण्वा इन्द्रं यदक्रत स्तोमैर्यज्ञस्य साधनम् । जामि ब्रुवत आयुधम् ॥ ३ ॥ (९१८)

[सूक्त १३९]

(ऋषिः — १-५ शशकर्णः । देवता — अश्विनौ ।)

आ नूनमश्विना युवं वत्सस्य गन्तमवसे । प्रास्मै यच्छतमवृकं पृथु च्छर्दिर्युयुतं या अरातयः ॥ १ ॥

द्यावापृथिवी अन्वविन्दः) गुप्त रहे द्यावा पृथिवीको तुमने प्राप्त किया । (विभुमद्भ्यः भुवनेभ्यः रणं धाः) व्यापक भुवनोंको आनंद दिया ॥ १० ॥ (ऋ. ८।९६।१६)

हे (वज्रिन् इन्द्र) वज्रधारी इन्द्र ! (त्वं ह त्यत् अप्रतिमानं ओजः) तूने उस अप्रतिम शक्तिको प्रकट किया जिस समय (धृषितः वज्रेण जघन्थ) दिलेर होकर वज्रसे शत्रुको मारा । (त्वं शुष्णस्य वधत्रैः अवातिरः) तूने शस्त्रोंसे शुष्णको मारा । (त्वं शच्या इत् गाः अविन्दः) तूने अपनी शक्तिसे गौओंको प्राप्त किया ॥ ११ ॥ (ऋ. ८।९६।१७)

(महे वृत्राय हन्तवे) बडे वृत्रको मारनेके लिये (तं इन्द्रं वाजयामसि) उस इन्द्रको हम सामर्थ्यशाली बनाते हैं । (स वृषा वृषभः भुवत्) वह बलवान् इन्द्र अधिक बलवान् बने ॥ २ ॥ (ऋ. ८।९३।७)

(सः इन्द्रः दामने कृतः) वह इन्द्र देनेके लिये तैयार किया है (ओजिष्ठः स मदे हितः) वह शक्तिमान आनंद-में रखा है, (द्युम्नी श्लोकी स सोम्यः) वह तेजस्वी, स्तुत्य और सोमके योग्य है ॥ १३ ॥ (ऋ. ८।९३।८)

(गिरा वज्रः न संभृतः) स्तुतिसे वह वज्रके समान तैयार हुआ है, (सबलः अनपच्युतः) वह बलवान् और कभी पराजित न होनेवाला है (ऋष्वः अस्तृतः ववक्ष) महान् और न हारनेवाला भार उठाता है ॥ १४ ॥ (ऋ. ८।९३।९)

(सूक्त १३८)

(यः इन्द्रः ओजसा महान्) जो इन्द्र अपनी शक्तिसे महान् है, (वृष्टिमान् पर्जन्य इव) वृष्टि करनेवाले मेघके समान वह है- (वत्सस्य स्तोमैः वावृधे) वत्सके स्तोत्रों-से वह बडा हुआ है ॥ १ ॥ (ऋ. ८।६।१)

(ऋतस्य पिप्रतः प्रजां) ऋतके संतान इन्द्रको (विप्राः ऋतस्य वाहसा) विप्र ऋतके स्तोत्रके साथ (यत् वह्नयः प्र भरन्त) जब ऋत्विज- अग्निके समान तेजस्वी- हवि देते हैं ॥ २ ॥ (ऋ. ८।६।२)

(कण्वाः इन्द्रं) कण्वोंने इन्द्रको (स्तोमैः यज्ञस्य साधनं यत् अक्रत) स्तोत्रोंसे यज्ञका पूर्ण करनेवाला बनाया है (आयुधं जामि ब्रुवत) शस्त्रको वे मित्र कहते हैं ॥ ३ ॥ (ऋ. ८।६।३)

(सूक्त १३९)

हे (अश्विना) अश्विनौ ! (युवं वत्सस्य अवसे) तुम दोनों वत्सकी रक्षाके लिये (नूनं आ गन्तं) निश्चयसे आओ । (अस्मै) इसके लिये (अवृकं पृथु छर्दिः) हिंसकोंसे रहित बडा घर (प्र यच्छतं) दे दो । (याः अरातयः युयुतं) जो शत्रु हों उनको दूर हटाओ ॥ १ ॥ (ऋ. ८।९।१)

यदुन्तरिक्षे यद्दिवि यत्पञ्च मानुषाँ अनु । नृम्णं तद्धत्तमश्विना ॥ २ ॥

ये वां दंसांस्यश्विना विप्रासः परिमामृशुः । एवेत्काण्वस्य बोधतम् ॥ ३ ॥

अयं वां घर्मो अश्विना स्तोमेन परि षिच्यते । अयं सोमो मधुमान्वाजिनीवसू येन वृत्रं चिकेतथः ॥ ४ ॥

यदप्सु यद्वनस्पतौ यदोषधीषु पुरुदंससा कृतम् । तेन माविष्टमश्विना ॥ ५ ॥ (९३३)

[सूक्त १४०]

(ऋषिः — १-५ शशकर्णः । देवता — अश्विनौ ।)

यन्नासत्या भुरण्यथो यद्वा देव भिषज्यथः ।

अयं वां वत्सो मतिभिर्न विन्धते हविष्मन्तं हि गच्छथः ॥ १ ॥

आ नूनमश्विनोर्ऋषि स्तोमं चिकेत वामया । आ सोमं मधुमत्तमं घर्मं सिञ्चादथर्वणि ॥ २ ॥

आ नूनं रघुवर्तनिं रथं तिष्ठाथो अश्विना । आ वां स्तोमा इमे मम नभो न चुच्यवीरत ॥ ३ ॥

यदद्य वां नासत्योक्थैराचुच्युवीमहि । यद्वा वाणीभिरश्विनेवेत्काण्वस्य बोधतम् ॥ ४ ॥

यद्वां कक्षीवाँ उत यद्व्यश्व ऋषिर्यद्वां दीर्घतमा जुहाव ।

पृथी यद्वां वैन्यः सादनेष्वेवेदतो अश्विना चेतयेथाम् ॥ ५ ॥ (९३८)

हे अश्विदेवो ! (यत् अन्तरिक्षे) जो अन्तरिक्षमें, (यत् दिवि) जो द्युलोकमें, (यत् पञ्च मानवान् अनु) जो पाँचों मानवोंमें है (तत् नृम्णं धत्तं) वह वीरका कर्म हममें रखो ॥ २ ॥ (ऋ. ८।९।२)

हे अश्विदेवो ! (ये विप्रासः) जो ब्राह्मण (वां दंसांसि) आपके कर्मोंको (परिमामृशुः) ध्यानमें धरते हैं (एव इत्) वैसा ही (काण्वस्य आ बोधतं) काण्वका स्मरण रखो ॥ ३ ॥ (ऋ. ८।९।३)

हे अश्विदेवो ! (वां अयं घर्मः) आपका यह यज्ञ (स्तोमेन परि षिच्यते) स्तोत्रसे सींचा गया है, हे (वाजिनीवसू) बलके स्वामी ! (अयं मधुमान् सोमः) यह मीठा सोम है (येन वृत्रं चिकेतथः) जिससे वृत्रको पहचानते हो ॥ ४ ॥ (ऋ. ८।९।४)

हे (पुरुदंससा अश्विना) अद्भुत कर्म करनेवाले अश्विदेवो ! (यत् अप्सु) जो जलोंमें, (यत् वनस्पतौ) जो वनस्पतिमें, (यत् ओषधिषु) जो औषधियोंमें (कृतं) किया (तेन मा अविष्टं) उसके द्वारा मेरी रक्षा करो ॥ ५ ॥ (ऋ. ८।९।५)

(सूक्त १४०)

हे (नासत्या) अश्विदेवो ! (यत् भुरण्यथः) जो तुम पुष्टि देते हो, (यद् वा देव भिषज्यथः) अथवा जिसकी, हे देवो ! तुम चिकित्सा करते हो, (अयं वत्सः) यह वत्स (मतिभिः वां न विन्धते) स्तोत्रोंसे आपको नहीं प्राप्त करता, क्योंकि (हविष्मन्तं हि गच्छथः) हवि देनेवालेकी ओर ही तुम जाते हो ॥ १ ॥ (ऋ. ८।९।६)

(ऋषिः अश्विनोः स्तोमं) ऋषिने अश्विनोंका स्तोत्र (वामया नूनं आ चिकेत) शुद्ध बुद्धिसे निश्चयपूर्वक जान लिया है । (मधुमत्तमं घर्मं सोमं) अत्यंत मीठे यज्ञीय सोमका (अथर्वणि आ सिञ्चात्) अथर्वापर सिंचन करो ॥ २ ॥ (ऋ. ८।९।७)

हे अश्विदेवो ! (रघुवर्तनिं रथं) शीघ्र चलनेवाले रथपर (नूनं आ तिष्ठाथः) निश्चयपूर्वक बैठो, (नभः न) मेघोंके समान (मम इमे स्तोमाः) मेरे ये स्तोत्र (वां आ चुच्यवीतन) आपको इधर लावें ॥ ३ ॥ (ऋ. ८।९।८)

हे (नासत्या अश्विना) नासत्य अश्विदेवो ! (यत् अद्य वां उक्थैः आचुच्युवीमहि) जो आज हम तुम्हें स्तोत्रोंसे इधर लाते हैं (यत् वा वाणिभिः) अथवा जो वाणियोंसे, (इव इत् काण्वस्य बोधतं) वैसा ही काण्वको जानो ॥ ४ ॥ (ऋ. ८।९।९)

(यत् वां कक्षीवान्) जैसे तुम्हें कक्षीवान्ने (उत यत् व्यश्वः ऋषिः) अथवा जैसे व्यश्वः ऋषिने (यत् वां दीर्घतमा जुहाव) जैसे आपको दीर्घतमाने बुलाया था, (यद् वां पृथी वैन्यः) जैसे आपको पृथी वैन्यने (सादनेषु एव इत्) यज्ञोंमें बुलाया था, हे अश्विदेवो ! (अतः

[सूक्त १४१]

(ऋषिः — १-५ शशकर्णः । देवता — अश्विनौ ।)

यातं छर्दिष्पा उत नः परस्पा भूतं जगत्पा उत नस्तनूपा । वर्तिस्तोकाय तनयाय यातम् ॥ १ ॥

यदिन्द्रेण सरथं याथो अश्विना यद्वा वायुना भवथः समोकसा ।
यदादित्येभिर्ऋभुभिः सजोषसा यद्वा विष्णोर्विक्रमणेषु तिष्ठथः ॥ २ ॥

यदद्याश्विनावहं हुवेय वाजसातये । यत्पृत्सु तुर्वणे सहस्तच्छ्रेष्ठमश्विनोरवः ॥ ३ ॥

आ नूनं यातमश्विनेमा हव्यानि वां हिता । इमे सोमासो अधि तुर्वशे यदाविमे कण्वेषु वामथ ॥४॥

यन्नासत्या पराके अर्वाके अस्ति भेषजम् ।
तेन नूनं विमदाय प्रचेतसा छर्दिर्वत्साय यच्छतम् ॥ ५ ॥ (९४३)

[सूक्त १४२]

(ऋषिः — १-६ शशकर्णः । देवता — अश्विनौ ।)

अभुत्स्यु प्र देव्या साकं वाचाहमश्विनोः । व्यावर्देव्या मतिं वि रातिं मर्त्येभ्यः ॥ १ ॥

प्र बोधयोषो अश्विना प्र देवि सूनृते महि । प्र यज्ञहोतरानुषक्प्र मदाय श्रवो बृहत् ॥ २ ॥

चेतयेथां) वैसे ही यहां आनेके लिये आओ ॥ ५ ॥ (ऋ. ८।९।१०)

(सूक्त १४१)

(**छर्दिष्पा**) गृहरक्षक, (**उत नः परस्पा**) अथवा हमारा शत्रुओंसे रक्षण करनेवाले (**जगत्पा उत नः तनूपा**) पशुओंके रक्षक और हमारे शरीरोंके रक्षक बनकर (**आ यातं**) आओ। (**तोकाय तनयाय**) पुत्र-पौत्रोंके रक्षणके लिये (**वर्तिः आ यातं**) हमारे घर आओ ॥ १ ॥ (ऋ. ८।९।११)

हे अश्विनौ ! (**यत् इन्द्रेण सरथं याथः**) यदि तुम इन्द्रके साथ एक रथपर जाते हो, (**यत् वा वायुना समोकसा भवथः**) किंवा वायुके साथ एक घरमें रहनेवाले होते हो, (**यत् आदित्येभिः**) यदि आदित्यों और (**ऋभुभिः सजोषसा**) ऋभुओंके साथ एक कार्यमें लगते हो, (**यत् वा विष्णोः विक्रमणेषु तिष्ठथः**) किंवा विष्णुके विक्रमोंमें ठहरे हो ॥ २ ॥ (ऋ. ८।९।१२)

हे अश्विदेवो ! (**यत् अद्य अहं**) यदि आज मैं तुम्हें (**वाजसातये हुवेय**) शक्तिको प्राप्त करनेके लिये बुलाता हूं, (**यत् पृत्सु तुर्वणे सहः**) जो लडाइयोंमें विजय देनेवाला साहस है (**तत् अश्विनोः अवः श्रेष्ठं**) वह अश्विदेवोंका श्रेष्ठ रक्षक बल है ॥ ३ ॥ (ऋ. ८।९।१३)

हे अश्विदेवो ! (**नूनं आ यातं**) निश्चयसे आओ। (**वां इमा हव्यानि हिता**) आपके लिये हव्य रखे हैं। (**इमे सोमासः**) ये सोम (**तुर्वशे अधि**) तुर्वशमें, (**इमे यदौ**) ये यदुमें, (**अथ कण्वेषु वां**) और कण्वोंमें तुम्हारे लिये हैं ॥ ४ ॥ (ऋ. ८।९।१४)

हे (**नासत्या**) अश्विदेवो ! (**यत् पराके अर्वाके भेषजं अस्ति**) जो दूर वा पास औषध है, हे (**प्रचेतसा**) विशाल हृदयवालो ! (**तेन**) उससे (**विमदाय वत्साय**) विमद और वत्सके लिये (**छर्दिः यच्छतं**) घर दो ॥ ५ ॥ (ऋ. ८।९।१५)

(सूक्त १४२)

(**देव्या**) उषादेवीके साथ (**अश्विनोः वाचा साकं**) अश्विदेवोंकी स्तुतिके साथ (**अहं प्र अभुत्स्यु**) मैं उठा। हे (**देवि**) हे उषे ! (**मतिं रातिं मर्त्येभ्यः**) स्तुति और दान मानवोंके लिये (**आ वि आवः**) तुमने खोल दिया है ॥ १ ॥ (ऋ. ८।९।१६)

हे (**सूनृते महि देवी उषः**) सुंदर बडी देवी उषा ! (**अश्विना प्र प्र बोधय**) अश्विनोंको जगा दो। हे (**यज्ञहोतः**) यज्ञके होता ! (**मदाय आनुषक् प्र**) आनंदके लिये साथ साथ जगा दो, (**श्रवः बृहत्**) वह बडा यश है ॥ २ ॥ (ऋ. ८।९।१७)

यदुषो यासि भानुना सं सूर्येण रोचसे । आ हायमश्विनो रथो वर्तिर्याति नृपाय्यम् ॥ ३ ॥

यदापीतासो अंशवो गावो न दुह्र ऊधभिः । यद्वा वाणीरनूषत प्र देवयन्तो अश्विना ॥ ४ ॥

प्र द्युम्नाय प्र शवसे प्र नृषाह्याय शर्मणे । प्र दक्षाय प्रचेतसा ॥ ५ ॥

यन्नूनं धीभिरश्विना पितुर्योना निषीदथः । यद्वा सुम्नेभिरुक्थ्या ॥ ६ ॥ (९४२)

[सूक्त १४३]

(ऋषिः — १-७ पुरुमीढाजमीढौ, ८ वामदेवः, ९ मध्यातिथिर्मेधातिथी । देवता — अश्विनौ ।)

तं वां रथं वयमद्या हुवेम पृथुज्रयमश्विना संगतिं गोः ।
यः सूर्यां वहति वन्धुरायुर्गिर्वाहसं पुरुतमं वसूयुम् ॥ १ ॥

युवं श्रियमश्विना देवता तां दिवो नपाता वनथः शचीभिः ।
युवोर्वपुरभि पृक्षः सचन्ते वहन्ति यत्ककुहासो रथे वाम् ॥ २ ॥

को वामद्या करते रातहव्य ऊतये वा सुतपेयाय वार्कैः ।
ऋतस्य वा वनुषे पूर्व्याय नमो येमानो अश्विना ववर्तत् ॥ ३ ॥

हिरण्ययेन पुरुभू रथेनेमं यज्ञं नासत्योप यातम् ।
पिबाथ इन्मधुनः सोम्यस्य दधथो रत्नं विधते जनाय ॥ ४ ॥

(यत् उषः) जब हे उषा ! तू (भानुना यासि) अपनी चमकके साथ आती है (सूर्येण सं रोचसे) सूर्यके साथ प्रकाशती है तब (अश्विनोः अयं रथः) अश्वियोंका यह रथ (नृपाय्यं वर्तिः आ याति) मनुष्योंका रक्षण करनेवाले घर पर आता है ॥ ३ ॥ (ऋ. ८।९।१८)

(यदा पीतासः अंशवः) जब सोमरस देते हैं (गावः ऊधभिः दुह्रे न) गौवें जैसी अपने दुग्धाशयसे दूध देती हैं (देवयन्तः अश्विना) देवोंके भक्त अश्विदेवोंकी (यत् वा वाणीः प्र अनूषत) तब वाणियां स्तुति करती हैं ॥ ४ ॥ (ऋ. ८।९।१९)

हे (प्रचेतसा) विशेष ज्ञानी अश्विदेवो ! (द्युम्नाय प्र) यशके लिये (शवसे प्र) बलके लिये, (नृषाह्याय प्र) शत्रुका पराभव करनेके लिये, (शर्मणे दक्षाय प्र) सुखके लिये और चतुराईके लिये हमें सहायता दे दो ॥ ५ ॥ (ऋ. ८।९।२०)

हे अश्विदेवो ! (यत् नूनं) जब निश्चयसे तुम (धीभिः पितुः योनौ आ निषीदथ) बुद्धियोंके साथ पिताके घरमें बैठते हो, (उक्थ्या) हे स्तुतिके योग्य अश्विदेवो ! (यद् वा सुम्नेभिः) जब उत्तम मनोभावनाओंके साथ रहते हो ॥ ६ ॥

(सूक्त १४३)

हे अश्विदेवो ! (गोः संगतिं) किरणोंको इकट्ठा करनेवाले, (पृथुज्रयं वां तं रथं) तुम्हारे विस्तृत उस रथको (वयं अद्य आ हुवेम) हम आज बुलाते हैं । (यः वन्धुरायुः सूर्यां वहति) जो रथ सबको आश्रय देनेवाला सूर्याको ले आता है । वह रथ (गिर्-वाहसं) स्तुतियोंसे चलनेवाला (पुरुतमं वसूयुं) बड़ा और धनसे भरा रहता है ॥ १ ॥ (ऋ. ४।४४।१)

हे अश्विदेवो ! (युवं देवता) तुम देवता होनेके कारण और (दिवः नपाता) द्युलोकको न गिरानेवाले होनेके कारण, (शचीभिः तां श्रियं वनथः) अपनी शक्तियोंसे उस शोभाको प्राप्त करते हो । (पृक्षः युवोः वपुः अभि सचन्ते) अन्न तुम्हारे शरीरके साथ मिलता है । (यत् ककुहासः वां रथे वहन्ति) जब घोडे तुम्हें रथमें ले जाते हैं ॥ २ ॥ (ऋ. ४।४४।२)

(कः रातहव्यः वां अद्य आ करत) कौन हवि देनेवाला आज तुम्हें इधर झुकाता है ? (ऊतये वा) कौन सुरक्षाके लिये (वा अर्कैः सुतपेयाय) अथवा स्तोत्रोंके द्वारा सोमरस पीनेके लिये बुलाता है ? (ऋतस्य पूर्व्याय वनुषे) यज्ञके पुराने भक्तके लिये, हे अश्विदेवो ! (नमो येमानः आ ववर्तत्) नमस्कार करते हुए कौन तुम्हें इधर बुलाते हैं ? ॥ ३ ॥ (ऋ. ४।४४।३)

हे (नासत्या) अश्विदेवो ! (पुरुभूः) बहुत स्थानपर होनेवाले ! (हिरण्ययेन रथेन) सुवर्णके रथसे (इमं यज्ञं

आ नो यातं दिवो अच्छा पृथिव्या हिरण्ययेन सुवृता रथेन ।
मा वामन्ये नि यमन्देवयन्तः सं यद्ददे नाभिः पूर्व्या वाम् ॥ ५ ॥
नू नो रयिं पुरुवीरं बृहन्तं दस्रा मिमाथामुभयेष्वस्मे ।
नरो यद्वामश्विना स्तोममावन्त्सधस्तुतिमाजमीळ्हासो अग्मन् ॥ ६ ॥
इहेह यद्वां समना पपृक्षे सेयमस्मे सुमतिर्वाजरत्ना ।
उरुष्यतं जरितारं युवं ह श्रितः कामो नासत्या युवद्रिक् ॥ ७ ॥
मधुमतीरोषधीर्द्याव आपो मधुमन्नो भवत्वन्तरिक्षम् ।
क्षेत्रस्य पतिर्मधुमान्नो अस्त्वरिष्यन्तो अन्वेनं चरेम ॥ ८ ॥
पनाय्यं तदश्विना कृतं वां वृषभो दिवो रजसः पृथिव्याः ।
सहस्रं शंसा उत ये गविष्टौ सर्वाँ इत्ताँ उप याता पिबध्यै ॥ ९ ॥ (९५८)

॥ इति नवमोऽनुवाकः ॥ ९ ॥ ॥ इति विंशं काण्डं समाप्तम् ॥ ॥ अथर्ववेदसंहिता समाप्ता ॥

मंत्रसंख्या—
एकोनविंशतिकाण्डस्यान्तपर्यन्तं—५०१९
विंशतितमकाण्डस्य— ९५८
सर्वयोगः ५९७७

उप यातं) इस यज्ञके पास आओ। (सोम्यस्य मधुनः इत् पिबाथ) मधुर सोमरस पीओ। (विधते जनाय रत्नं दधथः) भक्त जनके लिये रत्न दो ॥ ४ ॥

(ऋ. ४।४१।४)

(दिवः पृथिव्या अच्छ) द्युलोकसे अथवा पृथ्वीपरसे (हिरण्ययेन सुवृता रथेन) सुवर्णमय अच्छे घूमनेवाले रथसे (नः आ यातं) हमारे पास आओ। (अन्ये देवयन्तः) अन्य देवभक्त (मा वां नियमन्) तुम्हें न रोक लें। (यत् पूर्व्या नाभिः) जब पूर्व संबंध (वां सं ददे) हमसे तुम्हारा हुआ है ॥ ५ ॥ (ऋ. ४।४१।५)

हे (दस्रा) शत्रुका नाश करनेवाले अश्विदेवो! (अस्मे नः उभयेषु) हम दोनोंमें (पुरुवीरं बृहन्तं रयिं) बहुत वीर पुत्रोंसे युक्त बडा धन (नु मिमाथां) दे दो। हे (अश्विनौ) अश्विदेवो! (नरः यत् वां स्तोमं आवन्) ऋत्विजोंने तुम्हारी स्तुति की है। (आजमीळ्हासः सधस्तुतिं अग्मन्) अजमीढोंने भी साथ स्तुति की है ॥ ६ ॥ (ऋ. ४।४१।६)

हे (वाजरत्ना) बलसे रत्न प्राप्त करनेवाले अश्विदेवो। (इह इह यद् वां समना पपृक्षे) यहां जब कभी मैंने तुम्हारी स्तुति की (सा इयं अस्मे सुमतिः) वह हमारे लिये सद्बुद्धि सिद्ध हुई है। (युवं जरितारं उरुष्यतं ह) तुम स्तोताकी रक्षा करो। हे (नासत्या) अश्विदेवो! (कामः युवद्रिक श्रितः) हमारी इच्छा तुम्हारे आश्रयमें रही है ॥ ७ ॥ (ऋ. ४।४१।७)

(ओषधीः द्यावः आपः मधुमतीः) औषधि, द्यु और जल हमारे लिये मधुर हों। (नः अन्तरिक्षं मधुमत् भवतु) हमारे लिये अन्तरिक्ष मीठाससे भरा हो। (क्षेत्रस्य पतिः नः मधुमान् अस्तु) क्षेत्रका स्वामी हमारे लिये मधुरतासे परिपूर्ण हो। (अ- रिष्यन्तः एनं अनु चरेम) विनष्ट न होते हुए हम इसका अनुसरण करें ॥ ८ ॥

(ऋ. ४।४१।८)

हे (अश्विना) अश्विदेवो! (वां तत् कृतं पनाय्यं) आपका किया वह कर्म प्रशंसनीय है (वृषभः दिवः रजसः पृथिव्याः) बलयुक्त द्यु, अन्तरिक्ष और पृथिवीके (गविष्टौ ये सहस्रं शंसाः) युद्धोंमें जो आपकी सहस्रों प्रशंसाएं हुई हैं (सर्वान् तान् पिबध्यै उप याता इत्) उन सबके पास सोमरस पीनेके लिये आओ ॥ ९ ॥ (ऋ. ४।४१।९)

॥ यहां नवम अनुवाक समाप्त ॥
॥ बीसवां काण्ड समाप्त ॥
॥ अथर्ववेद समाप्त ॥